ॐ
ॐ
नमः शिवाय

www.jbkhanna.com
G1729
J.B.Khanna Pictures

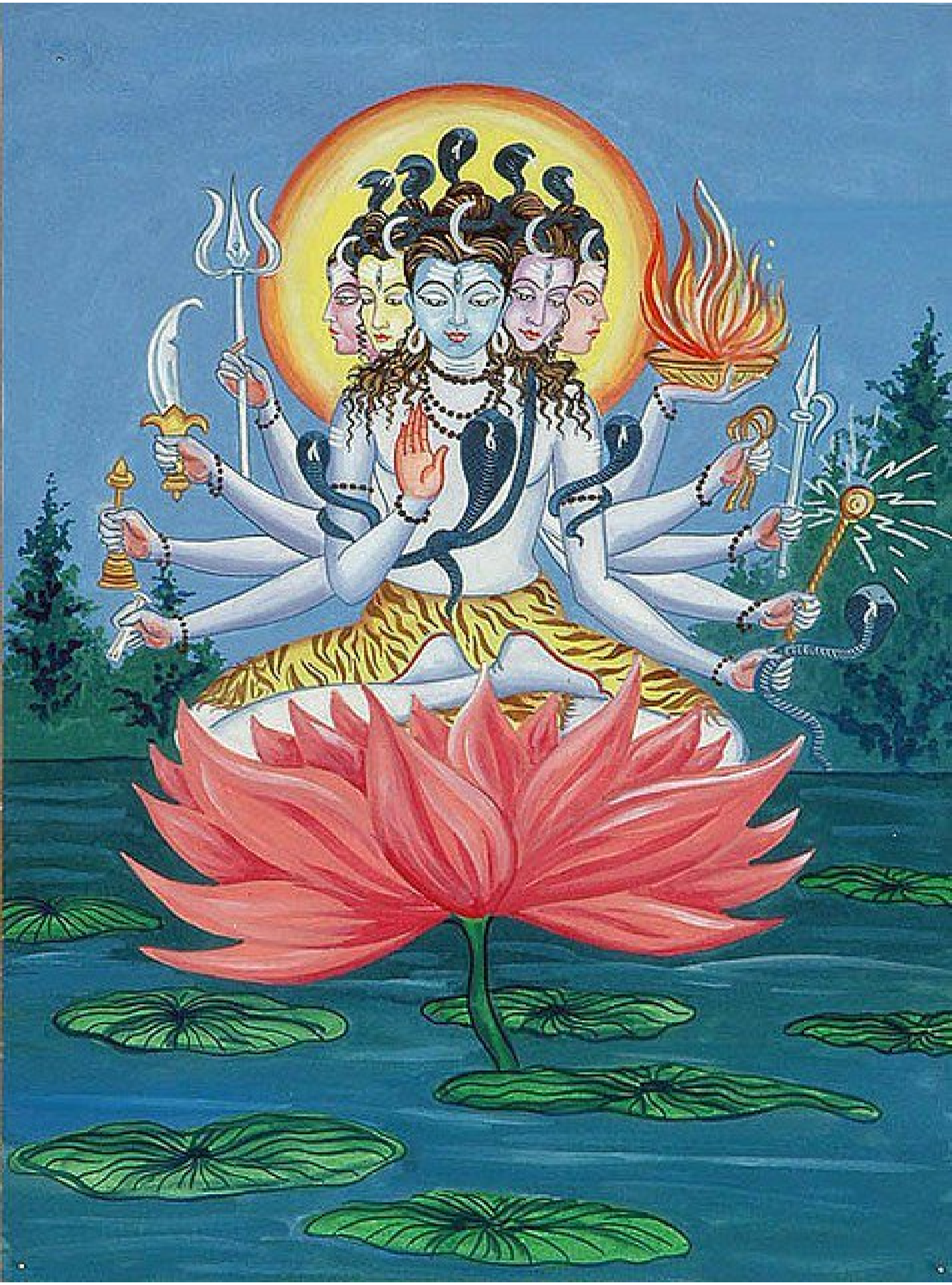

दिनाङ्कः सोमप्रदोष मार्गशिरः शुक्लः त्रियोदशी
5 दिसम्बर 2022

ॐ गजाननं भूतगणादि सेवितं,
कपित्थ जम्बूफल चारु भक्षणं।
उमासुतं शोक विनाश कारकं,
नमामि विघ्नेश्वर पाद पंकजं ।।"

"ॐ त्रयम्बकम् यजामहे सुगन्धिम् पुष्टिवर्धनं।
उर्वारुकमेव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात ।।"
ॐ सर्व मंगल मांगल्ये शिवे सर्वार्थ साधिके।
शरण्ये त्र्यम्बिके गौरि, नारायणि नमोस्तुते ।।

ॐ महासरस्वत्यै देव्ये नमः, ॐ नमः समस्त सिद्धेभ्यः ॐ सकल योगिभिः नमः

प्रस्तावना :-

शिव अर्थात् अविनाशी तत्व, मलरहित, मायातीत, कालातीत, निरन्जन, समाधियोग गम्य दृश्य प्रपंच तथा भौतिक-सूक्ष्म जगत के आदिकारण व विश्वहेतु हैं। शिवयोगिनी अर्थात् जगदाधार, जगतयोनि स्वरूपा, सनातनी पूज्या, विश्ववन्दिता, जगतजननी माँ भवानी दुर्गा, सृष्टि आधार, महेश्वरी कुण्डलिनी देव्या मोक्ष-बीजमूल स्वरूपिणी हैं।
ऐसे विश्वआधार, संसार के माता-पिता, भवानी-शंकर, महादेव-देवी पार्वती के पावन चरण कमलों में मैं पतित प्रपंचासक्त, पशु बुद्धि, शिवर्चिन विहीन, माया-मोह, कामासक्त अधम पापी मनुज नमन, प्रणाम करता हूँ।

सर्व आगमशास्त्रों तथा योगतन्त्रों का आधार जगदाधार कुण्डलिनी देव्या हैं। जीव को मोक्ष तथा बन्धन में डालने वाली जगतमोहिनी, मोक्षस्वरूपा, मातृका-रूपिणी, लिंगवेष्टिता, विश्वाधार, मूलाधारस्थ, मूलशक्तिस्वरूपिणी भगवती दुर्गा कुलकुण्डलिनी देवी को नमन करता हूँ।

मैं देवी दुर्गा का तुच्छ उपासक सर्वप्राणीमात्र के कल्याणहेतु सर्वसाधारणजनों के लिये दुर्लभ, परमरहस्य को प्रकट करने जा रहा हूँ.........

Scanned by CamScanner

DATE : / /

मानव शरीर स्वप्रमाण से 96 अँगुल का माना गया है। मानव के पायुपस्थ के मध्य में चार अँगुल, खगअण्डाकार कंद की स्थिति है, मनुष्य के मूलाधार में स्वयंभू लिंग स्थित है. स्वयंभू लिंग को अपने मुख से वेष्टित किये हुए आदिशक्ति-स्वरूपिणी कुण्डलिनी देवी स्थित हैं मॉं कुण्डलिनी स्वयंभूलिंग के मुख को (जहाँ ब्रह्मरन्ध्र की स्थिति है) ढके रहती हैं, यदि किसी प्रकार उस ब्रह्मरन्ध्र के मुख को खोला जा सके तो, वाम - दक्षिण नासापुटों से बहने वाला प्राणवायु सुगमता से द्विनाडिका मध्यस्थ सुसम्ना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर जाता है, जहाँ से शास्वत योग की यात्रा प्रारम्भ होती है। सुसम्ना नाड़ी के सहारे प्राणवायु देहस्थ चक्रों तथा त्रिग्रन्थियों का वेधन करके व्योमस्थ परमशिव में विलीन हो जाती है. यही मोक्ष तत्व के रूप में प्रसिद्ध है।

जिस विधि से कुण्डलिनी देवी जाग्रत होकर ब्रह्मरन्ध्र के मुख को खोल दे, जिससे प्राणवायु उस रन्ध्र में प्रविष्ट हो जाय, वह विधियाँ निम्न-लिखित पुस्तकों में वर्णित मुद्रा तथा कुम्भक भेद हैं।

यद्यपि मुद्रादि तथा कुम्भक भेद प्राणुवायु को सुसम्ना नाड़ी में नाड़ीगत करते हैं फिर भी मोक्षार्थी की मुक्ति के ये सब साधन बाह्य साधन हैं, देवी दुर्गा की कृपा के बिना कोटि साधन निष्फल ही हैं।

मुमुक्षु को मोक्ष केवल देवी कुण्डलिनी अर्थात् दुर्गा जी के कृपाकटाक्ष से ही सम्भव हो सकता है।

ॐ कुलकुण्डलिनी देव्या नमः

ॐ परमशिवाय नमः

Scanned by CamScanner

PAGE NO.: Hem Vishnu Rush आदि सोम प्रदोष शुक्ल
DATE : 5 /12 /022 Vishnu

यौगिक मुद्रा एवं बन्ध (200 पुस्तकों से संग्रहित)

क्र.	पुस्तक नाम	पत्र संख्या
1.	मुद्रा: विज्ञान एवं साधना (H)	01 – 65
2.	हठयोग on घेरण्ड संहिता and भक्ति सागर (H)	66 – 121
3.	पतंजलीय योग चिकित्सा पद्धति	122 – 135
4.	हठयोग प्रदीपिका (मुक्तबोध) (S)	136 – 146
5.	शिव संहिता (मुक्तबोध) (S)	147 – 157
6.	हठयोग: उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय (H)	158 – 196
7.	घेरण्ड संहिता (खेमराज कृष्णदास प्रकाशन) (H)	197 – 224
8.	योगरसायन (H)	225 – 235
9.	अष्टांगयोग: एक योगी का स्वानुभव (H)	236 – 245
10.	शिवसंहिता by Sanskritdocuments.org (S)	246 – 255
11.	प्राणतोषिणी तन्त्र by मुक्तबोध (S)	256 – 271
12.	हठयोगप्रदीपिकया सह घेरण्डसंहितायाः तुलनात्मकमध्ययनम् (S)	272 – 303
13.	योगसार संग्रह (S)	304 – 316
14.	सुभगोदयस्तुतिः by श्यामाकान्त द्विवेदी (H)	317 – 326
15.	योगबीज old Publication (H)	327 – 334
16.	गोरक्ष पद्धति by खेमराज प्रकाशन (H)	335 – 364
17.	योगबीज by Online (H)	365 – 378
18.	Yoga shastra of Dattatreya by Online (H)	379 – 388
19.	हठयोग मंजरी by Online (H)	389 – 405
20.	हठयोग: स्वरूप एवं साधना by गोरखनाथ मन्दिर	406 – 427
21.	शिवसंहिता by खेमराज प्रकाशन	428 – 462
22.	सम्पूर्ण योगविद्या	463 – 485
23.	हठयोग प्रदीपिका by तारावाई प्रकाशन old (H)	486 – 538
24.	हठयोग प्रदीपिका टीका सहित (खेमराज प्रकाशन) (H)	539 – 599
25.	बृहद योग सोपान by खेमराज प्रकाशन (H)	600 – 610
26.	हठयोग प्रदीपिका by चमनलाल गौतम (H)	611 – 661
27.	शिव संहिता by चौखम्बा प्रकाशन (H)	662 – 679 (679)
28.	शाम्भवी योग तन्त्र (H)	680 – 690

Scanned by CamScanner

DATE : / /

Scanned by CamScanner

DATE : / /

60.	हठयोग by भारतधर्ममण्डल प्रकाशन (H)	1348 – 1368
61.	योग रहस्य by खेमराज कृष्णदास प्रकाशन (H)	1369 – 1376
62.	घेरण्ड संहिता by पीताम्बरा पीठ दतिया (H)	1377 – 1404
63.	हठयोग प्रदीपिका by थियोसॉफी सोसाइटी मद्रास (S)	1405 – 1467
64.	यौगिक मुद्रा एवं बन्ध from योगउपनिषद् टीका of ब्रह्मयोगी (S)	1468 – 1515
65.	रुद्रयामल उत्तरतन्त्र by श्यामाकान्त द्विवेदी आनन्द (H)	1516 – 1520
66.	Sanskrit thesis ++ Hindi thesis + (H)	1521 – 1535
67.	योग विज्ञान by पीताम्बरा संस्कृत परिषद् दतिया (H)	1536 – 1553
68.	आध्यात्म अनुभव योग प्रकाश (H)	1554 – 1583
69.	पतञ्जली योग प्रदीप by गीताप्रेस गोरखपुर (H)	1584 – 1588
70.	20 योगउपनिषदों का पातञ्जल योग के साथ अध्ययन Hindi thesis +++ (H)	1589 – 1602
71.	योगचूडामणि Online (H)	1603 – 1612
72.	Hindi thesis (H)	1613 – 1618
73.	योगसार संग्रह by मुक्तबोध (S)	1619 – 1636
74.	Hindi thesis +++ (H)	1637 – 1657
75.	हठयोग प्रदीपिका by थियोसॉफिकल सोसाइटी मद्रास (S)	1658 – 1720
76.	योगतारावली हिन्दी (H)	1721 – 1725
77.	वैदिक षट्चक्र मण्डलम् (H)	1726 – 1732
78.	श्री ज्ञानेश्वरी हिन्दी by गीताप्रेस गोरखपुर (H)	1733 – 1741
79.	योग विद्या by त्रिलोकीनाथ (H)	1742 – 1757
80.	तन्त्र विज्ञान और साधना (H)	1758 – 1759
81.	~~[illegible]~~ आगमरहस्य हिन्दी (H)	1760 – 1767
82.	गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह (H)	1768 – 1772
83.	स्वरोदय विज्ञान +++ (H)	1773 – 1792
84.	तन्त्रालोक (32 आह्निकम्) (H)	1793 – 1818
85.	Hindi thesis on गोरखनाथ (H)	1819 – 1824
86.	सिद्धमहारहस्यं हिन्दी (H)	1825 – 1837
87.	श्री तन्त्रालोकः 32 आह्निकम् हिन्दी (H)	1838 – 1885
88.	तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड (H)	1886 – 1891
89.	जोगप्रदीपिका of जयतराम (H)	1892 – 1903
90.	श्री तन्त्रालोक 32 आह्निकम् हिन्दी (H)	1904 – 1977

Scanned by CamScanner

DATE : / /

91.	हठयोग प्रदीपिका एक अध्ययन (H)	1978 – 1990
92.	चक्र महाविज्ञान (H)	1991 – 1994
93.	तान्त्रिक मुद्रा विज्ञान (H)	1995 – 2000
94.	क्रियात्मक कुण्डलिनी तन्त्र (H)	2001 – 2007
95.	Sanskrit thesis ++ (S)	2008 – 2014
96.	Hindi thesis (H)	2015 – 2021
97.	दत्तात्रेय योगशास्त्र संस्कृत by मुक्तबोध (S)	2022 – 2024
98.	हठयोग हिन्दी (H)	2025 – 2034
99.	घेरण्ड संहिता संस्कृत (S)	2035 – 2048
100.	योगबीज old Published (H)	2049 – 2052
101.	घेरण्ड संहिता by भारतधर्म मण्डल प्रकाशन (H)	2053 – 2090
102.	गोरक्षशतकं संस्कृत by Sanskrit documents (S)	2091 – 2093
103.	मत्स्येन्द्र संहिता संस्कृत (S)	2094 – 2140
104.	जोग प्रदीपिका of जयतराम (H)	2141 – 2152
105.	Khechari Vidya of Adinatha English-Sanskrit (E)	2153 – 2460
106.	श्री मालिनी विजयोत्तर तन्त्र हिन्दी (H)	2461 – 2466
107.	वृहद स्वच्छन्द तन्त्र संस्कृत (S)	2467 – 2474
108.	श्री तन्त्रालोक 32 आह्निकम् हिन्दी (H)	2475 – 2548
109.	शिवसंहिता type + Manuscripts. (S)	2549 – 2571
110.	शिवसंहिता by मुक्तबोध (S)	2572 – 2584
111.	गुरुतत्व एवं पादुकापंचकम् (H)	2585 – 2593
112.	कुण्डलिनी शक्ति कैसे जागृत करें +++ (H)	2594 – 2630
113.	शिवसंहिता by चौखम्बा प्रकाशन (H)	2631 – 2648
114.	हठयोग प्रदीपिका by थियोसॉफिकल सोसाइटी मन्द्रास (S)	2649 – 2698
115.	घेरण्ड संहिता type pages + Manuscripts (S)	2699 – 2721
116.	हठयोग प्रदीपिका type Page + Manuscripts (S)	2722 – 2741
117.	हठयोग प्रदीपिका type Page + Manuscripts (S)	2742 – 2768
118.	हठयोग प्रदीपिका type Pages + Manuscripts (S)	2769 – 2811
119.	हठयोग प्रदीपिका type Pages + Manuscripts (S)	2812 – 2936
120.	many योग पाण्डुलिपियाँ (S)	2937 – 3083
121.	घेरण्ड संहिता English (E)	3084 – 3099

Scanned by CamScanner

DATE : / /

122.	हठयोग प्रदीपिका English Ⓔ	3100 – 3167
123.	शिव संहिता English Ⓔ	3168 – 3178
124	घेरण्ड संहिता English Ⓔ	3179 – 3194
125.	हठयोग प्रदीपिका English Ⓔ	3195 – 3213
126.	many योग पाण्डुलिपियाँ Ⓢ	3214 – 3348
127.	घेरण्ड संहिता by खेमराज कृष्णदास प्रकाशन Ⓗ	3349 – 3369
128	बृहद योग सोपान by खेमराज कृष्णदास प्रकाशन Ⓗ	3370 – 3380
129.	गोरक्ष पद्धति by खेमराज कृष्णदास प्रकाशन Ⓗ	3381 – 3411
130.	योग मार्तण्ड संस्कृत Ⓢ	3412 – 3414
131.	सिद्ध विद्या योग संस्कृत पाण्डुलिपि Ⓢ	3415 – 3419
132.	उपासना सार संग्रह संस्कृत पाण्डुलिपी Ⓢ	3420 – 3432
133.	शाम्भवी योग तन्त्र संस्कृत Ⓢ	3433 – 3440
134.	शिवयोग दीपिका संस्कृत Ⓢ	3441 – 3442
135.	योग मार्तण्ड संस्कृत Ⓢ	3443 – 3444
136.	वराही तन्त्र संस्कृत by मुक्तबोध Ⓢ	3445 – 3486
137.	Hindi thesis +++ Ⓗ	3487 – 3506
138.	हठयोग प्रदीपिका हिन्दी by चमनलाल गौतम Ⓗ	3507 – 3558
139.	हठयोग प्रदीपिका with टीका by खेमराज कृष्णदास प्रकाशन Ⓗ	3559 – 3619
140.	कौलज्ञान निर्णय by श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द' Ⓗ	3620 – 3634
141.	Sanskrit thesis +++ Ⓢ	3635 – 3653
142.	Sanskrit thesis +++ Ⓢ	3654 – 3668
143.	Hindi thesis +++ Ⓗ	3669 – 3703
144.	Sanskrit thesis Ⓢ	3704 – 3712
145.	योग रहस्य by बाबा रामदेव Ⓗ	3713 – 3714
146.	Sanskrit thesis +++ Ⓢ	3715 – 3725
147.	योग बीज संस्कृत Ⓢ	3726 – 3728
148.	कौलज्ञान निर्णय by श्यामाकान्त द्विवेदी आनन्द Ⓗ	3729 – 3730
149.	विवेक मार्तण्ड संस्कृत पाण्डुलिपि Ⓢ	3731 – 3735
150.	उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय +++ Ⓗ	3736 – 3778
151.	नाथ परम्परा की साधना पद्धति हिन्दी Ⓗ	3779 – 3790
152.	योगी गुरु हिन्दी Ⓗ	3791 – 3794

Scanned by CamScanner

153.	सरल योग हिन्दी (H)	3795 - 3797
154.	नाथ योग: स्वरूप एवं साधना by गोरखनाथ मन्दिर प्रकाशन (H)	3798 - 3819
155.	त्रिपुरासार समुच्चय (H)	3820 - 3822
156.	उपनिषद् शाब्दिक व्याख्या से (H)	3823 - 3835
157.	20 योग उपनिषद् with टीका of ब्रह्मयोगी संस्कृत (S)	3836 - 3879
158.	Hindi thesis (H)	3880 - 3901
159.	रुद्रयामल उत्तरतन्त्र में कर्मकाण्ड + तन्त्र साधना सार हिन्दी (H)	3902 - 3930
160.	अमृतसिद्धि योग of विरूपाक्षसिद्ध (Online) (E)	3931 - 3941
161.	सार्नगुरु हिन्दी (H)	3942 - 3946
162.	कपालकुरण्टक: हठाभ्यास पद्धति (Online) (E)	3947 - 3966
163.	नाथ सम्प्रदाय: यौगिक तान्त्रिक साधनायें by श्यामाकान्त द्विवेदी Online (H)	3967 - 4055
164.	विभिन्न पुस्तकों से (H)	4056 - 4076
165.	वराही तन्त्र संस्कृत by मुक्तबोध (S)	4077 - 4124
166.	योगसार संग्रह मराठी - संस्कृत (S)	4125 - 4132
167.	बहिरंग योग हिन्दी (H)	4133 - 4144
168.	योगसार संग्रह by मुक्तबोध (S)	4145 - 4157
169.	यति दण्ड ऐश्वर्य विधान हिन्दी +++ (H)	4158 - 4169
170.	विविध पुस्तकों से (H)	4170 - 4185
171.	षट्चक्र निरूपणं (3 books हिन्दी + संस्कृत) (H) (S)	4186 - 4199
172.	योग प्रदीपिका हिन्दी +++ (H)	4200 - 4221
173.	आगम रहस्य हिन्दी (H)	4222 - 4229
174.	आगम रहस्य संस्कृत (S)	4230 - 4234
175.	Hindi thesis +++ (H)	4235 - 4243
176.	Sanskrit thesis +++ (S)	4244 - 4256
177.	Sanskrit thesis (S)	4257 - 4284
178.	संत कबीर का सहजयोग हिन्दी (H)	4285 - 4293
179.	विविध पुस्तकों से (H)	4294 - 4331
180.	उत्तरषट्कम कुलदीपिका संस्कृत (S)	4332 - 4337
181.	हठतत्व कौमुदी संस्कृत (S)	4338 - 4373
182.	वरिवस्या रहस्य हिन्दी (H)	4374 - 4378
183.	विविध पुस्तकों से (H)	4379 - 4438

Scanned by CamScanner

PAGE NO.:
DATE: / /

184.	मुद्राबन्ध चित्रावली +++	4439 – 4456
185.	वृहद स्वच्छन्द संग्रह तन्त्र संस्कृत (S)	4457 – 4468
186.	योग साधना के सोपान हिन्दी (H)	4469 – 4473
187.	अमृतसिद्धियोग Sanskrit thesis +++ (S)	4474 – 4479
188.	कुण्डलिनी जागरण के सोपान (H)	4480 –
189.	विविध पुस्तकों से (H)	4481 – 4492
190.	Sanskrit thesis (S)	4493 – 4510
191.	Hindi thesis (H)	4511 – 4516
192.	Hindi thesis +++ (H)	4517 – 4533
193.	Ten Yogic Mudras: Sanskrit thesis ++++ (S)	4534 – 4818
194.	नाथ परम्परा की साधना पद्धति+ (H)	4819 – 4831
195.	20 योग उपनिषद according to पतंजलीय योग thesis by मीनाक्षी वर्मा (H)	4832 – 4835
196.	श्री धर्मकल्पद्रुम (H)	4836 – 4845
197.	मुद्रा: विज्ञान एवं साधना (H)	4846 – 4882
198.	पतंजली योग प्रदीप (H)	4883 – 4888
199.	विविध पुस्तकों से संग्रहित (H)	4889 – 4898

Scanned by CamScanner

PAGE NO.:
DATE: / /

184.	मुद्राबन्ध चित्रावली +++	4439 – 4456
185.	वृहद स्वच्छन्द संग्रह तन्त्र संस्कृत (S)	4457 – 4468
186.	योग साधना के सोपान हिन्दी (H)	4469 – 4473
187.	अमृतसिद्धियोग Sanskrit thesis +++ (S)	4474 – 4479
188.	कुण्डलिनी जागरण के सोपान (H)	4480 –
189.	विविध पुस्तकों से (H)	4481 – 4492
190.	Sanskrit thesis (S)	4493 – 4510
191.	Hindi thesis (H)	4511 – 4516
192.	Hindi thesis +++ (H)	4517 – 4533
193.	Ten Yogic Mudras: Sanskrit thesis +++∞ (S)	4534 – 4818
194.	नाथ परम्परा की साधना पद्धति+ (H)	4819 – 4831
195.	20 योग उपनिषद according to पंतजलीय योग thesis by मीनाक्षी वर्मा (H)	4832 – 4835
196.	श्री धर्मकल्पद्रुम (H)	4836 – 4845
197.	मुद्राः विज्ञान एवं साधना (H)	4846 – 4882
198.	पंतजली योग प्रदीप (H)	4883 – 4888
199.	विविध पुस्तकों से संग्रहित (H)	4889 – 4898
200.	विविध पुस्तकों से संग्रहित (H)	4899 – 4907
201.	विज्ञान भैरव तन्त्र (H)	4908 – 4922
202.	संस्कृत thesis Hand written (S)	4923 – 4927
203.	श्री विद्या साधना (H)	4928 – 4929
204.	स्पन्द कारिका (H)	4930 – 4932
205.	Hindi thesis (H)	4933 – 4946
206.	10 Yogic Mudras Sanskrit thesis (S)	4947 – 4953
207.	हठ रत्नावली (S)	4954 – 4984
208.	हठयोग प्रदीपिका with टीका by खेमराज प्रकाशक (H)	4985 – 5093
209.	हठयोग प्रदीपिका by Sanskrit documents.org (S)	5094 – 5109
210.	योग रहस्य by खेमराज प्रकाशन (H)	5110 – 5123
211.	योग चिकित्सा by चमनलाल गौतम (H)	5124 – 5132
212.	सौंदर्यलहरी (H)	5133 – 5150
213.	घेरण्ड संहिता by चौखम्भा प्रकाशन (H)	5151 – 5174
214.	साधना और सिद्धि (H)	5175 – 5183

Scanned by CamScanner

२१५.	योग दीपिका of B.K.S अय्यंगर (H)	5184 - 5187
२१६.	विविध पुस्तकों से संगृहित (H)	5188 - 5194
२१७.	सौन्दर्य लहरी (H)	5195 - 5205

Scanned by CamScanner

Date __/__/__

क्र०	पुस्तक नाम	पत्र संख्या
218.	भूतशुद्धि तन्त्र (H)	5214 – 5215
219.	योग-रहस्य in marathi (m)	5216 – 5244
220.	योगसार (H)	5245 – 5249
221.	सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति (H)	5250 – 5255
222.	योगवार्ता पत्रिका (H)	5256 – 5257
223.	हठयोग प्रदीपिका by खेमराज प्रकाशन (H)	5258 – 5263
224.	विविध पत्र (H)	5264 – 5265
225.	हठयोग प्रदीपिका Sanskrit manuscript (S)	5266 – 5280
226.	योगिनी हृदयं (H)	5281 – 5283
227.	2-Hindi thesis (H)	5284 – 5304
228.	योग-चरित्र मानस according to Ramayan (H)	5305 – 5310
229.	शिवयोगदीपिका Sanskrit thesis (S)	5311 – 5320
230.	घेरण्ड संहिता in ब्रज भाषानुवाद (H)	5321 – 5348
231.	योग चिन्तामणि Sanskrit manuscript (S)	5349 – 5373
232.	मुद्रा तथा बन्ध from a Hindi thesis (H)	5374 – 5379
233.	पथ्याहार तथा त्रि-बन्ध in Yoga concordance dectionary (S)	5380 – 5384
234.	स्वामी नारायण भाष्य on योगदर्शन (S)	5385 – 5389
235.	श्री विद्यार्णव तन्त्र (H)	5390 – 5398
236.	मुद्रा तथा बन्ध from a Hindi thesis (H)	5399 – 5405
237.	योग-निबन्ध of भवदेव +++ (S)	5406 – 5411
238.	योग तारावली व्याख्या by रामस्वामि पण्डित thesis (S)	5412 – 5437
239.	सुभगोदय स्तोत्र तन्त्र with Sanskrit teeka (S)	5438 – 5468
240.	योग सिद्धान्त by चन्द्र मोहन (H)	5469 – 5473
241.	योग book by सीताराम योग मराठी (m)	5474 – 5476
242.	हठ योग प्रदीपिका by चमन लाल गौतम + (H)	5477 – 5528
243.	योग सिद्धान्त by चन्द्र मोहन (H)	5529 – 5537
244.	गोरक्ष संहिता by चमन लाल गौतम +++ (H)	5538 – 5578
245.	हठ योग प्रदीपिका by चमन लाल गौतम +++ (H)	5579 – 5632
246.	जोग प्रदीपिका of जयतराम (H)	5633 – 5652
247.	मुद्रा तथा बन्ध in marathi ++ (m)	5653 – 5687
248.	त्रिपुरा-सार समुच्चय (H)	5688 – 5709
249.	हठ योग प्रदीपिका by चमन लाल गौतम (H)	~~5710 – 5731~~
250.	योग मनोविज्ञान (विशद कुण्डलिनी वर्णन) +++ (H)	5732 – 5743

क्रमांक	पुस्तक नाम	पृष्ठ-संख्या
२५१.	A hindi thesis (H)	5743 – 5759
२५२.	from a hindi thesis ++ (H)	5760 – 5848
२५३.	सौन्दर्यलहरी + विभिन्न टीका (S)	5849 – 5898
२५४.	सौन्दर्यलहरी by विष्णुतीर्थ महाराज (H)	5899 – 5909
२५५.	चरणदास की साधना (H)	5910 – 5928
२५६.	कुण्डलिनी शक्ति by विष्णुतीर्थ महाराज (H)	5929 – 5939
२५७.	विज्ञान भैरव तन्त्र by बाबूलाल ओझा + द्विवेदी (H)	5940 – 5973
२५८.	नाथ परम्परा की साधना पद्धति + A thesis (H)	5974 – 5996
२५९.	मुद्रा तथा बन्ध from उपनिषद् A thesis++ (H)++	5997 – 6041
२६०.	from (2) hindi thesis (H)	6042 – 6050
२६१.	Hathayoga by kabira and Gyaneshwar (H)	6051 – 6062
२६२.	from A hindi thesis (H)	6063 – 6068
२६३.	from A Hindi thesis (H)	6069 – 6076
२६४.	कौलज्ञान निर्णय by श्यामाकान्त द्विवेदी (H)	6077 – 6101
२६५.	उड्डियान बन्ध तथा नौली क्रिया विशेष वर्णन (H)	6102 – 6116
२६६.	वराह उपनिषद् (H)	6117 – 6123
267.	योगासन by शिवानन्द (H)	6124 – 6129
268.	हठयोग by स्वामी शिवानन्द (H)	6130 – 6138
269.	त्रिबन्ध वर्णन (H)	6139 – 6146
270.	व्याख्याकारों की दृष्टि से पतञ्जलि योगसूत्र (H)	6147 – 6152
271.	पातञ्जल योग-प्रदीप by गीता प्रेस (H)	6153 – 6158
272.	अग्निसार एवं बन्ध वर्णन (H)	6159 – 6164
273.	A hindi thesis +++ (H)	6165 – 6203
274.	A hindi thesis +++ (H)	6204 – 6229
२७५.	तन्त्रे कुण्डलिनी शक्ति +++ (S)	6230 – 6237
२७६.	Mudra and Bandha from H.P and H.T.K. (E)(S)	6238 – 6277
२७७.	कुण्डलिनी व्यापक वर्णन ++++ (H)	6278 – 6296
२७८.	योग-चिन्तामणि +++ (S)	6297 – 6315
२७९.	प्राणायाम (H)	6316 – 6332
२८०.	हठतत्व कौमुदी (H)	6333 – 6349

Scanned by CamScanner

मुद्राओं के विभिन्न भेद

१. महामुद्रा और उसका स्वरूप

साधक को बाएं पैर की एड़ी से गुदा एवं पेट के मध्य में स्थित योनिस्थान को बड़ी कोमलतापूर्वक दबाकर दायें पैर को फैलाकर और दोनों हाथों से अंगूठे को पकड़कर शरीर के नवों द्वारों को रोककर ठोढ़ी को हृदयस्थल पर संयत करके तथा चित्त को परमात्मा में निलीन (एकाग्र) करके वायु-साधन का अभ्यास करना चाहिए। यही योग-शास्त्र में महामुद्रा कही जाती है।[१]

इस मुद्रा-साधना में साधक को स्थिर मन से प्रथमत: वामांग से अभ्यासारम्भ करना चाहिए और उसके बाद दायें अंग से करना चाहिए। दोनों अंगों से अभ्यास करते समय साधक को प्राणायाम का अभ्यास समान रूप से करना चाहिए। इस अभ्यास से तो मन्द-भाग्य योगी भी सिद्ध हो जाता है।

महामुद्राभ्यास से (प्राणायामाभ्याम के माध्यम से) शरीर की समस्त नाड़ियों का सञ्चालन एवं चालन होता है; उनमें वायु का संचार हो जाता है और स्फूर्ति आ जाती है।[२]

महामुद्रा-साधना के लाभ (शिवसंहिता[३])—

---

१. शिवसंहिता

२. शिवसंहिता इसके करने से क्षय, बवासीर, प्लीहा, अपच, कुष्ठ, मलावरोध समाप्त हो जाता है।

३.
अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम्।।
जीवनं तु कषायस्य पातकानां विनाशनम्।
कुण्डली-तापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम्।।
सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम्।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम्।।
वाञ्छितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणम्।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगरूढ़स्य योगिन:।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा।।
गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।
यां तु प्राप्य भवाम्भोधे: पारं गच्छन्ति योगिन:।।
मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता।
गुप्ताचारेणा कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित्।।

14854

१. महामन्द भाग्य वालों को भी सिद्धि की प्राप्ति।

२. शरीर की समस्त नाड़ियों का चालन (गतिमयता) और सभी नाड़ियों में वायु-संचार एवं स्फूर्ति।

३. वीर्य की स्थिरता।

४. जीवन में स्थैर्य एवं समस्त पापों का क्षय।

५. कुण्डलिनी शक्ति की प्रबुद्धता और उसका वायुसहित ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश।

६. समस्त रोगों का नाश।

७. जठराग्नि की प्रदीप्ति।

८. शरीर में कान्ति।

९. जरा-वार्धक्य एवं मृत्यु का नाश।

१०. मनोकामनाओं की पूर्ति।

११. सुख की प्राप्ति।

१२. इन्द्रियों पर विजय।

१३. सब कुछ की सिद्धि।

१४. संसार-सागर से पार होना।

हठयोगप्रदीपिका में स्वात्माराम मुनीन्द्र महामुद्रा-साधन के निम्न लाभ बनाते हैं—

१. आधार शक्ति कुण्डली ऋज्वीभूत (सरल) हो जाती है।

२. महाक्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश) का अन्त।

३. द्विपुटाश्रया इड़ा-पिंगला नाड़ी की मरणावस्था आ जाती है (सुषुम्णा नाड़ी में प्राण-प्रवेश)।

४. इड़ा-पिंगला की मृत्यु।

५. इसके साधक को पथ्यापथ्य का विचार नहीं करना पड़ता।

६. समस्त छ: हों प्रकार के रसों की सुपाच्यता।

७. खादित विष भी अमृत बन जाता है।

८. क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त, गुल्म एवं इनसे सम्भूत रोगों का नाश।

९. महान् सिद्धियाँ प्रदान करता है।

१०. अजीर्ण का नाश।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसा: सर्वेऽपि नीरसा:।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति।।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमा: ।
तस्या दोषा: क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।।

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।। (ह० प्र०)

महामुद्रा दसों मुद्राओं में प्रथम मुद्रा है। इसकी साधना-विधि यह है कि वाम पाद के मूल (तलभाग) से अर्थात् पार्ष्णि से योनि-स्थान (गुदा-लिंग का मध्यभाग) को सम्यक् रूप से सम्पीड़ित करके (दबाकर) और दक्षिण पैर को फैलाकर (दक्षिण पाद की पार्ष्णि अर्थात् एडी को भूमि से मिलाकर) और उसकी उँगलियों को ऊपर करके उस दक्षिण पाद को सिकुड़ी हुई दोनों हाथों की तर्जनियों से दृढ़तापूर्वक अंगुष्ठ के स्थान में जोर से पकड़ना चाहिए। कण्ठ प्रदेश में भली प्रकार जालन्धर नामक बन्ध लगाकर वायु को ऊर्ध्व देश (सुषुम्ना) में धारण करना चाहिए। ब्रह्मानन्द ज्योत्स्ना में कहते हैं कि— साम्प्रदायिकों का कथन है कि मूलबन्ध तो योनि के सम्पीड़न एवं जिह्वा के बन्धन से ही चरितार्थ है; पृथक् रूप से मूलबन्ध लगाने का कोई प्रयोजन ही नहीं है।[१]

घेरण्डसंहिता में इस विधान को और अधिक सुस्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इसके साधन में— गुह्यप्रदेश को दृढ़तापूर्वक बायीं एड़ी से दबाना चाहिए, दाहिने पैर को फैलाकर हाथ से पैर की उँगलियों को पकड़ना चाहिए और कण्ठ को सिकोड़कर भौहों के मध्य स्थान में देखना चाहिए। यही 'महामुद्रा' है—

पायुमूलं वामगुल्फे सम्पीड्य दृढ़यत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदाङ्गुलः।।

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः।।

ग्रहयामल में कहा गया है—

योनिप्रदेश को बायीं एड़ी से दबाकर दक्षिण पाँव को फैलाकर मुंह को दोनों हाथों से पकड़कर और उसे कण्ठ में सिकोड़कर कुम्भक करते हुए वायु को रोके।

ऐसा करने से डण्डे से घायल (चोट खाये) सर्प के समान कुण्डलिनी खड़ी हो जाती है (जैसे आहत सर्प)। इस प्रकार कुटिला (टेढ़ी) कुण्डलिनी सरल भाव ग्रहण कर लेती है।

इसके बाद कुम्भक से भरी वायु का रेचन कर देना चाहिए। यही साधना-विधि महामुद्रा है—

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणे।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढम्।।

कण्ठे वक्त्रं समारोप्य धारयेद् वायुमूर्ध्वतः।
यथादण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।।

१. हठयोगप्रदीपिका-ज्योत्स्ना।

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता।।

तदा शनैः शनैरेव रेचयेत् नैव वेगतः।
इयं खलु महामुद्रा तव स्नेहात् प्रकाश्यते।।

ग्रहयामल में इसकी साधना के अन्य फल भी बताए गए हैं—

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रा तु तेनैव समाख्याता महेश्वरी।।

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्याङ्गेन समभ्यसेत्।
यावत्संख्या भवेत्तस्या ततः संख्यां विसर्जयेत्।।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति।।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुदप्लीहपुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत्।।

कथितेयं महामुद्रा जरामरणनाशिनी।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।।

अर्थात् महाक्लेशादि एवं मरणादि दोष भी महामुद्रा के अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं। चन्द्रस्वर का अभ्यास करके सूर्यांग से निश्चित संख्यापर्यन्त अभ्यास करने से पथ्यापथ्य एवं विष भी खाने पर पच जाते हैं। क्षयादिक रोग, जरा, मरण आदि सभी का महामुद्रा से नाश हो जाता है।

स्वात्माराम मुनीन्द्र ने भी 'हठयोगप्रदीपिका' इसी तथ्य की इन शब्दों द्वारा पुष्टि की है—

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः।।

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत्।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्।।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति।।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।।

२. महाबन्ध और उसका स्वरूप

स्वात्माराम मुनीन्द्र ने हठयोगप्रदीपिका में जिन १० मुद्राओं का उल्लेख किया है, उनमें 'महाबन्ध' द्वितीय मुद्रा है—

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रा दशकं जरामरणनाशनम्।।

इस मुद्रा का विधान इस प्रकार है कि इसमें साधकों को वाम चरण की पार्ष्णि को योनिस्थान में (गुदा-लिंग के मध्य स्थान में) लगाना चाहिए तथा वाम जंघा के ऊपर दक्षिण पाद (दाहिने पैर) को रखना चाहिए। इसी स्थिति में बैठना चाहिए—

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरुपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।।

इसके अनन्तर पूरक करना चाहिए और हृदय में दृढ़तापूर्वक चिबुक (ठोढ़ी) को साध कर (जालन्धर बन्ध लगाकर) योनि (गुदा-लिंग का मध्य भाग) को संकुचित करके (मूलबन्ध लगाकर) मन को मध्य नाड़ी में प्रवेश कराना चाहिए।

फिर वायु को यथाशक्ति (कुम्भक के द्वारा) धारण करके शनैः-शनैः वायु का रेचन कर देना चाहिए। इसी प्रकार वामांग में भी भली प्रकार अभ्यास करने के बाद दक्षिणांग में इसका अभ्यास करना चाहिए और यह अभ्यास तब तक करते रहना चाहिए, जब तक कि वामांगाभ्यास की संख्या के बराबर न हो जाय।

जहाँ तक जालन्धर बन्ध में कण्ठ के संकोच का उपयोग है, उसके विषय में किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का कथन है कि इस जालन्धर बन्ध में कण्ठ का जो बन्धन (संकोच) है, उसे छोड़ देना चाहिए; क्योंकि दाढ़ (राजदन्त) के ऊपर अवस्थित जिह्वा का बन्ध ही जालन्धर बन्ध में उचित है; कण्ठ-संकोच की अपेक्षा वही उत्तम है। स्वात्माराम कहते हैं—

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढ़म्।
निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत्।।

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत्।।

मतमत्र तु केषाञ्चित् कण्ठबन्धं विवर्जयेत्।
राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धः शस्तो भवेदिति।।

शिवसंहिता में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

दाहिना पैर फैलाकर, बायीं जांघ पर रखकर, गुदा और योनि को सिकोड़ कर अपान

वायु को ऊपर चढ़ाकर प्राणवायु को नीचे की ओर खींचकर दोनों को (नाभिस्थल में) समान वायु से संयुक्त करके ऊपर उठाने के लिए इस महाबन्ध का अभ्यास जो साधक करता है, उसके लिए यह (महाबन्ध) सिद्धिमार्गदायक कहा गया है। योगी के नाड़ी-जाल से रसव्यूह ऊपर की ओर जाता है। इस महाबन्ध का अभ्यास बड़ी सावधानी से दोनों पैरों से बारी-बारी से करना चाहिए। इस बन्ध के अभ्यास से सुषुम्णा नाड़ी के भीतर वायु स्थित हो जाती है। इसके अभ्यास से शरीर के अस्थिपञ्जर का ढांचा सुदृढ़ होता है। सभी बन्ध संयत होते हैं और योगी का हृदय सन्तुष्ट हो जाता है।

इस महाबन्ध के अभ्यास से योगीन्द्र अपनी समस्त इच्छायें पूरी कर सकता है।[१]

घेरण्डसंहिता में ऋषि घेरण्ड ने इस मुद्रा को इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयास किया है— बायीं एड़ी से गुदामूल का निरोध करके दाहिने पैर से यत्नपूर्वक बायीं एड़ी को दबाता हुआ धीरे-धीरे गुह्यदेश को चालित करे एवं धीरे-धीरे गुह्यदेश को सिकोड़े तथा जालन्धर बन्ध से प्राणवायु को धारण करे। इसी मुद्रा की आख्या है— 'महाबन्ध'। ऋषि घेरण्ड कहते हैं कि महाबन्ध सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ है। यह जरा-मृत्यु को दूर करती है। इसके प्रभाव से सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं—

महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशनः।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम्।।

महाबन्ध मुद्रा के फल— स्वात्माराम मुनीन्द्र हठयोगप्रदीपिका में कहते हैं कि महाबन्ध (राजदन्तों में स्थित जिह्वा का बन्ध) ७२००० नाड़ियों की ऊर्ध्व गति का प्रतिबन्धक है। नाड़ियों के जाल का जो बन्धन करे, उसे 'जालन्धर बन्ध' कहते हैं। महा-बन्ध महासिद्धियों का प्रदायक है—

अयं तु सर्वनाड़ीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः।।

---

१. ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि।।
गुदयोनिं समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम्।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम्।।
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः।।
नाड़ीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं याति योगिनः।
उभाभ्यां साधयेत् पद्भ्यामेकैकेसु प्रयत्नतः।।
भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामध्यसङ्गतः।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपञ्जरे।।
सम्पूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः।
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम्।। (शिवसंहिता-३७-४२)

इतना ही नहीं; यह मुद्रा मृत्युपाशस्वरूप महाबन्धन से मुक्ति प्रदान कराती है; तीन नदियों के संगम (प्रयाग) को धारण करती है और भृकुटियों के मध्य स्थान में अवस्थित भगवान् शिव के धाम केदार तीर्थ को भी प्राप्त कराती है—

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षण: ।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मन:।।

३. महावेध और उसका यथार्थ स्वरूप

स्वात्माराम मुनीन्द्र हठयोगप्रदीपिका में कहते हैं कि योगी महाबन्ध मुद्रा में स्थित होकर एकाग्र बुद्धि से पूरक प्राणायाम करके कण्ठमुद्रा (जालन्धर मुद्रा) से प्राणादिक वायुओं को (जो कि ऊर्ध्व अधोगत्यात्मक हैं) निश्चल रीति से अवरुद्ध करके (कुम्भक प्राणायाम करके), हाथ के तलों को भूमि पर रखकर और इन भूमिसंलग्न दोनों हाथों से योनि-स्थान-संलग्न पार्ष्णि वाले वाम पाद से नितम्ब को ऊपर उठाकर धीरे-धीरे ताडित करे।

इसके परिणामस्वरूप इडा-पिंगला के मार्ग का त्याग करके प्राण सुषुम्णा नाड़ी में प्रवाहित होने लगता है। फिर चन्द्रमा-सूर्य-अग्नि से अधिष्ठित इड़ा-पिंगला-सुषुम्णा नाड़ियों की वायु एक हो जाती है। इड़ा-पिंगला के मध्य प्राण-सञ्चार अवरुद्ध हो जाने से उनकी मरणावस्था आ जाती है; क्योंकि इड़ा-पिंगला में प्राण-सञ्चार ही उनका जीवन है। इस मरणावस्था के प्रस्तुत होने पर वायु का विरेचन कर देना चाहिए।[१]

इसी यौगिक मुद्राभ्यास को 'महावेध' कहते हैं।

घेरण्डसंहिता में इस विधान को और अधिक सुस्पष्ट रीति से समझाते हुए कहा गया है कि प्रथमत: महाबन्धमुद्रा का अभ्यास करे और फिर उड्डीयान बन्ध करके कुम्भक द्वारा वायु का स्तम्भन करे इसे ही 'महावेध' कहते हैं।[२]

शिवसंहिता में इसके स्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— अपान एवं प्राण को एकीकृत करके महावेध में स्थित होकर योगी अपने उदर को वायु से पूरित करके दोनों पार्श्वों को ताड़ित करे। यही 'महावेध' का स्वरूप है।[३]

अभ्यासपटु योगी वायु के द्वारा सुषुम्णा मार्ग में स्थित ग्रन्थि को अच्छी तरह संविद्ध

---

१. महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधी:। वायूनां गतिमावृत्त्यां निभृतं कण्ठमुद्रया।।
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनै:। पुटद्वयमतिक्रम्य वायु: स्फुरति मध्यग:।।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै। मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत्।।

२. महाबन्धं समारुह्य उड्डीयानकुम्भकं चरेत्। महावेध: समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायक:।।

३. अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना।
स्फिचौ सन्ताडयेद्धीमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया।।

करके ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करता है। जो योगी महावेध को गोपनीय रखकर सदैव इसका अभ्यास करता रहता है, उसकी वायु सिद्ध हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप उसके वार्धक्य एवं मृत्यु का नाश हो जाता है। वृद्धावस्था तारुण्य में रूपान्तरित हो जाती है और मृत्यु उसके वशीभूत हो जाती है।

महावेध के अभ्यास से रहित महामुद्रा और महाबन्ध दोनों निष्फल हो जाते हैं। अत: योगी को महामुद्रा, महाबन्ध एवं महावेध— तीनों का अभ्यास यथाक्रम बड़ी ही सावधानी-पूर्वक करना चाहिए।

प्रत्येक योगी को (सिद्धि-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले योगी को) इन तीनों अभ्यासों को सावधानीपूर्वक गोपनीय रखना चाहिए; अन्यथा गोपनीयता नष्ट होने पर सिद्धि भी नष्ट हो जाती है।[१]

महावेध का महत्त्व— जिस प्रकार पुरुषों के विना नारी का समस्त रूप-लावण्य एवं यौवन व्यर्थ रहता है, उसी प्रकार महावेध के विना मूलबन्ध एवं महाबन्ध भी व्यर्थ एवं निरर्थक हो जाते हैं—

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना।
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना यथा।।[२]

यह महासिद्धिदायक मुद्रा है—

महाबन्धं समारुह्य उड्डीयानकुम्भकं चरेत्।
महावेध: समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायक:।।

जो योगी प्रतिदिन महावेध के साथ महाबन्ध एवं मूलबन्ध का अभ्यास करते हैं, वे योगी योगियों में श्रेष्ठ हो जाते हैं और उन पर वृद्धावस्था आक्रमण नहीं करती। यह परम गुह्य अभ्यास है; अत: इसे सदैव गोपनीय रखना चाहिए।[३]

महावेध के अभ्यास का फल

१. सुषुम्णा में प्राण-सञ्चरण (प्राणवायु की मध्य नाड़ी में गति)।
२. इडा-पिंगला की (वायु-सञ्चार न होने से) मृत्यु।

---

१. गोपनीया प्रयत्नेन साधकै: सिद्धिमीप्सुभि:।
अन्यथा च न सिद्धि: स्यान्मुद्राणामेष निश्चय:।। (शिवसंहिता)

२. घेरण्डसंहिता

३. महाबन्धमूलबन्धौ महावेधसमन्वितौ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तम:।।
न च मृत्युभयं तस्य न जरा तस्य विद्यते।
गोपनीय: प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुङ्गव:।।
(घेरण्डसंहिता-२३-२४)

३. सोम, सूर्य, अग्नि (इड़ा-पिंगला-सुषुम्णा) का मोक्ष का साधन बन जाना (जायते चामृताय वै)।

४. अणिमादिक सिद्धियों की प्राप्ति। वली-पलित-वेपथु का नाश (केशों की शुक्लता का दूरीकरण)।

५. अणिमादिक सिद्धियों की प्राप्ति। वली-पलित-वेपथु का नाश (केशों की शुक्रता का दूरीकरण)।

६. जरा-मृत्यु का नाश।

७. वह्नि-वृद्धि[१]।

८. वायु-सिद्धि।

९. वार्धक्य-जरा-क्षय।

१०. सुषुम्णा मार्ग से वायु के प्रवेश एवं ताडन से सभी चक्र एवं उनके देवता— गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, ईश्वर आदि का प्रकम्पित होने लगना।

११. कुण्डलिनी शक्ति का जागृत होकर कैलास (ब्रह्मस्थान) में लीन हो जाना।

१२. तीनों मुद्राओं के अभ्यास से ६ मासों में मृत्यु पर विजय।

१३. सिद्धि की प्राप्ति[२]।

तीनों क्रियाओं के अभ्यास की संख्या का विधान निम्नानुसार है—

अष्टधा क्रियते चैव यामे-यामे दिने-दिने।
पुण्यसम्भारसन्धायि पापौघभिदुरं सदा।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम्।।

(हठयोगप्रदीपिका-३.२१)

---

१. सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत्।।
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः।।
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम्।। (हठयोगप्रदीपिका)

२. वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुङ्गवः।
ग्रन्थिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्यसौ।।
यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम्।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी।।
चक्रमध्ये स्थिताः देवाः कम्पन्ति वायुताडनात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते।।
एतत् त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः।। (शिवसंहिता)

४. खेचरी मुद्रा और उसका स्वरूप

कपाल छिद्र में जिह्वा-प्रवेश के साथ भृकुटियों के मध्य का दर्शन करना ही खेचरी मुद्रा कहलाती है—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।

(हठयोगप्रदीपिका-३.३२)

खेचरी मुद्रा की साधना-विधि— जिह्वा के नीचे जिह्वा और उसकी जड़ को मिलाने वाली जो नाड़ी है, उसका छेदन करता हुआ निरन्तर रसनाग्र भाग को परिचालित करे। ऐसा प्रतिदिन करने से जिह्वा बड़ी हो जाती है। क्रम से अभ्यास द्वारा जिह्वा को इतनी लम्बी करे कि वह भौंहों के मध्य तक पहुँच जाय। जिह्वा को क्रमशः तालुमूल में ले जाना चाहिए। तालु के मूल में जो गर्त (गड्ढा) है, उसे 'कपालकुहर' कहते हैं। जिह्वा को कपाल-कुहर के मध्य ऊपर की ओर उल्टी करके स्थापित करना चाहिए और दोनों भौंहों के मध्य स्थान को लगातार देखना चाहिए। यही विधि एवं विधान 'खेचरी मुद्रा' है।[१]

योगसाधक को अनेक प्रकार के साधन-सम्बन्धी विघ्नों या उपद्रवों को दूर करके वज्रासनस्थ होकर, दोनों भौंहों के मध्य में दृढ़तापूर्वक दृष्टि को संयत करके लम्बिका के ऊपर स्थित गर्त में रसना को उलटकर प्रयत्नपूर्वक सुधाकूप (अमृत के कूपस्वरूप तालु-विवर) में संयोजित करना चाहिए।[२]

यह खेचरी मुद्रा समस्त सिद्धियाँ प्रदान करने वाली है। भगवान् शिव कहते हैं कि खेचरी मुद्रा मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है—

---

१ जिह्वाधोनाड़ीसञ्छिन्नां रसनां चालयेत् सदा।
दोहयेन्नवनीतेन लोहयन्त्रेण कर्षयेत्।।
एवं नित्यं समाभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।
यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी।।
रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत्।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।
(घेरण्ड संहिता-२५-२७)

२. भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः।।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः।।
लम्बिकोर्ध्वे स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम्।।
संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः।।५३।।
(शिवसंहिता-५१-५३)

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया।

यदि साधक इसका निरन्तर अभ्यास करता रहे तो वह अमृतपान करने लगता है। उसका शरीर पक्व-पुष्ट हो जाता है। यह खेचरी मुद्रा मृत्युरूपी हाथी के लिए साक्षात् सिंह के समान है। साधक चाहे कितना भी अपवित्र क्यों न हो; किन्तु यदि उसकी खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है तो वह सभी अवस्थाओं में शुद्ध हो जाता है। जो योगी मात्र आधे क्षण के लिए ही इस खेचरी मुद्रा का अभ्यास करता है, वह पाप-महासागर को भी पार करके समस्त दिव्य भोगों का आस्वादन करता है। यदि उसे जन्म भी लेना पड़े तो पवित्र कुल में ही जन्म लेता है।

जो योगी इस मुद्रा का अभ्यास स्वस्थ चित्त एवं प्रमादरहित होकर करता है, उसके लिए सैकड़ों ब्रह्मा के कार्यकाल व्यतीत हो जाने पर भी वह आधे क्षण के ही समान प्रतीत होता है। गुरु के उपदेश से जिस साधक को यह खेचरी सिद्ध हो जाती है, वह अनेक- विध पाप-कर्म में प्रवृत्त रहकर भी परम गति को प्राप्त कर लेता है। हे देवों के द्वारा पूजित पार्वति! इस मुद्रा का उपदेश सभी को (जिस-किसी को) नहीं करना चाहिए; केवल सुपात्र साधक ही इसके अभ्यास का अधिकारी होता है। इस मुद्रा को बड़ी ही सावधानी से गोपनीय रखना चाहिए।[१]

हठयोगप्रदीपिका में निर्दिष्ट साधना-विधि— साधक को अपनी जीभ की जड़ को सात दिनों में एक बार थोड़ा-थोड़ा काट कर और जीभ में मक्खन लगाकर जीभ का प्रतिदिन दोहन करना चाहिए एवं उसे खींच-खींचकर इतनी बड़ी कर लेनी चाहिए कि वह भौंह तक पहुँच जाय और फिर उसे मुख के अन्दर उल्टा करके कपालकुहर में

---

१. सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया।
निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत्।।
तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी।
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थाङ्गतोऽपि वा।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः।।
क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम्।
दिव्यभोगान् प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते।।
मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचितो ह्यतन्द्रितः।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः।।
गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम्।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम्।।
सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मै कस्मै न दीयते।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।।
(शिवसंहिता-५४-५९)

स्थापित करके श्वासनलिका को भी थोड़ी-थोड़ी देर के लिए बन्द कर देना चाहिए। ऐसा करने से चन्द्रमा से निपतित अमृत मूलाधार-स्थित अग्नि में न गिरकर साधक को स्वयं प्राप्त होने लगता है; जिससे कि वह जरा-मृत्यु-विष आदि सभी पर विजय पाकर मृत्युञ्जयी बन जाता है। इसी समय योगी को अपने नेत्रों को त्रिकुटी के मध्य स्थिर करना चाहिए। शाम्भवी मुद्रा भी करते रहना चाहिए।[१]

खेचरी मुद्रा के अभ्यास में निहित क्रियायें— इस मुद्रा के अभ्यास में मुख्यतः निम्न क्रियायें है—

१. कपालकुहर में जिह्वा की स्थिरतापूर्वक स्थापना।

२. दोनों भौंहों के मध्य दृष्टि को स्थिर करना।

जिह्वागत अन्य क्रियायें हैं— जिह्वा का छेदन, जिह्वा का चालन एवं जिह्वा का दोहन[२]।

खेचरी मुद्रा के अभ्यास में व्योमचक्र एवं शाम्भवी मुद्रा प्रधान कारक तत्त्व हैं।

छेदनादि से जिह्वा के लम्बी हो जाने पर जिह्वा को तीनों नाड़ियों के मार्ग (कपाल छिद्र, में स्थिर करना (व्योम चक्र) आवश्यक है।

कलां पराङ्मुखी कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते।।[३]

हाथ के अंगूठे एवं तर्जनी से जिह्वा को पकड़कर वाम एवं दक्षिणरूप से हिलाना और अंगूठे तथा तर्जनी से गोदोहन के समान जिह्वा का दोहन तब तक करना चाहिए,

---

१. कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। (स्वात्माराम मुनीन्द्र हठयोगप्रदीपिका)
भास्करराय 'सेतुबन्ध' में कहते हैं कि भगवती त्रिपुरसुन्दरी ही स्वयं खेचरी मुद्रा बनकर सर्वरोगहर चक्र में स्थित हैं— 'यानि पापानि ये च रोगास्तेषां सर्वेषां नाशं कुर्वती या विशेषदर्शनात्मिका प्रमा तदभिन्ना संविन्मयी निर्विषयज्ञानपरा क्रिया शक्त्यभिन्ना त्रिपुरसुन्दर्येव खेचरी भूत्वा सर्वरोगहरे चक्रे स्थिता।'

२. छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत्।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः।।
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्।।
ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिदेत्।।
एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत्।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति।।
(हठयोगप्रदीपिका-३.३३-३६)

३. हठयोगप्रदीपिका (तृतीयोपदेश ३.३७)

जब तक कि वह भ्रुवद्वय के मध्य भाग का स्पर्श न कर ले। स्नुही (सेहुँड़) के पत्ते के समान तीक्ष्ण एवं चिकने तथा निर्मल (निर्दोष) शस्त्र से जिह्वा के मूल की नाड़ी को रोम के बराबर काटना (छेदन करना) चाहिए। इस छेदन के बाद चूर्ण किए हुए लवण (सैन्धव) एवं हरड से जिह्वा के मूल को पूर्णतया घिस कर सात दिनों तक प्रतिदिन छेदन एवं घर्षण प्रत्येक प्रात:काल एवं सायंकाल करना चाहिए। योगियों के लिए लवण का प्रयोग निषिद्ध है। इसके स्थान पर खदिर (कत्था) और पथ्या का चूर्ण लेना चाहिए। सात दिन व्यतीत हो जाने पर आठवें दिन पुन: रोममात्र जीभ की जड़ को काटना (छेदन करना) चाहिए; किन्तु इस बार भी (प्रथम बार से अधिक) रोममात्र ही जिह्वा की जड़ का कर्तन (छेदन) करना चाहिए।

खेचरी मुद्रा में जिह्वा की क्रियायें हैं— छेदन, चालन, दोहन एवं जिह्वा स्थापन।

इसके अनन्तर जिह्वा को उलटकर और उसे कपाल-कुहर में स्थापित करके ब्रह्मरन्ध्र में स्थित चन्द्रमा से स्रवित अमृत को (पातालस्थ सूर्य से छीनकर) स्वयं पीना। इसमें पाँचवीं किया है— भ्रूमध्य में दृष्टिस्थापन।

खेचरी मुद्रा-सिद्धि के फल—

खेचरी मुद्रा के सिद्ध हो जाने पर निम्न परिणाम एवं सिद्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—

१. तालुछिद्र में एक घटिका (मुहूर्त) मात्र की जिह्वा की स्थिरता से धातुवैषम्य से उत्पन्न व्याधि, मृत्यु, वार्धक्य एवं सर्प-वृश्चिक-दंश के विष के प्रभावों से मुक्ति[१]।

२. रोग, मरण, तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्च्छा आदि से मुक्ति।

३. रोग एवं पीड़ा, कर्म-फल एवं काल के प्रभाव से मुक्ति।

४. बिन्दु-क्षरण से मुक्ति (बिन्दु-स्थैर्य-बिन्दु का ऊर्ध्वीकरण)।

---

१. रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभि:।।
न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वत:।
न तस्य सरते बिन्दु: कामिन्या श्लेषितस्य च।।
चलितोऽपि यदा बिन्दु: सम्प्राप्तो योनिमण्डलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हत: शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।।
ऊर्ध्वजिह्व: स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति य:।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्।।
(हठयोगीप्रदीपिका-३.३८-४४)

जो योगी तालु के ऊपर के छिद्र में क्षणार्ध भी स्थिर रहता है, वह धातुओं के वैषम्य-रूप व्याधि एवं मृत्यु-जरा-वार्धक्य तथा वृश्चिक-सर्पादि-दंश के विष-प्रभाव से मुक्त रहता है।

वह योगी, जो खेचरी मुद्रा को जानता है— रोग, मृत्यु एवं अन्तःकरण की तमोगुणी वृत्तिरूप तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा, तृषा एवं (तमोगुणात्मिक) मूर्च्छा आदि के दुष्परिणामों एवं इनकी समस्त दशाओं से मुक्त रहता है। वह योगी रोग की पीड़ा से कभी पीड़ित नहीं होता और न तो काल के पाश में बाँधा ही जा पाता है। जिस योगी ने खेचरी मुद्रा से लम्बिका (तालु) के ऊर्ध्ववर्ती छिद्र (कपालकुहर) को आच्छादित कर लिया है, वह कामिनियों के मृदु स्पर्श से भी अक्षुब्ध रहता है तथा उसका शुक्र (रेतस्) कभी भी क्षरित नहीं होता। उसका बिन्दु (शुक्र) मस्तक से नीचे कभी गिरता ही नहीं। यदि उसका बिन्दु चलायमान होता भी है और मदनागार में गिर भी जाता है तो योगी योनिमुद्रा (जननेन्द्रिय-संकोचन) के द्वारा वज्रोली क्रिया की सहायता से उसे ऊपर खींचकर पुनः सुषुम्णा मार्ग द्वारा मस्तक में चढ़ा लेता है—

चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।।

जो योगी कपालकुहर में गिरते हुए चन्द्रामृत का पान करता है (ऊर्ध्व छिद्र में गिरे हुए पीयूष का पान करता है), वह योगज्ञाता योगी पन्द्रह दिनों में ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। जिस योगी का शरीर नित्य चन्द्रकला (अमृत) से पूर्ण रहता है, उसके शरीर को यदि तक्षक नाग भी काट ले तो उसके शरीर पर उसके विष का कोई प्रभाव नहीं होता।

जिस प्रकार अग्नि को यदि लकड़ी मिलती रहे तो वह कभी नहीं बुझती और यदि दीपक को तेल मिलता रहे तो वह भी नहीं बुझता; ठीक उसी प्रकार यदि शरीर को ब्रह्मरन्ध्र से गिरने वाला सोमकलात्मक अमृत प्राप्त होता रहे तो जीवात्मा ऐसे शरीर का कभी त्याग नहीं करता अर्थात् ऐसा अमृतप्राप्त शरीर मृत्युञ्जयी होता है, मृत्युपाश से अतीत होता है। इसीलिये योगी के लिए यह विधान है कि वह प्रतिदिन गोमांस का भक्षण करे और वारुणी (सुरा) का सेवन करे।

गोमांस-भक्षण का अर्थ— गोमांस के भक्षण का अर्थ गौ नामक पशु के मांस का भक्षण नहीं है; प्रत्युत जिह्वा के मूल को सात-सात दिनों पर सूत्र की मोटाई में काटना है। चूँकि इस विधान में जिह्वा के मांस को काटना पड़ता है; अतः उसका लाक्षणिक अर्थ 'मांस-भक्षण' हो गया। किन्तु इस अर्थ ने भी अपने निहितार्थ की अभि-व्यक्ति नहीं की और उसका अर्थ 'जिह्वा को तालुप्रदेश में प्रविष्ट कराना' ही स्वीकार किया गया है—

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्।।[१]

यह यौगिक साधना वाला (खेचरीगत) गोमांस-भक्षण बड़े से बड़े पाप को भी नष्ट कर देता है।

अमरवारुणी का अर्थ— वैसे तो अमरवारुणी का अर्थ है— देवताओं की शराब या अमरत्व प्रदान करने वाली शराब; किन्तु वस्तुत: यह कोई सुरा (शराब) है ही नहीं; प्रत्युत यह ब्रह्मरन्ध्र में स्थित चन्द्रमा से चूने वाला अमृत है। खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाने पर उपर्युक्त ऊर्ध्वजिह्व योगी उपर्युक्त (ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित) पीयूष को पीने लगता है। यह ब्रह्मरन्ध्रस्थ चन्द्रमा से नि:सृत अमृत ही अमरवारुणी की आख्या से प्रसिद्ध है—

जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादित: खलु।
चन्द्रात् स्रवति य: सार: स स्यादमरवारुणी।।[२]

खेचरी शब्द का अर्थ— वस्तुत: खेचरी शब्द आकाश में सञ्चरण का द्योतक है। खेचरी का अर्थ है— 'ख' (आकाश) में 'चरण' (सञ्चरण) करने वाली या कराने वाली। अभिधेय अर्थ में यह शब्द एक विशिष्ट मुद्रा को संकेतित करता है—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।[३]

कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन् कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात्। भ्रुवोरन्तर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात्। सा खेचरी मुद्रा भवति। कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरन्तर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम्।।'[४]

इसी भाव को इन शब्दों में भी व्यक्त किया गया है—

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता।।

क्योंकि इस मुद्रा के द्वारा चित्त (अन्त:करण) दोनों भृकुटियों के मध्यस्थान में स्थित आकाश में विचरण करता है और जिह्वा भी दोनों भृकुटियों के मध्य में ही विचरण करती है; अत: इस 'ख' (आकाश) में सञ्चरण कराने वाली (चित्त एवं जिह्वा दोनों को आकाश मार्ग में स्थिर कराने वाली) मुद्रा को खेचरी कहते हैं। जिस मुद्रा के करने से जिह्वा भृकुटियों के मध्य भाग में स्थित आकाश में विचरण करे, उसे 'खेचरी' कहते हैं।[५]

इस मुद्राभ्यास के समय योगी की जिह्वा यदि तालु के ऊर्ध्ववर्ती विवर का निरन्तर स्पर्श

---

१. हठयोगप्रदीपिका (तृ० उप०)
२. हठयोगप्रदीपिका (तृ० उप०)
३. हठयोगप्रदीपिका (तृ० उप०)
४. ज्योत्स्ना (ब्रह्मानन्द गिरि)
५. हठयोगप्रदीपिका।

करती हुई चन्द्रकलामृत का पान करती रहे तो योगी समस्त रोगादिक व्याधियों, वृद्धावस्था एवं शस्त्राघात के प्रभावों से निर्मुक्त रहता है और साथ ही अमृतत्व की प्राप्ति करता है—

व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं,
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम्।

वह अणिमादिक सिद्धियों को भी प्राप्त कर लेता है और सिद्ध रमणियों को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।[१]

जो योगी जिह्वा को कपालकुहर (तालुरन्ध्र) में ले जाकर और जिह्वा को ऊर्ध्वमुखी करके परमशक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करता हुआ प्राणवायु के साधन एवं हठयोग से प्राप्त कण्ठस्थ षोडशदल पद्म में गिरते हुए अमृत का पान करता है, वह रोगरहित हो जाता है और उसका शरीर कमलनाल के समान मसृण हो जाता है; साथ ही वह अमृतायित शरीर के साथ चिर काल तक जीवित रहता है—

उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेति।
निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति।।

मेरु (सुषुम्ना) के ऊर्ध्व भाग में स्थित कपालकुहर में चन्द्रकलामृत (प्रालेय) जल रहता है। उसमें तम एवं रजोगुण से परे तथा सतोगुण से सम्पन्न विद्वान् आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है। यही विवर सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला आदि प्रमुख प्राणवाहिनी नाड़ियों का उद्गम स्थान है। शरीर का सारतत्त्व चन्द्रामृत है। यह द्रवित होकर अधोगमन करता हुआ सूर्य के मुख में गिरता है। इस अमृत को नीचे गिरने से रोकने की यह क्रिया ही खेचरी क्रिया है। इसके द्वारा कायसिद्धि (शरीर का अमरत्व) प्राप्त होती है[२]—

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद् बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कायसिद्धिः।।

नाड़ियों के पाँच स्रोतों से युक्त (इड़ा आदि नाड़ियों के प्रवाह से युक्त) विवर (कपाल-कुहर) ज्ञान का भी उद्गम स्थान है। उस शून्य निरञ्जनस्वरूप विवर में खेचरी मुद्रा स्थिर हो जाती है। प्रणवात्मक (सृष्टिमय) बीज केवल एक है। मुद्राओं में प्रधानतम मुद्रा केवल एक है और वह खेचरी है। निराधार एवं निरञ्जन परमात्मा भी मात्र एक ही है। सर्वोच्च अवस्था भी केवल एक ही है और वह है— 'मनोन्मनी'—

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी।।[३]

घेरण्ड ऋषि का मत— जिस योगी को खेचरी मुद्रा सिद्ध हो गई हो; उसे मूर्च्छा,

१-३. हठयोगप्रदीपिका।

क्षुधा, पिपासा, आलस्य, रोग, जरा एवं वृद्धावस्था का भय नहीं रह जाता; क्योंकि ये योगी को प्रभावित नहीं कर पाते। ऐसे योगी को न आग जला सकती है और न वायु शुष्क कर सकता है। न जल उसे आर्द्र कर सकता है और न ही सर्प उसे काट सकता है। इस मुद्रा-सिद्धि से योगी के शरीर में दिव्य कान्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसके द्वारा कपाल और रसना के योग से अनेक रसों का प्रादुर्भाव होता है और समाधि जैसी उच्च योगावस्था प्राप्त हो जाती है। इसके द्वारा ही रसना के योग से अनेक रस उत्पन्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं; इस मुद्रा के द्वारा जिह्वा से विलक्षण रसों का सञ्चार होता है और विशेषाह्लाद प्राप्त होता है। इसके कारण खारे, तीते, कषाय आदि रसों का उद्रेक होता है। इसके साथ ही इसके द्वारा मक्खन, घृत, दही, दूध, तक्र, मधु, दाख एवं अमृत के स्वाद की भी अनुभूति होती है—

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।।

न च रोगो जरामृत्युर्देवदेहं प्रपद्यते।
नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः।।

न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः।
लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।।

कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात्।
नानारससमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने।।

आदौ लवणक्षारं च ततस्तिक्तकषायकम्।
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनादिकम्।।[१]

नित्याषोडशिकार्णव (चतुश्शती: वामकेश्वरीमत) **के अनुसार खेचरी मुद्रा का स्वरूप**— वामकेश्वरतन्त्र या नित्याषोडशिकार्णव में खेचरी मुद्रा का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

सव्यं दक्षिणदेशे तु दक्षिणं सव्यदेशतः।
बाहुं कृत्वा महेशानि हस्तौ सम्परिवर्त्य च।।

कनिष्ठानामिके देवि! युक्त्वा तेन क्रमेण तु।
तर्जनीभ्यां समाक्रान्ते सर्वोर्ध्वमपि मध्यमे।।

अङ्गुष्ठौ तु महेशानि मारयेत् सरलावपि।
इयं सा खेचरी नाम्ना मुद्रा सर्वोत्तमा प्रिये।।

इसका अर्थ निम्नानुसार है— 'प्रथमं सव्यं बाहुं दक्षिणदेशे दक्षिणं बाहुं सव्यदेशे

---

१. घेरण्ड संहिता (३/२८-३२)।

कृत्वा पुनर्हस्तौ परस्परतः सम्परिवर्त्य ततः कनिष्ठाद्वयमनामिकाद्वयं च परिवर्त्तनक्रमेण संयोज्य पुनस्तर्जनीभ्यामुभयभागतः समाक्रान्ते मध्यमाङ्गुली-सर्वोर्ध्वतः समुन्नमय्याङ्गुष्ठौ परस्परश्लिष्टौ कुर्यादितीयं खेचर्याख्या सप्तमी मुद्रा।[१]

ग्रन्थान्तर में इसका स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है—

चिबुकं योजयित्वा तु षोडशस्वरमण्डले।
चन्द्रसूर्याग्निरोधेन मूलशक्तिनिकुञ्चनात्।।

रसनामन्तरा कृत्वा अनच्के धारयेन्मनः।
एषा सा खेचरी मुद्रा उन्मानत्वं प्रयच्छति।।[२]

'ज्ञानसार' नामक ग्रन्थ में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

बिन्दुकण्ठसमायोगात् प्रविकास्य शिरोऽम्बुजम्।
चन्द्रसूर्याग्निरोधेन मूलशक्तिं निकुञ्च्य च।।

रौद्रीं कुञ्चिकयोद्धाट्य द्विरष्टकमलोदरे।
रसनामन्तरा कृत्वा नासाग्रे रोपयेद् दृशौ।।

यवमात्रं त्रिकोणं तु मीलनोन्मीलतात्मकम्।
लिहन् स्वरसनाग्रेण पिबन्नमरवारुणीम्।।

सदा समरसीभूतं मनः शून्ये निवेशयेत्।
एषा सा खेचरी मुद्रा उन्मनात्वप्रदायिनी।।[३]

खेचरी मुद्रा 'ज्ञानसार' की दृष्टि से कुछ भिन्न स्वरूप वाली है। इसमें दृष्टि को भ्रूद्वय के मध्य न रखकर नासिकाग्र पर रखने का विधान किया गया है।

तन्त्रसद्भाव में कहा गया है—

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत्।
दण्डाकारं तु तत्तावन्नयेद् यावत् कखत्रयम्।।

निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु।
एतां बद्ध्वा महायोगी खे गतिं प्रतिपद्यते।।

'योगिनीहृदय' के चक्रसंकेत में खेचरी मुद्रा का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

धर्माधर्मस्य संघट्टादुत्थिता वित्तिरूपिणी।
विकल्पोत्थक्रियालोपरूपदोषविघातिनी ।।

विकल्परूपरोगाणां हारिणी खेचरी तथा।
सर्वरोगहराख्ये तु चक्र संविन्मयी स्थिता।।

---

१. शिवानन्द : ऋजुविमर्शिनी।
२. अर्थरत्नावली।
३. विद्यानन्द : अर्थरत्नावली में उद्धृत।

धर्म (शक्ति) एवं अधर्म (शिव) के संघट्ट (सामरस्य) से उद्भूत संवित्तिरूपिणी विकल्पात्मक क्रियारूप दोषों का विघात करने वाली, विकल्परूप रोगों का हरण करने वाली, निर्विकल्प बोधभूमिसञ्चारिणी चिच्छक्ति सर्वरोगहर नामक चक्र में स्थित है।

खेचरी समस्त कष्टों को नष्ट करने वाली, नित्योदया, शिवत्व प्राप्त कराने वाली एवं निरस्त सकलक्रियाक्रम में निवास करने वाली चिति शक्ति है—

खे निरस्तसकलक्रियाक्रमे या चितिश्चरति शाश्वतोदया।
सा शिवत्वसमवाप्तिकारिणी खेचरी सकलखेदहारिणी।।

अपूर्णम्मन्यतालक्षणात्मक संवित्ति का विनाश करने वाली एवं सर्वरोगहर चक्र में निवास करने वाली मुद्रा ही खेचरी मुद्रा है। अमृतानन्द योगी योगिनीदीपिका में कहते हैं—
अपूर्णम्मन्यतालक्षणानां हारिणी सर्वरोगहराख्ये चक्रे खेचरी मुद्रा स्थिता।।

५. उड्डीयान बन्ध और उसका स्वरूप

योगिराज गोरक्षनाथ ने 'योगबीज' में प्रथम स्थान में मूलबन्ध एवं द्वितीय स्थान में उड्डीयान बन्ध को रक्खा है— 'प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीय उड्डियानकः।' नियम यह है कि कुम्भक के आदि में तथा रेचक के अन्त में उड्डीयान बन्ध करना चाहिए। इससे सुषुम्णा में बद्ध प्राण ऊपर की ओर उड़ने लगता है। इसके करने से वृद्ध व्यक्ति भी तरुण हो जाता है—

कुम्भकादौ रेचकान्ते कर्तव्यस्तूड्डियानकः।
बद्धो येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयके ततः।।

नाभि के ऊपर के भाग और पश्चिम द्वार को उदर के सम भाव में संकुचित करना चाहिए। उदर के मध्य भाग में स्थित गुह्यादि चक्र की सभी नाड़ियों को नाभि के ऊपर उठाने का नाम ही उड्डीयान बन्ध है। यह बन्ध मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंह के समान है—

उदरे पश्चिमे तानं नाभेरुर्ध्वन्नु कारयेत्।
उड्डीयानं कुरुते यत्तदविश्रान्तमहाखगः।।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेशरी।।[१]

जितने भी बन्ध हैं, उनमें उड्डीयान प्रमुख है। इसके अभ्यास से अनायास ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है—

समग्राद् बन्धनाद्ध्येतदुड्डीयानं विशिष्यते।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।।

'दत्तात्रेय संहिता' में कहा गया है कि उड्डीयान बन्ध के अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो जाता है। इसके छः मासों के अभ्यास से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो जाती है—

---

१. घेरण्डसंहिता।

अभ्यसेद्यस्तु सत्त्वस्थो वृद्धोऽपि तरुणायते।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः।।[१]

जो साधक दिन में चार बार उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करता है, उसकी नाभि शुद्ध हो जाती है। उसकी वायु भी शुद्ध हो जाती है। छः मास तक इसका अभ्यास करने से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो जाती है। इसके अभ्यास से जठराग्नि तीव्र हो उठती है और शरीर पुष्ट हो जाता है तथा रस का सञ्चार होता है। इसका अभ्यास सदैव एकान्त में करना चाहिए—

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन शुद्धो भवेन्मरुत्।।

षण्मासमभ्यसेद् योगी मृत्युं जयति निश्चितम्।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिश्च जायते।।

रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनां भवति ध्रुवम्।
गुरोर्लब्ध्वा तु यत्नेन साधयेच्च विचक्षणः।
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम्।।[२]

'गोरक्षशतक' में गोरखनाथ कहते हैं कि जिस प्रकार विना विश्राम किए पक्षी भी उड़ता रहता है, उसी प्रकार उड्डीयान बन्ध मृत्युरूपी गजराज के लिए सिंह के समान है। इस बन्ध का अभ्यास उदर के पश्चिम भाग एवं नाभि के नीचे के भाग में किया जाता है। इसीलिए इसे उड्डीयान बन्ध कहा जाता है—

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेशरी।।

उदरात्पश्चिमे भागे ह्यधो नाभेर्निगद्यते।
उड्डीयानस्य बन्धोऽयं तत्र बन्धो विधीयते।।

साधक नाभि के ऊपर और नीचे आकर्षण का प्रयोग करता है अर्थात् पेट को खींचकर पीठ में लगाने का प्रयास करता है। यही उड्डीयान बन्ध है।[३]

नाभिप्रदेश के ऊर्ध्वभाग एवं अधोभाग को मेरुदण्ड की ओर खींचकर (पीठ की ओर आकृष्ट करके) जो बन्ध लगाया जाता है, 'शिवसंहिता' में इसके तीन लक्षण दिए गए हैं—

१. पेट को पीछे की ओर इतना खींचना कि यह मेरुदण्ड से चिपक जाय। यही है— इसका आकर्षण या तानपक्ष।

२. यह समस्त दुःखों एवं पापों को नष्ट कर देता है।

---

१. घेरण्डसंहिता।

२. घेरण्डसंहिता।

३. शिवसंहिता/विवेकमार्तण्ड/गोरक्षशतक।

३. यह मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंहस्वरूप काल है—

नाभेरुर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत्।
उड्ड्यानबन्ध एषः स्यात् सर्वदुःखौघनाशनः।।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरुर्ध्वं तु कारयेत्।
उड्ड्यानाख्योऽत्र बन्धोऽयं मृत्युमातङ्गकेशरी।।

जिस बन्ध से बद्ध प्राण उड़कर (सहज ऊर्ध्वमुख होकर) सुषुम्ना नाड़ी में पहुँच जाता है, उसे योगियों द्वारा उड्डीयान बन्ध कहा गया है। जिस प्रकार पक्षी आकाश में निरन्तर उड़ने लगता है, उसी प्रकार सुषुम्ना नाड़ी से देहावकाश (ब्रह्मरन्ध्र) में उड़ता है। ऊपर चढ़ता जाता है, इसी कारण यह उड्डीयानबन्ध कहा जाता है—

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्याऽयं योगिभिः समुदाहृतः।।

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात् तत्र बन्धोऽभिधीयते।।

नाभि के ऊपर और नीचे उदर में पीछे की ओर इस तरह आकर्षण करना चाहिए कि दोनों भाग पीछे पीठ तक पहुँच जाय तो यह उड्डीयान बन्ध मृत्युरूपी हाथी के लिए साक्षात् सिंह के समान है। गुरु द्वारा यह उड्डीयान बन्ध सदा स्वाभाविक कहा गया है। इस बन्ध का अभ्यास नित्य करने वाला यदि वृद्ध भी हो तो वह तरुण हो जाता है। नाभि के ऊपर और निचले भाग में अच्छी तरह से तान (आकर्षण या खिंचाव) करना चाहिए। साधक छः मास तक इस प्रकार अभ्यास करने से मृत्यु को भी वश में कर लेता है, दीर्घ जीवनयापन करता है तथा स्वस्थ रहता है। समस्त षोडशाधारों के बन्धों में उड्डीयान बन्ध ही प्रमुख है। इसकी सिद्धि होने पर साधक को अनायास ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है। उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करते समय प्राण विहंग की गति से सुषुम्ना में उड़ता है और इस तरह की समाधि की अवस्था में साधक मुक्ति को अधिगत करता है।

विशेष— दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलवों को परस्पर मिलाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर आठ अंगुल हिस्से को प्रयत्नपूर्वक खींचकर रीढ़ की अस्थि (मेरुदण्ड) से लगाने पर पेट के स्थान में गड्ढा-सा दिखाई पड़ने लगता है। इससे प्राण सुषुम्णा की ओर उड़ने लगता है। यह बन्ध पैरों के तलवों को विना मिलाए भी किया जा सकता है। इससे प्राण और वीर्य ऊर्ध्वगामी होते हैं, मन्दाग्नि का नाश होता है, भूख लगती है और जठराग्नि बढ़ती है।[१]

१. हठयोगप्रदीपिका—

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।।

इस प्रकार साधक को चाहिए कि वह मूलाधार को अच्छी तरह से सिकोड़कर उड्डीयान बन्ध (नाभिस्थान को पीठ की ओर मेरुदण्ड तक आकृष्ट करना) करे और इड़ा-पिंगला दोनों नाड़ियों को स्तम्भित कर (जालन्धर बन्ध लगाकर) प्राण को सुषुम्ना में पश्चिम मार्ग में प्रविष्ट करे। ऐसा करने से प्राण स्थिर हो जाता है और ब्रह्मरन्ध्र में लीन हो जाता है। प्राण का लय हो जाने पर— स्थैर्य होने पर मृत्यु का भय नहीं रह जाता, वृद्धावस्था नष्ट हो जाती है, रोगादिक का आक्रमण नहीं होता— बाल नहीं झड़ते, बाल नहीं पकते और मृत्युपाश से मुक्ति मिल जाती है। महासिद्ध योगी इन तीन (मूलबन्ध, उड्डीयान एवं जालन्धर) बन्धों का अभ्यास किया करते हैं। समस्त हठसाधनों में योगी इन बन्धों को सिद्धियाँ प्रदान करने वाला बन्ध मानते हैं। 'हठयोग प्रदीपिका' में स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत्।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमे पथि।।

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा।।

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम्।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः।।

स्वरोदयशास्त्र में मुद्रा एवं आसन रोगों की स्वीकृति है।

स्वरोदय शास्त्र में आसन-विधान

पद्मासन— स्वरोदय शास्त्र में मात्र पद्मासन को ही स्वीकार किया गया है; क्योंकि समस्त आसनों में पद्मासन सर्वाधिक प्रिय एवं सर्वाधिक प्रयुक्त आसन रहा है। क्या वैष्णव, क्या शैव, क्या शाक्त, क्या स्मार्त्त, क्या योगी, क्या भक्त, क्या ज्ञानी, क्या कर्मकाण्डी, क्या हिन्दू, क्या बौद्ध, क्या सिक्ख और क्या जैनी— सभी ने इसे स्वीकार किया है। भगवान् बुद्ध, महावीर, २४ तीर्थंकर, कापालिक, कौल, सिद्ध आदि सभी ने इसे ही अपनी साधना में स्थान दिया है।

योगिराज गोरक्षनाथ ने गोरक्षशतक में कहा है कि आसनों में मात्र दो ही आसन

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते।।
नाभेरुर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः।।
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डियाने दृढ़े बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।।

श्रेष्ठतम हैं और वे हैं— सिद्धासन एवं कमलासन।

आसनेभ्यो समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्।
एकं सिद्धासनं तत्र द्वितीयं कमलासनम्।।

पद्मासन की परिभाषा—

वामोरूपरि दक्षिणञ्च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढ़म्।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद् व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते।। (गोरक्षशतक)

अर्थात् वामवर्ती जानुमूल में दाहिना पैर स्थापित करके तथा दायें जानुमूल में वाम चरण स्थापित करके तथा दोनों हाथों को पीछे से ले जाकर दायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे एवं बायें हाथ से दायें पैर के अंगूठे को दृढ़तापूर्वक पकड़ कर चिबुक को हृदय से लगाकर नासिकाग्र को दोनों नेत्रों से देखने का विधान करने वाले तथा समस्त व्याधियों एवं शारीरिक तथा मानसिक विकारों को नष्ट करने वाले आसन को 'पद्मासन' कहते हैं।

आसनों का महत्त्व प्रत्येक साधना समाज में स्वीकृत रहा है—

ॐ आसण करि पदम आसण बंधि। पिछलै आसण पवनां संधि।।[१]

६. मूलबन्ध और उसका स्वरूप

साधक को चाहिए कि वह योनिस्थान (गुदा-मेढ़्र के मध्य भाग) को किसी भी पैर की एड़ी से दबाकर गुदा को सिकोड़े (संकुचन करे) और फैलाये तथा अपान वायु को ऊपर की ओर आकृष्ट करे। यही 'मूलबन्ध' कहलाता है। वह साधन-प्रक्रिया, जिसके द्वारा साधक निम्नाभिमुखी एवं निम्नगामिनी अपान वायु को ऊपर की आकृष्ट करता है, मूलबन्ध कहलाती है। ऊपर की ओर आकृष्ट करने का लक्ष्य यह है कि वायु को सुषुम्णा में प्रवाहित करता है। इसे ही मूलबन्ध कहा जाता है।[२]

मूलबन्ध कुण्डलिनी-जागरण में सहायक होता है। मूलबन्ध का अभ्यास करते समय मेरुदण्ड में नाभिग्रन्थि दबाना चाहिए—

---

१. गोरखनाथ गो० बा० (१७३)
आसण इन्द्री जेणौ आप बसि राख्या तेसौ पाया सर्व निरंतर मेरे ज्ञानी।
(गो० बा०-८९)

मूल चपि डिट आसणि बैठा तब मिटि गया आवागवनं।

२. पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्। अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।।
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्। आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः।।
(हठयोगप्रदीपिका-६१-६२)

नाभिग्रन्थि मेरुदण्डे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः।
(घेरण्ड संहिता-३.१४)

मूलबन्ध उड्डीयान बन्ध से संयुक्त हो जाता है और अपान वायु सुषुम्णा में सुगमता से चढ़ने लगती है।

साधक को चाहिए कि एड़ी के अधोभाग से बलपूर्वक अच्छी तरह से दबाकर बार-बार वायु को गुदा का आकुञ्चन करते हुए इस प्रकार ऊपर की ओर खींचे कि वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो जाय।

निम्नगामी प्राण एवं अपान वायु, नाद एवं बिन्दु मूलबन्ध के द्वारा एकता प्राप्त करके योगसिद्धि प्रदान करते हैं। अपान वायु एवं प्राण वायु की एकता से मल-मूत्र का क्षय होने से वृद्ध व्यक्ति भी युवक हो जाता है। अपान वायु के ऊर्ध्वगामी होकर वह्निमण्डल (नाभि के नीचे त्रिकोण) में प्रविष्ट करने पर वायु से प्रताड़ित होने पर अग्निशिखा बढ़ जाती है।[१]

मूलबन्ध लगाने पर अपान एवं प्राण के साथ एक होकर सुषुम्ना में प्रवेश करता है। इससे नादाभिव्यक्ति होती है। फिर नाद के साथ ही प्राणापान हृदय प्रदेश से ऊर्ध्व प्रदेश में जाकर बिन्दु के साथ एकता स्थापित करके ऊपर उठने लगते हैं। इससे योग-सिद्धि होती है। 'ज्योत्स्ना' नामक टीका में ब्रह्मानन्द गिरि कहते हैं— मूलबन्धे कृतेऽ-पानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशन्ति। ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति। ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिन्दुना सहैक्यमाधाय मूर्ध्नि गच्छतः। ततो योगसिद्धिः।'

हमारे नाभि के नीचे के भाग में त्रिकोण वह्निमण्डल है। महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है—

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम्।
त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम्।।

मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके।।

---

१. गुदं पार्ष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः।।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।।
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।।
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाहता।।
(हठयोगप्रदीपिका-६३-६६)

इस समय अपान वायु के सहित जठराग्नि की शिखा बढ़ जाती है।

इस स्थिति में अग्नि और अपान दोनों अग्नि की दीपशिखा से ऊष्ण होकर ऊर्ध्व प्रदेश की ओर गतिशील प्राणवायु में जा पहुँचते हैं। इससे देह में स्थित अग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है। तब उससे ताड़ित होकर कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है और दण्ड से आहत भुजंगिनी के सदृश श्वास लेती हुई सीधी हो जाती है। इसके बाद वह कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मनाड़ी (सुषुम्ना) के भीतर प्रविष्ट हो जाती है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सर्पिणी बिल में प्रविष्ट हो जाती है। इसलिए योगियों के द्वारा नित्य मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए।[1]

गुदा एवं लिंगस्थान के रन्ध्र को बन्द करने की संख्या मूलबन्ध है। वाम पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्य भाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़कर योनिस्थान को संकुचित करने के द्वारा अधोगत अपान वायु को ऊर्ध्वाकर्षित करना मूलबन्ध है। यह कब्ज को दूर करता है तथा वीर्य को पुष्ट एवं ऊर्ध्वगामी करता है। इस मुद्रा से साधक संसार-सागर से भी उत्तीर्ण हो जाता है और उसकी वायु सिद्ध हो जाती है—

संसारसमुद्रं तर्त्तुमभिलषति यः पुमान्।
विजनेषु गुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत्।।

घेरण्ड ऋषि के मत से यह साधना विजन स्थान में करनी चाहिए। साधक को मौनाव-लम्बी होना चाहिए और आलस्य एवं प्रमाद से अपने को दूर करके साधना करनी चाहिए—

अभ्यासाद् बन्धनस्यास्य मरुत् सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
साधयेद् यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः।।

(घे० सं०-३.१६-१७)

'शिवसंहिता' में कहा गया है कि साधक पैर की एड़ी से गुदामार्ग को अच्छी प्रकार से दबाकर अपान वायु को खींचकर धीरे-धीरे ऊपर की ओर ले जाय, यही बुढ़ापे एवं मृत्यु के भय को नष्ट करने वाला मूलबन्ध है। इस प्रकार प्राण एवं अपान

---

१. ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते।
दण्डाहता भुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्।।
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा।।
(हठयोगप्रदीपिका-६७-६९)

की एकता होने पर बन्ध के द्वारा योनिमुद्रा स्वत: सिद्ध हो जाती है।[१] योनिमुद्रा के सिद्ध हो जाने पर इस पृथ्वी पर साधक को समस्त योगसिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इस मूलबन्ध के सिद्ध हो जाने पर श्रेष्ठ योगी पद्मासन में स्थित होकर वायु पर विजय प्राप्त करके पृथ्वी से क्रमश: ऊपर उठते हुए आकाश में स्थित होकर विचरण करता है। यदि योगी संसार-सागर को पार करना चाहता है तो उसे किसी निर्जन एकान्त स्थान में मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए।

गोरक्षनाथ 'विवेकमार्तण्ड' में कहते हैं कि जो योगी महामुद्रा, नभोमुद्रा 'उड्डीयान बन्ध' जालन्धर बन्ध एवं मूलबन्ध का अभ्यास करना जानता है, वही मुक्ति प्राप्त करता है—

महामुद्रा नभोमुद्रामुड्डियानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी सिद्धिभाजनम्।।

अपानवायु एवं प्राणवायु का ऐक्य होने पर इससे मल-मूत्र का क्षय होने पर वृद्ध व्यक्ति भी तरुण हो जाता है। यह मूलबन्ध के अभ्यास से ही सिद्ध होता है। अपान वायु को ऊपर की ओर खींचकर (प्राणवायु से मिलाते हुए) पैर की एड़ी से योनिस्थान को दृढ़ता से दबाकर गुदा को सिकोड़ना चाहिए। यही मूलबन्ध का अभ्यास कहा जाता है—

अपानप्राणयोरैक्ये क्षयान्मूत्रपुरीषयो:।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।।

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो निगद्यते।।[२]

योगबीज में मूलबन्ध को प्रथम स्थान दिया गया है—

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीय उड्डियानक:।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम्।।

'योगबीज' में कहा गया है कि बन्ध प्रधान हैं, जिनके नित्याभ्यास से वायु वश में हो जाता है और वे हैं— मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध। गोरखनाथ कहते हैं—

मूल चक्र वहाँ प्रगटै ज्यंदू। पलटै काया थिर होइ कंधु।
मूल बंध वज्र कछोटा पकड़िबा थीरं सत उडियांणी बंधिबा बीरं।।

---

१. पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयन्त्रितम्।।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत्। कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशन:।।
अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम्।बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति।।
सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले। बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिल:।।
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्धते।।
सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत्। संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद् योगिपुङ्गव:।।
(शिवसंहिता-६४-६८)

२. गोरक्षशतक (८१-८२) विवेकमार्तण्ड।

७. माण्डूकी मुद्रा

मुख को बन्द करके जिह्वा की जड़ को तालु के ऊपर की ओर चलाना चाहिए और सहस्रदल पद्म से निर्गत अमृत का पान करना चाहिए। इसे ही माण्डूकी मुद्रा कहते हैं—

मुखं सम्मुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां माण्डूकीमुद्रिकां विदुः।।[१]

फल— वलित (त्वचा का सिकुड़ना), पलित (बालों का श्वेत होना) रुक जाता है और यौवन चिरस्थायी हो जाता है।

८. ताड़ागी मुद्रा

उत्तान होकर लेटते हुए पेट को तालाब की भाँति गहरा करते हुए प्राणायाम करने को ताड़ागी मुद्रा कहते हैं—

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिः।
ताडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।।[२]

९. अश्विनी मुद्रा

इसमें मलद्वार को बार-बार संकुचित एवं विस्तृत करने (सिकोड़ने एवं फैलाने) का अभ्यास करना होता है; क्योंकि यह शक्तिप्रबोधकारिणी है—

आकुञ्चयेद्गुदद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।।[३]

१०. पाशिनी मुद्रा

दोनों पावों को कण्ठ की पीठ पर रखकर पाशवत् परिबद्ध होने का अभ्यास ही पाशिनी मुद्रा है—

कण्ठे पृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवं दृढ़बन्धने।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।।[४]

यह मुद्रा शरीरांगों में शक्ति का सञ्चार करती है।

११. जालन्धर बन्ध और उसका स्वरूप

'शिवसंहिता' के अनुसार जालन्धर बन्ध नामक बन्ध ही पाँचवीं महामुद्रा है—

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरो..।।

जालन्धरबन्ध की परिभाषा—

१-४. घेरण्डसंहिता।

बद्धार्गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्।
बन्धो जालन्धर: प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभ:।।

इस बन्ध का अभ्यास देवताओं के लिए भी दुर्लभ है— 'देवानामपि दुर्लभ:।' सहस्रार से स्रवित पीयूष को नाभि में स्थित अग्नि पी जाती है। नाभि में पतित होकर नाभि-स्थित अग्नि के द्वारा इसे पीने से बचाने के लिए यह जालन्धर बन्ध किया जाता है।[१]

जालन्धर बन्ध के अभ्यास से बुद्धिमान साधक स्वयं अमृत पी लेता है और जीवन्मुक्ति-स्वरूप अमरत्व प्राप्त करके तीनों लोकों में सुखपूर्वक विचरण करता है। यह जालन्धर बन्ध सिद्धों को योग-सिद्धि प्रदान करता है। जो सिद्धि प्राप्त करने का इच्छुक है, वह योगी नित्य ही इस बन्ध का अभ्यास करता है।[२]

चूँकि यह बन्ध शिरा-नाड़ियों के समूह को बाँधता है और कपाल के छिद्ररूप नभ के जल का प्रतिबन्धक है; अत: इसे जालन्धर बन्ध कहा जाता है। यह कण्ठ के कष्टों का भी नाशक है। इसी कारण इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं—

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम्।
ततो जालन्धरो बन्ध: कण्ठदु:खौघनाशन:।।[३]

इसके द्वारा अमृत जठराग्नि में नहीं पड़ने पाता और वायु का भी कोप नहीं होता; साथ ही अन्य नाड़ियों में वायु का गमन भी नहीं होता—

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायु: प्रकुप्यति।।[४] (गोरक्षशतक)

शिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति। अधोगन्तुं शीलमस्येत्यधोगामि नभस: कपाल-कुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति। ततस्तस्माज्जालन्धरो जालन्धरनामकोऽवर्थो बन्ध: जालं शिराजालं जालानां समूहो जालं धरतीति जालन्धर:।[५]

कण्ठ को संकुचित करके, हृदय पर ठोढ़ी रखकर जालन्धर बन्ध होता है। इससे सोलह प्रकार का आधार बन्ध होता है और यह मृत्यु को पराजित करता है—

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।
जालन्धरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी।।[६]

ग्रहयामल में कहा गया है—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेत् चिबुकं दृढ़म्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताव्ययकारक:।।[७]

---

१. भास्करराय, सेतुबन्ध।
२. शिवसंहिता।
३-४. हठयोगप्रदीपिका।
५. ज्योत्स्ना (ब्रह्मानन्द गिरि)।
६. घेरण्डसंहिता।
७. घेरण्डसंहिता में टीकाकार द्वारा उद्धृत।

अन्य ग्रन्थों में इसका स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है—

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान्।
अमरत्वं च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये।।

जालन्धरः बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता।।

जालन्धर बन्ध की सिद्धि— घेरण्ड ऋषि कहते हैं कि इस मुद्रा का अभ्यास छः मास करने पर ही सिद्धि मिलती है तथा यह सिद्धिप्रदायिका मुद्रा है—

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम्।
षण्मासमभ्यसेद् यो हि स सिद्धो नात्र संशयः।।

गोरखनाथ ने 'गोरक्षशतक' में कहा है कि मुक्ति प्रदान करने वाले जो पाँच बन्ध हैं, उनमें महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान बन्ध के अतिरिक्त जालन्धर बन्ध भी है—

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डियानं जलन्धरम्।
मूलबन्धश्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्।।

इसका विधान यह है कि कण्ठ को हृदय की ओर संकुचित करके (झुकाकर) हृदय पर चिबुक को दृढ़तापूर्वक स्थापित करना चाहिए। यह मुद्रा साधक को जरा एवं मृत्यु दोनों से मुक्ति दिला देती है; क्योंकि यह दोनों की विनाशिका है—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढ़म्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः।।[१]

कण्ठ को हृदय की ओर झुकाकर रखने (कण्ठसंकोचन करने) से इड़ा एवं पिंगला नाड़ियों का स्तम्भन हो जाता है, प्राण सुषुम्ना से प्रवाहित होते हुए ऊर्ध्वमुख हो जाता है। इसे सोलहों आधारों का बन्धन करने वाला मध्यचक्र— कण्ठचक्र या विशुद्धचक्र समझना चाहिए। यह सोलह दल वाले विशुद्ध चक्र का अवरोधक या प्रतिबन्धक है। इससे अमृत का नीचे गिरना रुक जाता है—

कण्ठसङ्कोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढ़म्।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम्।।[२]

१२. योनिमुद्रा

सिद्धासन से बैठकर दोनों अंगूठों से दोनों कान, दोनों तर्जनियों से दोनों आँखें, दोनों मध्यमाओं से दोनों नाक के छिद्र और दोनों अनामिकाओं से मुंह बन्द कर लेना चाहिए। काकी मुद्रा के द्वारा प्राणवायु को खींचकर अपान वायु के साथ मिला देना चाहिए। देहस्थित छः चक्रों का ध्यान करके 'हुं' और 'हंसः' इन दोनों मन्त्रों के द्वारा सोई हुई कुण्डलिनी देवी को जागृत करना चाहिए और जीवात्मा के साथ मुक्त कुण्डलिनी शक्ति

१-२. हठयोगप्रदीपिका।

को सहस्रदल कमल पर ले जाकर ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि 'मैं स्वयं शक्तिमय होकर शिवजी के साथ अनेक प्रकार के विहार कर रहा हूँ।' फिर दृढ़ चित्त से ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि 'शिव-शक्ति के संयोग से आनन्दस्वरूप होकर मैं ही ब्रह्मस्वरूप में स्थित हूँ।' इसके अभ्यासकाल में ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक है।

१३. अगोचरी मुद्रा

नासिका के अग्रभाग पर मन को दृढ़तापूर्वक स्थिर करने (दृष्टि-स्थिरीकरण) को ही अगोचरी मुद्रा कहते हैं।

१४. भूचरी मुद्रा

नासिकाग्र से चार अंगुल दूर आकाश में मन को पूर्णतया स्थिर करने को भूचरी मुद्रा कहते हैं।

१५. चाचरी मुद्रा

आज्ञाचक्र में मनः-स्थिरीकरण ही चाचरी मुद्रा है। इसे भूचरी मुद्रा भी कहते हैं।

१६. ज्ञान मुद्रा

पद्मासन, सिद्धासन या अन्य किसी आसन से बैठकर दोनों हाथों के पञ्जे घुटने पर खोलकर रखे तथा तर्जनी उँगलियों को अंगूठों के मध्य में इस प्रकार लगाये कि गोल छल्ला सा बन जाय। इसी मुद्रा से ध्यान किया जाता है।

१७. विपरीतकरणी मुद्रा और उसका स्वरूप

योग की साधना करने वाले को इस मुद्रा के अभ्यास के समय अपने शिर को पृथ्वी पर टिकाकर एवं दोनों पैरों को आकाश में एक-सीध में रखकर शरीर को स्थिर रखते हुए इसका अभ्यास करना चाहिए। इसे ही समस्त तन्त्रग्रन्थों में विरीतकरणी मुद्रा कहा गया है। जो साधक इसका अभ्यास प्रतिदिन तीन घण्टों तक करता है, वह मृत्यु को अपने वश में कर लेता है। प्रलय काल में भी उसका विनाश नहीं होता। जो विपरीतकरणी का अभ्यास करके अमृतपान करता है, वह सिद्धों के समान महान् एवं शक्तिशाली हो जाता है। ऐसा अभ्यासी त्रिलोकपूज्य हो जाता है। शिवसंहिताकार की यही दृष्टि है।[१]

घेरण्ड ऋषि का मत— घेरण्ड ऋषि 'घेरण्डसंहिता' में कहते हैं कि नाभि में सूर्य

---

१. भूतले स्वशिरो दत्ता खे नयेच्चरणद्वयम्। विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।
एतद् यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः। मृत्युं जयति सः योगी प्रलये नापि सीदति।।
कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात्। स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः।।
(शिवसंहिता-६९-७१)

एवं तालुमूल में चन्द्र है। सहस्रार में सुधा का नित्य प्रवाह होता रहता है। सूर्य द्वारा अमृत-पान कर लेने से जीव की मृत्यु हो जाती है।

सूर्य नीचे है और चन्द्र ऊपर है। यदि विपरीत क्रम में (इस विपरीतकरणी मुद्रा के माध्यम से) सूर्य को ऊपर एवं चन्द्रमा को नीचे कर दिया जाय तो इस मुद्रा को विपरीत-करणी मुद्रा कहा जाता है। इसके द्वारा अमृत सूर्य को (कुण्डलिनी को, त्रिकोणमय अग्नि को) प्राप्त न होकर स्वयं साधक को प्राप्त होने लगता है। इसे पीकर साधक अमर हो जाता है। इस मुद्रा में शिर को पृथ्वी में लगाकर, दोनों हाथों की टेक लेकर एवं दोनों पावों को उठाकर शिर को स्थिर रखना चाहिए।[1]

घेरण्ड ऋषि के मतानुसार सूर्य का यथार्थ वासस्थान नाभि का मूल प्रदेश एवं चन्द्रमा के निवास का मूल स्थान तालु का मूल है। चन्द्रमा से स्रवित अमृत को मृत्यु पी जाती है— 'अमृतं ग्रसते मृत्युः'। इसी कारण जीव मृत्युधर्मा है; अन्यथा वह भी अमर हो जाय— 'ततो मृत्युवशो नरः।' यह मुद्रा योगशास्त्र की नहीं; प्रत्युत तन्त्रशास्त्र की है और सभी तन्त्रों में स्वीकृत, उल्लिखित है तथा गोपनीय है—

विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।

स्वात्माराम मुनीन्द्र का अभिमत— तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जो कुछ भी पीयूष (सोमकला जल) द्रवित होकर स्रवित होता है, उसे नाभिप्रदेश में स्थित अनलात्मक सूर्य पी जाता है। जैसे राहु सूर्य को ग्रस लेता है, वैसे ही इस अमृत को सूर्य ग्रस लेता है। इस अमृत को सूर्य के मुख में गिरने से बचाने के लिए गुरु के उपदेश (मार्गदर्शन) द्वारा दिव्य करणस्वरूप विपरीतकरणी मुद्रा को जानना चाहिए। यह करोड़ों शास्त्रों के अर्थ (शास्त्रार्थ) से भी ज्ञेय नहीं है। इसीलिए कहा गया है कि इसे गुरु के उपदेश से जानना चाहिए।[2]

---

१. नाभिमूले वसेत् सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृतं ग्रसते मृत्युस्ततो मृत्युवशो नरः।।
ऊर्ध्वं च जायते सूर्यश्चन्द्रं च अध आनयेत्।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मा समाहितः।
ऊर्ध्वपादः स्थिरोभूत्वा विपरीतकरी मता।।
(घेरण्डसंहिता-३२-३५)

२. यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः।।
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुख्वञ्चनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः।।
(स्वात्माराम मुनीन्द्र)

गुरु गोरक्षनाथ ने भी गोरक्षसंहिता (२.३२-३) में कहा है कि अग्निरूपी सूर्य नाभि में रहता है तथा अमृतस्वरूप चन्द्रमा तालुमूल में नित्य निवास करता है। तालुमूल में नीचे की ओर मुख करके रहने वाला चन्द्रमा जिस अमृत की वर्षा करता है, उसे ऊर्ध्व-मुखी अग्निस्वरूप सूर्य नाभि में पी लेता है। जो योगी विपरीतकरणी मुद्रा को जानते हैं, वे उस अमृत को अग्नि के मुख से छीनकर अपने मुख में ही रख लेते हैं—

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो दहनात्मकः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः।।

वर्षत्यधो मुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वो मुखो रविः।
ज्ञातव्या करणी तत्र यथा पीयूषमाप्यते।।

जिस यौगिक क्रिया में नाभि ऊपर की ओर और तालु नीचे की ओर हो जाय अर्थात् सूर्य की स्थिति ऊपर एवं चन्द्रमा की स्थिति (अवस्थान) नीचे जो जाय, वह शीर्षासन-स्वरूप योगप्रक्रिया विपरीतकरणी मुद्रा है। यह गुरुवाक्यलभ्या है। जो इस मुद्रा का नित्य प्रति अभ्यास करता है, उसकी जठराग्नि प्रदीप्त हो उठती है और वह यथारुचि अधिक आहार ग्रहण कर सकता है। यदि आहार कम लिया गया तो जठराग्नि उसके शरीर को तत्काल परिदग्ध करने लगती है। अभ्यासारम्भ में प्रथम दिन केवल क्षणमात्र के लिए सिर को नीचे एवं पैरों को ऊपर करके इसका अभ्यास करना चाहिए; देर तक नहीं।[१]

ब्रह्मानन्द 'ज्योत्स्ना' में कहते हैं— 'अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलम्ब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां स्कन्धाभ्यां गलपृष्ठ-भागशिरःपृष्ठभागाभ्यां भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत्।'

इस मुद्रा के अभ्यासकाल को प्रत्येक दिन एक क्षण से अधिक क्षण तक क्रमशः बढ़ाते हुए इसकी साधना की जानी चाहिए। यदि छः मासों तक इसका प्रतिदिन अभ्यास किया जाय तो—

(क) केश कभी नहीं पकते।

(ख) एक प्रहर (ढाई से तीन घड़ी) पर्यन्त इस मुद्रा का अभ्यासी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

(ग) प्रारब्ध कर्मों के फलोपभोग भी क्षीण हो जाते हैं।[२]

---

१. ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी। करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते।।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी। आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च।।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्। अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने।।
(हठयोगप्रदीपिका-७९-८१)

२. क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने। वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्।। (हठयोगप्रदीपिका-८२)

ब्रह्मानन्द गिरि का अभिमत— 'ज्योत्स्ना' नामक टीका में ब्रह्मानन्द जी कहते हैं कि दोनों हाथों से कटिप्रदेश को पकड़कर बाहुमूल से कूर्परपर्यन्त कन्धों, गर्दन एवं सिर के पिछले भाग को भूमि पर स्थित करना चाहिए।

१८. वज्रोली मुद्रा और उसका स्वरूप

हठयोगयोगप्रदीपिका एवं शिवसंहिता के अनुसार वज्रोली मुद्रा नवीं मुद्रा है—

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्।।

(हठयोगप्रदीपिका-६-७)

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा।।

उड्डानं चैव वज्रोली दशमं शक्तिचालनम्।
इदं कि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम्।।

(शिवसंहिता-२४-२५)

घेरण्ड ऋषि ने घेरण्डसंहिता में वज्राली मुद्रा का भी उल्लेख किया है, जिसका स्वरूप वज्रोली मुद्रा से साम्य नहीं रखता। इसमें कहा गया है कि दोनों हाथों को पृथ्वी पर स्थिर भाव से टिकाकर दोनों पैरों एवं मस्तक को आकाश में उठा देने को वज्राली मुद्रा कहते हैं—

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यामूर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रालिमुद्रां कवयो वदन्ति।।

वज्राली मुद्रा— वज्राली मुद्रा को श्रेष्ठतम योगमुद्रा कहते हुए यह कहा गया है कि यह मुक्ति का कारण तथा परमोपकारी एवं सिद्धिप्रद है। इससे (वज्रोली-साधना की भाँति) बिन्दु-सिद्धि, ऊर्ध्वरेतस्त्व-सिद्धि, शुक्रास्खलन-सिद्धि प्राप्त होती है और परिणामतः बिन्दुसिद्धि के अनन्तर ऐसा कोई भी कार्य है ही नहीं, जो कि सफल नहीं होता? कौन सा प्राप्तव्य है, जो हस्तगत नहीं होता? इसके द्वारा तो भोगियों को भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम्।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः।।

एतद् योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले।।

भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत्।
तथापि सकला सिद्धिस्तस्य भवति निश्चितम्।।

घेरण्ड ऋषि ने वज्रोली, अमरोली, सहजोली आदि का उल्लेख नहीं किया है; किन्तु हठयोगप्रदीपिका में इनका उल्लेख ही नहीं; अपितु इनके स्वरूप की विशद विवेचना भी की गई है।

शिवसंहिता में वर्णित वज्रोली का स्वरूप— भगवान् शिव कहते हैं कि वज्रोली मुद्रा—

१. संसार में व्याप्त अज्ञानान्धकार की विनाशिका है।

२. गृहस्थों को भी (योगोक्त नियमों का पालन न करने पर भी) मुक्ति दिलाने वाली एक अनुत्तर योगविधि है।

३. भोगपरायण व्यक्ति को भी मोक्ष दिलाती है।

४. योग में सिद्धि दिलाकर अमृतपान कराती है।

५. साधक के शरीर को दिव्य बना देती है।

६. साधक को शिवस्वरूप बना देती है (शिवतुल्य महिमान्वित कर देती है)।

७. बिन्दु में स्थैर्य लाकर उसे स्खलनातीत कर देती है।

८. समस्त प्रकार के भोगों का आस्वादन कराती है।

९. समस्त सिद्धियाँ प्रदान करती है।

१०. सर्वार्थसिद्धि एवं प्राकाम्य-सिद्धि के साथ ही साधक को लोकोत्तर सिद्ध बना देती है।

११. समस्त मनोरथों की सिद्धि प्रदान कर देती है।

१२. साधक को (भोगपरायण होते हुए भी) ऊर्ध्वरेतस् ब्रह्मचारी एवं अस्खलित योगी बना देती है।

भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं कि वज्रोली भोगैषणा-परायण गृहस्थों को भी विरक्त योगी, ऊर्ध्वरेतस् ब्रह्मचारी बना देती है। अज्ञान-तिमिर का ध्वंस करने वाली यह वज्रोली भोगासक्त गृहस्थों को भी महामुक्ति प्रदान करती है।[१]

वज्रोली की साधना-पद्धति— इसके विधानानुसार साधक नारी की जननेन्द्रिय से रज को उपस्थनाल में आकृष्ट करके अपने शरीर में प्रविष्ट करके तथा बिन्दु को निरुद्ध करके जननेन्द्रिय-चालन करे। यदि संयोगवश बिन्दु अपने स्थान से खलित हो जाय तो साधक को चाहिए कि वह योनिमुद्रा के द्वारा उसे निबद्ध करे। बिन्दु को निबद्ध करके ऊपर की ओर ले जाकर वाम भाग में स्थित करके योगी गुरु के आदेशानुसार 'हुं हुं' का उच्चारण

---

१. वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम्। स्वभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद् गुह्यतमामपि।।
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना। मुक्तो भवति गार्हस्थ वज्रोल्यभ्यासयोगतः।।
वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगे युक्तेऽपि मुक्तिदः। तस्माददतिप्रयत्नेन कर्तव्यो योगिभिः सदा।।
(शिवसंहिता-७८-८०)

करके लिंग का चालन करे तथा अपान वायु को आकुञ्चित करके बलपूर्वक रज का योनि से आकर्षण करे। इस विधि से योगी योग की शीघ्र ही सिद्धि के लिए अमृतपान करता है। गुरु के चरणकमल का पूजक योगी अपने शरीर में चन्द्रस्वरूप बिन्दु और सूर्यस्वरूप रज दोनों को प्रविष्ट करता है।

भगवान् शिव कहते हैं कि मैं बिन्दुस्वरूप हूँ और शक्ति रजस्वरूपिणी है। योगी के शरीर में इन दोनों के सामरस्य से शरीर का दिव्यीकरण निष्पन्न होता है। शरीर से शुक्र-स्खलन ही मृत्यु है और बिन्दु को धारण करना ही जीवन है। योगसाधक को बड़ी सावधानी से बिन्दु की रक्षा करनी चाहिए। भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं—

अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा।
योगिनां साधनावस्था भवेद् दिव्यं वपुस्तदा।।

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम्।।

बिन्दु से ही प्राणी का जन्म होता है और उसी से मृत्यु होती है। बिन्दु ही उसके शरीर प्राप्त करने में कारण है और बिन्दु का अभाव हो जाने से ही शरीर की मृत्यु हो जाती है। बिन्दु की ही सिद्धि करनी चाहिए। इसकी रक्षा करने में सभी सिद्धियाँ सहज, सुलभ हैं। इसकी सिद्धि से पृथ्वी पर भला क्या सिद्ध नहीं हो सकता? बिन्दु-रक्षा के परिणाम-स्वरूप ही शिव इतने महिमाशाली बने हुए हैं। शरीर में स्थित बिन्दु का अभाव होना ही संसार में आसक्त, माया-विमोहित एवं वार्धक्य तथा मृत्यु के कवलीभूत प्राणियों के दुःखों का कारण है। बिन्दु-रक्षारूप यह शांकर योग सभी के लिए सर्वोत्तम है। भोगयुक्त मानव भी बिन्दु-रक्षा (वज्रोली मुद्रा का अभ्यास) से सिद्धि प्राप्त कर लेता है। वह समस्त मनोरथों की प्राप्ति भी कर लेता है तथा सिद्ध भी हो जाता है। इस वज्रोली के अभ्यास से साधक समस्त भोगों का आस्वादन करता है और समस्त सिद्धियाँ अधिगत कर लेता है।[१]

१९. अमरोली मुद्रा और उसका स्वरूप

अमरोली और सहजोली भी वज्रोली की ही सहायक क्रियायें हैं। शिवसंहिता में कहा गया है कि यदि दैवयोग से वीर्य अपने स्थान से उत्तेजनापूर्वक चलायमान हो जाय और साधक रज-बिन्दु के ऐक्य में सफल हो जाय तो यही अमरोली मुद्रा है। इसमें साधक

---

१. अभ्यासात् सिद्धिमाप्नोति भोगयुक्तोऽपि मानवः।
सकलः साधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले।।
भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन निश्चितम्।
अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवम्।
सुखभोगेन महता तस्मादेनं समभ्यसेत्।।
(शिवसंहिता-९३-९४)

लिंगनाल से (वीर्यवाहिनी नाड़ी से) रज-बिन्दु का शोषण करता है। शिवसंहिता (४.८६) में बिन्दु को चन्द्रमा और रज को सूर्य कहा गया है। अमरोली मुद्रा को शिवसंहिता में इस प्रकार पारिभाषित किया गया है—

देवाच्चलति चेद् वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः।
अमरोलिरियं प्रोक्ता लिङ्गनालेन शोषयेत्।।

हठयोगप्रदीपिका में अमरोली को वज्रोली का ही एक प्रकार बताकर उसे उससे अभिन्न सिद्ध किया गया है—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम्।।

वज्रोली, सहजोली एवं अमरोली— इन तीनों का फल एक ही है।

वज्रोली मुद्रा की सिद्धि के लिए मैथुनानन्तर स्त्री एवं पुरुष दोनों को (दग्ध गोमय को जल में डालकर बनाये गये) भस्म का अपने मस्तक, शिर, नेत्र, हृदय, स्कन्ध एवं भुजाओं पर लेप लगाना चाहिये—

जले सुभस्म निक्षिप्य दग्ध गोमयसम्भवम्।
वज्रोली मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम्।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात्।।

सहजोली के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि दग्ध गोमय को जल में मिलाकर निर्मित भस्म का मस्तकादि अंगों पर लेप किया जाना चाहिए। इस भस्म-लेपन क्रिया को मत्स्येन्द्र आदि योगियों ने सहजोली मुद्रा कहा है—

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः।।

यह योग केवल पुण्यात्माओं, धैर्यवानों, तत्त्वदर्शियों एवं मत्सरहीन साधकों को ही सिद्ध होता है; मत्सरशीलों को नहीं—

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम्।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनम्।।

अमरोली का स्वरूप— अमरोली क्रिया का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतयान्त्यधारा।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली।।

अर्थात् अधिक पित्त वाली प्रारम्भिक बिन्दुधारा और सार अंश से शून्य एवं अन्त की बिन्दुधारा का त्याग करके शीतल मध्य धारा (चन्द्रामृत) का ही इस मुद्रा में सेवन किया जाता है। इसे खण्ड कापालिकमत में अमरोली कहा जाता है।

साधक नासिका द्वारा अमरी (शिवाम्बु) का नित्य पान करते हुए वज्रोली मुद्रा के द्वारा वीर्य के ऊर्ध्वाकर्षण का अभ्यास करता है। उसका यह अभ्यास अमरोली कहलाता है—

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेत् सम्यगमरोलीति कथ्यते।।

अमरोली के अभ्यास से निःसृत सुधा चन्द्रामृत को विभूति (भस्म) में मिलाकर उत्तम अंगों (सिर, कपाल, नेत्र, कन्धे, कण्ठ एवं हृदय) आदि में लेप करना चाहिए। इससे साधक की दृष्टि दिव्य हो जाती है—

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत्।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते।।

यदि नारी अच्छी तरह अभ्यास में निपुणता प्राप्त करके वज्रोली मुद्रा के द्वारा पुरुष के वीर्य का आकुञ्चन करके (आकर्षण करके) रज की रक्षा करती है तो वह योगिनी होती है। इस प्रकार के अभ्यास से नारी का रज तनिक भी नष्ट नहीं होता। उसके शरीर में मूलाधार से समुत्थित नाद हृदय के ऊर्ध्व भाग में पहुँचकर बिन्दुरूप हो जाता है—

तस्याः किञ्चिद् रजोनाशं न गच्छति न संशयः।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति।।

अमृतसिद्धि-नामक ग्रन्थ में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम्।
अनयोर्बाह्ययोगेन सृष्टिं सञ्जायते नृणाम्।।

यदाभ्यन्तरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते।
बिन्दुश्चन्द्रमयो प्रोक्तो रजः सूर्यमयं तथा।।

अनयोः सङ्गमादेव जायते परमं पदम्।
स्वर्गदो मोक्षदो बिन्दुः धर्मदोऽधर्मदस्तथा।
तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठन्ते सूक्ष्मरूपतः।।

अर्थात् पुरुष के वीर्य एवं नारी के रज के बाह्य योग से सन्तानोत्पत्ति होती है। दोनों का आन्तरिक योग होने पर ही योगी कहा जाता है। बिन्दु चन्द्रात्मक एवं रज सूर्यात्मक है। इनके योग से परमपद की प्राप्ति होती है। बिन्दु स्वर्ग, मोक्ष, धर्म एवं अधर्म— सब कुछ प्रदान करता है। सूक्ष्म रूप से सभी देवता इसमें निवास करते हैं—

वज्रोली मुद्रा के अभ्यास से बिन्दु एवं रज एक होकर अपने ही शरीर में एक हो जायँ तो समस्त सिद्धियाँ प्रदान करते हैं। जो नारी योनि के संकोच द्वारा रज को ऊर्ध्व करके रक्षा करती है, वह योगिनी है। वह भूत एवं भविष्य को जानती है तथा उसे खेचरी की सिद्धि प्राप्त होती है। वज्रोली के अभ्यासयोग से देहसिद्धि (रूप-लावण्य आदि)

की प्राप्ति होती है। यह योग अत्यन्त पुण्यकारक है। भोगों को भोगने पर भी यह योग मोक्ष प्रदान करता है।

वज्रोली, सहजोली एवं अमरोली का उद्देश्य— इसका उद्देश्य है— शरीर में बिन्दु की रक्षा। इस मुद्रा से बिन्दु एवं रज के एक होकर ऊर्ध्वमुख होने से देह-सिद्धि, योगसिद्धि एवं मुक्ति या स्वरूपावस्था की प्राप्ति होती है। यद्यपि वज्रोली योगसिद्ध पुरुषों की साधना की गहन अनुभूति है तथापि कौलों, कापालिकों एवं अन्य वामाचारी तान्त्रिकों ने इसे वासना-तुष्टि का साधनमात्र बना लिया। योगी का उद्देश्य वीर्य को ऊर्ध्वमुख करना है तथा योगिनी का उद्देश्य रज को ऊर्ध्वगामी करने में निहित है। बिन्दु एवं रज की ऊर्ध्वमुखी एकता से कायसिद्धि, योगसिद्धि एवं तत्त्वसाक्षात्कार सम्पन्न हुआ करते हैं। मूलाधार (मूल बन्ध) द्वारा अपान वायु (चन्द्र) एवं प्राणवायु (सूर्य) को नाभिस्थान में संस्थित करके वज्रोली के द्वारा सुषुम्नामार्ग से ऊर्ध्वमुख करके ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित करना भी वज्रोली का उद्देश्य है।

योगतत्त्वोपनिषद् में वज्रोली की महत्ता इस प्रकार बतायी गई है—

वज्रोलीमभ्यसेद् यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम्।
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्।।

वज्रोली की सिद्धि से—

१. योगी भूत एवं भविष्य दोनों को जान जाता है।

२. वह आकाश-सञ्चरण की शक्ति भी आयत्त कर लेता है।

३. वह जननेन्द्रिय से स्खलित अपने शुक्र को नारी के जननेन्द्रिय से आकृष्ट कर सकता है।

४. वह नारी के रज को भी खींच सकता है।

५. वह जननेन्द्रिय में स्रवित बिन्दु को रज के साथ मिश्रित करके उसे पुनः अपने शरीर में आकृष्ट कर सकता है।

६. वह भोगी होते हुये भी योगी एवं ब्रह्मचारी बन सकता है।

७. वज्रोली वीर्यस्खलन रोकने वाली क्रिया है। अमरोली स्खलित बिन्दु को भी नारी के रज के साथ मिश्रित करके अपने शरीर में खींच लेने की क्रिया है ।

८. अभ्यास के काल में प्राण एवं अपान को एकीभूत करके सुषुम्ना मार्ग से ऊर्ध्वगामी करने हेतु पवन पर विजय आवश्यक है।

गोरक्षनाथ ने गोरखबानी (सबदी १४१) में इस विधान को स्वीकार किया है—

बजरी करंतां अमरी राखै अमरिं करंतां बाई।
भोग करंतां जे ब्यंद राषै ले गोरख का गुरभाई।

वज्रोली मुद्रा (हठयोगप्रदीपिका की दृष्टि से)— जो योगी वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करना जानता है, वह योगशास्त्र के नियमों के पालन के विना भी अपनी इच्छा से जीवन-धारण करते हुए सिद्धि प्राप्त कर लेता है। वज्रोली के साधक के लिए दो दुर्लभ वस्तुयें अत्यावश्यक हैं— दूध एवं आज्ञाकारिणी नारी—

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी।।

वज्रोली मुद्रा का स्वरूप इस प्रकार है कि पुरुष या नारी बिन्दुप्रवाह को ऊर्ध्व प्रदेश में आकर्षित करे। लिङ्गेन्द्रिय के आकुञ्चन से बिन्दु को ऊर्ध्वाकर्षित करने का अभ्यास किया जाय तो इससे वज्रोली मुद्रा की सिद्धि होती है—

मेहनेन शनैः समयगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात्।।

सम्भोगानन्तर बिन्दु को क्षरित होने से रोकने के लिए उस बिन्दु को धीरे-धीरे आकुञ्चित करके उसे ऊपर ले जाने का स्त्री या पुरुष धीरे-धीरे अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्रा की सिद्धि हो जाती है। शीशे की बनी हुई नली से उपस्थ के छिद्र में वायु के सञ्चार हेतु फूत्कार करना चाहिये—

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसञ्चारकारणात्।।

दुग्ध, नारी, शीशे की नली एवं वायुयोग— ये चारो वस्तुयें वज्रोली मुद्रा के लिए आवश्यक हैं।

शीशे की नली (शस्तनाल)— लिंगेन्द्रिय के छिद्र में प्रवेश करने योग्य चौदह अंगुल लम्बी शीशे की नली बनवानी चाहिए। उसे धीरे-धीरे दो-दो अंगुल, तीन-तीन अंगुल के क्रम से लिंगछिद्र में प्रवेश कराने का इस प्रकार अभ्यास करना चाहिए कि बारह अंगुल प्रविष्ट हो जाय और मात्र दो अंगुल बाहर रह जाय। टेढ़े एवं ऊर्ध्वमुख भाग को बाहर रखना चाहिए। फिर सुनार की धौंकनी के नल के समान नली को लेकर उसके अगले भाग को उपस्थ में प्रविष्ट करे और उसमें फूँके तो उपस्थ मार्ग का शोधन होता है। इसके बाद अन्य क्रियायें करे।

जलाकर्षणाभ्यास— इसके अनन्तर योगी को चाहिए कि वह अपने जननेन्द्रिय से जल को ऊपर खींचे।

वीर्याकर्षणाभ्यास— इसके अनन्तर वह अपने जननेन्द्रिय से वीर्य का आकर्षण करे। तत्पश्चात् जननेन्द्रिय में अधःपतित वीर्य का आकर्षण करना चाहिए—

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।।

एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।।

बिन्दु (वीर्य) को शरीर में धारण करते रहने से योगी के शरीर में दिव्य गन्ध की उत्पत्ति हो जाती है। शरीर कान्तिमय हो जाता है। जब तक शरीर में वीर्यबिन्दु स्थिर है, तब तक काल का भय नहीं रहता— शरीर जीर्ण-शीर्ण होकर नष्ट नहीं होता।

मनुष्यों का चित्त शुक्राश्रित है। जीवन शुक्राधीन है; अत: वीर्य एवं मन दोनों की रक्षा की जानी चाहिये।[१] ऋतुमती नारी के रज एवं अपने बिन्दु की रक्षा की जानी चाहिये। योगाभ्यास में निपुण योगी को चाहिये कि वह लिंगेन्द्रिय के छिद्र से (वज्रोली की विधि से) रज एवं बिन्दु दोनों का ऊर्ध्वाकर्षण करे।[२]

वज्रोली के भेद— वज्रोली मुद्रा की दो सहायक क्रियायें और हैं और उन्हें तान्त्रिक योगियों ने सहजोली एवं अमरोली कहा है। ये दोनों ही वज्रोली मुद्रा के विशेष भेद हैं—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकत:।

सहजोली में तो सम्भोगानन्तर गोबर के कण्डे की भस्म को जल में भिगोकर स्त्री-पुरुष दोनों को अपने सिर, ललाट, नेत्र, हृदय, स्कन्ध एवं बाहुओं में लगाने (लेप करने) का विधान है; किन्तु अमरोली का विधान दूसरा है। इसमें पित्तप्रधान प्रारम्भिक बिन्दुधारा और सारशून्य अन्तिम बिन्दुधारा का त्याग करके शीतल मध्यधारा (चन्द्रामृत) का ही (इस मुद्रा में) सेवन करने का विधान है। यही खण्डकापालिकों की दृष्टि है—

निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली।

अमरोली की क्रिया में साधक नासिका के द्वारा अमरी (शिवाम्बु) का नित्य पान करते

---

१. सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्।
यावद् बिन्दु: स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुत:।।
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नत:।।

२. ऋतुमत्या रजोऽप्येयं निजं बिन्दुं च रक्षयेत्।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित्।।

पिण्ड के दिव्यीकरण के मुख्य साधन—

(क) विपरीतकरणी मुद्रा के द्वारा चन्द्र से स्रवित एवं अग्नि या (सूर्य) में पतित होने वाले अमृत का साधक द्वारा स्वयं पान करना=चन्द्रकलामृतपान।

(ख) वज्रोली मुद्रा द्वारा वीर्य को स्खलित होने से रक्षित करते हुए उसे रज के साथ एकीकृत करके उसकी ऊर्ध्वस्थापना।

(ग) नाद श्रवण

(घ) ब्रह्मचर्य

हुए वज्रोली मुद्रा द्वारा वीर्याकर्षण का अभ्यास करता है। उसका यही अभ्यास अमरोली कहा जाता है।

अमरोली के अभ्यास से निकली हुई सुधा (चन्द्रामृत) को भस्म (विभूति) में मिश्रित करके उसको उत्तम अंगों (सिर, कपाल, नेत्र, कन्धों, कण्ठ एवं हृदय आदि में) लेप करना चाहिये। इससे साधक में दिव्य दृष्टि का उन्मेष हो जाता है।

योगिनी और योगी— यदि कोई नारी वज्रोली मुद्रा के द्वारा पुरुष के वीर्य का आकुञ्चन करके (आकर्षण करके) रज की रक्षा करती है तो वह योगिनी है। इस प्रकार के अभ्यास से नारी का रज तनिक भी नष्ट नहीं होता। उसके शरीर में मूलाधारोत्थित नाद हृदय के ऊर्ध्व भाग में पहुँचकर बिन्दु हो जाता है। इसी प्रकार जो साधक योनिगत बिन्दु की भी रक्षा कर लेता है, वही योगी है—

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात्।
यदि नारी रजो रक्षेद् वज्रोल्या साऽपि योगिनी।।

तस्याः किञ्चिद् रजोनाशं न गच्छति न संशयः।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति।।

बिन्दु एवं रज का एकीकरण— प्राण एवं अपान, 'ह' एवं 'ठ', सूर्य एवं चन्द्रमा, शुक्र एवं रज— इनकी एकता (सामरस्य) को ही 'योग' कहा जाता है। वज्रोली मुद्रा के अभ्यास से बिन्दु एवं रज एक होकर अपने ही शरीर में एक हो जायँ तो समस्त सिद्धियाँ प्रदान करने लगते हैं। जो नारी योनि के संकोच द्वारा रज को ऊर्ध्व करके उसकी रक्षा करती है, वह भूत-भविष्य की ज्ञाता बन जाती है— उसकी खेचरी सिद्ध हो जाती है, तब वह योगिनी कहलाती है—

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्।।

२०. शाक्तिचालनी मुद्रा और उसका स्वरूप

समस्त मुद्राओं का प्रधान लक्ष्य एक है और वह है— शक्ति का जागरण अर्थात् सोती हुई शक्ति को जगाना—

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।[१]

इसी परिप्रेक्ष्य में आगे दश मुद्राओं का वर्णन किया गया है; जो कि महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरणी, वज्रोली एवं शक्तिचालन हैं।

शक्तिचालन मुद्रा का सम्बन्ध भगवती कुण्डलिनी के जागरण से है। तान्त्रिक योग

---

१. हठयोग प्रदीपिका।

का मूलाधार भी कुण्डलिनी ही है—

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली।।

यह गुरुप्रसाद से ही जागृत होती है; किन्तु जब जागृत होती है तब समस्त शरीरस्थ पद्म एवं ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं—

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।।

वह कौन-सी शक्ति है, जिसे जगाया जाता है? यह शक्ति आत्मशक्ति है, पर देवता है, कुण्डली है; जो कि साढ़े तीन वलयों में वलयित होकर सर्पिणी की भाँति सो रही है—

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्धं त्रिवलयान्विता।।

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवो पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्।।[1]

कुण्डलिनी— कुलकुण्डलिनी मूलाधार चक्र में अनादि काल से सो रही है। तान्त्रिकों के रूपक के अनुसार अकुल (शिव) शिवलोक में बहुत ऊपर स्थित है और उसकी वियुक्ता पत्नी अनन्त कालों से उससे बिछुड़कर पाताल लोक में सुप्तावस्था में वियोगिनी प्रोषितपतिका नायिका की भाँति पड़ी है। इसके अनेक नाम हैं जिनमें से मुख्य हैं—

१. कुटिलांगी
२. कुण्डलिनी
३. भुजंगी
४. शक्ति
५. ईश्वरी
६. कुण्डली
७. अरुन्धती

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः।।

कुण्डली के जागरण की विधियों का तान्त्रिक योग के ग्रन्थों एवं पुराणों में भूरिशः उल्लेख मिलता है। उपनिषदों में भी इस विषय पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

कुण्डलिनी-जागरण की विधि— अनादिकाल-सुषुप्ता भुजंगिनी कुण्डलिनी का उत्थापन ही शक्ति का जागरण एवं शक्ति का उत्थापन है। जब तक यह शक्ति नहीं जागती; योग के किसी भी अंग— आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि एवं मुद्रा-बन्ध-षट्कर्म आदि की पूरी सिद्धि सम्भव नहीं हो पाती।

हठयोगप्रदीपिका की शक्त्युत्थापन-विधि— स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि जिस प्रकार कुञ्जी के द्वारा हठपूर्वक किवाड़ खोला जाता है, उसी प्रकार योगियों के द्वारा

---

१. घेरण्ड संहिता।

कुण्डलिनीरूपी चाभी के द्वारा मोक्ष के बन्द द्वार को खोला जाता है—

उद्धाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्।।[१]

जिस मार्ग से निरामय बाह्य स्थान (ब्रह्मरन्ध्र) में प्रवेश किया जाता है, उसी सुषुम्ना द्वार को अवरुद्ध करके परमेश्वरी कुण्डलिनी सोती है। कन्द के ऊर्ध्व भाग में कुण्डलिनी सोयी रहती है। यह योगियों को मोक्ष प्रदान करती है और अज्ञानियों के लिये बन्धनकारिणी है। जो उसे जानता है, वही योग का ज्ञाता है—

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद् द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।।

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मन्दानां यस्तां वेत्ति स योगवित्।।

नाभि के नीचे और लिंगेन्द्रिय के ऊपर कन्द स्थित है। इसी कन्द के ऊपर सुषुम्ना द्वार को अवरुद्ध करके कुण्डलिनी सोती है। योगी इस कुण्डलिनी शक्ति का चालन (प्रबोधन) करके मुक्त हो जाते हैं और ब्रह्मरन्ध्र में स्थित शिव का साक्षात्कार कर लेते हैं।

कुण्डली शक्ति का आकार सर्प के समान है। यह शक्ति जिसके द्वारा चालित या प्रबुद्ध की जाती है, वह योगी अज्ञान के बन्धन से निवृत्त है रहता। गंगा (इड़ा) एवं यमुना (पिंगला नाड़ी) के मध्य बालरण्डा तपस्विनी के समान कुण्डलिनी स्थित है। उसे ग्रहण करना परम पद की प्राप्ति है। इडा गंगा के समान है और पिंगला यमुना के समान है—

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम्।।

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली।।

इड़ा नाड़ी भगवती गंगा है। पिंगला नाड़ी यमुना नदी है। इन दोनों के मध्य में बालरण्डा (निराहारा) तपस्विनी कुण्डलिनी स्थित है। उसे हठयोग के द्वारा प्रबुद्ध करके ग्रहण करना परम पद परमेश्वर की प्राप्ति है। कुण्डलिनी जब तक इन दोनों इड़ा-पिंगला नाड़ियों के मध्य सोती रहती है और सुषुम्ना में प्रबुद्ध होकर प्रवेश नहीं करती है; तब तक निष्कल रहती है। परदेवता आत्म शक्ति कुण्डलिनी भुजंगाकारा है और सोयी हुई है। वह जब तक सोती रहती है, प्राणी पशु के समान अज्ञानी रहता है। चाहे करोड़ों प्रकार की योग-साधना की जाय, ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं होता, जब तक कि कुण्डलिनी जग न जाय। 'बालरण्डा तपस्विनी' इसलिए कहा गया है; क्योंकि कुण्डलिनी शिव से विरक्त होकर

---

१. हठयोगप्रदीपिका।

गंगा (इड़ा) एवं पिंगला (यमुना) की मध्य स्थली में तपस्या करती है और ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना में प्रवेश कर जाग्रत होकर ब्रह्मरन्ध्र में शिव का सायुज्य प्राप्त करती है—

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम्।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्।।

सोती हुई भुजंगी कुण्डलिनी को पूँछ पकड़कर जगाना चाहिए। वह निद्रा का त्याग कर हठपूर्वक उठकर स्थित हो जाती है, जाग जाती है। पूँछ पकड़कर सर्पाकृति कुण्डलिनी को जगाने का अभिप्राय है— प्राणनिरोध का अभ्यास। इससे वायु के द्वारा ताड़ित होकर कुण्डलिनी जग जाती है। गोरक्षनाथ 'गोरक्षशतक' में शक्तिचालिनी मुद्रा के विषय में कहते हैं—

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढ़तरं बद्ध्वा तु पद्मासनम्
गाढ़ं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यात्वा च तत्प्रेक्षितम्।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत् पूरितम्।
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रबोधान्नरः।।

दोनों हाथों को एक-दूसरे से सटाकर पद्मासन में अच्छी तरह स्थित होकर वक्षःस्थल पर चिबुक को लगाकर कुण्डलिनी का ध्यान करते हुए बार-बार प्राणायाम द्वारा वायु को खींच कर उसे अपान वायु से मिलाकर कुम्भक द्वारा वायु को रोककर श्वास बाहर निकालने से शक्ति के प्रबोधन द्वारा अतुल बोध प्राप्त करता है।

शक्तिचालिनी मुद्रा के अभ्यासकाल में साधक सिद्धासन या पद्मासन में बैठकर दोनों हथेलियों को पृथ्वी पर जमा दे। बीस-पच्चीस बार धीरे-धीरे दोनों नितम्बों को पृथ्वी से उठा-उठाकर ताड़न करे। इसके अनन्तर मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओं से पूरक करके प्राणवायु को अपान वायु से मिलाकर जालन्धर बन्ध लगाकर कुम्भक करे। कुम्भक के समय अश्विनी मुद्रा करे, गुह्य प्रदेश का संकोचन एवं प्रसारण करे। इसके बाद जालन्धर बन्ध खोलकर रेचक से वायु बाहर निकाल कर एकाग्र चित्त बैठ जाय। इससे कुण्डलिनी जग जाती है—

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया।।

मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी को दक्षिण नासा से वायु खींचते हुए पूरक की विधि से सूर्यास्त और सूर्योदय के समय सायं एवं प्रातःकाल में डेढ़-डेढ़ घण्टे (९० मिनट) तक परिधानयुक्ति से परिचालित (प्रबोधित) करना चाहिए।

(परिचालन करना अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति को अच्छी तरह चालित करते हुए सुषुम्ना में समुत्थित करना)।

कुण्डलिनी का परिचालन एकाग्र चित्त होकर नाभिदेश को वस्त्र से आच्छादित करके

गोपनीयता के साथ करना चाहिए। घेरण्डसंहिता में कहा गया है—

नाभिं सम्वेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्।।

नाभि को वस्त्र से लपेट कर एकान्त स्थान में शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। नग्नावस्था में बाहर इसका साधन नहीं करना चाहिए। नाभिस्थानीय पेट को दायें-बायें, बायें-दायें परिचालित करना चाहिए।

कन्द का सम्पीडन ही शक्तिचालन है। कन्द के स्थान और स्वरूप का वर्णन किया गया है। मूल स्थान से एक वित्ता के ऊपर मेढ़्र एवं नाभि के मध्य में कन्द का स्थान है। यह चौड़ाई में चार अंगुल (तीन इञ्च) है। यह मसृण एवं श्वेत है तथा वेष्टित किये हुये वस्त्र के समान है। साधक को वज्रासन में स्थित होकर दोनों पैरों की एड़ियों के पास हाथों से दृढ़तापूर्वक पकड़कर उस कन्द का प्रपीड़न करना चाहिए अर्थात् दबाना चाहिए। इस प्रकार वज्रासन में स्थित होकर शक्तिचालन करते हुए योगी को 'भस्त्रा कुम्भक' प्राणायाम करके कुण्डलिनी को जगाना चाहिये—

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम्।।

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढ़म्।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्।।

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्।।

कन्दयोनि की स्थिति के सम्बन्ध में गोरखनाथ जी कहते हैं—

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत्।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः।।

मेढ़्र से ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे की भाँति कन्दयोनि है। यह बहत्तर हजार नाड़ियों का उत्पत्ति-स्थान है।

याज्ञवल्क्य का कथन है कि गुदा से दो अंगुल ऊपर और मेढ़्र (लिंगेन्द्रिय) से दो अंगुल नीचे देह का मध्य भाग है। उसके मध्य में मनुष्यों का कन्दस्थान नौ अंगुल लम्बा और चार अंगुल चौड़ा है। यह अण्डाकार है—

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः।
देहमध्यं तयोर्मध्यं मनुजानामितीरितम्।।

कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम्।
चतुरङ्गुलिविस्तारमायामं च तथाविधम्।
अण्डाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः।।

नाभि का आकुञ्चन करते हुए नाभिदेशस्थ भास्कर का आकुञ्चन करना चाहिए। इस प्रकार कुण्डली शक्ति का चालन करना चाहिए। इससे योगी को मृत्यु का भय नहीं रह जाता; भले ही वह मृत्यु के मुख में ही क्यों न पड़ा हो। दो मुहूर्त (९६ मिनट तक) शक्ति का इस तरह चालन करने से कुण्डलिनी सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर कुछ ऊपर की ओर खिंच जाती है। ऐसा करने से कुण्डलिनी सुषुम्ना के मुख का त्याग करके भीतर प्रवेश करती है। इसके फलस्वरूप प्राणवायु अपने-आप सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है।[1]

जिस शक्तिचालन मुद्रा से प्राण सुषुम्ना में चला जाता है, उस अरुन्धती (कुण्डलिनी) का, जो कि सुख से सोती है, नित्य चालन करना चाहिए। इससे योगी रोगों (कास-श्वास-ज्वर आदि) से मुक्त हो जाता है। जो योगी कुण्डली को सञ्चालित कर लेता है, अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है, वह खेल-खेल में ही अनायास मृत्यु को भी अपने वश में कर लेता है।[2]

जो साधक इन्द्रियों को वश में रखकर ब्रह्मचर्य का पालन करता है तथा सात्त्विक आहार का सेवन करता है, वह शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यासी योगी एक मण्डल (४० दिवसों) में ही प्राणायाम की सिद्धि कर लेता है। कुण्डलिनी का चालन करके योगी को विशेष रूप से भस्त्राकुम्भक का नित्याभ्यास करना चाहिए। इससे उसे मृत्युभय आक्रान्त नहीं करता। उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती। वह स्वेच्छा से देह छोड़ने में स्वतन्त्र होता है; क्योंकि मृत्यु उसके वश में रहती है।[3]

विना कुण्डलिनी का चालन किये शरीरस्थित बहत्तर हजार नाड़ियों के दृढ़ाभ्यास से आसन, प्राणायाम और मुद्राओं की साधना के द्वारा मध्यमा नाडी, सुषुम्णा सरल हो जाती

---

१. भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः।।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित् सुषुम्नायां समुद्गता।।
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः।। (हठयोगप्रदीपिका)

२. तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम्।
तस्याः सञ्चालनेनैन योगी रोगैः प्रमुच्यते।।
येन सञ्चालिता शक्तिः स योगो सिद्धिभाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया।। (हठयोगप्रदीपिका)

३. ब्रह्मयर्चरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः।।
कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद् विशेषतः।
एनमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः।। (हठयोगप्रदीपिका)

है— कुण्डलिनी के प्रवेश के लिए सुगम मार्ग के रूप में प्रशस्त हो जाती है। अभ्यास के समय मन को समाधि में लीन करने पर निद्रारहित अवस्था में साधक को रुद्राणी, शाम्भवी मुद्रा या उन्मनी अवस्था कल्याणकारिणी सिद्धियाँ प्रदान करती है।[१]

अभ्यास के समय मन को समाधि में लीन करने पर निद्रारहित अवस्था में साधक विभिन्न स्थितियाँ प्राप्त करता है।

मुद्रा हठयोग का प्रधान अंग है। आसन, मुद्रा और कुम्भक— ये हठसाधना के प्रधान अंग माने जाते हैं।

शिवसंहिता की शक्त्युत्थापन-विधि— शिवसंहिता में कहा गया है कि मूलाधार चक्र में प्रसुप्त कुण्डली शक्ति को बुद्धिमान साधक अपान वायु पर आरूढ़ होकर उसे बलपूर्वक चालित करे। यह सर्वशक्तिप्रदा शक्तिचालनमुद्रा है। जो साधक प्रतिदिन शक्ति-चालन मुद्रा का अच्छी तरह विधि-विधान के साथ अभ्यास करता है, उसकी आयु में वृद्धि हो जाती है तथा उसके शरीरादि रोगों का ध्वंस हो जाता है। शक्तिचालन मुद्रा के अभ्यास से निद्रा का परित्याग करके कुण्डलिनी शक्ति स्वयं ऊपर उठ जाती है, जागृत हो उठती है; अत: सिद्धि के आकांक्षी साधक को शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। जो साधक गुरु के मार्गदर्शन में इस मुद्रा का अभ्यास करता है, उसे अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथा वह मृत्यु से अतीत हो जाता है।[२]

जो साधक केवल दो मुहूर्त (दो क्षण) तक भी इस शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करता है, उसके लिए योगसिद्धि सहज सुलभ है। योगियों को चाहिये कि वे योगासन में स्थित होकर इस मुद्रा का अभ्यास करें।

इस दस मुद्राओं के समान योगाभ्यास न तो कभी भूतकाल में था और न ही भविष्य में इनके समान कोई अभ्यास होगा। एक-एक का अभ्यास ही पूर्ण विधि से करने पर परम सिद्धिदायक है। योगसाधना में सिद्धि का मुख्यतम उपाय मुद्राभ्यास है; अन्य साधनाओं की कोई आवश्यकता नहीं है।[३]

---

१. इयं तु मध्यमा नाड़ी दृढ़ाभ्यासेन योगिनाम्।
आसनप्राणसंयाममुद्राभि: सरला भवेत्।। (हठयोगप्रदीपिका)

२. आधारकमले सुप्तां चालयेत् कुण्डलीं दृढ़ाम्।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान्।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी।।
शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं य: समाचरेत्।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम्।। (शिवसंहिता)

३. विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वे भवेत्खलु। तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता।।
य: करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम्। येन विग्रहसंसिद्धि: स्यादणिमादिगुणप्रदा।।

घेरण्डसंहिता की शक्त्युत्थापन-विधि— घेरण्ड ऋषि कहते हैं कि एक बालिस्त चौड़ा और चार अंगुल लम्बा श्वेत मुलायम वस्त्र नाभि पर रखकर उसे कटिसूत्र से बाँध लेना चाहिए। शरीर में भस्म का लेप करके सिद्धासन लगाकर प्राणवायु को खींचकर अपान वायु से मिलाना चाहिए। जब तक सुषुम्ना द्वार से वायु प्रवेश न कर जाय, तब तक अश्विनी मुद्रा से गुह्य का आकुञ्चन करते रहना चाहिए। इस प्रकार श्वास रुकने से कुम्भक के प्रभाव से सर्पाकार कुण्डलिनी जाग कर ऊर्ध्व मार्ग में खड़ी हो जाती है। शक्तिचालिनी मुद्रा के विना योनिमुद्रा सिद्ध नहीं होती।

घेरण्ड ऋषि यह भी कहते हैं कि यह मुद्रा सर्वाधिक गोपनीय है। प्रतिदिन प्रयत्न एवं गोपनीयता के साथ इसका अभ्यास करते जाना चाहिए। यह मुद्रा जरा एवं मृत्यु— दोनों का ध्वंस करने वाली है। इसके नित्याभ्यास से रोगों का क्षय होता है और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद् रोगाणां संक्षयो भवेत्।।[1]

घेरण्डसंहिता में शक्तिचालिनी मुद्रा के सन्दर्भ में कहा गया है कि कुण्डलिनी मूलाधार में सार्धत्रिवलय होकर सर्पिणी के रूप में सोयी हुई है। उसके सुप्तावस्था में योगी अज्ञावस्था में रहता है। जैसे चाभी से ताला खुलता है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के जागरण से ब्रह्मरन्ध्र का बन्द द्वारा खुलता है। नाभि को वस्त्र से लपेट कर एकान्त स्थान में शक्ति-चालनी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये—

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्धं त्रिवलयान्विताः।।आदि।।

इस साधना में बालिस्त भर चौड़ा एवं चार अंगुल लम्बा श्वेत एवं कोमल वस्त्र नाभि पर रखकर कटिसूत्र में बाँधा जाता है और शरीर में भस्म का लेपन करके, सिद्धासन से बैठकर, प्राण को खींचकर उसे अपान से मिलाने की क्रिया करनी पड़ती है।[2]

गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः। मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिचालनम्।।
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः। युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम्।।
एतत्तु मुंद्रादशकं न भूतं न भविष्यति। एकैकाभ्यासनं सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा।।
(शिवसंहिता)

१. घेरण्डसंहिता (३.५९-६०)

२. वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनालम्बरलक्षणम्।।
एवमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत्।
भस्मना गात्रसंलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत्।।

मुद्रायें कालवञ्चनात्मिका भी हैं—

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहित:।
अणिमादिगुणै: सार्धं लभते कालवञ्चनम्।।

मुद्रा और राजयोग

मुद्राओं की सिद्धि कब होती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि मुद्रायें केवल शारीर व्यापार या शारीर अभ्यासमात्र नहीं है; प्रत्युत ये मन:साधनात्मक हैं; अत: इनकी सिद्धि में राजयोग की प्रधान भूमिका है; इसीलिए हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है—

नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद् बलात्।
तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्विनमुद्रया।।
यावद् गच्छेत् सुषुम्नायां वायु: प्राकाशयेद् हठात्।
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी।।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते।
शक्तेर्विना चालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति।। (३/५३-५७)
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत्।
मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी।।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिभि: सिद्धिकांक्षिभि:।।

शक्तिचालिनी के बाद ही योनिमुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। हे चण्डकपाले! इस प्रकार शक्तिचालनी मुद्रा का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए। जो योगी इसका अभ्यास करता है, उसे सिद्धियाँ एवं विग्रहसिद्धि प्राप्त तो होती ही हैं; साथ ही उसके रोग भी नष्ट हो जाते हैं। इसी सन्दर्भ में घेरण्ड ऋषि कहते हैं—

आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत्।
इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम्।।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिन दिने समभ्यसेत्।
मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी।।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिभि: सिद्धिकांक्षिभि:।
नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता।
तस्य विग्रहसिद्धि: स्यात् रोगाणां संक्षयो भवेत्।।

कुण्डलिनी शक्ति आधारकमल में सो रही है, उसे जगाकर बलपूर्वक अपान वायु का आकर्षण करना चाहिए। यही शक्तिचालनी मुद्रा है। यह सर्वशक्तिप्रदा क्रिया है—

आधारे कमले सुप्तां चालयेत् कुण्डलीं दृढ़ाम्।
अपानवायुमारूह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान्।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी।।

हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि ७२००० नाड़ियों के शोधन में (उनमें स्थित अशुद्धि को दूर करने में) शक्तिचालनमुद्रा (कुण्डलिनी के अभ्यास) से बढ़कर कोई प्रक्षालनोपाय नहीं है—
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने। कुत: प्रक्षालनोपाय: कुण्डल्यभ्यसनादृते।।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते।।

साधक को प्राणायाम की सभी विधियों को मनोयोगपूर्वक करना चाहिए और उस मनीषी को मन की प्रवृत्ति किसी विषयान्तर में निरत नहीं करनी चाहिये—

इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा।

सर्वेश्वर भगवान् आदिनाथ शम्भु ने इन्हीं अभ्यासों को दश महामुद्रा कहा है। ये महा-सिद्धिप्रदायिका हैं। इसकी प्रत्येक मुद्रा महासिद्धिप्रदा है—

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी।।

जो इन मुद्राओं का उपदेष्टा योगी है, वही गुरु, स्वामी एवं ईश्वर है—

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम्।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः।।

राजयोग है क्या? स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि राजयोग वृत्त्यन्तरनिरोधपूर्वक आत्मगोचर एवं धारावाहिक रूप में प्रसृत (प्रवाहित) निर्विकल्प वृत्ति है। ज्योत्स्ना में यही व्याख्या की गई है— 'वृत्त्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्तिः राजयोगः।'

राजयोगं विना पृथ्वीः— राजयोग के विना पृथ्वी शोभित नहीं होती। पृथ्वी का क्या अर्थ है? ज्योत्स्नाकार का कथन है कि 'पृथ्वी' शब्द स्थैर्य गुण का प्रतिनिधि एवं सूचक है। आसन में स्थिरता आवश्यक है। पृथ्वी भूतत्त्व है। भूतत्त्व स्थिर है। जल, अग्नि एवं वायु तत्त्व अस्थिर हैं, अतः पृथ्वी को स्थिरता का सूचक मान लिया गया है। पृथ्वी का नाम ही है— (अचला) स्थिर। यद्यपि नक्षत्र-विज्ञान की दृष्टि से पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है; अतः स्थिर नहीं है, तथापि अपने पिण्ड के भीतर वह स्थिर है। वह बाहर अपनी सम्पूर्ण पिण्डात्मक रचना के रूप में सूर्य की परिक्रमा करते हुए ३६५ दिन ५ घण्टे ८८ मिनट एवं ४५.५१ सेकेण्ड लगाती है। अपनी धुरी पर भी वह स्थिर नहीं है; तथापि अपने मध्य में स्थिरवत् है; अन्यथा पृथ्वी तूफान जैसी होती। पृथ्वी के सम्बन्ध में प्रारम्भिक मत यह था कि पृथ्वी ब्रह्माण्ड का एक ऐसा अचल केन्द्र है, जिसके चारो ओर सूर्य, नक्षत्र तथा अन्य खगोलपिण्ड चक्कर काटते हैं। इस सिद्धान्त के प्रथम प्रवर्त्तकों में निडोस के यूरोडाक्सियस (३६० ई० पूर्व पू०) एक थे । यूनानी दार्शनिक अरिस्टाकस (३१०-३२० ई० पू०) का मत यह नहीं था। उनके अनुसार 'स्थिर नक्षत्र एवं सूर्य स्थिर हैं। पृथ्वी एक वृत्त की परिधि के चारो ओर की परिक्रमा करती है और सूर्य इस परिक्रमा-कक्ष के केन्द्र में है।'

अलेक्जेण्ड्रिया के दार्शनिक कलाडियस टालमी का अभिमत है कि निडोस के दार्शनिक

यूरोडाक्सियस का मत वैज्ञानिक नहीं है। कापरनिकस (१४७३-१५४३) ने कहा कि सूर्य ही ब्रह्माण्ड का केन्द्र है और पृथ्वी अचला नहीं— स्थिर नहीं; अस्थिर है और वह सूर्य की परिक्रमा करती है—

१. पृथ्वी का अपनी धुरी पर परिक्रमा का काल २३ घण्टा, ५६ मिनट और ४.९ सेकेण्ड।

२. पृथ्वी की सूर्य के चतुर्दिक प्रदक्षिणा का काल ३६५ दिन, ५ घण्टे, ८८ मिनट और ४५.५१ सेकेण्ड।

जिस प्रकार थाली को पीटने पर उस पर रक्खे छोटे कण नाचने या हिलने लगते हैं, ठीक उसी प्रकार यदि पृथ्वी भी अस्थिर होती तो उस पर स्थित पहाड़, नदियाँ, नगर, मकान आदि कोई भी स्थिर नहीं रह पाते; अत: पृथ्वी आपेक्षिक दृष्टि से तो स्थिर ही है। इसी दृष्टि से ज्योत्स्ना में ब्रह्मानन्द गिरि कहते हैं—

पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुण: राजयोगादसनं लक्ष्यते।

पृथ्वी का अर्थ है— स्थैर्य। राजयोग का अर्थ है— आसन।

राजयोग के विना परमपुरुषार्थस्वरूप मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं है— 'राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धि: इति हेतुरग्रेऽपि योजनीय:।'

'राजयोगं विना निशा' क्यों कहा गया है? निशा के समान कुम्भक प्राणायाम राजयोग के विना शोभायमान नहीं होता; क्योंकि जिस प्रकार रात्रि में राजपुरुषों का सञ्चार नहीं होता, उसी प्रकार कुम्भक (प्राणायाम) में प्राणों का सञ्चार नहीं होता।

निशा का अर्थ है— कुम्भक प्राणायाम। निशाशब्देन प्राणसञ्चाराभाव:, कुम्भक प्राणायाम=निशा।

राजयोग का अर्थ है— राजयोग नामक ज्ञान एवं मन:प्रधान साधना। 'निशाशब्देन प्राणासञ्चाराभावलक्षण: कुम्भको लक्ष्यते। राजयोगं विना निशेव निशा कुम्भको न राजते । निशायां प्रायेण राजजनसञ्चाराभावात्।'

राजयोगं विना मुद्रा विचित्राऽपि न शोभते। अर्थात् राजयोग के विना मुद्रा भी सुशोभित नहीं होती।

२१. योगमुद्रा

पद्मासन से बैठकर हथेलियों को एड़ियों पर रखिये। धीरे-धीरे श्वास बाहर निकाल कर एवं आगे झुककर मस्तक को जमीन से लगाइये। यदि अधिक समय तक अभ्यास करना हो तो सामान्यावस्था में (प्रथमावस्था में आकर) श्वास लें। हाथों को एड़ियों पर न रखकर पीठ पर भी रख सकते हैं। बायीं कलाई को दाहिनी कलाई से पकड़ें। इससे पेट के सभी विकार दूर हो जाते हैं।

२२. भुजङ्गिनी मुद्रा

मुख को थोड़ा फैलाकर गले के द्वारा वायु-पान करना भुजंगिनी मुद्रा कहलाती है। फल = वार्धक्य + मृत्यु का निवारण।

२३. मातङ्गिनी मुद्रा

मुख से निकालने के बाद मुख से खींचकर दोनों नासारन्ध्रों से निकालने की क्रिया को मातंगिनी मुद्रा कहते हैं।

२४. काकी मुद्रा

मुख को कौवे की चोंच के समान बनाकर धीरे-धीरे वायु-पान करने को काकी मुद्रा कहते हैं। फल = रोग-राहित्य।

सन्त ज्ञानेश्वर की दृष्टि— ज्ञानेश्वर ने भावार्थदीपिका में मूल बन्ध का बहुत सरल ढंग से वर्णन किया है। वे कहते हैं कि जंघे को पिंडुली से मिला दो। पाँव के तलुए एक पर एक ड्योढ़ा करके गुदास्थान के मूल में स्थिर रखकर जोर से दबाओ। दाहिना पाँव नीचे रक्खो एवं वृषण से गुदास्थान तक जो रेखा है, उसे उससे दबाओ। इस वृत्ति में बायाँ पाँव अपने-आप ही ऊपर रहेगा। गुदा और शिश्न के मध्य जो केवल चार अंगुल स्थान है, उसमें से दोनों ओर डेढ़-डेढ़ अंगुल छोड़कर बीच में जो एक अंगुल जगह रह जाती है, वहाँ एडी के उत्तर भाग से दबाओ और शरीर स्थिर करो। पीठ के नीचे का भाग इस प्रकार उठाओ कि उठाया प्रतीत न हो तथा दोनों घुटनों का भी सन्तुलन सम्भालो। इस स्थिति में सम्पूर्ण शरीर एड़ी के मस्तक पर रहेगा। हे अर्जुन! यही है— मूलबन्ध। इसे ही गौण वज्रासन भी कहते हैं। इस प्रकार जब मूलाधार का बन्ध सिद्ध हो जाता है और अपान वायु का अधोमार्ग बन्द हो जाता है तब वायु भीतर की ओर संकुचित होने लगती है।[1]

नाभि के नीचे स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर जो बन्ध बनता है, उसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं। इसी प्रकार जब ठोढ़ी कण्ठ के नीचे के गड्ढे में जम जाती है, हृदय को जोर से दबाती है और कण्ठमणि अदृश्य हो जाती है तो इस बन्ध को जालन्धर बन्ध कहते हैं।[2]

मूलबन्ध के द्वारा अपान वायु को बन्द कर दिया जाता है। फिर पीछे वह पलटती है और संकुचित होते ही तत्काल फूलती है। सन्ताप से वह उन्मत्त हो जाती है और

---

१. पक्षान्तर में की गई व्याख्या—
(क) राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो (राजा के साथ संयोग या मिलन = राजयोग) राज-सम्बन्धस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते। शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसम्भवात् ।

२. राजा चन्द्रः सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा (श्रुति)। तस्य योगं सम्बन्धं विना निशा रात्रिर्न राजते। राजा = चन्द्रमा। चन्द्रमा के विना निशा सुशोभित नहीं होती = राजयोगं विना निशा।

मनमानी जगहों में गर्जन करती है और ठहर-ठहर कर नाभिकमल मणिचक्र से लड़ने लगती है। वह सारे पेट को खोज डालती है और बाल्यावस्था का समस्त सड़ा कीचड़ बाहर फेंक देती है। वह शरीर के कोष्ठ-कोष्ठ को खोजती है और कफ एवं पित्त का स्थान नहीं रहने देती। वह धातु के समुद्रों को उलट देती है। वह मेदा के पर्वतों को फोड़ डालती है तथा भीतरी हड्डी से मिली हुई मज्जा को बाहर निकालती है और नाड़ियों का सम्बन्ध छुड़ा देती है।[१]

शक्त्युत्थापनसम्बन्धिनी ज्ञानेश्वर की दृष्टि— मूलबन्ध लगाने पर कुण्डलिनी निरुद्ध अपान वायु अवयवों को शिथिल कर डालती है। अपान वायु साधकों को भयभीत कर देती है। वह व्याधियाँ भी प्रकट करती है तथा साथ ही उसको नष्ट भी कर देती है। वह जलतत्त्व एवं पृथ्वी तत्त्व— दोनों को एक में सान डालती है।

दूसरी ओर लगे हुए आसन की ऊष्णता से कुण्डलिनी नामक शक्ति को जागृत कर देती है। जैसे कोई नागिन का सँपोला कुंकुम नहाया हुआ हो और अनेक वलयों में वलयित होकर सो रहा हो, उसी प्रकार की छोटी-सी कुण्डलिनी साढे तीन वलयों (सार्ध त्रिवलयों) में वलयित होकर और मुख को मध्य में किये हुये सर्पिणी के समान सोती रहती है। वह देखने में ऐसी प्रतीत होती है; मानों वह—

१. कुंकुम में नहाया हुआ संपोला हो।

२. विद्युतनिर्मित कंकण हो।

३. अग्नि-ज्वालाओं से परिवेष्टित एक विशिष्ट रचना हो।

४. घोंटे हुए सोने का पासा हो।

५. वह छोटे से स्थान में दबी हुई पड़ी रहती है; किन्तु वज्रासन के दबाव के कारण जाग जाती है। जगने पर वह ऐसी प्रतीत होती है; मानो—

(क) कोई नक्षत्र उलटा पड़ा हो।

(ख) सूर्य का आसन छूट गया हो।

(ग) चतुर्दिक प्रसृत तेज के बीज से अंकुर फूटे हों।

ऐसी कुण्डलिनी अपने वलयों (फेटों) को छोड़कर कौतुक के साथ अंगड़ाई लेती हुई नाभिस्थान पर दिखाई पड़ती है। चिरकाल से भूखी और हठपूर्वक जगाने से जागृत वह कुण्डलिनी भोजन के लिए ऊपर की ओर मुंह फाड़ती है और हृदयकमल के नीचे स्थित पवनसमूह को खा जाती है और माँसल स्थानों के कुछ भागों को अपना ग्रास (कवल)

राजयोगं विना नृपसम्बन्धं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः। विचित्रापि पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि। निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि। मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्राऽपि न राजते। (ब्रह्मानन्द गिरि-ज्योत्स्ना)

१. भावार्थदीपिका। (श्लोक ६.१२-१३)

बना ड़ालती है। फिर वह हृदय के भी एक-दो ग्रास चट कर जाती है। तत्पश्चात् वह तलुवों एवं हथेलियों का भी भेदन करती है और प्रत्येक अवयव की ग्रन्थियों में भी पहुँचती है। वह अधोभाग को भी नहीं छोड़ती। वह नख का भी सत्त्व निकाल लेती है और त्वचा के ढांचे को हड्डी के कंकाल से जोड़ देती है। वह हड्डियों की नलियों का भी रस निकालती है, नसों के जाले धो डालती है; जिससे कि रोममूलों की वृद्धि बन्द हो जाती है। फिर वह तृषाकुल कुण्डलिनी सप्तधातुओं के समूह को भी पीती है, जिससे कि शरीर का प्रत्येक भाग शुष्क हो जाता है। वह नासारन्ध्रों से निःसृत एवं १२ अंगुल पर्यन्त प्रसृत वायु को हटाकर भीतर घुस जाती है और तब नीचे की वायु ऊपर चढ़ती है एवं ऊपर की वायु नीचे उतरती है। जब इन दोनों वायुओं का मिलन होता है तब चक्रों के मात्र सूक्ष्म पुर्जे ही बच पाते हैं। कुण्डलिनी इन दोनों से कहती है कि जाओ, तुम्हारी यहाँ कोई उपयोगिता नहीं है।

कुण्डलिनी शरीर के पृथ्वी से सम्बद्ध धातु को पूर्णतया खा जाती है। वह इसमें से कुछ भी शेष नहीं रहने देती। फिर वह जलतत्त्व को भी पूर्णतया अपना आहार बना ड़ालती है। पृथ्वीतत्त्व एवं जलतत्त्व— दोनों का आहार कर चुकने के बाद वह तृप्त हो जाती है और इसी स्थिति में सुषुम्ना नामक नाड़ी के पास शान्त होकर स्थित हो जाती है।

वह आहारोपरान्त प्राप्त तृप्ति से (सन्तुष्टि द्वारा) मुख से जो गरल उगलती है, उसी अमृत से प्राणवायु जीवन धारण करती है। वह विष भीतर से बाहर की ओर अग्नि के रूप में निकालता है, किन्तु वह शैत्य फैलाता है; जिसके परिणामस्वरूप शिथिलीकृत, गलित, शुष्क एवं निष्प्राणीभूतवत् शरीरावयव दृढ़ होने लगते हैं।

कुण्डलिनी के जागरण की इस अवस्था में—

१. नाड़ियों के मार्ग बन्द हो जाते हैं।
२. नवों प्रकार के वायु की गति बन्द हो जाती है।
३. इड़ा-पिंगला नाड़ियाँ एक में मिल जाती हैं।
४. तीनों ग्रन्थियाँ छूट जाती हैं।
५. चक्रों की कलियाँ खिल उठती हैं।
६. चन्द्रमा और सूर्य नामक कल्पित वायु ढूँढ़ने पर भी कहीं दृष्टिगत नहीं होते।
७. बुद्धि का विकास बन्द हो जाता है।
८. घ्राणेन्द्रिय में स्थित सौरभ कुण्डलिनी के साथ नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है।
९. ऊर्ध्वस्थित समस्त चन्द्रामृत सरोवर कुण्डलिनी के मुख में गिर पड़ता है।
१०. इसके द्वारा नली में जो रस भर जाता है, वह समस्त शरीर में फैल जाता है और प्राणवायु के योग से यत्र-तत्र शुष्क हो जाता है।[१]

---

१. भावार्थदीपिका।

११. उस समय शरीर के रूप से मानों कान्ति ही अवतार ग्रहण करती है और ऊपर से त्वचारूपी आवरण डाल लेती है।

ऐसा प्रतीत होता है मानों, सूर्य मेघरूपी घूंघट काढ़े हुए है और मेघ के हट जाने पर वह अत्यन्त तेजस्वी दृष्टिगोचर हो रहा हो। ठीक इसी प्रकार जो शरीर त्वचारूपी सूखा पड़ा रहता है, वह भूसे की भाँति झड़ जाता है। उस समय शरीर के अवयवों की कान्ति ऐसी प्रतीत होती है जैसे वह स्फटिक से बनी हो या रत्नरूपी बीज में अंकुर प्रस्फुटित हो उठे हों, या सन्ध्याकाल के आकाश का रंग निकाल कर उन्हीं से ही कोई नया शरीर बना दिया गया हो, या आत्मज्योति का लिंग ही परिमार्जित करके रख दिया गया हो, या शरीर कुंकुम से नहाया हुआ हो, या आत्मरस ही शरीर के रूप में ढाल दिया गया हो, या शान्ति ने ही मूर्ति का रूप धारण कर लिया हो, या आनन्दस्वरूप चित्र ही लिपि के रूप में प्रकट हो गया हो (आनन्दरूपा चित्र की लिखावट हो), या महासुख की प्रतिमा हो या सन्तोषरूपी वृक्ष का पौधा रोपा गया हो, या महासुख का विग्रह हो, या सन्तुष्टिरूप वृक्ष का रोपा लगाया गया हो, या स्वर्णचम्पक की कलिका हो, या अमृत की मूर्ति हो, या मसृणता की बरेज में वसन्त आ गया हो, या शरदर्तु की आर्द्रता से चन्द्रबिम्ब पल्लवित हो उठा हो, या मूर्तिमान तेज ही आसनस्थ हो गया हो। कुण्डलिनी के अमृत का पान करते समय योगी का शरीर इसी प्रकार तेजस्वी, आकर्षक एवं सुन्दर बन जाता है। उस तेजोमय देह को देखकर यमराज भी भयभीत हो उठता है। यह शरीर वार्धक्य के बन्धन से अतीत हो जाता है। यौवन की ग्रन्थि का उद्‌भेदन हो जाता है। उसकी आयु यथार्थ आयु से कम दिखाई पड़ती है।

उसके शरीर में ऐसे नए नख निकलते हैं, जो (देखने पर) स्वर्ण के वृक्ष के पल्लवों में नित्य नव्य रत्नों की कलिकाओं के समान दृष्टिगत होते हैं। दाँत भी नए हो जाते हैं और छोटे-छोटे होते हैं। ये देखने में ऐसे लगते हैं, मानों हीरों की पंक्तियाँ बैठा दी गई हों। शरीर में जो रोमों के अंकुर होते हैं, वे ऐसे लगते हैं मानों माणिक्य के नोकदार कण हों। हथेलियाँ एवं तलवे रक्त कमल के समान दृष्टिगत होते हैं। नेत्र निर्मल हो जाते हैं। नेत्र ऐसे दिखते हैं मानों पक जाने पर सीपी का सीवन तोड़कर मोती बाहर निकल आये हों या सीपी की सियन खुल गई हो, जिससे मोती बाहर दिखने लगे हों । यही दृश्य दिखाई पड़ता है, ऐसे योगी के अर्धोन्मीलित नेत्रों का। दृष्टि पलकों में नहीं समाती और निकलकर व्यापक होना चाहती है। वह रहती तो अर्धोन्मीलित ही है; किन्तु आकाश तक व्याप्त रहती है।

ऐसे योगी का शरीर स्वर्ण का हो जाता है; किन्तु वह सोना के समान वजनी नहीं होता; प्रत्युत वायु का लघुत्व रखता है। उसमें पृथ्वी एवं जल के अंश नहीं रहा करते। उसे समुद्र का तट दिखाई पड़ता है और स्वर्ग का सुमधुर स्वर दृष्टिगोचर होता है। उसे

चींटी के मन का समाचार, अवस्था एवं मनोभाव ज्ञात हो जाता है। वह पवन के अश्व पर सवार हो सकता है। वह जल पर चले तो उसके तलुवे भीगते नहीं। उसे इसी प्रकार की अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

२५. कुण्डलिनी

प्राणों का हाथ पकड़कर हृदयाकाश की सीढ़ी बनाकर सुषुम्ना नाड़ी के जीने से पहुँची हुई जगदम्बा कुण्डलिनी चैतन्य-चक्रवर्ती है। उसने जगद्बीज ओंकार के अंकुररूप जीव पर छाया की है। वह निराकार ब्रह्म का साकार विग्रह है। वह परमात्मा शिव का सम्पुट है। वह ओंकार की प्रसवित्री जन्मभूमि है। वह कुण्डलिनी बाला जब हृदय में पहुँचती है तो अनाहत ध्वनि करने लगती है। उसके साथ बुद्धि की चेतना उपस्थित रहती है। इसी कारण बुद्धि को वह मधुर ध्वनि श्रुतिगोचर होती रहती है। वह ध्वनि ऐसी सुनाई पड़ती है, मानों घोषाकार कुण्ड में ध्वनि-चिह्न के आकार एवं ओंकार के रूप में लिखे गए हों। चूँकि वहाँ कल्पना करने वाला भी नहीं रहता; अत: यह ज्ञात नहीं होता कि कहाँ से किस वस्तु की ध्वनि श्रुतिगोचर हो रही है।

जब तक पवनतत्त्व का नाश नहीं होता तब तक आकाश में ध्वनि होती रहती है और आकाश गरजता रहता है। इस समय सहज रूप में ही ब्रह्मरन्ध्र की खिड़की खुल जाती है।[१]

कमलगर्भ के आकार के महदाकाश में, जो कि चैतन्यविग्रह है, कुण्डलिनी परमेश्वरी मानों तेजरूपी कलेवा अर्पित करती है। वह बुद्धिरूपी शोक का इस प्रकार नैवेद्य अर्पित करती है कि द्वैत का ध्वंस हो जाता है। इस स्थिति में कुण्डलिनी अपना तेज परित्यक्त करती है और केवल प्राणस्वरूप में अवशिष्ट रह जाती है। वह इस प्रकार दृष्टिगत होती है, मानों पवन की पुत्रिका (कठपुतली) ने अपनी ओढ़ी हुई सोने की साड़ी उतार कर रख दी हो। ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी दीपक की दृष्टि वायु से लड़कर लुप्त हो गई हो या विद्युत् चमक कर आकाश में विलीन हो गई हो।

हृदयकमल में कुण्डलिनी ऐसी दिखती है, मानों वह सोने की शलाका हो या कोई प्रकाश का प्रपात प्रवाहित हो रहा हो। उस शक्ति का रूप शक्ति में उसी प्रकार समाविष्ट या संलीन हो जाता है, जैसे हृदय भूमि के दर्रे में समा गया हो।

उसे या तो शक्ति कहें या प्राण— वह दोनों है। इस समय वह प्राण के रूप में रहती है। इस समय नाद, बिन्दु, कला, ज्योति— ये नहीं रह जाते। इस समय मन को वशीकृत करना, पवन का आश्रय लेना या ध्यानाभ्यास करना आदि निरर्थक हो जाता है। पिण्ड से पिण्ड का ग्रास, जो कि नाथ सम्प्रदाय का मर्म है, वही भगवान् कृष्ण ने गीता में उद्घाटित किया है।

---

१. भावार्थदीपिका।

जब शक्ति के तेज का लोप हो जाता है तब देह का रूप भी मिट जाता है और योगी इतना सूक्ष्म हो जाता है कि आँख में भी छिप सकता है। वह सावयव होते हुए भी वायुस्वरूप हो जाता है। ऐसा लगता है मानों केले के वृक्ष का गाभा अपने आच्छादन का त्याग करके खड़ा हो गया हो या आकाश के शरीर में अंग उत्पन्न हो गये हों। इस प्रकार का शरीर प्राप्त करने पर उसे खेचर कहते हैं। यह पद प्राप्त होते ही अनेक चमत्कार प्रकट होने लगते हैं। यथा—

१. योगी जहाँ-कहीं से भी निकल जाय, उसके पावों से निर्मित रेखाओं के स्थान पर अणिमादिक सिद्धियाँ उपस्थित हो जाती हैं।

२. देह के देह में पृथ्वी, जल और तेज (अग्नितत्त्व) तीनों महाभूत लुप्त हो जाते हैं।

३. हृदय में पृथ्वीतत्त्व को जलतत्त्व गला देता है। जलतत्त्व अग्नितत्त्व को शुष्क कर डालता है और वायुतत्त्व अग्नितत्त्व को बुझा देता है। फिर केवल वायुतत्त्वमात्र शेष रह जाता है। वह शरीर को आधार प्रदान किये रहता है।

४. इसके अनन्तर वायुतत्त्व भी आकाशतत्त्व में विलीन हो जाता है। इस समय कुण्डलिनी की 'कुण्डलिनी' आख्या न रहकर वायु हो जाती है अर्थात् कुण्डलिनी का नाम वायु हो जाता है। 'कुण्डलिनी' नाम के बदले उसका नाम 'वायु' पड़ जाता है।

५. जब तक कुण्डलिनी ब्रह्म में समाविष्ट नहीं हो जाती, तब तक उसकी शक्ति बनी रहती है। फिर वह जालन्धर बन्ध छोड़ देती है और सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है एवं गगनरूपी पहाड़ी पर जा पहुँचती है।

६. अब कुण्डलिनी ओंकार की पीठ पर पाँव रखकर शीघ्रता से पश्यन्ती वाक् रूपी सीढ़ी पर चढ़ जाती है और जिस प्रकार सागर में सरिता उसी प्रकार ओंकार की अर्द्धमात्रा तक आकाशतत्त्व के हृदय में जा मिलती हुई दिखाई देती है। फिर वह ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर रहकर सोऽहंभावरूपी भुजायें फैलाकर दौड़ती हुई परब्रह्म से मिल जाती है। उस काल में पञ्चमहाभूतों का आवरण विदीर्ण हो जाता है और शक्ति का शक्तिमान के साथ सामरस्य (महामिलन) हो जाता है।

७. उस सामरस्यात्मक ब्रह्मानन्द में आकाशतत्त्व सहित सब कुछ विलीन हो जाता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है; मानों समुद्र ही मेघों के मुख से निकलकर नदी-प्रवाह में बहकर अपने-आप में ही मिल गया हो।[1]

इस समय ऐसा प्रतीत होता है; मानों ब्रह्म ही ब्रह्मपद में समाविष्ट गया हो। ऐसी लोकोत्तर एकता की दशा उपस्थित हो जाती है। इस समय द्वैत निर्मूल हो जाता है।

८. इस समय गगन में गगन विलीन हो जाता है। उस अवस्था का जिसे अनुभव हो जाय, वही सिद्ध पुरुष है।

१. भावार्थदीपिका।

९. उस अनुभव की वार्ता वाणी के हाथ में नहीं आती; अतः संवादरूपी ग्राम में पहुँचना सम्भव नहीं रह पाता। यहाँ तक कि इस अभिप्राय को प्रकट करने वाली वाणी भी दूर रह जाती है।[१]

१०. इस समय भृकुटी की पिछली ओर मकार का भी प्रवेश नहीं हो पाता। अकेले प्राण को भी गगन में प्रवेश करने में सङ्कट का सामना करना पड़ता है और जब वह वहीं मिल जाता है तब शब्दरूपी दिन का अस्त हो जाता है और आकाश का ध्वंस हो जाता है। अतएव महदाकाश के शरीर में जब आकाश का भी ठिकाना नहीं लगता, तब भला शब्द की थाह लग पाना कहाँ सम्भव है? यह वस्तु वाणी द्वारा वर्ण्य एवं कानों द्वारा श्रव्य नहीं है। यदि दैवयोग से कुछ अनुभव प्राप्त हो जाता है तो अनुभवी साधक तद्रूप बन जाता है। उसके अनन्तर कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता।[२]

११. जब शब्द पीछे हटता है तब संकल्प की आयु समाप्त हो जाती है और वहाँ पर विचार की वायु का भी प्रवेश नहीं होता। जो उन्मनी अवस्था की शोभा है, तुर्यावस्था का तारुण्य है, अनादि और अननुमेय परम तत्त्व है, जो विश्व का मूल है, जो योगवृक्ष का फल है, जो आनन्द का जीवन है, जो आकार की अन्तिम सीमा है, जो मोक्ष का एकान्त है, जिसमें आदि और अन्त लीन हो गये हों, जो महाभूतों का बीज है, जो महातेज का तेज है, जो परमात्मा का निजस्वरूप है, वह महासुख अनिर्वाच्य है। यही ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग है। इस अनुभूति के होने पर सम्पूर्ण विश्व का लय हो जाता है।[३]

षट्चक्रनिरूपणम् में कुण्डलिनी का स्वरूप— पूर्णानन्द यति ने कुण्डलिनी का स्वरूप इस प्रकार चित्रित किया है—

तस्योर्ध्वे बिसतन्तुसोदरलसत् सूक्ष्मा जगन्मोहिनी
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं सञ्छादयन्ती स्वयम्।
शङ्खावर्त्तनिभा नवीनचपला मालाविलासास्पदा
सुप्ता सर्पसमा शिवोपरि लसत् सार्द्धत्रिवृत्ताकृतिः।।[४]

कूजन्ती कुलकुण्डली च मधुरं मत्तालिमालास्फुटं
वाचं कोमलकाव्यबन्धरचना भेदातिभेदक्रमैः।
श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जीवो यया धार्यते
सा मूलाम्बुजगह्वरे विलसति प्रोद्दामदीप्तावलिः।।

तन्मध्ये परमा कलाऽतिकुशला सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा
नित्यानन्दपरम्परातिविगलत् पीयूषधाराधरा।
ब्रह्माण्डादिकटाहमेव सकलं यद् भासया भासते
सेयं श्रीपरमेश्वरी विजयते नित्यप्रबोधा दया।।[५]

---

१. भावार्थदीपिका।
२. ज्ञानेश्वरः भावार्थदीपिका।
३. ज्ञानेश्वरी।
४. षट्क्रनिरूपण। (१०)
५. षट्चक्रनिरूपण। (१२)

२६. शाम्भवी मुद्रा

१. मन को आज्ञाचक्र में स्थिर करके, दृष्टि को सम स्थल में अधिकाधिक दो हाथ और कम से कम एक बीता के अन्तर से किसी मनोनीत पदार्थ की कल्पना में केन्द्रित करके स्थिर करना या चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते एवं कार्य करते समय अपने में अपना लक्ष्य रखकर अलक्ष्य को लक्ष्य बनाना। परा का स्फुरण यशवन्ती बनकर मध्यमा वैखरी के अर्थ की एकता करता है या नहीं? इसी का निरीक्षण करना आन्तर लक्ष्य है। इसी मुद्रा के करने से शिव जी के नाम पर इसका नाम पड़ा— शाम्भवी मुद्रा।

२. नासिकाग्र भाग पर दृष्टि जमाना चाहिए। इसका भाव यह है कि यदि साधक नेत्रों को अधिक खोलेगा तो विक्षेप होगा और सर्वथा बन्द रखने पर आलस्य से चित्त का लय होगा। अतएव भृकुटी के मध्य में लक्ष्य स्थिर करना चाहिए। नेत्रों को यत्किञ्चित् खुला रक्खे, जिससे चित्त का लक्ष्य अन्तर्मुख (ध्येयाकार) रहे। दृष्टि बाहर की ओर (नेत्र खुला) रहे; किन्तु बाह्य पदार्थ दिखाई न पड़े।

३. दोनों भृकुटियों के मध्य दृष्टि जमाकर स्थिर मन से ध्यान द्वारा परमात्मा का दर्शन करे।

'घेरण्डसंहिता' में कहा गया है कि वेद-शास्त्र-पुराण आदि तो सामान्य गणिका के समान हैं; परन्तु शाम्भवी मुद्रा तो कुलवधू की भाँति सम्माननीय है—

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव।।

जो इसे जानता है, वह आदिनाथ नारायण एवं स्रष्टा ब्रह्मा के समान है—

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्।
स च ब्रह्मा सृष्टिकरी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम्।।[1]

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः।
शाम्भवीं यो विजानीयात् स च ब्रह्मा न चान्यथा।।

शाम्भवी मुद्रा द्वारा चित्त का लय हो जाता है—

अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता।।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादाद् गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं शाम्भवम्।।[2]

---

१. हठयोगप्रदीपिका। (४.३५) २. हठयोगप्रदीपिका।

अन्तर्लक्ष्यमनन्यधीरविरतं पश्यन्मुदा संयमी
दृष्ट्युन्मेषनिमेषवर्जितमियं मुद्रा भवेच्छाभवी।
गुप्तेयं गिरिशेन तन्त्रविदुषा तन्त्रेषु तत्त्वार्थिना-
मेषा स्याद्यमिनां मनोलयकरी मुक्तिप्रदा दुर्लभा।।

ऊर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिरुर्ध्ववेधो ह्यधः शिराः।
राधासन्त्रविधानेन जीवन्मुक्तो भवेत्क्षितौ।।

फल— श्रीशाम्भव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः।
भवेच्चित्तलयानन्दः शून्ये चित्सुखरूपिणि।।[१]

२७. षड्मुखी मुद्रा

अंगूठों से दोनों कान बन्द करना, तर्जनी और मध्यमा से नेत्र बन्द करना एवं अनामिका-कनिष्ठिका से नासारन्ध्रों को बन्द करके ध्यान लगाने से प्रकाश का साक्षात्कार होता है।

२८. पराङ्मुखी मुद्रा

इसमें कान, नेत्र, नासिका— इन तीनों के दोनों छिद्रों एवं मुख को हाथ की उँगलियों से बन्द करना पड़ता है— 'श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्।' नादानुसन्धान में इस मुद्रा का प्रयोग किया जाता है; क्योंकि 'शुद्धसुषुम्णासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः।' इससे नाद स्फुटतापूर्वक श्रुतिगोचर होता है।[२]

२९. उन्मनी मुद्रा

तारे ज्योतींषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयेद् भ्रुवौ।
पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात्।।

इसमें नेत्र के तारों को नासिकाग्र भाग में लगाकर और उससे उत्पन्न ज्योति में मन लगाकर भृकुटियों को थोड़ा ऊपर उठाकर अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि योग की साधना करनी होती है।

३०. माण्डूकी मुद्रा

मुख को बन्द करके जिह्वा की जड़ को तालु के ऊपर चलाना चाहिए और शनैः-शनैः सहस्त्रदल पद्म से निर्गत पीयूष का पान करना चाहिए। पीयूष-पान की इस यौगिक पद्धति को माण्डूकी मुद्रा कहते हैं—

मुखं सम्मुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां माण्डूकीमुद्रिकां विदुः।।

माण्डूकीमुद्रा के अभ्यास का फल— माण्डूकी मुद्रा का नित्य अभ्यास करने

१-२. हठयोगप्रदीपिका।

से साधक के शरीरांगों में वलित (त्वचा-संकुचन), पलित (बालों की श्वेतता) तथा वार्धक्य नहीं आता यौवन में स्थायित्व आ जाता है।

३१. नभोमुद्रा

योगी जब भी कभी कोई भी कार्य करे, तब सदैव जिह्वा को ऊपर की ओर करके कुम्भक प्राणायाम के द्वारा स्थिरता प्राप्त करके वायु धारण करे। ऐसा करने से साधक के समस्त रोगों की निवृत्ति हो जाती है।

३२. वज्रोणि मुद्रा

दोनों हाथों की हथेलियों से पृथ्वी तल को पकड़कर दोनों पैरों को ऊपर उठाते हुए तथा मस्तक को आकाश की ओर ऊपर उठाते हुए हाथों के खड़ा रहने को वज्रोणि मुद्रा कहते हैं। इसे ही वृश्चिकासन भी कहते हैं।

वज्रोणि मुद्राभ्यास के फल— यह योगों में श्रेष्ठतर योग है। यह योगियों को मुक्ति प्रदान करता है। यह योगियों के हित को साधित करने वाला है—

अयं योगे योगश्रेष्ठः योगिनां मुक्तिकारणम्।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः।।

यह योग-साधन बिन्दु-सिद्धि प्रदान करने वाला योग है। यदि बिन्दु की सिद्धि हो जाय तो क्या नहीं सिद्ध हो सकता? भोगी पुरुष भी यदि इसका अभ्यास करे तो समस्त सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है—

भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत्।
तथापि सकला सिद्धिर्भवति तस्य निश्चितम्।।

३३. पञ्चधारणा मुद्रा

इन पञ्चतत्त्वात्मक धारणा मुद्राओं की सविस्तर विवेचना की गई है। पञ्चधारणा मुद्रा के पाँच भेद हैं— पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवी धारणा एवं आकाशी धारणा।

१. पार्थिवी धारणा मुद्रा— घेरण्ड ऋषि के अनुसार इसका स्वरूप इस प्रकार है—

१. पृथ्वी तत्त्व का वर्ण (रंग) हरिताल की भाँति पीला है।
२. पृथ्वी तत्त्व का बीज लकार है— 'लं'।
३. पृथ्वी तत्त्व का आकार चौकोर है।
४. पृथ्वी तत्त्व के देवता ब्रह्मा हैं।

इन समस्त बीजादि के साथ ब्रह्मा का हृदय में ध्यान करके उन्हें हृदय में स्थापित करना चाहिये और उस समय प्राणवायु को खींचकर कुम्भक के द्वारा पाँच घड़ी (दो

घण्टा) मन को स्थिर रखना चाहिये। इस अभ्यास को ही पार्थिवी धारणा मुद्रा कहते हैं। इसे ही अधोधारणा भी कहते हैं।

पार्थिवी धारणा का फल— पार्थिवी धारणा के निम्न फल हैं—

(क) पृथ्वी तत्त्व पर विजय।

(ख) मृत्युञ्जयत्व।

(ग) निरापद रूप में समस्त पृथ्वी पर विचरण की क्षमता-प्राप्ति।

२. आम्भसी धारणा मुद्रा— 'वं'—

(क) जल तत्त्व का वर्ण (रंग) शंख के समान श्वेत और चन्द्रमा के समान निर्मल है। यह कुन्द के समान धवल है।

(ख) इसकी संज्ञा अमृत है।

(ग) इसका बीज वर्ण 'वकार' है।

(घ) इसका देवता 'विष्णु' है।

साधक को चाहिये कि इन बीजादिक विवरणों के सहित देवता विष्णु से समन्वित जल तत्त्व का ध्यान करे एवं प्राण को आकृष्ट करके पाँच घड़ी पर्यन्त चित्त को स्थिर करके कुम्भक प्राणायाम करे। इसे ही आम्भसी धारणा मुद्रा कहते हैं।

आम्भसी धारणा मुद्रा का फल—

(क) दुःसह ताप-पाप का अन्त।

(ख) गहरे से गहरे जल में डूबने पर भी मृत्यु से रक्षा।

सावधानी— इस गोपनीय मुद्रा को बता देने पर सिद्धि नष्ट हो जाती है।

३. आग्नेयी धारणा मुद्रा— 'रं' —

(क) तत्त्व का स्थान— नाभिस्थल में अग्नितत्त्व स्थित है।

(ख) तत्त्व का वर्ण— इसका वर्ण इन्द्रगोपवत् रक्त है।

(ग) तत्त्व का बीज— इस तत्त्व का बीज रकार है।

(घ) तत्त्व का आकार— इस तत्त्व का आकार चतुष्कोण है।

(ङ) तत्त्व के देवता— इस तत्त्व के देवता रुद्र हैं।

(च) यह तत्त्व तेज का समूह है और अतिदीप्तिमान है। योग बल से अग्नितत्त्व को उदित करके, एकाग्र चित्त होकर कुम्भक प्राणायाम द्वारा वहाँ प्राण को पाँच घड़ी तक रोकना चाहिये। इसे ही आग्नेयी मुद्रा (वैश्वानरी धारणा) कहते हैं।

वैश्वानरी धारणा मुद्रा का फल—

(क) काल के भय से मुक्ति।

(ख) प्रदीप्त अग्नि में प्रवेश से भी व्यक्ति पर अग्नि का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता।

४. वायवी धारणा मुद्रा — 'यं'—

(क) वायु तत्त्व का वर्ण— अञ्जन के समान धूम्रवर्ण।

(ख) वायु तत्त्व का बीज— वायु तत्त्व का बीजाक्षर है— यकार।

(ग) वायु तत्त्व का देवता— इस तत्त्व के देवता ईश्वर हैं।

(घ) वायु तत्त्व का गुण— इस तत्त्व का गुण सतोगुण है।

योग के प्रभाव से वायु तत्त्व का उदय करके, एकाग्र चित्त होकर, प्राणवायु को आकृष्ट करके कुम्भक प्राणायाम की सहायता से वायु को पाँच घड़ी तक धारण करना ही वायवी धारणा मुद्रा है।

वायवी धारणा मुद्रा का फल—

१. आकाश में चलने की क्षमता।

२. वार्धक्य एवं मृत्यु का विनाश।

३. वायु-प्रकोप या वायु-शक्ति से मृत्यु न होने की क्षमता-प्राप्ति।

सावधानी— अपात्र के समक्ष सिद्धि-भेद प्रकट कर देने पर सिद्धि का लुप्त हो जाना निश्चित है; अत: इसे गोपनीय रखना चाहिये।

५. आकाशी धारणा मुद्रा — 'हं'—

(क) आकाश तत्त्व का वर्ण— इसका वर्ण समुद्र के जल की भाँति विशुद्ध है।

(ख) आकाश तत्त्व के देवता— इस तत्त्व के देवता सदाशिव हैं।

(ग) आकाश तत्त्व का बीजाक्षर— इस तत्त्व का बीजाक्षर 'हं' है।

योग के प्रभाव से हृदय में आकाश तत्त्व का उदय करके (आकाश तत्त्व के देवता, बीज आदि के साथ तत्त्व का ध्यान करके) प्राणवायु को कुम्भक प्राणायाम के द्वारा पाँच घड़ी तक स्तम्भित किये रहना ही आकाशी धारणा मुद्रा है।

आकाशी धारणा मुद्रा का फल—

१. इसका ज्ञानी ही योगवित् है, अन्य नहीं।

२. इसकी मृत्यु कभी नहीं होती और प्रलयकाल में भी वह दु:खी नहीं होता।

सारी मुद्राओं का सामान्य फल यह है कि ये सभी सिद्धों को अत्यन्त प्रिय हैं और जरा-मरण को नष्ट कर देने वाली हैं।

इदं तु मुद्रापटलं कथितं चण्डकापलि।
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम्।।

ये मुद्रायें समस्त रोगों की नाशिका हैं और जठराग्नि को तीव्रतर करने वाली हैं—

मुद्राणां पटलं ह्येतत्सर्वव्याधिविनाशनम्।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविवर्धनम्।।

मुद्रा-साधकों को मृत्यु, जरा, अग्नि, जल एवं वायु से सम्बद्ध कोई भय कभी भी कष्ट नहीं देता—

तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा।
नाग्निर्जलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम्।।

ऐसे साधकों को कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ, कफ आदि का भी कोई भय सन्तप्त नहीं करता। इनके समान पृथ्वी पर कोई भी साधना इतनी अधिक सिद्धियाँ प्रदान नहीं कर सकतीं।

नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले।

नाथपन्थ एवं अन्य शैव-शाक्त पन्थों में मुद्रा के प्रयोग

नाथपन्थी मुद्रा को दो अर्थों में प्रयुक्त करते हैं और वे हैं— शारीरिक धरातल एवं मानसिक धरातल।

कनकटा योगी कान फाड़कर कुण्डल धारण करते हैं। इसे वे कर्णमुद्रा कहते हैं। योगी लोग मुद्रा, नाद, कन्था, आसन, खप्पर, झोली, विभूति एवं बटुवा आदि धारण करते थे और 'अजपाजाप' करते थे। बंगाल के पुराने नाथपन्थी (योगी या कापालिक) अपने कानों में मनुष्य की अस्थियों का कुण्डल एवं ग्रीवा में अस्थियों की माला धारण करते थे। ये पैरों में नूपुर एवं हाथों में नरकपाल लेकर चलते थे। मेखला, गोपीयन्त्र (सारंगी) एवं भस्म भी रखते थे। रुद्राक्ष, पवित्री, श्रृंगी, लंगोटी, घंघारी, सुमिरनी एवं किंगरी को भी व्यवहार में लाते थे।

वैष्णव एवं शैव परम्परा में शंख एवं त्रिशूल आदि को आग पर गर्म करके शरीर पर उसका स्पर्श कराकर उसकी अनुकृति को शरीरांग पर धारण करने के रूप में मुद्रा धारण करने की परिपाटी विद्यमान है।

कबीरदास ने मुद्रा को मानसिक धरातल पर प्रयोग करने का परामर्श देकर इसे प्रतीकार्थ में ग्रहण किया है। वे कहते हैं—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा। रात दिवस ना करई निद्रा।।
मन में आसण मन में रहणा। मन का जप तप मन सू कहँणा।।
मन खपरा मन मैं सींगी। अनहदनाद बजावै रंगी।।
पंच प्रजारि भसम करि भूका। कहै कबीर सो लहसै लंका।।

अष्टमुद्रायें और उनका स्वरूप

गोरक्षनाथ की स्वयं की एक पुस्तक ही है, जिसका नाम है— 'अष्टमुद्रा'। उसमें वर्णित ये अष्टमुद्रायें निम्नवत् हैं—

१. मूलनी मुद्रा— (काम-तृष्णा का उद्भव) काम एवं तृष्णा में समत्वस्थापन। (इन्द्रिय = जननेन्द्रियसम्बन्धी)।

२. जलश्री मुद्रा— (नाभि-स्थान में काल-क्रोध) उद्देश्य क्या है? काल एवं क्रोध में समत्वभाव की स्थापना।

३. खीरनी मुद्रा— (हृदय स्थान में ज्ञानदीप लेकर आविर्भूत) ज्ञानदीप में समत्व भावस्थापन।

४. खेचरी मुद्रा— (मुख में उत्पन्न, स्वाद-विस्वाद लेकर उत्पन्न) इन दोनों में समत्व स्थापन = खेचरी मुद्रा।

५. भूचरी मुद्रा— (नासिका के मध्य उत्पन्न) (गन्ध-विगन्ध लेकर उत्पन्न) गन्ध-विगन्ध में समत्वस्थापना = भूचरी मुद्रा।

६. चाचरी मुद्रा— (आँख के मध्य उत्पन्न) (दृष्टि-विदृष्टिसहित उत्पन्न) दृष्टि-विदृष्टि में समत्वस्थापना = चाचरी मुद्रा।

७. अगोचरी मुद्रा— शब्द-कुशब्द के साथ उत्पन्न, (करण के मध्य उत्पन्न) = दृष्टि-विदृष्टि में समत्व-स्थापना = अगोचरी मुद्रा।

८. उन्मनी मुद्रा— (परम ज्योति लेकर उत्पन्न। ब्रह्माण्ड स्थान में उत्पन्न) परम ज्योति को समभावस्थ करने से उन्मनी ज्योति सिद्ध होती है।

अष्ट मुद्रा के ज्ञान का लाभ— यती अष्ट मुद्रा का जाणो भेव। सो आपै करता आपै देव।

गोरक्षनाथ मनमुद्रा का भी विधान करते हैं—

मन मुद्रा कै रूप न रेख। जगत रूप मन ही मन देखि।।
काया थै मन जांन न देह। रति दिवस अभि अंतरि लेह।।

मन को रात-दिन कभी भी शरीर से बाहर जाने ही नहीं देना चाहिए। मन के इस अनवरत अन्तर्मुखीकरण को ही मनमुद्रा कहते हैं।

वज्रोली और अमरोली— इसके विषय में गोरक्षनाथ कहते हैं—

बजरी करंतां अमरी राखै अमरि करंतां बाई।
भोग करंतां जे ब्यंद राखै ले गोरख का गुरभाई।। (गो० बा०)

गुरु गोरक्षनाथ विपरीतकरणी मुद्रा का विधान करते हुए कहते हैं—

विपरीत करणी करि लै जूं थिर ह्वै वाई। वाई जब थिरि ह्वै महारस सीझै।।

(गो० बा०-१४९)

घेरण्ड ऋषि का कथन है कि मुद्रा की योगसाधना में इसलिए महत्ता है; क्योंकि मुद्रा स्थिरता प्रदान करती है—

मुद्राया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।।

पंचम अध्याय

♥

मुद्रा एवं बन्ध

5.1. मुद्रा परिचय

5.2. मुद्रा के विभिन्न स्वरूप

5.3. बन्ध परिचय

5.4. बन्ध व कुंभक में अन्तर

5.5. मुद्राओं का वर्णन—विधि एवं लाभ।

5.1. मुद्रा परिचय–

हठयोग परम्परा में मुद्राओं का अपना ही स्थान है। प्राचीनकाल से ही योग विज्ञान का विकास व व्यवहारिक पक्ष तपस्वियों व संसारिक व्यक्तियों में प्रेरणास्त्रोत रहा है। आसन एवं प्राणायाम का अभ्यास मुख्यरूप से शारीरिक बलिष्ठता एवं निरोगता प्राप्त करने के लिए किया जाता रहा है व किया जा रहा है। परन्तु ऐसा अभ्यास जो आसन व प्राणायाम से भी अधिक लाभपूर्ण व महत्त्वपूर्ण है उसका प्रचलन इतना सामान्य नहीं रहा जितना होना चाहिए था।

यह सत्य है कि यौगिक क्रिया का हर साधन हमारे भीतर गुप्त रूप से उपस्थित दैविक व आध्यात्मिक सम्पन्नताओं को जागृत करने में सहायक हैं लेकिन रहस्यमय ढंग से सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति के जागरण के लिए मुद्राओं का पालन करना अति सहायक है। महर्षि घेरण्ड द्वारा रचित ग्रन्थ घेरण्डसंहिता में इन मुद्राओं का विशेष वर्णन है। इनके अभ्यास से साधक को सिद्धियाँ प्रदान होती है जो कि योग साधक के लिए वरदान स्वरूप है। महर्षि घेरण्ड ने इसकी पुष्टि मुद्रा प्रकरण में की है जहाँ भगवान् शिव अपनी शिष्या स्वरूपा अर्धांगिनी भगवती पार्वती को इस प्रकार बतला रहे हैं–

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव सन्निधौ।
येनविज्ञातमात्रेण सर्वासिद्धिः प्रजायते।।[1]

हे देवि! मैंने तुम्हारे प्रति जिन मुद्राओं के विषय में कहा है उन्हें जान लेने पर सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है। यह ज्ञान अति गोपनीय है। अतः इसे हर किसी के प्रति नहीं कह देना चाहिए। यह मुद्राएं योगियों के लिए प्रसन्नताप्रद व देवताओं के लिए दुर्लभ हैं–

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्यकस्यचित्।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरूतामपि।।[2]

भगवान् शिव ने मुद्राओं को अत्यन्त गोपनीय कहकर यह निर्देश देने की कोशिश है कि

---

1. घे.सं. 3.4.
2. घे.सं., 3.5.

जो लोग इन्हें करने में असमर्थ हैं या आस्था नहीं रखते हैं, उनके प्रति इन्हें नहीं कहना चाहिए। मुद्राएँ सरल तो हैं मगर साधारण नहीं। इनका अभ्यास दृढ़ निश्चय, विरक्त, संयमी, आत्मज्ञानी या आत्मज्ञान के जिज्ञासु पुरुष ही कर सकते हैं। शिवजी के कथनानुसार उक्त मुद्राएँ 'दिव्यमष्टैश्वर्य प्रदायकम्' इत्यादि कहकर दिव्य अष्टसिद्धियों को देने वाली है।

हठप्रदीपिका में स्वामी स्वात्माराम ने कुण्डलिनी जागरण के लिए महामुद्रादि के अभ्यास को श्रेष्ठ बतलाया है–

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।[1]

ब्रह्मप्राप्ति के लिए सुषुम्ना नाड़ी के द्वार को खोलना नितान्त आवश्यक है और उसे जगाने के लिए महामुद्रादि का अभ्यास करना चाहिए। विशिष्ट स्थिति या मनोव्यवहार के लिए इनका पालन आवश्यक है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत (गायन, नृत्य व वादन) विशेषकर नृत्य में लगभग 66 मुद्राओं को जो अभिनय किया जाता है वह नर्तक के मनोभावों द्वारा छिपे हुए आत्मिक दैविक गुणों को प्रदर्शित करती हैं। शरीर के अनेक अंगों को संयुक्त करके या हिलाकर इन्हें किया जाता है। योग में इनका रहस्य असीमित व अखण्ड है। मुद्राओं के द्वारा अनैछिक क्रिया–कलापों को भी नियंत्रित किया जाता है। इनके अभ्यास से साधक अपने सूक्ष्मशरीर में उठने वाली जीवनीय शक्तियों (उर्जाशक्ति) की तरंगों का भी अनुभव करने में सक्षम हो जाता है।

मुद्राओं का अभ्यास मनो–शारीरिक अनियमितिताओं व रोगों के निवारण में महत्त्वपूर्ण है।

बहुत सारी मुद्राएँ बन्ध, प्राणायाम व आसन के समूहीकरण द्वारा की जाती है इसलिए इनका लाभ शीघ्र प्राप्त हो जाता है। मुद्राएँ न आसन जैसी कठिन है न प्राणायाम जैसी प्राणसाधना। अतः मुद्राः आसन व प्राणायाम में सामंजस्य बैठाने का एक

---

1. हठ.प्र. 3.5.

सुगम मार्ग है। मुद्राओं से स्थिरता प्राप्त होती है जो प्रत्याहार प्राणायाम, धारणा, ध्यान व समाधि में सहायक है जिसा कि महर्षि घेरण्ड ने 'मुद्रया स्थिरताः' कहकर स्पष्टीकरण किया है। मुद्राअभ्यास मन को शान्त व सौम्य बना देता है।

भक्ति सागर में षट्कर्म हठयोग प्रकरण में स्वामी चरणदास ने भी मुद्राओं के वर्णन से पूर्व लिखा है–

> एकवार फिर भी कहौ, मुद्रा पाँच दयाल।
>
> मोसे रंक अधीन पर, होकर बहुत कृपाल।।[1]

यहाँ शिष्य गुरु से मुद्राओं के प्रति ज्ञानप्राप्ति की याचना कर रहा है।

5.2. मुद्रा के विभिन्न स्वरूप–

मुद्राओं का वर्णन हठयोग ग्रन्थों में सुलभ है। अष्टांगयोग एवं योगदर्शन में इसके प्रति कुछ भी उपलब्ध नहीं है। हठयोग ग्रन्थों में महर्षि घेरण्ड ही एकमात्र ऐसे योगी है जिन्होंने सविस्तार इस पर प्रकाश डाला है। उन्होंने घेरण्डसंहिता में 25 मुख्य मुद्राओं का वर्णन इस प्रकार से किया है–

> महामुद्रा, नमोमुद्रा, उड्डियानं जलन्धरम्।
>
> मूलबन्धो, महाबन्धो महाबेधश्च खेचरी।।
>
> विपरीतकरी, योनिर्बज्रोली शक्तिचालनी।
>
> तड़ागी माण्डुकी मुद्रा शांभवी पंचधारणा।।
>
> अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजंगिनी।
>
> पञ्चविंशतिमुद्राश्च सिद्धिदा इह योगीनाम्।।[2]

महामुद्रा, नमोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालिनी, तड़ागी, माण्डुकी, शांभवी, पंचधारणा (पार्थिवी, आम्भसी, आग्नेयी, वायवी व आकाशीधारणा) अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी व भुजंगिनी के नाम से 25 मुद्राएँ हैं। यह योगियों के लिए सिद्धि प्रदान करने वाली है। महर्षि घेरण्ड ने जिन पच्चीस मुद्राओं का वर्णन किया है वे अत्यन्त आवश्यक हैं क्योंकि

---

1. भ. सा. 5.8.
2. घे.सं. 3.1–2.

इन्हें आसन व प्राणायाम से भी अधिक प्रभावकारी माना गया है।

महर्षि घेरण्ड व अन्य हठयोगियों ने बन्ध व मुद्राओं को सम्मिश्रण कर एक ही प्रकरण में लिपिबद्ध किया है। योगासनों से अस्थिसमूह दृढ़ होता है व मुद्राओं से चक्रभेदन व कुण्डलिनी जागरण का मार्ग प्रशस्त होता है।

मुद्राओं का उपयोग द्वयर्थक माना गया है। एक तो स्वस्थवर्धन की दृष्टि से व दूसरा मानसिक बल की दृष्टि से भी मुद्राएँ उस क्रिया का ज्ञान करवाती हैं तो शरीर के स्वयं कार्य करने वाले यन्त्रों और स्नायुओं से सम्बन्धित है। योगशास्त्रों का मानना है कि सम्पूर्ण शरीर में 72 हजार नाड़ियाँ हैं व यही नाड़ियाँ शरीर के विभिन्न अवयवों का चालन करती है। योगियों ने माना है कि नाड़ियाँ एक ऐसी नलिकाशक्ति है जिसके द्वारा समूचे शरीर को शक्ति मिलती है। इसलिए इस नाड़ीशक्ति को जीवमय शक्ति कहना अनुचित न होगा। विभिन्न अंगों के कार्यकालाप व चालन इस नाड़ी समूह से ही होता है।

इस शक्ति का चालन व अनुभव सिद्धि योगी ही कर सकते हैं। अनुभव प्राप्ति के लिए योग ही एक ऐसी प्रखर प्रक्रिया है जो मनुष्य का उसके अपने विषय में, अपने शरीर और उसकी शक्ति के विषय में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करा सकती है। योगाभ्यासियों के लिए पूर्ण ज्ञान हेतु योगसिद्धि आवश्यक है जो मुद्राओं से सद्गुरू के साध्य में ग्रहण की जाती है। यथार्थ ज्ञान तो तभी अनुभव हो सकता है जब ज्ञानप्राप्ति के लिए इन मुद्राओं का साधक स्वयं अभ्यास न कर ले। अतः यह स्पष्ट है कि मुद्राएँ मात्र शारीरिक लाभ ही नहीं प्रदान करती हैं बल्कि नाड़ी जागरण, श्वास नियन्त्रण व सुषुम्नाद्वार के कपाटों को खोलने की सरल विधि है।

5.3. बन्ध परिचय :–

ऋषियों ने यौगिक क्रियाओं के मध्य की जाने वाली एक महत्त्वपूर्ण क्रिया बन्ध को मुद्रा में शामिल किया है। देखा जाए तो जितनी भी मुद्राएँ हैं वे स्त्रीजाति का बोध करवाती है जबकि बन्ध पुरुषजाति का बोध करवाते है। बन्ध व आसन नाम से पौरुषत्व जगाने के साधन हैं व मुद्राएँ व प्राणायाम शक्ति का जागरण करवाने में सक्षम है। संभवतया बन्ध, मुद्राओं में स्थान पाने के लिए इसलिए सफल रहे हैं क्योंकि शरीर की

तीन महत्त्वूपूर्ण बड़ी माँस–पेशियों के नाड़ी संस्थान, प्राणवाहिनी व रक्त–वाहिनी नाड़ियों को बलशाली व उनकी सहनशक्ति को बढ़ाने का कार्य करते हैं। जब भी कोई साधक बन्ध में होता है तो देखने बाला यही प्रश्न करता है कि यह कौन सी मुद्रा है?

यह सरल व सूक्ष्म क्रिया है परन्तु बहुत ही महत्त्वपूर्ण। इनके द्वारा अमुक अंगों का संकुचन व खिचाव किया जाता है। एक ओर जहाँ बन्ध सम्बन्धित अंग की मालिश करते हैं वही दूसरी ओर उन अंगों में रूके हुए रक्त को प्रवाहित करने में विशेष भूमिका निभाते हैं। अतः बन्ध शरीर की यांत्रिकी को दृढ़ बनाकर रखती है।

हलांकि इनका अभ्यास स्थूल शरीर द्वारा किया जाता है लेकिन उनका प्रभाव सूक्ष्मतर देह पर पड़ता है तथा कारणस्वरूप चक्रभेदन व कुण्डलिनी जागरण में सहायता प्रदान करते हैं। बन्ध ब्रह्मा विष्णु व शिव (कण्ठ, नाभि व गुदा) ग्रन्थियों के क्षेत्र में बन्द मार्ग को खोलने में विशेष भूमिका निभाते हैं तथा सुषुम्ना द्वार खुल जाता है। योग जिज्ञासु को चाहिए कि वह इनका नियमित अभ्यास करे। प्राण वायु के मार्ग किसी भी प्रकार से अबरूद्ध न हो, बन्ध का यही मुख्य कार्य है।

5.4. बन्ध व कुम्भक में अन्तर :–

बिना बन्ध के कुम्भक नहीं साधा जा सकता है। कुम्भक दीर्घ समय तक होता है परन्तु बन्ध कम समय तक। कुम्भक का अभ्यास प्राणायाम के मध्य किया जाता है जबकि बन्ध बहिरंग योग की पूर्ण व्यवस्थाओं में किया जाता है। बन्ध कण्ठ, नाभि व गुदा क्षेत्रों में अभ्यासित है जबकि कुंभक में नासिकाएँ व कण्ठक्षेत्र मुख्यरूप से भूमिका निभाते हैं। बन्ध खड़े होकर बैठकर या लेटकर भी किए जा सकते हैं परन्तु कुंभक में ऐसा नहीं। कुंभक केवल बैठकर ही किया जाता हैं। बन्ध ताला लगाने का काम करते हैं जबकि कुंभक ढक्कन लगाने का।

कुछ भी हो दोनों ही विधियाँ साधारण योग साधक के लिए एक दूसरे की पूरक हैं। परन्तु तपस्वी के लिए बिल्कुल एक दूसरे से भिन्न।

महर्षि घेरण्ड ने आध्यात्मिकचिन्तन के पश्चात् ही मुद्राओं के अभ्यासकाल में बन्धों के अभ्यास को समक्ष रखकर इन्हें मुद्रा प्रकरण में सम्मिलित किया है।

इससे पूर्व कि मुद्राओं का वर्णन किया जाए ग्रन्थों में उपलब्ध बन्धों का विधिवत्

संक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक है।

घेरण्डसंहिता में जालंधर बन्ध, उड्डीयान–बन्ध मूलबन्ध, महाबन्ध नाम से चारबन्ध हैं। सामान्यतः बन्धोत्रयः सर्वमान्य हैं। गोरक्षसंहिता में मात्र तीन बन्ध जालंधर, उड्डीयान व मूलबन्ध उपलब्ध हैं। हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता व घेरण्ड संहिता बन्ध पक्ष में समान विचारधारा रखती हैं।

भक्तिसागर में बन्ध परिचय इस प्रकार दिया गया है, महाबन्ध, मूलबंध, उड्डीयान बन्ध व जालंधर बन्ध। क्रम में अन्तर लेकिन गिनती में चार ही है। अतः तुलनात्मक दृष्टि से आंका जाए तो स्पष्ट है कि गोरक्ष संहिता के अतिरिक्त सभी प्राचीन हठयोग शास्त्रों में चारबन्ध हैं।

इससे पूर्व कि मुद्राओं पर प्रकाश डाला जाए विभिन्न पक्षों का मुद्रास्वरूप क्या है उसके प्रति भी अध्ययन करना आवश्यक है।

5.5. मुद्राओं का वर्णन–विधि एवं लाभ :–

हठयोगप्रदीपिका में दस मुद्राओं का वर्णन आता है–

महामुद्रा, महाबंधो महावेधश्च खेचरी।
उड्डीयानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः।।
करणी विपरीताख्या बज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्।
आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।।
बल्लभं सर्वसिद्धिानां दुर्लभं मरूतामपि।।[1]

महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डयान बन्ध, मूलबन्ध, जालंधर बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन नाम से दस मुद्राएं हैं। इनका अभ्यास आदिनाथ द्वारा कहे गए आठ दिव्य ऐश्वर्यों को प्रदान करता है जो सभी सिद्धो को प्रिय तथा देवताओं को दुर्लभ है। इनकी साधना से साधक मृत्यु पर विजय पा लेता है अर्थात् अपनी ही दीर्घायु बनाने में सफलता प्राप्त कर लेता है। दिव्य ऐश्वर्यों का तात्पर्य अष्ट

---

1. हठ. प्र. 3.6–8.

सिद्धियों से हैं जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार है– अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशता और वशिता। सभी मुद्राओं को गोपनीय रखने का निर्देश दिया गया है व एकान्त में अभ्यास करने का निर्देश है क्योंकि यह अष्टसिद्धि रूपी रत्नों की पिटारी है–

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा।।[1]

इसे अधिक गोपनीय इस प्रकार रखना चाहिए जिस प्रकार कोई भी स्त्री अपने समागम का व्याख्यान न कर उसे गुप्त रखती है।

शिवसंहिता में भी दस मुद्राओं के अभ्यास को सर्वोत्तम बतलाया गया है–

महामुद्रा महाबन्धो महाबेधश्चखेचरी।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा।।
उड्डयानं चैव वज्रोली दशमं शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रा दशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम्।।[2]

महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालंधरबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरणी, उड्डीयानबन्ध, वज्रोली और शक्तिचालिनी मुद्रा, यह दस मुद्राएँ प्रमुख एवं सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ हैं।

गोरक्षसंहिता में मात्र छः मुद्राओं की चर्चा की गई है जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं– शक्तिचालिनी, महामुद्रा, खेचरीमुद्रा, उड्डीयान, जालंधरबन्ध एवं मूलबन्ध। प्रथम तो शक्तिचालिनी है तथा पंचमुद्रा कथन इस प्रकार है–

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जालन्धरम्।
मूलबन्धश्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः।।[3]

स्वामी चरणदास ने बन्ध को मुद्रा से अलग रखा है। पाँच मुद्राओं को ही वर्णित किया है–

---

1. हठ.प्र. 3.9.
2. शि.सं. 4.24–25.
3. गो. सं. 1.56.

एकबार फिर भी कहौ, मुद्रा पाँच दयाल।

मोसे रंक अधीन पर, होकर बहुत कृपाल।।[1]

हे गुरुश्रेष्ठ कृपा करके एक बार पाँच मुद्राओं को कृपा करके मुझ गरीब के प्रति कहिए। यहाँ पर उपलब्ध पाँच मुद्राओं के नाम हैं– खेचरी, भूचरी, चाँचरी, आगोचरी एवं उन्मनीमुद्रा। जहाँ तक बन्धों का प्रश्न है तो वह अन्य की तरह चार ही हैं, यथा– महाबन्ध, मूलबन्ध जालंधर बन्ध एवं उड्डयानबन्ध।

इन मुद्राओं व बन्धों का अभ्यास कैसे किया जाए, अब हम उनकी बारी–बारी चर्चा करते हैं–

1. महामुद्रा :–

नाम से ही प्रतीत होता है कि इस मुद्रा से अनेक प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। घेरण्डसंहिता में इसके प्रति इस प्रकार कहा गया है–

पायूमूलं वाम गुल्फे संपीड्य दृढ़यत्नतः।

याम्यपादं प्रसार्याथ करोपात्तपदांगुलिः।।

कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुर्वोमध्यं निरीक्षयेत्।

पूरकैर्वायुं सम्पूर्य महामद्रा निगद्यते।।[2]

विधि :– वांयी एडी से गुदा प्रदेश को दवाएँ और दाएँ पाँव को फैलाकर उसकी अगुलियों को दोनों हाथों से पकड़कर रखें और कण्ठ को सिकोड़ कर भृकुटियों के मध्य में दृष्टि लगी रहे। यह मुद्रा तीन अन्य मुद्राओं का सम्मिश्रण है जिनके नाम हैं मूलबन्ध, जालंधरबंध व शांभवीमुद्रा। अतः इस महामुद्रा से पूर्व उक्त तीनों मुद्राओं का अभ्यास पहले ही कर लेना चाहिए। योगचूड़ामण्युपनिषद् व ग्रहयामल में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। इस मुद्रा को सद्गुरु की कृपा में ही करना चाहिए।

हठप्रदीपिका का कथन है कि वाएँ पाँव के तलुए से योनि स्थान को पीड़ित करके दाएं पाँव को फैलावे और भूमि पर रखकर दृढ़ता से पकड़े। फिर कण्ठ प्रदेश में बन्ध करके वायु को ऊर्ध्व देश में धारण करे इससे जैसे कुण्डली लगाकर बैठा हुआ

---

1. भ.सं. 5.8.
2. घे.सं. 3.6–7.

सर्प डण्डे से मारे हुए डण्डे के समान आकार वाला हो जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति सहसा सरल हो जाती है और तब दोनों नासापुटों के आश्रय से प्राण के वियुक्त होने के कारण मरणाअवस्था जैसी हो जाती है। यथा–

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम्।
प्रसारितं पदं कृत्वा धराभ्यां धारयेद्दृढ़म्।।
कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।।
ऋज्वीभूता तथा शक्ति कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया।।[1]

हठप्रदीपिका में जालंधर बन्ध करके मूलबन्ध भी कर लेना चाहिए परन्तु कुछ योगियों का मत है कि योनि के दबाने और जिह्वा का बन्धन करने से ही मूलबन्ध चरितार्थ हो जाता है। इसलिए मूलबन्ध को अलग से करने का कोई औचित्य नहीं रह जाता है। जहाँ तक मरणावस्था का तात्पर्य है वह यह है कि वायु जब सुषुम्ना में प्रवेश हो जाता है तो इडा व पिंगला नाड़ियों की कार्यक्षमता में वियोग की स्थिति पैदा हो जाती है। मुद्रा से वापिस आने के पश्चात् प्राणवायु का रेचन धीरे–धीरे होना चाहिए।

महामुद्रा का विस्तारपूर्वक वर्णन जितना हठयोगप्रदीपिका में किया गया है उतना अन्य किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। प्राणायाम सहित अभ्यास करने से इस महामुद्रा की सिद्धि होती है अन्यथा नहीं।

हठयोगप्रदीपिका व घेरण्डसंहिता में इसका अभ्यास टाँग बदल करके नहीं बताया है लेकिन शिव संहिता में पहले वाँयें अंग व फिर दाएँ अंग से करना बतलाया गया है। भगवान् शिव पार्वती को उपदेश दे रहे हैं कि मैं जिस महामुद्रा का वर्णन कर रहा हूँ उसका अभ्यास करके कपिलादि प्राचीन ऋषि सिद्धपद को प्राप्त हो गए यथा–

---

1. हठ. प्र. 3.10–12.

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तत्रैऽस्मिन्मम बल्लभे।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धि च कपिलाद्याः पुरागताः।।[1]

शिवसंहितानुसार बाएँ पाँव की एडी से योनिस्थान को आदर सहित गुरुउपदेशित विधि से दबाना चाहिए। तत्पश्चात् दाएँ पाँव को पसार कर उसे दोनों हाथों से पकड़ लें व शरीर के नवद्वारों को बन्द कर ठोड़ी को हृदय पर अवस्थित करे और फिर चित्तवृत्ति को चैतन्य में स्थिर रूप से युक्त करके वायु का साधन करे। यह महामुद्रा गोपनीय है व इसे गुप्त ही रखना चाहिए। यथा–

अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम्।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ़न्तरालगाम्।।
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै।
नव द्वाराणि संयम्य चिम्बुकं हृदयोपरि।।[2]

निश्चल मन वाले योग साधक को इस महामुद्रा का अभ्यास प्राणायाम सहित करना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से निम्नस्तर का साधक भी सिद्ध हो जाता है क्योंकि इससे सभी नाड़ियों का चालन होता है व विन्दु स्थिर हो जाता है। इससे कुण्डलिनी जागृत होकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट हो जाती है। शिवजी आगे कहते हैं–

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।
यान्तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः।
मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता।
गुप्ताचारेण कर्त्तव्या न देया यस्य कस्यचित्।।[3]

अर्थात्– हे देवि! इस मुद्रा को प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखना चाहिए व उस ही साधक को बताना चाहिए जो इसमें रूचि रखता हो और समर्थ दिखाई दे। योगीजन इसका अभ्यास कर भवसागर से पार हो जाते हैं। यह साधकों के लिए कामधेनु स्वरूप है

---

1. शिव सं. 4.26.
2. वही, 4–27–28.
3. वही, 4–35–36.

अर्थात् साधकों की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली। इसको गुप्त परम्परा से साधना चाहिए तथा हर किसी के प्रति नहीं कहना चाहिए। गोरक्षसंहिता में इसकी अभ्यास विधि उपरोक्त ही है महर्षि गोरक्षनाथ ने इसे आन्तरिक कुंभक सहित इसके अभ्यास का निर्देश दिया है।

चरणदासकृत भक्तिसागर में महामुद्रा का वर्णन नहीं है। मुद्रा वर्णन में यह एक विशेष भिन्नता भक्ति सागर में पाई जाती है। गोरक्षपद्धति में कहा है कि नाड़ी जाल के शोधन से वातपित्त कफादि रोगों का हरण होता है। चन्द्रसूर्य के चालन से इनके एकत्र होने में खाया अन्न व पीए जल का शोषण होता है ऐसा महामुद्रा का प्राप्य फल है।

लाभ– घेरण्डसंहिता में कहा गया है कि इस मुद्रा के अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, भगन्दर, गुल्म, अजीर्ण आदि सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। योगचूडामन्युपनिषद् में 'अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते' इत्यादि कहकर बतलाया गया है कि अधिक खाया हुआ तीव्र विष भी महामुद्रा के प्रभाव से अमृत के समान पच जाता है। हठयोगप्रदीपिका का विचार है कि महामुद्रा का अभ्यास करने वाले योगी को पथ्य–अपथ्य कुछ नहीं होता। इससे भक्षण किए हुए नीरस रस जीर्ण हो जाते है। इस मुद्रा के अभ्यास से सभी रसों का परिपाक ठीक प्रकार से होता है और विष के समान पचने योग्य अन्न भी पच जाता है। 'जारणं तु कषायाय पातकानां विना शरम्' कहकर अन्य ग्रन्थकार ने इस मुद्रा को सभी कषाओं को भस्म और सभी पापों को दूर करने वाली स्वीकार किया है। घेरण्ड की तरह हठयोगप्रदीपिका भी क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण और उनसे उत्पन्न होने वाले दोषों को समाप्त कर देती है। यह वर्णन की गई महामुद्रा मनुष्यों को महासिद्धि देने वाली है तथा दिव्य ऐश्वर्यो की प्राप्ति होती है।

शिवसंहिता बतलाती है कि महामुद्रा के अभ्यास से सभी रोगों का उपशवन होकर जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है यथा–

सर्वरोगोपशनं जठराग्निविबर्धनम्।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम्।।[1]

---

1. शिव सं. 4.33.

शरीर सुन्दर स्वच्छ कान्तियुक्त हो जाता है व जरा मृत्यु का नाश स्वभाविक है। योगी को सबप्रकार से इच्छित फल की प्राप्ति होकर सुख मिल जाता है व इन्द्रियों पर संयम रखने का सामर्थ्य प्राप्त होती है।

गोरक्षसंहिता लगभग उन्हीं लाभ प्राप्तियों का उल्लेख करती है जो अन्य ग्रन्थों में है। अतः यह स्पष्ट है कि इस के अभ्यास से नाना प्रकार के रोग शान्त हो जाते हैं, रसों का स्वाद नीरस हो जाता है व साधक दीर्घायु होता है तथा विषैला भोजन भी अमृत समान पच जाता है। गोरक्षसंहिता भी इसकी पक्षधर है–

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते।।[1]

महामुद्रा महान् सिद्धि को प्रत्यक्ष करने वाली है। इसके अभ्यास से अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेषादि पंचक्लेश नष्ट हो जाते हैं व जन्म–मरणादि से छुटकारा मिल जाता है यथा–

इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः।।[2]

शांडिल्योपनिषद् से भी यही सिद्ध होता है कि इससे सभी क्लेशों का नाश होता है और विष भी अमृत के समान पच जाता है 'तेन सर्वक्लेशहानिः। ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते' क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वागादि दोषा नश्यन्ति। एष प्राणजयोपायं सर्व मृत्युपश्चात कः। अर्थात्– क्षय, गुल्म, गुदावर्त और पुराने चर्मरोग नष्ट होते हैं तथा प्राण को जीतने का यह उपाय सर्वमृत्यु का नाश करने वाला है। अतः यह स्पष्ट है कि महामुद्रा का अभ्यास बहुत ही लाभकारी व गुणकारी है। इसके अभ्यास के बिना अन्य अभ्यास निष्क्रिय हैं।

---

1. गो. सं. 1.59.
2. हठ.प्र. 3.14.

2. नभोमुद्रा :–

नभोमुद्रा का अर्थ है शरीर में समाहित आकाश तत्त्व की ओर दृष्टिगत होना व उसको साधना। इसका वर्णन घेरण्डसंहिता के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। महर्षि घेरण्ड ने इसकी व्याख्या इस प्रकार से की है–

यत्र तत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा।
उर्ध्वजिह्वा स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी।।[1]

सभी कार्यों में स्थिर हुआ योगी उर्ध्वजिह्वा होकर कुंभक के द्वारा वायु को रोक ले व ध्यान को भ्रूमध्य टिकाए। नभ का अर्थ आकाश होता है व नभोमुद्रा का कार्य है जिह्वा को तालु की ओर प्रेरित करना। इस मुद्रा में पूर्णता तभी संभव है जब नभोदृष्टि के साथ जिह्वा का मोड़पाना सिद्ध हो जाए। महर्षि घेरण्ड का मत है कि नभोमुद्रा साधारण कार्य नहीं, यह एक रहस्य मुद्रा अभ्यास है। गोरक्षशतक में इसका उल्लेख तो है परन्तु विवरण नहीं।

लाभ– इस मुद्रा के अभ्यास से जिह्वा सम्बन्धी रोग समाप्त हो जाते हैं साथ में चक्षुरोगों से भी छुटकारा मिल जाता है। साधक की मनोवृत्तियाँ नियंत्रित होने लगती हैं व मन में मौन धारण की शक्ति में तीव्रता आने लगती है। आज्ञाचक्र के जागरण में भी विशेष भूमिका निभाती है। नभोमुद्रा के द्वारा शरीर स्थित आकाश तत्त्व की कार्यक्षमता में सुधार व दृढ़ता आती है।

उड्डीयानबन्ध :–

महर्षि घेरण्ड ने उड्डीयानबन्ध को तीसरे स्थान पर रखा है। इस बन्ध का शाब्दिक अर्थ 'उड़ने से है' अर्थात् जब बन्ध के द्वारा शरीर में लाघ्वता आ जाए व साधक विल्कुल शरीर के सूक्ष्म भाव को पा ले, वह उड्डीयानबन्ध है। घेरण्डसंहिता का मत है–

---

1. घे.सं. 3.8.

उदरे पंश्चिमं तानं नामरुर्ध्वंत कारयेत्।

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रातं महाखगः।

उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी।।[1]

नाभि के ऊपर के भाग और पश्चिम द्वार को उदर के समभाव में सकोडने से जब पेट अन्दर की ओर गड्ढे के समान धंस जाता है तो उसे उड्डीयानबन्ध कहते है। इस 'उदरे पश्चिमे तानं' का भाव यह है कि उदर के निचले हिस्से में अवस्थित मूलाधारादि चक्र की सभी नाड़ियों को ऊपर की ओर उठाना। इसे बैठकर व खडे होकर दोनों प्रकार से किया जाता है। इसका अभ्यास कुछ कठिन है। साधक या तो रीढ़ की हड्डी को बैठकर शिथिल कर दे या फिर खड़ा होकर हाथों को घुटनों पर रखकर थौडा झुक जाए ताकि उदर माँस–पेशियां ढीली पड़ जाए। तदुपरान्त श्वास को बाहर निकालकर नाभि को मेरूदण्ड की ओर आकर्षित कर यथाशक्ति रूका रहे। जब न रोक सके तो सर्वप्रथम उदर व नाभि को यथावत् स्थिति में लाएं तदुपरान्त श्वास भरकर आराम करे। गोरक्षसंहिता का प्रथम शतक इसके प्रति इस प्रकार चर्चा करता है–

उड्डीयानं कुरूते यस्माद्विश्रान्तं महाखगः।

उड्डीयानं तदैव व स्यान्मृत्युमातंगकेसरी।।

उदरत्पश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते।

उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो निगद्यते।।[2]

अर्थात् उड्डीयानबन्ध के लिए जैसे महाखग विश्राम करता है वसे ही उदर की के नीचे वाले हिस्से को नाभि के ऊपर उठाना। उदर से पश्चिम में और नाभि से नीचे इस बन्ध का स्थान बतलाया गया है। योगतत्वोपनिषद् में कहा गया है कि जिससे बंधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उठ जाए उसे योगीजन उड्डीयानबन्ध कहते हैं।

शिवसंहिता के चतुर्पटल में भी उड्डयानबन्ध नाम से इसका अभ्यास बतलाया गया है।

---

1. घे.सं. 3.10.
2. गो. सं. 1.76–77.

नाभेरुर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत्।

उड्डयानबन्ध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः।1

अर्थात् नाभि से ऊपर और नीचे पश्चिमतान का आचरण करे जिससे कि दोनों भाग पीठ में जाकर लग जाएं। भाव यह है कि पेट को पीछे की ओर आकर्षित करता हुआ नाभि के ऊपर के भाग में आकुंचित करे, यही उड्डयानबन्ध है।

हठयोगप्रदीपिका में इसका ओडडीयानबन्ध से सम्बोधित किया गया है।

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।

तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।।

उड्डीनं कुरूते यस्मादविश्रातं महाखगाः।।

उड्डीयानं तदैव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते।।[2]

अर्थात् जब बंधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उड़ जाए या उठ जाए तो उसे उड्डीयानबन्ध कहते हैं। देह के आकाशमार्ग में गतिशील महाखग रूपी जिस बन्ध में सुषुम्ना में उड़ता है उसे इस बन्ध के नाम से जाना जाता है। विधि व्याख्या में कहा गया है कि उदर में नाभि के ऊपर पश्चिम तान करे तो यह मृत्यु रूपी हाथी को भी वश में कर लेता है। इसे सभी बन्धों में उत्तम माना गया है। स्वामी चरणदास ने भक्ति के बन्धवर्णन में इसके प्रति इस प्रकार कहा है–

बंध उड्डयान आगे कहा, जिह्वा उलट लगाय।

कान आँख मुख नाक के, स्वर सब बन्ध कराय।।

इह सुबन्ध महिमा अधिक, लागै बजर किंवार।

सात द्वार की बाट हो, निकसे नाहि वयार।।[3]

उड्डियानबन्ध में जीभ को उल्टी करके ऊपर की ओर लगाने से आँख, नाक, कान, मुख के सभी रास्ते बन्द हो जाते हैं व इस बन्ध की महिमा अधिक है। शेषविधि अन्य

---

1. शि.सं. 4.72.
2. हठ. प्र. 3.55–56.
3. भ. सां. 5.36–37.

ग्रन्थों की तरह है। इस मुद्रा के अध्ययन से पता चलता है कि सभी ने उदर को मेरूदण्ड की ओर आकर्षित करने का विधान बताया है परन्तु स्वामी चरणदास जीभ को उलटाकर इसके अभ्यास को और अधिक उपयोगी मानते हैं। स्वर विज्ञान व नवद्वार की कार्य क्षमता को बढ़ाने के लिए स्वामी चरणदास उड्डयान बन्ध को विशेष महत्त्व देते हैं। दूसरे शब्दों में उड्डीयानबन्ध के साथ नभोमुद्रा के अभ्यास का संकेत भक्तिसागर में मिलता है।

लाभ– उड्डीयानबन्ध के अनगिनत लाभ है। जैसा इसका नाम है वैसे ही इसके सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव पड़ते हैं। इस बन्ध में बंधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उठ कर उसमें प्रविष्ट हो जाता है ऐसी धारणा गोरक्षसंहिता में उपलब्ध है। भक्तिसागर उड्डयान की महिमा का गुणगान करते हुए बतलाता है कि इससे सप्तद्वारों से रिसने वाली उर्जा नियमित हो जाती है। हठयोगप्रदीपिका का मानना है कि इसके अभ्यास से वृद्ध भी तरूण हो जाता है व गुरूओं ने इसे सदैव सहज बताया है–

उड्डीयानं तु सहजं गुरूणा कथितं यथा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरूणायते।।[1]

इस बन्ध के अभ्यास से प्राण पक्षी जैसी गति से उडान भरता हुआ सुषुम्नाद्वार से मस्तक में जा पहुँचता है और जब मन में भी यही विदेहमुक्ति कहलाती है तब इसी से उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है। इसी को योगनिद्रा कहते हैं।

नित्यं कुरूते योगी चतुर्वारं दिने दिने।
तस्य नाभ्र्वेत् शुद्धिः साद्येन सिद्धो भवेत्मरुत्।।[2]

जो योगी इस बन्ध का नित्यप्रति चार बार अभ्यास करता है, उसके नाभि मण्डल का शोधन हो जाता है और वायु की शुद्धि भी। शिवसंहिता आगे कहती है कि यदि योगी छः महीने तक इस बन्ध के अभ्यास में तत्पर रहता है तो वह अवश्य ही मृत्यु को जीतने में समर्थ हो जाता है और उसके उदर की अग्नि प्रदीप्त होती है तथा रस की वृद्धि निश्चित है। आशय यह है कि यह बन्ध जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला होता है

---

1. हठ.प्र. 3.58.
2. शि. सं. 4.75.

तथा रस की वृद्धि होने लगती है। इससे देह में व्याप्त धातुओं की पुष्टि होती है। अतः इसके साधन से मृत्यु को जीता जा सकता है।

महर्षि घेरण्ड ने तो उड्डीयान के अभ्यास को मृत्यु रूपी गज के लिए सिंह के समान माना है तथा सहज ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। घेरण्ड ने भी स्वीकार किया है कि इसके अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो जाता है। मणिपूर चक्र के जागरण में सहायक है। इसकी साधना एकान्त स्थान में करनी चाहिए।

3. जालंधरबन्ध :—

कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिंबुकं हृदयेन्यसेत्।
जालंधरे कृते बन्धे षोड्शाधारबन्धनम्।।
जालधरंमहामुद्रामृत्योश्च क्षयकारिणीं।।[1]

विधि :— किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठकर कण्ठ का संकोच करने और हृदय पर ठोड़ी को रखने से जालंधरबन्ध हो जाता है तथा इससे सोलह प्रकार का बन्ध हो जाता है। जालंधर बन्ध को महर्षि घेरण्ड ने महामुद्रा ही माना है। कुछ विद्वानों के अनुसार महामुद्राएं पाँच तो प्रमुख हैं ही। योगचूडामण्युपनिषद् व गोरक्षसंहिता में कहा है कि—

महामुद्रां, नभोमुद्रां उड्डयानं च जालन्धरम्।
मूलबन्धच यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः।।[2]

अर्थात् जो योगी महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियाण, जालंधरबन्ध और मूलबन्ध को जानता है, वह मोक्षभाजन है। इस प्रकार पाँच मुद्राएं प्रमुख मानी गई है और जालंधरबन्ध को भी महामुद्रा मान लिया है। गोरक्षसंहिता में भी यही वर्णन मिलता है। इसकी अभ्यास विधि इस ग्रन्थ में इस प्रकार वर्णित हैं कि जो बन्ध कण्ठदेश में होता है और शिरोजाल बन्धन करता हुआ चन्द्रामृत रूप जल कपाल कुहर के नीचे गिरने से रोकता है, वह दुःखों और रोगों को नाश करने वाला जालंधरबन्ध होता है।

---

1. घे.सं. 3.12.
2. गो.सं. 1.56.

हठयोगप्रदीपिका में भी कण्ठ संकोचन के द्वारा इसकी अभ्यास विधि बतलाई है। यह बन्ध नाड़ियों के समूह को तथा कपाल कुहुर रूप नभ के जल को बांधता है, इसलिए 'जालंधरबन्ध' कहलाता है। इसका अभ्यास पूरक के पश्चात् आतंरिक कुंभक करते हुए करना चाहिए। योगकुण्डल्युपनिषद् में कहा है कि अधोभाग में मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन करे और ऊपर से जालंधरबन्ध द्वारा कण्ठ का संकोच तथा मध्य में उड्डीयाणबन्ध द्वारा प्राण को खीचे तो प्राण ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में चढ़ने लगता है। घेरण्डसंहिता व हठयोगप्रदीपिका में षोड्शाधार का बन्ध भी इससे हो जाता है जिसका तात्पर्य सीधे–सीधे विशुद्धचक्र के सोलह दलों से हैं। शिवसंहिता के चौथे पटल में जालंधरबन्ध वर्णन इस प्रकार मिलता है–

बद्धा गलशिरजालं हृदये चिबुकन्यसेत्।
बन्धो जालंधरं प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः।।
नाभिस्थ वह्निर्जन्तूनां सहस्त्रकमलच्युतम्।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थ वन्धेयेदिमम्।।[1]

अर्थात् गलशिरजल को बाँधकर ठोड़ी को हृदय से लगाने से जालंधरबन्ध हो जाता है। यह बन्ध देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। सहस्त्र दल कमल अर्थात् सहस्त्रार से स्त्रवित होते हुए अमृत को नाभि में स्थित अग्निपान कर लेता है परन्तु उसे वैसे न करने देने के लिए इस जालंधर बन्ध को अवश्य करना चाहिए। क्योंकि चन्द्रामृत का जठराग्नि द्वारा ग्रास कर लिए जाने से अन्त में मनुष्य की मृत्यु हो जाती है परन्तु जालंधरबन्ध एक ऐसा साधन है जो कि जठराग्नि को चन्द्रामृत पान करने से रोकता है।

भक्तिसागर में जालंधरबन्ध को तीसरे स्थान पर रखा गया है व क्रियाविधि में कोई विशेष अन्तर नहीं है–

तीजाबन्ध जालंधरजानौ। कण्ठ वास ताका पहिचानौ।
ग्रीवा लटक चिबुक हिया लावै। कण्ठपवन रोकै परचावै।
हिरदे प्राण पूरकरि रहिये। बन्ध जालंधर यासूं कहिए।[2]

---

1. शि.सं. 4.60.61.
2. भ. सा. 5.35.

तीसरा बन्ध जालंधर बन्ध है जिसका निवास कंठ है। गर्दन को लटकाकर छाती पर ले आवे, वायु को कण्ठ के नीचे रोककर रखने का अभ्यास करे। हृदयपर्यन्त प्राण को भरकर रखें, इसे बाहर न जाने वाला बन्ध जालंधरबन्ध कहलाता है। भक्तिसागर का आगे मानना है कि–

उरध पवन नीचे को जाय। अधर पवन ऊरध् कूं लाये।
उदर मध्य लै ताहि बिलोय। ब्रह्मरंध्र जा पहुँचे सोय।।
इह विधि ब्रह्मपंथकूं धावै। सहजे सहजे मध्य समावै।।[1]

अर्थात् ऊपर की वायु नीचे आती है, नीचे की वायु ऊपर को जाती है। पेट के मध्य उसे घुमाते हैं, जिससे वह सुषुम्ना में प्रवेश करके मध्यमार्गी हो जाता है।

इस प्रकार जालंधरबन्ध को महामुद्रा के समक्ष मानना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। स्वामी चरणदास का कहना है कि इसका अभ्यास करने से बुढ़ापा व मृत्यु का भय नहीं सताता व साधक अमरता का अनुभव करता है। यथा–

जरा मरण जहँ भय नहिं व्यापै। लहे अमरपद होरह आपै।
चरणदास शुकदेव बतावै। जो पै बन्ध उड्यान लगावै।।[2]

यह कहना गलत न होगा कि सभी प्राचीन ऋषियों ने इसके अभ्यास से जठराग्नि का प्रज्वलित होना व सुषुम्नाद्वार के खुलने का मत व्यक्त किया है।

लाभ– साधक सिद्ध की अवस्था प्राप्त कर लेता है व वह मोक्षभाजन हो जाता है। कंठसंकोचन से तालुग्रन्थि से निकलने वाले रस का शमन नहीं होता है। यह बन्ध कण्ठरोगों का निवारण करता है तथा सम्पूर्ण शरीर को बल प्रदान करता है। इसे जरा मृत्यु विनाशक भी माना गया है। गर्दन पतली व सुडौल बनती है। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा रचित पुस्तक आसन, प्राणायाम, बन्ध एवं मुद्रा में कहा गया है कि इस बन्ध के अभ्यास से उतावलापन व क्रोध शान्त होता है। हृदय की कार्यक्षमता बढ़ती है तथा ललाट–ग्रन्थियों को सशक्त बनाकर रखती है। ध्यान के लिए भी यह मुद्रा अति

---

1. भ. सा. 93.
2. वही, पृ. 93.

लाभकारी है। यह विशुद्ध चक्र को जागृत करता है।

4. मूलबन्ध :–

मूल का अर्थ है गुदा अर्थात् गुदाद्वार को बांध कर रखना।

विधि :– किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठें। घुटने उचित ढंग से पृथ्वी पर लगे रहे व हाथ या तो घुटनों पर रहे या ज्ञानमुद्रा में या अंजलिमुद्रा में। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के अनुसार सिद्धासन इसके लिए उपयुक्तासन है। अगर इसका पूर्वाअभ्यास वज्रासन लगाकर गुदा को एडियों पर रखकर किया जाए तो इसको करना आसान हो जाता है। घेरण्डसंहिता का मत इसके प्रति इस प्रकार है–

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुंचयेत्ततः।
नाभिग्रन्थिमेरूदण्डे सुधीः संपीड्य यत्नतः।।
मेढ्रं दक्षिणगुल्फेन दृढ़बन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते।।[1]

बायीं एड़ी से गुह्य प्रदेश को संकुचित करके प्रयत्नपूर्वक दायीं एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबा लें। यह मूलबन्ध है, इससे वृद्धावस्था नष्ट होती है। इसका और सरल तरीका यह भी है कि आसन में बैठकर श्वास भरकर मुद्रा को संकुचित रखें व चक्षुओं को बन्द कर मूलाधार चक्र पर दृष्टि जमावें। शिवसंहिता में इसका विवरण इस प्रकार मिलता है–

पादमूलेन संपीड्य गुदामार्गेषु यन्त्रितम्।[2]

अर्थात् पाँव की एड़ी से गुदा मार्ग को दवाएं और बलपूर्वक अथवा वायु ऊपर की ओर आकर्षित करे। तदुपरान्त अपान वायु को प्राण से मिलाएं तो मूलबन्ध हो जाता है। इसे जरा–मरण नाशक मूलबन्ध भी कहते हैं। यह ग्रन्थ किस पैर से गुदा को दबाएं के प्रति मौन है। गोरक्षसंहिता के अनुसार अपान वायु को ऊपर की ओर खींचकर प्राणवायु से मिलाएं व पाँव की एड़ी से योनि स्थान को दृढ़ता से दबाकर गुह्यद्वार को सिकोड़े तो

---

1. घे.सं. 3.14–15.
2. शि. सं. 4.64.

मूलबन्ध हो जाता है। प्राण और अपान को मिलाने से मूलबन्ध होता है यह सामान्य सिद्धान्त है। योगतत्वोपनिषद् के अनुसार इस क्रिया का नाम योनिबन्ध भी है क्योंकि अपान को उठाकर प्राण वायु से मिलने पर योनिबन्ध होना कहलाता है। इस भांति प्राण, अपान, नाद और विन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता प्राप्त होती है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि मूलबन्ध के द्वारा योनि मुद्रा स्वयं ही सिद्ध हो जाती है और योनि मुद्रा के सिद्ध होने पर सर्वसिद्धि प्राप्त हो जाती है। मूलबन्ध के प्रभाव से योगी वायु को जीत कर आकाश गमन की शक्ति प्राप्त कर लेता है। हठयोगप्रदीपिका में योनिस्थान का अभिप्राय है गुदा और लिंग के मध्यभाग से। जो अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक उर्ध्वगामी करता है उसे योगीजन मूलबन्ध कहते हैं।

अधोगतिमपानं च उर्ध्वगं कुरूते बलात्।
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः।।[1]

बन्ध वर्णन में स्वामी चरणदास मूलबन्ध के प्रति भक्तिसागर में कहते हैं–

मूलबन्ध अब कहत हूँ, अपानवायु वश होय।
ऊपरकूं खैंचन करै, मिलै प्राण में सोय।
कमल कमल सीधे भवै, नाभि तले हो राह।
आगे मारग सुगम हो, पहुँचै योगी नाह।।[2]

अब मूलबन्ध के बारे में बताते हैं जिसके करने से अपानवायु वश में होती है। अपान को ऊपर उठावे ताकि प्राणवायु में मिल जावें। इससे प्रत्येक कमल सीधे हो जाते हैं तथा नाभि के नीचे का रास्ता खुल जाता है, आगे का मार्ग सरल हो जाता है तथा योगी साध्य तक पहुँच जाता है। स्वामी चरणदास ने बहुत ही विस्तारपूर्वक वर्णन किया है तथा इससे प्राप्त होने वाले सद्गुणों व लाभों से अवगत करवाया है। भक्तिसागर में कहा गया है कि अगर कभी पद्मासन में इसको करने का मन हो तो कपड़े की गेंद से गुदामार्ग को दबा लें तो तो इससे पूरा लाभ प्राप्त होता है।

---

1. हठ.प्र. 3.62.
2. भ. सां. 5.33–34.

लाभ :– हठयोगप्रदीपिका में इससे प्राप्त होने वाले लाभों में कहा गया है कि इससे कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। अपान जब ऊर्ध्व में जाता है तो अग्नि की अत्याधिक तीव्रता होती है तथा शरीरस्थ जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है। मूलबन्ध जरा–मृत्यु से छुटकारा दिलाने में सक्षम है। स्वाधिष्ठान व मूलाधार चक्रों को जागृत करने में सहायक है। वीर्य सम्बन्धी रोग समाप्त हो जाते हैं व मल–मूत्र त्यागने वाले अंग सशक्त बनते हैं। जिन महिलाओं की बच्चादानी कमजोर पड़कर अपने स्थान से खिसकने लगती है, उन्हें इसका अभ्यास अवश्य कर लेना चाहिए। मासिक धर्म सम्बन्धी विसंगतियां दूर हो जाती है व जिन किशोरों को स्वप्नदोषादि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, उन्हें सोने से पूर्व इसका अभ्यास दो तीन बार अवश्य कर लेना चाहिए।

घेरण्डसंहितानुसार इससे मरूतसिद्धि होती है। भक्तिसागर में स्वामी चरणदास ने तो इसके अनेक लाभ बताए हैं–

मूलबन्ध गुण ऐसा होई। वायु अधोगति जाय न कोई।
ऊरधरेता यासूं सधै। दिन दिन आयु सवाई वधै।।[1]

मूलबन्ध में ऐसा ग्रह है कि कोई भी वायु अधोगति में नहीं होगी। ऊर्ध्वरेता का संयम इससे सधता है। प्रत्येक दिन आयु में बढ़ोत्तरी होती है। इससे सारे कार्य बनते हैं। रक्त सम्बन्धी सभी रोग नष्ट हो जाते है। योगी पहले इसकी आराधना करे, अपानवायु को ठीक रीति से साधे। प्राण अपान का मिलन सहज से हो जाता है। नाद–बिन्दु–रज ये सारे मिल जाते हैं, यदि कोई इसे उचित ढंग से करे। इससे बूढ़ा शरीर जवान हो जाता है। इससे नितम्ब क्षेत्र सशक्त बन जाता है।

5. महाबन्ध :–

महाबन्ध से यही तात्पर्य लेना चाहिए कि यह बन्ध करने से तीनों ही बन्धों का लाभ प्राप्त हो जाता है। घटस्थ योग में इसके प्रति स्पष्ट किया है–

वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत्।
दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः।।[2]

---

1. भक्तिसागर, पृ. 92.
2. घे.सं. 3.18

बाएं पाँव की एड़ी से वायुमूल की निरूद्ध करके दाएं पाँव से प्रयत्नपूर्वक बाई एड़ी को दवाएं और शनै–शनै ही संकुचित करें तथा जालंधरबन्ध से प्राणवायु को धारण करे। इसे महाबन्ध कहते हैं। इसे सभी मुद्राओं में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। भक्तिसागर इसका व्याख्यान इस प्रकार करता है–

वायां पाँव सिवन गहि दीजै। मूलद्वार एडी बँद दीजै।
दाहिनी जघं जंघपर लावै। गउमुख आसन नाम कहावै।
राखै चिबुक हृदय पर लाय। पवन राह पूरब को जाय।
ध्यान त्रिकुटी संयम करै। प्राणवायु हिरदे में धरै।।[1]

बायां पैर सीवनी के पास जमा दें, गुदा को एड़ी से बन्द कर दें। दाहिनी जंघा दूसरी जंघा के समीप ले जाएं, इस प्रकार यह गोमुखासन की आकृति बन जाती है। उसके पश्चात् ठोड़ी को हृदय पर रखें। ध्यान भ्रूमध्य रहे व प्राणवायु हृदय स्थान पर रोककर रखें। यही महाबन्ध है। आगे भक्तिसागर कहता है–

बिना पुरुष तिरियाको जानो। बन्ध बिना मुद्रा पहिचानो।।[2]

अर्थात् बिना पुरुष के नारी का कोई अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार से बन्ध के बिना महामुद्रा का कोई स्थान नहीं है।

हठयोगप्रदीपिका का मत भी घेरण्डसंहिता व भक्तिसागर से मिलता– जुलता है। इसमें विशेष रूप से यह बताया है कि महाबन्ध को यथाशक्ति धारण करना चाहिए। इस मुद्रा को बाई व दाईं तर्फ दोनों ओर से करना चाहिए। कुछ विद्वानों का मत है कि जालंधर बन्ध के कण्ठ के संकोच को न करें क्योंकि राजदन्त स्थित जिह्वा का बन्ध ही प्रशस्त होता है। यह सब नाड़ियों की ऊर्ध्व गति का निरोधक है।

शिवसंहिता में इसकी विधि वर्णन में लिखा है कि पाँव को फैलाकर बाएँ ऊरू पर दाऐं पाँव को रखे और गुदा तथा योनी को संकुचित करके अपान को ऊपर की ओर चढ़ावे जिससे कि वह समान वायु के साथ मिलकर प्राणवायु को नीचे की ओर

---

1. भ. भा. 5.31.
2. वही, पृ.91.

करे। जो बुद्धिमान साधक प्राण अपान के मिलनार्थ इस बन्ध को करता है, उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

गोरक्षसंहिता में महाबन्ध की अलग से कोई व्याख्या नहीं की गई है परन्तु जालंधर व मूलबन्ध में परोक्ष रूप से इस मुद्रा से मिलने वाले परिणामों का अनुमोदन किया गया है।

लाभ– इसके अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश करने से आनन्द की अनुभूति होती है। इससे बुढापे व मृत्यु का भय पास नहीं आता। भक्तिसागर का मत है कि यदि साधक इसे आठों प्रहर में आठ बार करता है तो प्रत्येक प्रहर में पवन भरना चाहिए। इससे कामाग्नि पर नियंत्रण होता है। घेरण्डसंहिता में कहा गया है–

महाबन्धः परोबन्धे जरामरणनाशनः।[1]

यह बन्ध सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ है तथा जरामरण का नाशक है।

शिवसंहिता के विचार में इसके साधक के सभी इच्छित संकल्प पूरे हो जाते हैं। इससे शरीरस्थ अस्थियों का ढांचा तथा उनके सभी बन्धन दृढ़ हो जाते है। अतः यह सिद्ध होता है कि महाबन्ध एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके करने से अधोशरीर व इससे सम्बन्धित सभी अंगों को श्रेष्ठता प्राप्त होती है।

6. महावेध :–

महावेध का अर्थ है ताड़न करना या भेदन विधि करना। शिवसंहिता में इसका वर्णन भगवान शिव ने इस प्रकार किया है–

अपानप्राणयोरेक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वापुना।
स्फिचौ संताडयेद्धीमान् बेधोऽयं कीर्तितो मया।।[2]

हे त्रिभुवनेश्वारि! प्राण अपान को संयुक्त करके महाबन्ध में स्थित योगी अपने उदर में वायु भर कर अपने दोनों पार्श्वो का ताडन करे, यह वेध मेरे द्वारा कहा गया है व

---

1. घे.सं. 3.20.
2. शि.सं. 4.43.

योगियों में श्रेष्ठ साधक इसको करता है। अर्थात् इसका अभ्यास कुशल योगी ही करता है व उसे इच्छित उपलब्धि प्राप्त होती है। आगे कहा गया है कि महामेध के बिना न तो महामुद्रा सफल होती है न महाबन्ध इसलिए योगी को चाहिए कि वह इन तीनों का अभ्यास एक साथ करे। घेरण्डसंहिता भी इसी बात पर बल देती है–

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं बिना।
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं बिना यथा।।
महाबन्धं समासाद्य चरेदुड्डानकुम्भकम्।
महावेधः समाख्यतो योगिनां सिद्धिदायकः।।[1]

शिवसंहिता से थोड़ी भिन्नता महर्षि घेरण्ड ने बतलाई है। उपरोक्त वक्तव्य का अर्थ है कि मूलबन्ध और महाबन्ध भी उसी प्रकार निष्फल हैं जिस प्रकार कि पुरुष के बिना स्त्री का रूप, यौवन व लावण्य व्यर्थ है। प्रथम महाबन्ध मुद्रा को करें व फिर उड्डीयानबन्ध करते हुए कुंभक द्वारा वायु को रोके। यही महावेध कहा गया है। नित्यप्रति महावेध के साथ महाबन्ध व मूलबन्ध करने वाले योगी सब योगियों में श्रेष्ठ माने जाते हैं। योगतत्वोपनिषद् में इसकी विधि का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि एकाग्र होकर कण्ठमुद्रा द्वारा अर्थात् कण्ठ को सिकोड़ कर वायु की गति का निरोध करके दोनों नासारन्ध्रो का संकुचन करने से वायु शीघ्र भर जाती है। सिद्ध योगीगण इसे महावेध कहते है। हठयोगप्रदीविका में इसका वर्णन अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा सविस्तार से किया गया है–

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरित मध्यगः।।[2]

महावेध में स्थित योगी बुद्धि को एकाग्र करके पूरक करे और कण्ठ मुद्रा से वायु की गति को रोकर प्राणायाम करे। अपने स्फिचों को पृथ्वी पर लगे हाथों से थामकर योनिस्थान में लगी हुई एड़ी वाले बाएँ पाँव के सहित कुछ ऊपर की और उठावे और

---

1. घे.सं. 3.21–22.
2. हठ.प्र. 3.27.

धीरे–धीरे ताड़न करे। इससे वायु इडा व पिंगला को छोड़कर सुषुम्ना में चलने लगती है। इस प्रकार करने से चन्द्र, सूर्य और अग्नि संबोध क्रमशः इडा, पिंगला और सुषुम्ना से अमृत्व की प्राप्ति होती है। महाबन्ध के पश्चात् ही महावेध की स्थिति होती है।

महावेध के वाम एड़ी को योनिस्थान में लगाकर नितम्बों को हाथों के सहारे से वामपाद सहित कुछ उठाकर धीरे–धीरे ताड़न करने से वायु इडा, पिंगला का त्याग कर सुषुम्ना में पहुँच जाता है व इडा–पंगला में वायु निरोध से साधक की स्थिति मृतवत् हो जाती है। साधक के अन्दर जब ऐसी अवस्था प्रत्यक्ष होने लगे तो प्राणवायु का विवेचन करना चाहिए।

योगतत्त्वोपनिषद् में वायु की गति का निरोध करके दोनों नासारन्ध्रों का संकुचन करने से वायु शीघ्र भर जाता है, इसे योगीजन महावेध कहते हैं। यह मुद्रा प्रहर–प्रहर में नित्यप्रति आठ बार करनी चाहिए।

लाभ– हठयोगप्रदीपिका का मानना है कि इसके करने से कम्पनादि रोग दूर हो जाते हैं व जरा–मरण का भयशान्त हो जाता है। अग्नि तत्त्व के प्रदीप्त हो जाने पर अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है। पुण्यों की उत्पत्ति व पापों का नाश इसके द्वारा संभव है। शिवजी शिवसंहिता में कहते है कि महावेध से कुण्डलिनी स्वरूपिणी महामाया कैलास में लय को प्राप्त होती है अर्थात् ब्रह्ममार्ग को खोलते हुए ब्रह्मरन्ध्र में लीन हो जाती है। इसका अभिप्राय यह भी है कि शरीरस्थ षट्चक्रों में गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव अग्नि आदि देवता विद्यमान हैं और वहाँ प्राणवायु प्रविष्ट हो जाती है। घेरण्डसंहिता भी इसके अभ्यास से रोगों से निवृत्ति प्राप्त होने की पक्षधर है तथा वह वृद्धावस्था जल्दी नहीं आने देती।

विभिन्न ग्रन्थों का अध्ययन करने से महावेध के प्रति यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाबन्ध, मूलबन्ध व जालंधरबंध का अभ्यास किए बिना महावेध नहीं करना चाहिए। अर्थ सीधा है क्योंकि इसकी निरूद्धावस्था में प्राण का संचार थम सा जाता है व अगर इसकी साधना उचित प्रकार से न की गई हो तो महावेध से साधक को परेशानियाँ पैदा हो सकती है। इसलिए महावेध का अभ्यास गुरू की देखरेख में करना हितकारी है। इसे गुप्त रखना चाहिए व गुप्त स्थान में करना चाहिए।

अतः देखा जाए तो बन्ध तीन न होकर पाँच हैं। इनका अभ्यास साधक को देवतुल्य बना देता है। स्वामी चरणदासकृत भक्तिसागर में इसका कोई वर्णन नहीं है।

7. खेचरी मुद्रा :–

मुद्राओं में बहुत ही महत्त्वपूर्ण व लाभकारी नाम से जाने वाली खेचरी मुद्रा का अभ्यास प्रारम्भिक साधनाकाल में आसान है परन्तु सिद्धि प्राप्त करने की दृष्टि से अति कठिन। खेचरी की साधना के लिए प्रथम नभोमुद्रा का अभ्यास उचित ढंग से कर लेना चाहिए। प्राचीन हठयोग ग्रन्थों में सभी स्थानों पर इसका उल्लेख एक मुख्य मुद्रा के रूप में है। स्वामी चरणदास ने इसकी विधि व्याख्या इस प्रकार की है–

सर्वप्रथम अपनी जिह्वा व मुँह को अच्छी प्रकार से धोएं क्योंकि खेचरी का निवास मुख में है यथा–

बड़ी जु मुद्रा खेचरी, मुख में याका वास।[1]

अगर मुख निर्मल नहीं होगा तो खेचरी साधना खण्डित होने लगती है। कुल्ले इत्यादि कर लेने के पश्चात् चौबस्त चूर्ण का प्रयोग करें। चौबस्त चूर्ण जो चार वस्तुओं हरड़, बेहड़ा, आंवला तथा फिटकरी के मिश्रण से बनाया जाता है। जीभा को लम्बा करने के लिए इसका चालन (जीभा को बाहर निकाल कर सीधा व उल्टा घुमाना), दोहन (इसको पकड़ कर जैसे गाय, भैंसादि को दूहते हैं) करना व छेदन, भेदन या कर्षण करना (जीभा के नीचे के दांतों के अन्दर की तर्फ छोटी नस को काटना)। तीसरी प्रकार का अभ्यास कठिन है परन्तु सतत् प्रयासरत रहना जल्दी परिपक्वता प्रदान करता है।

दोहन में जीभा को बाहर की तर्फ खींचते हैं जबकि कर्षण में इसे बाल भर काटा जाता हैं व जब घाव ठीक हो जाए पुनः उसे काटा जाता है। जब इस स्नायु का पूर्ण कर्षण हो जाता है तो साधक खेचरी मुद्रा में लीन हो जाता है।

बाएं हाथ के अंगूठे से कण्ठ के पास लटकते कौआ (छोटी जीभ) को ऊपर पकड़ कर दबाने से ब्रह्मरन्ध्र का मैल बाहर आ जाता है। तत्पश्चात् जीभा को छोटी जीभ के पीछे वने रन्ध्र–अथवा नासामार्ग से ऊपर सरकाना चाहिए। इस क्रिया का पूर्ण ज्ञान गुरू से प्राप्त करना चाहिए।

---

1. भ. सां. 5.20.

जीह्वा को ऊपर चढ़ाने के लिए मध्यमा व तर्जनी अग्रलियों की सहायाता ली जा सकती है। इस प्रयत्न को छः मास तक सौम्य स्वभाव से करना चाहिए ताकि जीभा अपने स्थान ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट हो जाए व खेचरी सिद्धि को प्राप्त कर ले। गोरक्षपद्धति के प्रथम शतक के ग्रन्थान्तर में खेचरी मुद्रा का वर्णन किया गया है यथा–

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत्।
यावद् भ्रूमध्यं तु स्पृशति तथा खेचरीसिद्धिः।।[1]

अर्थात् जिह्वा खेचरी करने की विधि ग्रन्थान्तर से कहते है– छदेन, चालन व दोहनकर्म से जिह्वा बढ़ती है। चालन में अंगुष्ठ और तर्जनी से जिह्वा को हिलाते रहना। गोथन को दूहने की तरह जीभा को खींचनादि। इस विधि को तब तक करते रहना चाहिए जब तक कि जिह्वा भृकुटी को स्पर्श न करे।

यहाँ पर भेदन के लिए थूहर के पत्ते के समान तीक्ष्ण, सच्चिकण निर्मल शस्त्र से जिह्वा के नीचे की नस को रोममात्र छेदन करें–

स्नूहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोम मात्रं समुच्छिनेत्।।[2]

रोममात्र छदेन के पश्चात् सेंधानमक और हरड़ का चूर्ण छेदित स्थान पर मलें परन्तु लवण का निषेध है। इसलिए लवण के स्थान पर खादिर (कत्था) से कार्य करना योग्य है, ऐसा सायं प्रातः सात दिन करने के पश्चात् पुनः उपरोक्त विधि से काटें व उक्त औषधि लगाते रहें। छः माह के अभ्यास से सम्पूर्ण छेदन क्रिया हो जाती है। फिर कण्ठ में जो गोलाकार कपालछिद्र है उसमें जिह्वा को योजित करें। इसे व्योमचक्र भी कहते हैं, ऐसा गोरक्षपद्धति का मानना है।

गोरक्षसंहिता के प्रथम शतक में भी यही विधान इस क्रिया को करने का बताया है। दृष्टि भ्रूमध्य रहनी चाहिए। यही तर्क हठयोगप्रदीपिका व घेरण्डसंहिता में उपलब्ध है। शांडिल्ययोपनिषद् व योग कुण्डल्यपनिषद् में भी उक्त प्रकार से खेचरी मुद्रा करने का उपदेश दिया है।

---

1. गो. प. ग्रन्थान्तरे, 1.1. पृ.38
2. वही, 1.2.

अतः खेचरी सिद्धि के लिए चालन, दोहन व भेदन तीन ही तरीके बतलाए गए हैं जो सर्वमान्य हैं। यह क्रिया हठयोग की क्रियाओं में कठिन है विशेषकर कर्षण विधि। इसलिए इसकी साधन गुरु द्वारा बताए मार्ग के अनुसार करनी चाहिए। इसमें जल्दबाजी नहीं करना लाभदायक है। शिव संहिता में इसे वज्रासन में बैठकर जिह्वा को व्योमचक्र में धारणकर सहस्त्रार की ओर ले जाना चाहिए। कण्ठ–छिद्र को यहाँ अमृतकूप एवं सुधाकूप कहा गया है व भगवान शिव ने इस मुद्रा को अपने प्राणों से भी प्रिय कहा है। यथा–

भ्रवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढासुधौः।
उपविश्यासने वज्रंनानोपद्रव वर्जितः।
लाविकोर्ध्व स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम्।।[1]

लाभ– इस खेचरी मुद्रा के अभ्यास से साधक बिन्दु जय हो जाता है। गोरक्षपद्धति व गोरक्षसंहिता में इसे विषय बन्धनमुक्ता कहा है। बिन्दुरक्षा के लिए यह मुद्रा सर्वोतम है।

विन्दुमूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्टिताः।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम्।।[2]

शरीर का मूल कारणबिन्दु है जो शरीर की रक्षा करता है। पाद से सिर पर्यन्त समस्त नाड़ीजाल बिन्दु से संचालित हो रहा है। अतः जिस साधक ने खेचरीमुद्रा से उसे रोक लिया तो उसके वीर्य को स्त्री आंलिगन भी चलायमान नहीं करता।

गोरक्षपद्धति का यह सूत्र बिन्दुजय के लिए खेचरी का महत्त्व इस प्रकार प्रकट करती है–

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्योर्भयंकुतः।[3]

जब तक देह में बिन्दु स्थिर है तब तक मृत्यु का भय नहीं होता। जब तक खेचरी मुद्रा दृढ़ रहती है तब तक व्योमचक्र से बिन्दुपात नहीं होता है। खेचरी के अभ्यास से मूर्च्छा,

---

1. शि. सं. 4.51–52.
2. गो.सं. प्र.श. 1.66.
3. गो.प. 1.69.

क्षुधा, तृष्णा, आलस्य आदि नहीं सताते। रोग एवं जरा का भय नहीं रहता। शरीर को न आग जला सकती है, न पवन सुखा सकता है, न जल भिगो सकता है न शरीर को साँप काट सकता है। शरीर लावण्यमय होकर समाधिस्थ हो सकता है यथा–

नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः।
न देहं क्लदयन्त्यापो दशन्नेि च भुजंगमः।।[1]

शरीर लावण्यता को प्राप्त कर लेता है व प्रारम्भ में लवण, क्षार, तिक्त और कषायरस तथा बाद में मक्खन, घृत, दुग्ध, दधि, तक्र, मधु और फिर अमृतादि रसों का स्वाद उत्पन्न हो जाता है।

आदौ च लवणं क्षारं ततस्तिक्तकषायकम्।
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम्।[2]

नाड़ियों के पंचस्त्रोत से युक्त छिद्र ज्ञान को उत्पन्न करने वाला है। उस शून्य रूप निरंजन के लिए खेचरी मुद्रा में स्थिति होती है।

एकं सृष्टिमयं बीजमेकामुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी।।[3]

चन्द्र ग्रन्थि से टपकने वाले रसको व्योमचक्र पूरी तरह सोख लेता है जिससे सम्पूर्ण शरीर के क्रिया कलाप सुचारू ढंग से कार्य करते रहते हैं। सम्पूर्ण व्याधियों का हरण हो जाता है। भक्ति सागर में भी अनेक प्रकार की सिद्धियों व लाभों का वर्णन खेचरी मुद्रा के अन्तर्गत किया गया है।

चार काज यासूं सरैं, फलदायक बहुभांति।
योगमाहिं बडभूप है, अधिकी जाकी कान्ति।।[4]

---

1. घे.सं 3.29.
2. वही, 3.31–32.
3. हठ.प्र. 3.54.
4. भ. सा. 5.9.

खेचरी साधन से चार प्रकार के कार्य पूर्ण होते हैं। यह मुद्रा योग क्षेत्र में सम्राट् है जिसकी आभा चारों ओर फैल जाती है। अष्टपदी में इसकी व्याख्या करते हुए चरणदास जी लिखते हैं कि एक तो प्राणायाम जीभ से करने आ जाता है। दूसरा उड्डीयानबन्ध का अभ्यास हो जाता है। ध्यान करते करते ज्योति का दर्शन होने लग पड़ता है। चौथा जहाँ से अमृत का स्त्रोत खुलता है वहीं से अमृत का पान होने लगता है। इस अमृत का स्वाद कोई नहीं बता पाता है लेकिन जो इसका स्वाद पा लेता है वही हंस हो जाता है। यही नहीं रक्त दुधिया हो जाता है व शरीर कांतिमय। लेकिन यह दिव्य गुण बीस वर्ष व चार महीने की निरन्तर साधना से आने लगते हैं। छत्तीस वर्ष में सारी इच्छाएं इतनी बलवती हो जाती हैं कि जो इच्छा करो पूर्ण होती है व साधक सारे संसार में इच्छाशक्ति से विचरण कर सकता है। स्वामी चरणदास के शब्दों में–

> दिन–दिन पलटै देह रक्त दुधा भवै।
> बीस बरस चार माह ऐसा हवै।
> इच्छाधारी होय बरस छत्तीस में।
> सब लोकन में जाय जु अपनी शक्तिते।।[1]

आगे कहते हैं कि इस मुद्रा के साधक को जहर भी प्रभावित नहीं करता। साधक को अनाहत् शब्द मिल जाता है। साधक की अवस्था तीन–चार माह के शिशु के समान हो जाती है। वह इतना कोमल हो जाता है कि उसे न अन्न व न पानी की आवश्यकता अनुभव होती है। वह केवल खेचरी में अमृतपान में ही मस्त रहता है व आनन्दमय रहता है। अन्ततः निर्वाण की प्राप्ति होती है।

> तीन महीने चारका, बालक गोदी माय।
> ना वह पीवै नीरही, अन्न नहीं वह खाय।।[2]

अतः यह स्पष्ट है कि खेचरी मुद्रा बहुत कठिन अपितु स्वर्ण सिद्धगुणों की खान है।

---

1. भ.सा. 5.9. (अष्टयदि)
2. भ. सा. 5.12.

शिसंहिता में शरीर पुष्ट व चक्रस्थ देवता संतुष्ट होने की प्राप्ति कही है। यहाँ तक कहा है कि आधा क्षण भी जो कोई इस मुद्रा को कर लें वह पाप रूपी महासमुद्र से पार हो जाता है। शिवजी कहते हैं कि हे देव पूजिते! यह मुद्रा प्राण के समान है इसलिए इसे हर किसी के प्रति नहीं कह देना चाहिए। इसे गुप्त रखना चाहिए–

सा प्राणसदृशो मुद्रा यस्मै कस्मै न दीयते।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।।[1]

8. विपरीतकरणी मुद्रा :–

विपरीतकरणी मुद्रा करने का अर्थ है कि अपने शरीर को विपरीत स्थिति में प्रतिष्ठित करना। जैसा कि खेचरी मुद्रा में स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मरन्ध्र से टपकने वाले अमृत का रसास्वादन करना। क्योंकि खेचरी मुद्रा अति कठिन है इसलिए ऋषियों ने एक आसान सा तरीका निकाला जिसे विपरीतकरणी मुद्रा कहा।

विधि – नाभिमूल में सूर्यनाड़ी (रुद्र ग्रन्थि) व तालुमूल में चन्द्रनाड़ी (चन्द्रग्रन्थि) है। सहस्त्रार के (कपालमध्य) अमृत बहता रहता है जो सीधा सूर्यनाड़ी में गिरता है जिससे प्राणी की मृत्यु हो जाती है परन्तु चन्द्रनाड़ी का अमृतपान दीर्घायु प्रदान करता है। इसलिए सूर्यनाड़ी को ऊपर व चन्द्रनाड़ी को नीचे करना विपरीतकरणी है–

नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृतं ग्रसतेसूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः।।
ऊर्ध्वं च जायते सूर्यश्चन्द्रं चाप्यध आनयेत्।
विपरीतकरीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।[2]

इसे करने के लिए सर्वप्रथम शवासन में लेटकर विश्राम करना चाहिए। फिर सिर को स्थिर कर दोनों टाँगों, पैरों व घुटनों को श्वास भरते हुए आकाश की ओर उठाएं। जब नितम्ब उठ जाएं तो पीठ व नितम्बों को हाथ का सहारा देकर और ऊपर उठा लें ताकि पैर बिल्कुल माथे की सीध में आ जाए। फिर श्वास को अन्दर रोकर कुंभकावस्था

---

1. शि. सं. 4.59.
2. घे. सं. 3.33–34.

में रहें व दृष्टि पैरों के अंगूठों पर एकाग्रचित रहे या नेत्रों को बन्द रखें। जब इस स्थिति में स्वयं को साध न सकें तो श्वास निकालते हुए वापिस आकर शवासन में विश्राम करें। पैरों को उठाने का अभ्यास धीरे–धीरे करें। विपरीतकरणी मुद्रा सर्वांगासन से मिलती जुलती ही है। अन्य ग्रन्थों हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहितादि में भी अभ्यास विधि यही है। इस मुद्रा के पश्चात् पेट भर भोजन करना चाहिए। गोरक्षपद्धति में विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास पद्मासन में बताया गया है अर्थात् पद्मासन धारणोपरान्त टाँगों को ऊपर की ओर उठाना।

लाभ– इस मुद्रा को करने से अमृतरस की रक्षा होती है। बालों का झडना व सफेद होना रूक जाता है। गर्दन सशक्त व मजबूत बनती है। उदर विकार दूर हो जाते है। इसका साधक सब लोकों में सिद्धि सम्पन्न हो जाता है। अधिकधिक व्याधियाँ समाप्त हो जाती हैं। शिवसंहिता में भी इसके साधक को सब लोकों में पूजने वाला माना गया है।

स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेन करोति यः।[1]

इससे जठराग्नि तीव्र होती है–यथा–

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निबर्द्धिनी।
अहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य से।
अल्पहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्।[2]

जठराग्नि के प्रज्वलित होने पर देह को फूंकती है अतः अभ्यास के पश्चात् का आहार यथेच्छ होना चाहिए।

9. योनिमुद्रा :–

घेरण्डसंहिता के अतिरिक्त योनिमुद्रा का वर्णन अन्यत्र प्राप्त नहीं है। महर्षि घेरण्ड ने बड़े ही सहजभाव से कई ऐसी मुद्राओं का अभ्यास निर्देषित किया है जो साधक की सफलता के लिए अति सहायक है। योनिमुद्रा का अभ्यास उनमें से एक है व उसको करने की विधि निम्न प्रकार से है–

---

1. शि.सं. 4.71.
2. गो.प. प्रथम शतक।

विधि :— सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसामुखम्।
अंगुष्ठतर्जनीमध्यानामाद्यैः पिदधीत वै।।
प्राणायामाकृष्य काकीभिरपाने योजयेत्ततः।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुँ हंसमनुना सुधीः।।[1]

सर्वप्रथम सिद्धासन लगाकर बैठने के उपरान्त दोनों हाथों के अंगूठों से दोनों कानों को, दोनों हाथों की तर्जनियों से नेत्रों को, मध्यमा से मुख को और अनामिका से नासिका को बन्द कर दें। काकी मुद्रा अथवा होठों को कौए की चोंच के समवत् करके वायु को खीचें व उसे अपान से मिला दें व शरीरस्थ षट्चक्रों का ध्यान करते हुए 'हंस' मन्त्रों का जाप करते हुए कुण्डलिनी को सहस्त्रार में ले जाने का प्रयत्न करना चाहिए ताकि जीवात्मा भी उसके साथ विचरण करने लगे।

साधक अभ्यास काल में यह अनुभव करने की चेष्टा करे कि मैं शिव—शक्ति सम्पन्न होकर स्वयंभू ब्रह्म हो गया हूँ। यही योनिमुद्रा है। जब श्वास न रुके तो नासाओं से धीरे—धीरे उसका रेचन कर देना चाहिए। यह कठिन नहीं है परन्तु इसे करने में उत्साह अवश्य होना चाहिए। गुदा देश का संकुचन इस मुद्रा को और गुणकारी बना देता है।

लाभ :— इसकी साधना से नेत्रों, कर्ण, नासिका व दन्त मूलों के रोग समाप्त हो जाते हैं व साधक ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, गुरूतल्पगमन आदि पापों से मुक्त हो जाता है। संसार के सभी महापाप, उपपाप आदि इस योनिमुद्रा से मिट जाते हैं।

ब्रह्महा भ्रूणहाचैव सुरापी गुरूतल्पगः।
एतैपापैर्न लिप्येत योनिमुद्रा निबन्धनात्।।[2]

योनि मुद्रा से प्राण, अपान, समान, उदान व व्यान प्राणों की शुद्धि के लिए उपयुक्त अभ्यास है। नादसिद्धि के लिए भी यह मुद्रा श्रेष्ठ मानी गई है।

———————————————————

1. घे.सं. 3.37—38.
2. घे.सं. 3.42.

10. वज्रोली मुद्रा :–

वज्रोली मुद्रा भी एक कठिन अभ्यास है तथा जो इसका ज्ञाता है वह योगनियमों का पालन न करके स्वेच्छापूर्वक सद्व्यवहार करे तो सिद्धिभाजन हो जाता है। हठयोगप्रदीपिका में इसकी सिद्धि के लिए दो दुर्लभ वस्तुओं के प्रति बतलाया गया है उनमें से एक तो दूध है व दूसरी वश में रहने वाली स्त्री। पुरुष हो या नारी बिन्दु को झडने से रोकने के लिए या अकुंचन करने का धीरे–धीरे अभ्यास करे। इसके साधक को दूध व स्त्री से दूर ही रहना चाहिए। यथा–

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैक द्वितीय तु नाड़ी च वंशवर्तिनी।।[1]

विधि :– शीशे की बनी हुई पतली व अन्दर से खाली नली से धीरे–धीरे उपस्थ के छिद्र में वायु के संचारार्थ प्रयत्नपूर्वक इस प्रकार फूत्कार करे जिस प्रकार कि अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए फूंक मारते हैं। योगतत्वोपनिषद् में उसका विधान विस्तार से इस प्रकार कहा गया है–

वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम्।
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम्।।[2]

अर्थात् जो वज्रोली का अभ्यास करता है वह सिद्धि का पात्र बन जाता है। वज्रोली सिद्धि को योगसिद्धि ही समझना चाहिए। वह भूत, भविष्य का भी ज्ञाता हो जाता है व उसे आकाशगमन में सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

शीशे की चौदह अंगुल लम्बी और उपस्थ के छिद्र में प्रविष्ट होने योग्य मोटी सलाई बनवाकर उसे उपस्थ (लिंगछिद्र) में प्रवेश करने का धीरे–धीरे अभ्यास करें। पहले ही दिन उसका पूरा प्रवेश न हो मात्र एक अंगुल। इससे उपस्थ का मार्ग शुद्ध हो जाता है। तत्पश्चात् चौदह अंगुल लम्बी सलाई से भी अभ्यास करने से श्रेष्ठता पैदा

---

1. हठ.प्र. 3.84.
2 यो. त. उ.

होती है। जब इसका अभ्यास पूरी तरह से हो जाए तो सुनार की धौंकनी की तरह पतली नलकी लेकर उसके अगले भाग को उपस्थ में प्रविष्ट टेढ़ी और ऊर्ध्व मुख की सलाई के मध्य में घुसाकर फूत्कार करने से उपस्थ भाग को शोधन हो जाता है। इसके पश्चात् जल के आकर्षण का अभ्यास करना चाहिए। जब यह भी सिद्ध हो जाए तो बिन्दु के ऊर्ध्व आकर्षण का अभ्यास करना चाहिए। जब यह साधना हो जाए तो वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो जाती है। पुरुष हो या स्त्री, मेघ्न (वीर्य या रज के पात) को भली प्रकार यत्नपूर्वक धीरे–धीरे ऊपर की ओर खींचें। हठयोगप्रदीपिका में इसका अनुमोदन किया गया है–

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात्।।[1]

घेरण्डसंहिता में इसकी अभ्यास विधि पूर्णतया भिन्न है–

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्याम् ऊर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरःखे।
शक्तिप्रबुद्ध्यै चिरजीवनाय वज्रोलिमुद्रां मुनयो वदन्ति।।[2]

अर्थात् दोनों हाथों को दृढ़तापूर्वक पृथ्वी पर रखें व दोनों पांवों को व्युत्क्रम में सिर के नीचे गर्दन पर रखें व सिर सीधा रहे। श्वास को भरकर रखना चाहिए। ज्ञानियों ने इसे शक्ति संचार करने वाली और जीवन प्राप्त करने वाली वज्रोली मुद्रा कहा है। इससे बिन्दु सिद्धि होने के कारण साधक ऊर्ध्व रेतस्त करने में समर्थ होता है व बिन्दुपात पर विजय पा लेता है। संसारिक लोग भी इसका अभ्यास कर लाभान्वित हो सकते हैं।

शिवसंहिता का अपना ही पक्ष है यथा–

आदौ रजःस्त्रियो योन्याःयत्नेत विधिवत्सुधीः।
आकुंच्य लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत्।।
स्वकं बिन्दुश्च सम्वन्भ्य लिंगचालनभाचरेत्।
देहाच्चलति चेदूर्ध्व निबद्धो योनिमुद्रया।।[3]

---

1. हठ.प्र. 3.85
2. घे.सं. 3.45.
3. शि. सं. 4.81–82.

पहले साधक विधि–विधान से प्रयत्नपूर्वक योनि से रज को उपस्थनाल में आकर्षित करे और अपनी देह में प्रविष्ट कर ले तथा बिन्दु का निरोध करके लिंग वाचन का आचरण करे। इस क्रिया में यदि देववशात् बिन्दु अपने स्थान से च्युत हो जाए तो उसको योनिमुद्रा द्वारा निबद्ध कर लें। उक्त प्रकार से बिन्दु को निबद्ध कर ऊपर की ओर आकर्षित करे और बाएं भाग में स्थित करके क्षण भर के लिए लिंग चालन क्रिया रोक दे और फिर गुरू के उपदेशानुसार वह योगी 'हूँ' हुँकार शब्द का उच्चारण करता हुआ पुनः लिंग चालन क्रिया में प्रवृत्त हो जाए और बलपूर्वक रज का आकर्षण करे यही वज्रोली मुद्रा है।

विधियाँ जो भी हो मूल लक्ष्य एक ही है और वह है साधक को रज को अपनी ओर आकर्षित करना व बिन्दुपात पर विजय पाना। गोरक्षपद्धति के प्रथम शतक के अन्त में कहा है–

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽस्यथवा नारी वज्रोली सिद्धिमाप्नुयात्।।[1]

अर्थात् संगम करके मन्द क्षरित वीर्य को इन्द्रिय संकोचन करके ऊपर खींचने के अभ्यास सिद्ध होने में वज्रोली मुद्रा की सिद्धि होती है। इसके लिए चांदी या काँच की खोखली 14 अंगुल नली के प्रयोग की बात कही है। शेष विधि हठयोगप्रदीपिका जैसी ही है। स्त्री के भग में पड़े हुए बिन्दु को रज सहित पुनः आकर्षित करना वज्रोली मुद्रा का परम लक्ष्य है।

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।।[2]

गोररक्षपद्धति का मानना है कि वीर्य चित्त के अधीन दैव चित्त के चलायमान से यह अस्थिर व चित्त की स्थिरता से स्थिर रहता है व शुक्र के अधीन जीवन है व इसकी स्थिरता से जीवन स्थिर हो जाता है। अतः शुक्र की रक्षा वज्रोली से संभव है।

---

1. गो.प., पृ. 4.
2. गो. प. प्रथम शतक, पृ. 51.

चित्तायतं नृणां शुक्रं शुक्रायतं च जीवितम्।

तस्याच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः।।[1]

लाभ :– शिवसंहिता में शिवजी इसके लाभों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यदि साधक मेरे शिव स्वरूप में बिन्दु और शक्ति स्वरूप में रज को समझता हुआ इन दोनों को संयुक्त करता है तो इस प्रकार साधन से वह योगी दिव्य शरीर वाला हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्ति होती है। वे आगे कहते हैं कि बिन्दु रक्षा के कारण ही विश्व में उनकी महिमा बनी हुई है तथा जो इसे करता है वह महिमा वाला हो जाता है। साधक बिन्दु के कारण ही मृत्यु पर नियंत्रण पा लेता है। गोरक्षपद्धति में कहा गया है कि बिन्दुरक्षा से शरीर सुन्दर व इसमें सुगन्धि प्रकट होती है। हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि बिन्दु रक्षा से शरीर के समस्त रोग शान्त हो जाते हैं।

घेरण्डसंहिता का तर्क है कि मन में इतनी दृढ़ता आती है कि मनुष्य का मन शुक्रपात के लिए नहीं होता है तथा वह ऊर्ध्वरता रह सकता है। इससे अण्डकोश व अन्य प्रजनन अंग मजबूत होते हैं। वज्रोली मुद्रा हितकारिणी, सिद्धिदायिनी व श्रेष्ठ है।

चिकित्सा वैज्ञानिकों का मानना है कि इससे यौन रोग समाप्त हो जाते हैं तथा जो संतानोत्पत्ति करने में असमर्थ हैं वह उस शक्ति को प्राप्त कर सकते हैं कि सन्तान पैदा हो जाए। इससे सम्पूर्ण विसर्जन क्रियाओं के अंगों को दिव्यता प्राप्त होती है।

11. अमरोली मुद्रा :–

अमरोली मुद्रा व सहजोली वज्रोली मुद्रा के ही उपाँग है। अमरोली की व्याख्या हठयोगप्रदीपिका में इसकी विधि इस प्रकार की गई है कि अधिक पित्त वाली बिन्दु धारा को तथा सारा अंश छोड़कर अन्त्यधारा को कुछ–कुछ छोड़कर शीतल मध्य धारा का सेवन किया जाता है जिसे कपालिक मत में अमरोली कहते हैं जो साधक नासिका द्वारा अमरी का नित्यपान करता हुआ व्रजोली करता है उसे अमरोली कहते हैं। 'शीतल मध्य धारा' का अर्थ चन्द्रमृत से है, उसे गोबर की भस्म में मिलाकर श्रेष्ठ अंगों में मलना चाहिए। निकृष्ट अंगों में न मलें। उत्तम अंगों में शिर, कपाल, आंखे, कन्धे, कण्ठ,

---

1. गो.प. प्रथम शतक, पृ. 51.

हृदय और भुजादि माने जाते हैं इससे दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है। गोरक्षपद्धति का भी यही कथन है।

शिवसंहिता में कहा गया है कि यदि दैवयोग से उत्तेजनावश बिन्दु अपने स्थान से चलायमान हो जाए और साधक बिन्दु–रज मिलन में सफल हो जाये तो यह मुद्रा अमरोली कहलाती है। इससे लिंगनाल द्वारा रज–बिन्दु को आकर्षित किया जाता है।

12. सहजोली मुद्रा :–

शिवसंहितानुसार बिन्दु चलित काम को योनि मुद्रा द्वारा अवरोध करने को सहजोली कहते हैं। इसमें यह भी कहा गया है कि मूत्रत्याग के पश्चात् साधक को बलपूर्वक वायु का आकर्षण मूत्रोन्द्रि द्वारा करना चाहिए इससे बिन्दु प्रवाह सिद्ध हो जाता है। इसका लाभ बताते हुए शिवजी कहते हैं कि सहजोली सिद्ध सौ स्त्रियों के साथ भी संभोग कर ले तो भी उसका बिन्दुक्षय नहीं होता। इस बिन्दुसिद्धि के कारण ही हे पार्वती मुझे ईशत्व की प्राप्ति हुई है।

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार सहजोली के साधक स्त्री–पुरुष संसर्ग के अनन्तर काँटों की भस्म को जल में मिलाकर अपने सर्वांग लेप करे। वज्रोली के साथ इस भस्म लेपन को ही सहजोली कहते हैं।

नारी की वज्रोली :–

सम्यक् अभ्यास के दौरान जो नारी पुरुष के बिन्दु का आकर्षण करके वज्रोली मुद्रा के द्वारा अपने रज की रक्षा करती हैं तो उसे योगिनी समझना चाहिए। उस नारी का रज किंचिद् भी नाश नहीं होता। उसके शरीर में नाद भी बिन्दुरूप हो जाता है।

13. शक्तिचालिनी मुद्रा :–

> मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
> शयिता भुजगाकारा सार्धत्रिवल्यान्विताः।।
> यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवपशुर्यथा।
> ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगं समभ्यसेत्।।[1]

---

1. घे.सं. 3.49–50.

शक्तिचालिनी का अर्थ है कि हमारे अन्दर जो रहस्यमय रूप में एक अनन्त व अखण्ड शक्ति छुपी हुई है उसका पूरे शरीर में भ्रमण करवाना। उसी को लक्षित व साध्य करने हेतु शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास बतलाया गया है। घेरण्डसंहिता के अनुसार आत्मा की शक्ति कुण्डलिनी मूलाधार में साढ़े तीन लपेटे लगाए हुए सर्पिणी के रूप में सोई हुई है। जब तक वह शरीरान्तर सोई रहती है तब तक व्यक्ति पशु के समान है। अतः जब तक उसका जागरण न हो, तब तक अभ्यास करते रहना चाहिए। जिस प्रकार कुंजी के बिना ताला नहीं खुल सकता है उसी प्रकार बिना कुण्डलिनी जागृत किए ब्रह्मरन्ध्र नहीं खुलता। अतः उसके लिए शक्तिचालन या शक्तिचालिनी मुद्रा की अभ्यास विधि इस प्रकार है–

विधि :– बिप्तेभर (बिलांद भर) चौड़ा चार अंगुल लम्बा कोमल वस्त्र नाभि पर लगाकर कटिसूत्र में बांधे। शरीर में भस्म लगाकर सिद्धासन में बैठें तथा प्राण को खींचकर अपान से युक्त करें। जब तक प्राणवायु का प्रवाह सुषुम्ना में न हो तब तक गुदा को अश्विनी मुद्रा के द्वारा संकुचन करते रहना चाहिए। इस प्रकार वायु की निरूद्धता से कुंभक द्वारा सर्परूपिणि कुण्डलिनी जाग्रत होकर मार्ग से ऊपर खड़ी हो जाती है। शक्तिचालिनी मुद्रा के अभ्यास के बिना योनिमुद्रा सिद्ध नहीं होती। यथा–

बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्ग प्रपद्यते।
शक्तोंविनाचालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति।।[1]

हठयोगप्रदीपिका में इसकी जागरण विधि के प्रति कहा गया है कि सोती हुई भुजगी की पूँछ को पकड़कर प्रबोधन करने से वह शक्ति निद्रा छोड़कर जाग जाती है। यह फणावती प्रातःकाल सायंकाल में आधे प्रहर तक सूर्य से परित परिधान से ग्रहण करके नित्य चलानी चाहिए। मूल स्थान से बिलांद भर ऊपर चार अंगुल विस्तार वाले कोमल, श्वेत व चोष्टित किए वस्त्र के समान कहा जाता है। वज्रासन में स्थित होकर दोनों पाँवों को एड़ियों के पास से हाथों द्वारा दृढ़ता से पकड़कर गुदा का प्रपीड़न करे। वज्रासन में स्थित हुआ योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भास्त्रिका कुंभक के द्वारा

---

1. घे. सं. 3.57.

उसको जागृत करे यथा–

उर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम्।।
सति वज्रासने पादौ कराभ्याम् धारयेद्दृढ़म्।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्।[1]

पूँछ पकड़कर कुण्डलिनी जागृत करने का अभिप्राय है कि प्राणवायु के निरोध द्वारा प्रताड़ित करने पर कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। इसके चालन करने के लिए नित्य प्रति प्रातः व सायंकाल डेढ़–डेढ घण्टे नित्यप्रति अभ्यास करना चाहिए।

गोरक्षपद्धति के प्रथम शतक के ग्रन्थान्तर विशेष में कुण्डलिनी के स्वरूप के प्रति बतलाया गया है कि मूलस्थान से वितस्तिमात्र ऊपर नाभि एव मेढ्र के मध्य में नवांगुल विस्तार चार अंगुल आयाम, पक्षी के अंडाकार, श्वेतरंग कोमल– वस्त्रवेष्टित जैसा कंद है।

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम्।
श्वेतं तु मृदृलं प्रोक्तं वेष्टितं वरलक्षणम्।।[2]

शक्तिचालन मे ग्रन्थांतर मत से विशेष कहा गया है कि गंगा, यमुना के बीच तपस्विनी बालरण्डा बलात्कार करके कुंडलिनी को ग्रहण कर ब्रह्माण्ड की प्राप्ति हो जाती है। योगी वज्रासन में बैठकर कुंडली को शक्तिचालिनी मुद्रा से चलायमान करे तब भस्त्रा नाम कुंभक कर कुंडलिनी शक्ति को शीघ्र प्रबोधित करे। चार घड़ी पर्यन्त शक्तिचालन का अभ्यास करना चाहिए।

शिवसंहिता में भी कुण्डलिनी का स्वरूप सर्पिणी जैसी आकृति बाला बताया गया है तथा उसके जागरण के लिए यही मुद्रा अभ्यास सर्वोत्तम कहा गया है। आधार कमल अथवा मूलाधार चक्र में जो कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है उसे बुद्धिमान साधक अपान वायु पर आरूढ़ होकर और बलपूर्वक उसे आकर्षित करता हुआ चालन करे यही शक्तिचालिनी मुद्रा है।

---

1. हठ.प्र. 3.113–114.
2. गो. प. प्र. श विशेष 1.3. (पृ.28.).

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम्।

अपानवायुनारूह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान्।।[1]

अतः सभी श्रेष्ठग्रन्थ कुण्डलिनी के आकार, रंग व उसकी जागृति के लिए शक्तिचालिनी मुद्रा के अभ्यास में एकमत हैं।

लाभ– शक्तिचालिनी मुद्रा के अभ्यास से साधक का शरीर निश्चय ही सिद्ध व अमर हो जाता है। इसके द्वारा कुंडली सुषुम्ना में प्रवेश कर ऊपर की ओर उठ जाती है। जो कुंडली को चलाकर भस्त्रा कुंभक का अभ्यास करता है उसे यम का भय नहीं रहता। सभी रोगों का नाश होकर अष्ट–सिद्धियाँ प्राप्त होती है। षट्चक्र भेदन में विशेष योगदान देती है।

हठयोगप्रदीपिकानुसार विधिपूर्वक कुण्डलिनी चालन का अभ्यास करने वाला योगी एक मण्डल के समय में ही सिद्धि का दर्शन कर लेता है परन्तु उसके लिए भस्त्रा कुंभक आवश्यक है। शरीरस्थ बहत्तर हजार नाड़ियां मल से भरी पड़ी है, उनका शोधन शक्तिचालिनी मुद्रा से संभव है।

अब जिन मुद्राओं का वर्णन किया जा रहा है उनका वर्णन हठयोग ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। केवल महर्षि घेरण्ड ने ही उन पर प्रकाश डाला है या कुछेक उपनिषदों में उनकी व्याख्या की गई है। इन मुद्राओं का कोई विशेष प्रसंग भक्तिसागर में भी उपलब्ध नहीं है। महर्षि घेरण्ड का मानना है कि योग साधक को इनका अभ्यास सरल व रोमांचित करने वाला है। अतः इनसे साधक का विश्वास जाग्रत होता है तथा वह साधना मार्ग का निर्विघ्न रूप से पालन करता हुआ लक्ष्य की ओर निरन्तर अग्रसर रहता है।

14 तड़ागी मुद्रा :–

विधि :– नहा–धोकर शुद्ध व पवित्र मन से सर्वप्रथम ध्यान लगाए व प्राणायाम साधना से श्वास को सामान्य बनाएं। तदुपरान्त दोनों टांगों को फैलाकर पश्चिमोत्तान आसन करे। तत्पश्चात् उड्डीयान बन्ध लगाएं अर्थात् उदर को रीढ़ की हड्डी की ओर

---

1. शिव सं. 4.105.

धंसा दें। [illegible] ट न प

टाँगों को मोड़कर भी करते हैं और वे तालाब के पानी की तरंगों जैसी दिखने वाली मुद्रा बनाने के लिए अग्निसार क्रिया करते हैं।

लाभ :– इस क्रिया को करने से रुद्रग्रन्थि शांत रहती है। पेट की जलन को दूर करने के लिए तड़ागी मुद्रा लाभ प्रदान करती है। उदर की माँसपेशिया लचीली व नर्म रहती है। इसके अभ्यास से मणिपूर चक्र में कंपन पैदा होती है जो इसकी जागृति के लिए लाभदायक है।

15. माण्डुकी मुद्रा

विधि– यह मुद्रा मेंढक द्वारा अमृतपान करते रहने से प्रेरित होकर ली है। मुख को बन्द कर सर्वप्रथम जिह्वा के उल्टाकर तालु से लगाकर तब तक घुमाते रहना चाहिए जब तक सहस्त्रार से रस न टपकने लग पड़े। जब अमृत गिरने लग पड़े तो उसका पान करना आवश्यक है। फिर वापिस आकर पुनः करें। जिह्वा को दाएँ–बाएं, वाएं–दाएं व ऊपर–नीचे घुमाने से अमृतरस जल्दी टपकने लगता है। यह मुद्रा अति सरल व आसान है।

लाभ :– इसके अभ्यास से रसोत्पादन अधिक होता है जिसे सुधा या अमृत कहते हैं। रसपान से साधक सिद्ध हो जाता है। यह अमृत स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकार है व शरीर को बल व स्फूर्ति प्रदान करता है। इसके अभ्यास से शरीर की कठोरता व चपलता समाप्त हो जाती है। केश सफेद नहीं होते तथा लावण्यता की प्राप्ति हो जाती है। स्थायी यौवन की प्राप्ति होती है। शरीर पर झुर्रियां पड़नी बन्द हो जाती है। साधक में बिनम्रता स्वंयेव आ जाती है। जीभ तर रहती है व ललाट ग्रन्थियां निष्क्रिय नहीं होती हैं। इसका अभ्यास बच्चों व बूढ़ों के लिए विशेष रूप से लाभदायक है।

16 शाम्भवी मुद्रा

शम्भू की तरह आंखों की मुद्रा बनाना शाम्भवी मुद्रा है।

विधि :– किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठकर इसका अभ्यास किया जाता है। दृष्टि

को दोनों भौहों में स्थिर कर एकाग्र मन से चिन्तित करता हुआ परमात्मा का दर्शन करे, यह शांभवी मुद्रा कहलाती है। प्रारम्भ में इस मुद्रा में तब तक लीन रहना चाहिए जब तक कि आंखों में आँसू न आ जाएँ। इस मुद्रा को अति गोपनीय माना गया है तथा यह मुद्रा कुल वधु के समान छिपी हुई है यथा–

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
इयंतु शाम्भवीमुद्रा गुप्ताकुलवधूरिव।।[1]

इसका अभ्यास करने वाला साधक स्वयं आदिनाथ नारायण और जगत्स्त्रष्टा ब्रह्मा ही है। इसे सत्य कथन समझो कि शाम्भवी मुद्रा का ज्ञाता साक्षात् ब्रह्मरूप ही होता है–

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः।
शाम्भवी यो विजानाति स च ब्रह्म न चान्यथा।।[2]

शांभवी मुद्रा में जब दृष्टि भ्रूमध्य टिकी रहती है तो आँखें आधी बन्द व आधी खुली रहती हैं जिस प्रकार भगवान् शिव के नेत्र रहते हैं या फिर गुरू नानकदेव के अर्ध खुले नेत्रों की तरह।

लाभ :– महर्षि घेरण्ड शाम्भवी मुद्रा को अति गोपनीय मानते हैं। इससे नेत्ररोग समाप्त हो जाते हैं। सिर माथे व कनपटियों की दर्द समाप्त हो जाती है। इसका अभ्यास करने के बाद जब हम प्रकृति का अवलोकन करते हैं तो वह हमें ताजी व ज्ञानमयी शक्ति दिखती है। इससे मन, चित्त व शरीर शान्त हो जाते हैं। कुछ समय का अभ्यास ही मस्तिष्क को अध्यात्म–चिन्तन में मग्न होने में समर्थ बना देता है।

पंचधारणा

धारण का अर्थ होता है ग्रहण करने या देखने की शक्ति। पंचधारणा का तात्पर्य है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान। यह साधना ऐसी है जो साधक को सशरीर स्वर्ग में आने–जाने में प्रवीण बना देती है। योगतत्वोपनिषद् में कहा है कि जिसका चित्त वायुसहित सुषुम्ना में प्रवेश हो जाता है

---

1. घे.सं. 3.65.
2. वही, 4.67.

उसके लिए पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंचमहाभूतरूपी देवताओं की धारणा हो जाती है। अतः पंचधारणा के नाम है पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, आग्नेयीधारणा, वायवीय धारणा एवं आकाशी धारणा। महर्षि घेरण्ड ने इन पर प्रकाश डाला है जिसे यहाँ संक्षिप्त रूप में वर्णित किया जा रहा है। महर्षि घेरण्ड ने इन तत्वों की साधना के लिए इनका रंग, आकार बीजमंत्र और देवता आदि पर ध्यानस्थ होकर इनकी सिद्धि के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।

17 पार्थिवी धारणा :–

पृथ्वी तत्व की सिद्धि–शुद्धि के लिए इसका अभ्यास किया जाता है।

विधि :– पृथ्वी तत्व का वर्ण हरताल के समान बीज 'लं' चौकोर आकार और ब्रह्म देवता हैं। इसको योगबल से प्रकट कर हृदय में धारण करें तथा पाँच घड़ी पर्यन्त प्राण का निरोध करें। इस धारणा को दो घण्टे तक करना चाहिए।

लाभ :– पृथ्वी तत्व पर विजय पाई जाती है व इससे सम्बन्धित मृत्युभय नहीं रहता है।

18 आम्भसीधारणा

यह मुद्रा जल तत्व से सम्बन्धित होने के कारण आम्भसीधारणा कहलाती है।

विधि :– शंख, चन्द्र या कुन्द के समान शुभ्र वर्ण का जल होता है। इसका बीज वकार व देवता विष्णु है। योगबल से इसे हृदय में प्रकट करें और एकाग्रचित हो पाँच घड़ी तक कुंभक द्वारा प्राण का धारण करे। इसका अभ्यास किसी भी ध्यानात्मकासन में किया जा सकता है।

लाभ :– इसका ज्ञाता गहरे पानी में भी गिरकर मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है तथा जलतत्व पर विजय पाई जा सकती है। साधक हमेशा विनम्र व सहजभाव वाला बना रहता है।

19 आग्नेयीधारणा

इसका अभ्यास अग्नितत्व पर विजय पाने से है।

विधि :– अग्नि नाभि में है। इसका वर्ण इन्द्रगोप कीट के समान लाल है। इसका बीज रकार आकृति त्रिकोण व देवता रुद्र हैं। इसे योगबल से एकाग्रचित होकर पाँच घड़ी कुंभक द्वारा प्राण धारण करे। यह आग्नेयी धारणा कहलाती है।

लाभ :– साधक को इसके अभ्यास से किसी प्रकार की हानि नहीं होती। यदि साधक अत्यन्त प्रज्वलित अग्नि में भी जाकर गिर पड़े तो इस मुद्रा के प्रभाव से मर नहीं सकता। इसे वैश्वानरी धारणा के नाम से भी जाना जाता है। साधक अग्नि सम्बन्धी देह विकारों से पीड़ित नहीं होता है।

19. वायवीय धारणा

विधि :– वायु का वर्ण अन्जन और धुएँ के समान काला होता है। इसका बीज मंत्र यकार और देवता ईश्वर है। यह तत्व सत्वगुण वाला है अतः इसकी साधना बडे ही विनम्रभाव से किसी ऐसे आसन में करनी चाहिए जिसमें साधक आनन्दानुभूति का अनुभव करे। योगबल से इसका अबिर्भाव होने पर एकाग्रचित से कुंभक द्वारा पाँच घड़ी तक प्राणवायु का धारण करे व 'य' अक्षर के सहित सर्वज्ञ ईश्वर का ध्यान करे।

लाभ :– इसके अभ्यास से साधक आकाश–गमन की शक्ति प्राप्त कर लेता है व देहान्तर वायु प्रकोपों से सुरक्षित रहता है। बर्फीली हवाएं भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं। साधक चर्म रोगों से बचा रहता है।

21. आकाशीधारणा

इससे आकाश तत्व की सिद्धि होती है तथा साधक महाकाश में लीन हो जाता है।

विधि :– आकाश तत्व का वर्ण समुद्र के शुद्ध जल के समान है। इसके देवता सदाशिव व बीज मन्त्र हकार है। प्राणवायु को रोककर पाँच घड़ी तक कुंभक करने से यह नभोधारणा मुद्रा सिद्ध हो जाती है। ध्यान भ्रूमध्य रहना चाहिए व श्वास पर सम्पूर्ण नियंत्रण।

लाभ :– इससे साधक दैविक प्रकोपों व प्राकृतिक आपदाओं के घटित होने पर भी बिना किसी हानि या कष्ट से अपनी साधना में लीन रहता है। इसकी साधना से आकाश गमन की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

योग तत्वोपनिषद् में इनका वर्णन इस प्रकार मिलता है–

क्र.	नाम तत्व व स्थान	रंग	आकार	देवता	बीजमन्त्र
1.	पृथ्वी–हृदय	पीला	चतुर्कोणीय	ब्रह्मा	लं
2.	जल–जानु से गुदास्थान	सफेद	अर्धचन्द्र	नारायण	बं
3.	अग्नि–नाभि से हृदय तक	लाल	त्रिकोणीय	रुद्र	रं
4.	वायु–हृदय से भृकुटियों तक	कृष्णवर्ण	षट्कोणीय	ईश्वर	यं
5.	आकाश–भृकुटि से मूर्धान्त	धूम्र	ब्योभवृत्ताकार		हं

यो तत्त्वो.उ. 1

घेरण्ड ने इस प्रकार चित्रण किया है–

क्र.	नाम धारण	रंग	आकार	बीजमन्त्र	देवता
1.	पार्थिवी	हरताल	चौकोर	लं	ब्रह्मा
2.	आम्भसी	शुभ्र	अर्धचन्द्र	बं	विष्णु
3.	आग्नेयी	लाल	त्रिकोण	रं	रुद्र
4.	वायवीय	धुएं जैसा काला	षट्कोणीय	यं	ईश्वर
5.	आकाशी	समुद्र जल के समान	व्योम–वृत्ताकार	हं	सदाशिव

घे.सं.2

---

1. योग तत्वो.उ. 1
2. घे.सं. 2

स्वामी चरणदास ने भक्तिसागर में इन पंचतलों की साधना के धारणा प्रकरण में वर्णित किया है जो इस प्रकार है–[1]

क्र.	नाम धारण	रंग	आकार	बीजमन्त्र	देवता
1.	पृथ्वी–हृदय	पीला	चतुर्कोणीय	ब्रह्मा	लकार
2.	जल–हृदय से कंठ तक	सफेद	अर्धचन्द्र	विष्णु	वकार
3.	अग्नि–कंठ से तालु तक	लाल	त्रिकोणीय	रुद्र	रकार
4.	वायु–भौंहे	बादलों की तरह	षट्कोणीय	ईश्वर	मकार
5.	आकाश तत्व– श्याम	अण्डा	कार ब्रह्मा		हकार

भक्तिसागर

बीज मन्त्रों के स्थान पर यहाँ ध्वनियों का प्रावधान है।

लेकिन उपरोक्त विवरण से सिद्ध होता है कि विभिन्न ग्रन्थ पंचतत्वों की साधना में लगभग एक मत हैं।

महर्षि घेरण्ड के ग्रन्थ में धारणा प्रकरण शायद इसलिए नहीं रखा है क्योंकि पंचधारणा मुद्रा में धारणा सिद्धि का मार्ग बतला दिया गया है। इसलिए घेरण्डसंहिता का पक्ष सैधांतिक है।

22. अश्विनी मुद्रा –

सिद्ध या पद्मासन में बैठकर योनिमण्डल को अश्व के सदृश पुनः पुनः सिकोड़ना अश्विनीमुद्रा कहलाती है। महर्षि घेरण्ड ने इसकी विधि व्याख्या इस प्रकार है।

विधि – आकुंचयेद्गुदाद्वारं प्रकाशयेपुनः पुनः।
सा भवेदश्विनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।।[2]

अर्थात् गुदाद्वार का बार–बार संकोच अथवा प्रसार करना। यही अश्विनी मुद्रा है।

---

1. भ.सा. 5.137–139
2. घे. सं. 3.82.

अश्वशक्ति से पूरी दुनियां के विद्युत उपकरणों की क्षमता आँकी गई है। अतः व्यक्ति की कुण्डलिनी शक्ति करोड़ों अश्वों से भी बढ़कर है और उस महान् शक्ति को जागृत करने के लिए अश्विनीमुद्रा का अभ्यास बतलाया गया है।

लाभ :—

अश्विनी परमामुद्रा गुह्यरोगविनशिनी।[1]

यह मुद्रा गुह्य रोगों को नष्ट करने वाली, शारीरिक शक्ति को बढ़ाने वाली व अकालमृत्यु को हरने वाली है। यह मुद्रा प्राण के उत्थान व कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने में सहायक होती है। अपानवायु को शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओं को मजबूत करती है जिससे यौनांगों के रोग मिट जाते हैं। गुदाद्वार की सूक्ष्म से सूक्ष्म छल्लियाँ लचीली बनती है जिससे वबासीर आदि रोग दूर हो जाते हैं। मूलाधार व स्वाधिष्ठान चक्रों को जागृत करने में सक्ष्म हैं। मूल व मलत्याग रोगों का निवारण होता है।

23. पाशिनी मुद्रा

विधि :— कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवदृढ़बन्धनम्।

सैव स्यात्पाशिनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।[2]

पृथ्वी पर बैठकर पाँवों को कण्ठ के पीछे गर्दन पर व्युत्तक्रम से एक दूसरे के ऊपर पाश के समान दृढ़ता से बांध लें। यह शक्ति की जागृत करने वाली पाशिनीमुद्रा है।

लाभ :— यह मुद्रा पूरी जंघाओं के जोड़ों को लचीला बनाकर गर्दन की माँस पेशी को मजबूत बनाती है। यह मुद्रा बल–पुष्टि वर्धक है।

24 काकीमुद्रा

विधि :— मुख को कौए की चोंच के समान करके शनैः शनैः वायुपान करें। इसे बैठकर या खड़े होकर किया जा सकता है। नासाओं को अगूठों से बन्द करके होठों को गोल करके जिह्वा से श्वास भरना व कुछ देर रोकने के पश्चात् नासाओं से निकाल देना।

---

1. घे. सं. 3.83.
2. वही, 3.84.

विधि :– इससे सम्पूर्ण मुखमण्डल दैदीप्यमान हो जाता है व रोगमुक्त भी। मुख के अन्दर के रोग व दुर्गंधिादि समाप्त हो जाती है। इससे पाचन शक्ति बढ़ती है।

25 मातंगिनीमुद्रा

विधि :– कण्ठमग्नेजलेस्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्

मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्।।[1]

मातंगिनी मुद्रा अर्थात् गज की तरह नासाओं से पानी पीना व कंठ में उतारते हुए मुखद्वार से निकालना मातंगिनी मुद्रा कही गई है।

उचित विधि के लिए नदी या तालाब में कण्ठपर्यन्त खड़े होकर नासाओं से पानी खींचकर मुंह से निकालना व मुंह से खींचकर नासाओं से निकालना। इसे खाली पेट व शान्तभाव से करना चाहिए।

लाभ :– इससे नासिका सम्बन्धी रोग मिट जाते है तथा साधक हाथी के समान बलशाली हो जाता है। जरा–मरण की शंकाओं से बचकर साधक दीर्घायु होता है। इस मुद्रा को एकान्त में करना चाहिए।

26. भुजंगिनीमुद्रा

विधि :– मुख को फैलाकर कण्ठ से वायु का पान करे तथा कण्ठ से ही रेचन करें। और भी उचित व लाभदायक होगा अगर इसे भुंजगासन में किया जाए। तत्पश्चात् मकरासन में आराम करना चाहिए। यह भुंजगनीमुद्रा है।

लाभ : - जो वायुपान मुख खोलकर इस मुद्रा में करता है, उसकी जिह्वा व कण्ठ में प्राण घूमता है व कण्ठरोगों से मुक्ति पाता है। विशुद्ध चक्र के जागरण में सहायक है। हृदय व फेफड़ों की कार्य–क्षमता में दिनो–दिन सुधार आता है। कण्ठ के स्नायु लचीले बनते हैं जैसे कि साँप के होते हैं। शरीर में अभूतपूर्व शक्ति का अनुभव होता है।

उन्मनीमुद्रा

किसी भी आसन में बैठकर आधी खुली हुई व आधी बन्द आँखों से नासिका के अग्रभाग पर टकटकी लगाकर देखते रहना उन्मनी मुद्रा कहलाती है। इससे मन एकाग्र

---

1. घे.सं. 3.88.

होता है व चित्त शान्त। दूरदृष्टि की सिद्धि प्राप्त होती है। आँखों में तेज व आकर्षण आता है।

योगमुद्रा

वज्रासन में बैठकर हाथों को पीठ की निचले हिस्से पर रखें। ढीली मुठि्ठयां वन्द करें व एक कलाई को दूसरे हाथ से पकड़े। श्वास भरकर छाती का ऊर्ध्वाकर्षण करें व श्वास को निकालते हुए धीरे–धीरे माथे को घुटनों के पास पृथ्वी पर रखें। इस स्थिति में श्वास सामान्य रखें। तदुपरान्त श्वास को भरते हुए पूर्ववत् स्थिति में आ जाएं। इसे पद्मासन या सिद्धासन में भी कर सकते हैं।

इससे उदर विकार गैस, एसेडिटी, वदहजमी आदि दूर हो जाते है। श्वास रोगियों को राहत पहुँचाती है। मासिक धर्म व गर्भवती महिलाओं को इसे नहीं करना चाहिए।

उक्त मुद्राओं में सभी का एक पक्ष बड़ा ही सामान्य है कि उनका अभ्यास मृत्यु को हर लेता है, शक्ति का जागरण होता है, आकाश गमन की सिद्धि प्राप्त होती है व बिन्दुजय प्राप्ति होती है।

अब उन चार मुद्राओं का वर्णन करना उपयोगी है जो भक्तिसागर में स्वामी चरणदास द्वारा कही गई हैं जिसके प्रति अभी चर्चा नहीं हुई केवल खेचरी मुद्रा का वर्णन अन्य ग्रन्थकारों के पक्ष की तुलना करते हुए कर दिया गया है। भक्तिसागर में षट्–कर्म हठयोग वर्णन में खेचरीमुद्रा के पश्चात् दूसरे क्रम पर भूचरीमुद्रा आती है।

भूचरीमुद्रा

विधि :– दूजी मुद्रा भूचरी, नासा जाको वास।
प्राण अपान जुदी जुदी, एक करे चरणदास।।
जितकी तत रख प्राण को, वा घर लाय अपान।
ताहि मिलावै युक्तिसूं, करि करि संयम ध्यान।।[1]

दूसरी मुद्रा भूचरी है जिसका निवास स्थान नाक में है। प्राण व अपान जो अलग अलग

---

1. भ.सा. 5.21–22.

वायु हैं उन्हें एक करती है। प्राण जहाँ है उसे वहीं रखकर, उस स्थान पर अपान को लाकर, उस पर बड़ी युक्ति से संयम करके नियम सहित पालन करें। जब प्राणवायु पर नियत्रंण हो जाता है तो उसकी चंचलता समाप्त हो जाती है। तब नियन्त्रित प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र की ओर उठने लगता है। इसको करने की विधि का निर्देष देते हुए ग्रन्थाकार लिखता है कि सर्वप्रथम मूलबन्ध करे, पैर की एड़ी को गुदा में लगावें तथा वायु व मन को अपने वश में करें। यही भूचरीमुद्रा है अर्थात् प्राण व अपान को संयुक्त करने की विधि।

लाभ :— इससे अपान वायु से पैदा होने वाले विकार रूक जाते हैं व स्वास्थ्य लाभ होता है। ब्रह्मरन्ध्र का मार्ग खुल जाता है। नासाएं इसका वास होने के कारण इसकी साधना से अनिद्रादि रोग मिट जाते हैं।

चाँचरी मुद्रा :—

विधि :— तीजी मुद्रा चाँचरी, जाको नैनन वास।
नासा आगे दृष्टि—कूँ, राखै मन धर आस।।[1]

तीसरी मुद्रा का नाम चाँचरी मुद्रा है जो नेत्रों में निवास निवास करती है। नासाग्र दृष्टि करनी चाहिए तथा मन में सफलता की आशा रखनी चाहिए।

अपनी नासा के चार अंगुल आगे चित्त को एकाग्र करें। इससे पाँचों तत्व खुल जाते है अर्थात् उनका रहस्य सामने आ जाता है तथा मन व पवन स्थिर हो जाते हैं तत्पश्चात् नासाग्र स्थिर दृष्टि कर उसका टकटकी लगाकर अवलोकन करें। यही चाँचरी मुद्रा है। कई विद्वान् इसे प्राण— धारणा मुद्रा भी मानते हैं। भ्रूमध्य दृष्टि में भी एकाग्रचित होना इसी मुद्रा का प्रकार है।

लाभ :— आज्ञा चक्र के जागरण में सहायक है। जब दृष्टि भ्रूमध्य टिक जाती है तो चित्त व चेतनाशक्ति दोनों एकाकार हो जाती हैं तथा लय की उत्पत्ति होती है व ज्ञानमार्ग में आने वाली शंकाएं मिट जाती हैं।

---

1. भ.सा. 5,26.

अगोचरीमुद्रा :–

चौथी मुद्रा अगोचरी है। इसका मूलस्थान कानों में होता है। चरणदास ने इसको करने की विधि नहीं बताई है परन्तु अनाहतनाद में लीन होने का पक्ष लिया है। इसलिए स्पष्ट है कि साधक एकान्त स्थान में बैठकर योनिमुद्रा द्वारा इसका अभ्यास करे जिसकी विधि पहले ही कही जा चुकी है।

लाभ :– ज्ञान सुरति दोऊ एक है पलट अगोचर जाय।

शब्द अनाहद में रतैं, मन इन्द्री थिर पाय।।[1]

इसको करने से कर्णरोग एवं विकार दूर हो जाते हैं। इसको करने से योगी को सुखलाभ होता है। ज्ञान व स्मृति दोनों एक होकर अदृश्य में अदृष्ट हो जाती हैं तथा मन व इन्द्रियाँ शान्त व स्थिर होकर अनाहतशब्द में लीन हो जाती हैं।

उन्मनी मुद्रा :–

पाँचवी मुद्रा उन्मनी है जिसका वास दसवें स्थान ब्रह्मरन्ध्र में है। वहाँ साधक सिद्ध होकर समाधि अवस्था को प्राप्त कर लेता है। सभी इच्छाएं क्षीण हो जाती हैं तथा काल का कोई भय नहीं रहता व केवल आनन्द ही आनन्द रह जाता है।

आनन्द ही आनन्द जहाँ, तहाँ न काल क्लेश।

तीनौ गुन नहिं पाइये, ह्यां नहीं मायालेश।।[2]

न यहाँ कोई तीनों गुणों का स्थान है, न कोई माया है न क्लेश। इसको साध लेने से जीवात्मा, परमात्मा हो जाता है, ध्याता, ध्यान व ध्येय एक हो जाते हैं तथा तब अन्य कोई क्रिया नहीं रह जाती है।

इस प्रकार योगमार्ग में सिद्धि प्राप्त करने के लिए जितनी आवश्यक मुद्राएं है उनकी चर्चा की गई है। आत्मदर्शन व आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करने के लिए मुद्राओं का अन्य यौगिक साधनों के साथ अटूट सम्बन्ध है। यह सहज व सरल है व अधिक लाभ ग्रहण करने हेतु गुरु निर्देष व कृपा आवश्यक है जैसा कि विभिन्न ग्रन्थों का मानना है।

---

1 भ.सां. 5.27.

2 भ.सा. 5.29.

कुच्छेक हस्तमुद्राएँ भी हैं जिनके अभ्यास से पंचतत्व सिद्धि प्राप्त की जाती है।

अन्त में इतना ही कहना उचित होगा कि मानव शरीर अनन्त रहस्यों से भरा पड़ा है। शरीर की एक मुद्रामयी भाषा है जिसे करने से शारीरिक स्वास्थ्य लाभों में सहयोग प्राप्त होता है। शरीर जो पंचतत्वों से बना है इसमें जब भी असंतुलन पैदा होता है, तब रोग पैदा हो जाते हैं। यदि हम इनका संतुलन करना सीख जाएँ तो बीमार हो ही नहीं सकते अगर हो भी जाएं तो मुद्राओं के अभ्यास से पंचतत्वों की संतुलता पुनः लौट आती है व हम मनोकायिक रोगों से छुटकारा पाकर आत्मानुभूति प्राप्त कर लेते हैं।

यमनियमानां उपयोगः। यमनियमानां अभ्यासो नास्ति चेत्, तादृशस्तु योगेऽधिकारी न भवति, समाहितचित्तोऽपि न भवति। तदर्थं विद्यमानानां गुणानां सम्पादनाय एव यमनियमानां अभ्यासः। अत्रैव आहारविहाराचारविचाराश्च अन्तर्गता भवन्ति इति कारणात् तेषां परिचयोऽपि दीयते।

बन्धः :

बन्धशब्दस्य धारणम् इत्यर्थः। योगपरम्परायां बन्धत्रयमेव वर्तते। तेषां अभ्यासक्रमः गुरुपरम्पराद्वारैव ज्ञातुं शक्यते। हठयोगप्रदीपिकायां घेरण्डसंहितायां च बन्धानां विवरणं लभ्यते। तथैव प्राचीनतान्त्रिकग्रन्थेषु विद्यामनानां बन्धानां , तथा मुद्राणाञ्च प्रयोगे व्यत्यासो दृश्यते। योगाभ्यासे बन्धाः केवलं प्राणायामाभ्यासार्थं वर्तन्ते। तथापि योगग्रन्थेषु बन्धाः त्रय एव। जालन्धरबन्धः, उड्याणबन्धः, मूलबन्धश्चेति। अन्य एकश्चतुर्थः महाबन्धस्तु मुद्रारूपेण अभ्यासः। प्राणायामाभ्यासेऽनावश्यकः। बन्धशब्दस्य 'धारणम्' इति अर्थे स्वीकृते सति वायोः धारणम् इत्यर्थः। यदा प्राणायामाभ्यासः क्रियते, तदा शरीरमध्ये लिङ्गस्थानात् कण्ठदेशपर्यन्तं स्वप्रयत्नेनैव वायुं यथास्थाने बद्धं कुर्यात्। अन्यथा प्राणायामस्य। फलं न लभ्येत। एवं निगदितस्थानेषु वायोरवरोधनार्थं बन्धाः विद्यन्ते। तेन प्राणशक्तेः सञ्चयनं कृत्वा सुषुम्नानाड्यां कुण्डलिनीशक्तेः प्रवहणं कर्तुं शक्नुयात्। अन्यथा न। एवं विद्यमानानां बन्धत्रयाणां विवेचनं क्रियते।

मूलबन्धलक्षणम्:

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्।

असानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते॥ इत्युक्ते पादस्य पार्ष्णिभागेन जननेन्द्रियस्य मूलभागं सम्यक् धृत्वा उपविशेत्। मलद्वारसङ्कोचनं कृत्वा अधोभागं सम्पूर्णतया आकुञ्चयेत्।

Indological Truths

तदानीं मूलबन्धः इत्यभिधीयते। किमर्थमयं मूलबन्धः इत्युक्ते अधस्तात् व्याख्यातमस्ति -

'अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।

आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं तु योगिनः।' इति। अपानवायुः सदा शरीरे अधस्तात् प्रवहति। तेन शरीरे निश्शक्तिर्भवति। तस्मात् तस्य ऊर्ध्वगमनं कारयितुं अनेन अभ्यासेन शक्यते। अत एव मूलबन्धः इत्यर्थः। मूलमित्युक्ते सामान्यार्थे आरम्भस्थानमित्यर्थः। मूलाधारचक्रस्य स्थानं 'मूलं' इति शब्देन साधारणतया व्यवह्रियते। परन्तु योगिनां मते नाभेरधः योनिभागे मांसपिण्डानां दौर्बल्यकरणार्थं विद्यमानो दुर्वायुः इत्यर्थः।

अभ्यासक्रमः:

गुदं पार्ष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।

वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः। अत्र सामान्यतया अभ्यासः पद्मासने उपविश्य भवति। विशेषस्तु मूलबन्धासने उपवेष्टव्यमिति। मूलबन्धासनमित्युक्ते उभयोः पार्ष्ण्योः उपरि गुदं निक्षिप्य जानुद्वयोः स्पर्शः भूमौ यथा भवति, तथा निक्षेपणम्। एवं रीत्या उपविश्यते चेत् मूलबन्धासनम्। अत्रैव पार्ष्णिभागेन सम्यक् योजयित्वा पायुभागं पुनः पुनः आकुञ्चितं कुर्यात्। तदानीं अपानो वायुः ऊर्ध्वगतो भवति।

अभ्यासफलम्:

'प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।

गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतौ नात्र संशयः।' अपानवायुः प्राणवायुश्च ऐक्यं गच्छतः। नादस्तथा बिन्दुश्च लीनौ भवतः। अनेन हृदये विद्यमानोऽनाहतः शब्दः श्रूयते।

Indological Truths

अन्ते योगसिद्धिं, तन्नाम समाधिं च स प्राप्नोति।

विशेषफलम्ः

'अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।'

सततं मूलबन्धस्याभ्यासेन प्राणापानौ ऐक्यं यातः। तदानीं जठराग्निर्वर्धते। मनः प्रशान्तं भवति। शरीरे कश्मलस्य क्षीणता भवति। तेन मूत्रपुरीषादयोऽपि क्षीयन्ते। इत्युक्ते अधुनातने काले विद्यमानान् प्रमेहादीन् तथा जननगन्थिदोषान् दूरीकरोति इति सामान्यतया वक्तव्यं भवति। एतेन वार्धक्ये वर्तमानोऽपि यौवनं अनुभवति शरीरे, मनसि च। ततोऽपि अभ्यासो दृढो भवति चेत् कुण्डलिनीप्रबोधोऽपि जायते। तदानीं सः स्थिरतां व्रजति। तस्मादेव योगाभ्यासे अवश्यं मूलबन्धः कार्य इति योगिनां मतम्।

उड्डीयानबन्धः:

सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इति उड्डीयानम्। उत्पूर्वाड्डीङविहायसा गतावित्यस्मात् करणे ल्युट्। इत्युक्ते अस्माकं शरीरे यस्य भागस्य बन्धनेन जीवनाधारभूतं प्राणः मेरुदण्डे सूक्ष्मतन्तुवत् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं व्याप्य विद्यमानायां सुषुम्नायां सञ्चरति, तेनैव उड्डीयानबन्धः इति मत्स्येन्द्रादियोगिभिः कथितं यथा,

'बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।

तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिस्समुदाहृतः॥' इति।

Indological Truths

उड्डीयानबन्धस्य लक्षणम्:

'उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं समाचरेत्।

ऊड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।' उदरभागं नाभेरूर्ध्वं अधस्तात् उपरिष्ठादपि च इत्युक्ते सम्पूर्णं उदरभागं मेरुपृष्ठे नियोजयेत् यथा तथा आकर्षणं कुर्यात्। परन्तु किञ्चित् ऊर्ध्वतां व्रजेत्। तदानीं तदुड्डीयानं भवति। परन्तु एष अभ्यासो गुरुमुखेनाध्येयः। अत्र उत्कटासने स्थित्वा रेचकं कृत्वा उपर्युक्तवत् आकुञ्चनं करणीयम्। तस्यां स्थितौ किञ्चित्कालपर्यन्तं स्थातव्यम्। एवं अभ्यासेन सः मृत्युमपि जेतुं शक्नोति। यथा सिंहः मातङ्गं हन्ति, तथा। परन्तु अभ्यासार्थं उत्तमरीत्या रेचकाभ्यासः दृढः कार्यः। तेन अभ्यासः सुलभो भवेत्।

अभ्यासफलम्:

'उड्डियाणं तु सहजं गुरुणा कथितं तथा।

अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते।'

प्रयत्नेन विनाऽपि सुलभतया उड्डीयणात्मको बन्धः कार्यः। अभ्यासस्तु गुरुमुखेनैव ज्ञेयः न त्वन्यथा। एवंरीत्या ज्ञात्वा यः सदा अभ्यासं करोति, सः वृद्धोऽपि तरुणवत् शक्तिमान् भवति। इत्युक्ते शरीरेन्द्रियाणां तथा जाठराग्नेश्च शक्तिः, मानसिकी शक्तिश्च यूनो यथा तथा भवति इत्यर्थः। तथैव तस्य सतताभ्यासेन अधिको लाभः कथं भवति इति अत्र वदति यथा -

'नाभेरूर्ध्वमधश्छापि तानं कुर्यात् प्रयत्नतः।

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः॥' इति। उड्डीयानबन्धस्य अभ्यासकाले

Indological Truths

नाभेः ऊर्ध्वं अधस्ताच्च सङ्कोचनं कुर्यात्। तदपि आरम्भकाले प्रयत्नपूर्वकम्। अनन्तरं सहजतया, इत्युक्ते अल्पेन प्रयत्नेन, कुर्यात्। एवं षण्मासाभ्यासेन स अभ्यासी मृत्युमपि जयति। अत्र नाभेरूर्ध्वं अधस्ताच्च सङ्कोचनेन उदरभागः सम्पूर्णतया मेरुपृष्ठपर्यन्तं नयेत् इत्यर्थः। तदानीमेव प्राणशक्तेः चलनं सुषुम्नया नाड्या भवति। तेन जीवन्मुक्तो भवति। तथा मृत्युं जयति इत्यर्थः।

जालन्धरबन्धलक्षणम्ः

'कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।

बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः।'

अन्यबन्धेषु यथोक्तं तथा विना प्रयत्नेन कार्यः अयं बन्धः। तदर्थं पद्मासने उपविश्य पूरकं कृत्वा रेचकात् पूर्वं अस्य बन्धस्य अभ्यासः। तदानीं कण्ठं आकुञ्च्य कण्ठमूले (हृदये) चिबुकं दृढं धारयेत्। एतदेव जालन्धरबन्ध इति संज्ञारूपेण उक्तमस्ति। अस्याभ्यासेन जरामृत्युः विनाशं याति। तत् कथं इति अधस्तात् विवृतं वर्तते।

बध्नाति हि सिराजालमधोगामि नभोजलम्।

ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशकः।

अस्य जालन्धरबन्धस्य अभ्यासेन शरीरे विद्यमानचन्द्रमण्डलात् अधोगामि नभोजलं सिराजाले बध्नाति। तेन तस्य रक्षणं भवति। तस्मात् कण्ठस्थाने यानि दुःखानि आयान्ति, तानि दूरीकरोति इत्यर्थः। कण्ठे तावत् दुःखानि श्वासप्रश्वासयोः विषये भवन्ति। तानि मरणे समाप्तं भवति। तस्मादेव जरामृत्युविनाशकः इति उक्तम्। अत्र जरा, मृत्युः, इत्यादिविषयाः मानवस्य आयुर्विषये विद्यमानानि प्रमाणानि। आयुःक्षयः इत्युक्ते अत्र योगपद्धत्यां तु नभोजलस्य ह्रासो भवति। स

Indological Truths

तु सर्वदा चन्द्रमण्डलात् सूर्यमण्डलं प्रति स्रवति। तस्य रक्षणं आयोः रक्षणमिति मत्वा तस्य रक्षणाय प्राधान्यं अत्र वर्तते। अस्य बलाबलेन ज्ञापकशक्तिरपि व्यत्यस्ता भवति। रक्षणेन स्मृतिर्वर्धते।

विशेषफलम्:

'जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे।

न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति।' जालन्धरं बन्धं समीचीनतया यः अभ्यस्यति, तस्य शरीरे चन्द्रमण्डलात् यो द्रवः पतति तत् पीयूषम्। तदग्नौ न पतति। अग्नौ इत्युक्ते सूर्यमण्डले। तस्मात् कारणात् वायुप्रकोपः शरीरे न भवति। वायुप्रकोपस्तावत् अजीर्णस्य कारणं भवति। तेन नानाविधा रोगा भवन्ति। तस्मात् यः जालन्धरबन्धं अभ्यस्यति, तस्य वायुप्रकोपो न भवतीत्यर्थः। एतत्तु प्रमुखं वर्तते। किमर्थमित्युक्ते शरीरे विद्यमानेषु त्रिदोषेषु वायोः संयमनमेव कष्टतरं वर्तते। तत्तु अनेन साधयितुं शक्यते।

Indological Truths

पातञ्जलयोगसूत्रे न विवृतम्। तत्तु हठयोगप्रदीपिकायां, घेरण्डसंहितायां च वर्तते। परन्तु तादृश ग्रन्थेषु केवल प्रामुख्य आसनानां विवरणं लभ्यते । ''योगकुरण्टी नामक ग्रन्थे द्विशताधिक आसनानां विवरणं अस्ति इति श्रूयते। परन्तु तस्य ग्रन्थस्य उपलब्धिः अधुना नास्ति। अस्ति चेत्- ''ब्रिटिष् लैब्रेरी, इङ्ग्लेण्ड्'' देशे एव न तु अन्यत्र। अत्र हठयोगप्रदीपिकायां घेरण्डसंहितायां च उक्तरूपेण आसनस्य परिकल्पनं दीयते।

हठयोगप्रदीपिकायां आसनपद्धतिः प्रयोजनश्च-

हठयोगस्य तावत् प्रथमाङ्गं आसनम्। अत्र अभ्यासक्रमः एवं अस्ति।

असनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ।
अथ नादानुसन्धानमभ्यासानुक्रमो हठे ।। इति ।।

आसनं, नानाविधैः प्राणायामः, नानविध मुद्राणां अभ्यासः, तदनन्तरं नादानुसन्धान अभ्यासः इत्येते हठयोगो अनुक्रमेण अभ्यसनीयाः वर्तन्ते। अत्र आसनाभ्यासेन फलं एकं वदति- ''कुर्यात् तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम्'' इति तेन स्पष्टं भवति यत् आसनाभ्यासेन स्थैर्यं तथा अङ्गलाघवं भवति इति। पातञ्जलयोगसूत्रे अपि उक्तमस्ति रोगस्य चित्तविक्षेपत्वं कारणम् इति । यथा व्याधिस्थानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानि चित्तविक्षे-पास्तेन्तरायाः'' इति (स.पा. ३०) । अङ्गानां लघावं नाम लघुत्वमिति । तदर्थं गौरवरूप तमोगुणस्य नाशः अपेक्षते। तदपि एतेन उक्तम्। एवं तमोगुण रजोगुण नाशनद्वारा सत्वगुणस्य वृद्धिः । तदानीं शरीरे मनसि च स्थिरता सुखता च अनुभवितुं आसनाभ्यास इति।

2. 5. मुद्राः

मुद्राणां अभ्यासक्रमस्तु हठयोगप्रदीपिकायां तथा घेरण्डादि ग्रन्थेषु वर्तन्ते । नास्ति पातञ्जलयोगसूत्रे। अत्र वक्तव्यं भवति यत्- पातञ्जलयोगस्य अभ्यासार्थं बहवः अन्ययोगाभ्यासानां सहायता आवश्यकं वर्तते। पातञ्जलिस्तु केवलं मुख्यरूपाणां निरूपणं सूत्रतया कृतमस्ति। विवरणं तथा अभ्यासक्रमार्थं तस्मात् अन्यत्रैव आश्रयणीयं भवति। एवं चिन्त्यमाने हठयोगे उत्तमरीत्या

Indological Truths

विचाराः लभन्ते। तथैव मुद्राणामपि विवरणम् अत्र दीयते। मुदं रातीति मुद्रा। मुदन्तु मनसि भवति। तेन शरीरेऽपि सन्तोषः भवति इत्यर्थः। अभ्यासे तावत् मुद्राः आसनवत् दृश्यन्ते। परन्तु कुम्भकाः वर्तन्ते। आसने कुम्भकं नास्ति। कुम्भकार्थं बन्धाः अपेक्षन्ते। तस्मात् बन्धाः कुम्भकान्तर्गताः वर्तन्ते व्याख्यानेषु। एतद्विना तान्त्रिकभागेषु अपि बहवाः मुद्राः सन्ति। अत्र तेषां अभ्यासः नास्ति। तेषां तु उपयोगः ध्यानस्थितौ भवति। अत्र तु ध्यानात्पूर्वं शरीरं तथा मनसः स्थिरीकरणार्थं विद्यमानांशः वर्तते। घेरण्डसंहितायां मुख्यतया २५ मुद्रा उक्ताः वर्तन्ते। हठयोगप्रदीपिकायां तु केवलं दशमुद्राः वर्तन्ते। अधो निर्दिष्टवत् तेषां व्याख्यानं वर्तते। घेरण्डसंहितायां यथा-

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी॥

विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी।
तडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पञ्चधारणा॥

अश्विनीपाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी।
पञ्चविंशति मुद्राश्च सिद्धिदा इह योगिनाम्॥

तत्र कानिचित् मुद्राणां विशेषफलान् अत्र प्रस्तूयते। यथा-

वलितं पलितं चैव जरामृत्युं निवारयेत्।
क्षयकासम् उदावर्ता प्लीहादीर्न ज्वरं तथा॥

नाशयेत् सर्वरोगांश्च महामुद्रा प्रसाधनात्।
उड्डीयानं वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी॥

समग्राद्बन्धनाध्येतदुड्डीयानं विशिष्यते।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्॥

जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।
जालन्धरमहामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी॥

महाबन्धः परोबन्धो जरामरणनाशनः।

Indological Truths

प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम् ।।

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा ।।

महाबन्धमूलबन्धौ महावेधसमन्वितौ ।
प्रत्यां कुरुते यस्तु सयोगीयोगवित्तमः ।।

न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुङ्गवैः ।।

मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत् ।
ससिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयोऽपि न सीदति ।।

काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ।
यावन्तश्चोदरे रोगा अजीर्णाद्या विशेषतः ।।
तान् सर्वान्नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजङ्गिनी ।।

हठयोगप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः तावत् मुद्रादिकथनाध्यायः । अत्र दशमुद्राणां विवरणं फलेन साकम् अस्ति । अस्य मुख्य उद्देशस्तु कुण्डलिनी प्रबोधनम् । तथापि अभ्यसे अन्यान्यलाभाः अवर्तन्ता इति मत्वा साधारणजनानां अपि उपयोगः दृश्यते । तथैव रोगादीनामपि दूरीकरणं शक्यं इति उक्तम् । उक्तानुसारेण अभ्यस्यते चेत् उत्तमः फलितांशः अस्तेव । तदेव अस्मिन् कालए पुनःपुनः विमर्शणीयविषयः भवति । अधुना प्रामुख्यमुद्राणां व्याख्या हठयोगप्रदीपिकानुसारेण लिख्यते । यथा-

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ।।

महामुद्रो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्डीयानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ।।

करणीविपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ।।

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।

Indological Truths

वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ।।

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं तथा ।।

अथ महामुद्रा

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितपदं कृत्वा कराभ्यां धारयेत् दृढम् ।।

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ।।

क्षयकुष्ठगुदावर्त गुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषेषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।।

अथ महाबन्ध

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरुपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।।

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ।।

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।

सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ।।
मतमत्र तु केषाञ्चित् कण्ठबन्धं विवर्जयेत् ।

राजतन्त्रस्य जिह्वायां बन्धः शस्तो भवेदिति ।।
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः ।

अयं खलु महाबन्धो महासिद्धि प्रदायकः ।।
कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।

त्रिवेणी सङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ।।
रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।

महामुद्रा महाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।।

Indological Truths

महावेधः

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्डमुद्रया ।।
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः ।

पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ।।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै ।

मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ।।
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।

वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ।।

एतत् त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ।।

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यसम्भारसन्धायि पापौघाभिदुरं सदा ।।

सम्यक् दिक्षवनामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ।

खेचरी

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेणथ वर्धयेत् तावत् ।
सा यावद् भ्रूमध्यां स्पृशति तदा खेचरी सिद्धिः ।।

स्नुहिपत्रनिभं शस्तं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रधर्षयेत् ।
पुनः सप्तहिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलहिराबन्धः प्रणश्यति ।।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परिभोजयेत् ।

Indological Truths

सा भवेत् खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥

रसनामूर्ध्वगं कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्यु जरादिभिः ॥

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न मूर्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

पीड्यते न रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च ॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डलम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥

ऊध्र्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति भोगवित् ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देहो देहं न मुञ्चति ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरो कुलघातकाः ॥

गोशब्देनोदितो जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतः समन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।

Indological Truths

एको देव विरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥

यत्किञ्चित् श्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारोबहुलस्तस्य सम्पाद्यसाधकस्य च ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने ॥

क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा परा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥

इति मुद्रा दशप्रोक्ता आदिनायेन शम्भुना ।
एकैता तासु यमिनी महासिद्धिप्रदायिनी ॥

इत्यादिरूपेण मुद्राणां व्याख्यानं दृश्यते । अत्र स्पष्टतया उक्तमस्ति राजयोगार्थमेव एषां अभ्यासः । तथा समीचीनरीत्या अभ्यस्यते चेत् एकैकमपि उत्तमं फलं दास्यति इति । अत्र

Indological Truths

बन्धत्रयाणां विवरणं न कृतमस्ति। बन्धत्रयाणां विवरणं प्रत्येकतया दत्तमस्ति। अत्रापि महामुद्रा विपरीतकरणी च अनन्तसुलभं तथा महान् फलान् दास्यन्ति इत्यत्र नास्ति सन्देहः ॥

2. 6. प्राणायामः

पातञ्जलीय अष्टाङ्गयोगे तृतीय अङ्गः प्राणायामः। प्राणस्य आयामः प्राणायामः। प्राण इत्युक्ते प्राणशक्तिः न तु प्राणायामः। प्राणशक्ति इत्युक्ते अस्य प्रपञ्चस्य मूलभूतः शक्तिः। सर्वपदार्थानां आधारभूतः चैतन्यरूपः शक्तिः। अस्य सञ्चयनं विस्तरणम् इत्यादि अर्थेषु आयाम शब्दः प्रयुक्तः। अस्माकं शरीरे प्राणः अस्ति चेत् प्राणे अथवा जीव इति व्यवहारः। तदभावे तन्न। तस्मात् जीवशब्देन प्राणस्य व्यवहारः न अन्तर्भावः। अस्य प्राणस्य गतिः नाडीषु भवति। नाडीनाम यत्र प्राणशक्तेः प्रवाहः विद्यते तत्। शक्तः यत्र चलति सात्वत्र नाडी न। नाड्याः प्राणवाहिनः भूत्वा जीवकोशे भवन्ति। नड- गतौ इति धात्वोः उत्सनः शब्दः नाडी। अत्र केचन वदन्ति यथा। नाड्याः द्विविधाः केचन बृहत् रूपेण द्रष्टुं या अनुभोक्तुं शक्याः। केचन नाड्याः सूक्ष्माः द्रष्टुं अशक्याः। परन्तु ज्ञानेन ज्ञातुं शक्याः। योगशास्त्ररीत्या मानवशरीरे ७२,००० नाड्याः सन्ति। तेषु अविरततया चैतन्यं प्रवहति। तद्योगादेव अस्माकं जरामरणादयः भवन्ति। तस्मात् तासु नाडीषु प्रवहमाणस्य चैतन्यस्य सञ्चयनं क्रियते चेत् एकत्रैव स्थिरो भवति। स्थितीव तस्य तस्य यदा विनियोगस्तदा आवश्यकरूपेण तस्य विनियोगः कर्तुं शक्यते। यदा तस्य सद्विनियोगः समीचीनतया भवति तदा शक्तिह्रासः न भवति। तस्मात् तस्य निग्रहः आवश्यकः। तदपि नाडीद्वारेण भवितव्यं नान्यथा। ७२,००० नाडीषु त्रयः प्रमुखाः। इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना इति नाडीज्ञानं भवितुं शक्यते। परन्तु द्रष्टुं न शक्यते। अस्माकं शरीरे इडा, पिङ्गला इत्यनयोः नाम, दक्षिणनासापुटौ इति व्यवहारः। सुषुम्नानाडी शरीरमध्ये मेरुदण्डे अस्ति इति योगविदामभिप्रायः। इडा, पिङ्गलयोः सूर्य चन्द्र इत्यपि नामान्तरम्। तथापि नाम, दक्षिण नासापुटौ न तौ नाड्यौ।

Indological Truths

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं
नाडीविशुद्धिर्हठसिद्धिलक्षणम् ७८
इति हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः

तृतीयोपदेशः

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली १
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च २
प्राणस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ३
सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ४
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ५
महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालंधराभिधः ६
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ७
आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ८
गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ९
अथ महामुद्रा
पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम्
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् १०
कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः

यथा दरडहतः सर्पो दरडाकारः प्रजायते ११
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुरडली सहसा भवेत्
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया १२
ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता १३
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः १४
चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत्
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् १५
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति १६
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् १७
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् १८
अथ महाबन्धः
पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा १९
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम्
निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् २०
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् २१
मतमत्र तु केषांचित्करठबन्धं विवर्जयेत्
राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धः शस्तो भवेदिति २२
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः २३
कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः २४
रूपलावरयसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ २५
अथ महावेधः
महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया २६
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः २७
सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् २८
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः २९
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ३०
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ३१
अथ खेचरी
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ३२
छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेणाथ वर्धयेत्तावत्
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ३३
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ३४
ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ३५
एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत्
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ३६
कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ३७
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति

विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ३८
न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ३९
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ४०
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ४१
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च ४२
चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डलम्
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ४३
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ४४
नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ४५
इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ४६
गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्
कुलीनं तमहं मन्य इतरे कुलघातकाः ४७
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ४८
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ४९
चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ५०
मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठाद्
ऊर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन्

उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेन्
निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ५१
यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमधो नान्यथा कायसिद्धिः ५२
सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम्
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्शून्ये निरञ्जने ५३
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ५४
अथोड्डीयानबन्धः
बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ५५
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ५६
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ५७
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ५८
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ५९
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डीयानकः
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ६०
अथ मूलबन्धः
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ६१
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ६२
गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात्

वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ६३
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ६४
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ६५
अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्
तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाहता ६६
ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ६७
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ६८
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ६९
अथ जालंधरबन्धः
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ७०
बध्नाति हि सिराजालमधोगामि नभोजलम्
ततो जालंधरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ७१
जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ७२
कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद्दृढम्
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ७३
मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत्
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ७४
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ७५
बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम्
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ७६
यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः

तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ७७
अथ विपरीतकरणी मुद्रा
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम्
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ७८
ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ७९
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ८०
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ८१
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ८२
अथ वज्रोली
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ८३
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ८४
मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत्
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ८५
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ८६
नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ८७
एवं संरक्षयेद्बिन्दुं जयति योगवित्
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ८८
सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ८९
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्

तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ९०
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं निजं बिन्दुं च रक्षयेत्
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ९१
अथ सहजोलिः
सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ९२
वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वङ्गलेपनम्
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ९३
सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ९४
अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम्
निर्मत्सराणां वै सिध्येन्न तु मत्सरशालिनाम् ९५
अथामरोली
पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम्
निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली ९६
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यक्सामरोलीति कथ्यते ९७
अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत्
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ९८
पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात्
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ९९
तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति १००
स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः १०१
रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् १०२

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः १०३
अथ शक्तिचालनम्
कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः १०४
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् १०५
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्
मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी १०६
कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् १०७
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः १०८
गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् १०९
इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ११०
पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम्
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् १११
अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या
प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ११२
ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम्
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ११३
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम्
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ११४
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम्
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ११५

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ११६
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ११७
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम्
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ११८
तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम्
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ११९
येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया १२०
ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः
मण्डलाद्दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः १२१
कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः
एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः १२२
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते १२३
इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम्
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् १२४
अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना
रुद्राणी वा परा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति १२५
राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते १२६
मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा १२७
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी १२८
उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम्
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः १२९
तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः

अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम् १३०
इति हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः

चतुर्थोपदेशः

नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने
निरञ्जनपदं याति नित्यं तत्र परायणः १
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम्
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम् २
राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ३
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ४
सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ५
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ६
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ७
राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ८
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ९
विविधैरासनैः कुम्भैर्विचित्रैः करणैरपि
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते १०
उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ११
सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् १२
अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः

अभ्यासाज्जाय ते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात्॥ ४-९॥

संविदं लभतेऽभ्यासाद्योगोभ्यासात्प्रवर्तते।
मुद्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम्॥
कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत्॥ ४-१०॥

वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेद्भ्यासयोगतः॥
योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित्।
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि॥ ४-११॥

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम्।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम्॥ ४-१२॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च॥ ४-१३॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥ ४-१४॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।

जालंधरो मूलबंधो विपरीतकृतिस्तथा ॥
उड्डानं चैव वज्रोणी दशमे शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् ॥ ४-१५ ॥

अथ महामुद्राकथनम् ।

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे ।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः ॥ ४-१६ ॥

अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम् ।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै ।
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥
चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम् ।
महामुद्राभवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत् पुनः ।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥ ४-१७ ॥

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योपि सिध्यति ।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥

जीवनन्तु कषायस्य पातकानां विनाशनम्।

सवरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम्॥

वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम्।

वांछितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणम्॥

एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः।

भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा॥ ४-१८॥

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।

यां तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः॥ ४-१९॥

मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता।

गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित्॥ ४-२०॥

अथ महाबन्धकथनम्।

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि।

गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम्।

योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम्॥

बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः।

कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः।

नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं याति योगिनः॥

उभाभ्यां साधयेत् पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः॥ ४-२१॥

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्नां मध्यसङ्गतः।

अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपंजरे॥

संपूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः।

बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम्॥ ४-२२॥

अथ महावेधकथनम्।

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि।

महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना।

स्फिचौ संताडयेद्धीमान्वेधोऽयं कीर्तितो मया॥ ४-२३॥

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुंगवः।

ग्रंथिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रंथिं भिनत्त्यसौ॥ ४-२४॥

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम्।

वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी॥ ४-२५॥

चक्रमधे स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते॥ ४-२६ ॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात्॥ ४-२७ ॥

एतत् त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः॥ ४-२८ ॥

एतत् त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः।
यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वे सिद्धिं सम्यग्लभन्ति वै॥ ४-२९॥

गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः।
अन्यथा च न सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः॥ ४-३० ॥

अथ खेचरीमुद्राकथनम्।

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः॥

लम्बिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम्।
संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः॥ ४-३१ ॥

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया।
निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत्॥
तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी॥ ४-३२ ॥

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपिवा।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः॥ ४-३३ ॥

क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम्।
दिव्यभोगान्प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते॥ ४-३४ ॥

मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः॥ ४-३५ ॥

गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम्।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम्॥ ४-३६ ॥

सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मिन्कस्मिन्न दीयते।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते॥ ४-३७॥

अथ जालन्धरबन्ध।

बद्धागलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्।
बन्धोजालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः॥
नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम्।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम्॥ ४-३८॥

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान्।
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये॥ ४-३९॥

जालन्धरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता॥ ४-४०॥

अथ मूलबन्धः।

पादमूलेन संपीडय गुदमार्गं सुयन्त्रितम्।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत्।

कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥ ४-४१ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ।
बन्धेनानेन सुतरा योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥ ४-४२ ॥

सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिद्ध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितालसः ॥
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥ ४-४३ ॥

सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगि पुंगवः ॥ ४-४४ ॥

अथ विपरीतकरणी मुद्रा ।

भूतले स्वशिरोदत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ४-४५ ॥

एतद्यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः ।
मृत्युं जयति स योगी प्रलये नापि सीदति ॥ ४-४६ ॥

कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात्।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः॥ ४-४७॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत्।
उड्डयानबंध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः॥
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्।
उडयानाख्योऽत्र बन्धोयं मृत्युमातङ्गकेसरी॥ ४-४८॥

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन सिद्धो भवेन्मरुत्॥ ४-४९॥

षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम्।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते॥ ४-५०॥

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते।
रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम्॥ ४-५१॥

गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत् तु विचक्षणः।
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परम दुर्लभम्॥ ४-५२॥

अथ शक्तिचालनमुद्रा ।

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥ ४-५३ ॥

शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥ ४-५४ ॥

विहाय निद्रा भुजगी स्वयमूर्ध्वे भवेत्खलु ।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धमिच्छता ॥ ४-५५ ॥

यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ।
गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ४-५६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिचालनम् ।
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ॥ ४-५७ ॥

एतत्तुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति।
एकैकाभ्यासने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा॥ ४-५८॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे मुद्राकथनं नाम चतुर्थपटलः समाप्तः॥ ४॥

अथ पञ्चमः पटलः

श्रीदेव्युवाच॥

ब्रूहि मे वाक्यमीशान परमार्थधियं प्रति।
ये विघ्नाः सन्ति लोकानां वद मे प्रिय शङ्कर॥ ५-१॥

ईश्वर उवाच॥

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा।
मुक्तिं प्रति नराणाञ्च भोगः परमबन्धनः॥ ५-२॥

अथ भोगरूपयोगविघ्नकथनम्।

नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्य विडम्बनम्।

इकाई 15 मुद्रा व बन्ध अर्थ परिभाषा एवं उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में सभी पाठक योग के अभ्यास में मुद्रा एवं बन्ध की आवश्यकता से परिचित होने के साथ–साथ इनके अर्थ परिभाषा को भी ठीक से जान पाने में सक्षम होंगे। प्रस्तुत इकाई ये स्पष्ट करेगी कि योग के क्षेत्र में मुद्राओं की एवं बन्धों की क्या भूमिका होती है। ये योग मार्ग में आगे बढ़ने में कैसे सहायक होते हैं। साथ ही आप ये भी जानेंगे कि किस प्रकार से ये उच्च अभ्यास के अन्तर्गत आता है।

हठयोग में मुद्राओं का विशेष महत्व है। शुद्धि क्रिया एवं आसन के द्वारा जब साधक अपने शरीर को विजातीय पदार्थों से रहित कर शुद्ध कर लेता है और साथ ही आसनों के अभ्यास द्वारा शरीर में दृढ़ता प्राप्त करता है तो इसके बाद घरेण्ड मुनि ने मुद्राओं का अभ्यास कर शरीर में स्थिरता लाने की बात कही है। स्वात्माराम जी ने हठप्रदीपिका में आसन एवं प्राणायाम के बाद मुद्राओं का अभ्यास करने की बात को विस्तार से समझाया है।

अतः इससे स्पष्ट होता है कि मुद्रा का अभ्यास आसन एवं प्राणायाम से भी उच्च अभ्यास है। यह अभ्यास प्राणमयकोश एवं मनोमय को प्रभावित कर उनकी ऊर्जा शक्ति को बढ़ाने में सहायक होता है। जैसा कि हम जानते हैं कि हमारे शरीर में अनेकानेक नाड़ियाँ गति करती हैं। यह नाड़ियों में संवेदनाओं की उत्पत्ति होती है। मन, मस्तिष्क पर इसका प्रभाव

पड़ता है। फलतः अनेकानेक परिवर्तन हमें वहाँ देखने को मिलते हैं, जिन पर समय–समय पर हमारा ध्यान जाता है।

प्रारम्भिक काल में योगाभ्यास की विभिन्न विधियाँ बहुत ही गुप्त हुआ करती थी, परन्तु वर्तमान काल में यह विधियाँ बहुत ही प्रचलित हो गई है। आसन प्राणायाम मुद्रा एवं बंध आदि का अभ्यास बहुत ही गुप्त अभ्यास माना जाता था। प्रारम्भ में इन शक्तिशाली एवं प्रभावी अभ्यास का ज्ञान गुरूजन केवल उन्हीं शिष्यों को प्रदान करते थे जो जिज्ञासु एवं समर्पित होते हों। परन्तु यह विद्याऐं समय के साथ–साथ व्यक्तियों के कल्याणार्थ बहुत ही सहजता से उपलब्ध हो जाती है। विशेष रूप से इस नवीन युग में गुप्त रखी जाने वाली विद्याओं का ही अधिक बोलबाला है। योगाभ्यास में मुद्राऐं एवं बन्ध भी विशेष प्रभावकारी एवं शक्तिशाली विद्याऐं हैं। इनके द्वारा सुषुप्त सूक्ष्म शक्तियों की जाग्रति सम्भव होती है।

हठयोगाभ्यास में मुद्राओं का विशेष महत्व है। घेरण्डसंहिता नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ घेरण्ड मुनि द्वारा लिखा गया है जिससे घेरण्ड मुनि राजा चण्डकपालि को योग की शिक्षा दे रहे हैं तथा घेरण्ड संहिता के तीसरे अध्याय में उन्होंने मुद्राओं एवं बन्धों का वर्णन किया है। साथ ही हठप्रदीपिका नामक ग्रन्थ जो कि स्वात्माराम सूरी जी द्वारा लिखा गया है। जिसमें शिवजी, माता पार्वती को योग विद्या की शिक्षा दे रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में मुद्राओं एवं बन्धों का वर्णन विस्तार से किया गया है।

15.2 उद्देश्य –

प्रस्तुत इकाई में आप जान पायेंगे कि –

- मुद्रा का योग में क्या अर्थ है।
- मुद्रा कितने प्रकार की होती है।
- मुद्रा के क्या उद्देश्य हैं।
- मुद्रा का वर्णन योग ग्रन्थों में कहाँ–कहाँ पर किया जाता है।
- बन्ध क्या होता है।
- बन्ध को किस प्रकार से परिभाषित किया गया है।
- बन्धों का क्या उद्देश्य है।
- योग ग्रन्थों में बन्धों का वर्णन कहाँ–कहाँ पर किया गया है।
- योग के अभ्यास में मुद्रा एवं बन्धों की क्या भूमिका है।

15.3 मुद्रा

प्राण जो कि हमारे स्थूल शरीर को जीवन्त बनाये हुए है। जिनके अभाव में हम क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकते। यह शक्ति नाड़ियों के भीतर ही गति करती है। प्राण शक्ति का शरीर में कम होना या अधिक होना शारीरिक और मानसिक शक्ति के कम होने और बढ़ने को प्रभावित करता है। हम कह सकते हैं कि समय–समय पर मन एवं प्राण के क्षेत्र में हलचल होती रहती है, ये विक्षिप्तता एवं चंचलता का सिलसिला निरन्तर हम अनुभव करते रहते हैं। मुद्राओं के द्वारा इस पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है।

15.3.1 मुद्रा का अर्थ – स्थूल रूप से समझें तो चित्त के विशेष भाव को मुद्रा कहते हैं। जिन मुद्राओं का वर्णन हमें योग ग्रन्थों में मिलता है, वे चित्त के विशेष भाव एवं प्राण की अवस्थाओं की द्योतक हैं। मुद्रा की जानकारी एवं अनुभव बहुत कम साधकों को होता है, ये

वो साधक होते हैं जो योग क्षेत्र में बहुत निपुण एवं निरन्तर अभ्यासी होते हैं, तथा इस क्षेत्र में इनकी पकड़ होती है।

भारतीय संस्कृति में नृत्य का अपना अलग महत्व है। उच्च श्रेणी के भारतीय नृत्यों में हम मुद्राओं को देख सकते हैं। नृत्य में तरह–तरह की हस्त मुद्राओं को देखा जा सकता है। हम कह सकते हैं कि भारतीय नृत्यों में मुद्रा हाथों की विशेष अवस्था है जो आंतरिक भावों या संवेदनाओं का संकेत करती हैं। क्रोध के भाव में आंखों, हाथ एवं शरीर द्वारा उसे प्रदर्शित किया जाता है। जिस प्रकार नृत्य की मुद्राओं के द्वारा विभिन्न भावों को प्रदर्शित किया जाता है, ठीक उसी प्रकार योग मुद्राओं द्वारा अंतरंग भावों को प्रकट करके साधक के आध्यात्मिक भावों की ओर संकेत किया जाता है।

सामान्यतः देखा गया है कि यदि कोई साधक किसी मुद्रा का अभ्यास लम्बे समय तक करता है तो वह उस मुद्रा के भाव को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि शरीर और मन में उसी प्रकार की स्थिति, उसी प्रकार का उद्वेग या संवेदना उत्पन्न होने लगती है। हम जिस भी शारीरिक स्थिति को अपनाते हैं, वह हमारे तन्त्रिका तन्त्र में एक विशेष प्रकार की संवेदना उत्पन्न कर हमारी मस्तिष्क तरंगों में परिवर्तन लाती है। मस्तिष्क तरंगों से यह परिवर्तन फिर चेतना की स्थिति को प्रभावित करता है, और कुछ समय तक उस विशेष भाव को हम अपने भीतर, अपने मानस में अनुभव करते हैं।

आध्यात्मिक अर्थ में हम कह सकते हैं कि मुखमण्डल के विशेष भावभंगिमा की स्थिति को मुद्रा कहते हैं। जैसे मन्दिरों में विभिन्न मूर्तियां भिन्न–भिन्न मुद्राओं में प्रतिष्ठित की जाती हैं, उसी तरह यौगिक मुद्राऐं भी भिन्न–भिन्न होती हैं।

मुद्रा शब्द को अनेक अर्थों में जाना जा जाता है। जैसे – सामान्यतः (1) व्यवहारिक अर्थ में मुद्रा को रूपये–पैसे के रूप में जाना जाता है। अर्थशास्त्र में इसे विनीमय का साधन कहा जाता है। जिस तरह अर्थशास्त्र में विनीमय हेतु मुद्रा अति आवश्यक है। ठीक उसी तरह योगी के लिये मुद्रा बहुत महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार से भौतिक जीवन में मुद्रा को गोपनीय रखा जाता है ठीक उसी प्रकार यौगिक मुद्राऐं भी अतिगोपनीय होती हैं।

15.3.2 मुद्रा की परिभाषा –

(1) मुदं आनन्दं राति इति मुद्रा

अर्थात् – आनन्द की प्राप्ति जिससे हो उसे मुद्रा कहते हैं।

(2) आसन, प्राणायाम एवं बंध की सम्मिलित वह विशिष्ट स्थिति जिसके द्वारा उच्च आध्यात्मिक शक्ति का जागरण संभव हो, मुद्रा कहते हैं।

15.4 मुद्रा के प्रकार

यौगिक ग्रन्थों में अलग–अलग मुद्राओं का वर्णन मिलता है।

15.4.1 हठप्रदीपिका के अनुसार – हठप्रदीपिका में तृतीय अध्याय के छठे श्लोक में दस मुद्राओं का वर्णन मिलता है जिसका वर्णन इस प्रकार से है –ः

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्डीयानं मूलबन्धस्ततो जालन्धराभिधः।।
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।।
– 3/6 हठप्रदीपिका ।।

अर्थात् महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालिनी।

तीसरे अध्याय के सातवें श्लोक में आगे वर्णन करते हुए बताया गया है कि आदिनाथ द्वारा बतायी गयी ये दस मुद्राऐं हैं, जो बुढ़ापा और मृत्यु को दूर करने वाली हैं, और आठ प्रकार के ऐश्वर्य को देने वाली हैं। सभी सिद्धों के लिये प्रिय ये मुद्राऐं देवताओं के लिये भी दुर्लभ हैं।

15.4.1 घेरण्ड संहिता के अनुसार – घेरण्ड संहिता के तृतीय अध्याय के प्रथम, द्वितीय, एवं तृतीय श्लोक में 25 (पच्चीस) मुद्राओं का वर्णन मिलता है। जो कि इस प्रकार से हैं–

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धो महाबन्धो महाबेधश्च खेचरी।। 1 ।।
विपरीतकरी योनिर्वज्रोणि शक्तिचालनी।
ताड़ागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पन्चधारणा।। 2 ।।
अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजागिंनी।
पन्चविंशतिमुद्राश्च सिद्धिदा इह योगिनाम्।। 3 ।।

अर्थात् महर्षि घेरण्ड ने कहा – महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महाबेध मुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, योनिमुद्रा, वज्रोणि मुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, ताड़ागी मुद्रा, माण्डुकी मुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवीय धारणा, आकाशी धारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी और भुजंगनी इत्यादि पच्चीस मुद्रायें हैं। ये योगियों के लिये सिद्धि प्रदान करने वाली हैं। प्रस्तुत श्लोक में 25 मुद्राओं के अन्तर्गत 16 मुद्राओं, 5 धारणाओं एवं 4 बन्धों का वर्णन किया गया है। ये मुद्राऐं अणिमा, महिमा, लधिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशित्व वशित्व आदि आठ सिद्धिओं को प्रदान करने वाली होती है। ऐसा ग्रन्थों में वर्णन मिलता है।

15.4.3 शिव संहिता के अनुसार – शिव संहिता नामक हठयोग के ग्रन्थ में भी 11 यौगिक मुद्राओं का वर्णन मिलता है। अभ्यास की दृष्टि से यौगिक मुद्राऐं तीन प्रकार की होती हैं–

(1) प्राणायामिक मुद्रा
(2) अप्राणायामिक मुद्रा
(3) हस्तमुद्रायें

(1) प्राणायामिक मुद्रा – प्राणायामिक मुद्राऐं ऐसी मुद्राऐं होती हैं, जिनमें आसन के साथ–साथ बन्ध एवं प्राणायाम का विशेष संयोग होता है। जो कुण्डलिनी शक्ति जागरण में विशेष सहायक होती है। उदाहरण – महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, विपरितकरणी, अश्वनी मुद्रा, योग मुद्रा, शक्ति चालिनी आदि।

(2) अप्राणायामिक मुद्रा – अप्राणायामिक मुद्राऐं ऐसी मुद्रायें होती हैं जिनमें आसन के साथ बन्ध एवं प्राणायाम की आवश्यकता नही होती है। प्राणायाम के बिना ही दृष्टि को विशेष स्थान पर स्थिर किया जाता है। ये मुद्राऐं भी कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में सहायक होती है। उदाहरण – शाम्भवी मुद्रा, खेचरी मुद्रा, अगोचरी मुद्रा, भूचरी मुद्रा, चाचरी मुद्रा, नभोमुद्रा आदि।

(3) हस्त मुद्राऐं – हस्तमुद्राऐं ऐसी मुद्राऐं होती हैं जिनमें हाथ की हथेलियों को मिलाकर या अलग–अलग अंगुलियों के माध्यम में मुद्रा बनायी जाती है। इसमें भी प्राणायाम नहीं किया जाता है। श्वास–प्रश्वास स्वाभाविक ही रखा जाता है।

ये हस्तमुद्रायें भी प्राणतत्व और पंचतत्वों को प्रभावित करती हैं। शरीर में उपस्थित नाड़ियों को प्रभावित कर उनकी संवेदनाओं को प्रभावित करती है।

15.5 बन्ध

बन्ध हठयोग का बहुत ही महत्वपूर्ण अभ्यास है। प्राणायाम एवं मुद्रा दोनों के अभ्यास में बन्ध का प्रयोग किया जाता है। हठप्रदीपिका एवं घरेण्ड संहिता आदि ग्रन्थों में मुद्राओं के अन्तर्गत ही बन्धों का भी वर्णन किया गया है, लेकिन इसमें होने वाली विशेष क्रिया (बांधने की क्रिया) होने के कारण हम इसे भिन्न रूप में भी वर्णन कर सकते हैं।

बन्ध का अभ्यास पूर्ण रूप से शारीरिक अभ्यास है। इस अभ्यास के द्वारा व्यक्ति शरीर के विभिन्न अंगों एवं नाड़ियों के स्थान विशेष में संकुचित कर उनमें नियन्त्रण स्थापित करता है।

शारीरिक स्तर पर नाड़ियों को संकुचित करके सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त विचारों एवं आत्मिक तरंगों में प्रवेश कर ये सूक्ष्म शरीर में उपस्थित चक्रों और ग्रन्थियों पर सूक्ष्म प्रभाव डालने में सक्षम होते हैं यौगिक ग्रन्थों में बन्धों का विशेष महत्व है। विशेष प्रभाव के लिये बन्धों का प्रयोग किया जाता है।

सुषुम्ना नाड़ी जो कि अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ी है, इसमें प्राण के स्वतन्त्र प्रवाह में अवरोध उत्पन्न करने वाली ब्रह्म ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि, रूद्र ग्रन्थि ये सभी बन्ध के अभ्यास से खुल जाती हैं। इनके खुलने के कारण प्राण का प्रवाह समस्त नाड़ियों में सुचारू रूप से होता है। सुषुम्ना में भी प्राण प्रवाह उचित रूप से होने लगता है। फलतः आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है। उच्च स्तर के योग अभ्यासी को सुषुम्ना नाड़ी की अनुभूति होती है। ऐसी ही साधना बढ़ने पर चक्रों के जागरण की भी अनुभूति साधक को होती है, इस प्रक्रिया के लिये बन्ध का अभ्यास बहुत ही महत्वपूर्ण एवं सहायक सिद्ध होता है।

15.5.1 बन्ध का अर्थ एवं परिभाषा – बन्ध शब्द का शाब्दिक अर्थ है – बाँधना या कड़ा करना। इसमें शरीर के भिन्न–भिन्न अंगों को धीरे–धीरे परन्तु शक्ति के साथ संकुचित एवं कड़ा किया जाता है। इसलिये इसे बन्ध कहा जाता हैं।

बन्ध द्वारा शरीर के आन्तरिक अंगों की मालिश होती है। उनमें उपस्थित रक्त का जमाव दूर होता है। यह अंग विशेष से सम्बन्धित नाड़ियों की कार्य क्षमता में कार्य को नियमित करती है। फलतः शारीरिक कार्य एवं स्वास्थ्य में उन्नति होती है। बन्ध को परिभाषित करते हुए हम कह सकते हैं कि –

''जिसके द्वारा शरीर के अंग विशेष को बाँधकर वहाँ से आने–जाने वाली संवेदनाओं को रोककर लक्ष्य विशेष की ओर प्रवाहित किया जाता है, उसे बन्ध कहते हैं।''

बन्ध का अभ्यास एक स्नायविक अवरोध है, जो शरीर और मस्तिष्क के भीतर जितनी तन्त्र–तन्त्रिकायें हैं उनमें उत्पन्न हो रही संवेदनाओं को अवरूद्ध कर देते हैं। और दूसरे प्रकार की संवेदना को जाग्रत करते हैं।

आन्तरिक अंगों में जहाँ पर भी संकुचन एवं प्रसारण की क्रिया की जाती है, वह आन्तरिक अंगों से सम्बन्धित प्रक्रियाओं को बदल देती है, संवेग बदल जाते हैं। इससे शरीर में एक विशेष या भिन्न उत्तेजना या शान्ति की अनुभूति होती है, फलतः मानसिक रूप से स्थिरता का आभास होता है।

15.5.2 बंध के प्रकार – यौगिक ग्रन्थों में तीन प्रकार के बन्धों का वर्णन मिलता है। इन तीन बन्धों का सम्मिलित रूप महाबन्ध के नाम से जाना जाता है।

(1) जालन्धर बन्ध
(2) उड्डियान बन्ध
(3) मूलबन्ध
(4) महाबन्ध

(1) जालन्धर बन्ध – जालन्धर बन्ध में गले में उपस्थित नाड़ियों को संकुचित किया जाता है। जिसका प्रभाव सिर, गर्दन, कन्धे की मांसपेशियों एवं नाड़ियों पर पड़ता है। इसकी पूर्ण स्थिति में साधक अपनी चिबुक को कण्ठकूप से लगाता है। बाह्य कुम्भक एवं अन्तः कुम्भक के साथ इस अभ्यास को किया जाता है। इसमें प्राण प्रवाह को निम्नगामी किया जाता है।

(2) उड्डियान बन्ध – उड्डियान बन्ध के अभ्यास में पेट की मांसपेशियों का संकोच किया जाता है। इसमें पेट को अन्दर की ओर खिंचाव देकर पीठ से चिपकाया जाता है, और फिर डायफॉम को झूठी श्वास लेकर ऊपर की ओर खींचते हैं। बाह्य कुम्भक के साथ उड्डियान बन्ध का अभ्यास किया जाता है। इसमें प्राण प्रवाह को ऊर्ध्वगामी किया जाता है।

(3) मूलबन्ध – मूलबन्ध के अभ्यास में गुदा एवं मूत्रेन्द्रिय की मांसपेशियों का संकोच किया जाता है। जब केवल गुदा द्वार की मांसपेशियों का संकुचन किया जाता है तब उसे अश्विनी मुद्रा के नाम से जाना जाता है। और जब केवल मूत्रेन्द्रिय का संकुचन होता है तो उसे वज्रोणि मुद्रा कहा जाता है। मूलबन्ध में इन दोनों का एक साथ संकोच किया जाता है। इसमें प्राण प्रवाह को अधोगामी से ऊर्ध्वगामी किया जाता है।

(4) महाबन्ध – जब तीनों बन्धों को एक साथ किया जाता है, तब उसे महाबन्ध कहते हैं। पहले मूलबन्ध फिर उड्डियान एवं अन्त में जालन्धर बन्ध का अभ्यास किया जाता है। जो लाभ अलग–अलग बन्ध के अभ्यास से मिलता है, वह एक साथ महाबन्ध के अभ्यास से प्राप्त हो जाता है।

उपरोक्त बन्धों के अभ्यास में परिपक्वता आ जाने पर फिर इनको प्राणायाम एवं मुद्रा के साथ जोड़कर किया जाता है। इस प्रकार करने से सामान्य से अधिक लाभ प्राप्त किया जाता है। यौगिक क्रियाओं में इस प्रकार सम्मिलित अभ्यास करने से सुषुप्त शक्ति की जागृति में अधिक लाभ प्राप्त होता है। कुण्डलिनी योग में जिन मुद्राओं एवं बन्धों का अभ्यास किया जाता है। उनसे प्राणमयकोश प्रभावित होता है, और प्राण की गति को परिवर्तित करने का प्रयास किया जाता है। फलतः अभ्यासी का मस्तिष्क प्रभावित होता है, और वह चित्त के भाव विशेष को प्रभावित करता है जिससे व्यक्ति बाह्यमुखी से अन्तर्मुखी होता है।

योगशास्त्र में वर्णित समस्त मुद्राऐं एवं बन्ध संवेदनाओं एवं उत्तेजनाओं को संयमित एवं शान्त बनाते हैं। जिससे अभ्यासी एकाग्र, स्थिर होता है। घरेण्ड मुनि ने मुद्रा का वर्णन विशेष रूप से स्थिरता प्राप्त करने के लिये बताया है।

वेदान्त में कहा गया है कि सब कुछ क्षणिक है, सब माया है। सब भ्रान्ति है। इसे छोड़ो और सत्य को अपनाओ। योग एवं तन्त्र ये बताता है कि जिस स्थिति में अभी तुम हो उसी को सीढ़ी बनाकर आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ो। इन्द्रियों के माध्यम से भी आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। जैसे– उन्हे इतना प्रबल बना लो कि मन अपने आप ही स्थिर हो जाये।

15.6 मुद्रा एवं बन्ध का उद्देश्य

घेरण्ड संहिता के तीसरे अध्याय के चौथे एवं पांचवे श्लोक में भगवान शिव पार्वती जी को मुद्राओं की विशेषता बताते हुऐ कहते हैं कि –

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव संनिधौ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्व सिद्धिः प्रजायते।। 4 ।।
गोपनीय प्रयत्नेन न देयंयस्यकस्यचित्।

प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभंमरूतामपि ।। 5 ।।

अर्थात् – हे देवी। मैने तुम्हें मुद्राओं का ज्ञान प्रदान किया। एकमात्र इनका ज्ञान ही सिद्धियों को प्रदान करने वाला है। ये विद्याऐं योगियों को आनन्द देने वाली है। देवताओं को भी ये विद्याएँ सुलभ नहीं है। इन विद्याओं को सदा गुप्त रखना।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि मुद्राओं का अभ्यास साधक को सिद्धि प्रदान कराने वाला है। सिद्धि यौगिक अभ्यास की श्रेष्ठ उपलब्धि होती है। मुद्राओं का उद्देश्य आध्यात्मिक ही होता है, ये शरीर में सूक्ष्म प्रभाव डालती है। मुद्राओं के अभ्यास के साथ यदि शारीरिक और मानसिक प्रभाव पड़ता है तो ये सहज ही सम्भव है। जिन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मुद्राओं का अभ्यास किया जाता है वे इस प्रकार से हैं –

(1) कुण्डलिनी शक्ति का जागरण – हठयोग में कुण्डलिनी शक्ति का जागरण साधक का लक्ष्य होता है। मुद्रा इसमें विशेष सहायक होती है। सुषुप्तावस्था में पड़ी कुण्डलिनी शक्ति को यौगिक मुद्राओं द्वारा जाग्रतकर ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश करा कर उसे ऊर्ध्वगामी बनाया जाता है। ताड़ागी मुद्रा, अश्विनी मुद्रा, वज्रोली मुद्रा आदि मुद्राऐं इसमें सहायक होती हैं। सामान्यतः माना जाता है कि कुण्डलिनी शक्ति हर जीव में होती है पर वह सोई हुयी अवस्था में होती है। इसे जाग्रत करने की आवश्यकता होती है। तभी व्यक्ति की चेतना ऊँची स्तर पर उठ पाती है। जो कि आध्यात्मिक लाभ के लिये आवश्यक भी होता है।

(2) अमृतरस का पान कराना एवं उसकी सुरक्षा – यौगिक ग्रन्थों की मान्यता है कि हमारा सिरो भाग चन्द्र मण्डल है और हमारा उदर भाग सूर्य मण्डल है। चन्द्रमण्डल से निरन्तर अमृतरस टपकता रहता है परन्तु सूर्यमण्डल में गिरने के कारण वह भस्म हो जाता है, उसका लाभ व्यक्ति को नहीं मिल पाता यदि इस अमृत का पान व्यक्ति कर ले या उसको भस्म होने से रोक ले तो अमृत का पूरा–पूरा लाभ व्यक्ति को मिलेगा। जैसे – बुढ़ापे की समाप्ति, जन्म–मरण के चक्रव्यूह से छुटकारा, मृत्यु पर विजय (अमरता) की प्राप्ति।

वैज्ञानिक इसे मास्टर ग्लेण्ड पिट्टयूटरी से टपकने वाले हार्मोन्स के रूप में मानते हैं। जालन्धर बन्ध, खेचरी मुद्रा, विपरितकरणी मुद्रा आदि साधक के इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होती है।

(3) प्राणवायु को सुषुम्ना में प्रवेश कराना – मुद्रा एवं बन्धों के माध्यम से ग्रन्थियों को खोलकर प्राण प्रवाह को समुचित रूप से पूरे शरीर में प्रवाहित किया जाता है। मुद्रा एवं बन्धों द्वारा प्राण को स्थान विशेष में रोककर उसे इच्छानुसार क्षेत्र विशेष में प्रवेश कराया जाता है। जैसा कि हम जानते ही हैं कि प्राण केवल नाड़ियों में ही गति करता है। इस प्रकार विशेष अभ्यास द्वारा प्राणवायु को सुषुम्ना में प्रवेश कराया जाता है। फलतः हठयोग के परम उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव हो पाती है। मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, उड्डियान बन्ध, महाबन्ध इसमें सहायक होते हैं।

(4) शिव–शक्ति का संयोग कराना – मुद्राओं के माध्यम से अधोगामी प्राण प्रवाह ऊर्ध्वगामी होता है। नाड़ियों में प्राण का प्रवाह मुद्राओं के माध्यम से इच्छानुसार करने पर कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करना सम्भव हो जाता है। जागृत होने पर यह शक्ति सहस्रार में स्थित पुरूषतत्व शिव से मिलने के लिये ऊर्ध्वगामी होकर प्रबलता से तीव्र वेग से शिव से मिलती है। यह योग की परम स्थिति है। मुद्राओं का अभ्यास इसमें सहायक होता है।

अतः हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार विशेष विधि द्वारा हम अपने भीतर में उत्पन्न संवेदनाओं को तीव्र बनाते हैं, उनका विस्तार करते हैं और विस्तार के बाद अपने आप को उसमें लीन कर लेते हैं। ठीक उसी प्रकार से मुद्राओं द्वारा भी हम अपने शरीर का प्रयोग

करके अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, एवं मनोमय कोश की संवेदनाओं को तीव्र बनाकर अपने को उनके भीतर ले जाते हैं। इसमें मुद्रा एवं बन्ध बहुत सहायक सिद्ध होते हैं।

- **बहुविकल्पीय प्रश्न –**

(1) यौगिक अर्थ में मुद्रा से तात्पर्य है।
(अ) रूपये–पैसे के रूप में (ब) नृत्यों में हाथों की विशेष अवस्था
(स) चित्त की विशेष भाव भंगिमा (द) उपरोक्त सभी

(2) हठप्रदीपिका में कितने मुद्राओं का वर्णन मिलता है।
(अ) नौ (ब) आठ
(स) सात (द) दस

(3) घेरण्ड संहिता के अनुसार मुद्राओं के प्रकार है।
(अ) 25 (ब) 16
(स) 15 (द) 32

(4) शिव संहिता नामक हठयोग के ग्रन्थ में कितनी मुद्राओं का वर्णन मिलता है।
(अ) 12 (ब) 11
(स) 14 (द) 10

(5) मुद्रा एवं बन्धों का प्रयोग मुख्य रूप से किया जाता है।
(अ) शारीरिक शक्ति के लिए (ब) कुण्डलिनी शक्ति का जागरण
(स) मानसिक व बौद्धिक एकाग्रता के लिए (द) उपरोक्त सभी

- **रिक्त स्थनों की पूर्ति करो –**

(1) घेरण्ड संहिता के .... अध्याय में मुद्रा एवं बन्धों के उद्धेश्यों को स्पष्ट किया गया है।
(2) हठप्रदीपिका में तृतीय अध्याय के .... श्लोक में मुद्राओं कर वर्णन मिलता है।
(3) उच्च स्तर के योग अभ्यासी को .... नाड़ी की अनुभूति होती है।
(4) मुद्रा का अभ्यास .... व .... से भी उच्च अभ्यास है।

सत्य और असत्य को चिन्हित करें –

(1) आसन, प्राणायाम एवं बन्ध की सम्मिलित वह विशिष्ट स्थिति जिसके द्वारा आध्यात्मिक शक्ति का जागरण सम्भव हो, मुद्रा कहते है। (...........)
(2) अभ्यास की दृष्टि से तीन मुद्राओं (प्राणायामिक, अप्रमाणिक व हस्तमुद्रा) का वर्णन मिलता है। (...........)
(3) ''जिसके द्वारा शरीर के अंग विशेष को बॉधकर बहॉ से आने जाने वाली संवेदनाओं को रोक कर लक्ष्य विशेष की ओर प्रवाहित किया जाता है, उसे बन्ध कहते है।'' (...........)
(4) प्राणायाम व मुद्रा दोनों के अभ्यास में बन्ध का प्रयोग नहीं किया जाता है। (...........)
(5) हस्तमुद्रायें प्राणतत्व और पंचतत्वों को प्रभावित करती है। (...........)

15.7 सारॉश

प्रस्तुत इकाई में आपने मुद्रा एवं बन्ध के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त की। इकाई के समस्त उद्देश्यों की पूर्ति आपने प्रस्तुत पाठ्य–सामग्री को पढ़कर अवश्य प्राप्त की होगी। आगामी इकाई में वर्णित बन्धों एवं मुद्राओं की विस्तार से जानकारी प्राप्त करेंगे। अभी आपने केवल इनके अर्थ को एवं उद्देश्य को जाना, और हठयोग में ये किस प्रकार से महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं इसके बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त की।

प्रस्तुत इकाई से हमें स्पष्ट होता है कि हठयोग विद्या में संसार और शरीर को माध्यम बनाकर अपने भीतर प्रवेश किया जाता है, जिसमें मुद्रा और बन्ध एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनके अभाव में हठयोग की पूर्णता सम्भव न हो सकेगी।

15.8 शब्दावली

- दृढ़ता – मजबूती
- जीवन्त – प्राणवान (जीवित)
- विक्षिप्त – चंचल, अस्थिर
- सुषुप्त – सोई हुई
- जिज्ञासु – जानने की इच्छा रखने वाला
- अंतरंग – अन्दर के
- संकुचित करना – सिकोड़ना
- प्रसारण – फैलाव
- चिबुक – ढोड़ी
- बाह्य – बाहर
- ऊर्ध्वगामी – ऊपर की ओर जाने वाली
- अधोगामी – नीचे की ओर जाने वाली

15.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

- **बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर –**

(1). स (2). द (3). ब (4). ब (5). ब

- **रिक्त स्थानों के उत्तर –**

(1) तृतीय (2) छठे (3) सुषुम्ना (4) आसन व प्राणायाम

- **सत्य और असत्य प्रश्नों के उत्तर –**

(1) सत्य (2) सत्य (3) सत्य (4) असत्य (5) सत्य

15.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. घेरण्ड संहिता – स्वामी निरन्जनानन्द
2. हठप्रदीपिका – कुवल्यानन्द
3. हठयोग प्रदीपिका – स्वामी मुक्तिबोधानन्द
4. आसन, प्राणायाम,मुद्राबन्ध – स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

15.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मुद्रा के अर्थ को स्पष्ट करते हुऐ इसका विस्तृत वर्णन करें।
2. बन्ध के अर्थ को समझाते हुऐ इसे परिभाषित करें।
3. मुद्राओं का सन्दर्भ सहित वर्णन करें।
4. मुद्रा एवं बन्ध क्या हैं? इनका विस्तृत परिचय दें।
5. मुद्राओं के उद्देश्यों को स्पष्ट करें।
6. हठयोग में मुद्राओं की भूमिका पर विस्तार से प्रकाश डालें।

इकाई 16 हठयोग प्रदीपिका में वर्णित मुद्राओ की विधि, सावधानियॉ एवं लाभ मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, उड्डियानबन्धः महाबन्ध

16.1 प्रस्तावना

हठयोग में बन्धो का विशेष महत्व है। आसन प्राणायाम मुद्रा आदि सभी क्रियाओं में बाधों का उपयोग किया जाता है। हठयोग के अभ्यास में उच्च अवस्था को प्राप्त करने के लिए बांधों का उपयोग आवश्यक हो जाता है। प्रस्तुत इकाई में पाठक को इसकी विस्तृत जानकारी प्राप्त होगी ।

16.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप जान पायेगें –

- मूलबन्ध उड्डियानबन्ध जालन्धर बन्ध की विधि
- तीनो बन्ध के लाभ के बारे में
- महाबन्ध के अर्थ को
- महाबन्ध के विधि लाभ के बारे में,
- बन्धों के अभ्यास में ध्यान रखने वाली बातो को।

16.3 मूलबन्ध

सामान्यतः प्रारम्भ में विषय से अपरिचित व्यक्ति के मन में विषय को लेकर बहुत सी शंकाऐ उत्पन्न होती है, जिनका समाधान वो जल्द ही चाहता है। प्रस्तुत पाठ्य सामग्री को पढ़ने के बाद हर स्तर के व्यक्ति की शंकाओं का समाधान सम्भव होगा वह जान पायेगा कि –

- मूलबन्ध का अर्थ क्या होता है ?
- मूलबन्ध का अभ्यास कैसे किया जाता है ?
- मूलबन्ध के लाभ क्या है ?
- मूलबन्ध को करते समय किन सावधानियॉ का पालन करना चाहिये ?

16.3.1 नामकरण – मूलबन्ध दो शब्दो से मिलकर बना है मूल + बन्ध मूल = आधार या जड़ बन्ध = बांधना। जिस बन्ध में शरीर के जड़ या आधार वाले भाग को बॉधा जाता है उसे मूल बन्ध कहते है।

16.3.2 संदर्भ ग्रन्थ – हठप्रदीपिका के द्वितीय अध्याय के 60 – 62 श्लोक में मूलबन्ध की विधि को इस प्रकार से समझाया गया है।

16.3.3 विधि – एड़ी से सीवनी को दबाकर गुदा का आकुन्चन करना चाहियें। फिर अपानवायु के ऊपर की ओर खीच कर रखने से मूलबन्ध होता है, स्वाभाविक रूप से निम्नगामी अपान वायु को आकुन्चन के द्वारा बलपूर्वक जो ऊपर की ओर ले जाता है, उसे योगियो ने मूलबन्ध कहा है। एड़ी से गुदा को दबाकर बारम्बार बलपूर्वक योनि का आकुन्चन करे इससे वायु ऊपर की ओर चला जाता है।

विधि की प्रथम स्तर की सरल व्याख्या – सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठ जाते है। जैसे पद्मासन, स्वास्तिकासन, सिद्धासन, मूलबन्ध में प्रमुखता सिद्धासन को दी जाती है। क्योंकि इसमें एड़ी का दबाव सीधे मूल आधार पर पड़ता है।

निश्चित आसन पर बैठने के बाद दोनो हाथों को घुटनो के ऊपर ज्ञान मुद्रा या चिनमुद्रा में रखते है। शरीर पूर्णतः शिथिल एवं स्थिर अवस्था में रहेगा। इसके पश्चात् अपना सारा ध्यान एड़ी से मूलाधार (पेरिनियम) में पड़ने वाले दबाव पर लगाते है। साथ ही गुदा और योनि वाले भाग की मांसपंशियो को सफुचित करके ऊपर की आरे खीचते है। इस भाग में भीतर की ओर खीचाव बनाकर फिर मांसपेशियों को ढीला छोडे अपनी क्षमतानुसार जब तक आप आराम से बिना किसी तनाव व परेशानी के इस क्रिया को करने में सक्षम हो इसे लयबद्ध तरीके से करत रहे, एक बार में अधिकतम 20 आवृति करें।

विधि की द्वितीय स्तर की सरल व्याख्या – प्रथम स्तर के अभ्यास में पूर्णतः प्राप्त होने पर इस अभ्यास को थोड़ा और ऊचे स्तर की ओर बढ़ाऐगे। इस विधि में योनि और गुदा की संकुचित की गई मांसपेशियो के संकुचन को कुछ देर तक रोककर रखेंगे, उस अवस्था में क्षमतानुसार बनें रहेगे। श्वास की गति को सामान्य रखेगे। ली जाने वाली श्वास और छोड़ी जाने वाली श्वास में को परिर्वतन नही करेगें। शरीर पूरी तरह से तनाव मुक्त रहेगा। शरीर में अन्यत्र अंगो में किसी प्रकार का कोई भी मांसपेशिय तनाव उत्पन्न न करें। केवल पेरिनियम वाले भाग की मांसपेशियो का संकुचन नियन्त्रण में रहेगा।

क्षमतानुसार संकुचन की स्थिति को बनाऐ रखने के बाद धीरे से मांसपेशियों को ढीला छोड़े। इसके बाद कुछ देर विश्राम करे। 10 बार तक इस प्रक्रिया को आप दोहरा सकते है।

विधि की तृतीय स्तर की सरल व्याख्या – मूलबन्ध अभ्यास की द्वितीय स्तर में पूर्णता प्राप्त करने के बाद अभ्यासी अभ्यास में और आगे बढ़ता है। इसके लिये ध्यानात्मक आसन में दोनो हाथ ज्ञानमुद्रा या चिनमुद्रा में घुटनों के ऊपर रखते है। ऑखे बन्द रहेगी। इसके बाद अपना सारा पेरिनियम वाले भाग में ले जाते है। फिर नाक से श्वास के भीतर की ओर ले फिर पेरिनियम भाग की मांसपेशियो की संकुचित कर ऊपर की ओर खीचते है। क्षमतानुसार इस स्थिति में रूकते है। इसके पश्चात् श्वास की छोड़ते हुऐ मांस पेशियो को भी ढीला छोड़ते है। 10 बार तक इस अभ्यास को दोहराया जा सकता है।

जालन्धर बन्ध के साथ मूलबन्ध का अभ्यास – मूलबन्ध का दीर्घ अभ्यास होने पर इस क्रिया को जालन्धर बन्ध के साथ भी किया जा सकता है। जिसकी विधि इस प्रकार से है। सर्वप्रथम उचित शारीरिक अवस्था ले फिर नाक से श्वास को भीतर की आरे ले और रोके।

जालन्धर बन्ध लगााये फिर मूलबन्ध अभ्यास के तृतीय स्तर को करे। क्षमतानुसार रूके फिर विपरित क्रम में वापस आयेगे। सर्वप्रथम मूलबन्ध छोड़ेगे फिर जालन्धर बन्ध फिर श्वास को नाक से बाहर निकालेंगे। फिर शरीर को शिथिल कर विश्राम अवस्था में आयेगे।

मूलबन्ध का अभ्यास मूलाधार चक्र पर सीधा प्रभाव डालता है। अभ्यास के दौरान अभ्यासी की पूर्ण सजगता इसी स्थान पर होने से लाभ अधिक मिलता है साथ ही अभ्यास भी सही होता है।

16.3.4 सावधानियाँ – मूलबन्ध के अभ्यास से हमें जितना लाभ प्रदान करता है। उसी के साथ – साथ इसके अभ्यास के दौरान कुछ सावधानियॉ भी अभ्यासी को ध्यान में रखनी चाहिये। अन्यथा लाभ के स्थान में हानि भी हो सकती है। अभ्यास के दौरान ध्यान रखने योग्य बातें इस प्रकार से है –

- मूलबन्ध का अभ्यास प्राणायाम के अभ्यास के बाद ही करना चाहिये।
- किताबो में पढ़कर या सुनकर अभ्यास नहीं करना चाहिये।
- जानकार व्यक्ति के सम्पर्क में रहकर अभ्यास करना चाहिये।
- अभ्यास क्रमबन्ध व धीरे–धीरे करना चाहिये।

16.3.5 लाभ – मूलबन्ध के अभ्यास में गुदा और प्रजनन अंग से सम्बन्धित मांसपेशियों परा सीधा प्रभाव पड़ता है। साथ ही इस स्थान से अनेक नाड़िया शुरू होकर सीधे मस्तिक तक जाती है। अभ्यास के दौरान विभिन्न संवेदनाऐं इस भाग पर उत्पन्न होती है जिनके प्रति सजगता हमें ज्यादा लाभ प्रदान करने में सक्षम होती है। मूलबन्ध द्वारा हमें शरीरिक मानसिक और आध्यात्मिक तीनो लाभ प्राप्त होते है जो कि इस प्रकार से है।

शारीरिक लाभ – मूलबन्ध उत्सर्जन तन्त्र एवं प्रजन्नांगो को सीधा प्रभावित करता है। इस प्रक्रिया में होने वाला आकुंचन = प्रकुन्चन इन्हीं की मोसपेशियो को सीधा प्रभावित करती है। कब्ज, अपचन, की समस्या दूर होती है। बवासीर से लाभ मिलता है। ऑते सक्रियता से कार्य करती है। गठियॉ, दमा, ब्रकाइटिस में लाभदायक है। यौन रोगो के उपचार में मूलबन्ध का अभ्यास लाभकारी है। मूलबन्ध के अभ्यास मलमूत्र की अल्पता होती है। वह व्यक्ति की युवावस्था को प्राप्त करता है।

मानसिक लाभ – मूलबन्ध का अभ्यास ऊर्जा मुक्त करने में सहायक है इससे इसका प्रभाव मानसिक और मनोकायिक रोगो परा भी पड़ता है। विषाद की समस्या में लाभदायक है। इसका अन्तः स्रावी ग्रान्थियो में भी प्रभाव पड़ता है। यह क्रिया मस्तिक को भी सीधा प्रभावित करती है।

आध्यात्मिक लाभ – मूलाधार चक्र की जागृति में सहायक है। ब्रहमचर्य पालन एवं वार्यशक्ति वृद्धि में सहायक, कुण्डलिनी शक्ति का जागरण इस प्रक्रिया से सम्भव है। मूलबन्ध का अभ्यास प्राणवायु और अपान वायु को मिलाने में सहायक होता है। साथ ही इस प्रक्रिया द्वारा नाद और बिन्दु को एक किया जा सकता है। यह अवस्था योग की उच्च अवस्था होती है।

मूलबन्ध के अभ्यास से मस्तिष्क की सक्रियता बढ़ती है। साथ ही एकाग्रता, स्थिरता जैसे – 2 बढ़ती जाती है। अभ्यासी के भीतर आध्यात्मक की प्रवृर्ति और बढ़ने लगती है। वह लौकिक से अलौकिक वृर्त्तियो की ओर अग्रसित होने लगता है।

16.4 जालन्धर बन्ध

हठयोग में तीन प्रकार के बन्धो का वर्णन किया गया है। जिनमें से एक जालन्धर बन्ध है। इस बन्ध का प्रयोग सामान्यतः प्राणायाम के साथ भी किया जाता है। जालन्धर बन्ध के बारे में विस्तृत जानकारी इस प्रकार से है –

16.4.1 नामकरण – जालन्धर बन्ध तीन शब्दो से मिलकर बना है। जाल + धर + बन्ध। जाल = गला, धर = धारण करना या ऊपर की ओर खिचना, बन्ध = बॉधना अर्थात इसमें गले में उपस्थित नाड़ियो को दबाव बनाकर ऊपर की ओर खिंचाव देते हुए बॉध देने के कारण इसे जालन्धर बन्ध कहते है। इसमें वायु का आवागमन रूक जाता है। साथ ही चन्द्र मण्डल से टपकने वाले सोमरस को नाभिमण्डल में गिरकर नष्ट होने से भी रोकता है।

16.4.2 संदर्भ ग्रन्थ – हठप्रदीपिक के 69–75 श्लोक तक हमें जालन्धर बन्ध का वर्णन मिलता है। जिसमें इसकी विधि, लाभ का विस्तृत वर्णन हैं। अब हम इसके नामकरण पर प्रकाश डालते है –

16.4.3 विधि – त्रिबन्धो में से ज्यादा प्रयोग में आने वाली जालन्धर बन्ध की विधि इस प्रकार से है – सर्वप्रथम किसी भी ध्यानत्मक आसन में बैठते है। पदमासन्, सिद्धासन या स्वास्तिकासन में से सुविधानुसार आसन में स्थिर व निश्चिल अवस्था में बैठने के बाद सहजता से ऑखो को बन्द करते है। दोनो हाथ ज्ञान मुद्रा में या हथेलियो को घुटनो के ऊपर उल्टा करके रखते है। फिर श्वास प्रश्वास को सामान्य करें। अपनी श्वासो के प्रति सजगता बनाते है, अपना सारा ध्यान श्वास भीतर जाने और बाहर जाने की गति पर एकाग्र करते है। फिर धीरे–धीरे श्वास को भीतर की ओर लेते है, भीतर ही रोककर ढीड़ी को कण्ठकूप से लगते है। इसी स्थिति में कुछ देर क्षमतानुसार रूके रहते है। फिर गर्दन को सीधा करके श्वास को नासिकाद्वार से बाहर निकालते है। फिर कुछ देर शान्त बैठते है, फिर पुनः प्रारम्भ करते है। जालन्धर बन्ध का अभ्यास श्वास को बाहर निकालकर भी किया जाता है। 10 बार तक इस अभ्यास को किया जा सकता है। जालन्धर बन्ध का अभ्यास करते समय एकाग्रता कण्ठकूप (विशुद्धिचक्र) पर बनानी चाहिये।

16.4.4 सावधानियाँ – इस अभ्यास में निम्न बातो का विशेष ध्यान रखना चाहिये – सरवाइकल स्पॉण्डिलाइटिस, उच्चरक्तचाप से पीडित व्यक्ति इसका अभ्यास न करे। हृदय रोगी भी इस अभ्यास को न करे।

16.4.5 लाभ – जालन्धर बन्ध के अभ्यास से जब निरन्तर कण्ठकूप पर ठोड़ी द्वारा दबााव पड़ता है, तब निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते है – कष्ठ सम्बन्धी रोग दूर होत है। थॉराइड–पैराथॉयराइड ग्रथियॉ पर दबाव पड़ने के कारण वे अपना कार्य सुचारू रूप से करती है। जालन्धर बन्ध द्वारा मस्तिष्क से टपकने वाले अमृतरस (सोमरस) की रक्षा होती है। जिसके कारण अभ्यासी बुढ़ापा और मृत्यु को भी दूर करता है। यह अभ्यास मानसिक तनाव, चिंता, क्रोध को दूर करता है। ध्यान से पूर्व इसका अभ्यास करने से लाभ मिलता है। जालन्धर बन्ध में पड़ने वाला दबाव प्राणशक्ति के संचार को बढ़ाता है। टॉन्सिल, कफ, के निवारण में सहायक है। स्वर ग्रान्थियॉ को प्रभावित करता है।

16.5 उडिड्यान बन्ध

16.5.1 नामकरण – उडिड्यान बन्ध दो शब्दो से मिलकर बना है, उड्डियान + बन्ध। उड्डियान = ऊपर उठाना या उड़ना, बन्ध = बॉधना। उड्डियान बन्ध में हम पेट की मांसपेशियो को भीतर की ओर दबाकर ऊपर की ओर खीचते है। साथ ही सुषुम्ना नाड़ी में होने वाले प्राण प्रवाह को ऊपर उठाया जाता है। प्राण रूप में सुषुम्ना के भीतर स्थित पक्षी निरन्तर उड़ान भरता रहता है। इसलिये इसे उड्डियान बन्ध कहते है।

16.5.2 संदर्भ ग्रन्थ – हठप्रदीपिक के तृतीय अध्याय के 54–59 तक उड्डियान बन्ध का वर्णन मिलता है।

16.5.3 विधि – प्रथम विधि सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठते है पद्मासन, सिद्धासन या स्वास्तिकासन। शरीर शिथिल एवं दोनो हथेली घुटनो ऊपर रखते है। नासिक से धीरे–धीरे श्वास को भीतर लेते हुऐ फेफड़ो को वायु से भर देते है। फिर मुँह से पूरी श्वास को बाहर निकालकर पेट की मांसपेशियो को पीठ से चिपका देते है। इसके बाद डायफाम को झूठी श्वास लेते हुए ऊपर की ओर खीचते है। ठोड़ी को कण्ठकूप से लगा देते है। ऐसी स्थिति में हाथो से घुटनो के ऊपर दबाव बना रहेगा। बाह्रय कुम्भक (श्वास को बाहर रोककर) के साथ क्षमतानुसार रूके रहे। इसके पश्चात् गर्दन को सीधा करके श्वास को धीरे–धीरे भीतर की ओर ले तथा सामान्य स्थिति में वापस आ जायेंगे। इस प्रकार से 5 बार तक इसका अभ्यास किया जा सकता है।

द्वितीय विधि – उड्डियानबन्ध को खड़े होकर भी किया जा सकता है। जिसकी विधि इस प्रकार से है। सर्वप्रथम दोनो पैरो के बीच कन्धो के बराबर दूरी बनायेगे। दोनो हाथो को घुटनो के ऊपर रखेगे। इस प्रकार शारीरिक स्थिति के बाद उपरोक्त विधि के अनुरूप ही प्रक्रिया होगी। अन्तिम स्थिति में विश्राम करेंगे। विश्राम खड़े होकर या लेट कर दोनो तरह से आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

16.5.4 सावधानियॉ – उड्डियान बन्ध का अभ्यास करते समय निम्न बातो को ध्यान में रखना चाहिए। गर्भवती महिलाए इस अभ्यास को ना करे। पेट में अल्सर आदि घावो से पीड़ित व्यक्ति इस अभ्यास को न करे। ह्रदय रोगियो के लिए यह अभ्यास वर्जित है। खाली पेट ही करे। ऑतो की समस्या वाले व्यक्ति भी इस अभ्यास को न करे।

16.5.5 लाभ – उडिड्यानबन्ध से अभ्यासी को निम्नलिखित लाभ प्राप्त होतो है – यहा बन्ध पाचन संस्थान की प्रक्रिया को सक्रियता प्रदान करता है। पाचन सम्बन्धी समस्त रोगो को दूर करने में सहायक है कब्ज पेट में कीड़े, अर्जीण अपच आदि समस्याओ को दूर करता है। आते सूचारू रूप से सक्रिय हो जाती है। श्वसन तन्त्र के सभी अंग सक्रिय होते हे। इनकी कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। ह्रदय की भी मसाज होने से इसकी कार्यक्षमता में भी वृद्धि होती है। आलस्य भी दूर होता है। मणिपूर चक्र की जाग्रति होती है। मृत्यु रूपी हाथी के उड्डियानबन्ध सिंह के समान होता है।

16.6 महाबन्ध

महाबन्ध त्रिबन्ध की उच्च अवस्था है। जिसके अभ्यास से अभ्यासी एक साथ त्रिबन्धो का लाभ प्राप्त करने में सक्षम होता है। हठयोग में महाबन्ध का विशेष महत्व है।

16.6.1 नामकरण – जब तीनो बन्धो (मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, एवं उड्डियान बन्ध) को एक साथ लगाया जाता है, तो उसे महाबन्ध कहा जाता है। हर बन्ध में जब अभ्यासी की दक्षता हो जाती है तब इसके पश्चात् ही वह महाबन्ध का अभ्यास करने के लिए तैयार हो जाता है।

16.6.2 संदर्भ ग्रन्थ – हठप्रदीपिका के तीसरे अध्याय के 18 – 23 श्लोक तक महाबन्ध का वर्णन किया गया है।

16.6.3 विधि – सर्वप्रथम किसी भी आध्यानात्मक आसन में बैठते है, सिद्धासन ज्यादा लाभकारी होता हैं। क्योकि इस आसन का प्रभाव सीधे सीवनी में पड़ने से बन्ध में लाभ मिलता है। दोनो हथेलियो को घुटनो के ऊपर रखेंगे। आखे सहजता से बन्द कर शरीर

को शिथिल करेगें। अपनी एकाग्रता श्वास–प्रश्वास की गति पर बनायेंगे श्वासो की गति सामान्य करेगे। इसके पश्चात् धीरे–धीरे नासाद्वार से श्वास को भीतर की ओर लेगे। तत्पश्चात् श्वास को मूह से बाहर की ओर निकालकर बाहर ही रोक देगे। क्रमशः मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध लगायेंगे। ऑखे बन्द रखकर चेतना को मूलाधार, मणिपूर, विशुद्धि चक्रो पर क्रमबद्ध लगायगे। क्षमतानुसार श्वास को रोकने के पश्चात् गर्दन को सीधा कर धीरे–धीरे श्वास को भीतर लेगे फिर उड्डियान बन्ध छोड़ेगे। इसके बाद मूलबन्ध को छोड़कर सामान्य स्थिति में आयेगे। श्वास–प्रश्वास सामान्य करने के पश्चात् विश्राम करेगे। महाबन्ध की 5 आवृत्ति प्रारम्भ की जा सकती है। फिर धीरे–धीरे इसे 10 तक बढ़ाया जा सकता है।

16.6.4 सावधानियॉ – महाबन्ध के अभ्यास में कुछ सावधानियॉ का विशेष ध्यान रखना जरूरी होता है जो कि इस प्रकार से है– महाबन्ध का अभ्यास मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध ओर उड्डियान बन्ध में पूर्णता प्राप्त होने के बाद ही करना चाहिये। हृदय रोग एवं उच्च रक्तचाप का निम्न रक्तचाप से ग्रसित व्यक्तियों को इसका अभ्यास नही करना चाहिये। हर्निया, अल्सर, ऑतो की सूजन से पीड़ित व्यक्ति भी इसका अभ्यास न करे। गर्भवती महिलाओं के लिये यह अभ्यास वर्जित है। चूकि इस अभ्यास में उपरोक्त वर्णित तीनो बन्धो को किया जाता है इसलिये इनमें बताई गई समस्त सावधानियॉ को महाबन्ध में भी ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

16.6.5 लाभ – महाबन्ध से मूलबन्ध उड्डियान बन्ध एवं जालन्धरबन्ध तीनो की लाभ प्राप्त होते है। सहश्रार से टपकने वाले सोमरस का भी पूरा लाभ महाबन्ध से प्राप्त होता है। विशुद्धि चक्र, मणिपूर चक्र और मूलाधार चक्र की जागृति में भी से सहायक है। महाबन्ध का अभ्यास काल के बन्धन से मुक्त करने में सहायक है। मन को एकाग्र करने मानसिक शान्ति प्राप्त कराने में यह क्रिया सहायक है। ध्यान से पूर्व इसका अभ्यास लाभदायक होता है।

अभ्यास प्रश्न

- **बहुविकल्पीय प्रश्न –**

(1) निम्न में से मूलबन्ध का सम्बन्ध है?
(अ) उदर प्रदेश से (ब) सीवनी प्रदेश से
(स) कण्ठ प्रदेश से (द) तीनों में से कोई नहीं।

(2) हठप्रदीपिका में जालन्धर बन्ध का वर्णन कौन से श्लोक में मिलता है?
(अ) 59 से 65 (ब) 65 से 69
(स) 69 से 75 (द) 75 से 79।

(3) महाबन्ध लगाने का सही क्रम क्या है?
(अ) जालन्धरबन्ध, उड्डियानबन्ध, मूलबन्ध (ब) जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध
(स) मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध, जालन्धरबन्ध (द) उड्डियानबन्ध, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध।

(4) उड्डियानबन्ध के अभ्यास से सबसे अधिक प्रभाव किस चक्र पर पड़ता है?
(अ) मणिपूर चक्र (ब) अनाहत चक्र
(स) मूलाधार चक्र (द) विशुद्धि चक्र।

(5) महाबन्ध का अभ्यास उपरोक्त में से किसे नहीं करना चाहिए?
(अ) हर्निया व अल्सर रोगी को (ब) हृदय रोग व उच्च रक्तचाप के रोग में
(स) गर्भवती महिलाओं को (द) उपरोक्त सभी को।

- **रिक्त स्थनों की पूर्ति करो –**

(1) महाबन्ध का अभ्यास .... कुम्भक में किया जाता हैं।
(2) तीनों बन्धों का सम्मिलित अभ्यास .... कहलाता है।
(3) हठप्रदीपिका के .... अध्याय में उड्डियान बन्ध का वर्णन मिलता है।
(4) मूलबन्ध के अभ्यास में .... और .... से सम्बन्धित मॉसपेशियों पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

- **सत्य और असत्य को चिन्हित करें –**

(1) महाबन्ध का अभ्यास तीनों बन्धों के साथ नहीं किया जाता। (...........)
(2) उड्डियान बन्ध का सम्बन्ध उदर प्रदेश से है। (...........)
(3) महाबन्ध का अभ्यास हृदय रोगियों तथा उच्च रक्तचाप के रोगियों के लिये लाभदायक है। (...........)
(4) जालन्धर बन्ध का अभ्यास विशुद्धि चक्र को प्रभावित करता है। (...........)

16.7 सारॉश –

उपरोक्त वर्णित त्रिबन्धो के अध्ययन से हमें इनकी महत्ता का पता चलता है साथ ही हम जान पाते है कि इनका अभ्यास योग में आगे बढ़ने वाले अभ्यासी के लिये कितना महत्वपूर्ण है। यहॉ त्रिबन्धो एवं महाबन्ध की विधि को बहुत ही सरल भाषा में वर्णित किया गया है। त्रिबन्धो एवं महाबन्ध से होने वाले लाभो को विस्तार से समझाया गया है ताकि क्रिया का प्रभाव क्या होता है इसे समझा जा सके और इसकी महत्ता से परिचित हो सके। साथ ही इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण अभ्यास ध्यान रखने योग्य बातें, जिन्हें हम सावधानियॉ कहते है। उन्हें भी समझाया गया है। अभ्यास में यदि सावधानिया का ध्यान न रखा जाए तो लाभ के स्थान पर हानि होने की सम्भावना अधिक हो जाती है। इसलिये उचित लाभ हेतु इनका विशेष ध्यान रखा जाता है।
उपरोक्त वर्णित समस्त क्रिया विधि से परिचित होकर सावधानियो के साथ समस्त लाभो को प्राप्त किया जा सकता है। योगाभ्यास में इनका विशेष महत्व है।

16.8 शब्दावली

- पेरिनियम = सीवनी।
- संकुचन = सिकुड़ना।
- विपरीत = उल्टा।
- श्वास प्रश्वास = नाक द्वारा भीतर जाने वाली हवा व बाहर आने वाली हवा
- सक्षम = समर्थ।
- अल्पता = न्यूनता।
- कुण्डलिनी शक्ति = प्रचण्ड ऊर्जा शक्ति, जो सर्प के समान 3, 1/2 फेरे लगाकर अपनी पूंछ को अपने मुख से दबाकर मूलाधार चक्र में सुषुप्तावस्था में पड़ी होती है।
- लौकिक = सांसारिक।
- अलौकिक = संसार से परे।

- सुषुम्ना नाड़ी = यह इड़ा, पिंगला से भी सुक्ष्म नाड़ी होती है, इन दोनो के सम होने पर ही यह जागृत होती है।
- त्रिबन्ध = मूलबन्ध। (जालन्धर बन्ध एवं उड्डियान बन्ध इन तीनो को त्रिबन्ध के नाम से पुकारा जाता है)

16.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

- **बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर –**

(1). ब (2). स (3). अ (4). द

- **रिक्त स्थानों के उत्तर –**

(1). बाहय (2). महाबन्ध (3). तृतीय (4). गुदा, प्रजनन

- **सत्य और असत्य प्रश्नों के उत्तर –**

(1). असत्य (2). सत्य (3). असत्य (4). सत्य

16.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हठप्रदीपिका – स्वात्माराम सूरी,
2. घरेण्ड संहिता – स्वामी निरंजना नन्द,
3. आसन प्राणायाम मुद्राबन्ध – स्वामी सत्यानन्द सरस्वती।

16.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मूलबन्ध के अर्थ को समझाते हुऐ, इसके लाभ तथा सावधानियों का वर्णन करो।
2. जालन्धरबन्घ के अर्थ को बताते हुए इसके लाभ व सावधानियों का वर्णन करों।
3. उड्डियान बन्ध से आप क्या समझते है इसका विधि लाभ व सावधानियो को समझाऐ।
4. हठयोग में वर्णित महाबन्ध की महत्ता पर प्रकाश डालते हुऐ इसका विस्तृत वर्णन करें।

इकाई 17 – हठयोग प्रदीपिका में वर्णित मुद्राओं की विधि सावधानियां व लाभ– महामुद्रा, महावेध, खेचरी मुद्रा

17.1 प्रस्तावना –

हठयोग मे मुद्राओं का अभ्यास साधक को दिव्यशक्ति सम्पन्न बनाने में बहुत ही सहायक होता है। प्राणशक्ति का उच्च प्रवाह साधक की सुषुप्त क्षमताओं को जाग्रत करता है। जिसके फलस्वरूप साधक सामान्य से विशिष्टता की ओर अग्रसित होता चला जाता है।

हठयोग के ग्रन्थों में अनेकों मुद्राओं की चर्चा मिलती है जो योग में आगे बढ़ने वाले जिज्ञासुओं को उसके लक्ष्य तक पहुंचाने में सहायक होती है। जिनमें से हठप्रदीपिका में 10 मुद्राओं का एवं घरेण्ड संहिता में 24 मुद्राओं का वर्णन मिलता है। जिनमें से निम्नलिखित 3 मुद्राओं का वर्णन इस प्रकार से है –

(1) महामुद्रा (2) महाबेधमुद्रा (3) खेचरी मुद्रा

17.2 उद्धेश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप जान पायेंगे महामुद्रा महाबेधमुद्रा एवं खेचरी मुद्रा को किस तरह किया जाता है। उपरोक्त मुद्राओं के अभ्यास से क्या लाभ हैं। उपरोक्त मुद्राओं को करते समय किन–किन बातों का ध्यान रखना चाहिये।

17.3 महामुद्रा

17.3.1 नामकरण – हठयोग में वर्णित समस्त मुद्राओं में श्रेष्ठ होने के कारण इसे महामुद्रा कहा जाता है। महाक्लेश आदि दोष तथा मृत्यु के भय को दूर करने की क्षमता रखने के कारण ही इसे महामुद्रा कहते हैं।

साथ ही महामुद्रा दो शब्दों से मिलकर बनी है–: महा + मुद्रा। महा का अर्थ उच्चतम से लगाया जाता है और मुद्रा का अर्थ मानसिक वृत्ति से। इस प्रकार मानव चेतना को उच्चतम शिखर में गमन करने के कारण इसे महामुद्रा कहते हैं।

17.3.2 सन्दर्भ ग्रन्थ – हठयोग के प्रसिद्ध ग्रन्थ हठप्रदीपिका में तीसरे अध्याय के 9–17 श्लोक तक महामुद्रा का वर्णन किया गया है।

17.3.3 विधि – हठप्रदीपिका में महामुद्रा की विधि इस प्रकार से बताई गई है –: बायें पॉंव की एड़ी से सीवनी को दबायें तथा दाहिने पॉंव को फैलाकर उसे दोनों हाथों से दृढ़ता से पकड़ें। तब जालन्धर–बन्ध करके वायु को ऊपर की ओर ले जाकर कुम्भक करें। जिस

प्रकार डंडे की मार खाकर सांप डंडे की आकृति वाला हो जाता है अर्थात सीधा हो जाता है उसी प्रकार महामुद्रा करने से कुंडलिनी शक्ति सहसा सीधी हो जाती है।

इसके फलस्वरूप दोनों नासापुटों से सम्बन्धित क्रियाशीलता समाप्त प्रायः हो जाती है। इसके बाद साधक को धीरे–धीरे श्वास छोड़ना चाहिये। कभी भी वेग से ना छोड़ें। महासिद्धों द्वारा बताई गई यह महामुद्रा है।

घेरण्ड संहित के तीसरे अध्याय के 29–31 श्लोक में भी इस मुद्रा का वर्णन मिलता है जो इस प्रकार से है–

बाई एड़ी से गुदा प्रदेश को दबाएं और दाहिने पैर को फैलाकर उसकी अंगुलियों को हाथ से पकड़े और कंठ को सिकोडकर भोहो के मध्य पर दृष्टि लगाए रखें। यह महामुद्रा कहलाती है । इसके अभ्यास से कफ, कब्ज, प्लीहा वृद्धि, जीर्ण ज्वर तथा अन्य रोग ठीक होते हैं और शरीर स्वास्थ्य प्राप्त करता है।

उपरोक्त वर्णित विधि को सरल रूप में इस प्रकार से समझा जा सकता है –

- सर्वप्रथम दोनों पैरों को मिलाकर सीधे सामने की ओर सीधा रखकर दोनों हाथों को जंघा के बगल में रखकर दण्डासन की स्थिति में बैठ जाते हैं।
- इसके पश्चात् हाथ की सहायता से बाँयें पैर के पंजे को पकड़के उसकी एड़ी को सीवनी (पेरीनियम) में लगायेंगे।
- दायाँ पैर सीधा सामने की ओर रहेगा।
- उसके बाद नासिका से श्वास बाहर निकालते हुए दोनों हाथ से आगे झुककर दाँयें पैर के पंजे को पकड़ेंगे।
- इसके पश्चात् गर्दन को ऊपर उठाते हुए श्वास को भीतर लेते हैं। जालन्धरबन्ध और मूलबन्ध को लगाते हैं।
- क्षमतानुसार श्वास को भीतर रोकते हैं।
- इसके बाद जालन्धरबन्ध एवं मूलबन्ध छोड़ते हैं। श्वास को धीरे–धीरे बाहर की ओर निकाल देते हैं।
- बाँयी ओर अभ्यास पूर्ण होने के बाद दाहिनी ओर से इसी प्रक्रिया को दोहराते हैं।
- एक बार श्वास को पूरा भीतर की ओर लेने के बाद जब पूर्ण रूप से रेचक किया जाता है तो ये महामुद्रा का एक चक्र होता है।
- घेरण्ड मुनि ने महामुद्रा के अभ्यास में शाम्भवी मुद्रा को भी जोड़ा है। चक्रों में विशुद्धि चक्र, मूलाधार चक्र और आज्ञाचक्र में चेतना को कुम्भक की अवस्था में घुमाने को कहा है।
- प्रारम्भ में अभ्यास को एक तरफ से 3 बार तक दोहराकर दूसरी तरफ से भी 3 बार दोहरायें।
- धीरे–धीरे अभ्यास को क्षमतानुसार बढ़ाया जा सकता है। 3 चक्र से लेकर 12 चक्र तक अभ्यास को बढ़ाया जा सकता है।
- महामुद्रा के अभ्यास में ली जाने वाली शारीरिक अवस्था में यदि अभ्यासी को कठिनाई का अनुभव हो तो ऐसी स्थिति में सिद्धासन में भी इस अभ्यास को किया जा सकता है। ध्यान देने योग्य बात बस ये है कि पैर की ऐड़ी से सीवनी में

उचित दबाव पड़ना आवश्यक होता है। बांकि समस्त श्वास प्रक्रिया, कुम्भक एवं बन्ध का अभ्यास उसी प्रकार से होगा।

17.3.4 सावधानियॉ – महामुद्रा का अभ्यास करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिये–:

महामुद्रा जैसे की नाम से ही स्पष्ट होता है कि मुद्रा में महान है, श्रेष्ठ है। जिस प्रकार इससे होने वाले लाभ अधिक और प्रभावपूर्ण हैं ठीक उसी प्रकार इसके अभ्यास में अनेकों सावधानियाँ भी रखनी आवश्यक होती हैं। जिससे मुद्रा का सही और पूर्ण लाभ प्राप्त किया जा सके। अभ्यास में ध्यान रखने योग्य बातें इस प्रकार से हैं –:

- महामुद्रा का अभ्यास कुशल व्यक्ति के निर्देशन में ही करना चाहिये।
- सुनकर या किताबों से पढ़कर अभ्यास नहीं करना चाहिये, इससे फायदे के स्थान पर नुकसान भी हो जाता है।
- बन्ध एवं प्राणायाम के अभ्यास के बाद ही मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये।
- उच्च रक्तचाप एवं हृदय रोगी को यह अभ्यास को नहीं करना चाहिये।
- खाली पेट ही महामुद्रा का अभ्यास करना चाहिये।
- शुद्धि क्रिया के पश्चात् मुद्रा का अभ्यास करने से अधिक लाभ की प्राप्ति होती है। अन्यथा विजातीय तत्व शारीरिक स्वास्थ्य में हानिकारक प्रभाव डालते हैं।
- महामुद्रा का अभ्यास शरीर में उच्च प्राण शक्ति को प्रवाहित करता है। यह शक्ति शरीर में ऊर्जा बढ़ती है। गर्मी के रूप में हम इस ऊर्जा को अनुभव कर सकते हैं। अतः अभ्यासी को यह अभ्यास गर्मी के दिनों में नहीं करना चाहिये। अत्यधिक ऊर्जा उत्पन्न होने के कारण यह स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव डालती है।

17.3.5 लाभ – महामुद्रा का सही अभ्यास अभ्यासी के लिये बहुत ही लाभप्रद रहता है, अभ्यास से होने वाले लाभ इस प्रकार से हैं–:

- महामुद्रा मनुष्यों को महासिद्धि प्रदान करने में सक्षम है।
- यह पाचन शक्ति की वृद्धि में सहायक है।
- यह मुद्रा भयानक विष को पचाने की शक्ति प्रदान करती है।
- गैस, कब्ज, अजीर्ण, अपच सम्बन्धी रोगों को नष्ट करती है।
- गले सम्बन्धी रोग एवं बुखार में जिसका कारण पाचन तन्त्र की गड़बड़ी रहती है, उसमें भी ये लाभ पहुंचाता है।
- इससे टी0 वी0, कुष्ठरोग आदि रोगों में भी लाभ मिलता है।
- यह क्रिया अनुकम्पी और परानुकम्पी तन्त्रिका तन्त्र के सन्तुलन में सहायक है।
- संवेदी और प्रेरक तन्त्रिका तन्त्रों में इन्द्रियों, शरीर और मस्तिष्क के बीच जो आदान–प्रदान होता है, उसमें शान्ति स्थापित करता है।
- ध्यान की पूर्व तैयारी के रूप में महामुद्रा का अभ्यास बहुत ही लाभप्रद है।

17.4 महावेध मुद्रा

17.4.1 नामकरण – महाबेधमुद्रा मुद्रा तीन शब्दों से मिलकर बनी है। महा+बेध+मुद्रा। महा का अर्थ है श्रेष्ठ या उच्चतम, बेध का अर्थ होता है भेदन करना, मुद्रा का अर्थ परमानन्द की

स्थिति। इस प्रकार महाबेधमुद्रा की प्रकिया में साधक जिस प्रकार एक माला के दानों को सुई से भेदते हुए धागे में पिरोया जाता है ठीक उसी प्रकार से महाबंध मुद्रा में सप्त चक्रों जो कि शरीर में ऊर्जा के केन्द्र के रूप में जाने जाते हैं, का भेदन किया जाता है। यह प्रक्रिया उच्चस्तरीय होती है। और प्रक्रिया की पूर्णता में परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसीलिये इस मुद्रा को महाबंध मुद्रा के नाम से जाना जाता है।

17.4.2 सन्दर्भ ग्रन्थ – हठप्रदीपिका के तृतीय अध्याय के 24–30 श्लोक में तथा घेरण्ड संहिता के तृतीय अध्याय के 41–44 श्लोक में हमें महाबंध मुद्रा का वर्णन मिलता है। जिसमें इनका विस्तार से वर्णन किया गया है। ऋषिमुनियों ने अपने–अपने ढंग से इसकी विधि को समझाया और अपने अनुभवों का वर्णन किया है। हठप्रदीपिका में स्वात्माराम सूरी जी ने महाबेधमुद्रा का वर्णन इस प्रकार से किया है–:

रूपलावण्यसम्पन्ना यथास्त्री पुरूषं बिना
महामुद्रामहाबन्धौ निश्फलौ बेधवर्जितौ।
– (3/24 ह0प्र0)

अर्थात् – जिस प्रकार यौवनसम्पन्न सुन्दरी–स्त्री पुरूष के बिना फल रहित है वैसे ही महामुद्रा और महाबन्ध ये दोनों महाबेध के बिना फलहीन है। महाबेधमुद्रा की विधि का ग्रन्थों में अलग–अलग वर्णन मिलता है।

साधक महाबन्ध लगाकर एकाग्रचित्त हो पूरक करके श्वास–प्रश्वास की गति को कण्ठमुद्रा के द्वारा रोककर दोनों हथेलियों को अच्छी तरह जमीन पर लगाकर नितम्ब को हल्के एवं धीरे से भूमि पर पटकें वायु दोनों पुटों को छोड़कर सुषुम्ना में गतिशील होता है।

इडा–पिंगला और सुषुम्ना के स्पन्दन जब आपस में परस्पर मिलते हैं तब अवश्य ही अमरत्व की प्राप्ति होती है। इसके बाद मृतावस्था की स्थिति उत्पन्न होने पर वायु का रेचन करना चाहिये। घेरण्ड संहिता में महाबेध मुद्रा को इस प्रकार से समझाया गया है–

महाबेधमुद्रा के बिना मूलबंध और महाबंध भी उसी तरह निष्फल है जिस प्रकार पुरूष के बिना स्त्री का रूप, यौवन और लावण्य व्यर्थ है। प्रथम महाबंध का अभ्यास कर उड्डियान बंध करते हुए कुम्भक द्वारा वायु को रोके। यही महाबेध मुद्रा कही गई है। नित्य प्रति महाबेध के साथ महाबंध, मूलबंध करने वाले योगी सब योगियों से श्रेष्ठ माने जाते है। उन्हें वृद्धावस्था नहीं घेरती और न मृत्यु का भय ही होता है। योगियों को इसे गोपनीय रखना चाहिए।

17.4.3 विधि –

उपरोक्त विधि को सरल तरीके से इस प्रकार समझ सकते हैं –

1. सर्वप्रथम दण्डासन की स्थिति में बैठते हैं, इसमें दोनों पैर सीधे सामने की ओर रखते हैं तथा दोनों हाथ जंघा के बगल में, कमर, गर्दन सीधी रहेगी।
2. शारीरिक स्थिति लेने के पश्चात् दोनों हाथों की सहायता से पैरों को मोड़ते हुऐ पदमासन की स्थिति में आयेंगे।
3. इसके लिये पहले बायें पैर को मोड़कर दाहिनी जंघा के ऊपर रखेंगे फिर दायें पैर को मोड़कर बायीं पैर की जंघा के ऊपर रखेंगे।
4. इसके पश्चात् दोनों हाथों की हथेली को जंघा के अगल–बगल स्थित करेंगे। इस स्थिति में अभ्यासी का शरीर पूर्णतः शिथिल और मन शांत रहेगा। आँखें बन्द रहेंगी।
5. श्वास – प्रश्वास की स्थिति सामान्य रहेगी।

6. धीरे से गहरी लम्बी श्वास भीतर की ओर लेंगे। श्वास को भीतर ही रोकेंगे। फिर जालन्धर बन्ध लगायेंगे।
7. इसके पश्चात् हथेली पर शरीर का सारा भार नियन्त्रित करते हुए हाथों की सहायता से पूरे शरीर को ऊपर उठायेंगे।
8. अब बन्ध एवं कुम्भक की स्थिति में ही अपने नितम्बों को जमीन में पटकते हैं। बार–बार नीचे पटककर ऊपर उठाते हैं। इस प्रकार 3 से 7 बार तक इस प्रक्रिया को दोहराया जा सकता है।
9. इस क्रिया को करते समय अपना पूरा ध्यान मूलाधार चक्र पर लगाना चाहिये।
10. क्षमतानुसार क्रिया को दोहराने के पश्चात् विश्राम की स्थिति में आते हैं।
11. शरीर को जमीन में रखते हैं। हाथों का विश्राम देते हैं। जालन्धर बन्ध को छोड़ते हैं। श्वास को बाहर निकालते हैं।
12. इसके पश्चात् सामान्य श्वास–प्रश्वास करते है। ये पूरी प्रक्रिया क्रिया का एक चक्र हुआ।
13. विश्राम के पश्चात् सामान्य स्थिति में आने पर क्रिया का अभ्यास पुनः दोहरायें।
14. इस प्रकार से 3 चक्र तक अभ्यास को किया जा सकता है। धीरे–धीरे अधिकतम 5 चक्र तक इसको बढ़ाया जा सकता है परन्तु इससे ज्यादा अभ्यास करने में हानि हो सकती है।
15. अन्तिम चक्र के पश्चात् विश्राम की स्थिति में आयेंगे।
16. आँखों को खोलेंगे, पैरों को सीधा करेंगे। शवासन की स्थिति में लेट जायेंगे।
17. इसके बाद क्रिया के प्रभाव को अनुभव करेंगे।

17.4.4 महावेधमुद्रा में ली जाने वाली सावधानियॉ –

महाबेधमुद्रा का लाभकारी और शक्तिशाली प्रभाव प्राप्त करने के लिये ये आवश्यक है कि मुद्रा को करते समय कुछ महत्वपूर्ण बातों का ध्यान रखा जाये, जिससे अभ्यासी को क्रिया का पूर्ण फल प्राप्त हो और हानि होने की सम्भावनाऐं भी समाप्त हों। ध्यान रखने वाले महत्वपूर्ण बिन्दु इस प्रकार से हैं –:

1. उच्च रक्तचाप एवं हृदयरोगी इस अभ्यास को न करें।
2. शरीर शुद्धि के बाद ही इस अभ्यास को करना चाहिये। अन्यथा शरीर में फोड़े–फुन्सी आदि समस्या उत्पन्न होने की सम्भावनाऐं बढ़ जाती हैं।
3. गर्मी के दिनों में यह अभ्यास नहीं करना चाहिये।
4. सरवाइकल स्पॉण्डिलाइटिस वाले व्यक्तियों को ये अभ्यास नहीं करना चाहिये।
5. आँतों की सूजन या आँतों से सम्बन्धित रोग वाले व्यक्ति को ये अभ्यास नहीं करना चाहिये।
6. गर्भवती महिलाओं को ये अभ्यास नहीं करना चाहिये।

17.4.5 महाबेधमुद्रा के लाभ – आत्मा से जुड़ने में यह मुद्रा बहुत ही प्रभावकारी और लाभप्रद प्रयोग है। चूंकि बंध शब्द का अर्थ भेदन या छेद करने से लिया जाता है, इसलिये इस मुद्रा में चेतना चक्रों एवं आत्मिक चेतना पथ को बांधा जाता है। इस मुद्रा से प्राप्त होने वाले अन्य लाभ इस प्रकार से हैं–:

1. यह मुद्रा सम्पूर्ण शरीर व मन को स्थिरता व शक्ति प्रदान करती है।
2. यह मुद्रा प्राण का प्रवाह पूरे शरीर में होने में सहायक है।
3. झुर्रीयां, बालों का सफेद होने की समस्या इस मुद्रा से दूर होती है।

4. बुढ़ापा दूर होता है।
5. इसके अभ्यास से साधक मृत्यु पर भी विजय पा लेता है।
6. इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है। पाचन सम्बन्धी गड़बड़ी दूर करने में यह मुद्रा सहायक है।
7. अष्टसिद्धियाँ प्रदान करने में यह मुद्रा सहायक है।
8. नियमित अभ्यास करने वाले के समस्त पाप इससे दूर हो जाते हैं। और वो पुण्यों को प्राप्त करता है।
9. यह मुद्रा मूलाधार चक्र, मणिपुर चक्र एवं विशुद्धि चक्र को विशेष रूप से प्रभावित करती है।
10. ध्यान से पूर्व इस मुद्रा का अभ्यास करने से लाभ मिलता है।
11. यह मुद्रा शारीरिक, मानसिक और प्राणिक स्तर पर बहुत ही प्रभावकारी है।
12. महामुद्रा के साथ महाबंध मुद्रा का अभ्यास करने पर शरीर मन और इन्द्रियों के अन्दर एक नयी शक्ति का प्रवाह होने लगता है।
13. चेतना सूक्ष्म और गहरी हो जाती है।
14. ग्रन्थों में कहा गया है कि जो प्रतिदिन नियमित रूप से महाबन्ध, मूलबन्ध तथा का महाबेध मुद्रा अभ्यास करता है वह योग विशेषज्ञ कहलाता है।

17.5 खेचरी मुद्रा

हम जानते हैं कि हठयोग का उद्‌देश्य राजयोग की प्राप्ति है इसी उद्‌देश्य की प्राप्ति के लिये हठयोग में बताये अनेक साधनों में मुद्राओं का विशेष महत्व है। इसी प्रकार के अन्तर्गत खेचरी मुद्रा इस उद्‌देश्य को प्राप्त करने वाले साधनों में विशेष महत्वपूर्ण साधन है। आइये इसके बारे में विस्तार से जानें :–

17.5.1 नामकरण – खेचरी शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। खे + चरी। खे = शून्य (अलौकिक) चरी = गमन करना। अर्थात जो अलौकिकता की ओर अग्रसर कराये वही मुद्रा खेचरी मुद्रा कहलाती है। खेचरी मुद्रा का वर्णन करते हुए हठप्रदीपिका में कहा गया है कि जीभ को उल्टाकर कपालकुहर में प्रविष्ट करा दें। और तब दृष्टि को भूमध्य में लगाने से खेचरी मुद्रा होती है।

17.5.2 संदर्भ ग्रन्थ – हठयोग के ग्रन्थों में मुद्रा वाले अध्याय के अन्तर्गत हमें खेचरी मुद्रा का वर्णन मिलता है। हठप्रदीपिका के अन्तर्गत तृतीय अध्याय के 31–53 श्लोक में खेचरी मुद्रा का विस्तार से वर्णन मिलता है। साथ ही घेरण्ड संहिता के तृतीय अध्याय के 33–40 श्लोक में भी हमें खेचरी मुद्रा की विधि लाभ सावधानियों के बारे में चर्चा मिलती है। जो इस प्रकार से है–

जीभ को उलटकर कपालकुहर में प्रविष्ट करा दें। और तब दृष्टि को भ्रूमध्य में लगाने से खेचरी मुद्रा होती है। काटना चालन और दोहन इन तीनों क्रियाओ के द्वारा क्रमश जीभ को तब तक बढाते रहना चाहिए जब तक वह भ्रूमध्य को स्पर्श न कर ले। तब खेचरी सिद्ध होती है। थूअर के पत्ते के समान तेज धारवाला स्निग्ध तथा निर्मल अर्थात् कीटाणु रहित शस्त्र लेकर उसके द्वारा जीभ के मूल को बाल भर काटें।

इसके बाद सेंधा नमक तथा हरडे के चूर्ण से जिह्वा का घर्षण करे। सात दिन के बाद पुनः बाल भर काटें। इस क्रम से छहमास तक उक्त विधि से रोजाना अभ्यास करे। इस तरह करने से जिह्वा मूल का शिराबंध हट जाता है। इसके पश्चात् जीभ को उलटकर कपालकुहर में प्रविष्ट कराते हैं यह खेचरी मुद्रा होती है। इसे व्योम चक्र भी कहते हैं ।

घेरण्ड संहिता के तृतीय अध्याय के 33–40 श्लोक में वर्णन इस प्रकार से है–
जिह्वा और जिह्वामूल को मिलने वाली जो नदी जिह्वा के नीचे होती है, उसका छेदनकर जिह्वा के अग्रभाग का निरंतर चालन करें तथा मक्खन लगाकर दोहन करते हुए लोहे की चिमटी से खीचें। रोजाना इसका अभ्यास करने से जिह्वा बढ़ जाती है । उसे इतना लम्बा कर लेना चाहिए की वह भोहो के मध्य तक पहुँच सके। इस प्रकार धीरे–धीरे तालू मूल में प्रविष्ट कराए। जिह्वा को उल्टा करके ऊपर की ओर कपालरंध में ले जाना चाहिए। उस समय दोनों भोहों के मध्य भाग में दृष्टि रखें। यह खेचरी मुद्रा होती है।

17.5.3 विधि – उपरोक्त विधि की विस्तरित व्याख्या –

- सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक (पद्मासन, सिद्धासन, स्वास्तिकासन) आसन में बैठते हैं।
- दोनों हाथ घुटनों के ऊपर रखते हैं।
- आँखें सहजता से बंद करते हैं।
- फिर जिह्वा को मोड़कर सावधानीपूर्वक तालु के ऊपरी छिद्र में प्रवेश कराते हैं।
- यह क्रिया धीरे–धीरे करनी चाहिये।
- इस क्रिया के दौरान मुँह बन्द रहेगा।
- क्रिया की पूर्ण स्थिति में आज्ञा चक्र पर ध्यान एकाग्र रखेंगे।
- पूर्णस्थिति में श्वास की गति सामान्य रहेगी। अभ्यास बढ़ते जाने के साथ–साथ श्वास की संख्या प्रतिमिनट कम होती जायेगी।
- खेचरी मुद्रा का अभ्यास व्यक्ति की क्षमतानुसार हो सकता है। जब तक वह एकाग्रता के साथ स्थिर स्थिति में सुखपूर्वक बैठ सके तब तक अभ्यास कर सकते हैं।
- अभ्यास के अन्त में जिह्वा को धीरे से सीधा करेंगे।
- कुछ देर शांत बैठकर धीरे–धीरे आँखों को खोलेंगे।
- दोनों पैरों को सीधा करेंगे और विश्राम की स्थिति में आयेंगे।

स्वात्माराम सूरी जी ने हठप्रदीपिका के 3/46,47 में कहा है कि –
प्रतिदिन गोमांस का भक्षण करने वाले तथा अमरवारूणी का पान करने वाले को मैं योगी मानता हूँ। उससे अन्य सभी कुलघातक (अयोगी) है।
यहाँ पर गोमांस को इस प्रकार से समझाया गया है। गो अर्थात जीभ, माँस अर्थात जीभ जिस मांसपेशियों द्वारा निर्मित है उसे मांस कहा गया है। भक्षण अर्थात् जीभ का जब कपालगुहा के अन्दर प्रवेश कराया जाता है तो इस प्रक्रिया को भक्षण कहते हैं।
स्पष्टतः हम कह सकते हैं कि गोमांस भक्षण का अर्थ जीभ को कपालगुहा में प्रवेश करने से है, जिसे हम खेचरी मुद्रा कहते हैं। इस प्रकार उपरोक्त पंक्तियों का अर्थ हुआ कि खेचरी मुद्रा करने वाले को योगी और न करने वाले को स्वात्माराम जी ने अयोगी माना है।

खेचरी मुद्रा के अभ्यास से पूर्व तैयारियाँ –

जैसा कि हमने जाना कि खेचरी मुद्रा में जिह्वा को उलटकर कपालकुहर में प्रवेश कराया जाता है। इसके लिये जिह्वा को पहले तैयार किया जाता है उसकी लम्बाई एवं लचीलेपन को बढ़ाया जाता है। महीनों तक चलने वाले पूर्व अभ्यास के पश्चात् ही खेचरी मुद्रा में पूर्णता प्राप्त होती है। प्रक्रिया इस प्रकार से है –

जिह्वा को काटकर चालन एवं दोहन क्रिया के द्वारा लम्बा एवं लचीला बनाया जाता है। काटना – जिह्वा एवं जिह्वा मूल को जोड़ने वाली जो नाड़ी है, उसको काटते हैं। इससे जीभ लम्बी होती है। पहले के समय में काटने के लिये तेज धार वाले पत्ते पेड़ की जड़ का प्रयोग करते थे। जैसे – तेज पत्ता, जिससे कोई हानि नहीं होती थी। ग्रन्थों में बाल के बराबर हल्का सा काटने का विधान बताया गया है। क्रिया के अभ्यास के लिये हर हफ्ते थोड़ा–थोड़ा काटना पड़ता है। चालन– जिह्वा को पकड़कर उसको दायें–बायें, ऊपर–नीचे चलाया जाता है।

दोहन – जिस प्रकार गाय के थन से दूध निकालते समय दबाव के साथ खींचा जाता है, ठीक उसी प्रकार से जिह्वा की भी मालिश की जाती है। सेन्धा नमक एवं हरड़े के चूर्ण से तथा मक्खन, तेल आदि चिकनाई युक्त पदार्थों का प्रयोग इसके लिये किया जाता है। छः महीने तक लगातार काटना, चालन और दोहने से जीभ लम्बी और लचीली हो जाती है साथ ही जीभ के नीचे की जो नाड़ी है वह भी हट जाती है। जिससे जीभ आसानी से कपाल गुहा में प्रवेश कर लेती है।

17.5.4 सावधानियॉ –

- खेचरी मुद्रा के अभ्यास में प्रारम्भ में अभ्यासी कठिनाई का अनुभव कर सकता है परन्तु निरन्तर नियमित अभ्यास से वह क्रिया में पूर्णता प्राप्त करने में सक्षम होता है।
- जीभ या मुंह में कोई रोग होने पर इस अभ्यास को नहीं करना चाहिये।
- जीभ को काटने की प्रक्रिया जानकार व्यक्ति के संरक्षण में ही होनी चाहिये।
- जीभ की दोहन और चालन प्रक्रिया नियम से बिना किसी जल्दबाजी के करनी चाहिये।
- उचित मार्ग दर्शन में ही खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये।
- अगर अभ्यास के समय मुंह के भीतर कड़वे स्वाद जैसी अनुभूति हो तो अभ्यास रोक देना चाहिये। यदि अभ्यास नही रोका तो यह कड़वा स्वाद शरीर के लिये जहर बन सकता है जो कि शरीर को नुकसान पहुँचाता है।
- कड़वा स्वाद अनुभव होने का एक कारण और हो सकता है। यदि हमारे शरीर में विजातीय पदार्थ पूर्ण रूप से साफ नहीं हो रखे हैं तो ऐसी स्थिति में भी कड़वा स्वाद अनुभव होता है। ऐसी स्थिति में हठयोग में वर्णित शुद्धि क्रियाओं का अभ्यास करना चाहिये।
- शुद्धि क्रियाओं को षट्क्रिया के नाम से भी जाना जाता है। इसमें छः प्रकार से शरीर की सफाई की जाती है और शरीर में उपस्थित विजातीय पदार्थों को बाहर निकाला जाता है। इन क्रियाओं से शरीर विकार रहित हो जाता है। खेचरी मुद्रा के अभ्यास के लिये ये आवश्यक है कि अभ्यासी का शरीर विकार रहित हो।
- खेचरी मुद्रा से पूर्व प्राणायाम का अभ्यास इसमें सहायता प्रदान करता है। मुद्रा का अभ्यास श्वासों की मन्दता स्थिरता को दर्शाता है, शरीर और मन शान्त रहे एवं क्रिया उचित रूप से हो इसके लिये प्राणायाम का अभ्यास आवश्यक है।

- ध्यानात्मक आसन का अभ्यास भी इसके लिये आवश्यक है। जब तक एक आसन में स्थिर होकर बैठने का अभ्यास नहीं होगा तब तक खेचरी मुद्रा की उच्च स्थिति में पहुँचना कठिन होता है।

17.5.5 लाभ – ग्रन्थों में खेचरी मुद्रा के लाभों का वर्णन इस प्रकार से किया गया है –

- जो आधे क्षण मात्र भी जीभ को तालु से लगाकर रख लेता है, वह विष, रोग, अकाल मृत्यु एवं बुढ़ापे से मुक्त हो जाता है।
- खेचरी मुद्रा सिद्ध होने से रोग, मृत्यु, आलस्य, निद्रा, मूर्च्छा नहीं सताती है।
- जीभ मोड़ने पर लार ग्रन्थियों से अधिक रस निकलता है जिससे शारीरिक स्वास्थ्य में लाभ पहुँचता है, भूख–प्यास नहीं लगती है।
- खेचरी सिद्ध योगी को रोग नहीं सताते हैं।
- व्यक्ति कर्म बन्धन में नहीं बन्धता।
- ऐसा व्यक्ति जन्म–मरण के चक्रव्यूह से मुक्त हो जाता है।
- खेचरी मुद्रा के द्वारा व्यक्ति अपनी चेतना को कारण शरीर में प्रवेश करा लेता है।
- खेचरी सिद्ध व्यक्ति के शरीर को जल, अग्नि, वायु प्रभावित नहीं करती है।
- यह मुद्रा प्राण–शक्ति का संचय एवं कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करती है।
- सहस्रार से निरन्तर टपकने वाले सोम रस को नाभि मण्डल में गिरकर क्षय होने से बचाने के लिये खेचरी मुद्रा बहुत ही प्रभावकारी प्रक्रिया है। सोमरस रूपी अमृत का पान होने पर साधक को शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तीनों प्रकार के लाभ होते हैं।

खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते हुये जब दोहन आदि क्रियाओं के पश्चात् जीभ को कपाल गुहा में प्रविष्ट कराया जाता है तब वहाँ उपस्थित स्वादग्रन्थियों से स्वाद का अनुभव होने लगता है। जैसे – कड़वा, खारा, मीठा। जब जीभ और भीतर की ओर घुसती है तब दूध, मक्खन आदि जैसा स्वाद जो कि नैसर्गिक स्वाद है, अनुभव होने लगता है।

अभ्यास हेतु प्रश्न

- **बहुविकल्पिय प्रश्न –**

(1) हठप्रदीपिका के कौन से अध्याय में महामुद्रा का वर्णन मिलता है।
(अ) तृतीय (ब) चतुर्थ
(स) द्वितीय (द) इनमें से कोई नही

(2) हठप्रदीपिका के अनुसार महाबन्ध का अभ्यास कौन से बन्ध के साथ किया जाता है।
(अ) जालन्धर बन्ध (ब) मूलबन्ध
(स) मूलबन्ध व उड्डियान बन्ध (द) उपरोक्त सभी के साथ

(3) घेरण्ड संहिता में महावेध मुद्रा का वर्णन मिलता है।
(अ) 41 से 44 (ब) 42 से 45
(स) 40 से 42 (द) 43 से 45

(4) हठप्रदीपिका में खेचरी मुद्रा का वर्णन मिलता है।
(अ) 3/46–47वें श्लोक में (ब) 3/46–49वें श्लोक में
(स) 3/45–47वें श्लोक में (द) इनमें से कोई नहीं

- **रिक्त स्थनों की पूर्ति करो –**

(1) महावेध का वर्णन हठप्रदीपिका के .... श्लोक में मिलता है।
(2) खेचरी मुद्रा सिद्ध होने पर .... रस की प्राप्ति होती है।
(3) घेरण्ड संहिता के अनुसार महामुद्रा का वर्णन .... श्लोक में मिलता है।
(4) हठप्रदीपिका में .... मुद्राओं तथा घेरण्ड संहिता में .... मुद्राओं का वर्णन मिलता है।

- **सत्य और असत्य को चिन्हित करें –**

(1) शुद्धि क्रिया के पश्चात् मुद्रा का अभ्यास करने से अधिक लाभ प्राप्त होता है। (...........)
(2) गर्मी के दिनों में महामुद्रा का अभ्यास अधिक करना चाहिए। (...........)
(3) सरवाईकल स्पाण्डिलाइटिस वाले व्यक्तियो को महामुद्रा का अभ्यास नहीं करना चाहिए। (...........)
(4) हठप्रदीपिका के तीसरे अध्याय के 9–17वें श्लोक तक महामुद्रा का वर्णन मिलता है। (...........)

17.6 सारांश –

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत पाठकों को हठयोग में वर्णित तीन महत्वपूर्ण मुद्राऐं महामुद्रा, महाबेधमुद्रा, एवं खेचरी मुद्रा के बारे में विस्तार से जानकारी दी गई है। इकाई के उद्देश्यों को समझाते हुए इकाई की शुरूआत की गई है। जिसमें प्रारम्भ में महामुद्रा की विधि को समझाया गया है। ग्रन्थों में इसके वर्णन को बताते हुऐ महामुद्रा के लाभ एवं सावधानियों को भी बताया गया है।
इकाई में वर्णित दूसरी मुद्रा महाबेधमुद्रा का विस्तार से वर्णन किया गया है जिसमें इसके नामकरण को समझाते हुऐ ग्रन्थों में कहाँ–कहाँ इस मुद्रा की चर्चा मिलती है इसको स्पष्ट किया गया है। अभ्यासी को इस मुद्रा से क्या लाभ प्राप्त होता है साथ ही किन–किन बातों को ध्यान में रखते हुऐ व्यक्ति को ये अभ्यास करना चाहिये। इन सभी बिन्दुओं पर विस्तार से चर्चा की गई है।
इस इकाई में खेचरी मुद्रा की विधि के अन्तर्गत समझाया गया है, कि किस प्रकार से खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। साथ ही ये भी समझाया गया है कि खेचरी मुद्रा के अभ्यास को करने के लिये पूर्वाभ्यास किस प्रकार से करना चाहिये। जीभ को तालु से लगाने एवं उसे कपालगुहा में भीतर डालने के लिये किस प्रकार की तैयारी की आवश्यकता होती है। साथ ही खेचरी मुद्रा से प्राप्त होने वाले लाभों को भी विस्तार से समझाया गया है। खेचरी मुद्रा के अभ्यास को शुरू करने से पूर्व एवं बाद में बहुत सी बातों का ध्यान रखना भी आवश्यक होता है, जिससे कि मुद्रा का पूरा–पूरा लाभ प्राप्त किया जा सके। इसके अभाव में हानि होने की सम्भावनाऐं अधिक बढ़ जाती हैं।
अतः हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत इकाई की पाठ्य सामग्री में इकाई के समस्त उद्देश्यों की पूर्ति की गई है।

17.7 शब्दावली

- कपालगुहा – तालु के पीछे मस्तिष्क एवं गले तक का भाग
- महा क्लेश – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश नामक 5 क्लेश है जो कि दुःख का कारण है।

- भय – डर
- पाचन शक्ति – भोजन को पचाने वाली शक्ति
- विजातीय पदार्थ – शरीर द्वारा त्याज्य पदार्थ, जो शरीर में रहने पर उसे नुकसान पहुँचाते हैं।
- प्राण – जीवनी शक्ति
- कुम्भक – श्वास को रोकना
- सप्त चक्र – हठयोग में वर्णित सात ऊर्जा केन्द्र व्यक्ति के शरीर में हैं जिन्हें चक्र के नाम से जाना जाता है।
- सुषुम्ना – हठयोग में तीन मुख्य नाड़ियों का वर्णन किया गया है इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना जिनमें सुषुम्ना अतिसूक्ष्म एवं महत्वपूर्ण नाड़ी है।
- रेचन – श्वास बाहर निकालना
- शिथिल – ढीला
- श्वास–प्रश्वास – बाहर की वायु को भीतर लेना और भीतर से वायु को बाहर निकालना
- मूर्च्छा – चक्कर आना
- सहस्रार – 1000 पत्तियों वाला चक्र जिसका स्थान तालु में बताया गया है।

17.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

- **बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर –**

(1). अ (2). अ (3). अ (4). अ

- **रिक्त स्थानों के उत्तर –**

(1) 24–30 (2) सोम (3) 29–31 (4) 10, 24

- **सत्य और असत्य प्रश्नों के उत्तर –**

(1) सत्य (2) असत्य (3) सत्य (4) असत्य

17.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. घेरण्ड संहिता – स्वामी निरन्जनानन्द
2. हठप्रदीपिका – कुवल्यानन्द
3. हठयोग प्रदीपिका – स्वामी मुक्तिबोधानन्द
4. आसन, प्राणायाम, मुद्राबन्ध – स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

17.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. महामुद्रा क्या है? इसके अर्थ व विधि को समझाते हुए इससे मिलने वाले लाभों व सावधानियों पर प्रकाश डालें।
2. महाबेधमुद्रा क्या है? इसके अर्थ को समझाते हुऐ इससे मिलने वाले लाभ व सावधानियों पर प्रकाश डालें।
3. हठयोग ग्रन्थों में वर्णित खेचरी मुद्रा की विधि को विस्तार से समझाते हुए इसकी विधि, लाभ एवं सावधानियों का वर्णन करें।

इकाई 18 — हठयोग प्रदीपिका में वर्णित मुद्राओं की विधि सावधानियाँ एवं लाभ— विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालनी

18.1 प्रस्तावना

हठयोग में योग मुद्राओं की चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं। जिससे पाठक इनके मुद्राओं के व्यवहार से थोड़े परिचित तो हो ही चुके हैं। यौगिक मुद्रा बहुत व्यवहारिक विषय नहीं है। यह गुप्त रखने वाला ज्ञान है जिसे सामान्य व्यक्ति से नहीं बल्कि अनुभवशील व्यक्ति द्वारा ही सीखा जाता है अन्यथा अभ्यासी को शारीरिक मानसिक क्षति होने की सम्भावनाऐं बढ़ जाती हैं।

प्रस्तुत इकाई में आपको विपरीतकरणी मुद्रा, वज्रोली मुद्रा एवं शक्तिचालिनी मुद्रा के बारे में विस्तार से जानकारी दी जा रही है। इन मुद्राओं का शारीरिक मानसिक स्तर पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। इन्हें बहुत ही एकाग्रता एवं स्थिरता के साथ करना चाहिये। इसीलिये हठयोग के कुछ ग्रन्थों में आसन और प्राणायाम के बाद ही मुद्राओं के अभ्यास को करने का विधान बताया गया है। क्योंकि आसन से शारीरिक दृढ़ता एवं प्राणायाम से शरीर में हल्कापन आता है जिनमें शुद्धि क्रियायें भी सहायक होती हैं।

18.2 उद्देश्य

- प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद पाठक जान पायेंगे कि हठयोग के अन्तर्गत वर्णित मुद्राओं में विपरीतकरणी मुद्रा का वर्णन हठयोग ग्रन्थ में कहाँ पर किया गया है।
- विपरीतकरणी मुद्रा को किस प्रकार से किया जाता है।
- विपरीतकरणी मुद्रा को करने से अभ्यासी को क्या लाभ प्राप्त होता है।
- विपरीतकरणी मुद्रा को करते समय किन—किन सावधानियों का ध्यान रखना आवश्यक होता है।
- विपरीतकरणी मुद्रा को इस नाम से क्यों जाना जाता है।
- वज्रोली मुद्रा को किस प्रकार से किया जाता है।
- वज्रोली मुद्रा करने के क्या लाभ हैं।

- हठयोग के ग्रन्थों में इस मुद्रा को करते समय किन–किन बातों का ध्यान रखने को कहा गया है।
- वज्रोली मुद्रा के नामकरण के बारे में।
- ग्रन्थों में कहाँ–कहाँ पर वज्रोली मुद्रा का वर्णन मिलता है।
- शक्तिचालिनी मुद्रा को किस प्रकार से किया जाता है।
- ग्रन्थों में कहाँ–कहाँ पर शक्तिचालिनी मुद्रा का वर्णन मिलता है।
- शक्तिचालिनी मुद्रा के अभ्यास से प्राप्त होने वाले लाभों के बारे में जानकारी।
- शक्तिचालिनी मुद्रा को करते समय ध्यान रखने योग्य बातों के बारे में।
- शक्तिचालिनी मुद्रा को इस नाम से क्यों जाना जाता है।

योग के क्षेत्र में रूचि रखने वाले जिज्ञासुओं को प्रस्तुत इकाई में विपरीतकरणी मुद्रा, वज्रोली मुद्रा एवं शक्तिचालिनि मुद्रा के बारे में विस्तार से जानकारी देकर उनकी जिज्ञासाओं को संतुष्ट करने का प्रयास किया गया है। मुद्राओं का वर्णन इस प्रकार से है –

18.3 विपरीतकरणी मुद्रा

18.3.1 नामकरण – विपरीतकरणी मुद्रा, यह नाम तीन शब्दों से मिलकर बना है – विपरीत + करणी + मुद्रा विपरीत अर्थात उल्टा, करणी अर्थात करना, मुद्रा अर्थात ऐसी शारीरिक स्थिति जिसमें प्रसन्नता की अनुभूति हो।

इस मुद्रा में शरीर की जो सामान्य स्थिति होती है जिसमें पैर नीचे और सिर ऊपर की ओर रहता है इसे उल्टा कर दिया जाता है। इस मुद्रा की पूर्ण स्थिति में अभ्यासी के पैर ऊपर एवं सिर नीचे की ओर करके स्थिर रहकर आनन्द का अनुभव लिया जाता है। इसीलिये इस मुद्रा को विपरितकरणी मुद्रा कहते हैं।

18.3.2 संदर्भ ग्रन्थ – स्वात्माराम जी द्वारा रचित हठयोग प्रदीपिका में तीसरे अध्याय के 76–81 तक विपरीतकरणी मुद्रा का वर्णन किया गया है। साथ ही घरेण्ड मुनि द्वारा रचित घेरण्ड संहिता में तृतीय अध्याय के 45–48 तक हमें इसका वर्णन मिलता है।

हठयोग प्रदीपिका में स्वात्माराम जी के अनुसार सोममंडल से जो दिव्यरूप अमृत स्रावित होता है उन सब को सूर्य खा जाता है। इससे शरीर में बुढापा आता है। उसके निवारणार्थ एक क्रिया होती है, जिससे सूर्य के मुख में उस स्राव का जाना टल जाता है। वह क्रिया गुरू के द्वारा ही जानी जा सकती है न कि करोड़ों शास्त्रार्थ से । नाभि को ऊपर और तालु को नीचे करने से सूर्य मंडल ऊपर और सोममंडल नीचे हो जाता है । इसे ही विपरीतकरणी कहते हैं, जिसे गुरू से ही सीखना चाहिए।

घेरण्ड संहिता में घेरण्ड मुनि जी के अनुसार नाभिमूल में सूर्य नाड़ी और तालू में चन्द्र का वास है। सूर्य द्वारा चन्द्र से स्रावित अमृत का पान करने से प्राणी की मृत्यु होती है परन्तु चन्द्र नाड़ी के अमृत पान करने पर मृत्यु का भय नहीं रहता। अतएव सूर्य को ऊपर और चन्द्र को नीचे कर लें। यही विपरीतकरणी मुद्रा है जो सब प्रकार से गोपनीय है। सिर को भूमि में लगाकर दोनों हाथ टेकें और दोनों पावों को ऊपर उठाकर कुम्भक के द्वारा वायु को रोकें ये ही विपरीत करणी मुद्रा है। इसका नित्य अभ्यास करने से वृद्धावस्था और मृत्यु नष्ट हो जाती है। इसका नित्य अभ्यास करने वाला सब लोकों में सिद्धि सम्पन्न एवं प्रलयकाल मैं भी दुखित नहीं होता ।

18.3.3 विधि – सरल भाषा में विधि को इस प्रकार से समझा जा सकता है –

1. सर्वप्रथम पीठ के बल सीधे लेट जाते हैं।
2. दोनों पैरों को आपस में मिलाकर रखते हैं। दोनों हाथों को जंघा से सटाकर रखते हैं।
3. हथेली जमीन की ओर रखते हैं।
4. धीरे–धीरे श्वास को भीतर की ओर भरते हैं।
5. फिर श्वास को भीतर ही रोक कर दोनों पैरों को एक साथ धीरे–धीरे ऊपर की ओर उठाते हैं। क्रमशः इस प्रकार से – 45, 60, 90 अंश के कोण में।
6. इसके पश्चात् दोनों हथेलियों की सहायता से नितम्बों को ऊपर की ओर उठाते हैं।
7. कोहनियों को मोड़कर हथेलियों की सहायता से नितम्बों को सहारा देंगें ताकि पैरों का हवा में संतुलन बना रहे।
8. दोनों पैरों को थोड़े खिंचवा के साथ सीधा करते हुए सिर की तरफ थोड़ा झुकाकर रखेंगे ताकि आँखों की सीध में पैर आ जाये।
9. पूर्ण स्थिति में आँखें बन्द रखेंगे।
10. शारीरिक स्थिति लेने के बाद उसी में स्थिर रहेंगे, श्वास बाहर निकालेंगे।
11. इसके पश्चात् शरीर के भीतर स्थित चक्रों पर एकाग्रता बनायेंगे।
12. श्वास लेते हुऐ मणिपुरचक्र से विशुद्धि चक्र पर चेतना को ले जाते हैं।
13. श्वास छोड़ते समय विशुद्धि चक्र से आज्ञा चक्र पर चेतना को ले जाते हैं।
14. इस प्रकार श्वास एवं प्रश्वास की क्रिया पर चेतना की गति ऊपर की ओर ही बढ़ती रहेगी।
15. मुद्रा के अभ्यास के दौरान पूर्ण एकाग्रता चक्रों पर बनाकर ही रखते हैं।
16. पूर्ण शारीरिक स्थिति में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि ठुड्डी कण्डकूप से न लगे अर्थात् विपरितकरणी मुद्रा में जालन्धर बन्ध नहीं लगेगा।
17. प्रारम्भ में 5 से 7 बार तक अभ्यास को दोहराया जा सकता है। फिर धीरे–धीरे कुछ महीनों के अभ्यास के बाद 21 बार तक मुद्रा की आवृत्ति की जा सकती है।
18. साथ ही उज्जायी प्राणायाम एवं खेचरी मुद्रा के अभ्यास को भी जोड़ देते हैं।
19. मुद्रा के अभ्यास के पश्चात् श्वास को भीतर ही रोककर अर्थात् अन्तःकुम्भक के साथ पैरों को धीरे–धीरे नीचे रखेंगे। इसके लिये पहले कमर फिर नितम्ब फिर पैरों को नीचे लायें।
20. पैरों को नीचे रखने के पश्चात् श्वास पूर्णतः बाहर निकालेगे।
21. इसके पश्चात् शरीर को पूर्णतः ढीला छोड़ते हैं, फिर शवासन की स्थिति में विश्राम करते हैं।
22. ध्यान के अभ्यास से पूर्व विपरितकरणी मुद्रा का अभ्यास लाभदायक होता है।

18.3.4 सावधानियाँ – विपरीतकरणी मुद्रा के अभ्यास से अभ्यासी को जितना लाभ मिलता है यदि वह कुछ बातों का ध्यान न रखे तो लाभ के स्थान पर हानि होने की सम्भावनाऐं भी बढ़ जाती हैं। इसलिये अभ्यास के दौरान निम्नलिखित बातों का विशेष ध्यान रखना अत्यावश्यक है –:

1. उच्च रक्तचाप एवं हृदयरोगी इस अभ्यास को न करें।
2. थायरायड की समस्या से ग्रसित व्यक्ति इस अभ्यास को न करे।
3. अस्वस्थ स्थिति में विपरितकरणी मुद्रा का अभ्यास नहीं करना चाहिये।

4. शरीर में विजातीय पदार्थों की वृद्धि होने पर इसका अभ्यास नहीं करना चाहिये।

18.3.5 लाभ – विपरीतकरणी मुद्रा के अभ्यास का विशेष महत्व इस प्रकार से है –:
इस मुद्रा में चक्रों का विशेष महत्व है। मुख्यतः तीन चक्रों पर ध्यान को विशेष रूप से एकाग्र किया जाता है – मणिपुर चक्र, विशुद्धि चक्र, बिन्दु चक्र।
मणिपुर चक्र सूर्य का केन्द्र स्थान माना जाता है। और बिन्दु चक्र चन्द्र का केन्द्र स्थान माना जाता है। हठयोग में कहा जाता है कि चन्द्र मण्डल से निरन्तर अमृत रस टपकता रहता है जो सूर्य मण्डल में गिरने से भस्म हो जाता है, जिसके कारण उसका पूर्ण लाभ व्यक्ति को प्राप्त नहीं होता। विपरितकरणी मुद्रा में जब पैरों को ऊपर करके शरीर को उल्टा किया जाता है तब सूर्य मण्डल के ऊपर होने से चन्द्र मण्डल से गिरने वाले अमृत रस की क्षति समाप्त हो जाती है। और व्यक्ति को उसका पूरा–पूरा लाभ प्राप्त होता है।

1. विपरीतकरणी मुद्रा का नियमित अभ्यास पाचन शक्ति को बढ़ाता है।
2. यह क्रिया सूक्ष्म शरीर को पवित्र करने में भी सहायक है।
3. यह अभ्यास झुर्रियों को दूर करता है।
4. बाल काले होते हैं।
5. तीन घंटे प्रतिदिन इसका अभ्यास करने से अभ्यासी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।
6. इससे बुढ़ापा नहीं आता।
7. यह अभ्यास बवासीर, कब्ज, हर्निया में लाभ पहुँचाता है।
8. मस्तिष्क में रक्त के संचार को बढ़ाता है।
9. नाड़ियों में प्राण के प्रवाह को बढ़ाने में यह अभ्यास लाभदायक होता है।
10. इस मुद्रा का अभ्यास सन्तुलन उत्पन्न करता है, जिससे शारीरिक व मानसिक स्तर पर लाभ मिलता है।

18.4 ब्रजोली मुद्रा

18.4.1 नामकरण –

हठयोग में नाड़ियों का विशेष महत्व है। हजारों लाखों नाड़ियों का वर्णन हमें हठयोग में मिलता है जिनमें प्रमुख सुषुम्ना नाड़ी के भीतर भी तीन नाड़ियों की उपस्थिति बताई गई है –: वज्रानाड़ी, चित्रानाड़ी, ब्रह्मनाड़ी। वज्रोली मुद्रा वज्रा नाड़ी से सम्बन्धित होती है। इसीलिये इस क्रिया को वज्रोली मुद्रा कहा जाता है।

18.4.2 सन्दर्भ ग्रन्थ – स्वात्माराम सूरी जी द्वारा हठयोगप्रदीपिका में तृतीय अध्याय के 82–89 श्लोक में वज्रोली मुद्रा का वर्णन इस प्रकार से मिलता है।
योगशास्त्र के नियमों के बिना भी स्वेच्छा से रहने वाला साधक यदि वज्रोली मुद्रा को जनता है तो वह योग में सफलता को प्राप्त कर लेता है। उस प्रक्रिया में जिस किसी के लिए दुर्लभ दो वस्तु रखी जाती है। पहला सोममंडल का स्राव और दूसरा स्वाधीन नाड़ी अर्थात चित्रा नाड़ी। धीरे–धीरे अच्छी तरह से योनी मंडन का आकुंचन करना चाहिए ऐसा करने से पुरूष अथवा नारी दोनों ही वज्रोली का फल प्राप्त करते हैं। यत्न पूर्वक अच्छी नली से फुत्कार के साथ मूत्र मार्ग में वायु का प्रवेश कराए। इस प्रकार धीरे–धीरे करने से भीतर वायु का संचार होगा। योनी मंडल में आकर गिरने वाले बिंदु को अभ्यास के द्वारा ऊपर उठाए और उस चलायमान बिंदु को ऊपर ही खींचकर रखें। इस प्रकार बिंदु की रक्षा करने वाला योग का जानकार साधक मृत्यु को जीत लेता है। बिंदु का क्षरण ही मृत्यु है

और बिंदु की रक्षा ही जीवन है। साथ ही घेरण्ड मुनि द्वारा रचित घेरण्ड संहिता में तृतीय अध्याय के 57–60 श्लोक में वज्रोली मुद्रा का वर्णन इस प्रकार से मिलता है –

दोनों हाथों को दृढ़ता पूर्वक धरती पर टेकें और दोनों पैरों तथा सिर को आकाश में उठा दें। ज्ञानियों ने इसे शक्ति संचार करने वाली तथा जीवन प्राप्त करने वाली वज्रोली मुद्रा कहा है। यह मुद्रा योगियों के लिये मुक्ति देने वाली हितकारिणी सिद्धिदायिनी तथा श्रेष्ठ है। इसके प्रसाद से बिन्दु सिद्ध होने के कारण साधक उर्ध्वरेतस तत्व में समर्थ होता है और जब सिद्धि प्राप्त कर ली जाती है तब पृथ्वी पर कौन सा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता यदि भोगी मनुष्य भी इस मुद्रा का साधन करें तो उन्हें सभी सिद्धियां मिल जाती हैं।

यहाँ पर विस्तार से वज्रोली मुद्रा की विधि, लाभ एवं अभ्यास के दौरान रखने वाली सावधानियों के बारे में चर्चा मिलती है।

18.3.1 विधि –

1. सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठ जाते हैं।
2. दोनों हाथ घुटनों के ऊपर रखते हैं।
3. शरीर को तनाव रहित रखते हैं।
4. इसके पश्चात् नेत्रों को सहजता से बन्द करते हैं।
5. श्वास–प्रश्वास को सामान्य बनाये रखते हैं।
6. प्रारम्भिक अभ्यास में निम्न उदर प्रदेश पर तनाव लाते हुए तथा मूत्र प्रणाली का संकोच करते हुए प्रजनन अंगो को ऊपर की ओर खींचते हैं।
7. प्रारम्भिक अभ्यास के पश्चात अभ्यास की पूर्णता आने पर नली से मूत्र मार्ग में वायु का प्रवेश कराते हैं। इस प्रकार धीरे–धीरे करने से भीतर वायु का संचार होता है।

हठप्रदीपिका में बताया गया है कि योनिमण्डल में आकर गिरने वाले सोमस्राव को अभ्यास के द्वारा ऊपर उठाकर उसे ऊपर ही खींचकर रखते हैं।

नोट – :

1. आसन प्राणायाम मुद्राबन्ध नामक पुस्तक में वज्रोली मुद्रा के अभ्यास के अन्तर्गत मूत्र नली में लगभग 12 इंच लम्बी चाँदी की नली का प्रवेश कराने को कहा गया है।
2. फिर इस नलिका से पानी, मधु और पारा ऊपर खींचने को कहा गया है।
3. घेरण्ड संहिता में घेरण्ड मुनि ने ब्रह्मचर्य आसन में इस मुद्रा का अभ्यास करने की बात बताई है।
4. इसमें दोनों पैरों को सीधा सामने की ओर मिलाकर रखते हैं।
5. दोनों हाथों को नितम्बों के पास रखते हैं।
6. सिर गर्दन एवं कमर एक सीध में रखते हैं।
7. तत्पश्चात् पूरे शरीर को हाथों की सहायता से जमीन से ऊपर उठा लेते हैं।
8. इस स्थिति में मूलबन्ध दृढ़ता के साथ स्वतः ही लग जाता है। और दृढ़ता से लगा मूलबन्ध वज्रनाड़ी पर प्रभाव डालती है।

18.4.4 लाभ – वज्रोली मुद्रा का अभ्यास अत्यन्त गोप्य विधि द्वारा किया जाता है। इससे प्राप्त होने वाले लाभों का वर्णन इस प्रकार से है –:

1. प्रजनन अंगो में प्राण ऊर्जा का समुचित प्रवाह होता है।
2. अभ्यासी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। व्यक्ति का मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। जिसे क्लेश के रूप में योग सूत्र में भी समझाया गया है।

3. साधक की अकाल मृत्यु नहीं होती है।
4. बिन्दु धारण से साधक के शरीर में सुगन्ध उत्पन्न होती है।
5. वीर्य शक्ति पर नियन्त्रण प्राप्त कर साधक ओज युक्त होता है।
6. स्वप्नदोष समाप्त होता है। इन्द्रियों पर नियन्त्रण होता है।
7. चक्रों की शक्ति बढ़ती है।
8. कहा गया है कि इन्द्रिय सुख लोलुपता अत्यधिक रहने पर भी इन्द्रिय सुख के पीछे भागते रहने पर भी इस मुद्रा के अभ्यास से सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं।
9. यह मुद्रा ब्रह्मचर्य के पालन के लिये बहुत ही उपयोगी क्रिया विधि है।

18.4.5 सावधानियां –

वज्रोली मुद्रा का अभ्यास सामान्यतः बहुत व्यवहारिक अभ्यास नहीं है। यह बहुत ही गुप्त विद्या है। इस क्रिया को केवल सुनकर या पढ़कर नहीं करना चाहिये। योग्य व्यक्ति के निर्देशन में यह अभ्यास करना आवश्यक है। कुछ और विशेष सावधानियाँ इस अभ्यास में आवश्यक हैं जिनसे अभ्यासी को लाभ पहुँचेगा। जिनका वर्णन इस प्रकार से है –ः

1. अभ्यास की अवधि को धीरे–धीरे बढ़ाना चाहिये।
2. क्षमतानुसार अभ्यास करना चाहिये।
3. प्रजनन अंगों के रोग से पीड़ित व्यक्ति इस अभ्यास को न करे।
4. उत्सर्जन तन्त्र सम्बन्धी गड़बड़ी वाले व्यक्ति भी इस अभ्यास को न करे।
5. हृदयरोगी एवं उच्च रक्तचाप वाले व्यक्तियों को ये अभ्यास नहीं करना चाहिये।
6. हार्निया, बवासीर रोग से ग्रसित व्यक्ति भी इस क्रिया का अभ्यास न करे।
7. अनुभवी एवं योग्य व्यक्ति के निर्देशानुसार उसके संरक्षण में ही इस क्रिया का अभ्यास करना उचित रहता है।
8. अभ्यास करते समय पूरी एकाग्रता स्वाधिष्ठान चक्र पर लगाकर रखनी चाहिये।
9. अभ्यास के दौरान प्रयोग की जाने वाली सामग्री शुद्ध एवं उचित होनी चाहिये।
10. अभ्यास करते समय जल्दबाजी बिल्कुल नहीं करनी चाहिये।

18.5 शक्तिचालिनी मुद्रा

18.5.1 नामकरण – शक्तिचालिनी मुद्रा का वास्तविक अर्थ कुण्डलिनी शक्ति के चालन से है। इस मुद्रा में कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर उसका चालन किया जाता है इसलिये इस मुद्रा को शक्तिचालिनी मुद्रा कहते हैं।

स्वात्माराम सूरी जी द्वारा रचित हठप्रदीपिका के तृतीय अध्याय के 100–118 श्लोक तक हमें शक्तिचालिनी मुद्रा का वर्णन इस प्रकार से मिलता है –

वज्रासन में बैठकर दोनों हाथों से दोनों पावों के टकनों को दृढ़ता से पकड़े और उससे कंद को जोर से दबायें। साधक वज्रासन पर बैठकर कुंडलिनी को चलाने की क्रिया करे। अनन्तर भस्त्रिका कुम्भक करें। इससे कुंडलिनी शीघ्र जगती है।

साथ ही घेरण्ड मुनि द्वारा रचित घेरण्ड संहिता के तृतीय अध्याय के 61–72 श्लोक तक शक्तिचालिनी मुद्रा का वर्णन इस प्रकार से मिलता है –

बालिस्तभर चौड़ा चार अंगुल लंबा कोमल वस्त्र नाभि पर लगाकर कटिसूत्र से बांधें। शरीर में भष्म लगाकर सिद्धासन पर बैठें और प्राण को खींचकर अपान से उक्त करें। जब तक सुषुम्ना द्वारा से चलती हुई वायु प्रकाशित न हो तब तक अश्विनी मुद्रा द्वारा गुह्य को

संकुचित करें । इस प्रकार वायु से रूकने से कुम्भक द्वारा सर्प रूपिणी कुंडलिनी जाग्रत होकर मार्ग में ऊपर खड़ी हो जाती है। मूलाधार में जो कुंडलिनी साढ़े तीन फेरा लगाए हुए सर्पिणी के रूप में सो रही है उसके सोते रहने पर जीव पशु की अवस्था में रहता है। इसलिए जब तक ज्ञान उत्पन्न न हो तब तक अभ्यास करते रहना चाहिए। जिस प्रकार कुंजी से ताला खुलने पर ही किवाड़ खुलता है उसी प्रकार कुंडलिनी के जागृत होने पर ही ब्रह्मरन्ध्र खुल सकता है। नाभि को वस्त्र से लपेटकर एकांत में इसका अभ्यास करें। नग्न रहकर बाहर इस मुद्रा का अभ्यास निषिद्ध है।

शक्तिचालिनी मुद्रा के अभ्यास के बिना योनिमुद्रा सिद्ध नहीं हो सकती। पहले इस शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास करें, फिर योनी मुद्रा का। हे चण्डकपाल ! इस प्रकार यह शक्तिचालिनी मुद्रा जो मैंने कही है इसे प्रयत्न पूर्वक गोपनीय रखते हुए नित्य प्रति अभ्यास करें। जो भी इसका अभ्यास करता है उसे विग्रह सिद्ध सहित सर्व सिद्धियां प्राप्त होती हैं और सभी रोगों का नाश होता है।

18.5.3 विधि –

1. सर्वप्रथम दण्डासन की स्थिति में बैठते हैं।
2. दोनों पैर सीधे सामने की ओर दोनो पैर आपस में मिलाकर रखते हैं।
3. दोनों हाथों को नितम्बों के बगल में रखते हैं।
4. कमर गर्दन एक सीध में रखते हैं।
5. इसके पश्चात् दोनों हाथों को दायें नितम्ब के पास रखते हैं।
6. दोनों पैरों को घुटनो से मोड़कर ऐड़ियों को नितम्बों के नीचे लाते हैं।
7. वज्रासन की स्थिति में बैठते हैं।
8. वज्रासन की स्थिति में दोनों अंगुठों को आपस से मिलाकर रखते हैं। दोनों ऐड़ियों को नितम्बों के बगल में फैलाते हैं, सामने से दोनों घुटनों को आपस में मिलाकर रखते हैं। कमर गर्दन सीधी रखते हैं।
9. वज्रासन में स्थित होने के पश्चात अश्विनि मुद्रा व मूलबन्ध का अभ्यास करते हैं।
10. तत्पश्चात् दोनों हाथों से दोनों पाँवों के टखनों को दृढ़ता से पकड़ते हैं।
11. फिर कन्द को जोर से दबाते हैं। (कन्द का स्थान मूल स्थान से 9 इंच ऊपर बताया गया है। यह 3 इंच विस्तार वाला, कोमल, सफेद तथा वस्त्र में लिपटा हुआ जैसा प्रतीत होता है।)
12. इसके पश्चात् भस्त्रिका प्राणायाम करने का विधान बताया गया है।
13. इसी के साथ–साथ नाभि मण्डल को जाग्रत करने वाली अन्य क्रियाओं के अभ्यास को करने का विधान भी ग्रन्थों में बताया गया है।

जैसे – उड्डियान बन्ध, नौलि। ये क्रियाऐं मणिपुर चक्र को जाग्रत करती हैं। इन क्रियाओं का सीधा प्रभाव सूर्य चक्र पर पड़ता है। यह सुषुम्ना के मार्ग को खोलता है।

बाह्य कुम्भक के साथ ये अभ्यास किया जाता है। क्षमतानुसार यह अभ्यास करना चाहिये। इन क्रियाओं के अभ्यास में मूलबन्ध स्वतः ही लग जाता है। चूंकि कुण्डलिनी शक्ति का स्थान मूलाधार चक्र हो तो ये क्रिया इसमें सहायक भी होती है।

14. इस प्रकार क्रिया करके सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति पर दबाव पड़ता है और वह सुषुप्त शक्ति जाग्रत होकर सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है। और उर्ध्वगामी होकर सहस्रार में शिव स्थान में जाकर शिव से मिल जाती है।

15. प्रारम्भ में इस प्रक्रिया को प्रतिदिन करते हैं। फिर लम्बे अभ्यास के बाद परम स्थिति (पूर्णावस्था) की प्राप्ति सम्भव हो पाती है।

नोट – घेरण्ड संहिता में 9 इंच लंबा और चार अंगुल चौड़ा नरम सफेद कपड़ा नाभि पर पतले धागे से बाँधकर शरीर में भस्म लगाकर सिद्धासन में बैठकर दीर्घ पूरक कर पेट में श्वास भरने को कहा गया है।

तत्पश्चात् उड्डियान बन्ध करके अप्राण वायु को प्राण वायु से मिलाने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार से अभ्यास करने से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है।

18.5.4 सावधानियाँ – शक्तिचालिनी मुद्रा कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने की विधि है। यह सामान्य प्रक्रिया नहीं है। इस प्रक्रिया में बातों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। अन्यथा अभ्यासी को परम हानि का सामना भी करना पड़ सकता है। क्रिया के दौरान ध्यान रखने योग्य बातें इस प्रकार से हैं–:

1. अभ्यास खाली पेट करना चाहिये।
2. रोगयुक्त स्थिति में अभ्यास नहीं करना चाहिये।
3. हृदयरोगी, उच्च रक्तचाप, निम्न रक्तचाप वालों को ये अभ्यास नहीं करना चाहिये।
4. उदर सम्बन्धी रोगों से पीड़ित व्यक्ति इसका अभ्यास न करें।
5. फेफड़े सम्बन्धी रोगी इस अभ्यास को न करें।
6. कमजोर व्यक्तियों के लिये तथा टी0 बी0 के रोगी को भी यह अभ्यास नहीं करना चाहिये।
7. घेरण्ड संहिता में बताई गई विधि के अनुसार खुले बदन शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास नहीं करना चाहिये।
8. वस्त्र को लपेटकर एकान्त में बैठकर शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये।
9. शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिये तभी इसका पूरा लाभ प्राप्त होता है।

18.5.5 लाभ – शक्तिचालिनी मुद्रा हठयोग में वर्णित विभिन्न मुद्राओं में विशेष मुद्रा है। यह मुद्रा हठयोग के परम लक्ष्य कुण्डलिनी शक्ति जागरण में सहायक होती है। इसके अन्य लाभ इस प्रकार से हैं।

1. शक्तिचालिनी मुद्रा सुषुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत कर उर्ध्वगामी बनाती है।
2. पाचन संस्थान को सुचारूता प्रदान करती है।
3. इस क्रिया के अन्तर्गत की जाने वाली उड्डियान बन्ध, मूलबन्ध, अश्विनी मुद्राओं के पूर्ण लाभ प्राप्त होते हैं।
4. दीर्घ पूरक, रेचक फेफड़ों की क्रिया क्षमता को बढ़ाता है।
5. यह क्रिया चेतना को उच्चस्तरीय गति प्रदान करती है।
6. चक्रों के जागरण की प्रक्रिया भी इस मुद्रा द्वारा सम्भव है।
7. सुषुम्ना के अन्दर प्रवाहित होने वाली कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने से पूर्व शक्ति के प्रवाह के लिये सूक्ष्मस्तरीय चक्र, नाड़ियों की शुद्धि भी स्वतः होती चली जाती है।
8. इस अभ्यास से व्यक्ति सामान्य से विशिष्ट बन जाता है।
9. व्यक्ति में मृत्यु को जीत लेने की शक्ति आ जाती है।
10. व्यक्ति में मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। पंचतत्वों से निर्मित नाशवान शरीर और ब्रह्माण्ड में स्थित पंचतत्वों का रहस्य वह जान लेता है।

11. मूलाधार एवं मणिपुर चक्र की जाग्रति व्यक्ति में दिव्य ज्ञान का प्रवाह कर देती है।
12. शक्तिचालिनी की मुद्रा से साधक को सिद्धियाँ प्राप्ति होती हैं।
13. ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, पथ्यकारक भोजन करने वाले, सन्तुलित भोजन करने वाले, तथा शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास करने वाले साधक को 40 दिन में सिद्धि प्राप्ति के लक्षण दिखने लगते हैं।
14. कुण्डलिनी शक्ति के प्रतिदिन चालन से साधक के रोग समाप्त हो जाते हैं।
15. इस अभ्यास से समस्त नाड़ियों की शुद्धि होती है। 72000 नाड़ियों में प्राण प्रवाह उचित ढंग से होने लगता है। इसी प्रभाव के कारण कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश करने में सक्षम हो पाती है। अन्यथा ये सम्भव न था।

अभ्यास हेतु प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न –

(1) निम्न में से किस मुद्रा का वर्णन हठप्रदीपिका में प्राप्त होता है
 (अ) विपरिकरणी (ब) वज्रोली
 (स) शक्तिचालिनी (द) उपरोक्त सभी

(2) हठप्रदीपिका में विपरितकरणी मुद्रा का वर्णन कौन से श्लोक में मिलता है।
 (अ) 45 से 46वें (ब) 46 से 47वें
 (स) 45 से 48वें (द) इनमें से कोई नही

(3) हठप्रदीपिका में वज्रोली मुद्रा का वर्णन मिलता है।
 (अ) 82 से 89वें श्लोक में (ब) 90वें श्लोक में
 (स) 81वें श्लोक में (द) उपरोक्त में से किसी में नहीं

(4) वज्रोली मुद्रा का अभ्यास निम्न रोग में निषेध है।
 (अ) हर्निया व वबासीर में (ब) हृदय रोग में
 (स) प्रजनन सम्बन्धी रोग में (द) उपरोक्त सभी में

रिक्त स्थनों की पूर्ति करो –

(1) हठप्रदीपिका में शक्तिचालिनी का वर्णन .... श्लोक में मिलता है।
(2) शक्तिचालिनी के अभ्यास के बिना .... मुद्रा सिद्ध नहीं हो सकती है।
(3) विपरितकरणी मुद्रा में .... बन्ध नहीं लगता है।
(4) विपरितकरणी मुद्रा में क्रमशः ...., ... व .... चक्र पर ध्यान किया जाता है।

सत्य और असत्य को चिन्हित करें –

(1) विपरितकरणी मुद्रा में हमारे शरीर की स्थिति विपरित हो जाती है। (...........)
(2) वज्रोली मुद्रा ब्रहमचर्य के पालन के लिए बहुत ही उपयोगी किया है। (...........)
(3) वज्रोली मुद्रा वज्रा नाड़ी से सम्बन्धित नहीं है। (...........)
(4) घेरण्ड संहिता में शक्तिचालिनी मुद्रा का वर्णन 61 से 72वें श्लोक में किया है। (...........)

18.6 सारॉश

प्रस्तुत इकाई में आपने जाना कि हठयोग जो कि राजयोग की प्राप्ति में सीढ़ी की तरह काम करने वाला एक साधन रूप योग साधना है, इसमें किस प्रकार से मुद्राओं का वर्णन किया गया है। वैसे यदि देखा जाये तो हठयोग में मुद्राबन्ध के अन्तर्गत कहीं पर 24 की

संख्या तो कहीं पर 10 की संख्या में मुद्राओं का वर्णन मिलता है। संख्या में भिन्नता होने के बावजूद भी हठयोग के अभ्यास में मुद्राओं का विशेष महत्व है। इसके अभाव में हठयोग में पूर्णता प्राप्त करना कठिन ही नहीं असम्भव सा लगता है।

प्रस्तुत इकाई में वर्णित विपरीतकरणी मुद्रा, वज्रोलीमुद्रा एवं शक्तिचालिनी मुद्रा ये तीनों अपने आप में विशिष्ट मुद्रा हैं। यह बहुत व्यवहारिक तो नहीं हैं लेकिन इनका प्रभाव बहुत सूक्ष्म और फलदायी है। बिना योग्य गुरू के संरक्षण के ये कठिन एवं रहस्यमय अभ्यास सम्भव नही हैं। इसके अभ्यास के लिये अनुभवी गुरू का मार्गदर्शन अत्यन्त आवश्यक है। केवल सुनकर या पढ़कर इन अभ्यासों को करना हानिकारक भी हो सकता है।

प्रस्तुत इकाई में आपको विस्तार में तीनों मुद्राओं की जानकारी दी गई है। जिसमें मुद्रा के नामकरण विधि, लाभ एवं अभ्यास में रखने वाली सावधानियों के बारे में विस्तार से समझाया गया है। साथ ही हठयोग के ग्रन्थों में कहां पर इन मुद्राओं की चर्चा हमें मिलती है इस बारे में भी समझाया गया है। भिन्न–भिन्न ग्रन्थों एवं लेखकों के अपने व्यक्तिगत अनुभव होते हैं, जिसके कारण हमें क्रियापद्धति में भिन्नता देखने को मिल जाती है। प्रस्तुत इकाई में इस भिन्नता को भी स्पष्ट करके बताया गया है।

प्रस्तुत इकाई में पाठकों की समस्त जिज्ञासाओं का समाधान करने का प्रयास किया गया है। विषय से अनभिज्ञ नये व्यक्ति इस इकाई से विषय के बारे में उसकी महत्ता के बारे में जान पायेंगे।

18.7 शब्दावली

- श्वास – नासिका द्वार से बाहरी वायु को भीतर लेना।
- प्रश्वास – भीतर की वायु की बाहर निकालना
- दृढ़ता – मजबूती
- जिज्ञासा – जानने की इच्छा
- जिज्ञासु – जानने की इच्छा रखने वाला
- पूर्णतः – पूरी तरह से
- संकोच – सिकोड़ना
- ओज – तेज
- लोलुप्ता – लालच
- दीर्घपूरक – लम्बी श्वास भीतर लेना
- उर्ध्वगामी – ऊपर की ओर गति करने वाली
- पंचतत्व – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (5 तत्व)
- सक्षम – समर्थ
- कुण्डलिनी – शक्तिचालिनी मुद्रा के अन्तर्गत कुण्डलिनी शक्ति को जानना अत्यन्त आवश्यकता है।
- स्वप्नदोष – सामान्य रूप से यह पुरूषों को होता है, यह शारीरिक नहीं बल्कि मानसिक रोग है। व्यक्ति का अपने मन की विचारधारा और भावना पर नियन्त्रण नही रहता और कामुक विचार मन में आते हैं, वासनापूर्ण विचार निद्रा के समय आते हैं, तब उनका प्रभाव इन्द्रियों पर पड़ता है वह कमजोर हो जाती हैं। मानसिक

उद्वेग का प्रभाव प्रजनन इन्द्रियों पर पड़ता है और वीर्य को शरीर से बाहर निकालता है।

18.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

- **बहुविकल्पिय प्रश्नों के उत्तर –**

(1). द (2). स (3). अ (4). द

- **रिक्त स्थानों के उत्तर –**

(1) 100 से 118वें (2) योनि (3) जालन्धर (4) मणिपूर, विशुद्धि व विन्दु

- **सत्य और असत्य प्रश्नों के उत्तर –**

(1) सत्य (2) सत्य (3) असत्य (4) सत्य

18.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. घरेण्ड संहिता– स्वामी निरन्जनानन्द
2. हठप्रदीपिका – कुवल्यानन्द
3. हठयोग प्रदीपिका – स्वामी मुक्तिबोधानन्द
4. आसन, प्राणायाम, मुद्राबन्ध – स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

18.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. विपरीतकरणी मुद्रा क्या है? इसके अर्थ को समझाते हुए इससे मिलने वाले लाभों पर प्रकाश डालें।
2. विपरीतकरणी मुद्रा की विधि को विस्तार से समझाते हुऐ इसके अभ्यास में ली जाने वाली सावधानियों का वर्णन करें।
3. वज्रोली मुद्रा क्या है? इसके अर्थ को समझाते हुऐ इससे मिलने वाले लाभों पर प्रकाश डालें।
4. वज्रोली मुद्रा की विधि को विस्तार से समझाते हुऐ इसके अभ्यास में ली जाने वाली सावधानियों का वर्णन करें।
5. शक्तिचालिनी मुद्रा क्या है? इसके अर्थ व विधि को समझाते हुऐ इससे मिलने वाले लाभों पर व सावधानियों पर प्रकाश डालें।

और उस समय नाकको आगेको भाग ताको देखे इसको योगासन कहते हैं। इति ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

इति श्रीघेरंडसंहिताश्रीमथुरास्थदक्षगोत्रोद्भवचातुर्वेदिशर्मश्री ५ कल्याणचंदात्मजराधाचंदविरचितव्रजभाषाटीकायां आसनवर्णनो नाम द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

तृतीयोपदेशः ३।

अथ मुद्राकथनप्रकरणम्

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयान जलंधरम् ॥
मूलबंधो महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥ १ ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्राणी शक्तिधारिणी ॥
ताडागी मांडवी मुद्रा शांभवी पंचधारिणी ॥ २ ॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी ॥
पंचविंशतिमुद्राणि सिद्धिदानीह योगिनाम् ॥ ३ ॥

अर्थ--महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जलंधर, मूलबंध, महाबंध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरी, योनि, वज्राणी, शक्तिधारिणी, ताडागी, मांडवी, शांभवी, धारणामुद्रा, पांच तरहकी है। जैसे—पार्थिवीधारणा आम्भसीधारणा वैश्वानरीधारणा वायवीधारणा, नभोधारणा और तापीछें अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी, भुजंगिनी ॥ इति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव संनिधौ ॥
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ॥
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरुतामपि ॥ ५ ॥

अर्थ--श्रीमहादेव गौरीसे बोले कि हे देवि ! मैंने तेरे आगे मुद्रानिके नाम कहे हैं । इनके जानवेसोंही सब भाँतिकी सिद्धिका लाभ होइ है । यह सब विषय परम गोपनीय है जिस किसीको कभी नहीं देना । क्योंकि विना प्रतिज्ञाके साधि हो नहीं सके और कदापि बतायभी दो तौ चंचल लोग दोषित करेंगे और न बन सकेंगे तौ इस विद्याको झूँठी कहकर दृढ प्रतिज्ञोंकोभी नहीं देना, ये सब मुद्रा योगियोंकोभी परम प्रीति देनेवारी है। यह मुद्रा देवताओंकोभी दुर्लभ हैं । इति ॥ ४ ॥ ५ ॥

अथ महामुद्राविधिः ।

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः ॥
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदांगुलः ॥ ६ ॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं निरीक्षयेत् ॥
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥ ७ ॥

अर्थ--गुदामूलकों बाँई एडीसों बहुत ताकतसों दबावे और दाँये हाथको फैलायके हाथसों पाँयकी अंगुली धरे फिर कंठको सकोडकें भौंहके मध्यमें ध्यान लगा देवे इसको पंडितगण महामुद्रा कहें हैं । इति ॥ ६ ॥ ७ ॥

अथ मुद्राफलम् ।

क्षयकासं गुदावर्तं प्लीहां जीर्णज्वरं तथा ॥
नाशयेत् सर्वरोगांश्च महामुद्रातिसेवनात् ॥ ८ ॥

अर्थ--उपरोक्त (महामुद्रा) को अधिक सेवन करवेंसों क्षयसों भई खांसी, गुदावर्त (गुदाके चारों तर्फ वारे फोडा)

तापतिल्ली और जीर्ण ज्वर (पुराना ज्वर), तथा और सब तरहके रोग या महामुद्राके सेवनसों नाश होई है । इति ॥ ८ ॥

अथ नभोमुद्राविधिः ।

यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ॥
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा ॥
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥ ९ ॥

अर्थ—जब जब योगी काहू काममें लगे तब तब सर्वदाही ऊपरकी ओर जीभ करकें कुंभकके द्वारा स्थिर होकर पवनको धारण किया करै यह अभ्यास सदा रखनेसे योगी समस्त रोगनिते निवृत्त होई हैं इसको नभोमुद्रा कहते हैं । इति ॥ ९ ॥

अथ उड्डीयानबंधविधिः ।

उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्वं तु कारयेत् ॥
उड्डीयानं कुरुते यत् तद्विश्रान्तं महाखगः ॥
उड्डीयानं त्वसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ १० ॥

अर्थ—नाडीके ऊपरका भाग पश्चिमद्वारको उदरके समभावमें सिकोडनों चाहिये अर्थात् उदरके मध्यम भागस्थ गुह्यादि चक्रस्थित नाडीसमूहकों नाभीके ऊपर सिकोडके उठानों चाहिये इसको उड्डीयान बंध कहते हैं यह उड्डीयान बंध मौतके लिये अर्थात् गजरूप मृत्युको सिंहके समान है । इति १०

अथ उड्डीयानबंधफलम् ।

समग्राद्बंधनादेतत् उड्डीयानं विशिष्यते ॥
उड्डीयानसमभ्यस्तेमुक्तिःस्वाभाविकी भवेत् ॥ ११ ॥

अर्थ–जितने मुद्राबंध कहे गये हैं उन सबमें यह उड्डीयान बंध बहुत उत्तम है इस उड्डीयान बंधके साधनसे आपही आप मुक्ति होई है । इति ॥ ११ ॥

अथ जालंधरबंधविधिः ।

कंठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत् ॥
जालंधरकृते बंधे षोडशाधारबंधनम् ॥
जालंधरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ॥ १२ ॥

अर्थ–कंठको सकोड करकें छातीपर डाढी धरवेहीसों जालंधरबंध कह्यौ जाय है याके साधन करवेसों सोलह भाँतिके आधार बंध हुआ करते हैं यह मौतकाभी नाशक है ॥ १२ ॥

अथ जालंधरबंधफलम् ।

सिद्धं जालंधरं बंधं योगिनां सिद्धिदायकम् ॥
षण्मासमभ्यस्येत् यो हि स सिद्धो नात्रसंशयः॥ १३॥

अर्थ–यह जालंधर बंध स्वयं सिद्ध है यह योगियोंको सिद्धि देवेवारो है जो बुद्धिवान् छः महीना इसका साधन करता है वह अवश्य सिद्ध हो जाता है इसमें संशय नहीं है ॥ १३ ॥

अथ मूलबंधविधिः ।

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुंचयेत्ततः ॥
नाभिग्रंथिं मेरुदंडं संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥ १४ ॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबंधं समाचरेत् ॥
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबंधो निगद्यते ॥ १५ ॥

अर्थ–बाँये पाँयकी एडीसों गुदा प्रदेशको सिकोडे वा पीछे

टूंडीकी गाँठको पीठकी हड्डीसे दबावै और उपस्थकों दाँये एडीसों मजबूत दबाके राखै इसकौ मूलबंध कहते हैं यह मुद्रा बुढापेंको दूर करै है । इति ॥ १४ ॥ १५ ॥

अथ मूलबंधफलम् ।

संसारसागरं तर्तुमभिलषाति यः पुमान् ॥
विरलेषु गुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत् ॥ १६ ॥
अभ्यासाद्बंधनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ॥
साधयेद्यत्नतस्तर्हि मौनी तु विजितालसः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य संसारसागरसे पार होनेकी इच्छा करै वे एकान्तस्थानमें गुप्तभावसे इस मुद्राका अभ्यास करैं इस मूलबंधके अभ्याससे जरूर पवन (वायु) सिद्धि होइ है इसके साधक आलसकों छोडके मौनी हो यत्नपूर्वक इसको साधन करै ॥ १६ ॥ १७ ॥

अथ महाबंधफलम् ।

महाबंधः परो बंधो जरामरणनाशनः ॥
प्रसादादस्य बंधस्य साधयेत्सर्ववांछितम् ॥ १८ ॥

अर्थ—यह महाबंध (नामकी मुद्रा) सब मुद्राओंमें श्रेष्ठ है और बुढापे तथा मौतको नाश करै है इस महाबंधके प्रसादसों सब मनमाने मनोरथ पूर्ण होइ है ॥ १८ ॥

अथ महावेधविधिः ।

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ॥
मूलबंधमहाबंधौ महावेधं विना तथा ॥ १९ ॥

महाबंधसमासस्य उड्डानकुंभकं चरेत् ॥
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ॥२०॥

अर्थ–जैसे पुरुषके विना नारीको सुंदररूप यौवन (जवानी) तथा लावण्यता निष्फल रहती है । वैसेही महावेधमुद्राके विना मूलबंध तथा महाबंधभी काऊ कामके नहीं रहते । पहले महाबंध मुद्रा करै फिर उड्डीयानबंध मुद्रा करके कुंभक प्राणायामसे वायुको निरोध करवेहीसे महावेध मुद्रा कही जाती है यह मुद्रा महावेधके द्वारा योगिजन सर्वसिद्धिको पावे हैं ॥ १९ ॥ २० ॥

अथ महावेधफलम् ।

महाबंधमूलबंधौ महावेधसमन्वितौ ॥
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः ॥ २१ ॥
न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ॥
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुंगवैः ॥ २२ ॥

अर्थ–जो साधक प्रतिदिन इस महावेधके सहित महाबंध और मूलबंधका साधन कियो करे हैं वेही योगियोंमें उत्तम योग विद्याके जानवेवारे कहे जाते हैं । मौत और बुढापा उनके पास कभी नहीं आय सक्ते । यह मुद्रा परम गुप्त रखवेके योग्य है योगीनमें श्रेष्ठ योगी इसको किसीसे नहीं कहते हैं॥ २१ ॥ २२ ॥

अथ खेचरीमुद्राविधिः ।

जिह्वाधो नाडीं संछिन्नां रसनां चालयेत्सदा ॥
दोहयेन्नवनीतेन लोहयंत्रेण कर्षयेत् ॥ २३ ॥

एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ॥
यावद्गच्छेदभ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी ॥ २४ ॥
रसना तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत् ॥
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोर्मध्ये गतां दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ २५ ॥

अर्थ–जीभके नीचे जीभकी जड और जीभ इन दोनोंको जो नाडी जोडे रहती है उसको काट देवे और नित्यही जिह्वाके अग्रभाग और जिह्वा (जीभ) के नीचे सदा चलाया करै। और जीभको नवनीत (माखन) से दुहा करै और लोहेकी (चीमटा) सों खैंच लेय। याही प्रकार रोज करनेसे जीभ लंबी हो जाती है। क्रमसे अभ्यास करते करते जीभको इस प्रकार लंबी कर देय कि जासों दोनों भौंहोंके बीचतक पहुँच जाय। फिर उसी जीभको क्रमसे तालुके बीच ले जाय। तालु देश मध्यस्थ (गड्ढाको) कपालकुहर कहते हैं। जीभको उसी तालुके गड्ढामें ऊपरकी ओर उलटके प्रवेशित करै ता पीछे दोनों भौंहनिके मध्य (बीच) के भागको देखे याको खेचरी मुद्रा कहे हैं ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

अथ खेचरीमुद्राफलम् ।

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते ॥
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते ॥ २६ ॥

अर्थ–जो मनुष्य या खेचरी मुद्राको साधन करै हैं उनको मूर्च्छा भूँख प्यास और आलस्य नहीं होई है और न रोग

न बुढापौ न मौत पास आवे और देवतानकीसी ताकी देह हो जाय ॥ २६ ॥

नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः ॥
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजंगमः ॥ २७ ॥

अर्थ–और उनको आग नहीं जलाय सके पवन सुखाय नहीं सके तथा पानी न गीला कर सके तथा साँप काट नहीं सके है ॥ २७ ॥

अथ विपरीतकरीमुद्राविधिः ।

नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चंद्रमाः ॥
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ॥ २८ ॥
ऊर्ध्वं च गमयेत्सूर्यं चंद्रं च अध आनयेत् ॥
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥ २९ ॥
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मे समाहितः ॥
ऊर्ध्वपादः शिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ॥ ३० ॥

अर्थ–नाभिकी जडमें सूर्य (सूर्यनाडी) वास करै है और मुखके तलुआकी जडमें चंद्रमा (चंद्रनाडी) वास करै है जब नीचेसे सूर्य अपने तेजसों खेंचवेसों देहमें रहवेवारौ अमृतको ग्रास कर लेय है तब मनुष्य मौतके वश होइ है । यालिये ऊपरकी ओरसों सूर्यकों उठानों चाहिये और नीचेकी ओरसों चंद्रमाको ले आनों चाहिये इसका नाम विपरीतकरी मुद्रा है सो सब तंत्रोंसे गुप्त है अर्थात् अंत कहुँ नहीं कही गई । याकी विधि इसी तरह है कि धरतीमें माथेकों धरे और दोनों हाथनिसों धरतीको पकडकर पाँयनिको ऊपरकी ओर उठायके

सीधा खडा करै और पूरक प्राणायामसे पवन खेंचकर कुंभककके द्वारा जहांतक ठहरे तबतक ठहरावे इसको विपरीतकरी मुद्रा कहते हैं । इति ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

अथ विपरीतकरीमुद्राफलम् ।

मुद्रेयं साधयेन्नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत् ॥
स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ॥ ३१ ॥

अर्थ–जो मनुष्य इस मुद्राको रोज साधन करता है वह बुढापा और मृत्युसे बच्यो रहे है । फिर सब लोकनिमें सिद्ध हो जाता है और प्रलय होनेपरभी अभय रहता है ॥ ३१ ॥

अथ योनिमुद्राविधिः ।

सिद्धासनं समासाद्य कर्णं चक्षुर्नसो मुखम् ॥
अंगुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत् ॥ ३२ ॥
काकीभिः प्राणसंकृष्य अपाने योजयेत्ततः ॥
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंस मनुना सुधीः॥३३॥
चैतन्यमानयद्देवीं निद्रिता या भुजंगिनी ॥
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य करांबुजे ॥ ३४ ॥
शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परं शिवेन संगमम् ॥
नानासुखं विहारं च चिंतयेत्परमं सुखम् ॥ ३५ ॥
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुवि भावयेत् ॥
आनंदं च स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति संभवेत् ॥ ३६ ॥
योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ॥
सकृत्तु लाभसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि ॥ ३७ ॥

अर्थ–प्रथम सिद्धासनसों बैठे फिर कान आँख नाक मुख ये चारों द्वारोंको अँगूठा तर्जनी मध्यमा अनामिका इन अँगुरियनसों ढाँक लेय अर्थात् कानके दोनों छेदोंको दोनों अँगुठानसों दोनों आँखनकों दोनों तर्जनीनसों दोनों नाकके छेदोंको दोनों मध्यमानसों, मुखकों दोनो अनामिकानसों दाबै । फिर या मुद्रासों प्राणपवनकों खेंचै और फिर उसे अपानपवन (अधोवायु) में मिलाय दे वाके बाद अंगमें छः चक्र है उनका ध्यान करै वाही समयमें (हुं) और (हंस) इन दो मंत्रोंसे भुजंगिनी रूप कुंडलिनी देवीकों जगावै तथा जीवात्मा सहित वा कुंडलिनीको सहस्र कमलमें उठायकें ले जावै और वह साधक या प्रकार चिंता करे मानों मैं शक्तिमय होकर शिव (आनंद) के संगप्रसंगमें आसक्त होते भये परम आनंद भोग और विहार करता हूं तथा शिवशक्तिके संयोगसे मैंही आनंदमय (ब्रह्म हूं) इसको योनिमुद्रा कहते हैं यह मुद्रा परम गोपनीय है यह देवताओंको दुर्लभ है या मुद्राको एकवारभी कोई साधन करै तौ साधनेवारौ पुरुष सिद्ध हो जाय है इसके द्वारा बहुतही शीघ्र समाधि प्राप्त होवे है ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

अथ योनिमुद्राफलम् ।

ब्रह्महा भ्रूणहा चैव सुरापी गुरुतल्पगः ॥
एतैः पापैर्न लिप्यंते योनिमुद्रानिबंधनात् ॥ ३८ ॥
यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च ॥
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबंधनात् ॥
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति ॥ ३९ ॥

अर्थ–जो जन योनिमुद्राको साधन करेहैं वे यदि ब्रह्मघाती (ब्राह्मणकों मारवेवारौ) बालघाती वा गर्भ गिरायवेवारौ दारू पीवेवारौ गुरुकी नारीसों मैथुन करवेवारौभी होइ तौभी पापमें नहीं सने है । औरभी जो बडे बडे पाप हैं तथा उपपाप हैं तिन सबकों योनिमुद्राकौ बांधवेवारो नष्ट कर देय है या कारण जो मुक्तिकी इच्छा करे सो याको साधन करै । इति ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

अथ वज्रोणिमुद्राविधिः ।

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां ऊर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे ॥ शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रोणिमुद्रा मुनयो वदन्ति ॥ ४० ॥

अर्थ–दोनों हाथनिकी हथेरीसों धरनीके तलकों पकडकें दोनों पाँयनिकों ऊपर उठाय दै और माथौभी आकाशकी ओर उठा देवे केवल हाथके बल खडा रहै इसको मुनि (जन) वज्रोणि मुद्रा कहें हैं याके अभ्यासमों अंगमें शक्ति (ताकत) आवे और सदा जिया करै अर्थात् अमर हो जावे । इति४०॥

अथ वज्रोणिमुद्राफलम् ।

अयं योगे योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम् ॥
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः ॥ ४१ ॥
एतद्योगप्रसादेन बिंदुसिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ॥
सिद्धे बिंदौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ॥ ४२॥
भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत् ॥
तथापि सकला सिद्धिर्भवति तस्य निश्चितम् ॥४३॥

अर्थ–यह मुद्रा साधनरूपी योगमें सब योगोंमें अच्छा (श्रेष्ठ) है और योगियोंकी मुक्ति (मोक्ष) कारण है और यह योग बहुत हितका करनेवारो है तथा योगियोंको सब तरहकी सिद्धिको देवेवारो है। इसी योगके प्रसादसे कामसिद्धि, बिंदु जो (वीर्य) सिद्धि निश्चय होइ है अर्थात् वीर्य रुक गया और जब इस भाँति महायत्नसे वीर्यसिद्धि हो गये पीछे कहो भूतलमें कौन और सिद्धि न होइगी। और सबेरे बडे बडे भोगोंसे युक्त पुरुषभी यदि इस मुद्राका अभ्यास करै तौ सब भाँतिकी सिद्धियाँ जरूर उसकों मिलैंगी। इति ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

अथ शक्तिचालनीमुद्राविधिः ।

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुंडली परदेवता ॥
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ॥ ४४ ॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा ॥
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत् ॥ ४५ ॥

अर्थ–मूलाधारमें आत्मशक्ति (आत्माकी ताकत) सबसों परे देवता कुंडलिनी सर्पके आकार साढे तीन लपेटाकी गुंडरी (गोला) बांधे सोय रही है। जबतक वह देहमें सोती रहै है तबतक जीव पशुकी तरह अज्ञान (ज्ञानरहित) बन्धो रहै है सत्य और असत्य कछु नहीं जान पडता तबतक चाहें कोटिप्रकार योगाभ्यास करौ कभी सत्य ज्ञान नहीं होइगो ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

उद्घाटयेत्कपाटं च यथा कुंचिकया हठात् ॥
कुंडलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रबोधयेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ-इसी निमित्त कहा है कि जैसे तारेसों बंद किवार (कपाट) तारीसे झटपट खोलकें भीतर पैठ जाय याही भाँति कुंडलिनीके जानवेपर ब्रह्मद्वार (माथे) को प्रभेद कियो जा सके हैं (चैतन्य कियो जाय है) कि जासों सत्य और अस-त्यकौ ज्ञान होइ हैं ॥ ४६ ॥

नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः ॥
गोपनीये गृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥ ४७ ॥

अर्थ-एक वस्त्रके द्वारा नाभिदेशकों लपेटके काऊ गुप्त मकानमें बैठकर शक्तिचालनी मुद्राका अभ्यास करै किंतु नंगो ह्वेकें बाहरके भागमें या योगका साधन करनों उचित है नहीं, अर्थात् यह योग नंगो ह्वेकें गुप्तस्थानमें करनों चाहिये॥४७॥

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलम् ॥
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ॥
एवमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ-एक बिलाँद लम्बो और चार अंगुल चौडो कोमल (नरम) और महीन सुपेद कपडासों नाभिकों लपेटकें फिर उस वस्त्रको कमरसों बांधे ॥ ४८ ॥

भस्मना गात्रसंलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत् ॥
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद्बलात् ॥४९॥
तावदाकुंचयेद्गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया ॥
यावद्गच्छेत्सुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेद्धठात् ॥ ५० ॥

अर्थ-राखसों अंगकों लपेट (लेपन) करै और सिद्धासन

बाँधकर बैठे और नाकके दोनों छेदनसों प्राणवायु (हृदयस्थ पवन) कों खैंचकें बलके सहित अपानवायुके संग मिलाय दे जबतक वायु सुषुम्नानाडीके भीतर जायकें प्रकाशित न हो तबतक अश्विनीमुद्राके द्वारा धीरे धीरे गुह्यप्रदेश (गुदा) कों सकोडै ॥ ४९ ॥ ५० ॥

तदा वायुप्रबंधेन कुंभिका च भुजंगिनी ॥
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ॥ ५१ ॥

अर्थ—याही भांति निश्वास रोककें कुंभक प्राणायाम धारण करै तौ भुजंगिनी भुजंगाकार कुंडलिनीशक्ति जागकें ऊपरकी ओर उठती है अर्थात् हजार दल कमल परमात्मामें मिल जाती है ॥ ५१ ॥

विना शक्तिं चालनेन योनिमुद्रा न सिद्ध्यति ॥
आदौ चालनमस्यास्तु योनिमुद्रां समभ्यसेत् ॥५२॥

अर्थ—विना शक्तिचालनी मुद्राके अभ्यास किये योनिमुद्रा कभी सिद्धि नहीं हो सकै है यासों पहिले या शक्तिचालनी मुद्राकौ अभ्यास कर ले तब योनिमुद्राकौ अभ्यास करै॥५२॥

इति ते कथितं चंडकापाले शक्तिचालनम् ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत् ॥ ५३ ॥

अर्थ—घेरंड महाराज कहते हैं कि हे चंडकापालि ! तुम्हारे आगे यह मैंने मुद्रा कही जाकौ नाम शक्तिचालनी है यह मुद्रा यत्नसों दिन दिन अभ्यास करनो चाहिये और वह अभ्यास करनो गुप्त भावसों रहै सहसा प्रसिद्ध जाहिर न होयवे पावै५३॥

अथ शक्तिचालनमुद्राफलम् ।

मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी ॥
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः ५४॥

अर्थ–यह मुद्रा परम गुप्त है याके द्वारा बुढापौ और मृत्यु दोनों नष्ट हो जाय हैं याहीसों सिद्धिके चाहवेवारे योगियोंको इसका अभ्यास जरूर करनों चाहिये ॥ ५४ ॥

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता ॥
तस्य विग्रहसिद्धिःस्याद्रोगाणां संक्षयो भवेत्॥५५॥

अर्थ–जो योगी या मुद्राको प्रतिदिन अभ्यास करै है वाके हाथमें सिद्धि आय जाय है और उसको विग्रहसिद्धि होय है (विग्रहसिद्धि वाकों कहैं हैं जामें विशेष ग्रहणकी शक्ति हो जाय है) अर्थात् कोई काम करै झटपट पूरो हो जाय है और वाके रोग दूर हो जाय हैं ॥ ५५ ॥

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृति ॥
ताडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥५६॥

अर्थ–पश्चिमोत्तान अर्थात् उत्तान होकर पडे और पेटको तडाग (तालाव) की तरह गहरौ करै और कुंभक प्राणायाम करै इसको ताडागी मुद्रा कहैं हैं यह मुद्रा एक प्रधान गिनी जाय है याके द्वारा बुढापौ और मौत जीती जाय है । इति ॥५६॥

अथ मांडूकीमुद्राविधिः ।

मुखं संमुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ॥
शनैर्ग्रसेदमृतं तां मांडुकीमुद्रिकां विदुः ॥ ५७ ॥

अर्थ–मुखको मूंदकें जीभकी जडकों तालुवेके उपरकी ओर चलावै और धीरे धीरे हजारदल कमल निर्गत अमृत पान करै इसको मांडुकीमुद्रा कहते हैं । इति ॥ ५७ ॥

अथ मांडूकीमुद्राफलम् ।

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम् ॥
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमांडुकीम् ॥ ५८ ॥

अर्थ–मांडुकी मुद्राका नित्य अभ्यास जो कोई करै उसके अंगमें वलित (खालको सुकड जानों), पलित (बारनको सुपेद हो जानों) तथा मांस गलकर हाड मात्रको रहनों ये नहीं होंय और सदा यौवन (जवानही) बन्यो रहै (अर्थात्) मौत नहीं आवे और बाल पके नहीं (अर्थात् सुपेद नहीं होवे) इति ॥ ५८ ॥

अथ शांभवीमुद्राविधिः ।

नेत्रांजनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत् ॥
सा भवेच्छांभवी मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥ ५९ ॥

अर्थ–दोनों भौंहनिके बीचमें वा दोनों भौंहोंकोही स्थिर दृष्टिसों अवलोकन करकें और मनको एक रस करके वहीं आत्माराम (परमात्मा) को देखै (मानों सच्चिदानंद वहीं बैठ्यो है) याहीको शांभवी मुद्रा कहे हैं यह सब तंत्रोंसे गुप्त मानी गई है । इति ॥ ५९ ॥

अथ शांभवीमुद्राफलम् ।

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥
इयं तु शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ६० ॥

अर्थ-चारों वेद छहों शास्त्र (न्यायादि यथा धर्मशास्त्र) अठारह पुराण ये सब जैसे गणिका (रंडी) लोगप्रसिद्ध रहती हैं किसीसे गुप्त नहीं रहती तैसेही सामान्य वस्तु है परंतु शांभवी मुद्रा जैसे कुलवधू (अच्छे घरकी स्त्री) बडी यत्नसों रहैं और सहसा काउकी आंखनिके आगे नहीं आवे वैसेही यह मुद्रा जाननी ॥ ६० ॥

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम् ॥
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शांभवीम्॥६१॥

अर्थ-जो मनुष्य या शांभवी मुद्राकों जाने है वह आदि-नाथ (सबको प्रथम स्वामी) है वही स्वयं नारायण (जीवसमूहकी जीवनशक्ति तथा रवि) है और वही जगत्को पैदा कर-वेवारो ब्रह्माभी समझनों ॥ ६१ ॥

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः ॥
शांभवीं यो विजानीयात् स च ब्रह्मा न चान्यथा ६२॥

अर्थ-जो मनुष्य या शांभवी मुद्राको जानता है वही मूर्तिमान् ब्रह्म है (परमेश्वर) है या बातकों महादेवजी तीन वार (त्रिवाचा) करके सत्य कहते हैं यामें झूँठ नहीं है ॥ ६२ ॥

अथ पंचधारणमुद्राः ।

कथिता शांभवी मुद्रा शृणुष्व पंचधारणम् ॥
धारणानि समासाद्य किं न सिद्ध्यति भूतले॥६३॥

अर्थ-घेरंड महाराज कहते हैं कि शांभवीमुद्रा तो कह आये अब हे चंडकापाली ! तुम पंचधारणा मुद्रा सुनों यह

पंचधारणामुद्राभी पांच प्रकारकी है जिन पाँचोंके प्राप्त होयवे पैं फिर भूतलमें कौन ऐसी बात है जो सिद्ध न हों अर्थात् सब सिद्ध हो जाय हैं । इति ॥ ६३ ॥

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम् ॥
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ॥ ६४ ॥

अर्थ–ये पाँच प्रकारकी धारणा मुद्रा सिद्ध होनेपर इसी नरदेहसों (विना मरे) जीतेही स्वर्गलोकमें आनो जानो हो सकै है और उस साधन करवेवालोंकी मनोगति (चाहे जहां जाय) जाय सकै है तथा खेचरत्व (आकाशमें उडवेकी शक्ति) प्राप्त हो जाती है पांच प्रकारकी धारणा पहिले कह आये हैं जैसे पार्थिवी १, आंभसी २, वायवी ३, आग्नेयी ४, आकाशी ५ । इति ॥ ६४ ॥

अथ पार्थिवीधारणामुद्राविधिः ।

यत्तत्वं हरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितम् ॥
वेदास्रंकमलासनेनसहितंकृत्वा हृदिस्थायिनम्॥६५॥
प्राणास्तत्र विनीय पंचघटिकां चितान्वितां धारये- ॥
देषाशांभकरीभवेत्क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ॥६६॥

अर्थ–धरतीतत्त्वका वर्ण हरितालके समान पीला है या धरतीतलका बीज लकार है इसका आकार चौकोन बराबर है ब्रह्मा याके देवता हैं योगके प्रभावसे उक्त सब बीजनके सहित हृदयमें ध्यानकर स्थापित करै उस समयमें प्राण वायुकों खेंचकरकें कुंभकके द्वारा पांच घडी (दो घंटा) मन न डिगवे पावे

धारणा किये रहै इसी स्तंभकरी (श्वास ठहरायवेवारी) क्रियाकों पार्थिवीधारणा कहते हैं याको दूसरो नाम (अधोधारणाभी है) याको धारण करवेसों धरती जीती जाय है अथात् धरतीसंबंधी कोईभी बाधा होइ तौ याके धारण करवेसों धारकको कछुभी विघ्न नहीं होता । इति ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

अथ पार्थिवीधारणामुद्राफलम् ।

पार्थिवीधारणामुद्रां यः करोति तु नित्यशः ॥
मृत्युंजयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद्भुवि ॥६७॥

अर्थ--जो नर रोज या पार्थिवी धारणामुद्राकों करता है वही स्वयं मृत्युंजय हो जाता है (अर्थात् कभी नहीं मरता) और वोही सिद्ध होके धरतीमें विचऱ्यो करै है ॥ ६७ ॥

अथ आंभसीधारणामुद्राविधिः ।

शंखेन्दुप्रतिमं च कुंदधवलं तत्त्वं किलालं शुभम् ॥
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ॥६८॥
प्राणांस्तत्र विनीय पंचघटिकां चित्तान्वितो धारयेत्॥
तेषां दुःसहतापपापहरिणीस्यादांभसी धारणा॥६९॥

अर्थ—जलतत्वका वर्ण शंख तथा चंद्रमाकी तुल्य विमल और कुंदपुष्पकी तरह उज्ज्वल है और शोभन है और याकी अमृत संज्ञा है और वकार याको बीज है और विष्णु याके देवता हैं योगके प्रभावसों हृदयके बीच उक्त जल तत्त्वके समुदायका ध्यान करै और उसी समय प्राणपवनकों खेंचके पांच घडी चित्त स्थिर करके कुंभक प्राणायाममें स्थिर रहै या-

हीकों आंभसीधारणामुद्रा कहते हैं यह मुद्रा बडे २ दुःसह ताप (त्रय) तथा पापनिकों नाश करै है । इति॥ ६८॥ ६९॥

अथांभसीमुद्राफलम् ।

आंभसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित् ॥
जले च गंभीरे घोरे मरणं तस्य नो भवेत् ॥ ७० ॥

अर्थ—जो साधक या आंभसीमुद्राकों जानता है वही योगवित् (योगको साधवेवारो) है वह यदि महाभयानक और गंभीर (गहरे) जलमेंभी पडकरभी मौतको प्राप्त नहीं होइ है अर्थात् श्वाससाधनसों जलमें डूबभी नहीं सके है ॥ ७० ॥

इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः ॥
प्रकाशात्सिद्धिहानिःस्यात्सत्यं वच्मि च तत्वतः॥७१॥

अर्थ—यह मुद्रा बडी गुप्त है और यत्नसहित याकों जाहिर न करनी याके जाहिर होवेसों सिद्धि (काम) की हानि होइ है यह मैं विचारकें सांच कहों हों ॥ ७१ ॥

अथाग्नेयीमुद्राविधिः ।

यन्नाभिस्थितमिंद्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितम् ।
तत्त्व तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदम् ॥
प्राणांस्तत्र विनीय पंचघटिकां चित्तान्वितं धारयेत् ।
एषा कालगभीरभीतिहारिणी वैश्वानरी धारणा॥७२॥

अर्थ—अग्नितत्त्वको स्थान नाभिस्थल है याको रंग इंद्रगोप (बीरबहुटी) की तरह लाल है रकार याको बीज है याको आकार त्रिकोण और रुद्र याके देवता हैं यह तत्त्व तेजका

समुह है यह दीप्तमान (प्रकाशमान) और सिद्धिदायक है योगबलसों या अग्नितत्त्वको उदय करायकें एकाग्रचित्त हो पांच घडीतक कुंभकप्राणायामसे प्राणवायु (हृदयमें रहवेवारी पवन) कों धारण करे इसका नाम आग्नेयी धारणा मुद्रा है याके अभ्याससों संसारका भय (डर) दूर हो जाय है और अग्निके द्वारा साधककी मृत्यु (मौत) कभी नहीं हो सकेगी इति ॥ ७२ ॥

अथाग्नेयीधारणामुद्राफलम् ।

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ पतितो यदि साधकः ॥
एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक् ॥ ७३ ॥

अर्थ—यदि साधक बहुत जरती भई धकधकाती आगमें गिर पडे तौभी या आग्नेयीधारणामुद्राके प्रसादसे जीतो रहेगो कभी मृत्युका भागी नहीं होगा ॥ ७३ ॥

अथ वायवीधारणामुद्राविधिः ।

यद्भिन्नांजनपुंजसन्निभमिदं धूम्रावभासं परम् ।
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ॥
प्राणांस्तत्र विनीय पंचघटिकां चित्तान्वितां धारये- ।
देषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा७४

अर्थ—वायुतत्वको रंग घिस्यो भयो अंजन (सुर्मा) तथा धुएकी तरह है यकार याकौ बीज है और ईश्वर याकौ देवता है यह तत्व सत्वगुणमय है योगके प्रभावसों या वायु (पवन) तत्वकों उदित करायकें एकाग्रचित्त हो प्राणवायुकों खेंच-

कर कुंभकप्राणायामके द्वारा पांच घडीतक धारण करै इसका नाम वायवी मुद्रा है यह मुद्रा साधन करवेवारेको वायुसे कभी मृत्यु नहीं हो सक्ती और साधककी सामर्थ्य आकाशमें जाने आनेकी हो जाती है ॥ ७४ ॥

अथ वायवीधारणामुद्राफलम् ।

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥
वायुना म्रियते नापि खे च गतिप्रदायिनी ॥ ७५ ॥

अर्थ—यह मुद्रा परम श्रेष्ठ है बुढापे और मौत इन दोनोंको नाश करती है और साधक वायुके किसी प्रकारके कोपसों नहीं मर सक्ता और यह मुद्रा आकाशगमनकी सामर्थ्यकों देवेवारी है ॥ ७५ ॥

शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्य कस्यचित् ॥
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यात्सत्यं वच्मि च चंड ते॥७६॥

अर्थ—घेरंडमहाराज बोले कि हे चंडकापालि ! या मुद्राकी विधि मूर्ख तथा जाके हृदयमें भक्ति न हो ऐसेनकों कभी नहीं बतानी चाहिये और हर काऊकों नहीं देना और शठादिकनको देनेसो बतायवेवारेकों सिद्धि नहीं होइ यह तुमसे मैंने साच कहा है ॥ ७६ ॥

अथ आकाशीधारणामुद्राविधिः ।

यत्सिंधौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितम् ।
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम् ॥

प्राणांस्तत्र विनीय पंचघटिकां चित्तान्वितं धारये- ।
देषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणा ॥ ७७ ॥

अर्थ—आकाशतत्वका रंग समुद्रके विशुद्ध जलकी तरह प्रकाशित होता है सदाशिव याके देवता है हकार याकौ बीज है इसी आकाशतत्वकों सदाशिवके सहित योगप्रभावसे उदित एकाग्रमन होकर ध्यान करै और वाही समय प्राणवायुको खेंचकर कुंभकप्राणायामसे पांच घडी धारण किये रहै इसीको आकाशीधारणा कहते हैं यह मुद्रा मोक्ष (मुक्ति) के किवार-नकों खोल देय है ॥ ७७ ॥

अथाकाशीधारणामुद्राफलम् ।

आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति सैव योगवित् ॥
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य आकाशीमुद्राको जानता है वही निश्चय योगको जानवेवारो है उसकी मृत्युभी किसीसे नहीं होती है और प्रलय होनेपरभी ज्योंका त्यौं बन्यो रहै है । इति ॥ ७८ ॥ इति पंचधारणामुद्राः समाप्ताः ।

अथ अश्विनीमुद्राविधिः ।

आकुंचयेद्गुदद्वारं प्रकाशयेत्पुनः पुनः ॥
सा भवेदश्विनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥ ७९ ॥

अर्थ--साधक फिर फिर अपने गुदाके मुखकों सकोडे और फैलावै याहीको नाम अश्विनीमुद्रा है यह मुद्रा शक्ति (ताकत) को बढायवेवारो है । इति ॥ ७९ ॥

अथाश्विनीमुद्राफलम् ।

अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी ॥
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत् ॥ ८० ॥

अर्थ--यह श्रेष्ठ मुद्रा अश्विनी गुदा (गांड) के सबरे रोगनकौ नाश करै है और बल और पुष्टिताकों बढावे है और अकाल मरण (बेसमय मरवेकों) हर लेती है ॥ ८० ॥

अथ पाशिनीमुद्राविधिः ।

कंठे पृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवं दृढबंधने ॥
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥ ८१ ॥

अर्थ--दोनों पाँय कंठकी पीठमें डालकर जैसें पाश (रस्सा) सों बाँध्यो जाय है वैसेंही दृढ (ताकतसो) बाँधे यही पाशनी मुद्रा कही जाय है यहभी शक्ति (बल) को जगावे है । इति ॥ ८१ ॥

अथ पाशिनीमुद्राफलम् ।

पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी ॥
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः ॥८२॥

अर्थ--यह पाशिनी एक बडी भारी मुद्रा है यह बल और पुष्टि (अंग बढाना) तथा सिद्धि चाहवेवारे साधक लोग इसको जरूर बडे यत्नसों साधन करें ॥ ८२ ॥

अथ काकीमुद्राविधिः ।

काकचंचुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ॥
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ॥ ८३ ॥

अर्थ--अपने मुखकों कौआकी चोंचके तरह बनायकें धीरे धीरे वायु पीवे इसका नाम काकीमुद्रा है यह सब तरहके रोगनकों दूर करै है ॥ ८३ ॥

काकीमुद्रा परा मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥
अस्याः प्रसादमात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत् ॥८४ ॥

अर्थ–यह काकीमुद्रा बहुत उत्तम है और सब तंत्रनिमें गुप्त है इसके प्रसाद (प्रताप) सों मनुष्य काककी तरह रोगरहित हो जाय है। इति ॥ ८४ ॥

अथ मातंगिनीमुद्राविधिः।

कंठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत् ॥
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्त्रेण चाहरेत् ॥ ८५ ॥
नासाभ्यां रेचयेत्पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः ॥
मातंगिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ८६ ॥

अर्थ–कंठ (गरे) तक जलमें ठाडो होकर पहले नाकसों जलको खेंचकें मुखसों निकार देवे ता पीछें मुखसों जल खेंचके पीछें नाकसों गेर देय नाकके दोनों छेदनमों वहाय देइ, या प्रकार वारंवार खेंचे और वेरवेर गेरे याको नाम मातंगिनी मुद्रा है यह मुद्रा बुढापे और मौतको नाश करै है ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

अथ मातंगिनीमुद्राफलम्।

विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः ॥
कुर्यान्मातंगिनीं मुद्रां मातंग इव जायते ॥ ८७ ॥

अर्थ–साधक कहूं निर्जनवन (जहां कोई मनुष्य न हो)

वहां एकाग्र चित्त कर बैठै या मातंगिनीमुद्राकों साधे तौ हाथीकी तरह बलवान् हो जाय है ॥ ८७ ॥

यत्र यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साधयेन्मुद्रिकां पराम् ॥ ८८ ॥

अर्थ–या मुद्राके साधन करवेवारे योगी जहां जहां स्थिर (बैठा) रहेगा वहीं वहीं बहुत सुखका भागी होगा या कारण सब तरहसे जतन करकें या श्रेष्ठ मुद्राको साधन करनो चाहिये । इति ॥ ८८ ॥

अथ भुजंगिनीमुद्राविधिः ।

वक्त्रं किंचित्सुप्रसार्य्य चानिलं गलया पिबेत् ॥
सा भवेद्भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ८९ ॥

अर्थ–मुखकों किंचित् थोरो फैलायके गरेके द्वारा वायु पीया करै गरेमें पवनकौ धक्का जोरसे लगै । इसको भुजंगिनी मुद्रा कहते हैं यह बुढापौ तथा मौतको नाश करै है ॥ ८९ ॥

अथ भुजंगिनीमुद्राफलम् ।

यावच्च उदरे रोगमजीर्णादि विशेषतः ॥
तत्सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजंगिनी ॥ ९० ॥

अर्थ–जितनें उदर (पेट) में रोग हैं तथा अजीर्ण आदिकोंको विशेष करके यह भुजंगिनी मुद्रा शीघ्र दूर करै ॥ ९० ॥

अथ सर्वमुद्राफलम् ।

इदं तु मुद्रापटलं कथितं चंडकापाले ॥
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम् ॥ ९१ ॥

अर्थ-घेरंडमुनि बोले कि हे चंडकापालि ! मैंने तेरे आगे यह मुद्रानकौ पटल कह्यौ यह सबरे सिद्ध जनोंको प्रिय (प्यारा) है और बुढापे तथा मौतको नाश करै है। इति॥ ९१॥

शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्य कस्यचित् ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि ॥ ९२ ॥

अर्थ-जो मूर्ख और भक्तिहीन अर्थात् जो भक्तिवान् न हो उसको ये मुद्रा कभी नहीं देनों चाहिये और जिस तिसकोभी देनी उचित नहीं है इसको यत्नसों गुप्त राखनी चाहिये ये सब मुद्रा देवतानकोभी दुर्लभ हैं । इति ॥ ९२ ॥

ऋजवे शांतचित्ताय गुरुभक्तिपराय च ॥
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम् ॥ ९३ ॥

अर्थ-ये सब मुद्रा भोग (भोजनादि) मोक्ष दोनोंनको देवेवारी है यासों याकों विचार कर देनी चाहिये जैसे कि कोमल सुभाव हो शांतचित्त (चंचल मन न हो) गुरुके कहवेमें विश्वास राखता तो होइ और अच्छे कुल (वंश) को होय ऐसेनको देनी चाहिये ॥ ९३ ॥

मुद्राणां पटलं ह्येतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविवर्द्धनम् ॥ ९४ ॥

अर्थ--यह मुद्रापटल सबरे रोगनको नाश करे है और जो नित्य अभ्यास करते हैं उसकी जठराग्नि (पेटकी अग्नि) बढ जाय है । इति ॥ ९४ ॥

तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा ॥
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम् ॥ ९५ ॥

अर्थ-जो नर मुद्रासाधन करैं हैं उनको न तौ बुढापौ न मौत आदि न आग न पानी न पवन (वायु) कभी भय नहीं पहुँचा सकें हैं । इति ॥ ९५ ॥

कासः श्वासः प्लीहकुष्टं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः ॥
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः ॥ ९६ ॥

अर्थ--मुद्रा साधन करवेसों कास श्वास प्लीह कोढ वीस तरहके कफरोग नाशको प्राप्त होते हैं (अर्थात् सर्व रोग जाते रहते हैं) इति ॥ ९६ ॥

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चंड ते ॥
नास्ति मुद्रासमं किंचित् सिद्धिदं क्षितिमंडलम् ९७॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डचंडकापालिसंवादे
घटस्थयोगप्रकरणे मुद्राप्रयोगो नाम
तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

अर्थ--घेरंडमहाराज कहते हैं कि हे चंडकापालि ! तोसों बहुत कहनेसे क्या है किंतु सार बात मैं कहता हूं कि जिस भूमंडल (धरतीके चारों तरफ) मुद्रासे परें कोईभी चीज सिद्धि देवेवारी नहीं है । इति ॥ ९७ ॥

इति श्रीघेरंडसंहितायां श्रीमधुपुरीयास्थदक्षगोत्रोद्भवचातु-
र्वेदीशर्म्म श्री ५ कल्याणचंद्रात्मजभिषग्राधाचंद्रविर-
चिते व्रजभाषाभाष्यं नाम टीकायां घटस्थयोगप्रक-
रणे मुद्राकथनो नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

तस्याः प्राणस्तथापानो वहत्यूर्ध्वमधस्तथा ।
मध्ये सा बीजभूता तु संस्थिता परमेश्वरी॥८२॥

अर्थ—तिस कुंडलिनीसे प्राण ऊपरको वहता है और अपान नीचेको वहता है और मध्यमें सो परमेश्वरकी शक्तिरूप कुंडलिनी बीजरूपसे स्थित होय रही है इति ॥ ८२ ॥

येन मार्गेण गच्छंति प्राणा मूर्द्धनि योगिनः ।
मुखेनाच्छाद्य तद्वारं सुप्ता सा नागकन्यका ८३

अर्थ—जिस मार्गसे योगीके प्राण ऊपर मस्तकमें जाते हैं तिसके द्वारको अपने मुखसे रोककरके सो कुंडलिनी सोय रही है इति ॥ ८३ ॥

यावत्सा निद्रिता देहे तावद्योगो न सिद्ध्यति ।
अतस्तद्बोधने युक्तिः सम्यगत्र निरूप्यते ॥८४॥

अर्थ—जबतक सो कुंडलिनी शरीरमें सोय रही है तबतक योग सिद्ध नहि होसकता है इसलिये उसके जगानेके लिये सम्यक् प्रकारसे यहां युक्ति निरूपण करते हैं इति ॥ ८४ ॥

प्रथमो मूलबंधः स्यादुड्डियानो द्वितीयकः ।
जालंधरस्तृतीयश्च शक्तिबोधनहेतवः ॥ ८५ ॥

अर्थ—प्रथम मूलबंध दूसरा उड्डियानबंध और

तीसरा जालंधरबंध यह तीन प्रकारके बंध कुंडलिनीके जगानेमें हेतुभूत हैं इति ॥ ८५ ॥

सिद्धासने स्थितोऽपानं बलादूर्ध्वं विकर्षयेत् ।
आधाराकुंचनेनायं मूलबंधोऽभिधीयते ॥८६॥

अर्थ—सिद्धासनपर बैठकरके आधारचक्रको आकुंचन करके जोरसे अपान वायुको ऊपरकी तरफ खेंचे इसको मूलबंध कहतेहैं इति ॥ ८६ ॥

नाभेः पश्चिमतानं हि बलात्कुर्यात्पुनः पुनः ।
उड्डियानो भवेद्बंधः प्राणोड्डयनकारकः ॥ ८७ ॥

अर्थ—पेटकी नाभिको वारंवार पीठकी तरफको जोरसे ताननेसे उड्डियानबंध होता है इससे प्राणोंका मेरुदंडद्वारा ऊपरको गमन होता है इति ॥ ८७ ॥

चिबुकं कंठकूपस्य न्यसेदुपरि भागतः ।
बंधो जालंधरः प्रोक्तः शिराजालनिरोधकः ८८

अर्थ—कंठकूपके ऊपरके भागमें मुखकी ठोडीको जमानेसे जालंधरबंध होताहै इस नाडियोंकी ऊर्ध्वगतिका निरोध होवेहै इति ॥ ८८ ॥

बंधत्रयमिदं योगे योगिनामुपकारकम् ।
कुंडलीबोधकं शीघ्रं ब्रह्मरंध्रगतिप्रदम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—यह तीनप्रकारके बंध योगाभ्यासमें योगि-

योंके बहुत उपकारक हैं और कुंडलीको शीघ्रही बो-
धनकरके प्राणोंको ब्रह्मरंध्रमें पहुंचाते हैं इति ॥८९॥

ज्ञात्वा बंधत्रयं योगी कुंडलीं बोधयेत्ततः ।
यस्याः प्रभेदाद्भिद्यंते चक्राणि ग्रंथयोपि च ९०

अर्थ—इन बंधोंको भलीप्रकारसे जानकरके पश्चात्
योगी कुंडलिनीको जागृत करे जिसके जगानेसे षट्-
चक्रोंका तथा मेरुदंडकी सर्वग्रंथियोंका भेदन होवे
है इति ॥ ९० ॥

पूर्ववद्भस्त्रिकां कृत्वा रेचयेत्पवनं सुधीः ।
बहिरेवाथ तं रुद्ध्वा कुर्यादुड्यानबंधनम् ॥ ९१ ॥
बलादपानमाकृष्य ततो वायुं प्रपूरयेत् ।
कुंभयित्वा यथाशक्ति शनैरेव विरेचयेत् ९२

अर्थ—पूर्वोक्त रीतिसे थोडा भस्त्रिका करके प्राण-
वायुको रेचन करे और तिस रेचन कियेहुये प्राणको
बाहिरही रोककरके पीछे उड्डियानबंध करे और उड्डि-
यानकरते वकत जोरसे अपानवायुको ऊपरकी तरफको
आकर्षण करे पीछे शीघ्रही बाहिरवाले प्राणका पूरक
करलेवे और शक्तिअनुसार कुंभक करके फिर रेचन
करदेवे इति ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

सिद्धासने समासीनः सायं प्रातश्च साधकः ।
वामदक्षक्रमेणैवं मुहूर्त्तद्वयमभ्यसेत् ॥ ९३ ॥

अर्थ—इसप्रकार सिद्धासनपर बैठकर सायंकाल तथा प्रातःकाल क्रमसे वामनासापुट और दक्षिणनासापुटसे चार घटिकापर्यंत साधक पुरुषको नित्य अभ्यास करना चहिये इति ॥ ९३ ॥

उड्डियाने कृते बंधे मूलबंधोपि जायते ।
तेनापानो व्रजेदूर्ध्वं प्राणस्य सदनं प्रति ॥९४॥

अर्थ—उड्डियानबंधके करनेसे मूलबंधभी स्वतःही होजावे है क्योंकि जैसे मूलबंधसे अपानवायुका ऊपरको आकर्षण होवे है तैसेही उड्डियानबंधमें नाभिको ऊपरकी तरफ ताननेसे अपानका आकर्षण होवे है सो इससे अपानवायु ऊपरको प्राणके घरमें जाता है इति ॥ ९४ ॥

ततः कुंभकयोगेन प्राणोऽपानगृहं व्रजेत् ।
द्वयोः संघर्षणादग्निर्वर्धते देहमध्यगः ॥ ९५ ॥

अर्थ—और फिर प्राणका पूरक करके कुंभक करनेसे प्राणवायु नीचेको अपानके घरमें जाता है इसप्रकार प्राण और अपान दोनोंके घर्षणसे शरीरके मध्यभागमें रहनेहारी अग्निकी वृद्धि होवे है इति॥९५॥

ततो वह्निप्रतापेन प्राणसंघर्षणेन च ।
दंडाहता भुजंगीव कुंडली संप्रबुद्ध्यते ॥ ९६ ॥

अर्थ—और तिस अग्निके तापसे तथा प्राणोंके संघर्षणसे जैसे दंड लगानेसे सर्पिणी कुंडल छोडकर सीधी होजावे है तैसेही कुंडलिनी शक्ति निद्राको छोडकर सीधी होजावे है इति ॥ ९६ ॥

प्रबुद्धा सा जहात्याशु ब्रह्मरंध्रमुखं ध्रुवम् ।
सुषुम्नायां तदा प्राणो विशेदूर्ध्वं न संशयः९७

अर्थ—जागृतभई कुंडली ब्रह्मरंध्रके मार्गके द्वारको छोड देती है और तिसकालमें सुषुम्नामें ऊपरको प्राणका प्रवेश निश्चयकरके होवे है इति ॥ ९७ ॥

ततस्तु हृदयांभोजे प्राणस्य गमनं भवेत् ।
वायोः संस्पर्शयोगेन ज्ञातव्यं साधकोत्तमैः९८

अर्थ—सुषुम्नामें प्रवेश होनेके पीछे प्राणका प्रथम हृदयकमलमें गमन होवे है सो तिसकालमें हृदयमें प्राणवायुके अंदरसे स्पर्श होनेसे साधकपुरुषोंको जानलेना चहिये कि अब कुंडलिनी जागृत होकर हृदयतक आयगई है इति ॥ ९८ ॥

हृदयात्कंठमायाति कंठाद्भ्रूमध्यमेव च ।
भ्रूमध्याद्ब्रह्मरंध्रं च व्रजेत्प्राणः शनैःशनैः॥९९॥

अर्थ—तिसके पीछे नित्य प्रति अभ्यास करते रह-नेसे धीरे धीरे हृदयसे कंठमें प्राणोंका आगमन होवे है और फिर कंठसे भ्रूमध्यमें आगमन होवे है और फिर भ्रूमध्यसे ब्रह्मरंध्रमें प्राणोंका प्रवेश होवे है इति ॥ ९९ ॥

यथायथैवापानस्य बलादाकर्षणं भवेत् ।
तथातथा भवेदूर्ध्वं शीघ्रं प्राणस्य रोहणम् १००

अर्थ—पूर्वोक्त उड्डियानबंधसे जैसे जैसे अपानका जोरसे ऊपरको आकर्षण किया जावे है तैसे तैसेही शीघ्र प्राणका ऊपरको आरोहण होवे है इति ॥१००॥

यदा चक्राणि भित्त्वासौ प्राणो मूर्धानमाव्रजेत्
तदा तत्रैव ध्यानेन स्थिरं कुर्याद्विचक्षणः १०१

अर्थ—जिसकालमें आधारादि षट् चक्रोंको उल्लं-घनकरके प्राणवायु शिरमें पहुंच जावे तो तिसकालमें चतुरपुरुष तिसको तहां ब्रह्मरंध्रमें चंद्रमंडलका ध्यान करके स्थिर करे इति ॥ १०१ ॥

पूर्वमार्गमिमं प्राहुः सुषुम्नाया मुनीश्वराः ।
येन याता विमुच्यंते जन्मसंसारबंधनात् १०२

अर्थ—इसप्रकार षट्चक्रोंद्वारा प्राणको ब्रह्मरंध्र लेजानेको योगविद्याके जाननेवाले मुनीश्वर लोक

सुषुम्नाका पूर्वमार्ग कहते हैं तथा कोई बंकनालमार्गभी इसको कहते हैं इसमार्गसे अंतकालमें प्राणोंको छोडनेसे योगीलोक जन्ममरणरूप संसारबंधनसे मुक्त होजाते हैं इति ॥ १०२ ॥

अथ पश्चिममार्गस्य भेदनं संनिरूच्यते।
मेरुदंडं प्रविश्याशु येन प्राणः प्रलीयते ॥१०३

अर्थ—अब सुषुम्नाका दूसरा जो पश्चिममार्ग है तिसके खोलनेकी विधि निरूपण करते हैं जिससे मेरुदंडमें प्राणप्रवेश होकरके ब्रह्मरंध्रमें जायकर लीन होते हैं इति ॥ १०३ ॥

पूर्ववद्भस्त्रिकां कृत्वा रेचयेदनिलं शनैः।
रुद्ध्वा तं बहिरेवाशु कुर्यादुड्डयानबंधनम् ॥१०४

अर्थ— पूर्वोक्तरीतिसे थोडा भस्त्रिका करके प्राणवायुको एकनासापुटसे रेचन कर देवे और तिनको बाहिरही रोककर जलदीसे उड्डियानबंध करे इति १०४

नाभेः पश्चिमतानं तु तथा कुर्यात्प्रयत्नतः।
यथा स्यान्मेरुदंडेन संलग्नं नाभिमंडलम् ॥१०५

अर्थ—उड्डियानबंध करतेवकत नाभिको इसतरे जोरसे पीछेको तानकर हटाना चहिये कि जिसतरे नाभिस्थान पीठके मेरुदंडसे लगजावे इति ॥ १०५ ॥

कृत्वाऽथ पूरकं शीघ्रं कुंभकं कारयेद्बुधः ।
मनसा चिंतयेच्चापि पृष्ठे प्राणस्य रोहणम् ॥१०६

अर्थ—फिर जलदी बाहिरवाले प्राणको पूरककरके कुंभक करे और तिसकालमें मनसेभी प्राणोंका मेरुदंडमें चडना चिंतन करे इति ॥ १०६ ॥

दिनैः कतिपयैरेवमभ्यासं कुर्वतो ध्रुवम् ।
मेरुदंडे विशेत्प्राणो वंशरंध्रे यथानिलः ॥१०७॥

अर्थ—कुछ दिन इसप्रकारसे अभ्यास करनेसे योगीके प्राण मेरुदंडमें प्रवेश करजाते हैं जैसे कि वांसके छिद्रमें वायु प्रवेश करे है इति ॥ १०७ ॥

दिनानुदिनमभ्यासे क्रियमाणे यथाक्रमम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं व्रजेत्प्राणो भित्त्वा ग्रंथिसमुच्चयम् ॥

अर्थ—फिर दिनदिन क्रमपूर्वक अभ्यास करनेसे मेरुदंडमें मार्गकी ग्रंथियोंके समूहको साफ करता हूया प्राण ऊपरऊपरको गमन करता है इति ॥ १०८ ॥

अंगे पिपीलिकारोहे यथा स्पर्शः प्रतीयते ।
मेरुदंडे तथा वायोःस्पर्शः स्यादूर्ध्वरोहणे १०९

अर्थ—जिसप्रकार शरीरपर कीडीके चडनेसे स्पर्श मालूम पडता है तैसेही मेरुदंडमें प्राणके ऊपर चडनेमें स्पर्श प्रतीत होवे है इति ॥ १०९ ॥

ब्रह्मरंध्रं व्रजेत्प्राणो यदा पश्चिममार्गतः ।
पूरयेत्तत्र तं नित्यं संतताभ्यासयोगतः ॥११०॥

अर्थ—जिसकालमें मेरुदंडके मार्गसे प्राण ब्रह्मरं-ध्रमें पहुंच जावे तो फिर निरंतर अभ्यास करके तिसको तहां पूरण करे इति ॥ ११० ॥

तदा भस्त्रां परित्यज्य कुर्यात्कुंभं तु केवलम् ।
यथा स्यात्प्राणसंचारो विशेषात्पश्चिमे पथि ॥

अर्थ—तिसकालमें भस्त्राका परित्याग करके केवल कुंभकही करना चहिये जिससे विशेषकरके प्राणोंका पश्चिममार्गमें प्रचार होवे इति ॥ १११ ॥

वर्द्धमाने ततोऽभ्यासे प्राणस्त्यक्त्वा गमागमौ ।
ब्रह्मरंध्रे लयं याति मनश्चानु विलीयते ॥११२॥

अर्थ—उक्तरीतिसे अभ्यासके बढनेसे और अत्यंत अल्पाहार करनेसे नासिकाद्वारसे आनाजाना छोडकर प्राण ब्रह्मरंध्रमें जायकर स्थिर होजाते हैं तथा प्राणोंके साथ मनभी लीन होजावे है इति ॥ ११२ ॥

प्राणे मूर्धनि संप्राप्ते नादध्वनिरनुत्तमः ।
श्रूयते योगिनो वक्रे संस्रवेदमृतं तथा ॥ ११३

अर्थ—जिसकालमें प्राणवायु मस्तकमें पहुंचता है तो तिसकालमें योगीको सुंदर अनाहतनादकी ध्वनि

सुन पडती है और मुखमें तालुसे अमृत टपकता है इति ॥ ११३ ॥

आनंदानुभवस्तत्र जायते योगिनो महान् ।
स एव तं विजानाति मया वक्तुं न शक्यते ११४

अर्थ—तथा तिसकालमें योगीको परम आनंदका अनुभव होवेहै तिस आनंदको सो योगी आपही जानताहै मैं तिस आनंदका कथन नहि करसकता हुं इति ॥ ११४ ॥

नैव तं विषयासक्ता विदुर्नो शास्त्रचिंतकाः ।
योगजं परमानंदं योगिनोऽनुभवंति यम् ११५

अर्थ—तिस आनंदको विषयासक्त पुरुष जान नहि सकते हैं तथा केवल शास्त्रोंके पठनपाठन करनेवाले पंडित लोकभी नहि जान सकते हैं जिस आनंदका समाधिकालमें योगीलोक अनुभव करते हैं इति ११५

मुहूर्त्तार्धं मुहूर्तं वा स्थित्वा मूर्धनि योगवित् ।
ततोऽवतारयेत्प्राणं सुषुम्नापूर्वमार्गतः ॥ ११६ ॥

अर्थ—उक्तरीतिसे प्राणोंको ब्रह्मरंध्रमें चढायकरके तहां एक घटिका अथवा दो घटिका ठहरायकरके फिर योगविद्याके जाननेवाला योगी सुषुम्नाके पूर्व-मार्गसे प्राणोंको धीरेधीरे नीचे उतारलेवे इति॥११६॥

स्थापयेच्च यथास्थानं स्वदेहे तं विचक्षणः।
शनैरेव समुत्थाय विश्रांतोऽथ सुखं चरेत् ११७

अर्थ—और फिर चतुरपुरुष अपने शरीरमें क्रमसे सर्व अंगोंमें मनसे प्राणोंको स्थापन करे पीछे धीरेसे आसनसे उठकर थोडी देर आरामकरके पश्चात् मरजीमुजब चले फिरे इति ॥ ११७ ॥

कुंभकाभ्यासतो नित्यं ध्यानयोगाच्च मूर्धनि।
स्थितिं संवर्धयेद्योगी समाधिः स्याद्यथा चिरम्

अर्थ—केवल कुंभकके विशेष अभ्याससे और ब्रह्म-रंध्रमें ध्यानके बलसे योगी पुरुष मस्तकमें प्राणोंकी स्थितिको वढावे जिससे चिरकालपर्यंत समाधि होसके इति ॥ ११८ ॥

प्राणस्य त्वखिलं कर्म मनोयुक्तं समभ्यसेत्।
मनसोविकलीभावे प्राणो न स्थिरतां व्रजेत्११९

अर्थ—पूर्वोक्त प्राणके चडाने उतारनेकी सर्व क्रिया मनकी एकाग्रताके साथ करनी चहिये क्योंकि मनके चंचल होनेसे प्राणकी स्थिरता नहि होसके है इति ॥ ११९ ॥

अथ प्रत्याहारः।

प्रत्याहारमथो वक्ष्ये यथोक्तं मुनिपुंगवैः।
साधनाद्यस्य योगीन्द्रो निर्विघ्नं सिद्धिमृच्छति॥

बुद्धीमान साधक व योगीयोने ॐ का जप (मन से चिंतवन रौं बीज का जप) सारे विघ्नों का नाश करता है। और इसे खाते, पीते, सोते, चलते करना चाहिए। और स्वास के साथ जो शब्द निकलता है वह उपर को सौं और निचे को हंम ये शब्द निकलते है। इसिको अजपाजप कहते है। इसिसे वृत्ति अन्तरंगी होती है। और परमानन्द की प्राप्ति होती है। व पराभक्ति प्राप्त होती है। इति।

इसका अभ्यास, जैसे अग्नि के लगने से घाँस जलकर खाँक या भस्म हो जाती है वैसे ही दीर्ध काल तक अभ्यास करने से साधक के दुर्गुण भस्म हो जाते है। इति।

अब श्रीगुरू राम! इच्छा से भस्त्रिका, प्राणायाम की रितिका निरूपण कहते है। सो जवन है तवन ऐसा है की पहले वामनासापुटसे प्राण को रेचन करें और उसिसे तुरन्त जल्दी से पी जाना और फिर तिसको जल्दी से नासापुटसे रेचक कर देना। तथा फिर उसी पुटसे पी कर वाम नासा पुटसे रेचन कर दो। और फिर वाम पुटसे पी करके दाहिने नाकसे रेचन कर दो। इसीप्रकार से जैसी लोहार की धोकनी चलती है तैसे

Scanned by CamScanner

ही चतुर पुरूष शीघ्र–शीघ्र दोनों नासापुटसे बारी–बारी थोडी देर तक रेचक और पूरक करें। पीछे सम्पूर्ण पेटके प्राणवायु को वाम नासापुटसे रेचन कर दो। और किंचित काल तिसको बाहर रोककर फिर उसी वामनासापुटसे पूरक कर लो और तीस पूरक किये हुए प्राण को धिरज से अपनी शक्तिनुसार कुम्भक करके और पीछे धीरे दाहिने नासापुटसे रेचन कर दो। इसी प्रकार से एक प्राणायाम करके फिर दूसरी बार पहिले के नाई–नाई थोडी देर भस्रिका करके दाहिने नासिका से प्राण को रेचन करो और किंचित काल तिस को बाहर रोककर फिर दाहिने नासापुटसे पूरक कर लो और यथाशक्ति पेट में कुम्भक करके फिर वामनासापुटसे शनैः शनैः रेचन कर दो। इसी प्रकार से मुक्ति के साथ वामनासापुटसे और दाहिने नासापुटसे बराबर क्रम करके प्राणायाम का अभ्यास करों। अथवा पहला प्राणायाम वामनासापुटसे करो और दूसरा दाहिने से करों।

उपर लिखे अनुसार बराबर से करो। इसी प्राणायाम को भस्रिका अपितु कुम्भक कहते है। इसी के अभ्यास करने से बहुत जल्दी से प्राण का जय होता

Scanned by CamScanner

है। और कुंडलिनी शक्ति का चक्र सरल हो जाता है। और कफ, पित्त, वात ये तीनों दोषों की बराबर शान्ति औरसे शान्ति हो जाती है। और जो दूसरे शीतली शीतकार आदिक प्राणायाम में है। तवन सब यहाँ भस्त्रिका के अन्तरगत आपही रहते है। श्रेष्ठ साधकों के लिए इस भस्त्रिका प्राणायाम का ही सर्वदा अभ्यास श्रेष्ठ है। योग्य है। विचारमान पुरूषों को चाहिए की कुम्भक के बिच में एक बार अथवा दो बार नासाद्वारा बाहर से प्राणवायु को पी जाया करो। तो कुम्भक को विशेष रूप से ठहरना होता है। और योगी को चाहिए की कुम्भक काल में अपनी नाभी के चक्र में तेजोमय सूरज के मंडल का ध्यान करो तो तिस करके मन की वृत्तियाँ अंतर्मुख हो जाती है। ताते प्राण का चिरकाल तक निरोध होता है। अब युक्ति से प्रातः तथा सायंकाल तीन घटिकातक श्रीगुरू रामकृपा से नित्यही पथ्य पूर्वक साधक को एकाग्र चित्त से प्राणायाम का अभ्यास करना श्रेष्ठ है। या खट्टा और निमक विशेष क्षार मिरचादि दाहकारक व निंबु आदि कटु पदार्थ का त्याग करके गेहूँ, मुंग अथवा चावल को सेवन करना अच्छा होता है। और ताजा घृत का अभ्यास काल से सेवन करो। और पाते हो तो थोडा रोज सैंधानमक किंचित और मीठा रस थोडा पाना चाहिए।

Scanned by CamScanner

श्री गुरू राम इच्छा से यह योगी के लिए पथ्य है। योगी को अपथ्य भूलकर भी नही सेवन करना चाहिए। क्योंकि पथ्य को नही पालन करने से अभ्यासी के शरीर में नाना प्रकार के ज्वरादी रोगो की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार से युक्ति के साथ दो या तीन मास तक प्राणायाम करो। जब तक तुम्हारे कुम्भक की मात्रा पाँच सौ तक अनायास हो जाये और कुम्भक काल में एक, दो, तीन, चार और पाँच इस रीतिसे न तो जल्दी और न तो धीरे हो। जो मन में गिनती करनी है, ताको मात्रा कहते है। और जिस काल में मात्राओं की पाँच सौ से अधिक संख्या हो जाती है, तो तिस समय में कुंडलिनी को जगाने में हेतु योग्य समझना है।

अब पहले नाडियों की गति और कुंडलिनी रहने का आश्रम भलि प्रकार से समझ लो। फिर युक्ति से उसे जगाना। अब नाभि के नीचे शरीर के बिच में कन्दका आश्रम है। और मुर्गो के अंडे के समान जिसका आकार है और सर्व शरीर के नाडियों का निवासस्थान है। तिस कन्दसे उपर नीचे और तिरछी या सर्व नाडियाँ निकली है। जैसे पृथ्वी मंडल में नदियाँ व्यापक हो रही

Scanned by CamScanner

है। तैसे हि सो नाडियाँ नीचे और उपर की एडवेड तिरछी सर्व शरीर में व्यापक हो रही है। तीन सर्व नाडियों में ईडा, पिंगला और सुषुम्ना यह तीन नाडियाँ योगी लोगो ने मानी है। तामे ईडा नाम की नाडी वाम भाग में है। और 'पिंगला' को दाहिने भाग जानो। और सुषुम्ना दोनों के बिच में जानो। सो जन है तवन सुषुम्नाही योग के लिए योग्य सार है। सो सुषुम्ना कन्द से निकलकर मेरूदंड से मिली हुई शरीर के पिछे से ब्रह्मरंध्रमें जाती है। और ब्रह्मरंध्र से निकल के फेरी लगाते हुए शरीर के आगे से नीचे को भ्रूमध्य में, कंठ इत्यादी चक्रों में क्रम से होती हुई नाभी के नीचे कन्द में फिर जा मिलता है। कन्द के उपरी भाग में कुंडलिनी शक्ति का रहने का स्थान है। और साडे तीन बेलन से आकार में सर्प के समान कुंडलाकार है।

सो कुंडलि शक्ति अति सूक्ष्म बिजली के समान प्रकाशरूप, और जीवात्मा का आधारभूत है। तथा मूल प्रकृति स्वरूप है। और सर्व प्राणधारी जीवों के शरीर में रहती है। तीस कुंडलिसे प्राण उपर को बहता है। और अंपान नीचे को बहता है और दोनों के बिच में सो प्रभु की शक्तिरूप ब्रह्मकुंडलि बीज रूप से स्थित है। अब

Scanned by CamScanner

जिस मार्ग से योगी का प्राण उपर से मस्तक में जाता है तवन द्वार को अपने मुख से रोक कर के तवन कुंडलि सो जाती है। जब ताइ कुंडलिनी शरीर में सो जाती है तब ताई योग की योग्यता कुशल नहीं।

ताते उसे जगाने की सर्व प्रकार से युक्ति श्रीराम कृपा से निरूपण करता हूँ। प्रथम तो मूलबन्ध दूसरा उड्डियान बन्ध, तीसरा जालंधर बन्ध। यह तीन प्रकार के बन्ध ब्रह्मकुंडलिनी को जगाने में हेतु है। सिद्धासन पर बैठकर के आधार चक्र को आकुंचन करके जोर से अपान वायु को उपर की तरफ खेंचे। इसको मूलबन्ध कहते है। पेट की नाभी को बार–बार पीठ की तरफ को जोर से तानने से जालंधर बन्ध होता है।

ये तीन प्रकार के बनध योगाभ्यास में योग्य श्री संत गुरूजनों ने निरूपण किया है और कुंडलिको शीघ्र ही जगाकर प्राणों को ब्रह्मरंध्र में पहुंचाती है। अब इन बन्धों को भलिप्रकारसे जानने से ताके पिछे तुम कुंडलिनी को जागृत करो। जिसके जगाने से षट्चक्रों का तथा मेरूदंड की सर्व गांठी का बन्धन कट जाता है।

Scanned by CamScanner

अब पहले के रित से थोडासा भस्त्रिका करके प्राणवायु को रेचन करो और उड्डियान करने के मोकामें जोर से अपान वायु को उपर की तरफ खिंचो। और तुरन्त ही बाहिरवाले प्राण को पूरक कर लो और अपनी शक्तिनुसार रोक, कुम्भक करके फिर रेचन कर दो। इसी तरह से चतुर पुरुष ने सिद्धासन पर बैठकर सायंकाल और प्रातःकाल में बराबर क्रम से वाम नासापुट और दक्षिण नासापुटसे चार घटिका तक साधक पुरूष को नित्य अभ्यास करना चाहिए। ये अब उड्डियान बन्ध को करने से मूलबन्ध स्वतः आप ही हो जाता है। क्योंकि जैसे मूलबन्ध से अपान का उपर को आकर्षण होता है तैसे ही उड्डियान बन्ध में नाभी के तरफ तानने में अपान का आकर्षण होता है। सो जिससे अपान वायु उपर को प्राण के घर में जाता है और फिर प्राण का पूरक करके कुम्भक करने से प्राण वायु नीचे को अपान के घर में जाता है। इसी प्रकार से प्राण और अपान दोनों के रगडने से शरीर के मध्य रहनेवाली अग्नी की वृद्धि होती है। और तवने अग्नी के तापसे और प्राणों के रगडने से जैसे दंड लगाने से सर्पिणी अपनी कुंडल छोडकर सीधी हो जाती है। तैसे जागी भई कुंडली

Scanned by CamScanner

शक्ति अपने निद्रा को छोडकर सीधी होकर ब्रह्मरंध्र के मार्ग को छोड देती है। और तिस काल में सुषुम्ना के उपर में प्राण का प्रवेश निश्चय करके हो जाता है। अब सुषुम्ना में प्रवेश होने काल में पीछे प्राण का प्रथम हृदय कमल में गमन करना है। सो तुम्ने जान लेना की हृदय में प्राण वायु के अन्दर से स्पर्श होने से आपको मालूम हो जावेगा की अब तिसके पिछे बराबर अभ्यास करते रहो। धीरे–धीरे तुम्हारे हृदय से कंठ में प्राणों का गमन होता है। और कंठ से भ्रूमध्य में गमन होता है। फिर भ्रूमध्य में से ब्रह्मरंध्र में प्राणों का प्रवेश होता है। अब जैसे जैसे श्रीगुरू रामकृपा से आधारादि षड्चक्रों के उल्लंघन करके तुम्हारी प्राणवायू शिर में पहूँच जायेगी। तो तीस समय में तुमने तीस प्राणवायु को तहाँपर श्रीगुरू आज्ञानुसार ब्रह्मरंध्र में चन्द्रमंडल का ध्यान करके रोक रहो।

श्रीगुरू रामकृपा से इस प्रकार से षड्चक्रों के जरिये अपने प्राणों को ब्रह्मरंध्र ले जाने को योग विद्या के जानने वाले श्रीगुरू रामजी मुनिश्वर लोगों ने सुषुम्ना का पूर्वमार्ग कहा है। और कोई–कोई इसे बंकनाल मार्ग भी कहते है। इस मार्ग से अन्तकाल में प्राणों को

Scanned by CamScanner

छोडने से योगी लोग जन्म मरण से, संसार बन्धनों से मुक्त हो जाते है।

अब श्रीगुरू रामकृपा से सुषुम्ना का जवन दुसरा मार्ग है। तवन को पश्चिम मार्ग कहते है। तिसको खोलने की विधि निरूपण करते है। जिस करके मेरूदंडमें प्राण प्रवेश होते हुए ब्रह्मरंध्र में जाकर लीन होते है।

अब पूर्वोक्त रीतिसे थोडा भस्त्रिका करके प्राणवायु को एक नासापुटसे रेचन करो और तिसको बाहर ही रोक करके जल्दी से उड्डियान बन्ध करो। अब उड्डियान बंध करने के साथ नाभी को ऐसा जोर से पीछे को तानों, जिसमें नाभी और मेरूदंड एक हो जावें। फिर जल्दी से बाहर के प्राण को पूरक करके कुम्भक करो और तिस काल में मन से भी चिंतवन करो की यह प्राण मेंरूदंड में चढ रहा है। कुछ दिन तक ऐसा ही अभ्यास करते रहने से योगी के प्राण मेरूदंड में गमन कर जाते है। जैसे की बाहर के छिद्र में वायु प्रवेश करती है। फिर दिन–दिन क्रम पूर्वक अभ्यास करने से मेरूदंड में मार्ग की गांठों की ग्रंथीयों के समुह को साफ करता हुआ प्राण उपर को गमन करता है। फिर

Scanned by CamScanner

दिन-दिन क्रम से अभ्यास करने से योगी के मेरूदंड मे मार्ग की सब गाँठो को साफ करता हुआ उपर-उपर को गमन कर रहे है। जिस काल में चींटी के चालसे शरीर पर चढने से स्पर्श मालूम हो तब जानना की उपर को चढ रहा है। जिस काल में मेरूदंड में प्राण ब्रह्मरंध्र मे पहूँच जावे तो फिर आप निरन्तर अभ्यास के बल से तिसको तहाँपर पूर्ण करो और अभ्यास करने में आलस मत करो।

श्रीगुरू रामकृपा से आज्ञानुसार अभ्यास को खुब सावधानी से अधिक-अधिक बढाते जावो। अब तिस काल मे भश्रिका त्याग करके केवल कुम्भक ही करो। जिस करके अधिक-अधिक प्राणों को पश्चिम मार्ग में सरलता से गमन होवे। अब युक्ति के साथ अभ्यास के अधिक बढाने से और अत्यन्त अल्पाहार करने से तुम्हारे नासिका से आना-जाना छोडकर प्राण ब्रह्मरंध्र में जाकर स्थिर हो जावेगा। और प्राणों के साथ तुम्हारा मन भी लिन हो जावेगा। (यदि आलस न करोगे तो) ताते बराबर अभ्यास और प्राणों को चढाने में आलस न करों। यह तुम्हारा जीवन दुर्लभ है।

Scanned by CamScanner

स्वपाणिभ्यां दृढं धृत्वा जानूपरि शिरोन्यसेत् ॥ ३.११२॥

आसनोग्रमिदं प्रोक्तं भवेदनिलदीपनम् ।
देहावसानहरणं पश्चिमोत्तानसंज्ञकम् ॥ ३.११३॥

य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत्सुधीः ।
वायुः पश्चिममार्गेण तस्य सञ्चरति ध्रुवम् ॥ ३.११४॥

एतदभ्यासशीलानां सर्वसिद्धिः प्रजायते ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन साधयेत्सिद्धमात्मनः ॥ ३.११५॥

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
येन शीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेद्दुःखौघनाशिनी ॥ ३.११६॥

स्वस्तिकासनकथनम् ।
जानूर्वोरन्तरे सम्यग्धृत्वा पादतले उभे ।
समकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ ३.११७॥

अनेन विधिना योगी मारुतं साधयेत्सुधीः ।
देहे न क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्च सिध्यति ॥ ३.११८॥

सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनम् ।
स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं स्वस्तीकरणमुत्तमम् ॥ ३.११९॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगशास्त्रे
योगाभ्यासतत्त्वकथनं नाम तृतीयपटलः समाप्तः । ३।

चतुर्थपटलः

अथ मुद्राकथनम् ।
आदौ पूरक योगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रवर्तते ॥ ४.१॥

योनिमुद्राकथनम् ।
ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥ ४.२॥

तस्योर्ध्वं तु शिखासूक्ष्मा चिद्रूपा परमाकला ।
तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥ ४.३॥

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिङ्गत्रयक्रमेण वै ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥ ४.४॥

अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ।
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम् ।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ॥ ४.५॥

पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा ।
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता ॥ ४.६॥

पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवात्मकम् ।
योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ॥ ४.७॥

तस्यास्तु बन्धामत्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥ ४.८॥

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताः स्तम्भिताश्च ये ।
दग्धामन्त्राः शिरोहीना मलिनास्तु तिरस्कृताः ॥ ४.९॥

मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ।
भेदिनो भ्रमसंयुक्ताः सप्ताहं मूर्च्छिताश्चये ॥ ४.१०॥

अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः ।
तथा सत्त्वेन हीनाश्च खण्डिताः शतधाकृताः ॥ ४.११॥

विधिनानेन च संयुक्तः प्रभवन्त्यचिरेण तु । (विधानेन च संयुक्ताः)
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः ॥ ४.१२॥

यद्युच्चरते योगी मन्त्ररूपं शुभाशुभम् ।
तत्सिद्धिं समवाप्नोति योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ४.१३॥

दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिञ्च्य सहस्रधा ।
ततो मन्त्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ॥ ४.१४॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ४.१५॥

गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न बध्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ४.१६॥

तस्मादभ्यासनं नित्यं कर्तव्यं मोक्षकाङ्क्षिभिः ।
अभ्यासाज्जायते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ॥ ४.१७॥

संविदं लभतेऽभ्यासाद्योगोभ्यासात्प्रवर्तते ।
मुद्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम् ॥ ४.१८॥

कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ।
वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ॥ ४.१९॥

योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित् ।
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ ४.२०॥

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम् ।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् ॥ ४.२१॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च ॥ ४.२२॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ४.२३॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा ॥ ४.२४॥

उड्डानं चैव वज्रोणी दशमे शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् ॥ ४.२५॥

महामुद्राकथनम् ।

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्ममवल्लभे ।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः ॥ ४.२६॥

अपसव्येन सम्पीड्य पादमूलेन सादरम् ।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥ ४.२७॥

सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै । (प्रसारित पाद)
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥ ४.२८॥

चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम् ।
महामुद्राभवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ४.२९॥

वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत् पुनः ।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥ ४.३०॥

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति ।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥ ४.३१॥

जीवनन्तु कषायस्य पातकानां विनाशनम् ।
कुण्डालीतापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम् ॥ ४.३२॥

सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम् ।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम् ॥ ४.३३॥

वाञ्छितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणम् ।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः ।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा ॥ ४.३४॥

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ।
यान्तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः ॥ ४.३५॥

मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता ।
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ॥ ४.३६॥

महाबन्धकथनम् ।

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि ॥ ४.३७॥

गुदयोनिं समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ॥ ४.३८॥

बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ॥ ४.३९॥

नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं याति योगिनः ।
उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ॥ ४.४०॥

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामध्यसङ्गतः ।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपञ्जरे ॥ ४.४१॥

सम्पूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ॥ ४.४२॥

महावेधकथनम् ।

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना ।

स्फिचौ सन्ताडयेद्धीमान्वेधोऽयं कीर्तितो मया ॥ ४.४३॥

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुङ्गवः ।
ग्रन्थिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ॥ ४.४४॥

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी ॥ ४.४५॥

चक्रमधे स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात् ।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ॥ ४.४६॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ । (निष्फलो)
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ॥ ४.४७॥

एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः ।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युञ्जयत्येव न संशयः ॥ ४.४८॥

एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ।
यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वे सिद्धिं सम्यग्लभन्ति वै ॥ ४.४९॥

गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः ।
अन्यथा च न सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः ॥ ४.५०॥

खेचरीमुद्राकथनम् ।

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः ॥ ४.५१॥ (सुदृढा)

उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ।
लम्बिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम् ॥ ४.५२॥

संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ॥ ४.५३॥

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया ।
निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत् ।
तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ४.५४॥

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः ॥ ४.५५॥

क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम् ।
दिव्यभोगान्प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते ॥ ४.५६॥

मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः ।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ॥ ४.५७॥

गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम् ।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम् ॥ ४.५८॥

सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मिन्कस्मिन्न दीयते । (यस्मै कस्मै न)
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ॥ ४.५९॥

जालन्धरबन्धकथनम् ।

बद्धागलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
बन्धोजालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥ ४.६०॥

नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम् ।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम् ॥ ४.६१॥

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान् ।
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ॥ ४.६२॥

जालन्धरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥ ४.६३॥

मूलबन्धकथनम् ।

पादमूलेन सम्पीड्य गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ॥ ४.६४॥

बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत् ।
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥ ४.६५॥

अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ।
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥ ४.६६॥

सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिद्ध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ।
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥ ४.६७॥

सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगि पुङ्गवः ॥ ४.६८॥

विपरीतकरणीमुद्राकथनम् ।

भूतले स्वशिरोदत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ४.६९॥

एतद्यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः ।
मृत्युञ्जयति स योगी प्रलयेनापि सीदति ॥ ४.७०॥ (योगीशः)

कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात् ।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ॥ ४.७१॥

उड्डयानबन्धकथनम् ।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ।
उड्ड्यानबन्ध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः ॥ ४.७२॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्ड्यानाख्योऽत्र बन्धोऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ४.७३॥

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन सिद्धो भवेन्मरुत् ॥ ४.७४॥ (नाभेस्सुशुद्धिः साद्येन)

षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युञ्जयति निश्चितम् ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते ॥ ४.७५॥

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते ।
रोगाणां सङ्क्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ॥ ४.७६॥

गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः ।
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम् ॥ ४.७७॥

वज्रोलीमुद्राकथनम् ।

वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम् ।
स्वेभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद्गुह्यतमामपि ॥ ४.७८॥

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना ।
मुक्तो भवति गार्हस्थो वज्रोल्यभ्यसयोगतः ॥ ४.७९॥

वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगे युक्तेऽपि मुक्तिदः ।
तस्माद्तिप्रयत्नेन कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ४.८०॥

आदौ रजः स्त्रियो योन्याः यत्नेन विधिवत्सुधीः ।
आकुञ्च्य लिङ्गनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ ४.८१॥

स्वकं बिन्दुश्च सम्बन्ध्य लिङ्गचालनमाचरेत् ।
दैवाच्चलति चेदूर्ध्वं निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ४.८२॥

वाममार्गेऽपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिङ्गं निवारयेत् ।
क्षणमात्रं योनितो यः पुमांश्चालनमाचरेत् ॥ ४.८३॥

गुरूपदेशतो योगी हुंहुङ्कारेण योनितः ।
अपानवायुमाकुञ्च्य बलादाकृष्य तद्रजः ॥ ४.८४॥

अनेन विधिना योगी क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
भव्यभुक्कुरुते योगी गुरुपादाब्जपूजकः ॥ ४.८५॥

बिन्दुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमयस्तथा ।
उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ ४.८६॥

अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा ।
योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ॥ ४.८७॥

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणे ।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम् ॥ ४.८८॥

जायते म्रियते लोके बिन्दुना नात्र संशयः ।
एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिन्दुधारणमाचरेत् ॥ ४.८९॥

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ॥ ४.९०॥

बिन्दुः करोति सर्वेषां सुखं दुःखञ्च संस्थितः ।
संसारिणां विमूढानां जरामरणशालिनाम् ॥ ४.९१॥

अयं च शाङ्करो योगो योगिनामुत्तमोत्तमः ॥ ४.९२॥

अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति भोगयुक्तोऽपि मानवः ।
सकलः साधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले ॥ ४.९३॥

भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन निश्चितम् ।
अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवम् ।
सुखभोगेन महता तस्मादेनं समभ्यसेत् ॥ ४.९४॥

सहजोल्यमरोली च वज्रोल्या भेदतो भवेत् ।
येन केन प्रकारेण बिन्दुं योगी प्रधारयेत् ॥ ४.९५॥

दैवाच्चलति चेद्वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः ।
अमरोलिरियं प्रोक्ता लिङ्गनालेन शोषयेत् ॥ ४.९६॥

गतं बिन्दुं स्वकं योगी बन्धयेद्योनिमुद्रया ।
सहजोलीरियं प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ४.९७॥

संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्यं तुल्यगतिर्यदि ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ॥ ४.९८॥

अयं योगो मया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहतः प्रिये ।
गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ॥ ४.९९॥

एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति ।
तस्मादेतत्प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ॥ ४.१००॥

स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना ।
स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य तत्पुनः ॥ ४.१०१॥

गुरूपदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
बिन्दुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायिका ॥ ४.१०२॥

षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया ।
शताङ्गनाविभोगेऽपि तस्य बिन्दुर्न नश्यति ॥ ४.१०३॥

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति पार्वति ।
ईशत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभं भवेत् ॥ ४.१०४॥

शक्तिचालनमुद्राकथनम् ।

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥ ४.१०५॥

शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥ ४.१०६॥

विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वे भवेत्खलु ।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धमिच्छता ॥ ४.१०७॥

यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।

येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ॥ ४.१०८॥

गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिनाशनम् ॥ ४.१०९॥

यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ॥ ४.११०॥

एतत्सुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति ।
एकैकाभ्यासने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा ॥ ४.१११॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगशास्त्रे
मुद्राकथनं नाम चतुर्थपटलः समाप्तः । ४।

पञ्चमपटलः

श्रीदेव्युवाच ।
ब्रूहि मे वाक्यमीशान परमार्थधियं प्रति ।
ये विघ्नाः सन्ति लोकानां वद मे प्रिय शङ्कर ॥ ५.१॥

ईश्वर उवाच ।
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा ।
मुक्तिं प्रति नराणाञ्च भोगः परमबन्धनः ॥ ५.२॥

भोगरूपयोगविघ्नविद्याकथनम् ।
नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्य विडम्बनम् ।
ताम्बूलभक्ष्यानानि राज्यैश्वर्यविभूतयः ॥ ५.३॥

हैमं रौप्यं तथा ताम्रं रत्नञ्चागुरुधेनवः ।
पाण्डित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतं विभूषणम् ॥ ५.४॥

वंशी वीणा मृदङ्गाश्च गजेन्द्रश्चाश्ववाहनम् ।
(दारापत्यानि विषया विघ्ना एते प्रकीर्तिताः ।)
भोगरूपा इमे विघ्ना धर्मरूपानिमाञ्छृणु ॥ ५.५॥

धर्मरूपयोगविघ्नकथनम् ।
स्नानं पूजाविधिर्होमं तथा मोक्षमयी स्थितिः ।
व्रतोपवासनियममौनमिन्द्रियनिग्रहः ॥ ५.६॥

संशयः। स्वस्वकार्येषु योगीन्द्रं प्रार्थयन्ते जनाः सदा।
तत्कर्मकरणव्यग्रः स्वाभ्यासे शिथिलो भवेत्। अभ्यासेन विहीनस्तु
ततो लौकिकतां व्रजेत्। अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमभ्यासात्तदहर्निशम्।
एवं भवेद्धटावस्था सहजाभ्यासयोगतः। अनभ्यासेन
योगोऽयं वृथा गोष्ठ्या न सिध्यति। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन
योगमेतं समभ्यसेत्। ततः परिचयावस्था जायतेऽभ्यासयोगतः।
वायुः परिचितो यत्नादात्मना सह कुण्डलीन्। बोधयित्वा
सुषुम्नायां प्रविशेदविरोधतः। वायुना सह चित्तन्तु प्रविशेत्तु
महापथम्। महापथं श्मशानञ्च सुषुम्नाप्येकमेव हि।
नाना मतान्तरे भेदाः फलभेदो न विद्यते। वर्त्तमानं
भविष्यञ्च भूतार्थञ्चापि वेत्यसौ। यस्य चित्तं सपवनं
सुषुम्नां प्रविशेद्दिवा। भव्याभव्ये च विज्ञाय योगी रहसि
यत्नतः। पञ्चधा धारणं कुर्यात् तत्तद्भूतभयापहम्॥

ग्रहजामले चतुर्दशपटले॥ सशैलवनधात्रीणां
यथाधारोऽहिनायकः। सर्वेषां हठतन्त्राणां तथाधारा हि
कुण्डली॥ अहिनायकोऽनन्तः॥ सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्त्ति
कुण्डली। तदा पद्मानि सर्वाणि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च। प्राणस्य
शून्यपदवी तदा राजपथायते। तदा चित्तं निरालम्बं तदा
कालस्य वञ्चनम्॥ शून्यपदवी सुषुम्ना तत्रैवोक्ता यथा॥

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः। श्मशानं
शङ्खिनी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकम्॥ राजपथायत इत्यनेन
सुखगमनं व्यज्यते॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्
। ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।
महामुद्रा महाबन्धो महावेदश्च खेचरी। उड्डीयानं
मूलबन्धो बन्धो जालन्धराभिधः। करणं विपरीताख्यं

p. 799) विज्रिनीशक्तिचालनम्। इदन्तु मुद्रादशकं
जरामरणनाशनम्। देवेशि कथितं
दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्। वल्लभं सर्वसिद्धानां
दुर्लभं मरुतामपि। गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्
। कस्य चिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा॥

अथ महामुद्रा॥ दत्तात्रेयसंहितायाम्॥ महामुद्रां
प्रवक्ष्यामि भैरवोक्तां समादरात्। पार्ष्णिं वामस्य पादस्य
योनिस्थाने नियोजयेत्। प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां
धारयेद्दृढं। चिवुकं हृदये न्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः।
कुम्भकेन यथाशक्ति धारयित्वा च रेचयेत्। वामाङ्गेन
समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन चाभ्यसेत्। प्रसारितस्तु यः
पादस्तमूरूपरि विन्यसेत्॥ ग्रहजामले॥ पादमूलेन वामेन

योनिं सम्पीड्य दक्षिणम्। पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां

धारयेद् दृढम्। कण्ठे वक्त्रं समारोप्य

धारयेद्वायुमूर्द्धतः। यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः

प्रजायते। ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्। तदासौ

मरणावस्था जायते द्विपुटीश्रिता। अतः शनैः शनैरेव

रेचयेत्तं न वेगतः। इयं खलु महामुद्रा तव स्नेहात्

प्रकाश्यते॥ फलम्॥ महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते

मरणादयः। महामुद्रा तु तेनैव समाख्याता महेश्वरि ।

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्याङ्गेन समभ्यसेत्। यावत्संख्या

भवेत्तुल्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्। न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः

सर्वेऽपि नीरसाः। अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति।

क्षयकुष्ठगुदावर्त्ता गुदप्लीहपुरोगमाः। तस्य दोषाः क्षयं

यान्ति महामुद्राञ्च योऽभ्यसेत्। कथितेयं महामुद्रा

जरामरणनाशिनी। गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥

अथ महाबन्धः॥ अयमेव महाबन्धो मुद्रां बद्ध्वा

यमभ्यसेत्। महाबन्धस्थितो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः।

p. 800) अयमेव महाबन्धः सिद्धैरभ्यस्यते नरैः। पार्ष्णिं

वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्। वामोरूपरि संस्थाप्य

दक्षिणं चरणं तथा। पूरयित्वा मुखे पाप हृदये चिबुकं दृढम्। निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत्। रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते। अमुं योगी महाबन्धं महासिद्धिप्रदायकम्। वामाङ्गञ्च समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत्। अयञ्च सर्वनाडीनामूर्द्धं गतिनिरोधकः। त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः। रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना। महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ॥ २॥

अथ महावेधः॥ महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा प्रकरमेकधा। वायुना गतिमावृत्य विधृतं कण्ठमुद्रया। समस्तयुक्तो यो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः। पुटद्वयं समाकृष्य वायुश्चरति सत्वरः। सोमसूर्याग्निसन्दग्धो जायते चामृताय वै। मृतावस्था समुत्पन्ना ततो मृत्युभयं कुतः। राजदण्डश्च जिह्वायां बन्धः शस्तो भवेद्धितः। महावेधसमाभ्यासो महासिद्धिप्रदायकः। बन्धत्रयं महागुह्यं जरामरणनाशनम्। वह्निवृद्धिकरं चैवाणिमाद्यष्टगुणप्रदम्। अबाधं हरते पापं यामं यामं दिने दिने। पुण्यसद्भारसभावं पापौघातिहरं सदा। सम्यक् शिक्षावतामेव स्वप्नं प्रथमसाधने। वह्निं

स्त्रीपथसेवनमादौ मज्जनमाचरेत्॥ ३॥

अथ खेचरी॥ नाऽशनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः। न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः। छेदनं चालनं देहे कलाक्रमेण बर्द्धयेत्तावत्। सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति साक्षात् खेचरीसिद्धिः॥ दत्तात्रेयसंहितायाम्॥ अन्तः कपालविवरे जिह्वां व्यावृत्य बन्धयेत्। भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी॥ ग्रहजामले॥ स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं सिग्धनिर्मलम्। मर्यादायै ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्। कृत्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रवर्त्तते॥ पथ्या हरीतकी॥ पुनः सप्तदिने पराप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्। एवं क्रमेण षण्मासं नित्ययुक्तः समाचरेत्। षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धो विनश्यति॥ योगिनी वेणुवल्कलधारेणेदानीं रसनामूलमेवं क्रमेण छिन्दन्ति॥ अथ वागीश्वरीधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत्। शनैरुत्कर्षयेद् योगी कालवेलाविधानवित्। वागीश्वरीधाम जिह्वा तस्याः शिरोऽग्रभागः। वस्त्रप्रमाणमपि तत्रैव॥ वितस्तिप्रमितं दैर्घ्यं विस्तारं चतुरङ्गुलम्। मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनालम्बनक्षणम् पुनः षण्मासमात्रेण पुनः सङ्कर्षणात् प्रिये । भ्रूमध्यावधि वर्द्धेत

तिर्यक्कर्णविलावधि। अधस्तच्चिवुकं मूलं प्रयाति क्रमकारिता।
क्रोशादूर्द्धं चङ्क्रमति तिर्यक् सङ्ख्यावधि प्रिये । पुनः
संवत्सरे देवि द्वितीये चैव लीलया। ब्रह्मरन्ध्रत आवृत्य तिष्ठेत्
पवनवन्दिते। सताद्द मूलं सङ्घृष्य सप्तवासरमात्मनि।
पूर्वोक्तेन प्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत्। अङ्गुल्यग्रेण
सङ्घृष्य जिह्वां तत्र निवेशयेत्। शनैः शनैर्मस्तकान्तं
महावज्रकवाटभित्। पूर्वं विजयतां विद्या विख्याता
भुवनत्रये। अस्यां षडङ्गं कुर्वीत तथा षड्चक्रभिन्नया। खे
निरस्तसकलक्रियाक्रमयाचिता चरति। शाश्वतोदये
सशिरोभूसमवायकारिणी॥ क्रमेणैव प्रकर्त्तव्याभ्यासेन
वरवर्णिनि । युगपद्विलये तस्य शरीरं विलयं व्रजेत्।
तस्माच्छनैः शनैः कार्योऽभ्यासिना योगकः प्रिये । एवं
वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं विशोद्धुवम्। षड्चक्राणि
विभेद्य शक्तिभुजगीं प्रोत्थाप्य मूलस्थितां भित्त्वा
ग्रन्थितमञ्च पश्चिमशिराः प्राकाररूपं महत्। नीत्वा
प्राणमहः शिरोऽपि विमलं निर्मथ्य चित्तेन तत् तल्लिङ्गं

p. 802) पिबतेन्दुमण्डलगलन्मुक्तः स साक्षाच्छिवः॥
नित्यं यस्तूर्द्धजिह्वो यदि पिबति पुमान् सप्तधारामृतौघं
सुस्वादं शीतलाङ्गं दुरितभयहरं क्षुत्पिपाशानिवारम्।

पिण्डस्थैर्यं हि तस्मान्मृड इव निवसन्मृत्युरोगात्तरेत्तु
दौर्भाग्यं याति नाशं प्रसरति सकलं त्रित्रिकालो भ्रमित्वा॥
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा। भ्रुवोरन्तर्गता
दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी। कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे
परिवर्त्तयेत्। सा भवेत् खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते।
रसनामूर्द्धगां कृत्वा क्षणार्द्धं यस्तु तिष्ठति।
विषयान्मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः। न रोगमरणं तस्य,
न निद्रा न क्षुधा तृषा। न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां
वेत्ति खेचरीम्। पिड्यते न स रोगेण लिप्यते न स कर्मणा। बाध्यते
न स कालेन यस्य मुद्रास्ति खेचरी। चित्तं चरति खे यस्मात् जिह्वा
चरति खे गता। तेनैषा खेचरी नाम मुद्रासननमस्कृता।
खेचर्यामुदितं येन विवरं लम्बिकोर्द्धकम्। तस्य न क्षरते
विन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च। चलितोऽपि यदा विन्दुः सम्प्राप्तो
योनिमण्डले। व्रजेत्तूर्द्धं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।
ऊर्द्धजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः। मासार्द्धेन
न सन्देहो मृत्युं जयति योगवान्। इन्धनानि यथा वह्निस्तेन
वर्त्तिञ्च दीपकः। तथा सोमलतापूर्णं देहं देही न मुञ्चति।
नित्यं सोमकलापूर्णं देहं देही न मुञ्चति। नित्यं
सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः। तक्षकेणापि दष्टस्य
विषं तस्य न सर्पति। तस्मादिदं प्रकुर्वीत नित्ययुक्तः समाहितः।

रसनां शोषयेदूर्द्धं पिबेदमरवारुणीम्। कुलीनं तमहं
वन्दे इतरे कुलघातकाः। गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तादृ नि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्। जिह्वाप्रवेशादं
भूतवायुना स्थापितं खदृ । चन्द्राद् गलति संसारं

p. 803) तत्स्यादमरवारुणी। मूर्द्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं
प्राणादवाप्तं हठादूर्द्धास्यो रसनां नियम्य विवरे
शक्तिं परां चिन्तयेत्। तत्कल्लोलकलाजलञ्च विमलं धारामृतं
यः पिबेत् निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति॥
चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी सक्षारा
कटुकाथ दुग्धसदृशी क्षीराज्यतुल्याथवा। व्याधीनां
हरणं जरान्तकरणं शास्त्राङ्गमोद्गीरणं तस्य
स्यादमरत्वमष्टगुणवत् सिद्धाङ्गनाकर्षणम्॥ एकं
सृष्टिमयं वीजं एका मुद्रा च खेचरी। एको देवो निरालम्बो
ह्येकावस्था मनोन्मनी। सुचिरं ज्ञानजनकं
पञ्चतत्त्वसमन्वितम्। तिष्ठन्ती खेचरीमुद्रा तस्मिन् शून्ये
निरञ्जने॥ ४॥

अथ मूलबन्धः॥ पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य
योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्। अपानमूर्द्धमुत्थाप्य

मूलबन्धोऽयमुच्यते। अधोगतमपानञ्च ऊर्द्ध्वङ्गं कुरुते

हठात्। आकुञ्चनेन तं वच्मि मूलबन्धं महेश्वरि ।

योनिपार्ष्णी तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात्। वारं वारं

तथा चोर्द्ध्वं समायाति समीरणः। प्राणादिनोदितो

विन्दुर्मूलंबन्धेन चैकतः। ततो योगस्य संसिद्धिः प्रमा तत्र

न संशयः। प्राणापानौ च पवनौ मूलबन्धेन चैकताम्।

गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः।

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयान्मूत्रपुरीषयोः। युवा भवति

वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्। अपाने चोर्द्ध्वगे याते सम्प्राप्ते

योनिमण्डले। तदानना शिखा दीर्घा वर्द्धते वायुना हता। ततो

यातं बद्धयोनौ प्राणेषु च स्वरूपकम्। तैलाभ्यक्तं

प्रदीपन्तु ज्वलनो देहगस्तथा। तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता

संविवर्द्धते। दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्।

विलं प्रविष्टैव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्। तस्मान्नित्यम्

मूलबन्धः कर्त्तव्यः परमेश्वरि ॥ ५॥

p. 804) अथ उड्डीयानम्॥ बद्धो येन सुषुम्नायां प्राण उड्डीयते

ततः। तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं ज्ञातव्यः परमेश्वरि ।

उड्डीनं कुरुते यस्मादधिश्रान्तो महाखगः। उड्डीयानं

तदेव स्यात् तत्र बन्धो निगद्यते। उदरे पश्चिमे भालं

नाभेरूर्द्ध्वञ्च कारयेत्। उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो
मृत्युमातङ्गकेशरी। उड्डीयानन्तु सहजं कथ्यते परमेश्वरि ।
अभ्यासेन वितन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्।
नाभेरूर्द्ध्वमधश्चापि ताद्दं कुर्यात् प्रयत्नतः।
षण्मासाभ्यासतो मृत्युं जयत्येव न संशयः। सति वज्रासने
पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम्। फल्गुदेशसमीपे च बन्धं
तत्र प्रपीडयेत्। पश्चिमे ताद्द मुदरे कारयेद्धृददये गले। शनैः
शनैर्यथा प्राणस्तुन्दसिद्धिं स गच्छति। सर्वेषामेव
बन्धानामुत्तमोऽप्युड्डियानकः। उद्डीयाने महेशानि मुक्तिः
स्वाभाविकी भवेत्॥ दत्तात्रेयसंहितायाञ्च॥ उड्डीयानञ्च
सहजं मुनिभिः कथितं सदा। अभ्यसेद् यस्तु सत्त्वस्थो वृद्धोऽपि
तरुणायते। नाभेरूर्द्ध्वमधश्चापि प्राणं कुर्यात् प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः। मूलबन्धस्तु
यो नित्यमभ्यसेत् स तु योगवित्॥ ६॥

अथ जालन्धरबन्धः॥ ग्रहजामले॥ कण्ठमाकुञ्च्य
हृदये स्थापयेच्चिवुकं दृढम्। बन्धो
जालन्धराख्योऽयममृताव्ययकारकः॥ दत्तात्रेयसंहितायाञ्च
। कण्ठमाकुञ्च्य हृदये मारुतं धारयेद् दृढम्। जालन्धरे
बन्ध एष ह्यमृतद्व्यपारगः। नाभिस्थाग्निकपालस्थं

सहस्रकमलच्च्युतम्। अमृतं सर्वदास्रावं विन्दुत्वं याति देहिनाम्। यथाग्निश्च तदमृतं न पिबेच्च पिबेत् स्वयम्। याति पश्चिममार्गेण एवमभ्यासतः सदा। अमृतं कुरुते देहं जालन्धरमतोऽभ्यसेत्॥ ग्रहजामले॥ बध्नाति हि शिराजालमध्ये गामि न भोजनम्। अतो जालन्धरो बन्धः कण्ठे दुःखौघनाशनः। जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठे सङ्कोचने कृते।

p. 805) न पीयूषं पचत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति। कण्ठसङ्कोचनेनैव द्वे नाड्यौ कुम्भयेद् दृढम्। मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम्। बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धनिषेवितम्। सर्वेषां हठतन्त्राणां कुर्यात् साधनमीश्वरि । अथ आकुञ्चनेनाशु कण्ठसङ्कोचने कृते। मध्ये पश्चिमताद्द ः स्यात् प्राणस्तु मध्यनाडिगः। ब्रह्मस्थानस्थितो बोधः प्रयाति पवनालयम्। ततो न जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा। मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डानाख्यन्तु कारयेत्। इडाञ्च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमां दिशम्। अनेनैव विधानेन प्राप्नोति पवनो लयम्। ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा॥

अथ विपरीतकरणम्। यत्किञ्चित् स्त्रवते चन्द्रादमृतं

दिव्यरूपिणम्। तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः। तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखबन्धनम्। गुरुपदेशतो ज्ञेयं न च शास्त्रार्थकोटिभिः। ऊर्द्धं नाभिरधस्ताद्द रूर्द्धं भानुरधः शशी। करणं विपरीताख्यं सर्वव्याधिविनाशनम् । नित्यमभ्याससंयुक्तं जठराग्निविवर्द्धनम्। स्वल्पाहारो निराहारः क्षुधार्त्तो बलहा भवेत्। आहारं बहुलं तस्य सम्पाद्य साधकस्य तु। अप्लाहारो यदि भवेदग्निर्देहं दहेत् क्षणात्। अधः शिराश्चोर्द्धपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने। क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेद्धि दिने दिने। बलितं पलितञ्चैव षण्मासाद्धि विनाशयेत्। मासमात्रन्तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कर्णजित्॥ दत्तात्रेयसंहितायामपि॥ पक्षिणा गुदमायुज्य वाममार्गं चरेद्बलात्। वारं वारं यथा चोर्द्धं समायाति समीरणः। प्राणापानौ नादविन्दू मूलबन्धेन चैकताम्। महायोगस्य संसिद्धिं याति नास्त्यत्र संशयः। करणं विपरीताख्यं सर्वव्याधिविनाशनम्। नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्द्धनम्। आहारा बहवस्तस्य स्वल्पाद्याः साङ्कृते ध्रुवम्। अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दाहं

p. 806) करोति वै। ऊर्द्धं राहुरधश्चन्द्रस्तथा दृष्टिश्च साङ्कृते । अधःशिराश्चोर्द्धपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने।

क्षणात्तु किञ्चिदधिकमभ्यसेत्तु दिने दिने। बलिश्च पलितञ्चैव षण्मासोर्द्धं न दृश्यते। याममात्रन्तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु योगवित्॥

अथ वज्रोणी॥ वज्रोणी चामरोणी च सयोनी च त्रिधा मतः। तत्तासां लक्षणं वक्ष्ये कर्त्तव्यञ्च विशेषतः। स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि योगोक्तनियमं विना। वज्रोणीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनः। अधोभागे गतं विन्दुमभ्यासेनोर्द्धमाहरेत्। चलितस्तु स्वकं विन्दुमूर्द्धमाकृष्य रक्षयेत्। तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्। क्षीरञ्चैव द्वितीयञ्च नारी च वशवर्त्तिनी। मेढ्रेण च शनैः सम्यक् कृत्वाकुञ्चनमभ्यसेत्। पुरुषो वापि नारी वा वज्रोणी सिद्धिमाप्नुयात्। प्रयत्नतः शराजालं फुत्कारैः कम्बु वर्द्धयेत्। शनैः शनैः प्रकुर्याच्च वायुसञ्चारकारणात्। भार्याभगगतं विन्दुमभ्यासेनोर्द्धमाहरेत्। बलितं पलितं विन्दुं विन्दुमाकृष्य रक्षयेत्। एवनतु रक्षयन् विन्दुं मृत्यु जयति योगवान्। मरणं विन्दुपातेन जीवितं विन्दुधारणात्। सुगन्धियोगिनो देहो जायते विन्दुधारणात्। यावद्विन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः। मलायत्तं बलं पुंसां शुक्रायत्तञ्च जीवितम्। तस्माच्छुक्रं मलञ्चैव रक्षणीयं

प्रयत्नतः। ऋतुमत्या रजोऽप्येवं स्वयं विन्दुश्च रक्षयेत्।
मेढ्रादाकर्षयेदूर्द्धं सम्यगभ्यासयोगतः
सहयोन्यमरोणी च वज्रोण्या एव भेदतः। वज्रोणी
मैथुनादूर्द्धं स्त्रीपुंसोः साङ्गलेपनम्। आसीनयोः
सुखेनैव सूक्ष्मव्यापारयोः क्षणात्। सहयोनिरियं प्रोक्ता
श्रद्धया परमेश्वरि । पित्तोल्वणत्वात् प्रथमाञ्च धारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम्। निषेवते शितलमध्यधारां

p. 807) कफोणिकैः खण्डमतेरमर्यः। अमरीं यः पिबेन्नित्यं
न्यासं कुर्वन् दिने दिने। वज्रोणीमभ्यसेदेवममरोणीति कथ्यते।
यक्षणाकुञ्चनेनोर्द्धं या रजः सा हि योगिनी। अतीतानागतं
ज्ञातं खेचरी च प्रजायते। देहसिद्धिश्च लभते
वज्रोण्यभ्यासयोगतः। अयं शुभकरो योगो भोगान् भुङ्क्ते
विमुक्तिदः॥ ९॥

अथ शक्तिचालनम्॥ कुण्डलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी
शक्तिरीश्वरी। कुण्डल्यरुन्धती देवी शब्दाः पर्यायवाचकाः।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये बाला रण्डा तपस्विनी। बलादाकृष्य
गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम्। पुच्छं प्रगृह्य भुजगीं
सुप्तामुद्बोधयेदपि। निद्रां विहाय सा ऋज्वी ऊर्द्धमुत्तिष्ठते

हठात्। वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्।
मृत्युवज्रगतस्यापि ततो मृत्युभयं कुतः।
मुहूर्त्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ। ऊर्ध्वमाकर्षते
किञ्चित् सुषुम्नां कुण्डलीगताम्। तेन कुण्डलिनी तस्याः
सुषुम्नायाः समुद्गताः। जहाति नित्यं प्राणोऽयं सुषुम्नां
ब्रजति स्वनः। तस्मात् सञ्चालयेन्नित्यं शब्दगर्भामरुन्धतीम्।
यस्याः सञ्चालनेनैव रोगी रोगैर्विमुच्यते। येन सञ्चालिता शक्तिः
स योगी सिद्धिभाजनः। किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया।
अभ्यासान्निःसृतां चैन्द्रीं सह नित्यं समाश्रयेत्।
धारयेत्तूत्तमाङ्गे च दिव्यदृष्टिप्रदायिकाम्। इति मुद्रा दश
प्रोक्तास्तव स्नेहान्महेश्वरि । एकैका चाशु यमिनां
महासिद्धिप्रदायिनी। राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना शिला
। राजयोगं विना निद्रा विचित्रापि न राजते। मारुतस्य विधिं सर्वं
मनोयुक्तं मनीषिणाम्। शिवापि मध्यमा नाडी दृढाभ्यासे च
योगिनाम्। आसने प्राणसंयोगे मुद्राभिः सकला भवेत्।

p. 808) उपसन्नेऽपि मुद्राणां राजयोगः समुद्रवत्।
रुद्राणाञ्चापरा मुद्रा तदा सिद्धिं प्रयच्छति॥

इति प्राणतोषिण्यां षष्ठे ज्ञानकाण्डे

पञ्चामरादिमुद्रादशकरूपग्रन्थिकथनं नाम प्रथमः

परिच्छेदः॥

दत्तात्रेयसंहितायाम्॥ पञ्चधारणानन्तरम्॥ पृथिवीधारं

वक्ष्ये पार्थिवेभ्यो भयावहम्। नाभेरधो गुदस्योर्द्धं

घटिकाः पञ्च धारयेत्। वायुं ततो भवेत् पृथ्वीधारणं

तद्भयापहम्। पृथिवीसम्भवात्तस्य न मृत्युर्योगिनो भवेत्।

नाभिस्थाने ततो वायुं धारयेत् पञ्च नाडिकाः। ततो जलभयं

नास्ति जलमृत्युर्न योगिनः। नाभ्यूर्द्धमण्डले वायुं धारयेत्

पञ्च नाडिकाः। आग्नेयी धारणा सेयं न मृत्युस्तस्य वह्निना।

न दह्यते शरीरं हि प्रक्षिप्ते वह्निकुण्डके। नाभिभ्रुवोर्हि मध्ये

तु प्रादेशद्वयसम्मिते। धारयेत् पञ्च घटिका वायुं सैव हि

वायववी। धारणात्तस्य वायोस्तु योगिनो न भयं भवेत्।

भ्रूमभ्यादुपरिष्टात्तु धारयेत् पञ्च नाडिकाः। वायुं योगी

प्रयत्नेन सेयमाकाशधारणा। आकाशधारणं कुर्वन्मृत्युं

जयति तत्त्वतः। यत्र तत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्नुते। एवञ्च

धारणाः पञ्च कुर्याद्योगी विधानतः। ततो दृढशरीरस्य

मृत्युरस्य न विद्यते। इत्येवं पञ्चभूतानां धारणं यः

समभ्यसेत्। ब्रह्मणः प्रलये वापि तस्य मृत्युर्न विद्यते।

षष्ठोऽध्यायः

- हठयोगमाश्रित्य जालन्धरबन्धमूलबन्धोड्डयानबन्धानां स्वरूपम्
- घेरण्डसंहितानुसारेण जालन्धरबन्धमूलबन्धोड्डयान-बन्धानां स्वरूपम्
- मुद्रास्वरूपविमर्शः
- कुण्डलिनीशक्तेः स्वरूपविमर्शः
- उक्तोभयोः ग्रन्थयोः बन्धानां तुलनात्मकमध्ययनम्

षष्ठोऽध्यायः

हठयोगमाश्रित्य जालन्धरबन्धमूलबन्धोड्डयानबन्धानां स्वरूपम्

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्डयानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः॥[1]

जालन्धरबन्धः

कंठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः॥[2]

जालन्धरबन्धमाह–कण्ठे गले बिलमाकुञ्च्य हृदये वक्षः समीपे चतुरङ्गु-लान्तरितप्रदेशे चिबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत्। अयं कण्ठाकुञ्चनपूर्वकं चतुरंगु-लांतरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चिबुकस्थापनरूपो जालधंर इत्याख्यायत इति जालन्धराख्यो जालंधर नामा बन्धः। कीदृशः इति। जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीति।

जालन्धरपदस्यार्थमाह –

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभो जलम्।
ततो जालन्धरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः॥[3]

1 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 6
2 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 70
3 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 71

हि यस्माच्छिराणां नाडीनां जालं समुदाय बध्नाति। अतो गन्तुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति। ततस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बंधः जालं दशाजालं जालानां समूहो जालंधरतीति जालंधरः। कीदृशः कंठे गलप्रदेशे यो दुःखोधौ विकारजातो दुःखसमूहस्य नाशको नाशकर्ता।

जालन्धरगुणानामाह –

जालंधरे कृते बंधे कंठसङ्कोचलक्षणे।

न पीयूषं पतत्यग्नौ न चा वायु प्रकुप्यति॥[1]

कंठस्य गलविलस्य सङ्कोचनं सङ्कोचं आकुञ्चनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कंठसङ्कोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बंधे कृते सति पीयूषमृतमग्नौजाठरेऽनले पतति न सरति। वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यन्तरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः।

कंठसङ्कोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद्दृढम्।

मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम्॥[2]

दृढं गाढं कंठसङ्कोचनेनैव कंठ सङ्कोचनमात्रेण द्वे नाड्यो इडापिंगले स्तंभयेदयं जालंधरं इति कर्तृपदाध्याहारः। इदं कण्ठस्थाने स्थितं विशुद्धाख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयम्। कीदृशं षोडशाधारबन्धनं षोडशसंख्यका ये आधारा

---

1 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 72

2 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 73

अंगुष्ठाधारादिब्रह्मरन्ध्रातास्तेषां बंधनं बन्धनकारकम्। "अंगुष्ठागुल्फजानूरुसीवनी-लिङ्गनाभयः। हृदग्रीवाकंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा। भूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरन्ध्रकम्। एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः" तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धान्तादवगंतव्यः।

मूलबन्धः

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।।[1]

पार्ष्णिभागेनेति पार्ष्णिर्भागो गुल्फयोरधः प्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुंचयेत्संकोचयेत्। अपानमधोगति वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबंधोऽभिधीयते कथ्यते। पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुंचनं मूलबंध इत्युचत इत्यर्थः।

अधोगतिमपानं वा उर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः।।[2]

यः अधोगतिम् अधोर्वाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुंचनेन मूलधारस्य संकोचनेन बलादृढादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्नायामूर्ध्वगमन-शीलं कुरुते। वै इति निश्चयेऽव्ययम्। योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबन्धं मूलस्य मूलस्थानस्य बन्धनं मूलबन्धस्तं मूलबन्धमित्यन्वर्थं प्राहुः। अनेन मूलबंधशब्दार्थ उक्तः। पूर्वश्लोकेन तु तस्य बंधनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यम्।

---

1 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 61

2 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 62

योगबीजोक्तरीत्या मूलबन्धमाह -

गुदं पाष्र्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात्।

वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः।।[1]

पाष्र्णोगुल्फयोरधोभागेन गुदं वायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः। तु शब्दः पूर्वस्मादस्य विशेषत्वद्योतकः। यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरुर्ध्वं सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारं वारं पुनः पुनर्वायुमपानमाकुंचयेद्गुदस्याकुंचनेनाकर्षयेत्। अयं मूलबन्धः इति वाक्या-ध्याहारः।

मूलबन्धगुणानामाह -

प्राणापाणौ नादबिंदू मूलबन्धेन चैकताम्।

गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।।[2]

प्राणश्चापनश्च प्राणापानावूर्ध्वाधोगती वायु। नादोऽनाहतध्वनिः बिन्दूरनु-स्वारस्तौ मूलबन्धेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसंसिद्धि यच्छतो ददतः। अभ्यासिन इति शेषः। अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न। संदेहो नास्तीत्यर्थः। अयं भावः मूलबन्धे कृतेऽपानं प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नाया प्रविशति। ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिन्दुना सहैक्यं बिन्दुनाधाय मूर्ध्नि गच्छतः ततो योगसिद्धि।

---

1 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 63

2 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 64

अपानप्राणयोरिति[1] सततं मूलबन्धनान्मूलबंधमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं भवति। मूत्रपुरीषयो: संचितयो क्षय: पतनं भवति। वृद्धोऽपि स्थाविरोऽपि युवा तरुणो भवति।

अपाने उर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम्।

तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता।।[2]

मूलबन्धनादपाने अधोगमनशीले वायौ उर्ध्वगे उर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्व-गस्तस्मिन्तादृशे सति वह्निमण्डलं वह्नेर्मण्डलं त्रिकोणे नाभेरधोभागेऽस्ति। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन "देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभम्। त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पादम्। मंडलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते। तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके।" तदा तस्मिन् काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा जायते।

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।

तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा।।[3]

ततस्तदनन्तरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ, उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यतो गच्छत: ततोऽनलशिखा-दैर्घ्यादुष्णस्वरूपकादिति वा योजना। तेन प्राणसङ्गमनेन देहे जातो देहजो

---

1 अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयो:।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।। हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेश:, श्लो. 65

2 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेश:, श्लो. 66

3 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेश:, श्लो. 67

ज्वलनोऽग्निरत्यन्तमधिकं दीप्तो भवति। तथेति पादपूरणे अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राणसंगत्याऽत्यंतं प्रदीप्तो भवति।

तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते।

दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥[1]

तेन ज्वलनस्यात्यंतं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुंडलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति। दंडेनाहता दंडाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निश्वस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेत् गच्छेत् इत्यर्थः।

विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मानाड्यन्तरं व्रजेत्।

तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥[2]

ततो ऋजुताप्राप्त्यनंतरं बिलं प्रविष्टा भुगजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अन्तरं मध्यं गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिमूलबन्धो प्रतिदिनं नित्यं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः।

अथोड्डीयानबन्धः -

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।

तस्मादुड्डीयनाख्योयं योगिभिः समुदा हृतः॥[3]

---

1 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 68

2 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 69

3 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 55

उड्डीयमानबन्धं विवक्षुस्तावदुड्डीयनशब्दार्थमाह बद्ध इति। यतो यस्माद्धेतोर्येन बन्धेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्नायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्नां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बंधोयोगिभिर्मत्स्येन्द्रादिभिरुड्डीयनमाख्यभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्युत्पत्योदाहृतः कथितः। सुषुम्नाया-मुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम्। उत्पूर्वात् 'डीङ् विहायसा गतौ' इत्यस्मातकरणे ल्युट्।

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगाः।
उड्डीयानं तदैव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते॥[1]

महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः। सर्वदा देहावकाशे गतिमत्वात्। यस्माद्बधादविश्रान्तं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते। सुषुम्नायामित्य-ध्याहार्यम्। तदेव बंधविशेषमुड्डीयाननामकं स्यात्। तत्र तस्मिन्विषये बन्धोऽभि-धीयते बन्धस्वरूपं कथ्यते।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरुर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयमानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी॥[2]

उदरे तुन्दे नाभेरुर्ध्वं चकारादधः उपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरुर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसंलग्नौ स्यातां तथा तानंताननं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात् णिजर्थोऽविवक्षितः। असौ नाभेरुर्ध्वाधोभागयोस्तानरूपं उड्डीयमान, उड्डीयमानाख्योबन्धः। कीदृशः मृत्युरेव मातंगो केसरी सिंह इव निवर्तकः।

---

1 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 56

2 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 57

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।

अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते।।[1]

गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयान सदा तु सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिगर्मनम्। सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात्। यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरन्तरमभ्यसेत्। उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते। स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते।

नाभेरुर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्वेव न संशयः।।[2]

नाभेरुर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोऽधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः। यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात्। पूर्वार्धेनोड्डीयान-स्वरूपमुक्तम्। अथ तत्प्रशंसा। षण्मासंपर्यत्तम् उड्डीयानमित्यध्याहारः। अभ्यसेत्पुनः पुनरनुतिष्ठेत्स मृत्युं जयत्येव संशयो न।

सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।

उड्डीयाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।।[3]

सर्वेषां बन्धानां मध्ये उड्डीयानकः उड्डीयान बन्ध एव। स्वार्थे क प्रत्ययः उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्मादुड्डीयमाने बन्धे दृढे सति स्वाभाविकी भावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत्। उड्डीयमानबन्धे कृते विहंगमगत्या सुषुम्नायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात्। समाधौ मोक्षमाप्नोति इति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः।

---

1 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 58

2 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 59

3 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 60

घेरण्डसंहितानुसारेण जालन्धरबन्धमूलबन्धोड्डयानबन्धानां स्वरूपम्

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जालन्धरम्।

मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी।।[1]

अथ जालन्धरबन्धः -

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदयेन्यसेत्।

जालन्धर कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।

जालन्धरमहामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी।।[2]

जालन्धरबन्धेन कपालकुहरस्य अमृतस्रावं प्रतिबन्धितो भवति। कण्ठस्थाने स्थितं विशुद्धाख्यचक्रं षोडशचक्रेषु मध्यचक्रमाधाररूपेण निरूपितोऽस्ति।

जालन्धरबन्धस्य फलमाह -

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम्।

षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः।।[3]

मूलबन्धः

मूलाधारो बन्ध्यते येन मुद्रया तन्मूलबन्धः। तद्यथा–

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः।

नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः।।

---

1 घेरण्डसंहिता, तृतीयोपदेशः, श्लो. 1

2 घेरण्डसंहिता, तृतीयोपदेशः, श्लो. 12

3 घेरण्डसंहिता, तृतीयोपदेशः, श्लो. 13

मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत्।

जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते।।[1]

पार्ष्ण्या गुदमेढ्रयोर्मध्ये नियोजनेन एवञ्च गुदसङ्कोचनेन च अपानवायुः उर्ध्वं सुषुम्नायां सञ्चरति। मानवशरीरे त्रिकोणे स्थित जठराग्नि प्रदीप्तो भवति। प्राणापानमेक्यं भूत्वा नादं वर्धयति। अर्थात् अनाहतमण्डलमुत्क्रमयति नादबिन्दु-संयुक्तो भवति। मनसि शिवभाव विराजते।

मूलबन्धस्य फलमाह -

संसारसमुद्रं तर्त्तुमभिलषति यः पुमान्।

विरलेसगुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत्।।

अभ्यासाद्बन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।

साधयेद् यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः।।[2]

उड्डीयानबन्धः

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरुर्ध्वं तु कारयेत्।

उड्डानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।

उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।।[3]

मृत्युमातङ्गकेसी अर्थात् शरीरे सत्प्रवाही प्राणशक्ति यदा विद्युदाकर्ष-परिपथे सञ्चरति तदा शरीरावयवापि विश्रामावस्थायां ऊर्जान्वितां भवति। द्रष्टा

---

1 घेरण्डसंहिता, तृतीयोपदेशः, श्लो. 14-15

2 घेरण्डसंहिता, तृतीयोपदेशः, श्लो. 16-17

3 घेरण्डसंहिता, तृतीयोपदेशः, श्लो. 10

भावान्वितो वृत्तयः सापेक्षत्वं भजते एवं प्रकारेण प्रशिक्षितः ग्रन्थयः व्यष्टेः परिक्षेत्रं परिवर्धयन्ति। अतः सुकांक्षिनरः नाभेरधोभागं पश्चाकर्षणां कृत्वा पृष्ठ-संलग्नं कुर्यात् एव उर्ध्वमधोभागयोः तान रूपेऽवस्थाप्य उड्डीयानबन्धः कथ्यते। अर्थात् शरीराकाशे महाखगः प्राणः येन बन्धेन सुषुम्नायां सञ्चरति तदुड्डीयान-बन्धः।

उड्डीयानबन्धस्य फलम्

समग्राद्बन्धनादेतदुड्डीयानं विशिष्यते।

उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्॥[1]

---

[1] घेरण्डसंहिता, तृतीयोपदेशः, श्लो. 11

मुद्रास्वरूपविमर्शः

प्राणसन्धानस्य पूर्वं मुद्रायाः ज्ञानमावश्यकं वर्तते। तद्रहस्यं मुद्रायामेव निहितोऽस्ति इति योगतन्त्रवाङ्मये सर्वत्रैव वर्णितमस्ति। तंत्रेषु मुद्रायाः क्रिया-शक्तिरूपत्वमुक्तम्-

मन्त्रो वै ज्ञानशक्तिश्च मुद्रा चैव क्रियात्मिका।[1]

बाह्याभ्यन्तरभेदेन मुद्रा द्विविधा भवति। कररचना रूपा बाह्याः, बन्धरूपा च आभ्यन्तरा। स्वच्छन्दतन्त्रे मुद्राणां त्रैविध्यमुक्तम् परञ्च तन्त्रालोके तु करजा, कायिकी, विलापा, मानसी इति चतस्रो मुद्राः कथिता अत्र संस्थानविशेषानु-सरणरूपा बन्धरूपाः मुद्राः यत् हठयोग, घेरण्डसंहितायां वर्णितः सन्ति तदैव प्राणसंधानाय सर्वथा उपयुक्ते सति उल्लेखयामि यथा हठयोगप्रदीपिकायाम्-

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बंधो जालन्धराभिधः॥
करणी विपरीताख्या वाज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्॥[2]

उपर्युक्त दशमुद्राणां स्वरूपं हठयोगप्रदीपिकायां प्रतिपादितमस्ति। तथैव घेरण्डसंहितायामपि पञ्चविंशतिमुद्राणां वर्णनमुपलभ्यते। यथा-

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी॥

---

1 स्वछन्दतन्त्रे 4/375

2 घेरण्डसंहिता, तृतीयोपदेशः, श्लो. 6-7

विपरीतकरी योनिर्व्रजोली शक्तिचालनी।

ताडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पञ्चधारणा।।

अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी।

पञ्चविंशति मुद्राणि सिद्धदानीह योगिनाम्।।[1]

हठयोगप्रदीपिकायां महामुद्रामाह –

पादमूलेन वामेन योनि संपीड्य दक्षिणम्।

प्रसारितं पदं कृत्वा धराभ्यां धारयेद्दृढम्।।

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।

यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकार प्रजायते।।[2]

घेरण्डसंहितायामेवञ्च –

पायुमूलं वामगुल्फे सम्पीड्य दृढयत्नतः।

याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदाङ्गुलः।।

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा भ्रवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।

महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः।।[3]

अर्थात् वामपादमूलेन गुदालिङ्गयोः मध्यभागं संपीड्य वा सम्यक्-प्रकरणेन संयोज्य दक्षिणपादं भूमौ प्रसार्य तर्जनीभ्यां पादाङ्गुष्ठं दृढं धारयेत्। जालन्धरबन्ध चिबुकं कण्ठकूपे निधाय ऊर्ध्वतः वायुं धारयेत्। यथाशक्ति

---

1 घेरण्डसंहिता, तृतीयोपदेशः, श्लो. 3/1-3

2 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 3/10-11

3 घेरण्डसंहिता, तृतीयोपदेशः, श्लो. 3/6-7

कुम्भकानन्तरं शनैः शनैः रेचनं कुर्यात् एवं प्रकारेण वामाङ्गे सम्यग् अभ्यस्य दक्षपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य वामपादं भूमौ प्रसार्य तदङ्गुष्ठं गृहीत्वा पूर्वपदभ्यासं कुर्यादिति। महामुद्राभ्यासेन प्राणाः अवक्राः भवन्ति। साधकस्य पाचनतन्त्रः प्रबलो भवति पथ्यमपथ्यं वा कटु अम्ल विषाक्तमपि जीर्यति।[1] यथा-

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वैरपि नीरसाः।

अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति॥

क्षयकाशं मुदावर्त्तं प्लीहाजीर्णज्वरं तथा।

नाशयेत्सर्वरोगांश्च महामुद्रा च साधनात्॥[2]

अर्थात् सर्वरोगांश्च नश्यन्तीति।

महाबन्धः

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।

वामोरुपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम्।

निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत्॥

घेरण्डसंहितानुसारेण महाबन्धस्वरूपं यथा-

वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत्।

दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः॥

---

1 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 3/16

2 घेरण्डसंहिता, तृतीयोपदेशः, श्लो. 3/8

शनैः शनैश्चालयेत् पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छनः।

जालन्धरे धारयेत् प्राणं महाबन्धो निगद्यते॥

अर्थात् वामपादस्य पार्ष्णि गुदभेढ्रयोरन्तराले नियोज्य दक्षिणपादं वामजंघोपरि संस्थाप्य पूरकं विधातव्यम् हृदये चिबुकं दृढ निष्पीड्य जालन्धर बन्ध कृत्वा स प्रयत्नेन वायुमाकुञ्च्य ततो मनोनियोजयेत्। यथा शक्ति कुम्भयित्वा शनैः शनैः रेचरं कर्तव्यम् एवं प्रकारेण वामाङ्गे समभ्यस्य पुनः दक्षांगेऽभ्यसेत्। एतदभ्यासेन सर्वनाडीमूर्ध्वगतिं निरुध्यते "त्रिवेणीसङ्गमधत्ते केदारं प्रापयेन्मनः"[1] एतद्भ्यासं विना योगिनः "रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना" इव भवति। केचित् तु कण्ठसङ्कोचस्य स्थाने राजदन्तोपरि जिह्वायाः स्थापनं उत्तमोत्तमं स्वीकुर्वन्ति।

महावेधः

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।

वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सताडयेन्छनैः।

पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः॥[2]

घेरण्डसंहितायामेवञ्च –

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना।

मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा॥

---

1 योगकर्णिका 7/60

2 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 26-27

महाबन्ध समासाध्य उड्डानकुम्भकं चरेत्।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः।।[1]

महाबन्धमुद्रायामुपविश्य एकाग्रचिन्मासे पूरकं कर्तव्यम्, जालन्धरमुद्रया वायुगतिमावृत्य कुम्भकं कृत्वा शनैः शनैः उत्प्लावन कर्तव्यम्। महावेधाभ्यासतो प्राणः सुषुम्ना मध्ये सञ्चरति। अभ्यासी कदापि जरापीडितो न भवति। एवं तस्य न मृत्युभयं विद्यते। यथा-

न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोयं योनिपुङ्गवैः।।[2]

एतन्त्रयोबन्धा अतिगुह्य अर्थात् सावधानपूर्वको विधातव्यम्। प्रथमे स्वल्पं एवञ्च दिने दिने वृद्धिं कर्तव्यम्। अनेन साधको अणिमादि सिद्धियुक्तो भवति। तद्यथा-

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम्।।[3]

खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।
छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत्।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरी सिद्धिः।।[4]

---

1 घेरण्डसंहिता, तृतीयोपदेशः, श्लो. 21-22
2 घेरण्डसंहिता, तृतीयोपदेशः, श्लो. 24
3 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 3/30
4 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 32-33

घेरण्डसंहितायां खेचरीमुद्रास्वरूपम्, यथा-

जिह्वाधो नाडीं सञ्छिन्नां रसनां चालयेत् सदा।
दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत्॥
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिकादीर्घतां व्रजेत्।
यावद्गच्छेद् भ्रुवोमध्ये तदागच्छति खेचरी॥[1]

आवेष्ठित जिह्वा कपालकुहरे प्रविश्य दृष्टिभ्रूमध्ये संस्थापनमेव खेचरीमुद्राः रहस्यम्। कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकभ्रूवोरन्तरदर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम्।

खेचरीमुद्रा एव अमृतबन्धनीव्योमचक्र-तिमिरहननी आदि रूपेण तन्त्र-ग्रन्थेषु निरूपास्ति। योगिनः तु स्वाधिष्ठानमक्षुणं वा हठयोगोऽपि एतदाध्यात्म-प्रसादः विपुला वर्तते यथा-

एकं सृष्टिमयं बीजमेकां मुद्रा च खेचरी।[2]

विपरीतकरणीमुद्रा

हठयोगप्रदीपिकायाम्-

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरुर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्य साधकस्य च॥[3]

---

1 घेरण्डसंहिता, तृतीयोपदेशः, श्लो. 25-26

2 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 54

3 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 79-80

घेरण्डसंहितायामेवञ्च –

नाभिमूलेवसेत् सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमा।

अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः।।

ऊर्ध्वं च योजयेत् सूर्यञ्चन्द्रञ्च अध आनयेत्।

विपरीतकरी मुद्रासर्वतन्त्रेषु गोपिता।।[1]

दिव्यमुत्कृष्टस्वरूपाकांक्षिणः सदैव विपरीतकरणीमुद्रायाः अभ्यासेन ओजस्विनः भवन्ति। मुद्रायाः सन्दर्भे गोरक्षादिहठयोगिनां सम्प्रत्ययानि तु एवमस्ति यथा–

नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः।

अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमा।।

अर्थात् तालुदेशे स्थित चन्द्रमा अधोमुखः सन् अमृतं वर्षति। नाभिदेशे च स्थितसूर्यः ऊर्ध्वमुखो भूत्वा तद् ग्रसति। अतः एवं विधा क्रिया विधातव्या यथा ऊर्ध्वं नाभिः अधस्ताच्च तालु भवेत्। एवं क्रियमाणे सूर्यं ऊर्ध्वं चन्द्रमाश्चाधः-स्ताद्भवति। कार्यमिदं विपरीतकरणाभ्यासेनैव सम्भवति। अत इयं मुद्रा विपरीतकरणीति प्रोच्यते।

उपर्युक्त मुद्राणामतिरिक्त हठयोगप्रदीपिकायां विभिन्नमुद्राणां वर्णनं वर्तते यथा–वज्रोली–सहजोली–अमरोली–शक्तिचालनादि। एवञ्च घेरण्डसंहितायामपि नभोमुद्रा – योनिमुद्रा – वज्रोणिमुद्रा – शक्तिचालिनीमुद्रा – ताडात्रीमुद्रा –

---

[1] हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 33–34

माण्डुकीमुद्रा - शाम्भवीमुद्रा - पञ्चधारणामुद्रा - पार्थिवीमुद्रा - आम्भसीमुद्रा - आग्नेयीधारणमुद्रा - वायवीधारणमुद्रा - आकाशीधारणमुद्रा - अश्विनीमुद्रा - पाशिनीमुद्रा - काकीमुद्रा - मातङ्गिनीमुद्रा - भुजङ्गिनी एताः मुद्राः प्रदर्शिताः सन्ति। योगदर्शनेऽपि चतुर्विंशतिमुद्राणां वर्णनमुपलभ्यते। आसु मुद्रासु काश्चन आसनेषु काश्चित् प्राणायामेषु कियत्यः प्रत्याहारे कतिपया धारणायां स्थूलध्याने ज्योतिर्याने च साहाय्यमाचरन्ति-

एवं ध्यात्वा विधानेन गायत्रीं वेदमातरम्।

ततः मुद्राः प्रकुर्वीत देव्याः प्रीतिकराः शुभाः॥

योगमुद्रासाधकस्योद्देश्यमिदं यदेतेन ब्रह्मरन्ध्रद्वारा सुषुम्नामुखेन वा निद्रिता कुण्डलिनी जागृता भूत्वा ऊर्ध्वमुत्तिष्ठति। कुण्डलिनीजागरणानन्तरं षट्चक्राणां ग्रन्थीरूपाणां भेदनं भवति। प्राणोऽनायासं सुषुम्णा प्रविशति, चित्तं निरालम्बं जायते मृत्युभयं च दूरी भवतीति।

प्रस्तुताध्याये जालन्धर-उड्डियानमूलबन्धानां प्रभृतीनां विस्तरधिया चर्चा विद्यते। परन्तु सूक्ष्मदृष्ट्या अध्यायावलोकनेन यदध्याये न मया विवेचितं तदिह समीक्षणदृष्ट्या उपस्थाप्यते - ब्रह्माण्डपुराणस्य ललितोपाख्याने एकचत्वारिंशद्-अध्याये अगस्त्येन मुनिना पृष्टो हयग्रीवः देवीप्रीत्यर्थः निम्नाङ्किताः मुद्राः प्राह - अवाहिनी, संक्षोभिणी, विद्रावणी, आकर्षिणी, उन्मादिनी, महाङ्कुशा, खेचरी, बीजमुद्रा, योनिमुद्रा च एता नवमुद्रा देवीप्रीतिजनिकाः सन्ति। देव्याः पूजाकाले एताः प्रयोक्तव्याः। इयं मुद्रा सर्वोत्तमाऽस्ति। एतद्विज्ञानमात्रेण योगिनीनां प्रियो भवति।

एवंविधः काशीखण्डेऽपि एकचत्वारिंशद्ध्याये मुद्राशब्देन योगशास्त्रे प्रसिद्धाः या मुद्राः, तया सह तौल्यं करोति। साऽपि मुद्रा योगानुसारिणीति प्रतिभाति। तथा सह सामञ्जस्यं स्थापयति आचार्यः नहि योग प्रसिद्धा महामुद्रा एव मुद्राः किन्तु सुखसाध्या अन्यापि मुद्रा काशीखण्डे कल्पिता सन्ति। काश्यां श्रद्धया प्रतिदिनं गंगास्नानमेव पातकनाशिनी महामुद्रा, काशीवीथिषु सञ्चार एव खेचरीमुद्रा, इतरेभ्यः महास्थानेभ्यः उड्डीय (प्रचल्य) वाराणसीं प्रति प्रस्थानमेव उड्डीयानबन्धः। विश्वेश्वरस्य स्नानोदकमादाय शिरसि धारणमेव देवदुर्लभो जालन्धरो बन्धः। विघ्नशतैः क्लिश्यमानोऽपि नरो धीरतया यत् काशीं न परित्यजति स एव दुःखमूलनिवारको मूलबन्धः। आभि मुद्राभि अशेषाणां दुःखानां मूलच्छेदो जायते। अत एव शम्भुभाषितो द्विविधो मुद्रासहितः षडङ्गो योगो युक्ते योगिभिः परं साधनं स्वीकृतम्।

कुण्डलिनीशक्तेः स्वरूपविमर्शः

प्राणायामैः कुण्डलिनीप्रबोधो भवति। सा सुषुम्णाद्वारं स्वमुखे निधाय कन्दस्योपरि तिष्ठति। ये योगिनः कन्दस्योदूर्ध्वं प्रसुप्ता कुण्डलिनीशक्तिं प्रबोधयन्ति। त एव मोक्षं लभन्ते। ये च मूढा नोत्थापयन्ति तां ते वन्धे पतन्ति। ये तामुद्बोधयितुं युक्तिं जानन्ति त एव यथार्थं योगविदः सन्ति -

कन्दोर्ध्वं कुण्डलिनीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानं यस्तां वेत्ति स योगविद्॥

सुषुम्णामावेष्ट्य स्वपुच्छं चास्येन सम्यक् निगृह्य नाभेरधोभागे कुण्डलिनी सर्वदा तिष्ठति। अतः पुरुषस्य प्राणः सुषुम्णायां प्रवेष्टुं न शक्नोति, प्राणं ब्रह्मरन्ध्रे नेतुकामः साधको युक्तिभिस्तत्र प्राणं सम्यक् निरूप्य ततः तस्या चालनमत्या-वश्यकम्। तथाचोक्तं याज्ञवल्क्यशिक्षायाम् -

शिरां समावेष्ट्य मुखेन मध्ये
स्वपुञ्छमास्येन निगृह्य सम्यक्।
नाभौ सदा तिष्ठति कुण्डली सा
धिया समाधाय निबोधयेत्ताम्॥[1]

अस्या उत्थानं तु उड्डीयान-जालन्धर-मूलबन्धपूर्वकं प्राणायामेन भवति। उड्डीयानमूलबल्धराभ्यामपानवायोरूर्ध्वमाकर्षणं भवति। जालन्धरबन्धेन च प्राणावायोरध आकर्षणं भवति। प्राणापानयोरैक्येन जठरानलमत्यन्तं प्रदीप्तं भवति। तद्रुष्णतया व्याकुला कुण्डलिनी सरला सती सुषुम्णामुखं प्रविश्य यथा दण्डेनाभि-

---

1 याज्ञवल्क्यशिक्षा 19

हता सर्पिणी सरला सती विले प्रविशति तथैव कुण्डलिनी सरला सती सुषुम्णायां प्रविश्य ऊर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं गच्छति। पश्चात् सुषुम्णाया मुखप्रवेशद्वारस्या-वृतत्वात् प्राणोऽपि तत्पश्चात् प्रविश्य ब्रह्मरन्ध्रमुपयाति। एवं कुण्डलिनीप्रबोधपूर्वकं प्राणवायोः ब्रह्मरन्ध्रे प्रवेशनन्तरमाकर्षणयुक्त्या सर्वशरीरवर्तिनः प्राणस्य ब्रह्मरन्ध्रे स्थितिर्भवति। तत्र विशेषस्थित्या समाधिः जायते। एतदेवाभिप्रेत्य भगवान् शङ्कराचार्यः योगतारावल्यां वदति यत् त्रयाणामुड्डीयान् मूलबन्ध-जालन्धरबन्धानां प्राणायामपूर्वकमभ्यासे विधीयमाने कुण्डलिनीशक्तेः उद्बोधो भवति। पश्चात् सुषुम्णाप्रवेशद्वारा ब्रह्मरन्ध्रे समुपस्थितस्य प्राणवायोः पुनः गमनागमने न भवतः -

उड्डीनजालन्धरमूलरन्ध्रैरनिद्रितायामुरगङ्गनायाम्।

प्रत्यङ्मुखेन प्रविशन् सुषुम्णां गमागमौ मुञ्चति गन्धवाहः।।

याज्ञवल्क्यसंहितायामपि नाभेरधोभागे स्थिता कुण्डलिनीशक्तिः यदा प्रबुद्धा भवति तथा यथा उर्णनाभिः तन्तौ आरोहति तथैव सर्वे प्राणाः एकीभूय वह्निना सह सुषुम्णाद्वारा ब्रह्मरन्ध्रे आरोहन्तीत्युक्तम्।

लिङ्गगुदयोन्तराले गुह्यदेशे मूलाधारे वर्तमाना कुण्डलिनी सा सर्वजनवेद्या, नाडीरन्ध्रस्य सम्वृततया तत्र बुद्धेर्मनसो वा संयोगाभावेन निश्चयस्य विकल्पस्य वा विषयो न भवितुमर्हति, किन्तु योगक्रियया प्रबुद्धा सा सकलसिद्धिदात्रौ सती मोक्षद्वारकपाटमुद्घाटयति।

अनन्तकालात् कर्मप्रेरितो जीवः शुक्रशोणितसम्भवं नवं नवं विग्रहमुपाद-दानो भुञ्जानश्च स्वकर्मानुकूलं सुखदुःखान्यतरात्मकं फलं जन्मजरा-मृत्यु-चक्ररूढो निरन्तरं संसरति। यदा अनेकजन्मसञ्चितपुण्यपुञ्जपरिपाकवशात्

संसारात्परो शान्तिमुपाशिश्रिषते तदा यदुपायं पर्येषमाणे नित्यनिरवयवचेतनात्मकस्य जीवस्याविद्यां विना बन्धो न सम्भवतीत्याचार्योपदेशेन युक्ता च व्यवस्थाप्य तदुच्छेदनिदानञ्च विद्यात्मिका उभैवेति विनिश्चित्य तदुपायो योग एवं समाश्रयणीयो भवति मुमुक्षुभिः।

योगे च स्थूल शरीरज्ञानं परमावश्यकं तज्ज्ञानं विना तदनुष्ठानायोगात्। किञ्चोपासना कर्मणि लौकिकेऽपि चिकित्सादौ शरीरपरिज्ञानमत्यावश्यकम्। तज्ज्ञानं च तन्निदानमन्तराऽशक्यमेव। आधिभौतिकस्याविभूतमुपादानकारणम् अधिदेवश्च निमित्तं तदुभयं शरीरनिदानम्। अतस्तदुभयज्ञानपेक्ष्यते तदुभयोरपि अभिन्ननिमित्तो-पादानं शक्तिसहितः शिव एव। जीवस्य शिव-शक्तिभ्यां सह ज्ञानपूर्वकभेद एव समरसरूपो मोक्षो योगिनामभिमतः। अतस्तदुपलब्धये स्थूलशरीरस्य कुण्डलिन्या निरूपणमत्यावश्यकम्। यस्याः मूलशक्तेः बलेन ईश्वरो जगत्सृष्टौ समर्थो भवति। सैव शक्तिः योगिनां मूलधारे तिष्ठति। तस्या एव ध्यानादिना योगी यदा सर्वसमर्थो भवति तदा तस्या मूलशक्तेः सङ्कोचविकासाभ्यां स जगत उत्पत्त्रिलयौ कर्तुं शक्नोति। अतः सर्वोपादानक्षमत्वात् सा संसारकारिणी कुण्डलिनीशक्तिरित्युच्यते। मूलाधारत्वादेव सकला योगिनो मूलाधारस्थकुण्डलिनीशक्तिप्रबोधने तत्परा भवन्ति। तद्यथा-

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली।।[1]

---

1 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 1

प्रबुद्धाप्रबुद्धभेदात् कुण्डलिनी द्विविधा, तत्राप्रबुद्धायाः सर्वत्र सद्भावेऽपि कर्मसिद्धिहेतुभूता या सा तु योगिनां देहे वर्तते। अप्रबुद्धेतिनाम्ना व्यवह्रियमाणा सकलप्राणिषु मूलाधारस्थलिङ्गात्मकमांसपिण्डे सार्द्धत्रिवलयात्मिका अधोमुखी सर्पकुण्डलसदृशी कुण्डलिनी तिष्ठति। सैव योगक्रियया प्रबुद्धा सती योगिनां विग्रहेषु निखिलरोगोपद्रवाणां विनाशाय व्यापारवती मूलाधारादूर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सञ्चरणशीला भवति। कार्ये कुण्डलिन्या उत्थानेन सकलशक्तिसम्पन्ना अनेके सिद्धाः सन्ति प्रसिद्धाः। यावन्मूलाधारे तिर्यग्रूपा कुण्डलिनी अधोमुखी तिष्ठति तावज्जन्ममरणादिफलं ददाति यदा प्रबुद्धा सा सहस्रारपर्यन्तं सञ्चरति तदा योगिनां जन्ममरणादिफलदायिनी सती कर्माणि मनोविकाराश्च दूरीकृत्य व्यापकस्यात्मनः स्वरूपं सम्यगबोधयति।

वस्तुत एकेव सा कुण्डलिनी मध्योर्ध्वाधोदेशानां भेदात् त्रिप्रकारा अभिधीयते। मध्यशक्तेः नाभिदेशस्थायाः कुण्डलिन्याः प्रबोधेन, अधःशक्तेः मूलाधारस्थायाः कुण्डलिन्या उत्थापनाद् ऊर्ध्वशक्त्यां सहस्रारस्थितशिवशक्त्यां संयोजनेन परमं पदं प्राप्यते साधकेन।

अत्रेदं रहस्यं गुदादूर्ध्वं लिङ्गादधस्ताच्च चतुरङ्गुलं चतुर्दलं आधार-पद्ममस्ति। तस्याधारकमलस्य मध्यकर्णिकायां विराजमाना त्रिकोणाकारा योनिरस्ति यां योगिनः कामपीठं वदन्ति। अस्य योनिमण्डलस्य मध्ये महाशिवलिङ्गमस्ति। तत् शिवलिङ्गं सार्द्धत्रिवलयचक्रेण परिवेष्ट्य अधोमुखी तडित्प्रभावाद् देदीप्यमाना सुषुम्णामार्गमवरुध्य महाकुण्डलिनी देवी विराजते। नाभिचक्रे विराजमानायाः कुण्डलिन्या उत्थानं जालन्धरोड्डीयानमूलबन्धैः हठयोगप्रक्रियाभिश्च क्रियते।

प्राणवायोरपानेन वायुना सह संयोगः, प्रबुद्धायाः कुण्डलिन्याः सहस्रदलोपस्थापनं वा ऊर्ध्वशक्तिपातः प्रोच्यते। अर्थात् प्राणापानयोरेकतापूर्वकं त्रयाणां बन्धानां सम्यक् सिद्धौसत्याकुण्डलिनी सुषुम्णायां प्रविश्य मूलाधारादूर्ध्वं गच्छति। क्रमशः सर्वाणि चक्रकमलानि विकाशयति। तद्यथा-

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च॥[1]

यदा सा ग्रीवात् ऊर्ध्वं सहस्रारमुपगच्छति तदा मनः प्राणेन्द्रियाणां व्यापारा अवरुध्यन्ते, शून्यः समाधिश्च भवति। न तत्र कालस्यादिगतिः सम्भवति। तदेव परमो मोक्षः कथ्यते।

अयं भावः - योगप्रक्रियाद्वारा अपानवायोरधोदेशादूर्ध्वमाकर्षणं प्राणवायोः चाधोनियमनं खेचरीमुद्रया जालन्धरादिबन्धैश्च कर्तव्यं तेन मध्यशक्तेः कुण्डलिन्याः प्रबोधो भवति। ततश्च संसारोच्छित्तिः परमानन्दप्राप्ति करतले तिष्ठति।

यस्माच्चराचरमिदं जगदाविर्भवति तदेव शक्तितत्त्वं मूलाधारः ज्ञानप्रसर-भूमिश्चोच्यते। मूलाधारस्य कामपीठस्य ध्यानेन प्रसरणेन च सङ्कोचपूर्वकं कुण्डलिन्या उत्थानेन च ज्ञानस्य वृद्धिर्जायते, साधकः त्रिकालदर्शी भवति तथा तत्र जगतः सृष्टिस्थितिसंहारसामर्थ्यं प्रादुर्भवति। इति योगशास्त्रेषु प्रसिद्धम्। तस्मात्सर्वोपादानक्षमत्वात् सा शक्तिः मूलरित्युच्यते। अतो मूलधारत्वादेव सकल-योगिनो मूलाधारस्थशक्तिप्रबोधने तत्परा भवन्ति।

---

1 हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 2

यया मूलशक्त्या ईश्वरी जगद्रचयति सैव शक्तिः योगिनां मूलाधारे वर्तते। तस्या मूलाधारशक्तेः ध्यानादिना योगिनः सर्वसमर्था भवन्ति।

अविद्यावशान्मोमुह्यमानं शाश्वतिकं मोक्षोपायमपास्य नश्वरसांसारिक-विषयलिप्सया तत्पथेषु पर्यन्तं जीवात्मानं स्वस्वरूपतया सदाधारयितुं यतते परमात्मशक्तिः। यथा समुद्रो व्यापकः तस्य तरङ्गास्तदुपरि सञ्चरन्ति तथैव व्यापिकैका परमात्मशक्तिः तस्यां विकारभूताः जीवशक्तयः तासामाधारः। सैव जीवात्मापरमात्मापेक्षया मध्यमाशक्तिः कुण्डलिनीपदेन प्रख्यायते। योगिनां दृष्ट्या मणिपूरे स्थलरूपा मूलाधारे सूक्ष्मरूपा च प्रतीयते।

यावन्मध्यकुण्डलिन्या उत्थानं न भ्वति तावत् कर्मपाशबद्धो जीवात्मा जन्ममरणादिदुःखपरम्परामनुभवति। यदा सा पूर्वजन्मपुण्यप्रभावेन ईश्वरकृपापात्रं भूत्वा गुरुकृपया मध्यकुण्डलिनी विधिपूर्वकं प्रबोधयति तदा तस्य योगः सिध्यति। सा शक्तिरेव तं सहजानन्दस्वरूपे प्रतिष्ठापयति। अतः प्रबुद्धाः मध्यकुण्डलिनी अत्यन्तं कल्याणकारी प्रसिद्धा सिद्धसमाजे।

स्थूलनिरूपणमन्तरा सूक्ष्मनिरूपणं न सम्यग्बुद्धिमधिरोहतीत्यतः प्रथमं स्थूलां कुण्डलिनीं निरूप्य सूक्ष्मा निरूपयितुं प्रयत्यते। यद्यपि मूलाधारस्था सार्द्धत्रिबलयान्विता कुण्डलिनी साधारणलोकदृष्ट्या अतिसूक्ष्मरूपाऽस्ति सर्वेषामगोचरत्वात् तथापि पञ्चभूतात्मकस्थूलजगत् उत्पादकत्वात् सा योगिदृष्ट्या केवलचिद्रूपापेक्षया स्थूला प्रोच्यते। चिद्रूपापि सा विषयसम्बन्धेन विषयरूपा भवति। सैव पुनः स्वप्रसादचातुर्येण नाभिदेशे वर्तमाना विषयसम्बन्धं विहाय स्वचैतन्यात्मकतया प्रबुद्ध सती यदा व्यापकरूपेण सर्वत्र तिष्ठति तदा योगिनां

परमानन्ददायकं व्यापकमखण्डमेकरसं परमात्मानं प्रबोधयन्ती निराकारतया सूक्ष्मरूपेण सर्वत्र तिष्ठति।

तथा च संसारकारिणीशक्तिकुण्डलिनीति नाम्ना प्रसिद्धा। सा द्विप्रकारका प्रोक्ता। तत्र या प्रत्येकं प्राणिषु मूलाधारे सार्द्धत्रिवलयरूपेण विद्यमाना सा स्थूलरूपा व्यवह्रियते। या तु अन्या सर्वगामिनी समष्टिरूपा सा सूक्ष्ता। ये योगिन: एतद् यथार्थस्वरूपं ज्ञात्वा नाभिचक्रे प्रबुद्धां कृत्वा योगाभ्यासद्वारा उर्ध्वं सञ्चारयन्ति तेषां कृते सा मोक्षद्वारकपाटमुद्घाटयति। तस्मात् कालोपरि विजय-प्राप्तये, देहसिद्धये, मोक्षोपलब्धये, अखण्डात्मस्वरूपाभिव्यक्तये च गुरूपदेशत: सम्यग्ज्ञात्वा चिन्मात्रस्वरूपिणी सूक्ष्मा विषयसम्वलिता स्थूल वा मूलाधारमणि-पूरस्था कुण्डलिनी योगिभि: योगप्रक्रिया अवश्यं प्रबोधनीया। तस्या: प्रबोधमन्तरा मोक्षप्राप्तिरतिदुर्लभा भवति।

शिवशक्त्यो: व्यवहारिकभेदे सत्यपि परमार्थतो भेदो नास्ति। यतो हि द्वौ चिद्रूपौ व्यापकौ नित्यमिलितौ च स्त:। तथाचोक्तमभियुक्तै: -

शिवस्याभ्यन्तरे शक्ति: शक्तेरभ्यन्तरे शिव:।
उभयोरन्तरं नास्ति चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

अतस्तयोरभेदादेव कुण्डलिन्या: प्रबोधोत्थानद्वारा सहस्रारस्थपरमात्मशक्त्या सहैक्ये सति योगाभ्यासशालिभि: अत्मानं कृतकृत्यं मन्वानै: परमं पदं प्राप्यते, इत्यत्र नास्ति सन्देहप्रसरावसरलेशोऽपि।

राजमार्गेण मनसः स्थिरीकरणोपायो वक्तव्यो येन सर्वमूलतो मनोनिरोध्य शक्तिविशेषं सम्पाद्य स्वेष्टं ध्यायेत्। यद्यपि किमप्यालम्बनमादाय मनोनिरोधः सुकरः, अत एव भगवता पतञ्जलिना योगसूत्रे उपदिष्टं समाधिपादे 'यथाभिमतध्यनाद्वा'[1] तथापि उद्भूतशक्तिकं स्थानविशेषमालम्बनीकृत्य मनोनिरोधो झटिति जयते शक्तिविशेषसम्पादनं च भवतीति निश्चित्य स्थानविशेषानुपदिशन्ति स्म आचार्याः। अत एव अलम्बनभेदेन संयमस्य फलभेदाद् वर्णयाम्बभूव योगीरजो भगवान् पतञ्जलिमुनिः।

तत्र कृत्स्नालम्बनेभ्यो वरीयसी सुषुम्णास्थितकुण्डलिनीशक्तिः पातञ्जल-दर्शनादिषु अनुरक्तप्रकारापि पुराणेतिहासयोः ध्यातव्यतया उपदिष्टाः। ध्रुवमनया अल्पायासेनैव निखिलं फलं प्राप्तुं शक्नुयुः सकला लोकाः।

प्रस्तुताध्याये कुण्डलिनीशक्तेः लक्षणं, कुण्डलिनीप्रबोधप्रकारः उपवर्णितो विद्यते। सा कुण्डलिनीशक्ति कीदृशी तद् स्वरूपं संक्षेपेण अध्यायसमीक्षादृष्ट्या तदिह उपस्थाप्यते। यथा देवीभागवतस्य सप्तमस्कन्धे - गुदमेढयोरन्तरे मूलाधारे विराजमानां कुण्डलिनीशक्तिं मूलाधारगतेन वायुना आकुञ्च्य प्रबोधयत्। ततो मूलाधारमध्ये स्थितं तेजोमयं स्वयम्भूलिङ्गादारभ्य क्रमशः चक्राणि भिन्दन् कुण्डलिनीं सहस्रारे प्रापयेत्। पुनः तां सहस्रारस्थितेन शम्भुना सहेकीभूतां विचिन्तयेत्। तदनन्तरं शिवशक्तिसम्मेलनादाविर्भूतेन द्रुतलाक्षारसोपमेन आनन्द-स्वरूपेण रसेन अमृताख्येन योगसिद्धिप्रदायिनीं मायानाम्नीं कुण्डलिनीशक्तिं सन्तर्पयेत। ततो योगी षट्चक्रेषु स्थितान् लिङ्गस्वरूपान् देवान् शिवशक्ति-

[1] पातञ्जलयोगदर्शनम्, 1/39

समागमादुत्पन्नानन्दरसामृतधारया सन्तर्प्य पूर्वोक्तप्रकारेण ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तमुपस्थितां, कुण्डलिनीं पुनः तेनैव मार्गेण मूलाधारं प्रत्यावर्तयेत्। एवं यः साधकः प्रतिदिनमभ्यस्यति तस्य छिन्नादिदोषदूषिताः मन्त्राः सिध्यन्ति, इत्यत्र नास्ति किञ्चित्सन्देहः। एतेन जरामणादिक्लेशौ व्याप्तसंसारबन्धनाद्विमुच्यते योगी। जगज्जनन्यां ये ये गुणाः सन्ति ते ते साधकेऽपि सम्भवन्तीति निश्चप्रचम्।

उक्तोभयोः ग्रन्थयोः बन्धानां तुलनात्मकमध्ययनम्

अत्र बन्धानां प्रकरणे किञ्चित् स्वरूपतः नास्ति भेदः। अपितु तयोः ग्रन्थयोः समीक्षणदृष्ट्या वक्तुं पार्यते यत् 'महामुद्रा महाबन्धो .... इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशम्'। यथोक्तं वचसा मुद्रादयासेव बन्धत्वेन उक्त इति। परन्तु त्रयाणां बन्धानां तदीयैरैव ग्रन्थैः क्वचिद्स्थले जालन्धरबन्ध, मूलबन्धः, उड्डयानबन्ध इत्यादिना पृथक्त्वेन निर्दिष्टाश्चास्ति। तयोः ग्रन्थयोः आधारेण वक्तुं पार्यते त्रयाणां बन्धानां स्वरूपतः नास्ति भेदः।

अत्र संक्षेपेण वक्तुं पार्यते यदस्य बन्धस्य साधनोत्तरं मृत्युभयन्नभवति। येन अधोगामि शरीरान्तर्गताछिद्रजलं कण्ठदेशे नाडीजलेन यस्मात् रुध्यते तस्मादेष जालन्धरबन्धः दुःखौघनाशं करोति तस्मात् जालन्धरबन्धत्वेन उक्तः कण्ठसङ्कोच-लक्षणे जालन्धरे बन्धे सिद्धे सति ललाटचन्द्रमण्डलस्थितं पीयूषं जठरेऽनले न पतति, न वा वायुः प्रधावति। पादमूलभागेन गुदं संपीड्य अपानवायुमूर्ध्वमाकृष्य गुदास्थानसङ्कोचनं मूलबन्धोऽभिधीयते। अस्य मूलबन्धस्याभ्यासेनापानप्राणवायोरैक्यं जायते। तेन मूत्रपुरीषयोः क्षयो भवति। उक्तञ्च हठदीपिकायाम्–

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥[1]

एतद्विज्ञानमात्रेण योगिनीनां प्रियो भवति। नहि योगप्रसिद्धा महामुद्रा एव मुद्रा किन्तु सुखसाध्या अन्याऽपि मुद्रा काशीखण्डे कल्पिता सन्ति। काश्यां श्रद्धया प्रतिदिन गंगास्नानमेव पातकनाशिनी महामुद्रा काशीवीथिषु सञ्चार एव

---

[1] हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः, श्लो. 65

प्रस्थानमेव उड्डीयानबन्धः। विश्वेश्वरस्य स्नानोदकमादाय शिरसि धारणामेव देवदुर्लभो जालन्धरो बन्धः। विघ्नशतैः क्लिश्यमानोऽपि नरो धीरतया यत् काशीं न परित्यजति स एव दुःखमूलनिवारको मूलबन्धः। आभिः मुद्राभिः अशेषाणां दुःखनां मूलच्छेदो जायते। अत एव शम्भुभाषितो द्विविधो मुद्रासहित षडङ्गो योगयुक्तेयोगिभिः परं साधनं स्वीकृतमिति।[1]

[1] काशीखण्ड 41/72-82

अमन्दावर्त वेगेन तुन्दं सव्याजसव्यतः।

नतांसो भ्रामयेत् तेषां लौलि गौढैः प्रशस्यते॥

मन्दाग्नि सन्दीपन पाचनादि संदायि सानन्दकरी सदैव।

p. 55)

अशेषदोषामय शोषणी च हठक्रियामौलिरियं हिलौलि॥

भस्त्रीव लोहकारस्य रेचपूरौ च संभ्रमौ।

कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥

षट्कर्मभिर्गतस्थौलय कफदोषमलादिकः।

प्राणायामं ततः कुर्यात् अनायासेन सिध्यति॥

हठयोगे प्रतिपादित सूर्यभेदिताकुम्भकानां स्वरूपं पूर्वमेव

प्राणायाम प्रकरणे प्रतिपादितम्। महामुद्रामहाबन्धो महावेगश्च

खेचरी।

ओड्याण पीठबन्धश्च ततो जालंधराभिधा॥

करणी विपरीतादि वज्रोली शक्ति चापलम्।
अन्ते सा खेचरी मुद्रा दशमुद्राः प्रकीर्तिताः॥

आदि नाथोदितामुद्राः अष्टैश्वर्यप्रदायकाः।
दुर्लभा सर्वसिद्धानां दुर्लभा त्रिदशैरपि॥

एकैका तासु मुख्या स्यात् महासिद्धिप्रदायिनी।
महामुद्रांप्रवच्छ्यामि वसिष्ठेनोक्तमादरात्॥

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्यदक्षिणम्।

पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेन्मुखे।
कण्ठे बंधं समारोप्यपूरयेद्वायुमूर्ध्वतः॥

यथादण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।
ऋज्वीभूता तदाशक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तथाष्टौ मणि रणावस्था जायन्ते द्विपुटा स्थिताः॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषंघोरं पीयूषमिवजीर्यते॥

क्षयकुष्ठगुदावर्त गुल्मप्लीह पुरोगमाः।
तस्य दोषां शमं (क्षयं) यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥

कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित्॥

पार्ष्णीं पादस्य वामस्य योनि स्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरिसंस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥

पूरयेन्मुखतो वायुं हृदये चिबुकं दृढम्।
निभृत्य योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत्॥

रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते।
अमुंयोनि महाबन्धं सर्वसिद्धि प्रदायकम्॥

सव्याङ्गे च समभ्यस्य दक्षिणे च समभ्यसेत्।
अयं च सर्वनाडीनामूर्ध्वंगति विबोधकः॥

त्रिवेणी संगमद्वारा केदारं प्रापयेन्मनः।

रूपलावण्यसम्पन्ना यथास्त्री पुरुषं विना ॥

p. 56)

महामुद्रो महाबन्धो महावेधं विना तथा ।
महावेधं प्रवक्ष्यामि यथा तौ सिध्यतस्ततः ॥

महाबन्धस्थितो योगी धृत्वापूरकमेवधीः ।
वायुनागतिमाहृत्य निभृतं कण्ठ मुद्रया ॥

समहस्त युगो भूमौ स्फिजासन्ताऽयेच्छनैः ।
घटि द्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरः ॥

सोमसूर्याग्नि संबन्धो जायते चामृतं च वै ॥

मृतावस्था समुत्पत्तौ ततो वायुं विरेचयेत् ।
महद्वेधोऽयमभ्यस्तो महासिद्धि प्रदायकः ॥

वलीपलितवेगघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ।
महामुद्रा त्रयं गुह्यं जरामृत्यु निवारणम् ॥

वह्नि वृद्धिकरं चैव ह्यणिमादि गुणप्रदम् ।

अष्टधादीर्यचैतद्यां यामं यामं दिने दिने ॥
पुण्य चञ्चार सन्दायी पापौघ बिदुरं सदा ॥

साम्यक्छिक्षावतामेव प्रथमं स्वल्पसाधने ।
वह्निस्त्रीपथसेवानामादौवर्जनमाचरेत् ॥

च्छेदन दोहन चालैः कण्ठकाल क्रमेण वर्धयेत् तावत् ।
भ्रूमध्यं स्पृशति तदा नित्याभ्यासेन खेचरी सिद्धिः ॥

कपाल कुहरे सिद्धिजिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥

कलां पराङ्मुखी कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत्खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणं वा यदि तिष्ठति ।
क्षणेन मुच्यते योगी व्याधि मृत्यु जरादिभिः ॥

न रोग मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
बध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा ॥

बाध्यते न स केनापि यस्य मुद्रास्ति खेचरी ।
चित्तं चरति वै यस्मात् जिह्वा चरति खे गता ॥

तेनैवा खेचरी नाम मुनिसिद्धैर्नमस्कृता ।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरंलम्बकोर्ध्वतः ॥

तस्य नक्षरते बिन्दुः कामिन्या श्लेषितस्य च ।
चलितोऽपि यथाबिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डलम् ॥

वज्रत्यूर्ध्वं यथाशक्ति निबद्धो योनिमुद्रया ॥
ऊर्ध्वजिह्वा स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥

p. 57)

नित्यं सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।
गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥

कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ।
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुके ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातक नाशनम् ।

जिह्वा प्रवेशसंभूता वह्निनोत्तापिताखलु ॥

चन्द्रात्ति स्त्रवति यः सारस्सस्वेदोमरवारुणी ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तुड्ढीयते यतः ॥

तस्या दुड्याणनामायं योगिभिः समुदाहृतः ।
उड्याणं कुरुते यस्मात् अविश्रान्तो महाखगः ॥

उड्याणं च तदेव स्यात् तत्र बन्धो निगद्यते ।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥

उड्डियाणमिदं बन्धो मृत्युमातङ्ग केसरी ।
उड्डियान्तु सहजा गुरुणा कथितं सदा ॥

अभ्यसेदुड्डियाणं तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि ताणं कुर्यात् प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्नित्यं जयत्येव न संशयः ॥

सति पद्मासने पद्मौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।
गुल्फ देशे समीपेऽथ गुदं तत्र प्रपीडयेत् ॥

पश्चिमे ताणमुदरे काययेद् हृदये गले ।
शनैश्शनैस्तदा प्राणस्तुन्दस्संधिन्न गच्छति ॥

सर्वेषामेव बन्धानां उमेसा उड्डियाण नामकः ।
उड्डीयाणकृते बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ।

अपानमूर्ध्वमाकृष्यमूलबन्धोऽयमुच्यते ।
अधो गतिरपानं वैह्यूर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥

आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं च योगिनः ।
गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद् बलात् ॥

वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ।
प्राणापानौ नादबिन्दूमूलबंधो न चैकतः ॥

गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्रसंशयः ।
आपन प्राणयोरैक्यात् क्षयान्मूत्र पुरीषयोः ॥

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात्।
अपाने चोर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डले॥

p. 58)

तदानल शिखाशीघ्रं वर्धते वायुना सह॥

ततो यावद्वह्नपानौ प्राणमूर्ध्वस्वरूपकम्॥

तेनात्यन्तं प्रदीप्तस्य ज्वलनो देहिनस्तथा।
तेन कुण्डलिनीसुप्ता सन्तप्ता संप्रबुध्यते।
दण्डाहत भुजंगीष निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥

बिलप्रविष्टेव ततो ब्रह्म नाड्यन्तरं व्रजेत्॥
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥

पाताले यद्वियति सुषिरं मेरुमूले तदस्मिन्
तत्त्वचैतत् प्रवदति सुधीः संमुखं निम्नगानाम्।
चन्द्राधारा स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
संबध्नीयात् सुकरणमृदा नान्यथा काय सिद्धिः॥

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढमिच्छया।
बन्धो जालंधराख्योऽयममृताप्याय कारकः॥

बध्नाति हि सिरो जालमधोगामी नभोजलम्।
ततो जालंधरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।
न पीयूषः पतत्यग्नौ न च वायुः प्रवाति हि॥

कण्ठसंकोचने नैव द्विनाड्यो स्तम्भयेद् दृढम्।
अयं बन्धो मया प्रोक्तः षोडशाधार बन्धनम्॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्ध निषेवितम्।
सर्वेषां हठ तन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः॥

अधस्यात् कुञ्चने नाशुकण्ठसंकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥

मूल स्थानं समाकुञ्च्य चोड्डियाणं तु कारयेत्।
इडां च पिङ्गलां बध्वा वाहयेत् पश्चिमं पदम्॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्।
ततो न जायते मृत्युर्जरा रोगादिकं तथा॥

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधश्शशी।
करिणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥

करिणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्नि विवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य तु॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं दहेत् क्रमात्।
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने॥

p. 59)

वलिश्चपलितश्चैव षण्मासार्ध्वेन दृश्यते॥

याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित्।
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना॥

वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धि भाजनम्।

पुच्छं प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेत् सुधीः ॥

निद्रां विहाय सा ऋज्वी ऊर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ।
वितस्ति प्रमितं दीर्घं विस्तारं चतुरंगुलम् ॥

मृदुलं धवलं दिव्यं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ।
भानोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत् ततः ॥

मृत्यु वक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ।

नासादक्षिणमार्गवाहि पवनात् प्राणोऽतिदीर्घाकृतिः
चन्द्राम्भः परिपूरिता मृत तनुः प्राद्घण्टिकायां सदा ।
विद्यात्कान्ति विशालवह्नि वशगान् भ्रूरंध्रनाडीगणान्
तंकायं कुरुते सुवर्णरुचिरं पूर्णद्रुमस्कन्धवत् ॥

कुण्डलीं चालयित्वाथ कुर्याद् भस्त्रां विशेषतः ।
एवमभ्यासतो नित्यं यमिनः शक्यते यमः ॥

तदाभ्यसेत् सूर्यभेदमुज्जीयां शीतलीं तथा ।
एवमभ्यास युक्तस्य दिव्यकायं भवेद्ध्रुवम् ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकुंचते किंचित् सुषुम्नां कुण्डलीं गताम् ॥

तेन कुण्डलिनी शक्तिः सुषुम्नायाः समुद्धृताः ।
जठाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्ना व्रजति स्वतः ॥

तस्मात् संचालयेन्नित्यं शंभुगर्भामरुंधतीम् ।
यस्याः सञ्चालनेनाशु योगीरोगैः प्रमुच्यते ॥

येन संचालिताशक्तिः स योगी सिद्धचालनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।
वज्रोल्यादि त्रयं पूर्वं निन्दन्तं तत्ववादिभिः ॥

कापालिकमतत्वेन योगसारेण लेखितम् ।
इति मुद्रा दशप्रोक्ता चादिनाथेन शम्भुना ।
करणे सर्वसिद्धिः स्यान्नचैकापि क्षयो भवेत् ॥ इति ।

॥ इति योगसारसंग्रहे हठयोग स्वरूपनिरूपणं नाम दशमोध्यायः ॥

[क] **'मरुत इन नाड़ीगण जुषां'**—अर्थात् कुम्भक प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों को वायु से युक्त करके।।

सिद्धान्त और साधना—शरीर में ७२००० या साढ़े तीन कोटि नाड़ियाँ हैं। उनमें वायु प्रवाहिका या वायु-धारिका नाड़ियों में कुछ ही नाड़ियाँ हैं। जो वायु प्रवाहिका नाड़िया. हैं। यद्यपि वे स्वयमेव वायु को ग्रहण करती हैं और उनका—(१) पूरक (२) कुम्भक (३) रेचक स्वतः अहोरात्र चलता रहता है। अतः उन नाड़ियों को वायु से युक्त करने का निर्देश अनावश्यक सा प्रतीत होता हुआ भी आवश्यक एवं व्यावहारिक है क्योंकि **समस्त नाड़ियाँ मल से भरी हैं**। अतः यथेच्छ प्राण-संचार नहीं हो पाता।

आचार्य स्वात्माराम मुनीन्द्र की दृष्टि—आचार्य स्वात्माराम कहते हैं कि मलाकुल नाड़ियों में मारुत-प्रवेश नहीं हो पाता अर्थात् यह प्राण सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश नहीं कर पाता—

'मलाकुलासु नाड़ीषु मारुतो नैव मध्यगः।[१]
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥' (२।४)

(१) **नाड़ियाँ मल से भरी हुई हैं** अतः प्राण का उनमें यथेच्छ प्रवेश नहीं हो पाता।

(२) नाड़ियों के मलाकुल होने के कारण **'प्राण'** मध्यवर्ती (सुषुम्णा नाड़ीगत) नहीं हो पाता।

"नाड़ीषु मलैराकुलासु व्याप्तासु सतीषु मारुतः।
प्राणो मध्यगः सुषुम्नामार्गवाही नैव स्यात् ॥"
अपितु शुद्धमलास्वेव मध्यगो भवति ॥[२]

(३) मलों से **नाड़ियों की मूल से मुक्ति की प्रकिया**—नाड़ियाँ मात्र प्राणायाम से ही मल रहित होकर शुद्ध हो सकती हैं। क्योंकि—

'प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ॥' (२।३७)

(४) **नाड़ी चक्र यथावश्यक प्राण संग्रहण कब कर पाती है?**

स्वात्माराम कहते हैं कि यह तभी संभव हो पाता है जब वे शुद्ध हो जायँ—

'शुद्धिमेति यदा सर्वं नाड़ीचक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राण-संग्रहणे क्षमः ॥' (२।५)

१. हठयोगप्रदीपिका (२।४)
२. ज्योत्स्ना (२।४)

इसके लिए **'प्राणायाम'** आवश्यक है—

'प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्विकया धिया।
यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयन्ति च ॥'[१]

(५) प्राण के चंचल या अस्थिर रहने पर चित्त भी चंचल एवं अस्थिर हो जाता है तथा प्राण के निश्चल होने पर चित्त भी निश्चल हो जाता है इसलिए **वायु का निरोध** किया जाना चाहिए। (कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए।)

देह में जब तक प्राण स्थित हैतब तक ही प्राणी का जीवन रहता है। प्राण का निष्क्रमण ही प्राणी की मृत्यु है अतः प्राण का निरोध अवश्य करणी है।[२]

(६) जब तक शरीर में वायु (प्राण) **'बद्ध'** (श्वासोच्छ्वास क्रिया शून्य) है और जब तक चित्त **'निराकुल'** (समाहित अविक्षिप्त) है तब भला मृत्यु से क्या भय?[३]

'सुषुम्णा संयोज्य'

(७) **प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश**—योगोक्त विधियों से प्राणसंयाम द्वारा नाड़ी चक्र का विशोधन करने प्राण वायु सुषुम्णा नाड़ी के बन्द मुख को खोल कर अन्दर प्रविष्ट होने लगता है।[४]

(८) प्राण के सुषुम्णा नाड़ी के प्रविष्ट होने पर **मन भी स्थिर हो जाता है।** मन का यही सुस्थिरीभाव या स्थैर्यवाली अवस्था **'मनोन्मनी'** कहलाती है।[५]

(९) प्राणायामों के मुख्य भेद ८ हैं जो निम्नाङ्कित हैं—

(१) सूर्य भेदन (२) उज्जायी (३) सीत्कारी (४) शीतली (५) भस्त्रिका (६) भ्रामरी (७) मूर्च्छा (८) प्लाविनी।

१. हठयोगप्रदीपिका (२।६)
२. चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।
भरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ (२।२-३)
३. ह०यो०प्र० (२।४०)
४. हठयोगप्रदीपिका—
विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः॥ (२।४१)
५. मारुते मध्यसंचारे मनः स्थैर्यं प्रजायते।
योमनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥
—हठयोगप्रदीपिका

(९) **व्यावहारिक पद्धति—'जालन्धरबंध'** लगाकर (कण्ठ संकोचन करके) 'उड्डीयान बन्ध' करने से (पृष्ठ से नाभिप्रदेश में प्राणाकर्षण रूप उड्डीयान बंध लगाने से) प्राण 'ब्रह्मनाड़ी' में चला जाता है—

'प्राणे ब्रह्मनाडिगः ।।' (२।४६)

(१०) **अपान वायु** को ऊपर उठाकर आधाराकुञ्चन द्वारा प्राणवायु को **कण्ठ के अधोभाग में स्थापित** करना चाहिए।

(११) प्राणायाम के तीन अंग हैं।(१) पूरक (२) कुंभक (३)रेचक तथापि यथार्थतः तो **'कुम्भक'** ही यथार्थ प्राणायाम है—

'प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै **केवलकुंभकः** ।।' (२।७३)

प्राणायाम (कुंभक) का फल—इसके अनन्त फल हैं।[1]

इससे तीनों लोकों में दुर्लभ से भी दुर्लभ वस्तुएँ प्राप्त हैं तथा इससे कुण्डली का जागरण भी होता है और राजयोग पद की प्रप्ति भी होती है।[2]

प्राणायाम से ही 'सुषुम्ना' अनर्गला (मल से शुद्ध) होती है।[3] कुम्भकाभ्यास से **'राजयोग'** की भी प्राप्ति होती है।[4]

***शक्ति के जाग्रत होने पर 'प्राण' शून्य में विलीन हो जाता है ***

प्रबुद्धायां महाशक्तौ **प्राणः शून्ये प्रलीयते** ।। (४।१०)

शक्तिबोध से 'सहजावस्था' का उदय—

'उत्पन्न **शक्तिबोधस्य** त्यक्तनिःशेषकर्मणाः ।
योगिनः **सहजावस्था** स्वयमेव प्रजायते ।।' (४।११)

मध्यमार्ग में प्राण संचार होने पर अमरोली आदि उत्पन्न हो जाती हैं—

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति **मध्यमे** ।
तदाऽमरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ।। (४।१४)

---

१. नतस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकषु विद्यते ।
शक्त केवल कुंभकेन यथेष्टं वायुधारणात् ।। (२।७४)
२. राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुम्भकात्कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ।। (२।७५)
३. अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ।। (२।७६)
४. कुम्भक प्रणरोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासंयोगेन **राजयोगपदं** वज्रेत् ।। (२।७७)

सुषुम्ना नाड़ी (सुषम्णा) की शुद्धता की पद्धति—

इयं तु **मध्यमा नाड़ी** दृढ़ाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसन प्राणसंयामभुद्राभिः सरला भवेत् ।।[1]

सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ।।[2]

प्रश्न—आचार्य गौड़पाद को स्थूल से सूक्ष्म साधना की ओर अग्रपद होने का निर्देश देना था किन्तु उन्होंने सूक्ष्म से स्थूल की ओर इंगित क्यों किया?

उन्हें प्रथमतः 'प्राणसाधना' (प्राणायाम) नाड़ी शोधन सूर्यचन्द्रयोग आदि की साधना करने का निर्देश देना था फिर सूक्ष्मतर तत्त्व 'मनस्तत्व' की साधना करने का निर्देश देना था। उन्होंने उल्टी गंगा बहाने का प्रयास क्यों किया?

उत्तर—(१) शिवसूत्रकार को प्रथमतः **'आणवोपाय'** फिर **'शाक्तोपाय'** फिर **'शांभवोपाय'** पर प्रकाश डालना चाहिए था और उसी क्रम में साधना करने का निर्देश देना था फिर उन्होंने सूक्ष्म से स्थूल साधनाओं की ओर निर्देश दिया और 'शिवसूत्र' के अध्यायों का क्रम—(१) **'शांभवोपाय'** फिर (२) **'शाक्तोपाय'** एवं फिर (३) **'आणवोपाय'** का क्रम क्यों रखा।

(२) योगसूत्रकार को अध्यायों का नाम प्रथमतः **'साधनपाद'** फिर **'विभूतिपाद'** पिर **'समाधिपाद'** एवं फिर **'कैवल्यपाद'** रखना था फिर उन्होंने—

(१) समाधिपाद (३) साधनपाद (३) विभूतिवाद (४) कैवल्यपाद का क्रम क्यों रक्खा?

—बात सुस्पष्ट है। किसी भी शास्त्र का जो मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्व है उसकी ओर इंगित करने के लिए सर्वप्रथम तत्सम्बद्ध पुस्तक में उसी का प्रतिपादन किया जाता है भले ही साधना के सोपानों में क्रमभंग क्यों न हो जाय। इसी कारण 'शिवसूत्र' एवं 'योगशास्त्र' की विवेचना सूक्ष्मता से स्थूलता की दिशा में की गई है। **आचार्य गौड़पाद** बाह्याचार एवं स्थूलोपासना के विरोधी हैं।

अतः उन्होंने प्रथमतः सूक्ष्म साधना—मनोमारण (मन पर विजय की साधना) की साधना को महत्त्व दिया। इसके द्वारा उन्होंने बाह्याचारी कौलों से अपनी पृथकता भी प्रतिपादित एवं इङ्गित कर दिया।

'निरुध्यार्कसेन्दुं'—अर्क (सूर्य) एवं इन्दु (चन्द्रमा) को निरुद्ध करके। अर्थात्

---

१. हठयोगप्रदीपिका (३।१२४)
२. हठयोगप्रदीपिका (४।१२)

'इड़ानाड़ी' (चन्द्रनाड़ी) एवं पिङ्गला 'पिङ्गलानाड़ी' (सूर्यनाड़ी) में प्राण के चलते प्रवाह को रोककर।

जब तक 'इड़ा' एवं 'पिङ्गला' प्राण का प्रवाह गतिशील है तब तक यह सुषम्णा में प्रवेश कर ही नहीं सकता। प्राणायाम सिद्धि से ही इड़ा-पिङ्गला में प्राण-प्रवाह को रोका जा सकता है। उस प्राण को **'सुषुम्णामार्ग'** प्रवाहित किया जा सकता है।

जब कुण्डलिनी शक्ति 'वह्निवायु' योग से प्रतप्त होकर खड़ी हो जाती है—ऋतु हो जाती है तब 'द्विपुटा' (इड़ञ-पिङ्गला—इन्द्र-सूर्यनाड़ी) की मरणावस्था आ जाती है—'तदासामरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया।' अर्थात् महामुद्रा, भस्त्रा प्राणायाम, शक्ति चालनी मुद्रा आदि के द्वारा शक्ति के जागने पर 'अर्क' एवं 'इन्दु' (सूर्य चन्द्र नाड़ी) में प्राण प्रवाह बन्द हो जाता है।

जब वायु पूर्ण रूप से सभी नाड़ियों में भर जाता है। तब कुण्डलिनी का मुख **'ब्रह्मरंध्र'** से बाहर निकलता है। वायु के पूर्णरूप नाड़ियों में भर जाने पर प्राणवायु निरन्तर सुषुम्ना में ही प्रवाहित होने लगता है।[१]

'यदा पूर्णासु सर्वासु संनिरुद्धोऽनिलस्तदा।
बन्धत्यागे कुण्डलिन्या मुखं रन्ध्राद्बहिर्भवेत्।
सुषुम्नायां सदैवायं बहेत् प्राणसमीरणः॥'[२]

नाड़ियों के शुद्ध हो जाने पर **कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मरंध्र** (चित्रा नाड़ी) **का त्याग कर देती है—**

'इयं कुण्डलिनी शक्ती रन्ध्री त्यजति नान्यथा।'[३]

अन्यथा यह **ब्रह्मरंध्र में ही रहती है—**

ततस्तदन्ध्रे तच्छक्ति सुषुम्ना कुण्डली सदा।
सुषुम्नायां सदा शक्ति श्चित्रास्यान्मम वल्लभे॥[४]

आधार पद्म में जो सुषुम्णा का छिद्र है वही 'ब्रह्मरन्ध्र' है—

'ब्रह्मरन्ध्रं तु तत्रैव सुषुम्ना धारमण्डले॥'[५] (५।१३०)

---

१. शिवसंहिता (५।१२८)
२. शिवसंहिता
३. शिवसंहिता
४. शिवसंहिता
५. शिवसंहिता

'चन्द्रनाड़ी' एवं 'सूर्यनाड़ी' (वामनासा-दक्षिणनासा) में प्राण संचरण रोकना ही अर्केन्दु-निरोध है—

भस्त्रा कुंभक का फल—

कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम्।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम्॥ (३।६६)

केवल कुंभक का फल—

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः।
कुंभकात्कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत्॥ (२।७५)
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च॥ (३।२)

महामुद्रा का फल—(कुण्डली ऋज्वीभूतता। इड़ापिङ्गला की मृत्यु)

'तदा सा **मरणावस्था** जायते द्विपुटाश्रया। (३।१२)

कुण्डली का जागरण—सुषुम्णा में प्राण-प्रवेश इड़ा-पिङ्गला दोनों की मृत्यु।

महावेध से भी वायु सुषुम्णा में प्रविष्ट हो जाती है।

(वायुः स्फुरति मध्यगः॥ (ह०यो०प्र० ३।२७)

मूलबन्ध से भी **प्राणापानैक्य** सिद्ध होता है।

'प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्॥' (३।६४)

'अपानप्राणयोरैक्यं—'युवाभवति वृद्धोऽपि सतत मूल बन्धनात्।' (३।६५)

'मूलबन्ध' लगोन अधोगामी **'अपान'** जब ऊर्ध्वगामी होकर अग्निमण्डल में पहुँचता है (नाभि के अधोभाग में स्थित त्रिकोण जठराग्नि के मण्डल में प्रवेश कर जाता है) तब अपानवायु से ताडित **जठराग्नि की शिखा दीर्घ हो जाती है। फिर अग्नि एवं अपान दोनों अग्नि की दीर्घ शिखा के द्वारा** ऊष्ण बने हुए ऊर्ध्वगति प्राण में पहुँच जाते हैं। इसके कारण अपान की ऊर्ध्वगति से दीप्त अग्नि प्रदीप्त हो जाती है। उसका प्रभाव कुण्डलिनी पर इस प्रकार पड़ता है—

'तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥'[१]

फिर कुण्डलिनी ब्रह्मनाड़ी में पहुँच जाती है अतः मूलबन्धाभ्यास आवश्यक है—

'बिलं प्रविष्टेन ततो ब्रह्मनाड्यान्तरं व्रजेत्॥' (३।६९)

---

१. हठयोगप्रदीपिका (३।६८)

(कुण्डलिनी और उसका जागरण)

जब तक समस्त नाड़ियों में प्रवाहित प्राण को अवरुद्ध करके एक मात्र सुषुम्णा में ही उसे प्रवाहित नहीं किया जाएगा तब तक साधक को ब्रह्मप्राप्ति संभव नहीं है।'

प्राणायाम सम्बन्धी क्रियायें—(गौड़पादी की दृष्टि)—

(१) नाड़ियों में **प्राण सञ्चार** करना 'मरुतइहनाड़ीगण जुषो'

(२) अर्क एवं इन्दु (सूर्य चन्द्र नाड़ी) में प्रवाहित प्राणप्रवाह का **निरोध करना**—'निरुध्यार्कं सेन्दुं'

(३) **योगाग्नि प्रकट** करना—**'दहनमपि संज्वाल्य।''**

(४) अग्निशिखा को सुषुम्ना नाड़ी में मिलाना : 'सुषुम्णां संयोज्य।

(५) षट्चक्रों को भेदन करना—'षड्ग्रंथि श्लथयति'

(६) आज्ञाचक्रावस्थित चन्द्रमा में **मन का लय** कर देता है; क्योंकि आज्ञाचक्र का **चन्द्रमा ही मन का स्थान है।**

'श्लथयति षड्ग्रंथि'—मुख्यतः ग्रंथियाँ तो तीन ही मानी गई हैं और उनकी भेदन-प्रक्रिया इस प्रकार हैं—

'रुद्रग्रंथिं ततो भित्वा **विष्णुग्रंथिं** भित्यथ।
ब्रह्मग्रन्थिं च भित्वैव कमलानिभिनत्ति षट्॥'[१]

'कुण्डलिनी शक्ति' की स्थिति

वामकेश्वरतंत्रोक्त कुण्डलिनी की स्थिति इस प्रकार है—

भुजङ्गाकाररूपेण मूलाधारं समाश्रिता।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभाऽऽशुभा॥
मूलकन्दं फणाग्रेण दष्ट्वा कमलकन्दवत्।
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरंध्रं समाश्रिता॥
पद्मासनगतस्स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः।
वायुमूर्ध्वगतिं कुर्वन् कुंभकाविष्टमानसः॥

[पद्मासन। अश्वीमुद्रा। वायु का ऊर्ध्वोत्थापन। कुंभक प्राणायाम की साधना]

वाटवाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो **ज्वलन्।**
ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितो **हिराट्।**
रुद्रग्रंथिं ततोभित्वा विष्णुग्रंथिं भिनत्यतः॥

---

१. क्षुरिकोपनिषद्
२. वामकेश्वरतन्त्र

(कुंभक प्राणायाम। वायु का आघात। अग्नि-ज्वलन। ज्वलनाघात। पवनाघात से कुण्डलिनी का सुप्ति-भंग) (**'रुद्रग्रंथि'** एवं **'विष्णुग्रंथि'** का भेदन)

'ब्रह्मग्रंथिं च भित्वैव कमलानि भिनत्ति षट्॥
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते।
सा चावस्था पराज्ञेयो सैव निवृत्तिकारणम्।'

—वामकेश्वर महातन्त्र

'योग चूड़ामणि उपनिषद' के अनुसार शक्ति प्रबोधन—'योग चूड़ामणि उपनिषद् प्रसुप्त शक्ति को जगाने की प्रक्रिया इस प्रकार प्रस्तुत करती है—

'मुखेनाच्छाद्यतद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।
प्रबुद्धा **वह्नियोगेन मनसा मरुता** सह॥'

[जागरण के साधन— (१) वह्नियोग (२) मन (३) वायु (प्राणायाम)]—

सूचिवदगुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया।
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्॥
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥

हठयोगप्रदीपिकाकार का मत—

(१) **कुण्डलिनी के नाम—**

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तीरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः॥(३।१०४)
उद्घाटेत्कपाटं यथा कुंचिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥१०५॥

(२) **कुण्डलिनी की स्थिति—**

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निराभयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥

(३) **कुण्डलिनी की दृष्टि—बन्धन एवं मोक्ष—**

कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्ति सुप्ता **मोक्षाय** योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥ (३।१०७)

(४) **कुण्डलिनी से मुक्ति कब ?**

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥

(५) **कुण्डलिनी-जागरण की पद्धति—**

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्पिनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम्॥

(६) **नाड़ियों के मध्य कुण्डलिनी का अवस्थान—**

इडा भगवती गंगा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली।

(७) **कुण्डली-जागरण की पद्धति—**

पुच्छे प्रगृह्य भुजङ्गी सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम्।
निद्रां विहाय सा शक्तिरुर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्॥
अवस्थिता चैव कणावतीसा
प्रपूर्वय सूर्यात्परिधानयुत्त्या।
प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया॥

(८) **शक्तिजागरण में उपयोगी 'आसन' एवं कन्द-प्रपीड़न—**

सति **वज्रासने** पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढ़म्।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्।
वज्रासने स्थितो योगी **चालयत्विा च कुण्डलीम्।**
कुर्यादनन्तरं **भस्त्रां** कुण्डलीमाशु बोधयेत्॥
(वज्रासन। **प्राणायाम**—भस्त्राप्राणायाम)

सूर्याकुंचन द्वारा शक्ति-प्रबोधन—

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुण्डली चालये ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ?

(नाभि में स्थित सूर्य का आकुंचन। नाभि के आकुंचन द्वारा सूर्याङ्कुचन। आकुंचन द्वारा शक्ति का चालन करें।)

(९) **सुषुम्ना में कुण्डलिनी का प्रवेश**—(साधना का समय)

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥
तस्मात्संचालनयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम्।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते॥(३।११९)

(१०) **शक्ति प्रबोधन एवं कालविजय—**

येन संचालिता शक्तिः सयोगी सिद्धिभाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया॥

(११) **साधना में आहार-विहार एवं संयम—**

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः।
मण्डलादृश्यते सिद्धिः कुण्डल्याभ्ज्ञायोगिनः॥

(१२) **कुण्डलिनी-जागरण से मृत्युञ्जयत्व प्राप्ति—**

कुण्डलीं **चालयित्वा** तु **भस्त्रां** कुर्याद्विशेषतः।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ?

(१३) **मलशुद्धि और कुण्डलिनी-अभ्यास—**

द्वासप्ततिसहस्त्राणां नाडीनां मलशोधने।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनाहते॥[१]

'षडग्रंथिं श्लथयति'—यदि 'षड्ग्रंथि' का अर्थ षट्चक्र लिया जाय तो षट्चक्र इस प्रकार है—

(१) मूलाधार चक्र (२) स्वाधिष्ठान चक्र (३) मणिपूरक चक्र (४) अनाहत चक्र (५) विशुद्धाख्य चक्र (६) आज्ञा चक्र।

चक्र और तत्त्व—

(१) **मूलाधार चक्र**—पृथ्वी तत्त्व (२) **स्वाधिष्ठान चक्र**—जल तत्त्व (३) **मणिपूर चक्र**—अग्नि तत्त्व (४) **अनाहत चक्र**—वायु तत्त्व (५) **विशुद्धाख्य चक्र**—आकाश तत्त्व (६) **आज्ञा चक्र**—मनस्तत्त्व।

जब कुण्डलिनी जग जाती है तब वह प्रत्येक चक्र का वेधन करती हुई समस्त ६ चक्रों का वेधन करके सहस्त्रार (सहस्त्रदलपद्म) में पहुँचकर अपने पति 'परमशिव' के साथ सामरस्य प्राप्त करती है।

'तवाज्ञा चक्रस्थं विलयति महायोगि समयी।'

(१) **शिवसंहिताकार की दृष्टि**—आज्ञाचक्र का स्वरूप निम्नानुसार है—

'आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम्।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देवत्र हाकिनी॥'

---

१. हठयोगप्रदीपिका

शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षर बीजं विजृम्भितम् ।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वां नावसीदति ॥
तत्र देवःपरं तेजः सर्वतंत्रेषु मन्त्रिणः ।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः ॥
तुतीयं त्रितयं लिङ्गं तदाहं मुक्तिदायकः ।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मत्समो भवति ध्रुवम् ॥
इडा हि पिङ्गला ख्याता वरणासीति होच्यते ।
'वाराणसी' तयोर्मध्ये विश्वनाथोऽत्र भाषितः ॥
सुषुम्णा मेरुणा याता ब्रह्मरंध्रं यतोऽस्ति वै ।
ततश्चैषा परावृत्य तदाज्ञापद्मदक्षिणां ।
वामनासापुटं याति गंगेति परिगीयते ॥

—शिवसंहिता

श्रीपूर्णानन्दयति की दृष्टि—आचार्य पूर्णानन्द ने आज्ञाचक्र का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

आज्ञानामाऽम्बुजं तद्धिमकर सदृशं ध्यानधामप्रकाशं ।
हक्षाभ्यां वै कलाभ्यां परिलसितवपुर्नेत्रपत्रं सुशुभ्रम् ॥
तन्मध्ये हाकिनी सा शशिसमधवला वक्त्रषट्कं दधाना ।
विद्यामुद्रां कपालं डमरू जपवटीं बिभ्रमी शुद्ध चित्ता ।
एतत् पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धं ।
योनौ तत्कर्णिकायामितरशिवपदं लिङ्गचिह्नप्रकाशम् ।
विद्युन्मालाविलासं परमकुलपदं ब्रह्मसूत्र प्रबोधं ।
वेदानामादिबीजं स्थिरतर हृदयश्चिन्तयेत् तत् क्रमेण ॥
तदन्तश्चक्रेऽस्मिन् निवसति सततं शुद्धबुद्धयन्तरात्मा ।
प्रदीपाभज्योतिः प्रणवविरचना रूप वर्ण प्रकाशः ।
तदूर्ध्वे चन्द्रार्द्ध स्तदुपरि विलसद् बिन्दुरूपी मकार ।
स्तदूर्ध्वे नादोऽसौ जलधवल सुधाधार सन्तान हासी ॥
ज्वलद दीपाकारं तदनु च नवीना र्कबहुल
प्रकाशं ज्योतिर्वा गगनधरणीमध्यमिलितम् ।
इहस्थाने साक्षाद् भवति भगवान् पूर्णविभवो ।
ऽव्ययः साक्षी वह्नेः शशि**मिहिरयोर्मण्डल** इव॥

आज्ञा चक्र
वं शं षं सं

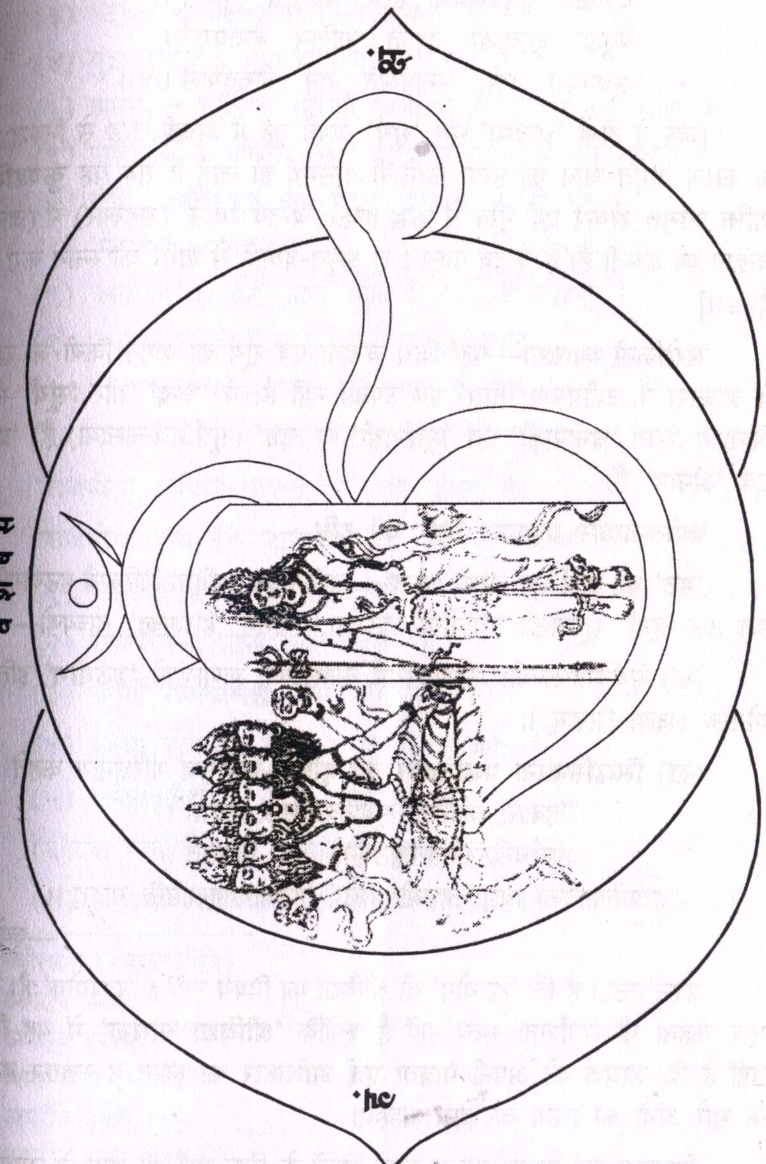

श्लोक क्रम ४ * क्षुधार्त कुण्डलिनी का चन्द्रमा को डसना *

यदा तौ चन्द्राऽर्कौ निजसदनसंरोधनवशा-
दशक्तौ पीयूषस्रवण हरणे सा च भुजगी।
प्रबुद्धा क्षुत्क्रुद्धा दशति शशिनं बैन्दवगतं।
सुधाधारा सारैः स्नापयति तनुं बैन्दवफले ॥४॥

[जब वे दोनों **'चन्द्रमा'** एवं **'सूर्य'** अपने गृह में अच्छी तरह से निरुद्ध होने के कारण अमृत-स्राव का हरण करने में असमर्थ हो जाते हैं तब वह **कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर** एवं भूख से क्रुद्ध होकर 'बैन्दव स्थान' (सहस्रार) में (जाकर) चन्द्रमा को डसती है। हे बैन्दव कला ! तू अमृत-प्रवाहों से शरीर को स्नान करा देती है।॥४॥]

सरोजिनी व्याख्या—यहाँ जिस चन्द्रमा एवं सूर्य का वर्णन किया जा रहा है वे आकाश के उदीयमान 'तारा' एवं उपग्रह नहीं है। ये **'चन्द्र'** और **'सूर्य'** मानव पिण्ड में स्थित **'चन्द्रनाड़ी'** एवं **'सूर्यनाड़ी'** या **'हठ'** (सूर्य एवं चन्द्रमा) हैं, **'प्राण'** एवं **'अपान'** हैं।

ज्योत्स्नाकार ब्रह्मानन्द गिरि की दृष्टि—

'हठ' का अर्थ एवं 'सूर्य' 'चन्द्र'—आदिनाथेन उपदिष्टा गिरिजायै हठयोगविद्या, हश्च ठश्च 'हठौ' सूर्यचन्द्रौ तयोर्योगो 'हठयोगः'। एतेन **'हठशब्द'** वाच्ययो—

(क) सूर्यचन्द्राख्ययोः प्राणापानयोरै क्यलक्षणः प्राणायामो **'हठयोग'** इति हठ योगस्य लक्षणं सिद्धम् ॥

(ख) **सिद्धसिद्धान्त पद्धतिकार की दृष्टि**—योगिराज गोरक्षनाथ कहते हैं—

"हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥"

तत्प्रतिपादिका विद्या 'हठयोगविद्या' 'हठयोगशास्त्रमिति यावत् ॥

—ज्योत्स्ना

प्रश्न उठता है कि 'हठयोग' तो श्रीविद्या का विषय नहीं है 'राजयोग' है। किन्तु ऐसा कहना भी सर्वांशतः सत्य नहीं है क्योंकि **'श्रीविद्या साधना'** में यह विधान नहीं है कि साधक को अपनी **पात्रता एवं अधिकार** का ध्यान न रखकर हठयोग के सारे अंगों का त्याग कर देना चाहिए।

निम्नतम एवं मध्यम पात्रता रखने वालों के लिए वहाँ भी योग के आठ अङ्ग स्वीकृत हैं और जहाँ तक **'हठयोग'** की बात है इस साधना में—

(१) 'ह' एवं 'ठ' = 'सूर्य' एवं 'चन्द्र' एवं उसकी साधना।
(२) नाड़ी-मण्डल = नाड़ी योग
(३) षट्चक्र = षट्चक्रभेदन की साधना
(४) मुद्रा-बन्धन = मुद्रा बन्ध की साधना
(५) आसन = कतिपय आसनों (वज्रासन आदि) का आत्मीयकरण।
(६) प्राणायाम = मस्त्रिका आदि कतिपाय प्राणायामों की साधना।
(७) ग्रंथि = ग्रंथि एवं ग्रंथि-भेदन 'हठयोग' के ही अंग हैं।
(८) 'मंत्रयोग' = मंत्रसाधन
(९) 'लययोग' = मन, प्राण आदि के लय की साधना
(१०) 'राजयोग' = चित्त वृत्ति निरोध की साधना।
(११) ' ध्यानयोग' = ध्यान एवं ध्यान की साधना।
(१२) 'ज्ञान योग' = ज्ञान और ज्ञानाप्ति की साधना।

'राजयोग' श्रीविद्या साधना की मुख्य साधना है।

'राजयोग' क्या है? **'राजयोग'** = **'चित्तवृत्तिनिरोध'**।।

(१) **'राजयोगश्च** सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणोऽसंप्रज्ञात योगः ॥[१]
(२) **राजयोगपदं** प्राप्य सर्वतत्त्ववशङ्करम्।[२]
(३) चतुर्थो **राजयोगश्च** द्विधाभावविवर्जितः ॥[३]
(४) चतुर्थो **राजयोग** स्यात् स द्विधाभाववर्जितः।[४]
(५) यश्चित्तवृत्तिरहितः स तु **राजयोगः** ।।[५]
(६)एक एवामरौधे हि **राजयोगाभिधानकः** ।।[६]
(७) सर्वाण्यपि तहाभ्यासे **राजयोगकलावधिः** ।।[७]

---

१. ज्योत्सना (ब्रह्मानन्दगिरि)
२. अमरौघ प्रबोध
३. अमरौघ प्रबोध
४. शिवसंहिता (५।१४)
५. अमरौघ प्रबोध (४)
६. अमरौघ प्रबोध (१७)
७. हठयोग प्रदीपिका (१।६७)
८. हठयोग प्रदीपिका (२।७६)

(८) हठं विना **राजयोगं** राजयोगं विना हठः ।
न सिध्यति ततो **युग्यमानिष्पत्ते समभ्यसेत्** ।।

(इड़ा-पिङ्गला नाड़ियों में वायु-प्रवाह अवरुद्ध करके चन्द्र एवं सूर्य स्वरों को रोक कर के।)

'इडायां चन्द्रश्चरति। पिंगलायां रविः। तमो रुपश्चन्द्रः। रजो रूपो रविः। विषभागो रविः। अमृतभागश्चन्द्रमाः।।
—शाण्डिल्योपनिषद्

गोरक्षनाथ की दृष्टि—योगिराज गोरक्षनाथ ने **'योगबीज'** में 'सूर्यचन्द्रयोग' को इतना महत्व दिया है कि उसे 'योग' का ही पर्याय घोषित कर दिया है। वे कहते हैं कि **'योग'**— (क) प्राणापान के योग का योग है।

(ख) रज-रेतस के योग का योग है।

(ग) जीवात्मा और परमात्मा का योग है।

(घ) चन्द्रमा एवं सूर्य के योग का अंग है

योऽपानाप्राणयोर्योगः स्वरजोरेतसो स्तथा ।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः ।। —(योगबीज ८९९०)

(क) प्राण एवं अपान का ऐक्य ही योग है।

(ख) रज एवं रेतस का ऐक्य ही योग है।

(ग) सूर्य एवं चन्द्र का ऐक्य ही योग है।

(घ) जीवात्मा एवं परमात्मा का ऐक्य ही योग है।

(ङ) द्वन्द्वों के समूह का संयोग ही योग है।

'प्राणापानसमायोगाच्चन्द्रसूर्यैकता भवेत् ।'

सूर्य एवं चन्द्र का ऐक्य

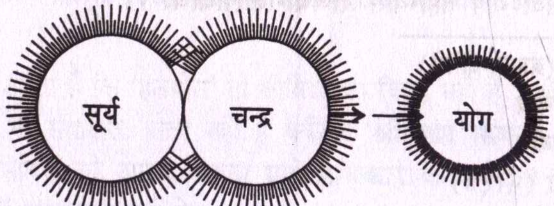

'सोम' 'सूर्य' एवं 'अग्नि' इड़ा, पिङ्गला एवं सुषुम्ना नाड़ियों के अधिष्ठाता हैं। जब तीनों नाड़ियों की वायु एक हो जाती है तब मोक्ष की प्राप्ति एवं 'सूर्य'-'चन्द्र' की मृत्यु होती है—

'सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते **चामृताय** वै।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेच्येत् ।।'

शास्त्रों में कहा गया है कि **'चन्द्रमा'** अमृत-स्राव करता है; किन्तु नीचे **'सूर्य'** पी जाता है—

'यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ।।'
—हठयोग प्रदीपिका

'महावेध' के परिणामस्वरूप सुषुम्ना नाड़ी में वायु का संचार होने लगता है और फिर चन्द्रमा-सूर्य एवं अग्नि ये तीनों नाड़ियों की वायु एक हो जाती है अर्थात् इड़ा-पिङ्गला में वायु-संचार बन्द हो जाता है। अतः उनकी मृतावस्था उत्पन्न हो जाती है।[१] सोम-सूर्य-अग्नि तीनों का संयोग अमृतत्व प्रदान करता है—

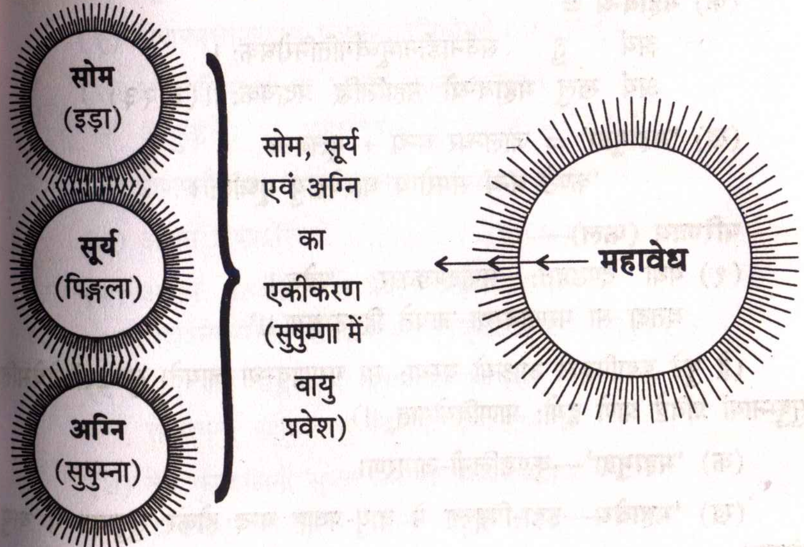

'सोमश्चसूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्नि शब्दैस्तदधिष्ठिता नाडय **इडापिङ्गलासुषुम्ना** ग्राह्या ------------ **तेषां** सम्बन्धः अमृताय मोक्षाय जायते।।'
—ज्योत्स्ना (३।२८)

१. सोमसूर्याग्नि संबन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्न ततो वायुं विरेचयेत् ।। (३।३८)

महावेध—'अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वंगतिनिरोधकः।
अयं खलुमहाबन्धो महासिद्धि प्रदायकः॥' (२।२३)

कुंभक करके (पूरक द्वारा अन्दर वायु भरकर) कण्ठ मुद्रा (जालन्धर बन्ध) लगाकर वायु ऊर्ध्वाकर्षण आदि क्रियाओं वाले इस **'महावेध'** से वायु सुषुम्णा में पहुँच जाती है—

'पुटद्वयमतिक्रम्यवायुः स्फुरति मध्यगः' (३।२७)

(पुटद्वय का त्याग करके = इड़ापिङ्गला में वायु-प्रवाह बन्द करके)

'पुटयोर्द्वयमिडापिङ्गलयोर्युग्ममतिक्रम्योल्लंघ्य मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति —('ज्योत्स्ना')

'पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरतिमध्यगः॥' (३।२७)

'महामुद्रा'—कुण्डलिनी का जागरण—

(क) **महाबन्ध =**
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः।
अयं खलु **महाबन्धो** महासिद्धि प्रदायकः॥ (३।२३)

(ख) **'महामुद्रा'** = जालन्धर बन्ध + मूलबन्ध
'कण्ठे बन्धं समरोप्य धारयेद्वायु मूर्ध्वतः।

परिणाम (फल)—
(१) यथा दण्डहतः सर्पोदण्डकारः भवेत्।
वतदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया॥[१]

(द्वे पुटे इडापिङ्गले आश्रयो यस्याः सा भरणावस्था जायते। कुण्डलीबोधेसति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात्॥)

(क) **'महामुद्रा'**—कुण्डलिनी-जागरण।

(ख) **'महावेध**—इड़ा-पिङ्गला में वायु-प्रवाह बन्द होकर सुषुम्णा में वायु संचार॥

सोमसूर्याग्नि सम्बंधो जायते चामृताय च।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत्॥ (३।२८)

(ग) **'उड्डीयान बन्ध'**—(हठ० ३।५५)
'बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः॥'

---

१. हठयोग प्रदीपिका (३।१२)

'ब्रह्मद्वार' (सुषुम्णा के मुख) को अपने मुख से बन्द करके सोती हुई) कुण्डलिनी को जगाने के लिए मुद्राभ्यास आवश्यक है—

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥
—(हठयोग० ३।५)

(मुख्यतः १० मुद्रायें हैं—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरणी, वज्रोली एवं शक्तिचालन।)

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा **सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च॥** —(हठयोग ३।२)
प्राणस्य शून्यपदवी (सुषुम्ना) तथा राजपथायते।
तदा **चित्तं निरालम्ब** तदा **कालस्य वञ्चनम्॥**—(३।३)

(घ) **'मूलबन्ध'**—

(१) अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते॥ (३।६१)

(२) अधोगति**मपानं** वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्भूतबन्धं हि योगिनः॥ (३।६२)

(३) प्राणपनौ नाद बिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्। (३।६४)

(४) अपान प्राणायोरैक्यं..................)३।६५)

(५) अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता॥ (३।६६))

(६) ततो यातो वह्नयपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।
तेनात्यन्त प्रदीपप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा॥

(७) तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋतुतां व्रजेत्॥

(८) बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाडयन्तरं व्रजेत्।
तस्मान्नित्यः मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥ (३।६९)

(९) **'जालन्धर बन्ध'**—
यत्किञ्चित् स्त्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणाः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः॥ (३।७७)

(१०) **'विपरीतकरणी—**

'ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी'। (३।६९)

आसन—

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम्।
कुर्यादिनन्तरं भ्रस्त्रां कुण्डली माशु बोधयेत्॥
भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्यमृत्युभयं कुतः॥ (३।११६)
मुहूर्तद्वय पर्यन्त निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वद्वयपर्यन्त किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायांमुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥
कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः॥ (३।१२२)
कुम्भाकात् कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत्॥ (२।७५)

श्लोक क्रमांक ५- * भगवती का चन्द्रकलात्मक 'परकला' का स्वरूप' *

''पृथिव्यापस्तेजः पवनगगने तत्प्रकृतयः।
स्थितास्तन्मात्रास्ता विषयदशकं मानसमिति।
ततो मया विद्या तदनु च महेशः शिव इति।
परं तत्त्वातीतं मिलित वपुरिन्दोः पर कला॥५॥''

[(हे भगवती) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश तथा उनकी प्रकृति रूप तन्मात्राओं (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध), दस इन्द्रियाँ, मनस्तत्त्व, माया तत्त्व, विद्या तत्त्व, महेश, एवं शिव—इन सभी से परे स्थित तत्त्वातीत सत्ता में विलीन होकर तू चन्द्रमा की परकला के रूप में शेष रह जाती है॥५॥]

सरोजनि व्याख्या—मूलाधार चक्र में अनादिकाल से सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति जब जागृत होती है तब मूलाधार में न रहकर सभी चक्रों का वेधन करती हुई अपने परस्वरूप में लयीभूत हो जाती है।

उसकी यह यात्रा मूलाधारचक्र से प्रारम्भ होकर 'सहस्रार' तक चलती है। शक्ति की सुषुप्ति तो **'मूलाधार चक्र'** में है; किन्तु उसकी महाजागृति **'सहस्रार'** में है।

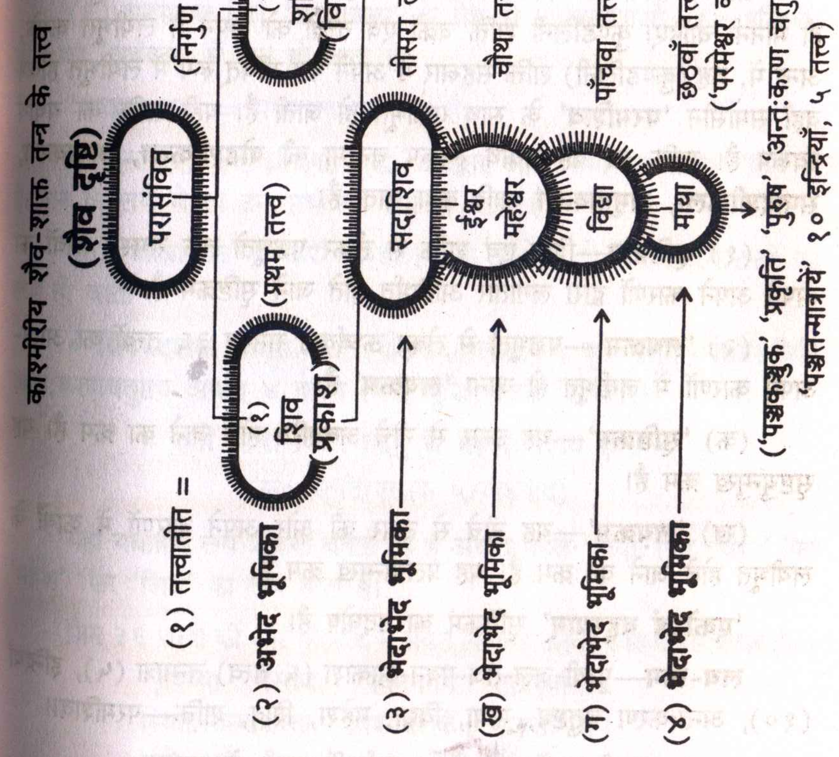

विष्णुग्रन्थिंततोभित्वा रुद्रग्रन्थिञ्चलिष्ठति।
ततस्तुकुम्भकेगाढे पूरयित्वापुनःपुनः ॥९१॥

फिर विष्णु ग्रन्थिभेद करके रुद्र ग्रन्थि विभेदन पूर्वक अवस्थिति करनी चाहिये। फिर वारंबार गाढ़तर कुंभक का अभ्यास करै ॥९१॥

एवंनित्यमभ्यसेच्च स्याच्चतुष्टयकुम्भकं।
बन्धत्रयेणसंयुक्तः केवलंप्राप्तिकारकः॥
अथास्यलक्षणंसम्यक् कथयामिसमासतः९२

इस प्रकार नित्य अभ्यास से क्रमानुसार चार कुंभक का अभ्यास होता है, तब तीनबंधन संयुक्त होकर केवल उद्देश साधन का प्राप्ति कारक होता है। अब मैं विस्तार पूर्वक इसके लक्षण का विषय कहता हूं ॥९२॥

एकाकिनासमुपगम्यविविक्तदेशंप्राणादिरूप
ममृतंपरमार्थतत्वं। लब्धाशिनीधृतिमतापरिभावितव्यं संसाररोगहरमौषधमद्वितीयं९३

जो व्यक्ति योगी है, उसको धैर्यावलम्बन पूर्वक प्रथम निर्जन प्रदेश आश्रय करना चाहिये फिर प्राणादि रूप अमृत पान करके परमार्थ तत्वको चिन्ता करनी कर्त्तव्य है तिसकाल दीर्घ कालतक जीवन धारणोपयोगी आहार वृत्ति ग्रहण करनी चाहिये, यथार्थ कहा गया है, परमार्थ तत्व संसार रोग के लिये अद्वितीय औषधी है ॥९३॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सर्व्वनाड्यासमाकृष्य वायुमभ्यासयोगिनां
विधिवत्कुम्भकंकृत्वा रेचयेत्शीतरश्मिता ॥

जो अभ्यास के बल से योगी है, उसको नाड़ी आकर्षण पूर्वक वायु ग्रहण करनी चाहिये। फिर विधि पूर्वक कुंभक का अनुष्ठान करके शीतल किरणों के संयोगमें रेचक क्रियाकरै॥

उदरेवातदोषघ्नं कण्ठदोषंनिहन्तिच ।
मुहुर्मुहुरिदंकार्य्यं सूर्य्यभेदमुदाहृतं ॥९५॥

इस कार्य के द्वारा उदर की वायु और कण्ठ दोष का विनाश होता है। यथार्थ कहा जाता है यह कार्य बारंवार करना चाहिये, इसकाही नाम सूर्य भेद है ॥९५॥

नाड़ीभ्यांवायुमाकृष्य कुण्डल्याःपार्श्वयोर्नरः
धारयेदुदरेसोऽपि रेचयेदिडयासुधीः ॥९६॥

जो व्यक्ति बुद्धिमान है, नाड़ी समूह के द्वारा वायु आकर्षण पूर्वक इनकी सहायता से कुण्डलिनी के पार्श्व में और उदर में धारण करना उनका कर्त्तव्य है ॥९६॥

कण्ठकफादिदोषघ्नं शरीराग्निविवर्द्धनं ।
शिरोजलोदधारातु गतरोगविनाशनं ॥९७॥

इसके प्रभाव से कण्ठमें कफका अधिकार नष्ट, शरीर का तेज वर्द्धित मस्तक स्निग्ध और सब रोग निवारित होते हैं॥

गच्छतस्तिष्ठतःकार्य्यं उज्जयाख्यन्तुकुम्भकं।

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुखेनवायुसंगृह्य प्राणरन्ध्रेविरेचयेत् ॥९८॥

योगी व्यक्ति क्यास्थिति क्या गमन क्योंन करैं, उसको उज्जय नामक कुंभक का अनुष्ठान करना चाहिये, इसकार्य में मुख द्वारा वायु ग्रहण पूर्वक प्राण रन्ध्र में बिरेचन करने का नियम है ॥९८॥

शीतलीकरणंचेदं हन्तिपित्तंतथाज्वरं ।
स्तनयोरथभस्त्रेव लोहकारस्यवेगतः ॥९९॥

इसका नाम स्निग्धि करण है और इसके द्वारा पित्त कोप और ज्वर कोप नष्ट होता है, कर्मकार जिस प्रकार बेग सहित रथभस्त्रा की शक्ति चालित करके शब्दित करते हैं यह भी इसी प्रकार है ॥९९॥

रेचयेत्पूरयेत्वायु माश्रमंदेहगंधिया ।
यदाश्रमोभवेद्देहे तथासूर्येणरेचयेत् ॥१००॥

चतुरयोगी को अपने देहाश्रम में रेचक और पूरक का कार्य करना चाहिये और सूर्य के सहित रेचक का अनुष्ठान करनाही विधि है ॥१००॥

कण्ठसंकोचनंकृत्वा पुनश्चन्द्रेणरेचयेत् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्द्धनं ॥१०१

तदनन्तर कंठका संकोच करके चन्द्रके सहित रेचक करनी चाहिये, इसके द्वारा वात पित्त और कफ की शक्ति शान्त होती है और शरीर की अग्नि बढ़ती है ॥१०१॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कुण्डलीबोधकंवक्त भावहनंसुखदंशुभं ।
ब्रह्मनारीसुखंसंस्थ्यं कफाद्यर्गलनाशनं॥१०२

यदि कुण्डली का रोध होतो वक्रभाव दूरीभूत सुख और स्वास्थ अधिकृत होता है और कफादिक की कोई मति बंधकता नहीं रहती ॥१०२॥

सम्यक्गात्रसमुद्भूत ग्रन्थित्रयविभेदकं ।
विमेणैवकर्त्तव्यं भस्त्रोख्यंकुम्भकन्तुदं १०३

विशेष प्रकार से भस्त्र नामक कुंभक का अनुष्ठान करना चाहिये, इसके द्वारा शरोत्पन्न तीनों ग्रन्थिका बिभेद होताहै ॥

चतुर्णामपिभेदानां कुम्भकेसमुपस्थिते ।
वन्धत्रयमिदंकार्य्यं वक्ष्यमाणांमयास्फुटं १०४

चार भेद विषय में कुम्भक का आविर्भाव हुआ है, मैं तुम्हारे निकट स्पष्ट भाव से जो कहता हूं इन्हीं तीन बंधन का अनुष्ठान करना चाहिये ॥१०४॥

प्रथमोमूलवन्धस्तु द्वितीयउड्डियानकः ।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणांकथयाम्यहं १०५

प्रथम मूलबंध, द्वितीय उड्डीयान और तृतीय जालन्धर नामसे परिचित है, मैं क्रमानुसार इनका लक्षण वर्णन करताहूं ॥

योनिपाष्र्ण्यातुसंपीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारंवारंतथाचोर्द्धं समायातिसमीरणः १०६

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पर्ष्णिदेश (पैरका तलुआ) द्वारा योनि को निपीडित करके वल पूर्वक वायुको आकुञ्चित करना । इस प्रकार करनेसे वायु वारंवार अर्द्ध में प्रसर गति होती है ॥१०६॥

प्राणापानंनादविन्दु मूलवन्धेनचैकतां ।
गत्वायोगस्यसंसिद्धिं यच्छतेनात्रसंशयः १०७

मूलवंध द्वारा प्राण और अपान के सहित जो नादबिन्दु मिलित होता है, उस में निःसन्देह योगी को सिद्धावस्था होती है ॥१०७॥

कुम्भकास्तेरेचकान्ते कर्त्तव्यस्तूड्डियानकः ।
वद्धोयेनसुषुम्नायां प्राणास्तूडियतेततः १०८

रेचक और कुंभक के अन्त में उड्डियान नामक बंधन का अनुष्ठान करना चाहिये, यह सुषुम्ना में वद्ध होने से प्राण को उड्डीन दशामें होती है ॥१०८॥

तस्मादुड्डियानाख्योऽहं योगिभिःसमुदाहृतः
उड्डियानस्तुसहजं गुरुणाकथितंमुदा ॥१०९॥

योगीगण इसका नाम उड्डीयान कहते हैं, गुरु प्रसन्न मनसे इसकाही स्वाभाविक गुण गरिमा वर्णन करते हैं १०९

अभ्यासादस्वतन्त्रस्तु वृद्धोऽपितरुणायते ।
नाभेरुर्द्धमधश्चापि प्राणंकुर्य्यात्प्रयत्नतः११०

वास्तविक अभ्यास होनेसे इसके द्वारा स्वतंत्रता लाभ

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होतो है, अन्यवात क्याहै, इसकी शक्ति से वृद्धभी नवीन भाव धारण करता है। जोहो, सर्व प्रयत्न से प्राण को नाड़ी के अर्द्ध और अधोदेश में स्थापन करना चाहिये ॥११०॥

षन्मासमभ्यसेन्मत्यु ञ्जयत्येवनसंशयः ।
पूरकान्तेतिकर्त्तव्यो वन्धोजालन्धराभिधः ॥

अधिक क्या कहूं यदि इस प्रकार के अभ्यास से छैमास पर्यन्त कार्य किया जायतो जीवमृत्यु को जीतसकता है जोहो पूरक के अन्त में जालन्धर नामक बंधन का अनुष्ठान करना चाहिये ॥१११॥

कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ।
कण्ठमाकुञ्च्यहृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया ॥

यह बंधन कंठ शक्ति का संकोचक और वायु पथ निरोधक है कंठको आकुञ्चन करके हृदय में रक्षा करनाही दृढ़ताभिलाषी योगी का कार्य है ॥११२॥

वन्धोजालन्धराख्योऽय ममृताव्ययकारकः
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचनेनच११३
मध्यमाभ्रमणेनस्यात् सप्राणोब्रह्मनाडिगः
वज्रासनस्थितोयोगीचालयित्वातुकुण्डलीं ॥

यह जालन्धर नामक बंधनही अव्यय और अमृत दायक है, अधःस्थान कुंचन और कंठ संकोचन द्वारा मध्यमा भ्रमण

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होनेसे प्राणका ब्रह्म नाड़ी में गमन होता है और इस समय योगी कुण्डली को चालित करके वज्रासन पर आसीन होते हैं ॥

सुषुम्नयातथाभ्यासात् सततंवायुनाभवेत्।
रुद्रग्रन्थिंततोभित्वा सैवयातिशिवात्मकं११५

इस प्रकार अभ्यास बलसे सुषुम्ना के संयोग में वायु के सहित संमिश्रवाण होता है तदनन्तर रुद्र ग्रन्थि विभेदन पूर्वक शिवात्मकता प्राप्त होती है ॥११५॥

चन्द्रसूर्य्यौसमौकृत्वा तयोर्योगःप्रवर्त्तते।
गुणत्रयादतीतःस्यात् ग्रन्थित्रयविभेदकः ॥

तिस काल चन्द्र सूर्य को समान जानकर योग प्रवर्त्तना होती है, इसमें तीनों गुण अतीत होकर तीन ग्रन्थि का विभेद होता है ॥११६॥

शिवशक्तिसमायोगात् जायतेपरमास्थितिः
यथाकरीकरेणैव पानीयंप्रथिवेत्तथा ॥११७॥

तदनन्तर शिवशक्ति के संयोग में हाथी जिस प्रकार अपनी कर अर्थात् शुण्ड के द्वारा पानीय जल ग्रहण पूर्वक पान करता है इसी प्रकार जीवकी परम पदमें स्थिति होती है ११७

सुषुम्नायास्थितःसर्व्वे सूत्रेमणिगणाइव।
मोक्षमार्गेप्रसिद्धासा सुषुम्नाविश्वधारिणी११८

यथार्थ विवेचना करके देखने से सूत्रमें जिस प्रकार मणि

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

माला आवद्ध है, इसी प्रकार सुषुम्ना में संपूर्ण अवस्थित है यह विश्व संसार को भरण कर रहीं है और यही मोक्षमार्ग की प्रसिद्ध शक्ति है ॥११८।

यत्रवैनिर्जितःकाल श्चन्द्रसूर्य्यनिवन्धनात्
आपूर्य्यकुम्भितोमायु र्व्वहिर्नैयातिसाधके ॥

इसके प्रभाव से चन्द्र सूर्य की समता प्रयुक्त काल शक्ति पराजित होती है, वास्तव में यदि पूर्ण स्वरूप वायुको स्तम्भित किया जाय, तो वह साधक के वहिर्देश में प्रादुर्भूत नहीं होसकती ॥११९॥

पुनःपुनस्तद्वदेतत् पश्चिमद्वारलक्षणम् ।
परितस्तुनवद्वारैरीषत्कुम्भकतांगताः १२०॥

इस रीति से बारम्बार इस प्रकार पश्चिमद्वार स्वरूप वायु का कार्य होता है जब यह सर्वतः नव द्वार में व्याप्त हो, तभी कुंभक होता है ॥१२०॥

प्रविशेत्सर्व्वगात्रेषु वायुःपश्चिममार्गतः ।
रेचकेक्षयितांयाते पूर्ववत्शोधयेत्सदा १२१॥

जब पश्चिम यथानुसार वायु सब शरीर में प्रविष्ट हो, तब रेचक की क्षीण दशा होती है, तिस काल पूरक की सहायता से शोधन करना चाहिये ॥१२१॥

गुरुप्रसादात्मरुदेव साधितस्तेनैवचित्तं प

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जपसंकल्पं कृत्वा स्वकृत्यमाचरेत् । इस अजपाके समान जीवब्रह्मका अभेद कहनेवाला और कोई मंत्र नहीं है. यह अल्पश्रममें उत्तम फल देनेवाला है इसके समान और जप नहीं. क्योंकि प्रातःकाल संकल्पमात्र करना है उपरांत खाते पीते चलते उठते बैठते सोते सर्वदा सब अवस्थाओंमें उक्त जप आपसे होता रहता है और अद्वैतानुभव करानेवाला उसके समान अन्य कोई ज्ञानशास्त्र पहिलेभी नहीं था और पीछे होनेवालाभी नहीं है ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

कुंडलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥४६॥

कुंडलिनी महाशक्तिसे उत्पन्न हो रही तथा प्राणवायुको धारण करनेवाली यही अजपा गायत्री है. जीवात्माकी शक्ति प्राणविद्यास्वरूपभी यही है इसी कारण महाविद्याभी इसको कहते हैं इसे जो योगी पहिचान सके वही योगशास्त्राभ्यासका तात्पर्य जानता है ॥ ४६ ॥

अथ शक्तिचालनम् ।

कन्दोर्ध्वे कुंडली शक्तिरष्टधा कुंडलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ ४७ ॥

अब कुंडलिनीके भेद खोलने निमित्त एवं उसकी अधिकता प्रकट करनेके लिये कुंडलिनीका और प्रकारभी स्थान कहते हैं कि समस्त ७२००० नाडियोंका उत्पत्तिस्थान पूर्वोक्त कंद है इसके ऊपर मणिपूरचक्र कर्णिकामें आट वृत्तकारके वेष्टित हो रही कुंडलिनीशक्ति ब्रह्मरंध्रद्वारके मुखको रोकके सर्वदा रहती है ॥ ४७ ॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ४८ ॥
प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ४९ ॥

जिस मार्ग (सुषुम्णा) करके जन्ममरणके दुःख हरण करनेवाला अखंड ब्रह्मानंदपद मिलता है उस मार्गको रोकके सोई हुई कुंडलिनी प्राणवायुके धौंकने (उत्तेजन करने) से कालाग्निके ज्योतिके संबंधसे प्रबुद्ध (जागृत) होकर मन एवं प्राणवायुके सहित होके सुषुम्णानामा मध्यनाडीसे ऊपरको जाती है, जैसे सूची। (सुई) अपनेपर पिरोये तागेसहित होनेसे वस्त्रके अनेक सूत्रोंके मध्यमें प्राप्त होती है, तैसे आपही सृष्टि उत्पन्न आप करके षट्चक्र तथा उनके देवताप्रभृति सकलप्रपंचको उल्लंघन करके ऊपर सहस्रदलकमलके सन्मुख होकर जाती है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

प्रसुप्तभुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ५० ॥

सोते सर्पके समान कुंडलिनी अपानवायुसे धमित (धौंकी गई) जो मूलाधारमें रहनेवाली कालाग्निज्योतिके संबंधसे प्रबोध पायके अतिवेग (जोर) से चलते हुए सर्पके समान कुटिलगति होकर कमलनालके तंतु (सूत्र) के समान सूक्ष्म ज्योतिर्मयस्वरूप होकर सुषुम्णामार्गसे ऊपरको जाती है ॥ ५० ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥५१॥

जैसे कूंची (चावी) से ताला खुलकर कपाट (किंवाड) खुल जाते हैं तैसेही कुंडलिनीकरके मोक्षद्वार सुषुम्णाके मुखको योगी अभ्याससे खोले जिससे कि कुंडलिनीके प्रबोधविना कुंडलिनीका द्वार खुलता नहीं ॥ ५१ ॥

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ॥५२॥

दोनों हाथ संपुटित करके (अंजली बांधके) दोनों कूर्पर (बाहुमध्यभाग) हृदयमें दृढ स्थापन करके पद्मासन करे, चिबुक (ठोडी) हृदयमें दृढतर लगायके अर्थात् जालंधरबंध करके ज्योतिःस्वरूपका ध्यान करे केवल कुंभकप्राणायाम अधोद्वार रोकके करे, प्राणायामसे कुंभितवायुको अपानवायुसे एकत्व करके यथाशक्ति कुम्भक करे पुनः रेचकप्राणायाम (जिसमें वायु अतिमंद २ निकला) करे इस प्रकारसे कुंडलिनीका बोध होता है तथा योगीको अपरिमित ज्ञान मिलता है: कुंडलिनीको प्रबोध करनेवाली शक्तिचालनमुद्रा यही होती है परंतु प्राणायामके अभ्यासमें प्राणापानवायुको वशवर्ती करके इस मुद्राका बहुत कालपर्यंत अभ्यास करना होता है ॥ ५२ ॥

अंगानां मर्दनं कुत्वा श्रमसञ्जातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ५३ ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ५४ ॥

शक्तिचालनमुद्राके अभ्यासीके नियम कहते हैं कि प्राणायामादिकर्मसे जो अंगोंमें स्वेद (पसीना) आता है उससे अंगमर्दन करे लवण और खट्टा ये दो रस न खावे केवल दुग्धान्न खाया करे. भोजनभी एक प्रमाणसे करे ब्रह्मचर्य रक्खे कामक्रोधसे रहित रहे त्यागवान् होवे योगाभ्यासका मात्र अभ्यास रक्खे इस प्रकार नियममें रहकर योगाभ्यासमें शक्तिचालनमुद्राका अभ्यास करे एक वर्ष ऊपर जब इच्छा करे तभी कुंडलिनीके अभ्युत्थानकी सामर्थ्य होती है इसमें सिद्धि होती है वा नहीं ऐसा संदेह न करना अभ्याससे अवश्यमेव सिद्धि होती है ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

सुस्निग्धो मधुराहारी चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुञ्जते स्वरसं प्रीत्ये मिताहारी स उच्यते ॥ ५५ ॥

मिताहारके लक्षण कहते हैं स्निग्ध (सचिक्कण) मीठा भोजन करे अम्ल (खट्टा) और लवणवर्जित करे दो भाग अन्न एक भाग जल खावे चौथा भाग उदरमें वायुसंचारके लिये छोड देवे. देवताको निवेदन करके दुग्धान्न भोजन करे इस प्रकार विधि करनेहारा योगी मिताहारी कहाता है ॥ ५५ ॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिः शुभमोक्षप्रदायिनी ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥५६॥

कंदके ऊपर मणिपूरचक्रके कर्णिकामें ८ फेरे होकर कुंडलाकार कुंडलिनी शक्ति है यह मूर्खजनोंको वारंवार जन्ममरणरूप बंधन देती है और योगाभ्यास जाननेवालेको शक्तिचालनका अभ्यास जन्ममरणरूप बन्धन छुटायके मोक्ष देती है ॥ ५६ ॥

अथ शक्तिचालनविधौ ग्रन्थांतरे विशेषः ।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १ ॥

शक्तिचालनमें ग्रन्थांतरमतसे कुछ विशेष कहते हैं कि, गंगायमुनाके बीच तपस्विनी बालरण्डा बलात्कारकरके कुंडलिनीको ग्रहण करे तो विष्णुके परमपद (ब्रह्मांड) में प्राप्त करती है ॥ १ ॥

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुंडली ॥ २ ॥

इडा भगवती वामश्वासा नाडी ऐश्वर्यादिसंपन्न गंगा, दक्षिणश्वासा पिंगलानाम्नी यमुना है इनके मध्य नाडी सुषुम्णा बालरंडा है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं वितास्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ।
श्वेतं तु मृदुलं प्रोक्तं वेष्टितं वरलक्षणम् ॥ ३ ॥

मूलस्थानसे वितास्तिमात्र ऊपर नाभि एवं मेढ्रकेमध्यमें नवांगुल

विस्तार, चार अंगुल आयाम, पक्षीके अंडाकार, श्वेतरंग कोमलवस्त्रवेष्टित जैसा कंद है ॥ ३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ४ ॥

वज्रासनकरके हाथोंमे पैरोंकी एडी पकड कंदस्थानमें दृढ लगाय पीडन करे ॥ ४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ ५ ॥

योगी वज्रासनमें बैठ कुंडलीको शक्तिचालनमुद्रासे चलायमान करे तब भस्त्रा नाम कुंभक कर कुंडलिनीशक्तिको शीघ्र प्रबोधित करे ॥ ५ ॥

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ६ ॥

नाभिस्थान (सूर्य) को आकुंचन कर कुंडलीको चलावे इसका अभ्यास सिद्ध हो जाय तो मृत्युके मुखमें पड गया हो तौभी उसकी मृत्यु न होवे ॥ ६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णायां समुद्गता ॥ ७ ॥

चार घडीपर्यन्त निर्भय होकर शक्तिचालन करे तो कुंडलिनी कछुक सुषुम्णामें ऊपरको उठती है ॥ ७ ॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः॥८॥

इससे कुंडलिनी (जो सुषुम्णा रोक बैठी है) सुषुम्णाके द्वारको छोड देती है तब प्राणवायु आपही सुषुम्णामें प्रवेश करती है ॥८॥

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम्।
तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ९ ॥

इसके नित्यप्रति सुषुम्णाद्वारमें सोती कुंडलिनीको चलावे तो योगी सर्व रोगोंसे छूट जावे ॥ ९

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १० ॥

जिस योगीने शक्तिचालन किया वह अणिमादि सिद्धियोंका पात्र होता है और विशेष माहात्म्य क्या कहा जाय वह काल (मृत्यु) को सहजही जीत लेता है ॥ १० ॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः।
एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ ११ ॥

जो यमी नित्य कुंडलीको चलायके भस्त्राकुंभकका अभ्यास विशेषकरके करता है तो उसे यमका भय नहीं होता ॥ ११ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम्।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२ ॥

योगियोंके दृढाभ्याससे आसन प्राणायाम महामुद्रादि करके मध्यनाडी (सुषुम्णा) सरल हो जाती है ॥ १२ ॥

अथ महामुद्राः।

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलंधरम्।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः ॥ ५७ ॥

महामुद्रा १ खेचरीमुद्रा २ उड्डीयानबंध ३ जालंधर ४ मूलबंध ५ इनको करके शक्तिचालन करे तो योगी मुक्तिभाजन होता है शक्ति चली वा नहीं इसके जाननेका प्रमाण यह है कि जैसे शरीरमें पिपीलिका (चींटी) चलनेमें उसकी गतिसे ज्ञात होता है कि कुछ जीव चलता है ऐसेही सुषुम्णामें वायु जब चलने लगता है तो शक्ति

चलायमान हो गई जानना. शक्तिचालनमुद्राके पीछे भी उक्त ५ मुद्रा करनी योग्य है ॥ ५७ ॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा ।
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ॥
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचयेदेषा ।
व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥५८॥

महामुद्राकी विधि कहते हैं कि हृदयमें चिबुक जोरसे धारण करके वामपादकी एडीसे योनिस्थानको अत्यन्त दृढ करके अचेते दहिना पाद लंबा करके दोनों हाथोंसे पादमध्यभाग पकडके दृढ रोके तब पेटमें पूरक विधिसे वायु भरे कुछ काल यथाशक्ति कुंभक करके मन्द मन्द वायुको रेचन करे यह योगी जनको समस्त रोगनाशक महामुद्रा कही है ॥ ५८ ॥

चन्द्रांगेन समभ्यस्य सूर्यांगेनाभ्यसेत्पुनः ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥५९॥

इस महामुद्राके अभ्यासमें प्रथम वामांगसे अभ्यास करके पीछे दहिने अंगसे करे तैसेही प्राणायामभी करता रहे. जब दोनों ओरके अभ्याससे प्राणायामकी मात्रा बराबर हो जाय तब मुद्रा छोडनी तबतक उक्त अभ्यास करते रहना ॥ ५९ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ६० ॥
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ॥ ६१ ॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ६२ ॥

जब महामुद्राका अभ्यास दृढ हो जाय तो, पथ्यापथ्यका विचार कुछ नहीं रहता, मिष्ट, लवण, तिक्त आदियोंका स्वाद कुछ नहीं रहता जो (घृत, सहद बराबर मिलायके कृत्रिमविष होता है) संयोगविरुद्ध वस्तु वा घोरविषभी खावे तो अमृतके समान पच जाता है तथा उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण क्षय, कुष्ठ आदि रोग समस्त शांत हो जाते है. इसके अभ्यासीको महासिद्धि देनेहारी यह महामुद्रा कही है इसे बडे यत्नसे गुप्त रखना. प्रकाश करनेसे सामर्थ्यहीन होती है इस हेतु अनधिकारी, अयोग्य पुरुष, शठ, दांभिक आदि जैसे कैसेको न देना ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

'इसका विस्तार ग्रंथांतरसे पाठकोंके सुबोधार्थ लिखते हैं'—

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १ ॥

वामपादकी एडीसे गुदा और शिश्नके मध्यमें योनिस्थानको रोकके दाहिना पैर लंबा पृथ्वीमें फैलाय जैसे एडी भूमिमें रहे और अंगुली ऊंची डंडके नाई रहे, तब हाथोंके अंगुष्ठ और तर्जनीसे दाक्षिणपादागुष्ठ पकडके धारण करे ॥ १ ॥

कंठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दंडाहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ २ ॥

तदनंतर कंठमें जालंधरबंध करके वायुके ऊपर सुषुम्णामें धारण करे इससे मूलबंधभी हो जाता है जहां योनिस्थानको पीडन और जिह्वाबंध करके मूलबंध हो जाता है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ ३ ॥

जैसे सर्प दंडके प्रहारसे दंडाकार हो जाता है ऐसेही कुंडलिनी शक्तिभी कुटिलताको छोडकर इस मुद्रासे सरल हो जाती है और कुंडलिनी बोधसे सुषुम्णामें वायुका प्रवेश होता है तब दोनोंको

प्राणके वियोगसे इडा पिंगला है आश्रय जिसके, ऐसी मरणावस्था होती है ॥ ३ ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ ४ ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषः क्षीयन्ते मरणादयः ॥ ५ ॥

तदनंतर शनैः शनैः रेचन करे वेगसे करनेमें बलहानि होती है इससे महामुद्रा आदिनाथादि महासिद्धोंने दिखाई हैं. इसके अभ्यासमे महाक्लेश, अविद्या, राग, द्वेषादिक शोकमोहादि दोष क्षीण होते हैं तथा जरा मरणभी नहीं होते इससे ज्ञानिजन इसे महामुद्रा कहते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

चन्द्रांगे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६ ॥

इसका क्रम कहते हैं कि (चंद्रांग) वामभागमें अभ्यास कर सूर्यांग (दक्षिणभाग) में अभ्यास करे और वामांगाभ्यासके पीछे जबलों वामांगमें कुंभककी संख्या समान हो तबलों अभ्यास करे जब संख्या समान हो तब महामुद्रा विसर्जन करे इसमें यह क्रम है कि वामपादकी एडीका योनिस्थानमें लगाय दाहिना पाद लंबा फैलाय अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ तर्जनीसे पकडके अभ्यास करे यह वामांगाभ्यास है इससे पूरित जो वायु सो वामांगमें स्थित रहता है फिर दक्षिणपादको समेट तिसकी एडी योनिमें लगाय वामपाद लंबा फैलाय अंगुष्ठको हाथके अंगु तर्जनीसे पकडके अभ्यास करे इसे दक्षिणांगाभ्यास कहते हैं इससे पूरित वायु दक्षिणांगहीमें रहता है ॥ ६ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ७ ॥

कहते हैं कि महामुद्राके अभ्यासको पथ्यापथ्यविचार नहीं है. कटु अम्लादि समस्त रसादिक जो खाय वही पच जावे, नीरस, बासी (पर्युषित) सब पचे, तथा दुर्जर घोर विष आदिभी अमृतके नाई पच जावे ॥ ७ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥८॥

जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करे उसे क्षयरोग, कुष्ठ, गुल्मरोग, अजीर्ण, ज्वर, प्रमेह, उदररोग आदि कभी न होवे ॥ ८ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ९ ॥

और उस अभ्यासीको अणिमादि महासिद्धि देनेहारी यह महामुद्रा कही है इसे गुप्त रखना अर्थात् अनधिकारीको न देना ॥ ९ ॥

अथ खेचरीमुद्रा ।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी ॥ ६३ ॥

खेचरीमुद्राकी विधि कहते हैं कि, जिह्वाको उलटी फिराय... कंठमूलमें जो छिद्र (छिगलिग्या) याने क्षुद्रघंटिका है उसमें प्रवेश कराना तदनंतर भ्रूमध्यमें निश्चल दृष्टि स्थिर करना इसे खेचरीमुद्रा कहते हैं ॥ ६३ ॥

न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न मूर्च्छा तु भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥६४॥

जो योगी गुरूपदिष्ट मार्गकरके छेदन, दोहन, कर्षण (ये कर्म आगे कहेंगे) प्रकारसे खेचरीमुद्राको बहुतकालपर्यंत अभ्यास करता है उसके रोग, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्च्छा और मरणतुल्य कष्ट दूर होते हैं ॥ ६४ ॥

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्येत कर्मणा ।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥६५

जो योगी खेचरीमुद्रा जानके उसे अभ्यास करके सिद्धि करता है वह शोकसे पीडित नहीं होता कर्मके फलमें बंधन नहीं पाता और काल मृत्यु आदियोंसेभी बाधा नहीं पाता ॥ ६५ ॥

चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी ।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ॥ ६६ ॥

जिस कारण तहां परब्रह्मविषे एकाग्र होकर मन बुद्धि चित्तशून्य विषें फिरता है तथा जिह्वाभी कंठमूल छिद्राकाशमें रहके ब्रह्मरंध्रांतर्गत चंद्रकलामृतका पान करती है इस हेतुसे मनबुद्धिके विषयबंधन निवारण करनेहारी खेचरी मुद्रा समस्त सिद्धजनोंसे अत्यंत पूजित (नमस्य) है ॥ ६६ ॥

बिन्दुमूल शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम् ॥ ६७ ॥

शरीरका मूल (कारण) बिंदु है इससे शरीरकी रक्षा है, पादसे शिरपर्यंत समस्त नाडीजाल बिंदुसे सेचन हो रहा है इसी हेतु उक्त-नाडी सजीव स्वकर्मसामर्थ्य रहती हैं अर्थात् समस्त नाडी बिंदुके आधारमें हैं ॥ ६७ ॥

खेचर्या मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥६८॥

जिस योगीने कंठनालके छिद्रलंबिकाके ऊपर आकाशविषें खेचरी-मुद्रासे रोक लिया तो चंद्रामृत रुकनेसे उस योगीको कामिनी (स्त्री) आलिंगन करे तौभी उसका मन चलायमान नहीं होता तथा बिंदु नहीं गिरता है ॥ ६८ ॥

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्योर्भयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ ६९ ॥

जबलौं देहमें बिंदु स्थिर है तावत् मृत्युकी भय नहीं होती बिंदुका स्थान व्योमचक्र है इससे कालकी गति नहीं है. जबलौं खेचरीमुद्रा दृढ है तबलौं बिंदु व्योमचक्रसे नहीं गिरता. इसके स्वस्थानस्थ रहनेमें कालका वश नहीं चलता ॥ ६९ ॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृते शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥७०॥

कदाचित् एकाग्र न होनेसे बिंदु उतरके नाभिस्थान सूर्यमंडलमें पहुँच गया तो योनिमुद्राकरके कुंडलिनीशक्तिको ऊपर उठायके उसके आघातसे उक्त बिंदु पुनः ऊपर लौटके अपनेही स्थानमें प्राप्त होकर स्थिर रहता है ॥ ७० ॥

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरः शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः ॥ ७१ ॥

उक्त बिंदु दो प्रकारका होता है एक तो पांडुरवर्ण जिसे शुक्र कहते हैं दूसरा (लोहित) रक्तवर्ण इसे महारज कहते हैं ॥ ७१ ॥

सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः ।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥७२

तैल मिलायके सिंदूर (हिंगुल) का द्रव (रस) के समान रज सूर्यस्थान नाभिमंडलमें रहता है तथा बिंदु (वीर्य) चंद्रमाके स्थान कंठदेश षोडशारचक्रमें स्थिर रहता है इन दोनोंका ऐक्य अंत्यत दुर्लभ है ॥ ७२ ॥

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः ।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ७३ ॥

बिंदु शिव रज शक्ति है, इनके एक होनेमें योगसिद्धि होकर परमपद मिलता है. चंद्रमा सूर्यका (प्राणवायु अपानवायुका जीवात्मा परमात्माका) ऐक्य करना यही हठयोगपदका अर्थ है ॥ ७३ ॥

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः ।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्ततः ॥ ७४ ॥

शक्तिचालनविधिसे वायुकरके जब रज बिंदुके साथ ऐक्यको प्राप्त होता है तब शरीर दिव्य हो जाता है अर्थात् उसे अग्नि जलाती नहीं, शस्त्रसे कटता नहीं ॥ ७४ ॥

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम् ।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥७५॥

शुक्र बिंदुरूप हो चंद्रमासे मिला और रज रक्तरूप होकर सूर्यमें मिला इनके समरसैकत्व (चंद्रसूर्यस्वरूप बिंदुरजके समरसत्वभाव) को जो योगी जानता है वह योगवित् कहाता है, चंद्रमा एवं सूर्यके योगको योग कहते हैं ॥ ७५ ॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥ ७६ ॥

नाडीजालके शोधनसे; नाडीमें रहनेवाले वात-पित्त-कफादि रोगोंका हरण होता है. चंद्रसूर्यके चालनसे इनके एकत्र होनेमें खाया अन्न, पिया जल इनका शोषण होता है ऐसा महामुद्राका फल है अर्थात् इस मुद्राकरके नाडीजालको शोधन चंद्रसूर्यका चालन रसोंका शोषण होता है ॥ ७६ ॥

ग्रन्थांतरे खेचरीमुद्राविधिः ।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
यावद्भ्रूमध्यं तु स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ १ ॥

जिह्वा खेचरीयोग्य करनेकी विधि ग्रन्थांतरसे कहते हैं कि छेदन-चालन-दोहनकर्मसे जिह्वा बढती है, छेदन आगे कहेंगे, चालन यह है कि अंगुष्ठ और तर्जनीसे जिह्वाको हिलाते रहना, दोहन दोनों हाथोंके अंगुष्ठ तर्जनीसे जैसे गौके थनको दुहे ऐसे खींचखींचके

जिह्वाको लंबी करे जबतक बाहर निकलकर भ्रुकुटीको स्पर्श न करे तबतक यह विधि करता रहे ॥ १ ॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २ ॥

छेदन कहते हैं कि थूहरके पत्रके समान अति तीक्ष्ण, सचिक्कण निर्मल शस्त्रसे जिह्वाके नीचेकी नसको रोममात्र छेदन करे ॥ २ ॥

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३ ॥

तिसके पीछे सेंधानमक और हरडका चूर्ण छेदित स्थानपर मले, परंतु योगीको लवणनिषेध है इसलिये लवणके स्थान खदिर (कत्था) से कार्य करना योग्य है. ऐसे सायंप्रातः सात दिन करके फिर पूर्वोक्त विधिसे रोममात्र काटे पुनः उक्त औषधी लगाता रहे ॥ ३ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिरा बन्धः प्रणश्यति ॥ ४ ॥

ऐसे छः महीनेपर्यंत नित्य युक्तिसे करे तो जिह्वामूलकी नाडी जो जिह्वाको कपालकुहरमें पहुँचानेसे रोकती है वह सुखपूर्वक कट जाती है ॥ ४ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ५ ॥

जिह्वाको तिर्छी करके तीनों नाडियोंका मार्ग जो कपालछिद्र उसमें योजित करे यह खेचरीमुद्रा है इसीको व्योमचक्रभी कहते हैं ॥ ५ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ६ ॥

तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाप्रवेश करके एक घडीमात्र खेचरी मुद्रा स्थिर रहे तो योगीको सर्प बिच्छू आदियोंका विष न लगे और

बुढापा, रोग, मृत्युको जीते, वलीपलित (जो बुढापेमें चर्म ढीला होकर सलवटें पडती हैं) न होवें ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ७ ॥

तालुके ऊपर छिद्रके सन्मुख जिह्वा लगाय स्थिर करके भ्रूमध्य-गत चंद्रमासे निकले अमृतका पान जो योगी करे वह १ पक्ष (१५ दिन) में मृत्युको निःसंदेह जीत लेता है यह निश्चय है ॥ ७ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ८ ॥

और जिस योगीका शरीर नित्य उक्त चंद्रामृतकरके पूर्ण हो जाय तो तक्षकनागभी उसे डसे तौभी विष न लगे, दुःख न होवे ॥ ८ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ९ ॥

जैसे अग्नि काष्ठको एवं दीपक तैलसहित बत्तीको नहीं छोडता तैसेही चंद्रामृतपूरित देहको जीव कदापि नहीं छोडता ॥ ९ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ १० ॥

आचार्य कहते हैं कि जो योगी नित्य गोमांसभक्षण एवं अमर-वारुणी पान करे तो उसे हम उत्तमकुलमें उत्पन्न समझते हैं अन्यथा कुयोगी, कुलनाशक हैं सत्कुलमें उत्पन्न हुएभी तो उनका जन्म व्यर्थ है ॥ १० ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ११ ॥

इस गोमांसशब्दका अर्थ कहते हैं कि गोशब्द यहां जिह्वाका बोधक है जिह्वाको कपालछिद्रमें प्रवेश करनेको गोमांसभक्षण कहते हैं, यह महापातकोंका नाश करता है ॥ ११ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥१२॥

अमरवारुणीका अर्थ यह है कि तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाका प्रवेश उष्मा (गर्मी) से भ्रुकुटिके भीतर वामभागस्थित चंद्रामृत द्रवित होकर जिह्वाग्रमें प्राप्त होता है इसे अमरवारुणीपान कहते हैं ॥१२॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा सरस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् १३॥

जब पूर्वोक्तकर्मोंसे जिह्वा बढायके उक्त विधिसे चंद्रामृत पान करने लगती है तो मुखमें लवणसहित मरिचादि, चिंचाफलादि. दूध, मधु, घृतके आदि स्वाद आपसे ज्ञात होते हैं तब योगीके रोग तथा वृद्धावस्थाका नाश होता है शस्त्र (जो अपनेको काटने आया) का निवारण होता है आठों सिद्धि मिलती है देहभाव मिलता है सिद्धांगनाओंके आकर्षणकी सामर्थ्य होती है ॥ १३ ॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वा-
स्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति १४

जिह्वाको कपालछिद्रमें लगाय मुख विपरीतकरणीके तरह ऊंचा कर कुंडलिनीके ध्यानसहित प्राणायामसे भ्रुकुटीमध्य द्विदलकमलके नीचे कंठस्थ षोडशदलकमलमें हृदययोगसे प्राप्त जो निर्मलधारामय तरंगसहित चंद्रामृतरस है इसे योगी पान करे उसको ज्वरादिरोग न होते तथा कमलके गाभेकासा कोमल शरीर होकर बहुतकालपर्यंत जीवे ॥ १४ ॥

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिन्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥१५॥

मेरुपर्वतसदृश सबसे ऊंची सुषुम्णाके उपरिभागमें स्थित चंद्रामृतरूप जल जिसमें स्थित है ऐसे छिद्रमें सत्त्वगुणात्मा बुद्धि करके आत्मतत्त्व है और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदासंज्ञक इडा, पिंगला, सुषुम्णा, गांधारी आदि नाडियोंका उक्तविवरमें मुख है इनके द्वारा चन्द्रमंडलगत अमृत व्यर्थ चले जानेसे शरीर जरा मृत्युको प्राप्त होता इसलिये प्रथम कह आये हैं कि सुकरण नाम खेचरीमुद्रा करके चंद्रामृत व्यर्थ स्रवित नहीं होनेसे मृत्यु नहीं होती. इस मुद्राके विना देहकी सिद्धि, लावण्य, बल, वज्रसमान दृढ शरीर नहीं होते ॥ १५ ॥

सुषिरज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने ॥ १६ ॥

इडा १ पिंगला २ सुषुम्णा ३ गांधारी ४ हस्तिजिह्वा ५ इनका प्रवाह ऊपरको है सो इनके प्रवाहसंयुक्त आत्माको साक्षात् प्रकट रहनेवाला विवर है सो अविद्या एवं अविद्याके कार्य शोक, मोहादि दूर होते हैं जिसमें ऐसे विवरमें खेचरी मुद्रा स्थित होती है ॥ १६ ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥ १७ ॥

समस्त बीजोंमें मुख्य सृष्टिरूप एक प्रमाण वह है समस्तदेवताओंमें भगवान् मुख्य है तैसेही समस्त मुद्राओंमें खेचरी मुख्य है ॥ १७ ॥

उड्यानं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगम् ।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ७७ ॥

जिस कारण उड्डीयानबंधसे रुका प्राणवायु कहींभी विश्राम न करके उडके जैसा सुषुम्णामे गति करता है उसी कारण तहां मृत्युरूपी गजके ऊपर सिंह जैसा यही बंध कहाता है ॥ ७७ ॥

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते ।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो निगद्यते ॥ ७८ ॥

उड्डीयानबंधका स्थान कहते हैं, कि उदरमे पश्चिम और नाभीसे नीचे इस बंधका स्थान योगी कहते हैं इसलिये यह बंध उसी स्थानमें करना योग्य है ॥ ७८ ॥

ग्रन्थान्तरे ।

उदरे पश्चिमं स्थानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ॥ १ ॥

नाभीका ऊपरला तथा नीचला भाग उदरमें लग जाय ऐसे पेटको पीछे खींचे इसे उड्डीयानबंध कहते हैं. मृत्युरूपी गजको निवृत्त करनेके लिये सिंह समान है ॥ १ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ २ ॥

हितोपदेशकर्त्ता गुरुकरके सहज स्वभाव कहा गया ऐसे इस बंधको निरंतर अभ्यास करे तो वृद्धभी तरुण हो जावे ॥ २ ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि स्थानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ३ ॥

नाभी ऊर्ध्वाध भागोंको खींचकर पीठमें लगावे, ऐसे इस बंधको छः महीनेपर्यंत निरंतर अभ्यास करे तो निस्संदेह मृत्युको जीते ॥ ३ ॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ४ ॥

संपूर्ण बंधोंमें उड्डीयानबंध उत्तम है यह दृढ हो जाय तो स्वभावसिद्ध मुक्ति होती है • इसके करनेसे पक्षियोंकेसी गतिकरके सुषुम्णाद्वारा प्राण मस्तिष्कमें ले जानेसे समाधिमें मोक्ष होता है यही स्वाभाविक मुक्ति है ॥ ४ ॥

बध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बन्धो कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७९ ॥

जालंधरबंध कहते हैं कि यह बंध कंठस्थानमें होता है अनेक रोगोंको हरता है शरीरस्थ नाडीजालका बंधन करता है व्योमचक्रस्थ चंद्रकलामृतको कपाल कुहरसे नीचे नहीं गिरने देता इस कारण वह जालंधर बंध कहा है ॥ ७९ ॥

जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ८० ॥

कंठका संकोचन करके प्राणवायुकी गतिको रोकना जालंधर बंध है इससे चंद्रकलामृत गिरके सूर्यरूप अग्निमें नहीं पडता एवं वायु कदाचित् विरुद्ध नहीं होता ॥ ८० ॥

ग्रन्थान्तरे ।

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ १ ॥

ग्रंथांतरसे जालंधरबंध कहते हैं कि कंठ नीचे नवाय हृदयके चार अंगुल अंतर ठोढी लगाय दृढ स्थापन करे यह जालंधरबंध वृद्धावस्था तथा मृत्युनाशक है ॥ १ ॥

कण्ठसंकोचनेव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥ २ ॥

दृढ संकोचनमात्र करके इडा पिंगला दोनहूं नाडी स्तंभित होती हैं कंठस्थानमें जो विशुद्धनामा चक्र है वह अंगुष्ठादि ब्रह्मरं-

प्रांत षोडश आधारोंका मध्यम चक्र है इन १६ आधारोंका वर्णन पूर्व १३ श्लोकके टीकामें कर आये हैं ॥ २ ॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ।
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ३ ॥

नाभिको पश्चिमतानरूप उड्डीयानबंध करे और कंठ नमाय जालंधरबंधसे इडा पिंगला नाडियोंको स्तंभन करे तदनंतर पश्चिममार्ग सुषुम्णामें प्राणवायुको प्राप्त करे ॥ ३ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ४ ॥

इस विधिसे वायुकी गति बंद होकर प्राणवायु स्थिर होकर ब्रह्मरंध्रमें स्थित रहता है, इसे प्राणलय कहते हैं इससे मृत्यु जरा, रोग, देहकी त्रिवली, श्वेतरोगता, मूर्छा, आलस्यादिक नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ५ ॥

मूलबंध १ उड्डीयानबंध २ जालंधरबंध ३ ये श्रेष्ठ हैं मत्स्येंद्रादि महासिद्ध वसिष्ठादिमुनि इन्हें सेवन करते हैं, हठके उपायोंके सिद्धिको प्रगट करते हैं इससे गोरक्षादि सिद्ध इन्हें जानते हैं ॥ ५ ॥

यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ६ ॥

तालुके मूलमें स्थित दिव्यरूप चंद्रमासे जो कुछ अमृत स्रवित होता है उसे नाभिस्थित अग्निरूप सूर्य ग्रास कर लेता है तब देहको वृद्धावस्था होती है ॥ ६ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७ ॥

इस प्रकरणमें उक्तसूर्यके मुखवंचना अर्थात् जिससे उक्त अमृत सूर्यके मुखमें न पडे यह युक्ति कही है तथा विपरीतकरणी मुद्राभी (जो आगे कहेंगे) इसके उपयोगी है ये सर्व गुरुमुखसे जाने जाते हैं विना गुरु कोटिसंख्याक शास्त्रके अर्थसेंभी न जाने जाते हैं ॥ ७ ॥

पार्ष्णिभागेन संपीडच योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधो विधीयते ॥ ८१ ॥

अपानवायु ऊपर खींचके प्राणवायुसे योजित करना, पादकी एडीसे गुदा, एवं लिंगके मध्य योनिस्थानको दृढ अंचतके गुदद्वारको दृढ संकुचित करना जिससे अपानवायु बाहर न निकले इस प्रकार मूलबंध होता है ॥ ८१ ॥

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ८२ ॥

अपान और प्राणवायुका ऐक्य कर जो निरंतर मूलबंधका अभ्यास करता है उसके मल मूत्र क्षय होते हैं और बूढाभी जवान हो जाता है ॥ ८२ ॥

'गोरक्षसंहितामें दशमुद्राओंमेंसे महामुद्रा १ खेचरी २ उड्डीयान ३ जालंधरबंध ४ मूलबंध ५ कही है अन्य महाबंध १ महावेध २ विपरीतकरणीमुद्रा ३ वज्रोली ४ शक्तिचालन ५ ये पांच इसी शतकमें साधारणप्रकार पूर्वेही कह आये हैं तथापि विशेष प्रकटताके लिये मैं उन्हें ग्रन्थांतरमतसेभी लिखता हूं'—

तत्र प्रथमं महाबन्धः ।

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १ ॥

वामपादकी एडीसे योनिस्थानको रोधके दक्षिणपाद उससे ऊपर स्थापन करे अर्थात् मूलबंध करके ॥ १ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२ ॥

तब जालंधरबंध करके वायुको पूरकर मनको मध्यनाडी सुषुम्णामें प्रवृत्त करे ॥ २ ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥ ३ ॥

यथाशक्ति कुंभक करके मंद २ रेचन करे ऐसेही वामांगमें अभ्यास करे दोनों अंगोंके अभ्यासकी संख्या समान करे ॥ ३ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥ ४ ॥

यह समस्त नाडियोंकी ऊपरकी गतिरोधक महासिद्धिदायक महाबंध है ॥ ४ ॥

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ ५ ॥

मृत्युपाशको काटनेवाला है, इडा, पिंगला, सुषुम्णा तनिोंके संगम (त्रिवेणी) धारण कर मनको (केदार) भ्रुकुटी शिवस्थानमें प्राप्त करे ॥ ५ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ ६ ॥

जैसे कांति, गुण, शोभायुक्त स्त्री पुरुष विना व्यर्थ है ऐसेही महावेध विना महामुद्रा और महाबंध निष्फल हैं इसलिये अब महावेध कहते हैं ॥ ६ ॥

अथ महावेधः ।

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥ १ ॥

एकाग्रबुद्धि करके योगी महावेध इस प्रकार करे कि, नासापुटसे पूरक करके जालंधर बंध कर वायुकी ऊर्ध्वगतिको रोक कुंभक करे ॥ १ ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २ ॥

दोनोंहू हाथोंकी हथेली समान पृथ्वीमें धरके पादकी एडीको योनिस्थानमें दृढ लगाय हाथोंके सहारे पृथ्वीसे कुछेक शरीर उठावे (परंतु जैसे मूलबंध मुद्रा न खुले) फिर मंदमंद पृथ्वीके अपने शरीरासन स्फिचको ताडन करे इससे वायु इडा पिंगलाको उलंघन कर सुषुम्णामें प्राप्त होता है इस मुद्रामें स्वानुभवसे तथा हरिगुरूपदिष्ट मार्गसे कहता हूं कि शरीर पृथ्वीसे उठायकर पृथ्वीमें ताडन करनेमें उक्त मुद्रा दृढ नहीं रह सकती. यदि बलसे रक्खाभी तो मूलबंध बिगड जाता है इससे सुगम तो पद्मासनसे यह कार्य सुखपूर्वक होता है औरभी सुभीता यह है कि हाथोंके जोरसे शरीर उठानेमें मूलबंध सुगमताहीसे होता है ॥ २ ॥

सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ ३ ॥

इस विधिसे सूर्यचंद्रमा अग्न्यात्मका इडा पिंगला सुषुम्णाका संयोग मोक्षके हेतु है ऐसे होनेमें मरा हुआ जैसा मृतावस्था होती है तब नासिकापुटमें मंद २ रेचन करे ॥ ३ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ ४ ॥

इस महावेधके अभ्यास करनेसे अणिमादि अष्टसिद्धि मिलती हैं। वली (बुढापेमें मुखपर सलवटें पडनी) पलित (बाल श्वेत होने) कंप (बुढापेमें शरीर कांपना) ये उक्त अभ्यासीको नहीं होते ॥ ४ ॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ५ ॥

ये महामुद्रा, महाबंध, महावेध गोप्य हैं बुढापे तथा मृत्युको दूर करने हैं जाठराग्निको बढाते हैं अष्टसिद्धि देते हैं ॥ ५ ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यं संभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक्छिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ६ ॥

आठो प्रहरमें ८ ही वार इनका अभ्यास करे ये पुण्यको बढाते हैं पापसमूहको वज्रके समान सुखाते हैं शिक्षावान् पुरुषको इस प्रकार दिन २ प्रहर २ में थोडा २ करके अभ्यास करना योग्य है ॥ ६ ॥

अथ विपरीतकरणमुद्रा ।

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ १ ॥

अब विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं कि, ऊपरको नाभि नीचे तालु-करके नाभिस्थ सूर्य ऊपरको भ्रुकुटिस्थ चंद्रमा नीचेको हो जाता है इसमें चंद्रामृत सूर्यरूप अग्निमें नहीं पडने पाता यह विपरीतकरणी मुद्रा है यहां ग्रंथकर्त्ताने उदाहरण कुछेक लिखकर लिखा गुरुलक्ष्यपर निर्भर छोड दिया. इसलिये मैं (भाषाकार) अपने अनुभव एवं हरिगुरूपदिष्टमार्गसे लिखता हूं कि, दोनोंहू पैरोंसे पद्मासन बांधकर दोनोंहू हाथ और शिर (चोटी) को पृथ्वीमें लगाय, उक्त पद्मासनको ऊपर अंतरिक्षमें खडा करे अभ्यास हुयेमें कभी तो उस पद्मासनको खोल पांव आकाशमें लंबे करे कभी फेर वैसेहीमें पद्मासन करे हाथ और शिरके सहारे उलटा खडा रहे तब यह मुद्रा होगी अभ्यासमें सुगम हो जाती है ॥ १ ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्द्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ २ ॥

जो इस मुद्राका नित्य अभ्यास करता है उसकी जठराग्नि बढती है, उस साधकको आहार बहुत (यथेच्छ) करना चाहिये ॥ २ ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ३ ॥

इस मुद्राका अभ्यासी यदि भोजन अल्प करे तो जठराग्नि प्रज्वलित होकर देहको फूंकती है; अब क्रिया है कि पहिले दिन शिर पृथ्वीमें रखकर पैर ऊपरको क्षणमात्र करे ॥ ३ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥४॥

फिर प्रतिदिन एक एक क्षण बढायके अभ्यासमे साधे तो सिद्धि भयेमें वली पलित छः महीनेमें दूर हो जाते हैं. जो प्रतिदिन एक २ प्रहरपर्यन्त इसको करता है वह कालमृत्युको जीतता है ॥ ४ ॥

अथ वज्रोली ।

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १ ॥

अब वज्रोली मुद्रा कहते हैं कि जो योगोक्त नियम नहीं जानता हुआभी अपनी इच्छासे वज्रोलीको जाने वह आणिमा सिद्धि पाता है ॥ १ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ २ ॥

इस मुद्रामें हरकिसीको दो वस्तु दुर्लभ हैं विशेषतः ये २ अवश्य चाहिये. वज्रोल्यर्थ संगमोत्तर दुग्धपान, एवं वशवर्तिनी स्त्री ये दो उपयोगी हैं ॥ २ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वं कुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीं सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥

संगम करके मंद मंद क्षरितवीर्यको इंद्रियसंकोचनकरके ऊपर खैं-चनेके अभ्यास सिद्ध हुएमें वज्रोली मुद्राकी सिद्धि प्राप्त होती है ॥३॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ४ ॥

इसकी पूर्वांगक्रिया कहे हैं कि चांदी वा कांचकी १४ अंगुल खोखरी शलाका सच्छिद्र करे जो १२ अंगुल सरल २ अंगुल तिरछी रहे उसे लिंगछिद्रमें प्रतिदिन २ । २ अंगुल प्रवेश कर एक किनारेसे फूंककर वायु प्रवेश करते २ बारह दिनमें २४ (?) अंगुल प्रवेश करे इससे इंद्रियमार्ग शुद्ध होता है तब इस मार्गसे जलके आकर्षणका अभ्यास करे अभ्यास सिद्ध हुएमें वीर्यका आकर्षण करे तो सिद्ध होती है. जिसको खेचरी एवं प्राणजय सिद्ध हो उसको वज्रोली सिद्धि होती है ॥ ४ ॥

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ५ ॥

स्त्रीसंयोगमें जब बिंदु (वीर्य) शरीरसे चलायमान होतेभी उसे उक्ताभ्याससे ऊपरको खींच लेवे अथवा जब भगमें गिर पडे तब स्त्रीके रजसहित बिंदुको आकर्षण कर ऊपरको चढायकर स्थापन करे ॥ ५ ॥

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ६ ॥

इस प्रकार जो बिंदुकी रक्षा करता है सो योगी मृत्युको जीतता है बिंदुके पतनसे मृत्यु, उसकी रक्षासे अमरत्व होते हैं इसलिये इस विधिसे बिंदुको स्थापन करे ॥ ६ ॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ७ ॥

उक्त अभ्यासीके शरीरमें बिंदुधारणसे सुगंधि प्रकट होती है और जबलों देहमें बिंदु स्थित है तबलों कालभय नहीं होता ॥ ७ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ८ ॥

वीर्य चित्तके अधीन है. चित्तके चलायमान होनेसे वीर्य चलायमान और स्थिरतासे स्थिर होता है एवं शुक्रके अधीन जीवित है इससे स्थिरतासे जीवित स्थिर और चलायमान होनेसे मरण होता है, इसलिये शुक्र और मनकी रक्षा करनी मुख्य है ॥ ८ ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९ ॥

ऐसेही रजोवती स्त्रीके रजको बिंदुसहित आकर्षण करके ऊपरको खांचके स्थापन करे ऐसे वज्रोलीका अभ्यास करनेवाला योगवेत्ता होता है ॥ ९ ॥

'एक प्रकारके भेद वज्रोलीके सहजोली, अमरोलीभी हैं अतः प्रथम सहजोली कहते हैं—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ १ ॥

जो वज्रोलीके फल वही सहजोली अमरोलीकेभी हैं इसलिये येभी उसीके भेद हैं, गोबरके (कंडे) गोपट्टे जलायके भस्म जलमें मिलावे १॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसो स्वांगलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ २ ॥

वज्रोली अर्थ मैथुन करके क्षणमात्र सुखसे बैठके व्यवाय व्यापार छोडके उक्त भस्म जलमें मिलाय स्त्रीपुरुष अपने २ सर्वांग लेपन करे ॥ २ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ३ ॥

यह मत्स्येंद्रादि योगीश्वरोंने सहजोली कही है यह योग शुभकारक है अन्यत्र साधनाओंमें जहां भोग तहां मोक्ष नहीं जहां मोक्ष तहां भोग नहीं इस मुद्राके अभ्यासमें भोगसहित मोक्ष भी है ॥ ३ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां सिद्ध्येत नतु मत्सरशालिनाम् ॥ ४ ॥

जो योगी पुण्यवान, धैर्यवान्, तत्त्वदर्शी और निर्मत्सरी है उनको सिद्ध होता है जो मत्सरी (अन्यशुभद्वेषी) है उनको सफल नहीं होता ॥ ४ ॥

' अब दूसरा भेद व अमरोली कहते हैं '—

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतया-न्त्यधाराम् । निषेव्यते शीतलमध्यधारां कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥ १ ॥

शिवांबुक प्रथमधारा पित्तके उष्णतासे तथा अंत्यधारा निःसारतासे त्यागकर निर्विकार मध्यधाराको ग्रहण कर सेवन करते हैं यह योगाभिमत कापालिकी क्रिया है इसे अमरोली कहते हैं. यद्वा (कापालिक) कनफटे जोगियोंका (जिसे खंडमत कहते हैं) यह कर्म विशेषतः इष्ट है ॥ १ ॥

अमरीयं पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ २ ॥

जो पुरुष अमरवारुणी (जो खेचरीप्रकरणमें कही है) का पान करते हैं एवं नासभी अमरवारुणीका लेते हैं तथा प्रतिदिन वज्रोलीका अभ्यास करें सोही कापालिकी अमरोली कही है ॥ २ ॥

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ३ ॥

अमरोलीके अभ्याससे निःसृत चंद्रसुधाको पूर्वोक्त भस्ममें मिलायके उत्तमअंग मस्तक, नेत्र, स्कंध, हृदय, भुजादिमें धारण करे तो भूत, भविष्य, वर्त्तमान देखने योग्य दिव्यदृष्टि हो जाती है ॥ ३ ॥

अथ स्त्रीणां वज्रोली ।

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ १ ॥

अब स्त्रियोंको वज्रोलीसाधन कहते हैं कि, जो स्त्री अभ्यासकी चतुराईसे पुरुषके बिंदुको खींचके अपने रजकी वज्रोलीमुद्रा करके रक्षा करे वहभी योगिनी कहाती है ॥ १ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुता येन गच्छति ॥ २ ॥

उसके रजका नाश (पतन) निस्संदेह अल्पभी नहीं होता तथा शरीरमें नादभी उत्पन्न होता है चंद्ररूप बिंदु सूर्यरूप रजके बाहर संयोगसे सृष्टि (गर्भ) होती है जब अभ्याससे भीतरही योग होय तो योगसिद्धि होती है परमपद मिलता है इनके संयोगमें समस्त देवता स्थिर रहते हैं ॥ २ ॥

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ ३ ॥

रज, बिंदु वज्रोलीके अभ्याससे देहमें प्राप्त, होनेपर सर्व सिद्धि देते हैं ॥ ३ ॥

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेत् ध्रुवम् ॥ ४ ॥

जो स्त्री भगको आकुंचन करते करते रजको ऊपर शरीरमें चढाय रक्षा करे वह योगिनी होती है. भूत, भविष्य, वर्तमान जाने अंतरिक्षमें बीच रहनेहारी वैमानिकगति मिलती है ॥ ४ ॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥ ९ ॥

वज्रोलीके अभ्यासयोगसे (देहसिद्धि) रूप, लावण्य, बल, वज्रसंहननभाव मिलते हैं. यह योग पुण्य देनेवाला तथा विषयभोग भोगनेमभी मुक्ति देता है ॥ ९ ॥

' इनमं दश शक्तिचालनमुद्रा प्रथम अजपा गायत्रीके उपरांत कह आये हैं अब इन १० का माहात्म्य कहते हैं '—

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ १ ॥

ये दश (१०) मुद्रा आदिनाथ शिवने कही हैं इनमें एक एक मुद्रा योगीको अणिमादि देनेहारी है ॥ १ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुस्स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ २ ॥

जो योगियोंको (सांप्रदायिक) गुरुपरंपराप्राप्त इन मुद्राओंका उपदेश देवे वही सर्व गुरुसे श्रेष्ठ, स्वामी, साक्षात् ईश्वर है ॥ २ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्द्धं लभते कालवञ्चनम् ॥ ३ ॥

इनके उपदेशकर्त्ता गुरुके आसन, कुंभक, आहार, विहार, चेष्टादि वाक्योंमें आदरपूर्वक ग्रहण कर तत्पर रहे तो अणिमादि सिद्धियोंको जीतकर कालमृत्युको जीते ॥ ३ ॥

अथ प्रणवाभ्यासः ।

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥ ८३ ॥

अब प्रणवके अभ्यासकी विधि कहते हैं कि एकांत स्थलमें बैठकर दृढ पद्मासन बांधके शरीर कंठ शिर सम (सरल) करके नासाग्रदृष्टि निरंतर करके प्रणवजप करे ॥ ८३ ॥

The Sadhak, who wants to achieve success in the yoga without controlling the the prana breaths or without practising the pranayam Sadhana his condition is like that of a person, who wants to cross the ocean with the help of a raw earthen pitcher, as a consequence where of he loses his life.

78. यस्य प्राणो विलीनोऽथ साधके जीविते सति।
पिण्डं न पतितं तस्य चित्तदोषैः प्रमुच्यते।।[1]

प्राणायाम साधना द्वारा जिसके प्राण जीवन काल में ही विलीन हो जाते हैं, अर्थात् वश में हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में जिसे केवल कुम्भक की सिद्धि हो जाती है, उस साधक का शरीरपात तो नहीं होता, अर्थात् वह शरीर को धारण किए रहता है, किन्तु उसके चित्त के सभी दोष काम क्रोध आदि दोष मिट जाते हैं।

The prana breaths of the Sadhaka are controlled during his life time with the help of pranayam Sadhana. On attaining kewala Kumbhak Siddhi his body does not fall. Though he maintains his body yet imperfections of his mind like desire, passion etc. are destroyed.

79. शुद्धं चेतसि तस्यैव स्वात्मज्ञानं प्रकाशते।
तस्माद् हानं भवेद् योगाज्जन्मनैकेन पार्वति।।[2]

हे पार्वती! चित्त के समस्त दोष मिट जाने पर योगी के शुद्ध चित्त में स्वात्मज्ञान का परमतत्त्व का प्रकाश सहज ही हो जाता है, और उस आत्मज्ञान के फलस्वरूप उसी जन्म से उसके संसार बन्धन नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् योगी को एक जन्म में ही मुक्ति हो जाती है।

O Parvati, on the destruction of all imperfections of mind, the yogi of a purified mind attains self realisation and self-enlightenment. As a result of self-realisation, all his bondages are destroyed during the same birth and yogi attains moksha during the same life.

80. तस्माद्योगं तमेवादौ साधको नित्यमभ्यसेत्।
मुमुक्षुभिः प्राणजयः कर्त्तव्यो मोक्षहेतवे।।[3]

1. तुलनीय वही, 164 2. तुलनीय वही, 1.65
3. तुलनीय वही, 1.66

हे पार्वती! अत एव साधक को चाहिए कि वह प्राणों पर विजय प्रदान करने वाले उस योग अर्थात् प्राणायाम साधना का ही नित्य अभ्यास करें। और उसे चाहिए कि वह मोक्ष को प्राप्त करने के लिए प्राणों पर विजय अर्थात् केवल कुम्भक की सिद्धि अवश्यमेव प्राप्त करें।

O Parvati, therefore the Sadhak should regularly practise pranayam Sadhana which helps in controlling the prana breaths. He should also determine to control the prana breaths and attain kewala Kumbhak Siddhi to achieve moksha.

81. योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं स्थिरम्।[1]
योगात्परतरं सूक्ष्मं योगात्परतरं नहि।।[2]

हे पार्वती! योग की अपेक्षा अधिक पुण्य फलदायी, योग की अपेक्षा अधिक स्थिर अर्थात् स्थायी आनन्द का देने वाला, योग की अपेक्षा अधिक रहस्य अर्थात् रहस्यमय आत्म ज्ञान को प्रदान करने वाला और योग की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।

81. O Parvati nothing is so fruitful, pleasing, subtle, mysterious, enlightening and lovely as yoga.

देवी उवाच–

Goddess said—

योग की इस अद्‌भुत महिमा के सम्बन्ध स्वयं शंकर के मुख से पूर्वोक्त विवरण सुनकर पार्वती पुनः योग के सम्बन्ध में ही प्रश्न करती हैं–

On hearing such wonderful qualities of yoga from the mouth of Sankra, Parvati asks further.

82. योगः कः उच्यते देव योगाभ्यासोऽपि कीदृशः।
योगेन वा भवेत्किञ्च तत्सर्वं वद शंकरः।।

हे आदि देव शंकर! कृपया इस तथ्य का उपदेश कीजिए कि योग किसे कहते हैं? योग का अभ्यास किस प्रकार किया जाता है; और योग के अभ्यास से क्या-क्या लाभ होता हैं? कृपया इन प्रश्न पर विस्तार से प्रकाश डालिए।

1. योगात्परतरं स्थितम् क. 2. तुलनीय यो.शि. 167

Scanned by CamScanner

O first god Sankara, please enlighten about this fact as to what is the definition of yoga. How is the yoga practised and what benefits are accrued from practice of yoga. Please enlighten on this question in detail.

ईश्वर उवाच–

God said,

पार्वती के उपर्युक्त तीनों प्रश्नों का उत्तर देते हुए शंकर कहते हैं–

Replying to three question put in by Parvati Sankra Says—

83. योऽपानप्राणयोर्योगः स्व–रजोरेतसोस्तथा।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।।[1]

84. एवं तद् द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते।।[2]

हे पार्वती! प्राण और अपान का, अपने रजम् और वीर्य का, सूर्य नाड़ी और चन्द्र नाड़ी से प्रवाहित होने वाले प्राण वायु का, जीवात्मा और परमात्मा का और इसी प्रकार विविध द्वन्द्वों का योग करना मिलनकरा देना योग कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि योग पर अर्थात् द्वैत का नाश करके अद्वैत स्थिति पर पहुँचना, इस क्रम में प्रथम स्थूल द्वैत प्राण और अपान के द्वैत को समाप्त करके क्रमशः सूक्ष्म सूक्ष्मतर द्वैत का नाश करके जीवात्मा और परमात्मा में अद्वैत की स्थापना की जाती है, अर्थात् इन विविध दो–दो पदार्थों का योग स्थापित किया जाता है। अतः इस अद्वैत की सिद्धि को योग कहते हैं।

O Parvati to combine various dualities like prana and apana breaths, rajas and retas (semen), Solar and lunar nadis, jiva (individual soul) and Brahman (universal soul) is called yoga.

Yoga means the destructon of dvait (duality) and reaching the Stage of advait (oneness). In this process, first of all, after the destructin of the gross duality of prana and apana breaths and consequently Subtle dvait (duality) between the jiva and the Brahman is destroyed and the advait (oneness) is established. Attainment of this Advaita, is called yoga.

1. तुलनीय यो.शि. 1.68
2. तुलनीय यो.शि. वही, 1.69

85. अधुना सम्प्रवक्ष्यामि योगाभ्यासस्य लक्षणम्।
मरुज्जयो यस्य सिद्धो सेवयेत्तं गुरुं सदा।।
गुरुवस्त्रप्रसादेन[1] कुर्यात्प्राणजयं बुधः।।[2]

शंकर आगे कहते हैं कि–'मैं अब अग्रिम वाक्यों में योगाभ्यास के लक्षण कहूंगा। जिसे प्राणों पर विजय प्राप्त हो गयी है, अर्थात् जिसे प्राणायाम साधना में सिद्धि मिल चुकी है, सर्व प्रथम ऐसे गुरु को प्राप्त करे, अर्थात् इस प्रकार के गुरु को खोजकर उसकी सेवा करें और सेवा के फल स्वरूप उसकी कृपा प्राप्त करे और कृपापूर्वक गुरु से वस्त्र (वेष्टनाम्बर) प्राप्त करके बुद्धिमान् साधक प्राणों पर विजय प्राप्त करें।' ('गुरुवक्त्र प्रसादेन' पाठ मानने पर 'गुरु के उपदेशवचनरूपी कृपा प्राप्त कर प्राणों पर विजय प्राप्त करें' यह अर्थ होगा।)

Sankara elaborates, "I shall explain the characteristics of yogabhyasa in the next sentences. The Sadhak, who has attained success in the pranayam Sadhana, first of all should seek the guru (Teacher) and should serve him to receive his blessings. An intelligent Sadhak should receive robes from his guru and control his prana breaths. (Some manuscriptes read "Vaktra" in place of "Vastra" then the menaing will be "On receiving the sacred word of guru" he should achieve control over his prana breaths.)

86. वितस्तिप्रमितं दैर्घ्ये विस्तारे चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम्।।[3]

प्राणायाम साधना में सिद्धि लाभ के लिए आवश्यक और जिसे गुरु प्रसाद के रूप में प्राप्त किया जाता है, वह **वेष्टनाम्बर** कोमल शुद्ध धवल वस्त्र होता है, जिसकी लम्बाई एक वितस्ति (एक विता) अर्थात् बारह अंगुल और चौड़ाई चार अंगुल होती है। प्राणायाम साधना में अपेक्षित इस वस्त्र खण्ड की पारिभाषिक संज्ञा **'वैष्टनाम्बर'** है।

1. गुरुवक्त्रप्रसादेन क.
2. तुलनीय यो.शि. 1.79-80
3. तुलनीय वही, 1.81

Scanned by CamScanner

The essential requirement for attainment of Siddhi which is received as a blessing from the Guru, is the soft, pure and white robe, the length of which is twelve fingers and the breadth, four fingers. This piece of cloth is called as Veshtanambar.

87. निरुध्य मारुतं गाढं शक्तिचालनयुक्तितः।
अष्टधा कुण्डलीभूतां ऋजुं कर्त्तुं तु कुण्डलीम्।।[1]

88. नाभेराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीञ्चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः।।[2]

वायु को पूर्ण रूप से बाहर निकाल कर बाहर ही रोकते हुए शक्ति चालन अर्थात् न्योली चलाने की युक्ति से कुण्डली को ऋजु (कोमल) करने के लिए आठ बार कुण्डलित होकर स्थिर कुण्डली को नाभि का आकुञ्चन करते हुए अर्थात् नाभि को सिकोड़ते हुए चलावे। इसका क्रम इस प्रकार है–प्रथम रेचक करना, पुनः उड्डियान बन्ध की भाँति उदर को तानना, फिर नाभि का आंकुञ्चन करते हुए दोनों नलों को उठाने का प्रयत्न करना, नल भली प्रकार उठने पर उनको चलाना। बाद में यही क्रिया पूरक करके करनी चाहिए। इस सम्पूर्ण क्रिया को **शक्तिचालन** क्रिया कहते हैं। इसके अभ्यास से कुण्डलिनी कोमलभाव (ऋजुभाव) को प्राप्त कर लेती है, जिसके फलस्वरूप उसके जागरण का मार्ग सहज हो जाता है। कुण्डलिनी मूलाधार चक्र से ऊपर एवं कन्द स्थान से नीचे पेडू के पीछे भाग के पास आठ बार वक्र होकर स्थित रहती है। उसके मुख में सुषुम्ना नाड़ी का मुख बन्द रहता है, और उसमें (सुषुम्ना में) प्राणों का संचार नहीं हो पाता। शक्ति चालन की उपर्युक्त क्रिया कुण्डलिनी को ऋजु बना देती है, जिससे उसको जागृत करने में सुविधा हो जाती है।

शक्तिचालन का अभ्यास होने से साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है, फलतः मृत्यु के उपस्थित होने पर भी उसे मृतयु का भय नहीं होता।

1. तुलनीय वही, 1.82
2. तुलनीय वही, 1.83

After inhaling the breath and withholding it out, Saktichalan (operation of power) should be performed i.e. in order to soften the kundalini, the Sadhak should operate it (wound eight times forming a curve) by squeezing the navel. The process is first to exhale prana, tighten abdomen like an Uddyan bandh (knot) and then while maintaining Uddyan, make the abdomen tight and roll them from right to left and from left to right and repeat the process, The whole of this process is termed as Sakti chalan (operation of power). Kundlini achieves softness while under going this process as a result where of the parth of its awakening becomes smooth. Kundalini is located at muladhar chakra near the back bone in octane curves. The mouth of sushumna remains blocked and the prana breaths cannot flow through it. The above process of Sakti Chalan (operation of power) softens the kundalini, which facilitates its awakening.

Sadhak achieves victory over death by practice of Saktichalan as a consequence where of he overcomes the fear of death, when faced with it.

89. एतदेव परं गुह्यं कथितं तु मया तव।[1]

शक्तिचालन की यह विद्या योगिजनों में अत्यन्त गोपनीय है, अर्थात् केवल अधिकारी शिष्य को ही इसका उपदेश किया जाता है, सर्व साधारण के मध्य इसकी चर्चा भी नहीं की जाती। जिसका उल्लेख ऊपर की पंक्तियों में अभी किया गया है।

This vidya (knowledge) of Saktichalan is very confidential among the Yogins and is only revealed to the deseriving sisyas (disciples). It is never discussed among the commom folk as has been stated in the above lines.

90. वज्रासनगतो नित्यं मासार्धन्तु समभ्यसेत्।
वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्।।[2]

1. तुलनीय यो.शि. 1.84
2. तुलनीय वही, 1.84-85

Scanned by CamScanner

इस प्रकार साधक को चाहिए कि वह वज्रासन (सिद्धासन[1]) में बैठकर पन्द्रह दिनों तक निरन्तर अभ्यास करें, इस अवधि (पन्द्रह दिन) में शक्तिचालन का अभ्यास हो जाता है। इसके फलस्वरूप वायु (प्राण) के सम्पर्क से प्रदीप्त जठराग्नि कुण्डलिनी को निरन्तर तप्त करती रहती है।

Thus Sadhak should sit in Vajrasan (Siddhasan) posture and practise it continuously for fifteen days. During this period the process of saktichalan is practised as a resutl where of enflamed fire of stomach, on its contact with prana breaths, keeps the kundalini illumined continuously.

91. सप्तमासाग्निना जीवशक्तिस्त्रैलोक्यमोहिनी।
प्रविशेद् वज्रदण्डे तु सुषुम्ना वदनान्तरे।।[2]

इस पूर्वोक्त प्रकार से निरन्तर अभ्यास करने से सात मास पर्यन्त अग्नि से तपाये जाने पर त्रैलोक्य को मोहित करने वाली जीवशक्ति अर्थात् कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। अर्थात् तप्त कुण्डलिनी के मुख में बन्द पड़ा हुआ सुषुम्ना मुख उससे बाहर आ जाता है, और इस स्थिति में कुण्डलिनी का मुख सिकुड़कर सुषुम्ना मुख में आ जाता है। क्योंकि सुषुम्ना नाड़ी का ही दूसरा नाम **ब्रह्मनाड़ी** भी है। अतः सुसुम्ना मुख के इस भेदन (खुलने) को **ब्रह्मग्रन्थिभेदन** कहते हैं, इसे ही कुण्डलिनी का जागरण भी कहते हैं।

By constant practice of this process and having remained illumined continuously for seven months, the kundalini which fascinates the three worlds, is awakened. The mouth of Sushumna, lying coiled in the mouth of kundalini becomes-squeezed and enters into the Sushuma. Another name of sushumna is Brahman nadi, So the piercing the mouth of sushumna is called piercing of Brahman Granthi. This is called awakening of kundalini.

92. वायुना वह्निना सार्धं ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्ति सा।
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्त्वा रुद्रग्रन्थौ च तिष्ठति।।[3]

1. वज्रासन की जानकारी के लिए राजयोग साधना और सिद्धान्त ग्रन्थ में आसन प्रकरण देखें
2. तुलनीय यो.शि. 1.85-86
3. तुलनीय वही, 1-86-87

इस पूर्वोक्त प्रकार से वायु से प्रदीप्त अग्नि के द्वारा सन्तापित कुण्डलिनी ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करती है और सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर ऊपर की ओर उठती जाती है। हृदय कमल के निकट पहुँचने पर एक बार उसका उठना रुक जाता है, किन्तु साधना क्रम निरन्तर चलते रहने पर हृदय कमल, जिसे अनाहत चक्र भी कहते हैं, जागृत हो जाता है, और सुषुम्ना में विद्यमान अवरोध हट जाता है। क्योंकि हृदय कमल को विष्णु का स्थान माना गया है, अतः इसके खुलने को ही **विष्णुग्रन्थि भेदन** कहा जाता है। इसके अन्तर कुण्डलिनी ब्रह्मनाड़ी के अन्दर ऊपर उठती हुई सभी चक्रों को पार करती हुई मूर्धाभाग में स्थित सहस्रार चक्र पर पहुँचती है। सहस्रार चक्र मस्तिष्क का स्थान है। इसको रुद्र का स्थान माना जाता है, अतः इस सहस्त्रार चक्र के जागरण को **रुद्रग्रन्थि भेदन** कहते हैं। ब्रह्मनाड़ी का यह सबसे ऊपर का भाग है, कुण्डलिनी के साथ यहाँ पर प्राणों के पहुँच जाने पर योगी की असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाती है, वह परमानन्द स्वरूप ब्रह्म (इसे ही विविध सम्प्रदायों में विष्णु अथवा शिव नामों से भी स्मरण करते हैं, यही परमतत्त्व है), का साक्षात्कार कर लेता है, और उसमें लीन हो जाता है, यह योग की पूर्णता की स्थिति है। इस स्थिति में पहुँचने पर सभी भेद ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान का भेद मिट जाता है, उस स्थिति में जीव और ब्रह्म का भी भेद बोध मिट जाने से अद्वैत ज्ञान की प्रतिष्ठा हो जाती है।

Thus the fire illumined by the prana breaths as stated above, heats kundalini and heated kundalini pierces the Brahman granthi and flows upwards through the sushumna nadi. On reaching near the lotus of the heart, its movement upwards halts, but on continuous practice of the sadhana, the lotus of the heart, called anahat chakra, becomes awakened and the path of sushumna is further cleared, therefore, this opening is called as piercing of Vishnu Granthi. Thereafter, Kundalini travelling upwards through the Brahman nadi, while piercing all the chakras, on her path, reaches the Sahsra chakra, placed in the head. The Sahsra chakra which is settled in the head is called the seat of Rudra (siva). So, awakening of this chakra is called piercing of Rudra granthi. This is the highest place of Brahma nadi. On reaching of kundalini here with prana breaths the yogi achieves attributeless (Asampragyata) Samadhi. He sees absolute bliss, the Brahman (this

Scanned by CamScanner

stage is remembered as Vishnu Pada or Siva Pada in the different religious sects), this is the supreme essence of yoga sadhna. This is the highest attainment of yoga. All distinctions of knower, known and the knowledge are removed in this stage. On the removal of duality of jiva (indiviudal, soul, and Brahman called conciousness) the advaita gyan (knowledge of oneness) is established.

93. ततस्तत्कुम्भकै गर्ढि पूरयित्वा पुनः पुनः।[1]
तथाऽभ्यसेत् सूर्यभेदमुज्जायीं वापि शीतलम्।
भस्त्री च सहितो नाम स्याच्चतुष्टय कुम्भकम्।।[2]

पूर्वोक्त कुण्डलिनी जागरण तभी हो पाता है, जब साधक को प्राणायाम की सिद्ध हो जाए। इसीलिए पूर्व पंक्ति में कहा भी गया है–'वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्। [90]' अतः प्राणायाम की सिद्धि के लिए अब प्राणायाम साधना विधि का वर्णन किया जा रहा है, जिसका निरन्तर तब तक अभ्यास करना चाहिए जब तक कि सिद्धि न हो जाए।

प्राणायाम की मुख्य क्रिया कुम्भक है, अन्य क्रियाएं उसकी सहायक क्रियाएं हैं। कुम्भक दो प्रकार का होता है–1. **केवल कुम्भक** 2. **सहित कुम्भक।** सहित कुम्भक भी केवल कुम्भक का साधन मात्र है। केवल कुम्भक की सिद्धि होने पर सहित कुम्भक करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इनका संक्षिप्त विवरण **दत्तात्रेय योग शास्त्र** एवं **योग तत्त्वोपनिषद्** में देखें। अग्रिम पंक्तियों में केवल कुम्भक के साधनभूत **सहित कुम्भक** के भेदों का वर्णन करने के लिए नाम परिगणन किया गया है।

इस पूर्वोक्त क्रिया में सफलता के लिए चार प्रकार के सहित कुम्भक का अभ्यास करें। ये चार प्रकार हैं–1. सूर्यभेद 2. उज्जायी 3. शीतला 4. भस्त्री। वायु को पूर्णतया अन्दर खींचकर बार–बार इसका अभ्यास करना चाहिए। इन पंक्तियों के प्रारम्भ में 'ततः' शब्द प्रयुक्त है, जिसका प्रयोग प्रायः 'उसके बाद' अर्थ को प्रगट करने के लिए होता है; किन्तु यहां 'उसके लिए [तद् हेतोः] अर्थ का बोध अभीष्ट है।'

1. तुलनीय यो.शि. 1.87
2. तुलनीय यो.शि. 188

Kundalini can only be awakened where the sadhaka attains pranayam (control of breath) siddhi. Therefore, it has been stated in the previous line वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत (90) so in order to attain pranayam siddhi, its method have to be explained which should be practised till pranayam siddhi is attained.

The main activity of pranayam is kumbhak. Kumbhak is of two kinds (1) kewal (exclusive) kumbhak (2) Sahit (inclusive) kumbhak. Sahit kumbhak is also the means of keval kumbhak. On attainment of keval kumbhak, even practice of Sahit kumbhak is not required. Brief description of these two may be seen in Dattatreya yoga shastra and Yogatattvopanishad. In the next lines the characteristics of Sahit kumbhak, which is the means to keval kumbhak, have been enumerated.

In order to achieve success in the above process, the following four methods of sahit kumbhak should be practises. (1) Suryabheda (2) Ujjayi (3) Sheetli (4) Bhastri. These should be repeatedly practised after complete inhalation of breath. In the beginning of these lines, the word 'tat' has been used which normally signifies as 'there after' but here the desired connotation of this term is for him (tat-he-toh).

94. बन्धत्रयेण संयुक्तः केवलप्राप्तिकारकः।
अथास्य लक्षणं सम्यक् कथयामि समासतः।।[1]

इन चारों प्रकार का सहित कुम्भक यदि तीनों बन्धों अर्थात् मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध और उड्डियान बन्ध के साथ किया जाए तो इसे अभ्यास से **केवल कुम्भक** की सिद्धि होती है। अग्रिम पंक्तियों में **सहित कुम्भक** के इन चारों प्रकारों का संक्षेप में किन्तु स्पष्ट लक्षण (करने की विधि का वर्णन) किया जा रहा है।

If Sahit kumbhak is practised with all these three bandha (knots) like moolbandha, jallandhar bandha and Uddyan bandha, there is an attainment of kewal kumbhak. In the next lines a brief but clear description (the method of practice) of Sahita kumbhak, with its four kinds is given.

1. तुलनीय वही, 1.89

Scanned by CamScanner

95. एकाकिना समुपगम्य विविक्तदेशम्
प्राणादिरूपममृतं परमार्थतत्त्वम्।
लघ्वासिना धृतिमता परिभावितव्यम्
संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम् ।।[1]

प्राणायाम का अभ्यास सदा किसी एकान्त स्थान में बैठ कर ही किया जाना चाहिए। दत्तात्रेय ने प्राणायाम साधना के लिए साधनागृह निर्माण और उसके स्वरूप का विवरण विस्तृत दिया है। वह वहाँ [107-113] द्रष्टव्य है।

प्राणायाम के अभ्यासी को मिताहारी धैर्यशाली और अभ्यासी होना चाहिए। भोजन का प्रेमी जिह्वालोलुप प्राणायाम में सफल नहीं हो सकता। धृति (धैर्य) भी प्राणायाम साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक है। धैर्य के अभाव में साधक कभी तो उतावले पन में साधना की अनिवार्य आवश्यक तैयारी न रहने पर भी हठपूर्वक साधना में प्रवृत्त होकर हानि उठा लेता है, और कभी अविलम्ब सफलता न देखकर साधना ही छोड़ बैठता है। अभ्यास शीलता भी प्राणायाम में सिद्धि के लिए आवश्यक है, आलस्यवश अभ्यास में अनियमितता रहने पर भी सिद्धि नहीं मिल पाती।

यह प्राणायाम साधना संसार में मनुष्यों को होने वाले सभी रोगों की तथा संसार अर्थात् जन्ममरणरूपी रोग की अद्वितीय औषधि है, इससे परम पुरुषार्थ (परमार्थ तत्त्व) मोक्ष की प्राप्ति और अपुनर्भव (अमृतत्व) की अवश्यमेव प्राप्ति होती है। अवश्य ही मोक्ष एवं अमृतत्त्व प्रदान करने वाला होने के कारण ही लक्षण शक्ति का प्रयोग करते हुए ग्रन्थकार ने प्राणायाम (प्राणादिरूप) को सीधे अमृत और परमार्थतत्त्व कह दिया है। ग्रन्थकार का कहना है कि प्राणायाम के लिए आवश्यक सभी तैयारियाँ करके सभी नियमों का पालन करते हुए नियमित रूप से निरामय होकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

The practice of pranayana (control of breath) should always be done in a lonely place. Dattatreya has given (in 107-113) detailed description of sadhana griha (place for sadhana) for pranayam sadhana, which is as under—

1. तुलनीय यो.शि. 1.90

The Sadhak of pranayam should take a balanced diet, should be equanimous and should keep himself in practice. A glutton can not achieve success in pranayam. Equanimity is also essential requisite for pranayam sadhana. In the absence of patience, the sadhaka, sometimes in anxiety, while forcing himself to sadhana, can come to harm. Sometimes, he discontinues his sadhana, then he does not achieve quick results. Constant practice is also very necessary for attainment of siddhi in pranayam. Irregularity in practice due to idleness is an obstacle in getting siddhi.

The pranayam sadhana is unparalled medicine for human diseases and cure of the diseases of birth and death. This leads to achievemnt of moksha and nectar of immortality. The author, while using a mettaphor, has defined pranayam as nectar and pure essence because of its power of providing moksha and elements of nectar. According to the author after making all preparations for pranayam after observing all the rules without idleness, the practice of pranayam should be regularly done.

सूर्यभेद प्राणायाम–

Surya Bheda Pranayam

96. सूर्यनाड्या समाकृष्य वायुमभ्यासयोगिना।
विविधत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेत् शीतरश्मिना।।[1]

सूर्यभेद नामक सहित कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करने के लिए योगी अर्थात् योग का अभ्यास करने वाला साधक सूर्यनाड़ी अर्थात् दाहिने नासिका से वायु को सम्पूर्ण मात्रा में अर्थात् जितना वायु अन्दर लिया जा सके उतना वायु लेकर विधिवत् अर्थात् जालन्धर बन्ध मूलबन्ध और उड्डियान बन्ध पूर्वक जितनी देर अन्दर रोक सके उतनी देर अन्दर रोक कर चन्द्र नाड़ी अर्थात् बायीं नासिका से वायु को निकाले। इस प्राणायाम क्रिया को **सूर्यभेद** प्राणायाम कहते हैं।

1. तुलनीय यो.शि. 1.91

Scanned by CamScanner

The sadhak, practising Sahit kumbhak pranayama namely suryabheda, should inhale the maximum quantity of breath through solar nadi i.e. right nostril and with hold the breath regularly to the maximum extent on the above method i.e. with jalandhar bandh, moolbandh and Uddiyan bandh, exhale it through lunar nadi i.e. left nostril. This process of pranayam is called Suryabheda Pranayam.

97. उदरे वातदोषघ्नं कण्ठदोषान् निहन्ति च।
मुहुर्मुहुरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम्।।[1]

यह उपर्युक्त प्राणायाम सूर्यभेद प्राणायाम कहा जाता है। इसका बारम्बार अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास करने से उदर (पेट) के सभी प्रकार के रोग तथा सभी प्रकार के वात रोग दूर हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त सभी प्रकार के कण्ठ के रोगों को भी सूर्यभेद प्राणायाम से नष्ट किया जाता है।

This Suryabheda Pranayam should be practised constantly. By practising of this pranayam, all diseases of stomach and all types of rheumatic diseases are removed. In addition to this all types of throat diseases are also removed.

उज्जायी प्राणायाम–

Ujjayi Pranayam

98. नाडीभ्यां वायुमाकृष्य कुण्डल्या पार्श्वयोर्नरः।
पूरयेदुदरे सोऽपि रेचयेदिडया सुधीः।।[2]

दोनों चन्द्र और सूर्य नाड़ियों से प्राण वायु को पेट में अन्दर खींचकर साधक योगी उसे कुण्डलिनी के पास अर्थात् कन्द स्थान में (नाभि से नीचे तथा मूलाधार चक्र से ऊपर जहां समस्त नाड़ियों की सन्धि है) यथाशक्ति रोके, तथा इडा नाड़ी अर्थात् सूर्यनाड़ी (दाहिने नासिका छिद्र से) बाहर निकाल देवे।

The sadhak should inhale the prana breaths through lunar and solar nadis and should withold it according to his resistance, near the place of kandha (below the stomach and above the muladhar chakra, and should inhale it through ida nadi i.e. solar nadi the right nostril).

1. तुलनीय वही, 1.92 2. तुलनीय वही, 1.93

99. कण्ठे कफादि दोषघ्नं शरीराग्निविवर्धनम्।
शिरो जलोदरान् धातुगतरोगविनाशनम्।
गच्छतः तिष्ठतः कार्यमुज्जय्याख्यं तु कुम्भकम्।।[1]

यह **उज्जायी कुम्भक** कण्ठ में होने वाले रोग, सभी प्रकार के कफजन्य रोग, सिर में होने वाले, रोग धातु गत रोग तथा जलोदर आदि रोगों को दूर करता है तथा शरीर की अग्नि में वृद्धि करता है। यह **उज्जायी कुम्भक** प्राणायाम चलते-फिरते, उठते-बैठते विभिन्न स्थितियों में कियाजा सकता है।

This ujjayi kumbhak removes all diseases of throat all diseases connected with phelgm, head, semen and dropsy and increase heat in the body. This ujjayi kumbhak pranayam can be practised in different positions like moving, standing, sitting etc.

शीतली प्राणायाम–

Sheetali Pranayam

100. मुखेन वायुं संगृह्य घ्राणरन्ध्रेण रेचयेत्।
शीतलीकरणं चेदं हन्ति पित्तं तथा ज्वरम्।।[2]

'मुख से वायु खींच कर नासिका से निकालना' इसे **शीतलीकरण** प्राणायाम कहते हैं। यह प्राणायाम पित्त जन्य रोगों तथा ज्वर को नष्ट करता है।

To inhale the breath by the mouth and exhale it through the nostril is called sheetali (cooling) pranayam. This pranayam removes the diseases of bile and fever.

1. तुलनीय वही, 194
2. तुलनीय यो.शि. 1.95

Scanned by CamScanner

भस्त्री प्राणायाम–

Bhasti Pranayam

101. स्तनयोरथ भस्त्रेव लोहकारस्य वेगतः।[1]
रेचयेत्पूरयेद् वायुं आ-श्रमं देहगं धिया।

102. यथा श्रमको भवेद् देहे तथा सूर्येण पूरयेत्।।[2]
कण्ठसंकोचनं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्।।[3]

लोहार की भस्त्रा (हाथी) के समान वेगपूर्वक स्तनों को फुलाते और दबाते हुए वायु को इतना वेग से निकालें और अन्दर ले जाए कि शरीर को थकावट होने लगे और यह क्रिया तब तक करें जब तक शरीर थके नहीं इस क्रिया में पहले सूर्य नाड़ी से अर्थात् दाहिने नासिका के छिद्रसे वायु अन्दर खींच कर फिर चन्द्र नाड़ी अर्थात् बायें नासिका छिद्र से कण्ठ का संकोचन करते हुए वायु को वेग पूर्वक निकालें।

The Sadhak should vigoroulsy expand his chest like the blow pipe and inhale and exhale the breath repeatedly till the body becomes fatigued. In this process, firstly he shoule inhale the breath from the solar nadi (right nostril) and exhale it through lunar nadi vigorously while squeezing the throat.

103. वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम्।
कुण्डलीबोधकं चक्रं भावघ्नं सुखदं शुभम्।।[4]

इस **भस्त्री प्राणायाम** के अभ्यसा से वात पित्त तथा कफ इन तीनों ही दोषों से उत्पन्न रोग दूर होते हैं, कफ तथा कफ से उत्पन्न रोग दूर होते हैं, शरीरस्थ अग्नि प्रदीप्त होती है। कुण्डलिनी के जागरण में इससे सहायता मिलती है, चक्र प्रवुद्ध हो जाते हैं, वासनाएँ क्षीण होती हैं, तथा योग के अभ्यास से सुख और कल्याण की प्राप्ति होती है।

1. तुलनीय वही 1.96
2. तुलनीय वही 1.97
3. तुलनीय वही 1.98
4. तुलनीय वही, 1.98-99

By practice of the Bhastri Pranayam, all diseases borne out of three defects, those of wind, bile and phelgm are removed and the fire with in the body is illumined. It helps in awakening the kundalini. The chakras become unravelled, desires are removed and by practice of yoga, bliss and prosperity are achieved.

104. ब्रह्मानाडीमुखे संस्थं कफाद्यर्गलनाशनम्।[1]
सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रन्थित्रय-विभेदकम्।

105. विशेषेणैव कर्त्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्।।[2]

यह **भस्त्रा** प्राणायाम ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी के मुख भाग में स्थित कफ आदि मलों को तथा शरीर में उत्पन्न विविध रोगों को नष्ट करता है। तीनों ग्रन्थियों अर्थात् ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि एवं रुद्रग्रन्थि का भेदन करता है। अतः इस **भस्त्रा** नामक प्राणायाम का अभ्यास विशेष रूप से करना चाहिए।

This pranayam removes filth like phelgm etc. of mouth of Brahma nadi and also removes many diseases of body. It pierces three granthis i.e. Brahma granthi, Vishnu granthi and Rudra granthi. Thus it should be speedily practised.

बन्ध–

Bandha

106. बन्धत्रयमथेदानी प्रवक्ष्यामि यथार्थतः।
नित्यं कृतेन येनासौ वायोर्जयमवाप्नुयात्।।[3]

107. चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते।
बन्धत्रयमिदं कार्यं वक्ष्यमाणं मया स्फुटम्।।[4]

शिव पार्वती से कहते हैं कि–अब अग्रिम श्लोकों में मैं तीनों बन्धों का यथावत् उपदेश करूंगा, जिनका नित्य अभ्यास करने से प्राणों पर विजय प्राप्त हो जाती है। कुम्भक प्राणायाम के पूर्वोक्त चारों भेदों को करते हुए इन तीनों बन्धों को अवश्य करना चाहिए। अतः मैं इनका सुस्पष्ट वर्णन कर रहा हूं।

1. तुलनीय वही 1.99
2. तुलनीय वही 1.101
3. तुलनीय वही 1.101
4. तुलनीय वही 1.102

Scanned by CamScanner

Siva tells Parvati, "Now I will systematically explain to you about all the three Bandhas in the next slokas. The practice of which leads to victory over prana breaths. These three bandhas should be performed while practising above explained four catagories of pranayam which I am elucidating here with.

108. प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयस्तूड्डियाणकः।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम्।।[1]

इन तीन बन्धों में प्रथम मूलबन्ध है, द्वितीय उड्डियान बन्ध कहलाता है। तृतीय बन्ध जालन्धर है। अग्रिम श्लोकों में मैं इनके लक्षण कहूंगा।

Of all the three bandhas the first is called the mool bandha, second the uddya bandh and third the jallandar bandh. I shall give you their definition in the next slokas.

मूलबन्ध–

Mool bandh—

109. गुदं दार्ढ्यात् तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।
बारं बारं तथा चोर्ध्वं समायाति समीकरणः।।[2]

गुदा को अत्यन्त दृढ़ता से दबाकर वायु को ऊपर की ओर बलपूर्वक बारम्बार खींचे जिससे अपान वायु ऊपर की ओर आ सके। इस क्रिया को ही **मूलबन्ध** कहते हैं।

The sadhak should forcefully press the perineum with the the heel contract it to draw the apan upwards. This process is called mool bandh.

110. प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।।[3]

1. तुलनीय वही 1.103
2. तुलनीय वही 1.104, दत्तात्रेय 28-87
3. तुलनीय यो.शि. 1.105, दत्तात्रेय 288-289

मूलबन्ध के अभ्यास से प्राण और अपान, नाद और बिन्दु एक हो जाते हैं, अर्थात् इनकी दूरी समाप्त हो जाती है, जिसके फलस्वरूप योग के अभ्यासी को योग में निश्चित सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

By practice of mool bandh, the prana and apana breaths, nad (primal sound) and bindu (point) become one and their distance is removed as a result where of sadhak certainly attains siddhi in yoga.

उड्डियान बन्ध–

Uddiyan Bandh

111. कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्त्तव्यस्तूड्डियाणकः।
बद्धो येन सुषम्नायां प्राणस्तूड्डीयते तथा।।
तस्मादुड्डीयाणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।।[1]

उड्डियान बन्ध कुम्भक के अन्त में और रेचक के प्रारम्भ में किया जाता है, इसके करने से प्राण बँध कर अर्थात् अन्यत्र निकलने का मार्ग न पाकर सुषुम्ना नाड़ी में उड़ने अर्थात् प्रवेश करने लगता है, प्राणों के इसी उड्डीयन के कारण योगी जन इस बन्ध को **उड्डीयान या उड्डियान बन्ध** कहते हैं।

Uddiyan Bandh is done at the end of kumbhak and at the begining of Rechak. On practice of this the prana is concenterated in one place and not finding any other outlet, moves upwards through sushumna. Due to this fight of the prana breath in this manner, this bandh is called Uddiyan Bandh by the yogins.

112. उड्डीयाणं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेदस्ततन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते।।[2]

गुरु द्वारा उपदेश से उड्डीयाण बन्ध बहुत सरल हो जाता है। इसका सदा अभ्यास बिना आलस्य के प्रतिदिन करना चाहिए। इसके निरन्तर अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो जाता है।

1. तुलनीय यो.शि. 1.106-107
2. तुलनीय यो.शि. 1.107-8

Scanned by CamScanner

Under the advice of the Guru (teacher) this bandh beomces easy. It should be practised daily and regularly without any lethargy. By constant practice of this, old man also attains youth.

113. नाभेरूर्ध्वमधश्चापि ताणं कुर्यात् प्रयत्नत:।
षण्मासमभ्यसन्मृत्युं जयत्येव न संशय:।।[1]

नाभि के ऊपर और नीचे के पेट के भाग को प्रयत्नपूर्वक पीछे की ओर ताने, इस क्रिया को ही उड्डीयाण बन्ध कहते हैं। कुम्भक के अन्त में एवं रेचक के आदि में प्रतिदिन अभ्यास करने से योगी छ: मास के अन्दर मृत्यु को निश्चय जीत लेता है।

The sadhak should make an effort to pull in the upper portion of the navel and the lower portion of the stomach. It is practised at the end of kumbhak and at the beginning to Rechak The process ais called Uddiyan Bandh. The yogi can certainly overcome death by practising it daily for six months.

जालन्धर बन्ध–

Jallandhar Bandh.

114. पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बन्धोजालन्धराभिध:।
कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधक:।।[2]

जालन्धर बन्ध प्राणायाम के अन्तर्गत पूरक क्रिया करने के अन्त में किया जाता है। इस बन्ध में कण्ठ का संकोचन किया जाता है, जिससे अन्दर लिया गया प्राण वायु अन्दर ही रुका रहे, श्वास नली के दबे होने के कारण वायु बाहर न निकल पाये।

Jallandher Bandh is done during pranayam at the end of poorak kriya. The throat is squeezed in this bandh so that inhalation of the breath may be with held and the prana breaths may not come out due to the squeezed windpipe.

1. तुलनीय यो. शि. 1.108-109
2. तुलनीय यो.शि. 1.109-10

115. कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढ़निश्चय:।
बन्धो जालन्धराख्योऽयमृतव्ययकारक:।।[1]

कण्ठ को सिकोड़ कर दृढ़ निश्चय के साथ हृदय पर रखें, अर्थात् कण्ठ को सिकोड़ कर छाती (वक्ष) पर जमा दें कि इससे अब प्राण वायु बाहर न जा सके। जालन्धर बन्ध के अन्यास से ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित होने वाला अमृत द्रव अव्यय हो जाता है, अर्थात् वहीं शोषित होने लगता है, वह जठराग्नि में पहुँच कर व्यर्थ जलता नहीं।

The Sadhak should contract his throat and hole the chin firmely against the chest with a strong determination so that prana breath can not allow it to be exhaled. Due to practice of this bandh the nectar which comes out from Brahmrandhra and drops on stomach fire is with held in its origin and is made unmutable.

116. अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचनेन च।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिग:।।[2]

इन ऊपर कहे गए तीनों बन्धों के करने से मूल बन्ध द्वारा अधो भाग और अधो मार्ग अर्थात् गुदा मूलाधार चक्र आदि नीचे का भाग सिकुड़ने से, प्राण कुछ ऊर्ध्वगामी होते हैं, जालन्धरबन्ध द्वारा कण्ठ का संकोचन करने से ऊपर निकलने का मार्ग न पाने के कारण तथा उड्डीयान बन्ध द्वारा मध्य भाग पेट के तानने से मध्य में भी दबाव पड़ने से प्राण हठात् ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाता है।

By practice of the above three bandhan and by contraction of the lower portion of the Muladhar chakra i.e.half channel near the anus, the flow of the prana breaths some with what tends upwards. By practice of jallandhar bandh and contracting the throat, finding no outlet to move upwards and shrinking the stomach in the middle, pressure forces prana breaths upwards Brahman nadi i.e. Sushumna nadi.0

1. तुलनीय यो.शि. 1.110-111
2. तुलनीय यो.शि. 1.111-12

Scanned by CamScanner

उड्डीयान बन्ध–

117. वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रीं कुण्डलीमाशु बोधयेत्।।[1]

साधक योगी को चाहिए कि वह वज्रासन जिसे सिद्धासन[2] भी कहते हैं,में बैठकर प्राणायाम क्रिया का अभ्यास प्रारम्भ करे। इसमें सर्वप्रथम कुण्डली संचालन अर्थात् न्योली क्रिया, करे उसके अनन्तर तीनों बन्धों के साथ सूर्यभेद उज्जायी शीतली कुम्भक प्राणायाम करके भस्त्री प्राणायाम करे और इस प्रकार कुण्डलिनी का जागरण करने का प्रयत्न करे, ऐसा करने से कुण्डलिनी जागृत हो जाती है और प्राण ब्रह्मग्रन्थि का भेदन कर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाते हैं। (इस श्लोक में दो बार कुण्डली शब्द का प्रयोग दो भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है, प्रथम कुण्डली शब्द से कुण्डली चालन शब्द) से न्योली (नलों को उठाकर) चलाना अर्थ समझना चाहिए और द्वितीय कुण्डली शब्द से 'कुण्डलिनी', अर्थ लेना चाहिए। ये दोनों भिन्न अर्थ ही यहां प्रसंग के अनुकूल हैं।

The Sadhak should practice pranayam, while sitting in the posture of vajrasana i.e. siddhasana. First of all he should practise the operation of kundali called Neoli kriya. There after he should do pranayam suryabheda Ujjai and sheetali kumbhak pranayam with three bandhs and thus endeavour to awaken his kundalini. The kundalini is awakened by this process and pierces into Brahman-granthi, or sushumna nadi. In this sloka, the term kundalini has been used twice. The connotation of the first term is to operate neoli (to raise the testicles) and the connotation of the other term Kundi is the kundalini. Both these different connotations are within the context.

118. भिद्यन्ते ग्रन्थ श्चास्य तदा लोहशलाकया।
तथैव पृष्ठवंशे स्यात् ग्रन्थिभेदस्तु वा पुनः।[3]

1. तुलनीय यो.शि. 1.112-12
2. वज्रासन या सिद्धासन की जानकारी के लिए 'राजयोग साधना और सिद्धान्त' ग्रन्थ देखें।
3. तुलनीय यो.शि. 1.113-14

119. पिपीलिका यथा लग्ना कण्डूस्तत्र प्रजायते।
120. सुषुम्नायां तथाऽभ्यासात् सततं वा पुनर्भवेत्।।[1]

इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकार से अभ्यास करने से पृष्ठवंश अर्थात् मेरुदण्ड में स्थित ग्रन्थियों का एक एक करके क्रमशः भेदन उसी भांति हो जाता है, जिस प्रकार लोहे की शलाका से बांस की ग्रन्थियों का भेदन सम्पन्न हो जाता है। साथ ही सुषुम्ना में प्राणों के प्रवेश के उपरान्त निरन्तर अभ्यास करते रहने पर सुषुम्ना के स्थान मेरुदण्ड के अन्दर ऐसी खुजलाहट सी प्रतीत होती है, मानों वहां चींटी चल रही हो। इस प्रकार का अनुभव होने पर समझना चाहिए कि कुण्डलिनी का जागरण होकर सुषुम्ना नाड़ी (ब्रह्म नाड़ी) में प्राणों का प्रवेश हो चुका है, और अब अभ्यास से योग में पूर्ण सिद्धि अत्यन्त निकट है।

By practice of the above exercises the granthis combined in the backbone are pierced one by one as the poress of a bamboo are pierced with an iron rod. After the entrance prana breaths into the sushumna nadi, there is sensation of itching on this portion of backbone as if the ants are creeping there. After undergoing this experience, the yogi should realise that the kundalini is awakened and prana breaths have pierced through sushumna nadi (Brahman nadi) and he is now nearing the attainment of complete siddhi by practice of yoga

121. रुद्रग्रन्थिन्ततो भित्त्वा सैवायाति शिवात्मकम्।
122. चन्द्रसूर्यौ समं कृत्वा ततो योगः प्रवर्त्तते।।[2]

इस पूर्वोक्त अभ्यास क्रम में स्वाधिष्ठान चक्र के निकट ऊपर प्रथम ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है, जिससे सुषुम्ना में प्राणों का प्रवेश होता है, पुनः प्राण ब्रह्मनाड़ी में सुषुम्ना में ऊपर उठते हुए अनाहत चक्र अर्थात् हृदय स्थान के निकट पहुँचते हैं, तब विष्णुग्रन्थिका भेदन होता है, उसके अनन्तर प्राण कण्ठ में स्थित विशुद्ध चक्र का एवं भ्रू मध्य के निकट स्थिति आज्ञा चक्रों को खोलते हुए मस्तिष्क के निकट पहुँचते हैं और वहाँ रुद्रग्रन्थि का भेदन

1. तुलनीय यो.शि. 1.114-15
2. तुलनीय यो.शि. 1.115-16

Scanned by CamScanner

होने पर प्राणों का प्रवेश सहस्रार चक्र के उद्घाटन के साथ सहस्रदल कमल जिसे शिवस्थान कहते हैं, में होता है। यहाँ प्राणों का प्रवेश होने पर जीव शिवभाव को प्राप्त कर लेता है, दूसरे शब्दों में शिवस्वरूप हो जाता है। इस स्थिति में चन्द्र और सूर्य एक हो जाते हैं, जीवात्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है, भेद बुद्धि पूर्णतया विलीन हो जाती है, अर्थात् योगी का पूर्ण योग प्रवृत्त होता है, अथवा यह कह सकते हैं कि योगी को योग की सिद्धि, योग में पूर्णता मिल जाती है।

By practice of the above exercises, first Brahman granthi above the swadhisthan chakra is pierced as a result where of prana breaths trabel upwards for Manipur chakra, reaching Anahat chakra—the place corresponding the heart, the Vishnu granthi is also pierced. of Rudra granthi there the prana breaths enter towards sushumna chakra and after piercing it reach sahsradal chakra...(place of a thousand petalled lotus) which is called the seat of siva. On reaching here the yogi reaches siva state. In this stage moon and sun combine into oneness. Jiva and Brahman are face to face with each other. The conciousness duality is destroyed. In this state it may be said that yogi is fully established into yoga and attains complete siddhi.

123. गुणत्रयादतीतस्य ग्रन्थित्रय-विभेदकः।

124. शिवशक्ति-समायोगाज्जायते परमा स्थितिः॥[1]

पूर्वोक्त यह योग त्रिगुणातीत साधक के तीनों ग्रन्थियों का भेदन करने वाला होता है और अन्ततः शिव अर्थात् सहस्रार चक्र में स्थित शिव एवं शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी का मिलन होने से साधक को परम स्थिति अर्थात् मोक्ष पद की प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि इस पूर्वोक्त साधना क्रम में ग्रन्थि भेदन से पूर्व ही साधक त्रिगुणातीत हो जाता है, उसकी तामसी और राजसी वृत्तियों का लय हो जाता है एवं केवल सात्त्विक प्रकाश और आनन्दमय वृत्ति में विद्यमान होता है। इस स्थिति में ग्रन्थिभेदन होता है, क्रमशः एक एक चक्र खुलते जाते हैं और प्राण वायु और मन के सहित कुण्डलिनी शकित मूलाधार चक्र के ऊपर से उतरोत्तर ऊपर उठना प्रारम्भ

1. तुलनीय यो.शि. 1.116-17

करती है और क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्रों को पार करती हुई सहस्रारचक्र के खुलने पर सहस्रदल कमल में, शिवस्थान में पहुँचती है। यहाँ शिवस्थान में शक्ति (कुण्डलिनी) का शिव से मिलन होता है। जिससे साधक को परमपद प्राप्त हो जाता है। इन चक्रों में स्वाधिठान चक्र को, जहाँ से ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना में कुण्डलिनी प्राणों के साथ प्रवेश करती है, ब्रह्मा का स्थान माना जाता है और ब्रह्मनाड़ी मुख भेदन को ब्रह्मग्रन्थि भेदन कहते हैं। इसी प्रकार अनाहत चक्र को विष्णु स्थान माना जाता है। उसके भेदन को विष्णुग्रन्थि भेदन कहते हैं। इसी प्रकार सहस्रार चक्र (सहस्रदल कमल) को रुद्रस्थान कहते हैं, इसके उद्भेदन को रुद्रग्रन्थि भेदन कहते हैं। रुद्रग्रन्थि का भेदन होने पर सहस्र दल में प्राण और मन के साथ कुण्डलिनी का पहुँचना शिव और शक्ति का मिलन कहलाता है। यहाँ पहुँचने पर मोक्ष (परम पद) की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है।

The sadhak, beyond the three modes of prakriti (nature) is able to pierce and three granthis and ultimately on reaching the sahsrara chakra, on metting the kundalini with Siva, the sadhak attains the supreme state. In face the sadhak becomes liberated from three modes of prakriti (nature). Durijg Sadhana even before all the granthis are pierced systematically his tamsik and rajsika tendencies are subdued and only sattviki light and a state of bliss remains with him. Then only granthis are pierced during that state, one by one all chakras are pierced and the prana breaths, mind as well as kundalini power starts its upwards journey from muladhar chakra and while passing through manipoor, Anahata, Vishudda and Agya chakra respectivaly and on passing Sahsrar chakra (a thousand petalled lotus) reaches sahsraal kama, the seat of Siva and sadhak attains supreme state. Swadhisthan chakra where from the kundalini while travelling through sushumna, along with rana breaths pierces Brahman nadi known as the seat of Brahma and the piercing of Brahman nadi is called Brahman granthi *bhedan* similarly anahat chakra is known as the seat of Vishnu and piercing it is considered as piercing of Vishnu granthi. Similarly, sahsrar cchakra sahsrar dalkamal i.e. one thousand petalled kamal which is known as the seat of rudra it piercing is called rudra granthi bhedan. On piercing of Rudra granthi the reaching of kundalini with prana and mind are

Scanned by CamScanner

known as meeting of Siva and Sakti. On reaching to this state of moksha (supreme state) is ensured.

125. यथा करी करेणैव पानीयं प्रपिबेत् सदा।

126. सुषुम्ना वक्त्रनलिनं यतमानं ग्रसेत् सदा।।[1]

जिस प्रकार हाथी सदा सूंड को पानी में डालकर जल पीता है, उसी प्रकार प्राण और मन सहित कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी के ऊपर भाग के मुखकमल (सहस्रदल कमल) के साथ निरन्तर संसक्त हो जाती है।

As the elephant drinks water while putting its trunk into the water, similarly mind and prana breaths along with kundalini constantly remain united on the upper portion of sushumna along with mount of lotus (a thousand petalled lotus).

127. वज्रदण्डे तु सम्भूता मणयश्चैकविंशतिः।

सुषुम्नायां स्थिताः सर्वे सूत्रे मणिगणा इव।।[2]

वज्रदण्ड, जिसे मेरुदण्ड भी कहते हैं (रीढ़ की हड्डी) इसके अन्दर ही ब्रह्मनाड़ी स्थित है, में नाभिस्थान मणिपूरचक्र से सहस्रार चक्र के मध्य इक्कीस मणि सदृशग्रन्थियाँ हैं (मणियाँ हैं)। सुषुम्ना उन सबके मध्य से होती हुई सहस्रार चक्र (शिवस्थान) तक पहुँचती हैं, इस प्रकार वे सभी इक्कीस मणियाँ सुषुम्ना में पिरोई हुई रहती हैं, मानो एक सूत्र में इक्कीस मणियाँ पिरोई हुई हों।

In Vajradanda, which is generally called a backbone, there resides Brahmanadi and from kamal place to sahsrar chakra, there are twentyone circular fragment like gems. Sushumna passes amidst then before reaching sahsrar (seat of siva). Thus all twenty one gems are studded in sushumna.

128. मोक्षमार्गे प्रसिद्धा सा सुषम्ना विश्वधारिणी।

129. यत्रैव निर्जितः कालश्चन्द्रसूर्यनिबन्धनात्।।[3]

1. तुलनीय यो.शि. 1.117-118
2. तुलनीय यो.शि. 1.118-19
3. तुलनीय यो.शि. 1.119-20

मोक्ष के लिए साधना के इस योग मार्ग में इन इक्कीसों मणियों को धारण करने से और इसके द्वारा जीवन को धारण करने से सुषुम्ना को **विश्वधारिणी** कहते हैं। चन्द्र और सूर्य नाड़ी से प्राणों को निरुद्ध करके इस सुषुम्ना में उनका संचार होने पर काल अर्थात् मृत्यु पर भी योगी विजय प्राप्त कर लेता है। अथवा इसमें प्राण संचार होने पर सहस्रार चक्र के खुल जाने पर समस्त द्वैतभाव मिट जाते हैं और अद्वैतभाव प्रतिष्ठित हो जाता है, तब न तो मृत्यु का प्रभाव रह जाता है और न समय की गति का ही कोई प्रभाव, जिसमें बोधरूप प्रभाव भी सम्मिलित है, शेष रहता है।

Sushumna is known as Viswadharini as the above said twenty one fragments (mani) are held by in practice of yoga for moksha (salvation). By blocking the flow of prana of prana breaths through lunar and solar nadis making it flow through sushumna, yogi attains victory over death. On flowing breaths through sushumna and on piercing of sahsrar chakra, all considerations of dvait (dualism) are removed and on being established in advait (oneness) neither does their remain any influence of death nor awarness of time including sensations.

130. आपूर्य कुम्भितो वायुर्बहिर्नो याति साधके।

131. पुनः पुनः तद्वदेतत्पश्चिमद्वार-लक्षणम्।।[1]

सुषुम्ना में प्राणों के प्रवेश के उपरान्त अर्थात् कुण्डिलिनी के जागृत होने पर प्राप्त होने वाली स्थितियों का विवरण करने के अनन्तर ग्रन्थकार पुनः प्राण-साधना के क्रम को स्पष्ट करता है–

इस पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्मनाड़ी में प्राणों के प्रवेश के अनन्तर एक बार पूरक करके कुम्भक करने पर जब साधक के प्राण पुनःपुनः बाहर नहीं निकलते तो साधक सिद्धि (पश्चिम द्वार) के अन्तिम द्वार तक पहुँच गया है, ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् रेचक क्रिया का विलय सिद्धि के निकट पहुँचने का लक्षण है, इसे ही केवल कुम्भक का सिद्ध होना कहते हैं, जिसकी चर्चा श्लोक 185-87 की व्याख्या में हुई है।

1. तुलनीय यो.शि. 1.120-21

Scanned by CamScanner

The author of the book, after describing the various stages of the prana breaths through sushamna or awakening of kundalini further elaborates the prana sadhana.

One the enthry of prana breaths into Brahman nadi (sushumna) when they do not come out after performing kumbhak, then it should be concluded that the sadhak has reached the last stage of siddhi (Pashchim dwar). The dissolution of Rechak process is the symptom of nearing attainment of siddhi. This is called keval kumbhak as has been described in sloka-185-187.

132-33 परितस्तु नवैंद्वारैरीषत्कुम्भकतां गतम्।
प्रविशेत्सर्वगात्रेषु वायुः पश्चिममार्गतः।।[1]

पश्चिम द्वारा अर्थात् सहस्रारचक्र में प्राणों का प्रवेश होकर केवल कुम्भक सिद्ध होने पर शरीर के सभी मार्गों नवों द्वारों से वायु का निकलना कुछ काल के लिए भी बन्द होने पर पश्चिम मार्ग से वायु समस्त शरीर में अर्थात् शरीरगत सभी बहत्तर हजार नाड़ियों में प्राणों का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है। इस स्थिति में पहुँचने पर योगी अनन्त काल तक एक ही स्थिति में स्थिर रह सकता है।

On the entry of prana breaths into the pashchima dwar (last stage), i.e. sahasrachakra and after attainment of keval (exclusive) kumbhak the flow of prana breaths stops flowing through all the channels i.e. nine doors and its flow from the paschim marg to all seventy two of nerves starts flowing. On reaching this stage, the yogi can manitain it for long.

134-35 रेचके क्षीणतां याते पूरकं शोषयेत् यदा।
स एव नाथसंकेतः सिद्धसंकेतलक्षणः।।[2]

पूर्वोक्त प्रकार से रेचक क्रिया में विलीन होने पर साधक को सतत अभ्यास द्वारा पूरक का भी शोषण करना चाहिए अर्थात् योगी इस स्थिति को प्राप्त कर लें कि वह पूरक के बिना भी केवल कुम्भक में स्थित हो सके। उसे पूरक करने की आवश्यकता भी न रहे। रेचक और पूरक दोनों के ही लय हो जाने पर प्राणों का पूर्ण लय होता है, इस स्थिति को ही **नाथसंकेत** या **सिद्धसंकेत** कहते हैं।

1. तुलनीय यो.शि. 1.121-22
2. तुलनीय वही 1.122-23

On the disolution of Rechak kriya the sadhak should, by constant practice avoid poorak. On reaching this stage, the yogi should learn to establish himself in kewal (exclusive) kumbhak without the aid of Poorak. On the dissolution of both Rechak and Poorak prana breaths are also merged. This state is called as Nath Sanket or Siddha Sanket.

136. अति गुह्यं च संकेतं तव प्रीत्या प्रकाशितम्।[1]

हे पार्वती यह सिद्धसंकेत (नाथसंकेत) आदिनाथ द्वारा उपदिष्ट आठ कोटि संकेतों[1] में अत्यन्त गोपनीय सर्वश्रेष्ठ संकेत अर्थात् साधना का मार्ग है, हमने अत्यन्त प्रीति के कारण इसे तुम्हारे समक्ष प्रकट कर दिया है।

O Parvati, this siddha sanketa, (Nath Sanketa) enunciated among eightly millions of sanket is the top secret and wonderful sanket. I have revealed it to you out of my sheer love foryou.

137. गुरु प्रसादान्मरुदेव साध्यते
तेनैव चित्तं पवनेन साधितम्।
स एव योगी स जितेन्द्रियः सुखी
138. मूढा न जानन्ति कुतर्कवादिनः।।[2]

इस पूर्वोक्त प्राणसाधना में सिद्धि गुरु की कृपा से ही मिला करती है और इस प्राण साधना के द्वारा ही चित्त (मन) वश में हो पाता है। जिस साधक ने साधना द्वारा प्राण और मन को वश में कर लिया है वही योगी है, वही जितेन्द्रिय है, और वही सुखी होता है। अन्य व्यक्ति अर्थात् जिन लोगों ने प्राण साधना न करके विविध शास्त्रों में तर्क वितर्क करते हुए समय व्यतीत कर डाला है वे न तो मोक्ष का मार्ग जानते हैं और न परमात्म तत्त्व को ही जान पाते हैं।

Siddhi in this prana sadhana is attained by the grace of a siddha guru (teacher). By this prana sadhana, mind is controlled. The sadhak, who has controlled his prana breaths and mind with thehelp of sadhana,

1. प्रकाश्यते. क.
2. देखिये-आदिनाथेन संकेता अष्टकोटिप्रकीर्त्तिताः।। दत्तात्रेय योगशास्त्र

Scanned by CamScanner

259-261. हे सांकृति, वह उपर्युक्त अष्टाङ्ग योग का मार्ग कवि मार्ग अर्थात् **शुक्राचार्य** उपदिष्ट मार्ग है। अग्रिम पंक्तियों में **सिद्ध मुनि कपिल** आदि के मतों का कथन करूँगा। वस्तुतः अभ्यास भेद के कारण ही ये भेद हैं, फल दोनों के समान हैं।

259-261. O Samkriti! I told you the ashtanga-yoga, the yoga which has eight parts in it i.e. Yama, Niyama, Asana, Pranayama, Pratyahara, Dharana, Dhyana, and Samadhi, the **Ashtanga yoga** was investigated and taught first time by Kavi **Shukracharya**. Now I will teach you the way of yoga which was accepted by Siddhas like **Kapila** etc. The difference of the two is only in the way of practice, the result of the two is the same.

262. महामुद्रां प्रवक्ष्यामि भैरवेणोक्तमादरात्।
263. पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।[1]
264. प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद् दृढम्।[2]
265. चिबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद् वायुना पुनः।[3]
266. कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेद्।[4]
267. वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन चाभ्यसेत्।[5]

262-267. इसके अनन्तर मैं **महामुद्रा** का कथन करूँगा, जिसका उपदेश भैरव ने अत्यन्त आदरपूर्वक किया था। महामुद्रा करने के लिए बायें पैर की एड़ी को योनि स्थान पर रखते हुए दक्षिण पैर को फैलाकर दोनों हाथों से पकड़ें और ठुड्ढी को हृदय से लगाकर वायु अन्दर खीचें तथा यथाशक्ति कुम्भक करके प्राणों का रेचन करें। इस प्रकार बायें अंग (पैर) से अभ्यास करके दाहिने पैर से उतने ही काल तक अभ्यास करें।

[नोट—चिबुक को हृदय पर लगाना जालन्धर बन्द कहलाता है, यह बन्ध कुम्भक के समय पूरक के बाद लगाया जाता है, अतः यहाँ बायां पैर फैलाकर दाहिने नासारन्ध्र से पूरक करके जालन्धर बन्ध करते हुए हाथों से पैर के तलवे को पकड़ना और कुम्भक करना यह क्रम विवक्षित है।]

1-5. वही 1.112-114 ।

Scanned by CamScanner

263. Now I will teach you Mahamudra which was taught by Bhairava with great regard to it.

Mahamudra :

263-267. While performaing the Mahamudra the heel of the left foot should be put at the base of the vagina, stretching the right leg at the length, it should be held firmly by both hands, the chin should be put at the place of heart (chest), inhaling the breath, Kumbhaka should be performed for as much time as he can. There after he should exhale the breath. After exercising it by left side, it should be practised by right side too.

268. प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि विन्यसेत्।[6]

269. अयमेव महाबन्धो मुद्रावच्चामुमभ्यसेत्।[7]

268-269. जो पैर फैलाया हुआ है, उसकी जंघा पर दूसरे पैर को रखे यह **महाबन्ध** कहलाता है। **महामुद्रा** के समान ही इसका भी अभ्यास करे।

Mahabandha:

268-269. If the leg, which was stretched in Mahamudra pose, be kept on the thigh, then this posture is called Mahabandha. This too should be practised like Mahamudra.

270. महाबन्धस्थितो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।

271. अयमेव महाबन्धः सिद्धैरभ्यस्यते नरैः।।[8]

270-271. **महाबन्ध** में स्थित योगी अपने कूल्हों (नितम्बों) पर धीरे-धीरे वायु का आघात करे। इस महाबन्ध का अभ्यास सिद्ध पुरुष करते हैं।

270-271. Yogin sitting in Mahabandha on the earth should strike the ground with the buttocks gradually (so that Prana courses through Sushumna). This Mahabandha is generally practised by siddhas (siddha-yogins).

272. अन्तः कपालकुहरे जिह्वां व्यावर्त्त्य बन्धयेत्।[9]

273. भ्रूमध्ये दृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी।।[10]

6-8. तुलनीय वही 1.114-115 ।

9-10. तुलनीय वही 1.117-119 ।

Scanned by CamScanner

272–273. जिह्वा को ऊपर की ओर पलटकर अन्तःकपाल के छिद्र में निबद्ध करे और दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करे इसे **खेचरी मुद्रा** कहते हैं।

Khechari-Mudra :

272-273. To turn and put the tongue into the palatel hole and to concentrate the vision in the centre place in between the two eyebrows, is called the **khechari Mudra.**

274. कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढमिच्छया।[1]

275. जालन्धरो बन्ध एष ह्यमृतद्रवपालकः॥[2]

274–275. दृढ़ इच्छा पूर्वक कण्ठ को सिकोड़कर हृदय पर स्थापित करे, इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं। इसे **अमृतद्रव** का रक्षक माना जाता है।

Jalandhara Bandha :

274-275. Putting the chin on the chest with well concentrated mind is called Jalandhara-Bandha. This bandha is the protecter of the Amrita-drava, the liquid which can make a man immortal.

276. नाभिस्थोऽग्निः कपालस्थसहस्रकमलच्युतम्।

277. अमृतं सर्वदा तावद् अन्तर्ज्वलति देहिनाम्॥

276–277. कपाल (शिरा) में स्थित सहस्रदल कमल से टपकनेवाले अमृतद्रव (अमृतस्राव) को सभी प्राणियों की नाभि में स्थित अग्नि अन्दर ही जलाती रहती है।

276-277. This Amrita-drava comes out from thousand patalled-lotus which exists at skull, this dripping Amrita-drava is burnt immediately by the fire residing at navel in the body of every man.

278. यथा चाग्निस्तदमृतं न पिबेत्तु पिबेत्स्वयम्।

279. याति पश्चिममार्गेण एवमभ्यासतः सदा॥

280. अमृतं कुरुते देहं जालन्धरमतोऽभ्यसेत्।

1–2. तुलनीय वही 1.117–119 ।

Scanned by CamScanner

278–280. अग्नि उस अमृत को न जलाए बल्कि स्वयं उसका पान कर सके, इसी प्रकार इसका अभ्यास करे, फलतः वह अमृत विपरीत धारा से चलने लगता है, और शरीर को अमृत कर देता है, अतएव जालन्धर का अभ्यास अवश्य करे।

278-280. By practice of this bandha, the navel-fire would not be able to burn it, but it would dry in the lotus itself, the result of this pratice of Jalandhara-bandha is that the body of yogin becomes immortal; thus it must be practised.

281. उड्ड्याणं तु सहजं गुणौघात् कथितं सदा।
282. अभ्यसेत्तदस्ततन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्।
283. नाभेरुर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
284. षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयेदेव न संशयः।।

281–284. उड्ड्याणबन्ध तो अपने गुणों के कारण सहज भाव से ही उड्ड्याण कहा गया है, इसके अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो जाता है, अतः निरालस होकर इसका अभ्यास करे। इसे करने के लिए नाभि के नीचे और ऊपर दोनों ही भाग को प्रयत्नपूर्वक पीछे की ओर ताने। छः महीने तक इसके निरन्तर अभ्यास से निस्सन्देह साधक योगी मृत्यु पर विजय पा लेता है।

Uddiyana-bandha :

281-282. The Uddiyana-bandha is most easy (moderate) and most useful. When a yogin makes its practice, he would become a young man even in old age.

283-284. To practice Uddiyana-bandha yogin should try to pull draw back the abdomen above and below so that it is drawn against the back of the body. When a yogin practises the Uddiyana-bandha contineously at least for six months, he can over power the death undoubtedly.

285. मूलबन्धं तु यो नित्यमभ्यसेत्स च योगवित्।
286. गुदे पार्ष्णिं तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।

Scanned by CamScanner

287. बारं बारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः।

285–287. योगविद् साधक को चाहिए कि वह मूलबन्ध का नित्य अभ्यास करे, इसके लिए गुदा में एड़ी को दबाकर वायु का बारबार आकुंचन करे, वायु को ऊपर खींचे, जिससे अपान वायु ऊपर आ सके।

Mula-bandha:

285-286. The man who practises Mool-bandha daily is only well verse in yoga. To do practice of Mulabandha yogi should place the heel of a leg under the anus so that it may press the anus, then he should try to force the Apana-vayu to go upward. Yogin should practise it repeatedly so that the Apana-vayu is forced to go upward, although its course is downwards.

288. प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।[1]

289. गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतौ नात्र संशयः।[2]

288–289. मूलबन्ध के निरन्तर अभ्यास से प्राण और अपान, नाद और बिन्दु एक हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप साधकों को योग की सिद्धि अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की एकता प्राप्त हो जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

288-289. Prana and Apana, Nada and Bindu become one through Mulabandha, although these two are separate. When these two becomes one, this makes yogin successful in yoga undoubtedly.

290. करणं विपरीताख्यं सर्वव्याधिविनाशनम्।[3]

291. नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निर्विवर्द्धते।[4]

292. आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः सांकृते ध्रुवम्।[5]

293. अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दाहं करोति वै।।[6]

294. ऊर्ध्वं भानुरधश्चन्द्रः, तद्यथा शृणु सांकृते!

290–294. विपरीतकरण जिसे विपरीतकरणी मुद्रा और शीर्षासन भी

1–2. वही, 1.121–122 ।

3–6. तुलनीय वही 1.122–124 ।

Scanned by CamScanner

कहते हैं, सभी रोगों को नष्ट कर देता है। इसके नित्य अभ्यास से जठराग्नि बढ़ जाती है, अतः साधक के लिए पर्याप्त आहार का प्रबन्ध करना चाहिए। यदि कहीं भोजन में कमी रही, तो अग्नि शरीर को ही जलाने लगता है क्योंकि इसमें सूर्य ऊपर हो जाता है और चन्द्र नीचे। इसका अभ्यास किस प्रकार किया जाए इसका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

Viparitakarani:

290-294. The Viparitakarana annihilates all type of ailment (diseases). If a yogin exercises it daily the gastric fire increases. Thus O Sankriti! sufficient diet should be provided to the practitioner of it (Viparitakarana) positively. If there is unsufficient diet in quality and quantity both, the gastric fire will consume his body within no time, because in this mudra (Posture) the sun comes up and moon comes down.

295. अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने।[7]

296. क्षणात्तु किञ्चिदधिकमभ्यासेन दिने दिने।[8]

297. वलिश्च पलितश्चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।[9]

298. याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु योगवित्।[10]

295-298. पहले दिन केवल एक क्षण शिर को नीचे और पैर को ऊपर करे, दूसरे दिन एक क्षण से कुछ अधिक करे, इस प्रकार प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा अभ्यास को बढ़ावे। इसे अभ्यास से छः मास में ही बालों का पकना और गिरना बन्द हो जाता है। जो साधक इसका अभ्यास एक याम करता है, वही योग का वेत्ता है।

295-296. O Sankriti! now I will explain the way of it's practice. In the Viparitakarana posture the practictioner should stand on his head putting his feet raised upward for a minute in the begining, thereafter the duration of it (standing on his head) should be increased gradually little more than a minute and then minute by minute.

7-8. वही 1.124-125 ।

9-10. तुलनीय वही 1.125-126 ।

Scanned by CamScanner

297-298. When a yogin practises it for one Yama i.e. three hours daily, the diseases like decay (falling) of hair or of gray hair vanishes after six months and he becomes a knower of yoga.

299. वज्रोलिं कथयिष्यामि गोपितं सर्वयोगिभिः।

300. अतीवैतद् रहस्यं हि न देयं यस्य कस्यचित्।

301. स्वप्राणैस्तु समो यो स्यात्तस्मै च कथयेद् ध्रुवम्।

299-301. अब अग्रिम पंक्तियों में मैं सभी योगियों द्वारा गुप्त रखी गयी क्रिया वज्रोलि का कथन करूँगा। यह अत्यन्त रहस्यभूत है, अतः जिस किसी को इसे न दे अर्थात् न सिखाये। जो साधक शिष्य प्राणों के समान प्रिय हो उसे इसका उपदेश, इसकी विधिपूर्वक शिक्षा अवश्य देवे।

Vajroli:

299-301. No I will teach you the Vajroli kriya. This is concealed by all yogins, for it is secret one. Thus it should not be given to any one. It should be taught only a person who is very dear and closed to him like his soul itself.

302. स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना।

303. वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनः।।

302-303. योग की अन्य साधना न करता हुआ भी स्वेच्छा पूर्वक विचरण (व्यवहार) करके भी जो **वज्रोलि** को जानता है, वह सिद्धियों को प्राप्त करता है।

302-303. The yogin, who knows Vajroli, must get success in the yoga, whether he follows the rules of yoga, or he lives a life according to his will only.

304. तत्रवस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं येन केनचित्।

305. लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिकरं स्मृतम्।।

304-305. **वज्रोलि** साधना के क्रम में जिन दो वस्तुओं का कथन कर रहा हूँ वे उसे योग में सिद्धि प्रदान कर देती है, वे हैं–

Scanned by CamScanner

304-305. In connection on Vajroli I am telling you two thing which are generally rare for any one, If these two could be got, it gives perfection in yoga.

306. क्षीरमाङ्गिरसं चेति द्वयोराद्यं तु लभ्यते।
307. द्वितीयं दुर्लभं पुंसां स्त्रीभ्यः साध्यमुपायतः।
308. योगाभ्यासरता स्त्री च पुंसा यत्नेन साधयेत्।

306-308. दूध और आङ्गिरस अर्थात् वीर्य। इसमें प्रथम तो मिल जाता है, किन्तु द्वितीय अत्यन्त दुर्लभ है। पुरुष साधक स्त्रियों की सहायता से इसे उपाय पूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार योग का अभ्यास करने वाली स्त्री, पुरुष की सहायता से यत्नपूर्वक इसे प्राप्त कर सकती हैं।

306-308. These two things are the milk and Angirasa-drava i.e. the semen. Vajroli should be performed with these two, but the second one is very rare. It should be obtained by a yogin through woman by personal contact, and a woman yogin (yogini) should try to get it from male person by efforts.

309. पुमान् स्त्री वा यदन्योऽन्यं स्त्रीपुंस्त्वानपेक्षया।
310. स्वप्रयोजनमात्रैकसाधनात्सिद्धिमाप्नुयात् ।।

309-310. अथवा स्त्री और पुरुष साधक एक दूसरे की सहायता से इसकी साधना कर सकते हैं। इस साधना क्रम में उनमें स्त्री-पुरुष अर्थात् पति-पत्नी भाव नहीं आना चाहिए अर्थात् उभयगत संभोग सुख आस्वाद की कामना भी नहीं होनी चाहिए, केवल अपने प्रयोजन मात्र की साधना के लिए सहायता लेते हैं तो उन्हें अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है।

309-310. If the male and female sadhakas (yoga-practitioners) leaving aside the feeling that the helper (partner) is a person of opposite sex (and saxual feeling) contacts each other only for Vajroli practice they will get siddhis in it through practice.

311. चलितो यदि बिन्दुतमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।
312. एवं च रक्षितो बिन्दुर्मृत्युं जयति तत्त्वतः।।

Scanned by CamScanner

313. मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

314. बिन्दुरक्षाप्रसादेन सर्वं सिध्यति योगिनः।।

311–314. इस साधना क्रम में यदि **बिन्दु** चलित हो जाए तो उसको ऊपर खींच करके रक्षा करे। इस प्रकार से रक्षित बिन्दु तत्त्वतः मृत्यु पर विजय प्रदांन करता है क्योंकि बिन्दु के पतन से मृत्यु और बिन्दु की रक्षा से जीवन अर्थात् अमरता प्राप्त होती है। बिन्दु रक्षा के फलस्वरूप योगी को सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है।

311-312. When the sadhaka or sadhika comes in contact with the person of apposite sex (In the position of sexual intercourse) the semen comes out form male-organ. Then he or she should try to take it back. If the sadhaka (or sadhika) gets success to take it back, he gets victory on the death perfectly.

313-314. Because this is the fact that death comes only by loss of bindu i.e. semen, and the life stands still by bindu-dharana (by the protection of semen). Thus by proteching the bindu, the yogin gets success everywhere.

315. अमरोलिस्तद्यथा स्यात् सहजोलिस्ततो यथा।

316. तदभ्यासक्रमः शस्यः सिद्धानां सम्प्रदायतः।

315–316. वज्रोलि के समान ही **अमरोलि** और उसके बाद **सहजोलि** भी की जाती हैं, किन्तु इनके अभ्यास का क्रम सिद्ध सम्प्रदाय से सीखना चाहिए।

315-316. Amaroli and Sahajoli kriyas should be practised after getting perfection in the Vajroli, and the way of practice of the two may be known through traditional school of siddhas.

317. एतैः सर्वैस्तु कथितैरभ्यसेत्कालकालतः।

318. ततो भवेद् राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम्।[1]

319. न दिङ्मात्रेण सिद्धिस्स्यादभ्यासेनैव जायते।

1. वही 1.129

Scanned by CamScanner

317-319. योगी को चाहिए कि इन सबका समय-समय से अभ्यास करे, तभी राजयोग की साधना पूर्ण सफल हो पाती है, अन्यथा नहीं। साथ ही यह सिद्धि निरन्तर अभ्यास से मिलती है दिङ्मात्र से अर्थात् नमूने की भाँति थोड़ा कुछ कर लेने से नहीं।

317-319. A yogin who wants to get success in these should practise all these above said kriyas one by one. Only then he will get success in Rajayoga, otherwise it is impossible. The perfection can be achieved by constant practice only, not by learning it merelly.

320. राजयोगं वरं प्राप्य सर्वसत्त्ववशङ्करम्।
321. सर्वं कुर्यान्न वा कुर्याद् यथारुचिविचेष्टितम्।

320-321. सभी प्राणियों को वश में करने में समर्थ इस श्रेष्ठ राजयोग में सिद्धि पूर्ण सफलता मिल जाने पर योगी और कुछ चाहे करे या न करे। वह अपनी इच्छानुसार व्यवहार करे।

320-321. After getting perfection in Rajayoga, which gives the power to control all the creatures, he may or may not do any kind of Sadhana. He can act according to his will.

322. यथान्तरा च योगेन निष्पन्ना योगिनः क्रिया।
323. तदावस्था हि निष्पत्तिर्भुक्तिमुक्तिफलप्रदा।

322-323. इसके अनन्तर साधक योगी जो क्रियाएं करता है, वह **निष्पन्ना** अवस्था कहलाती हैं। यह अवस्था हर प्रकार के भोग और मुक्ति दोनों प्रदान करती है।

322-323. Even after achieving this stage if yogin performs practice of it (Rajayoga), he reaches the stage of Nishpatti, the full perfection in yoga. This stage (Nishpatti avastha) provides the full enjoyment and Moksha, the final liberation from bondage.

324. सर्वं ते कथितं ब्रह्मन् सांकृते योगमाचर।
325. इति तस्य वचः श्रुत्वा सांकृतिर्योगमाप्तवान्।
326. सर्वसिद्धिमवाप्यासौ दत्तात्रेयप्रसादतः।।

Scanned by CamScanner

चौपाई ।।

मन पवन गगन कीं जावे । भ्रमर गुफा के मांहि समावे ।।
जाके सास उसासन होए । यह परमसमाधि विधि जाणे कोए ।।२०।।

शक्ति अपान ऊर्ध कों ल्यावै । शिवमंदिर में जाए समावै ।।
जब हो नाद बिन्द का मेला । चंदसूरज एक घरि में मेला ।।२१।।

प्रकृति पुरुष का मेल कहावै । चंद्र के घरि सूर समावै ।।
सूरज धरै चंद्र के मांही । तब काया की छाया नांही ।।२२।।

सो जोगेश्वर ब्रह्म सरूपा । जीवनमुक्ति कहै मानोभूपा ।।
जाके नाद बिन्द थिर होए । वासमपूज्य और नहिं कोए ।।२३।।

दोहा । अहर निस जोगाभ्यास में, सदा रहै लौलाए ।
परसमाधि सुख सौं लहै, जम को धक्का दे जाए ।।

शिष्य उवाच ।।

प्रभु जी यम नियम आसन कहै, प्राणायाम प्रत्याहार ।
धारणा ध्यान समाधि की, भिन्न कह्यो बिचार ।।
अष्ट अंग ए जोग के, जाको पायो भेव ।
अप मुद्रा की भांति को, सो कहिए गुरु देव ।।

श्री गुरुउवाच ।। दोहा ।।

अथ मुद्रा ।।

मुद्रा है बहु भांति की, जाको लहै न पार ।
तामें दस प्रधान हैं, तिनकों कहूं बिचार ।।

Scanned by CamScanner

श्लोक ।

महामुद्रा महाबंधी, महावेध सु खेचरी ।
उड़ीपाणी मूल बंधी, ततो जाले धराभिध ।।

करणी विपरीताख्या बज्जौलि शक्ति चालतं ।
एतेन मुद्रादशकं जरामरणं नाशनं ।।

आदिनाथोदितंनित्यमष्टैश्वर्य प्रदायकं ।
बल्लभं सर्व सिद्धांनां दुर्लभं सर्व साधकां ।।

दुर्लभं मरुतामापि गोपनीयं प्रयत्नता ।
यथारक्तकरंड़स्यबित्नेवक्तव्य एव च कुलस्त्रीपतिरतं तथा ।।

अब ए सर्व मुद्रा भाषा करि कहते हैं।

गुरु के प्रसाद ते कैसी है ए मुद्रा, सर्व सिद्धि की दाता है ।
सिद्धां के यह बहुत बल्लभ हैं। काहे तें जो पवन को बस ।
करबौ दुर्लभ हैं । तातें दस मुद्रा श्री आदि नाथ जी
कही हैं । जरा मरन दूर करवे कों समर्थ हैं ।
अरु गोप्य है याको गोप्य रखिए ।।

अथ महा मुद्रा ।।

बामां पग की एड़ी लीजै । योनि द्वार के नीचे दीजै ।।
दाहिणी पग पसारे ल्यावो । दोऊ करते पकड़ो फावो ।।२४।।
गोड़ां ऊपर धरे ललाट । बायू पूरे मुख की बाट ।।
तालू मूल लंवका देवे । अपान वायु ऊर्ध कीं लेवे ।।२५।।

कुंभक राखे शक्ति प्रमान । रेचक करे पिंगला आन ।।
चंद्र चले तब करे अभ्यासा । सूरज पूर्क चंद्र निकासा ।।२६।।

Scanned by CamScanner

चंद पूर के कुंभक राखे । फिर सूर्ज रोचक करि नाखे ।।
द्वादशप्राणायाम ऐसौ करीजै । पीछे मुद्रा विसर्जन कीजै ।।२७।।

बामेंदक्षिण अंगकरे अभ्यासा । या मुद्रा का बड़ा तमासा ।।
य खेचरी को नाम । जोगी साधे पूरण काम ।।२८।।

महासिद्ध कौ दायक येही । काल पास को मेटे तेही ।।
सकल पवन ऊर्ध आवै । त्रिवेणी में जाए समावै ।।२९।।

प्रयागादि तीर्थ जहाँ । केदार नाथ धाम है तहाँ ।।

अथ महा वेध ।।

बाईजांघ ऊपर दाहिणी ल्यावे । दाहिणी ऊपर बांई ल्यावे ।।
दोऊ हाथ धरती पर धरे । आसन उठाए अधर तन करे ।।३०।।

निश्चल मन करि पूरे बाए । ईड़ा पिंगला बँध लगाए ।।
उछलि उछलि धरनी पर परै । बार बार ऐसी बिध करै ।।३१।।

षट् चक्र को बेधे कोए । बज्र कपाट को भेदे जोए ।।
अग्नी उपजे अमृत झरे । महा बेध एता गुन करे ।।३२।।

पसेव चले सो मर्दन करीजे । माया बीज स्मरन कर लीजै ।।
सने सने करि छेदे प्राना । यातें पावे षट् निर्वाना ।।३३।।

गगन गुफा ते अमृत ल्यावे । सर्व देह का रोग नसावे ।।
स्वेत बाल ने काला होए । जरामृतक का भय नहीं कोए ।।३४।।

महा वेध है याको नामा । साधिक लहै ब्रह्म को धामा ।।
महा सिद्ध कों देवै ये है । ब्रह्मअगन प्रदीप्त करे है ।।३५।।

महा मुद्रा महा बँध भाई । महा बेध ए तीन गुन गाई ।।
उत्तम साध जे इनकी सेवे । अष्ट सिद्ध ये उनको देवे ।।३६।।

निर्मल कोमल सूक्ष्म गाता । अणि मादिक सबगुणके दाता ।।
इनके साधू राखे गोप्य । भले शिष्य को दीजै सौंप ।।३७।।

Scanned by CamScanner

दोहा

एक भेद कर जाणिए, नाम धरे ये तीन ।
गोप्य वस्तु परगट करी, सुनिए शिष्यप्रबीन ।।

खेचरी की क्रिया कहत हैं भाषा में ।।

चौपाई।।

अथ खेचरी कौ आरंभ । जासों होए पवन को थंभ ।।१।।

ताको क्रिया करै यह रीत । शिव के बचन करीं प्रतीत ।।
प्रथम सेंधा लौन मगावै । तामें हरड़े मिरच मिलावै ।।२।।

महीन पीस करि चूरन कीजै । चुटकी भरि जिह्वा तल दीजै ।।
आंगुरी अग्र मख माहीं घालै । जीभ तले की नस को चाले ।।३।।

बँध रूप ते नस है होए । एक पख में परगट होए ।।
निर्मल शस्त्र तीक्ष्ण धारा । थूहर पत्र ऐसे अकारा ।।४।।

तासों काटे वेनस की जाला । सनै सनै एक रूंवाला ।।
महीन कपड़ा की बाती कीजै । चूरण मिलाए ता ऊपर दीजै ।।५।।

निस दिन जपै मंत्र का जाप । ऊर्ध्व जिह्वा करि राखे आप ।।
आठवें दिन आदित्य के बार । रोम मात्र कीजै प्रहार ।।६।।

जिह्वा उलटि तालुवै जावै । तब लग यह आरंभ करावै ।।
पीछे दोहन कीजे बीर । अपनो मन करि राखे धीर ।।७।।

चौखो कोमल बस्तर लीजै । जलमें भिजोए रसना पर दीजै ।
दोऊकरि पकड़ि मुख बाहरखैंचे । बाएँ दाहिणी ऊँचै नीचै ।।८।।

निज मन सुरत मंत्र में धरै । ब्रह्म महुरत में दोहन करै ।।
भ्रू के मध्य सपर से जाए । जौलों दोहन करै चित्त लाए ।।९।।

Scanned by CamScanner

ब्रह्म बिवर कौं जबहौं पावै । जोग शास्त्र में ऐसे गावे ।।
साधिक तपे मनोरथ होए । पीछै साधनि करैं न कोए ।।१०।।

सकल जीव की मेटे उपाधि । सहज भाए सुख लगे समाधि ।।
कामधेनु यह खेचरी जानी । अमृत कला नदी परमानी ।।११।।

जाके थन हैं चार स्थान । जोगी पीवे अमृत पान ।।
खाटा खार मुख नहिं देवे । दूध भात घृत भोजन लेवैं ।।१२।।

साधन बिघे तमोल न खाए । षट् मास लग कहीं न जाए ।।
मौन गहै बोले नहिं कोए । पंच लक्ष जाप नेम ते होए ।।१३।।

खेचरी मुद्रा यहौ सिद्ध जान । मंत्र बिन महा दुख खान ।।
तातें कीजै मंत्र का जाप । बधैं लंबिका आपे आप ।।१४।।

ब्रह्म बिवर कों भेटे जाए । यह खेचरी मुद्रा नाम कहाए ।।
जिह्वा आंगुल चार बधावे । भ्रू मध्ये तब जाए समावै ।।१५।।

मेलक मुद्रा ताको नाम । जातैं लहैं ब्रह्म को धाम ।।
सिद्ध आसन पद्मासन करै । उलटी लंबिका ताल बेधरै ।।१६।।

गंग जमन का रोके घाट । तब उलटे पवन पछिम की बाट ।।
जब पवन उदर में समादी जै । अर्ध उर्ध्व दोउ संपुट कीजै ।।१७।।

लंबिका उलटि त्रिकुटी धरै । उलटे वाय गगन में फिरै ।।
जन्म जन्म अभ्यास करि आवै । खेचरी मुद्रा सोई फल पावै ।।१८।।

मेलक मुद्रा बिरला लहै । पार्वती सौं शिव जी कहै ।।
कपाली बिवर में जीह्वा देवै । विपरीत क्रम करि उलटी लेवै ।।१९।।

भ्रू मध्य देखे शिव के धाम । खेचरी मुद्रा याको नाम ।।
जाको रोग मृत्यु नहिं आवै । क्षुधा तृषा नहिं सतावै ।।२०।।

निद्रा मूर्छा नाहीं होए । खेचरी मुद्रा साधे सोए ।।
सोला कला संपूर्ण चंद । सदा बसै जोगी के संग ।।२१।।

Scanned by CamScanner

कदापि काल जो ताकौ खावै । ता जोगी कों बिख न ठावै ।।२२।।

ऊर्ध जिह्वा करि मन थिर झाल । जो अर्ध मास में जीते काल ।।
खेचरी स्तुति रूद्रा दी गाए । सो मृत्यु जीव मुखकहीनजाए ।।२३।।

सिद्ध साधिका बिदै प्रमाम । नमो खेचरी परम पद धाम ।।
प्रथम चाल न छेदन करहीं । प्रवेस ये मंथन चित्त धरहीं ।।२४।।

पादे दोहन मंत्र को जाप । एषट् अंग जोगीजाणेशिवआप ।।

दोहा ।।

अणिमादिक हाजर रहै, अक्षर रुप बनाए ।
मन मुद्रा को फेर कर, दीजै चित्त लगाए ।।
यह मुद्रा है खेचरी, पावै बिरला कोए ।
पूरा सतगुरु आ मिले, तब शिव की कृपा होए ।।

अथ खेचरी सिद्ध के।।

अर्थ मंत्र के अंग के अंक कहते हैं।।

अथ मंत्रवाहन।।

श्री खेचरी समर्पणम्।।

ओं अस्य श्री खेचरी मंत्रस्य कपिलऋषिसिद्धि अनवासेन ।
खेचरी मुद्रा प्रसाद सिद्धयार्थे जपे विनियोगः ।।

अथ न्यासः ।।

ओं ह्रीं गं हृदयायनमः । संशिर से स्वाहा ।
नंशिखयैवौषट् भं कवचायहुं ।।
फ नेत्र त्रयायवौषट् । लं सअस्त्रायषट्
ओं ह्लीं ह्लीं हं हैं हौं हः ।।

अथ ध्यानं ।।

आधार पदमवत्त खेचरी रांगहंस मंत्रमहा गगन निवास विभाप्रलेखं । आनंद बीजकमलनं गरियोपुरंधरमा ब्रह्मलोक जननीमभिवादयेत्वं ।। मूलाल बालकुंहरा । दुहिता भवानीभियषट् सरसीयत नाड़ीदसतेज भूयोपितंत्रयससी च मंड़लें दुनिसपंद परमामृत मुष्टे रूपागसन मतफलं ।। ओं ह्रीं ग सनमः। फल अविस्वफे मंत्रः।।

चौपाई।।

सर्व शास्त्र मत फीका लागे । जप होमादिक कर्म सब त्यागे ।।
धर्म अधर्म के बंधनि दहै । जोगी जोग में निश्चल रहै ।।१।।

सिद्ध आसन की बैठक कीजै । बांई एड़ी जोनि बिच दीजै ।।
दाहिनी एड़ी नाभी तल धरै । चरण अंगूठा ला बिच करै ।।२।।

सूधा राखे सकल सरीर । हृदे ढ़ाडी धरै सुधीर ।।
भ्रू के मध्य दृष्टि को राखैं । लंबिका उलटि अमी रस चाखै ।।३।।

अपान वाय मूल स्थान । प्राण वाय हृदय में जान ।।
प्राण अपान एक कर भाई । कुंडलनी कै मुख्य माझ समाई ।।४।।

मूल चक्र सों पवन चलावै । षट् चक्र भेद ब्रह्म रुद्र में आवे ।।
वै पवन सूरज है भाई । सो चंद्र मंड़ल में आन समाई ।।५।।

सूरज केतु सु चंद्रा द्रवै । उष्णता तै अमृत स्त्रवै ।।
जो अमृत बहुत ह्वै भाई । नासिका द्वार निकसै आई ।।६।।

सो अमृत पात्र में लीजै । सब देही को मर्दन कीजै ।।
जाते होवे कोमल अंगा । रोग न आवै रहे तन चंगा ।।७।।

सकलनाड़ी जातें सूधी होए । रक्त ग्रंथ रहै नहि कोए ।।
मुख मारग जावा नहिं देवे । मूर्ख कद कंठ बिच लेवै ।।८।।

तहाँ सोलाकलासहित आत्मप्रगासै । जन्ममरणकेसबदुःखनासै ।।
अमृत पान करि आनंद पावै । विशुद्ध होए मुक्ति को पावै ।।९।।

Scanned by CamScanner

बहुरि अमृत हिरदा में आवै । तहाँ अनाहद टक्र महाआनंद पावै ।।
द्वादश कला सूरज प्रगासै । बहुरि अमी भूमि में आवै ।।१०।।

अनेक जन्म के पातक नसावै । मणि पूरक चक्र संतुष्ट रहावै ।।
दस दल कमल अग्नि समान । तामें अमृत बहुत करि जान ।।११।।

इंद्रादिक देव संतुष्ट होए । सकल देवन गंधर्व सोए ।
दक्ष प्रजापति आनंदपावै । वासाधिक के दरसन आवै ।।१२।।

अमृत चल अधिष्ठान में आवै । तहाँ ब्रह्मादिक तृप्ति को पावैं ।।
बहुरि आवै अमी मूल स्थान । तहाँ कला है पंच निधान ।।१३।।

सुधा सुधा मय प्रज्ञा भाई । काल धनीज्ञान दीपनीय पंच गनाई ।।
ए पंच कला तृप्ति रहावै । अमृत बाहर जब चलि आवै ।।१४।।

सो अमृत सब अंग लगावै । मन को रोक ओं स्वर गावै ।।
कोमल होए सुधी सकलशरीरा । सुगंध उड़े मानो अगर अबीरा ।।१५।।

जोगी जोग करै अमर होए । करण कारण समर्थ बै सोए ।।
अपान आकर्ण के गुण कहै न जावै । रुद्रादिकशिवआपमुखगावै ।।

दोहा

यह जोग यह जुक्ति है, यह मुद्रा यह ध्यान ।
मूल बँध अरु खेचरी, कोई खोजे संत सुजान ।।

चौपाई ।।

खेचरी मुद्रा जाणो येही । ऊर्ध विचार से जिह्वा देही ।।१६।।

जा के संग बहु काम न होए । ताको बिंद खिरे नहि कोए ।।
जिह्वा तले अंबिका कहिए । तालुका अर्ध लिंग सी लहिए ।।१७।।

ताके ऊपर घंटि का जाणो । लंबिका ता ऊपर मानो ।।
खेचरी कामधेनु धन है एही । या कूं चूखे जोगी जेही ।।१८।।

आकास गंगा पीवै नीर । तब रुधिर पलटि होवेगा क्षीर ।।
अमर वारुणी रसना करि पीवै । लक्ष बरस वै जोगी जीवै ।।१९।।

ताके बल का यह अनुमान । नव हजार हाथी प्रमान ।।
जिह्वा ऊपर सरस्वती रहै । अनभै अर्थ अगम की कहै ।।२०।।

देव अप्सरा दर्शन आवै । इच्छा करै तो संग रहावै ।।
अपनी इच्छा करि कै सारै । विहंगम की गति मन में धारै ।।२१।।

जीवन मुक्ति रमै अवधूता । जैसे सनकादिक ब्रह्म के पूता ।।
दूर श्रवण दूर की देखै । सकल विश्व पिंड़ में पेखै ।।२२।।

साक्षात सिद्धशिवरूप समाना । तासौं ब्रह्मांड़नाहीं कछु छाना ।।
खेचरीमहिमाशिव आपहिगाई । पार्वती को कही समुझाई ।।२३।।

सिद्ध आदि कपिलमुनि ज्ञानी । यह मुद्रा ताकै मन मानी ।।

दोहा

अनेक जन्म अभ्यास तें, मेलक मुद्रा होए ।
ब्रह्म द्वार को जा लगै, तब परम समाधि सुख होए ।।

सोरठा ।।

कठिन खेचरी जान, गुरुप्रसाद करि पाइए ।
रुद्राणी निज रुप, साक्षात् शिव बल्लभा ।।

अथ उड़ियान बँध ।।

उड़ियान बँध को जोगी करै । अपान खैंच प्राण में धरै ।।२४।।

नाभी लगे पीठ सौं जाए । उड़ियाननाम यह बँधकहाए ।।
उड़ियान मंत्र का कीजै जाप । तब अपानवायबसहोवेआप ।।२५।।

Scanned by CamScanner

यह मुद्रानी कै सिद्ध आवै । जो जोगी को मृत्यु नहिं आवै ।।
जैसे पंखौ गगन को धावै। निराधार होए आप रहावै।।२६।।

ऐसे हदें थिर करे प्राण। तासौं कहिए बँध उड़ियान ।।
उड़ियान बँध प्रीति सौं करै। सहज सुभाएअभ्यास मन धरै।।२७।।

स्वास उसासा समावै काए। वृद्ध होएसु तरुन होए जोए।।
छै मास लग करै अभ्यासा। जाको अमर होन की आसा।।२८।।

सकल बँध में उत्तम जाणी। दृढ़ भये मुक्ति परमाणी।।

दोहा

सिंह देख हाथी ड़रे, त्यों जोगी देखे काल ।
यह बँध जाके भयो, तब नहिं मृत की ताल ।।

अथ पंच मूल बँध मुद्रा भाषा।।

चौपाई।।

बामां पाव की एड़ी मोड़ी । गुदा जोनि के बीचे जोडी ।।२९।।

दाहिनि एड़ी नाभी तल धरै । उत्तम युक्ति क्रिया की करै ।।
मेरु दंड़ को ल्यावै । मूलबँध मुद्रा यह कहावै ।।३०।।

जोगी होए सु याकों जाने । तासों बस्तु कछू ना छानै ।।
अपानवायकी अधोगतिजानै । ताकों फेरि उर्ध्व कों आनै ।।३१।।

बलात् कारते अकिंचन काजै । अधो जात ऊर्ध्व कों लीजै ।।
स कौचन है याको नाम । मूलबँध रहे आठो जाम ।।३२।।

जोनि द्वार बिच एड़ी देय । बार बार अपूटो लोय ।।
सनै सनै सब वाय समावै । बंक नाली की मारग पावै ।।३३।।

अपान बायआपे थिर रहै । मूलबँध को जोगी लहै ।।
प्राणअपान नादबिंदहोए । मूलबँध की एकता होए ।।३४।।

Scanned by CamScanner

तबहीजोग सिद्धि को पावै । ईच्छा धरै सोय बन आवै ।
अपान प्राण जब एके होए । जा घड़ी मल मूत्र नहिं कोए ।।३५।।

बूढ़ा होए जवान समान । जोबँध राखे बाय अपान ।।
अपान बाय ऊर्ध को आवे । अग्नि मंडल में जोए समावे ।।
अग्नि शिखा तब दीर्घ होए । तब अनाहद प्रगटे जोए ।।३६।।

शब्द अनाहद धुनि हैं ताहीं । दीपक चले अखंड़ता मांही ।।
जामैं मन पतंग लय आवै । विष्णु परमपद यह कहावै ।।३७।।

अग्न अपान सम दोऊ भेला । जोगी लहे प्रान का मेला ।।
सकल पवन उष्णता लागै । तबकुंड़लछांड़ि सर्पणी जागै ।।३८।।

ते कुंड़लनी को लागे ताप । सूधी होए सहज में आप ।।
ब्रह्म नाड़ी में करे प्रवेशा । जाते मिटे सकल अंदेशा ।।३९।।

जोगी अमर होए जग में रहै । करणी कर्त्तव्य कछू ना गहै ।।
जन्म मरण का मेटे मूल । तातें जोगी बाँधे मूल ।।४०।।

मूल बँध ते उलटे बाय । नख सिख पवना रहे समाए ।।
क्षुधा तृष्णा लागे नाहीं । अमृत रमें देह के मांही ।।४१।।

पंच कला मूल के मांही । ताको अमृत पर ले जांही ।।
जोगी जड़े तहाँ बज्र कपाट । बाँधे मूल त्रिवेणी पाट ।।४२।।

मूलबँध परताप तें । हरै देह का रोग ।
नारायण मेंलीन रहै, लहै ब्रह्म रस भोग ।।

मूलबँध्या तब सब किए, पीछे करणी कोंन ।
सबबिधि पावे सहज में, जो दृढ़ करि राखै पौन ।।

चौपाई।।

अथ जालंधर बँध मुद्रा स्वास।।

जोग आसन बैछक कीजै । ड़ाढी कंठ मूल में दीजै ।।
त्रिवेणी मध्य दृष्टि कों राखै । या को जालंधर मुद्रा भाखै ।।४३।।

Scanned by CamScanner

ईड़ा पिंगला बँध लगावे । सकल पवन ऊर्ध को आवे ।।
अमृत पड़े अगन में जाए । पवन बँध को यह उपाय ।।४४।।

जालंधर ऐसे कर भाई । कमल स्थान में बँध लगाई ।।
नीची ग्रीवा हृदे धरै । ऐसी बिध जालंधर करै ।।४५।।

मूल स्थान अंकिचन करै । नाभी जाए पाठ सौं अरै ।।
गंग जमन चलती रह जाए । उलटे पवन पछिम को आए ।।४६।।

बाय बँध को यह है कूंची । अधो जाती फेरे ऊँची ।।
या मुद्रा को फल है येही । षोड़श बरस की भोगे देही ।।४७।।

दोहा

मूलबँध उड़ियान है, जालंधर बँध तीन ।
इन को हठ कर साध है,सोई सिद्ध प्रवीन ।।
महा श्रेष्ठ तीन बँध, सकल सिद्धि को देय ।
ऐसे भोग या योग में, कोई सिरके साठे लेय ।।

अथ विपरीत करणी मुद्रा ।।
चौपाई ।।

दोऊ हाछ कमर तल धरै । चरण उठाए दोऊ ऊँचा करै ।
देही रहे गरदन के पाण । हाथ जोड़ि गोड़ांबिच आण ।।४९।।

नीचे माथो ऊपर पाऊ । कुंभक राखे सहज सुभाउ ।।
नैना अंतर निज धाम । विपरीत करणी याको नाम ।।५०।।

चंद्र अमृत त्रिकुटी स्थान । नाभी सूर्ज अग्नि समान ।।
अमृत झरै अगनि में परै । तातें देह नष्ट होए मरै ।।५१।।

बहु शास्त्र पढ़ि पंड़ित होए । या मुद्रा को लहे न कोए ।।
गुरु बतावे को भल जानें । चंद्र के घर सूर को आणे ।।५२।।

Scanned by CamScanner

यह उलटा मारग विरला पावे । चंद सूर एक घर ल्यावे ।।
संस्कार ते उलटै पौन । तबक्रम क्रिया की माने कौन ।।५३।।

नेत नेत यों गावै वेद । जाते कैसे पावे भेद ।।
भेद बिना सो जानो खेद । ताते भाषै उलटा वेद ।।५४।।

चंद घर सूर सूर घर चंदा । थिरहोएबिंद अमरहोएकंदा ।।
विपरीत करना कर अमृत पीवे । ताते जोगी जुग जुग जीवे ।।५५।।

हाथ जोड़ी कांकसी करे । ताके लगे सीस को धरे ।।
कपाल टेक अधर हो जाए । नीचे सीस और ऊँचे पाय ।।५६।।

मस्तक आधार धरणी पर रहै । कपाली आसन यासौं कहै ।।
छै मास में पलटे बाल । पहर साधो तो जीते काल ।।५७।।

दोहा

मन चंदा हिरदे बसे, नाभी पवना सूर ।
उलटी मिलभेला रहै, तब अनहद बाजेतूर ।।

अथ नवमी बज्जोली मुद्रा ।।

चौपाई ।।

अपनी ईच्छा होए त्यों रहै । योग में कहै ते लक्षण गहै ।।
बज्जोली को करे अभ्यासा । सकल सिद्धि है ताकी दासा ।।५८।।

प्रथम जोगी अमरी सेवे । मध्य की धार मूत्र सूँ लेवे ।।
बज्जोली के करे आभ्यासा । विषय भोग सींघरो उदासा ।।५९।।

सोला अंगुल नाल बनावै । सनै सनै लिंग मांहि चलावै ।।
तामें पवन फूँक सो भरे । यह मुद्रा गुरु गम सों करे ।।६०।।

ऐसे पवन मारग पावे । बंक नाल में जाए समावे ।।
नाड़ी सरल भई तब जाने । बरतन भरि दूध सों ठानै ।।६१।।

Scanned by CamScanner

इंद्री से बरतन में धरे । उड़ियान बँध अंकिचन करे ।।
लिंग द्वार में दूध चढ़ावै । बज्जौली मुद्रा यह कहावै ।।६२।।

राज जोग का कठन विचारा । समझे बिना न लागे पारा ।।
राज जोग सब ऊपर छाजै । जो साधे सो अधिक विराजै ।।६३।।

राज जोग किया शिव राय । उमा संग सदा रहाय ।।
घृत नहिं ठरे अगनि के पासा । राज जोग का बड़ा तमासा ।।६४।।

पतिव्रता होए जो नारी । तासों रमे जोग व्रत धारी ।।
उड़ियान अंकिचन बँध लगावे । तब उलटे बिंद अपुटी आवे ।।६५।।

करनी कठिन सुगम नहिं भाई । जे चूके तो मूल गमाई ।।
दुर्लभजाणी यह जोग संग्रामा । सूर वीर कोई जीते कामा ।।६६।।

रज बीरज का गुटका होए । तासौं सिद्ध वीर नहिं कोए ।।
सदा प्रफुल्लित परमानंदा । दिनदिन कला बँधे ज्यों चंदा ।।६७।।

अपना रज को राखे नारी । जे बज्जौली सिद्धि पावे सारी ।।
स्त्री पुरुष होए भल कोए । बिंद राखे ते जोगी सोए ।।६८।।

दीसैं संग रहै पुनि मुक्ता । अष्ट प्रकार भोग को भुक्ता ।।
पाप पुन्य कछु स्परसे नाही । जैसे कमल रहे जल माहीं ।।६९।।

राज भोग के लक्षण ऐसे । महा पुरुष बोलत तैसे ।।
जाकों दुःख व्यापे नहि कोए । हरष शोक ताके नहिं होए ।।७०।।

जाको क्षुधा तृषा न सतावे । निद्रा आलस कबहुं न आवे ।।
शीत उष्ण जाके नहिं भाई । जरा न व्यापे काल न खाई ।।७१।।

अग्नि न जले न बूड़े पाणी । राज जोग की यह गति जाणी ।।
अजर अमर अति वज्र सरीर । षडग धार कछू भिदे न तार ।।७२।।

ताको सब देही सूझे । सकल जीव की भाषा बूझे ।।
सर्व सिद्धि आज्ञा में जाके । नव सिद्धि रहे सदाढ़िक ताके ।।७३।।

Scanned by CamScanner

इछा करे तहाँ चला जाय । तीन लोक में अटक न काय ।।
स्वर्ग जाय देवन में बैठे । नाग लोक पातालहि पैठे ।।७४।।

मृत लोक में आपदि पावे । कबहूं परगट होए दिखावे ।।
हृदे प्रकाश रहै दिन राती । देखे जोति तेल बिच बाती ।।७५।।

दोहा

बज्जौली मुद्रा कही जे, बिरला पीवे कोए ।
राजजोग यासों कहै, तासों सबबिधि होए ।।

अथ शक्ति चालनी मुद्रा ।।

चौपाई ।।

कुंड़ि लागी कुंड़ली शक्ति । भुजंगी ईश्वरी सदा रहै ।।
सदा मुखीस्वरी क्यों ब्रह्म द्वार । जोग बिना नहिं पावे पार ।।१।।

विषया जीव जाण नहिं पावे । सर्पणी नागिन सब को खावै ।।
ताते सूं तीन बँध लगाए । मोकोजीत कोई जोगी जाए ।।२।।

गंगा जमना बीचे जोए । ज्योंबालिरंझा तपस्वानीहोए ।।
छल बल करि ताकों बस कीजै । विष्णु परम पद ईह बिधिलीजै ।।३।।

ज्यों कूँजी सों ऐटे ताला । भीतर बैठे ले उजियाला ।।
ऐसे जोगी मुद्रा करै । ह्मब खींच हिरदे में धरे ।।४।।

कुंड़ल छोड़ि सूधा होए जावे । तबही जोगी मारग पावे ।।
सकल पृथ्वी में सरि धारे । ऐसे सब योगी कुंड़लनी सारे ।।५।।

तातेशक्ति चालनीमुद्रा गाऊँ । गुरु प्रताप ते भेद बताऊँ ।।
आधे पहर पाछली राती । जागे सरपणी होए फमाती ।।६।।

बज्रासन करि पवन चलावे । भ्रुवा कुंभक बहुत करावे ।।
रेचक पूरक करे चित्त लाए । चार घड़ी लग एक सुभाए ।।७।।

Scanned by CamScanner

ऐसे करत थकेतो जाने । तब सूरज पूर उदर में आने ।।
कुंभक करि सूधा होए जावे । आसन मुद्रा नहीं छुड़ावे ।।८।।

चंद्र के घर रेचक करे । सूर्य पिंगला पूर उदर में भरे ।।
दोऊ सुर सम सुषमना जाने । तब ही जोगी मुद्रा ठाने ।।९।।

कुंड़लनी में पवन समावे । मध्य नाड़ी में पवन समावे ।।
शक्ति उलटि शिव मंदिर आवे । सुधा होए अमृत को पावे ।।१०।।

कुंड़लनी को छोभ पावे । नाभी छोड़ रागन में आवे ।।
जोगी जन का पूरण काम । शक्ति चालनी याको नाम ।।११।।

यो अभ्यास करे नित छाने । जम राज ताको संका माने ।।
या मुद्रा सों नागिनि जागे । जोगी देख के उलटी भागे ।।१२।।

सर्पणीनागिनी यों अमृतपीवे । तातें जीव कौन विधि जीवे ।।
मुद्राअभ्यास करि मारे ताहि । वा जोगी को काल न खाहि ।।१३।।

अमर होए विचरे जग मांही । ता देही की छाया नाहीं ।।
ताते भ्रषा कुंभकी कीजै । सर्पणी मारि अमी रस पीजै ।।१४।।

भस्त्रा कुंभक करै निरधार । नागिन जागे लागे न बार ।।
गुरु प्रताप सर्पणी मरे । तब जोगी का कारज सरे ।।१५।।

ताको काल मृतक भै नाही । जीवै जब लौ सूर्य रहा ही ।।
सबही तन का मिटै विकार । जोगी पीवे अमृत धार ।।१६।।

कुंड़लनी को मारि जब पावे । तब सकल सिद्धि सहज में आवे ।।
ब्रह्मचर्य व्रत को गहै । यम नियम में नीका रहै ।।।१७।।

शक्ति चालनी मुद्रा अभ्यासे । तब एक मंड़ल में सिद्धि प्रगासे ।।
यासों अधिक कहा कहोंलाल । लीला करत जीते काल ।।१८।।

ए दस मुद्रा गोप्य है भाई । श्री आदिनाथ मछिंदरनाथ को बताई ।।

Scanned by CamScanner

दोहा

गुरुतें मुद्रा पाय के, कहूं प्रगासे नाहिं ।
छैमास लग साधिए तो, जरामरण मिटजाहि ।।
अष्ट सिद्धि जोग में, साधन सों सिद्ध होए ।
सूर होए सो लागा रहे, ते विरला पावै कोए ।।
इति श्री मुद्रा दशप्रोक्तं समाप्तः ।।

शिष्यउवाच ।।

बरनन कीयो जोग को, ध्यान सहित बिस्तार ।
या मारग में विघ्न करत हैं, वै कैसे हैं पटवार ।।

श्री गुरुउवाच ।।

प्रथम विघ्न देह का भाई, जे तो को हम कह सुनाई ।।१९।।

जोग पंथ में जो कोई आवै । ताको मनसा बहुत सतावै ।।
काम क्रोध है ये बड़े बैरी । मान अपमान लोभ की लहरी ।।२०।।

क्षुधा तृषा निद्रा दहै । ईन सों जोगी डरता रहै ।।
यह जिह्वा इंद्री दो निरधार । सब इंद्री में यह सरदार ।।२१।।

इन को जीते जोगी जेही । जाके बस रहावै देही ।।
काया जीतै ध्यान चित्त लावै । ताके सिद्धि विघ्न क्यौं आवै ।।२२।।
भांत भांत के लोभ दिखाए । जोगी का मन देय विचलाए ।।

इति श्री गोरख जोग मंजरी संपूर्णम् ।।

* * * * *

मुद्रा

हठयोग-साधना में योग-सिद्धि के जो सात साधन बताये गये हैं उनमें मुद्रा तीसरे स्थान पर है। शरीर की वह विशिष्ट क्रिया जिस से शरीर के किसी अवयव विशेष को स्थिति विशेष में रखा जाता है, "**मुद्रा**" कहलाती है। यह शरीर को स्वस्थ रखने के साथ-साथ आत्मिक बल में भी वृद्धि करती है, जो चित्त को एकाग्र करने तथा कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में भी सहायक है। मुद्राओं के अभ्यास से इन्द्रियाँ बाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छेद कर अर्न्तमुखी होकर प्रत्याहार की स्थिति निर्मित करती है। यद्यपि मुद्राओं का उद्देश्य आध्यात्मिक है तथापि मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इनका उपयोग नकारा नहीं जा सकता। हठयोग के ग्रन्थों में मुद्रा और बन्ध का संयुक्त विवरण एक साथ प्राप्त होता है। बन्ध का शाब्दिक अर्थ है "**बाँधना**" अर्थात् शरीर के अंग विशेष को धीरे-धीरे शक्तिपूर्वक संकुचित कर बांधना ही बन्ध है। यह अन्त: शारीरिक प्रक्रिया है। इसके द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों तथा नाड़ियों को नियंत्रित किया जा सकता है। हठयोग-प्रदीपिका में मुद्राओं का विवरण इस प्रकार मिलता है। यथा-

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्डीयानं मूलबन्धश्च बंधो जालन्धराभिध:।
करणी विपरीताख्या बज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरण-नाशकम्।

अर्थात् महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, व्रजोली, शक्तिचालनी यह दश मुद्रायें जरा-मरण को नष्ट करने वाली बतायी गयी है। इसी प्रकार घेरण्ड-संहिता में मुख्य रूप से पच्चीस मुद्राओं का वर्णन प्राप्त होता है। यथा-

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी।
विपरीतकरिणी योनि वज्रोली शक्तिचालिनी।
तडागीमाण्डवी मुद्रा शाम्भवीपञ्चधारणा।।
आश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पञ्चविंशति मुद्रा:वै सिद्धिदाश्चेहयोगिनाम्।।

अर्थात् महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान-बन्ध, जालन्धर-बन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरिणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालिनी, तड़ागी, माण्डवी, शांभवी, पंचधारणा, अश्विनी, पाशनी, काकी, मातंगी और भुजंगिनी इत्यादि पच्चीस मुद्रायें हैं जो योगियों को सिद्धि प्रदान करने वाली हैं। हठयोग के ग्रन्थों में विभिन्न मुद्राओ एवं बन्धों का विस्तार से वर्णन मिलता है। यहाँ सबसे पहले "**बन्ध**" पर चर्चा करेगें। बन्ध मुख्य रूप से तीन हैं, परन्तु इनके संयुक्त होने पर एक बन्ध और हो जाता है। बन्धों का मुख्य कार्य शक्ति के बाह्य प्रवाह को जो व्यर्थ हो रहा है रोककर सूक्ष्म व महत्त्वपूर्ण केन्द्रों की ओर उन्मुख करना है जिससे सुषुप्त शक्ति-केन्द्र क्रियाशील होकर

व्यक्तित्व के विकास में योगदान दे सकें। विभिन्न बन्ध एवं मुद्रायें इस प्रकार हैं-

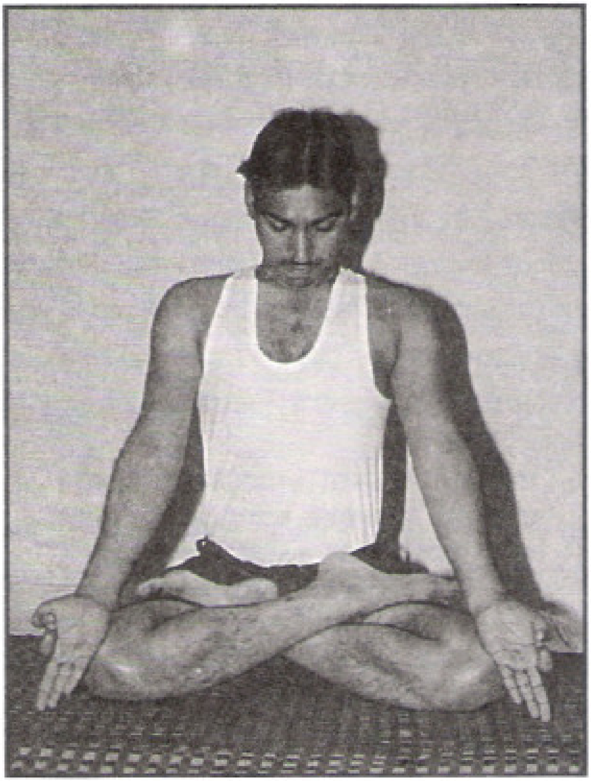

जालन्धर बन्ध

1. जालन्धर बन्ध -

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढ़म्।
बंधो जालंधराख्योयं जरामृत्यु-विनाशकः।

कंठ का संकोच करके हृदय पर ठोड़ी को दृढ़ता से लगावे, यह जरामृत्यु का नाश करने वाला जालन्धर बन्ध है।

विधि – किसी भी ध्यान के आसन में बैठकर दोनों हाथों को घुटनों पर रखें। आँखे बन्द तथा रीढ़ की हड्डी सीधी रहनी चाहिए। गहरी श्वास लेकर कुम्भक करें और कंठ की आन्तरिक मांस-पेशियों को संकोच करेक ठुड्डी को छाती से सटा लेना चाहिए, तथा दोनों कन्धों को कुछ ऊपर उठायें। जब तक आसानी से कुम्भक की स्थिति में रह सकें रहें, तत्पश्चात् हाथों तथा कंधों को शिथिल करके सिर को ऊपर उठाकर सामान्य स्थिति मे आ जायें, धीरे-धीरे लय के साथ श्वास बाहर निकालना चाहिए।

लाभ-

1. यह गले के रोगों का नाश करता है।
2. थॉयरॉयड एवं पैराथायरॉयड ग्रन्थियों को क्रियाशील बनाकर यह हार्मोन्स के स्राव को सन्तुलित करता है जिससे शरीर की चय-अपचय की क्रिया ठीक रहती है और स्फूर्ति, उत्साह एवं युवावस्था बहुत दिनों तक बनी रहती है।
3. यह विशुद्ध चक्र को जागृत करने में सहायक है।

2. मूलबन्ध -

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोमिधीयते।।
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आंकुचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः।

एँड़ी से योनि स्थान (पायु एवं उपस्थ के मध्य भाग) को दबाकर गुदा का आंकुचन-सिकोड़-कर अपानवायु को ऊपर की ओर आकर्षित करें, इसे मूलबन्ध कहते हैं अथवा जिस विधि से अधोगति वाले अपानवायु को बल पूर्वक आकुंचन द्वारा ऊर्ध्वगामी किया जाता है, उसे योगीजन मूलबन्ध कहते हैं।

विधि- सिद्धासन में बैठकर दोनों हाथों को घुटनों पर रखकर मेरुदण्ड को सीधी रखें, आँखे बन्द रहें, मन को मूलाधार चक्र पर केन्द्रित करें, अन्तः कुम्भक अथवा बाह्यकुम्भक करके गुदा का आंकुचन कर इसे अधिक से अधिक ऊपर की ओर खींचे। यथासम्भव कुम्भक की स्थिति में रहकर अभ्यास करें, जब कुम्भक की स्थिति में न रह सकें तब गुदा के आंकुचन को शिथिल कर दें।

लाभ -

1. इससे बड़ी आँत की निष्क्रियता दूर होती है जिससे कब्ज और अपच दूर होता है।
2. इससे मल द्वार के सभी प्रकार के दोष जैसे बबासीर, भगंदर आदि दूर होते हैं।
3. अपान वायु ऊपर खींचने पर जठराग्नि प्रदीप्त होती है जो पाचन शक्ति बढ़ाती है।
4. यह मूलाधार चक्र को जागृत करने में सहायक है।

विशेष - इस क्रिया में जालंधर बन्ध भी किया जा सकता है जो अधिक लाभ पहुँचाता है।

3. उड्डीयानबन्ध-

बद्धोयेन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयानाख्योयं योगिभिः समुदाहृतः।।
उड्डीयानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगाः।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोभिधीयते।।

जिससे बंधा हुआ प्राण ऊर्ध्वमुख होकर सुषुम्णा में होकर पहुँच जाय, उस बन्ध को उड्डीयान कहते हैं। देहावकाश में गतिशील महाखग रूप प्राण जिस बन्ध से सुषुम्णा में उड़ता (गति करता) है उसे उड्डीयानबन्ध कहते हैं।

विधि – किसी भी ध्यान के आसन में बैठकर हथेलियों को घुटनों पर जमायें। रेचक क्रिया से पेट के अन्दर की श्वास पूरी तरह बाहर निकालकर बहिष्कुम्भक करें, पेट की हथेलियों का अधिक से अधिक संकोच करके उन्हें मेरुदण्ड से स्पर्श कराने का प्रयत्न करें। बहिष्कुम्भक की स्थिति में आराम से जितनी देर तक रह सकें रहें। जब श्वास को बाहर न रोक सकें तो उदर पेशियों को सामान्य स्थिति में लायें तथा धीरे-धीरे श्वास लें।

लाभ –
1. यह अजीर्ण को दूर कर, पाचन क्रिया को बढ़ाता है।
2. इससे दूषित वायु का निष्कासन तथा कृमि रोग का नाश होता है।
3. यह यकृत, गुर्दे, आमाशय आदि पाचन शक्ति को प्रभावित करने वाले अंगो को सक्रिय करता है।
4. यह मणिपूर चक्र को जागृत करने में सहायक है।

सावधानी –
1. गर्भवती महिलाओं को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।
2. पेट के अल्सर, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग आदि में भी इसक अभ्यास वर्जित है।

विशेष – उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करने से पूर्व शंख-प्रक्षालन व अग्निसार क्रिया का अभ्यास कर लेना चाहिए जिससे पेट में कब्ज आदि की शिकायत न रहे तथा पेट साफ रहे।

4. **महाबन्ध** – जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध और उड्डियानबन्ध तीनों को क्रमश: संयुक्त रूप से करने पर "महाबन्ध" बनता हैं।

विधि – इस बन्ध के लिये पहले ध्यान के किसी भी आसन में बैठकर जालन्धर बन्ध लगाते हैं। तत्पश्चात् क्रमश: मूलबन्ध उड्डियानबन्ध लगाते हैं। कुम्भक की स्थिति तक इस स्थिति में रहें। अब बन्ध खोलने के लिये सबसे पहले उड्डियान बन्ध को शिथिल करें, फिर मूलबन्ध को और अन्त में जालन्धर बन्ध को, धीरे-धीरे श्वास लीजिए।

लाभ: –
1. यह हृदय की धड़कन को नियंत्रित करके, मन को शान्त एवं एकाग्र करता है जिससे शरीर के स्नायु सबल होते हैं।
2. यह प्रजनन अंगो एवं उनसे सम्बन्धित स्नायुओं की अनावश्यक उत्तेजना और शिथिलता को दूर करके स्तम्भन की शक्ति बढ़ाता है।
3. यह आँतों की निष्क्रियता को दूर कर जठराग्नि प्रदीप्त करता है जिससे कब्ज और अपच दूर होता है।
4. यह मन व शरीर को ध्यान के लिये तैयार करता है तथा चक्रों के जागरण में भी सहायक है।

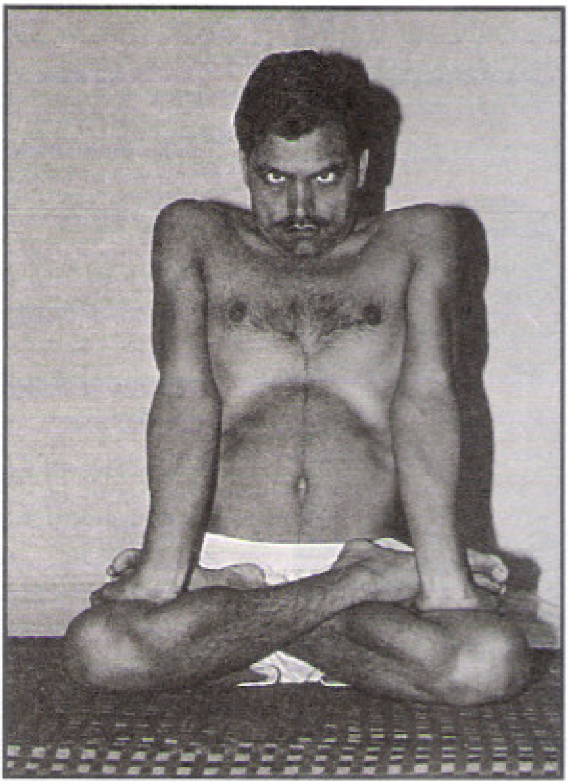

महाबंध

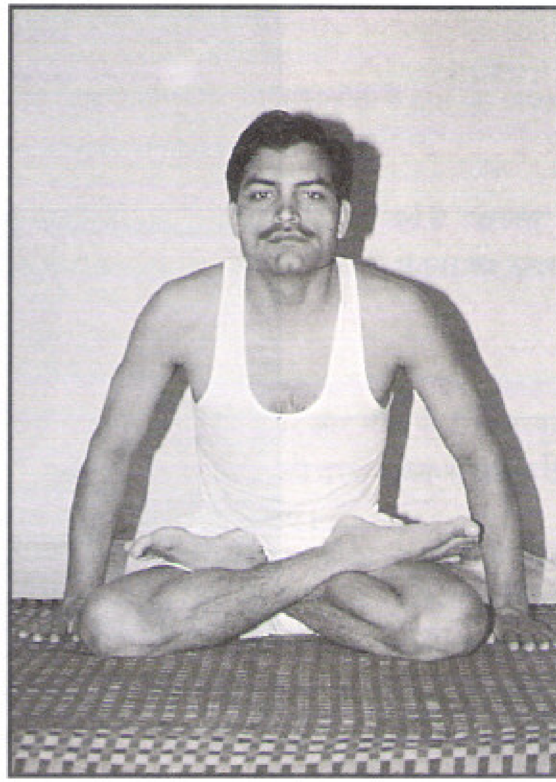

महाबेध

5. महावेध –

विधि: – दोनों पैर फैलाकर बैठें। दायें पैर की एँड़ी को पायु और उपस्थ के मध्य सीवनी नाड़ी पर रखकर दबायें तथा सामने झुककर दोनों हाथों से बायें पैर के अंगूठे को पकड़ें। श्वास अन्दर लेकर उसके बाद पूरी तरह श्वास बाहर निकालकर सबसे पहले जालन्धर बन्ध, फिर मूलबन्ध और उसके बाद उड्डीयान बन्ध लगायें। दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर हो। जब तक सम्भव हो इसका अभ्यास करें।

लाभ –

1. यह चित्त को एकाग्र कर, मन को ध्यान हेतु तैयार करता है।
2. यह वात तथा उदर-विकारों में लाभप्रद है।

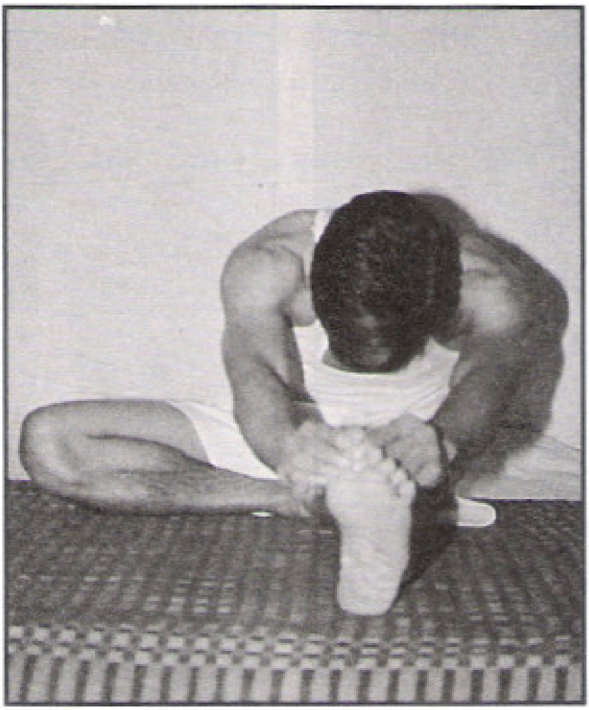

महामुद्रा

6. महामुद्रा –

विधि: – सर्वप्रथम दोनों पैर सामने फैलाकर बैठें। तत्पश्चात् दायें पैर की एड़ी को पायु और उपस्थ के मध्य सीवनी नाड़ी के नीचे रखें। सामने झुककर दोनों हाथों से बायें पैर के अंगूठे को पकड़ें। दीर्घ श्वास लेकर जालन्धर-बन्ध तथा मूलबन्ध लगावें। दृष्टि भ्रूमध्य पर रखें। अन्त: कुम्भक की स्थिति में जब तक सम्भव हो रहें। तत्पश्चात् धीरे से श्वास बाहर निकालें। पैर की स्थिति भी बदलकर इसका अभ्यास किया जा सकता है।

लाभ –
1. यह चित्त को एकाग्र करके, मन को ध्यान के लिये पृष्ठभूमि बनाता है।
2. यह उदर से सम्बन्धित विकार में लाभ पहुँचाता है।
3. यह प्राण-शक्ति का विकास करंके आन्तरिक शक्ति को जागृत करता है।

7. नभोमुद्रा –

विधि: – ध्यान के किसी आसन में बैठकर जिह्वा को तालूमूल में लगायें, उज्जायी प्राणायाम के साथ दृष्टि भ्रूमध्य अथवा आकाश की ओर करें।

लाभ -

1. यह मुद्रा मन को शान्त एवं स्थिर करती है।
2. इस मुद्रा में एक साथ उज्जायी प्राणायाम, शाम्भवी मुद्रा तथा खेचरी मुद्रा का लाभ प्राप्त होता है तथा यह साधक को चेतना की उच्च स्थिति में ले जाने में सहायक है।

8. **खेचरी मुद्रा** – खेचरी शब्द "**खे**" और "**चरी**" दो शब्दों के मेल से बना है जिसमें "**खे**" का अर्थ है "आकाश" तथा "**चरी**" का अर्थ है "भ्रमण" करने वाला। अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल शरीर के बीच मन की चेतना का भ्रमण आकाश में भ्रमण है, इसलिये इसे "खेचरी" मुद्रा कहते हैं।

विधि – खेचरी मुद्रा का अभ्यास दो प्रकार से किया जा सकता है।

1. प्रथम विधि सरल है। इसमें ध्यान के किसी आसन में बैठकर मुंह बन्द रखें तथा ऊपर और नीचे के दाँत परस्पर सटे हों, आंखे बन्द हों। तत्पश्चात् जिह्वा के अग्र भाग को ऊपर उठाते हुये पीछे तालूमूल की तरफ अधिक से अधिक ले जाकर तालुमूल से स्पर्श करवाने का अभ्यास करें। इस क्रिया में श्वास सामान्य रहनी चाहिए।
2. दूसरी विधि कुछ कठिन है। किसी योग्य योगाचार्य के मार्ग-दर्शन में ही इसका अभ्यास किया जा सकता है। इस विधि में जिह्वा को लम्बी करने के लिये इस के छेदन, दोहन और कर्षण की क्रिया की जाती है। छेदन-क्रिया में जिह्वा के निम्न मूल को काटा जाता है। प्रत्येक सप्ताह बाल के बराबर स्फटिक अथवा धारदार शुद्ध वस्तु से काटा जाता है। लगभग ६ माह के अभ्यास में जिह्वा का निम्न-मूल से बन्धन कट जायेगा। इसके बाद जिह्वा के अग्र भाग को वस्त्र से लपेटकर धीरे-धीरे दोहन करें और क्रमशः जिह्वा को नासिका के अग्र भाग तक, फिर नासिका के मध्य भाग तथा फिर भ्रूमध्य तक लम्बी करने का अभ्यास करें इस प्रकार जिह्वा के बढ़ने पर तालुमूल में धीरे-धीरे इसे, प्रविष्ट करवायें। फिर कपाल-रन्ध्र में जिह्वा को ऊपर की ओर उलटी करके ले जाना चाहिए। दृष्टि भ्रूमध्य में रहे।

लाभ -

1. खेचरी का अभ्यास करने वाले साधक को मूर्च्छा, क्षुधा, तृष्णा, आलस्य आदि नहीं सताते हैं।
2. इससे शरीर की अनावश्यक गर्मी दूर होती है और शरीर के तन्तुओं के क्षय होने की गति रूकती है।
3. इस क्रिया के अभ्यास से श्वास-प्रश्वास की गति दीर्घ होती है जिससे मन स्वतः शान्त और स्थिर होता है।

9. **विपरीतकरणी मुद्रा** – यह मुद्रा इस सिद्धान्त पर आधारित है कि प्रत्येक मनुष्य के नाभिमूल में सूर्यनाड़ी और तालुमूल में चन्द्रनाड़ी का स्थान है। सहस्रार से जब चन्द्रामृत का प्रवाह होता है तब सामान्य रूप से नाभि में स्थित सूर्य के तेज से वह नष्ट हो जाता है। यदि सहस्रार से निकलने वाला चन्द्रामृत तालुमूल में सुरक्षित रखा जा सके तो शरीर अमरता को प्राप्त होता है।

विधि– पहले दोनों हाथों को परस्पर बाँध कर सिर को उनके बीच कर भूमि में रखकर शीर्षासन की स्थिति में आ जायें पैर ऊपर की ओर सीधे रहें। फिर कुम्भक के द्वारा वायु को रोकने का अभ्यास करें। प्रारम्भ में कुछ क्षणों के लिये करें, धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ायें।

लाभ– यह–

1. शरीर के ताप को सन्तुलित रखकर सभी प्रकार के आधि–व्याधि का नाश करती है।
2. जठराग्नि प्रदीप्त करती है।
3. स्मरण शक्ति को बढ़ाने में सहायक है।
4. शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने में सहायक है।
5. सुषुम्णा का प्रवाह मस्तिष्क की ओर करती है।

सावधानी– उच्च रक्त चाप तथा, हृदय के रोगी इसका अभ्यास न करें।

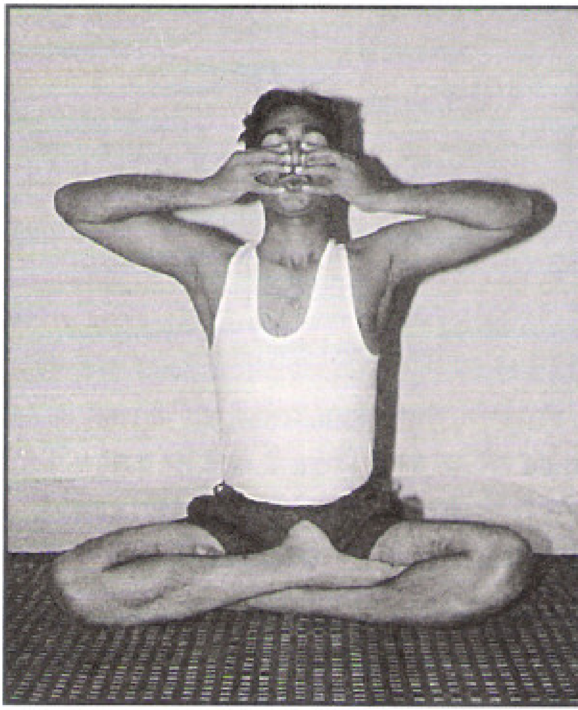

योनि मुद्रा

10. योनिमुद्रा– सिद्धासन अथवा ध्यान के किसी आसन में बैठकर दोनों हाथों के अँगूठे से कानों को, दोनों हाथों की तर्जनी से नेत्रों को, मध्यमा से मुख को और अनामिका से नासिका को बन्द करें। काकी मुद्रा की स्थिति में मुह से प्राण वायु लेकर श्वास को भीतर रोकते हुए बिन्दु चक्र पर मन को एकाग्र करने का प्रयास करें। आराम दायक स्थिति तक श्वास को रोकने के पश्चात् नासिका से अँगुलियों को हटा लें। रेचक क्रिया द्वारा श्वास निकाल लें। अन्य अँगुलियां अपने स्थानों पर यथावत् रहेगीं पुन: श्वास लेकर इसका अभ्यास करें। यही योनिमुद्रा है। चूँकी इस मुद्रा में साधक की स्थिति इन्द्रिय जन्य क्रिया–कलापों से रहित–जिस तरह बच्चा गर्भ अर्थात् योनि मे रहता है उस तरह–होने के कारण इस मुद्रा को योनिमुद्रा कहते हैं।

लाभ-
1. इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर में नाद प्रकट होता है।
2. यह मानसिक तनाव में राहत पहुँचाती है।
3. यह नेत्र, नाक, कान के रोगों में राहत पहुँचाती है।
4. यह चित्त को एकाग्र कर ध्यान के लिये मन को तैयार करती है।

11. वज्रोली-मुद्रा- वज्र नाड़ी जो कि यौन-ग्रन्थि से जुड़ी है से सम्बन्धित मुद्रा होने के कारण इसे वज्रोली मुद्रा कहते है।

विधि- इस मुद्रा का अभ्यास दो तरह से किया जा सकता है-
1. सिद्धासन अथवा वज्रासन में बैठकर दोनों हाथों को घुटनों पर रखें। कुम्भक की स्थिति में निम्न उदर प्रदेश के, पायु और उपस्थ से सम्बन्धित भाग का ऊपर की ओर आकुंचन करें। फिर श्वास छोड़ते हुये निम्न उदर प्रदेश को शिथिल करके बहिष्कुम्भक की स्थिति में भी निम्न उदर प्रदेश का आकुंचन करें। इस क्रिया को कुम्भक की स्थिति में बार-बार दोहरायें।

2. इस विधि का अभ्यास किसी योग्य योगाचार्य के निर्देशन मे ही करना चाहिए। इस क्रिया में मूत्रमार्ग में पहले कैथेटर नं०-4 अथवा 5 को डालकर प्रतिदिन 1 इंच अन्दर की ओर डालें। जब कैथेटर 10-12 इंच अन्दर जाने लगे तो चाँदी अथवा काँच की लगभग 15 इंच वाली नली को मूत्रमार्ग से धीरे-धीरे प्रवेश कराकर अभ्यास करें। जब नली 10-12 इंच अन्दर चली जाय तो नली के मार्ग से जल को ऊपर खींचने का अभ्यास करें। जब यह अभ्यास सध जाय तो दूध से इसका अभ्यास करें। जब दूध से भी अभ्यास सिद्ध हो जाय तब मधु और अन्त में पारद से अभ्यास किया जाता है। जब अभ्यास सिद्ध हो ज़ाय तब बिना नली के भी उपर्युक्त विधि के अनुसार अभ्यास किया जा सकता है।

लाभ
`1. यह ब्रह्मचर्य पालन के लिये उपयोगी क्रिया है।
2. यह पायु और उपस्थ से सम्बन्धित सभी प्रकार के रोगों में लाभ पहुँचाती है।
3. इससे स्नायु नियंत्रण और स्थिरता प्राप्त होती है जिससे ध्यान आदि योग के उच्च साधन के लिये भूमिका तैयार होती है।

सावधानी - सामान्य वज्रोली-मुद्रा में अभ्यास सरल होने के कारण कोई खतरा नहीं है, परन्तु दूसरी विधि योग्य व्यक्ति के निर्देशन में ही करनी चाहिए।

12. शक्तिचालिनी मुद्रा- सिद्धासन में बैठकर दोनों हाथों को दोनों घुटनों के ऊपर रखें। श्वास के द्वारा प्राण वायु अन्दर लें तथा पायु और उपस्थ का, निम्न उदर प्रदेश का ऊपर की ओर आकुंचन करके उड्डीयान बन्ध लगायें। निम्न उदर प्रदेश के आकुंचन और शिथिलन से सुषुम्णा का प्रवाह प्रारम्भ होता है जो कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में सहायक है।

लाभ-

1. यह आन्तरिक शक्ति के जागरण में सहायक है।
2. यह बवासीर, गुदा से सम्बन्धित विकारों में उपयोगी है।

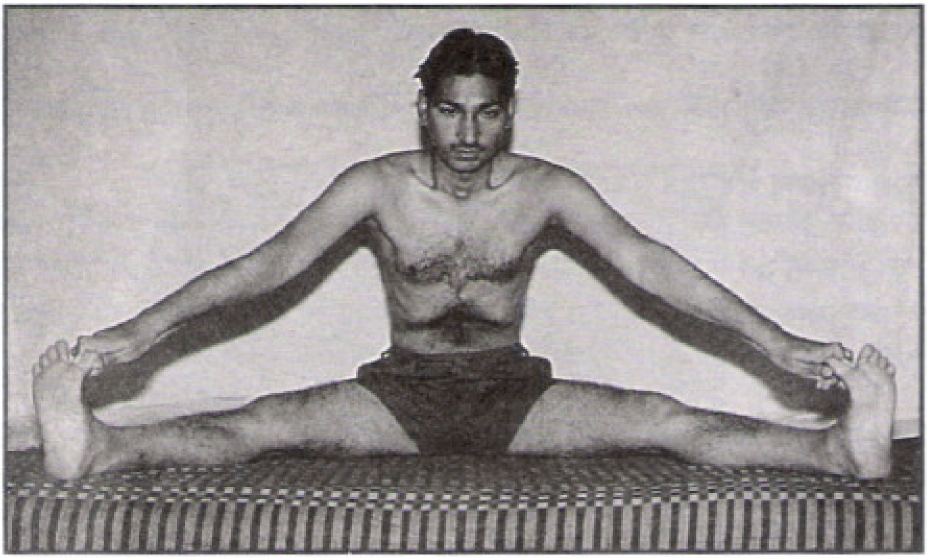

तड़ागीमुद्रा

13. तड़ागीमुद्रा- पश्चिमोत्तान आसन की स्थिति में दोनों पैरों के बीच कुछ दूरी बनाकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगुठों को पकड़ें। दीर्घ पूरक करके पेट की स्नायुओं को बाहर की ओर फैलायें। जब तक सम्भव हो अन्त: कुम्भक लगायें, तदुपरान्त रेचक कीजिये।

लाभ-

1. यह उदर से सम्बन्धित विकारों को दूर करता है और पाचन-शक्ति को बढ़ाती है।
2. यह शरीर की प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाकर, कार्यक्षमता हो बढ़ाने में सहायक है।

14. माण्डूकीमुद्रा- ध्यान के किसी आसन में बैठकर दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखें अथवा चिन्मुद्रा की स्थिति में रखें, मुह को बन्द करें। मुंह को बन्द करके जिह्वा को मुंह के अन्दर चारों ओर घुमाकर चिह्वा को तालूमूल में लगाकर चन्द्रामृत का पान हो रहा है ऐसा आभास करें।

लाभ

1. इससे लार ग्रन्थि सक्रिय होती है जो भोजन के पचाने में सहायक है।
2. यह स्वास्थ्य उत्तम करने का साधन है।
3. इससे चेहरे की झुर्रियाँ दूर होती हैं।

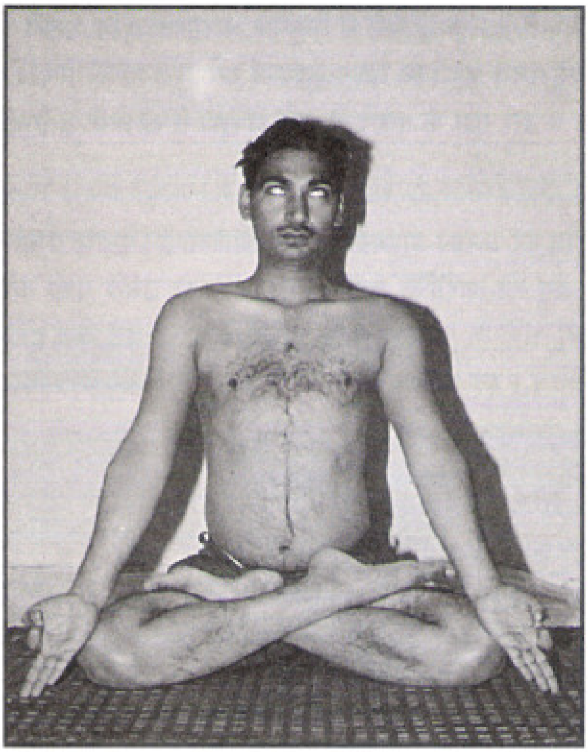

शाम्भवीमुद्रा

15. शाम्भवीमुद्रा- ध्यान के किसी आसन में बैठकर मेरुदण्ड को सीधा करें। दोनों हाथ दोनों घुटनों पर ज्ञानमुद्रा में रहें। श्वास सामान्य रहे। दोनों नेत्रों को दोनो भौहों के मध्य स्थान में स्थिर रखने का अभ्यास करें। पहली बार ही आँखों पर ज्यादा तनाव न दें, धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ायें, आँखें थकने पर बन्द कर दें। फिर अभ्यास करें।

लाभ

1. यह मानसिक तनाव को दूर कर मन को एकाग्र करने में सहायक है
2. यह स्मरण-शक्ति बढ़ाने में सहायक हैं।
3. इससे नेत्रों के विकार दूर होकर, नेत्रों में सम्मोहन की शक्ति प्राप्त होती है।

16. पञ्चधारणामुद्रा - ध्येय विषय पर चित्त की वृत्ति को एकाग्र करना "**धारणा**" कहलाती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंच तत्वों पर धारणा पञ्चधारणा कहलाती है। धारणा अष्टांग योग का छठवां अंग है परन्तु हठयोग में मुद्राओं में ही "**धारणा**" का वर्णन पञ्चधारणा के रूप में प्राप्त होता है। ये पञ्चधारणाएँ इस प्रकार है- पार्थिवी, आम्भसी, आग्नेयी, वायवीय और आकाशी।

1. **पार्थिवीधारणा-** पृथ्वी तत्त्व पर धारणा पार्थिवीधारणा कहलाती है। पृथ्वी के आदि रचयिता ब्रह्मा जी हैं। इस

तत्त्व का स्थान पाँव से जानु पर्यन्त है। पृथ्वी तत्त्व में वायु को आरोपित करके उसमें बीज ''लं'' को युक्त करें और स्वर्ण के समान चतुर्भुज एवं चतुरानन ब्रह्मा का ध्यान हृदय में कर कुम्भक की स्थिति को बढ़ाने का प्रयास करें। दो घंटे पर्यन्त कुम्भक की स्थिति में इस मुद्रा के करने से पार्थिवी मुद्रा सिद्ध होती है तथा साधक पृथ्वी तत्त्व पर विजय प्राप्त करता है।

2. आम्भसीधारणा– जलतत्त्व पर धारणा आम्भसी धारणा कहलाती है। इस तत्त्व का स्थान जानु से गुदा स्थान तक माना जाता है। जलतत्त्व में वायु को आरोपित करके बीज ''वं'' को उसमें युक्त करें तथा पीताम्बर एवं कौस्तुभ मालाधारी चर्तुभुज भगवान श्री नारायण का पॉच घड़ी पर्यन्त अर्थात् 2 घंटे तक हृदय में ध्यान करने से आम्भसी धारणा नाम की मुद्रा सिद्ध होती है। इस धारणा की सिद्धि से शरीर में किसी भी प्रकार के विष का प्रभाव नही पड़ता है।

3. आग्नेयी या वैश्वानरी–धारणा– अग्नितत्त्व पर धारणा ''**आग्नेयी–धारणा**'' कहलाती है। अग्नि का स्थान नाभि, आकृति त्रिकोण, वर्ण इन्द्रगोप घोड़े के समान लाल और बीज ''रं'' है। इसके देवता त्रिनेत्र भगवान रुद्र हैं। गुदा से हृदय तक अग्नि का स्थान है। अग्नि तत्त्व में वायु को आरोपित कर बीज ''रं'' को उसमें युक्त कर त्रिनेत्र रुद्र का ध्यान पाँच घड़ी अर्थात् २ घंटे तक करने से अग्नि तत्त्व पर साधक विजय प्राप्त करता है। अर्थात् अग्नि से उसे कोई हानि नहीं होती है।

4. वायवीयधारणा– वायु तत्व पर धारणा ''वायवीयधारणा'' कहलाती है। वायु का स्थान हृदय से भृकुटियों तक माना गया है। बीज ''यं'', देवता ईश्वर और सत्त्वगुण से युक्त है। योगबल से इसका आविर्भाव होने पर एकाग्र चित्त से कुम्भक द्वारा पाँच घड़ी अर्थात् 2 घंटे तक प्राण–वायु का ध्यान करें। इस मुद्रा के सिद्ध होने पर साधक को वायु गमन की शक्ति प्राप्त होती है और साधक वायु से नहीं मरता।

5. आकाशीधारणा– आकाशतत्त्व पर धारणा ''**आकाशीधारणा**'' कहताती है। आकाशतत्त्व का स्थान भृकुटी से मूर्द्धान्त पर्यन्त माना गया है। आकाशतत्त्व में वायु को आरोपित कर बीज ''हं'' को युक्त करके भौहों के मध्य दो घंटा कुम्भक की स्थिति में भगवान शंकर का ध्यान करें। इस मुद्रा के सिद्ध होने पर साधक को आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है।

17. आश्विनी मुद्रा–

आकुञ्चयेद् गुदाद्वारं प्रसारयेत् पुनः पुनः।
साभवेदाश्विनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारणी।
आश्विनीपरमामुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी।
बलपुष्टिकरीचैव अकालमरणंहरेत्।।

गुदा-द्वार का बार-बार संकोच और प्रसार करें। अश्वों द्वारा ऐसी क्रिया की जाती है इसलिए यह आश्विनीमुद्रा कहलाती है। इससे कुण्डलिनी का जागरण होता है। यह मुद्रा गुह्य रोगों को नष्ट करने वाली, शारीरिक शक्ति को बढ़ाने वाली तथा अकाल मृत्यु को हरण करने वाली है।

विधि- ध्यान के किसी भी आसन अथवा वज्रासन में बैठकर गुदाद्वार की मांस-पेशियों का आकुंचन एवं प्रसारण करें। श्वास समान रहनी चाहिए। ध्यान मूलाधर चक्र पर केन्द्रित करें।

लाभ-
1. यह निम्न उदर प्रदेश से सम्बन्धित सभी विकारों में लाभ पहुँचाती है।
2. यह ब्रह्मचर्य को स्थिर करने में सहायक है।

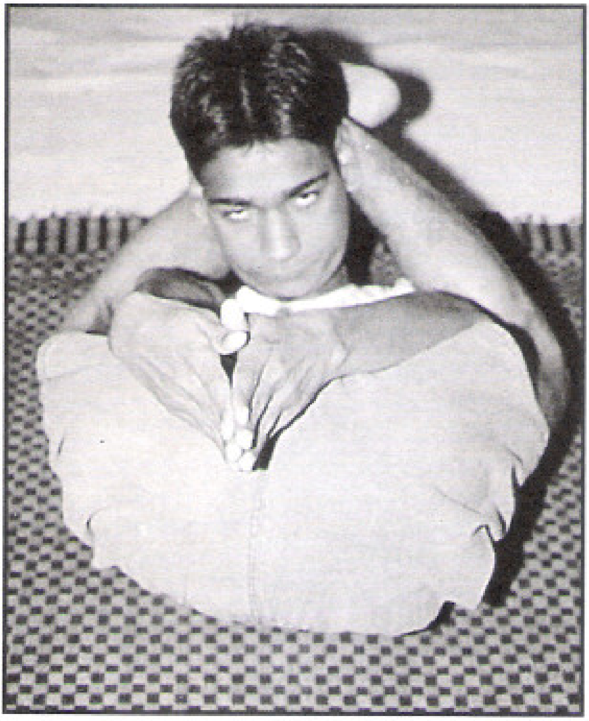

पाशिनीमुद्रा

18 पाशिनीमुद्रा-

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढ़बन्धनम्।
सा एव पाशिनीमुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी।।

दोनों पाँवों को कण्ठ के पीछे की ओर ले जाकर उन्हें परस्पर मिलाकर पाश के समान दृढता से बांध लें। यह शक्ति को जाग्रत करने वाली पाशिनी-मुद्रा है।

लाभ-
1. रक्त चिकार को दूर करने मे सहायक है।
2. मेरुदण्ड को लचीला बनाकर सक्रिय रखती है।
3. मन की एकाग्रता में सहायक है

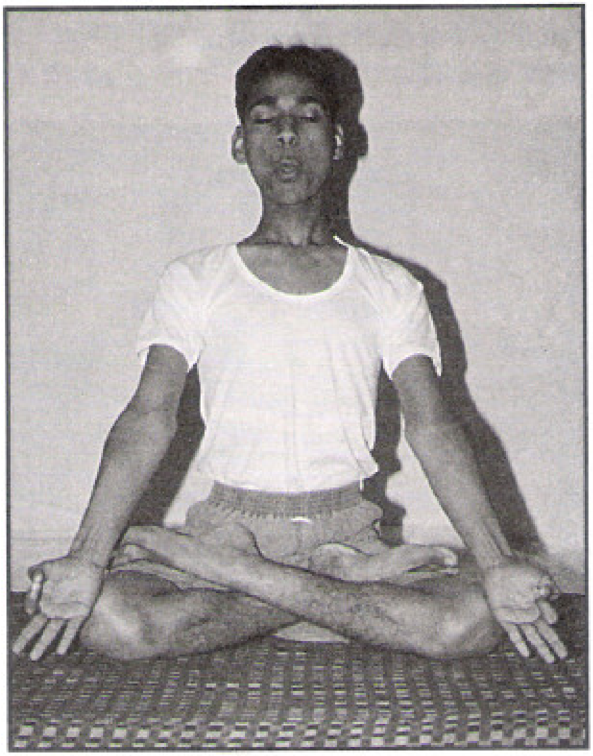

काकीमुद्रा

19 काकीमुद्रा-

काकचञ्चुवदास्येन पिवेद् वायुं शनैः शनैः।
काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोग विनाशिनी।।

मुख को कौवे की चोंच के समान करके उसके द्वारा शनैः शनैः वायु पान करें। यह सभी रोगों को नष्ट करने वाली काकीमुद्रा है।

विधि - ध्यान के किसी आसन अथवा वज्रासन में बैठकर मुंह को कौवे की चोंच की तरह गोल करते हुये मुंह से श्वास लें और धीरे-धीरे नाक से निकालें। दृष्टि नासिकाग्र पर रहे।

लाभ-
1. यह पाचन-शक्ति को बढ़ाने में सहायक है।
2. यह मुंह और गले सम्बन्धित विकारो में लाभ पहुँचाती है।

20. **मातंगिनीमुद्रा** -

विधि - हाथियों की तरह इस मुद्रा में कण्ठ तक जल में खड़े होकर नासिका से जल खींचकर मुख से बाहर निकालें। प्रारम्भ में कठनाई होगी। इसलिये जलनेति का अच्छा अभ्यास होने के बाद ही इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए।

लाभ - मन एवं शरीर को स्वस्थ बनाने में सहायक है।

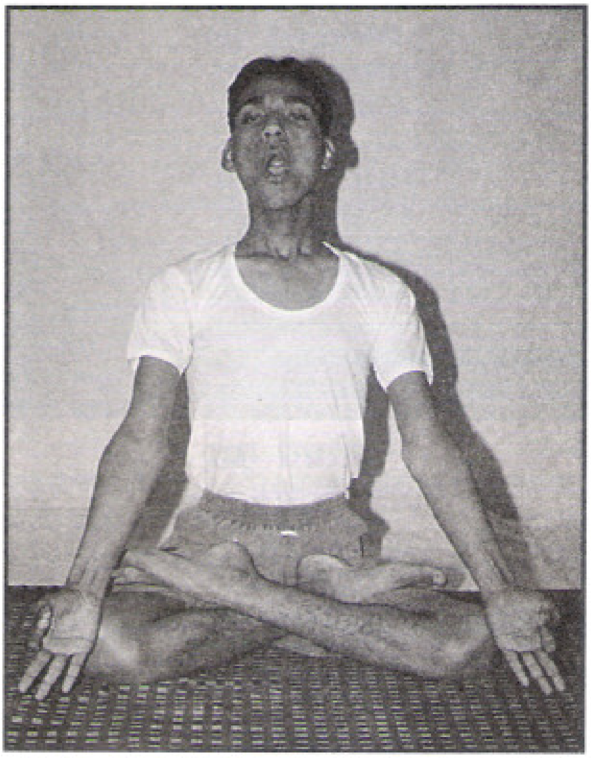

भुजंगिनीमुद्रा

21. **भुजंगिनीमुद्रा** - ध्यान के किसी आसन अथवा वज्रासन में बैठकर मुंह खोलकर सर्प के समान कण्ठ से वायु का पान करें। पेट भर जाने पर डकार के साथ वायु बाहर निकाल दें।

लाभ: -

1. यह सभी प्रकार के उदर रोगों को नष्ट करती है।
2. यह मुंह की लार ग्रन्थियों को सक्रिय बनाती है।

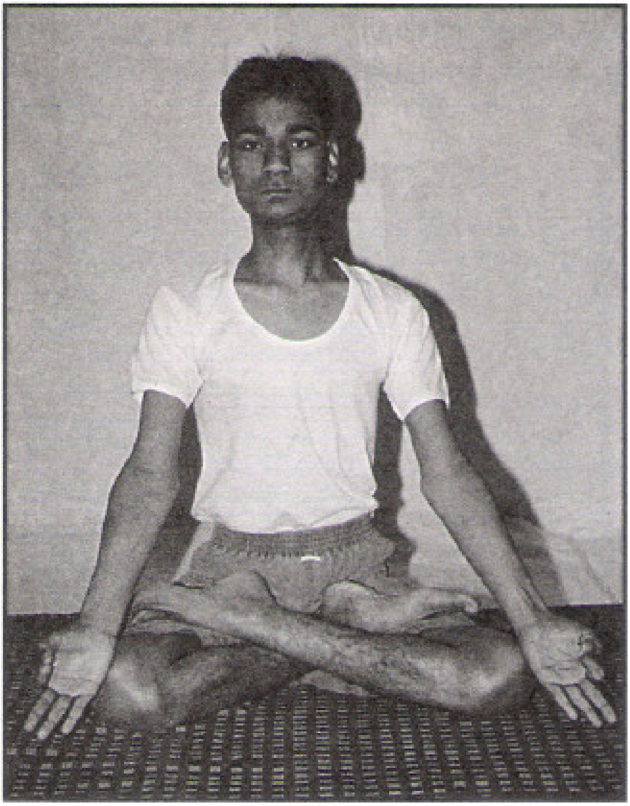

अगोचरी मुद्रा

22. **अगोचरीमुद्रा** -

विधि - ध्यान के किसी भी आसन में बैठकर कुम्भक की स्थिति में दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर केन्द्रित करने की क्रिया अगोचरी मुद्रा है।

लाभ - यह मन की चंचल वृत्तियों को एकाग्र करने में सहायक है।

23. **भूचरीमुद्रा** - ध्यान के किसी आसन में बैठकर नासिका से लगभग 4 अंगुल दूरी पर शून्य आकाश में दृष्टि को केन्द्रित करने का प्रयास करें। यही भूचरीमुद्रा है।

लाभ - यह मन को एकाग्र करती है।

उपर्युक्त विशिष्ट मुद्राओं के अतिरिक्त कुछ हस्त मुद्रायें भी हैं जिनका योग-साधना में अपना विशिष्ट स्थान है। इन मुद्राओं का अभ्यास कहीं भी किसी भी परिस्थिति में करके मनोकायिक दृष्टि से स्वस्थ एवं नीरोग बना जा सकता है। गुरू गोरक्षनाथ जी देह-पिण्ड अर्थात् शरीर के सम्बन्ध में कहते हैं कि **"पिण्ड माहिं ब्रह्माण्ड समाया"** अर्थात् जो कुछ इस ब्रह्माण्ड में है वह इस मानव शरीर में मौजूद हैं। आवश्यकता है उसे यौगिक क्रियाओं द्वारा प्राप्त करने की। यह ब्रह्माण्ड पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश जैसे पंच तत्त्वों के मेल से बना है उसी प्रकार हमारा शरीर भी इन्हीं पंच तत्त्वों के मेल से बना है। शरीर में किसी एक तत्त्व की कमी होने अथवा इसमें असन्तुलन उत्पन्न होने से शरीर रोग ग्रस्त हो जाता है। आजकल तमाम प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों का विकास होने से शरीर में जिस तरह की कमी होती है चिकित्सा से उस तत्त्व की कमी को पूरा किया जाता है, जिससे रोग से मुक्ति मिलती है। लेकिन कभी-कभी रोग की सही पहचान न होने पर गलत चिकित्सा का दुष्परिणाम भी हमें भुगतना पड़ता है। योगिक क्रियाओं के माध्यम से इस प्रकार के दुष्परिणामों से तो बचा ही जा सकता है साथ-साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हम सफलता प्राप्त कर सकते हैं। हमारे हाथ की पांचों अँगुलियाँ पंच तत्त्व की प्रतीक हैं। हमारा अंगुष्ठ अग्नि तत्त्व का, तर्जनी वायु तत्त्व का, मध्यमा-आकाश तत्त्व का, अनामिका-पृथ्वी तत्त्व का तथा कनिष्ठा-जल तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है। इन्हें आपस में किसी विशिष्ट उद्देश्य और रूप से मिलाने पर तत्त्व विशेष की कमी को तो दूर किया ही जा सकता है साथ ही साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सहयोग मिलता है। कुछ उपयोगी हस्त मुद्रायें इस प्रकार हैं-

1. **ज्ञान-मुद्रा** - अंगुष्ठ जो अग्नि तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है और तर्जनी जो वायु तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है इन दोनों के अग्र भागों को मिलाने पर जो मुद्रा बनती है उसे ज्ञान-मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा के अभ्यास में शेष तीनों अंगुलियां सीधी रहें।

लाभः -

1. इस मुद्रा में अग्नि और वायु तत्त्व के मिलने से शरीर में प्राण शक्ति का संचार होता है तथा तेजस्विता बढ़ती है।
2. इस मुद्रा के अभ्यास से स्मरण शक्ति बढ़ाई जा सकती है।

2. **चिन्मुद्रा** - ध्यान के किसी भी आसन में बैठकर दोनों घुटनों पर दोनों हथेलियों को ऊपर की ओर रखें अथवा नाभि के कुछ नीचे बायें हथेली पर दायीं को रखें। यही चिन्मुद्रा है।

लाभ -

1. यह मन को शान्त और स्थिर रखने में सहायक है।
2. सम्पूर्ण शरीर में प्राण के प्रवाह को बनाने में सहायक है।

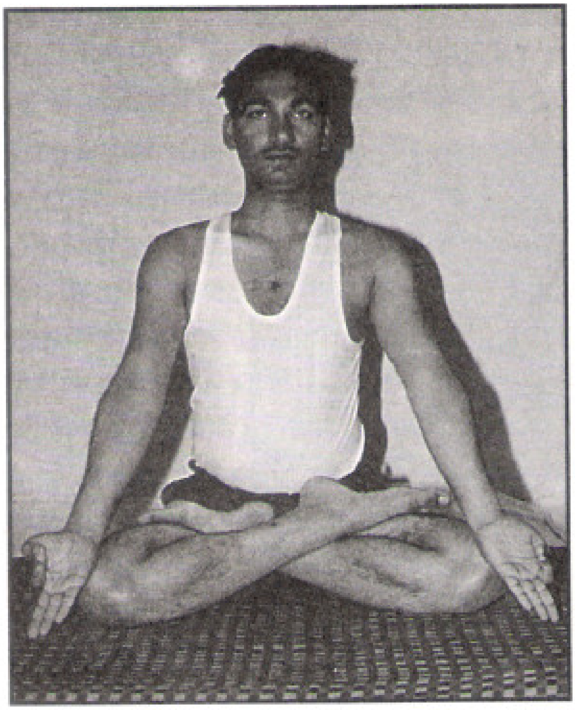

ज्ञानमुद्रा

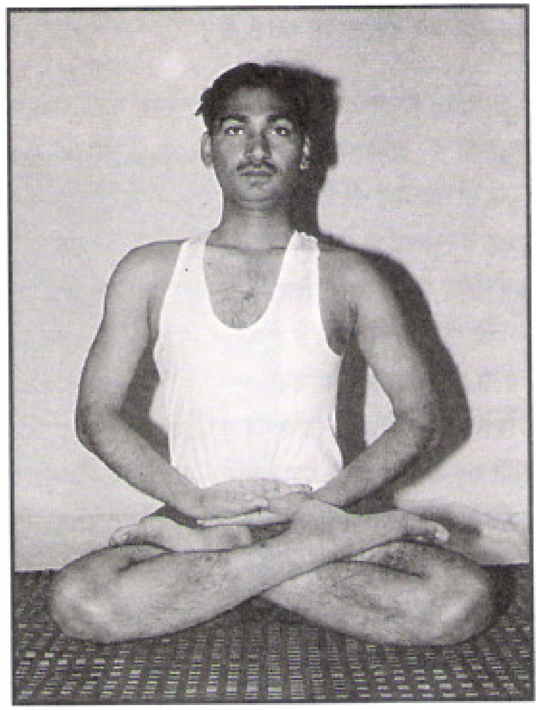

चिन्मुद्रा

3. **वायुमुद्रा** – तर्जनी जो वायु का प्रतिनिधित्व करती है को अंगुष्ठ की जड़ में लगाकर अंगुष्ठ से हल्का दबाव देना चाहिये, शेष अँगुलियाँ सीधी रहें। इस प्रकार जो हस्त मुद्रा बनती है उसे वायुमुद्रा कहते हैं।

लाभ –

1. यह मुद्रा वायु तत्त्व की कमी को दूर करती है।
2. समस्त वायु विकारों जैसे-गठिया, शरीर कम्पन में लाभ पहुंचाती है।

4. **शून्यमुद्रा** – मध्यमा जो आकाश तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है को अंगुष्ठ की गड्डी पर लगाकर अंगुष्ठ से हल्का दबाव डालें, शेष तीनों अंगुलियां सीधी रहें। इस प्रकार जो मुद्रा बनती है उसे शून्य मुद्रा कहते हैं।

लाभ –

1. इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर में आकाश तत्त्व की कमी दूर होती है।
2. कान के रोग जैसे-कान बहना, कम सुनाई देना, दर्द होना आदि विकार दूर होते हैं।

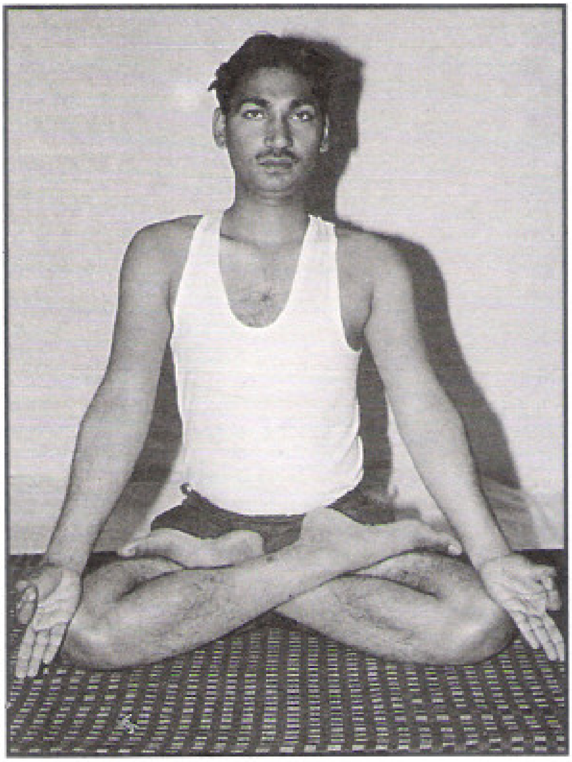

वायुमुद्रा

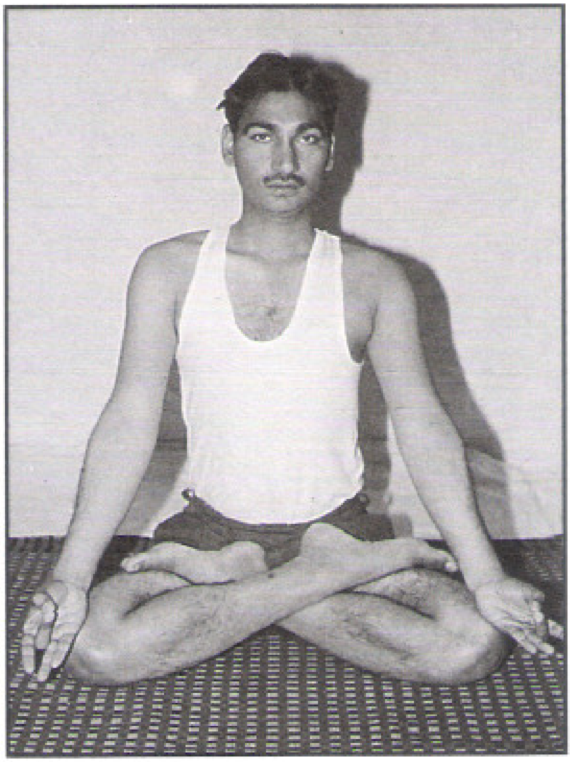

शून्यमुद्रा

5. **पृथ्वी-मुद्रा** – अनामिका जो पृथ्वी तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है को अंगुष्ठ के अग्र भाग से मिलाने पर तथा शेष तीनों अंगुलियों को सीधा रखने से जो हस्त-मुद्रा बनती है उसे पृथ्वी-मुद्रा कहते हैं।

लाभ – इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर में पृथ्वी तत्त्व की कमी दूर होती है, इस मुद्रा के नियमित अभ्यास से शरीर की दुर्बलता व कमजोरी दूर की जा सकती है।

6. **प्राण-मुद्रा** – अंगुष्ठ, अनामिका तथा कनिष्ठा इन तीनों अँगुलियाँ के अग्रभागों को मिलाने पर जो हस्त-मुद्रा बनती है उसे प्राण-मुद्रा कहते हैं। इस अभ्यास में शेष अँगुलियाँ सीधे रहे।

लाभ – इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर में प्राण तत्त्व की कमी को दूर किया जा सकता है और शरीर की शक्तिहीनता को दूर करके नई शक्ति का संचार किया जा सकता है।

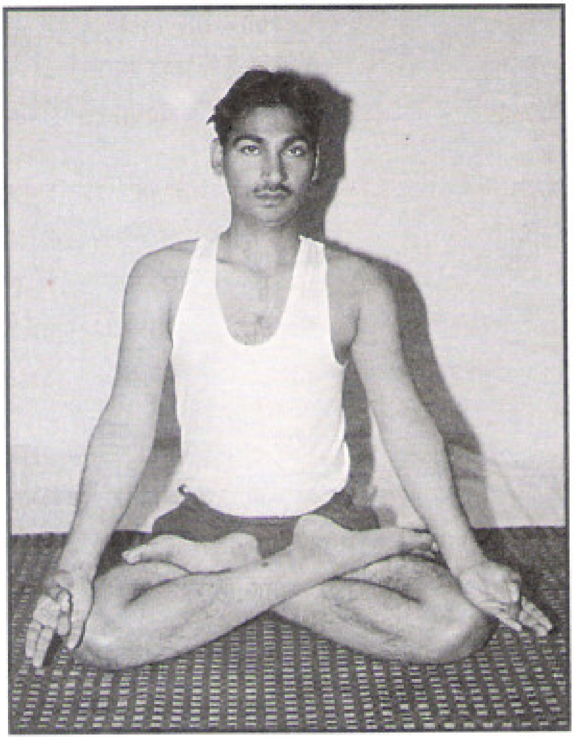

पृथ्वीमुद्रा

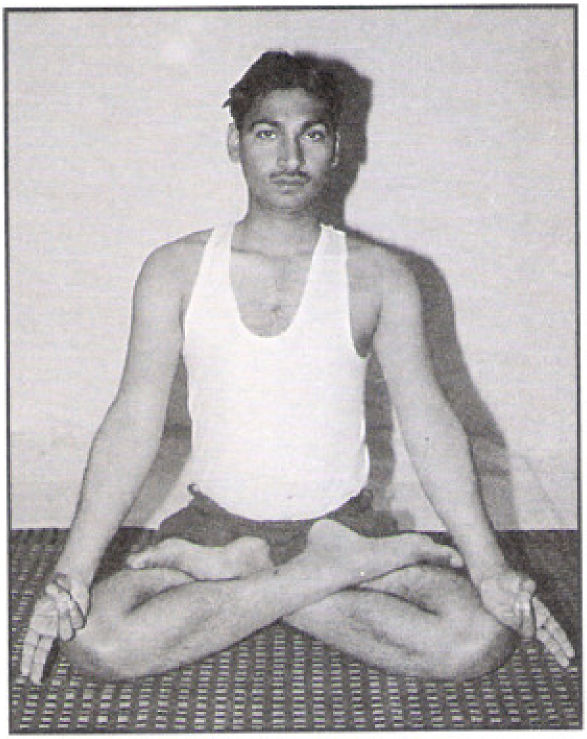

प्राणमुद्रा

7. **अपान-मुद्रा** – अंगुष्ठ के साथ मध्यमा और अनामिका के अग्रभाग को मिलाने पर तथा शेष दोनों अंगुलियों को सीधा रखने पर जो मुद्रा बनती है उसे अपान-मुद्रा कहते हैं।

लाभ – इस मुद्रा के नियमित अभ्यास से शरीर के विजातीय द्रव्य बाहर निकलते हैं और शरीर मल रहित बनता है।

8. **अपानवायु-मुद्रा** – वायु-मुद्रा तथा अपान-मुद्रा के संयुक्त होने से यह मुद्रा बनती है। तर्जनी को अंगुष्ठ की जड़ में लगाकर हल्का दबाव डालें तथा मध्यमा और अनामिका के अग्रभाग को अंगुष्ठ के अग्रभाग से मिलावें। यही अपान-वायु मुद्रा है।

लाभ – दो मुद्राओं के मेल से बनी यह मुद्रा शरीर में स्थिन विभिन्न ग्रन्थियों को जाग्रत करती है। इस मुद्रा का नियमित अभ्यास हृदय रोग से बचाव कर सकता है।

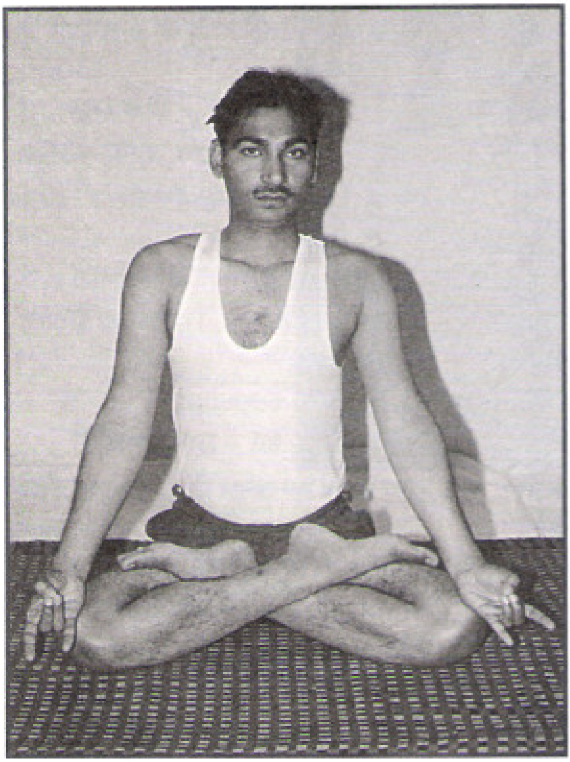

अपानमुद्रा

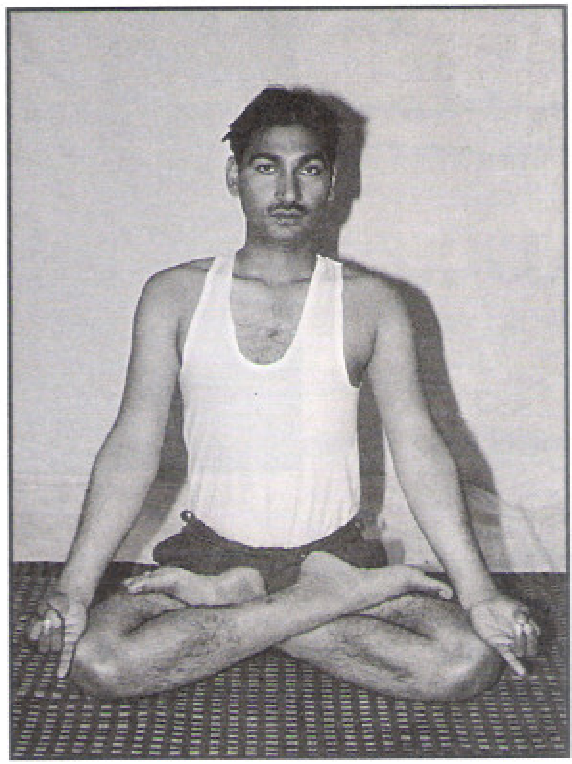

अपानवायु-मुद्रा

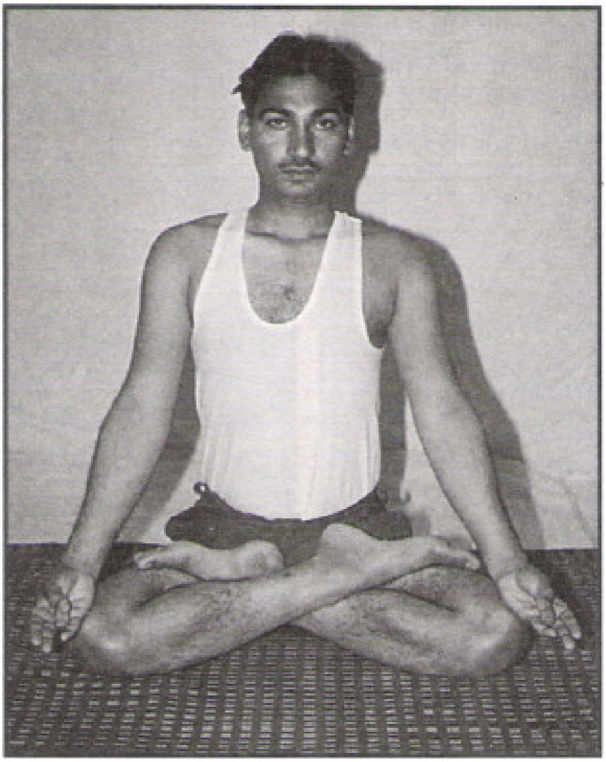

सूर्यमुद्रा

9. **सूर्यमुद्रा** - अनामिका अँगुली को मोड़कर उसके बीच के जोड़ों के ऊपर वाले भाग को अँगूठे से दबायें। अन्य अँगुलियाँ सीधी रहनी चाहिये। यही सूर्यमुद्रा है।

लाभ -

1. यह मन को स्थिर रखने में सहायक है।
2. यह शरीर की स्थूलता को कम करने में सहायक है।

ऊपर नीचे धरे और समकाय अर्थात् बराबर शरीर करके सुखपूर्वक बैठे उसको स्वस्तिकासन कहतेहैं. इस विधानसे बुद्धिमान् योगी वायुका साधनकरे तौ उसके शरीरमें व्याधी प्रवेश नहीं करती और उसको वायु सिद्धहोजातीहै इसको सुखासन कहतेहैं यह सर्वदुःखका नाशक है यह स्वस्तिकासन योगी लोगोंको गोप्य रखना उचितहै इसकारणसे की उत्तम कल्याणका कारकहै ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगाभ्यासतत्त्वकथनं नाम तृतीयः पटलः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थपटलः ।

मूलम्–आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ॥ गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुंच्य प्रवर्तते ॥ १ ॥

टीका–पहिले पूरक योगविधानसे आधारपद्ममें वायुको मन सहित पूरक करके स्थित करे और गुदामेढ्के मध्यमें जो योनिस्थान है उसको यत्नसे आकुञ्चन करनेमें प्रवृत्तहोय ॥ १ ॥

मूलम्–ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम्॥सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटि-

सुशीतलम् ॥२॥तस्योर्ध्वं तु शिखासूक्ष्मा
च्चिद्रूपा परमाकला ॥ तया सहितमात्मा-
नमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥ ३ ॥

टीका–ब्रह्मयोनिके मध्यमें कामपुष्प अर्थात् काम-
बाणके समान कोटिसूर्यके सदृश प्रकाश और कोटि
चन्द्रमाके समान शीतल कामदेवका ध्यान करे और
उसके ऊर्ध्व भागमें सूक्ष्म ज्योति शिखा चैतन्यस्वरू-
पा परमाशक्तिसहित एक परमात्माका चिन्तन
करै ॥ २ ॥ ३ ॥

मूलम्–गच्छतिब्रह्ममार्गेण लिंगत्रयक्रमेण
वै॥ सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशी-
तलम्॥४॥अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमान-
न्दलक्षणम्॥श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधा-
राप्रवर्षिणम् ॥ ५ ॥ पीत्वा कुलामृतं दि-
व्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ॥

टीका–उसी ब्रह्मयोनिसे जीव सुषुम्णा रन्ध्रद्वारा
क्रमसे तीन लिङ्ग अर्थात् स्थूल सूक्ष्म कारणस्वरूपसे
प्रस्थान करताहै और स्वर्गस्थ अमृत परम आनन्द-
का लक्षण श्वेत रक्त·वर्ण कोटि सूर्यके सदृश तेज
प्रकाश और कोटि चन्द्रमाके समान शीतल सुधाधारा-

वर्षी दिव्यकुलामृतको पान करके फिर योनिमंडल-में स्थित होजाताहै ॥ ४ ॥ ५ ॥

मूलम्–पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन ना-न्यथा ॥ सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मि-स्तन्त्रे मयोदिता ॥ ६ ॥

टीका–फिर ब्रह्मयोनिसे प्राणायामयोग करके प्राण कुलमंडलमें जाताहै इस तंत्रमें जो हमने कहाहै हे देवी ! उस ब्रह्मयोनिको प्राणके समान कहते हैं ॥ ६ ॥

मूलम्–पुनःप्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादि-शिवात्मकम् ॥ ७ ॥ योनिमुद्रा पराह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ॥ तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥ ८ ॥

टीका- फिर तीसरे बार काल अग्नि आदि शिवा-त्मक जीव प्रस्थानपूर्वक चंद्रमण्डलमें दिव्य अमृत-पान करके फिर ब्रह्मयोनिमें लय होजाता है हे देवी ! इस बन्धको योनिमुद्रा कहते हैं केवल बन्धमात्रसे संसारमें असाध्य कोई वस्तु नहीं है अर्थात् सब सिद्ध होसक्ताहै ॥ ७ ॥ ८ ॥

मूलम्–छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताः स्तंभिताश्च ये ॥ दग्धा मन्त्राः शिरोहीना

मलिनास्तु तिरस्कृताः ॥ ९ ॥ मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ॥ भेदिनो भ्रमसंयुक्ताः सप्ताहं मूर्च्छिताश्च ये ॥ १० ॥ अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः॥ तथा सत्त्वेन हीनाश्च खण्डिताः शतधाकृताः ॥ ११ ॥ विधानेन च संयुक्ताः प्रभवन्त्यचिरेण तु ॥ सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः ॥ १२ ॥ यद्यदुच्चरते योगी मंत्ररूपं शुभाशुभम्॥ तत्सिद्धिं समवाप्नोति योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १३ ॥ दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा ॥ ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ॥ १४ ॥

टीका-जो मन्त्र छिन्नरूप हैं और कीलित हैं स्तम्भित हैं और जो मन्त्र दग्ध हैं शिरहीन हैं मलीन हैं और जिनका अनादर है और मन्द हैं बाल हैं वृद्धहैं प्रौढहैं और जो यौवनगर्वित हैं और भेदितहैं भ्रमसंयुक्त हैं सप्ताहसे मूर्च्छित हैं और जो शत्रुके पक्षमें हैं निर्वीर्य हैं

सत्त्वरहित हैं खण्डितहैं सो खण्ड होगएहैं इस विधिसे युक्त होके साधन करनेसे शीघ्र प्रकर्ष करके सिद्ध होजायगा गुरुशिक्षासे सब सिद्ध और मोक्षप्रद होजाताहै योगीसे जो मन्त्र शुभ वा अशुभरूप उच्चारण होताहै सो सब योनिमुद्राके बन्धनमात्रसे सिद्ध होजाताहै विधानपूर्वक मंत्रके अधिकारार्थ गुरुको उचितहै कि इस योनिमुद्राके दीक्षाका अभिषेक सहस्रधा शिष्यको करे ॥९॥ १० ॥११॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

मूलम्–ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ॥ नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १५ ॥

टीका–यदि एक सहस्र ब्रह्महत्याकरके और त्रैलोक्यकाभी घात करदे अर्थात् प्राणिमात्रका नाश करदे तो भी वह इस योनिमुद्राके बन्धमात्रसे पापमें लिप्त न होगा अर्थात् उसको पाप नलगेगा ॥ १५ ॥

मूलम्–गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ॥ एतैः पापैर्न बध्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १६ ॥

टीका–गुरुघातक मद्यपाई चोर गुरुकी शय्यामें रमण करनेवाला ऐसे अनेक पातकसेभी साधक योनिमुद्राके बन्धप्रभावसे बन्धायमान नहोगा ॥ १६ ॥

मूलम्-तस्मादभ्यसनं नित्यं कर्तव्यं मोक्ष-
कांक्षिभिः ॥ अभ्यासाज्जायते सिद्धिर-
भ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ॥ १७ ॥

टीका-इस हेतुसे मोक्षकांक्षीको उचित है कि, नित्य
अभ्यास करे अभ्याससे सिद्धि होती है और अभ्यासही-
से मुक्ति प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

मूलम्-संविदं लभतेऽभ्यासाद्योगोऽभ्यासात्प्र-
वर्तते ॥ मुद्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासा-
द्वायुसाधनम् ॥१८ ॥ कालवञ्चनमभ्या-
सात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ॥ वाक्सिद्धिः
कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ॥१९॥

टीका-अभ्याससे ज्ञान प्राप्त होताहै और अभ्याससे
योगमें प्रवृत्ति होती है और अभ्याससे मुद्रा सिद्ध
होती हैं और अभ्याससे वायुका साधन होताहै और
अभ्याससे मनुष्य कालसे बचताहै और अभ्याससे
मृत्युंजय होजाताहै और अभ्यासयोगसे वाक्यसिद्धि
और मनुष्य इच्छाचारी होजाताहै. तात्पर्य यह है कि,
सब वस्तुके सिद्धिका कारण अभ्यास है. इस हेतुसे आ-
लस्यको छोडके जिस वस्तुमें मनुष्य अभ्यासकरेगा
वह अवश्य सिद्ध होजायगा ॥ १८ ॥ १९ ॥

मूलम्--योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित् ॥ सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ २० ॥

टीका--यह योनिमुद्रा परमगोपनीय है अनधिकारीको कदापि न दे यह सर्वथा देनेके योग्य नहीं है यदि कण्ठगत प्राण होजायँ तो भी देना उचित नहीं है ॥२०॥

मूलम्--अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम् ॥ गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् ॥ २१ ॥

टीका--हे देवी ! अब जो योग कहेंगे वह परमसिद्धिका देनेवाला है सिद्ध लोगोंको इस परम दुर्लभ योगको गोप्य रखना उचितहै ॥ २१ ॥

मूलम्--सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ॥ तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च ॥ २२ ॥

टीका--गुरूके प्रसादसे निद्रिता कुण्डलिनी देवी जब जागृत होती है तब सर्व पद्म और सर्व ग्रंथी बेधित हो जाती हैं अर्थात् सुषुम्णा रन्ध्रद्वारा प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रपर्यंत संचार करने लगजाताहै ॥ २२ ॥

मूलम्--तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्व-

रीम् ॥ ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं स
माचरेत् ॥ २३ ॥

टीका–इसकारणसे यत्नपूर्वक ब्रह्मरन्ध्रके मुखमें जो ईश्वरी कुण्डलिनी देवी शयन करती हैं उनको उठानेके अर्थ मुद्राका अभ्यास उचित है ॥ २३ ॥

मूलम्–महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खे-
चरी ॥ जालंधरो मूलबंधो विपरीतकृति-
स्तथा ॥२४॥ उड्डानं चैव वज्रोली दशमे
शक्तिचालनम् ॥ इदं हि मुद्रादशकं मुद्रा
णामुत्तमोत्तमम् ॥ २५ ॥

टीका–अब उत्तम मुद्राबन्ध वेध कहते हैं महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरीमुद्रा, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरणीमुद्रा, उड्डानबन्ध, वज्रोलीमुद्रा और दशवीं शक्तिचालनमुद्रा, यह दशों मुद्रा सबमें अतिउत्तम हैं ॥ २४ ॥ २५ ॥

अथ महामुद्राकथनम् ।

मूलम्–महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम-
मवल्लभे ॥ यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च
कपिलाद्याः पुरा गताः ॥ २६ ॥

टीका—हे प्रिये पार्वती ! इस तन्त्रमें महामुद्रा जो हम कहतेहैं इसको लाभ करके पूर्व कपिलआदिक सिद्धवरको सिद्धि प्राप्त भई ॥ २६ ॥

मूलम्--अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम् ॥ गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥२७॥ सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै ॥ नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥ २८ ॥ चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम् ॥ महामुद्रा भवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ २९ ॥ वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः ॥ प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥ ३० ॥

टीका—वामपादके एडीसे गुदा और मेढ्रके मध्यमें जो योनि है उसको आदरसहित गुरुके उपदेशपूर्वक पीडितकरे अर्थात् दबावे और दक्षिणपाद प्रसारके अर्थात् लम्बा करके दोनों हाथोंसे धरे और नवद्वारोंको रोक करके चिबुक अर्थात् ठोडीको हृदयपर स्थित करे और चित्तवृत्तिको चैतन्यमें स्थिर करके वायुका साधन करना उचित है यह महामुद्रा सर्वतन्त्रोंके प्रमाणसे गो-

प्यहै पहिले वामांगसे अभ्यास करके फिर दक्षिण अं-
गसे अभ्यास करे योगी स्थिरबुद्धिको उचित है कि, इस
प्रकारसे प्राणायामको समकरे ॥२७॥२८॥२९॥३०॥

मूलम्--अनेन विधिना योगी मन्दभाग्यो-
पि सिध्यति॥ सर्वासामेव नाडीनां चालनं
बिन्दुमारणम् ॥३१॥जीवनन्तु कषायस्य
पातकानां विनाशनम् ॥ कुण्डलीतापनं
वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम् ॥ ३२ ॥ सर्वरो-
गोपशमनं जठराग्निविवर्धनम् ॥ वपुषा
कान्तिममलांजरामृत्युविनाशनम्॥३३॥
वांछितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मा-
रणम् ॥एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य
योगिनः ॥ ३४ ॥ भवेदभ्यासतोऽवश्यं
नात्र कार्या विचारणा ॥

टीका—इस विधानसे मन्दभाग्य योगीभी सिद्ध होजा-
यगा और इस महामुद्राके प्रभावसे सर्व नाडीका च-
लन सिद्ध होजायगा और बिन्दु स्थिर होगा और जी-
वनको आकर्षित रक्खेगा और सर्व पातकका नाश हो-
जायगा और कुण्डलिनीको हठात् उठाय वायुको ब्रह्मर-
न्ध्रमें प्रवेश करेगा और ज़ठराग्नि प्रज्वलित होके सर्वरो-

गोंका नाश करदेगा और शरीरमें सुन्दर कान्ति होगी और वृद्धावस्थासहित मृत्युका नाश होजायगा और सुखसहित वाञ्छित फल लाभ होगा और इन्द्रियोंका निग्रह रहेगा यह सब जो कहा है सो योगारूढ योगीको अभ्याससे वश होजाताहै इसमें संशय नहीं है निश्चय है ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

मूलम्–गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ॥ यां तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः ॥ ३५ ॥

टीका–हेसुरपूजिते देवी ! यह मुद्रा यत्न करके गोपनीय है योगीलोग इसको लाभ करके संसाररूपी समुद्रके पार होजाते हैं ॥ ३५ ॥

मूलम्–मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता ॥ गुप्ताचारेण कर्त्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ॥ ३६ ॥

टीका–हेदेवी ! यह मुद्रा जो हमने कही है साधकोंको कामधेनुरूप है अर्थात् वाञ्छितफलकी दाता है इसको गुप्त करके अभ्यास करना उचित है और सबको अर्थात् अनधिकारीको देना उचित नहीं है ॥ ३६ ॥

अथ महाबन्धकथनम् ।

मूलम्–ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरू-

परि ॥ ३७ ॥ गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ॥ योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ॥ ३८ ॥ बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ॥ कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ॥ ॥ ३९ ॥ नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं याति योगिनः ॥ उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ॥ ४० ॥

टीका–तदनन्तर पादको प्रसारके अर्थात् फैलाके दक्षिणचरणको वाम ऊरूपर स्थित करके और गुदा और योनिको आकुञ्चन करके अपानको ऊर्ध्व करके समानवायुके साथ सम्बन्ध करके और प्राणवायुको अधोमुख करे यह बन्ध प्राण अपानके ऊर्द्धगतिके हेतु बुद्धिमान् साधकके प्रति कहाहै और यह महाबन्ध सिद्धिमार्गका दाता है और योगीलोगोंके नाडियोंका रससमूह इस बन्धसे ऊपरको गमन करताहै यह दोनों मुद्रा और बन्ध एक एकको दोनों अंगसे यत्न करके करना उचितहै ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

मूलम्–भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्नामध्यसङ्गतः ॥ अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थि-

पञ्जरे ॥ ४१ ॥ संपूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ॥ बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ॥ ४२ ॥

टीका—अभ्याससे प्राणवायु सुषुम्णाके मध्यमें स्थित होगा और इस महाबंधके प्रभावसे शरीर पुष्ट रहैगा और आस्थिपंजर और शरीरका सब बन्ध दृढ अर्थात् बलिष्ठ होजायगा और योगीका हृदय सन्तोषसे पूर्ण और आनन्दित रहेगा. यह सब योगीको इस महाबन्धके प्रभावसे स्वयं लाभ होजायगा और इसी बन्धके साधनसे योगी अपनी इच्छाके अनुसार सब सिद्ध करलेगा ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

अथ महावेधकथनम् ।

मूलम्--अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि॥महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना॥ स्फिचौ संताडयेद्धीमान्वेधोऽयं कीर्तितो मया ॥ ४३ ॥

टीका—हे त्रिभुवनेश्वरी ! अपान और प्राणको एक करके महावेधस्थित योगी उदरको वायुसे पूर्ण करके बुद्धिमान् दोनों स्फिच अर्थात् पार्श्वको ताडन करे इसको हमने वेध कहा है ॥ ४३ ॥

मूलम्–वेधनानेन संविध्य वायुनायोगिपुंगवः ॥ ग्रंथिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रंथिं भिनत्त्यसौ ॥ ४४ ॥

टीका–बुद्धिमान् योगी इस वेधद्वारा वायुसे सर्व ग्रन्थीको वेधन करके सुषुम्णारन्ध्रद्वारा ब्रह्मग्रंथीको भेदन करताहै ॥ ४४ ॥

मूलम्–यःकरोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ॥ वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरण नाशिनी ॥ ४५ ॥

टीका–जो मनुष्य इस उत्तम महावेधको गोपित करके सर्वदा अभ्यास करेगा उसकी जरामरण नाशिनी वायुसिद्धि होजायगी ॥ ४५ ॥

मूलम्–चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात् ॥ कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ॥ ४६ ॥

टीका–शरीरस्थ चक्रमें जो देवता हैं वह वायुके ताडनसे कम्पायमान होते हैं और महामाया कुण्डलिनी देवी कैलास अर्थात् ब्रह्मस्थानमें लय होती है तात्पर्य यह है कि, चक्रस्थित देवता अर्थात् गणेशजी, ब्रह्मा, विष्णु, महादेवजी, मायाधीश ज्योतिस्वरूप ईश्वर क्रमसे

आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्रमें जो स्थित हैं वायुके वेगसे चक्ररन्ध्रको छोडदेते हैं तब वायुका प्रवेश होताहै इसहेतुसे यह महावेध अवश्य करना उचित है ॥ ४६ ॥

मूलम्–महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ॥ ४७ ॥

टीका–महामुद्रा और महाबन्ध विना वेधके निष्फल हैं अर्थात् वेध न करनेसे मुद्रा और बन्धका कुछ फल नहोगा इसहेतुसे योगीको उचित है कि, यत्नपूर्वक क्रमसे मुद्रा, बन्ध, वेध तीनोंका अभ्यास करे ॥ ४७ ॥

मूलम्–एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः ॥ षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ४८ ॥

टीका-जो यह मुद्रा बन्ध वेध तीनोंका अभ्यास यत्न करके रात्रि दिवसमें चारवार करेगा सो छःमासमें निश्चय मृत्युको जीतलेगा इसमें संशय नहीं है ॥४८॥

मूलम्–एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ॥ यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वे सिद्धिं सम्यग्लभन्ति वै ॥ ४९ ॥

टीका—यह तीनोंके माहात्म्यको सिद्धलोक जानते हैं इतरलोग अर्थात् सांसारिक मनुष्य नहीं जानते इसके जानलेनेसे साधकलोगोंको सर्वसिद्धिलाभ होती है ॥४९॥

मूलम्--गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धि-मीप्सुभिः ॥ अन्यथा च न सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः ॥ ५० ॥

टीका—सिद्धिकांक्षी साधकको उचित है कि, यह सब मुद्राको यत्नपूर्वक गोप्य रक्खे इनको प्रकाश करनेसे कदापि सिद्धि नहोगी यह निश्चय है ॥ ५० ॥

अथ खेचरीमुद्राकथनम् ।

मूलम्—भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः ॥ ५१ ॥ उपविश्यासने वज्रे नानो-पद्रववर्जितः ॥ लम्बिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम् ॥ ५२ ॥ संयोजये-त्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ॥ मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ॥५३॥

टीका—बुद्धिमान् साधक दोनों भ्रू अर्थात् भ्रुकुटी-के मध्यमें दृढ करके दृष्टिको स्थिर करके और नाना-उपद्रवरहित होके वज्रासन अर्थात् सिद्धासनसे स्थित होयके जिह्वाको विपरीत अर्थात् ऊपर सुधाकूप स्वरूप

तालूविवरमें यत्नसे बुद्धिमान् साधक संयोजित करे अर्थात् संबन्धकरे हेपार्वती ! भक्तोंके प्रति हमने प्रकाश करके यह खेचरीमुद्रा कही है ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

मूलम्-सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया ॥ निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत् ॥ तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ५४ ॥

टीका-यह खेचरीमुद्रा सर्वसिद्धिकी माता है और हेदेवी ! हमको प्राणसेभी अधिक प्रिय है जो निरंतर इसके अभ्याससे नित्य अमृतपान करताहै उस कारणसे शरीर सिद्ध होजाताहै अर्थात् नाश नहीं होता और मृत्युरूप हस्तीको यह खेचरीरूपी सिंह हन्ताहै ॥ ५४ ॥

मूलम्-अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ॥ खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः ॥ ५५ ॥

टीका-अपवित्र होय वा पवित्र होय अथवा किसी अवस्थामें होय जिसको यह खेचरीमुद्रा सिद्ध है वह सर्वदा शुद्ध है इसमें संशय नहीं है ॥ ५५ ॥

मूलम्--क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम् ॥ दिव्यभोगान्प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते ॥ ५६ ॥

टीका-जो इस खेचरीमुद्राको क्षणार्धभी करेगा वह महापापसागरके पार होके सुखपूर्वक स्वर्गका भोग भोगेगा पश्चात् उत्तमकुलमें उसका जन्म होगा ॥५६॥

मूलम्-मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः ॥ शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ॥ ५७ ॥

टीका-जो मनुष्य इस खेचरीमुद्राको स्वस्थचित्त ब्रह्मपरायणहोके करेगा उसको यदि शतब्रह्माभी गत भावको प्राप्तहों क्षणार्ध प्रतीत होगा ॥ ५७ ॥

मूलम्-गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरी-मिमाम् ॥ नानापापरतो धीमान्स याति परमां गतिम् ॥ ५८ ॥

टीका-गुरूपदेशसे जिसको यह खेचरीमुद्रा लाभ होगी वह यदि नानापापरत होगा तो भी बुद्धिमान् साधक परमगतिको प्राप्तहोगा अर्थात् मोक्ष होजा-यगा ॥ ५८ ॥

मूलम्-सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मिन्क-स्मिन्न दीयते ॥ प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ॥ ५९ ॥

टीका-हे सुरपूजिते पार्वती ! यह खेचरीमुद्रा प्राणके

बराबर है सामान्य मनुष्यको देना उचित नहीं है इस मुद्राको यत्न करके गोपित रखनेमें कल्याण है ॥ ५९ ॥

अथ जालन्धरबन्ध ।

मूलम्–बद्धागलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ॥ बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवाना-मपि दुर्लभः ॥६०॥ नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्च्युतम् ॥ पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम् ॥ ६१ ॥

टीका–गुरूपदेशद्वारा गलशिराजालको बांधके चिबुक अर्थात् ठोडीको हृदयमें स्थित करे इसको जा-लन्धरबन्ध कहते हैं यह देवतोंकोभी दुर्लभ है नाभी-स्थित जीव जठरानल सहस्रदल कमलसे जो अमृत स्रवताहै उसको पान करजाताहै इस हेतुसे यह जाल-न्धरबन्ध करना उचित है तात्पर्य यह है कि, नाभिस्थित सूर्य अमृतको पान करजाते हैं इसीकारणसे मृत्यु हो-तीहै इस जालन्धरबन्धके करनेसे चंद्रमण्डलच्युत अमृत सूर्यमण्डलमें नहीं जाता योगी आपही पान करके चिरं-जीव रहताहै ॥ ६० ॥ ६१ ॥

मूलम्–बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बु-द्धिमान् ॥ अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ॥ ६२ ॥

टीका—इस जालन्धरबन्धके प्रभावसे बुद्धिमान् योगी स्वयं अमृत पान करताहै और अमरत्वको पाय-के तीनोंलोकमें आनन्दपूर्वक विचरता है ॥ ६२ ॥

मूलम्—जालन्धरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः॥ अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥ ६३ ॥

टीका—यह जालन्धरबन्ध सिद्धोंको सिद्धिदेनेवाला है इस कारणसे सिद्धिकांक्षी योगीको इसका नित्य अभ्यास करना उचित है ॥ ॥ ६३ ॥

अथ मूलबन्धः।

मूलम्—पादमूलेन संपीडय गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ॥६४॥ बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत्॥ कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥ ६५ ॥

टीका—पादमूल अर्थात् एडीसे गुदामार्गको आकुञ्चन करके पीडितकरे और बलसे अपानवायुको आकर्षण करके ऊर्ध्वको लेजाय अर्थात् प्राणके साथ सम्बन्धकरे इसको मूलबन्ध कहतेहैं यहबन्ध जरा मरणका नाश करनेवाला ह ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

मूलम्—अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधि-

कल्पितम् ॥ बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥ ६६ ॥

टीका-इस कल्पितबन्धसे अपान और प्राणको एक करे और इसी मूलबन्धके प्रभावसे योनिमुद्रा आपही सिद्ध होजायगी ॥ ६६ ॥

मूलम्-सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ॥ बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ॥ पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥ ६७ ॥

टीका-योनिमुद्राके सिद्ध होनेसे सिद्धलोगोंको इस संसारमें सब सिद्ध होसक्ताहै इस मूलबन्धके प्रसादसे वायुको योगी जीतके पद्मासनस्थित होके भूमिको त्याग देगा और आकाशमें गमन करेगा ॥ ६७ ॥

मूलम्-सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ॥ संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगिपुंगवः ॥ ६८ ॥

टीका-पवित्र योगी यदि संसारसागरसे पार होनेकी इच्छा करे तो निर्जनदेश और गुप्तस्थानमें इस मूलबन्धका अभ्यास करना उचित है ॥ ६८ ॥

अथ विपरीतकरणी मुद्रा ।

मूलम्-भूतले स्वशिरो दत्त्वा खे नयेच्चरणद्व

यम् ॥ विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गो-
पिता ॥ ६९ ॥

टीका–साधक अपने शिरको भूमिपर धरे और दोनों चरणोंको ऊपर आकाशमें निरालम्ब स्थिर करे यह विपरीतकरणी मुद्रा सर्वतन्त्रोंकरके गोपित है अर्थात् प्रकाश करने योग्य नहीं है ॥ ६९ ॥

मूलम्–एतद्यः कुरुते नित्यमभ्यासं याम-
मात्रतः ॥ मृत्युं जयति योगीशः प्रलये
नापि सीदति ॥ ७० ॥

टीका–इसप्रकारसे इस मुद्राका अभ्यास नित्य एक प्रहर करे तो योगी निश्चय मृत्युको जीतलेगा और प्रलयमेंभी उसको कुछ कष्ट न होगा ॥ ७० ॥

मूलम्–कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां सम-
तामियात् ॥ स सेव्यः सर्वलोकानां बन्ध-
मेनं करोति यः ॥ ७१ ॥

टीका–जो पुरुष शरीरस्थअमृतपान करता है उसको सिद्धोंकी समता प्राप्त होती है और इस मुद्राबन्धको जो करताहै वह सर्वलोकमें पूजनीय है ॥ ७१ ॥

मूलम्–नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिम-
माचरेत् ॥ उड्डयानबंध एष स्यात्सर्वदुः-

खौघनाशनः ॥ ७२ ॥ उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ॥ उड्डयानाख्यो-ऽत्र बन्धोयं मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ७३ ॥

टीका–नाभिसे ऊपर और नीचेको आकुञ्चन करे इसको उड्डयानबन्ध कहते हैं यह दुःखके समूहको नाशकरनेवाला है उदरको पीछे आकर्षण करे और नाभिसे ऊपर भागमें आकुञ्चन करे यह उड्डयानबन्ध है और मृत्युरूपी मातङ्गका नाशकरनेवाला यह बंध-रूपी सिंह है ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

मूलम्–नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने॥ तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन सिद्धो भवेन्मरुत् ॥ ७४ ॥

टीका–जो योगी नित्य इस बंधको चारवार अ-भ्यास करेगा उसका नाभिचक्र शुद्ध होके वायु सिद्ध होजायगा ॥ ७४ ॥

मूलम्–षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम् ॥ तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृ-द्धिः प्रजायते ॥ ७५ ॥

टीका–योगी यदि छः मास इस बंधका अभ्यास करे तो निश्चय मृत्युको जीतलेगा और उसका जठरा-

नल विशेष प्रज्वलित होगा और रसकी वृद्धि उत्पन्न होगी ॥ ७५ ॥

मूलम्-अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते ॥ रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ॥ ७६ ॥

टीका-इस उड्डयानबंधके प्रभावसे योगीका शरीर आपही सिद्ध हो जायगा अर्थात् अमर होजायगा और सर्व रोगोंका निश्चय क्षय होजायगा ॥ ७६ ॥

मूलम्-गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः ॥ निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम् ॥ ७७ ॥

टीका-गुरुसे यत्नपूर्वक इस परमदुर्लभ बन्धको लाभ करके बुद्धिमान् साधक एकांतस्थानमें स्वस्थचित्त होके साधन करे ॥ ७७ ॥

अथ वज्रोलीमुद्रा ।

मूलम्-वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम् ॥ स्वभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद्गुह्यतमामपि ॥ ७८ ॥

टीका-हे देवी ! संसारतमनाशिनी परमगोपनीय वज्रोली मुद्रा भक्तलोगोंके प्रति हम कहते हैं ॥ ७८ ॥

मूलम्–स्वेच्छया वर्तमानोपि योगोक्तनियमैर्विना॥ मुक्तो भवति गार्हस्थो वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥ ७९ ॥

टीका–गृहस्थ अपनी इच्छापूर्वक गृहमें भोग करेगा और योगमें जो नियम कहा है उसके विना इस वज्रोलीमुद्राके योग अभ्याससे मुक्त होजायगा ॥ ७९ ॥

मूलम्–वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगयुक्तेपि मुक्तिदः ॥ तस्मादतिप्रयत्नेन कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ८० ॥

टीका–यह वज्रोलीका योगअभ्यास भोगयुक्त मनुष्योंके प्रति मुक्तिका दाता है इसकारणसे अतियत्न करके सर्वदा योगीको अभ्यास करना उचित है ॥ ८० ॥

मूलम्–आदौ रजः स्त्रियो योन्या यत्नेन विधिवत्सुधीः ॥ आकुंच्य लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ ८१ ॥ स्वकं बिंदुञ्च सम्बन्ध्य लिंगचालनमाचरेत् ॥ दैवाच्चलति चेदूर्ध्वं निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ८२ ॥ वाममार्गेऽपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिङ्गं निवारयेत् ॥ क्षणमात्रं योनितो यः पुमांश्चालन-

माचरेत् ॥ ८३ ॥ गुरूपदेशतो योगी हुंहु-ङ्कारेण योनितः ॥ अपानवायुमाकुंच्य बलादाकृष्य तद्रजः ॥ ८४ ॥

टीका-प्रथम बुद्धिमान् साधक यत्न करके विधान पूर्वक स्त्रीके योनिसे रजको लिङ्गनालमें आकर्षण करके अपने शरीरमें प्रवेश करे और अपने विन्दुको निरोध करके लिङ्ग चालनकरे यदि दैवात् विन्दु अपने स्थानसे चले तो योनिमुद्रासे निरोध करके ऊपरको आकर्षण करे और उस विन्दुको वामभागमें स्थित करके क्षणमात्र लिङ्गचालन निवारण करे फिर गुरूपदेशद्वारा योगी हुंहुंकार शब्द उच्चरणपूर्वक योनिमें लिङ्ग चालन करे और बलसे अपानवायुको आकुञ्चन करके स्त्रीके रजको आकर्षण करे इसको वज्रोली मुद्रा कहते हैं ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

मूलम्-अनेन विधिना योगी क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ॥ गव्यभुक्कुरुते योगी गुरुपादाब्जपूर्वकः ॥ ८५ ॥

टीका-इस विधानसे योगीको शीघ्र योग सिद्ध होगा और गुरुपादपद्मपूजक योगी शरीरस्थ अमृतपान करेगा ॥ ८५ ॥

मूलम्-बिन्दुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमय-
स्तथा ॥ उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्र-
वेशयेत् ॥ ८६ ॥

टीका-बिन्दुरूपी चन्द्र और रजरूपी सूर्य यह जानकर दोनोंका सम्बन्ध करके अपने शरीरमें प्रवेश करना उचित है ॥ ८६ ॥

मूलम्-अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं
यदा ॥ योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं
वपुस्तदा ॥ ८७ ॥

टीका-यदि शिवरूपी बिन्दु और रजरूपी शक्ति यह दोनोंका सम्बन्ध होगा तब योगीका साधनसे दिव्य शरीर अर्थात् देवतोंके समान शरीर होगा तात्पर्य यह है कि शिवशक्ति अर्थात् माया ईश्वरके सम्बन्ध वा मायाको ईश्वरमें लय करनेसे जिसको अध्यारोप अप-वाद कहते हैं योगी मोक्ष होता है अभिप्राय यह है कि, रजबिन्दुका सम्बन्ध जिस साधकको सिद्ध होजाताहै वह मुक्त है ॥ ८७ ॥

मूलम्-मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधा-
रणे ॥ तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधा-
रणम् ॥ ८८ ॥

टीका-बिन्दुपात होनेसे मृत्यु होती है और बिन्दुके धारणसे प्राणी जीवताहै इस कारणसे यत्नसे बिन्दुको धारण रखना उचित है ॥ ८८ ॥

मूलम्-जायते म्रियते लोके बिन्दुना नात्र संशयः ॥ एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिन्दुधारणमाचरेत् ॥ ८९ ॥

टीका-प्राणीका जन्म मरण बिन्दुसे होताहै इसमें संशय नहीं है. इस हेतुसे इसको विचारके योगीको उचित है कि, बिन्दुको सर्वदा धारण रक्खे ॥ ८९ ॥

मूलम्-सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ॥ यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ॥ ९० ॥

टीका--हे पार्वती ! यत्नपूर्वक बिन्दुके सिद्ध होनेसे संसारमें क्या नहीं सिद्ध होसक्ता अर्थात् सब सिद्ध हो सक्ताहै इसीके प्रसादसे हमारी ऐसी महिमा है ॥ ९० ॥

मूलम्-बिन्दुः करोति सर्वेषां सुखं दुःखञ्च संस्थितः ॥ संसारिणां विमूढानां जरामरणशालिनाम् ॥ ९१ ॥ अयंच शांकरो योगो योगिनामुत्तमोत्तमः ॥ ९२ ॥

टीका-बिन्दु संसारी मनुष्योंके सुख और दुःखका

कारण है और मूढलोगोंके मूढताका और जरामरण शील लोगोंका अर्थात् सबका यही विन्दु हेतु है योगी लोगोंके प्रति यह हमारा उत्तम योग है ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

मूलम्—अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति भोगयुक्तोऽपि मानवः ॥ सकलः साधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले ॥ ९३ ॥

टीका—भोगयुक्त मनुष्योंकोभी अभ्याससे सिद्धि प्राप्त होतीहै और सकल वाञ्छितफल संसारमें सिद्ध होजाते हैं ॥ ९३ ॥

मूलम्—भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन निश्चितम् ॥ अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवम् ॥ सुखभोगेन महता तस्मादेनं समभ्यसेत् ॥ ९४ ॥

टीका—इस योगअभ्यासद्वारा निश्चय अशेषभोग भोगनेसे सुखी होगा और योगीलोगोंको इस वज्रोलीमुद्रासे सकल सिद्धी अवश्य प्राप्तहोती हैं और महानसुख भोगते हुए यह साधना सिद्ध होगी इसलिये इसका अभ्यास करना उचित है ॥ ९४ ॥

मूलम्—सहजोल्यमरोली च वज्रोल्या भेदतो भवेत् ॥ येन केन प्रकारेण बिन्दुं योगी प्रधारयेत् ॥ ९५ ॥

टीका—वज्रोलीके भेदसे सहजोली और अमरोली मुद्राकी संज्ञा है योगीको उचित है कि सबप्रकारसे बिन्दुको धारण करे ॥ ९५ ॥

मूलम्-दैवाच्चलति चेद्वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः ॥ अमरोलिरियं प्रोक्ता लिंगनालेन शोषयेत् ॥ ९६ ॥

टीका—यदि हठात् वेगवश बिन्दु चले और रजबिन्दुका सम्बन्ध होजाय तो इसको अमरोली कहते हैं परंतु लिङ्गनालद्वारा रजबिन्दु दोनोंको शोषण करे ॥ ९६ ॥

मूलम्--गतं बिन्दुं स्वकं योगी बन्धयेद्योनिमुद्रया ॥ सहजोलिरियं प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ९७ ॥

टीका—निजबिन्दु चलायमान होय तो योगी योनिमुद्राके बन्धसे अवरोध करे इसको सहजोली कहते हैं यह सर्वतन्त्रों करके गोपनीय है ॥ ९७ ॥

मूलम्--संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्यं तुल्यगतिर्यदि ॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ॥ ९८ ॥

टीका—यदि कार्य एक समान है परन्तु संज्ञासे अमरोली और सहजोली दो भेद भया है इस हेतुसे

योगीको उचित है कि, यह दोनों अमरोली और सहजो-लीका यत्नपूर्वक सर्वदा साधन करे ॥ ९८ ॥

मूलम्-अयं योगो मया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहतः प्रिये ॥ गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ॥ ९९ ॥

टीका-हे प्रिये पार्वती! हम भक्तोंपर प्रेम करके यह योग जो कहा है यत्नपूर्वक गोपनीय है सामान्य मनुष्य-को कदापि देना उचित नहीं है ॥ ९९ ॥

मूलम्--एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति ॥ तस्मादेतत्प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ॥ १०० ॥

टीका-इस वज्रोलीमुद्रासे अधिक गोपनीय न कुछ भया है न होगा. इसकारणसे बुद्धिमान साधकको यत्नपूर्वक इसको गोप्य रखना उचित है ॥ १०० ॥

मूलम्-स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना ॥ स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य तत्पुनः ॥ १०१ ॥ गुरूपदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत ॥ बिन्दुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायिका ॥ १०२ ॥

टीका—गुरूके उपदेशपूर्वक सर्वदा मूत्रत्यागनेके समय बलकरके वायुसे आकर्षणपूर्वक थोडा थोडा मूत्र त्यागकरे फिर ऊपरको आकर्षण करे तो उसका बिन्दु सिद्ध होजायगा यह बिन्दुकी सिद्धी महासिद्धीकी दाता है अर्थात् परमपदको प्राप्त करती है ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

मूलम्—षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया ॥ शतांगनेपि भोगेपि तस्य बिन्दुर्न नश्यति ॥ १०३ ॥

टीका—गुरूके शिक्षापूर्वक योगी यदि छः मास नित्य इसका अभ्यासकरे तो शत स्त्रीसे भोगकरेगा तो भी उसका बिन्दुपात नहोगा ॥ १०३ ॥

मूलम्—सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्धयति पार्वति ॥ ईशत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभं भवेत् ॥ १०४ ॥

टीका—हेपार्वती ! जब महायत्नसे बिन्दु सिद्ध होजायगा तब क्या नहीं सिद्धहोगा अर्थात् सब सिद्ध होजायगा इसके प्रसादसे यह दुर्लभ ईशत्व हमको प्राप्त भयाहै ॥ १०४ ॥

अथ शक्तिचालनमुद्रा ।

मूलम्—आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्ड-

लीं दृढाम्॥ अपानवायुमारुह्य बलादाकृ-
ष्य बुद्धिमान् ॥ १०५ ॥ शक्तिचालनमु-
द्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥ १०६ ॥

टीका-आधारकमलमें घोर निद्रित कुण्डलिनीको बुद्धिमान् अपानवायुपर आरूढहोके आकर्षणपूर्वक हठात् चलावे अर्थात् भ्रमावे यह शक्तिचालनमुद्रा सर्वशक्तिकी दाता है ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

मूलम्-शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः स-
माचरेत् ॥ आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां
च विनाशनम् ॥ १०७ ॥

टीका-यह शक्तिचालनमुद्रा जो प्रतिदिन करे तो उसके आयुकी वृद्धी होगी और सर्वरोगोंका इस मुद्राके प्रभावसे नाश होजायगा ॥ १०७ ॥

मूलम्--विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं
भवेत्खलु ॥ तस्मादभ्यासनं कार्यं योगि-
ना सिद्धिमिच्छता ॥ १०८ ॥

टीका-इस शक्तिचालनके साधनसे कुण्डलिनी निद्राको त्यागके आपही ऊर्ध्वगामी होजायगी यह निश्चय है. इस हेतुसे सिद्धिकी इच्छा करनेवाले योगीको उचित है कि, इसका अभ्यास करे ॥ १०८ ॥

मूलम्-यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ॥ येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ॥ गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ १०९ ॥

टीका-यदि इस उत्तमशक्तिचालनमुद्राका सदा अभ्यासकरे तो उसका शरीर सिद्ध अर्थात् अमर होजायगा और यह मुद्रा अणिमादिक सिद्धिकी दाता है. गुरूके उपदेशपूर्वक विधानसे जो इसका अभ्यास करे तो उसको मृत्युका भय नहीं है ॥ १०९ ॥

मूलम्-मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिचालनम् ॥११०॥ यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ॥ युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ॥ १११ ॥

टीका-जो विधानपूर्वक यत्नसे यदि दोमुहूर्तपर्यंत शक्तिचालन करे तो उसको सर्वसिद्धिकी प्राप्ति होगी. योगीको उचित है कि, गुरूके उपदेशानुसार योगासनसे युक्त होके शक्तिचालनका अभ्यास करे ॥११०॥१११॥

मूलम्-एतत्सुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति ॥ एकैकाभ्यासने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा ॥ ११२ ॥

टीका-हे पार्वती! यह दशमुद्रा जो हमने कहा है इसके समान न कुछ भया है न होगा इसके एक एकके अ-भ्यास सिद्ध होनेसे साधक सिद्ध होजायगा ॥ ११२ ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे मुद्राकथनं नाम चतुर्थपटलः समाप्तः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः पटलः ।

मूलम्-श्रीदेव्युवाच ॥ ब्रूहि मे वाक्यमी-शान परमार्थधियं प्रति॥ ये विघ्नाः सन्ति लोकानां वद मे प्रिय शङ्कर ॥ १ ॥

टीका-श्रीपार्वतीजी कहती है कि, हे ईश्वर! हे प्रिय शङ्कर! योगाभ्यासी लोगोंके प्रति जो विघ्न संसारमें हैं सो भक्तोंपर कृपा करके हमको कहो ॥ १ ॥

मूलम्-ईश्वर उवाच ॥ शृणु देवि प्रवक्ष्या मि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा ॥ मुक्तिं प्र-ति नराणाञ्च भोगः परमबन्धनः ॥ २ ॥

टीका-श्रीईश्वर कहते हैं कि, हे देवी! योगसाधनमें जो विघ्न हैं सो हम कहते हैं सुनो मनुष्योंके मुक्तिके प्रति भोग परमबन्धन है ॥ २ ॥

अथ भोगरूपयोगविघ्नविद्याकथनम् ॥

मूलम्-नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्यं विड-

मुद्रा : एक दृष्टिकोण

हमारे ऋषि-मुनियों ने इस मानव-जाति को बहुत कुछ दिया। हमारे ग्रहण करने की क्षमता में ही कुछ कमियाँ थीं अन्यथा आज हमारे देश के पदचिन्हों पर पूरा विश्व चल रहा होता। अनेक रहस्यों से उन्होंने पदा हटाया। एक से एक विद्याएँ हमें प्रदान कीं और उसी श्रृंखला में यह एक विज्ञान है जिसे हम मुद्रा विज्ञान कहते हैं। यह आसन, प्राणायाम से अधिक गहरी पहुँच वाला, सूक्ष्म माना जाता है। इनका प्रभाव इतनी गहराई तक पहुँचता है कि हमारी समस्त जीवनदायिनी ऊर्जा की क्षमता अधिक प्रखर और अंतरोन्मुख बनाई जा सके एवं उनमें जो दुर्बलता, रुग्णता व शिथिलता का समावेश हो गया है उसका निवारण हो सके। इन मुद्राओं का उपयोग कर हम अपने जीवन में अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व और आध्यात्मिकता की चरम सीमा का आनंद उठा सकते हैं।

घेरण्ड संहिता में पच्चीस मुद्राओं का वर्णन आता है जो कि सभी अनगिनत लाभों की जन्मदाता हैं परंतु मुख्य रूप से हम उन मुद्राओं का वर्णन करेंगे जिनका प्रचलन ज़्यादा है। अन्य मुद्राओं के लाभ भी हमें इन्हीं मुख्य मुद्राओं से प्राप्त होते हैं। ये सभी मुद्राएँ सरल हैं एवं क्रमिक रूप से हमें सार्थकता प्रदान करती हैं।

1. महामुद्रा

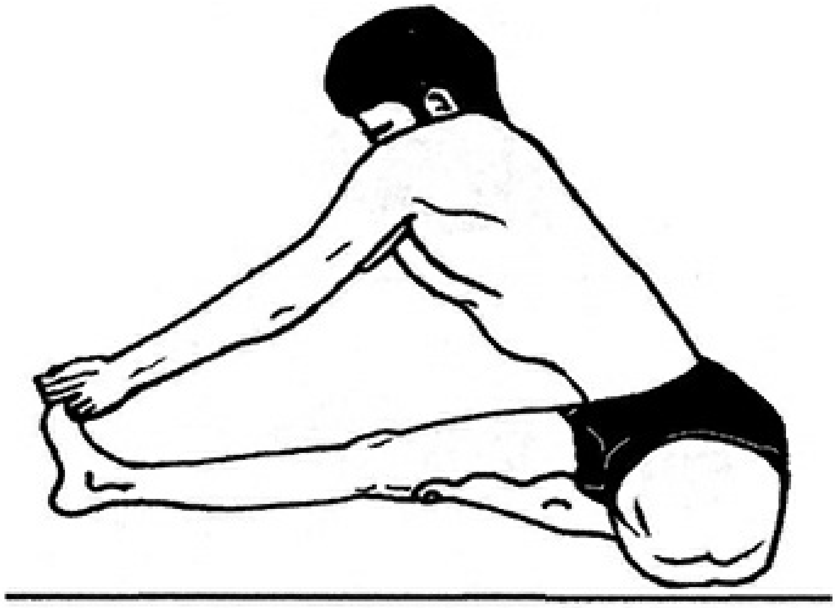

विधि : अपने आसन में प्रसन्नचित्त होकर दोनों पैर सामने फैलाकर बैठ जाएँ। अब दाहिने पैर को मोड़ते हुए एड़ी को गुदा द्वार के नीचे रखें। तत्पश्चात् सामने झुकते हुए बाएँ पैर के अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़ें तथा गहरी श्वास लें। मूल बंध एवं जालंधर बंध लगाएँ। कुंभक करते हुए अंतर्चेतना को ऊध्र्वमुखी बनाने का प्रयास करें। कुण्डली-चक्रों का ध्यान करें तथा बंध हटाएँ। धीरे-धीरे रेचक क्रिया करें। यही क्रम दाहिने पैर से करें एवं यथासंभव कुंभक करें। लगभग 3 से 5 चक्र करें।

लाभ:
- उदर-रोग जैसे मंदाग्नि, अजीर्ण, अपच, क़ब्ज़ इत्यादि को दूर करता है।
- बवासीर (अर्श) और प्रमेह का नाश करता है।
- ध्यान के लिए उत्कृष्ट एवं कुण्डली जागरण में सहयोगी।
- बढ़ी हुई तिल्ली एवं क्षयरोग दूर करता है।
- पुराना ज्वर नाशक है।

नोट : विशेष जानने के लिए महामुद्रासन भी देखें।

2. महावेध मुद्रा

विधि : दाहिने पैर की एड़ी को गुदा-द्वार और लिंग के बीच स्थित सीवन में स्थिर करें। बाएँ पैर को आगे फैलाकर बैठ जाएँ। सामने पैर के अँगूठे को दोनों हाथों से झुकते हुए पकड़े। श्वास लें (पूरक करें)। दृष्टि भ्रूमध्य में रखें। त्रिबंध लगाएँ (जालन्धर बंध, मूलबंध, उड्डियान बंध)। अंतःचेतना को देखें।

मूलाधार से उर्ध्व के चक्रों का ध्यान करें। यथाशक्ति रुकें। तत्पश्चात् उड्डियान, मूलबंध और अंत में जालंधर को शिथिल करें तथा नेत्रों को सामान्य करें। धीरे-धीरे रेचक करें।
विशेष : कहीं-कहीं महावेध मुद्रा के समान ही बैठना है और कहीं-कहीं बंध लगाने के बाद कूल्हों को धीरे-धीरे उठाते हुए भूमि पर पटकना है। आसन में दृढ़ता के बाद यह अभ्यास कर सकते हैं।
घेरण्ड संहितानुसार : पुरुष के बिना जैसे स्त्री का लावण्य और रूप यौवन बेकार हैं वैसे ही महावेध के बिना मूलबंध और महाबंध निष्फल है। पहले महाबंध मुद्रा का अभ्यास कर उड्डियान-बंध कर कुंभक से वायु को रोकें, इसे महावेध कहते हैं। जो योगी प्रतिदिन महावेध के साथ महाबंध और मूलबंध का आचरण करते हैं। वे योगी योगियों में श्रेष्ठ हो जाते हैं। बुढ़ापा और मृत्यु उन पर आक्रमण नहीं कर पाते अर्थात् उनका काया कल्प हो जाता है।

लाभ:
- कई सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।
- शरीर पर झुर्रियाँ नहीं पड़तीं। व्यक्ति सदा युवा दिखता है।
- कंपवात नहीं होता। बाल सफेद नहीं होते।
- प्राण सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगते हैं एवं समाधि भी लगती है।

नोट : महाबंध जानने के लिए बन्ध अध्याय देखें।

3. खेचरी मुद्रा

विधि : साधक अपनी जिव्हा को उल्टी ले जाकर तालू-कुहर में स्पर्श कराएँ (मुंह बंद रखते हुए)। यह मुद्रा खेचरी मुद्रा कहलाती है। साधक अपनी जीभ को तालू-कुहर से स्पर्श नहीं करा पाता है अतः जिव्हा को बढ़ाने के तीन साधन बतलाए हैं। छेदन, चालन और दोहन।
छेदन : जीभ के नीचे के भाग में एक सूताकार तंतु से जीभ जबड़े से जुड़ी हुई रहती है इस कारण जीभ को पलटकर तालू से लगाना मुश्किल हो जाता है। इसके लिए प्रतिदिन उस तंतु को सैंधा नमक की डली से रगड़े या यदि शल्य क्रिया द्वारा विच्छेद संभव हो तो वह प्रयोग किया जा सकता है। कुछ दिनों के पश्चात् अभ्यास से जिव्हा का अग्रभाग तालू के ऊपरी छिद्र में आसानी से चला जाता है।

चालन और दोहन : अँगूठे और तर्जनी अँगुली से या महीन (बारीक) वस्त्र से जीभ को पकड़कर चारों तरफ़ उलट फेरकर हिलाने और खींचने को चालन कहते हैं।
मक्खन या घी आदि से लगाकर दोनों हाथों की अँगुलियों से जीभ को खींचें (जैसे गाय का स्तन दोहन करते हैं)। धीरे-धीरे आकर्षण करने का नाम दोहन है।
इन सब क्रियाओं में जो सुखद लगे वह गुरु-निर्देशन में करना चाहिए। तत्पश्चात् जीभ इतनी लंबी हो जाती है कि नासिका के ऊपर भ्रूमध्य तक पहुँच जाती है।

सावधानी : उपरोक्त अभ्यास में जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। अन्यथा परिणाम खतरनाक हो सकते हैं। बिना योग्य शिक्षक के न करें।

विशेष : ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करें। सफलता की संभावना बढ़ जाती है।

लाभ : अभ्यास हो जाने के बाद साधक ब्रह्मरंध्र से टपकने वाले मधुर रस अर्थात् अमृत का पान करता है। जीभ के प्रविष्ट होने पर इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के मार्ग खुल जाते हैं। जिससे समाधि की स्थिति उत्पन्न होती है। अमृतपान करने से साधक अपनी मृत्यु को भी वश में कर लेता है (दीर्घायु होता है)। निद्रा, आलस्य तथा भूख-प्यास इत्यादि अधिक नहीं सताती।

नोट : हमने कुछ साधक देखे हैं जो कि स्वाभाविक रूप से नित्य प्रति अभ्यास करने पर अपनी जिव्हा को इतनी लंबी कर लेते हैं कि वह तालु-कुहर से स्पर्श हो जाए।

4.विपरीतकरणी मुद्रा

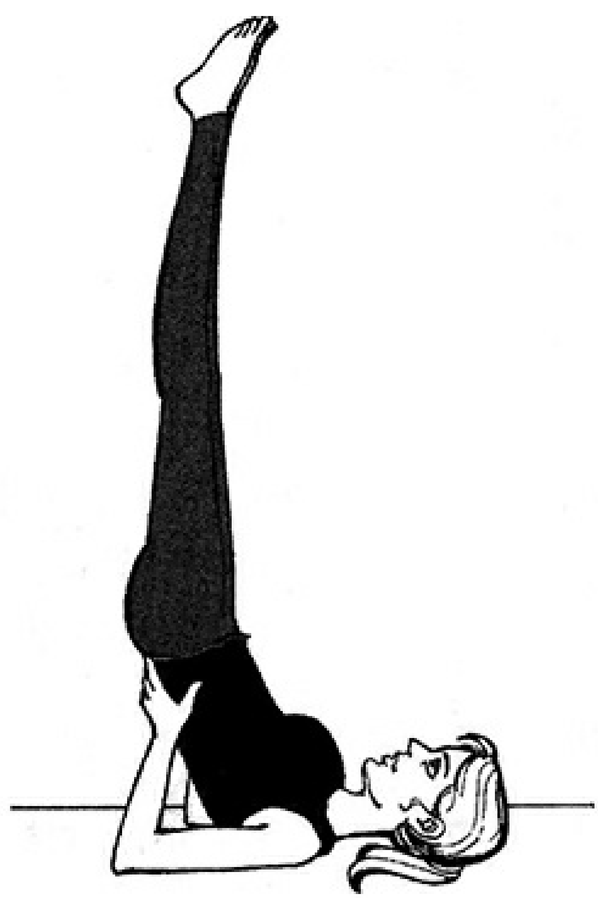

विधि: घेरण्ड संहिता के अनुसार नाभि के मूल में सूर्य नाड़ी है और मुख के तालुओं की जड़ में चंद्र नाड़ी है। जब नीचे से सूर्य नाड़ी अपने तेज से शरीर में स्थित अमृत का पान कर लेती है तब मनुष्य की मृत्यु होती है। इसलिए सूर्य को ऊपर उठाना चाहिए और चन्द्र को

नीचे की ओर ले आना चाहिए। इसका नाम विपरीतकरणी मुद्रा है। इसके अभ्यास के लिए साधक सर्वांगासन की तरह ही दिखने वाली विपरीतकरणी क्रिया करें। थोड़े ही प्रयत्न से मूलबंध और उड्डियान बंध स्वयं लग जाएँगे। घेरण्ड संहिता में आचार्य कहते हैं कि तब पूरक प्राणायाम कर कुंभक करें एवं यथाशक्ति रुकें तो इसको विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं।
सावधानी: उच्च रक्तचाप एवं हृदय रोग से पीड़ित व्यक्ति न करें।

लाभ:
- जो साधक प्रतिदिन अभ्यास करता है वह मृत्यु और बुढ़ापे को जीत लेता है।
- इसके प्रतिदिन अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। अतः आहार की मात्रा संतुलित रखनी चाहिए।
- चक्रों का ध्यान करने से ओज, तेज, बल, वीर्य आदि की वृद्धि होती है।
- युवावस्था बनी रहती है एवं स्थिरता प्रदान करता है।

5. वज्रोली मुद्रा

विधि : रबर की एक विशेष नली जिसे केथेटर कहते हैं, वह 4-5 नम्बर की डेढ़ फीट के करीब लें। यह नली मूत्र नलिका में प्रवेश कराई जाती है। उस रबर की नली के अग्रभाग में चार-पाँच इंच तक शुद्ध घी या बादाम का तेल लगाकर धीरे-धीरे मूत्र नलिका के छिद्र में डालें। पीड़ा होने पर निकाल लें और क्रमश: अभ्यास करें एवं अभ्यास हो जाने पर इससे थोड़ी मोटी नलिका 7-8 नम्बर वाली डालने का अभ्यास करें। अभ्यास हो जाने पर नौलि क्रिया से आँतों को उठाकर मूलाधार को सिकोड़कर मूत्र-प्रणाली का संकुचन करते हुए पहले वायु का आकर्षण करें। तत्पश्चात् जल, दूध, (शुद्ध किया हुआ संस्कारित पारा) का आकर्षण करें। बाद में ये द्रव्य मूत्र त्यागते समय बाहर आ जाते हैं। इसका अभ्यास रबर नली के बाद चाँदी की नलिका से करें।
विशेष : किसी योग्य गुरु के निर्देशन में ही करें।

लाभ:
- ऊर्जा ऊर्ध्वमुखी होती है। अतः शरीर कांतिवान बनता है।
- ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है।
- मानसिक शांति, आनंद व आध्यात्मिक लाभ मिलता है।
- मृत्यु पर्यन्त साधक युवा बना रहता है।
- साधक के शरीर से सुगंध आने लगती है।
- यह मुद्रा साधक को अमृत प्रदान करती हुई विश्व का महान योगी बनाती है।

मुद्राएँ धीरे-धीरे साधक की आत्मा को उत्थान एवं
विशुद्धता की ओर ले जाती हैं।
-RJT

6. योनि मुद्रा/षण्मुखी मुद्रा

विधि : सुखासन में बैठ जाइए। दोनों हाथ अपने चेहरे पर इस प्रकार रखिए कि अँगूठे द्वारा कान के छिद्र, तजनियों द्वारा दोनों आँखें, मध्यमा द्वारा नासिका रंध्र और अनामिका व कनिष्ठा द्वारा होठ के ऊपर आसानी से रखते बन जाए। काकी मुद्रा द्वारा प्राण को खींचकर अपान वायु से मिला दें। शरीर के चक्रों का ध्यान करते हुए या हैं सः मंत्र द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को जगाते हुए साधक अपनी उर्जा को सहस्रार में ले जाएँ। साधक अभ्यास के समय केवल यह धारणा करें कि वह भगवान शिव के साथ शक्तिमय होता हुआ आनंदमय विहार कर रहा है और वह स्वयं पूर्ण ब्रह्म हो गया है। इसे योनिमुद्रा कहा गया है।

लाभ:
- यह दुर्लभ मुद्रा है। इस मुद्रा के अभ्यास से साधक कई पापों से मुक्ति पाता है। (घेरण्ड संहिता)
- शरीर में तेज, बल व वीर्य की वृद्धि होती है।
- शरीर निरोगी होता है।
- यह मुद्रा नया यौवन प्रदान करती है।
- पूर्ण एकाग्रता से अभ्यास करने पर साधक को सूक्ष्म ध्वनियों का अनुभव मिलता है।

देवों के समान दिखना चाहते हो तो प्राणायाम एवं
मुद्राओं का अभ्यास करो।
-RJT

7. शक्तिचालिनी मुद्रा

वि धि : घेरण्ड संहिता के अनुसार मूलाधार में जो कुण्डलिनी साढ़े तीन लपेटे कुण्डली मारकर सो रही है, जब तक यह सुप्त अवस्था में है तब तक जीव अज्ञानी ही रहता है। अतः सम्यक् ज्ञान प्राप्ति तक इसको जगाने का अभ्यास करना चाहिए। जैसे बिना ताला खोले द्वार नहीं खोला जा सकता वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति जागरण के बिना ब्रह्मरंध्र का द्वार नहीं खुल सकता। एकांत स्थान में जाकर एक हाथ लंबा और चार अँगुल चौड़ा कोमल वस्त्र नाभि से लपेटकर कमर में बाँधे। शरीर में भस्म, राख आदि लगाकर सिद्धासन में बैठ जाएँ। अब प्राण को खींचकर अपान वायु से मिलाएँ। अब अश्विनी मुद्रा द्वारा गुदा स्थान को संकुचित करते रहें। इस प्रकार कुंभक करने से सर्प रूपिणी कुण्डलिनी जागकर ऊपर की ओर उठती है। शक्ति चालिनी मुद्रा के अभ्यास के बाद योनिमुद्रा का अभ्यास करें।

लाभ:
- प्रतिदिन अभ्यास से विग्रह-सिद्धि सहित सर्व सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।
- सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग समाप्त होते हैं।
- आत्मिक आनंद की प्राप्ति होती है।

यदि आप निरोगी हैं तो सदा निरोग बने रहने के लिए योगाभ्यास करें और यदि आप रोग ग्रस्त हैं तो निरोग होने के लिए योगाभ्यास अवश्य करें ताकि आप स्वस्थ व सुंदर हो जाएँ।

-RJT

8. ताड़ागी मुद्रा

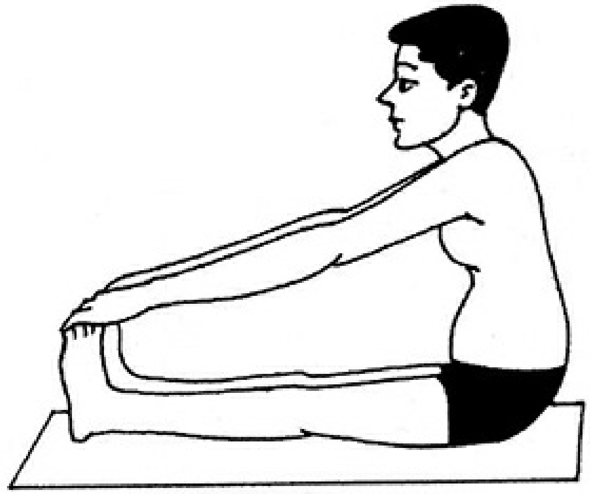

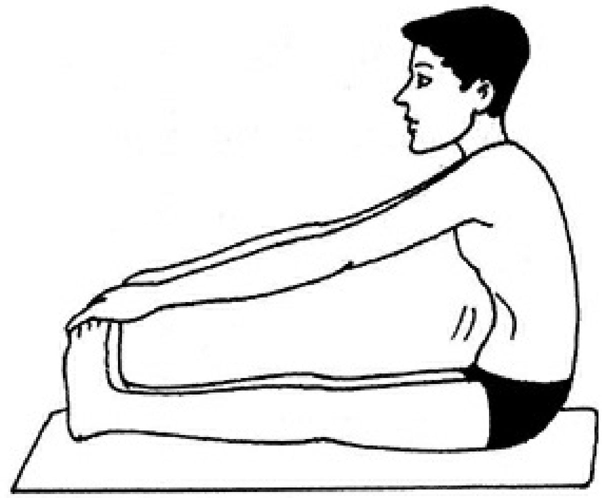

उदरंपश्चिमोत्तानं कृत्वा च ताड़ागाकृतिः।
ताड़ागी सा परामुद्रा जरा मृत्युं विनाशनी।

(घे. सं. 3/73)

अर्थ : पश्चिमोत्तानासन लगाकर बैठें और उदर को इस प्रकार फुलाएँ मानो पेट के भीतर पानी भरा हो; यही ताड़ागी मुद्रा है। इससे वृद्धावस्था और मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हैं। पश्चिमोत्तानासन में बैठे। दोनों हाथों से पैर के पंजों को पकड़ें, परंतु झुकें नहीं। अब श्वास अंदर लें और पेट को जितना फुला सकते हैं फुलाएँ। यथाशक्ति कुंभक करें। अंत में धीरे-धीरे रेचक करें। रेचक करते समय पेट को तालाब जैसा गहरा बना लें। कही-कहीं योगीजन कुंभक के समय वायु को तालाब में लहर की तरह चलायमान करते हैं।

लाभ:
- उदर सम्बंधी सभी रोग नष्ट होते हैं।
- पेट लचीला होता है तथा पाचन-तंत्र सुचारु होता है।
- वृद्धावस्था पर विजय पाई जा सकती है।

9. माण्डुकी मुद्रा

मुखं संमुद्रितं कृत्वा जिह्ववामूल प्रचालयेत।
शनैग्रसेदमृतं तां माण्डुकीं मुद्रिकां विदुः।
वलितपलितं नैव जायते नित्य यौवनम।
न केशे जायते पाको यः कुर्यानित्यमाण्डुकीम्

(घे.सं 3/74-75)

विधि : मुख को बंद कर जीभ को तालू में घुमाना चाहिए और सहस्रार से टपकते हुए अमृत का जिव्हा से पान करना चाहिए। यह माण्डुकी मुद्रा है।

भद्रासन में बैठ जाएँ (पृष्ठ 215 देखें)। हाथों को घुटनों पर रखें। यथाशक्ति नितम्बों को ज़मीन पर टिकाएँ। मेरुदण्ड, गर्दन व सिर सीधा रखें। मुख बंद करें। अब अंदर ही अंदर जिव्हा को ऊपर तालू में दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे घुमाएँ। इस प्रकार की क्रिया करने से ग्रंथि स्त्राव होता है। ऋषि कहते हैं कि यही अमृत है। इसके पान से बुढ़ापा पास नहीं आता। शरीर कांतिवान रहता है, अतः साधक को नित्य अभ्यास करना चाहिए।

विशेष : इस मुद्रा को करते समय सहस्त्रार पर ध्यान एकाग्र कर आत्मिक आनंद का लाभ उठाना चाहिए।

लाभ:

- बालों का झड़ना एवं असमय पकना बंद होता है।
- स्थायी यौवन की प्राप्ति होती है।
- शरीर कांतिवान बनता है व समस्त रोगों का नाश होता है।
- यह मुद्रा शरीर में वात-पित्त-कफ़ का संतुलन स्थापित करती है।

10. शाम्भवी मुद्रा

विधि : भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान पूर्वक परम आत्मा का चिंतन करें। यही

शाम्भवी मुद्रा है।

सुखासन में बैठ जाएँ। मेरुदण्ड, ग्रीवा एवं सिर एक सीध में रखें। हाथों को एक-दूसरे के ऊपर रख लें या घुटनों पर रखकर ज्ञान मुद्रा बना लें। अब पूर्ण एकाग्रचित होकर दृष्टि दोनों भौंहों के बीच करें और अपनी शुद्धात्मा का ध्यान करें।

विशेष : आँखों में दर्द महसूस हो तो विराम करें। आँखों में पानी के छींटे डालें या फिर पहले आँखों के अन्य अभ्यास कर लें।

समय : श्वास सामान्य रखते हुए अनुकूलतानुसार करें।

लाभ:
- आज्ञा चक्र विकसित होता है।
- अचेतन मस्तिष्क जागृत होता है।
- आँखों में आकर्षण पैदा होता है।
- ध्यान शक्ति का विकास होता है।
- स्मरण शक्ति तीक्ष्ण होती है।

11. अश्विनी मुद्रा

आकुंचयेद् गुदाद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
सा भवेदश्विनीमुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी।।
आश्विनी परमा मुद्रा गुहारोग विनाशनीं।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत्।।

(घे.सं 3/82-83)

विधिः सुखासन में तनाव रहित बैठिए। नेत्रों को बंद करें व पूरक करें। कुंभक करते हुए गुदा द्वार का बार-बार आकुंचन (संकोचन) करें। यथाशक्ति क्रिया करें। तत्पश्चात् रेचक करें। सुविधानुसार क्रिया करें।

विशेष: श्वास क्रिया सामान्य रखते हुए भी कर सकते हैं।

लाभ:
- अकाल मृत्यु का भय खत्म होता है।
- गुदा प्रदेश के रोग स्वतः समाप्त हो जाते हैं।
- कुण्डलिनी जागरण में सहायता मिलती है।
- शारीरिक और मानसिक लाभ मिलते हैं।

12. पाशिनी मुद्रा

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढ़बन्धनम्।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी।
पाशिनी महती मुद्रा वयःपुष्टि विधायिनी।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः ।।

(घे.सं 3/84-85)

विधि: दोनों पैरों को उठाकर गले के पीछे से लाते हुए उन्हें आपस में पाश के समान दृढ़ता से बाँध लें। कुण्डलिनी को जगाने वाली यह पाशिनी मुद्रा है।
विशेष: योग्य शिक्षक की देख-रेख में करें।
ध्यान: विशुद्धि चक्र या मूलाधार चक्र।

लाभ:
- बलवर्द्धक है। शरीर पुष्ट होता है।
- सिद्धि प्रदाता है। अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।
- मानसिक शांति एवं प्रसन्नता रहती है।

13. काकी मुद्रा

काकचन्चुवदास्येन पिबेद्वायं शनैः शनैः।

काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोग विनाशनी।
काकी मुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।
अस्याः प्रसादमात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत्।।

(घे.सं 3/86-87)

अर्थ: कौवे की चोंच के समान मुख बनाकर धीरे-धीरे वायु पान करें। इससे सब प्रकार के रोग दूर होते हैं। यह काकी मुद्रा कहलाती है। इस अभ्यास से साधक कौवे के समान रोग रहित हो जाता है।

महर्षि घेरण्ड का कहना है कि यह मुद्रा गुप्त रखनी चाहिए।

विशेष: इसमें श्वास मुँह द्वारा ही लेना है। नासिका से नहीं लेना है परंतु श्वास छोड़ने का कार्य मुख बंद कर नासिका द्वारा से ही करना है।

लाभ:
- सर्वरोग नाशक है।
- शीतलता मिलती है।
- उच्च रक्तचाप में लाभकारी।
- पाचन-तंत्र ठीक कर क़ब्ज़ से छुटकारा दिलाती है।
- मानसिक शांति मिलती है।
- सामान्य रूप से यह कई बीमारियों का क्षय करती है।

सावधानी: निम्न रक्तचाप वाले न करें।

14. मातंगिनी मुद्रा

कण्ठमग्नेजले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्।
नासाभ्यां रेचयेत, पश्चात कुर्यादेवं पुनः पुनः।
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्यु विनाशनी।
विरले निर्जने देशे। स्थित्वा चैकाग्रमानसः ।
कुर्यान्मातङ्गिनी मुद्रां मातङ्ग इव जायते।
यत्र यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते।
तस्मात सर्व प्रयत्नेन साधयेत् मुद्रिकांपराम्

(घे.सं 3/88-91)

अर्थ: गले तक जल में खड़े होकर नासिका द्वारा जल खींचकर मुख से जल को बाहर निकालना चाहिए और फिर मुख से जल भरकर नासिका के द्वारा निकालें। पुनः नासिका से

जल खींचे और मुँह द्वारा बाहर निकालें। यह क्रिया बार-बार करें। यह मातंगिनी नाम की मुद्रा है।

लाभ: ❍ इसके सिद्ध होने से जरा-मरण का भय नहीं होता।

❍ इसकी सिद्ध करें तो हाथी के समान शक्तिमान बन सकते हैं।

❍ इस मुद्रा को करने से सब प्रकार के सुख मिलते हैं।

15. भुजंगिनी मुद्रा

वक्त्रं किञ्चित्सुप्रसार्य चानिलं गलया पिवेत।
सा भवेद्भुजङ्गी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।
यावच्च उदरे रोगमजीर्णादि विशेषत: ।
तत्सर्वनाश्येदाशु यत्र मुद्रा भुङ्गीनी।

(घे.सं 3/92-93)

अर्थ: मुख को फैलाकर, खोलकर गले से वायु का पान करें एवं गले में पवन का धक्का ज़ोर से लगे। इसको भुजंगिनी मुद्रा कहते हैं। सिद्धासन, पद्मासन, या वज्रासन में बैठकर उपरोक्त विधि को करना चाहिए।

लाभ: ❍ बुढ़ापा और मुत्यु का नाश करती है।

❍ उदर-रोग सम्बंधी सभी विकारों का नाश होता है।

❍ अजीर्ण रोग दूर होता है। पाचन-संस्थान मज़बूत होता है।

❍ कंठ-रोग दूर होता है।

16. योग मुद्रा

विधि : पद्मासन में शांतचित होकर आँख बंद करके बैठें। प्रारंभिक अवस्था में दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाएँ एवं दोनों हाथों की हथेली से (इस प्रकार दाहिने हाथ में दाहिने पैर का पंजा तथा बाएं हाथ से बाएं पैर का पंजा पकड़ने में आएगा।) पैरों के अंगूठी को दोनों हाथों के पंजी से पकड़े (इस प्रकार दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अगूंठा एवं बायें हाथ से बाँये पैर का अंगूठा पकड़ने में आयेगा) अब श्वास छोड़ते हुए सिर को सामने ज़मीन पर धीरे-धीरे झुकाएँ। माथा ज़मीन से स्पर्श कराएँ। 10 से 15 सेकण्ड तक उसी स्थिति में रहते हुए श्वास-प्रश्वास करते रहें। श्वास लेते हुए मूल स्थिति में लौटें।
दिशाः आध्यात्मिक कारणों से पूर्व या उत्तर दिशा करें।
ध्यान: समस्त चक्रों को जागृत करने के लिए उपयुक्त। मूलाधार एवं आज्ञाचक्र पर विशेष।

लाभ:
- पाचन-संस्थान की तीव्र करता है।
- कोष्ठबद्धता दूर करता है।
- आध्यात्मिकता में लाभ पहुँचाता है।
- मेरुदण्ड को पूर्ण लाभ मिलता है।
- चेहरे में निखार लाता है नेत्रज्योति तीव्र होती है।

टिप्पणी: पूर्ण आसन के लिए यथासंभव धीरे-धीरे प्रयास करें। यदि कठिनाई महसूस हो तो हाथों को पीठ पर रखकर आपस में बाँध लें।
नोट: अधिक जानकारी के लिए योग मुद्रासन भी देखें।

17. ब्रह्म मुद्रा

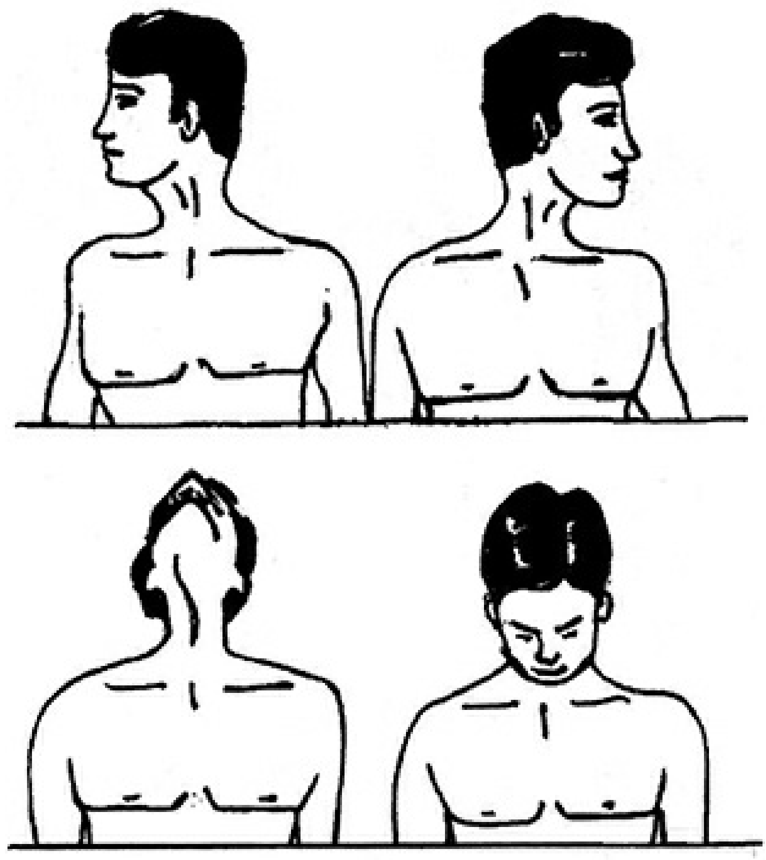

आकृति: ब्रह्मा के चार मुख के समान।

विधि: किसी भी ध्यानात्मक आसन (पद्मासन, सुखासन) में बैठे। मेरुदण्ड व धड़ को सीधा कर आँखों को बंद कर लें। हाथ को ज्ञान या चिन मुद्रा में घुटने पर रखें। शांत मनोभाव से इस मुद्रा का अभ्यास करने के लिए सिर सामने स्थिर करें। फिर सिर को धीरे-धीरे दाहिनी ओर घुमाएँ इतना धीरे-धीरे कि वह ढाई मिनट में कंधे की सीध में आ जाए।

समय की गणना करने के लिए गिनती या साँसों की संख्या का सहारा लें। लगभग चौथाई मिनट (15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को वापस बाईं ओर घुमाना प्रारंभ करें तथा पाँच मिनट में बाएँ कंधे की सीध में पहुँचा दें। लगभग चौथाई मिनट (15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को वापस दाहिनी ओर घुमाना प्रारंभ करें तथा ढाई मिनट में प्रारंभिक स्थिति में पहुँचे। लगभग चौथाई मिनट(15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को ऊपर की ओर ले जाना प्रारंभ करें। ढाई मिनट तक ऊपर उठाते हुए सिर को अधिकतम पीछे ले जाएँ। लगभग चौथाई मिनट (15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को वापस सामने लाते हुए नीचे की ओर पाँच मिनट में लाएँ। चौथाई मिनट (15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को वापस प्रारंभिक स्थिति में ढाई मिनट में ले आएँ। चारों दिशाओं में सिर की गति में 21 मिनट व्यतीत होने चाहिए। यह ब्रह्म मुद्रा का एक चक्र माना जाता है। श्वास की गति सामान्य से कम रहेगी।

लाभ:
- बारी-बारी से गले की नसों को तानने व ढीला करने से उनमें शक्ति व लचीलापन आता है।
- क्रेनियल नर्व्स जो गर्दन से गुज़रती हैं, की अच्छी मालिश हो जाने से मस्तिष्क से विभिन्न अंगों जैसे आँख, कान, नाक, जिव्हा इत्यादि स्वस्थ होते हैं।
- टॉन्सिल्स की अनचाही बढ़त, जलन व सूजन समाप्त होती है।
- मन को शांत, स्थिर व अंतःकेंद्रित करने में सहायक है। जिससे ध्यान के उच्च प्रयोग किए जा सकते हैं।
- विशुद्धि, आज्ञा व सहस्त्रार चक्र पर प्रभाव डालता है।

मुद्रा : उपसंहार एवं समस्त लाभ

- मुद्राओं का अभ्यास सभी इच्छाओं की पूर्ति करता है। बुढ़ापे और मृत्यु को दूर रखता है।
- परम गोपनीय और देव-दुर्लभ है। दुष्ट, नास्तिक तथा अयोग्य व्यक्ति को नहीं बताना चाहिए।
- सच्चे भक्त, उच्च चिंतनशील एवं शांतचित्त वाले को यह ज्ञान देना चाहिए।
- सर्व व्याधि का नाशक है। नित्य अभ्यास से शील की रक्षा होती है
- जठराग्नि तीव्र होती है।
- बुढ़ापे और मृत्यु पर विजय कर लेता है। उसे अग्नि, जल और वायु का भय नहीं रहता।
- कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ, श्लेष्मा आदि बीस प्रकार के रोग दूर होते हैं।
- रक्त शोधक है।
- वात, पित्त व कफ़ का शमन होता है।

नए स्वर्ग की रचना करनी हो तो
योग-विद्याओं को अपनाओ।
-RJT

बंध : प्रकार एवं लाभ

एक विवेचना : बंध का शाब्दिक अर्थ बंधन अर्थात् एक को दूसरे से मिलाना, बाँधना, कसना, नियंत्रण इत्यादि।

इस शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि इसमें शरीर के कुछ विशेष अवयवों या आंतरिक अंगों को प्राणवायु द्वारा कसकर बाँध लिया जाता है। ये बंध शक्ति को अंतरोन्मुख करते हैं तथा प्राणायाम में सहायक होते हैं। साधक के शरीर में जब प्राणायाम द्वारा ऊर्जा प्रवाहित होती है तब साधक इन बंधों का उपयोग कर शक्ति को बहिर्मुख होने से बचा लेता है। प्राणायाम द्वारा उत्पन्न शक्ति को ये बंध आतरिक अंगों में वितरण करने में सहायता करते हैं। इनका अभ्यास कुण्डली जगाने में भी किया जाता है। बंध का कार्य आंतरिक अंगों की गंदगी को दूर करके अधिक स्वच्छ एवं प्रासुक बनाना है। बंध को लगाने से शरीर के अवयव पुष्ट होते हैं। एक प्रकार की मालिश हो जाती है। बंध शरीर की नाड़ी-विशेष को प्रोत्साहित एवं उन्हें सुचारु कर रक्तादि के मल को शुद्ध करते हैं। इनको करने से वे सभी ग्रंथियाँ खुल जाती हैं जो हमारे शरीर में स्थित चक्रों में प्राण के प्रवाह को रोकती हैं। इस दौरान सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ऊर्जा के प्रवाह को दिशा मिलती है, उच्च अभ्यासी समाधि की दशा में यह अनुभव प्राप्त करते हैं। बंध एवं मुद्रा के प्रयोग से प्राणायाम में विशेष लाभ मिलता है। चूँकि कुंभक (अंतकुंभक या बहिकुंभक) एवं बंध प्राणायाम के लिए आवश्यक हैं। अत: कुंभक लगाने की क्षमता बढ़ाना चाहिए।

यहाँ हम मुख्य रूप से पाँच प्रकार के बंध का उल्लेख करेंगे।

मूल बंध

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः।
नाभिग्रन्थि मेरुदण्डे सुधीः संपीड्य यत्नतः।
मेढ्रं दक्षिणगुल्फेन दृढबन्ध समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते।
संसारसागरं तर्तुमभिलषति यः पुमान॥
सुगुप्तो विरलो भूत्वा मुद्रामेता समभ्यसेत्।
अभ्यासाद्वन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेदध्रुवम्।
साधयेद्यतस्तर्हि मौनी तु विजितालसः।।

(घे.सं.3/6-9)

अर्थ : मूल का अर्थ जड़, आरंभ, आधार, बुनियाद या धरातल होता है। योग विषय में मूलबंध का सम्बंध मूलाधार चक्र से है, जो कि गुदा और जननेन्द्रिय के बीच स्थित होता है।

विधि : पद्मासन या सिद्धासन में बैठ जाइए। हथेलियों को घुटनों पर रखिए तथा ध्यान की अवस्था में बैठ जाइए। मेरुदण्ड सीधा, नेत्र बंद, शरीर की अवस्था शिथिल और एकाग्रता मूलाधार चक्र पर।

श्वास अंदर लीजिए, अंतकुंभक लगाइए। इसी के साथ जालंधर बंध लगाइए। अब गुदा भाग और जननेन्द्रिय भाग को ऊपर की ओर आकुचन क्रिया करते हुए उन्हें ऊपर की तरफ़ खींचिए (आपने गाय आदि जानवर को मल त्यागने के पश्चात् देखा होगा कि वह किस प्रकार गुदा को अंदर की तरफ़ खींचते हैं) वैसे ही हमको भी अपने मूलाधार चक्र प्रदेश को खींचना है। यही मूलबंध की अंतिम अवस्था है। क्षमतानुसार रुकिए। अधोभाग ढीला कीजिए व सिर ऊपर उठाइए एवं श्वास छोड़िए। यह अभ्यास बहिकुंभक की अवस्थिति में भी कर सकते हैं। 5 से 10 बार अनुकूलतानुसार कीजिए।

नोट आसन लगाते समय ध्यान रहे कि एड़ी का दबाव गुदा भाग में पड़े।

विशेष : गलत अभ्यास के कारण शारीरिक दौर्बल्य और पौरुष का अभाव होने की आशंका रहेगी। अश्विनी मुद्रा के अभ्यास से साधक को मूलबंध पर अधिकार जल्दी होता है।

लाभ :

- कुण्डली जागरण की क्रिया में सहायक।
- ऊर्जा शक्ति को ऊर्ध्वमुखी बनाता है। फलस्वरूप चेहरे के कांति, तेज, बल तथा वीर्य की वृद्धि होकर वृद्ध भी युवा के समान दिखाई देता है एवं उसी के समान कार्य करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है।
- जननेन्द्रिय के विकार दूर होते हैं।
- मूलबंध के निरंतर अभ्यास से प्राण, अपान एवं नाद और बिंदु एक होकर योग

सिद्धि एवं परमात्मा की प्राप्ति होती है।

- जालंधर बंध के सभी लाभ भी प्राप्त होते हैं।
- ब्रह्मचर्य साधने में सहायक।
- गुदा संबंधी विकार दूर होते हैं जैसे अर्श, गुदा का बाहर निकलना आदि ।

जीवन से कभी निराश, हताश, उदास नहीं होना चाहिए सुख और अनंत शक्ति को धारण करती हुई आत्मा रूपी ऊर्जा विद्यमान है। अत: उसको पहचानें और जीवन को रूपांतरित करें। -

-RJT

उडियान बंध

उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूध्व तुकारयेत्।
उड़ीयानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखग:।
उड़ीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी।
समग्राद बन्धनाद्धयेतदुड़ीयानं विशिष्यते।
उड़ीयाने समभ्यस्ते मुक्ति: स्वाभाविकी भवेत्।

(धे सं3/12-13)

अर्थ : उड़ियान का अर्थ ऊँचा उड़ना होता है। इस क्रिया में ऊर्जा अधोभाग से उठकर ऊध्र्वभाग तक प्रवाहित होती है या जब शक्ति ऊध्र्वमुखी होकर सुषुम्ना में प्रवेश करे, उसे उड़ियान बंध कहते हैं।

विधि : सावधान की स्थिति में खड़े हो जाइए। अब दोनों पैरों के बीच लगभग 1 या डेढ़ फिट का अंतर रखिए। घुटनों को थोड़ा सा मोड़ते हुए आगे की ओर झुकें और हाथों को घुटने के पास जाँघों पर रखें। दीर्घ रेचक कीजिए एवं बहिकुम्भक लगाइए। जालंधर बंध में यथासंभव ठुड़ी नीचे करें। अब पूरे उदर स्थान (पेट) को मेरुदण्ड की ओर पीछे (भीतर) खींचे। यही उड़ियान बंध की अंतिम अवस्था है। अनुकूलतानुसार अभ्यास करें। अब क्रमश: उदर को अपनी सामान्य स्थिति में लाएँ और जालंधर बंध को शिथिल करें। पूरक करें एवं सामान्य होने पर यही क्रिया दोहराएँ। इसकी शक्तिचालन प्राणायाम भी कहते हैं।

लाभ : दतात्रेय योग के अनुसार इस बंध के अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो जाता है। उड्डियान बंध सर्वोत्तम बंध है। हृदय क्षेत्र की मांसपेशियों की अच्छी मालिश होती है। उदर-प्रदेश के अंग कोमल होते हैं जिससे जठराग्नि तीव्र हो जाती है। इस बंध की उपमा शेर के समान की गई है जो कि मृत्युरूपी हाथी पर विजय पा लेता है। चेहरे की झुर्रियों को समाप्त कर तेज बढ़ाता है।

विशेष : 5 से 10 बार आवृत्ति करें। ख़ाली पेट करें।

नोट : इसका अभ्यास बैठकर (पद्मासन, सिब्द्रासन में) भी किया जाता है।

जलधर बंध

कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुक हृदये न्यसेत्।
जालन्धरेक्कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्
जालन्धरमहामुद्रामृत्योश्च क्षयकारिणी।
सिव्दो जालन्धरो बन्धो योगिना सिद्धिदायकः ।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः । ।

(घे.सं.3/10-11)

शाब्दिक अर्थ : जाल का शाब्दिक अर्थ जाला, जाली।

विधि : पद्मासन, सिद्धासन, स्वास्तिकासन या भद्रासन में बैठे। पीठ, गर्दन तथा छाती को सीधा रखें। दोनों हाथों को घुटनों पर रखिए। लंबी श्वास लें (पूरक करें) और अंतकुंभक करें। सिर को सामने की तरफ़ झुकाइए। ठुड़ी को छाती के ऊध्र्वभाग (हसलियों के बीच) में दबाइए। परंतु छाती (सीना) को ऊँचा उठाएँ ताकि ठुड़ी का स्पर्श आसानी से हो सके। ग्रीवा भाग को न तो दबाएँ और न ही नीचे की तरफ़ धकेलें। गले की माँसपेशियाँ शिथिल रखें। ठुड़ी रखने का स्थान कठकूप एवं सिर एक सीध में रखें। अब जितनी देर सामान्य कुंभक कर सकें उतनी देर रुकिए। शरीर शिथिल कीजिए तथा सिर ऊपर की तरफ़ उठाइए व धीरे-धीरे श्वास छोड़िए। यह जालन्धर बंध कहलाता है। इस प्रकार यह आवृत्ति 5 से 10 बार करें।

विशेष : शास्त्रों में आया है कि सिर के ऊध्र्व भाग में स्थित सहस्त्रदल कमल से टपकने वाले अमृत स्त्राव को सभी प्राणियों की नाभि में स्थित अग्नि अंदर ही जलाती रहती है। अतः जालंधर बंध का अभ्यास कर साधक उस अमृत का पान कर चिरंजीवी बनें।

प्रभाव : यह इड़ा और पिंगला नाड़ियों को भी दबाता है और सुषुम्ना (सरस्वती नाड़ी) द्वारा प्राण प्रवाहित करता है।

लाभ : मस्तिष्क को आराम मिलता है, अहंकार का नाश तथा बुद्रि को निर्मल करता है। विशुद्धि चक्र को जगाता है। कण्ठ-दोष दूर कर वाणी को शुद्ध करता है। मानसिक अवसाद, चिंता, तनाव क्रोध, चिड़चिड़ापन को दूर करता है। मानसिक एकाग्रता बढ़ाता है एवं स्मरण शक्ति तेज़ करता है। सम्पूर्ण शरीर को निरोग रखता है।

नोट :: यह बंध खड़े होकर भी किया जा सकता है।

महाबंध

वामपादस्व गुल्फेन पायुअ निरो धयेत्
दक्षपादेन तद्गुल्फ संपीक्यू यलत**:** सुधी**:** ।।
शनकैश्चालयेत्याष्णि योनिमाकुञ्जयेच्छनैः
जालन्धरे धरेजाण महाबन्धो निगद्यते ।।
महाबन्ध**:** परो बन्धो जरामरण नाशन**:** ।
प्रसादादस्य बन्धस्थ साधयेत्सर्ववाञ्छितम् ।

(घे.सं. 3/14-16)

विधि : ध्यान के किसी भी आसन में बैठे, परंतु मुख्यतः सिब्द्रयोगी आसन में ही बैठे। इसमें तीनों बंध एक साथ लगाने होते हैं। अब श्वास लें। पहले जालंधर बंध लगाएँ फिर उड़ियान बंध और मूल बंध लगाएँ। समस्त चक्रों पर क्रमशः मूलाधार से सहस्त्रार तक ध्यान लगाएँ। अनुकूलतानुसार उसी स्थिति में रहिए। अब क्रमश: मूलबंध, उड़ियान बंध

फिर जालंधर बंध खोलिए। धीरे-धीरे श्वास लें तथा मूल अवस्था में आने के बाद यही क्रम दोहराएँ। उपरोक्त तीनों बंधों का अभ्यास अच्छी तरह हो जाने के बाद ही यह बंध लगाएँ।

लाभ : ❍ उपरोक्त तीन बंधों के सभी लाभ इस महाबंध से मिलते हैं।

- ❍ कुण्डली जागरण के लिए अद्‌भुत।
- ❍ बिंदु (वीय) बल की रक्षा हेतु।
- ❍ चित्त शिव-स्थिति में पहुँच जाता है। फलस्वरूप अनेक सिद्धियाँ स्वत: प्राप्त हो जाती हैं।
- ❍ गंगा, जमुना, सरस्वती के संगम की ही तरह तीनों नाड़ियों का संगम होता है।

जिव्हा बंध

विधि : किसी भी ध्यानात्मक आसन (पद्मासन, सुखासन) में बैठे व मेरुदण्ड व धड़ को सीधा कर आँखों को बंद कर लें। शांत मनोभाव से इस बंध का अभ्यास करने के लिए मुख खोलकर जिव्हा को उलटकर तालू से लगाते हैं। इसके उच्च अभ्यास के अंतर्गत जिव्हा को कपाल गुहा में और उसके बाद गले में ले जाने का अभ्यास किया जाता है।

लाभ : ❍ योग व तंत्र शास्त्रों में वर्णित खेचरी मुद्रा को साधने में प्रारंभिक अभ्यास के रूप में उपयोगी।

- ललना चक्र के जागरण में सहायक।
- स्वाद व काम इन्द्रिय पर विजय पाने में सहायक।
- प्रत्याहार में सहायक।

अन्तर्निहित शक्तियोको जागृत करना हो तो बंध का अभ्यास करें।

-RJT

मू० सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ॥
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ १ ॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ॥
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोऽपि च ॥ २ ॥
प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ॥
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

अथ कुंडल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह ॥सशैलेति॥ शैलाश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्तासां । धात्र्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्भेदमादाय बहुवचनं । अहीनां सर्पाणां नायको नेताहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत् । सर्वेषां योगस्य तंत्राणि योगतंत्राणि योगोपायास्तेषां कुंडल्याधारशक्तिराश्रयः । कुंडलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

कुंडलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्यां ॥ सुप्तेति ॥ सुप्ता कुंडली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यंते भिन्नानि भवंति । ग्रंथयोऽपि च ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथयो भिद्यंते भेदं प्राप्नुवंतीत्यन्वयः ॥ २ ॥

प्राणस्येति ॥ तदा शून्यपदवी सुषुम्ना प्राणस्य वायो राज्ञां पंथा राजपथं राजपथमिवाचरति राजपथायते राजमार्गायते । सुखेन गमनसंभवात् । तदा चित्तमालंबनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालंबं निर्विषयं भवति । तदा कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

॥ भाषा ॥

अब कुंडलीकूं सर्व उपायनको आधार कहें हें ॥ सशैलेति ॥ जेसें पर्वत वन नगर ग्रामसहित जो पृथ्वी तिनको आधार सर्पनके नायक शेषजी हे तेसेंही संपूर्ण जो योगके उपाय तिनकी कुंडली आधार हे विना कुंडलीके जागें सब योगनके उपाय व्यर्थहोय हें ॥ १ ॥

अब कुंडलीके जागवेको फल कहें हें ॥ सुप्तेति ॥ सूति हुई कुंडली गुरूनके अनुग्रहकरकें जाग उठै तब संपूर्ण जे षट्चक्र ते भेदकूं प्राप्त होंय हें याके पीछें ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथि रुद्रग्रंथि ये तीनो ग्रंथिभेदनकूं प्राप्त होंय हें ॥ २ ॥

प्राणस्येति ॥ तव सुषुम्ना नाडी वायुकूं राजमार्गकीसीनाई आचरण करे हें और

मू० सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ॥
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ॥
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥
महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ॥
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

सुषुम्नापर्यायानाह ॥ सुषुम्नेति ॥ इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः । पर्याया इत्यर्थः । स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ ४ ॥

तस्मादिति ॥ यस्मात्कुंडलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुंडलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥ ५ ॥

मुद्रा उद्दिशति । महामुद्रेत्यादिना सार्धेन ॥ सार्धार्थः स्पष्टः ॥ ६ ॥

मुद्राफलमाह सार्धद्वाभ्यां ॥ इदमिति ॥ इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च

॥ भाषा ॥

तब चित्तबी निर्विषय होय है. और तब काल जो मृत्यु ताकूंबी तिर जाय अर्थात् मृत्युकूं बचायजाय ॥ ३ ॥

सुषुम्नेति ॥ सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्र महामार्ग श्मशान शांभवी मध्यमार्ग ये सुषुम्नाके पर्यायवाचक शब्द हे ॥ ४ ॥

तस्मादिति ॥ कुंडलीके बोधतें षट्चक्रभेदादिक होय हैं तातें संपूर्ण यत्नकरकें ब्रह्मको द्वार सुषुम्ना ताको मुख कहा अग्रभागमें सुषुम्नाको द्वार ताय रोककर सूती हुई जो कुंडली ताय प्रकर्षकरकें बोध करवेकूं महामुद्रादिकनको अभ्यास करे ॥ ५ ॥

महामुद्रेत्यादिना ॥ महामुद्रा १ महाबंध २ महावेध ३ खेचरी ४ उड्डीयान ५ मूलबंध ६ और जालंधर नाम बंध ७ ॥ ६ ॥

विपरीत नाम जाको एसी करणी ८ वज्रोली ९ शक्तिचालन १० ये दश मुद्रा हैं

मू० आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ॥
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

॥ टीका ॥

जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकम् ॥ ७ ॥

आदिनाथेनेति ॥ आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितं । दिवि भवं दिव्यमुत्तमं । अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिमामहिमागरिमालघिमाप्राप्तिप्राकाम्येशतावशिताख्यानि । तत्राणिमा संकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता । १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः ।२ । गरिमा लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः । ३ । लघिमा गुरुत्तरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः ।४। प्राप्तिः सर्वभावसान्निध्यम् । यथा भूमिस्थ एवांगुल्यग्रेण स्पृशति चंद्रमसम् । ५ । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च । ६ । ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् । ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणं । ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

॥ भाषा ॥

जरामरणकूं नाश करें हें ॥ ७ ॥

और ये दिव्य आदिनाथ जो शिवजी तिननें कह्योहुयो मुद्रानको दशक हे. सो आठ ऐश्वर्य अणिमा १ महिमा २ गरिमा ३ लघिमा ४ प्राप्ति ५ प्राकाम्य ६ ईशिता ७ वशिता ८ ये आठ सिद्धि हें इनें देवे हे ॥ अब इन आठों सिद्धिनके लक्षण कहें हें ॥ योगीके संकल्पमात्रकरकें प्रकृति दूर होय जाय. परमाणुकीसीनाई देह सूक्ष्म होय जाय ताकूं अणिमा कहें हें ॥ १ ॥ और जो प्रकृतिके आपूरकरकें अर्थात् प्रकृतीकूं अपने भीतर भर ले फिर आकाशादिककीसीनाई स्थूल महान् होय जाय ताकूं महिमा कहें हें ॥ २ ॥ बोहोत हलको रुईकूं आदिलेके तिनकूं पर्वतादिकनकोसो भारीपन होनो ताकूं गरिमा कहें हें ॥ ३ ॥ जो भारी पर्वतादिक हें तिनकूं रुईकीसीनाई लघु कहा हलको होय ताकूं लघिमा कहें हें ॥ ४ ॥ और जो सर्व पदार्थ सन्निध होय जाय अर्थात् जेसें पृथ्वीमें तो ठाडो होय और अंगुलीके अग्रकरकें चंद्रमाकूं स्पर्श करे ताकूं प्राप्ति कहें हें ॥ ५ ॥ और इच्छाको अनभिघात जेसें जलमें डूबे निकसि आवे तेसें पृथ्वीमें कदी दीखवें दीखवे लगे जानो कदी नही दीखनो ताकूं प्राकाम्य कहें हें ॥ ६ ॥ और भूत भौतिक पदार्थनको जन्ममरणकी

मू० गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ॥
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥

॥ अथ महामुद्रा ॥

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणं ॥
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १० ॥
कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

॥ टीका ॥

गोपनीयमिति ॥ प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयं । गोपनीयत्वे दृष्टांतमाह ॥ यथेति ॥ रत्नानां हीरकादीनां करंडकं रत्नकरंडकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् । कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वक्तव्यं नैव वाच्यं किमुतान्यस्य । तत्र दृष्टांतः । कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा तद्वत्॥९॥

दशविधमुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह ॥ पादमूलेनेति ॥ वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपादपार्ष्णिनेत्यर्थः । योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्याकुंचितवामपादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः । दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वांगुलिकं दंडवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायादाकुंचितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदंगुष्ठप्रदेशे गृह्णीयात् ॥ १० ॥

कंठ इति ॥ कंठे कंठदेशे बंधनं सम्यगारोप्य कृत्वा । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः ।

॥ भाषा ॥

रचना करवेमें समर्थ होय ताकूं ईशता कहें हें ॥ ७ ॥ और भूत भौतादिकनकूं अपने आधीन करणो ताकूं वशित्व सिद्धि कहें हें ॥ ८ ॥ इनकूं देवेवारो हे और सिद्ध जो कपिलादिक तिनकूं प्रिय हे मरुत् जे देवता तिनकूंबी दुर्लभ हे ॥ ८ ॥

यथेति ॥ जेसें रत्ननकी पेटीकूं गोप्य राखें हें तेसेंहि गोप्य राखे काहूंकूं कहे नही जेसें कुलकी स्त्रीके मैथुन संगमकूं नही कहे हे. तेसें येबी नही कहवेकूं योग्य हे ॥ ९ ॥

अब पहली महामुद्राकूं कहें हें ॥ पादमूलेनेति ॥ वामपादकी एडीकरकें गुदा शिश्नइंद्री इनको मध्यम भाग जो योनिस्थान ताय रोककरकें जेमनो पाद फेलाय लंबो करदे पृथ्वीमें एडी लगाय अंगुली ऊंची दंडकीसीनाई करकें अंगुठा तर्जनी कर दक्षिण पामको अंगूठा पकड धारण करे ॥ १० ॥

कंड इति ॥ फिर कंठमें जालंधर बंध बांधकरकें फिर बायूकूं उपरि सुषुम्नामें धारण करे

मू० ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥
ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १३ ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ॥

॥ टीका ॥

वायुं पवनमूर्ध्वत उपरि सुषुम्नायां धारयेत् । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु योनिसंपीडनेन जिव्हाबंधनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः । यथा दंडेन हतस्ताडितो दंडहतः सर्पः कुंडली दंडाकारः दंडस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः । दंडाकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः । प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूतेति॥तथा कुंडल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव।ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत् । तदा सेति ॥ द्वे पुटे इडापिंगले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते। कुंडलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२॥

तत इति ॥ इयमिति ॥ ततस्तदनंतरं शनैःशनैरेव रेचयेत् । वायुमिति संबध्यते वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत्। वेगतो रेचने बलहानिप्रसंगात्। खल्विति वाक्यालंकारे । इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता । महामुद्राया अन्वर्थमाह । महांतश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच त आदयो

॥ भाषा ॥

या कर मूलबंधबी होय हे जहां योनिस्थानकूं पीडन करकें जिव्हा बंधनकरकें मूलबंध होय जाय. जेसें सर्प दंडके प्रहारकरकें दंडाकार त्याग कर सरल होजाय हे तेसेंहीं जाननो ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूतेति ॥ तेसेंही कुंडली जो आधारशक्ति सो शीघ्रही सरल होय और कुंडलीके बोधतेंही सुषुम्नामें प्रवेश प्राणको होय हे दोनोनकूं प्राणके वियोगतें इडा पिंगला ये दोनों हे आश्रय जाके एसी मरणावस्था होय हे ॥ १२ ॥

ततइति ॥ इयमिति ॥ ता पीछें शनैं शनैं रेचन करे वायुकूं वेगतें नहीं करे बलकी हानि होय हे यातें ये महामुद्रा आदिनाथादिक महासिद्धननें दिखाई हे महाक्लेश अविद्या रागद्वेषादिक शोकमोहादिकनके दोष क्षीण होय हें. और मरण जरादिक तेवी क्षीण होय

मू० महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥
चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५ ॥

॥ टीका ॥

येषां ते तत्कार्याणां शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयंते । मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयंते नश्यंति । यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदंति । महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह ॥ **चंद्रांग** इति ॥ चंद्रेण चंद्रनाड्योपलक्षितमंगं चंद्रागं तस्मिन् चंद्रांगे वामांगे । तुशब्दः पादपूरणे । सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिंगलयोपलक्षितमंगं सूर्यांगं तस्मिन् सूर्यांगे दक्षांगे पुनर्वामांगाभ्यासानंतरं यावद्यावत्कालपर्यंतं तुल्या वामांगे कुंभकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत् । ततःसंख्यासाम्यानंतरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत् । अत्रायं क्रमः । आकुंचितवामपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो वामांगेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामांगे तिष्ठति । आकुंचितदक्षपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितबामपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो दक्षांगेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षांगे तिष्ठति ॥ १५ ॥

॥ भाषा ॥

यातें बडे बडे ज्ञानी याये महामुद्रा कहें हें ॥ १३ ॥ १४ ॥

या महामुद्राको अभ्यासक्रम कहें हें ॥ **चंद्रांग** इति ॥ चंद्रांग जो वामांग तामें अभ्यासकरकें फिर सूर्यांग जो दक्षांग तामें अभ्यास करे और वामांगके अभ्यास करे पछि जबतांई वामांगमें कुंभकके अभ्यासकी संख्या समान होय तावत् पर्यंत अभ्यास करे और जब संख्या समान होय जाय तापीछें महामुद्रा विसर्जन कर दे यामें ये क्रम हे वांये पामकी एडीकूं योनिस्थानमें लगायकर जेमने पामकूं लंबो फेलाय वाके अंगूठाकूं तर्जनी अंगुली अंगूठासूं पकडकरकें अभ्यास करे ताकूं वामांगमें अभ्यास कहें हें या अभ्यासमें पूऱ्यो जो वायू सो वामांगमें स्थित रहे हे और फिर जेमने पामकूं समेट वाकी एडीकूं योनिस्थानमें लगायकरकें वांयो पाम लंबो कर वाके अंगूठाकूं आकुंचित तर्जनी अंगूठासूं पकडकर अभ्यास करे ताकूं दक्षिणांगमें अभ्यास कहें हें या अभ्यासमें पूऱ्यो हुयो जो वायू सो दक्षांगमेंही रहे है ॥ १५ ॥

मू० नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ १६ ॥
क्षयकुष्टगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७ ॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्यकस्यचित् ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः ॥ नहीति ॥ हि यस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः । पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्यविचारो नास्तीत्यर्थः । तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कट्वम्लादयो जीर्यंते इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः । नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्तेयातयामाः पदार्था जीर्यंते । घोरमिति दुर्जरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति । किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

क्षयेति॥यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगविशेषाः । अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यांति प्राप्नुवंति ॥१७॥

महामुद्रामुपसंहरंस्तस्या गोप्यत्वमाह ॥ कथितेति ॥ इयमेषा महामुद्रा क-

॥ भाषा ॥

महामुद्राके गुण कहें हें ॥ नहीति ॥ महामुद्राके अभ्यासीकूं पथ्य अपथ्यको विचार नही तातें संपूर्ण रस कटु अम्लादिक जो भोजन करे सोई जीर्ण होय जाय और रस जाको सूक गयो होय एक दो दिनको होय पदार्थ सो जीर्ण होय जाय और दुर्जर होय घोर विष भोजन कियो होय सोबी अमृतकीसीनाई जीर्ण होय ॥ १६ ॥

क्षयेति ॥ जो पुरुष महामुद्राकूं अभ्यास करे ताकूं क्षयरोग कोढ गुल्मरोग अजीर्ण ये हें अग्रमें जिनकें एसे ज्वरादिक प्रमेह उदररोग एसे एसे रोगदोष नाशकूं प्राप्त होय ॥ १७ ॥

कथितेति ॥ अभ्यासके करवेवाले मनुष्यनकूं महान् सिद्धि आणिमादिक तिनकी करवेवाली ये महामुद्रा मेनें कही हे ये गोप राखनो योग्य हे जाकाऊ अनधिकारीकूं नही देनो योग्य हे ॥ १८ ॥

मू० पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥
इति महाबंधः ॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ २० ॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

॥ टीका ॥

थितोक्ता । मयेति शेषः । कीदृशी नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम् । प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा यस्यकस्यचिद्यस्यकस्याप्यनधिकारिणोऽसंबंधस्य । सामान्ये षष्ठी । न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

महाबंधमाह॥पार्ष्णिमिति॥ वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्ष्णिं गुल्फयोरधोभागम् । 'तद्ग्रंथी गुल्फौ पुमान्पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः । योनिस्थाने गुदमेढ्रयोरंतराले नियोजयेन्नितरां योजयेत् । वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा । तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

पूरयित्वेति ॥ ततस्तदनंतरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरबंधः प्रोक्तः । योनिं गुदमेढ्रयोरंतरालमाकुंच्य । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु जिह्वाबंधेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः । मनः स्वांतं मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

धारयित्वेति ॥ शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा शनैर्मंद-

॥ भाषा ॥

अब दूसरी महाबंध मुद्रा कहे हे ॥ पार्ष्णिमिति ॥ वांये पामकी एडी योनिस्थानमें लगायके फिर वांये पामको ऊरु ताके उपरि जेमनो पाम धरकरकें ॥ १९ ॥

पूरयित्वेति ॥ ता पीछैं वायुकूं पूरककरकें फिर हृदयमें ढोडी दृढ लगायकरकें ये जालंधरबंध कह्यो और वा एडीकरकें योनिस्थानकूं नेंक दाबकें याकरकें मूलबंध कह्यो मनकूं मध्यनाडीमें प्रवर्त करे ॥ २० ॥

धारयित्वेति ॥ यथाशक्ति कुंभककरकें फिर मंद मंद वायुकूं रेचक करे फेर वामांगमें आवर्तनकरकें फिर दक्षिणांगमें जितनें तुल्य संख्या होय तितनें अभ्यास करे ॥ २१ ॥

मू० मतमत्र तु केषां चित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥
राजदंतस्थजिह्वाया बंधः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ॥
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥
कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥

॥ टीका ॥

मंदमनिलं वायुं रेचयेत् । सव्यांगे वामांगे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षांगे दक्षिणांगे पुनर्यावत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

अथ जालंधरबंधे कंठसंकोचस्यानुपयोगमाह ॥ मतमिति ॥ केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतम् । किंतदित्याह । अत्र जालंधरबंधे कंठस्य बंधनं बंधः । संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः यतो दंतानां राजानो राजदंता राजदंतेषु तिष्ठतीति राजदंतस्था राजदंतस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तदुपरिभागस्य संबंधः शस्तः । कंठाकुंचनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः॥२२॥

अयंत्विति ॥ अयं तु राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वं गतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबंधकः । एतेन ' बध्नाति हि शिराजालमि ' ति जालंधरोक्तं फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम् महाबंधस्य फलमाह ॥ अयं खल्विति ॥ अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण तदातीति तथा ॥ २३ ॥

कालेति॥कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबंधो बंधनं तस्य विशेषेण

॥ भाषा ॥

मतमिति ॥ कोई आचार्यनको मत ये हे कहा जालंधर बंधमें कंठको बंध ताय विशेष कर वर्जित करे अर्थात् ढोढीकूं हृदय पे स्थापित नही करनो क्यों राजदंत जो अग्रदंत सामनेई दो दांत हें तिनकूं राजदंत कहें हें राजदंतमें स्थित जो जिव्हा तामें बंध दांतनकें ऊपर जिव्हाकूं लगानो ये प्रशस्त हे ॥ २२ ॥

अयंत्विति ॥ ये जो जिव्हाबंध हे सो सुषुम्नानाडीरहित जे संपूर्ण बहत्तर हजार नाडी तिनके ऊपर वायुकी गतीको निरोध करे हे याकरकें नसाजाल बंध जाय हे तातें ही जालंधरबंध कहें हे. अब याको फल कहें हें ये महाबंध महासिद्धी देवें हे ॥ २३ ॥

कालेति ॥ और मृत्युकी पाशकरकें जो बंधन ताकूं दूर करवेमें निपुण इडा पिंगला सु-

मू० त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥
रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥
महामुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥

अथ महावेधः ॥

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणी समुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यं तं मनः स्वांतं प्रापयेत् । 'गतिबुद्धी' त्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह ॥ रूपेति ॥ रूपं सौंदर्यं चक्षुःप्रियो गुणो लावण्यं कांतिविशेषः । तदुक्तं 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवांतरम् । प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते' इति । ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबंधश्च तौ महावेधेन । 'विनापि प्रत्ययपूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्य' इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य लोपः । वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः ॥ २५ ॥

महावेधमाह ॥ महाबंधेति ॥ महाबंधे महाबंधमुद्रायां स्थितो महाबंधस्थितः । एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा कंठे मुद्रा कंठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिम्

॥ भाषा ॥

षुम्ना इन तीनो नदीनको संगम ताय धारण करे हें और मनकूं केदार जो भ्रुकुटीनके बीचमें शिवस्थान ताय प्राप्त करे हे ॥ २४ ॥

रूपेति ॥ रूप लावण्य कांति गुन इन शोभानकर युक्त स्त्री होय युवा न होय वो जेसें भर्त्तार विना निष्फल तेसेंही महामुद्रा महाबंध ये दोनो महावेधकर रहित होंय तों निष्फल हें कहा व्यर्थ हें ॥ २५ ॥

अब तीसरी महावेध मुद्रा कहें हें ॥ महावेधेति ॥ महावेध मुद्रामें स्थित एकाग्र हे बुद्धि जाकी एसो योगी नासिकाके पुटकरकें पूरककरकें कंठमें मुद्रा जो जालंधर मुद्रा ताकरकें वायुकी ऊपर नीचें गमन रूप जो गती ताय रोक कुंभककरकें ॥ २६ ॥

मू० समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥
सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ॥
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८ ॥
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥

॥ टीका ॥

र्ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथावृत्य निरुध्य कुंभकं कृत्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

समहस्तेति ॥ भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं हस्तयुगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः । स्फिचौ कटिप्रोथौ । 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथावि' त्यमरः । भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलंबनेन योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मंदं संताडयेत्सम्यक् ताडयेत् । भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिंगलयोर्युग्ममतिक्रम्योल्लंघ्य मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

सोमेति ॥ सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडापिंगलासुषुम्ना ग्राह्यास्तेषां संबंधः । तद्वायुसंबंधात्तेषां संबंधः । अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिंगलयोः प्राणसंचाराभावात् । ततस्तदनंतरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥ २८ ॥

महावेध इति ॥ अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनःपुनरावर्तनान्महासिद्धयोऽणिमाद्या-

॥ भाषा ॥

समहस्तेति ॥ पृथ्वीमें लगरहे हैं तलुआ जिनके एसे दोनो हाथ समान धरकरकें फिर योनिस्थानमें लगरही हे एढी जाकी ता पामकर सहित दोनो हाथके सहारे कछूक उठकरकें फिर मंद मंद ताडन करे भूमिमें इडा पिंगला दोनोनकूं उल्लंघनकरकें सुषुम्नाके मध्यमें वायु प्राप्त होय ॥ २७ ॥

सोमेति ॥ सोम सूर्य अग्नि इनमें अधिष्ठित नाडी इडा पिंगला सुषुम्ना तिनको संबंध मोक्षके अर्थ होय हे निश्चयता प्राण वियोगकी अवस्था मृतावस्था उत्पन्न होय हे अर्थात् मरोसो होजाय ता पीछैं वायुकूं नासिका पुटनकरकें शनैं शनैं रेचक करे ॥ २८ ॥

महावेध इति ॥ ये जो महावेध हे सो अभ्यास करेतें महासिद्धी जो अणिमादिक

मू० वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥

॥ टीका ॥

स्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्धकः । वली जरया चर्मसंकोचः पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः कंपस्तान् हंतीति वलीपलितवेपघ्नः । अत एव साधकेष्वभ्यासिषू-त्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह ॥ एतदिति ॥ एतत्त्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम् । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि हि यस्माज्जरा वार्धकं मृत्युश्च-रमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण ददातीत्यणिमा-दिगुणप्रदम् । चकार आरोग्यबिंदुजयादिसमुच्चयार्थः एवशब्दोऽवधारणार्थः॥ ३० ॥

अथैतत्त्रयस्य पृथक्साधनविशेषमाह ॥ अष्टधेति ॥ दिने दिने प्रतिदिनं । यामे यामे प्रहरे प्रहरे पौनःपुन्ये द्विर्वचनम् । अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते चशब्दो-ऽवधारणे । एतत्त्रयमित्यत्रापि संबध्यते । कीदृशं पुण्यसंभारः समूहस्तस्य संधायि विधायि पुनः कीदृशं पापानामोघः पूरः समूह इति यावत् । तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाभ्यस्तं तदैव पापनाशनम् ॥

॥ भाषा ॥

तिनकूं देवेमें समर्थ हे और वली पलित कंप अर्थात् बुढो होय जाके देहमें त्रिवलीसी पडे जाकूं वली कहे हें और बुढापेकर केश सुपेद होय जाय ताकूं पलित कहें हें. और बुढापेसूं देह कांपन लगे तासूं कंप कहें हें इन तीनोनकूं नाश करे हे यातें अभ्या सीनमें जे उत्तम हें तिनकरकें अभ्यास करिये हे ॥ २९ ॥

एतदिति ॥ ये महामुद्राकूं आदिले तीन मुद्रा महा गोप्य हें और बुढापेकूं मृत्यूकूं विशेष दूर करे हे. और जाठराग्नीकूं वृद्धी करे हे. अणिमादिक सिद्धीकूं देवे हे ॥ ३० ॥

अष्टधेति ॥ एक दिनमें आठ प्रहर होय हे सो नित्य प्रहर प्रहरमें आठ करे और

मू० सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथ खेचरी ॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥
छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३३ ॥

॥ टीका ॥

सम्यक् संप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा । एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्तरीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम् ॥ ३१ ॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह ॥ कपालेति ॥ कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात् । भ्रुवोरंतर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात् । सा खेचरी मुद्रा भवति । कपालकुहरे जिव्हाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरंतर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धं॥३२॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह ॥ छेदनेति ॥ छेदनं अनुपदमेव वक्ष्यमाणं । चालनं हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनं दोहः करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तदोहनं तैः कलां जिव्हां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् । तावत् कियत् । यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥ ३३ ॥

॥ भाषा ॥

पुण्यके समूहकूं वढावे हे फिर पापनको ओव समूह ताकूं वज्रकीसीनाई नाशको करवेवारो हे शिक्षावान पुरुषनकूं या प्रकार दिन दिनमें प्रहर प्रहरमें आठ प्रकार यारीती कर पूर्व साधन अल्प अल्पही करनो योग्य हे ॥ ३१ ॥

अब खेचरी चोथी मुद्रा कहें हें ॥ कपालेति ॥ कपालमें जो छिद्र तामें विपरीत जिव्हा प्रवेश करे और भृकुटीके मध्यमें नेत्रनकरकें देखनो ये खेचरी मुद्रा हे ॥ ३२ ॥

अब खेचरीकी सिद्धिको लक्षण कहें हें ॥ छेदनेति ॥ छेदन अगाडी कहेंगे और चालन हस्तके अंगुठा तर्जनी कर जिव्हाकूं पकडकरके हलानो सो चालन और दोनो हाथके अंगूठा तर्जनी कर गोके थनकूं दुहें हें तेसेंही खेंच खेंचके जिव्हाकूं बढावे कहा लंबी करे कितनी जबतक बहार निकास भृकुटीके मध्यकूं स्पर्श करे तबतांई बढावे तब खेचरीकी सिद्धी होय ॥ ३३ ॥

मू० स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३४॥
ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ॥
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥
एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ॥ ३६॥

॥ टीका ॥

तत्साधनमाह ॥ स्नुहीति ॥ स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रेणसदृशं स्नुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानंतरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगुच्छिनेच्छिद्यात् । रसनामूलशिरामिति कर्माध्याहारः । 'मिश्रेयाप्यथ सिंहुंडो वज्रस्नुक् स्त्री स्नुही गुडे' त्यमरः ॥ ३४ ॥

तत इति ॥ ततश्छेदनानंतरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षयेच्छिन्नं शिराप्रदेशं । सप्तदिनपर्यंतं छेदनं सैंधवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयं । योगाभ्यासिनो लवणनिषेधात्खदिरपथ्याचूर्णं गृह्णंति । मूले सैंधवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण । सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् । ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वं छेदनापेक्षयाधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

एवमिति ॥ एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तदिनपर्यंतं तावदेव सायंप्रातश्छे-

॥ भाषा ॥

अब खेचरीको साधन कहे हें ॥ स्नुहीति ॥ थूहरके पत्रकी तुल्य अति तीक्ष्ण होय सचिक्कण होय निर्मल होय एसो शस्त्र लेकरकें जिव्हाके नीचे नसकूं रोममात्र छेदन करे ॥ ३४ ॥

तत इति ॥ छेदन करे पीछे लवण सेंधो और हरडे इनको चूर्णकरके छेदनकीजे मलदेवे सायंकाल प्रातःकाल दोनो समे योगीकूं लवणको निषेध हे यातें खदिर हरडे इन दोनोनकूं पीसके मलदेवे सातादिन तांई फिर सातादिन पीछें आठमे दिन फिर अधिक छेदन करे ॥ ३५ ॥

एवमिति ॥ या क्रमकरकें फिर सात दिन लवण हरडेकर घर्षण करे योगाभ्यासी पु-

मू० कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

॥ टीका ॥

दनं घर्षणं च । अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यंतं नित्ययुक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः । षण्मासादनंतरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या शिरा कपालकुहररसनासंयोगे प्रतिबंधिकाभूता नाडी तया बंधो बंधनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह ॥ कलामिति ॥ कलां जिह्वां पराङ्मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पंथाः त्रिपथस्तस्मिंस्त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्संयोजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते । व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

अथ खेचरीगुणाः ॥ रसनामिति ॥ ऊर्ध्वं तालुपरि विवरं गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते । व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते । 'उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दोऽव्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते' इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

॥ भाषा ॥

दिन अधिक छेदन करे एसें छै महीनापर्यंत नित्य युक्तीसुं करे तो छै महीना पीछें जिव्हाकी मूलमें जो नाडी अर्थात् कपालके छिद्रमें जिव्हाके संयोगकूं नही होय वे नाडीकरकें बंध नाशकूं प्राप्त होय ॥ ३६ ॥

कलाभिति ॥ जिव्हा तिरछिकरकें तीनो नाडीनको मार्ग जो कपालको छिद्र तामें योजना करे ये खेचरी मुद्रा होय हे याहीकूं व्योमचक्र कहें हें ॥ ३७ ॥

अब खेचरीके गुण कहें हें ॥ रसनामिति ॥ तालुएके उपरि छिद्रमें जाय एसी जिव्हाकरकें एक घडीमात्र खेचरीमुद्रा स्थित रहे तो योगी सर्प वींछू इनकूं आदिलेकर जो जंतू तिनके बिषकर छूट जाय. और व्याधी मृत्यु और बुढापो ये हें आदि जिनके एसे त्रिवली पलितं इनकरकें छूट जाय ॥ ३८ ॥

मू० न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ३९ ॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रा वेत्ति खेचरीम् ॥ ४० ॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याश्लेषितस्य च ॥ ४२ ॥

॥ टीका ॥

न रोग इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तंद्रा तामसांतःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न क्षुधा न तृषा पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाभिभूतावस्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

पीड्यत इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न योज्यते॥४०॥

चित्तमिति ॥ यस्माद्धेतोश्चित्तमंतःकरणं खे भ्रुवोरंतरवकाशे चरति जिह्वां खे तत्रैव गता सती चरति । तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययम् । सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता । खे भ्रुवोरंतर्व्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता । उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥ ४१ ॥

खेचर्येति ॥ येन योगिना खेचर्या मुद्रया लंबिकाया ऊर्ध्वमिति लंबिकोर्ध्वतः ।

॥ भाषा ॥

नरोग इति ॥ जो खेचरीमुद्राए जानै हे ताके रोग मरण आलस्य निद्रा क्षुधा तृषा मूर्च्छा ये विशेषकरकें नही होय ॥ ३९ ॥

पीड्यत इति ॥ जो खेचरी मुद्राकूं जाने हे सो रोगकरकें नही पीडायमान होय कर्मकरकें लिप्त नही होय कालकरकें बाधाकूं नही प्राप्त होय ॥ ४० ॥

चित्तमिति ॥ अंतःकरण भ्रुकुटीके भीतर जो छिद्र तामें विचरे और जिव्हा भ्रुकुटीके मध्यमें विचरे ताकरकें कपिलादिक सिद्धनकरकें ये खेचरी कहें हें ॥ ४१ ॥

खेचर्येति ॥ जा योगीनें तालुवेके उपरि जो छिद्र ताय खेचरी मुद्राकरकें ढक दियो तो

मू० चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् ॥
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ४३ ॥
ऊर्ध्वजिव्हः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥
नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ॥

॥ टीका ॥

सार्वविभक्तिकस्तसिः । लंबिका तालु तस्या ऊर्ध्वंत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम् । कामिन्या युवत्याश्लेषितस्यालिंगितस्यापि । च शब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिंदुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

चलित इति ॥ चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिंदुर्यदा यस्मिन् काले योनिमंडलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुंचनरूपया । एतेन वज्रोली मुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याकर्षणशक्त्याहृतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति । सुषुम्नामार्गेण बिंदुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिव्ह इति ॥ ऊर्ध्वालंबिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लंबिकोर्ध्वविवरगलितचंद्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभिभवति । न संदेहः । निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

नित्यमिति ॥ यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृ-

॥ भाषा ॥

स्त्रीकरकें आलिंगन हो रह्यो ताको बिंदु नही स्खलित होय ॥ ४२ ॥

चलित इति ॥ और जो बिंदु स्खलित होय गयो जा कालमें योनिमंडलमें प्राप्त हुयो फिर वो योगी मेढ्रकूं आकुंचन जामें करे सो मुद्रा योनिमुद्रा याकरकें वज्रोली मुद्रा दिखायदिनी बंध्यो हुयो और शक्तिकरकें खिच्यो हुयो सुषुम्नामार्गकरकें ऊपरकूं खेंच ले अर्थात बिंदुस्थानकूं प्राप्त होय हे ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिव्हेति ॥ तालूके ऊपरि छिद्रके सन्मुख जिव्हा लगाय स्थिर होय जो तालूके ऊपर छिद्रमेंसूं पडे एसो जो चंद्रामृत भ्रुकुटीनके मध्यमें चंद्रमा रहे तामेंतें अमृत स्त्रवे हे ता चंद्रामृतकूं पान करे योगवेत्ता सो मासको अर्द्ध जो पक्ष ताकरकें मृत्युकूं जीतले यामें संदेह नही निश्चय हे ॥ ४४ ॥

नित्यमिति ॥ और जा योगीको शरीर नित्य प्रति चंद्रामृतकरकें पूर्ण होय ता यो-

मू॰ तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥
इंधनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्ति च दीपकः ॥
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥ ४६ ॥
गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

॥ टीका ॥

तपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

इंधनानीति ॥ यथा वह्निः इंधनानि काष्ठादीनि न मुंचति दीपको दीपः तैलवर्तिं च तैलयुक्तां वर्त्तिं न मुंचति । तथा सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृतपूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुंचति न त्यजति ॥ ४६ ॥

गोमांसमिति ॥ गोमांसपरिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगिनं । अहमिति ग्रंथकारोक्तिः । कुले जातः कुलीनः तंसत्कुलोत्पन्नं मन्ये । तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते । ‘ कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् । जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् । दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् । भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥’ ब्रह्मांडपुराणे । ‘ गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च । ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥’ राजयोगे वामदेवंप्रति शिववाक्यं । ‘राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः । तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम् । दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः।अज्ञा मुक्तिपदं यांति किं पुनस्तत्परायणाः । अंतर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः ।

॥ भाषा ॥

गीको शरीर तक्षक सर्पकरकें डस्यो हुयो ताकूं विष नही प्रभाव करे और दुःखवी नही होय ॥४५॥

इंधनानीति ॥ जेसें अग्नि काष्ठकूं नही छोडे हे और दीपक तेलसहित जो वत्ती ताय नही छोडे हे तेसेंही चंद्रामृतकरकें पूर्ण जो देह ताय जीव नही त्याग करे ॥ ४६ ॥

गोमांसमिति ॥ जो योगी गोमांस नित्य प्रति भक्षण करे अमरवारुणीको नित्य पान करे ता योगीकूं ग्रंथकर्ता कहें हें में उत्तम कुलमें उत्पन्न हुयो मानुहूं और जो गोमांस भक्षण अमर वारुणी इनके भक्षण पानकर रहित हे वो अयोगी हे ते कुलके नाश करवे-

मू० गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ॥
चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥
चुंबंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पंदिनी ॥

॥ टीका ॥

त्वया मयाप्यसौ बंधः शेषैर्वेद्यस्तु किं पुनः ॥'इति । कूर्मपुराणे । 'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा । ये युंजते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः॥'इति । इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात् ॥ ४७ ॥

गोमांसशब्दार्थमाह ॥ गोशब्देनेति । गोशब्देन गोइत्याकारकेन शब्देन गोपदेनेत्यर्थः । जिह्वा रसनोदिता कथिता तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपोर्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह ॥ जिव्हेति ॥ जिह्वायाः प्रवेशो लंबिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते । यः सारः चंद्राद्भ्रुवोरंतर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

चुंबंतीति ॥ यदि चेल्लंबिकाग्रं लंबिकोर्ध्वविवरं चुंबंती स्पृशन्ती । अनिशं निरं-

॥ भाषा ॥

वाले हैं सत्कुलमें उत्पन्न हुये तोहु उनको जन्म वृथा है ॥ ४७ ॥

गोमांस शब्दको अर्थ कहें हैं ॥ गोशब्देनेति ॥ गोपदकरकें यहां जिव्हा कही हे. तालुके समीपमे जो छिद्र तामें जिव्हाको प्रवेश ताकूं गोमांसभक्षण कहे हैं. एसो जो गोमांस भक्षण सो महापातकनकूं नाश करे हे ॥ ४८ ॥

अमरवारुणी शव्दको अर्थ कहे हैं ॥ जिह्वेति ॥ तालुवेके ऊपर छिद्रमें जिव्हाको प्रवेश तातें हुयो जो अग्नि कहा ऊष्मा ताकरके उत्पन्न हुयो जो सार भ्रुकुटीके भीतर वामभागमें स्थित जो चंद्रमा तातें स्रवे हे सो अमरवारुणी कहें हैं ॥ ४९ ॥

चुंबंतीति ॥ जो तालुवेके ऊपर छिद्रकूं निरंतर स्पर्श करे और चंद्रामृतको स्राव जामें

मू० सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्यस्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥ ९० ॥
मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन् ॥
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति॥ ९१॥

॥ टीका ॥

तरं । अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्पंदः स्पंदनं प्रस्रवणमस्यामस्तीति रसस्पंदिनी यस्य जिह्वा । क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा कटुकं मरीचादि आम्लं चिंचाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना । मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा-तथाशब्दः समुच्चये । एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वास्निग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्पंदने तथात्वमुक्तम् । तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अंतःकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वाभिमुखागमनं तस्योदीरणं निवारणम् । अष्टौ गुणा अणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्वममरभावः । सिद्धानामंगनाः सिद्धांगनाः सिद्धाश्च ता अंगनाश्चेति वा तासामाकर्षणमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ९० ॥

मूर्ध्न इति ॥ रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य । ऊर्ध्वमुत्तान-

॥ भाषा ॥

होय एसी जिव्हा और लवणसहित मरिचादि चिंचाफलादि दुग्ध इन कर समान मधु सहत घी इनकर समान अर्थात् जिव्हामें मूलछेदनके पीछें एसे एसे स्वाद अमृतके स्राव ग्रहणतें स्वभावतें ही होंय तब वा योगीकूं रोगनको दूर होनो वृद्धावस्थाको नाश और शस्त्रनको अपने सम्मुख आगमन तिनकूं निवारण करणो आठोंसिद्धीनकी प्राप्त होनो और देवभाव होनो सिद्धांगनानको आकर्षण करनो इतनी शक्ति होय जाय ॥ ९० ॥

मूर्ध्न इति ॥ जिव्हाकूं कपालके छिद्रमें लगायकरकें फिर ऊंचो मुखकरकें यामें विपरीत करणी दिखाय दीनी कुंडलिनीकूं ध्यान करत साधनभूत प्राण तातें भ्रुकुटीके मध्यमें द्विदल कमलमेंतें नीचे कंठमें वर्तमान षोडशदल कमल तामें पडो हठयोगतें प्राप्त हुयो निर्मल धारामय तरंगसहित चंद्रामृतरस ताय जो पुरुष पीवे सो योगी ज्वरादिक

मू० यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कायसिद्धिः ॥ ९२ ॥

॥ टीका ॥

मास्यं यस्य सः । ऊर्ध्वास्य-इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता । परां शक्तिं कुंडलिनीं चिंतयन्ध्यायन्सन् प्राणान्साधनभूतान् । षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं कंठस्थाने वर्तमानं तस्मिन्गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरंगं च तत्कलाजलं सोमकलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता विविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान् धारयति । हठाद्धठयोगात् । प्राणात्साधनभूतादवाप्तमिति वा योजना प्राणैरिति क्वचित्पाठः ॥ ९१ ॥

यत्प्रालेयमिति ॥ मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्ना मेरुस्तस्य मूर्धोपरिभागस्तस्यांतरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धांतरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरं तस्मिन्विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः । तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्व-

॥ भाषा ॥

व्याधीकर रहित होय और कमलके गाबेकोसो कोमल देह जाको एसो होय दीर्घ काल तांई जीवे ॥ ९१ ॥

यत्प्रालेयमिति ॥ मेरु पर्वतकीसीनाई संपूर्णतें ऊंची सुषुम्ना ताके उपरिभागमें स्थित जो चंद्रामृतरूप जल सो हे स्थित जामें एसो छिद्र तामें सतोगुणी हे बुद्धी जाकी सो आत्मतत्व कहें हे. और गंगा यमुना सरस्वती नर्मदा जो इडा पिंगला सुषुम्ना गांधारीकूं आदिले जो नाडी तिनकूं ता विवरमें अग्रपनो हे सो चंद्रमंडलतें शरीरको सार स्रवे हे. ता चंद्रामृतके स्रावकरकें मनुष्यनकी मृत्यु होय हे. यातें प्रथम कह्याए हें सुकरण नाम खेचरी मुद्रा ताय बांधे या खेचरीके बांधेतें चंद्रामृत नहीं स्रवे तब मृत्यु नहीं होय जो खेचरी मुद्राको अभाव कहा नहीं बांधे तो देहकी सिद्धिरूप लावण्य बल वज्रकीसी नाई दृढ होनो ये नहीं होय ॥ ९२ ॥

मू० सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितम् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजने ॥ ५३ ॥
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ॥
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥ ५४ ॥

॥ टीका ॥

मित्युक्तम् । निम्नगानां गंगायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्यानामिडापिंगलासुषुम्नागांधारीप्रभृतीनां तत्तास्मिन्विवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चंद्रात्सोमाद्वपुषःशरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चंद्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति । अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात् । सुकरणे बद्धे चंद्रसारस्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः अन्यथा सुकरणबंधनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात् ॥ ५२ ॥

सुषिरमिति ॥ पंच यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैः समन्वितं सम्यगनुगतम् । सप्तस्रोतःसमन्वितमिति क्वचित्पाठः । ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽजनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्तन्निरंजनं तस्मिन्निरंजने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्चे' त्यात्मनेपदम् ॥ ५३ ॥

एकमिति ॥ सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यं । तदुक्तं मांडूक्योपनिषदि । 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमि' ति । खेचरी मुद्रा एका मुख्या । निरालंब आलंबनशून्य एको मुख्यो देवः । आलंबनपरित्यागेनात्मनः स्वरूपावस्थानात् । उन्मन्यवस्थैका मुख्या । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥ ५४ ॥

॥ भाषा ॥

सुषिरमिति ॥ पांच जो इडा पिंगला सुषुम्ना गांधारी हस्तिजिव्हा इन पांच नाडीनको प्रवाह ऊपर है ये ऊपरकूं वेंहें हें सो इनके प्रवाह कर संयुक्त और आत्माकूं साक्षात्कार प्रगट करे ऐसो विवर हे सो अविद्या और अविद्याके कार्यशोक मोहादिक ये जाते दूर होंय पोलरूप जो विवर तामें खेचरी मुद्रा स्थिर होय ॥ ५३ ॥

एकमिति ॥ सृष्टिरूप बीज प्रणव नाम एकही हें. सब बीजनमें मुख्य हे. और सर्व देवतानमें देव भगवान् मुख्य हें. जेसें मनोन्मनी अवस्था मुख्य हे. तेसेंही मुद्रानमें खेचरी मुद्रा मुख्य हे ॥ ५४ ॥

अथोड्डीयानबंधः ॥

मू० बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगः ॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ ५७ ॥

॥ टीका ॥

उड्डीयानबंधं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह ॥ बद्ध इति ॥ यतो यस्माद्धेतोर्येन बंधेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्नायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्नां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बंधो योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिरुड्डीयनमाख्याभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्युत्पत्त्योदाहृतः कथितः । सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम् । उत्पूर्वा 'डीङ् विहायसा गतावि' त्यस्मात्करणे ल्युट्॥५५॥

उड्डीनमिति ॥ महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः । सर्वदा देहावकाशे गतिमत्त्वात् । यस्माद्बंधादविश्रांतं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते । सुषुम्नायामित्यध्याहार्यम् । तदेव बंधविशेषमुड्डीयानमुड्डीयाननामकं स्यात् । तत्र तस्मिन्विषये बंधोऽभिधीयते बंधस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः ॥ ५६ ॥

उड्डीयानबंधमाह ॥ उदर इति ॥ उदरे तुंदे नाभेरूर्ध्वं चकारादधः उपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसंलग्नौ स्यातां तथा तानंताननं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्ताननरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बंधः । कीदृशः मृत्युरेव मातंगो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः ॥ ५७ ॥

॥ भाषा ॥

उड्डियानबंधकूं कह्यो चाहे है सो प्रथम उड्डियान शब्दको अर्थ कहें हैं ॥ बद्ध इति ॥ जा हेतुतें वा जा बंधनकरके रुको हुयो वायु सुषुम्नामें मध्यनाडीकरकें उड जायकें सुषुम्ना आकाशमार्गकरकें गमन करे तातें ये बंध योगी मत्स्येंद्रादिनकरकें उड्डियानबंध कह्यो है॥५५॥

उड्डीयानमिति ॥ महान् जो खग कोन प्राण सो जा बंध करेतें श्रम जामें न होय सुषुम्नामें होय पक्षीनकी गती करे वा बंधनकूं उड्डियान नाम कहें हें तामें बंधस्वरूप कह्यो हे ॥५६॥

उदर इति ॥ नाभिको उपरलो भाग नीचलो भाग इनकूं उदरमें पीठमें लग जाय एसो

मू० उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥
सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥
उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

॥ टीका ॥

उड्डीयानं त्विति ॥ गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिर्गमनम् । सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात् । यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरंतरमभ्यसेत् । उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते । स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते ॥ ५८ ॥

नाभेरिति ॥ नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूप मुक्तं । अथ तत्प्रशंसा । षण्मासं षण्मासपर्यंतं । उड्डीयानमित्यध्याहारः । अभ्यसेत्पुनःपुनरनुतिष्ठेत्स मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां बंधानां मध्ये उड्डियानकः उड्डियानबंध एव । स्वार्थे कप्रत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्मादुड्डियाने बंधे दृढे सति स्वाभाविकी स्वभावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत् । उड्डियानबंधे कृते विहंगमगत्या सुषुम्नायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात् । 'समाधौ मोक्षमाप्नोती' ति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

॥ भाषा ॥

पीछेकूं खेंचे ये बंधन उड्डियान नाम हे. केसो हे मृत्युरूपी हाथीकूं सिंहकीसीनाई निवर्त करवेवारो हे ॥ ९७ ॥

उड्डियानं त्विति ॥ हितके उपदेशकर्ता गुरु ता गुरुकरकें सहजस्वभाव कह्यो हुयो उड्डियान ताय अभ्यास करे निरंतर तो वृद्ध पुरुषबी तरुण होय जाय ॥ ९८ ॥

नाभेरिति नाभीको उपरिभाग नीचलो भाग यत्नतें पीठमें लगे एसो तान करे अर्थात् पीछेंकूं खेंचे या उड्डियानकूं छे महिनापर्यंत एसें अभ्यास करे वारंवार तो मृत्युकूं जीतले यामें संदेह नहीं ॥ ९९ ॥

सर्वेषामिति ॥ संपूर्ण बंधननके मध्यमें उड्डियान बंधन उत्तम हे ये उड्डियान बंधन दृढ

अथ मूलबंधः ॥

मू० पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः ॥ ६२ ॥
गुदं पाष्ण्यां तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ॥

॥ टीका ॥

मूलबंधमाह ॥ **पार्ष्णिभागेनेति** ॥ पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधःप्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुंचयेत्संकोचयेत् । अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबंधोऽभिधीयते कथ्यते । पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुंचनं मूलबंध इत्युच्यत इत्यर्थः॥६१॥

अधोगतिमिति ॥ यः अधोगतिं अधोऽर्वाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुंचनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्नायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबंधं मूलस्य मूलस्थानस्य बंधनं मूलबंधस्तं मूलबंधमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबंधशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बंधनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ ६२ ॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबंधमाह ॥ **गुदमिति** ॥ पाष्ण्योर्गुल्फयोरधोभागेन् गुदं वायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य

॥ भाषा ॥

होय जाय तो स्वभावसिद्धही मुक्ति होय उड्डियानके करेतें पक्षीनकीसी गतीकरकें सुषुम्नामें होय प्राणकूं मस्तकमें लेजायेतें समाधीमें मोक्ष होय हे या प्रकार स्वाभाविकी मुक्ति होय ॥ ६० ॥

अब मूलबंध कहें हें ॥ **पार्ष्णिभागेनेति** ॥ एडीकर योनिस्थानकूं दाबकरकें गुदाकूं संकोचकरे फिर अपान जो वायु कोन नीचेकूं जाय जो वायु ताय ऊपर चढावे ये मूलबंध कह्यो हे ॥ ६१ ॥

अधोगतिमिति ॥ नीचें गती जाकी एसो जो अपानवायु ताकूं मूलाधार संकोचककें बलतें ऊर्ध्वगमन करे अर्थात् सुषुम्नामें प्राप्त करे योगाभ्यासी याकूं मूलबंधन कहें हें मूलस्थानको बंधन जामें होय सो मूलबंध कहें हें ॥ ६२ ॥

योगबीजमें कही जो रीती ताकरकें मूलबंध कहें हें ॥ गुदमिति ॥ एडीकरकें

मू० वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥
प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ ६४ ॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥

॥ टीका ॥

विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारंवारं पुनःपुनर्वायुमपानमाकुंचयेद्गुदस्याकुंचनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबंध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

अथ मूलबंधगुणानाह ॥ प्राणापानाविति ॥ प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वाधोगती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः बिंदुरनुस्वारस्तौ मूलबंधेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसंसिद्धिं यच्छतो ददतः । अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न । संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः । मूलबंधे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिंदुना सहैक्यं बिंदुनाधाय मूर्ध्नि गच्छतः । ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरिति ॥ सततं मूलबंधनान्मूलबंधमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं

॥ भाषा ॥

गुदाकूं दाबकरकें फिर जा प्रकार कर वायु सुषुम्नाके उपरिभागमें प्राप्त होय ता प्रकार कर बलतें वारंवार अपान वायुकूं गुदाकूं आकुंचन करकें खेंचे ये मूलबंध हे ॥६३॥

अब मूलबंधके गुण कहें हें ॥ प्राणापानाविति ॥ प्राण अपान प्राण तो ऊर्ध्वगति वायु और अपान अधोगती वायु और नाद कहा मेघकीसी ध्वनि और बिंदु कहा अनुस्वार ये च्यारों मूलबंधकरकें एकत्र होय योगकी सिद्धी ताय देवे. यामें संदेह नही. याको ये भाव हे मूलबंध करेतें अपानवायु प्राणवायुकरकें सहित एक होय सुषुम्नामें प्रवेश करे तातें नाद प्रगट होय ता नादकरकें सहित प्राण और अपान दोनो वायु हृदयके ऊपर जाय नादकूं बिंदुकरकें सहित ऐक्यकरकें मस्तकमें प्राप्त होय तातें योगसिद्धि होय हे ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरिति ॥ निरंतर मूलबंध मुद्रा करेतें अपानवायु और प्राणवायु

मू० युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥ ६५ ॥
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽहता ॥ ६६ ॥
ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ॥
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

॥ टीका ॥

भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

अपान इति ॥ मूलबंधनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तस्मिन्तादृशे सति वह्निमंडलं वह्नेर्मंडले त्रिकोणं नाभेरधोभागेऽस्ति । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन । ' देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभम् । त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् । मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ' इति । तदा तस्मिन्काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते । वर्धत इति क्वचित्पाठः॥६६॥

तत इति ॥ ततस्तदनंतरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ । उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो गच्छतः । ततोऽनलशिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपकादिति वा योजना । तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यंतमधिकं दीप्तो भवति । तथेति पादपूरणे । अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राणसंगत्याऽत्यंतं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

॥ भाषा ॥

इनकूं ऐक्यता होय जाय हे. तब संचय कियो हुयो मूत्र और पुरीष इनको पतन होय. या मूलबंधके करेतें बूढो पुरुष युवान होय जाय ॥ ६५ ॥

अपान इति ॥ मूलबंधन करेतें अपानवायु ऊपर चलन लगे तब नाभितें नीचे त्रिकोण हे वो अग्निको मंडल हे वामें अग्नी रहे हे वा अग्निमंडलमें अपानवायु जाय हे तब वायुकरकें मिली हुई जाठराग्निकी शिखा कोन ज्वाला बढ जाय हे ॥ ६६ ॥

तत इति ॥ ता पीछें अग्नि और अपानवायु ये दोनो उष्णस्वरूप जाको एसो प्राणवायु तामें जाय हे ताकरकें देहमें होय एसो अग्नि अत्यंत अधिक दीप्त होय हे ॥ ६७ ॥

मू० तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ॥
दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८ ॥
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत् ॥
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभीः सदा ॥ ६९ ॥
कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ॥
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

॥ टीका ॥

तेनेति ॥ तेनज्वलनस्यात्यंतं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुंडलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति । दंडेनाहता दंडाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निश्वस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ ततो ऋजुताप्राप्त्यनंतरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अंतरं मध्यं गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबंधो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

जालंधरबंधमाह ॥ **कंठमिति** ॥ कंठे गले बिलमाकुंच्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरंगुलांतरितप्रदेशे चुबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात् । अयं कंठाकुंचनपूर्वकं चतुरंगुलातरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चुबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्यायत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बंधः । कीदृशः जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीतिविनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

॥ भाषा ॥

तेनेति ॥ ता अग्निको अत्यंत दीपनताकरकें तापकूं प्राप्त हुई और सूती हुई जो कुंडलिनी शक्ति सो जाग उठै हे. जैसें दंडके प्रहारकरकें सूती सर्पिणी बडे बडे श्वास लेकर सूधी सरल होय जाय ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ तापीछैं बिलेमें प्रवेश कर जाय सर्पिणी ताकीसीनाई कूंडलिनी सुषुम्नामें प्रवेश कर जाय ता कारणतें योगाभ्यासीनकरकें मूलबंध दिनदिन प्रति सर्वकालेमें करनो योग्य हे ॥ ६९ ॥

अब जालंधर बंध कहें हैं ॥ **कंठमिति** ॥ कंठकूं नीचो नमाय हृदयके च्यार अंगुल अंतरये ढोढी यत्न कर दृढ स्थिर स्थापन करे ये जालंधर नाम बंध हे ये कैसो हे वृद्धावस्था और मृत्यु इनकूं नाश करे हे ॥ ७० ॥

मू० बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ॥
ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥
जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥
कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेदृढम् ॥

॥ टीका ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह ॥ बध्नातीति ॥ हि यस्माच्छिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति । अधो गंतुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति । ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बंधः जालं दशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । कीदृशः कंठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

जालंधरगुणानाह ॥ जालंधर इति ॥ कंठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोच आकुंचनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कंठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बंधे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति । वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यंतरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनेति ॥ दृढं गाढं कंठसंकोचनेनैव कंठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिंगले स्तंभयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कंठस्थाने स्थितं

॥ भाषा ॥

अब जालंधर पदको अर्थ कहें हें ॥ बध्नातीति ॥ नाडीनको जाल जो समूह ताय बांधे और नीचेकूं गमन करे एसो कपालको कुहर जो छिद्र ताको जल जो अमृत ताय बांधे तातें ये जालंधरबंध हे जलनको समूह होय ताकूं जाल कहें हें जाल जो नशनको जाल ताय धारन करे यातें जालंधर कहे हे ये जालंधर बंध कंठमें जो दुःखनको समूह विकारमात्र कंठके ताकूं नाश करे हे ॥ ७१ ॥

अब जालंधरके गुण कहे हें ॥ जालंधर इति ॥ कंठके नीचै नमानो येही स्वरूप जाको एसो जालंधर बंध करे तब ऊपरसुं अमृत जाठराग्निमें नही पडे तब प्राणवायु नाडीके भीतर गमन कर प्रकोप नही करे ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनेति ॥ दृढ कंठके संकोचनमात्रकरकें दोनो नाडी इडा पिंगला तिनै स्तंभन करे ये जालंधर बंध हे कंठस्थानमें स्थित विशुद्ध नाम चक्र हें सोमध्यम चक्र जाननो

मू० मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् ॥ ७३ ॥
मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् ॥
इडां च पिंगलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ७४ ॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ॥
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

॥ टीका ॥

विशुद्धाख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयं । कीदृशं षोडशाधारबंधनं षोडशसंख्याका ये आधारा अंगुष्ठाधारादिब्रह्मरंध्रांतास्तेषां बंधनं बंधनकारकम् । 'अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिंगनाभयः । हृद्ग्रीवा कंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा ॥ भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ॥' तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धांतादवगंतव्यः ॥ ७३ ॥

उक्तस्य बंधत्रयस्योपयोगमाह ॥ मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुंच्य सम्यगाकुंच्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बंधं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । इडां पिंगलां गंगां यमुनां च बध्वा । जालंधरबंधेनेत्यर्थः । कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेदि' त्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्नामार्गे वाहयेद्गमयेत्प्राणमिति शेषः ॥ ७४ ॥

अनेनेति ॥ अनेनैवोक्तेनैव विधानेनैव पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति । गत्यभावपूर्वकं रंध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयान्मृत्युर्जरारोगादिकम् ।

॥ भाषा ॥

योग्य हे केसो हें चक्र षोडश संख्या जिनकी एसे आधार अंगुष्ठकूं आदिले ब्रह्मरंध्र तक सोले हे सोलेनकूं गिनावे हे अंगुष्ठ गुल्फ जानू ऊरू सीवनी लिंग नाभि हृदय ग्रीवा कंठदेश लंबिका नासिका भ्रूमध्य ललाट मूर्धा ब्रह्मरंध्र ये सोले आधार योगीनमें श्रेष्ठ तिनकरकें कही है. इन आधारमें धारणाको फलविशेष हें सो गोरक्षसिद्धांततें जान लेनो ॥ ७३ ॥

मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानकूं नाभिको पश्चिमतानरूप उड्डियान बंध करे और जालंधर बंध कर इडा पिंगलाकूं बांधकरके अर्थात् कंठ नमाय दोनो नाडीनकूं स्तंभन करे फिर पश्चिममार्ग जो सुषुम्नामार्ग तामें प्राणवायुकूं प्राप्त करे ॥ ७४ ॥

अनेनेति ॥ या विधानकरकें प्राणवायु स्थिर होय जाय अर्थात् वायुकी गति बंध होय

मू० बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ॥
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥
यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ॥
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥ ७७ ॥

॥ टीका ॥

तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततंद्रालस्यादि ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

बंधत्रयमिति ॥ इदं पूर्वोक्तं बंधत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबंधेऽतिप्रशस्तं महासिद्धैर्मत्स्येंद्रादिभिश्चकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिः सेवितं सर्वेषां हठतंत्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानंति ॥ ७६ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्घातत्वेन पिंडस्य जराकरणं तावदाह ॥ **यत्किंचिदिति** ॥ दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्माद्दिव्यरूपिणश्चंद्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यत्किंचिद्यत्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति तत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति । तदुक्तं गोरक्षनाथेन । 'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमाः ॥ वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः । करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ॥' इति । तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रसनेन पिंडो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

॥ भाषा ॥

रंध्रमें स्थिति रहें ताकूं प्राणलय होनो कहें हें ता प्राणके लयतें मृत्यु जरा रोग देहकी त्रिवली श्वेत वाल होनो मूर्छा आलस्यादिक ये नहीं होंय ॥ ७५ ॥

बंधत्रयमिति ॥ ये पहलें कह्या ए जो तीन बंध सो श्रेष्ठ हें मत्स्येंद्रादिक महासिद्धनकर वसिष्ठादिक मुनीनकरकें सेवन करे गये. और संपूर्ण हठके उपायनकी सिद्धीकूं प्रगट करवेवाले हें. या प्रकार गोरक्षकूं आदि लेकें जे सिद्ध हें ते जाने हे ॥ ७६ ॥

यत्किंचिदिति ॥ तालूके मूलमें स्थित दिव्यरूप जाको एसो चंद्रमा तामेंतें कछूक अमृत स्रवे हे वा अमृतकूं नाभिमें स्थित जो अग्निरूप सूर्य सो ग्रास करे हे ता सूर्यके अमृत ग्रास करेतें ये देह जरा जो वृद्धावस्था ताकर युक्त होय हे ॥ ७७ ॥

मू० तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् ॥
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥
ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ॥
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ॥
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ ८० ॥

॥ टीका ॥

तत्रेति ॥ तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वंच्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति तद्गुरूपदेशतः गुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यं । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

विपरीतकरणीमाह ॥ ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधः अधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यमृतात्मा चंद्रो भवति । प्रथमांतपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधः शशी भवति । यदातदापदयोरध्याहारेणान्वयः । इयं विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणेनान्वर्था गुरूवाक्येन गुरोर्वाक्येनैव लभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥ ७९ ॥

नित्यमिति ॥ नित्यं प्रतिदिनमभ्यासो ऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्यावहितस्य जठ-

॥ भाषा ॥

तत्रेति ॥ या प्रकर्णमें नाभिमें स्थित जो अग्निरूपी सूर्यको मुख वंचाय जानो जाकरकें एसो दिव्य उत्तम जो करण मुद्रा अगाडी कहेंगे जो विपरीतकरणी मुद्रा हे सो गुरूनके उपदेशतें जानवेकूं योग्य हे. ओर कोटिन शास्त्रनके अर्थनकर नही जानवेकूं समर्थ हे ॥ ७८ ॥

अब विपरीतकरणी मुद्रा कहें हें ॥ ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ उपरि भागमें नाभि जाके और अधोभागमें तालुस्थान जाके एसे योगीके उपरि भागमें दहनरूप सूर्य होय हे और अधोभागमें अमृतरूपी चंद्रमा होय हें ये विपरीत नाम करणी हे ऊपर चंद्रमा नीचें सूर्य ताको ऊपर सूर्य नीचें चंद्रमा करनो ये गुरूनके वाक्यकरकें प्राप्त होय हे और प्रकार नहीं होय ॥ ७९ ॥

नित्यमिति ॥ याको नित्य अभ्यास करे ताकी जाठराग्निकूं वृद्धी करवेवाली विप-

मू० अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ८१ ॥
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ८२ ॥

॥ टीका ॥

राग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणम् । तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनं बहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । चः पादपूरणे ॥ ८० ॥

अल्पाहार इति ॥ यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्दहेत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वाधः स्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणक्रियामाह ॥ अधःशिरा इति ॥ अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यंताभ्यां बाहुभ्यां स्कंधाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यंतरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

क्षणादिति ॥ दिनेदिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणं एकदिनवृद्ध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात् ॥ विपरीतकरणीगुणानाह ॥ वलितमिति ॥ वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च । षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्व-

॥ भाषा ॥

रीतकरणी है विपरीतकरणीके अभ्यास करवेवालेकूं भोजन बोहोत इच्छापूर्वक करनो योग्य हे ॥ ८० ॥

अल्पाहार इति ॥ जो विपरीतकरणी करवेवालो थोडो भोजन करे तो प्रज्वलित हुई जाठराग्नि देहकूं शीघ्र जलाय दे अब क्रिया कहे हें पृथ्वीमें मस्तक धरकरकें दोनो भुजा कटिमें प्रवेशकरकें ऊपर अंतरिक्षमें पामकरकें स्थित होय आरंभके प्रथम दिनतो क्षणमात्र रहे ॥ ८१ ॥

क्षणादिति ॥ फिर दिनदिन प्रतिक्षणतें कछू अधिक दूसरे दिन दो क्षण तीसरे दिन तीन क्षण एसें दिनवृद्धीकर अभ्यास करे अब विपरीतकरणीके गुण कहें हें याके करवेवालेके देहमें वली चर्ममें पडजाय सो और श्वेतकेश छे महीना पीछे नहीं दीखें जो

अथ वज्रोली ॥

मू० स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ८३ ॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

॥ टीका ॥

मुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते । साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः ॥ यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत् । एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्वमपि सूचितम् । तदुक्तं विष्णुधर्मे । 'स्वदेहारंभकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः । यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षण' मिति । विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम् । यथा प्रारब्धकर्मतत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः । अत एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यत इति। भागवतेऽप्युक्तं। 'देहं जह्यात्समाधिने'ति॥८२॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह ॥ स्वेच्छयेति ॥ योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह॥तत्रेति ॥ तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं वस्तुद्वयं

॥ भाषा ॥

विपरीतकरणी एसें अभ्यास करत करत एक प्रहर मात्रकरकें लग जाय तब वो योगी मृत्युकों जीतवेवारो होय जाय. याकरकें ये दिखायो योग प्रारब्धकर्मकूं दूर करे हे. जैसें प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानतें प्रबल हे तेसेंही ता प्रारब्धकर्मतें योगाभ्यास प्रबल हे. उद्दालक और वीतहव्यादिक योगीनकूं स्वेच्छाकरकें देह त्याग कह्यो हे. यातें योग श्रेष्ठ हे ॥८२॥

अब वज्रोलीके आदिमें याको फल कहे हें ॥ स्वच्छयेति ॥ जो योगाभ्यासी वज्रोली मुद्राकूं विशेषकर अपने अनुभव करकें जाने सो योगी योगशास्त्रमें कहे जे ब्रह्मचर्यादिक करे विना अपनी इच्छाकरकें वर्तमान रहे अणिमादिक अष्टसिद्धीनके भोगवेवारो होय ॥ ८३ ॥

तत्रेति ॥ वज्रोलीके अभ्यासमें दोय वस्तु कहें हें जा काउ निर्धन पुरुषकूं दुर्लभ हें

मू० मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ॥
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥
यत्नतः शस्तनालेन फुत्कारं वज्रकंदरे ॥
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

॥ टीका ॥

वक्ष्ये कथयिष्ये । कीदृशं वस्तुद्वयं यस्यकस्यचित् यस्यकस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा । 'दुःस्यात्कष्टनिषेधयोरि' ति कोशात् ॥ किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह ॥ क्षीरमिति ॥ एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानंतरमिंद्रियनैर्बल्यात्तद्बलार्थं क्षीरपानम् युक्तम् । केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः । तस्यांतर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तं । द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह ॥ मेहनेनेति ॥ मेहनेन स्त्रीसंगानंतरं बिंदोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथवा नार्यपि योषिदपि शनैर्मंदं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुंचनमूर्ध्वमुपर्याकुंचनं मेढ्राकुंचनेन बिंदोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुयात्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वांगप्रक्रियामाह॥ यत्नत इति॥ शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मंदंमंदं यथाग्नेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेढ्रविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुनः पुनः कुर्वीत । अथ वज्रोलीसाधनप्र-

॥ भाषा ॥

एक तो दूध पीवेके अर्थ स्त्री संगके पीछै इंद्रिय निर्बल होय जाय हे याते दूधपान करनो योग हे द्वितीय वस्तु अपनै आज्ञाकारी वशवर्तिनी स्त्री ॥ ८४ ॥

अब वज्रोली मुद्राको प्रकार कहें हें ॥ मेहनेनेति ॥ स्त्रीसंगके पीछै बिंदुको क्षरण कहा पडनो ताकूं पुरुष अथवा स्त्रीबी यत्नपूर्वक इंद्रीकूं ऊपर आकुंचनकरके वीर्यकूं ऊपरि खेंच लेवेको अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्राकी सिद्धी प्राप्त होय ॥ ८५ ॥

अब वज्रोली मुद्राकी पूर्वांग क्रिया कहें हे ॥ यत्नत इति ॥ चांदीकी बनी हुई नाल शनै शनै जेसें अग्नीके सिलगायवेकूं फूंक मारे तेसोही फूत्कार इंद्रीके छिद्रमें वायूको संचार वारंवार करे । अब वज्रोलीकी साधनप्रक्रिया कहें हे. सीसेकी बनी होय सचिक्कण होय इंद्रीमें प्रवेशके योग्य होय ऐसी चोधे अंगुलकी शलाका कराय-

मू॰ नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ॥
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

॥ टीका ॥

क्रिया । सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशांगुलमात्रां शलाकां कारयित्वा तस्या मेढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यंगुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यंगुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशांगुलमात्रप्रवेशे मेढ्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशांगुलमात्रां द्व्यंगुलमात्रवक्रामूर्ध्वमुखीं कारयित्वा तां द्वादशांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यंगुलमात्रं बहिः स्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनीभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेढ्रप्रवेशितद्वादशांगुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यंगुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति । ततो जलस्य मेढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत् । जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिंदोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसे । बिंद्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः । इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्य । खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यक् भवति ॥ ८६ ॥

एवंवज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह॥नारीभग इति॥ नारीभगे स्त्रीयो-

॥ भाषा ॥

करकें ताकूं इंद्रीमें प्रवेश करवेको अभ्यास करे पहिले दिन एक अंगुल प्रवेश करे दूसरे दिन दो अंगुल प्रवेश करे तीसरे दिन तीन अंगुल प्रवेश करे या रीतकर क्रमसूं बारे अंगुल मात्रा प्रवेश होय तब इंद्रियमार्ग शुद्ध होय वो चोघे अंगुलकी शलाका तामें दोय अंगुल टेढी ओर ऊंचो मुख जाको एसी करायले फिर वो द्वादश अंगुल भीतर प्रवेश करे और टेढी ऊंचो मुख जाको वो दो अंगुल बहार स्थापन करे ता पीछें सुनारकी अग्नी सिलगायवेकी नाल ताकीसदृश नाल ग्रहणकरकें ता नालको अग्रभाग इंद्रीमें प्रतेश कियो जो द्वादशांगुलकी नाल ताको टेढी ऊंचे मुखकी बहार स्थित दो अंगुलकी नाल ताके मध्यमें प्रवेश करके फिर फूत्कार करे ताकरकें भलि प्रकार इंद्रियमार्ग शुद्ध होय. तापीछै इंद्रीसूं जलको उपर चढायवेको अभ्यास करे जब जलको आकर्षण होयवे लगजाय अछी तरहसूं तब पहले श्लोकमें कही जो रीती ताकरकें वीर्यके आकर्षणको अभ्यास करे जब वीर्यको आकर्षण खेंच लेनो सिद्ध होय जाय तब वज्रोली मुद्रा सिद्ध होय है. जाके खेचरी मुद्रा ओर प्राणजय ये दोनो सिद्धी जाकूं होंय ताकूं वज्रोली मुद्रा सिद्ध होय औरकूं नहीं होय ॥ ८६ ॥

एसें वज्रोली मुद्राको अभ्यास सिद्ध होय जाय ताके अगाडीको साधन कहें हें ॥ नारी-

मू० एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥
मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥ ८८ ॥
सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ॥
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ८९ ॥

॥ टीका ॥

नौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिंदुश्च पतद्बिंदुस्तं पतद्बिंदुं रतिकाले पतंतं बिंदुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत् । पतनात्पूर्वमेव । यदि पतनात्पूर्वं बिंदोराकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदित्याह ॥ चलितं चेति ॥ चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिंदुं चकारात्तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत्॥८७॥

वज्रोलीगुणानाह ॥ एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या बिंदुं यः संरक्षयेत् सम्यक् रक्षयेत् स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं जयत्यभिभवति । यतो बिंदोः शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति । बिंदोर्धारणं बिंदुधारणं तस्माद्बिंदुधारणाज्जीवनं भवति । तस्माद्बिंदुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

सुगंध इति ॥ योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे बिंदोः शुक्रस्य धारणं बिंदुधारणं तस्मात्सुगंधः शोभनो गंधो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद्बिंदुः स्थिरस्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

॥ भाषा ॥

भगे इति ॥ रतिकालमें स्त्रीकी योनिमें जानें पड्यो और पडे नही जा पहलें जो बिंदु नाम वीर्य ताय वज्रोलीके अभ्यासकरकें ऊपरि आकर्षण करे जो पडे पहलें बिंदुको आकर्षण न होय तो नारीके भगमें गिरपड्यो जो अपनो बिंदु ताय और स्त्रीको जो रज ताकूंबी ऊपर खेंचकर स्थापन करे ॥ ८७ ॥

अब वज्रोलीके गुण कहें हें ॥ एवमिति ॥ या रीतकर जो बिंदुकूं स्थिर करे सो योगवेत्ता होय हे. और वो मृत्युकूं जय करे. और बिंदुजो वीर्य ताके पतनकरकें तो मरण होय हे. और जो वीर्यकूं यारीतसूं धारण करे तातें जीवन होय हे. तातें बिंदुकूं या रीतकर स्थित करे ॥ ८८ ॥

सुगंध इति ॥ वज्रोलीके अभ्यास करवेवालेके देहमें वीर्यके धारणतें बोहोत सुंदर सुगंध प्रगट होय हे. और जबतांई बिंदु स्थिर रहे तबतांई कालको भय नहीं होय ॥८९॥

मू० चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदुं च रक्षयेत् ॥
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥
सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ॥
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

॥ टीका ॥

चित्तायत्तमिति ॥ हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनं जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणं शुक्राधीनं तस्माच्छुक्रं बिंदुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं रक्षणीयमित्यर्थः । एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या इति ॥ एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं बिंदुं च रक्षयेत् । पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति ॥ मेढ्रेणेति ॥ अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेढ्रेण गुह्येंद्रियेण सम्यग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् । रजो बिंदुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः क्षिप्तः ॥ ९१ ॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह ॥ सहजोलिश्चेति ॥ वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च । तत्र हेतुः एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः । एकशब्दाद्भावप्रधानात्पंचम्यास्तसिः । सहजोलिमाह ॥ जलेष्विति ॥ गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव

॥ भाषा ॥

चित्तायत्तमिति ॥ निश्चय ही जो चित्त चलायमान होय तो मनुष्यनको वीर्य चलजाय. और जो चित्त स्थिर होय तो वीर्यबी स्थिर होय. चित्तके आधीन वीर्य हे. और शुक्र जो स्थिर होय तो जीवन स्थिर होय. जो शुक्र नष्ट होय जाय तो मरण होय. तों शुक्राधीन जीवन हे. तातें शुक्र और बिंदु इने यत्नतें अवश्य रक्षा करनो योग्य हे ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या इति ॥ ऋतुमती स्त्रीको रज और अपनो बिंदु ताय यारीतसूं स्थिर करे इंद्रीकरकें यत्नपूर्वक रज और बिंदुकूं ऊपर आकर्षण करे सो वज्रोलीके अभ्यासयोगवेत्ता जाननो ॥ ९१ ॥

अब सहजोलि अमरोली कहें हें ॥ सहजोलिश्चेति ॥ वज्रोलीके भेदविशेष सह-

मू० वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम् ॥
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३ ॥
सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ९४ ॥
अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥ ९५ ॥

॥ टीका ॥

उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वोत्तर उत्तर श्लोकेनान्वेति ॥ ९२ ॥

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनंतरं सुखेनैवानंदेनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं शोभनान्यंगानि स्वांगानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कंधभुजादीनि तेषु लेपनम् ॥ ९३ ॥

सहजोलिरिति ॥ इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिः । कीदृशी सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोल्याख्यो योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः । 'योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' त्यभिधानात् । कीदृशो योगः भोगेनः युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

अयं योग इति ॥ अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवंतः सुकृतिनस्तेषां-

॥ भाषा ॥

जोली अमरोली हे. क्यों जो वज्रोलीके फल सोई इनके फल हें यातें और गोबर जलाय वाकी भस्म श्वेत होय हे. सुंदर होय हे. यातें वा भस्मकूं जल मिलायकरकें ॥ ९२ ॥

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीके अर्थ मैथुनकरे पीछै आनंदपूर्वक बेठे क्षणमात्र रतिके उत्सवतें त्याग कीनी हे रतिक्रिया जिनने एसे जो स्त्रीपुरुष तिनकूं सुंदर अंग जो मस्तक ललाट नेत्र हृदय स्कंध भुजादिकनमें लेपन करनो योग्य हे ॥ ९३ ॥

सहजोलिरिति ॥ मत्स्येंद्रादिक योगीनकरकें ये क्रिया सहजोली नाम कही हे यै श्रद्धा करवेके योग्य हे. और शुभकों करे हे. और जो स्त्रीसंगकरकें युक्त हे तोबी ये योग मोक्षको देवेवारो हे ॥ ९४ ॥

अयं योग इति ॥ ये योग पुण्यवाननकूं धैर्यवाननकूं तत्त्वदर्शीनकूं दूसरेके गुण दोष-

अथामरोली ॥

मू० पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा ॥
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ९६
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने ॥
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥

॥ टीका ॥

पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यंतीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां मत्सरान्निष्क्रांता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेषरहितानाम् । 'मत्सरोऽन्यगुणद्वेषः' इत्यमरः । तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत् । मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत् ॥ ९५ ॥

अमरोलीमाह ॥ पित्तोल्बणत्वादिति ॥ पित्तेनोल्बणोत्कटा पित्तोल्बणा तस्या भावः पित्तोल्बणत्वं तस्मात् । यथा प्रथमा पूर्वा यांऽबुनः शिवांबुनो धारा तां विहाय शिवांबुनिर्गमनसमये किंचित्पूर्वां धारां त्यक्त्वा । निर्गतः सारो यस्याः सा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निःसारत्वेनांत्यधारा अंत्या चरमा या धारा तां विहाय किंचिदंत्यां धारां त्यक्त्वा । शीतला पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते । खंडो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खंडमतस्तस्मिन् खंडमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापालिके खंडकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः । अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥ ९६ ॥

अमरोलीमिति ॥ अमरीं शिवांबु यः पुमान् नित्यं पिबेत् । नस्यं कुर्वन् श्वासे-

॥ भाषा ॥

कर रहित होय तिनकूं सिद्ध होय हे और दूसरेके गुण ऐश्वर्यादिककूं देखकर द्वेषादिक करे ओर जरोकरें तिनकूं नही होय ॥ ९९ ॥

अब अमरोली कहें हें ॥ पित्तोल्बणत्वादिति ॥ शिवांबुके निर्गमन समयमें पित्त करकें उत्कटभाव जाको एसी जो प्रथम धारा किंचित् उष्णता जामें ताय त्यागकरकें फिर नही हें सार जामें एसी अंत्यधारा ताय त्यागकरकें फिर शीतल पित्तादिक दोषकरकें रहित जो मध्यधारा सो निरंतर सेवन करै. योग हे अभिमत जाके एसी जो कापालिका क्रिया सोही अमरोली या नामकर प्रसिद्ध है ॥ ९६ ॥

अमरोलीमिति ॥ जो पुरुष अमरी जो अमरवारुणी ताकूं नासिकाके अंतमें ग्रहण

मू० अभ्यासान्निःसृतां चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥
पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ ९९ ॥

॥ टीका ॥

नामर्या घ्राणांतर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिनेदिने प्रतिदिनं वज्रोलीं 'मेहनेन शनैरि' ति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीति कथ्यते । कापालिकैरिति शेषः । अमरीपातामरी । नस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

अभ्यासादिति ॥ अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चांद्रीं चंद्रस्येयं चांद्री तां चांद्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयोजयेत् । उत्तमांगेषु-शिरःकपालनेत्रस्कंधकंठहृदयभुजादिषु धारयेत् । भस्ममिश्रितां चांद्रीमिति शेषः । दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते । अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवांबुकल्पादवगंतव्याः ॥ ९८ ॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह ॥ पुंसो बिंदुमिति॥ सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य बिंदुं वीर्यं समाकुंच्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत् । सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया । पुंसो बिंदुसमायुक्तमिति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम्॥९९॥

॥ भाषा ॥

करत अमरीकूं पान करे और दिन दिन प्रति वज्रोलीकूं अभ्यास करे सो कापालिककी अमरोली कही हैं ॥ ९७ ॥

अभ्यासादिति ॥ अमरोलीके अभ्यासतें निकसी चंद्रमाकी सुधा ताय पहली कही जो भस्म तामें मिलायकरकें उत्तम अंग जो मस्तक नेत्र स्कंध हृदय भुजादिकनमें धारण करे तो भूत भविष्य वर्तमान देखवेके योग्य दृष्टि जाकी एसो दिव्यदृष्टि होय जाय ॥९८॥

अब पुरुषकूं वज्रोली साधन कहकरकें अब स्त्रीकूं वज्रोली साधन कहे हैं ॥ पुंसो बिंदुमिति ॥ जो स्त्री अभ्यासकी चातुर्यतातें पुरुषके बिंदुकूं खेंचकरकें अपने रजकूं वज्रोली मुद्राकरकें रक्षा करे वा स्त्रीकूं योगिनी नाम योग हे विद्यमान जाके एसी योगवती माननो ॥ ९९ ॥

मू० तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ॥
तस्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥ १०० ॥
स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ॥
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह ॥ तस्या इति॥ तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र संशयो न संदेहो न । तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि बिंदुभावं गच्छति । बिंदुना सहैकीभवतीत्यर्थः । अमृतसिद्धौ । ' बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम् । अनयोर्बाह्ययोगेनः सृष्टिः संजायते नृणाम् ॥ यदाभ्यंतरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते । बिंदुश्चंद्रमयः प्रोक्तो रजः सूर्यमयं तथा ॥ अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिंदुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा ॥ तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठंते सूक्ष्मरूपतः ' ॥ इति ॥ १०० ॥

स बिंदुरिति ॥ स पुंसो बिंदुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥ १ ॥

॥ भाषा ॥

स्त्रीकरकें करीगई जो वज्रोली ताको फल कहें हें ॥ तस्या इति ॥ वज्रोलीके अभ्यासमें शील स्वभाव जाको ता स्त्रीको रज कछूबी अल्पबी नष्ट पतन नही होय. यामें संदेह नही. ता स्त्रीके शरीरमें नाद बिंदुभावकूं प्राप्त होय जाय. मूलाधारतें उठ्यो जो नाद सो हृदयके उपरि बिंदुकरकें साहित ऐक्य होय हे. पुरुषको बीज और स्त्रीको रज इनको बाहार योग होय ताकरकें तो मनुष्यनकै सृष्टि होय हे. और जब अभ्याससूं भीतर रज बिंदुको योग होय तब वाकूं योगी कहें हें. और बिंदु तो चंद्रमय हे. और रज सूर्यमय हे. इनके संगमतें परम पद होय हे. ये बिंदुसंगम स्वर्ग मोक्ष धर्म इनको देवेवारो हे तेसेंही सूक्ष्मरूपकरकें बिंदु रजके संगममें समग्र देवता स्थित रहें हें ॥ १०० ॥

स बिंदुरिति ॥ पुरुषको बिंदु और स्त्रीको रज ये दोनो वज्रोलीके अभ्यासतें मिलकरकें अपने देहमें प्राप्त होंय तो सर्व सिद्धी देवे हें ॥ १ ॥

मू० रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेध्रुवम् ॥ २ ॥
देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भूक्तेऽपि मुक्तिदः ॥ ३ ॥

अथ शक्तिचालनम् ॥

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ॥
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ ४ ॥

॥ टीका ॥

रक्षेदिति ॥ या नार्याकुंचनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरिस्थाने नीत्वा रजो रक्षेत्। हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्य च वस्तु वेत्ति जानाति । ध्रुवमिति निश्चीतं । खेंऽतरिक्षे चरतीति खेचर्यंतरिक्षचरी भवेत् ॥ २ ॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभंते । अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः । कीदृशो योगः भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ३ ॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्घाततया कुंडलीपर्यायान् तया मोक्षद्वारविभेदनादिकं चाह सप्तभिः ॥ कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १ कुंडलिनी २ भुजंगी ३ शक्तिः ४ ईश्वरी ५ कुंडली ६ अरुंधती ७ चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः ॥ ४ ॥

॥ भाषा ॥

रक्षेदिति ॥ जो स्त्री योनिकूं संकोचन करेतें उपरि स्थानमें लेजायकर रजकी रक्षाकरे योगशास्त्रमें वाकूं योगिनी कहें हें. और वो स्त्री भूत भविष्य वस्तुकूं जाने हे. निश्चय ही और ख जो अंतरिक्ष तामें विचरे एसी नाम वैमानिक गतीकूं प्राप्त होनेवारी होय ॥२॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोलीके अभ्यासकी युक्तीतें देहकी सिद्धी कोनसी रूप लावण्य बल वज्रकासो संहननभाव ताय प्राप्त होय ये वज्रोली अभ्यासरूपी योग सो पुण्यको करवेवालो हे फिर कैसो हे योग विषयभोग भोगे हें तोवी ये मोक्षको देवेवारो हे ॥ ३ ॥

अब शक्तिचालन कहें हें ॥ कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १ कुंडलिनी २ भुजंगी ३ शक्तिः ४ ईश्वरी ५ कुंडली ६ अरुंधती ७ ये सात शब्द एक अर्थके वाचक हे ॥ ४ ॥

मू० उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ ५ ॥
येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ६ ॥
कंदोर्ध्वे कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

उद्घाटयेदिति ॥ यथा येन प्रकारेण पुमान् कुंचिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्बलात्कपाटमररमुद्घाटयेदुत्सारयेत् । हठादिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्र संबध्यते । तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुंडलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्नामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत् । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेती' ति श्रुतेः ॥ ५ ॥

येनेति ॥ आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरंध्रं । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । येन मार्गेण सुषुम्नामार्गेण गंतव्यं गमनार्हमस्ति तद्द्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुध्वा परमेश्वरी कुंडलिनी । प्रसुप्ता निद्रितास्ति ॥ ६ ॥

कंदोर्ध्वमिति ॥ कुंडली शक्तिः कंदोर्ध्वे कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता मूढानां बंधनाय सुप्ता । योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवंति । मूढास्तदज्ञानाद्बद्धास्तिष्ठंतीति भावः । तां कुंडलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतंत्राणां कुंडल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

॥ भाषा ॥

उद्घाटयेदिति ॥ जा प्रकारकर पुरुष बलतें कूंचीकरकें किवाड खोले हे तेसें ही योगी हठाभ्यासतें कुंडलिनी शक्तिकरकें मोक्षको द्वार सुषुम्नामार्ग ताय भेदन करे ॥ ५ ॥

येनेति ॥ दुःखमात्रकरकें रहित जो ब्रह्मरंध्र सो जा सुषुम्नाके मार्गकरकें जायवेकूं योग्य ता मार्गको द्वार कुंडलिनीको प्रवेश करवेको मार्ग हे ता मार्गके द्वारकूं अपने मुखकर रोककरकें परमेश्वरी कुंडलिनी सूती हुई स्थित हे ॥ ६ ॥

कंदोर्ध्वे इति ॥ कुंडली शक्ति कंदके उपरिभागमें योगीनके मोक्षके अर्थ सूती और

मू० कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥
सा शक्तिश्चालिता येन स युक्तो नात्र संशयः ॥ ८ ॥
गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ॥
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥
इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥ ११० ॥

॥ टीका ॥

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्तिः सर्पवद्भुजगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुंडली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबंधान्निवृत्तः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेती'ति श्रुतेः ॥ ८ ॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्गंगायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गंगायमुने इडापिंगले तयोर्मध्ये सुषुम्नामार्गे तपस्विनी निरशनस्थितेः। बालरंडां बालरंडाशब्दवाच्यां कुंडलीं बलात्कारेण हठेण गृह्णीयात् । तत्तस्या गंगायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम् ॥ ९ ॥

गंगायमुनादिपदार्थमाह ॥ **इडेति** ॥ इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गंगा गंगापदवाच्या पिंगला दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या

॥ भाषा ॥

मूढनके बंधनके अर्थ सूती हे योगी वा कुंडलिनीकूं चलायकरकें मुक्त होय हें और मूढ पुरुष कुंडलिनीकूं जाने नहीं तातें बंधनमें स्थित रहें हें ता कुंडलिनीकूं जो जाने हे सो योगवेत्ता जाननो. क्यों संपूर्ण योगतंत्रनकूं कुंडलीको आश्रयपनो हे ॥ ७ ॥

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्ति सर्पकीसीनाई कुटिल हे आकार स्वरूप जाको एसी योगीनकरकें कही हे कुंडली जा पुरुषने चलायमान करी अर्थात् मुलाधारतें ऊपर प्राप्तकीनी सो मुक्त कहीये हे यामें संदेह नही ॥ ८ ॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगा यमुना जो इडा पिंगला इनके मध्यमें सुषुम्ना हे सो केसी हे तपस्विनी हे और बालरंडा हे सो ये बलात्कारकरकें कुंडलीकूं ग्रहण करे हे और विष्णु जो हरि व्यापक आत्मा ताको परमपद ताय प्राप्तकी करवेवाली ॥ ९ ॥

गंगायमुना यापदको अर्थ बतावते है. ॥इडेति॥ इडा जो वामश्वासा नाडी भगवती कहा

मू० पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ॥
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ ११ ॥
अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्॥
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया १२
ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥

॥ टीका ॥

नदी । इडापिंगलयोर्मध्ये मध्यगता या कुंडली सा बालरंडा बालरंडाशब्द-वाच्या ॥ ११० ॥

शक्तिचालनमाह ॥ पुच्छे इति ॥ सुप्तां निद्रितां भुजगीं तां कुंडलिनीं पुच्छे प्रगृहीत्वोद्बोधयेत्प्रबोधयेत्सा शक्तिः कुंडली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वं तिष्ठत इत्यन्वयः। एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगंतव्यम् ॥ ११ ॥

अवस्थिता इति ॥ अवस्थितार्वाक् स्थिता मूलाधारस्थिता फणावती भुजंगी सा कुंडलिनी सूर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्धमेव प्रहरार्धमात्रं मुहूर्तद्वयमात्रं परिचालनीया परितश्चाल-यितुं योग्या । परिधानयुक्तिर्देशिकाद्बोध्या ॥ १२ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाह ॥ ऊर्ध्वमिति॥

॥ भाषा ॥

ऐश्वर्यादिकनकर संपन्न हे वाकूं गंगा कहे हैं और पिंगला जो दक्षिणश्वासा ताकूं यमुना कहें हैं और इडा पिंगलाके जो मध्यमें हे कुंडली सो बालरंडा हे ॥ ११० ॥

अब शक्तिचालन कहें हे ॥ पुच्छे इति ॥ सूती जो भुजंगी कोन कुंडलिनी ताय पूंछ पकडकर बोध करावे फिर वो कुंडलिनी निद्रा छोडकर हठतें ऊपर स्थिर रहे हे ये रहस्य गुरुमुखतें जानना योग्य हे ॥ ११ ॥

अवस्थिता इति ॥ मूलाधारमें स्थित फल हें विद्यमान जाके भुजंगी सोई कुंडली सू-र्यतें पूरणकरकें फिर परिधान युक्ती कर ग्रहणकरकें सूर्यास्तसमयमें और सूर्योदयवेलामें नित्य प्रतिप्रहरको अर्धमात्र च्यार घडीमात्र च्यारोंमेर चलायवेकूं योग्य हे परिधानयुक्ति गुरुमुखतें जानना योग्य हे ॥ १२ ॥

कंदकूं पीडनकरकें शक्तिचालन कह्यो चांय हें सो आदौ कहिये प्रथम कंदको स्थान

मू० मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ १३ ॥
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेदृढम् ॥
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥ १४ ॥
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ॥

॥ टीका ॥

मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरि नाभिमेढ्रयोर्मध्ये । एतेन कंदस्य स्थानमुक्तं । तथाचोक्तं गोरक्षशतके । "ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत् । तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिरि"ति । याज्ञवल्क्यः । "गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः । देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानामितीरितम् । कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलम् । चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम् । अंडाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः । चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगमि"ति । गुदाद्व्यंगुलोपर्येकांगुलं मध्यं तस्मान्नवांगुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशांगुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम् । चतुर्णामंगुलीनां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलप्रमाणं विस्तारम् । विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणम् । चतुरंगुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदंबरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम् । कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ १३ ॥

सतीति ॥ वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रंथी तयोर्देशौ प्रदेशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । 'तद्ग्रंथी घुटिके गुल्फावि'त्यमरः । पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात् । चकाराद्धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत् । गुल्फादूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥ १४ ॥

वज्रासन इति ॥ वज्रासने स्थितो योगी कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां

॥ भाषा ॥

स्वरूप ताय कहे हे ॥ ऊर्ध्वमिति ॥ मूलस्थानतें वितस्तिमात्र प्रमाण ऊपरि नाभि और मेढ्र इनके मध्यमें कंदको स्थान हे मनुष्यनके देहके मध्यमें नवांगुल कंदस्थान हे च्यार अंगुल चोडो पक्षीके अंडाकोसो आकार और कोमल हे श्वेत हे वेष्टनकरकें वस्त्राकोसो हे स्वरूप जाको ऐसो योगीनकरकें कंदस्वरूप कह्यो हे ॥ १३ ॥

सतीति ॥ वज्रासनकरकें हस्तसूं एढीनके ऊपर टकनानमें पाम पकडकरकें नाभिके नीचें कंदकूं पीडायमान करे ॥ १४ ॥

वज्रासन इति ॥ वज्रासनमें स्थित जो योगी कुंडलीनीकूं चलायमानकरकें अर्थात्

मू० कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ १५ ॥
भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः ॥
मृत्युवक्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ १६ ॥
मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ १७ ॥
तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम् ॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

कृत्वेत्यर्थः । अनंतरं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात् । एवंरीत्या कुंडलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात् । वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥ १५ ॥

भानोरिति ॥ भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुंचनं कुर्यात् । नाभेराकुंचनेनैव तस्याकुंचनं भवति । ततो भानोराकुंचनात्कुंडलीं शक्तिं चालयेत् । एवं यः करोति मृत्योर्वक्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ १६ ॥

मुहूर्तद्वयमिति ॥ मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यंतं तदवधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ १७ ॥

तेनेति ॥ तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुंडली तस्याः प्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेश-

॥ भाषा ॥

शक्तिचालन मुद्राकरकें ताके पीछें भस्त्रा नाम जो कुंभक ताय करे या रीतकर कुंडली शक्तिकूं शीघ्र बोध करावे अर्थात् जगावे ॥ १५ ॥

भानोरिति ॥ नाभिदेशमें स्थित जो सूर्य ताकूं आकुंचन करे नाभिकूं आकुंचनकरकें ही सूर्यको आकुंचन होय हे सूर्यके आकुंचनतें कुंडली शक्तिकूं चलावे तो मृत्युके मुखमें प्राप्त हुयो जो पुरुष ताकूं कालभय नही होय ॥ १६ ॥

मुहूर्तद्वयमिति ॥ च्यार घडीपर्यंत निर्भय होय चालनतें ये शक्ति सुषुम्नामें उठती सती कछुक ऊपरकूं खिचे हे ॥ १७ ॥

तेनेति ॥ ऊपरकूं खिचवेकरकें कुंडलीनी सुषुम्नाको अपनो प्रवेशको मार्ग ताय निश्चय

मू० तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ १९ ॥
येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ २० ॥
ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥ २१ ॥

॥ टीका ॥

मार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति । तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतः स्वयमेव सुषुम्नां व्रजति गच्छति । सुषुम्नामुखात्प्रागेव कुंडलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ १८ ॥

तस्मादिति ॥ यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणः सुषुम्नां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ १९ ॥

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुंडली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति । अत्रास्मिन्नर्थे बहुक्तेन बहुप्रशंसनेन किं । न किमपीत्यर्थः । कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य

॥ भाषा ॥

त्याग करे हे ता मार्गके त्यागतें ये प्राणवायु आपसूं आपही सुषुम्नामें गमन करे हे ॥ १८ ॥

तस्मादिति ॥ तातें सुखकरकें सुती अरुंधती जो कुंडली ताय दिनदिनप्रति नित्य चलावे ता शक्तिके चलायवे मात्रकरकें योगी रोग जो कास श्वास जरादिकनकरकें छुट जाय ॥ १९ ॥

येनेति ॥ जा योगीकरकें शक्ति कुंडली चालन करी जाय वो योगी आणिमादिक सिद्धीनको पात्र होय हे यामें बहोत प्रशंसाकरकें कहा हे कालकूं सहजही जीतले अर्थात् तिरस्कार कर दे ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्येति ॥ श्रोत्रादिक इंद्रीनकरकें सहित उपस्थ इंद्रीको रोकनो तामें तत्पर होय नित्य हित पथ्य करे होय प्रमाणको चतुर्थांशाकर वर्जित एसो भोजन करे कुंडली शक्ती

मू० कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ २२ ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ॥
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥ २३ ॥
इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ॥

॥ टीका ॥

नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुंडल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनंतरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ॥ "नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चंद्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकायास्ततः । छित्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत्" ॥ २१ ॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा । अथानंतरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात् । नित्यं प्रतिदिनं । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यसतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ २२ ॥

द्वासप्ततीति ॥ द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुंडल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः । न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ २३ ॥

इयं त्विति ॥ इयं मध्यमा नाडी सुषुम्ना योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि

॥ भाषा ॥

चालनको अभ्यास सोई हे योग जाके ता एसे योगीकूं चालीस दिनको मंडल ताके अनंतर प्राणायामसिद्धी दीखे हे ॥ २१ ॥

कुंडलीमिति ॥ शक्तिचालनकरकें ता पीछें भस्त्रानाम कुंभक करे नित्य या प्रकारकरकें अभ्यास कर रह्यो जो योगी ताकूं यमराजतें भय नही होय योगीकूं देहत्याग करनो स्वाधीनपनो हे यातें ॥ २२ ॥

द्वासप्ततीति ॥ बहत्तर हज्जार नाडीनको मलशोधन कियो चाहें तो शक्तिचालनके अभ्यास विना मलशोधनको उपाय नही होय. शक्तिचालनके अभ्यासकरकें ही संपूर्ण नाडीनको मलशोधन होय हे ॥ २३ ॥

इयं त्विति ॥ योगिनकूं दृढ अभ्यासकरकें आसन प्राणायाम महामुद्रादिकनकरकें ये

मू० आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ २४ ॥
अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ॥
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ २५ ॥
राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ॥
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ २४ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वांतःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषां । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथवा परान्या उन्मन्यादिका भद्रां शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ २५ ॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह ॥ राजयोगमिति ॥ वृत्त्यंतरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः । ‘ हठं विना राजयोगः ’ इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणः राजयोगादासनं लक्ष्यते । राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धेरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः राजयोगं विना निशेव निशा कुंभको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात् । निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुंभको लक्ष्यते । राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्रापि विविधापि विलक्षणापि वा न राजते न शोभते । पक्षांतरे । राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबंधस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते । शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात् । राजा

॥ भाषा ॥

मध्यमा नाडी सुषुम्ना सरल होय हे ॥ २४ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधि जो एकाग्रकरकें मनकूं अभ्यासमें धारणकरकें गई हे निद्रा आलस्य जिनको तिनकुं रुद्राणी मुद्रा जो कुंडली सो शुभ जो योगसिद्धी ताय देवे हे ॥२५॥

राजयोगमिति ॥ राजयोग विना आसन नही शोभाकूं प्राप्त होय हें और राजयोग विना निशा जो कुंभक सो नही शोभे हे. राजयोग विना चित्रविचित्र मुद्रा नही शोभे हे ॥ २६ ॥

मू० मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ॥
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ २७ ॥
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ॥
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ २८ ॥
उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ॥
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ २९ ॥

॥ टीका ॥

चंद्रः । 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजे'ति श्रुतेः । तस्य योगं संबंधं विना निशा रात्रिर्न राजते । राजयोगं विना नृपसंबंधं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः । विचित्रापि । पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि । निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि । मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्रापि न राजते ॥ २६ ॥

मारुतस्येति ॥ मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुंभकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत् । मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ २७ ॥

मुद्रा उपसंहरति ॥ इतीति ॥ आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः । तासु मुद्रासु मध्ये एकैकापि प्रत्येकमपि याकाचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्यणिमादिप्रदात्री वा ॥ २८ ॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति ॥ उपदेशमिति ॥ यः पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां

॥ भाषा ॥

मारुतस्येति ॥ मारुत जो वायु ताकी सर्वविधि कुंभक मुद्रा विधान सो मनकरकें युक्त अभ्यास करे बुद्धिमान पुरुषकरकें प्राणायाम विधितें और विषयमें मनकी वृत्तिकी प्रवृत्ति नही करनो योग्य हे ॥ २७ ॥

इतीति ॥ आदिनाथ सर्वेश्वर शंभुकरकें दश मुद्रा कही हें तिन मुद्रानमें एक एक मुद्रा योगीनकूं महासिद्धी जो अणिमादिक तिनकी देवेवारी हें ॥ २८ ॥

उपदेशमिति ॥ जो पुरुष महामुद्रादिकनकी संप्रदाय जो योगीनकी गुरुपरंपरातें उपदेश देवे सो पुरुष सर्वगुरूनतें श्रेष्ठ स्वामी सोही साक्षात् प्रत्यक्ष ईश्वर हें ॥ २९ ॥

मू० तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ॥
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥ १३० ॥
इति श्रीस्वात्मरामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां
मुद्राविधानंनाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरंपरारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति । स एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः । स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः । ईश्वराभिन्न एव स इत्यर्थः ॥ २९ ॥

तस्येति ॥ तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुंभकाद्यनुष्ठानविषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान् । आदरश्च विहिततपःकरणं भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्धं सार्कं कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

॥ भाषा ॥

तस्येति ॥ मुद्रानको उपदेशकर्त्ता गुरूको वाक्य जो आसन कुंभकादिकनको करवेकी रीत योग्य आहार विहार चेष्टादिक विषयरूप जो वाक्य तामें तत्पर आदरवान् होयकरके महामुद्रादिकनको अभ्यास तामें सावधान होय अणिमादिक सिद्धीनकरकें सहित काल जो मृत्यु ताको वंचन जो तिरणो सो प्राप्त होय ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाभाषाव्याख्यायां मुद्राकथनंनाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

त्याभ्यासस्य योगो युक्तिस्तेन 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इति कोशः। राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ-अब हठयोगके अभ्याससे राजयोगप्राप्तिका प्रकार कहते हैं कि, कुम्भक-प्राणायामसे प्राणका रोध करनेके अंत (मध्य) में अन्तःकरणको निराश्रय करदे अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधिके होनेपर ब्रह्माकार स्थितिके अनन्तर वैराग्यसे चित्तका लय करदे इस पूर्वोक्त रीतिसे किये अभ्यासके योगसे राजयोग पदको प्राप्त होता है यहां योगपद इस कोशके अनुसार युक्तिका बोधक है ॥ ७७ ॥

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ॥
अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ७८

इति हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

हठसिद्धिज्ञापकमाह-वपुःकृशत्वमिति ॥ वपुषो देहस्य कृशत्वं कार्श्यं वदने मुखे प्रसन्नता प्रसादो नादस्य ध्वनेः स्फुटत्वं प्राकट्यं नयने नेत्रे सुष्ठु निर्मले अरोगस्य भावोऽरोगता आरोग्यं बिंदोर्धातो-र्जयः क्षयाभावरूपः अग्नेरौदर्यस्य दीपनं दीप्तिर्नाडीनां विशेषेण शुद्धिर्मलापगमः एतद्धठस्य हठाभ्यासासिद्धेर्भाविन्या लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ज्योत्स्नाभिधायां ब्रह्मानंदकृतायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

भाषार्थ-अब हठयोगसिद्धिके लक्षणोंको कहते हैं कि देहकी कृशता मुखमें प्रसन्नता नादकी प्रकटता और दोनों नेत्रोंकी निर्मलता रोगका अभाव विन्दुका जय अर्थात् नाडि-योंमें मलका अभाव ये हठयोगसिद्धिके लक्षण हैं अर्थात् ये चिह्न होयँ तो यह जानना कि, इसको हठयोगकी सिद्धि होजायगी ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठयोगप्रदीपिकायां पण्डितमिहिरचन्द्रकृतभाषाविवृत्तिसहितायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोपदेशः ३.

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ॥
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ १ ॥

अथ कुंडल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह-सशैलेति ॥ शैलाश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्ता-

साम् । धात्र्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्भेदमादाय बहुवचनम् । अहीनां सर्पाणां नायको नेताहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत् । सर्वेषां योगस्य तंत्राणि योगतंत्राणि योगोपायास्तेषां कुंडल्याधारशक्तिराश्रयः । कुंडलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

भाषार्थ-अब इसके अनंतर कुण्डली सर्व योगोंका आश्रय है इसका वर्णन करते हैं कि जैसे संपूर्ण पर्वत वनोंसहित जितनी भूमि हैं उनका आश्रय (आधार) जैसे सर्पोंका नायक शेष है तिसी प्रकार योगके समस्त उपायोंका आधार भी कुण्डली है क्योंकि कुण्डलीके बोध विना योगके संपूर्ण उपाय व्यर्थ हैं यद्यपि भूमि एक है-तथापि देशभेदसे भूमिके भेदको मानकर बहुवचन (धात्रीणाम्) यहां दिया है ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ॥
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोऽपि च ॥ २ ॥

कुंडलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्याम्-सुप्तेति ॥ सुप्ता कुंडली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यंते भिन्नानि भवंति । ग्रंथयोऽपि च ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथयो भिद्यंते भेदं प्राप्नुवंतीत्यन्वयः ॥ २ ॥

भाषार्थ-अब कुण्डलीके बोधका दो श्लोकोंसे फल कहते हैं जब गुरुकी प्रसन्नतासे सोती हुई कुण्डली जागती है तब संपूर्ण पद्म अर्थात् हृदयके षट्चक्र भिन्न होजाते हैं अर्थात् खिल जाते हैं और ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथिरूप तीनों ग्रंथि भी खुल जाती हैं ॥ २ ॥

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ॥
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३ ॥

प्राणस्येति ॥ तदा शून्यपदवी सुषुम्ना प्राणस्य वायो राज्ञां पंथा राजपथं राजपथमिवाचरति राजपथायते राजमार्गायते । सुखेन गमनसंभवात् । तदा चित्तमालंबनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालंबं निर्विषयं भवति । तदा कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

भाषार्थ-और तिसीप्रकार प्राणकी शून्यपदवी (सुषुम्ना) राजपद (सडक) के समान होजाती है अर्थात् प्राण उसमेंको सुखसे गमन करने लगता है-और उसीसमय चित्तभी निरालंब होजाता है अर्थात्--विषयोंका अनुरागी नहीं रहता और उसीसमय कालका वंचन होता है अर्थात् मृत्युका भय दूर होजाता है ॥ ३ ॥

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ॥
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ॥
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥

सुषुम्नापर्यायानाह-सुषुम्नेति ॥ इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः। पर्याया इत्यर्थः स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ तस्मादिति ॥ यस्मात्कुंडलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना तस्या मुखेऽग्रभागे सुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुंडलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥ ४ ॥ ५ ॥

भाषार्थ-अब सुषुम्नानाडीके पर्यायोंको कहते हैं कि, सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरंध्र, महापथ, श्मशान, शांभवी, मध्यमार्ग ये संपूर्ण शब्द एक अर्थके वाचक हैं अर्थात् इन सबका सुषुम्ना नाडी अर्थ है जिससे कुण्डलीके बोधसेही षट्चक्र भेद आदि होते हैं इससे संपूर्ण प्रयत्नसे सच्चिदानंदरूप ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय जो सुषुम्ना उसके अग्रभागमें सुषुम्नाके द्वारको ढककर सोतीहुई जो ईश्वरी (कुण्डली) है उसका प्रबोध (जगाना) करनेके लिये मुद्राओंका अभ्यास करै अर्थात् महामुद्रा आदिको करै ॥ ४ ॥ ५ ॥

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ॥
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥

मुद्रा उद्दिशति-महामुद्रेत्यादिना सार्धेन ॥ सार्धार्थः स्पष्टः ॥ मुद्राफलमाह सार्द्धद्वाभ्याम्-इदमिति ॥ इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

भाषार्थ-महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबंध, जालंधरबंध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन, ये पूर्वोक्त दशमुद्रा जरा और मरणको नष्ट करती हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ॥
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

आदिनाथेति ॥ आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितम् । दिवि भव दिव्यमुत्तमम् । अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिमामहिमा-गरिमालघिमाप्राप्तिप्राकाम्येशतावशितारूपाणि । तत्राणिमासंकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशा-दिवन्महद्भावः २ । गरिमा लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः ३ । लघिमा गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः ४ । प्राप्तिः सर्वभाव-सान्निध्यम् । यथा भूमिस्थ एवांगुल्यग्रेण स्पृशति चंद्रमसम् ५ । प्राका-म्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च ६ । ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणम् ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवा-नामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

भाषार्थ–और आदिनाथने कहे जो उत्तम आठ ऐश्वर्य उनको भलीप्रकार देती है और संपूर्ण जो कपिल आदि सिद्ध हैं उनको प्रिय हैं और देवताओंकोभी दुर्लभ है वे आठ ऐश्वर्य ये हैं कि--अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशता, वशिता उनमें अणिमा वह सिद्धि होती है कि, योगीके संकल्पमात्रसे प्रकृतिके दूर होनेपर परमाणुके समान सूक्ष्म देह होजाय उसे अणिमा १ कहते हैं और प्रकृतिके आपूरको करके अर्थात् अपने देहमें भरके आकाशके समान महान् स्थूल होजानेको महिमा २ सिद्धि कहते हैं । और तूल (रुई) आदि लघुपदार्थकोभी पर्वत आदिके समान जो गुरु (भारी) होजाना है उसे गरिमा ३ कहते हैं और अत्यंत गुरु (पर्वत आदि) का जो तूल आदिके समान लघु (हलका) होना हैं उसे लघिमा ४ कहते हैं और संपूर्ण पदार्थोंके जो समीप पहुंचना जैसे कि भूमिपर स्थित योगी अंगुलिके अग्रसे चंद्रमाका स्पर्श करले इसे प्राप्ति ५ कहते हैं और इच्छाका अनभिघात अर्थात् जलके समान भूमिमें प्रविष्ट होजाय और निकस आवै इसको प्राकाम्य ६ कहते हैं । पांचों महाभूत और उनसे उत्पन्न भौतिकपदार्थ इनकी उत्पत्ति और प्रलय और पालनके सामर्थ्यको ईशता सिद्धि ७ कहते हैं और भूत भौतिक पदार्थोंको अपने अधीन करनेको वशिता ८ सिद्धि कहते हैं ये आंठों सिद्धि पूर्वोक्त दशों मुद्राओंके करनेसे होती हैं ॥ ८ ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ॥
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥९॥

गोपनीयमिति ॥ प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयम्। गोपनीयत्वे दृष्टांतमाह-यथेति ॥ रत्नानां हीरकादीनां करंडकं रत्नकरंडकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत्। कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वक्तव्यं नैव वाच्यं किमुतान्यस्य। तत्र दृष्टांतः कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा तद्वत् ॥९॥

भाषार्थ-ये पूर्वोक्त दशों मुद्रा इसप्रकार प्रयत्नसे गुप्त करने योग्य हैं जैसे हीरा आदि-रत्नोंका करंड (पेटारी) गुप्त करने योग्य होतीहै और किसी मनुष्यको वा ब्रह्माको भी इसप्रकार नहीं कहनी अन्यकी तो कौन कथा है जैसे कुलीनस्त्रीके सुरत (संगम) को किसीको नहीं कहते हैं ॥९॥

अथ महामुद्रा।

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ॥
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥१०॥

दशविधमुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह-पादमूलेनेति ॥ वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपाद-पार्ष्णिनेत्यर्थः। योनिस्थानं गुदमेढ्योर्मध्यभागं संपीड्याकुंचितवाम-पादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः। दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वांगुलिकं दंडवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायादाकुंचितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदंगुष्ठप्रदेशे गृह्णी-यात् ॥१०॥

भाषार्थ-अब दसोंमुद्राओंमें प्रथम जो महामुद्रा उसका वर्णन करते हैं कि, वामपादके मूल (तल) से अर्थात् पार्ष्णिसे योनिस्थानको अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागको भलीप्रकार पीडित (दबाना) करके और दक्षिणपादको प्रसारित (फैलाना) करके अर्थात् दक्षिणपादकी पार्ष्णि (ऐड) को भूमिसे मिलाकर और उसकी अंगुलियोंको ऊप-रको करके और उस दक्षिणपादको मुकडीहुई दोनों हाथोंकी तर्जनीओंसे दृढरीतिसे (खूब) अंगूठेके स्थानमें धारण करै अर्थात् जोरसे पकडले ॥१०॥

कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥११॥

कंठ इति ॥ कंठे कंठदेशे बंधनं सम्यगारोप्य कृत्वा । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः । वायुं पवनमूर्ध्वत उपरि सुषुम्नायां धारयेत् । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु योनिसंपीडनेन जिह्वाबंधनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः । यथा दंडेन हतस्ताडितो दंडहतः सर्पः कुंडली दंडाकारः दंडस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः । वक्राकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः । प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

भाषार्थ–और कंठके प्रदेशमें भलीप्रकार जालंधरनामके बंधको करके वायुको ऊर्ध्वदेश (सुषुम्ना) मेंही धारण करे अर्थात् मूलबंध करे और सांप्रदायिक अर्थात् संप्रदायके ज्ञाता तो यह कहते हैं कि, वह मूलबंध तो योनिका संपीडन और जिह्वाके बंधनसे चरितार्थ है अर्थात् पृथक् मूलबंध करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा करनेसे जैसे दंडसे हताहुआ सर्प (कुण्डली) दंडके समान आकारवाला होजाताहै अर्थात् वक्रताको त्यागकर भलीप्रकार सरल होजाताहै ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥१२॥

ऋज्वीभूतेति ॥ तथा कुंडल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत् । तदा सेति । द्वे पुटे इडापिंगले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते । कुंडलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२ ॥

भाषार्थ–तिसीप्रकार आधार शक्ति रूप जो कुंडली है वह शीघ्रही ऋज्वीभूत (सरल) होजाती है और उस समय इडा और पिंगलारूप जो दोनों पुट हैं वे आश्रय जिसके ऐसी वह मरणकी अवस्था होजाती है अर्थात् कुण्डलीका बोध होनेपर सुषुम्नानाडीमें प्राणका प्रवेश होजाता है इससे इडा और पिंगला दोनोंका प्राणवियोग (मरण) होजाताहै ॥ १२ ॥

ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥१३॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥

तत इति ॥ इयमिति ॥ ततस्तदनंतरं शनैःशनैरेव रेचयेत् । वायुमिति संबध्यते वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत् । वेगतो रेचने बलहानिप्रसंगात् । खल्विति वाक्यालंकारे । इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता । महामुद्राया अन्वर्थतामाह महांतश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशाः अविद्यास्मितरागद्वेषाभिनिवेशाः पंच ते आद्यो येषां ते शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयंते । मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयंते नश्यंति । यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदंति । महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

भाषार्थ-तिससे शनैः २ प्राणवायुका रेचन करै, वेगसे न करै क्योंकि वेगसे रेचन करनेमें बलकी हानी होती है तिससेही देवताओंमें उत्तम इसको महामुद्रा कहते हैं और वह महामुद्रा आदिनाथ आदिमहासिद्धोंने भलीप्रकार दिखाई है। अब महामुद्राके अन्वर्थनामका वर्णन करते हैं कि, अविद्या, स्मित, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पांचों महाक्लेश और मरण आदि दुःख इस मुद्राके करनेसे क्षीण (नष्ट) होजाते हैं तिससेही देवताओंमें श्रेष्ठ इसको महामुद्रा कहते हैं अर्थात् महाक्लेशोके नष्ट करनेसेही इसक देवताओंने महामुद्रा नाम रक्खा है ॥ १३ ॥ १४ ॥

चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह-चंद्रांग इति ॥ चंद्रेण चंद्रनाड्योपलक्षितमंगं चंद्रांगं तस्मिन् चंद्रांगे वामांगे । तुशब्दः पादपूरणे । सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिंगलयोपलक्षितमंगं सूर्यांगं तस्मिन् सूर्यांगे दक्षांगे पुनर्वामांगाभ्यासानंतरं यावद्यावत्कालपर्यंतं तुल्या वामांगे कुंभकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत् । ततः संख्यासाम्यानंतरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत् । अत्रायं क्रमः । आकुंचितवामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो वामांगेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामांगे तिष्ठति । आकुंचितदक्षपादपार्ष्णिं योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो दक्षांगेऽभ्यासः अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षांगे तिष्ठति ॥ १५ ॥

भाषार्थ-अब महामुद्राके अभ्यासका क्रम कहते हैं कि--चंद्रनाडी (इडा) से उपलक्षित (ज्ञान) जो अंग उसे चंद्रांग कहते हैं अर्थात् वाम अंगकेविषे भलीप्रकार अभ्यास करके सूर्य नाडी (पिंगला) से उपलक्षित जो दक्षिण अंग उसके विषे अभ्यास करै और जबतक कुम्भक प्राणायामोंके अभ्यासकी संख्या समान (तुल्य) हो तबतक भलीप्रकार अभ्यास करै फिर संख्याओंकी समानताके अनंतर महासमुद्राका विसर्जन करदे, यहां यह क्रम जानना कि, संकुचित किये वामपादकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें युक्त (मिला) करके प्रसारित (पसारे) दक्षिण पादके अँगूठेको आकुंचित (मुकडी) तर्जनीयोंसे ग्रहण करके जो अभ्यास उसे वामांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया (भराहुआ) वायु वामांगमें टिकता है और आकुंचित किये दक्षिणपादकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें संयुक्त करके और प्रसारित (फैलाये) किये वामपादके अँगूठेको आकुंचित की हुई दोनों हाथोंकी तर्जनियोंसे ग्रहण करके जो अभ्यास उसे दक्षांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया वायु दक्षिण अंगमें टिकता है ॥ १५ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥१६॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः-न हीति ॥ हि यस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्यविचारो नास्त्यस्तीत्यर्थः । तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कट्वम्लादयो जीर्यंते इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यन्ति । घोरमिति। दुर्जरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति । किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

भाषार्थ-अब तीन श्लोकोंसे महामुद्राके गुणोंको कहते हैं कि, जिससे महामुद्रा अभ्यास करनेवाले योगीको पथ्य और अपथ्यका विचार नहीं है तिससे नीरस (बिगडे हुये) भी संपूर्ण भक्षण किये कटु अम्ल आदि रस जीर्ण हो (पच) जाते हैं और भक्षण किया विषके समान घोर अन्नभी अमृतके समान जीर्ण होजाता है अर्थात् पचनेके अयोग्यभी पचजाता है तो योग्य क्यों न पचेगा ? ॥ १६ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥१७॥

क्षयेति ॥ यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः, कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगविशेषाः। अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि

येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यांति प्राप्नुवंति ॥ १७ ॥

भाषार्थ-जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करताहै, क्षय, गुदावर्त गुल्मरूप रोग विशेष अजीर्ण अर्थात् भोजन किये अन्नका अपरिपाक ये हैं मुख्य जिनमें ऐसे महोदर, ज्वर आदि दोष उसके क्षय हो जातेहैं अर्थात् नहीं रहते हैं ॥ १७ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ १८ ॥

महामुद्रामुपसंहरंस्तस्या गोप्यत्वमाह-कथितेति ॥ इयमेषा महामुद्रा कथितोक्ता। मयेति शेषः। कीदृशी नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम्। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा यस्यकस्यचिद्यस्य कस्याप्यनाधिकारिणोऽसंबंधस्य। सामान्ये षष्ठी। न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

भाषार्थ-अब महामुद्राको समाप्त करते हुए उसको गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, यह पूर्वोक्त जो महामुद्रा वर्णन की है वह मनुष्योंको महासिद्धिकी करनेवाली है और बडे यत्नसे गुप्त करने योग्य है और जिस किसी अनधिकारी पुरुषको न देनी ॥ १८ ॥

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥

महाबंधमाह-पार्ष्णिमिति ॥ वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्ष्णिं गुल्फयोरधोभागम् 'तद्ग्रंथी घुटिके गुल्फौ पुमान्पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः। योनिस्थाने गुदमेढ्रयोरंतराले नियोजयेन्नितरां योजयेत्। वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा। तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

भाषार्थ-अब महाबंधका वर्णन करते हैं कि, वामचरणकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागमें लगावे और वामजंघा ऊपर दक्षिण पादको रख कर बैठे ॥ १९ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीडय वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥ २० ॥

पूरयित्वेति॥ततस्तदनंतरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरबंधः प्रोक्तः । योनिं गुदमेढ्रयोरंतरालमाकुंच्य । अनेन मूलबंधःसूचितः । स तु जिह्वाबंधेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः । मनः स्वांतं मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

भावार्थ-इसपूर्वोक्त आसन बांधनेके अनंतर वायुको पूरण करके और हृदयमें दृढतासे (खूब) चुबुक (ठोढी) को अर्थात् इस जालंधर बंधको करके और योनि (गुदा लिंगकेमध्य) को संकुचित करके अर्थात् मूलबंधको करके परन्तु यह मूलबन्ध जिह्वाके बन्धनसेही सिद्ध है इससे करने योग्य नहीं है फिर मनको मध्य नाडीकेविषे प्रविष्ट करे ॥ २० ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

धारयित्वेति ॥ शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा शनैर्मंदं मंदमनिलं वायुं रेचयेत् । सव्यांगे वामांगे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षांगे दक्षिणांगे पुनर्यावत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

भावार्थ-फिर वायुको यथाशक्ति धारण करके अर्थात् कुंभक प्राणायामको करके शनैः २ वायुका रेचन करै इसप्रकार वाम अंगमें भलीप्रकार अभ्यास करके दक्षिण अंगमें फिर अभ्यास करै और वह अभ्यास तबतक करे जबतक वामांग अभ्यासकी जो संख्या उसकी तुल्यताहो ॥ २१ ॥

मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥
राजदंतस्थजिह्वाया बंधः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥

अथ जालंधरबंधे कंठसंकोचस्यानुपयोगमाह-मतमिति॥केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतम् । किं तदित्याह । अत्र जालंधरबंधे कंठस्य बंधनं बंधः संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः यतो दंतानां राजानो राजदंता राजदंतेषु तिष्ठतीति राजदंतस्था राजदन्तस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तदुपरिभागस्य संबंधः शस्तः । कंठाकुंचनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः ॥ २२ ॥

भावार्थ-अब जालंधरबंधमें कंठके संकोचका अनुपयोग वर्णन करते हैं कि, किन्हीं आचार्योंका यह मत है कि, इस जालंधरबंधमें कंठका जो बन्धन (संकोच) उसको

विशेषकर वर्जदे, क्योंकि राजदंतों (दाढ) के ऊपर स्थित जो जिह्वा उसका बंधही जालंधर बंधमें प्रशस्त होताहै अर्थात् कंठ संकोचकी अपेक्षा वह उत्तम होता है ॥ २२ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ॥
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥२३॥

अयं त्विति ॥ अयं तु राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वं गतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबंधकः। एतेन 'बध्नाति हि शिराजालम्' इति जालंधरोक्तं फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम्। महाबंधस्य फलमाह-अयं खल्विति ॥ अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण ददातीति तथा ॥ २३ ॥

भाषार्थ-यह राजदंतोंमें स्थित जिह्वाका बंध, बहत्तर सहस्र ७२००० सुषुम्नासे भिन्न नाडियोंकी जो ऊर्ध्वगति अर्थात् नाडियोंमें जो प्राणवायुका ऊर्ध्वगमन उसका प्रतिबंधक है इससे यह सूचित किया कि, नाडियोंके जालको जो बंधन करै उसे जालंधरबन्ध कहते हैं यह जालंधर बन्धको फल इससेही सिद्ध है। अब महाबन्धके फलको कहते हैं कि, यह महाबन्ध निश्चयसे महासिद्धियोंको भलीप्रकार देता है ॥ २३ ॥

कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥२४॥

कालेति ॥ कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबंधो बंधनं तस्य विशेषेण मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः। तिसृणां नदीनां वेणीसमुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते। केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यं तं मनः स्वांतं प्रापयेत्। 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ-और मृत्युके पाशका जो महाबंध उसके छुटानेमें विशेषकर प्रवीण है और तीन नदियोंका संगम जो प्रयाग है उसको करता है और मनको भृकुटियोंके मध्यमें जो शिवजीका स्थानरूप केदार है उसमें प्राप्त करता है अर्थात् पहुँचता है ॥ २४ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥
महामुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥२५॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह-रूपेति ॥ रूपं सौंदर्यं चक्षुः-

प्रियो गुणो लावण्यं कांतिविशेषः। तदुक्तम् मुक्ताफलेषु छायास्तरल-त्वमिवान्तरम्। प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते' इति। ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबंधश्च तौ महावेधेन। 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तर-पदयोर्लोपो वक्तव्यः' इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य लोपः। वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः॥ २५॥

भाषार्थ-अब महावेधके कहनेके लिये प्रथम उसकी उत्तमताको कहते हैं कि, रूप (सुंदरता) और इसवचनमें कहेहुए लावण्यको मोतियोंमें छाया (प्रतिबिंबकी) तरलताके समान स्त्रीके अंगोंमें अंतर जो प्रतीत होता है वह यहां लावण्य कहाता है. इन दोनों पूर्वोक्त रूप और लावण्यसे युक्त स्त्री, पुरुषके विना निष्फल है. तिसीप्रकार महामुद्रा और बंध ये दोनों भी महावेधके विना निष्फल हैं. इस श्लोकमें वेधपदसे महावेध लेते हैं; क्योंकि इस भाष्यकारके वचनसे प्रत्ययके विनाभी पूर्व और उत्तरपदका लोप कहना। महच्छ-ब्दका लोप होता है॥ २५॥

अथ महावेधः।

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः॥
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया॥२६॥

महावेधमाह-महावेधेति॥ महाबंधे महाबंधमुद्रायां स्थितो महाबंध-स्थितः। एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा कंठे मुद्रा कंठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिमूर्ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथावृत्य निरुध्य कुंभकं कृत्वेत्यर्थः॥ २६॥

भाषार्थ-अब महावेधका वर्णन करते हैं कि, महाबंधमुद्रामें स्थित अर्थात् करता हुआ योगी एकाग्रबुद्धिसे पूरक प्राणायामको करके अर्थात् योगमार्गसे नासिकाके पुटोंसे वायुका ग्रहण करके कंठमुद्रा (जालंधर मुद्रा) से प्राणआदि वायुओंको जो उर्ध्व अधोगतिरूप गमन है उसको निश्चल रीतिसे रोककर अर्थात् कुंभक प्राणायामको करके॥ २६॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः॥
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः॥२७॥

समहस्तेति॥ भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः।

स्फिचौ कटिप्रोथौ । 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथौ' इत्यमरः । भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलंबनेन योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मंदं संताडयेत्सम्यक् ताडयेत् । भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिंगलयोर्युग्मनासिकयोर्लंघय मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

भाषार्थ–भूमिपर लगा है तल जिनका ऐसे सरल हाथोंको अपने जो स्फिच (चूतड) हैं उनको भूमिपर लगेहुए हाथोंके आश्रय और योनिस्थानमें लगीहुई पार्ष्णि जिसकी ऐसे वामपादसहित पूर्वोक्त स्फिचोंको भूमिसे ऊपर किंचित् उठाकर शनैः २ भलीप्रकार ताडै, इस प्रकार करनेसे इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंका उल्लंघन (छोड) करके सुषुम्नाके मध्यमें वायु चलने लगता है अर्थात् सुषुम्नामें प्राणवायुकी गति होजाती है ॥ २७ ॥

सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ॥
मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत् ॥२८॥

सोमेति ॥ सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडापिंगलासुषुम्ना ग्राह्यास्तेषां संबंधः । तद्वायुसंबंधात्तेषां संबंधः । अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिंगलयोः प्राणसंचाराभावात् । ततस्तदनंतरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥ २८ ॥

भाषार्थ–फिर चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि अर्थात् ये तीनों देवता हैं क्रमसे अधिष्ठाता जिनके ऐसी इडा पिंगला सुषुम्ना नाडियोंका संबंध मोक्षका हेतु निश्चयसे होजाता है अर्थात् तीनों नाडियोंका वायु एक हो जाताहै तब इडा और पिंगलाके मध्यमें प्राणसंचारके अभावसे मरण अवस्था उत्पन्न होजाती है, क्योंकि, इडा पिंगलामें जो प्राणोंका संचार उसका नामही जीवन है, फिर मरण अवस्थाकी उत्पत्तिके अनंतर वायुको विरेचन करदे अर्थात् नासिकाके पुटोंमेंसे शनैः २ त्यागदे ॥ २८ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥

महावेध इति ॥ अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनःपुनरावर्तनान्महासिद्धयोऽणिमाद्यास्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्थकः । वली जरया चर्मसंकोचः

पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः कंपस्तान् हंतीति वलीपालितवेपघ्नः । अत एव साधकेष्वभ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्य तइत्यर्थः ॥ २९ ॥

भाषार्थ-यह महावेध अभ्यास करनेसे अणिमा आदि महासिद्धियोंको भलीप्रकार देताहै और वली अर्थात् वृद्ध अवस्थासे चर्मका संकोच और पलित अर्थात् वृद्धतासे केशोंकी शुक्लता और देहका कंपना इनको नष्ट करता है इसीसे साधकों (अभ्यासी) में जो उत्तम हैं वे इस महावेधका अभ्यासरूप सेवन करते हैं ॥ २९ ॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह—एतादिति ॥ एतत्त्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम् । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि हि यस्माज्जरा वार्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम् । चकार आरोग्यबिन्दुजयादिसमुच्चयार्थः एवशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ३० ॥

भाषार्थ-अब महामुद्रा आदि पूर्वोक्त तीनोंको अत्यंत गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, ये तीनों मुद्रा अत्यन्त गुप्त करने योग्य हैं और जोरा और मृत्युको विशेषकर नष्ट करती हैं और जठराग्निको बढाती हैं और अणिमा आदि सिद्धियोंको देती हैं अर्थात् अणिमा आदि गुणोंको भलीप्रकार उत्पन्न करती हैं और चकारके पढनेसे आरोग्य और बिंदुका जय समझना और इस श्लोकमें एव पद निश्चयका बोधक है ॥ ३० ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथैतत्त्रयस्य पृथक्साधनविशेषमाह—अष्टधेति ॥ दिने दिने प्रतिदिनम् । यामे यामे प्रहरे प्रहरे पौनःपुन्ये द्विर्वचनम् । अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते । चशब्दोऽवधारणे । एतत्त्रयमित्यत्रापि संबध्यते । कीदृशं पुण्यस्य संभारः समूहस्तस्य संधायि, पुनः कीदृशं पापानामोघः पूरः समूह इति यावत् । तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाभ्यस्तं तदैव पापनाशम् ॥ सम्यक् सांप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा । एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्तरीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ-अब इन तीनोंके पृथक् २ साधन विशेषको कहते है कि, प्रहर २ में और दिन २ में वारंवार आठप्रकारसे ये तीनों मुद्रा की जाती हैं. यहां भी एव शब्द निश्चयका वाची है और ये तीनों मुद्रा पुण्यके समूहको करती हैं और पापोंका जो समूह है उसको छेदन सदैव करती हैं और भलीप्रकार गुरुकी है शिक्षा जिनको ऐसे पुरुषोंको पूर्वोक्त आठप्रकारका जो प्रहर २ और दिन २ में साधन है वह अल्प २ (थोडा २) ही करना योग्य है अधिक २ नहीं ॥ ३१ ॥

अथ खेचरी ।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह-कपालेति ॥ कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात्। भ्रुवोरंतर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात्। सा खेचरी मुद्रा भवति। कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरंतर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ-अब खेचरीमुद्राके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम खेचरीके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, कपालके मध्यमें जो छिद्र है उसमें विपरीत (उलटी) हुई जिह्वा तो प्रवि[illegible] और कु[illegible] योंके मध्यमें दृष्टिका प्रवेश होजाय तो वह खेचरीमुद्रा होती है अर्थात् कपालके छिद्रमें जिह्वाके प्रवेश पूर्वक जो भृकुटियोंके मध्यका दर्शन उसे खेचरी मुद्रा कहते हैं ॥ ३२ ॥

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३३ ॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह-छेदनेति ॥ छेदनं अनुपदमेव वक्ष्यमाणम्। चालनं हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनं, दोहः करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनं तैः कलां जिह्वां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात्। तावत् कियत्। यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥ ३३ ॥

भाषार्थ-अब खेचरीमुद्राकी सिद्धिके लक्षणका वर्णन करते हैं कि, छेदन जिसका आगे शीघ्रही वर्णन करेंगे और चालन अर्थात् हाथके अँगूठे और तर्जनीसे जिह्वाको पकडकर वाम और दक्षिणरूपसे परिवर्तन (हलाना) और पूर्वोक्त अँगूठे और तर्ज-

नीसे गोदोहनके समान जिह्वाका दोहन इन तीनोसे कला (जिह्वा) को तबतक बढावै जबतक वह कला भ्रकुटियोंके मध्यका स्पर्श करै फिर स्पर्श होनेपर खेचरी मुद्राकी सिद्धिको जानै ॥ ३३ ॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥

तत्साधनमाह–स्नुहीति ॥ स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रेण सदृशं स्नुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानंतरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगुच्छिनेच्छिद्यात् । रसनामूलशिरामिति कर्माध्याहारः । 'मिश्रेयाप्यथ सीहुंडो वज्रस्नुक्स्त्री स्नुही गुडा ' इत्यमरः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–अब खेचरीकी सिद्धिके साधनोंका वर्णन करतेहैं कि, स्नुही (सेहुंड) के पत्तेके समान जो अत्यंत तीक्ष्ण शस्त्र है चिकने और निर्मल उस शस्त्रके ग्रहण करके उससे जिह्वाके मूलकी नाडीको रोममात्र छेदन करदे ॥ ३४ ॥

ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ॥
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

तत इति ॥ ततश्छेदनानंतरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षयेच्छिन्नं शिराप्रदेशम् । सप्तदिनपर्यंतं छेदनं सैंधवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयम् । योगाभ्यासिनो लवणनिषेधात्खदिरपथ्याचूर्णं गृह्णंति मूले सैंधवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण । सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तादिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् । ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वच्छेदनापेक्षयाधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–और छेदनके अनंतर चूर्ण किये (पीसे हुये) सैंधव (लवण) और हरडेसे जिह्वाके मूलको भलीप्रकार घिसे सातदिनतक प्रतिदिन छेदन और घिसनेको पूर्वोक्तप्रकारसे प्रातःकाल और सायंकालको करै और योगके अभ्यासीको लवणका निषेध है इससे यहां खदिर (कत्था) और पथ्याका चूर्ण लेना योगियोंको कहाहैं और मूलग्रंथमें तो सैंधवका कथन हठयोगके अभ्याससे पूर्व खेचरीकी सिद्धिके अभिप्रायसे है।

फिर सात दिनके बीतनेपर आठवें दिन रोममात्रका छेदन करै अर्थात् प्रथमछेदनेसे अधिक रोममात्रका छेदन करे ॥ ३५ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥

षण्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

एवमिति॥एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तदिनपर्यंतं तावदेव सायंप्रातश्छेदनं घर्षणं च । अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यंतं नित्ययुक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः । षण्मासादनंतरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या शिरा कपालकुहररसनासंयोगे प्रतिबंधिकाभूता नाडी तया बंधो बंधनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

भावार्थ-इसप्रकार क्रमसे प्रथम रोममात्रका छेदन और उसकाही सातदिनपर्यंत सायंकाल प्रातःकालके समय घर्षणको प्रतिदिन युक्तहुआ छः मासपर्यंत करै और आठवें दिन पूर्व किये छेदनसे अधिक रोममात्रका छेदन करके पूर्वोक्त घर्षणको करता रहै इसरीतिसे छः मासके अनंतर जिह्वाके मूलभागमें जो शिराबन्ध है अर्थात् जिससे जिह्वा कपाल छिद्रमें नहीं पहुंच सकती वह बन्धन है वह भलीप्रकार नष्ट होजाता है ॥ ३६ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥

सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह-कलामिति ॥ कलां जिह्वां पराङ्मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पंथाः त्रिपथस्तस्मिंस्त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्संयोजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते । व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

भावार्थ-अब छेदन आदिसे जिह्वाको वृद्धि होनेपर करने योग्य कर्मको कहते हैं कि, जिह्वाको पराङ्मुख करके अर्थात् पश्चिमको लौटाकर तीनों नाडियोंका मार्ग जो कपालका छिद्र है उसमें संयुक्त करदे वही खेचरी मुद्रा होती है और उसको ही व्योमचक्र कहते हैं ॥ ३७ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥

विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

अथ खेचरीगुणाः॥रसनामिति॥ ऊर्ध्वं तालूपरि विवरं गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते। व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते । 'उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दो व्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते' इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–अब खेचरीके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, जिह्वाको तालुके ऊपरले छिद्रमें करके जो योगी क्षणार्धभी टिकता है अर्थात् एक घटिकामात्र भी स्थित रहता है (यहां क्षण पदसे इसवचनके अनुसार मुहूर्तका ग्रहण है) वह योगी धातुओंकी विषमतारूप व्याधि और मृत्यु अर्थात् प्राण और देहका वियोग और वृद्ध अवस्था आदिकोंसे और सर्प बिच्छू आदिके विषोंसे विशेषकर छूट जाता है ॥ ३८ ॥

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥३९॥

न रोग इति॥यःखेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तंद्रा तामसांतःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न क्षुधा न तृषा न पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाभिभूतावस्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–जो योगी खेचरीमुद्राको जानता है उसको रोग, मरण और अंतःकरणकी तमोगुणी वृत्तिरूप तंद्रा और निद्रा क्षुधा तृषा और चित्तकी तमोगुणीअवस्थारूप मूर्च्छा ये सब नहीं होते हैं ॥ ३९ ॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४०॥

पीड्यत इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न पीड्यते ॥ ४० ॥

भाषार्थ–जो खेचरीको जानता है वह रोगसे पीडित नहीं होता है और न कर्मसे लिप्त होता है और न कालसे बाधा जाता है ॥ ४० ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥

चित्तमिति ॥ यस्माद्धेतोश्चित्तमंतःकरणं खे भ्रुवोरंतरवकाशे चरति जिह्वा खे तत्रैव गता सती चरति । तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययम् । सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता । खे भ्रुवोरंतर्व्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता । उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥४१॥

भाषार्थ-जिससे चित्त (अंतःकरण) भ्रुकुटियोंके मध्यरूप आकाशमें विचरता है और जिह्वाभी भ्रुकुटियोंके मध्यमेंही जाकर विचरती है तिसीसे सिद्धों (कपिल आदि) की निरूपण कीहुई यह मुद्रा खेचरी इस नामसे प्रसिद्ध है भ्रुकुटियोंके मध्यरूप आकाशमें जिसमुद्राके करनेसे जिह्वा विचरे उसे खेचरी कहते हैं । इस व्युत्पत्तिसे सिद्धोंने यह अन्वर्थमुद्रा वर्णन की है. इन पूर्वोक्त तीनों श्लोकोंमें व्याधिआदिकी जो पुनरुक्ति है वह इसलिये दूषित नहीं है कि, ये तीनों श्लोक संगृहीत (किसीके रचेहुए) हैं अर्थात् मूलके नहीं हैं ॥ ४१ ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥४२॥

खेचर्येति ॥ येन योगिना खेचर्या मुद्रया लंबिकाया ऊर्ध्वमिति लंबिकोर्ध्वतः । सार्वविभक्तिकस्तसिः । लंबिका तालु तस्या ऊर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम् । कामिन्या युवत्याः श्लेषितस्यालिंगितस्यापि । च शब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिंदुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ-जिस योगीने खेचरीमुद्रासे लंबिका (तालु) के ऊपरका छिद्र ढकलिया है कामिनीके स्पर्श करनेपरभी उस योगीका बिंदु (वीर्य) क्षरित (पडता) नहीं होता अर्थात् अपने मस्तकरूप स्थानसे नहीं गिरता है ॥ ४२ ॥

चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् ॥
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥४३॥

चलित इति ॥ चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिंदुर्यदा यस्मिन् काले योनिमंडलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुंचनरूपया । एतेन वज्रोलीमुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याकर्षणशक्त्याहृतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति । सुषुम्नामार्गेण बिंदुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–और चलायमानहुआभी बिंदु जिससमय योनिके मंडलमें प्राप्त होजाता है तोभी लिंगके संकोचनरूप योनिमुद्रासे अर्थात् वज्रोलीसे निरंतर बँधाहुआ बिंदु आकर्षण-शक्तिसे खिचा हुआ सुषुम्ना नाडीके मार्गसे ऊर्ध्व (बिंदुके स्थानमें) को चलाजाता है॥ ४३॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित्॥ ४४॥

ऊर्ध्वजिह्व इति॥ ऊर्ध्वा लंबिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा। सोमस्य लंबिकोर्ध्वविवरगलित-चंद्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति। योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभि-भवति। न संदेहः। निश्चितमेतदित्यर्थः॥ ४४॥

भाषार्थ–तालुके ऊपरके छिद्रके उन्मुख है जिह्वा जिसकी ऐसा जो योगी वह सोमपान करता है अर्थात् ऊर्ध्व छिद्रमेंसे गिरतेहुए चंद्रामृतको पीता है योगका ज्ञाता वह एकही मासार्द्धसे अर्थात् पक्षभरसे मृत्युको जीतता है इसमें सन्देह नहीं है अर्थात् यह निश्चित है॥ ४४॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः॥
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति॥ ४५॥

नित्यमिति॥ यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति॥ ४५॥

भाषार्थ--जिस योगीका शरीर नित्य (सदैव) चंद्रकलारूप अमृतसे पूर्ण रहता है तक्षक सर्पसे डसेहुयेभी उसके शरीरमें विष नहीं फैलता अर्थात् सर्पका विष नहीं चढता॥ ४५॥

इंधनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः॥
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति॥ ४६॥

इंधनानीति॥ यथा वह्निः इंधनानि काष्ठादीनि न मुंचति दीपको दीपः तैलवर्तिं च तैलयुक्तां वर्त्तिं न मुंचति। तथा सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतपूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुंचति न त्यजति॥ ४६॥

भाषार्थ-जैसे अग्नि काष्ठआदि इंधनोंको और दीपक तैल और बत्तीको नहीं त्यागतेहैं अर्थात् उनके विना नहीं रहतेहैं तैसेही देही (जीवात्मा) सोमकलासे पूर्ण देहको नहीं त्यागताहै अर्थात् सोमकलासे पूर्ण देह सदैव बना रहताहै ॥ ४६ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥

कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

गोमांसमिति ॥ गोमांसं पारिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगिनम् । अहमिति ग्रंथकारोक्तिः । कुले जातः कुलीनः तं सत्कुलोत्पन्नं मन्ये । तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते—कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् । जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥ दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् । भवकोटिशतापात्तं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥' ब्रह्मांडपुराणे । 'गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च । ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥' राजयोगे वामदेवं प्रति शिववाक्यम्-'राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः । तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम् । दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः । अज्ञा मुक्तिपदं यांति किं पुनस्तत्परायणाः ॥ अंतर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः । त्वया मयाप्यसौ वंद्यः शेषैर्वंद्यस्तु किं पुनः ॥' इति । कूर्मपुराणे-'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा । ये युंजंते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ॥' इति । इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-जो योगी प्रतिदिन गोमांस (जो आगे कहेंगे) को भक्षण करताहै और प्रतिदिन अमरवारुणी (जो आगे कहेंगे) को पीताहै उसकोही हम श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न मानतेहैं अन्य सब मनुष्य कुलघातक (नाशक) हैं क्योंकि श्रेष्ठकुलमें उनका जन्म निरर्थक है सोई ब्रह्मवैवर्त्तमें कहाहै कि, योगीके माता पिता कृतार्थ हैं और उसके देश और कुलको धन्य है जहां योगवान् पैदा होताहै और योगीको दिया दान अक्षय होताहै पुरुष और प्रकृतिका विवेकी योगीजन दर्शन, भाषण स्पर्श करनेसे मनुष्योंके कोटियों जन्मोंके पापोंसे पवित्र करतेहैं । ब्रह्माण्डपुराणमें लिखाहै कि, सहस्र गृहस्थी और सौ वानप्रस्थ और सहस्र ब्रह्मचारियोंसे योगाभ्यासी अधिक होताहै और राजयोगके विषयमें वामदेवके प्रति शिवजीका वाक्य है कि, राजयोगके यथार्थ माहात्म्यको कौन जान सकताहै ? राज-

योगका ज्ञानी जहां वसताहै वह देश पुण्यात्मा है इसके दर्शन और पूंजनसे इक्कीस कुल सहित मूर्ख भी मुक्तिके पदको प्राप्त होतेहैं, योगमें तत्पर तो क्यों न होंगे जो अंतर्योग और बहिर्योगको विशेषकर जानताहै वह मुझे और तुझेभी नमस्कार करने योग्य है और शेषमनुष्योंको वन्दना करने योग्य तो क्यों न होगा । कूर्मपुराणमें लिखाहै कि, एकसमय वा द्विकालमें वा त्रिकालमें वा नित्य जो महायोगका अभ्यास करते हैं वे महेश्वर (शिव) जानने । इन वचनोंसे योग सर्वोत्तम है ॥ ४७ ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥

गोमांसशब्दार्थमाह–गोशब्देनेति ॥ गोशब्देन गोइत्याकारकेण शब्देन गोपदेनेत्यर्थः । जिह्वा रसनोदिता कथिता । तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपार्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ–अब गोमांस शब्दके अर्थको कहते हैं कि, गोपदसे जिह्वा कही जातीहै और तालुके समीप जो ऊर्ध्वछिद्र उसमें जो जिह्वाका प्रवेश उसको गोमांसभक्षण कहते हैं–वह गोमांसभक्षण महापातकोंका नाश करनेवाला है ॥ ४८ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ॥
चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह–जिह्वेति । जिह्वायाः प्रवेशो लंबिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वाह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वाह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते । यः सारः चंद्राद्भ्रुवोरंतर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ–अब अमरवारुणी शब्दके अर्थको कहते हैं कि, तालुके ऊर्ध्व छिद्रमें जिह्वाके प्रवेशसे उत्पन्न हुई जो वह्नि (ऊष्मा) उससे उत्पन्न हुआ जो सार चंद्रमासे झरताहै अर्थात् भ्रुकुटियोंके मध्यमें वामभागमें स्थित चंद्रमासे बिंदुरूप सार गिरताहै उसको अमरवारुणी कहते हैं ॥ ४९ ॥

चुम्बंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥५०॥

चुंबतीति ॥ यदि लंबिकाग्रं लंबिकोर्ध्वविवरं चुंबंती स्पृशन्ती । अनिशं निरंतरम् । अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्यंदः स्यंदनं प्रस्रवणमस्यामस्तीति रसस्यंदिनी यस्य जिह्वा । क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा । कटुकं मरिचादि आम्लं चिंचाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना । मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा तथाशब्दः समुच्चये । एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वास्निग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्यंदने तथात्वमुक्तम् । तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अंतःकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वाभिमुखागमनं तस्योदीरणं निवारणम् । अष्टौ गुणा अणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्वममरभावः । सिद्धानामंगनाः सिद्धांगनाः सिद्धाश्चता अंगनाश्चेति वा तासामाकर्षणमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ५० ॥

भाषार्थ-यदि रस (सोमकलाका अमृत) का स्यंदन (झरना) करनेवाली और लवणके रसके समान और मरीच आदि कटु और इमली आदि अम्ल और दूध इनके सदृश और मधु (सहत) और घृत इनकी तुल्य इन सब विशेषणोंमें रसमें अनेक रस और मधुरता और स्निग्धता (चिकनाई) कही उस रसके झरनेवाली जिह्वाकोभी वैसीही कही समझना अर्थात् पूर्वोक्तप्रकारकी जिह्वा तालुके ऊपर वर्तमानछिद्रका वारंवार चुंबन (स्पर्श) करे तो उस मनुष्यकी व्याधियोंका हरण और वृद्ध अवस्थाका अन्त करना और सन्मुख आये शस्त्रका निवारण और अणिमा आदि आठ सिद्धि हैं जिसमें ऐसा अमरत्व (देवत्व) और सिद्धोंकी अंगनाओंका वा सिद्धरूप अंगनाओंका आकर्षण (बुलाना) उसको ये फल होते हैं ॥ ५० ॥

मूर्ध्नःषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन् ॥
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥५१॥

मूर्ध्न इति ॥ रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य। ऊर्ध्वमुत्तानमास्यं यस्य सः। ऊर्ध्वास्य इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता। परां शक्तिं कुंडलिनीं चिंतयन्ध्यायन्सन् प्राणान्साधनभूतान्। षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं कंठस्थाने वर्तमानं तस्मिन्गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरंगं च तत्कलाजलं सोम, कलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता त्रिविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान् धारयति। हठाद्धठयोगात्। प्राणात्साधनभूतादवाप्तमिति वा योजना। प्राणैरिति क्वचित्पाठः॥ ५१॥

भाषार्थ–जो योगी, जिह्वाको कपालके छिद्रमें लगाकर और ऊपरको मुख करके इससे विपरीत करणी सूचित की--और परमशक्ति जो कुण्डलिनी उसका ध्यान करता हुआ प्राणवायुके साधन और हठयोगसे प्राप्त और षोडश हैं पत्र जिसके ऐसे पद्ममें मस्तकसे पतित और निर्मल और धारारूप और ऊपरको हैं तरंग जिसके ऐसे चंद्रकलाके जलको पीता है व्याधिसे रहित और मृणाल (बिस) के समान कोमल है वपु (देह) जिसका ऐसा वह योगी चिरकालतक जीता है॥ ५१॥

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्॥
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः॥५२॥

यत्प्रालेयमिति॥ मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्ना मेरुस्तस्य मूर्धोपरिभागस्तस्यांतरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धांतरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरं तस्मिन्विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः। तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति। 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः। आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्वमित्युक्तम्। निम्नगानां गंगायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्यानामिडापिंगलासुषुम्नागांधारीप्रभृतीनां तत्तस्मिन्विवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चंद्रात्सोमाद्वपुषः

शरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चंद्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति। अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात् । सुकरणे बद्धे चंद्रसारस्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः अन्यथा सुकरणबंधनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात् ॥ ५२ ॥

भाषार्थ-मेरुके समान सबसे ऊँची जो सुषुम्ना नाडी उसके मूर्द्धा (ऊपरके भाग) के मध्यमें टिकाहुआ जो प्रालेय अर्थात् सोमकलाका जल है और जिसमें वह जल स्थित है ऐसा विवर (छिद्र) है उस विवरमें रजोगुण तमोगुणसे नहीं हुआ है तिरस्कार जिसका ऐसी बुद्धिवाले मनुष्य आत्मतत्त्वको कहते हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि, सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है-क्योंकि आत्मा विभु (व्यापक) है और खेचरीमुद्रामें उस विवरमें आत्मा प्रकट होताहै इससे उसमें तत्त्व है यह कहना ठीक है-और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा आदि शब्दोंका अर्थ जो इडा, पिंगला सुषुम्ना, गांधारी आदि नाडी हैं उनके मुखभी उसी छिद्रके समीपमें हैं और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरताहै उससेही मनुष्योंकी मृत्यु होती है तिससे शोभन करणरूप खेचरीमुद्राको बांधे (करै) क्योंकि खेचरीमुद्राके करनेसे चंद्रमाके सारके न झरनेसे मृत्यु न होगी और अन्यथा अर्थात् खेचरीमुद्राके न करनेसे देहका जो रूप, लावण्य, बल वज्रके समान संहनन (दृढता) रूपसिद्धि न होगी । भावार्थ यह है कि, जो सोमकलाका जल सुषुम्नाके मध्यमें स्थित है वह जल जिस छिद्रमें है उस छिद्रमेंही बुद्धिमान् मनुष्य परमात्माको कहतेहैं और उसी छिद्रमें समीप इडा पिंगला आदि नाडियोंका मुख है और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरताहै उससे मनुष्योंकी मृत्यु होती है तिससे खेचरी मुद्राको करै क्योंकि न करनेसे देहकी सिद्धि नहीं होसकती अर्थात् पुष्ट न होगा ॥ ५२ ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितम् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरंजने ॥ ५३ ॥

सुषिरमिति॥पंच यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैःसमन्वितं सम्यगनुगतम् ॥"सप्तस्रोतः समन्वितम्"इति क्वचित्पाठः । ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽजनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्तन्निरंजनं तस्मिन्निरंजने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् ॥ ५३ ॥

भावार्थ-इडा आदि नाडियोंके जो पांच स्रोत (प्रवाह) हैं उनसे युक्त जो सुषिर (छिद्र) है वह ज्ञानका उत्पादक है अर्थात् आत्माके प्रत्यक्षका जनक है-शोक मोह आदिसे रहित रूप निरंजन और शून्यरूप जो है उसके विषे खेचरीमुद्रा स्थिर होती है अर्थात् खेचरीमुद्राकी महिमासे उस छिद्रमें मनके प्रवेशसे आत्मज्ञान होताहै ॥ ५३ ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ॥

एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥५४॥

एकमिति ॥ सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यम् । तदुक्तं मांडूक्योपनिषदि 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' इति । खेचरी मुद्रा एका मुख्या । निरालंब आलंबनशून्य एको मुख्यो देवः । आलंबनपरित्यागे-नात्मनः स्वरूपावस्थानात् । उन्मन्यवस्थैका मुख्या । "एकेमुख्यान्यके वलाः" इत्यमर । बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥५४॥

भावार्थ-सृष्टिरूप जो प्रणव (ॐ) नामका बीज है वह मुख्य है सोई मांडूक्य उपनिषद्में कहा है कि, यह सम्पूर्ण जगत् ॐ इस अक्षररूप है-और खेचरीमुद्राभी एक (मुख्य) है और निरालंब अर्थात् आलंबनशून्य देव परमात्मा भी एकही है-और मनोन्मनी अवस्था भी एकही है । यहां एक शब्द इस अमरके अनुसार मुख्यका बोधक है अर्थात् बीज आदिमें जैसे प्रणव मुख्य है ऐसेही मुद्राओंमें खेचरीभी मुख्य है ॥ ५४ ॥

अथोड्डीयानबन्धः ।

बद्धो येन सुषम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः

तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥

उड्डीयानबंधं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह-बद्ध इति ॥ यतो यस्माद्धेतोर्येन बंधेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्नायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्नां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बंधो योगिभिर्मत्स्येंद्रादि-भिरुड्डीयनमाख्याभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्युत्प-त्त्योदाहृतः कथितः । सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम् । उत्पूर्वात् 'डीङ्-विहायसा गतौ' इत्यस्मात्करणे ल्युट् ॥ ५५ ॥

भावार्थ--अब उड्डीयानबंधको कहनेके अभिलाषी आचार्य प्रथम उड्डीयान शब्दके अर्थको कहते हैं कि, जिस बंधसे बँधाहुआ प्राण मध्य नाडीरूप सुषुम्नाके विषे उडजाय अर्थात् आकाशमेंसे सुषुम्नामें प्रविष्ट हो जाय तिसकारणसे यह बंध मत्स्येंद्र आदि योगि-योंने उड्डीयान नामका कहा है अर्थात् सुषुम्नामें जिससे प्राण उडै इस व्युत्पत्तिसे इसका उड्डीयान नाम रक्खा है ॥ ५५ ॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगाः ॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥

उड्डीनमिति॥महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः। सर्वदा देहावकाशे गतिमत्त्वात्। यस्माद्बंधादविश्रांतं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते। सुषुम्नायामित्यध्याहार्यम्। तदेव बंधविशेषमुड्डीयानमुड्डीयाननामकं स्यात्।तत्र तस्मिन्विषये बंधोऽभिधीयते बंधस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः॥५६

भाषार्थ-सदैव देहके अवकाशमें गति है जिसकी ऐसा महाखगरूप प्राण जिस बंधसे निरंतर उड्डीन (पक्षीके समान गति) को सुषुम्नामें करता है वही बंध उड्डीयान नामका होता है उसमें मैं बंधके स्वरूपको कहता हूँ ॥ ५६ ॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ ५७ ॥

उड्डीयानबंधमाह-उदर इति॥ उदरे तुंदे नाभेरूर्ध्वं चकारादधःउपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसँलग्नौ स्यातां तथा तानं तानवं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात्। णिजर्थोऽविवक्षितः। असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्तानरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बंधः। कीदृशः मृत्युरेव मातंगो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः॥ ५७ ॥

भाषार्थ-उदर (पेटके तुंद) में नाभिके ऊपर नीचे पश्चिम तान करै अर्थात् नाभिके ऊपरके और निचले भागको इस प्रकार तान (आकर्षण) करै जैसे वे दोनों भाग पृष्ठमें लगजांय यह नाभिके ऊर्ध्व अधोभागका तान उड्डीयान नामका बन्ध होता है और यह बंध मृत्युरूपी हस्तीको केसरी है अर्थात् नाशक है ॥ ५७ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥

उड्डीयानं त्विति॥ गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिर्गमनम्। सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात्।यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरंतरमभ्यसेत्।उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते।स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते५८

भाषार्थ-हितके उपदेष्टा गुरुने उड्डीयान सदैव स्वाभाविक कहा है अर्थात् प्राणका बहिर्गमन स्वभावसे सबको होता है परन्तु जो पुरुष इसका निरंतर अभ्यास करता है वृद्धभी तरुण (युवा) के समान आचरण करता है ॥ ५८ ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥

नाभेरिति॥नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः। यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात्। पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूपमुक्तम्। अथ तत्प्रशंसा। षण्मासं षण्मासपर्यंतम् उड्डीयानमित्यध्याहारः। अभ्यसेत्पुनःपुनरनुतिष्ठेत्स मृत्युं जयत्येव संशयो न। अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९)

भाषार्थ-नाभिके ऊपर और नीचे भलीप्रकार यत्नसे तान करै अर्थात् यत्न विशेषसे पश्चिमतान करे और षण्मास (छःमास) पर्यंत इस उड्डीयानबंधका वारंवार अभ्यास करै तो मृत्युको जीतता है इसमें संशय नहीं है ॥ ५९ ॥

सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥
उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां बंधानां मध्ये उड्डीयानकः उड्डीयानबंध एव। स्वार्थे कप्रत्ययः। उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्मादुड्डीयाने बंधे दृढे सति स्वाभाविकी भावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत्।उड्डीयानबंधे कृते विहंगमगत्या सुषुम्नायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात्। 'समाधौ मोक्षमाप्नोति'इति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

भाषार्थ-संपूर्ण बंधोंके मध्यमें उड्डीयान बंध उत्तम है, क्योंकि उड्डीयान बंधके दृढ होनेपर स्वाभाविकी मुक्ति होती है अर्थात् उड्डीयान बंधके करानेसे पक्षीके समान गतिसे सुषुम्नाविषे प्राण मस्तकमें चलाजाता है उस समाधिमें इस वाक्यके अनुसार अनायाससे मुक्ति होजाती है ॥ ६० ॥

अथ मूलबंधः।

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

मूलबंधमाह-पार्ष्णिभागेनेति ॥ पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधः प्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुंचयेत्संकोचयेत्। अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबंधोऽभिधीयते कथ्यते। पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुंचनं मूलबंध इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

भाषार्थ-अब मूलबंधमुद्राका वर्णन करते हैं कि, पार्ष्णिके भाग (गुल्फोंका अधःप्रदेश) से योनिस्थानको अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागको भलीप्रकार पीडित (दबा) करके गुदाका संकोच करे और अपान वायुका ऊपरको आकर्षण करै यह मूलबंध होताहै ऐसा योगशास्त्रको जाननेवाले आचार्य कहतेहैं ॥ ६१ ॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः ॥६२॥

अधोगतिमिति ॥ यः अधोगतिम् अधोऽर्वाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुंचनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्नायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबंधं मूलस्य मूलस्थानस्य बंधनं मूलबन्धस्तं मूलबंधमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबंधशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बंधनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यम् ॥६२॥

भाषार्थ-जो बन्ध अधः (नीचेको) गति है जिसकी ऐसे अपान वायुको बलसे ऊर्ध्वगामी करता है अर्थात् जिसके करनेसे अपान सुषुम्नामें पहुँच जाता है योगके अभ्यासी उस बन्धको मूलबन्ध कहते हैं अर्थात् मूलस्थानका जिससे बन्धन हो वह मूलबन्ध अन्वर्थनामसे कहाताहै इस श्लोकसे मूलबन्ध शब्दका अर्थ कहा और पिछले श्लोकसे बन्धनका प्रकार कहाहै इससे पुनरुक्तिदोष नहीं है ॥ ६२ ॥

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ॥
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥६३॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबंधमाह-गुदमिति ॥ पार्ष्ण्या गुल्फयोरधोभागेन गुदं वायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारं वारं पुनःपुनर्वायुमपानमाकुंचयेद्गुदस्याकुंचनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबंध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ-अब योगबीजमें कही हुई रीतिसे मूलबन्धको कहते हैं कि, पार्ष्णिसे गुदाको भलीप्रकार पीडित करके वायुको बलसे इसप्रकार वारंवार आकर्षण करै जैसे जो सुषुम्नाके ऊपरले भागमें पहुंचजाय यह मूलबन्ध कहाताहै इस श्लोकमें तु यह शब्द पिछले मूलबंधसे विशेष जतानेके लिये है ॥ ६३ ॥

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४॥

अथ मूलबंधगुणानाह—प्राणापानाविति ॥ प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वाधोगती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः बिंदुरनुस्वारस्तौ मूलबंधेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसंसिद्धिं यच्छतो ददतः। अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न । संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः । मूलबंधे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिंदुना सहैक्यं बिंदुनाधाय मूर्ध्नि गच्छतः, ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—अब मूलबंधके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, नीचेको है गति जिनकी ऐसे प्राण और अपान दोनों वायु और अनाहत (स्वाभाविक) ध्वनि और बिंदु (अनुस्वार) ये दोनों मूलबन्धसे एकताको प्राप्त होकर योगाभ्यासीको योगकी सिद्धिको भलीप्रकार देते हैं इसमें संशय नहीं है, तात्पर्य यह है कि, मूलबन्धके करनेसे अपान प्राणके संग एकताको प्राप्त होकर सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै फिर नादकी प्रकटता होती है फिर नादके संग प्राण अपान हृदयके ऊपर जाकर और नादके संग बिंदुकी एकताको करके मस्तकमें चले जाते हैं फिर योगसिद्धि होजाती है ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥६५॥

अपानप्राणयोरिति ॥ सततं मूलबंधनान्मूलबंधमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

भाषार्थ--निरंतर मूलबन्धमुद्राके करनेसे अपान और प्राणकी एकता और देहमें संचित हुये मूत्र और मलका क्षय होताहै तिससे वृद्धभी मनुष्य युवा होजाताहै ॥ ६५ ॥

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६॥

अपान इति । मूलबंधनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तस्मिन्तादृशे सति वह्निमंडलं वह्नेर्मण्डलं त्रिकोणं नाभे-

धोभागेऽस्ति । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन-' देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभम् । त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥ मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥ ' इति । तदा तस्मिन्काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते । ' वर्धते ' इति क्वचित्पाठः ॥ ६६ ॥

भाषार्थ-मूलबन्ध करनेसे अधोगामी अपान जब ऊर्ध्वगामी होकर अग्निमंडलमें पहुँच जाता है अर्थात् नाभिके अधोभागमें वर्तमान त्रिकोण जठराग्निके मंडलमें प्रविष्ट होजाता है उस समय अपानवायुसे ताडित की हुई जो जठराग्निकी शिखा है वह दीर्घ होजाती है अर्थात् बढ जाती है सो याज्ञवल्क्यने कहा है कि, तपाये हुये सुवर्णके समान अग्निका स्थान मनुष्योंके देहके मध्यमें त्रिकोण और पशुओंके देहमें चतुष्कोण है और पक्षियोंके देहमें गोल है यह आपके प्रति मैं सत्य कहता हूँ और अग्निके मध्यमें सदैव सूक्ष्म शिखा टिकती है ॥ ६६ ॥

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ॥
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

तत इति ॥ ततस्तदनंतरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ । उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो गच्छतः । ततोऽनलशिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपकादिति वा योजना । तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यंतमधिकं दीप्तो भवति । तथेति पादपूरणे । अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राणसंगत्याऽत्यंतं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

भाषार्थ-फिर अग्नि और अपान ये दोनों अग्निकी दीर्घ शिखासे उष्णरूप हुये ऊर्ध्वगति प्राणमें पहुंच जातेहैं तिस प्राणवायुके समागमसे देहमें उत्पन्नहुई जठराग्नि अत्यंत प्रज्वलित होजाती है अर्थात् अपानकी ऊर्ध्वगतिसे दीहुई अग्नि अत्यंत प्रदीप्त होजाती है ॥ ६७ ॥

तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ॥
दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८ ॥

तेनेति ॥ तेन ज्वलनस्यात्यंतं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुंडलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति ।

दंडेनाहता दंडाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निश्वस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ–तिस अग्निके अत्यंत दीपनसे भलीप्रकार तपायमान हुई कुण्डलिनी शक्ति इसप्रकार भलीप्रकारसे प्रबुद्ध होजाती है और कोमल होजाती है जैसे दंडसे हतीहुई सार्पिणी कोमल होजाती है ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत् ॥
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥६९॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ ततो ऋजुताप्राप्त्यनंतरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अंतरं मध्यं गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबंधो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

भाषार्थ–उसके अनंतर बिलमें प्रविष्ट सर्पिणीके समान ब्रह्मनाडी (सुषुम्ना) के मध्यमें कुण्डलिनी प्रविष्ट होजाती है तिससे योगाभ्यासियोंको मूलबंध प्रतिदिन करने योग्य है ॥ ६९ ॥

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ॥
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

जालंधरबंधमाह–कंठमिति ॥ कंठे गले बिलमाकुंच्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरंगुलांतरितप्रदेशे चिबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात् । अयं कंठाकुंचनपूर्वकं चतुरंगुलांतरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चिबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्यायत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बंधः । कीदृशः ? जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीति विनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

भाषार्थ–अब जालंधरबंधको कहते हैं कि, कंठके बिलका संकोच करके वक्षःस्थलके समीपरूप हृदयमें चार अंगुलके अंतरपर चिबुक (ठोडी) को दृढरीतिसे स्थापन करै, कंठके आकुंचनपूर्वक चार अंगुलके अन्तरपर हृदयके समीपमें नीचेको नमनपूर्वक चिबुकका स्थापनरूप यह जालंधर नामका बन्ध कहा है और यह बन्ध जरा और मृत्युका विनाशक है ॥ ७० ॥

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभो जलम् ॥
ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह-बध्नातीति ॥ हि यस्माच्छिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति । अधो गंतुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति । ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बंधः जालं दशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । कीदृशः कंठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

भाषार्थ-अब जालंधरपदके अर्थको कहते हैं कि, जिससे यह बन्ध शिरा. (नाडी) ओंके समूहरूप जालको बांधता है और कपालके छिद्ररूप नभका जो जल है उसका प्रतिबन्ध करता है तिससे यह जालंधर नामका अन्वर्थ बंध जालंधरबंध कहाता है क्योंकि जाल नाम समुदाय और जलोंके समूहको कहते हैं और यह जालंधरबंध कंठमें जो दुःखोंका समूह है उसका नाशक है ॥ ७१ ॥

जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥

जालंधरगुणानाह-जालंधर इति ॥ कंठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोचं आकुंचनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कंठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बंधे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति ॥ वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यंतरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

भाषार्थ-अब जालंधरबंधके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, कंठका संकोच है स्वरूप जिसका ऐसे जालंधरबंधके करनेपर पूर्वोक्त अमृत जठराग्निमें नहीं पडता है और वायुका भी कोप नहीं होता अर्थात् अन्य नाडियोंमें वायुका गमन नहीं होता है ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ॥
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् ॥ ७३ ॥

कंठसंकोचनेनेति । दृढं गाढं कंठसंकोचनेनैव कंठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिंगले स्तंभयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कंठस्थाने स्थितं विशुद्धाख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयम् । कीदृशं षोडशाधारबंधनं षोडशसंख्याका ये आधारा अंगुष्ठाधारादिब्रह्मरंध्रांतास्तेषां बंधनं बंधनकारकम् । 'अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिंगनाभयः ।

हृद्ग्रीवाकंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा॥ भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ॥' तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धांतादवगंतव्यः ॥ ७३ ॥

भाषार्थ-यह जालंधरबंध दृढतासे कंठके संकोच करनेसेही इडा पिंगलारूप दोनों नाडियोंका स्तंभन करता है और कंठस्थानमें स्थित इन सोलह आधारोंका बंधन करनेवाला मध्य चक्र (विशुद्धनाम) जानना । अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, ऊरु, सीविनी, लिंग, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कंठदेश, लंबिका, नासिका, भ्रुकुटियोंका मध्य, मस्तक, मूर्द्धा, ब्रह्मरंध्र योगियोंमें श्रेष्ठोंने ये सोलह आधार कहे हैं इन आधारोंमें धारणाका फल विशेष तो गोरक्षसिद्धांत ग्रंथसे जानना ।। ७३ ।।

मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् ॥
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥

उक्तस्य बंधत्रयस्योपयोगमाह-मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुंच्य सम्यगाकुंच्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बंधं कारयेत्कुर्यात । णिजर्थोऽविवक्षितः । इडां पिंगलां गंगां यमुनां च बद्ध्वा । जालंधरबंधेनेत्यर्थः । कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेत्' इत्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्नामार्गे वाहयेद्गमयेत्प्राणमिति शेषः ॥ ७४ ॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्त तीनों बन्धोंके उपयोगका वर्णन करते हैं कि मूलस्थानको अर्थात् आधारभूत आधारस्थानका भलीप्रकार संकोच करके नाभिके पश्चिमतानरूप उड्डीयानबंधको करै और जालंधरबंधसे अर्थात् कंठके संकोचसेही इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंको स्तंभन करै फिर प्राणको पश्चिममार्गमें (सुषुम्नामें) प्राप्त करै ॥ ७४ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ॥
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

अनेनेति ॥ अनेनैवोक्तेनैव विधानेन पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति । गत्यभावपूर्वकं रंध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयान्मृत्युजरारोगादिकम् । तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततंद्रालस्यादि ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

भाषार्थ-इस पूर्वोक्त विधानसेही प्राण लय (स्थिरता) को प्राप्त हो जाता है, गमनकी निवृत्ति होनेपर ब्रह्मरंध्रमें स्थितिही प्राणका लय होता है उस प्राणके लयसे मृत्यु, जरा, रोग और आदिपदसे वलीपलित, तंद्रा, आलस्य आदि नहीं होते हैं ।। ७५ ।।

बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ॥
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥७६॥

बंधत्रयमिति ॥ इदं पूर्वोक्तं बंधत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबंधेऽतिप्रशस्तं महासिद्धैर्मत्स्येंद्रादिभिश्चकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिःसेवितं सर्वेषां हठतंत्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानंति ॥७६॥

भाषार्थ-ये पूर्वोक्त तीनों बन्ध श्रेष्ठ हैं अर्थात् षोडशाधार बन्धमें अत्यंत उत्तम हैं और मत्स्येंद्र आदि योगिजन और वसिष्ठ आदि मुनियोंके सेवित हैं और सम्पूर्ण जो हठयोगके उपाय हैं उनका साधन है यह बात गोरक्ष आदि योगीजन जानतेहैं ॥ ७६ ॥

यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ॥
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥ ७७ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्धातत्वेन पिंडस्य जराकरणं तावदाह-यत्किंचिदिति॥ दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्माद्दिव्यरूपिणश्चंद्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यात्किंचिद्यात्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति तत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति । तदुक्तं गोरक्षनाथेन-'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमाः॥वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः। करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते॥' इति । तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रसनेन पिंडो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

भाषार्थ-अब विपरीत करणीके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम उसके उपोद्धातरूप होनेसे पिंडके जराकरणका वर्णन करतेहैं कि, दिव्य (सर्वोत्तम) सुधामय है रूप जिसमें ऐसे तालुके मूलमें स्थित चंद्रमासे जो कुछ अमृत झरताहै उस सम्पूर्ण अमृतको नाभिमें स्थित अग्निरूप सूर्य ग्रस लेताहै सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि, नाभिके देशमें अग्निरूप सूर्य स्थित है और तालुके मूलमें अमृतरूप चंद्रमा स्थित है अधोमुख होकर चन्द्रमा जिस अमृतको वर्षताहै और ऊर्ध्वमुख होकर सूर्य उस अमृतको ग्रस लेताहै उसमें वह करण (मुद्रा) करना चाहिये जिससे अमृतकी नष्टता न हो अर्थात् पुष्टि रहै फिर सूर्यके किये उस अमृतके ग्रसनेसे बिंदु (देह) वृद्ध अवस्थासे युक्त होजाता है ॥ ७७ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् ॥
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥

तत्रेति॥तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वंच्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति तद्गुरूपदेशतःगुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यम् । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

भाषार्थ-उस अमृतकी रक्षा करनेमें जिसे सूर्यके मुखकी वंचना होय ऐसा आगे कहनेयोग्य मुद्रारूप करण है और वह करण गुरुके उपदेशसे जानने योग्य है और कोटियों शास्त्रोंके अर्थसे जाननेको शक्य नहीं है ॥ ७८ ॥

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ॥
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥

विपरीतकरणीमाह-ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधःअधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यमृतात्मा चंद्रो भवति । प्रथमांतपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधःशशी भवति । यत्तदोर्पद-योरध्याहारेणान्वयः।इयं विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी। ऊर्ध्वाधः स्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणेनान्वर्थागुरुवाक्येन गुरोर्वाक्येनैवलभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥ ७९ ॥

भाषार्थ-अब विपरीतकरणीमुद्राके स्वरूपका वर्णन करतेहैं कि ऊपरके भागमें है नाभि जिसके और अधोभागमें है तालु जिसके ऐसा जो योगी उसके ऊपरके भागमें तो अग्निरूप सूर्य होजाय और अधोभागमें अमृतरूप चंद्रमा हो जाय और जब 'ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुः' यह प्रथमांत पाठ है तब यदा तदा पदोंके अध्याहारसे इसप्रकार अन्वय करना कि, जब ऊपरके भागमें नाभि और नीचेके भागमें तालु जिसके ऐसा योगी होजाय तब ऊपर सूर्य और नीचे चंद्रमा होजाते हैं यह विपरीत (उलटी) नामकी करणी ऊपर और नीचे स्थित जो चंद्रमा सूर्य हैं उनके नीचे ऊपर क्रमसे करनेसे अन्वर्थ है अर्थात् विपरीतकरणीका अर्थ तभी घटसकताहै जब पूर्वोक्त मुद्रा कीजाय और यह विपरीतकरणी गुरुके वाक्यसे मिल सक्तीहै अन्यथा नहीं ॥ ७९ ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ॥
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

नित्यमिति ॥ नित्यं प्रतिदिनमभ्यासोऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्यावहितस्य जठराग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणम् ॥ तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनंबहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । च पादपूरणे ॥ ८० ॥

भाषार्थ-प्रतिदिनके अभ्यासमें युक्त जो योगी है उसकी जठराग्निको यह विपरीतकरणी बढाती है और इसीसे उस विपरीतकरणीके अभ्यासी योगीको यथेच्छ अधिक भोजन संपादन करनेयोग्य है अर्थात् अल्पभोजन न करे ॥ ८० ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥८१॥

अल्पाहार इति ॥ यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्दहेत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणक्रियामाह-अधःशिरा इति । अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिरा कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यंताभ्यां बाहुभ्यां स्कंधाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यंतरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

भाषार्थ-क्योंकि, यदि विपरीतकरणीका अभ्यासी योगी अल्पाहारी हो अर्थात् अल्पभोजन कियाजाता है तो जठराग्नि उसी क्षणमात्रमें देहको भस्म करदेती है। अब ऊपर नीचे स्थित चन्द्रमा सूर्यके नीचे ऊपर करनेकी क्रियाको कहते हैं कि, प्रथम दिनमें क्षणभर नीचेको शिर करै अर्थात् भुजा दोनों स्कंध गल और शिर पृष्ठभाग (पीठ) से भूमिका स्पर्श करके नीचे शिर किये स्थित हो और ऊपरको पाद करै अर्थात् प्रारम्भके दिन क्षणमात्र इसप्रकार स्थित रहै ॥ ८१ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥८२॥

क्षणादिति ॥ दिनेदिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणम्

एकदिनवृद्ध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात् ॥ विपरीतकरणीगुणानाह वलितमिति ॥ वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च, षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्वमुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते । साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः । यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत् । एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्वमपि सूचितम् । तदुक्तं विष्णुधर्मे–'स्वदेहारंभकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः । यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम्' ॥ इति । विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम्–"यथा प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः । अत एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यत" इति । भागवतेऽप्युक्तम्–' देहं जह्यात्समाधिना ' इति ॥ ८२ ॥

भाषार्थ–फिर प्रतिदिन क्षणसे कुछ२ अभ्यास अधिक करै अर्थात् दो क्षण, तीन क्षण, काल एक २ दिनकी वृद्धिसे अभ्यासको बढाता रहै. अब विपरीतकरणीके गुणोंको कहते है कि, पूर्वोक्त प्रकारके करनेसे वलीपलित छः मासके अनंतर नहीं दीखते हैं अर्थात् यौवन अवस्था होजाती है और जो साधक प्रतिदिन प्रहरमात्र अभ्यास करता है वह मृत्युको जीतता है. इससे यह भी सूचित किया कि, योग प्रारब्धकर्मकाभी प्रतिबन्धक है सोई विष्णुधर्ममें कहा है कि, अपने देहके आरंभककर्मकाभी नाशक जो योग है हे पृथ्वीपाल ! उस योगको तू सुन और विद्यारण्यने जीवन्मुक्तिग्रंथमें यह कहा है कि, तत्त्वज्ञानसे प्रारब्धकर्म जैसे प्रबल है ऐसेही प्रारब्धकर्मसे योगाभ्यास प्रबल हैं इसीसे उद्दालक, वीतहव्य आदि योगियोंने अपनी इच्छासे देहका त्याग किया. भागवतमेंभी लिखा है कि, समाधिसे देहको त्यागै ॥ ८२ ॥

अथ वज्रोलि ।

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ८३ ॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह–स्वेच्छयेति ॥ योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

भाषार्थ-वज्रोलीमुद्राकी प्रवृत्तिको उत्पन्न करनेके लिये प्रथम वज्रोलीके फलका वर्णन करते हैं कि, जो योगाभ्यासी वज्रोलीमुद्राको अपने अनुभवसे जानता है वह योगी योगशास्त्रमें कहेहुये नियमोंके विना अपनी इच्छाके अनुसार व्यवहार करताहुआभी अणिमा आदि सिद्धियोंका भोक्ता है अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि नियमोंके विनाभी उसको सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ८३ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह-तत्रेति ॥ तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं वस्तुद्वयं वक्ष्ये कथयिष्ये। कीदृशं वस्तुद्वयं यस्यकस्यचित् यस्यकस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा। 'दुःस्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशात् ॥ किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह क्षीरमिति। एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानंतरमिंद्रियनैर्बल्यात्तद्बलार्थं क्षीरपानं युक्तम्। केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः। तस्यांतर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तम्। द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

भाषार्थ-अब वज्रोलीमुद्राके साधक दो वस्तुओंका वर्णन करते हैं कि, उस वज्रोलीकी सिद्धिमें जिसकिसी निर्धन पुरुषको दुर्लभ जो दो वस्तु हैं उनको मैं कहता हूँ उन दोनोंमें एक दूध है और दूसरी वशवर्तिनी नारी है अर्थात् मैथुनके अनंतर निर्बल हुई इंद्रियोंकी प्रबलताके लिये दूधका पान योग्य है और कोई यह कहते हैं कि, अभ्यासकालमें आकर्षणाके लिये दूधका पान उत्तम है सो ठीक नहीं, क्योंकि अंतर्गत हुए दूधका आकर्षण नहीं हो सकता है ॥ ८४ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ॥
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह-मेहनेनेति ॥ मेहनेन स्त्रीसंगानंतरं विंदोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथवा नार्यपि योषिदपि शनैर्मंदं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुंचनमूर्ध्वमुपर्याकुंचनं मेढ्राकुंचनेन विंदोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुयात्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

भाषार्थ-अब वज्रोलीमुद्राके प्रकारका वर्णन करते हैं कि, पुरुष अथवा स्त्री मेहन (बिंदुका झरना) से शनैः २ भलीप्रकार यत्नसे ऊपरको आकुंचन (संकोच) का अभ्यास

करे अर्थात् लिंग इंद्रियके आकुंचनसे बिंदुके ऊपर खींचनेका अभ्यास करे तो वज्रोलीमुद्रा सिद्धिको प्राप्त होती है ॥ ८५ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ॥
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वांगप्रक्रियामाह—यत्नत इति ॥ शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मंदंमंदं यथाग्रेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेढ्रविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुन पुनः कुर्वीत ॥ अथ वज्रोलीसाधनप्रक्रिया । सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशांगुलमात्रां शलाकां कारयित्वा मेढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकांगुलमात्रां शलाकां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यंगुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यंगुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशांगुलमात्रप्रवेशे मेढ्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशांगुलमात्रां द्व्यंगुलमात्रवक्रामूर्ध्वमुखीं कारयित्वा तां द्वादशांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यंगुलमात्रं बहिःस्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेढ्रप्रवेशितद्वादशांगुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यंगुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति । ततो जलस्य मेढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत् जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिंदोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसेत् । बिंद्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्य खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यक् भवति ॥ ८६ ॥

भाषार्थ–अब वज्रोली मुद्राकी पूर्वाङ्ग क्रियाका वर्णन करतेहैं कि, सीसे आदिकी उत्तमनालीसे शनैः २ इसप्रकार लिंगके छिद्रमें वायुके संचार (भलीप्रकार प्रवेश) के लिये यत्नसे फूत्कारको करै. जैसे अग्निके प्रज्वलनार्थ फूत्कारको करते हैं । अब वज्रोलीकी साधनप्रक्रियाको कहते हैं कि, सीसेसे बनीहुई लिंगके प्रवेशके योग्य चौदह अंगुलकी शलाई बनवाकर उसके लिंगमें प्रवेशका अभ्यास करे । पहिले दिन एक अंगुलमात्र प्रवेश करै दूसरे दिन दो अंगुल मात्र और तीसरे दिन तीन अंगुलमात्र प्रवेश करै इसप्रकार क्रमसे वृद्धि करनेपर बारह अंगुल शलाकाके प्रवेश होनेके अनंतर लिंगका मार्ग शुद्ध होजाताहै फिर उसीप्रकारकी और चौदह अंगुलकी ऐसी शलाई बनवावे जो दो अंगुल टेढी हो और ऊर्ध्वमुखी हो उसकोभी बारह अंगुल भर लिंगके

छिद्रमें प्रवेश करे, टेढा और ऊर्ध्वमुख जो दो अंगुल मात्र है उसको बाहर रक्खे फिर सुनारके अग्निधमनेके नालकी सदृश नालको लेकर उस नालके अग्रभागको लिंगमें प्रवेश किये बारह अंगुलके नालका टेढा और ऊर्ध्वमुख दो अंगुल है उसके मध्यमें प्रवेश करके फूत्कार करे तिससे भलीप्रकार लिंगके मार्गकी शुद्धि होतीहै फिर लिंगसे जलके आकर्ष-णका अभ्यास करे जलके आकर्षणकी सिद्धि होनेपर पूर्वोक्तश्लोकमें कही हुई रीतिके अनु-सार बिंदुके ऊपरको आकर्षणका अभ्यास करे बिंदुके ऊर्ध्व आकर्षणकी सिद्धि होनेपर वज्रोलीमुद्राकी सिद्धि होतीहै यह मुद्रा उस योगीको ही सिद्ध होतीहै जिसने प्राणवायुको जीत लियाहै अन्यको नहीं होती है और खेचरीमुद्रा और प्राणका जय होनेपर तो भली-प्रकार सिद्ध होतीहै। भावार्थ यह है कि, लिंगके छिद्रमें वायुके संचार करनेके लिये उत-मनालसे शनैः २ यत्नपूर्वक फूत्कारको करे ॥ ८६ ॥

नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ॥
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

एवं वज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह—नारीभग इति॥नारीभगे स्त्रीयोनौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिंदुश्च पतद्बिंदुस्तं पतद्बिंदुं रतिकाले पतंतं बिंदुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत् । पतना-त्पूर्वमेव। यदि पतनात्पूर्वं बिंदोराकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदि-त्याहचलितं चेति। चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिंदुं चकारात्तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत् ॥ ८७ ॥

भाषार्थ—अब वज्रोलीमुद्राकी सिद्धिके अनंतरका जो साधन है उसका वर्णन करते हैं कि, नारीके भग (योनि) में पडते हुये बिंदु (वीर्य) का अभ्याससे ऊपरको आकर्षण करे अर्थात् पडनेसे पूर्वही ऊपरको खींचले यदि पतनसे पूर्व बिंदुका आकर्षण न हो सकै तो पतितहुये बिंदुका आकर्षण करै कि चलितहुआ अपना बिंदु और चकारसे स्त्रीका रज इनकी ऊपरको आकर्षण करके रक्षा करे अर्थात् मस्तकरूप जो वीर्यका स्थान है उसमें स्थापन करे ॥ ८७ ॥

एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥
मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥ ८८ ॥

वज्रोलीगुणानाह—एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या बिंदुं यः संरक्षयेत् सम्यक् रक्षयेत् स योगवियोगाभिज्ञो मृत्युं जयत्यभिभवति। यतो बिंदोः

शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति । बिंदोर्धारणं बिंदुधारणं तस्मा-द्बिंदुधारणाज्जीवनं भवति । तस्माद्बिंदुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

भाषार्थ-अब वज्रोलीके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, इसप्रकार जो योगी बिंदुकी भली-प्रकार रक्षा करताहै योगका ज्ञाता वह योगी मृत्युको जीतताहै क्योंकि, बिंदुके पडनेसे मरण और बिंदुकी रक्षासे जीवन होताहै तिससे बिंदुकी रक्षा करै ॥ ८८ ॥

सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ॥
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥८९॥

सुगंध इति ॥ योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे बिंदोः शुक्रस्य धारणं तस्मात्सुगंधः शोभनो गंधो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद्बिंदुः स्थिर-स्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

भाषार्थ-वज्रोलीके अभ्यासकर्ता योगीके देहमें बिंदुके धारण करनेसे सुगंध होजाती है और देहमें जबतक बिंदु स्थिर है तबतक कालका भय कहां अर्थात् कालका भय नहीं रहताहै ॥ ८९ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

चित्तायत्तमिति ॥ हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनं जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणं शुक्राधीनं तस्माच्छुक्रं बिंदुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं रक्षणीय-मित्यर्थः । एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

भाषार्थ-जिससे मनुष्योंका शुक्र (वीर्य) चित्तके आधीन है अर्थात् चित्तके चलाय-मान होनेपर चलायमान और चित्तके स्थिर होनेपर स्थिर होजाताहै इससे चित्तके वशी-भूत है और मनुष्योंका जीवन शुक्रके आधीन है अर्थात् शुक्रकी स्थिरतासे जीवन और शुक्रकी नष्टतासे मरण होताहै इससे जीवन शुक्रके आधीन है तिससे शुक्र (बिंदु) और मनकी भली प्रकार यत्नसे रक्षा करै ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदु च रक्षयेत् ॥
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥

ऋतुमत्या इति । एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती

तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं विंदुं च रक्षयेत्। पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति मेढ्रेणेति। अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेढ्रेण शुक्रेंद्रियेण सम्यग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् रजो विंदुं चेति कर्माध्याहारः। अयं श्लोकः क्षिप्तः ॥ ९१ ॥

भाषार्थ-ऋतु हुआ है जिसके ऐसी स्त्रीके रज (वीर्य) की और अपने विंदुकीभी इसी। पूर्वोक्त अभ्याससे रक्षा करे अर्थात् ऋतुस्नानके अनंतर रज और वीर्य दोनोकी रक्षा करे पूर्वोक्त अभ्यासकोही दिखाते हैं कि, वज्रोलीके अभ्यासरूप योगका ज्ञाता योगी लिंग इंद्रियसे रज और विंदुका भलीप्रकार ऊपरको आकर्षण करे (खींचे) यह श्लोक क्षेपक है अर्थात् मूलका नहीं है ॥ ९१ ॥

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ॥
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह-सहजोलिश्चेति। वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च। तत्र हेतुः-एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः। एकशब्दाद्भावप्रधानात्पंचम्यास्तसिः। सहजोलिमाह जल इति। गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वेत्युत्तरश्लोकेनान्वेति ॥ ९२ ॥

भाषार्थ-अब सहजोली और अमरोलीके मुद्राओंका वर्णन करते हैं कि, वज्रोलीमुद्राके भेदविशेषही सहजोली और अमरोली हैं, क्योंकि तीनोंका फल एक है उन दोनोंमें सहजोलीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, दग्ध किये हुये गोमयोंका जो सुंदर भस्म है उसको जलमें डालकर अर्थात् जलमिश्रित उस भस्मको करे ॥ ९२ ॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम् ॥
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३ ॥

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनंतरं सुखेनैवानंदेनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं शोभनान्यंगानि स्वांगानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कंधभुजादीनि तेषु लेपनम् ॥ ९३ ॥

भाषार्थ-वज्रोलीमुद्राकी सिद्धिके लिये किये हुए मैथुनके अनंतर आनंदसे बैठेहुये और उत्साहसे त्याग दिया है रतिका व्यापार जिन्होंने ऐसे स्त्री और पुरुष दोनों पूर्वोक्त भस्मको अपने मस्तक, शिर, नेत्र, हृदय, स्कंध, भुजा आदि अंगोंपर लेपन करे ॥ ९३ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥९४॥

सहजोलिरिति ॥ इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिः । कीदृशी सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोल्याख्या योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः । 'योग संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यभिधानात् । कीदृशो योगः भोगेन युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

भाषार्थ-यह पूर्वोक्त भस्मलेपनरूप क्रिया मत्स्येंद्र आदि योगीजनोंने सहजोलिमुद्रा कहा है और यह योगीजनोंको सदैव श्रद्धा करने योग्य है, यह सहजोलि नामका योग (उपाय) शुभकारी जानना और भोगसे युक्त भी यह योग मोक्षका दाता है ॥ ९४ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥९५॥

अयं योग इति ॥ अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवंतः सुकृतिनस्तेषां पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यंतीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां मत्सरान्निष्क्रान्ता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेषरहितानाम् । 'मत्सरोन्यगुणद्वेषः' इत्यमरः । तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत् । मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत् ॥ ९५ ॥

भाषार्थ-और यह सहजोलिरूप योग पुण्यवान् और धीर और तत्त्व (ब्रह्म) के जो द्रष्टा हैं और अन्यके गुणोंमें द्वेषरहित (निर्मत्सर) हैं ऐसे पुरुषोंकोही सिद्ध होता है और जो मत्सरी हैं अन्यके गुणोंमें द्वेष (वैर) के कर्ता हैं उनको सिद्ध नहीं होता है ॥ ९५ ॥

पित्तोल्वणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा ॥ निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ॥ ९६ ॥

अथामरोली ।

अमरोलीमाह-पित्तोल्वणत्वादिति ॥ पित्तेनोल्वणात्कटा पित्तोल्वण

तस्या भावःपित्तोल्वणत्वं तस्मात् । यथा प्रथमा पूर्वा याऽम्बुनःशिवांबुनो धारा तां विहाय शिवांबुनिर्गमनसमये किंचित्पूर्वां धारां त्यक्त्वा निर्गतः सारो यस्याःसा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निः-सारत्वेनांत्यधारा अन्त्या चरमा या धारा तां विहाय किंचिदंत्यां धारां त्यक्त्वा । शीतला पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते । खंडो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खंडमतस्तस्मिन् खंडमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापा-लिके खण्डकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः। अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥९६॥

भाषार्थ-अब अमरोलीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, पित्त है उल्वण (अधिक) जिसमें ऐसी जो प्रथम शिवांबु (बिंदु) की धारा है उसको और नहीं है सार अंश जिसमें ऐसी जो अन्त्यधारा है उसको छोडकर अर्थात् पहली और पिछली धारोंको किंचित् २ त्याग-कर पित्त आदि दोष और सारतासे रहित शीतल मध्य धाराका जिस रीतिसे नित्य सेवन (पान) कियाजाय वह क्रिया योगविशेष जो खंड उसके माननेवाले कापालिक मतमें अर्थात् खंडकापालिक मतमें अमरोली नामकी मुद्रा प्रसिद्ध है ॥ ९६ ॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने ॥
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥

अमरीमिति॥अमरीं शिवांबु यः पुमान् नित्यं पिबेत् । नस्यं कुर्वन् श्वासेनामर्या घ्राणांतर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिनेदिने प्रतिदिनं वज्रोलीं 'मेहनेन शनैः' इति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीतिकथ्यते।कापालिकैरिति शेषः।अमरीपानामरी।नस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः॥९७

भाषार्थ-जो पुरुष शिवांबुरुप अमरीको नासिकासे नित्य पीता है अर्थात् नासिकाके छिद्रद्वारा अमरीको अंतर्गत करता है और मैथुनसे प्रतिदिन वज्रोलीका भलीप्रकार अभ्यास करता है उस मुद्राको कापालिक अमरोली कहते हैं अर्थात् नासिकाके छिद्रसे पान की अमरी वज्रोलीके अनंतर अमरोली कहाती है ॥ ९७ ॥

अभ्यासान्निःसृतां चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥

अभ्यासादिति ॥ अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चांद्रीं चंद्रस्येयं चांद्री तां चांद्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयोजयेत् । उत्तमांगेषु शिरःकपालनेत्रस्कंधकण्ठहृदयभुजादिषु धारयेत् ।

भस्ममिश्रितां चांद्रीमिति शेषः । दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहित-विप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवांबुकल्पादवगंतव्याः ॥९८॥

भाषार्थ-अमरोलीमुद्राके अभ्याससे निकसी जो चंद्रमाकी सुधा (अमृत) है उसको विभूति (भस्म) के संग मिलाकर शिर, कपाल, नेत्र, स्कंध, कंठ, हृदय, भुजा आदि उत्तम अंगोंमें धारण करै तो मनुष्य दिव्यदृष्टि होजाता है अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूर) के जो पदार्थ उनके देखनेयोग्य दृष्टि होजाती है और अमरीसेवनके विशेष भेद तो शिवांबुकल्पग्रंथसे जानने ॥ ९८ ॥

पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥९०॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह-पुंसो बिंदुमिति॥सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य बिंदुं वीर्यं समाकुंच्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत्। सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया 'पुंसो बिंदुसमायुक्तम्' इति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम् ॥ ९९ ॥

भाषार्थ-पुरुषको वज्रोलीके साधनको कहकर नारीकी वज्रोलीके साधनको वर्णन करते हैं कि, भलीप्रकारसे कियेहुये अभ्यासकी चतुरतासे पुरुषके बिंदुका भलीप्रकार आकर्षण करके यदि नारी वज्रोलीमुद्रासे अपने रजकी रक्षा करै तो वह भी योगिनी जाननी (पुंसो बिंदुसमायुक्तं) यह पाठ होय तो यह अर्थ समझना कि, पुरुषके बिंदुसे युक्त अपने रजकी रक्षा करै तो वह नारी योगिनी होती है ॥ ९९ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ॥
तस्या शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥ १०० ॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह-तस्या इति ॥तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः। अत्र संशयो न संदेहो न । तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि बिंदुभावं गच्छति । बिंदुना सहैकीभवतीत्यर्थः । अमृतसिद्धौ-'बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम् । अनयोर्बाह्ययोगेन सृष्टिः संजायते नृणाम् ॥यदाभ्यंतरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते । बिंदुश्चंद्रमयः प्रोक्तो

रजः सूर्यमयं तथा ॥ अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिंदुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा ॥ तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठंते सूक्ष्मरूपतः' इति ॥ १०० ॥

भाषार्थ-अब नारीकी कीहुई वज्रोलीके फलको कहते हैं कि, वज्रोलीके अभ्यास करनेमें शीलवती उस नारीका किंचित् भी रज नष्ट नहीं होता है अर्थात् अपने स्थानसे पतित नहीं होता इसमें संशय नहीं है और उस नारीके शरीरमें नादभी बिंदुरूपको प्राप्त होजाता है अर्थात् मूलाधारसे उठाहुआ नाद हृदयके ऊपर बिंदुके संग एक होजाता है अमृतसिद्धिग्रंथमें लिखा है कि पुरुषके वीर्यको बीज और नारीके वीर्यको रज कहते हैं इन दोनोंका देहसे बाहर योग होनेसे मनुष्योंके संतान होती है यदि दोनोंका भीतरही योग होजाय तो वह योगी कहा जाता है उन दोनोंमें बिंदु चंद्रमय है और रज सूर्यमय है इन दोनोंके संगमसे परम पद होता है और यह बिंदु स्वर्ग, मोक्ष, धर्म और अधर्मका दाता है उस बिंदुके मध्यमें सूक्ष्मरूपसे संपूर्ण देवता टिकते हैं ॥ १०० ॥

स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ॥
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥१०१॥

स बिंदुरिति ॥ स पुंसो बिंदुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥ १०१ ॥

भाषार्थ-पुरुषका वह बिंदु और नारीका वह रज दोनों एक होकर वज्रोलीमुद्राके अभ्यासयोगसे यदि अपने देहहीमें स्थित रहजायँ तो संपूर्ण सिद्धियोंको देते हैं ॥१०१॥

रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥१०२॥

रक्षेदिति ॥ या नार्याकुंचनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरिस्थाने नीत्वा रजो रक्षेत् । हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्यं च वस्तु वेत्ति जानाति ॥ ध्रुवमिति निश्चितम् । खेंऽतरिक्षे चरतीति खेचर्यंतरिक्षचरी भवेत् ॥ १०२ ॥

भाषार्थ-जो नारी अपनी योनिके संकोचसे रजको ऊर्ध्वस्थानमें लेजाकर रजकी रक्षा करे वह योगिनी होती है और भूत, भविष्यत्, वर्तमान वस्तुको जान सकती है और यह निश्चित है कि वह खेचरी होती है अर्थात् उसको आकाशमें गमन करनेका सामर्थ्य होजाता है ॥ १०२ ॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभते । अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः । कीदृशो योगः भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ १०३ ॥

भावार्थ–और वज्रोलीके अभ्यासयोगसे रूप, लावण्य, वज्रोलीकी तुल्यतारूप देहकी सिद्धिको प्राप्त होती है और यह वज्रोलीके अभ्यासका योग पुण्यका उत्पादक है और भोगोंके भोगनेपर भी मुक्तिको देता है ॥ १०३ ॥

अथ शक्तिचालनम् ।

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ॥
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१०४॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्धाततया कुंडलीपर्यायान् तथा मोक्षद्वारविभेदनादिकं चाह सप्तभिः–कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १, कुंडलिनी २, भुजंगी ३, शक्तिः ४, ईश्वरी ५, कुण्डली ६, अरुंधती ७, चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः ॥ १०४ ॥

भाषार्थ–शक्तिचालनमुद्रा कहनेके अभिलाषी आचार्य कुंडलिनीके पर्याय और कुंडलिनीसे मोक्षद्वारविभेदन (खोलना) आदिका वर्णन करते हैं कि, कुटिलांगी १, कुंडलिनी २, भुजंगी ३, शक्ति ४, ईश्वरी ५, कुंडली ६, अरुंधती ७, ये सात शब्द पर्यायवाचक हैं अर्थात् सातोंका एकही अर्थ है ॥ १०४ ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥

उद्घाटयेदिति ॥ यथा येन प्रकारेण पुमान् कुंचिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्बलात्कपाटमररमुद्घाटयेदुत्सारयेत् । हठादिति देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र संबध्यते।तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुंडलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्नामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत् । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥१०५॥

भाषार्थ–जैसे पुरुष कपाटों (किवाँड) के अर्गल (ताला) आदिको

हठ (बल) से कुंचिका (ताली) से उद्घाटन करता है, तिसीप्रकार योगीभी हठयोगके अभ्याससे कुंडलिनीमुद्राकेद्वारा अर्थात् मोक्षके दाता सुषुम्नाके मार्गको भेदन करता है क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि, सुषुम्ना मार्गसे ऊपर (ब्रह्मलोक) को जाता हुआ मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १०५ ॥

येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥

मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६ ॥

येनेति ॥ आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरंध्रम् । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । येन मार्गेण सुषुम्नामार्गेण गंतव्यं गमनार्हमस्ति तद्द्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुद्ध्वा परमेश्वरी कुंडलिनी प्रसुप्ता निद्रितास्ति ॥ १०६ ॥

भाषार्थ-रोगसे उत्पन्न हुआ दुःखरूप आमय जिसमें नहीं है ऐसा ब्रह्मस्थान जिस मार्गसे जाने योग्य होता है अर्थात् जिसमार्गसे ब्रह्मस्थानको जाते हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखाहै कि, उस सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है उस सुषुम्ना मार्गके द्वारको मुखसे आच्छादन करके अर्थात् रोककर परमेश्वरी (कुंडलिनी) सोती है ॥ १०६ ॥

कंदोर्ध्वं कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥

बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ १०७ ॥

कंदोर्ध्वमिति ॥ कुंडली शक्तिः कंदोर्ध्वं कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता मूढानां बंधनाय सुप्ता । योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवंति । मूढास्तदज्ञानाद्बद्धास्तिष्ठंतीति भावः । तां कुंडलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतंत्राणां कुंडल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ १०७ ॥

भाषार्थ-कंदके ऊपरभागमें सोतीहुई कुंडलिनी योगीजनोंके मोक्षार्थ होती है और वह पूर्वोक्त कुण्डलिनी मूढोंके बन्धनार्थ होती है अर्थात् योगीजन कुण्डलिनीको चलाकर मुक्त होजाते हैं और उसके अज्ञानी मूढ बन्धनमें पडे रहते हैं उस कुण्डलिनीको जो जानता है वही योगका ज्ञाता है क्योंकि संपूर्ण योगके तंत्र कुण्डलिनीके अधीन हैं ॥ १०७ ॥

कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥

सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०८ ॥

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्तिः सर्पवद्भुजगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुंडली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबंधान्निवृत्तः। अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥ १०८ ॥

भाषार्थ–योगीजनोंने जो सूर्यके समान कुटिल है आकार जिसका ऐसी कहीहै वह कुण्डली शक्ति जिसने चलादी है अर्थात् मूलाधारसे ऊपर पहुँचादी है वह मुक्त है अर्थात् बन्धनसे निवृत्त है इसमें संशय नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति है कि, उस सुषुम्नासे ऊपरको जाताहुआ योगी मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १०८ ॥

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीम् ॥
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०९॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्गंगायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गंगायमुने इडापिंगले तयोर्मध्ये सुषुम्नामार्गे तपस्विनी निरशनस्थितेः । बालरंडां बालरंडाशब्दवाच्यां कुंडलीं बलात्कारेण हठेन गृह्णीयात् । तत्तस्या गंगायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम् ॥ १०९ ॥

भाषार्थ–गंगा यमुना हैं आधार जिनके वा गंगा यमुनारूप जो इडा पिंगला नाडी हैं उनके मध्यसे अर्थात् सुषुम्नाके मार्गमें तपस्विनी अर्थात् भोजनरहित बालरण्डा हैं उसको बलात्कार (हठयोग) से ग्रहण करे वह कुण्डलीका जो बलात्कारसे ग्रहण है वही व्यापकरूप विष्णुके परमपदका प्रापक है ॥ १०९ ॥

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥ ११० ॥

गंगायमुनादिपदार्थमाह–इडेति॥ इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गंगा गंगापदवाच्या, पिंगला, दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या नदी । इडापिंगलयोर्मध्ये मध्यगता या कुण्डली सा बालरंडा बालरंडाशब्दवाच्या ॥ ११० ॥

भषार्थ–अब गंगा यमुना आदि पदार्थोंका वर्णन करते हैं कि, इडा अर्थात् वामनिःश्वासकी नाडी भगवती गंगा कहाती हैं और पिंगलाके अर्थात् दक्षिणनिःश्वासकी नाडी यमुना नदी कहाती हैं और इडा और पिंगला मध्यसे वर्तमान जो कुण्डली है वह बालरण्डा कहाती है ॥ ११० ॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ॥
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ १११ ॥

शक्तिचालनमाह-पुच्छे इति ॥ सुप्तां निद्रितां भुजंगीं तां कुंडलिनीं पुच्छे प्रगृहीत्वोद्बोधयेत्प्रबोधयेत्सा, शक्तिः कुंडली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वंतिष्ठत इत्यन्वयः। एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगंतव्यम् ॥ १११ ॥

भाषार्थ-अब शक्तिचालनमुद्राका वर्णन करतेहैं कि सोती हुई भुजगी (कुंडली) के पुच्छको ग्रहण करके उस भुजगीका प्रबोधन करे (जगावे) तो वह कुंडली निद्राको त्यागकर हठसे ऊपरको स्थित होजाती है इसका रहस्य (गुप्तक्रिया) गुरुमुखसे जानने योग्य है ॥ १११ ॥

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ॥
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ११२

अवस्थिता इति ॥ अवस्थितावाक् स्थिता मूलाधारस्थिता फणावती भुजंगी सा कुंडलिनी सूर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा। सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्द्धमेव प्रहरार्धमात्रं परिचालनीया परितश्चालयितुं योग्या। परिधानयुक्तिर्देशिकाद्बोध्या ॥ ११२ ॥

भाषार्थ-नीचे मूलाधारमें स्थित वह फणावती कुंडलिनी सूर्यसे पूरण करनेके अनंतर परिधानमें जो युक्ति है उससे ग्रहण करके सायंकाल और प्रातःकालके समय प्रतिदिन आधे प्रहर पर्यंत चारों तर्फ चालन करने योग्य है परिधानकी युक्ति गुरुमुखसे जाननी चाहिये ॥ ११२ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ ११३ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाहऊर्ध्वमिति ॥ मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरिनाभिमेढ्रयोर्मध्ये। एतेन कंदस्य स्थानमुक्तम्। तथा चोक्तं गोरक्षशतके-"ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत्। तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः" इति। याज्ञवल्क्यः-"गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः। देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानामितीरितम् ॥

कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलम् । चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम् ॥ अंडाकृतिवदाकारभूषितंच त्वगादिभिः । चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगम् " इति । गुदाद्व्यंगुलोपर्येकांगुलं मध्यं तस्मान्नवांगुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशांगुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम् । चतुर्णामंगुलीनां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलप्रमाणं विस्तारम् विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणम् । चतुरंगुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदंबरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम् । कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ ११३ ॥

भाषार्थ–कंदके पीडनेसे शक्तिचालनके कथनाभिलाषी आचार्य प्रथम कंदके स्थान और स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, मूलस्थानसे वितस्तिभर ऊपर अर्थात् नाभिस्थल और लिंगके मध्यमें इसवर्णनसे कंदका स्थान कहा सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि लिंगसे ऊपर और नाभिसे नीचे पक्षियोंके अंडेके समान कंदकी योनि है उसमें बहत्तर सहस्र नाडी उत्पन्नहुई हैं. याज्ञवल्क्यने कहाहै कि, गुदासे दो अंगुल ऊपर लिंगसे दो अंगुल नीचे मनुष्योंके देह (तनु) का मध्य कहा है मनुष्योंका कंदस्थान देहके मध्यसे नौअंगुल ऊपर चार अंगुल चौडा और चार अंगुल लंबा है और त्वचा आदिसे अंडाकारके समान शोभित है और चतुष्पद और तिरछी योनियोंके और पक्षियोंके तुंद मध्यमें होताहै अर्थात् गुदाके दो अंगुलोंसे ऊपर एक अंगुलका मध्य और उससे नौ अंगुल कंदस्थान हुआ. ये सब मिलकर बारह अंगुलका प्रमाण जिसका ऐसा वितस्तिमात्र हुआ और वह कंदस्थान चार अंगुल और कोमल और धवल और वेष्टित किये (लपेटे) वस्त्रके समान है रूप जिसका ऐसा योगीजनोंने कहाहै । भावार्थ यह है कि, मूलस्थानसे ऊपर वितस्तिमात्र चार अंगुलभर कोमल शुक्ल लपेटे हुये वस्त्रके समान कंदस्थान योगीजनोंने कहा है ॥११३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥११४॥

सतीति ॥ वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रन्थी तयोर्देशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । ' तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ' इत्यमरः। पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात्। चकारा- द्धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत्। गुल्फा -

दूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥११४॥

भाषार्थ-वज्रासन करनेके अनंतर हाथोंसे गुल्फोंके समीपके स्थानमें दोनों चरणोंको दृढतासे धारण करै अर्थात् गुल्फोंके कुछेक ऊपरके भागमें चरणोंको हाथोंसे खूब पकडे और हाथोंसे पकडे हुये पादोंसे कंदके स्थानमें कंदको पीडित करै अर्थात् गुल्फसे ऊपर पादोंको हाथोंसे पकडकर नाभिके अधोभागमें कंदको पीडित करै (दाबै) ॥ ११४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम्॥
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५ ॥

वज्रासन इति॥वज्रासने स्थितो योगी कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां कृत्वेत्यर्थः। अनंतरं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात्। एवंरीत्या कुंडलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात्। वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥११५ ॥

भाषार्थ-वज्रासनमें स्थित (बैठाहुआ) योगी कुंडलीको चलाकर अर्थात् शक्तिचालन मुद्राको करके उसके अनंतर अर्थात् शक्तिचालनके पीछे भस्त्रानामके कुंभक प्राणायामको करै, इसरीतिसे कुंडलीका शीघ्र प्रबोधन करै यद्यपि वज्रासनमें शक्तिका चालन पहिले कह आयेहैं फिर जो वज्रासनका कथन है वह इसनियमके लिये है कि, शक्तिचालनके अनंतर भस्त्रामें वज्रासनही करना, अन्य नहीं ॥ ११५ ॥

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः ॥
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ११६ ॥

भानोरिति॥भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुंचनं कुर्यात्। नाभेराकुंचनेनैव तस्याकुंचनं भवति।ततो भानोराकुंचनात्कुंडलीं शक्तिं चालयेत्। एवं यः करोति मृत्योर्वक्त्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः। न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ११६ ॥

भाषार्थ-नाभिदेशमें स्थित सूर्यका आकुंचन करै और वह सूर्यका आकुंचन नाभिके आकुंचनसेही होताहै, फिर सूर्यके आकुंचनसे कुण्डली शक्तिका चालन करै, जो योगी इसप्रकारकी क्रियाको करताहै मृत्युके मुखमें गये हुयेभी उस योगीको कालका भय किसप्रकार हो सकताहै ? अर्थात् मृत्युका भय नहीं रहता ॥ ११६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ ११७॥

मुहूर्तद्वयमिति॥मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यंतं तद्वधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

भाषार्थ-दो मुहूर्त अर्थात् चार घडीपर्यंत निर्भय (अवश्य) चलायमान करनेसे सुषुम्नामें प्राप्त हुई यह शक्ति (कुण्डली) किंचित् (कुछ) ऊपरको खिंच जातीहै ॥ ११७ ॥

तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् ॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥ ११८ ॥

तेनेति॥तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुंडली तस्याःप्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेशमार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति। तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतःस्वयमेव सुषुम्नां व्रजति गच्छति । सुषुम्नामुखात्प्रागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

भाषार्थ-तिस ऊपरको आकर्षण करनेसे उस प्रसिद्ध सुषुम्नाके मुख अर्थात् प्रवेशके मार्गको निश्चयसे त्याग देतीहैं तिसमार्गके त्यागसे प्राणवायु स्वतः (स्वयं) ही सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै क्योंकि, कुण्डलिनी तो सुषुम्नाके मुखपरसे पहिलेही चली गई, अवरोधके अभाव होनेसे प्राणका स्वयंही प्रवेश होजाताहै ॥ ११८ ॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९ ॥

तस्मादिति॥यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणःसुषुम्नां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ११९ ॥

भाषार्थ-जिससे शक्तिके चालनसे प्राण सुषुम्नामें प्राप्त होताहै तिससे सुखसे सोई हुई अरुंधती (कुंडलिनी) को नित्य भलीप्रकार चलायमान करै क्योंकि तिसशक्तिके चलायमान करनेसेही रोगी कास श्वास जरा आदि रोगोंसे निवृत्त होजाताहै ॥ ११९ ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥१२०॥

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति। अत्रास्मिन्नर्थे बहूक्तेन बहुप्रशंसनेन किं, न किमपीत्यर्थः। कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ १२० ॥

भाषार्थ-जिसयोगीने शक्ति चलायमान करली है वह योगी अणिमा आदि सिद्धियोंका पात्र होजाताहै और इसमें अधिक कहनेसे क्या है कालकोभी लीलासे अर्थात् अनायाससे जीत लेताहै ॥ १२० ॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥१२१॥

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनंतरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ॥ "नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चंद्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकायास्ततः। छित्त्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत् ॥" ॥१२१॥

भाषार्थ-श्रोत्र आदि इंद्रियोंसहित लिंगके संयममें तत्पर जो योगी है और नित्य हितकारी प्रमित अर्थात् चतुर्थांशसे न्यून भोजन करताहै शक्तिचालनके अभ्यासी उस योगीको मंडल (४० दिन) के अनन्तर प्राणायामकी सिद्धिको देखतेहैं सोई कहा है कि, नासिकाके दक्षिणमार्गमें बहनेवाले पवनसे अत्यंत बढाया और घंटिका (कण्ठ) से पूर्व चंद्रमाके समान अमृत है शरीर जिसका ऐसा प्राण जिसके अनंतर विशालकाल और अग्नि ये वशमें हुई उसकुण्डलीके अभ्यासशील योगीकी कायाको भ्रुकुटीके छिद्रमें वर्तमान नाडीमें पहुँचकर और कायाका छेदन करके इस प्रकार पुनः अत्यन्त नवीन करताहै जैसे छेदन करनेसे वृक्षका स्कंध (डाला) नवीन होजाता है ॥ १२१ ॥

कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२ ॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा। अथानंतरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात्। नित्यं प्रतिदिनम्। एवमुक्तप्रकारे-

मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ ११७॥

मुहूर्तद्वयमिति॥मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यंतं तदवधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

भाषार्थ-दो मुहूर्त अर्थात् चार घडीपर्यंत निर्भय (अवश्य) चलायमान करनेसे सुषुम्नामें प्राप्त हुई यह शक्ति (कुण्डली) किंचित् (कुछ) ऊपरको खिंच जातीहै ॥ ११७ ॥

तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् ॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥ ११८ ॥

तेनेति॥तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुंडली तस्याःप्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेशमार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति। तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतःस्वयमेव सुषुम्नां व्रजति गच्छति । सुषुम्नामुखात्प्रागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

भाषार्थ-तिस ऊपरको आकर्षण करनेसे उस प्रसिद्ध सुषुम्नाके मुख अर्थात् प्रवेशके मार्गको निश्चयसे त्याग देतीहैं तिसमार्गके त्यागसे प्राणवायु स्वतः (स्वयं) ही सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै क्योंकि, कुण्डलिनी तो सुषुम्नाके मुखपरसे पहिलेही चली गई, अवरोधके अभाव होनेसे प्राणका स्वयंही प्रवेश होजाताहै ॥ ११८ ॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९ ॥

तस्मादिति॥यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणःसुषुम्नां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ११९ ॥

भाषार्थ-जिससे शक्तिके चालनसे प्राण सुषुम्नामें प्राप्त होताहै तिससे सुखसे सोई हुई अरुंधती (कुंडलिनी) को नित्य भलीप्रकार चलायमान करै क्योंकि तिसशक्तिके चलायमान करनेसेही रोगी कास श्वास जरा आदि रोगोंसे निवृत्त होजाताहै ॥ ११९ ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२० ॥

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति। अत्रास्मिन्नर्थे बहूक्तेन बहुप्रशंसनेन किं, न किमपीत्यर्थः। कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ १२० ॥

भाषार्थ-जिसयोगीने शक्ति चलायमान करली है वह योगी अणिमा आदि सिद्धियोंका पात्र होजाताहै और इसमें अधिक कहनेसे क्या है कालकोभी लीलासे अर्थात् अनायाससे जीत लेताहै ॥ १२० ॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥१२१॥

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनंतरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ॥ "नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चंद्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकायास्ततः। छित्त्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत् ॥"॥१२१॥

भाषार्थ-श्रोत्र आदि इंद्रियोंसहित लिंगके संयममें तत्पर जो योगी है और नित्य हितकारी प्रमित अर्थात् चतुर्थांशसे न्यून भोजन करताहै शक्तिचालनके अभ्यासी उस योगीको मंडल (४० दिन) के अनन्तर प्राणायामकी सिद्धिको देखतेहैं सोई कहा है कि, नासिकाके दक्षिणमार्गमें बहनेवाले पवनसे अत्यंत बढाया और घंटिका (कण्ठ) से पूर्व चंद्रमाके समान अमृत है शरीर जिसका ऐसा प्राण जिसके अनंतर विशालकाल और अग्नि ये वशमें हुई उसकुण्डलीके अभ्यासशील योगीकी कायाको भ्रुकुटीके छिद्रमें वर्तमान नाडीमें पहुँचकर और कायाका छेदन करके इस प्रकार पुनः अत्यन्त नवीन करताहै जैसे छेदन धरनेसे वृक्षका स्कंध (डाला) नवीन होजाता है ॥ १२१ ॥

कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२ ॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा। अथानंतरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात्। नित्यं प्रतिदिनम्। एवमुक्तप्रकारे-

णाभ्यसतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ १२२ ॥

भाषार्थ-कुण्डलीको चलायमान करके उसके अनन्तरही विशेषकर भस्त्रानामके कुम्भकप्राणायामको करै, इसप्रकार प्रतिदिन अभ्यास करताहुआ जो यमी (योगी) है उसको यमका भय कहां रहताहै, क्योंकि योगीके देहका त्याग अपने अधीन होताहै ॥ १२२ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ॥
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥ १२३ ॥

द्वासप्ततीति ॥ द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुण्डल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः । न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ १२३ ॥

भाषार्थ-बहत्तर सहस्र नाडियोंकी मलशुद्धिके करनेमें शक्तिचालनके विना प्रक्षालन (धोना) का अन्य कौन उपाय है अर्थात् कोई नहीं है, शक्तिचालनमुद्राके करनेसेही संपूर्ण नाडियोंके मलकी शुद्धि होती है ॥ १२३ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ॥
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२४ ॥

इयं त्विति ॥ इयं मध्यमा नाडी सुषुम्ना योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ १२४ ॥

भाषार्थ-यह सुषुम्नारूप मध्यमनाडी योगियोंके दृढअभ्याससे स्वस्तिक आदि आसन प्राणायाम और महामुद्रा इनके करनेसे सरल होजाती है ॥ १२४ ॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ॥
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ १२५ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वांतःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषाम् । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथवा परान्या उन्मन्यादिका भद्रां शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ १२५ ॥

भाषार्थ-अन्यविषयोंसे वृत्तिके रोकनेसे चित्तकी एकाग्रतारूप समाधिसे मनको धारणामें स्थित करके अभ्यास करनेमें जो निद्रा और आलस्यसे रहित हैं उनको शांभवी मुद्रा वा अन्यउन्मनी आदि मुद्रा शोभन योगसिद्धिको देती हैं इससे यह कहा कि, हठयोग राजयोगका उपकारक है ॥ १२५ ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ॥
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ १२६ ॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह-राजयोगमिति॥वृत्त्यंतरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः। 'हठं विना राजयोगः' इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणःराजयोगादासनं लक्ष्यते। राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धिरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः राजयोगं विना निशेव निशा कुंभको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात्। निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुंभको लक्ष्यते। राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्रापि विविधापि विलक्षणापि वा न राजते न शोभते। पक्षांतरे। राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबंधस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते।'शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात्'। राजा चन्द्रः। 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' इति श्रुतेः। तस्य योगं संबंधं विना निशा रात्रिर्न राजते। राजयोगं विना नृपसंबंधं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः। विचित्रापि। पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि। निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि। मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्रापि न राजते ॥ १२६ ॥

भाषार्थ-अब राजयोगके विना आसन आदिकी निष्फलताको उपचारसे वर्णन करते हैं कि, अन्यवृत्तियोंको रोककर आत्मविषयक जो धारावाहिक निर्विकल्प मनकी वृत्ति उसे राजयोग कहते हैं और वह राजयोग-'हठके विना राजयोग वृथा है' इस वचनमें सूचित कर आये हैं उस राजयोगके वा उसके साधनोंके विना पृथ्वी (स्थिरता) शोभित नहीं होतीहै यहां पृथ्वीशब्दसे स्थिरता और राजयोगपदसे आसन लेना अर्थात् राजयोगके विना परमपुरुषार्थ (मोक्ष) रूप मोक्ष नहीं होसकता. यह हेतु आगेभी सम्पूर्ण वाक्योंमें समझना और राजयोगके विना निशा शोभित नहीं होती अर्थात् निशाके समान कुंभकप्राणायाम शोभित नहीं होता है, क्योंकि जैसे निशामें राजपुरुषोंका संचार नहीं होता है इसीप्रकार कुंभकमें प्राणोंका संचार नहीं होताहै इससे निशापदसे कुंभक लेते हैं और राज-

योगके विना विचित्र भी मुद्रा अर्थात् अनेक प्रकारकी वा विलक्षण महामुद्रा आदि मुद्रा शोभित नहीं होतीहै । पक्षांतरमें इस श्लोकका यह अर्थ है कि, राजाके संबन्ध विना रत्न आदिके उत्पन्न करनेवालीभी पृथ्वीकी शोभा नहीं है क्योंकि राजाकी शिक्षाके विना नाना-उपद्रव भूमिमें होते हैं और राजा (चन्द्रमा) के सम्बन्ध विना ग्रहनक्षत्रोंसे विचित्रभी निशाकी शोभा नहीं होती है इस श्रुतिसे यहां राजपदसे चन्द्रमा लेते हैं कि, 'सोम हम ब्राह्मणोंका राजाहै' और राजाके योगविना मुद्राकी शोभा नहीं अर्थात् रेखा आदिसे विचित्रभी मुद्रा राजाके हाथसे किये हुये चिह्नविशेषरूप राजसम्बन्धके विना ग्रहण करने योग्य नहीं होती है ॥ १२६ ॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत ॥
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ १२७ ॥

मारुतस्येति॥मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुंभकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत् । मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ १२७ ॥

भाषार्थ-प्राणवायुकी जो कुंभकमुद्रा आदि संपूर्ण विधि है उसकी मनसे युक्त होकर (मन लगाकर) भलीप्रकार अभ्यास करे और प्राणवायुकी विधिसे अन्य जो विषय उनमें मनकी प्रवृत्तिको न करै ॥ १२७ ॥

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ॥
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ १२८ ॥

मुद्रा उपसंहरति॥इतीति॥आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः । तासु मुद्रासु मध्ये एकैकापि प्रत्येकमपि या काचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्यणिमादिप्रदात्री वा॥१२८॥

भाषार्थ-अब मुद्राओंकी समाप्तिका वर्णन करते हैं कि, आदिनाथ, (महादेव) ने ये दश मुद्रा कही हैं उन मुद्राओंमें एक २ भी मुद्रा (प्रत्येक) अर्थात् जो कोई मुद्रा योगीजनोंको अणिमा आदि महासिद्धियोंकी प्रदायिनी (देनेवाली) है ॥ १२८ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ॥
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ १२९ ॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति-उपदेशमिति ॥ य पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरंपरारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति। स एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः। स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः। ईश्वराभिन्न एव स इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

भाषार्थ-सांप्रदायिक (योगियों गुरुपरम्परासे चले आये) महामुद्रा आदिके उपदेशको जो पुरुष देता है वही श्रीमान् गुरु अर्थात् सब गुरुओंमें श्रेष्ठ है और वही स्वामी अर्थात् प्रभु है और वही साक्षात् परमेश्वरस्वरूप है ॥ १२९ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ॥
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥१३०॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

तस्येति ॥ तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुंभकाद्यनुष्ठान विषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान्। आदरश्च विहिततपःकरणं भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्धं साकं कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

भाषार्थ-तिन मुद्राओंके उपदेशकर्ता गुरुके वाक्यमें अर्थात् आसन कुंभक आदिके अनुष्ठान विषयकी और युक्ताहार विहारकी चेष्टा आदि विषयोंकी आज्ञामें तत्पर (आदरवान्) और शास्त्रोक्त तप करनेरूप उस आदरके अनंतर बारंबार महामुद्रा आदिके अभ्यासमें सावधान होकर मनुष्य अणिमा आदि सिद्धियों सहित कालके वंचनको प्राप्त होता है अर्थात् उसको सिद्धि और कालसे निर्भयता ये दोनों प्राप्त होते हैं ॥१३०॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां पं० मिहरचंद्रकृतभाषाविवृतिसहितायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः समाप्तः ॥ ३ ॥

यही कारण है कि उसके बोध विना योगसम्बन्धी समस्त उपाय अधूरे रह जाते हैं ॥ ८३ ॥

कुण्डलिनीके जागृत होनेके लिये आपने लिखा है कि मुद्राओंका अभ्यास करना चाहिये।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जार्गात कुण्डली।
तदासर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपिच ॥ ८४ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ८५ ॥

—हठयोगप्रदीपिका.

गुरुकी कृपा एवं अपने अभ्यासबलसे जब कुण्डली शक्तिका जागरण होता है तब समस्त पद्म यानी षट्चक्र विकसित हो जाते हैं और ब्रह्म आदि ग्रन्थियाँ भी खुल जाती हैं। इसलिये उस कुण्डलिनीको जो ब्रह्मद्वारको रोके हुंए सो रही है जगाना हो तो प्रयत्नपूर्वक मुद्राओंका अभ्यास करना चाहिये ॥ ८४–८५ ॥

मुद्राओंका लक्षणसहित वर्णन निम्नलिखित है :—

मुद्राओंके भेद

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ॥ ८६ ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्राणी शक्तिधारिणी ।
ताडागी माण्डवी मुद्रा शाम्भवी पंचधारिणी ॥ ८७ ॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजंगिनी ।
पंचविंशतिसंख्याका मुद्राः प्रोक्ता महर्षिभिः ॥ ८८ ॥

घेरण्डसंहिताकार पच्चीस प्रकारकी मुद्रा लिखते हैं कि—१ महामुद्रा २ नभोमुद्रा, ३ उड्डीयानबन्ध, ४ जलन्धरबन्ध, ५ मूलबन्ध, ६ महाबन्ध, ७ महावेध, ८ खेचरी, ९ विपरीतकरणी, १० योनिमुद्रा, ११ वज्राणी, १२ शक्तिधारिणी, १३ ताडागी, १४ माण्डवी, १५ शाम्भवी, १६ पार्थिवधारिणी, १७ आम्भसीधारिणी, १८ वैश्वानरीधारिणी, १९ वायवीधारिणी २० नभोधारिणी, २१ अश्विनी, २२ पाशिनी, २३ काकी, २४ मातङ्गी और २५ भुजंगिनी, इन भेदोंसे मुद्राके पच्चीस नाम महर्षियोंने बताये हैं ॥ ८६–८८ ॥

Scanned by CamScanner

(१) महामुद्राकी विधि

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य यत्नतो दृढम् ।
याम्यपादं प्रसार्याथ करैर्धृतपदाङ्गुलिः ॥ ८९ ॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधा एषा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥ ९० ॥

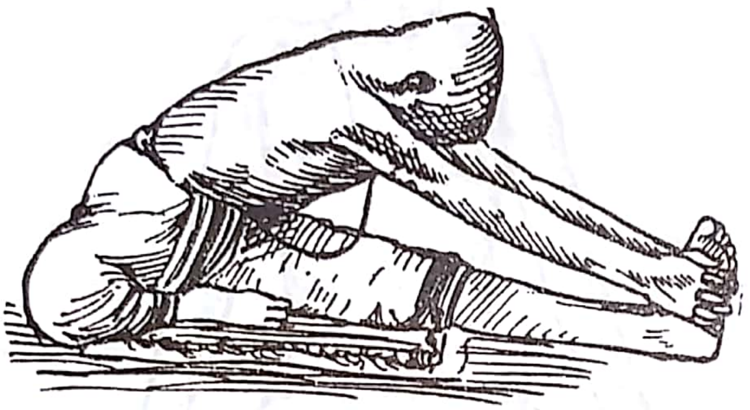

बायें पैरकी एडीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ लगाकर दाहिने पैरको दण्डाकार फैलाकर एड़ी भूमिपर रख दे, फिर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको परस्पर भिड़ाकर दाहिने पैरकी अँगुलियोंको पकड ले और कंठको सिकोड कर भौंहोंके मध्यभागको निश्चल दृष्टिसे देखता रहे । इस प्रकारकी क्रियाका नाम महात्माओंने 'महामुद्रा' बताया है । इसका अभ्यास अनुलोम और विलोम रीतिसे अर्थात् बायें अंगसे करके उसी तरह दाहिने अंगसे भी करना चाहिये । इस मुद्राके लगानेका फल यह होता है कि—"ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् । तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥" इडा और पिंगला नाडीको त्यागकर प्राणवायुको कुंडलीके पास सरलतासे पहुँचानेके लिये सुषुम्णा नाडीवाला मार्ग उपस्थित हो जाता है, इसलिये कुंडलीके जगानेका अनुकूल अवसर प्राप्त हो जाता है ॥ ८९–९० ॥

(२) नभोमुद्राकी विधि

यत्रतत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं शनैः ॥
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥ ९१ ॥

जब कभी साधकको इच्छा हो तब ऊपरको जीभ निकाल कर धीरे २ वायुको खींचकर कुम्भक करे । यह समस्त रोगोंके नाश करनेवाली 'नभोमुद्रा' नामक मुद्रा कहाती है ॥ ९१ ॥

Scanned by CamScanner

(३) उड्डीयान बन्ध

उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्वं तु कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ।। ९२ ।।

दोनों जानुओंको मोड़कर पैरोंके तलुओंको परस्पर भिडाकर उसीके सहारे बैठ जाय। फिर उदरगत नाभिचक्रके नीचे तथा ऊपरके भाग का आकर्षण इस प्रकार करे कि दोनों भाग जाकर पृष्ठभागमें लग जायँ। इसमें नाभिके ऊपरी और निचले भागका तनाव होता है, इस तनावसे सुषुम्णा नाडीके मध्य जानेके लिये प्राणवायुका मार्ग जो अवरुद्ध रहता है वह अनुकूल हो जाता है, अत एव सुखपूर्वक सुषुम्णाकी ओर प्राण-पक्षी उड जाता है, इसी लिये इस बन्धका अन्वर्थ नाम 'उड्डीयान[1]' रखा गया है। यह बन्ध दृढ अभ्यस्त हो जाने पर मृत्युरूप मतवाले हाथीके साथ सिंहकासा व्यवहार करता है और बूढोंको भी जवान बना देता है ।। ९२ ।।

(४) जालन्धर बन्ध

कण्ठमाकुच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशनः ।। ९३ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

१—'सुषुम्णायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्यड्डीयनम्। 'डीङ्' विसहाय सा गतौ' इत्यस्मात्करणे ल्युट।' करणेमें डी धातुसे ल्युट् प्रत्यय होकरयह शब्द सिद्ध होता है और जिसके द्वारा बँधा हुआ प्राण सुषुम्णामें जाता है, यही इसका वाच्यार्थ है।

Scanned by CamScanner

कंठको सिकोडकर अपने चिबुक (ठोढी) को हृदयकी ओर लेजाकर इस प्रकार दृढ स्थापित कर दे कि हृदयसे ठोढीका अन्तर केवल चार अंगुलका रहे। यह बन्ध जाल यानी नाडियोंके समूहको बाँधे रहता है, अथवा कपाल-कुहरसे गिरकर नीचे जाकर जठराग्निको मन्द कर देनेवाले जलबिन्दुका बन्धन किये रहता है इसलिये इसका अन्वर्थ नाम 'जालन्धर[१]' कहा गया है। नाडियोंके बंधे रहनेसे कुपित वायु नाडियोंमें जाकर किसी तरहका विकार नहीं उत्पन्न करने पाती और जलवन्धनसे जठरानि कभी मन्द नहीं होने पाती, जिससे साधकको यह लाभ होता है कि मृत्युभय, बूढ़ापन, रोग एवं आलस्य आदि उपद्रवोंसे छुटकारा मिल जाता है। इसमें कंठका जो संकोचन किया जाता है उसका यह भी फल होता है कि इडा और पिंगला नाडियोंके स्तम्भन होनेके कारण सुषुम्णामें जानेके लिये प्राणको सहजमें ही रास्ता खुल जाता है—जिसका फल कुण्डलीका बोधन होता है ॥ ९३ ॥

(५) मूलबन्ध

प्रार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्‌गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोभिधीयते ॥ ९४ ॥

—हठयोगप्रदीपिका.

दाहिनी अथवा बाईं एडीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ़ लगाकर गुदामार्गके आकुञ्चन द्वारा अधोगत अपान वायुको ऊपरकी ओर ले जाय। इस मूल (गुदा) के आकुञ्चनसे अपान वायुका ऊर्ध्वगमन होकर प्राणके साथ संयोग होता है, दोनोंको सुषुम्णा नाडीमें जानेका अवसर मिलता है, इसका नाम 'मूलबन्ध' है। इस बन्धके लक्षणमें योगबीजकारने 'अश्वकी तरह वार-वार आकुञ्चन करे' इतना विशेष लिखा है, बाकी सव समान है। इसके करनेसे जब अपान और प्राणवायु परस्पर मिलकर सुषुम्णामें प्रविष्ट होती हैं तो नाद और बिन्दुका भी मिलाप हो जाता है। जिसका फल यह होता है कि साधक नीरोग रहकर योगसिद्धि प्राप्त करता है ॥ ९४ ॥

(६) महाबन्ध मुद्रा

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ ९५ ॥

---

१ जाल = समूह (नाडीसमूह)। जाल = जल संबन्धी (जलबिन्दु) जालं + धरतीति विग्रहः।

Scanned by CamScanner

पुरयित्वा ततो वायुं हृदयं चिबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य पायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥ ९६ ॥

बायें पैरकी एडीको गुदा और लिङ्गके मध्यमागमें लगाकर बायीं जंघाके ऊपर दाहिने पैरको रखकर दृढतापूर्वक बैठ जाय । फिर जालन्धर बन्ध लगाकर अर्थात् कण्ठको संकुचित कर ठोढीको चार अंगुलका बीच रखकर हृदयके सामने दृढ़ स्थापित कर पूरक प्राणायाम करे । और गुदाका आकुञ्चन यानी मूलबन्ध करके मनको मध्यनाडीमें प्रविष्ट करे । फिर उस पूरक द्वारा उदरमें गयी हुई वायुका यथाशक्ति धारण कर धीरे २ रेचन करे । जबतक अनुलोम, विलोमसे इस क्रियाका अभ्यास न हो जाय तबतक युक्तिपूर्वक अभ्यास करता रहे । 'महाबन्धःमुद्रा' से गंगा, यमुना और सरस्वती नामवाली नाडियोंका संगम होता है, एवं मन शिवस्थानमें जा पहुँचता है ॥ ९५–९६ ॥

जैसे रूपलावण्य संयुक्त युवावस्थावाली स्त्री विना पुरुषके निष्फल रहती है ऐसे ही महावेधके विना महाबंध और महामुद्रा भी व्यर्थ हो जाती हैं, इसलिये जिज्ञासुओंके निमित्त घेरण्डसंहितासे यहाँ पर उसका लक्षण उद्धृत करता हूँ ––

(७) महावेध

महाबन्धं समास्थाय उड्डानकुम्भकं चरेत् ।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ॥ ९७ ॥
समहस्तयुगौ भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ ९८ ॥

महाबंधको करके उड्डानबन्धपूर्वक कुम्भक करना चाहिये, परन्तु कुम्भक करते हुए इस बातका ध्यान अवश्य रहे कि दोनों हाथोंके तलुओंको भूमिमें लगाकर नितम्बको ऊपर और नीचे धीरे २ युक्तिपूर्वक उठाये और छोड़े । इस तरह करनेसे इड़ा पिंगला नाडियोंको छोडकर वायु सुषुम्णामें प्रवेश करती है ॥ ९७–९८ ॥

(८) खेचरीमुद्राका लक्षण

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी ॥ ९९ ॥

महात्मा स्वात्मारामजी खेचरी मुद्राका निरूपण इसप्रकार लिखते हैं कि––कपालके कुहर (छिद्र) में उलट देनेपर जिह्वा यदि प्रविष्ट हो जाय,

Scanned by CamScanner

एवं भ्रुकुटियोंके मध्यमें दृष्टिका प्रवेश हो जाय तो इसीका नाम 'खेचरी-मुद्रा' है ।। ९९ ।।

जिह्वाका प्रवेश कपाल—कुहरमें किस क्रियासे होने लगता है यह भी स्वयं कहते हैं—

खेचरीसिद्धिके उपाय

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ।। १०० ।।

जबतक जिह्वा इतने परिमाणमें न बढ़ जाय कि भ्रुकुटीके मध्यमभागको छू लिया करे, तबतक जिह्वा बढ़ाने के लिये १ दोहन, २ चालन और ३ छेदन; ये तीन क्रियाएँ करनी चाहिये।

इन क्रियाओंकी रीति इस प्रकार है :—

(१) प्रातःकाल जब दन्तधावन कर चुके तब जीभमें मक्खन लगाकर उसे दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे धीरे २ इस तरह दुहे कि जैसे गौ दुही जाती है। इसे 'दोहन' कहते हैं। (२) अँगूठे और तर्जनी अँगुलीसे जिह्वाको पकड़कर चारों तरफ उलटफेर कर हिलाइये। इसीका नाम 'चालन' है। और (३) सेंहुड़ (स्नुही पत्र) के आकारवाले तीक्ष्ण शस्त्रसे आठवें आठवें दिन जिह्वाके नीचे जो शिरा रहती है उसे जितने आयामका वाल (रोम) होता है उतने परिमाणमें छेदन करे। इसीको ,छेदन' कहते हैं। छेदनके बाद उसी घावपर सैंधव, नमक, अथवा कत्था और हरडका चूर्ण घिसना चाहिये। कोई २ तो तो छेदन न करके केवल औषध द्वारा ही काम लेते हैं। जो साधक छेदन करते हैं उन्हें प्रत्येक अठवड़ेमें क्रमशः थोड़ी २ घावकी मात्रा बढ़ाते जाना चाहिये। जैसे—पहले अठवाड़ेमें वालप्रमाण घाव हो तो दूसरे में इससे कुछ अधिक होना चाहिये। उपरोक्त रीतिसे छः महीनेतक लगातार करते करते जिह्वा बढ़कर उपयोगमें आने लगती है, यानी जिह्वाकी लम्बाई इतनी हो जाती है किभ्रूम-ध्यको अच्छे प्रकार छू सकती है। तब साधकको चाहिये कि जिह्वाको उलटकर कपालकुहरमें प्रविष्ट करे वहाँ तीनों नाड़ियोंके जो छिद्र रहते हैं उनमें सुषुम्णाके छिद्रसे जो अमृत बिन्दु टपकता रहता है उसे जिह्वाग्रसे पान करे ।। १०० ।।

इस अमृत बिन्दुके पानसे साधक निरामय होकर अजर, अमर हो जाता है। तथा :—

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्पर्शिनी,
सक्षाराकटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।

Scanned by CamScanner

व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं,
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।। १०१ ।।

—हठयोगप्रदीपिक.।

जब पूर्वोक्त क्रियाओं द्वारा जिह्वा कपालकुहरमें जाती है तो सर्व प्रथम लवणके समान स्वाद प्रतीत होता है, एवं फिर क्रमशः कडुआ, अम्ल और दूध मधु, घीका स्वाद आने लगता है। यदि घीका स्वाद आने लग जाय तो समझ लेना चाहिये कि खेचरी मुद्रा सिद्ध हो गयी। इस मुद्रासे चंद्र (वाम), नाडीगत अमृतबिन्दु (जिसे 'अमरवारुणी' भी कहते हैं) पान करनेको मिलने लग जाता है इसलिये जरा, मरण, शत्रुसे भय और रोगोंसे छुटकारा मिल जाता है तथा अणिमा आदि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।। १०१ ।।

इसकी प्रशंसामें और भी लिखा है कि :—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ।। १०२ ।।

गो शब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।। १०३ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

जो साधक प्रतिदिन तालुके समीप ऊर्ध्वविरमें जिह्वाको प्रविष्ट करके अमरवारुणीका पान करता है उसे ही स्वात्मारामजी कुलीन मानते हैं, हें, अन्य इतरोंको कुलघातक बताते है, क्योंकि इसके विना वे योगसिद्धि मानते ही नहीं ।। १०२–१०३ ।।

(९) विपरीत करणीमुद्रा

नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः ।
अमृतं ग्रहते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ।। १०४ ।।

ऊर्ध्वं च गमयेत्सूर्यं चन्द्रं च अध आनयेत् ।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।। १०५ ।।

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मे समाहितः
ऊर्ध्वपादो दृढीभूत्वा विपरीतकरी मता ।। २० ।।

—घेरण्डसंहिता.

Scanned by CamScanner

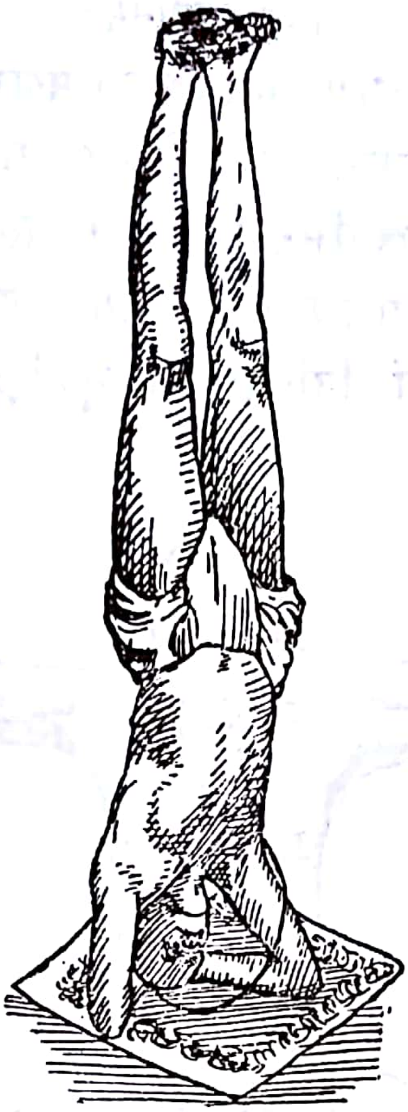

नाभिके मूलमें सूर्यनाडीका निवास है और तालुमूलमें चन्द्रनाडीका स्थान है। जब चंद्रगत अमृतको अपने तेजसे सूर्य पान कर जाता है तो मनुष्य किसी न किसी दिन मरणावस्थाको प्राप्त हो जाता है इसलिये 'विपरीतकरणी' मुद्रा करनी चाहिये। इसकी क्रिया इस तरह है कि—जिसपर शिर सुखपूर्वक टिक सके ऐसी कपड़ेकी गिंडुरी बनाकर उस पर शिरको दृढ स्थापित कर दोनों हाथोंको शिरकी दोनों ओर लगा ले, और दोनों पैर दंडाकार सीधा ऊपरको उठाये रहे। इस क्रियामें चन्द्र नीचे और सूर्य ऊपर हो जाता है यानी ऊपर का नीचे एवं नीचेका ऊपर होता है, अतएव इस मुद्राका अन्वर्थ नाम 'विपरीत–करिणी' है। इसके करनेसे त्वचाका सिकुड़ना और बालोंका श्वेत होना नहीं होता, अर्थात् वृद्धावस्था नहीं आने पाती। इतनाही नहीं, किन्तु निरंतर एक प्रहर पर्यन्त इस क्रियाके करनेवाला मनुष्य मृत्युको भी जीत लेता है। परन्तु खेचरी मुद्राके सामने इसका महत्त्व नहीं के बराबर है; क्योंकि इसे साधकर जो काम सिद्ध करना है वह पूर्णतया उसीसे होता है, इससे नहीं ॥ १०४–१०६ ॥

Scanned by CamScanner

(१०) योनिमुद्रा

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखम् ।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामिकाभिश्च साधयेत् ।। १०७ ।।
प्राणंसंकृष्य काकीभिरपाने योजयेत्ततः ।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसं मनुना सुधीः ।।
चैतन्यमानयद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी ।। १०८ ।।

–घेरण्डसंहिता.

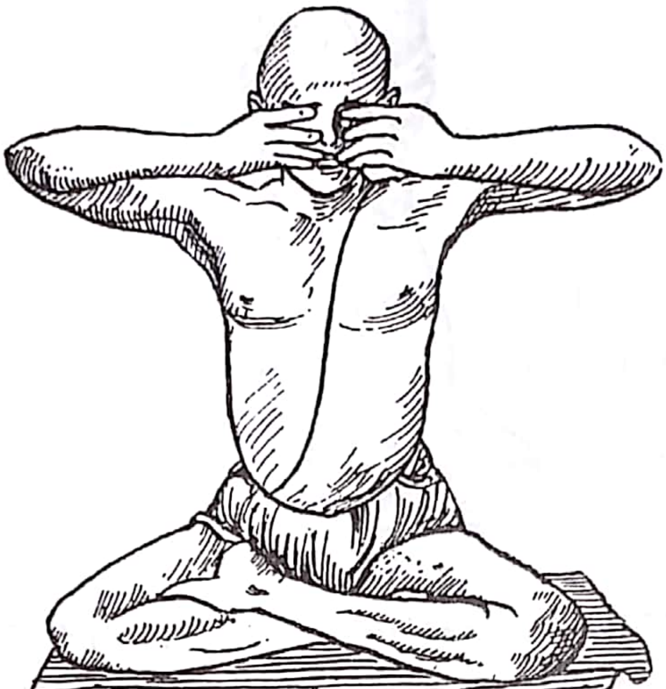

पहले सिद्धासन लगाकर दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे दोनों नाकके छिद्रोंको और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठिकाओंसे दोनों ओठोंको बन्द करके काकी मुद्रा द्वारा अर्थात् जिह्वाको कौवेकी चोंचके समान बनाकर उसके द्वारा प्राणवायुको खींचकर अधोगत अपान वायुके साथ उसका मेलन कर दे। फिर क्रमशः षट्चक्रगत ज्योतिके ध्यानपूर्वक 'हूं' हंसः' इन अक्षरोंको जपता हुआ परस्पर मिली हुई वायुओंको ऊपर लेजाकर सोती हुई कुण्डलीको जगा दे। इस प्रकारकी क्रियाको 'योनि-मुद्रा' कहते हैं और इसीका नाम 'षण्मुखी-मुद्रा' भी है ।। १०७–१०८ ।।

(११) वज्रोलीमुद्रा

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ।। १०९ ।।

Scanned by CamScanner

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ११० ॥
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १११ ॥

वज्रोली मुद्राके सिद्ध करनेमें दो वस्तुओंकी नितान्त आवश्यकता है, एक तो दूध और दूसरी अपने वशमें रहनेवाली स्त्री; विना इनके यह मुद्रा नहीं की जाती। लिङ्गके छिद्रमें वायुके संचार करनेके लिये उत्तम नालसे धीरे धीरे यत्नपूर्वक फूत्कार करना चाहिये।

वज्रोलीका क्रम इस प्रकार है कि——शीशेकी शलाका (शलाई) लिङ्गके छिद्रमें प्रवेश करनेके योग्य चौदह अंगुलकी बनवाकर उसमें प्रवेश करनेका अभ्यास क्रमशः धीरे २ बढ़ाये। जैसे—— पहले दिन एक अंगुल, दूसरे दिन दो, तीसरे दिन तीन, इस प्रकार बढ़ाते २ बारह अंगुलतक प्रविष्ट करनी चाहिये। इतना होने लगे तब चौदह अंगुलकी ऐसी सलाई बनवाये– जो दो अंगुल डेढी और ऊर्ध्वमुखी हो। परंतु यह शलाका पोली होनी चाहिये। इसे भी दो अंगु-लवाले टेढ़े भागको बाहर रखकर छिद्रमें प्रविष्ट कर दे। फिर सुनारकी धमनीके समानवाली धमनीसे उस शलाकामें लगाकर फूत्कार करे (फूंके)। ऐसा करनेसे लिंगके मार्गकी अच्छी तरह शुद्धि हो जाती है, तब लिंग द्वारा वायुका खींचना और छोड़ना बड़ी आसानीसे पर्याप्त मात्रामें होने लगता है। इस तरह उक्त अभ्यासके सिद्ध होनेपर साधक अपने लिंगछिद्रसे सर्वप्रथम जल खींचनेका अभ्यास करे, कुछ दिनोंके बाद दूधका आकर्षण करे, एवं फिर तेल और तेलके बाद पारा खींचने लग जाय।

जब शुद्ध रीतिसे पारेके आकर्षणकी शक्ति हो जाय तो–"नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्। चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।" स्त्रीकी योनिमें गिरे हुए वीर्यबिन्दुके आकर्षणका अभ्यास करे। अर्थात् संभो-गकी अन्तिम अवस्थामें वीर्य पतनोन्मुख होने लगे तो उसे इस प्रकार ऊपरको आकर्षित करे कि योनिमें न गिरने पाये। कदाचित् वीर्य गिर ही पड़े तो योनि-मेंसे उसे पूर्वोक्त क्रियाके अभ्यास बलसे ऊपरको खींच ले।

इस क्रियाको सिद्ध करके साधक लोग स्त्रीसे सहवास करते हुए अपने वीर्यको मुद्राकी शक्तिसे गिरने नहीं देते, और स्त्रीके रजको मुद्रा– बलसे ऊपरको खींचकर अपना मस्तिष्क भरापुरा कर लेते हैं। फल यह होता है कि स्त्रीभोगजन्य विपत्तियाँ फिर उन्हें नहीं भोगनी पड़तीं। और उक्तक्रियासे

Scanned by CamScanner

वे अपने वीर्यकी रक्षा कर अजर अमर बन जाते हैं। क्योंकि–'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'। वीर्यके पतनसे ही देहका पात होता है, अन्यथा नहीं। इस मुद्राको वही कर सकता है जो प्राण और मनको वशमें कर लेता है॥ है॥ १०९–१११॥

अब इसके आगे शक्तिधारिणा आदि शेष मुद्राओंका उल्लेख नहीं करूँगा, दश मुद्राएँ मुख्य हैं उनका सविस्तर निरूपण कर दिया गया है। इन्हीं दश-मुद्राओंको श्रीस्वात्मारामजीने भी लिखा है। और इन्ही मुद्राओं द्वारा कुण्ड-लिनीका जारण होता है जिससे साधकको सिद्धता प्राप्त होती है॥

प्रकरणका उपसंहार

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते॥ ११२॥
न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात्॥ ११३॥

रेचक और पूरकके विना जो कुम्भक होता है उसीको 'केवल कुम्भक' अथवा 'प्राणायाम[१]' कहना चाहिये। जो मनुष्य उक्त दोनोंके विना कुम्भक कर सकता है यानी प्राणायामको सिद्ध कर लेता है उसे तीनों लोकोंमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो न प्राप्त हो सके। इसी कुम्भककी सिद्धावस्थासे साधक प्रत्याहार करने लग जाता है॥ ११२–११३॥

इति श्रीपण्डित शिवनाथशर्मात्मज–पं० रामनरेशमिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुते बृहद्योगसोपाने चतुर्थसोपान-प्रकरणं समाप्तम्॥

पंचम सापोन प्रकरण

प्रत्याहारका निरूपण

"मुझे निरन्तर सुख ही सुख मिला करे, दुःख किसी भी कालमें न उप स्थित हो" ऐसी इच्छाका होना अन्तः–करणका स्वाभाविक धर्म है। इसलिये प्रत्यक्ष सुख देनेवाले विषयोंकी शरण जाना भी चित्तका स्वाभाविक हो जाता है, क्योंकि दृष्ट पदार्थको त्यागकर अदृष्ट पदार्थकी ओर जानेमें अनेक तरहकी बाधाएँ उपस्थित हो जाया करती हैं। जिसके कारण पहले तो अदृष्टकी कल्पना करना ही दुर्लभ हो जाता है, दूसरे उसकी कल्पना करके उस ओर

१ प्राणायामके विषयमें विशेष जाननेकी इच्छा हो तो हठयोगप्रदीपिका का अवलोकन करना चाहिये।

Scanned by CamScanner

तृतीय उपदेश

कुंडली बोध

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥१॥

टीका—जैसे पर्वतों और वनों से युक्त इस पृथिवी को अहिनायक धारण करते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण योगतन्त्रों का धारण कुण्डली ही करती है ।

व्याख्या—श्लोक में बताया गया है कि कुण्डलिनी शक्ति सब प्रकार के योगों की आश्रय स्वरूपा है । जिस प्रकार सर्पों के अधिनायक अर्थात् शेष इस सम्पूर्ण पृथिवी को अपने फण पर धारण किये हुए, उसी प्रकार सब प्रकार के योगों को कुण्डलिनी धारण करती है । आशय यह है कि सब प्रकार के योगों की सिद्धि में कुण्डलिनी ही एक मात्र कारण है, उसके जागरण विना योग के सभी उपाय निष्फल रहते है ।

श्लोक में 'धात्रीणाम्' कहकर पृथिवी के विषय में बहु-वचन का प्रयोग हुआ है, उसका आशय यह है कि देश-भेद से पृथिवी को अनेक कहा है । कुछ विद्वानों के मत में शेष भगवान् त्रिलोकी का धारण करते हैं और तीन लोकों को तीन पृथिवी हुई, इसीलिए बहुवचन प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है ।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रन्थयोऽपि च ॥२॥

सुषुम्ना के पर्याय कथन

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥३॥

टीका—गुरु के प्रसाद से जब सोती हुई कुण्डली जाग्रत् होती है, तब वह सभी कमलों और ग्रन्थियों का भेदन कर देती है। वैसे ही प्राण की शून्य पदवी जब राजपथ जैसी हो जाती है, तब चित्त निरालम्ब हो जाता और काल का भी वंचन होता है ॥२—३॥

व्याख्या—सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत् करने के लिए गुरु की प्रसन्नता आवश्यक है, क्योंकि गुरु प्रसन्न होकर ही उपाय बताते हैं और जब उनकी कृपा से साधक उसमें सफलता प्राप्त कर लेता है, तभी कुण्डलिनी शक्ति षट्चक्रों और सब ग्रन्थियाँ को वेधकर सहस्रार पद्म में पहुँच सकती है। उसी के लिए शून्य पदवी से कही सुषुम्ना राजपथ के समान होकर प्राण को सुखपूर्वक गमन करने के लिए मार्ग देती है। उस अवस्था में चित्त सब विषयों से विमुख हो जाता है और तभी काल का बन्धन भी नष्ट हो जाता है, अर्थात् मृत्यु का भय भी नहीं रहता।

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ।
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥४॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥५॥

टीका—सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्य मार्ग एक अर्थ के वाचक हैं। इसलिए सब प्रकार प्रयत्न करके ब्रह्मद्वार पर सोती हुई उस

ईश्वरी को जाग्रत् करने के लिए मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए ।।४—५।।

व्याख्या—सुषुम्ना, शून्य पदवी आदि जो नाम इस श्लोक में दिये हैं, उन सबका एक ही अर्थ है—सुषुम्ना नाड़ी। यह नाड़ी ही ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है। परन्तु उसी सुषुम्ना के द्वार को रोककर कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है। उसे जगाने के लिए महामुद्रा आदि का अभ्यास करना चाहिए।

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ।।६।।
करणी विपरीताख्या वाज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशम् ।।७।।
आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ।।८।।

टीका—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी उड्यान बन्ध, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन, यह दश मुद्राएँ जरा-मरण को नष्ट करने वाली हैं। यह मुद्राएं आदिनाथ द्वारा कहे हुए आठ दिव्य ऐश्वर्यों को प्रदान करती हैं जो कि सभी सिद्धों को प्रिय और देवताओं को भी दुर्लभ है ।।६—८।।

व्याख्या—ग्रन्थकार ने यहाँ दश मुद्राओं का वर्णन किया है। इन्हें करने वाला साधक मृत्यु को भी जीत लेने में समर्थ होता है। इनके द्वारा आठ दिव्य ऐश्वर्य अर्थात् अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। वे अष्ट सिद्धियाँ हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशता और वशिता। इनके विषय में पहले भी विवेचन किया जा

चुका है। यह आठों सिद्धियाँ मुद्राओं का अभ्यास करने वालों को सुलभ हैं।

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ।

कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥९॥

टीका—यह सभी मुद्राएं रत्नों की पिटारी के समान गुप्त रखने योग्य हैं इन्हें उसी प्रकार नहीं कहना चाहिए जिस प्रकार कि कुल-स्त्री का समागम नहीं बताया जाता ॥९॥

व्याख्या—इन मुद्राओं को अनधिकारी पुरुष को कभी न बतावे। इसी अभिप्राय से प्रयत्न पूर्वक गोपनीय कहा है। साधक का कर्त्तव्य है कि इनका अभ्यास एकान्त में ही करे।

महामुद्रा कथन

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।

प्रसारितं पदं कृत्वा धराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥१०॥

कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।

यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥११

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।

तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥१२॥

टीका—बाँए पाँव के तलुए से योनि स्थान को पीडित करके दाँए पाँव को फैलावे और भूमि पर रखकर दृढ़ता से पकड़े। फिर कण्ठ प्रदेश में बन्ध करके वायु को ऊर्ध्व देश में धारण करे, इससे जैसे कुण्डली लगाकर बैठा हुआ सर्प दंडे से मारे हुए के समान दण्ड के आकार का हो जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति सहसा सरल हो जाती है और तब दोनों पुटों

के आश्रय से प्राण के वियुक्त होने के कारण मरणाअवस्था जैसी हो जाती है ।।१०—१२।।

व्याख्या—यहाँ महामुद्रा का वर्णन हुआ है। इसमें वाम पादमूल से योनि स्थान को दबाने और दाँए पाँव को फैलाकर हाथों की तर्जनी अंगुलियों के द्वारा उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिए। तदनन्तर कण्ठ में जालन्धर बन्ध करके मूलबन्ध करे। कुछ विद्वानों के मत में योनि के दबाने और जिह्वा का बन्धन करने से ही मूलबन्ध चरितार्थ हो जाता है इसलिए मूलबन्ध पृथक् से करने की आवश्यकता नहीं है।

उक्त विधि के अभ्यास से डंडे से मारी हुई सर्पिणी के समान कुण्डलिनी शक्ति जागकर सीधी हो जाती है और प्राण-वायु का सुषुम्ना में प्रवेश हो जाने से इडा पिंगला दोनों नाड़ियों से उसका वियोग हो जाता है। इसीलिए उस अवस्था को मरणावस्था की समानता दी गई है।

ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ।।१३।।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ।।
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ।।१४।।

टीका—उससे वायु का रेचन धीरे-धीरे करे, वेग से न करे। श्रेष्ठ विद्वान् इसे महामुद्रा कहते हैं। इस महामुद्रा का प्रदर्शन महान् सिद्धों ने किया है, इससे महाक्लेशादि और मरणादि दोषों का भी नाश हो जाता है। इसलिए श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष इसे महा मुद्रा कहते हैं ।।१३—१४।।

व्याख्या—उपर्युक्त अवस्था होने पर वायु का रेचन वेगपूर्वक न करके धीरे-धीरे ही करे। क्योंकि वेग से रेचन करने पर शरीर को हानि पहुँचती है और शक्ति भी घटती है। यह महामुद्रा मरणादि दुःखों और पंच महाक्लेशों को भी नष्ट कर सकती है। अविद्या, स्मितता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यह पंच महाक्लेश कहलाते हैं। इन्हें नष्ट करने वाली होने से ही इसका नाम महामुद्रा हुआ।

महामुद्रा के अभ्यास का वर्णन

चन्द्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१५॥

टीका—चन्द्रांग से ठीक प्रकार अभ्यास करके सूर्यांग से अभ्यास करे। जब तक दोनों की संख्या समान हो तब तक ठीक प्रकार से अभ्यास करे और फिर मुद्रा का विसर्जन करदे ॥१५॥

व्याख्या—चन्द्रनाड़ी अर्थात् इड़ा से उपलक्षित अङ्ग को ही चन्द्राङ्ग कहते हैं और और सूर्याङ्ग का अर्थ है पिंगला से उपलक्षित अङ्ग। इसका आशय है कि पहले वाम नासिका से अभ्यास करे और फिर दक्षिण नासिका से। जब तक कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास समान संख्या में न हो जाय तब तक भले प्रकार अभ्यास करता रहे और समान संख्या होने पर महामुद्रा को विसर्जित करे।

जैसा वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है, वैसा ही अन्य अनेक ग्रन्थों में मिलता है। ग्रहयामल में तो इसको यथावत् ही कह दिया है। घेरण्ड संहिता में इस प्रकार कहा है—

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढ़ यत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करेधृत पदांगुलः ॥

कंठं संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥

अर्थात्—गुह्य प्रदेश को वाँयी एड़ी से दृढ़तापूर्वक दवावे और दाँये पाँव को फैला कर उसकी अँगुलियों को हाथ से पकड़ ले तथा कण्ठ को सकोड़ कर भौंहों के मध्य में दृष्टि लगावे, विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥१६॥

टीका—इसका अभ्यास करने वाले योगी को पथ्यअपथ्य कुछ नहीं होता। इससे भक्षण किये हुए नीरस रस जीर्ण हो जाते हैं और विष के समान घोर अन्न भी अमृत के समान पच जाता है ॥१६॥

व्याख्या—महामुद्रा के अभ्यास से सभी रसों का परिपाक ठीक प्रकार से होता है और विष के समान न पचने योग्य अन्न भी पच जाता है। 'जारणं तु कषायाय पातकानां विनाशरम्' कहकर अन्य ग्रन्थकार ने इस मुद्रा को सभी कषाओं को भस्म करने और सभी पापों को दूर करने वाली स्वीकार किया है।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥१७॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥१८॥

टीका—इसके अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण और उनके दोष नष्ट हो जाते हैं। यह वर्णन की गई

महामुद्रा मनुष्यों को महासिद्धि प्रदान करने वाली है। इसे प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखे, किसी को भी न दे ॥१७—१८॥

व्याख्या—इस मुद्रा के सिद्ध होने पर क्षयादि रोगों का सर्वथा शमन हो जाता है। इसके द्वारा साधक को परमसिद्धि और दिव्य ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। यह गुप्त रखने के योग्य हैं।

महाबन्ध कथन

वार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥१९॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबकं दृढ़म् ।
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२०॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥२१॥
मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ।
राजदंतस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥२२॥
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥२३॥

टीका—बाँए पाँव की एड़ी को योनि स्थान में लगावे और बाँयी जंघा पर दाँया पाँव रखकर बैठे तथा वायु को पूरित करके ठोड़ी को हृदय स्थान में दृढ़ता से लगावे और योनि को संकुचित करके मनको नाड़ी के मध्य प्रविष्ट करे। फिर वायु को यथाशक्ति धारण करके धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार बाँए अंग में समान रूप से अभ्यास करके दांये अंग में करना

चाहिए अन्य विद्वान् का यह मत है कि जालंधर बन्ध में कंठ के संकोच को न करे, क्योंकि राजदन्त पर स्थित जिह्वा का बन्ध ही प्रशस्त होता है। यह सब नाड़ियों की ऊर्ध्व गति का निरोधक है, यह महाबन्ध अवश्य ही महासिद्धि का देने वाला है ॥१९ - २३॥

व्याख्या— बाँयी एड़ी को योनि स्थान में लगाकर बाँयी जाँघ पर दाँया पाँव रखने आदि की जो विधि बताई है, उसके अनुसार आसन बाँधकर वायु को भरकर ठोड़ी पर लगाने से जो जालन्धर बन्ध होता है उसे करके योनि-संकोच करता हुआ मूलबन्ध करे, परन्तु इस मूलबन्ध की सिद्धि जिह्वा के बन्धन से ही हो जाती है, इसलिए इसे करना अनावश्यक है।

कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे रेचक करे। प्रथम वाम अंग में और फिर दक्षिण अंग में करे। इस प्रकार वामांग और दक्षिणांग के अभ्यास की संख्या बराबर हो जाय तब अभ्यास करना चाहिए।

कुछ विद्वानों के मत में कण्ठ के संकोच का अनुपयोग है, क्योंकि राजदन्त अर्थात् दाढ़ के ऊपर स्थित जिह्वा का बन्ध ही कण्ठ संकोच की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होता है। दाढ़ों में अवस्थित जिह्वा का बन्ध सुषुम्ना से भिन्न बहत्तर हजार नाड़ियों में प्राणवायु के ऊर्ध्व गमन का प्रतिबन्धक है। इसका अर्थ हुआ कि जिससे नाड़ी-जाल का बन्धन होता हो, वह जालन्धर बन्ध कहलाता है।

कालपाशमहाबंधविमोचन विचक्षणः।

त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥२४॥

टीका—यह महाबन्ध काल के पाश को छुड़ाने में अद्भुत है तथा त्रिवेणी-संगम को और मन को केदार की प्राप्ति कराने वाला है ॥२४॥

व्याख्या—जालन्धर बन्ध, उड्यान बन्ध और मूलबन्ध इन तीनों के सम्मिलित होने से महाबन्ध होता है, इसीलिए इसे त्रिवेणी संगम प्राप्त कराने वाला कहा है केदारं प्रापयेन्मनः कहने से यह अभिप्राय है कि इसके सिद्ध होने पर केदार अर्थात् शिव में मन का लय हो जाता है।

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना।

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥२५॥

टीका—जैसे पुरुष के बिना रूप-लावण्य से सम्पन्न स्त्री निष्फल है, वैसे ही महावेध के बिना महामुद्रा और महाबन्ध भी निष्फल हैं ॥२५॥

व्याख्या—इस श्लोक में महामुद्रा और महाबन्ध की निकृष्टता और महावेध की उत्कृष्टता का कथन हुआ है। ग्रन्थकार के अनुसार महावेध के बिना उक्त दोनों व्यर्थ ही हैं। इसलिए महावेध की सिद्धि का अभ्यास करना चाहिए।

महावेध वर्णन

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।

वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥२६॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सताडयेच्छनैः।

पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥२७॥

सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै।

मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत् ॥२८॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।

वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥२९॥

टीका—महाबन्ध में स्थित योगी बुद्धि को एकाग्र करके पूरक करे और कण्ठ मुद्रा से वायु की गति रोककर प्राणायाम करे। अपने स्फिचों को पृथिवी पर लगे हाथों से थामकर योनि स्थान में लगी हुई एड़ी वाले बाँए पाँव के सहित कुछ ऊपर की ओर उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करे। इससे प्राणवायु इडा और पिंगला को छोड़कर सुषुम्ना में चलने लगता है। तब चन्द्र, सूर्य, अग्नि सम्बन्धी क्रमशः, इडा, पिंगला को और सुषुम्ना से अमृतत्व को प्राप्ति होती है। फिर मरणावस्था के उत्पन्न होने पर वायु का रेचन करे। यह महावेध अभ्यास से महान् सिद्धि का देने वाला होता है। इससे वली, पलित, कम्पनादि दूर होते हैं। श्रेष्ठ साधक सदा इसका अभ्यास करते रहते हैं ॥२६--२६॥

व्याख्या—महाबन्ध के पश्चात् महावेध की स्थिति होती है। कण्ठ मुद्रा का अर्थ जालन्धर बन्ध है, उसके द्वारा, वायुओं के ऊर्ध्वगमन, अधोगमन को रोककर कुम्भक करना चाहिए।

महावेध में वाम एड़ी को योनिस्थान में लगाकर चूतड़ों को हाथों के आश्रय से वाम पाद के सहित कुछ उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करने से वायु इडा-पिंगला, का त्याग कर सुषुम्ना में पहुँच जाता है और तब इडा, सुषुम्ना तीनों का वायु एक हो जाता है और इडा-पिंगला में प्राण का संचार न होने से साधक की मृत्यु जैसी अवस्था हो जाती है। क्योंकि इड़ा, पिंगला में प्राणवायु का संचार रहने को ही जीवन मानते हैं। जब ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाय तब वायु का विरेचन करना चाहिए। अभ्यास करने से यह महावेध सिद्ध होकर महान् सिद्धियों का देने वाला होता है। इससे जरावस्था के सभी चिह्न बालों का सफेद होना, चर्म का संकुचित होना और शरीर का काँपना आदि नष्ट होते हैं। योग तत्त्वोपनिषत् में महावेध का लक्षण इस प्रकार बताया है—

वायुनां गतिमावृत्य विभृतं कण्ठमुद्रया ।
पुटद्वय समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ।
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।।

अर्थात् – वायु की गति का निरोध करके दोनों नासारन्ध्रों का संकुचन करने से वायु शीघ्र भर जाती है। इस महावेध का सिद्ध पुरुष सदा अभ्यास किया करते है।

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ।।३०।।
अष्टधा क्रियते चैव यामे दिने दिने ।
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ।।३१।।

टीका—उक्त तीनों मुद्राएं परम गुह्य एव जरामरण को नष्ट करने वाली, अग्नि प्रदीप्त करने वाली और अणिमादि सिद्धियों के देने वाली है। यह मुद्राएं प्रहर-प्रहर दिन-दिन में आठ प्रकार से करनी चाहिए। इनके द्वारा पुण्यों की उत्पत्ति और पापों का शमन होता है। भले प्रकार शिक्षा प्राप्त करके इन्हें करना चाहिए ।।३०—३१।।

व्याख्या—उपर्युक्त तीनों मुद्राओं से जरा-मृत्यु पर जय प्राप्त होकर, अग्नि दीप्त होती और अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इनसे पुण्य का लाभ और पापों का नाश होता है। परन्तु इनका अभ्यास आरम्भ करने से पूर्व गुरु से शिक्षा ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है।

खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।।३२।।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धि ॥३३

टीका – कपाल-कुहर में विपरीत हुई जिह्वा के प्रविष्ट होने और भौंहों के मध्य में दृष्टि रहने पर खेचरी मुद्रा होती है। छेदन, चालन और दोहन कलाओं की क्रमपूर्वक तब तक वृद्धि करे, जब तक कि भौंहों के मध्य का स्पर्श हो जाय। जब कला का भौहों में स्पर्श हो जाता है। तब खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है ॥३२– ३३॥

व्याख्या –जिह्वा को ऊपर की ओर उलटी करके कपाल के मध्य वाले छिद्र में प्रविष्ट करे और भौंहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे, इससे खेचरी होती है। छेदनादि कर्म करता हुआ जिह्वा को तब तक बढाये, जब तक कि वह भौंहों के मध्य स्थान को स्पर्श करने लगे।

जिह्वा मूल की नाड़ी का शस्त्र से छेदन किया जाता है, इसकी विधि अगले श्लोक में कहेंगे। हाथ के अंगुष्ठ और तर्जनी अंगुली से जिह्वा को पकड़कर बाँए-दाँए हिलाना चालन कहलाता है और गोदोहन के समान जिह्वा दोहन करना इन क्रियाओं से जिह्वा बढ़ जाती है वह भौंहों के मध्य भाग को स्पर्श करती हुई और भी ऊपर पहुँच सकती है।

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३४॥
ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३५॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ।।३६।।

टीका—सेंहुड़ के पत्ते के समान तीक्ष्ण धार वाले, चिकने और स्वच्छ शस्त्र को लेकर उससे जिह्वामूल की नाड़ी का रोममात्र छेदन करे तथा पिसे हुए सैंधे नमक और हरड़ के मिश्रित चूर्ण से जिह्वामूल का ठीक प्रकार घर्षण करे। सात दिन ऐसा करने के अनन्तर पुनः रोम मात्र छेद दे। इस प्रकार के क्रम से नित्य प्रति करने से छः मास में जिह्वामूल का शिरा बन्ध नष्ट हो जाता है ।।३४—३६।।

व्याख्या—इन श्लोकों में खेचरी-सिद्धि के साधनों का वर्णन किया गया है। स्नुही अर्थात् सेंहुड़ के पत्तों में अत्यन्त तीक्ष्ण धार होती है, वैसे ही तीक्ष्ण शस्त्र से जिह्वा के मूल में एक रोम के बराबर छेद कर देना चाहिए। ऐसा करने से वहाँ घाव हो जाता है, उस पर सेंधे नमक और हरण का चूर्ण मलना चाहिए। चूर्ण मलने का यह कार्य नित्य प्रति प्रातः-सायं किया जाता है। जब सात दिन व्यतीत हो जाँय तब पुनः एक रोम के बराबर छेद कर दे और नमक तथा हरड़ के चूर्ण को मलने का क्रम यथावत् जारी रखे।

कुछ विद्वानों के विचार में नमक के स्थान पर कत्था और हरड़ का चूर्ण व्यवहार करना उचित है, क्योंकि योगाभ्यासी पुरुष के लिए नमक का सेवन वर्जित है। सात दिन के पश्चात् जो छेद किया जाय, वह पहले छेद से रोममात्र अधिक करना चाहिए, जिससे कि कुछ बड़ा छेद बन जाय।

इस प्रकार नित्य प्रति चूर्ण-मर्दन और प्रति सप्ताह छेदन करते रहने से छः मास में जिह्वा मूल का शिरा बन्धन कट

जाता है। यह शिरा बन्धन कपाल कुहर को रोके रहता है, इसके कटने पर जिह्वा उसमें प्रवेश कर सकती है, इसीलिए उस शिरा बन्धन को काटना आवश्यक होता है।

कलां पराँङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥३७॥
रसनामूर्ध्वगाँ कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥३८॥

टीका—इस प्रकार छेदनादि के उपाय द्वारा जिह्वा की वृद्धि हो जाने पर इसे उलटी पीछे की ओर लौटा कर तीनों नाड़ियों के मार्ग में करे। वह खेचरी मुद्रा होती है, उसी को व्योमचक्र कहते हैं। जो जिह्वा को तालु-रन्ध्र द्वारा ऊपर पहुँचा कर वहाँ आधे क्षण भी टिकाले तो वह योगी विषमता रूप रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि से मुक्त हो जाता है ॥३७—३८॥

व्याख्या—कपाल-रन्ध्र इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना तीनों नाड़ियों का मिलन मार्ग होने से त्रिपथ कहा जाता है। ऊपर की ओर लौटा कर जीभ को इसमें प्रविष्ट करके टिकाया जाता है। इससे सभी रोग, धातुओं की विषमता, जरावस्था मृत्यु आदि का भी क्षय हो जाता है। यह खेचरी मुद्रा व्योम चक्र भी कहलाती है।

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥३९॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न सकालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४०॥

टीका—खेचरी मुद्रा के जानने वाले योगी को रोग, मृत्यु, तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा, तृषा और मूर्च्छा नहीं होती। खेचरी का ज्ञाता रोग से पीड़ित नहीं होता, कर्म से लिप्त नहीं होता और काल से बाधित नहीं होता ॥३६—४०॥

व्याख्या—जो विद्वान् खेचरी मुद्रा को जानता है, उसे भूख-प्यास, रोग, निद्रा, तन्द्रा आदि नहीं होते। वह मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है। जो कर्म करता है उसका फल उसे नहीं भोगना होता, क्योंकि यह तो निष्काम कर्म करता है सकाम नहीं और निष्काम कर्म कर्त्ता को कभी अपने फलरूपी बन्धन में नहीं बाँधते। इसीलिए उसे काल अर्थात् मृत्युरूपी बाधा भी नहीं होती। आशय यह कि उसकी इच्छित मृत्यु होती है। जब चाहे तब शरीर को छोड़े और जब तक जीवित रहना चाहे तब तक रहे।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥४१॥

टीका—जिस मुद्रा के द्वारा चित्त भौंहों के मध्य आकाश में विचरण करता है और जिह्वा भी वहीं जाकर विचरती है उसी को सिद्ध पुरुषों ने खेचरी नाम दिया है ॥४१॥

व्याख्या—इस मुद्रा के अभ्यास में चित्त और जिह्वा दोनों ही भौंहों के मध्यरूपी आकाश में विचरते हैं। इसीलिए सिद्ध योगेश्वरों ने इसे खेचरी कहा है।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥४२॥
चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमंडलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥४३॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥४४॥

टीका—खेचरी मुद्रा के द्वारा जिसने तालु के ऊपर का विवर ढक लिया, उसे यदि कामिनी का स्पर्श भी प्राप्त हो जाय तो उसका बिन्दु क्षरित नहीं होता और यदि बिन्दु चलायमान भी हो जाय तो योनि मण्डल में पहुँच कर भी वह वज्रोली के बन्धन से खिचा हुआ ऊपर चला जाता है। तालु-विवर में उन्मुखी जिह्वा वाला योगी सोमपान करता हुआ एक पक्ष में ही मृत्यु को जीत लेता है ॥४२—४४॥

व्याख्या—खेचरी के अभ्यास द्वारा जिसकी जीभ तालु के रन्ध्र में पहुँच कर टिक जाती है तो बिन्दु का क्षरण नहीं होता। यदि बिन्दु अपने स्थान से डिग भी जाय यो योनिमण्डल में पहुँच कर भी योनिमुद्रा के प्रभाव से वहाँ से खिंच कर अपने स्थान में ही जा पहुँचता है।

'सोमपानं करोति' का अभिप्राय ऊर्ध्व विवर से गिरते हुए चन्द्रामृत का पान करने से है। जब जिह्वा वहाँ पहुँच जाती है, तब उस अमृत का पान करती हुई साधक को अमृतत्व की प्राप्ति करा देती है।

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥४५॥
इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥४६॥

टीका—जिस योगी का देह सदा चन्द्रकला के अमृत से परिपूर्ण रहता है, उसके देह में तक्षक काट ले तो भी विष नहीं

फैलता। जैसे अग्नि ईंधन को और दीपक तेल बत्ती को नहीं छोड़ता वैसे ही शरीरधारी भी सोमकला से सम्पन्न शरीर को नहीं छोड़ता ॥४५—४६॥

व्याख्या—ऊर्ध्व विवर से स्रवित होते हुए चन्द्रामृत के शरीर में परिपूर्ण रहने पर तक्षक नाग का विष भी व्यर्थ हो जाता है अर्थात् भयङ्कर सर्प भी काट ले तो उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि शरीर में चन्द्रमा से झरता हुआ अमृत भरा हो तो शरीर से प्राण कभी पृथक् नहीं हो सकता जैसे कि अग्नि से ईंधन पृथक् नहीं हो सकता अर्थात् अग्नि भी तभी बुझता है जबकि ईंधन को पूरी तरह भस्म कर डाले और तैल-बत्ती का दीपक से सदा सम्बन्ध रहने का आशय यह है कि जब तक तैल-बत्ती है, तभी तक दीपक प्रकाश देता है, जब तैल-बत्ती का अभाव हो जाता है तब प्रकाश नहीं रहता, यहाँ दीपक का तात्पर्य प्रकाश से ही है। सारांश यह है कि जिह्वा से कपाल कुहुर में क्षरित होने वाले अमृत का पान करने वाला योगी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उस पर किसी रोग, विष या अवस्था आदि का प्रभाव नहीं पड़ता।

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥४७॥
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥४८॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥४९॥

टीका—जो योगी नित्य प्रति गोमांस का भक्षण करता और वारुणी (मदिरा) पीता है, वही कुलीन है, और सब तो

कुलघातक ही होते हैं। गोशब्द से जो जिह्वा कही जाती है और तालुविवर में जिह्वा का जो प्रवेश है, वही भक्षण कहलाता है। यह गोमांस भक्षण महापाप को नष्ट कर देता है। तालु के ऊपर वाले विवर में जिह्वा के प्रवेश से संभूत हुई अग्नि से उत्पन्न होकर जो सार झरता है वही अमरवारुणी है ।।४७—४६।।

व्याख्या—योगी के लिए परम सिद्धि का कारण गोमांस-भक्षण और वारुणी-पान है। 'गो' शब्द का अर्थ जिह्वा है और भक्षण का अभिप्राय ऊर्ध्व विवर में जिह्वा का प्रवेश है। इस प्रकार यही गोमांस भक्षण है, इसे महापापों का भी नाश करने वाला समझना चाहिए।

तालु के उसी ऊर्ध्व विवर में जब जिह्वा प्रविष्ट होकर दोहन करती है तब वहाँ ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है और उस ऊष्मा के प्रभाव से चन्द्रमा में सार रूप अमृत उत्पन्न होकर स्रवित होने लगता है अर्थात् भौंहों के मध्य वामभाग में अवस्थित चन्द्रमा से बिन्दु रूप सार या अमृत झरने लगता, वही अमर वारुणी अर्थात् दिव्य मदिरा है उसके पान करने वाले को इसलिए कृतार्थ और कुलीन कहा है कि वह योगाभ्यास द्वारा उस श्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त करने में सफल हो जाता है और जो सिद्धि की प्राप्ति में सफल है, उसके कृतार्थ होने में सन्देह ही क्या है ?

चुम्बंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी
साक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ।।५०।।

टीका—यदि रस को स्रवित करने वाली क्षार, कटु, अम्ल, दूध, मधु और घृत के समान अनेक रस वाली जिह्वा तालु के ऊपर वाले छिद्र का बार-बार स्पर्श करे तो उससे साधक की सभी व्याधियों का हरण, वृद्धावस्था का अन्त और सन्मुख से आते हुए शस्त्र का निवारण होता है तथा अमृतत्व, अष्ट सिद्धियाँ और सिद्धांगनाओं का आकर्षण होता है। ५०॥

व्याख्या—जिह्वा सभी रसों का ग्रहण करती है। उसके लिए कटु, तिक्त, अम्ल, मधुर आदि कोई भी रस क्यों न हो, अग्राह्य नहीं है। वह जिह्वा तालु के छिद्र में प्रविष्ट होकर बार-बार चन्द्रकलामृत का स्पर्श करने लगे तो उस साधक को रोग, जरा, शस्त्र, मृत्यु आदि का कोई भय नहीं रहता तथा सिद्धों (देवताओं) की नारियाँ उसके प्रति आकर्षित होती हैं और वह अष्ट सिद्धियों को उपलब्ध करके स्वयं सिद्ध हो जाता है।

मूर्ध्नःषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥५१

टीका—जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर और ऊर्ध्व मुख करके परम शक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करता हुआ जो योगी प्राणवायु के साधन और हठयोग के द्वारा प्राप्त षोडश दल वाले कमल में मस्तक से धारा रूप में गिरते हुए ऊर्ध्व तरंग वाले चन्द्रकलामृत का पान करता है, वह रोग-रहित एवं मृणाल जैसी कोमल देह वाला होता हुआ चिरकाल तक जीवित रहता है ॥५१॥

व्याख्या—जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर चन्द्रामृत पीने वाला योगी चिरजीवी होता है। उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती। उसका शरीर कठोर हो तो भी कमल दण्ड के समान कोमल हो जाती है।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्।
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥५२

टीका—जिसमें यह आलेय स्थित है, उस छिद्र में रज-तम से अतिरस्कृत बुद्धि वाले मनुष्य आत्म तत्व का होना मानते हैं। वहीं चन्द्र-सूर्य नाड़ियाँ मुख है तथा चन्द्रमा से देह के सार के स्रवित होने से मनुष्यों की मृत्यु होती है। इसलिए खेचरी मुद्रा करे, अन्यथा शरीर का पोषण नहीं हो सकता ॥५२॥

व्याख्या—प्रालेय अर्थात् जल कपाल कुहर में रहता है। जिन मनुष्यों की बुद्धि रजोगुण और तमोगुण का उल्लंघन किये रहती है यानी केवल सतोगुणी रहती है, उनके मत में आत्मतत्व भी वहीं है तथा वहीं इड़ा और पिंगला नाड़ियों का मुख भी है।

चन्द्रमा से वह जल स्रवित होता है तब उदरस्थ अग्नि रूपी सूर्य उसका ग्रास करता रहता है, इसी से मनुष्यों की आयु क्षीण होती जाती है। ग्रन्थकार का कथन है कि चन्द्रमा से स्रवित होते हुए उस अमृत का जिह्वा के द्वारा स्वयं ग्रास करले तो मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसलिए इसमें प्रयत्नशील होना चाहिए।

सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतः समन्वितम्।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरंजने ॥५३॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥५४॥

टीका – नाड़ियों के पंच स्रोत से युक्त छिद्र ज्ञान का उत्पन्न करने वाला है। उस शून्य रूप निरजन के लिए खेचरी मुद्रा में स्थिति होती है। एक सृष्टिमय बीज है, एक खेचरी मुद्रा है, एक ही निरालम्ब है और एक ही उन्मनी अवस्था है ॥५३–५४॥

व्याख्या – इडा आदि नाड़ियों के पंच स्रोत अर्थात् पंच प्रवाह से युक्त सुषिर से ज्ञान उत्पन्न होकर शून्य रूप निरंजन में खेचरी की स्थिरता होती है अर्थात् खेचरी मुद्रा के प्रभाव से जब मन उस सुषिर (छिद्र) में प्रविष्ट होता है, तब आत्मज्ञान होता है।

सृष्टिमय बीज प्रणव है, वह एक ही है। यह संसार उसी प्रणव की महिमा को व्यक्त किये हुए स्थित है। 'ओमित्येदक्षर मिद ॐ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एवं, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव' (माण्डूक्योपनिषत्) अर्थात् 'अविनाशी ब्रह्म ओंकारमय है. उसकी महिमा को प्रत्यक्ष लक्षित कराने वाला यह सम्पूर्ण विश्व है। भूत, भविष्य, वर्तमान रूप त्रिकालमय यह संसार ओंकार ही है और त्रिकाल से भी अतीत जो अन्य तत्व है, वह भी ओंकार ही है।

'एका मुद्रा च खेचरी' कहकर ग्रन्थकार ने सभी मुद्राओं में खेचरी की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की है। इसका आशय यह समझना चाहिए कि खेचरी सभी मुद्राओं में प्रमुख मुद्रा है और सर्व प्राप्ति की आकांक्षा वाले साधक को इसकी सिद्धि प्रयत्न पूर्वक करनी चाहिए। श्लोक में 'एक' पद का प्रयोग प्रमुखता प्रदर्शित करने के रूप में हुआ है।

ओड्डीयान बन्ध वर्णन

बद्धो येन सुषम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥५५॥
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगाः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥५६॥

टीका—जिससे बंधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उड़ जाय, उस बन्ध को उड्डीयान कहते हैं। देहावकाश में गतिशील महाखग रूप प्राण जिस बन्ध से सुषुम्ना में उड़ता (गति करता) है, उसे उड्डीयान कहते हैं ॥५५—५६॥

व्याख्या—जिस बन्ध से बँधा हुआ प्राण उड़कर सुषुम्ना में जा पहुँचे, उसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं, क्योंकि वह प्राण को उडाकर सुषुम्ना में पहुँचाने का कारण होता है 'उड्डीनं कुरुते' अर्थात् 'उड़ान करता है' इसीलिए इसे उड्डियान कहा जाता है। नीचे उस बन्ध का लक्षण कहेंगे।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥५७॥
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥५८॥

टीका—उदर में नाभि के ऊपर पश्चिम तान करे तो यह मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान उड्डियान बन्ध होता है। गुरु ने इस बन्ध को सदैव सहज बताया है, इसका निरन्तर अभ्यास करने वाला वृद्ध भी तरुण हो जाता है ॥५७—५८॥

व्याख्या— उदर में स्थित टूंडी में, नाभि के ऊपर के निचले भाग को इस प्रकार ताने, जिससे कि वे दोनों भाग पीठ में लग जाँय। गुरुजन इसे स्वाभाविक बताते हैं क्योंकि प्राण स्वभाव से ही बाहर जाता है, परन्तु इसका निरन्तर अभ्यास कर लिया जाय तो यह पूर्णरूप से वश में हो जाता है। उस साधक में इतनी शक्ति, इतनी स्फूर्ति आ जाती है कि वह अपनी वृद्धावस्था को भूलकर तरुण होने का अनुभव करने लगता है।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥५६॥
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डियाने दृढ़े बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥६०॥

टीका—नाभि के ऊपर निचले भाग में ठीक प्रकार से तान करे। इस प्रकार छः मास तक निरन्तर अभ्यास करने से साधक मृत्यु को जीत लेता है, इसमें संशय नहीं है। सभी बन्धों में उड्डियान बन्ध श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके सिद्ध हो जाने से स्वाभाविक मृत्यु होती है ॥५६—६०॥

व्याख्या—उड्डियान बन्ध में नाभि के ऊपर निचले स्थान में यत्नपूर्वक तान अर्थात आकर्षण किया जाता है। यह सभी बन्धों में उत्तम माना जाता है। इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और रोग, दुःख आदि भी नष्ट हो जाते हैं।

इस बन्ध में प्राण पक्षी जैसी गति से उड़ान भरता हुआ सुषुम्ना द्वार से मस्तक में जा पहुँचता है और जब मन भी समाधि में लीन होता है, तब उसका मुक्त होना मानते हैं। यही विदेह मुक्ति कहलाती है, इसी से उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है। इसी को योगनिद्रा कहते हैं। 'ततोन्मनी

संज्ञक बन्ध है। यह बन्ध नाड़ियों के समूह को तथा कपालकुहर रूप नभ के जल को बाँधता है, इसलिए जालन्धर बन्ध कहलाता है यह कठ के रोग दुःखों का नाश करते वाला है लक्षण जिसका कण्ठ का संकोच है, उस जालन्धर बन्ध के करने से अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और न वायु का ही प्रकोप होता है। यह बन्ध दृढ़तापूर्वक कण्ट का संकोच करने से दोनों नाड़ियों का स्तम्भन करने वाला है। इसे सोलह आधारों का बन्धन कर्त्ता मध्य चक्र जानना चाहिए ॥७०—७३॥

व्याख्या—इस बन्ध को जरामृत्यु का नाशक इसलिए माना है कि ब्रह्मरन्ध्र से जो चन्द्रामृत स्रवित होकर उदरस्थ अग्नि में भस्म होता रहता है, उसके अभाव में जीवन का नष्ट होना अवश्यं भावी है। यह बन्ध उस अमृत को अग्नि में गिरने से रोकता है। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बन्धो जालन्धरा भिधः।
कण्ठ संकोच रूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधकः॥
अधस्तात्कुंचने नाशु कण्ठ संकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥

अर्थात्—पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिए। इसमें कण्ठ के संकोच द्वारा वायु का निरोध किया जाता है। अधोभाग में मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन करे और ऊपर से जालन्धर बन्ध द्वारा कंठ का सकोच तथा मध्य में उड्डयान बन्धद्वारा प्राणको खींचे तो प्राण ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में चढ़ने लगता है।

इस प्रकार कण्ठ का संकोच करने इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियों का स्तंभन स्वतः हो जाता है। कण्ठ में सोलह दल का विशुद्ध चक्र है, वहाँ वायु को रोक कर बन्धन करने वाला होने से इस बन्ध को मध्य चक्र कहा है।

मूलस्थानं समाकुंच्य उडिड्यानं तु कारयेत् ।
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥७५॥
बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥७६॥

टीका—मूल स्थान का भले प्रकार संकोच करके उड्डियान बन्ध करे, जिससे इडा, पिंगला का स्तंभन होकर प्राण को पश्चिम मार्ग में ले जाय। इस विधान से ही प्राण का लय हो जाता है, तब रोग, जरा, मृत्यु आदि नहीं होते। यह तीन बन्ध श्रेष्ठ हैं, महासिद्धों द्वारा इनका सेवन किया जाता है। हठयोग के सब साधनों में इसकी उपयोगिता को योगी पुरुष जानते हैं ॥७४—७६॥

व्याख्या—आधार स्थान को ठीक प्रकार से संकुचित करके नाभि से पश्चिमतान रूप बन्ध (उडिडयान) को करना चाहिए तथा कण्ठ के संकोच से इडा-पिङ्गला का बन्धन करे, जो कि जालन्धर बन्ध से होता है। तदनन्तर प्राण के सुषुम्ना में प्रविष्ठ होने का प्रयत्न करे। ऐसा करने से प्राण का लय अर्थात् स्थैर्य हो जाता है। आशय यह है कि उसका बाह्य गमन रुक कर ब्रह्मरन्ध्र में ही स्थिति हो जाती है। इस प्रकार की उपलब्धि होने पर साधक को किसी रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि का भय नहीं रहता।

इस प्रकार उपर्युक्त उड्डियान बन्ध, मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध तीनों ही श्रेष्ठ हैं। बड़े बड़े योगीश्वर, परम

सिद्धि आदि ने इनको करके ही इच्छित सिद्धि और मोक्ष को प्राप्त किया। इसलिए योगाभ्यासियों को प्रयत्न पूर्वक इनका अभ्यास करना चाहिए।

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥७७॥
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥७८॥

टीका—दिव्य तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जिस अमृत का स्राव होता है, उसे नाभि में स्थित अग्नि सम्पूर्ण रूप से ग्रस लेता है। उसे रोकने के लिये सूर्य-मुख का वंचन करने वाले दिव्य करण को गुरु के उपदेश से जानना चाहिए, क्योंकि उसके बिना करोड़ों शास्त्रों का अर्थ जानना भी व्यर्थ है ॥७७—७८॥

व्याख्या—पहले भी बता चुके हैं कि तालुमूल में चन्द्रमा का निवास माना गया है, वह अमृत की वर्षा किया करता है। परन्तु नाभि में सूर्य संज्ञक जिस अग्नि का निवास है, वह उस अमृत का ग्रास कर लेता है। परन्तु उसके ग्रसन को रोकने के लिये सूर्य के मुख को बन्द करना आवश्यक है। यदि उसका मुख रुक जाता है तो धातुओं और रसों का ह्रास भी रुक जाता है और आयु का क्षय नहीं होता। उसे रोकने का उपाय योगीश्वर सिद्ध पुरुषों को ज्ञात रहता है, उन्हें गुरु रूप में वरण करके उनसे वह उपाय सीखना चाहिए। यदि गुरु से उसे नहीं सीखते तो करोड़ों शास्त्र पढ़ कर भी नहीं सीख सकते। क्योंकि शास्त्रों में विधि-विधान तो लिखा होता है, परन्तु उसमें अनेक बातें ऐसी होती हैं जिनका स्पष्टीकरण अनुभवी सद्गुरु ही करने में समर्थ होता है, इसलिए गुरु से दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक है।

विपरीतकरणी मुद्रा

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥७९॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविर्बधिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

टीक—जिस योगी के ऊर्ध्व भाग में नाभि और अधोभाग में तालु हो जाय, इस ऊर्ध्व भाग में सूर्य और अधोभाग में चन्द्रमा को कर देने वाली क्रिया विपरीतकरणी मुद्रा कहलाती है, इसे गुरु के वाक्यों द्वारा प्राप्त करते है। नित्यप्रति अभ्यास में लगे रहने वाले योगो के लिए यह मुद्रा जठराग्नि बढ़ाने वाली है तथा इसके द्वारा साधक इच्छानुसार अधिक भोजन कर सकता है ॥७९-८०॥

व्याख्या—इस मुद्रा के द्वारा तालु में अवस्थित चन्द्रमा नीचे और नाभि में अवस्थित सूर्य ऊपर हो जाता है। इसमें शिर नीचे और पाँव ऊपर करके स्थित होना होता है। इससे जठराग्नि इतनी बढ़ जाती है कि जितना भी खाया जाय सरलता से पच जाता है। परन्तु अल्पाहार नहीं करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकतो है। क्योंकि—

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥८१॥
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥८२॥

भवति' ततोयोगनिद्रा भवति (शां० उ०) अर्थात् उससे उन्मनी दशा प्राप्त होती है और उससे योगनिद्रा होती है।

मूलबंध वर्णन

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥६१॥
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आंकुचनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः ॥६२॥

टीका—एड़ी से योनि स्थान को दबाकर गुदा का संकोच करे और अपान वायु का ऊपर की ओर आकर्षित करे, इसे मूलबन्ध कहते हैं। जो अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी करता है, उसे योगीजन मूलबन्ध कहते हैं ॥६१—६२॥

व्याख्या—योनि स्थान का अभिप्राय है गुदा और लिंग के मध्य भाग से। उस स्थान को एड़ी से भले प्रकार पीड़ित करके गुदा को सकोड़े और अपान वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करे। यह क्रिया कुण्डलिनी जागरण में अत्यन्त सहायक होती है। इसके विषय में कहा है—

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुंचनेन त प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥
अपाने चोर्ध्वगे याते सम्प्राप्ते वह्नि मण्डले ।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥

अर्थात्—अधोगति वाले अपान को शक्तिपूर्वक गुदा के आकुंचन द्वारा ऊपर ले जाने से मूलबन्ध होता है। अपान ऊपर जाकर वह्निमण्डल से मिलता है तो वायु के प्रभाव से अग्नि की अत्यधिक तीव्रता होती है। इत्यादि से कुण्डलिनी जागरण की विधि कही है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

गुदं पाष्ण्र्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥६३॥

टीका—एड़ी से गुदा का भले प्रकार संपीडन करके बल पूर्वक वायु को बार-बार इस प्रकार आकर्षित करे कि जिससे वह सुषुम्ना के ऊपरी भाग में जा पहुँचे ॥६३॥

व्याख्या--मूलबन्ध की यह रीति योगबीज में कही हुई है। यद्यपि इसमें ऊपर की विधि से समानता है, फिर भी शाब्दिक विशेषता के कारण इसका उल्लेख यहाँ हुआ है।

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥६५
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६

टीका– अधोगति वाले प्राण और अपान, अनाहत नाद और बिन्दु मूलबन्ध के द्वारा ऐक्य को प्राप्त होकर योग की सिद्धि को प्राप्त कराते हैं, इसमें संशय नहीं है। अपान और प्राण का ऐक्य और संचित मल-मूत्र का क्षय होने से वृद्ध भी युवा होता है। अपान के ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि मण्डल में पहुँचने पर वायु से ताड़ित होने के कारण अग्नि शिखा दीर्घ हो जाती है ॥६४—६६॥

व्याख्या—नीचे की ओर गतिशील प्राणापान, नाद और बिन्दु यह सब एकता को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे कि

योग की परम सिद्धि होती है। उससे बुढ़ापा दूर होकर युवावस्था आ जाती है अर्थात् वली, पलित, झुर्री आदि मिटकर शरीर सुन्दर हो जाता है।

मूलबन्ध के करने से नीचे की गति वाला अपान वायु ऊपर चढ़ता हुआ अग्निमण्डल में पहुँच जाता है अर्थात् नाभि के नीचे के भाग में विद्यमान त्रिकोण जठराग्नि में प्रविष्ट होता है, तब अपान से ताड़ित जठराग्नि की शिखा बढ़ जाती है।

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥६७॥
तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दंडाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥६८

टीका--तब अग्नि और अपान दोनों अग्नि की दीर्घ हुई शिखा से गर्म होकर ऊपर की ओर गति वाले प्राण में जा पहुँचते हैं। उससे शरीरस्थ जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है। तब उससे भले प्रकार सन्तप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होकर डंडे से पिटी हुई सर्पिणी के समान सीधी हो जाती है ॥६७--६८॥

व्याख्या--कुण्डलिनी-जागरण के लिए तीनों बन्ध किये जाते हैं। जालन्धर बन्ध द्वारा वायु को रोकने के लिए कण्ठ का संकोच किया जाता है, मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन अधोभाग में होता है और मध्य में उड्डियान बन्ध से प्राण को खींचा जाता है। इस प्रकार सब ओर रोका जाने पर प्राण सुषुम्ना में दौड़ता है। अपान ऊपर चढ़कर अग्नि से मिलता और वह अग्नि प्राण स्थान में आकर प्राणवायु से मिलकर

सोती हुई कुण्डलिनी को ताड़ित करता है, तब वह कुण्डलिनी जागकर सीधी हो जाती और सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है।

विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ।।६९

टीका—फिर वह कुण्डलिनी सर्पिणी के बिल में प्रविष्ट होने के समान ब्रह्मनाड़ी में प्रविष्ट होती है। इसलिए योगियों को नित्यप्रति मूलबन्ध करना चाहिए ।।६९।।

व्याख्या—इस श्लोक में मूलबन्ध करने का अभिप्राय स्पष्ट किया है कि कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्ना में प्रविष्ट कराने के लिए मूलबन्ध किया जाना आवश्यक है। इसीलिए योगाभ्यासी पुरुषों को मूलबन्ध का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

जालन्धर बन्ध

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ।।७०।।
बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभो जलम् ।।
ततो जालन्धरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ।।७१
जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ।।७२
कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ।।७३

टीका—कण्ठ का संकोच करके हृदय पर ठोड़ी को दृढ़ता से लगावे, यह जरामृत्यु का नाश करने वाला जालन्धर

जा सकता है। पुरुष को अपने ही नहीं, स्त्री के भी रज की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि रज या वीर्य ही मनुष्य का जीवन है, यदि वही शरीर से निकल गया तो चाहे मृत्यु न भी हुई हो, तो भी मृत्यु के ही समान है।

इसमें यह भी समझ लेना चाहिए कि यदि पतन से पूर्व बिन्दु का क्षरण न रोका जा सके तो पतित हुए विन्दु का आकर्षण किया जा सकता है। परन्तु इसका सिद्धि अभ्यास से ही सम्भव है। पतित हुए बिन्दु को उसके आश्रय स्थान मस्तक मे पुनर्स्थापन करना चाहिए।

बिन्दु चित्त के अधीन है। यदि चित्त में कामवासना का आधिक्य है, उत्तेजना बढ़ गई है तो हो सकता है कि बिन्दु का पतन हो जाय। इसीलिए स्त्री के विषय में चिन्तन का भी योगाभ्यासी के लिए निषेध किया जाता है। क्योंकि चित्त के चंचल होने पर बिन्दु भी चलायमान हो जाता है और चित्त स्थिर है तो शुक्र के पतन का अवसर ही नहीं आ सकता।

'शुक्रायत्तं च जीवितम्' कहकर ग्रन्थकार ने प्रकट किया है कि शुक्र है तो जीवन है और शुक्र नहीं तो जीवन भी नहीं। इसीलिए आवश्यक है कि शुक्र की रक्षा की जाय। क्योंकि शुक्र के रक्षित न रहने पर शरीर दुर्बल, रोग-ग्रस्त, और शक्ति-हीन हो जाता है और धीरे-धीरे वह मनुष्य मृत्यु मुख में पहुँच जाता है।

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥९२॥
वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुन्सोः स्वांगलेपनम्।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥९३॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥९४॥
अयं योगः पुण्यवतां धीराणाँ तत्त्वदर्शिनाम्
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥९५॥

टीका—सहजोली और अमरोली यह दोनों मुद्राएँ वज्रोली के ही भेद है। जलाये हुए कण्डों की सुन्दर भस्म का जल में डाल दे और मैथुनानन्तर उत्साह रहित होकर सुखपूवक बैठेहुए स्त्री-पुरुष उस भस्म को अपने अगों पर लेपन करे। यह सहजोली कही जाने वाली क्रिया योगियों द्वारा सदैव श्रद्धा के योग्य है तथा यह शुभकारी योग भोग और मोक्ष दोनों देने वाला है। यह योग पुण्यवान, धीर, तत्वदर्शी और द्वेषरहित पुरुषों को सिद्ध होता है, द्वेषयुक्तों को सिद्ध नहीं होता ॥९४-९५॥

व्याख्या—वज्रोली मुद्रा के समान ही सहजोली और अमरोली मुद्राएं भी हैं। कुछ विद्वान् इन्हें भिन्न मानते हैं और कुछ किंचित् विशेषता के साथ एक ही समझते है इसीलिए कुछ संहिताओं में सहजोली और अमरोली का वर्णन नहीं किया है।

सहजोली के साधक स्त्री-पुरुष संसर्ग के अनन्तर कण्डों की भस्म को जल में मिलाकर अपने सर्वांग अर्थात् शिर, ललाट, नेत्र, हृदय, भुजा, उदर, नाभि आदि पर लेप करें। वज्रोली के साथ इस भस्म लेपन को ही सहजोली कहा गया है।

अमरोली मुद्रा

पित्तोल्वणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा। निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ॥९६॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥९७॥
अभ्यासान्निःसृतां चांद्री विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥९८॥

टीका– अधिक पित्त वाली बिन्दु-धारा को तथा सार-अंश-रहित अन्त्य धारा को कुछ-कुछ छोड़कर शीतल मध्य धारा का सेवन किया जाता, उसे कापालिक मत में अमरोली मुद्रा कहते हैं। जो साधक नासिका द्वारा अमरी का नित्य पान करता हुआ वज्रोली का अभ्यास करता है उसे अमरोली कहते हैं। उस अभ्यास से निःसृत चन्द्रामृत को भस्म में मिलाकर उत्तम अंगों में धारण करे तो उसको दिव्य दृष्टि हो जाती है ॥९६—९८॥

व्याख्या- प्रथम विन्दु धारा में पित्त की अधिकता कही है और दूसरी अन्त्यधारा में सारांश का अभाव बताया है। इन दोनों धाराओं का शनैः शनैः त्याग करना चाहिए अर्थात् पित्तादि दोषों से युक्त और निःसार धारा को छोड़कर शीतल, शान्तिप्रद धारा का सेवन करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि बिन्दुरूप धारा का सेवन (क्षरण) लाभकर नहीं है। शिवांबुरूप अमरी का नासिका द्वारा पान करता हुआ मैथुन द्वारा वज्रोली का अभ्यास करे, परन्तु बिन्दु-पातन करे।

'शीतल मध्य धारा' का अभिप्राय चन्द्रामृत से है, उसे गोबर की भस्म में मिलाकर श्रेष्ठ अंगों में मलना चाहिये, निकृष्ट अंगों में मलने का निषेध समझे। उत्तमांगों में शिर, कपाल, नेत्र, कन्धे, कण्ठ, हृदय और भुजा आदि माने जाते हैं। 'दिव्य दृष्टिः प्रजायते' का अर्थ है नेत्रों की दृष्टि तीव्र हो जाना,

उसे दूरदर्शन-शक्ति भी कह सकते हैं। इस प्रकार यह मुद्रा खण्ड कापालिक मत में अमरोली कहलाती है।

नारी की वज्रोली के साधन कथन

पुन्सो बिन्दुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥९९
तस्याःकिंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्या शरीरेनादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥१००

टीका– सम्यक् अभ्यास के कौशल से जो नारी पुरुष के बिन्दु का आकर्षण करके वज्रोली मुद्राके द्वारा अपने रज की रक्षा करती है तो उसे भी योगिनी समझना चाहिए। उस नारी का रज किंचित् भी नाश को प्राप्त नहीं होता, इसमें सशय नहीं है। उसके शरीर में नाद भी बिन्दु रूप हो जाता है ॥९९--१००॥

व्याख्या— इसमें स्त्री के वज्रोली-साधन का वर्णन हुआ है इस साधन के करने से स्त्री का रज भी अपने स्थान से च्युत नहीं होता और मूलाधार से उठा हुआ नाद हृदय के ऊपर पहुँच कर विन्दुरूप हो जाती है। स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य का शरीर से बाह्य संयोग होने से सन्तानोत्पत्ति होती है, परन्तु दोनों का आन्तरिक योग होने पर ही योगी कहा जाता है। उन दोनों में बिन्दु चन्द्रमय और रज सूर्यमय है, इनका योग होने से परम-पद की प्राप्ति हो जाती है।

स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धि प्रयच्छतः ॥१०१॥
रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥१०२॥

टीका—यदि इसका अभ्यास करने वाला साधक यदि अल्प आहार करता है तो प्रदीप्त जठराग्नि उसके शरीर को उसी समय भस्म कर देती है। प्रथम दिन के अभ्यास में क्षण भर के लिए नीचे शिर और ऊपर पांव करने चाहिए। फिर दिनों दिन अभ्यास को एक-एक क्षण करके बढ़ावे तो छः महीने में वली, पलित अदृश्य हो जाते हैं। यदि एक प्रहर नित्य अभ्यास करे तो काल को भी जीत सकता है ॥८१—८२॥

व्याख्या—अल्प भोजन करने से इस मुद्रा के अभ्यासी साधक की जठराग्नि उसके शरीर को नष्ट कर डालती है। इसलिए यथेच्छ भोजन कर सके तो ही इस मुद्रा का अभ्यास करे।

इसमें नीचे शिर और ऊपर पाँव करके एक-एक क्षण नित्य बढ़ाते हुए अभ्यास करना चाहिए। इससे केशों का श्वेत होना, झड़ना आदि नष्ट होता है तथा तीन घण्टे नित्य अभ्यास करने से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो सकती है।

इस सब से यह भी प्रकट होता है कि योग की महिमा प्रारब्ध कर्म से भी बढ़कर है, क्योंकि योग के द्वारा प्रारब्ध के फल को भी नष्ट किया जा सकता है। इसलिए साधक को योगाभ्यास में प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस्कर है।

वज्रोली मुद्रा

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥८३
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥८४॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥८५॥
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥८६॥

टीका—जो योगी वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता है, वह योग-शास्त्र के नियमों का पालन न करके स्वेच्छा पूर्वक व्यवहार करे तो सिद्धिभाजन होता है। वज्रोली के साधक के लिए जो दो दुर्लभ वस्तुएं हैं, उन्हें मैं बताता हूँ। उनमें एक तो दूध है और दूसरी वश में रहने वाली स्त्री है। पुरुष हो या नारी बिन्दु को झरने से रोकने या आकुंचन करने का धीरे-धीरे अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो सकती है। शीशे की बनी हुई नली से धीरे-धीरे उपस्थ के छिद्र में वायु के संचारार्थ प्रयत्नपूर्वक इस प्रकार फूत्कार करे, जिस प्रकार कि अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए फूंक मारते हैं ॥८३—८६॥

व्याख्या—वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता पुरुष शास्त्र के नियमों की उपेक्षा करके भी किसी प्रकार वज्रोली मुद्रा का साधन करता है, उसे भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसका अभ्यास करने वाले के लिए दूध और स्त्री दुलभ वस्तु हैं। अर्थात् साधक को इनसे बचना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि अभ्यास काल में दुग्ध पान उचित है, परन्तु कुछ विद्वान् इसे ठीक नहीं मानते और यह कहते है कि स्त्री-संसर्ग के पश्चात निर्बलता को प्राप्त हुई इन्द्रियों की प्रबलता के लिए तो दुग्ध-पान हितकर है, परन्तु वज्रोली के साधक के लिए अयोग्य है।

वज्रोली मुद्रा की सिद्धि किस प्रकार हो ? इस पर कहते हैं कि पुरुष या स्त्री कोई भी हो बिन्दु को झरने से रोकने के

लिए उसके ऊपर आकुंचन का अभ्यास करना चाहिए। योग-तत्वोपनिषत् में कहा है—

वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धि भाजनम्।
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्॥

अर्थात्—जो वज्रोली का अभ्यास करे वह सिद्धि का पात्र होता है। यदि वज्रोली की सिद्धि प्राप्त करले तो योग की सिद्धि उसके हाथ में ही समझो। वह भूत, भविष्य का भी ज्ञाता हो जाता है और उसे आकाश-गमन की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

शीशे की चौदह अगुल लम्बी और उपस्थ के छिद्र में प्रविष्ट होने योग्य मोटी सलाई बनवाकर उसे उपस्थ में प्रवेश करने का अभ्यास करे। प्रथम दिन केवल एक अंगुल घुसावे, फिर क्रमशः एक-एक अंगुल नित्य बढ़ाता हुआ बारह अंगुल तक ले जाय। बस बारह अंगुल सलाई के प्रवेश से ही उपस्थ का मार्ग शुद्ध हो जायगा।

तदनन्तर चौदह अगुल लम्बी एक सलाई और बनवाये जो कि टेढी और ऊपर की ओर मुख वाली हो। उसे भी क्रमशः बारह अंगुल ही प्रविष्ट करे, उस टेढे और ऊध्वमुख वाले भाग को बाहर रखे। फिर स्वर्णकार की धौंकनी के नल के समान नलका लेकर उसके अगले भाग को उपस्थ में प्रविष्ट टेढ़ी और ऊर्ध्वमुख की सलाई के मध्य में घुसाकर फूत्कार करने से उपस्थ-मार्ग का शोधन हो जाता है।

इसके पश्चात् जल के आकर्षण का अभ्यास करे और जब वह सिद्ध होजाय तब बिन्दु के ऊर्ध्व आकर्षण का अभ्यास करना चाहिए। बस, इसकी सिद्धि होने पर ही वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो जाती है।

नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वगासरेत् ।
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥८७॥
एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥८८॥
सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥८९॥
चित्तायत्तं नृणां शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥९०॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥९१॥

टीका—योनि में पतित होते हुए बिन्दु का अभ्यास करता हुआ ऊर्ध्व आकर्षण करे। यदि बिन्दु चलित हो जाय तो भी उसका ऊपर को आकर्षण करके रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार जो योगविद् बिन्दु को रक्षा सम्यक् प्रकार करता है, वह मृत्यु को भी जीत लेता है। क्योंकि बिन्दु के पतन से मृत्यु और बिन्दु की रक्षा से ही जीवन है। मनुष्यों का शुक्र चित्त के आश्रित है और जीवन शुक्र के आश्रित है, इसलिए शुक्र और मन दोनों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। ऋतुमती स्त्री के रज की और अपने बिन्दु की भी उक्त प्रकार के अभ्यास से रक्षा करे। योगवेत्ता पुरुष मेढ्र द्वारा रज और बिन्दु के ऊपर की ओर आकर्षण से रक्षा कर सकता है ॥८७—९१॥

व्याख्या—पतित हुआ बिन्दु भी उक्त मुद्रा के अभ्यास के द्वारा आकर्षित करके अपने पूर्व स्थान पर स्थापित किया

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३॥

टीका—वज्रोली के अभ्यास से वह बिन्दु और रज दोनों एक होकर अपने शरीर में ही स्थित हो जाँय तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जो स्त्री योनि-संकोच द्वारा ऊर्ध्व ले जाकर रज की रक्षा करे वह योगिनी है। उसे भूत, भविष्यत् का ज्ञान हो जाता तथा निश्चय ही खेचरी सिद्ध हो जाती है। वज्रोली के अभ्यास से अवश्य ही देह सिद्धि होती है। यह पुण्योत्पादक योग भोगों के भोगने पर भी मुक्तिदायक होता है ॥१०१—१०३॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से अभ्यास सिद्ध करने वाली स्त्री को त्रिकाल का ज्ञान होता है। रूप-लावण्य की प्राप्ति होकर शरीर में दिव्यता का समावेश होता है। अथवा जो सिद्धियाँ सिद्ध पुरुष को प्राप्त होनी कही हैं, सभी वज्रोली की साधिका योगिनी को प्राप्त हो जाती हैं—

कुण्डलिनी के पर्याय कथन

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१०४॥

टीका—कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुंजगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती यह सब पर्यायवाचक हैं ॥१०४॥

व्याख्या—यहाँ कुण्डलिनी शक्ति के सात पर्यायवाचक नामों का वर्णन किया है, जिससे जिज्ञासु को यह समझने में कठिनाई न हो कि यह सभी नाम कुण्डलिनी के ही हैं। क्योंकि स्थलभेद से ग्रन्थों में कुण्डलिनी के अर्थ में उक्त में से कोई भी नाम मिल सकता है।

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥
येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥१०६॥
कंदोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बंधनाय च मूढ़ानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥

टीका—जिस प्रकार कुंजी के द्वारा हठपूर्वक किवाड़ खोले जाते हैं, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष के द्वार को खोलते हैं। जिस मार्ग से निरामय ब्रह्मस्थान को जाते हैं, उसी द्वार के मुख को ढककर वह परमेश्वरी सोती है। कन्द ऊर्ध्व भाग में सोती हुई कुण्डलिनी योगियों के लिए मोक्ष के निमित्त होती है, परन्तु मूढ़ों के लिए बन्धन-प्रद हो जाती है, जोउसे जानता है वही योग का जानने वाला है ॥१०५—१०७॥

व्याख्या—कुण्डलिनी शक्ति मोक्ष के द्वार को खोल सकती है; परन्तु वह निरामय ब्रह्मपद को जाने वाले मार्ग को ढककर सोती रहती है। वह मूर्खों या अज्ञानियों के लिए बन्धन में डालने वाली है, जब कि योगाभ्यासियों को उससे मोक्ष प्राप्त हो सकती। इसलिए अभ्यास से पूर्व इसके विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना और इसके रहस्य को भले प्रकार समझ लेना चाहिए।

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥
—योगचूडामन्युपनिषत्

अर्थात—प्राणधारिणी गायत्री कुण्डलिनी से ही उत्पन्न होती है। यही प्राणविद्या और महाविद्या है, जो इस विद्या को जानते हैं वही वेद के जानने वाले हैं।

कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥१०८॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०९॥
इडा भगवती गङ्गा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुण्डली ॥११०॥

टीका—कुण्डलिनी का आकार कुटिल, सप के समान कहा जाता है, जो इस शक्ति का चालन करता है, वह मुक्त है, इसमें सशय नहीं है। गंगा, यमुना के मध्य में तपस्विनी बालरंडा है, उसे बलपूर्वक ग्रहण करना ही परमपद है। इडा भगवती गगा और पिंगला यमुना नदी है तथा इडा-पिंगला के मध्य में जो कुण्डली है, वही बालरण्डा है ॥१०८—११०॥

व्याख्या—कुण्डलिनी का आकार सर्पिणी जैसा होता है वह साढ़े तीन कुण्डल मारे हुए रहती है। इस शक्ति को चालन करने वाला साधक अवश्य मुक्त हो जाता है। गंगा, यमुना कहकर यहाँ इडा और पिंगला नाड़ियों का माहात्म्य वर्णन किया है। अर्थात् इडा नाड़ी गंगा के समान और पिंगला नाड़ी यमुना के समान पवित्र हैं। इनके मध्य में तपस्विनी बालरण्डा के नाम से स्वयं कुण्डलिनी शक्ति विद्यमान रहती है। यहाँ बालरण्डा का अर्थ कुछ न खाने वाली कहा है, इसका तात्पर्य हुआ प्रसुप्ता, उस सोती हुई कुण्डलिनी को हठयोग के द्वारा जगाकर परमपद प्राप्य करने का उपदेश है।

शक्तिचालन मुद्रा

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्‍बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥१११॥

अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य
नित्यं परिचालनीया ॥११२॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥११३॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥११४॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ।
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥११५॥

टीका - सोती हुई भुजंगी की पूंछ को पकड़कर प्रबोधन करने से वह शक्ति निद्रा छोड़कर ऊपर उठकर स्थित हो जाती है। वह फणावती प्रातःकाल, सायकाल में आधे प्रहर तक सूर्य से परित परिधान से ग्रहण करके नित्य चलानी चाहिए। मूल स्थान से बिलाँद भर ऊपर चार अंगुल विस्तार वाले कोमल, श्वेत और वेष्टित किये वस्त्र के समान कहा जाता है। वज्रासन में स्थित होकर दोनों पाँवों को एड़ियों के पास से हाथों द्वारा दृढ़ता से धारण कर उस कन्द का प्रपीडन करे। वज्रासन में स्थित हुआ योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुंडली को जाग्रत् करे ॥१११--११५॥

व्याख्या—पूंछ पकड़ कर कुण्डलिनी को जगाने का अभिप्राय यह है कि प्राणनिरोध के अभ्यास से वायु द्वारा ताड़ित होने पर कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है, उस अभ्यास को सिद्ध करना चाहिए। इसका चालन करने के लिए प्रातः, सायं दोनों समय डेढ़-डेढ़ घंटे नित्य प्रति अभ्यास करना चाहिए।

मूल स्थान से बिलाँद भर ऊपर यानी नाभि स्थान और उपस्थ के मध्य में कन्द स्थान कहलाता है। गोरक्षसंहिता में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है कि नाभि के नीचे कन्द की जो योनि है, वह पक्षी के अण्डे समान के समान है, जिसमें से बहत्तर नाड़ियाँ उत्पन्न होकर शरीर के सभी अंगों में गई हैं। वह कन्दस्थान कोमल और उज्वल वस्त्र के समान एक बिलाँद भर लम्बा और चार अंगुल चौड़ा होता है।

वज्रासन करके एड़ियों से ऊपर पाँवों को पकड़ कर नाभि के नीचे के भाग में कन्द को पीड़ित करे। इस प्रकार करता हुआ साधक शक्तिचालन मुद्रा के साथ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुंडलिनी को जाग्रत् करना चाहिए। परन्तु इससे यह प्रकट होता है कि भस्त्रा कुम्भक के साथ वज्रासन ही करे. अन्य आसन न करे।

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥११६॥
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥११७॥
तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥११८॥

टीका—सूर्य का आकुंचन करने से कुंडली का चालन होता है। इस क्रिया को करने वाले योगी को मृत्यु के मुख में जाने पर भी मृत्यु का भय कहाँ है? इसका चालन निर्भय रूप से दो घड़ी पर्यन्त करे तो सुषुम्ना गई हुई यह शक्ति ऊपर खिचती है। वैसा होने पर वह कुंडलिनी सुषुम्ना के मुख में चली जाती है, इसलिए प्राण भी स्वतः सुषुम्ना में चला जाता है ॥११६—११८॥

व्याख्या—नाभिदेश के आकुंचन से वहाँ स्थित सूर्य (अग्नि) का आकुंचन हो जाता है और सूर्य का आकुंचन होने पर ही शक्ति का चालन होता है। इस प्रकार का चालन दो मुहूर्त्त तक करने से ही कुण्डलिनी सुषुम्ना में जाकर ऊपर की ओर खिचती है उसके द्वारा सुषुम्ना का मुख छोड़कर ऊपर जाने के कारण प्राण के लिए सुषुम्ना का मुख खुला मिलता है, इसलिए वह भी बाधा-रहित रूप से उसमें घुसकर ऊपर की ओर चढ़ता है। 'कुण्डलीं चालयन्प्राणान्भेद यन्शशिमण्डलम्' (ब्र. वि उ.) के अनुसार कुण्डली और प्राण का चालन करके चन्द्रमण्डल का भेदन करे। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

अधस्तात्कुंचनेनाशु कण्ठ संकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥

अर्थात्—अधोभाग में गुदा का आकुंचन, ऊर्ध्वभाग में कण्ठ का सकोचन और मध्य में पश्चिमतान से प्राण का आकर्षण करे तो (सब ओर से रोका हुआ) प्राण ब्रह्मनाडी अर्थात् सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है।

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम्।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥११९॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।।१२०।।

टीका—इसलिए नित्यप्रति के अभ्यास द्वारा सुखपूर्वक सोती हुई अरुन्धती का चालन करे, उसके चालन करने मात्र से ही योगी सब रोगों से मुक्त हो जाता है। जिसने शक्ति का चालन कर लिया वह योगी सिद्धि का पात्र हो गया। बहुत क्या कहें ? वह लीलापूर्वक काल को भी जीत लेता है। ।११६ –१२०।।

व्याख्या—व्याख्या सोती हुई कुण्डलिनी को जगाकर चालन करने वाला साधक सभी रोगों से रहित एवं पूर्ण स्वस्थ हो जाता है, मृत्यु भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। सभी विघ्न बाधाओं और व्याधियों को वह क्रीडा के समान उल्लंघन करने में समर्थ होता है। इस प्रकार शक्ति के चालन में कुशल योगी मृत्यु का भी विजेता हो जाता है।

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्याभ्यासयोगिनः ।।१२१।।
कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ।।१२२।।

टीका—जो साधक ब्रह्मचर्य परायण रहता हुआ नित्य मिताहार करता है, उस कुण्डलिनी के अभ्यासी योगी को एक मण्डल में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जो योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक ही विशेष रूप से करता है, उस अभ्यास परायण यमी को यम का भय भी कहाँ ? ।।१२१—१२२।।

व्याख्या— ब्रह्मचर्य-परायण अर्थात् इन्द्रिय संयम सदैव तत्पर योगी ही कुण्डलिनी के जागरण का अभ्यास कर सकता है। यदि अभ्याम करने के दिनों में ब्रह्मचर्य-रहित हो जाय तो तो बिन्दु का क्षय होने के कारण उसका शरीर रोगी होकर शनैः शनैः काल कलवित हो सकता है और सिद्धि तो उसे हो ही नहीं सकती।

'मन्डल' पद काल का वाचक है, चालीस दिन के परिमाण को मण्डल कहते हैं। विधि पूर्वक कुन्डलिनी-चालन का अभ्यास करने वाला योगी एक मन्डल के समय में ही सिद्धि का दर्शन कर लेते है अर्थात उन्हें सिद्धि मिल जाती है। परन्तु इसके लिए उन्हें भस्त्रा कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिए।

यमी का अर्थ है 'यम' का पालन करने वाला। योगी को यम-नियमों का पालन आवश्यक होता है और इसीलिए वह यम-नियम-परायण रहता है. अतः 'यमी' शब्द का प्रयोग साधक के अर्थ में हुआ है। इससे यह प्रकट किया गया कि साधक मृत्यु से भी नहीं डरता। उसको साधना में कितने ही विघ्न क्यों न आकर उपस्थित हो जाँय, वह धैर्य और साहस पूर्वक उनका उल्लंघन कर जाता है। परन्तु जो यमों का पालन नहीं करता, उसे जन्म-मरण के भय में पड़ना होता है।

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोभने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥१२३॥
इयं तु मध्यमा नाडी दृढ़ाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरया भवेत् ॥१२४॥

टीका—कुन्डलिनी के अभ्यास विना वहत्तर हजार नाड़ियों मल-शोधनार्थ उनके प्रक्षालन का अन्य उपाय ही क्या

है ? यह मध्य नाड़ी योगियों के दृढ़ अभ्यास द्वारा आसन, प्राणायाम और मुद्रा से सरल होती है ॥१२३—१२४॥

व्याख्या—शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, सामान्य दशा में वे सभी मल से भरी रहती हैं। परन्तु कुन्डलिनी चालन का अभ्यास करने से वे नाड़ियाँ स्वयं धुल-धुल कर शुद्ध हो जाती हैं। इसलिए श्लोक में कुन्डलिनी चालन के अभ्यास का कर्त्तव्य रूप से संकेत है।

मध्य नाड़ी का अर्थ सुषुम्ना है, क्योंकि यही नाड़ी इडा और पिंगला के मध्य में रहती है। इसे सरल अर्थात् उपयोगी बनाने के लिए आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि साधनों की आवश्यकता होती है, क्योंकि उन्हीं साधनों के सिद्ध होने पर शक्ति प्रबुद्ध होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है।

अभ्याये तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यद्रा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥१२

टीका—अभ्यास काल में अनिद्रित रह कर जो साधक मन को समाधि में लीन कर लेते हैं, उन्हें रुद्राणी आदि मुद्राएं कल्याणमयी होकर सिद्धि के देने वाली होती हैं ॥१२५॥

व्याख्या--अभ्यास के समय साधक को आलस्य और निद्रा का परित्याग करना चाहिए, क्योंकि उनके होने पर समाधि में मन का लय नहीं होता, वरन् वह तो निद्रा-रहित अवस्था में ही हो सकता है। चित की एकाग्रता अनिद्रित अवस्था में ही बनती है और उसी को समाधि कहते हैं।

रुद्राणी मुद्रा का अभिप्राय शाम्भवी मुद्रा से है। 'लक्ष्येऽन्तर्बाह्ययां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां च इयं शाम्भवी मुद्रा

भवति' (मण्डलब्राह्मणोपनिषत्) अर्थात् 'लक्ष्य के भीतर और बाहर की दृष्टि जब निर्मिमेष रूप से स्थिर हो जाती है, तब यह शाम्भवी मुद्रा होती है।' और इस मुद्रा का फल उसी उपनिषत् में तज्ज्ञानेन संसार निवृत्तिः, तत्पूजनं मोक्षफलदम्' कह कर उसके ज्ञान से संसार की निवृत्ति और पूजन से मोक्ष की प्राप्ति बताया है ।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥१२६॥

टीका—राजयोग के बिना पृथिवी, निशा और मुद्रा विलक्षण हों तो भी शोभित नहीं होती ॥१२६॥

व्याख्या—इसमें राजयोग के बिना आसनादि अङ्गों की निष्फलता कही गई है। चित्तवृत्ति को अन्य विषयों से रोक कर आत्मा में निर्विकल्प रूप से योजित करना ही राजयोग है। जब तक साधक इस प्रकार की उपलब्धि में असमर्थ रहता है, तब तक पृथिवी अर्थात् आसन, निशा अर्थात् कुम्भक, विचित्र मुद्रा अर्थात् महामुद्रा आदि सभी निरर्थक हैं।

कुछ विद्वानों ने पृथिवी का अर्थ स्थिरता भी किया है, क्योंकि पृथिवी स्थिर रहती है और वैसी स्थिरता राजयोग अर्थात् चित्त वृत्ति के निरोध से ही हो सकती है। निशा का अर्थ कुम्भक इसलिये किया है कि जैसे रात्रि में राज पुरुषों का आवागमन नहीं रहता वैसे ही कुम्भक में प्राण का संचार रुका रहता है। परन्तु यह प्राणावरोध तब तक निष्फल है जब तक कि चित्त वृत्ति को आत्म-विषयक विचार में लीन न कर लिया जाय। यही बात महामुद्रा आदि पर भी लागू होती है कि वे कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, चित्तवृत्ति असंयमित है तो उसका महत्व किसी उपयोग का नहीं।

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ।।१२७।।
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ।।१२८।।

टीका—वायु-धारण की सम्पूर्ण विधि का अभ्यास मन लगा कर करे, उससे भिन्न किसी भी कार्य में मनीषी पुरुष को मनोवृत्ति नहीं लगानी चाहिए । आदिनाथ शिवजी ने यह दश मुद्रा बताई हैं । उनमें से कोई एक मुद्रा भी यमी (योगी) के लिए महासिद्धि के देने वाली हो सकती है ।।१२७—१२८।।

व्याख्या—प्राणायाम आदि की सभी विधियों को चंचल मन से न करे, वरन् मन को स्थिर करके उसी में लगा दे, तभी सफलता मिल सकती है । योगाभ्यासी पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह मनो को किसी अन्य विषय की ओर न जाने दे । ऊपर जो दश मुद्राएं कही हैं वह आदि नाथ रूप शिवजी द्वारा वर्णित हैं । उनमें से कोई-सी भी मुद्रा अभ्यास से सिद्धिप्रद हो सकती है ।

सद्गुरु प्रशंसा

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्री गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ।।१२९।।
तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ।।१३०।।

टीका—मुद्राओं के उपदेश को जो साम्प्रदायिक रूप से देता है, वही श्री गुरुदेव स्वामी और साक्षात् ईश्वर है । उसके

सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनम् ।
स्वस्तिकंयोगिभिर्गोप्यं स्वस्तीकरणमुत्तमम् ।।११८।।

स्वस्तिकासन के लिए घुटनों और जाँघों के बीच में भली प्रकार से पैर के तलुए को जमाकर साम्यावस्था में बैठना ही स्वस्तिकासन कहा जाता है। इस आसन के द्वारा साधक शरीरस्थ वायु को अविलम्ब वशवर्ती बना लेने में सक्षम हो जाता है। इसके द्वारा शरीर में रोगोत्पत्ति नहीं होती। इस आसन को सहज रूप से सम्पन्न कर लिये जाने के कारण ही इसे सुखासन भी कहा जाता है। इस सर्वोत्तम आसन को सदैव ही गुप्त रखना उचित है ॥११६-११८॥

इति श्रीशिवसंहितायां शिवगौरीसंवादे योगाभ्यासकथनं नाम तृतीय पटल: सम्पूर्णम् ॥३॥

इस प्रकार श्रीशिवसंहिता के योगाभ्यास कथन नामक तीसरे पटल की पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठीकृत हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥३॥

◆

चतुर्थ पटलः

मुद्रा वर्णन

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रवर्तते ।।१।।

सर्वप्रथम योगाभ्यासी ओंकारमूलक प्राणायाम के द्वारा वायु को कर्षित करके उसे मूलाधार चक्र में स्थापित कर दे। तत्पश्चात् मलद्वार तथा जननेन्द्रिय के मध्यवर्ती योनिस्थान का चेष्टापूर्वक संकोचन करे। अब यहाँ नीचे की पंक्तियों में योनिमुद्रा का विशद वर्णन किया जा रहा है ॥१॥

योनिमुद्रा

ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।।२।।
तस्योर्ध्वं तु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला ।
तथा सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ।।३।।

ब्रह्मयोनि के मध्य गेंद के समान धवल तथा करोड़ों-करोड़ सूर्य की आभा के सदृश देदीप्यमान एवं करोड़ चन्द्रमाओं के समान शीतलतायुक्त कामदेव का ध्यान धारण करना चाहिए। उसी के ऊपर सूक्ष्म ज्योति के समान चमकीली, चिद्रूप तथा परमकला के सहित एक ही आत्मा का ध्यान करे, क्योंकि ब्रह्मयोनि के ऊपर सूक्ष्म जयोतिशिखा के रूप में आत्मा की वर्तमानता रहती है। अत: साधक के लिए वही ध्यातव्य है ॥२३॥

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिङ्गत्रयक्रमेण वै ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।।४।।
अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ।
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम् ।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ।।५।।

प्रत्येक जीव उसी ब्रह्मयोनिपथ से सुषुम्ना नाड़ी मार्ग द्वारा क्रमानुसार लिंगत्रय से गमन करता है । देहधारी में तीन प्रकार के लिंग कहे गये हैं, जैसे— १. स्थूल, २. सूक्ष्म और ३. कारण । मृत्यु के उपरान्त ये तीनों लिंग अर्थात् स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर नहीं रह जाते है । करोड़ों सूर्य की कांति वाले, करोड़ों चन्द्र की शीतलता वाले, श्वेत तथा रक्त वर्ण वाले परमानन्दरूप एवं अमृत की धारावाही वर्षा करने वाले स्वर्गस्थ अलौकिक कलामृत का पान करके पुनः योनिमण्डल में अवस्थित हो जाता है ।।४-५।।

पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा ।
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता ।।६।।
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवात्मकम् ।
योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ।।७।।
तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यं न साधयेत् ।।८।।

इसके अनन्तर प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु ब्रह्मयोनिमार्ग से प्रस्थित होता है । इसे मिथ्या नहीं समझना चाहिए । मैंने उसी ब्रह्मयोनि को प्राणसंज्ञक भी कहा है । तत्पश्चात् वह जीव कालाग्नि से समन्वित शिवरूप होकर गमन करता हुआ चन्द्रमण्डल में जाकर अमृतपान करता तथा पुनः लौटकर ब्रह्मयोनि में ही अवस्थित हो जाया करता है । इसी बन्ध को योनिमुद्रा कहते हैं । केवल एक अकेले इस बन्ध के करने से प्राणी के लिए इस जगत में कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं रह जाती है । इस योनिमुद्रा की सिद्धि होने पर सभी सिद्धियाँ सहज ही आ जाती हैं ।।६-८।।

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताः स्तम्भिताश्च ये ।
दग्धामन्त्राः शिरोहीना मलिनास्तु तिरस्कृताः ।।९।।
मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ।
भेदिनो भ्रमसंयुक्ताः सप्ताहं मूर्च्छिताश्च ये ।।१०।।

जो मंत्र छिन्न-भिन्नस्वरूप, कीलित, स्तम्भित, दग्ध, मुंडविहीन, मलिन या अनादृत है अथवा जो बाल (अल्प प्रभावयुक्त), वृद्ध (समग्र प्रभाव वाले), प्रौढ़ (मध्यम प्रभावशील), यौवनगर्वित (प्रचण्ड स्वभाव वाले), भेदयुक्त (भ्रमान्वित करने वाले) तथा सप्ताहों से निष्क्रिय पड़े हैं ।।९-१०।।

अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्यः सत्त्ववर्जिताः ।
तथा सत्त्वेन हीनाश्च खंडिताः शतधाकृताः ।।११।।
विधिनानेन संयुक्तः प्रभवन्त्यचिरेण तु ।
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः ।।१२।।

अथवा ऐसे मन्त्र जो शत्रु के लिए लाभकारी हैं या जो निस्तेज और सत्त्वहीन हैं या जो सत्त्वविहीन होने के साथ-ही-साथ खंडित होकर सैकड़ों टुकड़ों में बिखर गये हैं, वे सभी मन्त्र उक्त योनिमुद्रा की सिद्धि होने या गुरु द्वारा प्रदत्त उपदेशानुसार कार्य करने पर सिद्ध, प्रभावशाली और मोक्षदाता हो जाते हैं ॥११-१२॥

यद्यदुच्चरते योगी मंत्ररूपं शुभाशुभम् ।
तत्सिद्धिंसमवाप्नोति योनिमुद्रानिबन्धनात् ।।१३।।
दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिञ्च्य सहस्रधा ।
ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ।।१४।।

योगी के द्वारा मन्त्रोच्चार काल में जो भी मन्त्र शुद्धाशुद्ध रूप से उच्चरित हुआ करते हैं वे सभी इस योनिमुद्रा के बन्ध से शुद्ध एवं सिद्धिप्रद हो जाते हैं। अपने जिज्ञासु साधक शिष्य के प्रति गुरु का भी यह कर्तव्य होता है कि वह शिष्य के मन्त्र ग्रहणार्थ उसे इस योनिमुद्रा की दीक्षा देकर उससे इसका अभ्यास सहस्त्रों बार कराता रहे। गुरु को अपने शिष्य से किसी रहस्य का गोपन करना भी उचित नहीं है ॥१३-१४॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ।।१५।।
गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न बध्येत् योनिमुद्रानिबन्धनात् ।।१६।।

साधक द्वारा सहस्त्रों जीवहिंसा करने या त्रैलोक्य के समस्त प्राणियों का वध कर डालने पर भी उसे इस मुद्रा के फलस्वरूप पाप में लिप्त नहीं होने पड़ते। गुरुहन्ता, सुरापानक, चौरकर्मकारक, गुरुशैय्या में रमणकर्ता या इसी प्रकार के अन्य पापों का पातकी साधक भी योनिमुद्रा की सिद्धि पा लेने पर पापकर्मों का फल नहीं भोगता ॥१५-१६॥

तस्मादभ्यासनं नित्यं कर्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः ।
अभ्यासाज्जायते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ।।१७।।
संविदं लभतेऽभ्यासात् योगोऽभ्यासात्प्रवर्तते ।
मुद्रिणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम् ।।१८।।

मोक्षार्थी साधक का यह आवश्यक कर्म है कि वह नित्यप्रति योनिमुद्रा की साधना में संलग्न रहे। अभ्यास की सिद्धि मिलने पर अन्य सिद्धियाँ भी मिलती तथा उसी के द्वारा वह मुक्ति पाने का अधिकारी भी बनता है। अभ्यास के द्वारा ही ज्ञानोत्पत्ति, योग में प्रवृत्ति तथा वायुसाधना की सिद्धि भी सम्भव होती है ॥१७-१८॥

कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ।
वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ।।१९।।
योनिमुद्रा परं गोप्या न देया सस्य कस्यचित् ।
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ।।२०।।

अभ्यास के द्वारा ही काल को लाँघकर मृत्युजयी बनने का गौरव भी प्राप्त किया जा सकता है। उसी से वाक्सिद्धि तथा अभीप्सित आचरण की शक्ति भी मिलती है। अतएव योगाभ्यासी को निरन्तर अभ्यासपरायण रहना चाहिए। यह योनिमुद्रा अतीव गोपनीय होती है। इसे कभी किसी अयोग्य या अनधिकारी व्यक्ति से प्राण के कंठगत हो जाने पर भी नहीं बतलाना चाहिए ॥१९-२०॥

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम् ।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् ।।२१।।
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ।।२२।।

शिवजी कहते हैं कि हे देवि ! अब में जिस योग-प्रक्रिया का वर्णन करने जा रहा हूँ वह परमोत्कर्षकारक और अत्यन्त सिद्धिप्रदायक है। कठिनता से सिद्ध होने वाली इस दुर्लभ विद्या को गुप्त रखना ही उत्तम सिद्ध पुरुषों का आवश्यक कर्तव्य है। गुरु के अनुग्रह से अर्थात् उनके कथनानुसार जब सोयी हुई कुंडलिनी जाग उठती है तब सभी पद्म-दलों (चक्रों) तथा सभी गाँठों का भेदन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कुंडलिनी के साथ सुषुम्नापथ से ब्रह्मरन्ध्र तक प्राणवायु का संचरण सुगमतापूर्वक होने लगता है ॥२१-२२॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ।।२३।।

साधक को सभी प्रयासों के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र-विवर को अवरुद्ध कर सुप्तावस्था में पड़ी हुई कुंडलिनी को जगाने के लिए उसे मुद्राभ्यास में लग जाना चाहिए, क्योंकि कुंडलिनी के जाग्रत न होने तक मोक्षद्वार के कपाट नहीं खुलते ॥२३॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा ।।२४।।
उड्डानं चैव वज्रोली दशमं शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् ।।२५।।

योगसाधना में प्रमुखतः दश मुद्राएँ बतलायी गयी हैं जो इस प्रकार से हैं, जैसे— (१) महामुद्रा, (२) महाबन्ध, (३) महावेध, (४) खेचरी मुद्रा, (५) जालंधरबन्ध, (६) मूलबन्ध, (७) विपरीतकरणी मुद्रा, (८) उड्डीयान बन्ध, (९)

वज्रोली मुद्रा तथा (१०) शक्तिचालिनी मुद्रा। उक्त दश प्रकार की मुद्राएँ समस्त मुद्राओं में सर्वोत्तम हैं ॥२४-२५॥

महामुद्रा

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः ॥२६॥

शिवजी देवी पार्वती के प्रति उन्मुख होकर कहते हैं—हे प्राणवल्लभे ! मैं इस तन्त्र में जिन-जिन मुद्राओं का कथन कर रहा हूँ उन-उन मुद्राओं की साधना से ही सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल आदि प्राचीन ऋषि-मुनियों ने सिद्धि उपलब्ध की थी ॥२६॥

अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम्।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥२७॥
सव्यं प्रसारितं पाद धृत्वा पाणियुगेन वै।
नव द्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥२८॥
चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम्।
महामुद्रा भवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥२९॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥३०॥

इस मुद्रा की सम्पन्नता हेतु बाएँ पैर को मोड़कर उसकी एड़ी को गुदाद्वार और शिश्न के मध्य वाले योनिस्थान (सीवन) से लगाकर आदरपूर्वक गुरु के उपदेशानुसार दबाएँ। अब दाहिना पैर सीधा फैलाकर उसे दोनों हाथों से पकड़ लें। तदनन्तर शरीर के अन्य नव द्वारों (छिद्रों) को रोककर अपनी ठुड्डी को हृदय पर स्थापित कर दें। पुनः चैतन्यस्वरूप में अपनी चित्तवृत्ति को स्थिर करके वायु की साधना करे। इस महामुद्रा को सभी तन्त्रों में गुप्त रखने का आदेश दिया गया है। इस मुद्रा का अभ्यास पहले वामांग और पुनः दक्षिणांग से करने का विधान है। संयत चित्त वाले योगाभ्यासी को यह प्राणायाम समान रूप से करणीय है ॥२७-३०॥

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥३१॥
जीवनं तु कषायस्य पातकानां विनाशनम्।
कुण्डलीतापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम् ॥३२॥

इस प्रक्रिया के अपनाने से हतभाग्य योगी भी सिद्धिलाभ कर लेना है, क्योंकि इसकी प्रभावशालिता से सम्पूर्ण नाड़ियों का परिचालन होकर बिन्दु (वीर्य) का स्थिरीकरण हो जाता है। उक्त प्रकार का अभ्यास जीवन में स्थिरता लाने तथा समस्त पाप-पुंजों का नाश करने हेतु होता है। इसके परिणामस्वरूप उसमें कुंडलिनी को

जाग्रत कर प्राण के साथ ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचाने की शक्ति आ जाती है ॥३१-३२॥

सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम् ।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम् ।।३३।।
वांछितार्थफलंसौख्यमिंद्रियाणाञ्च मारणम् ।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः ।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा ।।३४।।

इस प्रकार की युक्ति से समग्र रोग उपशमित होकर क्षुधाग्नि का वर्धन होता है। इसके द्वारा शरीर सौन्दर्यमय, स्वच्छ तथा दीप्तिमान हो उठता है और इसके साथ ही जरा-मरण का भी उन्मूलन हो जाता है। ऐसा साधक समस्त अभिलषित पदार्थों को प्राप्त कर सुखानुभव करता हुआ इन्द्रियदमन में भी सक्षम हो जाता है। इससे मिलने वाले जो भी लाभ कहे गये हैं वे सभी योगाभ्यासी को उपलब्ध होते हैं। इसमें सोच-विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥३३-३४॥

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ।
यान्तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः ।।३५।।
मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता ।
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ।।३६।।

शिवजी ने पार्वती से कहा—हे देवों द्वारा पूजित देवि ! मेरे द्वारा कथित इस मुद्रा को सदैव ही गुप्त रखना चाहिए। इसका कथन उन्हीं लोगों से करना चाहिए जिनमें इसके प्रति अभिरुचि हो। इसकी उपलब्धि से योगिजन भवार्णव (संसार-सागर) से पार हो जाते हैं। यह मुद्रा कामधेनु गाय (एक स्वर्गीय गाय जो सभी आंकाक्षाओं की पूर्ति कर देती है) के समान सभी फलों को देने वाली है। इसका साधन चुपचाप गुप्त रूप से करना आवश्यक होता है। इसे कभी किसी अनधिकारी या अयोग्य पुरुष से नहीं कहना चाहिए ॥३५-३६॥

महाबन्ध मुद्रा

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि ।।३७।।
गुदयोनिं समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ।।३८।।

तत्पश्चात् पैर को फैलाकर बायीं जाँघ पर दाएँ पैर को स्थापित कर दें और गुदाद्वार तथा योनिस्थान (सीवन) का संकोचन कर अपानवायु को ऊपर की ओर ले जायँ ताकि वह समान वायु के साथ मिलित होकर प्राणवायु को नीचे की ओर उतार दे। अर्थात् प्राणवायु का गमन नीचे की ओर हो जाय ॥३७-३८॥

बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ।।३९।।

नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं यान्ति योगिनः ।
उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ।।४०।।

प्राण-अपान को एकीकृत करने हेतु जो प्रबुद्ध साधक इस बन्ध का अभ्यास करता है उसके लिए यह सकलीभूत होता है। अथवा योगी के नाड़ीजाल से रस-समूह शिरोभाग में प्रवाहित होता है अर्थात् ऊर्ध्व भाग में गमनशील हो उठता है। अतः मुद्रा एवं बन्ध— इन दोनों को ही प्रत्येक अंग द्वारा भली प्रकार से करना आवश्यक हैं ।।३९-४०।।

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामव्यसङ्गतः ।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपञ्जरे ।।४१।।
सम्पूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ।।४२।।

इस प्रकार का अभ्यास सुषुम्ना नाड़ी में प्राणवायु को स्थिर कर देता है तथा अभ्यासी के शरीर का पुष्टिवर्धन भी करता है। इसके द्वारा योगाभ्यासी के सभी अस्थि-समूहों तथा बन्धनों का दृढ़ीकरण हो जाता है। ऐसे योगी का हृदय पूरी तरह से परितुष्ट रहता और उसकी अभिलाषाएँ पूरी हो जाती है। वह अपने सर्वाभीष्ट को प्राप्त कर लेता है ।।४१-४२।।

महावेध

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना ।
स्फिचौसंताडयेद्धीमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया ।।४३।।
वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुङ्गवः ।
ग्रन्थिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ।।४४।।

हे त्रिभुवनेश्वरि ! महाबन्ध में अवस्थित योगी के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने प्राण-अपान वायु का एकीकरण करके उदर में वायु का संचयन कर ले। तत्पश्चात् वह दोनों कूल्हों के दोनों ओर का ताड़न करे। यह वेध मेरे द्वारा कथित है। योगियों में उत्तम साधक इस वेध का अभ्यास करता हुआ सुषुम्ना-पथ से ब्रह्मग्रन्थि के भेदन का प्रयास करता है। इस बन्ध में कुशल योगी ही सफल होकर अभीप्सित पदार्थों की उपलब्धि कर सकता है ।।४३-४४।।

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी ।।४५।।
चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात् ।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ।।४६।।

जो प्राणी इस श्रेष्ठतम महावेध को गुप्त रखकर निरन्तर अभ्यासशील रहा

करता हैं उसे जरा-मरणनाशक वायु की सिद्धि मिल जाती है। शरीरस्थ षट्चक्रों (आधार, स्वाधिठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध तथा आशाचक्र) में निवसित देवता—गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा अग्नि आदि वायु के प्रताड़न से कम्पित हो उठते हैं और महामायास्वरूपा कुंडलिनी शक्ति ब्रह्मस्थान में विलीन हो जाती है। तात्पर्य यह है कि वायु का दबाव वेगपूर्वक पड़ने के फलस्वरूपं वे सभी देवता अपने-अपने स्थान का परित्याग का देते हैं जिससे उन स्थानों में प्राणवायु का प्रवेश सुगमता से हो सकता है ॥४५-४६॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलो वेधवर्जितौ ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ।।४७।।
एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः ।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः ।।४८।।

वेध के अभाव में महामुद्रा और महाबन्ध— ये दोनों ही सफल नहीं हो सकते। अतएव योगाभ्यासी को चेष्टापूर्वक इन तीनों ही साधनों का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए। जो पुरुष मुद्रा, बन्ध और वेध— इन तीनों का चार बार अभ्यास नित्य करता है वह छह महीने के अभ्यास द्वारा मृत्यु पर विजय पा लेता है। इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह करना अनावश्यक होता है ॥४७-४८॥

एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ।
यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वेसिद्धिं सम्यक् लभन्ति वै ।।४९।।
गोपिनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः ।
अन्यथाचन सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः ।।५०।।

मुद्रा, बन्ध और वेध—इन तीनों की महत्ता से केवल सिद्ध पुरुष ही परिचित होते हैं, अन्य कोई भी इसे नहीं जान सकता। उक्त तीनों साधनों के ज्ञानोपरान्त साधक सम्पूर्ण सिद्धियों को प्राप्त करने में सफल हो जाता है। सिद्धाभिलाषी साधक के लिए उचित है कि वह ऐसे अभ्यास को सदैव गुप्त ही रखे। इस अभ्यास का कथन किसी सामान्य व्यक्ति से करने पर साधक को सिद्धि मिलना सम्भव नहीं होता ॥४९-५०॥

खेचरीमुद्रा

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढा सुधीः ।।५१।।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ।
लंबिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम् ।।५२।।
संयोजयेत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ।।५३।।

इस मुद्रा के लिए प्रबुद्ध साधक को दोनों भौंहों के मध्यवर्ती स्थान में अपनी दृष्टि जमाकर उपद्रवविहीन सिद्धासन में बैठना आवश्यंक है। अपनी जीभ को जिह्वाविवर

में ले जाकर अमृतरूप उस कूप में अर्थात् तालुमूल में स्थापित कर दें। अभिप्राय यह है कि जीभ को पलटकर गलघंटिका के पीछे तालु से सटा दें तो यह खेचरी मुद्रा कही जाती है। इसे मैंने भक्तों के हितार्थ ही प्रकाशित किया है ।।५१-५३।।

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया ।
निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूष प्रत्यहं पिबेत् ।
तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ।।५४।।

शिवजी ने कहा—हे देवि ! यह मुद्रा मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी है। यह समस्त सिद्धियों की उत्पन्नकर्त्री है। इस मुद्रा की साधना करने वाला साधक निश्चित रूप से अमृत-पान करता रहता है। इसके द्वारा साधक को शरीरस्थ देवताओं की सिद्धि मिल जाया करती है और उसे शारीरिक पुष्टता भी प्राप्त होती है। अर्थात् यह खेचरी मुद्रा मृत्युरूप हाथी के वधार्थ सिंह के समान है ।।५४।।

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः ।।५५।।
क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम् ।
दिव्यभोगान् प्रभुक्त्वाच सत्कुले स प्रजायते ।।५६।।

कोई भी योगाभ्यासी पवित्र-अपवित्र या किसी भी अवस्था में क्यों न हो, इस खेचरी मुद्रा की सिद्धि से वह सर्वथैव पावन हो जाता है। यह बात नि:सन्देह रूप से सत्य है। जो साधक इस मुद्रा का अभ्यास क्षणभर भी कर लेता है वह पापरूपी महासागर से पार जाकर देवलोक में सुखोपभोग करता है। तदनन्तर पुनर्जन्म धारध करने पर उसकी उत्पत्ति किसी कुलीन वंश में होती है ।।५५-५६।।

मुद्रैषा खेचरी यस्तु सुस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः ।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ।।५७।।
गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम् ।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम् ।।५८।।

जो योगाभ्यासी इस खेचरी मुद्रा की साधना करता हुआ स्वस्थ-चित्त से ब्रह्मपरायण रहता है उसे सैकड़ों ब्रह्मा के आयुकाल के विगत हो जाने पर भी वह दीर्घावधि क्षणमात्र ही प्रतीत होती है। जिस साधक को गुरुदीक्षा के फलस्वरूप यह खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है उसे अनेक प्रकार के पापाचरण में लिप्त रहने पर भी निर्वाणपद की उपलब्धि हो जाती है। अर्थात् इस मुद्रा की साधना से साधक के सभी पापों का उन्मूलन हो जाता है ।।५७-५८।।

सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मै कस्मै न दीयते ।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ।।५९।।

शिवजी कहते हैं कि हे सुरवन्दिते देवि ! यह मुद्रा प्राणों से भी अधिक प्रिय

है। अतः इसे किसी अयोग्य व्यक्ति से न कहकर सदैव गुप्त ही रखना चाहिए ।।५९।।

जालन्धरबन्ध

बद्धा गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ।।६०।।
नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्त्रकमलच्युतम् ।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम् ।।६१।।

इस बन्ध के लिए कंठप्रदेश की शिराओं को आबद्ध कर हृदय से ठुड्डी को मिला लें तो यह जालंधरबन्ध कहा जाता है। यह देवताओं के लिए भी दुर्लभ होता है। अर्थात् इसके अभ्यासकाल में गले को नीचे झुकाकर ठोड़ी को हृदय से लगाना पड़ता है। सहस्रार (सहस्रदल कमल) से क्षरित होने वाले अमृत को नाभिप्रदेश में स्थित जठराग्नि सुखा दिया करता है, किन्तु उसे रोकने के लिए जालन्धरबन्ध करना आवश्यकता होता है। इस बन्ध के द्वारा साधक चन्द्रमा से स्रवित होने वाले अमृत का पान स्वयं ही करके कालजयी बन जाता है, क्योंकि जठराग्नि द्वारा अमृत का शोषण कर लेने से ही प्राणी की मृत्यु होती हैं ।।६०-६१।।

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान् ।
अमरत्वञ्चं सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ।।६२।।
जालंधरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिनासिद्धिमिच्छता ।।६३।।

इस जालंधरबन्ध के परिणामस्वरूप साधक स्वयं ही अमृतपान करने में सक्षम हो जाता और अमरत्व को प्राप्त करता है। इसके द्वारा वह त्रैलोक्य में सुखपूर्वक विहार करता रहता है। यह जालन्धरबन्ध सिद्धिप्राप्त पुरुषों के लिए भी सिद्धिदायक प्रमाणित होता है। इसका निरन्तर अभ्यास करने वाला योगी सिद्धिलाभ करता है ।।६१-६३।।

विशेष सावधानी—पूरक प्राणायाम करने के पश्चात् कुम्भक प्राणायाम-काल में प्राणवायु के अवरोधीकरण में इससे सरलता होती है, किन्तु रेचक के समय इसे खोल देना चाहिए। इस बन्ध की प्रक्रिया अत्यन्त सरल है, किन्तु इसमें सावधानी रखने की आवश्यकता है। इसके अभ्यासकाल में रीढ़ की हड्डी को सीधा रखना चाहिए, अन्यथा उसके टेढ़ी होने की सम्भावना बनी रहती है।

मूलबन्ध

पादमूलेन सम्पीड्य गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ।।६४।।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत् ।
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ।।६५।।
अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ।
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ।।६६।।

गुदाद्वार को सिकोड़कर उसे पैर की एड़ी से दबाएँ तथा अपानवायु को बलात् ऊपर की ओर खींचे। इस क्रिया के द्वारा प्राण-अपान का एकीकरण होता है। इस बन्ध को जरा-मृत्युविनाशक मूलबन्ध के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार प्राण-अपान वायु के मिलन से योनिमुद्रा स्वयं ही सिद्ध हो जाया करती है ॥६४-६६॥

सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ।
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ।।६७।।
सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगिपुङ्गवः ।।६८।।

इस योनिमुद्रा की सिद्धि हो जाने पर सिद्ध पुरुषों के लिए इस धरातल पर कोई भी वस्तु दुष्प्राप्य नहीं रह जाती। इस बन्ध के अभ्यास से वायु को सहज ही वश में लाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यदि साधक पद्मासन लगाकर बैठ जाय तो उसमें आकाश-गमन की शक्ति आ जाती है। वह धरती से ऊपर उठकर नभ-मण्डल में विचरने लगता है। इस प्रकार का उत्तम योगी यदि भवसागर से पार जाने का इच्छुक हो तो उसे इसका अभ्यास किसी निर्जन वन में गुप्त रहकर करना उचित होता है ॥६७-६८॥

विपरीतकरणीमुद्रा

भूतले स्वशिरो दत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।।६९।।
एतद् यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः ।
मृत्युं जयति योगीशः प्रलयेनापि सीदति ।।७०।।
कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात् ।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ।।७१।।

यदि कोई योगी अपने शिर को भूमि पर स्थापित कर (शिर के नीचे वस्त्रादि रखकर) अपने दोनों पैरों को आकाश की ओर सीधा खड़ा कर दे तो इसे विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। इसी को कुछ लोग कपालीमुद्रा भी कहते हैं। इसे अत्यन्त गोपनीय कहा गया है। इस प्रकार की मुद्रा को प्रतिदिन एक प्रहार (३ घण्टा) तक करने वाला योगी मृत्यु पर भी विजय पा लेता है और सृष्टि के प्रलयान्त में भी उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। इस भाँति शरीरस्थ अमृत का जो साधक निरन्तर पान करता रहता है वह निश्चय ही सिद्ध हो जाता है। इस बन्ध का अभ्यासी साधक सर्वत्र पूजनीय माना जाता है ॥६९-७१॥

उड्डयानबन्ध

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ।
उड्डयानबन्ध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः ।।७२।।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डयानाख्योऽत्रबन्धोऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ।।७३।।

इस बन्ध में नाभिस्थल को नीचे-ऊपर से खींचकर आँतों को पीठ से सटा दिया जाता है। इसको उड्डयानबन्ध कहा जाता है। इसके अभ्यास द्वारा पंचवायुओं (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान) का शुद्धिकरण हो जाता है। इसे बैठकर, खड़े होकर या घुटनों के बल भी किया जा सकता है। यह बन्ध मृत्युरूप हाथी को वश में लाने के लिए सिंह के सदृश है। इसके निरन्तर अभ्यास से यौवन चिरस्थायी रहता है और साधक जन्म-मरण के आवागमन से छूट जाता है ॥७२-७३॥

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ।
तस्य नाभेस्सु शुद्धिः साद्येन सिद्धोभवेन्मरुत् ।।७४।।
षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम् ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते ।।७५।।

इस बन्ध का प्रतिदिन चार बार अभ्यास करनेवाले साधक के नाभिप्रदेश का परिशोधन होकर वायु भी परिशोधित हो जाता है। जो योगी इसका अभ्यास सतत छह मास तक कर लेता है वह मृत्यु को विजित करने में भी सक्षम हो जाता है। इसके अभ्यास से क्षुधाग्नि का दीपन, रसवर्धन एवं शरीरस्थ सम्पूर्ण धातुओं का पुष्टिकरण होता है ॥७४-७५॥

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते ।
रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ।।७६।।
गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः ।
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम् ।।७७।।

उक्त बन्ध की प्रभावशालितावश योगी का शरीर स्वयमेव ही सिद्धि की ओर अग्रसर होने लगता है जिसके फलस्वरूप उसकी समस्त व्याधियों का नाश हो जाता है। इसकी प्राप्ति गुरु के अनुग्रह से ही सम्भव होती है। इसकी सिद्धि के निमित्त प्रबुद्ध साधक को शान्तचित्त से किसी एकान्त स्थान में बैठकर साधना करनी चाहिए ॥७६-७७॥

वज्रोलीमुद्रा

वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम् ।
स्वभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद्गुह्यतमामपि ।।७८।।
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना ।
मुक्तो भवति गार्हस्थो वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।।७९।।
वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगे युक्तेऽपि मुक्तिदः ।
तस्मादतिप्रयत्नेन कर्तव्यो योगिभिः सदा ।।८०।।

शिवजी पार्वती से कहते हैं कि हे देवि ! अब मैं अपने भक्तों के हितार्थ सांसारिक अंधकार (अज्ञान) को मिटाने वाली गुह्य से गुह्यतम वज्रोली मुद्रा का कथन कर रहा हूँ। इसके अभ्यास-से शास्त्रकथित नियमों का अनुपालन न करते हुए भी योगी मोक्ष का अधिकारी बन जाता है तथा गृहस्थाश्रमी घर में रहकर स्वेच्छया सभी भोगों का उपभोक्ता हो जाता है। इस वज्रोली मुद्रा की साधना से जब भोगी पुरुष भी मुक्तिलाभ कर लेता है तो फिर योगी का क्या कहना है? अर्थात् योगी के लिए तो इसका अभ्यास करणीय कर्म होता है ॥७८-८०॥

आदौ रजः स्त्रियो योन्याः यत्नेन विधिवत्सुधीः ।
आकुंच्य लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥८१॥
स्वकं बिन्दुश्च सम्बन्ध्य लिंगचालनमाचरेत् ।
दैवाच्चलति चेदूर्ध्वं निबद्धो योनिमुद्रया ॥८२॥

सर्वप्रथम साधक को योनिमार्ग से स्रवित होने वाले रज को अपने लिंगेन्द्रिय-नाल में खींचकर उसे अपने शरीर में प्रविष्ट कराना चाहिए। तदनन्तर वीर्यस्खलन को रोककर जननेन्द्रिय-चालन की क्रिया करता रहे। ऐसी अवस्था में यदि अपने स्थान से वीर्यक्षरण हो जाय तो उसे योनिमुद्रा के द्वारा कदाचित् ऊपर की ओर कर्षित कर लेना चाहिए ॥८१-८२॥

वाममार्गेऽपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिंगं निवारयेत् ।
क्षणमात्रं योनितो यः पुमांश्चालनमाचरेत् ॥८३॥
गुरूपदेशतो योगी हुंहुंकारेण योनितः ।
अपानवायुमाकुंच्य बलादाकृष्य तद्रजः ॥८४॥

उक्त रीति से वीर्यक्षरण को रोककर उसे ऊपर की ओर खींचे और वाम भाग में स्थिर कर क्षणमात्र के लिए लिंगचालन की क्रिया को रोक दे। पुनः गुरु के कथनानुसार उसे हुंहुंकार शब्दोच्चार करते हुए दोबारा लिंगचालन क्रिया में संलग्न होना चाहिए। तत्पश्चात् बलपूर्वक अधोवायु का निरोध करके नारी-रज को खींचे। इसी क्रिया को वज्रोली मुद्रा के नाम से जाना जाता है ॥८३-८४॥

अनेन विधिना योगी क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
भव्यभुक् कुरुते योगी गुरुपादाब्जपूजकः ॥८५॥
बिन्दुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमयस्तथा ।
उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥८६॥

इस प्रकार के अभ्यासी साधक को शीघ्र ही योगसिद्धि मिल जाती है तथा वह गुरु चरणकमलानुरागी योगी शरीरस्थ अमृतपान करने में सक्षम बन जाता है। वीर्य को चन्द्ररूप तथा रज को सूर्यरूप समझकर दोनों का संयोजन कर अपने शरीर में प्रवेशित करा देना चाहिए ॥८५-८६॥

अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा ।
योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ।।८७।।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणे ।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम् ।।८८।।

जो साधक बिन्दु (वीर्य) को शिवरूप और रज को शक्तिरूप समझकर दोनों का समयोजन करता है वह दिव्य शरीरवान बन जाता है । शिवशक्ति मायास्वरूपिणी होती है । अर्थात् इस माया का सम्बन्ध ईश्वर के साथ स्थापित करा देने या उसमें विलय कर देने पर ही मोक्षप्राप्ति सम्भव होती है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बिन्दु और रज का सम्मिलन ही शिव और शक्ति का संगमस्थल है । इसके अभ्यास की सिद्धि पा लेने वाला साधक भवसागर से पार हो जाता है । वीर्यस्खलन से ही साधक की मृत्यु तथा उसके धारण से जीवन की स्थिरता बनी रहती है । तात्पर्य यह है कि रज-वीर्य के मिलनकाल में वीर्यपात होने से उसकी साधना व्यर्थ चली जाती है । अतः साधक के लिए प्रयत्नपूर्वक वीर्य का अभिरक्षण करना अनिवार्य होता है ॥८७-८८॥

जायते म्रियते लोके बिन्दुना नात्र संशयः ।
एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिन्दुधारणमाचरेत् ।।८९।।
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति भूतले ।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ।।९०।।

प्रत्येक जीवधारी का जन्म-मरण बिन्दु (वीर्य) के ही आश्रित होता है, क्योंकि शरीरोत्पत्ति में वीर्य ही प्रमुख कारण होता है । अतः इसके धारण से जीवन और स्खलन से मरण सुनिश्चित होता है । साधक में वीर्यस्खलन की अवरोधक शक्ति आ जाने पर उसके लिए भूमण्डल में कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं होता । अर्थात् वीर्यरक्षण में समस्त सिद्धियाँ समाहित रहती हैं । हे देवि ! वीर्यरक्षण के फलस्वरूप ही जगत् में मेरी महत्ता स्थापित है । अतः बिन्दुरक्षण करने वाला साधक भी मेरे ही समान गरिमामय हो जाता है ॥८९-९०॥

संसारिणां विमूढानां जरामरणशालिनाम् ।।९१।।
अयं च शांकरो योगो योगिनामुत्तमोत्तमः ।।९२।।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति भोगयुक्तोऽपि मानवः ।
सकलः साधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले ।।९३।।

सांसारिक जीवों के सुख-दुःख का मूलभूत कारण बिन्दु को ही माना जाता है । इस प्रकार मूढ़जनों की अज्ञानता का निवारण करने तथा मरणशील मनुष्यों को जरा-मरण के कष्ट से छुड़ाने हेतु यह एक उत्तम साधन का मार्ग है । इसके अभ्यास से भोगी मनुष्य भी अपनी अभिलषित वस्तुओं को निश्चित रूप से पा लेता है । ऐसे साधक को इस भूतल पर कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं होता ॥९१-९३॥

भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन निश्चितम् ।
अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवम् ।
सुखभोगेन महता तस्मादेनं समभ्यसेत् ।।९४।।

इस वज्रोली मुद्राभ्यास द्वारा विलासी व्यक्ति अशेष फलभोगों का उपभोग कर निश्चय ही सुखी बन जाता है तथा योगियों द्वारा अभ्यास किये जाने पर उसे निःसंदेह रूप से सम्पूर्ण सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं । अतः इस मुद्रा का अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए । इसके द्वारा अशेष अशुभकारी कर्मफलों का भोग भी सुखपूर्वक भुगता जा सकता है ।।९४।।

अमरोली मुद्रा

सहजोल्यमरोली च वज्रोल्या भेदतो भवेत् ।
येन केन प्रकारेण बिन्दुं योगी प्रचारयेत् ।।९५।।
दैवाच्चलति चेद्वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः ।
अमरोलिरियं प्रोक्ता लिंगनालेन शोषयेत् ।।९६।।

वज्रोलीमुद्रा के भेदानुसार ही सहजोली और अमरोली मुद्रा का नामकरण किया गया है। सभी बातों का सारांश यही है कि योगी को हर प्रकार से बिन्दुधारण करना आवश्यक है । यदि अपने स्थान से दैवात् बिन्दु (वीर्य) चलित हो जाय और साथ ही रज-वीर्य का सम्मिलन भी हो जाय तो ऐसी अवस्था को अमरोली मुद्रा कहा जाता है । इस मुद्रा में वीर्यवाहिनी नली द्वारा रज-वीर्य का कर्षण किया जाता है ।।९५-९५।।

सहजोली मुद्रा

गतं बिन्दुं स्वकं योगी बन्धयेद्योनिमुद्रया ।
सहजोलीरियं प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।।९७।।
संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्यं तुल्यगतिर्यदि ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ।।९८।।

योगी को वीर्य के चलायमान हो जाने पर योनिमुद्रा की सहायता से उसका अवरोधीकरण करना आवश्यक है । यह सहजोली मुद्रा सभी तन्त्रों में गोपनीय कही गयी है और इसे ही सहजोली मुद्रा के नाम से अभिहित किया जाता है । अमरोली और सहजोली— इन दोनों मुद्राओं का कार्य एक समान ही होता है, फिर भी इनको दो नामों में विभक्त कर दिया गया है । अतः इन दोनों के अभ्यास प्रयत्नपूर्वक करने चाहिए ।।९७-९८।।

अयं योगो मया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहतः प्रिये ।
गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ।।९९।।
एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति ।
तस्मादेतत्प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ।।१००।।

देवी पार्वती से शिवजी कहते है कि हे प्रिये ! मैंने इस मुद्रा का प्रकटन केवल भक्तों के स्नेहार्थ किया है, किन्तु यह अत्यन्त गोपनीय है । इसकी गोपनीयता बनाये रखने के लिए इसे हर किसी से नहीं कहना चाहिए । इस वज्रोली मुद्रा से अधिक गुप्त अन्य कोई साधन नहीं है । इतनी गोपनीय मुद्रा न तो कभी भूतकाल में थी और न ही भविष्यत् में होगी । अतः इसे प्रबुद्ध साधक सर्वदा ही गुप्त रखे ॥९९-१००॥

स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना ।
स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्यतत्पुनः ॥१०१॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
बिन्दुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायिका ॥१०२॥

साधक को गुरूपदिष्ट विधि के अनुसार स्वमूत्र त्यागकाल में मूत्र को वायु द्वारा बलात् खींचकर धीरे-धीरे निकालना चाहिए । तदनन्तर उसे ऊपर की ओर ले जाने का अभ्यास करे । इस प्रक्रिया के द्वारा बिन्दु-साधना सफल हो जाती है । यही बिन्दुसाधना आगे चलकर साधक के लिए परम सिद्धिदायिनी बन जाती है । अभिप्राय यह है कि मूत्रत्याग के समय मूत्रधार को धीरे-धीरे निकालना चाहिए ॥१०१-१०२॥

षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया ।
शताङ्गनानांभोगेऽपि तस्य बिन्दुर्न नश्यति ॥१०३॥
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति पार्वति ।
ईशत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभं भवेत् ॥१०४॥

यदि उक्त क्रिया का अभ्यास योगी छह महीने तक पूरा कर ले तो सैकड़ों स्त्रियों के समागम से भी उसका शुक्रक्षरण न होगा । हे पार्वति ! प्रयत्नपूर्वक इस सिद्धि को प्राप्त कर लेने पर योगी के लिए अन्य किसी सिद्धि की प्राप्ति शेष नहीं रह जाती । अर्थात् उसमें सम्पूर्ण सिद्धियाँ निहित हो जाती है, क्योंकि इसी वीर्यसिद्धि के प्रभाव से मुझे ईश्वरता की उपलब्धि हुई है ॥१०३-१०४॥

शक्तिचालन मुद्रा

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुनारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥१०५॥
शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥१०६॥

मूलाधार चक्रस्थ कुंडलिनी शक्ति सुषुप्तावस्था में पड़ी रहती है । उस सोयी हुई कुंडलिनी को जागृत करने के लिए प्रबुद्ध साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपानवायु पर आरोहण कर उसे बलात् कर्षित करके चालित करे । यह समस्त

शक्तियों की प्रदात्री शक्तिचालित मुद्रा है । प्रतिदिन इस मुद्रा के अभ्यास करते रहने से सभी व्याधियों का विनष्टीकरण होकर आयुवर्धन होता है ॥१०५-१०६॥

विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु ।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ।।१०७।।
यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ।।१०८।।

इस शक्तिचालन की मुद्रा के अभ्यास द्वारा सर्पाकृति सुप्त कुंडलिनी जागकर स्वतः ही सुषुम्नानाड़ी से ऊपर चढ़ने लगती है । अत: सिद्धाकांक्षी योगी को इसका अभ्यास नित्यप्रति करते रहना चाहिए । इसके अभ्यासी का शरीर नि:संदेह रूप से अमरत्व की प्राप्ति कर लेता है और उसे अणिमादिक अष्ट सिद्धियाँ (अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्य, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व) भी हस्तगत हो जाया करती है ॥१०७-१०८॥

विशेष—इस मुद्रा के अभ्यास-काल में सिद्धासन से बैठकर दोनों हाथ की हथेलियों को भूमि पर टिका देना चाहिए । तदनन्तर हाथों के बल दोनों नितम्बों को भूमि से ऊपर उठाकर बीस या पचीस बार पृथिवी पर ताड़न करें । पुन: प्राणवायु को अवरुद्ध कर मूलबन्ध का प्रयोग कर प्राणवायु को अपानवायु के साथ समायोजित कर दें । इस प्रक्रिया द्वारा कुंडलिनी का जागरण हो जाता है, क्योंकि अपानवायु की ऊष्मा पाकर वह सुप्तावस्था से चलायमान हो जाती है । इस मुद्रा के फलस्वरूप शरीरस्थ बहत्तर सहस्त्र नाड़ियों का मल संशोधित हो जाता है । इस अभ्यास के द्वारा कुंडलिनी का सुषुम्ना मार्ग में प्रवेश करना सम्भव हो जाता है ।

गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिनाशक्तिनाशनम् ।।१०९।।
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ।।११०।।
एतत्सुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति ।
एकैकाभ्यासने सिद्धि सिद्धो भवति नान्यथा ।।१११।।

इस मुद्रा का अभ्यास गुरु के उपदेशानुसार करने वाले प्राणी को मरण-भय नहीं रह जाता । यदि इस मुद्रा को साधक दो मुहूर्त तक कर ले तो शक्ति का ह्रास नहीं होने पाता । इसका अभ्यास निरन्तर करते रहने पर तो सम्पूर्ण सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं । अत: किसी उपयुक्त आसन में बैठकर इसका अभ्यास करना योगी के लिए आवश्यक करणीय कर्म होता है । अत: हे पार्वति ! मेरे द्वारा कथित इन दश अभूतपूर्व मुद्राओं के समान अन्य कोई साधना अब तक न हुई है और न तो आगे

होने की सम्भावना है । इन दशों मुद्राओं में से क्रमशः एक-एक मुद्रा का अभ्यासी साधक निश्चय ही सिद्ध पुरुष हो जाता है ॥१०९-१११॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे मुद्रावर्णनं नाम चतुर्थ पटलः सम्पूर्णम् ॥४॥

इस प्रकार श्रीशिवसंहिता के मुद्रावर्णन नामक चौथे पटल की पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठीकृत हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥४॥

◆

पञ्चम पटलः

योगसाधना कथन

श्री देव्युवाच

ब्रूहि मे वाक्यमीशान परमार्थधियं प्रति ।
ये विघ्नाःसन्ति लोकानां वद मे प्रिय शंकर ॥१॥

देवी पार्वती ने शिवजी से कहा—हे ईश्वर, हे परमप्रिय शंकर ! योगाभ्यास-काल में उपस्थित होने वाले विघ्नों को आप मुझसे कहिए, क्योंकि योगसाधना के समय साधक के समक्ष अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएँ आकर खड़ी हो जाती हैं । अतः आप अपने भक्तों के कल्याणार्थ उन विघ्नों के निवारण का उपाय कहिए ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नः स्थिताः सदा ।
मुक्तिं नराणां च भोगः परमबन्धनः ॥२॥

शिवजी बोले—हे देवि ! योगसाधना काल में साधक के सम्मुख जो-जो बाधाएँ आती हैं,उन्हें तुम एकाग्रतापूर्वक श्रवण करो । मनुष्यों के मोक्षमार्ग में भोग ही सबसे बड़ा बाधक होता है । इसके बन्धन में आबद्ध हो जाने के परिणामस्वरूप वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में असफल सिद्ध हो जाता है ॥२॥

नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्य विडम्बनम् ।
ताम्बूलभक्षयानानि राज्यैश्वर्यविभूतयः ॥३॥
हैमं रौप्यं तथा ताम्रं रत्नं चागुरुधेनवः ।
पाण्डित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतं विभूषणम् ॥४॥
वंशी वीणा मृदङ्गाश्च गजेन्द्रश्चाश्ववाहनम् ।
भोगरूपा इमे विघ्ना धर्मरूपानिमान् शृणु ॥५॥

स्त्री-प्रसंग, सुखद शैय्या पर शयन, उत्तम आसन, वस्त्र तथा धनादि वस्तुएँ मोक्षसाधन में बाधा-स्वरूप हैं । ताम्बूल-भक्षण, राज्यैश्वर्य-सम्बन्धी वाहनों का प्रयोग, सोना, चाँदी, ताँबा तथा अगरु आदि सुगन्धित पदार्थों का सेवन और गोधन आदि

स्वस्तिकासन-सुखासन

दोनों पैरों को समेटकर एक पांव की उंगलियों को दूसरे पांव के घुटने के बीच फंसा दे। शरीर सीधा हो। अनेक प्रकार के प्राणायाम इस आसन में किये जा सकते हैं। इस आसान में साधक अधिक समय तक बैठ सकता है। यह आसन भी रहस्यमय कहा गया है, क्योंकि इस का प्रभाव चित्त पर अधिक होता है।

विशिष्ट क्रिया

इस आसन के साथ प्राणायाम करते समय अधोभाग में स्थित इन्द्रियों को ऊपर खीचें। इसे मूल-बंध कहते है। पूरक करते समय मूल बंध लगा ले। प्राणायाम अपनी गति पर चलता रहे अर्थात् पूरक कुम्भक रेचक क्रमशः, यथाशक्ति होते रहें और ध्यान को मूलाधार में योनिस्थान में लगावे। इससे वासनायें समाप्त होने लगती हैं। ध्यान करे कि ब्रह्मयोनि में अग्निशिखा के समान सूक्ष्म चैतन्य शक्ति को प्रतीक, श्रेष्ठ, परम, कला-सम्पन्न कुंडलिनी-शक्ति स्थित है। इसमें करोड़ों सूर्य का तेज और करोड़ो चंद्रमाओं की शीतलता है। इस कुंडलिनी शक्ति को आत्मा का स्वरूप मानकर ध्यान करे। ब्रह्म-मार्ग अर्थात् सुषुम्ना से होकर त्रिकूट (मूलाधार, अनाहत ओर आज्ञाचक्र) को पार पर कुंडलिनी ऊपर जाती है और श्वेत तथा लाल रंग की तेजो मय अमृतमयी धारा को पीने लगती है। उसका विश्राम स्थान अमृत है जो सहस्त्रार में चन्द्रमा का साथी है। यह परमानन्द स्वरूपिणी है। यह कुंडलिनी शक्ति दिव्य अमृत पीकर शांत हो जाती है। उसी रस को पीने के लिये इसे योग-साधना द्वारा बार बार ऊपर ले जाया जाता है। अन्य कोई मार्ग अभी तक ज्ञात नहीं है। इस कुंडलिनी शक्ति को बार-बार अमृत पिलाने के कारण शरीर में ही स्थित कालाग्नि अर्थात् विनाशक तत्व शांत जो जाते हैं। तंत्र शास्त्र की यही चरम उपलब्धि है।

योनिमुद्रा

इस ग्रंथ में योनिमुद्रा के महत्व का विशद् वर्णन किया गया है। किसी आसन में बैठ जायं, दोनो अंगूठो से दोनों कान के छेदों को बन्द करे। दोनों आंखों को दोनों तर्जनियों से बन्द करे, दोनों नासापुटों को

दोनों मध्यमा उंगलियों से दबा ले, अनामिका और कनिष्ठिका उंगलियों से दोनों होठों को ऊपर नीचे से दबा ले। श्वास चाहे तो नाक से ले अथवा काकी मुद्रा से खीचे। यथाशक्ति कुम्भक करे। वायु का रेचन बहुत धीरे-धीरे करे।

योनिमुद्रा रहस्यमय है। इसको सिद्ध करना आवश्यक है। कोई योग-सिद्धि ऐसी नहीं जो इसके द्वारा प्राप्त न हो जाय। इस के साथ मूलबंध करने से अधिक लाभ होता है। मंत्र चाहे दूषित हो, छिन्न हो, कीलित हो, स्तंभित अथवा दग्ध हो, शिखाहीन हो अथवा मलिन एवं तिरष्कृत हो, वे सभी सिद्ध हो जायेगें। व्यक्ति चाहे मोह में पड़ा हो अथवा भ्रमपूर्ण हो, एक एक सप्ताह तक मूर्छित रहते वाला हो, मंदबुद्धि हो, वृद्ध हो, प्रौढ़ हो अथवा नवयुवक हो, यह मुद्रा सबके लिये लाभदायी है। ऐसा व्यक्ति जो विरोधी भावों में फंस गया हो, निर्वीर्य हो गया हो, सत्वहीन हो चुका हो और चित्त को सैकड़ो धाराओं एवं भ्रान्तियों में विभाजित हो गया हो—अर्थात् दिशाहीन हो, वह भी इस योनिमुद्रा से लाभ उठा सकता है। शुभ अथवा अशुभ चाहे जैसा मंत्र जप हो, योनिमुद्रा के अभ्यास से सिद्ध हो जाता है। विधान के अनुसार अभ्यास करने पर यह योनिमुद्रा सभी सिद्धियों मोक्ष और ऐश्वर्य को देने वाली है।

इस मुद्रा को बहुत सूझ बूझ के साथ करना चाहिये। किसी शिक्षक से विधिपूर्वक सीखे तो अधिक लाभदायी है। इसका अभ्यास आजीवन करता रहे। इस मुद्रा साधना द्वारा व्यक्ति सभी प्रकार की साधानाओं का अधिकारी बन जाता है। इसका अभ्यास करने वाला पापमय वृत्तियों से छूट जाता है, चाहे उसने ब्रह्म हत्या अथवा गुरु हत्या की हो, सुरापन करने वाला हो, चोर हो या महा व्यभिचारी हो। जो मोक्ष के अभिलाषी हैं, उन्हें मुद्रा का अभ्यास नित्य करना चाहिये। योनि मुद्रा रहस्यमयी है। तंत्र शास्त्रो में इसे बहुत महत्व किया गया है।

अभ्यास योग

इस संसार के सब लाभ एवं योग्यतायें अभ्यास पर आधारित हैं। सफलता अभ्यास से मिलती है, अभ्यास से योग सिद्ध होता है, मंत्र सिद्धि अभ्यास से होती है और प्राणों पर अधिकार अभ्यास से होता है। अन्य

कोई राह नहीं है। व्यक्ति अपने मृत्यु के समय को अभ्यास के द्वारा टाल सकता है, मृत्युजयी अर्थात् इच्छा-मृत्यु प्राप्त करने वाला हो सकता है। वाणी-सिद्धि, इच्छानुसार गमन, आदि योग-सिद्धियां अभ्यास से ही प्राप्त होती हैं। इन्हीं विभूतियों के कारण अभ्यास को भी योग की संज्ञा दी गई है।

दस मुद्रायें अथवा बंध

अब उन मुद्राओं का वर्णन करता हूं जो योग साधना में महत्वपूर्ण हैं। अन्य मुद्रायें भी हैं, लेकिन उन्हे महत्वपूर्ण नहीं माना गया है। मुद्रायें रहस्यमयी कही गई हैं, क्योंकि साधक के शरीर और चित्त पर इनके प्रभाव की प्रक्रिया पूर्णतया समझाना असम्भव है। इनके अभ्यास से, कुंडलिनी शक्ति शीघ्र जागृत होती है और सभी चक्रों (कमलों) का भेदन हो जाता है। इस कुंडलिनी शक्ति (माहेश्वरी शक्ति) को भली भांति समझ लेना चाहिये। यह सुषुम्ना के मुख पर सोई हुई है। इसका सम्यक् वर्णन इस ग्रंथ में आगे किया गया है। महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, जालंधर-बंध, मूलबंध, विपरीत करणी, उड्डयान बंध वज्रोली और शक्ति चालन नामक दस मुद्रायें उत्तम हैं।

महामुद्रा

यह तंत्रशास्त्र में लाभदायी क्रिया है। कपिल आदि सिद्धों ने इस मुद्रा का बड़ा महत्व बताया है। दाँये पैर की ऐड़ी को गुदा और मेढ्र-मूल (लिंगमूल) के बीच दबा ले। बायाँ पैर लम्बा फैलादे। दोनों हाथों से फैले हुये पांव को पकड़ ले, ठोढ़ी को हृदयदेश में दबा दे। शरीर के नव द्वारों को भीतर खीचनें का विचार करे अर्थात् मन को अन्तरमुखी करे। श्वास का पूरक, कुम्भक रेचक धीरे धीरे करे। थोड़ी देर, बांये पैर से अभ्यास करने के बाद बायें पैर से अभ्यास करे। थोड़े समय में दोनों नाड़ियां (इड़ा और पिंगला) सम हो जाती है अर्थात् दोनों नासपुटों से वायु समान रूप से चलने लगती है। इस अवस्था में चित्त शान्त हो जाता है। मंद बुद्धि मंद भाग्य साधक वर्ग को भी इस मुद्रा के कारण, साधना में गति मिलती है। योगाभ्यास काल में दोनों नासपुटों से सम-वायु चालन लाभदायी है।

इस क्रिया से शरीर का नाड़ी-जाल शुद्ध होने लगता है। नाड़ियों में प्रवाह-शक्ति बढ़ जाती है। महामुद्रा से ब्रह्मचार्य पालन में सहायता मिलती है। पातकीय संस्कारों का विनाश करने एवं कलुषित वृत्तियों की नष्ट करने में सहायता होती है। कुंडलिनी के लिए आवश्यक उष्णता उत्पन्न होती है ताकि चल पड़े, अर्थात् अपने परम-मार्ग ब्रह्मरंघ्र की ओर अग्रसर हो। शरीर मलरहित शुद्ध कांतिमय हो जाता है। बुढ़ापे और मृत्यु के कष्ट नहीं होते। इच्छित साधनाओं की प्राप्ति होती है, सुख मिलता है, इन्द्रियां शान्त होती है।

अभ्यासरत योगी को ही कुछ प्राप्त होता है। यह इतनी लाभदायी मुद्रा है कि पंच महाभूतों पर अधिकार के बाद भी योगी इसका अभ्यास करता है।

महाबंध

एक पांव फैलाये रहे, दूसरे की ऐड़ी समेटकर फैले पांव की जांघ पर रख ले। प्राणायाम की आवश्यता नहीं है। श्वास धीरे-धीरे चलावे। ठोढ़ी दबाकर हृदय पर लगा ले। गुदा और लिंग स्थानों को ऊप्र खीचें अर्थात् मूलबंध लगावे। इस क्रिया से अपान-वायु खिचंती है और प्राण वायु से मिलती है। पांव बदल-कर दोनों पांव से अभ्यास करे। इससे नाड़ी जाल शुद्ध और रस-प्रवाह उर्ध्वगामी हो जाता है। कुछ अभ्यास के पश्चात् वायु सुषुम्ना में प्रवेश करने लगती है। शरीर पुष्ट और अस्थिपंजर दृढ़ होता है। लगन के साथ इस बंध का अभ्यास करे।

महावेध

पांवो और ठोढ़ी की स्थिति महामुद्रा की तरह होती है। पेट में वायु भरकर पेट को आगे पीछे चलावे। इस प्रकार दवाब पड़ने पर सुषुम्ना कुछ समय बाद खुलने लगती है, उसकी गांठे खुल जाती हैं। वायु पर अधिकार प्राप्त होता है। वायु के उपयोग पर ही जीवन और मरण की क्रियायें आधारित है। अभ्यास से चक्रों के देवता कम्पित होने लगते हैं अर्थात् देवताओं के आसन डोल जाते हैं। ऐसे समय में कुंडलिनी महाशक्ति कैलासगामिनी हो जाती है जहां शिव से अर्थात् कल्याण से शक्ति का मिलन हो जाता है। महामुद्रा, महाबंध और महाबेध तीनों

का इसी क्रम से अभ्यास करना चाहिये। एक अभ्यास लाभदायी नहीं होता। तीनों क्रियायें क्रमशः एक ही समय में होनी चाहिये।

प्राणायाम के समान चारों कालों में इन तीन मुद्राओं का भी अभ्यास करे। अधिक समय नहीं लगता, लाभ अधिक होता है। छः महिनों तक उचित अभ्यास करने पर मृत्यु की तरफ ले जाने वाली धाराओं पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। सिद्ध पुरूष इन क्रियाओं का महत्व जानते हैं और निरतंर करते रहते हैं।

खेचरी मुद्रा

इसका अभ्यास लगन से करना चाहिये। प्राणायाम के वर्णन में जीभ को पीछे लौटाकर तालुमूल में लगाने की क्रिया, इस मुद्रा का प्रारम्भिक अभ्यास है। किसी एक आसन में बैठकर, दृष्टि को भ्रूमध्य अथवा आज्ञाचक्र में स्थित करे अर्थात् आंखे मूंदकर ध्यान करे मानों आखों से आज्ञाचक्र में देख रहा हो। साधक का चित्त शांत हो, स्थान एकान्त हो। जिव्हा को अभ्यास द्वारा लंबिका के पीछे तालुमूल के छेद में प्रविष्ट करे। यही सुधाकूप है जिसमें जिह्वा का अधिकाधिक प्रवेश कराता जाय जब तक छिद्र के अन्तिम सिरे तक जीभ न पहुंच जाय। मक्खन लगाकर उंगलियों से दोहन करने से जिह्वा शीघ्र लम्बी हो जाती है। जीभ के नीचे डोरी काटने की जरूरत नहीं, यद्यपि अन्य ग्रंथो में यह डोरी काटने की क्रिया वर्णित है।

इस मुद्रा में योगी अमृतपान करने लगता है। जीवनदायी रस जो व्यर्थ जाता है उसका उपयोग होने लगता है। पोषक रसों को अमृत कहा गया है।

हठयोग के षटकर्मों में खेचरी को सर्वाधिक लाभदायी बताया गया है। जिसकी खेचरी सिद्ध हो गई, वह योग-मार्ग में वेगपूर्वक बढ़ता है। शरीर पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। इस मुद्रा का अभ्यास यदि प्रतिदिन एक क्षण के लिए भी किया जाय तो दिव्य शरीर प्राप्त होता है। संस्कारों की शुद्धि होती है। इस जीवन में भोगों को दिव्यता के साथ भोगता हुआ योगी दिव्यकुल में जन्म पाता है। इस मुद्रा में स्थित होकर सौ वर्षो को एक क्षण के समान योगी बिता देते हैं।

यह क्रिया मुख्यतः हठयोग की हैं। आलस्यहीन साधना अपेक्षित है। यह मुद्रा सुरपूजित कही गई है।

जालंधर-बंध

किसी आसन में बैठकर ठोढ़ी को हृदय में दबाकर टिका दे। पद्मासन में अथवा सिद्धासन में बैठकर अभ्यास अधिक लाभदायी है। इस बंध का अभ्यास करने से योनिमुद्रा भी शीघ्र सिद्ध हो जाती है। इस बंध के साथ, योनिमुद्रा और मूलबंध का अभ्यास आसानी से जोड़ा जा सकता है।

सहस्त्रार से टपकने वाले अमृत अर्थात् चन्द्ररस का पूर्ण उपयोग हो जाता है। शरीर को लाभ होता हैं। अन्यथा नाभिस्थान में स्थित अंग अग्नि इस रस को जलाती रहती है। इस बंध के द्वारा अमृत रस को शरीर के लाभहेतु उपयोग करने पर असुरों के समान शक्ति प्राप्त होती है। व्यक्ति संसार में अनेक सुख भोग कर सकता है। योगियों के लिए यह बंध बहुत लाभदायी माना गया है।

इस बंध का प्राणायाम के साथ अभ्यास करने पर पद्मासन में बैठा हुआ योगी आकाश और वायु तत्वों को शीघ्र जीत लेता है। पृथ्वी त्याग कर ऊपर उठ सकता है। शान्त एकान्त स्थान में इसका अभ्यास करना चाहिये।

विपरीत-करणी ।शीर्षासन।

ललाट के शिरोभाग को जमीन मे लगावे। दोनों हाथों का गुंफन करके कपाल को सहारा देते हुये दोनों को जमीन पर टिकावे। मुलायम गद्दी अथवा कपड़े को लपेटकर ललाट के नीचे रख लें, नहीं तो दाग और गाठें बन जायेगीं। दोनों पांव को सीधा आकाश में उठा दे। आरम्भिक अवस्था में दीवार आदि के सहारे अभ्यास करें। शीर्षासान के पश्चात् थोड़ी देर लेटना चाहिये। शवासन का अभ्यास अधिक लाभदायी है।

इस क्रिया में हठ नहीं करना चाहिये। किसी अवस्था में अधिकता न करें और आंखो को यथासम्भव बन्द रखें।

शनैः शनैः अभ्यास बढ़ाते हुये यदि साधक ३ घंटे तक शीर्षासन

करने लगे तो मृत्युकारक तत्वों को पूर्णतया बस में कर लेगा। सहस्त्रार से झरने वाले अमृत रसों का पूर्ण लाभ शरीर को इस क्रिया से प्राप्त होता है। व्यक्ति सिद्धपुरूष हो जायेगा।

उड्डयान बंध

पद्मासन में अथवा आधे खड़े होकर श्वास को ठेलकर बाहर निकाल दे। यथासम्भव पेट में वायु न रहे। नाभि-क्षेत्र को पीछे खींचकर पीठ में लगाने का अभ्यास करे। पेट पीछे खींचकर रोके रहे जबतक ऊबे नहीं। थकने पर पेट ढीला करे और सीधा खड़ा हो जाये। यदि आधे खड़े आसन में यह बंध कर रहे है, और बैठे हैं तो आराम कर ले। दो-चार श्वास ले। चित्त शांत करके फिर अभ्यास करे। एक समय में तीन बार बंध लगावें अधिक नहीं। इसका अभ्यास ठीक होने पर पेट को आगे पीछे धौकनी की तरह चलावें। आगे चलकर नवली निकाल सकते हैं और नवली-चालन कर सकते हैं।

इस आसन का चारों कालों में अभ्यास कर सकते हैं। ६ माह के अभ्यास से मृत्यु कारक प्रभावों को दूर कर सकते हैं। शरीर में वायु शुद्ध होती है, जठराग्नि प्रज्वलित होती है, रसों की वृद्धि होने लगती है और अस्थिपंजर दृढ़ होता है। यदि रोग है तो दूर होने लगते हैं। एकान्त शान्त स्थान में अभ्यास करे। पसीना आवे तो पोंछ दे या मालिश कर दे। शरीर को सूखने न दे। पसीने को शरीर पर सुखाने से धातुयें नष्ट होती है।

वज्रौली

वज्रौली क्रिया का महत्व काम वासना पर अधिकार एवं वीर्य रक्षण के लिये है। यह हठयोग के षट्‌ कर्मो में से एक है और शरीर के लिये लाभदायक है। गृहस्थ भी इसका अभ्यास कर सकते हैं और छः मास के अभ्यास से इसमें सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। इस क्रिया में मूत्र नली में कैथेटर डालना पड़ता है। एक साथ पूरा कैथेटर न डालें। एक या दो अंगुल कैथेटर रोज चढ़ावें और प्रतिदिन आगे आगे बढ़ाते जायें। इस क्रिया का अभ्यास आरम्भ करने के पहले नवली-चालन और मूलबंध सिद्ध होने से पेट प्रत्येक योगिक क्रिया के उपयुक्त बन जाता है। जब

मूत्राशय तक कैथेटर बिना कष्ट जाने लगे तब मूत्र बंध के माध्यम से नली द्वारा पानी ऊपर खीचनें का प्रयास करे। नवली क्रिया से पानी आदि शीघ्र खींच सकते है। पानी आदि को २४ मिनट तक रोके और निकाल दे। आरम्भ में कैथेटर साधारण मोटा बाद में अधिक मोटा कर देना चाहिये। कैथेटर और लिक्विड पैराफीन आधे घंटे तक उबालें और पूरा ध्यान रखें कि तौलिया हाथ, पानी एवं बर्तनों के कारण लिंग नाल में कीटाणु न जाने पावें। पानी खीचनें का अभ्यास जब हो जाये तो मट्ठा तथा दूध खीचें तत्पश्चात् घी खीचें। अन्त में व्यक्ति पारा खीचनें का अभ्यास कर सकता है। यह चरम सीमा है।

हमारे जीवन में वीर्यरक्षा का बड़ा महत्व है। ज्यादातर लोग वीर्य के कमजोरी के कारण ही आलसी, अनमने, अनुत्साही होते हैं। कोई काम करने का जोश नहीं रहता। बिन्दु धारण जीवन है, बिन्दु नाश मरण है। बिन्दु पात से भय, अपराध भाव अथवा किसी प्रकार की कुंठा नहीं उत्पन्न होनी चाहिये। यदि रक्षा हो सके तो लाभ है। जितनी वीर्य रक्षा होगी, उतना ही जीवन में संसारिक और पारमार्थिक लाभ होगा। काम करने के घंटे बढ़ जायेगें, थकान नहीं आवेगी। जैसे क्रियाओं में हठ नहीं की जाती, उसी प्रकार वीर्य रक्षण जबरदस्ती नहीं होता। ब्रह्मचर्य पालन के लिए शारीरिक और मानसिक अवस्था तैयार करनी पड़ती है। व्यर्थ बातचीत अधिक लोगों में व्यर्थ मिलना घूमना आदि रोकना पड़ता है। सिद्धांत ग्रंथो का अध्ययन प्रतिदिन करना आवश्यक हैं यौगिक क्रियायें करना भी उतना ही आवश्यक है। प्राणायाम शीर्षासन और वज्रौली ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक त्रिकूट है।

शरीर में स्थित बिन्दु सृजन-शक्ति का प्रतीक है। बिन्दु का सम्बन्ध सूर्यमंडल से है जो मूलाधार में स्थित है। जठराग्नि पर बिन्दु का प्रभाव पड़ता है। शरीर की कांति से भी वीर्य का सम्बन्ध है। सूर्यमंडल, शक्ति का स्थान है और चन्द्रमंडल शिव का। कुंडलिनी शक्ति महामाया की प्रतिनिधि है। शिव और शक्ति के मिलन से परम कल्याण होता है। बिन्दु की क्रिया से ही जीवन वर्धन और संकोचन अर्थात् निर्माण, विकास और विनाश की लीला होती है। योगी को अपना ब्रह्मचर्य सिद्ध कर लेने पर साधना में बड़ी गति मिलती है। बिन्दु नाश से साधना की गति

मंद होती है और कुछ समय पश्चात् एकदम रूक जाती है। बिन्दु की पूर्ण रक्षा करने से कोई सफलता पहुंच के बाहर नहीं रहती। इसकी महिमा का ज्ञान साधना करने वाले ही अच्छी तरह समझ सकते हैं। शरीर में सुख और दुःखकारी भावों का उदय बिन्दु क्षय और रक्षण पर आधारित है।

जब बज्रौली का अभ्यास करे तो नमक, मिर्च, मसाले आदि त्याग दे, नहीं तो मूत्र नली में जलन होगी। क्रिया की सिद्धि के पश्चात् यह वन्धन नहीं रहेगा। पेशाब करते समय रोक रोक कर मूत्र त्याग करें। बार-बार ऊपर खीचे मानों वापस थैली में भर रहे हों। यदि पेशाब में जलन जान पड़े तो खड़े होकर मूत्र त्यागे और तरल पदार्थ अधिक पीयें, जिनसे पेशाब अधिक बनता हो।

संसार में अधिकतर व्यक्ति अज्ञान में पड़े हुए जीवन बिता देते हैं और कर्मठता एवं बौद्धिक योग्यता से केवल स्थूल लाभ उठाते हैं। यदि चेतना-स्तर एवं शरीर की साधना सफल व्यक्ति भी करे तो उनका विकास होगा। सबके लाभ हेतु जो साधनाऐं योग्य व्यक्तियों के अनुभव पर आधारित हैं उन्ही का अभ्यास योगी पुरूष करता है।

अभ्यास से ही सिद्धि प्राप्त होती है। अभ्यास का और सिद्धियों को प्राप्त करने का अधिकार भोगमय संसार में रहने वालों को भी है। मुक्ति प्राप्त करने का भी अधिकार सबको है लेकिन सभी प्रकार के लाभों को प्राप्त करने के लिये साधना करना आवश्यक है। पृथ्वी पर कहीं पर रहने वाले हों सभी सिद्ध हो सकते हैं। प्रारब्ध को भोगते हुये भी योग साधना द्वारा सब सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। महान सुख देने वाली साधनायें सम्यक् रूप से करनी चाहिये।

कुछ पाश्चात्य डाक्टरों का मत है कि वीर्य धनीभूत प्रोटिन (Concentrated high protein) मात्र है जिसका रक्षण अनेक शरीर दोष उत्पन्न करता है। वीर्य खर्च करते रहना लाभदायी है। इसके रक्षण को अधिक महत्व देना अप्राकृतिक और हानिकारक है। यह विचार भ्रामक है। वीर्य शक्ति है। शक्ति का उपयोग हम संभोग में करें तो क्षणिक सुख-लाभ होता है और वह सुख भी ऐसा जो अपनी मानसिक व्यवस्था पर आधारित होता है। अपनी यौन शक्ति को हम अन्य लाभदायी

विकासात्मा क्रियायों में लगा सकते हैं।

सहजोली और अमरौली

यह दोनों वज्रौली के भेद हैं। अनका उद्देश्य भी बिन्दु रक्षण ही है। यदि अचानक बिन्दु-चालन हो जाय अथवा वासना जागे तो इड़ा और पिंगला को अर्थात् दोनों नासापुटों को बराबर चला ले, इससे वीर्यक्षरण रूक जायेगा। अमरौली में वज्रौली के समान ही मूत्रनाली का शोधन करना होता है। कैथेटर डालकर मूत्र नली में धीरे-धीरे हवा फूँकी जाती है।

सहजोली रहस्यपूर्ण क्रिया है। इस साधारण क्रिया से अनेक लाभ होते हैं। इसकी साधना अत्यन्त सरल है। प्रयत्न पूर्वक इसे सिद्ध करना चहिये। मूत्र रोक रोक कर त्याग करना चाहिये। सर्वदा मूत्र त्याग करते समय वायु को वेग पूर्वक मूत्र द्वार से ऊपर खीचंने का अभ्यास करें तो बिन्दु रोकने की शक्ति प्राप्त होती है। ऐसा मत है कि सौ स्त्रियो के साथ संभोग करने पर भी बिन्दुपात नहीं होता। बिन्दु रूपी महारत्न को सिद्ध करने पर इस पृथ्वी पर क्या सिद्ध नहीं हो सकता।

भगवान शंकर कहते हैं, बिन्दु धारण से ईश्वरत्व प्राप्त होता है जिसके लिये मुझे साधना करनी पड़ती है। मुझे जो ईश्वरत्व प्राप्त हुआ है वह बिन्दुधारण के कारण ही है।

शक्ति चालन

मूलाधार कमल में कुंडलिनी सोयी हुई है। उसका चालन इस क्रिया द्वारा करना चाहिये। अपान वायु को रोकर बलपूर्वक ऊपर खीचे। मुक्तासान में स्थित होकर यह क्रिया करें। यही शक्ति चालान क्रिया है। शक्ति चालन क्रिया का अभ्यास प्रतिदिन करे तो आयु में वृद्धि होती है और रोगनाश होता है। कुंडलिनी, जो सर्पिणी-रूपी कही गई है, वह निंद्रा त्याग कर स्वयं ऊपर जाने लगती है। सिद्धि चाहने वाले योगी को शक्ति चालन का नित्य अभ्यास करना चाहिये। जो शक्ति चालन का अभ्यास नित्य करता है, उसका शरीर सुन्दर हो जाता है। काया-सिद्ध होती है और अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त होने लगते हैं। क्रिया को ठीक समझकर प्रतिदिन दो मुहूर्त तक जो विधिपूर्वक अभ्यास करता है, उसे

मृत्युभय नहीं रहता।

यह दस मुद्रायें हैं। इनमें एक मुद्रा का भी अभ्यास करने पर भी सभी प्रकार की इच्छित सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। स्त्रियां भी इनका अभ्यास कर सकती हैं।

साधना के विघ्न एवं सहायक

देवी पार्वती ने प्रश्न किया कि भगवन् उन विघ्नों का वर्णन कीजिये जो परमार्थ की राह में साधक के सामने आते हैं।

भगवान शंकर ने उत्तर दिया—'हे देवी, सुनो।' मुक्ति पथ पर चलने वाले मनुष्यों के सामने संसार के भोगो में राग ही परमबन्धन है।

नारी (नारी के लिए पुरूष) शैया, भोजन, आसन, वस्त्र, स्त्री-सुख, चुम्बन, प न-पीने की अनेक वस्तुयें, राज्य, ऐश्वर्य, शौर्य (शरीर-बल-अभिमान) एवं अनेक विभूतियां, सोना, चांदी, तांबा, रत्न, गोधन, पांडित्य, वेद, शास्त्र, नृत्य, गीत, उत्तम अलंकार तथा चिन्ह, वंशी, वीणा, मृदंग, हाथी घोड़े, वाहन, पत्नी, सन्तान आदि विघ्न उत्पन्न करते हैं।

भोग रूपी विघ्नों के अतिरिक्त धार्मिककृत्य जो विघ्नकारी होते है उन्हें भी जानना चाहिये। स्नान, पूजा, अतिथि सेवा, होम, अग्निक्षेत्र, सुख, प्रसन्नता, व्रत, उपासना, नियम, मौन, इन्द्रिय, निग्रह, अध्ययन्न, मंत्र, दान, चतुर्दिक ख्याति, वापी, कूप, तड़ाग, महल, बाग बगीचा, काव्य, कलायें, यक्ष, चंद्रायण, कृच्छ—चंद्रायण, तीर्थ आदि विषय भी बाधक हो जाते हैं। यह सब पुण्य कार्य है, लेकिन सचेत रहना चाहिये कि ये साधना में बाधक न हों।

अब वह राह बताता हूं कि उन्नति के मार्ग में बाधाएं न आयें।

गोमुख आदि आसन का अभ्यास तथा धौति, प्रक्षालन आदि क्रियायें करें। नाड़ी-संचार-विज्ञान, प्रत्याहार और इन्द्रिय-निरोध को जानना चाहिये। नवली-चालान और वज्रौली करे। नाड़ियों के कर्म अर्थात प्राणायाम करे। मूत्रछिद्र से खीचें हुये रस को चौबिस मिनट तक रोके फिर बाहर निकाल दे। यह कालसमाधि है।

साधु पुरूषो का संग और दुर्जनों से संकोच का व्यवहार करना चाहिये। प्रत्येक श्वास के साथ अपने लक्ष्य का ध्यान रखें। एक क्षण

उठते –बैठते–सोते सर्वदा सब अवस्थाओंमें उक्त जप आपसे होता रहता है और अद्वैतानुभव करानेवाला उसके समान अन्य कोई ज्ञानशास्त्र पहले भी नहीं था और पीछे होनेवाला भी नहीं है ॥४४॥४५॥

कुण्डलिन्यां समुद्भता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥ ४६ ॥

कुंडलिनी महाशक्तिसे उत्पन्न हो रही तथा प्राणवायुको धारण करनेवाली यही अजपा गायत्री है। जीवात्माकी शक्ति प्राणविद्या-स्वरूप भी यही है इसी कारण महाविद्या भी इसको कहते हैं इसे जो योगी पहिचान सके वही योगशास्त्राभ्यासका तात्पर्य जानता है ॥४६॥

शक्तिचालनम्

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ ४७ ॥

अब कुंडलिनीके भेद खोलने के निमित्त एवं उसकी अधिकता प्रकट करनेके लिये कुंडलिनीके अन्य स्थान भी कहते हैं, जो कि समस्त ७२००० नाड़ियोंका उत्पत्तिस्थान पूर्वोक्त कंद है इसके ऊपर मणिपूरचक्र कर्णिकामें आठ वृत्तकरके वेष्टित हो रही कुंड-लिनिशक्ति ब्रह्मरंध्रद्वारके मुखको रोककर सर्वदा रहती है ॥४७॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ४८ ॥
प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरुता सह।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ४९ ॥

जिस मार्ग (सुषुम्ना) द्वारा जन्ममरणके दुःख हरण करने-वाला अखंड ब्रह्मानंदपद मिलता है उस मार्गको रोककर सोई हुई

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कुंडलिनी प्राणवायुके धौंकने (उत्तेजन करने) से कालाग्निके ज्योतिके संबंधसे प्रबुद्ध (जागृत) होकर मन एवं प्राणवायुके सहित होकर सुषुम्नानामा मध्यनाड़ीसे ऊपरको जाती है, जैसे सूची (सुई) अपनेपर पिरोये तागेसहित होनेसे वस्त्रके अनेक सूत्रोंके मध्यमें प्राप्त होती है वैसे आपही सृष्टि उत्पन्न करके षट्चक्र तथा उनके देवता-प्रभृति सकलप्रपंचको उल्लंघन करके ऊपर सहस्रदलकमलके सम्मुख होकर जाती है ।। ४८ ।। ४९ ।।

प्रसुप्तभुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ।। ५० ।।

सोते सर्पके समान कुंडलिनी अपानवायुसे धमित (धौंकी गई) जो मूलाधारमें रहनेवाली कालाग्निज्योतिके संबंधसे प्रबोध पाकर अतिवेग (जोर) से चलते हुए सर्पके समान कुटिलमति होकर कमलनालके तंतु (सूत्र) समान सूक्ष्म ज्योतिर्मयस्वरूप होकर सुषुम्नामार्गसे ऊपरको जाती है ।। ५० ।।

उद्घाटयेत्कपाटं तु तथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ।। ५१ ।।

जैसे कूंची (चाबी) से ताला खुलकर कपाट (किवाड) खुल जाते हैं वैसेही कुंडलिनी द्वारा मोक्षद्वार सुषुम्नाके मुखको योगी अभ्याससे खोले जिससे कि कुंडलिनीके प्रबोधबिना कुंडलिनीका द्वार खुलता नहीं ।। ५१ ।।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैतिबोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ।। ५२ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दोनों हाथ संपुटित करके (अंजली बांधकर) दोनों कूर्पर (बाहुमध्यभाग) हृदयमें दृढ़ स्थापन करके पद्मासन करे, चिबुक (ठोड़ी) हृदयमें दृढतर लगाकर अर्थात् जालंधरबंध करके ज्योतिः-स्वरूपका ध्यान करे केवल कुंभकप्राणायाम अधोद्वार रोककर करे, प्राणायामसे कुंभितवायुको अपानवायुसे एकत्व करके यथाशक्ति कुम्भक करे पुनः रेचकप्राणायाम (जिसमें वायु अतिमंद२ निकला) करे इस प्रकारसे कुंडलिनीका बोध होता है तथा योगीको अपरिमित ज्ञान मिलता है, कुंडलिनीको प्रबोध करनेवाली शक्तिचालनमुद्रा यही होती है परंतु प्राणायामके अभ्याससे प्राणापानवायुको वशवर्ती करके इस मुद्राका बहुत कालपर्यंत अभ्यास करना होता है ।। ५२ ।।

अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ।। ५३ ।।
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ।। ५४ ।।

शक्तिचालनमुद्राके अभ्यासीके नियम कहते हैं कि प्राणायामा-दिकर्मसे जो अंगोंमें स्वेद (पसीना) आता है उससे अंगमर्दन करे । लवण और खट्टा, ये दो रस न खाये केवल दुग्धान्न खाया करे । भोजनभी एक प्रमाणसे करे, ब्रह्मचर्य रक्खे, कामक्रोधसे रहित रहे, त्यागवान् हो और योगाभ्यासमात्रका अभ्यास रक्खे इसप्रकार नियममें रहकर योगाभ्याससे शक्तिचालनमुद्राका अभ्यास करे । एक वर्ष ऊपर जब इच्छा करे तभी कुंडलिनीके अभ्युत्थानकी सामर्थ्य होती है इसमें सिद्धि होती है या नहीं ऐसा संदेह न करना । अभ्याससे अवश्यमेव सिद्धि होती है ।। ५३ ।। ।। ५४ ।।

सुस्निग्धो मधुराहारी चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुञ्चते स्वरसं प्रीत्यै मिताहारी स उच्चते ।। ५५ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मिताहारके लक्षण कहते हैं–स्निग्ध (सचिकण) मीठा भोजन करे अम्ल (खट्टा) और लवणवर्जित करे, दो भाग अन्न एक भाग जल खाये चौथा भाग उदरमें वायुसंचारके लिये छोड़ दे। देवता को निवेदन करके दुग्धान्न भोजन करे इस प्रकार करनेवाला योगी मिताहारी कहलाता है।। ५५।।

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्ति शुभमोक्षप्रदायिनी।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित्।। ५६।।

कंदके ऊपर मणिपूरचक्रकी कर्णिकामें ८ फेरे होकर कुंडलाकार कुंडलिनी शक्ति है यह मूर्खजनोंको वारंवार जन्ममरणरूप बंधन देती है और योगाभ्यास जाननेवालेको शक्तिचालनका अभ्यास जन्ममरणरूप वन्धन छुड़ाकर मोक्ष देती है।। ५६।।

शक्तिचालनविधौ ग्रन्थांतरे विशेष:

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम्।। १।।

शक्तिचालनमें ग्रन्थांतरमतसे कुछ विशेष कहते हैं कि, गंगायमुनाके बीच तपस्विनी बालरण्डा बलात्कारकरके कुंडलिनीको ग्रहण करे तो विष्णुके परमपद (ब्रह्मांड) को प्राप्त करती है।। १।।

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली।। २।।

इडा भगवती वामश्वासा नाड़ी ऐश्वर्यादिसंपन्न गंगा, दक्षिणश्वासा पिंगलानाम्नी यमुना है इनके मध्य नाड़ी सुषुम्ना बालरंडा है।। २।।

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम्।
श्वेतं तु मृदुलं प्रोक्तं वेष्टितं वरलक्षणम्।। ३।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूलस्थानसे वितस्तिमात्र ऊपर नाभि एवं मेढ़्के मध्यमें नवांगुल विस्तार, चार अंगुल आयाम, पक्षीके अंडाकार, श्वेतरंग कोमल-वस्त्रवेष्टित जैसा कंद है ।। ३ ।।

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।। ४ ।।

वज्रासनकरके हाथोंसे पैरोंकी एड़ी पकड़ कंदस्थानमें दृढ लगाकर पीडन करे ।। ४ ।।

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ।। ५ ।।

योगी वज्रासनमें बैठ कुंडलीको शक्तिचालनमुद्रासे चलायमान करे तब भस्त्रा नाम कुंभक कर कुंडलिनीशक्तिको शीघ्र प्रबोधित करे ।। ५ ।।

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ।। ६ ।।

नाभिस्थान (सूर्य) को आकुंचन कर कुंडलीको चलाये इसका अभ्यास सिद्ध हो जाय तो मृत्युके मुखमें पड़ गया हो तो भी उसकी मृत्यु न हो ।। ६ ।।

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णायां समुद्गता ।। ७ ।।

चार घडीपर्यंत निर्भय होकर शक्तिचालन करे तो कुंडलिनी कुछ सुषुम्नामें ऊपरको उठती है ।। ७ ।।

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ।। ८ ।।

इसके कुंडलिनी (जो सुषुना रोक बैठी है) सुषुम्नाके द्वारको छोड़ देती है तब प्राणवायु आपही सुषुम्नामें प्रवेश करता है ।। ८ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ।। ९ ।।

अतः नित्यप्रति सुषुम्नाद्वारमें सोती कुंडलिनीको चलाये तो योगी सब रोगोंसे छूट जाता है ।। ९ ।।

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।। १० ।।

जिस योगीने शक्तिचालन किया वह अणिमादि सिद्धियोंका पात्र होता है और विशेष माहात्म्य क्या कहा जाय वह काल (मृत्यु) को सहज ही जीत लेता है ।। १० ।।

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ।। ११ ।।

जो यमी नित्य कुंडलीको चलाकर भस्त्राकुंभकका अभ्यास विशेष करके करता है उसे यमका भय नहीं होता ।। ११ ।।

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ।। १२ ।।

योगियोंको दृढाभ्याससे आसन प्राणायाम महामुद्रादि द्वारा मध्यनाड़ी सरल हो जाती है ।। १२ ।।

महामुद्राः

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलंधरम् ।
मूलबन्धञ्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः ।। ५७ ।।

महामुद्रा १, खेचरीमुद्रा २, उड्डीयानबंध ३ , जालंधर ४, मूलबंध ५, इनको करके शक्तिचालन करे तो योगी मुक्तिभाजन होता है । शक्ति चली या नहीं इसके जाननेका प्रमाण यह है कि जैसे शरीरमें पिपीलिका (चींटी) चलनेके समान गतिसा ज्ञान होता है कि कोई जीव चलता है ऐसेही सुषुम्नामें वायु जब चलने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लगता है तो शक्ति चलायमान हो गई जानना । शक्तिचालन मुद्राके पीछे भी उक्त ५ मुद्रा करनी चाहियें ।। ५७ ।।

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा ।
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनैरेचये–
देषाव्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ।। ५८ ।।

महामुद्राकी विधि कहते हैं कि हृदयमें चिबुक जोरसे धारण करके वामपादकी एड़ीसे योनिस्थानको अत्यन्त दृढ करके अचेते दहिना पाद लंबा करके दोनों हाथोंसे पादमध्यभाग पकड़कर रोके तब पेटमें पूरक विधिसे वायु भरे । कुछ काल यथाशक्ति कुंभक करके मन्दमन्द वायुको रेचन करे यह योगी जनकी समस्त रोग-नाशक महामुद्रा कही गयी है ।। ५८ ।।

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्यांगेनाभ्यसेत्पुनः ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ।। ५९ ।।

इस महामुद्राके अभ्यासमें प्रथम वामांगसे अभ्यास करके पीछे दाहिने अंगसे करे वैसे ही प्राणायाम भी करता रहे, जब दोनों ओरके अभ्याससे प्राणायामकी मात्रा बराबर हो जाय तब मुद्रा छोड़नी चाहिये ।। ५९ ।।

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ।। ६० ।।
क्षयकुष्ठमुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ।। ६१ ।।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ।। ६२ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जब महामुद्राका अभ्यास दृढ़ हो जाय तो, पथ्यापथ्यका विचार कुछ नहीं रहता, मिष्ट, लवण, तिक्त आदियोंका स्वाद कुछ नहीं रहता । जो (घृत, शहद बराबर मिलाकर कृत्रिमविष होता है) संयोगविरुद्ध वस्तु या घोरविषभी खाये तो अमृतके समान पच जाता है तथा उदावर्त , गुल्म, अजीर्ण, क्षय, कुष्ठ आदि रोग शांत हो जाते हैं। इसके अभ्यासीको महासिद्धि देनेवाली यह महामुद्रा कही है, इसे बडे यत्नसे गुप्त रखना, प्रकाश करनेसे सामर्थ्यहीन होती है, इस हेतु अनधिकारी, अयोग्य पुरुष, शठ, दांभिक आदि को न देना ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

'इसका विस्तार ग्रंथांतरसे पाठकोंके सुबोधार्थ लिखते हैं,–

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १ ॥

वामपादकी एड़ीसे गुदा और शिश्नके मध्यमें योनिस्थानको रोककर दाहिना पैर लंबा पृथ्वीमें फैलाकर एड़ी भूमिमें रहे और अंगुली ऊंची दंडके नाई' रहे, तब हाथोंके अंगुष्ठ और तर्जनीसे दक्षिणपादांगुष्ठ पकड़कर धारण करे ॥ १ ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ २ ॥

तदनंतर कठमें जालंधरबंध करके वायुको ऊपर सुषुम्नामें धारण करे इससे मूलबंध भी हो जाता है जहाँ योनिस्थानको पीडन और जिह्वाबंध करके मूलबंध हो जाता है ॥ २ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ ३ ॥

जैसे सर्प दंडके प्रहारसे दंडाकार हो जाता है ऐसेही कुंडलिनी शक्ति भी कुटिलताको छोड़कर इस मुद्रासे सरल हो जाती है और

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कुंडलिनी बोधसे सुषुम्नामें वायुका प्रवेश होता है तब दोनों को प्राणके वियोगसे इडा-पिंगला है आश्रय जिसके ऐसी मरणावस्था होती है ।। ३ ।।

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ।। ४ ।।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ।। ५ ।।

तदनंतर शनैः शनैः रेचन करे वेगसे करनेमें बलहानि होती है इससे महामुद्रा आदिनाथादि महासिद्धोंने दिखाई हैं । इसके अभ्या-ससे महाक्लेश, अविद्या, राग, द्वेषादिक, शोकमोहादि दोष क्षीण होते हैं तथा जरा-मरण भी नहीं होते इससे ज्ञानिजन इसे महामुद्रा कहते हैं ।। ४ ।। ५ ।।

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ।। ६ ।।

इसका क्रम कहते हैं कि (चंद्रांग) वामभागमें अभ्यास कर सूर्यांग (दक्षिणभाग) में अभ्यास करे और वामांगाभ्यासके पीछे जबतक वामांगमें कुंभककी संख्या समान हो तब तक अभ्यास करे जब संख्या समान हो तब महामुद्रा विसर्जन करे इसमें यह क्रम है कि वामपादकी एडीको योनिस्थानमें लगाकर दाहिना पाद लंबा फैलाकर अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ और तर्जनीसे पकड़कर अभ्यास करे यह वामागांभ्यास है। इससे पूरित जो वायु वह वामांगमें स्थित रहता है फिर दक्षिणपादको समेट कर उसकी एडी योनिमें लगा-कर वामपाद लंबा फैलाकर अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ और तर्जनीसे पकड़कर अभ्यास करे इसे दक्षिणांगाभ्यास कहते हैं इससे पूरित वायु दक्षिणांग ही में रहता है ।। ६ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ।। ७ ।।

कहते हैं कि महामुद्राके अभ्यासके लिए पथ्यापथ्यविचार नहीं है। कटु अम्लादि समस्त रसादिक जो खाये वही पच जाये नीरस, बासी (पर्युषित) सब पचे, तथा दुर्जर घोर विष आदि भी अमृतके समान पच जाये ।। ७ ।।

क्षयकुष्ठमुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्या दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।। ८ ।।

जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करे उसे क्षयरोग, कुष्ठ, गुल्मरोग, अजीर्ण, ज्वर, प्रमेह, उदररोग आदि कभी न होवे ।। ८ ।।

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।। ९ ।।

और उस अभ्यासीको अणिमादि महासिद्धि देनेवाली यह महामुद्रा कही है इसे गुप्त रखना अर्थात् अनधिकारीको न देना ।।९ ।।

खेचरीमुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।। ६३ ।।

खेचरीमुद्राकी विधि कहते हैं कि, जिह्वाको, उलटी फिराकर कंठमूलमें जो छिद्र (छिगलिग्या) याने क्षुद्रघंटिका है उसमें प्रवेश कराना तदनंतर भ्रूमध्यमें निश्चल दृष्टि स्थिर करना इसे खेचरी-मुद्रा कहते हैं ।। ६३ ।।

न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न मूर्च्छा तु भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।। ६४ ।।

जो योगी गुरूपदिष्ट मार्गद्वारा छेदन, दोहन, कर्षण (ये कर्म आगे कहेंगे) विधि से खेचरीमुद्राको बहुतकालपर्यंत अभ्यास करता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है उसके रोग, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्छा और मरणतुल्य कष्ट दूर होते हैं ।। ६४ ।।

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्येत कर्मणा ।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।। ६५ ।।

जो योगी खेचरीमुद्रा जानकर उसे अभ्यास करके सिद्धि करता है वह शोकसे पीड़ित नहीं होता कर्मके फलमें बंधन नहीं पाता और काल मृत्यु आदियोंसेभी बाधा नहीं पाता ।। ६५ ।।

चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी ।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ।। ६६ ।।

जिस कारण वहाँ परब्रह्मके लिए एकाग्र होकर मन बुद्धि चित्तशून्य होकर फिरता है तथा जिह्वा भी कंठमूल छिद्राकाशमें रहकर ब्रह्मरंध्रांतर्गत चंद्रकलामृतका पान करती है इस हेतुसे मनबुद्धि के विषयबंधन निवारण करनेवाली खेचरीमुद्रा समस्त सिद्धजनोंसे अत्यंत पूजित (नमस्य) है ।। ६६ ।।

बिन्दुमूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम् ।। ६७ ।।

शरीरका मूल (कारण) बिंदु है इससे शरीरकी रक्षा है, पादसे शिरपर्यंत समस्त नाड़ीजाल बिंदुसे सेचन हो रहा है इसी हेतु उक्तनाड़ी सजीव स्वकर्मसामर्थ्य रहती हैं अर्थात् समस्त नाड़ी बिंदुके आधारमें हैं ।। ६७ ।।

खेचर्या मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ।। ६८ ।।

जिस योगीने कंठनालके छिद्रलंबिकाके ऊपर आकाशविषे खेचरीमुद्रासे रोक लिया तो चंद्रामृत रुकनेसे उस योगीको कामिनी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(स्त्री) आलिंगन करे तो भी उसका मन चलायमान नहीं होता तथा बिंदु नहीं गिरता है ।। ६८ ।।

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्योर्भयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ।। ६९ ।।

जबतक देहमें बिंदु स्थिर है, तबतक मृत्युका भय नहीं होता, बिंदुका स्थान व्योमचक्र है इससे कालकी गति नहीं है । जबतक खेचरीमुद्रा दृढ है तव तक बिंदु व्योमचक्रसे नहीं गिरता । इसके स्वस्थानस्थ रहनेमें कालका वश नहीं चलता ।। ६९ ।।

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृते शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ।। ७० ।।

कदाचित एकाग्र न होनेसे बिंदु उतरके नाभिस्थान सूर्यमंडल-में पहुँच गया तो योनिमुद्राद्वारा कुण्डलिनीशक्तिको ऊपर उठाकर उसके आघात से उक्त बिंदु पुनः ऊपर लौटकर अपनेही स्थान में पहुँचकर स्थिर रहता है ।। ७० ।।

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरः शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः ।। ७१ ।।

उक्त बिंदु दो प्रकारका होता है—एक तो पांडुरवर्ण जिसे शुक्र कहते हैं, दूसरा (लोहित) रक्तवर्ण इसे महारज कहते हैं ।।७१।।

सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः ।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ।। ७२ ।।

तैल मिलाकर सिंदूर (हिंगुल) के द्रव (रस) के समान रज सूर्यस्थान नाभिमंडलमें रहता है तथा बिंदु (वीर्य) चन्द्रमाके स्थान कण्ठदेश षोडशाधारचक्र में स्थिर रहता है, इन दोनों का ऐक्य अत्यंत दुर्लभ है ।। ७२ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः ।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम् ।। ७३ ।।

विंदु शिव रज शक्ति है, इनके एक होनेमें योगसिद्धि और परमपद मिलता है। चन्द्रमा सूर्यका (प्राणवायु-अपानवायुका, जीवात्मा-परमात्माका) ऐक्य करना यही हठयोग है ।। ७३ ।।

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः ।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्ततः ।। ७४ ।।

शक्तिचालनविधिसे वायुकरके जब रज बिंदुके साथ ऐक्यको प्राप्त होता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है अर्थात् उसे अग्नि जलाती नहीं, शस्त्रसे कटता नहीं ।। ७४ ।।

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम् ।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ।। ७५ ।।

शुक्र बिंदुरूप हो चन्द्रमासे मिला और रज रक्तरूप होकर सूर्यसे मिला इनके समरसैकत्व (चंद्रसूर्यस्वरूप बिंदुरजके समरसत्वभाव) को जो योगी जानता है वही योगवित कहलाता है, चन्द्रमा एवं सूर्यके योगको योग कहते हैं ।। ७५ ।।

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ।। ७६ ।।

नाडीजालके शोधनेसे; इनमें रहनेवाले वात-पित्त-कफादि रोगोंका हरण होता है। चंद्रसूर्यके चालनसे इनके एकत्र होनेमें खाया अन्न, पिया जल इनका शोषण होता है ऐसा महामुद्राका फल है अर्थात् इस मुद्राद्वारा नाडीजलका शोधन चंद्रसूर्यका चालन रसों का शोषण होता है ।। ७६ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ग्रन्थान्तरे खेचरीमुद्राविधिः

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
यावद्भ्रूमध्यं तु स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ।। १ ।।

जिह्वा खेचरीयोग्य करनेकी विधि ग्रंथांतरसे कहते हैं– छेदन चालन-दोहनकर्मसे जिह्वा बढ़ती है, छेदन आगे कहेंगे, चालन यह है कि अंगुष्ठ और तर्जनीसे जिह्वाको हिलाते रहना, दोहन दोनों हाथोंके अंगुष्ठ तर्जनीसे जैसे गौके थनको दुहे ऐसे खींच-खींचकर जिह्वाको लंबी करे, जब तक बाहर निकलकर भ्रुकुटीको स्पर्श न करे तबक यह विधि करता रहे ।। १ ।।

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ।। २ ।।

छेदन कहते हैं—थूहरके पत्रके समान अति तीक्ष्ण, सचिक्कण निर्मल शस्त्रसे जिह्वाके नीचेकी नसको रोममात्र छेदन करे ।। २ ।।

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ।। ३ ।।

उसके बाद सेंधानमक और हरंडका चूर्ण छेदित स्थानपर मले, परन्तु योगीको लवणनिषेध है इसलिये लवणके स्थान खदिर (कत्था) से कार्य करना योग्य है, ऐसे सायंप्रातः सात दिन करके फिर पूर्वोक्त विधिसे रोममात्र काटे, पुनः उक्त औषधि लगाता रहे ।। ३ ।।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिरां बन्धः प्रणश्यति ।। ४ ।।

ऐसे छः महीनेपर्यंत नित्य युक्तिसे करे तो जिह्वामूलकी नाड़ी जो जिह्वाको कपालकुहरमें पहुँचानेसे रोकती है वह सुखपूर्वक कट जाती है ।। ४ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ।। ५ ।।

जिह्वाको तिर्छी करके तीनों नाड़ियोंका मार्ग जो कपालछिद्र उसमें योजित करे यह खेचरीमुद्रा है इसीको व्योमचक्रभी कहते हैं ।। ५ ।।

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ।। ६ ।।

तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वा प्रवेश करके एक घडीमात्र खेचरी मुद्रा स्थिर रहे तो योगीको सर्प विच्छू आदियोंका विष न लगे और बुढ़ापा, रोग, मृत्युको जीते, वलीपलित (जो बुढ़ापेमें चर्म ढीला होकर सलवटें पड़ती है) न हो ।। ६ ।।

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ।। ७ ।।

तालुके ऊपर छिद्रके सन्मुख जिह्वा लगा करके भ्रूमध्यगत चन्द्रमासे निकले हुए अमृतका पान जो योगी करे वह १ पक्ष (१५ दिन) में मृत्युको निःसन्देह जीत लेता है यह निश्चय है ।। ७ ।।

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि डंष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ।। ८ ।।

और जिस योगीका शरीर नित्य उक्त चन्द्रामृतद्वारा पूर्ण हो जाय उसे तक्षकनागभी डसे तो भी विष न लगे, दुःख न होवे ।।८।।

ईन्धनानि यथा वह्नि स्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।। ९ ।।

जैसे अग्नि काष्ठको एवं दीपक तेलसहित वत्तीको नहीं छोड़ता वैसेही चन्द्रामृतपूरित देहको जीव कदापि नहीं छोड़ता ।। ९ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ १० ॥

आचार्य कहते हैं कि जो योगी नित्य गोमांसभक्षण एवं अमर-वारुणी पान करे तो उसे हम उत्तमकुलमें उत्पन्न समझते हैं अन्यथा कुयोगी, कुलनाशक हैं सत्कुलमें उत्पन्न हुएभी तो उनका जन्म व्यर्थ है ॥ १० ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ११ ॥

इस गोमांसशब्दका अर्थ कहते हैं कि गोशब्द यहाँ जिह्वाका बोधक है जिह्वाको कपालछिद्रमें प्रवेश करनेको गोमांसभक्षण कहते हैं, यह महापातकोंका नाश करता है ॥ ११ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सार सा स्यादमरवारुणी ॥ १२ ॥

अमरवारुणीका अर्थ है कि तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाका प्रवेश उष्मा (गर्मी) से भ्रुकुटिके भीतर वाम भागस्थित चंद्रामृत द्रवित होकर जिह्वाग्रमें प्राप्त होता है इसे अमरवारुणीपान कहते हैं ॥ १२ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा सरस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोद्‍गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥ १३ ॥

जब पूर्वोक्त कर्मोंसे जिह्वा बढ़कर उक्त विधिसे चंद्रामृत पान करने लगती हैं तो मुखमें लवणसहित मरीचादि, चिंचाफलादि, दूध, मधु, घृत आदि के स्वाद ज्ञान होते हैं तव योगीके रोग तथा वृद्धावस्थाका नाश होता है, शस्त्र (जो अपनेको काटने आया)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

का निवारण होता है, आठों सिद्धि मिलती हैं, देहभाव मिलता है सिद्धांगनाओंके आकर्षणकी सामर्थ्य होती है ।। १३ ।।

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
द्दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्ति परां चिन्तयन्
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे–
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ।। १४ ।।

जिह्वाको कपालछिद्रमें लगाकर मुख विपरीतकरणीकी तरह ऊँचा कर कुंडलिनीके ध्यानसहित प्राणायामसे भ्रुकुटीमध्य द्विदल-कमलके नीचे कंठस्थ षोडशदलकमलमें हृदययोगसे प्राप्त जो निर्मलधारामय तरंगसहित चंद्रामृतरस है इसे योगी पान करे तो उसे ज्वरादिरोग न हो तथा कमलके गाभेका-सा कोमल शरीर हो और बहुतकालपर्यंत जीवित रहे ।। १४ ।।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिन्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ।। १५ ।।

मेरुपर्वतसदृश सबसे ऊंची सुषुम्नाके उपरी भागमें स्थित चंद्रा-मृतरूप जल जिसमें स्थित है ऐसे छिद्रमें सत्त्वगुणात्मा बुद्धि द्वारा आत्मतत्त्व है और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदासंज्ञक इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी आदि नाड़ियोंका उक्त विवरमें मुख है इनके द्वारा चन्द्रमंडलगत अमृत व्यर्थ चले जानेसे शरीर जरा मृत्युको प्राप्त होता है । इसलिये प्रथम कह आये हैं कि सुकरण नाम खेचरीमुद्रा करके चंद्रामृत व्यर्थ स्रवित नहीं होनेसे मृत्यु नहीं होती इस मुद्राके विना-देहकी सिद्धि, लावण्य, बल, वज्रसमान दृढ़ शरीर नहीं होते ।। १५ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सुषिरज्ञानजनकं पञ्चस्रोत: समन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन्शून्ये निरञ्जने ।। १६ ।।

इडा १, पिंगला २, सुषुम्ना ३, गांधारी ४, हस्तिजिह्वा ५, इनका प्रवाह ऊपरको है अत: इनके प्रवाहसंयुक्त आत्माको साक्षात् प्रकट रहनेवाला विवर है, जो अविद्या एवं अविद्याके कार्य शोक, मोहादि दूर होते हैं । ऐसे विवरमें खेचरी मुद्रा स्थित होती है ।। १६ ।।

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ।। १७ ।।

समस्त बीजोंमें मुख्य सृष्टिरूप एक प्रमाण वह है, समस्त देवताओं-में भगवान मुख्य है, वैसेही समस्त मुद्राओंमें खेचरी मुख्य है ।।१७।।

उड्यानं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगम् ।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ।। ७७ ।।

जिस कारण उड्डियानबंधसे रुका प्राणवायु कहीं भी विश्राम न करके उड़कर सुषुम्नामें गति करता है, उसी कारण वहां मृत्यु-रूपी गजके ऊपर सिंह जैसा यह बंध कहा जाता है ।। ७७ ।।

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते ।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो निगद्यते ।। ७८ ।।

उड्डीयानबंधका स्थान कहते हैं—उदरसे पश्चिम और नाभीसे नीचे इस बंधका स्थान योगी कहते हैं इसलिये यह बंध उसी स्थानमें करना योग्य है ।। ७८ ।।

ग्रन्थान्तरे

उदरे पश्चिमं स्थानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ।। १ ।।

नाभी के ऊपर तथा नीचे का भाग उदरमें लग जाय ऐसे पेटके पीछे खींचे इसे उड्डीयानबंध कहते हैं, मृत्युरूपी गजको मारने के लिये सिंह समान है ।। १ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ।। २ ।।

हितोपदेशकर्त्ता गुरु द्वारा उड्डीयान को सरलता से कहे गये इस बंधको निरंतर अभ्यास करे तो वृद्ध भी तरुण हो जाये ।। २ ।।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि स्थानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ।। ३ ।।

नाभीऊर्ध्वाध भागोंको खींचकर पीठमें लगाये, ऐसे इस बंधको छः महीनेपर्यंत निरंतर अभ्यास करे तो निस्संदेह मृत्युको जीत ले ।। ३ ।।

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्यु ड्डियानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्ति स्वाभाविकी भवेत् ।। ४ ।।

संपूर्ण बंधोंमें उड्डीयानबंध उत्तम है, यह दृढ हो जाय तो स्वभावसिद्ध मुक्ति होती है । इसके करनेसे पक्षियोंकैसी गतिकरके सुषुम्नाद्वारा प्राण मस्तिष्कमें ले जानेसे समाधिमें मोक्ष होता है यही स्वाभाविक मुक्ति है ।। ४ ।।

बध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बन्धो कण्ठदुःखौघनाशनः ।। ७९ ।।

जालंधरबंध कहते हैं—यह बंध कंठस्थानमें होता है, अनेक रोगोंको हरता है, शरीरस्थ नाडीजालका बंधन करता है, व्योमचक्रस्थ चंद्रकलामृतको कपाल कुहरसे नीचे नहीं गिरने देता इस कारण यह जालंधर बंध कहलाता है ।। ७९ ।।

जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ।। ८० ।।

कंठका संकोचन करके प्राणवायुकी गतिको रोकना जालंधर बंध है । इससे चंद्रकलामृत गिरकर सूर्यरूप अग्निमें नहीं पड़ता एवं वायु कदाचित् विरुद्ध नहीं होता ।। ८० ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ग्रन्थान्तरे

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ।। १ ।।

ग्रंथांतरसे जालंधरबंध कहते हैं–कि कंठ नीचे झुकाकर हृदयके चार अंगुल अंतर ठोढ़ी को दृढता से स्थापन करे, यह जालंधरबंध वृद्धावस्था तथा मृत्युनाशक है ।। १ ।।

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ।। २।।

दृढ संकोचनमात्र द्वारा इडा पिंगला दोनों नाडी स्तंभित होती हैं, कंठस्थानमें जो विशुद्धनामक चक्र है वह अंगुष्ठादि ब्रह्मरंध्रांत षोडश आधारोंका मध्यम चक्र है इन षोडश आधारोंका वर्णन पूर्व १३ वें श्लोक की टीकामें कर आये हैं ।। २ ।।

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ।
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ।। ३ ।।

नाभिको पश्चिमतानरूप उड्डीयानबंध करे और कण्ठ नमाय जालंधरबंधसे इड़ा-पिंगला नाडियोंको स्तंभन करे तदनंतर पश्चिम-मार्ग सुषुम्नामें प्राणवायुको प्राप्त करे ।। ३ ।।

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ।। ४ ।।

इस विधिसे वायुकी गति बन्द होकर प्राणवायु स्थिर होकर ब्रह्मरंध्रमें स्थिर रहता है, इसे प्राणलय कहते हैं । इससे मृत्यु जरा, रोग, देहकी त्रिवली, श्वेतरोगता, मूर्छा, आलस्यादिक नहीं होते हैं ।। ४ ।।

बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धेश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ।। ५ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूलवंध १, उड्डीयानबंध २, जालंधरबंध ३, ये सभी श्रेष्ठ हैं, मत्स्येंद्रादि महासिद्ध वसिष्ठादिमुनि इन्हें सेवन करते हैं, हठके उपायों की सिद्धिको प्रगट करते हैं इससे गोरक्षादि सिद्ध इन्हें जानते हैं ।। ५ ।।

यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ।। ६ ।।

तालुके मूलमें स्थित दिव्यरूप चन्द्रमासे अमृत स्रवित होता है उसे नाभिस्थित अग्निरूप सूर्य ग्रास कर लेता है तब देहकी वृद्धावस्था होती है ।। ६ ।।

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ।। ७ ।।

इस प्रकरणमें उक्त सूर्यके मुखवंचना अर्थात् जिससे अमृत सूर्यके मुखमें न पड़े यह युक्ति कही है तथा विपरीतकरणी मुद्रा भी (जो आगे कहेंगे) इसके उपयोगी है ये सर्व गुरुमुखसे जाने जाते हैं बिना गुरु करोड़ों शास्त्रों से भी नहीं जाने जा सकते हैं ।। ७ ।।

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधो विधीयते ।। ८१ ।।

अपानवायु ऊपर खींचकर प्राणवायुसे योजित करना, पादकी एड़ीसे गुदा, एवं लिंगके मध्य योनिस्थानको दृढ अचेतके गुदद्वारको दृढ़ संकुचित करना जिससे अपानवायु बाहर न निकले इस प्रकार मूलवंध होता है ।। ८१ ।।

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ।। ८२ ।।)

अपान और प्राणवायुका ऐक्य कर जो निरंतर मूलबंधका अभ्यास करता है उसके मल-मूत्र क्षय होते हैं और बूढ़ा भी जवान हो जाता है ।। ८२ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

'गोरक्षसंहितामें दशमुद्राओंमेंसे महामुद्रा १, खेचरी २, उड्डीयान ३, जालंधरबंध ४, मूलबंध ५, कही हैं अन्य महाबन्ध १,महावेध २, विपरीतकरणी मुद्रा ३, वज्रोली ४, शक्तिचालन ५, ये पांच इसी शतकमें साधारण रूप से ही कह आये हैं तथापि विशेष प्रकटताके लिये हैं उन्हें ग्रन्थांतरमतसे भी लिखता हूं'–

तत्र प्रथमं महाबन्धः

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।। १ ।।

वामपादकी एडीसे योनिस्थानको रोधके दक्षिणपाद उसके ऊपर रखकर अर्थात् मूलबंध करके ।। १ ।।

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ।। २ ।।

तब जालंधरबंध करके वायुको पूरकर मनको मध्यनाडी सुषुम्ना में प्रवृत्त करे ।। २ ।।

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ।। ३ ।।

यथाशक्ति कुंभक करके मन्द २ रेचन करे, ऐसे ही वामांगमें अभ्यास करे, दोनों अंगोंके अभ्यासकी संख्या समान करे ।। ३ ।।

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ।। ४ ।।

यह समस्त नाड़ियोंको ऊपरकी गतिरोधक महासिद्धिदायक महाबंध है ।। ४ ।।

कालपाशमहाबन्धविमोचन विचक्षणः ।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ।। ५ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मृत्युपाशको काटनेवाला है, इडा, पिंगला, सुषुम्ना तीनोंके संगम (त्रिवेणी) धारण कर मनको (केदार) भ्रुकुटी शिवस्थानमें ले जाये ॥ ५ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ ६ ॥

जैसे कांति, गुण, शोभायुक्त स्त्री पुरुष बिना व्यर्थ है ऐसेही महावेध बिना महामुद्रा और महाबंध निष्फल है इसलिये अब महावेध कहते हैं ॥ ६ ॥

महावेधः

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निबृतं कण्ठमुद्रया ॥ १ ॥

एकाग्रबुद्धि द्वारा योगी महावेध इस प्रकार करे कि, नासापुट-से पूरक करके जालंधर बंध कर वायुकी ऊर्ध्वगतिको रोक कुंभक करे ॥ १ ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २ ॥

दोनों हाथोंकी हथेली समान पृथ्वीमें धरकर एडीको योनि–स्थानमें दृढ लगाये हुए हाथोंके सहारे पृथ्वीसे कुछेक शरीर उठाये (परन्तु जैसे मूलबंध मुद्रा न खुले) फिर मन्द-मन्द पृथ्वीके अपने शरीरासन स्फिचको ताडन करे इससे वायु इडा पिंगलाको उल्लंघन कर सुषुम्नामें प्राप्त होता है इस मुद्रामें स्वानुभवसे तथा हरिगुरूप-दिष्ट मार्गसे कहता हूं कि शरीर पृथ्वीसे उठाकर पृथ्वीमें ताडन करनेमें उक्त मुद्रा दृढ नहीं रह सकती । यदि बलसे रक्खा भी तो मूलबंध बिगड़ जाता है इससे सुगम तो पद्मासनसे यह कार्य सुखपूर्वक होता है और भी सुभीता यह है कि हाथोंके जोरसे शरीर उठानेमें मूलबंध सुगमता ही से होता है ॥ २ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सोमसूर्याग्निसबन्धो जायते चामृताय वै।
मृताऽवस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ ३ ॥

इस विधिसे सूर्यचन्द्रमा अग्न्यात्मका इडा पिंगला सुषुम्नाका संयोग मोक्षके हेतु है ऐसे होनेमें मरा हुआ जैसा मृतावस्था होती है तब नासिकापुटमें मन्द २ रेचन करे ॥ ३ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ ४ ॥

इस महावेधके अभ्यास करनेसे अणिमादि अष्टसिद्धि मिलती हैं, वली (बुढ़ापेमें मुखपर सलवटें पड़नी) पलित (बाल श्वेत होने) कंप (बुढ़ापेमें शरीर कांपना) ये उक्त अभ्यासीको नहीं होते ॥ ४ ॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ५ ॥

ये महामुद्रा, महाबंध, महावेध गोप्य हैं बुढ़ापे तथा मृत्युको दूर करते हैं जठराग्निको बढ़ाते हैं अष्टसिद्धि देते हैं ॥ ५ ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने।
पुण्यं संभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा।
सम्यक्छिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ६ ॥

आठों प्रहरमें ८ ही बार इनका अभ्यास करे ये पुण्यको बढ़ाते हैं पापसमूहको वज्रके समान सुखाते हैं, शिक्षावान् पुरुषको इस प्रकार दिन २, प्रहर २ में थोड़ा २ करके अभ्यास करना योग्य है ॥ ६ ॥

विपरीतकरणमुद्रा

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ १ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अब विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं कि, ऊपरको नाभि नीचे तालुकरके नाभिस्थ सूर्य ऊपरको भ्रुकुटिस्थ चंद्रमा नीचेको हो जाता है इससे चंद्रामृत सूर्यरूप अग्निमें नहीं पड़ने पाता यह विपरीतकरणी मुद्रा है यहां ग्रंथकर्त्ताने कुछ उदाहरण लिखकर गुरुलक्ष्यपर निर्भर छोड़ दिया, इसलिये मैं (भाषाकार) अपने अनुभव एवं हरिगुरूपदिष्ट मार्गसे लिखता हूं कि, दोनों पैरोंसे पद्मासन बांधकर दोनों हाथ और शिर (चोटी) को पृथ्वीमें लगाकर, उक्त पद्मासनको ऊपर अंतरिक्षमें खड़ा करे, अभ्यास होनेपर कभी तो उस पद्मासनको खोल पांव आकाशमें लंबे करे कभी फिर वैसेही पद्मासन लगाये। हाथ और शिरके सहारे उलटा खड़ा रहे तब यह मुद्रा होगी अभ्याससे सुगम हो जाती है ॥ १ ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निर्विवर्द्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ २ ॥

जो इस मुद्राका नित्य अभ्यास करता है उसकी जठराग्नि बढ़ती है, उस साधकको आहार बहुत (यथेच्छ) करना चाहिये ॥ २ ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ३ ॥

इस मुद्राका अभ्यासी यदि भोजन अल्प करे तो जठराग्नि प्रज्वलित होकर देहको फूकती है; अब क्रिया है कि पहिले दिन शिर पृथ्वीमें रखकर पैर ऊपरको क्षणमात्र करे ॥ ३ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
यामसात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ४ ॥

फिर प्रतिदिन एक एक क्षण बढ़ाकर अभ्यास करे तो सिद्धि होनेपर वली पलित छः महीनेमें दूर हो जाते हैं। जो प्रतिदिन एक२ प्रहरपर्यंत इसको करता है वह कालमृत्युको जीतता है ॥ ४ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वज्रोली

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १ ॥

अब वज्रोली मुद्रा कहते हैं कि जो योगोक्त नियम न जानता हुआभी अपनी इच्छासे वज्रोली को जाने वह अणिमा सिद्धि पाता है ॥ १ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ २ ॥

इस मुद्रामें हरकिसीको जो वस्तु दुर्लभ हैं विशेषत: वे अवश्य चाहियें वज्रोल्यर्थ संगमोत्तर दुग्धपान, एवं वशवर्तिनी स्त्री ये दो उपयोगी हैं ॥ २ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीं सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥

संगम करके मन्द मन्द क्षरितवीर्यको इंद्रियसंकोचनकरके ऊपर खैंचनेके अभ्यास सिद्ध होनेमें वज्रोली मुद्राकी सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ४ ॥

इसकी पूर्वांग क्रिया कहते हैं कि चांदी वा कांचकी १४ अंगुल खोखरी शलाका सच्छिद्र करे जो १२ अंगुल सरल २ अंगुल तिरछी रहे उसे लिंगछिद्रमें प्रतिदिन दो-दो अंगुल प्रवेश कर एक किनारेसे फूंककर वायु प्रवेश करते २ बारह दिनमें २४ अंगुल प्रवेश करे इससे इंद्रियमार्ग शुद्ध होता है तब इस मार्गसे जलके आकर्षणका अभ्यास करे, अभ्यास सिद्ध होनेपर वीर्यका आकर्षण करे तो सिद्धि होती है ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जिसको खेचरी एवं प्राणजय सिद्ध हों उसको वज्रोली सिद्ध होती है ।। ४ ।।

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ।। ५ ।।

स्त्रीसंयोगमें जब बिंदु (वीर्य) शरीरसे चलायमान होते ही उसे उक्ताभ्याससे ऊपरको खींच ले अथवा जब भगमें गिर पड़े तब स्त्रीके रजसहित बिंदुको आकर्षण कर ऊपरको चढ़ाकर स्थापन करे ।। ५ ।।

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।। ६ ।।

इस प्रकार जो बिंदुकी रक्षा करता है वह योगी मृत्युको जीतता है बिंदुके पतनसे मृत्यु, उसकी रक्षासे अमरत्व प्राप्त होता है इसलिये इस विधिसे बिंदुकी रक्षा करें ।। ६ ।।

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ।। ७ ।।

उक्त अभ्यासीके शरीरमें बिंदुधारणसे सुगंधि प्रकट होती है और जबतक देहमें बिंदु स्थित है तबतक कालभय नहीं होता ।।७।।

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ।। ८ ।।

वीर्य चित्तके आधीन है, चित्तके चलायमान होनेसे वीर्य चलायमान और स्थिरतासे स्थिर होता है, एवं शुक्रके आधीन जीवन है इसकी स्थिरतासे जीवन स्थिर और चलायमान होनेसे मरण होता है, इसलिये शुक्र और मनकी रक्षा करनी चाहिये ।।८।।

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ।। ९ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri
LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. 2435

ऐसेंही रजोवती स्त्रीके रजको विंदुसहित आकर्षण करके ऊपरको खींचकर स्थापित करे ऐसे वज्रोलीका अभ्यास करनेवाला योगवेत्ता होता है ॥९॥

'एक प्रकारके भेद वज्रोलीके सहजोली, अमरोली भी हैं अतः प्रथम सहजोली कहते हैं–

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ १ ॥

जो वज्रोलीके फल वही सहजोली अमरोलीके भी हैं इसलिये ये भी उसीके भेद हैं, गोबरके (कंडे) गोपट्टे जलायके भस्म जलमें मिलाये ॥१॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसो स्वांगगलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ २ ॥

वज्रोली के लिए मैथुन करके क्षणमात्र सुखसे बैठकर सभी व्यापार छोड़कर उक्त भस्म जलमें मिलाकर स्त्रीपुरुष अपने अपने सर्वांग में लेपन करें ॥२॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ३ ॥

यह मत्स्येंद्रादि योगीश्वरोंने सहजोली कही है यह योग शुभकारक है अन्यत्र (साधनाओंमें) जहां भोग तहां मोक्ष नहीं जहां मोक्ष तहां भोग नहीं, इस मुद्राके अभ्यासमें भोगसहित मोक्ष भी है ॥ ३ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां सिद्धयेत नतु मत्सरशालिनाम् ॥ ४ ॥

जो योगी पुण्यवान, धैर्यवान, तत्त्वदर्शी और निर्मत्सरी हैं उनको सिद्ध होता है जो मत्सरी (अन्यशुभद्वेषी) हैं उनको सिद्ध नहीं होता ॥ ४ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अब दूसरा भेद व अमरोली कहते हैं—

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां,
विहाय निःसारयतान्त्यधाराम् ।
निषेव्यते शीतलमन्यधारां ।
कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥१॥

शिवांबुक प्रथमधारा पित्तकी उष्णता से तथा अंत्यधारा निःसारतासे त्यागकर निर्विकार मध्यधाराको ग्रहण कर सेवन करते हैं यह योगाभिमत कापालिकी क्रिया है इसे अमरोली कहते हैं.यद्वा (कापालिक) कनफटे जोगियोंका (जिसे खंडमत कहते हैं) यह कर्म विशेषतः इष्ट है ॥ १ ॥

अमरीयं पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ २ ॥

जो पुरुष अमरवारुणी (जो खेचरीप्रकरणमें कही है) का पान करते हैं एवं नासभी अमरवारुणीका लेते हैं तथा प्रतिदिन वज्रोली का अभ्यास करते हैं । वही कापालिकी अमरोली कही है ॥ २ ॥

अभ्यासान्निःसृता चान्द्री विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ३ ॥

अमरोलीके अभ्याससे निःसृत चंद्रसुधाको पूर्वोक्त भस्ममें मिला कर उत्तम अंग मस्तक, नेत्र, स्कंध, हृदय, भुजादि में धारण करे तो भूत, भविष्य, वर्त्तमान देखने योग्य दिव्यदृष्टि हो जाती है ॥ ३ ॥

स्त्रीणां वज्रोली

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ १ ॥

अब स्त्रियोंके लिए वज्रोलीसाधन कहते हैं कि, जो स्त्री अभ्यास से पुरुषके बिंदुको खींचकर अपने रजकी वज्रोलीमुद्रा द्वारा रक्षा करे वह भी योगिनी कहलाती है ॥ १ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्या शरीरे नादश्च बिन्दुता मे न गच्छति ।। २ ।।

उसके रजका नाश (पतन) निस्संदेह अल्प भी नहीं होता तथा शरीरमें नाद भी उत्पन्न होता है चंद्ररूप बिंदु सूर्यरूप रजके बाहर संयोगसे सृष्टि (गर्भ) होती है जब अभ्याससे भीतरही योग हो तो योगसिद्धि होती है, परमपद मिलता है, इनके संयोगमें समस्त देवता स्थिर रहते हैं ।। २ ।।

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ।। ३ ।।

रज, बिंदु वज्रोलीके अभ्याससे देहमें प्राप्त होनेपर सर्व सिद्धि देते हैं ।। ३ ।।

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं मा रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेत् ध्रुवम् ।। ४ ।।

जो स्त्री भगको आकुंचन करते-करते रजको ऊपर शरीरमें चढ़ा ले वह योगिनी होती है। भूत, भविष्य, वर्त्तमान जाने और अंतरिक्षमें चलनेवाली वैमानिकगति मिलती है ।। ४ ।।

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ।। ५ ।।

वज्रोलीके अभ्यासयोगसे (देहसिद्धि) रूप, लावण्य, बल वज्र संहननभाव मिलते हैं, यह योग पुण्य देनेवाला तथा विषयभोग भोगनेमें भी मुक्ति देता है ।। ५ ।।

'इनमें दश शक्तिचालनमुद्रा प्रथम अजपा गायत्रीके उपरांत कह आये हैं अब इन १० का माहात्म्य कहते हैं'–

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ।। १ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ये दश (१०) मुद्रा आदिनाथ शिवने कहा है इनमें एक-एक मुद्रा योगीको अणिमादि देनेवाली हैं ॥ १ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुस्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ २ ॥

जो योगियोंको (सांप्रदायिक) गुरुपरंपराप्राप्त इन मुद्राओंका उपदेश दे वही सर्व गुरुसे श्रेष्ठ, स्वामी, साक्षात् ईश्वर है ॥ २ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्द्धं लभते कालवञ्चनम् ॥ ३ ॥

इनके उपदेशकर्त्ता गुरुके आसन, कुंभक, आहार, विहार, चेष्टादि वाक्योंमें आदरपूर्वक ग्रहण कर तत्पर रहे तो अणिमादि सिद्धियोंको जीतकर कालमृत्युको जीते ॥ ३ ॥

प्रणवाभ्यासाः

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥ ८३ ॥

अब प्रणव के अभ्यासकी विधि कहते हैं कि एकांत स्थलमें बैठ-कर दृढ़ पद्मासन लगाकर शरीर कंठ शिर सम (सरल) करके नासाग्रदृष्टि निरंतर करके प्रणवजप करे ॥ ८३ ॥

भूर्भुवःस्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८४ ॥

जिस प्रणवके अकार उकार मकार तीन वर्णमें भूः भुवः स्वः ये लोक तथा चन्द्रमा सूर्य अग्नि देवता रहते हैं, वह प्रणव परमकारण-रूप ज्योतिर्मय चैतन्य ॐ कारस्वरूप है ॥ ८४ ॥

त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः ।
त्रयो देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८५ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अनुभव होने लगे तव भविष्यत् में शीघ्र ही सिद्धिलाभ होगा, ऐसा अनुमान लगाना योग्य है ॥ ७८ ॥

इति योगप्रदीपिकायामार्यभाषाभाष्यसमन्वितायां द्वितीयोपदेशः ।

अथ तृतीयोपदेशः (३)

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥१॥

योगाभ्यास में कुण्डली की जागृति अनिवार्य है इस विषय को प्रदर्शित करते हैं। जिस प्रकार से समस्त पर्वत, वन तथा भूमि का आधार भगवान् शेष है उसी प्रकार से समस्त योगतंत्रों का आधार कुण्डली है। क्योंकि कुण्डलीवोध के विना प्राणगति सुपुम्ना मार्ग से नहीं हो सकती, तथा चित्त और प्राण की एकता के विना धारणा, ध्यानादि न हो सकेंगे। अतः योग में कुण्डली आवश्यक है ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥२॥
प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥३॥
सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः ।
श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥४॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥५॥

गुरु की कृपा एवं पथप्रदर्शन से तथा ब्रह्मचर्य-तप-श्रद्धा पूर्वक योगसाधनानुष्ठान से जब किसी उत्तम साधक की सुपुम्ना मार्ग पर सुप्त कुण्डली सुषुम्ना द्वार को त्याग देती है तब सुषुम्ना नाडी द्वार से प्राण गति करने लगता है। उस उत्तम नाडी सुषुम्ना में प्राण की धारा बहने से मूलधारा आदि समस्त चक्रों का तथा तत्त्वज्ञान में जो अज्ञानरूप गांठें हैं उनका भी भेदन होने लगता है ॥ २ ॥

सुषुम्ना मार्ग से प्राणगमन होने पर प्राणसञ्चारार्थ सुषुम्ना द्वार सड़क के समान निर्बाध हो जाता है। उस अवस्था में चित्त विषयों से पराङ्मुख होकर शान्त धारावाही वन जाता है तथा प्राणों पर अधिकार होने से मृत्युभय नष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥

समस्त नाडियों में उत्तम नाडी जो सुषुम्ना है उसके निम्न सात शब्द पर्यायवाचक हैं [१]सुषुम्ना, [२]शून्यपदवी, [३]ब्रह्मरन्ध्र, [४]महापथ, [५]श्मशान, [६]शाम्भवी, [७]मध्यमार्ग ॥ ४ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्योंकि सुषुम्ना मार्ग को कुण्डलिनी ने रोका हुआ है अतः प्राणवायु का गमनागमन सुषुम्ना नाडी से नहीं होता। सुषुम्ना द्वार पर सोई हुई कुण्डली को जगाने के लिए निम्नाङ्कित दश मुद्राओं का अभ्यास उपकारक है ॥ ५ ॥

दश मुद्राओं के नाम

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ॥६॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥७॥

महामुद्रा[1], महाबन्ध[2], महावेध[3]; खेचरी[4], उड्यानबन्ध[5], मूलबन्ध[6], जालन्धरबन्ध[7], विपरीतकरणी[8], वज्रोली[9], शक्तिचालन[10] ये दश मुद्रायें हैं। इनके विधि पूर्वक अभ्यास से जरा और मृत्यु का विनाश हो जाता है। अर्थात् वृद्धावस्था का आक्रमण शीघ्र नहीं होता है ॥ ६–७ ॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥८॥
गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥९॥

मुद्राभ्यास द्वारा आदिनाथ-प्रोक्त उत्तम, अणिमा[1], महिमा[2], गरिमा[3], लघिमा[4], प्राप्ति[5], प्राकाम्य[6], ईशता[7], वशिता[8] इन अष्ट ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। सर्व साधारण के लिए अलभ्य ये मुद्राएँ सभी सिद्धों की प्रिय रही हैं ॥८॥

जिस प्रकार हीरे आदि रत्नों से परिपूरित भाण्ड को गुप्त रखा जाता है, उसी प्रकार से इन मुद्राओं को गुप्त रखना योग्य है। वस्तुतस्तु इस श्लोक में जो उपमा दी है वह सर्वथा विद्वानों की दृष्टि में अनुपयुक्त है। क्योंकि आर्षपरम्परा में समस्त विद्याओं की सुरक्षा निन्दक, दुष्ट, साधनहीन, आचार्य द्रोही, अब्रह्मचारी, प्रमादी को विद्योपदेश न करने तथा सदाचारी, गुरुनिष्ठ, ब्रह्मचारी, प्रमादहीन साधन परायण योग्य शिष्य को विद्योपदेश करने में ही समझी जाती थी। (भगवान् यास्काचार्य ने भी इस बात को निरुक्तशास्त्र (२।१) में इसी प्रकार से स्पष्ट किया है)। इसलिए यहाँ पर "कुलस्त्री-सुरत" यह दृष्टान्त अश्लील होने से परिहेय है यहाँ केवल अधिकारी को उपदेश करने तथा अनधिकारी को न बताने में ही गोपनीयता का तात्पर्य है ॥ ९ ॥

---

१. परमाणु समान सूक्ष्मता २. महान स्थूलता ३. पर्वत समान भारी होना ४. रुई समान हल्का ५. दूर वस्तु पर पहुँचना ६. सब इच्छा पूरी होनी ७. उत्पत्ति पालन संहार शक्ति ८. सबको अपने अधीन करने की शक्ति।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

महामुद्रा (१)

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढ़म् ॥१०॥
कण्ठे वन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥११॥
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥१२॥
ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥१३॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥१४॥
चन्द्राङ्गे च समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत् सङ्ख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१५॥
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ॥१६॥
क्षयकुष्ठगुदावर्त्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥१७॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥१८॥

अव दशम श्लोक से अष्टादश श्लोक पर्यन्त नव श्लोकों में महामुद्रा की विधि तथा उसके लाभ वताये जायेंगे—वामचरण को मूलेन्द्रिय तथा गुदा के मध्य भाग में दृढ़ता से संस्थापित करके दक्षिण चरण को अपने आगे की ओर भूमि पर दंडाकार में सीधा फैलावे तथा अपने दोनों हाथों की अङ्गुलियों द्वारा प्रसारित चरण के अङ्गुष्ठ को दृढ़ता से पकड़े ॥ १० ॥

वायु को उदर में भर कर—जालन्धर वन्ध और मूलवन्ध को लगा कर मनोवल-पूर्वक मूलाधार से वायु को ऊपर उठावे । इस प्रकार से अभ्यास करने पर कुण्डली शक्ति सुषुम्ना द्वार को त्याग कर दण्ड से पीटे हुए सर्प के तुल्य दण्डाकार में सरल हो जाती है ॥ ११ ॥

जव कुण्डली शक्ति शीघ्र ही दण्डाकार में सीधी हो जाती है तव वायु की गति सुषुम्ना मार्ग से होने लगती है तथा इड़ा और पिङ्गला नाडियों से प्राणगति अवरुद्ध हो जाती है ॥ १२ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उदर गत वायु को यथाशक्ति कुम्भक करने के उपरान्त शनैः शनैः रेचक करे वेग से रेचक न करे। क्योंकि इस मुद्रा के अभ्यास से महान् लाभ प्राप्त होता है अतः इसको विद्वानों ने महामुद्रा नाम से कहा है ॥ १३ ॥

इस महामुद्रा को आदिनाथ आदि महासिद्धों ने उपयोगी बताया है। क्योंकि इसके अभ्यास से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये महाक्लेश तथा शोकादि दोष क्षीण होने लगते हैं। अतः बुद्धिमानों में श्रेष्ठ अनुभवियों ने इसे महामुद्रा नाम से कहा है ॥ १४ ॥

"जितने समय तक वाम चरण को सीवनी भाग में लगा कर दक्षिण चरण को दण्डाकार में फैलाकर उसके अङ्गुष्ठ को दोनों हाथों की अङ्गुलियों से पकड़ कर" इस अवस्था में रहे उतनी ही देर पैर को बदल कर भी रहे। जब दोनों पैरों की संख्या समान हो जाये तब महामुद्रा को बन्द कर देना उचित है ॥ १५ ॥

महामुद्रा के लाभ—इसके अभ्यास करने से जब योगी अभ्यस्त हो जाता है; तब उसके लिए पथ्यहीन भोजन भी पथ्यवत् ही होता है तथा रस हीन आहार भी पचने लगता है, यदि किसी कारण से विष तुल्य कुत्सितान्न भी खाया गया, तो वह भी अमृत रूप में परिवर्तित हो जाता है ॥ १६ ॥

इसके अभ्यासी को क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त्त, गुल्म, मन्दाग्नि, ज्वर आदि अनेक दोष कष्ट नहीं देते, प्रत्युत ये रोग क्षीण हो जाते हैं ॥ १७ ॥

उपर्युक्त जो अनेक उत्तम-गुणवती, पुरुषों को महासिद्धिप्रदा, महामुद्रा को कहा गया इसकी विधि को अनधिकारी अतत्पर पुरुष के लिए कभी न कहे जिससे इसकी रक्षा हो सके ॥ १८ ॥

महाबन्धः (२)

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥१९॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढ़म्।
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२०॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥२१॥
मतमत्र तु केषाञ्चित् कण्ठबन्धं विवर्जयेत्।
राजदन्तस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥२२॥
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥२३॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥२४॥
रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥२५॥

अब महाबन्ध का स्वरूप बताते हैं—वामचरण की एड़ी को लिङ्गेन्द्रिय और गुदेन्द्रिय के मध्य में जो सीवनी भाग है वहाँ पर लगा कर दक्षिण चरण को वामजङ्घा पर दृढ़ता से रखे ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् बाहर से वायु को उदर में परिपूर्ण करके जालन्धरबन्ध को उत्तम प्रकार से लगावे। मूलबन्ध और उड्डियान बन्ध से नाभिस्थ वायु को ऊपर की ओर आकर्षण करते हुए मन को सुषुम्ना नाडी में लगावे ॥ २० ॥

उपर्युक्त उदरस्थ वायु को यथाशक्ति कुम्भक द्वारा अन्दर धारण करके पश्चात् शनैः शनैः रेचक करे। तदनन्तर दक्षिण चरण की एड़ी को सीवनी भाग में लगा कर वामचरण को दक्षिण जङ्घा पर संस्थापित करके इस मुद्रा का अभ्यास करे ॥ २१ ॥

कुछ आचार्यों के मत में इस महाबन्ध के अभ्यासार्थ जालन्धरबन्ध को इसलिए नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि जालन्धरबन्ध की अपेक्षा दाढों के मध्य में स्थित जो जिह्वा है, उसका बन्ध ही उत्तम है ॥ २२ ॥

उपर्युक्त जिह्वाबन्ध से समस्त नाड़ियों के प्राणकी गति ब्रह्मरन्ध्र की ओर हो जाती है। अतः जालन्धरबन्ध की अपेक्षा जिह्वाबन्ध ही उत्तम है।

महाबन्ध के लाभ—यह महाबन्ध, प्राणजय चित्तैकाग्रता आदि सिद्धियों को देता है। मृत्युबन्धन को काटने में इस मुद्राभ्यास से सहायता मिलती है एवं इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना इन तीन नाड़ियों का जो सङ्गम स्थान भ्रुकुटि है वहाँ पर मन स्थित होने लगता है ॥ २३–२४ ॥

जिस प्रकार से रूपलावण्यवती स्त्री को पुरुष की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार से महामुद्रा और महाबन्ध को महावेध की अपेक्षा है। अर्थात् महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध इन तीनों ही का अभ्यास करना लाभकारी हैं ॥ २५ ॥

महावेधः (३)

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥२६॥
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥२७॥
सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥२८॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥२९॥
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥३०॥
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यसम्भारसन्धायि पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक् शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥३१॥

अब यहाँ पर महावेध मुद्रा विधि को कहा जाता है। एकाग्रचित्त होकर उपर्युक्त महाबन्ध की स्थिति में रहते हुए पूरक करे। और जालन्धरबन्ध सहित यथाशक्ति कुम्भक करता हुआ अपने दोनों हाथों को भूमि पर लगावे। तथा समस्त शरीर के भार को हाथों पर तोल कर शनैः शनैः भूमि पर ताड़न करे। ऐसी विधि से ताड़न करे जिससे आसन बँधा रहे और एक साथ ही चूतड़ उठें और भूमि पर गिरें।

इस प्रकार के ताड़न द्वारा इडा और पिङ्गला नाड़ियों में वहने वाली वायु रुक जाती है और सुषुम्नामार्ग से प्राणवायु गति करने लगती है ॥ २६–२७ ॥

वायु के सुषुम्नामार्गवाही होने पर इडा और पिङ्गला नाडी प्राणसञ्चार हीन होने से मृतवत् होकर सुषुम्ना नाडी के साथ एकता कर लेती हैं। उस समय निश्चित ही चित्त समाहित होकर मुक्ति साधनों में तत्पर हो जाता है। पूर्वोक्त कुम्भक को यथाशक्ति धारण करके पश्चात् शनैः शनैः रेचक करे ॥ २८ ॥

महावेध के लाभ—इस महावेध के अभ्यासी को वृद्धावस्था शीघ्र प्राप्त नहीं होती, केश शीघ्र श्वेत नहीं होते तथा शरीर में झुर्रियाँ और कम्पन का अभाव होता है। वृद्धावस्था को नष्ट करने की भावना से उत्तम साधकों को इसका अभ्यास करना योग्य है ॥ २९ ॥

उपर्युक्त महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध इन तीनों के अभ्यास से मृत्यु का शीघ्र आक्रमण नहीं होता तथा जठराग्नि की वृद्धि होकर अणिमादि[1] सिद्धि लाभ होता है। इन तीनों मुद्राओं को अनधिकारी से गुप्त रखना योग्य है ॥ ३० ॥

महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध इन तीनों मुद्राओं का अभ्यास प्रत्येक दिन प्रत्येक प्रहर में अष्ट प्रकार से किया जाता है। इनके नित्य अभ्यास से चित्तगत काम, क्रोध आदि विकारों का विनाश होता है, एवं एकाग्रता, नीरोगता, धैर्य आदि उत्तम गुणों की उपलब्धि होती है। सभ्य पुरुषों को इसका अभ्यास मात्रा में बढ़ाना चाहिए। मर्यादा हीन अभ्यास से हानि की सम्भावना है ॥ ३१ ॥

---

१. देखें पृ० ३४।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

खेचरीमुद्रा (४)

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ ३२॥
छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत्।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः॥ ३३॥
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ ३४॥
ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ ३५॥
एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत्।
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबन्धः प्रणश्यति॥ ३६॥
कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत् खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते॥ ३७॥
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः॥ ३८॥
न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥ ३९॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥ ४०॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता॥ ४१॥
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याः श्लेषितस्य च॥ ४२॥
चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया॥४३॥
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्॥ ४४॥
नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति॥ ४५॥
इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति॥ ४६॥
गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः॥ ४७॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥
जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात् स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥
चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पन्दिनी,
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं,
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥ ५० ॥
मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिपरां चिन्तयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥ ५१ ॥
यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात् सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥ ५२ ॥
सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरञ्जने ॥ ५३ ॥
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥ ५४ ॥

अब यहाँ से खेचरी मुद्रा के विषय में कहा जायेगा । कपाल में जो छिद्र है, उसमें जिह्वा को उलट कर लगाने तथा भृकुटि में दृष्टि को स्थिर करने पर खेचरी मुद्रा हो जाती है ॥ ३२ ॥

खेचरी मुद्रा को सिद्ध करने के लिए जिह्वा को आगे कही गयी छेदन, चालन, और दोहन क्रियाओं से भ्रूकुटि पर्यन्त लम्बी किया जाता है । जिह्वा के मूलतन्तुओं को छेदन करने तथा (अंगुष्ठ और तर्जनी अंगुली से जिह्वा को वाम और दक्षिण ओर को हिलाना चालन कहलाता है) एवं गोदोहन के समान अंगुष्ठ और तर्जनी से जिह्वा को दोहन करके ही खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है ॥ ३३ ॥

स्नुही (सेहुंड) के पत्ते के तुल्य अतीव तीक्ष्ण निर्मल तथा चिकना शल्यकर्म में उपयोगी शस्त्र को उत्तम प्रकार से ग्रहण करके जिह्वा के मूल की रोमपरिमाण में छेदन करे ॥ ३४ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उपर्युक्त जिह्वा-छेदन के उपरान्त पिसे हुए सैंधवनमक तथा पिसी हुई हरड़ को सायं प्रातः प्रतिदिन कटे हुए भाग पर उत्तम प्रकार से मलता रहे। सात दिन के पश्चात् आठवें दिन उसी प्रकार से पूर्व कटे हुये भाग के आगे रोम मात्र और छेदन करे। सैंधवनमक (कत्था) तथा हरड़ के चूर्ण से कटे भाग को घर्षण करना अधिक उपयोगी है।

"हरड़ और सैंधव (कत्था) के चूर्ण से सायं प्रातः घर्षण, एवं सात दिन के अनन्तर पुनः जिह्वा को रोममात्र काटना" यह क्रिया निरन्तर छः मास पर्यन्त करनी चाहिए। इस प्रकार छः मास होने पर जिह्वा को कपाल छिद्र तक पहुँचने में जो आवरण है उसका विनाश हो जाता है और जिह्वा अनायास कपाल मध्य छिद्र में पहुँच जाती है॥३६॥

उपर्युक्त क्रिया से जब जिह्वा भ्रूकुटी तक पहुँचने लगे तब जिह्वा को लौटा कर, इडा पिङ्गला और सुषुम्ना इन तीन नाडियों का जो सङ्गमस्थान है उसे कपाल छिद्र में लगावे। यही खेचरी मुद्रा है। इसी का नाम व्योमचक्र भी है ॥ ३७ ॥

खेचरीमुद्रा के लाभ—जिह्वा को लौटाकर जो योगी कपाल मध्य छिद्र में लगाकर अर्ध क्षण भी स्थित रहता है, वह सर्प वृश्चिक आदि के विषों से तथा शीघ्र जरा और मृत्यु के आक्रमण से सुरक्षित रहता है ॥ ३८ ॥

खेचरी मुद्राभ्यासी को रोग, मृत्यु, निद्रा, आलस्य, भूख, प्यास, मूर्च्छा शीघ्र नहीं सताते हैं। अर्थात् इसके अभ्यास से तितिक्षा बढती है। रोगों के आक्रमण से मुक्त होकर कर्मबन्धन का क्षय तथा दीर्घायुष्य लाभ होता है ॥ ३९ ॥ ४० ॥

क्योंकि इस मुद्रा में चित्त भ्रूकुटिरूप आकाश में स्थित हो जाता है एवं कपाल मध्य-छिद्र रूप आकाश में जिह्वा विचरती है अतः सिद्धों ने खेचरी मुद्रा नाम से कहा है जिस योगी ने तालु के ऊपर कपाल छिद्र को खेचरी मुद्रा के अभ्यास से आच्छादित कर लिया है, उसका वीर्य मस्तिष्क में स्थिति पाकर काम विकार के उद्बोध के कारणों से भी पतित नहीं होता। चलायमान वीर्य भी यदि योनिमण्डल में आ जाता है, तो उस वीर्य को भी लिङ्गेन्द्रिय के ऊर्ध्व आकर्षण द्वारा युक्तिपूर्वक प्रयत्न करके ऊपर स्थित करना योग्य है वीर्य को ऊपर उठाने में मूलबन्ध, और उड्डियानबन्ध की सहायता लेनी हितकर है। यदि बाह्य प्राणायाम के साथ मूलबन्ध और उड्डियानबन्ध को सिद्ध कर लिया जाये तो वीर्य सुरक्षा में पर्याप्त लाभ होता है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

इस खेचरी मुद्राभ्यास से वीर्यरक्षा में सहायता होती है। वीर्यरूप सोमरस को पीने वाला (रक्षा करने वाला) ब्रह्मचारी योगी मृत्यु के आक्रमण से सुरक्षित रहता है। ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत (अथर्व० ११।५।१९) अर्थात् ब्रह्मचर्य तप से देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है। इस अथर्ववेद के अनुसार हमने इस प्रकरण में "सोम-पान" इस शब्द से सुरक्षा का भाव लगाया है तालुभाग से टपकने वाले रस का वीर्य ही कारण होता है। अतः यही भाव उचित प्रतीत होता है ॥ ४४ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जिस योगी ने इस खेचरी मुद्रा से अपने वीर्य की सुरक्षा से स्वशरीर को पुष्ट कर लिया है, वह सर्पादि विषैले जन्तुओं के काटने पर भी विषाक्रान्त नहीं होगा। जिस प्रकार से अग्नि काष्ठों को तथा दीपक तेल और वत्ती को नहीं त्यागते उसी प्रकार से ब्रह्मचर्ययुक्त शरीरको आत्मा नहीं त्यागता ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

जो योगी आगे कहे जाने वाले प्रकार से अमरवाणी गोमांस (गो शब्द का अर्थ यहाँ जिह्वा है मांस शब्द का अर्थ यहाँ पर ब्रह्मचर्य के प्रभाव से उत्पन्न चित्त प्रसादक रस है) का सेवन नित्य करता है, उसको मैं उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ मानता हूं। इसके अतिरिक्त अन्य मनुष्य कुल घातक ही है। भावार्थ यह है कि मनुष्य जन्म पाकर जो पुरुष अमर तत्त्व के लिए योगाभ्यास करके ब्रह्मचर्य की रक्षा करता है वही पुरुष कुलीन है। जो केवल शिश्नोदर परायण है वह अकुलीन ही है ॥ ४७ ॥

यहाँ 'गो' शब्द का अर्थ है जिह्वा। वीर्य सुरक्षा होने पर तालु भाग से वचने वाला रस विशेष शान्ति कारण होने से सोमरस नाम से कहा जाता है। ब्रह्मचर्य सुरक्षा में यह मुद्रा साधन होने से तथा वीर्य रक्षा साध्य होने से 'साधन, और साध्य में अभेद मान कर' यहाँ पर रस शब्द को तदुत्पादक शुक्रार्थक मानना योग्य है। तव जिह्वा को तालु में लगाने पर जो वीर्यसंरक्षण होगा, वही गोमांस सेवन होगा। यह ब्रह्मचर्य सुरक्षा ही अनेक महापातकों को नष्ट करती है ॥ ४८ ॥

जिह्वा को तालुभाग में लगाने पर तथा मन को भृकुटी में स्थिर करने पर प्राणवायु सुषुम्ना मार्ग से चल कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होने लगेगी। वायु सुषुम्ना मार्ग से वहने पर वीर्य भी मस्तिष्क की ओर गति करने लगेगा तव ऊपर मस्तिष्क में स्थित चन्द्रवत् शीतल वीर्य के प्रभाव से जो ब्रह्म को प्राप्त करने में आनन्द होगा उसे अमरवारुणी कहेंगे ॥ ४९ ॥

जव कपालछिद्र में अभ्यास करने पर जिह्वा द्वारा, लवण, कटु, अम्ल, दुग्ध, मधु, घृत के तुल्य रसों का आस्वादन होने लगे तव अनेक रोगों का क्षय, वृद्धत्व नाश, शस्त्र प्रहारकाल में रक्षा, अणिमा आदि अष्ट ऐश्वर्य लाभ, सिद्धों का साक्षात्कार ये लाभ होने लगते हैं ॥ ५० ॥

रसना को कपालगत छिद्र में संस्थापित करके विपरीतकरणी मुद्रा में (सर्वाङ्गासन में) स्थित होकर प्राणायामादि साधन पूर्वक सोलह कमल पत्र वाले विशुद्ध चक्र में प्रतीत विमल मूर्धन्य सोमरस को ब्रह्मशक्ति का चिन्तन करता हुआ जो योगी पान करेगा वह कमल डण्ठलवत् कोमलकाय होकर स्वास्थ्य सहित दीर्घायु होगा ॥ ५१ ॥

मेरुवत् उच्च सुषुम्ना नाडी से प्राण गति होने पर खेचरी मुद्रा से जव ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु के साथ वीर्य ऊर्ध्व गमन करने लगता है। तव सुषुम्ना मार्ग से गयी प्राणवायु तथा वीर्य की स्थिति ब्रह्मरन्ध्र में होने लगती है। प्राणवायु और वीर्य के ब्रह्मरन्ध्र में

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्थित होने पर चित्त भी स्वतः वही एकाग्र हो जाता है। क्योंकि प्राणवायु चित्त और शुक्र का जहाँ ऐक्य होगा वहीं पर प्रभु चिन्तन तथा आत्म-चिन्तन होगा। तभी दीर्घायुष्य लाभ भी होता है। यही मार्ग है मृत्यु बन्धन से निर्मुक्त होने के लिय चित्त, प्राणवायु और वीर्य की एकता द्वारा ही कालपाश को काटा जा सकता है अन्यथा कोई मार्ग मृत्यु से छूटने का नहीं है।

वस्तुतः मुद्राओं के अभ्यास से चित्त की विक्षिप्तता का विनाश होता है। मृत्यु का भय तो परवैराग्य से उत्पन्न असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा ही समाप्त हो सकता है। आत्मा और चित्त को जब तक विवेक से अलग अलग अनुभव न कर लिया जाये तब तक मृत्यु बन्धन इन खेचरी आदि साधनों से नहीं कट सकता है। यहाँ ग्रन्थकार अर्थवाद को लेकर खेचरी मुद्रा के लाभ बताने में अतिशय कर गये हैं। इसका तात्पर्य साधकों में उत्सुकता उत्पन्न करना है ॥ ५२ ॥

खेचरी मुद्रा से कपालगत छिद्र का अवरोध होकर इडा आदि पञ्च नाडियों से युक्त स्रोत का बहाव मूर्धाभिमुख होने से तत्त्व प्राप्ति में सहायता होती है ॥ ५३ ॥

जिस प्रकार से सृष्टिरूप कार्य का कारण मूल प्रकृति, तथा देवों में परमात्मा देव है एवं प्रत्याहारात्मक अवस्थाओं में मनोन्मनी अवस्था श्रेष्ठ है उसी प्रकार सम्पूर्ण मुद्राओं में खेचरी मुद्रा उत्तम है ॥५४॥

उड्डीयानबन्धः (५)

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ५७ ॥
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं यदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

अब उड्डीयानबन्ध के विषय में कहा जाता है क्योंकि इस बन्धसे प्राणवायु सुषुम्ना नाडी मार्ग से प्रविष्ट होकर ब्रह्मरन्ध्र की ओर उड़ने लगती है, अत एव योगियों ने इस

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वन्ध का नाम उड्डीयानवन्ध रख दिया। प्राण रूप पक्षी जिस वन्ध द्वारा निरन्तर सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्ररूप आकाश की ओर उड़ने लगते हैं, उस अन्वर्थक उड्डीयान-वन्ध का स्वरूप आगे कहा जाता है ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

रेचक करके नाभिस्थल के ऊपर तथा नीचे के भाग को इस प्रकार से खींचे जिससे नाभि का ऊपरवाला भाग, तथा नाभि का नीचे वाला भाग ऊपर अंदर की ओर आकर्षित होकर पृष्ठ भागस्थ मेरुदण्ड से अच्छी प्रकार संलग्न करे। यह बन्ध उड्डीयान संज्ञक है। इसका अभ्यास रेचक करके (प्राण वायु को नासिका पुटों से वाहर निकाल कर) किया जाता है। विना उदरस्थ वायु के वाहर निकले यह बन्ध नहीं लगेगा। क्योंकि इसके अभ्यास द्वारा वीर्य का ऊर्ध्वगमन होने लगता है अतः यह मृत्यु वन्धन को शीघ्र ही नहीं आने देता। वृद्ध पुरुष भी यदि गुरूपदिष्ट मार्ग से युक्ताहार विहार पूर्वक इस उड्डीयानवन्ध का निरन्तर सेवन करेगा तो वह भी तरुण के समान हो जायेगा। अर्थात् वृद्धावस्था की झुर्रियाँ, शारीरिक निर्वलता आदि लक्षण इस वन्ध के अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं। उपर्युक्त प्रकार से नाभि के ऊपरी भाग को तथा निम्नभाग को रेचक करके, ऊपर की ओर आकर्षण करते हुए पृष्ठभागस्थ मेरुदण्ड से संलग्न करता है वह निश्चित ही छः मास के अभ्यास द्वारा मृत्यु लक्षणों का नाशक है ॥ ५७-५९ ॥

वीर्यपतन, मन्दाग्नि, उदर विकार आदि दोषों से निर्मुक्त कराने वाला यह उड्डीयान वन्ध सम्पूर्ण वन्धों में प्रधान है। अतः योगानुष्ठान में सहायक वीर्य सुरक्षा आदि उत्तम गुणों को प्राप्त करने के लिए इसका अभ्यास उचित है ॥ ६० ॥

मूलबन्धः (६)

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥ ६२ ॥
गुदं पार्ष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात्।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ ६४ ॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ६५ ॥
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥ ६६ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ततो यातो वह्नयपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ।। ६७ ।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ।। ६८ ।।
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्त्तव्यो योगिभिः सदा ।। ६९ ।।

यहाँ पर मूलवन्ध को वताते हैं—दोनों पादों की किसी भी एड़ी को गुदेन्द्रिय और लिङ्गेन्द्रिय के मध्य भाग सीवनी में संस्थापित करके गुदा से अपान वायु को ऊपर की ओर सङ्कोच करे । ऊपर को उठावे । यह क्रिया मूलवन्ध नाम से कही जाती है ।।६१।।

मूलाधार में स्थित अपान वायु को गुदा के संकोच से मानसिक वल लगाकर ऊपर की ओर उठाया जाता है । गुदा के सङ्कोच से अपान वायु सुषुम्नानाडी द्वारा ब्रह्मरन्ध्र की ओर उठने लगती है । क्योंकि इस वन्ध के अभ्यास से लिङ्गेन्द्रिय और गुदेन्द्रिय मूलस्थान वन्ध जाते है अतः इसका अन्वर्थक नाम मूलवन्ध है ।। ६२ ।।

प्रकारान्तर से पुनः मूलवन्ध को स्पष्ट करते हैं—किसी एक चरण की एड़ी को गुदा और उपस्थ भाग के मध्य में उत्तम प्रकार से सुस्थित करके पुनः पुनः वल पूर्वक अपान वायु को ऐंसे ढंग से ऊपर की ओर उठावे जिससे वह वायु सुपुम्ना द्वारा ऊर्ध्व-गामी होवे ।। ६३ ।।

मूलबन्ध के लाभः—मूलवन्ध के युक्ताभ्यास से प्राण और अपान की एकता हो जाती है । प्राण और अपान की एकता द्वारा नाद स्फुटन तथा वीर्य का ऊर्ध्वगमन होता है । जो योगसिद्धि में उपकारक है ।। ६४ ।। और

अपान और प्राण की एकता होती है तथा शरीर में बढ़े हुए मल और मूत्र की अल्पता होकर वृद्धावस्था की झुर्रियाँ निर्वलता आदि लक्षण क्षीण हो जाते हैं ।। ६५ ।।

मूलवन्ध के अभ्यास से जव अपान वायु ऊर्ध्वगमन करने लगती है तव प्राण वायु के साथ अपान वायु का घर्पण होने से उदर में जठराग्नि उद्दीप्त होती है । जो मन्दाग्नि तथा अन्य उदरगत विकारों को भस्मसात् कर देती हैं । अपान और प्राण के घर्पण द्वारा जो विद्युत् जठराग्नि रूप से उत्पन्न होती है, वह शरीर की निस्तेजस्ता को क्रान्ति में परिवर्त्तित कर देती है ।। ६६–६७ ।।

और उस प्राण और अपान के घर्षण से उत्पन्न अग्नि प्रभाव द्वारा कुण्डली शक्ति सुषुम्नाद्वार को त्याग कर जाग जाती है । जिस प्रकार से दण्डताडिता सर्पिणी मरणान्त में सरल हो जाती है उसी प्रकार से सुषुम्नाद्वार पर सुप्ता कुण्डली शक्ति उस अग्नि से सीधी हो जाती है ।। ६८ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तदनन्तर विल में प्रविष्ट सर्पिणीवत् कुण्डली शक्ति सुषुम्ना नाडी में प्रविष्ट हो जाती है। क्योंकि मूलवन्ध के अभ्यास से कुण्डली शक्ति जागरित होती है, अतः योगियों को मूलवन्धका अभ्यास हर समय करना योग्य है ॥ ६९ ॥

जालन्धरवन्धः (७)

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
वन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥
वध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ।
हतो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥
जालन्धरे कृते वन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥
कण्ठसङ्कोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥ ७३ ॥
मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत् ।
इडां च पिङ्गलां वध्वा वाहयेत् पश्चिमे पथि ॥ ७४ ॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥
वन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥

यहाँ से जालन्धर वन्ध को बताते हैं—हृदय से ऊपर चार अङ्गुल अन्तर पर ठोडी को संस्थापित करे तथा कण्ठ को सङ्कुचित करके ठोडी को नमन पूर्वक ऐसे ढंग से रखे जिससे हृदय समीप छाती और हनु में चार अङ्गुल का अन्तर रहे। यह जालन्धर वन्ध कहलाता है। इसके अभ्यास से वृद्धावस्था एवं मृत्यु का आक्रमण शीघ्र नहीं होता ॥ ७० ॥

क्योंकि इसके अभ्यास से नाडी समूह रूप जाल का एवं नीचे गमन करनेवाले कपाल छिद्ररूप नभ से निकलने वाले जल का वाध हो जाता है, अतः इस वन्ध का अन्वर्थक नाम जालन्धर वन्ध है। यह वन्ध कण्ठ सम्बन्धित रोगों का क्षय करता है ॥ ७१ ॥

जालन्धर बन्ध के लाभ—कण्ठसङ्कोच स्वरूप, जालन्धर बन्ध के करने पर तालु से वहने वाला अमृत तुल्य रज जठराग्नि में नहीं गिरता तथा वातकुपित दोष भी नहीं होते ॥ ७२ ॥

दृढ़ता से कण्ठ के सङ्कोच द्वारा ही इडा और पिङ्गला नाडियों को यह वन्ध रोकता है। इस वन्ध से इडा और पिङ्गलारूप नाडियों में वायु सञ्चार बन्द हो जाता है। यह

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कण्ठस्थ मध्यचक्र = (विशुद्धचक्र को यहाँ मध्यचक्र कहा है। इसे सोलह पंखड़ी वाले कमलवत् (तान्त्रिक ग्रन्थों में) माना जाता है। तथा प्रत्येक पंखड़ी पर एक एक अक्षर भी माना गया है। इस वन्ध से षोडश पंखड़ी आधार वाला जो विशुद्ध चक्र है वह अवरुद्ध हो जाता है॥ ७३॥

मध्य चक्र के १६ आधार—१. अंगुष्ठ, २. गुल्फ, ३. जाल ४. ऊरु ५. सीवनी ६. लिंग ७. नाभि ८. हृदय ९. ग्रीवा १०. कण्ठदेश ११. लंबिका १२. नासिका १३. भ्रूमध्य १४. मस्तक १५. मूर्द्धा १६. ब्रह्मरंध्र। अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीविनी लिंगनाभयः। हृद्ग्रीवा कंठदेशश्च लंविकानासिका तथा। भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकम्। एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः।

मूत्रेन्द्रिय तथा गुदेन्द्रिय को ऊपर की ओर सङ्कोच करके मूलवन्ध नाभिमण्डल को पृष्ठभागस्थ मेरुदण्ड से लगा कर उड्डीयान वन्ध एवं कण्ठसंकोच करते हुए हनु को हृदय समीप वक्षःस्थल पर संस्थापित करके इडा और पिङ्गला को बाँधने से जालन्धर वन्ध को नित्य करके प्राणवायु को सुषुम्ना मार्ग द्वारा पश्चिम मार्ग से चलावे॥ ७४॥

इन तीनों वन्धों का युक्ति पूर्वक अभ्यास करने से प्राणवायु की गति सुषुम्ना मार्ग से होने लगती है और नित्य प्रति के अभ्यास बढाने पर ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु स्थित होकर चित्त की एकाग्रता बढ़ती है। चित्त एकाग्र होने पर वृद्धावस्था के कम्पन, झुर्रियाँ आदि लक्षण नष्ट होकर दीर्घायुष्य लाभ होता है। उपर्युक्त तीनों वन्धों का सेवन गुणप्रद होने से अनेक उत्तम सिद्धों ने किया है। उत्तम अनुभवी योगियों का कथन है कि ये तीन वन्ध सम्पूर्ण योगाङ्गों में उपकारक हैं॥ ७५–७६॥

विपरीतकरणी मुद्रा (८)

यत्किञ्चित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः॥ ७७॥
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः॥ ७८॥
ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥ ७९॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च॥ ८०॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्।
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने॥ ८१॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ।। ८२ ।

वज्रोलीमुद्रा (९)

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ।। ८३ ।।
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्त्तिनी ।। ८४ ।।
मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ।। ८५ ।।

अब विपरीतकरणी मुद्रा को कहा जाता है—उत्तमरूप अमररस चन्द्र सदृश आह्लादक वीर्यसंजात, मूर्धन्य, सोमरस साधारण अवस्था में नीचे को गिरता रहता है। जिसे नाभि में विद्यमान अग्निरूप सूर्य ही ग्रसता रहता है, इसलिए शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त करता है। जिस मुद्रा के अभ्यास से वह मूर्धन्य रस नीचे न गिरे वह विपरीतकरणी मुद्रा है। उस उत्तम रस को सूर्य से सुरक्षित रखने के लिए गुरु द्वारा मार्ग प्राप्त करके उत्तम साधन विपरीतकरणी मुद्रा को जाने ।। ७७–७८ ।।

इस मुद्रा को केवल पुस्तकों में अवलोकन मात्र से न करके योग्य गुरु के उपदेश को पाकर ही करें। जिस प्रकार से सर्वाङ्गासन में ग्रीवा और दोनों कन्धों पर समस्त शरीर का भार तुला रहता है, उसी प्रकार से शरीर के भार को ग्रीवा और दोनों कन्धों पर तोल कर नाभि से पाद पर्यन्त शरीर को ऊपर की ओर उठावे। ऐसी अवस्था में होने पर तालु में स्थित चन्द्र नीचे हो जाता है तथा नाभिस्थित अग्निरूप सूर्य ऊपर की ओर हो जाता है ! इसे विपरीतकरणी मुद्रा कहते ।। ७९ ।।

इस विपरीतकरणी मुद्राभ्यास से जठराग्नि की वृद्धि होती है; इसलिए इसके अभ्यासी का पर्याप्त आहार का प्रबन्ध होना योग्य है। क्योंकि यदि विपरीकरणी मुद्रा के अभ्यासी का अल्पाहार हुआ तो जठराग्नि शीघ्र ही रस, रक्त, आदि धातुओं को जला देगी। अतएव अभ्यासी आहार की मात्रा सुपर्याप्त करे। और अभ्यास शनैः शनैः अल्प मात्रा में बढ़ावे। प्रथम दिन केवल क्षणभर ही इसका अभ्यास कर एक क्षण से कुछ अधिक मात्रा में बढ़ाता रहे। जो अभ्यासी इस मुद्रा को प्रतिदिन एक प्रहर तक करेगा वह मृत्यु के बन्धन को काट सकता है। अपने आप ही स्वशरीर को त्यागने में सामर्थ्य पा सकता है। क्रम से प्रतिदिन १५ मिनट के अभ्यास से छः मास के पश्चात् झुर्रियाँ तथा केशों की श्वेतता नष्ट हो जाती है ।। ८०–८२ ।।

मूलबंध द्वारा लिंग इंद्रिय को अंदर से ऊपर खेंचेः वह पुरुष वा स्त्री वज्रोली सिद्धि प्राप्त करेगा ।। ८५ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यत्नतःशस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥
नारी भगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥
एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ८८ ॥
सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्।
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे तावत् कालभयं कुतः ॥ ८९ ॥
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

कैथीटार द्वारा वायु का संचार अंदर फूत्कार गुरूपदेश अनुसार करे ॥ ८६ ॥

उपर्युक्त दश मुद्राओं में वज्रोली मुद्रा का नवम स्थान है। यह मुद्रा वीर्य को ऊपर आकर्षणार्थ की जाती है। यहाँ पर ग्रन्थकार ने जो भोग को योग के साथ दिखाया है यह ठीक नहीं ग्रन्थकार का व्यामोह है। भोग और योग ये दोनों शब्द सर्वथा परस्पर विरोधार्थक हैं। क्योकि योग में भोग और भोग में योग बाधक है। "ब्रह्मचर्य रक्षा विना योग की सिद्धि तीनों कालों में असम्भव है" पतञ्जलि आदि महर्षियों ने जो योग में यम और नियम को योग की आधार शिला माना है, वही मार्ग श्रेयस्कर है। हम यहाँ वज्रोली, अमरोली तथा सहजोलि इन तीनों विषयों को योग में प्रतिवन्धक मान श्लोकार्थ भाषा में नहीं दिखा रहे हैं।

वीर्य सुरक्षा करने में तीन बन्ध ही उपकारक हो सकते हैं। देखो भूमिका।

अपना चला हुआ बिंदु ऊपर खेंच के उसकी रक्षा करे।

क्योंकि वीर्य की सुरक्षा से जीवन तथा विनाश से मृत्यु होती है, अतः योगी मृत्युञ्जय के उत्कृष्ट साधन वीर्यसुरक्षा में सदा प्रयास करता रहे। वीर्य सुरक्षा से योगी का शरीर सुगन्धमय हो जाता है। जब तक ब्रह्मचर्य के सुपरिपालन से शरीर में वीर्य सुरक्षित रहता है तब तक असामयिक मृत्यु नहीं होती, दीर्घायुष्य प्राप्त होता है।

क्योंकि मनुष्यों के चित्त की पवित्रता से वीर्य रक्षा तथा वीर्य की सुरक्षा से चित्त स्वच्छ बनता है, अतः योगाभ्यासी को महान् प्रयत्न से मन तथा वीर्य की सुरक्षा करनी चाहिये ॥ ८७-९० ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदु च रक्षयेत्।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥
सहजोलिश्चामरोलिवज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३ ॥
सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगभुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ९४ ॥
अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥ ९५ ॥

अथ अमरोली

पितोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा ।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ॥९६॥
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥
अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥
पुंसो बिन्दुं समाकुंञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ ९९ ॥
तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥ १०० ॥
स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ १०१ ॥
रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ १०२ ॥
देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ १०३ ॥

शक्तिचालनमुद्रा (१०)

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ १०४ ॥
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ १०५ ॥
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६ ॥
कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ १०७ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्त्तिता ।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०८ ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०९ ॥
इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥ ११० ॥
पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥१११ ॥
अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात् परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥११२॥
ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ॥ ११३ ॥
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ११४ ॥
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५ ॥
भानोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत् ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ११६ ॥
मुहूर्त्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित् सुषुम्नायां समुद्गता ॥ ११७ ॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥ ११८ ॥
तस्मात् सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९ ॥
येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२० ॥
ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः ॥ १२१ ॥
कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२ ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥ १२३ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri
LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ।। १२४ ।।
अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ।। १२५ ।।
राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ।। १२६ ।।
मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्त्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ।। १२७ ।।
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ।। १२८ ।।
उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम् ।
स एव श्री गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ।। १२९ ।।
तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादि गुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम् ।। १३० ।।

इति श्री स्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां
मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ।। ३ ।।

१. अब शक्तिचालन मुद्रा को कहा जाता है। शक्तिचालन मुद्रा के द्वारा जिस कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है उस कुण्डली के पर्याय वाचक शब्दों को बताते हैं। कुटिलाङ्गी[1], कुण्डलिनी[2], भुजङ्गी[3], शक्ति[4], ईश्वरी[5], कुण्डली और अरुन्धती ये सात शब्द पर्याय वाचक हैं ।। १०४ ।।

२. जिस प्रकार से मनुष्य कपाट के अवरोधक ताले को ताली से खोलता है, उसी प्रकार से मोक्ष द्वार के प्रतिबन्धक सुषुम्ना मार्ग को योगी कुण्डली से उद्घाटित करता है ।। १०५ ।।

३. जिस उत्तम सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मनिष्ठ योगी श्रेष्ठ तत्त्व ब्रह्म के अधिकारी होते हैं, उस सुषुम्ना द्वार को कुण्डलिनी अपना शयनागार बनाये हुए है। सुषुम्ना नाडी के द्वार पर ३½ बल वाली कुण्डलिनी सोई पड़ी है, उस मार्ग को आगे कहे शक्तिचालन मुद्रा साधन से निर्विघ्न करे ।। १०६ ।।

४. नाभि के नीचे और लिङ्गेन्द्रिय के ऊपर कन्द का स्थान माना जाता है। उस स्थान पर कुण्डली सुषुम्ना द्वार को अवरुद्ध करके सोई हुई हैं जो विवेकी योगी सुषुम्ना द्वार में सुप्त कुण्डली को जगा लेता है, वह मुक्ति भाजन हो जाता है। अविवेकी उसके अज्ञान से बन्धन को काटने में अशक्त रहता है। इस कुण्डलिनी को जो जानता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है वह योग में अधिकारी समझा जाता है जो इसको जानता और करता है वह योग-वित् है ।। १०७ ।।

५. उस कुण्डली की आकृति अनुभवियों ने सर्प की आकृति के समान कही है। जिस साधक ने इस कुण्डलिनी को जागरित कर लिया है वह निश्चित मोक्षाधिकारी हो जाता है ।। १०८ ।।

६. इडा और पिङ्गला नाडियों के मध्य में सुषुम्ना द्वार को रोक कर कुण्डलिनी शक्ति सोई पड़ी है। प्रयत्न द्वारा जो अभ्यासी उसे जगा लेता है, वह सर्व व्यापक स्वरूप परमात्मा को पा सकता है ।। १०८ ।।

७. (यहाँ गङ्गा शब्द से इडा नाडी तथा यमुना शब्द से पिङ्गला नाडी का ग्रहण होता है)। इन इडा और पिङ्गला नामक नाड़ियों के मध्य में कुण्डली शक्ति है। उसे वालरण्डा भी कहते हैं ।। ११० ।।

८. उस योगोपयोगिनी कुण्डली की पुच्छ को ग्रहण करके निद्रा से जगावे। जब शक्ति चालन मुद्रा आदि के अभ्यास द्वारा सुप्त कुण्डली निद्रा त्याग देती है। तब वह सुषुम्ना के मार्ग द्वारा ऊपर उठने लगती है ।। १११ ।।

९. उस सर्पाकार कन्दस्थ कुण्डली को प्रातः सूर्योदय होने पर तथा सायं सूर्यास्त होने पर नित्य लगभग १।। डेढ घण्टा परिधान युक्ति करके चलावे ।। ११२ ।।

१०. मूलेन्द्रिय और नाभि के मध्य में चार अङ्गुल परिमाण में कोमल, श्वेत लपेटे हुए वस्त्र के तुल्य कन्दस्थान को कहा जाता है ।। ११३ ।।

११. वज्रासन स्थित होकर गुल्फ = टखनों के समीपस्थ चरणों को एक एक हाथ से उत्तम प्रकार पकड़े, तत्पश्चात् दोनों हाथों से दोनों चरणों को कुछ उठाकर कन्द-स्थान को ताडित करे = दबावे ।। ११४ ।।

१२. वज्रासन में सावधानता से स्थित होकर पूर्व प्रकार से कन्दस्थान को पैरों से चलावे। तदनन्तर उसी आसन में भस्त्रा कुम्भक प्राणायाम करके, कुण्डलिनी शक्ति को शीघ्र जगावे। इस प्रकार से कन्दस्थान का ताड़न करके भस्त्रा कुम्भक प्राणायाम के करने से कुण्डली शीघ्र ही जागरित होती है ।। ११५ ।।

१३. तदुपरान्त नाभिमण्डल का आकुञ्चन करके कुण्डली को चलावे। ऐसे पुनः पुनः करने पर अभ्यासी का कालभय भी निवृत्त हो जाता है ।। ११६ ।।

१४. इस प्रकार से दो मुहूर्त्त (४ घड़ी) पर्यन्त निर्भय होकर शक्तिचालन मुद्रा द्वारा अभ्यास करने पर कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना नाडी में प्रविष्ट होकर कुछ ऊर्ध्व भाग में चली जाती है ।। ११७ ।।

१५. जब कुण्डली उपर्युक्त अभ्यास द्वारा सुषुम्ना नाडी में प्रविष्ट हो जाती है तब सुषुम्ना मार्ग के अवरोधक के हट जाने पर स्वतः प्राणवायु सुषुम्ना नाडी में गमनागमन करने लगती है ।। ११८ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इससे सुख से सोई शक्ति को नित्य चलाना चाहिए ।

१६. क्योंकि शक्तिचालन मुद्रा द्वारा कुण्डली जाग जाती है अतः कुण्डलिनी को जगाने के लिए पूर्वोक्त साधनों का अभ्यास श्रद्धा और उत्साह से नित्य करे । शक्ति-चालन मुद्रा के अभ्यास से कास श्वास जरा आदि रोग पलायित हो जाते हैं ।। ११९ ।।

१७. अपने नित्य अभ्यास द्वारा जिस साधक ने इस कुण्डलिनी शक्ति को प्रबुद्ध कर लिया है वह योगी उत्तम विद्या राजयोग को सिद्ध कर सकता है । अभिनिवेश क्लेश (मृत्यु के भय को) पार कर लेता है ।। १२० ।।

१८. ब्रह्मचर्य परायण, युक्ताहार-विहार योगी को शक्तिचालन के अभ्यास से चालिस दिन के पश्चात् सिद्धि मिल जाती है ।। १२१ ।।

१९. कुण्डली को चला कर विशेष रूप से भस्त्रा कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करने पर शीघ्र ही योगी अपने शरीर त्याग में स्वाधीन हो जाता है ।। १२२ ।।

२०. बहत्तर सहस्र नाड़ियों के मल शोधन में शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास अत्यन्त उपकारक है । अतः इसका अभ्यास अवश्यमेव करे ।। १२३ ।।

२१. सिद्धासन आदि आसनों तथा नाडी शोधन भस्त्रिका आदि प्राणायामों एवं महामुद्रा आदि मुद्राओं को दृढ़ता से अभ्यास करने पर योगियों की सुषुम्ना नाडी प्राण-वायु को गमनागमन करने में, योग्य हो जाती है ।। १२४ ।।

२२. समाहितचित्त होकर ध्यानादि साधना में आलस्यहीन श्रद्धालु योगाभ्यासी शीघ्र ही मनोन्मनी अथवा शाम्भवी अवस्था को उपलब्ध कर लेता है । जो आगे श्रेष्ठ विद्या राजयोग में उपकारक हैं ।। १२५ ।।

२३. जिस प्रकार उत्तम शस्य शालिनी पृथिवी श्रेष्ठ राजा के विना तथा मङ्गल शनि आदि अनेक नक्षत्रवती रात्रि चन्द्रमा, के विना सुशोभित नहीं होती उसी प्रकार से ये उपर्युक्त और मुद्रायें अनेक रोगों में विचित्र लाभकारिणी होने पर भी राजयोग के विना सुशोभित नहीं होती हैं ।। १२६ ।।

२४. प्राणायाम आदि सम्पूर्ण विधि को समाहित चित्त होकर ही करना हितकर है । बुद्धिमान् योगी का परम कर्तव्य है कि वह अभ्यास काल में मनोवृत्ति को अन्यत्र न ले जावें ।। १२७ ।।

२५. इस प्रकार से भगवान् आदिनाथ द्वारा प्रोक्त दश मुद्राएँ कही जा चुकी हैं । इन उपर्युक्त दश मुद्राओं में प्रत्येक मुद्रा योगसिद्धि को देने में समर्थ है ।। १२८ ।।

३६. जो सज्जन पुरुष, परम्परा से समागत मुद्राओं का योग्य जितेन्द्रिय तत्परायण अधिकारी को उपदेश दे वही ऐश्वर्य सम्पन्न गुरुपदवाच्य है ।। १२९ ।।

२७. जो अभ्यासी, सत्यवादी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, गुरु के कथनानुसार श्रद्धालु होकर मुद्रा आदि में समाहित होगा वह अणिमादि ऐश्वर्य के साथ स्वशरीर त्याग में स्वाधीनता लाभ करेगा ।। १३० ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कुण्डलिनी-जागरण के सोपान—

साधना-जगत् में कुण्डलिनी-जागरण के लिये निम्नलिखित सोपान स्वीकार किये गये हैं :—

१. शोधन (षट्कर्म)
२. प्राणायाम और उसके भेदों का अभ्यास।
३. मुद्रा
४. षट्चक्रों की भावनायें—
(क) भस्त्रिका प्राणायाम के दोनों प्रकार—५ से २५ प्राणायाम
(ख) शक्ति चालिनी मुद्रा के दोनों प्रकार—५ से १० प्राणायाम
(ग) ताड़न मुद्रा—४ प्राणायाम में १०१ संख्या (बार)
(घ) परिधान युक्तिचालन—४ प्राणायाम में १०१ संख्या (बार)
(ङ) शेष समय में षट्चक्र-भेदन की मानसिक क्रियायें या संयम
(च) महामुद्रा
(छ) महाबन्ध
(ज) महाबेध उभय प्रकार
(झ) विपरीतकरणी मुद्रा
(ञ) शेष समय में षट्चक्र-भेदन की क्रिया

षट्चक्र-भेदन क्रिया के अन्तर्गत प्रत्येक चक्र के स्थान दल, उनके वर्ण, अक्षर, मन्त्र, तत्त्व, अधिष्ठान, देव-शक्ति, उनके वाहन, बीज मंत्र, लोक, गुण, इन्द्रिय आदि का ध्यान करना चाहिये।

यह अभ्यास नियमित होना चाहिये। साधना में पहले तो शरीर से स्वेद निकलेगा किन्तु बाद में विद्युत् के समान शरीर में चमक उत्पन्न होगी। कुछ दिन के बाद चींटी के चलने के समान प्राण-शक्ति-गमन की अनुभूति होगी। तभी धीरे-धीरे मूलाधार का भेदन और कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन का अनुभव होगा।

शक्ति का जागरण :—

सन्त ज्ञानेश्वर के अनुसार वज्रासन में मूलबन्ध करके (अर्थात् दाहिने पैर की एड़ी से गुदा और शिश्न के बीच चार अङ्गुल की जगह में १½"—१½" ऊपर नीचे छोड़कर बचे हुये ? इंच के स्थान को दबाकर तथा पूरक के साथ-साथ मूलबन्ध करके) पीठ के नीचे के हिस्से को थोड़ा ऊपर की ओर खींचे। यह कार्य सहज भाव से होना चाहिये। इसके बाद जालन्धर तथा उड्डीयानबन्ध लगाना चाहिये। ऐसा करने से अपान वायु ऊपर की ओर उठकर विशालता को प्राप्त

कर रोगों का विनाश करती हैं तथा पृथ्वी और जल के अंश का संयम करती है। वज्रासन की उष्णता कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करती है।

(ज्ञानेश्वरी, अध्याय ६/१९२-२२१ का हिन्दी अनुवाद, पृ० १३४/३६)

सन्त ज्ञानेश्वर कुण्डलिनी-जागरण का प्रतीकात्मक वर्णन करते हुये कहते हैं कि जब कुण्डलिनी जागृत होती है, उस समय वह ऊपर की ओर मुँह फैलाकर बड़े वेग से झटका देती है। लगता है कि बहुत भूखी है तथा कुछ खाने के लिये अधीर हो गई है। इस स्थिति में यह क्षिति और अप् के भाग को चट कर जाती है, यद्यपि अभी वह अपने स्थान से हटती नहीं। अर्थात् वह हथेलियों और पाँव के तालुओं को शोधकर उनका रक्त मांसादि खाकर ऊपर के चक्रों को भेदती है। प्रत्येक अङ्ग के जोड़ तथा नखों के सत्त्व को भी निकाल लेती है। त्वक् के मल को धो-पोछकर स्वच्छ करके उसे अस्थिपंजर से सटाये रहती है। पृथिवी और जल को आत्मसात् करने पर तृप्त होकर सुषुम्णा के समीप शान्त भाव में पड़ी रहती है। इस समय उसके मुंह से निकले हुये (गरल रूप) अमृत का पान कर प्राणवायु जीवित रहता है। यह अमृत उसके मुंह में तब गिरता है जब वह जागती है, जागकर मुंह फैलती है तब ऊपर का चन्द्रामृत सरोवर उलट जाता है। इस समय वह अमृत-रस सर्वाङ्ग में भर जाता है और योगी दिव्य शान्ति को प्राप्त करता है।

कुण्डलिनी जागृत होने पर साधक की पपड़ी सी सूखी त्वचा भूसी की तरह निकल जाती है और साधक की देह-कान्ति केसर के रंग या रत्न रूप बीच की कोपल, सान्ध्यनभलाली, आत्म-चैतन्य-तेज, कनक चम्पा की कला, अमृत के पुतले, कोमलता की बहार, शारदीय पूर्णिमा की आर्द्रता में चन्द्र-बिम्ब की शोभा के समान हो जाती है। यहाँ पर उसे लघिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा क्षिति और जल-तत्त्व के अंशों के विलय के कारण शरीर वायु जैसी हल्की हो जाती है। इस समय साधक को समुद्र पार की वस्तु को देखने, स्वर्ग में होने वाले विचारों के सुनने, चींटी के भी मन की बात जान लेने, पैरों को बिना आर्द्र किये जल के ऊपर चलने जैसी अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इसके बाद जागृत कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी होकर तेज का लय करती है। इस समय देह वायु का रूप बन जाती है। इस समय मनोनिग्रह, प्राण वायु का निरोध तथा ध्यान करने की इच्छा समाप्त हो जाती है। इस समय साधक खेचर की स्थिति में होता है। वह संसार की आँखों से छिप सकता है। इस अवस्था से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इसके बाद वायु तत्व भी ऊपर की ओर आकाश तत्त्व में जाकर विलीन हो जाता है। इस समय कुण्डलिनी का नाम "मारुत" होता है किन्तु शिव के

साथ मिलने के पूर्व तक उसमें शक्तिमत्व रहता ही है। तत्पश्चात् आकाश का आकाश में मिलन होता है। यह "अनिर्वाच्य महासुखै" की अवस्था है। यहाँ पर शब्द और मन की सीमा समाप्त हो जाती है। कुण्डलिनी के जागृत होने पर जीव आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।[1]

इस प्रक्रिया के लिये अश्विनी मुद्रा का अभ्यास आवश्यक है। जिसके द्वारा प्राण वायु और अपान वायु को क्रमशः पूरक तथा सङ्कोचन-शिथिलीकरण क्रिया का अभ्यास करके शोधन लक्ष्य को सम्पन्न किया जाता है।

यहाँ पर "शक्ति चालन" की भी अपरिहार्यता होती है। इस मुद्रा के द्वारा पेडू को दाहिने से बायें और बायें से दाहिनी ओर चक्राकार रूप में घुमाया जाता है। योनिमुद्रा के साथ ही शक्ति-सञ्चालन मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। अश्विनी मुद्रा के क्षरा-कन्द स्थान का तब तक सङ्कोचन करते रहना चाहिये जब तक कि प्रायः वायु का सुषुम्णा में प्रवेश न हो जाय! "हंसः" मन्त्र के द्वारा जागृत कुण्डलिनी "कुम्भक" के द्वारा ऊर्ध्वमुखी होती है। उस समय तक साधक शक्ति और शिव के साथ ऐक्य की अनुभूति करते हुये मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अनुभव करने लगता है।

महाबन्ध के साथ महामुद्रा तथा महाबेध का अभ्यास करना चाहिये। जब कुण्डलिनी जागृत होती है उस समय सुषुम्णा में प्राण का प्रवेश होता है तथा इड़ा और पिङ्गला नाड़ियाँ निर्जीव हो जाती हैं। महाबन्ध आसन की अवस्था में स्थित होकर साधक महाबेध के अभ्यास के समय प्राण-वायु को ऊपर की ओर तथा नीचे की ओर करता रहता है। योगी महाबन्ध की अवस्था में हथेलियों को जमीन पर रखकर अपने चूतड़ से पृथिवी पर थपथपाता है, इस समय प्राण वायु का सुषुम्णा में प्रवेश होने पर इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णा एक साथ हो जाती हैं। उस समय शरीर मृततुल्य हो जाता है।[2]

कुण्डलिनी-जागरण की एक दूसरी प्रक्रिया यह भी है कि योगी वज्रासन साधकर नली (पैर के नीचे वाली गाँठ) के थोड़ा ऊपर होकर कन्द-स्थान को थपथपाये और भस्त्रिका कुम्भक करके पेडू का संकोचन करें।[3]

खेचरी मुद्रा वह मुद्रा है जिसके द्वारा जिह्वा को भ्रूमध्य तक लम्बा करके नासारन्ध्रमूल को भीतर से उलटी होकर अवरुद्ध करती है। इस समय मन की

---

१. ज्ञानेश्वरी, ६/२५३-३२७ का हिन्दी अनुवाद, पृ० १३८-१४३।
२. द सरपेन्ट पावर, पृ० २०६।
३. घेरण्डसंहिता, ३/११४।

एकाग्रता का अभ्यास आज्ञा चक्र में तब तक चलता रहता है जब तक ऊर्ध्व-कुण्डलिनी पथ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर विजय प्राप्त कर सिद्धि नहीं प्रदान करता। सम्प्रति योगी आत्मा से अभिन्न हो जाता है। शाम्भवी मुद्रा मन के द्वारा मन को सदा वृत्तियों से मुक्त रखना चाहिये।

इस प्रसङ्ग में तीनों बन्ध भी आवश्यक है—पूरक के प्रारम्भ में मूलबन्ध, पूरक के अन्त और कुम्भक के प्रारम्भ के साथ जालन्धर-बन्ध तथा कुम्भक के अन्त में और रेचक के प्रारम्भ के साथ उड्डीयानबन्ध का अभ्यास करना चाहिये। मूलबन्ध के द्वारा प्राण और अपान वायु का मिलन होता है, और वायु सुषुम्णा में प्रवेश करती है। तभी अनहद नाद का श्रवण होता है तथा प्राण और अपान वायु अनाहतचक्र के नाद के साथ मिलकर हृदय में प्रवेश करती है और इसके बाद आज्ञा-चक्र में बिन्दु के साथ मिल जाती है।[1]

मूलबन्ध में योनि-स्थान को पैर की एड़ी से दबाया जाता है तथा अश्विनी-मुद्रा के द्वारा अपान वायु को ऊपर खींचा जाता है। ऐसा करने से अपान वायु सुषुम्णा से ऊर्ध्वमुखी होकर प्राणवायु से मिलती है। इस समय नाभि का अधोभाग वह्नि का त्रिकोण मण्डल अपान वायु के द्वारा झकझोरे जाने पर प्रकाशित हो उठता है—

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता॥[2]

इस समय शरीर में उष्णता की अधिकता हो जाती है तथा इस उष्णता का अनुभव करके कुण्डलिनी सुषुप्तावस्था छोड़कर जागृत हो उठती है। तब यह सुषुम्णा में प्रवेश करती है। इस समय जालन्धर-बन्ध करना चाहिए। इससे षोडशदल चक्र बँध जाता है और तालु-गह्वर से अमृत प्रवाह आरम्भ होने लगता है तथा इससे श्वास का सुषुम्णा में लय हो जाता है।[3]

यदि कन्द और कण्ठ स्थान एक साथ ही आकृष्ट (सङ्कुचित) किये जायँ तथा प्राण वायु को नीचे की ओर तथा अपान वायु को ऊपर की ओर आकृष्ट किया जाय तो वायु का सुषुम्णा में प्रवेश होता है। महाबन्ध से इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्णा का परस्पर मिलन होता है तथा मन की आज्ञाचक्र में स्थिरता होती है। सिद्धासन में स्थित होकर कन्दस्थान में दबाव डालना चाहिये तथा जालन्धर-बन्ध

---

१. द सरपेन्ट पावर, पृ० २०९।
२. हठयोग प्रदीपिका, ३/६६।
३. दि सरपेन्ट पावर, पृ० २१०।

साधना चाहिये। जब मन सुषुम्णा में केन्द्रित हो जाय तब वायु को खींचना चाहिये। वायु को अधिक देर तक रोकना चाहिये। इस बन्ध का प्रयोजन है सुषुम्णा के अतिरिक्त सभी नाड़ियों से वायु के ऊर्ध्वगमन को रोकना।[1]

नाड़ी शोधन की उपयोगिता—

नाड़ी-शोधन के बिना शुद्ध प्राणायाम सम्भव नहीं है। यह शोधन समनु (मन्त्रयुक्त) तथा निर्मनु (मन्त्ररहित) भेद से दो प्रकार का होता है। समनु में योगी गुरु द्वारा निर्दिष्ट विधि से गुरुन्यास पद्मासन में स्थित होकर करता है। और यं बीज मन्त्र का ध्यान इड़ा से पूरक के समय १६ बार, कुम्भक में ६४ बार तथा सूर्य नाड़ी से रेचक में ३२ बार ध्यान करना चाहिये। इसके बाद योगी नासाग्र पर दृष्टि स्थिर करके चन्द्रप्रकाश का ध्यान करता है। तथा पूर्वोक्त विधि से इड़ा नाड़ी से रं बीज मन्त्र का १६ की संख्या में पूरक, बीज मन्त्र का ६४ की संख्या में कुम्भक तथा रं बीजमन्त्र का ३२ की संख्या में जप करना चाहिए। कुम्भक के समय योगी को यह अनुभव करना चाहिए कि अमृतरस से सराबोर हो रहा है और उसकी नाड़ी शुद्ध हो रही है। इसके बाद साधक कुशासन या मृगचर्म पर बैठे तथा उत्तर या पूर्वाभिमुख होकर प्राणायाम करे। इसके अभ्यास के लिए उचित स्थान, समय और भोजन का विशेष महत्व रखना चाहिए। स्थान इतनी दूर नहीं होना चाहिए जिससे व्याकुलता उत्पन्न होने लगे। असुरक्षित, शहर, भीड़ पर्यावरण वाला क्षेत्र भी नहीं होना चाहिए जिससे विघ्न आदि की सम्भावना समाप्त रहे। भोजन शाकाहारी तरह का होना चाहिए। न अधिक उष्ण, न अधिक शीत, तीक्ष्ण, अम्ल या कटु ही होना चाहिए। योगी को तीन घण्टे (एक प्रहर) से अधिक बिना भोजन के नहीं रहना चाहिए। भोजन हल्का और पौष्टिक हो। अति भ्रमण, तीव्र व्यायाम, नये साधक के लिए लैङ्गिक सम्बन्ध बिलकुल बचाना चाहिए। उदर अर्ध-आपूरित ही हो। वसन्त या पतझड़ में योग का प्रारम्भ करना चाहिए। "सगर्भ" प्राणायाम में साधक को रजोगुण युक्त अरुणिम अकार मूर्ति, ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिए। इडा से वह १६ बार अकार का जप पूरक के साथ करे। कुम्भक के पहले वह उड्डीयान मुद्रा करे। तत्पश्चात् कुम्भक में सत्वमय विष्णु का तथा "उ" कृष्ण बीजमन्त्र का ६४ बार मनन करके ध्यान करे। इसके बाद तमोमय शिव तथा उनके श्वेत बीज मकार का पिंगला के द्वारा रेचक में ३२ बार जप करके उसी बीज मन्त्र का उसी संख्या के अनुपात में जप करना चाहिए।[2]

---

१. दि सरपैन्ट पावर, पृ० २११।

२. वही, पृ० २१६।

लययोग की उपयोगिता

१. सर्वप्रथम योग के को मार्ग बताये हैं १. ध्यानयोग या भावनायोग और २. लययोग या कुण्डलिनीयोग। भावनायोग या ध्यानयोग के अन्तर्गत भी ज्ञाननिष्ठ क्रिया, मन्त्र या हठयोग की सहायक क्रिया (कुण्डलिनी जागरण को छोड़कर) और वैराग्य के द्वारा समाधि की प्राप्ति की जाती है। द्वितीय मार्ग—कुण्डलिनीयोग या लययोग के अन्तर्गत ज्ञानात्मक क्रिया की उपेक्षा नहीं की जाती है। इसके साथ ही सम्पूर्ण शरीर की सर्जनात्मक तथा अवरोधक शक्ति का सम्बन्ध परम चैतन्य से किया जाता है और योगी को उस तत्त्व की प्राप्ति होती है जिसकी प्राप्ति ज्ञानयोगी को सीधे ध्यानयोग के द्वारा होती है।[1]

२. तन्त्र शास्त्र में जीव-ब्रह्म का मिलन "मैथुन" कहा जाता है। यह मिलन दो प्रकार का होता है—१. स्थूल-परमात्मा की मूर्तिमत्ता का मिलन तथा २. सूक्ष्म-परमात्मा के प्रशान्त तत्त्व के साथ मिलन। यही मोक्ष-प्रदायी होता है।[2]

३. ध्यानयोगी के समान हठयोगी भी अपनी इच्छा से ही देहपात करता है। वह प्रतिक्षण शरीर को पुष्ट, नीरोग तथा दीर्घजीवी रखने का प्रयास करता रहता है।[3] वैसे मृत्युराहित्य की अपेक्षा मुक्ति प्राप्त करना आसान है।

४. हठयोग के सात भेदों (शोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तत्व) में निर्लिप्तत्व के अन्तर्गत लययोग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यष्टि और समष्टि-शरीरों को नियन्त्रित करने वाले नियमों के अनुसार प्रकृति-शक्ति को पुरुष-शक्ति में विलय करने वाली चित्तवृत्ति के निरोध में हठयोग की अवस्थिति स्वीकार की जाती है।[4] हठयोग और मन्त्रयोग शारीरिक व्यापारों से पूर्णरूपेण सम्बद्ध नहीं हैं। फिर भी से सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करते हैं। शरीर के अन्तर्जगत् के परा अनुभूयमान शक्ति और व्यापारों तथा परा अनुभूयमान पीठ (चक्र) से हठयोग का सम्बन्ध है। इस योग का लक्ष्य है समाधि अवस्था में मूलाधारस्थ प्रकृति-शक्ति का सहस्रारस्थ सच्चिदानन्दमय परमात्मा में विलय करना। हठयोग में ज्योतिर्ध्यान का विशेष विधान है। अनवरत अभ्यास से प्रकृति-शक्ति के रूप में कुलकुण्डलिनी के जागृत होने पर इसके प्रतिबिम्बन का आभासन भ्रू-मध्य

---

१. दि सर्पेण्ट पावर, पृ० २९७-९८।
२. वही, पृ० २९६।
३. वही पृ० २९३।
४. वही, पृ० २२२।

मध्य में प्रकाश के रूप में होने लगता है। इसके लिए भी बिन्दु-ध्यान का सह-अभ्यास आवश्यक है। कुण्डलिनी-जागरण के लिग यम, नियम, आसन और मुद्रा आदि स्थूल क्रियाओं तथा प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि सूक्ष्म क्रियाओं का विधान है और अन्तः प्रकृति शक्तियों तथा नादबिन्दु से समाधि की ओर अग्रसर होने वाली लयक्रिया (महालय) आदि कुण्डलिनी-जागरण के साधन कहे गये हैं।[1]

नाद-श्रवण को प्रत्याहार के अन्तर्गत तथा कुण्डलिनी-जागरण को धारणा के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। लययोग का सबसे महत्त्वपूर्ण अवयव "धारणा" है। साधना-जगत् में प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भिक सोपान है। "श्वसन" पर अधिकार करने के लिए प्राणायाम का अभ्यास आवश्यक है। कहा जाता तो यहां तक है कि एक विशेषज्ञ साधक आधे घण्टे में ही कुण्डलिनी का जागरण कर सकता है।[2] कहा जाता है कि जिस प्रकार कुंचिका से हठात् कपाट का उद्घाटन होता है उसी प्रकार कुण्डलिनी के द्वारा मोक्षद्वार का विभेदन किया जाता है—

उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥[3]

अधोगामी स्थूलवीर्य के प्रवाह के बदले सूक्ष्म-शक्ति के रूप में उसे परिवर्तित करके प्राण के साथ शिव तक ऊर्ध्वमुखी कर देना ही हठयोग का लक्ष्य है। भौतिक मृत्यु के स्थान पर आध्यात्मिक जीवन का यह एक साधन है। लैङ्गिक-वासना का शमन हो जाने पर मन समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[4]

नाड़ी और चक्रों की उपयोगिता :—

योगशास्त्र में निर्दिष्ट शारीरिक क्रियाओं की सहायता से इच्छाशक्ति और योगबल के द्वारा कुण्डलिनी का जागरण किया जा सकता है। साधक एक निर्दिष्ट आसनबद्ध होकर भ्रूमध्य में ध्यान को केन्द्रित करके खेचरी मुद्रा के द्वारा मन को दृढ़ करता है। प्राणायाम के अन्तर्गत पूरक करके कुम्भक का साधन कर जालन्धर-बन्ध के द्वारा शरीर का संकुचन करना चाहिए। इस प्राणवायु को

---

१. दि सर्पेण्ट पावर, पृ० २२३।
२. वही, पृ० २२३-२४।
३. हठयोग प्रदीपिका, ३/१०५।
४. योगकुण्डली उपनिषद्, अध्याय १।

अवरुद्ध किया जाता है। अब प्राणवायु का बहिर्गमन रुक जाता है। जब योगी कण्ठ से पेड़ू पर्यन्त की वायु का नाड़ियों के चक्र से होकर अधोप्रवाह समझ लेता है तब अपान-वायु का बहिर्प्रवाह भी अश्विनीमुद्रा और मूलबन्ध के द्वारा अवरुद्ध किया जाता है। इस प्रकार संग्रहीत वायु मन और इच्छा से निर्दिष्ट होने पर मूलाधार में प्राणशक्ति का तत्त्व हठात् अनुभूत होने लगता है।

ध्यान और निर्दिष्ट मन्त्र-जप के द्वारा जीवात्मा हृद्स्थान से मूलाधार की ओर ले जाया जाता है। ध्यान के साथ मूलाधार चक्र में अवरुद्ध वायु के प्रभाव से यं बीज के द्वारा पुनः वायु को ऊर्ध्वमुखी किया जाता है। कन्दर्प वायु को वाम से दक्षिण की ओर आघात दिया जाता है। कुम्भक में प्राण और अपान के दबाव से सहज उष्णता का प्रादुर्भाव होता है। और वह्नि बीज "र" कामाग्नि को उत्तेजित कर देता है। यह कामाग्नि घेरकर सुषुप्त कुण्डलिनी को जागृत कर देती है। इस प्रकार शक्ति, ऋण-धन-विद्युत् के समान शिव तक आकृष्ट हो जाती है।[1]

आनन्दलहरी की टीका[2] के अनुसार ब्रह्माण्ड में सूर्य और चन्द्र देवयान या पितृयान में जिस प्रकार भ्रमण करते रहते हैं उसी प्रकार वे दोनों सूक्ष्म-जगत् में इड़ा और पिंगला के द्वारा रात-दिन विचरण करते रहते हैं। चन्द्र, वामनाड़ी इड़ा से विचरण करता हुआ अपने अमृत से सम्पूर्ण शरीर-व्यूह को आर्द्र कर देता है और उधर सूर्य दक्षिण नाड़ी (पिङ्गला) से विचरण करता हुआ चन्द्र द्वारा अभिषिक्त काय-व्यूह को शुष्क करता रहता है। जब सूर्य और चन्द्र मूलाधार में मिलते हैं तो उस तिथि को अमावस्या कहते हैं। मनो निग्रह से युक्त योगी जब चन्द्र तथा सूर्य को अपने-अपने स्थान में बाध्य कर देता है तब न तो चन्द्र इधर-उधर अपने अमृत को गिरा सकता है और न सूर्य उसे शुष्क ही कर सकता है। जब वायु की सहायता से अग्नि के द्वारा अमृतकोष शुष्क कर दिया जाता है तब कुण्डलिनी सर्प के समान फूफ्कार करती हुई भोजन के लिए जागृत होती है। वह ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ग्रन्थियों का भेदन करती हुई सहस्रार में जाकर चन्द्र को काट लेती है। तब सुधा-वर्षण होने लगता है और वह अमृत आज्ञा चन्द्रस्थ एक-दूसरे चन्द्रमण्डल को अभिषिक्त कर देता है। यहाँ से सम्पूर्ण शरीर अमृत से आर्द्र हो जाता है। इसके बाद चन्द्रमा की १५ कलायें विशुद्ध चक्र में जाकर विहार करने लगती है। सहस्रारस्थ चन्द्रमण्डल को वैन्दव भी कहते हैं। षोडशी कला वहीं रहती है। उसे त्रिपुरसुन्दरी कहते हैं। कुण्डलिनीयोग के साधक के लिए समीचीन है कि वह शुक्लपक्ष में ही यह साधना करे, कृष्णपक्ष में नहीं।

---

१. द सर्पेण्ट पावर, पृ० २३३-२३४।

२. पं० आर० अनन्तकृष्णशास्त्री द्वारा सम्पादित, पृ० ६९-७०।

जिस प्रकार अश्वारोही एक कुशल अभ्यस्त घोड़ी को लगाम के द्वारा आगे ले चलता है उसी प्रकार अपने ही द्वारा आवृत मुखद्वार से कुण्डलिनी चित्रिणी नाड़ी के प्रवेशद्वार मार्ग में प्रवेश करती है और प्रत्येक चक्र का भेदन करती हुई ऊर्ध्वगामी होती चली जाती है। ऐसा करने से प्रत्येक चक्र ऊर्ध्वमुखी हो जाते हैं। जीवात्मा से संयुक्त होकर कुण्डलिनी प्रत्येक चक्रों से यात्रा करते समय प्रत्येक के अधिष्ठातृ-तत्व को अपने में अन्तर्भूत कर लेती है। उर्ध्वगमन अवस्था में चक्रों के स्थूलतत्त्व क्रमशः विलय को प्राप्त होने लगते हैं और उनके स्थान पर कुण्डलिनी की सम्प्रभुता उपस्थित होती है। आज्ञाचक्र के बाद समस्त तत्त्वों का विलय हो जाता है। तब तत्त्वों के साथ कार्य करने वाली इन्द्रियों का भी विलय उस कुण्डलिनी में हो जाता है। इसके बाद वह आज्ञाचक्रस्थ सूक्ष्मतत्त्वों को भी विलीन कर लेती है। मूलाधार में कुण्डलिनी समस्त स्थूल पदार्थों (विराट्) की शक्ति है और सहस्रार में वह ईश्वर की शक्ति है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी आदि वाक्शक्तियाँ कुण्डलिनी ही है।[1] कुण्डलिनी सहस्रार की ओर प्रयाण करने पर बैखरी के रूप में सर्वप्रथम मूलाधार में स्वयंभू लिङ्ग को मोहित करती है। इसके बाद मध्यमा के रूप में हृद्स्थानीय अनाहत चक्रस्थ बाण लिङ्ग तथा उसके बाद पश्यन्ती रूप में आज्ञाचक्रस्थ इतर लिङ्ग को मोहित करती है। पर विन्दु में पहुँचने पर परावस्था को प्राप्त करती है।

कुण्डलिनी का प्रयाण स्थूल से सूक्ष्म की ओर होता है। मूलाधार में (पाद, प्राण और इन्द्रिय सहित) पृथिवी-तत्त्व गन्ध में विलीन होता है। गन्ध स्वाधिष्ठान की ओर ले जाया जाता है। यहाँ गन्ध तथा (जिह्वा) और हस्त इन्द्रियों के साथ अप्-रस में विलीन होता है। अब रस मणिपूर की ओर गतिशील होता है और वहाँ रस, तेज (अपनी चक्षु और वायु इन्द्रियों के साथ) रूप में, अनाहत में तथा वायु का स्पर्श में विलय होता है। अब स्पर्श विशुद्धचक्र स्थान पर पहुँचता है और वहाँ पर स्पर्श तथा (श्रोतृ और वाक् इन्द्रिय सहित) आकाश, शब्द में विलीन होता है। इसके बाद शब्द आज्ञाचक्र में प्रयाण करता है। यहाँ पर और इसके आगे शब्द का मन में, मन का महत्तत्व में, महत्तत्व का सूक्ष्म प्रकृति में, परविन्दु से संयुक्त होकर सूक्ष्म प्रकृति का सहस्रार में विलय होता है। आज्ञाचक्र से सहस्रार तक लय की विभिन्न अवस्थाएँ बतायी गयी है—नाद का नादान्त में, नादान्त का व्यापिका में, व्यापिका का समनी में, समनी का उन्मनी में और उन्मनी का विष्णुवक्त्र (पुं विन्दु) में विलय स्वीकार किया जाता है।[2] इस प्रकार

---

१. मायातन्त्र, श्लोक ५१, दि सरपेण्ट पावर, पृ० २३६ पर उद्धृत।

२. वही, श्लो० ५२ (वही, पृ० २३७ पर उद्धृत)।

नाना वर्णों वाले दल विशिष्ट चक्रों का भी लय हो जाता है।

इस प्रकार मूलाधारस्थ ब्रह्मा, सावित्री, डाकिनी आदि देव-मातृकायें और वृत्तियां, लं बीज तथा मही मण्डल आदि सब कुछ कुण्डलिनी में अन्तर्भूत हो जाता है। जब कुण्डलिनी मूलाधार चक्र को छोड़ती है उस समय कुण्डलिनी-जागरण के प्रभाव से जो दल उद्घाटित और ऊर्ध्वमुखी हो गए थे, पुनः बन्द और अधोमुखी हो जाते हैं। कुण्डलिनी के स्वाधिष्ठान में पहुँचने पर चक्र के दल ऊर्ध्वमुखी हो जाते हैं तथा विष्णु, लक्ष्मी, सरस्वती, शाकिणी, मातृकायें, वृत्तियाँ, वैकुण्ठधाम, गोलोक, देव-देवियां कुण्डलिनी-काया में विलय को प्राप्त हो जाती हैं। धराबीज "लं" का अप् में विलय होता है तथा अप् अपने बीजमन्त्र "वं" में विलीन हो जाता है। यही "वं" बीज ही कुण्डलिनी के शरीर के रूप में अवस्थित होता है। जब कुण्डलिनी मणिपूर में पहुँचती है, चक्रस्थ समस्त अवयव उसमें विलीन हो जाते हैं। वरुण बीज "वं" भी अग्नि में विलीन हो जाता है। यहां अग्नि का बीज "रं" कुण्डलिनी के शरीर के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसके बाद शक्ति अनाहतचक्र (विष्णु ग्रन्थि) में प्रवेश करती है। वहाँ के समस्त तत्त्व शक्ति में विलीन हो जाते हैं। यहाँ पर अग्नि बीज "रं" वायु में विलय हो जाता है। अब कुण्डलिनी वायु के बीज "यं" के रूप में अवस्थित होती है। तत्पश्चात् शक्ति, भारती या सरस्वती के स्थान विशुद्ध चक्र में प्रवेश करती है। इस समय अर्धनारीश्वर शिव शाकिनी, सोलह स्वर, मन्त्र आदि उस शक्ति में विलय को प्राप्त होते हैं। सम्प्रति वायु बीज "यं" का आकाश में विलय हो जाता है। और आकाश भी अपने बीज "हं" में परिवर्तित होकर कुण्डलिनी-काया में अन्तर्भूत हो जाता है। इसके बाद कुण्डलिनी गुप्त ललनाचक्र का भेदन करके आज्ञाचक्र में प्रवेश करती है जहाँ परमशिव, सिद्धकाली, देव और शक्तियाँ आदि सभी उसमें विलीन हो जाते हैं। इस समय व्योम का बीज "हं" आज्ञाचक्र के सूक्ष्म तत्त्व में तथा पश्चात् कुण्डलिनी के प्रयाण करने पर निरालम्बपुरी प्रणव, नाद और नादान्त आदि देवी में विलय को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यहां तक उस शक्ति में २३ तत्त्वों (५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कमेन्द्रिय, ५ तन्मात्रा, पञ्चभूत, मन, बुद्धि और सूक्ष्म प्रकृति) का विलय देखा जाता है। इसके बाद कुण्डलिनी परमशिव का सामरस्य लाभ करती है। यहाँ पर जीव को परमात्मा की अनुभूति कुमारी-स्त्री के सुख के समान होती है—

"स्वसंवेद्यम् एतद् ब्रह्म कुमारी-स्त्री सुखं यथा"।[1]

---

१. हठयोग० अध्याय १, श्लोक १५ की टीका।

साधक के शरीर में कुण्डलिनी शक्ति का शिव के साथ समागम को सात्त्विक पञ्चतत्त्व का मैथुन कहते हैं—

"सहस्रारोपरि विन्दो कुण्डल्या मेलनम् शिवे।
मैथुनम् परमं द्रव्यम् यतीनां परिकीर्तितम् ॥"[1]

शिव और शक्ति के सङ्गम के बाद अमृत धारा प्रवाहित होती है तथा समस्त चक्रों के देवताओं को अभिषिक्त करती रहती है।[2] आज्ञाचक्र तक गुरु-निर्देश आवश्यक होता है। इसके बाद साधक को स्वतः ब्रह्मस्थान की अनुभूति हो जाती है। आज्ञाचक्र के बाद गुरु-शिष्य-सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। १४ ग्रन्थियों (३ लिङ्ग, ६ चक्र, ५ शिव) का भेदन करके तथा परमशिव से प्रवाहित होने वाले अमृत का पान करके वह पुनः मूलाधार की ओर लौटती है। अब वह सृष्टि-क्रम-व्यापार को उत्पन्न करती है। इस समय पुनः समस्त चक्र अपने तत्त्वों सहित अपने अस्तित्व में आ जाते हैं।

कुण्डलिनी के जागृत होने पर प्रचण्ड उष्णता की अनुभूति होती है। जब कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी होती है तो नीचे की वे सभी ग्रन्थियां शव के समान जड़ तथा अतिशीत हो जाती हैं जिन्हें कुण्डलिनी पार कर जाती है। इसके विपरीत सिर का उच्च भाग प्रभा से आपूरित हो जाता है। जिस समय योग पूरा होता है उस समय योगी अभ्यस्त आसन पर दृढ़ता से स्थित रहता है और उसके पूरे शरीर में उष्णता केवल शिरोभाग में देखी जा सकती है जहां शिव के साथ शक्ति का समागम हुआ रहता है। कुण्डलिनी के सहस्रार में पहुँचने पर समग्र शरीर निर्जीव सा लगता है। कुण्डलिनी का अवरोह-क्रम उष्णता, प्राणशक्ति तथा सहज चैतन्यावस्था के कारण जाना जाता है।[3]

कुण्डलिनी के आरोह और अवरोह-क्रम के लिए भूतशुद्धि का अभ्यास आवश्यक है। कुण्डलिनी-जागरण के लिए अपेक्षित प्राणायाम के अन्तर्गत पूरक, कुम्भक और रेचक का अनुपात १ : ४ : २ होना चाहिए। जैसे "यं" बीजमन्त्र का बाईं नासिका से पूरक के समय श्वास लेते समय १६ बार जप, कुम्भक के समय ६४ बार तथा रेचक के समय ३२ बार जप करना चाहिए। कुम्भक के साधक को पेडू के वामगर्त में वायु के द्वारा शुष्क किये जाते हुए पाप-पुरुष का विचार करना चाहिए। इसके बाद मणिपूरस्थ बीजमन्त्र "रं" के साथ भी इसी प्रकार का

---

१. योगिनीतन्त्र, पटल ६, श्लोक ४१।
२. द सर्पेण्ट पावर, पृ० २४०।
३. वही, पृ० २४२।

प्राणायाम करना चाहिए। यहाँ भी कुम्भक के समय बीजमन्त्र का जप करते समय यह सोचना चाहिए कि पुरुष को भस्म किया जा रहा है तथा राख में मिलाया जा रहा है। इसके बाद साधक चन्द्र बीज "थं" तन्त्र पर ध्यान करता है। यह ध्यान भी पूरक, कुम्भक और रेचक के समय १६:६४:३२ के अनुपात में बीजमन्त्र के 'जप के साथ' आवश्यक है। यहाँ पर प्राणायाम के समय यह विचार करना चाहिए कि चन्द्र से झरते हुए अमृत के द्वारा एक नवीन और दिव्य शरीर की रचना हो रही है। जब बीज "वं" के द्वारा शरीर की उक्त रचना सतत रूप में चलती रहनी चाहिए। और इस शरीर को पृथिवी-तत्त्व से संयुक्त "लं" बीजमन्त्र के द्वारा पुष्ट तथा पूरा किया जाना चाहिए। इसके बाद साधक "सोऽहम्" मन्त्र के द्वारा जीवात्मा को हृदय में (स्व-स्थान पर) ले जाता है।

पहली बार में कुण्डलिनी सहस्रार में अधिक देर तक नहीं रुक सकती। वहाँ पर कुण्डलिनी के रुकने की अवधि योगी की अभ्यास-शक्ति पर अवलम्बित है। धीरे-धीरे कुण्डलिनी के अवरोह का एक संस्कार बन जाता है। अब योगी इस उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है कि उसकी कुण्डलिनी कम से कम परिश्रम में अधिक से अधिक देर तक सहस्रार में स्थिर रह सके। यह कहा जाता है कि जो साधक ३ दिन और ३ रात कुण्डलिनी को सहस्रार में अवस्थित किये रहता है वह समस्त सिद्धियों का स्वामी हो जाता है।[1] मूलाधार से लेकर किसी भी चक्र में कुण्डलिनी को ऊर्ध्वमुखी कर देने से कुछ न कुछ सिद्धि अवश्य प्राप्त हो जाती है। किन्तु मुक्ति तो तब प्राप्त होती है जब कुण्डलिनी का स्थायी आवास सहस्रार में हो जाता है। यह भी कहा जाता है कि जो साधक कुण्डलिनी को स्थायी रूप से सहस्रार में नहीं रोक पाते हैं वे कुछ देर के लिए उस शक्ति को सहस्रार में रोक-कर पुनः हृदय में (अनाहत) में ले आकर उसकी पूजा करते हैं। इस साधना के प्रथम चरण में[2] साधक को शारीरिक तथा मानसिक सात्त्विकता की प्राप्ति होती है तथा ब्रह्मद्वार या सुषुम्णा के प्रवेश-द्वार का उद्घाटन होता है। जागृत होने पर कुण्डलिनी सहस्रार तक प्रकाश-रूप में हो जाती है।

कुण्डलिनी-जागरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा जीवात्मा का परमात्मा में विलय होता है। जो प्रत्येक भारतीय योग का परम लक्ष्य है। समयागम शास्त्रों के अनुसार कुण्डलिनी-जागरण की दो पद्धतियां विहित हैं—१. तप अथवा प्राणायाम २. मन्त्र जप। जपयोग मन्त्रों में पञ्चदशी सबसे महत्त्वपूर्ण है।[3]

---

१. दि सरपेण्ट पावर, एफ०एन०, पृ० २४४।

२. वही, पृ० २४४।

३. वही, पृ० २४७।

यह भी कहा जाता है कि यदि साधक एकाध चक्र का ही जागरण कर पाता है और उसकी मृत्यु हो जाती है तो आगे के चक्रों का जागरण करने के लिए वह पुनः जन्म लेता है। मूलाधार और स्वाधिष्ठान की साधना में साधक अपेक्षाकृत अधिक तामसी होता है और उसका अधिष्ठातृ-देव अग्नि होता है। आगे की दो अवस्थाओं में मणिपूर और अनाहत की साधना में साधक राजस गुण से युक्त होता है। यहाँ पर सूर्य को अधिष्ठातृ-देवता के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसके बाद की दो अवस्थाओं में विशुद्ध और आज्ञाचक्र की साधना में साधक सात्त्विक गुण से युक्त होता है तथा उसका अधिष्ठातृ-देव चन्द्र है। किन्तु साधक जब तक सहस्रार तक की यात्रा नहीं कर लेता उसे शुद्ध सत्त्व की उपलब्धि नहीं हो पाती है। कुण्डलिनी-जागरण की यात्रा दो भागों में विभक्त की जाती है। प्रथम—मूलाधार से आज्ञा तक तथा द्वितीय—आज्ञा से सहस्रार तक। प्रकृति कुण्डलिनी चित् का स्थूलतम रूप है। जिस क्षण कुण्डलिनी जागृत होती है, वह उसकी कुमारी अवस्था कहलाती है। अनाहत पर पहुँचने पर वह योषित अवस्था तथा सहस्रार में पहुँचने पर वह "पतिव्रता" कही जाती है।[1] सहस्रार सदाशिव और चित् का मिलन स्थान है। चित् या शुद्धा विद्या को सदाख्या—१६वीं कला कहते हैं। कुण्डलिनी की पतिव्रता अवस्था के प्राप्त होने पर साधक जीवनमुक्त होता है।

शाक्त उपासना के अन्तर्गत कौल प्रसुप्त कुण्डलिनी (कुल) की पूजा करते हैं। मूलाधार से आगे वे कुण्डलिनी का जागरण नहीं करते। वे वामाचार की साधना करके कुछ सिद्धियों को प्राप्त कर आनन्द-लाभ करते हैं। वे आवागमन के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाते। वे कुण्डलिनी की पूजा तक छोड़ देते हैं। 'मिश्र' मत वाले स्वर्ण-निर्मित यन्त्रों पर सूर्य-मरुद् में शक्ति की उपासना करते हैं और कुण्डलिनी की पूजा तथा जागरण करते रहते हैं।

समय मार्ग के साधक को चाहिए कि वे पिण्डगत चक्रों में ही कुण्डलिनी की पूजा करें तथा वे शिव और शक्ति की पूजा अधिष्ठान साम्य (मूलाधार) अवस्था-साम्य (नर्तक) अनुष्ठान-साम्य (क्रियाशक्ति), रूपसाम्य (रक्तवर्ण), नामसाम्य (भैरव-भैरवी) के आधार पर करें।[2]

समय मार्ग में अनभ्यस्त साधक के लिए निम्नलिखित सोपान आवश्यक हैं—१. गुरु में असीम आदर और विश्वास २. गुरु से पञ्चदशीमन्त्र से दीक्षित

---

१. तैत्तिरीय आरण्यक, १-२७.१२ (वहीं पर २४६ पर उद्धृत)।

२. द सर्पेण्ट पावर, पृ० २५२।

होकर ऋषि, छन्द और देवता के साथ उसका जप करना, ३. आश्विन मास की शुक्लपक्ष की महानवमी को अर्धरात्रि के समय गुरु के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम करके गुरु के किसी मन्त्र की तथा षट्चक्र-भेदन की दीक्षा लेना।[1]

मन्त्र, हठ और लययोग के द्वारा साधक सविकल्पक समाधि के योग्य हो जाता है। राजयोग के द्वारा वह निर्विकल्पक समाधि में प्रवेश करता है। कुण्डलिनीयोग इस योग की प्राथमिक प्रक्रिया है। मन्त्रयोग की समाधि में स्थिरता तथा मौन के द्वारा महाभावावस्था को प्राप्त किया जाता है और साधक शववत् हो जाता है। लययोग की समाधि में साधक का बाह्य चैतन्य समाप्त हो जाता है और वह आनन्द के महासमुद्र में डूब जाता है। राजयोग की समाधि चित् स्वरूपभाव तथा निर्विकल्प रूप है। योग की इन चार अवस्थाओं में, वैराग्य की ४ अवस्थायें होती हैं—मृदु, मध्यम, अधिमात्र और पर। राजयोग के १६ विभाग बताये गये हैं—सप्तविचार-ज्ञानदा, सन्यासदा, योगदा, लीलोन्मुक्ति, सत्पदा, आनन्दपदा और परात्परा; धारणाद्वय-प्रक्रियाश्रय तथा ब्रह्माश्रय; ध्यान त्रय-स्थूल, ज्योति तथा सूक्ष्म; समाधि चतुष्टय-ऋतम्भरा, प्रज्ञालोक, प्रशान्तवाहित, निर्विकल्पकत्व।

कुण्डलिनी शक्ति का विकास-क्रम :—

महाशक्ति कुण्डलिनी और उसका जागरण, साधना जगत् का एक गम्भीर रहस्य है। इसका स्वरूप वाणी का या भाषा का विषय नहीं बन सकता। यह पूर्णरूपेण साधना-गम्य है, जिसकी अनुभूति सच्चे साधक या योगी को ही हो सकती है। शास्त्रों के द्वारा तो हम उसके सैद्धान्तिक पक्ष का तात्पर्य समझ सकते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ प्रभृति हठयोग के प्रवर्तक आचार्यगण की दृष्टि में समस्त संस्कारों और कर्मों के विनाश के बाद परम पुरुषार्थ (मुक्ति) की उपलब्धि कुण्डलिनी-जागरण से ही सम्भव हैं। जिस कर्म, दान अथवा भक्ति से कुण्डलिनी जागृत हो सके, उसी कर्मादि की सार्थकता है।[2]

कुण्डलिनी के स्वरूप पर विचार करने से पूर्व यह स्पष्ट करना समीचीन प्रतीत हो रहा है कि इसके विकास पर दृष्टिपात करें। ऋषिकल्प महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज जी ने इस पर प्रकाश डाला है और उन्होंने अपने अध्ययन से यह स्वीकार किया है कि वैदिक वाङ्मय में इस विद्या का कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त जैन-बौद्ध साहित्य में भी कुण्डलिनी या उसकी साधना

१. द सर्पेण्ट पावर, पृ० २५३।
२. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, पृ० ३०२।

का वर्णन नहीं मिलता। सम्भवत: पतञ्जलि ने भी इसकी ओर संकेत नहीं किया। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि यह "तन्त्रशास्त्र का गुह्य विषय है और कुछ यह स्वीकार करते हैं कि इस विषय से सम्बन्धित वर्णोपासना की प्रणाली भारत से बाहर "मग" देश से आई है। कविराज जी यही स्वीकार करते हैं कि भारतवर्ष में हठयोग और अक्षर-उपासना के नवीन आन्दोलन के समय ही कुण्डलिनी विद्या की स्थापना माननी चाहिये।[1]

तन्त्रशास्त्र को यदि वैदिक वाङ्मय का समकालीन मानें "वैदिकी तान्त्रिकी चैव द्विविधा श्रुतिः कीर्तिता" तो कुण्डलिनी विद्या को उतना ही प्राचीन मान सकते हैं जितना प्राचीन तन्त्रों को। तान्त्रिक वाङ्मय में भी पूर्ववर्ती साहित्य यामल-गन्थों में कुण्डलिनी के स्वरूप, षट्चक्रों और उनके जागरण पर चर्चा होने के कारण यह निःसंदिग्ध कहा जा सकता है कि यह विद्या बहुत ही प्राचीन है। चूंकि यह हठयोग की साधना का विषय है, इसलिये जब से हठयोग का विकास हुआ तब से यह विद्या चर्चा की वस्तु स्पष्टरूपेण बन गई।

हठयोग के ग्रन्थों में कुण्डलिनी को अनेक संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। इसकी कुटिलाङ्गी, भुजङ्गी, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती आदि अनेक संज्ञायें हैं।[2] तान्त्रिक क्षेत्र में कुण्डलिनी की साधना "कुण्डलिनीयोग" के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप और जागरण-प्रक्रिया तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में अवश्य वर्णित है तथा भारतीय और पाश्चात्य विचारकों ने गहन चिन्तन करके शब्दों द्वारा इस महाशक्ति की व्याख्या अवश्य की है, तथापि यह महाशक्ति साधनागम्य ही है तथा वह साधना भी शत-प्रतिशत किसी परमेष्ठी गुरु की कृपा पर ही अवलम्बित होती है। शास्त्रों के द्वारा हमें इस परम शक्ति के स्वरूप, स्थान, जागरण के साधन, लाभ, प्रभाव आदि के विषय में जानकारी अवश्य होती है, किन्तु साधना-जगत् के सिद्ध योगी या महागुरु की सहायता, संरक्षण या निर्देशन के बिना साधना-विद्या का जिज्ञासु साधना के प्रारम्भिक अवयवों—आसन, शोधन, प्राणायाम, न्यास, बन्ध, मुद्रा, ध्यान आदि के यथार्थ प्रायौगिक ज्ञान से वंचित रह जाता है और उसे सिद्धि प्राप्त करना तो दूर की बात है, इसके विपरीत उसे भयंकर शारीरिक और मानसिक असन्तुलन का शिकार होना पड़ सकता है।

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग-१, पृ० ३०३।

२. कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दा पर्यायवाचकाः॥
—हठयोग प्रदीपिका, ३/१०४।

महाशक्ति कुण्डलिनी के दो स्वरूप कहे गये हैं—

१. कुण्डलिनी २. कुलकुण्डलिनी। कुलकुण्डलिनी ही महाकुण्डलिनी या ब्रह्मकुण्डलिनी के नाम से प्रसिद्ध है। इसका स्थान "सहस्रार" माना गया है मूलाधार चक्र में सुषुप्तावस्था में विद्यमान शक्ति "कुण्डलिनी" है, जो सर्वरूपिणी है और जीवात्मा के रूप में जानी जाती है।[1] यही जाग्रत होने पर षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार में पहुँचकर अपनी दूसरी संज्ञा (कुलकुण्डलिनी) को चरितार्थ करती है। यही महाकुण्डलिनी मूल प्रकृति का संचालन करती है,[2] जो प्रकृति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार—इन आठ भागों में विभक्त है।

तन्त्रशास्त्र में कुण्डलिनी को एक पारिभाषिक शब्द माना गया है। जिसका अर्थ "शब्द ब्रह्म" या "परावाक् शक्ति" है। सभी मन्त्र, देवता कुण्डलिनी की अभिव्यक्ति है। मन्त्र में प्रयुक्त मातृकाओं (वर्णों) से ही विश्व-सृष्टि होती है, वही नाद-शक्ति और सर्वशक्ति-सम्पन्न कला तथा परमेश्वरी है, वही निर्गुण ब्रह्म से प्रवहमान अमृतस्रोत-रूप है, वही ब्रह्म है, वह चित्-शक्ति वर्णों और शब्दों के रूप में प्रकट होती है। मातृकायें ही शाश्वत ब्रह्म का यन्त्र हैं। उनकी शक्ति जब मन्त्रशक्ति से मिलती है तब साधक शक्ति का साक्षात्कार कर पाता है। इसी शक्ति का सूक्ष्म रूप कुण्डलिनी है। उसका स्थूल रूप देवता का रूप है। कुण्डलिनी को अष्टप्रकृति-स्वरूपा कहा गया है।[3]

कुण्डलिनी को विद्युत् के समान भास्कर कहा गया है। मधुमक्खियों के गुञ्जार की ध्वनि के समान इसकी ध्वनि है। यह श्वास-प्रश्वास-रूप होने के कारण सभी जीवों की जीवनदात्री है। वह समस्त मातृकाओं की जननी होने से मन्त्रों की अधिष्ठात्री है, वह सूर्य, चन्द्र, अग्नि-रूप में है तथा तीनों का कारण भी है।[4]

अध्यात्म-शास्त्रों के द्वारा यह प्रमाणित है कि जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है। परम शिव अपनी महाशक्ति से संयुक्त होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-रूप पिण्ड में निवास करता है।[5] महाशक्ति कुण्डलिनी उस परमेश्वर की ही चेतना शक्ति है।

---

१. मूलाधारे तु या शक्तिर्भुजगाकाररूपिणी।
जीवात्मा परमेशानि तन्मध्ये वर्त्तते सदा॥—मातृकाभेदतन्त्र

२. तन्त्रसाधनासार, पृ० २६।

३. शाण्डिल्य उपनिषद्, अध्याय-१, योग कुण्डलिनी उप०अ० १।

४. तन्त्रसाधनासार, पृ० २७।

५. विरूपाक्षपञ्चाशिका, १/२।

पिण्ड में उस शक्ति का स्थान शास्त्रों द्वारा स्वीकृत मूलाधार चक्र में है। जिस प्रकार पर्वतों और वनों से युक्त इस पृथिवी को अहिनायक धारण करते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण योग तन्त्रों का आधार कुण्डलिनी है।[1] मूलाधारचक्र लिङ्गमूल (अण्डकोश) से नीचे और गुदा द्वार से ऊपर (दोनों के बीच में—ध्वजोऽधो गुदोर्ध्वम्) स्थित है।[2] इसका क्षेत्र ४ अंगुल मान है।[3] यह स्थान कन्द और सुषुम्णा का सन्धि-स्थल है (कन्दसुषुम्णयोः सन्धिस्थानं संलग्नपत्रम्)।[4] कुण्डलिनी कन्द या कन्दयोनि स्थान पर सुषुप्तावस्था में रहती है। सामान्य रूप से यह स्थान लिङ्ग (मेढ्र) से २ अंगुल नीचे तथा गुदा स्थान से २ अङ्गुल ऊपर माना जाता है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार मूलस्थान से एक बलिस्त ऊपर नाभि और लिङ्ग के मध्य चार अंगुल विस्तार वाला कन्द स्थान है। यह स्थान कोमल है, शुभ्र है, मानो किसी वस्त्र से आवृत हो—

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम्॥[5]

गोरक्षशतक के अनुसार मेढ्र से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे के समान कन्द-योनि है। उसी में ७२००० नाड़ियां उत्पन्न होती हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार गुदा से दो अङ्गुल ऊपर तथा लिङ्ग से दो अङ्गुल नीचे मनुष्यों के शरीर के मध्यभाग से नौ अङ्गुल ऊपर और चार अङ्गुल विस्तार वाला अण्डों की आकृति वाला त्वचादिकों से भूषित स्थान ही कन्द है। यह स्थान पशु-पक्षियों में पेट के बीच में होता है। गुदा से २ अङ्गुल ऊपर १ अङ्गुल बीच में उनका मध्य भाग होता है। उससे ६ अङ्गुल कन्द स्थान मिलाकर १२ अङ्गुल प्रमाण वितस्तिमात्र होता है। मूलाधार चक्र के मध्य त्रिकोण के बीच में एक स्वयम्भू लिङ्ग है।[6] इस स्वयम्भूलिङ्ग को कुण्डलिनी साढ़े तीन बार वेष्टित किये हुए है।[7] यह महाशक्ति मृणाल-तन्तु सदृश है और जगत्-मोहिनी के रूप में ब्रह्मद्वार के मुख (सुषुम्णा-द्वार) का अपने ही मुखकमल से संछादन करती हुई अमृत-रस का पान करती रहती है। अमृत के संयोग से उसका मुख मधुर है। अतएव वह शंख-वेष्टनाकार

---

१. हठयोग प्रदीपिका ३/१।
२. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक ४।
३. हठयोग प्रदीपिका, ३।११३।
४. षट्चक्रनिरूपणम् के श्लोक ४ का विवरण।
५. हठयोग प्रदीपिका, ३/११३।
६. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक ६।
७. सौन्दर्यलहरी, श्लोक १०।

सदृश है। वह नूतन विद्युल्लेखा के समान है। वह स्वयम्भू लिङ्ग पर सुषुप्तावस्था में साढ़े तीन वृत्ताकार (कुण्डलाकार) होकर स्थित होने से कुण्डलाकार-स्वरूप वाली है और इसीलिए उसका नाम कुण्डलिनी है।[1]

योगियों के हृदय-कमल में नित्य ही नृत्य करने वाली तथा समस्त जीवों के मूलाधार में विद्युत् के समान आकृति वाली स्फुरण करती हुई शंख के आवर्त के क्रम से यह शक्ति सब को आवृत्त करके अवस्थित है। यह कुण्डली भूत-सर्पों की अङ्गश्री को प्राप्त करने वाली है। यह सब देवों तथा मन्त्रों से पूर्ण शिवा है। यह सब तत्त्वों से परिपूर्ण, साक्षात्, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और व्यापक है। ब्रह्मरूप है। यह समस्त वर्णात्मिका है। यह पर देवता है। यह मन्त्रमय जगत् को प्रसूत करने वाली है।[2]

कुण्डलिनी ८ अङ्गों की अवयवी है—मूलाधारादि-षट्चक्र तथा शक्ति और सदाशिव। कुण्डलिनी सहस्रार में आत्मशक्ति में विलीन हो जाती है। आनन्दलहरी की श्लोक संख्या ३५ की टीका में डिण्डिम ने आठ अवयवों में—मन, व्योम, मरुद्, तेज, अप्, क्षिति, सूर्य तथा चन्द्र को स्वीकार किया है। कुण्डलिनी चूंकि प्राणशक्ति है, इसलिए प्राण के प्रवहमान होने पर वह भी गतिशील हो जाती है। अनेक प्रकार के आसनों, कुम्भकों, बन्ध और मुद्रा आदि साधनों से महाशक्ति कुण्डलिनी के जागृत होने पर प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में लीन हो जाती है। इस अवस्था में कुण्डलिनीशक्ति का ज्ञाता अपने समस्त कर्मों का परित्याग करके स्वयं की तुरीयावस्था को प्राप्त हो जाता है।[3]

कुण्डलिनीशक्ति कन्द के ऊपर के भाग में योगियों के मोक्ष तथा मूर्खों के बन्धन के लिए सो रही है—उसे जानने वाला योगी कहा जाता है। यह सर्पिणी के समान कुटिल आकार वाली है। कुण्डलिनी को गतिशील करने वाला निःसंदिग्ध रूप से मुक्त हो जाता है।[4]

---

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक १०।

२. शारदातिलक, १/५३-५७।

३. हठयोग प्रदीपिका, ४/१०-११.

४. कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनीम्।
बन्धनाय च मूर्खाणां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता।
स शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥

—हठयोगप्रदीपिका ३, १०७, १०८।

मूलाधार में कुण्डलिनी के निवास तथा स्वयम्भू लिङ्ग पर सुषुम्णा के छिद्र को बन्द किये हुए साढ़े तीन बार आवृत्त होकर स्थित रहने की बात प्रायः तन्त्र और हठयोग के सभी ग्रन्थों में समान रूप से पाई जाती है। वह निर्दिष्ट स्थान पर कोटिविद्युत्प्रभा के समान, कोटि सूर्य की आभा के समान तथा शीतलता में कोटि चन्द्रमा के समान स्वीकार की गई है। कमलनाल के तन्तु के समान वह कोमल और शुभ्र भी है।[1] वह आत्मशक्तिरूप, परदेवतारूप है। जब तक वह निद्रित है तब तक जीव पशु (पाश से बद्ध) है। कोटियोग का अभ्यास करने पर भी बिना कुण्डलिनी-गमन-विज्ञान के बोध हो ही नहीं सकता।[2] वही प्राण को धारण करने वाली प्राणविद्या और महाविद्या है। उसे जानने वाला "वेदज्ञ" होता है।[3] ऐसी कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिये जो स्वयम्भूलिङ्ग पर स्थित है, जो श्यामरूपा, सूक्ष्मा, सृष्टिरूपा, सृष्टिस्थितिलयात्मिकारूपा, विश्वातीता, ज्ञान-रूपा, ऊर्ध्वस्वरूपा है।[4] यह ऊँकार रूपा है। यही शरीर के अन्दर ७२००० नाड़ियों का नियमन करती है।

—:०:—

---

१. मूलाधारे मूलविद्यां विद्युत्कोटिसमप्रभाम्।
सूर्यकोटिप्रतीकाशां चन्द्रकोटिद्रवां प्रिये॥
विसतन्तुस्वरूपां तां विन्दुत्रिवलयां प्रिये।
ऊर्ध्वशक्तिनियतेन सहजेन वरानने॥—ज्ञानार्णव तन्त्र, ३/२,३।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम विसतन्तुनिभा शुभा।
मूलकन्दफणाग्रेण दृष्ट्वा कमलकन्दवत्॥—सौन्दर्यलहरी (आनन्दलहरी, श्लोक ९ की अरुणामोदिनी टीका में उद्धृत)।

२. मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्धत्रिवलयान्विता॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवो पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्॥—घेरण्डसंहिता, ३/४३-४४।

३. कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति॥
कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्रीप्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदविद्॥—गोरक्षपद्धति, १/४६-४७।

४. ध्यायेत्कुण्डलिनीं देवीं स्वयम्भूलिंगसंस्थिताम्।
श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम्॥
विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम्।
ह्रुँकारवर्णसम्भूतां कुण्डली परदेवताम्॥—शाक्तानन्दतरङ्गिणी, २५।

कुण्डलिनी-गमन-विज्ञान

मूलाधारचक्र से सहस्त्रार तक का "कुण्डलिनी-गमन" ही "षट्चक्रभेदन" या "कुण्डलिनी जागरण" के नाम से प्रसिद्ध है। ध्यातव्य है कि महाशक्ति का जागरण साधना के विभिन्न सोपानों के निरन्तर अभ्यास तथा सद्गुरु की कृपा पर अवलम्बित है।[1] कुण्डलिनी-जागरण के लिये अनेक आसनों में से सिद्धासन को सबसे अधिक उपयोगी माना गया है। इसके अतिरिक्त किसी-किसी विशेष चक्र के जागरण में शलभासन, धनुरासन, अर्ध सर्वाङ्ग आसन, सर्वाङ्गासन और शीर्षासन भी उपयोगी और निर्दिष्ट हैं। इसके बाद "शोधन" का प्रकरण महत्वपूर्ण है। इस प्रकरण में षट्कर्मों (पवित्रीकरण), आचमन, शिखा बन्धन, संक्षिप्त प्राणायाम, न्यास, पृथिवी-पूजन के द्वारा शरीर का शुद्धीकरण किया जाता है। इसी सन्दर्भ में यह भी स्पष्ट कर देना अनावश्यक नहीं होगा कि हठयोग के साधक नेति, धौति, वस्ति, नौलि (नेडली), दन्ति, बज्रौली (नाड़ी क्षालनादि)—इन षट्कर्मों को सम्पन्न करके शरीर का शुद्धीकरण तथा हल्कापन करते हैं। शोधन के बाद प्राणायाम का अभ्यास अनिवार्य है। इसका अभ्यास ही जागरण की मुखय भूमिका का निर्वाह करता है। प्राणायाम के पूरक, कुम्भक और रेचक—ये तीन अवयव हैं। हठयोग की मान्यता के अनुसार "भस्त्रिका कुम्भक" के द्वारा कुण्डलिनी-जागरण किया जाता है।[2] प्राणायाम के प्रसङ्ग में "बन्ध" की भी अपरिहार्यता साधकों ने स्वीकार की है, क्योंकि प्राणायाम के समय ही "बन्ध" किया जाता है। बन्ध के तीन भेद हैं—मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध और जालन्धर बन्ध। बन्ध में अवस्थितिपूर्वक इस प्राणायाम द्वारा प्राणवायु को सुषुम्णा में प्रवेश कराया जाता है। मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध की सहायता से अपान वायु को ऊपर की ओर और प्राण वायु का कण्ठ-स्थान से नीचे की ओर नाभि-स्थान में सङ्गम करते रहने से प्रायः वायु का सुषुम्णा में प्रवेश होता है। विशेषकर यह साधना मणिपूर चक्र को जागृत करती है। सुषुम्णा में वायु के प्रविष्ट होने पर मूलाधार में अग्नि (ऊष्मा) प्रदीप्त होती है और इस उष्णता से सुषुप्त कुण्डलिनी का जागरण होता है। तब वह अपना कुण्डलाकार स्वरूप त्यागकर सीधी होकर सुषुम्णा-मार्ग में प्रविष्ट होती है और षट्चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र (सहस्त्रार) में पहुँच जाती है। इस साधना में विभिन्न प्रकार की मुद्रायें भी उपयोगिनी हैं। इस सन्दर्भ में अश्विनी, शक्तिचालन, योगिनी, काकिनी, खेचरी—मुद्रायें उल्लेखनीय हैं। खेचरी

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ३/२।

२. वही, ३/११५।

मुद्रा के बाद "ध्यान योग" अपरिहार्य हैं, जो संकल्पनिरोध पूर्वक सम्पन्न किया जाता है। ध्यान में षट्चक्रों के दलों के वर्ण (मातृका), मण्डल, अधिष्ठातृ देवता, शक्ति, बीजमन्त्र का निदिध्यासन किया जाता है।

शक्ति-जागरण की पृष्ठभूमि

कुण्डलिनी-गमन की साधना को सम्पन्न करने के पूर्व शरीर का शोधन करना चाहिये। इसके साथ अपेक्षित आसनों का अभ्यास कर लेना चाहिये। साधना के पूर्व तीन प्राणायाम करना चाहिये। इसके बाद भूतन्यास, अङ्गन्यास, करन्यास, बीजन्यासादि करते हुये भूतशुद्धि करनी चाहिये।[1] शरीर के पवित्रीकरण या शुद्धीकरण के लिये न्यासों की आवश्यकता पड़ती है। न्यासों के द्वारा शरीर के अङ्ग-अङ्ग में इष्ट देवता या मन्त्र को स्थापित किया जाता है। न्यास के द्वारा शरीर की शिराओं में दिव्यशक्तियों का प्रवाह होने लगता है। साधक का सम्पूर्ण शरीर मन्त्रमय या देवतामय हो जाता है।

भूतशुद्धि, कुण्डलिनी जागरण की पृष्ठभूमि है। यह वह क्रिया है जिसके द्वारा शरीर में विद्यमान पञ्चभूत शुद्ध होकर परमब्रह्म से संयुक्त होते हैं अथवा यह वह क्रिया है जिसके द्वारा मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी का ध्यान करते हुये शनैः शनैः सुषुम्णा-मार्ग से जीवात्मा का परमात्मा के साथ योग किया जाता है।[2] भूतशुद्धि के विना कुण्डलिनी जागरण सम्भव ही नहीं है। महाशक्ति कुण्डलिनी का मूलाधार आदि चक्रों से सहस्रार तक गमन ही जीवात्मा का परमात्मा से योग है। यह कार्य भूतशुद्धि पर आधारित है और भूतशुद्धि विभिन्न प्रकार के न्यासों पर आश्रित है।

कुण्डलिनी-गमन-विज्ञान के अन्तर्गत कुण्डलिनी[3]-जागरण के प्रारम्भिक सोपानों पर स्पष्ट चर्चा करना अपरिहार्य लग रहा है। इसलिये प्राणायाम, न्यास, भूतशुद्धि पर विचार करके शक्ति-जागरण की सैद्धान्तिक और प्रायौगिक साधनाओं पर विचार किया जायेगा।

प्राणायाम के साधक को दस प्रमुख नाड़ियों में चलने वाले प्राण के संवेग-आवेग को सदा जानना चाहिये। इन नाड़ियों के नाम इस प्रकार हैं---(१) इड़ा (मेरुदण्ड के अन्त में नीचे बाईं ओर, मूलाधार चक्र के त्रिकोण के बाईं ओर से प्रारम्भ होकर वाम नासिका में समाप्त होने वाली), (२) पिङ्गला (मेरुदण्ड के

१. रुद्रयामल०, ६०/२४-२५।
२. हिन्दी तन्त्रसार, पृ० ७५।
३. तन्त्रसाधनासार, पृ० २८, २६।

(ब्रह्ममित्र अवस्थी) कहते हैं की केवल कुम्भक के प्रभाव से कुम्भक होते ही आसन पर बैठे-बैठे योगी हवा में उठ जाता है। **घेरण्डसंहिता** (5.83-95) में केवल कुम्भक के अंतर्गत अजपा का विधान बताया है। कहा गया है कि वायु स्वाभाविकी गति द्वादश अंगुल की होती है इसे अगर घटा दिया जाए तो साधक की आयु बढ़ जाती है। महामहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त जी श्रीतंत्रालोक के छठें व सातवें आह्निक में गुरु द्वारा बताए गए मंत्र से चक्रोदय, वर्णोदय एवं पीठिका बंध करते हुए अजपा सिद्धि का विधान बताते हैं।वहां पर भी प्राणाचार नियंत्रण की विधि ही इन क्रियाओं के अंतर्गत कही गई है।।28-30।।

भुजंगीकरणम्

अथ भुजंगीकरणम्

अब भुजंगीकरण कहते हैं-

कण्ठेन पुरयेद्वायुं रेचयेत्कण्ठनालतः।
भुजंगीकरणं चेति कुम्भकोऽयं नवमः स्मृतः।।31।।

गले की नली से सांस ले व छोड़े। यहां नवां कुम्भक भुजंगीकरण के नाम से प्रसिद्ध है।।31।।

घेरण्डसंहिता (3.92-93) में भुजंगिनी मुद्रा का वर्णन है। इस मुद्रा में मुंह खोल कर वायु-पान का वर्णन है। **हठयोगसंहिता** (45.89.1) में भुजङ्गिनी कुम्भिका का वर्णन है।।31।।

मुद्रा

प्राणायाम के अवसर पर कई मुद्राओं को धारण किया जाता है। इसलिए अवसर पड़ने पर मुद्राओं का वर्णन कर रहे हैं —

महामुद्रा महाबन्धो महावेधस्तृतीयकः।
उड्डीयानं मूलबन्धो बन्धो जालन्धराभिधः।।32।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
सम्प्रदाया खचेरी सा दश मुद्राः प्रकीर्तिताः।।33।।

महामुद्रा, महाबन्ध, तीसरा महावेध, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालनम् एवं खेचरी, संप्रदाय की यह दस मुद्राएं प्रसिद्ध हैं।।32-33।।

Scanned by CamScanner

घेरण्डसंहिता (तृतीयोपदेश) में पच्चीस मुद्राओं का वर्णन है। **योगबीज** (106-108) केवल तीन की ही बात करते हैं। मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध व जालन्धर बन्ध।।32-33।।

किसी भी विद्या का उदय तभी होता है जब उसका स्रोत व महात्म्य पता हो। अब वही वर्णित कर रहे हैं —

आदिनाथोदिता मुद्रा अष्टैश्वर्यप्रदायकाः।
वल्लभाः सर्वसिद्धानां दुर्लभा महतामपि।।34।।

आठों ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाली यह मुद्राएं अदिनाथ द्वारा प्रदत्त हैं। सब सिद्धियों की प्रदाता यह मुद्राएं महात्माओं को भी दुर्लभ हैं।।34।।

साधक के मन में यह प्रश्न आ सकता है की कौन सी मुद्रा श्रेष्ठ है व कौन नहीं इसी का समाधान करते हुए कहते हैं —

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना।
एकैका तासु स्यान्महासिद्धिप्रदायिनी।।35।।

यह दस मुद्राएं स्वयं शम्भु आदिनाथ ने कही हैं। इसलिए इसमें से हर एक महासिद्धि प्रदान करने वाली है।।35।।

महामुद्रा

मुद्रा उपदेश के क्रम में सर्वप्रथम महामुद्रा कहते हैं-

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि वशिष्ठेनोक्तमादरात्।।36।।

अब मैं महामुद्रा कहता हूं जिसे वशिष्ठ ने आदर पूर्वक कहा है।।36।।[1]

अब वशिष्ठ संहिता के मत से महामुद्रा कहते हैं-

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम्।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखम्।
कण्ठे बन्धं समारोप्य पूरयेद्वायुमूर्ध्वतः।।37।।
यथा दण्डाहतो सर्पो दण्डकारः प्रजायते।
ऋज्वीभूत्वा तथा शक्तिः कुण्डली सहजा भवेत्।।38।।
तथा सा मरणावस्था जायते द्विपुटीस्थिता।।39।।

महामुद्रा की विधि निम्नलिखित है-

1. वशिष्ठ से वशिष्ठ संहिता लेना चाहिए।

Scanned by CamScanner

1. बाईं एड़ी से सीवन को दाबें।
2. दायां पैर फैलाएं।
3. उसको दोनों हाथ से पकड़े।
4. जालंधर बंध लगाएं।
5. वायु को गले के ऊपर ही रोकें।

जिस प्रकार से दंडे से मारे जाने पर सांप सीधा हो जाता है उसी प्रकार से शक्ति-कुण्डलिनी[1] भी सीधी हो जाती है।।38।। यह दोनों नाडियों को मृतवत् कर देती है।।39।।

जब इडा और पिंगला शांत हो जाती हैं तब प्राण सुषुम्ना प्रवेश कर जाता है। अतः यह महामुद्रा शक्ति कुण्डलिनी का जागरण करती है।।37-39।।

महामुद्रा का शारीरिक प्रभाव बता रहे हैं-

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते।।40।।

(महामुद्रा सिद्धों के लिए) पथ्य व अपथ्य कुछ नहीं होता। नीरस द्रव्य भी सुस्वाद हो जाते हैं। यहां तक की ज़हर भी अमृत के समान पच जाता है।।40।।

अब रोग निदान के संबंध में कह रहे हैं-

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
दोषाः सर्वे क्षयं यान्ति महामुद्रा तु योऽभ्यसेत्।।41।।

महामुद्रा के अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, कब्ज, गुल्म व पुराना अजीर्ण इत्यादि समस्त दोषों का शमन हो जाता है।।41।।

यह महामुद्रा अत्यंत दुर्लभ पारमार्थिक फलों को प्रदत्त करती है। इसका महत्त्व प्रदर्शित करने हेतु व दुरुपयोग रोकने हेतु इसे किसी को न बताने का निर्देश कर रहे है-

कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।।42।।

---

1. कुण्डलिनी के तीन प्रकार हैं शक्ति कुण्डलिनी, प्राणकुण्डलिनी व पराकुण्डलिनी। शक्ति-कुण्डलिनी भुजंग स्वरूपा हैं। (स्वामी लक्षमण जी, कुण्डलिनीविज्ञानरहस्यम्, ईश्वर आश्रम न्यास (1:1997)

Scanned by CamScanner

यह कही गई महामुद्रा बढ़ती उम्र व मृत्यु का विनाश करती है इस कारण इसे अत्यंत गोपनीय रखना चाहिए व किसी को नहीं देना चाहिए।।42।।

शिष्य गुरु का अपना होता है किसी का अर्थ अन्जान व अयोग्य व्यक्ति से है। **घेरण्डसंहिता** (3.6-7) में जालंधर बंध की जगह भौहों के बीच में देखने का निर्देश है। **श्री स्वामी जी महाराज, दतिया** ने अपनी **घेरण्डसंहिता** की व्याख्या में **ग्रहयामल** का उद्धरण दिया है जिसमें जालंधर बन्ध के बाद रेचन के निर्देश को छोड़कर **हठरत्नावली** वाली विधि ही कही गई है। **ग्रहयामल** में ही आगे कहा गया है की चंद्रांग (बाएं अंग) से सिद्धि के पश्चात सूर्यांग (दाएं अंग) से सिद्धि करें। **शिवसंहिता** (4.17) में कहा है कि सिद्धासन के बाद शरीर के नवों छिद्रों को बन्द करें, फिर जालंधर बंध लगाएं उसके पश्चात चित्त को चित्त के पथ पर लगाएं। दाएं अंग के बाद बाएं अंग से अभ्यास करें व प्राणायाम में संयत रहें। **हठयोगप्रदीपिका** (दशोपदेशी- 5.13-21) में भी रेचन व बाएं के बाद दाएं अंग से करने पर यह ग्रन्थोक्त विधि पूरी होगी ऐसा निर्देश है। **गोरक्षशतक** (33) में सिद्धासन, जालंधर बंध, के पश्चात प्राणायाम की क्रिया कही गई है। **दत्तात्रेययोगशास्त्र** (262-267) में भी उपरोक्त विधि कही गई है। **ध्यानबिन्दु उपनिषद्** (93) में जालंधर बंध के बाद धीरे-धीरे रेचन का निर्देश है। **योगतत्त्वोपनिषद्** (112-114) में रेचक के बाद दाएं अंग से अभ्यास करने पर एक बार महामुद्रा लगती है ऐसा वर्णन है। इसका वर्णन **बिन्दुयोग, हठयोग संहिता, अमरौघ प्रबोध** व **योगमार्तण्ड** में भी है। इसके अलावां **हठयोगप्रदीपिका** की विभिन्न टीकाओं में भी परंपरागत भेद मिलते हैं यथा बालकृष्ण (ज्योत्सना) कहते हैं वायु को ब्रह्मरंध्र में रोकना चाहिए वहीं ब्रह्मानंद कहते हैं की कहते कि सिद्धासन के पश्चात दाएं पैर के स्थान पर पैर का अंगूठा पकड़ना चाहिए और जिह्वा बंध लगाना चागिए।।42।।

महाबंध

अथ महाबंधः

अब महाबन्ध कहते हैं —

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनि स्थाने नियोजयेत्।
वामोरुपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।।43।।

पूरयेन्मुखतो वायुं हृदये चिबुक दृढम्।
निभृत्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत्।
रचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते।।44।।

Scanned by CamScanner

अयं योगो महाबन्धस्सर्वसिद्धिप्रदायकः।
सव्यांगे च समभ्यस्य दक्षिणांगे समभ्यसेत्।।45।।

महाबन्ध की विधि इस प्रकार है —

1. बाईं एड़ी को सीवन पर लगाएं।
2. दायां पैर बाएं पैर पर रखें।
3. मुंह से वायु पान करें।
4. ठुड्डी को हृदय पर रखें।
5. मूलबंध लगाएं।
6. धीरे-धीरे रेचन करें।
7. मन को सुष्मना पर लगाएं।
8. पहले बाएं पैर से फिर दाएं पैर से यह मुद्रा करें।

यह योग सर्वसिद्धि प्रदायक महाबन्ध कहलाता है।।45।।

महाबन्ध कहने पश्चात उसके लाभ कहते हैं-

अयं च सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिविबोधकः।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः।।46।।
रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ विधवर्जितौ।।47।।

(आध्यात्मिक लाभ-) यह मुद्र समस्त नाडियों को ऊपर की तरफ चलायमान करती है। त्रिवेणी-संगम[1] करा के मन को केदार[2] में स्थापित करती है।।43।। जिस प्रकार से सुंदर स्त्री पुरुष के बिना निष्फल है उसी प्रकार से महामुद्रा महाबन्ध के बिना निष्फल है।।47।।

निष्फल- अर्थात कोई परिणाम देने असमर्थ। यह मुद्रा महामुद्रा से एकदम मिलती है। अंतर केवल इतना है की महामुद्रा में दायां पैर फैलाना होता है वहीं यहां पर दायां पैर बाएं पैर पर रखना होता है। **घेरण्डसंहिता** (3.18-19) में कहा है कि दाई एड़ी बाईं एड़ी पर रखें। मूलबन्ध लगाएं फिर जालंधर बन्ध लगाएं। **हठयोगप्रदीपिका** (दशोपदेशी- 5.23-24) में भी हठरत्नावली की विधि है। **शिव संहिता** (4.21) की विधि में अंतर है-

1. इडा, पिंगला व सुषुम्ना का संगम।
2. आज्ञा चक्र।

1. महामुद्रा के बाद दायां पैर बढ़ाएं व बाईं जंघा पर रखें।
2. मूलबंध करें।
3. अपान वायु खीचें।
4. इसे समान से मिलाएं।
5. प्राण वायु को नीचे की तरफ करें।
6. फिर तीनों को त्रिवेणी में मिलाएं।

दत्तात्रेययोगशास्त्र (268-269) में हठरत्नावली की विधि का ही वर्णन है। **योगतत्त्वोपनिषद्** (112-114) में महामुद्रा महाबन्ध के रूप में वर्णित है। यह मुद्रा **अमरौघ प्रबोध, बृहद्योगसोपान** एवं **हठयोगसंहिता** में भी है।।43-47।।

महावेध

अथ महावेधः

महा श्रेणी की मुद्राओं के क्रम में अब महावेध का वर्णन करते हैं। यह मुद्रा यहां पर अंशों में दी गई है। प्रथम अंश में कहते हैं-

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधी।
वायूनां गतिमाकृष्य निभृतं कण्ठमुद्रया।।48।।

महाबन्ध धारण करने के बाद योगी को चाहिए की एक बुद्धि से पूरण करे वायु को वेग-पूर्वक धारण कर कण्ठ मुद्रा लगाएं।।48।।

अब इसके प्रयोग के नियम कहते हैं-

अष्टधा क्रियते चैतत् यामे यामो दिने दिने।
पुण्यसंघातसन्धायी पापौघभिदुरः सदा।।49।।

अगर दिन में आठ बार यह मुद्रा नित्य की जाए तो यह पुण्यों का संचय व पापों का शमन करती है।।49।।

सम्यक् श्रद्धावतामेव सुखं प्रथमसाधने।
वह्निस्त्रीपथसेवां च प्रथमं परिवर्जयेत्।।50।।

सम्यक रूप से श्रद्धावान साधक को भी प्रारंभ में वह्नि, स्त्री व वाचाल प्रवृत्ति से दूर रहना चाहिए।।50।।

अब महावेध की विधि का दूसरा अंश कहते हैं-

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनै।
अयमेव महावेधः सिद्धिदोऽभ्यासतो भवेत्।।51।।

Scanned by CamScanner

महावेध की विधि निम्न है-

1. दोनों हाथों को जमीन पर टिकाएं।

2. नितम्बों से भूमि को ताड़ित करें।

यह महावेध है जो अभ्यास द्वारा सिद्ध होती है।।51।।

एतत्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम्।।52।।

यह तीनों (महामुद्रा, महाबन्ध एवं महावेध) जरा व मृत्यु का नाश कर दैहिक तेज की वृद्धि कर अणिमा आदि अष्ट-सिद्धियों को प्रदान करता है।।52।।

यहां पर महावेध को दो भागों में वर्णित किया है। **हठयोगप्रदीपिका** (दशोपदेशी-5.30-31) में महावेध इसी स्वरूप में एक ही बार में वर्णित है। **घेरण्डसंहिता** (3.21-22) में महाबन्ध के बाद उड्डीयान बंध लगा के कुम्भक करने की विधि कही है। **शिव संहिता** (4.23) में प्राण व अपान को एकीकृत करके विसरा में भर कर नितम्बों द्वारा भूमि ताडन का निर्देश है। **योगतत्त्वोपनिषद्** (115-116) में ग्रन्थोक्त श्लोक मिलता है पर '**निभृतं कण्ठ मुद्रया**' के स्थान पर '**निभृतं कर्ण मुद्रया**' दिया है जिसका अर्थ है कानों की मुद्रा लगाएं। ऐसा लगता है की नादानुसंधान का वर्णन है। यहां पर नितम्बों से भूमि ताडन का निर्देश भी नहीं है। इसका वर्णन **बृहदयोगसोपान** व **हठयोगसंहिता** में भी मिलता है।।48-52।।

उड्डीयान-बन्ध

अथोड्यानबन्धः

अब उड्डीयान बन्ध कहते हैं-

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डियते यतः।
तस्मादुड्डिनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।।53।।

सुषुम्ना पर लगने वाला बंध जिससे प्राण उठने लगता है उसे योगियों ने उड्डीयान बंध कहा है।।53।।

किसी विशिष्ट के आगमन से पूर्व उसके बारे में बताया जाता है इसी प्रकार से उड्डीयान की विशेषता को बताते हुए उड्डीयान बन्ध की अवतारिका लिखते हैं-

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात् तत्र बन्धोऽभिधीयते।।54।।[1]

1. यह श्लोक हठयोगप्रदीपिका के आधार पर शोधित है। अन्यथा यहां पर **मूलबन्धोऽभिधीयते** दिया था। प्रसंग उड्डीयान का है ऐसे में मूल बन्ध कहना उचित नहीं।

Scanned by CamScanner

शांत महाखग जिसके कारण उड़ने लगता है वह बन्ध अब कहते हैं।।54।।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च धारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी।।55।।

उड्डीयान बन्ध की विधि निम्न है-

1. उदर को नाभि के ऊपर व पश्चिम[1] की तरफ सिकोड़ें।[2]

यह मृत्यु-रूपी गज को परास्त करने वाले सिंह स्वरूप उड्डीयान बन्ध है।।55।।

अब सद्‌गुरु को आभार प्रकट करते हुए उड्डीयान बन्ध की चर्चा करते हैं-

गुरुणा सहजं प्रोक्तं वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्।
बाह्योड्याणं च कुरुते बाह्यालंकारवर्धनम्।।56।।

गुरुदेव द्वारा सहज ही कहे गए इस (उड्डीयान) से वृद्ध भी तरुण हो जाता है। बाह्य उड्डीयान करने से बाह्य सौंदर्य की अभिवृद्धि होती है।।56।।

पुनः एक बार बन्ध विधि का निरूपण कर प्रसंग का पटाक्षेप करते हैं-

नाभेरूर्ध्वमधो वापि तानं कुर्यात् प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्यु जयत्येव न संशयः।।57।।

प्रयत्न-पूर्वक नाभि के ऊपर व नीचे की नाड़ियों को सिकोड़े इससे छह माह में मृत्यु पर विजय हो जाती है।।57।।

घेरण्डसंहिता (3.9-10) में यही विधि वर्णित है। **हठयोगप्रदीपिका** (दशो० 5.90-97) में प्रसंग जैसा यहां पर दिया वैसा ही है लेकिन थोड़ा आगे बढ़ कर वज्रासन लगाने का वर्णन है फिर गुह्य प्रदेश का ताड़न एवं तत्पश्चात जालंधर बन्ध का वर्णन है। वहां कहा गया है की उड्डीयान बन्द से मूल बन्ध स्वतः ही लग जाता है। **शिव संहिता** (4.48-52) भी हठरत्नावली की विधि का अनुकीर्तन है। **योगबीज** (111-114) में विधि यही है साथ में यह कहा गया है कि कुम्भक के बाद व रेचन के पूर्व उड्डीयान बन्ध लगाना चाहिए। **ध्यानबिन्दु** (76-77) में हठरत्नावली की विधि है। **योगकुण्डलिन्युपनिषत्** (47-50) में एकदम अलग विधि दी है। वहां पर वज्रासन लगाकर अण्डकोश पर दबाव, पेट को पीठ की तरफ तानना व उदर, हृदय व गले पर दबाव वर्णित है। **योगशिखोपनिषद्** में भी **योगबीज** का अनुकीर्तन

1. पीछे, पीठ की तरफ।
2. उदर के अधो-भाग में स्थिर गुह्यादि चक्र की समस्त नाड़ियों को नाभि के ऊपर उठावें। - श्री स्वामी जी महाराज, दतिया- घेरण्ड संहिता (3.9-10), श्रीपीताम्बरापीठ, दतिया (4-2019)

Scanned by CamScanner

है। **योगतत्त्वोपनिषद्, बृहद्योगसोपान, हठयोगसंहिता, योग रसायन** एवं **शिव स्वरोदय** इत्यादि में भी यह वर्णित है।।53-57।।

मूल-बन्ध

अथ मूलबन्धः

मुद्राओं के वर्णन को उद्धत आचार्य अब मूलबन्ध कहते हैं —

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः।।59।।

नीचे की तरफ बहने वाली अपान जब आकुञ्चन द्वारा बल पूर्वक ऊपर की तरफ बहाई जाए तो वह बन्ध योगियों द्वारा मूल-बन्ध कहा जाता है।।59।।

भूमिका लिखने के बाद अब विधि का निरूपण कर रहे हैं —

गुदं पाष्ण्या च सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।
वारं वारं चोर्ध्वं समायाति समीरणः।।60।।

मूल-बन्ध की विधि निम्न है —

1. गुदा एड़ी से दबाएं।
2. वायु को (गुदा को ही) बल पूर्वक बार-बार सिकोड़ें जिससे वायु ऊपर की तरफ बढ़ने लगे।

मूल-बन्ध का पार्मार्थिक प्रभाव वर्णित करते हैं —

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गतौ तदा योगसिद्धिं प्राप्नोत्येव न संशयः।।61।।

मूल-बन्ध से प्राण-अपान व नाद एवं बिन्दु दोनों एक हो जाते हैं। इस कारण से यह योग सिद्धि प्रदत्त करता है इसमें कोई संशय नहीं है।।61।।

अब कायिक लाभ कहते हैं —

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।।62।।

सतत मूल-बन्ध से अपान व प्राण के एक होने से मूत्र व मल इत्यादि का क्षय होता है व वृद्ध भी युवा हो जाता है।।62।।

अपान वायु ऊपर उठ कर एक-एक चक्र में पहुंचती है। इसी क्रम में जब वह मणिपूर में पहुंचती है तो क्या होता है यह प्रश्न करते हुए कहते हैं —

Scanned by CamScanner

अपाने चोर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डले।
तथानलशिखादीप्तिर्वायुना प्रेरिता यथा।।63।।

अपान ऊर्ध्व गमन कर जब वह्निमण्डल[1] में पहुंचती है तब यह अनलशिखा[2] प्रेरित करती है।।63।।

फिर क्या होता है? वही कहते हैं —

यातायातौ वह्न्यपानौ मूलरूपस्वरूपकौ।
तेनाभ्यन्तः प्रदीपस्तु ज्वलनो देहजस्तथा।।64।।

फिर अग्नि व अपान एक-दूसरे से मिल कर स्व स्वरूप को प्राप्त करते हैं व शरीर का ताप बढ़ता है।।64।।

अब भगवद्कृपा सिद्धि स्वरूप कुण्डलिनी जागरण में इसके प्रयोग का वर्णन करते हैं —

दण्डाहता भुजंगीव निश्चितं ऋजुतामियात्।
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा।।65।।

दण्ड से आहत भुजंगिनी निश्चित ही सीधी हो कर बिल में प्रवेश करती है तथा फिर ब्रह्मनाडी के अंदर विहार करती है। इसलिए नित्य मूल-बन्ध का अभ्यास योगी का कर्तव्य है।।65।।

इस मुद्रा से पूर्व किसी आसन विशेष में बैठना आवश्यक है। **घेरण्ड संहिता** (3.14-15) में उपरोक्त क्रमों के पश्चात नाभि को पीठ से लगाने का निर्देश है। **हठयोगप्रदीपिका** (दशोपदेशी- 5.79-89) में इसे मूलमुद्रा कहा है, वहां पर विधि हठरत्नावली की है। **शिव संहिता** (4.41-44) में यही विधि है। **योग-बीज** (109) में भी हठरत्नावली की है। **दत्तात्रेय-योगशास्त्र** (285-289) में हठरत्नावली के श्लोकों का अनुकीर्तन है। इसी प्रकार से **ध्यानबिन्दु** (74-75) में हठरत्नावली के श्लोकों का अनुकीर्तन है। **योगतत्त्वोपनिषद्** (120-121) में भी यही है। **योगशिखोपनिषद्** (1.104-105) में गुदा का ताड़न वर्णित है। **वराहोपनिषद्** (5.38) में गुदा व योनि दोनों का संकोच करने का निर्देश है। **तेजोबिन्दु** (1.27) में सिद्धासन को ही मूल-बन्ध माना गया है। इसी प्रकार से यह मुद्रा **योगचूडामणि**, **योग रसायन** व **योगतारावली** इत्यादि में भी वर्णित है।।59-65।।

---

1. नाभि क्षेत्र
2. आग की लपटें - भूख

Scanned by CamScanner

जालन्धर मुद्रा

अथ जालन्धरः

अब जालन्धर मुद्रा (बन्ध) की विधि कहते हैं —

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः।
बध्नाति हि शिराजालं नाधो याति नभोजलम्।।66।।

जालन्धर मुद्रा की विधि निम्नलिखित है —

1. कण्ठ को सिकोड़ें।
2. ठुड्डी को दृढता पूर्वक हृदय पर स्थापित करें।

यह जालन्धर कहलाने वाला बंध जरा एवं मृत्यु का नाश करता है। यह सिर की समस्त नसों को बांध देता है जिससे अमृत नीचे नहीं जाता है।।66।।

अब जरा व मृत्यु के विनाश का कारण बता रहे हैं —

ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठसंकोचने कृते।
न पीयूष पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति।।67।।

इसलिए जालन्धर बन्ध में कण्ठ का जब संकोच करते हैं तो अमृत अग्नि में नहीं गिरता है न ही वायु वेग पकड़ती है।।67।।

तीनों बन्ध एक साथ महाविलय को ले जाते हैं। यही कहते हैं —

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम्।
सर्वेषां योगतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः।।68।।

यह तोनों बन्ध श्रेष्ठ महासिद्धों द्वारा सेवित हैं। समस्त योग व तन्त्र शास्त्रों में योग के विद्वानों ने इसे साधन कहा है।।68।।

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः।।69।।

निचला भाग दृढता पूर्वक बान्धें (मूलबन्ध)। फिर गले को सिकोड़ (जालन्धर बन्ध) कर मध्य भाग को पीठ की तरफ सिकोड़ें (उड्डीयान बन्ध) से प्राण ब्रह्म-नाडी में प्रवेश करता है।।69।।[1]

अब मूलबन्ध व उड्डीयान बन्ध के विषय में कहते हैं —

1. यहां पर तीनों बन्ध लगाने का क्रम कहा गया है।

Scanned by CamScanner

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत्।
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमं पथम्।।70।।

मूलबन्ध लगाके उड्डीयान बन्ध लगाएं। इससे इडा व पिंगला बन्ध जाती हैं व वायु पीछे (सुषुम्ना) से प्रवाहित होती है।।70।।

अब इस विधान के वायु पर प्रभाव को कहते हैं —

अनेन विधानेन प्रयाति पवनो लयम्।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा।।71।।

इस विधान से वायु का लय होता है इसलिए इसके बाद जरा व मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है।।71।।

जाल से तात्पर्य सिर की नसों के जाल से है। मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध व जालन्धर तीनों का क्रमशः साथ-साथ प्रयोग, विशिष्ट व पूर्ण फलदाई है। **घेरण्ड संहिता** (3.12) में कहा गया है कि यह बन्ध सोलह आधारों पर विजय दिलाता है। **हठयोगप्रदीपिका** (दशोपदेशी- 5.99-104) में भी यही विधि है लेकिन षोडश-आधारों के नियंत्रण हेतु उड्डीयान बन्ध को उपयुक्त बताया है जिसका कारण नाभि का समस्त नाडियों का केन्द्र होना है। वहां पर कहा गया है कि क्रमिक रूप से तीनों बन्ध लगाने से नाडियां निश्चित ही स्तम्भित होती हैं। **शिव संहिता** (4.38-40) में भी हठरत्नावली की विधि है। **योग बीज** (115-116) में कहा गया है की जालन्धर बन्ध पूरक के बाद लगाते हैं। **दत्तात्रेययोगशास्त्र** (275-280) में कहा है की यह बन्ध अमृत स्रावण का मार्ग विपरीत दिशा में कर देता है। **ध्यानबिन्दु उपनिषद्** (78) में हठरत्नावली की अनुकीर्तन है। **योगकुण्डल्युपनिषद्** (1.51) पूरक के उपरांत जालंधर बन्ध लगाने का निर्देश है। इसके अलावां **योगचूडामणि उपनिषद्**, **योग रसायन**, **बृहद्योग सोपान**, **हठयोग संहिता** व **बिन्दु-योग** में भी इसका वर्णन है।।66-71।।

विपरीतकरणी मुद्रा

अथ विपरीतकरणी

अब विपरीतकरणी का प्रसंग प्रारंभ करते हुए इसकी आवश्यकता बता रहे हैं—

यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपि च।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डं विनाशि च।।72।।

जो भी चन्द्रमा से दिव्य अमृत बहता है वह सर्व सूर्य ग्रसित कर लेता है। इसी कारण से पिण्ड विनाशी है।।72।।

Scanned by CamScanner

अब उपरोक्त बाधा का उपाय कहने से पूर्व उसकी भूमिका तैयार करते हैं —

तत्रास्ति दिव्यं करणं सूर्यस्य मुखबन्धनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः।।73।।

एक दिव्य करण (विपरीतकरणी) है जो सूर्य के मुख को बान्ध देती है। उसे केवल गुरु के उपदेश से जानना चाहिए, कोटि-कोटि शास्त्रार्थ से नहीं।।73।।

अब विपरीतकरणी की वर्ण व्युत्पत्ति कहते हैं —

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते।।74।।

नाभि को ऊपर व तालु को नीचे, सूर्य ऊपर व चन्द्रमा नीचे ऐसा करने वाली विपरीत (करणी) गुरु-मुख से ही लभ्य है।।74।।

इसके कयिक लाभ बताते हुए कहते हैं —

करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी।।75।।

विपरीतकरणी नाम की यह मद्रा समस्त व्याधि का विनाश करती है इसके नित्य अभ्यास से जठर अग्नि बढ़ती है।।75।।

विपरीतकरणी के साधक की चर्या कहते हैं —

आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकेन वै।
अल्पहारो यदि भवेद्देहमग्निर्दहेत् क्रमात्।।76।।

साधक को विपुल भोजन करना चाहिए। अल्पाहार करने से देह के अग्नि में भस्म होने की संभावना है।।76।।

अब विपरीतकरणी की विधि कहते हैं —

अधःशिरश्चोर्ध्वपादौ क्षणं स्यात्प्रथमे दिने।
क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने।।77।।

विपरीतकरणी की विधि इस प्रकार है —

1. सिर को नीचे व धड़ को ऊपर रखें।
2. पहले दिन थोड़ी देर के लिए करें।
3. दिनो-दिन समय को बढ़ाएं।

वलितं पलितं चैव षण्मासान्न तु दृश्यते।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित्।।78।।

Scanned by CamScanner

छह मास के अभ्यास से झुर्रियां व भूरे बाल गायब हो जाते हैं। नित्य एक याम अभ्यास करने से साधक काल को जीत लेता है।।78।।

स्वस्थं यो वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
करणी विपरीताख्या श्रीनिवासेन लक्षिता।।79।।

श्रीनिवास द्वारा कही गई इस विपरीतकरणी को स्वस्थ्य व्यक्ति योग के नियमों का पालन किए बिना भी कर सकता है।।79।।

इसे विपरीतकरण के नाम से भी जाना जाता है। सूर्य का स्थान नाभि में होता है व चन्द्र ब्रह्मरन्ध्र में होता है।[1] चन्द्रमा से जो अमृत टपकता है वह सूर्य के ताप से नष्ट हो जाता है। अगर सूर्य में इस अमृत को गिरने से रोक दिया जाए तो यह अमृत शरीर का पोषण करता है। विपरीतकरणी मुद्रा से चन्द्रमा का अमृत नीचे नहीं टपकता है। कोई भी आसन जिसमें सिर नीचे व पैर ऊपर हो वह विपरीतकरणी मुद्रा होती है। **घेरण्ड संहिता** (3.33-36) में यही अनुकीर्तन है। **हठयोगप्रदीपिका** (दशोपदेशी-5.107-114) में भी यही अनुकीर्तन है। **शिव संहिता** (4.45-47) में भी यही अनुकीर्तन है। **दत्तात्रेय योगशास्त्र** (290-298) में यह विपरीतकरण के नाम से प्रसिद्ध है वहां पर यहीं का अनुकीर्तन है। **योग तत्त्वोपनिषद्** (122) में भी यही अनुकीर्तन है। **हठयोग संहिता** (37.41.2) में यह विपरीतकरी मुद्रा के नाम से वर्णित है।।72-79।।

वज्रोली

अथ वज्रोली

अब वज्रोली प्रकरण प्रारंभ करने के लिए उसकी भूमिका तैयार करते हैं —

वज्रोलीं कथियिष्यामि गोपितां सर्वयोगिभिः।
अतीव तद्रहस्यं हि न देयं यस्य कस्यचित्।।80।।

अब मैं वज्रोली कहना प्रारंभ करता हूं जिसे समस्त योगियों ने गोपनीय रखा है। यह विकट रहस्य है इसलिए इसे किसी को नहीं दोना चाहिए।।80।।

वज्रोली के योग्य साधक के विषय में कहते हैं —

स्वमानैस्तु समो यस्मात् तस्यैव कथयेद् ध्रुवम्।
पुत्रस्यापि न दातव्यं गुरुशिष्यक्रमं बिना।।81।।

1. घेरण्ड संहिता (3.33)

Scanned by CamScanner

अपने समान (योगी) जो हो उसी को यह उपदेशित करना चाहिए। गुरु–शिष्य परंपरा से बाहर पुत्र को भी नहीं देना चाहिए।।81।।

वज्रोली मुद्रा

अब वज्रोली से होने वाले परमार्थ लाभ कहते हैं —

कुण्डलीबोधनं सम्यक् नाडीनां परिशोधनम्।
अपानप्राणयोरैक्यं कार्यं वज्रोलीकर्मणा।।82।।

नाडी–शोधन कर, प्राण–अपान के ऐक्य से कुण्डलिनी का पूर्ण जागरण करने का कार्य वज्रोली करती है।।82।।

ऐसी गूढ़ यौगिक मुद्रा का उपदेश किस परंपरा के अनुरूप हो व क्या यह केवल पुरुषों के लिए हो या स्त्री पुरुष दोनों के लिए? इसका निराकरण करते हुए कहते हैं—

अभ्यासस्य क्रमं वक्ष्ये सम्प्रदायानुसारतः।
कामिनी वा नरो वाथ वज्रोलीं बुद्धिमान्नयेत्।।83।।

अभ्यास का क्रम अपने सम्प्रदाय के अनुसार कहता हूं। यह वज्रोली बुद्धिमान युवती व पुरुष दोनों के लिए है।

फूत्कारोचितं लिंगं रन्ध्राग्रि बहिः स्थाप्यमेकं लिंगरन्ध्रमध्ये स्थाप्यमपरं मिलित्वा नालद्वयनिरूपणादौ क्रियते। तयोर्मध्ये फूत्कारोचितं नालस्वरूपं प्रदर्श्यते।।

वज्रोली की विधि निम्नलिखित है —

1. शिश्न मुण्ड पर एक नली; जिससे वायु फूकी जा सके, लगाएं।
2. दूसरी नली मूत्र मार्ग में इस प्रकार से लगाएं की दोनों नलियां आपस में जुड़ जाएं।

नाली–परिमाण

अब नली का विश्लेषण कर रहे हैं —

काञ्चनस्य च रूपस्य ताम्रस्याप्यथवाऽयसः।
नालं कुर्यात्प्रयत्नेन फुत्कारकरणोचितम्।।84।।

सोना, चांदी, ताम्बा अथवा लोहे की नाल; जिससे सावधानी पूर्वक फूंका जा सके, को प्रयत्न पूर्वक तैयार करना चाहिए।।84।।

अब नली के परिमाण व स्वरूप का विश्लेषण कर रहे हैं —

Scanned by CamScanner

विंशत्यंगुलदीर्घरुचिरं त्वादौ सुवृत्ताल्पगम्
फूत्कारोचितकालरूपसदृशं नालं हठाभ्यासिभिः।
प्रोक्तं तादृशमेव लिंगविवरे यत्नेन संस्थापयेत्
फूत्कारं तदन्तरं प्रकुरुतां वायुर्यथा सञ्चरेत्।।85।।

सटीक बेलनाकार बीस अंगुल लम्बी; नाग की फुंफकार ध्वनि के साथ वायु फूंकने योग्य, नाल का चयन हठयोगी को करना चाहिए। जैसे कहा वैसे ही लिंग के छिद्र में सावधानी पूर्वक स्थापित करना चाहिए। फिर उसमें फूंकना चाहिए जिससे वायु का संचार हो।।85।।

हठयोगप्रदीपिकाकारस्तु

अब हठयोगप्रदीपिका की विधि की समीक्षा कर रहे हैं —

यत्नतः शारनालेन फूत्कारं वज्रकन्धरे।
शनैः शनैः प्रकूर्वीत वायुसञ्चारकारणात्।।86।।

प्रयत्न-पूर्वक शनैः शनैः मूत्र-नाल में शर-नाली के माध्यम से फूंकें।।86।।

हठप्रदीपिकाकार के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि —

हठप्रदीपिकाकारमतं हठयोगाभ्यासेऽज्ञानविलसितमित्युपेक्षणीयम्।

हठप्रदीपिकाकार का यह मत हठयोग अभ्यास के अज्ञान से पुरित है। इसकी उपेक्षा करनी चाहिए।[1]

यदि स्याच्छरनाले हि भृशं वायुर्न सञ्चरेत।
वायु सञ्चारणे त्याज्ये शरनालादिकं मतम्।।87।।

अगर शर-नाल में वायु का संचार न हो तो शरनाल का त्याग करना चाहिए।।।87।।

अब पुनः प्रकृत विषय पर लौटते हुए कहते हैं —

लिंगरन्ध्रमध्ये स्थापनीयनालस्वरूपं लिंगरन्ध्रविस्तारार्थं निरूप्यते।

अब लिंग के छिद्र में छिद्र के विस्तार हेतु स्थापनीत नाल का वर्णन करते हैं।

---

1. स्वामी अनंत भारती द्वारा संपादित **हठयोगप्रदीपिका** (3.86) में **शस्तनालेन फूत्कारं** अर्थात चिकनी-नाल से फूंकें ऐसा कहा गया है। **दशोपदेशी** (5.118) में **शरनालेन फूत्कारं**। घरोटे जी ने अपनी अंग्रेजी टीका में लिखा है की वन में रहने वाले योगी को यह सब कहां से मिलेगा। शायद इसी कारण से शर-नाल (गन्ने की पतली नाल) का वर्णन है। वे भी कहते हैं की **हठयोगप्रदीपिका** की बहुत सी पांडुलिपियों में शरनाल का वर्णन नहीं है।

Scanned by CamScanner

तन्तुवत् कनकं नालं नागं ताम्रातिनिर्मलम्।
नालद्रव्यमिदं प्रोक्तं श्रीनिवासेन योगिना।।88।।

श्रीनिवास की मत से अति-शुद्ध धागे के समान सोने, सीसे या ताम्बा द्रव्य से बनी नाल होनी चाहिए।।88।।

अब नाल का परिमाण बताते हैं —

निर्मितं त्रिपलैर्नागैर्द्वादशांगुलदीर्घकम्।
छत्राकारं प्रकूर्वीत नालं स्निग्धं सितं मृदु।।89।।

सीसे की तीन पल[1] वजनी, बारह अंगुल लम्बी, छत्र के आकार वाली, चिकनी, सफेद व कोमल नाल बनाएं।।89।।

नियोज्यं लिंगरन्ध्रे च निर्भीतः स्थापयेत् क्षणम्।
लिंगस्थैर्यं लिंगदाढर्यं बहुवीर्यविवर्धनम्।।90।।

लिंग के छिद्र में नली डाल कर निर्भय हो कुछ क्षण तक खड़े रहें। यह लिंग को स्थिर व मजबूत बनाता है व वीर्य की वृद्धि करता है।।90।।

नालं काञ्चननिर्मितं मृदुतरं सांगं च नागैः कृतम्।
छत्राकारमतः पलत्रययुतं दैर्घ्यं वितस्तैर्मितम्।।91।।

एक अत्यन्त कोमल छत्राकार तीन पल भारी व 12 अंगुल लम्बी स्वर्ण निर्मित नाल, जिसका कि कुछ अंश सीसे का हो, बनाएं।।91।।

नालं तादृशमेव लिंगविवरे यत्नेन संस्थापयेत्।।92।।

ऐसी नाल को लिंग के छिद्र में सावधानी पूर्वक स्थापित करें।।92।।

अब इस मुद्रा की विशेषता कहते हैं —

विस्तारं तदन्तरं दृढतरं लिंगं ततो जायते।
वायुसंञ्चारणे जाते ऊर्ध्वमाकृष्यते बलात्।।93।।

यह मूत्र नाल को चौड़ा कर देता है जिससे लिंग मजबूत होता है। वायु का सञ्चार होने के कारण (वीर्य को) ऊपर की तरफ खींच सकते हैं।।93।।

मैथुन-वज्रोली (पुरुषों के लिए)

अब मैथुन-वज्रोली विधि का निरूपण कर रहे हैं —

नारीं रम्यामधःस्थाप्य रहस्ये तु दिगम्बरं।

---

1. लगभग 280 ग्राम।

Scanned by CamScanner

स्वयं दिगम्बरो भूत्वा उत्तानायास्तथोपरि।
शयित्वा कुम्भकं कृत्वा किञ्चिन्नारी स्वयं च हि।।94।।
अन्योऽन्यं गाढमालिंग्य योनौ लिंगं निरोपयेत्।
मिथस्त्वधरपानं च कुर्यात् गलरवादिकम्।।95।।
विलिखेच्च नखेनैव धारयेत्स्वेदसम्भवम्।
नार्या भगात् पतद्विन्दुमभ्यासेनोद्ध्वर्मााहरेत्।।96।।

विधि निम्नलिखित है —

1. निर्जन स्थान पर निर्वस्त्र हों।
2. सुंदरी स्त्री को नीचे लेटाएं।
3. स्वयं उसके ऊपर लेटें।
4. कुछ कुम्भक का प्रयास करें।
5. एक दूसरे को गले लगाएं।
6. लिंग को योनि में रोपित करें।
7. दोनों एक-दूसरे के अधरों का पान करें।
8. गले से ध्वनि निकालें।
9. अपने नख एक दूसरे के शरीर पर चलाएं।
10. अपने गिरने वाले विर्य को यथा-संभव रोकें।
11. नारी के भग में अगर बिन्दुपात हो जाए तो अभ्यास पूर्वक उसे वापस अन्दर खीचें।

चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।
एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्।।97।।

अपने पतित बिन्दु को पुनः खींच कर उसकी रक्षा करें। इस प्रकार से बिन्दु को संरक्षित करने से योगी मृत्यु को भी जीत लेता है।।97।।

रज-बिन्दु रहस्य

अब बिन्दु धारण करने के महत्व को कहते हैं —

मरणं बिन्दुपाते जीवितं बिन्दुधारणात्।
चित्तायतं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः।।98।।

Scanned by CamScanner

बिन्दुपात से मृत्यु होती है बिन्दु धारण करने से जीवन प्राप्त होता है। शुक्र–पात चित्त के अधीन होता है व जीवन शुक्र–पात के अधीन। इसलिए मन व शुक्र को प्रयत्न पूर्वक नियंत्रित करना चाहिए।।98।।

एवं यो भजते नारी तामेव मनसा स्मरेत्।।99।।

इस प्रकार से जिस स्त्री का संग किया जाता है उसका सदा मन में स्मरण करना चाहिए।।99।।

यह रज व वीर्य ही नवजीवन का आधार हैं —

सिन्दूर सदृशं स्त्रीणांमास्थायिकं रजः।
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं रजो बिन्दुं च रक्षयेत्।।100।।

स्त्री की योनि में सिन्दूर के समान रज स्थित होता है। ऋतुमती को रज व बिन्दु की रक्षा करनी चाहिए।।100।।

ऋतुकाले यथा शुक्रं निर्दोषं योनिसंगतम्।
तथा तन्मारुतेनैव स्त्रीरक्तेनैकतामियात्।।101।।
आयुः कर्म च वित्तं च विद्या चैव चतुष्टयम्।
आधानकाले लिखितं गर्भस्थस्यैव देहिनः।।102।।

ऋतुकाल में जब योनि में स्वच्छ शुक्र का वायु के प्रभाव से स्त्री रक्त से ऐक्य होता है (तब गर्भाधान होता है)।।101।। देही के गर्भाधान के अवसर पर ही आयु, कार्यक्षेत्र, वित्त व विद्या इन चारों का निर्णय हो जाता है।।102।।

जीव के नया शरीर धारण करने के अवसर पर होने वाली अन्य क्रियाओं का वर्णन करते हुए बिन्दु रक्षण से दीर्घायु का कारण कहते हैं —

यावद् यावदयं देहो ध्रियते गर्भशायिनः।
तावत्तावदभिव्यक्तिर्लिंगस्यास्य प्रजायते।।103।।

गर्भशायी जीव जैसे ही देह धारण करता है तभी उसका लिंग शरीर भी उत्पन्न हो जाता है।।103।।

आयुष्यं वर्धते नित्यं यदि बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
उत्पत्तिस्थितिसंहारे बिन्दुरेको हि कारणम्।।104।।

बिन्दु के नित्य स्थिर होने से आयु बढती है। बिन्दु ही श्रृष्टि, स्थिति व संहार का प्रमुख कारण है।।104।।

इस मुद्रा की यौगिक परिणति कहते हैं —

Scanned by CamScanner

ततो भवेद्राजयोगी नान्तरा भवति ध्रुवम्।
न चिन्मात्रेण सिद्धिः स्यादभ्यासात् पवनस्य वै।।105।।

तभी साधक राजयोगी होता है अन्य किसी विधि से नहीं। न की चिन्मात्र पर ध्यान केन्द्रित करने अथवा पवन के अभ्यास से।।105।।

इस प्रकार के वक्तव्य साधक को विधि के प्रति विश्वस्त करने के लिए आचार्यों द्वारा दिए जाते हैं।

मैथुन-वज्रोली (स्त्रियों के लिए)

पुरुषों के लिए विहित विधि के कथन के पश्चात अब स्त्रियों हेतु अभ्यास क्रम कहते हैं —

अभ्यासस्य क्रमं वक्ष्ये नारीणां च शनैः शनैः।।106।।

अब धीरे-धीरे स्त्रियों के लिए वर्णित अभ्यास क्रम को कहते हैं।।106।।

लिंगं कराभ्यामाकुञ्च्य मणिं चान्तः प्रवेशयेत्।
यावन्मणिप्रवेशः स्यात्तावदभ्यासमाचरेत्।
ततः परं समर्था चेदूर्ध्वमाकुञ्चयेद्रजः।।107।।

स्त्रीयों के वज्रोली अभ्यास की विधि निम्न है —

1. स्त्री लिंग को हाथ में भरे।
2. फिर शिश्न मुण्ड को अंदर डाले।
3. प्रयत्न पूर्वक जैसे भी हो मणि को अंदर डाले।
4. इसमें सफल होने के पश्चात रज को ऊपर की तरफ खींचे।

इस क्रिया से नारी के देह पर पड़ने वाले प्रभाव को कहते हैं —

तस्याः शरीरे नादस्तु बिन्दुतामेव गच्छति।
स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीकृत्य स्वदेहजौ।।108।।

जब बिन्दु व रज एक हो जाता है तब उनके देह में नाद बिन्दु में परिवर्तित हो जाता है।।108।।

वज्रोल्यभ्यासयोगेन योगसिद्धिः करे स्थिता।
अज्ञातयोगशास्त्रेण वज्रोलीं स्त्री तु नाभ्यसेत्।।109।।

वज्रोली की सिद्धि से योग-सिद्धि हाथ में आ जाती है लेकिन योग-शास्त्र को जाने बगैर स्त्रियों को वज्रोली का अभ्यास नहीं करना चाहिए।।109।।

Scanned by CamScanner

अब इस योग के साधकों को रेखांकित कर रहे हैं —

अयं योगः पुण्यवतां धन्यानां तत्त्वशालिनाम्।
निर्मत्सराणां सिध्येत् न तु मत्सरशालिनाम्।।110।।

यह योग पुण्यवान, गुरु कृपा धन्य तत्त्वशाली निरालसीयों को सिद्ध होता है न कि आलसियों को।।110।।

सर्वेषामेव योगानामयं योगः शुभंकरः।
तस्मादयं वरिष्ठौऽसौ भुक्तिमुक्तिफलप्रदः।।111।।

समस्त योगों में यह योग शुभ है। इसलिए यह (सब में) वरिष्ठ भुक्ति-मुक्ति फलदाता है।।111।।

सुगन्धिर्योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्।।112।।

बिन्दु धारण करने से योगी की देह सुगन्ध से भरपूर हो जाती है।।112।।[1]

वज्रोली की यहां दो विधियां कही गई हैं। एक पुरुष योगी हेतु व एक स्त्री योगिनी हेतु। **घेरण्ड संहिता** (3.45) में वज्रोली मुद्रा कही गई है। वहां पर हाथ धरा पर टिका कर दोनों पैर व मुख ऊपर की तरफ करने का निर्देश है। **हठयोगप्रदीपिका** का वर्णन स्वयं श्रीनिवास जी ने किया है। **षट्कर्मसंग्रहः** (5,24,26) में इस मुद्रा के अंगभूत सात कर्म बताए गए हैं। **दत्तात्रेय योगशास्त्र** (299-321) में सांकेतिक भाषा में स्त्री-पुरुष संयोगात्मक विधि कही गई है। **योगतत्त्वोपनिषद्** (126) में वज्रोली का महत्त्व कहा है।।82-112।।

सहजोलि

अथ सहजोलिः

वज्रोली के उपरांत सहजोली का वर्णन करने क्रम में सहजोली व अमरोली का वर्णन करते हैं —

सहजोली चामरोली वज्रोल्या एव भेदतः।।113।।

सहजोली व अमरोली वज्रोली के ही भेद हैं।।113।।

जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम्।
वज्रोली मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोश्चांगलेपनम्।।114।।

1. यह सुविज्ञ है की म.म. गोपीनाथ कविराज जी के गुरु व वर्तमान समाज के महान सिद्ध स्वामी विशुद्धानन्द परमहंस जी के शरीर से दिव्य सुगन्ध आती थी इस कारण से उन्हें "गन्ध बाबा" भी कहा जाता है।

Scanned by CamScanner

सहजोली की विधि निम्न है —

1. वज्रोली- मैथुन करें।

2. गोमय के कण्डे को जला कर उसकी भस्म स्त्री व पुरुष पूरे शरीर पर लगाएं।

आसनीयो सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणम्।
सहजोलिरियं प्रोक्ता कर्तव्या योगिभिः सदा।।115।।

वे सांसारिक प्रपञ्चों से दूर सुख-पूर्वक विराजमान रहते हैं इस कारण यह कही गई सहजोली योगियों का कर्तव्य है।।115।।

हठयोगप्रदीपिका (दशोपदेशी-5.113-115) में भी यही विधि है। **दत्तात्रेययोगशास्त्र** (315-316) में कहा गया है की अमरोली व सहजोली को वज्रोली के बाद करना चाहिए। **योगतत्त्वोपनिषद्** में भी वज्रोली, सहजोली व अमरोली का वर्णन है लेकिन विधि केवल अमरोली की ही दी है। **हठयोगसंहिता** में भी सहजोली का नाम आता है।।113-115।।

अमरोली

अथामरोली

अब अमरोली का वर्णन करते हैं —

विहाय नित्यां प्रथमं च धारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम्।
निषेव्यते शीतलमध्यधारां
कापालिकैः खण्डमतैरनर्घ्याम्।।116।।

अमरोली की निम्न विधि है —

1. शुरू की व अन्त की अमकी को त्यागें।

2. बीच वाली का सेवन करें।

यह खण्ड-कापालिकों की विधि है।।116।।

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्याद्दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यमरोलीति कथ्यते।।117।।

वज्रोली के नित्य-अभ्यास के साथ नित्य अमरी[1] का पान करना व सूंघना अमरोली कहलाता है।।117।।

1. मूत्र

Scanned by CamScanner

हठयोगप्रदीपिका (दशोपदेशी- 5.116) में यही विधि वर्णित है। **दत्तात्रेययोगशास्त्र** (315-316) में कहा गया है की अमरोली व सहजोली को वज्रोली के बाद करें। **योगतत्त्वोपनिषद्** (128) में यही विधि दी है। यहां यह कहना है कि वज्रोली की जो विस्तृत विधि इस ग्रन्थ में दी गई है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। श्रीनिवास इसके लिए अभिनन्दन को पात्र हैं।।116-117।।

शक्तिचालिनी मुद्रा

अथ शक्तिचालनम्

अब शक्तिचालिनी के अंतर्गत कुण्डलिनी जागरण की विधि कहते हैं —

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेदभीः।
निद्रां विहाय सा ऋज्वी ऊर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्।।118।।

जिस प्रकार से सोती हूई नागिन को पूंछ से पकड़ कर उठा लिया जाता है उसी प्रकार से कुण्डलिनी को निद्रा से जगाना चाहिए। वे सहसा ऊर्ध्व-गमन प्रारंभ कर देती हैं।।118।।

शक्तिचालिनी मुद्रा से पूर्व जीभ को ढ़कने वाले वस्त्र का वर्णन करते हैं —

द्वादशांगुलदैर्घ्यञ्च विस्तृतं च षडंगुलम्।
हठज्ञै मृदुलं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम्।।119।।

हठयोग सिद्ध को बारह अंगुल लम्बे व छह अंगुल चौड़े कोमल वस्त्र से अपनी जिह्वा ढकनी चाहिए।।119।।

अब विधि कहते हैं —

विस्तारितेन तां जिह्वां वेष्टयित्वा ततः सुधीः।
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां च हस्ताभ्यां धारयेद् ध्रुवम्।
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणे च पुनः पुनः।।120।।

शक्तिचालिनी की विधि निम्नलिखित है —

1. जीभ को बाहर निकालें।
2. उसे वस्त्र से लपेटें।
3. दोनों हाथों के अंगूठों व तर्जनी से उसे पकड़ें।
4. अपने सामर्थ्य के अनुसार पहले दाएं फिर बांए इसे चलाएं।

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भीतश्चालयेदसौ।

Scanned by CamScanner

ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णां कुण्डलीगताम्।
षण्मासाच्चलनेनैव शक्तिस्तस्योर्ध्वगा भवेत्।।121।।

दो मुहूर्त पर्यंत अभ्यास करने से शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश कर ऊर्ध्व-गमन करती है। छह मास तक चालन करने पर शक्ति ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है।।121।।

अब शक्ति-चालन के अंतर्गत प्राण नियमन कहते हैं —

सूर्येण पूरयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालयेत्।
शब्दगर्भाचालनेन योगी रौगैः प्रमुच्यते।।122।।

दाएं नासा पुट से सांस लेकर शब्दगर्भा को चलाकर सरस्वती[1] का चालन करें। इससे योगी रोग मुक्त हो जाता है।।122।।

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनः।
किमत्र बहुनोक्तेन मृत्युं जयति लीलया।।123।।

जो योगी शक्तिचालन कर लेता है वह सिद्धियों का भाजन करता है। बहुत क्या कहें वह काल को जीत लेता है।।123।।

सशैलवनधाष्यास्तु यथाधारोऽहि नायकः।
अशेषयोगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली।।124।।

जिस प्रकार से भगवान शेषविभु पर्वत, वन सहित पृथ्वी के आधार हैं उसी प्रकार से समस्त योग व तन्त्रों का आधार कुण्डलिनी हैं।।124।।

अब भगवती श्री कुण्डलिनी की स्तुति में उनके अनेक नाम याद कर रहे हैं —

फणी कुण्डलिनी नागी चक्री वक्री सरस्वती।
ललना रसना क्षत्री ललाटी शक्तिः शंखिनी।।125।।

रज्वी भुजंगी शेषा च कुण्डली सर्पिणी मणिः।
आधारशक्तिः कुटिला कराली प्राणवाहिनी।।126।।

अष्टवक्रा षडाधारा व्यापिनी कलनाधरा।
कुरीत्येवं च विख्याताः शब्दाः पर्यायवाचकाः।।127।।

फणि, कुण्डलिनी, नागी, चक्री, वक्री, सरस्वती, ललना, रसना, क्षत्री, ललाटी, शक्ति, शंखिनी, रज्वी, भुजंगी, शेषा, कुण्डली, सर्पिणी, मणि, आधारशक्ति, कुटिला, कराली, प्राणवाहिनी, अष्टवक्रा, षडाधारा, व्यापिनी, कलनाधरा एवं कुरी यह समस्त शब्द (नाम) भगवती श्री कुण्डलिनी के पर्यायवाची हैं।।125-127।।

---

1. कुण्डलिनी

Scanned by CamScanner

इति शक्तिचालनम्

यह शक्तिचालन का वर्णन है।

घेरण्ड संहिता (3.49-60) में नाभि पर वस्त्र बांध कर, सिद्धासन लगा कर वायु नियमन करने का विधान है। वहां पर यह विधि नहीं है। **हठयोगप्रदीपिका** (दशोपदेशी- 5.172-174) में भगवती श्री कुण्डलिनी व शक्तिचालिनी मुद्रा का विशद वर्णन है। वहां पर कहा गया है कि प्रातः व सायं आधा प्रहर तक सूर्यनाडी से वायु भर कर भगवती श्री कुण्डलिनी को जाग्रत करने अभ्यास करना चाहिए। वहां पर वज्रासन लगाकर कुण्डलिनी चालन व भस्त्रिका का विधान है। कुण्डलिनी चालन के लिए नाभि का आकुञ्चन करने का निर्देश है। **शिव संहिता** (4.53-57) में अपान वायु द्वारा शक्तिचालन की विधि कही है। **योगशिखोपनिषद्** (1.81-82) में दृढ़ता पूर्वक वायु निरुद्ध कर शक्तिचालन का विधान कहा गया है जिससे आठ फेटे लगाए हूईं कुण्डलिनी को जागरण होता है।।118-127।।

खेचरी मुद्रा

अथ खेचरी मुद्रा

अब अन्तिम मुद्रा खेचरी का वर्णन करते हैं —

खेचरी चान्तिमा मुद्रा अचिराद् ब्रह्मरन्ध्रगा।
सुषुम्णगामृता मूर्ध्वा लम्बिका वाचकाः स्मृताः।।128।।

खेचरी अंतिम मुद्रा है जो तत्काल ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचाती है। इन्हें सुषुम्नगा, मूर्ध्वा व लम्बिका इनके वाचक इन नामों से इनका स्मरण करते हैं।।128।।

यह महति मुद्रा ज्ञान व योग क्रिया का सम्मिश्रण है। इसे सिद्ध करने के लिए परंपरागत सद्गुरु व शास्त्र दोनो की शरण लेना आवश्यक है —

न क्रमेण विना शास्त्रं नैव शास्त्रं विना क्रमः।
शास्त्रं क्रमयुतं ज्ञात्वा तन्यते श्रीमतां भुवि।।129।।

बिना परंपरा के शास्त्र नहीं होते व बिना शास्त्रों के परंपरा नहीं होती। जो शास्त्र व क्रम युक्त होकर ज्ञान अर्जन करता है वह श्रीमान होता है।।129।।

अब प्रसंगवश जिह्वा के क्षुद्र-बंध के छेदन की विधि कहते हैं —

जिह्वाकृतिनिभं शस्त्रमल्पं तच्छेदने क्षमम्।
स्नुहीपत्रनिभं बल्यं शस्त्रं कुर्याद्विचक्षणः।।130।।

Scanned by CamScanner

जिह्वा के आकार का जिह्वा को जरा सा छेदने[1] में सक्षम कोई शस्त्र जो देखनें में स्नुहीपत्र[2] जैसा हो, विद्वान को ग्रहण करना चाहिए।।130।।

इडायाः पिङ्गलायाश्च सुषुम्णायाश्च मध्यतः।
प्रज्ञावताङ्गुलिं दत्वा ग्रन्थिमध्यं समुच्छिनेत्।।131।।

प्रज्ञ को अंगुली को इडा, पिंगला व सुषुम्ना के मध्य में डाल कर ग्रन्थि को मध्य से छेदना चाहिए।।131।।

अब छेदन के उपरांत लगाई जाने वाली औषधि का वर्णन करते हैं —

द्विनिष्कं निष्कनिष्कार्द्धपथ्यानागरसैन्धवान्।
चूर्णयित्वा तु तच्चूर्णं तेन चूर्णेन घर्षयेत्।।132।।

दो निष्क हरण, एक निष्क अदरक व आधा निष्क पहाड़ी नमक का चूर्ण बना कर विच्छेद किए गए स्थान पर लगाएं।।132।।

पूर्वोक्तेन प्रकारेण शक्तिचालनमाचरेत्।
गोदोहनं यथा तद्वच्छक्तिचालनमाचरेत्।।133।।

पहले कही गई विधि के अनुसार शक्तिचालन करें। गाय दुहने की विधि से शक्तिचालन करें।।133।।

पुनः सप्तदिने प्राप्ते तिलमात्रं समुच्छनेत्।।134।।

सात दिन के पश्चात पुनः तिल मात्र ही जिह्वा को छेदें।।134।।

छेदनादिक्रमेणैव यावद् भ्रुमध्यगा भवेत्।
तावच्छनैः प्रकर्तव्यं श्रीनिवास्य भाषणम्।।135।।

छेदन आदि का यह क्रम जब तक जिह्वा भ्रूमध्य पर न पहुंचने लगे तब तक करना चाहिए, ऐसा श्रीनिवास का वचन है।।135।।

अत्रायं हठयोगसम्प्रदायः-

शिशुर्लम्बिकायोगेनातीतानागतं जानाति। गर्भनिःसरणाद् भूमिपाते लम्बिकायोगे जिह्वाबन्धो पातिनी भवति/ लम्बिका प्रतिबिम्बत्वेन जिह्वायाम् अधोग्रन्थि-सूक्षरूपतया सर्वेषां नराणां प्रत्यक्षतया अद्यापि दृश्यते। तत्रैव लम्बिका प्रतिबन्धसूक्ष्मग्रन्थिभेदनं कार्यमिति मम प्रतिभाति।।

---

1. जिह्वा के नीचे एक क्षुद्र बन्ध होता है उसे अंग्रेजी में Lingual Frenulum कहते हैं। वही काद्य जाता है।
2. दूधी – Euphobia nivulia

Scanned by CamScanner

अब यहां पर हठयोग सम्प्रदाय के अनुसार लम्बिका या जिह्वा छेदन का कारण कहते हैं —

शिशु **लम्बिकायोग** के बल पर अपना अतीत व भविष्य जानते हैं। गर्भ से बाहर भूमि पर आने बाद लम्बिका-योग जिह्वा-बन्ध में बदल जाता है। यह सूक्ष्म रूप से सभी मनुष्यों में दिखाई पड़ती है। अतः इसी लम्बिका प्रतिबन्धक सूक्ष्म ग्रन्थि के भेदन की विधि यहां पर मैनें कही है।

अब अपने मत के समर्थन में प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं —

परमेश्वरप्रोक्तखेचरीनामपटले तु

परमेश्वर द्वारा कथित खेचरी नामक पटल में कहा गया है —

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
समनायां तु जिह्वायां रोममात्रं समुच्छिनेत्।।136।।

स्नूही पत्र के समान तीक्ष्ण चिकना व कोमल शस्त्र लाएं। इससे जिह्वा (क्षुद्र बन्ध) को रोम मात्र काटें।।136।।

रोममात्रछेदने न विलम्बनेन हि लम्बिका।
हृदये ग्रन्थकाराणामाकूतं भणितं मया।।137।।

रोम मात्र छेदन से ही लम्बिका योग सिद्ध हो जाता है। मैनें वह कहा है जो कि ग्रन्थकारों के हृदय में छिपा था।।137।।

परमेश्वर के बाद अब भगवान दत्तात्रेय के मत से खेचरी मुद्रा बता रहे हैं —

दत्तात्रेयस्तु

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।138।।

खेचरी मुद्रा का वर्णन कर रहे हैं —

1. जिह्वा को पलट कर गले व मुख के सन्धि क्षेत्र वाले गर्त में डाले।
2. नेत्र दृष्टि को भ्रूमध्य पर केन्द्रित करें।

अब खेचरी मुद्रा के कायिक लाभ कहते हैं —

न रोगो न मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य य मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।139।।

Scanned by CamScanner

खेचरी वेत्ता को रोग, मृत्यु, निद्रा, प्यास, भूख व मूर्च्छा इत्यादि नहीं सताती।।139।।

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।140।।

खेचरी वेत्ता न तो रोगों द्वारा उत्पीड़ित होता है न ही कर्म इसे कोई बाधा पहुंचाते हैं।।140।।

हठप्रदीपिकायाम्

अब हठयोगप्रदीपिका की ओर मुख करते हैं —

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत्।
यावदियं भ्रूमध्ये स्पृशति तदानीं खेचरीसिद्धिः।।141।।

काट कर, चलाकर (शक्तिचालन) या दुह कर जिह्वा को तब तक लम्बा करना चाहिए जब तक की वह भ्रूमध्य तक न पहुंच जाए।।141।।

छेदनस्य प्रकारोक्तेरभावान्मूढता यतः।
साधारणोक्त्या दुर्बोधान्नांगीकार्यमिदं मतम्।।142।।

ऊपर कही गई छेदन विधि अस्पष्ट है। इस कारण से यह समझी नहीं जा सकती और इसका अंगिकार वर्जित है।।142।।

संकेत

अब स्व-श्रीगुरुदेव के बताए विधान के अनुसार संकेत कहते हैं —

गुरुदर्शितमार्गेण संकेतः कथ्यते मया।
संकेतश्रृंखलाभावे खेचरी तु कथं भवेत्।।143।।

अब मैं श्रीगुरुदेव द्वारा बताई गई विधि के अनुसार संकेत कहता हूं क्योंकि संकेत व श्रृंखला के अभाव में खेचरी सिद्धि कैसे होगी।।143।।

सर्पाकारं सवलयं श्रृंखलाद्वयसेवितम्।
सखर्परं षड्विंतस्तिदैर्घ्यं संकेतलक्षणम्।।144।।

सर्पाकार, वलय सहित, दो श्रृंखलाओं व खर्पर सहित बहत्तर अंगुल लम्बा यह संकेत के लक्षण हैं।।144।।

अब संकेत परिमाण बता रहे हैं —

श्रृंखलाद्वितयनिर्मितां परां सर्पवद्वलयखर्परान्वितााम्।
विंशदंगुलमितां सुदीर्घिकां लम्बिकाभ्युदयकारिणीं विदुः।।145।।

Scanned by CamScanner

दो श्रृंखलाओंसे बना हुआ, सर्प की तरह वलयाकार आगे खर्पर (कपाल) लगा हुआ व बीस अंगुल लम्बा लम्बिका को जाग्रत करने वाला जानो।।145।।

श्रृंखलायाश्च वलये जिह्वां तत्र प्रवेशयेत्।
यथा भवेत्सुषुम्णा तथा भवति खेचरी।।146।।

श्रृंखला के वलयों में जिह्वा को डालें। जहां सुषुम्णा रहती है वहां खेचरी का वास होता है।।146।।

अब खेचरी-मुद्रा सिद्धि के बाद देही की स्थिति बताते हैं —

खेचर्या मुद्रणे जाते देही देहं न मुञ्चती।
कायं त्यक्त्वा तु कल्पान्ते ब्रह्मस्थानं व्रजत्यसौ।।147।।

खेचरी मुद्रा सिद्ध होने के बाद देही का देह नष्ट नहीं होता। कल्पान्त होने पर वह स्वतः ही देह त्याग कर ब्रह्मस्थान को जाता है।।147।।

खेचरी से नादानुसंधान की सिद्धि कहते हैं —

प्राणे सुषुम्णा सम्प्राप्ते नादं तु श्रूयतेऽष्टधा।
घण्टादुन्दुभिशंखादि वीणावेणुनिनादवत्।
तनूनपात्तडित्तारेशपवनोपमम् ।।148।।

प्राण जब सुषुम्ना में प्रवेश करता है तब आठ प्रकार के नाद सुनाई पढ़ते हैं यथा घण्ट्य, दुन्दुभि, शंख, वीणा, बांसुरी, छोटी घंटी, घड़े की ध्वनि, आग की चटकार व बिजली की कड़क के साथ तेज हवा की।।148।।

वासुक्याद्यैश्च नागैश्च तक्षकेनाथवा पुनः।
दष्टस्य योगिनो देहे न विषं कर्तुमर्हति।।149।।

योगी के देह को वासुकी जैसे नाग अथवा तक्षक इत्यादि के दंश के विष भी प्रभावित नहीं करते।।149।।

उत्कल्लोलकलामृतं च विमलं धारामृतं यः पिबेत्।
निर्दोषः स मृणालकोमलतनुर्योगी चिरं जीवति।।150।।

जो योगी चन्द्रमा की कलाओं से टपकने वाले शुद्ध अमृत का पान करते हैं वह कमल तन्तु के समान निर्दोष चिरंजीवी होते हैं।।150।।

अब अमृत के स्वाद के बारे में कहते हैं —

सेवन्ते यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी।
सक्षाराकटुतिक्तदुग्धसदृशं मध्वाज्यतुल्यं यदा।।151।।

Scanned by CamScanner

अगर लम्बिका का अग्रभाग अमृत चखती है तो उसे नमकीन, कडुवा, तीखा, दूध का, मधु का अथवा घी का स्वाद आता है।।151।।

अशेषाणां च नाडीनां जिह्वाग्रे रन्ध्रमागतः।
विधत्ते येन मार्गेण तेन चान्द्री कलां व्रजेत्।।152।।

समस्त नाडियां जिह्वा के अग्र भाग के बिल में समाती हैं जो की चन्द्रमा की कलाओं का पान करती है।।152।।

कन्यावादाखिलावादरसवादादिसिद्धयः।
योगिनः सम्प्रवर्तन्ते तेषां वज्रोलिखेचरी।।153।।

कन्यावाद[1] अखिलवाद व रसवाद[2] इत्यादि से जो सिद्धियां योगी को प्राप्त होती हैं वह समस्त वज्रोली व खेचरी से प्राप्त होती हैं।।153।।

अब साधकों की सहायता हेतु भ्रूमध्य के अन्य नाम बता रहे हैं –

त्रिकुटुम्बी हठा चैव गोलीढं शिखरं तथा।
त्रिशंखी वज्रमोंकारी मूर्ध्वनालं भ्रुवोर्मुखे।।154।।

त्रिकुटुम्बी, हठा, गोलीढ़, शिखर, त्रिशंखी, वज्र, ओंकारी व ऊर्ध्वनाल भ्रुवमुख के नाम हैं।।154।।

पिंगला के नाम

पिंगला दम्भिनी सूर्या यमिना काक्षरा तथा।
कालाग्निः रुद्री चण्डी च ते स्युः पिंगलनामकाः।।155।।

पिंगला दम्भिनी सूर्या, यमिना, काक्षरा, कालाग्नि, रुद्री एवं चण्डी यह समस्त पिंगला के नाम हैं।।155।।

इडा के नाम

इडा चन्द्रा सिनीवाली गंगा चामरबोधिता।
इडायाः वाचकाः शब्दाः पर्यायेण प्रकीर्तिताः।।156।।

इडा, चन्द्रा, सिनीवाली, शब्दा, गंगा व अमरबोधिता यह समस्त इडा के पर्याय हैं।।156।।

अब खेचरी मुद्रा से गोहत्या दोष कैसे समाप्त होता है वह कहते हैं —

---

1. कुण्डलिनी
2. कीमियागिरी।

Scanned by CamScanner

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशोहि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्।।157।।

गो शब्द जिह्वा का द्योतक है उसका तालु में प्रवेश ही गोमांस भक्षण है और यही इस कृत्य से जनित महापाप का नाश भी करता है।।157।।[1]

अब कौलों का वर्णन करते हैं

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये अन्ये तु कुलघातकाः।।158।।

जो नित्य गोमांस का भक्षण कर अमरवारुणी का पान करते हैं वे ही कुलीन (कौल) हैं अन्य सब कुलघातक हैं।।158।।

जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्थापिता खलु।
चन्द्रात स्त्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी।।159।।

जिह्वा के कुहर में प्रवेश से भड़की अग्नि के प्रभाव से चन्द्रमा से जो अमृत टपकता है वही अमरवारुणी है।।159।।

यह मुद्रा शाम्भवी मुद्रा और कण्ठ-कूप बन्ध का मिश्रण है। संकेत का खेचरीमुद्रा में प्रयोग अत्यन्त दुर्लभ है यह अन्यत्र प्राप्त नहीं हुआ, संभव है की आ0 श्रीनिवास जी की गुरु-परंपरा में किसी विशिष्ट उपकरण का निर्माण जिह्वा को नियंत्रित करने हेतु किया गया हो। इस संदर्भ में श्री घरोटे जी ने किसी ग्रन्थ के मत से लिखा है कि यह प्रसंग खेचरी पटल से लिया गया है।[2] **घेरण्ड संहिता** (3.25-32) में संकेत के बिना यही विधि कही गई है। **हठयोगप्रदीपिका** (दशोपदेशी- 5.37-78) में यही विधि दी है लेकिन संकेत का वर्णन नहीं है। **शिव संहिता** (4.31-37) में यही विधि संक्षिप्त रूप में दी गई है पर संकेत का वर्णन नहीं है। **दत्तात्रेययोगशास्त्र** (272-273) में भी यही विधि दी है पर संकेत का वर्णन नहीं है। **ध्यानबिन्दु उपनिषद्** (80) में यही विधि दी है। **शाण्डिल्योपनिषद्** (7.39-42) में यही विधि दी है। **योगतत्त्वोपनिषद्** (117) में भी यही विधि दी है। **योगशिखोपनिषद्** (5.40-41) में भी यही वर्णित है। इनमें भी संकेत का वर्णन नहीं है। **बिन्दु योग, बृहद-योग-संहिता** एवं **हठ-योग-संहिता** में भी यही है।

इति श्रीनिवासयोगीविरचितायां हठरत्नावल्यां द्वितीयोपदेशः

।।श्रीहठरत्नावली के द्वितीयोपदेश की सर्वेश्वरी हिन्दी व्याख्या समाप्त।।

1. वेदों व आगमों में जहां कहीं भी मांस भक्षण का वर्णन है वहां पर ऐसे ही अर्थ लेना चाहिए।
2. Dvitiyopdesa Gharote, Dr. M.L., Haṭharatnāvalī, The Lonavala Yoga Institute, Pune (4: 2017)

Scanned by CamScanner

चतुर्थ पटल

मुद्रा प्रकरण

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रवर्तते ॥१

साधक का कर्त्तव्य है कि वह प्रथम परक प्राणायाम के द्वारा वायु को खींचकर स्वाधार अर्थात् मूलाधार चक्र में स्थित करे और गुदा तथा मेढ्र के बीच में जो योनि स्थान है, उसे प्रयत्न पूर्वक संकुचित करने की चेष्टा करे। (यह मुद्रा का प्रारम्भिक रूप है, जो कि अभ्यास से सिद्ध हो सकता है। नीचे योनिमुद्रा के विषय में विस्तृत प्रकाश डाला जाता है।) ।१।

ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥२
तस्योर्ध्वे तु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला ।
तथा सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥३

ब्रह्मयोनि के बीच में कन्दुकपुष्प के समान उज्वल तथा करोड़ सूर्यों की प्रभा के समान ज्योतिमानऔर करोड़ चन्द्रमाओं के समान शीतल कामदेव का ध्यान करना चाहिए। उसी के ऊपर सूक्ष्म ज्योतिशिखा के समान चमकती हुई, चिद्रूप एवं परम कला के सहित एक ही आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। अर्थात् ब्रह्मयोनि के ऊपर आत्मा सूक्ष्म ज्योतिशिखा के रूप में विद्यमान रहता है। साधक को उसी का ध्यान करना चाहिए। ।३-४।

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिङ्गत्रयक्रमेण वै ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥४
अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ।
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम् ।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ॥५

जीव उसी ब्रह्मयोनि से सुषुम्ना मार्ग द्वारा क्रमपूर्वक लिंग त्रय से प्रस्थान करता है । (लिंग त्रय का तात्पर्य तीन प्रकार के शरीर से है, शरीरधारी के तीन लिंग होते हैं—(१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, और (३) कारण लिंग, मरने पर यह तीनों ही नहीं रहते तथा करोड़ों सूर्यों की प्रभा वाले करोड़ों चन्द्रमाओं जैसी शीतलता वाले, श्वेत और लाल वर्ण के परमानन्द स्वरूप एवं अमृत की धारा रूप में वर्षा करने वाले स्वर्गस्थ दिव्य कुलामृत का पान करके पुनः योनिमण्डल में जाकर स्थित होता है ।४-५।

पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा ।
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिस्तन्त्रे मयोदिता ॥६
पुनः प्रलीयते यस्या कालाग्न्यादिशिवात्मकम् ।
योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ॥७
तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यं न साधयेत् ॥८

फिर प्राणायाम के योग से प्राणवायु ब्रह्मयोनि से चलता हैं, इसमें अन्यथा न समझो । मैंने उसी ब्रह्मयोनि को प्राण भी कहा है । फिर वह काल, अग्नि आदि से युक्त शिवात्मक (शिवस्वरूप जीव प्रस्थान करता हुआ चन्द्रमण्डल में पहुँचकर अमृत पान करता है और फिर ब्रह्मयोनि में ही स्थित हो जाता है । यही

बन्ध योनिमुद्रा कहलाता है, केवल इस बन्ध के करने मात्र से संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सिद्ध न हो सके।अर्थात् योनि मुद्रा सिद्ध कर ली तो सब कुछ सिद्ध कर लिया समझो ॥६-८॥

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्रा:कीलिता:स्तंभिताश्च ये ।
दग्धा मन्त्राः शिरोहीना मलिनास्तु तिरस्कृताः ॥६

मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ।
भेदिनो भ्रमसंयुक्ताः सप्ताहं मूर्छिताश्च ये ॥१०

जो मन्त्र छिन्न स्वरूप, कीलित, स्तंभित, दग्ध, शिर-रहित मलिन या तिरस्कृत हैं अथवा जो बाल (अर्थात् कम प्रभाव वाले) (वृद्ध पूर्ण प्रभाव वाले), प्रौढ़ (मध्यम प्रभाव वाले), यौवन-गर्वित (अर्थात् उग्रस्वभाव के या उत्तेनात्मक), भेदयुक्त (भ्रम में डालने या भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले,सप्ताहों से मूर्च्छित अर्थात् क्रियाहीन पड़े हैं ॥६-१०॥

अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्यः सत्ववर्जिताः ।
तथा सत्वेन हीनाश्च खंडिताः शतधा कृताः ॥११

विधिनानेन संयुक्तः प्रभवन्त्यचिरेण तु ।
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः ॥१२

अथवा जो मन्त्र शत्रु के लिए हितकारी हैं, या जो निर्वीय और सत्वहीन हैं अथवा जो सत्वहीन होने के साथ ही खण्डित होकर सौ टुकड़ों में विभाजित हो गए हैं, वे सभी प्रकार के मन्त्र उक्त प्रकार से योनिमुद्रा सिद्ध कर लेने पर और गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करने पर सर्व सिद्धिप्रद तथा मोक्षदायक होजाते हैं ॥११-१२॥

यद्यदुच्चरते योगी मंत्ररूपं शुभाशुभम् ।
तत्सिद्धि समवाप्नोति योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥१३
दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा ।
ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ॥१४

अथवा योगी के मुख से जो मन्त्र शुभ वा अशुभ रूप से (शुद्ध या अशुद्ध शब्दों से) उच्चारण होता है, वह भी योनिमुद्रा के बन्धन से ही अनुकूल और सिद्ध होजाता है। गुरु का कर्त्तव्य है कि वह जिज्ञासु साधक को मन्त्र का अधिकार प्राप्त कराने के लिए विधिपूर्वक इस मुद्रा की दीक्षा देता हुआ उसे हजारों बार अभ्यास करावे। तात्पर्य यह है कि जिज्ञासु जिस गुरु की शरण में जाकर शिक्षा लेना चाहे, उस गुरु का भी यह कर्त्तव्य है कि जिज्ञासु को योगविद्या में पारंगत करने के लिए बहुत प्रकार से शिक्षित करे, जिससे उससे कोई भेद छिपा हुआ न रहे जाय ॥१३-१४॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबंधनात् ॥१५
गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न बध्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥१६

यदि साधक से हजार हत्याएँ भी होजाँय अथवा त्रिलोकी के सभी प्राणियों का भी संहार कर डाले, तो भी इस मुद्रा के प्रभाव से उसे पाप लिप्त नहीं कर सकते। गुरु का हत्यारा, मद्य-पान करने वाला, चोरी करने वाला, गुरुतल्प में रमण करने वाला अथवा ऐसे ही अनेक प्रकार के पापों का करने वाला साधक भी इस योनिमुद्रा के बन्धन को सिद्ध कर लेने पर उन पापों के फल से बँध नहीं सकता ॥१५-१६॥

तस्मादभ्यासनं नित्यं कर्त्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः ।
अभ्यासाज्जायते सिद्धिरभ्यासात्मोक्षमाप्नुयात् ॥१७
संविदं लभतेऽभ्यासात् योगोऽभ्यासात्प्रवर्तते ।
मुद्रिणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम् ॥१८

इसलिए साधक का कर्तव्य है कि उक्त बन्धन के अभ्यास में नित्य परायण रहे। क्योंकि अभ्यास के सिद्ध होने पर ही सिद्धि होती है, और उसी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। अभ्यास से ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और उसी से योग की प्रवृति भी तथा अभ्यास से ही वायु साधन की सिद्धि भी है सकती है।१७-१८।

कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ।
वाक् सिद्धः काम चारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ॥१९
योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित् ।
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥२०

अभ्यास के द्वारा ही काल का उल्लंघन किया जा सकता है, उसी से मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है, उसी से वाणी की सिद्धि और इच्छित आचरण की शक्ति प्राप्त होती है। इसलिए योगी को अभ्यास में ही तत्पर रहना चाहिए, क्योंकि उसी के द्वारा सर्व सिद्धि संभव है। यह योनि मुद्रा अत्यन्त गोपनीय है, इसलिए अनधिकारी पुरुष को कभी नहीं बतानी चाहिए। यदि प्राण कण्ठ तक भी पहुँच जाँय तो भी इसे न दे अर्थात् प्रयत्न पूर्वक छिपाये रहे।१९-२०।

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम् ।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् ॥२१

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ।।२२

अब मैं जिस योग को कहता हूँ, वह परम सिद्धि का प्रदान करने वाला है। श्रेष्ठ सिद्धों का कर्तव्य है कि इस परम दुर्लभ विद्या को गोपनीय ही रखें। क्योंकि यह कठिनता से साध्य है। गुरु के प्रसन्न होने पर (उनके उपदेशानुसार) जब सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होती है, तब सभी पद्म (अर्थात् सभी चक्र) और सभी ग्रन्थियों का भेदन होजाता है। अर्थात् कुण्डलिनी के साथ प्राणवायु का संचार सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक सरल रूप से होने लगता है।२१-२२।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ।।२३

इसलिए सब प्रकार से प्रयत्न करके साधक के ब्रह्मरन्ध्र के मुख में (मार्ग को रोक कर) सोती हुई कुण्डलिनी देवी को जाग्रत् करने के लिए मुद्रा के अभ्यास में तत्पर होना चाहिए। (अर्थात् कुण्डलिनी जागरण के प्रयत्न में लग जाना ही उचित है, क्योंकि जाग्रत हुई कुण्डलिनी ही साधक के लिए मोक्ष के देने वाली होती है।) ।२३।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा ।।२४
उड्डानं चैव वज्रोली दशगं शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् ।।२५

अब दश मुद्राएँ बताते हैं—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरीमुद्रा, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरिणी मुद्रा,

उड्डियानबन्ध, वज्रोलीमुद्रा और शक्तिचालिनी मुद्रा यह दश मुद्राएँ प्रमुख एवं सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ हैं ॥२४-२५॥

महामुद्रा वर्णन

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः ॥२६
अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम्।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥२७
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै।
नव द्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥२८
चित्तं चित्तपथे दत्वा प्रभवेद्वायुसाधनम्।
महामुद्रा भवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥२९

मैं इस तन्त्र में जिन मुद्राओं का वर्णन कर रहा हूँ, इन्हीं मुद्राओं को उपलब्ध करके कपिल आदि प्राचीन ऋषि-मुनि सिद्ध होगए। यह मुद्रा इस प्रकार है कि बाँये पाँव की एडी से गुदा और मेढ् के बीच में स्थित योनिस्थान को आदर सहित गुरु द्वारा उपदेशित विधि से दबानी चाहिए। फिर दाँये पाँव को पसार कर उसे दोनों हाथों से साथ ले और शरीर के नौ द्वारों को रोक कर ठोड़ी को हृदय पर अवस्थित करे और फिर चित्तवृत्ति को चैतन्य में स्थिर रूप से युक्त करके वायु का साधन करे। यह महामुद्रा सब प्रकार से गोपनीय है, (इसलिए साधक भी इसे गुप्त रखने का प्रयत्न करे) ॥२६-२९॥

वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥३०

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति ।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥३१

जीवनं तु कषायस्य पातकानां विनाशनम् ।
कुण्डलीतापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम् ॥३२

इस मुद्रा का अभ्यास पहले बाँये अङ्ग से करे और फिर दाँये अङ्ग से। निश्चल मन वाले योगी को यह प्राणायाम समान रूप से करना चाहिए। इस प्रकार से मन्दभाग्य वाला योगी भी सिद्ध होजाता है। क्योंकि इसके प्रभाव से सभी नाड़ियों का चालन होता और बिन्दु स्थिर होजाता है। यह साधन जीवन को आकर्षित (स्थिर) रखने और सब प्रकार के पापों को नष्ट करने में समर्थ है। इसके द्वारा उसे कुण्डलिनी को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र में प्राण के साथ प्रविष्ठ करने की शक्ति प्राप्त हो जायगी ॥३०-३२॥

सर्वरोगोपशनं जठराग्निविवर्धनम् ।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम् ॥३३

वांछितार्थफलंसौख्यमिंद्रियाणाञ्च मारणम् ।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः ।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा ॥३४

इस उपाय से सभी रोगों का उपशमन होकर जठराग्नि प्रदीप्त होजाती हैं। शरीर सुन्दर स्वच्छ कान्ति से युक्त होजाता और जरा-मृत्यु का नाश होता है (अर्थात् साधक सुन्दर, कान्तिवान् और दीर्घजीवी होजाता है)। योगी को सब प्रकार से इच्छित फल की प्राप्ति होकर सुख मिलता है और इन्द्रियों पर संयम रखने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस प्रकार यह जो

कुछ भी कहा है वह सब योगाभ्यास परायण पुरुष को अवश्य ही सिद्ध हो जाता है, इसमें विचार करने की कोई बात नहीं है ।३३-३४।

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ।
यान्तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः ।।३५
मुद्रा कामदुधा ह्येषा साधकानां मयोदिता ।
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ।।३६

शिवजी ने पार्वती के प्रति कहा—हे देवताओं के द्वारा पूजी जाने वाली देवि ! इस मुद्रा को प्रयत्न-पूर्वक गोपनीय रखना चाहिए अर्थात् उसी व्यक्ति को बतावे जो इसमें रुचि रखता हो और करने में समर्थ दिखाई दे । योगिजन इसे उपलब्ध करके भवसागर से पार होजाते हैं । मेरे द्वारा कही हुई यह मुद्रा साधकों के लिए कामधेनु स्वरूप है अर्थात् इसके द्वारा उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं । इसको गुप्त रीति से साधन करना चाहिए और किसी अन्य व्यक्ति को कभी नहीं देना चाहिए ।३५-३६।

महाबन्ध वर्णन

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि ।।३७
गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ।।३८
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ।।३९
नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं यान्ति योगिनः ।
उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ।।४०

फिर पाँव को फैला कर बाँए ऊरु पर दाँये पाँव को रखे और गुदा तथा योनि को संकुचित करके अपान को ऊपर की ओर चढ़ावे जिससे कि वह समान वायु के साथ मिल कर प्राणवायु को नीचे की ओर करे। जो बुद्धिमान साधक प्राण-अपान के मिलनार्थ इस बन्ध का करता है, उसके लिए यह सिद्धिदायक होता है। अथवा योगी के नाड़ीजल से रसग्राह शिर की ओर जाता है अर्थात् इस बन्ध के ऊपर की ओर गमन करता है, इस प्रकार मुद्रा एवं बन्ध दोनों को ही एक-एक अंग से ठीक प्रकार प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए ॥३७-४०॥

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामध्यसङ्गतः ।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपञ्जरे ॥४१॥
संपूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ॥४२॥

इसके अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में अवस्थित होता है और यह बन्ध साधक के शरीर को पुष्ट करने वाला भी है। इसके द्वारा योगी की शरीरस्थ अस्थियों का ढाँचा तथा उनके सभी बन्धन दृढ़ हो जाते हैं। उस योगी का हृदय सम्पूर्ण रूप से संतुष्ट होता है। इस बन्धन के प्रभाव से उस योगीन्द्र के सभी इच्छित पूर्ण होजाते हैं। इस अभ्यास के द्वारा उसे इन सभी लाभों की प्राप्ति होती है ॥४१-४२॥

महावेध वर्णन

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना ।
स्फिचौ संताडयेद्धीमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया ॥४३॥

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुंगवः ।
ग्रन्थिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ॥४४॥

शिवजी कहते हैं कि हे त्रिभुवनेश्वरि ! अपान और प्राण को संयुक्त करके महाबन्ध में स्थित योगी अपने उदर में वायु भर कर अपने दोनों पार्श्वों का ताड़न करे, यह वेध मेरे द्वारा कहा गया है। योगियों में श्रेष्ठ साधक ! इस वेध को करता हुआ सुषुम्ना के मार्ग ब्रह्मग्रन्थि के भेदन का प्रयत्न करता है। अर्थात् यह अभ्यास कुशल योगियों के द्वारा ही सिद्ध होना संभव है और वे ही इसके द्वारा अपनी इच्छित उपलब्धि को प्राप्त कर सकते है ॥४३-४४॥

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी ॥४५॥
चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात् ।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ॥४५॥

अथवा जो पुरुष इस श्रेष्ठ महावेध को गोपनीय रखता हुआ सतत अभ्यास करता है, उसे जरा मृत्यु का नाश करने वाली वायु सिद्ध होजाती है। शरीर में जो चक्र विद्यमान हैं उनमें स्थित देवता वायु के द्वारा ताड़ित होकर काँपने लगते हैं और कुण्डलिनी स्वरूपिणी महामाया कैलास में लय को प्राप्त होती है अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मस्थान में लीन होजाती है। अभिप्राय यह है कि शरीरस्थ षट्चक्रों में गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, अग्नि आदि देवता विद्यमान हैं, वे वायु के वेग से उन्हें छोड़ देते है और वहां प्राणवायु प्रविष्ट होजाता है ॥४५-४६॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलो वेधवर्जितौ ।
तस्माद्योगा प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ॥४७॥

एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः ।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥४८॥

वेध के बिना न तो महामुद्रा सफल होती है और न महाबन्ध ही सफल हो सकता है । इसलिए योगी का कर्त्तव्य है कि वह प्रयत्नपूर्वक तीनों ही साधनों के अभ्यास में तत्पर होजाय । जो योगी मुद्रा, बन्ध और वेध इन तीनों को दिन-रात नित्यप्रति चार बार करता है, वह छः मास पर्यन्त निरन्तर करने पर मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है, इसमें संदेह नहीं है ॥४७-४८॥

एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ।
यज्ज्ञात्वासाधकाःसर्वे सिद्धिसम्यक्लभन्ति वै ॥४९॥
गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः ।
अन्यथा च न सिद्धिःस्यान्मुद्राणामेष निश्चय ॥५०॥

सिद्ध पुरुष इन तीनों के माहात्म्य को ठीक प्रकार से जानते हैं, अन्य व्यक्ति नहीं जानते । इसको जानने वाले साधक सभी सिद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं । सिद्धि की कामना करने वाले साधक का कर्त्तव्य है कि अपने अभ्यास को प्रयत्न पूर्वक गोपनीय रखे । यह निश्चय है कि इन मुद्रा आदि को साधारण लोगों पर प्रकट कर देने से सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती है ॥४९-५०॥

खेचरीमुद्रा वर्णन

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढा सुधीः ॥५१॥
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ।
लम्बिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम् ॥५२॥

संयोजयेत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षण: ।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधत: ॥५३॥

विद्वान् साधक भौंहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे और अनेक प्रकार के उपद्रवों से रहित वज्रासन लगा कर बैठे। जिह्वा को गर्त मे विपरीत रूप से लेजाय अर्थात् ऊपर की ओर से लौटा कर अमृत के कूप स्वरूप तालु के विवर में जाकर प्रयत्न पूर्वक संयोजित करे। यह मुद्रा खेचरी नाम से कही जाती है जिसे मैंने भक्तों के अनुरोध से (उनके हित के लिए) ही प्रकट किया है ॥५१-५३॥

सिद्धीनां जननीं ह्येषा मम प्राणधिकप्रिया ।
निन्तरकृताभ्यासात्पीयूष प्रत्यहं पिबेत् ।
तेन विग्रहसिद्धि: स्यान्मृयुमातङ्गकेसरो ॥५४॥

यह मुद्रा मेरे लिए प्राण से भी अधिक प्रिय है। क्योंकि यह सभी सिद्धियों को उत्पन्न करने वाली है। जो साधक निरन्तर इसका अभ्यास करता रहता है वह अवश्य ही अमृत का पान किया करता है। इसके द्वारा उन्हें विग्रह सिद्धि अर्थात् प्रतिमा रूप देवताओं की सिद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह है कि उस साधक का शरीर पुष्ट होजाता है और उसके भीतर चक्रस्थ देवता भी सन्तुष्ट रहते हैं। यह खेचरी मुद्रा मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिह के समान है ॥५४॥

अपवित्र पवित्रो वा सर्वास्थां गतोऽपि वा ।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशय: ॥५५॥
क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम् ।
दिव्यभोगान् प्रभूक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते ॥५६॥

साधक चाहे पवित्र हो अथवा अपवित्र हो या किसी भी अवस्था में स्थित हो, जिसे यह खेचरी मुद्रा सिद्ध होजाती है उसके लिए सभी कुछ शुद्ध होजाता है। इसमें कुछ संशय नहीं मानना चाहिए। इस खेचरी मुद्रा का साधन जो योगी आधे क्षण भी कर लेता है, वह पाप रूपी महासमुद्र से पार होकर सुखपूर्वक दिव्य भोगों को भोगने में समर्थ होगा और (यदि उसे पुनर्जन्म भी ग्रहण करना पड़ा तो) उत्तम उच्च कुल में उत्पन्न होगा ॥५५-५६॥

मुद्रैषा खेचरी यस्तु सुस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः ।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ॥५७॥
गुरुपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम् ।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम् ॥५८॥
सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मै कस्मै न दीयते ।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ॥५९॥

जो योगी इस खेचरी मुद्रा को करता हुआ स्वस्थ चित्त और ब्रह्म परायण रहेगा, उसे सौ ब्रह्माओं के जीवन व्यतीत होने वाला (दीर्घकाल भी) आधेक्षण के समान ही प्रतीत होगा। गुरु के उपदेश से जिस साधक को यह खेचरी मुद्रा प्राप्त होजाती है, वह यदि अनेक पापों में भी संलग्न रहा तो भी परम गति को प्राप्त होजाता है अर्थात् खेचरी मुद्रा के साधन से सभी पाप नष्ट होजाते हैं, और वह मुक्ति को भी प्राप्त कर लेता है। शिवजी कहते हैं कि हे देवपूजिते ! वह मुद्रा प्राण के समान है, इसलिए उसे चाहे जिस व्यक्ति को नहीं देनी चाहिए। वरन् प्रयत्न पूर्वक गुप्त ही रखे ॥५७-५९॥

जालन्धरबंध वर्णन

बद्धा गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
बन्धो जालंधरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥६०॥
नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम् ।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम् ॥६१॥

गलशिराजाल को बाँध कर ठोडी को हृदय से लगाले, यह जालन्धरबन्ध कहलाता है। यह बन्ध देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। सहस्रदल कमल अर्थात् सहस्रार से स्रवित होते हुए अमृत को नाभि में स्थित अग्नि पान कर लेता है परन्तु उसे वैसा न करने देने के लिए इस जालन्धरबन्ध को अवश्य करना चाहिए। (क्योंकि चन्द्रामृत का जठराग्नि द्वारा ग्रास कर लिये जाने से अन्त में मनुष्य की मृत्यु होजाती है, परन्तु जालन्धरबन्ध एक ऐसा साधन है, जो कि जठराग्नि को चन्द्रामृत पान करने से रोकता रहता है ॥६०-६१॥

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान् ।
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ॥६२॥
जालंधरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥६३॥

इस जालन्धर बन्ध के करने से बुद्धिमान साधक स्वयं अमृत पान की शक्ति प्राप्त कर लेता है और उससे उसे अमृतत्व की प्राप्ति होती है और वह उससे त्रिलोकी में सुखपूर्वक विचरण करता है। यह जालन्धर बन्ध सिद्धों के लिए सिद्धिदायक है, इसलिए जो साधक नित्य प्रति इसका अभ्यास करता है, वह सिद्धि को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि इस बन्ध के द्वारा

साधारण साधक ही नहीं, वरन् सुसिद्ध साधक भी लाभान्वित होते हैं ॥६२-६३॥

मूलबन्ध वर्णन

पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ॥६४॥
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत् ।
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥६५॥
अपान प्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ।
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥६६॥

पाँव की एड़ी से गुदामार्ग को दबावे और बलपूर्वक अपान वायु को ऊपर की ओर आकर्षित करे। (इस प्रकार अपान को ऊपर ले जाकर प्राण से मिलावे) इस जरा-मरण नाशक बन्ध को मूलबन्ध कहते हैं। इस प्रकार कल्पित हुए इस बन्ध के द्वारा अपान और प्राण को संयुक्त करने से योनिमुद्रा स्वतः ही सिद्ध हो जाती है ॥६४-६६॥

सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ।
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥६७॥
सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगिपुङ्गव ॥६८॥

सिद्ध पुरुषों को इस योनिमुद्रा के सिद्ध हो जाने से ऐस कौन-सा पदार्थ है जो उपलब्ध नहीं हो सकती ? इस बन्ध के प्रभाव से वायु को सहज में ही जीता जा सकता है और ऐसा होने पर साधक पद्मासन लगा कर बैठे तो (खचेरी मुद्रा के साधन द्वारा) पृथ्वी को छोड़कर ऊपर उठने लगेगा (और

आकाश में विचरण करने लगेगा। यदि कोई श्रेष्ठ योगी इस संसार सागर से पार जाना चाहे तो उसे निर्जन प्रदेश में गुप्त रूप से इस बन्ध का अभ्यास करना चाहिए ॥६७-६८॥

विपरीतकरणी मुद्रा

भूतले स्वशिरो दत्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृतिश्चैषासर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥६९॥
एतद् यः कुरुते नित्यमभ्यासं यामममात्रतः ।
मृत्युं जयति योगीशः प्रलयेनापि सीदति ॥७०॥
कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात् ।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ॥७१॥

योगी अपने शिर को पृथिवी में टेककर, दोनों पाँवों को आकाश की ओर उठा कर सीधे करे, इसी को विपरीतकरिणी मुद्रा कहते हैं। यह सब प्रकार से गुप्त रखने के योग्य है। (इस मुद्रा में शिर नीचे और पाँव ऊपर अधर में रखे जाते हैं) इस प्रकार इस मुद्रा का अभ्यास जो नित्यप्रति एक प्रहर (अर्थात् तीन घंटे) तक निरन्तर करे तो वह अवश्य ही मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है और प्रलय में भी उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। इस प्रकार जो साधक शरीर में विद्यमान अमृत का पान करता है, उसे सिद्धों की समानता प्राप्त हो जाती है (अर्थात् वह सिद्ध हो जाता है) और इस बन्ध के करने वाला वह योगी सभी लोकों में पूजित होता है ॥६९-७१॥

उड्डयानबन्ध वर्णन

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ।
उड्डयानबन्ध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः ॥७२॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वे तु कारयेत् ।
उड्डयानाख्योऽत्र बन्धोऽय मृत्युमातङ्गकेसरी ॥७३॥

नाभि से ऊपर और नीचे पश्चिम तान का आचरण करे अर्थात् इस प्रकार तान अर्थात् आकर्षण करे जिससे कि वे दोनों भाग पीठ में जाकर लग जाँय । यह उड्डयान बन्ध कहलाता है । पेट को पीछे की ओर आकर्षित करता हुआ नाभि के ऊपर के भाग में आकुंचित करे, यही उड्डयान बन्ध है,जोकि मृत्युरूपी हाथी को वश में करने के लिए सिंह के समान है । तात्पर्य यह है कि इस बन्ध के अभ्यास से साधक मृत्यु रूपी दुःख का उल्लंघन कर जाता है अथवा यह समझिये कि जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥७२-७३॥

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ।
तस्य नाभेस्सु शुद्धिः साद्येन सिद्धो भवेन्मरुत् ॥७४॥
षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम् ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते ॥७५॥

जो योगी इस बन्ध का नित्यप्रति चार बार अभ्यास करता है, उसके नाभिमण्डल का शोधन हो जाता है और वायु भी सिद्धि हो जाता है । यदि योगी छः महीने तक इस बन्ध के अभ्यास में तत्पर रहता है तो वह अवश्य ही मृत्यु को जीतने में समर्थ होता है और उसके उदर की अग्नि विशेष रूप से प्रदीप्त होती है तथा रस की वृद्धि होने लगती है । आशय यह है कि यह बन्ध जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला और रस की वृद्धि करके शरीर की धातुओं को भी पुष्ट करने वाला है। इसी से इसके साधन से मृत्यु का जीतना कहा गया है ॥७४-७५॥

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते ।
रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ॥७६॥
गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः ।
निर्जने सुस्थिते देमे बन्धं परमदुर्लभम् ॥७७॥

इस बन्ध के प्रभाव से योगी का शरीर स्वयं ही सिद्धि को प्राप्त होजाता है और यह निश्चय ही उसके सभी रोगों का नाश करता है। यह बन्ध अत्यन्त ही दुर्लभ है, इसकी उपलब्धि गुरु की कृपा से ही सम्भव है । इसकी प्राप्ति के लिए विद्वान् साधक स्वस्थ चित्त से एकान्त स्थान में अभ्यास करे। आशय यह है कि चित्त को एकाग्र करने के लिए एकान्त स्थान उपयुक्त रहता है, जनाकीर्ण स्थान में चित्त स्थिर नहीं रह सकता ॥७६-७७॥

वज्रोलीमुद्रा वर्णन

वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम् ।
स्वभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद्गृह्यतमामपि ॥७८॥
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना ।
मुक्तो भवति गार्हस्थो वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥७९॥
वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगे युक्तेऽपि मुक्तिदः ।
तस्मादतिप्रत्नेन कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥८०॥

शिवजी कहते हैं कि अब मैं अपने भक्तों के लाभार्थ संसार के अन्धकार को दूर करने वाली गुह्य से भी गुह्यवज्रोली मुद्रा का वर्णन करता हूँ। इसके साधन से गृहस्थ स्वेच्छापूर्वक घर में रहता हुआ वहाँ के सभी भोगों की प्राप्त करता है और योगी साधक योगोक्त नियमों के बिना भी वज्रोली मुद्रा के ही अभ्यास से मोक्ष को प्राप्त होजाता है। इस वज्रोली मुद्रा का अभ्यास

भोगी पुरुषों के लिए भी मोक्ष का देने वाला है और योगियों के लिए तो इसका सदैव करना कर्त्तव्य है ही ॥७८-८०॥

आदौ रजःस्त्रियो योन्याःयत्नेन विधिवत्सुधीः ।
आकुंचय लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥८१॥
स्वकं बिंदुश्च सम्बन्ध्य लिंगचालनमाचरेत् ।
दैवाच्चलति चेदूर्ध्वं निबद्धो योनिमुद्रया ॥८२॥

पहले विद्वान् साधक विधि-विधान से प्रयत्न पूर्वक योनि से रज को उपस्थ-नाल में आकर्षित करे और अपने देह में प्रविष्ट कर ले तथा बिन्दु का निरोध करके लिंगचालन का आचरण करे। इस क्रिया में यदि दैववशात् बिन्दु अपने स्थान से च्युत होजाय तो उसको योनिमुद्रा के द्वारा निबद्ध कर ले ॥८१-८२॥

वाममार्गेऽपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिंगं निवारयेत् ।
क्षणमात्रं योनितो यः पुमांश्चालनमाचरेत् ॥८३॥
गुरूपदेशतो योगी हुंहुंकारेण योनितः ।
अपानवायुमाकुंच्य बलादाकृष्य तद्रजः ॥८४॥

उक्त प्रकार से बिन्दु को निबद्ध करके ऊपर की ओर आकर्षित करे और बाँये भाग में स्थित करके क्षणभर के लिए लिंग-चालन क्रिया को रोक दे और फिर गुरु के उपदेशानुसार वह योगी हुँहुँकार शब्द का उच्चारण करता हुआ पुनः चालन-क्रिया में प्रवृत्त होजाय और बलपूर्वक अपान वायु का आकुंचन करता हुआ रज का आकर्षण करे। यही वज्रोली मुद्रा कही जाती है ॥८३-८४॥

अनेन विधिना योगी क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
भव्यभुक् कुरुते योगी गुरुपादाब्जपूजकः ॥८५॥

विंदुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमयस्तथा ।
उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥८६॥

इस विधि से योगी के लिए योग की सिद्धि शीघ्र ही सुलभ होगी और वह गुरु के चरणकमलों को पूजने वाला योगी अपने शरीर में विद्यमान अमृत का पान करने में समर्थ होगा। बिन्दु को चन्द्रमा स्वरूप और रज को सूर्य स्वरूप जान कर दोनों को संयुक्त करे और अपने शरीर में प्रविष्ट कर ले ॥८५-८६॥

अहं बिंदू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा ।
योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ॥८७॥
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणे ।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम् ॥८८॥

यदि साधक मेरे स्वरूप (अर्थात् शिव स्वरूप) में बिन्दु और शक्ति स्वरूप में रज को समझता हुआ इन दोनों को संयुक्त करता है, तो इस प्रकार साधन से वह योगी दिव्य शरीर वाला होजाता है। आशय यह है कि शक्ति को शिव में अथवा माया को ईश्वर में लय करने से मोक्ष होना मानते हैं और यह शिव-शक्ति संयोग बिन्दु और रज का मेलन ही है। जो साधक इसे सिद्ध कर लेता है, वह सांसारिक बन्धन से मुक्त होजाता है। परन्तु बिन्दुपात होने से साधक का मरण और बिन्दुधारण से जीवन रहता है। इसलिए प्रयत्न पूर्वक बिन्दु का धारण ही उचित है। आशय यह है कि बिन्दु-रज के मेलन काल में बिन्दु का पात नहीं होना चाहिए, अन्यथा साधना निष्फल होजाती है, और फिर बिन्दु ही तो शरीर का जीवन है उसके बिना सामर्थ्य नहीं रहती और सामर्थ्य का न रहना तो मनुष्य के लिए प्रत्यक्ष

मृत्यु के ही समान है,इससे कभी भी,किसी भी दशा में बिन्दु-क्षय का रोकना प्रमुख कर्त्तव्य है ॥८७-८८॥

जायते म्रियते लोके बिन्दुना नात्र संशयः ।
एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिन्दुधारणमाचरेत् ॥८९॥
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति भूतले ।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ॥९०॥

शरीरधारी का जन्म-मरण बिन्दु से ही होता है, इसमें कोई संशय नही है। अर्थात् बिन्दु (शुक्र) ही शरीर के उत्पन्न होने में कारण है और बिन्दु का अभाव उसके मरण में कारण होता है। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करके योगी को बिन्दु की रक्षा के आचरण में सदा तत्पर रहना चाहिए। महान् यत्न करने पर भी उपलब्ध बिन्दु की सिद्धि पृथिवी में क्या सिद्ध नहीं करा सकती? अर्थात् बिन्दु-रक्षा में सभी सिद्धियाँ निहित हैं और बिन्दु-रक्षा के प्रसाद से ही मेरी भी यह महिमा बनी हुई है। अर्थात् बिन्दु की रक्षा करने वाला साधक मेरे ही समान महिमावान होजाता है ॥८९-९०॥

बिन्दुः करोति सर्वेषां सुखं दुःखं च संस्थितः ।
संसारिणां विमूढानां जरामरणशालिनाम् ॥९१॥
अयं च शांकरो योगो योगिनामुत्तमोत्तमः ॥९२॥
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति भोगभुक्तोऽपि मानवः ।
सकलः साधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले ॥ ३॥

सांसारिक सुख-दुःख में संस्थित होने का कारण बिन्दु ही होता है। इस प्रकार मूर्खों और जरा-मरण में पड़े हुए संसारी जीवों के लिए यह एक श्रेष्ट साधन है। जो मनुष्य भोगयुक्त हों

उनके लिए भी इसके अभ्यास से सिद्धि प्राप्त होकर संसार में सभी इच्छित पदार्थों की सिद्धि होजाती है। अर्थात् बिन्दु की रक्षा करने वाला पुरुष भोगी गृहस्थ हो तो भी उसकी कामना पूर्ति होती रहती है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं रहता, जो इच्छा करने पर भी उसे प्राप्त न होजाय ॥९१-९३॥

भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन निश्चितम् ।
अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवम् ।
सुखभोगेन महता तस्मादेनं समभ्यसेत् ॥९४॥

इस योग के अभ्यास में सिद्ध हुआ साधक अपने अशेष भोगों को भोगता हुआ अवश्य ही सुखी रहता हैं तथा योगिजनों को इस मुद्रा के साधन द्वारा निश्चय ही सर्व सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। क्योंकि यह साधना महान् सुख को भोगते-भोगते ही सिद्ध होजाती है, इसलिए इसका अभ्यास करना चाहिए। आशय यह है कि वज्रोली मुद्रा के साधन में कोई कष्ट नहीं होता और अशेष भोगों का भोग यदि अशुभ भी हो तो भी वह सुखपूर्वक पूरा होजाता है ॥९४॥

सहजोलल्यमरोली च वज्रोल्या भेदतो भवेत् ।
येन केन प्रकारेण बिन्दुं योगी प्रचारयेत् ॥९५॥

अमरोलीमुद्रा वर्णन

दैवाच्चलति चेद्वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः ।
अमरोलिरियं प्रोक्ता लिंगनालेन शोषयेत् ॥९६॥

वज्रोली मुद्रा के भेद से ही सहजोली और अमरोली मुद्राओं का भी नाम रखा गया। इन सब में सार बात यही है कि योगी जिस प्रकार भी हो सके, बिन्दु का धारण करे। अर्थात् शुक्र-

रक्षा में असावधान न रहे। यदि दैवयोग से उत्तेजनावश बिन्दु अपने स्थान से चलायमान होजाय और साधक रज-बिन्दु के मेलन में भी सफल होजाय तो यह मुद्रा अमरोली कहलाती है। इसमें लिगनाल (वीर्यवाहिनी नाड़ी) द्वारा रज-बिन्दु का शोषण किया जाती है ॥९५-९६॥

सहजोलीमुद्रा वर्णन

गतं बिन्दुं स्वकं योगी बन्धयेद्योनिमुद्रया ।
सहजोलीरियं प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥९७॥
संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्यं तुल्यगतिर्यदि ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ॥९८॥

यदि अपना बिन्दु चलित होजाय तो योगी को योनि-मुद्रा के बन्ध द्वारा अवरोध करना चाहिए। यह सब प्रकार से गोपनीय मुद्रा सहजोली कहलाती है। यद्यपि दोनों का कार्य एक जैसा है, तथापि संज्ञाभेद से इसके अमरोली और सहजोली दो भेद होगए हैं। इसलिए योगी को इन दोनों मुद्राओं का साधन सदा पूरे प्रयत्न के साथ करना चाहिए ॥९७-९८॥

अयं योगो मया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहतः प्रिये ।
गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ॥९९॥
एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति ।
तस्मादेतत्प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ॥१००॥

शिवजी ने पार्वतीजी के प्रति कहा—हे प्रिये ! मैंने यह साधन भक्तों पर स्नेह करने के लिए ही कहा है। परन्तु यह इतना गोपनीय है कि हर किसी व्यक्ति को नहीं देना चाहिए। इस वज्रोली मुद्रा से अधिक गोपनीय कोई अन्य साधन न तो

पहले कभी था और न भविष्य में होगा। इसलिए बुद्धिमान साधक इसे प्रयत्न पूर्वक गुप्त ही रखे ॥९९-१००॥

स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना ।
स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य तत्पुनः ॥१०१॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
बिन्दुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायिका ॥१०२॥

गुरु के उपदेश के अनुसार अपना मूत्र त्याग करने के समय साधक सदा बलपूर्वक वायु से आकर्षण करता हुआ धीरे-धीरे मूत्र को त्यागे और फिर ऊपर की ओर आकर्षित करे तो इस अभ्यास द्वारा बिन्दु सिद्ध होजाता है। यही बिन्दु-सिद्धि साधक को महान् सिद्धि प्रदान करने वाली है। आशय यह कि बिन्दु की सिद्धि के लिए साधक को उपर्युक्त प्रकार से थोड़े-थोड़े मूत्र-त्याग का अभ्यास करना चाहिए ॥१०१-१०२॥

षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया ।
शताङ्गनानां भोगेऽपि तस्य बिन्दुर्न नश्यति ॥१०३॥
सिद्धे बिंदौ महायत्ने किं न सिध्यतिपार्वति ।
ईशुत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभं भवेत् ॥१०४॥

गुरु की शिक्षा के अनुसार योगी यदि उक्त क्रिया का अभ्यास छः महीने भी कर ले तो सौ स्त्रियों से संसर्ग करने पर भी उस का बिन्दु-क्षय नहीं होगा। हे पार्वति ! इस प्रकार महान् प्रयत्न करके भी यदि बिन्दु सिद्ध होजाय तो उस साधक के लिए क्या सिद्ध नहीं होजाता ? अर्थात् सभी कुछ सिद्ध होजाता है। इस बिन्दु-सिद्धि के प्रसाद से मुझे इस दुर्लभ ईशत्व की प्राप्ति हुई है ॥१०३-४०४॥

शक्तिचालन मुद्रा वर्णन

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥१०५
शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥१०६

आधार कमल अर्थात् मूलाधार चक्र में जो कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है, उसे बुद्धिमान साधक अपानवायु पर आरूढ़ होकर और बलपूर्वक उसे आकर्षित करता हुआ चालन करे। यह शक्तिचालन मुद्रा है, जो सभी शक्तियों के देने वाली होती है। स शक्तिचालन मुद्रा के नित्यप्रति अभ्यास करने से सभी रोगों का नाश होकर आयु की वृद्धि होती है ॥१०५-१०६॥

विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु ।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥१०७
यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ॥१०८

इस शक्तिचालन मुद्रा के अभ्यास से भुजंगी अर्थात् सर्पिणी जैसी आकृति वाली कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होकर स्वय ही (सुषुम्न मार्ग से) ऊपर चढ़ने लगेगी। इसलिए सिद्धि की कामना करने वाले यागी को इसका अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि जो साधक इस शक्तिचालन मुद्रा का निरन्तर अभ्यास करता है, उसका शरीर निश्चय ही सिद्ध अर्थात् अमर होजाता है और अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होजाती है ॥१०७-१०८॥

गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिनाशनम् ॥१०९
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ॥११०
एतत्सुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति ।
एकैकाभ्यासने सिद्धिःसिद्धौ भवति नान्यथा ॥१११

गुरु के उपदेश की विधि से इसका साधन करने वाले पुरुष के लिए मृत्युभय कहाँ ? यदि दो मुहूर्त्त भर ही इसका साधन कर ले तो शक्ति का नाश रुक जाता है और प्रयत्न पूर्वक इसके अभ्यास में लगा रहता है, उसे तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो ही जाती हैं। इसलिए किसी भी युक्त आसन से बैठ कर इस शक्ति चालन मुद्रा का अभ्यास करना योगी का कर्त्तव्य है। इस प्रकार मेरे द्वारा कही हुई यह दश मुद्राएँ अभूत-पूर्व हैं। इनके समान न तो कोई साधन हुआ, न होगा ही। इसमें से एक-एक का अभ्यास करता हुआ साधक अवश्य ही सिद्धि को प्राप्त करता हुआ सिद्ध होजाता है ॥१०९-१११॥

शिव संहिता का चतुर्थ पटल समाप्त

अथ अष्टमः पादः

मुद्रासाधनम्

नत्वा गुरुपदद्वन्द्वं साधकानां सुखाय च ।
मुद्राणां साधनं वक्ष्ये योगशास्त्रस्य सम्मतम् ॥१

मुद्रासाधनमाहात्म्यं मुद्रा मोदप्रदायिनी ।
साधनात् सुखमत्यन्तं प्राप्नोति नात्र संशयः ॥२

यथैव राजती मुद्रा यस्यास्ति स च मोदवान् ।
यावज्जीवनपर्यन्तं दैन्यदुःखैर्न बाध्यते ॥३

तथा योगाङ्गमुद्रेयं लब्ध्वा दुःखैर्न लिप्यते ।
करस्थमायुषं कृत्वा विचरेच्च महीतले ॥४

ग्रहयामले

शीत्कारं च सदा वक्रे घ्राणे चैव विजृम्भकम् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवद्वितीयकः ॥५

न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ।
भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च सर्वोपद्रववर्जितः ।
अनेन विधिना सत्यं योगीन्द्रो भुवि मण्डले ॥६

अथ मुद्रासाधनम्

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्डियानं मूलबन्धो बन्धो जालन्धराभिधः ॥७

करणं विपरीताख्यं वज्रिणी शक्तिचालनम् ।
इदन्तु मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥८

देवेशि कथितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धीनां दुर्लभं मरुतामपि ॥९

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्टकम् ।
कस्यचिन् नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥१०

घेरण्डे तथान्ययोगशास्त्रे च ।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधस्ततः परम् ।
मूलबन्धश्च तत् पश्चादुड्डीयानं जलन्धरम् ॥११

तडागी भुजगी काकी मातङ्गी खेचरी तथा ।
विपरीतकरणी योनी वज्रिणी शक्तिचालिनी ॥१२
पाशिनी च नभोमुद्रा अश्विनी माण्डवी तथा ।
शाम्भवी च ततः पश्चादिति विंशति मुद्रिकाः ॥१३

घेरण्डे । महामुद्रा

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः ।
याम्यपादं प्रसार्याथ कराभ्यां धृतमङ्गुलिम् ॥१४

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
पूरकैर्वायुमापूर्य महामुद्रा निगद्यते ॥१५

वलितं पलितं वापि जरामृत्युं निवारयेत् ।
क्षयङ्कासगुदावर्त्तं प्लीहाजीर्णज्वरव्यथाम् ।
नाशयेत् सर्वरोगाणि महामुद्राप्रधारणात् ॥१६

गोरक्षे

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामनु धारयेत् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनं स्वकुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचयेद्
एषा व्याधिविनाशिनी सुमतिदा मुद्रा नृणां कथ्यते ॥१७

चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत् पुनः ।
यावत्तुल्या भवेत् संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१८

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ॥१९

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ॥२०

कथितेयं महामुद्रा जरामरणनाशिनी ।

दत्तात्रेये

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि भैरवोक्तं समाचरेत् ॥२१

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ॥२२

चिबुकं हृदये न्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा च रेचयेत् ॥२३

वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन चाभ्यसेत् ।
प्रसारितस्तु यः पादस्तमुरूपरि विन्यसेत् ॥२४

ग्रहयामले

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥२५

कण्ठे वक्त्रं समारोप्य धारयेद्वायुमुद्धृतम् ।
यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥२६

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डलीसहिता भवेत् ।
आदौ सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता ॥२७

अतः शनैः शनैरेव रेचयेत्तं न वेगतः ।
इयं ऋज्वी महामुद्रा तव स्नेहात् प्रकाश्यते ॥२८

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ।
महामुद्रा तु तेनैव समाख्याता महेश्वरि ॥२९

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्याङ्गेन समभ्यसेत् ।
यावत् संख्या भवेत्तुल्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥३०

अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ।
क्षयकुष्ठगुदावर्त्तगुदप्लीहापुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ॥३१

कथितेयं महामुद्रा जरामरणनाशिनी ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥३२

अथ महाबन्धः

अन्य एव महाबन्धो मुद्रां बद्ध्वायमभ्यसेत् ।
महाबन्धस्थितो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः ॥३३

अयमेव महाबन्धः सिद्धैरभ्यस्यते नरैः ।
पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥ ३४

वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।
पूरयित्वा मुखे वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ॥३५

निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ।
रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते ॥३६

अमुं योनिं महाबन्धं महासिद्धिप्रदायकम् ।
वामाङ्गे च समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥३७

अयं च सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिं निरोधयेत् ।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥३८

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥३९

अथ महावेधः

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा प्रकरणं तथा ।
वायूनां गतिमाकृष्य विधृतं कण्ठमुद्रया ॥४०

समस्तयुक्तो यो भूमौ स्फीचौ सन्ताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयं समाकृष्य वायुश्चरति सत्वरः ॥४१

सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै ।
वह्निवृद्धिकरं चैवाणिमाद्यष्टगुणप्रदम् ॥४२

मृतावस्था समुत्पन्ना ततो मृत्युभयं कुतः ।
राजदण्डश्च जिह्वायां बन्धः सन्स भवेद्धितः ॥४३

महावेधसमाभ्यासो महासिद्धिप्रदायकः ।
बन्धत्रयं महागुह्यं जरामरणनाशनम् ॥४४

अवधिक्रियते यामं यामं यामं दिने दिने ।
पुण्यसम्भारसन्धायं पापौघार्तिहरं सदा ।।४५

सम्यक् शिक्षावतामेव स्वप्नं प्रथमसाधने ।
महामुद्रा महाबन्धो महावेध इति त्रयम् ।।४६

अथ मूलबन्धः । ग्रहयामले

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ।।४७

अधोगतमपानं च ऊर्ध्वाङ्गे कुरुते हठात् ।
आकुञ्चनेन तं वच्मि मूलबन्धं महेश्वरि ।
योनिपार्ष्णि तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात् ।।४८

वारं वारं तथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ।
प्राणादिमोदिता बिन्दुर्मूलबन्धेन चैकतः ।।४९

ततो योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः ।
अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।।५०

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ।
अपाने चोर्ध्वगे याति सम्प्राप्ते नाभिमण्डले ।।५१

तदानुनासिका दीर्घा वर्धते वायुना हता ।
[नासामार्गवाहिनी अजपा न दीर्घा वहति इत्यर्थः] पाठान्तरं यथा
तदानलशिखादीर्घा वर्धते नात्र संशयः ।।५२

ततो जातं बद्धयोनौ प्राणेषु च स्वरूपकम् ।
तैलाभ्यङ्गं प्रदीपन्तु ज्वलनो देहगस्तथा ।।५३

तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता संविवर्धते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ।।५४

विलं प्रविश्यैव ततो ब्रह्मनाड्यान्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्त्तव्यः परमेश्वरि ।।५५

महाबन्धस्तद्यथा । घेरण्डे

वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत् ।
दक्षपादेन तद्गुल्फं सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ।।५६

शनैस्तु चालयेत् पार्ष्णि योनिमाकुञ्चयेच्छनैः ।
जलन्धरे ध्रियेत् प्राणं महाबन्धो निगद्यते ॥५७

अथ महावेधं यथा

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधं विना तथा ॥५८

महाबन्धं समासाद्य उड्डायी कुम्भकं चरेत् ।
महावेधं समाख्यातं योगिनां सिद्धिदायकम् ॥५९

बन्धत्रयं महागुह्यं योगसिद्धिकरं परम् ।

मूलबन्धं घेरण्डे

पार्ष्णिपादेन वामेन योनिमाकुञ्चयेत्ततः ॥६०

नाडीग्रन्थिं मेरुदण्डे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ।
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत् ॥६१

जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धं निगद्यते ।

गोरक्षे

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥६२

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥६३

उड्डीयानबन्धः । ग्रहयामले

बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणमुड्डीयते ततः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं ज्ञातव्यः परमेश्वरि ॥६४

उड्यानं कुरुते यस्मादविश्रान्तो महाखगः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात् तत्र बन्धो निगद्यते ॥६५

उदरे पश्चिमातानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेशरी ॥६६

उड्डानकं तु सहजं कथ्यते परमेश्वरि ।
अभ्यासेन वितन्त्रस्तु वृद्धोऽपि (?) तरुणो भवेत् ॥६७

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात् प्रयत्नतः ।
षण्मासाभ्यासवान् मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥६८

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥६९

पश्चिमोत्तानमुदरे कारयेद् हृदये गले ।
शनैः शनैर्यथा प्राणस्तुन्दं सिद्धि स गच्छति ॥७०

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमोऽयुड्डीयानकः ।
उड्डीयाने महेशानि मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥७१

दत्तात्रेयसंहितायाम्

उड्डीयानं च सहजं मुनिभिः कथ्यते सदा ।
अभ्यसेद् यस्तु सत्त्वस्थो वृद्धोऽपि तरुणायते ।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि प्राणं कुर्यात् प्रयत्नतः ॥७२

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ।
मूलबन्धस्तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु योगवित् ॥७३

(उड्डीयानं मूलबन्धवद्गुह्याकुञ्चनं कार्यमिति मतम्) गोरक्षे यथा ।

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तो महाखगः ।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेशरी ॥७४

उदरात् पश्चिमे भागे अधोनाभेर्निगद्यते ।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥७५

काशीखण्डे

उड्डीनं कुरुते यस्मादहोरात्रं महाखगः ।
उड्डीयानं ततः प्रोक्तं तत्र बन्धो विधीयते ॥७६

जठरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च धारयेत् ।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धो मृत्योरपि भयं हरेत् ॥७७

अथ जालन्धरबन्धः । गोरक्षे

बध्नाति हि शिराजालं बाधो याति न भोजनम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखस्य नाशनः ॥७८

जालन्धरकृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥७९

ग्रहयामले

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताव्ययकारकः ॥८०

नाभिस्थाग्निकपालस्थं सहस्रकमलाच्च्युतम् ।
अमृतं सर्वदा स्रावं विन्दुतां याति देहिनाम् ॥८१
यथाग्निश्च तदमृतं न पिबेच्च पिबेत् स्वयम् ।
याति पश्चिमभागेन एवमभ्यासतः सदा ॥८२

अमृतं कुरुते देहं जालन्धरमतोऽभ्यसेत् ।

ग्रहयामले

बध्नाति हि शिराजालं मध्यगामी न भोजनम् ।
अतो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥८३

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचने कृते ।
न पीयूषं पचत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥८४

कण्ठसङ्कोचने नैव द्वे नाड्यौ कुम्भयेद्दृढम् ।
बन्धत्रयमिदं गुह्यं महासिद्धिनिषेवितम् ॥८५

अथ आकुञ्चनेनाशु कण्ठसङ्कोचने कृते ।
मध्यपश्चिमतानं स्यात् प्राणस्तु मध्यनाभिगः ॥८६

ब्रह्मस्थानस्थितो बोधः प्रयाति पवनालयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥८७

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डानाख्यां तु कारयेत् ।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमं पथम् ॥८८

अनेनैव विधानेन सेवते पवनालयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥८९

काशीखण्डे

बध्नाति हि शिराजालमधोगामी न भोजनम् ।
एष जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥९०

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥९१

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताक्षयकारकः ॥९२

घेरण्डे

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत् ।
जालन्धरकृतो बन्धो षोडशाधारबन्धनम् ॥९३

जालन्धरमहामुद्राममृताक्षयकारिणीम् ।
महामुद्रा महाबन्धो महाबेध इति त्रयम् ।

बन्धत्रयं महादुःखं ग्रहयामलसम्मतम् ॥९४
मूलबन्धो महाबन्धो महाबेध इति त्रयम् ।

बन्धत्रयं महागुह्यमिति घेरण्डसम्मतम् ॥९५
मूलबन्धस्तूड्डीयानो जालन्धर इति त्रयम् ।

बन्धत्रयं महागुह्यं जरामरणनाशनम् ॥९६
बन्धत्रयं च त्रिविधं योगशास्त्रस्य सम्मतम् ।
सर्वदा साधयेद् योगी श्रद्धया यत्नतः सदा ॥९७

अथ तडागी । घेरण्डे

उदरे पश्चिमातानं कुर्यात्तु तडागाकृतिम् ।
तडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥९८

अथ भुजङ्गीमुद्रा घेरण्डे

वक्त्रं किञ्चित् सुप्रसार्य अनिलं गलया पिबेत् ।
सा भवेद् भुजगीमुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥९९

यावन्त उदरे रोगा अजीर्णाद्या विशेषतः ।
तत्सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजङ्गिनी ॥१००

अथ काकीमुद्रा घेरण्डे

काकचञ्चुवतास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
काकीमुद्रा भवेदेषा रोगिणां रोगनाशनम् १०१

काशीखण्डे

काकचञ्चुवदास्येन शीतलं शीतलं पिबेत् ।
प्राणं प्राणविधानज्ञो योगी भवति निर्जरः ॥१०२

अथ खेचरीमुद्रा। घेरण्डे (आदौ जिह्वाशोधनं कृत्वा)

तर्जनीमध्यमानामा अङ्गुलीत्रययोगतः ।
वेशयेद्गलमध्ये तु मार्जयेल्लम्बिकामलम् ॥१०३

शनैः शनैर्मार्जयित्वा कफदोषं निवारयेत् ।
मार्जयेन्नवनीतेन दोहयेच्च पुनः पुनः ॥१०४

तदग्रं लौहयन्त्रेण कर्षयित्वा शनैः शनैः ।
नित्यं कुर्यात् प्रयत्नेन रवेरुदयचान्तके ॥१०५

एवं कृते च नित्ये च लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।
वृद्धाङ्गुष्ठेन दक्षेन मार्जयेद्धालरन्ध्रकम् ॥१०६

एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ।
नाडी निर्मलतां याति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥१०७

अङ्गुल्या च प्रदेशिन्या मार्जयेत् कर्णरन्ध्रयोः ।
नित्यमभ्यस्य योगोऽयं नादान्तरं प्रकाशयेत् ॥१०८

ग्रहयामले

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः ।
न खेचरी महामुद्रा न नादः सदृशो लयः ॥१०९

घेरण्डे

जिह्वाधो नातिसम्भिन्ना रसनां चालयेत् सदा ।
दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत् ॥११०

एवं नित्यसमभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।

दत्तात्रये

नासिकास्पर्शजिह्वेयं तालुलग्ना भवेत्ततः ।

घेरण्डे

रसनां हि तालुरन्ध्रे शनैः शनैः प्रवेशयेत् ॥१११

भ्रुवोर्मध्यगता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।
न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते ॥११२

न च रोगो जरामृत्युर्देवदेहो भवेद् ध्रुवम् ।
न चाग्निर्दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः ॥११३

न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः ।
देवतुल्यं भवेद्गात्रं समाधिर्जायते ध्रुवम् ॥११४

कपालरन्ध्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात् ।
नानाविधिसमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने ॥११५

दत्तात्रये

अन्तः कपालविवरे जिह्वां व्यावृत्य बन्धयेत् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी ॥११६

ग्रहयामले

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥११७

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परिवर्त्तयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥११८

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्द्धं यस्तु तिष्ठति ।
विषयान्मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥११९

न रोगमरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥१२०

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न स कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यस्य मुद्रास्ति खेचरी ॥१२१

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सर्वनमस्कृता ॥१२२

खेचर्या मुद्रिता येन विवरं लम्बिकोर्ध्वकम् ।
तस्य न क्षरते बिन्दुः कामिन्या श्लेषितस्य च ॥१२३

चलितोऽपि यदा बिन्दुं संप्राप्ते योनिमण्डले ।
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छुक्तचा निबन्धो योनिमुद्रया ॥१२४

ऊर्ध्वंजिह्वास्थितो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवान् ।।१२५

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।।१२६

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेनापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ।।१२७

तस्मादिदं प्रकुर्वीत नित्यं युक्तः समाहितः ।
रसनां वेशयेदूर्ध्वं पिबेदमरवारुणीम् ।।१२८

कुलिनं तमहं वन्दे इतरे च कुसाधकाः ।
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।।१२९

गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।
जिह्वाप्रवेशसम्भूतवायुना स्थापितं खलु ।
चन्द्राद्गलति संसारं तस्मादमरवारुणी ।।१३०

मूर्ध्नि षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठाद्
ऊर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्ति परां चिन्तयेत् ।
तत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामृतं यः पिबे-
न्निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरञ्जीवति ।।१३१

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दनी
सा क्षारकटुकादिदुग्धसदृशी क्षीराज्यतुल्याथवा ।
व्याधीनां हरणं जयन्तकरणं शास्त्राङ्गमुद्गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणवत् सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।।१३२

एवं सृष्टिमयं वीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्बो ह्येकावस्था मनोन्मनी ।।१३३

सुचिरं ज्ञानजनकं पञ्चतत्त्वसमन्वितम् ।
तिष्ठन्ति खेचरीमुद्रा अस्मिन् शून्ये निरञ्जने ।।१३४

घेरण्डे

आदौ लवणक्षारं च तत्र तिक्तकषायनम् ।
नवनीतं घृतं क्षीरं दधि तक्रं मधूनि च ।।१३५

द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम् ।

योगस्वरोदये

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा कलार्द्धं योऽवतिष्ठते ।
क्षणेन मुच्यते देवि व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥१३६

रसना त्वन्तरे नित्यं यावद् ब्रह्मबिलं गता ।
अमृतं रसनाग्रेण पीयमानं विचिन्तयेत् ॥१३७

सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो योगीन्द्रो नात्र संशयः ।
रसनातालुमूले च वायुं पीत्वा शनैः शनैः ॥१३८

षण्मासाभ्यन्तरे देवि महायोगी भविष्यति ।
क्षीरेण नश्यते व्याधिः कटुकण्डुविनाशनम् ॥१३९

सुस्वादेन महादेवि बालपाकविनाशनम् ।
घृतास्वादेन मात्रेण अमरत्वं लभेन्नरः ॥१४०

मधुस्वादरसाष्टे च शास्त्रमुदीरते स तु ।
मिष्ठान्नखण्डखाद्यादिलड्डुकस्वादवर्त्तिनी ॥१४१

नानाविधं रसं प्राप्य आनन्दं च दिने दिने ।

काशीखण्डे

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥१४२

न पीड्यते स रोगेण न च लिप्यते कर्मणा ।
बाध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥१४३

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैव खेचरी प्रोक्ता मुद्रा सिद्धैः निषेविता ॥१४४

यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥१४५

अश्विनीमुद्रा

आकुञ्चयेद् गुदद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः ।
सा भवेदश्विनी मुद्रा मुद्रा शक्तिप्रबोधिनी ॥१४६

विपरीतकरणी मुद्रा

यत् किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपकम् ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥१४७

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न च शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ १४८

ऊर्ध्वं नाभिरधः स्थानमूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणं विपरीताख्यं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥१४९

नित्यमभ्याससंयुक्तं जठराग्निविवर्द्धनम् ।
स्वल्पाहारो निराहारः क्षुधार्त्तो बलहा भवेत् ॥१५०

आहारं बहुलं तस्य सम्पाद्य साधकस्य तु ।
नात्याहारो यदि भवेदग्निर्देहं दहेत् क्षणात् ॥१५१

अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने ।
क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेद्धि दिने दिने ॥१५२

वलितं पलितं चैव षण्मासाद्धि विनाशयेत् ।
मासमात्रं तु यो नित्यमभ्यसेच्च स चार्कजित् ॥१५३

मासमात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु योगवित् ।

योनिमुद्रा घेरण्डे

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखम् ॥१५४

अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च धारयेत् ।
काकिनीं प्राणतः कृष्य अपाने योजयेत्ततः ॥१५५

षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसः मनुना सुधीः ।
चैतन्यमानयेद् देवि निद्रिता या भुजङ्गिनी ॥१५६

जीवेन सहितां शक्ति समुत्थाप्य पराम्बुजे ।
शक्तिमयं स्वयं रत्या परशिवेन सङ्गमम् ॥१५७

नानासुखं विहारं च चिन्तयेत् परमं सुखम् ।
शिवशक्तिसमायोगादेकात्मत्वं विभावयेत् ॥१५८

आनन्दमयसम्भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत् ।

योनिमुद्रां परां गोप्यां देवानामपि दुर्लभाम् ।
सकृद् यो भावसंसिद्धः समाधिस्थः स एव हि ॥१५९

अथ वज्रोणी घेरण्डे

धरामवष्टभ्य करस्तनाभ्या-
मूर्ध्वं क्षिपेत् पादयुगं शिरः खे ।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय
वज्रोणीमुद्रां मुनयो वदन्ति ॥१६०

वज्रोणी ग्रहयामले

वज्रोणी चामरोणी च सयोनिश्च त्रिधा मता ।
यत्तासां लक्षणं वक्ष्ये कर्त्तव्यं च विशेषतः ॥१६१

स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि योगोक्तनियमं विना ।
वज्रोणीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनः ॥१६२

अधोभागे गतं विन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितन्तु स्वकं विन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥१६३

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैव द्वितीयं च नारी च वलवर्त्तिनी ॥१६४

मेढ्रेन च शनैः सम्यक् कृत्वा कुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषो वापि नारी वा वज्रोणीसिद्धिमाप्नुयात् ॥१६५

प्रयत्नतः शिराजालं फुत्कारे कम्बु वर्धयेत् ।
शनैः शनैः प्रकुर्याच्च वायुसञ्चारकारणात् ॥१६६

भार्याभगगतं विन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
वलितं पलितं विन्दुं विन्दुमाकृष्य रक्षयेत् ॥१६७

एवन्तु रक्षयन् विन्दुं मृत्युं जयति योगवान् ।
मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात् ॥१६८

सुगन्धि योगिनो देहं जायते विन्दुधारणात् ।
यावद् विन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ॥१६९

मलायत्तं वलं पुंसां शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मलं चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥१७०

ऋतुमत्या रजोप्येवं स्वयं विन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रादाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगतः ॥१७१

सहयोन्यमरोणी च वज्रोणीत्रयभेदतः ।
वज्रोणी मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः साङ्गलेपनम् ॥१७२

आसीनयोः सुखेनैव सूक्ष्मव्यापारयेत् क्षणात् ।
सहयोनिरियं प्रोक्ता श्रद्धया परमेश्वरि ॥१७३

पित्तोल्वणत्वात् प्रथमं च धारां
विहारनिःसारतयान्त्यधाराम् ।
निषेवते शीतलमध्यधारां
कम्पोलिकैः खण्डमतेरवर्यः ॥२७४

अमरीं यः पिबेन्नित्यं न्यासं कुर्वन् दिने दिने ।
वज्रोणीमभ्यसेदेवममरोणीति कथ्यते ॥१७५

यक्षणाकुञ्चनेनोर्ध्वं यद्रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं ज्ञानं खेचरी च प्रजायते ॥१७६

देहसिद्धिं च लभते वज्रोण्यभ्यासयोगतः ।
अयं शुभकरो योगो भोगान् भुङ्क्ते विमुक्तिदः ॥१७७

वज्रोणी यदि कर्त्तव्या क्षीरेण चाभ्यसेत्सुधीः ।
शत्रूणां नाशकर्त्तव्यं शत्रुवृद्धिं न कारयेत् ॥१७८

शक्तिचालनी । ग्रहयामले

कुण्डलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुन्धती देवी शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१७९

गङ्गायमुनयोर्मध्ये वाला रण्डा तपस्विनी ।
बलादाकृष्य गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१८०

पुच्छं प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेदपि ।
निद्रां विहाय सा ऋज्वी ऊर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥२८१

वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥१८२

मृत्युवक्त्रगतस्यापि ततो मृत्युभयं कुतः ।
मुहूर्त्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ॥१८३

ऊर्ध्वमाकर्षते किञ्चित् सुषुम्नां कुण्डलीगताम् ।
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायाः समुद्गता ॥१८४

जहाति नित्यं प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वयम् ।
तस्मात् सञ्चालयेन्नित्यं शब्दगर्भामरुन्धतीम् ॥१८५

यस्याः सञ्चालनेनैव रोगी रोगैर्विमुच्यते ।
येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनः ॥१८६

किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।
अभ्यासान्निस्सृतां चैन्द्रीं सह नित्यं समाश्रयेत् ॥१८७

धारयेत्तूत्तमाङ्गे च दिव्यदृष्टिप्रदायिकाम् ।
इति मुद्रा दश प्रोक्तास्तव स्नेहान्महेश्वरि ॥१८८

एकैकं चाशुयमिनां महासिद्धिप्रदायकम् ।

शक्तिचालनी मुद्रा घेरण्डे

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता ।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ॥१८९

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवपशोरिव ।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत् ॥१९०

उद्घाटयेत् कवाटन्तु यथा कुञ्जिकया हठात् ।
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं विभेदयेत् ॥१९१

नातिबृहद्वेष्टनं च न च एव बहिः स्थितम् ।
गोपनीयं गृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥१९२

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम् ।
दुकूलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ॥१९३

एवमम्बरयुक्तं च कटीसूत्रेण योजयेत् ।
भस्मना गात्रसंलिप्तः सिद्धासनं यथाचरेत् ॥१९४

नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद्बलात् ।
तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्विनीमुद्रया ॥१९५

यावद्गच्छेत् सुषुम्नायां वायुं प्रवेशयेद्धठात् ।
तदा वायुप्रयत्नेन मुद्रां भुजगीकुम्भिकाम् ॥१९६

बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ।
शब्दद्वयं फलैकन्तु योनिमुद्रा च चालनम् ॥१९७
विना शक्तिचालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति ।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां ततोऽभ्यसेत् ॥१९८

शक्तिचालनी गोरक्षे

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥१९९
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मूलेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरि ॥२००
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।
कुण्डलिन्या यथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥२०१
कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं चलच्चेक्षितम् ।
वारम्वारमपानमूर्ध्वमनिलं नोच्चारयेत् पूरितं
मुञ्चेत् प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ॥२०२

पाषाणीमुद्रा घेरण्डे

स्कन्दपृष्ठे क्षिपेत् पादौ पाशवत् दृढबन्धनम् ।
सा एव पाषाणी मुद्रा शक्तिबोधप्रकारिणी ॥२०

नभोमुद्रा

यत्र तत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ।
ऊर्ध्वजिह्वां स्थितो भूत्वा धारयेत् पवनं सदा ।
नभोमुद्रा भवेदेतद् रोगिणां रोगनाशिनी ॥२०४

माण्डूकी मुद्रा

मुखं सम्मुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ।
शनैर्ग्रसेदमृतं च माण्डूकीमुद्रिकां विदुः ॥२०५

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम् ।
न केशं जायते पक्वं यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम् ॥२०६

नासारन्ध्रजलपानफलम्

विगतघननिशीथे प्रातरुत्थाय नित्यं
पिबति खलु नरो यो नासारन्ध्रेण वारि ।
स भवति मतिपूर्णश्चक्षुषा त्वर्कतुल्यो
वलिपलितविहीनः सर्वरोगैर्विमुक्तः ॥२०७

मातङ्गिनीमुद्रा घेरण्डे

कण्ठलग्नजले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत् ।
मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनः पुनः पुनः पुनः ॥२०८
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।
प्रथमाभ्यासकालेन नासारन्ध्रे जलं पिबेत् ॥२०९
ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते साधयेन् मुद्रिकां पराम् ॥२१०

शाम्भवीमुद्रा घेरण्डे

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत् ।
सा भवेत् शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥२११
वेदशास्त्रपुराणाद्या सामान्यगणिका इव ।
एकैव शाम्भवीमुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥२१२
स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम् ।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम् ॥२१३
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वर !
शाम्भवीं यो विजानाति स्वयं ब्रह्म नचान्यथा ॥२१४

इत्यघोरविरचितायां योगकर्णिकायां योगसङ्केते अष्टमः पादः ॥

अध्याय-5

मुद्रा-निरूपण

प्राणायाम के सिद्ध होने पर मुद्राओं का अभ्यास कुण्डलिनी जागरण हेतु परमावश्यक है। मुद्राओं के निरूपण से पूर्व मुद्राओं के महत्त्व तथा प्रयोजन की चर्चा यहाँ आवश्यक प्रतीत होती है। शास्त्रों में तो स्पष्ट उक्त है कि बिना प्रयोजन के तो मंद भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता अतएव इनका प्रयोजन बताते हुए ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ब्रह्मरन्ध्र के द्वार पर प्रसुप्त कुण्डली को जगाने हेतु सब प्रयत्नों द्वारा मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।[1]

योग तन्त्रों में कुण्डलिनी कोई नवीन वस्तु नहीं है। इसका वर्णन हठयोग के ग्रन्थों तथा उपनिषदों में प्राप्त होता है, इसका दूसरा नाम आधार शक्ति है और वह सभी पदार्थों को आश्रय देती हुई उन सबकी मूल सत्ता के रूप में विद्यमान रहती है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि हृदय की 101 नाड़ियाँ हैं तथा उनमें से एक मस्तक में प्रवेश करके अमरता की उपलब्धि कराती है। अन्यों से अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती।[2] यह कुण्डलिनी शक्ति चैतन्य सम्पादन करने के कारण निरालम्ब होकर शुद्ध चित्तस्वरूप में स्थित हो जाती है। यदि यह आधारशून्य हो जाएगी तो समस्त संसार की वस्तुएं भी आधारहीन होकर नष्ट हो जायेंगी। ग्रन्थकार के शब्दों में जिस प्रकार पर्वतों तथा वनों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी का आधार शेषनाग है, उसी प्रकार सभी योग यन्त्रों का आधार कुण्डली है।[3] और जब गुरु के प्रसाद से यह प्रसुप्त कुण्डली जग जाती है, तब

---

1. (क) ह० प्र०—3/5
   (ख) शिव-संहिता—4/14
2. छान्दोग्योपनिषद्—8/6/6
3. ह० प्र०—3/1

सभी पद्म (मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि) तथा सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।[1] और जब तक यह देह में सोई रहती है तब तक जीव पशु के समान रहता है तथा असंख्य योगाभ्यास करने पर भी उसको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।[2] इसके जागरण पर सुषुम्ना मार्ग प्राण हेतु राजपथ के समान सुखदायी हो जाता है। चित्तविषयों से हट जाता है तथा मृत्युभय नष्ट हो जाता है। इस सुषुम्ना नाड़ी के कई पर्यायवाची शब्द हैं जैसे शून्य पदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्य मार्ग।[3]

अतः इसी कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिए ही मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए। इन मुद्राओं की संख्या दस है—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यानबन्ध, मूलबन्ध, जालंधर बन्ध, विपरीत करणी, वज्रोली और शक्तिचालन।[4]

जबकि घेरण्ड संहिता में इनकी संख्या पच्चीस और गोरक्ष-संहिता में इनकी संख्या पाँच बताई गई है।[5] शिव-संहिता में मुद्राओं की संख्या दस बताते हुए इनको क्रमशः उत्तमोत्तम कहा है।[6]

हठयोग के अतिरिक्त मुद्राओं का उल्लेख तन्त्र साहित्य में भी प्राप्त होता है। इनका नाम क्रमशः डोम्बि, नटी, रजकी, ब्राह्मणी और चण्डाली है तथा इनकी संख्या पाँच मानी गई है।[7]

1. महामुद्रा

वाम पैर की एड़ी से सीवनी नाड़ी को दबाएँ तथा दाहिने पैर को भूमि पर फैला कर दोनों हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़ लें तदुपरान्त जालन्धर बन्ध लगाकर वायु को ऊपर की ओर ले जाकर रोकना चाहिए। जिस प्रकार डण्डे की चोट से सर्प दण्ड के समान सीधा हो जाता है उसी प्रकार मुद्राओं के निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सहसा

---

1. (क) वही—3/2
   (ख) शिव-संहिता—4/13
2. घेरण्ड-संहिता—3/50
3. ह० प्र०—3/3-4
4. वही—3/6-7
5. (क) घेरण्ड-संहिता—3/1-3
   (ख) गोरक्ष-संहिता—1/56
6. शिव-संहित—4/58
7. Studies in the Tantras Part I by Prabodh Chandra Bagchi, Published by the university of Calcutta—1939

सीधी हो जाती है और तब इड़ा और पिंगला मृतवत् हो जाती हैं तथा वायु सुषुम्ना मार्गी हो जाता है। इसके बाद योगी को धीरे-धीरे श्वास का रेचक करना चाहिए, अत्यन्त शीघ्रता से नहीं। श्रेष्ठ योगियों ने इसी को महामुद्रा कहा है। महासिद्धों द्वारा बताई गई इस महामुद्रा के अभ्यास से महाक्लेश आदि दोष तथा मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। इसी कारण विद्वानों में श्रेष्ठों ने इसे महामुद्रा कहा है।

चन्द्र नाड़ी से अभ्यास करने के पश्चात् सूर्य नाड़ी से अभ्यास एवं जब दोनों की संख्या समान हो जाए तब इस मुद्रा को विसर्जित करना चाहिए। इस महामुद्रा के अभ्यासी के लिए पथ्य भोजन तथा अपथ्य भोजन नहीं रह जाता, रसहीन वस्तु भी रसयुक्त हो जाती है तथा विषतुल्य कुत्सितान्न भी अमृत के समान बन जाता है। महामुद्रा के अभ्यास से अभ्यासी के क्षय, कुष्ठ, कोष्ठबद्धता, गुल्म, अजीर्ण तथा अनेक प्रकार के उत्पन्न होने वाले रोग नष्ट हो जाते हैं। इस महामुद्रा को जो कि मनुष्य को महासिद्धि प्रदायक है, प्रयत्नपूर्वक गुप्त तथा किसी अधर्मी को नहीं बतानी चाहिए।[1]

गोरक्ष-संहिता[2] तथा घेरण्ड-संहिता[3] में भी इनके लाभों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि इसके निरन्तर अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, गुल्म, अजीर्ण आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

2. महाबन्ध

वाम चरण को एड़ी की सीवनी नाड़ी पर लगायें तथा दक्षिण चरण को वाम-जङ्घा पर दृढ़तापूर्वक स्थापित करें। तत्पश्चात् वायु का पूरक करके चिबुक को कण्ठकूप पर दृढ़तापूर्वक रखें। तब मूल बन्ध लगाते हुए मन को सुषुम्ना में लगाना चाहिए। यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे वायु का रेचक करना चाहिए। इस प्रकार वायीं ओर से अभ्यास करने के बाद पुनः दायीं तरफ से अभ्यास करना चाहिए।

कुछ आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए हठयोग प्रदीपिकाकार कहते हैं कि जालन्धर बन्ध नहीं लगाना चाहिए अपितु जालन्धर बन्ध की अपेक्षा जिह्वा-बन्ध ही श्रेयस्कर है क्योंकि इससे प्राणों की गति ब्रह्मरन्ध्र की ओर हो जाती है।

यह महाबन्ध निश्चित ही महान् सिद्धियों का प्रदाता है तथा इसके अभ्यास से

---

1. ह० प्र०—3/10-18
2. गोरक्ष-संहिता, प्रथम शतक
3. घेरण्ड-संहिता—3/6-7

सभी नाड़ियों की ऊर्ध्वगामिता रुक जाती है। यह महाबन्ध कालपाश को तोड़ने में सामर्थ्य रखता है, इसके अभ्यास से तीनों धाराओं (इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना) का संगम होता है तथा मन भृकुटि (शिव स्थान) में लगने लगता है।[1] योगकर्णिका में कहा गया है कि यह त्रिवेणी सङ्गम को प्राप्त करता है तथा मन केदार में रमण करता है।[2]

3. महावेध

महावेध की महत्ता का वर्णन हठयोगप्रदीपिका[3] तथा घेरण्डसंहिता[4] में इस प्रकार से किया गया है कि जिस प्रकार रूपयौवनसम्पन्ना स्त्री पुरुष के बिना व्यर्थ होती है, उसी प्रकार महामुद्रा तथा महाबन्ध ये दोनों ही महावेध के बिना व्यर्थ ही हैं। इसके अनन्तर इसकी प्रक्रिया निर्धारित करते हुए कहा गया है कि योगी को महाबन्ध लगाकर मन को एकाग्रचित्त कर श्वास को ग्रहण करने के पश्चात् जालंधर बन्ध द्वारा वायु की गति का निरोध करना चाहिए।

तदुपरान्त दोनों हथेलियों को भूमि पर लगाकर सम्पूर्ण शरीर को तुला के समान दोनों हथेलियों पर उठा लेवें। इसके अनन्तर धीरे-धीरे नितम्ब प्रदेश को भूमि पर ताड़न करें। ऐसा करने से प्राणवायु दोनों नासारन्ध्रों को छोड़कर सुषुम्नावाही हो जाता है।

सोम (इड़ा) सूर्य (पिङ्गला) अग्नि (सुषुम्ना) इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध होने पर अमरता की प्राप्ति तथा मृतावस्था की उत्पत्ति होने पर अर्थात् इड़ा और पिंगला के निष्क्रिय होने पर वायु का सुषुम्ना से रेचन करना चाहिए।

इस महावेध के अभ्यास से अभ्यासी को महासिद्धियों की प्राप्ति, झुर्रियों, वालों का पकना तथा शरीर का कांपना बन्द होता है। इसलिए श्रेष्ठ साधक इसका अभ्यास करते हैं।

इन तीनों (महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध) को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिए। ये तीनों वृद्धावस्था और मृत्यु का विनाश करती हैं, इनके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा ये अणिमा आदि सिद्धियों की प्रदाता मानी जाती हैं।

प्रतिदिन तीन घंटे तक आठ बार इनका अभ्यास करना चाहिए। ये (साधक को) सभी द्रव्यों को देने वाली और सभी प्रकार के पापों को नष्ट करने वाली हैं। अच्छे

1. ह० प्र०—3/19-24
2. योगकर्णिका—8/38
3. ह० प्र०—3/25
4. घेरण्ड-संहिता—3/21

जानकार साधकों को भी इनका अभ्यास प्रारम्भ काल में अल्प मात्रा में ही करना चाहिए।[1]

शिव-संहिता में कहा गया है कि जो साधक प्रतिदिन इन मुद्राओं का चार बार अभ्यास करता है वह केवल छः मास में ही मृत्यु पर विजय पाता है।[2]

4. खेचरी

योग-विज्ञान में यह तथ्य सर्वविदित है कि हमारे तालुमूल में एक विवर से चन्द्र-रसरूपी अमृत स्रवित होता रहता है तथा जो नाभि प्रदेश पर पहुंच कर भस्म हो जाता है, उसका नष्ट होना ही मृत्यु का हेतु है। अतः उसको यत्नपूर्वक नाभि प्रदेश तक न पहुंचने देना ही खेचरी मुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा की प्रक्रिया में जिह्वा को इतना दीर्घ करना चाहिए कि वह भृकुटि प्रदेश का स्पर्श करने लगे। तब उसको वापिस मुख में उलट कर उस विवर तक ले जाकर उससे स्रवित होने वाले सार को जिह्वा द्वारा ग्रहण करना चाहिए, ऐसा करने से मृत्यु का भय सदा के लिए समाप्त हो जाता है। स्वयं ग्रन्थकार के अनुसार जिह्वा को उलटकर कपाल-छिद्र में प्रवेश कराने के पश्चात् दृष्टि को भृकुटि पर स्थापित करने से खेचरी मुद्रा कहलाती है। खेचरी मुद्रा की सिद्धि के लिए जिह्वा का छेदन, चालन और दोहन इन तीन क्रियाओं को तब तक करते रहना चाहिए जब तक जिह्वा का स्पर्श भृकुटि पर न हो जाए। जिह्वा की छेदन, चालन और दोहन प्रक्रिया बताते हुए आगे कहा गया है कि स्नुही के पत्ते के समान धार वाले चिकने और निर्मल शस्त्र के द्वारा जिह्वा को रोममात्रा में काट दें। तत्पश्चात् सैन्धव नमक तथा हरड़ के चूर्ण को सात दिन तक कटे हुए भाग पर मलना चाहिए। सात दिन पश्चात् पुनः रोम मात्रा में काट दें। साधक इसी क्रम का षट्मास पर्यन्त प्रति दिन अभ्यास करता रहे। छः मास तक इसी क्रिया को करने से जिह्वा मूल का आवरण हट जाता है।

तदनन्तर जिह्वा को उलटकर कपाल छिद्र में लगाना चाहिए, इसी को खेचरी मुद्रा तथा इसी को व्योमचक्र भी कहते हैं।

जो साधक आधे क्षण भी जिह्वा को विपरीत कर कपाल छिद्र में लगाता है, वह शीघ्र ही विष, रोग, मृत्यु तथा वृद्धावस्था आदि से मुक्त हो जाता है। जो खेचरी मुद्रा को जान जाता है, उसे रोग, मृत्यु, तन्द्रा, निद्रा, भूख, प्यास तथा मूर्च्छा आदि से मुक्ति

---

1. ह० प्र०--3/26-31
2. शिव-संहिता—4/28

मिल जाती है। वह कर्मों में लिप्त तथा काल से भी बाधित नहीं होता। इसमें चित्त भृकुटि रूपी शून्य में विचरण करता है तथा जिह्वा कपाल-कुहर रूपी आकाश में स्थित रहती है, इसी कारण से सिद्ध लोग इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं, इस के द्वारा जिस योगी ने जिह्वा को उलटकर कपाल छिद्र को बन्द कर लिया है, उसका बिन्दु कामिनी के द्वारा आलिङ्गित होने पर भी स्खलित नहीं होता अर्थात् उसके बिन्दु की रक्षा होती है। यदि वह बिन्दु कदाचित् स्खलित हो जाए तथा योनि-मण्डल को प्राप्त कर ले तो भी वह बिन्दु योनिमुद्रा के द्वारा निबद्ध होने पर भी शक्ति से खींचकर ऊर्ध्वगामी हो जाता है। जो योगवित् स्थिर रहकर जिह्वा को उलटाकर सोमपान करता है वह अर्धमास में ही मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं क्योंकि जिस योगी का शरीर प्रतिदिन सोमद्रव्य से पूर्ण रहता है उसको सर्पदंश का विष नहीं चढ़ता तथा जिस प्रकार अग्नि लकड़ी को और दीपक तेल तथा बाती को नहीं त्यागता, उसी प्रकार सोमद्रव्य से पूर्ण देही को आत्मा नहीं त्यागती। जिह्वा के प्रवेश से उत्पन्न अग्नि से जो चन्द्रद्रव्य स्रवित होता है, उसी को अमरवारुणी कहते हैं और यदि जिह्वा का अग्रभाग सदा कपालछिद्र का चुम्बन कर, उससे स्रवित होने वाले स्राव का ग्रहण करता रहे, तो जिह्वा को क्रमशः लवण, तीखा, खट्टा, दुग्ध, मधु तथा घृत के समान रसों का आस्वादन होने लगेगा।[1] उसके समस्त रोगों का नाश, वृद्धावस्था का निवारण, शस्त्र का प्रभाव नष्ट तथा अणिमा आदि अष्टसिद्धियों की प्राप्ति के साथ-साथ उसके प्रति सिद्धांगनाएँ आकर्षित होती हैं।

जिह्वा को कपाल छिद्र में स्थिर करके ऊर्ध्व स्थित पराशक्ति का चिन्तन करते हुए, प्राणायाम के द्वारा षोडशदल-कमल से स्रवित निर्मल धारा की तरङ्गों के समान चन्द्ररस का जो साधक पान करता है, वह कमल डण्ठल के समान कोमलकाय प्राप्त कर व्याधि रहित होकर दीर्घायु को प्राप्त करता है।

ज्ञान के जनक तथा पांच स्रोतों (दो नाक, दो कान तथा एक मुख) से युक्त छिद्र जो कि ज्ञानयुक्त शून्य है उसी में खेचरी मुद्रा रहती है। जिस प्रकार से सृष्टि का मूल बीज प्रकृति है, देवों में श्रेष्ठ परमात्मा है और अवस्थाओं में एकमात्र अवस्था मनोन्मनी अवस्था है, उसी प्रकार मुद्राओं में एकमात्र खेचरी मुद्रा मानी गई है।[2]

5. उड्डीयान बन्ध

इसके नामकरण विषयक प्रसङ्ग के अनुसार सुषुम्ना नाड़ी में निरुद्ध प्राण-वायु

---

1. घेरण्ड-संहिता—3/31-32
2. ह० प्र०—3/32-53

इस बन्ध के द्वारा ऊर्ध्वगामी किया जाता है, क्योंकि इससे प्राणवायु रूपी पक्षी निरन्तर क्सुषुम्नामार्ग से शून्य में उड़ान भरता रहता है, इसीलिए इसे उड्डीयान कहा जाता है। इस बन्ध की प्रक्रिया निर्धारित करते हुए निर्दिष्ट है कि साधक को रेचक करने के उपरान्त नाभिस्थल को ऊपरी की ओर तथा उदर को नीचे और पीछे की ओर खींचकर मेरुदण्ड के साथ लगाना चाहिए। यह उड्डीयान बन्ध मृत्यु रूपी गज हेतु सिंह के समान है।

योगकुण्डल्युपनिषद् में इसको प्रथम स्थान न देकर द्वितीय स्थान पर रखा गया है।[1]

यदि कोई वृद्ध भी गुरु निर्दिष्ट मार्ग से एवं निरन्तर स्वाभाविक रूप से उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करता है तो वह भी युवक सदृश बन जाता है। इस बन्ध के छः मास तक निरन्तर अभ्यास से साधक की मृत्यु पर विजय तथा उसको निश्चित ही मुक्ति प्राप्त होती है।[2]

इसके निरन्तर अभ्यास से नाभिचक्र की गति ठीक होती है, उदर सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है, फेफड़ों को असीम बल की प्राप्ति, वीर्य ऊर्ध्वगामी जठराग्नि प्रदप्ति होती है एवं कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में भी यह बन्ध सहायक सिद्ध होता है।

6. मूलबन्ध

दोनों पावों की किसी भी एक एड़ी से गुदेन्द्रिय तथा लिंगेन्द्रिय के मध्य भाग को दबाकर गुदा का आकुंचन करते हुए अपान वायु को ऊपर की ओर खींचना चाहिए। इसी को मूलबन्ध कहते हैं। अर्थात् अधोगामी अपानवायु को जो साधक गुदेन्द्रिय प्रदेश के आकुंचन के द्वारा बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी कर लेता है, उसे ही योगीजन मूलबन्ध कहते हैं। इस प्रक्रिया में गुदेन्द्रिय प्रदेश को दबाकर बलपूर्वक बार-बार योनि का आकुंचन तब तक करते रहना चाहिए जब तक अपान वायु ऊर्ध्वगामी न हो जाए।[3]

घेरण्ड-संहिता में इसका निरूपण इस प्रकार से किया गया है कि बायीं एड़ी से गुह्यप्रदेश को संकुचित कर प्रयत्नपूर्वक मेरुदण्ड में नाभिग्रन्थि को लगाकर दबाए और दायीं एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबा ले। यह मूलबन्ध है तथा इससे वृद्धावस्था नष्ट होती है। संसार रूपी सागर से पार होने वाले आकांक्षियों को जनहीन स्थान (निर्जन)में

---

1. योगकुण्डल्युपनिषद्—41
2. ह० प्र०—3/54-59
3. ह० प्र०—3/60-62

छिपकर ही इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इससे मरुत् सिद्धि होती है। अतएव मौन एवं आलस्य रहित होकर इसका अभ्यास करना चाहिए।[1]

इसके लाभों की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि इसके निरन्तर अभ्यास से प्राण तथा अपान वायु की एकता एवं नाद और बिन्दु में ऐक्य स्थापित होकर योगसिद्धि की प्राप्ति होती है। प्राण और अपान की एकता से मल और मूत्र की अल्पता होती है। यहाँ तक कि वृद्ध भी युवक सदृश बन जाता है।

जब इस बन्ध के अभ्यास से अपान वायु ऊर्ध्वगामी हो जाता है, तब वह वह्नि-मण्डल अर्थात् उदर की जठराग्नि में जा पहुंचता है। अपान वायु से आहत हुई जठराग्नि और अधिक प्रदीप्त हो उठती है। तब अग्नि और अपान वायु प्राण को उष्ण बना देते हैं। इससे देह की अग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है।

जब प्राणवायु और अपान वायु का घर्षण होता है, तब सोई हुई कुण्डलिनी सन्तप्त होकर जग जाती है तथा दण्ड से आहत हुई सर्पिणी की भांति फुन्कारती हुई सीधी हो जाती है और ब्रह्मनाड़ी में उसी प्रकार प्रवेश करती है जिस प्रकार सर्पिणी अपने बिल में प्रवेश करती है। अतएव योगियों को प्रति दिन मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए।[2]

इस प्रकार का वर्णन योगकुण्डल्युपनिषद् में भी प्राप्त होता है।[3] इसके अति-रिक्त इस बन्ध के निरन्तर अभ्यास से गुदा सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण तथा उदर सम्बन्धी रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। बवासीर सदृश रोगों की तो यह अचूक दवा है।

7. जालन्धर बन्ध

सभी हठयोग के ग्रन्थों में इस बन्ध की चर्चा की गई है। कुछ प्राचीन योगियों के मतानुसार इस की आवश्यकता नहीं समझी गई क्योंकि उनके मतानुसार जिह्वा बन्ध होने पर जालन्धर बन्ध के समस्त लाभ योगी को प्राप्त हो जाते हैं, अतएव जालन्धर बन्ध की विशेष उपयोगिता दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु हठयोगप्रदीपिकाकार ने इसके महत्त्व को समझ कर इसकी प्रक्रिया निर्धारित करते हुए कहा है कि 'कण्ठ को संकुचित करने के

---

1. घेरण्ड-संहिता—3/14-17
2. ह० प्र०—3/63-68
3. योगकुण्डल्युपनिषद्—43-45

उपरान्त ठोड़ी को हृदय-प्रदेश (कण्ठ-कूप) में दृढ़ता पूर्वक स्थापित करने को जालन्धर बन्ध कहते हैं, जो वृद्धावस्था तथा मृत्यु का विनाशक है ।[1]

शिव-संहिता में इसके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए इसे देवताओं के लिए भी दुर्लभ बताया है ।[2]

इससे प्राप्त लाभों की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि यह बन्ध समस्त नाड़ी जाल को बांधता है जिससे निम्नगामी चन्द्ररस का बाध होने पर कण्ठ सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है ।

शिव-संहिता में कहा है कि बुद्धिमान पुरुष इस बन्ध के द्वारा अमरवारुणी को पीकर अमरत्व तथा भुवनत्रय में प्रसन्नता को प्राप्त करता है ।[3] कण्ठ-सङ्कोच वाले इस बन्ध को लगाने से चन्द्ररस जठराग्नि में नहीं गिरता तथा इससे वायु के विकार भी नहीं होते । यह बन्ध इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में वायु के प्रवाह को दृढ़तापूर्वक रोकता है । यह मध्यचक्र अर्थात् विशुद्ध चक्र है । इससे शरीर के सोलह आधारों का बन्ध होता है । सोलह आधारों के नाम इस प्रकार हैं—(1) अंगुष्ठ (2) गुल्फ (3) जानु (4) ऊरू (5) सीवनी (6) लिङ्ग (7) नाभि (8) ग्रीवा (9) हृदय (10) कण्ठदेश (11) लम्बिका (12) नासिका (13) भ्रू मध्य (14) मस्तक (15) मूर्धा और (16) ब्रह्मरन्ध्र ।

इन आधारों का बन्ध परमावश्यक है क्योंकि इसके बिना योगसिद्धि की कल्पना ही व्यर्थ है ।

इसके अतिरिक्त इस बन्ध से मन में स्थिरता, मस्तिष्क सन्तुलित एवं विशुद्ध रहता है । कण्ठ सम्बन्धी समस्त रोगों का नाश तथा नेत्र, कर्ण, नासिका और ग्रीवा के लिए भी यह बन्ध उपयोगी है ।

महासिद्धों के द्वारा इन तीनों बन्धों (मूलवन्ध, उड्डियान बन्ध और जालंधर बन्ध) का सेवन श्रेष्ठ है तथा योगियों के मतानुसार ये सभी बन्ध हठतन्त्रों के साधन स्वरूप हैं ।[4]

8. विपरीतकरणी मुद्रा

दिव्यरूप चन्द्रमण्डल से जो अमृत तत्त्व स्रवित होता है, उस सबको

---

1. ह० प्र०—3/69
2. शिव-संहिता—4/38
3. शिव-संहिता—4/39
4. ह० प्र०—3/75

नाभिमण्डल स्थित अग्निस्वरूप सूर्य ग्रसता रहता है, इसी कारण से शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त है।

सूर्य के मुख में वह चन्द्र रस स्रवित न हो, इसकी एक दिव्य क्रिया कही गई है तथा इस क्रिया को गुरु के उपदेश से ही जाना जा सकता है न कि करोड़ों शास्त्रों के समूह से। नाभिमण्डल को ऊपर और तालुमूल को नीचे करने से सूर्यमण्डल ऊपर तथा चन्द्र-मण्डल नीचे की ओर हो जाता है। इसी क्रिया को विपरीत करणी मुद्रा कहते हैं जो कि गुरु के द्वारा ही प्राप्त है।[1]

घेरण्ड-संहिता के अनुसार नाभिमूल में सूर्य नाड़ी और तालुमूल में चन्द्रनाड़ी का वास माना गया है। सहस्रार के अमृतस्राव को सूर्य नाड़ी ग्रहण करती है और उसी से प्राणी की मृत्यु कही गई है। यदि उसी स्राव का पान चन्द्र नाड़ी करें तो जीव को मृत्युभय नहीं सताता। अतः सूर्यनाड़ी को ऊपर तथा चन्द्रनाड़ी को नीचे करना ही विपरीत-करणी मुद्रा कहलाती है।[2]

शिव-संहिता के अनुसार भूमि पर सिर रखकर दोनों पैरों को ऊपर स्थापित करना ही विपरीतकरणी मुद्रा है।[3] इसका प्रतिदिन अभ्यास जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। किन्तु यह विशेष ध्यातव्य है कि इसके अभ्यासी को पर्याप्त मात्रा में आहार ग्रहण करना चाहिए अन्यथा प्रदीप्त जठराग्नि शरीरस्थ रक्त, मज्जा आदि धातुओं को जलाने लगती है।

प्रारम्भकाल में एकक्षणपर्यन्त ही नीचे की ओर सिर एवं पांवों को ऊपर की ओर स्थापित करना चाहिए। इसके अभ्यास की वृद्धि प्रतिदिन क्षणमात्रा में ही करनी चाहिए।

इस मुद्रा के छः मास निरन्तर अभ्यास से शरीर की झुर्रियां तथा बालों की श्वेतता नष्ट एवं इसका प्रतिदिन एक प्रहर का अभ्यास साधक को कालजित् बना देता है[4]

9- वज्रोली

योगोक्त नियम रहित स्वेच्छाचारी योगी यदि इस क्रिया को जानता है तो

---

1. ह० प्र०—3/78
2. घेरण्ड-संहिता—3/33-34
3. शिव-संहिता—4/45
4. ह० प्र०—3/79-81

वह भी योगसिद्धि का अधिकारी होगा। इस मुद्रा की सिद्धि अप्राप्य न सही किन्तु दुष्कर अवश्य मानी गई है। चौदह अंगुल पर्यन्त शीशे, तांबे, स्वर्ण, रजत अथवा रबड़ की पतली नली को लिंगेन्द्रिय के माध्यम से प्रतिदिन एक-एक अंगुल परिमाण से ऊपर की ओर प्रवेश कराना चाहिए। बारह दिन पर्यन्त लिंगेन्द्रिय के शुद्ध होने पर वायु का ग्रहण और त्याग करना चाहिए। दृढ़ अभ्यासानन्तर क्रमशः जल, दूध, तेल, शहद और पारा ग्रहण करना चाहिए। इस अभ्यास में सिद्धहस्त होने पर ही योगी स्वबिन्दु अथवा रज को आर्कषित करें।

इस प्रकार स्वबिन्दु की रक्षा करने वाला साधक मृत्यु पर विजय पाता है क्योंकि बिन्दु का पतन ही मृत्यु और बिन्दु की रक्षा ही जीवन है। बिन्दु को शरीर में धारण करने वाले साधक के शरीर से सुगन्ध उत्पन्न होती है।

सहजोली और अमरोली भेदों से यह दो प्रकार की है। सहज़ोली क्रिया में साधक वज्रोली के उपरान्त गोबर के उत्तम भस्म को जल में मिलाकर अपने सम्पूर्ण अंगों पर लगाते हैं। यह शुभकारी सहजोली क्रिया भोगयुक्त होते हुए भी मुक्ति-दायिनी है।

वज्रोली का सम्यक् अभ्यास करते हुए नासिका प्रदेश से स्रवित होने वाले स्राव का पान ही अमरोली है। ज्योत्स्ना टीका के अनुसार जो पुरुष शिवाम्बुरूप अमरी को नासिका से नित्य पीता है अर्थात् नासिकाछिद्र द्वारा अमरी को अंतर्गत करता है और प्रतिदिन वज्रोली का भली प्रकार अभ्यास करता है उस मुद्रा को कापालिक अमरोली कहते हैं अर्थात् नासिका के छिद्र से पान की अमरी वज्रोली के अनन्तर अमरोली कहलाती है।[1]

यदि कोई साधिका भी इस क्रिया को जानती है तो वह शीघ्र ही भूत-भविष्य को जानने वाली, आकाशगामिनी एवं उसे कार्यसिद्धि की प्राप्ति होती है।[2]

10 शक्तिचालन

भारतीय दर्शनों में जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम तीन सामान्य जन के लिए जहां सुलभ हैं वहीं चतुर्थ तुरीयावस्था की उपलब्धि केवल योगियों को ही होती है। प्रथम तीन अवस्थाओं में कुण्डलिनी (जीव की मार्मिक शक्ति) प्रायः सुप्तावस्था में रहती है और तुरीयावस्था में यह जागृत हो उठती है तभी 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध होता है।

---

1. ज्योत्स्ना टीका—3/97
2. ह० प्र०—3/82-96

घेरण्ड-संहिता के अनुसार यह शक्ति मूलाधार से 4 अंगुल ऊपर 3/1-2 लपेटे खाकर सोई रहती है और जब तक यह सुप्तावस्था में विद्यमान रहती है तब तक जीव पशु के समान इस मर्त्यलोक में विचरण करता है, कोटियोग का अभ्यास करने पर भी उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।[1]

जिस प्रकार कोई सामान्य जन चाभी से अवरोधक कपाट को खोलता है, उसी प्रकार योगी इस शक्ति के द्वारा मोक्षद्वार का भेदन करता है। डा० गोपीनाथ कविराज के अनुसार 'अरणि-मंथन करने से जिस प्रकार अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है, अर्थात् अरणिस्थ सुप्त अग्नि जिस प्रकार संघर्षण से उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार साधन प्रणाली द्वारा प्रसुप्त कुण्डलिनी को जगाना पड़ता है। अग्नि जिस प्रकार प्रकट होते ही ईंधन (काष्ठादि) को दग्ध करती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के चैतन्य होने पर साधना विलुप्त हो जाती है। बाह्य साधनामात्र—अर्थात् विचार, भक्ति या हठ किंवा मन्त्र-योगादि—यह सम्पूर्ण उपासना पुरुषकार-सापेक्ष अथवा कर्त्तृत्वाभिमानजन्य हैं। यह कर्तृत्व-बोध क्रम से कुण्डलिनी-चैतन्य के समान लुप्त हो जाती है, और कर्तृत्व-बोध के लुप्त होने से कुण्डलिनी अधिक जागृत होती है। जिस समय एक बार कुण्डलिनी चेतन होने लगती है, उस समय स्वभाव के नियम से ही सब कार्य स्वयं ही होते जाते हैं। जिस प्रकार अनुकूल स्रोत में नौका छोड़ देने पर उसको समुद्र में पहुंचाने के अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार कुण्डलिनी को जगाने से और उसके प्रवाह में प्राण व मन को डाल देने से जीव को ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के लिए पृथक् उपाय करने की आवश्यकता नहीं रहती। सङ्कोच शक्ति अथवा ऊर्ध्वबिन्दु-स्थित आकर्षण-शक्ति के प्रभाव में अन्तर्मुखगति क्रमशः वृद्धिगत होती है, और अन्त में साम्यावस्था में स्थिर हो जाती है।[2]

स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं कि 'प्राणायाम से पहले त्रिकोण-मण्डल को ध्यान में देखने का प्रयत्न करना चाहिए। आंखें बन्द करके इसके चित्र की मन-ही-मन स्पष्ट रूप से कल्पना कर सोचना चाहिए कि इसके चारों ओर अग्निशिखा है और उसके बीच में कुण्डलिनी सोई पड़ी है। ध्यान में इस कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार चक्र में जब स्पष्ट भाव से देख सकोगे, तब उसको जगाने के लिए कुम्भक करके उस वायु के बल से उसके मस्तक पर आघात करो। जिनकी कल्पना शक्ति जितनी अधिक है वे फल भी उतनी शीघ्रता से पाते हैं और उनकी कुण्डलिनी भी उतनी ही शीघ्र जागृत होती है। जितने दिन वह जागृत नहीं है उतने दिन सोचे—वह जग गयी है और इड़ा तथा पिंगला की गति अनुभव करने की चेष्टा करो, जोर देकर उनको सुषुम्ना पथ में चलाने की चेष्टा करो, इससे शीघ्र ही कार्य होगा।'[3]

---

1. घेरण्ड-संहिता—3/49/60
2. भारतीय संस्कृति और साधना—डा० गोपीनाथ कविराज
3. सरल-राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, पृ० 21

हठयोगप्रदीपिकाकार के अनुसार जिस सुषुम्ना मार्ग से उस निरामय ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है, यह कुण्डलिनी उसी सुषुम्ना मार्ग को मुख के द्वारा ढककर सोई रहती है। यह शक्ति सर्प के समान कुटिल आकार वाली तथा गङ्गा (इड़ा नाड़ी) और यमुना (पिङ्गला नाड़ी) के मध्य में स्थित है जिसको पुरुषार्थ से ही जगाना चाहिए, क्योंकि वहीं भगवान् विष्णु का परम पद है।

कन्द के ऊपर स्थित इस शक्ति को प्रातः और सायं आधे प्रहर तक पिंगला नाड़ी से पूरक करके परिधान युक्ति से पकड़ कर प्रतिदिन चलाना चाहिए। आगे कन्दस्थान का लक्षण देते हुए कहा है कि लिंगेन्द्रिय तथा नाभि के मध्य एक हाथ ऊंचाई वाला, चार अंगुल परिमाण वाला, कोमल, श्वेत तथा वस्त्र के द्वारा लिपटे हुए के समान कन्द स्थान है। इस कन्द प्रदेश को वज्रासन में स्थित होकर दोनों पैरों के टखनों से दबाना चाहिए। तदनन्तर भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए, इससे कुण्डलिनी शीघ्रता से जागृत हो जाती है। अथवा नाभिमण्डल स्थित सूर्यनाड़ी का आकुंचन कर इस शक्ति को चलाने का अभ्यास करना चाहिए। इस शक्ति को दो मुहूर्त्त पर्यन्त निर्भय होकर चलाने से यह शक्ति सुषुम्ना में कुछ प्रविष्ट होकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है।

जिस साधक ने इस शक्ति को चलायमान कर लिया है, वही राजयोग आदि सिद्धियों को प्राप्त करता है। वह योगी लीला करता हुआ मृत्यु पर विजय पाता है। इस शक्ति चालन के अभ्यास से बहत्तर सहस्र नाड़ियों का मल दूर हो जाता है।[1]

इस प्रकार आदिनाथ शम्भु द्वारा उपदिष्ट ये सभी मुद्राएं साधकों को महासिद्धि प्रदान करने वाली हैं। और जो साधक एकाग्र मन से इन मुद्राओं का अभ्यास करता है, वह अणिमा आदि गुण-ऐश्वर्य के साथ-साथ मृत्यु पर भी विजय पाता है।[2]

---

1. ह० प्र०—3/97-116
2. शिव-संहिता—4/58

पञ्चम अध्याय

महत्त्वपूर्ण मुद्राएँ और बन्ध

मुद्रा और बन्ध के अनेक प्रकार हैं—जैसे महामुद्रा, महावेध, नभोमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, योनिमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, अश्विनीमुद्रा, पाशिनीमुद्रा, मातङ्गीमुद्रा, काकीमुद्रा, भुजङ्गिनीमुद्रा; और योगमुद्रा तथा महाबन्ध, जालन्धरबन्ध, उड्डीयानबन्ध और मूलबन्ध।

इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्राओं एवं बन्धों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। इनमें से आपको जो उपयोगी लगे, उसे चुन कर नियमित रूप से अभ्यास कीजिए। इनसे खाँसी, श्वास का रोग, प्लीहा तथा यकृत की अपवृद्धि, कामवासना की उत्तेजना, रतिजरोग, यक्ष्मा, जीर्णमलावरोध, कुष्ठरोग एवं सभी असाध्य रोग भी दूर हो जाते हैं। इन मुद्राओं और बन्धों से मनोवाञ्छित फल प्राप्त होता है; क्योंकि—

"नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् संसिद्धये क्षितिमण्डले।"

अर्थात् पृथ्वी पर मुद्राओं के समान सिद्धि दिलाने वाला और कुछ भी नहीं है।

१. महामुद्रा

बाँयीं एड़ी से गुदा को सावधानीपूर्वक दबायें। दायीं टाँग को आगे फैला लें। दोनों हाथों से पैर के अँगूठे को पकड़ लें। श्वास ले कर उसे रोकें (कुम्भक)। ठोड़ी को सीने पर दृढ़ता से दबायें (जालन्धरबन्ध)। दृष्टि को त्रिकुटी पर जमायें (अर्थात् भ्रूमध्यदृष्टि)। जितनी देर हो सके, इस मुद्रा को टिकाये रखें। पहले बायीं टाँग से और फिर दायीं टाँग से अभ्यास करें। इससे यक्ष्मा, अर्श अथवा बवासीर, प्लीहा की अपवृद्धि, अपच, गुल्म, कुष्ठ, मलावरोध, ज्वर आदि रोग दूर होते हैं तथा आयु बढ़ती है। यह मुद्रा अभ्यास करने वाले साधक को सिद्धियाँ प्रदान करती है। इस मुद्रा को करने पर प्रायः जानुशीर्षासन-जैसी आकृति बन जाती है।

२. योगमुद्रा

पद्मासन में बैठ कर हथेलियों को एड़ियों पर रखें। धीर-धीरे श्वास बाहर

निकालें तथा आगे को झुकें और मस्तक से भूमि को स्पर्श करें। यदि आप इस मुद्रा को देर तक टिकाये रखते हैं, तो सामान्य रूप से श्वास ले और निकाल सकते हैं अथवा आप पूर्वावस्था में आ कर पुनः श्वास ले सकते हैं। हाथों को एड़ियों पर रखने के स्थान में उन्हें पीठ की ओर ले जा सकते हैं। अपनी बायीं कलाई को दायें हाथ से पकड़ें। इस मुद्रा से समस्त प्रकार के उदर-रोग दूर होते हैं।

३. खेचरीमुद्रा

'खे' का अर्थ है 'आकाश में' और 'चर' का अर्थ है 'चलना'। योगी आकाश में चलता है; इसलिए इसे खेचरीमुद्रा कहते हैं।

इस मुद्रा को केवल वही व्यक्ति कर सकता है जिसने अपना प्रारम्भिक अभ्यास ऐसे गुरु के साक्षात् मार्गदर्शन में किया हो जो स्वयं खेचरीमुद्रा करते हों। इस मुद्रा का प्रारम्भिक अंश जिह्वा को इतनी लम्बी बनाना है कि उसका अग्रभाग भृकुटि के मध्य वाले स्थान को स्पर्श कर सके। प्रति सप्ताह गुरु जिह्वा के नीचे के तन्तु को थोड़ा-थोड़ा करके स्वच्छ तथा तीक्ष्ण धार वाले यन्त्र (छुरी) से काटता रहेगा। नमक और हल्दी-चूर्ण लगाने से कटे हुए तन्तु फिर से नहीं जुड़ते। जिह्वा को ताजा मक्खन लगा कर बाहर खींचें। उँगलियों से जिह्वा को पकड़ कर इधर-उधर घुमायें। जिह्वा के दोहन का अर्थ है उसे पकड़ कर इस प्रकार खींचना जिस प्रकार गाय का दूध निकालते समय उसके थनों को पकड़ कर दूध निकाला जाता है।

जिह्वा के नीचे वाले तन्तु को नियमित रूप से सप्ताह में एक बार काटना चाहिए। यह कार्य ६ माह से ले कर २ वर्ष तक किया जाना चाहिए। इन सब विधियों से आप जिह्वा को इतनी लम्बी कर सकते हैं कि वह मस्तक को स्पर्श कर लेगी। खेचरीमुद्रा का यह प्रारम्भिक अंश है।

इसके पश्चात् सिद्धासन में बैठ कर जिह्वा को ऊपर और पीछे की ओर इस प्रकार मोड़ें कि वह तालु को स्पर्श कर ले और जिह्वा से नाक के पश्च-द्वार को बन्द कर दें। आप अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करें। श्वासोच्छ्वास रुक जायेगा। जिह्वा अमृत-कूप के मुँह पर है। यह खेचरीमुद्रा है।

इस मुद्रा के अभ्यास से योगी मूर्च्छा, क्षुधा, पिपासा और आलस्य से मुक्त हो जाता है। वह रोग, क्षीणता, वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्त हो जाता है। इस मुद्रा से व्यक्ति ऊर्ध्वरेता योगी बनता है। चूँकि योगी का शरीर अमृत से पूर्ण हो

जाता है; अतः वह घातक विष से भी नहीं मरता। यह मुद्रा योगियों को कायसिद्धि प्रदान करती है। खेचरी सर्वश्रेष्ठ मुद्रा है।

४. वज्रोलीमुद्रा

यह हठयोग में एक महत्त्वपूर्ण यौगिक क्रिया है। इस क्रिया में पूर्ण सफल होने के लिए आपको कठिन परिश्रम करना पड़ेगा। इस क्रिया में बहुत कम साधक दक्ष होते हैं। योग के विद्यार्थी विशेष प्रकार की बनवायी हुई १२ इञ्च लम्बी चाँदी की एक नली को मूत्र-मार्ग में प्रवेश करा कर इसके द्वारा पहले पानी और फिर दूध, तेल, मधु आदि खींचते हैं। अन्त में वे पारा खींचते हैं। कुछ समय बाद वे बिना नली के सहारे मूत्र-मार्ग द्वारा इन तरल पदार्थों को खींच लेते हैं। ब्रह्मचर्य में सुस्थित होने के लिए यह क्रिया अत्युपयोगी है। प्रथम दिन मूत्र-मार्ग में केवल १ इञ्च नली ही प्रवेश करायें, दूसरे दिन २ इञ्च, तीसरे दिन ३ इञ्च; इसी प्रकार इसे बढ़ाते जायें। जब तक १२ इञ्च नली भीतर प्रवेश न कर ले, तब तक क्रमशः अभ्यास करते रहें।

राजा भर्तृहरि इस क्रिया को बहुत दक्षता से कर लेते थे। इस मुद्रा को करने वाले योगी का एक बूँद वीर्य भी बाहर नहीं निकल सकता और यदि निकल भी जाये तो वह इस मुद्रा द्वारा उसे वापस ऊपर खींच सकता है। जो योगी वीर्य को ऊपर खींच कर सुरक्षित रख सकता है, वह मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। उसके शरीर से सुगन्ध निकलती है। भगवान् कृष्ण इस मुद्रा में बड़े कुशल थे; इसलिए अनेक गोपियों के मध्य रहते हुए भी वे नित्य-ब्रह्मचारी कहलाते थे।

५. विपरीतकरणीमुद्रा

भूमि पर लेट कर टाँगों को सीधे ऊपर उठायें। नितम्बों को हाथों से सहारा दें। कोहनियाँ भूमि पर टेक लें। स्थिर बने रहें। नाभि के मूल में सूर्य का और तालु-मूल में चन्द्रमा का निवास है। जिस प्रक्रिया से सूर्य को ऊपर की ओर तथा चन्द्रमा को नीचे की ओर ले जाया जाता है, वह विपरीतकरणीमुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा में सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति को पलट दिया जाता है। प्रथम दिन इसे एक मिनट तक करें। धीरे-धीरे इसे तीन घण्टे तक बढ़ा दें। छः महीने में आपके चेहरे की झुर्रियाँ और श्वेत बाल लुप्त हो जायेंगे। जो योगी इसे प्रतिदिन तीन घण्टे तक करते हैं, वे मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। चूँकि इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है, अतः जो लोग इस मुद्रा का अभ्यास देर तक करते हैं, उन्हें इस

क्रिया की समाप्ति पर अल्पाहार—जैसे दूध आदि—ले लेना चाहिए। शीर्षासन की मुद्रा भी विपरीतकरणीमुद्रा कहलाती है।

६. शक्तिचालनमुद्रा

एकान्त कमरे में सिद्धासन में बैठें। बलपूर्वक श्वास को अन्दर खींच कर उसे अपान के साथ जोड़ें। वायु के सुषुम्ना में प्रवेश करने तक मूलबन्ध लगायें। वायु को रोकने से कुण्डलिनी का दम घुटने के कारण वह जाग्रत हो जाती है और सुषुम्ना में हो कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है। इस मुद्रा के अभ्यास से व्यक्ति सिद्ध बन जाता है।

सिद्धासन में बैठें। गुल्फ के पास से पैर को पकड़ कर धीरे-धीरे पैर से कन्द को पीड़ित करें। यह ताड़न-क्रिया है। इस पद्धति से भी कुण्डलिनी जाग्रत की जा सकती है।

७. महावेध

अन्यत्र वर्णन किये अनुसार महाबन्धमुद्रा में बैठें। धीरे-धीरे श्वास खींच कर उसे रोकें और ठोड़ी को सीने पर दबायें (जालन्धर-बन्ध)। हथेलियों को भूमि पर रखें। शरीर को हथेलियों पर टिका दें। नितम्बों को धीरे-धीरे उठा कर हलके से भूमि पर पटक दें। नितम्बों को ऊपर उठाते समय आसन अक्षत तथा दृढ़ होना चाहिए। यह क्रिया जरा तथा मृत्यु का उच्छेदन करती है। योगी मन पर नियन्त्रण तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है।

८. महाबन्ध

बायीं एड़ी से गुदा को दबायें तथा दायाँ पैर बायीं जङ्घा पर रखें। गुदा एवं योनि या मूलाधार की पेशियों को शिकोड़ें। अपान-वायु को ऊपर की ओर खींचें। धीरे-धीरे श्वास को खींच कर जालन्धर-बन्ध द्वारा उसे यथाशक्ति रोकें। फिर धीरे-धीरे श्वास को बाहर निकाल दें। मन को सुषुम्ना पर स्थिर करें। प्रथम बायीं ओर से और फिर दायीं ओर से अभ्यास करें। सामान्यतया योगी लोग महामुद्रा, महाबन्ध एवं महावेध साथ-साथ करते हैं। इन तीनों का एक अच्छा सङ्घटन बनता है। ऐसा करने से ही सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता है। योगी आप्तकाम हो जाता है तथा सिद्धियाँ प्राप्त करता है।

९. मूलबन्ध

बायीं एड़ी से योनि को दबायें। गुदा को सिकोड़ें। अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे अपान-वायु को बलपूर्वक खींचें। दायीं एड़ी को जननेन्द्रिय पर रखें। इसे मूलबन्ध कहते हैं जो जरा और मृत्यु का विनाशक है।

प्राणायाम के अभ्यास में सिद्धि अथवा पूर्णता बन्धों की सहायता से प्राप्त होती है। इस मूलबन्ध के अभ्यास से ब्रह्मचर्य में सहायता मिलती है, धातु पुष्ट होती है, मलावरोध दूर होता है और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। मूलबन्ध का अभ्यास करने वाला योगी सदा युवा बना रहता है। उसके बाल सफेद नहीं होते।

अपान-वायु जो मल को बाहर निकालने का कार्य करती है, स्वभावतः नीचे की ओर जाती है। मूलबन्ध के अभ्यास से गुदा को सिकोड़ने और अपान-वायु को बलपूर्वक ऊपर की ओर खींचने से वह ऊपर की ओर सञ्चारित होने लगती है। प्राण-वायु का अपान-वायु से संयोग होता है और वह संयुक्त प्राण-अपान-वायु सुषुम्ना-नाड़ी अथवा ब्रह्म-नाड़ी में प्रवेश कर जाती है। तब योगी योग में पूर्णता प्राप्त करता है। यह योग का एक रहस्य है। तब योगी इस संसार के लिए मर जाता है। वह अमृतसुधा का पान करता है। वह सहस्रार में शिवपद का आनन्द-लाभ करता है। उसे समस्त दिव्य विभूतियाँ और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं।

जब अपान-वायु प्राण-वायु से मिलती है, तब योगी को अनाहतनाद अथवा विभिन्न प्रकार के अन्तर्नाद सुस्पष्ट रूप से सुनायी पड़ते हैं; क्योंकि अब बाहरी संसार के शब्द उसे नहीं सुनायी देते हैं। उसे गम्भीर एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। प्राण, अपान, नाद और बिन्दु मिल जाते हैं। योगी योग में पूर्णता प्राप्त कर लेता है।

१०. जालन्धरबन्ध

गले को सिकोड़ें। ठोड़ी को दृढ़ता से सीने पर दबायें। यह बन्ध पूरक के अन्त में और कुम्भक के आरम्भ में किया जाता है। इस बन्ध के अभ्यास से प्राण-वायु सही मार्ग में होती है। वह अपान-वायु से मिल जाती है। इड़ा और पिङ्गला नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं। नाभि-चक्र में स्थित जठराग्नि उस अमृत को भस्म करती है जो तालु-रन्ध्र द्वारा सहस्रार से टपकता रहता है। इस अमृत को

इस प्रकार नष्ट होने से बचाने के लिए योग के विद्यार्थी को इस बन्ध का अभ्यास करना चाहिए। योगी अमृत-पान करके अमरता प्राप्त करता है।

११. उड्डीयानबन्ध

बलपूर्वक जोर से श्वास को बाहर निकाल कर फेफड़ों को खाली कर लें। फिर आँतों और नाभि को सिकोड़ लें और उन्हें बलपूर्वक पीठ की ओर अन्दर खींचें जिससे उदर ऊपर उठ कर शरीर के पीछे की ओर वक्षीय गुहा (Thoracic cavity) में चला जाये। इस बन्ध का निरन्तर अभ्यास करने वाला साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त करता तथा सदा युवा बना रहता है। इससे ब्रह्मचर्य धारण करने में अधिक सहायता प्राप्त होती है। सभी बन्ध कुण्डलिनी जाग्रत करते हैं। उड्डीयानबन्ध का अभ्यास कुम्भक के अन्त में और रेचक के आरम्भ में किया जाता है। जब आप इस बन्ध का अभ्यास करते हैं तो उरःप्राचीर (जो कि वक्षीय गुहा एवं उदर के मध्य मांसपेशी का एक भाग होता है) ऊपर उठ जाता है और पेट की दीवार पीछे चली जाती है। उड्डीयान करते समय अपने धड़ को आगे की ओर झुकायें। उड्डीयान बैठे हुए और खड़े हुए दोनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। खड़े हो कर करते समय हाथों को घुटनों या घुटनों से थोड़ा ऊपर रखें। टाँगों को थोड़ा दूर-दूर रखें।

उड्डीयान मानव के लिए वरदान है। अभ्यास करने वाले को यह सुन्दर स्वास्थ्य, शक्ति, ओज और जीवन-शक्ति प्रदान करता है। नौलि-क्रिया को, जो पेट के मल को मथ डालती है, इसके साथ मिला देने से यह एक शक्तिशाली जठरान्त्रीय बलकारक औषधि (Gastro-intestinal Tonic) का काम करता है। मलावरोध, आँतों के क्रमाकुञ्चन की दुर्बलता तथा आहार-तन्त्र के जठरान्त्र-विकार से सङ्घर्ष करने के लिए योगी के पास ये दो महत्त्वपूर्ण अस्त्र हैं। इन दो यौगिक व्यायामों से ही आप उदर के आन्तराङ्गों की मालिश तथा पुष्ट करने का काम ले सकते हैं।

जो नौलि का अभ्यास करना चाहें, उन्हें आरम्भ में उड्डीयान करना चाहिए। उड्डीयान पेट की वसा को कम करता है। पेट के व्यायामों में उड्डीयान और नौलि की बराबरी का कोई अन्य व्यायाम नहीं है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों देशों में सम्पूर्ण भौतिक व्यायाम-पद्धतियों में ये दोनों व्यायाम अनुपम, अद्वितीय और अभूतपूर्व हैं।

१२. योनिमुद्रा

सिद्धासन में बैठ जायें। दोनों अँगूठों से कान को, तर्जनियों से आँखों को, मध्यमा से नासा-रन्ध्रों को, अनामिका से ऊपर के ओष्ठ को तथा कनिष्ठिका से अधरोष्ठ को बन्ध करें। जप करने के लिए यह सुन्दर मुद्रा है। बड़ी गहराई में चले जायें और षट्-चक्रों और कुण्डलिनी पर ध्यान लगायें। अन्य मुद्राओं की भाँति यह सबके लिए बिलकुल सरल नहीं है। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए आपको प्रचुर श्रम करना पड़ेगा। यदि आप इस मुद्रा में निश्चयपूर्वक सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो आपको पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना होगा। इसमें सफलता प्राप्त करना **'देवानामपि दुर्लभा'**—देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। अतः इस मुद्रा की महत्ता को अनुभव करें। इसका अभ्यास बड़ी सावधानीपूर्वक करें।

चतुर्थ अध्याय

महत्त्वपूर्ण मुद्राएँ और बन्ध

मुद्रा और बन्ध के अनेक प्रकार हैं, जैसे महाबन्ध, जालन्धरबन्ध, उड्डीयानबन्ध, मूलबन्ध और महामुद्रा, महावेध, नभोमुद्रा, खेचरी-मुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, योनिमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, अश्विनीमुद्रा, पाशिनी-मुद्रा, मातङ्गीमुद्रा, काकीमुद्रा, भुजङ्गीमुद्रा और योगमुद्रा।

इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्राओं एव बन्धों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। इनमें से आपको जो उपयोगी लगे उसे चुन कर नियमित रूप से अभ्यास करिए। इनसे खाँसी, श्वास का रोग, प्लीहा तथा यकृत वृद्धि, काम-वासना का आवेग, रति-रोग, क्षय-रोग, जीर्ण मलावरोध, कुष्ठरोग एवं सभी असाध्य रोग दूर हो जाते हैं। इन मुद्रा और बन्धों से आपको मन-वाञ्छित फल प्राप्त होगा, क्योंकि —

नास्ति मुद्रा समं किञ्चित् संसिद्ध्ये क्षितिमण्डले।

अर्थात् पृथ्वी पर मुद्राओं के समान सिद्धि दिलाने वाला और कुछ भी नहीं है।

(१) महामुद्रा

बायीं एड़ी से गुदा को सावधानीपूर्वक दबायें। दायीं टाँग आगे फैला लें। दोनों हाथों से पाँव के अँगूठे को पकड़ लें। श्वास ले कर उसे रोकें (कुम्भक)। ठुड्डी को सीने पर दृढ़ता से दबायें (जालन्धर-बन्ध)। दृष्टि को त्रिकुटी पर जमायें (अर्थात् भ्रूमध्य-दृष्टि)। जितनी देर हो सके इस मुद्रा को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रखें। पहले बायीं टाँग से और फिर दायीं टाँग से अभ्यास करें। इससे क्षय, अर्श अथवा बवासीर, प्लीहा का बढ़ना, अपच, गुल्म, कुष्ठ, मलावरोध, ज्वर आदि रोग दूर होते हैं तथा आयु बढ़ती है। यह अभ्यास करने वाले साधक को बड़ी सिद्धियाँ प्रदान करता है। इस मुद्रा को करने पर प्रायः जानुशीर्षासन जैसी आकृति बन जायगी।

(२) योगमुद्रा

पद्मासन में बैठ कर हथेलियों को एड़ियों पर रखें। धीरे-धीरे श्वास बाहर निकालें तथा आगे को झुकें और मस्तक को भूमि से स्पर्श करें। यदि आप इस मुद्रा को देर तक रखते हैं तो आप हमेशा की तरह श्वास ले और निकाल सकते हैं अथवा आप पूर्वावस्था में आ कर पुनः श्वास ले सकते हैं। हाथों को एड़ियों पर रखने के बजाय उन्हें पीठ की ओर ले जा सकते हैं। अपने बायें मणिबन्ध (कलाई) को दायें हाथ से पकड़ें। इस मुद्रा से समस्त प्रकार के उदर-रोग दूर होते हैं।

(३) खेचरीमुद्रा

'खे' का अर्थ 'आकाश' और 'चर' का अर्थ है चलना। योगी आकाश में चलता है; इसलिए इसे खेचरीमुद्रा कहते हैं।

इस मुद्रा को केवल वही व्यक्ति कर सकता है जिसने अपना प्रारम्भिक अभ्यास ऐसे गुरु के साक्षात् मार्ग-दर्शन में किया हो जो स्वयं खेचरीमुद्रा करते हों। इस मुद्रा का प्रारम्भिक अंश जिह्वा को इतनी लम्बी बनाना है कि उसका अग्रभाग भृकुटी के मध्य वाले स्थान को स्पर्श कर सके। प्रति सप्ताह गुरु जिह्वा के नीचे की तन्तु को थोड़ी-थोड़ी करके स्वच्छ तथा तीक्ष्ण धार वाले यन्त्र (चाकू) से काटता रहेगा। नमक और हल्दी लगाने से कटे हुए तन्तु फिर से नहीं जुड़ेंगे। जिह्वा को ताजा मक्खन लगायें और उसे बाहर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

खींचें। अँगुलियों से जिह्वा को पकड़ कर उसे इधर-उधर घुमायें। जिह्वा के दोहन का अर्थ है उसे पकड़ कर इस प्रकार खींचना जिस प्रकार गाय का दूध निकालते समय गाय के थनों को पकड़ कर दूध निकाला जाता है।

जिह्वा के नीचे वाले तन्तु को नियमित रूप से सप्ताह में एक वार काटना चाहिए। यह कार्य ६ माह से ले कर २ वर्ष तक किया जाना चाहिए। इन सब विधियों से आप जिह्वा को इतनी लम्बी कर सकते हैं कि वह मस्तक को स्पर्श कर लेगी। खेचरीमुद्रा का यह प्रारम्भिक अंश है।

इसके पश्चात् सिद्धासन में बैठ कर जिह्वा को ऊपर और पीछे की ओर इस प्रकार मोड़ें कि वह तालु को स्पर्श कर ले और जिह्वा से नाक के पश्च द्वार (Posterior nasal opening) को ढक ले। आप अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य-भाग पर स्थिर करें। श्वास-क्रिया रुक जायेगी। जिह्वा अमृत-कूप के मुँह पर है। यह खेचरीमुद्रा है।

इस मुद्रा के अभ्यास से योगी मूर्च्छा, क्षुधा, पिपासा और आलस्य से मुक्त हो जायेगा। इससे उसे रोग, क्षीणता वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्ति मिलेगी। इस मुद्रा से योगी ऊर्ध्वरेता बनता है। क्योंकि योगी का शरीर अमृत से पूर्ण हो जाता है, अतः वह घातक विष से भी नहीं मरता। यह मुद्रा योगियों को कायसिद्धि प्रदान करती है। खेचरी सर्वश्रेष्ठ मुद्रा है।

(४) वज्रोलीमुद्रा

यह हठयोग में एक महत्त्वपूर्ण योगिक क्रिया है। इस क्रिया में पूर्ण सफल होने के लिए आपको कठिन परिश्रम करना पड़ेगा। इस क्रिया में बहुत कम साधक दक्ष होते हैं। योग के विद्यार्थी विशेष प्रकार की बनवायी हुई एक १२ इञ्च लम्बी चाँदी की नली को मूत्रेन्द्रिय में प्रवेश करा कर इसके द्वारा पहले पानी खींचते हैं फिर दूध, तेल, मधु आदि खींचते हैं। अन्त में वे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पारा खींचते हैं। कुछ समय बाद वे बिना नली के सहारे सीधे मूत्रेन्द्रिय द्वारा इन तरल पदार्थों को खींच लेते हैं। ब्रह्मचर्य-साधना के लिए यह क्रिया अत्युपयोगी है। प्रथम दिन मूत्रेन्द्रिय में केवल १इञ्च नली ही प्रवेश करायें, दूसरे दिन २ इञ्च, तीसरे दिन ३ इञ्च, इसी प्रकार इसे बढ़ाते जायें। जब तक १२ इञ्च नली भीतर प्रवेश न हो सके तब तक क्रमशः अभ्यास करते रहें।

राजा भर्तृहरि इस क्रिया को बहुत दक्षता से कर लेते थे। इस मुद्रा को करने वाले योगी का एक बूंद वीर्य भी बाहर नहीं आ सकता और यदि निकल भी जाय तो उस मुद्रा द्वारा उसे वापस अन्दर खींच सकता है। जो योगी वीर्य को ऊपर खींच कर सुरक्षित रख सकता है वह मृत्यु पर भी विजय पा लेता है। उसके शरीर से सुगन्ध निकलती है। भगवान् कृष्ण इस मुद्रा में बड़े कुशल थे, इसलिए अनेक गोपियों के मध्य रहते हुए भी उन्हें नित्य ब्रह्मचारी कहा जाता है।

(५) विपरीतकरणीमुद्रा

भूमि पर लेट कर टाँगों को सीधे ऊपर उठायें। कूल्हों को हाथों से सहारा दें। कोहनियाँ भूमि पर टेक लें। स्थिर बने रहें। नाभि के मूल में सूर्य का और तालु-मूल में चन्द्रमा का निवास है। जिस प्रक्रिया से सूर्य को ऊपर की ओर और चन्द्रमा को नीचे की ओर लिया जाता है वह विपरीत-करणीमुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा में सूर्य और चन्द्रमा के प्रवाह को पलट दिया जाता है। प्रथम दिन इसे एक मिनटभर के लिए करें। धीरे-धीरे इसे तीन घण्टे तक बढ़ा दें। छः महीने में आपके चेहरे की झुर्रियाँ और श्वेत बाल लुप्त हो जायेंगे। जो योगी इसे तीन घण्टे रोज करते हैं, वे मृत्यु पर विजय पा लेते हैं। क्योंकि इससे जठराग्नि (Gastric Fire) बढ़ती है;

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अतः जो लोग इस मुद्रा का अभ्यास देर तक करते हैं उन्हें इस क्रिया की समाप्ति पर हलका-सा नाश्ता, जैसे दूध आदि, ले लेना चाहिए। शीर्षासन की मुद्रा भी विपरीतकरणीमुद्रा कहलाती है।

(६) शक्तिचालनमुद्रा

एकान्त स्थान में सिद्धासन में बैठें। बलपूर्वक श्वास को अन्दर खींच कर उसे अपान के साथ जोड़ें। वायु के सुषुम्ना में प्रवेश करने तक मूलबन्ध लगायें। श्वास को रोकने से कुण्डलिनी का दम घुटने के कारण वह जाग्रत हो जाती है और सुषुम्ना में हो कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है। इस मुद्रा के अभ्यास से कोई भी व्यक्ति सिद्ध हो सकता है।

सिद्धासन में बैठें। टखने के पास से पैर को पकड़ कर धीरे-धीरे पैर से कन्द को पीड़ित करें। यह ताड़न-क्रिया है। इस पद्धति से भी कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है।

(७) महावेध

अन्यत्र वर्णन किये अनुसार महाबन्धमुद्रा में बैठें। धीरे-धीरे श्वास खींच कर उसे रोकें और ठोड़ी को सीने पर दबायें (जालन्धरबन्ध)। हथेलियों को भूमि पर रखें। शरीर को हथेलियों के बल पर रहने दें। कूल्हों को धीरे-धीरे उठा कर हलके से भूमि पर पटक दें। कूल्हों को ऊपर उठाते समय आसन ठीक दृढ़ होना चाहिए। इस क्रिया से शरीर की जर्जरता नष्ट हो कर मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। योगी मन पर नियन्त्रण प्राप्त करके मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

(८) महाबन्ध

बायीं एड़ी से गुदा को दबा कर दायाँ पैर बायीं जङ्घा पर रखें। गुदा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एवं योनि की पेशियों या मूलाधार को आपस में स्पर्श करने दें। अपान-वायु को ऊपर की ओर खीचें। धीरे-धीरे श्वास को खींच कर जालन्धरबन्ध द्वारा यथाशक्ति श्वास रोकें। फिर धीरे-धीरे श्वास को बाहर निकाल दें। मन को सुषुम्ना पर स्थिर करें। प्रथम बायीं ओर से और फिर दायीं ओर से अभ्यास करें। सामान्यतया योगी लोग महामुद्रा, महाबन्ध एवं महावेध साथ-साथ करते हैं। यह एक अच्छा समन्वय है। ऐसा करने से ही सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता है। योगी अपने सब मनोरथों की पूर्ति करता है तथा सिद्धियाँ प्राप्त करता है।

(६) मूलबन्ध

बायीं एड़ी से योनि को दबायें और गुदा को सिकोड़ें। अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे अपान-वायु को बलपूर्वक ऊपर को खींचें। दायीं एड़ी को जननेन्द्रिय पर रखें। इसे मूलबन्ध कहते हैं जो क्षीणता और मृत्यु का विनाशक है।

प्राणायाम के अभ्यास में सिद्धि अथवा पूर्णता बन्धों की सहायता से प्राप्त होती है। इस मूलबन्ध के अभ्यास से ब्रह्मचर्य में योग मिलता है, धातु-पुष्टि होती है, मलावरोध दूर होता है और जठराग्नि बढ़ती है। मूलबन्ध का अभ्यास करने वाला योगी सदा युवा बना रहता है। उसके बाल सफेद नहीं होते।

अपान-वायु जो मल को बाहर निकालने का कार्य करती है स्वभावतः नीचे की ओर जाती है। मूलबन्ध के अभ्यास से गुदा को सिकोड़ने और अपान-वायु को बलपूर्वक खींचने से वह ऊपर की ओर सञ्चारित होने लगती है। प्राण-वायु का अपान-वायु से संयोग होता है और यह संयुक्त प्राण-अपान-वायु सुषुम्ना-नाड़ी अथवा ब्रह्म-नाड़ी में प्रवेश कर जाती है। तब योगी योग में पूर्णता प्राप्त करता है : यह योग का एक रहस्य है। तब योगी इस संसार के लिए

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भर जाता है। वह अमरता का अमृत पान करता है। वह सहस्रार में शिव-पद का आनन्द-लाभ करता है। उसे समस्त दिव्य विभूतियाँ और ऐश्वय प्राप्त होते हैं।

जब अपान-वायु प्राण-वायु से मिलती है तब योगी को अनाहत-नाद अथवा विभिन्न प्रकार के अन्तर्नाद स्पष्ट रूप से सुनायी पड़ते हैं: क्योंकि अब बाहरी संसार के शब्द उसे नहीं सुनायी देते हैं। उसे गम्भीर एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। प्राण, अपान, नाद और विन्दु मिल जाते हैं। योगी योग में पूर्णता प्राप्त कर लेता है।

(१०) जालन्धरबन्ध

गले को सिकोड़ें। ठोड़ी को दृढ़ता से सीने पर दबायें। यह बन्ध पूरक के अन्त में और कुम्भक के आरम्भ में किया जाता है। इस बन्ध के अभ्यास से प्राण-वायु सही मार्ग में होती है। वह अपान-वायु से मिल जाती है। इड़ा और पिङ्गला नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं। नाभि-केन्द्र में स्थित जठराग्नि उस अमृत को भस्म करती है जो तालुरन्ध्र द्वारा सहस्रार से बहता है। इस अमृत को इस प्रकार नष्ट होने से बचाने के लिए योग के विद्यार्थी को इस बन्ध का अभ्यास करना चाहिए। योगी अमृत पान करके अमरता को प्राप्त करता है।

(११) उड्डीयानबन्ध

बलपूर्वक जोर से श्वास को बाहर निकाल कर फेफड़ों को खाली कर लें। फिर आँतों और नाभि को सिकोड़ लें और उन्हें बलपूर्वक पीठ की ओर अन्दर खींचें, जिससे उदर ऊपर उठ कर शरीर के पीछे की ओर वक्षीय

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गुहा (Thoracic cavity) में चला जाय। इस बन्ध का निरन्तर अभ्यास करने वाला साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त करता हुआ सदा युवा बना रहता है। इससे ब्रह्मचर्य धारण करने में अधिक योग प्राप्त होता है। सभी बन्ध कुण्डलिनी जाग्रत करते हैं। उड्डीयानबन्ध का अभ्यास कुम्भक के अन्त और रेचक के आरम्भ में किया जाता है। जब आप इस आसन का अभ्यास करते हैं तो उरःप्राचीर (Diaphragm) (जो कि वक्षीय गुहा एवं उदर के मध्य माँसपेशी का एक भाग होता है) ऊपर उठ जाता है और पेट की दीवार पीछे चली जाती है। उड्डीयान करते समय अपने धड़ को आगे की ओर झुकायें। उड्डीयान बैठे हुए और खड़े हुए दोनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। खड़े हो कर करते समय हाथों को घुटनों पर या घुटनों से थोड़ा ऊपर रखें। टाँगों को थोड़ा दूर-दूर रखें।

उड्डीयान मानव के लिए वरदान है। यह अभ्यास करने वाले को सुन्दर स्वास्थ्य, शक्ति, ओज और जीवन-शक्ति प्रदान करता है। नौलि-क्रिया को जो पेट के मल को मथ डालती है इसके साथ मिला देने से यह एक शक्तिशाली जठरान्त्रीय बलकारक औषधि (Gastro-Intestinal Tonic) का काम करता है। कोष्ठबद्धता, आँतों की दुर्बलता तथा पाचक-तन्त्र के जठरान्त्र विकार से सङ्घर्ष करने के लिए योगी के पास ये दो महत्त्वपूर्ण अस्त्र हैं। इन दो योगिक व्यायामों के करने मात्र से ही आप उदर के आन्तरिक अङ्गों की मालिश तथा पुष्टि कर सकते हैं।

जो नौलि का अभ्यास करना चाहें; उन्हें आरम्भ में उड्डीयान करना चाहिए। उड्डीयान पेट की वसा को कम करता है। पेट के व्यायामों में उड्डीयान और नौलि की बराबरी का कोई अन्य व्यायाम नहीं है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों देशों में सम्पूर्ण भौतिक व्यायाम-पद्धतियों में ये दोनों व्यायाम अनुपम, अद्वितीय और अभूतपूर्व हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(१२) योनिमुद्रा

सिद्धासन में बैठ जायें। दोनों अँगूठों से कान को, तुर्जनियों से आँखों को, मध्यमा अँगुलियों से नासा-रन्ध्रों को, अनामिका अँगुलियों से ऊपर के ओष्ठ को तथा कनिष्ठ अँगुलियों से अधरोष्ठ को वन्द करें। जप करने के लिए यह सुन्दर मुद्रा है। वड़ी गहराई में चले जायें और षट्-चक्रों और कुण्डलिनी- पर ध्यान लगायें। अन्य मुद्राओं की भाँति यह सवके लिए विलकुल सरल नहीं है। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए आपको प्रचुर श्रम करना पड़ेगा। यदि आप इस मुद्रा में निश्चयपूर्वक सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो आपको पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना होगा। इसमें सफलता प्राप्त करना 'देवानामपि दुर्लभा' अर्थात् यह देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। अतः इस मुद्रा की महत्ता को अनुभव करें। इसका अभ्यास वड़ी सावधानीपूर्वक करें। उदाहरण के लिए अन्यत्र देखिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने तथा एकाग्रता को बढ़ाने में यह सर्वोत्तम साधन है। इसके *प्रकारान्तर* हैं काकी मुद्रा, मांडूकी मुद्रा और भूचरी मुद्रा।

(३) शाम्भवी-मुद्रा

ध्यान के किसी आसन में बैठें। पीठ सीधी रहे। हाथों को घुटनों पर ज्ञान व चिन्मुद्रा में रखें। सामने किसी बिन्दु पर दृष्टि को एकाग्र कीजिए। धीरे-धीरे अधिक से अधिक ऊपर देखने की कोशिश करें। सिर स्थिर रहेगा केवल दृष्टि ऊपर की ओर जाएगी। अन्त में दृष्टि को भ्रूमध्य पर स्थापित करें। विचारों को रोककर ध्यान करें। अधिक समय तक अन्तिमावस्था में रहें। इससे आज्ञा-चक्र जाग्रत् होता है। इससे निम्न एवं उच्च चेतना परस्पर सम्बन्धित होते हैं। आँखों को स्वस्थ रखता है। तनाव व चिन्ता से मुक्त होकर मन शान्त होता है। इसका *प्रकारान्तर* है आकाशी मुद्रा।

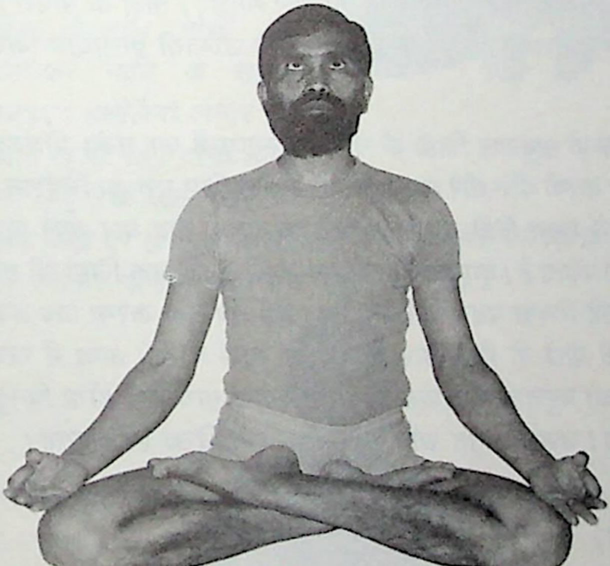

शाम्भवी-मुद्रा

(४) अश्विनी-मुद्रा

ध्यान के किसी आसन में बैठकर नेत्र बन्द कीजिए। शरीर को शिथिल छोड़ें एवं हाथों को ज्ञान व चिन्मुद्रा में घुटनों पर रख लें। गुदाद्वार की मांसपेशियों को कुछ क्षण के लिए संकुचित व प्रसारित करें। अधिक-से-अधिक आवृत्तियां करें।

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जब उक्त अभ्यास में दक्षता प्राप्त कर लें तब थोड़ा अन्तर करें — गुदाद्वार को संकुचित करते हुए पूरक करें। संकुचन बनाए रखते हुए यथाशक्ति अन्तःकुम्भक का अभ्यास करें। रेचक कीजिए। पश्चात् स्नायुओं को शिथिल छोड़ें। सुविधानुसार पुनरावृत्ति करें।

इससे प्राणशक्ति का ह्रास रुकता है अर्थात् शक्ति संचय होती है। बवासीर, गुदा का बाहर आना, गर्भाशय के बाह्यगत होने की दशा में लाभप्रद है। अपच भी दूर होता है।

(५) खेचरी-मुद्रा

इस मुद्रा की राजयोग एवं हठयोग में भिन्न-भिन्न पद्धति बताई गई है। राजयोग के अनुसार मुँह बन्द करके जिह्वा के अग्रभाग से तालु का स्पर्श करें। अधिक जोर न देते हुए यथासम्भव जिह्वाग्र को पीछे की ओर मोड़िए। तालु के ऊपरी छिद्र के भीतर प्रवेश करके यथासम्भव ऊपर जाइए। साथ में उज्जयी प्राणायाम किया जा सकता है।

हठयोग के अनुसार जिह्वा के नीचे के स्नायुओं का संबंध-विच्छेद प्रति सप्ताह थोड़ा-थोड़ा करके धीरे-धीरे करना होगा। इसके लिए गुरु का निर्देशन आवश्यक है। क्योंकि इसमें शल्य विधि के लिये केले का धागा, तीव्र धार वाले पत्थर आदि का प्रयोग करना पड़ता है। दूध दुहने के समान लम्बी अवधि तक जिह्वा की मालिश मक्खन, घी, तेल आदि स्निग्ध पदार्थों से कीजिए। यह तब तक करना जब तक जिह्वा पलट कर तालु के पीछे के छिद्र द्वारा भ्रूमध्य से स्पर्श न हो। अन्त में जब आप भ्रूमध्य तक जिह्वा को पहुंचाने में सफल होंगे तब श्वास मार्ग बन्द होगा किन्तु ललना-चक्र जाग्रत् होगा। उसके अमृत स्राव से साधक समाधिस्थ हो जाएगा।

श्वास आरम्भ में सामान्य रहे किन्तु अभ्यास बढ़ने के साथ श्वास की गति धीमी करनी होगी।

संपूर्ण शरीर पर इस मुद्रा का अत्यधिक सूक्ष्म प्रभाव है। भूख-प्यास पर नियन्त्रण पाता है। इससे भी प्राणशक्ति के संचय द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् किया जाता है। इसको सिद्ध कर लेने पर स्थूल-सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध पर विजय प्राप्त कर लेता है। योगशास्त्र सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों में इसका बहुत वर्णन है।

(६) प्राण-मुद्रा

ध्यान के किसी भी आसन में बैठिए। सिर, गर्दन, रीढ़ सीधी रहे। हाथों को अपने सामने

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जमीन को स्पर्श करते हुए रखें। हथेलियाँ एक दूसरे के बगल में अंगूठों को स्पर्श करते हुए रखकर नेत्रों को बन्द अथवा खुला रखें। तत्पश्चात् —

(क) क्षमता अनुसार लम्बा रेचक कीजिए। बाह्य कुम्भक करते हुए मूलबन्ध लगाएं। मूलाधार-चक्र पर ध्यान कीजिए।

प्राण-मुद्रा (१)

(ख) मूलबन्ध को शिथिल छोड़कर उदर का विस्तार करते हुए धीरे-धीरे लम्बा पूरक कीजिए। साथ-ही-साथ हाथों को उठाकर नाभि के सामने लाइए। हथेलियां अन्दर की ओर खुली रहें। दोनों हाथों की अंगुलियां एक-दूसरे की ओर थोड़ा दूर हों। ऐसा करते वक्त मन से अनुभव करें कि प्राणशक्ति मूलाधार से उठकर मणिपूर-चक्र तक पहुंच रही है।

प्राण-मुद्रा (२)

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(ग) छाती का विस्तार करते हुए पूरक करते जाइए। साथ ही हाथों को ऊपर उठाइए और छाती के सामने लाइए। हथेली एवं अंगुलियों का रुख पूर्ववत् रहे। अब आप प्राणशक्ति को मणिपूर चक्र से अनाहत की ओर चढ़ते हुए अनुभव करें।

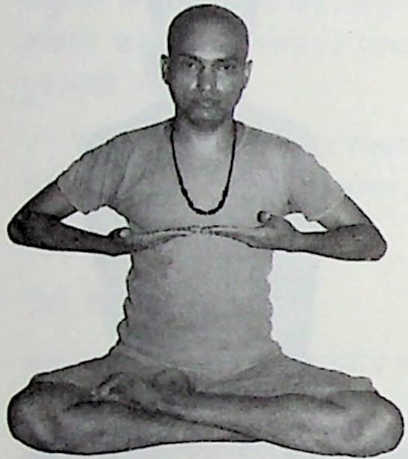

प्राण-मुद्रा (३)

(घ) कोहनियों को नीचे की ओर मोड़ते हुए हथेलियों को अपनी ओर करके कन्धों तक उठाते हुए फेफड़ों में और अधिक वायु भरने की कोशिश करें। अनुभव करें कि प्राणशक्ति अनाहत से उठकर विशुद्धि-चक्र में पहुंच गई है।

(च) हाथों को धड़ के दोनों बाजू में फैलाते हुए अनुभव करें कि प्राणशक्ति आज्ञा-चक्र में पहुंचकर तरंगों के समान प्रसारित होती हुई सहस्रार में विलीन हो रही है। इस अवस्था में फैले हुए हाथ कानों के समकक्ष होंगे और अन्तर्कुम्भक का अभ्यास जारी रहेगा।

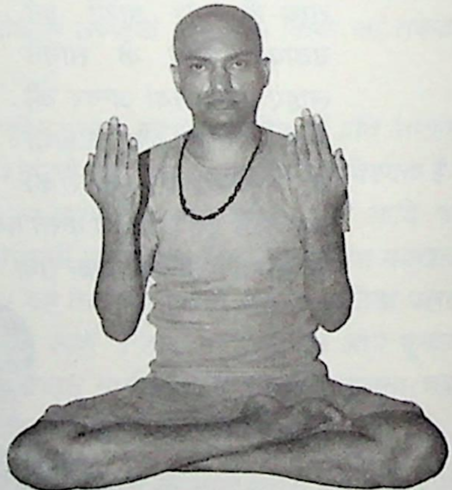

प्राण-मुद्रा (४)

प्राण-मुद्रा (५)

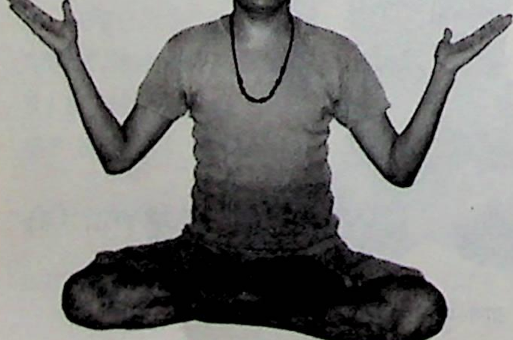

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अब सहस्रार में ध्यान केन्द्रित कर ज्योतिःपुञ्ज का अनुभव करें। विना तनाव के जब तक कुम्भक में सुखपूर्वक रह सकें तब तक रोकते हुए अनुभव करें कि समस्त विश्व में आपके शरीर द्वारा शान्ति की तरंगें, प्राणशक्ति व चेतनता फैलकर चराचर में व्याप्त् हो रही है।

तत्पश्चात् विपरीत क्रम से रेचक करते हुए व्यापक शक्ति का अपने में प्रवेश होकर मूलाधार में स्थित होने का अनुभव करते हुए पांचों अवस्थाओं को करें।

इससे होने वाले लाभ की जितनी भी चर्चा करें वह थोड़ी ही होगी। इससे व्यष्टिभाव से उठकर समष्टिभाव के अनुभव के साथ समग्रता एवं विश्व-प्रेम जाग्रत् होता है, जो कि वेदान्तानुभूति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(७) वज्रोली-मुद्रा

किसी भी ध्यान के आसन में बैठकर हाथों को घुटनों पर रखें। नेत्रों को बन्द करके धीरे-धीरे पूरक करते हुए शरीर को शिथिल छोडें। मूत्रत्याग क्रिया को कुछ समय तक रोकने के लिए जैसे जोर लगाते हैं ठीक उसी प्रकार अन्तःकुम्भक लगाकर उदर के निम्न प्रदेश में कुछ दबाव डालते हुए मूत्रप्रणाली का संकोच कीजिए एवं प्रजननेन्द्रिय को ऊपर को खींचिए। यदि आवश्यकता महसूस हो मूलबन्ध लगा सकते हैं। कम-से-कम चार-पांच बार इन्द्रिय का संकोच विकास करने के पश्चात् बन्ध एवं कुम्भक खोलकर धीरे-धीरे रेचक करें। कुछ क्षण रुककर सामर्थ्यानुसार दुहराइए। संपूर्ण क्रिया में स्वाधिष्ठान-चक्र पर ध्यान करें।

इसका उच्च कोटि का अभ्यास योग्य गुरु के निर्देशन में करना उचित है क्योंकि इसमें रबर या चाँदी की १२ इन्ची लम्बी नली का प्रयोग किया जाता है। जिससे पानी, दूध, घी, मधु और पारा को खींच लिया जाता है। जब इसमें दक्षता प्राप्त हो जाए, विना नली का प्रयोग किए किया जाता है।

इससे वज्रनाड़ी द्वारा वीर्य को ऊर्ध्वरेत करके वीर्य को वज्र के रूप में परिणत कर लिया जाता है। फलतः ब्रह्मचर्य पालन एवं कुण्डलिनी जागरण करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। स्वप्नदोषादि दोष साधक के पास भूल से भी नहीं आते।

(८) योनि-मुद्रा

किसी आरामदायक ध्यान के आसन में बैठकर धीरे-धीरे पूरक कीजिए। इस मुद्रा के लिए पद्मासन या सिद्धासन अत्युत्तम है। श्वास रोकिए। अन्तःकुम्भक लगाकर हाथों

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

को उठाकर मुँह के सामने लाइए। कान के छेद को अंगूठों से, आँखों को तर्जनियों से तथा नासिका के छिद्र को मध्यमा अंगुलियों से बन्द कीजिए। अनामिका एवं छोटी अंगुलियों को ऊपर और नीचे के होठों पर रखते हुए मुँह बन्द कर दीजिए। बिन्दु-चक्र पर ध्यान करते हुए आन्तरिक नाद को ग्रहण करने का प्रयास कीजिए। यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् केवल नासिका के ऊपर से अंगुलियों को थोड़ा उठाकर धीर-धीरे रेचक कीजिए। कुछ क्षण रुककर क्षमतानुसार आवृत्ति करें।

यह प्रत्याहार के लिए शक्तिशाली क्रिया है। इससे बिन्दु-चक्र सक्रिय होता है और उससे उत्पन्न विभिन्न सूक्ष्म ध्वनियों का अनुभव करता है। इसी नाद के आनन्दानुभव के कारण साधक अन्तर्मुखी होते जाते हैं।

(९) नवमुखी-मुद्रा

ध्यान के किसी भी आसन में बैठकर धीमी एवं लम्बी श्वास लेते हुए शरीर को शिथिल कीजिए। श्वास के साथ चेतना को मन से चक्रों का नाम लेकर मूलाधार से सहस्रार तक पहुंचाएं। अन्तःकुम्भक लगाएं। योनि-मुद्रा में कही विधि से कर्ण, नेत्र और मुँह को बन्द कर लें। मूलबन्ध एवं वज्रोलि-मुद्रा का अभ्यास करें। सहस्रार-चक्र पर ध्यान करें। यथाशक्ति कुम्भक में रहने के बाद केवल नासिका छिद्र एवं मूलबन्ध व वज्रोलि-मुद्रा खोलकर धीरे-धीरे रेचक कीजिए। कुछ विश्राम के बाद पुनरावृत्ति करें। आवृत्तियां सामर्थ्यानुसार करें। रेचक क्रिया के दौरान चेतना को वापस मूलाधार में लाइए अथवा पूरे शरीर में व्याप्त होने का अनुभव करें।

यह मुद्रा षट्चक्रभेदन द्वारा दशम द्वार का भेदन करने में उपयोगी है। दशम द्वार को ब्रह्मरन्ध्र, ब्रह्मद्वार, उच्च चेतना आदि नामों से कहा गया है। इसके अतिरिक्त योनि-मुद्रा के लाभ अधिक प्रभावशाली ढंग से हासिल कर सकते हैं।

(१०) महामुद्रा

पैरों को सामने सीधा फैलाकर बैठिए। दाहिने पैर को इस प्रकार मोड़िए कि दाहिने पैर की एड़ी गुदाद्वार के नीचे हो। थोड़ा सामने की ओर झुककर दोनों हाथों की अंगुलियों से बाएं पैर के अंगूठे को पकड़ लें। पूरे शरीर को शिथिल करें। दीर्घ पूरक कीजिए। थोड़ा सिर को पीछे झुकाकर कुंभक लगाकर मूलबन्ध एवं शाम्भवी-मुद्रा का अभ्यास करें। अपनी चेतना को मानसिक रूप से मूलाधार, विशुद्धि, आज्ञा चक्रों पर घुमाइए। प्रत्येक चक्र पर एक या दो क्षण रुकें। यथासम्भव चेतना को घुमाते रहें। सामर्थ्यानुसार कुम्भक के पश्चात् सिर को सीधा करें, मूलबन्ध एवं शाम्भवी-मुद्रा को निवृत्त कर धीरे-धीरे रेचक करें। सामर्थ्यानुसार आवृत्ति करें।

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

महामुद्रा

पुनः इस क्रिया को पैर बदलकर उतनी ही आवृत्ति करें। इसमें जोर-जबरदस्ती से कुछ नहीं करना है।

शरीर एवं मन को ध्यान के योग्य बनाता है और प्राणशक्ति को शरीर में सही ढंग से संचालित करता है। उदर की अव्यवस्था को दूर करता है।

(११) महाबेध-मुद्रा

महामुद्रा की स्थिति में बैठिए। पूर्ण पूरक करके पूर्ण रेचक करें। सिर को सामने की ओर झुकाए रखें। नासिकाग्र दृष्टि कीजिए। तीनों बन्ध लगाइए। क्रमशः चेतना को मूलाधार, मणिपूर एवं विशुद्धि-चक्र पर घुमाइए। प्रत्येक चक्र पर एक-दो क्षण रुकें। आरामदायक स्थिति तक बाहर कुम्भक में रहकर चेतना को दौड़ाते रहें। तत्पश्चात् क्रमशः उड्डियान, मूल एवं जालन्धर-बन्ध को खोलकर धीरे-धीरे पूरक कीजिए।

बेध का अर्थ है बेधना = छेदना = भेदन करना। अतः –

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

इस उपनिषद् की उक्ति का अनुभव करने में यह अत्यन्त उपयोगी है।

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

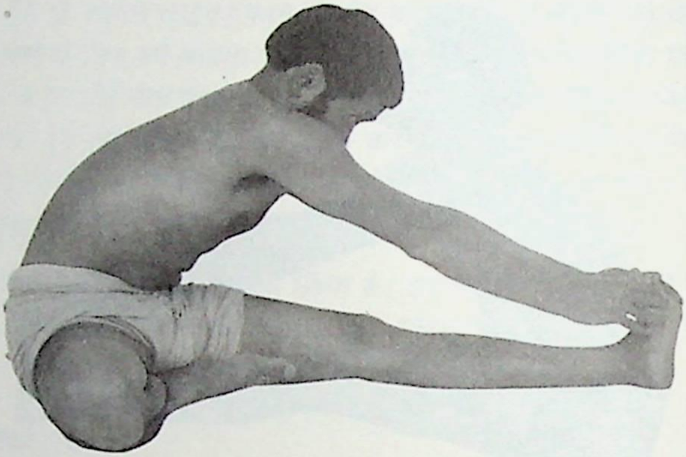

महावेध-मुद्रा

बन्ध विज्ञान

योगाभ्यास की यह अत्यन्त शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। यह शरीर के समस्त अंगों एवं नाड़ियों को नियन्त्रित करने में उपयोगी है। बन्ध का अर्थ है बांधना या कड़ा करना। यह आन्तरिक अंगों की मालिश के लिए अति आवश्यक है। यद्यपि यह एक शारीरिक क्रिया होने से शारीरिक कार्य को संयमित करके स्वास्थ्य में उन्नति लाता है तथापि शरीर में व्याप्त मन के विचारों एवं आत्मिक तरंगों में प्रवेश कर चक्रों पर सूक्ष्म प्रभाव डालता है। फलतः आध्यात्मिक उन्नति एवं सुषुप्त शक्तियों को जाग्रत् करता है। तात्पर्य यह है कि सुषुम्ना नाड़ी के अवरोधों को दूर करके उसमें प्राणशक्ति के स्वतन्त्र प्रवाह द्वारा ग्रन्थिभेदन करते हुए योग का परम लक्ष्य आत्मानुभूति करने में उपयोगी है।

इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए आसन, प्राणायाम एवं मुद्राओं के साथ इनका अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार यौगिक क्रियाओं के परस्पर समन्वय से आध्यात्मिक शक्तियों को जाग्रत कर लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

(१) जालन्धर-बन्ध

पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर अथवा खड़े होकर इसका अभ्यास कर सकते हैं। हाथों को घुटनों पर रखें। संपूर्ण शरीर को शिथिल करके आंखें बन्द कर लें। दीर्घ पूरक के बाद अन्तःकुम्भक लगाएं। सिर को सामने झुकाकर ठुड्डी को छाती पर दबाइए। हाथों को सीधा करके बल डालते हुए स्थिर हो जाइए। दोनों कन्धों को एक साथ थोड़ा ऊपर की ओर खिंचाव करते हुए कुछ सामने रखिए। फलतः पूरा शरीर कड़क

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

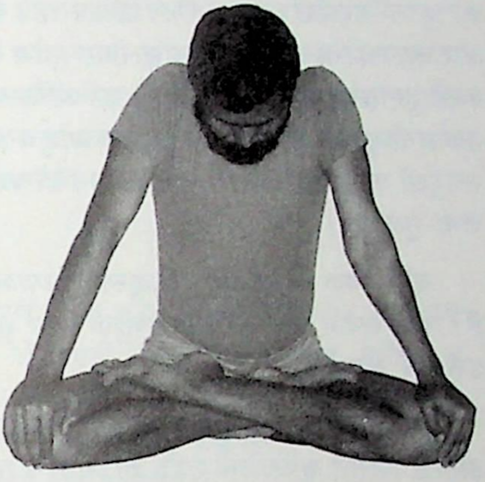

जालन्धर-बन्ध

व स्थिर होगा। यह जालन्धर बन्ध का स्वरूप है। यथाशक्ति अर्थात् श्वास रोकने की अपनी क्षमता के अनुसार इसी स्थिति में रुकिए। कंधों व हाथों को शिथिल करके सिर उठाइए। धीरे-धीरे रेचक कीजिए। कुछ क्षण विश्राम करके पुनरावृत्ति करें।

पूर्ण पूरक करके विना अन्तःकुम्भक लगाए पूर्ण रेचक करके भी यह क्रिया की जा सकती है। ध्यान का केन्द्र — विशुद्धि-चक्र।

उच्च रक्तचाप, हृदयरोगी, अन्तःमस्तिष्क दाब, माईग्रेन आदि के रोगी योग्य शिक्षक के निर्देशन में ही करें।

इससे ग्रीवा प्रदेश में स्थित रंध्र की नाड़ियां, मस्तिष्क को रक्त प्रदान करने वाली ग्रीवा, शिरा, चुल्लिका तथा उपचुल्लिका ग्रंथियों पर प्रभाव पड़ता है। फलतः शरीर की रचना व विकास, प्रजनन क्रियाएं संयमित होती हैं और मानसिक तनाव, चिन्ता, क्रोधादि मनः सम्बन्धी-रोग दूर करने में सहयोग मिलता है। इससे रक्त प्रवाह की अधिकता व न्यूनता से होने वाले रोगों पर नियंत्रण प्राप्त कर सकते हैं।

मूलबन्ध

(२) मूलबन्ध

ध्यान के किसी भी आसन में बैठें जिसमें घुटने जमीन को स्पर्श करते रहें। अतः सिद्धासन सर्वोत्तम है। इस आसन में स्वतः मूलाधार प्रदेश पर दबाव पड़ता है। अतः मूलबन्ध का अभ्यास अनायास हो सकता है। नेत्र बन्ध करके हथेलियों

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

को घुटनों पर रखें। पूरा शरीर शिथिल रहे। दीर्घपूरक करके अन्तःकुम्भक लगाएं और जालन्धर-बन्ध लगाएं। अब मूलाधार प्रदेश के स्नायुओं में आकुंचन-प्रसारण क्रिया करते हुए ऊपर की ओर खींचिए। यह अन्तिम अवस्था है। अपनी क्षमतानुसार जब तक अन्तःकुम्भक लगाए रखेंगे तब तक आकुंचन-प्रसारण क्रिया जारी रखें। तत्पश्चात् स्नायुओं को शिथिल करके बन्ध खोलने के पश्चात् धीरे-धीरे रेचक करें। ध्यान का केन्द्र-मूलाधार।

दीर्घ रेचक के पश्चात् बहिःकुम्भक लगाकर इस क्रिया का अभ्यास कर सकते हैं। लम्बी अवधि तक करने के इच्छुक विना कुम्भक लगाए सामान्य श्वास के साथ इसे कर सकते हैं।

इस क्रिया से अपान वायु का योग प्राणवायु से होता है, फलतः ऊर्जा उत्पन्न होती है, जिससे कुण्डलिनी शक्ति का जागरण सुलभ होता है। अतः ब्रह्मचर्य का पालन एवं ओज शक्ति को जाग्रत करने में सहायक है। बवासीर, अपच आदि रोगों में उपयोगी है। गुदाद्वार की मांसपेशियों एवं कटिबंध प्रदेश की नाड़ियों और आंतों के वक्र प्रदेशों को उत्प्रेरित कर मजबूत करता है। मन को आध्यात्मिक साधना के योग्य बनाता है।

(३) उड्डियान-बन्ध

जिसमें घुटने जमीन को स्पर्श करते हों ऐसे ध्यान के आसन में बैठिए। पद्मासन अथवा सिद्धासन उत्तम हैं। हथेलियों को घुटनों पर रखें। दीर्घ रेचक करके बहिःकुम्भक लगाकर जालन्धर-बन्ध लगाइए। अब उदर की मांसपेशियों को अधिक-से-अधिक ऊपर तथा भीतर की ओर संकुचित कीजिए। आरामदायक स्थिति तक अभ्यास करें। क्रमशः उदर को एवं जालन्धर-बन्ध को शिथिल कीजिए। कुछ क्षण विश्राम कर दुहराइए। ध्यान का केन्द्र – मणिपूर-चक्र।

खाली पेट ही इसका अभ्यास करना चाहिए। दिल की बीमारी, जठर या पेट में घाव और गर्भवती स्त्री के लिए वर्जित है।

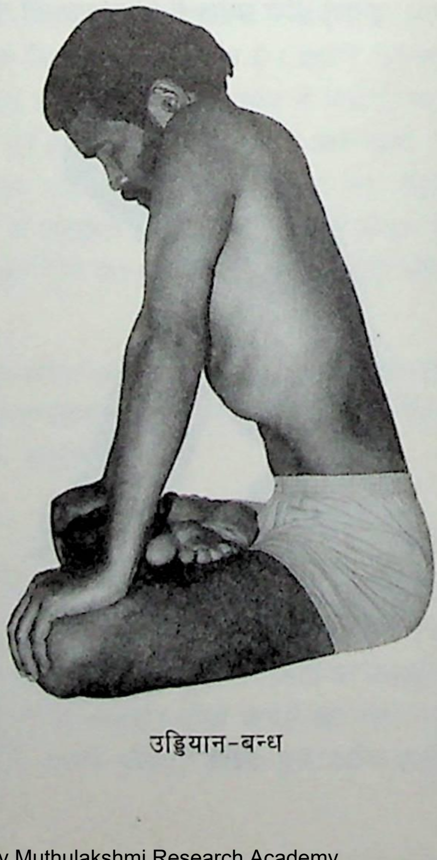

उड्डियान-बन्ध

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उदर एवं जठर की सभी बीमारियों में लाभकारी है। चिन्ता एवं परेशानी से युक्त मन को स्थिर करता है। अनुकम्पी एवं परानुकम्पी तंन्त्रिकाओं को उत्तेजित करता है। फलतः समस्त अंगों विशेषतः उदरस्थ अंगों की मालिश होती है। शरीर के प्राणशक्ति का केन्द्र मणिपूर-चक्र संयमित रूप से कार्य करता है। यह सषुम्ना नाड़ी की ओर प्राणशक्ति के प्रवाह को प्रोत्साहित करता है।

(४) महाबंध

यह उक्त तीनों बन्धों का समन्वय है। पूर्ण रेचक करके क्रमशः जालन्धर, उड्डियान एवं मूलबंध लगाइए। तत्पश्चात् क्रम से अपनी चेतना को मूलाधार, मणिपूर व विशुद्धि-चक्र पर घुमाइए। इसकी पुनरावृत्ति क्षमतानुसार करें यानी जब तक कुम्भक को सुखपूर्वक रोके रहेंगे। तत्पश्चात् पहले मूलबंध क्रमशः उड्डियान एवं जालन्धर-बन्ध को हटाकर पूरक करें। कुछ क्षण विश्राम कर दुहराइए।

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

॥ श्रीः ॥

॥ तृतीयोपदेशः ॥

अथ मुद्राकथनम् *

श्रीघेरण्ड-उवाच ।

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरं ।
मूलवन्धं महावन्धं महावेधश्च खेचरी ॥ १ ॥

* देहकी कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है। जैसे महाभुजङ्ग अनन्त-गिरि-कानन-विराजिता धरणीके एकमात्र आधार हैं, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति ही यावतीय हठतन्त्रका आधार है। यदि वह कुण्डलिनी शक्ति जागे, तो शरीरके षट्चक्रस्थित सभी पद्म और गाँठें खुल जायें, सुतरां प्राणवायु सुषुम्नाछिद्रकी राहसे अनायास ही आनन्दके साथ आवागमन कर सकता है। विना अवलम्वनके मनके स्थिर होनेसे ही अमरत्व या मोक्ष मिलता है, इसीलिये इस कुण्ड-लिनी शक्तिको जगाना चाहिये। इस शक्तिको जगानेके लिये मुद्राके अभ्यासकी आवश्यकता है। इस विषयमें ग्रन्थयामलमें स्पष्ट प्रमाणित किया गया है,—

" सशैलवनधात्रीणां यथाधारो हि नायकः ।
सर्व्वेषां हठतन्त्राणां तथाधारा हि कुण्डली ।
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्त्ति कुण्डलीं ।
तदा पद्मानि सर्व्वाणि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विपरीतकरी योनर्वज्रोणी शक्तिचालनी ।
ताड़ागी माण्डवी मुद्रा शाम्भवी पञ्च धारणा ॥२॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गीच भुजङ्गिनी
पञ्चविंशति मुद्राणि सिद्धिदानीह योगिनां ॥ ३ ॥

श्रीघेरण्ड ऋषिने कहा,—"महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, बज्राणी, शक्तिचालिनी, ताड़ागी, माण्डवी, शाम्भवी, पञ्चधारण, * अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी

प्राणस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते ।
यदा चित्तं विनालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ।

और संहिताओंमें भी लिखा है,—

" सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्त्ति कुण्डली ।
तदा सर्व्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च ।
तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीं ।
ब्रह्मरन्ध्र मुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् । "

अर्थात्,—गुरुके प्रसादसे कुण्डलिनी देवीके जागरिता होते ही देहान्तरके षट्चक्रस्थ पद्म और सब गांठें खुल जाती हैं । यह कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मरन्ध्रमुखसे निद्रितो है, इसे प्रबोधित करनेके लिये यत्नवान् होना चाहिये । सुतरां मुद्राभ्यास करना सर्व्वथा विधेय है ।

* साधारण पांच प्रकारकी हैं,—"पार्थिवी धारणा, (इसे ही अधोधारणा कहते हैं) अम्भसी धारणा, वैश्वानरी धारणा, वायवी धारणा, नभोधारणा । इस नभोधारणाका ही सदूरा नाम आकाशी धारणा है ।

५

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और भुजङ्गिनी, यह पन्द्रह प्रकारकी मुद्रायें कही गई हैं। यह सभी मुद्रायें योगियोंके लिये सिद्धिका विधान करती हैं॥ १॥ ३॥ *

इति मुद्राकथनं।

अथ मुद्राणां फलकथनं।

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव सन्निधौ।
येन विज्ञातमात्रेन सर्व्व सिद्धिः प्रजायते ॥४॥

---

* ग्रन्हयामलमें दश प्रकारकी मुद्राओंका उल्लेख है। यथा,—

"महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्डीयानं मूलबन्धी बन्धो जालन्धराभिधः।
करणं विपरीताख्यं वज्रोणी शक्ति चालनं॥"

अर्थात्,—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, वज्रोणी और उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरण, वज्रोणी और शक्तिचालन।

शिवसंहितामें इस प्रकार लिखा है, यथा,—

महामुद्रा, महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरो महाबन्धो विपरीत कृतिस्तथा।
उड्डीयानश्च वज्रौणी दशमं शक्तिचालनं।"

अर्थात्,–महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, जलान्धरबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरणी, उड्डीयान, वज्रोणी और शक्तिचालन, यह दश प्रकारकी मुद्रायें हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. 1231

गोपनीयं सयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
प्रीतिदं योगिनाञ्चैव दुर्लभं मरुतामपि ॥५॥

महेश्वरने पार्व्वतीसे कहा था, कि हे देवी ! मैं तुमसे सब मुद्राओंका नाम कहता हूं। इसके जाननेसे ही सब सिद्धियां मिलती हैं यह परम गोपनीय है; हरेकको, इच्छारूप प्रदान करना न चाहिये। यह मुद्रायें योगियोंके लिये परम-प्रीतिप्रद हैं; यह सुरगणके लिये भी दुष्प्राप्य हैं ॥ ४—५॥ *

इति मुद्राणां फलकथम् ।

अथ महामुद्राकथनम् ।

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढ़यत्नतः ।
याम्यपादं प्रसार्य्याथ करे धृतपदांगुलः ॥६॥

---

* मुद्राका फल रुद्रयामलमें जिस प्रकार वर्णित है, वह भी यहां उद्धृत किया जाता है; यथा—

"मुद्राणां दशकं ह्येतत् व्याधिमृत्यु विनाशनं ।
देवेशि कथितं दिव्यमष्टैश्वर्य्यप्रदायकं ।
वल्लभं योगिनामेतत् दुर्लभं मरुतामपि ।
गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकं ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥

जिन दश प्रकारकी मुद्राओंका उल्लेख किया गया, इससे व्याधि और मृत्युका भय छुट जाता है; यह अणिमादि अष्टश्वर्य्य प्रदान करती हैं; यह योगियोंके लिये परम प्रिय और देवगणके लिये भी दुर्लभ हैं। इसे रत्नकरण्डककी तरह यत्नके साथ छिपाना चाहिये; किसीसे प्रकाशित करना न चाहिये ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोमध्यं निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यतेचैवसूरिभिः ॥ ७ ॥

गुह्यप्रदेशको दृढ़यत्नसे बांई एड़ीसे दबाके दाहिने पैरको फैला हाथोंसें पैरकी सम्पूंण अगुलियोंको पकड़ कर और कण्ठसङ्कोचन करते हुए दोनोभौंहके मध्यस्थलको देखना चाहिये; इसे ही पण्डित लोग महामुद्रा कहते हैं ॥ ६–७॥ *

इति महामुद्राकथनम् ।

---

* ब्रह्यामलमें महामुद्राका लक्षण यह है,—

" पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारये दृढं ।
कण्ठे वक्त्रं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्द्धतः ।
यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ।
ऋज्वी भूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तथा सामरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता ।
ततः शनैः शनैरेव रेचयेत्तं न वेगतः ।
इयं खलु महामुद्रा तव स्नेहात् प्रकाश्यते ॥ "

अर्थात्,—योनिप्रदेशको बांई एड़ीसे दबाकर दाहिने परको फला उसे दोनों हाथोंसे दृढ़रूपसे पकड़कर ठोढ़ी कण्ठमें लगा कर कुम्भक द्वारा वायुको रोकना चाहिये । इस मुद्राका अभ्यास करनेसे जैसे लाठीसे मारा सर्प लाठीके समान सीधा हो जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी भी सरलभाव धारण करती है । इसके उपरान्त उस कुम्भकपूरित वायुको धीरे धीरे रेचन करना चाहिये । इसे ही महामुद्रा कहते हैं ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ महामुद्राफलकथनम् ।

क्षयकासं गुदावर्त्तं प्लीहाजीर्णं ज्वरन्तथा ।
नाशयेत् सर्व्वरोगांश्च महामुद्रानिसेवनात् ॥ ८ ॥

इस महामुद्राका अभ्यास करनेसे क्षयकास, गुदावर्त्त, प्लीहा, अजीर्ण, ज्वर प्रभृति सभी रोगराशि विदूरित होती हैं ॥ ८ ॥ *

इति महामुद्राफलकथनम् ।

---

* शिव-संहितामें लिखा है, कि जो मनुष्य मन्दभाग्य हैं, वह भी यदि इस महामुद्रा का आचरण करें तो, सिद्धि पा सकते हैं। इस मुद्राका अभ्यास करनेसे शरीरस्थ नाड़ीसमूह परिचालित होतीं और जीवनीशक्तिस्वरूप शुक्र स्तम्भित होता है; सुतरां वह शुक्र जीवनको अवस्थित करता है। इस मुद्राके प्रभावसे पापराशि और रोगसमूह विनाश होते हैं; जठराग्नि परिवर्द्धित होती है; शरीरमें लावण्य उत्पन्न होता है; जरा और मरण दूर होता और अभीष्टफल और आनन्द लाभ होता है। इस मुद्राके प्रभावसे जितेन्द्रियशक्ति उत्पन्न होती है। यह मुद्रा परम गोपनीय है; योगिगण इस मुद्राके प्रभावसे अपार संसार-समुद्रसे उत्तीर्ण होते हैं; इसका साधन करनेपर जो कामना की जाये, वही मिल सकती है। यथा,—

" अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योपि सिध्यति ।
सर्व्वासामेव नाड़ीनां चालनं विन्दुमारणं ।
जीवनन्तु कषायस्य पातकानां विनाशनं ।
सर्व्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्द्धनं ।
वपुषः कान्तिममलां मृत्युवार्धक्यनाशनं ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ नभोमुद्राकथनम् ।

यत्रयत्रस्थितो योगी सर्व्वकार्य्येषुसर्व्वदा ।
ऊर्द्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत् पवनं सदा ॥
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥ ९ ॥

योगी सदा सभी काम करते हुए ऊर्द्धजिह्वा अर्थात् खेचरी मुद्रासे कुम्भक द्वारा वायुको रोकें । इसीका नाम नभोमुद्रा है इस मुद्रासे योगियोंके सभी रोग विनाशित होते हैं ॥९॥ *

इति नभोमुद्राकथनम् ।

अथ उड्डीयानवन्धः ।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्द्धन्तु कारयेत् ।
उड्डीयानं तु कुरुते यत्तदविश्रान्तं महाखगः ॥
उड्डीयानं त्वसौ वन्धो मृत्युमातङ्गकेशरी ॥ १० ॥

वाञ्छितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियानाञ्च मारणं ।
एतदुक्तानि सर्व्वाणि योगरूढस्य योगिनः ।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्य्या विचारणा ।
गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ।
यान्तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्तियोगिनः ।
मुद्राकाम दुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता ।
गुप्ताचारेण कर्त्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ॥"

* इसे ही आकाशी मुद्रा कहते हैं ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नाभिके ऊपर उदर भागके पीछेकी तरफ अर्थात् भीतरको बलपूर्वकसङ्कोच करे अर्थात् खींचे और प्राणवायुको उड्डियान करे अर्थात् उठावे तब अविकल ब्रह्मरन्ध्रके आकाशमें प्राण-वायुका गमन होगा—दूसरा अर्थ—योगी जब विधिपूर्वक उड्डीयान बन्धद्वारा आकाशमें उड्डीयान करते हैं (उड़ते हैं) तब महाखग अर्थात् गरुड़के समान उड़नेकी शक्ति हो जाती है—इसका नाम उड्डीयान बन्ध है यह बन्ध मृत्यु रूपी मातङ्ग हाथीके लिए सिंहके समान हैं ॥ १० ॥

इति उड्डीयानबन्धः ।

अथ उड्डीयानबन्धस्यफलकथनम् ।

समग्रात् बन्धनात् ह्येतत् उड्डीयानम् विशिष्यते ।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्ति स्वाभाविकी भवेत् ॥११॥

जितने प्रकारके बन्ध कहे गये हैं, उनमें यह उड्डीयान बन्ध ही सबसे श्रेष्ठ है । इसका अभ्यास होनेसे अनायास ही मुक्ति मिल सकती है ॥ ११ ॥ *

इति उड्डीयानबन्धस्यफलकथनम् ।

---

* शिवसंहितामें उड्डीयान बन्धका फल इस प्रकार कहा है,—

" नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्व्वारं दिने दिने ।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्यात् येन शुद्धो भवेन्मरुत् ।
षण्मासमभ्यसन् योगी मृत्युं जयति निश्चितं ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रस वृद्धिस्तु जायते ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ जालन्धरवन्धकथनम् ।

कण्ठसंङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत् ।
जालन्धरे कृते वन्धे षोड़शाधारवन्धनं ॥
जालन्धरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ॥ १२ ॥

कण्ठदेशको सङ्कोचनकर हृदयमें ठोढ़ीको लगाये, इसको ही जालन्धरवन्ध कहते हैं । इससे सोलह आधारका बन्धन

रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवतिध्रुवं ।
गुरोर्ल्लब्ध्वातुयत्नेन साधयेच्च विचक्षणं ।
निर्जने सुस्थिते देशे वद्धं परमदुर्लभं ।"

अर्थात्—जो योगवित् मनुष्य प्रतिदिवस चार वार इस उड्डीयानवन्धका आचरण करते हैं, उनकी नाभिशुद्धि और मरुत्सिद्धि होती है । बरावर छः महीने इस वन्धका अभ्यास करनेसे मृत्युके पराजित होनेमें संदेह नहीं । जो मनुष्य इसका आचरण करते, उनकी उदराग्नि प्रज्वलित होती और देहमें पुष्टिकर रसका सञ्चार होता है । इसके प्रभावसे योगियोंकी रोगराशि विनाशित होती है । धीमान् साधक गुरुसे उपदेश ले यत्नके साथ एकान्तमें बैठ इस दुर्लभ बन्धका अभ्यास करें ।

भगवान् दत्तात्रेयकी संहितामें भी लिखा है,—

" अभ्यसेद्द् यस्तु सत्वस्थो वृद्धोपि तरुणायते ।
षण्मासमभ्यसन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ '

अर्थात्,—उड्डीयानवन्धका अभ्यास करनेसे वृद्ध मनुष्य भी यौवन पाता है । बरावर छः महीनेतक इसका अभ्यास करनेसे साधकके मृत्युको पराजित करनेमें सन्देह नहीं ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होता है अर्थात् कण्ठस्थानमें सोलह स्वरोंके सोलह पत्ररूप आधार है, उनका कण्ठसङ्कोचनसे बन्धन होता है और यह मृत्युको पराजित करता है ॥ १२ ॥ *

इति जालन्धरबन्धकथनम् ।

अथ जालन्धरबन्धफलकथनम् ।

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकं ।
षण्मासमभ्यसेत् यो हि ससिद्धो नात्र संशयः ॥१३॥

यह जालन्धरबन्ध स्वतःसिद्ध है; योगियोंके लिये सिद्धि-

---

* ग्रहयामलमें लिखा है,—

" कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढं ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयम् मृताव्ययकारकः । "

अर्थात्,—कण्ठको आकुञ्चनकर चिबुकको दृढ़ रूपसे हृदय स्थानमें स्थापित करना चाहिये । इसे ही जालन्धरबन्ध कहते हैं । इससे देहका अमृत सदा परिपूर्ण रहता है । शिवसंहितामें लिखा है,—

" बद्धा गल शिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः । "

अर्थात्,—गलप्रदेशके नाड़ीजालको बांधकर ठोढ़ीको हृदयपर लगाकर कुम्भक करना चाहिये । इसे ही जालन्धर बन्ध कहते हैं, यह बन्धन देवतोंको भी दुर्लभ है ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विधान करता है; जो धीमान् बराबर छः महीनेतक इसका अभ्यास करते हैं; उन्हें सिद्धि मिलनेमें सन्देह नहीं ॥१३॥ *

इति जालन्धरवन्धफलकथनम्।

अथ मूलवन्धकथनम्।

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः।
नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥१४॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढ़वन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलवन्धो निगद्यते ॥ १५ ॥

गुह्यप्रदेशको बांईं एड़ीसे आकुञ्चनकर यत्नके साथ मेरुदण्डमें नाभिग्रन्थिको संयुक्त करना चाहिये अर्थात् नाभिको भीतरको खींचकर पीठसे लगाके फिर उपस्थको दहनीएड़ीसे

---

* शिव-संहितामें लिखा है, कि साधक इस वन्धके प्रसादसे सहस्रदल कमलसे निकले हुए अमृतको अधोभागमें ला स्वयं उसे पीकर अमरत्वलाभ करते हैं। यह मुद्रा सिद्धिप्रद है, सिद्धिकामी योगगिण सदा इसका अभ्यास करें। यथा,—

"वन्धे नानेव पीयूषं स्वयं पिवति बुद्धिमान्।
अमरत्वञ्च संप्राप्य मोदते भुवनजये।
जालन्धर वन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥"

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दृढ़भावसे सम्बद्ध करे। इसे ही मूलवन्ध कहते हैं। यह मुद्रा जराका विनाशित करती है ॥ १४—१५ ॥ *

इति मूलवन्धकथनम्।

अथ मूलवन्धस्यफलकथनम्।

संसारसमुद्रं तर्त्तुं अभिलषति यः पुमान्।
विरले सुगुप्तो भूत्वा मुद्रायेनां समभ्यसेत् ॥ १६ ॥
अभ्यासात् वन्धनस्यास्य मरुत् सिद्धिर्भवेद्ध्रुवं।
साधयेत् यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः ॥१७॥

जो मनुष्य संसाररूप सागरसे पार होनेकी इच्छा करता हो, वह एकान्तमें छिपकर इस मुद्राका अभ्यास करें। इस मूलवन्धका अभ्यास करनेसे निश्चय ही मरुत्सिद्धि होती है; अतएव साधक आलस्यको परित्यागकर मौनी हो यत्नके साथ इसकी साधना करें ॥ १६—१७ ॥ *

इति मूलवन्धस्यफलकथनम्।

---

* मतान्तरमें मूलवन्ध इस प्रकार वर्णित है,—
पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयन्त्रितं।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्द्ध्वं समभ्यसेत्।
कल्पितोयं मूलवन्धो जरामरणनाशनः ॥”

अर्थात्,—मध्यप्रदेशको एड़ीसे यत्न पूर्वक संपीडन करते हुए अपानवायुको वलके साथ धीरे धीरे ऊपरकी ओर खींचना चाहिये। इसे ही मूलवन्ध कहते हैं। यह जरामरणका विनाशक है।

* इस मूलवन्ध द्वारा योनिमुद्रा सिद्ध होती है। इसके प्रभावसे साधक आकाशमें उड़ सकते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ महावन्धकथनम् ।

वामपादस्य गुल्फे तु पायुमूलं निरोधयेत् ।
दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥ १८ ॥
शनैः शनैश्चालयेत् पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छनैः ।
जालन्धरे धारयेत् प्राणम्महावन्धो निगद्यते ॥ १९ ॥

वांई एड़ीसे मूलद्वारको निरोध करना और दहिने पैर द्वारा यत्नके साथ वांई एड़ीको पीड़नकर धीरे धीरे कुक्षिको परिचालित करना चाहिये और मंद मंद गुह्यप्रदेशको आकुञ्चन करे और जालन्धरवन्ध द्वारा प्राणवायुको धारण करना चाहिये । इसे ही महावन्ध कहते हैं ॥ १८-१९ ॥ *

इति महावन्धकथनम् ।

---

* शिव-संहितामें यह मुद्रावन्ध इस प्रकार लिखा है, कि वांयें ऊरुके ऊपरीभागमें दाहिने पैरको विस्तारितकर संस्थापन करना और योनि तथा गुह्यप्रदेशको संकुचितकर अपानवायुको उर्द्धगामी करते हुए नाभिको समानवायुको अधोमुख करते हुए प्राण और अपान इन दोनों वायुके साथ जठरमें कुम्भकयोगसे दृढ़रूपसे संवद्ध करना कराना चाहिये । इसका ही नाम महावन्ध है; यथा,—

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमूरुपरि ।
गुदयोनिं समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्द्धगं ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखं ।
वन्धये दुदरेत्यर्थं प्राणापानाख्य यः सुधीः ।
कथितोयं महावन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ॥ ”

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ महावन्धस्यफलकथनम् ।

महावन्धः परोवन्धो जरामरणनाशनः ।
प्रसादादस्य वन्धस्य साधयेत् सर्व्ववाञ्छितं ॥ २० ॥

यह महावन्ध सब वन्धोंमें श्रेष्ठ कहा जाता है। यह जरा और मृत्युको विनाशित करता है, इसके प्रसादसे सभी मनोरथ सिद्ध किये जाते हैं ॥ २० ॥ *

इति महावन्धस्यफलकथनम् ।

अथ महाबेधकथनम् ।

रूपयौवन लावण्यं नारीणां पुरुषं बिना ।
मूलवन्ध महावन्धौ महावेधं बिना तथा ॥ २१ ॥
महावन्धं समासाद्य उड्डानं कुम्भकं चरेत् ।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ॥२२॥

जैसे बिना पुरुषके रमणीका रूप, यौवन और लावण्य विफल होता है, वैसे ही महावेधके बिना मूलवन्ध और महा-बन्ध निष्फल होते हैं । पहले महावन्धका अनुष्ठान कर, उड्डी-

---

* इस मुद्राका अभ्यास करनेसे देहकी पुष्टि और अस्थिपञ्जर सुदृढ़ होते हैं; चित्त सदा संतुष्ट रहता है। इसके प्रभावसे साधक सभी मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं। यह विषय शिवसंहितामें विशेष-रूपसे वर्णित है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यानवन्धका आचरण करते हुए कुम्भकसे वायुका निरोध करे, इसको ही महावेध कहते हैं। महावेध योगिगणका सिद्धि-दायक है ॥ २१–२२ ॥ *

इति महावेधकथनम् ।

अथ महावेधस्यफलकथनम् ।

महावन्धमूलवन्धौ महावेधसमन्वितौ ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः ॥ २३ ॥
न मृत्युभयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोयं योगिपुङ्गवैः ॥ २४ ॥

जो साधक प्रतिदिन महावेधके सहित महावन्ध और मूलवन्धका आचरण करते हैं, वही योगिश्रेष्ठ कहे जाते हैं। मृत्यु या जरा उनपर आक्रमण कर नहीं सकती; यह परम गोपनीय है; योगिपुङ्गवगण यत्नके साथ इसे छिपाके रखें ॥२३–२४॥

इति महावेधस्यफलकथनम् ।

---

* महावेध और प्रकारके भी होते हैं; जैसे शिव-संहितामें लिखा है,—

" अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य्य वायुना ।
स्फिचौ संताड़येद्धीमान् वेधोयं कीर्त्तितो मया ॥"

अर्थात,—अपान और प्राणवायुका ऐक्य साधनकर कुम्भक योगसे वायु द्वारा उदरको पूर्ण करके नितम्बद्वयके ऊपर ताड़ित करना चाहिये। इसेही महावेध कहते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ खेचरीमुद्राकथनम् ।

जिह्वाधो नाड़ीं संछिन्नां रसनां चालयेत् सदा ।
दोहयेन्नवनीतेन लौहयंत्रेण कर्षयेत् ॥ २५ ॥
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।
यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी ॥ २६ ॥
रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ २७ ॥

जिह्वाके नीचे जो नाड़ी है, उसे छेदन करके सदा अगले-भागको परिचालित करना चाहिये । फिर रसनाको नवनीत लगाके दोहनकरे और लोहेकी जभीसे जिह्वाको खीचना चाहिये । प्रतिदिन ऐसा ही करनेसे जिह्वा बड़ी होती है । धीरे धीरे अभ्यास द्वारा जिह्वाको इस प्रकार लम्बी करना चाहिये, जिससे वह अनायास ही दोनों भौंहके मध्यस्थलको स्पर्श कर सके तब रसनाको धीरे धीरे तालुके भीतर ले जाना चाहिये । बीचोंबीचके गड़हेको कपालकुहर कहते हैं । जिह्वाको उस कपालकुहरके मध्यमें ऊपरकी ओर उलटकर प्रवेशित करके दोनों भौंहके मध्यस्थलको देखना चाहिये । इसे ही खेचरी मुद्रा कहते हैं ॥ २५-२६-२७ ॥ *

इति खेचरीमुद्राकथनम् ।

---

*जिह्वाके दोहन चालन छेदनेके उपाय जिह्वा मूलशोधनके स्थान-में पहिली टिप्पणीमें लिख चुके हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ खेचरीमुद्रायाः फलकथनम् ।

नच मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते ।
नच रोगो जरा मृत्युर्देव देहस्तु जायते ॥ २८ ॥

जो मनुष्य खेचरी मुद्राका साधन करते हैं, उन्हें मूर्च्छा भूख या प्यास या आलस्य बाधा नहीं देसकती । उनके शरीरमें रोग या बुढ़ापा या मृत्युका भय नहीं रहता, वह देवताके समान देह पाते हैं ॥ २८ ॥

नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः ।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः ॥ २९ ॥

जो खेचरी मुद्राका साधन करते हैं, अग्नि उन्हें जलानेमें समर्थ नहीं होती, वायु उन्हें सुखा नहीं सकती, जल उनकी

खेचरी मुद्राके सम्बन्धमें शिवसंहितामें यों लिखा है,—

" भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं निधाय सुदृढ़ां सुधीः ।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ।
लम्बिकोर्द्धस्थिते गर्त्ते रसनां विपरीतगां ।
संयोजयेत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ।
मुद्रेयां खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ॥ "

अर्थात्—निरुपद्रव स्थानमें वज्रासनसे वैठके दोनो भौहोंके बीचमें दृढ़रूपसे दृष्टि स्थिर रखना चाहिये । इसके उपरान्त जीभके ऊपर जो तालुकुहर है, उसपर जीभको उलटी रख यत्नके साथ बुद्धिमान् योगी सुधाकूपमें जिह्वाको संयोजित करे । इसेही खेचरीमुद्रा कहते हैं ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

देहको डुबानेमें समर्थ नहीं होता और सर्प भी उन्हें काट नहीं सकता ॥ २९ ॥

लावण्यञ्च भवेद्गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवं ।
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात् ॥ ३० ॥

खेचरी मुद्राके साधनेवालेकी देहमें अपूर्व्व लावण्यका सञ्चार होता है और वह समाधियोग पा सकते हैं । कपाल और वक्त्र इन दोनोंके मिलनेसे उनकी रसनामें विचित्र रसका उत्पत्ति होती है ॥ ३० ॥

नानारस समुद्भूतमानन्दञ्च दिने दिने ।
आदौ लवणक्षारञ्च ततस्तिक्तकषायणं ॥३१॥
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनिच ।
द्राक्षारसञ्च पीयूषं जायते रसनोदकं ॥ ३२ ॥

जो इस मुद्राका साधन करते हैं, उनकी रसनासे दिन दिन अद्भुत रसका सञ्चार होता है और उनके चित्तमें दिन दिन नये नये आनन्द उत्पन्न होते हैं । उस साधककी जिह्वा पर सबसे पहले लवणरस, इसके उपरान्त क्षाररस, फिर तिक्तरस, कषायरस, नवनीत, घृत, क्षीर, दधि, तक्र, मधु, द्राक्षा, अमृत प्रभृति विविधिरसका आविर्भाव होता है ॥

इति खेचरीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ विपरीतकरणीमुद्राकथनम् ।

नाभिमूले वसेत् सूर्य्यस्तालुमूले च चंद्रमाः ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अमृतं ग्रसते सूर्य्यस्ततो मृत्युवशो नरः ॥ ३३ ॥
ऊर्द्धंच जायते सूर्य्यश्चन्द्रश्च अध आनयेत् ।
विपरीतकरी मुद्रा सर्व्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ३४ ॥
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मः समाहितः ।
ऊर्द्धपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ॥ ३५ ॥

सूर्य्य नाड़ी नाभिके मूलमें और चन्द्रनाड़ी तालुमूलमें विद्यमान है। सहस्रदल कमलसे जा पीयूषधारा विगलित (अर्थात बहती है) होती है, उस सुधाको सूर्य्य पानकर जाते हैं। इसी कारण से ही जीवगणको मृत्युके ग्रासमें पतित होना पड़ता है। यदि चन्द्रनाड़ी द्वारा वह अमृत पिया जाये, तो मृत्यु किसी प्रकार आक्रमण कर नहीं सकती । इस कारणसे योगवलसे सूर्य्यको ऊर्द्धभागमें और चन्द्रमाको अधोभागमें लाना योगीका कर्त्तव्य है। इस विपरीतकरणी मुद्राके गोप्य रखनेके लिये सब तन्त्रोंकी सम्मति है । शिरोदेशको भूमिमें संस्थापनकरके दोनों हाथों को भूमिमें टेकके सावधानीसे दोनों पैर ऊपर उठाके स्थिररहना चाहिये। इसे ही विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं ॥ ३३-३४-३५॥ *

इति विपरीतकरणीमुद्राकथनम् ।

---

* शिव संहितामें इस मुद्राके सम्बन्धमें यों लिखा है,

" भूतले स्वशिरो दत्वाखे नयेच्चरणद्वयं ।
विपरीतीकृतिश्चैषा सर्व्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ "

अर्थात्,—अपने शिरको नीचे भूमिपर लगाकर दोनो पैरोंको ऊपर शून्यमें उठाना चाहिये । इसे ही विपरीतकरणीमुद्रा कहते हैं । यह परम गोपनीय है ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ विपरीतकरणीमुद्रायाः फलकथनम् ।

मुद्रेयं साधयेन्नित्यं जरां मृत्युञ्च नाशयेत् ।
स सिद्धः सर्व्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ॥३६॥

जो मनुष्य नित्य इस मुद्राका साधन करते हैं, वह जरा और मृत्युको जीत लेते हैं अर्थात् अमर हो जाते हैं और वही सर्व्वलोकमें सिद्ध हैं; वह योगी प्रलयकालमें भी नाशको प्राप्त नहीं होते ॥ ३६ ॥ *

इति विपरीतकरणीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ योनिमुद्राकथनम् ।

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखं ।
अङ्गुष्ठतर्ज्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत् ॥३७॥

---

* इसमुद्राका फल शिवसंहितामें इस प्रकार लिखा है—

"एतद्दू यः कुरुते नित्य मभ्यासं याममात्रकं ।
मृत्युं जयति सजोगी प्रलये नापि सीदति ।
कुरुतेऽमृतपावं यः सिद्धानां समतामियात् ।
स सिद्धः सर्व्वलोकेषु वन्धमेनं करोति यः ।"

अर्थात्,—जो प्रतिदिन एक पहरतक इस मुद्राका अभ्यास करते हैं, मृत्यु उनपर आक्रमण कर नही सकती। वह प्रलयके समय भी अवसन्न नही होते। जो मनुष्य देहकी पीयूषको पीते हैं, वही सिद्धगणकी समताकोपाते हैं। इस मुद्राका अभ्यास करनेसे सर्व्वत्र ही सिद्धि होती है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

काकीभिः प्राणं संकृष्य अपाने योजयेत्ततः ।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधीः ॥३८॥
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी ।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे ॥३९॥
शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परं शिवेन सङ्गमं ।
नानासुखं विहारञ्च चिन्तयेत् परमं सुखं ॥४०॥
शिवशक्तिसमायोगादे कान्तं भूवि भावयेत् ।
आनन्दञ्च स्वयं भूत्वा अहं ब्रम्हेति सम्भवेत् ॥४१॥
योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ।
सकृत्तु लाभसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि ॥४२॥

सबसे पहले सिद्धासनसे बैठके दोनों कानोंको दोनों अंगूठों द्वारा, दोनो आखें दोनो तर्ज्जनी उंगली द्वारा, दोनों नासिकायें मध्यमा द्वारा, मुखको अनामिका द्वारा निरुद्ध करना चाहिये । प्राणवायुको काकीमुद्राके सहारे खींच कर अपानकी वायुके साथ मिलाना चाहियें । शरीरके छःओ चक्रका ध्यान करके "हुं" और "हंस" इन दोनों मन्त्रों द्वारा देवीकुण्डलिनीको जाग्रिता करे और जीवात्माके साथ मिली हुई कुण्डलिनीको सहस्रार कमलपर उठाके साधक यों चिंता करें, कि "मैं शक्तिमय हो शिवकेसाथ सङ्गमकर आनन्द भोग और विहार करता हूं और शिवशक्तिके संयोगसे मैं ही आनन्दमय ब्रह्म हूं।" इसे ही योनिमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा परम गोपनीय है, यह सुरगणके लिये भी दुर्लभ है । इस

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्राका एकबार साधन करनेसे ही साधक सिद्धि पा सकते हैं ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ *

इति योनिमुद्राकथनम् ।

---

* शिवसंहितामें योनिमुद्राकी प्रणाली इस प्रकार लिखी है,—

"आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तमाकुञ्च्य प्रवर्त्तते ।
ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वां कामं वन्धुकसन्निभं ।
सूर्य्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलं ।
तस्योर्द्धे तु शिखा सूक्ष्मा चिन्द्रूपा परमा कला ।
तथापि हितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ।
गच्छन्ति ब्रह्ममार्गेण सिद्धत्रयक्रमेणवै ।
अमृतं तद्विसर्गस्थं परमानन्दलक्षणं ।
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधारा प्रवर्षिणं ।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत् कुलं ।
पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा ।
साच प्राणसमा ख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता ।
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादि शिवात्मकं ।
योनिमुद्रा पराह्येषा वन्धस्तस्याः प्रकीर्त्तितः ।
तस्यास्तु वन्धमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥"

अर्थात्,—सबसे पहले अपने मनको पूरक योगके प्रभावसे अपने मूलाधारपद्ममें वायुके साथ पूरण करना चाहिये । गुह्यद्वारसे उपस्थतक जो स्थान है, उसे योनिमण्डल कहते हैं। उस योनिदेशको समाकुञ्चनकर योनिमुद्राका आचरण करके इसके बाद ब्रह्मयोनिमें कामदेवका ध्यान करना चाहिये। वह कामदेव गुलदुपहरियाके फूलके समान शोणितवर्ण, कोटिसूर्य्यके समान प्रकाश मान और कोटिचन्द्र

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ योनिमुद्रा फलकथनम्।

ब्रह्महा भ्रुणहा चैव सुरापी गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्नलिप्येत योनिमुद्रानिवन्धनात् ॥४३॥

जो मनुष्य योनिमुद्राका साधन करते हैं, उन्हें ब्रह्महत्या गर्भहत्या, सुरापान, गुरुदारागमन आदि कोई भी पाप स्पर्श कर नहीं सकता ॥ ४३ ॥

जैसासुशीतल है। इसी प्रकार कामदेवकी चिन्ताकर उसपर परम शक्तिका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये, कि वह अग्निशिखा जैसी सूक्ष्मा चैतन्यस्वरूपा है, वह परमात्माके साथ एकत्रित है। ऐसा ही ध्यान करना उचित है। प्राणायामके बलसे स्थूलादि लिङ्गत्रय अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन त्रिविध अवयवविशिष्ट जीवात्माको कुण्डलिनीके साथ सुषुम्ना छिद्रकी राहसे ब्रह्ममार्गमें भेजना चाहिये। शिरस्थ अधोवदन कमल कर्णिकाके भीतरकी कुण्डलिनीशक्ति परमात्माके साथ सङ्गमासकता होती है, उससे श्वेत लालवर्ण तेजस्वी आनन्दमय सुधाधारा क्षरित होती है। जीवात्मा योगवलसे मूलाधारसे ऊपरचढ़ उस कुलामृतको पीता और फिर अधोभागमें उतरके मूलाधारस्थित ब्रह्मयोनिमें आके प्रविष्ट होता है इसप्रकार साधक जीवात्मा का ब्रह्मयोनि मे गमनागमनरूप प्राणायाम मात्राके सहारे अभ्यास करे। इस प्रकारका प्राणायाम तीनवार करना चाहिये। ऐसी चिन्ता करना चाहिये, कि मूलाधारपद्ममें ब्रह्मयोनिगताकुण्डलिनी परमात्मामें प्राणस्वरूपिनी बनी है; इस प्रकारके गमनागमनके उपरान्त फिर वह जीवत्मा कालाग्न्यादि शिवात्मक ब्रह्मयोनिमें लयको प्राप्त होता है। इसे ही योनिमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा सभी मुद्राओंमें प्रधान है। इसके प्रभावसे साधक सभी काम सुसिद्ध कर सकते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च ।
तानि सर्व्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिवन्धनात् ।
तस्मादभ्यासनं कुर्य्याद् यदि मुक्तिं समिच्छति॥ ४४॥

धरणीतलमें जितने दारुण पातक या उपपातक हैं, इस योनिमुद्राका आचरण करनेसे वह सभी विनष्ट हो जाते हैं। जो मनुष्य मुक्ति पानेकी कामना करते हैं, वह इसका अभ्यास करें ॥ ४४ ॥

इति योनिमुद्रा फलकथनम् ।

अथ वज्रोणीमुद्रा कथनम ।

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां ।
ऊर्द्ध्वं क्षिपेत् पादयुगं शिरः खे।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय,
वज्रोणीमुद्रा मुनयो वदन्ति ॥४५॥

दोनों हाथोंकी हथलीको भूमिपर स्थिरभावसे रख ऊपर की ओर दोनो पैर और शिर उठाना चाहिये । इसे वज्रोणी मुद्रा कहते हैं। इसके प्रभावसे शरीरमें बलका सञ्चार होता है और दीर्घजीवन प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

इति वज्रोणीमुद्रा कथनम् ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ वज्रोणीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणं ।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः ॥४६॥

इस मुद्राका योग सभी योगोंसे श्रेष्ठ है; यह योगियोंकी मुक्तिका कारण है। यह योग परमहितकारी है। यह योगियोको सिद्धि प्रदान करता है ॥ ४६ ॥

एतद्योगप्रसादेन विन्दुसिद्धिर्भवेद्ध्रुवं ।
सिद्धेविन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ॥४७॥

इस योगके प्रसादसे विन्दुसिद्धि होती है; अर्थात् इस मुद्राका आचारण करनेसे साधकका विन्दुपात नहीं होता, उनमें विन्दुधारणकी शक्ति उत्पन्न होती है। विन्दुसिद्धि होनेसे धरातलमें ऐसा कौन कार्य्य है, जो सिद्ध न हो सके ॥ ४७ ॥

भोगेन महतायुक्तो यदि मुद्रां समाचरेत् ।
तथापि सकला सिद्धिस्तस्य भवति निश्चितं ॥४८॥

भोगयुक्त मनुष्य भी यदि इस मुद्राका आचरण करें, तो निश्चय ही उन्हें सब सिद्धियां मिलेंगी ॥ ४८ ॥

इति वज्रोणीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ शक्तिचालिनीमुद्रा कथनम् ।

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता ।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ॥ ४९ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परमदेवता कुण्डलिनी शक्ति साढ़ेतीन फेरा भुजङ्गिनीकी तरह मूलाधारमें निद्रिता रहती है ॥ ४९ ॥

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा ।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत् ॥५०॥

वह कुण्डलिनी शक्ति जबतक निद्रागत रहती है, तबतक कोटि कोटि योगाभ्यास करनेसे भी जीवको ज्ञानका सञ्चार नहीं होता और तबतक जीव पशुकी तरह अज्ञानमें आवृत रहता है ॥ ५० ॥

उद्घाटयेत् कपाटञ्च यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ५१ ॥

जैसे कुञ्जीसे द्वार खुलता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्तिके प्रबोधित करनेसे ही ब्रह्मद्वार खुलता है; ऐसा करनेसे ही जीवको ज्ञानका सञ्चार होता है ॥ ५१ ॥

नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण नच नग्नो वहिस्थितः ।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥५२॥

वस्त्र द्वारा नाभिदेशको वेष्टनकर एकान्तगृहमें बैठ शक्ति चालिनीमुद्राका अभ्यास करना चाहिये । किन्तु नग्नावस्थामें बाहर बैठकर इस योगका साधन करना उचित नहीं ॥५२॥

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलं ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बर लक्षणं ॥
एवमम्बरयुक्तञ्च कटिसूत्रेण योजयेत् ॥ ५३ ॥

एकवित्ता बराबर लम्बा, चार अंगुल चौड़ा सुकोमल

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

धवल और पतले वस्त्र द्वारा नाभिको वेष्टन करके, उस वस्त्रखण्डका कटिसूत्र द्वारा सम्बन्ध करना चाहिये ॥९३॥

भस्मना गात्रसंलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत् ।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेत् बलात् ५४
तावदाकुञ्च येद्गुह्यं शनैरश्विनीमुद्रयां ।
यावद्गच्छेत् सुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेद्धठात् ॥५५॥

भस्म द्वारा शरीर लेपनकर सिद्धासनसे समासीन प्राणवायुको नाकके दोनों छेदों द्वारा खींचतेहुए हठसे अपान वायुके साथ मिलाना चाहिये । जबतक वायु सुषुम्ना नाड़ीके भीतर जाकर प्रकाशित न हो, तबतक अश्विनीमुद्रा द्वारा धीरे धीरे गुह्यप्रदेशको आकुञ्चित करना चाहिये ॥९४॥

तदावायु प्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी ।
वद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्द्ध्वमार्गं प्रपद्यते ॥ ५६ ॥

इस प्रकार निश्वास रोककर कुम्भक द्वारा वायुको निरोध करनेसे भुजगाकारा कुण्डलिनी शक्ति जागरिता हो ऊर्द्ध्वमार्गमें समुत्थित होती है, अर्थात् सहस्रदलकमलमें परमात्माके साथ मिलती है ॥ ९६ ॥

बिना शक्तिं चालनेन योनिमुद्रा न सिद्ध्यति ।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत् ॥५७॥

शक्तिचालिनीमुद्रा बिना योनिमुद्राके सिद्ध नहीं होती, अतएव पहले इस मुद्राका अभ्यास करके तब योनिमुद्राका अभ्यास करना चाहिये ॥ ९७ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनं ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत् ॥५८॥

हे चण्डकापाले ! मैंने तुमसे यह शक्तिचालिनी मुद्रा कही, इसे यत्नके साथ छिपाना चाहिये और दिन दिन इसका अभ्यास करना उचित है ॥ ५८ ॥ *

इति शक्तिचालिनीमुद्राःकथनम् ।

अथ शक्तिचालिनीमुद्रायाःफलकथनम् ।

मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी ।
तस्मादभ्यसनंकार्य्यंयोगिभिःसिद्धिकांक्षिभिः ॥५९॥

यह मुद्रा परम गोपनीय है; और वृद्धावस्था और मृत्युकी

---

* शिवसंहितामें शक्तिचालिनी मुद्राकी प्रणाली इस प्रकार लिखी है,—

" आधारकमले सुप्तां चालयेत् कुण्डलीं दृढ़ां ।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्व्वशक्तिप्रदायिनी ॥ "

अर्थात्—कुण्डलिनी शक्ति आधार कमलमें सो रही है, उसे जगाकर हठातबलसे अपान वायुको खींचकर चालन करना उचित है। इसे ही शक्तिचालिनी मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा सभी शक्तियां प्रदान करती है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नाश करनेवाली है, अतएव सिद्धिकी इच्छा करनेवाले योगि-योंको इसके अभ्यासका साधन करना चाहिये ॥ ५९ ॥

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करेस्थिता ।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद्रोगाणां संक्षयो भवेत् ॥ ६० ॥

जो योगी इस मुद्राका प्रतिदिन अभ्यास करते हैं, सिद्धि-को उनके हाथोंमें ही समझना चाहिये । उनमें विग्रहसिद्धि उत्पन्न होती है और उनकी रोगराशिका क्षय होता है ॥ ६० ॥

इति शक्तिचालिनीमुद्रायाःफलकथनम् ।

अथ ताड़ागीमुद्राकथनम् ।

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तड़ागाकृति ।
ताड़ागीसा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ६१ ॥

पश्चिमोत्तान आसनसे बैठके उदरको तड़ागाकृति करते हुए कुम्भक करना चाहिये । इसे ही तड़ागी मुद्रा कहते हैं । यह मुद्रा प्रधान मुद्रा कही जाती है । इससे जरा और मृत्यु पराजित होती है ॥ ६१ ॥

इति तड़ागीमुद्राकथनम् ।

अथ माण्डुकीमुद्राकथनम् ।

मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ।
शनैर्ग्रसेद् मृतन्तन्माण्डुकीमुद्रिकां विदुः ॥ ६२ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुख विवर बन्द करके जिह्वाके मूलदेशको परिचालित करना चाहिये और जिह्वा द्वारा धीरे धीरे सहस्रदलकमल विनिर्गत सुधाधारा पीना चाहिये। इसे ही माण्डुकी मुद्रा कहते हैं ॥६२॥

इति माण्डुकीमुद्राकथनम् ।

अथ माण्डुकीमुद्रायाःफलकथनम् ।

बलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनं ।
न केशे जायते पाको यः कुर्य्यान्नित्यमाण्डुकीं ॥६३॥

माण्डुकी मुद्राका अभ्यास करनेसे शरीरमें बलित या पलितका सञ्चार नहीं होता, बाल नहीं पकते और चिरयौवन विद्यमान रहता है ॥ ६३ ॥

इति माण्डुकीमुद्रायाःफलकथनम् ।

अथ शाम्भवीमुद्राकथनम् ।

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्व्वतन्त्रेषु गोपिता ॥६४॥

दोनों भौंहोंके बीचमें दृष्टिको स्थिरकर एकान्तमनसे चिन्तायोगसे परमात्माको देखना चाहिये । इसीका नाम शाम्भवी मुद्रा है । यह मुद्रा सब तन्त्रोंमें गोपनीया कही जाती है ॥ ६४ ॥

इति शाम्भवीमुद्राकथनम् ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ शाम्भवीमुद्रायाःफलकथनम् ।

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
इयन्तु शाम्भवीमुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ६५ ॥

वेद या पुराण या सभी शास्त्र सामान्य गणिकाकी तरह प्रकाशित हैं; किन्तु यह शाम्भवीमुद्रा कुलवधूकी तरह बहुत ही गोपनीया है ॥ ६५ ॥

स एव आदिनाथश्च सच नारायणः स्वयं ।
सच ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवी ॥६६॥

जो इस शाम्भवी मुद्राको जानते हैं, वह आदिनाथके समान हैं; वही स्वयं नारायणस्वरूप और वही सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मास्वरूप हैं ॥ ६६ ॥

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्य मुक्तं महेश्वरः ।
शाम्भवी यो विजानीयात् सच ब्रह्म न चान्यथा ॥६७॥

जो मनुष्य इस शाम्भवी मुद्राको जानते हैं, इसमें सन्देह नहीं, कि वह मूर्त्तिमान ब्रह्मस्वरूप हैं; यह बात सत्य है, महेश्वरने इस बातको सत्य ही निर्देश किया है ॥ ६७ ॥

इति शाम्भवीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ पञ्चधारणामुद्राकथनम् ।

कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणां ।
धारणानि समासाद्य किं न सिद्ध्यति भूतले ॥६८॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शाम्भवी मुद्रा कही जा चुकी; अब पञ्चविध धारणा मुद्रा कही जाती है; सुनो। इस पञ्चविध धारणा मुद्राके सिद्ध होनेपर भूमितलमें कोई ऐसा विषय ही नहीं, जो सिद्ध न हो सके ॥ ६८ ॥

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमं ।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ॥ ६६ ॥

पञ्चविध धारणामुद्राके सिद्ध होनेपर उसके प्रभावसे मनुष्य, मनुष्यदेहसे ही सुरपुरमें गमनागमनकर सकता है और मनोगति तथा खेचरत्व लाभ होता है। (पञ्चविध धारणा मुद्रा, जैसे—पार्थिवी, आम्भसी, वायवी, आग्नेयी और आकाशी ॥ ६९ ॥

इति पञ्चधारणामुद्राकथनम् ।

अथ पार्थिवीधारणामुद्राकथनम् ।

यत्तत्त्वं हरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितं ।
वेदास्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थायिनं ॥
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चिन्तान्वितां धारये-।
देषा स्तम्भकरी क्षितिजयं कुर्य्यादधोधारणा ॥७०॥

पृथिवीतत्त्वका वर्ण हरिताल जैसा है; लकार इसका वीज है; आकृति चतुष्कोणविशिष्ट, ब्रह्मा इसके देवता हैं। योगके प्रभावसे उस पृथिवीतत्त्वको हृदयमें समुदित कराना चाहिये और चित्तके साथ उसे हृदयदेशमें संयत करते हुए

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्राणवायुको खींचके पांच घड़ीतक कुम्भकयोगसे धारण करना चाहिये । इसे ही पार्थिवीधारिणामुद्रा कहते हैं । इसका दूसरानाम अधोधारणा मुद्रा है । योगी मनुष्य इस धारणाका अभ्यास करनेसे इसके प्रभावसे पृथिवीको जीत सकते हैं । इसका तात्पर्य्य यह है, कि पृथिवी सम्बन्धीय किसी घटनासे उसकी मृत्यु नहीं हो सकती ॥ ७० ॥

इति पार्थिवीधारणामुद्राकथनम् ।

अथ पार्थिवीधारणामुद्रायाःकथनम् ।

पार्थिवी धारणामुद्रां यः करोति दिने दिने ।
मृत्युञ्जयः स्वयं सोपि स सिद्धो विचरेद्भुवि ॥७१॥

जो मनुष्य प्रतिदिन इस पार्थिवाधारणामुद्राका आचरण करते हैं; वह साक्षात् मृत्युके समान होते हैं और सिद्ध होके क्षितितलमें विचरण करते हैं ॥ ७१ ॥

इति पार्थिवीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ आम्भसीधारणामुद्राफलकथनम् ।

शब्देन्दु प्रतिमञ्च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं ।
तत्पीयूषवकारवीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्राणांस्तत्रविनीयपञ्चघटिकांचित्तान्वितांधारयेदेषा ।
दुःसहतापनाशनकरी स्यादाम्भसी धारणा ॥७२॥

जलतत्त्वका वर्ण शंख, शशि और कुन्दवत् धवल है, इसकी आकृति चन्द्रके समान है, बकार इसका बीज है, विष्णु इसके देवता हैं। योगप्रभावसे हृदयमें इस जलतत्त्वका उदय कराना और प्राणवायुको खींचके एकाग्रचित्तसे पांच घड़ीतक कुम्भक द्वारा धारण करना चाहिये। इसे ही आम्भसी मुद्रा कहते हैं। इस मुद्राका अभ्यास करनेसे जलमें मरनेकी आशङ्का नहीं रहती और असह्य-भव-संताप दूर भागता है ॥ ७२ ॥ *

इति आम्भसीधारणामुद्राकथनम् ।

अथ आम्भसीमुद्रायाःफलकथनम् ।

आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानातिसयोगवित् ।
जले गभीरे घोरेचमरणं तस्य नो भवेत् ॥ ७३ ॥

---

* अन्य तन्त्रमें आम्भसी धारणामुद्राकी प्रणाली इस प्रकार वर्णित है,—

"नाभिस्थाने ततो वायुं धारयेत् पञ्च घट्टिकां ।
ततो जलभयं नास्ति जलमृत्युर्न योगिनः ॥"

अर्थात्—कुम्भक द्वारा नाभिदेशमें प्राणवायुको पांच घड़ीतक धारण करे, तो योगीको जलसे मृत्युका भय न होगा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जो योगवित् साधक इस आम्भसीमुद्राको जानते हैं, भीषण गभीर जलमें भी उनकी मृत्यु संघटित नहीं होती ७३

इयन्तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः ।
प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मिच तत्त्वतः ७३

यह आम्भसी मुद्रा परम श्रेष्ठ मुद्रा कही जाती है, इसे यत्नके साथ छिपाना चाहिये। मैं सत्य कहता हूं, कि इसके प्रकाश करनेसे सिद्धिकी हानि होती है ॥ ७४ ॥

इति आम्भसीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ आग्नेयीधारणामुद्रा कथनम् ।

यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं वीजं त्रिकोणान्वितं ।
तत्त्वं तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत् सिद्धिदं ॥
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकांचित्तान्वितांधारये–
देषकालगभीरभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा ॥७५॥

नाभिस्थल अग्नितत्त्वका स्थान है, इसका वर्ण इन्द्रधनुष जैसा रक्त है; वकार इसका बीज है; इसकी आकृति त्रिकोण और रुद्र इसके देवता हैं। यह तत्त्व तेजःपुञ्जशाली, दीप्तिमान और सिद्धिदायक है। यत्नसे इस अग्नितत्त्वको उदितकर एकाग्रचित्तसे पांच घड़ीतक कुम्भकयोगसे प्राणवायुको धारण करना चाहिये। इसीका नाम आग्नेयीधारणा मुद्रा है। इसका

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अभ्यास करनेसे संसारभय दूरीभूत होता औरं अग्निसें साधककी मृत्यु संघटित नहीं होती ॥ ७५ ॥ *

इति आग्नेयीधारणामुद्राकथनम् ।

अथ आग्नेयीधारणामुद्रायाःफलकथनम्।

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ यदा पतति साधकः ।
एतन्मुद्राप्रसादेन सजीवति न मृत्युभाक् ॥ ७६ ॥

यदि साधक जलती आगमें भी गिर जाये, तब भी इस मुद्राके प्रसादसे जीवित रहेगा, उसे कभी कालग्रासमें पतित होना न पड़ेगा ॥ ७६ ॥

इति आग्नेयीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।

---

* तन्त्रान्तरमें इस मुद्राकी प्रणाली जिस प्रकार लिखी है, वह यहां दी जाती है;—

नाभ्यूर्द्धमण्डले वायुं धारयेत् पञ्चघटिकां ।
आग्नेयी धारणा सेयं न मृत्युस्तस्य वह्निना ।
न दह्यते शरीरं हि प्रदिप्ते वह्निकुण्डके ॥ ”

अर्थात्—पांच घड़ीतक कुम्भकयोगसे नाभिके ऊर्द्धभागमें प्राण-वायुको धारण करना चाहिये। इसे ही आग्नेयी धारणा कहते हैं। इस मुद्राका आचरण करनेसे अग्निसे मृत्युका भय नहीं रहता। यदि साधक जलती आगमें डाला जाये, तब भी उसकी देह न जलेगी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ वायवीधारणामुद्राकथनम् ।

याद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं धूम्रावभासं परं ।
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितांधारये-
देषा खे गमनं करोतियमिनां स्याद्वायवीधारणा७७

वायुतत्त्वका वर्ण मर्द्दित अञ्जन और धुवें जैसा काला है, यकार इसका बीज और ईश्वर इसके देवता हैं। यह तत्त्व सत्त्वगुणमय है। योगप्रभावसे इस वायुकेतत्त्वको उदित कराके एकाग्रचित्तसे कुम्भक द्वारा प्राणवायुका पांच घड़ीतक धारण करना चाहिये। इसीका नाम वायवीधारणा मुद्रा है। इस मुद्राका आचरण करनेसे वायु द्वारा कभी मृत्यु संघटित नहीं होती और साधक शून्यमें विचरण करनेकी शक्ति पाते हैं ॥ ७७ ॥ *

इति वायवीधारणामुद्राकथनम् ।

---

* वायवीधारणामुद्राके विषयमें मतान्तमें इस प्रकार वर्णित है,-

" नाभि भ्रूवोर्हि मध्ये तु प्रादेशद्वयसम्मिते ।
धारयेत् पञ्चघटिका वायुं सैव हि वायवी ।
धारणात्तस्य वायोस्ते भोगिनो न भयं भवेत् ॥ "

अर्थात्,—नाभि और भौहोंके मध्यमें अर्थात् दोनों स्थानके बीचमें पांच घड़ीतक कुम्भक द्वारा प्राणवायुको धारण करे। इसे ही वायवीधारणा मुद्रा कहते हैं। इस प्रकार वायुको धारण करनेसे योगीको किसी प्रकारका भय नहीं होता।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ वायवीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।

इयन्तु परमा मुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी ।
वायुना म्रियते नापि खेहिगतिप्रदायिनी ॥ ७८ ॥

यह मुद्रा श्रेष्ठमुद्राके नामसे प्रसिद्ध है, इससे जरा और मृत्युका विनाश होता है। जो मनुष्य इसका आचरण करते हैं, उनकी मृत्यु वायुसे कभी नहीं होती और यह मुद्रा आकाशमें विचरण करनेकी शक्ति प्रदान करती है ॥ ७८ ॥

शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्यकस्यचित् ।
दत्तेचसिद्धिहानिः स्यात्सत्यंव्रच्मिहि चण्डते॥७९॥

जो मनुष्य शठ और भक्तिहीन है, उसे मुद्रा देना न चाहिये। हे चण्डकापाले ! मैं तुमसे सत्य कहता हूं, कि साधारण मनुष्यको यह मुद्रा प्रदान करनेसे सिद्धिकी हानि होती है ॥ ७९ ॥

इति वायवीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ आकाशीधारणामुद्राकथनम् ।

यत्सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं ।
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं वीजं हकारान्वितं ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितां धारये-
देषामोक्षकपाटभेदनकरी कुर्य्यान्नभोधारणा ॥ ८० ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आकाशतत्त्वका वर्ण विशुद्ध सागरके जल जैसा है; सदाशिव इसके देवता और हकार इसका बीज है। इस आकाशतत्त्वको योगप्रभावसे उदितकर एकाग्रमनसे प्राणवायुको स्थिर करके पांच घड़ीतक कुम्भकयोग धारण करना चाहिये। इसे ही आकाशीधारणा मुद्रा कहते हैं; इसका साधन करनेसे देवत्व और मुक्तिलाभ होता है ॥ ८० ॥ *

इति आकाशीधारणामुद्राकथनम् ।

अथ आकाशीधारणामुद्रायाःफलकथनम्

आकाशीधारणा मुद्रा यो वेत्तिहि स योगवित् ।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति ॥ ८१ ॥

जो मनुष्य आकाशी धारणामुद्रा जानते हैं, वही परम योगवेत्ता हैं। उन्हें किसी प्रकार मृत्युके मुखमें पड़ना नहीं

---

* तन्त्रान्तरमें आकाशीधारणामुद्रा इस प्रकार वर्णित है,—

"भ्रूमध्यादुपरिष्टान्तु धारयेत् पञ्चनाड़िकां ।
वायुं योगी प्रयत्नेन सेयमाकाशीधारणा ।
आकाश धारणांकुर्वन् मृत्युंजयति तत्त्वतः ।
यत्र तत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्त मश्नुते ॥"

अर्थात्,—योगी पांच घड़ीतक यत्नके साथ भौंहोंके बीच कुम्भकयोगसे वायुको धारण करे। इसे ही आकाशीधारणा मुद्रा कहते हैं। इस मुद्राके प्रभावसे मृत्यु जीती जा सकती है और योगी चाहें जहां रहें, वहां ही परमसुख पायेंगे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पड़ता। अर्थात्, वह इच्छामृत्यु होते हैं और प्रलयकालमें भी अवसन्न नहीं होते ॥ ८१ ॥ *

इति आकाशीमुद्रायाः फलकथनम्।

इति पञ्चधारणामुद्राः।

अथ अश्विनीमुद्राकथनम्।

आकुञ्चयेद् गुदद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥८२॥

बरबार गुह्यदेशको आकुञ्चन और प्रसारण करना

---

* पञ्चधारणामुद्राका फल शिवसंहितामें इस प्रकार लिखा है,-

"मेधावी पञ्चभूतानां धारणां यः समभ्यसेत्।
शतब्रह्मागतेनापि मृत्युस्तस्य न विद्यते।
एवञ्च धारणाः पञ्च कुर्य्याद्योगी विधानतः।
ततोदृढशरीरस्य मृत्युरस्य न विद्यते।
इत्येवं पञ्चभूतानां धारणां यः समभ्यसेत्।
ब्रह्मणः प्रलये वापि तस्य मृत्युर्नविद्यते ॥"

अर्थात्,—जो मेधावी मनुष्य पञ्चधारणाका अभ्यास करते हैं वह शत ब्रह्माके पतनेसे भी मृत्युके मुखमें नहीं पड़ते। अतएव साधक विधिके अनुसार पञ्चविधधारणा मुद्राका आचरण करे। इसके प्रभावसे शरीर दृढ़ होती है और मृत्यु पराजित होती है। जो मनुष्य इस पञ्चभूतधारणा मुद्राका अभ्यास करते हैं, प्रलयके समय भी वह जीवित रहते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चाहिये । इसीका नाम अश्विनी मुद्रा है । यह शक्ति प्रबोध-कारिणी है ॥ ८२ ॥

इति अश्विनीमुद्रा कथनम् ।

अथ अश्विनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी ।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत् ॥ ८३ ॥

इस परमश्रेष्ठ अश्विनी मुद्राके प्रभावसे गुह्यरोगका विनाश होता है । यह बल और पुष्टि साधित करती है और इसके प्रभावसे अकालमृत्युके मुखमें पड़ना नहीं पड़ता ।

इति अश्विनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ पाशिनी मुद्राकथनम् ।

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद्दृढबन्धनम् ।
सा एव पाशिनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥ ८४ ॥

दोनों पैर पीछे गरदनपर रख फिर दृढ़ रूपसे बन्धन करना चाहिये । इसीका नाम पाशिनी मुद्रा है । यह मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी है ॥ ८४ ॥

इति पाशिनीमुद्राकथनम् ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ पाशिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी ।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकाङ्क्षिभिः॥८५॥

पाशिनी परम श्रेष्ठ मुद्रा है; इससे बल और पुष्टि साधित होती है; अतएव सिद्धाकांक्षी साधकगण यत्नके साथ साधना करें ॥ ८५ ॥

इति पाशिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ काकीमुद्रा कथनम् ।

काकचञ्चुवदास्येन पिवेद्वायुं शनैः शनैः ।
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्व्वरोगविनाशिनी ॥ ८६ ॥

अपना मुख कौवेकी चोंचकी तरह बनाके धीरे धीरे वायु पीना चाहिये । इसका ही नाम काकी मुद्रा है । इस मुद्राके प्रभावसे सभी रोगराशिका विनाश होता है ॥ ८६ ॥

इति काकीमुद्रा कथनम् ।

अथ काकीमुद्रायाः फलकथनम् ।

काकीमुद्रा परामुद्रा सर्व्वतन्त्रेषुगोपिता ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अस्याः प्रसादमात्रेण निरोगीभवेत्काकवत् ॥८७॥

यह परम श्रेष्ठ काकीमुद्रा सब प्रकारसे गोपनीया कही गई है। इसके प्रसादसे मनुष्य कौवेकी तरह निरोगी शरीर होता है॥ ८७ ॥

इति काकीमुद्रायाः फलकथनम्।

अथ मातङ्गिनीमुद्रा कथनम्।

कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनर्व्वक्त्रेण चाहरेत् ॥८८॥
नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्य्यादेवं पुनः पुनः।
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी ॥८९॥

कण्ठतक मग्न जलमें रहकर पहले नाकसे जल ग्रहण करते हुए मुखसे निकाल डालना चाहिये। इसके उपरान्त फिर मुखसे जल ग्रहणकर नाकसे निकालना चाहिये। बार बार ऐसा ही करना चाहिये। इसे ही मातङ्गिनी मुद्रा कहते हैं। इस मुद्राके प्रसादसे जरा और मृत्यु साधकपर आक्रमण नहीं कर सकती ॥ ८८ ॥ ८९ ॥

इति मातङ्गिनीमुद्रा कथनम्।

अथ मातंगिनीमुद्रायाः फलकथनम्।

विरले निर्ज्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कुर्य्यान्मातङ्गिनीं मुद्रां मातङ्ग इव जायते ॥९०॥

निर्ज्जन स्थानमें बैठकर एकाग्रचित्तसे मातङ्गिनी मुद्राका आचरण करना चाहिये । इस मुद्राका आचरण करनेसे साधक हाथी जैसे बलशाली होते हैं ॥ ९० ॥

यत्रतत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते ।
तस्मात् सर्व्वं प्रयत्नेन साधयेत् मुद्रिकां परां ॥९१॥

योगी जिस जगह रहेंगे, इस मुद्राके प्रसादसे परम सुख पायेंगे । अतएव सब तरहसे इस मुद्राका आचरण करना चाहिये ।

इति मातङ्गिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ भुजंगिनीमुद्रा कथनम् ।

वक्त्रं किञ्चित् सुप्रसार्य्य चानिलं गलया पिवेत् ।
सा भवेद् भुजगीमुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी ॥९२॥

मुखको कुछ खोलकर गलेसे वायु पीए । इसे ही भुजङ्गिनीमुद्रा कहते हैं । यह मुद्रा जरा और मृत्युका विनाश करती है ॥ ९२ ॥

इति भुजङ्गिनी मुद्रा कथनम् ।

अथ मुद्राणां फलकथनम् ।

यावच्च उदरे रोगमजीर्णादि विशेषतः ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तत् सर्व्वं नाशयेदाशु यत्रमुद्राभुजङ्गिनी ॥९३॥

उदरके सभी रोग विशेषतः अजीर्ण प्रभृति जो विद्यमान हों वह भुजङ्गिनी मुद्राके प्रभावसे शीघ्र ही ध्वंस होते हैं । ९३ ॥

इति भुजङ्गिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ भुजगिंनांमुद्रायाः ।

इदन्तुमुद्रापटलं कथितं चण्डकापाले ।
वल्लभं सर्व्वसिद्धानां जरामरणनाशनं ॥ ९४ ॥

हे चण्डकापाले ! मैंने तुमसे इन सभी मुद्राओंके विषय कहे । इनसे जरा और मृत्युका विनाश होता है और यह सभी सिद्धगणकी प्रिय हैं ॥ ९४ ॥

शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्यकस्यचित ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि ॥ ९५ ॥

जो मनुष्य शठ और भक्तहीन है, उसे कभी यह सब मुद्रा प्रदान करना न चाहिये; हर किसीको इसे देना उचित नहीं । इसे यत्नके साथ छिपाना चाहिये । यह सब मुद्रायें देवगणके लिये भी दुर्लभ हैं ॥ ९५ ॥

ऋजवे शान्तचित्ताय गुरुभक्ति पराय च ।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्ति प्रदायकं ॥ ९६ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यह मुद्रायें भोग और मुक्ति प्रादान करती हैं; जो मनुष्य ऋजु, शान्तचित्त, गुरुभक्तिपरायण और कुलीन हैं, उन्हें ही यह प्रदान करना चाहिये ॥ ९६ ॥

मुद्राणां पटलं ह्येतत् सर्व्वव्याधिविनाशनं ।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्नि विवर्द्धनं ॥९७॥

यह सब मुद्रायें सब व्याधियोंको विनाश करती है। जो मनुष्य प्रतिदिन इसका अभ्यास करते हैं, उनकी जठराग्नि प्रवर्द्धित होती है ॥ ९७ ॥

तस्य न जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा ।
नाग्निज़लभयं तस्य वायोरपि कुतो भयं ॥९८॥

जो मनुष्य इस मुद्राका साधन करते हैं, मृत्यु या जरा उनपर आक्रमण नहीं कर सकती । अग्निभय, जलभय, वायु-भय, किसी प्रकारके भयका सञ्चार होना सम्भव नहीं ॥९८॥

कासः स्वासः प्लीहा कुष्ठं श्लेष्मरोगांश्च विंशतिः ।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः ॥९९॥

मुद्रा साधन करनेके प्रसादसे कास, स्वास, प्लीहा, कुष्ठ, और बीस प्रकारके श्लेष्मारोग—इन सभीका विनाश होता है ॥ ९९ ॥

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मिचचण्डते ।
नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले१००॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हे चण्ड ! अब तुमसे और अधिक क्या कहूं तत्त्व यह है, कि धरातलमें मुद्राके समान सिद्धिप्रद और कुछ नहीं ॥१००॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डचण्डसंवादे घटस्थयोगप्रकरणे मुद्राप्रयोगो नाम

❋ तृतीयोपदेशः ❋

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शीत आदि से रहित हो। अभ्यास से पहले अथवा पीछे हवन अथवा घी के साथ धूप-दीप आदि सुगन्धित वस्तुओं को जलाकर उसको सुगन्धित रखना चाहिए। नदी तट अथवा पाँच हजार फीट से अधिक ऊँचाई वाले पहाड़ी वाले स्थानों का वायुमंडल शुद्ध और भजन के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होता है, गरम मैदान वाले स्थानों में शरद् और वसन्त ऋतु में भजन अच्छा हो सकता है। पहाड़ों में अथवा जमीन में खुदी हुई गुफा समाधि लगाने के लिए अति उत्तम है किन्तु उसमें शीत किंचित् मात्र भी न होने पावे और शुद्ध हो। योगाभ्यास में खान-पान संयम रखना अति आवश्यक है और शरीर तथा नाड़ी शोधन से शीघ्र सफलता प्राप्त होती है जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन विशेष विचार में कर दिया गया है। यहाँ शरीर के शुद्ध सात्विक शुद्ध स्वस्थ नीरोग आसन को दृढ़ और ध्यान को स्थिर करने तथा कुण्डलिनी को जागृत करने वाले कुछ उपयोगी बन्ध मुद्राएँ और आसन बतलाये देते हैं—

१. मूल-बन्ध—मूल गुदा एवं लिंग स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूल-बन्ध है। वाम पाद की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्य भाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़ कर योनि स्थान अर्थात् गुदा और लिंग एवं कन्द के बीच के भाग को दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपान-वायु को बल के साथ धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने को मूलबन्ध कहते हैं। सिद्धासन के साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनों के साथ एड़ी को सीवनी पर बिना लगाए हुए भी बन्ध लगाया जा सकता है।

फल—इससे अपानवायु का उर्ध्व गमन होकर प्राण के साथ एकता होती है। **कुण्डलिनी शक्ति सीधी** होकर ऊपर की ओर चढ़ती है। कोष्ठ-बद्ध दूर करने, जठराग्नि को प्रदीप्त करने और वीर्य का उर्ध्व-रेता बनाने में यह बन्ध अति उत्तम है। साधकों को न केवल भजन के अवसर पर किन्तु हर समय-मूल बन्ध को लगाए रखने का अभ्यास करना चाहिए।

२. उड्डीयान बन्ध—दोनों जानुओं को मोड़ कर पैरों के तालुओं को परस्पर भिड़ाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) से ऐसा लगा दें, जिससे कि पेट के स्थान पर गड्ढा सा दीखने लगे। जितना पेट को अंदर की ओर अधिक खींचा जायगा उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षी के

सदृश सुषुम्णा की ओर उड़ने लगता है, इसलिए इस बन्ध का नाम उड्डीयान रखा गया है। यह बन्ध पैरों के तालुओं को विना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है।

फल—प्राण और वीर्य का ऊपर की ओर दौड़ना, मन्दाग्नि का नाश, क्षुधा की वृद्धि, जठराग्नि का प्रदीप्त और फेफड़े का शक्तिशाली होना।

३. जालन्धर-बन्ध—कण्ठ को सिकोड़कर ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक कंठकूप में इस प्रकार स्थापित करें कि हृदय से ठोड़ी का अन्तर केवल चार अंगुल का रहे, सीना आगे की ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठस्थान के नाड़ी जाल के समूह को बाँध रखता है इसलिए इसका नाम जालन्धर बन्ध है।

फल—कण्ठ का सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कण्ठ के सङ्कोच द्वारा इड़ा, पिङ्गला नाड़ियों के बंद होने पर प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश करना।

लगभग सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्ध के साथ किये जाते हैं। राजयोग में, ध्यानावस्था में जालन्धर-बन्ध लगाने की बहुत कम आवश्यकता होती है।

४. महाबन्ध—पहली विधि—बायें पैर की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्य भाग में जमाकर वायीं जङ्घा के ऊपर दाहिने पैर को रख, समसूत्र में हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्र से वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे। फिर मूलद्वार से वायु को ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगावे। मन को मध्य नाड़ी में लगाये हुए यथा-शक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् पूरक के विपरीत वाली नासिका से धीरे-धीरे रेचन करें। इस प्रकार दोनों से अनुलोम-विलोम-रीति से समान प्राणायाम करें।

दूसरी विधि—पद्म अथवा सिद्धासन से बैठे, योनि और गुह्यप्रदेश सिकोड़, अपानवायु को ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान वायु के साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायु को अधोमुख करके प्राण और अपान-वायुओं के साथ नाभिस्थल पर दृढ़ रूप से कुम्भक करें।

फल—प्राण का ऊर्ध्वगामी होना, वीर्य की शुद्धि, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णा का सङ्गम प्राप्त होना, बल की वृद्धि इत्यादि।

५. महावेध-पहली विधि—महाबन्ध की प्रथम विधि के अनुसार मूलबन्ध के पूर्व कुम्भक करके, दोनों हाथों की हथेली भूमि में दृढ़ स्थिर

करके, हाथों के बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों (चूतड़) को शनैः शनैः ताड़ना देवे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इड़ा, पिङ्गला को छोड़कर कुण्डलिनी शक्ति को जगाता हुआ सुषुम्णा में प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायु को शनैः शनैः महाबन्ध की विधि के अनुसार रेचन करें।

दूसरी विधि—मूलबन्ध के साथ पद्मासन से बैठे, अपान और प्राणवायु को नाभि स्थान पर एक (मिला) करके दोनों हाथों को तानकर नितम्बों (चूतड़ों) से मिलते हुए भूमि पर जमाकर नितम्बों (चूतड़ों) को आसन-सहित उठा-उठाकर भूमि पर ताड़ित करते रहें।

फल—कुण्डलिनी शक्ति का जाग्रत् होना, प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश करना। महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा–तीनों को मिलाकर करना अधिक फलदायक है।

मुद्रा

१. खेचरी मुद्रा—जीभ को ऊपर की ओर उल्टी ले जाकर तालु कुहर (जीभ के ऊपर तालु के बीच का गड्ढा) में लगाए रखने का नाम खेचरी मुद्रा है।

इसके निमित्त जिह्वा को बढ़ाने के तीन साधन किए जाते हैं—छेदन, चालन और दोहन।

पहिला साधन– छेदन-जीभ के नीचे के भाग में सूताकार वाली एक नाड़ी नीचे वाली दाँतों की जड़ के साथ जीभ को खींचे रखती है। इसलिए जीभ को ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ी के दाँतों के निकट वाले एक ही स्थान पर स्फटिक (बिल्लौर) का धार वाला टुकड़ा प्रति दिन प्रातः काल चार-पाँच बार फेरते रहें। कुछ दिनों तक ऐसा करने के पश्चात् वह नाड़ी उस स्थान में पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थान को जिह्वा मूल तक काटते चले जायँ। स्फटिक फेरने के पश्चात् माजूफल का कपड़छान चूर्ण (टेरिन एसिड) जीभ के ऊपर नीचे तथा दाँतों पर मलें और उन सब स्थानों से दूषित पानी निकलने दें। माजूफल चूर्ण के अभाव में अकरकरा, नून, हरितकी और कत्थे का चूर्ण छेदन किए हुए स्थान पर लगावें। यह छेदन विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकार की हानि पहुँचने की सम्भावना नहीं है। यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदन का कार्य किसी धातु, तीक्ष्ण यंत्र से प्रति आठवें दिन उस सिरा को

बाल के बराबर छेदकर घाव पर कत्था और हरड़ का चूर्ण लगा कर करते हैं। इसके छेदन के लिए नाखून काटने वाला जैसा एक तीक्ष्ण यंत्र और खाल छीलने के लिए एक दूसरे यंत्र की आवश्यकता होती है जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ी के सम्पूर्ण अंश के एक साथ कट जाने से वाक् तथा आस्वादन शक्ति के नष्ट हो जाने का भय रहता है।

इसलिए इसे किसी अभिज्ञ पुरुष की सहायता से न करना चाहिए। छेदन की आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और (यह) नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लम्बी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदन की अधिक आवश्यकता नहीं है।

दूसरा और तीसरा साधन—चालन व दोहन—अँगूठे और तर्जनी अँगुली से अथवा बारीक वस्त्र से जीभ को पकड़ कर चारों तरफ उलट फेर कर हिलाने और खींचने को चालन कहते हैं। **मक्खन अथवा घी** लगा कर दोनों हाथों की अंगुलियों से जीभ को गाय के थन दोहन जैसे पुनः पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करने की क्रिया का नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहने से अंतिम अवस्था में जीभ इतनी लम्बी हो जाती है कि नासिका के ऊपर भ्रू-मध्य तक पहुँच जाय। इस मुद्रा का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यान की अवस्था परिपक्व करने में बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वा के भी नाना प्रकार के भेद देखने में आए हैं। किसी की जिह्वा में सूताकार नाड़ी के स्थान में मोटा मांस होता है, जिसके काटने में अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वा में न नाड़ी होती है न मांस। उसमें छेदन की आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिए।

२. महामुद्रा—प्रथम विधि मूलबन्ध लगाकर बायें पैर की एड़ी से सीवन (गुदा और अण्डकोश के मध्य का चार अंगुल स्थान) को दबाएँ और दाहिने पैर को फैलाकर उसकी अंगुलियों को दोनों हाथों से पकड़ें। पाँच घर्षण करके बायीं नासिका से पूरक करे और जालन्धरबंध लगाये। फिर जालन्धरबंध खोलकर दाहिनी नासिका से रेचक करें। यह वामांग की मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दक्षिणांग में इस मुद्रा को करना चाहिए।

दूसरी विधि—बायें पैर की एड़ी को सीवन (गुदा और उपस्थ के मध्य के चार अंगुल भाग) में बल पूर्वक जमाकर दायें पैर को लम्बा

फैलावें। फिर शनैः शनैः पूरक के साथ मूल तथा जालन्धरबंध लगाते हुए दायें पैर का अंगुठा पकड़ कर मस्तक को दायें पैर के घुटने पर जमा कर यथा शक्ति कुम्भक करें। कुम्भक के समय पूरक की हुई वायु को कोष्ठ में शनैः शनैः फुलावें और ऐसी भावना करें की प्राण कुण्डलिनी को जाग्रत करके सुषुम्णा में प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तक को घुटने से शनैः शनैः रेचक करते हुए उठकर यथा स्थिति में बैठ जायँ इसी प्रकार दूसरे अंग से करना चाहिए। **प्राणायाम** की संख्या एवं समय बढ़ाता रहे।

फल—मंदाग्नि, अजीर्ण आदि उदर के रोगों तथा प्रमेह का नाश, क्षुधा की वृद्धि और कुण्डलिनी का जाग्रत होना।

३. अश्विनी मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ कर योनि-मंडल को अश्व के सदृश पुनः पुनः सिकोड़ना **अश्विनी मुद्रा** कहलाती है।

फल—यह मुद्रा प्राण के उत्थान और कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत करने में सहायक होती है। अपानवायु को शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओं को मजबूत करती है।

४. शक्तिचालिनी मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ कर हाथों की हथेलियाँ पृथिवी पर जमा दें। बीस-पच्चीस बार शनैः शनैः दोनों नितम्बों को पृथ्वी से उठा-उठा कर ताड़न करे। कुम्भक के समय अश्विनी मुद्रा करे अर्थात् गुह्य प्रदेश का आकर्षण, विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालन्धरबन्ध खोल कर यदि दोनों नासिका पुट से पूरक किया हो तो दोनों से अथवा पूरक से विपरीत नासिका पुट से रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रता पूर्वक बैठ जाय।

घेरण्डसंहिता में इस मुद्रा को करते समय वालिस्त भर चौड़ा, चार अंगुल लम्बा, कोमल, श्वेत, और सूक्ष्म वस्त्र नाभि पर कटिसूत्र से बाँध कर सारे शरीर पर भस्म मल कर करना बतलाया है।

फल—सर्व रोग नाशक और स्वास्थ्य वर्धक होने के अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने में अत्यंत सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करें।

५. योनि मुद्रा—सिद्धासन से बैठ समसूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अंगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, दोनों मध्यमाओं से नाक के छिद्रों को बंद करके और दोनों अनामिका

एवं कनिष्ठिकाओं को दोनों ओठों के पास रख कर काकी मुद्रा द्वारा अर्थात् जिह्वा को कौवे की चोंच के सदृश बना कर उसके द्वारा प्राण वायु को खींच कर अधोगति अपानवायु के साथ मिलावें। तत्पश्चात् ओम् का जाप करता हुआ ऐसी भावना करें कि उसकी ध्वनि के साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनी को जाग्रत करके षटचक्रों का भेदन करते हुए सहस्र दल कमल में जा रही है। इससे अन्तरज्योति का साक्षात्कार होता है।

६. योग मुद्रा—मूलबंध के साथ पद्मासन से बैठ कर प्रथम दोनों नासिका पुटों से पूरक करके जालन्धरबन्ध लगावे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जा कर बायें हाथ की और दायें हाथ से बायें हाथ की कलाई को पकड़े, शरीर को आगे झुका कर पेट के अन्दर एड़ियों को दबाये हुए सिर को जमीन पर लगा दें। इस प्रकार यथा शक्ति कुम्भक करने के पश्चात् सिर को जमीन से उठा कर जालन्धरबंध खोल कर दोनों नासिकाओं से रेचन करें।

फल—पेट के रोगों को दूर करने और कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने में सहायक होती है।

७. शाम्भवी मुद्रा—मूल और उड्डीयानबंध के साथ-साथ सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ कर नासिका के अग्रभाग अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर करके ध्यान जमाना साम्भवी मुद्रा कहलाती है।

८. तडागी मुद्रा—तडाग (तालाब) के सदृश कोष्ठ को वायु से भरने को तडागी मुद्रा कहते हैं। शवासन से चित्त लेट कर जिस नासिका का स्वर चल रहा हो उससे पूरक करके तालाब के समान पेट को फैला कर वायु से भर ले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायु को पेट में इस प्रकार हिलावें जिस प्रकार तालाब का जल हिलता है। कुम्भक के पश्चात् सावधानी से वायु को शनैः शनैः रेचन कर दें इससे पेट के सर्व रोग समूल नाश होते हैं।

९. विपरीतकर्णी मुद्रा = शीर्षासन = कपालासन—पहिले जमीन पर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रख कर उस पर अपने मस्तक को रखे। फिर दोनों हाथों के तलों को मस्तक के पीछे लगा कर शरीर को उल्टा ऊपर उठा कर सीधा खड़ा कर दें। थोड़े ही प्रयत्न से मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासन के साथ भी की जा सकती है।

इसको ऊर्ध्वपद्मासन कहते हैं। आरम्भ में इसको दीवार के सहारे करने में आसानी होगी।

फल—वीर्य की रक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्नि का बलवान होना। प्राण की गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिर-दर्द आदि का दूर होना, रक्त शुद्ध होना और कफ के विकार का दूर होना।

१०. वज्रोली मुद्रा—मलत्याग के समय कई बार मूत्र को बलपूर्वक ऊपर की ओर आकर्षित करे। ऐसा करते समय इस बात को ध्यान से देदें कि मूत्र धारा कितने नीचे से आकर्षित हो कर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरन्तर अभ्यास से जब मूलधार दस-बारह अंगुल नीचे से आकर्षित हो कर खींची जा सके और उतारने में कुछ शक्ति लगाना पड़े तो समझना चाहिए कि वज्रोली क्रिया सिद्ध हो गयी है। तत्पश्चात् क्रमशः जल, दूध, तेल अथवा घी, शहद अथवा अन्त में पारा खींचने का अभ्यास करे।

दूसरी विधि—एक चौदह अंगुल रबर की मूत्र निष्कासन (कैथिटॅर् नलिका जो कि अंग्रेजी दवाखानों में मिल सकती है) पानी में उबाल कर लिङ्ग-छिन्द्र में प्रवेश करने का अभ्यास करें। यह अभ्यास एक अंगुल से प्रारम्भ करके क्रमशः एक-एक अंगुल बढ़ाता जाय। जब बारह अंगुल प्रविष्ट होने लगे तो चौदह अंगुल लम्बी और लिंग के छिद्र के अनुसार चौड़ी जस्ते की सलाई जो दो अंगुल मुड़ी हुई ऊपर को मुँह-वाली हो जिससे कि लिङ्गेन्द्रिय में प्रविष्ट कर सके उपयुक्त रबर कैथिटॅर् की रीति से लिङ्ग छिद्र में प्रवेश करने का अभ्यास करे। जब बारह अंगुल तक प्रविष्ट होने लगे, तब चौदह अंगुल लम्बो लिङ्गछिद्र के अनुसार चौड़ी अन्दर से पोली एक चाँदी की सलाई बनावें, जो दो अंगुल टेढ़ी और ऊर्ध्वमुखी हो। इस टेढ़े भाग को लिंग छिद्र में प्रविष्ट कर दो अंगुल बाहर रहने दें, फिर सुनार की धमनी के सदृश धमनी से उस पर सलाई में लगातार फूत्कार करे। इस प्रकार लिङ्ग मार्ग का अच्छी तरह शुद्ध हो जाने पर वायु को खींचने और छोड़ने का अभ्यास करे, इस अभ्यास के सिद्ध हो जाने पर लिंग छिद्र से उपर्युक्त रीति से जल, तेल, दूध, शहद और पारे के खींचने का क्रमशः अभ्यास करे।

फल—लिंगेन्द्रिय के छिद्र की शुद्धि और अपानवायु पर पूर्णतया अधिकार प्राप्त हो जाता है, पथरी को तोड़ कर निकालने में सहायता मिलती

और प्राणायाम करनेके अनन्तर जहां तक कि वायुकी स्थिरता न होजाय तहांतक बोले नहीं, अभ्यास करते समय पूरक कुम्भक[१] रेचककी गिनती (संख्या) न भूले और जो प्राणायाममें पसीना (प्रस्वेद) आवे तो प्राणायामके अनन्तर उस प्रस्वेदको मर्दन करे इससे शरीर हलका हो जाताहै । यथा—

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥

मुद्राप्रकरणम् ।

अतः अब मुद्राओंको लिखताहूं इन मुद्राओंके करनेसे योगीको शीघ्र समाधिकी प्राप्ति होतीहै और सिद्धियोंका अनुभव होने लगता है अन्य भी बहुत गुण हैं विशेष करके कुंडलिनीके उठानेका प्रयोजन है क्योंकि कुंडलिनी ही योगका सारभूत है जहांतक इसका उत्थान नहीं होता तहां तक समाधि नहीं हो सकती है ।

मुद्राओंके नाम ।

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ।
उड्डयानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥

---

१ यह प्राणायामका क्रम जो कहा गया है वह शास्त्रोक्त है, परन्तु महात्मा (अभ्यासी) लोग इसको बहिरंग कहतेहैं, अंतरंग ऐसा है कि कंठद्वारा भीतरका भीतरही पूरक कुंभक रेचक करना । इसमें संख्या करना नहीं पडता । यह अंतरंग विषय लिखने लायक नहींहै, यह सद्गुरुके समीप अच्छी तरह समझके अभ्यास करना चाहिये । कई साधु जन इसी प्रक्रियाको करतेहैं । इस अंतरंग क्रियाका यदि कोई सत्पुरुष पूर्ण अधिकारी मिल जाय तो उसके पास अभ्यास करनेसे शीघ्र कार्य होता है, परन्तु प्रथम जब आपही सात्विकवृत्तिसे अधिकारी होगा तब वह भी मिल जायँगे । बहिरंग जो प्राणायाम कहागयाहै, उसमें कुछ विघ्न नहीं है जो कार्य धैर्य्यसे। देरमें होताहै वह पुष्ट होताहै और कोई महात्मा पूरक रेचक ही को बढातेहैं और कोई कुंभककी जगह रेचकही बढातेहैं ऐसे और कई एक महात्माओंके भेद हैं ।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥

१ महामुद्रा, २ महाबन्ध, ३ महावेध, ४ खेचरी, ५ उड्डीयान, ६ मूलबन्ध, ७ जालन्धरबन्ध, ८ विपरीत करणी, ९ वज्रोली और १० शक्तिचालन ये उक्त दशमुद्रा वृद्ध अवस्था और मरणको नष्ट करती हैं । आगे इनके भेद लिखता हूं ।

महामुद्रा ।

पादमूलेन वामेन योनिं संपीडच दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥
कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥

बायें पांवकी एंडी (पार्ष्णि) से गुदा और लिंगके मध्यभागको अच्छी तरहसे दबावे और दहिने पाँवको सीधा फैला करके अंगूठेको दोनों हाथकी तर्जनी (अंगूठेके पासकी अंगुली) से दृढ (जोरसे) पकडे और कण्ठमें जालन्धरबन्ध [आगे लिखूंगा] करके वायुको ऊपरही धारण करे (रोके) इस प्रकार अभ्यास करनेसे जैसे सर्प दंडके मारनेसे सीधा होजाताहै ऐसे ही कुण्डलिनी जो मूलाधारमें साढे तीन आवेष्टन करके स्वयम्भूलिंगमें वेष्टित (लिपटी हुई) है वह जागृत होतीहै अर्थात् वेष्टनको छोड सीधी होतीहै तब इडा, पिंगला दोनों नाडियोंका प्रवाह बन्द होजाता है कारण कि कुण्डलिनीके उत्थानसे प्राण सुषुम्ना नाडीमें प्रवेश करता है ।

ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनव वदंति विबुधोत्तमाः ॥

वह ऊपर धारण कीहुई वायुको धीरे २ रेचन करे (छोडे) वेगसे नहीं क्योंकि शीघ्र छोडनेसे बलकी हानि होतीहै इससे ही देवताओंमें उत्तम इसको महामुद्रा कहतेहै [अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पांचों महा-

क्लेश इस मुद्राके करनेसे नष्ट होजातेहैं अर्थात् महाक्लेशोंके नष्ट करनेसे ही इसका देवताओंने महामुद्रा नाम रक्खा है]

चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥

इस प्रकार चन्द्रांग (वामभाग) का अभ्यास करके सूर्यांग (दक्षिण भाग) का अभ्यास करे और जितना काल चन्द्रांगमें लगे उतनाही काल सूर्यांगमें लगाना चाहिये, चन्द्रांग, सूर्यांगका भेद ऐसा है कि वामपादका मूल योनिमें दाबना, दहिना फैलाना, अंगूठेको तर्जनियोंसे पकडना इत्यादि यह चन्द्रांग है । दक्षिण पादका मूल योनिमें दाबना और वामपाद फैलाना इत्यादि सूर्यांग है । इस प्रकार अभ्यास करनेवालेके गुदा और उदरके सब रोग नष्ट होतेहैं ।

महाबन्धः ।

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदयं चिबुकं दृढम् ।
निष्पीडच वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥

बायें पादकी एंडीको योनिस्थान (गुदा लिंगका मध्यभाग) में लगावे और वाम जंघाके ऊपर दक्षिण पादको रखकर बैठे अनन्तर वायुको पूरण करके हृदयमें डाढी दृढतासे लगावे और योनि स्थानको आकुंचन (संकोच) करके मनको मध्य नाडीके विषे प्रवेश करे ।

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥

पुनः उस पूर्ण कीहुई वायुको यथाशक्ति धारण करके धीरे २ वायुको रेचन करे इसप्रकार वाम अंगमें अच्छी तरह अभ्यास करके दक्षिणांगमें अभ्यास करे परन्तु जितना वाम भागमें अभ्यास करे उतनाही दक्षिणांगमें

करे। इस मुद्राके अभ्याससे इडा पिंगला और सुषुम्नाका संगम भ्रूमध्यमें होता है जहां शिवजीका स्थानरूप केदार है—वहांसे ब्रह्मरंध्रको जाना होताहै।

महावेध।

महाबंधको करके अर्थात् वामपादकी एंडी योनिस्थानमें और वामजंघाके ऊपर दक्षिण पादको रख कर वायुको पूरक करके डाढी (चिबुक) हृदयमें लगावे तदनन्तर—

समहस्तयुगौ भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः॥

दोनों हाथोंके तलको भूमिमें अच्छीतरह स्थापित करके स्फिच (चूतड—नितम्ब) को उठावे और छोडे ऐसा धीरे २ अभ्यास करनेसे प्राणवायु इडा पिंगलाको छोड सुषुम्नामें प्रवेश करती है। बिना इस वेधके किये महा-मुद्रा, महाबंधका फल निष्फल है इसलिये इसको अवश्य करना चाहिये परन्तु इसको प्रहर २ में करना उचित है। इस मुद्राके अभ्याससे—

चक्रमध्यस्थिता देवाः कम्पन्ते वायुताडनात्।
कुंडल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते॥

शरीरस्थ चक्रमें जो गणेशादि देवता हैं वह इस वायुके ताडनसे कम्पित होते अर्थात् चक्ररंध्र (षट्चक्रोंका छिद्र जिसमार्गसे जीव ब्रह्मरंध्र को जाता है यह जीव वायुरूपही है) को छोड देतेहैं तब वायुका प्रवेश होताहै। और कुंडलिनी ब्रह्मस्थानमें लय होती है इससे इसको अवश्य करना चाहिये और वृद्ध अवस्थामें चर्मका सिकुडना, बालोंका श्वेतपना, (सफेदी) और शिरका हिलना ये सब नष्ट होजाते हैं और समग्र पापका पुंज [समूह] दहन होजाताहै।

खेचरी।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवतु खेचरी॥

कपालके मध्यमें जो छिद्र है उसमें उलटी हुई जिह्वाका प्रवेश होजाय और भ्रुकुटिके मध्यमें दृष्टिका प्रवेश होजाय तो वह खेचरी मुद्रा होतीहै अर्थात् जिह्वाको कपाल छिद्रमें लगाके भ्रूमध्यका अवलोकन खेचरी मुद्रा होतीहै। इस मुद्राका अभ्यासी पुरुष प्रथम जिह्वाको वढावे अर्थात् जब प्रातःकाल दंतधावन करचुके पश्चात् जिह्वाके अग्रको दोनों हाथोंकी अंगुलियोंसे धीरे २ दुहे जैसे गौ दुही जाती है। और वाम दक्षिण भागमें हिलावे और सेंहुड (स्नुहीपत्र) के पत्तेकी तरह शस्त्र [पत्तेकी तरह लोहेका हथियार] बनवाकर आठवें २ दिन जिह्वाके नीचे शिराको वाल (केश) प्रमाण छेदन करे और सैंधव, हरडे (हरीतकी) के चूर्णको उसी शिरामें लगाया करे-(कोई छेदन नहीं करते हैं योंही औषधियोंसे वढाते हैं इस प्रकार करनेसे छः महीनेमें जिह्वा बढकर उपयोगमें आने लगती है अर्थात् तालुमूलमें जो छिद्र है जिससे अमृत झरा करता है वहां जिह्वा लगानेसे जिह्वामें अमृत आने लगताहै, बिना जिह्वा वढाये (वर्धन) तालुमूलमें नहीं पहुंच सकती। परीक्षा यह है कि जब अपनी नासिकामें जिह्वा निकालके लगानेसे सुखपूर्वक स्पर्श करे तब जिह्वा छिद्रमें अवश्य पहुंचेगी तब जिह्वाको उलट करके उस तालुमूलमें जहां इडा, पिंगला और सुषुम्नाके तीन छिद्र हैं (मतांतरसे पांच छिद्र हैं) तहां लगावे, जिह्वाके अग्रसे घर्षण (घिसे) करता रहे, तब उस सुषुम्नाके छिद्रसे जो अमृत झरा करताहै वह प्राप्त होगा। प्रथम अभ्यासमें उसका स्वाद।

सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्य तुल्या तथा।

क्षार पुनः कटु (मिर्चकी तरह) पुनः अम्ल (खट्टा) पुनः दूधकी तरह स्वाद पश्चात् मधु (सहत) अनन्तर घृतकी तरह स्वाद मिलने लगताहै, जब घृतका स्वाद आने लगा तब जानना चाहिये कि खेचरीमुद्रा सिद्ध होगई। जब खेचरीमुद्रा सिद्ध होगई हो तो।

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

उसको रोग मरण और अन्तःकरणकी तमोगुणी वृत्तिरूप तन्द्रा और निद्रा क्षुधा (भूख) तृषा (प्यास) और चित्तकी तमोगुणी अवस्था रूप मूर्छा रोग ये सब नहीं होते, वह रोगसे पीडित नहीं होता, न कर्मसे लिप्त होता और न कालसे बांधा जाताहै । अपरञ्च इस मुद्राका बडा माहात्म्य है इससे अधिक माहात्म्य किसीका भी नहीं है । इस मुद्राके सिद्ध होनेसे सब प्रकारकी सिद्धि प्राप्त होती है वह केवल इसी मुद्राके अभ्याससे ही जीवन्मुक्त होताहै, उसके शरीरपर कांति सदा बनी रहतीहै, शोकको नहीं प्राप्त होता, सर्पादिकका विष नहीं प्रवेश करताहै (विशेष देखना हो तो योगके ग्रन्थोंको अवलोकन करो) ।

उड्डीयानम् ।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥

पेटमें नाभिके ऊपर भागको और निचले भागको इस प्रकार तान (आकर्षण) करे कि जिसमें वे दोनों भाग पृष्ठमें लग जायँ यह नाभिके ऊर्ध्व अधोभागका तान उड्डीयान नामका बन्ध होता है और यह बन्ध मृत्युरूप हस्तीका सिंहरूप नाशक है ।

मूलबन्धः ।

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥

एंडीसे योनिस्थानको अच्छी तरहसे दबाकर गुदाका संकोच करे और अपानवायुको ऊपरको आकर्षण करे यह मूलबन्ध कहाता है । दूसरा प्रकार—ऐसा है कि वामपादकी एंडीको योनिस्थानमें दृढतासे लगाके दक्षिणपादकी एंडीको लिंगके ऊपर लगावे । तीसरा—वामपादकी एंडीको गुदामें दृढतासे

लगाके दहिने पांवकी एंडीको लिङ्ग और वृषणके बीचमें लगावे इसको मूलबंध कहतेहैं। इस मुद्राका बारम्बार अभ्यास करनेसे अपानवायुका उत्थान होता है, अधोगामी अपान जब ऊर्ध्वगामी होकर अग्निमंडलमें पहुंच जाता है उस समय अपान वायुसे ताडित कीहुई जो त्रिकोणाकार नाभिके नीचे जठराग्निकी शिखा [ज्वाला] है वह बढ जाती है। तब अग्नि और अपान ये दोनों बढी हुई ज्वालासे ऊर्ध्वगतिसे प्राणमें पहुंच जाते हैं तिस प्राणवायुके समागमसे देहमें उत्पन्न हुई जठराग्नि अत्यन्त प्रज्वलित होजातीहै उस अग्निके अत्यन्त दीपनसे भली प्रकार तप्यमान हुई कुंडलिनी शक्ति सुखपूर्वक जागृत होजातीहै, अनन्तर सुषुम्ना नाडीके मध्यमें संचार करती है, सुषुम्नाके मध्यमें कुंडलिनीका संचार यही समाधिका लक्षण है इस करके मूलबंधका करना अत्यन्त उपयोगी है, परन्तु इसमें यथार्थ अभ्यास न करनेसे रोग भी होताहै। परीक्षा यह है कि मल बकरी (अजा) की तरह होने लगे तब जानना चाहिये कि मूलबंध ठीक नहीं करते बना और जब मल बराबर हो क्षुधा लगती जाय, शरीर हलका बना रहे, मन प्रसन्न रहा करे तब ठीक जानना। समग्र योगके कामोंमें शीघ्रता न करे शीघ्रताही रोगका मूल है।

जालंधरबन्धः।

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः॥

कंठके बिल [छिद्र] का संकोच करके चार अंगुलके अन्तर पर हृदयके समीपमें डाढीको दृढतासे स्थापन करै वह जालंधरबंध कहाता है। यह बंध वृद्धावस्था और मृत्युका नाश करनेवाला है। इस बंधके करनेसे जो चन्द्रामृत झरताहै उसकी नाभिमें जो जठराग्नि स्थित है वह ग्रहण करलेती है तब वह रुक जाता है और वा ुका कोप नहीं होता अर्थात् अन्य नाडियोंमें वायुका गमन नहीं होता और केवल इसही बंधका अभ्यास करनेसे समाधि भी होती है परन्तु इसमें गुरु लक्ष्यका काम है, ये तीनों अर्थात् उड्डीयानबंध, मूलबंध और जालंधरबन्ध योगाभ्यासीके वास्ते बडे उपयोगी हैं, मुख्य काम इन्हींसे होता है।

विपरीत करणी ।

भूतले स्वशिरो दत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृता चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

साधक अपने शिरको भूमिमें स्थापित करके दोनों चरणोंको ऊपर आकाश में निरालम्ब स्थिर करे, यह विपरीत करणी मुद्रा सब तंत्रोंमें छिपी हुई है (अर्थात् प्रकाश नहीं करे तो योगी मृत्युको जीत लेता है)—इसमें भी अमृतकी धारा रुक जातीहै और क्षुधाकी वृद्धि अधिक होती है, इस मुद्राका अभ्यासी घृत—दुग्ध अच्छी तरह सेवन करे और प्रातःकाल ही अभ्यास करे, इससे बालोंका पकना और वृद्धापन दूर होता है ।

वज्रोली

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ।
शनैःशनैः प्रकुर्वीत वायुं संचारकारणात् ।

जो योगाभ्यासी वज्रोली मुद्राको अपने अनुभवसे जानताहै वह योगी योगशास्त्रमें कहे हुए नियमोंके विना अपनी इच्छाके अनुसार व्यवहार करता हुआ भी अणिमा आदि सिद्धियोंका भोक्ता है । उस वज्रोलीकी सिद्धिमें जिस किसी निर्धन पुरुषको दुर्लभ जो दो वस्तु हैं उनको मैं कहता हूं, उन दोनोंमें एक दूध है और दूसरी वशमें रहनेवाली स्त्री है । लिङ्गके छिद्रमें वायुके संचार करनेके लिये उत्तम नालसे धीरे २ यत्न पूर्वक फूत्कारको करे ।

वज्रोलीका क्रम ऐसा है कि सीसेकी शलाई (शलाका) लिंगमें प्रवेश करनेके योग्य चौदह अंगुलकी बनवा कर लिंगमें प्रवेश करनेका अभ्यास करे पहिले दिन एक अंगुल दूसरे दिन दो तीसरे दिन तीन अंगुल प्रवेश करे इसी

क्रमसे वृद्धि करता हुआ वारह अंगुल तक प्रवेश करे इतनेमें मार्ग शुद्ध होजाता है। पुनः उसी प्रकारकी चौदह अंगुलकी ऐसी सलाई बनवावे जो दो अंगुल टेढी हो और ऊर्ध्वमुखी हो परन्तु यह शलाका पोली रहे इसको भी वारह अंगुल लिंगके छिद्रमें प्रवेश करै, टेढा और ऊर्ध्वमुख जो दो अंगुल मात्र है उसको बाहर रक्खे। पुनः सुनारके अग्निधमनी [धौंकनी] के नालकी तरह नालको लेकर उस नालके अग्रभागको लिंगमें प्रवेश किये वारह अंगुलके नालका टेढा और ऊर्ध्वमुख जो दो अंगुल है उसके मध्यमें प्रवेश करके फूत्कार करै (फूंकै) तिससे अच्छी तरह लिंगके मार्गकी शुद्धि होतीहै। तब वायुके खींचने छोडनेका अभ्यास करे। पुनः लिंगसे जल आकर्षण करनेका अभ्यास करे जलके आकर्षणकी सिद्धि होनेपर दूधके खींचनेका अभ्यास करे, दूध सिद्ध होने पर तैलका अभ्यास करे; यह सिद्ध होने पर पारद (पारा) के खींचनेका अभ्यास करे जब पारदको शुद्ध रीतिसे आकर्षण करनेकी शक्ति होगई तब।

नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्॥

नारीके भगमें पडते (गिरते) हुए बिन्दु (वीर्य) के अभ्याससे ऊपरको आकर्षण करे अर्थात् पडनेसे पूर्व ही ऊपरको खींच ले यदि पतन (गिरना) से पूर्व बिन्दुका आकर्षण न होसके तो पतित हुआ बिन्दुका आकर्षण करे। चलित हुआ अपना बिन्दु और स्त्रीका रज इन दोनोंका आकर्षण ऊपरको करके रक्षा करे अभिप्राय यह है कि स्त्रीसे भोग करते समय अपने वीर्यको आकर्षण किये रहे जब स्त्रीका रज पतित होनेको हो तभी अभ्याससे रजको खींच ले यदि अपना ही बिन्दु गिरनेको हो तो तात्कालिक ही अपानवायुको उत्थान करके आकर्षण शक्तिसे ऊपरको आकर्षण करले जिस योगीका अभ्यास सिद्ध होजाय तो वह पुरुष सब सिद्धियोंका अधिकारी होजाता है और दीर्घसे दीर्घ काल पर्यन्त जीता रहता है। यदि इसका अभ्यास शाक्त लोग करें तो बहुत ही उत्तम है क्योंकि यह भोगसे ही मुक्ति कहते हैं।

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥

जो योगी बिन्दुकी भली प्रकार रक्षा करताहै वह योगका ज्ञाता योगी मृत्युको जीतताहै क्योंकि बिन्दुके पतनसे ही मरण और बिन्दुकी रक्षासे ही जीवन होताहै इससे बिन्दुकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये परन्तु वर्तमान कालमें सब लोगोंने बिन्दुपात (वीर्य गिराना, कामदेव) करनाही श्रेष्ठ समझा है यह कैसी भूल है ।

शक्तिचालनम् ।

कुटिलाङ्गी कुंडलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुंडल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥

१ कुटिलांगी, २ कुण्डलिनी, ३ भुजंगी, ४ शक्ति, ५ ईश्वरी, ६ कुण्डली, ७ अरुन्धती ये सात शब्द पर्यायवाचक हैं । जैसे पुरुष किवाडोंके तालाको बल करके कुंजी (ताली—चाभी) से खोलते हैं तिसी प्रकार योगी भी हठयोगके अभ्याससे कुंडलिनी मुद्राके द्वारसे अर्थात् मोक्षके दाता सुषुम्नाके मार्गको भेदन करताहै । यह कुण्डलिनी मूलाधारसे ऊपर योनिस्थान जिसका पीछे मुख है उसी स्थानमें कन्द (लिंग इन्द्रियसे थोडा ऊपर) है उसी स्थानमें सर्पाकार सोतीहै इसको साधक भली प्रकार यत्न करके उत्थान (उठावे) करे ।

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥

वज्रासन लगाके अनन्तर गुल्फोंके कुछेक ऊपर भागमें चरणोंको हाथोंसे दृढ पकड कर नाभिके अधोभागमें कन्दको पीडित करे अर्थात् नाभिके अधोभागमें एंडीकी चोट धीरे २ लगावे अनन्तर उसी वज्रासन (सिद्धासन) से

स्थित हो भस्त्राको करे इससे कुण्डलिनी जागृत होतीहै, प्रातः और सायंकालमें आधा २ प्रहर इस क्रमसे अभ्यास करनेसे ४४ चवालिसवें दिनमें कुण्डलिनीका उत्थान होताहै परन्तु साधक मिताहार साधन—ब्रह्मचर्यव्रत परित्याग न करे। यह शक्तिका उत्थान प्राणायाम करते २ जब अपान वायुका उत्थान होताहै तब यह ईश्वरी आपही उठतीहै। (इसका उपाय महात्माओंके पास कुछ भिन्न ही रहताहै परन्तु संकेतवश नहीं लिखा गया) यह कुंडलिनी मूलाधारमें जो स्वयम्भूलिंग है उस लिङ्गमें साढे तीन आवेष्टन करके लिपटी हुई है और जहाँ उसका मुख है वहीं ब्रह्मरन्ध्रका छिद्र है विना इसके उठे योगकी सिद्धि नहीं होती क्योंकि यह ईश्वरी ही योगका मूल है।

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥

जिस योगीने शक्ति चलायमान करली है वह योगी अणिमादि सिद्धियोंका पात्र होजाताहै। इसका उत्थान होनेसे ७२००० सहस्र नाडियोंका मल शुद्ध होताहै, जो पुरुष इस महामायाके भेदको जानताहै वह सिद्धपुरुष कहाता है इसमें सन्देह नहीं, यह कुण्डलिनी कमलनालके तन्तु (सूत) सदृश है और अत्यन्त सूक्ष्म प्रकाशसे युक्त है इसके उत्थान होनेसे शरीर हलका माल्म होताहै कुछ नशासा बना रहताहै। इसके उठानेका उपाय प्राणायाम और मुद्रा है अथवा भावना किया करै, भावना करते २ अनुभव होने लगताहै, परन्तु इसकी समझ सद्गुरुके समीपसे ही ठीक होती है। यहां इन दश मुद्राओंका कथन मैंने संक्षेपसे कियाहै जिनको विशेष देखना हो वह योगके ग्रंथोंको देखैं।

प्रत्याहारः। पतञ्जलिः—

स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥

विषयोंसे चित्तके निवृत्त होनेमें जैसा चित्तका स्वरूप होताहै वैसाही इन्द्रियोंकी एकाग्रता होना प्रत्याहार है।

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥

हो जाते हैं, उदर मुलायम रहता है ।

ये उपरोक्त दशों क्रियाएँ शरीर का शोधन करके, शरीर को प्राणायाम तथा आसन करने के योग्य बना देती हैं; इनके प्रभाव से शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन इतने सध जाते हैं कि इनसे यथायोग्य-साधना कार्य लिया जा सकता है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान की सिद्धि में ये सहायक बनती हैं; इनकी सहायता से समाधि में दीर्घ-काल तक बैठा जा सकता है ।

अब **प्राणोत्थान** तथा **कुण्डलिनी-जागरण** में सहायक १५ प्रकार की मुद्राओं का वर्णन करते हैं; इनसे षट्चक्र-विज्ञान में भी सहायता मिलती है ।

(१) **महामुद्रा**—टाँगें सामने पसार कर बैठें और बायाँ पैर मोड़कर एड़ी को गुदा और उपस्थ के मध्य 'सीवन' में दृढ़ता से जमा दें; अब आगे झुककर पसारे हुए दक्षिण पैर के पंजे को दोनों हाथों की हथेलियों में जकड़ लें । फिर पूरक विधि से श्वास अन्दर भरकर, मूल तथा जालंधर बन्ध लगाकर यथाशक्ति बैठे रहें। कहीं पर तीनों बन्ध लगाने का विधान भी है । रेचक के समय प्राण को शनैः शनैः बाहर निकालें । इसके पश्चात् दूसरे पार्श्व से—दक्षिण पैर से इसी प्रकार करें और दोनों ओर से ५-६ बार कर लें । घेरण्ड संहिता में इसके ये लाभ लिखे हैं—

क्षयकासं गुदावर्तं प्लीहां जीर्णज्वरं तथा ।
नाशयेत् सर्वरोगांश्च महामुद्रानिषेवणात् ।।

—उप० ३, श्लो० ८

महामुद्रा के सेवन से क्षय से उत्पन्न खाँसी, गुदावर्त (गुदा के आस-पास होनेवाले फोड़े), बढ़ी हुई तिल्ली तथा पुराना ज्वर आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। तथा—

क्षय-कुष्ठ-गुदावर्त-गुल्माजीर्ण-पुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।

—गोरक्ष पद्धति

क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त, गुल्म, अजीर्णादि उदर के रोग तथा प्रमेह भी महामुद्रा के अभ्यास से नष्ट हो जाता है; इसके दीर्घकाल के अभ्यास से सुषुम्णा में प्राण का प्रवेश तथा प्राण का ऊर्ध्वगमन और कुण्डलिनी की जागृति होने लगती है ।

स्मरण रहे—महामुद्रा में वाम तथा दक्षिण से करनेवाले रेचक-पूरक प्राणा-यामों की संख्या समान हो, न्यूनाधिक न हो ।

(२) **महाबन्ध**—वामपाद की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्यभाग 'सीवन' में दृढ़ता से जमा लें और दक्षिणपाद को वाम जंघा पर रख लें; अब पूरक

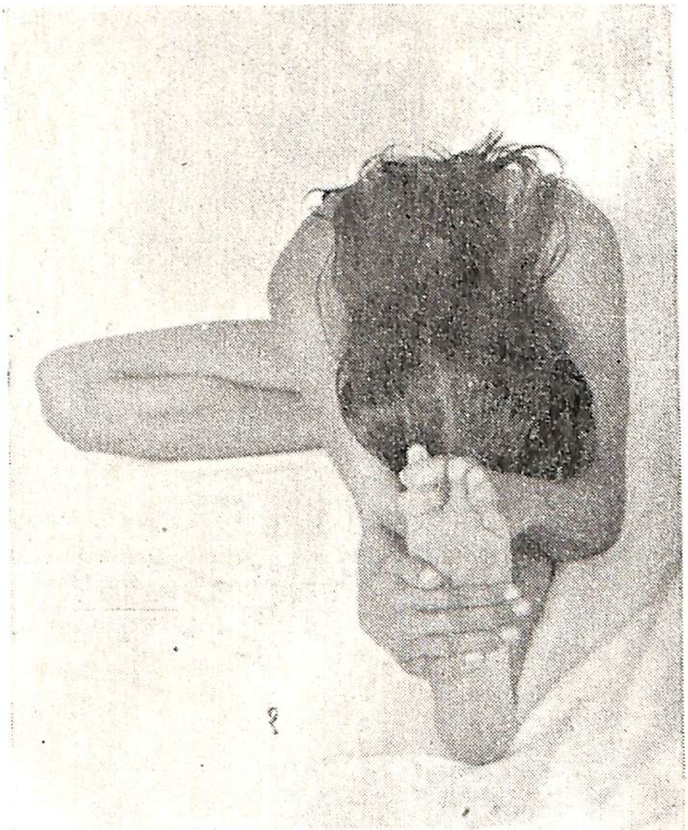

१——महामुद्रा

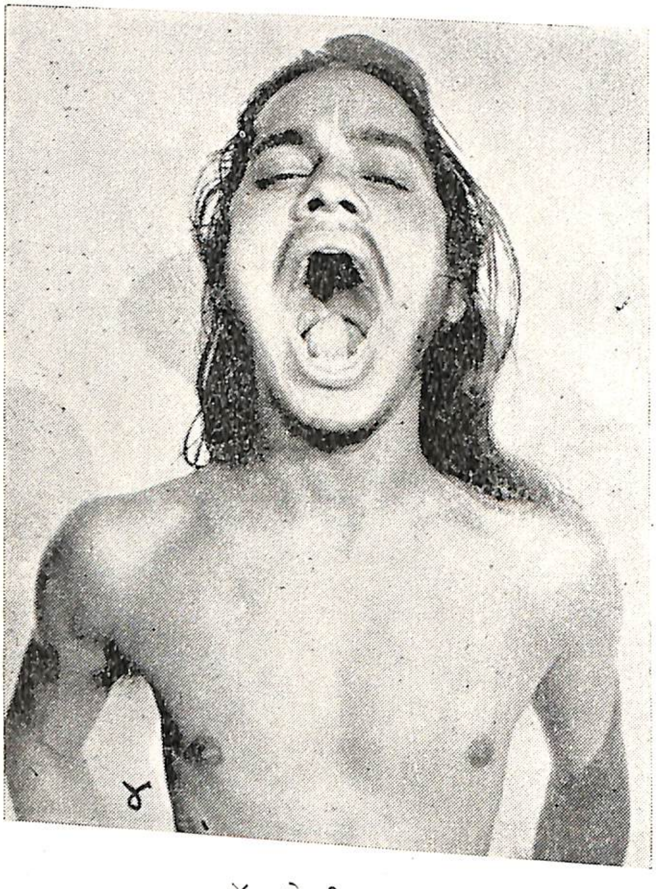

४—खेचरी मुद्रा

करके जालन्धर बन्ध लगा दें। यथाशक्ति कुम्भक रखकर शनैः शनैः रेचक करें। कहीं-कहीं ऐसा संकेत मिलता है कि महाबन्ध को करते समय पार्ष्णि के द्वारा मूल-बन्ध को पुनः-पुनः ताड़न करता रहे, तथा महामुद्रा और महाबन्ध में कुम्भक के समय मन को सुषुम्णा में प्रविष्ट कर देने का विधान भी मिलता है; परन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब साधक को इन दोनों पदार्थों के यथार्थ रूप का साक्षात्कार हो चुका हो। इसमें भी वाम तथा दक्षिण पार्श्व के रेचक-पूरक की संख्या भी समान रखनी चाहिए।

इसके ये लाभ हैं—कुण्डलिनी को यह शीघ्र जागृत कर देती है, प्राण का प्रवेश मूलाधार चक्र में शीघ्र होने लगता है, चक्र भेदन का पथ खुल जाता है। शेष लाभ महामुद्रा के समान हैं।

(३) **महावेध**—महाबन्ध मुद्रा में स्थित होकर पूरक करके कुम्भक कर लें, अब तीनों बन्ध लगाकर, दोनों हथेलियाँ भूमि पर दक्षिण-वाम ओर रखकर, वाम पाद सहित शरीर को इन पर उठा लें; अब एड़ी पर पुनः पुनः सीवन प्रदेश का ताड़न करें। दूसरा प्रकार यह है कि—पद्मासन लगाकर पूरक सहित कुम्भक करके भूमि से उठकर भूमि पर मूलाधार को पुनः पुनः ताड़न करें। क्योंकि पूर्वोक्त महावेध की क्रिया में जब शरीर को हाथों के सहारे उठाया जाता है तब मूलबन्ध स्थिर नहीं रहता, पद्मासन लगाकर करने से यह दोष नहीं आता अतः पद्मासन लगाकर करना ही उत्तम है। इसे भी पैर बदलकर करें; प्राणायामों की संख्या समान रहे।

लाभ ये हैं—

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धि-प्रदायकः।

बलीपलित-वेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः॥ —गोरक्ष सं०, १-४

इसके अभ्यास से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। बुढ़ापे में शरीर पर कहीं झुर्रियाँ नहीं पड़तीं, केश शीघ्र श्वेत नहीं होते, अङ्ग काँपते नहीं, कुबड़ापन नहीं आता, जठराग्नि तीव्र रहती है, प्राण सूक्ष्म होकर सुषुम्णा में गमन करने लगता है, तब इड़ा-पिंगला में प्राण संचार से समाधि भी लग जाती है। शरीर निश्चेष्ट-सा होकर मृतवत् हो जाता है।

(४) **खेचरी मुद्रा**—उत्कट आसन से (शौच-निवृत्ति के समान) बैठकर जीभ को जबड़े से जोड़नेवाले पतले तन्तु की जड़ पर, जीभ उठाकर, धार बनाए सेंधा नमक की डली से रगड़ें तथा नित्य प्रातःकाल ही जीभ को दोनों हाथों के अँगूठे और तर्जनी से दोनों पार्श्वों से, गाय के दोहने के समान ही दोहन कर्म करें। पश्चात् त्रिफले का चूर्ण लगाकर मलते रहें; अथवा कपड़े से भी दोहन किया जाता

है। इसी प्रकार तब तक करते रहें जब तक जीभ निकालकर जिह्वाग्र भाग, नासाग्र को फिर नासिका के मध्य भाग को और अन्त में भ्रूमध्य को स्पर्श न कर लिया करे। फिर यह जिह्वा उलटकर कपाल-कुहर में जाने योग्य बन जाती है। जीभ को लम्बा करने की दूसरी विधि यह है कि—जीभ के निचले पतले तन्तु को, अपने गुरु के सामने अथवा स्वयं दर्पण में देखकर, नहीं तो किसी डाक्टर से थोड़ा-थोड़ा-सा ब्लेड आदि से काटते-कटवाते रहें तथा पूर्वोक्त प्रकार से दोहते रहें। ८-१० बार के छेदन तथा नित्य दोहन से जीभ उक्त रूप में लम्बी हो जाती है। छेदन क्रिया में शीघ्रता न करते हुए, सावधानी बर्तें, एक बार ही अधिक कटने से तोतलापन अथवा गूंगापन भी आ सकता है; एक-एक बाल के समान नित्य या दूसरे-तीसरे दिन करना चाहिए। इस छेदन-दोहन में ६ मास लगते हैं तब यह क्रिया पूर्ण होती है। जीभ दोहन के पश्चात् नित्य पद्मासन आदि सिद्ध किए आसन से भजन से पूर्व बैठकर कण्ठ के अन्दर कपाल को जानेवाले छिद्र में जीभ को उलटकर प्रविष्ट करने का उभय समय यत्न करते रहें। यहाँ जीभ प्रविष्ट हो जाने पर इड़ा-पिंगला-सुषुम्णा के खुले द्वार बन्द हो जाते हैं और कपाल से ब्रह्मरन्ध्र से टपकने वाला मधुर-सा रस (उस समाधि-सी स्थिति में) इस स्थिति में जिह्वाग्र पर टपकता है; हठयोगी इसे अमृतपान करना कहते हैं। इसके लाभों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्॥

अर्थात् खेचरी मुद्रा का साधक सोमपान के अभ्यास से १५ दिन में मृत्यु को वश में करने योग्य बन जाता है; परन्तु यह ठीक है कि इसके अभ्यासी को तन्द्रा-निद्रा-आलस्य, भूख-पिपासा आदि द्वन्द्व अधिक बाधा नहीं देते; मन स्थिर रहता है, गम्भीरता आ जाती है। ध्यान-समाधि के लिए उपयोगी है।

(५) **विपरीतकरणी मुद्रा**—दोनों हथेलियाँ और सिर, भूमि पर बिछाए गद्दे आदि कोमल वस्त्र पर धरकर, पैरों सहित शरीर उठाकर, पादतल आकाश की ओर करके, शिर और हथेलियों पर तोल दें—शरीर सीधा रहे; इस स्थिति में यथाशक्ति रहें।

दूसरी विधि यह है—पीठ के बल भूमि पर लेटकर, कटि को हाथों का सहारा देकर, ग्रीवा तथा कन्धों पर शरीर को थोड़ा तिर्छा रखते हुए खड़ा कर लें (जैसे सर्वाङ्ग आसन में करते हैं); फिर जालन्धर बन्ध लगाकर दृष्टि पैर के अँगूठों पर स्थिर कर दें। प्रथम विधि से यह दूसरी विधि श्रेष्ठ है क्योंकि शिर पर अनावश्यक दबाव नहीं पड़ता है। इसके लाभ इस प्रकार हैं—

५--विपरीतकरणी मुद्रा

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने॥

—हठयोग० प्र०, उप० ३, श्लोक ८०, ८१

विपरीतकरणी के नित्याभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है, आहार की मात्रा अधिक बढ़ने लगती है, अतः उचित मात्रा में भोजन करें अन्यथा बढ़ी हुई जठराग्नि देह के रसों और धातुओं का शोषण करने लगती है। नित्य थोड़ा-थोड़ा अभ्यास बढ़ाते जाएँ तब अधिक लाभप्रद होती है; बाल शीघ्र श्वेत नहीं होते, शरीर स्वस्थ रहता है।

(६) **वज्रोली-मुद्रा**--'कैथेटर' नाम की रबड़ की बनी एक विशेष नलिका कैमिस्टों की दूकानों से मिल जाती है, वह ४-५ नम्बर की, १४-१५ अँगुल लम्बी लें और उसके अग्रभाग में ४-६ अँगुल तक बादाम रोगन, घृत वा तिल का तेल लगाकर मूत्रेन्द्रिय के छिद्र में डालकर ऊपर मसाने की ओर प्रविष्ट करें--ले जाएँ; प्रथम दिवस २-३ इंच ही ले जाएँ। अब नित्य एक-दो इंच मसाने की ओर अधिक बढ़ाते चलें; यदि पीड़ा प्रतीत हो तो तुरंत बाहर निकाल लें। इसका अभ्यास हो जाने पर फिर ७-८ नम्बर का कैथेटर लेकर पूर्वोक्त रीति से चढ़ाएँ, अभ्यास हो जाने पर उकरूँ बैठकर नौलिक्रिया से अँतड़ियों को उठाकर, मूलाधार को सिकोड़ कर कैथेटर के द्वारा बाहर की वायु का आकर्षण करें (इसे 'फूत्कार' करना कहते हैं)। पश्चात्, इसका भी अभ्यास हो जाने पर १२ अंगुल के कैथेटर से अभ्यास करें और अब जल का पात्र लोटा-गिलास आदि भरकर, कैथेटर जल में डालकर फूत्कार विधि से जल को मसाने की ओर खींचें, यह जल अन्दर पहुँचकर मूत्र को साथ लेकर बाहर निकल आता है। जब रबड़ की इस नलिका से जल का आकर्षण भले प्रकार होने लगे तब लोहे वा चाँदी के कैथेटर से जलाकर्षण का अभ्यास कर लें, इससे सुविधा रहती है। जल के समान दूध, तेल का भी आकर्षण किया जा सकता है; ये द्रव पदार्थ मूत्राशय के सब मूत्र को साथ लेकर बाहर निकल आते हैं। इसे हम 'मूत्राशय' की बस्ति भी कह सकते हैं।

इसके लाभ ये हैं--जब कई दिनों तक समाधि में बैठा जाता है, उससे पूर्व वज्रोलि के द्वारा मूत्राशय को, बस्ति के द्वारा आँतों को, गजकरणी के द्वारा आमाशय-पक्वाशय को धोकर शुद्ध बना लेते हैं; इससे शरीर में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। तथा वज्रोलि करने से मूत्र और वीर्य सम्बन्धी दोष—मूत्रकृच्छ्र,

प्रमेह,स्वप्नदोष आदि नहीं होते। इसके यथार्थ तात्पर्य 'ब्रह्मचर्य रक्षा' को न समझ-कर कई हठयोगियों ने स्त्री-सम्पर्क से बल-पौरुष बढ़ाने के विषय में जो लिखा है वह श्रेय मार्ग के पथिकों के लिए सर्वथा वर्जित, घृणित, निन्दित, अनुचित कर्म है।

(७) **शक्तिचालिनी मुद्रा**--वज्रासन से बैठकर दोनों नथुनों से पूरक करके अन्दर अपान के साथ मिला दें। अब प्रयत्न करें कि अन्दरगत वायु सुषुम्णा के अन्दर प्रवेश करने लगे, उसके लिए अश्विनी-मुद्रा अर्थात् गुदा का संकोच-विकास करें---गुदा को ऊपर खींचें फिर ढीला छोड़ दिया करें। इस क्रिया से प्राण का प्रवेश सुषुम्णा में होने लगता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है। दूसरी विधि यह है--सुखासन से बैठकर हाथों से गुल्फों (गिट्टों) के समीपस्थ भाग को पकड़कर, उदर की ओर खींचें और नाभि से नीचे सीध में, मूत्रेन्द्रिय के मूल में स्थित 'कन्द-स्थल' को पीड़ित करें—दबाएँ। अब शक्तिचालिनी मुद्रा से कुण्डलिनी को जगावें। अब वज्रासन लगाकर 'भस्त्रा' प्राणायाम करें; इससे कुण्डलिनी का ऊर्ध्वगमन होकर मेरुदण्ड के अन्दर सुषुम्णा में चींटियों के रेंगने जैसा सुखद स्पर्श, स्तब्धता, कम्प आदि की प्रतीति होने लगती है।

इसका मुख्य लाभ यही है कि--शीघ्र ही प्राणोत्थान होकर कुण्डलिनी जागृत हो उठती है। जिसके फलस्वरूप चक्र-विज्ञान का मार्ग खुल जाता है; आलस्य-प्रमाद-जड़ता आदि दोष भाग ही जाते हैं।

(८) **योनि-मुद्रा**---सिद्धासन से बैठकर, हाथों के अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से नेत्रों को, मध्यमाओं से दोनों नथुनों को और अनामिका तथा कनिष्ठा से दोनों ओष्ठों को दबा लें; इससे पूर्व 'काकी मुद्रा' द्वारा श्वास को अन्दर खींचकर,उदरगत 'अपान' से मिलाएँ और उक्त रूप से सब द्वार बन्द करके ॐ का मानसिक जप करते हुए ऐसा दृढ़ संकल्प करें कि जागी हुई कुण्डलिनी चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रदल कमल में जा रही है।

इसका लाभ यह होता है कि—प्राण-अपान संयुक्त होकर कुण्डलिनी शक्ति को जगा देते हैं; दिव्य प्रकाश होने लगता है और चक्रदर्शन का उपक्रम बँधने लगता है। अन्त में सफलता, साधक के परिश्रम पर निर्भर करती है।

(९) **उन्मनी-मुद्रा**—पद्मासन पर स्थिरता से बैठकर दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करें; बिना किसी लक्ष्य के नेत्र खुले रहें और ध्यान आज्ञाचक्र में रहे। संकल्प-विकल्पों का अभाव करके स्तब्ध होकर बैठे रहें। ध्यान ब्रह्मरन्ध्र में भी रख सकते हैं।

दूसरी विधि यह है—नेत्र अर्धखुले रखते हुए दृष्टि को नासाग्र पर, अथवा

नासिका से १२ अंगुल की दूरी पर अलक्ष्य रूप में स्थिर कर दें; अब शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन की गति को रोकता हुआ, संकल्प-विकल्प का अभाव करता हुआ योगी अपने स्वरूप में स्थित हो जाय। इस मुद्रा के ये लाभ हैं—

इसके अभ्यास से शरीर की विस्मृति होने लगती है, प्राण-इन्द्रियाँ-मन मूर्च्छित से हो जाते हैं; प्रत्याहार अवस्था होकर बुद्धि स्थिर हो जाती है; तब समाधि होने लगती और ज्ञान-प्रकाश का उदय तथा ऋतम्भरा का आभास होने लगता है।

(१०) **शाम्भवी-मुद्रा**—अपने सिद्ध किए आसन से बैठकर समकाय-ग्रीव हो जाएँ और पलकों को बिना हिलाए, नेत्रों को खोलकर, अलक्ष्य रखकर खुले रखें। ध्यान, हृदय में स्थित लिङ्ग शरीर के पदार्थों में रखें; अथवा सर्वथा लक्ष्य-हीन रखते हुए खुले रखें। त्राटक का जितना अधिक अभ्यास होगा, उतनी ही सफलता इस शाम्भवी मुद्रा के करने में होगी। शाम्भवी मुद्रा की सिद्धि इसी में है कि नेत्र खुले रहने पर भी बाह्य पदार्थों को नहीं देखते, ध्यान शरीर के अन्दर किसी लक्ष्य पर होता है; इससे हृदयस्थ पदार्थों का विज्ञान शीघ्र होने लगता है।

इसकी सिद्धि से उन्मनी मुद्रा के लाभ प्राप्त होते हैं; मन-बुद्धि शान्त होकर, योगी का ध्यान हृदय में प्रविष्ट होने लगता है तथा समाधि-सिद्धि के साथ हृदयगत अन्तःकरण के तत्त्वों का साक्षात्कार सुगम बन जाता है; देह की निश्चेष्टता से उत्पन्न देहाध्यास की स्थिरता से मन स्वयं लीन हो जाता और आनन्द बढ़ने लगता है। नेत्र मूँदकर ध्यान करने की अपेक्षा इस मुद्रा में स्थित होकर ध्यान करने का फल कई गुणा अधिक कहा गया है।

(११) **काकी-मुद्रा**—कटि तथा ग्रीवा को सम रखते हुए सिद्धासन पर बैठकर, ओष्ठों की सहायता से जीभ को काक-चञ्चुवत् बनाकर, इससे पूरक करके आन्तरिक कुम्भक करें; अब हाथ के अँगूठों से दोनों कान, तर्जनियों से दोनों नेत्र, मध्यमा और अनामिका से नासिका के दोनों छिद्र और कनिष्ठिका से मुख बन्द करें और यथाशक्ति कुम्भक रखकर दक्षिण नथुने से शनैः शनैः रेचक करें। इसी प्रकार समस्त क्रिया करके वाम-नथुने से प्रश्वास निकालें। इसे बार-बार करें।

इससे पित्त शान्त होकर अम्लपित्त के विकार नष्ट होते हैं, दिव्य ज्योति की उत्पत्ति तथा बाह्यनेत्र-दृष्टि की वृद्धि भी होती है।

(१२) **अश्विनी-मुद्रा**—सुखासन से बैठकर गुदा को अन्दर की ओर सिकोड़ें फिर बाहर को फैलाएँ—इस प्रकार निरन्तर संकोच-विकास करें। जैसे गौ-भैंस अथा विशेष रूप से अश्व (घोड़ा) मल त्यागते समय गुदा का आकुंचन

और प्रसारण करता है—इसी प्रकार कई मिनिट तक करें।

इस मुद्रा के अभ्यास से ये लाभ होते हैं—

प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी की जागृति शीघ्र होती है, मूलाधार चक्र की शुद्धि होकर इसके विज्ञान में सुगमता, यहाँ प्रकाश की उत्पत्ति भी शीघ्र होती है।

(१३) **त्रिबन्ध-मुद्रा**—यथाविधि पद्मासन से बैठकर, किंचित् पूरक करके, प्रश्वास को समान-प्राण के साथ मिलाएँ और मूलाधार से अपान को ऊपर उठाकर तीनों बन्धों को लगाते हुए, इस आन्तरिक वायु को सुषुम्णा में प्रविष्ट करने का प्रयत्न करें। इसी अवस्था में रहकर, दोनों हथेलियाँ दोनों पार्श्वों में दाईं-बाईं ओर भूमि पर रखकर, नितम्बों को उठा-उठाकर भूमि पर धीरे-धीरे पटकें——ऐसा कई बार करें। इसमें लगाने वाले बन्ध इस प्रकार लगाए जाते हैं—

(१) जालन्धर बन्ध, कण्ठ को दबाकर ठोड़ी को स्कन्धास्थियों के मध्य-स्थान 'हँसली' अथवा कण्ठ के नीचे स्थित गढ़े 'कण्ठ-कूप' में लगाते हैं जिससे कण्ठ-द्वार प्रायः बन्द-सा हो जाता है।

(२) उड्डियान बन्ध, उदर को सिकोड़कर नाभि को पीछे मेरुदण्ड के साथ लगा देने से बनता है।

(३) मूलबन्ध, गुदा सहित अण्डकोशों को दृढ़ता से ऊपर की ओर आकर्षित करने से लगता है।

ये तीनों बन्ध स्थान-स्थान पर आसन, प्राणायाम और मुद्राओं में प्रयुक्त होते हैं। त्रिबन्ध मुद्रा के लाभ ये हैं—

सुषुम्णा में प्राण शीघ्र प्रवेश करने लगता है, कुण्डलिनी शीघ्र चैतन्य होकर ऊर्ध्व गमन करने लगती है, चक्र भी धीरे-धीरे प्रकाशित होने लगते हैं।

(१४) **मातङ्गिनी-मुद्रा**—जल में खड़े होकर अथवा रहकर ही किसी टूटीवाले कमण्डल या किसी पात्र में जल भरकर, उसे नाक से लगा अन्दर खींचें और मुख से बाहर निकाल दें। पश्चात् मुख में जल भरकर मुख बन्द करके नासिका-छिद्रों से बाहर निकाल दें; मुख को जल से पूर्ण भरकर, प्राण से इसे (जल को) धक्का देकर, पिचकारी के समान दोनों नथुनों से निकाल दें। इस प्रकार कई बार करें। इस मातङ्गी-मुद्रा के ये लाभ हैं—

इससे मस्तिष्क, ब्रह्मरन्ध्र और नेत्रों को तृप्ति मिलती है, तथा इन अङ्गों के रोग——सिर पीड़ा, नेत्र दुखना, गले के अन्दर नज़ला गिरना, जुकाम आदि रोग नहीं होते; शेष लाभ जलनेति के ही समान हैं। शीघ्र केश न पकना, दृष्टि की स्थिरता, मुख पर तेज तथा कान्ति छा जाती है।

(१५) **योग-मुद्रा**—बद्धपद्मासन लगाकर रेचक करके बाह्य कुम्भक कर लें, अब तीनों बन्ध लगाकर, धीरे-धीरे सामने को झुकते हुए मस्तक को पृथिवी से लगा दें, वक्ष-स्थल जितना झुक सके झुकाए रखकर, इसी स्थिति में अधिकाधिक रहें। पूरक करते समय शिर को उठा लें, पुनः रेचक पूर्वक बाह्य कुम्भक करते हुए पूर्व स्थिति में ठहरें—कई बार इसे दोहरा लें। इसके लाभ ये हैं—

शरीर स्वस्थ, प्रसन्न रहता है, नाड़ियों की शुद्धि, प्राणों की शक्ति में वृद्धि होती है, जठराग्नि प्रदीप्त, धारणा, ध्यान समाधि में प्रगति होती है; अन्तःकरण पवित्र बनता है।

हठयोगान्तर्गत षट्कर्म तथा उन मुद्राओं का वर्णन ही हमने किया है जो राजयोग के लिए उपकारी समझी हैं। ये सब बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग योग को शीघ्र सिद्ध कर देते हैं। शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण को ये शुद्ध करके आत्म-दर्शन की योग्यता साधक को प्रदान करते हैं।

(१५)*मूर्च्छाप्राणायामः* - *मूर्च्छा-इत्यस्य शब्दस्यार्थोऽस्ति चैतन्यराहित्यम्।* अनेन प्राणायामेन मनः विषयविशेषे विलीयते यस्मात् बाह्यविषयाणां ज्ञानं न भवतीति अस्य प्राणायामस्य नाम मूर्च्छाप्राणायामः[१०५३]।

अस्य प्राणायामस्य विधिविषये उक्तमस्ति यत् सर्वान् विषयान् संत्यज्य मनः भ्रूवोरन्तरं *कृत्वा कुम्भकं कुर्यात्*[१०५४]*। दृढतापूर्वकतया जालन्धरबन्धं कृत्वा च प्राणवायुं* रेचयेत् । मनोमूर्च्छाकारकः सुखप्रदायको एषः एव प्राणायामः मूर्च्छाप्राणायामः इत्युच्यते[१०५५]। प्राणायामेऽस्मिन् सिद्धासने पद्मासने वा उपविश्य[१०५६] नासापुटद्वयेन पूरकं कृत्वा अक्षिद्वयं निमील्य शिर उपरि उत्थाप्य किञ्चित् पृष्ठभागे नेतव्यम् यस्मात् दृष्टिः आकाशं प्रति भवेत्[१०५७]। *अथवा आकाशं प्रति* दृष्टिं दत्त्वापि पूरकं कर्त्तुं शक्यते[१०५८]। तदनन्तरम् अन्तःकुम्भकं कृत्वा शाम्भवीमुद्रां विधाय अक्षिद्वयमुन्मील्य वा स्थातव्यम्। तदनन्तरम् अन्तःकुम्भकं परित्यज्य अक्षिद्वयं निमील्य पूर्वावस्थायामागत्य रेचकं कर्त्तव्यम्[१०५९]। अनेन रूपेण प्राणायामस्य आवृत्तित्रयतः प्रारभ्य पञ्चावृत्तिपर्यन्तं कर्त्तुं शक्यते[१०६०]। अस्य आवृत्तिपञ्चकमेव पर्याप्तम्[१०६१]।

परन्तु अस्य प्राणायामस्य विधिविषये मतभिन्नता परिलक्ष्यते। केषाञ्चन मते तु जिह्वां पक्षीचञ्चुसदृशाकृतियुक्तं कृत्वा मुखेन वायोराकर्षणं क्रियते[१०६२]। पुनश्च केषाञ्चनमते तु प्राणायामोऽयं कर्णद्वये नेत्रद्वये नासिकायां मुखे च क्रमशः अङ्गुष्ठद्वयं, तर्जनीद्वयं, मध्यमाद्वयम् अनामिकाकनिष्ठिकानां द्वयं द्वयं च रक्षयित्वा रक्षयित्वा क्रियते[१०६३]। स्वयोगपरम्परानुसारेण अनेकाचार्यवरैः अनेकप्रकारकाणां विधीनां विषये उल्लिखितेऽपि वयं स्वेच्छानुसारेण स्वाभिप्सितविधेः चयनं कर्त्तुं शक्नुमः। एतेषामुपरि अनेकैः आचार्यवरैः अनेकेषां प्राणायामानां विषये उल्लिखितेऽपि अतिविस्तृतिभयात् तेषां नामानि एव उल्लिख्यन्ते। ते यथा - **(१६)** सहितसगर्भकुम्भकः[१०६४] **(१७)** सहितनिगर्भकुम्भकः[१०६५] **(१८)** केवलीकुम्भकः[१०६६] **(१९)** प्लाविनी[१०६७] **(२०)** तालयुक्तप्राणायामः[१०६८] **(२१)** काकीप्राणायामः[१०६९] **(२२)** कविप्राणायामः[१०७०] **(२३)** भुजङ्गीप्राणायामः[१०७१] **(२४)** कर्णरोगान्तकप्राणायामः[१०७२] **(२५)** प्रणवप्राणायामः[१०७३] **(२६)** वैदिकप्राणायामः[१०७४] **(२७)** राजयोगप्राणायामः[१०७५] इत्यादयः।

(ग) मुद्रा - योगविज्ञाने मुद्रा-इत्युक्ते जनानां मनसि एतादृशी धारणा भवितुमर्हति यत् अर्थशास्त्रे उपयुज्यमानानां मुद्राणां योगशास्त्रे नु किं प्रयोजनम्? अतः मुद्राणां परिचयात्

प्रागेव का नाम मुद्रा तद्विषये विचारयामः। मुद्रापरिभाषाविषये उच्यते यत् आसनस्य एषा विशेषपरिस्थिति यस्यां प्राणायामः सम्मिलितो भवितुमर्हति नार्हति वा परन्तु या कुण्डलिनीजागरणे सहायकारिणी भवति सा एव परिस्थिति मुद्रा इत्युच्यते[१०७६]। पुनश्च अन्येषां मते तु चित्तप्रकटीकरणकारकः भावविशेषः मुद्रा इत्युच्यते[१०७७]। अन्येषां मते तु आसन-प्राणायाम-बन्ध-इत्येतेषु त्रिषु विशेषतामानीय एकाभ्यासरूपेण प्रयोगकरणमेव मुद्रा[१०७८] ।

उपर्युक्तपर्यालोचनया इदं ज्ञायते यत् मुद्रास्ति आसन-प्राणायाम-बन्ध-इति यौगिकक्रियात्रयाणां समाहारः यत्र कदाचित् प्राणायामस्य अन्तर्भावो न भवितुमपि शक्नोति येन चित्तस्य भावस्य प्रकटीकरणमपि भवति तथा यया कुण्डलिनीशक्तेर्जागरणे साहाय्यमुपलभ्यते। यत्किमपि भवतु नाम परन्तु योगसाधनायां स्थिता मुद्राणां भूमिका तु स्वीकरणीया एव ।

मुद्राणां संख्याविषये उक्तमस्ति यत् मुद्राणि सन्ति पञ्चविंशतिसंख्यकानि[१०७९]। येषु मुद्रादशकं जरामृत्युनाशकमिति उक्तमस्ति[१०८०]। उपर्युक्तासु पञ्चविंशतिसंख्यकासु दशसंख्यकासु वा मुद्रासु यद्यपि बन्धानामपि अन्तर्भावोऽस्ति तद्विषये अन्यत्र आलोचयामः।

मुद्राः पुनश्च प्राणायामिक-अप्राणायामिकभेदेन भागद्वये विभक्ताः[१०८१]।

प्राणायामिकमुद्रा - आसन-प्राणायामयोः सः विशेषः संयोगः यः कुण्डलिनीजागरणे सहायतां करोति स एव प्राणायामिकमुद्रारूपेण ज्ञायते[१०८२]।

(१) महामुद्रा - प्राणायामिकमुद्रासु महामुद्रा अन्यतमा। एषा मुद्रा शरीरस्य जरा-व्याधिं नाशयित्वा साधकं महासिद्धिं प्रददाति इति अस्याः मुद्रायाः नाम महामुद्रा[१०८३]। महामुद्रायाः लक्षणविषये उक्तमस्ति यत् दृढतापूर्वकतया वामगुल्फेन पायुमूलं पीडयित्वा दक्षिणपादं प्रसार्य दक्षिणपादाङ्गुल्यः हस्तेन धृत्वा कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रूवोर्मध्यं निरीक्षयेत्[१०८४]। परन्तु हठयोगप्रदीपिकायां तु भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षणस्य विषयः न उल्लिखितोऽस्ति तत्स्थाने ऊर्ध्वतः वायुधारणस्य विषयः एव उल्लिखितोऽस्ति। तदनन्तरं पूरितः वायुः शनैः शनैः रेचयेत्। महाक्लेशादीनां मरणादीनां वा नाशकत्वात् विद्वज्जनाः मुद्रामिमां महामुद्रेति वदन्ति[१०८५]।

महामुद्राविधेः वैविध्यता परिलक्ष्यते। यथा मूलबन्धं कृत्वा वामगुल्फेन योनिमण्डलं सम्पीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य प्रसारितदक्षिणपादजानु हस्तद्वयेन धृत्वा हस्तद्वयोपरि नासापुटद्वयेन[१०८६] घर्षणपञ्चकं कृत्वा वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा जालन्धरबन्धं कृत्वा

क्षणानन्तरं जालन्धरबन्धम् उद्घाट्य[१०८७] दक्षिणनासिकया रेचकं कर्त्तव्यम्[१०८८]। तदनन्तरं दक्षिणगुल्फेन योनिमण्डलं सम्पीड्य वामपादं प्रसार्य अन्यत् सर्वं पूर्ववत् कृत्वा दक्षिणनासापुटेन पूरकं कृत्वा कुम्भककरणानन्तरं वामनासापुटेन रेचकं कुर्यात्। अनेन रूपेण दक्षिणनासापुटेन कुम्भकपञ्चकं कुर्यात्। एतदवधेयम् यत् उभयनासापुटाभ्यामेव कुम्भकसंख्या समाना भवेत्[१०८९]। प्रकारान्तरेऽस्मिन् प्रसारितपादाङ्गुल्यः एकेन हस्तेन धृत्वापि मुद्रेयं कर्त्तुं शक्यते येन प्राणायामे सौविध्यं भवेत्[१०९०]। प्रकारोऽयं शिरसा प्रसारितपादस्य जानुं स्पृष्ट्वापि क्रियते[१०९१]।

अन्यप्रकारानुसारेण वामगुल्फं सीवन्यां दृढतापूर्वकतया संयुज्य दक्षिणपादः प्रसारितव्यः। तदनन्तरं शनैः शनैः पूरकेन सह मूलबन्धं जालन्धरबन्धं च कृत्वा दक्षिणपादाङ्गुष्ठं धृत्वा शिरः दक्षिणजानौ रक्षयित्वा स्वशक्त्यनुसारं कुम्भकं कर्त्तव्यम्। कुम्भकसमये पूरितवायुं कोष्ठे शनैः शनैः फुल्लयित्वा एतादृशी भावना कर्त्तव्या यत् प्राणः कुण्डलिनीजागरणं कृत्वा सुषुम्णायां प्रविशन् अस्ति । तदनन्तरं शिरसं शनैः शनैः जानुतः रेचकं कुर्वन् उत्थाप्य यथास्थित्याम् उपविशेत्। अनेनैव रूपेण वामपादं प्रसार्य अपि कुर्यात्। तथा प्राणायामस्य संख्यां समयञ्च वर्द्धयेत्[१०९२]।

अन्यप्रकारानुसारेण दक्षिणगुल्फेन योनिमण्डलं सम्पीड्य किञ्चित् अग्रे नम्रीभूय हस्तद्वयेन प्रसारितवामपादाङ्गुष्ठं धृत्वा सम्पूर्णशरीरं शिथिलीकृत्य दीर्घतया पूरकं कृत्वा शिरः किञ्चित् पृष्ठभागे नम्रीकृत्य कुम्भकं कृत्वा मूलबन्धस्य शाम्भवीमुद्रायाः च अभ्यासं कुर्यात्। स्वचेतनां मानसिकरूपेण मूलाधार-विशुद्धि-आज्ञादिषु चक्रेषु व्यावर्त्त्य स्वसामर्थ्यानुसारं कुम्भककरणानन्तरं शिरः ऋजु कृत्वा मूलबन्धं शाम्भवीमुद्रां च परित्यज्य शनैः शनैः रेचकं कर्त्तव्यम्[१०९३]।

अन्यप्रकारानुसारेण वामगुल्फेन योनिमण्डलं सम्पीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य हस्तद्वयेन प्रसारितदक्षिणपादस्य अङ्गुल्यः धृत्वा चिबुकं कण्ठकूपे संयोजयेत्। तदनन्तरं श्वासं प्रपूर्य कुहुनाडीम् अर्थात् कामनाडीं यावत् शक्यते तावत् आकर्षणं कर्त्तव्यम् तथा निश्वासकाले तदाकर्षणं शिथिलीकर्त्तव्यम्। अनेन रूपेण पञ्चदशबारतः पञ्चविंशतिबारपर्यन्तं कर्त्तव्यम्। तदनन्तरं दक्षिणगुल्फेन योनिमण्डलं सम्पीड्य वामपादं प्रसार्य अपि मुद्रामिमां कूर्यात्[१०९४]।

(२) **महावेधमुद्रा** - पुरुषरहितनारीणां रूपयौवनलावण्यस्य व्यर्थता इव

महावेधमुद्रारहितस्य मूलबन्ध-महाबन्धयोः व्यर्थता कथनमेव[१०९५] महावेधमुद्रायाः महत्त्वं द्योतयति। महावेधमुद्रायाः विधिविषये उच्यते यत् महाबन्धं कृत्वा बुद्धिं स्थिरीकृत्य पूरकं कुर्यात् तथा कण्ठमुद्रया वायोः गतिमवरुद्ध्य प्राणायामं कुर्यात् तदनन्तरं हस्तद्वयं भूमौ रक्षयित्वा नितम्बद्वयं किञ्चिदुपरि उत्थाप्य भूमौ शनैः शनैः ताडयेत् यस्मात् प्राणवायुः इडां पिङ्गलां च परित्यज्य सुषुम्णायां प्रवाहितो भवति[१०९६]। नितम्बद्वयस्य उपरि उत्थापनकार्यं बारं बारं कर्त्तव्यम्। क्रियेयं ताडननाम्नापि ज्ञायते। बारमेकं कुम्भकं कृत्वा अनेकबारं ताडनं कर्त्तुं शक्यते। मुद्रायामस्यां पादद्वयं परिवर्त्त्य अर्थात् वामजङ्घोपरि दक्षिणजङ्घां संस्थाप्य अथवा दक्षिणजङ्घोपरि वामजङ्घां संस्थाप्य अपि कर्त्तुं शक्यते[१०९७]। अस्याः मुद्रायाः यथाशक्ति अभ्यासानन्तरं जालन्धरमुद्रां परित्यज्य नासापुटद्वयेन प्राणवायोः रेचनं कर्त्तव्यम्[१०९८]।

अस्याः मुद्रायाः प्रकारान्तरमपि प्राप्यते यदनुसारेण मूलबन्धेन सह पद्मासने उपविश्य अपानवायुं प्राणवायुञ्च एकत्रीकृत्य हस्तद्वयं नितम्बद्वयस्य समीपे भूमौ संस्थाप्य नितम्बद्वयम् उपरि उत्थाप्य भूमौ बारं बारं ताडनं क्रियते[१०९९]।

अन्यप्रकारानुसारेण पद्मासने अन्यस्मिन् ध्यानात्मकासने वा उपविश्य श्वासं परित्यज्य उदरं यथाशक्तिः वायुशून्यं कृत्वा बहिरेव अवरुद्ध्य शङ्खिनीनाडीम् अर्थात् गुह्यदेशं तथा कुहुनाडीम् अर्थात् जननेन्द्रियं सकृदेव उपरि आकृष्य पञ्च-दशमिनट-इतिसमयपर्यन्तम् अवस्थानं कृत्वा पूनः श्वासः ग्रहीतव्यः तथा तदाकर्षणं शिथिलीकर्त्तव्यम्। अनेन रूपेण मुद्रेयं पञ्च-दशबारतः विंशतिबारपर्यन्तं कर्त्तव्यम्[११००]।

अन्यप्रकारान्तरानुसारेण च महामुद्रानुसारेण अवस्थानं कृत्वा पूर्णतया पूरकं रेचकं च कृत्वा शिरः सम्मुखे नम्रीकृत्य अवस्थानं कुर्यात्। दृष्टिः नासिकाग्रा भवेत्। बन्धत्रयं कृत्वा स्वचेतनां मूलाधार-मणिपुर-विशुद्धिचक्रोपरि व्यावर्त्त्य प्रत्येकस्मिन् चक्रे क्षणपर्यन्तं अवस्थानं कुर्यात्। यथासम्भवं बाह्यकुम्भकावस्थायाम् अवस्थानं कृत्वा स्वचेतनां बारं बारं व्यावर्त्त्ययेत्। तदनन्तरं क्रमशः उड्डीयानबन्धं मूलबन्धं जालन्धरबन्धं च उन्मील्य शनैः शनैः पूरकं कुर्यात्[११०१]।

(३) **विपरीतकरणीमुद्रा** - यस्यामवस्थायां नाभिस्थितसूर्यः उपरि तथा तालुस्थितचन्द्रः अधोभागे भवति सा एव अवस्था विपरीतकरणीमुद्रा इत्युच्यते[११०२]। विपरीतकरणीमुद्रायाः विधिवषये उच्यते यत् नाभिमूले सूर्यः अर्थात् सूर्यनाडी तिष्ठति

तालुमूले च चन्द्रः अर्थात् चन्द्रनाडी तिष्ठति। अतः चन्द्रनाडीतः क्षरितममृतं सूर्यनाडीः ग्रसते तस्मात् मनुष्यः मृत्युपाशे पतति। अतः शिरः भूमौ संस्थाप्य हस्तद्वयं पृथिव्यां स्थरीकृत्य सूर्यनाडीम् ऊर्ध्वं तथा चन्द्रनाडीम् अधः आनीय ऊर्ध्वपादो भूत्वा स्थिरीभूयात् एषा एवावस्था विपरीतकरणीमुद्रा इत्यनेन नाम्ना ज्ञायते[११०३]। यतो हि शीर्षासनेन[११०४] सह अस्याः मुद्रायाः समानतास्ति अतः अत्र एतद्विषये अधिकं न लिख्यते।

(४) अश्विनीमुद्रा - अश्वेन मलत्यागसमये कृत-आकुञ्चन-प्रसारणवत्करणात् अस्याः मुद्रायाः नाम अश्विनीमुद्रा[११०५]। अश्विनीमुद्रायाः विधिविषये उक्तमस्ति यत् गुदाद्वारस्य आकुञ्चनं-प्रसारणं च पौनःपुन्येन कुर्यात्। एषा एव क्रिया अश्विनीमुद्रा नाम्ना ज्ञायते[११०६]।

अस्याः मुद्रायाः अभ्यासात्पूर्वं शौचादिभ्यः निवृत्तो भूत्वा[११०७] साधकः सिद्धासने पद्मासने[११०८] वा उपविशेत्। तदनन्तरं पूरकं कृत्वा कुम्भककरणानन्तरं जालन्धरबन्धं कृत्वा गुदाद्वारं बारं बारम् आकुञ्चनं प्रसारणञ्च कृत्वा रेचकं कुर्यात्[११०९]।

अस्याः मुद्रायाः अभ्यासविधेः प्रकारान्तराणि सन्ति यथा - एतस्यां मुद्रायां श्वासग्रहणेन सह गुदाभागम् उपरि आकुञ्चयेत् तथा श्वासत्यागेन सह गुदाभागं प्रसारयेत्[१११०]।

अभ्यासे दक्षताप्राप्ते सति गुदाद्वारमाकुञ्च्य पूरकं कुर्यात्। आकुञ्चनं कृत्वा एव यथाशक्तिः अन्तःकुम्भकं कर्त्तव्यम्। तदनन्तरं रेचकं कर्त्तव्यम् तथा रेचकानन्तरं गुदाद्वारं प्रसारयेत्। अनेनैव रूपेण पुनरावृत्तिं कुर्यात्[११११]।

अन्यप्रकारानुसारेण श्वासं परित्यज्य बाह्यकुम्भकं कृत्वा उड्डीयानबन्धं कृत्वा गुदाद्वारमाकुञ्चयेत् प्रसारयेत् च बारं बारं यथासामर्थ्यम्[१११२]। अनेन रूपेण बाह्यकुम्भकेन सह एतस्याः मुद्रायाः अभ्यासकरणेन लाभाधिक्यं समवाप्यते[१११३]। एतस्याः मुद्रायाः अभ्यासः प्रातः काले सन्ध्यायाञ्च न्यूनातिन्यूनं विंशतिबारतः पञ्चविंशतिबारपर्यन्तं कर्त्तव्यः[१११४]।

(५) योनिमुद्रा - अस्यां मुद्रायां योनिभागस्य आकर्षणं क्रियते इति अस्याः मुद्रायाः नाम योनिमुद्रा। मुद्रेयं षण्मुखीमुद्रा नाम्नापि ज्ञायते[१११५]।

अस्याः मुद्रायाः विधिविषये उक्तमस्ति यत् साधकः सिद्धासने उपविश्य कर्णद्वयं चक्षुद्वयं नासिकाद्वयं मुखञ्च क्रमशः अङ्गुष्ठ-तर्जनी-मध्यमा-अनामिकाभिरङ्गुलिभिः आवृत्त्य काकीमुद्रया अर्थात् कांकचञ्चुवत्-आकृतिवत्या जिह्वया प्राणानाकृष्य अपाने योजयेत्। तदनन्तरं क्रमेण षट्चक्राणां ध्यानं कृत्वा 'हुँ' मन्त्रेण 'हंसः' मन्त्रेण वा निद्रितायाः कुण्डलिनीशक्तेः जागरणं कृत्वा जीवात्मासहितकुण्डलिनीं सहस्रदलकमले

नीत्वा 'अहं ब्रह्मास्मि' इति चिन्तयेत्[१११६]।

अङ्गुलीभिः कर्णचक्षुरादीनाम् आवरणात् प्रागेव पूरकं कृत्वा योनिमार्गम् ऊर्ध्वदिशं प्रति संकोचयेत् तथा अङ्गुलीभिः तत्तद् अङ्गानावृत्त्य यथाशक्ति कुम्भकं कृत्वा तदनन्तरम् अङ्गुलीभिः कृतस्यावरणस्य अपनयनं कृत्वा योनिमार्गस्य सङ्कोचनं शिथिलीकुर्यात्[१११७]। योनिमार्गस्य सङ्कोचनशिथिलीकरणानन्तरं नासापुटोपरिस्थितम् अङ्गुलीद्वयम् उत्थाप्य शनैः शनैः नासिकारन्ध्रेण वायुं रेचयेत्[१११८]।

(६) शक्तिचालिनीमुद्रा - योगशास्त्रानुसारेण शक्तिशब्दस्यार्थोऽस्ति कुण्डलिनी। यस्याः मुद्रायाः अभ्यासात् मूलाधारचक्रे सुप्तावस्थायां स्थिता कुण्डलिनी जागृता सम्भूय उपरि गच्छति। सा एव मुद्रा शक्तिचालिनीमुद्रा इत्युच्यते[१११९]। अस्याः विधिविषये उक्तमस्ति यत् नाभिं वस्त्रेण संवेष्ट्य गोपनीयगृहे स्थित्वा एताम् मुद्राम् अभ्यसेत्। उच्यते यत् एकवितस्तिपर्यन्तं दीर्घं तथा चतुरङ्गुलपर्यन्तं विस्तारयुक्तं कोमलं श्वेतवर्णयुक्तं सूक्ष्मवस्त्रं नाभिप्रदेशे रक्षयेत्। तदनन्तरं देहं भस्मना संलिप्य सिद्धासने उपविश्य नासापुटाभ्यां प्राणवायुमाकृष्य अपानवायुना सह मेलयेत्। तदनन्तरम् अश्विनीमुद्रया गुह्यप्रदेशमाकुञ्चयेत्। श्वासं नियम्य कुम्भकं कुर्यात् यस्मात् कुण्डलिनीशक्तिः जागृता सम्भूय ऊर्ध्वमार्गं गच्छति। एतां मुद्रां विना योनिमुद्रायाः सिद्धिर्न भवति। अतः एतां मुद्राम् अभ्यस्य साधकः योनिमुद्रामभ्यसेत्[११२०]।

मुद्रेयं वज्रासने उपविश्य अपि कर्त्तुं शक्यते। यदा पूरकं कृत्वा गुह्यप्रदेशमााकुञ्च्यते तदा कुहुनाडीम् अर्थात् जननेन्द्रियप्रदेशमपि आकुञ्चयितुं शक्यते। अनेन रूपेण किञ्चित् कालपर्यन्तं स्थित्वा शनैः शनैः निश्वस्य आकुञ्चनं शिथिलीकुर्यात्। अनेन रूपेण मुद्रेयं प्रातःकाले सन्ध्यायाञ्च दशबारतः द्वादशबारपर्यन्तं कर्त्तुं शक्यते[११२१]।

मुद्रायाः अस्याः अपरविधिरपि प्राप्यते यस्य पूर्वोक्तविधिना सह किञ्चिदेव पार्थक्यमुपलभ्यते। अपरविध्यनुसारेण सिद्धासने पद्मासने वा उपविश्य हस्तद्वयं भूमौ संस्थाप्य विंशतिबारतः पञ्चविंशतिबारपर्यन्तं शनैः शनैः नितम्बद्वयमुपरि उत्थाप्य भूमौ ताडयेत्। तदनन्तरं मूलबन्धं कृत्वा नासिकाद्वयेन, वामनासापुटेन चलितस्वरेण नासापुटेन वा पूरकं कृत्वा प्राणवायुम् अपानवायुना सह मेलयेत्। तदनन्तरं जालन्धरबन्धं कृत्वा शक्त्यनुसारं कुम्भकं कुर्यात्। कुम्भककरणसमये अश्विनीमुद्रया गुह्यद्वारम् आकर्षयेत् विकर्षयेत् च तदनन्तरं जालन्धरबन्धं परित्यज्य नासापुटद्वयेन कृतपूरकात् नासापुटात्

इतरेण नासापुटेन वा रेचकं कृत्वा निर्विकारतया एकाग्रपूर्वकतया उपविशेत्[११२२]।

(७) **योगमुद्रा** - अस्याः मुद्रायाः अभ्यासात् शरीरः योगसाधनार्थमुपयुक्तो भवतीति अस्याः मुद्रायाः नाम योगमुद्रा[११२३]।

मूलबन्धेन सह पद्मासने[११२४] सुखासने[११२५] वा उपविश्य नासापुटद्वयेन पूरकं कृत्वा जालन्धरबन्धं कृत्वा हस्तद्वयं शरीरस्य पृष्ठाङ्गस्य पश्चात् भागे रक्षयित्वा हस्तद्वयेन परस्परं मणिबन्धे धृत्वा शरीरमग्रे नम्रीकृत्य उदरान्तर्भागे गुल्फद्वयेन भारं दत्वा शिरसा भूमौ स्पृशेत् अनेन रूपेण यथाशक्तिः कुम्भकं कृत्वा तदनन्तरं शिर भूमितः उत्थाप्य जालन्धरबन्धं परित्यज्य नासिकाद्वयेन रेचकं कुर्यात्[११२६]।

अस्याः मुद्रायाः प्रकारान्तरद्वयं समुपलभ्यते। अत्र पद्मासने सुखासने वा उपवेशनानन्तरं हस्तद्वयं पृष्ठभागे रक्षयित्वा हस्तद्वयेन परस्परं मणिबन्धं धृत्वा दीर्घतया श्वासं गृहीत्वा निश्वासं परित्यज्य च शरीरमग्रे नम्रीकृत्य शिरसा भूमि स्पृशेत्। तदनन्तरं श्वासं गृहीत्वा शिर उपरि उत्थापयेत् च। अनेन रूपेण प्रकारान्तरमिदं षड्बारतः दशबारपर्यन्तं कुर्यात्[११२७]।

अस्याः मुद्रायाः अन्यत् प्रकारान्तरमपि समुपलभ्यते तदनुसारेण वज्रासने उपविश्य अङ्गुष्ठद्वयं मुष्टिद्वये अवरुद्ध्य नाभेः पार्श्वभागद्वये संयोजयेत्। तदनन्तरं पूरकं कृत्वा कुम्भकं कृत्वा मूलबन्धं जालन्धरबन्धं च कुर्यात्। तदनन्तरं शनैः शनैः रेचकं कुर्वन् शिरः अग्रे नम्रीकृत्य नासिकाग्रभागेन चिबुकेन च भूमिं स्पृशेत्। क्षणानन्तरं पूरकं कुर्वन् वज्रासने समागच्छेत् इति[११२८]।

अप्राणायामिकमुद्रा - आसनस्य सः विशेषः विधिः यस्मिन् प्राणायामं विना एव दृष्टिरेकत्र स्थिरीक्रियते यस्मात् कुण्डलिन्याः प्रचण्डशक्तेः जागरणाय साहाय्यं प्राप्यते। ताः मुद्राः अप्राणायामिकमुद्रात्वेन ज्ञायन्ते[११२९]।

(१) **नभोमुद्रा** - साधकः यत्र कुत्रापि अवस्थानं कुर्यात् सः सदैव सर्वेष्वेव कार्येषु जिह्वामुपरि व्यावर्त्त्य स्थिरीभूय पवनं सदा धारयेत्। योगिनां रोगनाशिनी एषा मुद्रा नभोमुद्रानाम्ना ज्ञायते[११३०]। मुद्रायामस्यामूर्ध्वदेशे व्यावृत्ता जिह्वा तालं स्पृशेत्[११३१]।

(२) **खेचरीमुद्रा** - उपरि व्यावृत्त्य विपरीतक्रमेण कपालकुहरे जिह्वायाः प्रवेशं कार्यते तथा दृष्टिः भ्रूवोर्मध्ये स्थाप्यते सा एव मुद्रा खेचरीमुद्रानाम्ना ज्ञायते[११३२]।

केन प्रकारेण नु जिह्वा कपालकुहरे प्रविशति तद्विषये उच्यते यत् सुतीक्ष्णेन स्निग्धेन निर्मलेन च शस्त्रेण जिह्वामूले स्थितायाः नाड्याः रोममात्रं छेदनं कुर्यात् तदनन्तरं चूर्णितसैन्धवपथ्यैः तत् स्थाने प्रघर्षयेत् पुनः सप्तमदिने तत् स्थाने एव रोममात्रं छेदनं कुर्यात्। अनेन प्रकारेण षण्मासपर्यन्तं कृते सति जिह्वामूले स्थितौ शिराबन्धौ च प्रणश्यति। तदनन्तरं तां जिह्वां व्यावृत्त्य नाडीत्रयस्य पथि योजयेत्[११३३]। छिन्नशिराबन्धजिह्वायाः दोहनकर्षण-इति कार्यद्वयं क्रियते। जिह्वां नवनीतमयं कृत्वा दोहयेत्[११३४]। तदनन्तरं लोहनिर्मितयन्त्रेण जिह्वायाः आकर्षणं कुर्यात्[११३५]। अनेन रूपेण नित्यं समभ्यसिते सति जिह्वा लम्बिका सम्भूय मुद्रायाः सिद्धौ साहाय्यं करोति[११३६]।

क्रियेयं योग्यगुरोर्निर्देशने एव कर्त्तव्या अन्यथा वाक्शक्तेः समाप्तिरपि भवितुमर्हति[११३७]। एषा विधिः हठयोगस्य विधिरस्ति। अस्मिन् विधौ प्रारम्भे श्वासः सामान्यः भवेत् परन्तु अभ्यासे वर्धिते सति श्वासः मन्दगतियुक्तो भवेत्[११३८]।

उपर्युक्ता विधिः सर्वेषां कृते नोपयुक्ता। अतः अन्या एका विधिरस्ति यस्याः अभ्यासेन अपि खेचरीसिद्धिः भवति[११३९]। एषा विधिः राजयोगस्य विधिरस्ति। यदनुसारेण मुखं निमील्य जिह्वाग्रभागेन तालुं स्पृशेत्। कार्यमिदं बलपूर्वकतया न कुर्यात् तथा यथासम्भवं जिह्वाग्रं पृष्ठभागे व्यावर्त्तयेत् तथा तालुदेशस्य उपरिभागस्य छिद्रान्तर्भागे प्रवेश्य यथासम्भवम् उपरि गच्छेत्। अनेन सहैव उज्जायीप्राणायामोऽपि कर्त्तु शक्यते[११४०]।

सिंहासनम् शीतलीप्राणायामश्च अस्याः क्रियायाः सहायकोऽस्ति। प्रोटिनरहितखाद्यग्रहणेन अपि शीघ्रतया खेचरीसिद्धिर्भवति[११४१]।

अस्याः मुद्रायाः अभ्यासकाले यदा श्रमोऽनुभूयते तदा जिह्वां पूर्वावस्थायां नयेत्[११४२]।

छेदनकाले प्राप्यते यत् जिह्वानामनेकभेदाः अवलोक्यन्ते। कस्यांश्चिद् जिह्वायां सूत्राकारनाडीस्थाने स्थूलमांसं भवति यस्मात् छेदने कष्टाधिक्यमनुभूयते। कस्यांश्चिच्च नाडी मांसश्च न भवतः अतः तस्याः छेदनावश्यकतापि न भवति। केवलं चालनदोहनाभ्यामेव कार्य चलति[११४३]।

(३) शाम्भवीमुद्रा - नेत्राञ्जनं समालोक्य अर्थात् भ्रूमध्ये दृष्टिं स्थिरीकृत्य आत्मारामम् अर्थात् परमात्मानम् अवलोकयेत्। सर्वतन्त्रेषु गोपितामिमां मुद्रां शाम्भवीमुद्रा-इत्यनेन नाम्नापि ज्ञायते[११४४]।

मुद्रायामस्यां मूलबन्धेन उड्डीयानबन्धेन च सह नासिकाग्रभागे भ्रूमध्ये वा दृष्टिं स्थिरीकृत्य ध्यानं क्रियते[११४५]। ध्यानमेतत् परमात्मनः[११४६] स्वमनोनीतवस्तुनः[११४७] कस्यचित् विन्दूनो[११४८] वा भवितुमर्हति। ध्यानावस्थायाम् अधिकसमयपर्यन्तं स्थातव्यम्[११४९]।

मुद्रायामस्यां हस्तमुद्रा ज्ञानमुद्रा चिन्मुद्रा वा भवेत्। अस्याः मुद्रायाः प्रकारान्तरमस्ति आकाशीमुद्रा[११५०]। मुद्रेयं चलन् उत्तिष्ठन् उपविशन् अपि कर्त्तुं शक्यते[११५१]।

(४) **ज्ञानमुद्रा** - पद्मासने सिद्धासने[११५२] कस्मिंश्चित् ध्यानात्मकासने[११५३]वा उपविश्य मणिबन्धस्य पृष्ठभागं जानुद्वयोपरि रक्षयेत्[११५४]। तदनन्तरं तर्जनी-अङ्गुलीद्वयं व्यावर्त्त्य अङ्गुष्ठद्वयस्य मूलभागे[११५५] अथवा तर्जनी-अङ्गुष्ठानाम् अग्रभागं सम्मेल्य रक्षयेत[११५६]। अन्यअङ्गुलीत्रयं परस्परं दूरीकृत्य प्रसार्य शिथिलीकृत्य रक्षयेत्[११५७]। कुत्रचित् करतलं भूमिं प्रति सम्मुखीकृत्य रक्षयेत्[११५८]इत्युक्तमस्ति। विषयस्तु अनुसन्धेयः। एषा ज्ञानमुद्रा ध्यानमुद्रानाम्नापि ज्ञायते[११५९]।

एतासामतिरिच्य अन्यासामपि मुद्राणां व्यवहारोऽवलोक्यते योगसाधनाक्षेत्रे। परन्तु विस्तृतिभयात् तासां नामोल्लेखः एव क्रियते। ताः यथा - (१) वज्रोलीमुद्रा[११६०] (२) तडागीमुद्रा[११६१] (३) माण्डूकीमुद्रा[११६२] (४) पार्थिवीधारणमुद्रा[११६३] (५)आम्भसीधारणमुद्रा[११६४] (६) वायवीयधारणमुद्रा[११६५] (७) आग्नेयीधारणमुद्रा[११६६] (८) आकाशीधारणमुद्रा[११६७] (९) पाशिनीमुद्रा[११६८] (१०) काकीमुद्रा[११६९] (११) मातङ्गिनीमुद्रा[११७०] (१२) भुजङ्गिनीमुद्रा[११७१] (१३) अमरोलीमुद्रा[११७२] (१४) उन्मनीमुद्रा[११७३] (१५) प्राणमुद्रा[११७४] (१६) अपानमुद्रा[११७५] (१७) अपानवायुमुद्रा[११७६] (१८) सूर्यमुद्रा[११७७] (१९) वरुणमुद्रा[११७८] (२०) लिङ्गमुद्रा[११७९] (२१) धारणाशक्तिमुद्रा[११८०] (२२) ब्रह्ममुद्रा[११८१] (२३) नवमुखीमुद्रा[११८२] (२४) ग्रिभमुद्रा[११८३] (२५) पदमुद्रा[११८४] (२६) स्कन्दमुद्रा[११८५] (२७) अगोचरीमुद्रा[११८६] (२८) भूचरीमुद्रा[११८७] (२९) चाचरीमुद्रा[११८८] (३०) ब्रह्माञ्जलिमुद्रा[११८९] इत्यादयः।

(ख) बन्धः - योगसाधनायां बन्धानामुपयोगिता उल्लेखनीया। बन्धं विना प्राणायामः न कदापि कर्त्तव्यः। यतो हि बन्धराहित्येन कृतेन प्राणायामेन वास्तविकलाभो न अवाप्यते[११९०]।

(१) **मूलबन्धः** - मूलबन्धशब्दस्यार्थोऽस्ति उत्पत्तिस्थलम्। अस्य बन्धस्य अभ्यासात् मूलाधारचक्रस्य अर्थात् उत्पत्तिस्थलस्य ग्रन्थि-स्नायू-इत्यादयः सबलतराः भवन्तीति

अस्य बन्धस्य नाम मूलबन्धः[११९१]। मूलस्थानस्य बन्धनं भवन्तीति बन्धोऽयं मूलबन्धनाम्ना ज्ञायते[११९२]। मूलबन्धस्य लक्षणविषये उच्यते यत् पार्ष्णिभागेन योनिप्रदेशं संपीड्य गुदाभागमाकुञ्चयेत्। तदनन्तरम् अपानवायुम् ऊर्ध्वभागे आकर्षयेत्। अधोगतियुक्तम् अपानवायुम् आकुञ्चनेन बलात् ऊर्ध्वगतिमन्तं करोतीति योगीनः एतं बन्धं मूलबन्धः इति वदन्ति[११९३]। गुदाभागं गुल्फेन संपीड्य वायुम् बलात् बारं बारम् आकुञ्चयेत्। अनेन वायुः सुषुम्णानाड्या ऊर्ध्वभागे प्राप्नोति[११९४]।

मूलबन्धविधिं व्याख्यायन् ऋषिवरः घेरण्डः वदति यत् योनिप्रदेशस्य आकर्षणं वामगुल्फेन भवेत् तदनन्तरं यत्नपूर्वकतया नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे योजयेत् तथा दक्षिणगुल्फेन उपस्थेन्द्रियं दृढतापूर्वकतया बन्धनं कूर्यात्[११९५]।

मूलबन्धस्य अभ्याससमये साधकः सिद्धासने[११९६] पद्मासने अथवा कस्मिंश्चित् ध्यानात्मकासने[११९७] उपविशेत् परन्तु अस्य बन्धस्य अभ्यासार्थं सिद्धासनं सर्वोत्तमम्[११९८]।

अस्य बन्धस्य अभ्यासस्य अनेकाः विधयः समवाप्यन्ते। तेषु प्रथमविधि-अनुसारेण बन्धोऽयं पूरकेण सह गुदादेशमाकृष्य रेचकेन आकुञ्चनं शिथिलीकृत्य अपि कर्त्तुं शक्यते[११९९]।

द्वितीयविधि-अनुसारेण सिद्धासने उपविश्य नेत्रद्वयं निमील्य शरीरं शिथिलीकृत्य दीर्घतया पूरकं कृत्वा अन्तःकुम्भकं कृत्वा जालन्धरबन्धं कृत्वा मूलाधारप्रदेशस्य स्मायूनामाकुञ्चन-प्रसारणक्रियां कुर्वन् तान् उपरि आकर्षयेत्। स्वसामर्थ्यानुसारेण यावत् अन्तःकुम्भकं कर्त्तुं शक्यते तावत् आकुञ्चन-प्रसारणकार्यं कर्त्तव्यम्। तदनन्तरं स्नायून् शिथिलीकृत्य जालन्धरबन्धं परित्यज्य शनैः शनैः रेचकं कर्त्तव्यम्[१२००]।

तृतीयविधि-अनुसारेण साधकः बाह्यकुम्भकं कृत्वा अपि बन्धमिमं कर्त्तुं शक्नोति[१२०१]। एतस्य बन्धस्य बाह्यकुम्भकेन सह करणेन सौविध्यं भवति[१२०२]।

(२) उड्डीयानबन्धः - यतो हि अनेन बन्धेन प्राणवायुः सुषुम्नानाड्याम् उड्डीयते अतः एषः बन्धः उड्डीयानबन्धनाम्ना ज्ञायते[१२०३]। उड्डीयानबन्धस्य विधिविषये उच्यते यत् उदरे नाभेरूर्ध्वभागे तथा पश्चिमतानं कुर्यात्। एषः बन्धः मृत्युरूपिगजस्य कृते सिंहसदृशः बलशाली भवति[१२०४]।

जानुद्वयं व्यावर्त्त्य पादतलं परस्परं संयोज्य नाभेः उपर्यधोभागयोः अष्टाङ्गुलपर्यन्तं भागं बलादाकृष्य मेरुदण्डे अनेन रूपेण योजयितव्यं यत् उदरे गह्वरसदृशाकृतिर्भूयात्। यावत् शक्यते तावत् उदरम् अन्तर्भागे आकर्षणं कुर्यात्। बन्धोऽयं पादतलम् असंयोज्य

अपि कर्त्तुं शक्यते[१२०५]।

बन्धोऽयं पद्मासने सिद्धासने वा उपविश्य अपि कर्त्तुं शक्यते[१२०६]। हस्ततलं जानुद्वये रक्षयितव्यम्। दीर्घतया रेचकं कृत्वा बहिः कुम्भकं कृत्वा जालन्धरबन्धं कर्त्तव्यम्। तदनन्तरम् उदरस्थितान् मांसपेशीन् अधिकतया उपरि अन्तर्भागे च आकुञ्चयेत् तथा यथाशक्ति तस्यामेवावस्थायां स्थित्वा उदरं जालन्धरबन्धं च शिथिलीकृत्य क्षणं विश्रम्य पुनः कुर्यात्[१२०७]। उदराकर्षणकाले वक्षस्थलं किञ्चित् उपरि प्रसारितव्यम्[१२०८]। यथा बन्धोऽयं पद्मासने सिद्धासने वा उपविश्य कर्त्तुं शक्यते तथैव उत्थाय अपि कर्त्तुं शक्यते[१२०९]। यथा -

पादद्वयस्य मध्ये एक'फूट'-इत्यस्य अन्तरालं रक्षयित्वा हस्तद्वयमुपरि कृत्वा श्वासं प्रपूर्य पुनश्च हस्तद्वयम् अधः आनीय जानोः उपरि रक्षयेत् । तदनन्तरं निश्वस्य बहिःकुम्भकं कृत्वा उदरम् अन्तर्भागे आकर्षयेत्। आकर्षणकाले उदरं मेरुदण्डे संलग्नो भवेत्। अनेन रूपेण यथाशक्तिः अवस्थानं कृत्वा उदराकर्षणं परित्यज्य उदरं शिथिलीकुर्यात्। अनेन रूपेण बारचतुष्टयं बारपञ्चकं वा कुर्यात्[१२१०]।

बन्धोऽयं हृदयरोगिणा, उदरव्रणवता तथा गर्भवत्या स्त्रिया न कर्त्तव्यः[१२११]। न केवलमेतदेव अपितु द्वादशवर्षेभ्यः न्यूनायुर्वता बालकेन अथवा अऋतुमत्या बालिकया बन्धोऽयं न कर्त्तव्यः[१२१२]।

(३) जालन्धरबन्धः - जालन्धर-इत्यस्य शब्दस्यार्थोऽस्ति जालसमूहः। यः समस्तनाडीजालं बध्नाति तथा (चन्द्रनाडीतः क्षरितम्)अमृतम् अधोगमनात् रुणद्धि तमेव बन्धं जालन्धरबन्धनाम्ना ज्ञायते[१२१३]। जालन्धरबन्धस्य विधिविषये उच्यते यत् बन्धोऽयं शिराजालं बध्नाति अतः बन्धोऽयं जालन्धरबन्धनाम्ना ज्ञायते[१२१४]।

जालन्धरबन्धस्य विधिविषये प्राप्यते यत् कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्[१२१५]इति। तदुपरि एतस्य बन्धस्य विधिविषये प्राप्यते यत् उत्थाय[१२१६] सुखासने पद्मासने सिद्धासने वा उपविश्य प्राणायामं कुर्वन् पूरककरणानन्तरं रेचककरणानन्तरं वा बन्धोऽयं क्रियते[१२१७]। अर्थात् बन्धोऽयं कुम्भककाले[१२१८] अर्थात् बाह्यकुम्भककाले अन्तःकुम्भककाले च करणीयः। अवस्थायामस्यां हस्तद्वयं जानुद्वयोपरि रक्षयित्वा चिबुकं कण्ठकूपे[१२१९] संयोजयेत्। अवस्थायामस्यां चिबुकहृदययोर्मध्ये अन्तरालं अङ्गुष्ठचतुष्टयस्य[१२२०] अङ्गुष्ठषट्कस्य[१२२१] वा भवेत्। अवस्थायामस्यां वक्षस्थलम्

अग्रभागे किञ्चित् प्रसारितं भवेत्[१२२२]। बन्धोऽयं कण्ठस्थानस्य नाडीजालसमूहं बद्ध्वा रक्षयति[१२२३]। बन्धोऽयं जालन्धरबन्धनाम्ना ज्ञायते।

(४) **महाबन्धः** - बन्धोऽयं बन्धत्रयाणां समन्वयः[१२२४]। बन्धस्यास्य विधिविषये उच्यते यत् वामपादस्य गुल्फेन गुदामूलं निरुद्ध्य तद्गुल्फं यत्नेन दक्षिणपादेन सम्पीड्य शनैः शनैः योनिप्रदेशम् आकुञ्चयेत् चालयेत् च तथा जालन्धरबन्धेन प्राणवायुं धारयेत्। महाबन्धोऽयं सर्वबन्धेषु श्रेष्ठोऽस्ति[१२२५]।

महाबन्धस्य विधिविषये मतवैभिन्न्यमवलोक्यते। तेषु प्रथमविधिअनुसारेण कस्मिंश्चित् ध्यानात्मकासने उपविश्य बन्धत्रयमेकबारमेव क्रियते कुम्भकावस्थायाम्[१२२६]। पूर्णतया रेचकं कृत्वा क्रमशः जालन्धरबन्धम् उड्डीयानबन्धं मूलबन्धं च क्रियते। तदनन्तरं स्वचेतनां मूलाधार-मणिपुर-विशुद्धिचक्रेषु घूर्णयितव्या। यावत् कुम्भकं कर्त्तुं शक्यते तावत्। तदनन्तरं क्रमशः मूलबन्धम् उड्डीयानबन्धं जालन्धरबन्धं च परित्यज्य पूरकः कर्त्तव्यः[१२२७]।

अन्यविधिअनुसारेण वामगुल्फं योनिमण्डले दक्षिणगुल्फं च जननेन्द्रियमूले स्थापयेत्[१२२८]। तदनन्तरं वामनासापुटेन चलितस्वरेणनासापुटेन वा वायुमाकृष्य जालन्धरबन्धं क्रियते। तदनन्तरं मूलद्वारेण वायुम् उपरि आकृष्य मूलबन्धं कूर्यात्। मनः मध्यनाड्यां स्थिरीकृत्य यथाशक्तिः कुम्भकम् कुर्यात्। तदनन्तरं पूरकविपरीतनासिकायाः शनैः शनैः रेचयेत्[१२२९]।

अन्यविधिअनुसारेण योनिमण्डले वामगुल्फं जननेन्द्रियमूले दक्षिणगुल्फं च संस्थाप्य पूरकं कृत्वा जननेन्द्रियप्रदेशमाकुञ्च्य रेचकं कृत्वा तद्प्रदेशं प्रसार्य अपि बन्धोऽयं क्रियते। अनेन रूपेण दशबारतः पञ्चदशबारपर्यन्तं क्रियते। तदनन्तरं विपरीतक्रमेण पादन्यासं विधाय अपि बन्धोऽयं क्रियते[१२३०]।

अन्यविधिअनुसारेण पद्मासने सिद्धासने वा उपविश्य योनिप्रदेशं गुह्यप्रदेशं च आकृष्य अपानवायुम् ऊर्ध्वगामिनं कृत्वा नाभिस्थसमानवायुना सह सम्मेल्य हृदयस्थप्राणवायुम् अधोमुखिनं कृत्वा प्राणापानवायुभ्यां सह नाभिस्थले दृढतया कुम्भकं कुर्यात्[१२३१]।

एतादृशी विधिभिन्नता महाबन्धस्य योगसाधनाक्षेत्रे स्थितां महत्तां द्योतयति।

(ङ) **षट्कर्माणि** - पातञ्जलयोगसूत्रे[१२३२] शौचमस्ति नियमरूपयोगाङ्गान्तर्गतमेकमुपाङ्गम्। शौचं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधम्। यद्यपि बाह्यशौचं

दशमोऽध्यायः

रोगनिवारणे उपयोगिनी मुद्राः बन्धाश्च

योगाभ्यासस्य योगचर्यायाश्च व्यक्तेः मानवस्य सर्वाङ्गीणे विकासे आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकत्रिविध तापनिवारणे शारीरं मानसमित्युभय विधरोगनिवारण उपयोगो वर्णितः परीक्षितश्च तत्र न केवलमासनानामेवापितु प्राणायाममुद्राबन्धादि क्रियाणामपि रोगनिवारण उपयोग योगोपनिषत्स्वन्यान्ययोग ग्रन्थेषु वर्णित उपलभ्यते । यद्यपि प्रबन्धस्य विषयो योगासनान्येव तथापि संक्षेपेणान्यक्रियाणामप्युल्लेखोऽत्र विधीयते । योगस्यैकापि क्रिया सर्वफलदा भवितुमर्हति तदेवोपनिषत्सु विशेषेण योग - चूडामण्यां योगकुण्डल्याम्, अमृतनादोपनिषदि च प्राणायामेनैव सर्वरोगाणां विनाश सम्पाद्यते । तत्रोल्लेखः वर्तते यत् " सर्वे - रोगाः प्राणायामेनैव नश्यन्ति" तत्र हिक्का, कासः, श्वासः शिरोरोगाः, नेत्ररोगाः, कर्णरोगाः, अंगशूलादिवेदना तथा सर्वे वायुविकाराः प्राणायामेन नश्यन्ति तत्र प्राणायामे वायोः नियन्त्रणं विधीयते । अतः नात्रकिमप्याश्चर्यं यत् वायुनियन्त्रणेन वायुविकाराः नश्यन्ति । एतेषु सर्वं स्वाभाविकं प्रतिभाति यत् उज्जायीप्राणायामेन मस्तकस्योष्णता, कण्ठस्थकफः तथाकेचनान्यरोगाः निवर्तन्ते, एवमेव शीतली प्राणायामेन गुल्म, प्लीहा, पित्तं, ज्वरः तथा तृषादिविकाराः दूरीं भवन्ति । तथा भस्त्रिकया कण्ठदाहो निवर्तते । अतैवैवं वक्तुं शक्यते यत् केवलं प्राणायामाभ्यासेनैव कायाकल्पं विधातुं शक्यते, अन्यासां

क्रियाणान्तु कथैव का ? अतो अत्र रोगनिवारणे उपयोगिन्या: मुद्रा: प्रमुखा: बन्धा: कानिचन् सारभूतानि प्रमुखान्यासनानि उल्लिख्यन्ते -

1. खेचरीमुद्रा:

जिह्वाया अधस्ताद् यो अवरोधभूतो दौरको भवति तम् शनै:-शनै: छेदनं, चलनं, दोहनमिति त्रिविधक्रियया सर्वथा दूरी कृत्य जिह्वां तालुकुहरे स्थापनं संक्षेपेण खेचरीमुद्रा निगद्यते [1]।

अनया क्रियया मस्तकस्य सहस्रारप्रदेशात् यो अमृतमयस्राव: शरीरस्याधोभागे गच्छति तस्य जिह्वया पानं विधीयते तेन शरीरे रोगाणामाक्रमणं संक्रमणं न जायते तथा वृद्धावस्थापि न समायाति । अतैवास्या क्रियाया: जरानिवर्तकत्वं कान्ति पुष्टि: प्रदत्वं योगशास्त्रे वर्णितम् [2]।

---

1. कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
   भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।।
   छेदन चालनदोहै: कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
   सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धा: ।।
   ह. प्र. 3/32, 33

1. क- रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
   विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभि: ।।
   ख. न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा न तृषा ।।
   न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।
   ग. पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।।
   बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।
   घ. चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।।
   तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ।।
   ड. खेचर्यां मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वत: ।।
   न तस्य क्षरते बिन्दु: कामिन्या: श्लेषितस्य च ।।
   ह. प्र. 3/38-42

2. **महामुद्रा :**

सर्वतः प्रथमं मूलबन्धं समासाद्य वामपादस्य पार्ष्णिभागेन सीवनीम् {गुदाण्डकोषमध्ये यो चतुरंगुलस्थानम्} सम्यक् प्रभाव - येत्तथा दक्षिणपादं प्रसार्य पादांगुल्य उभयोः हस्तयोः गृह्णीयात् । पंचवारं यावत् सम्यक् प्रगृह्य पूरकं कुर्यात्तथा जालन्धरबन्धमपि विधेयम् तदनन्तरं जालन्धरबन्धं समाप्य दक्षिण नासिकया वायोः रेचनं कुर्यात् । एषा वामांगमुद्रा एवमेव दक्षिणा- ङ्गमुद्रामपि सम्यक् सम्पादयेत् [1] ।

अस्याः मुद्राया अन्योऽपि विधिरूपलभ्यते तथा च वाम - पादस्य पार्ष्णिभागे सीवन्युपरि सम्यक् दृढतया स्थापयित्वा दक्षिणं पादं प्रसारयेत् । तदनन्तरं शनै- शनैः पूरकं कृत्वा मूलबन्धं जालन्धरञ्च सम्पादयन् दक्षिणपादस्यांगुष्ठं हस्तेन गृहीत्वा मस्तकं

---

1. पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।।
   प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।।
   कंठे बन्धं समारोप्य धारयेद् वायुमूर्ध्वतः ।।
   यथा दण्डहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ।।
   ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ।।
   तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ।।
   ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्ननैव वेगतः ।।
   महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ।।
   ह. प्र. 3/10-13

दक्षिणपादस्य जान्वोपरि स्थापयेत्तथा अस्यामेवावस्थायां यथाशक्तिः कुम्भकं कुर्यात् । तदनन्तरं शनैःशनैः रेचकं कुर्वन् मस्तकं जानुभागतः पृथक् कुर्यात् यथास्थितिञ्च सम्पादयेत् । एवमेव दक्षिणांगेनापि कुर्यात् । अस्यां क्रियायां शनैःशनैः प्राणायामसंख्या वर्धनीया ।

अनया क्रियया मन्दाग्निः, अजीर्ण, उदररोगाः, प्रमेहाः विनश्यन्ति क्षुधावृद्धिश्च जायते कुण्डलिन्यपि जागृति [1]।

3. <u>अश्विनी मुद्राः</u>

सिद्धासने पद्मासने वा स्थित्वा योनिमण्डलस्याश्वसदृशं वारं-वारमाकुंचनमश्विनीमुद्रा कथ्यते ।

अनया मुद्रया प्राणवायोरूत्थानसामर्थ्य कुण्डलिनी जागरणं विधीयते । तथा अपानवायोर्शुद्धिः वीर्यप्रवाहीस्नायवः नाड्यश्च दृढाः भवन्ति ।

4. <u>शक्तिचालिनी मुद्रा-</u>

सिद्धासने पद्मासने वा स्थित्वा करतलौ पृथिव्यां स्थापयेत् तदनन्तरं शनै-शनै पृथ्वीतः किञ्चिदुपरि वारं

---

1. क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
   तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।।
   ह.प्र. 3/17

वारमुत्थाय करतलयो नितम्बभागस्य ताडनं विदध्यात् । तत् पश्चात् मूलबन्धं विधाय वामनासिकया दक्षिणनासिकया वा यतः स्वरस्य प्रवाहो भवेत् तथैव नासिकया पूरकं कृत्वा प्राणवायुम - पानेन योजयेत् जालन्धरबन्धञ्च कृत्वा यथाशक्तिः कुम्भकं कुर्यात् तथा कुम्भकावस्थायामेव अश्विनीमुद्रया गुह्यांगस्य गुह्यप्रदेशस्य वा आकर्षणविकर्षणं कुर्वन् तिष्ठेत् तत्पश्चात् जालन्धरबन्धं निवृत्यो भाभ्यां नासापुटाभ्यां शनैःशनैः वायुं रेचयेत [1]।

घेरण्डसंहितायां——————————

—हठयोगप्रदीपिकायाञ्चैतद् मुद्राविधानसमये चतुरंगुलदीर्ध वितस्ति प्रमाण विस्तृतं कोमलं श्वेतं सूक्ष्मवस्त्रखण्डं कटिसूत्रेण कटिप्रदेशे बध्नीयात् तथा समग्रशरीरोपरि भस्मलेपनं कुर्यादित्युक्तम् [2]।

---

1. क- आधार कमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
   अपानवायुनारूह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
   शक्तिचालन मुद्रेयं सर्वशक्ति प्रदायिनी ॥
   शि. सं. 4/105

   ख. सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद दृढम् ।
   गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ।।
   ह. प्र. 3/114

2. ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ।
   मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ।
   ह. प्र. 3/113

इयं हि मुद्रा सर्वरोगनाशिनी सर्वतोभावेन स्वास्थ्य - वर्धिनी कुण्डलिनीजागरणकारिणीत्युच्यते [1]।

5. <u>योनिमुद्रा :-</u>

सिद्धासने स्थित्वा समस्तस्य शरीरस्य समसूत्रतां विधाय षण्मुखीं मुद्रां विदध्यात् तथा हस्तांगुष्ठाभ्यामुभौ कर्णकुहरौ तर्जनीभ्यां च नेत्रे, मध्यमाभ्यां च नासापुटौ पिधाय-अनामिके कनिष्ठिके चोभयोरोष्ठयोपार्श्वे संस्थाप्य काकीमुद्रया [जिह्वां- काकचञ्चुसदृशमाकारं दत्वा] प्राणवायुं शनै-शनैराकृष्यापानेन सह योजयेत् । प्रणवजपञ्च विदध्यात् तथा प्रणवस्य नादेन कुण्डलि- न्या: जागरणम्, षट्चक्रभेदनम् ततश्च सहस्रदलकमले वायु: प्रविशतीति भावयेत् । एतेन योगी अन्तर्मुखी भवति अन्त: ज्योतिश्च साक्षा- त्कारो लभते । समग्रशरीरे वायो: प्रवेशो जायते ततश्चाभ्यासेन

---

1. क- तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरूधंतीम् ।
तस्या: संचालनेनैव योगी रोगै: प्रमुच्यते ।।
येन संचालिता शक्ति: स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।।
ह. प्र. 3/119-120

ख- शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं य: समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ।।
शि. सं. 4/106

प्राणापानसंयोजनं भवति तथा षट्चक्रभेदनपूर्वकं सहस्रारे प्राणवायोः प्रवेशस्याभ्यासेन नाडीशुद्धि, अंगप्रत्यंगकान्तिः सर्वरोगापसरणं च लभ्यते [1]।

6. <u>योगमुद्रा:-</u>

मूलबन्धं विधाय पद्मासने स्थित्वोभाभ्यां नासापुटाभ्यां पूरकं कृत्वा जालन्धरबन्धं विदध्यात् तत उभौ हस्तौ पृष्ठप्रदेशे नीत्वा वामपाणिना दक्षिणपाणेरुपरि भागं गृहणीयात् दक्षिण पाणिना च वामहस्तं (मणिबन्धं) गृहणीयात् तथा शरीरस्य पूर्वार्ध भागं किन्चिदग्रेसरी कृत्योभाभ्यां पार्ष्णिभ्यामुदरभागं प्रभाव्य भूमौ मस्तकं स्थापयेत्, एतस्यामवस्थायां यथाशक्तिः कुम्भकं कृत्वा पुनः मस्तकं भूमित उत्थाप्य जालन्धरबन्धञ्च समाप्योभाभ्यां नासापुटाभ्यां वायुं रेचयेत् ।

---

1. आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।
   गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रवर्तते ।।
   ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।
   नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ।।
   गुरुहा सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
   एतैः पापैर्न बध्येत् योनिमुद्रानिबन्धनात् ।।
   योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित् ।
   सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कष्ट गतैरपि ।।
   शि. सं. 4/1, 15, 16, 20,

9. <u>विपरीतकरणी मुद्रा</u> – <u>शीर्षासनं कलालासनं वा</u>

सर्वतः पूर्वं भूमौ कोमलं वस्त्रं सम्वेष्ट्य स्थापयेत्तदनन्तरं वेष्टित वस्त्रस्योपरिमस्तकं विधाय हस्ततलौ च मस्तकपार्श्वभागे स्थापयित्वा शरीरस्याधो भागमुपर्याकाश उत्थापयेत् तथा समग्र शरीरमस्यां विपरीतास्थित्यां सरलतया दण्डवत् कृत्वा मूलबन्धं उड्डीयानबन्धञ्च कुर्यात् [1]। एतस्यां मुद्रायामुपरिस्थित-पादाभ्यां पद्मासनमपि विधातुं शक्यते, एतादृशं पद्मासनमूर्ध्व-पद्मासनमित्युच्यते ।

मुद्रायाः प्रारम्भकाले भित्तिसाहाय्येनास्याभ्यासः सुकरः ।

अनया मुद्रया शुक्ररक्षणं, मस्तिष्कबलवत्ता, नेत्रज्योति वर्धनम्, हृदयस्य दृढता, जठराग्निर्वृद्धिः, प्राणगतिस्थिरता जायते।

---

1. क- भूतले स्वशिरो दत्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
   विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।।
   शि. सं. 4/69

   ख- ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
   करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ।।
   ह. प्र. 3/79

तथा कोष्ठबद्धता प्रतिश्याय, शिरोवेदना, शिरोरोगा: दूरी भवन्ति कफविकाराश्च निवर्तन्ते तथा रक्तशुद्धिश्च जायते [1]।

10. <u>उन्मनीमुद्रा :-</u>

सुखासने स्थित्वा अर्धोन्मिलितनेत्रयोर्नासाग्रभागे सततं दृष्टिं स्थापयेदिति -"उन्मनी मुद्रा" ।

अस्या विशेषोपयोगो मनस एकाग्रतायै विहीत: ।

प्रायश एता: सर्वा: मुद्रा: बिना बन्धेन न साध्यन्ते । बन्धाश्चैतासामंगरूपेण विहीता:, अत: केषाञ्चित् बन्धमुखानां निर्देशोऽत्र विधीयते -

---

1. क- नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्य: साधकस्य च ।।
ह. प्र. 3/80

ख- एतद् य: कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रत: ।
मृत्युं जयति योगीश: प्रलयेनापि सीदति ।।
कुरुतेऽमृतपानं य: सिद्धानां समतामियात् ।
स सेव्य: सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति य: ।।
शि. सं. 4/70-71

मूलबन्धः विधि-

पार्ष्णिभागलिङ्गरन्ध्रावरोधनं मूलबन्धः । वामपादमूलं पार्ष्णिभागे संपीड्य गुदमाकुञ्चय योनिस्थानं दृढमाकुञ्चनेना - धोगतापानं बलेन शनैः शनैरूपर्याकर्षणं मूलबन्धः कथ्यते । सिद्धा - सनेन समयम् बन्धः सम्यक् सञ्जायते । अन्यैरासनैरह पादमूलम- स्पृशन्नपि मूलबन्धो क्रियते [1]।

उड्डीयान बन्धः

जानू परिनीय पादतलौ परस्परमामेल्ल नाभेरूर्ध्वाधो भागं हठादाकृष्य मेरूदण्डमेवंसंस्थापयेद्येनोदरभागे गर्त इव प्रतीयते । उदरमन्त यावदधिकमाकृष्यते तावदेव चारूर्भवति ।

---

1. क- पार्ष्णिभागेन संपीडय योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
   अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबधोऽभिधीयते ।
   हठ. प्र. अ. 3, 61,

   ख- पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ।
   बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत् ।
   कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ।
   शि. सं. 4-64-65

अस्मिन् प्राणाः खगवत् सुषुम्णां प्रत्युड्डीयते अत एवायं बन्ध "उड्डीयान" बन्धोऽभिधीयते इमं पादतलावमेलेनापि कर्तुं शक्यते [1]।

अनेन प्राणशुक्रयोरूर्ध्वगमनं भवति मन्दाग्निर्नश्यति, क्षुधावृद्धि, फुफ्फुसदृढीकरणञ्च भवति ।

---

1. क- बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।

ख- उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगाः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ।

ग- उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वञ्च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंग केसरी ।

घ- नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ।

हठ. प्र. 3/55, 56, 57, 59

ङ. नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ।
उड्डयानबंध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः ।

च- उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डायानाख्योऽत्र बन्धोऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ।

छ- षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम् ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते ।।

शि. सं. 4/72, 73, 75

जालन्धरबन्ध:

कण्ठमाकुञ्च्य चिबुकं दृढतया कण्ठकूपे एवं स्थापयेत् यद्धृत्चिबुकयोरन्तरं चतुरंगुलं यावत् भवेत् । वक्षः पुमुखे तानं भवेत् । अयं बन्धः कण्ठस्थानीयनाडीजालं बध्नात्यत एवायं जालन्धर बन्धोऽभिधीयते [1] ।

कण्ठसंकुञ्चनेन " इडा-पिंगलयोः पिधाने प्राणाणां सुषुम्नायां प्रवेशो भवति । अनेन कण्ठस्य माधुर्यं रसवंत्वमाकर्ष - कत्वञ्च संजायते ।

---

1. क- कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
   बन्धो जालन्धराख्यो यं जरामृत्युविनाशकः ।

ख- बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ।
   ततो जालन्धरो बंधः कंठदुखौघनाशनः ।

ग- मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डीयानं तु कारयेत् ।
   इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहोयेत्पश्चिमे पथि ।

घ- अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ।
   ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ।

   ह.प्र. 3/ 70, 71, 74, 75

ड.- बद्धागलशिरा जालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
   बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ।

   शि.सं. 4-60

महाबन्धः

पादं प्रसार्य दक्षिणं पादं वामोरूपरि स्थाप्य गुदयोनिं समाकुञ्च्य अपानमुर्ध्वं कृत्य समानेन संबन्ध्य, प्राणावायुमधोमुखं कुर्यात् । बन्धो यं प्राणापानयोरूर्ध्वगतिहेतोः बुद्धिमते साधकाय कथितोऽस्ति [1]।

अथवा -

वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने स्थाप्य वामोरूपरि दक्षिण पादं नियोज्य, समसूत्रे भूय वामेन पूरकं कृत्वा {अथवा नासाबन्-धानुसारं} जालन्धरबन्धं कुर्यात् ततः मूलद्वारतो वायोरूपर्याकर्षणं

---

1. क- पार्ष्णिवामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
   वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।

ख- पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ।
   निष्पीडय वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत ।

ग- धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
   सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ।
   ह.प्र. 3-19, 20, 21

घ- ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि ।
   गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ।

ङ.- योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ।
   बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीं ।।
   शि.सं. 4-37, 38, 39,

कृत्वा मूलबन्धं विद्ध्यात् मनो मध्यनाडी नियोजयेत यथाशक्ति च कुम्भकं कुर्यात् तदनन्तरं पूरकेतरनासिकया शनैशनैः रेचयेत् इत्थं नासिकाभ्यां अनुलोम विलोमरीत्या समानं प्राणायाममभ्येत् ।

शुक्शुद्धिः,इडा पिंगला-सुषुम्नाणां सङ्गमः, बलवृद्धिश्च जायते ।

महावेधः

मूलबन्धपूर्वकं कुम्भकं कृत्वा करतलौ भुवि दृढं स्थाप्य हस्ताभ्यामुपर्युत्थाय स्फिचौ शनैशनैः ताडयेत्, एवञ्च ध्यायेत् यत् प्राणवायु "इडापिंगलां विहाय कुण्डलिनी जाग्रन सुषुम्नायां प्रविशति । ततो वायुं शनै शनैर्महाबन्धविध्यनुसारं रेचयेत् अथवा [1] -

---

1. क- महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ।

ख- समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुःस्फुरति मध्यगः ।

ग- सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत् ।
ह.प्र. 3-26, 27, 28,

घ- अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना ।
स्फिचौ संताडयेदधीमान् वेधोऽयं कीर्तितोमया ।

ङ.- वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुङ्गवः ।
ग्रन्थि सुषुम्मणा मार्गेण ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्यसौ ।
शि. सं. 4-43, 44

मूलबन्धेन सह पद्मासनमधिष्ठाय -प्राणापानौ नाभिस्थाने एकीकृत्य हस्तौ तानेकृत्वा नितम्बैः सम्मिल्य भूमौ संस्थाप्य नितम्बं [स्फिच] सासनमुत्थाप्योत्थाप्य भूमौ ताडयेत् ।

अनेन कुण्डलिनी जागृताभवति, प्राणाः सुषुम्नायां प्रविशन्ति । महाबन्ध-महामुद्रा-महावेधान त्रीनेव सहैव करणमतिलाभ - प्रदम् । यतोहि बन्ध-मुद्रा आसनैरेव क्रियन्ते अतः मुख्यानां केषाञ्चिदासनानामुल्लेखो नामनिर्देशनपूर्वकमत्र क्रियते । तेषां विधिर्लाभश्च "योगासनानां सामान्य परिचयः" "उदररोगनिवर्तकान - यासनानि" नामध्याययोः वर्णितः ।

1.	सिद्धासनम्	2.	गुप्तासनम्
3.	मुक्तासनम्	4.	भद्रासनम्
5.	सिंहासनम्	6.	स्वस्तिकासनम्
7.	पद्मासनम्	8.	कुक्कुटासनम्
9.	पश्चिमत्तानासनम्	10.	मयूरासनम्
11.	समासनम्	12.	उड्डीयानासनम् [उत्थाय]
13.	उड्डीयानासनम् [उपविश्य]	14.	वज्रासनम्
15.	सर्वाङ्गासनम्	16.	अर्धमत्स्येन्द्रासनम्
17.	हलासनम्	18.	भुजंगासनम्
19.	अर्धशलभासनम्	20.	शलभासनम्
21.	सुप्तवज्रासनम्	22.	धनुरासनम्
23.	मयूरासनम्	24.	मत्स्यासनम्
25.	योगमुद्रा	26.	मध्यमनौलिः
27.	दक्षिणनौलिः	28.	वामनौलिः
29.	शीर्षासनम्	30.	शवासनम्

संयुक्त करके प्रणव का चिन्तन करना चाहिए तथा इसके बाद पिङ्गला नाड़ी द्वारा अन्दर की वायु को बाहर निकालना चाहिए। तदनन्तर पिङ्गला से वायु भरकर अन्तः कुम्भक करके इड़ा नाड़ी से बाहर निकाल दे। इस तरह से [43] दिन, तीन, चार या सात मास अथवा एक वर्ष पर्यन्त त्रिकाल सन्ध्या के साथ तीन-तीन अथवा चार-चार बार अभ्यास करने से नाड़ी शुद्धि होती है।[149] लगभग यही नाड़ी शोधन विधि त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[150], दर्शनोपनिषद्[151], योग चूड़ामण्युपनिषद्[152], योगतत्त्वोपनिषद्[153] तथा हठ योग प्रदीपिका[154] में भी प्राप्त होती है।

दर्शनोपनिषद्[155], त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[156], योग चूड़ामण्युपनिषद्[157] तथा शाण्डिल्योपनिषद्[158] के अनुसार नाड़ी शुद्धि होने के कुछ प्रत्यक्ष लक्षण दिखाई देते हैं। इससे शरीर का हल्का होना, जठराग्नि का उद्दीप्त होना, अनाहत नाद की अभिव्यक्ति होना आदि लक्षण सिद्धि को प्रकट करते हैं। जब तक इन लक्षणों का आभास न हो तब तक नाड़ी शोधन का अभ्यास करते रहना चाहिए।

बन्ध :-

प्राणायाम के अभ्यास से यद्यपि प्राण पूर्ण रूप से संयमित हो जाते हैं तथापि मनः स्थिरता को दृढ बनाने के लिए एवं कुण्डलिनी जागरण हेतु हठ योग परम्परा में मुद्रा एवं बन्ध का अभ्यास भी बताया गया है। मुद्रा के अभ्यास का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मरन्ध्र के द्वार पर प्रसुप्त कुण्डली को जगाने हेतु प्रयत्नपूर्वक

---

149. विद्वान् समग्रीवशिरोनासाग्रदृग्भ्रूमध्ये शशभृद्बिम्बं पश्यन् नेत्राभ्याममृतं द्वादशमात्रया इडया वायुमापूर्योदरे स्थितं ज्वालानलीयुतं रेफ बिन्दुयुक्तमग्निमण्डलयुतं ध्यायेद्रे चयेत् पिङ्गलया। पुनः पिङ्गलयापूर्य कुम्भित्या रेचयेदिडया।।त्रिचतुस्त्रिचतुः सप्त त्रि चतुर्मास पर्यन्तं त्रिसंधिषु तदन्तराले च षट्कृत्व आचरेन्नाडीशुद्धिर्भवति। –शाण्डि – 1/5/2, 3
150. त्रिशिखि. – मन्त्र –95–102
151. दर्शनो. – 1/5/6–10
152. यो. चूड़ा. 93–94 तथा 98–99
153. यो. तत्त्वो. – 44–45
154. ह.यो. प्र. – 2/7–11
155. नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक्चिह्नोपलक्षितः। शरीर लघुता दीप्तिर्वह्नेजठिर वर्तिनः।।
नादाभिव्यक्तिरित्येतच्चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम्। यावददेतानि संपश्येत् तावदेवं समाचरेत्।।दर्शनो. 1/5/11–12
156. त्रिशिखि. मन्त्र – 102–103
157. यो. चूडा. – 99
158. शाण्डि. – 1/5/4

मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।[159] हठ योग प्रदीपिका में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डियान, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली तथा शक्तिचालन इन दस मुद्राओं का उल्लेख किया गया है।[160] जो योगी महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान, जालन्धर और मूलबन्ध को जानता है वह मुक्ति का पात्र होता है।[161]

योगोपनिषदों में बन्ध और मुद्राओं का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु इनका पूर्वापर सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता। फिर भी महामुद्रा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि सर्वप्रथम जालन्धर बन्ध लगाकर इस मुद्रा को किया जा सकता है अर्थात् योगी को बन्ध का अभ्यास करके ही मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।

हठ योग के समान ही योगकुण्डल्योपनिषद्[162] तथा योगशिखोपनिषद्[163] के अनुसार ये बन्ध तीन प्रकार के हैं - मूलबन्ध, उड्डीयाण बन्ध तथा जालन्धर बन्ध। इनका नित्य अभ्यास करने से वायु पर विजय प्राप्त होती है। साधक को पूरक के अन्त में (कुम्भक के समय) जालन्धर नामक बन्ध लगाना चाहिए तथा कुम्भक के अन्त में एवं रेचक के प्रारम्भ में उड्डियान् नामक बन्ध लगाना चाहिए।[164]

नीचे की ओर मूल रन्ध्र का संकोचन करने में कण्ठ का संकोचन होता है और बीच के भाग को पश्चिम (पीछे) की ओर खींचने से प्राणवायु ब्रह्मनाड़ी में निरन्तर गतिमान् होती रहती है।[165]

---

159. तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरम्। ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।। ह.यो.प्र. 3/5

160. महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी। उड्डियान मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः।।
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्। इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्।। ह.यो. प्र. 3/6-7

161. महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलंधरम्।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्।। यो. चू. उ. - 45

162. बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः।। प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयाणाभिधः।
जालंधरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते।। - यो. कु. - 1/40-41

163. बन्धत्रयमेदानीं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम्। नित्यं कृतेन तेनासौ वायोर्जयमवाप्नुयात्।।
चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते। बन्धत्रयमिदं कार्यं वक्ष्यमाणं मया हि तत्।।
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयाणाभिधः। जालंधरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम्।।
- योग शिखो. 1/101-103

164. पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालंधराभिधः।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः।। शाण्डि. - 1/7/11

165. अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः।। - शाण्डि. 1/7/12

1. मूलबन्ध :-

ध्यानबिन्दूपनिषद्[166], योगकुण्डल्योपनिषद्[167], योग चूड़ामाण्युपनिषद्[168], योगतत्त्वोपनिषद्[169], योगशिखोपनिषद्[170] के अनुसार एड़ी से योनि स्थान को दबाकर गुदा को आकुञ्चित कर अपान वायु को ऊपर की ओर खींचना ही मूलबन्ध है।

अपान वायु ऊपर जाकर वह्निमण्डल से मिलता है तो उसके प्रभाव से अग्नि की तीव्रता बहुत अधिक हो जाती है। उस अपान वह्नि से प्राण ऊष्ण हो जाता है, वह्नि के अत्यन्त प्रदीप्त होने से सारा शरीर ज्वलनशील हो जाता है। उस ज्वाला से सन्तप्त होकर सोई हुई कुण्डलिनी जागृत हो जाती है और डण्डे से मारी जाने वाली सर्पिणी के समान फुंकार कर सीधी हो जाती है। तब यह बिल में प्रवेश करने के समान सुषुम्ना के भीतर जाती है। इस प्रकार योगियों को मूलबन्ध अभ्यास सदैव करना चाहिए।[171]

हठयोग प्रदीपिका में भी ऐसा ही उल्लेख है कि जब योगी अधोगति वाले अपान वायु को गुदेन्द्रिय प्रदेश के आकुञ्चन द्वारा बलपूर्वक ऊर्ध्वमुखी करता है अर्थात् सुषुम्ना में प्रवाहित करता है, उसे ही मूलबन्ध कहते हैं।[172] घेरण्ड संहिता में इसका निरूपण इस प्रकार से किया गया है कि बायीं एडी से गुह्य प्रदेश को संकुचित कर प्रयत्नपूर्वक मेरुदण्ड में नाभि ग्रन्थि को लगाकर दबाएं और दायीं एडी से उपस्थ को दृढतापूर्वक दबा ले। यह मूलबन्ध है।[173]

---

166. पार्ष्णि भागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।।
अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते। ध्यान बिन्दु. 74-75
167. योगकुण्ड. - 1/42
168. यो. चूड़ा. उ. - 46
169. योग तत्त्वो. - 120-121
170. यो. शिखो. - 104
171. अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले। ततोडनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता।।
ततो यातौ वह्नयपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्। तेनाऽत्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते। दण्डाहत भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुता व्रजेत्।।
बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्।। तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा।।
– यो. कु. 1/43-46
172. अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्। आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः।। ह.यो. प्र. - 3/61
173. घेरण्ड संहिता - 3/14-15

मूलबन्ध का अवान्तर फल :-

मूलबन्ध का मुख्य फल यद्यपि कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करना है किन्तु इसके अन्य अनेक अवान्तर फल भी बताये गये हैं।

ध्यानबिन्दूपनिषद्,[174] योगचूड़ामण्युपनिषद्[175] के अनुसार नियमित रूप से मूलबन्ध का अभ्यास करने से प्राण और अपान की एकता होती है। मल-मूत्र कम हो जाता है और वृद्ध भी युवा हो जाता है। योगतत्त्वोपनिषद्[176] तथा योगशिखोपनिषद्[177] के अनुसार इस क्रिया से प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता की प्राप्ति होती है तथा यह निश्चित रूप से योग सिद्ध कराने वाला है।

हठयोग प्रदीपिका[178] में भी ऐसा ही वर्णन प्राप्त होता है जब इस बन्ध के अभ्यास से अपान वायु ऊर्ध्वगामी हो जाती है, तब वह वह्निमण्डल अर्थात् उदर की जठराग्नि में जा पहुँचता है। अपान वायु से आहत हुई जठराग्नि और अधिक प्रदीप्त हो उठती है। तब अग्नि और अपान वायु प्राण को ऊष्ण बना देते है। इससे अग्नि की देह अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त इस बन्ध के निरन्तर अभ्यास से गुदा सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण तथा उदर सम्बन्धी रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। बवासीर सदृश रोगों की तो यह अचूक दवा है।

घेरण्ड संहिता में कहा गया है कि इससे वृद्धावस्था नष्ट हो जाती है। संसार रूपी सागर से पार होने वाले आकांक्षियों को जनहीन स्थान (निर्जन) में छिपकर ही इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इससे मरुत् सिद्धि होती है। अतएव मौन एवं आलस्य रहित होकर इसका अभ्यास करना चाहिए।[179]

---

174. अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्र पुरीषयोः।। युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।
- ध्या. बिन्दु. 73-74

175. यो. चू. उ. - 47

176. प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।। यो. तत्त्वो. - 121-122

177. योगशिखो. - 105

178. ततो यातो वह्नयपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्। तेनात्यन्तप्रदीपस्तु ज्वलनो देहजस्तथा।।
- हठ यो. प्र. - 3/66

179. घेरण्ड संहिता - 3/16-17

उड्डियाण बन्ध :-

ध्यानबिन्दूपनिषद्[180], योगचूड़ामण्युपनिषद्[181] तथा योगतत्त्वोपनिषद्[182] के अनुसार जिस प्रकार अविश्रान्त पक्षी ऊपर की ओर उड़ान भरता रहता है उसी प्रकार उदर से नाभि को ऊपर की ओर तानना पश्चिमोत्तान कहा जाता है। उड्डियाण बन्ध भी उदर में होता है। इसको वही किया जाता है। इस बन्ध से प्राण सुषुम्ना में उठ जाता है इसीलिए इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

योगकुण्डल्योपनिषद्[183] तथा योगशिखोपनिषद्[184] के अनुसार कुम्भक के पश्चात् रेचक करने से पूर्व उड्डियान बन्ध करना चाहिए जिससे प्राणवायु सुषुम्ना के भीतर उड़ती है। इसलिए योगीजन इसको उड्डियाण कहते हैं। अतः वज्रासन लगाकर पैरों को हाथों से दृढतापूर्वक पकड़े। जहाँ गुल्फ (टखना) रखा जाता है वहाँ कन्द स्थानों को दबायें, पेट को ऊपर की तरफ खींचें और हृदय तथा गले को भी तनाव देकर खींचें। इस विधि से प्राण क्रमशः पेट की सन्धियों में प्रवेश करता है और पेट के सब दोषों को दूर करता है। इस कारण यह अभ्यास सदैव करते रहना चाहिए।

इसके अभ्यास से आलस्य रहित, वृद्ध व्यक्ति भी तरुण के समान हो जाता है। नाभि के ऊर्ध्व एवं अधः भाग में अच्छी तरह से आकर्षण पूर्वक छः मास तक अभ्यास करने से योगी निस्संदेह मृत्यु को वश में कर लेता है।[185]

हठयोग प्रदीपिका में समस्त बन्धों में इसे उत्तम माना जाता है। उड्डियाण बन्ध के दृढ होने पर साधक

---

180. उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः।। उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्।। उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।।
– ध्यान बिन्दू. – 75–77

181. यो. चू. उ. – 48–49

182. मृत्युमातङ्गकेसरी बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।।
उड्यानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः। योग तत्त्वो. – 119–120

183. कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः। बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।।
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः। सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम्।।
गुल्फ देश समीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्। पश्चिमं ताणमुदरे धारयेद्धृदये गले।।
शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसंधिं निगच्छति। तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः।। यो. कु. – 1/47–50

184. योगशिखो. – 1/106–107

185. अभ्यसेत् तदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्। नाभेरूर्ध्वमधर श्चा ताणं कुर्यात् प्रयत्नतः।।
षाण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः। योग शिखो. – 1/108–109

स्वभावतः मुक्त हो जाता है।[186]

जालंधर बन्ध :-

ध्यानबिन्दूपनिषद्[187] तथा योगचूड़ामण्युपनिषद्[188] के अनुसार जो नीचे की तरफ जाने वाले आकाश और जल तत्त्व को शिर में ही स्थिर रखता है। ऐसा जालन्धर बन्ध दु:ख और कष्ट समूह का नाश करने वाला है। जालन्धर बन्ध के करने में जो कण्ठ का संकोचन किया जाता है, उससे अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और वायु भी नहीं दौड़ती है अर्थात् स्थिर हो जाती है।

योगकुण्डल्योपनिषद्[189] के अनुसार जालंधर बन्ध में कण्ठ का संकोचन वायु को रोकने के निमित्त किया जाता है। वह बन्ध पूरक के अन्त में करना होता है। अधो भाग में मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुञ्चन करे और ऊपर से जालन्धर बन्ध द्वारा कण्ठ का सङ्कोचन करे और मध्य में पश्चिमोत्तान उड्डियाण से प्राण को खींचें। इस प्रकार सब तरफ से रोका गया ब्रह्मनाड़ी (सुषुम्ना) में चढ़ता है। सम्यक् प्रकार से आसन पर बैठकर सरस्वती का चालन करके प्राण निरोध करना चाहिए।

हठ योग प्रदीपिका में कण्ठ को संकुचित करके हृदय में चिबुक को दृढतापूर्वक स्थापित करना ही जालन्धर बन्ध बताया है। जो वृद्धावस्था तथा मृत्यु का विनाशक है। यह बन्ध इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में वायु के प्रवाह को दृढ़तापूर्वक रोकता है। यह मध्य चक्र अर्थात् विशुद्ध चक्र है। इससे शरीर के सोलह आधारों का बन्ध होता है। इन आधारों का बन्द होना आवश्यक है क्योंकि इसके बिना योगसिद्धि की कल्पना ही व्यर्थ है। मूल, उड्डियमाण एवं जालन्धर इन तीन बन्धों का हठ योग क्रियाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन बन्धों को अनेक सिद्धियों का जनक बताया गया है।[190]

---

186. ह.यो.प्र. – 3/55-60

187. बध्नाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम्।। ततो जालंधरो बन्धः कण्ठदु:खौघनाशनः।
जालंधरे कृते बन्धे कण्ठ संकोच लक्षणे।। न पीयूषं पतयग्नौ न च वायुः प्रधावति।।
– ध्यान बि. – 77-78

188. यो.चू.उ. – 50-51

189. पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालंधराभिधः। कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः।।
अधस्तात कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते। मध्ये पश्चिमताणेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः।।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः। पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः।
चालन तु सरस्वत्याः कृत्वा प्राणं निरोधयेत्।। यो.कु. 1/51-53

190. ह.यो.प्र. – 3/70-75

मुद्रा :-

हठ योग एवं योगोपनिषदों में नाड़ी शोधन व प्राण के ऊर्ध्वगमन हेतु विभिन्न मुद्राएँ प्रतिपादित की गयी हैं। जैसे खेचरी मुद्रा, महामुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, वज्रोली, अमरोली, अश्विनी मुद्रा, शक्ति चालिनी, योनिमुद्रा, षण्मुखी मुद्रा, शांभवी मुद्रा आदि।

खेचरी मुद्रा :-

ध्यानबिन्दूपनिषद्[191], योगचूड़ामण्युपनिषद्[192], योगतत्त्वोपनिषद्[193], योगशिखोपनिषद्[194] तथा शाण्डिल्योपनिषद्[195] के अनुसार जिह्वा को लौटाकर कपाल कुहर में प्रविष्ट करने और दोनों भौंहों के बीच दृष्टि स्थिर करना ही खेचरी मुद्रा है। योगकुण्डल्योपनिषद्[196] में इसका स्वरूप अन्य उपनिषदों से अत्यन्त भिन्न है। सर्वप्रथम साधक को सात दिन तक तालु के मूल स्थान को घिसते हुए वहाँ का मैल दूर करना चाहिए। तत्पश्चात थूधूहर के पत्ते के समान तीक्ष्ण धार वाले चाकू से तालू के मूल को बाल के बराबर काटे। कटे स्थान पर हर्र और सैन्धे नमक का चूर्ण लगायें। पुनः सात दिन पश्चात् पूर्ववत् काटे। इस क्रम से निरन्तर अभ्यास करते हुए जीभ का तालु के साथ वाला बन्धन कट जाएगा। तब जीभ के अग्रभाग को कपड़े से लपेट कर धीरे-धीरे बाहर की ओर दोहन करे। इस प्रकार छः मास तक अभ्यास करने से जीभ बढ़कर भौहों तक, कान के छेद तक पहुँचने लगती है। निरन्तर अभ्यास से तीसरे वर्ष बालों तक, कन्धे तक, कण्ठकूप तक पहुँच जाती है। अगले तीन वर्षों के अभ्यास से गर्दन के पीछे तक तथा कण्ठ के अन्त तक पहुँच जाती है। धीरे-धीरे जिह्वा मस्तक से होती हुई ब्रह्मारन्ध्र को भेद जाती है। तब विधिपूर्वक मन्थन करना चाहिए। मन्थन के लिए सुवर्ण, चांदी अथवा लोहे की शलाकों के सिरे पर दुग्ध लगाकर उसे नाक के भीतर डाले और प्राण को हृदय में निरोध कर सुखासन पर बैठकर, भ्रूमध्य में ध्यान लगाते हुए मन्थन करे। मन्थन महीने में एक बार करना चाहिए। इस प्रकार बारह वर्ष अभ्यास करने पर

---

191. कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।।
 भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी। - ध्यान. - 79-80
192. योगचूड़ा. - 52
193. योग तत्त्वो. - 117-118
194. योगशिखो. - 5/40
195. शाण्डि. - 1/42-1
196. तालुमूलं समुत्कृत्य सप्तवासरमात्मवित्। स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत्।।
 स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्ध निर्मलम्। समादाय ततस्तेन लोमभा समुच्छितेत्।।
 शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्मात्माविभेदतः। ब्रह्माण्डोडयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली।। - योगकुण्ड.2/28-49

निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त होती है।

फल :–

योगचूड़ामण्युपनिषद्[197], ध्यानबिन्दूपनिषद्[198], योगकुण्डल्योपनिषद्[199] तथ योगशिखोपनिषद्[200] के अनुसार पैर से लेकर सिर तक समस्त अङ्गों का पोषण करने वाली सभी नाड़ियों का आधार बिन्दु खेचरी मुद्रा है। जो योगी खेचरी मुद्रा से कपाल कुहर को बन्द करने में अभ्यस्त हो जाता है उसका वीर्य किसी प्रकार भी नष्ट नहीं होता। जब तक देह में वीर्य विद्यमान है तब तक उसे न मृत्यु का, न रोग का, न भूख प्यास का भय रहता है। वह काल बन्धन से भी रहित होता है। अत: ऐसे सिद्ध खेचरी मुद्रा के अभ्यासी को नमस्कार करते हैं।

शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार खेचरी मुद्रा से उन्मनी दशा प्राप्त होती है, फिर योगनिद्रा प्राप्त होती है। योग निद्रा प्राप्त योगी का काल नहीं होता।[201]

महामुद्रा :–

ध्यानबिन्दूपनिषद्[202], योग चूडामण्युपनिषद्[203] तथा योगतत्त्वोपनिषद्[204] के अनुसार नाड़ी जाल का

---

197. न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा। न च मूर्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।
पीड्यते न चरोगेण लिप्यते न स कर्मभि:। बध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खे चरीम्।।
चित्तं चरति सेखे यस्माज्जिह्वा चरति खे यत:। तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता।।
बिन्दुमूलशरीराणि सिरा यत्र प्रतिष्ठित:। भावयन्ति शरीराणि आपादतलमस्तकम्।।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वत:। न तस्य क्षीयते बिन्दु: कामिन्यालिङ्गितस्य च।।
यावद्बिन्द्ब: स्थितो देहे तावन्मृत्यभयंकुत:। यावद्बद्धा नभो मुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति।।
–योग चुड़ा. – 53–58

198. ध्यानबिन्दु 80–85

199. योगकुण्ड. 2/1–4

200. योगशिखो. – 5/41–42

201. तस्मात् खेचरीमुद्रामभ्यसेत्। ततोन्मनी भवति। ततो योगनिद्रा भवति। लब्ध योगनिद्रस्य योगिन: कालो नास्ति।।
शाण्डि. – 1/7/17

202. शोधनं मलजालानां घटनं चन्द्रसूर्ययो:।
रसानां शोषणं सम्यङ् महामुद्राभिधीयते।।
वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुषिरं योनेश्च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन् प्रविततं पादं तथा दक्षिणम्।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचयेद्वेषा
देषा पातकनाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते।। ध्यान बिन्दु. – 91–93

शोधन करने वाली, चन्द्र-सूर्य को चलाना और रस को सुखाने वाली महामुद्रा है। ठोढी को छाती पर रखकर अर्थात् जालंधर बन्ध लगाकर बाँयें पैर से योनि स्थान को देर तक दबाकर, दाँये पैर को सीधा फैला कर दोनों हाथों से भली प्रकार पकड़े, तब उन दोनों कुक्षियों (बगलों) में श्वास भरे और फिर धीरे-धीरे उनका रेचन करे। यह सब प्रकार की व्याधियों को नष्ट करने वाली महामुद्रा कही जाती है। पहले चन्द्रांश (बाँयी नासिका) से अभ्यास करे और फिर सूर्यांश (दाँयी नासिका) से अभ्यास करे। जब दोनों की संख्या समान हो जाये तब अभ्यास को बन्द कर दें।

हठ योग प्रदीपिका के अनुसार महामुद्रा में वामपाद से योनिस्थान (सीवनी) को अच्छी तरह दबाकर दाहिना पैर फैलाकर, दोनों हाथों से दृढतापूर्वक धारण करना चाहिए। तत्पश्चात् कण्ठ में जालन्धर बन्ध लगाकर वायु को सुषुम्ना नाड़ी में स्थित करना चाहिए जिस प्रकार सर्प डण्डे की चोट से दण्ड के समान सीधा हो जाता है, उसी प्रकार मुद्राओं के निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सहसा सीधी हो जाती है। उसी समय प्राण का दोनों नासापुटों से वियोग होने पर इडा एवं पिङ्गला प्राण रहित होने के कारण मरणावस्था को प्राप्त होती है। तत्पश्चात् वायु को धीरे-धीरे रेचन किया जाता है। श्रेष्ठ योगियों ने इसी को महामुद्रा कहा है। यह महासिद्धि देने वाली है।[205]

फल :-

इस मुद्रा के प्रभाव से पथ्य-अपथ्य ही नही, सब प्रकार का नीरस भोजन भी रसवान बन जाता है। अधिक खाया हुआ और तीव्र विष भी अमृत के समान पच जाता है। क्षय, कोढ, गुदावर्त (भगन्दर) गुल्म, अजीर्ण और आगे होने वाले समस्त रोग महामुद्रा के अभ्यास से शमन हो जाते हैं। यह महासिद्धि देने वाली है।

203. योगचूडा. - 65-67

204. योगतत्त्वो., पृ. 382

205. पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम्।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यांये धारयेद् दृढम्।
कण्ठे बन्धं समारोप्य धारपेद्वायुमूर्ध्वतः।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।।
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया।।
ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः।।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता।। हठ योग. प्र. - 3/10-13

इसको यत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिए, चाहे जिस किसी को नहीं बताना चाहिए।[206]

विपरीतकरणी मुद्रा :-

योगतत्त्वोपनिषद्[207] में 'करणी विपरीत' के द्वारा ही इसका लक्षण बताया गया है। इस मुद्रा के लिए प्रथम दिन क्षण भर के लिए सिर नीचे की ओर करके तथा पैरों को ऊपर की ओर करे। इसके पश्चात् प्रत्येक दिन एक-एक क्षण भर निरन्तर अभ्यास बढ़ाते रहें, तो छः मास में ही साधक के शरीर की झुर्रियाँ तथा बालों की सफेदी समाप्त हो जाएगी। इसका नित्य अभ्यास करने से साधक की जठराग्नि बढ़ जाती है। इस कारण साधक अधिक आहार (भोजन) को पचा सकने में समर्थ हो जाता है। जो प्रतिदिन एक पहर (तीन घंटे) तक इसका अभ्यास करता है, वह योगी काल को अपने वश में कर लेगा।

यहाँ हठयोग प्रदीपिका[208], गोरक्ष संहिता[209], घेरण्ड संहिता[210] में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है। यहां इसके अभ्यासी को पर्याप्त मात्रा में आहार ग्रहण करना चाहिए अन्यथा प्रदीप्त जठराग्नि शरीरस्थ रक्त, मज्जादि धातुओं को जलाने लगती है। अभ्यास का आरम्भ करते समय प्रथम दिन क्षण मात्र के लिए ही सिर नीचे एवं पैर ऊपर करने चाहिए। शनैः शनैः क्षणों में वृद्धि करनी चाहिए।[211]

वज्रोली मुद्रा :-

उपनिषद्कार ने वज्रोली मुद्रा से होने वाले लाभ का ही उल्लेख किया है। टीकाकार श्री उपनिषद्

---

206. नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः। अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते।।
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः। तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्। गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।।
- योग चूडा. - 68-70

207. करणी विपरीताख्या सर्वाधि व्याधिनाशिनी।। नित्यमभ्यास युक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी।।
आहारा बहवस्तस्य संपाद्याः साधकस्य च। अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात्।
अध शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने।। क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेत्तु दिने दिने।।
वली च पलितं चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते।। याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्सतुकालजित्।।
- योग तत्त्वो. - 122-126

208. ह.यो.प्र. - 3/78

209. गोरक्ष. - 2/32-33

210. घेर. सं. - 3/33-34

211. नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्नि विवर्धिनी।। आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च।।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्।। अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने।। - ह.यो.प्र. - 3/79-80

ब्रह्मयोगी ने इसका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है। काँसे के पात्र में गो का दूध डालकर ताँबे, स्वर्ण, रजत अथवा रबड़ की पतली नली को लिङ्गेन्द्रिय के माध्यम से प्रतिदिन एक-एक अङ्गुल परिमाण से ऊपर की ओर प्रवेश कराना चाहिए। इस अभ्यास में सिद्धहस्त योगी स्वबिन्द्र का पतन नहीं होने देता। बिन्दू का शरीर में धारण करना ही वज्रोली मुद्रा है।[212]

हठयोग में भी उपर्युक्त उपनिषद् के अनुसार ही इसका स्वरूप बतलाया है परन्तु सहजोली तथा अमरोली दो भेद बतलाए हैं[213] जबकि योगोपनिषद् में अमरोली मुद्रा को भिन्न मुद्रा माना है तथा सहजोली का उल्लेख ही नहीं मिलता। जो योगी 'अमरी' (मूत्र) को प्रतिदिन पीता है। घ्राणेन्द्रिय के द्वारा सूँघता है तथा वज्रोली का सम्यक् अभ्यास करता है, उसे अमरोली का साधक कहा जाता है।[214] हठयोग के अनुसार वज्रोली का सम्यक् अभ्यास करते हुए नासिका प्रदेश से स्त्रवित होने वाला स्राव का पान ही अमरोली है तथा वज्रोली के उपरान्त गोबर की उत्तम भस्म को जल में मिलाकर सम्पूर्ण अङ्गों पर लगाना ही सहजोली है। यह भोग युक्त होते हुए भी मुक्तदायिनी है। व्रजोली मुद्रा का अभ्यस्त योगी शीघ्र ही सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है। तीनों कालों का ज्ञाता तथा आकाश मार्ग में गमन करने में समर्थ हो जाता है।[215]

षण्मुखी मुद्रा :-

षण्मुखी मुद्रा के अभ्यास से प्राण वायु वश में हो जाती है। दर्शनोपनिषद् में ही इस मुद्रा की दो विधियों का उल्लेख मिलता है। प्रथमानुसार एकाग्र चित्त से स्वास्तिकासन लगाकर प्रणव जप करते हुए धीरे-धीरे प्राण वायु को ऊपर की उठायें। दोनों अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनी अँगुलियों से दोनों नेत्रों को तथा अन्य

---

212. कांस्य पात्रे गोक्षीरं निक्षिप्य वजोलीतुल्यलिङ्गनालेन ग्रसित्वा पुनर्विरेच्य पुनर्ग्रसना दिकमभ्यस्याथ स्त्रीयोनिमण्डले रेतो विसृज्यं तच्छोणितेन साकं ग्रसेदिति यत् सैव वज्रोली त्युच्यते। - योगतत्त्वो,-टीका, पृ. 384

213. यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे। शनैः शनै प्रकुर्वीत वायु सञ्चार कारणात्।।
नारी भगे पतद्बिन्दुमभ्यासे नोर्ध्वमाहरेत्। चलितं च निजं बिन्दुर्मूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।।
एवं संरक्षयेद् बिन्दु मृत्युं जयति योगवित्। मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दु धारणात्।।
सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः। जलेषु भस्म विक्षिप्य दग्धगोमय सम्भवम्।।
वज्रोली मैथुनादूर्ध्व स्त्री प्रंसोः स्वाङ्गलेपनम्। आसीनयोः सुखेनैव मुक्त व्यायकयोः क्षणात्।।
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने। वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते।।
- ह. यो. प्र. - 3/85-95

214. योग तत्त्वो. - 128

215. वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम्।। लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।।
अतीतनागतंवेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्।। ह. यो. 3/80-81

दो-दो अँगुलियों से नासिका के दोनों छिद्रों को बन्द कर लें। अपान वायु को मस्तिष्क में तब तक धारण करे, जब तक आनन्द रूपी अमृत प्रकट न हो जाए। इस प्रकार प्राण वायु ब्रह्मरून्ध्र में प्रविष्ट होने पर सर्वप्रथम शंखध्वनि की भाँति गम्भीर नाद सुनाई देता है। बीच में वह नाद में मेघर्गजन की भाँति होने लगता है। जब प्राण मस्तिष्क के बीच में प्रतिष्ठित होता है। तब पर्वत से गिरते हुए झरने की कल-कल ध्वनि के समान शब्द होता है। तदनन्तर योगी आत्मानन्द की अनुभूति करते हुए सांसारिक बन्धनों से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है।[216] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[217] तथा योगचूड़ामण्युपनिषद्[218] में भी षण्मुखी मुद्रा का यही स्वरूप बताया गया है।

द्वितीयानुसार, गुदा एवं लिङ्ग के मध्य स्थित सीवनी को दायें एवं बायें टखने से दबाकर बैठें तथा घुटनों को नीचे जोड़ में भगवान् त्र्यम्बक् रूप ज्योतिर्लिङ्ग, माता सरस्वती तथा गणेश जी का चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् ॐकार का जप करते हुए लिङ्ग के छिद्र से प्राणवायु को खींचकर मूलाधार में रोकने से वहाँ की अग्नि कुण्डलिनी पर आरूढ़ हो जाती है। तत्पश्चात् अग्नि को साथ लेकर वायु सुषुम्ना नाड़ी के माध्यम से ऊर्ध्वगामी हो जाती है।[219]

---

216. स्वस्तिकासनमास्थाय समाहितमनास्तथा।। अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्रणवेन शनैः शनैः।
हस्ताभ्यां धारयेत् सम्यक् कर्णादि करणानि च।। अङ्गुष्ठाभ्यां मुने श्रोत्रे तर्जनीभ्यां तु चक्षुषी।
नासापुटावथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि वै। आनन्दाविर्भावो यावत् तावन्मूर्धनि धारयेत्।
प्राणः प्रयात्यनेनैव ब्रह्मरन्ध्रं महामुने।। ब्रह्मरन्ध्रं गते वायौ नाद श्चोत्पद्यतेऽनघ।
शङ्खध्वनिनिभर श्चादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा। शिरोमध्यगते वायौ गिरि प्रस्त्रवणं यथा।
पश्चात् प्रीतो महाप्राज्ञ साक्षादात्मोन्मुखे भवेत्।। पुनस्तज्ज्ञाननिष्पत्तिर्योगात् संसार निह्नुतिः।
– दर्शनो. 6/32-38

217. मनसो धारणादेव पवनो धारितो भवेत्। मनसः स्थापने हेतुरुच्यते द्विजपुङ्गव।।
कारणानि समाहृत्य विषयेभ्यः समाहितः। अपानमूर्ध्वमाकृष्येदुदरोपरि धारयेत्।।
बध्नन् कराभ्यां श्रोत्रादिकरणानि यथा तथम्। युञ्जानस्य तथोक्तेन वर्त्मना स्ववंश मनः।।
मनोवशात् प्राणवायुः स्ववशे स्थाप्यते सदा। नासिकापुटयोः प्राणः पर्यायेण प्रवर्तते।।
– त्रिशिखि. मन्त्र. – 114-117

218. योग चूड़ा. – 114-115

219. दक्षिणोत्तरगुल्फेन सीवनीं पीडयेत् स्थिराम्।। सव्येतरेण गुल्फेन पीडयेद् बुद्धिमान् नरः।
जान्वोरधः स्थितां संधिं स्मृत्वा देवं त्रियम्बकम्।। विनायकं च संस्मृत्य तथा वागीश्वरीं पुनः।
लिङ्गनालात् समाकृष्य वायुमप्यग्रतो मुने।। प्रणवेन नियुक्तेन बिन्दुयुक्तेन बुद्धिमान्।
मूलाधारस्य विप्रेन्द्र मध्ये तं तु निरोधयेत्।। निरुध्य वायुना दीप्तो वह्निरूहति कुण्डलीम्।
पुनः सुषुम्नया वायुर्वह्निना सह गच्छति।। दर्शनो. – 6/38-42

इस प्रकार के अभ्यास से वायु पर विशेष रूप से विजय प्राप्त होती है। सर्वप्रथम शरीर से पसीने का बहिर्गमन होना, शरीर में कम्पन होना तथा शरीर का ऊपर की ओर उठना – ये सभी वायु को विजयी करने के संकेत हैं। सभी रोग, पाप-पुण्य नष्ट हो जाते हैं। पारलौकिक सुखों के प्रति भी विरक्ति हो जाती है। इस प्रकार वह जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है।[220]

शांभवी मुद्रा :-

अद्वय तारकोपनिषद् के अनुसार साधक की अन्तः बाह्य लक्ष्य को देखने वाली दृष्टि का स्थिर होना ही शांभवी मुद्रा है। इस मुद्रा से युक्त योगी के देखने मात्र से ही दूसरे लोग पवित्र हो जाते हैं तथा जो ऐसे योगी की उपासना करते हैं वह मुक्त हो जाता है।[221]

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार योगी को सिद्धासन लगाकर षण्मुखीमुद्राभ्यास के क्रम से वह्निमण्डल आदि दिखाई देते है। सर्वप्रथम अग्नि मण्डल, उसके ऊपर सूर्य मण्डल तथा दोनों के बीच में सुधा स्वरूप चन्द्रमण्डल हैं। उसके बीच में अखण्ड ब्रह्म का तेजोमण्डल हैं। वह विद्युत रेखावत् श्वेत और प्रकाशमान् है। यही शांभवी मुद्रा का लक्षण है।[222] अखण्ड ब्रह्म का दर्शन करने से तीनों स्वरूप दृष्टि में आते हैं। ये रूप – अमावस्या, प्रतिपदा और पूर्णिमा रूप है। निमीलित दृष्टि अमावस्या स्वरूप है, अर्धनिमीलित दृष्टि प्रतिपदा स्वरूप है और पूरी तरह खुली हुई दृष्टि पूर्णिमा स्वरूप है। इसलिए पूर्णिमा रूप दृष्टि का ही अभ्यास करना चाहिए।[223]

---

220. प्रस्वेदः प्रथमः पश्चात् कम्पनं मुनिप्रङ्गव।। उत्थानं च शरीरस्य चिह्नमेतज्जितेऽनिले।
एवमभ्यस्तस्तस्त मूल रोगो विनश्यति।। भगंधरं च नष्टं स्यात् सर्वरोगाश्च सांकृते।
पातकानि विनश्यन्ति क्षुद्राणि च महान्ति च।। नष्टे पापे विशुद्धं स्यच्चित्तदर्पणमदतभुम्।
पुनर्ब्रह्मादि भोगेभ्यो वैराग्यं जायते हृदि।। विरक्तस्य तु संसाराज्ज्ञानं कैवल्यसाधनम्।
तेन पाशापहानिः स्यात् ज्ञात्वा देवं सदाशिवम्।। ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत्।।
स सर्वकार्यमुत्सृज्य तत्रैव परिधावति।। ज्ञान स्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः।
अर्थस्वरूपम ज्ञानात् पश्यन्त्यन्ते कुदृष्ट्यः।। आत्मस्वरूप विज्ञानादज्ञानस्य परिक्षयः।
क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षयः।। रागाद्यसंभवते प्राज्ञ पुण्यपाप विमर्शनम्।
तयोर्नाशे शरीरेण न पुनः संप्रयुज्यते।। दर्शनो. – 6/43-51

221. अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टौ निमेषोन्मेष वर्जितायां सत्यां शांभवी मुद्रा भवति। तन्मुद्रारूढ ज्ञानिनिवासात् भूमिः पवित्रा भवति। तद्दृष्ट्या सर्वे लोकाः पवित्रा भवन्ति। तादृशयोगि पूजा यस्य लभ्यते सोऽपि मुक्तो भवति।।
अद्वय. – 12

222. आदावग्निमण्डलम्। तदुपरि सूर्यमण्डलम्। तन्मध्ये सुधा चन्द्रमण्डलम्। तन्मध्येऽखण्डब्रह्मतेजोमण्डलम्। तद्विद्युल्लेखावच्छुक्ल भास्वरम्। तदेव शांभवी लक्षणम्।। मण्डल – 2/5

223. तद्दर्शने तिस्त्रो दृष्ट्यः अमाप्रतिपत्पूर्णिमा चेति। निमीलित दर्शनममादृष्टिः। अर्धोन्मीलितं प्रतिपत्। सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति। तासु पूर्णिमाभ्यासः कर्तव्यः। मण्डल. – 2/1/6

उस (पूर्णिमा रूप दृष्टि) का लक्ष्य नासाग्र है। जिस समय तालुमूल में प्रगाढ़ अन्धकार के दर्शन होते है, उस समय अभ्यास के द्वारा अखण्ड मण्डलाकार ज्योति दिखाई देती है, वही सच्चिदानन्द ब्रह्म है जब मन सहजानन्द में लीन हो जाता है, तब शाम्भवी मुद्रा सिद्ध होती है, उपनिषद्कार ने इसी शांभवी मुद्रा को खेचरी मुद्रा कहा है।[224] उसके अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है फिर वायु स्थिर हो जाती है। उसके चिह्न इस प्रकार होते हैं जैसे पहले तारा दिखाई देता है फिर हीरे के दर्पण जैसा दिखाई देता है। उसके बाद पूर्ण चन्द्रमण्डल जान पड़ता है उसके पश्चात् नवरत्नों की प्रभा का मण्डल दिखाई देता है। फिर दोपहर के सूर्य का मंडल दिखाई देता है और फिर क्रम से अग्नि की शिखा का मंडल दिखाई देता है।[225]

इसी उपनिषद् में एक स्थान पर सूर्य मण्डल में रहने वाला पुरुष महामुनि याज्ञवल्क्य को अमनस्क स्थिति का स्वरूप बताते हुए कहते है कि यह अत्यन्त रहस्यमय है, इसके ज्ञान से मनुष्य कृतार्थ हो जाता है, वह सदैव शांभवीमुद्रायुक्त होता है।[226]

हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि जब योगी अपने चित्त एवं प्राण वायु को अन्तर्लक्ष्य में विलीन कर निश्चल तारे वाली दृष्टि से बाहर नीचे की ओर देखता हुआ भी नहीं देखता है, तब यही स्थिति शाम्भवी मुद्रा है।[227] घेरण्ड संहिता के अनुसार भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर कर एकाग्र मन से परमात्मा का ध्यान ही शाम्भवी मुद्रा है।[228]

वैष्णवी मुद्रा :-

इस मुद्रा का उल्लेख मात्र शाण्डिल्योपनिषद् में ही मिलता है। अन्तः करण में लक्ष्य निहित हो तथा बाह्य दृष्टि निमेष-उन्मेष अर्थात् पलक झपकने से विहीन हो, यही वैष्णवी मुद्रा है।[229]

---

224. तल्लक्ष्यं नासाग्रम्। तदा तालुमूले गाढ़तमो दृश्यते। तदभ्यासादखण्डमण्डलाकार ज्योतिर्दश्यते। तदेव सच्चिदानन्द ब्रह्म भवति।। एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शांभवी भवति। तामेव खेचरीमाहुः।।
म.ब्रा. 2/1/7-8

225. तदभ्यासान्मनःस्थैर्यम्। ततो बुद्धिस्थैर्यम्। तच्चिह्नानि। आदौ तारकवद् दृश्यते। ततो वज्रदर्पणम्। ततः परिपूर्ण चन्द्रमण्डलम्। ततो रत्नप्रभामण्डलम्। ततो मध्याह्नार्क मण्डलम्। ततो वह्निशिखामण्डलं क्रमाद् दृश्यते।।
म.ब्रा. 2/1/10

226. इदममनस्कमतिरहस्यम् यज्ज्ञानेन कृतार्थो भवति तन्नित्यं शांभवीमुद्रान्वितम्।। म. ब्राह्म. 3/1/2

227. ह.यो.प्र. - 3/37

228. घेरण्ड संहिता - 3/64

229. अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता। एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।। शाण्डि. - 1/7/14

मुद्रा

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ 3:5 ॥

इसलिए ब्रह्म-द्वार के मुख पर सोती हुई देवी (कुण्डलिनी) को जगाने के लिए, पूर्ण प्रयास के साथ मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।

हठयोग प्रदीपिका

मुद्रा परिचय

संस्कृत शब्द *मुद्रा* का अर्थ होता है, 'भाव-भंगिमा'। ये मुद्राएँ अतीन्द्रिय, भावनात्मक, भक्तिपूर्ण और सौन्दर्यबोधक हो सकती हैं। योगियों ने मुद्राओं की अनुभूति शक्ति-प्रवाह की स्थितियों के रूप में की, जिनका उद्देश्य होता है, व्यक्ति की प्राणशक्ति को ब्रह्माण्डीय प्राणशक्ति के साथ जोड़ना। *'कुलार्णव तन्त्र'* के अनुसार मुद्रा की व्युत्पत्ति *'मुद्'* धातु से हुई है, जिसका अर्थ 'प्रसन्नता' या 'उल्लास' होता है और *'द्र'* के कारण रूप *'द्रव्य'* का अर्थ होता है 'खींचना'। मुद्रा को 'मुहर', 'लघु-मार्ग' या 'पार्श्व-पथ' के रूप में भी परिभाषित किया जाता है।

मुद्रायें सूक्ष्म शारीरिक गतियों का संयोजन हैं, जो मनोवृत्ति, मनोदशा और सहज बोध में परिवर्तन लाती हैं और सजगता एवं एकाग्रता को गहरा बनाती हैं। किसी मुद्रा में आसन, प्राणायाम और मानस-दर्शन के अभ्यासों के साथ सम्पूर्ण शरीर की सहभागिता हो सकती है और दूसरी ओर यह केवल हस्त मुद्रा भी हो सकती है। *हठयोग प्रदीपिका* एवं अन्य योग-शास्त्रों में मुद्रा को *'योगांग'* कहा गया है, जिसमें बहुत सूक्ष्म सजगता की आवश्यकता होती है। आसन, प्राणायाम और बन्ध में कुछ दक्षता प्राप्त हो जाने और स्थूल अवरोधों को दूर कर देने के बाद मुद्रा से परिचित कराया जाता है।

प्राचीन काल से आज तक विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में मुद्राओं का उल्लेख किया गया है, ताकि आगे की पीढ़ी के लिए इन्हें सुरक्षित रखा जा सके। फिर भी इस विषय पर विस्तारपूर्वक प्रकाश नहीं डाला गया है या स्पष्टता से वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि इन विधियों को पुस्तक से सीखना उचित

नहीं माना गया था। इन अभ्यासों को करने के पहले गुरु से इन विधियों का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना हमेशा आवश्यक माना गया। मुद्राओं के अभ्यास उच्च कोटि के हैं, जिनसे प्राणों, चक्रों एवं कुण्डलिनी का जागरण होता है और उच्च साधकों को महान् सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

मुद्रा एवं प्राण

मुद्राओं के अभ्यास में जो भाव और भंगिमायें अपनायी जाती हैं, वे अन्नमय कोश, मनोमय कोश और प्राणमय कोश के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित करती हैं। प्रारम्भ में, इससे अभ्यासी के भीतर शरीर में प्राण-प्रवाह के प्रति सजगता विकसित होती है। अंतत: यह कोशों में प्राणिक संतुलन स्थापित करता है और सूक्ष्म ऊर्जा को ऊपर के चक्रों में दिशान्तरित करता है, जिससे चेतना की उच्च स्थिति प्राप्त होती है।

जिस प्रकार प्रकाश या ध्वनि के रूप में ऊर्जा तरंगें जब किसी दर्पण या खड़ी चट्टान से टकराती हैं, तो वहाँ से परावर्तित हो जाती हैं; उसी प्रकार मुद्राएँ भी प्राण की दिशा को परिवर्तित करती हैं। नाड़ियों और चक्रों से निरन्तर प्राण का विकिरण होता रहता है, जो सामान्य रूप से शरीर से बाहर निकलकर बाह्य जगत् में बिखर जाता है। मुद्राओं के अभ्यास से शरीर में अवरोधक उत्पन्न किये जाते हैं, जो ऊर्जा प्रवाह की दिशा को बदलकर उसे पुन: शरीर के भीतर वापस ले आते हैं।

उदाहरण के लिए, षण्मुखी मुद्रा में उँगलियों से आँखों को बन्द करने से आँखों के द्वारा बाहर निकलने वाला प्राण परावर्तित होकर शरीर में वापस आ जाता है। इसी प्रकार वज्र नाड़ी द्वारा उत्सर्जित होने वाली काम-ऊर्जा वज्रोली मुद्रा के अभ्यास से पुन: मस्तिष्क की ओर दिशान्तरित हो जाती है।

तन्त्र-शास्त्रों में कहा गया है कि प्राण के बिखराव को यदि मुद्रा के अभ्यास द्वारा रोक दिया जाए, तो मन अन्तर्मुखी हो जाता है, जिससे स्वाभाविक रूप से प्रत्याहार और धारणा की स्थिति आती है।

प्राण को वापस लाने की क्षमता प्राप्त होने के कारण कुण्डलिनी के जागरण में मुद्राओं के अभ्यासों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी कारण क्रिया एवं कुण्डलिनी योग के अभ्यासों में बड़ी संख्या में इनका समावेश किया गया है।

मुद्राओं पर एक वैज्ञानिक दृष्टि

वैज्ञानिक शब्दावली में, मस्तिष्क-स्तम्भ के चारों ओर मस्तिष्क के प्राथमिक क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाली अचेतन प्रतिक्रियाओं और पुरानी, सहजवृत्तिजन्य आदतों के मूल तक पहुँचने और उन्हें प्रभावित करने के लिए मुद्रायें एक उत्तम साधन हैं। वे इन क्षेत्रों के साथ एक सूक्ष्म, अबौद्धिक सम्बन्ध स्थापित करती हैं। प्रत्येक मुद्रा एक अलग सम्बन्ध का निर्माण करती है और शरीर, मन एवं प्राण पर उसी के अनुसार उसका प्रभाव पड़ता है। इसका लक्ष्य है, एक निश्‍चित शारीरिक स्थिति या मुद्रा का सृजन करना, जो बार-बार दुहराये जाने पर अभ्यासी को सहजवृत्ति से उत्पन्न आदतों से मुक्त कर अधिक शुद्ध चेतना को स्थापित कर सके।

योग मुद्राओं के पाँच समूह

योग मुद्राओं को लगभग पाँच समूहों में बाँटा जा सकता है, जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है–

1. हस्त मुद्रायें

इस पुस्तक में जिन हस्त मुद्राओं का वर्णन है, वे ध्यान की मुद्रायें हैं। वे हाथों द्वारा उत्सर्जित होने वाले प्राण को पुन: शरीर में वापस कर देती हैं। ऐसी मुद्रायें, जिनमें अँगूठे और तर्जनी को मिलाकर रखा जाता है, बहुत सूक्ष्म स्तर पर मोटर कॉर्टेक्स को प्रेरित करती हैं, जिससे ऊर्जा का एक परिपथ निर्मित होता है, जो मस्तिष्क से निकलकर हाथ तक आता है और फिर वापस मस्तिष्क में जाता है। इस प्रक्रिया की सचेतन सजगता से बहुत शीघ्र अन्तर्मुखता की अवस्था प्राप्त होती है। इस समूह में निम्नलिखित मुद्राएँ आती हैं–

ज्ञान मुद्रा	भैरव मुद्रा
चिन् मुद्रा	हृदय मुद्रा
योनि मुद्रा	

2. मन मुद्रायें

ये अभ्यास कुण्डलिनी योग के अभिन्न अंग हैं और इनमें से कई अपने आप में ध्यान की विधियाँ भी हैं। इनमें आँखों, कानों, नाक, जिह्वा एवं होठों का उपयोग किया जाता है।

इस समूह में निम्नलिखित मुद्राएँ आती हैं–

शाम्भवी मुद्रा	भूचरी मुद्रा
नासिकाग्र दृष्टि	आकाशी मुद्रा
खेचरी मुद्रा	षण्मुखी मुद्रा
काकी मुद्रा	उन्मनी मुद्रा
भुजंगिनी मुद्रा	

3. काया मुद्रायें

इन अभ्यासों में शारीरिक स्थितियों के साथ श्वसन और एकाग्रता को जोड़ा जाता है। इस समूह में निम्नलिखित मुद्राएँ आती हैं–

विपरीतकरणी मुद्रा	योग मुद्रा
पाशिनी मुद्रा	माण्डुकी मुद्रा
प्राण मुद्रा	तड़ागी मुद्रा

4. बन्ध मुद्रायें

इन अभ्यासों में मुद्रा एवं बन्ध का योग होता है। ये शरीर को प्राण से ऊर्जान्वित कर देते हैं और उसे कुण्डलिनी जागरण के लिए तैयार करते हैं। इस समूह में निम्नलिखित मुद्राएँ आती हैं–

महा मुद्रा
महा भेद मुद्रा
महा वेध मुद्रा

5. आधार मुद्रायें

ये अभ्यास प्राण को निम्न केन्द्रों से पुनः मस्तिष्क की ओर दिशान्तरित करते हैं। काम-ऊर्जा के ऊर्ध्वगमन से सम्बन्धित मुद्रायें इस समूह में आती हैं। इस समूह में निम्नलिखित मुद्राएँ आती हैं–

अश्विनी मुद्रा
वज्रोली/सहजोली मुद्रा

इन समूहों की मुद्रायें प्रमस्तिष्कीय प्रान्तस्था (सेरेब्रल कॉर्टेक्स) के अधिकांश क्षेत्र को प्रभावित करती हैं। सिर और हाथों से सम्बन्धित मुद्राओं

का अपेक्षाकृत अधिक संख्या में होना इस बात का संकेत है कि इन दो क्षेत्रों से आने वाली सूचनाओं का अर्थ समझने और तदनुरूप कार्य करने में प्रमस्तिष्क का पचास प्रतिशत हिस्सा व्यस्त रहता है।

मुद्राओं का अभ्यास या तो आसन और प्राणायाम के साथ मिलाकर किया जाता है या फिर उनके बाद। योग-शास्त्रों में वर्णित मुद्राओं में से चुन कर कुछ मुद्राओं की व्याख्या इस पुस्तक में की गयी है।

ज्ञान एवं चिन् मुद्राएँ

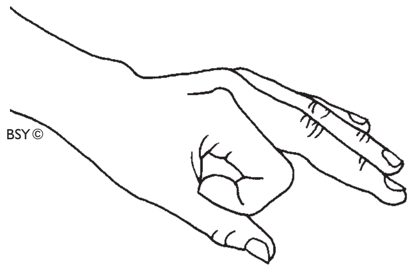

ज्ञान मुद्रा

ध्यान के किसी सुविधाजनक आसन में बैठ जायें।

दोनों तर्जनी उँगलियों को इस प्रकार मोड़ें कि उनका स्पर्श अँगूठों के आधार से हो। दोनों हाथों की अन्य तीन उँगलियों को इस प्रकार सीधा रखें कि वे एक-दूसरे से अलग और शिथिल रहें।

हाथों को घुटनों पर इस प्रकार रखें कि हथेलियाँ नीचे की ओर रहें। हाथों और भुजाओं को शिथिल करें।

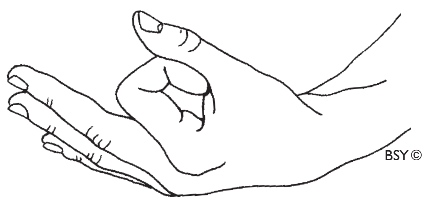

चिन् मुद्रा

चिन्-मुद्रा, ज्ञान-मुद्रा की तरह ही है, अन्तर केवल इतना है कि इसमें दोनों हथेलियाँ ऊपर की ओर रहती हैं और हथेलियों के पीछे का भाग घुटनों पर रहता है।

हाथों और भुजाओं को शिथिल करें।

क्रम–ध्यान के अभ्यास के समय यदि कोई विशेष निर्देश न हो, तो हाथों को इन दोनों में से किसी एक मुद्रा में रखना चाहिए।

लाभ– ज्ञान मुद्रा और चिन् मुद्रा सरल, किन्तु महत्त्वपूर्ण मनो-स्नायविक अँगुली-बन्ध हैं, जो ध्यान के आसन को अधिक प्रभावशाली बनाते हैं। हथेलियों और उँगलियों में अनेक नाड़ियों का अन्त होता है, जिनसे निरंतर ऊर्जा बाहर निकलती रहती है। जब तर्जनी अँगूठे का स्पर्श करती है, तो एक ऊर्जा-पथ का निर्माण होता है, और जो ऊर्जा सामान्य रूप से वातावरण में बिखर कर नष्ट हो जाती, वह शरीर में वापस आकर मस्तिष्क की ओर जाती है।

जब उँगलियों और हाथों को घुटनों पर रखा जाता है, तो घुटने ऊर्जा के प्रति सुग्राही हो जाते हैं, जिसके कारण एक अन्य प्राण-पथ निर्मित होता है, जो शरीर में प्राण के स्तर को बनाये रखता है और उसे वापस शरीर में ले आता है। इसके अतिरिक्त हाथों को घुटनों पर रखने से एक नाड़ी में उद्दीपन उत्पन्न होता है, जो घुटनों से निकल कर जाँघों के भीतर से होते हुए मूलाधार तक पहुँचती है। यह गुप्त नाड़ी कहलाती है। इस नाड़ी को सक्रिय बनाने से मूलाधार चक्र में स्थित ऊर्जाओं में उद्दीपन पैदा होता है।

जब चिन् मुद्रा में हथेलियाँ ऊपर की ओर रहती हैं, तब वक्ष-प्रदेश खुलता है। अभ्यासी को इसका अनुभव हल्केपन एवं ग्रहणशीलता के रूप में होता है, ज्ञान-मुद्रा में ऐसा नहीं होता।

प्रकारान्तर: ज्ञान और चिन् मुद्राओं के अभ्यास में प्राय: अँगूठे और तर्जनी के अग्र भागों को एक-दूसरे का स्पर्श कराया जाता है, जिससे एक वृत्त का निर्माण होता है। प्रारम्भिक अभ्यासियों को यह प्रकारान्तर कम सुरक्षित लग सकता है, क्योंकि लम्बे समय तक ध्यान में बैठने पर जब शरीर की चेतना लुप्त होने लगती है, तब अँगूठा एवं तर्जनी एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। अन्यथा, यह प्रकारान्तर मूल अभ्यास के समान ही प्रभावकारी है।

अभ्यास टिप्पणी– चिन् मुद्रा और ज्ञान मुद्रा का प्रभाव बहुत सूक्ष्म होता है और इसके द्वारा चेतना में होने वाले परिवर्तन को समझने के लिए, अभ्यासी को बहुत संवेदनशील होने की आवश्यकता है। अभ्यास के साथ मन मुद्रा के साथ ताल-मेल बैठा लेता है और जब इस मुद्रा का अभ्यास किया जाता है, तो ध्यानावस्था में प्रवेश करने का संकेत उसे प्राप्त हो जाता है।

टिप्पणी– *ज्ञान मुद्रा का अर्थ है, 'अन्तर्ज्ञान की स्थिति'। चिन् शब्द 'चित्' से बना है, जिसका अर्थ होता है, 'चेतना'। इस प्रकार चिन् मुद्रा चेतना की अतीन्द्रिय स्थिति है।*

प्रतीकात्मक रूप से कनिष्ठा, अनामिका एवं मध्यमा उँगलियाँ प्रकृति के तीन गुणों– तमस, स्थिरता; रजस, क्रियाशीलता; और सत्त्व, सृजनात्मकता, प्रकाश एवं सामंजस्य का बोध कराती हैं। चेतना को अज्ञान से ज्ञान-लोक में ले जाने के लिए इन तीन अवस्थाओं को पार करना आवश्यक है। तर्जनी जीवात्मा की प्रतीक है और अँगूठा परम चेतना का। ज्ञान एवं चिन् मुद्राओं में जीवात्मा (तर्जनी), परम चेतना (अँगूठे) के प्रति नतमस्तक होती है और उसकी अपार शक्ति को स्वीकारता है। तर्जनी अँगूठे का स्पर्श कर रही है, जो दोनों अनुभूतियों के परम योग और योग की पराकाष्ठा का प्रतीक है।

योनि-मुद्रा

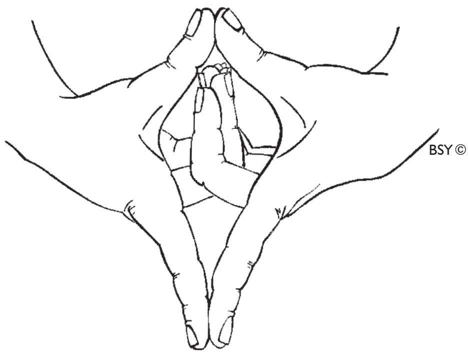

योनि मुद्रा

ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें। सिर और मेरुदण्ड को सीधा रखें।

हथेलियों को मिलाकर इस प्रकार रखें कि उँगलियाँ और अँगूठे सीधे और शरीर से दूर रहें।

तर्जनी उँगलियों के गद्दों को एक साथ रखते हुए कनिष्ठा, अनामिका और मध्यमा को भीतर की ओर इस प्रकार मोड़ें कि उन उँगलियों के पिछले भाग एक-दूसरे का स्पर्श करें।

कनिष्ठा, अनामिका और मध्यमा उँगलियों को आपस में फँसा लें।

अँगूठों को शरीर की ओर लायें और उँगलियों के गद्दों को इस प्रकार मिलायें कि वे एक योनि मूल का आकार ग्रहण कर लें।

लाभ – इस अभ्यास में उँगलियों को आपस में फँसाने से दाहिने हाथ से बायें हाथ में और बायें हाथ से दाहिने हाथ में ऊर्जाओं का पूर्ण पारगामी-संयोजन होता है। साथ-ही शरीर में ऊर्जा को सन्तुलित करते हुए यह अभ्यास मस्तिष्क के दाहिने एवं बायें गोलार्द्धों की गतिविधियों में भी संतुलन स्थापित करने में सहायक होता है। तर्जनी उँगलियों और अँगूठों के पोरों को एक साथ रखने से प्राण-प्रवाह में और अधिक तीव्रता आती है। यह मुद्रा ध्यान में शरीर और मन को अधिक स्थिर बनाती है और एकाग्रता,

सजगता एवं आन्तरिक शारीरिक शिथिलीकरण का विकास करती है। यह प्राण को बाहर जाने से रोक कर उसे पुन: शरीर के भीतर प्रेषित करती है। इस मुद्रा का अभ्यास करते समय कोहनियाँ स्वाभाविक रूप से बगल की ओर हो जाती हैं, जिससे वक्ष-प्रदेश को फैलाने में सहायता प्राप्त होती है।

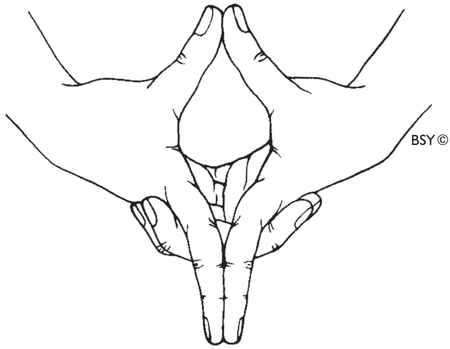

प्रकारान्तर: मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठा उँगलियों को आपस में फँसा कर, उन्हें भीतर की ओर मोड़े बिना भी योनि मुद्रा की जा सकती है। अँगूठों को सामने की ओर फैली हुई तर्जनियों के सामने आपस में फँसाया जा सकता है या गद्दों को एक-दूसरे का स्पर्श कराते हुए उन्हें सामने की ओर फैला कर रखा जा सकता है।

टिप्पणी– *योनि शब्द का अर्थ होता है, 'गर्भाशय' या 'स्रोत'। योनि-मुद्रा गर्भाशय या सृष्टिमूल में स्थित आद्य-शक्ति का आवाहन करती है।*

भैरव मुद्रा

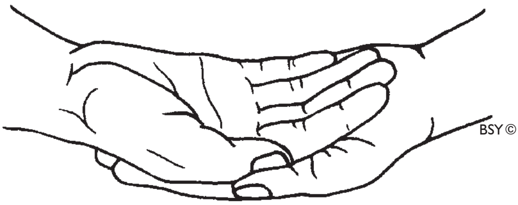

भैरव मुद्रा

सिर और मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें।

दाहिने हाथ को बायें हाथ के ऊपर इस प्रकार रखें कि दोनों हथेलियाँ ऊपर की ओर रहें। दोनों हाथों को गोद में विश्राम की स्थिति में रखें। आँखों को बन्द करें और पूरे शरीर को स्थिर रखते हुए उसे विश्राम की स्थिति में लायें।

प्रकारान्तर: जब बायें हाथ को दाहिने हाथ के ऊपर रखा जाता है, तो उसे भैरवी मुद्रा कहते हैं। भैरवी, भैरव की पूरक है।

टिप्पणी– *दोनों हाथ इड़ा और पिंगला नाड़ियों के परिचायक हैं और साथ ही सर्वोच्च चेतना के साथ व्यक्ति की एकात्मकता का भी बोध कराते हैं। भैरव-मुद्रा का उपयोग प्राण-मुद्रा में किया जाता है। इसका उपयोग प्राणायाम और ध्यान के अभ्यासों में भी किया जा सकता है।*

हृदय-मुद्रा

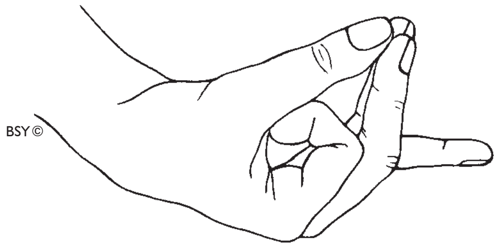

हृदय मुद्रा

ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें। सिर और मेरुदण्ड को सीधा रखें।

चिन् मुद्रा या ज्ञान-मुद्रा के समान तर्जनी उँगलियों के पोरों को अँगूठों के आधार से स्पर्श करायें और मध्यमा एवं अनामिका के पोरों को अँगूठों के पोरों से मिलायें। कनिष्ठा सीधी रहेंगी। हाथों को घुटनों पर रखें। हथेलियाँ ऊपर की ओर रहें। आँखों को बन्द कर लें और पूरे शरीर को स्थिर रखते हुए शिथिल करें।

अवधि – यह अभ्यास 30 मिनट तक किया जा सकता है।

सजगता – शारीरिक – वक्ष-प्रदेश में श्वास पर।

आध्यात्मिक – अनाहत चक्र पर।

लाभ – यह मुद्रा प्राण के प्रवाह को हाथों से हृदय की ओर ले जाती है। इससे हृदय की प्राणशक्ति में सुधार होता है। मध्यमा और अनामिका का सीधा सम्बन्ध हृदय से जुड़ी नाड़ियों से है, जबकि अँगूठे प्राण-परिपथ को पूरा कर, प्राण-प्रवाह को हाथों से इन नाड़ियों में भेजते हैं और शक्ति-वर्द्धक का काम करते हैं। अत: हृदय-मुद्रा हृदय के लिए लाभदायक है। यह बहुत आसान है और रोग की गम्भीर स्थिति में भी सरलतापूर्वक इसका अभ्यास किया जा सकता है। हृदय भावना का केन्द्र है। हृदय-मुद्रा अवरुद्ध भावनाओं को मुक्त करने में सहायक होती है और हृदय के बोझ को हल्का करती है। अत: भावनात्मक द्वन्द्व और संकट की घड़ी में इसका उपयोग किया जा सकता है।

शाम्भवी मुद्रा (भ्रू-मध्य-दृष्टि)

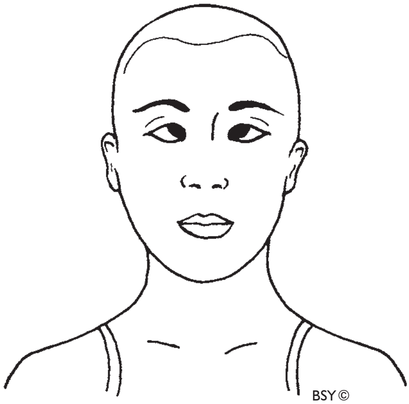

शाम्भवी मुद्रा

ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें।

सिर और मेरुदण्ड को सीधा रखें और हाथों को ज्ञान या चिन् मुद्रा में घुटनों पर रखें।

आँखों को बन्द कर लें और पूरे शरीर को शिथिल करें।

ललाट, आँखों और आँखों के पृष्ठ भाग सहित पूरे चेहरे की पेशियों को शिथिल करें।

धीरे-धीरे आँखें खोलें और सिर तथा पूरे शरीर को एकदम स्थिर रखते हुए अपने सामने किसी निश्चित बिन्दु पर दृष्टि केन्द्रित करें।

अब दृष्टि को ऊपर उठाकर अन्दर की ओर लाते हुए भ्रू-मध्य पर केन्द्रित करें।

सिर नहीं हिलना चाहिए।

यदि सही ढंग से इस मुद्रा का अभ्यास किया जाए, तो दोनों धनुषाकार भौहें नासिका-मूल पर V की आकृति बनायेंगी। यह बिन्दु भ्रू-मध्य-केन्द्र है। यदि V की आकृति दिखायी न दे तो समझ लें कि आँखों को सही ढंग से भ्रू-मध्य पर केन्द्रित नहीं किया गया है।

थोड़े भी तनाव का अनुभव होने पर आँखों को सामान्य स्थिति में लाकर उन्हें विश्राम दें।

प्रारम्भ में कुछ क्षणों के लिए ही दृष्टि केन्द्रित करें।

आँखों को बन्द कर लें और उन्हें विश्राम दें।

विचार-प्रक्रियाओं को रोकने का प्रयास करें और बन्द आँखों के सामने चिदाकाश में निश्चलता पर ध्यान करें।

श्वसन– आँखों की गति पर नियंत्रण प्राप्त हो जाने पर इस गति को श्वास के साथ समन्वित करें। आँखों को ऊपर उठाते समय धीरे-धीरे श्वास लें।

मुद्रा में रहते हुए श्वास को रोकें।

दृष्टि को नीचे करते हुए धीरे-धीरे श्वास छोड़ें।

सजगता– शारीरिक–आँखों की संवेदनाओं पर तथा अभ्यास के दो चक्रों के मध्य आँखों को विश्राम देने पर।

आध्यात्मिक–आज्ञा चक्र पर।

अवधि– 5 चक्रों से प्रारम्भ कर कुछ महीनों के अभ्यास के बाद उसे क्रमश: 10 चक्रों तक बढ़ायें।

सावधानियाँ– आँखें बहुत संवेदनशील होती हैं, इसलिए अन्तिम स्थिति में अधिक देर तक नहीं रहना चाहिए। यदि स्नायु दुर्बल हों और उन पर अधिक जोर पड़े, तो दृष्टि-पटल का अलगाव (रेटिनल डिटैचमेंट) हो सकता है। यदि किसी प्रकार का दबाव महसूस हो, तो आखों को सामान्य स्थिति में वापस ले आयें।

सीमायें– ग्लूकोमा या डाइबिटिक रेटिनोपैथी से पीड़ित व्यक्ति या जिनके मोतियाबिन्द की हाल में शल्य-क्रिया हुई है, लेन्स लगे हैं या आँखों की अन्य प्रकार की शल्य-क्रिया हुई है, वे विशेषज्ञ के मार्ग-दर्शन के बिना शाम्भवी-मुद्रा का अभ्यास न करें।

लाभ– शारीरिक स्तर पर शाम्भवी मुद्रा आँखों की पेशियों को मजबूत बनाती है और इस क्षेत्र से तनाव दूर करती है।

मानसिक स्तर पर, यह भावनात्मक तनाव एवं क्रोध को दूर कर मन को शान्त बनाती है। यह एकाग्रता, मानसिक स्थिरता और विचार-शून्यता की अवस्था लाती है।

उच्च अभ्यास (आन्तरिक शाम्भवी मुद्रा)

जब खुली आँखों से शाम्भवी-मुद्रा में दक्षता प्राप्त हो जाए, तब आँखों को बन्द करके भी इसका अभ्यास किया जा सकता है। यह अधिक शक्तिशाली अभ्यास है, क्योंकि इसमें सजगता अधिक अन्तर्मुखी हो

जाती है। अभ्यास के दौरान इस बात का ध्यान रखें कि भ्रू-मध्य से आपकी सजगता न हटे। हमेशा ख्याल रखें कि यद्यपि आँखें बन्द हैं; फिर भी वे आन्तरिक रूप से ऊपर की ओर एकटक देख रही हैं।

अभ्यास टिप्पणी– शाम्भवी-मुद्रा क्रिया-योग का अभिन्न अंग है। आज्ञा-चक्र के जागरण के लिए यह शक्तिशाली विधि है, और अपने आप में यह ध्यान का एक अभ्यास भी है। इससे गहरी अनुभूतियाँ हो सकती हैं, अत: यह सावधानी बरतें कि गुरु के मार्ग-दर्शन में ही इसका अभ्यास करें। शाम्भवी मुद्रा को सिंहासन जैसे आसनों के साथ भी जोड़ा जाता है।

टिप्पणी– *इस अभ्यास द्वारा अभ्यासी उच्च सजगता को प्राप्त कर चेतना की उच्च अवस्था में पहुँच सकता है। इस अभ्यास को भ्रू-मध्य-दृष्टि भी कहा जाता है।*

नासिकाग्र दृष्टि

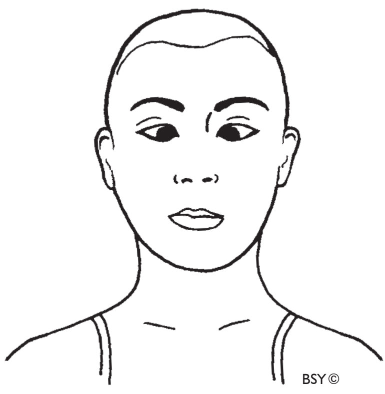

विधि 1: प्रारम्भिक अभ्यास

प्रारम्भ में नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि केन्द्रित करना कठिन हो सकता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए एक भुजा को सामने फैलाकर तर्जनी को खड़ा रखें और उस पर दृष्टि केन्द्रित करें।

धीरे-धीरे तर्जनी को नासिका के निकट लायें, किन्तु दृष्टि को स्थिरता से उस पर जमाये रखें।

जब उँगली नासिका के अग्र-भाग को स्पर्श करे, तब भी आँखें उँगली पर ही टिकी रहें।

अब आँखों को नासिकाग्र पर केन्द्रित करें और हाथ नीचे कर लें।

अंतत: यह विधि अनावश्यक प्रतीत होने लगती है और आँखें इच्छानुसार आराम से नासिकाग्र पर टिक जाती हैं।

विधि 2: नासिकाग्र दृष्टि

ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें। सिर और मेरुदण्ड को सीधा रखें। हाथों को चिन्मुद्रा या ज्ञान-मुद्रा में घुटनों पर रखें।

आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल करें।

आँखों को खोलें और उन्हें नासिकाग्र पर केन्द्रित करें।

आँखों पर किसी प्रकार जोर न डालें।

जब आँखें सही ढंग से केन्द्रित हो जायेंगी तो नासिका के ऊपर प्रकाश की किरणें V के आकार में दिखाई पड़ेंगी।

V की ऊपरी नोक पर एकाग्रता का अभ्यास करें।

मन को अन्य सभी विचारों से हटा कर पूरी तरह अभ्यास में लीन करने का प्रयास करें।

कुछ क्षणों के बाद आँखों को बन्द कर लें और अभ्यास को दुहराने के पूर्व उन्हें शिथिल करें।

5 मिनट तक अभ्यास जारी रखें।

श्वसन– नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास सामान्य श्वसन के साथ करना चाहिए।

सजगता– शारीरिक–आँखों की पेशियों पर और बीच-बीच में उन्हें पूर्ण रूप से विश्रान्त करने पर।

आध्यात्मिक–मूलाधार चक्र पर।

अभ्यास का समय– यद्यपि आदर्श रूप से नासिकाग्र-दृष्टि का अभ्यास प्रात:काल या सोने के पूर्व रात में किया जाता है, किन्तु दिन में किसी भी समय इसका अभ्यास किया जा सकता है।

सीमायें– ग्लूकोमा या डाइबिटिक रेटिनोपैथी से पीड़ित व्यक्ति या जिनके मोतियाबिन्द की हाल में शल्य-क्रिया हुई है, लेन्स लगे हैं, या आँखों

की अन्य प्रकार की शल्य-क्रिया हुई है, वे विशेषज्ञ के मार्ग-दर्शन के बिना नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास न करें।

विषादग्रस्त व्यक्तियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह अन्तर्मुखता लाता है।

लाभ– क्रोध और मानसिक विक्षेप को दूर करने के लिए नासिकाग्र-दृष्टि एक उत्तम अभ्यास है। यद्यपि इस अभ्यास में आँखें खुली रहती हैं, फिर भी इसका उद्देश्य आत्मनिरीक्षण की स्थिति उत्पन्न करना है। खुली आँखें बाह्य जगत् के प्रति सजग नहीं रहनी चाहिए। नासिकाग्र पर दृष्टि केन्द्रित करने से मन में एकाग्रता आती है। इससे एकाग्रता-शक्ति का विकास होता है और यह ध्यान की स्थिति लाने में भी सहायक होती है। यह अभ्यासी को आत्मिक और आध्यात्मिक चेतना के स्तर तक ले जाती है।

टिप्पणी– *इस अभ्यास का दूसरा नाम अगोचरी मुद्रा है, जो संस्कृत शब्द अगोचरम् से बना है। इसका अर्थ होता है, 'इन्द्रिय बोध के परे', 'अज्ञात' या 'अदृश्य'। यह मुद्रा साधक को सामान्य सजगता के परे जाने में सहायक होती है।*

प्रतीकात्मक रूप से नासिकाग्र दृष्टि में नासिका का सेतु मेरुदण्ड से सम्बन्धित होता है। सबसे ऊपर भ्रूमध्य पर आज्ञा-चक्र और नीचे नासिकाग्र पर मूलाधार चक्र है। जैसे शाम्भवी मुद्रा का उद्देश्य भ्रू-मध्य पर दृष्टि केन्द्रित कर आज्ञा-चक्र को सक्रिय बनाना है, वैसे ही नासिकाग्र-दृष्टि का उद्देश्य नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि को केन्द्रित कर मूलाधार चक्र को सक्रिय बनाना है।

खेचरी मुद्रा

खेचरी मुद्रा

ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें। पद्मासन या सिद्धासन/ सिद्धयोनि आसन उत्तम होगा। सिर और मेरुदण्ड को सीधा रखें और दोनों हाथों को चिन् मुद्रा या ज्ञान-मुद्रा में घुटनों पर रखें।

पूरे शरीर को शिथिल करें और आँखों को बन्द कर लें।

जिह्वा को ऊपर और पीछे की ओर इस प्रकार मोड़ें कि उसका नीचे का हिस्सा तालु के ऊपरी भाग को स्पर्श करे।

जिह्वा के अग्र भाग को आरामपूर्वक जितना हो सके, पीछे ले जायें। अधिक जोर न लगायें।

उज्जायी प्राणायाम करें।

धीरे-धीरे गहरी श्वास लें।

बिना जोर लगाये जितनी देर सम्भव हो जिह्वा बन्ध लगाये रखें।

प्रारम्भ में थोड़ी असुविधा हो सकती है और हो सकता है उज्जायी प्राणायाम से गले में उत्तेजना पैदा हो, किन्तु अभ्यास के साथ यह अधिक सुविधाजनक हो जायेगा।

जब जिह्वा थक जाए, तो उसे विश्राम दें और फिर अभ्यास को दुहरायें।

श्वसन– धीरे-धीरे श्वसन की दर को घटाते जायें और कुछ महीनों में उसे 5 या 6 श्वास प्रति मिनट तक ले आयें। कुशल मार्ग-दर्शन में श्वास की दर और भी घटायी जा सकती है।

अवधि– 5 से 10 मिनट तक अभ्यास करें। खेचरी मुद्रा अन्य योगाभ्यासों के साथ भी की जा सकती है।

सजगता– शारीरिक–जिह्वा में खिंचाव और तालु पर हल्के दबाव पर।

आध्यात्मिक–विशुद्धि चक्र पर।

सावधानियाँ– यदि मुँह में कड़वा स्वाद आये, तो अभ्यास तुरन्त बन्द कर दें। इस प्रकार का स्राव शरीर में विषाक्त तत्त्वों की उपस्थिति का सूचक है।

सीमायें– जिह्वा-व्रण या मुँह के अन्य सामान्य रोगों के उभर आने पर खेचरी मुद्रा का अभ्यास कुछ समय के लिए बन्द कर देना चाहिए।

लाभ–खेचरी मुद्रा मुँह के पीछे और नासिका-छिद्रों में स्थित कई दबाव-बिन्दुओं को उद्दीप्त करती है। ये बिन्दु सम्पूर्ण शरीर को प्रभावित करते हैं। कई ग्रन्थियों की मालिश होती है, जिससे कुछ रसों और लार के स्राव में वृद्धि होती है। यह अभ्यास भूख और प्यास को कम करता है और आन्तरिक शान्ति एवं स्थिरता लाता है। यह शरीर की प्राणशक्ति की रक्षा करता है और आन्तरिक उपचार के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। निष्कर्ष रूप में, इस मुद्रा में प्राण को सक्रिय बनाकर कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने की क्षमता है।

अभ्यास टिप्पणी–इसका उच्च अभ्यास हठयोग में आता है, जिसमें जिह्वा के नीचे के फ्रेनम को धीरे-धीरे पूरी सावधानी से काटा जाता है, जिससे वह सीधे नासिका-गह्वर तक पहुँच जाए और वहाँ स्थित महत्त्वपूर्ण अतीन्द्रिय केन्द्रों को उत्तेजित कर सके। किन्तु यहाँ पर खेचरी मुद्रा की इस विधि का अभ्यास करने का परामर्श नहीं दिया जा रहा है, क्योंकि उसके प्रभाव से बाह्य जगत् के साथ पारस्परिक क्रिया करने में असुविधा हो जाती है।

***टिप्पणी**–* *खेचरी शब्द संस्कृत की दो धातुओं 'खे' और 'चर' से मिलकर बना है। खे का अर्थ होता है आकाश और चर का अर्थ होता है चलने वाला। खेचरी-मुद्रा का सम्बन्ध अमृत से है, जो बिन्दु से स्रवित होता है और उसके बाद विशुद्धि-चक्र में उसका पान किया जाता है। इस अभ्यास में दक्षता प्राप्त हो जाने पर योगी विशुद्धि-चक्र में टपकने वाली अमृत की बूँदों का पान कर अपनी भूख और प्यास मिटा सकता है और अपने सम्पूर्ण शरीर को नवयौवन प्रदान कर सकता है।*

काकी मुद्रा

काकी मुद्रा

ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें। सिर और मेरुदण्ड को सीधा रखें और दोनों 'हाथों' को चिन्-मुद्रा या ज्ञान-मुद्रा में घुटनों पर रखें।

आँखों को बन्द कर लें और कुछ क्षणों के लिए पूरे शरीर को शिथिल करें।

आँखों को खोल कर, दोनों आँखों को नासिका के अग्र भाग पर केन्द्रित करते हुए नासिकाग्र-दृष्टि का अभ्यास करें।

प्रयास करें कि इस पूरे अभ्यास के दौरान आँखें न झपकें।

होठों को सिकोड़कर चोंच के आकार में ले आयें, जिससे होकर श्वास अन्दर जा सके।

जिह्वा तनावरहित रहनी चाहिए।

सिकुड़े हुए होठों से होते हुए गहरी एवं धीमी श्वास अन्दर लें।

पूरी श्वास लेने के बाद होठों को आपस में मिला लें और नासिका-मार्ग से धीरे-धीरे श्वास बाहर छोड़ें।

इस प्रक्रिया को 3 से 5 मिनट तक दुहरायें।

सजगता – श्वास की ध्वनि एवं प्रवाह तथा नासिका के अग्र भाग के प्रति सजग रहें।

क्रम – इस मुद्रा के अभ्यास से शीतलता आती है। अत: गर्मी उत्पन्न करने वाले प्राणायामों के बाद इसका अभ्यास कर शरीर के ताप-क्रम को सन्तुलित किया जा सकता है।

अभ्यास का समय– इसका अभ्यास दिन में किसी भी समय किया जा सकता है, हालाँकि इसके लिए प्रात:काल या देर रात का समय सर्वोत्तम है। शीतकाल में यह अभ्यास नहीं करना चाहिए।

सावधानियाँ– काकी मुद्रा का अभ्यास प्रदूषित वायुमण्डल या अधिक ठण्ढे मौसम में नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसमें नासिका की वह सामान्य क्रिया नहीं होती, जिसके द्वारा वायु छनकर और वातानुकूलित होकर भीतर जाती है। यह ध्यान रखें कि आँखों पर अधिक जोर न पड़े।

सीमायें– मानसिक अवसाद, निम्न रक्तचाप और पुरानी कब्ज से पीड़ित व्यक्तियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। ग्लूकोमा या डाइबिटिक रेटिनोपैथी से पीड़ित व्यक्ति या जिनके मोतियाबिन्द की हाल में शल्य-क्रिया हुई है, लेन्स लगे हैं, या आँखों की अन्य प्रकार की शल्य-क्रिया हुई है, वे विशेषज्ञ के मार्ग-दर्शन के बिना इसका अभ्यास न करें।

लाभ– काकी मुद्रा शरीर और मन को शीतल करती है और मानसिक तनाव को कम करती है। नासिकाग्र-दृष्टि के लाभों के अतिरिक्त, इस अभ्यास में होठों को सिकोड़ने और साथ ही अन्दर ली जाने वाली वायु का मुख की झिल्लियों के साथ स्पर्श होने से पाचक स्राव उत्प्रेरित होते हैं, जिससे सामान्य रूप से पाचन-क्रिया को मदद मिलती है।

अभ्यास टिप्पणी– इस क्रिया को प्रारम्भ करने के पूर्व अभ्यासी को नासिकाग्र-दृष्टि के अभ्यास से पूरी तरह अवगत होना चाहिए। पूरे अभ्यास के दौरान आँखें खुली रहनी चाहिए और निरन्तर नासिकाग्र-दृष्टि रहनी चाहिए। यदि आँखों में थकान आ जाए, तो उन्हें पूरी तरह विश्राम प्रदान करने के बाद ही पुन: अभ्यास प्रारम्भ करें।

टिप्पणी– *इसका नाम काकी मुद्रा इसलिए पड़ा है कि इसमें श्वास लेते समय मुख की आकृति कौए की चोंच की तरह हो जाती है। ऐसा दावा है कि इसके नियमित अभ्यास से कौए के समान नीरोग और दीर्घ जीवन प्राप्त होता है।*

इस मुद्रा को प्राणायाम का अभ्यास भी मानते हैं, क्योंकि इसका अभ्यास शीतली और शीतकारी प्राणायामों से मिलता-जुलता है।

भुजंगिनी मुद्रा

भुजंगिनी मुद्रा

ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें।

आँखों को बन्द करें और पूरे शरीर को, विशेषकर उदर को शिथिल करें।

ठुड्ढी को थोड़ा आगे और ऊपर की ओर लायें।

मुँह से वायु अन्दर खींचने का प्रयास करें और पानी पीने के समान वायु के कई-कई घूँट लेते हुए उसे फेफड़ों में नहीं, बल्कि पेट में पहुँचाने का प्रयास करें।

उदर को अधिक-से-अधिक फैलायें।

जब तक आराम से सम्भव हो, वायु को उदर में रोकें और फिर डकार लेते हुए उसे बाहर निकाल दें।

अवधि– सामान्य उद्देश्यों के लिए 3 से 5 बार अभ्यास करना पर्याप्त है; विशेष रोगोपचार के लिए इसे कई बार किया जा सकता है।

क्रम– इस मुद्रा का अभ्यास कभी भी किया जा सकता है, किन्तु शंख-प्रक्षालन की क्रिया के बाद करने पर इसका विशेष प्रभाव होता है।

लाभ– भुजंगिनी मुद्रा सम्पूर्ण आमाशय को पुष्ट करती है, निष्क्रिय उदर-वायु का निष्कासन करती है और उदर रोगों के निराकरण में सहायक होती है। उदर में वायु को भरकर अभ्यासी कितने ही समय तक पानी के ऊपर तैरता रह सकता है।

अभ्यास टिप्पणी– यह अभ्यास षट्कर्म, वातसार धौति जैसा है और शुद्धिकरण के अभ्यास के रूप में इसका उपयोग किया जा सकता है। यद्यपि वातसार धौति में मलद्वार से वायु को निष्कासित किया जाता है, न कि डकार द्वारा।

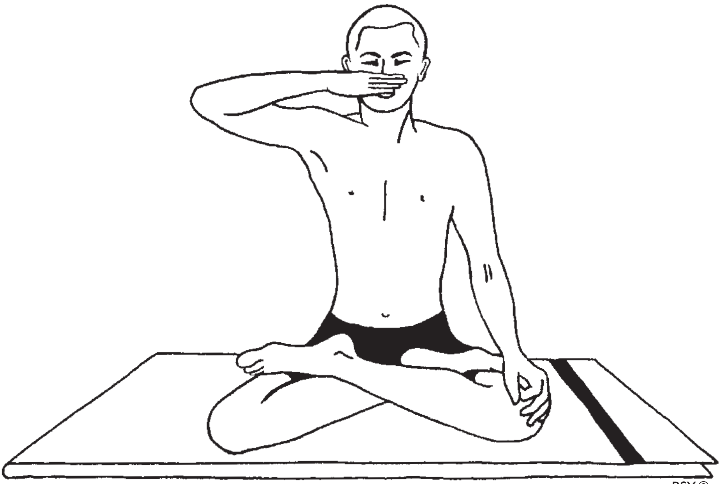

भूचरी मुद्रा

ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें। सिर और मेरुदण्ड को सीधा रखें। हाथों को चिन् मुद्रा या ज्ञान मुद्रा में रखें।
आँखों को बन्द कर लें और पूरे शरीर को शिथिल करें।
अब आँखों को खोल लें और दाहिने हाथ को ऊपर उठाकर मुँह के सामने लायें।
कोहनी को शरीर के बगल की ओर रखें।
हथेली को जमीन की ओर और सभी उँगलियों को एक साथ रखते हुए, हाथ को जमीन के समानान्तर रखें।
अँगूठा ऊपरी होंठ के ऊपरी भाग को छूता हुआ रहे।
आँखों को छोटी उँगली के पोर पर केन्द्रित करें और उसे बिना पलक झपकाये लगातार एक मिनट तक एकटक देखते रहें।
छोटी उँगली के पोर पर निरन्तर सजगता बनाये रखने का प्रयास करें।
लगभग एक मिनट के बाद हाथ हटा लें, परन्तु शून्य में उसी स्थान पर दृष्टि एकाग्र रखें जहाँ छोटी उँगली थी। आँखों को न झपकायें।
शून्यता के इस बिन्दु में पूरी तरह तल्लीन हो जायें।

साथ-साथ मन में चल रही विचार-प्रक्रियाओं के प्रति भी सजग रहें। जब एकाग्रता भंग होने लगे, हाथ उठा कर पुन: छोटी अँगुली के पोर पर एकाग्रता लायें। कुछ समय पश्चात् हाथ नीचे लायें और शून्याकाश में तीव्रता से दृष्टि जमाये रखें। केवल शून्याकाश के प्रति सजग रहें; सचेतन इन्द्रिय-बोध के क्षेत्र में बाहरी घटनायें अंकित नहीं होनी चाहिए। 5 से 10 मिनट तक अभ्यास जारी रखें।

सजगता– शारीरिक–पूर्ण विश्राम तथा स्थिरता की अनुभूति पर।
आध्यात्मिक–आज्ञा चक्र पर।

सीमायें– ग्लूकोमा या डाइबिटिक रेटिनोपैथी से पीड़ित व्यक्ति या जिनके मोतियाबिन्द की हाल में शल्य-क्रिया हुई है, लेन्स लगे हैं, या आँखों की अन्य प्रकार की शल्य-क्रिया हुई है, वे विशेषज्ञ के मार्गदर्शन के बिना इसका अभ्यास न करें।

लाभ– भूचरी मुद्रा एकाग्रता और स्मरण-शक्ति को विकसित करती है। यह मन को शान्त और अन्तर्मुखी बनाती है और ऐसे लोगों के लिए विशेष रूप से लाभप्रद है जिन्हें अधिक क्रोध आता है। इससे मानसिक स्थिरता तथा विचार शून्यता का विकास होता है। यह आज्ञा चक्र के जागरण तथा ध्यान की अवस्था लाने में सहायक होती है और अभ्यासी को चेतना के अतीन्द्रिय तथा आध्यात्मिक स्तर पर ले जाती है।

अभ्यास टिप्पणी– भूचरी मुद्रा का अभ्यास ध्यान के आसन में करना चाहिए। सर्वोत्तम स्थिति यह है कि इसका अभ्यास खाली दीवार के सामने या खुले स्थान, जैसे, आकाश या स्थिर जल के ऊपर किया जाय। इससे ध्यान को भंग करने के लिए दृष्टि के सामने कोई व्यवधान नहीं रहेगा।

टिप्पणी– *भूचरी मुद्रा का अभ्यास ध्यान की तैयारी के रूप में किया जा सकता है और ध्यान की एक विधि के रूप में स्वतन्त्र रूप से भी किया जा सकता है। साथ ही यह धारणा को सिद्ध करने के लिए किसी बाहरी बिन्दु पर दृष्टि को एकाग्र करने वाली विधियों में से एक है। यह नासिकाग्र-दृष्टि और शाम्भवी-मुद्रा से जुड़ी है और ये तीनों अभ्यास त्राटक के ही रूप हैं।*

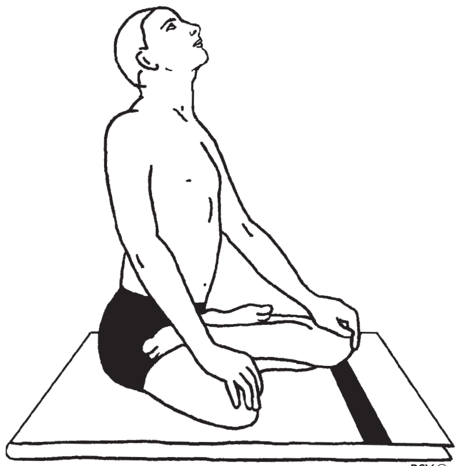

आकाशी मुद्रा

ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें। आँखों को बन्द लें और कुछ मिनटों के लिए सम्पूर्ण शरीर को शिथिल करें।

खेचरी मुद्रा में जिह्वा को पीछे की ओर मोड़कर तालु से स्पर्श करायें और उज्जायी प्राणायाम तथा शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास करें।

साथ-ही सिर को लगभग 45 अंश के कोण पर पीछे की ओर झुकायें।

भुजाओं को सीधा करें और हाथों से घुटनों को दबायें।

धीमा और गहरा उज्जायी श्वसन करें।

जब तक आरामपूर्वक हो सके, इस अभ्यास को करते रहें।

अब कोहनियों को मोड़ें और खेचरी एवं शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास समाप्त करें।

सिर को सीधा कर लें।

सामान्य श्वसन करें और अन्तराकाश के प्रति सजग हो जायें।

अवधि–प्रारम्भ में 1 चक्र अभ्यास करें और धीरे-धीरे इसे 5 चक्रों तक बढ़ायें। मुद्रा में समय की लम्बाई धीरे-धीरे बढ़ाते हुए अन्तिम अवस्था में, जितनी देर सम्भव हो, रुकें।

सजगता– आज्ञा-चक्र पर।

सावधानियाँ– यदि चक्कर आने लगे, तो तुरन्त अभ्यास बन्द कर दें। यह अभ्यास धीरे-धीरे और किसी विशेषज्ञ के मार्गदर्शन में सीखना चाहिए।

सीमायें– उच्च रक्तचाप, चक्कर आना, मस्तिष्क विकार या मिर्गी के रोगियों को इस मुद्रा का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभ– इस अभ्यास के साथ कुम्भक, उज्जायी, शाम्भवी और खेचरी के लाभ जुड़े हुए हैं। इससे मानसिक शान्ति आती है और इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त होता है। इसमें दक्षता प्राप्त कर लेने पर यह विचार-प्रक्रियाओं का निरोध कर चेतना की उच्च स्थिति में पहुँचाती है।

प्रकारान्तर: आकाशी मुद्रा कुम्भक के साथ भी की जा सकती है। ऊपर बतायी गयी विधि से अभ्यास करें। सिर को पीछे मोड़ते समय श्वास लें। अन्तिम स्थिति में श्वास को अन्दर रोकें। सिर को प्रारम्भिक स्थिति में सीधा करते समय धीरे-धीरे श्वास छोड़ें।

अभ्यास टिप्पणी– यह परामर्श दिया जाता है कि आकाशी-मुद्रा का अभ्यास प्रारम्भ करने के पूर्व अभ्यासी उज्जायी, खेचरी और शाम्भवी के अभ्यासों को पूरी तरह जान ले। प्रारम्भ में सिर को पीछे मोड़ कर उज्जायी करने से गले में उत्तेजना हो सकती है। फिर भी, अभ्यास के द्वारा यह अधिक आरामदायक हो जायेगा।

टिप्पणी– *आकाशी मुद्रा को धारणा की अवस्था प्राप्त करने के लिए किसी बाहरी लक्ष्य पर दृष्टि को एकाग्र करने वाली विधियों में गिना जाता है।*

षण्मुखी मुद्रा

यदि सम्भव हो तो सिद्धासन या सिद्धयोनि आसन में बैठें। अन्यथा ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें और मूलाधार-क्षेत्र के नीचे एक छोटा तकिया रख लें, जिससे उस क्षेत्र पर दबाव बना रहे।

सिर और मेरुदण्ड को सीधा रखें।

आँखों को बन्द कर लें और हाथों को घुटनों पर रखें।

पूरे शरीर को शिथिल करें।

भुजाओं को उठाकर मुँह के सामने लायें और कोहनियों को बगल की ओर रखें।

कानों को अँगूठों से, आँखों को तर्जनियों से, नासिकाछिद्रों को मध्यमा से और मुँह को होठों के ऊपर और नीचे अनामिका एवं कनिष्ठा ऊँगलियों को लगा कर बन्द कर लें।

मध्यमा उँगलियों का दबाव हटा कर नासिका-छिद्रों को खोलें। पूर्ण यौगिक श्वसन करते हुए धीरे-धीरे गहरी श्वास लें।

पूरी श्वास लेने के बाद मध्यमा उँगलियों से नासिकाछिद्रों को बन्द

कर लें। जितनी देर आराम से सम्भव हो, श्वास को भीतर रोकें। कुछ क्षण बाद, मध्यमा उँगलियों का दबाव हटा कर धीरे-धीरे श्वास छोड़ें। यह एक चक्र हुआ।

फिर, तुरन्त दूसरा चक्र प्रारम्भ करने के लिए श्वास अन्दर लें।

अभ्यास को समाप्त करने के लिए, आँखों को बन्द रखते हुए हाथों को नीचे घुटनों पर ले आयें और बाह्य ध्वनियों और भौतिक शरीर के प्रति सजग होकर धीरे-धीरे मन को बहिर्मुख करें।

श्वसन– यदि अभ्यासी अधिक समय तक श्वास को भीतर रोक सके, तो इस अभ्यास का अधिक लाभ प्राप्त होता है।

अवधि–प्रारम्भ में 5 मिनट तक अभ्यास करें और कुछ महीनों में क्रमश: उसे बढ़ाते हुए 30 मिनट तक ले जायें।

सजगता– शारीरिक–हस्त मुद्रा को श्वास के साथ जोड़ने पर।

आध्यात्मिक–एकाग्रता के लिए बिन्दु, आज्ञा या अनाहत चक्र का उपयोग कर सकते हैं। महत्त्वपूर्ण बात है इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करना।

अभ्यास का समय– षण्मुखी मुद्रा के अभ्यास का सर्वोत्तम समय प्रात:काल या देर रात है, जब कोलाहल कम-से-कम रहता है। इस समय अभ्यास करने से अतीन्द्रिय संवेदना जाग्रत होती है।

सीमायें– मानसिक अवसाद से पीड़ित व्यक्तियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभ– शारीरिक स्तर पर हाथों एवं उँगलियों से निकलने वाली ऊर्जा और गर्मी मुख की पेशियों और तन्त्रिकाओं को उत्प्रेरित एवं विश्रान्त करती है। मानसिक स्तर पर यह अभ्यास सजगता को अन्तर्मुखी बनाता है। आध्यात्मिक स्तर पर यह प्रत्याहार की स्थिति लाता है।

अभ्यास टिप्पणी– षण्मुखी मुद्रा नादयोग का एक अभ्यास है, जिसे बिन्दु चक्र में आन्तरिक नाद को सुनने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। हो सकता है बहुत-सी ध्वनियाँ सुनाई पड़ें या कोई ध्वनि न सुनाई पड़े, केवल सुनें। यह आशा न रखें कि अभ्यास आरम्भ करते ही सूक्ष्म ध्वनियाँ सुनायी पड़ने लग जायेंगी, अभ्यास आवश्यक है। हो सकता है शुरू में कोई ध्वनि सुनायी न पड़े, या हल्के कोलाहल की ध्वनि हो। किसी स्पष्ट ध्वनि के सुनायी पड़ते ही सजगता को पूरी तरह उसी पर लगा दें। इसमें कुछ सप्ताहों के अभ्यास की आवश्यकता हो सकती है। जैसे-जैसे

संवेदनशीलता का विकास होगा, सूक्ष्म ध्वनियाँ सुनाई पड़ेंगी। स्वर योग, तत्त्व शुद्धि तथा क्रिया योग जैसी योग की शाखाओं में मानसिक अवलोकन को विकसित करने के लिये भी षण्मुखी मुद्रा का उपयोग होता है।

टिप्पणी– *षण्मुखी शब्द दो शब्दों, 'षण्' एवं 'मुख' से मिलकर बना है। षण् का अर्थ होता है 'छः' और मुखी अर्थात् 'द्वार' या 'मुँह'। षण्मुखी मुद्रा में बाह्य इन्द्रिय-बोध के छः द्वारों-दो नेत्र, दो कान, नाक एवं मुँह को बन्द कर सजगता को अन्तर्मुखी बनाना होता है। यह अभ्यास बद्धयोनि आसन के नाम से भी जाना जाता है। इसे देवी मुद्रा, पराङ्मुखी मुद्रा और समभाव मुद्रा के रूप में भी जाना जाता है।*

उन्मनी मुद्रा

उन्मनी मुद्रा

ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें।
आँखों को पूरी तरह खोल लें, किन्तु अनावश्यक जोर न लगायें।
गहरी श्वास लें और उसे भीतर रोकते हुए अपनी सजगता को कुछ क्षणों के लिए सिर के पिछले भाग में बिन्दु पर केन्द्रित करें।
श्वास बाहर छोड़ें और अपनी सजगता को श्वास के साथ बिन्दु से मेरुदण्ड में स्थित चक्रों-आज्ञा, विशुद्धि, अनाहत, मणिपुर, स्वाधिष्ठान एवं मूलाधार से होते हुए नीचे ले जायें।
साथ-ही-साथ आँखों को भी धीरे-धीरे बन्द करना प्रारम्भ करें और जब तक सजगता मूलाधार में पहुँचे, तब तक उन्हें पूरी तरह बन्द कर लें।
जिस समय आँखें खुली रहती हैं, उस समय भी सजगता अन्दर की ओर ही रहती है।
बहुत अधिक प्रयास न करें, प्रक्रिया को सहज रूप से होने दें।
गहरी श्वास लें और अगला चक्र प्रारम्भ करें।
5–10 मिनट तक अभ्यास करते रहें।

सीमायें–ग्लूकोमा या डाइबिटिक रेटिनोपैथी से पीड़ित व्यक्ति या जिनके मोतियाबिन्द की हाल में शल्य-क्रिया हुई है लेन्स लगे हैं या आँखों की अन्य प्रकार की शल्य-क्रिया हुई है, वे विशेषज्ञ के मार्ग-दर्शन के बिना उन्मनी-मुद्रा का अभ्यास न करें।

लाभ–उन्मनी मुद्रा ध्यान की अवस्था में ले जाती है। यह सामान्य परेशानी और उत्तेजना को दूर करती है।

टिप्पणी–*उन्मनी शब्द का अर्थ 'अन्यमनस्क' या 'नहीं सोचना' है। इसका अर्थ 'निर्विचार वृत्ति' या 'ध्यान' के रूप में भी किया जा सकता है। उन्मनी उस अवस्था की द्योतक है जो विचार के परे है, जहाँ विषय-जगत् की सभी आसक्तियाँ लुप्त हो जाती हैं। इस अवस्था में मन कार्यशील रहता है और कार्य होता भी है, किन्तु द्वन्द्वात्मक विचारों और विश्लेषण का व्यवधान वहाँ नहीं रहता। यही उन्मनी अवस्था है।*

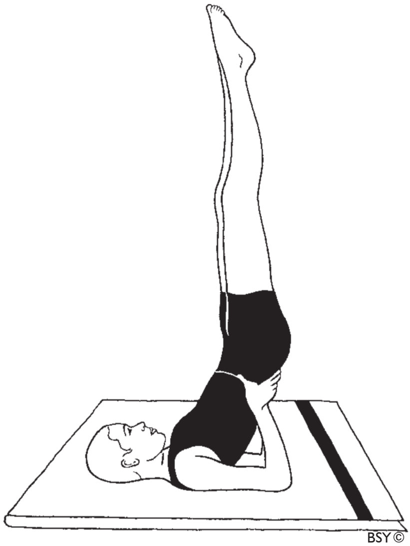

विपरीतकरणी मुद्रा

विपरीतकरणी आसन में आ जायें। पैरों को एक साथ और सीधा रखते हुए उन्हें थोड़ा-सा सिर की ओर झुकायें, जिससे पंजे आँखों की सीध में आ जायें। आँखों को बन्द कर लें और पूरे शरीर को शिथिल करें।

यह प्रारम्भिक स्थिति है।

अपनी सजगता को नाभि के ठीक पीछे मेरुदण्ड में स्थित मणिपुर चक्र पर केन्द्रित करें।

उज्जायी प्राणायाम करते हुए धीरे-धीरे गहरी श्वास लें।

अनुभव करें कि आपकी श्वास और चेतना मणिपुर से कण्ठ के पीछे मेरुदण्ड में स्थित विशुद्धि चक्र तक ऊपर चढ़ रही है।

श्वास छोड़ते समय अपनी सजगता को विशुद्धि पर रखें।

रेचक के अन्त में अविलम्ब अपनी सजगता को मणिपुर में वापस लायें और उसी प्रक्रिया को दुहरायें।

अवधि–7 चक्र या जब तक असुविधा का अनुभव न हो, अभ्यास करते रहें। यदि सिर में तनाव बढ़ता है, तो अभ्यास बन्द कर दें।

क्रमश: चक्रों की संख्या बढ़ा कर कुछ महीनों में उन्हें 21 तक ले जायें। कुछ समय के अभ्यास के बाद यह मुद्रा आरामदायक हो जाएगी और श्वास-प्रश्वास की लम्बाई स्वत: बढ़ जायगी।

सजगता– शारीरिक–शरीर की विपरीत स्थिति तथा श्वास की गति पर।
आध्यात्मिक–मणिपुर और विशुद्धि चक्र पर।

क्रम–दैनिक अभ्यास– कार्यक्रम के अन्त में और ध्यान के पूर्व। श्रमपूर्वक किये जाने वाले व्यायाम के बाद और भोजन के कम-से-कम तीन घण्टे बाद तक यह अभ्यास न करें। अभ्यास के पूरा हो जाने पर पीछे की ओर मुड़ कर किये जाने वाले आसन, जैसे, मत्स्यासन, भुजंगासन या उष्ट्रासन करें।

अभ्यास का समय– विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास प्रतिदिन एक ही समय पर, उत्तम होगा कि प्रात:काल ही करें।

सीमायें– यह सिर के बल किया जाने वाला अभ्यास है, इसलिए जब तक शरीर स्वस्थ न हो, इसे नहीं करना चाहिए। उच्च रक्तचाप, हृदय-रोग, बढ़ी हुई थायरॉइड ग्रन्थि से पीड़ित व्यक्तियों या जिनके शरीर में विषाक्त पदार्थ अधिक हों, उन्हें यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। सिर के बल किये जाने वाले आसनों की सीमायें यहाँ लागू होती हैं।

लाभ– विपरीतकरणी आसन से प्राप्त होने वाले सभी लाभ इससे प्राप्त होते हैं। यह थायरॉइड की क्रिया को सन्तुलित करता है।

इस मुद्रा में ऊर्जा के नीचे और बाहर की ओर होने वाले प्रवाह की दिशा उलट जाती है। जब ऐसा होता है, तब व्यक्ति का सम्पूर्ण अस्तित्व अनुप्राणित हो जाता है और सजगता बढ़ती है। इड़ा और पिंगला नाड़ियों में प्राण के प्रवाह में सन्तुलतन आता है। यह अवस्था दोनों नासिका-छिद्रों में समान रूप से श्वास के प्रवाह के रूप में प्रकट होती है। अभ्यास का यह संतुलनकारी प्रभाव शारीरिक और मानसिक स्तर पर प्रकट होने वाले रोगों से बचाव करता है।

अभ्यास टिप्पणी– अधिक समय तक इस मुद्रा का अभ्यास करने पर चयापचय की दर में वृद्धि हो जाती है। यदि ऐसा हो तो उसी के अनुरूप आहार की मात्रा को बढ़ाना चाहिए।

टिप्पणी– *विपरीतकरणी मुद्रा क्रिया के एक अभ्यास के रूप में भी की जाती है।*

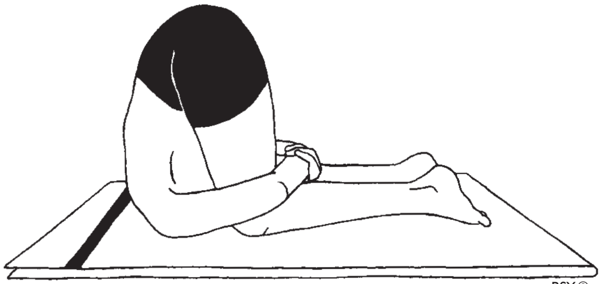

पाशिनी मुद्रा

हलासन में आ जायें। पंजों के बीच लगभग आधे मीटर की दूरी रखें।
पैरों को घुटनों से मोड़ें और जाँघों को वक्ष के इतना समीप लायें कि घुटने कानों, कन्धों और जमीन का स्पर्श करने लगें।
भुजाओं को मजबूती से पैरों के चारों ओर लपेट लें।
इस स्थिति में पूरे शरीर को शिथिल करें और आँखों को बन्द कर लें।
धीरे-धीरे गहरी श्वास लें।
जितनी देर आराम से सम्भव हो, इस स्थिति में रहें।
धीरे-धीरे भुजाओं की पकड़ ढीली करें और हलासन में लौट आयें।
पैरों को नीचे कर लें और शवासन में विश्राम करें।

सजगता– शारीरिक–गले के खिंचाव पर।
आध्यात्मिक–मूलाधार या विशुद्धि चक्र पर।

क्रम– इस मुद्रा के बाद पीछे की ओर मुड़कर किया जाने वाला कोई आसन करना चाहिए।

सीमायें– सर्वांगासन और हलासन के समान। जिन्हें मेरुदण्ड सम्बन्धी कोई समस्या हो, उन्हें यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। सिर के बल किये जाने वाले आसनों की सावधानियाँ यहाँ लागू होती हैं।

लाभ– पाशिनी मुद्रा तन्त्रिका-तन्त्र में सन्तुलन लाती है और प्रत्याहार की स्थिति उत्पन्न करती है। यह मेरुदण्ड और पीठ की पेशियों में खिंचाव

पैदा करती है और मेरुदण्ड की सभी नाड़ियों को क्रियाशील बनाती है। यह उदर के सभी अंगों की मालिश करती है।

टिप्पणी– *पाश का अर्थ होता है 'फंदा'। पाशिनी, का अर्थ हुआ, 'फंदे' में बाँधने वाली।*

तड़ागी मुद्रा

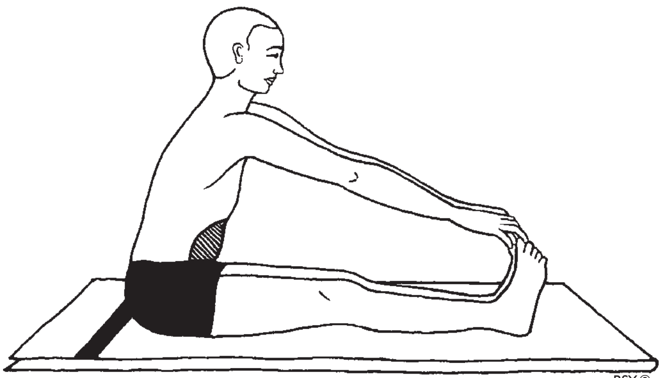

BSY ©

तड़ागी मुद्रा

पैरों को शरीर के सामने फैलाकर बैठ जायें, और पंजों के बीच थोड़ी दूरी रखें।
पूरे अभ्यास के दौरान पैर सीधे रहने चाहिए।
सिर और मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए हाथों को घुटनों पर रखें।
आँखों को बन्द करें और पूरे शरीर को, विशेषकर उदर-क्षेत्र को विश्राम की स्थिति में लायें।
आगे की ओर झुक कर पैरों के अँगूठों को हाथों के अँगूठों,तर्जनियों एवं मध्यमा उँगलियों से पकड़ लें।
सिर को सामने की ओर रखें।
उदर की पेशियों को पूरी तरह फैलाते हुए धीरे-धीरे गहरी श्वास लें।

फेफड़ों पर बिना किसी प्रकार का जोर डाले, श्वास को जितनी देर तक आराम से हो सके, भीतर रोकें।

उदर को शिथिल करते हुए धीरे-धीरे गहरी श्वास छोड़ें। पैरों के अँगूठों को पकड़े रखें।

10 बार श्वसन करें।

उसके बाद अँगूठों को छोड़ दें और प्रारम्भिक स्थिति में वापस आ जायें। यह एक चक्र हुआ।

अवधि–3 से 5 चक्र अभ्यास करें।

सजगता–शारीरिक–उदर पर।

आध्यात्मिक–मणिपुर चक्र पर।

सीमायें–गर्भवती महिलाओं और हर्निया या भ्रंश से पीड़ित व्यक्तियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभ–तड़ागी मुद्रा मध्यपट और श्रोणि तल में संचित तनाव को दूर करती है, उदर के अंगों को शक्ति प्रदान करती है और इन क्षेत्रों में रक्त-संचार को सुचारु बनाती है। आन्त्र-क्षेत्र के तन्त्रिका-जालक का उद्दीपन और पोषण होता है।

अभ्यास के समय आगे की ओर झुकने और आमाशय को फैलाने से मध्यपट और श्रोणि तल में खिंचाव पैदा होता है, और पूरे धड़ में एक प्रकार का दबाव उत्पन्न होता है। इससे मणिपुर चक्र में उद्दीपन होता है, जो कि ऊर्जा वितरण का केन्द्र है, और सामान्य रूप से प्राण का स्तर ऊँचा उठता है।

अभ्यास टिप्पणी–यदि स्थिति असुविधाजनक लगने लगे, तो श्वासों के बीच में पैरों के अँगूठों पर से पकड़ ढीली कर दें।

टिप्पणी–*तड़ागी का शब्दार्थ है 'पानी का लोटा' जिसका आकार फैले हुए उदर से मिलता-जुलता है।*

प्राण मुद्रा

प्राण मुद्रा

ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें। पद्मासन या सिद्धासन/सिद्धयोनि आसन अधिक उपयुक्त होगा। दोनों हाथों को भैरव मुद्रा में रखें। आँखें बन्द कर लें और सम्पूर्ण शरीर को, विशेष रूप से उदर, भुजाओं और हाथों को विश्राम की स्थिति में लायें।

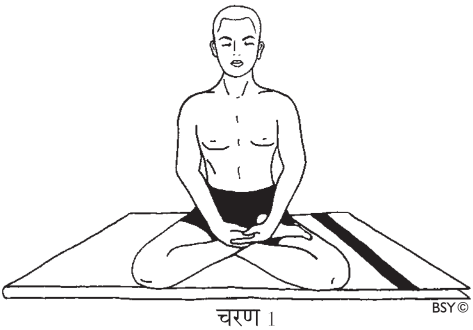

चरण 1

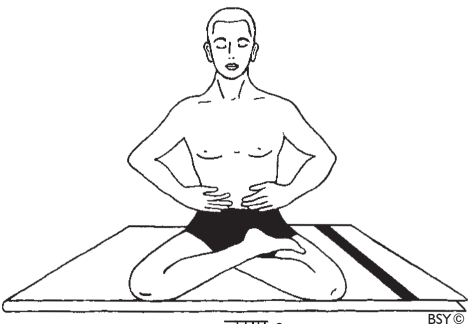

चरण 2

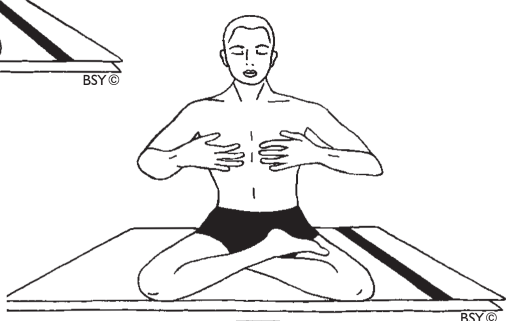

चरण 3

चरण 1: आँखों को बन्द रखते हुए श्वास अन्दर लें और फेफड़ों से अधिक-से-अधिक वायु बाहर निकालने के लिए उदर की पेशियों को संकुचित करते हुए, गहरी से गहरी श्वास छोड़ें।

श्वास को बाहर ही रोकते हुए मूलाधार में स्थित मूलाधार चक्र पर एकाग्रता रखते हुए मूल-बन्ध लगायें।

जितनी देर तक आराम से हो सके, श्वास को बाहर ही रोकें।

चरण 2: मूल-बन्ध को शिथिल करें।

उदर को पूरी तरह फैलाते हुए धीरे-धीरे गहरी श्वास अन्दर लें।

और अधिक वायु अंदर लेते हुए फेफड़ों को अधिक-से-अधिक भर लें।

साथ-ही-साथ हाथों को नाभि तक ऊपर उठायें। हाथ खुले रहेंगे, उँगलियाँ एक-दूसरे की ओर होंगी, किन्तु एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करेंगी और हथेलियाँ धड़ की ओर रहेंगी।

हाथों की गति का तालमेल उदर श्वसन के साथ होना चाहिए।

भुजाओं और हाथों को तनावरहित रखें।

उदर से श्वास लेते समय यह अनुभव करने का प्रयास करें कि प्राण शक्ति मेरुदण्ड में मूलाधार चक्र से मणिपुर चक्र की ओर ऊपर जा रही है।

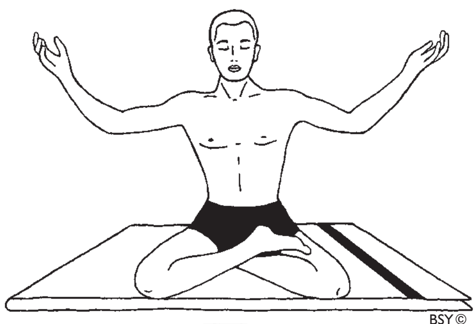

चरण 5

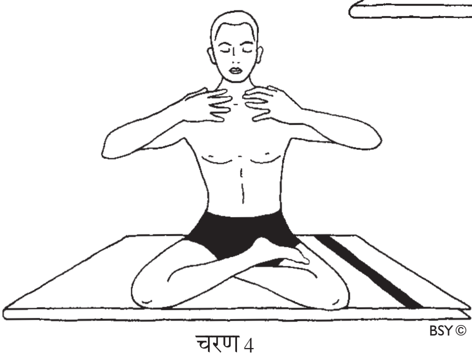

चरण 4

चरण 3: वक्ष को फैलायें और हाथों को ऊपर उठाकर हृदय-केन्द्र के ठीक सामने लाने तक श्वास लेते रहें।

श्वास लेते समय यह अनुभव करने का प्रयास करें कि प्राण शक्ति मणिपुर से अनाहत की ओर खिंच रही है।

चरण 4: कन्धों को थोड़ा ऊपर उठाकर फेफड़ों में और अधिक वायु भर लें और अनुभव करें कि प्राण विशुद्धि चक्र तक ऊपर जा रहा है।

श्वास के साथ-साथ हाथों को भी गले के सामने तक ऊपर उठायें।

ऐसा अनुभव करें कि प्राण विशुद्धि तक जा रहा है।

चरण 5: भुजाओं को बगल में फैलाते समय श्वास को भीतर रोकें।

अन्तिम स्थिति में हाथ कानों की सीध में रहेंगे, भुजायें बगल में फैली रहेंगी, परन्तु पूरी तरह तनी हुई नहीं और हथेलियाँ ऊपर की ओर रहेंगी।

अनुभव करें कि प्राण एक तरंग के समान प्रसारित होते हुए आज्ञा, बिन्दु और सहस्रार में पहुँच रहा है।

सहस्रार पर ध्यान करें और सिर से निकलते हुए शुद्ध प्रभामण्डल को मानसिक रूप से देखने का प्रयास करें।

ऐसा अनुभव करें कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व समस्त प्राणियों के लिए शान्ति की तरंगें बिखेर रहा है।

फेफड़ों पर बिना किसी प्रकार का जोर डाले जितनी देर तक इस अवस्था में रहना सम्भव हो, रहें।

चरण 4, 3, 2, 1 की पुनरावृत्ति करें और श्वास छोड़ते हुए धीरे-धीरे प्रारम्भिक स्थिति में वापस आ जायें।

श्वास छोड़ते समय ऐसा अनुभव करें कि प्राण क्रमश: प्रत्येक चक्र से होते हुए अवरोहण कर मूलाधार तक पहुँच रहा है।

रेचक के अन्त में मूल-बन्ध लगायें और अनुभव करे कि प्राण पुन: मूलाधार चक्र में पहुँच गया है।

पूरे शरीर को विश्राम की स्थिति में लायें और सामान्य श्वसन करें।

श्वसन– श्वास, प्रश्वास और कुम्भक की अवधि को धीरे-धीरे बढ़ायें। यह ध्यान रखें कि फेफड़ों पर अधिक जोर न पड़े। जब अभ्यास में दक्षता प्राप्त हो जाए, तब मानसिक रूप से श्वास को सुषुम्ना नाड़ी में श्वेत प्रकाश की धारा की तरह आरोहण-अवरोहण करते देखें।

सजगता– श्वास और हाथों को ऊपर उठाने एवं नीचे लाने की गति के साथ जोड़कर सजगता को मूलाधार से सहस्रार और फिर सहस्रार से मूलाधार तक एक अविरल, सतत् प्रवाह के रूप में गतिमान करें।

क्रम– आसन और प्राणायाम के बाद और ध्यान के पूर्व प्राण-मुद्रा का अभ्यास करना सर्वोत्तम है। किन्तु साथ-ही किसी भी समय इसका अभ्यास किया जा सकता है।

अभ्यास का समय– आदर्श रूप से प्राण-मुद्रा का अभ्यास सूर्योदय के समय उगते हुए सूर्य के सामने करना उत्तम है।

लाभ– प्राण मुद्रा सुप्त प्राण-शक्ति को जाग्रत करती है और उसे सम्पूर्ण शरीर में वितरित करती है तथा शारीरिक बल, स्वास्थ्य एवं आत्म-विश्वास को बढ़ाती है। यह प्राणिक-शरीर, नाड़ियों और चक्रों तथा शरीर में सूक्ष्म प्राण-प्रवाह के प्रति सजगता का विकास करती है। यह अनन्त स्रोत से ऊर्जा के आदान-प्रदान की बाह्य मनोवृत्ति धारण कर आन्तरिक शान्ति एवं सम-भाव लाती है।

टिप्पणी– *इस अभ्यास को शान्ति-मुद्रा भी कहा जाता है।*

योग-मुद्रा

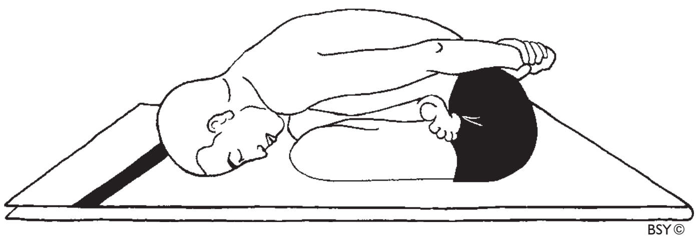

योग-मुद्रा

पद्मासन में बैठ जायें।

पीठ के पीछे एक कलाई को पकड़ लें।

आँखों को बन्द कर लें और पूरे शरीर को शिथिल करें।

सजगता को मूलाधार-चक्र पर ले आयें। (हल्का मूल-बन्ध भी लगा सकते हैं।)

धीरे-धीरे श्वास लें और अनुभव करें कि श्वास मूलाधार से आज्ञा-चक्र की ओर ऊपर चढ़ रही है। कुछ क्षणों के लिए श्वास को रोकें और आज्ञा-चक्र पर एकाग्रता रखें।

नितम्बों से आगे की ओर झुकते हुए धीरे-धीरे श्वास छोड़ें और शरीर की गति को श्वास के साथ इस प्रकार मिलायें कि जैसे ही फेफड़ों से वायु पूरी तरह बाहर निकलती है, ललाट योग-मुद्रासन में जमीन का स्पर्श करे। साथ-ही अनुभव करें कि श्वास आज्ञा-चक्र से मूलाधार की ओर धीरे-धीरे नीचे उतर रही है।

मूलाधार चक्र पर ध्यान करते हुए श्वास को कुछ क्षणों तक बाहर रोकें। श्वास लें, धड़ को लम्बवत् स्थिति में ऊपर उठायें और मूलाधार से आज्ञा-चक्र की ओर ऊपर जाती हुई श्वास के प्रति सजग रहें।

ये सभी गतियाँ लयपूर्ण ढंग से, सहज और समकालिक होनी चाहिए।

सीधे बैठे रहने की स्थिति में श्वास को कुछ क्षणों तक रोकें और आज्ञा-चक्र पर ध्यान-केन्द्रित करें।

सजगता को मेरुदण्ड में श्वास के साथ नीचे मूलाधार में वापस लाते हुए धीरे-धीरे श्वास छोड़ें।

यह एक चक्र हुआ।

श्वास को बाहर ही रोक कर और सजगता को मूलाधार चक्र में रखते हुए हल्का मूल-बन्ध लगाकर तुरन्त दूसरे चक्र का अभ्यास प्रारम्भ कर दें।

प्रारम्भिक अभ्यासी दूसरा चक्र आरम्भ करने के पूर्व कुछ सामान्य श्वास लेकर थोड़ा विश्राम कर सकते हैं।

3 से 10 चक्र अभ्यास करें।

श्वसन– बिना जोर लगाये श्वसन को जितना धीमा बना सकते हैं, बनायें।

क्रम– इस अभ्यास के बाद पीछे मुड़कर किया जाने जाने वाला कोई आसन, जैसे, भुजंगासन या उष्ट्रासन करना चाहिए।

सजगता– शारीरिक– श्वास के साथ शरीर की गति के ताल-मेल पर।
आध्यात्मिक– मूलाधार और आज्ञा चक्र पर।

सीमायें– सायटिका, उच्च रक्तचाप, श्रोणीय शोथ या उदर सम्बन्धी अन्य किसी गम्भीर रोग से पीड़ित व्यक्तियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभ–इस अभ्यास से उदर के अंगों की मालिश होती है और पीठ में खिंचाव उत्पन्न होता है जिससे अच्छे स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त यह ध्यान की तैयारी के लिए एक उपयुक्त अभ्यास है, जिससे विश्रान्ति का भाव उत्पन्न होता है। यह क्रोध और तनाव को दूर करता है, शान्ति लाता है और अतीन्द्रिय शक्ति के प्रति सजगता और उस पर नियन्त्रण का विकास करता है। मणिपुर के जागरण के लिये इसका उपयोग किया जाता है।

प्रकारान्तर: हाथों की स्थिति इस प्रकार भी हो सकती है–

क) हथेलियों को पैरों की एड़ियों पर रखें और कोहनियाँ बगल में रहें।

ख) हथेलियों को उलट कर पैरों के तलवों पर रखें।

ग) पीठ पीछे हथेलियों को इस प्रकार मिलायें कि उँगलियाँ पीठ के मध्य में ऊपर की ओर रहें। (यह हंस मुद्रा है)

अभ्यास टिप्पणी–जिनकी पीठ कड़ी हो या जो लोग पद्मासन में आराम से नहीं बैठ सकते हों, वे सुखासन या वज्रासन में बैठकर यह अभ्यास कर सकते हैं। यदि वज्रासन में बैठकर अभ्यास कर रहे हों, तो शशांकासन में आगे की ओर झुकें और हाथों को पीठ के पीछे बाँध लें। यदि वज्रासन भी आरामदायक न लगे, तो घुटनों को थोड़ा अलग कर लें और वक्ष को जमीन के अधिक निकट आने दें।

टिप्पणी–*इस अभ्यास को योग-मुद्रा इसलिए कहा गया है कि यह व्यक्ति की चेतना को परम-चेतना से या बाह्य प्रकृति को अन्त: प्रकृति से जोड़ती है।*

माण्डुकी मुद्रा

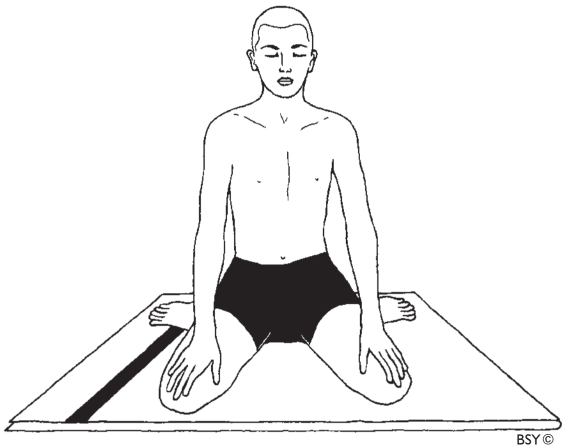

माण्डुकी मुद्रा

भद्रासन में बैठ जायें। यदि बिना जोर लगाये सम्भव हो तो, शरीर को इस प्रकार व्यवस्थित करें कि पैरों की उँगलियाँ बाहर की ओर रहें। नितम्ब जमीन पर विश्राम की स्थिति में रहें। मूलाधार पर अधिक दबाव डालने के लिए अपने नितम्बों के नीचे एक तह किया हुआ कम्बल भी रखें, जिससे मूलाधार-चक्र के क्षेत्र में उत्तेजना पैदा हो।

हाथों को घुटनों पर रखें, मेरुदण्ड और सिर को सीधा रखें।

आँखें बन्द कर लें और पूरे शरीर को शिथिल करें।

यह माण्डुकी आसन है।

कुछ समय के बाद आँखों को खोल लें और नासिकाग्र दृष्टि करें।

यदि आँखें थक जायें, तो उन्हें एक-दो मिनट के लिए विश्राम दें।

5 मिनट तक अभ्यास करें, जब तक कि मन और इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी न हो जायें।

श्वसन – श्वसन धीमा और लयपूर्ण होना चाहिए।

सजगता – शारीरिक – नासिका के अग्र-भाग पर।

आध्यात्मिक – मूलाधार चक्र पर

सीमायें– ग्लूकोमा या डाइबिटिक रेटिनोपैथी से पीड़ित व्यक्ति या जिनके मोतियाबिन्द की हाल में शल्य-क्रिया हुई है, लेन्स लगे हैं, या आँखों की अन्य प्रकार की शल्य-क्रिया हुई है, वे विशेषज्ञ के मार्ग-दर्शन के बिना नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास न करें। जब तक टखनों, घुटनों और कूल्हों में बहुत लचीलापन न आ जाये तब तक माण्डुकी आसन न करें।

लाभ– माण्डुकी आसन पालथी मारकर बैठने वाले ध्यान के आसनों का विपरीत आसन है। इससे मूलाधार चक्र क्रियाशील होता है। यह मन के विक्षेपों और उतार-चढ़ाव को शान्त करती है और इड़ा एवं पिंगला नाड़ियों में सन्तुलन लाती है, जिससे सीधे ध्यान की स्थिति प्राप्त होती है।

अभ्यास टिप्पणी– माण्डुकी-मुद्रा नासिकाग्र-दृष्टि का उच्च प्रकारान्तर है। यह मूलाधार चक्र को जाग्रत करती है। इसे हल्के प्रकाश में करना चाहिए, जिससे नासिका के अग्र भाग को स्पष्ट रूप से देखा जा सके।

टिप्पणी– *मण्डुकी का शब्दार्थ 'मेंढकी' होता है। इस मुद्रा का यह नामकरण इसलिए हुआ कि इसमें बैठने का ढंग मेंढकी के विश्राम में बैठने की स्थिति से मिलता-जुलता है। माण्डुकी मुद्रा का अभ्यास क्रिया के रूप में भी किया जाता है।*

महामुद्रा

प्रारम्भिक स्थिति–उत्तान पादासन

पैरों को सामने फैला कर बैठ जायें।

बायें घुटने को मोड़कर बायीं एड़ी से मूलाधार या योनि-मूल पर दबाव डालें। दाहिने पैर को फैलाये रखें।

दोनों हाथों को दायें घुटने के ऊपर रखें।

अपनी शारीरिक स्थिति को व्यवस्थित कर, उसे आराम की स्थिति में ले आयें।

इतना आगे झुकें कि दाहिने पैर के अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़ सकें।

जितनी देर तक आराम से सम्भव हो, इस स्थिति में रहें।

सीधे बैठने की स्थिति में वापस आ जायें और दोनों हाथों को दाहिने घुटने पर रखें।
दूसरे पैर को फैलाकर और फिर दोनों पैरों को एक साथ फैलाकर इस क्रिया को दुहरायें।
यह एक चक्र हुआ।
3 चक्र अभ्यास करें।

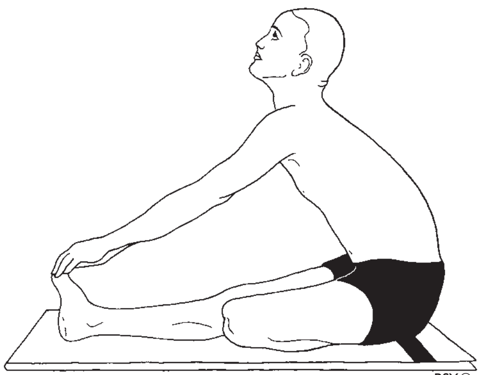

महामुद्रा

दाहिने पैर को सामने फैलाकर उत्तानपादासन में बैठ जायें।
पीठ को सीधा रखें। पूरे शरीर को शिथिल करें।
खेचरी मुद्रा लगायें।
गहरी श्वास अन्दर लें।
श्वास छोड़ते समय आगे झुकें और दाहिने पैर के अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़ लें।
सिर को सीधा रखें और पीठ को भी अधिक-से-अधिक सीधा रखें। फिर सिर को थोड़ा पीछे झुकाते हुए धीरे-धीरे श्वास लें।
शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास करें और फिर मूल-बन्ध लगायें।
श्वास को अन्दर रोकें और चेतना को भ्रू-मध्य से कण्ठ एवं वहाँ से मूलाधार तक घुमायें।
चेतना को घुमाते हुए मानसिक रूप से 'आज्ञा, विशुद्धि, मूलाधार' दुहराते

जायें। प्रत्येक चक्र पर एकाग्रता एक-दो क्षण तक ही रहनी चाहिए।
शाम्भवी का अभ्यास समाप्त करें और मूल बन्ध को शिथिल करें।
सीधे बैठने की स्थिति में लौटते हुए धीरे-धीरे श्वास छोड़ें।
यह एक चक्र हुआ।

श्वसन– अभ्यास का एक चक्र दो पूर्ण श्वास के बराबर होता है। धीरे-धीरे श्वास की लम्बाई बढ़ानी चाहिए।

अवधि– बायें पैर को मोड़ कर 3 चक्र, फिर दाहिने पैर को मोड़ कर 3 चक्र और फिर दोनों पैरों को फैलाकर 3 चक्र अभ्यास करें।

क्रम– आदर्श रूप में इसका अभ्यास आसन और प्राणायाम के पश्चात् और ध्यान से पहले करना चाहिए।

अभ्यास का समय– महामुद्रा के अभ्यास के लिए सर्वोत्तम समय प्रात:काल है, जब पेट पूरी तरह खाली रहता है।

सीमायें– उच्च रक्तचाप, हृदय-रोग, ग्लूकोमा या डाइबिटिक रेटिनोपैथी से पीड़ित व्यक्ति या जिनके मोतियाबिन्द की हाल में शल्य-क्रिया हुई है, लेन्स लगे हैं या आँखों की अन्य प्रकार की शल्य-क्रिया हुई है, वे विशेषज्ञ के मार्ग-दर्शन के बिना इसका अभ्यास न करें।
शरीर-शुद्धिकरण के पूर्व महामुद्रा नहीं करनी चाहिए। विषाक्त तत्त्वों के जमाव, जैसे चर्म-रोग आदि से शारीरिक अशुद्धि का संकेत मिलता है।
चूँकि महामुद्रा के अभ्यास से बहुत अधिक गर्मी उत्पन्न होती है, इसलिए ग्रीष्म ऋतु में इसे नहीं करना चाहिए।
सक्रिय ऋतुस्राव अथवा गर्भावस्था के दौरान इसका अभ्यास न करें।

लाभ– महामुद्रा के अभ्यास से शाम्भवी मुद्रा, खेचरी मुद्रा, मूल बन्ध और कुम्भक के अभ्यासों से प्राप्त होने वाले सभी लाभ मिल जाते हैं।
महामुद्रा, मूलाधार को आज्ञा-चक्र से जोड़ने वाले ऊर्जा-परिपथ को उत्प्रेरित करती है। पूरा शरीर प्राण से आवेशित हो जाता है, जिससे सजगता तीव्र होती है और सहज ध्यान की अवस्था प्राप्त होती है। ऊर्जा-मार्ग के अवरोध दूर हो जाते हैं।

अभ्यास टिप्पणी– महामुद्रा का अभ्यास प्रारम्भ करने के पूर्व अभ्यासी को शाम्भवी मुद्रा, खेचरी मुद्रा, मूल बन्ध और कुम्भक की विधियों की पूरी जानकारी होनी चाहिए। कुशल मार्गदर्शन के बिना यह अभ्यास प्रारम्भ नहीं करना चाहिए।

महाभेद मुद्रा

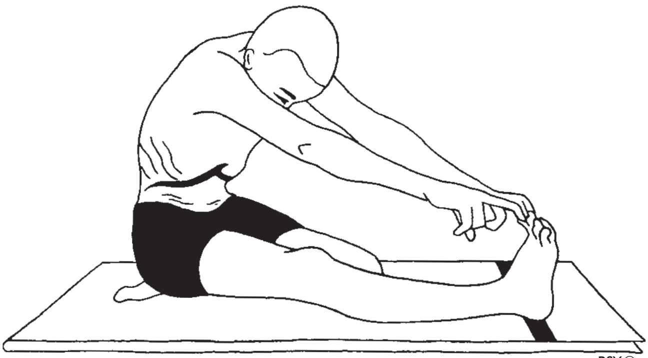

महाभेद मुद्रा

महामुद्रा में बतायी गयी विधि से उत्तान पादासन में आयें।

पीठ को सीधा रखें।

पूरे शरीर को शिथिल करें।

गहरी श्वास अन्दर लें। श्वास छोड़ते समय आगे झुकें और दोनों हाथों से दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़ लें।

श्वास को बाहर रोकें और जालन्धर, उड्डियान एवं मूलबन्ध लगायें।

चेतना को बारी-बारी से कण्ठ, उदर और मूलाधार-क्षेत्र में घुमायें और मानसिक रूप से 'विशुद्धि, मणिपुर, मूलाधार' दुहराते जायें।

चेतना को प्रत्येक चक्र पर एक-दो क्षण तक ही रोकें और फिर वहाँ से अगले चक्र पर सहज रूप से प्रवाहित होने दें।

मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धर बन्ध को शिथिल करें।

जब सिर पूरी तरह ऊपर उठ जाय, तब श्वास अन्दर लें और सीधे बैठने की स्थिति में आ जायें।

श्वास छोड़ें और विश्राम करें।

यह एक चक्र हुआ।

श्वसन– अभ्यास का एक चक्र दो पूर्ण श्वास के बराबर होता है। धीरे-धीरे श्वास की लम्बाई बढ़ानी चाहिए।

अवधि– बायें पैर को मोड़ कर 3 चक्र, फिर दाहिने पैर को मोड़ कर 3 चक्र और फिर दोनों पैरों को फैलाकर 3 चक्र अभ्यास करें।

क्रम– इसका अभ्यास आसन और प्राणायाम के पश्चात् और ध्यान से पहले करना चाहिए।

अभ्यास का समय– महाभेद मुद्रा के अभ्यास का सर्वोत्तम समय प्रात:काल है, जब पेट बिल्कुल खाली रहता है।

सीमायें– कुम्भक, मूल, उड्डियान और जालन्धर बन्ध की सावधानियाँ और सीमायें यहाँ लागू होती हैं। उच्च रक्तचाप अथवा हृदय रोग, सर्वाइकल स्पॉण्डिलोसिस, उच्च अन्त: मस्तिष्क-दाब, चक्कर आना, कोलाइटिस, आमाशय या आँत का अल्सर, मध्य पट का हर्निया अथवा उदर की समस्याओं से पीड़ित व्यक्तियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए।

शरीर-शुद्धिकरण के पूर्व इस अभ्यास को नहीं करना चाहिए। चूँकि महाभेद मुद्रा के अभ्यास से बहुत अधिक गर्मी उत्पन्न होती है, इसलिए ग्रीष्म ऋतु में इसे नहीं करना चाहिए।

सक्रिय ऋतुस्राव अथवा गर्भावस्था के दौरान इसका अभ्यास न करें।

लाभ– महाभेद मुद्रा का प्राण के स्तर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह विशेष रूप से मूलाधार, मणिपुर और विशुद्धि चक्रों को प्रभावित करती है, मानसिक एकाग्रता और ध्यान की स्थिति लाने के लिए उनके भीतर ऊर्जा को परिचालित करती है। महाभेद मुद्रा, महामुद्रा की पूरक है। ये दोनों मिलकर सम्पूर्ण शरीर और मन को पूर्णत: आवेशित कर देते हैं।

अभ्यास टिप्पणी– इस अभ्यास को प्रारम्भ करने के पूर्व अभ्यासी को जालन्धर, उड्डियान और मूल बन्धों एवं बहिर्कुम्भक के सम्बन्ध में पूरी जानकारी होनी चाहिए।

कुशल मार्गदर्शन के बिना यह अभ्यास प्रारम्भ नहीं करना चाहिए।

महावेध मुद्रा

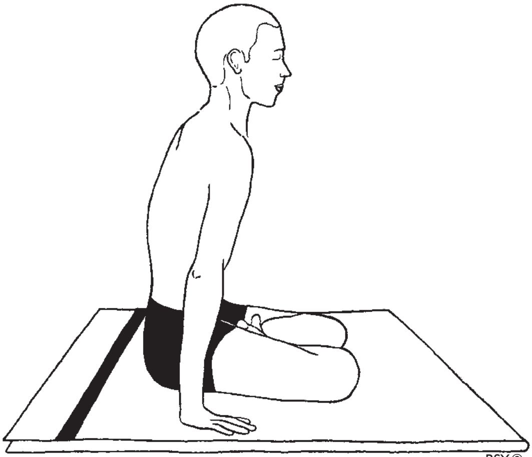

महावेध मुद्रा

पद्मासन में बैठ जायें। शरीर को शिथिल करें और आँखों को बन्द कर लें। हथेलियों को जाँघों के बगल में जमीन पर रखें, उँगलियाँ सामने की ओर रहें या मुट्ठियाँ बाँध लें तथा उँगलियों की गाँठों को नीचे की ओर रखें।

भुजायें सीधी, किन्तु तनाव रहित रहें। धीमी और गहरी श्वास अन्दर लें।

अन्तर्कुम्भक लगायें।

शरीर के पूरे भार को हाथों पर डालते हुए और भुजाओं को सीधा रखते हुए शरीर को ऊपर उठायें।

सजगता को मूलाधार चक्र पर रखते हुए नितम्बों को 3 बार धीरे-धीरे जमीन पर गिरायें-उठायें।

नितम्ब और जाँघों का पिछला भाग एक साथ जमीन का स्पर्श करें।

मेरुदण्ड को सीधा रखें।

धीरे से नितम्बों को जमीन पर टिकायें। श्वास बाहर छोड़ें।

यह एक चक्र हुआ।

जब श्वास-प्रश्वास सामान्य हो जाए, तब अभ्यास को दुहरायें।

3 चक्र अभ्यास करें।

श्वसन–प्रारम्भिक स्थिति में श्वास अन्दर लें।
नितम्बों को उठाते और नीचे लाते समय श्वास को अन्दर रोकें।
जब शरीर अंतिम रूप से नीचे आ जाए, तभी श्वास बाहर छोड़ें।

सजगता–शारीरिक–नितम्बों को धीरे-धीरे ऊपर-नीचे लाते समय श्वास को रोकने पर।
आध्यात्मिक–मूलाधार चक्र पर।

क्रम–महावेध का अभ्यास आसनों के पश्चात् और ध्यान के पूर्व करना चाहिए।

सावधानियाँ–ध्यान रहे कि नितम्बों को जमीन पर अधिक जोर से न पटकें। चोट से बचाव के लिए एक मोटे कम्बल का उपयोग आवश्यक है। अनुत्रिक (पुच्छास्थि) को सीधे जमीन पर न टकराने दें। नितम्ब और जाँघों का पिछला भाग एक साथ जमीन का स्पर्श करे। जब जाँघों का पिछला भाग और नितम्ब एक साथ जमीन पर आते हैं, तो इससे एक लचीला आधार मिलता है और इस क्रिया का प्रभाव एक बड़े क्षेत्र पर पड़ता है।

सीमायें–श्रोणि क्षेत्र के चारों ओर किसी प्रकार की सूजन, संक्रमण या किसी अन्य समस्या से ग्रस्त व्यक्ति को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। हृदय रोग, उच्च रक्त चाप, सायटिका अथवा दुर्बल या चोटग्रस्त घुटनों वालों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। सक्रिय ऋतुस्राव अथवा गर्भावस्था के दौरान इसका अभ्यास न करें।

लाभ–मन को अन्तर्मुखी बनाने के लिये यह एक शक्तिशाली अभ्यास है। इससे अतीन्द्रिय क्षमताओं एवं प्रसुप्त कुण्डलिनी का जागरण होता है, जिसका निवास मूलाधार चक्र में है।

अभ्यास टिप्पणी–यदि पद्मासन में दक्षता प्राप्त नहीं हो पायी है, तो पैरों को सामने फैलाकर इसका अभ्यास किया जा सकता है, हालाँकि यह विधि उतनी प्रभावी नहीं है।

टिप्पणी–*संस्कृत शब्द 'महा' का अर्थ है महान् और 'वेध' का अर्थ है भेदना। महावेध मुद्रा का उद्देश्य है मूलाधार चक्र का भेदन करना और कुण्डलिणी शक्ति को ऊपर की ओर दिशान्तिरित करना। यह हठ-योग का अभ्यास है और यह क्रिया-योग के ताड़न क्रिया के अभ्यास की तैयारी की विधि है।*

अश्विनी मुद्रा

अश्विनी मुद्रा

विधि 1: तीव्र संकुचन

ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें।
आँखों को बन्द कर लें और पूरे शरीर को शिथिल करें।
कुछ मिनटों के लिए स्वाभाविक श्वसन-प्रक्रिया के प्रति सजग हो जायें, फिर सजगता को गुदा पर ले जायें।
कुछ क्षणों के लिए बिना अधिक जोर लगाए गुदा-द्वार की मांसपेशियों को संकुचित करें।
फिर कुछ क्षणों के लिए उन्हें शिथिल कर दें।
प्रयास करें कि यह क्रिया केवल गुदा-क्षेत्र तक सीमित रहे।
10 से 20 बार सहजतापूर्वक एवं लयपूर्ण ढंग से संकुचन एवं शिथिलन का अभ्यास करें।
धीरे-धीरे संकुचनों को अधिक तीव्र बनायें।

विधि 2: अन्तर्कुम्भक के साथ संकुचन

ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें।
आँखों को बन्द कर लें और पूरे शरीर को शिथिल करें।
गुदा-द्वार की मांसपेशियों को संकुचित करते हुए साथ-साथ धीमी और गहरी श्वास लें।
गुदा-द्वार की मांसपेशियों के संकुचन को बनाये रखते हुए अन्तर्कुम्भक का अभ्यास करें।
बिना तनाव के संकुचन को जितना सम्भव हो, उतना दृढ़ बनायें।
गुदा के संकुचन को शिथिल करते हुए श्वास छोड़ें।
5 से 10 चक्र अभ्यास करें।

सजगता– शारीरिक–गुदा के संकुचन तथा शिथिलीकरण पर।
आध्यात्मिक–मूलाधार चक्र पर।

सीमायें– उच्च रक्त चाप तथा हृदय रोग से पीड़ित व्यक्तियों को यह अभ्यास कुम्भक के साथ नहीं करना चाहिए।

लाभ– यह अभ्यास गुदा की पेशियों को मजबूत बनाता है। इस मुद्रा से शरीर से प्राण-शक्ति का क्षय नहीं होता है; यह उसे आध्यात्मिक प्रगति के लिए ऊपर की ओर दिशान्तरित कर देती है।

***टिप्पणी**– इस अभ्यास को यह नाम इसलिए दिया गया है कि इसमें गुदा के संकुचन की क्रिया घोड़े द्वारा मल-त्याग के तुरंत बाद गुदा-द्वार से की जाने वाली क्रिया के समान है।*

वज्रोली/सहजोली मुद्रा

वज्रोली मुद्रा (पुरुषों के लिए)/सहजोली मुद्रा (महिलाओं के लिए)

सिद्धासन/सिद्धयोनि आसन या ध्यान के किसी आरामदायक आसन में बैठ जायें।

सिर और मेरुदण्ड को सीधा रखें।

हाथों को चिन् मुद्रा या ज्ञान-मुद्रा में घुटनों पर रखें।

आँखों को बन्द कर लें और पूरे शरीर को शिथिल करें।

सजगता को मूत्र-मार्ग पर ले जायें।

श्वास लें, उसे अन्दर रोकें और मूत्र-मार्ग को ऊपर की ओर खींचने का प्रयास करें। यह आकुंचन क्रिया ठीक वैसी ही होती है, जैसी कि मूत्र-त्याग की क्रिया को कुछ समय तक रोकने के लिए की जाती है।

पुरुषों में वृषण एवं स्त्रियों में भगोष्ठ में इस आकुंचन के कारण ऊपर की ओर थोड़ी गति होनी चाहिए।

संकुचन की क्रिया को मूत्र-मार्ग में ही केन्द्रित एवं सीमित करने का प्रयास करें।

जब तक आराम से सम्भव हो, संकुचन को रोके रखें। प्रारम्भ में कुछ क्षण और फिर धीरे-धीरे अवधि को बढ़ायें।

संकुचन को ढीला करते हुए श्वास छोड़ें और शरीर को शिथिल करें।

अवधि–3 संकुचनों से प्रारम्भ करें और धीरे-धीरे संख्या बढ़ाते हुए 10 चक्रों तक ले जायें।

सजगता– शारीरिक–संकुचन के बिन्दु को जननांगों से अलग रखने पर। श्रोणीय तल के सामान्य संकुचन को रोकने का प्रयास करें, जो अपने आप होने लगता है।

आध्यात्मिक–स्वाधिष्ठान-चक्र पर।

सीमायें– वज्रोली/सहजोली मुद्रा उन लोगों को नहीं करनी चाहिए जो मूत्र-मार्ग के संक्रमण या शोथ से पीड़ित हों, क्योंकि इससे उत्तेजना और दर्द बढ़ सकता है।

लाभ– वज्रोली/सहजोली मुद्रा समस्त मूत्र-प्रजनेन्द्रिय प्रणाली के कार्य को नियमित बनाती और उसे शक्ति प्रदान करती है। यह मानसिक कामजनित द्वन्द्वों और अवांछित यौन विचारों से ऊपर उठने में भी सहायक होती है। यह ऊर्जा को सुरक्षित रखती है और ध्यान की अवस्था लाने के लिये उसे अनुप्रेषित करती है।

टिप्पणी– *वज्रोली संस्कृत शब्द वज्र से बना है, जिसका अर्थ होता है, 'वज्रपात', 'बिजली' या 'प्रभुत्व वाला' और सहजोली 'सहज' से बना है, जिसका अर्थ होता है 'सरल'। अत: वज्रोली वह शक्ति है, जो ऊपर की ओर विद्युत वेग से गतिमान होती है और सहजोली का अर्थ हुआ, 'सहज रूप से अतीन्द्रिय प्रवृत्ति को जाग्रत करना।' वज्र उस नाड़ी का भी नाम है जो काम ऊर्जा को संचालित करती है।*

बन्ध

जालन्धरोड्याणनमूलबन्धा-
ञ्जल्पन्ति कण्ठोदरपायुमूलान् ।
बन्धत्रयेऽस्मिन्परिचीयमाने
बन्धः कुतो दारुणकालपाशात् ॥ 5 ॥

जालन्धर बन्ध, उड्डियान बन्ध और मूल बन्ध की स्थिति क्रमश: कण्ठ, उदर एवं मूलाधार में है।
यदि इनकी अवधि को बढ़ाया जा सके, तो मृत्यु-भय कैसा?

योगतारावलि (सूत्र 5; श्री आदि शंकराचार्य)

बन्ध परिचय

परम्परा के अनुसार बन्धों को मुद्राओं का अंग माना जाता था और शिष्य को इनकी शिक्षा गुरु-मुख से प्राप्त होती थी। हठयोग प्रदीपिका में बन्धों और मुद्राओं की चर्चा साथ-साथ की गई है और प्राचीन तन्त्र-शास्त्रों में भी इन दोनों के बीच कोई भेद नहीं बताया गया है। बन्धों को व्यापक रूप से मुद्राओं और प्राणायाम की विधियों के साथ जोड़ा गया है। फिर भी, बन्धों की कार्य-विधि ऐसी है, जो एक स्वतन्त्र अभ्यास-प्रणाली के रूप में उनको मान्यता प्रदान करती है।

संस्कृत शब्द बन्ध का शाब्दिक अर्थ है 'बाँधना', 'कसना' या 'जकड़ना'। इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि बन्ध के अभ्यासों में शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है, जिसका प्रभाव प्राण-शरीर पर प्रकट होता है। बन्धों का उद्देश्य प्राण-शक्ति को किसी विशेष अंग में रोककर आध्यात्मिक जागरण के लिए उसे सुषुम्ना नाड़ी में पुन: प्रवाहित कराना होता है।

बन्धों का अभ्यास पहले स्वतन्त्र रूप में किया जाना चाहिए। उनमें दक्षता प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही उन्हें मुद्राओं और प्राणायामों के अभ्यासों के साथ सही ढंग से जोड़ा जा सकता है। इस प्रकार बन्धों का संयोजन करने पर ये अभ्यास अतीन्द्रिय क्षमताओं को जाग्रत कर उच्च यौगिक क्रियाओं में सहायक बन जाते हैं, यद्यपि तत्सम्बन्धी सावधानियों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है।

बन्ध और ग्रन्थियाँ

बन्ध चार प्रकार के होते हैं–जालन्धर, मूल, उड्डियान और महाबन्ध। चौथा बन्ध पहले तीन बन्धों का संयोजन है। ये तीनों बन्ध सीधे तीन ग्रन्थियों पर

प्रभाव डालते हैं। मूल बन्ध का सम्बन्ध ब्रह्म-ग्रन्थि से, उड्डियान बन्ध का विष्णु-ग्रन्थि से और जालन्धर बन्ध का सम्बन्ध रुद्र-ग्रन्थि से है। ये ग्रन्थियाँ सुषुम्ना नाड़ी में प्राण के स्वतन्त्र प्रवाह में अवरोध पैदा करती हैं, जिससे चक्रों के जागरण और कुण्डलिनी के आरोहण में बाधा उत्पन्न होती है।

ब्रह्म-ग्रन्थि पहली ग्रन्थि है, जो मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों से सम्बद्ध है। इसका सम्बन्ध जीवित रहने की सहज इच्छा, संतानोत्पत्ति की इच्छा और गहरे सहज ज्ञान, सजगता एवं कामना से है। जब ब्रह्म-ग्रन्थि को पार कर लिया जाता है, तब साधक व्यक्तित्व के आकर्षणों एवं सहज वृत्तियों के पाश में नहीं बँधता और कुण्डलिनी मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्रों को बिना किसी व्यवधान के पार कर जाती है।

दूसरी ग्रन्थि विष्णु-ग्रन्थि है, जो मणिपुर और अनाहत चक्रों से सम्बद्ध है। इन दो चक्रों का सम्बन्ध मनुष्य के शारीरिक, भावनात्मक और मानसिक पक्षों के पोषण से है। मणिपुर प्राणमय कोश या ऊर्जा शरीर का पोषण करता है, यह कोश भोजन के पाचन एवं चयापचय को नियन्त्रण में रखता है। अनाहत मनोमय कोश या मानसिक शरीर का पोषण करता है और ये दोनों अन्नमय कोश, अर्थात् भौतिक शरीर को प्रभावित करते हैं। विष्णु-ग्रन्थि को पार कर लेने के बाद मनुष्य भौतिक, मानसिक और भावनात्मक आकर्षणों से नहीं बंधता। उसके सम्बन्ध और ऊर्जा व्यक्तिगत पसन्द या द्वेष पर आधारित होने की अपेक्षा सार्वभौमिक हो जाते हैं।

अन्तिम ग्रन्थि रुद्र-ग्रन्थि है। इसका सम्बन्ध विशुद्धि और आज्ञा चक्रों से है। विशुद्धि और आज्ञा, विज्ञानमय कोश, अर्थात् प्रज्ञा (उच्च मनस-शरीर) को पोषित करते हैं। ये किसी रूप, विचार या धारणा को रूपान्तरित कर उसके सार्वभौमिक पहलू को उजागर करते हैं। रुद्र-ग्रन्थि का भेदन हो जाने पर व्यक्तिगत चेतना समाप्त हो जाती है, पुराना अहंकार पीछे छूट जाता है और अव्यक्त चेतना की अनुभूति आज्ञा एवं सहस्रार चक्रों के पार प्रकट होने लगती है।

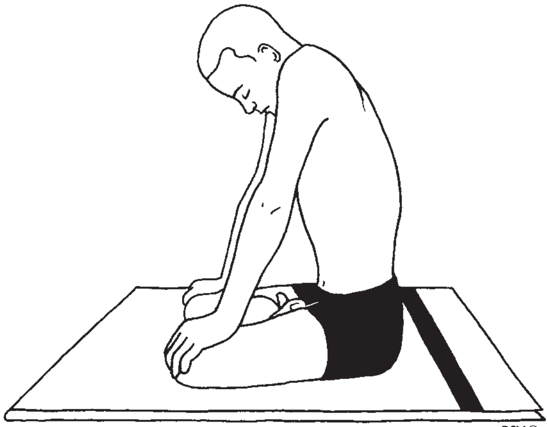

BSY ©

जालन्धर बन्ध

पद्मासन या सिद्धासन/सिद्धयोनि आसन में बैठ जायें। सिर और मेरुदण्ड को सीधा रखें। घुटने जमीन से सटे रहने चाहिए। हथेलियों को घुटनों के ऊपर रखें।

आँखों को बन्द कर लें और पूरे शरीर को शिथिल करें।

धीमी और गहरी श्वास लेकर श्वास को अन्दर रोकें।

श्वास को अन्दर रोके रखते हुए सिर को सामने झुकायें और ठुड्ढी से वक्ष को जोर से दबायें।

भुजाओं को सीधा करें और हाथों से घुटनों को दबाते हुए उन्हें इस स्थिति में दृढ़ता से जमाए रखें। साथ-ही कन्धों को ऊपर उठाकर सामने की ओर झुकायें।

इससे भुजायें अपने स्थान पर जमी रहेंगी और गर्दन पर पड़ने वाले दबाव में वृद्धि होगी।

शुरू में कुछ क्षणों तक अन्तिम स्थिति में रुकें।

अधिक जोर न लगायें।

कन्धों को शिथिल करें, भुजाओं को मोड़ें, धीरे-धीरे बन्ध को ढीला करें, सिर को ऊपर उठायें और तब श्वास छोड़ें।

जब श्वास सामान्य हो जाए, तब इस अभ्यास को दुहरायें।

प्रकारान्तरः क्रिया योग में अधिक सरल एवं सूक्ष्म जालन्धर बन्ध का अभ्यास किया जाता है। इसमें सिर को आगे की ओर झुकाया जाता है, ताकि ठुड्ढी छाती को दबाये। इस प्रकारान्तर का उपयोग सामान्य रूप से प्राणायामों के अभ्यासों के साथ किया जाता है।

श्वसन– यह अभ्यास अन्तर्कुम्भक के दौरान किया जाता है। इसका अभ्यास बहिर्कुम्भक के साथ भी किया जा सकता है।

अवधि– अभ्यासी जितनी देर आरामपूर्वक श्वास को रोक सके, उतनी देर जालन्धर बन्ध करना चाहिए। कुम्भक के समय एक गिनती को कायम रखें और धीरे-धीरे गिनती को बढ़ायें। इस अभ्यास की पाँच आवृत्तियाँ की जा सकती हैं।

सजगता– शारीरिक–कण्ठकूप पर और कुम्भक के साथ जुड़ी हुई संवेदनाओं पर। आध्यात्मिक–विशुद्धि चक्र पर।

क्रम– इस बन्ध का अभ्यास आदर्श रूप से प्राणायामों, बन्धों और मुद्राओं के साथ किया जाता है। यदि केवल बन्ध का अभ्यास करना हो, तो ध्यान के पूर्व और आसन-प्राणायाम के बाद करना चाहिए।

सीमायें– सर्वाइकल स्पॉण्डिलाइटिस, उच्च अन्त:मस्तिष्क-दाब, चक्कर आना, उच्च रक्तचाप या हृदय-रोग से पीड़ित व्यक्तियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। यद्यपि जालन्धर बन्ध प्रारम्भ में रक्तचाप को घटाता है, पर लम्बे समय तक कुम्भक करने से हृदय पर जोर पड़ता है। जालन्धर बन्ध को पहले बन्ध के रूप में सिखलाया जाता है, क्योंकि इसका प्रभाव हल्का और शान्तिकारक होता है। यदि चक्कर आने लगे तो अभ्यास बन्द कर दें।

लाभ– जालन्धर बन्ध कैरोटिड साइनस को दबाता है, जो गर्दन की मुख्य धमनियों, कैरोटिड धमनियों पर स्थित है। सरल प्रकारान्तर से हल्का दाब पड़ता है। ये साइनस रक्त-परिसंचरण और श्वसन-संस्थान के कार्यों को नियमित बनाने में सहायक होते हैं। सामान्य रूप से शरीर में ऑक्सीजन की कमी और कार्बन डाइऑक्साइड की अधिकता होने से हृदय-गति बढ़ती है और श्वास बोझिल हो जाती है। इस प्रक्रिया का सूत्रपात कैरोटिड साइनस द्वारा होता है। इस साइनस पर कृत्रिम दबाव डालकर इस प्रवृत्ति को रोका जाता है, जिससे हृदय-गति मन्द होती और श्वास रोकने की क्षमता बढ़ती है।

इस अभ्यास से मानसिक विश्राम प्राप्त होता है; तनाव, चिन्ता और क्रोध में कमी आती है। इससे ध्यानात्मक अन्तर्मुखता और एकाग्रता का विकास होता है। कण्ठ में उद्दीपन थायरॉइड-ग्रन्थि के कार्य को संतुलित करने और चयापचय की क्रिया को नियमित बनाने में सहायक होता है।

अभ्यास टिप्पणी– जब तक ठुड्ढी के बन्ध और भुजाओं के बन्ध को हटा न दिया जाए और सिर पूरी तरह सीधा न हो जाए, तब तक न श्वास लें और न श्वास छोड़ें। यदि थोड़ी भी घुटन महसूस हो, तो तुरन्त अभ्यास बन्द कर दें और विश्राम करें। जब घुटन की संवेदना समाप्त हो जाए, तब अभ्यास पुन: आरम्भ करें।

टिप्पणी– *संस्कृत शब्द जालन का अर्थ होता है 'जाल' और धारा का अर्थ है 'बहना'। जालन्धर बन्ध की एक व्याख्या है, एक ऐसा बन्ध जो कण्ठ में नाड़ियों के जाल को नियन्त्रित करता है। कण्ठ की रक्त वाहिकायें और तन्त्रिकायें इन नाड़ियों की भौतिक अभिव्यक्तियाँ हैं।*

एक दूसरी परिभाषा के अनुसार, जालन्धर बन्ध कण्ठ का वह बन्ध है जो बिन्दु से विशुद्धि में बहने वाले अमृत को रोकता है और जठराग्नि में नहीं गिरने देता। इस प्रकार प्राणों का संचय होता है।

मूल बन्ध

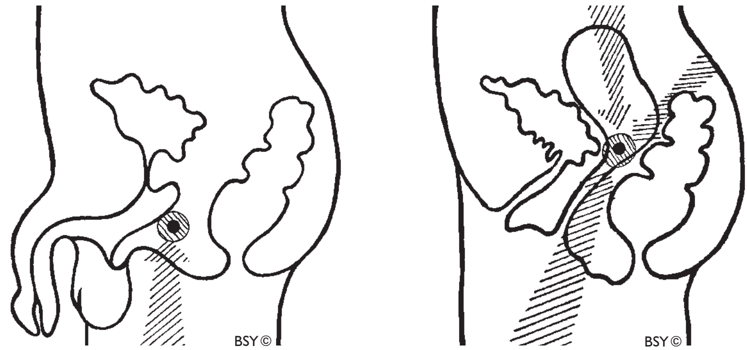

विधि 1: मूल बन्ध

चरण 1: सिद्धासन/सिद्धयोनि आसन में बैठ जायें, ताकि लिंग-मूल/योनि-क्षेत्र पर दबाव पड़े।
आँखों को बन्द कर लें और पूरे शरीर को शिथिल करें।
कुछ क्षणों के लिए स्वाभाविक श्वास के प्रति सजग बन जायें।
उसके बाद लिंग-मूल/योनि-क्षेत्र पर सजगता को केन्द्रित करें।
मूलाधार-प्रदेश की पेशियों को ऊपर की ओर खींचते हुए इस क्षेत्र को संकुचित करें और उसके बाद पेशियों को शिथिल करें।
लिंग-मूल/योनि-प्रदेश को जितने लयपूर्ण ढंग से हो सके, थोड़ी-थोड़ी देर के लिए समान रूप से संकुचित एवं शिथिल करते रहें।
पूरे अभ्यास के दौरान सामान्य श्वसन करें।

चरण 2: सामान्य श्वसन करते रहें; श्वास को न रोकें।
धीरे-धीरे इस क्षेत्र को संकुचित करें और संकुचन को बनाये रखें।
शारीरिक संवेदना के प्रति पूरी तरह सजग रहें।
संकुचन को थोड़ा और बढ़ायें, किन्तु शरीर के बाकी हिस्से को विश्राम की स्थिति में रखें।
केवल मूलाधार-प्रदेश की पेशियों को संकुचित करें।
प्रारम्भ में गुदा एवं मूत्र अवरोधिनियाँ भी सिकुड़ जाती हैं, किन्तु जैसे-

जैसे सजगता और नियन्त्रण बढ़ता जायेगा, इसमें कमी आयेगी और धीरे-धीरे यह समाप्त हो जायेगा। अन्त में अभ्यासी को एड़ी के सामने एक ही बिन्दु की गति का अनुभव होगा।

पेशियों को धीरे-धीरे, समान रूप से शिथिल करें।

संकुचन-बिन्दु पर एकाग्रता लाने के लिए मेरुदण्ड के तनाव को व्यवस्थित करें।

अधिकतम संकुचन और पूर्ण शिथिलीकरण के साथ 10 बार अभ्यास करें।

विधि 2: अन्तर्कुम्भक तथा जालन्धर बन्ध के साथ मूल बन्ध

आँखें बन्द कर लें और कुछ क्षणों तक पूरे शरीर को शिथिल करें। गहरी श्वास लें, फिर श्वास को अन्दर रोककर जालन्धर बन्ध करें। जालन्धर बन्ध लगाये रखते हुए, मूल बन्ध करें और इस संकुचन को जितना कसकर रोक सकें, रोकें। अधिक जोर न लगायें।

यह अन्तिम स्थिति है।

इस स्थिति में तब तक रहें, जब तक सुविधापूर्वक श्वास रोक सकें।

धीरे-धीरे मूल-बन्ध को ढीला करें, फिर जालन्धर बन्ध को ढीला करें।

सिर को सीधा करें और श्वास छोड़ें।

दस बार क्रिया की पुनरावृत्ति करें।

श्वसन– उपर्युक्त अभ्यास बहिर्कुम्भक के साथ भी किया जा सकता है।

सजगता– शारीरिक–मूलाधार के संकुचन के बिन्दु पर।

आध्यात्मिक–मूलाधार चक्र पर।

क्रम– मूल बन्ध का अभ्यास प्रायः मुद्राओं, बन्धों एवं प्राणायामों के साथ किया जाता है। यदि केवल मूलबन्ध लगाना हो, तो आसन एवं प्राणायाम के पश्चात् तथा ध्यान के पूर्व इसका अभ्यास करना चाहिए।

सीमायें– यह अभ्यास किसी अनुभवी योग-शिक्षक के मार्गदर्शन में ही करना चाहिए। मूल बन्ध ऊर्जा का जागरण करता है और इससे अत्यधिक क्रियाशीलता के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। रजोस्राव के समय इसका अभ्यास न करें।

लाभ– मूल बन्ध से अनेक शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होते हैं। यह श्रोणि के स्नायुओं को उत्तेजित करता है और मूत्र, प्रजनन तथा उत्सर्जन प्रणालियों को शक्ति प्रदान करता है। यह मनोकायिक और

शरीर का ह्रास करने वाले कुछ रोगों की चिकित्सा में भी लाभदायक है। इससे मानसिक अवसाद दूर होता है और अच्छे स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। इस अभ्यास से आध्यात्मिक जागरण के लिए शारीरिक, मानसिक और अतीन्द्रिय शरीर सहजता से तैयार हो जाते हैं।

मूल बन्ध ब्रह्मचर्य पालन में सहायक होता है। आध्यात्मिक उत्थान के ऊर्ध्वगमन अथवा वैवाहिक जीवन को अधिक समृद्ध बनाने के लिए इसका उपयोग किया जा सकता है।

अभ्यास टिप्पणी– मूल-बन्ध श्रोणि के निचले भाग की कुछ पेशियों का संकुचन है। यह सम्पूर्ण मूलाधार-प्रदेश का संकुचन नहीं करता है। पुरुष शरीर में यह संकुचन गुदा एवं अण्ड-ग्रन्थियों के बीच होता है। स्त्री-शरीर में संकुचन-बिन्दु गर्भाशय-ग्रीवा के पीछे है, जहाँ गर्भाशय योनि की ओर उन्मुख होता है। सूक्ष्म स्तर पर यह मूलाधार चक्र को ऊर्जान्वित करने की विधि है। गुदा और जननेन्द्रिय का मध्य-स्थल, जहाँ उरू-मूल की अनेक पेशियाँ मिलती हैं, मूलाधार-चक्र की पहचान कराता है। प्रारम्भ में इन क्षेत्रों की अलग-अलग पहचान करना कठिन है, इसलिए मूल-बन्ध के अभ्यास की तैयारी के क्रम में पहले अश्विनी एवं वज्रोली मुद्राओं में दक्षता प्राप्त कर लेने का परामर्श दिया जाता है।

टिप्पणी– *संस्कृत शब्द 'मूल' का अर्थ 'जड़' या 'जड़वत् स्थिर होना है', इसका अन्य अर्थ 'स्रोत' अथवा 'कारण' भी होता है। वर्तमान संदर्भ में इसका तात्पर्य मेरुदण्ड के सबसे निचले भाग या मूलाधार-चक्र से है, जहाँ कुण्डलिनी स्थित है। मूल-बन्ध मूलाधार चक्र की पहचान करने और उसे जाग्रत करने में सहायक है।*

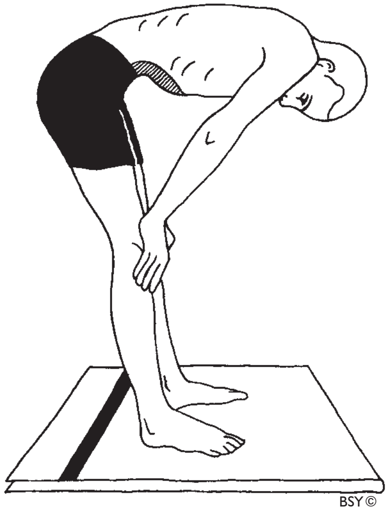

प्रारम्भिक अभ्यासः खड़ी हुई अवस्था में उड्डियान बन्ध

सीधे खड़े हो जायें। दोनों पंजों के बीच लगभग आधे मीटर की दूरी रखें। नासिकाछिद्रों से गहरी श्वास लें।
कमर से आगे की ओर झुक कर पूरी श्वास को मुँह के द्वारा छोड़ें। फेफड़ों को अधिक-से-अधिक खाली करने का प्रयास करें।
मेरुदण्ड को सीधा रखें और घुटनों को थोड़ा मोड़ें।
हथेलियों को घुटनों के ठीक ऊपर जाँघों पर इस प्रकार रखें कि शरीर के ऊपरी भाग का भार घुटनों पर पड़े।
उँगलियाँ या तो नीचे की ओर रहें या एक-दूसरे की ओर।
यह निश्चित कर लें कि भुजायें सीधी रहें।
इस स्थिति में उदर-प्रदेश का संकुचन अपने आप हो जाता है।
सिर को आगे की ओर झुकायें, किन्तु ठुड्ढी को वक्ष से स्पर्श न करायें।।
श्वास-द्वार को बन्द रखते हुए, वक्ष को फैलाकर श्वास लेने का अभिनय करें। मानो सचमुच श्वास ले रहें हों, पर वास्तव में वायु अन्दर नहीं लेनी है। घुटनों को सीधा करें।

इस गति से उदर सहज ही ऊपर तथा मेरुदण्ड की ओर भीतर खिंचेगा और इस प्रकार उड्डियान बन्ध लग जायेगा।
इस स्थिति में जितनी देर आराम से रह सकें, रहें।
अधिक जोर न लगायें।
उड्डियान-बन्ध को खोल दें और वक्ष को शिथिल करें।
धड़ और सिर को ऊपर उठाकर सीधी स्थिति में ले आयें।
फेफड़ों के बन्ध को ढीला करने के लिए पहले थोड़ी श्वास छोड़ें, फिर नासिका-मार्ग से धीरे-धीरे श्वास लें।
जब तक श्वसन सामान्य न हो जाय, तब तक खड़े रहें और उसके बाद अगला चक्र प्रारम्भ करें।

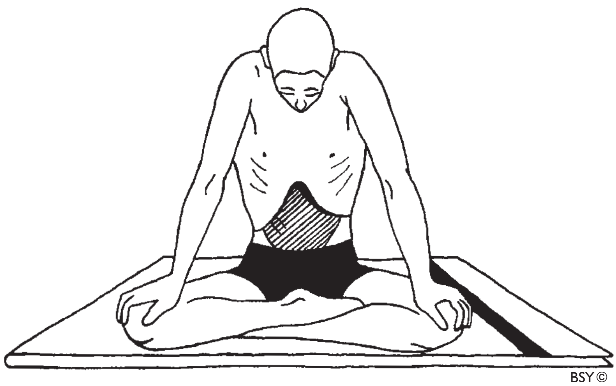

उड्डियान बन्ध

सिद्धासन/सिद्धयोनि आसन या पद्मासन में बैठ जायें। मेरुदण्ड को सीधा और घुटनों को जमीन के सम्पर्क में रखें।
हथेलियों को घुटनों पर बिना मोड़े रखें।
आँखों को बन्द कर लें और सम्पूर्ण शरीर को शिथिल करें।
नासिकाछिद्रों से गहरी श्वास लें।
पूर्ण रूप से श्वास बाहर छोड़ें। श्वास बाहर रोकें।
आगे की ओर झुकें और हथेलियों से घुटनों पर दबाव डालें।

कोहनियों को सीधा करें और कन्धों को ऊपर उठायें। इससे मेरुदण्ड का और अधिक विस्तार होगा।

ठुड्ढी से वक्ष को दबाते हुए जालन्धर-बन्ध लगायें।

उदर की पेशियों को भीतर और ऊपर की ओर संकुचित करें।

बिना जोर लगाये श्वास को बाहर रोककर जितनी देर उड्डियान बन्ध लगाये रख सकते हैं, लगायें।

अब उड्डियान बन्ध खोल दें, कोहनियों को मोड़ें और कन्धों को नीचे करें।

सिर को ऊपर उठायें और फिर धीरे-से श्वास लें।

जब तक श्वास-प्रश्वास सामान्य न हो जाय, तब तक इसी स्थिति में रुकें। फिर, अगला चक्र आरम्भ करें।

श्वसन– उड्डियान-बन्ध का अभ्यास केवल बहिर्कुम्भक के साथ किया जाता है।

अवधि– प्रारम्भ में 3 चक्र अभ्यास करें और कुछ महीनों के अन्तराल में, जैसे-जैसे शरीर अभ्यस्त होता जाए, धीरे-धीरे चक्रों की संख्या बढ़ाते हुए उन्हें 10 तक ले जायें।

सजगता– शारीरिक–उदर और श्वास पर।

आध्यात्मिक–मणिपुर चक्र पर।

क्रम– सिर के बल किये जाने वाले आसन को कर लेने के बाद उड्डियान बन्ध सरल हो जाता है। आदर्श रूप में इसका अभ्यास मुद्रा, बन्ध और प्राणायाम के साथ किया जाता है। यदि स्वतन्त्र रूप में इसका अभ्यास करना हो तो आसन, प्राणायाम के पश्चात् और ध्यान से पूर्व करना चाहिए।

सावधानियाँ– उड्डियान बन्ध एक उच्च विधि है, अत: कुम्भक के अभ्यास में दक्षता प्राप्त कर लेने और साथ ही जालंधर और मूल-बन्ध में प्रगति कर लेने के बाद कुशल मार्गदर्शन में ही इसका अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए।

सीमायें– वृहदान्त्र-शोथ, आमाशय या आन्त्र व्रण (फोड़ा), डायफ्रॉम का हर्निया, उच्च रक्तचाप, हृदय-रोग, आँख के अन्दर की बीमारी (ग्लूकोमा) और बढ़े हुए अन्त: कपालीय दबाव से पीड़ित व्यक्तियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। गर्भवती महिलाओं के लिए भी यह वर्जित है।

लाभ– उड्डियान बन्ध उदर के लिए रामबाण दवा है। यह अग्न्याशय और यकृत के कार्यों को उद्दीप्त करता और आन्तरिक अंगों को पुष्ट बनाता है। एड्रीनल ग्रन्थियाँ संतुलित होती हैं, सुस्ती मिटती है और चिन्ता एवं तनाव में कमी आती है। इससे पूरे धड़ में रक्त-संचरण में सुधार होता है।

उड्डियान बन्ध मणिपुर-चक्र को उद्दीप्त करता है, जिसका शरीर के भीतर ऊर्जा-वितरण पर सूक्ष्म और गहरा प्रभाव पड़ता है। यह एक चूषण-दबाव पैदा करता है, जो उप-प्राणों, अपान और प्राण के प्रवाह को उलट देता है और समान वायु के साथ उनका योग कराता है तथा मणिपुर चक्र को उद्दीप्त करता है।

अभ्यास टिप्पणी– उड्डियान बन्ध का अभ्यास हमेशा खाली पेट करना चाहिए और आँतें भी खाली होनी चाहिए। तैयारी के लिए अग्निसार-क्रिया एक उत्तम अभ्यास है।

***टिप्पणी**– उड्डियान का अर्थ होता है, 'ऊपर उठना' या 'ऊपर उड़ना'। इस अभ्यास का यह नामकरण इसलिए किया गया है कि शरीर पर लगाया गया 'बन्ध' डायफ्राम पर वक्ष की ओर उठने के लिए दबाव डालता है। इसलिए उड्डियान का अर्थ आमाशय को ऊपर उठाना लगाया जाता है। दूसरा अर्थ यह है कि शारीरिक बन्ध प्राण को सुषुम्ना नाड़ी में दिशान्तरित करने में सहायक होता है, जिससे वह ऊपर सहस्त्रार की ओर प्रवाहित हो।*

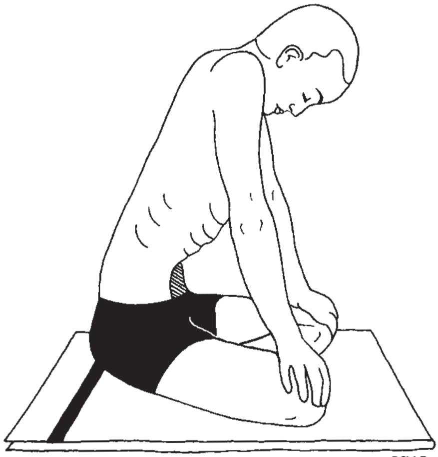

महा बन्ध

सिद्धासन/सिद्धयोनि आसन या पद्मासन में बैठ जायें। हाथों को घुटनों पर रखें। मेरुदण्ड सीधा और सिर सीधा रहे। आँखों को बन्द कर लें और सम्पूर्ण शरीर को शिथिल करें।

नासिका से धीरे-धीरे गहरी श्वास लें।

जोर लगाकर, पूरी तरह श्वास को बाहर निकालें।

श्वास को बाहर ही रोके रखें।

क्रमशः जालन्धर, उड्डियान एवं मूल बन्ध इसी क्रम में लगायें।

बिना जोर लगाये जितनी देर तक आराम से हो सके बन्धों और श्वास को रोकें।

अब मूल, उड्डियान और जालन्धर बन्धों को एक-एक कर इसी क्रम से शिथिल करें।

जब सिर सीधा हो जाए, तब धीरे-धीरे श्वास अन्दर लें।

यह एक चक्र हुआ।

आँखों को बन्द ही रखें, शरीर को शिथिल करें और श्वास-प्रश्वास के सामान्य हो जाने के बाद ही दूसरा चक्र प्रारम्भ करें।

सजगता– शारीरिक–मूलाधार, उदर और गले के क्षेत्र पर। प्रत्येक क्षेत्र के प्रति कुछ क्षणों तक सजग रहें।

आध्यात्मिक–मूलाधार, मणिपुर और विशुद्धि चक्रों पर। प्रत्येक चक्र के प्रति कुछ क्षणों तक सजग रहें।

अवधि– अभ्यास में दक्षता प्राप्त होने पर (अन्यथा नहीं) कुछ समय के बाद एक चक्र बढ़ायें और इस तरह बढ़ाते हुए 9 चक्रों तक ले जायें।

क्रम– महाबन्ध का अभ्यास प्राणायामों और मुद्राओं के साथ करना चाहिए। यदि केवल इसका अभ्यास करना हो तो आसन, प्राणायाम के पश्चात् और ध्यान के पूर्व करना चाहिए।

सावधानियाँ– जब तक अन्य तीन बन्धों में दक्षता प्राप्त न हो जाए, महाबन्ध लगाने का प्रयास न करें।

सीमायें– उच्च या निम्न रक्तचाप, हृदय-रोग, दौरा आना, हर्निया, आमाशय या आँतों के अल्सर से पीड़ित या आन्त्रिक रोगों से स्वास्थ्य-लाभ कर रहे व्यक्तियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। गर्भवती महिलाओं को भी यह अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभ– महाबन्ध से तीनों बन्धों के लाभ प्राप्त होते हैं। इससे पीयूष ग्रन्थि का हार्मोन-स्राव प्रभावित होता है और सम्पूर्ण अन्तःस्रावी तंत्र की कार्यप्रणाली नियमित होती है। शरीर के क्षय, ह्रास और बुढ़ापे की प्रक्रियायें थम जाती हैं और शरीर का प्रत्येक कोष पुनर्जीवन प्राप्त करता है। यह क्रोध को शान्त करता है और ध्यान के पूर्व मन को अन्तर्मुखी बनाता है। यदि अभ्यास में पूर्णता प्राप्त हो जाए, तो यह मुख्य चक्रों में प्राणों को पूरी तरह जाग्रत कर सकता है। यह मणिपुर चक्र में प्राण, अपान और समान का विलय कराता है, जो सभी प्राणायामों का अन्तिम बिन्दु है।

अभ्यास टिप्पणी– उत्थानपादासन के साथ भी महा बन्ध का अभ्यास किया जा सकता है।

टिप्पणी– *महाबन्ध को यह नाम इसलिए दिया गया है कि इसमें तीनों बन्ध एक साथ लगते हैं।*

बंध

प्रस्तावना

योगाभ्यास का यह छोटा परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ग है। यह अन्तः शारीरिक प्रक्रिया है। इस अभ्यास के द्वारा व्यक्ति शरीर के विभिन्न अंगों तथा नाड़ियों को नियन्त्रित करने में समर्थ होता है। बन्ध का शाब्दिक अर्थ है बाँधना या कड़ा करना। इस अभ्यास के लिए आवश्यक शारीरिक क्रियाओं का वर्णन ही इस वर्ग के अन्तर्गत किया गया है। शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को धीरे से, परन्तु शक्तिपूर्वक संकुचित एवं कड़ा किया जाता है। इससे आन्तरिक अंगों की मालिश होती है। रक्त का जमाव दूर होता है। यह अंग विशेष से सम्बंधित नाड़ियों के कार्यों को नियमित करता है। परिणामतः शारीरिक कार्य एवं स्वास्थ्य में उन्नति होती है।

बन्ध शारीरिक अभ्यास हैं, परन्तु अभ्यासी के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त विचारों एवं आत्मिक तरंगों में प्रवेश कर ये चक्रों पर सूक्ष्म प्रभाव डालते हैं। सुषुम्ना नाड़ी में प्राण के स्वतन्त्र प्रवाह में अवरोध उत्पन्न करने वाली ब्रह्म ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि तथा रुद्र ग्रन्थि इस अभ्यास से खुल जाती हैं। इस प्रकार आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है। उच्च अभ्यासी सुषुम्ना नाड़ी की जकड़न का अनुभव कर सकते हैं। यह आध्यात्मिक शक्ति की उत्पत्ति का सूचक है। ध्यान की उच्च अवस्था को प्राप्त व्यक्ति यह ज्ञात करेंगे कि यह अनुभव ठीक वैसा ही है जैसा चक्रों के जागरण के समय होता है।

अन्य यौगिक क्रियाओं के साथ बन्धों का समन्वय

अभ्यास में उन्नति करने पर एवं परिपक्वता-प्राप्ति के उपरान्त अभ्यास स्वतः किया जा सकता है। योग-मार्ग में अभ्यासी की उन्नति के बाद बन्धों के अभ्यास का समन्वय मुद्रा या प्राणायाम के साथ किया जा सकता है (जैसा कि अगले अध्यायों में वर्णित किया गया है)। इससे अधिक लाभार्जन किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि जब प्राणायाम की तरह प्राण का प्रवाह समान हो जाता है तो बन्धों का नियन्त्रण उसके प्रवाह पर हो जाता है तथा यह आवश्यकतानुसार विशेष प्रदेश में उसका बहाव करते हुए उसके अपव्यय को बचाता है।

जब यौगिक क्रियाओं का समन्वय होता है तब व्यक्ति में आध्यात्मिक शक्तियाँ जागृत होती हैं तथा उच्च 'योग' का प्रारम्भ होता है। मुद्रा एवं

प्राणायाम के साथ बन्धों के समन्वय की विधियों का वर्णन उनके अध्यायों में वर्णित है।

कुम्भक

बन्धों के अभ्यासी को श्वास रोकने की आवश्यकता पड़ती है। स्वाभाविकतः प्रारम्भ में कुम्भक की अवधि कम रहेगी, परन्तु अभ्यासी की क्षमता के अनुपात से क्रमशः यह अवधि बढ़ाई जानी चाहिए। कुंभक बहिरंग या अंतरंग हो सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि दीर्घ रेचक या अधिक से अधिक लम्बा पूरक करके फेफड़ों के कार्य को रोका जा सकता है। कुम्भक बन्ध एवं प्राणायाम का अनिवार्य अंग है। अभ्यासी को शनैः शनैः कुम्भक लगाने की क्षमता बढ़ाने की सलाह दी जाती है। कुछ हफ्तों या महीनों के उपरान्त कुम्भक की अवधि फेफड़ों पर बिना तनाव डाले बढ़ानी चाहिए।

जालन्धर बन्ध

जालन्धर बन्ध

जालन्धर बन्ध

विधि

पद्मासन या सिद्धासन में बैठें अथवा खड़े होकर अभ्यास करें।

हाथों को घुटनों के ऊपर रखिये।

सम्पूर्ण शरीर को शिथिल कीजिये। नेत्रों को बन्द कीजिये।

दीर्घ पूरक के बाद अन्तरंग कुम्भक कीजिये।

सिर को सामने झुकाइये तथा ठुड्डी को छाती पर दबाइये।

हाथों पर बल डालते हुए उन्हें अचल अवस्था में रखिये।

दोनों कन्धों को एक साथ ऊपर उठाकर कुछ सामने रखिये। इससे हाथ सीधे व स्थिर रहेंगे।

यह अन्तिम अवस्था है।

श्वास को रोकने की क्षमतानुसार इस अवस्था में रुकिये।

कंधों को शिथिल कीजिये, हाथों को मोड़कर सिर ऊपर उठाइये।

धीरे-धीरे रेचक कीजिये। सामान्य श्वसन के बाद पुनरावृत्ति कीजिये।

टिप्पणी

बहिरंग कुम्भक के अभ्यास के साथ भी यह क्रिया की जा सकती है।

ठुड्डी को झुकाकर छाती से दबाने के कारण इस अभ्यास में वायु-नलिका

बन्द हो जाती है तथा अनेक अंगों पर दबाव पड़ता है।

आवृत्ति

श्वास रोकने की आरामदायक अवधि तक दस बार कीजिये।

एकाग्रता

विशुद्धि चक्र पर।

क्रम

आदर्श रूप से मुद्रा एवं प्राणायाम के साथ। यदि मात्र इसी का अभ्यास करना हो तो आसन-प्राणायाम के पश्चात् एवं ध्यान के पूर्व कीजिये।

सावधानी

बन्ध को शिथिल कर सिर को उठाकर ही पूरक या रेचक कीजिये।

सीमाएँ

उच्च रक्तचाप, अन्तःमस्तिष्क-दाब या दिल की बीमारी में योग्य व्यक्ति की सलाह से ही अभ्यास किया जाये।

लाभ

ग्रीवा प्रदेश में स्थित रंध्र की नाड़ियों (sinus receptors) पर इस शारीरिक प्रक्रिया से दबाव पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप ही उपरोक्त लाभ की प्राप्ति होती है। मस्तिष्क को रक्त प्रदान करने वाली ग्रीवा शिरा (jugular vein) के रक्तचाप से ये नाड़ियाँ शीघ्र ही प्रभावित होती हैं। यदि रक्तचाप उच्च हो तो मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है तथा दिल की धड़कन कम हो जाती है। यदि रक्त का दाब निम्न हो जाये तो दिल की धड़कन बढ़ जाती है। ये नाड़ियाँ रक्तचाप के प्रति अति ग्रहणशील होती हैं। अतः जालन्धर बन्ध के अभ्यास काल में इन पर दबाव पड़ने से दिल की धड़कन न्यून हो जाती है तथा मन को स्थिरता प्राप्त होती है।

चुल्लिका तथा उपचुल्लिका ग्रन्थियों की मालिश होती है। उनकी क्रियाशीलता बढ़ती है। इन ग्रन्थियों का, विशेषकर चुल्लिका ग्रन्थि का शारीरिक रचना, विकास व प्रजनन-क्रियाओं पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इनकी सक्षमता से समस्त शरीर प्रभावित होता है। यह मानसिक तनाव, चिंता, क्रोध के निवारणार्थ एक अच्छा अभ्यास है। साधक को आश्चर्यजनक रूप से ध्यान के लिए तैयार करता है।

जालन्धर बन्ध (प्रकारान्तर)

जालन्धर बन्ध (प्रकारान्तर)

विधि

पैरों को लगभग आधा मीटर दूर रखते हुए खड़े हो जाइये।

सामने झुकिए।

हाथों को घुटनों के ठीक ऊपर रखिये।

दीर्घ रेचक या पूरक कीजिये।

कुम्भक लगाइये।

ठुड्डी को छाती पर लगाइये।

दबाव को अधिक कड़ा करने के लिए हाथों पर बल दीजिये।

कुम्भक की क्षमतानुसार इस अन्तिम अवस्था में रुकिये।

बन्ध को ढीला कीजिये।

सिर को ऊपर उठाइये।

तत्पश्चात् अभ्यास के अनुकूल पूरक या रेचक कीजिये।

मूल बन्ध

मूल बन्ध

विधि

ध्यान के किसी भी ऐसे आसन में बैठ जाइये जिसमें घुटने जमीन को छूते रहें। सिद्धासन या सिद्धयोनि आसन इसके लिए सर्वोत्तम हैं।

इन आसनों में एड़ी का दबाव मूलाधार प्रदेश (Perineum) पर पड़ता है जिससे बन्ध के उत्तम अभ्यास में सहायता मिलती है।

हथेलियों को घुटनों पर रखिये।

नेत्र बन्द रखिये।

पूरे शरीर को शिथिल कीजिये।

दीर्घ पूरक कीजिये। अंतरंग कुंभक लगाइए। जालंधर बंध लगाइये।

तत्पश्चात् मूलाधार-प्रदेश के स्नायुओं में आकुंचन क्रिया करते हुए उन्हें ऊपर की ओर खींचिये।

यह पूर्णावस्था है।
इस अवस्था में श्वास रोकने की क्षमतानुसार स्थिर रहिए।

तत्पश्चात् स्नायुओं को ढीला कीजिये।

सिर को सामान्य स्थिति में लाइये।

अब धीरे-धीरे रेचक क्रिया कीजिये।

टिप्पणी

दीर्घ रेचक क्रिया के उपरांत बहिर्कुम्भक लगाते हुए भी अभ्यास किया जा सकता है।

लम्बी अवधि तक इस बन्ध की क्रिया (स्नायुओं का आकुंचन) करने के लिए बिना जालन्धर बन्ध लगाये सामान्य श्वसन के साथ अभ्यास कीजिये।

आवृत्ति

कुंभक लगाने की क्षमतानुसार दस बार क्रिया की पुनरावृत्ति कीजिये।

एकाग्रता

मूलाधार चक्र पर।

क्रम

आसन-प्राणायाम के उपरान्त तथा ध्यानाभ्यास के पूर्व।

आदर्श अभ्यास के लिए मुद्रा एवं प्राणायाम के साथ कीजिये।

सावधानी

योग्य व्यक्ति के निर्देशन में इस अभ्यास में दक्षता प्राप्त कीजिये।

सीमाएँ

जालन्धर बन्ध के समान ही।

प्रारम्भिक प्रक्रिया

प्रारम्भ में कुम्भक की पूर्ण अवधि तक स्नायुओं को संकुचित रखने में कठिनाई होगी। अतः आरम्भ में अश्विनी मुद्रा का नियमित अभ्यास कीजिये, जिसके फलस्वरूप स्नायु मजबूत होंगे तथा अभ्यासी को उन पर नियन्त्रण प्राप्त होगा।

लाभ

इस क्रिया में प्रजनन एवं उत्सर्जक अंगों के मध्य मूलाधार प्रदेश का आकुंचन तथा ऊपर की ओर खिंचाव होता है। परिणामतः 'अपान वायु (नाभि के निम्न प्रदेश में स्थित प्राण की शक्ति) का बहाव ऊपर होता है और उसका योग 'प्राण वायु' (स्वर यन्त्र एवं छाती के मूल के मध्य में स्थित) से होता है। फलतः शक्ति उत्पन्न होती है।

कुंडलिनी-जागरण में सहायता मिलती है।

ब्रह्मचर्य पालन तथा ओज-शक्ति को जगाने में सहायक है।

जालन्धर बन्ध के लाभ द्विगुणित हो जाते हैं।

कटिबन्ध प्रदेश की नाड़ियों को उत्तेजित करता है तथा उससे सम्बन्धित प्रजनन तथा उत्सर्जक अंगों को व्यवस्थित करता है।

गुदाद्वार की मांसपेशियों (sphincter muscles) को शक्ति प्रदान करता है तथा आँतों के वक्र-प्रदेशों को उत्प्रेरित करता है। इस प्रकार प्रभावपूर्ण ढंग से अपचन दूर करता है।

बवासीर के निवारण में सहायक है।

टिप्पणी

यह अभ्यास मानसिक अवस्था में परिवर्तन करते हुए व्यक्ति को योग के अन्तिम उद्देश्य अर्थात् असीम सत्ता की ओर ले जाता है।

उड्डियान बन्ध

उड्डियान बन्ध

उड्डियान बन्ध

विधि

ध्यान के किसी आसन में बैठिये। घुटने भूमि पर आधारित हों।

हथेलियों को घुटनों पर रखिये।

दीर्घ रेचक कीजिये। बहिर्कुम्भक लगाइये। जालन्धर बन्ध लगाइये।

अब उदर की मांसपेशियों को अधिक से अधिक ऊपर तथा भीतर की ओर संकुचित कीजिये। यह पूर्णावस्था है।

आरामदायक स्थिति तक अभ्यास कीजिये। तत्पश्चात् क्रमशः उदर के स्नायुओं तथा जालन्धर बन्ध को शिथिल कीजिये। पूरक कीजिये। श्वसन-क्रिया सामान्य होने पर पुनः अभ्यास कीजिये।

समय

कुम्भक लगाने की क्षमतानुसार। दस आवृत्तियाँ कीजिये।

एकाग्रता

मणिपुर चक्र पर।

क्रम

स्वतंत्र रूप से इसका अभ्यास आसन एवं प्राणायाम के उपरान्त एवं ध्यान के पूर्व कीजिये। मुद्रा एवं प्राणायाम के साथ अभ्यास करना सर्वोत्तम है।

सावधानी

जठर एवं आँतों के खाली रहने पर ही अभ्यास कीजिये।

सीमाएँ

दिल की बीमारी में, जठर या पेट में घाव हो जाने पर अभ्यास वर्जित है। गर्भवती स्त्री के लिए भी अभ्यास वर्जित है।

प्रारम्भिक एवं स्थानापन्न अभ्यास

इस अभ्यास की तैयारी के लिए 'अग्निसार क्रिया' की जा सकती है।

यह क्रिया उड्डियान बन्ध का स्थानापन्न अभ्यास भी है।

लाभ

इस अभ्यास में श्वास-पटल का ऊपर छाती-गह्वर तक खिंचाव होता है। उदर के अंग भीतर मेरुदण्ड तक संकुचित किये जाते हैं। अतः इसका अभ्यास उदरस्थ एवं जठर की बीमारियों के लिए उपयोगी है। बदहजमी, अपचन, पेट के कीड़े, मधुमेह की अवस्था को दूर करता है। जठराग्नि को उत्तेजित करता है।

उदर के सभी अंगों को व्यवस्थित कर उनकी क्रियाशीलता बढ़ाता है। यकृत, क्लोम, वृक्क, तिल्ली की मालिश करता है।

नियमित अभ्यास से उनसे सम्बन्धित रोग दूर होते हैं।

वृक्क एवं गुरदों के ऊपर स्थित उपवृक्क ग्रन्थि को सामान्य बनाये रखता है जिससे कमजोर व्यक्ति को शक्ति प्राप्त होती है। परेशानी व चिंता की अवस्था में मन को स्थिरता प्रदान करता है।

अनुकम्पी तंत्रिकाओं तथा परानुकम्पी तंत्रिकाओं को उत्तेजित करता है। इन तन्त्रिकाओं का सम्बन्ध शरीर के कई अंगों, विशेषकर उदर के अंगों से रहता है। फलतः इन अंगों के कार्यों में उन्नति होती है। अभ्यास द्वारा अंगों की प्रत्यक्ष मालिश होती है जिसके परिणामस्वरूप उनकी क्रियाशीलता में वृद्धि होती है।

नाभि प्रदेश में स्थित मणिपुर चक्र के लिए उत्प्रेरक का कार्य करता है। यह शरीर की प्राणशक्ति का केन्द्र है। अतः इस बन्ध के अभ्यास से प्राणशक्ति के बहाव में वृद्धि होती है। यह सुषुम्ना नाड़ी की ओर प्राण के प्रवाह को विशेष रूप से प्रोत्साहित करता है।

उड्डियान बन्ध (प्रकारान्तर)

उड्डियान बन्ध (प्रकारान्तर)

पैरों को परस्पर आधा मीटर दूर रखते हुए खड़े हो जाइये।

कुछ सामने झुकिये। हथेलियों को सामने जाँघों पर रखिये।

दृष्टि सामने रखिये। दीर्घ पूरक कीजिये; तत्पश्चात् दीर्घ रेचक।

उदर के स्नायुओं को संकुचित कर भीतर खींचिये।

पेट का मध्यवर्ती स्थल नतोदर (concave) अवस्था में आ जाये।

दृष्टि सामने रखकर इसी स्थिति में रुकिये।

कुछ देर श्वास रोककर 'बन्ध' शिथिल कीजिये।

धीरे-धीरे पूरक कीजिये।

टिप्पणी

यह अभ्यास अपेक्षाकृत सरल है; अतः प्रारम्भिक अभ्यासियों के लिए उचित है।

शेष विवरण बैठकर किये जाने वाले उड्डियान बंध की भाँति ही हैं।

महाबन्ध

महाबन्ध

महाबन्ध

विधि

ध्यान के किसी आसन में बैठिये। सिद्धयोनि आसन या सिद्धासन उत्तम हैं।

जालन्धर बन्ध लगाइये।

तत्पश्चात् क्रमशः उड्डियान बन्ध एवं मूल बन्ध लगाइये।
निम्न चक्रों पर अपनी चेतना को ले जाइये। मानसिक रूप से उनके नामों का उच्चारण कीजिये। (चित्र में छोटे-छोटे गोल वृत्तों का अवलोकन कीजिये।):

(अ) मूलाधार

(ब) मणिपुर

(स) विशुद्धि

क्रमशः प्रत्येक चक्र पर कुछ सेकेंड तक अपनी चेतना को स्थिर रखिये।

विशुद्धि के पश्चात् पुनः चेतना मूलाधार पर ले आइये और क्रिया की पुनरावृत्ति कीजिये।

कुम्भक की सुखद स्थिति तक उपरोक्त क्रिया कीजिये।

अब मूलबन्ध शिथिल कीजिये।

उड्डियान बन्ध को मुक्त कीजिये।

अन्त में जालन्धर बन्ध हटाइये तथा धीरे-धीरे पूरक कीजिये।

एक बार सामान्य श्वास-प्रश्वास क्रिया के उपरान्त 'महाबन्ध' का अभ्यास पुनः कीजिये।

टिप्पणी

चेतना को एक चक्र से दूसरे चक्र पर स्थानांतरित कर चक्र के ठीक स्थान पर लाने में प्रारम्भिक अभ्यासियों को कठिनाई होगी। ऐसे अभ्यासियों को परिशिष्ट में दी गयी जानकारी द्वारा उनकी स्थिति ज्ञात कर स्थूल अनुमान से उस प्रदेश पर ध्यान करना चाहिए।

क्षमतानुकूल अधिक देर तक श्वास रोकने पर यह अभ्यास बहुत ही प्रभावशाली हो जाता है। अभ्यासी को धीरे-धीरे कुम्भक की अवधि में वृद्धि करनी चाहिए। किसी भी स्थिति में तनाव नहीं पड़ने पाये।

आवृत्ति

नौ आवृत्तियों तक।

सावधानी

तीनों बन्धों के स्वतंत्र वर्णन में बतलाये अनुसार।

तीनों बन्धों में अधिकार-प्राप्ति के उपरान्त ही 'महाबन्ध' का अभ्यास कीजिये।

लाभ

तीनों बन्धों के लिए वर्णित लाभ की प्राप्ति होती है।

आत्मिक शक्ति के प्रवाह को उत्प्रेरित करने तथा ध्यान के पूर्व मन को अन्तर्मुखी बनाने के लिए एक शक्तिशाली अभ्यास है। अतः आध्यात्मिक साधकों के लिए विशेष रूप से लाभप्रद है।

मुद्रा

प्रस्तावना

हजारों वर्ष पूर्व भारत में अधिकांश व्यक्तियों, विशेषकर ज्ञान या सत्य की खोज करने वाले सच्चे जिज्ञासुओं को आसन, प्राणायाम आदि योगाभ्यासों की विद्या सरलता से प्राप्त हो जाती थी। तथापि उच्च शक्तिशाली अभ्यासों का ज्ञान कुछ चुने हुए लोगों की ही धरोहर रहा करती थी। यह ज्ञान गुरु शिष्य को प्रदान किया करते थे या प्राचीन ऋषियों द्वारा रचित संस्कृत ग्रंथों के माध्यम से इस ज्ञान की प्राप्ति की जाती थी। परन्तु वर्तमान काल में समस्त विश्व के बहुसंख्यक व्यक्ति अपने आध्यात्मिक ज्ञान के विकास के लिए उत्सुक तथा तैयार हैं। विशेष रूप से इस नवीन काल में गुप्त विद्याओं का ही विस्तार या प्रचार अधिक है। योग के महत्वपूर्ण अभ्यासों में मुद्राओं का अभ्यास महत्वपूर्ण है।

कुंडलिनी शक्ति के जागरण में मुद्राओं का अभ्यास सहायक है। अतः यह अभ्यास आसनों एवं प्राणायामों के अभ्यास से अधिक शक्तिशाली माना जाता है। मुद्रा एवं अन्य यौगिक अभ्यासों का वर्णन करने वाला सबसे प्राचीन ग्रंथ 'घेरण्ड संहिता' है। 'हठ योग' के इस ग्रंथ की रचना मुनि घेरण्ड ने की थी। इस ग्रंथ में योग के देवता शिवजी अपनी पत्नी एवं शिष्या पार्वती जी से कहते हैं – "हे देवी, मैंने तुम्हें मुद्राओं का ज्ञान प्रदान किया है। केवल इनका ज्ञान ही सब सिद्धियों का दाता है।"

घेरण्ड संहिता में कुल पच्चीस मुद्राओं का वर्णन किया गया है। इनमें

से अधिकांश का अभ्यास योग्य गुरु के निर्देशन में ही करना चाहिए। सत्यतः कोई भी उच्च अभ्यास बिना निर्देशन के नहीं करना चाहिए। यही कारण है कि यहाँ कुछ चुनी हुई, सरल एवं सर्वसाधारण अभ्यास के योग्य मुद्राओं का ही वर्णन किया गया है।

चित्त को प्रकट करने वाले किसी विशेष भाव को *मुद्रा* कहते हैं। उच्च श्रेणी के भारतीय नृत्यों में मुद्रा हाथों की विशेष अवस्था है जो आंतरिक भावों या संवेदनाओं का संकेत करती है। योनिमुद्रा, चिन्मुद्रा आदि अनेक मुद्राएँ हाथ की ही विशेष स्थितियाँ हैं। नृत्य-प्रक्रियाओं की भाँति इनका उद्देश्य भी अंतरंग भावों का प्रकटीकरण या साधक के आध्यात्मिक भावों की ओर संकेत करना है।

प्रतिदिन सामान्यतः घटने वाली बाह्य जगत की क्रियाओं के प्रति हम सचेत रहते हैं। कुछ मुद्राओं द्वारा इन अनैच्छिक शरीरगत प्रतिक्रियाओं पर नियंत्रण प्राप्त किया जाता है। मुद्राओं का अभ्यास साधक को सूक्ष्म शरीर-स्थित प्राण-शक्ति की तरंगों के प्रति जागरूक बनाता है। अभ्यासी इन शक्तियों पर चेतन रूप से नियंत्रण प्राप्त करता है। फलतः व्यक्ति अपने शरीर के किसी अंग में उसका प्रवाह ले जाने या अन्य व्यक्ति के शरीर में उसे पहुँचाने की (अन्य व्यक्ति की प्राणिक या मानसिक चिकित्सा के लिए) क्षमता प्राप्त करता है।

अधिकांश मुद्राओं का संगठन बंध, आसन एवं प्राणायाम के सम्मिलन से होता है जो एक ही अभ्यास कहलाता है। प्रत्येक अभ्यास के निश्चित लाभ हैं; अतः योग शक्तिशाली अभ्यास का निर्माण करता है। इनके अभ्यास से बाह्य जगत से सम्बन्ध टूट जाता है, इन्द्रियाँ अंतर्मुखी होकर प्रत्याहार की स्थिति निर्मित करती हैं। इसलिए ये अभ्यास आध्यात्मिक साधकों के लिए अत्यधिक उपयोगी हैं। चित्त को एकाग्र करने में भी ये अभ्यास समर्थ हैं।

यद्यपि इनका प्राथमिक उद्देश्य आध्यात्मिक है परन्तु जैसा कि वर्णन किया जा चुका है, इनसे मानसिक एवं शारीरिक लाभ की प्राप्ति होती है। लाभों का विस्तृत वर्णन प्रत्येक मुद्रा की विधि के साथ आगे प्रस्तुत किया गया है।

ज्ञान मुद्रा और चिन्मुद्रा

ज्ञान मुद्रा

ज्ञान मुद्रा

विधि

ध्यान के किसी एक आसन में बैठ जाइये।

दोनों हाथों की तर्जनियों को इस प्रकार मोड़िये कि उनका स्पर्श अंगूठों के आधार से हो।

शेष तीन अंगुलियों को एक-दूसरे से कुछ दूरी पर फैलाये रखिये।

हाथों को घुटनों पर रखिये। हथेलियों का रुख नीचे की ओर रहे। अंगूठों एवं अन्य तीन अंगुलियों (बिना मुड़ी हुई) की दिशा घुटनों के सामने भूमि की ओर रहे।

चिन्मुद्रा

विधि

पूर्ण अभ्यास ज्ञान मुद्रा की भाँति ही है, अंतर इतना है कि हथेलियाँ घुटनों पर ऊपर की ओर खुली हुई रहें।

समय

किसी भी आसन में ध्यान-काल में उपरोक्त किसी एक मुद्रा में हाथों की स्थिति होनी चाहिए।

लाभ

नाड़ियों के प्रवाह की दिशा को हाथ से विपरीत करते हुए यह अभ्यास स्थिर अवस्था में लम्बी अवधि तक रहने की क्षमता प्रदान करता है। अंगूठे और तर्जनी का योग और मध्यमा, अनामिका व कनिष्ठिका का अलगाव त्रिगुण पर जीव-ब्रह्म-ऐक्य का संकेत है।

शाम्भवी मुद्रा

शाम्भवी मुद्रा

शाम्भवी मुद्रा

विधि

ध्यान के किसी आसन में बैठिये। पीठ सीधी रहे।

हाथों को घुटनों पर चिन्मुद्रा या ज्ञान मुद्रा में रखिये।

सामने किसी बिन्दु पर दृष्टि एकाग्र कीजिये।

तत्पश्चात् अधिक से अधिक ऊपर देखने का प्रयास कीजिये।

सिर स्थिर रहे। अब भ्रूमध्य-दृष्टि कीजिये। विचारों को रोकिये। ध्यान कीजिये।

समय

जितनी देर संभव हो। प्रारंभ में कुछ देर अभ्यास कीजिये।

अभ्यास करते हुए धीरे-धीरे समय बढ़ाइये।

लाभ

आज्ञा चक्र को जाग्रत करने वाली एक शक्तिशाली क्रिया है। आज्ञा चक्र निम्न एवं उच्च चेतना को जोड़ने वाला केन्द्र है।

शारीरिक लाभ प्रदान कर आँखों के स्नायुओं को मजबूत बनाता है।

मानसिक स्तर पर इस अभ्यास से मन की शान्ति प्राप्त होती है, तनाव एवं चिन्ता का निवारण होता है।

नासिकाग्र दृष्टि

नासिकाग्र दृष्टि

नासिकाग्र दृष्टि

विधि

ध्यान के आसन में बैठ जाइये। मेरुदण्ड सीधा रहे व मुँह सामने हो।

नासिका के अंतिम सिरे (अग्र भाग) पर दृष्टि एकाग्र कीजिये।

लाभ

कुछ देर के लिए अंतरंग या बहिरंग कुम्भक कीजिये। इस स्थिति में कुम्भकों के मध्य पूरक-रेचक करते समय दृष्टि नासिकाग्र पर ही रहेगी।

दीर्घ अवधि के अभ्यास में श्वास-क्रिया सामान्य रहेगी।

सावधानी

नेत्रों पर तनाव न पड़ने पाये।

कुछ हफ्तों या महीनों के अभ्यास के उपरांत समय में वृद्धि कीजिये।

श्वास

शांभवी मुद्रा की भाँति इससे भी एकाग्रता में वृद्धि होती है।

यह मूलाधार चक्र को जाग्रत करती है।

अभ्यासी को अंतर्मुखी तथा आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचाती है।

मांडूकी मुद्रा

मांडूकी मुद्रा

विधि

भद्रासन में बैठ जाइए। (आसन के अभ्यास में देखिये)

नासिकाग्र दृष्टि के अभ्यास में धीरे-धीरे पूरक और रेचक कीजिये।

हर प्रकार की गन्ध पर चेतना को ले जाइये।

लाभ

मूलाधार को जागृत करने के लिए महत्वपूर्ण अभ्यास है।

ध्यान की उच्च अवस्था में दिव्य गन्ध को ग्रहण करने के लिए उपयोगी है।

टिप्पणी

नासिकाग्र दृष्टि से बहुत कुछ समानता रखने के कारण इसे उसी खण्ड में रखा गया है।

भूचरी मुद्रा

भूचरी मुद्रा

भूचरी मुद्रा

विधि

पद्मासन, सिद्धासन या किसी भी ध्यान के आसन में बैठिये।

दाहिने हाथ को घुटने पर रखिये।

बाएँ हाथ को मुँह के सम्मुख उठाइये। पूरी भुजा क्षैतिज स्थिति में रहेगी।

हथेलियाँ नीचे की ओर खुली रहेंगी।

अंगूठे को ऊपरी होठ तथा नासिका के आधार पर स्थिर कीजिये। इसी हाथ की चतुर्थ या छोटी अंगुली की ओर एकाग्र दृष्टि से देखिये। कुछ देर इस अंगुली पर तनावरहित गहन एकाग्रता के बाद हाथ को हटा लीजिये। परन्तु उसी स्थान पर दृष्टि एकाग्र रखिये जहाँ छोटी अंगुली थी। अधिक से अधिक देर इस रिक्त स्थान पर दृष्टि रखिये। रिक्तता की अपेक्षा और कुछ भी विचार न उठने दीजिये।

लाभ

एकाग्रता एवं स्मरण शक्ति में वृद्धि करता है। मन को अंतर्मुखी बनाता है; अतः ध्यान की तैयारी का उत्तम अभ्यास है।

टिप्पणी

आरंभ में अभ्यास कठिन हो सकता है परन्तु अभ्यास से सरलतम बन जाता है।

आकाशी मुद्रा

आकाशी मुद्रा

विधि

ध्यान के किसी आसन में बैठिये।

जिह्वा को पीछे मोड़कर ऊपरी तालु से स्पर्श कीजिये। (खेचरी मुद्रा) उज्जायी प्राणायाम तथा शांभवी मुद्रा का अभ्यास कीजिये।

धीरे - धीरे सिर को कुछ पीछे मोड़िये। (पूरी तरह नहीं)

धीरे - धीरे दीर्घ पूरक कीजिये।

सिर की इस झुकी अवस्था में उज्जायी प्राणायाम से गले में खराश भी हो सकती है परन्तु कुछ अभ्यास के पश्चात् यह अभ्यास कष्टरहित हो जायेगा। (चित्र के लिए मूर्च्छा प्राणायाम देखिये)

समय

अधिकतम अवधि तक अंतिम स्थिति में रुकिये।

यदि कुछ ही समय के उपरांत अभ्यास कठिन जान पड़े तो उज्जायी प्राणायाम, खेचरी मुद्रा तथा शांभवी मुद्रा को मुक्त कीजिये।

कुछ देर विश्राम कर क्रिया की पुनरावृत्ति कीजिये।

एकाग्रता

आज्ञा चक्र पर।

सावधानी

सभी मुद्राओं की भाँति इसका प्रशिक्षण भी योग्य निर्देशन में लीजिये।

लाभ

यह उच्च यौगिक अवस्था है जिसमें साधक चेतना की उच्च स्थिति को प्राप्त करता है।

यह मुद्रा मन को स्थिरता एवं शांति प्रदान करती है।

उज्जायी प्राणायाम, शांभवी तथा खेचरी मुद्रा के लाभ मिलते हैं।

तड़ागी मुद्रा

तड़ागी मुद्रा

तड़ागी मुद्रा

विधि

पश्चिमोत्तानासन में बैठ जाइये, परन्तु पैर कुछ दूर-दूर रहेंगे। धड़ सामने झुकाकर हाथों से पैरों के अंगूठे पकड़िये।

दीर्घ पूरक कीजिये। इस काल में उदर के स्नायुओं का विस्तार बाहर की ओर अधिक से अधिक कीजिये।

क्षमतानुसार अतर्कुम्भक लगाइये।

सम्पूर्ण शरीर को शिथिल कर रेचक कीजिये।

अंगूठों को पकड़ी हुई अवस्था में श्वास-क्रिया सामान्य रखिये।

दीर्घ पूरक के साथ उपरोक्त वर्णित क्रिया की पुनरावृत्ति कीजिये।

आवृत्ति

इसका अभ्यास १० बार कीजिये।

एकाग्रता

मणिपुर चक्र पर।

लाभ

जठर एवं सभी उदरस्थ अंगों को व्यवस्थित कर पाचन-क्रिया में सुधार करता है। अतः इस प्रदेश के रोगों का निवारण होता है।

अंतरंग प्रदेश में स्थित अनेक नाड़ियों को उत्प्रेरित कर उनके कार्यों को नियमित करता है। परिणामतः सम्पूर्ण शरीर की कार्य-क्षमता बढ़ जाती है।

भुजंगिनी मुद्रा

भुजंगिनी मुद्रा

विधि

किसी भी ध्यान के आसन में बैठिये।

सम्पूर्ण शरीर को शिथिल कीजिये।

इस मुद्रा में अभ्यासी मुँह के द्वारा श्वास लेने का प्रयास करता है।

पानी पीने की भाँति वायु के कई-कई घूँट लेते हुए उसे फेफड़ों में नहीं, वरन् पेट में पहुँचाने की कोशिश कीजिये।

अधिकतम अवस्था तक पेट का विस्तार कीजिये।

कुछ देर श्वास को भीतर रोकिये।

तत्पश्चात् डकार लेते हुए श्वास को बाहर निकालिये।

क्रिया की पुनरावृत्ति कीजिये।

आवृत्ति

इच्छानुसार आवृत्तियाँ कीजिये।

विशेष बीमारियों में अधिक बार क्रिया की पुनरावृत्ति कीजिये।

क्रम

किसी भी समय अभ्यास किया जा सकता है परन्तु हठयोग की शंख प्रक्षालन क्रिया (हठयोग के अभ्यास में देखिये) के उपरांत करने से अधिक लाभ मिलता है।

टिप्पणी

यह अभ्यास पाचक रस उत्पन्न करने वाली ग्रंथियों एवं अन्ननलिका की दीवारों को नवजीवन प्रदान करता है।

उदर को स्वस्थ बनाता है। इस प्रदेश में एकत्रित पुरानी वायु का निकास करता है।

काकी मुद्रा

काकी मुद्रा

काकी मुद्रा

विधि

ध्यान के किसी आसन में बैठिये। होठों से एक सँकरी नली बनाइये। नासिकाग्र दृष्टि कीजिये।

मुँह से धीरे-धीरे दीर्घ पूरक कीजिये।

होठों को परस्पर बन्द करते हुए नासिका से धीरे-धीरे रेचक कीजिये।

पुनः मुँह से पूरक कर क्रिया को दुहराइये।

समय

जितनी देर सम्भव हो।

लाभ

मुँह से भीतर जाने वाले वायु-प्रवाह का सम्पर्क मुँह की दीवारों से होता है तथा अनेक बीमारियों को रोकने या दूर करने में यह अभ्यास मदद करता है। साथ ही नासिकाग्र दृष्टि के लाभ की प्राप्ति होती है। समस्त शारीरिक-संस्थानों को शीतलता प्रदान करता है।

अश्विनी मुद्रा

अश्विनी मुद्रा

विधि

प्रथम स्थिति

ध्यान के किसी भी आसन में बैठिये। शरीर को शिथिल कीजिये।

नेत्रों को बन्द कर स्वाभाविक श्वास लीजिये। गुदाद्वार की मांसपेशियों (sphincter muscles) को कुछ सेकेण्ड के लिए संकुचित कर प्रसारित कीजिये।

इस क्रिया की अधिक से अधिक आवृत्तियाँ कीजिये।

द्वितीय स्थिति

प्रथम स्थिति की तरह ही बैठिये।

गुदाद्वार को धीरे-धीरे संकुचित करते हुए पूरक कीजिये।

स्नायुओं का संकुचन बनाये रखते हुए ही अंतरंग कुम्भक लगाइये। रेचक कीजिये।

संकुचित स्नायुओं को शिथिल कीजिये।

अपनी सुविधानुसार क्रिया की पुनरावृत्ति कीजिये।

समय

क्षमतानुसार आसन कीजिये, अपेक्षाकृत अधिक श्रम न कीजिये।

क्रम

दिन में किसी भी समय या योगाभ्यास कार्यक्रम में।

लाभ

इस अभ्यास के परिणामस्वरूप अश्व की तरह ही गुदा के स्नायुओं पर नियन्त्रण प्राप्त किया जाता है।

इस अभ्यास की सिद्धि पर व्यक्ति अपनी प्राण-शक्ति के ह्रास को रोकने में समर्थ होता है। इस तरह शक्ति का संचय होता है। इसका प्रवाह ऊपर की ओर होता है; जिससे अमूल्य उद्देश्यों की पूर्ति होती है। यह मूलबंध की प्रारम्भिक क्रिया है (मूलबंध का अध्याय देखिये)। बवासीर, गुदा या गर्भाशय के बाह्यगत होने की दशा में इसका अभ्यास लाभप्रद है, विशेषकर सिर के बल किये जाने वाले आसनों के साथ इसका योग अधिक प्रभावपूर्ण होता है। आँतों के वक्रों को क्रियाशील बनाते हुए अपचन दूर करता है।

खेचरी मुद्रा

खेचरी मुद्रा

राजयोग की विधि

मुँह को बन्द कर जिह्वा के अग्र भाग से तालु का स्पर्श कीजिये। अधिक जोर न देते हुए जिह्वाग्र को अधिकाधिक पीछे मोड़िये।

वैकल्पिक रूप से इस अवस्था में उज्जायी प्राणायाम का अभ्यास कर सकते हैं।

नये अभ्यासी कुछ देर में ही असुविधा का अनुभव करेंगे। उन्हें कुछ क्षणोपरांत जिह्वा को सामान्य स्थिति में लाकर पुनः जिह्वा का बन्ध लगाना चाहिए।

नियमित अभ्यास करने से जिह्वा तालु कें ऊपरी छिद्र से ऊपर चली जायेगी। इससे मस्तिष्क के नाड़ी-केन्द्रों की क्रियाशीलता बढ़ती है।

हठयोग की विधि

उच्च अभ्यासी को गुरु के निर्देशन में इसका अभ्यास करना चाहिए।

इसके लिए धैर्यपूर्वक नियमित अभ्यास की आवश्यकता है।

जिह्वा के नीचे के स्नायुओं का संबंध-विच्छेद धीरे-धीरे प्रति सप्ताह करना होगा। इसके लिए शल्य-विधि या तीव्र धार वाले पत्थर का प्रयोग किया जा सकता है।

दूध दुहने की सी क्रिया द्वारा लम्बी अवधि तक जिह्वा की मालिश कीजिये। इस क्रिया को सुगम बनाने के लिए मक्खन, तेल आदि स्निग्ध द्रव का प्रयोग किया जा सकता है।

महीनों इस क्रिया का अभ्यास कीजिए, जब तक कि जिह्वाग्र का स्पर्श भ्रूमध्य से होने न लगे। जिह्वा की लम्बाई इतनी बढ़ जाने पर खेचरी मुद्रा का अभ्यास सम्भव हो जाता है।

जिह्वा को मोड़कर सावधानीपूर्वक तालु के ऊपरी छिद्र से अधिक से अधिक भीतर ले जाने की कोशिश कीजिए। इससे प्रभावित होकर श्वास-मार्ग बन्द हो जायेगा और 'ललना चक्र' जागृत होगा।

श्वास

खेचरी मुद्रा के प्रारम्भिक अभ्यासी श्वास-क्रिया सामान्य रखें।

कुछ हफ्तों या महीनों के अभ्यास के बाद श्वास की गति धीमी करते जाना चाहिए। दो महीनों या अधिक अवधि के बाद श्वास की गति प्रति मिनट ५ से ८ तक होनी चाहिए।

योग्य निर्देशक के निर्देशन में अभ्यास करते हुए अधिक अवधि के अभ्यास के बाद श्वास-क्रिया में न्यूनता भी लाई जा सकती है।

आवृत्ति

इच्छानुसार या संभावित अवधि तक। शांति और विश्राम काल में अभ्यास उत्तम होगा। इस अभ्यास का योग अन्य योगाभ्यास के साथ किया जा सकता है। व्यक्तिगत क्रियाओं के अध्याय में इसकी विस्तृत विवेचना की गयी है।

सावधानी

बिना गुरु के निर्देशन के पूर्ण अभ्यास न कीजिये।

जो साधक बहुत कड़ी मेहनत करते हैं, उनको कड़वे स्वाद का अनुभव प्राप्त होता है। यह हानिप्रद है। अतः इस स्थिति में अभ्यास बन्द कर दीजिये।

लाभ

मानव शरीर पर सूक्ष्म प्रभाव डालता है।

तालु के पीछे के रन्ध्र में अनेक दाब-बिन्दु तथा ग्रन्थियाँ हैं। इनका शारीरिक क्रियाओं पर अत्यधिक नियंत्रण रहता है। मोड़ी हुई जिह्वा के कारण इनके रस-स्राव की क्रिया में वृद्धि होती है। इससे शारीरिक स्वास्थ्य को बहुत लाभ पहुँचता है। लार की उत्पत्ति होती है जिससे भूख-प्यास दूर होती है।

भूमि के नीचे अधिक अवधि तक रहने वाले योगी पूरे समय खेचरी मुद्रा लगाये रहते हैं। अतः बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचे इच्छानुसार अवधि तक श्वास रोकने में समर्थ होते हैं।

यह मुद्रा प्राण-शक्ति के संचय एवं कुण्डलिनी-शक्ति को जागृत करती है।

इस अभ्यास की पूर्णता की प्राप्ति पर सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर के मध्य सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। चेतना की स्थिति सूक्ष्म एवं स्थूल स्तर के मध्य अर्थात् आकाश में हो जाती है।

प्राचीन योग शास्त्रों में इस मुद्रा को बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

योग मुद्रा

विधि

पद्मासन में बैठिये।

समस्त शरीर को शिथिल कीजिये। नेत्रों को बंद कर रेचक कीजिये।

श्वास रोकिये और मूलाधार चक्र पर ध्यान कीजिये।

श्वास का अनुभव करते हुए धीरे-धीरे पूरक कीजिये।

चेतना को मूलाधार चक्र से आज्ञा चक्र पर लाइये।

रेचक क्रिया प्रारम्भ करते हुए सामने झुकिये। साथ ही चेतना को आज्ञा चक्र से नीचे मूलाधार पर ले आइये।

श्वास की गति एवं शरीर की गति में समानता होनी चाहिये।

रेचक क्रिया के साथ ही सामने सिर का स्पर्श भूमि से हो।

मूलाधार पर ध्यान करते हुए कुछ देर के लिए बहिर्कुम्भक लगाइये।

पूरक करते हुए धड़ को सीधा कर चेतना को आज्ञा चक्र पर लाइये। धड की लम्बरूप अवस्था में श्वास को रोकते हुए आज्ञा चक्र पर ध्यान कीजिये।

रेचक करते हुए धड़ को धीरे-धीरे नीचे झुकाइये।

टिप्पणी

योगमुद्रा आसन की भाँति ही अभ्यास की विधि है; केवल एकाग्रता की क्रिया में भिन्नता है।

लाभ

ध्यान की तैयारी के लिए अति उत्तम अभ्यास है।

आध्यात्मिक शक्ति के प्रति जागरूकता एवं नियंत्रण प्रदान करता है।

मन में स्थिरता एवं शान्ति लाता है।

क्रोध या अधिक तनाव के समय अभ्यास करना चाहिए।

योगमुद्रा नामक आसन (आसनों का अध्याय देखिये) के सभी लाभ प्रदान करता है।

प्राण मुद्रा

द्वितीय अवस्था

चतुर्थ अवस्था

प्राण मुद्रा

विधि

ध्यान के किसी भी आसन में बैठ जाइये।

मेरुदण्ड लंबवत् हो व मुँह सामने की ओर हो। हाथों को गोद में रखिये तथा नेत्रों को बंद कीजिये।

प्रथम अवस्था

क्षमतानुसार लम्बा रेचक कीजिये। इस क्रिया में उदर के स्नायुओं का संकोचन करते हुए फेफड़ों से अधिकतम वायु का निष्कासन कीजिये। श्वास रोकिये, साथ ही मूलबंध लगाइये।

मूलाधार चक्र पर ध्यान कीजिये।

आरामदायक स्थिति तक श्वास रोकिये।

द्वितीय अवस्था

मूलबंध शिथिल कीजिये। उदर का विस्तार करते हुए धीरे-धीरे लंबा पूरक कीजिये। अधिकतम मात्रा में वायु का प्रवेश फेफड़ों में होना चाहिए। साथ ही हाथों को उठाकर नाभि प्रदेश के सम्मुख ले आइये। हथेलियाँ धड़ की ओर खुली रहें। दोनों हाथों की अंगुलियों का रुख एक-दूसरे की ओर हो; परन्तु वे आपस में स्पर्श न करें।

इस द्वितीय अभ्यास में उदर से पूरक करते समय प्राण-शक्ति का अनुभव मूलाधार चक्र से ऊपर मणिपुर चक्र में जाते हुए कीजिये।

पंचम अवस्था

उदर द्वारा की गई पूरक-क्रिया एवं हाथों की गति को परस्पर संबंधित कीजिये।

तृतीय अवस्था

छाती का विस्तार करते हुए पूरक क्रिया करते जाइए। साथ ही हाथों को ऊपर उठाइये। इस अवस्था में हाथों की स्थिति छाती के सम्मुख हो। छाती के विस्तार द्वारा पूरक करते हुए इस अभ्यास में अनुभव कीजिये कि मणिपुर से प्राण-शक्ति अनाहत की ओर खींची गयी है।

चतुर्थ अवस्था

कंधों को ऊपर उठाते हुए फेफड़ों में और अधिक वायु भरने की कोशिश कीजिये। इस अभ्यास में अनुभव कीजिये कि प्राणशक्ति अनाहत चक्र से विशुद्धि चक्र में आ गयी। तत्पश्चात् वह आज्ञा चक्र में तरंगों के समान प्रसारित होती हुई सहस्रार में पहुँच गयी।

हाथों को ग्रीवा के समीप लाते हुए गति का संबंध श्वास से कीजिये।

पंचम अवस्था

दोनों हाथों को धड़ के दोनों बाजुओं में फैलाते हुए अंतरंग कुंभक कीजिये। अंतिम अवस्था में फैले हुए हाथ कानों के समतल रहेंगे।

हाथ बाहर की ओर फैले रहेंगे, परन्तु पूरी तरह तने हुए नहीं रहेंगे।

सहस्रार पर ध्यान कीजिए।

सिर से शुद्ध ज्योति-चक्र को निकलते हुए देखने का प्रयास करें। अनुभव कीजिए कि आपका समस्त शरीर सम्पूर्ण मानव जाति में शान्ति की तरंगें बिखेर रहा है। अधिकतम अवधि तक इस स्थिति में रुकिये। फेफड़ों पर तनाव न पड़े।

अब उपरोक्त पाँचों क्रियाओं की विपरीत रूप से पुनरावृत्ति करते हुए तथा रेचक क्रिया करते हुए प्रारम्भिक अवस्था में लौट आइये। रेचक की अन्तिम स्थिति में चेतना मूलाधार चक्र पंर होनी चाहिए। रेचक के समय अनुभव करते जाइये कि प्राण शक्ति क्रमशः नीचे के चक्रों की ओर आ रही है। यह विपरीत रूप पूरक की भाँति होगा। धीमी किन्तु गहरी श्वास लेते हुए शरीर का शिथिलीकरण कीजिये।

एकाग्रता

अभ्यासी की चेतना का प्रवाह मूलाधार से सहस्रार एवं सहस्रार से मूलाधार की ओर अविरल एवं समकालीन होना चाहिए। इसका संबंध श्वसन एवं हाथ की क्रियाओं से हो।

पूर्णता-प्राप्ति पर श्वास श्वेत प्रकाश की धारा की तरह ऊपर चढ़ती एवं नीचे उतरती हुई सुषुम्ना नाड़ी में दिखाई देगी।

क्रम

ध्यानाभ्यास के पूर्व।

सावधानी

नियमित अभ्यास से पूरक, कुम्भक व रेचक की अवधि में वृद्धि करें।

फेफड़ों पर अधिक तनाव न पड़े।

लाभ

यह एक श्रेष्ठ मुद्रा है जिसमें प्राणायाम (सूक्ष्म शक्ति पर नियंत्रण) का योग, मुद्रा के सांकेतिक भावों से है।

प्रत्येक व्यक्ति में निहित सुषुम्ना प्राण शक्ति को जागृत करने के लिए प्रथम श्रेणी का अभ्यास है। यह प्राण शक्ति का वितरण सम्पूर्ण शरीर में करता है। इस प्रकार हमारे शारीरिक बल, व्यक्तिगत आकर्षण शक्ति तथा स्वास्थ्य में वृद्धि होती है।

विपरीतकरणी मुद्रा

विपरीतकरणी मुद्रा

विधि

विपरीतकरणी मुद्रा नामक आसन करें। (आसनों का अध्याय देखें) नेत्रों को बन्द कर खेचरी मुद्रा लगाइये। उज्जायी प्राणायाम कीजिये। पूरक करते समय श्वसन एवं चेतना को मणिपुर चक्र से विशुद्धि चक्र की ओर जाते हुए अनुभव कीजिये।

रेचक करते समय चेतना को विशुद्धि चक्र पर केन्द्रित कीजिये।

द्वितीय पूरक के साथ पुनः यह अनुभव कीजिये कि चेतना एवं श्वसन-प्रवाह मणिपुर चक्र से विशुद्धि चक्र की ओर है।

क्षमता के अनुपात में क्रिया की पुनरावृत्ति कीजिये।

समय

प्रथम दिन कुछ सेकेण्ड तक अभ्यास करें। धीरे-धीरे अवधि बढ़ाइये। १५ मिनट या अधिक देर तक अभ्यास किया जा सकता है।

क्रम

आसन और मुद्रा या किसी एक के अभ्यास के अन्त में।

सम्भव हो तो ध्यान के पूर्व।

भोजन के कम से कम तीन घंटे उपरान्त ही यह मुद्रा कीजिये।

सीमाएँ

उच्च रक्तचाप, हृदय की गम्भीर बीमारी या चुल्लिका ग्रन्थि के बढ़ जाने पर अभ्यास का निषेध है।

लाभ

इससे शरीर में प्राण के प्रवाह में सूक्ष्म परिवर्तन आता है।

विशेषतः यह अभ्यास सूक्ष्म शरीर में स्थित प्राण के केन्द्र अर्थात् मणिपुर चक्र से प्राणशक्ति का प्रवाह प्रचुर मात्रा में पवित्रता के केन्द्र याने विशुद्धि चक्र की ओर करता है। इस प्रकार समस्त सूक्ष्म शरीर के शुद्धिकरण में सहायता मिलती है। अतः यह अभ्यास भौतिक स्तर पर बीमारी आदि के प्रकटीकरण को रोकता है। यह ओज-शक्ति को ऊपर के केन्द्रों में ले जाने की एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा है।

महामुद्रा

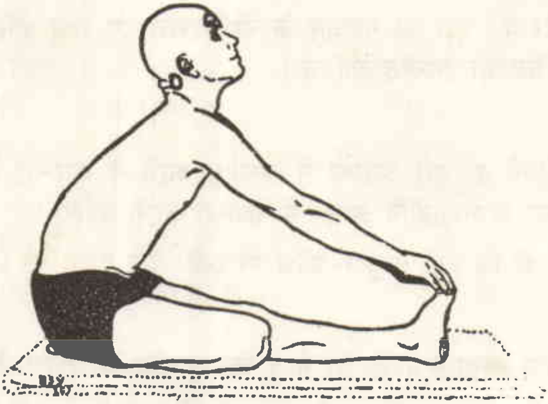

महामुद्रा

महामुद्रा

विधि

भूमि पर इस विधि से बैठिये कि दाहिने पैर की एड़ी गुदाद्वार के नीचे रहे तथा बायाँ पैर शरीर के सामने फैला रहे।

इतना सामने झुकिये कि आप दोनों हाथों से बायें पैर के अंगूठे को पकड़ सकें।

पूरे शरीर को शिथिल कीजिये।

दीर्घ पूरक कीजिये।

मूलबन्ध एवं शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास कीजिये।

अंतरंग कुम्भक लगाते हुए चेतना को क्रमशः मूलाधार, विशुद्धि एवं आज्ञा चक्र में घुमाइये। प्रत्येक चक्र पर चेतना को मात्र एक या दो सेकेण्ड तक रखिये।

श्वास रोकने की क्षमतानुसार चेतना को मूलाधार, विशुद्धि, आज्ञा, मूलाधार, विशुद्धि, आज्ञा, आदि पर घुमाते रहिए।
चित्र में दर्शाये लघु वृत्त चेतना बिन्दु को स्पष्ट करते हैं।

अब धीरे से रेचक कीजिये।

सामने झुकी हुई अवस्था में श्वास रोकिये।

दीर्घ पूरक कीजिये। क्रिया की पुनरावृत्ति कीजिये।

बायें पैर की एड़ी को गुदाद्वार के नीचे रखते हुए तथा दाहिने पैर को सामने फैलाकर अभ्यास कीजिये।

प्रकारान्तर

यदि किसी को इस अवस्था में अभ्यास करने में कठिनाई हो तो उसे सिद्धासन या सिद्धयोनि आसन में महामुद्रा करनी चाहिए।

ख्याल रखें कि एड़ी से गुदा-प्रदेश पर इसी भाँति दबाव पड़े।

आवृत्ति

प्रारम्भिक अभ्यासी प्रत्येक पैर से ३ बार अभ्यास कर सकता है।

धीरे-धीरे इच्छानुसार क्रिया की संख्या में वृद्धि की जा सकती है।

क्रम

किसी भी समय अभ्यास किया जा सकता है।

विशेषकर ध्यान के पूर्व अभ्यास करने का निर्देश दिया जाता है।

सावधानी

जितनी अधिक देर कुम्भक किया जाये, उतना ही लाभप्रद है परन्तु फेफड़ों पर किसी प्रकार का तनाव न पड़े।

लाभ

सम्पूर्ण शरीर एवं मन को स्थिर करता है इसलिए ध्यान की उत्तम तैयारी करता है।

पूरे शरीर की प्राण-शक्ति को उत्प्रेरित करता है।

उदर की अव्यवस्था दूर करता है।

महाबेध मुद्रा

महाबेधं मुद्रा

महाबेध मुद्रा

विधि

दायें पैर की एड़ी को गुदाद्वार के नीचे रखिये तथा बायें पैर को सामने फैलाते हुए बैठ जाइये।

सामने झुककर दोनों हाथों से फैले हुए पैर के अंगूठे को पकड़िये।

पूरी तरह पूरक कीजिये। तत्पश्चात् दीर्घ रेचक कीजिये।

नासिकाग्र दृष्टि कीजिये।

जालन्धर बन्ध, मूलबन्ध तथा उड्डियान बन्ध लगाइये।

क्रमशः मूलाधार, मणिपुर एवं विशुद्धि चक्र पर ध्यान कीजिए। प्रत्येक चक्र पर एक या दो सेकेण्ड अपनी चेतना को रखने के उपरान्त दूसरे चक्र पर चेतना को ले आइये– मूलाधार, मणिपुर, विशुद्धि, मूलाधार, मणिपुर, विशुद्धि... इस प्रकार।

आरामदायक स्थिति तक श्वास बाहर रोककर अभ्यास कीजिये।

अब क्रमशः उड्डियान बन्ध, मूलबन्ध और अन्त में जालन्धर बन्ध को शिथिल कीजिये।

साथ ही नेत्रों को भी शिथिल कीजिये।

धीरे-धीरे दीर्घ पूरक कीजिये।

लाभ

आत्मा से संबंध स्थापित करने का यह बहुत ही शक्तिशाली प्रयोग है।

'बेध' का अर्थ है– बेधना या छेदना।

इसमें चेतना द्वारा चक्रों एवं आत्मिक चेतना-पथ को बेधा जाता है।

शेष विवरण महामुद्रा की भाँति ही है।

वज्रोली मुद्रा

वज्रोली मुद्रा

विधि

सरल अभ्यास

किसी भी ध्यान के आसन में बैठिये। हाथ घुटनों पर रहें।

नेत्रों को बन्द कर शरीर को शिथिल कीजिये। निम्न उदर प्रदेश पर तनाव लाते हुए तथा मूत्र-प्रणाली का संकोचन करते हुए प्रजनन-अंगों को ऊपर की ओर खींचिये। यह आकुंचन क्रिया ठीक वैसी ही है जैसी कि मूत्र-त्याग क्रिया को कुछ समय तक रोकने के लिए की जाती है।

प्रजनन-अंगों का खिंचाव कुछ ऊपर की ओर होना चाहिए।

उच्च अभ्यास

योग्य गुरु के निर्देशन में ही उच्च अभ्यास करना चाहिए अन्यथा स्थायी चोट पहुँचने की संभावना रहती है।

मूत्र-नलिका में लगभग १२ इंच लम्बी चाँदी की नली का प्रवेश कराया जाता है।

इस नलिका से पानी ऊपर खींचा जाता है। इस क्रिया में पूर्णता प्राप्ति के उपरांत इसी नली से मधु और पारा ऊपर खींचा जाता है।

लम्बी अवधि के अभ्यास के उपरान्त नलिका की मदद के बिना ही उपरोक्त क्रिया सम्पन्न की जा सकती है।

प्रारम्भ में १ इंच तक ही चाँदी या रबर की नली को भीतर डालिये।

तत्पश्चात् धीरे-धीरे यह दूरी १२ इंच कीजिये।

एकाग्रता

स्वाधिष्ठान चक्र पर।

लाभ

वज्र नामक नाड़ी से इसका संबंध है जो प्रजनन अंगों में प्राण-शक्ति का प्रवाह करती है।

ब्रह्मचर्य-पालन के लिए उपयोगी विधि है। इस क्रिया के परिणामस्वरूप प्राण-शक्ति पर नियंत्रण प्राप्त होता है जो कि प्रायः वीर्यपात के कारण नष्ट हो जाया करती है। इस शक्ति का रूप-परिवर्तन उच्च यौगिक अभ्यास के लिए कर सकते हैं।

योनि मुद्रा

योनि मुद्रा

विधि

किसी आरामदायक ध्यान के आसन में बैठिये। पद्मासन या सिद्धासन को प्राथमिकता दीजिये। धीरे-धीरे दीर्घ पूरक कीजिये।

श्वास रोकिये। हाथों को उठाकर मुँह तक लाइये।

कर्ण-छिद्रों को अंगूठों, आँखों को दोनों तर्जनियों तथा नासिका-छिद्रों को मध्यमा अंगुलियों से बंद कीजिये।

दोनों हाथों की अनामिका एवं छोटी अंगुलियों को होठों के ऊपर एवं नीचे रखते हुए मुँह को बंद कीजिये।

श्वास को भीतर रोकते हुए बिन्दु पर ध्यान कीजिये।

नाद को ग्रहण करने का प्रयास करें। आरामदायक स्थिति तक श्वास रोकने के उपरांत नासिका पर से अंगुलियों को हटा लीजिये।

रेचक कीजिये। अन्य अंगुलियाँ अपने स्थानों पर ही रहेंगी।

पूरक कीजिये। इसके अंत में पुनः दोनों नथुनों को बन्द कर लीजिये।

वर्णित क्रिया की पुनरावृत्ति कीजिये।

टिप्पणी

वद्धयोनि आसन देखिये।

समय

समय की सुविधानुसार।

एकाग्रता

बिन्दु चक्र पर।

लाभ

यह प्रत्याहार की शक्तिशाली क्रिया है।

वास्तविकतः यह प्रक्रिया नाद योग की है जिसमें अभ्यासी बिन्दु से उत्पन्न होने वाली विभिन्न सूक्ष्म ध्वनियों का अनुभव प्राप्त करता है।

नवमुखी मुद्रा

नवमुखी मुद्रा

विधि

ध्यान के किसी भी आरामप्रद आसन में बैठ जाइये।

धीमी एवं लम्बी श्वास लेते हुए शरीर शिथिल कीजिये।

श्वास के अनुभव के साथ चेतना को मूलाधार से स्वाधिष्ठान, मणिपुर अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, बिन्दु और सहस्रार तक पहुँचाइये।

अन्तर्कुम्भक लगाइये।

योनि मुद्रा में वर्णित विधि से कर्ण, नेत्र तथा मुँह को बंद कर लीजिये।

मूलबन्ध एवं वज्रोली मुद्रा का अभ्यास कीजिये।

कुम्भक की स्थिति में ही सहस्रार पर ध्यान कीजिये।

संभावित अवधि तक कुंभक कीजिये।

तत्पश्चात् नासिका को खोलकर धीरे-धीरे रेचक कीजिये।

रेचक क्रिया के समय मूलबंध एवं वज्रोली मुद्रा को शिथिल कीजिये, परन्तु हाथों को यथास्थान रखिए।

सहस्रार पर ही चेतना को बनाये रखिये।

रेचक के बाद कुछ विश्राम कीजिये। क्रिया की पुनरावृत्ति कीजिये।

समय

बिना तनाव के जितनी देर संभव हो।

टिप्पणी

हमारे शरीर में नौ द्वार हैं जिनके द्वारा हम बाह्य जगत् के इन्द्रिय-ज्ञान का अनुभव ग्रहण करते हैं। ये हैं– दो कान, दो आँख, दो नासिका छिद्र, मुँह, गुदाद्वार एवं मूत्रेन्द्रिय। शरीर रूपी गुफा के ये नौ दरवाजे हैं। इन दरवाजों को बन्द कर इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाकर व्यक्ति आध्यात्मिक जागरणरूपी दसवें द्वार को भेदने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार लौकिक चेतना को श्रेष्ठता प्रदान की जा सकती है। इस दसवें अपूर्व द्वार की स्थिति सिर के शीर्ष प्रदेश (सहस्रार) पर है। इसे 'ब्रह्म द्वार' या 'उच्च चेतना' भी कहते हैं।

लाभ

अधिक शक्तिशाली रूप में योनि मुद्रा के लाभों की प्राप्ति होती है।

पाशिनी मुद्रा

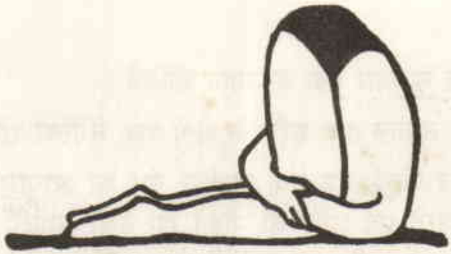

पाशिनी मुद्रा

पाशिनी मुद्रा

विधि

प्रारम्भिक अभ्यास

हलासन कीजिये। (आसनों का अध्याय देखिये)

पैरों को लगभग आधा मीटर दूर कीजिये। इन्हें घुटनों से मोड़िये।

जाँघों को छाती के इतने समीप लाइये कि घुटनों का स्पर्श कानों, कंधों एवं भूमि से हो।

हाथों को मजबूती से पैरों एवं सिर के चारों ओर लपेटिये।

धीरे-धीरे दीर्घ श्वसन कीजिये। मणिपुर चक्र पर चेतना को रखिये।

आरामदायक अवस्था तक इस स्थिति में रुकिये।

उच्च अभ्यास

द्वि पाद कन्धरासन कीजिये। (आसनों के अध्याय में देखिये)

शरीर में शिथिलीकरण क्रिया अधिकतम रूप से कीजिये।

मंद एवं दीर्घ श्वसन कीजिये। मणिपुर चक्र पर ध्यान कीजिये।

सावधानी

पीठ की मांसपेशियों को अधिक श्रम न करना पड़े।

लाभ

नाड़ी-संस्थान में संतुलन तथा स्थिरता लाता है।

प्रत्याहार की स्थिति उत्पन्न करता है।

मेरुदण्ड एवं उसके चारों ओर की नाड़ियों को क्रियाशील बनाता है।

पृष्ठ एवं उदरस्थ अंगों की अच्छी मालिश करता है।

प्रजनन-अंगों को शक्ति प्रदान करता है।

ताड़न क्रिया

ताड़न क्रिया

विधि

पद्मासन में बैठकर मूलाधार चक्र का ध्यान कीजिये।

हथेलियाँ भूमि पर समतल तथा शरीर के दोनों बाजू में स्थिर रहेंगी।

दीर्घ पूरक के बाद अंतर्कुम्भक तथा जालंधर बंध का अभ्यास कीजिये। हाथों को सीधा करते एवं शरीर को मोड़ते हुए ऊपर उठाइये एवं नीचे लाते हुए नितम्बों को जमीन पर पटकिए। मूलाधार चक्र पर एकाग्रता बनाये रखिये।

कुंभक की पूर्ण अवधि में क्रिया की पुनरावृत्ति ७ बार कीजिए।

तत्पश्चात् नितम्बों को भूमि पर टिकाकर रेचक कीजिये। रेचक क्रिया दीर्घ एवं मंद रूप से हो। यह एक आवृत्ति है।

सामान्य स्थिति में पुनः दीर्घ पूरक कीजिये तथा प्रक्रिया को दुहराइये।

टिप्पणी

अभ्यास में अनावश्यक श्रम न कीजिये। शरीर को ऊपर उठाने एवं नीचे लाने पर नितम्बों, पैरों के पृष्ठ-प्रदेशों का स्पर्श भूमि से हो एवं यह क्रिया साथ-साथ होनी चाहिए।

आवृत्ति

प्रारम्भिक अवस्था में ३ आवृत्तियाँ कीजिए।

अभ्यास के बाद १० या अधिक आवृत्तियाँ कीजिये।

एकाग्रता

पूर्ण अवस्था में मूलाधार चक्र पर।

सावधानी

नितम्बों को अधिक वेग से भूमि पर न पटकिये, अन्यथा चोट पहुँच सकती है।

लाभ

प्रत्येक व्यक्ति में निहित सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति (आध्यात्मिक शक्ति) को जागृत करने के लिए यह एक शक्तिशाली अभ्यास है। यह शक्ति मूलाधार चक्र में रहती है। स्थूल रूप से इस शक्ति-जागरण का प्रकटन शारीरिक शक्ति तथा सहन शक्ति की वृद्धि के रूप में होता है।

पञ्चम अध्याय

महत्त्वपूर्ण मुद्राएँ और बन्ध

मुद्रा और बन्ध के अनेक प्रकार हैं—जैसे महामुद्रा, महावेध, नभोमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, योनिमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, अश्विनीमुद्रा, पाशिनीमुद्रा, मातङ्गीमुद्रा, काकीमुद्रा, भुजङ्गिनीमुद्रा; और योगमुद्रा तथा महाबन्ध, जालन्धरबन्ध, उड्डीयानबन्ध और मूलबन्ध।

इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्राओं एवं बन्धों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। इनमें से आपको जो उपयोगी लगे, उसे चुन कर नियमित रूप से अभ्यास कीजिए। इनसे खाँसी, श्वास का रोग, प्लीहा तथा यकृत की अपवृद्धि, कामवासना की उत्तेजना, रतिजरोग, यक्ष्मा, जीर्णमलावरोध, कुष्ठरोग एवं सभी असाध्य रोग भी दूर हो जाते हैं। इन मुद्राओं और बन्धों से मनोवाञ्छित फल प्राप्त होता है; क्योंकि—

"नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् संसिद्धये क्षितिमण्डले।"

अर्थात् पृथ्वी पर मुद्राओं के समान सिद्धि दिलाने वाला और कुछ भी नहीं है।

१. महामुद्रा

बाँयीं एड़ी से गुदा को सावधानीपूर्वक दबायें। दायीं टाँग को आगे फैला लें। दोनों हाथों से पैर के अँगूठे को पकड़ लें। श्वास ले कर उसे रोकें (कुम्भक)। ठोड़ी को सीने पर दृढ़ता से दबायें (जालन्धरबन्ध)। दृष्टि को त्रिकुटी पर जमायें (अर्थात् भ्रूमध्यदृष्टि)। जितनी देर हो सके, इस मुद्रा को टिकाये रखें। पहले बायीं टाँग से और फिर दायीं टाँग से अभ्यास करें। इससे यक्ष्मा, अर्श अथवा बवासीर, प्लीहा की अपवृद्धि, अपच, गुल्म, कुष्ठ, मलावरोध, ज्वर आदि रोग दूर होते हैं तथा आयु बढ़ती है। यह मुद्रा अभ्यास करने वाले साधक को सिद्धियाँ प्रदान करती है। इस मुद्रा को करने पर प्रायः जानुशीर्षासन-जैसी आकृति बन जाती है।

२. योगमुद्रा

पद्मासन में बैठ कर हथेलियों को एड़ियों पर रखें। धीर-धीरे श्वास बाहर

निकालें तथा आगे को झुकें और मस्तक से भूमि को स्पर्श करें। यदि आप इस मुद्रा को देर तक टिकाये रखते हैं, तो सामान्य रूप से श्वास ले और निकाल सकते हैं अथवा आप पूर्वावस्था में आ कर पुनः श्वास ले सकते हैं। हाथों को एड़ियों पर रखने के स्थान में उन्हें पीठ की ओर ले जा सकते हैं। अपनी बायीं कलाई को दायें हाथ से पकड़ें। इस मुद्रा से समस्त प्रकार के उदर-रोग दूर होते हैं।

३. खेचरीमुद्रा

'खे' का अर्थ है 'आकाश में' और 'चर' का अर्थ है 'चलना'। योगी आकाश में चलता है; इसलिए इसे खेचरीमुद्रा कहते हैं।

इस मुद्रा को केवल वही व्यक्ति कर सकता है जिसने अपना प्रारम्भिक अभ्यास ऐसे गुरु के साक्षात् मार्गदर्शन में किया हो जो स्वयं खेचरीमुद्रा करते हों। इस मुद्रा का प्रारम्भिक अंश जिह्वा को इतनी लम्बी बनाना है कि उसका अग्रभाग भृकुटि के मध्य वाले स्थान को स्पर्श कर सके। प्रति सप्ताह गुरु जिह्वा के नीचे के तन्तु को थोड़ा-थोड़ा करके स्वच्छ तथा तीक्ष्ण धार वाले यन्त्र (छुरी) से काटता रहेगा। नमक और हल्दी-चूर्ण लगाने से कटे हुए तन्तु फिर से नहीं जुड़ते। जिह्वा को ताजा मक्खन लगा कर बाहर खींचें। उँगलियों से जिह्वा को पकड़ कर इधर-उधर घुमायें। जिह्वा के दोहन का अर्थ है उसे पकड़ कर इस प्रकार खींचना जिस प्रकार गाय का दूध निकालते समय उसके थनों को पकड़ कर दूध निकाला जाता है।

जिह्वा के नीचे वाले तन्तु को नियमित रूप से सप्ताह में एक बार काटना चाहिए। यह कार्य ६ माह से ले कर २ वर्ष तक किया जाना चाहिए। इन सब विधियों से आप जिह्वा को इतनी लम्बी कर सकते हैं कि वह मस्तक को स्पर्श कर लेगी। खेचरीमुद्रा का यह प्रारम्भिक अंश है।

इसके पश्चात् सिद्धासन में बैठ कर जिह्वा को ऊपर और पीछे की ओर इस प्रकार मोड़ें कि वह तालु को स्पर्श कर ले और जिह्वा से नाक के पश्च-द्वार को बन्द कर दें। आप अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करें। श्वासोच्छ्वास रुक जायेगा। जिह्वा अमृत-कूप के मुँह पर है। यह खेचरीमुद्रा है।

इस मुद्रा के अभ्यास से योगी मूर्च्छा, क्षुधा, पिपासा और आलस्य से मुक्त हो जाता है। वह रोग, क्षीणता, वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्त हो जाता है। इस मुद्रा से व्यक्ति ऊर्ध्वरेता योगी बनता है। चूँकि योगी का शरीर अमृत से पूर्ण हो

जाता है; अतः वह घातक विष से भी नहीं मरता। यह मुद्रा योगियों को कायसिद्धि प्रदान करती है। खेचरी सर्वश्रेष्ठ मुद्रा है।

४. वज्रोलीमुद्रा

यह हठयोग में एक महत्त्वपूर्ण यौगिक क्रिया है। इस क्रिया में पूर्ण सफल होने के लिए आपको कठिन परिश्रम करना पड़ेगा। इस क्रिया में बहुत कम साधक दक्ष होते हैं। योग के विद्यार्थी विशेष प्रकार की बनवायी हुई १२ इञ्च लम्बी चाँदी की एक नली को मूत्र-मार्ग में प्रवेश करा कर इसके द्वारा पहले पानी और फिर दूध, तेल, मधु आदि खींचते हैं। अन्त में वे पारा खींचते हैं। कुछ समय बाद वे बिना नली के सहारे मूत्र-मार्ग द्वारा इन तरल पदार्थों को खींच लेते हैं। ब्रह्मचर्य में सुस्थित होने के लिए यह क्रिया अत्युपयोगी है। प्रथम दिन मूत्र-मार्ग में केवल १ इञ्च नली ही प्रवेश करायें, दूसरे दिन २ इञ्च, तीसरे दिन ३ इञ्च; इसी प्रकार इसे बढ़ाते जायें। जब तक १२ इञ्च नली भीतर प्रवेश न कर ले, तब तक क्रमशः अभ्यास करते रहें।

राजा भर्तृहरि इस क्रिया को बहुत दक्षता से कर लेते थे। इस मुद्रा को करने वाले योगी का एक बूँद वीर्य भी बाहर नहीं निकल सकता और यदि निकल भी जाये तो वह इस मुद्रा द्वारा उसे वापस ऊपर खींच सकता है। जो योगी वीर्य को ऊपर खींच कर सुरक्षित रख सकता है, वह मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। उसके शरीर से सुगन्ध निकलती है। भगवान् कृष्ण इस मुद्रा में बड़े कुशल थे; इसलिए अनेक गोपियों के मध्य रहते हुए भी वे नित्य-ब्रह्मचारी कहलाते थे।

५. विपरीतकरणीमुद्रा

भूमि पर लेट कर टाँगों को सीधे ऊपर उठायें। नितम्बों को हाथों से सहारा दें। कोहनियाँ भूमि पर टेक लें। स्थिर बने रहें। नाभि के मूल में सूर्य का और तालु-मूल में चन्द्रमा का निवास है। जिस प्रक्रिया से सूर्य को ऊपर की ओर तथा चन्द्रमा को नीचे की ओर ले जाया जाता है, वह विपरीतकरणीमुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा में सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति को पलट दिया जाता है। प्रथम दिन इसे एक मिनट तक करें। धीरे-धीरे इसे तीन घण्टे तक बढ़ा दें। छः महीने में आपके चेहरे की झुर्रियाँ और श्वेत बाल लुप्त हो जायेंगे। जो योगी इसे प्रतिदिन तीन घण्टे तक करते हैं, वे मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। चूँकि इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है, अतः जो लोग इस मुद्रा का अभ्यास देर तक करते हैं, उन्हें इस

क्रिया की समाप्ति पर अल्पाहार—जैसे दूध आदि—ले लेना चाहिए। शीर्षासन की मुद्रा भी विपरीतकरणीमुद्रा कहलाती है।

६. शक्तिचालनमुद्रा

एकान्त कमरे में सिद्धासन में बैठें। बलपूर्वक श्वास को अन्दर खींच कर उसे अपान के साथ जोड़ें। वायु के सुषुम्ना में प्रवेश करने तक मूलबन्ध लगायें। वायु को रोकने से कुण्डलिनी का दम घुटने के कारण वह जाग्रत हो जाती है और सुषुम्ना में हो कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है। इस मुद्रा के अभ्यास से व्यक्ति सिद्ध बन जाता है।

सिद्धासन में बैठें। गुल्फ के पास से पैर को पकड़ कर धीरे-धीरे पैर से कन्द को पीड़ित करें। यह ताड़न-क्रिया है। इस पद्धति से भी कुण्डलिनी जाग्रत की जा सकती है।

७. महावेध

अन्यत्र वर्णन किये अनुसार महाबन्धमुद्रा में बैठें। धीरे-धीरे श्वास खींच कर उसे रोकें और ठोड़ी को सीने पर दबायें (जालन्धर-बन्ध)। हथेलियों को भूमि पर रखें। शरीर को हथेलियों पर टिका दें। नितम्बों को धीरे-धीरे उठा कर हलके से भूमि पर पटक दें। नितम्बों को ऊपर उठाते समय आसन अक्षत तथा दृढ़ होना चाहिए। यह क्रिया जरा तथा मृत्यु का उच्छेदन करती है। योगी मन पर नियन्त्रण तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है।

८. महाबन्ध

बायीं एड़ी से गुदा को दबायें तथा दायाँ पैर बायीं जङ्घा पर रखें। गुदा एवं योनि या मूलाधार की पेशियों को शिकोड़ें। अपान-वायु को ऊपर की ओर खींचें। धीरे-धीरे श्वास को खींच कर जालन्धर-बन्ध द्वारा उसे यथाशक्ति रोकें। फिर धीरे-धीरे श्वास को बाहर निकाल दें। मन को सुषुम्ना पर स्थिर करें। प्रथम बायीं ओर से और फिर दायीं ओर से अभ्यास करें। सामान्यतया योगी लोग महामुद्रा, महाबन्ध एवं महावेध साथ-साथ करते हैं। इन तीनों का एक अच्छा सङ्घटन बनता है। ऐसा करने से ही सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता है। योगी आप्तकाम हो जाता है तथा सिद्धियाँ प्राप्त करता है।

९. मूलबन्ध

बायीं एड़ी से योनि को दबायें। गुदा को सिकोड़ें। अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे अपान-वायु को बलपूर्वक खींचें। दायीं एड़ी को जननेन्द्रिय पर रखें। इसे मूलबन्ध कहते हैं जो जरा और मृत्यु का विनाशक है।

प्राणायाम के अभ्यास में सिद्धि अथवा पूर्णता बन्धों की सहायता से प्राप्त होती है। इस मूलबन्ध के अभ्यास से ब्रह्मचर्य में सहायता मिलती है, धातु पुष्ट होती है, मलावरोध दूर होता है और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। मूलबन्ध का अभ्यास करने वाला योगी सदा युवा बना रहता है। उसके बाल सफेद नहीं होते।

अपान-वायु जो मल को बाहर निकालने का कार्य करती है, स्वभावतः नीचे की ओर जाती है। मूलबन्ध के अभ्यास से गुदा को सिकोड़ने और अपान-वायु को बलपूर्वक ऊपर की ओर खींचने से वह ऊपर की ओर सञ्चारित होने लगती है। प्राण-वायु का अपान-वायु से संयोग होता है और वह संयुक्त प्राण-अपान-वायु सुषुम्ना-नाड़ी अथवा ब्रह्म-नाड़ी में प्रवेश कर जाती है। तब योगी योग में पूर्णता प्राप्त करता है। यह योग का एक रहस्य है। तब योगी इस संसार के लिए मर जाता है। वह अमृतसुधा का पान करता है। वह सहस्रार में शिवपद का आनन्द-लाभ करता है। उसे समस्त दिव्य विभूतियाँ और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं।

जब अपान-वायु प्राण-वायु से मिलती है, तब योगी को अनाहतनाद अथवा विभिन्न प्रकार के अन्तर्नाद सुस्पष्ट रूप से सुनायी पड़ते हैं; क्योंकि अब बाहरी संसार के शब्द उसे नहीं सुनायी देते हैं। उसे गम्भीर एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। प्राण, अपान, नाद और बिन्दु मिल जाते हैं। योगी योग में पूर्णता प्राप्त कर लेता है।

१०. जालन्धरबन्ध

गले को सिकोड़ें। ठोड़ी को दृढ़ता से सीने पर दबायें। यह बन्ध पूरक के अन्त में और कुम्भक के आरम्भ में किया जाता है। इस बन्ध के अभ्यास से प्राण-वायु सही मार्ग में होती है। वह अपान-वायु से मिल जाती है। इड़ा और पिङ्गला नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं। नाभि-चक्र में स्थित जठराग्नि उस अमृत को भस्म करती है जो तालु-रन्ध्र द्वारा सहस्रार से टपकता रहता है। इस अमृत को

इस प्रकार नष्ट होने से बचाने के लिए योग के विद्यार्थी को इस बन्ध का अभ्यास करना चाहिए। योगी अमृत-पान करके अमरता प्राप्त करता है।

११. उड्डीयानबन्ध

बलपूर्वक जोर से श्वास को बाहर निकाल कर फेफड़ों को खाली कर लें। फिर आँतों और नाभि को सिकोड़ लें और उन्हें बलपूर्वक पीठ की ओर अन्दर खींचें जिससे उदर ऊपर उठ कर शरीर के पीछे की ओर वक्षीय गुहा (Thoracic cavity) में चला जाये। इस बन्ध का निरन्तर अभ्यास करने वाला साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त करता तथा सदा युवा बना रहता है। इससे ब्रह्मचर्य धारण करने में अधिक सहायता प्राप्त होती है। सभी बन्ध कुण्डलिनी जाग्रत करते हैं। उड्डीयानबन्ध का अभ्यास कुम्भक के अन्त में और रेचक के आरम्भ में किया जाता है। जब आप इस बन्ध का अभ्यास करते हैं तो उरःप्राचीर (जो कि वक्षीय गुहा एवं उदर के मध्य मांसपेशी का एक भाग होता है) ऊपर उठ जाता है और पेट की दीवार पीछे चली जाती है। उड्डीयान करते समय अपने धड़ को आगे की ओर झुकायें। उड्डीयान बैठे हुए और खड़े हुए दोनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। खड़े हो कर करते समय हाथों को घुटनों या घुटनों से थोड़ा ऊपर रखें। टाँगों को थोड़ा दूर-दूर रखें।

उड्डीयान मानव के लिए वरदान है। अभ्यास करने वाले को यह सुन्दर स्वास्थ्य, शक्ति, ओज और जीवन-शक्ति प्रदान करता है। नौलि-क्रिया को, जो पेट के मल को मथ डालती है, इसके साथ मिला देने से यह एक शक्तिशाली जठरान्त्रीय बलकारक औषधि (Gastro-intestinal Tonic) का काम करता है। मलावरोध, आँतों के क्रमाकुञ्चन की दुर्बलता तथा आहार-तन्त्र के जठरान्त्र-विकार से सङ्घर्ष करने के लिए योगी के पास ये दो महत्त्वपूर्ण अस्त्र हैं। इन दो यौगिक व्यायामों से ही आप उदर के आन्तराङ्गों की मालिश तथा पुष्ट करने का काम ले सकते हैं।

जो नौलि का अभ्यास करना चाहें, उन्हें आरम्भ में उड्डीयान करना चाहिए। उड्डीयान पेट की वसा को कम करता है। पेट के व्यायामों में उड्डीयान और नौलि की बराबरी का कोई अन्य व्यायाम नहीं है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों देशों में सम्पूर्ण भौतिक व्यायाम-पद्धतियों में ये दोनों व्यायाम अनुपम, अद्वितीय और अभूतपूर्व हैं।

१२. योनिमुद्रा

सिद्धासन में बैठ जायें। दोनों अँगूठों से कान को, तर्जनियों से आँखों को, मध्यमा से नासा-रन्धों को, अनामिका से ऊपर के ओष्ठ को तथा कनिष्ठिका से अधरोष्ठ को बन्ध करें। जप करने के लिए यह सुन्दर मुद्रा है। बड़ी गहराई में चले जायें और षट्-चक्रों और कुण्डलिनी पर ध्यान लगायें। अन्य मुद्राओं की भाँति यह सबके लिए बिलकुल सरल नहीं है। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए आपको प्रचुर श्रम करना पड़ेगा। यदि आप इस मुद्रा में निश्चयपूर्वक सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो आपको पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना होगा। इसमें सफलता प्राप्त करना **'देवानामपि दुर्लभा'**—देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। अतः इस मुद्रा की महत्ता को अनुभव करें। इसका अभ्यास बड़ी सावधानीपूर्वक करें।

मुद्रा :—

हठयोग परंपरा में मुद्राओं का महत्वपूर्ण स्थान है। शिवसंहिता में मुद्राओं को अष्टसिद्धि प्रदान करने वाली कहा गया है। घेरण्डसंहितानुसार मुद्राएं योगसाधक को मानसिक स्थिरता प्रदान करती हैं जिससे बिखरी हुई प्राणशक्ति के एकत्रित होने से मन के अर्न्तमुखी होने की प्रक्रिया आंरभ हो जाती है। मानसिक स्थिरता प्राप्त हो जाने से जगत में कुछ भी असंभव नहीं है। योग में आसन व प्राणायाम जहाँ शरीर को शक्तिशाली व निरोगी बनाने का कार्य करते हैं। वहीं मुद्राएं अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशों पर सकारात्मक प्रभाव डालकर, नाड़ी संस्थान में प्रवाहित सूक्ष्म प्राण प्रवाह को जागृत कर, मन की चंचलता को समाप्त करने में उपयोगी है। सामान्य रूप से किसी मुहर, द्रव्य (धन) या किसी विशेष शारीरिक स्थिति को मुद्रा कहा जाता है। हाथों द्वारा या संपूर्ण शरीर के प्रयोग से एक स्थिति विशेष को धारण करने का अभ्यास योग में मुद्रा कहलाता है। योगियों ने मुद्राओं की अनुभूति शक्ति—प्रवाह की स्थितियों के रूप में की, जिनका उद्देश्य होता है व्यक्ति की प्राणशक्ति को ब्रह्यण्डीय प्राणशक्ति के साथ जोडना। हठयोगिक मुद्राओं के अभ्यास का मूल उद्देश्य सूक्ष्म रूप से मन की वृत्तियों में परिवर्तन लाकर चित्त को सजग व एकाग्र बनाना है। हठयोग की प्रत्येक मुद्रा शरीर के तंत्रिका तंत्र में एक विशेष प्रकार की संवेदना का निर्माण करती है जिससे मस्तिष्क पर सकारात्मक पड़ता है। परिणामस्वरूप मस्तिष्कीय तरंगों से कुछ समय पर्यंत उस विशेष भाव का प्रभाव हमारे भीतर अनुभव होता रहता है। जिसे अधिक अभ्यास से बढ़ाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त प्राणों की दिशा परिवर्तन करने का सामर्थ्य भी मुद्राओं के अभ्यास से आ जाता है। इसलिए हठयोग में प्राणोत्थान प्रक्रिया व कुण्डलिनी जागरण के लिए मुद्राओं का विशेष स्थान है।

शिवसंहिता में भी कुण्डलिनी जागरण व चक्र भेदन हेतु मुद्राओं के अभ्यास की बात कुछ इस प्रकार की गई है।

''सुप्ता गुरूप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपिंच।।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितमीश्वरीम्।
ब्रह्यद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्''।।

जब सुप्त कुण्डलिनी गुरू के आर्शीवाद से जाग उठती है तब सभी अन्तःस्थ चक्रों व ग्रंथियों का भेदन हो जाता है। इसलिए ब्रह्यद्वार के मुख पर सुप्त कुण्डलिनी की जागृति हेतु सारे प्रयत्नों द्वारा मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।

हठयोग की प्रत्येक प्रक्रिया विशेष से योग साधक की छुपी हुई दैनिक व आध्यात्मिक शक्ति का जागरण होने में सहायता प्राप्त होती है। परंतु मुद्राएं विशेष रूप से कुण्डलिनी जागरण हेतु महत्त्वपूर्ण कही गई है। महर्षि घेरण्ड ने घेरण्डसंहिता में भी मुद्राओं को सिद्धि प्रदायक कहकर उल्लेख किया है। घेरण्डसंहिता में मुद्राओं के महत्त्व को भगवान शिव देवी पार्वती को इस प्रकार बतला रहे हैं :–

''मुद्राणां पटलं देवि कथित सिध्दिः संनिधौ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्व सिध्दि प्रजायते।।
गोपनीय प्ररूत्नेन न देयं यस्यकस्यचित्।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभंमरूतामपि''।।

शिवसंहिता में रचनाकार मुद्राफल के विषय में बताने के लिए शिव पार्वती संवाद का उल्लेख करते हैं जिसमें भगवान शिव देवी पार्वती को कहते हैं :–

हे देवी। मैनें तुम्हें जिन मुद्राओं का ज्ञान प्रदान किया है, इनके प्रभाव से व्यक्ति को समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। योगियों को आनंददायक यह मुद्राएं देवताओं के लिए भी दुर्लभ हैं। इसलिए यह हमेशा गुप्त रखने योग्य हैं।

शरीरेन्द्रियों, नाड़ियों और विशिष्ट चक्रों से निरंतर प्राणों का बर्हिगमन होता रहता है जो बाह्य जगत् में फैल जाता है जिससे शरीर में निरंतर आंतरिक सूक्ष्म ऊर्जा का ह्यस होता है। मुद्राओं का अभ्यास इस ऊर्जा प्रवाह को उल्टा करने में सक्षम है जिससे सूक्ष्म प्राणशक्ति पुनः शरीर में धारण हो जाए और उसका क्षय कम से कम हो। इस प्रकार से प्राणों के बिखराव में न्यूनता आने से मन अर्न्तमुखी होने लगता है और प्राणोत्थान प्रक्रिया के होने से मुद्राओं का अभ्यास कुण्डलिनी जागरण में महत्त्वपूर्ण है। इसलिए प्राचीनकाल से ही हठयोग में बड़ी संख्या में मुद्राओं के अभ्यास का वर्णन है।

मुद्राओं को कई समूहों में बांटा जा सकता है। सामान्यतः पाँच प्रकार के समूहों में मुद्राओं का वर्गीकरण हो सकता है। ये पाँच समूह हैं– 1. हस्तमुद्राएं 2. मन मुद्राएं 3. कायामुद्राएं 4. बन्धमुद्राएं 5. आधार मुद्राएं।

शिवसंहिता और घेरण्डसंहिता में जिन मुद्राओं का वर्णन प्राप्त होता है वे बंध, प्राणायाम और आसन के सामूहीकरण से प्राप्त शरीर की स्थितियाँ विशेष हैं। शिवसंहिता में योनि मुद्रा के अलावा और दस मुद्राओं का वर्णन प्राप्त होता हैं जो निम्न प्रकार से हैं – 1. महामुद्रा 2.

महाबंध 3. महावेध 4. खेचरीमुद्रा 5. जालंधरबंध 6. मूलबंध 7. विपरीतकरणी 8. उड्डयानबंध 9 वज्रोलिमुद्रा 10. शक्तिचालन।
घेरण्डसंहिता में पच्चीस मुद्राओं का वर्णन महर्षि घेरण्ड ने किया है। घेरण्डसंहिता में उल्लेखित मुद्राओं का वर्णन निम्न प्रकार से है :–

''महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।

मूलबन्ध महाबंध महाबंधश्च खेचरी।।

विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी।

ताडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पंचधारणा।।

अश्विनी पाशिनी काकी मातृडी च भुजङ्गिनी।

पचंविंशति मुद्राणि सिध्ददानीह योगिनाम्''।।

1. महामुद्रा 2. नभोमुद्रा 3. उड्डीयान 4. जालंधरबंध 5. मूलबन्ध 6. महाबंध 7. महावेद 8. खेचरी 9. विपरीतकरणी 10. योनिमुद्रा 11. वज्रोलिमुद्रा 12. शक्तिचालिनी 13. ताडागी 14. मांडवी 15 शांभवी 16. पंचधारणा (पार्थिवी, आम्भसी, आग्नेयी, वायवीय, आकाशी) 17. अश्विनीमुद्रा 18. पाशिनीमुद्रा 19. काकीमुद्रा 20. मातंगिनी 21. भुजंगिनी मुद्रा इस प्रकार पच्चीस मुद्राएं हैं।

शिवसंहिता की तरह ही घेरण्डसंहिता में भी मुद्रा प्रकरण के अन्तर्गत त्रिबंधों का भी वर्णन प्राप्त होता है। शिवसंहिता ओर घेरण्डसंहिता दोनों ग्रंथों में भगवान शिव ही मुद्राफल का कथन देवी पार्वती के लिए कहते हैं, शिवसंहिता में मुद्राओं को कुण्डलिनी जागरण का हेतु बताकर गुप्त रखने को कहते हैं वहीं घरेण्डसंहिता में मुद्राओं का सर्वसिद्धिप्रदायक कहकर गोपनीय रखने हेतु कहा गया है ।

महामुद्रा :–

शिवसंहिता और घेरण्डसंहिता दोनों में उल्लेखित प्रथम मुद्रा महामुद्रा है। दोनों ग्रंथों में महामुद्रा की क्रियाविधि में थोड़ा सा अंतर है। शिवसंहिता में बांए पैर की एड़ी से गुदा एवं लिंग के बीच में स्थित योनिस्थान को दृढ़ता से दबाने को कहा गया है और जालंधरबंध लगाकर सुषुम्णा में चित्त को स्थिर कर प्राणायाम का अभ्यास करने को कहा गया है। समानरूप से दोनों ओर से महामुद्रा को शिवसंहिता में करने को कहा गया है। वहीं घेरण्ड संहिता में योनिस्थान को न दबाकर गुदामूल को दबाने का वर्णन है और साथ ही दृष्टि भ्रूमध्य में स्थिर करने का विधान

है। जालंधरबंध की बात दोनों ग्रंथों में समान है। परंतु घेरण्डसंहिता में दूसरी ओर से भी महामुद्रा को करना है कि नहीं ऐसा कोई संकेत नहीं दिया गया है।
शिवसंहिता और घेरण्डसंहिता दोनों ग्रंथों में महामुद्रा के फल अथवा लाभ की चर्चा मिलती है। शिवसंहिता में मुद्राफल कथन में केवल शारीरिक लाभ ही न बताकर आध्यात्मिक लाभ की भी चर्चा की गई है, वहीं घेरण्ड संहिता में केवल शारीरिक लाभों का ही वर्णन प्राप्त होता हैं। ऐसे में तुलनात्मक रूप से शिवसंहिता में महामुद्रा की क्रियाविधि व मुद्राफल अधिक विस्तृत है।

नोट :— दोनों ग्रंथों में वर्णित मुद्राओं की क्रियाविधि व मुद्राफल का वर्णन पूर्व के अध्यायों में किया जा चुका है।

मूलबंध :—

शिवसंहिता में जालंधरबंध के पश्चात् मूलबंध का विवरण प्राप्त होता है। शिवसंहिता में मुद्राओं की क्रमबद्धता घेरण्डसंहिता, हठप्रदीपिका आदि की तरह नहीं है। शिवसंहिता में केवल दस मुख्य मुद्राओं का वर्णन प्राप्त होता है। शिवसंहिता में मूलबंध की क्रियाविधि में कौन से पैर का प्रयोग करना है इसका कोई निर्देश नहीं दिया है और न ही नाभिग्रंथि को मेरूदण्ड में लगाने हेतु कहा गया है। शिवसंहिता मे मूलबंध को अपान और प्राण में स्थिरता व एकता स्थापित करने वाला व जरा मृत्यु को हरने वाला कहा गया है। मूलबंध की सिद्धि से योनिमुद्रा के स्वतः सिद्ध हो जाने की बात कही गई है जिससे संसार मे सब कुछ सिद्ध हो जाता है। वायु पर विजय व आकाशगमन में सिद्धि के बारे में भी बताया गया है। दूसरी ओर घेरण्डसंहिता की क्रियाविधि में स्पष्ट रूप से मूलबंध के अभ्यास में बांए पैर की एड़ी का प्रयोग करने को कहा गया है। घेरण्डसंहिता में मूलबंध के अभ्यास में उड्डियानबंध का भी प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त साधक को मूलबंध के अभ्यास के दौरान आलस्यरहित और मौन रहने के निर्देश दिए गए हैं। एकांत में मूलबंध के अभ्यास की बात भी कही गई है। शिवसंहिता व घेरण्डसंहिता में समान रूप से यह माना गया है कि मूलबंध के अभ्यास से वायु सिद्धि होती है।

विपरीतकरणीबंध :—

विपरीतकरणी शब्द से ही इसके अर्थ का अनुमान हो जाता है कि शरीर की विपरीत अर्थात उल्टी स्थिति में बारे में कहा गया है। शिवसंहिता में विपरीतकरणी बंध की बात कही गई है जिसे संसार रूपी समुद्र को पार करने के इच्छुक साधकों को एकांत में करना चाहिए। यहाँ शरीरस्थ चंद्र एवं सूर्यस्थान का वर्णन नहीं मिलता जैसा कि अन्य हठयोग ग्रंथों में प्राप्त होता

है। शिवसंहिता में विपरीतकरणी को बंध कहा गया है साथ ही विपरीतकृति भी। इस मुद्रा का तीन घण्टे तक प्रतिदिन का अभ्यास मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करा देता है, ऐसा कहा गया है। शिवसंहिता के एक मंत्र में शरीरस्थ अमृत के पान की बात विपरीतकरणी के संबंध में की गई है।
यथा–

''अमृतं कुरूते पानं सिध्दानां समताभियात्''।

जो इस बंध का अभ्यास करता है। वह सर्वत्र पूज्य हो जाता है, शरीरस्थ अमृत का पान करता है और सिद्धों के समकक्ष हो जाता है।
शिवसंहिता में विपरीतकरणीबंध के अभ्यास से जिस अमृतपान का वर्णन किया है घेरण्डसंहिता में उस अमृत का स्थान व उसके पान क्रियाविधि को विस्तृत रूप से बताया गया है। ऐसा वर्णन तुलनात्मक रूप से शिवसंहिता में प्राप्य नहीं है। घेरण्डसंहिता में विपरीतकरणी को मुद्रा कहा गया है। अभ्यास की अवधि का कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता। हालांकि क्रियाविधि दोनों ग्रंथों में समान है परंतु घेरण्डसंहिता में पूर्ण स्थिति पर कुंभक द्वारा वायु को रोकने को कहा गया है। दोनों ग्रंथों में इसे गुप्त रखने को कहा गया है, लाभ एक जैसे वर्णित किए गए हैं। शिवसंहिता और घेरण्डसंहिता दोनों ग्रंथों में समानरूप से कहा गया है कि इस मुद्रा की सिद्धि से प्रलयकाल में भी साधक दुःख प्राप्त नहीं करता।

जालंधरबंध :–

शिवसंहिता में जालंधरबंध का वर्णन खेचरीमुद्रा के पश्चात आया है। सामान्य शब्दों में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि गले की शिराओं को संकोच कर ठोड़ी को वक्षस्थल पर लगाना चाहिए, यह जालंधर बंध है। इसके अतिरिक्त क्रियाविधि में अधिक वर्णन नहीं मिलता परंतु लाभ एवं फल की दृष्टि से इसे देवताओं के लिए भी दुर्लभ शिवसंहिता में बताया गया है। इसके अभ्यास से साधक अमृतपान कर अमरता को प्राप्त कर लेता है। अतः सिद्धि के इच्छुक साधकों को नित्य अभ्यास करना चाहिए।
घेरण्डसंहिता में भी शिवसंहिता की तरह क्रियाविधि बताई गई है। घेरण्डसंहिता ठोडी को वक्षस्थल पर न रखकर हृदयस्थान पर रखने को कहा गया है। थोड़ा अधिक वर्णन करते हुए घेरण्डसंहिता में बताया गया है कि जालंधर बँध के अभ्यास से सोलह प्रकार का आधार बंध हो जाता है।
सिद्धिसिद्धांत पद्वति के अनुसार शरीरस्थ यह सोलह आधार हैं – पैर का अंगूठा, मूलाधार, गुदा, मेढ्र (लिंग), ओड्डयाण, नाभि, हृदय, कण्ठ, घण्टिका, तालु, जिह्वामूल, भ्रूमध्य, नासाग्र, नाक के मूल का ऊपरी भाग, ललाट और ब्रह्मारंध्र। इस प्रकार से सोलह आधार ध्यान हेतु कहे गए हैं

जिनका बंध घेरण्डसंहितानुसार जांलधरबंध करने से हो जाता है। इसके अतिरिक्त घेरण्ड ऋषि जांलधर बंध को महामुद्रा कहकर संबोधित करते हैं और इसे मृत्यु को हरने वाली बताते हैं। कई हठयोग ग्रंथों में पांच प्रकार की मुद्राओं को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है जो है – महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियाणबंध, जालंधरबंध और मूलबंध, यह पांच मुद्राएं मोक्षदायिनी मानी गई हैं। इसलिए ही महर्षि घेरण्ड जालंधरबंध को महत्वपूर्ण बताने हेतु महामुद्रा का ज्ञान दे रहे हैं।

महावेध :शिवसंहिता और घेरण्डसंहिता दोनों हठयोग ग्रंथो में महाबंध के पश्चात महाबंध का स्थान आता है। मुद्राओं के क्रम में शिवसंहिता में महावेध का तृतीय व घेरण्डसंहिता में सातवां स्थान है। दोनो ग्रंथों में महावेधमुद्रा की क्रियाविधि अलग–अलग प्रकार से वर्णित है। शिवसंहिता में महावेधमुद्रा की विधि इस प्रकार वर्णित है – '' महाबंध में स्थित बुद्धिमान साधक वायु से पेट को भरकर दोनों नितम्बों को बार–बार भुमि पर पटकें।'' जबकि घेरण्डसंहिता में महाबन्ध मुद्रा के साथ उड्डियानबंध के द्वारा कुंभक प्राणायाम करते हुए वायु को रोकने हेतु कहा गया है।'' इस प्रकार दोनों हठयोगग्रंथ महाबंध की अलग–अलग क्रियाविधि का वर्णन करते हैं। शिवसंहिता में कुण्डलिनी जागरण में सहायक कहकर महावेधमुद्रा के लाभ व फल का वर्णन प्राप्त होता है। शिवसंहिता में इस प्रकार कहा गया है :–

''चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते''।।

शरीरस्थ चक्रों में विद्यमान देवगण वायु के ताडन से कांपने लगते हैं एवं महामाया कुण्डली देवी भी शिवस्थान (बह्मरंध्र) में लीन हो जाती है। आध्यात्मिकता व साधनामार्ग में लाभकारी होन के साथ–साथ शिवसंहिता में महावेध के जरा–मृत्युनाशक आदि कहकर शारीरिक लाभों का भी वर्णन प्राप्त होता है। घेरण्डसंहिता में भी वैसे ही शारीरिक लाभों की चर्चा की गई है जैसी शिवसंहिता में प्राप्त होती है।

शिवसंहिता और घेरण्डसंहिता दोनों में समानरूप से महावेधमुद्रा को गोपनीय रखने हेतु कहा गया है अन्यथा इसकी सिद्धि नहीं होती।

खेचरीमुद्रा :–

शिवसंहिता और घेरण्डसंहिता दोनों ग्रंथों में महावेधमुद्रा उपरांत खेचरीमुद्रा का वर्णन किया गया है। शिवसंहिता में खेचरीमुद्रा की साधना हेतु उपयुक्त स्थान व उपयुक्त आसन के बारे में बताया गया है। संपूर्ण क्रियाविधि को सरलतम प्रारूप में शिवसंहिता में वर्णित किया गया है। शिवसंहितानुसार खेचरीमुद्रा का सृजन भगवान शिव ने भक्तों के आग्रह पर किया है और यह मुद्रा उनकी सर्वाधिक प्रिय है।

"मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः।
सिद्वीनां जननी ह्यषा मम प्राणाधिकप्रिया"।।

अर्थात यह खेचरीमुद्रा भक्तों के आग्रह से बतायी गई है। सभी सिद्धियों की जन्मदात्री यह मुद्रा मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। शिवसंहिता में खेचरीमुद्रा के लिए वज्रासन का विधान है। कण्ठ–छिद्र को शिवसंहिता में सुधाकूप कहकर संबोधित किया गया है। खेचरी मुद्रा को अति महत्वपूर्ण मुद्रा मानते हुए कहा गया है कि यदि साधक आधे क्षण भी इसका अभ्यास कर ले तो पाप रूपी महासमुद्र को पार कर देवतासुलभ भोगों को भोग कर श्रेष्ठजनों में जन्म पाता है।
भगवान शिव अन्ततः कहते हैं कि मेरी यह प्राणप्रिय मुद्रा केवल अधिकारी साधक को ही बताने योग्य है अतः देवताओं द्वारा पूजित यह मुद्रा गुप्त रखने योग्य है।शिवसंहिता के अनुसार भ्रूमध्य में दृष्टि स्थापित कर सुधाकूप (कपालविवर) में पलटी हुई जिहवा का प्रवेश कराना ही खेचरी मुद्रा है परन्तु घेरण्डसंहिता इस मुद्रा की विधि में विस्तृत विवरण उपलब्ध करवाती हैं। घेरण्डसंहिता के अनुसार खेचरी मुद्रा की सिद्धि हेतु जिहवा का इतना लंबा होना आवश्यक है कि वो कपालविवर तक जा सके। इसलिए घेरण्डसंहिता में जिहवा को लम्बा करने के लिए चालन, दोहन, छेदन और कर्षण जैसी विधियाँ बताई गई हैं। शिवसंहिता की विधि की तुलना में घेरण्डसंहिता की विधि कष्टकर प्रतीत होती है। किसी योग्य निर्देशन से ही यह प्रक्रियाएं संभव है अन्यथा कोई हानि भी हो सकती है।
घेरण्डसंहिता में भी खेचरी मुद्रा की भूरि–भूरि प्रशंसा की गई है और स्थिर समाधि प्राप्त होने में इसे सहायक कहा गया है।

महाबंध – शिवसंहिता में महाबंध को दोनों पांवों द्वारा एक–एक कर प्रयत्नपूर्वक सिद्ध करना चाहिए। महाबंध के अभ्यास से वायु सुषुम्णा के मध्य में स्थिर हो जाता है। महाबंध से शरीर पुष्ट होता है और अस्थि पिंजर दृढ़ हो जाता है। इस बंध की साधना से साधक पूर्ण रू‹ से संतुष्ट रहता है। इस महाबंध को सिद्ध करने से साधक अपान एवं प्राण को एक करके सभी अभीष्ट सिद्ध कर लेता है, शिवसंहिताकार का ऐसा मत है।

वहीं घेरण्डसंहिता के अनुसार यह महाबंध सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ व जरामरण नाशक कहा गया है। इस बंध की सिद्धि सभी इच्छाएं पूर्ण हो जाती है। इस बंध के अभ्यास में मूलबुंध उड्डयान बन्ध व जालन्धर बन्ध, तीनों एक साथ लगते हैं।

उड्डियानबंध –

शिवसंहितानुसार उड्डियानबंध द्वारा साधक के समस्त दुःखों का नाश हो जाता हे। इसे मृत्युरूप हाथी के लिए सिंह के समान कहा गया है। यहाँ प्रतिदिन चारों पहर इसके अभ्यास के लिए कहा गया है। इस प्रकार अभ्यास करने से नाभिचक्र शुद्ध होकर वायु की सिद्धि हो जाती

है। छः माह तक निरंतर अभ्यास से योग साधक मृत्यु को भी जीत लेता है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है और शरीर स्वस्थ रहता है।

शरीर के समस्त प्रकार के रोगों का नाश इस बंध की सिद्धि से होता है। शिवसंहिता के अनुसार इस बंध को योग्य गुरू से सीख कर अकेले स्वस्थ चित्त होकर अभ्यास करना चाहिए। घेरण्डसंहिता में उड्डियानबंध को सभी बंधों में प्रमुख माना गया है इसके अभ्यास से सहन ही मोक्ष प्राप्ति की बात कही गई है।

वज्रोलीमुद्रा – शिवसंहिता में जिस वज्रोली मुद्रा का वर्णन प्राप्त होता है उसका वर्णन तंत्र ग्रंथों में भी मिलता हे। इसका अभ्यास बिंदु सिद्धि व वीर्य रक्षा के लिए किया जाता है।

घेरण्डसंहिता में वज्रोलि का तो नहीं परंतु वज्रोणीमुद्रा का वर्णन प्राप्त होता है। इस मुद्रा को यहाँ विद्वानों को शक्तिसंचारक व जीवन प्राप्त कराने वाली कहा गया है। योगियों को मुक्तिप्रदायक, हितकारी व सिद्धि देने वाली यह श्रेष्ठ मुद्रा है।

मुख्यतः बिन्दु सिद्धि के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

शक्तिचालिनी मुद्रा –

शिवसंहितानुसार शक्तिचालिनी मुद्रा के अभ्यास से सभी रोग नष्ट हो जाते हैं व आयुवृद्धि होती है। कुण्डलिनी शक्ति जागृत हाती है। अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों को देने वाली है। मुक्तासन के साथ इसके अभ्यास के लिए शिवसंहिता में वर्णन प्राप्त होता है।

घेरण्डसंहिता में कहा गया है कि इसके अभ्यास से सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती है और सभी रोगों का नाश होता है।

प्रत्याहार :–

योगसाधना में अन्य साधनों की भांति प्रत्याहार भी एक महत्वपूर्ण साधन है। हठयोग में आसन और प्राणायाम के अभ्यास से शक्तिसंपन्न साधक के लिए इंद्रियों का निग्रह अति आवश्यक हो जाता हैं अन्यथा चंचल घोड़ों की भांति इंद्रियाँ अपने–अपने विषयों की ओर भागती रहती हैं। धातव्य है कि चंचल व अस्थिर मन से योगसाधना के ध्येय की पूर्ति नहीं हो सकती।

प्रत्याहार के द्वार इंद्रियों का बाह्य विषयों के प्रति आकर्षण अवरूद्व कर उन्हें अर्न्तमुख करने का अभ्यास किया जाता है।

पातंजलयोग दर्शन के अनुसार : –''स्वविषयसम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेद्रियाणां प्रत्याहार'' अर्थात् इंद्रियों का अपने विषयों के साथ संबंध न होने पर चित्त के स्वरूप का

चौडी अंगुल चारिको, मिही वस्त्र की होय। जलमें भेइ निचोय करि, निगल कंठ सों सोय।।
निगल कंठ सों सोय, सिरा बाहर रहि जावै। फेरि निकासै ताहि, पित्त कफ दोऊ लावै।।
काया होवै शुद्धही, भजै पित्त कफ रोग। शुकदेव कहै धोती करम, साधै योगी लोग।। 158

(3) वस्तीकर्म

तीजे वस्ती कर्महीं, कहौं सुनौ चितलाय। क्रिया करै गन्नेसही, कुंजी तहां लगाय।।
कुंजी तहां लगाय, मूल को धोवन कीजै। पंसारन संकोच सुरति दै यह करि लीजै।।
नीर गुदासों खैंच करि थाँभै उदर मँझार। कछू डोल अरू बैठकर, फिरि दे ताहि उतार।।

यही जु बस्ती कर्म है, गुरू बिन पावै नाहि।
लिंगगुदा के रोग जो, गर्मी के नशिजाहिं।। 159

(4) गजकर्म

गज कर्म याही जानिये, पिये पेट भरि नीर। फेरि युक्ति सों काढ़िये, रोग न होय शरीर।। 160

(5) न्योलीकर्म

न्योली पदमासन सों करै। दोनों कर घुटनों पर धरै।
पेटरू पीठ बराबर होय। दहने बायें नले बिलोय।।
मैल पेटमें रहन न पावै। अपान वायु तासों वश आवै।।
तापतिली अरू गोला शूल। हान न पावै नेक न मूल।।
जो गुरू कहिकै ताहि दिखावै। न्योली कर्म सुगम करि पावै।।
और उदर के रोग कहावै। सोभी वै रहने नहिं पावै।। 161

(6) त्राटककर्म

त्राटक कर्म टकटकी लागै। पलक–पलक सों मिलै न ताकै।।
नैन उघारेही नित रहै। होय दृष्टि थिर शुकदेव कहै।।
आंख उलटि त्रिकुटी में आनी। यह भी त्राटक कर्म्म पिछानो।।
जेते ध्यान नैन के होई। चरणदास पूरण हो सोई।। 162

कपालभांति अरू धौंकनी, बाघी शंख पखाल।
चारि कर्म ये और हैं, इनहि छहौं के नाल।। 163

इति षट्कर्म वर्णन सम्पूर्णम्

अथ मुद्रा वणन्

शिष्यवचन

एक बार फिरभी कहौ, मुद्रा पांच दयाल।
मोसे रंक अधीनपर, होकर बहुत कृपाल।। 164

गुरूवचन

(1) खेचरी मुद्रा

आगे मुद्रा तोहि कहीं समुझाइया। फिरभी कहुँ अब खोलि सुनौ चितलाइया।।
पहिले मुद्राखेचरी को साधन भनूं। जैसे आगे करी सभी ऋषि मुनिजनूं।।
ताते जल के कुरले करि जुबगाइये। ता पाछे चौबस्त को चूरण लाइये।।
जिहवा हाथ में पकरि मर्दन छीलनकरै। दोहनताननकरै बहुरि दशनन धरै।।
फिरि करि छीलन ताहि छेद नहिं कीजिये। तोतू ज्यों कटिजाय यत्न सोइ कीजिये।
ब्रह्मरंध्र को धोयकै मैल निवारिये। बायें अंगुठे ऊपर कागको धारिये।
सहज सहज सरकायकै आगे लाइये। यह सब साधन कठिन गुरू से पाइये।।
दो अँगुली कूंचीसूंकरि मेलना। जिहवा उल्टी राख जु नितप्रति खेलना।।
यह उपाय षट मास करै तजिमानही। रसना यों बंधिजाय चाढ़े अस्थानही।।

चार काज यासूं सरै, फलदायक बहुभांति।
योग माहि बड़ भूपहै, अधिकीजाकीकांति।। 166

एक जु प्राणायाम जीभसूं कीजिये। दूजे बन्ध उडयान यही सूं दीजिये।।
तीजे करि करि ध्यान निरखि जहूं ज्योतही। चौथे अमृत पिवै खुलै तहं सोतही।।
खैंचे त्रिकुटी पाट सहज अरू फेरिये। द्रवै सुध[1] रसनीर जहां मन घेरिये।
अमृतही के स्वादको कौन बखानई। जो कोई आंचवै हंस सोइ पुनि जानई।।
दिन दिन पलटै देह रक्त दूधाभवै। बीसबरस अरू चार माहि ऐसा हवै।
इच्छाधारी होय बरस छत्तीस में। सब लाकन में जाय अपनी शक्ति ते।।

जेते विष व्यापै नहि, रोग न दहै शरीर। जो कोई पीवै यूक्तिसूं, कामधैनू को क्षीर।।
भूख प्यास अरू नींद के, रहै न तीनौ लेव। नाद बिन्दु गुटका बंधै, कहै यही शुकदेव।।
तीन महीने चार का, बालक गोदी माय। न वह पीवै नीरही, अन्न नहीं वह खाय।।
वह तौ जीवै दूध सूं, वाकूं वही जुकाम। लगो रहै माताकुचन, निसनै एक न याम।।
अमृत पीवै योगिया, ऐसे चरणहि दास। पहरहु यह छांडै नहि, मामधेनु1 का पास।
ऐसे धारै तौ बनै, सुधा रसाला संत। दिविकाया हो जाय जब, धनिकहै कमलाकांत।।
आठपहर लागार है, पीवै कै कै ध्यान। मै कहा जैसाही बनै, परसै पद निरवान।।
भेद गुरूसे य लहै, और छिपावै वाहि। जो जो फलयाके अधिक, होय परापति तांहि।।
योगेश्वर अरू देवता, मुनी ऋषीश्वा जान। रखवारे वाके घने, कनन न देवैं ध्यान।
टेक गहै सो जापियै, और करै ह्यां ध्यान। यति सती अरू गुरूमुखी, जाकी ऐसीआन।।
बड़ी जु मुद्रा खेचरी, मुख में याका वास। जो कहि मैं शुकदेवजी, जानलेहु चरणदास।। 168

(2) भूचरी मुद्रा

दूजी मुद्रा भूचरी, नासा जाको बास। प्राण अपान जुदी जुदी, एक करै चरणदास।।
जितकी तितरखप्राण को, व घरलाय अपान। ताहि मिलावै युक्ति सूं, करि करि संयम ध्यान।।
जब वह जीतै पवन कूं, मन चंचल ठराराय। गगन चढन की आश हो, कहै शुकदेव सुनाय।।
गुदाद्वार बंध दीजिये, ऐड़ी पांव लगाय। आसन सिद्धजु कीजिये, मन पवनावश लाय।
अपान वायु जब वशभवै, ऊरध खैंच चलाय। सनई सनई जाचढ़े, प्राण वायु हवैजाय।। 169

(3) चाँचरी मुद्रा

तीजी मुद्रा चाँचरी, जाको नैनन वास। नासा आगे दृष्टिकूं, राख मन धर आस।।

अंगुल चार नासिका आगे। चित अस्थिर करि देखन लागे।।
खुले पांच तत करै जू कोई। मन अरू पवन जहां थिर होई।।
फिर हवांसूं नासा परि आवै। अचल टकटकी तहां लगावै।।
जहं बहुतक अचरज दरसावै। विभव स्वर्ग के आगे आवै।।
जितसूं पलट तिरकुटी माहीं। ध्यान करै कहुँ अन्त न जाहीं।।
दीरघ तारासा परकासै। उदय होय अरू दुबिधा हरै।।
यही चाँचरी मुद्रा जानै। चरणदास याकू पहिंचानै।। 170

(4) अगोचरी मुद्रा

कहुँ अगोचरि चौथी मुद्रा। तामें सुख पावै योगींद्रा।।
यामुद्राका सँखन बासा। शुकदेव कहैं सुन चरणहि दासा।।

ज्ञान सुरति दोउ एक हवै, पलट अगोचर जाय।
शब्द अनाहत मैंरतै, मन इन्द्री थिरपाय।। 171

(5) उनमनीमुद्रा

पँचवी मुद्रा उनमनी, दशवें द्वारे वास। सिद्ध समाधि मिलै जहां, दग्धहोय सब आस।।
आनंदहि आनंद जहां, तहां न काल कलेश। तीनों गुन नहि पाइये, ह्यांनहि मायालेश।।
जीवातम परमात्मा, होय जाय वा ठौर। ध्याता ध्यानन ध्येय जहँ, तहांन किरिया और।। 172

इति मुद्रा वर्णन सम्पूर्णम्

अथ बंध वर्णन

(1) महाबन्ध

महाबन्ध तोहि पहल बताऊं। पाछे मूलबन्ध समझाऊं।।
बायां पाँव सिवन गहि दीजै। मूल द्वार एंड़ी बँध कीजै।।
दहिनी जंघ जंघपर लावै। गउमुख आसन नाम कहावै।।
राखै चिबुक हृदय पर लाय। पवनराह पूरब को जाय।।
ध्यान त्रिकुटी संयम करै। प्राण वायु हिरदे में धरै।।
महाबन्ध ऐसे करि साधे। गुरू प्रताप याहि औरधै।।
बिना पुरूष तिरिया कूं जानौ। बन्ध बिना मुद्रा पहिचानौ।।
निरफल जायपुरूष बिन नारी। महाबन्ध बिनु मुद्राधारी।।
माहि कण्ठ के ध्यान लगावै। सुरत निरत हवाई ठहरावै।।173

महाबंध अस्थित करै, सो योगी हवै जाय।
पवन पंथ मुंदित करै, ध्यान कण्ठ में लाय।। 174

शशियरकूं सूरज पर लावै। रेचक पूरक पवन फिरावै।।
महाबंध करै अभ्यासा। अमृत अचवै बुझै पियासा।।
जरा मृत्यु देही नहिं आवै। महा बंध तीनौ गुन पावै।।

जठर अग्नि परचै बहुभारीं निशिदिनी माहि करै अठवारी।।
पहर पहर भर पवन भरीजै। प्रथम अल्प अभ्यास करीजै।।
तिय सेवन तापन नहि करै। काम अग्नि काया नहि जरै।। 175

ऐसी विधि साधै पवन, योग पंथ धरि पाय।
पहर पीछला बनत जन, आयुरदा बढ़िजाय।। 176

(2) मूलबन्ध

मूलबंध अब कहत हूं, अपान वायु पश होय। ऊपर कूं खैंचन करै, मिलै प्राण में सोय।।
कमल कमल सीधे भवै, नाभि 1 तले हो राह। आगे मारग सुगम हो, पहुँचै योगीनाह।। 177

मूलबंध गुण ऐंसा होई। वायुअधोगति जाय न कोई।।
रेता ऊरध यासूं सधै। दिन दिन आयु सवाई बधै[2]।।
यासूं कारज सब बनिआवै। रोगरक्त को सभी नशावै।।
योगी पहिले मा आराधै। अपान वायु कूंनीके साधै।।
अब मैं मूलबंध बतलाऊं। ज्योंका त्यों साधन दिखलाऊं।।
गुदाबास याको तुम जानो। गुदा द्वार बंधन दै ठानो।।
बायें पांव कि एंड़ी सेती। मूल द्वार रोकै करिहेती।।
ऊरधही[3] कूं खैंचन कीजै। शुकदेव कहे नीके सुनलीजै।।
अरू कबहूं मन ऐसीधरै। आसन पदम करन कूं करै।।
कपड़े की इकगेंद बनावै। गुदा मध्य कसबंध लगावै।।
योंभी वायु सधै वा भांती। जोपै लगारहै दिनराती।।
पवन तले की ऊपरजावै। प्राण अपान सहज मिलजावै।।
नाव बिंदु राज मिलजा दोई। एकवर्ण साधै जो कोई।।
योग माहि यह भी परधान। बूढ़ी देह पलटहो ज्वान।।
जठरअगन 4 बाढ़े अधिकाय। जा चाहै तो बहुतै खाय।।
सुन चरणदास कहै शुकदेव। जो गुरू पूरा दवै भेव।। 178

(3) जलंधरबंध

मूलबंध तोसूं कहा, गुण कह तब समुझाय।
बंध जलंधर कहतहूं, सुन सरवन करि चाय।। 179

तीजा बंध जालंधर जानी। कंठ वास ताका पहिचानी।।
ग्रीवा लटक चिबुक हिय लावै। कंठ पवन रोके परचावै।।
हिरदै प्राण पूर करि रहिये। बंध जलंधर यासूं कहिये।।
ऊरध पवन नीचे को जाय। अधर पवन ऊरधकूं लाय।।
उदर मध्य लै ताहि बिलोय। ब्रह्मरंध्र जा पहुंचै सोय।।
इह विधि ब्रह्मपंथकूं धावै। सहजै सहजै मध्य समावै।।
जरा मरण जहँ भय नहि व्यापै। लहै अमरपद होरह आपै।।
चरणदास शुकदेव बतावै। जोपै बंध उड्यान लगावै।। 180

(4) उड्यानबंध

बंध उड्यान आगे कहा, जिहवा उलट लगाय।
कान आंख मुख नाकके, स्वर सब बंधकराय।।
इह सुबंध महिमा अधिक, लागै बजर किवांर।
सातद्वार की बाटहो, निकसै नाहिं बयार।।
पांची मुद्रा बंध सब, दिखलाया यह देश।
शुकदेव कहै रणजीत सुन, और कहूं उपदेश।। 181

अथ अष्टसिद्धि वर्णन

चौरासीही जानि जु आसन योग के। सिद्ध पदम तिनमाहिं बड़े ही थोकके।।
बहुनारिन के माहिं जु नौनारीभनी। तिन मैं सुषमन जानबड़ी गुरूसूंसुनी।।
तीनि बंध के माहि मूलकूं जानिये। मुद्राही में बड़ी खेचरी मानिये।।
वायुन में परधान प्राणकूं देखिये। सबकुंभक हूं माहि केवलबड़ि लेखिये।।
बानी चारौ मध्य पराही गाइये। चार अवस्थामाहि तुर्या बड़िपाइये।।
परम शून्यको ध्यान परे सूं हे परै। याकीसम कोई नहि ध्यान तिनको धरै।।
अजपाही के जाप बराबर और ना। शीलदयासे मीत न कोई देहमा।।
पूजन में बड़ि जान जुआतमकी करै। ज्ञानसमान न दान सकल बिपता हरै।।
गुरूसा रक्षक और नहीं कोइ लोक में। योग युक्तिसा स्वाद नहीं कोइ भोग में।।
कह शुकदेव सुनौ रणजीतही। बड़ी जोगकी गांस खाल तुमकूं जुदी।। 182

अमरी करतै बजरी रोंकै बजरी करतै वाई।
रोंकै छींक साधना करिकै नासालेहु जंभाई।।
जल संयमसूं नभकूं देखै संयम नादसूं ज्योती।
संयम पवन होय थिराकाया सो वश राखै मोती।।
जिया बिछावै मृत्यक ओढ़ै बूढ़ी होय न काया।
संयम नींद बिदनहि जावै यह शुकदेव बताया।।
दहिने स्वर में भोजन कीजै बाये स्वर में पानी।
दहिने स्वर में अमरी रेचै देह न होय पुरानी।।
दहिने स्वर में जलसूं न्हावै बाये स्वर में लड.गी।
शिव आसनसूं सोवन कीजै नारि न कीजै सड.गी।।
पाबकसूं तापन नहि कीजै जो तापै तौ नैना।
भोजन गरम न खट्टा खावै फटै झिरै नहिं मैना।। 183

गरमही के रोग में, चन्द चला रवि बन्द।
शीत रोग सूरज चला, शशि पर राखै बन्द।।
तीन राज कै पांच दिन, कै दिन राखै सात।
रोग देखि जैसी करै, होय निरोगा गात।।
सूरज रात चलाइये, द्योस चलावै चन्द।
पवन फिरै उषा बधै, श्वास चलै जो मन्द।।
कान आंख अरू दांत के, सबही रोग भजाहि।

पद्मासनं तु संस्थाप्य जान्वोरन्तरे करौ ।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥१॥

अब कुक्कुटासन को कहता हूं दोनों जंघों के ऊपर दोनों पैरों को रख करके पैर और जंघों के बीच में दोनों हाथों को लगा कर और उन दोनों हाथों को भूमि में स्थापन करके आकाश में स्थित रहे तो इसको कुक्कुटासन कहते हैं ॥ १ ॥

एकं पाद मथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितः ।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदीरितम् ॥
(शाण्डिल्यो० श्रु० ४)

दाहिना पैर को बाम जंघा पर और बाम पैर को दाहिना जंघा पर रखने से वीरासन होता है ॥ ४ ॥

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥
(शाण्डि० श्रु० १)

पैर और जंघा के बीच में दोनों तरवों को लगा कर जो सावधानी पूर्वक बैठा जाता है उसको स्वस्तिक आसन कहते हैं॥१॥

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्या पार्श्वयोः क्षिपेत् ।

पादपार्श्वे तु पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्व व्याधि विषापहम् ॥
(शाण्डि० श्रु० ८)

अब भद्रासन कहता हूं कि अण्डकोश के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्व भाग में क्रम से बाम गुल्फ को बाम पार्श्व में और दक्षिण गुल्फ को दक्षिण पार्श्व भाग में स्थापन करके दोनों पार्श्व भागों को दोनों हाथों से दृढ़ बांध कर स्थित रहे तो इसको सम्पूर्ण रोगों का नाशक भद्र आसन कहते हैं ॥ ८ ॥

दक्षिणं सव्य गुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम् ।
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीश्च प्रसार्य च ॥
(शाण्डि० श्रु० ५)

व्यक्त वक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ।
सिंहासनंभवेदेतत्पूजितं योगिभिः सदा ॥ ६ ॥

अण्डकोष के नीचे सीवनी नाड़ी के दाहिना भाग को बाम गुल्फ से और बाम भाग को दाहिना गुल्फ से दबाकर बैठे और दोनों जंघों के ऊपर दोनों हाथों को रखकर अपनी अंगुलियों को फैला: इसके बाद मुख को खोल कर सावधानी से नाक के अग्र भाग क; देखे इसको सिंहासन कहते हैं यह सदा योगियों से पूजित है ॥६॥५॥

संपीड्य सीविनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैवतु सव्यतः ।
सव्यं दक्षिण गुल्फेन मुक्तासनमुदीरितम् ॥
(शा० श्रु० ६)

सूक्ष्म सीवनी के दक्षिण भाग को बाम गुल्फ से और बाम भाग को दाहिना गुल्फ से दबाकर बैठा जाय उसको मुक्त आसन कहते हैं ॥ ६ ॥

सव्ये दक्षिण गुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा ॥
(शा० श्रु० २)

गोमुख आसन को कहता हूं कि कटि के बाम भाग में दाहिना टकना और दक्षिण भाग में बाम टकना को लगाकर जो गौ के मुख के समान आकार हो जाता है उसको गोमुख आसन कहते हैं ॥२॥ पूर्वोक्त आसनों के करने से देह में कोई भी रोग नहीं होता है इससे पहले अवश्य आसन करना चाहिये। अब शक्ति चालन करने के लिये मुद्राओं का वर्णन करता हूं।

महामुद्रा नभो मुद्रा ओड्याणञ्च जलन्धरम् ।
मूलबन्धंच यो वेत्ति सयोगी मुक्ति भाजनम् ॥
(योग चू० श्रु० ४५)

महामुद्रा १ खेचरी मुद्रा २, उड्डीयान बन्ध ३, जालन्धर बन्ध ४, मूलबन्ध ५ इन पांचों को जो योगी करता है वह मुक्ति भाजन होता है ॥ ४५ ॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा ।
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्यश्वसनेन कुक्षि युगलं बध्वा शनैः रेचयेत् ।
सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥
(योगचू० श्रु० ६६)

छाती पर ठुड्ढी को जोर से धारण करके बाम पैर की एड़ी से लिंग और गुदा के बीच के योनि के स्थान को अत्यन्त जोर से दबावे इसके बाद दाहिना पैर लम्बा करके और दाहिना पैर के मध्य भाग को दोनों हाथों से पकड़ के दृढ़ रोके तब पेट में पूरक विधि से वायु भरे कुछ काल यथाशक्ति वायु को रोक कर धीरे-धीरे छोड़ दे तो इसको योगी जन समस्त रोग नाशक महामुद्रा कहते हैं ॥ ६६ ॥

चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः ।
या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥६७॥

(बाम अंग से पहले अभ्यास करके पीछे दाहिने अंग से करे

जब दोनों ओर के अभ्यास से प्राणायाम की मात्रा बराबर हो जाय तब महामुद्रा को विसर्जन कर दे ॥ ६७ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः
अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥६८॥

क्षयकुष्ठ गुदावर्त गुल्माजीर्ण पुरोगमाः।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रांतु योऽभ्यसेत् ॥६९॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरीनृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन नदेयायस्य कस्यचित् ॥ ७० ॥

महामुद्रा के अभ्यास दृढ़ हो जाय तो पथ्यापथ्य का विचार कुछ नहीं रहता है और सब रस नीरस हो जाता है और घोर विष भी खाया हुआ अमृत के समान पच जाता है ॥ ६८ ॥ तथा कुष्ट, क्षय, भगन्दर गुल्म पेचिस आदि समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं॥६९॥ अभ्यासी को महासिद्धि करनेवाली यह महामुद्रा कही है इसको बड़े यत्न से गुप्त रखना चाहिये जिस किसी को न देना चाहिये ॥७०॥

कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥

(योग चू० श्रु० ५१)

जीभ को उलटा फिराय के कंठ के मूल में जो छिद्र हैं उसमें घुसावे और भ्रू मध्य में निश्चल दृष्टि करे तो इसको खेचरी मुद्रा कहते हैं ॥ ५१ ॥

तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित् ।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलंसर्वं विशोधयेत् ।

(योगकुण्डल्यु० श्रु० २८)

योग कुण्डल्युपनिषद् में लिखा है कि आत्मवेत्ता पुरुष तालु मूल से जीभ को धीरे से कुछ बाहर निकाल करके अंगूठा और तर्जनी से सात दिन तक जीभ को प्रातःकाल दोहन और चालन करके मल शुद्ध करे ॥ २८ ॥

स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्ध निर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २९ ॥

ततः सैन्धव पथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत्
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोम मात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३० ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलं सिराबद्धं प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

सेहुंड़ के पत्ते के समान अत्यन्त तीक्ष्ण चिकन निर्मल शस्त्र

से जीभ के नीचे की नस को रोम मात्र छेदन करे ॥ २९ ॥ और तिसके पीछे सेंधे और हरे के चूर्ण कटा हुआ स्थान पर मले ऐसे सायं प्रातः सात दिन करके फिर पूर्वोक्त विधि से रोम मात्र काटे ॥ ३० ॥ इस रीति से छः महीना तक नित्य करे तो जीभ के मूल की नाड़ी जो जीभ को कपाल कुहर में नहीं जाने देती है सो कट जाती है ॥ ३१ ॥

न रोगो मरणं तस्य ननिद्रा नक्षुधा तृषा ।
नच मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्तिखेचरीम् ॥

(योगचू० श्रु० ५३)

पीड्यते नच रोगेण लिप्यतेनसकर्मभिः ।
बाध्यतेनचकेनापि योमुद्रांवेत्ति खेचरीम् ॥ ५४ ॥

जो खेचरी मुद्रा को जानता है उसको रोग, मरण, निद्रा, क्षुधा, तृषा और मूर्च्छा ये सब नहीं होते हैं ॥५३॥ जो खेचरी को करता है वह रोग से पीड़ित नहीं होता है और न कर्म से लिप्त होता है और न किसी से बांधा जाता है ॥ ५४ ॥

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्त्तव्यस्तूड्डीयानकः ।
बन्धोयेन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयतेयतः ॥

(योग सि० प्र० १ श्रु० १०६)

तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणाकथितं सदा ॥१०७॥

अभ्यसेदेतदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणोभवेत् ।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि त्राणं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥१०८॥

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥१०९॥

कुम्भक के अन्त में और रेचक के आदि में उड्डीयानबन्ध करना चाहिये। जिस बन्ध से प्राण वायु सुषुम्ना नाड़ी में उड़ जाता है ॥ १०६ ॥ उसको योगी लोग उड्डीयानबन्ध कहते हैं । सहज उड्डीयानबन्ध को गुरु के उपदेश से जो सदा ॥१०७॥ बिना आलस्य के करता है वह वृद्ध भी तरुण के तुल्य आचरण करता है। नाभि के ऊपर और नीचे के पेट को सावधानी से पीठ में सटा वे तो इसको उड्डीयान कहते हैं ॥ १०८ ॥ छः महीना इस बन्ध का बारम्बार अभ्यास करे तो मृत्यु को जीतता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ १०९ ॥

पूरकान्तेतु कर्त्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ॥१०९॥

कण्ठ संकोचरूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधकः ।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेदृढमिच्छया ॥११०॥

बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताप्याय कारकः ॥१११॥

पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिये ।।१०६।। कण्ठ संकोच और हवा रोकने वाला जालन्धर बन्ध है कण्ठ के बिल संकोच करके ठोढी को अपने छाती पर दृढ़ रीति से स्थापन करे ।। ११० ।। तो अमृत को रोकने वाला इसको जालन्धर कहते हैं ।। १११ ।।

गुदंपार्ष्ण्यातु संपीड्य पायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारम्वारं यथाचोर्ध्वं समायाति समीरणः ।।

(योगशि० अ० १ श्लो० १०४)

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेनचैकताम् ।।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ।।१०५।।

पार्ष्णि से गुदा मार्ग को भली प्रकार पीड़ित करके वायु को बल से इस प्रकार बारम्बार आकर्षण करे कि जिससे वह सुषुम्ना के ऊपर के भाग में पहुँच जाय यह मूल बन्ध कहा जाता है ।।१०४।। प्राण और अपान ये दोनों वायु तथा नाद और बिन्दु ये दोनों मूल बन्ध से एकता होकर योगी को योग की सिद्धि को देते हैं इसमें सन्देह नहीं है ।।१०५।। अब महाबन्ध १ महावेध २ विपरीतकरणी ३ वज्रोली ४ शक्तिचालन ५ इन पाँच मुद्राओं को दिखाता हूं ।

पार्ष्णिवामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ।।

(योगत० श्लो० ११२)

चिबुकं हृदिविन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्ति धारयित्वातु रेचयेत् ।।११३।।

वामांगेनसमभ्यस्य दक्षांगेन ततोऽभ्यसेत् ।
प्रसारितस्तु यःपादस्तमूरूपरि नामयेत् ।।११४।।

अयमेव महाबन्ध उभयत्रैनमभ्यसेत् ।। ११५ ।।

वाम पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के बीच में लगावे और दक्षिण पैर को पसार करे दोनों हाथों से बीच में दृढ़ पकड़े।।११२।। और ठोढ़ी को हृदय में जमाकर हवा से पेट को भरे इसके बाद यथाशक्ति कुम्भक करके रेचक करे ।। ११३ ।। वाम अंग से अभ्यास करके फिर दक्षिण अङ्ग से अभ्यास करे और फैलाये हुये दाहिने पैर को बाम जंघा के ऊपर रख दे ।। ११४ ।। तो इसको महाबन्ध कहते हैं ।। ११५ ।।

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वापूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।।

(योगत० श्लो० ११६)

पुटद्वयं समाक्रम्य वायुःस्फुरति सत्वरम् ।
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।। ११७ ।।

महाबन्ध मुद्रा में स्थित योगी एकाग्र बुद्धि से पूरक करके जालन्धर मुद्रा से वायुओं के गति को रोक दे ।।११६।। तो शीघ्र ही प्राण और अपान वायु सुषुम्ना नाड़ी में चला जाता है इसका अभ्यास सदा सिद्ध लोग करते हैं इसको महावेध मुद्रा कहते हैं ।। ११७ ।। इसके करने से अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति होती है ।

करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी ।।

(योगत० श्लो० १२२)

आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ।
अल्पाहारो यदिभवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात् ।।१२३।।

अधः शिरश्चोर्ध्वं पादः क्षणंस्यात्प्रथमे दिने ।
क्षणाच्चकिञ्चिदधिकमभ्यसेत्तु दिनेदिने ।। १२४ ।।

वलीच पलितश्चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्य मभ्यसेत्सतुकालजित्।।१२५।।

विपरीत करणी नाम की मुद्रा समस्त रोगों का नाश करने वाली है और सदा अभ्यास करने वालों के जठरानल को बढ़ाने

वाली है ।। १२२ ।। इस मुद्रा के अभ्यास करने वालों को अधिक भोजन करना चाहिये नहीं तो थोड़ा भोजन करने से क्षण भर में अग्नि देह को भस्म कर देता है ।।१२३।। अब क्रिया को कहता हूं कि पहला दिन नीचे शिर और ऊपर पैर करके क्षण भर ठहरे फिर प्रतिदिन एकएक क्षण बढ़ायके अभ्यास करे ।।१२४।। जो इस मुद्रा का तीन महीना अभ्यास करता है उसका लटका हुआ चाम और पका हुआ बाल नहीं देखने में आता है और जो रोज-रोज एक-एक पहर पर्यन्त विपरीतकरणी को करता है वह मृत्यु को जीतता है ।। १२५ ।।

स्वेच्छयावर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति सयोगी सिद्धिभाजनम् ।।१।।

जो योगोक्त नियम नहीं जानता हुआ भी अपनी इच्छा से वज्रोली को करता है वह सिद्धि को पाता है ।। १ ।।

तत्रवस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभंयस्यकस्यचित् ।
क्षीरञ्चैकंद्वितीयंतु नारीच वशवर्तिनी ।।२।।

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवानारी वज्रोली सिद्धिमाप्नुयात् ।।३।।

इस मुद्रा में हर किसी को दो वस्तु दुर्लभ है ये दो अवश्य चाहिये स्त्री संगम के बाद पीने के लिये दुध और वश में रहनेवाली

स्त्री। स्त्री संयम करके मंद-मंद अपने इन्द्रिय से स्खलित वीर्य को रज के साथ खींच ले तो वज्रोली सिद्धि होती है ॥२।।३।

वज्रोली से पहले जो क्रिया की जाती है उसको कहता हूं कि— चांदी या सीसा के लिंग के छेद में पैठने के योग्य खोंखरी छेद वाली चौदह अंगुल की शलाई बनवा कर लिंग के छिद्र में पैठाने का अभ्यास करे। पहले दिन एक अंगुल मात्र पैठावे दूसरे दिन दो अंगुल और तीसरे दिन तीन अंगुल पैठावे इस प्रकार बारह अंगुल के प्रवेश होने पर लिंग का मार्ग शुद्ध हो जाता है फिर बारह अंगुल के उसी प्रकार की शलाई बनवावे जो दो अंगुल टेढ़ी हो और ऊर्ध्वमुखी हो उसको भी दस अंगुल लिंग के छिद्र में प्रवेश करे और जो टेढ़ा दो अंगुल मात्र है उसको बाहर रक्खे फिर सोनार के अग्निधमन के नाल की सदृश नाल को लेकर जो लिंग के बाहर टेढ़ा दो अंगुल मात्र है उसके बीच में पैठा कर फूंके तो लिंग के मार्ग की शुद्धि होती है तब इस मार्ग से जल के आकर्षण का अभ्यास करे इसके बाद वीर्य का आकर्षण करे तो वज्रोली सिद्धि होती है और जिसको खेचरी सिद्ध हो उसको वज्रोली सिद्धि होती है। जिसकी अपनी विवाही स्त्री न हो वह केवल जलही के आकर्षण करे उसी से वीर्य स्तम्भन हो जाता है। कभी भी पर स्त्री के संगम से वीर्याकर्षण न करे क्योंकि पर स्त्री को छूना भी शास्त्र में मना है।

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्ति रष्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥

(योग चू० श्रु० ३६)

येनद्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम्।
मुखेनाच्छाद्यतद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥३७॥

प्रबुद्धाबह्नि योगेन मनसा मरुतासह।
सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ॥३८॥

उद्घाटयेत्कपाटंतु यथा कुञ्चिकया गृहम्।
कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥३९॥

कन्द स्थान के ऊपर आठ वृत्त करके वेष्टित कुण्डल के समान कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्म द्वार के मुख को अपने मुख से आच्छादित करके रहती है ॥३६॥ जिस सुषुम्ना द्वार करके अनामय पद मिलता है उस ब्रह्म द्वार को कुण्डलिनी मुख से ढांक कर सोई हुई है ॥३७॥ आग के संयोग से जगी हुई वह मन और प्राण वायु के साथ सूची के समान गात्र को लेकर सुषुम्ना नाम के मध्य नाड़ी से ऊपर को जाती है ॥३८॥

जैसे चामीसे घर के किवाड़ खोला जाता है वैसे ही योगी कुण्डलिनी में मोक्ष के द्वार को खोलता है ॥३९॥

कृत्वासम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वातु पद्मासनम्।
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानञ्च तच्चेष्टितम्।
वारम्बारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितम्।

मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ॥

(योगचू० श्रु० ४०)

दोनों हाथ के अञ्जली बांध के दोनों अञ्जली को हृदय में दृढ़ स्थापन करके पद्मासन करे और ठोढी को हृदय में दृढ़तर लगाय के परमात्मा के शुभ विग्रह को ध्यान करे और वारम्वार अपान वायु को ऊपर खींच कर पूरक करे इसके बाद यथा शक्ति कुम्भक करके धीरे-धीरे रेचक करे इस प्रकार से कुण्डलिनी का बोध होता है और योगी को अपरिमित ज्ञान होता है कुण्डलिनी के प्रबोध करने वाली यही शक्ति चालन मुद्रा है ॥४०॥ इस मुद्रा के करने से जो पसीना हो उसको देह में मिला दे और लवण खट्टा मीठा तीता न खा केवल दूध खाय करे तो एक वर्ष के ऊपर अवश्य सिद्ध होता है।

षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्य व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे योन जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत् ॥

(योग चू० श्रु० ३)

मूलाधार चक्र १ स्वाधिष्ठान चक्र २ मणिपूरक चक्र ३ अनाहत चक्र ४ विशुद्ध चक्र ५ आज्ञा चक्र ६ इन छः चक्रों को और प्रथम आधार पादांगुष्ठ है इस पर एकाग्र दृष्टि करके ज्योति चैतन्य करे इससे दृष्टि स्थिर होती है १। दूसरा आधार मूलाधार इसे पैर की एड़ी से दबाना इससे जठराग्नि दीप्त होता है२। तीसरा गुह्याधार इसके संकोच विकास के अभ्यास करने से अपान वायु वज्र

नाड़ी में पैठता है ३। चौथा बिन्दु आधार इसके आकर्षण के अभ्यास से वज्रोली करने की सामर्थ्य होती है ४। पांचवां उड्डीयान बन्ध आधार है इसके करने से मल मूत्र कृमि का नाश होता है ५। छठवां नाभि मण्डल आधार है जिसमें नारायण का ध्यान करने से नाद उत्पन्न होता है ६। सातवां हृदय आधार है इसमें प्राण वायु को रोकने से हृदय कमल विकसित होता है ७। आठवां कण्ठ आधार है इसमें ठोढ़ी हृदय पर दृढ़ लगावे तो वायु स्थिर होता है ८। नौवां क्षुद्रघंटिका आधार है उस तक जीभ पहुंचावे तो अमृत रस मिलता है ९। दशवां जीभ का मूल आधार है इसमें खेचरी मुद्रा करने से खेचरी सिद्धि होती है १०। ग्यारहवां जीभ का अधोभाग आधार है जिसमें जिह्वाग्र से मथन करके दिव्य कविता शक्ति होती है ११। बारहवां ऊर्ध्वदन्त मूल आधार है जिसमें जिह्वाग्र स्थापन करने से रोग दूर होता है १२। तेरहवां नांक के अग्र भाग आधार है जिसमें दृष्टि स्थिर करने से मन स्थिर होता है १३। चौदहवां नासिका मूल आधार है जिसमें दृष्टि स्थिर करने से छः महीने में ज्योति प्रत्यक्ष होती है १४। पन्द्रहवां भ्रूमध्य आधार है जिसमें अचल दृष्टि के अभ्यास करने से सूर्य के किरणों के समान ज्योति प्रकाश होती है १५। सोलहवां नेत्र आधार है जिनके मूल में अंगुली से मीसने पर वर्तुलाकार बिन्दु समान इन्द्र धनुष के तुल्य ज्योति दिखाई देती है उसको देखने का अभ्यास करने से ज्योति प्रत्यक्ष होती है १६। इन सोलह आधारों को और तीन लक्ष्यों को तथा पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश इन पांचों तत्वों को जो योगी अपने देह में नहीं जानता है उसको योग सिद्धि नहीं होती है ॥३॥

259-261. हे सांकृति, वह उपर्युक्त अष्टाङ्ग योग का मार्ग कवि मार्ग अर्थात् **शुक्राचार्य** उपदिष्ट मार्ग है। अग्रिम पंक्तियों में **सिद्ध मुनि कपिल** आदि के मतों का कथन करूँगा। वस्तुतः अभ्यास भेद के कारण ही ये भेद हैं, फल दोनों के समान हैं।

259-261. O Samkriti! I told you the ashtanga-yoga, the yoga which has eight parts in it i.e. Yama, Niyama, Asana, Pranayama, Pratyahara, Dharana, Dhyana, and Samadhi, the **Ashtanga yoga** was investigated and taught first time by Kavi **Shukracharya**. Now I will teach you the way of yoga which was accepted by Siddhas like **Kapila** etc. The difference of the two is only in the way of practice, the result of the two is the same.

262. महामुद्रां प्रवक्ष्यामि भैरवेणोक्तमादरात्।
263. पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।[1]
264. प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद् दृढम्।[2]
265. चिबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद् वायुना पुनः।[3]
266. कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेद्।[4]
267. वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन चाभ्यसेत्।[5]

262-267. इसके अनन्तर मैं **महामुद्रा** का कथन करूँगा, जिसका उपदेश भैरव ने अत्यन्त आदरपूर्वक किया था। महामुद्रा करने के लिए बायें पैर की एड़ी को योनि स्थान पर रखते हुए दक्षिण पैर को फैलाकर दोनों हाथों से पकड़ें और ठुड्ढी को हृदय से लगाकर वायु अन्दर खीचें तथा यथाशक्ति कुम्भक करके प्राणों का रेचन करें। इस प्रकार बायें अंग (पैर) से अभ्यास करके दाहिने पैर से उतने ही काल तक अभ्यास करें।

[नोट—चिबुक को हृदय पर लगाना जालन्धर बन्द कहलाता है, यह बन्ध कुम्भक के समय पूरक के बाद लगाया जाता है, अतः यहाँ बायां पैर फैलाकर दाहिने नासारन्ध्र से पूरक करके जालन्धर बन्ध करते हुए हाथों से पैर के तलवे को पकड़ना और कुम्भक करना यह क्रम विवक्षित है।]

1-5. वही 1.112-114 ।

Scanned by CamScanner

263. Now I will teach you Mahamudra which was taught by Bhairava with great regard to it.

Mahamudra :

263-267. While performaing the Mahamudra the heel of the left foot should be put at the base of the vagina, stretching the right leg at the length, it should be held firmly by both hands, the chin should be put at the place of heart (chest), inhaling the breath, Kumbhaka should be performed for as much time as he can. There after he should exhale the breath. After exercising it by left side, it should be practised by right side too.

268. प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि विन्यसेत्।[6]

269. अयमेव महाबन्धो मुद्रावच्चामुमभ्यसेत्।[7]

268-269. जो पैर फैलाया हुआ है, उसकी जंघा पर दूसरे पैर को रखे यह **महाबन्ध** कहलाता है। **महामुद्रा** के समान ही इसका भी अभ्यास करे।

Mahabandha:

268-269. If the leg, which was stretched in Mahamudra pose, be kept on the thigh, then this posture is called Mahabandha. This too should be practised like Mahamudra.

270. महाबन्धस्थितो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।

271. अयमेव महाबन्धः सिद्धैरभ्यस्यते नरैः।।[8]

270-271. **महाबन्ध** में स्थित योगी अपने कूल्हों (नितम्बों) पर धीरे-धीरे वायु का आघात करे। इस महाबन्ध का अभ्यास सिद्ध पुरुष करते हैं।

270-271. Yogin sitting in Mahabandha on the earth should strike the ground with the buttocks gradually (so that Prana courses through Sushumna). This Mahabandha is generally practised by siddhas (siddha-yogins).

272. अन्तः कपालकुहरे जिह्वां व्यावर्त्त्य बन्धयेत्।[9]

273. भ्रूमध्ये दृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी।।[10]

6-8. तुलनीय वही 1.114-115 ।

9-10. तुलनीय वही 1.117-119 ।

Scanned by CamScanner

272–273. जिह्वा को ऊपर की ओर पलटकर अन्तःकपाल के छिद्र में निबद्ध करे और दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करे इसे **खेचरी मुद्रा** कहते हैं।

Khechari-Mudra :

272-273. To turn and put the tongue into the palatel hole and to concentrate the vision in the centre place in between the two eyebrows, is called the **khechari Mudra.**

274. कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढमिच्छया।[1]

275. जालन्धरो बन्ध एष ह्यमृतद्रवपालकः।।[2]

274–275. दृढ़ इच्छा पूर्वक कण्ठ को सिकोड़कर हृदय पर स्थापित करे, इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं। इसे **अमृतद्रव** का रक्षक माना जाता है।

Jalandhara Bandha :

274-275. Putting the chin on the chest with well concentrated mind is called Jalandhara-Bandha. This bandha is the protecter of the Amrita-drava, the liquid which can make a man immortal.

276. नाभिस्थोऽग्निः कपालस्थसहस्रकमलच्युतम्।

277. अमृतं सर्वदा तावद् अन्तर्ज्वलति देहिनाम्।।

276–277. कपाल (शिरा) में स्थित सहस्रदल कमल से टपकनेवाले अमृतद्रव (अमृतस्राव) को सभी प्राणियों की नाभि में स्थित अग्नि अन्दर ही जलाती रहती है।

276-277. This Amrita-drava comes out from thousand patalled-lotus which exists at skull, this dripping Amrita-drava is burnt immediately by the fire residing at navel in the body of every man.

278. यथा चाग्निस्तदमृतं न पिबेत्तु पिबेत्स्वयम्।

279. याति पश्चिममार्गेण एवमभ्यासतः सदा।।

280. अमृतं कुरुते देहं जालन्धरमतोऽभ्यसेत्।

1–2. तुलनीय वही 1.117–119 ।

Scanned by CamScanner

278–280. अग्नि उस अमृत को न जलाए बल्कि स्वयं उसका पान कर सके, इसी प्रकार इसका अभ्यास करे, फलतः वह अमृत विपरीत धारा से चलने लगता है, और शरीर को अमृत कर देता है, अतएव जालन्धर का अभ्यास अवश्य करे।

278-280. By practice of this bandha, the navel-fire would not be able to burn it, but it would dry in the lotus itself, the result of this pratice of Jalandhara-bandha is that the body of yogin becomes immortal; thus it must be practised.

281. उड्ड्याणं तु सहजं गुणौघात् कथितं सदा।
282. अभ्यसेत्तदस्ततन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्।
283. नाभेरुर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
284. षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयेदेव न संशयः।।

281–284. उड्ड्याणबन्ध तो अपने गुणों के कारण सहज भाव से ही उड्ड्याण कहा गया है, इसके अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो जाता है, अतः निरालस होकर इसका अभ्यास करे। इसे करने के लिए नाभि के नीचे और ऊपर दोनों ही भाग को प्रयत्नपूर्वक पीछे की ओर ताने। छः महीने तक इसके निरन्तर अभ्यास से निस्सन्देह साधक योगी मृत्यु पर विजय पा लेता है।

Uddiyana-bandha :

281-282. The Uddiyana-bandha is most easy (moderate) and most useful. When a yogin makes its practice, he would become a young man even in old age.

283-284. To practice Uddiyana-bandha yogin should try to pull draw back the abdomen above and below so that it is drawn against the back of the body. When a yogin practises the Uddiyana-bandha contineously at least for six months, he can over power the death undoubtedly.

285. मूलबन्धं तु यो नित्यमभ्यसेत्स च योगवित्।
286. गुदे पार्ष्णिं तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।

Scanned by CamScanner

287. बारं बारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः।

285–287. योगविद् साधक को चाहिए कि वह मूलबन्ध का नित्य अभ्यास करे, इसके लिए गुदा में एड़ी को दबाकर वायु का बारबार आकुंचन करे, वायु को ऊपर खींचे, जिससे अपान वायु ऊपर आ सके।

Mula-bandha:

285-286. The man who practises Mool-bandha daily is only well verse in yoga. To do practice of Mulabandha yogi should place the heel of a leg under the anus so that it may press the anus, then he should try to force the Apana-vayu to go upward. Yogin should practise it repeatedly so that the Apana-vayu is forced to go upward, although its course is downwards.

288. प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।[1]

289. गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतौ नात्र संशयः।[2]

288–289. मूलबन्ध के निरन्तर अभ्यास से प्राण और अपान, नाद और बिन्दु एक हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप साधकों को योग की सिद्धि अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की एकता प्राप्त हो जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

288-289. Prana and Apana, Nada and Bindu become one through Mulabandha, although these two are separate. When these two becomes one, this makes yogin successful in yoga undoubtedly.

290. करणं विपरीताख्यं सर्वव्याधिविनाशनम्।[3]

291. नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निर्विवर्द्धते।[4]

292. आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः सांकृते ध्रुवम्।[5]

293. अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दाहं करोति वै।।[6]

294. ऊर्ध्वं भानुरधश्चन्द्रः, तद्यथा शृणु सांकृते!

290–294. विपरीतकरण जिसे विपरीतकरणी मुद्रा और शीर्षासन भी

1–2. वही, 1.121–122 ।

3–6. तुलनीय वही 1.122–124 ।

Scanned by CamScanner

कहते हैं, सभी रोगों को नष्ट कर देता है। इसके नित्य अभ्यास से जठराग्नि बढ़ जाती है, अतः साधक के लिए पर्याप्त आहार का प्रबन्ध करना चाहिए। यदि कहीं भोजन में कमी रही, तो अग्नि शरीर को ही जलाने लगता है क्योंकि इसमें सूर्य ऊपर हो जाता है और चन्द्र नीचे। इसका अभ्यास किस प्रकार किया जाए इसका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

Viparitakarani:

290-294. The Viparitakarana annihilates all type of ailment (diseases). If a yogin exercises it daily the gastric fire increases. Thus O Sankriti! sufficient diet should be provided to the practitioner of it (Viparitakarana) positively. If there is unsufficient diet in quality and quantity both, the gastric fire will consume his body within no time, because in this mudra (Posture) the sun comes up and moon comes down.

295. अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने।[7]

296. क्षणात्तु किञ्चिदधिकमभ्यासेन दिने दिने।[8]

297. वलिश्च पलितश्चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।[9]

298. याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु योगवित्।[10]

295-298. पहले दिन केवल एक क्षण शिर को नीचे और पैर को ऊपर करे, दूसरे दिन एक क्षण से कुछ अधिक करे, इस प्रकार प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा अभ्यास को बढ़ावे। इसे अभ्यास से छः मास में ही बालों का पकना और गिरना बन्द हो जाता है। जो साधक इसका अभ्यास एक याम करता है, वही योग का वेत्ता है।

295-296. O Sankriti! now I will explain the way of it's practice. In the Viparitakarana posture the practictioner should stand on his head putting his feet raised upward for a minute in the begining, thereafter the duration of it (standing on his head) should be increased gradually little more than a minute and then minute by minute.

7-8. वही 1.124-125 ।

9-10. तुलनीय वही 1.125-126 ।

Scanned by CamScanner

297-298. When a yogin practises it for one Yama i.e. three hours daily, the diseases like decay (falling) of hair or of gray hair vanishes after six months and he becomes a knower of yoga.

299. वज्रोलिं कथयिष्यामि गोपितं सर्वयोगिभिः।

300. अतीवैतद् रहस्यं हि न देयं यस्य कस्यचित्।

301. स्वप्राणैस्तु समो यो स्यात्तस्मै च कथयेद् ध्रुवम्।

299-301. अब अग्रिम पंक्तियों में मैं सभी योगियों द्वारा गुप्त रखी गयी क्रिया वज्रोलि का कथन करूँगा। यह अत्यन्त रहस्यभूत है, अतः जिस किसी को इसे न दे अर्थात् न सिखाये। जो साधक शिष्य प्राणों के समान प्रिय हो उसे इसका उपदेश, इसकी विधिपूर्वक शिक्षा अवश्य देवे।

Vajroli:

299-301. No I will teach you the Vajroli kriya. This is concealed by all yogins, for it is secret one. Thus it should not be given to any one. It should be taught only a person who is very dear and closed to him like his soul itself.

302. स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना।

303. वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनः।।

302-303. योग की अन्य साधना न करता हुआ भी स्वेच्छा पूर्वक विचरण (व्यवहार) करके भी जो **वज्रोलि** को जानता है, वह सिद्धियों को प्राप्त करता है।

302-303. The yogin, who knows Vajroli, must get success in the yoga, whether he follows the rules of yoga, or he lives a life according to his will only.

304. तत्रवस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं येन केनचित्।

305. लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिकरं स्मृतम्।।

304-305. **वज्रोलि** साधना के क्रम में जिन दो वस्तुओं का कथन कर रहा हूँ वे उसे योग में सिद्धि प्रदान कर देती है, वे हैं–

Scanned by CamScanner

304-305. In connection on Vajroli I am telling you two thing which are generally rare for any one, If these two could be got, it gives perfection in yoga.

306. क्षीरमाङ्गिरसं चेति द्वयोराद्यं तु लभ्यते।
307. द्वितीयं दुर्लभं पुंसां स्त्रीभ्यः साध्यमुपायतः।
308. योगाभ्यासरता स्त्री च पुंसा यत्नेन साधयेत्।

306-308. दूध और आङ्गिरस अर्थात् वीर्य। इसमें प्रथम तो मिल जाता है, किन्तु द्वितीय अत्यन्त दुर्लभ है। पुरुष साधक स्त्रियों की सहायता से इसे उपाय पूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार योग का अभ्यास करने वाली स्त्री, पुरुष की सहायता से यत्नपूर्वक इसे प्राप्त कर सकती हैं।

306-308. These two things are the milk and Angirasa-drava i.e. the semen. Vajroli should be performed with these two, but the second one is very rare. It should be obtained by a yogin through woman by personal contact, and a woman yogin (yogini) should try to get it from male person by efforts.

309. पुमान् स्त्री वा यदन्योऽन्यं स्त्रीपुंस्त्वानपेक्षया।
310. स्वप्रयोजनमात्रैकसाधनात्सिद्धिमाप्नुयात् ॥

309-310. अथवा स्त्री और पुरुष साधक एक दूसरे की सहायता से इसकी साधना कर सकते हैं। इस साधना क्रम में उनमें स्त्री-पुरुष अर्थात् पति-पत्नी भाव नहीं आना चाहिए अर्थात् उभयगत संभोग सुख आस्वाद की कामना भी नहीं होनी चाहिए, केवल अपने प्रयोजन मात्र की साधना के लिए सहायता लेते हैं तो उन्हें अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है।

309-310. If the male and female sadhakas (yoga-practitioners) leaving aside the feeling that the helper (partner) is a person of opposite sex (and saxual feeling) contacts each other only for Vajroli practice they will get siddhis in it through practice.

311. चलितो यदि बिन्दुतमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।
312. एवं च रक्षितो बिन्दुर्मृत्युं जयति तत्त्वतः॥

Scanned by CamScanner

313. मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

314. बिन्दुरक्षाप्रसादेन सर्वं सिध्यति योगिनः॥

311-314. इस साधना क्रम में यदि **बिन्दु** चलित हो जाए तो उसको ऊपर खींच करके रक्षा करे। इस प्रकार से रक्षित बिन्दु तत्त्वतः मृत्यु पर विजय प्रदांन करता है क्योंकि बिन्दु के पतन से मृत्यु और बिन्दु की रक्षा से जीवन अर्थात् अमरता प्राप्त होती है। बिन्दु रक्षा के फलस्वरूप योगी को सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है।

311-312. When the sadhaka or sadhika comes in contact with the person of apposite sex (In the position of sexual intercourse) the semen comes out form male-organ. Then he or she should try to take it back. If the sadhaka (or sadhika) gets success to take it back, he gets victory on the death perfectly.

313-314. Because this is the fact that death comes only by loss of bindu i.e. semen, and the life stands still by bindu-dharana (by the protection of semen). Thus by proteching the bindu, the yogin gets success everywhere.

315. अमरोलिस्तद्यथा स्यात् सहजोलिस्ततो यथा।

316. तदभ्यासक्रमः शस्यः सिद्धानां सम्प्रदायतः।

315-316. वज्रोलि के समान ही **अमरोलि** और उसके बाद **सहजोलि** भी की जाती हैं, किन्तु इनके अभ्यास का क्रम सिद्ध सम्प्रदाय से सीखना चाहिए।

315-316. Amaroli and Sahajoli kriyas should be practised after getting perfection in the Vajroli, and the way of practice of the two may be known through traditional school of siddhas.

317. एतैः सर्वैस्तु कथितैरभ्यसेत्कालकालतः।

318. ततो भवेद् राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम्।[1]

319. न दिङ्मात्रेण सिद्धिस्स्यादभ्यासेनैव जायते।

1. वही 1.129

Scanned by CamScanner

317-319. योगी को चाहिए कि इन सबका समय-समय से अभ्यास करे, तभी राजयोग की साधना पूर्ण सफल हो पाती है, अन्यथा नहीं। साथ ही यह सिद्धि निरन्तर अभ्यास से मिलती है दिङ्मात्र से अर्थात् नमूने की भाँति थोड़ा कुछ कर लेने से नहीं।

317-319. A yogin who wants to get success in these should practise all these above said kriyas one by one. Only then he will get success in Rajayoga, otherwise it is impossible. The perfection can be achieved by constant practice only, not by learning it merelly.

320. राजयोगं वरं प्राप्य सर्वसत्त्ववशङ्करम्।
321. सर्वं कुर्यान्न वा कुर्याद् यथारुचिविचेष्टितम्।

320-321. सभी प्राणियों को वश में करने में समर्थ इस श्रेष्ठ राजयोग में सिद्धि पूर्ण सफलता मिल जाने पर योगी और कुछ चाहे करे या न करे। वह अपनी इच्छानुसार व्यवहार करे।

320-321. After getting perfection in Rajayoga, which gives the power to control all the creatures, he may or may not do any kind of Sadhana. He can act according to his will.

322. यथान्तरा च योगेन निष्पन्ना योगिनः क्रिया।
323. तदावस्था हि निष्पत्तिर्भुक्तिमुक्तिफलप्रदा।

322-323. इसके अनन्तर साधक योगी जो क्रियाएं करता है, वह **निष्पन्ना** अवस्था कहलाती हैं। यह अवस्था हर प्रकार के भोग और मुक्ति दोनों प्रदान करती है।

322-323. Even after achieving this stage if yogin performs practice of it (Rajayoga), he reaches the stage of Nishpatti, the full perfection in yoga. This stage (Nishpatti avastha) provides the full enjoyment and Moksha, the final liberation from bondage.

324. सर्वं ते कथितं ब्रह्मन् सांकृते योगमाचर।
325. इति तस्य वचः श्रुत्वा सांकृतिर्योगमाप्तवान्।
326. सर्वसिद्धिमवाप्यासौ दत्तात्रेयप्रसादतः।।

Scanned by CamScanner

324–326. इसके अनन्तर दत्तात्रेय सांकृति से कहते है कि 'हे सांकृति मैंने तुम्हें सम्पूर्ण **योगविद्या** का उपदेश दिया है, अब तुम योग करो।'

दत्तात्रेय के इन पूर्वोक्त वचनों को सुनकर सांकृति ने योग को प्राप्त कर लिया अर्थात् उसका पूर्ण अभ्यास किया और दत्तात्रेय की कृपा से सम्पूर्ण सिद्धियों को प्राप्त किया।

324-326. O Sankriti! I taught you the way of yoga practice. You should practise it in this way. Hearing this teaching of Dattatreya, Sankriti got perfection in yoga and its all the siddhis through blessings of Dattatreya.

327. य इदं पठते नित्यं साधुभ्यः श्रावयेदपि।
328. तस्य योगः क्रमेणैव सिध्यत्येव न संशयः।।

327–328. जो व्यक्ति दत्तात्रेय द्वारा उपदिष्ट इस योगशास्त्र को नित्य पढ़ता है अथवा साधुजनों को सुनाता भी है, उसे क्रमशः योग की सिद्धि हो जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

327-328. There is no doubt that the man, who studies it or listens it from Sadhus (gentlemen), gets perfection in the yoga gradually.

329. योगिनोऽभ्यासयुक्ता ये ह्यरण्येषु गृहेषु वा।
330. बहुकालं रमन्ते स्म बहुकालविवर्जिताः।
331. तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगमेव सदाभ्यसेत्।
332. योगाभ्यासो जन्मफलं विफला हि तथा क्रियाः।

329–332. जो योगी जंगल में अथवा घर में कहीं भी रहकर अभ्यास में निरन्तर संलग्न हैं; वे काल से मुक्त होकर अर्थात् मृत्यु के भय से छूटकर बहुत काल तक अत्यन्त आनन्द से जीवन यापन करते हैं।

अतः साधकों को चाहिए कि पूर्ण प्रयत्न से नित्य ही योग का अभ्यास करे, क्योंकि योग का अभ्यास ही जन्म की सफलता है, और सभी क्रियाएं निष्फल है।

329-330. Yogins, who practise yoga daily living either in forest or at home, enjoys long time in the world. They do not fear to death even.

Scanned by CamScanner

नम् ॥ १६८ ॥ गुणत्रयसमुद्भूतग्रंथित्रयवि-
भेदनम् ॥ विशेषेणैव कर्त्तव्यमस्त्राख्यं कुंभक-
न्त्विदम् ॥ १६९ ॥

(१) यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्य-
श्शनैःशनैः॥तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति
साधकम् ॥ १७० ॥ युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं
युक्तयुक्तं प्रपूरयेत् ॥ युक्तंयुक्तं प्रबध्नीयादेवं
सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १७१ ॥

अथ मुद्रालक्षणानि तत्रादौ महामुद्रालक्षणम् ।

(२) पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने
नियोजयेत ॥ प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां
धारयेद्दृढम् ॥ चिबुकं हृदि विन्यस्य पूरये-
द्वायुना पुनः ॥ कुम्भकेन यथाशक्त्या धार-
यित्वा तु रेचयेत् ॥ वामाङ्गेन समभ्यस्य
दक्षाङ्गेन ततोऽभ्यसेत् ॥ १७२ ॥

---

(१) योगचूडामण्युपनिषद् श्लो० ११८ । ११९ । प० ४५४ । पृ० १ । पं० ७ ॥

(२) योगतत्त्वोपनिषत् । श्लो० ११२-११७ । प० ३९३ । पृ० २ । पं० ७ ॥

अथ महाबन्धलक्षणम् ।

प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि मानयेत् ॥
अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत्॥१७३॥

अथ महावेधलक्षणम् ।

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कर्णमुद्रया॥१७४॥
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ॥
अयमेव महावेधः सिद्धैरारभ्यतेऽनिशम्॥१७५॥

अथ विपरीतकरणीलक्षणम् ।

(१) करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ॥ नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी ॥ १७६ ॥ आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ॥ अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात् ॥ १७७ ॥ अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेत्तु दिनेदिने।१७८। वली च पलितश्चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते ॥ याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु काल-

(१) योगतत्त्वोपनिषत् । श्लो० १२२-१२७ । प० ३९४ । पृ० ७ । पं० १ ॥

जित् ॥ १७९ ॥ वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ लभ्यते यदि यस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता ॥ अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ १८० ॥

अथ शक्तिचालनमाह ।

(१) कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तान्तु सञ्चालयेद्बुधः ॥ स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते ॥ १८१ ॥ तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम् ॥ प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत् ॥१८२॥ तयोरादौ सरस्वत्याश्चलनं कथयामि ते ॥ अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिस्सरस्वती ॥ १८३ ॥ तस्यास्सञ्चालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली ॥ इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम् ॥ १८४ ॥ द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च अंबरं चतुरङ्गुलम् ॥ विस्तीर्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः

(१) योगकुण्डलिन्युपनिषद् अ० १ । श्लो० ७१३ । प०७४१। पृ० १ । प० २ ॥

सुधीः ॥ १८५ ॥ अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यान्तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनः पुनः ॥ मुहूर्त्तद्वय-पर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः ॥ ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किञ्चित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम् ॥ १८६ ॥

अथ प्रकारान्तरेण शक्तिचालनम् ।

(१) सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीऽडयेत् ॥ १८७ ॥

(२) कुर्यादनन्तरं भस्त्रीं कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ १८८ ॥

अथ षण्मुखीलक्षणम् ।

(३) स्वस्तिकासनमास्थाय समाहितमनास्तथा ॥ अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्रणवेन शनैश्शनैः ॥ १८९ ॥

---

(१) योगकुण्डलिन्युपनिषद् अ० १ । श्लो० ४८ । प० ७४३ । पृ० २ । पं० ५ ॥

(२) योगशिखोपनि० अ० १ । श्लो० ११४ । प० ६१२ । पृ० २ । पं० १ ॥

(३) श्रीजाबालदर्शन० ख० ६ । श्लो० ३२ । प० ७७७ । पृ० २ । पं० २ ॥

हस्ताभ्यां धारयेत्सम्यक् श्रोत्रादिकरणानि च ॥ अङ्गुष्ठाभ्यां मुने श्रोत्रे तर्जनीभ्यान्तु चक्षुषी ॥ १९० ॥ नासापुटाऽवधानाभ्यां प्रच्छाद्य करणानि वै ॥ आनन्दाऽऽविर्भवो यावत्तावन्मूर्धनि धारणात् ॥ १९१ ॥ प्राणः प्रयात्यनेनैव ब्रह्मरन्ध्रं महामुने ॥ ब्रह्मरन्ध्रं गते वायौ नादश्चोत्पद्यतेऽनघ ॥ १९२ ॥ शङ्खध्वनिनिभश्चादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा ॥ शिरोमध्यगते वायौ गिरिप्रस्रवणं यथा॥१९३॥ पश्चात्प्रीतो महाप्राज्ञस्साक्षादात्मोन्मुखो भवेत् ॥ पुनस्तज्ज्ञाननिष्पत्तिर्योगात्संसारनिह्नुतिः ॥ १९४ ॥

अथ वैष्णवीमुद्रालक्षणम् ।

(१) अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ॥ एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ १९५ ॥ अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्त्तते दृष्ट्या निश्चल-

(१) शाण्डिल्योपनिषद् खं० ८ । श्लो० १४–१७ । प०५५० । पृ० २ । प० २ ॥

तारया बहिरधः पश्यन्न पश्यन्नपि ॥ मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा शून्याऽशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवी ॥ १९६ ॥ अर्धोन्मीलितलोचनं स्थिरमना नासाऽग्रदत्तेक्षणश्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्यन्दभावोत्तरम् ॥ ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं देदीप्यमानं परं तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तुविषयं शाण्डिल्य विद्धीह तत् ॥ १९७ ॥

अथोन्मनीलक्षणम् ।

तारं ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयन्भ्रुवौ ॥ पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ १९८ ॥

अथ वैष्णवीमुद्राया विशेषलक्षणान्याह ।

(१)मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा तन्मध्ये तडित्कोटिसमा मृणालतन्तुसूक्ष्मा कुण्डलिनी तत्र तमोनिवृत्तिः ॥ तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये फूत्कारशब्दो

(१) मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ब्रा० १ । प० ४५७ । पृ० २।पं० ६॥

जायते ॥ तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यनील-ज्योतिः पश्यति ॥ १९९ ॥

(१) आदावग्निमण्डलम् । तदुपरि सूर्यम-ण्डलम् ॥ तन्मध्ये सुधाचन्द्रमण्डलम् । तन्मध्येऽखण्डब्रह्मतेजोमण्डलम् ॥ तद्विद्यु-ल्लेखावच्छुक्लभासुरम् ॥ २०० ॥

(२) जीवः पञ्चविंशकः स्वकल्पितचतु-र्विंशतितत्त्वं परित्यज्य षड्विंशः परमात्मा[१]-हमिति ॥ २०१ ॥

अथ पञ्चव्योमलक्षणानि ।

(३) बाह्याभ्यन्तरमन्धकारमयमाकाशम् ॥ बाह्याभ्यन्तरे कालानलसदृशं पराकाशम् ॥ सबाह्याभ्यन्तरेऽपरिमितद्युतिनिभं तत्त्वं महा-काशम् ॥ सबाह्याभ्यन्तरे सूर्यनिभं सूर्याकाशम् ॥ अनिर्वचनीयज्योतिः सर्वव्यापक । नरतिश-

---

१—यत्पूर्वोक्तं विद्युल्लेखावच्छुक्लभास्वरं परमात्मस्वरूपं ब्रह्म तदेवाहमस्मीत्येवं लक्ष्यस्वरूपे मनसः स्थापनं कर्त्तव्यम् ।

(१—२—३) मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ब्रा० २ । १ । ४ ।प०४५८। ४६२ । पृ० २ । १० पं० ९ । ८ ॥

यानन्दलक्षण परमाकाशम् ॥ एवं तत्तल्लक्ष्य-दर्शनात्तत्तद्रूपो भवति ॥ २०२ ॥

(१) बहिर्लक्ष्यन्तु नासाग्रे चतुष्षडष्टदश द्वादशाङ्गुलीभिः क्रमान्नीलद्युतिश्यामत्वसदृगरक्तभङ्गीस्फुरत्पीतशुक्लवर्णद्वयोपेतं व्योमत्वं पश्यति स तु योगी ॥ २०३ ॥

अथ ससाधनखेचरीमुद्रालक्षणम् ।

(२) कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ २०४ ॥

(३) मेलनमनुः । ह्रीँ भँ सँ पँ फँ सँ क्षम् ॥ २०५ ॥

(४) तस्याष्षडङ्गं कुर्वीत तया षट्स्वर-भिन्नया । कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादि-हेतवे ॥ २०६ ॥

---

(१) मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ब्रा० १ । प०४५७ । पृ०२।पं०२ ॥

(२) योगचूडामण्युप० श्लो० ५२ । प०४४९ । पृ०१ । पं०२ ॥

(३-४) योगकुण्डलिन्युपनिषद् अ० ३ । प० ७४९ । ७४८ । ०१ । २ । पं० ८ । २ ॥

(१) य इमां पञ्चलक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः ॥ तस्य श्रीखेचरीसिद्धिस्स्वयमेव प्रवर्त्तते ॥ २०७ ॥

(२) स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥ समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥२०८॥ हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां[१] चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत ॥ पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २०९ ॥ एवं क्रमेण षण्मासं नित्योद्युक्तस्समाचरेत् ॥ षाण्मासरसनामूलं शिराबद्धं प्रणश्यति ॥ २१० ॥ अथ वागीश्वरीधाम शिरोवस्त्रेण वेष्टयेत् ॥ शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित्२११॥ पुनष्षण्मासमात्रेण नित्यं सङ्घर्षणान्मुने ॥ भ्रूमध्याऽवधि चाऽप्येति तिर्यक्कर्णबिलाऽवधि ॥ २१२ ॥ अधश्च चिबुकं मूलं प्रयाति

१–सैन्धवहरीतकीभ्यां वा खदिरहरीतिकोभ्याम् । ग्रन्थान्तराद्बोद्धव्यम् ॥

(१–२) योगकुण्डलिन्युप० अ० २ । श्लो० २९–३७ । प० ७४७ । ७४८ । पृ० २ । १ । पं० ३ । २ ॥

क्रमचारिता ॥ पुनस्संवत्सराणान्तु तृतीया देवलीलया ॥ २१३ ॥ केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्छाखावधिर्मुने ॥ अधस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु ॥ २१४ ॥ ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठत्येव न संशयः ॥ तिर्यक्चूलितलं याति अधः कण्ठबिलाऽवधि ॥ शनैश्शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभित् २१५॥ (१) अङ्गुल्यग्रेण सङ्घृष्य जिह्वामात्रं निवेशयेत् ॥ एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविश्यति ॥ २१६ ॥

(२) स्वर्णजां रौप्यजां वापि लोहजं वा शलाकिकाम् ॥ नियोज्य नासिकारन्ध्रं दुग्धसिक्तेन तन्तुना ॥ २१७ ॥ प्राणान्निरुध्य हृदय सुखमासनमात्मनः ॥ शनैस्सुमथनं कुर्याद्भ्रूमध्ये न्यस्य चक्षुषी ॥ २१८ ॥ षण्मासं मथनाऽवस्थाभावेनैव प्रजायते ॥ यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्तथा भवेत् ॥ २१९ ॥ न सदा मथनं शस्त मासे

(१-२) योगकुण्डलिन्युपनिषद् अ० २ । श्लो० ४१ । ४४-४८ । प० ७४८ । ७४९ । पृ० २ । १ । पं० ७ । २ ॥

मासे समाचरेत् ॥ सदा रसनया योगी मार्गं न परिसंक्रमेत् ॥ २२० ॥ एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति ध्रुवा ॥ २२१ ॥

(१) न रोगमरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥ न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ २२२ ॥

अथ प्रत्याहारनिरूपणम् ।

(२) इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ॥ बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ २२३ ॥

(३) विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनम्प्रत्याहारः ॥ २२४ ॥

(४) शब्दादिविषयान्पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम् ॥ चिन्तयेदात्मनो रश्मीन्प्रत्याहारः स उच्यते ॥ २२५ ॥

---

(१) योगचूडामण्युपनिषद् श्लो० ५३।प०४४९।पृ०१।पं०३ ॥

(२) श्रीजाबालदर्शनोपनिषद् ख० ७ । श्लो० १ । २ । प० ७७८ । पृ० २ । पं० ८ ॥

(३) मण्डलब्राह्मणोपनि० ब्रा० १ । श्रु० १ । प० ४५६ । पृ० २ । पं० ८ ॥

(४) अमृतनादोप० श्लो० ५ । प० २२७ । पृ० २ । पं० २ ॥

मकरासन—अधस्तु शेते हृदयं निधाय
भूमौ च पादौ च प्रसार्यमाणौ।
शिरश्च धृत्वा करदण्डयुग्मे
देहाग्निकारं मकरासनं स्यात्॥

अधोमुख होकर पृथिवीपर वक्षःस्थल स्थापनकर शयन करके, पादद्वय विस्तार करते हुए करदण्डयुगलके बीचमें मस्तकको रखनेसे मकरासन होता है। इससे देहाग्नि बढ़ती है।

योगासन—उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकम्॥
पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत्।
योगासनं भवेदेतद्योगिनां योगसाधने॥

चरणद्वयको उत्तान करके जानुद्वयके ऊपर स्थापन करते हुए करद्वयको उत्तान भावसे आसनपर रखकर पूरक द्वारा वायु आकर्षण पूर्वक नासाग्र अवलोकन करनेसे योगासन हुआ करता है जो योगियोंके योगसाधनमें परमोपकारी है।

योगिराज महर्षि पतञ्जलिजीने स्थिरसुख उत्पन्नकारी शारीरिक क्रियाको आसन करके वर्णन किया है। अतः आसन द्वारा शरीरकी दृढ़ता स्थायी होने पर तब उक्त आसनोंमें शरीरको रखनेसे स्थिर सुख उत्पन्न होकर चित्तवृत्तिनिरोधमें सहायता मिलती है। यही हठयोगके आसनोंकी असाधारण उपकारिता है।

हठयोगके तृतीय अङ्कका नाम मुद्रा है। इसके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है—

प्राणायामस्तथा प्रत्याहारो धारणध्यानके।
समाधिः साधनाङ्गानामेषां सिद्धौ हि या हि ता॥
साहाय्यमादधातीह सुकौशलभरा क्रिया।
मुद्रा सा प्रोच्यते धीरैर्योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥
सहायिका भवेन्मुद्रा सर्वाङ्गानां हि काचन।

काश्चिच्च तत्तदङ्गानामुपकारं करोति वै ॥
महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी ।
ताडागी चैव माण्डूकी शाम्भवी पञ्चधारणा ॥
आश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी ।
पञ्चविंशतिमुद्राः स्युः सिद्धिदा योगिनां सदा ॥

जिन क्रियाओंके द्वारा प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूपी साधनाङ्गोंकी सिद्धिमें सहायता प्राप्त होती है ऐसे सकौशलपूर्ण क्रियाओंको मुद्रा कहते हैं। कोई मुद्रा इनके सब अङ्गोंकी सहायता करती है और कोई कोई इनमेंसे विशेष अङ्गोंकी सहायता करती है। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानमुद्रा, जालन्धरबन्धमुद्रा, मूलबन्धमुद्रा, महाबन्धमुद्रा, महावेधमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, योनिमुद्रा, वज्रोलिमुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, ताड़ागी मुद्रा, माण्डूकी मुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, पञ्चधारणा मुद्रा, आश्विनी मुद्रा, पाशिनी मुद्रा, काकीमुद्रा, मातङ्गीमुद्रा और भुजङ्गिनी मुद्रा ये पचीस मुद्रायें हैं; इनके साधनसे योगियोंको योगसिद्धि प्राप्त होती है। अब इन पचीसोंमें से कुछ कुछ प्रधान मुद्राओंका वर्णन किया जाता है।

महामुद्रा—पायुमूले वामगुल्फं सम्पीड्य च यथाक्रमम् ।
दक्षपादं प्रसार्योऽथ करधार्यपदाङ्गुली ॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं निरीक्षयेत् ।
ततः शनैः शनैरेव रेचयेत्तं न वेगतः ॥
अनुसृत्य गुरोर्वाक्यं जानुस्थापितमस्तकः ।
वामेन दक्षिणेनापि कृत्वोभाभ्यां पुनस्तथा ॥
नाशयेत्सर्वरोगांश्च महामुद्रासुसाधनात् ।
सिद्धिदा योगमार्गस्य वदन्तीह पुराविदः ॥

वाम गुल्फको पायुमूलमें लगाकर और दक्षिणपादको दण्डवत् फैला कर दोनों हाथोंसे पादाङ्गुली धारणकरके कुम्भक करके कण्ठ सङ्कोच करते

हुए भ्रूमध्यका दर्शन करें और तदनन्तर धीरे धीरे वायुका रेचन करें। गुरु वाक्यानुसार जानुमें मस्तक रखकर दक्षिण गुल्फ व वामपादके द्वारा पूर्ववत् करें और पश्चात् दोनों पादको दण्डवत् फैलाकर ऐसा ही करें। इस प्रकार करनेसे महामुद्राका साधन होता है जो सर्वरोगनाशक तथा योगमार्गमें सिद्धिप्रद है।

उड्डीयान बन्ध—उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्द्ध्वं तु कारयेत्।
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः॥
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेशरी॥

उदरको पश्चिमतानयुक्त करके नाभिको आकुञ्चित करनेसे उड्डीयान बन्ध होता है। गगनचारी पक्षियोंकी मुद्रा पर उड्डीयान बन्धकी क्रिया बताई गई है। यह बन्ध मृत्युरूपी मातङ्गके लिये सिंहरूप है।

जालन्धर बन्ध—कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्॥

कण्ठदेशको सङ्कुचित करके हृदयपर चिबुक स्थापन करनेसे जालन्धर-बन्ध होता है। इसके द्वारा और सोलह प्रकारके बन्धोंमें सहायता मिलती है।

मूलबन्ध—पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः।
नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते॥

वाम गुल्फको गुह्यदेशमें और दक्षिण गुल्फको लिङ्गमूल पर दृढ़ बन्धके साथ रखकर नाभिग्रन्थिको सङ्कुचित करते हुए मेरुदण्डमें दबाकर गुह्य व लिङ्गमूलको आकुञ्चन करनेसे मूलबन्ध मुद्राका साधन होता है। यह मुद्रा जरानाशिनी, वायुसिद्धिदायिनी तथा मुक्तिदात्री है।

महाबन्ध—वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत्।
दक्षपादेन तद्गुल्फं सम्पीड्य यत्नतः सुधीः॥
शनैः सञ्चालयेत्पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छनैः।
जालन्धरे धृतप्राणो महाबन्धो निगद्यते॥

वामगुल्फके द्वारा वायुमूलको निरुद्ध करके, दक्षिणगुल्फके द्वारा यत्न पूर्वक वामगुल्फको दबाकर जालन्धर बन्धके द्वारा प्राणवायुको धारणकरके शनैः शनैः गुह्यदेशको सञ्चालन व लिङ्गको आकुञ्चित करनेसे महाबन्धमुद्रा का साधन होता है। यह मुद्रा जरामरण नाशिनी व सर्वकामना साधयित्री है।

खेचरीमुद्रा—जिह्वाधो नाडीं संछिन्नां रसनां चालयेत्सदा।
दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत्॥
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।
यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तदा भवति खेचरी॥
रसनां तालुमध्ये तु शनैरेव प्रवेशयेत्।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा॥
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥
मुद्रामि मां साधयितुं जिह्वानियमनं पुरः।
प्रधानं तद्धि भवति जिह्वायाश्छेदनं विना॥
जिह्वाचालनतालव्यक्रिययाऽपि च सिध्यति।
प्रच्छन्नेयं क्रिया बोध्या तन्त्रशास्त्रेषु नित्यशः॥

जिह्वाके नीचेकी नाड़ीको छेदन करके जिह्वाकी चालना करना चाहिये और नवनीतके द्वारा दोहन व लौह यन्त्रके द्वारा आकर्षण करना चाहिये। इस प्रकार नित्य अभ्यास करनेसे जिह्वा लम्बी हो जायगी और भ्रूद्वयके बीच तक चली जायगी। उस समय जिह्वाको धीरे धीरे तालुके बीचमें प्रवेश कराकर वहां पर कपालकुहरमें विपरीत भावसे स्थापन करके भ्रूमध्यमें दृष्टिस्थापन करनेसे खेचरी मुद्राका साधन होता है। खेचरी मुद्राके साधनके लिये जिह्वाको नियमित करना प्रथम व प्रधान कार्य है सो आवश्यक होने पर बिना छेदनके भी हो सकता है। वह कार्य जिह्वाचालनरूप तालव्य क्रियासे भी हो सकता है। तालव्य क्रिया अति गुप्त और केवल योगिराज गुरुदेवके मुखसे ही सीखने योग्य है। योगशास्त्रमें खेचरीमुद्राके अपूर्व फल वर्णित किये गये हैं यथा खेचरी साधनसे मूर्छा, क्षुधा, तृष्णा, आलस्य, मृत्युभय आदि दूर होकर योगीको दिव्यदेह प्राप्त होता है। खेचरी मुद्राके साधकको अग्नि दग्ध नहीं कर सकती है, वायु शुष्क नहीं कर सकता है, जल गला नहीं सकता है और सर्प दंशन नहीं कर सकता है।

खेचरी मुद्रासे देह अपूर्व लावण्ययुक्त हो जाता है और इसकी सिद्धिसे समाधिकी सिद्धि हुआ करती है। कपाल और मुखके सम्मेलनसे रसनामें अद्भुत रसोंकी उत्पत्ति होती है जिसको खेचरीसाधक अनुभव कर सकते हैं। उनकी जिह्वामें यथाक्रम लवण, क्षार, तिक्त, कषाय, नवनीत, घृत, क्षीर, दधि, तक्र, मधु, द्राक्षा व अमृत रसका आस्वादन होता है जिससे क्षुधानाश व अपूर्व आनन्दकी प्राप्ति होती है।

विपरीतकरणीमुद्रा—नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः ।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ॥
निपुणं चन्द्रनाड्या वै पीयते यदि सा सुधा ।
कार्हिचिन्न हि तस्याऽस्ति भीतिर्मृत्योर्हि योगिनः ॥
ऊर्ध्वं च योजयेत्सूर्यं चन्द्रञ्चाऽधः समानयेत् ।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः ।
ऊर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ॥

नाभिमूलमें सूर्यनाड़ी और तालुमूलमें चन्द्रनाड़ी विद्यमान है। सहस्रदल कमलसे जो पीयूषधारा निकलती है उसे सूर्यनाड़ी ग्रास कर लेती है इसलिये जीव मृत्युमुखमें पतित होता है। यदि सुकौशलपूर्ण क्रिया द्वारा चन्द्रनाड़ीसे वह अमृत पान किया जाय तो कदापि मृत्युका भय योगीको नहीं हो सकता है। इसलिये विपरीतकरणीमुद्राके द्वारा योगीको उचित है कि सूर्यनाड़ीको ऊर्द्ध्वमें और चन्द्रनाड़ीको अधोभागमें लावें। यह मुद्रा बहुत गुप्त है। मस्तकको पृथिवी पर स्थापन करके करद्वयका आधार करते हुए पदयुगलको ऊर्द्ध्वदिशामें उठाकर कुम्भक द्वारा वायुनिरोध करनेसे विपरीतकरणीमुद्रा हुआ करती है।

योनिमुद्रा—सिद्धासनं समासाद्य कर्णाक्षिनासिकामुखम् ।
अङ्गुष्ठतर्ज्जनीमध्याऽनामिकाभिश्च धारयेत् ॥
काकया प्राणं समाकृष्य अपाने योजयेत्ततः ।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंस मनुना सुधीः ॥

चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी ।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य शिरोऽम्बुजे ॥
स्वयं शक्तिमयो भूत्वा शिवेन योजयेत् स्वकम् ।
नाना सुखं विहारं च चिन्तयेत्परमं सुखम् ॥
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुवि भावयेत् ।
आनन्दमानसो भूत्वा अहं ब्रह्मेति चिन्तयेत् ॥

सिद्धासनमें उपवेशन करके कर्णद्वय वृद्धाङ्गुष्ठद्वय द्वारा, नेत्रयुगल तर्ज्जनीद्वय द्वारा, नासिकाद्वय मध्यमाद्वय द्वारा और मुख अनामिकाद्वय द्वारा निरुद्ध करके काकी मुद्राद्वारा प्राणवायु आकर्षण पूर्वक अपान वायुके साथ मिलाते हुए शरीरस्थ षट्चक्रोंमें मन लेजाके 'हुं' और 'हंस' इन दोनों मन्त्रोंके जप द्वारा देवी-कुलकुण्डलिनीको जगाते हुए जीवात्माके साथ मिलाकर उनको सहस्रदल कमलमें लेजाकर जब साधक ऐसा ध्यान करें कि मैं शक्तिमय होकर सहस्रारस्थित शिवके साथ मिलित हो परमानन्दमें विहार कर रहा हूं, शिव-शक्ति-संयोगसे मैं अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्म हूँ तब योनिमुद्राका साधन होता है। यह मुद्रा अति गोपनीय है और इसके साधनसे सकल महापाप भी नष्ट होकर योगीको समाधिकी प्राप्ति होती है।

शक्तिचालिनीमुद्रा-मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता ।
शयिता भुजगाऽऽकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा ।
ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगविधेरपि ॥
उद्घाटयेत्कपाटं च यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥
नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः ।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥
वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ॥

एवमम्बरयोगं च कटिसूत्रेण कल्पयेत् ॥
भस्मना गात्रमालिप्य सिद्धासनमथाचरेत्।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद् बलात् ॥
तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया।
यावद्वायुः सुषुम्नायां न प्रकाशमवाप्नुयात् ॥
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्द्ध्वमार्गं प्रपद्यते ॥
योनिमुद्रा न सिध्येद् वै शक्तिचालनमन्तरा।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत् ॥

परमदेवता कुलकुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन फेर लगाकर भुजङ्गाकृति हो मूलाधार पद्ममें स्थित है। वह शक्ति जब तक निद्रिता रहती है तब तक कोटि कोटि योगक्रिया करनेसे भी जीवको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती और वह पशुवत् अज्ञानी ही रहता है। जिस प्रकार कुञ्चिकाद्वारा द्वार उद्घाटन किया जाता है उसी प्रकार कुलकुण्डलिनी शक्तिके जगानेसे ब्रह्मद्वार अपने आपही खुल जाताहै और इस प्रकारसे जीवको ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। वस्त्र द्वारा नाभिदेशको वेष्टन पूर्वक गोपनीय गृहमें आसनस्थित होकर शक्तिचालिनी मुद्राका अभ्यास करना उचित है। परन्तु नग्नावस्थामें रहकर खुले हुए स्थानमें कदापि यह साधन न किया जाय। वितस्तिपरिमित अर्थात् चार अङ्गुली विस्तृत सुकोमल, धवल और सूक्ष्म वस्त्र द्वारा नाभिको वेष्टन करके उस वस्त्रको कटिसूत्र द्वारा संबद्ध किया जाय। तत्पश्चात् भस्मद्वारा समस्त शरीर लेपन पूर्वक सिद्धासन पर बैठकर प्राणवायुको नासिका द्वारा आकर्षण करके बलपूर्वक अपान वायुके साथ संयुक्त किया जाय और जब तक वायु सुषुम्ना नाड़ीके भीतर जाकर प्रकाशित न हो तब तक अश्विनी मुद्रा द्वारा शनैः शनैः गुह्यदेशको आकुञ्चित करना उचित है। इस प्रकारसे निःश्वास रोध करके कुम्भक द्वारा वायुनिरोध करनेसे भुजङ्गाकारा कुण्डलिनी शक्ति जाग्रता होकर ऊपरकी ओर चलने लगती है और पीछे सहस्रदल कमलमें पहुंचकर शिवसंयोगिनी हो जाती है। शक्तिचालिनी मुद्राके बिना योनिमुद्रामें पूर्ण सिद्धि नहीं होती है इस कारण आगे इस मुद्राका अभ्यास करके तत्पश्चात् योनिमुद्रा अभ्यास करने

योग्य है। जो योगी प्रतिदिन इस मुद्राका अभ्यास करते हैं अष्ट सिद्धियां उनके करतलगत होजाती हैं और उनको विग्रहसिद्धि की प्राप्ति होकर उनके सब रोगों की शान्ति होजाती है।

ताडागी मुद्रा—उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा चैव तडागवत्।

ताडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥

पश्चिमोत्तान आसन पर बैठकर उदरको तडागाकृति करके कुम्भक करनेसे ताडागी मुद्रा हुआ करती है। यह एक प्रधान मुद्रा है जिसके द्वारा जरा और मृत्यु नष्ट होती है।

शाम्भवी मुद्रा—नेत्रान्तरं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।

सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

भ्रूद्वयके मध्यस्थानमें दृष्टि रखकर एकान्तमना हो परमात्माके निरीक्षण करनेसे शाम्भवी मुद्रा होती है जो सब शास्त्रमें गुप्त है। इसके साधनसे शिवभाव प्राप्ति होती है।

पञ्चधारणा मुद्रा—कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम्।

धारणां वै समासाद्य किन्न सिध्यति भूतले ॥

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमनम्।

मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ॥

शाम्भवी मुद्राके वर्णनके बाद पञ्चधारणा मुद्रा कही जाती है। धारणासिद्धि होनेसे संसारमें क्या नहीं सिद्ध होता है? इससे नरदेहमें ही स्वर्गमें गमनागमन, मनोगति व खेचरत्व प्राप्त होता है।

पार्थिवीधारणामुद्रा—

यत्तत्त्वं हरितालवर्णसदृशं भौमं लकाराऽन्वितम्,

वेदास्त्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थापि तत्।

प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारये-

देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणाम् ॥

पृथिवी तत्वका वर्ण हरितालकी नाईं, इसका बीज लकार, आकृति चतुष्कोणविशिष्ट और देवता ब्रह्मा है। योगप्रभावसे इस पृथिवी तत्वको हृदयके

बीचमें प्रकाशित करके चित्तके साथ प्राणवायुको आकर्षणपूर्वक पांच घन्टे तक धारण करनेसे पृथिवीधारणा हुआ करती है जिसका दूसरा नाम अधोधारणा है। इसके अभ्यासले योगी पृथिवीको जय कर सकता है।

आम्भसीधारणामुद्रा—

> शङ्खेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं,
> तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।
> प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारये-
> देषा दुःसहपापतापहरणी स्यादाम्भसी धारणा॥
> आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित्।
> गम्भीरेऽपि जले घोरे मरणं तस्य नो भवेत्॥

जलतत्वका वर्ण शङ्ख, शशी और कुन्दवत् धवल है। इसकी आकृति चन्द्रवत्, बीज वकार और देवता विष्णु हैं। योगप्रभावसे हृदयके बीचमें जलतत्वका उदय करके चित्तके साथ प्राण वायुको आकर्षण कर पांच घन्टे तक कुम्भक करनेसे आम्भसी धारणा होती है। इस मुद्राके अभ्याससे कठिन पाप व ताप दूर होता है। आम्भसी मुद्राके ज्ञाता योगी गभीर जलमें पतित होने पर भी नहीं डूबते।

आग्नेयीधारणामुद्रा—

> यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणाऽन्वितं,
> तत्त्वं तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदम्।
> प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
> देषा कालगभीरभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा॥
> प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ संपतेद्यदि साधकः।
> एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक्॥

नाभिस्थल अग्नितत्वका स्थान है, इसका वर्ण इन्द्रगोप कीटकी नाईं, बीज र कार, आकृति त्रिकोण और देवता रुद्र हैं। यह तत्व तेजःपुञ्ज दीप्तिमान् और सिद्धिदायक है। योगाभ्यास द्वारा अग्नितत्वका उदय करके एकाग्रचित्त हो पांच घन्टे तक कुम्भक द्वारा प्राणवायुको धारण करनेसे

आग्नेयी धारणा हुआ करती है। इसके अभ्याससे संसारभय दूर होता है और यदि साधक प्रदीप्त वह्निके बीचमें पतित हो तौभी इस मुद्राके प्रभावसे उनको कदापि मृत्यु प्राप्त नहीं कर सकती।

वायवीधारणामुद्रा—

यद्भिन्नाऽञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं धूम्राऽवभासं परं,
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा॥
इयं तु धारणामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।
वायुना म्रियते नाऽपि खे गतेश्च प्रदायिनी॥

वायुतत्वका वर्ण मर्दित अञ्जनकी नांई और धूम्रकी नाई कृष्णवर्ण, बीज यकार और देवता ईश्वर है। यह तत्व सत्वगुणमय है। योगाभ्यास द्वारा इस तत्वका उदय करके एकाग्रचित्त हो कुम्भक द्वारा पांच घटे तक प्राण वायुको धारण करनेसे वायवी धारणा सिद्ध होती है। इस मुद्राके साधनसे जरामृत्युनाश होता है, इसमें सिद्धि प्राप्त साधक वायुसे कदापि मृत्युको प्राप्त नहीं होते हैं और उनमें आकाश मार्गमें विचरण करनेकी शक्ति होजाती है।

आकाशीधारणामुद्रा—

यत्सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं,
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकाराऽन्वितम्।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणाम्॥
आकाशीधारणामुद्रां यो वेत्ति स च योगवित्।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलयेऽपि न सीदति॥

आकाशी धारणामुद्रा—

आकाशतत्वका वर्ण विशुद्ध सागर वारिकी नाई, बीज हकार और देवता सदाशिव है। योगसाधन द्वारा इस तत्वको उदित करके एकाग्रचित्त हो

प्राणवायु आकर्षण-पूर्वक पांच घन्टे तक कुम्भक करनेसे आकाशधारणाकी सिद्धि होती है। यह धारणा मुक्तिद्वारको उद्घाटन करती है। इसको जो जानते हैं वे ही परम योगवेत्ता हैं, उनको मृत्यु कदापि ग्रास नहीं करती है और प्रलय कालमें भी वे जीवित रह सकते हैं।

अश्विनीमुद्रा—आकुञ्चयेद् गुदद्वारं भूयोभूयः प्रकाशयेत्।
सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिबोधनकारिणी॥

गुह्यद्वारको पुनः पुनः आकुञ्चन व प्रसारण करनेसे अश्विनी मुद्राका साधन होता है, जो शक्तिबोधनकारिणी है। इस मुद्राके द्वारा सर्वरोग नाश, बल व पुष्टि तथा अकाल मृत्युनाश होता है।

काकीमुद्रा—काकचञ्चुवदास्येन पिबेद् वायुं शनैः शनैः।
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी॥

काकचञ्चुवत् मुंह करके धीरे धीरे वायु पान करनेसे काकीमुद्रा होती है जो समस्त रोगोंको नष्ट करती है।

मातङ्गिनीमुद्रा—कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्त्रेण चाऽहरेत्॥
नासाभ्यां रेचयेत्पश्चात्कुर्यादेवं पुनः पुनः।
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥

आकण्ठ जलमें अवस्थित होकर दोनों नाकसे जल उठाकर मुखसे निकाल देवें और पुनः मुखसे जल लेकर नाकसे रेचन करें, इस प्रकार पुनः पुनः करनेपर मातङ्गिनी मुद्राका साधन होता है, जो जरा व मृत्युकी नाशकारिणी है।

भुजङ्गिनीमुद्रा—वक्त्रं किञ्चित्सुप्रसार्याऽनिलं कण्ठेन यत्पिबेत्।
सा भवेद् भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥

मुखको किञ्चित् फैलाकर कण्ठके द्वारा वायुपान करनेसे भुजङ्गिनी मुद्राका साधन होता है जो जरामृत्यु नाश करनेवाली है।

पंचविंश मुद्राओंमेंसे कुछ मुद्राओंका वर्णन किया गया। अन्यान्य मुद्राएं यथा वज्रोलि, अमरोलि, सहजोलि आदिका लक्षण योगिराज गुरुदेवसे ज्ञातव्य है।

मुद्राओंके साधन द्वारा योगमार्गमें अग्रसर होनेवाले साधकोंको अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। मुद्राओंके द्वारा प्राणायाम सिद्धिकी सहायता, प्रत्याहारमें सहायता, धारणामें सहायता और विन्दुध्यानमें सहायता इस प्रकारसे अनेक क्रियाओंमें सहायता प्राप्त होती है। प्रथमतः प्राणायामकी सिद्धिमें मुद्राएं विशेषरीत्या सहायक होती हैं और प्रत्याहार उत्पन्न करके धारणामें विशेष सहायक होती हैं। इसी कारण मुद्रा द्वारा स्थिरता उत्पन्न होती है ऐसा कहा गया है।

हठयोगके चतुर्थ अङ्गका नाम प्रत्याहार है। षट् कर्म, आसन व मुद्राके साधनोंमें सिद्धि प्राप्त करके गुरुआज्ञानुसार साधक प्रत्याहारका साधन करेंगे जिसके फलसे शीघ्र ही प्रकृतिजय व कामादि रिपुओंका नाश हो जायगा। श्रीभगवान्ने गीताजीमें लिखा है—

> यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
> ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

चञ्चल मन जहां जहांपर भागने लगता है उन सभी स्थानोंसे मनको हटाकर आत्मामें ही संयत करे। यही प्रत्याहारकी क्रिया है। तदनुसार हठयोग शास्त्रमें लिखा है—

> यत्र यत्र गता दृष्टिर्मनस्तत्र प्रगच्छति।
> ततः प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
> शीतं वापि तथा चोष्णं यन्मनः स्पर्शयोगतः।
> तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
> सुगन्धे वाऽपि दुर्गन्धे घ्राणेषु जायते मनः।
> तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
> मधुराम्लकतिक्तादिरसं याति यदा मनः।
> तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

जहां जहांपर दृष्टि जाती है वहां मन भी जाता है। इसलिये प्रत्याहार द्वारा मनको वहांसे हटाकर आत्मामें वशीभूत करें। शीत हो या उष्ण मन स्पर्शयोगसे विषयमें सम्बद्ध होता है इसलिये मनको विषयसे हटाकर आत्मामें संयत करे। सुगन्ध हो अथवा दुर्गन्ध मन घ्राणेन्द्रियके योगसे विषयमें बद्ध

Chapter—14

अथ मुद्राः —

atha mudrāḥ —

The *mudrās*—

तल्लक्षणं तु --

tallakṣaṇaṃ tu —

The characteristics are—

मुद्रास्तु मुद्रणात् प्रोक्ता[1] यद्व्यापारनियोजिताः ।
तद्व्यापारस्य[2] तन्नाम्ना योगसिद्धेर्हिता दश ॥ १ ॥

mudrāstu mudraṇāt proktā yadvyāpāraniyojitāḥ ।
tadvyāpārasya tannāmnā yogasiddhirhitā daśa ॥ 1 ॥

Tr. They are known as *mudrās* since they do sealing (*mudrā*). That particular activity is named after that (*mudrā*) wherever they are applied which are beneficial towards success of *yoga*. There are ten (*mudrās*) which lead towards attainment of *siddhis*. 1.

अथ विपरीतकरणी --

atha viparītakaraṇī—

***viparītakaraṇī* follows—**

ऊर्ध्वं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थला[3]दूर्ध्वतो
नासान्ते[4] सुषिरे नयेच्च गगनद्वारं ततः सर्वतः ॥
ऊर्ध्वास्यो भुवि संनिपत्य नितरामुत्तानपादः पिबेत्
एवं यः कुरुते जितेन्द्रियजनो नैवास्ति तस्य क्षयः ॥ २ ॥

ūrdhvaṃ somakalājalaṃ suvimalaṃ kaṇṭhasthalādūrdhvato
nāsānte suṣire nayecca gaganadvāraṃ tataḥ sarvataḥ ॥
ūrdhvāsyo bhuvi saṃnipatya nitarāmuttānapādaḥ pibet
evaṃ yaḥ kurute jitendriyajano naivāsti tasya kṣayaḥ ॥ 2 ॥

Tr. One should take position on the ground raising the legs up and keeping the face up. Thus he should raise the sacred secretion oozing from the moon from the aperture at the end of the nose which is above the throat at the opening of the head. Having controlled the senses one who does this practice does not perish. 2.

---

1. मुद्रणाद्प्रोक्ता –b. 2. तद्व्यापारस्य –b. 3. कण्ठस्थला –a. 4. वासान्ते –a.

ऊर्ध्वपादो ह्यधोमस्तकः स्यात् क्षणं
वासरेऽथादिमेऽभ्यासं वृद्ध्या धयेत्[1] **॥**
एवमभ्यासतो[2] **याममात्रं सदा**
मृत्युजित् स्याज् जराजिच्च षण्मासतः[3] **॥ ३ ॥**

ūrdhvapādo hyadhomastakaḥ syāt kṣaṇaṃ
vāsare'thādime'bhyāsaṃ vṛddhyā dhayet ॥
evamabhyāsato yāmamātraṃ sadā
mṛtyujit syāj jarājicca ṣaṇmāsataḥ ॥ 3 ॥

Tr. In the beginning, one should take the legs up and head down for a short time and thus prolong the time gradually. Through the practice, one should maintain for three hours (one *yāma*), thus overcoming (premature) death and old age in six months. 3.

तूलस्य पिण्डं प्रविधाय दक्षनासापुटान्ते अर्कमुखं निरुद्धम् ।
भवेदतश्चानु यथोक्तमत्रायामं[4] **भजेज् ज्ञः प्रहरत्रयं हि ॥ ४ ॥**

tūlasya piṇḍaṃ pravidhāya dakṣa-
nāsāpuṭānte arkamukhaṃ niruddham ॥
bhavedataścānu yathoktamatrāyāmaṃ
bhajej jñaḥ praharatrayaṃ hi ॥ 4 ॥

Tr. By plugging the right nostril – the mouth of the sun — with a cotton bud, a wise should practise *prāṇāyāma* as told or even for three *praharas* (one *prahara* = three hours). 4.

नित्याभ्यासादस्य हि जठराग्निर्वृद्धिमायाति ॥ ५ ॥

nityābhyāsādasya hi jaṭharāgnirvṛddhimāyāti ॥ 5 ॥

Tr. Daily practice of this enhances the gastric fire. 5.

अस्यायमर्थः[5] **–**

asyāyamarthaḥ —

It means—

यः शिरो भूमावारोप्य प्रहरत्रयस्थितौ शक्तः[6] **स्यात् । स मासत्रयसमाप्तौ कालजिद् भवतीति तृतीयश्लोकेन सम्बन्धः । आहारोऽतस् तस्मै सम्पाद्यः साधकस्य भूरि शैः ॥ ६ ॥**

---

1. ऽभ्यासवध्धयेत् -b. 2. एवमस्यौभ्यासतो –b. 3. परामसतः -b. 4. मनायामं –a. 5. आहाश्रायमर्थः -a. 6. शकः -b.

yaḥ śiro bhūmāvāropya praharatrayasthitau śaktaḥ syāt । *sa māsatrayasamāptau kālajid bhavatīti tṛtīyaślokena sambandhaḥ* । *āhāro'tas tasmai sampādyaḥ sādhakasya bhūri jñaiḥ* ॥ 6 ॥

Tr. One who is able to maintain head-down position for three *praharas*, controls (premature) death in three months of practice—thus this is to be interpreted in the context of the third *śloka*. A wise should, therefore consume good quantity of food. 6.

वलितं पलितं चैव षण्मासान्नैव दृश्यते ।
याममात्रं च यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ॥ ७ ॥

valitaṃ palitaṃ caiva ṣaṇmāsānnaiva dṛśyate ।
yāmamātraṃ ca yo nityamabhyaset sa tu kālajit ॥ 7 ॥

Tr. One who practises for one *yāma* (three hours) daily, gets rid of wrinkles and grey hair in six months and indeed overcomes death (untimely). 7.

इति विपरीतकरणी ॥

iti viparītakaraṇī ॥

Thus ends *viparītakaraṇī*.

अथ लम्बिकाविधिः —

atha lambikāvidhiḥ—

The technique of *lambikā* —

तल्लक्षणं तु—

tallakṣaṇaṃ tu—

The technique—

तालुमूलगता[1] यत्ना[2]ज्जिह्वयाक्रम्य घंटिकाम् ।
ऊर्ध्वं रन्ध्रगते वाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ इति ॥ ८ ॥

tālumūlagatā yatnājjihvayākramya ghaṇṭikām ।
ūrdhvaṃ randhragate vāte prāṇaspando nirudhyate ॥ *iti* ॥8॥

Tr. By inserting the tongue effortfully at the root of the palate and taking it beyond uvula while allowing the *prāṇa* to enter the cavity, the *prāṇic* vibration is suspended. 8.

तत्करणप्रक्रिया यथा —

tatkaraṇaprakriyā yathā—

The practice of which is—

---

1. तालमूलगता –b. 2. पत्ना –a.

स्नुहीपत्रप्रख्यं निशितमतिसुस्निग्धममलम्
शुभं शस्त्रं तेन प्रथममिह[1] छिन्द्यात् कचमितम् ॥
व्रणं सद्यः पथ्यापटुवररजोघर्षिततलं
चरेदेवं सप्ताऽहनि पुनरपि छेदनविधिः ॥ ९ ॥

snuhīpatraprakhyaṃ niśitamatisusnigdhamamalam
śubhaṃ śastraṃ tena prathamamiha chindyāt kacamitam ॥
vraṇaṃ sadyaḥ pathyāpaṭuvararajogharṣitatalam
caredevaṃ saptā'hani punarapi chedanavidhiḥ ॥ 9 ॥

Tr. Take a clean, fine, well-lubricated and very sharp instrument resembling the leaf of milk-hedge. In the beginning, cut (the frenum) as breadth of the hair. Then rub the tongue with *harītakī* (chebulic myrobalan), rock salt for one week and again practise cutting. 9.

एवं क्रमेण कलयेच्छण्मासं नित्यमुद्युक्तः ।
षण्मासाद्[2] रसनातलमूलशिराबन्ध एति लयम् ॥ १० ॥

evaṃ krameṇa kalayecchaṇmāsaṃ nityamudyuktaḥ ।
ṣaṇmāsād rasanātalamūlaśirābandha eti layam ॥ 10 ॥

Tr. Continue doing this practice daily carefully for six months. A six months practice severes the frenum. 10.

अथ जिह्वाधाम शिरोवस्त्रेणावेष्ट्य[3] मन्दं तत् ।
आकर्षयेत् प्रतिदिनं षण्मासं कर्षणं प्राग्वत् ॥ ११ ॥

atha jihvādhāma śirovastreṇāveṣṭya mandaṃ tat ।
ākarṣayet pratidinaṃ ṣaṇmāsaṃ karṣaṇaṃ prāgvat ॥ 11 ॥

Tr. Thereafter wrap the tongue up with a cloth used for turban and gently pull it up daily for six months as said before. 11.

चालनदोहनमनुदिनमुपाचरेच् छेदनं तु अह ।
तृतीयेऽह्नि उष्णाम्बुनात्र सर्वं कार्यं सन्दोहनं वचा मधुना[4] ॥१२॥

cālanadohanamanudinamupācarec
chedanaṃ tu aha ॥
tṛtīye'hni uṣṇāmbunātra sarvaṃ kāryaṃ
sandohanaṃ vacā madhunā ॥ 12 ॥

Tr. Practice of moving and milking should be done everyday while cutting should be done every third day. All

---

1. प्रथमसममिह –a. 2. छरामासं –b. 3. वेष्ट्वा –b. 4. च वा मधुना –b.

these should be performed with hot water, while milking should be done with honey and *vacā*. 12.

एवं कृतेऽथ रसना[1] प्रयात्यनुभ्रूतलान्त[2]बिलम् ।
तिर्यक्कर्णावधि वै चिबुकाधः सा स्वयं याति अभ्यासः ॥ १३ ॥

evaṃ kṛte'tha rasanā
prayātyanubhrūtalāntabilam ॥
tiryakkarṇāvadhi vai
cibukādhaḥ sā svayaṃ yāti abhyāsaḥ ॥ 13 ॥

इति ह वर्षत्रयमत्र कृतस्तदा रसज्ञेयम्[3] ।
ब्रह्मद्वारं प्रविशति भित्वा भ्रूमध्यमूर्ध्वगता ॥ १४ ॥

iti ha varṣatrayamatra
kṛtastadā rasajñeyam ॥
brahmadvāraṃ praviśati
bhitvā bhrūmadhyamūrdhvagatā ॥ 14 ॥

Tr. By doing this (the tip of) the tongue enters the cavity below the center of the eyebrows and it touches the end of the ears and below the chin on its own. After three years of practice (the tongue) reaches the center of the eyebrows and enters the *brahmadvāra* and tastes the *rasa* (ambrosia). 13-14.

रौप्यस्वर्णाऽयोन्य[4]तमशलाकिकां[5] नासिकारन्ध्रे स्निग्धेन ।
तन्तुना[6] सह नियोज्य संरुध्य मानसे प्राणान् ॥१५ ॥

raupyasvarṇā'yonyatamaśalākikāṃ
nāsikārandhre snigdhena ॥
tantunā saha niyojya
saṃrudhya mānase prāṇān ॥ 15 ॥

Tr. Take up a special probe of silver, gold or iron and with this insert a lubricated cotton sheaf in the nasal cavity. Hold the *prāṇa* while focusing the mind. 15.

सुदृढासनो[7] परिगतो मथनशनकैस्ततः[8] कुर्यात् ।
भ्रूमध्ये न्यस्य दृशौ दृढचित्तमुनेस्तदा सुषुप्तिसुखम् ॥ १६ ॥

sudṛḍhāsano parigato
mathanaśanakaistataḥ kuryāt ॥

---

1. कृतेऽथ रतता –a. 2. त्यनुदभ्रूतलान्त –a. 3. सज्ञेयं –b. 4. स्वर्णोऽघोऽन्या –b. 5. शलाकिकां –b. 6. नासिकारन्ध्रेन तन्तुना –b. 7. सदृढसनो –b. 8. मथनं शनकैस्तुतः-b.

bhrūmadhye nyasya dṛśau
dṛḍhacittamunestadā suṣuptisukham ॥ 16 ॥

Tr. While adopting a firm posture, keep the gaze fixed at the center of the eyebrows and gently rub (with the cotton sheaf). Thus a *muni* of steady mind experiences the Bliss of *suṣupti* state. 16.

न सदा मन्थनमुदितं मासे मासे तदा चरेद् ।
योगी[1] एवं द्वादशवर्षैः संसिद्धिं विखेचरी याति ॥ १७ ॥

na sadā manthanamuditaṃ māse māse tadā cared ।
yogī evaṃ dvādaśavarṣaiḥ saṃsiddhiṃ vikhecarī yāti ।17।

Tr. This massaging should not be undertaken everyday but once in a month. Thus a *yogī* attains success in *khecarī* in twelve years. 17.

हठप्रदीपिकामते तु –

haṭhapradīpikāmate tu —

According to *haṭhapradīpikā*—

छेदनचालनदोहैः क्रमेण जिह्वां प्रवर्धयेत् ।
तावत् सा यावत् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ इति ॥१८॥

chedanacālanadohaiḥ
kramena jihvāṃ pravardhayet ॥
tāvat sā yāvat bhrūmadhyaṃ
spṛśati tadā khecarīsiddhiḥ ॥ *iti* ॥ 18 ॥

Tr. The tongue should be lengthened by cutting, moving and milking until it touches the center of the eyebrows. Then alone *khecarī* is perfected. 18.

भ्रूमध्ये देशे चणकांकुरप्रभं
यद्राजदन्तोपरि च त्रिकूटम् ॥
नियोज्य चित्तं खलु तत्र जिह्वया-
मृतं[2] स्रवत् पाति[3] स दिव्यदेहः ॥ १९ ॥

bhrūmadhye deśe caṇakāṅkuraprabhaṃ
. *yadrājadantopari ca trikūṭam* ॥
niyojya cittaṃ khalu tatra jihvayā-
mṛtaṃ sravat pāti sa divyadehaḥ ॥ 19 ॥

1. तदाचेद्योगी –b. 2. जिह्वाभ्यामृतं –a. 3. याति –b.

Tr. There is a *trikūṭa* (crown of the head) at the center of the eyebrows above the uvula, resembling the sprout of a gram. One should insert the tongue there with a concentrated mind and drink the flowing ambrosia. Thus one gets a divine body. 19.

यदा भ्रूबिले संनिवेश्य स्वजिह्वां
विलोमं गतां भ्र्वन्तरे[1] स्थाप्य दृष्टिम् ॥
स्वलक्ष्यं स्थिरं भावयन् याति शून्यं[2]
तदा खेचरी स्यान् मुनेः सिद्धमुद्रा ॥ २० ॥

yadā bhrūbile sanniveśya svajihvāṃ
vilomaṃ gatāṃ bhrvantare sthāpya dṛṣṭim ॥
svalakṣyaṃ sthiraṃ bhāvayan yāti śūnyaṃ
tadā khecari syān muneḥ siddhamudrā ॥ 20 ॥

Tr. When the upturned tongue is inserted in the cavity in the center of the eyebrows while fixing the gaze at the center of the eyebrows the *muni* meditates on void, *khecarī mudrā* is perfected. 20.

रसनयोर्ध्वगया[3] क्षणमास्थितो यदि मुनिः परिरुद्धमनोऽनिलः ।
सकलरोगगणात् परिमुच्यते प्रबलमृत्यु[4]जरादिभिरुप्सितः[5]।२१।

rasanayordhvagayā kṣaṇamāsthito
yadi muniḥ pariruddhamano'nilaḥ ॥
sakalarogagaṇāt parimucyate
prabalamṛtyujarādibhirupsitaḥ ॥ 21 ॥

Tr. If the *muni* with the tongue upturned remains even for a moment while controlling the mind and *prāṇa,* he gets rid of all the diseases, overcomes (premature) death and old age. 21.

रसनयोर्ध्वगया विवरं भ्रुवो[6]
वयसि यः सति मुद्रयति ध्रुवम्[7] ॥
क्षरति तस्य न बिन्दुलवोऽप्यहो
युवतिभिः स्वभुजाकलितस्य च ॥ २२ ॥

rasanayordhvagayā vivaraṃ bhruvo
vayasi yaḥ sati mudrayati dhruvam ॥
kṣarati tasya na bindulavo'pyaho
yuvatibhiḥ svabhujā kalitasya ca ॥ 22 ॥

1. ऽभ्र्यन्तरे –b. 2. भावयन्यानिशून्यं –b. 3. सतयोर्ध्वगया –a. 4. मृत्य –b. 5. रुग्जितः -b. 6. मुवो –b. 7. ध्रुव –b.

Tr. One who firmly seals the cavity at the center of the eyebrows with the upturned tongue does not have even a scant of *bindu* dribbling when embraced by young women. 22.

कपालकुहरे कलां परिनिवर्त्य सोमामृतं
सदा पिबति यः स वै जयति यक्षमेषोऽमरः ॥
सदेन्दुगलिताऽमृताऽशनसुपूर्ण[1]कायो हि यः
स तक्षककुदंशजं गरलमन्नवत् स्तौति[2] तत् ॥ २३ ॥

kapālakuhare kalāṃ parinivarttya somāmṛtaṃ
sadā pibati yaḥ sa vai jayati yakṣameṣo'maraḥ ॥
sadendugalitā'mṛtā'śanasupūrṇakāyo hi yaḥ
sa takṣakakudaṃśajaṃ garalamannavat stauti tat ॥ 23 ॥

Tr. One who always drinks the ambrosia from moon by turning the tongue (*kalā*) at the cavity in the forehead, controls the *yakṣas* (demigods) and (gains) immortality. The body which fully absorbs the ambrosia always oozing from the moon, digests easily like food the poison of the deadliest of the serpents like *takṣaka*. 23.

ऊर्ध्वं[3] षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठाद्[4]
ऊर्ध्वास्यो रसनां नियम्य कुहरे शक्तिं परां चिन्तयन् ॥
उत्कल्लोलकलाजलं सुविमलं धारामृतं यः पिबेन्
निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर् योगी चिरं जीवति ॥२४॥

ūrdhvaṃ ṣoḍaśapatrapadmagalitaṃ prāṇādavāptaṃ haṭhād
ūrdhvāsyo rasanāṃ niyamya kuhare śaktiṃ parāṃ cintayan ॥
utkallolakalājalaṃ suvimalaṃ dhārāmṛtaṃ yaḥ piben
nirddoṣaḥ sa mṛṇālakomalavapur yogī ciraṃ jīvati ॥ 24 ॥

Tr. One should meditate on the supreme *śakti (kuṇḍalī)* after carefully inserting the tongue in the cavity, with upturned face and by raising the *prāṇa* up in the lotus of sixteen petals. The *yogī* who drinks the divine nectar flowing from the supreme moon, maintains the body as tender as the lotus stalk and lives long without diseases. 24.

---

1. सपूर्ण -b. 2. स्वौति –b. 3. मूर्ध्वं –b. 4. दवाहठात् -b.

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिलं जिस्वारसस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्ध[1]सदृशां मध्वाज्यतुल्या तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्रागमो[2]द्गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणवत्सिद्धांगनाकर्षणम् ॥ २५ ॥

cumbantī yadi lambikāgramanilaṃ jihvārasasyandinī
sakṣārā kaṭukāmladugdhasadṛśāṃ madhvājyatulyā tathā ॥
vyādhīnāṃ haraṇaṃ jarāntakaraṇaṃ śāstrāgamodgīraṇaṃ
tasya syādamaratvamaṣṭaguṇavatsiddhāṅganākarṣaṇam ॥25॥

Tr. If the tip of the elongated tongue always sucks the flowing nectar, which tastes salty, pungent, sour or like milk, honey or *ghee*, one gets rid of all the diseases and old age, becomes proficient in the scriptures, attains immortality, accomplishes eight *siddhis* and receives the power of the deities presiding over the *cakras*. 25.

पाताले यद्वितत्तसुषिरं[3] मेरुमूले[4] तदस्मिन्
तद्वच्चैतत् प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥
चन्द्रात् सारः[5] स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तं बध्नीयात् सुकरणमृदा[6] नान्यथा कायसिद्धिः ॥२६ ॥

pātāle yadvitatasuṣiraṃ merumūle tadasmin
tadvaccaitat pravadati sudhīstanmukhaṃ nimnagānām ॥
candrāt sāraḥ sravati vapuṣastena mṛtyurnarāṇāṃ
taṃ badhnīyāt sukaraṇamṛdā nānyathā kāyasiddhiḥ ॥ 26 ॥

Tr. According to the wise the aperture which is located at the base of the spine is called the mouth which opens downwards. The human being dies because the nectar secreted by the moon flows down. With the application of this *mudrā* one presses the mouth and controls the flow, thus, attaining a fortified body and not otherwise. 26.

चित्तं विचरति गगने जिस्वा यस्माच्चरति खे[7] याता ।
तेनैषा कथिता ज्ञैर्मुद्रा भद्रा[8] भद्राति[9] खेचरी नाम्नी ॥ २७ ॥

cittaṃ vicarati gagane jihvā yasmāccarati khe yātā ।
tenaiṣā kathitā jñair mudrā bhadrā bhadrāti khecarī nāmnī ॥ 27 ॥

---

1. दुग्धा –b. 2. शास्वगमो –b. 3. द्वितंतसुषिरं –b. 4 मुरुमूले –a. 5. चन्द्रातुसारः -b. 6. मृदां –b. 7. ख्ये –b. 8. अनुपलब्धपाठः -b. 9. मुद्राति –b.

Tr. This auspicious *mudrā* is called *khecarī* by the experts because it enables one to make the mind void so long as the tongue stays in the nasopharyngeal cavity. 27.

विधाय पूर्वं दृढमूलबन्धं प्राणं ततः साधु निरुध्य कुम्भतः ।
जालन्धरे[1] संविहिते नु योगी चरेद्रसज्ञां लघुलम्बिकोपरि ।२८।

vidhāya pūrvaṃ dṛḍhamūlabandhaṃ
prāṇaṃ tataḥ sādhu nirudhya kumbhataḥ ॥
jālandhare saṃvihite nu yogī
caredrasajñāṃ laghulambikopari ॥ 28 ॥

Tr. First firmly apply *mūlabandha* and then properly retain the *prāṇa (kumbhaka)*, while applying *jālandhara*. Then the *yogī* should take the tongue over the uvula (above the *lambikā*). 28.

न मूर्च्छा तृषा नैव[2] निद्रा न रोगा न मृत्युर्न[3] जरा तस्योद्भवन्ति ।
भवेत् कायसिद्धिस्तथा कल्पमायुर्मुनिः सेवेत खेचरीं योगविद्यः ।२९।

na mūrcchā tṛṣā naiva nidrā na rogā
na mṛtyurna jarā tasyodbhavanti ॥
bhavet kāyasiddhistathā kalpamāyur
muniḥ seveta khecarīṃ yogavidyaḥ ॥ 29 ॥

Tr. A *muni*, an expert of *yoga* who performs *khecarī*, does not experience fainting, thirst, sleep, or get affected by diseases. Death or old age do not appear to him and he lives for long in a perfect body. 29.

बाह्याभ्यन्तरभेदाभ्यां खेचरी द्विविधा मता ।
लम्बिकाद्या[4] खेचरत्वं मनसोऽन्त्येत्यऽनेकधा ॥ ३० ॥

bāhyābhyantarabhedābhyāṃ khecarī dvividhā matā ।
lambikādyā khecaratvaṃ manaso'ntyetya'nekadhā ।30।

Tr. *khecarī* is twofold—external and internal. The first one is elongation of the tongue and the other one which is manifold to attain the void state of the mind. 30.

बद्धं मूलविलं येन तेन विघ्नो निवारितः ।
अजरामरतां याति यथा पञ्चमुखो हरः ॥ ३१ ॥

baddhaṃ mūlabilaṃ yena tena vighno nivāritaḥ ।
ajarāmaratāṃ yāti yathā pañcamukho haraḥ ॥ 31 ॥

---

1. जालधरे –b. 2. नूषा नैव –b. 3. मृत्युर्ज -b. 4. लंघिकाद्या –b.

Tr. One, who successfully closes *brahmarandhra*, overcomes obstacles. He overcomes old age and becomes immortal like five-faced *hara* (an epithet of *śiva*). 31.

मूलबिलं ब्रह्मरन्ध्रं बद्धं जिह्वया पिहितम् । तेन योगिना उपद्रवो नाशितः[1] । स योगी[2] अजरामरगुणवान् शम्भुर्यथा तथा[3] ज्ञेयः ॥ ३२ ॥

mūlabilaṃ brahmarandhraṃ baddhaṃ jihvayā pihitam । *tena yoginā upadravo nāśitaḥ* । *sa yogī ajarāmaraguṇavān śambhuryathā tathā jñeyaḥ* ॥ 32 ॥

Tr. The cavity of *brahmarandhra*, is plugged by the tongue. Thus a *yogī* removes troubles. Such a *yogī*, who is free from old age and is immortal, may be equated with *śaṃbhu*. 32.

अमृतपूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्त्तते रेतो ह्यणिमादिगुणोदयः ॥ ३३ ॥

amṛtapūrṇadehasya yogino dvitrivatsarāt ॥
ūrdhvaṃ pravartate reto hyaṇimādiguṇodayaḥ ॥ 33 ॥

Tr. When the body is filled with divine nectar, the *yogī*, in two to three years, remains in perpetual celibacy and attains the supernatural powers *(siddhis)* like *aṇimā* etc.

ऊर्ध्वरेता भवति अणिमादीनां सिद्धीनां उदयः प्रवर्त्तते ॥

ūrdhvaretā bhavati aṇimādīnāṃ siddhīnāṃ udayaḥ pravarttate ॥

He becomes *ūrdhvaretā* and attains *sidhis* such as *aṇimā* etc.

॥ इति सुन्दरदेवविरचिताहठतत्वकौमुद्यां विपरीतकरणीखेचरीसाधनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāhaṭhatatvakaumudyāṃ viparītakaraṇīkhecarīsādhanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing *viparītakaraṇī* and *khecarī* practice in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

---

1. नाशिनः -b. 2. सद्योगी –b. 3. अनुपलब्धपाठः -b.

Chapter—15

अथ मूलबन्धः—

atha mūlabandhaḥ

Here follows *mūlabandha*—

अधोगाम्यपानं तमापीड्य पार्ष्ण्या

गुदाकुञ्चनैरूर्ध्वमाकर्षयेज्ज्ञः ॥

अपानं यथोर्ध्वं[1] प्रयात्येष शश्वद्

हठेन विधेयं तथा मूलबन्धः ॥ १ ॥

adhogāmyapānaṃ tamāpīḍya pārṣṇyā

gudākuñcanairūrdhvamākarṣayejjñaḥ ॥

apānaṃ yathordhvaṃ prayātyeṣa śaśvad

haṭhena vidheyaṃ tathā mūlabandhaḥ ॥ 1 ॥

Tr. With the help of the heels, press the perineum and pull up the *apāna* which has a tendency to move downwards. This technique is called *mūlabandha* since it ensures forceful upward movement of *apāna*. 1.

अयमुक्तः ॥

ayamuktaḥ ॥

It has been stated as above.

अथवा –

athavā—

Or else—

भगाऽपान[2]मध्ये विनाऽस्त्यस्थि[3]देशस्

तमापीडयेत् पार्ष्णीभागेन भूरि ॥

अपानं गुदाकुञ्चनेनोर्ध्वमुच्चैः

क्रिया शश्वदेवं[4] कृते मूलबन्धः ॥ २ ॥

bhagāpānamadhye vinā'styasthideśas-

tamāpīḍayet pārṣṇībhāgena bhūri ॥

apānaṃ gudākuñcanenordhvamuccaiḥ

kriyā śaśvadevaṃ kṛte mūlabandhaḥ ॥ 2 ॥

Tr. Press well the perineum between the genital and anus with the heel. Forcefully pull up the *apāna* by contracting the anus. A consistent practice of this *kriyā* is *mūlabandha*. 2.

---

1. ऊर्ध्वाम् -b. 2. भगादुपान –b. 3. विनाऽस्पास्थि –b. 4. क्रियाच्छश्वदेवं –b.

ऐक्ये ऽपान[1]प्राणयोर्मूत्रगूथ-
क्षैण्यद्वन्द्वः[2] स्यादुपस्थो हि मूलात् ॥
ऊर्ध्वं याते ऽपानवायौ यदाग्नेः
स्थानं दीर्घा स्याच्छिखा वायुसंगात् ॥ ३ ॥

aikye'pānaprāṇayormūtragūtha-
kṣaiṇyadvandvaḥ syādupastho hi mūlāt ॥
ūrdhvaṃ yāte'pānavāyau yadāgneḥ
sthānaṃ dīrghā syāc-chikhā vāyusaṅgāt ॥ 3 ॥

Tr. (Thus) *apāna* and *prāṇa* become united. Urine and faeces get scanty. Internal conflict becomes waned. Being stimulated by *prāṇa apānavāyu* moving from the center of the perineal body reaches upto the location of fire which gets enhanced. 3.

ततो वह्न्यपानौ[3] हृदि[4] प्राणमुष्म
ततोऽन्ते[5] दीप्तस्तदा[6] देहगोऽग्निः ॥
घटाख्यस्थितौ तेन सुप्ताभितप्ता
भवेदासमन्तात् क्रमेणैव शक्तिः ॥ ४ ॥

tato vahnyapānau hṛdi prāṇamuṣma
tato'nte dīptastadā dehago'gniḥ ॥
ghaṭākhyasthitau tena suptābhitaptā
bhavedāsamantāt krameṇaiva śaktiḥ ॥ 4 ॥

Tr. Thereafter, the fire and *apāna* heat up the *prāṇa* in the heart. Being enhanced, the bodily fire gradually heats up the dormant *śakti* from all around in the state of *ghaṭa*. 4.

परिचये मरुतो मनसः स्थितौ प्रागिति[7] दण्डहतेव[8] भुजंगमी ।
शयनमुत्सृजति क्षुधिता रुषा कवलयत्यधरानिलमूर्ध्वगम् ॥ ५ ॥

paricaye maruto manasaḥ sthitau
prāgiti daṇḍahateva bhujaṅgamī ॥
śayanamutsṛjati kṣudhitā ruṣā
kavalayatyadharānilamūrdhvagam ॥ 5 ॥

Tr. In the state of *paricaya*, mind and *prāṇa* tend to get stability. The *kuṇḍalī*, like a serpent being bitten by a stick,

1. एक्येऽपान –b. 2. मूत्रगथक्षैणाद् वृद्धः -b. 3. वह्न्यः पानौ –b. 4. ह्रदि –b. 5. पाणमुष्णततोते –b. 6. दीप्तस्तदौ –a. 7. सगिति –b. 8. दंऽहतेव –b.

comes out of slumber and being enraged and hungry, swallows the *anila* at the lower part and moves it upwards. 5.

बिलं प्रविष्टेवऽवने ऋजुत्वं[1] व्रजेत् सुषुम्णां इरणो वातः
अनुगो यस्या सा अग्ने[2] शक्तिः पश्चाद्वायुस्तेन योगसिद्धिः ॥
तस्मात् मूलबन्धः सदायं योगिभिरवश्यं प्रथमं विधेयः
इति योगिभिरेव नित्यं श्रीमूलबन्धोऽभ्यसनीय आदरात् ॥ ६ ॥

bilaṃ praviṣṭeva'vane ṛjutvaṃ vrajet suṣumṇāṃ iraṇo vātaḥ
anugo yasyā sā agne śaktiḥ paścādvāyustena yogasiddhiḥ ॥
tasmāt mūlabandhaḥ sadāyaṃ yogibhiravaśyaṃ prathamaṃ vidheyaḥ
iti yogibhireva nityaṃ śrīmūlabandho'bhyasanīya ādarāt ॥ 6 ॥

Tr. The air (*prāṇa*), (like a snake entering into a pit), moves into *suṣumnā* becoming straight. The *vāyu* follows the *śakti* of *agni* (fire) and thus one attains success in *yoga*. Therefore, the *yogīs* should certainly practice *mūlabandha* first regularly with devotion. 6.

प्रसादेन बन्धस्य मूलाभिधस्य
सरोजासने संस्थितो[3] भूजयेन ॥
धरित्रीं समुत्सृज्य कौतुहलेन
क्रमात् साधकस्याश्रित[4]स्पर्शनः खे ॥ ७ ॥

prasādena bandhasya mūlābhidhasya
sarojāsane saṃsthito bhūjayena ॥
dharitrīṃ samutsṛjya kautuhalena
kramāt sādhakasyāśritasparśanaḥ khe ॥ 7 ॥

Tr. By the grace of *mūlabandha* practised in *sarojāsana (padmāsana)*, and by controlling the element of earth, one surprisingly levitates. 7.

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः ॥ ८ ॥

prāṇāpānau nādabindū mūlabandhena caikatām ।
gatvā yogasya saṃsiddhiṃ gacchato nātra saṃśayaḥ ।8।

Tr. When through the practice of *mūlabandha prāṇa* and *apāna*, *nāda* and *bindu* are united, one undoubtedly attains success in *yoga*. 8.

1. ऋजुत्व –b. 2. अग्रे –b. 3. संस्थितौ –a. 4. साधकरस्यज्जित –b.

इति मूलबन्धः ॥
iti mūlabandhaḥ ॥
Here ends *mūlabandha.*

अथोड्डियानो बन्धस्तत्र विधेयो दृढं सुधिया ॥[1]
athoḍḍiyāno bandhastatra vidheyo dṛḍhaṃ sudhiyā ॥

Tr. Here follows *uḍḍiyāna-bandha* which a wise should firmly practise.

नाभेरूर्ध्वमधस्तात् तानं कुर्यात् प्रयत्नेन ।
उड्ड्यान[2]बन्ध एषः समस्तदुःखाघनाशनो यमिनाम् ॥ ९ ॥
nābherurdhvamadhastāt tānaṃ kuryāt prayatnena ।
uḍḍyānabandha eṣaḥ samastaduḥkhāghanāśano yamināṃ ॥ 9 ॥

Tr. One should effortfully pull the lower and upper region of the navel upwards. This is *uḍḍyāna-bandha*, which retards all sufferings and demerits of a *yogī*. 9.

तानं पश्चिम उदरे नाभेरूर्ध्वं भजेन्[3] मतिमान् ।
उड्ड्यानबन्ध[4] एषो मृत्युघ्नः[5] वैरमेकपञ्चास्यः ॥ १० ॥
tānaṃ paścima udare nābherūrdhvaṃ bhajen matimān ।
uḍḍyānabandha eṣo mṛtyughnaḥ vairamekapañcāsyaḥ 10

Tr. A wise pulls back the abdomen above and (below) the navel. This forms *uḍḍyāna-bandha* which overcomes death. To him *śiva* alone is the enemy. 10.

वज्रासने करयुगेन[6] निगृह्य पादौ
गुल्फप्रदेशनिकटे किल तत्र कन्दः[7] ॥
द्राक् पीडयेद्रुचिरपश्चिमतानमेतत्
तुन्दे हृदा[8] चिबुकमादि वियुज्य[9] धीरः ॥ ११ ॥
vajrāsane karayugena nigṛhya pādau
gulphapradeśanikaṭe kila tatra kandaḥ ॥
drāk pīḍayedrucirapaścimatānametat
tunde hṛdā cibukamādi viyujya dhīraḥ ॥ 11 ॥

Tr. Adopt *vajrāsana*. Hold the legs with the hands near

---

1. प्राणापानौ नादबिन्दोऽपानबन्धः उदरे पश्चिमः । उड्डियानो बन्धस् तत्र विधेयो दृढं सुधिया ॥ ९ ॥ –a. 2. उड्यानं –b. 3. भजुन् -a. 4. भानवन्ध –b. 5. मृत्युहनं –b. 6. ककयुगेन –a. 7. कन्दं द्राक् -b. 8. पीडयेद्रविरपश्चिमतानमेतं तु देह्यदा –b. 9. मावितियुज्य –b.

the ankles and press the *kanda* (perineum) with the heels. Thereafter press the abdomen towards the back and press the chest with the chin. 11.

एवं कृतेऽनुशनकैः[1] परिरुद्धवायुः
कन्दस्य सन्धिमधिगच्छति साधकस्य ॥
उड्यानबन्धदृढसाधनतः समीरः
सिद्धो भवति अतितरां तनुतेऽग्निवृद्धिम्[2] ॥ १२ ॥

evaṃ kṛte'nuśanakaiḥ pariruddhavāyuḥ
kandasya sandhimadhigacchati sādhakasya ॥
uḍḍyānabandhadṛḍhasādhanataḥ samīraḥ
siddho bhavati atitarāṃ tanute'gnivṛddhim ॥ 12 ॥

Tr. Doing so, gradually the obstructed *vāyu (prāṇa)* moves into the *kanda*. The practitioner attains success in controlling *(prāṇa)* by a firm practice of *uḍḍyāna* which enhances gastric fire. 12.

येनोड्डीयानेन बन्धेन वायुः प्रोड्डीयास्ते[3] ब्रह्मनाड्यां यतोऽसौ ।
उड्यानाख्यः स्मृतो बन्ध आर्यः[4] सेव्यस्तस्माद्योगिभिः सिद्धसेव्यः १३

yenoḍḍīyānena bandhena vāyuḥ
proḍḍīyāste brahmanāḍyāṃ yato'sau ॥
uḍḍyānākhyaḥ smṛto bandha āryaḥ
sevyastasmādyogibhiḥ siddhasevyaḥ ॥ 13 ॥

Tr. The practice of *uḍḍyāna-bandha* which causes the *vāyu* to get established in the *brahmanāḍī*, is called *uḍḍīyāna-bandha*. Therefore the *yogīs* must practise this auspicious *bandha* which is practised even by the *siddhas*. 13.

अविश्रान्तं प्राणवायुः सदैव यस्माद् उड्डानं दृढं[5] संविधत्ते ।
उड्डीयानं स्यात्ततस्तत्र बन्धं धीरो[6] नित्यं साधकः संविधत्ताम्[7] ॥१४॥

aviśrāntaṃ prāṇavāyuḥ sadaiva
yasmād uḍḍānaṃ dṛḍhaṃ saṃviddhatte ॥
uḍḍīyānaṃ syāttatastatra bandhaṃ
dhīro nityaṃ sādhakaḥ saṃvidhattām ॥ 14 ॥

Tr. Since the practice of *uḍḍīyāna* incessantly and firmly

---

1. अनुधानकैः -b. 2. तनुतेऽवृद्धिं –b. 3. प्रोड्डीयास्तेन –b. 4. बन्धं आर्यः -b. 5. दृष्टं –b. 6. धारो –b. 7. संविधतां –a.

moves the *prāṇavāyu* upwards, a wise *sādhaka* should regularly practise *uḍḍīyānabandha*. 14.

आधाराकुञ्चनेन[1] प्रथममनु तथोड्डयानबन्धेन चैडां
नाडीं वै पिंगलाख्यां पवनगति यदा[2] साधु बध्वा समीरम् ॥
योगीन्द्रो वाहयेत् पश्चिमपथममनाः[3] कर्मणा यात्यलौल्यं[4]
वायुस्तेनास्य सिद्धिः सकलगदजयो जायते चामरत्वम् ॥ १५ ॥

ādhārākuñcanena prathamamanu tathoḍḍyānabandhena caiḍāṃ
nāḍīṃ vai piṅgalākhyāṃ pavanagati yadā sādhu baddhvā samīram
yogīndro vāhayet paścimapathamamanāḥ karmaṇā yātyalaulyaṃ
vāyustenāsya siddhiḥ sakalagadajayo jāyate cāmaratvam ॥ 15 ॥

Tr. Application of *mūlabandha* followed by *uḍḍīyāna-bandha* moves the *prāṇa* firmly into the *suṣumnā*, which has otherwise been moving either through *iḍā* or *piṅgalā*. Thus the great *yogī* makes the *prāṇa* stable and the mind is rendered steady. He attains success in controlling *prāṇa*, overcomes all the diseases and attains immortality. 15.

प्रत्यहं यश्चतुर्वारम् उड्यानं च समभ्यसेत् ।
तस्य नाभेः साधनेन सिद्धो भवति मारुतः ॥ १६ ॥

pratyahaṃ yaścaturvāram uḍyānaṃ ca samabhyaset ।
tasya nābheḥ sādhanena siddho bhavati mārutaḥ ॥ 16 ॥

Tr. One who practises *uḍḍīyāna* for four times a day purifies the navel and gains control over *prāṇa*. 16.

रोगक्षयोऽग्निवृद्धिश्च स्थिरता विग्रहस्य च ।
अनेनोड्यानबन्धेन साधकस्य भवेद् ध्रुवम्[5] ॥ १७ ॥

rogakṣayo'gnivṛddhiśca sthiratā vigrahasya ca ।
anenoḍyānabandhena sādhakasya bhaved dhruvam ।17।

Tr. A *sādhaka* by this practice of *uḍḍīyāna*, certainly gets rid of diseases, enhances (gastric) fire and gets stability of the body. 17.

इति उड्यान[6]बन्धः ।

iti uḍyānabandhaḥ ।

Thus ends *uḍḍyāna-bandha*.

---

1. आधारकुञ्चनेन –b. 2. पदां –b. 3. पर्यमनाः -a. 4. कर्मणापत्यऽलौल्यं – b. 5. ध्रुव –b. 6. उड्डीयान –b.

अथ जालन्धरबन्धः —

atha jālandharabandhaḥ —

***jālandharabandha*—**

पीयूषावरणे तिस्रो[1] विपरीतकृतिस्तथा ।

खेचरीजालन्धरबन्धश्चेत्यादिनाथेन चोदिताः ॥ १८ ॥

pīyūṣāvaraṇe tisro viparītakṛtistathā ।

khecarījālandharabandhaścetyādināthena coditāḥ ॥ 18 ॥

Tr. To restrict the flow of ambrosia the set of three — *viparītakaraṇī*, *khecarī* and *jālandharabandha* is propogated by *ādinātha*. 18.

खेचरी चित्तपीयूषप्रवाहपरिबन्धनी ।

जालन्धरोऽमृतमरुत्प्रवाहपरिरोधकः ॥ १९ ॥

khecarī cittapīyūṣa-pravāha-paribandhanī ।

jālandharo'mṛtamarut-pravāhaparirodhakaḥ ॥ 19 ॥

Tr. Practice of *khecarī* restricts the flow of the activity of *citta* while *jālandharabandha* controls the flow of nectar and *marut (prāṇa)*. 19.

आकुञ्च्य कण्ठं हृदये निदध्यात्

किञ्चित् स तु[2] जालन्धरबन्ध एषः ॥

अयं करोत्यव्ययमर्कवक्त्रे[3]

पतत्सुधाया वपुषोऽमरत्वम् ॥ २० ॥

ākuñcya kaṇṭhaṃ hṛdaye nidadhyāt

kiñcit sa tu jālandharabandha eṣaḥ ॥

ayaṃ karotyavyayamarkavaktre

patatsudhāyā vapuṣo'maratvam ॥ 20 ॥

Tr. Contract the throat and press the chin slightly against the chest. This is *jālandharabandha*, which prevents the flow of ambrosia from falling into mouth of the sun, thus making the body immortal. 20.

बध्नाति वै कण्ठशिरासमूहं[4] नाधस्ततो[5] याति नभः स्रवज्जलम् ।

जालन्धरस्तेन कृतः सुसिद्धैः स्यात् कण्ठदुःखौघविनाशहेतुः ।२१।

---

1. वरणेति स्रो –b. 2. किंचित्तु –b. 3. वक्रे –b. 4. शिरासमूलां –a. 5. अधस्ततो –a.

badhnāti vai kaṇṭhaśirāsamūhaṃ
nādhastato yāti nabhaḥ sravajjalam ||
jālandharastena kṛtaḥ susiddhaiḥ
syāt kaṇṭhaduḥkhaughavināśahetuḥ || 21 ||

Tr. Application of *jālandhara-bandha* controls the group of channels in the throat firmly, which does not allow the nectar to flow down. With this practice, the adepts remove the disorders of the throat. 21.

नृणां कण्ठसंकोचनेनैव नाड्या-
वुभे[1] स्तम्भयेत्तेन मध्यस्थचक्रम् ॥
इदं षोडशाधारनामोक्तमाशु-
गतेः स्तम्भितवायोः सुधापातमग्नौ ॥ २२॥

nṛṇāṃ kaṇṭhasaṅkocanenaiva nāḍyāv-
ubhe stambhayettena madhyasthacakram ||
idaṃ ṣoḍaśādhāranāmoktamāśu-
gateḥ stambhitavāyoḥ sudhāpātamagnau || 22 ||

Tr. By the contraction of the throat *(jālandhara-bandha)* one can stop both the *nāḍīs*, thus stabilizing the *madhyacakra*. This further moves the *vāyu* in the sixteen *ādhāras*. This practice quickly controls the *prāṇa* and stops falling of the nectar in the fire. 22.

अमृतमहिमगुः स्वमेष[2] नाभि-
स्थित-दहनः प्रपिबज्ज्व[3]लत्यजस्रम् ॥
निटिलकमलतश्च्युतं तदग्निर्
न पिबति[4] पाति च बन्ध[5] एव धत्ते ॥ २३ ॥

amṛtamahimaguḥ svameṣa nābhi-
sthita-dahanaḥ prapivajjvalatyajasram ||
niṭilakamalataścyutaṃ tadagnir-
na pibati pāti ca bandha eva dhatte || 23 ||

Tr. The huge fire that continuously burns at the navel naturally burns up the nectar oozing from the moon. Application of this *bandha (jālandhara)* prevents the fire from devouring the nectar flowing from the lotus at the forehead. 23.

---

1. नाशवुभे –b. 2. गुःह्यमेष –b. 3. प्रपिवन्ज्व –b. 4. याति –b. 5. बन्धु a

इति जालन्धरबन्धः ॥

iti jālandhara-bandhaḥ.

Thus ends *jālandhara-bandha*.

इदं बन्धत्रयं श्रेष्ठं मरुज्जय[1]सुसिद्धिदम् ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां साधनं[2] योगिनो विदुः ॥ २४ ॥

idaṃ bandhatrayaṃ śreṣṭhaṃ marujjayasusiddhidam ।
sarveṣāṃ yogatantrāṇāṃ sādhanaṃ yogino viduḥ ॥ 24 ॥

Tr. These three *bandhas* are excellent for proper control of *prāṇa* according to the *yogīs* and are eulogized in all the *yogic* texts as great techniques. 24.

अधस्तात् कुञ्चनेनैव कण्ठसंकोचनेन च ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मरन्ध्रगः ॥ २५ ॥

adhastāt kuñcanenaiva
kaṇṭhasaṅkocanena ca ॥
madhye paścimatānena
syāt prāṇo brahmarandhragaḥ ॥ 25 ॥

Tr. Simultenuous contraction of the anus *(mūlabandha)* and throat *(jālandharabandha)* accompanied with abdominal retraction towards the back *(uḍḍīyāna-bandha)* channelizes the *prāṇa* to the *brahmarandhra*. 25.

प्राणः प्राणवायुः ब्रह्मरन्ध्रगः सुषुम्नापथचारी स्यात् ।
मध्यगो भवेन्मूल[3]स्थानं समाकुञ्च्य उड्यानं[4] तु कारयेत् ।२६।

prāṇaḥ prāṇavāyuḥ brahmarandhragaḥ
suṣumṇāpathacārī syāt ॥
madhyago bhavenmūlasthānaṃ
samākuñcya uḍyānaṃ tu kārayet ॥ 26 ॥

Tr. One should practise *uḍḍīyāna* and *mūlabandha* so that *prāṇavāyu* courses through *suṣumṇā* — the middle *nāḍī* and reaches the *brahmarandhra*. 26.

इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमापथं मूलस्थानम् ।
मार्गसंकोचनं विधाय उड्यानमुदरसंकोचनं ततः ॥ २७ ॥

iḍāṃ ca piṅgalāṃ baddhvā
vāhayet paścimāpathaṃ mūlasthānam ॥

---

1. मज्जय –b. 2. साधन –b. 3. भवत्मूल –b. 4. उड्डीयानं –b.

mārgasaṅkocanaṃ vidhāya
uḍyānamudarasaṅkocanaṃ tataḥ ॥ 27 ॥

Tr. Contracting the *mūlasthāna* and retracting the abdominal wall which is *uḍḍīyāna*, *prāṇa* courses through the posterior path leaving *iḍa* and *piṅgalā*. 27.

इडां पिंगलां बद्ध्वा कण्ठसंकोचनेन पश्चिमपथं पृष्ठवंशमार्गे पवनं[1] वाहयेत् कुर्यात् ॥

iḍāṃ piṅgalāṃ baddhvā kaṇṭhasaṅkocanena paścimapathaṃ pṛṣṭhavaṃśamārge pavanaṃ vāhayet kuryāt ॥

Tr. Closing *iḍā* and *piṅgalā* by contraction of the throat, one moves the *prāṇa* through the posterior path which lies at the spine.

पृष्ठवंशं स्थिरं कुर्यादनभ्रं[2] स्थिरसञ्चयम् ।
दण्डधारणमे[3]तद्धि समोर्ध्वं वायुमाहरेत् ॥ २८ ॥

pṛṣṭhavaṃśaṃ sthiraṃ kuryād-
anabhraṃ sthirasañcayam ॥
daṇḍadhāraṇametaddhi
samordhvaṃ vāyumāharet ॥ 28 ॥

Tr. Keep the spine erect, remove the thoughts, and keep steady. And lead the *vāyu* upwards judiciously. This is known as *daṇḍadhāraṇa*. 28.

इति दण्डधारणम् ॥

iti daṇḍadhāraṇa.

This is *daṇḍadhāraṇa*.

अथ महामुद्राः —

atha mahāmudrā —

mahāmudrā —

घटनं शशिसूर्ययोः करोति परिशुद्धिं तनुते वपुः शिराणाम् ।
विदधाति विशोषणं रसानां नरि मुद्राधिगता महापाद्या ॥ २९ ॥

ghaṭanaṃ śaśisūryayoḥ karoti
pariśuddhiṃ tanute vapuḥ śirāṇām ॥
vidadhāti viśoṣaṇaṃ rasānāṃ
nari mudrādhigatā mahāpādyā ॥ 29 ॥

---

1. मार्गपवनं –b. 2. कुर्यादनसं –b. 3. दण्डधरणं –b.

Tr. Practice of *mahāmudrā* which is highly respectable; unifies the moon and the sun, purifies the channels *(śirās)* in body and dries up the toxicity in the body. 29.

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुदृढं योनिं स्ववामांघ्रिणा[1]
धृत्वा पाणियुगेन सम्प्रसारितं पादं[2] ततो दक्षिणं ।
आपूर्य श्वसनेन[3] कुक्षियुगलं[4] बद्ध्वा शनै रेचयेद्
एषा व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते।३०।

vakṣonyastahanuḥ prapīdya sudṛḍham yonim svavāmāṅghriṇā
dhṛtvā pāṇiyugena samprasāritam pādam tato dakṣiṇam ॥
āpūrya śvasanena kukṣiyugalam baddhvā śanai recayed
eṣā vyādhivināśini sumahati mudrā nṛṇām kathyate ॥ 30 ॥

Tr. Place the chin on the chest firmly, press the perineum with the left heel, stretch the right leg and hold the right foot with both the hands, inhale through the nose, hold the air in the chest and slowly exhale. This forms *mahā-mudrā,* which removes diseases of the practitioner. 30.

द्वाराणि सर्वाणि नियम्य सम्यक्
चित्तं निजं चित्तपथे विधाय ॥
विधाय[5] गाढं चिबुकं हृदि स्वे[6]
समारभेद् वायुनिरोधमस्याम् ॥ ३१ ॥

dvārāṇi sarvāṇi niyamya samyak
cittaṃ nijaṃ cittapathe vidhāya ॥
vidhāya gāḍhaṃ cibukaṃ hṛdi sve
samārabhed vāyunirodhamasyām ॥ 31 ॥

Tr. Shut down all the doors (sense organs) properly and become aware of mental activity. Firmly press the chin against the chest. Start controlling of *vāyu (prāṇāyāma).* 31.

मरणसदृश[7]भावं प्राप्य शक्तिस्तदानीं
सरलगतिमुपात्ते वाऽहिराद् दण्डयोगात् ॥
जयमनिलचयानां चालनं नाडिकानाम्[8]
सृजति हरति मृत्युं सेवितासौ सुमुद्रा[9] ॥ ३२ ॥

---

1. वामांऽग्रिणा –b. 2. संप्रसरितपादं –b. 3. श्वसेन –b. 4. युगुलं –b. 5. अनुपलब्धपाठः -b. 6. स्वे –b. 7. मरणसदृशस्वाभावं –a. 8. अजयमनिलचपानांचलनंनाडिकानाम् —b. 9. सुमुद्राः -b.

maraṇasadṛśabhāvaṃ prāpya śaktistadānīṃ
saralagatimupātte vā'hirāṭ daṇḍayogāt ||
jayamanilacayānāṃ cālanaṃ nāḍikānām
sṛjati harati mṛtyuṃ sevitāsau sumudrā || 32 ||

Tr. On attainment of a state similar to death the *śakti (kuṇḍalinī)* becomes straight and starts moving upwards along the spine, and all the *prāṇa* are controlled. *nāḍīs* are stimulated. Practice of this auspicious *mudrā* alleviates (premature) death. 32.

चन्द्रांगेऽभ्यस्य सम्यग् दशशतकिरणांगे[1]ऽभ्यसेत्तुल्यसंख्या
यावत् स्यात् तावदेनां पुनरिह कथितं नास्ति पथ्यं कुपथ्यम्[2] ॥
अस्या अग्ने रसा[3] ये जगति गतरसाः कालकूटं सुधा स्यान्
मुद्रासौ कामधेनुः सकलगदहरी सर्वसिद्धिप्रदा च ॥ ३३ ॥

candrāṅge'bhyasya samyag daśaśatakiraṇāṅge'bhyasettulyasaṃ khyā
yāvat syaṭ tāvadenāṃ punariha kathitaṃ nāsti pathyaṃ kupathyam ||
asyā agne rasā ye jagati gatarasāḥ kālakūṭaṃ sudhā syān
mudrāsau kāmadhenuḥ sakalagadaharī sarvasiddhipradā ca || 33 ||

Tr. Practice this properly on the left (lunar nostril) followed by an equal number through the right. For the one who practises this does not have anything like recommended or restricted food, since the (gastric) fire is enhanced. For him all tastes are tasteless. The deadliest of the poisons *(kālakūṭa)* becomes like nectar. This *mudrā* is like *kāmadhenu* (the wish-fulfilling cow), which removes all the diseases and offers all the supernatural powers. 33.

नाडिचालनं[4] बिन्दुधारणं पापनाशनं रोगशोषणम् ।
शक्तितापनं ब्रह्मरन्ध्रके वायुदापनं मुद्रिकां[5] चरेत् ॥ ३४ ॥

nāḍicālanaṃ bindudhāraṇaṃ
pāpanāśanaṃ rogaśoṣaṇam ||
śaktitāpanaṃ brahmarandhrake
vāyudāpanaṃ mudrikāṃ caret || 34 ||

---

1. किरणाऽगे –b. 2. अनुपलब्धपाठः -b. 3. अग्रेरसा –b. 4. नाडिचालनां –a. 5. मुद्रिका –b.

Tr. This *mudrā* brings about the stimulation of the *nāḍīs*, stability of *bindu*, alleviation of sins, removal of diseases, energysing of *śakti (kuṇḍalinī)* and forcing *prāṇa* to the *brahmarandhra*. 34.

योगासनारूढा मुनेः[1] करोति
सदा सदभ्यासपरस्य मुद्रा ॥
अभीप्सितार्थं बलमिन्द्रियाणां
जयं विधत्तेऽमरतामसौ[2] च ॥ ३५ ॥

yogāyanārūḍhāmuneḥ karoti
sadā sadabhyāsaparasya mudrā ॥
abhīpsitārthaṃ balamindriyāṇāṃ
jayaṃ vidhatte'maratāmasau ca ॥ 35 ॥

Tr. Being firmly established on the path of *āsana*, if a *muni* always undertakes this *mudrā* with devotion, fulfills all the desires, gains strength, controls the senses and attains immortality. 35.

क्षयकुष्ठगुदावर्त्तगुल्मप्लीहपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां च यो भजेत् ॥ ३६ ॥

kṣayakuṣṭhagudāvarttagulmaplīhapurogamāḥ ।
tasya doṣāḥ kṣayaṃ yānti mahāmudrāṃ ca yo bhajet 36

Tr. One who practises *mahāmudrā*, alleviates all the disorders including consumption, skin diseases, constipation, glandular enlargement, spleen disorders and many others. 36.

इति महामुद्रा ॥
iti mahāmudrā.
Here ends *mahāmudrā*.

अथ महाबन्धः —
atha mahābandhaḥ—
***mahābandha* follows—**

धृत्वा वामांघ्रिपार्ष्णिगुद[3]भगविषयान्तेऽनुबध्वा समीरम्
मन्दं संरेच्य सव्येऽवयव इति विधायानुदक्षे[4]ऽभ्यसेत्तत् ॥
वामेनास्थ्यंघ्रिमन्यं चरणमभिविधायानुसंपूर्य वायुं
न्यक् चित्तेऽपानमूर्ध्वं भगमनुकलयेद् राजदन्ते च जिह्वा ॥३७ ॥

1. योगऽधनारूढामुनेः -b. 2. च सौ –b. 3. गुदं –b. 4. दक्ष्ये –b.

dhṛtvā vāmāṅghripārṣṇigudabhagaviṣayānte'nubadhvā samīram mandaṃ saṃrecya savye'vayava iti vidhāyānudakṣe'bhyasettat vāmenāsthyaṅghrimanyaṃ caraṇamabhividhāyānusaṃpūrya vāyum
nyak citte'pānamūrdhvaṃ bhagamanukalayed rājadante ca jihvā37

Tr. Press the left heel at the perineum, hold the breath, then gently exhale through the left (nostril). Practise this through the right (nostril). Put the other (right) heel at the (pubic) bone, thereafter inhale gently and with full concentration raise the *apāna* up the anal region while pressing the root of the front teeth with the tongue. 37.

महाबन्धः प्रोक्तो यमकुटिलबन्धैकदलनस्[1]
तथा नाडीनां द्राक् उपरिगतिबोधप्रजनकः ॥
मनोवेणीसंगं नयति[2] **किल केदारमविशन्**[3]
ह्यपानप्राणैक्यान् मुनय उपयान्त्यस्य भजनात् ॥ ३८ ॥

mahābandhaḥ prokto'yamakuṭilabandhaikadalanas
tathā nāḍīnāṃ drāk uparigatibodhaprajanakaḥ ॥
manoveṇīsaṅgaṃ nayati kila kedāramaviśan
hyapānaprānaikyān munaya upayāntyasya bhajanāt ।38।

Tr. It is held that practice of *mahābandha* removes the intricate fetters of death, promotes upward movement of the *nāḍīs* and directs the mind to *kedāra* (center of the eyebrows). Through this practice the *munis* attain the union of *prāṇa* and *apāna*. 38.

अयं[4] **नाडिचालाद्रसौघं समस्तं**
नयति उत्तमांगादधः सौधमुच्चैः ।
सदाभ्यासतः शाम्भवी मध्यगः स्यान्
मरुत् स्यात् पुष्टिरंगेऽस्थिदार्ढ्यं मुनेश्च ॥ ३९ ॥

ayaṃ nāḍicālādrasaughaṃ samastaṃ
nayati uttamāṅgādadhaḥ saudhamuccaiḥ ।
sadābhyāsataḥ śāṃbhavī madhyagaḥ syān-
marut syāt puṣṭiraṅge'sthidārḍhyaṃ muneśca 39

Tr. Practice (stimulation) of this *nāḍī* pulls up the hosts of secretions from the upper parts (perineum) to the lower part.

---

1. दलनास् -a. 2. मनोवेणोसंगनेंयति –b. 3. मपिशंख्य –b. 4. अप –b.

A regular practice of this by a *muni* offers success in *śāṃbhavī*, directs the *marut* (*prāṇa*) to the middle path (*suṣumnā*), nourishes the body and strengthens the bones. 39.

बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत् सर्वमीप्सितम् ।
अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेष्वपि ॥ ४० ॥

bandhenānena yogīndraḥ sādhayet sarvamīpsitam ।
apānaprāṇayoraikyaṃ kṛtvā tribhuvaneṣvapi ॥ 40 ॥

Tr. An adept of *yoga* fulfills all desires through this *bandha*, unites *prāṇa* and *apāna* and (moves in) the three worlds. 40.

इति महाबन्धः ॥

iti mahābandhaḥ.

End of *mahābandha*.

अथ महावेधः —

atha mahāvedhaḥ—

***mahāvedha* follows—**

रूपलावण्यसम्पूर्णा यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धो महावेधं विना तथा ॥ ४१ ॥

rūpalāvaṇyasampūrṇā yathā strī puruṣaṃ vinā ।
mahāmudrāmahābandho mahāvedhaṃ vinā tathā ॥ 41 ॥

Tr. Just as charm and beauty of a woman is futile without a man, so also *mahāmudrā* and *mahābandha* are fruitless without *mahāvedha*. 41.

महावेधसंस्थो मुनिः पूर्य वायुं
गतिं चास्य रुद्ध्वानुजालन्धरेण ॥
स्फिचौ[1] ताडयेत् स्थाप्य हस्तौ समानौ
शनैर्भूतले नासिकां सन्निरुध्य ॥ ४२ ॥

mahāvedhasaṃstho muniḥ pūrya vāyuṃ
gatiṃ cāsya ruddhvānujālandhareṇa ॥
sphicau tāḍayet sthāpya hastau samānau
śanair bhūtale nāsikāṃ sannirudhya ॥ 42 ॥

Tr. In the practice of *mahāvedha*, a *muni* inhales the air and retains the breath with *jālandhara-bandha* and placing

1. स्फिजौ –b.

the hands on the ground strikes the buttocks gently on the floor. 42.

कृते संस्फुरत्येवमेवं समीरो
हृदन्तर्गतस्तेन[1] सन्धानमेषाम्[2] ॥
भवेदर्कचन्द्रानलानां सुसिद्ध्यै[3]
स्पृशेज्जिह्वया राजदन्तोर्ध्वरन्ध्रम् ॥ ४३ ॥

kṛte saṃsphuratyevamevaṃ samīro
hṛdantargatastena sandhānameṣām ॥
bhavedarkacandrā*nalānāṃ susiddhyai*
spṛśejjihvayā rājadantordhvarandhram ॥ 43 ॥

Tr. With this practice *prāṇa* dwelling in the heart gets stimulated. For further success one should press the tongue against the cavity above the uvula. Thus one unites the forces of *arka* (sun), *candra* (moon) and *anala* (fire). 43.

यदोत्पन्नावस्था मरणसदृशात्रानुपवनं
विमुञ्चेदभ्यस्तो विधिवदितिबन्धः सुफलदः ॥
महावेधः सेव्यः सकलपलितघ्नो[4] वलितजित्[5]
चलत्यन्तःशक्तिर्भृशपवन[6]सन्तान इह ॥ ४४ ॥

yadotpannāvasthā maraṇasadṛśātrānupavanaṃ
vimuñcedabhyasto vidhivaditibandhaḥ suphaladaḥ ॥
mahāvedhaḥ sevyaḥ sakalapalitaghno valitajit
calatyantaḥśaktirbhṛśapavanasantāna iha ॥ 44 ॥

Tr. When a death-like state arises, one should release the *prāṇa*. Having been perfect in the proper technique, *mahāvedha* brings about the auspicious results like removal of all grey hair and wrinkles, moves the internal energy *(kuṇḍalinī)* and expansion of *prāṇa*. 44.

भ्रुवोरन्तर्दृष्टिं सुदृढमनुबध्नाति[7] विमृयान्
महामुद्राद्यं[8] वै त्रितयमिति गुह्यं मृतिहरम् ॥
जराजन्मच्छिदि[9] ज्वलन[10]परिवृद्धिं वितनुते
चतुर्द्वैगुण्येना[11]ऽहनि सततमेतत्[12] परिभजेत् ॥ ४५ ॥

1. हृदंतं अतस्तेन –a. 2. मेघाम् -a. 3. सुसिद्धौ –b. 4. पलितघ्नो – अनुपलब्धपाठः -b. 5. पलिजित् -b. 6. भृशात्रवन –b. 7. बध्याति –b. 8. महामुद्रावै –b. 9. जरात्रनू मोछेदि –a. 10. ज्यलन –b. 11. वतुर्द्विगुण्येना –a. 12. मेज्चत् -b

bhruvorantardrṣṭiṃ sudṛḍhamanubadhnāti vibhṛyān
mahāmudrādyaṃ vai tritayamiti guhyaṃ mṛtiharam ॥
jarājanmacchidi jvalanaparivṛddhiṃ vitanute
caturdvaiguṇyenā'hani satatametat paribhajet ॥ 45 ॥

Tr. One firmly fixes the gaze at the center of the eyebrows and practises the triad of *mahāmudrā* etc. consistently, eight times a day. This is the secret of overcoming death, alleviation of old age, and enhancing bodily heat. 45.

समीचीनशिक्षावतामेवमुक्तं
पुरासाधने साधकानां सदल्पम् ॥
मृगोदध्युताशाध्व[1]संसेवनानां
विधेयं तथादौ दृढं वर्जनं[2] ज्ञैः ॥ ४६ ॥

samīcīnaśikṣāvatāmevamuktaṃ
purāsādhane sādhakānāṃ sadalpam ॥
mṛgodadhyutāśādhvasaṃsevanāṇāṃ
vidheyaṃ tathādau dṛḍhaṃ varjanaṃ jñaiḥ ॥46॥

Tr. Whatever little has been said above is of primary importance even for those who are well trained. In the beginning a wise practitioner should not run after the (*siddhis*) like a mirage. 46.

अनेन वेधेन समीरणेन संविध्य सम्यङ् मुनिपुंगवाग्र्यः[3] ।
ग्रन्थीन् भिनत्याशु महापथेन स ब्रह्मरन्ध्रेण तु[4] योगिराजः ॥ ४७ ॥

anena vedhena samīraṇena
saṃvidhya samyaṅ munipuṅgavāgryaḥ ॥
granthīn bhinatyāśu mahāpathena
sa brahmarandhreṇa tu yogirājaḥ ॥ 47 ॥

Tr. A skillful practitioner would pierce the *granthis* (knots) located in the middle path (*suṣumnā*) with *prāṇa* by the practice of *mahāvedha* and taking the *prāṇa* to *brahmarandhra*. 47.

महामुद्रात्रयमिदं शक्तिबोधकरं परम् ।
नाडीगताखिलमलशोषणं कायसिद्धिकृत् ॥ ४८ ॥

---

1. मृगीदृध्युताशाऽध्वं –b. 2. वर्जन –b. 3. मुनियुगवाग्पः -b. 4. नु –b.

mahāmudrātrayamidaṃ śaktibodhakaraṃ param ।
nāḍigatākhilamalaśoṣaṇaṃ kāyasiddhikṛt ॥ 48 ॥

Tr. The triad of *mahāmudrā* etc. is efficient (means) to arouse *kuṇḍalinī*, through cleansing of all the morbidities in the *nāḍīs* and brings perfection of the body. 48.

इति महावेधः ॥

iti mahāvedhaḥ.

Here ends *mahāvedha*.

महापदाद्यां[1] प्रथमं विधाय
मुद्रां महाबन्धमथो समभ्यसेत् ॥
हठान्[2] महावेधमनु प्रकुर्या
शक्तिप्रचालो[3]ऽभ्यसनक्रमोऽन्वयम् ॥ ४९ ॥

mahāpadādyāṃ prathamaṃ vidhāya
mudrāṃ mahābandhamatho samabhyaset ॥
haṭhān mahāvedhamanu prakuryā
śaktipracālo'bhyasanakramo'nvayam ॥ 49 ॥

Tr. One should first practise *mahāmudrā* followed by *mahābandha* and then *mahāvedha*. This is the sequence of practice for the arousal of *kuṇḍalinī śakti*. 49.

मूलस्थानं पूर्वमाकुञ्च्य सम्यग्
उड्डीयानं कारयेत् साधकोऽनु ॥
नाड्या बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमेऽनु-
मार्गे वायुं साधयेत् कर्मणैवम्[4] ॥ ५० ॥

mūlasthānaṃ pūrvamākuñcya samyag-
uḍḍīyānaṃ kārayet sādhako'nu ॥
nāḍyā baddhvā vāhayet paścime'nu-
mārge vāyuṃ sādhayet karmaṇaivam ॥ 50 ॥

Tr. Firstly contract the anus (*mūlabandha*), then practise *uḍḍīyāna*. Thus one should course the *prāṇa* through the posterior path after controlling the *nāḍīs*. 50.

इति मुद्रानवकमिदम् ॥

iti mudrānavakamidam.

Here ends the group of nine (?) *mudrās*.

---

1. महापदागं –b. 2. तूहगन् -b. 3. प्रबालो –b. 4. कमणैवम् -b.

सशक्तिचालं प्रसुप्तशक्तिबोधकृते सेव्यम् ।
अनेन सुबुद्धा यदा तदा ग्रन्थिपद्ममभिच्छक्तिः[1] ॥ ५१ ॥

saśakticālaṃ prasupta
śaktibodhakṛte sevyam ॥
anena subuddhā yadā
tadā granthipadmamabhicchaktiḥ ॥ 51 ॥

Tr. These *mudrās* along with *śakticāla* may be practised for the arousal of the dormant *śakti (kuṇḍalī)*. Thus being awakened, the *śakti* pierces the three *granthis* in the form of lotus. 51.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्त्वकौमुद्यां बन्धत्रयमुद्रात्रयविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ bandhatrayamudrātrayavivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter narrating the three *bandhas* and three *mudrās* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. गन्थिग्नमिच्छक्तिः -a.

Chapter—16

अथ तत्र बिन्दुवर्णनम् –

atha tatra binduvarṇanam –

Description of *bindu*—

तद्यथा तदुक्तं योगचन्द्रिकायाम् —

tadyathā taduktaṃ yogacandrikāyām –

It has been stated in *yogacandrikā*—

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर् बिन्दुरिन्दुर्[1] रजो रविः ।
उभयोः संगमादेव प्राप्तव्यं परमं पदम् ॥ १ ॥

binduḥ śivo rajaḥ śaktir bindurindur rajo raviḥ ।
ubhayoḥ saṅgamādeva prāptavyaṃ paramaṃ padam ॥1॥

Tr. *bindu* is considered *śiva* and *rajas* is *śakti*, *bindu* is moon, *rajas* is sun. By union of both, one certainly attains the highest state. 1.

वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यदा रजः ।
याति बिन्दोः सहैकत्वं[2] भवेद् दिव्यवपुस्तथा ॥ २ ॥

vāyunā śakticālena preritaṃ ca yadā rajaḥ ।
yāti bindoḥ sahaikatvaṃ bhaved divyavapustathā ॥ 2 ॥

Tr. By the practice of *śakticāla* and the stimulation of *vāyu*, when the *rajas* is channelised it (*rajas*) gets united with *bindu*, as a result of which, the physique of a *yogī* turns divine. 2.

संगमात् मिलनात् । परमं पदं ब्रह्मस्थानं योगिभिर्लब्धव्यम् ॥ तदभ्यासार्थं[3] वज्रोल्यादित्रयम् ॥

saṅgamāt milanāt । paramaṃ padaṃ brahmasthānaṃ yogibhir-labdhavyam । tadabhyāsārthaṃ vajrolyāditrayam ॥

Tr. *saṃgama* means union. *paramam padam* stands for *brahmasthāna* which is attained by the *yogīs*. For this, the triad of *vajroli* etc. recommended.

स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि[4] योगोदितैः
सद्विधानैर्विना साधकः साबलः[5] ॥
मुच्यतेऽसौ सुवज्रोलिकाभ्यासतः
सर्वसिध्यास्पदं याति भूमण्डले ॥ ३ ॥

---

1. विन्दुरिद्रव –b. 2. सहैकं –b. 3. सार्थ –a. 4. वर्त्तशनोऽपि –a. 5. साऽबलः -b.

svecchayā vartamāno'pi yogoditaiḥ
sadvidhānairvinā sādhakaḥ sābalaḥ ॥
mucyate'sau suvajrolikābhyāsataḥ
sarvasidhyāspadaṃ yāti bhūmaṇḍale ॥ 3 ॥

Tr. Even without following the techniques laid down in the *yoga* texts and acting on his own accord, if a *sādhaka* practises this efficient *vajroli* willfully, he gets liberated and qualifies for all the supernatural powers on this earth. 3.

वज्रोल्याः प्रथमाभ्यासप्रकारो यथा योगचन्द्रिकायाम् —

vajrolyāḥ prathamābhyāsaprakāro yathā yogacandrikāyām —

The initial practice of *vajroli* according to *yogacandrikā*—

अपानमार्गतः सम्यगूर्ध्वकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषो वापि नारी वा वज्रोलीसिद्धिभाजनम् ॥ ४ ॥

apānamārgataḥ samyagūrdhvakuñcanamabhyaset ।
puruṣo vāpi nārī vā vajrolīsiddhibhājanam ॥ 4 ॥

Tr. Firmly pull the anus up. Success in *vajroli* can be achieved by both man and woman equally. 4.

अपानमार्गतो गुददेशेन ऊर्ध्वमुपरि कुञ्चनं संकोचनमूर्ध्वम् आकर्षणं वा अभ्यसेत् ॥ इति ॥ ५ ॥

apānamārgato gudadeśena ūrdhvamupari kuñcanaṃ saṅkocanaūrdhvam ākarṣaṇaṃ vā abhyaset ॥ *iti* ॥ 5 ॥

One pulls up the anus, the location of *apāna*. 5.

अथ प्रकारान्तरेण वज्रोल्याः प्रथमाभ्यासः —

atha prakārāntareṇa vajrolyāḥ prathamābhyāsaḥ —

A variation of the initial practice of *vajroli* —

स यथा -

sa yathā

It is as follows—

प्राक् शनैर्मेहनेनोर्ध्वमाकुञ्चनं
सुन्दरं[1] सुन्दरी वाभ्यसेत् पुरुषः ॥

1. अनुपलब्धपाठः -b.

याति वज्रोलिकासिद्धिमत्युत्तमां
कायसिद्धेः प्रसूर्बिन्दुसिद्धिर्यया ॥ ६ ॥

prāk śanairmehanenordhvamākuñcanaṃ
sundaraṃ sundarī vābhyaset puruṣaḥ ॥
yāti vajrolikāsiddhimatyuttamāṃ
kāyasiddheḥ prasūrbindusiddhiryayā ॥ 6 ॥

Tr. A man or woman, in the beginning, pulls up the generative organ frequently. One certainly attains success in *vajroli*, a perfect body and success (in controlling) *bindu*. 6.

शलाकया धातुगणान्तरोत्थया[1]
कनीनिकातः[2] अतिसूक्ष्मयाल्पकम् ॥
रन्ध्रं[3] स्वलिंगस्य शनैः प्रवेशना-
भ्यासक्रमात् वायुगतिक्षमं चरेत् ॥ ७ ॥

śalākayā dhātugaṇāntarotthayā
kanīnikātaḥ atisūkṣmayālpakam ॥
randhraṃ svaliṅgasya śanaiḥ praveśanā-
bhyāsakramāt vāyugatikṣamaṃ caret ॥ 7 ॥

Tr. Carefully insert a fine metal tube in the passage of urethra. As one continues this practice, the urethra becomes free for air circulation. 7.

अपानमाकुञ्च्य ततो बलेनोर्ध्वं दुग्धमाकृष्टिविधिक्रमेण ।
समभ्यसेन् निश्चलमल्पं भगे पतद्बिन्दुमथोर्ध्वमा[1]हरेत् ॥ ८ ॥

apānamākuñcya tato balenordhvaṃ
dugdhamākṛṣṭividhikrameṇa ॥
samabhyasen niścalamalpaṃ bhage
patadbindumathordhvamāharet ॥ 8 ॥

Tr. Thereafter, by a forceful contraction of the *apāna*, one gradually suck milk following the prescribed technique. With this steady practice one can even suck up the ejaculated *bindu* (semen) falling in the vagina. 8.

---

1. गणान्तरोत्पत्थया -a. 2. कनीकातः -b. 3. परिसूक्ष्मयाल्पकं रन्ध्रं –b. 4. माकृष्टिविधिक्रमेण । समभ्यसेन् निश्चलमल्पं भगे पतद्बिन्दुमथोर्ध्वमा अनुपलब्धपाठः —b.

इति बिन्दुजये विधिः क्रमेण
हठयोगाय उपदिष्ट उक्तः ॥
मरणं स्यति योगसिद्धिभाक् स्यात्
किल बिन्दौ परिरक्षितेन किं किम् ॥ ९ ॥

iti bindujaye vidhiḥ kramena
haṭhayogāya upadiṣṭa uktaḥ ॥
maraṇaṃ syati yogasiddhibhāk syāt
kila bindau parirakṣitena kiṃ kim ॥ 9 ॥

Tr. This is the narration of the sequence of the techniques for success in *bindu propagated* in *haṭhayoga.* By retention of *bindu* a practitioner of *yoga* can retard death and what not? 9.

तथा चोक्तं ग्रन्थान्तरे –

tathā coktaṃ granthāntare—

It is said in another text—

चलितं तु स्वकं बिन्दुमूर्ध्वमाकुञ्च्य रक्षयेत् ।
सुगन्धो योगिनां देहे जायते बिन्दुधारणाद् ॥ इति ॥ १० ॥

calitaṃ tu svakaṃ bindum-
ūrdhvamākuñcya rakṣayet ॥
sugandho yogināṃ dehe
jāyate bindudhāraṇād ॥ *iti* ॥ 10 ॥

Tr. One should raise one's *bindu* upwards which is ejaculated, and preserve it, which creates pleasant smell in the body. 10:

अथ वज्रोली –

atha vajrolī —

***vajrolī* follows —**

अथ हि कुसुमितायाः पुष्पमूर्ध्वं स्वमूर्ध्नि
क्रमत[1] उपरि कुर्यात् कुञ्चिता[2]ल्लिंगनालात् ॥
निज उपगतबिन्दुं संनिवध्यानुकुर्यात्
सुरतरसनिमग्नो लिंगसञ्चालनानि ॥ ११ ॥

---

1. केमत –b. 2. कुचित्ता –a.

atha hi kusumitāyāḥ puṣpamūrdhvaṃ svamūrdhni
kramata upari kuryāt kuñcitāllinganālāt ||
nija upagatabinduṃ sannivadhyānukuryāt
suratarasanimagno liṅgasañcālanāni || 11 ||

Tr. A man having engaged in copulation should contract the urethra and suck the *rajas* of a menstruating woman by raising it upwards and he should preserve the ejaculated semen while moving the penis. 11.

बिन्दुः पाण्डुर एष[1] चन्द्र उदितः सूर्यो भवेदार्त्तवं
सिन्दूरप्रतिमं रवेः पदगतं[2] शुक्रं शशिस्थानके[3] ||
ऐक्यं[4] साध्वनयोः[5] स्ववर्ष्मणि नृणां नो जायतेऽतो मृतिर्
अन्योऽन्यं नृवधूरतेऽनिलमहिम्नैक्यं द्वयोर्वर्ष्मणि || १२ ||

binduḥ pāṇḍura eṣa candra uditaḥ sūryo bhavedārttavaṃ
sindūrapratimaṃ raveḥ padagataṃ śukraṃ śaśisthānake ||
aikyaṃ sādhvanayoḥ svavarṣmaṇi nṛṇāṃ no jāyate'to mṛtir
anyo'nyaṃ nṛvadhūrate'nilamahimnaikyaṃ dvayorvarṣmaṇi 12

Tr. The white *bindu* is called *candra* while *ārtava* (menstrual secretion), which is as red as orpiment, is called *sūrya* (sun). Union of *śukra* (semen) in the abode of *ravi* (sun- menstrual secretion) and vice versa is considered auspicious which should happen in one's own body which overcomes (premature) death. A man and a woman should mutually unify (*rajas* and *śukra*) in the body by the grace of *prāṇa*. 12.

अभ्यासपाटवतया[6] विदधाति योषिद्[7]
एवं नुरूर्ध्वं परिकर्षणतः सुबिन्दुम् ||
यद्यार्त्तवं स्वमभिरक्षति योगिनी सा
वज्रोलिकेत्यखिलसिद्धिपदं प्रयाति || १३ ||

abhyāsapāṭavatayā vidadhāti yoṣid
evaṃ nurūrdhvaṃ parikarṣaṇataḥ subindum ||
yadyārttavaṃ svamabhirakṣati yoginī sā
vajrolíketyakhilasiddhipadaṃ prayāti || 13 ||

Tr. A woman is considered a *yoginī*, who through

---

1. रास –b. 2. पदमतं –b. 3. स्थानेकै –b. 4. रोक्यं –b. 5. साधुऽनयोः -b. 6. पारवतया –a. 7. योविद् -b.

skillful practice, sucks up *bindu* and her own *ārtava* (menstrual discharge) and preserves them. This is called *vajrolikā* which offers the entire set of the supernatural powers. 13.

शक्ती रजो बिन्दुरयं महेशो
द्वयोस्तु योगात्[1] परिलभ्यतेऽखिलम्[2] ॥
वीर्यं निजं स्त्र्यार्तवमेतयोस्तनौ
ऐक्यं हि वज्रोल्युदिता सुसिद्धिदा ॥ १४ ॥

śaktī rajo bindurayam maheśo
dvayostu yogāt parilabhyate'khilam ॥
vīryaṃ nijaṃ stryārtavametayostanau
aikyaṃ hi vajrolyuditā susiddhidā ॥ 14 ॥

Tr. *rajas* is *śakti* and *bindu* is *maheśa*, union of which brings about all (success). The process in which one unifies both – *bindu* and *ārtava* — in the body is known as *vajrolī* which bestows the auspicious supernatural powers. 14.

सहजोलीत्वमरोली वज्रोल्या भेदतो भवतः ।
बिन्दुं देहे विभृयाद् येन च केन प्रकारेण ॥ १५ ॥

sahajolītvamarolī vajrolyā bhedato bhavataḥ ।
binduṃ dehe vibhṛyād yena ca kena prakāreṇa ॥ 15 ॥

Tr. *sahajolī* and *amarolī* are the variations of *vajrolī*. By any means, one must preserve *bindu* in the body. 15.

वज्रोलीमिथुनोत्तरं नरवधूः यो[3] स्वांगसंलेपनात्
सन्दग्धछगणोत्यपां[4]बुवृतया भूत्या क्षणं संस्थितिः ॥
सैषोक्ता सहजोलिका सुरनुतैः श्रीआदिनाथैः शुभा
वज्रोलीति नृणां तनोति नियतं भोगोऽतिभुक्तेऽमृतम् ॥ १६ ॥

vajrolīmithunottaraṃ naravadhūḥ yo svāṅgasaṃlepanāt ,
sandagdhachagaṇotyapāṃbuvṛtayā bhūtyā kṣaṇaṃ saṃsthitiḥ ॥
saiṣoktā sahajolikā suranutaiḥ śrīādināthaiḥ śubhā
vajrolīti nṛṇāṃ tanoti niyataṃ bhogo'tibhukte'mṛtam ॥ 16 ॥

Tr. Both man and woman should besmear the body with ashes of (burnt) cowdung mixed up with water after the practice of *vajrolī*. And then one should stay for a while. This is also known as *sahajolikā* by the followers of *ādinātha*. The

---

1. द्वयोयोगात् -b. 2. खिल्यं –b. 3. वधूदयो –a. 4. छगणोप्त्ययां –b.

auspicious practice of *vajrolī* not only brings about the vast material pleasure but as well as immortality to man. 16.

इति वज्रोलीसहजोल्यौ ॥

iti vajrolīsahajolyau—

Here end *vajrolī* and *sahajolī.*

अथामरोली –

athāmarolī—

Here follows *amarolī* —

पित्तोल्बणत्वात् प्रथमां च धारां[1] विहाय निःसारतयान्त्यधाराम् ।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिकैः खण्डमतेऽमरोली ॥ १७ ॥

pittolbaṇatvāt prathamāṃ ca dhārāṃ
vihāya niḥsāratayāntyadhārām ॥
niṣevyate śītalamadhyadhārā
kāpālikaiḥ khaṇḍamate'marolī ॥ 17 ॥

Tr. The first and last flow (of the urine) should be avoided due to its acidic contents and it containing no substance and consume the cool middle flow (of urine). This is *amarolī* according to *khaṇḍakāpālikas.* 17.

इत्यमरोली ॥

ityamarolī ॥

End of *amarolī.*

आकृष्योर्ध्वं मूत्रमल्पाल्पकं तद्
वारं वारं संसृजेन् मूत्रणेयम् ॥
आकृष्योर्ध्वं वायुना यो हठेन
नित्यं धत्ते बिन्दुसिद्धिं स याति ॥ १८ ॥

ākṛṣyordhvaṃ mūtramalpālpakaṃ tad
vāraṃ vāraṃ saṃsṛjen mūtraṇeyam ॥
ākṛṣyordhvaṃ vāyunā yo haṭhena
nityaṃ dhatte bindusiddhiṃ sa yāti ॥ 18 ॥

Tr. While urinating one should frequently constrict the urethra by pulling up the *vāyu* with force and urinate in a very small quantity. With a daily practice, one attains *bindusiddhi.* 18.

---

1. धारं –a.

इति षण्मासाभ्यसनाद्
गुरुणोक्तपथेन सन्ततम् ॥
योगी शान्तिं गतः[1] स भोगे
न तस्य बिन्दुः क्षयं व्रजति ॥ १९ ॥

iti saṇmāsābhyasanād
guruṇoktapathena santatam ॥
yogī śāntiṃ gataḥ sa bhoge
na tasya binduḥ kṣayaṃ vrajati ॥ 19 ॥

Tr. A consistent practice for six months as guided by the *guru*, brings Bliss to a *yogī*. Even (sensual) engagement may not bring consumption of *bindu*. 19.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां वज्रोल्यादित्रयसाधनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ vajrolyāditrayasādhanodyotaḥ ॥

Here ends the description of the three techniques like *vajrolī* etc. in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

1. शान्तिर्गतः -b.

Chapter—43

अथ शक्तिचालनम् —

atha śakticālanam—

śakticālana **follows—**

अथ परिचयकाले[1] कुण्डलीयं जिताग्नेर्[2]
अणुसमपवनाभ्यां[3] चालिता भूरितप्ता[4] ॥
प्रविशति कपिलांगीं शाम्भवीं मारुतोऽयं
क्रमत उपरि भिन्दन्याति चक्राणि मन्दम् ॥ १ ॥

atha paricayakāle kuṇḍalīyaṃ jitāgner
aṇusamapavanābhyāṃ cālitā bhūritaptā ॥
praviśati kapilāṅgīṃ śāmbhavīṃ māruto'yaṃ
kramata upari bhindanyāti cakrāṇi mandam ॥ 1 ॥

Tr. In the stage of *paricaya*, through *prāṇa* and *apāna* made subtle, *kuṇḍalinī* is stirred and heated and is thus awakened with fire. *prāṇa* gradually moves upwards by piercing the *cakras* and reaches *suṣumnā*. 1.

कन्दोर्ध्वं भुजगी महापथमुखद्वारं समाच्छाद्य तत्
स्वास्ये[5]नाभिविधाय दीर्घशयनं यातास्ति मूलाम्बुजम् ॥
तद्द्वारं प्रविभेदयेद् दृढहठादुद्घाटयेत् कुञ्चिका-
योगेनैव यथा कपाटमचलं स्यात् शक्तियोगोऽन्विह ॥२॥

kandordhvaṃ bhujagī mahāpathamukhadvāraṃ samācchādya tat
svāsyenābhividhāya dīrghaśayanaṃ yātāsti mūlāmbujam ॥
taddvāraṃ pravibhedayed dṛḍhahaṭhādudghāṭayet kuñcikā-
yogenaiva yathā kapāṭamacalaṃ syāt śaktiyogo'nviha ॥ 2 ॥

Tr. *kuṇḍalinī* covers the mouth of the great path *(suṣumnā)* which lies above the *kanda*. She covers the mouth of *mūlapadma* and takes deep slumber. Just as a door is opened with a key, this door (of *suṣumnā)* should be forcibly opened with intense practice of *haṭha*. 2.

अधोमुखी भुजंगमी[6] भवं प्रदर्शयेत् नृणाम् ।
समाधि उन्मुखीकृता चरेत् स्वरूपदर्शनम् ॥ ३ ॥

adhomukhī bhujaṅgamī bhavaṃ pradarśayet nṛṇām ।
samādhi unmukhīkṛtā caret svarūpadarśanam ॥ 3 ॥

---

1. परिचयकाकाले -b. 2. कुण्डलीयजिताग्नेर -b. 3. ऽणुसमयवनभ्यां -b. 4. भूरितप्त -b. 5. स्वास्थे -b. 6. भजंगमी -b.

Tr. *kuṇḍalinī* which has the mouth facing down reveals the world to human beings. When it is upturned through *samādhi*, one realizes the Self. 3.

प्राणायामाच्छक्तिबोधो यदैव सर्वा निष्पन्ना क्रिया साधकस्य ।
तस्यावस्था सैव निष्पत्तिनाम्नी सिद्धिस्थानं संयमः स्यात्तदार्यः ४

prāṇāyāmācchaktibodho yadaiva
sarvā niṣpannā kriyā sādhakasya ॥
tasyāvasthā saiva niṣpattināmnī
siddhisthānaṃ saṃyamaḥ syāttadāryaḥ ॥ 4 ॥

Tr. When through the practice of *prāṇāyāma*, *śakti* is aroused, then alone all the efforts of the *sādhaka* become fruitful. This is the state called *niṣpatti*, the fountainhead of success, in which the superior practice of *saṃyama* happens. 4.

आयामदीर्घाभ्यसनेन सत्वधिया सुषुम्णागतमाविधाय ।
चित्तं समीरस्तमनुप्रधावत्यविस्खलदाद्याः[1] परिशुष्कदोषे[2] ॥ ५ ॥

āyāmadīrghābhyasanena satva-
dhiyā suṣumṇāgatamāvidhāya ॥
cittaṃ samīrastamanupradhāvaty-
aviskhaladādyāḥ pariśuṣkadoṣe ॥ 5 ॥

Tr. Removal of all the impurities, prolonged practice of *prāṇāyāma* while maintaining a *sātvika* attitude and focusing the mind on *suṣumnā*, move the *prāṇa* freely into (*suṣumṇā*). 5.

स्थितिं विनिर्भिद्य जवादपानो यदोर्ध्वमायाति समश्चरन्मुनेः ।
प्रत्यङ्मुखप्राणयुगग्निरेष आदीप्य नागीं परितापयेत्तदा ॥ ६ ॥

sthitiṃ vinirbhidya javādapāno
yadordhvamāyāti samaścaranmuneḥ ॥
pratyaṅmukhaprāṇayugagnireṣa
ādīpya nāgīṃ paritāpayettadā ॥ 6 ॥

Tr. *apāna* pierces (*mūlādhāra*) and speedily moves up without obstruction. The fire along with *prāṇa* moving posteriorly heats up *kuṇḍalinī*. 6.

---

1. विस्खलद्याद्याः --b. 2. दोषो --b.

सञ्चालिता प्राणसमीरणेनापानेन लोला दहनेन तप्ता[1] ।
निगृह्य पुच्छे परिबोधितासौ तूर्णं विशेन्मध्यपथास्य[2]मध्यम् ॥ ७ ॥

sañcālitā prāṇasamīraṇen-
āpānena lolā dahanena taptā ॥
nigṛhya pucche paribodhitāsau
tūrṇaṃ viśenmadhyapathāsyamadhyam ॥ 7 ॥

Tr. Being moved by *prāṇa* stirred by *apāna* and heated by fire, being caught hold of at the tail and awakened, she (*kuṇḍalī*) soon enters the central path of *suṣumnā*. 7.

मतान्तरे तु—

matāntare tu —

According to another opinion—

अधोगतिं स्वामपहाय तूर्णं भूत्वोर्ध्वगोऽपान[3] उपैति वह्निना ।
प्राणस्य संस्थानमपानवह्निप्राणा मिलित्वा भुजंगी प्रयात्यरम्[4] ।८।

adhogatiṃ svāmapahāya tūrṇaṃ
bhūtvordhvago'pāna upaiti vahninā ॥
prāṇasya saṃsthānamapānavahni-
prāṇā militvā bhujaṅgī prayātyaram ॥ 8 ॥

Tr. Giving up its own downward movement, *apāna* along with fire soon moves upwards to the abode of *prāṇa* and *bhujagī*, taking *apāna*, fire and *prāṇa* along enters *ara* (*cakra*) . 8.

एतन्मते तु –

etanmate tu—

According to this opinion—

भित्वा ब्रह्मग्रन्थिमादौ रजोऽकं वेगेनोच्चैः सत्वराऽरुन्धती[5] सा ।
ब्रह्मच्छिद्रस्था व्रजन्त्यूर्ध्वमुच्चै[6]र्विष्णुग्रन्थिं सत्वजं याति चित्तम् ९

bhitvā brahmagranthimādau rajoṅ'kaṃ
vegenoccaiḥ satvarārundhatī sā ॥
brahmacchidrasthā vrajantyūrdhvamuccair-
viṣṇugranthiṃ satvajaṃ yāti cittam ॥ 9 ॥

Tr. In the beginning *arundhatī (kuṇḍalinī)* forcefully and quickly pierces the *brahmagranthi* which has predominance of *rajas* and enters the cavity in the *brahmarandhra* and then

1. तमा –b. 2. यथास्या –b. 3. र्ध्वगोंऽपान –b. 4. भजंगी प्रयांत्यपरं –a. 5. सत्यराऽहंधती –a. 6. व्रजन्त्यूर्ध्वमुमुच्चै –b.

soon moves up to *viṣṇugranthi*, which makes the mind full of *satva(-guṇa)*. 9.

ग्रन्थिं[1] स्ववेगेन विभिद्य विष्णोर्महीयसोर्ध्वं च ततोऽभिगच्छति।
ग्रन्थिर्महेशस्य चकास्ति यत्र भ्रूमण्डलं याति ततोग्लुमण्डलम् ॥१०॥

granthiṃ svavegena vibhidya viṣṇor-
mahīyasordhvaṃ ca tato'bhigacchati ॥
granthirmaheśasya cakāsti yatra
bhrūmaṇḍalaṃ yāti tatoglumaṇḍalam ॥ 10 ॥

Tr. With its own force, it pierces the *viṣṇu-granthi* and freely moves upwards reaching *rudragranthi* at the centre of the eyebrows from where it reaches *candramaṇḍala*. 10.

दलैर्वृतं षोडशभिः सुचक्रमनाहताख्यं किल तत्र चन्द्रजम्।
द्रावं सदा शोषयते भुजंगी श्लेष्मात्मकं चार्कजमस्रपित्तजम् ॥११॥

dalairvṛtaṃ ṣoḍaśabhiḥ sucakram-
anāhatākhyaṃ kila tatra candrajam ॥
drāvaṃ sadā śoṣayate bhujaṅgī
śleṣmātmakaṃ cārkajamasrapittajam ॥ 11 ॥

Tr. The auspicious *cakra* named *anāhata* is decorated with sixteen petals wherein the phlegmatic fluid (ambrosia) oozing from the moon and also the fluid secreting from the sun are devoured by *kuṇḍalinī*. 11.

प्राणस्य वेगाच्चलितौ सितारुणौ
वशोमनोत्वेन विकारहेतू ॥
संशोषणाच्चानु तदेव शक्तेः
स्वच्छं[2] भवेत् सिन्धुजलं यथा तथा ॥ १२ ॥

prāṇasya vegāccalitau sitāruṇau
vaśomanotvena vikārahetū ॥
saṅśoṣaṇāccānu tadeva śakteḥ
svacchaṃ bhavet sindhujalaṃ yathā tathā ॥ 12 ॥

Tr. An impetus coming from *prāṇa* sets both moon (white) and sun (red) into action which is the cause of modification of the mind. Due to sucking by *śakti* it (the mind) becomes purified like the water of an ocean. 12.

---

1. गन्थि -b. 2. स्वच्छ -b.

पीतद्रावा सा परावृत्य पश्चात् स्वस्थानं द्रागेति जीवेन सार्धम् ।
प्राणापानौ मुक्तघस्रक्षयात्म[1]भावौ नित्यंस्तस्तदाऽसत्सदूनौ[2] ॥१३॥

pītadrāvā sā parāvṛtya paścāt
svasthānaṃ drāgeti jīvena sārdham ॥
prāṇāpānau muktaghasrakṣayātma-
bhāvau nityaṃstastadā'satsadūnau ॥ 13 ॥

Tr. She *(kuṇḍalinī)* which has conjured the secretion (mentioned before) later on retracts and quickly reaches her own abode along with *jīva*. Thus *prāṇa* and *apāna* become relieved of day *(piṅgalā)* and night *(iḍā)* and free from *sat* (intransitory) and *asat* (transitory). 13.

समरसमथ चिन्तत्यक्तदुर्वासनांकं
भवति च[3] जठराग्निर्वर्धतेऽलं तदानीम् ॥
दहति निखिलमन्तर्भौतिकं द्रावयित्वा
तनुरमृत[4]रसाक्ता स्याज्जरामृत्युहीना ॥ १४ ॥

samarasamatha cintatyaktadurvāsanāṅkaṃ
bhavati ca jaṭharāgnirvardhate'laṃ tadānīm ॥
dahati nikhilamantarbhautikaṃ drāvayitvā
tanuramṛtarasāktā syājjarāmṛtyuhīnā ॥ 14 ॥

Tr. One attains tranquility having been free from evil desires and worries. Gastric fire is enkindled. All the internal fluids (toxins) are conjured up. The body becomes replete with ambrosia and remains free from oldage and (premature) death. 14.

प्राणाभ्यासक्रम इति जड्डे भौतिके दिव्यरूपं
सत्वं तेजः प्रतिदिनमलं सद्विवेकेन शुद्धम् ॥
वृद्धिं याति द्रुतमथ तदा धारणा सर्वसिद्धि-
पात्रं योगी हिमकर इवापूर्ण सद्विक्रमेण ॥ १५ ॥

prāṇābhyāsakrama iti jaḍe bhautike divyarūpaṃ
satvaṃ tejaḥ pratidinamalaṃ sadvivekena śuddham ॥
vṛddhiṃ yāti drutamatha tadā dhāraṇā sarvasiddhi-
pātraṃ yogī himakara ivāpūrṇa sadvikrameṇa ॥ 15 ॥

---

1. मुक्तघसस्यक्षयात्म –b. 2. सत्सदनौ –b. 3. भवति य –b. 4. तनुरसमृत –a.

Tr. Practice of *prāṇāyāma* is undertaken in the gross, mundane body which reveals the divinity, *satva* and effulgence day by day through pure conscience. It becomes pure and grows fast. Then the *yogī* masters *dhāraṇā* and qualifies for all the *siddhis* gradually, like the crescent moon (gradually) gains. 15.

बोधे भुजंग्याहतसर्वकर्मणः समाध्यवस्था स्वयमेव जायते ।
महापथे प्राण उपैति लीनतां मनोऽस्तकर्मास्य[1] तदा न मृत्युः १६

bodhe bhujaṅgyāhatasarvakarmaṇaḥ
samādhyavasthā svayameva jāyate ||
mahāpathe prāṇa upaiti līnatām
mano'stakarmāsya tadā na mṛtyuḥ || 16 ||

Tr. The state of *samādhi* occurs on its own on the arousal of *kuṇḍalinī* which eats up all the *karmas*. The *prāṇa* moves to the *mahāpatha (suṣumnā)* rendering the mind absorbed and free from *karmas*. Then one does not face (premature) death. 16.

कालं विधत्तः किल पुष्पवन्तौ नक्तं दिनाख्यं यमिनः सुषुम्णा ।
कालस्य भोक्त्री सहजस्तदात्म्यं[2] कुम्भो भवेत् केवलनामकश्च१७

kālaṃ vidhattaḥ kila puṣpavantau
naktaṃ dinākhyaṃ yaminaḥ suṣumṇā ||
kālasya bhoktrī sahajastadātmyaṃ
kumbho bhavet kevalanāmakaśca || 17 ||

Tr. The blossoming time of a *yogī* in the form of night and day is conjured up by *suṣumnā*. Then alone *kevala-kumbhaka* supervenes naturally. 17.

प्राणे सुषुम्णावदनं प्रविष्टे शमं प्रयाते मनसिज[3]चापले ।
तदामरोली मुनिनायकस्य वज्रोलिका सिद्ध्यति दीर्घजीवितम्१८

prāṇe suṣumṇāvadanaṃ praviṣṭe
śamaṃ prayāte manasijacāpale ||
tadāmarolī munināyakasya
vajrolikā siddhyati dīrghajīvitam || 18 ||

Tr. When *prāṇa* enters the mouth of *suṣumnā* a restless mind becomes pacified. Then a great *muni* attains success in *amarolī* and *vajrolī* which offer long life. 18.

---

1. मनोऽस्तकर्माऽस्य –b. 2. सहजस्तदात्थं –a. 3. मनसीत –b.

चित्तस्थैर्ये मारुत[1]सुस्थिरः स्यात्तस्माद् बिन्दुसुस्थिरो[2] योगिनोऽगे
बिन्दुस्थैर्ये[3] स्याद्दयासत्वमोजः पिण्डस्थैर्यं कायसम्पद्बलं च ।१९।

cittasthairye mārutasusthiraḥ syāt-
tasmād bindususthiro yoginoṅ'ge ॥
bindusthairye syāddayāsatvamojaḥ
piṇḍasthairyaṃ kāyasampadbalaṃ ca ॥ 19 ॥

Tr. As the mind is stabilized, *prāṇa* is made stable, as a result of which *bindu* in the body of a *yogī* becomes stable. Stability of *bindu* brings about kindness, truth (or enthusiasm- *satva*), heightened energy, stability, strength and an adamantine body. 19.

महामुद्रया पञ्चबन्धात् सुपीठैर्
विधायाभ्यसेत् प्रत्यहं[4] शक्तिचालम् ॥
पुरा साधकोऽभ्यास उत्कर्षकुम्भो-
रगीचालने स्तो[5] यथोक्ते घटोते ॥ २० ॥

mahāmudrayā pañcabandhāt supīṭhair-
vidhāyābhyaset pratyahaṃ śakticālam ॥
purā sādhako'bhyāsa utkarṣakumbho-
ragīcālane sto yathokte ghaṭote ॥ 20 ॥

Tr. Initially one should practise *śakticāla* daily adopting a suitable posture, applying five *bandhas* and *mahāmudrā*. A *sādhaka* should engage in the prescribed practice of moving *uragī (kuṇḍalinī)* along with *utkarṣa kumbhaka*. 20.

उत्कर्षमारम्भदशाप्रवेश[6]धर्मादिसिद्ध्यंगकजन्मने भजेत् ।
कुम्भोऽयमिन्द्वर्कभवं कफास्र[7]पित्तात्मकं द्रावमलं बहिश्चरेत् ।२१।

utkarṣamārambhadaśāpraveśa-
dharmādisiddhyaṅgakajanmane bhajet ॥
kumbho'yamindvarkabhavaṃ kaphāsra-
pittātmakaṃ drāvamalaṃ bahiścaret ॥ 21 ॥

Tr. One should practise *utkarṣa prāṇāyāma* to enter the stage of *ārambha*, which produces virtue and supernatural powers. Practice of this *kumbhaka* removes all the impure fluids produced by *indu* (moon) and *arka* (sun) in the form of phlegm, blood and bile. 21.

1. पारुत –b. 2. संस्थिरो –b. 3. विंस्थैये –b. 4. त्युत्यहं –b. 5. चालनेरतो –b. 6. प्रतेश –a. 7. कफाऽस्य –b.

नाडीविशुद्धौ श्रमजः प्रघर्मः पुरानुनाड्यन्तरजीर्णदुर्मलः ।
उभौ प्रयातोऽनुविशुद्धवर्ष्मण्यारम्भघर्मोऽर्कशशीमलद्रवः ॥ २२ ॥

nāḍiviśuddhau śramajaḥ pragharmaḥ
purānunāḍyantarajīrṇadurmalaḥ ॥
ubhau prayāto'nuviśuddhavarṣmaṇy-
ārambhagharmo'rkaśaśīmaladravaḥ ॥ 22 ॥

Tr. Purification of the *nāḍis* will initially purify the chronic bad impurities in the *nāḍīs* and perspiration generated by exertion. The body is made pure when in the state of *ārambha* impure perspiration produced in the fluid form by *arka* (sun) and *śaśī* (moon) is removed. 22.

विकारिचन्द्रोष्मगुघर्म[1]रूपद्रावे गते भ्वऽग्निजलात्मवीर्ये ।
क्षीणेऽल्पवीर्योष्णवहेन्दुरव्योः[2] संग्यस्तवीर्यं[3] हृतोंऽगकम्पः[4] ।२३।

vikāricandroṣmagugharmarūpa-
drāve gate bhva'gnijalātmavīrye ॥
kṣīṇe'lpavīryoṣṇavahenduravyoḥ
saṅgyastavīryaṃ hṛtoṅ'gakampaḥ ॥ 23 ॥

Tr. When the impure perspiration produced by moon and sun is reduced, of the elements in the form of earth, fire, water and mind are also reduced. Moreover, when *ravi* and *indu* are enfeebled, one experiences tremor. 23.

यथा यथा भ्वऽग्निजलात्मवीर्यशोषस्तनौ कुम्भहविर्भुजा[5] मुनेः ।
तथा बहिर्दग्धकपालदृश्यं विसारमंगं लघु राजते दिवि ॥ २४ ॥

yathā yathā bhva'gnijalātmavīrya-
śoṣastanau kumbhahavirbhujā muneḥ ॥
tathā bahirdagdhakapāladṛśyaṃ
visāramaṅgaṃ laghu rājate divi ॥ 24 ॥

Tr. As the energy of earth, fire, water and mind is absorbed by the fire of *kumbhaka*, one looks as if burnt of the forehead and the body is reduced of essence and thus one moves in the space. 24.

---

1. चन्द्रोष्णगुह्यघर्म —b. 2. वीर्योत्मवहेंदुख्योः -b. 3. संग्यऽस्तवीर्ये —b. 4. हृदतोऽगकम्पः —b. 5. हविभुजा —b.

एतन्मूलं योगबीजे स्पष्टम् ॥

etanmūlaṃ yogabīje spaṣṭam ॥

The fundamentals of this is clarified in *yogabīja*.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठकौमुद्यां
शक्तिचालविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhakaumudyāṃ
śakticālavivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter describing *śakticāla* in *haṭhakaumudī* composed by *sundaradeva*.

Chapter—44

अथ शक्तिचालनप्रकारः —

atha śakticālanaprakāraḥ —

Varieties of *śakticālana*—

नाडीशोधनसर्वलक्षणयुतस्त्वारम्भमासेवयेद्
यावन् मूत्रविडल्पतासनसमुत्थानांकिसिद्धा[1]निलः ॥
वर्षं वानलसः[2] समाहितमना वर्षत्रयं वाभ्यसेत्
प्रत्याहार उपाहृताक्ष उरगीचालं[3] यथोक्तं क्रियात् ॥ १ ॥

nāḍīśodhanasarvalakṣaṇayutastvārambhamāsevayed
yāvan mūtraviḍalpatāsanasamutthānāṅkisiddhānilaḥ ॥
varṣaṃ vānalasaḥ samāhitamanā varṣatrayaṃ vābhyaset
pratyāhāra upāhṛtākṣa uragīcālaṃ yathoktaṃ kriyāt ॥ 1 ॥

Tr. One should maintain the state of *ārambha* until it reveals all the signs of purification of the *nāḍīs* like, scanty faeces and urine, levitation in an *āsana*, control over *prāṇa*. (Followed by this) one should diligently practise *pratyāhāra* for a year or three with controlled mind and by withdrawing the senses coupled with practice of *śakticāla*. 1.

तद्यथा —

Which is as follows—

पुरानिलं वायुसखेन साकं धिया समारोप्य[4] निरोधयेत्तम् ।
ध्यायेत् सदा चक्रिणमप्रबुद्धं[5] नाभौ सदा कुण्डलिनं निविष्टम् २

purānilaṃ vāyusakhena sākaṃ
dhiyā samāropya nirodhayettam ॥
dhyāyet sadā cakriṇamaprabuddhaṃ
nābhau sadā kuṇḍalinaṃ niviṣṭam ॥ 2 ॥

Tr. In the beginning control *anila* along with *agni*, the friend of *vāyu*, by holding it with focussed mind. One should always meditate on God *viṣṇu* who is in slumber adorned with earrings and located at the navel. 2.

---

1. सिध्य –b. 2. वानलं –b. 3. समाहितमना वर्षत्रयं वाभ्यसेत् प्रत्याहार उपाहृताक्ष उरगीचालं -अनुपलब्धपाठः —b. 4. ससमारोप्य –b. 5. चक्रिणाढ्या प्रबुद्ध-a.

द्वारं समावेष्ट्य[1] मुखेन मध्यमन्याः स्वभोगेन शिराश्च नाभिजाः
स्वपुच्छमास्येन निगृह्य सम्यक् पन्थानमीड्यं मरुदग्नि[2]चेतसाम् ३

dvāraṃ samāveṣṭya mukhena madhya-
manyāḥ svabhogena śirāśca nābhijāḥ ||
svapucchamāsyena nigṛhya samyak
panthānamīḍyaṃ marudagnicetasām || 3 ||

Tr. With her hood (i.e. with her mouth), *kuṇḍalinī* closes the door of *suṣumnā* and also the *śirās* originating from the navel, putting her own tail in the mouth (of *suṣumnā).* One should follow the path of *prāṇa*, fire and mind. 4.

निगृह्य पुच्छं भुजगीं प्रसुप्तामुद्बोधयेदस्तभयो बलात्ताम् ।
विहाय निद्रां सरलोर्ध्वं नेया[3] हठात् समुत्तिष्ठत आत्तवेगा[4] ।४।

nigṛhya puccham bhujagīm prasuptām-
udbodhayedastabhayo balāttām ||
vihāya nidrāṃ saralordhvaṃ neyā
haṭhāt samuttiṣṭhata āttavegā || 4 ||

Tr. Awaken the latent *kuṇḍalī* by use of force without fear, and by catching with tail. Giving up slumber,.she becomes straight and soon moves intensely upward. 4.

Note. See HP-V.41-42; 172. 4.

परिस्थितस्येह फणावती सा प्रातस्तु सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात् परिधानयुक्ता प्रगृह्य निर्यात् परिचालनीया ॥ ५ ॥

paristhitasyeha phaṇāvatī sā
prātastu sāyaṃ praharārdhamātram ||
prapūrya sūryāt paridhānayuktā
pragṛhya niryāt paricālanīyā || 5 ||

Tr. One should catch hold of the hooded serpent which is lying (latent) and stimulate her daily by inhaling through *sūrya* (right) *nāḍī* for one and a half hours in the morning and evening. 5.

Note. For *paridhānayukti* see HP-v.41-42(Lonavla Yoga Institute); iii.108 (K'dhama). 5.

1. संमावेष्टा –b. 2. मरुदःग्नि –b. 3. सरलोर्ध्वमेया –b. 4. आतवेगा –a.

प्राणस्य संरोधनतः पुरासौ मुक्तानृजुत्वात्[1] सरलास्ति कुण्डली ।
सन्दीपनचालनमुक्तमस्याश्चलत्यसौ मध्यपथस्य चालनात् ॥ ६ ॥

prāṇasya saṃrodhanataḥ purāsau
muktānṛjutvāt saralāsti kuṇḍalī ॥
sandīpanacālanamuktamasyāś-
calatyasau madhyapathasya cālanāt ॥ 6 ॥

Tr. In the beginning, through the control of *prāṇa*, *kuṇḍalī* which had been crooked becomes free and straight. Due to stimulation, movement and thus being free, *kuṇḍalī* moves through the middle path *(suṣumṇā)*. 6.

मुक्तासने[2] वा कमलासने वा वज्रासने वा विदधीत चालनम् ।
अपानमूर्ध्वं प्रसभं निगृह्य योगेन[3] नागीं हृदि चिन्तयन् मुनिः ।७।

muktāsane vā kamalāsane vā
vajrāsane vā vidadhīta cālanam ॥
apānamūrdhvaṃ prasabhaṃ nigṛhya
yogena nāgīṃ hṛdi cintayan muniḥ ॥ 7 ॥

Tr. One should move her *(kuṇḍalī)* after adopting *muktāsana*, *kamalāsana* or *vajrāsana*. The *muni*, through *yoga* practice carefully moves *apāna* upwards through control as he meditates on *nāgī (kuṇḍalinī)* in the heart. 7.

प्राणायामयथोक्त[4]विध्युपगतः स्थित्वाऽनु पद्मासने
ह्यग्रवाहमपानमन्तरगतिं कृत्वा विभिद्य स्थितिः ॥
ऊर्ध्वं कामहुताशनेन सरलां योन्यास्यरोधार्दनैर्[5]
वामांघ्रेर्दृढ[6]पार्ष्णिनाऽपरपदा रुध्वा शिराः कुण्डलीम् ।८।

prāṇāyāmayathoktavidhyupagataḥ sthitvā'nu padmāsane
hyagravāhamapānamantaragatiṃ kṛtvā vibhidya sthitiḥ ॥
ūrdhvaṃ kāmahutāśanena saralāṃ yonyāsyarodhārdanair
vāmāṅghrerdṛḍhapārṣṇinā'parapadā rudhvā śirāḥ kuṇḍalīm ॥8॥

Tr. One maintains *padmāsana* and follows the prescribed technique as laid down for *prāṇāyāma* and moves the *apāna* upward while piercing the *mūlādhāra* with fire which makes her (*kuṇḍalinī*) straight. This is done by blocking the

1. मुक्ताऽऋजुत्वात् --b. 2. त्यक्तासने –b. 3. निगृह्यस्वणगेन –b. 4. पथोक्त -b.
5. योन्यास्परोधाऽर्दनैर् -- b. 6. र्दट –b.

śirās (channels) and the mouth of its origin by pressing the perineum with the left heel firmly and putting the other foot over it. 8.

वारं वारमपानकोर्ध्वकलनैर्मूलेन रुद्धं[1] हठाद्
आयुज्याग्नि[2]पदं च तद्धमनतो[3] दीप्तानलेनाहताम् ॥
कुर्याच्छक्तिमतीव दोलनतया सम्यङ् मुहूर्तद्वयं
जान्वोः पाणियुगं निधाय रविणा ज्ञः पूर्य कुम्भं चरेत्९

vāraṃ vāramapānakordhvakalanairmūlena ruddhaṃ haṭhād
āyujyāgnipadaṃ ca taddhamanato dīptānalenāhatām ॥
kuryācchaktimatīva dolanatayā samyaṅ muhūrttadvayam
jānvoḥ pāṇiyugaṃ nidhāya raviṇā jñaḥ pūrya kumbhaṃ caret 9

Tr. By blocking the *mūlādhāra*, *apāna* is forcefully raised repeatedly upwards while taking the fire along, blowing up *śakti (kuṇḍalinī)* vigorously for a couple of *muhūrtas* (1 *muhūrta*=48 minutes). One places the hands on the knees and practises *kumbhaka* after inhaling through the right nostril. 9.

क्षुब्ध्वा सेति धनञ्जयेन शयिता तप्ताऽथ ऊर्ध्वं[4] तथा
औष्ण्येनार्काध्वगतेरणस्य जठरोत्थेद्धाग्निना सर्वतः ॥
प्लुष्टे वात्मनि निद्रिता गतमलेऽन्तर्मुद्रितं स्वाननं
शाम्भव्या न नतः पृथग्वितनुते स्फूर्जत्फणारोषणम् ।१०।

kṣubdhvā seti dhanañjayena śayitā taptā'dha ūrdhvaṃ tathā
auṣṇyenārkādhvagateraṇasya jaṭharotthcddhāgninā sarvataḥ ॥
pluṣṭe vātmani nidritā gatamale'ntarmudritaṃ svānanaṃ
śāmbhavyā na nataḥ pṛthagvitanute sphurjatphaṇāroṣaṇam ।10।

Tr. The latent *kuṇḍalinī* having been stimulated by *dhanañjaya* moves up. Being heated by *prāṇa* and abdominal fire and also being stirred, she becomes free from impurities, and she spreads the hood with a hissing sound. 10.

कट्यान्दोलनतो मुहूर्त्तयुगलं सञ्चालनेनाकुलो-
र्ध्वाऽधः सपवनानलैः प्रतिदिनं सायं प्रगेऽत्यर्दिता ॥
अभ्यासेद्धहुताशतापिततनु[5]र्हाज्यानचान्द्री सुधा-
श्रान्तौ याति बहिस्तदा मृतिगुणघ्नूरन्ध्रनाडीलयः ॥११॥

---

1. अनुपलब्धपाठः —b. 2. आयंज्याग्नि —b. 3. तद्वमनतो —b. 4. तप्ताऽधरुर्ध्व —b. 5. अभ्यासेद्वहुनाशतापिततनू —b.

*kaṭyāndolanato muhūrtayugalaṃ sañcālanenākulo-
rdhvā'dhaḥ sapavanānalaiḥ pratidinaṃ sāyaṃ prage'tyarditā* ||
*abhyāseddha-hutāśatāpitatanurhājyānacāndrī sudhā-
śrāntauyāti bahistadā mṛtiguṇabhrūrandhranāḍīlayaḥ* || 11 ||

Tr. By the movement of the waist for a couple of *muhūrtas* (1 *muhūrta*=48 minutes) everyday in the morning and evening she along with *prāṇa* and fire becomes very much stimulated. As the *ghee* melts due to heat of fire, so also the ambrosia flows down and then *kuṇḍalinī* merges in the *bhrūrandhra* (center of the eyebrows). 11.

**चालयित्वा पुरा कुण्डलीं भस्त्रिकां चानुकुर्याद्विशेषेण योगी सदा
चालने क्षुब्धहृद्भस्त्रितप्ताति सासन्निवाकृष्टिदर्वाग्भिरुत्तिष्ठते[1] ।१२।**

*cālayitvā purā kuṇḍalīṃ bhastrikāṃ
cānukuryādviśeṣeṇa yogī sadā* ||
*cālane kṣubdhahṛdbhastritaptāti sā-
sannivākṛṣṭidarvāgbhiruttiṣṭhate* || 12 ||

Tr. A *yogī* should always specially practise *bhastrikā* after moving *kuṇḍalī* in the beginning. Being excessively stimulated by the movement of *bhastrikā*, she (*kuṇḍalinī*) rises up spreading the hood. 12.

**स्थित्वा पद्मासने प्राक् रविधमनिकया कुम्भमापूर्य दीर्घम्
चापानं वायुमूर्ध्वं मुहूरतिबलतः संविधायाऽनुशक्तिम्[2] ॥
आधारे वाऽथ नाभौ विहितनिजपदां चालयित्वाऽनुभस्त्रीं
कुर्यादभ्यासतोऽस्य प्रतिदिनमचला[3] याति बोधं भुजंगी ॥ १३ ॥**

*sthitvā padmāsane prāk ravidhamanikayā kumbhamāpūrya dīrgham
cāpānaṃ vāyumūrdhvaṃ muhūratibalataḥ saṃ vidhāyā'nuśaktim* ||
*ādhāre vā'tha nābhau vihitanijapadāṃ cālayitvā'nubhastrīm
kuryādabhyāsato'sya pratidinamacalā yāti bodhaṃ bhujaṅgī* || 13 ||

Tr. In the beginning, adopting *padmāsana*, inhale through right nostril to fill up the cavity. Then very forcefully

---

1. कृष्टिदर्वाग्भिहतिष्ठते –b. 2. संनिधायाऽनुशक्ति –b. 3. मःचला –b.

hold the *apāna* after raising it up suddenly and then fix the *śakti* at the *ādhāra (mūlādhāra)* or the navel. After this following the prescribed technique, practise *bhastrikā*. A daily practice of this will make the *kuṇḍalinī* awakened. 13.

सञ्चालनक्षुभितरुद्धसमीरवेग-
संगप्रदीप्तशिखियोगत उत्प्रतप्ता ॥
छिद्रं विहाय भुजगी द्रुतमूर्ध्वमेति
ग्रन्थीन् विभिद्य मरुता मनसा श्मशाने ॥ १४ ॥

sañcālanakṣubhitaruddhasamīravega-
saṅgapradīptaśikhiyogata utprataptā ॥
chidraṃ vihāya bhujagī drutamūrdhvameti
granthīn vibhidya marutā manasā śmaśāne ॥ 14 ॥

Tr. Being stirred, the heated up *kuṇḍalinī* due to blazing fire and retention of *prāṇa*, leaves the hole and soon travels upwards while piercing the *granthis*, along with *prāṇa* and mind to reach the void *(brahmarandhra)*. 14.

तुर्यांगुल४प्रमितवेष्टनवस्त्रमस्या[1]
विस्तारतो रवि१२मितांगुलदैर्घ्यमानम् ॥
अंगुष्ठतर्जनीयुगे[2] परिगृह्य तत्र
सव्यापसव्यमसकृत्[3] परिचालयेत्ताम् ॥ १५ ॥

turyāṅgula4pramitaveṣṭanavastramasyā
vistārato ravi12mitāṅguladairghyamānam ॥
aṅguṣṭhatarjanīyuge parigṛhya tatra
savyāpasavyamasakṛt paricālayettām ॥ 15 ॥

Tr. Take a cloth four digits in width and twelve digits in length. Hold it between thumb and index fingers and rub it from left to right. 15.

चालयित्वा दृढं[4] कुण्डलीं यश्चरेत्
सूर्यभेदे स्मृतोज्जयिकायां[5] च वा ॥
शीतलीमभ्यसेदेवमभ्यासिनो
न श्रमश्चालनेनास्ति भस्त्रयां मृतिः ॥ १६ ॥

1. सप्तमस्या –b. 2. तर्जनि –b. 3. मःसकृत् –b. 4. हठं –a. 5. स्मृतोज्जपिकायां –b.

cālayitvā dṛḍhaṃ kuṇḍalīṃ yaścaret
sūryabhede smṛtojjayikāyāṃ ca vā ||
sītalīmabhyasedevamabhyāsino
na śramaścālanenāsti bhastryāṃ mṛtiḥ || 16 ||

Tr. Move the *kuṇḍalī* firmly. Then follow the practice of *sūryabheda, ujjāyī* or *śītalī*. Thus a practitioner will not be tired or exhausted by the practice of *bhastrikā*. 16.

मुहूर्त्तद्वयं चालयेन्निर्भयेन
भुजंगीमिमां सूर्यकुम्भेऽतिदीर्घे[1] ॥
तदैषोर्ध्वमाकर्षयेत् किञ्चिदास्यं
सुषुम्णागता कुण्डली तेन[2] तस्याः ॥ १७ ॥

muhūrttadvayaṃ cālayennirbhayena
bhujaṅgīmimāṃ sūryakumbhe'tidīrghe ||
tadaiṣordhvamākarṣayet kiñcidāsyaṃ
suṣumṇāgatā kuṇḍalī tena tasyāḥ || 17 ||

Tr. Without fear, move *kuṇḍalī* for a couple of *muhūrtas* (96 minutes), through a very prolonged practice of *sūryabheda*. Then *kuṇḍalī* is pulled upward and she enters the mouth of *suṣumnā* a little. 17.

सुषुम्णाया मुखमेषो जहाति
तस्मात् प्राणो व्रजति ब्रह्मरन्ध्रम् ॥
नित्यं तस्माच्चालयेच्छंभुगर्भां
नार्गीं यस्याश्चालनाद्योग्यरुक् स्यात् ॥ १८ ॥

suṣumṇāyā mukhameṣo jahāti
tasmāt prāṇo vrajati brahmarandhram ||
nityaṃ tasmāccālayecchambhugarbhāṃ
nāgīṃ yasyāscālanādyogyaruk syāt || 18 ||

Tr. Then she leaves the mouth of *suṣumnā* and *prāṇa* travels to *brahmarandhra*. Therefore, regularly stir up the *nāḍī (kuṇḍalinī)* which has *śambhu* in its womb which makes one free from diseases. 18.

1. ऽतिदीर्घ –b. 2. कुण्डलीनेन –b.

तथा चोक्तं ग्रन्थान्तरे —

tathā coktaṃ granthāntare—

It has been maintained in another text—

तत्साधनद्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम् ।
प्राणसंरोधनं नाभ्यामृज्वी भवति कुण्डली ॥ १९ ॥

tatsādhanadvayaṃ mukhyaṃ sarasvatyāstu cālanam ।
prāṇasaṃrodhanaṃ nābhyāmṛjvī bhavati kuṇḍalī ॥ 19 ॥

Tr. These two techniques are of prime importance—movement of *sarasvatī* and holding of *prāṇa* at the navel which straightens up *kuṇḍalinī*. 19.

तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयाम्यतः ।
अरुन्धत्येव कथिता पुरा विद्भिः सरस्वती ॥ २० ॥

tayorādau sarasvatyāścālanaṃ kathayāmyataḥ ।
arundhatyeva kathitā purā vidbhiḥ sarasvatī ॥ 20 ॥

Tr. I shall first narrate the technique of movement of *sarasvatī*. The experts have called *arundhatī* as *sarasvatī*. 20.

अस्याः सञ्चालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली ।
इडायां चालयित्वा तु बद्धे पद्मासने दृढे ॥ २१ ॥

asyāḥ sañcālanenaiva svayaṃ calati kuṇḍalī ।
iḍāyāṃ cālayitvā tu baddhe padmāsane dṛḍhe ॥ 21 ॥

Tr. Movement of her (*sarasvatī*) sets *kuṇḍalī* moving on her own. After firmly adopting *padmāsana* one should move the *prāṇa* through *iḍā*. 21.

द्वादशांगुलदैर्घ्यं तु अम्बरं चतुरंगुलम् ।
विस्तारे तेन तां नाडीं वेष्टयित्वा तु तत्सुधीः ॥ २२ ॥

dvādaśāṅguladairghyaṃ tu ambaraṃ caturaṅgulam ।
vistāre tena tāṃ nāḍīṃ veṣṭayitvā tu tatsudhīḥ ॥ 22 ॥

Tr. The cloth measures twelve digits in length and four digits in width. A wise should wrap this *nāḍī*. 22

अंगुष्ठतर्जनीभ्यां तां हस्तेनाकर्षयेद् दृढम् ।
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणे च पुनः पुनः ॥ २३ ॥

aṅguṣṭhatarjanībhyāṃ tāṃ hastenākarṣayed dṛḍham ।
svaśaktyā cālayedvāme dakṣiṇe ca punaḥ punaḥ ॥ 23 ॥

Tr. With the help of the thumb and index pull her up with the hand and with force frequently move it to left and right. 23.

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयश्चालनादिमाम् ।
ऊर्ध्वमाकर्षयेत् किञ्चित् सुषुम्णा कुण्डलीवृता ॥ २४ ॥

muhūrttadvayaparyantaṃ nirbhayascālanādimām ।
ūrdhvamākarṣayet kiñcit suṣumṇā kuṇḍalīvṛtā ॥ 24 ॥

Tr. After fearlessly moving her for a couple of *muhūrtas* (96 minutes) raise her (*kuṇḍalinī*) up to open the mouth of *suṣumṇā*. 24.

तदा कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ॥ २५ ॥

tadā kuṇḍalinī tasyāḥ suṣumṇāyā mukhaṃ dhruvam ।
jahāti tasmāt prāṇo'yaṃ suṣumṇāṃ vrajati svataḥ ॥ 25 ॥

Tr. Then alone *kuṇḍalinī* soon leaves the mouth of *suṣumnā* and therefore *prāṇa* on its own will course through *suṣumnā*. 25.

तुन्दे तु पवनं पूर्य कण्ठसंकोचने कृते ।
सरसं चालयेन्नित्यं शक्तिगर्भां[1] सरस्वतीम् ॥ २६ ॥

tunde tu pavanaṃ pūrya kaṇṭhasaṅkocane kṛte ।
sarasaṃ cālayennityaṃ saktigarbhāṃ sarasvatīm ॥ 26 ॥

Tr. Fill up the cavity with air and contract the throat. Regularly move *sarasvatī* adequately, which is replete with energy (*saktigarbhā*) . 26.

अस्याः[2] सञ्चालनेनैव योगी रोगैः[3] प्रमुच्यते ।
गुल्मं जलोदरं प्लीहं[4] ये चान्ये तुन्द[5]मध्यगाः ॥
ते सर्वे शक्तिचालने रोगा नश्यन्ति निश्चयाद् ॥ इति ॥ २७ ॥

asyāḥ sañcālanenaiva yogī rogaiḥ pramucyate ।
gulmaṃ jalodaraṃ plīhaṃ ye cānye tundamadhyagāḥ ॥
te sarve sakticālane rogā naśyanti niścayād ॥ *iti* ॥ 27 ॥

---

1. शक्तिगर्भ –b. 2. अस्या –b. 3. योगीगैः –b. 4. स्नीहं –b. 5. येवाऽन्येतुद –b.

Tr. Movement of this *(kuṇḍalinī)* makes a *yogī* free from diseases like *gulma* (inflammation), dropsy, spleen disorders and also those related to abdomen. All these diseases are certainly cured by the practice of *śakticālana*. 27.

तथा चोक्तं योगबीजे –

tathā coktaṃ yogabīje—

It has been maintained in *yogabīja*—

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रीं कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ २८ ॥

vajrāsane sthito yogī cālayitvā tu kuṇḍalīm ।
kuryādanantaraṃ bhastrīṃ kuṇḍalīmāśu bodhayet ॥ 28 ॥

Tr. A *yogī* should adopt *vajrāsana* and move *kuṇḍalī*. And thereafter he should practise *bhastrikā*. Thus *kuṇḍalī* is soon awakened. 28.

भिद्यन्ते ग्रन्थयो वंशे तप्तलोहशलाकया ।
तथैव पृष्ठवंशे स्याद् ग्रन्थिभेदास्तु वायुना ॥ २९ ॥

bhidyante granthayo vaṃśe taptalohaśalākayā ।
tathaiva pṛṣṭhavaṃśe syād granthibhedāstu vāyunā ॥29॥

Tr. As the knots of a bamboo are pierced with a hot iron rod, similarly, the *granthis* in the spine are pierced through *prāṇa*. 29.

पिपीलिका यथा लग्ना कम्पस्तत्र प्रवर्त्तते ।
सुषुम्णायां तथाभ्यासात् सततं वायुना भवेत् ॥ ३० ॥

pipīlikā yathā lagnā kampastatra pravarttate ।
suṣumṇāyāṃ tathābhyāsāt satataṃ vāyunā bhavet ॥ 30 ॥

Tr. In the spine a sensation is felt as if an ant is creeping. Such an experience occurs in the *suṣumnā* due to movement of *vāyu* due to regular practice. 30.

रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा सैव याति शिवान्तिकम् ।
चन्द्रसूर्यौ समौ कृत्वा तयोर्योगः प्रवर्त्तते ॥ ३१ ॥

rudragranthiṃ tato bhitvā saiva yāti śivāntikam ।
candrasūryau samau kṛtvā tayoryogaḥ pravartate ॥ 31 ॥

Tr. Piercing the *rudragranthi* she *(kuṇḍalī)* reaches the abode of *śiva*-- center of the eyebrows after uniting both sun and moon. 31.

गुणत्रयादतीतः स्याद् ग्रन्थित्रयविभेदकः ।
शिवशक्तिसमायोगाज्जायते परमा स्थितिः ॥ ३२ ॥

guṇatrayādatītaḥ syād granthitrayavibhedakaḥ ।
śivaśaktisamāyogājjāyate paramā sthitiḥ ॥ 32 ॥

Tr. Due to piercing of the three knots, one transcends the triad of *guṇas* and attains the union of *śiva* and *śakti* which is the Absolute State. 32.

यथा करीकरेणैव पानीयं प्रपिबेत्तथा ।
सुषुम्णा चक्रनिलयं पवनं ग्रसेत्सदा ॥ ३३ ॥

yathā karīkareṇaiva pānīyaṃ prapibettathā ।
suṣumṇā cakranilayaṃ pavanaṃ grasetsadā ॥ 33 ॥

Tr. As an elephant drinks water with the help of the trunk, similarly, *suṣumnā* sucks the *prāṇa* located in the *cakras*. 33.

वज्रदण्डे समुद्भूता मणयश्चैकविंशतिः ।
सुषुम्णायां स्थिताः सर्वे सूत्रे मणिगणा इव ॥ ३४ ॥

vajradaṇḍe samudbhūtā maṇayaścaikaviṃśatiḥ ।
suṣumṇāyāṃ sthitāḥ sarve sūtre maṇigaṇā iva ॥ 34 ॥

Tr. There are twenty-one beads (vertebrae) in the *vajradaṇḍa* (spine) which are actually in *suṣumnā* like the beads strewn in a thread. 34.

आपूर्य पूरितो वायुर्वादितो याति साधकः ।
पुनः पुनस्तदेव हि पश्चिमद्वारलक्षणम् ॥ ३५ ॥

āpūrya pūrito vāyurvādito yāti sādhakaḥ ।
punaḥ punastadeva hi paścimadvāralakṣaṇam ॥ 35 ॥

Tr. When moved, *prāṇa* enters in the posterior path with a sonorous sound repeatedly which signifies its entry. 35.

पूरितस्तु नवद्वारैरीषत्कुम्भकतां गतः ।
प्रविशेत्सर्वगात्रेषु वायुः पश्चिममार्गतः ॥
रेचकः क्षीणतां याति पूरकः शोषयेत्तदा ॥ ३६ ॥

pūritastu navadvārairīṣatkumbhakatām gataḥ ।
praviśetsarvagātreṣu vāyuḥ paścimamārgataḥ ॥
recakaḥ kṣīṇatām yāti pūrakaḥ śoṣayettadā ॥ 36 ॥

Tr. Inhale *prāṇa*, close the nine openings with a little retention. Thus *prāṇa* moves through the posterior path. Exhalation is reduced and inhalation is suspended. 36.

स एष[1] नाथसंकेत इति ॥

sa eṣa nāthasaṅketa iti ॥

This is the indication of the *nātha*.

श्रमजातजलेन सार्धमंगमभ्यासिनाभिविमर्दयेत्तदन्ते ।
मितभुक् च वशी स्वरूपं निष्ठो हितभुक् सिद्धिमुपैति मण्डलेन३७

śramajātajalena sārdhamaṅgam-
abhyāsinābhivimardayettadante ।
mitabhuk ca vaśī svarūpaṃ niṣṭho
hitabhuk siddhimupaiti maṇḍalena ॥ 37 ॥

Tr. As a result of exertion due to practice (of *prāṇāyāma*) the perspiration produced should be rubbed on the body thoroughly. He should consume moderate but nutritious food and gain control on himself. Thus he attains success in one *maṇḍala*. 37.

आशक्तिबोधं शुभबन्धमुद्रादिवत्सदैवाभ्यसनीयमादरात् ।
उत्कर्षकायामक एतदंगं[2] शक्तिप्रबोधीति घटान्त आश्रितम् ॥३८॥

āśaktibodhaṃ śubhabandhamudrā-
divatsadaivābhyasanīyamādarāt ॥
utkarṣakāyāmaka etadaṅgaṃ
śaktiprabodhīti ghaṭānta āśritam ॥ 38 ॥

Tr. One must continue practising the auspicious *bandha*, *mudrā* etc. with full devotion till the arousal of *śakti*. Practice of *utkarṣa prāṇāyāma* forms the part of this arousal of *śakti* which is located in the human body. 38.

अविद्याप्रसुप्ता घटान्तं[3] भुजंगी प्रबुद्धा दृढचालनैश्चानुमाया ।
मुनेर्दिव्यदृक्[4] पुद्गलज्ञानकर्त्री भवेच्छुद्धसत्वात्मविज्ञा[5]स्तदासौ ।३९।

---

1. सरो –b. 2. राजदंडगं–b. 3. घटोत्थं –a. 4. दिंव्यदव–b. 5. त्वात्मविज्ञ—b.

avidyāprasuptā ghaṭāntaṃ bhujaṅgī
prabuddhā dṛḍhacālanaiścānumāyā ।
munerdivyadṛk pudgalajñānakartrī
bhavecchuddhasatvātmavijjñastadāsau ॥ 39 ॥

Tr. In the body, *bhujaṅgī* lies latent due to *avidyā* (ignorance) which a *muni* can awaken through vigorous stirring. Then alone one attains a divine vision, acquires knowledge of the anatomy, a pure *satva* (mind) and realization of the Self. 39.

मतान्तरे –

matāntare --

According to another opinion—

पद्मासने प्राक् परिचालयित्वे-
डायां निरुध्याशुगम[1]र्कनाड्याम् ॥
मुहूर्त्तयुग्मं परिचालयेज्ज्ञः
संवेष्ट्य[2] नाडीं परिकर्षयन् दृढम् ॥ इति ॥ ४० ॥

padmāsane prāk paricālayitve-
ḍāyāṃ nirudhyāśugamarkanāḍyām ॥
muhūrttayugmaṃ paricālayejjñaḥ
saṃveṣṭya nāḍīṃ parikarṣayan dṛḍham ॥ *iti* ॥40॥

Tr. First adopt *padmāsana* and stir up *(kuṇḍalī)* by moving *prāṇa* in the *iḍā* followed by holding it (*prātna*) in the right nostril. A wise should move her for a couple of *muhūrtas* (96 minutes) and should firmly pull up the *nāḍī*. 40.

योगचन्द्रिकायां तु –

yogacandrikāyāṃ tu --

According to *yogacandrikā*—

भानोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं बोधयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ४१ ॥
bhānorākuñcanaṃ kuryāt kuṇḍalīṃ bodhayettataḥ ।
mṛtyuvaktragatasyāpi tasya mṛtyubhayaṃ kutaḥ ॥ 41 ॥

---

1. निरुध्युशुगम –b. 2. संवेष्टग –b.

Tr. Contract the sun (right nostril) and then awaken *kuṇḍalinī*. Thus one overcomes fear from death even if one is in the clutches of death. 41.

भानोराकुञ्चनं पिंगलायाः कर्षणं कुर्यात् योगी । ततः भान्वाकुञ्चनात् कुण्डलीं बोधयेत् अयमर्थः । सूर्यनाड्याकर्षणेन वह्नेः प्राचुर्यं तस्माज्ज्वलनो तेजसा । अपानवाय्वाकर्षणेन वा कुण्डल्या बोधो भवति ॥ ४२ ॥

bhānorākuñcanaṃ piṅgalāyāḥ karṣaṇaṃ kuryāt yogī । *tataḥ bhānvākuñcanāt kuṇḍalīṃ bodhayet ayamarthaḥ* । *sūryanāḍyākarṣaṇena vahneḥ prācuryaṃ tasmājjvalano tejasā* । *apānavāyvākarṣaṇena vā kuṇḍalyā bodho bhavati* ॥ 42 ॥

Tr. A *yogī* contracts the sun (right nostril) which awakens *kuṇḍalī*. This pulling up of *prāṇa* abundantly enhances fire. That sets the fire blazing due to pulling up of *apāna* which awakens *kuṇḍalinī*. 42.

तस्य शक्तिचालनकृताभ्यासः तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ४३ ॥

tasya śakticālanakṛtābhyāsaḥ tasya mṛtyubhayaṃ kutaḥ ॥ 43 ॥

Tr. One who practises *śakticālana* does not fear from death. 43.

मूलस्थानं प्राक् समाकृष्य सम्यगुड्डीयानं कारयेन्निर्भयेन ।
कुम्भं धृत्वानेनैव[1] कर्मणा ज्ञो वायुमार्गे पश्चिमे वाहयेत् स्वम् ४४

mūlasthānaṃ prāk samākṛṣya samyag-
uḍḍīyānaṃ kārayennirbhayena ॥
kumbhaṃ dhṛtvānenaiva karmaṇā
jño vāyumārge paścime vāhayet svam ॥ 44 ॥

Tr. First of all apply *mūlabandha* and then fearlessly practise *uḍḍīyāna* in a proper manner. A wise, while practising *kumbhaka* should move the *prāṇa* through the posterior path (*suṣumnā*). 44.

इति मुद्रादशकमिदं प्रोक्तमादिनाथेन शम्भुना ।
एकैकाकरणेऽस्मिन् क्षमैव मुद्रासुसिद्धये यमिनाम् ॥ ४५ ॥

---

1. कुम्भधन्वाऽनेन वै –b.

iti mudrādaśakamidaṃ
proktamādināthena śambhunā ||
ekaikākaraṇe'smin kṣamaiva
mudrāsusiddhaye yaminām || 45 ||

Tr. Here ends the (description of) the ten *mudrās* as narrated by *ādinātha*. Success in each of the *mudrās* brings stability to a *yogī*. 45.

योगचन्द्रिकायाम् —
yogacandrikāyām --
According to *yogacandrikā*—

अभ्यासनिःसृतां[1] चान्द्रीं कलां नित्यं समाश्रयेत् ।
धारणामुत्तमां चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिकाम् ॥ ४६ ॥

abhyāsaniḥsṛtāṃ cāndrīṃ kalāṃ nityaṃ samāśrayet |
dhāraṇāmuttamāṃ caiva divyadṛṣṭipradāyikām || 46 ||

Tr. One should always take recourse of *kalā* to moon (ambrosia secreting from the moon) through practice, and also *uttamā-dhāraṇā* (*nabho-dhāraṇā*) which bestows upon divine insight. 46.

योगी चान्द्रीं कलां चन्द्रनाडीं नित्यं समाश्रयेत् सेवेत । किंविशिष्टां ? अभ्यासनिःसृताम् । अभ्यासेन कृतवश्याम् । पुनः उत्तमां धारणां[2] नभोधारणां समाश्रयेत्[3] । सर्वासां मध्ये अयमर्थः ॥ ४७ ॥

yogī cāndrīṃ kalāṃ candranāḍīm | *nityaṃ samāśrayet seveta* | *kiṃviśiṣṭāṃ* ? *abhyāsaniḥsṛtāṃ* | *abhyāsena kṛtavaśyāṃ* | *punaḥ uttamāṃ dhāraṇāṃ nabhodhāraṇāṃ samāśrayet sarvāsāṃ madhye ayamarthaḥ* || 47 ||

Tr. A *yogī* should always practise through lunar (left) nostril which controls the flow of ambrosia. Thereafter he should practise *nabhodhāraṇā*. 47.

चन्द्रनाडीसेवने अमृतावाप्तिः । नभोधारणया योगसिद्धिः । खेचरीमुद्रया सिद्धिः सर्वासां मुद्राणां मध्ये इति ॥ ४७ ॥

candranāḍīsevane amṛtāvāptiḥ | *nabhodhāraṇayā yogasiddhiḥ* | *khecarīmudrayā siddhiḥ sarvāsāṃ mudrāṇāṃ madhye iti* || 48 ||

---

1. निःसृता -b. 2. धोरणं -b. 3. समश्रयेत् —b.

Tr. In short, practice through left nostril offers ambrosia and *nabhodhāraṇā* brings about success in *yoga*. Among all the *mudrās*, *khecari* brings success. 48.

मारुताभ्यसनमेतदशेषं चित्तवृत्तिजयतः प्रविधेयम्[1] ।
नेतरत्र मन आदरणीयं स्वस्वरूपलयमत्करणीयम् ॥ ४९ ॥

mārutābhyasanametadaśeṣaṃ
cittavṛttijayataḥ pravidheyam ॥
netaratra mana ādaraṇīyaṃ
svasvarūpalayamatkaraṇīyam ॥ 49 ॥

Tr. The entire practice of *prāṇāyāma* should be undertaken to gain control on the modifications of *citta*. It is futile to focus the mind elsewhere apart from getting absorbed in the Self. 49.

तथा[2] चोक्तं केरलतन्त्रे –

tathā coktaṃ keralatantre –

It has been stated in *keralatantra*—

मनोजये महेशानि सर्वं जयति लीलया ॥ इति ॥ ५० ॥

manojaye maheśāni sarvaṃ jayati līlayā ॥ *iti* ॥ 50 ॥

Tr. O *pārvatī!* Control brought over mind yields easy control over everything. 50.

अरालाचलामध्यमा नाडिकासौ दृढाभ्यासतो योगिनामासनैः स्यात्
दृढं[3] प्राणसंरोधमुद्रासुबन्धैरवक्रा भवेन्मञ्जुमार्गा[4] भुजंग्याः॥५१॥

arālācalāmadhyamā nāḍikāsau
dṛḍhābhyāsato yogināmāsanaiḥ syāt ॥
dṛḍhaṃ prāṇasaṃrodhamudrāsubandhair-
avakrā bhavenmañjumārgā bhujaṅgyāḥ ॥ 51 ॥

Tr. The middle path (*suṣumṇā*) which has a curved passage becomes straight through practice of *āsana*, *prāṇāyāma*, *mudrā* and *bandha* and makes the passage of *kuṇḍalinī* easy. 51.

मुद्रोपदेशं किल साम्प्रदायिकं
दत्ते गुरुर्यः[5] स शिवः स ईश्वरः ॥

---

1. जयतप्रविधयं–b. 2. यथा–b. 3. दृढ–b. 4. मुञ्जुमार्गा—b. 5. दत्तेगुर्यः—b.

तद्वाक्यनिष्ठो नियतं समभ्यसेत्

समाहितो यः स सुसिद्धिभाजनम् ॥ ५२ ॥

mudropadeśaṃ kila sāmpradāyikaṃ

datte gururyaḥ sa śivaḥ sa īśvaraḥ ॥

tadvākyaniṣṭho niyataṃ samabhyaset

samāhito yaḥ sa susiddhibhājanam ॥ 52 ॥

Tr. A *guru* who imparts the traditional knowledge of *mudrā* is the embodiment of *śiva* and *īśvara*. One who devotedly follows his advice and undertakes the regular practice, attains success. 52.

इति कुण्डलीचालनप्रकारः ॥

iti kuṇḍalīcālanaprakāraḥ ॥

Here ends the techniques of movements of *kuṇḍalī*.

अष्टधाकृतिकवेष्टनबद्धा[1] अनिल आसु निबद्धः पूरिता ।

सुकुहरा कुहराद् बहिरास्यं[2] बन्धमोचनत एति[3] भुजंग्याः ॥५३॥

aṣṭadhākṛtikaveṣṭanabaddhā

anila āsu nibaddhaḥ pūritā ॥

sukuharā kuharād bahirāsyaṃ

bandhamocanata eti bhujaṅgyāḥ ॥ 53 ॥

Tr. *prāṇa* is moved and held in the *kuṇḍalinī* which has eight coils. One should remove the mouth of *kuṇḍalinī* from the opening of *suṣumṇā* which sets the *(kuṇḍalinī)* free. 53.

यदा प्राणवायुः वहेद् ब्रह्मरन्ध्रा-

न्तरे[4] सन्ततं स्यात्तदा योगभाजः ॥

शुभः केवलाख्यस्तदा कुम्भकोऽयं

श्रुतोक्ताऽध्वनायामजः संयमोऽस्य[5] ॥ ५४ ॥

yadā prāṇavāyuḥ vahed brahmarandhr-

āntare santataṃ syāttadā yogabhājaḥ ॥

śubhaḥ kevalākhyastadā kumbhako'yaṃ

śrutoktā'dhvanāyāmajaḥ saṃyamo'sya ॥ 54 ॥

---

1. वेष्टनवद्धानाडिका –b. 2. ब्रहिरास्थं –b. 3. बन्धमोचनतराति b. 4. ब्रह्मरन्ध्रान्तरो –a. 5. सयमोऽस्य –b.

Tr. When the *prāṇavāyu* consistently flows in the *brahmarandhra*, then alone *yoga* is accomplished. Then the auspicious *kevala kumbhaka* occurs. As a result of authentic practice of *prāṇāyāma* bringing about success in *saṃyama*. 54.

यदा सुषुम्णान्तवाहि वायुः शून्यं विशेद्योग्युरगीप्रबोधे ।
स्वयं तदायं निजकर्मपाशान् छिनत्त्यवाप्नोति पराश्च सिद्धिः ॥५५॥

yadā suṣumṇāntavāhi vāyuḥ
śūnyaṃ viśedyogyuragīprabodhe ॥
svayaṃ tadāyaṃ nijakarmapāśān
chinattyavāpnoti parāśca siddhiḥ ॥ 55 ॥

Tr. When, due to arousal of *kuṇḍalinī* the *vāyu* which moves in *suṣumnā* reaches the *śūnya (brahmarandhra)*, then a *yogī* on his own severs the bondage of *karma* and attains the absolute success. 55.

आसनैश्च विविधैर्बहुकुम्भैर्भूरि[1]चित्रकरणैरथ किन्तैः[2] ।
एक एव किल कुण्डलिबोधो वायुचित्तजयकारणमुक्तम् ॥ ५६ ॥

āsanaiśca vividhairbahukumbhair-
bhūricitrakaraṇairatha kintaiḥ ॥
eka eva kila kuṇḍalibodho
vāyucittajayakāraṇamuktam ॥ 56 ॥

Tr. What is the use of varieties of *āsanas*, *kumbhakas* or even different *karaṇas (mudrās)*? Since arousal of *kuṇḍalinī* alone will indeed be instrumental in gaining control over *vāyu* and mind. 56.

मुक्त्वा रेचकपूरकौ निशि दिवा या कुम्भकेन स्थितिः
प्रोक्तः केवलकुम्भकोऽस्य यमिनः स्यादुद्गमे वाञ्छितम्
सर्वं किञ्चिदिहास्ति न त्रिभुवने यद्दुर्लभं तस्य तत्
शीघ्रं याति स[3] राजयोगपदवीं यत्नं विना साधयेत् ।५७।

muktvā recakapūrakau niśi divā yā kumbhakena sthitiḥ
proktaḥ kevalakumbhako'sya yaminaḥ syādudgame vāñchitam
sarvaṃ kiñcidihāsti na tribhuvane yaddurlabhaṃ tasya tat
śīghraṃ yāti sa rājayogapadavīṃ yatnaṃ vinā sādhayet ॥ 57 ॥

---

1. कुम्भै भूरि –b. 2. रथकितैः —b. 3. सा-a.

Tr. Giving up *recaka* and *pūraka* through day (right) and night (left), the state of *kuṃbhaka* maintained (naturally) is known as *kevala kuṃbhaka* which is desirable for the evolution of a *yogī*. Everything that is even not available and hence is rare in the three worlds is made available to him and a *yogī* attains the state of *rājayoga* without effort. 57.

मनोजवित्वं च मनोजयं[1] च पालित्यहानिर्वलितस्य[2] नाशः ।
नादश्रुतिश्चाष्टविधस्य सिद्धिर्वायोर्लयः केवलकुम्भके स्यात् ॥५८॥

manojavitvaṃ ca manojayaṃ ca
pālityahānir valitasya nāśaḥ ॥
nādaśrutiścāṣṭavidhasya siddhir-
vāyorlayaḥ kevalakumbhake syāt ॥ 58 ॥

Tr. Successful absorption in *kevala kuṃbhaka* brings about dexterity and control of mind, removal of gray hair and wrinkles, hearing of the mystical sound and eight supernatural powers. 58.

हठप्रदीपिकायाम् —

haṭhapradīpikāyām —

According to *haṭhapradīpikā*—

शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणे ।
राजयोगपदं चैव लभते नात्र संशयः ॥ ५९ ॥

śaktaḥ kevalakumbhena yatheṣṭaṃ vāyudhāraṇe ।
rājayogapadaṃ caiva labhate nātra saṃśayaḥ ॥ 59 ॥

Tr. *kevala kuṃbhaka* results in ample retention of breath. Thus one undoubtedly attains the state of *rājayoga*. 59.

कुम्भितः प्राणरेचान्ते कुर्य्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगं लभेत् पुनः ॥ ६० ॥

kumbhitaḥ prāṇarecānte kuryyāccittaṃ nirāśrayam ।
evamabhyāsayogena rājayogaṃ labhet punaḥ ॥ 60 ॥

Tr. One should render the mind objectless by retaining the breath after exhalation. This practice also brings about the state of *rājayoga*. 60.

---

1. मनोजवत्वं –b. 2. वेलितस्य –b.

निराश्रयं संकल्परहितम् ॥

nirāśrayaṃ saṅkalparahitam ॥

Tr. Without support means—without any mental construction.

कुम्भकात् कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ।
अनर्गला सुषुम्णा च हठसिद्धिः प्रजायते ॥ इति ॥ ६१ ॥

kumbhakāt kuṇḍalībodhaḥ kuṇḍalībodhato bhavet ।
anargalā suṣumṇā ca haṭhasiddhiḥ prajāyate ॥ *iti* ॥ 61 ॥

Tr. Practice of *kumbhaka* brings arousal of *kuṇḍalī*, which (further) leads to free passage (of *prāṇa*) into *suṣumnā* and consequently one attains success in *haṭhayoga*. 61.

कुम्भकप्राणायामात् बोधो जागरणं । सुषुम्णा अनर्गला बाधकरहिता भवति । ततो योगसिद्धिर्भवति इति ॥ ६२ ॥

kumbhakaprāṇāyāmāt bodho jāgaraṇam । *suṣumṇā anargalā bādhakarahitā bhavati* । *tato yogasiddhirbhavati iti* ॥62॥

Tr. Practice of *kumbhaka prāṇāyāma* brings arousal (of *kuṇḍalinī*). Free passage of *suṣumnā*— means without obstacles. That brings success in *yoga*. 62.

प्रनष्टोच्छ्वासनिःश्वासः प्रध्वस्तविषयज्वरः ।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥ ६३ ॥

pranaṣṭocchvāsaniḥśvāsaḥ pradhvastaviṣayajvaraḥ ।
niśceṣṭo nirvikāraśca layo jayati yogināṃ ॥ 63 ॥

Tr. Anxiety created due to objects is removed with suspension of inhalation and exhalation. A *yogī* gets absorbed having been motionless and without any modifications of the mind. 63.

तथा चोक्तं शिवसंहितायाम् —

tathā coktaṃ śivasaṃhitāyām—

It has been maintained in *Śivasaṃhitā*—

यदा पूर्णासु सर्वासु सन्निरुद्धोऽनिलस्तदा ।
बन्धत्यागेन कुण्डल्या मुखं रन्ध्राद् बहिर्भवेत् ॥
सुषुम्णान्तः सदैवायं वहेत् प्राणः समीरणः ॥ इति ॥ ६४ ॥

yadā pūrṇāsu sarvāsu sanniruddho'nilastadā ।
bandhatyāgena kuṇḍalyā mukhaṃ randhrād bahirbhavet
suṣumṇāntaḥ sadaivāyaṃ vahet prāṇaḥ samīraṇaḥ ॥*iti*॥64।

Tr. When *prāṇavāyu* is filled up and held in all the *nāḍīs* (channels), then alone, after breaking up the bondage the mouth of *suṣumṇā*, *kuṇḍalinī* rises. Then *prāṇavāyu* flows through the cavity in *suṣumṇā*. 64.

प्राणो यदान्तः प्रवहेत् सुषुम्णानाड्याः सुनिष्पत्तिदशा मुनेः सा ।
यदा भवेत् भाति च राजयोगोऽग्नीन्द्वर्कबिन्दूपममात्मभानम्[1] ।६५।

prāṇo yadāntaḥ pravahet suṣumṇā-
nāḍyāḥ suniṣpattidaśā muneḥ sā ॥
yadā bhavet bhāti ca rājayogo'-
gnīndvarkabindūpamamātmabhānam ॥ 65 ॥

Tr. When *prāṇa* enters inside the *suṣumṇā nāḍī*, a *muni* enjoys the state of *niṣpatti* all the time and attains *rājayoga* as a result of merging of fire, *indu*, *arka* (sun) and *bindu* etc. in the Self. 65.

तथोक्तं वार्तिकाचार्यैर्मानसोल्लासे –

tathoktaṃ vārtikācāryairmānasollāse—

It is stated by the author of *vārtika* in *mānasollāsa*—

प्राणे सुषुम्णासम्प्राप्ते नादोऽन्तः श्रूयतेऽष्टधा ।
घण्टादुन्दुभिशंखाब्धि[2]वीणावेण्वादितालवत् ॥ ६६ ॥

prāṇe suṣumṇāsamprāpte nādo'ntaḥ śrūyate'ṣṭadhā ।
ghaṇṭādundubhiśaṅkhābdhivīṇāveṇvāditālavat ॥ 66 ॥

तनूनपात्तडित्तारतारेशतपनोपमम् ।
ब्रह्मनाडीगते प्राणे[3] बिन्दुरूपं प्रकाशते ॥ इति ॥ ६७ ॥

tanūnapāttaḍittāratāreśatapanopamam ।
brahmanāḍīgate prāṇe bindurūpaṃ prakāśate ॥ *iti* ॥ 67 ॥

Tr. When *prāṇa* reaches *suṣumṇā*, the eight varieties of *nādas* are heard inside which are like the sounds resembling that of a bell, trumpet, conch, sound of an ocean, *vīṇā*, flute, tiny bell, tinkling of a very fine pot, cracking sound of the fire, loud

1. विद्वंपपमात्ममानं –b. 2. शखाऽधि –b. 3. प्राणो –b.

thunder and shrill sound of blowing air. When *prāṇa* enters the *brahmanāḍī* the (real form of *ātmā)* is revealed in the form of *bindu*. 66-67.

निष्पत्तिदशाराजयोगश्च भवति तदैव ॥ ६८ ॥

nispattidaśārājayogaśca bhavati tadaiva ॥ 68 ॥

Tr. Then both the states of *nispatti* and *rājayoga* take place. 68.

तदुक्तं योगदीपिकायाम् ॥

taduktaṃ yogadīpikāyām ॥

This is what is stated in *yogadīpikā*.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां हठतत्वकौमुद्यां शक्तिचालनप्रकारकेवलकुम्भकविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyāṃ śakticālanaprakārakevalakumbhakavivecanodyotaḥ ॥

Here ends the chapter narrating the varieties of *śakticālana* and *kevala kuṃbhaka* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva*.

Chapter—45

अथ शक्तिचालनांगमुत्कर्षप्राणायामः —

atha śakticālanāṅgamutkarṣaprāṇāyāmaḥ —

Here follows *utkarṣa prāṇāyāma* which is a component of *śakticālana*—

आयामतः शुद्धमनो एव लोलं प्राणे जिते तिष्ठति चित्परात्मनि ।
उत्कर्षकायाम उपैति वायुः सुकुम्भितो[1] मध्यपथेऽयमुद्गतिः ॥१॥

āyāmataḥ śuddhamano eva lolaṃ
prāṇe jite tiṣṭhati citparātmani ॥
utkarṣakāyāma upaiti vāyuḥ
sukumbhito madhyapathe'yamudgatiḥ ॥ 1 ॥

Tr. Practice of *prāṇāyāma* makes the restless mind stable. Control of *prāṇa* engages the mind on *parātman*. Retention *(kumbhaka)* in the practice of *utkarṣa prāṇāyāma* very well moves the *vāyu (prāṇa)* through the central path (*suṣumnā*). 1.

अण्डादधः सीवनिकां सुसूक्ष्मां वामेन गुल्फेन निपीडयेत्ताम् ।
निक्षिप्य गुल्फोपरि दक्षगुल्फं बद्ध्वोरुजंघान्तरसन्ध्यऽभूकम् ॥२॥

aṇḍādadhaḥ sīvanikāṃ susūkṣmāṃ
vāmena gulphena nipīḍayettām ॥
nikṣipya gulphopari dakṣagulphaṃ
baddhvorujaṅghāntarasandhya'bhūkam ॥ 2 ॥

Tr. Press the very subtle perineum located below the scrotum with the left ankle. Place the right ankle over the left. 2.

समस्थिरं विष्टरके समः स्थिरमासीन पश्यन्निजदक्षगुल्फम् ।
सुरक्तकिञ्जल्कविराजते चतुःपत्रे स्मरन्नोम् हृदि मूल[2]चक्रे ॥ ३ ॥

samasthiraṃ viṣṭarake samaḥ sthiram-
āsīna paśyannijadakṣagulpham ॥
suraktakiñjalkavirājate catuḥ-
patre smarannom hṛdi mūlacakre ॥ 3 ॥

Tr. Remain steady and stable in an *āsana* while staring at the right ankle. While remembering *om* in the mind meditate on *mūlacakra* which has four deeply red petals. 3.

---

1. सकुम्भितो –b. 2. मूलं –a.

मनोलयो यावदतीव तस्मिन् तावत् समीरं मनसा निरोधयेत् ।
अनेन योगेन जितो ह्यपानो व्रजेत्तदाग्नेः पदमूर्ध्वबाहुः[1] ॥ ४ ॥

manolayo yāvadatīva tasmin
tāvat samīraṃ manasā nirodhayet ॥
anena yogena jito hyapāno
vrajettadāgneḥ padamūrdhvabāhuḥ ॥ 4 ॥

Tr. Retain the *prāṇa* with mind till the mind gets completely absorbed in it *(prāṇa)*. This technique moves the controlled *apāna* to the abode of *agni* (fire) above. 4.

अस्याग्नेये मण्डले वै त्रिकोणे
रक्तान्नादेः[2] पाचको देहयाता[3] ॥
अग्निः सार्धं वह्निनाऽनेन वायुं
ध्यायन् तारं[4] धारयेत्तत्र मन्दम् ॥ ५ ॥

asyāgneye maṇḍale vai trikoṇe
raktānnādeḥ pācako dehayātā ॥
agniḥ sārdhaṃ vahninā'nena vāyuṃ
dhyāyan tāraṃ dhārayettatra mandam ॥ 5 ॥

Tr. In the triangular *maṇḍala* of fire lies the digestive fire of food etc. One should meditate on *tāra (om)* by holding *prāṇa* along with fire at this point. 5.

यावत् सम्यक् स्याज्जयो[5]ऽपानवायोस्
तावज्जातेऽग्नेर्जये सम्यगूर्ध्वम् ॥
तस्मादग्नेर्मण्डलाकन्दनाभेर्
न्यक् स्वाधिष्ठानादधः स्थानकेऽमू ॥ ६ ॥

yāvat samyak syājjayo'pānavāyos-
tāvajjāte'gnerjaye samyagūrdhvam ॥
tasmādagnermaṇḍalākandanābher-
nyak svādhiṣṭhānādadhaḥ sthānake'mū ॥ 6 ॥

Tr. So long as one controls *apāna-vāyu*, one also controls the fire above. Therefore, one should raise up *agni* from its *maṇḍala* located below *svādhiṣṭhāna* between *kanda* and navel. 6.

---

1. मूर्ध्ववाह्व –b. 2. रक्तः त्रादेः —b. 3. देहपाना –b. 4. ध्यायनृतारं –b. 5. सम्यवस्याज्जयो –b.

प्राणापानौ मन्दमारोप्य सार्धं
वायोर्मित्रेणाऽग्निना नाभिदेशम् ॥
पश्येद् दृष्ट्या संस्मरन् तारमन्तस्
तस्मिन्वायुं रोधयेद् हृल्लयान्तम् ॥ ७ ॥

prāṇāpānau mandamāropya sārdhaṃ
vāyormitreṇā'gninā nābhideśaṃ ॥
paśyed dṛṣṭyā saṃsmaran tāramantas-
tasminvāyuṃ rodhayed hṛllayāntam ॥ 7 ॥

Tr. One should gently hold *prāṇa* and *apāna* at the navel along with by fire and fixing the eyes (at the navel) and meditating on *om* while holding the *vāyu* there till absorption of mind supervenes. 7.

ततोऽग्निना बोधमुपैति कुण्डली
स्वं नाभिरन्ध्रात् फणमाशु कन्दम् ॥
शक्तिः प्रबुद्धेयमपाकरोति
तेन श्मशानोंऽघ्रिबिलं[1] द्रुतं तत् ॥ ८ ॥

tato'gninā bodhamupaiti kuṇḍalī
svaṃ nābhirandhrāt phaṇamāśu kandam ॥
śaktiḥ prabuddheyamapākaroti
tena śmaśāno'ṅghribilaṃ drutaṃ tat ॥ 8 ॥

Tr. Therefore, *kuṇḍalī* is aroused along with fire by raising the hood from the cavity of the navel where the *kanda* is located. *śakti (kuṇḍalinī)*, having been aroused, quickly reaches the cavity in the *suṣumṇā*. 8.

फुल्लं[2] भवे तत्र शनैः समीरं संपूरयेन् मध्यपथे सपावकम्[3] ।
आमूर्ध्न उद्गीथमनुस्मरन् ज्ञः सन्धारयेन् मारुतमग्निना सह ॥९॥

phullaṃ bhave tatra śanaiḥ samīraṃ
sampūrayen madhyapathe sapāvakam ॥
āmūrdhna udgīthamanusmaran jñaḥ
sandhārayen mārutamagninā saha ॥ 9 ॥

---

1. श्मशानोऽघ्निविलं –b. 2. फुल्लभवे –b. 3. सयावकं –b.

Tr. Slowly draw the air to the central path *(suṣumnā)* along with fire and (fill it) up fully up to the head while meditating on *udgītha (om)*. 9.

महापथच्छिद्रसुमूर्ध्नि[1]पूरिते स वह्निना गन्धवहेन विग्रहे ।
आत्मा तदा दृश्यत एष मूर्ध्नि यथाम्बरे[2] दीधितिभिः प्रभाकरः१०

mahāpathacchidrasumūrdhnipūrite
sa vahninā gandhavahena vigrahe ॥
ātmā tadā dṛśyata eṣa mūrdhni
yathāmbare dīdhitibhiḥ prabhākaraḥ ॥ 10 ॥

Tr. In the body when the air along with fire is filled up in the cavity of the great path (*suṣumnā)* upto the top of the head, one realizes the *ātman* in the head, like the sun is seen with its brilliance in the sky. 10.

उत्कर्षकायाम उदारधीभिः प्रातः प्रदोषे च निशीथ एषः ।
मुहूर्त्तमात्रं सुसमाहितैः स्वे नाडीविशुद्धौ प्रथमं विधेयः ॥ ११ ॥

utkarṣakāyāma udāradhībhiḥ
prātaḥ pradoṣe ca niśītha eṣaḥ ॥
muhūrttamātraṃ susamāhitaiḥ sve
nāḍīviśuddhau prathamaṃ vidheyaḥ ॥ 11 ॥

Tr. The great practitioner who is poised, should first of all practise *utkarṣa prāṇāyāma* followed by purification of the *nāḍī*, for a *muhūrta* (48 minutes) in the morning, evening and at mid-night. 11.

अनेन नित्याभ्यसितेन वायुर्जितो[3] भवेत् पथ्यमिताशनस्य[4] ।
भवन्ति देहे हठसिद्धिचिह्नानि आदौ क्रमाद्वायुजयाग्ररूपम् ॥१२॥

anena nityābhyasitena vāyur-
jito bhavet pathyamitāśanasya ॥
bhavanti dehe haṭhasiddhicihnāni
ādau kramādvāyujayāgrarūpam ॥ 12 ॥

Tr. One who resorts to moderate but wholesome food gains control over *vāyu* through the regular practice of this, and thus as a result of controlled *vāyu* in an intense manner, the first signs of success in *haṭha*, arise in a sequential manner. 12.

---

1. समूर्ध्नि —b. 2. थांबरे –b. 3. वायुजितो —b. 4. पथ्यमितामानस्य a.

अभ्यस्यमानोऽयम[1]तीव दीर्घमारम्भ उच्चैः किल साधकाय ।
ददाति वायोर्जयसिद्धिमग्र्यां[2] स्वेदप्रकम्पासनखोत्थिताद्याम् ॥१३॥

abhyasyamāno'yamatīva dīrgham-
ārambha uccaiḥ kila sādhakāya ॥
dadāti vāyorjayasiddhimagryāṃ
svedaprakampāsanakhotthitādyām ॥ 13 ॥

Tr. When it is practised for a long time, it offers the *sādhaka* higher (results) like control of *vāyu* and advanced *siddhis* and also (one experiences) perspiration, tremors, levitation etc. in an *āsana*. 13.

यदा शरीरे पवनः सुसिद्धस्तदा मुनेर्ज्ञान[3]मुदेति दिव्यम् ।
ज्ञानाद् भवेद् वृद्धिगुणोऽस्य[4] सिद्धिरदूरतोऽसौ हितदीर्घ[5]लम्भे ॥१४॥

yadā śarīre pavanaḥ susiddhas-
tadā munerjñānamudeti divyam ॥
jñānād bhaved vṛddhiguṇo'sya siddhir-
adūrato'sau hitadīrghalambhe ॥ 14 ॥

Tr. When *prāṇa* is very well controlled in the body then the divine wisdom dawns on the *muni* which enhances virtues and the *siddhis* appear very close. 14.

सुसिद्धिरूपो जितवायुरात्मिनां यदा सुषुम्णान्तरसंगतोऽयम् ।
तदा चिदानन्दमयं मनोऽदो नभोपमं सुस्थिरमेकरूपम् ॥ १५ ॥

susiddhirūpo jitavāyurātminām
yadā suṣumṇāntarasaṅgato'yam ॥
tadā cidānandamayaṃ mano'do
nabhopamaṃ susthiramekarūpam ॥ 15 ॥

Tr. Those who are devoted to Self (-realization), who have controlled *prāṇa* move *vāyu (prāṇa)* through the cavity in *suṣumnā* which is a great achievement. Then the mind becomes poised and remains in the state of equanimity like a clear sky and also gets absorbed in Blissful State. 15.

यदा सदानन्दमयं मनोऽदो विवर्जितं क्लेशगणैश्च बाह्यैः ।
संसारदुःखानि विहाय योगी तदा समाधिं[6] विशते निसर्गम् ॥१६॥

---

1. अभ्यस्यमाननोऽयम –a. 2. सिद्धिमग्न्यां –b. 3. मुनेज्ञान –b. 4. भवेद्वन्द्वि –b. 5. हितदर्धि –b. 6. समाधि –b.

yadā sadānandamayaṃ mano'do
vivarjitaṃ kleśagaṇaiśca bāhyaiḥ ||
saṃsāraduḥkhāni vihāya yogī
tadā samādhiṃ viśate nisargam || 16 ||

Tr. When the mind is rendered free from the host of external mundane sufferings, it becomes full of eternal Bliss giving up all worldly miseries and it enters the natural (state of) *samādhi*. 16.

सिद्धं तदा चित्तमपास्तदुःखमेतद्यदा यत् कुरुते[1] सुयोगी ।
सर्वं क्षणात्तद्[2] भवति ध्रुवोऽस्य सुसिद्धकायस्य सुसिद्धिलक्ष्म ।१७।

siddhaṃ tadā cittamapāstaduḥkham-
etadyadā yat kurute suyogī ||
sarvaṃ kṣaṇāttad bhavati dhruvo'sya
susiddhakāyasya susiddhilakṣma || 17 ||

Tr. When a *yogī* who has gained mastery over the body and is adorned with the signs of supernatural powers makes the mind free from misery, then he certainly achieves all. 17.

दूरेक्षणश्रवणमन्यपुरप्रवेशं
व्यूहादिकं च वपुषो भवति क्षणेन ॥
चेतःसमीरवपुषां च यदा त्रयाणां
सिद्धिस्तदा स मुनिराट् परसिद्धिपात्रम् ॥ १८ ॥

dūrekṣaṇaśravaṇamanyapurapraveśaṃ
vyūhādikaṃ ca vapuṣo bhavati kṣaṇena ||
cetaḥsamīravapuṣāṃ ca yadā trayāṇāṃ
siddhistadā sa munirāṭ parasiddhipātram || 18 ||

Tr. One attains clairvoyance, clairaudience, ability to enter another body and knowledge of the body. One controls all three—the mind, *prāṇa* and the body. Then the *muni* becomes eligible for higher achievements. 18.

जीवन्मुक्तिपदं गतो[3] भुवि महासिद्धस्तदाऽसौ मुनिर्
गच्छेन्[4] मोक्षपदं यदैव सहजः स्याद् राजयोगः स्वयम् ॥

1. मेतद्युदायत्कुरुते -b. 2. क्षणाद् —a. 3. गता -a. 4. गच्छन् —a.

सर्वज्ञः खलु धर्ममेघमनघं प्राप्तः समाधिं परं
योगीन्द्रस्तु[1] तदाणिमादिपदभागव्याहताज्ञो ऽमरः ॥१९॥

jīvanmuktipadaṃ gato bhuvi mahāsiddhastadā'sau munir
gacchen mokṣapadaṃ yadaiva sahajaḥ syād rājayogaḥ svayam ॥
sarvajñaḥ khalu dharmameghamanagham prāptaḥ samādhiṃ param
yogīndrastu tadāṇimādipadabhāgavyāhatājño'maraḥ ।19।

Tr. Then the *muni* who becomes *mahā-siddha* attains the state of liberation while living in this body itself and consequently attains (the final state of) liberation. Then he attains *rājayoga* easily. He becomes omniscient indeed. He attains the pure state of *dharmamegha*. The *yogīndra* attains the state of transcendental *samādhi* which results in attainment of *aṇimā* etc., gains immense wisdom and becomes immortal. 19.

एवं[2] वर्षसहस्राणि लक्षाणि च शतानि च ।
पर्वताग्रे गुहा वासः[3] सानन्दः सिद्धयोगिनः ॥ २० ॥

evaṃ varṣasahasrāṇi lakṣāṇi ca śatāni ca ।
parvatāgre guhā vāsaḥ sānandaḥ siddhayoginaḥ ॥ 20 ॥

Tr. The *siddhayogīs* (in such a state) reside at the top of the mountain or in a cave in a Blissful mood for hundred or thousand or lakhs of years. 20.

आरम्भ उत्कर्षककुम्भमेवमभ्यस्यतोऽल्पं च शकृच्च[4] मूत्रणम् ।
अब्देऽथ षण्मासि भवेत्ततोऽनुगन्तव्यमब्दत्रयोऽतो न[5] वाहने ।२१।

ārambha utkarṣakakumbhamevam-
abhyasyato'lpaṃ ca śakṛcca mūtraṇam ॥
abde'tha ṣaṇmāsi bhavettato'nu-
gantavyamabdatrayo'to na vāhane ॥ 21 ॥

Tr. Practice of *utkarṣa kuṃbhaka* in the state of *ārambha* results in scanty urination and faeces within one year or six months. Therefore for three years one should not use a vehicle. 21.

---

1. योगीन्द्रस्नु –b. 2. एवं च –b. 3. वीसः –b. 4. शक्षुघ –b. 5. मतृतयोतान –b.

घटान्तमारम्भत आ त्रिवर्ष[1] पथ्येन कुम्भाभ्यसनं[2] विधेयम् ।
न योगिना मूत्रविडल्पताया[3] गन्तव्यमीषत् किल वाहनादौ ॥२२॥

ghaṭāntamārambhata ā trivarṣaṃ
pathyena kumbhābhyasanaṃ vidheyam ॥
na yoginā mūtraviḍalpatāyā
gantavyamīṣatkila vāhanādau ॥ 22 ॥

Tr. Practice of *kumbhaka* is recommended for three years from the state of *ārambha* up to *ghaṭa* while observing moderate diet. Thus a *yogī* has scanty urine and faeces. One then should not use vehicles. 22.

अथ परिचयकाले बोधनीयामवीर्यात्
जितकरणबलोऽसौ योगसंसाधकेन ॥ २३ ॥

atha paricayakāle bodhanīyāmavīryāt
jitakaraṇabalo'sau yogasaṃsādhakena ॥ 23 ॥

Tr. In the state of *paricaya*, a *yoga* practitioner, through control over senses effortlessly awakens *kuṇḍalinī*. 23.

तथा चोक्तं योगयाज्ञवल्क्ये —

It has been stated in *yogayājñavalkya*—

बोधं गते चक्रिणि नाभिमध्ये प्राणास्तु[4] सम्भूय कलेवरेऽस्मिन् ।
चरन्ति सर्वे[5] सह वह्निनैव यथा पटे तन्तुगतिस्तथैव ॥ २४ ॥

bodhaṃ gate cakriṇi nābhimadhye
prāṇāstu sambhūya kalevare'smin ॥
caranti sarve saha vahninaiva
yathā paṭe tantugatistathaiva ॥ 24 ॥

Tr. Just as the fibres pervade the whole of the cloth, similarly, when *prāṇa* courses through the *nābhicakra* and *cakrī* *(kuṇḍalinī)* is awakened, all the (*prāṇas*) along with fire pervade the whole body. 24.

भित्त्वैवं चक्रिणः स्थानं सदा ध्यानपरायणः ।
ततो नयेदपानं तु नाभेरूर्ध्वमनुस्मरन् ॥ २५ ॥

bhitvaivaṃ cakriṇaḥ sthānaṃ sadā dhyānaparāyaṇaḥ ।
tato nayedapānaṃ tu nābherūrdhvamanusmaran ॥ 25 ॥

---

1. त्रिवर्षे —b. 2. ऽभ्यसने –b. 3. विडल्पतायां –b. 4. प्राणस्तु –b. 5.सर्व –b.

Tr. A devoted regular practice pierces the abode of *cakrī (kuṇḍalinī)* and moves *apāna* above the navel while remembering (*om*). 25.

वायुर्यदा वायुसखेन सार्धं नाभिं त्वतिक्रम्य ततः शरीरे ।
रोगाः प्रणश्यन्ति बलाभिवृद्धिः कान्तिः तदानीं भवति प्रकृष्टा२६

vāyuryadā vāyusakhena sārdhaṃ
nābhiṃ tvatikramya tataḥ śarīre ॥
rogāḥ praṇaśyanti balābhivṛddhiḥ
kāntiḥ tadānīṃ bhavati prakṛṣṭā ॥ 26 ॥

Tr. When *prāṇa* along with fire passes above the navel, the body is rendered free from diseases. Further, the body gains excellent stamina and lustre. 26.

ब्रह्मरन्ध्रमुखमत्र वायवः पावकेन सह यान्ति खमध्ये ।
केनचिदिह[1] वदामि तवाहं वीक्षणाद्धृदि[2] सुदीपशिखायाः ॥ २७ ॥

brahmarandhramukhamatra vāyavaḥ
pāvakena saha yānti khamadhye ॥
kenacidiha vadāmi tavāhaṃ
vīkṣaṇāddhṛdi sudīpaśikhāyāḥ ॥ 27 ॥

Tr. The *prāṇas* accompanied with fire move to the void of *brahmarandhra*. According to some, one perceives the blazing flame by meditating in the heart. 27.

निरोधतः[3] स्याद्धृदि[4] तेन वायुर्मध्ये यदा वायुसखेन सार्धम्[5] ।
सहस्रपत्रस्य मुखं प्रविश्य कुर्यात् पुनस्तूर्ध्वमुखं द्विजेन्द्रे ॥२८॥

nirodhataḥ syāddhṛdi tena vāyurmadhye yadā vāyusakhena sārdham ।
sahasrapatrasya mukhaṃ praviśya kuryāt punastūrdhvamukhaṃ dvijendre ॥ 28 ॥

Tr. Control of *vāyu* in the cavity of the heart courses the *prāṇa* along with fire in (*cakra* of) thousand petals and turns it upwards. 28.

प्रबुद्धहृदयाम्भोजे गार्ग्यस्मिन्[6] ब्रह्मणः पुरे ।
बालार्कश्रेणिवद्व्योम्नि[7] विरराज समीरणः ॥ २९ ॥

---

1. केनचेदिह –b. 2. वीक्षणाद्धदि –b. 3. निरोधितः –b. 4. स्याद्धदितेन –b. 5. सार्ध –b. 6. गार्ग्यःस्मिन् –b. 7. श्रोणिवयोत्रि –b.

prabuddhahṛdayāmbhoje gārgyasmin brahmaṇaḥ pūre ।
bālārkaśreṇivadvyomni virarāja samīraṇaḥ ॥ 29 ॥

Tr. O *gārgi* ! On awakening of the lotus of the heart sends the *prāṇa* in the abode of *brahmaṇ* wherein *prāṇa* shines like the rising sun. 29.

हृन्मध्यात्तु सुषुम्णायां संस्थितो हुतभुक्तदा ।
सजलाम्बुदमालासु विद्युल्लेखेव राजते ॥ ३० ॥

hṛnmadhyāttu suṣumṇāyāṃ saṃsthito hutabhuktadā ।
sajalāmbudamālāsu vidyullekheva rājate ॥ 30 ॥

Tr. Then the fire shines in *suṣumṇā* at the center of the heart like the lightning in the lap of the clouds. 30.

प्रबुद्धहृत्पद्म[1]सुसंस्थितेऽग्नौ प्राणे[2] च तस्मिन्[3] विनिवेशिते च ।
चिह्नानि बाह्यानि तथान्तराणि दीपादिदृश्यानि[4] भवन्ति तस्य३१

prabuddhahṛtpadmasusaṃsthite'gnau
prāṇe ca tasmin viniveśite ca ॥
cihnāni bāhyāni tathāntarāṇi
dīpādidṛśyāni bhavanti tasya ॥ 31 ॥

Tr. When the lotus of the heart is awakened and when the *prāṇa* is also established in it along with fire, external signs appear and also the internal signs like perception of light etc. 31.

वायुमुन्नयत[5] एव सवह्निं[6] व्याहरन् प्रणवमत्र[7] सबिन्दुम् ।
बालचन्द्रसदृशे तु ललाटे बालचन्द्रमवलोकय बुद्ध्या[8] ॥ ३२ ॥

vāyumunnayata eva savahniṃ
vyāharan praṇavamatra sabindum ॥
bālacandrasadṛśe tu lalāṭe
bālacandramavalokaya buddhyā ॥ 32 ॥

Tr. Raise up *prāṇa* along with fire, while chanting *praṇava* accompanied with *bindu* (nasalized sound) and visualize the waxing moon with full attention at the forehead. 32.

---

1. प्रबुद्धहृत्पप्र —b. 2. सुसंस्थितेऽग्नौ प्राणो –a. 3. चसस्मिन् —b. 4. दश्यानि –b. 5. मुन्नयन –b. 6. वह्नि –b. 7. प्रणवमन्त्र —b. 8. वालचन्द्रमःवलकयबुध्या –b.

सवह्निवायुमारोप्य भ्रुवोर्मध्ये धिया तदा ।
ध्यायेदनन्यधीः पश्चादन्तरात्मानमात्मनि ॥ ३३ ॥

savahnivāyumāropya bhruvormadhye dhiyā tadā ।
dhyāyedananyadhīḥ paścādantarātmānamātmani ॥ 33 ॥

Tr. Hold *prāṇa* along with fire at the center of the eyebrows with full attention and meditate on *ātman* with unbridled concentration. 33.

मनो लयं यदा याति भ्रूमध्ये योगतो नृणाम् ।
जिह्वामूलेऽमृतस्रावो भ्रूमध्ये चात्मदर्शनम्[1] ॥ ३४ ॥

mano layaṃ yadā yāti bhrūmadhye yogato nṛṇām ।
jihvāmūle'mṛtasrāvo bhrūmadhye cātmadarśanam ॥ 34 ॥

Tr. Due to practice of *yoga* when mind is absorbed at the center of the eyebrows, secretion of ambrosia at the root of the tongue and perception of *ātmā* at the centre of the eyebrows occur. 34.

कम्पनं तथा मूर्ध्नि मनसैवात्मदर्शनम् ।
देवोद्यानानि रम्याणि नक्षत्राणि च चन्द्रमाः ॥
ऋषयः सिद्धगन्धर्वाः प्रकाशं यान्ति योगिनाम् ॥ ३५ ॥

kampanaṃ tathā mūrdhni manasaivātmadarśanam ।
devodyānāni ramyāṇi nakṣatrāṇi ca candramāḥ ॥
ṛṣayaḥ siddhagandharvāḥ prakāśaṃ yānti yoginām ॥35॥

Tr. One (experiences) tremors and one perceives *ātmā* with mind at the top of the head and also the exquisite heavenly gardens, stars and the moon. Moreover, the *yogīs* perceive the *ṛṣis*, *siddhas* and *gandharvas* (semi-gods). 35.

भ्रुवोऽन्तरे विष्णुपदे निविष्टजीवे च तस्मिनमृते च संस्थे ।
तस्मिन् सदा याति मनो लयं चेन्मुक्तेः समीपं तदिदं ब्रुवन्ति ।३६।

bhruvo'ntare viṣṇupade niviṣṭa-
jīve ca tasminamṛte ca saṃsthe ॥
tasmin sadā yāti mano layaṃ cen-
mukteḥ samīpaṃ tadidaṃ bruvanti ॥ 36 ॥

Tr. It is said that, when one concentrates at the center of the eyebrows which is the seat of *viṣṇu*, where *jīva* is located,

1. चात्मदर्शनम् —b.

wherefrom the ambrosia secretes, and wherein the mind gets absorbed, one approaches liberation. 36.

समीरणे विष्णुपदे निविष्टे विशुद्धबुद्धौ च तदात्मनिष्ठे ।
आनन्दमत्यद्भुतमस्ति सत्यं त्वं गार्गि पश्याद्यविशुद्धबुद्ध्या ।३७।

samīraṇe viṣṇupade niviṣṭe
viśuddhabuddhau ca tadātmaniṣṭhe ॥
ānandamatyadbhutamasti satyaṃ
tvaṃ gārgi paśyādyaviśuddhabuddhyā ॥ 37 ॥

Tr. Retention of *prāṇa* at the seat of *viṣṇu* with a pure conscience and devotion to *ātman* brings about inexplicable Bliss. O *gārgi* ! You might perceive it with the purity of conscience. 37.

एवं समभ्यस्य सुदीर्घकालं[1]
यमादिभिर्युक्ततनुर्मिताशी ॥
आत्मानमासाद्य गुहां प्रविष्टं
मुक्तिं व्रज ब्रह्मपुरे[2] पुनस्त्वम् ॥ इति ॥ ३८ ॥

evaṃ samabhyasya sudīrghakālaṃ
yamādibhiryuktatanurmitāśī ॥
ātmānamāsādya guhāṃ praviṣṭaṃ
muktiṃ vraja brahmapure punastvam ॥ 38 ॥

Tr. Following a sustained practice along with *yama* etc. and nourishing the body by observing moderate diet, one attains *ātmā* in the cavity and being liberated, one travels to the abode of *brahmā*. 38.

इत्युत्कर्षप्राणायामः ॥

ityutkarṣaprāṇāyāmaḥ ॥

Here ends *utkarṣa prāṇāyāma*.

सामान्यभूलिंगजये सुयोगिन आरम्भगत्यां मरुतो जये प्राक् ।
लघुत्वमंगे शुभवर्णगन्धौ विट्श्लेष्ममूत्रेष्वणुता सुकान्तिः ॥ ३९ ॥

sāmānyabhūliṅgajaye suyogina
ārambhagatyāṃ maruto jaye prāk ॥

1. सुर्घकालं –b. 2. ब्रह्म –b.

laghutvamaṅge śubhavarṇagandhau
viṭśleṣmamūtreṣvaṇutā sukāntiḥ ॥ 39 ॥

Tr. While entering the state of *ārambha* before the control of *prāṇa*, a *yogī* easily controls the *bhūliṅga* (earth element). Thus one enjoys the lightness of the body, pleasant smell, fair complexion, scanty faeces, phlegm and urination and attractive lustre. 39.

सामान्यवोर्लिंगजये मुनेः स्यादारम्भपाके सलिलेष्वमज्जनम् ।
पंकेष्वसंगः किल कण्टकाग्नेः क्षुत्तृट् सहिष्णुत्वमपानसंजये ।४०।

sāmānyavorliṅgajaye muneḥ syād-
ārambhapāke salileṣvamajjanam ॥
paṅkeṣvasaṅgaḥ kila kaṇṭakāgneḥ
kṣuttṛṭ sahiṣṇutvamapānasañjaye ॥ 40 ॥

Tr. A *muni*, by gaining control over *apāna* on the maturation of the state of *ārambha* preceded by gaining control over water element, does not sink in water, does not get affected by mud or thorn or fire, and can withstand hunger and thirst. 40.

सामान्यतोऽग्नेर्विजये मुनेः स्यादारम्भमध्येऽग्निवशत्वमुच्चैः ।
सौदर्यमग्नेर्भृशदीप्तिमेधे समानवायोर्विजयेऽग्न्यऽदाहः ॥ ४१ ॥

sāmānyato'gnervijaye muneḥ syād-
ārambhamadhye'gnivaśatvamuccaiḥ ॥
saudaryamagnerbhṛśadīptimedhe
samānavāyorvijaye'gnya'dāhaḥ ॥ 41 ॥

Tr. When a *muni* in the middle of *ārambha* state controls fire element, he gains control over fire. Control of *samāna vāyu* increases gastric fire and one does not get affected by fire. 41.

तथा च मानसोल्लासे –

tathā ca mānasollāse —

According to *mānasollāsa*—

बह्वन्नपानभोक्तृत्वमातपाग्नि[1]सहिष्णुता ।
दर्शनं श्रवणं दूरात् तृतीयं योगलक्षणम् ॥ इति ॥ ४२ ॥

bahvannapānabhoktṛtvamātapāgnisahiṣṇutā ।
darśanaṃ śravaṇaṃ dūrāt tṛtīyaṃ yogalakṣaṇam ॥ 42 ॥

Tr. The third characteristic of *yoga* is—ample eating and drinking, endurance of heat and fire, clairvoyance and clairaudience. 42.

खगस्य सामान्यजये मुनेः स्यादारम्भके दार्दरिकं घटेकयोः ।
द्रुमोत्प्लुतिः स्यादनुशक्तिबोधे तुर्यारभेदे खचरत्व[2]सिद्धिः ॥४३॥

khagasya sāmānyajaye muneḥ syād-
ārambhake dārddarikaṃ ghaṭekayoḥ ॥
drumotplutiḥ syādanuśaktibodhe
turyārabhede khacaratvasiddhiḥ ॥ 43 ॥

Tr. Initial control of *prāṇa* in *āraṃbha* state enables a *muni* to hop like a frog, to jump on the trees, and on piercing of the fourth *cakra (anāhata)* and on arousal of *śakti (kuṇḍalinī)* one levitates. 43.

तथा चोक्तं मानसोल्लासे –

tathā coktaṃ mānasollāse –

It has been maintained in *mānasollāsa*—

चित्ते निश्चलतां याते प्राणे मध्ये लयं गते ।
चिह्नान्येतानि जायन्ते पञ्चभूतजयात् पृथग् ॥ इति ॥ ४४ ॥

citte niścalatāṃ yāte prāṇe madhye layaṃ gate ।
cihnānyetāni jāyante pañcabhūtajayāt pṛthag ॥ *iti* ॥ 44 ॥

Tr. When the mind becomes stable and the *prāṇa* merges in the central path, the signs of control of (different) five *bhūtas* supervene. 44.

योगभास्करे–

yogabhāskare—

It has been stated in *yogabhāskara*—

---

1. वस्वःऽन्नपानभोक्तऽवमानयाग्नि –b. 2. खेचरत्व –a.

यावदन्तःस्फुरन्नादो यावच्चित्तं विलीयते ।
तावदुत्पन्नयोगी स्यात्तत आरूढयोगवान् ॥ इति ॥ ४५ ॥

yāvadantaḥsphurannādo yāvaccittaṃ vilīyate ।
tāvadutpannayogī syāttata ārūḍhayogavān ॥ iti ॥ 45 ॥

Tr. When the internal *nāda* reveals and when the mind is merged, one becomes an *utpanna yogī* and thereafter qualifies to be called an *ārūḍha yogī*. 45.

तथा च मानसोल्लासे –

tathā ca mānasollāse—

It has been further stated in *mānasollāsa*—

प्राणे सुषुम्णां सम्प्राप्ते नादोऽन्तः श्रूयतेऽष्टधा ॥ इति ॥ ४६ ॥

prāṇe suṣumṇāṃ samprāpte
nādo'ntaḥ śrūyate'ṣṭadhā ॥ iti ॥ 46 ॥

Tr. When *prāṇa* moves through *suṣumnā*, eight types of internal *nāda* are heard. 46.

सामान्य आरम्भजं नाद आद्यस्थितेर्भिदापान[1]चलाग्नियोगजः ।
अनाहतो यस्तु स महापथान्तः[2] प्राणाग्निनोर्ध्वं रसधातुकर्षणे४७

sāmānya ārambhajaṃ nāda ādya-
sthiterbhidāpānacalāgniyogajaḥ ॥
anāhato yastu sa mahāpathāntaḥ
prāṇāgninordhvaṃ rasadhātukarṣaṇe ॥ 47 ॥

Tr. *nāda* is heard in *ārambha* state when *mūlādhāra* is pierced by *apāna* and fire. The *anāhata* (unstruck sound) arises due to *prāṇa* and fire traveling through the great path (*suṣumnā*) and when *rasa* (plasma) and *dhātu* (bodily constituents) are extracted. 47.

अभ्यास आकृष्ट उपर्यलं[3] मरुद्यदा[4] सुषुम्णास्यत आंगिधातून् ।
ऊर्ध्वं समाकर्षति रुन्धको यथाऽस्रं चित्र एष स तदाविरास्ते ४८

abhyāsa ākṛṣṭa uparyalaṃ marud-
yadā suṣumṇāsyata āṅgidhātūn ॥
ūrdhvaṃ samākarṣati rundhako yathā'-
sraṃ citra eṣa sa tadāvirāste ॥ 48 ॥

---

1. भिदाऽपाने –a. 2. महापथातः –b. 3. उपर्यऽम्लं –b. 4. मरुद्धदा –b.

Tr. When the *prāṇa* having been pulled upwards through practice, pulls up the *dhātus* (bodily constituents) from the mouth of *suṣumnā* then the passage becomes clear like a picture when the tears are rolled down. 48.

अभ्यासयोगेन जितासनेन
लैन्यं मनो याति न बिन्दुरेत्यधः ॥
कुम्भ[1]विधा याति चिरं स्थिते[2] स्वं
भवन्ति नादा[3] विविधा हृदन्तरे ॥ ४९ ॥

abhyāsayogena jitāsanena
lainyaṃ mano yāti na binduretyadhaḥ ॥
kumbhavidhā yāti ciraṃ sthite svaṃ
bhavanti nādā vividhā hṛdantare ॥ 49 ॥

Tr. As a result of practice when the *āsanas* are mastered over and when the mind does not wander, the *bindu* does not flow down. Prolonged practice of *kuṃbhaka* reveals various *nādas* in the heart. 49.

संस्रवद्धिमगुमण्डलं तदा क्षुत्तृडादि परिनश्यति[4] दोषैः ।
स्वस्वरूप उपयाति केवलां संस्थितिं मुनिवरो गतशोकः ॥ ५० ॥

saṃsravadhimagumaṇḍalaṃ tadā
kṣuttṛḍādi parinaśyati doṣaiḥ ॥
svasvarūpa upayāti kevalāṃ
saṃsthitiṃ munivaro gataśokaḥ ॥ 50 ॥

Tr. Then the ambrosia from the moon flows down and hunger and thirst disappear along with impurities. A *muni* overcomes suffering and gets established in the true form of the Self in *kevala kumbhaka*. 50.

तथा चोक्तं योगसंग्रहे–

tathā coktaṃ yogasaṃgrahe—

It has been stated in *yogasaṃgraha*—

दुर्धात्वम्बुवहा नाड्यो[5] तदा नद्यश्च पुष्करे ।
शोषयेत् सततं योगी तदा वज्रतनुर्भवेद् ॥ इति ॥ ५१ ॥

---

1. कुम्भं –b. 2. स्थिरो –b. 3. नीदा –b. 4. नश्यन्ति –b. 5. वहानाशेन –b.

durdhātvambuvahā nāḍyo tadā nadyaśca puṣkare |
śoṣayet satataṃ yogī tadā vajratanurbhaved || iti || 51 ||

Tr. Just as a lake (*puṣkara*) dries due to the rivers being depleted, similarly, as a result of drying up of the impure channels, a *yogī* dries all the bodily constituents and his body becomes adamantine. 51.

स्याच्चित्तकम्पा घटिकादशोन्मिते १०
निसर्गकुम्भे घटिकाद्वयं मुनेः ॥
यदाभिलैन्यं[1] प्रतियाति मानसं
प्रकम्पतेऽदोऽस्य[2] तदाऽन्तरे मुनेः ॥ ५२ ॥

syāccittakampā ghaṭikādaśonmite10
nisargakumbhe ghaṭikādvayaṃ muneḥ ||
yadābhilainyaṃ pratiyāti mānasaṃ
prakampate'do'sya tadā'ntare muneḥ || 52 ||

Tr. As a result of *nisarga-kumbhaka* retained for two *ghaṭikās*, the state of *cittakampā* occurs for 10 *ghaṭikās*. Thus fickleness of the mind disappears and a *yogī* experiences tremors. 52.

सद्यप्रबुद्धक्षुभितोरगी रुट्फूत्कारभीतं भवतृट् श्मशानम् ।
भवप्रलुब्धं[3] तनु वीक्ष्य चित्तं प्राक्कम्पते यातमिवा[4]ऽन्धकूपे ५३

sadyaprabuddhakṣubhitoragī ruṭ-
phūtkāra-bhītaṃ bhavatṛṭ śmaśānam ||
bhavapralubdhaṃ tanu vīkṣya cittaṃ
prākkampate yātamivā'ndhakūpe || 53 ||

Tr. *kuṇḍalinī* which has got entangled in the mundane world, having been recently agitated, becomes infuriated and makes hissing sound and enters the void *(brahmarandhra)*. Being attracted towards the mundane world, the serpent perceives the mind and it (mind) quivers as if it has entered hell. 53.

निरालम्बमतश्मशानेऽस्तदोषं विशशानुचिन्तोद्वेगमन्तः[5] सदा ।
व्युत्थितौ सम्भ्रमत्रासतोऽलं विनिद्रि तदा जायते कम्पतेऽतः ।५४।

1. यदाभिलैन्य -b. 2. प्रकम्पतेऽदोहस्य -b. 3. प्रलब्धं -b. 4. यानमिवा -b. 5. चिराशानुचिन्तयेत् अग्निःस्फुलिंगदर्शितुर्य४द्यतो गतोद्वेगमन्तः — b.

nirālambamataśmaśāne'stadoṣaṃ
viśaśānucintodvegamantaḥ sadā ॥
vyutthittau saṃbhramatrāsato'laṃ
vinidri tadā jāyate kampate'taḥ ॥ 54 ॥

Tr. Being free from blemishes, thoughts and worries she *(kuṇḍalinī)* remains in the void *(brahmarandhra)*. In the state of *vyutthāna*, being awakened and sleepless, she agitates as a result of which quivering occurs. 54.

अभ्यसेच्छान्तये[1] योगी धैर्याच्छ्वासनिरोधने ।
आत्मैकतानतायुक्तं न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ ५५ ॥

abhyasecchāntaye yogī dhairyācchvāsanirodhane ।
ātmaikatānatāyuktaṃ na kiñcidapi cintayet ॥ 55 ॥

Tr. A *yogī* should undertake the practice of *prāṇāyāma* for poise attuned to the Self and should not think of anything. 55.

अग्निस्फुलिंगदृशि तुर्य४घटीमितायां
भूमौ मुनिः सहजसिद्धसुकुम्भकेऽत्र ॥
रुद्रप्रमाण११घटिके हृदि भूरि तेजो-
बिन्दून् प्रपश्यन्ति महापथ आत्तधैर्यः[2] ॥ ५६ ॥

agnisphuliṅgadṛśi turya4ghaṭīmitāyāṃ
bhūmau muniḥ sahajasiddhasukumbhake'tra ॥
rudrapramāṇa11ghaṭike hṛdi bhūri tejo-
bindūn prapaśyanti mahāpatha āttadhairyaḥ ॥56॥

Tr. A *muni* maintains this state of *sahajakumbhaka* for four *ghaṭikās* and perceives the sparkling of fire, and maintaining this *kuṃbhaka* for eleven *ghaṭikās* perceives excessively shining particles in the great path *(suṣumnā)* courageously. 56.

नादोत्पत्तिररोगता च जठराग्नेर्दीपनं प्रोत्कटं
देहे बिन्दुजयः शिरा शुभविशुद्धिश्चेत्य[3]नुक्तं हि यत् ॥
अभ्यासस्य फलं समस्तमखिलं निर्बीजशून्यावधि
ज्ञात्वाऽभ्यासमपास्य[4] कार्यमपरं[5] प्राणावरोधे चरेत् ।५७।

---

1. छांवये–b. 2. आतधैर्यः-a. 3. शुभविद्धिश्चेत्य–b. 4. मयास्य–b. 5. कार्धमपरं–b.

nādotpattirarogatā ca jaṭharāgnerddīpanaṃ protkaṭam
dehe bindujayaḥ śirā śubhaviśuddhiścetyanuktaṃ hi yat ||
abhyāsasya phalaṃ samastamakhilaṃ nirbījaśūnyāvadhi
jñātvā'bhyāsamapāsya kāryamaparaṃ prāṇāvarodhe caret
|| 57 ||

Tr. The entire set of the results of devoted practice appears as arousal of *nāda*, well-being, excessive enhancement of gastric fire in the body, control over *bindu*, free passage of the *śirās* and also those which are not mentioned. This will continue until one arrives at (the state of) *nirbīja* or *śūnya* (void). Knowing this one should put aside all the practices and other works and devote in controlling *prāṇa*. 57.

तथा चोक्तमुत्तरगीतायाम् —

tathā coktamuttaragītāyām—

It has been stated in *uttaragītā*—

गच्छंस्तिष्ठन् सदा कालं वायुस्वीकरणं परम् ।
सर्वकालप्रयोगेण सहस्रायुर्भवेन्नरः ॥ इति ॥ ५८ ॥

gacchaṅstiṣṭhan sadā kālaṃ vāyusvīkaraṇaṃ param |
sarvakālaprayogena sahasrāyurbhavennaraḥ || *iti* || 58 ||

Tr. By practising *prāṇāyāma* all the time with full devotion, one lives long. 58.

तथा च योगतत्वप्रकाशे –

tathā ca yogatatvaprakāśe—

It is stated in *yogatatvaprakāśa*—

रेचकादित्रयाभ्यासो नाडीशोधनपूर्वकम् ।
स्वस्वोत्क्रमण[1]पर्यन्तः प्रोक्तो योगानुमार्गतः ॥ इति ॥ ५९ ॥

recakāditrayābhyāso nāḍīśodhanapūrvakam |
svasvotkramaṇaparyantaḥ prokto yogānumārgataḥ ||*iti*||59|

Tr. One should practise *nāḍīśodhana* and

---

1. स्वस्वोक्रमण –b.

prāṇāyāma systematically till one leaves the *prāṇa* through *yogic* technique. 59.

॥ इति सुन्दरदेवविरचितायां
हठतत्त्वकौमुद्यामुत्कर्ष-
प्राणायामादिविवेचनोद्योतः ॥

॥ iti sundaradevaviracitāyāṃ haṭhatatvakaumudyām-
utkarṣaprāṇāyāmādi-vivecanodyotaḥ ॥

Here ends the narrating of the technique of *utkarṣa-prāṇāyāma* in *haṭhatatvakaumudī* composed by *sundaradeva.*

॥ समाप्तोऽयं बहिरंगसाधनो पञ्चमः ॥

॥ samāpto'yaṃ bahiraṅgasādhano pañcamaḥ ॥

Here ends the fifth –*bahiraṅgasādhana.*

variety of *kumbhaka.* HP(J) calls *sītkārī kumbhaka* as *bhujaṅga-kumbhaka.* HY also refers to *bhujaṅgīkaraṇa. jayatarāma* calls it *bhuyaṅgama* in JP(chapter-v). The technique of *bhujaṅgīkaraṇa* seems to have some similarity with *bhujaṅginī mudrā* described by GhS in (iii.3,69) and *plāvinī kumbhaka* mentioned in HP-ii.70. 31.

महामुद्रा महाबन्धो महावेधस्तृतीयकः ||
उड्डियानं मूलबन्धो[1] बन्धो जालन्धराभिधः [2] || 32 ||
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ||
सम्प्रदाया[3] खेचरी सा[4] दश मुद्राः प्रकीर्तिताः || 33 ||

mahāmudrā mahābandho mahāvedhastṛtīyakaḥ //
uḍḍiyānaṃ mūlabandho bandho jālandharābhidhaḥ // 32 //
karaṇī viparītākhyā vajrolī śakticālanaṃ //
sampradāyā khecarī sā daśa mudrāḥ prakīrtitāḥ // 33 //

Tr. The well-known ten traditional *mudrās* are: *mahāmudrā, mahābandha, mahāvedha, uḍḍiyāna, mūlabandha, jālandhara, viparītakaraṇī, vajrolī, śakti-cālana* and *khecarī.* 32-33.

Note: Different texts give different number of *mudrās.* GhS (iii.1-3) describes 25 *mudrās*, in which are also included the 10 *mudrās* mentioned here. The nature of the *mudrās* given by GhS is physical at one hand and psychological at the other. JP gives 24 *mudrās* which are different from the list of GhS. These are — *saṃ kṣobhaṇī, drāvaṇī, ākarṣaṇī, vaśyā, unmanī, mahāṅkuśā, trikhaṇḍā, virajā, vīparīta-karaṇa, mūlabandha, kāmarāja, uḍḍiyāna, jālandhara, mahāmudrā, mahābandha (pūrṇagirā), mahāvedha, khecarī, varaṇaka, sahajolī, ṣaṇmukhī, cācarī, bhūcarī, agocarī* and *unmanī.*

JP(603)suggests that *mahāmudrā, mahābandha* and *mahāvedha* are to be practised together. The description of *mahābandha* and *mahāvedha* is differently given.

---

1. महावंधो-N,J. 2. उड्डियानं मूलबन्धो जालन्धराभिधः-T,t1. 3. सन्ति या -P,T,t1.
4. मुद्रा-P,T,t1, अनुपलब्ध –N.

The place of *mahāmudrā* is said to be *yoni-sthāna*, that of *mahābandha* is *kantha-sthāna* and that of *mahāvedha* is *daśama-sthāna* (*brahma-randhra*). 32-33.

आदिनाथोदिता मुद्रा अष्टैश्वर्यप्रदायकाः[1] ॥
वल्लभाः सर्वसिद्धानां दुर्लभा महतामपि[2] ॥ 34 ॥

ādināthoditā mudrā aṣṭaiśvaryapradāyakāḥ //
vallabhāḥ sarvasiddhānāṃ durlabhā mahatāmapi // 34 //

Tr. These *mudrās,* propagated by *ādinātha*, bestow upon one the eight supernatural powers and are highly respected by all the *siddhas,* but are difficult to be achieved even by the great. 34.

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ॥
एकैका तासु मुख्या स्यान्महासिद्धिप्रदायिनी ॥ 35 ॥

iti mudrā daśa proktā ādināthena śambhunā //
ekaikā tāsu mukhyā syānmahāsiddhipradāyinī // 35 //

Tr. This is the set of ten *mudrās* told by *ādinātha śambhu.* Each one of them is of great significance, which brings about great *siddhis* (supernatural powers). 35.

अथ महामुद्रा —

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि वशिष्ठेनोक्तमादरात् ॥ 36 ॥

atha mahāmudrā—

mahāmudrāṃ pravakṣyāmi vaśiṣṭhenoktamādarāt // 36 //

Tr. With all respect, I now narrate *mahāmudrā,* as told by *vaśiṣṭha.* 36.

Note : The reference to *vaśiṣṭha* on *mahāmudrā* is not traceable.

The technique of *mahāmudrā* given here resembles the technique given in śs (iv.16-17).

---

1. प्रदायिकाः-P,T,t1. 2. त्रिदशामपि -P,T,t1; मरुतामपि –N,n1.

There are different traditions giving different techniques of *mahāmudrā.* The general technique of *mahāmudrā* consists of the combination of four different practices, namely, *siddhāsana, paścimatāna, kumbhaka* and application of *bandhas.* We find the following variations in different traditions:—

śivasaṃhitā tradition— It prescribes only *jālandhara-bandha* omitting both *uḍḍiyāna* and *mūla-bandha.* During *jālandharabandha* the *bhrūmadhya-dṛṣṭi* is not required.

gheraṇḍa saṃhitā tradition— In this tradition, *mūlabandha* and *uḍḍiyāna-bandha* do not form a part of *mahāmudrā* technique. It advises only *jālandhara-bandha* combined with *bhrūmadhya-dṛṣṭi* or gazing in between the eyebrows.

brahmānanda's tradition— *brahmānanda*, the commentator of HP, who is trained in a tradition different from that of *svātmārāma*, differs on two points. He wants big toe and not the foot to be caught hold of in the hooks of the index fingers and not in the finger lock. Secondly, he advises *jihvā-bandha* to be coupled with *kumbhaka* and not three *bandhas.*

haṭhapradīpikā tradition—The technique described by *svātmārāma* requires only two *bandhas*, namely *mūlabandha* and *jālandhara-bandha* during the practice of *mahāmudrā.* He omits *uḍḍiyāna-bandha.*

bālakṛṣṇa's tradition— While commenting upon *mahāmudrā, bālakṛṣṇa*, the commentator of HP, mentions another variety of the technique in which *mūlabandha* and *jālandhara-bandha* are hinted and the *vāyu* is to be held in the *brahmarandhra.* He suggests that after practising with *candra-nāḍī* (left nostril), it should be repeated with *sūrya-nāḍī* (right nostril).

mādhavīya tradition — In the *mādhavīya* tradition mentioned by Swāmī Kuvalyānanda, the extended leg is caught at the foot with finger-lock. Inhalation is done with sound by partial contraction of glottis as in *ujjāyī.* There is simultaneous practice of all the three *bandhas* namely *mūla, uḍḍiyāna* and *jālandhara* during *kumbhaka.*

A comparison of the various techniques prescribed by different traditions noted above will show that the *mādhavīya* tradition makes the practice of *mahāmudrā* most difficult. However, it is the most perfect of the lot. As a progression based on simple to difficult principle, the sequence of the practice of *mahāmudrā* may be mentioned as follows— 1) ŚS tradition, 2) GhS tradition, 3) *brahmānanda's* tradition, 4) HP tradition, 5) *bālakṛṣṇa's* tradition and 6) *mādhavīya* tradition.

For detailed discussion on *mahāmudrā,* refer to YM (V-1:59-76).

In these techniques, the practice of *mahāmudrā* is to be repeated on both the sides – left and right, for equal number of times. This important point has not been mentioned here by *śrīnivāsa*. 36.

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम्[1] ||
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखम्[2] ||
कण्ठे बन्धं[3] समारोप्य पूरयेद्वायुमूर्ध्वतः || 37 ||

pādamūlena vāmena yonim sampīḍya dakṣiṇam //
pādam prasāritam kṛtvā karābhyām pūrayenmukham //
kaṇṭhe bandham samāropya pūrayedvāyumūrdhvataḥ // 37 //

Tr. Press the perineum with the left heel, extend the right leg and hold it with both the hands, inhale the air and apply *jālandhara bandha* and retain the air in the upper region. 37.

---

1. दक्षिणे-N,J,n1,n4. 2. पूरयेन्मुखे-P,T,t1. 3. वेधं -J.

यथा दण्डाहतः[1] सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहजा[2] भवेत् ॥ 38 ॥
yathā daṇḍāhataḥ sarpo daṇḍākāraḥ prajāyate //
ṛjvībhūtā tathā śaktiḥ kuṇḍalī sahajā bhavet // 38 //

Tr. *kuṇḍalī śakti* becomes straight, just as a snake hit by a stick, becomes straight. 38.

तथा सा[3] मरणावस्था[4] जायते द्विपुटीस्थिता[5] ॥ 39 ॥
tathā sā maraṇāvasthā jāyate dviputīsthitā // 39 //

Tr. This brings about the cessation of the functioning of the two *nāḍīs* (*iḍā* and *piṅgalā*). 39.

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ 40 ॥
na hi pathyamapathyaṃ vā rasāḥ sarve'pi nīrasāḥ //
api bhuktaṃ viṣaṃ ghoraṃ pīyūṣamiva jīryate // 40 //

Tr. For such a person, there is nothing like recommended or prohibited food. All that is tasteless becomes tasty. Even deadliest poison is digested like milk. 40.

क्षयकुष्ठगुदावर्त[6]गुल्माजीर्णपुरोगमाः[7] ॥
दोषाः सर्वे[8] क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्[9] ॥ 41 ॥
kṣayakuṣṭhagudāvartagulmājīrṇapurogamāḥ //
doṣāḥ sarve kṣayaṃ yānti mahāmudrāṃ tu yo'bhyaset // 41 //

Tr. All the ailments like consumption, skin disease, constipation, glandular enlargement, indigestion and many others are cured by the practice of *mahāmudrā*. 41.

कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥
गोपनीया[10] प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ 42 ॥

---

1. दण्डाकृतः-P,t1. 2. सहसा-P,T,n2,t1. 3. तदासौ-N,n1,n3,n4,J. 4. मरणावस्थां–n4. 5. हरते वियदास्थिताम्-N,n1,J, द्विपुटाश्रिता–n2, विपदास्थिताम्-n3,n4. 6. क्षयकुष्ठ उदावर्त -P. 7. गुल्मप्लीहपुरोगमाः-P; गुल्मौ प्लीहपुरोगमाः-T,t1, गुल्मजीर्णपुरोगमाः-J. 8. तस्य दोषां-T; तस्य दोषाः-P,t1. 9. यो न्यसेत्-P,T,t1. 10. गोपनीयं-T,t1.

kathiteyaṃ mahāmudrā jarāmṛtyuvināśinī //
gopanīyā prayatnena na deyā yasya kasyacit // 42 //

Tr. *mahāmudrā* removes old age and fear from death. Therefore, it should be carefully guarded and should not be imparted to all and sundry. 42.

अथ महाबन्धः[1] —
पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनि[2]स्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ 43 ॥ [3]

***atha mahābandhaḥ* —**
parṣṇiṃ vāmasya pādasya yonisthāne niyojayet //
vāmorūpari saṃsthāpya dakṣiṇaṃ caraṇaṃ tathā // 43 //

Tr. Place the left heel at the perineum, and the right foot on the left thigh. 43.

पूरयेन्मुखतो[4] वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ॥
निभृत्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥
रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते ॥ 44 ॥

pūrayenmukhato vāyuṃ hṛdaye cibukaṃ dṛḍham //
nibhṛtya yonimākuñcya mano madhye niyojayet //
recayecca śanairevaṃ mahābandho'yamucyate // 44 //

Tr. Inhale through the mouth and firmly apply *jālandhara bandha.* Carefully contract the perineum (applying *mūlabandha*) and direct the mind towards the middle path (*suṣumnā)* and slowly exhale. This is *mahābandha.* 44.

---

1. महाबन्धः-n3. 2 योनिं–J.

3. पूरयित्वा मुखं वायुं हृदये चिबुकं तथा ॥
निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥–अधिकः पाठः-N,n1,n4, पार्ष्णिवामेन योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत्-n3,n4. 4. पूरितोन्मुखतो–n4, पूरयित्वा मुखं–J.

अयं योगो[1] महाबन्धस्सर्वसिद्धिप्रदायकः[2] ॥
सव्यांगे[3] च समभ्यस्य दक्षिणांगे समभ्यसेत् ॥ 45 ॥

ayaṃ yogo mahābandhassarvasiddhipradāyakaḥ //
savyāṅge ca samabhyasya dakṣiṇāṅge samabhyaset // 45 //

Tr. This technique of *mahābandha* bestows upon one all the *siddhis* (supernatural powers). This should be practised first on the left and then on the right. 45.

अयं च सर्वनाडीनामूर्ध्व[4]गतिविबोधकः ॥
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः[5] ॥ 46 ॥

ayaṃ ca sarvanāḍīnāmūrdhvagativibodhakaḥ //
triveṇīsaṅgamaṃ dhatte kedāraṃ prāpayenmanaḥ // 46 //

Tr. This promotes all the currents of *nāḍīs* moving in upward direction, brings about the confluence of the three *nāḍīs* (*iḍā, piṅgalā* and *suṣumnā*) and fixes the mind between the eye-brows (*kedāra*). 46.

Note: The expression '*trīveṇī saṅgama*' indicates the confluence of the three rivers, i.e., *gaṅgā, yamunā* and *sarasvatī.* This analogy is implied here in case of confluence of *iḍā, piṇgalā* and *suṣumnā.* The place of confluence here is called *kedāra*, which is the center of the eyebrows. 46.

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥
महामुद्रामहाबन्धौ[6] निष्फलौ[7] वेधवर्जितौ[8] ॥ 47 ॥

rūpalāvaṇyasampannā yathā strī puruṣaṃ vinā //
mahāmudrāmahābandhau niṣphalau vedhavarjitau // 47 //

Tr. Just as a woman with beauty serves no purpose without a man, similarly, *mahāmudrā* and *mahābandha* are futile without the practice of *vedha* (*mahāvedha*). 47.

---

1. योगी -P,T,t1. 2. महाबंधं सर्वसिद्धिप्रदायकं-P,n2,T,t1. 3. सर्वांगे-T.4.मूर्ध्वं-T,t1. 5. प्रापयेत्पुनः-N,n1,n3. 6. महाबन्धो–P,t1. 7. निष्फला-T,t1, निषरौ–n4.8. वेधवर्जिता-T,t1.

अथ महावेधः[1]**—**

महाबन्धस्थितो[2] **योगी कृत्वा पूरकमेकधीः**[3] **॥**
वायूनां गतिमाकृष्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥ 48 ॥

atha mahāvedhaḥ—
mahābandhasthito yogī kṛtvā pūrakamekadhīḥ //
vāyūnāṃ gatimākṛṣya nibhṛtaṃ kaṇṭhamudrayā // 48 //

Tr. Having adopted *mahābandha*, a *yogī* should carefully inhale the air and apply *jālandhara bandha*. 48.

अष्टधा क्रियते चैतत् यामे यामे दिने दिने ॥
पुण्यसंघात[4]**सन्धायी**[5] **पापौघभिदुरः**[6] **सदा ॥ 49 ॥**

aṣṭadhā kriyate caitat yāme yāme dine dine //
puṇyasaṅghātasandhāyī pāpaughabhiduraḥ sadā // 49 //

Tr. If it is practised eight times a day every three hours (*yāma* = 3 hours), it helps accumulating merits and destroys multitude of sins. 49.

सम्यक् श्रद्धावतामेव सुखं प्रथमसाधने ॥
वह्निस्त्रीपथसेवां च प्रथमं परिवर्जयेत्[7] **॥ 50 ॥**

samyak śraddhāvatāmeva sukhaṃ prathamasādhane //
vahnistrīpathasevāṃ ca prathamaṃ parivarjayet // 50 //

Tr. Even for those who are devoted should avoid in the beginning contact with fire, woman and taking long walk, which is beneficial. 50.

समहस्तयुगो[8] **भूमौ स्फिचौ**[9] **सन्ताडयेच्छनैः**[10] **॥**
अयमेव महावेधः सिद्धिदोऽभ्यासतो[11] **भवेत् ॥ 51 ॥**

samahastayugo bhūmau sphicau santāḍayecchanaiḥ //
ayameva mahāvedhaḥ siddhido'bhyāsato bhavet // 51 //

---

1. अथ महाबन्धः-n2, महावेधः-n3. 2. महावेधस्थितो-J. 3. पूरकमेकधा-N,n1,n3,n4,J. 4. सन्धान-N,J. 5. सन्ध्यायां-N,n1,n4,J. 6. पापौघभिदुरं-P,T,t1. 7. वह्निस्त्रीपथसेवानामादौ वर्जनमादिशेत्-P,T,t1. 8. समहस्तयुगौ–P,T,t1. 9. स्फितौ-T; स्फिजौ-P,t1; स्फिवोति-J. 10. ताडयेच्छनैः-N,J. 11. सिद्धिदोऽभ्यासदो-P, सिद्धिदाभ्यासतो–J.

Tr. Firmly placing the palms on the ground, one carefully strikes the floor with the posteriors. This is *mahāvedha*, which is accomplished by practice. 51.

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्[1] ||
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् || 52 ||

etattrayaṃ mahāguhyaṃ jarāmṛtyuvināśanam //
vahnivṛddhikaraṃ caiva hyaṇimādiguṇapradam // 52 //

Tr. This secret triad alleviates old age and fear of death, stimulates gastric fire and offers the supernatural powers like *aṇimā* etc. 52.

अथोड्यानबन्धः[2]—

बद्धो[3] येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डियते यतः ||
तस्मादुड्डियानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः || 53 ||[4]

athoḍyānabandhaḥ—

baddho yena suṣumnāyāṃ prāṇastūḍḍiyate yataḥ //
tasmāduḍḍiyānākhyo'yaṃ yogibhiḥ samudāhṛtaḥ // 53 //

Tr. The lock confined to *suṣumnā* which causes the *prāṇa* to rise upwards is called *uḍḍiyāna* by the *yogīs.* 53.

उड्डीनं[5] कुरुते यस्मादविश्रान्तं[6] महाखगः ||
उड्डियानं तदेव स्यात् तत्र बन्धोऽभिधीयते[7] || 54 ||[8]

uḍḍīnaṃ kurute yasmādaviśrāntaṃ mahākhagaḥ //
uḍḍiyānaṃ tadeva syāt tatra bandho'bhidhīyate // 54 //

Tr. The practice which takes the great bird (*prāṇa*) always moving upwards incessantly, is called *uḍḍiyāna* , which is explained as under. 54.

Note: This verse has been obviously taken from HP (iii.55), where we get the reading '*tatra bandho'bhidhīyate*' instead of '*mūlabandho'bhidhīyate*'. The same reading is found in DBU-76, VU-v.7, which being appropriate, has been accepted here. 54.

---

1. विनाशकम् -n4. 2. अथ उड्डियानबन्धो निरूप्यते-P,T. 3. बद्ध्वा-P,T,t1,J.
4. अनुपलब्धपंक्तिः-P,T,t1. 5. उड्याणं-P,T,t1, उड्डिनं-n4. 6. अविश्रान्तो–T,t1.
7. मूलबन्धोऽभिधीयते –N,J,P,T, तस्मादुड्डियानं बन्धं –n2, उड्डियानबन्धः-n3.
8. अनुपलब्धपंक्तिः-P,T,t1.

उदरे पश्चिमं तानं[1] नाभेरूर्ध्वं च धारयेत् ‖
उड्डियानो ह्यसौ[2] बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ‖ 55 ‖
udare paścimaṃ tānaṃ nābherūrdhvaṃ ca dhārayet //
uḍḍiyāno hyasau bandho mṛtyumātaṅgakesarī // 55 //

Tr. Pull the abdominal wall above the navel towards the back. This is *uḍḍiyāna-bandha,* which removes fear of death, like a lion killing an elephant. 55.

गुरुणा सहजं प्रोक्तं वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ‖
बाह्योड्याणं च कुरुते बाह्यालंकारवर्धनम् ‖ 56 ‖[3]
guruṇā sahajaṃ proktaṃ vṛddho'pi taruṇo bhavet //
bāhyoḍyāṇaṃ ca kurute bāhyālaṅkāravardhanam // 56 //

Tr. As a result of diligent practice of *uḍḍiyāna*, as per the instruction of the *guru*, even an old person becomes young. This is called *bāhyoḍyāṇa*, which enhances the external beauty. 56.

नाभेरूर्ध्वमधो वापि तानं कुर्यात् प्रयत्नतः ‖[4]
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ‖ 57 ‖
nābherūrdhvamadho vāpi tānaṃ kuryāt prayatnataḥ //
ṣaṇmāsamabhyasenmṛtyuṃ jayatyeva na saṃśayaḥ // 57 //

Tr. Effortfully contract (the abdomen) above and below the navel. Thus, in six months, one undoubtedly overcomes (premature) death. 57.

Note: *uḍḍiyāna* is an exercise of the diaphragm and the ribs. It is practised either in sitting or standing positions. There is no mention about the phase of respirations, but the term *'bāhyoḍyāna'* suggests that it is done under exhalatory condition. However, when *uḍḍiyāna* is practised with *prāṇāyāma*, it is done under inhalatory condition. The anatomico-physiological mechanism differs in these two techniques. For detailed scientific investigation on exhalatory type of *uḍḍiyāna*, refer to YM (vol. 1,2,3,6 & 8). 57.

---

1. ताणं–P,t1. 2. ह्ययं -P,T,t1. 3. अन्यश्लोकः उपलब्धः-
उड्डियानं च सहजं गुरुणा कथितं यथा ‖
अभ्यसेत्तदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ‖ -J,N,n1,n3,n4. 4. अनुपलब्धपंक्तिः-P,T,t1,n1,n2.

अथ मूलबन्धः —

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकुञ्च्य[1] मूलबन्धोऽयमुच्यते[2] ॥ 58 ॥

atha mūlabandhaḥ —

pārṣṇibhāgena sampīḍya yonimākuñcayed gudam //
apānamūrdhvamākuñcya mūlabandho'yamucyate // 58 //

Tr. Press the perineum with the heel, contract the anal sphincters and pull the *apāna vāyu* upwards. This is *mūlabandha.* 58.

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं[3] कुरुते बलात् ॥
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥ 59 ॥[4]

adhogatimapānaṃ vai ūrdhvagaṃ kurute balāt //
ākuñcanena taṃ prāhurmūlabandhaṃ hi yoginaḥ // 59 //

Tr. *apāna*, which has a downward movement, is forcefully raised upwards by contraction. *yogīs* call this *mūlabandha.* 59.

गुदं पार्ष्ण्या च सम्पीड्य[5] वायुमाकुञ्चयेद् बलात् ॥
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ 60 ॥[6]

gudaṃ pārṣṇyā ca sampīḍya vāyumākuñcayed balāt //
vāraṃ vāraṃ yathā cordhvaṃ samāyāti samīraṇaḥ // 60 //

Tr. Press the anus with the heel and forcefully contract *apāna vāyu* repeatedly, so that the *vāyu* moves upwards. 60.

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ॥
गतौ तदा योगसिद्धिं[7] प्राप्नोत्येव न संशयः[8] ॥ 61 ॥

prāṇāpānau nādabindū mūlabandhena caikatām //
gatau tadā yogasiddhiṃ prāpnotyeva na saṃśayaḥ // 61 //

Tr. Thus, with the practice of *mūlabandha, prāṇa* and *apāna, nāda* and *bindu* are united. Then one certainly attains success in *yoga.* 61.

---

1. अपानवृत्तिमाकृष्य-P,T,t1, अपानमूर्ध्वमाकृष्य–J,n4. 2. मूलबन्धोऽयमिष्यते-P,T,t1. 3. मूर्ध्वगं –n4. 4. श्लोकअनुपलब्धः-T,t1. 5. पार्ष्णिना गुदमापीड्य–n3. 6 अनुपलब्धपंक्तिः -P,T,t1. 7. गत्वा योगस्य संसिद्धिं –n4. 8. ततो योगस्य संसिद्धि यच्छतां नात्र संशयः-T, t1,P.

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ 62 ॥
apānaprāṇayoraikyaṃ kṣayo mūtrapurīṣayoḥ //
yuvā bhavati vṛddho'pi satataṃ mūlabandhanāt // 62 //

Tr. As a result of consistent practice of *mūlabandha, apāna* and *prāṇa* are unified, urine and faeces are reduced and even an old person becomes young. 62.

अपाने चोर्ध्वगे[1] जाते प्रयाते वह्निमण्डले ॥
तथानलशिखादीप्ति[2]र्वायुना प्रेरिता यथा[3] ॥ 63 ॥[4]
apāne cordhvage jāte prayāte vahnimaṇḍale //
tathānalaśikhādīptirvāyunā preritā yathā // 63 //

Tr. When *apāna* rises up and reaches the region of fire (navel region), the flame of the fire blazes forth, being fanned by *vāyu.* 63.

Note: *vahnimaṇḍala* refers to the navel region and *analaśikhā* refers to *jaṭharāgni* or gastric fire. 63.

यातायातौ वह्न्यपानौ[5] मूलरूपस्वरूपकौ ॥
तेनाभ्यन्तः प्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ 64 ॥[6]
yātāyātau vahnyapānau mūlarūpasvarūpakau //
tenābhyantaḥ pradīptastu jvalano dehajastathā // 64 //

Tr. Then the fire and *apāna* take their original form, which intensify the bodily fire. 64.

[7]दण्डाहता[8] भुजंगीव निश्चितं[9] ऋजुतामियात्[10] ॥
बिलं प्रविष्टेव[11] ततो[12] ब्रह्मनाड्यन्तरं[13] व्रजेत् ॥
तस्मान्नित्यं[14] मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ 65 ॥[15]

---

1. चोर्ध्वगं–P,n1,n2,n4. 2. दीप्ता-P. 3. तथा–N,n1,n2. 4. श्लोकअनुपलब्धः-T,t1. 5. बाह्यपानौ–J,N,n4. 6. श्लोकअनुपलब्धः- T,P,t1. 7. तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते–J,N,n1,n2,n3,n4. 8. दण्डाहतो –T,t1. 9. निश्वस्य-T,P,t1. 10. ऋजुतां व्रजेत्-T,P,t1. 11. प्रविश्य -T,P. 12. तत्रैव-T,P. 13. भुजंगी नान्तरं-T,P,t1, ब्रह्मनाड्यन्तरे– n4. 14. तस्मादयं –n3. 15. अनुपलब्धपंक्तिः-T,P,t1.

daṇḍāhatā bhujaṅgīva niścitaṃ ṛjutāmiyāt //
bilaṃ praviṣṭeva tato brahmanāḍyantaraṃ vrajet //
tasmānnityaṃ mūlabandhaḥ kartavyo yogibhiḥ sadā // 65 //

Tr. Thus, *kuṇḍalinī* certainly becomes straight, like a snake beaten by a stick, and enters the *brahmarandhra* (*suṣumnā*). Therefore, the *yogīs* should always practise *mūlabandha*. 65.

Note: These verses give a rationale of arousal of *kuṇḍalinī* by the practice of *mūlabandha*. 64-65.

अथ जालन्धरः[1]—
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्[2] ॥
बन्धो जालन्धराख्योऽयं[3] **जरामृत्युविनाशकः**[4] ॥
बध्नाति हि शिराजालं[5] **नाधो याति नभोजलम्** * ॥ 66 ॥

***atha jālandharaḥ*—**
kaṇṭhamākuñcya hṛdaye sthāpayeccibukaṃ dṛḍham //
bandho jālandharākhyo'yaṃ jarāmṛtyuvināśakaḥ //
badhnāti hi śirājālaṃ nādho yāti nabhojalam // 66 //

Tr. Contract the throat and press the chin against the chest. This is *jālandhara bandha*, which removes old age and premature death. Moreover, it ties up the nervous network, which restricts the downward flow of the nectar oozing from the space. 66.

ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठसंकोचने कृते ॥ [6]
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति * ॥ 67 ॥

tato jālandharo bandhaḥ kaṇṭhasaṅkocane kṛte //
na pīyūṣaṃ patatyagnau na ca vāyuḥ prakupyati // 67 //

Tr. *jālandhara bandha* adopted by contracting the throat does not allow the nectar to fall into the fire and *vāyu* does not go astray. 67.

---

1. अथ जालन्धरबन्धः -n2, जालन्धरबन्धः -n3. 2. स्थापयेद् दृढमिच्छया -P,T,t1. 3. जालन्धरस्त्वेष-P,T,t1, जालन्धराख्यो य–J. 4. विद्यते येन मारुतः-P,T,t1. 5. शिराज्वालं –J. शिरोजालं–n4. 6. बध्नाति .... कृते -अनुपलब्ध-P,T,n2. * अनुपलब्धपंक्तिः -t1.

Note: The word *jāla* refers to the network of the nerves going through the neck into the brain and *dhara* denotes holding back the nectar by working upon the brain. The purpose of *jālandhara* during *prāṇāyāma* is to exercise considerable pressure on the carotid sinus leading to the stimulation of the carotid nerves, which slow down the heart and with constant practice, a trance like condition may supervene. *jālandhara bandha* is not only practised during *kumbhaka*, but also during *recaka* in *mūrcchā prāṇāyāma,* bringing about stupor. This technique also indicates the principle of *viparītakaraṇī* involved in it. 66-67.

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ॥[1]
सर्वेषां योगतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ 68 ॥ *

bandhatrayamidaṃ śreṣṭhaṃ mahāsiddhaiśca sevitam //
sarveṣāṃ yogatantrāṇāṃ sādhanaṃ yogino viduḥ // 68 //

Tr. The set of three *bandhas* is of great importance in all the *yogic* treatises and is even practised by the eminent *siddhas.* 68.

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ॥[2]
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः[3] ॥ 69 ॥ *

adhastātkuñcanenāśu kaṇṭhasaṅkocane kṛte //
madhye paścimatānena syāt prāṇo brahmanāḍigaḥ // 69 //

Tr. Firmly contract the lower region (apply *mūlabandha*), contract the throat (apply *jālandhara bandha*) and retract in the middle (apply *uḍḍiyāna bandha*). Thus, *prāṇa* moves in the *brahmanāḍī.* 69.

Note : This verse indicates the application of three *bandhas*, namely, *mūlabandha, jālandhara bandha* and *uḍḍiyāna bandha,* which are practised simultaneously. 69.

---

1. न पीयूषं .... सेवितम् -अनुपलब्धः-P,T. 2. सर्वेषां .... कृते - अनुपलब्धः P,T. 3. मध्ये नाडिगः -n4. * अनुपलब्धश्लोकः -t1.

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत् ॥ [1]
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमं पथम् ॥ 70 ॥[2]

mūlasthānaṃ samākuñcya uḍḍiyānaṃ tu kārayet //
iḍāṃ ca piṅgalāṃ baddhvā vāhayet paścimaṃ patham //70 //

Tr. Adopt *mūlabandha* and practise *uḍḍiyāna*. This closing of *iḍā* and *piṅgalā* directs the *prāṇa* into the posterior path (*suṣumnā*). 70.

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ॥
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ 71 ॥ [3]

anenaiva vidhānena prayāti pavano layam //
tato na jāyate mṛtyurjarārogādikaṃ tathā // 71 //

Tr. Adherence to such techniques alone merges the *pavana* into the *laya* state, which retards untimely death, diseases and old age etc. 71.

अथ विपरीतकरणी[4] —

यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपि च[5] ॥
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डं[6] विनाशि च[7] ॥ 72 ॥

atha viparītakaraṇī —
yatkiñcit sravate candrādamṛtaṃ divyarūpi ca //
tatsarvaṃ grasate sūryastena piṇḍaṃ vināśi ca // 72 //

Tr. Whatever divine ambrosia is secreted from the moon, all of that is devoured by the sun. That is why the human body decays. 72.

तत्रास्ति दिव्यं करणं सूर्यस्य मुखबन्धनम् ॥
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः[8] ॥ 73 ॥

tatrāsti divyaṃ karaṇaṃ sūryasya mukhabandhanam //
gurūpadeśato jñeyaṃ na tu śāstrārthakoṭibhiḥ // 73 //

---

1. मध्ये ...कारयेत् . . अनुपलब्धः-P,T. 2. अनुपलब्धपंक्तिः-P,T,t1.
3. श्लोकअनुपलब्धः- 'कंठ संकोचनेनैव द्वि नाड्या भवति ध्रुवम् / सर्वेषां योगतन्त्राणां कर्तव्यं च मुहुर्मुहुः // अधिकपाठः-P,T,t1. 4. विपरीतकरणी –n3. 5. दिव्यरूपिणः-P,T,t1. 6. बन्धं-P,T,t1. 7. जरायुतं -P,T,t1, विनश्यति-n3. 8. शास्त्रार्धकोटिभिः-P.

Tr. There is a special way to seal the mouth of the sun, which can only be learnt from a *guru* and not by going through millions of scriptures. 73.

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी ॥
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ 74 ॥[1]
ūrdhvaṃ nābhiradhastālurūrdhvaṃ bhānuradhaḥ śaśī //
karaṇī viparītākhyā guruvākyena labhyate // 74 //

Tr. The technique which puts the navel up and palate down, that is, the sun up and the moon down, is called *viparītakaraṇī,* which can be learnt from a *guru.* 74.

करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी[2] ॥ 75 ॥[3]
karaṇī viparītākhyā sarvavyādhivināśinī //
nityamabhyāsayuktasya jaṭharāgnivivardhinī // 75 //

Tr. A daily practice of *viparītakaraṇī* alleviates all the diseases and stimulates gastric fire 75.

आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकेन[4] वै[5] ॥
अल्पाहारो यदि भवेद्देहमग्निर्दहेत्[6] क्रमात्[7] ॥ 76 ॥[8]
āhāro bahulastasya sampādyaḥ sādhakena vai //
alpāhāro yadi bhaveddehamagnirdahet kramāt // 76 //

Tr. Such a practitioner should consume adequate amount of food or else due to inadequate consumption of food, the body will gradually be consumed by the fire. 76.

अधःशिरश्चोर्ध्वपादौ[9] क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥
क्षणाच्च[10] किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥ 77 ॥[11]

1.पत्रमनुपलब्धम्-N, अनुपलब्धश्लोकः -n3. 2.प्रवर्धिनी-P,T. 3.पत्रमनुपलब्धम् -N. 4.साधकस्य-P,T,t1. 5.च-P,T,t1. 6.भवेदग्निर्देहं दहेत्-P,T. 7.क्षणात्-P,T,t1,n3. 8.पत्रमनुपलब्धम्-N. 9.शिरा ऊर्ध्वपादः-P,T,t1. 10.क्षणाच्चेत्-P,T. 11. पत्रमनुपलब्धम्-N.

adhaḥ śiraścordhvapādau kṣaṇaṃ syāt prathame dine //
kṣaṇācca kiñcidadhikamabhyasecca dine dine // 77 //

Tr. On the first day, one should remain in the topsy-turvy position for a short while. Each day one should maintain the posture longer, increasing the time little by little. 77.

वलितं[1] पलितं चैव षण्मासान्न तु[2] दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ॥ 78 ॥[3]

valitaṃ palitaṃ caiva ṣaṇmāsānna tu dṛśyate //
yāmamātraṃ tu yo nityamabhyaset sa tu kālajit // 78 //

Tr. In six months, grey hair and wrinkles disappear. A daily practice of three hours retards premature death. 78.

स्वस्थं यो वर्तमानोऽपि[4] योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥
करणी विपरीताख्या श्रीनिवासेन लक्षिता ॥ 79 ॥ [5]

svasthaṃ yo vartamāno"pi yogoktairniyamairvinā //
karaṇī viparītākhyā śrīnivāsena lakṣitā // 79 //

Tr. *viparītakaraṇī* has been propagated by *śrīnivāsa*, which can be taken up by the healthy person without adhering to *yogīc* injunctions. 79.

Note: *viparītakaraṇī* is not only a technique, but also an important concept in *haṭhayoga.* This is involved in different *yogic* practices like *jālandhara, khecarī* and *jihvābandha. pratyāhāra* is considered as *viparītakaraṇī* in GŚ (59), which emphasizes on the reversal process. The rationale of reversal of *sūrya* at the navel and *candra* at the root of the palate, leading to the protection of oozing nectar from the moon, is not yet properly understood in terms of modern concept of anatomy and physiology.

The technique of *viparītakaraṇī* is extended to any pose which has its head down and pelvic region raised up, such as

---

1. वली च-P,T,t1. 2. षण्मासोर्ध्वं न-P,T,t1. 3. पत्रमनुपलब्धम्-N. 4. परस्वदेववर्त्तमाने- n1,n2,n3,n4 . 5. पत्रमनुपलब्धम् -N.

śīrṣāsana and *sarvāṅgāsana.* KKHP describes the technique of *viparītakaraṇī* as upside down position of the body in which one is advised to swallow the air by mouth and expel it through the anus. 79.

अथ वज्रोली[1]—
वज्रोलीं कथयिष्यामि गोपितां सर्वयोगिभिः ॥
अतीव तद्रहस्यं हि न देयं[2] यस्य कस्यचित् ॥ 80 ॥[3]

atha vajrolī —
vajrolīṃ kathayiṣyāmi gopitāṃ sarvayogibhiḥ //
atīva tadrahasyaṃ hi na deyaṃ yasya kasyacit // 80 //

Tr. I shall explain the technique of *vajrolī,* which has been kept secret by all the *yogīs.* This has to be highly guarded and should not be imparted to anybody. 80.

स्वमानैस्तु[4] समो यस्मात् तस्यैव कथयेद् ध्रुवम् ॥
पुत्रस्यापि न दातव्यं[5] गुरुशिष्यक्रमं विना ॥ 81 ॥[6]

svamānaistu samo yasmāt tasyaiva kathayed dhruvam //
putrasyāpi na dātavyaṃ guruśiṣyakramaṃ vinā // 81 //

Tr. This should be imparted only to the one who is equally meritorious. Without following the tradition of *guru-śiṣya,* this should not be taught even to the son. 81.

कुण्डलीबोधनं सम्यक् नाडीनां परिशोधनम्[7] ॥
अपानप्राणयोरैक्यं कार्यं वज्रोलिकर्मणा ॥ 82 ॥

kuṇḍalībodhanaṃ samyak nāḍīnāṃ pariśodhanam //
apānaprāṇayoraikyaṃ kāryaṃ vajrolikarmaṇā // 82 //

Tr. *vajrolī* awakens *kuṇḍalī,* thoroughly cleanses the *nāḍīs* and unifies *apāna* and *prāṇa.* 82.

---

1. अथ वज्रोलिः सम्प्रदायानुरोधेन लक्ष्यते–P,t1. अथ वज्रोलिः सम्प्रदायानुसारेण लक्ष्यते-T, वज्रोली –n3. 2. देया-P.T,t1,n1,n4. 3. पत्रमनुपलब्धम्-N. 4. स्वप्राणैस्तु-P,T,t1,n3,n4. 5. दातव्या-P,T,t1. 6. पत्रमनुपलब्धम्-N. 7. परशोधनम्-P,T.

अभ्यासस्य क्रमं वक्ष्ये सम्प्रदायानुसारतः ॥
कामिनी[1] वा नरो वाथ वज्रोलीं बुद्धिमान्नयेत्[2] ॥ 83 ॥

abhyāsasya kramaṃ vakṣye sampradāyānusārataḥ //
kāminī vā naro vātha vajrolīṃ buddhimānnayet // 83 //

Tr. I shall explain the order of the practice according to the tradition, which should be followed by a wise, whether young woman or man. 83.

फूत्कारोचितं लिंगं रन्ध्राग्रे[3] बहिः स्थाप्यमेकं लिंगरन्ध्रमध्ये[4] स्थाप्यमपरं[5] मिलित्वा नाल[6]द्वयनिरूपणमादौ क्रियते ॥ तयोर्मध्ये फूत्कारो[7]चितं नालस्वरूपं प्रदर्श्यते ॥

phūtkārocitaṃ liṅgaṃ randhrāgre bahiḥ sthāpyamekaṃ liṅgarandhramadhye sthāpyamaparaṃ militvā nāla-dvayanirūpaṇamādau kriyate // tayormadhye phūtkārocitaṃ nālasvarūpaṃ pradarśyate //

Tr. One hollow tube should be placed in front of the glans penis and the other one should be inserted in the urethra in such a manner that both the ends of the tube meet. The particulars of the tube suitable for blowing are as follows:

काञ्चनेस्य च रूपस्य[8] ताम्रस्याप्यथवाऽयसः ॥
नालं[9] कुर्यात्प्रयत्नेन फुत्कारकरणोचितम्[10] ॥ 84 ॥

kāñcanasya ca rūpasya tāmrasyāpyathavā'yasaḥ //
nālaṃ kuryātprayatnena phutkārakaraṇocitam // 84 //

Tr. A hollow tube of gold, silver, copper or iron should be carefully made suitable for blowing. 84.

विंशत्यंगुलदीर्घमानरुचिरं त्वादौ सुवृत्ताल्पगम्
फूत्कारोचितकालरूपसदृशं[11] नालं हठाभ्यासिभिः ॥
प्रोक्तं तादृशमेव लिंगविवरे यत्नेन संस्थापयेत्
फूत्कारं[12] तदनन्तरं प्रकुरुतां[13] वायुर्यथा सञ्चरेत् ॥ 85 ॥

---

1. कामिनीव–N. 2. बुद्धिमांश्चरेत्-J. 3. पूत्कारोचितलिंगरन्ध्राग्रे–P,T,t1. 4. मध्य–P,T,t1. 5. स्थाप्यमानमपरं–P. 6. नाली–T,t1. 7. पूत्कारो-t1. 8. रौप्यस्य–P, रूप्यस्य–T. 9. नालीं –P,T,t1. 10. पूत्कारकरणोचिताम्-P,T,t1. 11. पूत्कारोचित कोलरूपसदृशं-P,T,t1. 12. पूत्कारं–P,T,t1. 13. प्रकुरुते-P,T,t1.

viṃśatyaṅguladīrghamānaruciraṃ tvādau suvṛttālpagam
phūtkārocitakālarūpasadṛśaṃ nālaṃ haṭhābhyāsibhiḥ //
proktaṃ tādṛśamevaliṅgavivare yatnena saṃsthāpayet
phūtkāraṃ tadanantaraṃ prakurutāṃ vāyuryathā sañcaret/85/

Tr. The *haṭha* practitioners should select the tube which is twenty digits in length, smooth, fine, small and rounded at one end, which is suitable for blowing the air forcibly after the hissing of a cobra. Such a tube should be cautiously inserted into the genital. Then one should blow through the tube so that the air enters in. 85.

हठप्रदीपिकाकारस्तु—
यत्नतः शरनालेन फूत्कारं[1] वज्रकन्धरे ॥
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसञ्चारकारणात् ॥ 86 ॥

haṭhapradīpikākārastu—
yatnataḥ śaranālena phūtkāraṃ vajrakandhare //
śanaiḥ śanaiḥ prakurvīta vāyusañcārakāraṇāt // 86 //

According to the author of *haṭhapradīpikā* —

Tr. One should effortfully and slowly blow through the tube into the urethra so that the air enters in. 86.

हठप्रदीपिकाकारमतं[2] हठयोगाभ्यासे[3]ऽज्ञानविलसितमित्युपेक्षणीयम् ॥
haṭhapradīpikākāramataṃ haṭhayogābhyāse'jñānavila - sitamityupekṣaṇīyam //

Tr. The opinion of the author of *haṭhapradīpikā* should be discarded like the utterance of an ignorant person.

यदि स्याच्छरनाले[4] हि भृशं वायुर्न सञ्चरेत् ॥
वायुसञ्चारणे त्याज्ये[5] शरनालादिकं[6] मतम् ॥ 87 ॥
yadi syāccharanāle hi bhṛśaṃ vāyur na sañcaret //
vāyusañcāraṇābhyāse śaranālādikaṃ matam // 87 //

---

1. पूत्कारं–P,T,t1. 2. हठप्रदीपिकाकारोक्तमतं–P,T. 3. हठयोगांगाभ्यासे–P. 4. स्याच्छरनालं-P. 5. वायुसञ्चारणात्त्याज्यं-T,t1; वायुसञ्चारणाभ्यासार्थ-N,n1,n2,n3,n4; वायुसञ्चारणाभ्यासे–N,n1,n2,n3,n4,J,T,t1. 6. शरं नालोदितं–P, शरनालोदितं मतं–T,t1.

Tr. Since the passing of air is desirable and if the air does not pass sufficiently through the *śaranāla* (reed stalk), then the use of a reed stalk should be avoided. 87.

Note: The criticism of *śrīnivāsa* about the ignorance regarding *haṭhayoga* practice of *vajrolī* using *śaranāla* seems to be unwarranted. Although the word *śaranāla* occurs in some of the MSS of HP, there are also other copies in which we find the term *śastanāla.* The term *śastanāla* means appropriate tube, which is accepted also by *śrīnivāsa.* The main purpose of *śaranāla* is to widen the passage of urethra so that the air blown into it could pass through easily. Although the tubes made up of different metals like gold, silver, copper and iron, as suggested by *śrīnivāsa,* are convenient for blowing the air through them, for *yogīs* who were living in isolated places, had to depend on the natural sources. The *śaranāla* could be easily available on the banks of the rivers. 87.

लिंगरन्ध्रमध्ये[1] स्थापनीयनालस्वरूपं लिंगरन्ध्रविस्तारार्थं निरूप्यते ||

liṅgarandhramadhye sthāpanīyanālasvarūpaṃ liṅgarandhra-vistārārthaṃ nirūpyate //

Tr. A tube is inserted in the genital to expand the urethra, details of which are as follows:

तन्तुवत्[2] कनकं नालं[3] नागं[4] ताम्रातिनिर्मलम् ||
नालद्रव्यमिदं प्रोक्तं श्रीनिवासेन योगिना || 88 ||

tantuvat kanakaṃ nālaṃ nāgaṃ tāmrātinirmalam //
nāladravyamidaṃ proktaṃ śrīnivāsena yoginā // 88 //

Tr. According to *yogī śrīnivāsa*, the materials ideally required for the tube should be very fine, the purest form of gold, lead or copper. 88.

---

1. लिंगमध्यरन्ध्रं -J, लिंगरन्ध्रमध्य –P,T,t1,n3,n4. 2. जतुवत्-T,t1,P. 3. नागं-T,t1,P.
4. भागं-N,n1

निर्मितं त्रिपलैर्नागैर्द्वादशांगुलदीर्घकम्[1] ॥
छत्राकारं प्रकुर्वीत नालं स्निग्धं सितं मृदु ॥ 89 ॥

nirmitaṃ tripalairnāgairdvādaśāṅguladīrghakam //
chatrākāraṃ prakurvīta nālaṃ snigdhaṃ sitaṃ mṛdu // 89 //

Tr. Make the lead tube weighing three *palas* (about 280 gms), twelve digits in length, shaped like an umbrella, smooth, white and fine. 89.

नियोज्यं[2] लिंगरन्ध्रे च निर्भीतः स्थापयेत् क्षणम् ॥
लिंगस्थैर्यं लिंगदार्ढ्यं बहुवीर्यविवर्धनम्[3] ॥ 90 ॥

niyojyaṃ liṅgarandhre ca nirbhītaḥ sthāpayet kṣaṇam //
liṅgasthairyaṃ liṅgadārḍhyaṃ bahuvīryavivardhanam // 90 //

Tr. Insert the tube in the genital without fear and hold it for a moment. This makes the genital stable, strong and offers increment of semen. 90.

नालं काञ्चननिर्मितं मृदुतरं सांगं च नागैः कृतम् ॥
छत्राकारमतः[4] पलत्रययुतं दैर्घ्यं वितस्तैर्मितम्[5] ॥ 91 ॥

nālaṃ kañcananirmitaṃ mṛdutaraṃ sāṅgaṃ ca nāgaiḥ kṛtam //
chatrākāramataḥ palatrayayutaṃ dairghyaṃ vitastairmitam // 91 //

Tr. A tube made up of gold should be very smooth and the part made up of lead, shaped like an umbrella, weighing three *palas* (about 280 gms) and 12 digits in length could be there. 91.

नालं तादृशमेव लिंगविवरे यत्नेन संस्थापयेत् ॥ 92 ॥

nālaṃ tādṛśameva liṅgavivare yatnena saṃsthāpayet // 92 //

Tr. Cautiously insert such a tube in the urethra. 92.

विस्तारं[6] तदनन्तरं दृढतरं लिंगं ततो जायते ॥
वायुसञ्चारणे जाते ऊर्ध्वमाकृष्यते बलात् ॥ 93 ॥

1. दीर्घितम्-T,t1,P. 2. नियोग्यं-T,t1, नियोज्य–P. 3. बहुवीर्यप्रवर्द्धनम्-J. 4. सर्पाकारमतः-N, छत्राकारमथ-T,t1.; 5. वितस्तेर्मितं –J,P,T. 6. द्विस्तरात् -P, विस्तरात् -T.

vistāraṃ tadanantaraṃ dṛḍhataraṃ liṅgaṃ tato jāyate //
vāyusañcāraṇe jāte ūrdhvamākṛṣyate balāt // 93 //

Tr. This widens the urethra, which makes the penis strong, and the air has a free passage so that one can suck *(rajas)* with force. 93.

नारीं रम्यामधःस्थाप्य रहस्ये तु दिगम्बराम् ॥
स्वयं दिगम्बरो भूत्वा उत्तानायास्तथोपरि[1] ॥
शयित्वा कुम्भकं कृत्वा[2] किञ्चिन्नारी स्वयं च हि[3] ॥ 94 ॥
nārīṃ ramyāmadhaḥsthāpya rahasye tu digambarām //
svayaṃ digambaro bhūtvā uttānāyāstathopari //
śayitvā kumbhakaṃ kṛtvā kiñcinnārī svayaṃ ca hi // 94 //

Tr. In a desolate place, having placed a beautiful naked woman below and oneself also being naked, one lies in prone position. The woman also should practise *kumbhaka* a little. 94.

अन्योऽन्यं गाढमालिंग्य योनौ लिंगं निरोपयेत्[4] ॥
मिथस्त्वधरपानं च कुर्यात् गलरवादिकम्[5] ॥ 95 ॥
anyo'nyaṃ gāḍhamāliṅgya yonau liṅgaṃ niropayet //
mithastvadharapānaṃ ca kuryāt galaravādikam // 95 //

Tr. Both should closely embrace each other and the penis should be penetrated in the vagina. Both should kiss and make whinning sounds. 95.

विलिखेच्च नखेनैव धारयेत्स्वेद[6]सम्भवम् ॥
नार्या[7] भगात् पतद्बिन्दुम[8]भ्यासेनोदर्ध्वमाहरेत्[9] ॥ 96 ॥
vilikhecca nakhenaiva dhārayetsvedasambhavam //
nāryā bhagāt patadbindumabhyāsenordhvamāharet // 96 //

Tr. Both should pinch (each other) with nails, hold the perspiration, mastering the technique one should suck the *bindu*

---

1. उत्तानायास्तथायतिः-N,n1,n2,n4,J 2. कुर्यात्-T,t1,P. 3. बहिः-T,N,n1,J. 4. निवेशयेत्-n3. 5. ....रहरदिकम्-J,N,n1,n4. 6. घातयेत् -T,P. 7. नालात् -n4. 8. पतद बिन्दुर –T,n1,n2,n3,n4,J. 9. ....नोदर्धमावहेत्-T,n1, नालाद् भगात्यतेद्बिंदुरभ्यासेनोर्द्ध मावहेत् -J,N,n3.

back from the vagina and also pull back and preserve one's own *bindu,* which is being secreted. 96.

चलितं च निजं[1] बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥
एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ॥ 97 ॥

calitaṃ ca nijaṃ bindumūrdhvamākṛṣya rakṣayet //
evaṃ saṃrakṣayed binduṃ mṛtyuṃ jayati yogavit // 97 //

Tr. One should suck one's own *bindu* which is flowing and preserve it. Thus, preserving the *bindu,* an adept of *yoga* overcomes untimely death. 97.

मरणं बिन्दुपातेन जीवितं[2] बिन्दुधारणात् ॥
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं[3] शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥
तस्माच्छुक्रं[4] मनश्चैव[5] रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ 98 ॥

maraṇaṃ bindupātena jīvitaṃ bindudhāraṇāt //
cittāyattaṃ nṛṇāṃ śukraṃ śukrāyattaṃ ca jīvitam //
tasmācchukraṃ manaścaiva rakṣaṇīyaṃ prayatnataḥ // 98//

Tr. Secretion of *bindu* causes death, while preservation brings about longevity. Semen of a human being is under mind's control, while longevity is under the control of semen. Therefore, semen and mind should be carefully controlled. 98.

एवं यो भजते नारी[6] तामेव मनसा स्मरेत्[7] ॥ 99 ॥

evaṃ yo bhajate nārī tāmeva manasā smaret // 99 //

Tr. Such a woman, who is favourable, should be mentally perceived. 99.

सिन्दूरसदृशं योनौ स्त्रीणामास्थायिकं रजः ॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं रजो बिन्दुं च रक्षयेत् ॥ 100 ॥

---

1. चलितं चलितं-T,P,J,n1,n2,n4, वलितं वलितं -T,P.. 2. जीविते – J. 3. चित्तायत्तं भवेन्नृणां –P,T,t1. 4. तस्माच्छुक्लं -t1. 5. मतश्चैव –J. 6. नारीं –P,T,t1,n2,n4. 7. रमेत -T,P, स्मरन् -n3.

sindūrasadṛśaṃ yonau strīṇāmāsthāyikaṃ rajaḥ //
ṛtumatyā rajo'pyevaṃ rajo binduṃ ca rakṣayet // 100 //

Tr. *rajas* (menstrual discharge), which is like red lead, is located in the female genital organ. A menstruating woman should preserve both *rajas* and *bindu.* 100.

ऋतुकाले यथा शुक्रं[1] निर्दोषं योनिसंगतम् ॥
तथा तन्मारुतेनैव स्त्रीरक्तेनैकतामियात्[2] ॥ 101 ॥
ṛtukāle yathā śukraṃ nirdoṣaṃ yonisaṅgatam //
tathā tanmārutenaiva strīraktenaikatāmiyāt // 101 //

Tr. At the time of monthly cycle, the pure semen, which is ejaculated in the vagina, mixes up with woman's menstrual discharge, being moved by *vāyu.* 101.

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या चैव चतुष्टयम्[3] ॥
आधानकाले लिखितं[4] गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ 102 ॥
āyuḥ karma ca vittaṃ ca vidyā caiva catuṣṭayam //
ādhānakāle likhitaṃ garbhasthasyaiva dehinaḥ // 102 //

Tr. Span of life, *karma* (profession), wealth and education— these four are destined at the very time of conception. 102.

यावद् यावदयं देहो धि"यते गर्भशायिनः[5] ॥
तावत्तावदभिव्यक्तिर्लिंगस्यास्य प्रजायते ॥ 103 ॥ *
yāvadyāvadayaṃ deho dhriyate garbhaśāyinaḥ //
tāvattāvadabhivyaktirliṅgasyāsya prajāyate // 103 //

Tr. Whenever a creature takes a (gross) body, the causal body gets manifested. 103.

आयुष्यं वर्धते नित्यं यदि बिन्दुः स्थिरो[6] भवेत् ॥
उत्पत्तिस्थितिसंहारे बिन्दुरेको हि कारणम् ॥ 104 ॥ *

---

1. शुक्लं-P,t1. 2. स्त्रीरेतेनैकतामियात्-P. 3. विद्या निधनमेव च-J,n1,n2,n3,n4, विद्यां चैव चतुष्टयं–P,T,t1. 4. लिखति-P,T. 5. गर्भशायिना–J,N,n1,n3,n4. 6. बिन्दुस्थिरो–T,n1. * अनुपलब्धश्लोकः -n2.

āyuṣyaṃ vardhate nityaṃ yadi binduḥ sthiro bhavet //
utpattisthitisaṃhāre bindureko hi kāraṇam //104 //

Tr. The span of life becomes prolonged if the *bindu* is stabilized. In all the states of birth, sustenance and death, *bindu* alone is responsible. 104.

ततो भवेद्राजयोगी नान्तरा भवति ध्रुवम् ॥
न चिन्मात्रेण सिद्धिः स्यादभ्यासात् पवनस्य वै[1] ॥ 105 ॥ *
tato bhavedrājayogī nāntarā bhavati dhruvam //
na cinmātreṇa siddhiḥ syādabhyāsāt pavanasya vai // 105 //

Tr. Thus (following this method) alone, one can certainly become a *rājayogī* and not otherwise. Neither the practice of *prāṇāyāma* nor thinking alone brings about quick success. 105.

अभ्यासस्य क्रमं वक्ष्ये नारीणां च शनैः शनैः ॥ 106 ॥ *
abhyāsasya kramaṃ vakṣye nārīṇāṃ ca śanaiḥ śanaiḥ /106/

Tr. The order of the (gradual) practice, even for the woman, is being narrated by me. 106.

लिंगं कराभ्यामाकुञ्च्य मणिं[2] चान्तः[3] प्रवेशयेत् ॥
यावन्मणिप्रवेशः स्यात्तावदभ्यासमाचरेत् ॥
ततः परं समर्था चेदूर्ध्वमाकुञ्चयेद्रजः[4] ॥ 107 ॥ *
liṅgaṃ karābhyāmākuñcya maṇiṃ cāntaḥ praveśayet //
yāvanmaṇipraveśaḥ syāttāvadabhyāsamācaret //
tataḥ paraṃ samarthā cedūrdhvamākuñcayedrajaḥ // 107 //

Tr. She should hold the penis with the hands and insert the glans (penis) in. This should be practised till penetration is perfected. After succeeding in it, one should suck the *rajas*. 107.

तस्याः शरीरे नादस्तु[5] बिन्दुतामेव गच्छति ॥
स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीकृत्य स्वदेहजौ ॥ 108 ॥ *

---

1. पवनः स्वनैः-P,T,t1. 2. मणि -P,T. 3. वातः-T. 4. ....समर्थः स्यादूर्ध्व......P,T. 5. अनुपलब्धः–J. * अनुपलब्धश्लोकः -n2.

tasyāḥ śarīre nādastu bindutāmeva gacchati //
sa bindustadrajaścaiva ekīkṛtya svadehajau // 108 //

Tr. In her body, the *nāda* gets transformed into *bindu,* when *bindu* and *rajas* produced in the body become united. 108.

वज्रोल्यभ्यासयोगेन योगसिद्धिः करे स्थिता ॥
अज्ञातयोगशास्त्रेण[1] वज्रोलीं स्त्री तु नाभ्यसेत् ॥ 109 ॥
vajrolyabhyāsayogena yogasiddhiḥ kare sthitā //
ajñātayogaśāstreṇa vajrolīṃ strī tu nābhyaset // 109 //

Tr. With the practice of *vajrolī,* success in *yoga* becomes easy. A woman should not take up the practice of *vajrolī,* if she is not well-versed in the *yogic* techniques. 109.

अयं योगः पुण्यवतां धन्यानां तत्त्वशालिनाम् ॥
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥ 110 ॥
ayaṃ yogaḥ puṇyavatāṃ dhanyānāṃ tattvaśālinām /
nirmatsarāṇāṃ sidhyeta na tu matsaraśālinām // 110 //

Tr. Those who are pious, courageous, have gained insight into reality and are free from jealousy, attain success in *yoga*, but not those who'are envious. 110.

सर्वेषामेव योगानामयं योगः शुभंकरः ॥
तस्मादयं वरिष्ठोऽसौ भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ॥ 111 ॥
sarveṣāmeva yogānāmayaṃ yogaḥ śubhaṅkaraḥ //
tasmādayaṃ variṣṭho'sau bhuktimuktiphalapradaḥ // 111 //

Tr. Among all types of *yoga*, this one is auspicious. This is supreme since it brings success both in material as well as in spiritual realms. 111.

सुगन्धिर्योगिनो[2] देहे जायते बिन्दुधारणात्[3] ॥ 112 ॥
sugandhir yogino dehe jāyate bindudhāraṇāt // 112 //

---

1. अज्ञातयोगशास्त्रस्तु –J. 2. सुगन्धो योगिनो –P. 3. दुग्धधारणात् -T.

Tr. Preservation of *bindu* creates pleasant smell in the body of a *yogī.* 112.

अथ सहजोलिः[1]**—**
सहजोली चामरोली वज्रोल्या एव भेदतः ॥ 113 ॥

atha sahajoliḥ—
sahajolī cāmarolī vajrolyā eva bhedataḥ // 113 //

Tr. *sahajolī* and *amarolī* are merely the variations of *vajrolī.* 113.

Note: *bhavadeva* in his YB (vii-292), commenting on *vajrolī, sahajolī* and *amarolī* remarks that *sahajolī, amarolī, vajrolī* comprise a composite process. There is no difference between them. They differ in names. But the function remains the same. When the union of *candra* and *sūrya* takes place in the *yonisthāna*, it is called *amarolī.* When one's *bindu* is held inside with the help of *yonimudrā,* it is termed as *sahajolī.* To suck one's *bindu* and raise it upwards is *vajrolī.* 113.

जले सुभस्म[2] **निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम्**[3] **॥**
वज्रोली मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोश्चांगलेपनम् ॥ 114 ॥

jale subhasma nikṣipya dagdhagomayasaṃbhavam //
vajrolī maithunādūrdhvaṃ strīpuṃsoścāṅgalepanam // 114 //

Tr. Both man and woman should besmear the body with clean ashes of cow-dung mixed up with water after the practice of *vajrolī.* 114.

आसीनयोः सुखेनैव[4] **मुक्त**[5]**व्यापारयोः क्षणम् ॥**
सहजोलिरियं[6] **प्रोक्ता कर्तव्या**[7] **योगिभिः सदा**[8] **॥ 115 ॥**

āsīnayoḥ sukhenaiva muktavyāpārayoḥ kṣaṇam //
sahajoliriyaṃ proktā kartavyā yogibhiḥ sadā // 115 //

---

1. सहजोली –P,T,n2,n3. 2. जलेषु भस्म–J,n1,n4. 3. अनुपलब्धपंक्तिः –T,t1. 4. मुखेनैव -J. 5. मुक्तः -n1. 6. सहजोलिरिति-n1. 7. श्रद्धया-P.T,t1. 8. तथा -P,T.

Tr. Thus, one remains in a state of Bliss unmindful of the worldly affairs. This is called *sahajolī*, which should always be practised by the *yogīs*. 115.

अथामरोली[1] —
विहाय नित्यां प्रथमां[2] च धारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम्[3] ॥
निषेव्यते[4] शीतलमध्यधारां
कापालिकैः खण्डमतैरनर्घ्याम्[5] ॥ 116 ॥

athāmarolī —
vihāya nityāṃ prathamāṃ ca dhārāṃ
vihāya niḥsāratayāntyadhārām //
niṣevyate śītalamadhyadhārāṃ
kāpālikaiḥ khaṇḍamatairanarghyām // 116 //

Tr. The first and the last flow, which is useless, should be avoided and the cool middle flow be consumed. This is highly respected by the *khaṇḍa kāpālikas*. 116.

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्याद्दिने[6] दिने ॥
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति[7] कथ्यते ॥ 117 ॥
amarīṃ yaḥ pibennityaṃ nasyaṃ kuryād dine dine //
vajrolīmabhyasennityamamarolīti kathyate // 117 //

Tr. While undergoing the course of *vajrolī*, when one daily drinks and snuffs *amarī* (urine), it is called *amarolī*. 117.

Note: The description of *vajrolīmudrā* is grossly misunderstood by the masses and uninitiated. This has led to consider *vajrolī* as an obsene practice and in some editions of HP, it is completely omitted.

Although *śrīnivāsa* has elaborately described *vajrolī*, it is important in this connection to note the remarks of *bhavadeva miśra*

---

1. अनुपलब्धः–N,n1,n2,n3,n4,J. 2. पित्तोल्बणत्वात्प्रथमं-P.T,t1. 3. विहारनिःसारतयाल्पधारां –J. निःसरयतां तु धारणं–P,T,t1. 4. निषिंचते-P.T,t1. 5. खंडमतैकमय्यां-P.T,t1, खण्डमतैरनर्घ्या -J. 6. कुर्वन्दिने-P.T. 7. ...मभ्यसेदेवममरोलीति-P.T.

in his YB. He says, "The practice of *bindusiddhi* through *vajrolī* is for the infatuated and ignorant people. For the spiritual knowledge, the behaviour consisting of renouncing all the desires, attachments, and ego consciousness leads to Bliss and Ultimate Peace." 80-117.

अथ शक्तिचालनम् —

पुच्छे[1] प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेदभीः ||
निद्रां विहाय सा ऋज्वी ऊर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् || 118 ||

atha śakticālanam —

pucche pragṛhya bhujagīṃ suptāmudbodhayedabhīḥ //
nidrāṃ vihāya sā ṛjvī ūrdhvamuttiṣṭhate haṭhāt // 118 //

Tr. Just as one catches hold of the sleeping serpent by the tail and pulls it up, similarly, one should awaken the *kuṇḍalī* from its slumber. Then she suddenly rises up. 118.

द्वादशांगुल[2]दैर्घ्यञ्च विस्तृतं[3] च षडंगुलम् ||
हठज्ञैः मृदुलं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम्[4] || 119 ||

dvādaśāṅgula dairghyañca vistṛtaṃ ca ṣaḍaṅgulam //
haṭhajñaiḥ mṛdulaṃ proktaṃ veṣṭanāmbaralakṣaṇam //119//

Tr. An expert of *haṭha* should cover the tongue with a thin, smooth and clean cloth of twelve digits in length and six digits in width. 119.

विस्तारितेन तां जिह्वां वेष्टयित्वा ततः सुधीः[5] ||
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां च[6] हस्ताभ्यां धारयेद् ध्रुवम् ||
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणे च पुनः पुनः || 120 ||

vistāritena tāṃ jihvāṃ veṣṭayitvā tataḥ sudhīḥ //
aṅguṣṭhatarjanībhyāṃ ca hastābhyāṃ dhārayed dhruvam //
svaśaktyā cālayedvāme dakṣiṇe ca punaḥ punaḥ // 120 //

---

1. पुच्छं–P,T,t1,n2.2.द्वादशांगुलि–P,t1.3.अन्तरं–P,t1. 4.वेष्टिताम्बरलक्षणम्-J.5.अनन्तर्रविस्तारितेन ......सुधीः-अनुपलब्धपाठः-N,n1,n2,n3,n4,J,t1. वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे च षडंगुलम् ||. अधिकः पाठः-P.T,t1. 6. तु–T,t1.

Tr. After spreading and covering the tongue with the cloth, a wise should firmly catch hold of it with thumb and index fingers of both the hands and frequently move it to right and left to the capacity. 120.

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भीत[1]श्चालयेदसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते[2] किञ्चित्सुषुम्णां[3] कुण्डलीगताम्[4] ॥
षण्मासाच्चालनेनैव[5] शक्तिस्तस्योर्ध्वगा[6] भवेत् ॥ 121 ॥
muhūrtadvayaparyantaṃ nirbhītaścālayedasau //
ūrdhvamākṛṣyate kiñcitsuṣumṇāṃ kuṇḍalīgatām //
ṣaṇmāsāccālanenaiva śaktistasyordhvagā bhavet // 121 //

Tr. If one fearlessly undertakes this practice for six hours, *kuṇḍalī* rises a little and enters into *suṣumnā.* A six month's practice alone makes the *śakti* rising upwards. 121.

सूर्येण पूरयेद्वायुं[7] सरस्वत्यास्तु चालयेत्[8] ॥
शब्दगर्भाचालनेन[9] योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ 122 ॥
sūryeṇa pūrayedvāyuṃ sarasvatyāstu cālayet //
śabdagarbhācālanena yogī rogaiḥ pramucyate // 122 //

Tr. One should inhale air through right nostril and activate the *sarasvatī* (*kuṇḍalī*), by manipulation of the tongue. Thus, the *yogī* frees himself from the diseases. 122.

Note: The process of *śakticālana* does not seem to have been clearly described and is mixed with *khecarī.* HP(iii.110-116) suggests different practices like inhalation through the right nostril, pressing of *kanda* and practice of *bhastrā* in the process of *śakticālana.* 122.

येन सञ्चालिता[10] शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनः ॥
किमत्र बहुनोक्तेन मृत्युं जयति लीलया ॥ 123 ॥
yena sañcālitā śaktiḥ sa yogī siddhibhājanaḥ //
kimatra bahunoktena mṛtyuṃ jayati līlayā // 123 //

---

1. विभीत-P.T. 2. ऊर्ध्वमाकृष्य तौ-P.T,t1. 3. सुषुम्नां–T,t1. 4. कुण्डलीगता-P.T,t1. 5. अभ्यासाच्चालनेनैव-N,n1,n2,n3,n4,J. 6. शक्तिःस्यादूर्ध्वगा-P.T. 7. सूर्येणापूरयेद्वायुं–J.N. 8. चालनम्-P.T,t1,n2,n4.J. 9. शब्दगर्भचालनेन–P. 10. संचारिता P.T,t1.

Tr. A *yogī,* who stimulates *śakti* (*kuṇḍalī*), accomplishes supernatural powers (*siddhis*). He easily transcends *kāla* (death). What to speak more ? 123.

सशैलवनधात्र्यास्तु[1] यथाधारोऽहि नायकः[2] ॥
अशेषयोगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥ 124 ॥
saśailavanadhātryāstu yathādhāro'hi nāyakaḥ //
aśeṣayogatantrāṇāṃ tathādhāro hi kuṇḍalī // 124 //

Tr. Just as the Lord of serpents is the support of the earth, with all her forests and mountains, similarly, *kuṇḍalinī* forms the very substratum of the entire science of *yoga.* 124.

फणी कुण्डलिनी[3] नागी चक्री[4] वक्री सरस्वती ॥
ललना[5] रसना क्षत्री ललाटी[6] शक्तिः शंखिनी[7] ॥ 125 ॥
रज्वी[8] भुजंगी शेषा च कुण्डली सर्पिणी मणिः ॥
आधारशक्तिः कुटिला[9] कराली[10] प्राणवाहिनी[11] ॥ 126 ॥
अष्टवक्रा[12] षडाधारा व्यापिनी कलनाधरा[13] ॥
कुरीत्येवं[14] च विख्याताः शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ 127 ॥
इति शक्तिचालनम्[15] ॥

phaṇī kuṇḍalinī nāgī cakrī vakrī sarasvatī //
lalanā rasanā kṣatrī lalāṭī śaktiḥ śaṅkhinī // 125 //
rajvī bhujaṅgī śeṣā ca kuṇḍalī sarpiṇī maṇiḥ //
ādhāraśaktiḥ kuṭilā karālī prāṇavāhinī // 126 //
aṣṭavakrā ṣaḍādhārā vyāpinī kalanādharā //
kurītyevaṃ ca vikhyātāḥ śabdāḥ paryāyavācakāḥ // 127 //
iti śakticālanam //

Tr. *phaṇī, kuṇḍalinī, nāgī, cakrī, vakrī, sarasvatī, lalanā,*

---

1. सशैलवनधात्रीणां–P,T,t1. 2. यथाधारः सुराचलः-P.T,t1, कुण्डली–n2. 3. फणी कुण्डलिनी-अनुपलब्ध-N,n1,n3. 4. चक्री-अनुपलब्धः-J,n2. 5. लभना-P,n1,n2,n3, दलना-T,t1. **6.** क्षेत्रललाटी-P,T,t1. 7. शंकिणी-P,t1; शंकणी-T. 8. रुजी P; रजी-T,t1. 9. कुंडली-P.T,t1. 10. फनाली–n1,2,3, फलाली –n4. अनुपलब्धः-J. 11. माणवहिनी-J, फणवाहिनी–N. 12. अष्टावक्रा-P.T,t1, अष्टवक्त्रा-J,N. 13. ककनोधरा-P.T, कलनोधरा-t1. 14. कुंतीत्येवं-P.T,t1,J, कुरीत्येवं -J. 15. इति चालन विधिः-N,n1, अनुपलब्धपाठः -n2.

rasanā, kṣatrī, lalāṭī, śakti, śaṅkhinī, rajvī, bhujaṅgī, śeṣā, kuṇḍalī, sarpiṇī, maṇi, ādhāraśakti, kuṭilā, karālī, prāṇavāhinī, aṣṭavakrā, ṣaḍādhārā, vyāpinī, kalanādharā, kurī are the wellknown synonyms of *kuṇḍalinī*. 125-127.

Thus finishes *śakticālanam* .

Note: The synonyms of *kuṇḍalinī* given here are not found in other available texts. 125-127.

अथ खेचरीमुद्रा[1]—

खेचरी चान्तिमा मुद्रा अचिराद् ब्रह्मरन्ध्रगा ॥
सुषुम्णगामृता मूर्ध्वा[2] लम्बिका वाचकाः[3] स्मृताः ॥ 128 ॥

***atha khecarīmudrā* —**

khecarī cāntimā mudrā acirādbrahmarandhragā //
suṣumṇagāmṛtā mūrdhvā lambikā vācakāḥ smṛtāḥ // 128 //

Tr. *khecarī* forms the ultimate *mudrā,* which quickly makes the *prāṇa* move into *brahmarandhra. suṣumnagā, amṛtā, mūrdhvā, lambikā* are its synonyms. 128.

न क्रमेण विना शास्त्रं[4] नैव शास्त्रं[5] विना क्रमः ॥
शास्त्रं क्रमयुतं[6] ज्ञात्वा तन्यते[7] श्रीमतां भुवि ॥ 129 ॥

na krameṇa vinā śāstraṃ naiva śāstraṃ vinā kramaḥ //
śāstraṃ kramayutaṃ jñātvā tanyate śrīmatāṃ bhuvi // 129 //

Tr. Without a proper order, there is no science and a science cannot be learnt without an order. By learning the science in proper order, one attains success in life. 129.

जिह्वाकृतिनिभं शस्त्रमल्पं तच्छेदने क्षमम्[8] ॥
स्नुहीपत्रनिभं बल्यं[9] शस्त्रं कुर्याद्विचक्षणः[10] ॥ 130 ॥

1.अथ खेचरी–J,n1,n4, अथ खेचरी महामुद्रा दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते–P,T,t1. 2.सुषुम्ना गम्यता मूर्ध्वा-P.T, सुषुम्णागामृतामूर्च्छा–J,N,n3. 3. वाचकः-P,T,t1. 4.शास्त्रा-J. 5. न शास्त्रेण-n3. 6. शास्त्रक्रमयुतं–J,P,T,t1. 7.वर्ण्यते-P.T,t1. 8.शस्त्रमाहोस्विच्छेदने क्षमः-P; शास्त्रं आटे ...स्विच्छेदने क्षमं-T,t1. 9.चाल्यं–P,T,t1. 10. अनुपलब्धपंक्तिः-T.

jihvākṛtinibhaṃ śastramalpaṃ tacchedane kṣamam //
snuhīpatranibhaṃ balyaṃ śastraṃ kuryādvicakṣaṇaḥ // 130//

Tr. A wise person should collect a strong weapon resembling the leaf of milk-hedge, appearing like a tongue, which would be able to cut the tongue very little. 130.

Note: The word *śastra* not only refers to weapon, but also is employed for all the ingredients used during the process of *khecarī*. KKHP refers to various *śastras* with the names given to them according to the ingredients used. For example, black pepper is *sūryaśastra*, rock-salt (*saindhava*) is *candra-śastra*, chebulic myrobalan (*harītakī*) is *dhanvantarī śastra*, spear-headed shape of the weapon is *indra-śastra*, cardamom (*elā*) is *brahma-śastra,* scissors are *caurāsī-śastra*, weapon prepared with sulpher (*gandhaka*) or orpiment (*haritāla*) or vermilion (*hiṅgula*) is *bhavānī-śastra*, extract of white leadwort (*citraka-arka*) is *agni-śastra*. 130.

[1]इडायाः पिङ्गलायाश्च सुषुम्णायाश्च मध्यतः ॥
प्रज्ञावताङ्गुलिं दत्वा ग्रन्थिमध्यं[2] समुच्छिनेत् ॥ 131 ॥
iḍāyāḥ piṅgalāyāśca suṣumṇāyāśca madhyataḥ //
prajñāvatāṅgulim datvā granthimadhyaṃ samucchinet //131//

Tr. The wise should place a finger at the center of *iḍā, piṅgalā* and *suṣumnā* and cut the center of the knot. 131.

द्विनिष्कं निष्कनिष्कार्द्धं[3] पथ्यानागरसैन्धवान्[4] ॥
चूर्णयित्वा तु तच्चूर्णं तेन चूर्णेन घर्षयेत्[5] ॥ 132 ॥
dviniṣkaṃ niṣkaniṣkārddhaṃ pathyānāgarasaindhavān //
cūrṇayitvā tu taccūrṇaṃ tena cūrṇena gharṣayet // 132 //

Tr. Take 2 *niṣkas* of *pathyā* (chebulic myrobalan), one *niṣka* of *nāgara* (dried ginger) and half *niṣka* of rock salt and powder them. Rub this powder (on the tongue). 132. (1 *niṣka* = 25gms).

---

1. जिह्वाधो ग्रन्थिमालोक्य तिलमात्रं समुच्छिनेत् -अधिकः पाठः-P,T,t1,n1,n2,n3,n4.
2. ग्रन्थे मध्यं-P.T,t1. 3. निष्कपादार्थ-P,T,t1. 4. पथ्यासागरसैंधवान्-P,T,t1. 5. 'चूर्णयित्वा तु ये चूर्ण तेन चूर्णेन् घर्षयेत्' -P,T,t1; ......धारयेत् -N,n1,n3,n4,J.

पूर्वोक्तेन प्रकारेण शक्तिचालनमाचरेत् ॥
गोदोहनं यथा तद्वच्छक्तिचालनमाचरेत्[1] ॥ 133 ॥

pūrvoktena prakāreṇa śakticālanamācaret //
godohanaṃ yathā tadvacchakticālanamācaret // 133 //

Tr. Practise *śakticālana* as told before, like one milks a cow. 133.

पुनः सप्तदिने प्राप्ते तिलमात्रं समुच्छिनेत् ॥ 134 ॥

punaḥ saptadine prāpte tilamātraṃ samucchinet // 134 //

Tr. On the seventh day again cut (the frenum) to the thinness of a sesame. 134.

छेदनादिक्रमेणैव यावद् भ्रूमध्यगा भवेत्[2] ॥
तावच्छनैः प्रकर्तव्यं श्रीनिवासस्य भाषणम् ॥ 135 ॥

chedanādikrameṇaiva yāvadbhrūmadhyagā bhavet //
tāvacchanaiḥ prakartavyaṃ śrīnivāsasyabhāṣaṇam // 135 //

Tr. One should cautiously follow the processes of *chedana* (cutting) etc., so that the tongue touches the center of the eyebrows. This is told by *śrīnivāsa.* 135.

अत्रायं हठयोगसम्प्रदायः—

शिशुर्लम्बिकायोगेनातीतानागतं[3] जानाति[4] / गर्भनिःसरणाद् भूमिपाते लम्बिकायोगे[5] जिह्वाबन्धो पातिनी[6] भवति / लम्बिका प्रतिबिम्बत्वेन[7] जिह्वायाम्[8] अधोग्रन्थि[9]-सूक्ष्मरूपतया[10] सर्वेषां नराणां प्रत्यक्षतया अद्यापि दृश्यते ॥ तत्रैव लम्बिका प्रतिबन्धकसूक्ष्मग्रन्थिभेदनं कार्यमिति मम[11] प्रतिभाति ॥

atrāyaṃ haṭhayogasampradāyaḥ —

śiśurlambikāyogenātītānāgataṃ jānāti / garbha-niḥsaraṇād-bhūmipāte lambikāyoge jihvābandho pātinī bhavati / lambikā pratibimbatvena jihvāyāṃ adhogranthisūkṣmarūpatayā / sarveṣāṃ narāṇāṃ pratyakṣatayā adyāpi dṛśyate / tatraiva lambikā pratibandhakasūkṣmagranthibhedanaṃ kāryamiti mama pratibhāti //

---

1. तद्वत् जिह्वादोहनमाचरेत्-P,T,t1. 2. भ्रूमध्यभाग्भवेत्-P,T,t1. 3. . . .नातींतं नागतं-P. 4. योगेनातं ...नाति–T. 5. लम्बिकायोग-P; लम्बिका जिह्वा योगे-T. 6. याति-N,n1,n3,J. 7. प्रतिबिबकत्वेन–P,T,t1. 8. जिह्वाया:-P,T. 9. अत्र ग्रन्थः-P,T, अधोग्रन्थः-n3. 10. सूक्ष्मसूयतमा–J. 11. अनुपलब्धः-N,n3.

According to the tradition of *haṭhayoga*—

Tr. Through *lambikā yoga,* an infant knows the past and the future. On coming out of the womb and taking birth, *lambikā yoga* turns out to be *jihvā-bandha*, which is subtly reflected below the tongue as a knot. This can be verified in all the human beings. I feel that one should pierce the band at this subtle knot which obstructs *laṃbikā.*

परमेश्वरप्रोक्तखेचरीनामपटले तु[1]—
स्नुहीपत्रनिभं[2] शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥
समनायां[3] तु जिह्वायां[4] रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ 136 ॥
parameśvaraprokta khecarīnāmapaṭale tu —
snuhīpatranibhaṃ śastraṃ sutīkṣṇaṃ snigdhanirmalam //
samanāyāṃ tu jihvāyāṃ romamātraṃ samucchinet // 136 //
In *khecarī-paṭala as told by parameśvara*—

Tr. Get a sharp, clean and smooth weapon of the shape of the leaf of milk-hedge. With this the tongue (frenum) has to be evenly cut to a hair's breadth. 136.

रोममात्रछेदने[5] न विलम्बेन हि लम्बिका ॥
हृदये[6] ग्रन्थकाराणामाकूतं[7] भणितं[8] मया ॥ 137 ॥
romamātrachedane na vilambena hi lambikā //
hṛdaye granthakārāṇāmākūtaṃ bhaṇitaṃ mayā // 137 //

Tr. *lambikā* (*yoga*) is soon attained if one cuts (the frenum) to a hair's breadth. I have explained what has been left unsolved by the writers in the texts. 137.

दत्तात्रेयस्तु —
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा[9] विपरीतगा ॥
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ 138 ॥[10]

---

1. परमेश्वर पोक्तं पटले तु-N,n1,n2,J. 2. स्नुहीपत्रनिभे–J, स्नुहिपत्रनिभं–P. 3. समतायास्तु-P,T,t1, समतायान्तु-n1. 4. जिह्वा-P, जिह्वाया-T,t1. 5. रोममात्रभेदेन-P,T,t1, रोममात्रच्छेदनेन-n4. 6. हृदयं –n4. 7. हृदयग्रन्थकारणमत्कृतं-P,T,t1. 8. फणितं-T,t1, कथितं–J. 9. अनुपलब्ध.ः P. 10. 'कपालकुहरे जिह्वा विपरीता गोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी-**t1**.

dattātreyastu—

kapālakuhare jihvā praviṣṭā viparītagā //

bhruvorantargatā dṛṣṭirmudrā bhavati khecarī // 138 //

According to *dattātreya—*

Tr. Fold the tongue and insert it into the nasopharyngeal cavity and fix the gaze between the eyebrows. This is called *khecarī mudrā*. 138.

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥

न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ 139 ॥[1]

na rogo maraṇaṃ tasya na nidrā na kṣudhā tṛṣā //

na ca mūrcchā bhavettasya yo mudrāṃ vetti khecarīm / 139 /

Tr. One who masters *khecarī mudrā*, does not get affected by diseases, death, sleep, hunger, thirst and stupor. 139.

पीड्यते न स[2] **रोगेण**[3] **लिप्यते न च कर्मणा ॥**

बाध्यते[4] **न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ 140 ॥**

pīḍyate na sa rogeṇa lipyate na ca karmaṇā //

bādhyate na ca kālena yo mudrāṃ vetti khecarīm // 140 //

Tr. One who attains *khecarī mudrā*, does not suffer from disease, does not get bound by *karma* and is not affected by (untimely) death. 140.

हठप्रदीपिकायाम्[5]**—**

छेदनचालनदोहैः कलां[6] **क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥**

यावदियं भ्रूमध्ये स्पृशति[7] **तदानीं**[8] **खेचरीसिद्धिः ॥ 141 ॥**

haṭhapradīpikāyām —

chedanacālanadohaiḥ kalāṃ krameṇa vardhayettāvat //

yāvadiyaṃ bhrūmadhye spṛśati tadānīṃ khecarīsiddhiḥ /141/

---

1. श्लोकः अनुपलब्धः-P,T,t1. 2. च-P,T,t1. 3. योगेन-P,T,t1. 4. बध्यते–t1,n4. 5. हठप्रदीपिकाकारोऽपि-P,T. 6. कला–P. 7. सा यावत् भ्रूमध्यं स्पृशति-P; सा याति यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति हि–T,t1,n2. 8. तदा-P,n4.

According to HP—

Tr. The tongue should be gradually lengthened by cutting, moving and milking, till it touches the center of the eyebrows. Then alone *khecarī* is attained. 141.

छेदनस्य प्रकारोक्तेरभावान्मूढता यतः ॥
साधारणोक्त्या[1] दुर्बोधान्नांगीकार्यमिदं मतम् ॥ 142 ॥
chedanasya prakārokterabhāvānmūḍhatā yataḥ //
sādhāraṇoktyā durbodhānnāṅgīkāryamidaṃ matam // 142 //

Tr. The opinion given above is unacceptable as it does not provide details, which may lead to confusion of a layman. 142.

गुरुदर्शितमार्गेण संकेतः कथ्यते मया ॥
संकेतशृंखलाभावे खेचरी तु कथं भवेत् ॥ 143 ॥
gurudarśitamārgeṇa saṅketaḥ kathyate mayā //
saṅketaśṛṅkhalābhāve khecarī tu kathaṃ bhavet // 143 //

Tr. I am explaining *saṅketa* as per the guidelines of *guru*. How *khecarī* can be attained without *saṅketa* and *śṛṅkhalā*? 143.

सर्पाकारं सवलयं शृंखलाद्वयसेवितम्[2] ॥
सखर्परं[3] षड्वितस्तिदैर्घ्यं संकेतलक्षणम् ॥ 144 ॥
sarpākāraṃ savalayaṃ śṛṅkhalādvayasevitam //
sakharparaṃ ṣaḍvitastidairghyaṃ saṅketalakṣaṇam // 144 //

Tr. The characteristics of a *saṅketa* are: shaped like a snake, rounded, containing two *śṛṅkhalās* (chains?), (providing) rest for elbow, measuring six *vitastis* (72 digits) in length. 144.

Note: *śrīnivāsa* gives here the technique and use of *saṅketa* according to the tradition of his *guru*. The characteristics of *saṅketa* are not found described in the available texts of *yoga*. Although *śrīnivāsa* describes '*saṅketa*' in the form of two spiral rings for the insertion of the tongue into it, the description is not clear. 144.

---

1. साधारकृणोक्त -P; साधारणोक्ति-T,t1. 2. शृंखलाद्वयसंमितं-P,T,t1. 3. सकूर्परं-P,T,t1.

शृंखलाद्वितयनिर्मितां परां[1]
सर्पवद्वलयखर्परान्विताम् ॥
विंशदंगुलमितां सुदीर्घिकां
लम्बिकाभ्युदयकारिणीं[2] विदुः ॥ 145 ॥[3]

śṛṅkhalādvitayanirmitāṃ parāṃ
sarpavadvalayakharparānvitām //
viṃśadaṅgulamitāṃ sudīrghikāṃ
lambikābhyudayakāriṇīṃ viduḥ // 145 //

Tr. (A *saṃketa* is) finely made up of two *śṛṅkhalās,* rounded like a snake, containing *kharpara* (a rest), measuring twenty digits in length, which brings success in *lambikā.* 145.

शृंखलायाश्च वलये जिह्वां तत्र प्रवेशयेत् ॥[4]
यथा भवेत्सुषुम्णागा[5] तथा भवति खेचरी ॥ 146 ॥

śṛṅkhalāyāśca valaye jihvāṃ tatra praveśayet //
yathā bhavet suṣumṇāgā tathā bhavati khecarī // 146 //

Tr. Insert the tongue in the circle of *śṛṅkhalā.* As the tongue is able to enter *suṣumnā, khecarī* is perfected. 146.

Note: *khecarī mudrā* has been greatly eulogized in *haṭhayogic* texts. There are six processes involved in the perfection of *khecarī mudrā* which are *chedana, cālana, dohana, manthana, praveśana* and *mantra.* The processes of *chedana, cālana* and *dohana* are to start simultaneously. *manthana* or *gharṣaṇa* consists of rubbing with thumb on the four places, three times a day. The four places are frenum under the tongue, root of the tongue, palate and uvula. A detailed description of *khecarī* is found in MYS by *ādinātha.*

These six verses (ii.141-146) seem to have been taken from *khecarīpaṭala* as stated in AR (xxvii.4742-4745). 146.

खेचर्या मुद्रणे जाते देही देहं न मुञ्चति ॥
कायं[6] त्यक्त्वा तु कल्पान्ते ब्रह्मस्थानं व्रजत्यसौ ॥ 147 ॥

1. निर्मितां बरां–T,t1. 2. लम्बिकोत्पातकारिणीं –t1. 3. अनुपलब्धश्लोकः-P. 4. एतदनन्तरं – कपालकुहरे यस्तु ततो जिह्वां प्रवेशयेत् - अधिकः पाठः -P,T,t1. 5. भवेत्सुषुम्णागौ-P,T,t1. 6. कामं–P,T,t1.

khecaryā mudraṇe jāte dehī deham na muñcati //
kāyam tyaktvā tu kalpānte brahmasthānam vrajatyasau//147//

Tr. As the *khecarī* is attained, a mortal does not face (premature) death. Rather, at the end of a *kalpa*, he renounces the body and goes to *brahmasthāna.* 147.

प्राणे सुषुम्णा[1]सम्प्राप्ते नादं तु[2] श्रूयतेऽष्टधा ॥
घण्टादुन्दुभिशंखादि[3]वीणावेणुनिनादवत्[4] ॥
तनूनपात्तडित~ तारेशपवनोपमम्[5] ॥ 148 ॥
prāṇe suṣumṇāsamprapte nādam tu śrūyate'ṣṭadhā //
ghanṭādundubhiśaṅkhādivīṇāveṇuninādavat //
tanūnapāttaḍittāreśapavanopamam // 148 //

Tr. When *prāṇa* enters into *suṣumnā,* eight types of *nādas* are heard, like sounds resembling that of a bell, trumpet, conch, *vīṇā,* flute, tiny bell, tinkling of ua very fine pot, cracking sound of the fire, loud thunders and shrill sound of blowing air. 148.

वासुक्याद्यैश्च नागैश्च तक्षकेनाथवा पुनः ॥
दष्टस्य योगिनो देहे न विषं कर्तुमर्हति ॥ 149 ॥
vāsukyādyaiśca nāgaiśca takṣakenāthavā punaḥ //
daṣṭasya yogino dehe na viṣam kartumarhati // 149 //

Tr. Such a *yogī,* even being bitten by (deadliest of) the serpents like *vāsukī, nāga* or *takṣaka,* will not be affected by poison. 149.

उत्कल्लोल[6]कलामृतं[7] च विमलं धारामृतं यः पिबेत् ॥
निर्दोषः स मृणालकोमलतनु[8]र्योगी चिरं जीवति ॥ 150 ॥
utkallolakalāmṛtam ca vimalam dhārāmṛtam yaḥ pibet //
nirdoṣaḥ sa mṛṇālakomalatanuryogī ciram jīvati // 150 //

---

1. सुषुम्नां–P,T,t1,n1,n3. 2. नादस्तु–P,T,n3. 3 . . शंखाभिः-P,T,t1,...शंखाद्दै-N,J. 4 . वीणावेण्वग्नितालवत्-P,T,t1. 5. तनूनपात्रविस्तारतारेशपवनोपमम् -J,T,t1,n1,n2,n3,n4. 6. तत्कल्लोल–N,n1,n4,J; उत्कंलोक-T. 7. कलभृतं–P. 8. वपुर्-P,T,t1.

Tr. The *yogī,* who sucks the divine ambrosia secreting from the moon, maintains the body as tender as the lotus stalk and lives long without diseases. 150.

सेवन्ते यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी
सक्षाराकटुतिक्तदुग्धसदृशं मध्वाज्यतुल्यं यदा[1] ॥ 151 ॥
sevante yadi lambikāgramaniśaṃ jihvā rasasyandinī //
*sakṣārākaṭutiktadugdhasadṛśaṃ madhvājyatulyaṃ yadā/*151/

Tr. The tip of the elongated tongue tastes the nectar, as salt, pungent, sour or milk, honey or ghee. 151.

अशेषाणां च नाडीनां जिह्वाग्रे रन्ध्रमागतः[2] ॥
विधत्ते[3] येन मार्गेण तेन चान्द्री[4] कलां व्रजेत् ॥ 152 ॥
aśeṣāṇāṃ ca nāḍīnāṃ jihvāgre randhramāgataḥ //
vidhatte yena mārgeṇa tena cāndrī kalāṃ vrajet // 152 //

Tr. Entire set of the *nāḍīs* has its base at the tip of the tongue, wherefrom the *yogī* enjoys (ambrosia oozing from *candra*). 152.

कन्यावादाखिला[5]वादरसवादादि[6]सिद्धयः ॥
योगिनः[7] सम्प्रवर्तन्ते तेषां वज्रोलि[8]खेचरी ॥ 153 ॥
kanyāvādākhilāvādarasavādādisiddhayaḥ //

yoginaḥ sampravartante teṣāṃ vajrolikhecarī // 153 //

Tr. All the *siddhis* attained through *kanyāvāda* (*kuṇḍalī*), *rasavāda* (alchemy) etc. are for those *yogīs* who attain *vajrolī* and *khecarī.* 153.

त्रिकटुम्बी[9] हठा चैव[10] गोलीढं[11] शिखरं तथा ॥
त्रिशंखी[12] वज्रमोंकारी[13] मूर्ध्वनालं[14] भ्रुवोर्मुखे ॥ 154 ॥

---

1. मध्वाज्यतुल्याथवा–P,T,t1. 2. रन्ध्रगामता-N,n1,n3,n4,J,T,t1. 3. विद्यते-P,t1; विद्यन्ते-T. 4. चान्द्रीं–J, चाण्डीं -n1,n3. 5. बिलवाद–T,t1,n2. 6. रसवादस्तु–P,T. 7. योगिनां–P,T,t1. 8. वज्रोलि-J, वज्रली–T. 9. त्रिकुंड-P,T,t1. 10. सुचिहठा चैव-P,T,t1. 11. गोवीठं-P. 12. त्रिशंखि – P, श्रीशंखी –T,t1. 13. वज्रिमोंकारी-P,T,t1. 14. मूर्ध्वा नालं-P,T,t1.

trikaṭumbī haṭhā caiva golīḍhaṃ śikharaṃ tathā //
*triśaṅkhī vajramoṅkārī mūrdhvanālaṃ bhruvormukhe //*154 //

Tr. The opening between two eyebrows is called *trikaṭumbī, haṭhā, golīḍha, śikhara, triśaṅkhī, vajra, oṃkārī, mūrdhvanāla.* 154.

पिंगला दम्भिनी[1] सूर्या यमिना काक्षरा[2] तथा[3] ॥
कालाग्निः रुद्री[4] चण्डी च[5] ते[6] स्युः पिंगलनामकाः[7] ॥ 155 ॥
piṅgalā dambhinī sūryā yaminā kākṣarā tathā //
kālāgniḥ rudrī caṇḍī ca te syuḥ piṅgalanāmakāḥ // 155 //

Tr. The synonyms of *piṅgalā* are: *piṅgalā, dambhinī, sūryā, yaminā, kākṣarā, kālāgni, rudrī* and *caṇḍī.* 155.

इडा चन्द्रा सिनीवाली[8] गंगा[9] चामरबोधिता[10] ॥
इडायाः वाचकाः शब्दाः पर्यायेण प्रकीर्तिताः ॥ 156 ॥
iḍā candrā sinīvālī gaṅgā cāmarabodhitā //
iḍāyāḥ vācakāḥ śabdāḥ paryāyeṇa prakīrtitāḥ // 156 //

Tr. The synonyms of *iḍā* are: *iḍā, candrā, sinīvālī, gaṅgā* and *amarabodhitā.* 156.

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि[11] तालुनि ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ 157 ॥
gośabdenoditā jihvā tatpraveśo hi tāluni //
gomāṃsabhakṣaṇaṃ tattu mahāpātakanāśanam // 157 //

Tr. The term '*go*' denotes tongue, which is to be inserted in the '*tālu*' (roof of the nasopharyngeal cavity). This literally means 'consuming *gomāṃsa*', which eliminates the severest of the sins. 157.

---

1. दुंभिनी-P. 2. यमिनाक्षरा-P; यमिकाक्षरा-T. 3. यथा –N,J. 4. कालाग्निरुद्री –P. 5. कालाग्नी रुद्रचण्डीं च –T. 6. चेते -N,J. 7. पिंगलना तथा –T, अनुपलब्धपंक्तिः-t1. 8. चन्द्राशचीवाली -T; चन्द्राशशीवाली –P,t1. 9. गलगा –T,t1. 10. मधुबोधिता –T,t1; वामस्तुबोधिता -P. 11. अपि -P,T,t1.

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥
कुलीनं तमहं मन्ये अन्ये तु[1] कुलघातकाः ॥ 158 ॥
gomāṃsaṃ bhakṣayennityaṃ pibedamaravāruṇīm //
kulīnaṃ tamahaṃ manye anye tu kulaghātakāḥ // 158 //

Tr. I consider him the noble, who consumes '*gomāṃsa*' (insertion of the tongue) and sucks the divine ambrosia (secretion from the moon). Others are black-sheep. 158.

जिह्वाप्रवेशसम्भूत[2]वह्निनोत्थापिता[3] खलु ॥
चन्द्रात् स्रवति[4] यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥ 159 ॥[5]
jihvāpraveśasaṃbhūtavahninotthāpitā khalu //
candrāt sravati yaḥ sāraḥ sā syādamaravāruṇī //159 //

Tr. *amara-vāruṇī* (the divine ambrosia) is the secretion of the nectar, which is made to flow from the moon by the stimulation of fire through insertion of the tongue in the cavity. 159.

इति श्रीनिवासयोगी[6]विरचितायां[7] हठरत्नावल्यां द्वितीयोपदेशः[8]

iti śrīnivāsayogīviracitāyāṃ haṭharatnāvalyāṃ dvitīyopadeśaḥ
This is the second chapter of haṭharatnāvalī composed by śrīnivāsayogī

---

1. इतरे P; त्वितरे –T,t1. 2. जिह्वाप्रवेशनं भूतं-P,T,t1. 3. वह्निनोद्दापिताखलु-P,T,t1, वह्निनोत्थापितः-n3. 4. द्रवति–T. 5. 'इति खेचरी मुद्रा'-P,T,t1. 6. योगीन्द्र-P,T. 7. श्रीनिवासविरचितायां–n2,n3,n4. 8. एतदनन्तरम्–
"वज्रोली वर—- दश महामुद्रान्वितैः कुम्भकैः
युक्तिः केवलकुम्भकेण महता क्षेमंकरेणाधिकम् ॥
ख्याते रम्यसुवर्णराजकथिते रत्नावलीनामके
ग्रन्थेऽस्मिन्नुपदेश एष विहितारम्भो (विविधारम्भो-t1) द्वितीयो गतः ॥"
अधिकः पाठः -P,T,t1.

का तथा बाएं हाथ से दाएं पैर का अंगूठा पकड़ लें। ठोड़ी को हृदय से लगाकर नासिका के अग्रभाग को दोनों नेत्रों से स्थिर होकर देखें (मन, बुद्धि व इन्द्रियों को भी वहीं केन्द्रित करें) यह पद्मासन सम्पूर्ण व्याधियों को दूर करने वाला है।

व्याख्या

यह विधि वास्तव में बद्ध पद्मासन की है। पद्मासन में हाथों की स्थिति भिन्न होती है। पैरों को अंगूठों को बांधने के स्थान पर दोनों हाथ घुटनों पर अथवा गोदी में रखे जाते हैं। सिद्धासन में भी हाथों को इसी प्रकार रखना चाहिए। किन्तु दोनों ही आसनों में पैरों की स्थिति व लगाए जाने वाले बन्धों एवं ध्यान का महत्त्व है न कि हाथों की स्थिति का। हाथों की स्थिति तो विभिन्न क्रियाओं में बदल दी जाती है। जैसे जाप करना हो तो हाथ से माला फेरी जाती है। मानसिक ध्यान में तर्जनी, अनामिका, मध्यमा, कनिष्ठा आदि को दबाकर (अंगूठे से) रखा जाता है। प्रार्थना या आत्मनिवेदन में नमस्कार की मुद्रा में छाती पर बांध लिया जाता है अथवा भजन आदि में हाथों से खड़ताल/मजीरा आदि बजाया जाता है आदि। अत: हाथों की स्थिति महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण है पैरों की स्थिति, कमर व गर्दन की स्थिति। महत्त्वपूर्ण है, मूल, उड्डियान व जालंधर बंध तथा महत्त्वपूर्ण है ध्यान।

त्राटक

यहां दोनों आसनों के माध्यम से अन्तर्त्राटक एवं बाह्यत्राटक का उपाय भी बता दिया गया है। त्राटक भी योग का ही अंग है तथा मन के साथ-साथ दृष्टि के केन्द्रीकरण व उनकी शक्तियों को बढ़ाने में अत्यंत उपयोगी है, किन्तु कुण्डलिनी के सम्बन्ध में यह उतना प्रभावी नहीं है। अत: इसकी विस्तृत चर्चा यहां नहीं कर रहे हैं। संक्षेप में इतना ही कहेंगे कि दृष्टि को नेत्र बन्द करके, मन, बुद्धि व इन्द्रियों सहित शरीर के भीतर कहीं केन्द्रित करना अन्तर्त्राटक कहा जाता है। (इस कार्य में विभिन्न चक्रों आदि पर ध्यान एकाग्र किया जाता है)। जबकि शरीर के बाहर किसी बिन्दु पर मन, बुद्धि व इन्द्रियों सहित नेत्रों को स्थिर करना 'बाह्यत्राटक' कहलाता है। (इस कार्य में नासिकाग्र, पैर का अंगूठा अथवा दीपक, दीवार पर बना चिह्न, तारा, सूर्य आदि को माध्यम बनाया जाता है)। सम्मोहन विद्या में सफलता के लिए त्राटक का अभ्यास अति उपयोगी है। पर कुण्डलिनी जागरण में प्राणों व ध्यान का महत्त्व है न कि त्राटक का।

बन्ध

अब हम मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध तथा जालन्धर बन्ध की चर्चा करेंगे। इन तीनों प्रमुख बन्धों का योगविद्या में तथा कुण्डलिनी जागरण में अत्यधिक महत्त्व है। (साथ ही महाबन्ध की भी चर्चा करेंगे)। ये बन्ध योग की प्रमुख पांच मुद्राओं के अन्तर्गत आते हैं जिनके विषय में *योगशास्त्रों* में कहा गया है—

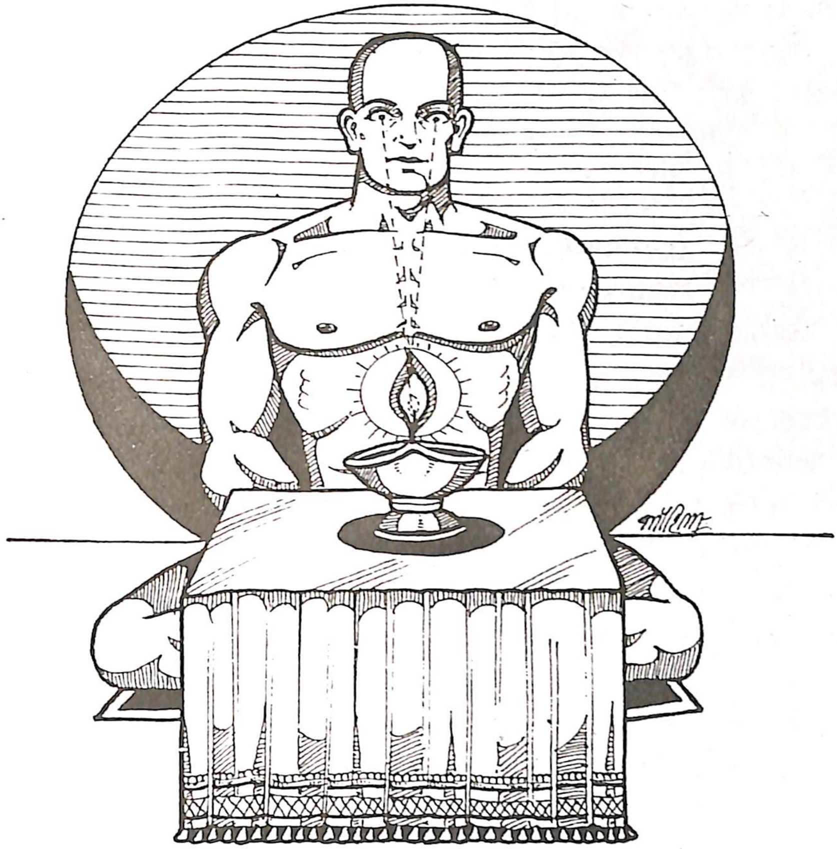

बाह्य त्राटक

पंचमुद्रा

महामुद्रां नभोमुद्रा उड्डीयानं जालन्धरम्।
मूलबन्धश्च यो वेत्ति स योगी मुक्ति भाजनः॥

(महामुद्रा, नभोमुद्रा/खेचरी मुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर और मूलबन्ध—जो इनको करना जानता है वही योगी मुक्ति भाजन होता है)।

पंचमुद्राओं में उपर्युक्त तीन बन्ध भी शामिल हैं। इसी से इनका महत्त्व सिद्ध हो जाता है। (बन्धों के बाद हम ऊपर कही मुद्राओं की चर्चा भी करेंगे)। फिर भी इन तीनों बन्धों की योगशास्त्र में उपयोगिता एवं महत्त्व को सिद्ध करने के लिए '*योगकुण्डल्योपनिषद्*' में वर्णित निम्नलिखित श्लोक ही पर्याप्त होगा—

बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः।
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितियोड्डीयाणाविधः।
जालन्धरस्तृीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते॥

अर्थात्—योगी को पापनाशक तीन बन्ध अवश्य करने चाहिएं। इनमें पहला मूलबन्ध, दूसरा उड्डियान बन्ध तथा तीसरा जालन्धर बन्ध कहलाता है।

मूलबन्ध

मूलबन्ध को योनिबन्ध भी कहते हैं। गुदा तथा उपस्थ के प्रदेश को ऊपर संकुचित करके रखना तथा प्राण और अपान को मिलाना मूलबन्ध है। जैसा कि '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में कहा गया है—

पार्ष्णि भागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेदृढम।
अपान मूर्ध्वमत्थाप्य योनि बन्धोऽयमुच्यते॥
प्राणापानौ नादबिन्दु मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धि यच्छतो नात्र संशयः॥

अर्थात्—एड़ी से योनि स्थान को दबाकर भीतर को खींचें। इस प्रकार अपान वायु को ऊपर की ओर उठाकर प्राणवायु से मिलाने पर योनिबन्ध कहलाता है। इस तरह प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता प्राप्त होती है। यह योग निःसन्देह सिद्धि प्राप्त कराने वाला होता है।

'*गोरक्ष संहिता*' में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है—

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धों विधीयते॥
अपानप्राणयौरैक्यात्क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥

अर्थात्—ऐड़ी से योनिस्थान को दृढ़तापूर्वक दबाकर गुदा को सिकोड़ें और अपानवायु को ऊपर खींचकर प्राणवायु से मिलाएं तो यह मूलबन्ध कहलाता है। इस प्राण और अपान को जो मिलाने के प्रयास में रत रहता है उसके मूत्र, मल आदि विकारों का क्षय होता है और वह यदि वृद्ध भी हो तो युवा हो जाता है।

'*शिव संहिता*' में तो मूलबन्ध को और भी महत्त्वपूर्ण तथा जरा-मरण का नाश करने वाला कहा गया है—

'**कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरा मरण नाशनः।**' इसके अलावा आगे कहते हैं—'**सिद्धाया योनिमुद्राया किं न सिद्ध्यति भूतले।**' (योनिमुद्रा सिद्ध हो जाने पर पुरुष इस भूतल पर और क्या सिद्ध नहीं कर सकता ? यानि सभी कुछ सिद्ध कर लेना उसके लिए सम्भव हो जाता है)।

और भी अनेक योगशास्त्रों से ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। किन्तु उससे पुस्तक की पृष्ठ सामग्री का ही अपव्यय होगा। शंका निवारण तथा विश्वास के लिए इतने भी प्रमाण आवश्यकता से अधिक ही हैं। बहरहाल यह प्रथम और अत्यंत प्रमुख बन्ध है। पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिए।

उड्डियान बन्ध

बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तुड्डीयते यतः।
उड्डयाणाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः॥

— *योगतत्त्वोपनिषद्*

अर्थात्—जिससे बंधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उड़ने लगे/उठने लगे उसे योगी लोग उड्डियान बन्ध कहते हैं। (स्पष्ट है कि प्राण को सुषुम्ना में प्रेषित कर सकने में समर्थ यह बन्ध कुण्डलिनी को भी ऊपर उठाने में सहयोगी होता है। किन्तु लेटे या अधबैठे होकर अथवा कमर झुकाकर बैठने पर मूलबन्ध व जालन्धर बन्ध तो किसी प्रकार लग भी जाएं पर उड्डियान बन्ध नहीं लग सकता—जैसा कि 'सहजयोग' के नाम पर अल्पज्ञों में जिस मर्जी अवस्था में बैठ या लेट कर ध्यान लगाने या योग करने के निर्देश दिए जाते हैं)।

'*गोरक्षा संहिता*' में भी उड्डियान बन्ध के महत्त्व तथा विधि व प्रभाव पर समुचित प्रकाश डाला गया है। साथ ही 'उड्डियान बन्ध' के लगाने के स्थान के सम्बन्ध में भी निर्देश दिए हुए हैं। यथा—

उड्डियानं कुरुते यसमादविश्रांतेमहाखगम्।
उड्डीयानं तदैव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी॥
उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तव बन्धो निगद्यते॥

अर्थात्—(प्राणरूपी) महाखग उड़कर सुषुम्ना में विश्राम करता है। अतः इसे उड्डीयान कहते हैं। यह मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान है। (अर्थात् मृत्यु को जीतने वाला है)। उदर के पश्चिम में तथा नाभि के नीचे के भाग में इस बन्ध का स्थान बताया जाता है। (अर्थात् नाभि प्रदेश/नाभि से कुछ ऊपर व नाभि से नीचे इसका स्थान है। इस बन्ध में इस स्थान को यथा सम्भव भीतर खींचकर सुषुम्ना से ही लगा देने का प्रयास किया जाता है)।

'*पातञ्जल योग प्रदीप,*' 'हठयोग प्रदीपिका' आदि ग्रंथों में विस्तार पूर्वक कही गई 'नौली क्रिया' तथा 'अग्निसार' आदि क्रियाएं व्यक्ति को बेहतर उड्डियान बन्ध लगा पाने में समर्थ बनाती हैं। ('सम्पूर्ण योग शास्त्र, गोल्ड बुक्स इंडिया में यह समस्त जानकारी पाठक ले सकते हैं')।

जालन्धर बन्ध

ठोड़ी को सिकोड़ कर कण्ठकूप में अथवा हृदय से 4 अंगुल ऊपर दृढ़ता पूर्वक स्थापित करने से किन्तु गर्दन व दृष्टि सीधी रखने पर यह बन्ध लगता है। यह न केवल कुम्भक द्वारा धारण की गई वायु को रोके रखने में सहयोगी होता है अपितु सहस्रार चक्र से झरने वाले अमृत को भी नीचे गिरने से रोकता है। कण्ठ की शिराओं का जाल इस बन्ध से कसा जाता है अतः इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं। यह बन्ध भी वायु निरोध में सहायक होने से मृत्यु नाशक माना गया है। '*हठयोग प्रदीपिका*' और '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में प्रायः समान वर्णन ही जालंधर बन्ध की प्रशंसा में मिलता है। प्रमाण के तौर पर पाठक स्वयं ही देखें एक उदाहरण—

कण्ठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः॥

—*हठयोग प्रदीपिका*

अर्थात्—कण्ठ को सिकोड़ कर दृढ़ता पूर्वक ठोड़ी को हृदय पर रखने से जालन्धर बन्ध होता है। यह वृद्धावस्था तथा मृत्यु का नाश करने वाला है।

कण्ठमाकुञ्च्यं हृदये स्थापयेद्दृढवाधिया।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं मृत्युमातंगकेसरी॥

—*योगतत्त्वोपनिषिद्*

अर्थात्—कण्ठ को संकुचित कर प्राणवायु का अवरोध करना तथा दृढ़ता पूर्वक ठोड़ी को छाती से सटाकर उसे पुनः ऊपर न आने देना ही जालंधर बन्ध की प्रधान क्रिया है। '*गोरक्ष संहिता*' से इस पर थोड़ा विस्तार से प्रकाश डाला गया है—

बध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलम्।
ततो जालंधरो बन्धोः कण्ठदुःखौघनाशनः॥
जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोच लक्षणे।
न पीयूष पतत्यग्नौ न वायुः प्रकुप्यति॥

अर्थात्—जो बन्ध कण्ठ में लगाया जाता है और वहां के शिराजाल को बांधकर/कसकर चन्द्रामृत रूपी जल को कपाल कुहर से नीचे गिरने से रोकता है, वह दुःखों व रोगों का नाश करने वाला जालन्धर बन्ध माना गया है। इससे चन्द्रामृत गिर कर अग्नि में पड़ने से रुका रहता है। इस जालन्धर बन्ध के अभ्यास से वायु का प्रकोप नहीं हो पाता (क्योंकि यह वायु निरोध में सहायक होता है)।

मुद्रा

ये मुद्राएं जप एवं मंत्रादि में प्रयुक्त होने वाली मुद्राओं से भिन्न हैं। ये योग बिषयक मुद्राएं हैं। नभोमुद्रा (खेचरी मुद्रा), महामुद्रा/महाबन्ध के विषय में तो— पाठक सुन आए हैं। इनके अलावा, शक्तिचालिनी मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, काकीमुद्रा, अश्विनी मुद्रा आदि और भी अनेक मुद्राएं हैं। प्रमुख मुद्राएं जो कुण्डलिनी जागरण में उपयोगी हैं अथवा कुण्डलिनी जागरण के उपायों के रूप में जानी जाती हैं उन्हीं का यहां वर्णन करेंगे क्योंकि यह अध्याय ही कुण्डलिनी जागरण के उपायों का है।

महामुद्रा/महाबन्ध

यह मुद्रा समस्त प्रकार के रोगों का नाश करती है और कुण्डलिनी जागरण में अत्यंत सहयोगी है। विशेष रूप से पाचन तन्त्र को सुव्यवस्थित करती है। प्रायः समस्त योगग्रन्थों में इसका वर्णन मिलता है। इस मुद्रा के साथ विधिपूर्वक किया गया प्राणायाम अत्यंत लाभकारी होता है। जैसा कि 'ग्रह्यामलतन्त्र' में वर्णन आता है—

पादमूलेन वामेन योनि सम्पीड्य दक्षिणे।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम्॥
कण्ठेवक्त्रं समारोप्य धारद्वायु मूर्ध्वतः।
यथादण्डाहतः सर्वोदण्डकारः प्रजायते॥

ऋऽवीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसाभवेत्।
तदासामरणावस्था जायते द्वितपुटाश्रिता॥
तदा शनैः शनैः रेव रेचयेत नवेगतः॥
इयं खलुमहामुद्रा तवस्नेहात् प्रकाश्यते॥

—(*ग्रह्यामल तंत्र*)

अर्थात्—बाएं पैर की एड़ी से योनि स्थान को दबाकर दाएं पैर को सामने सीध फैलाएं। अपने दोनों हाथों से फैले हुए (दाएं) पैर के तलवे/अंगूठे को दृढ़ता से पकड़ें (इस प्रयास में दाएं पैर का घुटना मुड़ने न पाए) और कण्ठ को सिकोड़कर कुम्भक द्वारा वायु को रोकें। इसके अभ्यास से डण्डे द्वारा पीटे गए सर्प की भांति कुण्डलिनी दण्ड के समान सहसा खड़ी हो जाती है। दोनों नासापुटों से प्राणायाम की साम्यावस्था हो जाए, तब वायु को शनैः शनैः निकाल दें। यह महामुद्रा कहलाती है।

'*गोरक्ष संहिता*' में इस मुद्रा में किए जाने वाले प्राणायाम का विधान उपलब्ध होता है। यथा—

वक्षोन्यस्तु हनु! प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा।
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसारितं...चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्यांगेनाभ्यसेत्पुनः...
ततो मुद्रां विसर्जयेत्॥

अर्थात्—'हृदय में ठोड़ी को दृढ़ता से स्थापित करें। बाएं पैर की एड़ी को योनिस्थान में दृढ़ता से लगाएं व दाएं पैर को सामने पसार कर दोनों हाथों से उसका तलवा पकड़ लें। फिर पूरक द्वारा उदर में वायु को भरके कुम्भक करें। बाद में शनैः शनैः रेचक करें। यह रोगों का नाश करने वाली श्रेष्ठ महामुद्रा कही जाती है। इसका अभ्यास प्रथम चन्द्रनाड़ी से और फिर सूर्यनाड़ी से करना चाहिए। इस प्रकार दोनों नथुनों से प्राणायाम समान मात्रा में पूर्व हो जाने पर यह मुद्रा छोड़ दें।' (विस्तार भय से श्लोकों को संक्षिप्त कर दिया गया है)।

'*घेरण्ड संहिता*' में इस मुद्रा का संक्षिप्त परन्तु सारगर्भित वर्णन मिलता है—

वाय्रुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढ़यत्नतः।
याम्य पादं प्रसार्यार्थ केधृतं पादां गुलः।
कंठ संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधामुद्राकथ्यते चैव सूरिभिः॥

अर्थात्—गुदा स्थान को बाईं एड़ी से दृढ़तापूर्वक दबाकर दायां पैर फैलाएं और दोनों हाथों से उस पैर की अंगुलियां पकड़कर कण्ठ को सिकोड़ें तथा भवों के मध्य स्थान में दृष्टि स्थापित करें। विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है (घेरण्ड ऋषि ने महामुद्रा में प्राणायाम के स्थान पर ध्यान को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है)।

महामुद्रा के फल व प्रभावों के विषय में '*हठयोग प्रदीपिका*' में कहा गया है—

इयं खलुं महामुद्रा महासिद्धिः प्रदर्शिता।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयते मरणादयः॥

अर्थात्—यह महामुद्रा महान सिद्धि को प्रत्यक्ष करने वाली है। इसके अभ्यास से महाक्लेश (अविद्या, राग, द्वेष, अस्मिता तथा अभिनिवेश) आदि दोष एवं जन्म-मरणादि (आवागमन चक्र) नष्ट होते हैं। (अर्थात् अभ्यास सिद्ध हो जाने पर यह मुद्रा मोक्ष दायक तथा आत्मबोध कराने वाली है। इसीलिए इसको 'महामुद्रा' कहा गया है)।

'शाण्डिल्योपनिषद्' ने इन फलों के अतिरिक्त अन्य फल भी कहे हैं। यथा—

तेन सर्वक्लेश हानिः। ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते।

क्षयगुल्म गुदावर्तजीर्णत्वागादिदोषा नश्यन्ति। एष प्राणज योपायं सर्वमृत्युपघातकः॥

अर्थात्—इससे सभी क्लेशों का नाश होता है। विष भी अमृत के समान पच जाता है। क्षय, गुल्म, गुदावर्त, पुराने चर्मरोग नष्ट होते हैं (रक्त शोधन होता है)। प्राण को जीतने का यह उपाय सर्व मृत्यु नाशक है।

इसके गुण प्रभावों तथा महत्त्व के सम्बन्ध में '*गोरक्ष संहिता*' के निर्देश भी ध्यान देने योग्य हैं—

तर्हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते॥
क्षयकुष्ठमुद्रावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां चयोऽभ्यसेत्।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥

अर्थात्—महामुद्रा के अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर पथ्य, अपथ्य, रसीले या नीरस आदि का कुछ भी विचार शेष नहीं रहता। (अर्थात् जो भी, जैसा भी खा लिया जाए पच जाता है, तथा आहार की ही भांति गुण देता है)। यदि घोर विष का भी पान कर लिया जाए तो वह भी अमृततुल्य हो जाता है। इससे क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण आदि रोगों का शमन होता है। यह महामुद्रा अत्यन्त ही सिद्धि करने वाली (उपलब्धियां प्राप्त कराने वाली तथा योग के लक्ष्य—कुण्डलिनी जागरण व मोक्ष को सिद्ध करने वाली) है। **इसे प्रयत्न पूर्वक गुप्त रखें और कभी भी अनाधिकारी को न दें (क्योंकि अपात्र व अयोग्य के हाथ में गए मंत्र, विद्या, शक्ति, पद, अधिकार, धन, स्त्री तथा शस्त्र—दुरुपयोग में आते हैं तथा स्वयं उसके व पूरे समाज के लिए घातक होते हैं)।**

अतः महामुद्रा ही नहीं सम्पूर्ण योग विद्या ही गुह्यविद्या/गुप्तविद्या कही गई है और सुयोग्य व्यक्ति को ही इसका उपदेश करने के निर्देश शास्त्रों में स्पष्ट रूप से मिलते हैं।

नभोमुद्रा/खेचरी मुद्रा

खेचरी मुद्रा/नभोमुद्रा को सभी योग विषयक ग्रन्थों ने अति सम्मान पूर्ण स्थान दिया है तथा प्रमुखता से उपयोगी व महत्त्वपूर्ण बताया है। विशेष रूप से पातंजल योग प्रदीप, हठयोग प्रदीपिका, गोरक्ष संहिता, शाण्डिल्योपनिषद् तथा योग कुण्डल्योपनिषद् में इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी मिलती है। अनेक तन्त्र ग्रन्थों में भी इसकी प्रशंसा एवं स्तुति है। इस मुद्रा में सिद्धि प्राप्त करने के लिए जिह्वा का दोहन, मंथन आदि करना पड़ता है। इसका विस्तृत विवरण पातञ्जल योग प्रदीप में उपलब्ध है तथापि यह इतना कष्टपूर्ण, कठिन तथा नाजुक है कि गुरु के मार्गदर्शन के बिना इस मुद्रा का अभ्यास निरापद नहीं कहा जा सकता, लेकिन साथ ही यह तथ्य भी विचारणीय है कि यह महामुद्रा से भी अधिक प्रभावी व लाभकारी मुद्रा है। इस मुद्रा को साधे बिना लोभ में लक्ष्य प्राप्ति सुनिश्चित नहीं कही जाती। अतः पाठकों को ज्ञान वर्धन तथा विषय की सम्पूर्णता के लिए हम इस मुद्रा का विवरण दे रहे हैं। परन्तु दोहन मंथन आदि के घातक कार्यों का वर्णन नहीं कर रहे हैं। इच्छुक पाठक 'पातञ्जल योग प्रदीप' से इन्हें प्राप्त करें।

खेचरी मुद्रा के वर्णन से पूर्व सहस्रारचक्र से निरंतर झरने वाले अमृत के विषय में चर्चा करना आवश्यक है। क्योंकि खेचरी मुद्रा इसी अमृत के पान की विधि है। इस अमृत के विषय में यद्यपि सातों चक्रों के वर्णन के समय सहस्रार चक्र प्रकरण में प्रारम्भ में ही प्रसंगवश संक्षिप्त चर्चा हो चुकी है। किन्तु यहां उसका विस्तृत वर्णन आवश्यक है। क्योंकि बिना इस तथ्य को भली प्रकार जाने 'खेचरी मुद्रा' का महत्त्व नहीं जाना जा सकता। और न ही उसकी उपयोगिता जानी जा सकती है।

सहस्रार चक्र में उपस्थित सोलह दल की कमल कर्णिका में एक चन्द्र बिम्ब है जिससे निरन्तर अमृत स्राव होता है। तालूमूल में स्थित चन्द्रमा से होता हुआ यह सुधा नीचे गिरता है और नाभि में स्थित अग्नि (जठराग्नि) रूपी सूर्य द्वारा ग्रस लिया जाता है। इस प्रकार व्यर्थ चला जाता है। जब तक जीवन रहता है यह अमृतस्राव सतत चलता है। जब यह अमृत झरना बन्द हो जाता है, तब मृत्यु होती है। सहस्रार चक्र में परमशिव का कुण्डलिनी रूपी शक्ति से अभेदात्मक मिलन होता है। यही परमशिव का स्थान है। अतः कोई बड़ी बात नहीं कि शिव की जटाओं से निकलने वाली गंगा की धारा की कथा के माध्यम से इसी अमृतस्राव का मर्म समझाया गया हो। इस अमृत की रक्षा करने के लिए ही विपरीत मुद्रा, खेचरी मुद्रा आदि का प्रावधान है। इस अमृत का मान जरा मृत्यु विनाशक तथा दिव्य उपलब्धियों को देने वाला है। जैसा कि कहा गया है—

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रामृत दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वंग्रसते सूर्य स्तेन पिंडो जरायुतः॥

—हठयोग प्रदीपिका

अर्थात्—'दिव्य सुधामय रूप वाले तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जो अमृत

गिरता है, उसको नाभि में स्थित अग्नि रूपी सूर्य ग्रस लेता है। जिससे शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।' (अमृत का निरंतर क्षय होने से)।

अथवा प्रतीक के रूप में इस अमृत को ग्रहण करने की प्रेरणा भी शास्त्रों में यदा-कदा मिलती है। यथा—

एक स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्र मंडलात्।
तृतीयो यः पुनस्ताभ्यां सभवेदजरामरः॥

अर्थात्—एक स्त्री चन्द्रमंडल से प्राप्त होकर दो के द्वारा भोगी जाती है। उसे यदि तीसरा भोग ले तो वह अजर और अमर हो जाता है। (वृद्धावस्था व मृत्यु उसके पास नहीं आते)।

व्याख्या

यहां बताई गई स्त्री वास्तव में चन्द्रमंडल से झरने वाला अमृत है जो दो के द्वारा यानि चन्द्र और सूर्य के द्वारा भोगी जाती है। यदि उसे तीसरा (योगी/साधक) भोग ले (स्वयं ग्रहण कर ले) तो अजर अमर हो जाता है।

'*गोरक्ष संहिता*' ने तो इस अमृतपान को इतना महत्त्वपूर्ण माना है कि इसे ही 'प्रत्याहार' की संज्ञा दी है। यथा—

चन्द्रामृतमयी धारा प्रत्याहरति भास्करः।
प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उच्यते॥

अर्थात्—चन्द्रमा की अमृतमयी धारा को सूर्य ग्रसता है। उसे सूर्य से बचाकर स्वयं ग्रस लेना ही प्रत्याहार है।

इसी सतत झरने वाले अमृत को नाभि में स्थित अग्नि रूपी सूर्य से बचाकर स्वयं ग्रहण करने के उपायों में एक है—'खेचरी मुद्रा' अथवा 'नभोमुद्रा'। अब इस मुद्रा के विषय, विधि तथा लाभ-प्रभाव के विषय में चर्चा की जा सकती है।

जिह्वा को ऊपर की ओर पलटकर कपालरन्ध्र (हलक के ऊपर) में प्रवेश कराना ही संक्षेप में खेचरी मुद्रा है। अत्यंत प्रभावशाली होने से समस्त सिद्धों व योगियों द्वारा यह पूज्यनीय है। इस मुद्रा से जिह्वा कपाल कुहर में झरने वाले अमृत का पान कर सकने में सक्षम हो जाती है। इसी अमृतपान के प्रभाव से साधक अजर-अमर हो जाता है। जो पांच आकार कहे गए हैं, उनमें जिह्वा इस मुद्रा से विचरण करती है। अतः इसको 'नभो मुद्रा' भी कहा जाता है। परन्तु प्रायः यह खेचरी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। क्योंकि 'ख' आकाश के लिए प्रयुक्त होता है। जैसा कि—पक्षी को 'खग' कहते हैं (ख+ग=खग), यानी—आकाश में गमन करने वाला। अतः 'नभोमुद्रा' को 'खेचरी मुद्रा' कहते हैं। क्योंकि जिह्वा इस मुद्रा में 'ख' (आकाश) में चरती (विचरण करती) है, अतः उसे 'खेचरी' कहते हैं।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी॥
न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न मूर्च्छा तु भवेतस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥

—(*गोरख संहिता*)

अर्थात्—जीभ को उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट करा कर दृष्टि को भृकुटियों के मध्य स्थिर कर लेना ही खेचरी मुद्रा है। जो योगी इसे जानता है (इस मुद्रा के अभ्यास में प्रवीण है) उसे रोग, मृत्यु, निद्रा, भूख, प्यास और मूर्छा आदि से पीड़ित नहीं होना पड़ता।

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्यते कर्मणा।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥

(अर्थात् उसे ना तो शोक ही होता है, ना ही कर्मबन्धन। इस मुद्रा को सिद्ध कर लेने वाला भव बन्धन से मुक्त होता है)।

'*शाण्डिल्योपनिषद्*' में खेचरी का वर्णन थोड़ा और भी विस्तार से प्राप्त होता है। यथा—

इड़ा पिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्।
तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात्—इड़ा व पिंगला के मध्य जो शून्य भाग है, वह वायु को ग्रस लेता है। वहीं खेचरी मुद्रा रहती है और वहीं सत्य रहता है। (यहां 'कपाल रन्ध्र' के विषय में बताया गया है। आगे कहते हैं—)

छेदनं चालनंदोहनं कसां परा जिह्वा कृत्वा दृष्टि भ्रूमध्ये स्थाप्य कपाल कुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते।

जिह्वा नित्तं चखे चरती तेनोर्ध्वचिह्नः पुमानमृतौ भवति॥

अर्थात्—छेदन, चालन, दोहन द्वारा जिह्वा को नोकदार (लम्बा) बनाकर, भृकुटियों में मध्य भाग में दृष्टि स्थिर करके जब जिह्वा उलटी होकर कपाल कुहर में प्रविष्ट होने के योग्य हो जाती है—तब खेचरी मुद्रा बनती है। इस मुद्रा से चित्त व जिह्वा दोनों कपाल कुहर रूपी आकाश में विचरण करते हैं। तब ऊपर पहुंचाई गई जिह्वा वाला पुरुष अमर हो जाता है।

व्याख्या

जीभ को पलटकर कपाल कुहर में ले जाना कोई मामूली कार्य नहीं है। यह मात्र अभ्यास से भी सम्भव नहीं हो पाता, जब तक कि तकनीक द्वारा जिह्वा को इस योग्य न बना लिया जाए। जिह्वा को इस योग्य बनाने के तकनीकों को भी यहां विधि व लाभ के साथ संक्षेप में कह दिया है। यह तकनीकें—छेदन, चालन व दोहन/मंथन हैं।

जीभ को यदि ऊपर उठाएं तो पाएंगे कि वह एक पतले से तन्तु या लगाम द्वारा नीचे जुड़ी रहती है। यह मांस तन्तु जीभ को उलटकर कपाल कुहर में पहुंचने लायक बन पाने में बहुत बड़ी बाधा होता है। इसे विधि पूर्वक औषधियों के प्रयोग के साथ शस्त्र या शीशे द्वारा शनैः शनैः काट दिया जाता है। यह क्रिया कई दिनों में सम्पन्न की जाती है। **इसी को 'छेदन' कहते हैं।** (पाठकों द्वारा भावातिरेक, जल्दबाजी, जिज्ञासा आदि के कारण खेचरी मुद्रा में सफलता प्राप्ति करने के लिए बिना समर्थ गुरु के मार्गदर्शन के खुद ही छेदनक्रिया कर लेने की सम्भावना को दृष्टि में रखकर हम इस क्रिया की विधि व औषध आदि की चर्चा नहीं कर रहे हैं। गुरु की दीक्षा ही इस विषय में प्रशस्त होगी)। **मंथन या दोहन क्रिया के** अन्तर्गत गाय के मक्खन को जीभ पर मलकर दोनों हाथों के अंगूठों व तर्जनी के प्रयोग से जीभ को आगे की ओर खींचा/दुहा जाता है। इस अभ्यास से जीभ शनैः शनैः लम्बी पतली व नोकदार होने लगती है। यही क्रिया मंथन/दोहन कही जाती है। 'चालन क्रिया' के अन्तर्गत जिह्वा द्वारा कुछ व्यायाम किए जाते हैं जो जीभ को लम्बा व लचीला बनाने में सहायक होते हैं। जैसे जीभ को मुख से बाहर निकालकर ठोड़ी पर लगाने का प्रयास अथवा मुख से बाहर निकालकर नासिकाग्र से जीभ लगाने का प्रयास आदि। इन प्रयासों में हाथ का प्रयोग वर्जित है। जीभ को स्वतः अपनी ही शक्ति से धकेल खींचकर यह व्यायाम करने होते हैं। अतः **इसे जीभ का चलाना या 'चालन' कहते हैं।**

जैसा कि स्पष्ट है 'चालन' का प्रयोग पाठक कर सकते हैं। दोहन या मंथन क्रिया को भी सावधानी पूर्वक किया जा सकता है किन्तु छेदन क्रिया को समर्थ गुरु की छत्रछाया में ही किया जाना चाहिए। अन्यथा वाक्शक्ति का लोप, तुतलाहट, हकलाहट आदि के अलावा अन्य उपद्रवों की सम्भावना भी होती है, जो घातक भी हो सकते हैं।

खेचरी मुद्रा के अन्य गुण प्रभावों के लिए निम्नलिखित श्लोकों को भी देखिए, 'जो *गोरक्ष संहिता*' में आए हैं—

विन्दूमूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम्॥
खेचरी मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते विन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च॥
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्यौर्भयंकुतः।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति॥

अर्थात्—बिन्दु (वीर्य) शरीर का मूल (आधार) है। यह पांव से सिर तक शरीर में प्रतिष्ठित रहता है। इसी से शिराओं में सजीवता आती है तथा हाथ-पैरों व मस्तिष्क की सामर्थ्य बनी रहती है। जिसने खेचरी मुद्रा को उस कण्ठ छिद्र की

लम्बिका के ऊपर रोक लिया उस योगी का बिन्दु कामिनी के आलिंगन से भी क्षरित नहीं होता। जब तक शरीर में बिन्दु स्थित है, तब तक मृत्यु का भय कहां ? और जब तक नभोमुद्रा दृढ़ता से बंधी है, तब तक बिन्दु चलायमान नहीं होता। (अर्थात् खेचरी मुद्रा बिन्दु की रक्षा करके भी मृत्यु को पास नहीं आने देती। और कण्ठ छिद्र में अंमृत पान करते रहने के कारण भी मृत्यु की नाशक हो अतः यह अमरत्व प्रदान करती है)।

व्याख्या

परन्तु जैसा कि *गीता* में भगवान कृष्ण ने कहा है—**'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च।'** (जन्मने वाले की मृत्यु अवश्य होती है और मरने वाले का जन्म भी अवश्य होता है)। इस न्याय के अनुसार मरण तो निश्चित है फिर अमरता की बात कैसे सम्भव है ? इसका यही एक उत्तर है कि व्यक्ति इच्छा मृत्यु हो जाता है अथवा अतिदीर्घजीवी हो जाता है। वह हजारों वर्षों तक या जब तक मरना न चाहे जीवित रह सकता है। किन्तु फिर पुनः जन्म में न लौट कर निर्वाण/मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

खेचरी मुद्रा चित्त में चंचलता नहीं आने देती। अतः बिन्दु/वीर्य भी चालायमान नहीं होता। बिन्दु की स्थिरता का कारण मन की स्थिरता ही है। जिह्वा द्वारा बिन्दु को क्षरित होने से रोकने का भावार्थ यही है। जैसा कि '*योगकुण्डल्योपनिषद्*' में कहा है—

मनसोत्पद्यते विन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम्।
न च बन्धन मध्यस्थं तद्वै कारणमानसम्॥

अर्थात्—यह बिन्दु मन से ही उत्पन्न होता है। जैसे दूध से घी उत्पन्न होता है। उस बिन्दु में कुछ भी बन्धन नहीं है, जो बन्धन है, वह सब मन का ही है। (विज्ञानानुसार वीर्य की उत्पत्ति रक्त से व रक्त की आहार से होती है। परन्तु इस स्थूल अध्ययन में मन का संयोग आहार के साथ होने पर ही यह सब सम्भव होता है। **'यथा अन्न तथा मन'** इसीलिए कहा है—यदि मन प्रसन्न न रहे तो पौष्टिक आहार लेने के बाद भी रक्त-वीर्य की वृद्धि नहीं होती। मन की अप्रसन्नता अवसाद, ईर्ष्या, क्रोध, चिंता आदि इसीलिए रक्त एवं वीर्य का नाश करते हैं। अब यह कहना ठीक ही है कि मन ही बिन्दु की उत्पत्ति का कारण है। मन में उत्साह हो तो नपुंसक भी 'जोश' में आ जाता है। उत्साह न हो तो पौरुष युक्त व्यक्ति भी 'उत्तेजित नहीं होता, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है')।

भगवान शिव जिस मुद्रा में (*शाम्भवी मुद्रा*)—सदैव ध्यान मग्न रहते हैं, उसमें खेचरी भी सम्मिलित रहती है। इसलिए उन्हें परमात्मा या महादेव कहते हैं। और संकल्प शक्ति के महास्वामी के रूप में उन्हें जाना जाता है। उन्हें महायोगी

कहा जाता है। कुण्डलिनी को सहस्रार में पहुंचाने का विज्ञान परमशिव से परमशक्ति को मिलाने का ही विज्ञान है। अतः महा या परम विज्ञान है। इसे जान लेने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। जो कुछ विज्ञानवादी बाहर खोजना जानना चाहते हैं, वह सब और उसके अलावा भी सब कुछ समाधिस्थावस्था में कालजयी हुआ योगी स्वतः ही जान लेता है। किसी भी विषय पर ध्यान एकाग्र कर उसके विषय में समूचा जान लेना योगी के लिए सम्भव हो जाता है—जैसा कि '*विज्ञान भैरव*' में कहा गया है—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

अर्थात्—देह में अहं भाव नष्ट हो जाने पर और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर जहां-जहां मन जाता है, वहीं-वहीं पर समाधि लग जाती है। (इस विषय को पुस्तक के अन्त में विस्तार से लेंगे। यहां प्रसंगवश चर्चा हो गई है)।

'*विज्ञान भैरव*' में खेचरी मुद्रा के व्यावहारिक व वैज्ञानिक पक्ष को भी ध्यान में रखा है—

मध्यजिह्वे स्फारितास्ये मध्ये निक्षिप्य चेतनाम्।
होच्चारं मनसा कुर्वस्ततः शान्ते प्रलीयते॥

यानि—अपने मुंह को फैलाकर, जिह्वा को उलट कर ऊपर तालु में प्रविष्ट कराने से खेचरी बनती है। इस मुद्रा में अपनी बुद्धि को स्थिर करके मन से स्वररहित 'हकार' का उच्चारण करने से साधक शान्तावस्था में लीन हो जाता है अर्थात्—उसका शान्त स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है।

(यह बताई गई 112 धारणाओं में 57वीं धारणा है। इस ग्रन्थ में 112 धारणाओं का उल्लेख है)।

व्याख्या

प्राण की उच्छ्वास दशा में स्वभावतः 'हं' तथा निश्वांस दशा में 'सः' का उच्चारण होता है (**सकारेण बर्हियाति हकारेण विशेत् पुनः**) पहले बता आए हैं। इस तथ्य के अनुसार 'सकार' के साथ बाहर निकला प्राण 'हकार' का ही उच्चारण होता है। यही व्यावहारिक व वैज्ञानिक तथ्य इस श्लोक में कहा गया है। इस मुद्रा की साधना में दृष्टि को भूमध्य में स्थिर रखना चाहिए, जिससे ध्यान लग सके। इस बात को अनेक ग्रन्थों में कहा गया है। खेचरी में जीभ का पलटकर कपाल कुहर में लगाना और दृष्ट का भ्रूमध्य में स्थिर रखना दोनों ही क्रियाएं शामिल रहती हैं। ऐसा '*विवेक मार्तण्ड*' में भी कहा गया है—

कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥

अर्थात्—जिह्वा को उलट कर तालु प्रदेश में स्थित कपाल कुहर में प्रविष्ट करा

देना तथा दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर कर लेना—यही खेचरी मुद्रा है।

खेचरी मुद्रा पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अब हम कुण्डलिनी जागरण के अन्य उपाय विपरीतकरिणी मुद्रा की चर्चा करेंगे। इस मुद्रा को पहले इसलिए ले रहे हैं, क्योंकि इस मुद्रा में खेचरी का प्रयोग भी किया जाता है और यह मुद्रा भी सतत झरने वाले अमृत के पान के उपाय रूप में प्रयुक्त होती है।

विपरीतकरिणी मुद्रा

जैसा कि नाम ही से स्पष्ट हो जाता है कि यह मुद्रा शरीर की स्थिति को उल्टी या विपरीत कर देने वाली है। अतः इसको 'विपरीत करिणी' कहते हैं 'हठयोग' के अन्तर्गत यह मुद्रा भी आती है। इस मुद्रा द्वारा कपाल कुहर में गिरने वाले अमृत की रक्षा की जाती है।

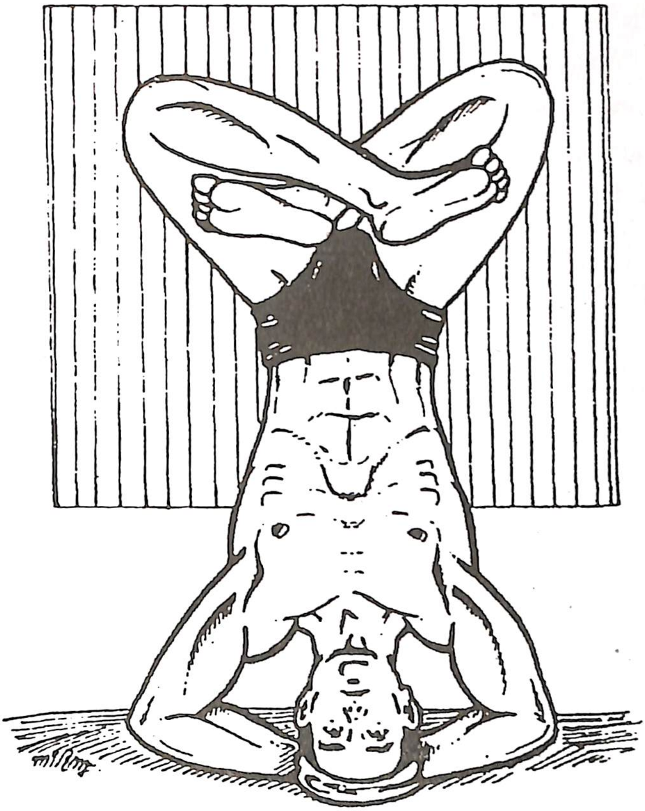

विपरीतकरणी मुद्रा

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो देहनात्मनः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले न चन्द्रमा॥
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रोग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः।
ज्ञातव्याकरणी तत्र यथा पीयूषमाप्यते॥

—गोरक्षसंहिता

अर्थात्—अग्निरूपी एक सूर्य नाभि में रहता है और अमृत रूपी आत्मा वाला चन्द्रमा सदा तालुमूल में निवास करता है। तालुमूल में नीचे की ओर मुख किए रहने वाला चन्द्रमा जिस अमृत की वर्षा करता है उसे ऊपर को मुंह किए रहने वाला अग्निरूपी सूर्य नाभि में अवस्थित रहते हुए पी लेता है। परन्तु विपरीतकरिणी मुद्रा को जो योगी जानता है, वह उस अमृत को अग्नि के मुख से बचाकर स्वयं अपने मुख में ले लेता है। (जिससे रोग आदि का नाश होकर आयुवृद्धि होती है तथा मृत्यु भय नहीं रहता)।

उर्ध्व नाभिरधस्तालुरुर्ध्व सूर्यरध: शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुपदेशेन लभ्यते॥

अर्थात्—नाभि में स्थित अग्नि रूपी सूर्य को ऊपर तथा तालु मूल में स्थित अमृतमयी चन्द्रमा को नीचे (विपरीत) करना ही विपरीतकरिणी नामक मुद्रा है, जो गुरु के उपदेश से ही प्रांप्त हो पाती है (अर्थात् बिना गुरु के उपदेश, आज्ञा व निर्देशन के इस मुद्रा में सफलता नहीं मिलती)।

यहां गुरु के उपदेश को महत्त्व इसलिए दिया गया है—क्योंकि मात्र शरीर को उल्टा कर लेने से ही यह मुद्रा सिद्ध नहीं हो जाती। पहले प्राणायाम तथा खेचरी आदि मुद्राएं सिद्ध की जाती हैं। फिर विपरीतकरिणी मुद्रा में खेचरी का समावेश किया जाता है। प्राणवायु की नासिका के उर्ध्वविवर में तथा जीभ को जिह्वा मूल से पलटकर ब्रह्मरंध्र की ओर पहुंचाने का अभ्यास किया जाता है। यह अत्यंत कठिन अभ्यास है। '*शाण्डिल्योपनिषद्*' में संध्या के समय वायु को खींचकर पीने का निर्देश मिलता है। उससे तीन महीने में अभ्यासी की वाणी सरस्वती स्वरूपा हो जाती है। छ: महीने में समस्त रोग दूर हो जाते हैं। अत: इस अवस्था में जिह्वा द्वारा प्राणवायु को खींचा भी जाता है। जैसा कि इसी उपनिषद् में आगे कहा गया है—

जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत्।
य: पिवेदमृतं विद्वान् सकलभद्रमश्नुते॥

अर्थात्—जो विद्वान योगी जिह्वा से वायु खींचकर उसे जिह्वा मूल में रोककर अमृत का पान करता है। उसका सब प्रकार से कल्याण होता है। (किन्तु गुरु के मार्गदर्शन में ही इसे करें)।

बद्धं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थलादूर्ध्वतो।
नासान्ते सुषिरे नयेत्व गगनद्वारान्ततः सर्वत:।
उर्ध्वास्यो भुविसन्निपत्यनितरामुत्तानपाद: पिबेदेवं य:
कुरुतेजितेन्द्रिय गणोनैवास्तितस्य क्षय:॥
ऊर्ध्वं जिह्वां स्थिरीकृत्य सोमपानं करोतिय:।
मासार्द्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगविद्॥

(*गो. संहिता*)

अर्थात्—कण्ठ के उर्ध्व भाग में स्थित स्वच्छ चन्द्रकलामृत को रोककर नासिका से ऊपर के विवर में भरे और वायु के समस्त द्वारों को रोककर आकाश में प्राणापन युक्त पूरक करें तथा पृथ्वी पर उत्तान लेटकर पांवों को उत्तान करके (विपरीत करिणी) इस अमृत का पान करें। जो जितेन्द्रिय योगी सदा ऐसा करता है, उसका क्षय कभी नहीं हो सकता। जीव को ऊर्ध्व स्थित कर सुधापान करने वाला साधक पंद्रह दिनों में ही मृत्यु को जीतने वाला हो जाता है। (किन्तु जैसा कि कहा गया है, बिना गुरु की कृपा के यह कार्य सम्भव नहीं होता)।

शक्तिचालिनी मुद्रा व शक्तिचालन

इस मुद्रा का सीधा सम्बन्ध कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर उसे ऊपर चढ़ाने से है। अतः इसे 'शक्तिचालिनी मुद्रा' कहा गया है। स्पष्ट है कि यह भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। किन्तु लम्बे अभ्यास से ही यह मुद्रा सिद्ध होती है। अतः धैर्य

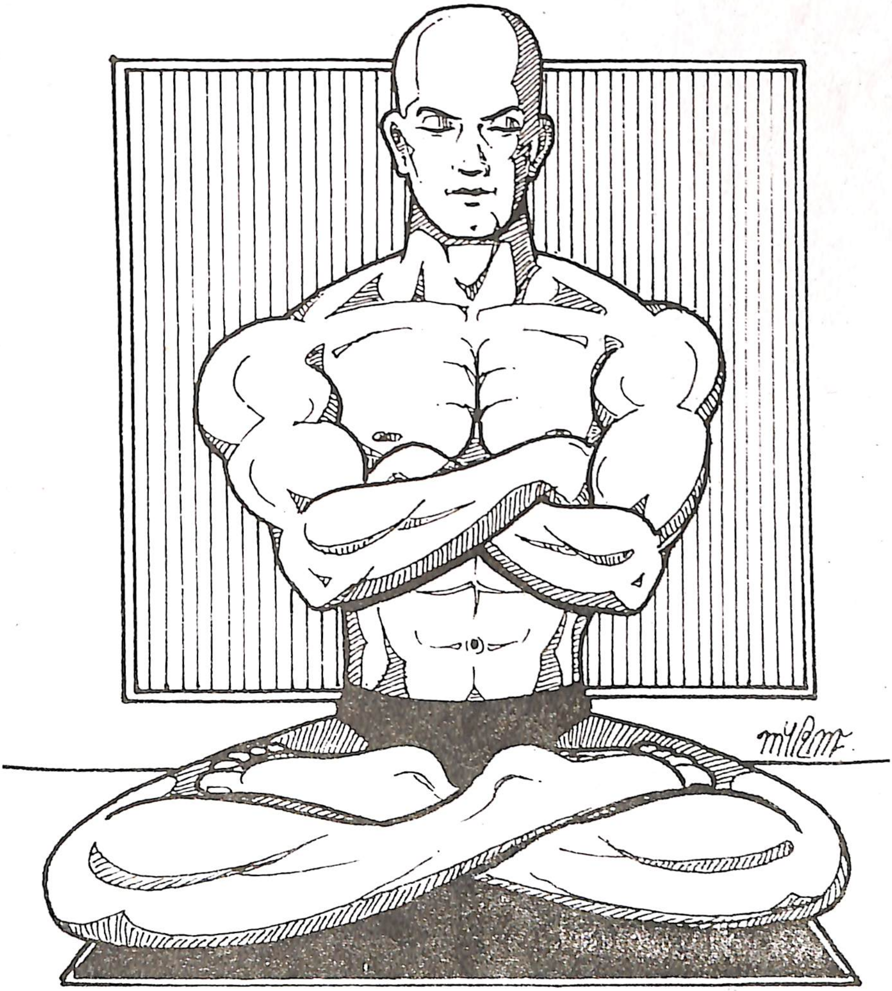

शक्तिचालिनी मुद्रा

आवश्यक है। प्रायः समस्त योग विषयक ग्रन्थों ने इसे सम्मानपूर्वक मान्यता दी है। परन्तु '*घेरण्डसंहिता*' में इसका विस्तृत विवेचन मिलता है।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढ़रं बध्वा तु पद्मासनं।
गाढ़ं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेति।
बारंबारम पानमूर्ध्व मनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं।
मुञ्चन्प्राणमुपैतिबोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः॥

— गोरक्ष संहिता

अर्थात्—दोनों हाथों की अञ्जली बांधकर दोनों कुहनियों को दृढ़ता से हृदय पर रखकर पद्मासन करें। ठोड़ी को हृदय से दृढ़तापूर्वक लगाकर ज्योतिरूप ब्रह्म का ध्यान करें। प्राणायाम द्वारा वायु खींचकर उसे अपानवायु से मिलाएं और कुम्भक द्वारा धारण करके शनैः शनैः छोड़ दें। ऐसा करने से साधक को कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव का अतुलित बोध होता है अथवा शक्ति जागृत होती है।

यह शक्तिचालिनी मुद्रा कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करती है। इसीलिए इसे शक्तिचालिनी कहते हैं। परन्तु यह लम्बे अभ्यास से सिद्ध होती है। परिचय के रूप में '*गोरक्ष संहिता*' का श्लोक ऊपर दिया है। किन्तु पूर्ण विस्तृत रूप से इसका वर्णन '*घेरंड संहिता*' में आता है, जो पाठकों के लिए अधिक उपयोगी होगा।

नाभिं सम्वेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्॥
वितस्तिमितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलम्।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बर लक्षणम्॥
एवंमम्बरयुक्तं च कटि सूत्रेण योजयेत्।
भस्मनागात्र संलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत्॥
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपानेयोजमेद्बलात्।
तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया॥
यावद्गच्छेत सुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेत् हठात्।
तदावायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी॥
बद्धश्वासस्तोभूत्वा ऊर्ध्वमार्ग प्रपद्यते।
शक्तीर्विनाचालनेन योनिमुद्रा न सिद्धयति॥

—घेरंड संहिता

अर्थात्—नाभि को वस्त्र से लपेटकर शक्तिचालिनी मुद्रा का एकान्त स्थान में अभ्यास करें। नग्नावस्था में इस मुद्रा का साधन कभी बाहर न करें। बालिश्त भर चौड़ा और चार अंगुल लम्बा (कोमल, स्वच्छ) वस्त्र नाभि पर रखकर उसे कटिसूत्र (नाड़े आदि) से कमर पर बांधें (यदि पूरा वस्त्र न लपेट रहे हों तो)। शरीर पर भस्म मलकर सिद्धासन पर बैठकर प्राण को खींचकर अपान से मिलाएं। सुषुम्ना के

द्वार से गमन करती वायु जब तक प्रत्यक्ष न हों, तब तक 'अश्विनी मुद्रा' से गुदा संकोचन करें। इस प्रकार वायु के रुकने से सर्पाकार कुण्डलिनी जागृत होकर ऊर्ध्व मार्ग में बढ़ती है। इस शक्तिचालिनी मुद्रा के बिना योनिमुद्रा (मूलबन्ध) की सिद्धि नहीं होती। (घेरण्ड ऋषि ने गोरखनाथ के मुकाबले शक्तिचालिनी मुद्रा को अधिक स्पष्ट किया है और पद्मासन के स्थान पर सिद्धासन का निर्देश दिया है। विभिन्न ऋषियों ने विभिन्न मार्गों एवं मुद्राओं से लक्ष्य प्राप्ति की थी। अतः अपने-अपने अनुभूत मार्ग पर उन्होंने अधिक प्रकाश डाला है। इसका कारण मात्र इतना ही है)।

व्याख्या

पद्मासन के स्थान पर सिद्धासन का प्रयोग इस मुद्रा में अधिक लाभकारी रहेगा क्योंकि अश्विनी मुद्रा तथा योनिमुद्रा में यही सिद्धासन अधिक सहयोगी रहता है और कम प्रयास से ही मुद्रा को सिद्ध करता है। शरीर पर भभूत मलने के तीन सम्भावित कारण हैं। पहला—नग्नावस्था को ढकना। दूसरा वैराग्य भाव को उदित करने के बाह्य प्रयास एवं तीसरा इस क्रिया में शरीर पर आने वाले पसीने को सोखने की सुविधा प्राप्त करना। क्योंकि पसीने के अधिक बहने की अनुभूति भी मुद्रा के स्थायित्व में बाधक हो सकती है। यह भी सम्भावना है कि शिव को ईष्ट मानने के कारण घेरण्ड ऋषि शिव की ही भांति देह पर भभूत मलने को आवश्यक समझते हों।

नाभि पर वस्त्र लपेटने अथवा वस्त्र को नाभि पर रख कटि सूत्र से बांधने के पीछे दो उद्देश्य संभावित हैं। पहला उड्डियान बन्ध में सहयोग एवं नाभिमंडल को भीतर दबाकर उद्वेलित करना। दूसरा नाभिमंडल पर ध्यान लगाने में सहयोग प्राप्त करना। सुषुम्ना में वायु को प्रत्यक्ष करने का अर्थ वायु को वहां अनुभव करने से है। तब तक 'अश्विनी मुद्रा' का निर्देश दिया है। 'अश्विनी मुद्रा' अपने आप में कुण्डलिनी शक्ति को उत्तेजित करने में सहायक है।

अश्विनी मुद्रा

घोड़ी जिस प्रकार अपनी योनि को बार-बार संकुचित करती तथा विस्तृत करती है, उसी प्रकार उपस्थ सहित गुदा को बार-बार संकुचित करना तथा ढीला छोड़ना अश्विनी मुद्रा कही जाती है। यह कुण्डलिनी को जागृत कर पाने में समर्थ भले ही न हो अथवा चलाने में सक्षम भले ही नहीं किन्तु उसको थपथपा कर या छेड़कर उत्तेजित अवश्य करती है। इसीलिए घेरण्ड ऋषि ने वायु के सुषुम्ना के द्वार पर अनुभव करने तक अश्विनी मुद्रा के प्रयोग का निर्देश दिया है। अश्विनी मुद्रा का अभ्यास स्तम्भन सामर्थ्य भी बढ़ाता है।

इन समस्त विवेचनों से सिद्ध होता है कि कुण्डलिनी को जागृत करके सुषुम्ना में चढ़ाने के लिए वायु को सुषुम्ना में चढ़ाना आवश्यक है। क्योंकि वायु अथवा

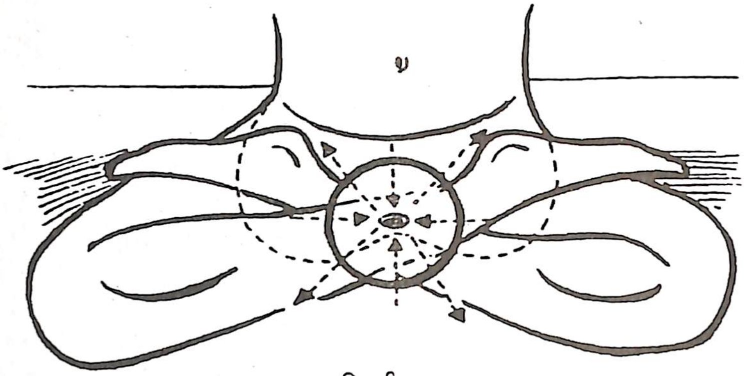

अश्विनी मुद्रा

अग्नि ही कुण्डलिनी जगाकर चलाने में समर्थ है। वायु के साथ प्राण व मन भी एकाग्र होकर सुषुम्ना में जाते हैं। अन्ततः आज्ञाचक्र तथा सहस्रार चक्र पर जा पहुंचने पर सम्प्रज्ञात समाधि व असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति प्राप्त होती है। जैसा कि '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में कहा गया है—

वायुना सहचित्तं च प्रविशेच्च महापथम्।
यस्य चित्तं स्वपवनः सुषुम्नां प्रविशेदिह॥
भूमिरापोऽनलोवायु आकाश चेति पंचकः।
येषु पंचसु देवानां धारणा पंचधोच्यते॥

अर्थात्—जिसका चित्त वायु के सहित सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है। उसके लिए—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच महाभूत रूपी देवताओं की धारणा स्वतः हो जाती है। (धारणा व समाधि की चर्चा अगले अध्याय में करेंगे)।

बिन्दु व रज को, चन्द्र व सूर्य को अथवा प्राण व अपान को मिलाना

अब तक के उपायों एवं विधियों को पढ़कर प्रबुद्ध पाठक जान गए होंगे कि प्राण व अपान को मिलाने से अथवा चन्द्र व सूर्य या बिन्दु एवं रज को मिलाने से ही कुण्डलिनी का जागरण होता है। समस्त प्राणायाम प्राण व अपान को मिलाने के उपाय हैं तथा विपरीतकरिणी, शक्तिचालिनी, खेचरी आदि मुद्राएं चन्द्र व सूर्य में एकात्म स्थापित करने के उपाय हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में बिन्दु (वीर्य) तथा रज रहता है। और प्रत्येक स्त्री में भी। किन्तु स्त्रियों में रज की प्रमुखता रहती है और पुरुषों में वीर्य की। आयुर्वेदीय ग्रन्थों व आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने भी इसे माना है। 'चरक संहिता' में तो यहां तक बताया गया है कि स्वप्न की अवस्था में उत्तेजित होने पर क्षरित स्त्री की योनि में यदि वायु प्रविष्ट हो जाए और उसका रज उसमें मौजूद वीर्य के अंश से मिल जाए तो गर्भाधान हो जाता है। किन्तु वह अर्थ, अस्थि, नख व केशों से हीन (मांसपिंड रूपी) होता है।

रज एवं बिन्दु का संयोग सृजनात्मक होता है—भले ही बाह्य हो अथवा आन्तरिक। अघोरी सम्प्रदाय में इसी उपाय पर विशेष जोर दिया जाता है और सम्भोग को इसीलिए योग साधना का पर्याय माना जाता है।

शरीर में बिन्दु व रज दोनों रहते हैं। बिन्दु का स्थान चन्द्र एवं रज का स्थान नाभिमंडल में अवस्थित सूर्य माना गया है। बिन्दु का रंग श्वेत व रज का रंग लाल कहा गया है। बिन्दु को शिव और रज को शिवा/शक्ति का प्रतीक माना है। जैसा कि '*गोरक्ष संहिता*' में प्रमाण मिलते हैं—

स पुनर्द्विबिधो बिन्दुः पाण्डुरो सोहितस्तथा।
पाण्डुरः शुक्रमित्यहुर्लोहिताख्यो महारजः॥
सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्॥

अर्थात्—यह बिन्दु दो प्रकार का होता है। पाण्डुर वर्ण तथा लोहित वर्ण। पाण्डुर वर्ण वाला 'शुक्र' तथा लोहित वर्ण वाला 'महारज' कहा जाता है। तैल मिश्रित सिंदूरी द्रव के समान रज नाभिमंडल में और बिन्दु चन्द्र स्थान में रहता है। इन दोनों का एक हो पाना अति दुर्लभ है।

विन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रोविन्दु रजो रविः।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम॥
वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः।
याति विन्दोः सहैकत्वं भवेदिदृव्यं वपुस्ततः॥

अर्थात्—बिन्दु, शिव तथा रज शक्ति है अथवा बिन्दु चन्द्रमा और रज सूर्य है। इन दोनों के संयोग से परम शरीर प्राप्त होता है। वायु द्वारा शक्ति चालन से जब रज आकाश में प्रेरित होकर बिन्दु से मिल जाता है तब शरीर दिव्य बन जाता है (अर्थात् तेजस्वी हो जाता है)।

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति सयोगविद॥

—गोरक्षसंहिता

अर्थात्—शुक्र बिन्दु रूपी चन्द्र से युक्त है और रज सूर्य से समन्वित है। जो इन दोनों की समरसता को जानता है (इन दोनों को मिलाना जानता है) वही योग का ज्ञाता है।

अतः चन्द्र व सूर्य को, बिन्दु एवं रज को अथवा प्राण व अपान को मिलाना ही कुण्डलिनी जागरण के मार्ग हैं।

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलतिकन्दुकः।
प्राणापान समाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति॥

अर्थात्—जैसे हाथ द्वारा पृथ्वी पर पटकी गई गेंद, ताड़ित होकर स्वयं ऊपर

उछलती है। वैसे ही प्राणवायु की प्राप्ति में जीव को आकर्षित करके अपानवायु ठहरने नहीं देता। (जैसे गेंद खेलने वालों के वश में रहती है वैसे ही जीव अविद्या के वश में रहता है। प्राणापान के मध्य जीव स्थिर नहीं रहता। प्राण व अपान को मिलाकर ही उसे स्थिर किया जाता है)।

कुण्डलिनी भेदन के लिए षट्चक्रों का समस्त विवरण प्रारम्भ में ही दे दिया गया है। तथापि इस खण्ड को पढ़ने पर पाठकों को तालु एवं कंठ का महत्त्व भी समझ में आया होगा। बहुतों को तालु या कण्ठ विवर अन्य चक्रों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण भी लगा हो सकता है। परन्तु ऐसा नहीं है। चक्रों का अपने स्थान पर पूर्ण महत्त्व है तथापि तालु का महत्त्व भी कम नहीं है क्योंकि शरीर के चार पवित्र अंगों में एक यह भी है। इसकी पवित्रता का कारण यहां रुद्र का निवास होना है। जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से सहज सिद्ध होता है—

ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः॥

—*ब्रह्मविद्या उपनिषद्*

अर्थात्—हृदय स्थान में ब्रह्मा का तथा कण्ठ स्थान में विष्णु का निवास होता है। तालु मध्य में रुद्र स्थित हैं और ललाट में महेश्वर/परमशिव का निवास है। (अतः कण्ठ व तालु का महत्त्व स्पष्ट है)।

इसके अलावा मूलद्वार भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि सुप्त कुण्डलिनी का मार्ग यहीं से आरम्भ होता है। इसके अलावा अनेक मुद्राओं आदि में इसका प्रयोग होता है। कोई भी आसन या उपाय बिना मूलबन्ध के सिद्ध नहीं होता। अतः मूलद्वार का योग में अत्यधिक महत्त्व है '*गोरक्ष संहिता*' में तो यहां तक कहा गया है कि—

वद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखीहरः॥

अर्थात्—जो योगी मूलद्वार को रोकने में सफलता प्राप्त कर लेता है, उसके सभी विघ्न नष्ट होकर (यही कारण हैं कि मूलाधार के प्रहरी देवता गणेश हैं) अजरत्व एवं अमरत्व प्राप्त होती है। जैसे पंचमुखी भगवान शिव अजर और अमर हैं (अथवा वह पंचमुखी शिव के समान हो जाता है)।

प्रणवाभ्यास

ॐकार वैदिक प्रणव है। हूंकार शैवागम सम्मत प्रणव है और ह्रींकार शाक्तागत सम्मत प्रणव। तन्त्रशास्त्र में अनेकों प्रणवों का वर्णन है। इनमें ॐकार सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। प्रणव के पर्याय के रूप में इसीलिए यही एक प्रचलित हो गया है। ॐकार में—अकार, उकार और मकार परब्रह्म के स्वरूप को ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की त्रिशक्ति के रूप में दर्शाते हैं। अतः प्रणवोच्चारण में ह्रस्व, प्लुत, दीर्घ

अथ [१०७]कुंभक को फल ।

चौपाई— एकहु प्राणायाम सधि आवै केऊ अस्वमेध फल पावै ।
ताते प्राणायाम [१०८]जु करै सो जोगी जु[१०९] आप उधरै ॥५०६ ॥
पूरक सुरापान अघ हरे रेचक ते हत्या पुनि टरे ।
गोहत्या कुंभक से नासै त्राटक सब ही पाप विनासै ॥५०७ ॥
पूरक ब्रह्मलोक ले जावै कुंभक विष्णुलोक पहुंचावै ।
रेचक रूप रुद्र कौ लहै त्राटक मुक्ति सुसारिष्टि गहै ॥५०८ ॥
ओंकार कौ[११०] मंत्र उचारै तीन देवता मांहि विचारै ।
यातें अनहद उपजै आई नाना धुनि तब देत दिखाई ॥५०९ ॥
संख मेघ घंटा धुन पावै भेरी[१११] दुंदभी वैण[११२] सुणावै ।[११३]
औरै नाद अनंत प्रकासै जयतराम जो प्राण अभ्यासै ॥५१० ॥ ॥इति कुंभक फल ॥
इति आठ कुंभक कहे भिंनि-भिंनि करि सोय ।
जयतराम केवल कीया आठ अंग सिधि होय ॥५११ ॥[११४]

अथ चौबीस मुद्रा कथनं नाम ।

दोहा— मुद्रा है बहुभांति की जानत है सिव देव ।
जयतराम हम कहत है चतुरवीस कौ भेद ॥५१२ ॥

चौपाई— प्रथमही संछोभणी कहिये दुतीयै द्रावणी मुद्रा लहिये ।
आकर्षणी तीसरी जानौ चतुर्थ मुद्रा वस्या मानौ ।५१३ ॥
पंचम उनमद मुद्रा जोई महाअंकुसा षष्टी सोई ।
सप्तम त्रिखंडा जु उचारी वीरजरूपा अष्टम भारी ।५१४ ॥
नवमी करण विपरीति जु जो है मूलबंध दसमी पुनि सो है ।
कामराज एकादश कहिये बंध उड्याण द्वादशी लहिये ॥५१५ ॥
बंध जालंधर त्रयोदस सोई मुद्रा महा चतुरदस जोई ।
महाबंध पंचदस भाषौ महावेध षोडस पुनि आंखौ ॥५१६ ॥

---

१०७. केवल कुंभक (भां) | *१०८. जग (भां.)*
१०९. वर (भां), | *११०. सों (ना.),*
१११. भेर (ना.) | *११२. वेणि (भां),*
११३. सुण आवै (भां.), | ११४. These Lines missing in *(नां)*

T CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

सत्रैही खेचरी मुद्रा गाऊ सब मुद्रा सिरताज बताऊ ।
अष्टादसी कहौ पुनि जोई वरणक मुद्रा कहिये सोई ॥५१७ ॥
उणीसई सहजोली जानो बीसई षणमुखी सु मानो ।
एकरवीस चाचरी जोई दोईरवीस भूचरी सोई ॥५१८ ॥
त्रयोवीस अगोचरी गाई उनमनि चतुरवीसमी भाई ।
चतुरवीस को रूप पिछानै जयतराम तब साधन ठानै ॥५१९ ॥
॥इति चौबीस मुद्रा नाम ॥

अथ प्रथमे संछोभणी मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— [११५]सुस्तक आसन बैठक करई पायमूल कर वाय जु[११६] भरई ।
कर अंकोच विकोच न कैर कुंडलीनी को पुंछ जु जरै ॥५२० ॥
तब सर्पणी कुंडली[११७] तजै दसम द्वार कौ मारग भजै ।
अग्नि प्रबल अधिकता[११८] पावै जयतराम मुद्रा यह गावै ॥५२१ ॥
॥इति संछोभणी ॥

अथ दूजी द्रावणी मुद्रा ।

चौपाई— स्वस्तक आसन बैठे धीर प्राणायाम करि गहै समीर ।
जिभ्या उलटि कपालि [११९]चढावै षटचक्रनि मै वाय मिलावै ॥५२२ ॥
षटचक्र पुनि वेधै वाई दसमद्वार मैं पहुंचै जाई ।
दसमद्वारतें अमृत झरै सौ ले सर्व अंग मै धरै ॥५२३ ॥
षटचक्र षोडस आधार तामधि गहै ।
अमीकी धार देही सदा प्रफुलत रहै ।
मनमल छाडि अमलता गहै ॥५२४ ॥
जनम मरन कौ दोष मिटावै द्रावणी मुद्राकौ जो पावै ।
जयतराम बडभागी लहै अधिकारी बिन भेद न कहै ॥५२५ ॥
॥इति द्रावणी मुद्रा ॥

---

११५. स्वस्तक (भां) | *११६. भज (ना.)*
११७. कुंडल (भां) | *११८. अधिकारिता (ना.)*
११९. From this half verse until the beginning of अथ आकरषणी मुद्रा is seen missing in (ना.)

T CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अथ आकरषणी मुद्रा कहिये है ।

स्वस्तक आसन बैठक करै पिंडब्रह्म[१२०] को ध्यान जु धरै ।
बहुरौ प्राणायाम करावै दसमद्वार कों प्राण चलावै ॥५२६ ॥
सहस्त्रदल कमल है पुनि तहा सियाराम को सुमरे जहां ।
[१२१]प्रभुक्रिपा कटाछ जब देखै भुक्ति[१२२] मुक्ति दोउ फल पेखै ॥५२७ ॥

दोहा— त्रितीये मुद्रा यह कही आकर्षणी जु सोय ।
जयतराम अति गोप्य है गुरुमुख साधन होय ॥५२८ ॥

॥इति आकर्षणी ॥

अथ वस्या मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— आसन सिधमें[१२३] बैठक ठानै कुंडलनी अपने बस आनै ।
[१२४]मेढिमधि कुंडलनी जोई सूती रहै सदा पुनि सोई ॥५२९ ॥
मायाबीज [१२५]पढ ध्यान जु धरै कुंडलनी प्रबोधन करै ।
जैसे मंत्र गारडी ठांनै पुंगी वाय सर्प वसि आनै ॥५३० ॥
यों जोगी अजपा को धारै मायाबीजको मंत्र उचारै ।
पुंगीसम अनहद धुनि धरै [१२६]कुंडलनी वस ऐसे करै ॥५३१ ॥
[१२७]बहुरि जु अपनो मन में आवै जहा चाहै वहां ले जावै ।
अनहद पुंगी के वसि[१२८] होई सदा रहै अपने वसि[१२९] सोई ॥५३२ ॥
अणिमा आदि सिधि चलि आवै हाथ जोरि आगे जु रहावै ।
जनम मरन सब जाई पलाई जयतराम यह मुद्रा गाई ॥५३३ ॥

॥इति वस्या मुद्रा ॥

अथ पंचमी उनमद मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— प्रथमही पदमासन करि लेवै बंध सकल विधि सौ द्रिढ देवै ।
मन को पवन जु मधिही मिलावै कुंडलनी मस्तक मैं आवै ॥५३४ ॥

---

१२०. पिंडब्रह्मांड (भां) *१२१. क्रियाकटाछि तहां (भां)*
१२२. भगति (भां) *१२३. सिधसु (भां.)*
१२४. मेढुमधि (भां) *१२५. परि (भां)*
१२६. कुंडलनी कौ वसिता करै (भां) *१२७. वहिरि(ना.)*
१२८. वस होवै (ना.) *१२९. वस सोवे (ना.)*

कुंडल सप्त अधो परिहरै दसमे द्वारमाहि फणि करै ।

T CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

घूमै तहां मंत की नाई जोगी उनमद है घटमांही ।।५३५ ।।
आसन गिरिसम प्रथमही कहिये दुजौ [१३०] वृक्षरुपी पुनि लहिये ।
तीजो दीप लोयवत जोई तीनो [१३१] वसि करे पुनि सोई ।।५३६ ।।
चमतकार नानाविधि देखै [१३२] अरु पुनि बुधि अमलता पेखै ।
मन अरु पवन दोऊ मिलि रहै अनमद भाव तबै पुनि लहै ।।५३७ ।।

दोहा— यह उनमद मुद्रा कही जोगी उनमद हो.य ।
जयतराम गुरुतें लहै गुरुबिन लखै न कोय ।।५३८ ।।

।।इति उनमद मुद्रा ।।

अथ महाअंकुसा मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— सुस्तक आसन प्रथमही ठानै पवन निरोधिरु अंतरि आनै ।
प्राणायाम कौ अंकुस धारै ताकरि मन गयंद कौ मारै ।।५३९ ।।
हिदारुपी वन है जोई मनगज तहा सदा रहै सोई ।
नाना उपद्रवकौं तहां ठाने जनममरन के वानि कवांने ।।५४० ।।
ताते जोगी अैसे करे [१३३] ज्यान जंजीर तासकै जरै ।
प्राणायाम अंकुस सम धारै सो ले मन गज कै सिर मारै ।।५४१ ।।
ताकरि मन अति निश्चल होवे जनममरन के बंधन खोवे ।
[१३४] यातें महा अंकुसा कही जयतराम मन जीते सही ।।५४२ ।।

।।इति महा अंकुसा मुद्रा ।।

अथ सप्तमी त्रिखंडा मुद्रा ।

[१३५] प्रथम ही सुस्तक आसन धारे सोहं मायाबीज उचारै ।
त्रिखंड कुंभक क्रमसो करे वाय अपान उर्ध ले धरे ।।५४३ ।।
इडा नाडि नाभिमध वसे वाय अपान तहां पुनि लसै ।
प्रथम खंड तहां कुंभक करैं मायाबीज तहां उचारै ।।५४४ ।।

---

१३०. वृषभरुपी (भा.) *१३१. सुवसि (भां)*
१३२ This half verse missing in *(ना.)* *१३३. ग्यान (भां)*
१३४. यह तो (ना.)
१३५. This onwards pages containing verses until the description of महामुद्रा missing in (भां)

बहुर पिंगला हिदै जानौ प्राण वाय तहां ले ठानो ।

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

ऐसे कुंभ ह्रिदे धारै उंकार तहा मंत्र उचारै ॥५४५ ॥
अर्ध उर्ध पवन तहां लेवै ता पाछे रेचन कर देवै ।
नाभि उर्ध ह्रिदै ठहरावै सो पुनि दुजो खंड कहावै ॥५४६ ॥
याकै परै कंठमधि आने तीजो कुंभक अैसै ठांने ।
मुखके मध सुखमना रहै बीज सकार तहा पुन कहै ॥५४७ ॥
तीन ठोर कुंभक ठहरावै मुद्रा त्रिखंडा नाम कहावै ।
नाभिमधि कुंभक जब धरै ताकरि अग्न उदीपन करै ॥५४८ ॥
ह्रिदै कुंभक जब सधि आवै ताकरि रवि को तेज बढावै ।
बहुरि कमल ह्रिदाक़ो जोई फूलै अति सुगंध होय सोई ॥५४९ ॥
कुंभक कंठमध्य जब करै ताकरि चंद्र अमी अति झरे ।
निर्मल बुधि कर पीवै सोई अैसै त्रिखंडी मुद्रा होई ॥५५० ॥

दोहा— यह त्रिखंडा मुद्रा कही मन बुद्धि निर्मल होय ।
जयतराम गुरुक्रिपाते जो साधै जोय ॥५५१ ॥
॥इति त्रिखंडी मुद्रा ॥

अथ अष्टमी बीजरूपणी मुद्रा कहिये है ।

वीरजमुद्रा वरन सुनाउ राजजोग घर माहि लखाउं ।
यह साध बिंद वस करै जोगी यामै चित्त न धरै ॥५५२ ॥
प्रथम फोत्रिका कर्म विचारे प्राणायाम समझ पुनि करै ।
अंकोच विकोच संकोचन जोई सिसनद्वारिक साधै सोई ॥५५३ ॥
प्रथमही भेद गुरुतै पावै ता पाछै साधै न ठहरावै ।
आसन साध प्राण वस करै रेचक पूरक कुंभक करे ॥५५४ ॥
प्राणायाम परायण होवै ता पीछै इंद्रियमल खोवै ।
ता पाछै पयकौ भुव डारै अैसै सिसन अमलता धरै ॥
स्त्री भोगि ग्रही पुनि करै ताको बिंद कबहु न परै ॥५५५ ॥
ज्यों ज्यों तानै वृषनकौ गहिके उच मरोरि ।
जयतराम त्यों-त्यों चढै बीज सिसन की चोरि ॥५५६ ॥

चौपाई— भोग समै कंद्रप नही डारै जुवती कंदर्प को पुनि धारै ।
तहा अंकोच विकोचन करई जिभ्या उलटि उर्ध को धरई ॥५५७ ॥
उत आसन कर कंद्रप जोई दसमद्वारि ले जावै सोई ।

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

रजवीरज दोउ ले धरे शिवशक्ति को मेल करै ॥५५८ ॥
ऐसै वीरजरूपा जानौ राजजोग घरही में मानौ ।
घरही माहि जोग सो साधै सो या मुद्राको आराधै ॥५५९ ॥
जोगी याको अैसै करै अपनी बिंद उर्ध ले धरे ।
बजरोली अमरोली कहिये नादबिंदको संगम लहीये ॥५६० ॥
कामवस याही ते होई वृधहू काम करै पुनि सोई ।
ग्रंथन माहि गोप्य यहु राखी जयतराम प्रकट कर भाखी ॥५६१ ॥
॥इति वीरमुद्रा ॥

अथ नवमी विपरीतकरण मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— प्रथमही उतआसन कौ करै कांधौ सीस भूमिपर धरै ।
सकल सरीर उर्ध को आने दोउ पद अवर दिस ताने ॥५६२ ॥
दोउ करते दंडवत करै अजपाको ध्यान मंत्र पढ धरै ।
ठोडी कंठकूपमधि तानै हिदै नाभि द्रिष्ट को आनै ॥५६३ ॥
चरन अंगुष्ट लग द्रिष्ट जु धरै ता पाछै कुंभक द्रिढ करै ।
पायमूल कर वाई गहै यथाशक्ति साधन सिध लहै ॥५६४ ॥
क्रम क्रम साधन सो मन लावै साढेतीन घडी ठहरावै ।
पूर्ण कुंभक अैसे होई साधन सिद्ध लहे पुनि सोई ॥५६५ ॥
दसमें द्वारि चंद्र का वासा सोलह कलासहित प्रकासा ।
सो पुनि कला प्रकट कर गाऊं न्यारो न्यारो नाम सुनाऊं ॥५६६ ॥
अमृतमानदा पूखा जानो तुष्टपुष्ट पुनह घ्रित मानो ।
सुसमुना चंद्रका कांति जु कहिये त्रिष्णा श्री प्राति पुनि लहिये ॥
रंगदा पूर्ण पूर्णमा मानो सोलह कला चंद्रकी जानौ ॥५६७ ॥
सो पुनि कला अमी नित झरे चंद्र तहातें वर्षा करै ।
सोई अमी नाभिमय आवै ताकौ सूर्य भस्म करावै ॥५६८ ॥
नाभि अस्थान भानका वासा तेऊ कलासहित प्रकासा ।
तेउ कला प्रगट करि भाखौ गुरुकी क्रिया गोप्य न ही राख्यौ ॥५६९ ॥
तापनी तापनी धुम्रा जान्यौ ज्वाला मरीचि रुचि मानौ ।
स्वसमण भोगदा विस्वा लहिये बोधनि धारणी क्षमा रवि कहिये ॥५७० ॥
अैसी भांति अमी रवि जारे तातै जोगी जगत विचारे ।

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

विप्रीता जो मुद्रा करै रविकों आनि सीसमैं धरै ॥५७१ ॥
ससिको नाभिं मध्य ले धरै सकल सरीर अमीसो भरै ।
अैसे मन आनंद बढावै जन्ममरन को दोष मिटावै ॥५७२ ॥

दोहा— द्वादस कला जु भानुकी सोलह ससिकी जोय ।
रविकी चार सधै जबै पावै सोला सोय ॥५७३ ॥
रवि की बारह है कला सोलह कला जो चंद ।
गुरु जिसको भाखे नही कहा करै सिख मंद ॥५७४ ॥

चौपाई— जो या मुद्रा सधि नही आवै ताकी देहिनास लतीका है घर जोवै ।
अग्नि मंत्रते प्रगटै जहां कुंडलनी व्याकुल हो तहां को जावै ॥
अमृत आई नाभिमै जरै तातै सब जन्मे अरु अमरे ॥५७५ ॥
नाभिस्थान सिखामय सोई अंगुष्टमात्रा जोति है जोई ।
आत्मघट मै सदा प्रकासै तेलरूप अमृतकौ ग्रासै ॥५७६ ॥
जब ही अमी तेल नही आवै तब से दीपक जोत नसावै ।
मंदर मध्य होय अंधायारा याको पंडित करो विचारा ॥५७७ ॥

दोहा— या मुद्रा विपरीतगा वरन कही हम जोय ।
जयतराम गुरुमुख करै लहै अमर पद सोय ॥५७८ ॥
॥इति विपरीतिकरणी मुद्रा ॥

अथ मूलबंध मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— वाम पाद की इडी जोई जोनि स्थान लगावै सोई ।
दछिनपाद उर्ध धरि रहै समकर पीठ अपान जु गहै ॥५७९ ॥
मायाबीज पढ उर्ध चढावै वाय अपान उर्ध ले आवै ।
अष्ट परिजानि ध्यान पुनि धरै वाय अपान सोइ वस करै ॥
वाय अपान कबै नही सरै जोगी अमर कदै ना मरे ।
जयतराम अैसैविध ठानै मूलबंध मुद्रा सो जानो ॥५८१ ॥
॥इति मूलबंध मुद्रा ॥

अथ एकादसी कामराजमुद्रा कहिये है ।

चौपाई— ज्योनिस्थानि पद एडी धरै बहुत वेरतक चयन करै ।
मुख करि मायाबीज उचारै कुंडलीनीकौ पुंछ जु जारै ॥५८२ ॥
गुदा उर्ध मेढ्र तरि सोई कुंडलनीका है घर जोई ।

T CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अग्निमंत्र ते प्रकटे जहा कुंडली व्याकुल व्है तहां ॥५८३ ॥

नेवै उर्धकी गबन कराई दसमै ढारि पहोंचे जाई ।

जयतराम जोगी सिध लहै मूलबंध अैसैविध कहै ॥५८४ ॥

॥इति कामराज मुद्रा ॥

अथ द्वादसी उड्याण बंध मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— प्रथमही सिधासन करि लेवै बहुरौ बंध उड्याण जु देवै ।

उरध पीठ नालमध जोई तासौ नाभि लगावै सोई ॥५८५ ॥

मंत्र उडयां ध्यान पुनि धरै वाय अपान सोई वस करै ।

करै वृधसो बालक होवै सकल विकास देह के खोवे ॥५८६ ॥

यह मुद्रा उड्याणकौ भेद कह्यौ समझाई ।

जयतराम साधन किये वृधहु बालक थाय ॥५८७ ॥

॥इति उड्याणबंध मुद्रा ॥

अथ त्रयोदसी जालंधर बंध मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— जोगी पदमासन द्रढ करै चिबुक कंठकूप मधि धरै ।

ग्रीवा हैयकी सद्रस धारे तामै लक्ष्मी बीज उचारै ॥५८८ ॥

द्रिष्ट त्रिवेणी राखे गोई प्राणायाम करै पुनि सोई ।

प्राण अपान वाय वसि करै तेजोमंडल द्रिष्ट जु परै ॥५८९ ॥

जैसे जाय सरोवर तीरा तामे जाल पसारे कीरा ॥

अर्ध के तंत जु करै वै जोई सबै उर्धकौ आवै सोई ॥५९० ॥

अैसै ही जोगी करि लेवै जालंधर द्रढ बंध ही देवै ।

सकल नाडिका पवन चढावै सो पुनि चलै उर्धको आवै ॥५९१ ॥

दोहा— जालंधर बंध देत ही मन पवना वसि होय ।

जयतराम मिट जात है संकल्प विकल्प होय ॥५९२ ॥

॥इति जालंधर बंध मुद्रा ॥

अथ चतुर्दशमी महामुद्रा ।

चौपाई— वाम पादकी एडी जोई सीवन ताकरि दाबै सोई ।

दछणि पाव पसार जु रहै दोऊ करसो अंगुष्ट गहै ॥५९३ ॥

सहजै कछू एक खैचन करई वाम अंग दिस कंधर धरई ।

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

दोउ मुरतै वाई गहै जथाशक्ति कुंभक करि है ॥५९४ ॥
जालंधादि बंध द्रिढ धारै क्रम क्रम कुंभक वाय उतारै ।
कुंभक समै अंकोचन आनै बहुरि विकोचन बहुविध ठानै ॥५९५ ॥
पुन दछन कंधापरि रहै दोऊ स्वर करि वाई गहै ।
बहुरो मथै उदर की नारी पुनह वायकौ देत उतारी ॥५९६ ॥
बारंबार ससि सूरजु गहै द्वादश प्राणायाम करि रहै ।
याते सकल कलेस मिटावै सब ही नाडी अमलता पावै ॥५९७ ॥

दोहा— आसे श्रमहि न उपजै आलस नींद मिटाय ।
जयतराम याके संध्या मृत्यु न ग्रासे आय ॥५९८ ॥

॥इति महामुद्रा ॥

अथ पंचदसी महाबंध मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— प्रथमही सिधासन द्रिढ करै कंठकूपमधि चिबुक सु धरै ।
कंठ जिभ्या कछु उर्ध को धारै तहां खेचरी बीज उचारै ॥५९९ ॥
अध उर्ध दसन न बिचि लेवै काकचंचुवत मुख करि देवै ।
पूर्णगिर मुद्रा पुन कहिये उभै भेद याही के लहिये ॥६०० ॥
नाटिक छंद सहजही पावै अष्टसिध नवनिध चलि आवै ।
प्राणायाम आदि वसि होई दसवै द्वार पहौतै सोई ॥६०१ ॥

दोहा— महाबंध मुद्रा कही यातै लगै समाधि ।
जयतराम गुरुक्रिपा तैं मेटे मन की व्याधि ॥६०२ ॥

॥इति महाबंध मुद्रा ॥

अथ षोडसी महावेधमुद्रा कहिये है ।

चौपाई— महामुद्रा महाबंध जु जोई अरु पुनि महावेध है सोई ।
ए तीनौ एकही करि जान क्रिया भिन्न पुनि तिनकी मान ॥६०३ ॥
जोनि स्थान अपान है जहां महामुद्रा को घर है जहां ।
याको साधन अैसै ठानै नाडि विलोय वाय सिरि आनै ॥६०४ ॥
[१३६]महाबंध घर कंठ जु होई प्राण निरोध करै पुनि सोई ।
महावेध का घर पुनि जानो दसमें द्वारमधि सो मानो ॥६०५ ॥

---

१३६. महावेध (ना.)
यामें जिभ्या उर्ध चढावै [१३७]चंद्रस्थान आन ठहरावै ।

T CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

प्राणायाम निरोधन[१३८] करई अैसै वज्र कपाटही जरई ॥६०६ ॥
अैसै महावेध यह धारै यामे मायाबीज उचारे ।
अजपाबीज जपै पुनि जोई सहस्त्रकमलदल फूलै सोई ॥६०७ ॥
अैसै बुधि [१३९]अमलता पावै बहुरौ सहज समाधि लगावै ।
आगै गोप्य[१४०] रहै कछू नाही जयतराम या मुद्रामाही ॥६०८ ॥
॥इति महावेध मुद्रा ॥

अथ सप्तदसमी खेचरी मुद्रा ।

खेचरी मुद्रा बरन सुनाउ सब मुद्रामहि सार लखाउ
जयतराम गुरुमुख सधि आवै याते जोग समाधि ही पावै ॥६०९ ॥
जिभ्या उलटि कपाल चढावै भुवकै मधि द्रिष्टि ठहरावै ।
आसन साधि जुगति यह रहिये खेचरी मुद्रा तासौ कहिये ॥६१० ॥
बहरो खट अंग याके जोई तिनकौ वरनि सुनाऊ सोई ।
छेदन चालन मथन प्रवेशन दोहन मंत्र पढै द्रिढ करि मन ॥६११ ॥
को एक रिषजन अैसै [१४१]गावत साधन द्वादस बरस बतावत ।
अैसी भांति क्रिया जब सधै अंगुर च्यारि खेचरी वधै ॥६१२ ॥
द्वादस वर्ष क्रियामें रहिनौ अतिही कठिन खेदकौ सहनौ ।
ताते गुरुक्रिपा हम पाई याकी सुगम उपाय बताई ।
साधन मास षटही जो करै बढै खेचरी बिंद न टरै ॥६१३ ॥

अथ प्रथमे छेदनचालन कहिये है ।

चौपाई— सुनही पत्र सम सस्त्र धरावै ताकैहि पत्र गजवेल मगावै ।
अति तीक्षण उजलि अति करै सो ले जिभ्याकै तरि धरै ॥६१४ ॥
जिभ्यामूल बालसम छेदे आठै आठै दिनमै भेदै ।
साधिक हाथिमित्र [१४२]पुनि भेदे अथवा [१४३]गुरुवा आपही छेदे ॥६१५ ॥

---

१३७. चंद्रसिधानि (भां)
१३८. निरोधनि (भां)
१३९. बुध (ना.)
१४०. गोपि (ना.)
१४१. वरष द्वादसकिरियाओ गाहत (ना.)
१४२. कर देवे (भां)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

जिभ्यातले सुखमना नारी ताकौ छेदन करे विचारी ।
अैसी भांति छेदना कहिये याके किया वृधिता लहिये ॥६१६ ॥
इडा [१४४]पिंगुला सुखमना जानु तीनौ नाडि जिम्यातरि मानु ।
जिभ्या अणी [१४५]सुचालन करावै तीनो नाडि प्रगट होय आवै ॥६१७ ॥
हरडे सिंधव सूठ जू आनै [१६६] चूरण क्रर जीभतर ठानै ।
कछूक जीभ अर्थ करि लेवे वाती सूत्र की तरि देवे ॥६१८ ॥
जिभ्या माहि अमी नित आवै तातै छिद्र तुरत मिलि जावै ।
यातै वासी करै जु जोई छिद्र मधि धरि राखै सोई ॥६१९ ॥
ऐसै साधन नितप्रति साधै षटमास लग जे आराधै ।
आठ दिवस प्रति छेदन ठांनौ वार चौईस अैसी विध जानौ ॥६२० ॥
यामे अल्प अहारही लेवै दूधभात भखि सब तजि देवै ।
भोजन करत जुगति यहि ठाने वाती ले मुख बाहरि आनै ॥६२१ ॥
जिभ्या सदा उर्ध करि राखै गुरु उपदेस मंत्र मुख भाखै ।
यह क्रिया षटमास करावै जिभ्या अंगुर च्यार बढावै ॥६२२ ॥
ब्रह्मरंध्रमै पहुचै सोई गुरुमुख साधन साधे कोई ।
जयतराम छेदन यों जानौ ताकै पीछै दोंहन ठानौ ॥६२३ ॥
॥इति छेदन चालन ॥

अथ दोहन ।

दोहा— ब्रह्ममहूरत उठ करि बैठ ऐ करिंत जाय ।
जयतराम ताही समै जिभ्या दोहन थाय ॥६२४ ॥

चौपाई— मुखतैं जिभ्या बाहरि आने दोऊ[१४७]करसौ दोहन ठांनै ।
जथासक्ति खैचे पुनि जोइ याते वृधि [१४८]लहै पुन सोई ॥६२५ ॥
बहुरि दछिनकर अंगुष्ट जानौ सो ले मुखकै माही आनौ ।
चणक प्रमाण सिवलिंगही धोवै अैसीभांति अमल सो होवै ॥६२६ ॥

---

१४३. गुरकै आपही लेवे (भां) *१४४. प्यंगुला (भां)*
१४५. सुमथन (भां) *१४६. चूर्ण करै जीभ तरि ठांनै (भां)*
१४७. हाथस्यौ (भां) *१४८. वृध (ना.)*

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अैसै जिभ्या मारग पावै ब्रह्मकपाट तुरत खुलि जावै ।
बहुरौ अंगुष्ट उर्ध चलावै [१४९]तालूमध्यहि आनि ठहरावै ॥६२७ ॥
बहुरि काढि मुखबाहरि आनै जलसो धोय पुनि मुखमै ठानै ।
नासाछिद्र लगावै जोई ताकरि सुधि विवर व्है सोई ॥६२८ ॥
बहुरों अंगुष्ट उर्ध चलावै [१५०] नासा केस लगी आनि ठहरावै ।
नासा सीवनिको सुधि करै अंगुष्ट उचौ बहुरौ धरै ॥६२९ ॥
ब्रह्म[१५१] विवरमें ले ठहरावै सुखमनका घर सुध करावै ।
नेत्रविवर अंगुष्टकौ आनै करै सुध अमलता ठानै ॥६३० ॥
नेत्रजोति यातें अधिकावै अरु पुनि नाडी सुध रहावै ॥
बहुरि तरजनी मुखमै आनै दसमै द्वारि ताकौ ले ठानै ॥६३१ ॥
नेत्रमूल के ऊपरि जोई ब्रह्मरंध्र का घर है सोई ।
चणक अंकुर प्रमाण तहां लहिये परम सिवलिंग तहां ही कहिये ॥६३२ ॥
ताको ताकरि सुधि जु करै ता पीछै पुनि उर्धज धरै ।
ऊर्ध छिद्र अवर इक जानौ सो भी ताकरि सुध जु ठांनौ ॥६३३ ॥
अैसी भांति जुगति यह धरै जिभ्या सिवलिंग दोहन करै ।
जयतराम बहुरौ यह जानै तै पीछै परवेसन ठांनै ॥६३४ ॥

अथ परवेसन विधि ।

चौपाई— सुस्तक आसन बैठक धरई स्वास रोकि सरीर सम करई ।
बंध उड्याण [१५२]कामवरु देवै बहुरौ उर्ध जीभ कों लेवै[१५३] ॥६२५ ॥
पूरव छिद्र कहै पुनि जोई सुध कीये अंगुष्ट करि सोई ।
सोसो जिभ्यासौ सुध करै क्रम-क्रम उर्ध [१५४]को ले धरै ॥६३६ ॥
ब्रह्मविवर लग ले ठहरावै ताकै जाय कपाट लगावै ।
तामै बिंद अहोनिस झरे देय कपाट ताकौ वसि [१५५]करे ॥६३७ ॥

---

१४९. तालू मधि (भां)
१५०. नासाकेस आनि (भां)
१५१. ब्रह्मधाममै (भां)
१५२. कामरु देय (भां)
१५३. लेय (भां)
१५४. उर्ध उर्ध (ना.)
१५५. थिर करे (भां)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अथवा नारि अलिंगन करई ताकौ बिंद न कबहु ढरई ।
कला खेचरीकी सब फुरै मासमाहि नाडी सुध करै ॥६३८ ॥
अनहद दूजै मासि प्रकासै तीजै मास काया [१५६]दिवि भासै ।
चौथे मास यहै फल होई देखै सुणै द्रकी सोई ॥६३९ ॥
फुरै सरस्वती पांच मासा बालकरूपी मन व्है तासा ।
छठे मास शिवरूपी भयौ आगै [१५७]करणा कछू नही रहयौ ॥६४० ॥

दोहा— ऐसे प्रवेशन करै जिभ्या उर्ध चढाय ।
जयतराम ता पुरखको छटे मास सिध[१५८] थाय ॥६४१ ॥
॥इति प्रवेशन ॥

अथ मथन विचार ।

दोहा— तालुमूल सिवलिंग पुनि अथवा अग्निस्थान ।
[१५९]करि अंगुष्टतें तासको मथन त्रिसंध्या ठान ॥६४२ ॥

चौपाई— अथवा कील [१६०]धातमय करै मथै ताहि [१६१]करि सुधता धरै ।
मथन जु कांहु नाही दिखावे द्रिष्ट परै तो विघन[१६२] परावै ॥६४३ ॥
ऐसी भांति गुप्त करि राखै जो गुन ज्ञेय सो काहू न भाषै ।
[१६३]च्यार स्थान मथनके जानै जिभ्या करि जो मन जो ठानै ॥६४४ ॥
प्रथम अखिका जानौ सोई अरु दुतीये लंबिका होई ।
त्रितिये तालु नाम जु जानौ चतुर्थ नाम घटिको मानौ ॥६४५ ॥
जिभ्यामूल अंबिका जोई ताकी छेदन करे जानये सोई ।
ताकी वाति बाहरि आनै जिम्या उलटि मथन तहां ठाने ॥६४६ ॥
जिभ्या अणी अति तीछण जानौ सस्त्रहु ते अधिक करि मानौ ।
अग्नि नीर तत्व दोउ लहिये तिनकरि जिभ्या तीछणक ये ॥६४७ ॥
ताते अणीसों छेदन करई ताही समै मंत्र उचरेई ।
याकरि सहज वृधिता पावै बहुरि लंबिका मथन करावै ॥६४८ ॥

---

१५६. दिव (ना.) *१५७. फणै (ना.)*
१५८. पर ताथ (ना.) *१५९. कर (भा.)*
१६०. धातमध (ना.) *१६१. तासकरि (भां)*
१६२. विखनि पवारे (ना.) *१६३. From this line onwards six verses missing upto 650 in (भां)*

T CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

दसमै द्वारि लंबीका जानौ जीभ अणीसो मथन जु ठानौ ।
बहुरि उलटि कंठमधि लावै ताकरि स्वास उस्वास न आवै ॥६४९ ॥
सिवलिंग तालूका पुनि जानौ बहुरि तहां भी मथन जु ठानौ ।
जाप जीभ थिर कीवै वरषै अमी सु ताकौ पीवै ॥६५० ॥
घंटिका चणक अंकूर कहावै ताकौ मथै सो अनहद पावै ।
अैसै कामधेनमय जोई खेचरी मुद्रा कहिये सोई ॥६५१ ॥
च्यार स्थान मथन के कहिये सोई च्यारो थन करि[१६४]गहिये ।
तिनको दुहि अमी नित पीवै सो जोगी बहुत काल ही जीवै ॥६५२ ॥
जोगी मनोरथ पूरण होवै लहै प्रकास मूढता खोवै ।
जयतराम मथन यह कहियै गुरुकी क्रिपा तासकौ लहियै ॥६५३ ॥
॥इति मथन ॥

अथ मंत्र साधन ।

चौपाई— षटअंगसहित खेचरी कहिये तिनमै मंत्र अंग बड लहिये ।
जो कोई मंत्र अंग को साधे षटअंगन कौ सो भल लाधै ॥६५४ ॥
मेलकमुद्रा लागै सही अनंत कालमै जो सिध कही ।
षटही मासमांहि सो लगै जाकै मंत्र हिदा में जगै ॥६५५ ॥

अथ मंत्र आवाहन ।

अथ श्री खेचरी स्मर्यामीति अस्य श्री खेचरी मंत्रस्य
कपिल ऋषि श्रीमन्नारायण देवता सिध अनयासेन
खेचरी मुद्रा साधनसिध्यर्थं जपे विनयोग:
-हां -हीं -हुं -हैं -हौं -हः ॥ इति मंत्र ॥

अथ न्यासः ।

चौपाई— गं हृदयायनमः इति कहिये सं शिरसे स्वाहा [१६५]उच्चरये ।
नं शिखाय वौषट् पुन जानौ मं कवचाय इसी विधि मानौ ॥६५६ ॥
हुं नेत्रत्रयाय वौषट् लं अस्त्राय जानिये फट् ।
॥इति न्यास ॥

१६४. के कहिये (-ना.) *१६५. लहिये (भां)*

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अथ षडंग ध्यान —ह्रूं — ह्रीं

आधार चक्र वरन है जोई खेचरी मुद्रा कहिये सोई ।
मुद्रा राजहंस सो लहिये गगनवास ताको पुनि कहिये ॥६५७ ॥
आनंद बीजरूप सो जानो अरु पुनि सिबकी सक्ति जू मानौ ॥
ब्रह्मलोक जननी है जोई करौ स्तुति जौर [१६६]करि दोई ॥६५८ ॥
॥इति षडंग ध्यान ॥

अथ पानमुदक्षण ।

चौपाई— सिधासन करि बैठक ठानौ बहुरि जुगतिविधसौ तहां जानौ ।
मूलद्वार कुंडलनी जोई ताकौ चांपि जगावै सोई ॥६५९ ॥
बहुरि वहां ते उर्ध चलावै प्राण अपान [१६७]तामधि मिलावै ।
षटचक्रकों वेधे जोई ब्रह्मध्यान करै तहां सोई ॥६६० ॥
बहुरौ जिभ्या उर्ध चढावै षटछिद्रनकै पाट लगावै ।
सकल पवन कौ उर्धही आने लेकरि ब्रह्मरंध्र में ठाने ॥६६१ ॥
ऐसीविधी आनंद बढावै सो जोगी समाधिसुख पावै ।
सूर्यतेज चंद्र धरि आनै चंद्र अमी की वर्षा ठानै ॥६६२ ॥
सोई अमी सु [१६८]अधकौ आवै सुखमन तंतु [१६९]माहि समावै ।
षटचक्रनमधि बरसै आई तासौ देह पुष्ट रहै भाई ॥६६३ ॥
जोगीअजर अमरता लहै ईश्वरभाव सकलही गहै ।
याकी महिमा सिव अति भाखी सो पुनि [१७०]मुखसो जाय न आखी ॥६६४ ॥
॥इति पानमुदक्षण ॥

अथ अवखदी वरननं ।

बहुरि औखदि[१७१] वरनि सुनाउ दिव्य दिव्य प्रगट कहि गाऊ ।
अवखदिविना[१७२] सिध नही लहै तातै जोगी अवखदि नित गहै ॥६६५ ॥

---

१६६. कर (भां) *१६७. करै तहांमधि (ना.)*
१६८. अर्धकौ (भां) *१६९. सु माह (भां)*
१७०. मुनमुखसौ (ना.) *१७१. अवषध (भां)*
१७२. अवषधविना सिधि (भां)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

भृंग समूल संग्रह आनै ताहि सुकायरु चूरण ठानै ।
क्रिष्णतिल आमल दधि लेवै मधित्रिय सकल कौ सेवै ॥६६६ ॥

दोहा— रोगव्याध सबही कटै जरामृत्यु मिटि जाय ।
जयतराम अवखद भखै तो ये ता गुण थाय ॥६६७ ॥

चौपाई— एक एक निर्गुडी पात दिनप्रति तीने बेर जो खात ।
वरसवार है अैसो होवै जरामृत्यु दोनूसों खोवै ॥६६८ ॥
निर्गुडी नलनी अरु मूंडी समकरि वनतै ल्यावै ढुंढी ।
बहुरि सर्करा घृत जु मिलावै वरसदिवस साध्या सिध पावै ॥६६९ ॥
षटमास गंधक सो धरै[१७३] तिलकरु गोलोचन सम करै ।
मधुत्रय जुक्ति चूर्ण करि खावे अजर अमर पदवी सो पावे ॥६७० ॥

अथ [१७४] रहनविधान ।

चौपाई— प्रथम एकांत मढी एक ठाने वनग्रह माहि जहां मन माने ।
षटमास आसन द्रिढ धरै प्राणीमात्रसौ बात न करै ॥६७१ ॥
मंत्र जाप निसदिन ही उचारै चावल पय भखि लूण निवारै ।
[१७५]नागरवेल भूलि [१७६]नही खावे कछुक मींठो भोजन पावै ॥६७२ ॥
पूरब अवखद वरनी जोई साधन करै तासंकौ सोई ।
दिवस सातवे रवि दिन आवै ता दिन छेदन जु करावै ॥६७३ ॥
पाखि पाखि प्रति दोहन करै मथन अहोनिसही मन धरै ।
अैसैं करत मास षट जावे वृद्ध खेचरी तबै पावै ॥६७४ ॥
अंगुर च्यार जीभ [१७७]बढावै भक्तिमुक्ति दोउ फल पावै ।
कृत्य कृत्य सोई नर होय जन्ममृत्यमल डारै धोय ॥६७५ .॥

दोहा— ग-योजु तावा उपरै बूंद एक धरि देह ।
जयतराम सो कनक होय खेचरि [१७८]का गुण येह ॥६७६ ॥
॥इति खेचरी मुद्रा ॥

---

१७३. रुद्रलोचन (भां) *१७४. रहिन (ना.)*
१७५. नागरवेलि (भां) *१७६. मूलि (ना.)*
१७७. बढि आवै (भां) *१७८. खेचर (भां)*

T CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अथ अष्टादशमी वरणक मुद्रा ।

चौपाई— या मुद्रा को कोई यों गावै अमरोलीभी नाम कहावै ।
क्रिया असुधि सहित अनुसरे तो तजि बुधजन सुधि ही करै ॥६७७ ॥
[१७९]हूं हूं फट् स्वाहा सोई मंत्रदीप यो जपिये जोई ।
ङउै ब्रह्म महूर्त्तमाही निर्गुंडी कौ पान करत राही ॥६७८ ॥
अंजुरी तीन मंत्र पढि पीवै सकल रग सुध कीवै ।
बहूरि कमल प्रफुल्लित होवै देहविकार सकलही खोवै ॥६७९ ॥
बहूरौ क्रिया एक और जु ठाने अवखदि चार प्रभातही आनै ।
निरगुंडी अरु भंगरो जोई मुंडी चतुर्थ अवर गिलोई ॥६८० ॥
च्यारौ सम करि चूरण करै ताकौ मर्दि मंत्र उचरै ।
यह क्रिया षट मास जु करई सबही मुद्रा सहजै फुरई ॥६८१ ॥
सर्व [१८०]सिध अनयास जु पावै आगै करणौ नाहि रहावै ।
साधनमांहि प्रस्वेद जु आवै ताकौ मरदन देह करावै ॥६८२ ॥

दोहा— अमर अभैता पाइये वरणक साधै कोय ।
जयतराम गुरुक्रिपाते वज्रोली सिधि होय ॥६८३ ॥
॥इति वरणक मुद्रा ॥

अब सहजोली मुद्रा ।

चौपाई— अमरोली वजरोली कहिये सहजोली भी यामै लहिये ।
जयतराम ये तीनो जानौ इनकौ भेद येकही मानौ ॥६८४ ॥
॥इति सहजोली ॥

अथ बीसई षणमुखी मुद्रा ।

प्राणायाम साधन जब करई तामे कबहू विघन जु परई ।
सो नर मुद्रा षण्मुखी साधै सुस्तक आसन बैठ आराधै ॥६८५ ॥
मूल उड्याण बंध द्रिढ धरै अरु पुनि जालंधर बंध करै ।
दोऊ हस्तकी अंगुरी जोई तिनकरि मुदै छिद्र है सोई ॥६८६ ॥
मुखनासानेत्र बंध करै अंगुरी दोय करण मैं धरै ।
अैसे कर कुंडलिनी घेरे मूलद्वार तैं उर्ध उतेरे ॥६८७ ॥

१७९. खेचर (भां) *१८० सर्वसिधि (भां)*

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

प्राणायाम केवल करि वाई दसमै [१८१]द्वार पहुंचै जाई ।
जोगी परम सिध कौ पावै जयतराम षणमुखी बतावै ॥६८८ ॥
॥इति षणमुखी ॥

अथ एकबीसमी चाचरी मुद्रा ।

प्रथम सिधासन बैठिक [१८२]करई नासाद्रिष्टि अचल करि धरई ।
ज्योतिरूप[१८३] प्रतिबिंब विलोके अर्धचन्द्र बिंब[१८४] अवलोके ॥६८९ ॥
जोतिरूप कुंडलनी जोवै आतमरूप सुख[१८५] प्रगटे होवै ।
बहुरि उलटि चख उरमै करै आत्मध्यान तहां पुनि धरै ॥६९० ॥
[१८६]नित्यप्रत्य जोगी दर्शन पावै होय मगन पदमाहि समावै ।
चाचरी मुद्रा अैसै कहिये जयतराम सो गुरुमुख लहिये ॥६९१ ॥
॥इति चाचरी मुद्रा ॥

अथ बाइसमी भूचरी मुद्रा कहिये है ।

चापाई— सिधासन बैठक द्रिढ करै भुवकै मधि ध्यान पुनि धरै ।
नखसिख सकल सरीर अवलोके[१८७] जोतिरूप षटमाहि विलोकै ॥६९२ ॥
बहुरि उलटि चख्य उरमे आनै भौहा उर्ध ध्यान को ठानै ।
जोतिद्रिष्टि प्रतछ तहां लहै जथासक्ति तामै थिर रहै ॥६९३ ॥
बहुविध आनंद उपजै आई सो सुख मुखकरि कहौ [१८९]न जाई ।
भूचरि मुद्रा या[१९०] विध होवै जयतराम सब संकट खोवै ॥६९४ ॥
॥इति भूचरी ॥

१८१. दसम द्वारकौ (भां)
१८२. द्रढ (भां)
१८३. जोतसरूप (ना.)
१८४. अर्धचंद्रबिंब अवलोकै ज्योतिरूप प्रतिबिंब विलोकै (भां)
१८५. तहां सुख (भां)
१८६. नितिप्रत्य (भां)
१८७. अलोकै (भां)
१८८. घटिमाहि (ना.)
१८९. कहया (भां)
१९० यहविधि (भां)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अथ तेईसमी अगोचरी मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— षटचक्रनमांधि ध्यान जु ठाने बहुरौ ध्यान उर्धकौ आने ।
सहस्त्रकमलदल ध्यान जु धरै बहु-यौ मनहि[१९१] उर्ध संचरे ॥६९५ ॥

दोहा— मुद्रा कही अगोचरी ध्यान अगोचर होय. ।
जयतराम गुरुक्रिपातै[१९२] याकौ साधन जोय ॥६९६ ॥

॥इति अगोचरी मुद्रा ॥

अथ चौबीसमी उनमनी मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— स्वस्तक आसन बैठक धरै प्राणायाम [१९३]जुगतसों करै ।
जोग अंग सो सकल पुनि विचारे द्रिढ करि बंध सकल पुनि धारे ॥६९७ ॥
मन अरु पवन दोउ थिर करै संकल्पविकल्प सब परहरे ।
इंद्रीवृति सकल उरि आनै कूर्मभांति[१९४] अंग कौ ठानै ॥६९८ ॥
मन आतमकौ प्रगट देखै सकल मनोरथ पूरन पेखे ।
अनहद धुनि तहा प्रगटै आई ताकी महिमा कही न जाई ॥६९९ ॥
भितीये मेघधुनि प्रगट होवे बहुरौ अनहद धुनि को जोवै ।
प्रथम बीन धुनि उपजै आई दुतीय शंख धुनि देत दिखाई ॥७०० ॥
नानां धुनि [१९५]अखंडत होवै संकल्प विकल्प[१९६] मन सब खोवै ।
गायत्री अजपा जहा ध्यासे बहुरौ आपहि[१९७] आप प्रकासै ॥७०१ ॥
परमातम को दरसन पावै तिनसो मिल आनंद बढावै ।
जैसै बहुत कालसौ [१९८]कोई बिछु-यौ मित्र मिले पुनि सोई ॥७०२ ॥
पूर्व दुखकी करत संभारा सो पुनि रुदन करि तह[१९९] वारा ॥
अैसै परम मित्र परमात्म बहुत काल कौ बिछुयौ आतम ॥७०३ ॥
सो पुनि मिल [२००] कर आनंद बाढै अस्त्रपात प्रेम के काढै ।
बहुत काल में अंतर रहौ ताकौ दुख कछु जात न कह्यौ ॥७०४ ॥

---

१९१. मनु जु धरै बहु उर्ध संचरै (ना.) *१९२. गुरकी क्रिपा (भा)*
१९३. जुक्तिस्यौ (भां) *१९४. कूरमभात (ना.)*
१९५. धुनिहि अखंडित (भां) *१९६. नर मनकौ (ना.)*
१९७. आपकौ (भां) *१९८. कालयें (ना.)*
१९९. ततकारा (भां) *२००. मिलि करि (भां)*

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

सो सब दुख ततकार नसायौ जबही प्रभुकौ दरसन पायौ ।
नाना वृत्त[२०१] मन सकल मिटावै अरु पुनि बुधि[२०२] अमलता पावै ॥७०५ ॥
माया कबहु मोह न करै सीस नवाय विघ्न सब टरै ।
श्री गुरुको प्रसादही भयौ[२०३] आगै करणौ[२०४]कछु नही रह्यौ ॥७०६ ॥
॥इति मुद्रा ॥

अथ मंत्र [२०५]विचार कहियै है ।

मायाबीज -ह्रीं[२०६] कामराज बीज क्लीं
उड्याणबीज -ह्रीं लक्ष्मीबीज श्रीं
अजपाबीज सोहं हंसो ।
॥इति मंत्र विचार ॥७०७ ॥

चौपाई— [२०७]एको बीज [२०८]सिष्टिमय कहिये मुद्रा एक खेचरी लहिये ।
एकौ देव निरंजन जानो अवस्था एकै उनमनी मानौ ॥७०८ ॥

दोहा— [२०९]यह उनमन मुद्रा कही सब मुद्राको सार ।
जयतराम गुरुक्रिपातै याको लहे विचार ॥७०९ ॥
इति श्री चौबीस यह मुद्रा पूर्ण सोय ।
जयतराम स्त्रधासहित गुरुमुख जाणै कोय ॥७१० ॥[२१०]
॥इति चौबीस मुद्रा ॥

अथ ओंकार को अर्थ निरूपण ।

चौपाई— ओंकारको रूप पछानै ताकरि जनममरन भय भानै ।
सो पुनि तीन अक्षरमय राजत अकार उकार मकार विराजत ॥७११ ॥
जो ओंकारसो अजहि कहावै रजगुण करिकै सिष्टि उपावै ।
विष्णु अकार सतोगुण सोई ताकरि विश्व की रक्षा होई ॥७१२ ॥
मकारसो महादेवको जानो तमकरि नास विश्वकौ मानौ ।
अैसो ओंकार है जोई सकल विश्व को कारण सोई ॥७१३ ॥

---

२०१. *वृत्य (भां)* २०२. *बुध (ना.)*
२०३. *लह्यौ (भां)* २०४. *क्यों (भां)*
२०५. *विध (ना.)* २०६. *क्रां (ना.)*
२०७. *एकही (भां)* २०८. *सिष्टमय (ना.)*
२०९. *एक (ना.)* २१०. *This verse missing in (ना.)*

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

शीत आदि से रहित हो। अभ्यास से पहले अथवा पीछे हवन अथवा घी के साथ धूप-दीप आदि सुगन्धित वस्तुओं को जलाकर उसको सुगन्धित रखना चाहिए। नदी तट अथवा पाँच हजार फीट से अधिक ऊँचाई वाले पहाड़ी वाले स्थानों का वायुमंडल शुद्ध और भजन के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होता है, गरम मैदान वाले स्थानों में शरद् और वसन्त ऋतु में भजन अच्छा हो सकता है। पहाड़ों में अथवा जमीन में खुदी हुई गुफा समाधि लगाने के लिए अति उत्तम है किन्तु उसमें शीत किंचित् मात्र भी न होने पावे और शुद्ध हो। योगाभ्यास में खान-पान संयम रखना अति आवश्यक है और शरीर तथा नाड़ी शोधन से शीघ्र सफलता प्राप्त होती है जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन विशेष विचार में कर दिया गया है। यहाँ शरीर के शुद्ध सात्विक शुद्ध स्वस्थ नीरोग आसन को दृढ़ और ध्यान को स्थिर करने तथा कुण्डलिनी को जागृत करने वाले कुछ उपयोगी बन्ध मुद्राएँ और आसन बतलाये देते हैं—

१. मूल-बन्ध—मूल गुदा एवं लिंग स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूल-बन्ध है। वाम पाद की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्य भाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़ कर योनि स्थान अर्थात् गुदा और लिंग एवं कन्द के बीच के भाग को दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपान-वायु को बल के साथ धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने को मूलबन्ध कहते हैं। सिद्धासन के साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनों के साथ एड़ी को सीवनी पर बिना लगाए हुए भी बन्ध लगाया जा सकता है।

फल—इससे अपानवायु का उर्ध्व गमन होकर प्राण के साथ एकता होती है। **कुण्डलिनी शक्ति सीधी** होकर ऊपर की ओर चढ़ती है। कोष्ठ-बद्ध दूर करने, जठराग्नि को प्रदीप्त करने और वीर्य का उर्ध्व-रेता बनाने में यह बन्ध अति उत्तम है। साधकों को न केवल भजन के अवसर पर किन्तु हर समय-मूल बन्ध को लगाए रखने का अभ्यास करना चाहिए।

२. उड्डीयान बन्ध—दोनों जानुओं को मोड़ कर पैरों के तालुओं को परस्पर भिड़ाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) से ऐसा लगा दें, जिससे कि पेट के स्थान पर गड्ढा सा दीखने लगे। जितना पेट को अंदर की ओर अधिक खींचा जायगा उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षी के

सदृश सुषुम्णा की ओर उड़ने लगता है, इसलिए इस बन्ध का नाम उड्डीयान रखा गया है। यह बन्ध पैरों के तालुओं को विना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है।

फल—प्राण और वीर्य का ऊपर की ओर दौड़ना, मन्दाग्नि का नाश, क्षुधा की वृद्धि, जठराग्नि का प्रदीप्त और फेफड़े का शक्तिशाली होना।

३. जालन्धर-बन्ध—कण्ठ को सिकोड़कर ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक कंठकूप में इस प्रकार स्थापित करें कि हृदय से ठोड़ी का अन्तर केवल चार अंगुल का रहे, सीना आगे की ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठस्थान के नाड़ी जाल के समूह को बाँध रखता है इसलिए इसका नाम जालन्धर बन्ध है।

फल—कण्ठ का सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कण्ठ के सङ्कोच द्वारा इड़ा, पिङ्गला नाड़ियों के बंद होने पर प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश करना।

लगभग सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्ध के साथ किये जाते हैं। राजयोग में, ध्यानावस्था में जालन्धर-बन्ध लगाने की बहुत कम आवश्यकता होती है।

४. महाबन्ध—पहली विधि—बायें पैर की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्य भाग में जमाकर वायीं जङ्घा के ऊपर दाहिने पैर को रख, समसूत्र में हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्र से वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे। फिर मूलद्वार से वायु को ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगावे। मन को मध्य नाड़ी में लगाये हुए यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् पूरक के विपरीत वाली नासिका से धीरे-धीरे रेचन करें। इस प्रकार दोनों से अनुलोम-विलोम-रीति से समान प्राणायाम करें।

दूसरी विधि—पद्म अथवा सिद्धासन से बैठे, योनि और गुह्यप्रदेश सिकोड़, अपानवायु को ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान वायु के साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायु को अधोमुख करके प्राण और अपान-वायुओं के साथ नाभिस्थल पर दृढ़ रूप से कुम्भक करें।

फल—प्राण का ऊर्ध्वगामी होना, वीर्य की शुद्धि, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णा का सङ्गम प्राप्त होना, बल की वृद्धि इत्यादि।

५. महावेध-पहली विधि—महाबन्ध की प्रथम विधि के अनुसार मूलबन्ध के पूर्व कुम्भक करके, दोनों हाथों की हथेली भूमि में दृढ़ स्थिर

करके, हाथों के बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों (चूतड़) को शनैः शनैः ताड़ना देवे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इड़ा, पिङ्गला को छोड़कर कुण्डलिनी शक्ति को जगाता हुआ सुषुम्णा में प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायु को शनैः शनैः महाबन्ध की विधि के अनुसार रेचन करें।

दूसरी विधि—मूलबन्ध के साथ पद्मासन से बैठे, अपान और प्राणवायु को नाभि स्थान पर एक (मिला) करके दोनों हाथों को तानकर नितम्बों (चूतड़ों) से मिलते हुए भूमि पर जमाकर नितम्बों (चूतड़ों) को आसन-सहित उठा-उठाकर भूमि पर ताड़ित करते रहें।

फल—कुण्डलिनी शक्ति का जाग्रत् होना, प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश करना। महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा–तीनों को मिलाकर करना अधिक फलदायक है।

मुद्रा

१. खेचरी मुद्रा—जीभ को ऊपर की ओर उल्टी ले जाकर तालु कुहर (जीभ के ऊपर तालु के बीच का गड्ढा) में लगाए रखने का नाम खेचरी मुद्रा है।

इसके निमित्त जिह्वा को बढ़ाने के तीन साधन किए जाते हैं—छेदन, चालन और दोहन।

पहिला साधन– छेदन-जीभ के नीचे के भाग में सूताकार वाली एक नाड़ी नीचे वाली दाँतों की जड़ के साथ जीभ को खींचे रखती है। इसलिए जीभ को ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ी के दाँतों के निकट वाले एक ही स्थान पर स्फटिक (बिल्लौर) का धार वाला टुकड़ा प्रति दिन प्रातः काल चार-पाँच बार फेरते रहें। कुछ दिनों तक ऐसा करने के पश्चात् वह नाड़ी उस स्थान में पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थान को जिह्वा मूल तक काटते चले जायँ। स्फटिक फेरने के पश्चात् माजूफल का कपड़छान चूर्ण (टेरिन एसिड) जीभ के ऊपर नीचे तथा दाँतों पर मलें और उन सब स्थानों से दूषित पानी निकलने दें। माजूफल चूर्ण के अभाव में अकरकरा, नून, हरितकी और कत्थे का चूर्ण छेदन किए हुए स्थान पर लगावें। यह छेदन विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकार की हानि पहुँचने की सम्भावना नहीं है। यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदन का कार्य किसी धातु, तीक्ष्ण यंत्र से प्रति आठवें दिन उस सिरा को

बाल के बराबर छेदकर घाव पर कत्था और हरड़ का चूर्ण लगा कर करते हैं। इसके छेदन के लिए नाखून काटने वाला जैसा एक तीक्ष्ण यंत्र और खाल छीलने के लिए एक दूसरे यंत्र की आवश्यकता होती है जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ी के सम्पूर्ण अंश के एक साथ कट जाने से वाक् तथा आस्वादन शक्ति के नष्ट हो जाने का भय रहता है।

इसलिए इसे किसी अभिज्ञ पुरुष की सहायता से न करना चाहिए। छेदन की आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और (यह) नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लम्बी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदन की अधिक आवश्यकता नहीं है।

दूसरा और तीसरा साधन—चालन व दोहन—अँगूठे और तर्जनी अँगुली से अथवा बारीक वस्त्र से जीभ को पकड़ कर चारों तरफ उलट फेर कर हिलाने और खींचने को चालन कहते हैं। **मक्खन अथवा घी** लगा कर दोनों हाथों की अंगुलियों से जीभ को गाय के थन दोहन जैसे पुनः पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करने की क्रिया का नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहने से अंतिम अवस्था में जीभ इतनी लम्बी हो जाती है कि नासिका के ऊपर भ्रू-मध्य तक पहुँच जाय। इस मुद्रा का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यान की अवस्था परिपक्व करने में बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वा के भी नाना प्रकार के भेद देखने में आए हैं। किसी की जिह्वा में सूताकार नाड़ी के स्थान में मोटा मांस होता है, जिसके काटने में अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वा में न नाड़ी होती है न मांस। उसमें छेदन की आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिए।

२. महामुद्रा—प्रथम विधि मूलबन्ध लगाकर बायें पैर की एड़ी से सीवन (गुदा और अण्डकोश के मध्य का चार अंगुल स्थान) को दबाएँ और दाहिने पैर को फैलाकर उसकी अंगुलियों को दोनों हाथों से पकड़ें। पाँच घर्षण करके बायीं नासिका से पूरक करे और जालन्धरबंध लगाये। फिर जालन्धरबंध खोलकर दाहिनी नासिका से रेचक करें। यह वामांग की मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दक्षिणांग में इस मुद्रा को करना चाहिए।

दूसरी विधि—बायें पैर की एड़ी को सीवन (गुदा और उपस्थ के मध्य के चार अंगुल भाग) में बल पूर्वक जमाकर दायें पैर को लम्बा

फैलावें। फिर शनैः शनैः पूरक के साथ मूल तथा जालन्धरबंध लगाते हुए दायें पैर का अंगुठा पकड़ कर मस्तक को दायें पैर के घुटने पर जमा कर यथा शक्ति कुम्भक करें। कुम्भक के समय पूरक की हुई वायु को कोष्ठ में शनैः शनैः फुलावें और ऐसी भावना करें की प्राण कुण्डलिनी को जाग्रत करके सुषुम्णा में प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तक को घुटने से शनैः शनैः रेचक करते हुए उठकर यथा स्थिति में बैठ जायँ इसी प्रकार दूसरे अंग से करना चाहिए। **प्राणायाम** की संख्या एवं समय बढ़ाता रहे।

फल—मंदाग्नि, अजीर्ण आदि उदर के रोगों तथा प्रमेह का नाश, क्षुधा की वृद्धि और कुण्डलिनी का जाग्रत होना।

३. अश्विनी मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ कर योनि-मंडल को अश्व के सदृश पुनः पुनः सिकोड़ना **अश्विनी मुद्रा** कहलाती है।

फल—यह मुद्रा प्राण के उत्थान और कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत करने में सहायक होती है। अपानवायु को शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओं को मजबूत करती है।

४. शक्तिचालिनी मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ कर हाथों की हथेलियाँ पृथिवी पर जमा दें। बीस-पच्चीस बार शनैः शनैः दोनों नितम्बों को पृथ्वी से उठा-उठा कर ताड़न करे। कुम्भक के समय अश्विनी मुद्रा करे अर्थात् गुह्य प्रदेश का आकर्षण, विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालन्धरबन्ध खोल कर यदि दोनों नासिका पुट से पूरक किया हो तो दोनों से अथवा पूरक से विपरीत नासिका पुट से रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रता पूर्वक बैठ जाय।

घेरण्डसंहिता में इस मुद्रा को करते समय वालिस्त भर चौड़ा, चार अंगुल लम्बा, कोमल, श्वेत, और सूक्ष्म वस्त्र नाभि पर कटिसूत्र से बाँध कर सारे शरीर पर भस्म मल कर करना बतलाया है।

फल—सर्व रोग नाशक और स्वास्थ्य वर्धक होने के अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने में अत्यंत सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करें।

५. योनि मुद्रा—सिद्धासन से बैठ समसूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अंगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, दोनों मध्यमाओं से नाक के छिद्रों को बंद करके और दोनों अनामिका

एवं कनिष्ठिकाओं को दोनों ओठों के पास रख कर काकी मुद्रा द्वारा अर्थात् जिह्वा को कौवे की चोंच के सदृश बना कर उसके द्वारा प्राण वायु को खींच कर अधोगति अपानवायु के साथ मिलावें। तत्पश्चात् ओम् का जाप करता हुआ ऐसी भावना करें कि उसकी ध्वनि के साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनी को जाग्रत करके षटचक्रों का भेदन करते हुए सहस्र दल कमल में जा रही है। इससे अन्तरज्योति का साक्षात्कार होता है।

६. योग मुद्रा—मूलबंध के साथ पद्मासन से बैठ कर प्रथम दोनों नासिका पुटों से पूरक करके जालन्धरबन्ध लगावे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जा कर बायें हाथ की और दायें हाथ से बायें हाथ की कलाई को पकड़े, शरीर को आगे झुका कर पेट के अन्दर एड़ियों को दबाये हुए सिर को जमीन पर लगा दें। इस प्रकार यथा शक्ति कुम्भक करने के पश्चात् सिर को जमीन से उठा कर जालन्धरबंध खोल कर दोनों नासिकाओं से रेचन करें।

फल—पेट के रोगों को दूर करने और कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने में सहायक होती है।

७. शाम्भवी मुद्रा—मूल और उड्डीयानबंध के साथ-साथ सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ कर नासिका के अग्रभाग अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर करके ध्यान जमाना साम्भवी मुद्रा कहलाती है।

८. तडागी मुद्रा—तडाग (तालाब) के सदृश कोष्ठ को वायु से भरने को तडागी मुद्रा कहते हैं। शवासन से चित्त लेट कर जिस नासिका का स्वर चल रहा हो उससे पूरक करके तालाब के समान पेट को फैला कर वायु से भर ले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायु को पेट में इस प्रकार हिलावें जिस प्रकार तालाब का जल हिलता है। कुम्भक के पश्चात् सावधानी से वायु को शनैः शनैः रेचन कर दें इससे पेट के सर्व रोग समूल नाश होते हैं।

९. विपरीतकर्णी मुद्रा = शीर्षासन = कपालासन—पहिले जमीन पर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रख कर उस पर अपने मस्तक को रखे। फिर दोनों हाथों के तलों को मस्तक के पीछे लगा कर शरीर को उल्टा ऊपर उठा कर सीधा खड़ा कर दें। थोड़े ही प्रयत्न से मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासन के साथ भी की जा सकती है।

इसको ऊर्ध्वपद्मासन कहते हैं। आरम्भ में इसको दीवार के सहारे करने में आसानी होगी।

फल—वीर्य की रक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्नि का बलवान होना। प्राण की गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिर-दर्द आदि का दूर होना, रक्त शुद्ध होना और कफ के विकार का दूर होना।

१०. वज्रोली मुद्रा—मलत्याग के समय कई बार मूत्र को बलपूर्वक ऊपर की ओर आकर्षित करे। ऐसा करते समय इस बात को ध्यान से देदें कि मूत्र धारा कितने नीचे से आकर्षित हो कर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरन्तर अभ्यास से जब मूलधार दस-बारह अंगुल नीचे से आकर्षित हो कर खींची जा सके और उतारने में कुछ शक्ति लगाना पड़े तो समझना चाहिए कि वज्रोली क्रिया सिद्ध हो गयी है। तत्पश्चात् क्रमशः जल, दूध, तेल अथवा घी, शहद अथवा अन्त में पारा खींचने का अभ्यास करे।

दूसरी विधि—एक चौदह अंगुल रबर की मूत्र निष्कासन (कैथिटॅर् नलिका जो कि अंग्रेजी दवाखानों में मिल सकती है) पानी में उबाल कर लिङ्ग-छिन्द्र में प्रवेश करने का अभ्यास करें। यह अभ्यास एक अंगुल से प्रारम्भ करके क्रमशः एक-एक अंगुल बढ़ाता जाय। जब बारह अंगुल प्रविष्ट होने लगे तो चौदह अंगुल लम्बी और लिंग के छिद्र के अनुसार चौड़ी जस्ते की सलाई जो दो अंगुल मुड़ी हुई ऊपर को मुँह-वाली हो जिससे कि लिङ्गेन्द्रिय में प्रविष्ट कर सके उपयुक्त रबर कैथिटॅर् की रीति से लिङ्ग छिद्र में प्रवेश करने का अभ्यास करे। जब बारह अंगुल तक प्रविष्ट होने लगे, तब चौदह अंगुल लम्बो लिङ्गछिद्र के अनुसार चौड़ी अन्दर से पोली एक चाँदी की सलाई बनावें, जो दो अंगुल टेढ़ी और ऊर्ध्वमुखी हो। इस टेढ़े भाग को लिंग छिद्र में प्रविष्ट कर दो अंगुल बाहर रहने दें, फिर सुनार की धमनी के सदृश धमनी से उस पर सलाई में लगातार फूत्कार करे। इस प्रकार लिङ्ग मार्ग का अच्छी तरह शुद्ध हो जाने पर वायु को खींचने और छोड़ने का अभ्यास करे, इस अभ्यास के सिद्ध हो जाने पर लिंग छिद्र से उपर्युक्त रीति से जल, तेल, दूध, शहद और पारे के खींचने का क्रमशः अभ्यास करे।

फल—लिंगेन्द्रिय के छिद्र की शुद्धि और अपानवायु पर पूर्णतया अधिकार प्राप्त हो जाता है, पथरी को तोड़ कर निकालने में सहायता मिलती

है। इस मुद्रा का फल हठयोग में अलौकिक सिद्धियाँ बतलाई गयी हैं परन्तु जरा सी असावधानी होने पर इन्द्रिय छिद्र में विकार होने से भयंकर शारीरिक रोग उत्पन्न होने तथा स्त्री के रज खींचने की चेष्टा में ऊँचे से ऊँचे अभ्यासी के लिए भी आध्यात्मिक पतन होने की अधिक सम्भावना है। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण दृष्टिगोचर हुए हैं। इन मुद्राओं आदि को किसी अनुभवी की सहायता से करना चाहिए अन्यथा लाभ के स्थान में हानि पहुँचने की अधिक सम्भावना है।

चित लेटकर करने के आसन

१. पादाङ्गुष्ठ-नासाग्र-स्पर्शासन—पृथ्वी पर समसूत्र में पीठ के बल सीधा लेट जाय। दृष्टि को नासाग्र में जमाकर दायें पैर के अँगूठे को पकड़ कर नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करे, इसी प्रकार पुनः पुनः करे, मस्तक, बायाँ पैर और नितम्ब पृथ्वी पर जमे रहें। इसी प्रकार दायें पैर को फैलाकर बायें पैर के अँगूठे को नासिका के अग्रभाग से स्पर्श करे। फिर दोनों पैरों के अँगूठों को दोनों हाथों से पकड़कर नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करे। कई दिन के अभ्यास के पश्चात् अँगूठा नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करने लगेगा।

फल—कमर का दर्द, घुटने की पीड़ा, कंद-स्थान की शुद्धि एवं उदर सम्बन्धी सर्वरोगों का नाश करता है। यह आसन स्त्रियों के लिए भी लाभदायक है।

२. पश्चिमोत्तानआसन—दोनों पाँवों को उड्डीयान और मूल बन्ध के साथ लम्बा सीधा फैलावे। दोनों हाथों की अँगुलियों से दोनों पैरों की अँगुलियों को खींचकर शरीर को झुका कर, माथे को घुटने पर टिका दे, यथाशक्ति वहीं पर टिकाए रहें। प्रारम्भ में दस-बीस बार शनैः शनैः रेचक करते हुए मस्तक को घुटने पर ले जायँ और इसी प्रकार रेचक करते हुए ऊपर उठते चले जायँ।

फल—पाचनशक्ति का बढ़ना, कोष्ठबद्धता दूर करना, सब स्नायु कमर तथा पेट की नश-नाड़ियों को शुद्ध एवं निर्मल करना, बढ़ते हुए पेट को पचकाना इत्यादि।

इस आसन को कम से कम दश मिनट तक करते रहने से उचित लाभ प्रतीत होगा।

करते हुए नासाग्रभागको देखनेसे योगासन हुआ करता है, योगिगणके लिये यह आसन सदा उपयोगी है ॥५१-५२॥

मुद्रा प्रकरण

मुद्राका लक्षण और फल

जिन क्रियाओंके द्वारा प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन साधन अङ्गोंकी सिद्धिमें सहायता प्राप्त होती है, ऐसी सुकौशलपूर्ण क्रिया को मुद्रा कहते हैं। कोई मुद्रा इनके सब अङ्गोकी सहायता करती है, कोई कोई इनमेंसे विशेष अङ्गोकी सहायता करती है ॥१-३॥

मुद्रा के भेद

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्धमुद्रा, जालन्धरबन्धमुद्रा, मूलबन्धमुद्रा, महाबन्धमुद्रा, महाबेधमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, योनिमुद्रा, वज्रलीमुद्रा, शक्तिचालिनीमुद्रा, ताडागीमुद्रा, माण्डूकीमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, पञ्चधारणामुद्रा, अश्विनीमुद्रा, पाशिनीमुद्रा, काकीमुद्रा,

---

नभोमुद्रा

यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा।
ऊर्दूध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा।
नभोमुद्रा भवत्येषा योगिनां रोगनाशिनी ॥११॥

उड्डीयानबन्धमुद्रा

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्द्ध्वं तु कारयेत्।
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरो ॥१२॥
अन्यस्माद्बन्धनादेतदुड्डीयानं विशिष्यते।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥१३॥

जालन्धरबन्धमुद्रा

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम् ॥१४॥
जालन्धरमहामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी।

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

मातङ्गीमुद्रा और भुजङ्गिनीमुद्रा, ये पच्चीस मुद्राएं कहाती हैं, इनके साधनसे योगिगणको योग-सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है ।।४-६।।

महामुद्रा

वामगुल्फको पायुमूलमें लगाकर और दक्षिणपाद दण्डवत् फैलाकर दोनों हाथोंमें पादाङ्गली धारण करके कण्ठ संकोच करते हुए भ्रूमध्य दर्शन करके पुनः स्थिरभाव धारण करके कुम्भक किये हुए वायुको शनैः शनैः रेचन करे, वेग से रेचन न करे, तदनन्तर इसका विपरित करे अर्थात् दक्षिणगुल्फ को गुह्य द्वारमें स्थापन करके वाम पाद प्रसारण द्वारा वैसी ही क्रिया करे, पुनः उभय पादोंसे वैसी ही क्रिया करे, तो महामुद्राका साधन हुआ करता है । इस मुद्राके साधनसे नाना प्रकारके रोगोंकी शान्ति होती है और योगकी सिद्धि होती है ।।७-१०।।

नभोमुद्रा

योगी सर्वदा सर्व कार्योंमें स्थिर रहकर उर्द्ध्वजिह्व होकर कुम्भक द्वारा वायु रोध करे तो नभोमुद्राका साधन हुआ करता है, इस मुद्राके साधनसे योगिगणके सब प्रकारके रोगोंकी शान्ति हुआ करती है ।।११।।

सिद्धो जालन्धरो बन्धो योगिनां सिद्धदायकः ।
षण्मासमभ्यसद्यो हि स सिद्धा नाऽत्र संशयः ।।१५।।

मूलबन्धमुद्रा

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयत्ततः ।
नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ।।१६।।
मेढ्रं दक्षिणगुल्फं तु दृढबन्धं समाचरेत् ।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ।।१७।।
संसारसागरं तर्त्तुमभिलष्यति यः पुमान् ।
प्रच्छन्नो निर्जने भूत्वा मुद्रामेतां समभ्यसेत् ।।१८।।
अभ्यासाद्बन्धनस्याऽप्य मरुत्सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
साधयेद्यत्नतस्तर्हि मौनी तु विजिताऽलसः ।।१९।।

महाबन्धमुद्रा

वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत् ।
दक्षपादेन तद्गुल्फं सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ।।२०।।

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

उड्डीयानबन्ध मुद्रा

उदरको पश्चिमत्तान युक्त करके नाभिको आकञ्चन करनेसे उड्डीयानबन्धमुद्रा हुआ करती है; यह मुद्रा मृत्युरूप मातङ्गके लिये अंसहरूप है। जितनी मुद्राऐं कही गई हैं उनमें से उड्डीयानबन्ध श्रेष्ठ है, इसके साधन से बिना प्रयास मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है ॥१२-१३॥

जालन्धरबन्ध मुद्रा

कण्ठ देश संकोचन पूर्वक हृदय पर चिबुक लगानेसे ही जालन्धरबन्ध मुद्रा हुआ करती है, इसके द्वारा और सोलह प्रकारके आधार बन्धोंमें सहायता मिलती है, यह मृत्यु को भी जीत लेती है, सिद्धजालन्धरबन्ध योगिगण को सिद्धि प्राप्त कराता है, जो षट्मास तक इसका साधन करते हैं उनको सिद्धि लाभ में कुछ भी संशय नहीं रहता ॥१४-१५॥

मूलबन्ध मुद्रा

गुह्य प्रदेश में वामगुल्फ रखकर योनि आकुञ्चन पूर्वक मेरुदण्डमें नाभिग्रन्थिको दबाकर, पुनः लिङ्गमूल पर दक्षिण गुल्फ दृढ रूपसे संबद्ध करने

शनैः सञ्चालयेत्पार्ष्णि योनिमाकुञ्चयेच्छनैः ।
जालन्धरे धृतप्राणो महाबन्धो निगद्यते ॥२१॥
महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशकः ।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत्सर्ववाञ्छितम् ॥२२॥

महावेधमुद्रा

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा ॥२३॥
महाबन्धं समासाद्य उड्डीनकुम्भकं चरेत् ।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ॥२४॥
मलबन्धमहाबन्धौ महावेधसमन्वितौ ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः ॥२५॥
न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ।
अनुष्ठेयः प्रयत्नेन वेद्योऽयं योगिपुङ्गवैः ॥२६॥

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

से मूलबन्धका साधन हुआ करता है; यह जरानाश करने वाला है। जो मनुष्य संसाररूप सागरको पार होनेकी इच्छा करता है वह अवश्य इस मुद्राका साधन करे, इसके द्वारा वायु की सिद्धि होती है इस कारण साधकोंको उचित है कि आलस त्यागपूर्वक मौनी हो यत्नसे इस मुद्रा का साधन करे ॥१६-१९॥

महाबन्ध मुद्रा

वामगुल्फ द्वारा पायु मूल निरोध करके दक्षिण पाद द्वारा यत्नपूर्वक वामगुल्फ को दबाकर शनैः शनैः गुह्य देश परिचालित करके आकुञ्चन करते हुए जालन्धरबन्ध द्वारा प्राण वायुको धारण करनेसे महाबन्ध मुद्रा हुआ करती है। महाबन्धमुद्रा सब मुद्राओंसे श्रेष्ठ मुद्रा कही जाती है और जरा मृत्यु नाश करने वाली एवं मनोरथ सिद्ध करने वाली है ॥२०-२२॥

महावेध मुद्रा

पुरुषके बिना जैसे स्त्रीके रूप यौवन और लावण्य विफल होते हैं वैसे ही महावेधके बिना मूलबन्ध और महाबन्ध मुद्रा निष्फल होती है। पहिले महाबन्ध मुद्रा अनुष्ठानपूर्वक उड्डीयान बन्ध करते हुए कुम्भक द्वारा वायु निरोध

खेचरीमुद्रा

जिह्वाऽधो नाडीं संछिन्नां रचनां चालयेत्सदा।
दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत् ॥२७॥
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।
यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तदा भवति खेचरी ॥२८॥
रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत्।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥२९॥
न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवाऽऽलस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते ॥३०॥
नाऽग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो संदशेन्न भुजङ्गमः ॥३१॥
लावण्यं जायते गात्रे समाधिश्च भवेद्ध्रुवम्।
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात् ॥३२॥

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

करनेसे महावेध मुद्राका साधन हुआ करता है। महावेध योगियोंको सिद्धि देने वाली है। जो साधक प्रतिदिन महावेध सहित महाबन्ध और मूलबन्धका आचरण करता है वही योगी श्रेष्ठ कहलाता है, उसको न तो मृत्यु और न जरा आक्रमण कर सकती है। श्रेष्ठ योगिगण यत्नपूर्वक इसका आचरण करें ॥२३-२६॥

खेचरी मुद्रा

जिह्वा के नीचे जो नाडी है उसको छेदन करके निरन्तर रसना को चलित करे और नवनीत द्वारा जिह्वा का दोहन और लोहमय यन्त्र द्वारा आकर्षण क्रिया करे। प्रतिदिन इस प्रकार करने से जिह्वा दीर्घता को प्राप्त होकर क्रमशः भीतर की ओर जाकर भ्रूद्वय के मध्यस्थल को स्पर्श करेगी। तालु के मध्यस्थ कपाल कुहर नामक गह्वर है, जिह्वा को उसी गह्वर में विपरीत भाव से पहुँचा कर भ्रुयुगल के मध्य में अवलोकन करने से खेचरी मुद्रा हुआ करती है। जो मुनष्य इस खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते हैं। मूर्च्छा, क्षुधा और तृष्णा उनको क्लेश प्रदान नहीं कर सकती, आलस्य उनके शरीर में नहीं रह सकता, रोग और मृत्यु

नानारससमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने।
आदौ लवणक्षारञ्च ततस्तिक्तकषायकम् ॥३३॥
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।
द्राक्षारसं च पीयूष जायते रसनोदकम् ॥३४॥
मुद्रामिमां साधयितुं जिह्वानियमन पुरः।
प्रधानं तद्धि भवित जिह्वायाश्छेदनं विना ॥३५॥
जिह्वाचालनतालव्यक्रिययाऽपि च सिध्यति।
प्रच्छन्नेयं क्रिया बोध्या तन्त्रशास्त्रेषु नित्यशः ॥३६॥
चतुर्विधस्य योगस्य विज्ञाता योगिपुङ्गवः।
क्रियामुपादिशत्येतां योगसिद्धिकरीं पराम् ॥३७॥

विपरीतकरणीमुद्रा

नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ॥३८॥
निपुणं चन्द्रनाड्या वै पीयते यदि सा सुधा।

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

भय से दूर होकर वे देवदेहतुल्य देह को प्राप्त कर लेते हैं। जो खेचरी मुद्रा का साधन करते हैं न तो अग्नि उनको दग्ध कर सकती है, न वायु उनको शुष्क कर सकता है, न जल उनके देह को गला सकता है और न सर्प उनको दंशन कर सकता है। खेचरी मुद्रासे देह अपूर्व लावण्ययुक्त हो जाता है और इसकी सिद्धि से समाधि की सिद्धि हुआ करती है, कपाल और वक्त्र के सम्मिलन से रसना में अद्‌भुत रसों की उत्पत्ति हुआ करती है। जो इस मुद्रा का साधन करते हैं उनकी रसना में दिन दिन अद्‌भुत रसों की उत्पत्ति और उनके चित्त में नव नव आनन्द भावों का उद्‌भव हुआ करता है। उनकी जिह्वा में पहिले लवणरस, पुनः क्षाररस, पुनः तिक्तरस, तदनन्दतर काषायरस पश्चात् नवनीत, घृत, क्षीर, दधि, तक्र, मधु, द्राक्षा, अमृत आदि विविधरसों का आविर्भाव हुआ करता है। खेचरी मुद्रा के साधन के लिये जिह्वा को नियमित करना प्रथम और सर्व प्रधान कार्य है, सो आवश्यक होने पर बिना छेदन के भी हो सकता है। वह कार्य जिह्वा चालन रूप तालव्य क्रिया से भी हो सकता है। वह क्रिया तन्त्रों में अतिगुप्त है, केवल योगचतुष्टा के ज्ञाता योगिराज ही उस क्रिया का उपदेश दे सकते हैं ॥२७-३७॥

कर्हिचिन्न हि तस्याऽस्ति भीतिर्मृत्योर्हि योगिनः ॥३९॥
ऊर्द्ध्वञ्च योजयेत्सूर्यं चन्द्रञ्चाऽधः समानयेत्।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रषु गोपिता ॥४०॥
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः।
उर्द्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ॥४१॥
मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत्।
स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ॥४२॥

योनिमुद्रा

सिद्धासनं समासाद्य कर्णाक्षिनासिकामुखम्।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्याऽनामिकाभिश्च साधयेत् ॥४३॥
काक्या प्राणं समाकृष्य अपाने योजयेत्ततः।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुँ हस मनुना सुधीः ॥४४॥
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य शिरोऽम्बुजे ॥४५॥

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

विपरीतकरणी मुद्रा

सूर्यनाडी नाभिमूल में और चन्द्रनाडी तालुमूल में विद्यमान है, सहस्रदल कमल से जो पीयूषधारा प्रवाहित हुआ करती है सूर्य नाडी उसको ग्रहण कर जाती है, इस कारण से ही जीवगण मृत्युग्रास में पतित हुआ करते हैं, यदि कार्यसुकौशल से चन्द्रनाडी द्वारा वह अमृत पान किया जाय तो कदापि मृत्यु आक्रमण नहीं कर सकती । इस कारण से योगसाधन द्वारा सूर्य नाडी को ऊर्द्ध्व में और चन्द्रनाडी को अधोभाग में ले आना योगी का कर्तव्य है, इस विपरीतकरणी आचरण से नाडियों को वैसी अवस्था में ला सकते हैं, मस्तक को पृथ्वी पर स्थापन करके कर द्वय का आधार करते हुए पादयुगल को ऊर्द्ध्व दिशा में उठाकर कुम्भक द्वारा वायु निरोध करने से विपरीतकरणी मुद्रा हुआ करती है । जो मनुष्य प्रतिदिन इस मुद्राका साधन किया करते हैं, जरा और मृत्यु उनके निकट पराजय को प्राप्त होते हैं और वे सर्वत्र सिद्ध नाम से प्रसिद्ध होते हैं, प्रलय काल में भी वे योगी भय के कारण अवसन्नता को नहीं प्राप्त होते ।।३८-४२।।

स्वयं शक्तिमयो भूत्वा शिवेन योजयेत्स्वकम् ।
नानासुखं विहारं च चिन्तयेत्परमं सुखम् ।।४६।।
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुवि भावयेत् ।
आनन्दमानसो भूत्वा अहं ब्रह्मेति चिन्तयेत् ।।४७।।
योनिमुद्रा परा गोप्य देवानामपि दुर्लभा ।
सकृत्तु लाभसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि ।।४८।।
ब्रह्महा भ्रूणहा चैव सुरापो गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न लिप्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ।।४९।।
तानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च ।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबन्धनात् ।
तस्मादभ्यसनं कुर्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति ।।५०।।

वज्रोलीमुद्रा

स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ।।५१।।

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

योनि मुद्रा

सिद्धासन में उपवेशन करके कर्णद्वय वृद्ध अङ्गुष्ठद्वय द्वारा नेत्रयुगल तर्ज्जनीद्वय द्वारा, नासिकाद्वय मध्यमाद्वय द्वारा और मुख अनामिका द्वय द्वारा निरूद्ध करके काफी मुद्रा द्वारा प्राण वायु आकर्षण पूर्वक अपान वायुके साथ मिलाते हुए शरीरस्थ षट्चक्रों में मन लेजाकर 'हुँ' और 'हंस' इन दोनों मन्त्रों के जप द्वारा देवी कुलकुण्डलिनी को जगाते हुए जीवात्मा के साथ मिलाकर उनको सहस्त्रदल कमल में ले जाकर जब साधक ऐसा ध्यान करे कि मैं शक्तिमय होकर शिव के साथ मिलित हूँ, परमानन्दरूप विहार कर रहा हूँ और शिवशक्तिसंयोग रूप मैं ही आनन्दमय ब्रह्म हूँ तभी योनि मुद्रका साधन होता है। यह मुद्रा परम गोपनीय और देवताओं को भी दुर्ल्लभ है, इसके साधारण साधन से ही साधक को सिद्धि की प्राप्ति हुआ करती है और इसके द्वारा अनायास से समाधि लाभ हुआ करता है। जो मनुष्य योनिमुद्रा का साधन करते हैं उनको ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, गुरुदारागमन आदि महापाप भी स्पर्श नहीं कर सकते, पृथिवी पर जो बड़े-बड़े पातक और महापातक हैं वे भी इस मुद्रा के आचरण से

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षारं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ।।५२।।
मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलोसिद्धिमाप्नुयात् ।।५३
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्र कन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसञ्चारकारणात् ।।५४।।
नारीभगे पतेद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ।।५५।।
एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।।५६।।
सुगन्धो योगिनी देहे जायते बिन्दुधारणात्।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ।।५७।।
चित्ताऽऽयत्तं नृणां शुक्रं शुक्राऽऽयत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुकं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ।।५८।।

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

नष्ट हो सकते हैं, जिनको मुक्ति लाभ करने की इच्छा होती है वे ही इस मुद्रा का साधन किया करते हैं ॥४३-५०॥

वज्रोली मुद्रा

जो योगी योग के अन्य नियमों को न मानकर अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करने पर भी वज्रोली क्रिया के साधन को जानते हैं वे योगिगण सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। इसके साधन में दो विशेष फलों की प्राप्ति होती है, प्रथम तो क्षीर भोजन का फल और द्वितीय नारी का वशीभूत होना। स्त्री सङ्ग करते समय योगक्रिया द्वारा वीर्य को पुरुष अथवा स्त्री के यत्नपूर्व इन्द्रिय आकुञ्चन द्वारा चढ़ा लेने से वज्रोली मुद्रा का साधन हुआ करता है। एक चांदी की बनी हुई नाल शनैः शनै लिङ्ग द्वार में प्रवेश करके पुनः उस नाल में फूंक देकर वायु संचार का अभ्यास करना उचित है। तत्पश्चात् नारी योनि में पतित बिन्दु को आकर्षण कर लेवे अथवा अपने चलित बिन्दु को बीच में ही रक्षा करके खींच लेवे। तब इस प्रकार से बिन्दु की रक्षा करने से मृत्यु का जय और योग की प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि बिन्दुपात ही मृत्यु की प्राप्ति और बिन्दु के धारण से

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत्।
मेढ्रेणाऽकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥५९॥
सहजोलिश्चामरोलिर्वज्राल्या भेद एवते।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम् ॥६०॥
वज्रोली मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम्।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥६१॥
सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥६२॥
अयं यागः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम्।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मात्सर्यशालिनाम् ॥६३॥
पित्तोल्वणत्वात्प्रथमाऽम्बुधारां निषेव्यते शीतलमध्यधारा।
विहाय निःसारतयाऽन्त्यधारां कापालिके खण्डमतेऽरोली ॥६४॥
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥६५॥

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

ही जीवन की रक्षा हुआ करती है। जो इस मुद्रा के साधन से बिन्दु की रक्षा किया करते हैं उनके देह में सुन्दर सुगन्धि हो जाती है और जबतक वह योगी बिन्दु को धारण किये रहता है तब तक कदापि उसको मृत्यु भय नहीं होता। यह निश्चय की हुई बात है कि जब मन चलायमान होता है तभी मनुष्य का वीर्य चलायमान होता है अर्थात् वीर्य से मनका एक ही सम्बन्ध है और शुक्र स्थिर रहने से जीवन भी स्थिर रहता है इस कारण यत्नपूर्वक शुक्र की रक्षा करना उचित है। जो योगी ऋतुमती स्त्री के रज और अपने वीर्य को इस आकर्षण क्रिया से खेंचकर धारण कर सकता है वही योग को जानने वाला है इसमें संदेह नहीं। सहजोली और अमरोली ये दोनों क्रियाएँ वज्रोली के ही अन्तर्गत हैं, दग्धगोमय से भस्म बनाकर उसे जल के संयोग से कार्यकारी करके पुनः वज्रोली क्रिया साधन के अर्थ मैथुन करके स्त्री पुरुष आनन्दपूर्वक आसनस्थित होकर उत्सव रहित हो अपने अङ्ग पर उसको धारण करें। इस प्रकार की अन्तर क्रिया को सहजोली कहते हैं। योगिगण को श्रद्धायुक्त होकर इसका आचरण करना उचित है, यह साधकों के लिये शुभकारी और भोगयुक्त होने पर भी मुक्ति को देने वाली है। यह

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत्।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥६६॥
पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात्।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या साऽपि योगिनी ॥६७॥
तस्याः किञ्चिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः।
तस्या शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति ॥६८॥
स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥६९॥
रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी।
अतीताऽनागतज्ञानं खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥७०॥
देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥७१॥
वज्रोलीसाधनं पुंसस्तस्या वा साधनं स्त्रियाः।
सहजोली चामरोली चाऽत्रैवान्तर्भवेद्धि वै ॥७२॥

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

साधन पुण्यवान्को, धैर्यवान्को, तत्त्वदर्शीको और मात्सर्य रहित को सिद्ध हुआ करता है और मात्सर्य युक्त पुरुष को यह कदापि फलदायी नहीं होता। शिवाम्बु निर्गत होते समय पित्त के कारण उत्कट और उष्ण प्रथम धारा को त्याग करके और असार अन्त धारा को भी ग्रहण न करके केवल मध्य की शीतल और पित्तादि दोषवर्ज्जित धारा का सदा सेवन करने से अमरोली नामक इस मुद्रा की अन्तर क्रिया का साधन हुआ करता है, कापालिक मतानुयायि इसका ऐसा नाम दिया गया है। जो पुरुष अमर वारुणी को नासिक द्वारा ग्रहण करके प्रतिदिन पान करते हुए वज्रोली मुद्रा का अभ्यास किया करते हैं तभी उस क्रिया का नाम अमरोली क्रिया कहा जाता है। इस अमरोली साधन से प्राप्त हुई चन्द्रसुधा पूर्व कथित भस्म में मिलाकर यदि मस्तक पर धारण की जाय तो दिव्य दृष्टि की प्राप्ति हुआ करती है। जो कामिनी अभ्यास योग द्वारा पुरुष बिन्दु को आकर्षण करके वज्रोली मुद्रा द्वारा अपने रज की रक्षा कर सकती है शास्त्र में उसी का नाम योगिनी कहा है। उस योगिनी का शरीरस्थ रज कुछ भी नष्ट नहीं होता और उसके अङ्ग में नाद और बिन्दु की प्राप्ति हो जाती है इसमें कोई सन्देह नहीं।

गोपितेयं क्रिया सर्वा तन्त्रेषूपनिषत्सु वै।
असौ च दुष्करा यादृक् क्षुरधाराऽवलेहनम् ॥७३॥
अन्तर्भूता: क्रियाश्चाऽन्या वद्या या योगवित्तमै:।
योगमार्गान्विजानद्भिरुपदेश्या भवन्ति ता: ॥७४॥
इयं हि मन्त्रयोगस्य लतासाधनमित्युत।
सम्बन्धवत्यौ विज्ञेये विज्ञानं चाऽपि कथ्यते ॥७५॥
वैषम्याऽवस्थया यद्वत्पृथग्भावं प्रपद्य वै।
पुरुषात्प्रकृति: सर्गं विदधाति निरन्तरम् ॥७६॥
सा तस्मिन्पुरुषे साम्यामवस्थां प्राप्य लीयते।
ततश्च परमानन्दमद्वैतमुपलभ्यते ॥७७॥
ऊर्ध्वरेतस्त्वसम्प्राप्ति: कुशलैर्योगसाधनै:।
लक्ष्यमस्या विनिर्दिष्टं प्रथमं परमर्षिभि: ॥७८॥
साधनं सात्त्विकधृतेश्चरमं फलमुच्यते।
सङ्गत्या वीर्यरजसोर्मनसो विजयक्रिया ॥७९॥

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

वज्रोली मुद्रा के साधन के अभ्यास द्वारा जब पुरुष बिन्दु और स्त्रीरज इन दोनों की स्थिति अपने शरीर में हो जाती है तब सब प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति हुआ करती है और जब स्त्री आकुञ्चन क्रिया द्वारा रज की रक्षा कर सकती है तभी वह योगिनी भूत भविष्यत् ज्ञानवती हो जाती है और आकाश मार्ग में भ्रमण करने की शक्ति भी उसमें हो जाती है इसमें कोई संदेह नहीं। वज्रोली मुद्रा के अभ्यास द्वारा योगी को शरीर की पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है, इस पुण्यकारक योग में भोग का सम्बन्ध रहने पर भी यह मुक्ति को देने वाला है। पुरुष का वज्रोली अभ्यास अथवा स्त्री का वज्रोली अभ्यास, सहजोली क्रिया अथवा अमरोली क्रिया, ये सब इसी मुद्रा के अन्तर्गत हैं, यह मुद्रा उपनिषत् और तन्त्रों में अति गुप्त है और इतनी कठिन है कि क्षुर धारा के अवलेहन के सामान है और भी अनेक क्रियाएं इसके अन्तर्गत हैं जिनका योग चतुष्टय साधनज्ञाता योगी ही उपदेश दे सकते हैं। मन्त्रयोग-अन्तर्गत लतासाधन से इसका बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। इस मुद्रा का विज्ञान यह है कि वैषम्यावस्था होने पर प्रकृति पुरुष से अलग रहकर सृष्टि प्रसार करती है, परन्तु साम्यावस्था में प्रकृति पुरुष में मिल जाने से परमानन्द अद्वैत

परमः पुरुशार्थोऽयं प्राप्त्युपायस्तु कथ्यते।
योगिमुख्यगुरुणां हि साहाय्यादेव केवलम् ॥८०॥
जितेन्द्रिया वीतरागा अस्याः स्युरधिकारिणः ॥८१।

शक्तिचालिनी मुद्रा

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाऽऽकारा सार्द्धत्रिवलयाऽन्विता ॥८२॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगविधेरपि ॥८३॥
उद्घाटयेत्कपाटं च यथा कुञ्चिकया हठात् ॥
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥८४॥
नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥८५॥
वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम्।

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

पद की प्राप्ति होती है । अस्तु, चाहे जैसे हो सुकौशलपूर्ण योग साधन द्वारा ऊधर्वरितस्त्व होना इसका प्रथम लक्ष्य है, सात्त्विक धृतिका सम्पादन करना इसका चरम फल है और वीर्यमें रज के लय के द्वारा मनोजय में समर्थ होना इसका परम पुरुषार्थ है । योगिराज गुरु की बिना सहायता से यह मुद्रा कभी नहीं प्राप्त होती और जितेन्द्रिय और वीतराग साधक ही इस साधन का अधिकारी होता है ।।५१-८१।।

शक्तिचालिनी

परम देवता कुलकुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन फेर लगाकर भुजङ्गाकृति हो मूलाधारपद्म में स्थित है । वह शक्ति जब तक निद्रिता रहती है तबतक कोटि कोटि योगक्रिया करने से भी जीव को ज्ञान की प्राप्ति नहीं सकती और वह पशुवत् अज्ञानी ही रहता है । जिस प्रकार कुञ्चिका द्वारा द्वार समुद्घाटित हुआ करते हैं उसी प्रकार कुलकुण्डलिनी शक्ति के जागने से ब्रह्मद्वार अपने आप ही खुल जाता है और इस प्रकार से जीव को ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है । वस्त्र द्वारा नाभिदेश वेष्टन पूर्वक गोपनीय गृह में आसन स्थित होकर शक्तिचालिनी मुद्रा

एवमम्बरयोगं च कटिसूत्रेण कल्पयेत् ।।८६।।
भस्मना गात्रमालिप्य सिद्धासनमथाऽऽचरेत् ।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद्बलात् ।।८७।।
तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया ।
यावद्वायुः सुषुम्नायां न प्रकाशमवाप्नुयात् ।।८८।।
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी ।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा उर्द्ध्वाङ्ग प्रपद्यते ।।८९।।
योनिमुद्रा न सिध्येद्वै शक्तिचालनमन्तरा ।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत् ।।९०।।
इति ते कथितं सौम्य कपालशक्तिचालनम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन प्रत्यहं तत्समभ्यसेत् ।।९१।।
मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी ।
तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिभिः सिद्धिकाङ्क्षिभिः ।।९२।।
नित्यं यः कुरुते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता ।

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

का अभ्यास करना उचित है, परन्तु नग्नावस्था में रहकर खुले हुए स्थान में कदापि यह साधन न किया जाय। वितस्ति परिमित और चार अङ्गली विस्तृत, सुकोमल, धवल और सूक्ष्म वस्त्र द्वारा नाभिको वेष्टन करके उस वस्त्र को कटिसूत्र द्वारा सम्बद्ध किया जाय तत्पश्चात् भस्म द्वारा समस्त शरीर लेपन पूर्वक सिद्धासन पर बैठ कर प्राणवायु को नासिका द्वारा आकर्षण करके बलपूर्वक अपान वायु के साथ संयुक्त किया जाय और जब तक वायु सुषुम्ना नाडी के भीतर जाकर प्रकाशित न हो तबतक अश्विनी मुद्रा द्वारा शनैः शनैः गुह्य देश को आकुञ्चन करना उचित है। इस प्रकार से निःश्वास रोध कर कुम्भक द्वारा वायुनिरोध करने से भुजङ्गाकारा कुण्डलिनी शक्ति जागृता होकर ऊपर की ओर चलने लगती है और पीछे सहस्त्रदल कमल में पहुंचकर शिवसंयोगिनी हो जाती है। शक्तिचालिनी मुद्रा के बिना योनिमुद्रा में पूर्ण सिद्धि नहीं होती इस कारण आगे इस मुद्रा का अभ्यास करके तत्पश्चात् योनिमुद्रा अभ्यास करने योग्य है। यही शक्तिचालिनी मुद्रा का वर्णन है, अति यत्न पूर्वक इसको गोपन रख के प्रतिदिन इसका अभ्यास करना उचित है। यह मुद्रा बहुत ही गोपनीय है, इसके

तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद्रोगाणां संक्षयो भवेत् ।।९३।।

ताडागीमुद्रा

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा चैव तडागवत् ।
ताडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।।९४।।

माण्डूकीमुद्रा

मुखं सम्मुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ।
शनैर्ग्रसेत्तदमृतं माण्डूकीं मुद्रिकां विदुः ।।९५।।
वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम् ।
न केशे जायते पाकी माण्डूकीं यः समाचरेत् ।।९६।।

शाम्भवीमुद्रा

नेत्रान्तरं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत् ।
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गेपिता ।।९७।।
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवाधूरिव ।।९८।।

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

द्वारा जरा और मृत्यु के हाथ से जीव बच सकता है इस कारण सिद्धि की इच्छा करने वाले योगिगण इसका अवश्य अभ्यास करें। जो योगी प्रतिदिन इस मुद्रा का अभ्यास करते हैं अष्टसिद्धियां उनके करतलगत हो जाती हैं और उनको विग्रहसिद्धि की प्राप्ति होकर उनके सब रोगों की शान्ति हो जाती है ॥८२-९३॥

ताडागी मुद्रा

पश्चिमोत्तान आसन पर बैठकर उदर को तडागाकृति करके कुम्भक करने से ताडागी मुद्रा हुआ करती है, यह एक प्रधान मुद्रा है इसके द्वारा जरा और मृत्यु जय किया जा सकता है ॥९४॥

माण्डुकी मुद्रा

मुख विवर मुद्रित करके उद्धर्वकी और तालु विवरकी और जिह्वा मूल को चलाकर जिह्वा द्वारा धीरे-धीरे सहस्त्रदल कमल विनिर्गत सुधाधारा पान करने से माण्डूकी मुद्रा हुआ करती है, इसके साधन से शरीर में पूर्ण बल का संचार होता है, केशपक्वता दूर होती है और यौवन की प्राप्ति हो जाती है ॥९५-९६।

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम् ॥९९॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरि।
शाम्भवीं यो विजायनीयात्स च ब्रह्म न चाऽन्यथा ॥१००॥

पञ्चधारणामुद्रा

कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम्।
धारणां वै समासाद्य किन्न सिध्यति भूतले ॥१०१॥
अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनाऽऽगमम्।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चाऽन्यथा ॥१०२॥

पार्थिवीधारणामुद्रा

यत्तत्त्वं हरितालवर्णसदृशं भौमं लकाराऽन्वितं
वेदास्त्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थायि तत्।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजये कुर्यादधोधारणा ॥१०३॥

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

शाम्भवी मुद्रा

भ्रूद्वय के मध्यस्थल में दृष्टि रखकर एकान्त मन हो परमात्मा के रूप का दर्शन करने से शाम्भवी मुद्रा हुआ करती हैं, यह मुद्रा सर्व तन्त्रों में गोपनीय कही गई है। क्या वेद, क्या पुराण सब शास्त्र ही गणिका की नाईं प्रकाशित हैं, परन्तु शाम्भवी मुद्रा कुलकामिनी की नाईं अतीव गोपनीय है। जो शाम्भवी मुद्रा से परिज्ञात हैं वे आदिनाथ तुल्य हैं, वे ही नारायणस्वरूप और सृष्टिकर्ता ब्रह्मा स्वरूप हैं इसमें सन्देह नहीं, यह सत्य सत्य ही है यह वाक्य श्री महादेव जी ने सत्य ही कहा है ॥९७-१००॥

पञ्चधारणामुद्रा

शाम्भवी मुद्राका वर्णन हो चुका अब पञ्च धारणामुद्रा कही जा रही है सुनो। यह पञ्चधारणा मुद्रा सिद्ध होनेसे इस संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। पञ्चविध धारणा मुद्रा सिद्ध होनेसे मानवगण इस शरीरसे ही सुरलोक गमनागमन कर सकते हैं और वे मनोगतितत्व और खेचरत्वका लाभ कर लेते हैं ॥१०१-१०२॥

पार्थिवीं धारणामुद्रां यः करोति च नित्यशः।
मृत्युञ्जयः शिवः सोऽपि स सिद्धो विचरेद्भुवि ॥१०४॥

आम्भसीधारणामुद्रा

शङ्खेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्त सदा विष्णुना।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहतापपापहरणी स्यादाम्भसीधारणा ॥१०५॥
आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित्।
गभीरेऽपि जले घोरे मरणं तस्य नो भवेत् ॥१०६॥
इयं तु धारणा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः
प्रकाशात्सिद्धिहा नः स्यात्सत्यं वच्मि च तत्त्वतः ॥१०७॥

आग्नेयीधारणामुद्रा

यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणाऽन्वितं
तत्त्वं तैजसमाप्रदीप्तमरुणं रुद्रण यत्सिद्धिदम्।

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

पार्थिवीधारणा मुद्रा

पृथ्वी तत्त्वका वर्ण हरितालकी नाईं, इसका बीज लकार (ल), इसकी आकृति चतुष्कोणविशिष्ट और देवता इसके ब्रह्मा हैं। योग प्रभावसे इस पृथ्वी तत्त्वको हृदयके बीचमें प्रकाशित करके चित्तके साथ एकत्रित करके प्राण वायु आकर्षणपूर्वक पांच घड़ी तक कुम्भक योग अभ्यास करनेसे पृथ्वी धारणा हुआ करती है, इसका दूसरा नाम अधोधारणा मुद्रा है, इसके अभ्याससे योगी पृथ्वी को जय कर सकता है अर्थात् पृथ्वीके यावन्मात्र पदार्थ उसके वशीभूत ही जाते हैं। जो मनुष्य प्रतिदिन इस पृथिवीधारणा मुद्राका अभ्यास करता है वह साक्षात् मृत्युञ्जयके तुल्य होकर पृथिवी पर विचरण करता रहता है ॥१०३-१०४॥

आम्भसी धारणामुद्रा

जलतत्त्वका वर्ण शङ्ख शशि और कुन्दवत् धवल इसकी आकृति चन्द्रवत्, बीज वकार व और देवता विष्णु हैं। योगप्रवाहसे हृदयके बीचमें जलतत्त्वका उदय करके प्राण वायु आकर्षण द्वारा एकाग्रचित हो पांच घड़ी तक कुम्भक करनेसे जल धारणा अर्थात् आभ्भसी मुद्रा हुआ करती है। इस मुद्राके

प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारये
देषा कालगभीरभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा ॥१०८॥
प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ संपतेद्यदि साधक: ।
एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक् ॥१०९॥

वायवीधारणामुद्रा

यद्भिन्नाऽञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं धूम्रावभासं परं
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥११०॥
इयं तु धारणा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।
वायुना म्रियते नाऽपि खे गतेश्च प्रदायिनी ॥१११॥
शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्य कस्यचित् ।
दत्ते सिद्धिहानि: स्यात्सत्यं वच्मि च पण्डिते ! ॥११२॥

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

अभ्यास से जल के बीच का सब भय दूर हो जाता है और असह्यभाव भय का पुनः उदय नहीं होता। जो योगवित् साधक इस मुद्रा को जान लेते हैं भीषण गम्भीर जल के बीच डूबने पर भी उनकी मृत्यु नहीं होती। यह आम्भसी मुद्रा परम श्रेष्ठ है और अतीव गोपनीय है, मैं सत्य कहता हूँ कि इसके प्रकाश करने से सिद्धिकी हानि हुआ करती है ॥१०५-१०७॥

आग्नेयी धारणामुद्रा

नाभिस्थल अग्नितत्त्वका स्थान है, इसका वर्ण इन्द्रगोप कीटकी नाईं, बीज रकार र आकृति त्रिकोण और देवता रुद्र है। यह तत्त्व तेजःपुञ्जशाली दिप्तिमान और सिद्धिदायक है। योगाभ्यास द्वारा अग्नितत्वका उदय करके एकाग्रचित हो पांच घड़ी तक कुम्भक द्वारा प्राण वायु धारण करनेसे आग्नेयी धारणा हुआ करती है। इसके अभ्याससे संसार भय दूर हो जाता है और अग्नि से भी साधककी मृत्यु नहीं होती। यदि साधक प्रदीपवह्निके बीचमें निपतित हो तो भी इस मुद्राके प्रभावसे जीवित रहेगा और कदापि मृत्यु उसको ग्रहण नहीं कर सकेगी ॥१०८-१०९॥

आकाशीधारणामुद्रा

यत्सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्यौमं परं भासिते।
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकाराऽन्वितम्।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणाम् ॥११३॥
आकाशीधारणामुद्रां यो वेत्ति स च योगवित्।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलयेऽपि न सीदति ॥११४॥

आश्विनीमुद्रा

आकुञ्चयेद्गुदद्वारं भूयोभूयः प्रकाशयेत्।
सा भवेदाश्विनी मुद्रा शक्तिबोधनकारिणी ॥११५॥
अश्विनी परमा मुद्रा सर्वरोगविनाशिनी।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत् ॥११६॥

पाशिनीमुद्रा

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद्दृढबन्धनम्।

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

वायवी धारणामुद्रा

वायुतत्त्वका वर्ण मर्दित अञ्जन की नाईं और धूम्रकी नाईं कृष्ण वर्ण, बीज यकार (य) और देवता ईश्वर है। यह तत्त्व सत्त्वगुण है, योगाभ्यास द्वारा इस तत्त्वका उदय करके एकाग्रचित हो कुम्भक द्वारा पांच घड़ी तक प्राणवायु धारण करने से वायवी धारणा सिद्ध होती है। इस मुद्राके अभ्याससे वायु द्वारा साधककी मृत्यु नहीं होती और साधकको शून्य मार्गमें विचरण करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। यह मुद्रा श्रेष्ठ कही जाती है, इसके द्वारा जरा और मृत्यु भय नाश होता है। इस मुद्रा में सिद्धि प्राप्त साधक वायु से कदापि मृत्युको प्राप्त नहीं होता और गगनमार्ग में विचरण कर सकता है। जो मनुष्य शठ अथवा भक्तिहीन है उसको कदापि यह मुद्रा प्रदान न की जाय, शठ अथवा भक्तिहीनको यह मुद्रा प्रदान करनेसे अपनी सिद्धि की हानि होती है ॥११०-११२॥

आकाशीधारणा मुद्रा

आकाशतत्त्व का वर्ण विशुद्ध सागरवारिकी नाई, बीज हकार (ह) और देवता सदाशिव हैं। इस आकाशतत्त्वको अभ्यास द्वारा उदित करके एकाग्रचित्त

सा एव पाशिनी मुद्रा शक्तिबोधनकारिणी ॥११७॥
एषा हि पाशिनी मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥११८॥

काकीमुद्रा ।

काकचञ्चुवदास्येन पिवेद्वायु शनैः शनैः।
काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ॥११९॥
काकी मुद्रा परा गोप्या सर्वतन्त्रेषु गोपिता।
यस्याः प्रसादमात्रेण न रोगी काकवद्भवेत् ॥१२०॥

मातङ्गिनीमुद्रा

कण्ठदघ्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्त्रेण चाऽऽहरेत् ॥१२१॥
नासाभ्यां रेचयेत्पश्चात्कुर्यादेवं पुनः पुनः।
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥१२२॥
बिरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः।
कुर्वन्मातङ्गिनीं मुद्रां मातङ्ग इव जायते ॥१२३॥

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

हो प्राणवायु आकर्षण पूर्वक पांचघड़ी तक कुम्भक करनेसे आकाशीधारणा की सिद्धि होती है । इसके साधनसे देवत्व और मुक्तिलाभ होता है, जो इस धारणा को जानते हैं वे ही परमयोग वेत्ता है, उनको कदापि मृत्यु ग्रास नहीं कर सकती अर्थात् वे इच्छा मृत्यु होकर प्रलय काल तक रह सकते हैं ॥११३-११४॥

आश्विनी मुद्रा

पुनः पुनः गुह्यद्वार आकुञ्चन और प्रसारण करनेसे आश्विनीमुद्रा हुआ करती है, यह मुद्रा प्रबोधकारिणी कही जाती है । परमश्रेष्ठ आश्विनीमुद्राके प्रभावसे सर्वविध रोग शान्तिको प्राप्त होते हैं और साधक बल और पुष्टिको प्राप्त करके अकाल मृत्युके हाथसे बच जाता है ॥११५-११६॥

पाशिनी मुद्रा

पादद्वय कण्ठकी ओरसे पीठकी ओर ले जाकर दृढ़रूपसे बन्धन करनेसे पाशिनी मुद्रा हुआ करती है, यह मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी है । इस परम श्रेष्ठ मुद्रा द्वारा बल और पुष्टिकी प्राप्ति होती है, इस कारण सिद्धि-अभिलाषी साधकगण यत्नपूर्वक इसका अभ्यास करें ॥११७-११८॥

यत्र यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साधयेन्मुद्रिकां पराम् ॥१२४॥

भुजङ्गिनीमुद्रा

वक्त्रं किञ्चित्सुप्रसार्याऽनिलं कण्ठेन यत्पिबेत् ।
सा भवेद्भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥१२५॥
सर्वरोगा विनश्यन्ति भुजगीमुद्रया ध्रुवम् ।
योगसिद्धिप्रदा चेयं प्रोक्ता योगपरायणैः ॥१२६॥

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

काकी मुद्रा

मुख काकचञ्चुकी नाई करके धीरे धीरे वायुपान करनेसे काकी मुद्रा हुआ करता है, इसके साधनसे नाना प्रकारके रोगोंकी शान्ति होती है। यह श्रेष्ठ काकी मुद्रा सर्व-तन्त्रों में गोपनीय कही गई है, इसके द्वारा साधक काक्वत निरोगी हो जाता है ॥११९-१२०॥

मातङ्गिनी मुद्रा

आकण्ठ जलमें अवस्थित रहकर प्रथममें नाक के द्वारा जल ग्रहण करके मुख द्वारा निकाल दिया जाय, पुनः मुख द्वारा जल ग्रहण करके नाक द्वारा बहिर्गत किया जाय, इस प्रकार बारम्बार करनेसे मातङ्गिनी मुद्रा हुआ करती है। इस मुद्राके साधनसे जरा और मृत्यु साधकको आक्रमण नहीं कर सकते। निर्ज्जन स्थानमें अवस्थित रहकर एकाग्रचित हो मातङ्गिनीमुद्राका आचरण करने योग्य है। इस मुद्राके साधनसे साधक मातङ्गवत् बलशाली हो जाता है। योगी चाहें किसी स्थान में अवस्थित रहें इस मुद्राके साधनसे उसको परम सुख की प्राप्ति होती है इस कारण यत्नपूर्वक इसका आचरण करना उचित है ॥१२१-१२४॥

अथ प्रत्याहारप्रकरणम्

प्रत्याहारवर्णनम्

अथाऽतः सम्प्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम्।
यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशम् ॥१॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२॥
यत्र यत्र गता दृष्टिर्मनस्तत्र प्रगच्छति।
ततः प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥३॥
पुरस्कारं तिरस्कारं मनः सर्वं वशं नयेत्।
मुद्राणां साधनाच्चैव प्रत्याहारः प्रजायते ॥४॥
शीतं वापि तथा चोष्णं यन्मनः स्पर्शयोगतः।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥५॥
सुगन्धे वाऽपि दुर्गन्धे घ्राणेषु जायते मनः।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥६॥

CC-0. Bharat Dharma Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

भ्रूध्यानतैं परे अपर नित्यही चंद्रमंडलविषे अपनी जो आत्मा चंद्रमंडलाकार है सो विचक्षण चिंतमन करै वह परब्रह्म सच्चिदानंदलक्षण मैं हूं यही प्रकारध्यान है॥ ११८ ॥

एव ध्यानामृतं पीत्वा मृत्युं जयति योगवित् ॥ वत्सरान्मुक्त एवासौ जीवन्नपि न जीवति ॥ ११९ ॥

यहीप्रकार ध्यानरूप अमृत अर्थात् तिसध्यानसे पतित जो अमृत सो पानकरि मृत्युको जीतैहै एकसंवत्सरविषे मोक्ष होवैहै जीवितभी नहीं जीवता अर्थात् जीवितही मोक्षहै ॥ ११९ ॥

ध्यानान्यपि बहून्याहुर्योगिनो मुनिपुंगवाः ॥ मुख्यान्येतानि चैतेभ्यो नान्यच्च भुवि विद्यते ॥ १२० ॥ एतद्ध्यानस्य माहात्म्यमृषिभिस्तत्वदर्शिभिः ॥ शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्वं सुभाषितम् ॥ १२१ ॥

पूर्वकालविषे मुनिनमें श्रेष्ठ जो योगीजन हैं सो बहुतसे प्रकार ध्यान वर्णन करैं हैं तथापि सर्वोत्कृष्ट यही ध्यान मुख्य हैं इनतैं अन्य संसारमें कोई नही हैं ॥ १२० ॥

इतनेही ध्यानका माहात्म्य तत्त्ववेत्ता ऋषिनने शास्त्रनके विषे बहुतसे प्रकारकरि कहाहै सोई परमतत्व मैंने वर्णन कियाहै ॥ १२१ ॥

अथवा यादृशी बुद्धी रामे कृष्णे तथा शिवे॥ कर्तव्यमिति तद्ध्यानं या मतिः सा गतिर्भवेत् ॥ १२२ ॥ यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं योजनान्न बहून् ॥ तत्सव ध्यानयोगेन क्षणेनैव विनश्यति ॥ १२३ ॥

अथवा जिस प्रकार राम कृष्ण तथा शिव इनके विषे बुद्धि होय सोई ध्यान करना योग्य है काहेतैं कि जिस प्रकार मति होवै है सोई फलीभूत होवै है ॥ १२२ ॥ जो कि पर्वतके समान बडा भारी विस्तीर्ण बहुत योजनपर्य्यंत पाप हो तोभी ध्यानयोगके एक क्षणमात्र साधन करिकै नाशकूं प्राप्त होवै है ॥ १२३ ॥

अथ बंधत्रयनिरूपणम् ॥

पद्मासनं समं बद्धा स्थापयेच्चुबुकं हृदि ॥ जालंधरामिमं बंध मृत्युमातंगनाशनम् ॥ १२४ ॥ पादमूलेन वामेन योनिसंपी-

Digitised by Ajit Gargeshwari For Karnataka Samskrita University

डच्यते बलात् ।। अपानमूर्द्धमुत्थाप्य मूल-
बंधं प्रशस्यते ॥ १२५ ॥ उड्डीनं कुरुते
यस्मादविश्रांतं महाखगः ।। उडयानं त-
मिमं बंधं सर्वदुःखहर नृणाम् ॥ १२६ ॥

मुद्रा दशप्रकारके पूर्वाचार्य्योंने कथन करीहैं तिनमेंसे मुख्य २ वर्णन करौं हौं पद्मासन जो सब सुखके देवेवारी आसन है ताहि बांधिकरि ठोढी हृदयमें लगावै यह जालंधरबंध नाम मुद्रा होवै है सो कैसी है मृत्युरूप मातंग जो हाथी ताकूं नाश करनेहारी है ॥ १२४ ॥ वामपादकी एडी करिकै लिंग और गुदा दोनोंके मध्यमें जो योनिस्थान है ताहि बलकरिकै संपीडन करै अर्थात् दाबिकरि स्थितहो और अपान जो नीचेके गमन करि-बेवारो वायु ताहि ऊपर उठावै इस मुद्राको मूलबंध कहते हैं ॥ १२५ ॥ महाखग जो प्राण अपान वायु सो जातैं उड्डीन नाम है सो पश्चिममार्ग जो सुषुम्ना नाडी तामें किया जाय अन्यत्र कहीं विश्राम न पावै संपूर्ण दुःखोंका नाश करनेहारो तिसको उड्यान बंध कहते हैं ॥ १२६ ॥

बंधत्रयेण पवने प्रयाति गगने लयम् ।। ततो
न जायते मृत्युर्जरा रोगादिकं तथा ॥ १२७ ॥

इस प्रकार जो यह बंधत्रय अर्थात् तीन बंध हैं तिन करिकै पवन गगन जो ब्रह्मरंध्र है ताविषे लयकूं प्राप्त होवैहै तातैं मृत्यु तथा बुढापा आदि रोग नहीं होवैं हैं ॥ १२७ ॥

॥ अथ खेचरीमुद्रालक्षणम् ॥

एकं सृष्टिमयं देवमेका मुद्रा च खेचरी ॥
कुंभकः केवलः श्रेष्ठः धन्यः पुण्यश्च मोक्षदः
॥ १२८ ॥ गुरुवाक्याल्लभते जिह्वा सद्य-
स्त्रिपथगामिनीम् ॥ भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिमुद्रा
भवति खेचरी ॥ १२९ ॥

जिस प्रकार सृष्टिरूप एक परमेश्वर देव हैं तैसेही सब मुद्रनविषे एक खेचरी मुद्रा है तथा सब कुंभकनविषे एक केवलकुंभकमुद्रा श्रेष्ठ है सो धन्य तथा पुण्य तथा मोक्षकी देनेहारी है ॥ १२८ ॥ गुरुके वाक्यतैं प्राप्त होत जो जिह्वा त्रिपथ जो ब्रह्मरंध्र है ताके विषे शीघ्र गमन करनेहारी तथा भृकुटीके अंतर्गत जो दृष्टि सो खेचरी मुद्रा होवै है ॥ १२९ ॥

चंद्रात्सारः प्रस्रवति ह्यमृतं दिव्यरूपिणः ।।
खेचर्यां मुद्रितं येन मृत्युं जयति लीलया

Digitised by Ajit Gargeshwari For Karnataka Samskrita University

॥ १३० ॥ उर्द्धजिह्वः स्थिरो भूत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥ विषैर्विमुच्यते सर्वैर्व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥१३१॥ न रोगो मरणं तस्य नैवालस्यं प्रजायेत ॥ क्षुधा मूर्च्छा तृषा नैव मुद्रां यो वेत्ति खेचरीम् १३२॥

चंद्रमातैं जो सार दिव्यरूप अमृतको प्रस्राव होवैहै सो जिस साधक पुरुषने खेचरीमुद्रा करिकै ढकदीनो अर्थात् पान करिलीनोहै जाने सो पुरुष लीलाकरिकै ही मृत्युको जीतवेवारो होवै है ॥ १३० ॥ ऊपर करी है जिह्वा जाने एवंभूत जो पुरुष यदि एक क्षणमात्रभी स्थित होवै तौ संपूर्ण सर्प बिच्छू आदिक तिनके विषकरिकै छूटै हैं जो पुरुष खेचरीमुद्रा भलीप्रकार जानै ताकूं न रोग न मृत्यु न आलस्य न क्षुधा पिपासा मूर्च्छा होवै है और कोई प्रकारकी बाधा नहीं होवै है ॥ १३१ ॥ १३२ ॥

वलीपलितवेषघ्नी मुद्रेयं खेचरी सदा ॥ न तस्य क्षरत बिंदुमुद्रां यो वेत्ति खेचरीम् ॥ १३३ ॥

वलीपलित जो बुढापेकी देहका चर्म तथा कंपन ताकूं

यह खेचरी मुद्रा सदैव नाशकरनेवारी है जो पुरुष खेचरी मुद्राकू जानै ताको बिंदु जो कामदेव सो कोई कालविषे पतित नहीं होवै है ॥ १३३ ॥

चालनाद्दोहनाच्चैव च्छेदनाच्च तथैवच ॥ यावत स्पृशति भ्रूमध्ये खेचरी सिद्धितां तदा ॥१३४॥

प्रथम एक चोखा और महीन वस्त्र तासों जिह्वाकूं पकडि कर चालन करै अर्थात् दोनों तरफहिलावै पुनः गोके थनके सदृश दोहन करै पुनः छेदन करै फेरि तीक्ष्ण शस्त्रसूं जिह्वाके नीचेकी नसकूं छेदन करै सो जबतक जिह्वा वढिकरि बाहिर भृकुटीपर्य्यंत न पहुँचे तबतक अभ्यास करै जब पहुँच जाय तब खेचरी सिद्धि होय है कुछ वार्ता गुरुवाक्यसे समझलेना ॥१३४॥

जायते म्रियते लोके बिंदुना नात्र कारणम्॥ तस्मादति प्रयत्नेन बिंदुधारणमाचरेत् ॥ १३५ ॥ मरणं बिंदुपतनं जीवनं बिंदुधारणम्॥शिवो बिंदुरजः शक्तिः शाशसूर्यमयस्तथा ॥ उभयोर्मेलनं कार्य्यं स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ १३६ ॥

जन्म मरण लोकविषे केवल बिंदु करिकैही होवैहै और कुछभी कारण नहीं ताते सदैवकाल अतियत्नसे

Digitised by Ajit Gargeshwari For Karnataka Samskrita University

बिंदुको धारण करै ॥ १३५ ॥ बिंदुका पतन होनाही जीवका मरण होवैहै तथा बिंदुका धारण करनाही जीवन होवै है शिवरूप बिंदु रजरूप शक्ति सो शशिसूर्य्यमय अर्थात् चंद्रमारूप बिंदु सूर्य्यरूप रज होवै है सो दोनों कौ संमेलन करिकै अपने शरीरविषे प्रवेश करै सोही निश्चय करिकै मोक्षको देवेवारो होवैहै ॥ १३६ ॥

हकारः शंकरः प्रोक्तष्ठकारः शक्तिरीश्वरी ॥
उभायोर्मेलनं यस्मिन् हठयोगो निगद्यते १३७

तथा हठयोग लक्षण कथन करैं हैं, कि हकार करिकै शिव ठकार करिकै ईश्वरी पार्वती दोनोंनको संमेलन जाके विषे हो सोई हठयोग होवै है ॥ १३७ ॥

॥ अथ वज्रोलीमुद्रानिरूपणम् ॥

आदौ रजः स्त्रियो योन्याः यत्नेनविधिवत्सुधीः ॥ आकृष्य लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ १३८ ॥ दैवाच्चलति चेद्वीर्य्यमूर्द्धमाकृष्य रक्षयेत्॥क्षणमात्रं योनितो यो लिंगनालं निवारयेत् ॥ १३९ ॥ पुनश्च चालनं कुर्य्यात्तस्यां योन्यां शनैः शनैः ॥ १४० ॥

वज्रोलीमुद्रा साधन कहैहैं आदिके विषे विधिपूर्वक स्त्रीकी योनीतैं रजकूं लिंगनालकरिकै आकृष्य नाम खैंचकरिकै अपने शरीरविषे प्रवेश करै॥१३८॥ कदाचित अपना वीर्य्य चलायमान होय तो ऊपरकूं खैंचकरि रक्षण करै अर्थात् गिरनै न पावै गिरा होवै तौ क्षणमात्र लिंग योनितैं बाहिर निकाललेय ॥ १३९ ॥ फिरि कुछ देर पीछे तिस योनिमें शनैः शनैः कहै धीरे धीरे चालन करै ॥ १४० ॥

गुरूपदेशतो योगी बलादाकृष्य तद्रजः ॥
उभयोर्मेलनं कृत्वा स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥
॥१४१॥ अनेनैव विधानेन सिद्धो भवति भूतले ॥ वज्रोल्यभ्यासयोगोयं भोगयुक्तेपि मोक्षदः ॥ १४२ ॥ अयं तु शांकरो योगो धीराणां तत्वदर्शिनाम् ॥ गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ॥ १४३ ॥

गुरुके उपदेशतैं योगी बलतैं तौन जो रज ताहि आकर्षण करै दोनों जो रजबिंदु हैं तिनको एकत्र करिकै अपने शरीरविषे प्रवेश करै ॥ १४१ ॥ यही विधान करिकै योगाभ्यासी भूतलविषे सिद्ध होवैहै वज्रोलीके अभ्यासकरिकै जो योग भोगयुक्त आपिनाम निश्चय मोक्षको देबेवारो

Digitised by Ajit Gargeshwari For Karnataka Samskrita University

है ॥ १४२ ॥ यह योग साक्षात् शिवजीने कथनकरचोहै सो योग धीर तथा तत्वदर्शी पुरुषनके वास्ते देयहै नहीं तो विशेषकरिकै सामान्यमनुष्यनको नहीं देना चाहिये ॥ १४३ ॥

सहजोल्यमरोली च वज्रोली भेदतो भवेत्॥
योगशास्त्रानुसारेण उभेअपिनिगद्यते १४४

सहजोली अमरोली ये जो दोई मुद्रा ते वज्रोलीके भेद हैं योगशास्त्रके अनुसारतैं उभेअपि कहैं दोऊ निश्चयकारिकै निगद्यते नाम वर्णन करै हैं ॥ १४४ ॥

॥ अथ सहजोलीमुद्रालक्षणम् ॥

दैवाच्चलति चेद्वीर्य्य संप्राप्तं योनिमंडले ॥
उभयोः शोषण येन स योगी सिद्धिभाजनम्
॥ १४५ ॥ सहजोलीति मुद्रेयं ज्ञातव्या योगिभिः सदा ॥ येन केन प्रकारणे बिंदुधारणमाचरेत् ॥ १४६ ॥

जो कदाचित् स्थानतैं वीर्य चलिजावै और स्त्रीकी योनिमंडलमें प्राप्त होजावै तौ लिंगकरिकै दोनोंको शोषणकरै जाकी क्रिया इसप्रकार है कि पूर्वमें सीसेकी शलाका १४ चौदह अंगुल बनावै वह नित्य लिंगमें चालनकरै जब

१२ बारह अंगुल प्रवेश होनेलागिजाय तब चांदीकी शलाका सच्छिद्र बनवावे ताको प्रवेशकरै और फूत्कारकरिकै वायुसंचार करै फिर तिस लिंगनालकरिकै जल तथा दूध आकर्षण करै तदनंतर रजको और वीर्यको आकर्षण करै सो योगी संपूर्णसिद्धीनको पात्र है ॥ १४५ ॥ इसप्रकार इस मुद्राका नाम सहजोली है सो मुद्रा योगीजन जानैं हैं जिसाकिसीप्रकार करिकै बिंदु जो कामदेव तिसका धारण करना ॥ १४६ ॥

॥ अथ अमरोलीमुद्रालक्षणम् ॥

स्वमूत्रोत्सर्गस म मुख्यां धारां परित्यजेत् ॥
बलादाकर्षयेन्मध्यां धाराममृतरूपिणीम् ॥
॥ १४७ ॥ स्तोकं स्तोकं त्यजेत्पश्चादुपदिष्टगुरुशिक्षया ॥ एवं योगविधानेन बिंदुर्गच्छति मंडले ॥ १४८ ॥ षण्मासमभ्यसेन्नित्यं साधकः संयतेंद्रियः ॥ शतांगनाऽपि भोगेऽपि बिंदुस्तस्य न क्षुभ्यति ॥ १४९ ॥
बिंदुसिद्धिर्भवेत्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ॥
बहुना किं प्रलापेन ह्युपतिष्ठंति सिद्धयः ॥ १५० ॥ संसारिणां विमूढानां मायामोहितचेतसाम् ॥ बिंदुर्ददाति

Digitised by Ajit Gargeshwari For Karnataka Samskrita University

सर्वेषां सुखदुःखमुदारधीः ॥ १५१ ॥ अयं तु शांकरो योगो योगिनां चात्मदर्शिनाम् ॥ रागग्रस्तमनुष्याणां न तु विषयशालिनाम् ॥ १५२ ॥

निजमूत्रोत्सर्गसयमें मुख्यधाराको त्याग करिदेवे फेरि बलकरिकै अमृतरूपिणी जो मध्यधारा ताको आकर्षण करै ॥ १४७ ॥ गुरूपदिष्ट शिक्षाकरिकै ताहि धीरे धीरे कुछ थोडी थोडी त्याग करै याप्रकार योगविधान करिकै बिंदु जो है सो मंडलके विषे प्राप्त होवै है ॥ १४८ ॥ इंद्रियनको जीतालियो है जाने ऐसे जो साधक सो नित्य ही क्रमपूर्वक प्रकार छै महीनापर्य्यंत अभ्यास करै तौ सौ स्त्रीके साथ भोगकरनेपरभी ताको बिंदु क्षोभित नहीं होवै है ॥ १४९ ॥ यह जो जितश्वास योगी जाकी बिंदुसिद्धि होयगई ताको बहुत प्रलाप करिकै क्याहै संपूर्ण जो सिद्धि यह निश्चयकीरकै समीपमें स्थित होवैहै ॥ १५० ॥ संसारी जे मनुष्य मायाकरिकै मोहित हैं चित्त जिनके तिनको उदारधी बिंदु जो काम है सो सुखदुःखको प्राप्त करै है ॥ १५१ ॥ यह जो अम्रोलीयोग सो साक्षात् श्रीशिवजीने प्रकाशित कियोहै सो केवल आत्मदर्शी योगीजनोंके वास्ते सुखप्राप्तकरैहै रागकरिकै ग्रस्त जे मनुष्य तिनको नहीं कैसे हैं वे मनुष्य अर्थात् विषययुक्त हैं ॥ १५२ ॥

अमरोलीतिवियं प्रोक्ता महासिद्धिप्रदायिका ॥ बिंदुधारणरक्षार्थं मुद्रा नैव च यादृशी ॥ १५३ ॥

यह महासिद्धिकी देवेवारी अमरोली मुद्रा कहीहै जाके सदृश अन्य मुद्रा बिंदुधारणकी रक्षाके अर्थ एवं नाम निश्चय करिकै नहीं है अर्थात् सर्वदा इसके समान कोई अन्य नहीं योग जप तप सबका मूल यह है ॥ १५३ ॥

गुह्याद्गुह्यतमो लोके न भूतो न भविष्यति ॥ ईशत्वं यत्प्रसादेन दुर्ल्लभं प्राप्यते भुवि ॥ १५४ ॥

इस बिंदुरक्षारूप योगके समान अन्य कोई जप तप भक्ति योग नहीं संसारमें यह योग गुप्तसे गुप्त है, अर्थात् हरेकको देना उचित नहीं इस बिंदुरक्षारूप योगप्रसादसे इस संसारविषे जो दुर्लभ ईशत्व है सो प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं ॥ १५४ ॥

॥ अथ शक्तिचालनीमुद्रालक्षणम् ॥

अपानवायुमाकृष्य चालयेत्कुंडलीं दृढाम् ॥ निद्रां विहाय भुजगीं स्वयमूर्द्ध्वं व्रजेत्खलु ॥ १५५ ॥ गुरूपदेशतो नित्यं शक्तिचालनमाचरेत् ॥ आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य सिद्धो भवति भूतले ॥ १५६ ॥ षण्मासम-

Digitised by Ajit Gargeshwari For Karnataka Samskrita University

भ्यसेद्योगी प्रत्यहं गुरुशिक्षया ॥ बहुना किं प्रलापेन मुक्तो भवति बंधनात् ॥ १५७ ॥

अपानवायु जो गुदाद्वारा नीचेगमन करैहै ताहि ऊपरको खेंचिकारि दृढ जो कंडली अर्थात् सात लपेटे देकारि पूर्ण निद्राके विषे जो होरही ताहि चालयेत् अर्थात् चलावै सो निद्रा छोडि आपही ऊर्द्ध जो ब्रह्मरंध्रस्थान तामें निश्चयकरि गमन करैहै ॥१५५॥ जो पुरुष गुरुके उपदेशतैं नित्यही शक्तिचालन मुद्राभ्यास करैहै ता पुरुषकी आयु वृद्धि निश्चयकरिकै होती है और संपूर्ण अणिमादिक सिद्धियां प्राप्त होकर पृथ्वीविषे सिद्धरूपहोता है ॥१५६॥ जो पुरुष इस मुद्राअभ्यासको छै महीना गुरुकी शिक्षापूर्वक निशिदिन करैहै ताकूं बहुत प्रलाप करनेसे क्या सर्व सिद्धि प्राप्त हो संसाररूप बंधनसे छूटिजावैहै ॥ १५७ ॥

॥ अथ विपरीतकरणीमुद्रालक्षणम् ॥

अधःशिरश्चोर्द्ध्वपादमभ्यसेच्च दिनेदिने ॥ मुद्रेयं विपरीताख्या जठराग्निविवर्द्धनी ॥ १५८ ॥ नित्यमभ्यासयुक्तस्यात्याहारो बहुलोच्यते ॥ सूक्ष्माहारो यदि भवेदग्निर्दहति निश्चितम्॥१५९॥तस्माद-

तिप्रयत्नेन साध्यते योगिना सदा ॥ वलितं पलितं चैवषण्मासोर्द्ध्वं न दृश्यते॥१६०॥

अधः कहैं नीचेकूं शिर ऊंचेकूं पांव करै अर्थात् पृथ्वीमें मस्तक रखकरि अंतरिक्षमें पांव करै इसतरह दिन प्रति अभ्यास करे याको विपरीतकरणीमुद्रा नाम है सो मुद्रा जठराग्निकूं अत्यंत वृद्धि करैहै ॥ १५८ ॥ जो पुरुष या मुद्राको नित्य अभ्यास करै तिस साधकपुरुषकूं बहुत आहार करना योग्य है जो कदाचित् आहार कम करै तौ जठराग्नि शरीरकूं शीघ्रही भस्म करैगा ॥ १५९ ॥ तातैं अतिप्रयत्नकरिकै यह मुद्रा योगीकरिकै साधनीय होवैहै जो इसमुद्राका अभ्यास नित्य करै ताके वली पलित चर्म केश छै महीनामें नाश होवैं हैं अर्थात् तरुणकेसे होवैंहैं तथा जराका अभाव होवैहै ॥ १६० ॥

याममात्रं यदा कर्त्तुं समर्थः स्याद्दिनेदिने॥ तदैव कुरुते योगी कालस्य मुखवंचनम् ॥ ॥१६१ ॥ गुरुप्रसादाल्लभते मुद्रेयं पापनाशनी ॥ गोपनीया विशेषेण न देया यस्य कस्यचित् ॥ १६२ ॥

अभ्यासके साधन जो नित्यप्रति एकप्रहर करिवे लगिजाय सो तेहीसमयसे कालके मुखकी वंचना करैहै ॥ १६१ ॥ यह मुद्रा केवल गुरुकी प्रसन्नतातैं सिद्ध होवैहै

Digitised by Ajit Gargeshwari For Karnataka Samskrita University

यह मुद्रा पापको नाश करिवेवारी है यह विशेषकारि गोपनीय है अर्थात् अनधिकारीकूं देना योग्य नहीं ॥१६२॥

॥ अथ समाधिनिरूपणम् ॥

ध्येयस्वरूपोपगतो यदा सुधीर्विस्मृत्य चात्मानमथावतिष्ठते ॥ योगी विलूनाखिलकर्म्मबंधनैर्योगस्य तच्चाष्टकमंगमीरितम् ॥ १६३ ॥

जिसकालविषे सुधी कहें सुंदरबुद्धिमान जो साधक पुरुष है ध्येयवस्तु जो परमात्मा है तास्वरूपकूं प्राप्त होवैहै अपनी जो देह तथा आत्माका पृथक्भाव ताहि भूलिकरि स्थित होवैहै सो योगी कैसो है कि, संपूर्ण जन्मांतरके संचित तथा वर्तमान आगामि तिनकरिकै छूटि जावैहै सो योगका अष्टम अंग जो समाधि सो होवैहै ॥ १६३ ॥

सरित्पतौ यथा चापः कर्पूरमनिले यथा॥ सलिले लवणं यद्वत्समाधिः प्राणसंयमात्॥१६४॥ घृते घृतं यथा क्षिप्तं वह्नौ वह्निरिवार्पितः ॥ तथा भवति चैकत्वं जीवात्मपरमात्मनोः॥१६५॥अच्छेद्यः सर्वशस्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम् ॥ अशक्यो यक्षगंधर्वैर्योगी मुक्तस्समाधिना ॥१६६॥

जिसप्रकार सरित्पति जो समुद्र ताविषे आप जो जल और अग्निमें कर्पूर जलमें लवण एकरूप होवैहैं तैसेही प्राणसंयम अर्थात् प्राणवायुके संयम कहें निरोध करनेसे समाधि होवैहै ॥ १६४ ॥ जिसतरह घीके विषे घी अग्निके विषे अग्नि छोड तेही प्रकार जीवात्मा और परमात्मा एकताकूं प्राप्त होवैहैं ॥ १६५ ॥ समाधिकरिकै मुक्तरूप जो योगी सो संपूर्ण शस्त्र जे हथियार तिनतैं अच्छेद्य अर्थात् छेदो नहीं जावैहै और सर्वदेही जो जीवात्मा हैं तिनकरिकै अवध्य है तथा यक्ष गंधर्वादिक जो हैं तिनकरिकै अशक्य अर्थात् पकडिनहींसकै भावार्थ यह है कि सर्व बंधनतैं मुक्त है ॥ १६६ ॥

भित्त्वा सर्वाणि पद्मानि कुंडली वायुना हता ॥ सुखतो ब्रह्मविवर गत्वा सुखमवाप्नुयात् ॥ १६७ ॥

जिसकालमें वायु जो उड्यान जालंधर मूलबंध मुद्रा इनके करनेसे वायुकरिकै पीडित जो कुंडली सो संपूर्ण पद्म तिनही भेदकरि सुखपूर्वक ब्रह्मरंध्र जो है ताकूं प्राप्त होकरि सुखको अर्थात् ब्रह्मानंदको प्राप्त होवैहै ॥ १६७ ॥

भक्त्यात्मका शुभा ह्येका पुनर्ज्ञानात्मकापरा ॥ ध्यानात्मका तृतीया च समाधिर्वर्ण्यतेबुधैः ॥ १६८ ॥

Digitised by Ajit Gargeshwari For Karnataka Samskrita University

तृतीयोपदेशः

卐 卐 卐

मुद्राकथनम्

श्री घरेण्ड उवाच

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी ।१।
विपरीतकारिणी योनिः वज्रोली शक्तिचालिनी ।
तडागीमाण्डवीमुद्रा शाम्भवीपञ्चधारणा ।२।
आश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पञ्चविंशति मुद्रावै सिद्धिदाश्चेहयोगिनाम् ।३।

भावार्थ - घेरण्ड ऋषि कहने लगे, महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबेध, खेचरी, विपरीतकरिणी, योनिवज्रोली, शक्तिचालिनी, तड़ागी, माण्डवी, शाम्भवी, पंचधारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी और भुजङ्गिनी - ये पच्चीस मुद्राएँ योगियों को सिद्धि देने वाली हैं ।1,2,3।

इस विषय पर तन्त्रों में कहा है-

'सशैलबनधात्रीणां यथा धारोहि नायकः।
सर्वेषांहठतन्त्राणां तथा धाराहि कुण्डली॥

सुप्तागुरूप्रसादेन यथा जागर्ति कुण्डली।
तदापद्मानि सर्वाणि भिद्यन्तेग्रन्थयोऽपिच॥
प्राणस्यशून्यपदवी तदा राजपथायते।
यदाचितं विनालम्बं तदाकालस्यबन्धनम्॥
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन प्रबोधायितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुत्पा मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥

अर्थात् जैसे शेषराज सशल वन-पृथ्वी आदि सभी के आधार है, उसी तरह हठ तथा तन्त्र का आधार कुण्डलिनी महाशक्ति है। श्री गुरू की कृपा से जब कुण्डलिनी जागती है, तब षट्चक्र तथा तीनों ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। प्राण की शून्य पदवी हो जाती है। बिना आलम्ब के ही चित्त स्थिर हो जाता है। इसलिए परमेश्वरी कुण्डलिनी को जगाने के लिए मुद्राभ्यास करना चाहिए।

मुद्राफलकथनम्

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव संनिधौ।
येनविज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ।४।
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्यकस्यचित्।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरूतामपि ।५।

भावार्थ - श्री महादेव ने कहा है कि हे देवि मैंने मुद्राओं का विषय कहा जिनके ज्ञान से सभी सिद्धियाँ मिलती हैं। यह ज्ञान परम गुह्य है, हर-एक को नहीं कहना। ये मुद्राएँ योगियां को परम प्रिय ओर देवताओं को भी दुर्लभ हैं । 4,5,।

अन्य ग्रन्थों में भी मुद्राओं के विषय पर कहा है-

'मुद्राणां दशकं ह्येत्तद्व्याधिमृत्युविनाशकम्।
देवेशि कथितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्॥
बल्लभं योगिनामेतद्दुर्लभं मरूतामपि।

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्।।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा।'

अर्थात् ये दश मुद्राएँ व्याधि रोग को नष्ट करने वाली है। अणिमादि सिद्धियाँ देती हैं। ये योगी तथा देवताओं को भी प्रिय हैं; इन्हें रत्न की पेटी की तरह रखना चाहिए।

महामुद्रा

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करेधृत पदांगुलः ।६।
कण्ठ संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ।७।

भावार्थ - गुह्यप्रदेश को दृढ़तापूर्वक बायीं एड़ी से दबावे और दाहिने पैर को फैलाकर हाथ से पैर की अंगुलियों को पकड़े और कण्ठ को सिकोड़ कर भौंहों के बीच के स्थान को देखे; इसे महामुद्रा कहते हैं ।6,7।

ग्रहयामल में इसे यों कहा गया है-

'पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणे।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढ़म्।।
कण्ठेवक्त्रं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।
यथादण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।।
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसाभवेत्।
तदासामरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता।
तदाशनैःशनैः रेवरेचयेतं नवेगतः।
इयं खलुमहामुद्रा तवस्नेहात् प्रकाश्यते।।

अर्थात् योनिप्रदेश को बायीं एड़ी से दबाकर, दक्षिण पाँव को फैलाकर, मुंह को दोनों हाथों से पकड़े, कण्ठ में सकोड़ कुम्भक करके वायु को रोके। इस मुद्रा का अभ्यास करने से, दण्ड से आहत सर्प जैसे दण्ड के समान खड़ा हो जाता है;

ऐसे ही कुण्डलिनी भी सरल भाव को धारण कर लेती है। तदनन्तर कुम्भक की भरी वायु को धीरे-धीरे निकाल दे; इसे ही महामुद्रा कहते हैं। और भी कहा है-

'अनेनविधिनायोगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति।
सर्वांसामेवनाडीनां चालनं विन्दुमारणम्।
जारणं तु कषायाय पातकानां विनाशकम्।
सर्वं रोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम्।।
बपुषः कान्तिममलां जरामृत्यु विनाशनम्।
वाञ्छितार्थ फलं सौख्यमिन्द्रियाणां च मारणाम्।।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योंगिनः।
भवेदभ्यासतोवश्यं नात्रकार्य विचारणा।।
गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।
यांतु प्राप्यभवाम्भोधेः पारंगच्छन्ति योगिनः।।
मुद्राकामदुधाह्येषा साधकानांमयोदिता।
गुप्तचारेण कर्त्तव्या न देयायस्यकस्यचित्।।

ग्रहयामल में कहा गया है-

'महाक्लेशादयो दोषः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रातु तेनैव समाख्याता महेश्वरि।।
चन्द्रांगेन समभ्यस्य सूर्यांगेन समभ्यसेत्।
यावत्संख्याभवेत्तस्या ततः संख्यां विसर्जयेत्।।
नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपिनीरसाः।
अभिभुक्तं विषंघोरं पीयूषमपि जीर्यति।।
क्षयकुष्ट गुदावर्त गुदप्लीहा पुरोगमाः।
तस्यदोषाः क्षयंयान्ति महामुद्रां च योभ्यसेत्।।
कथितेयं महामुद्रा जरामरण नाशिनी।
गोपनीया प्रयत्नेन न देयायस्यकस्यचित्।।

अर्थात् महाक्लेशादि और मरणादि दोष, महामुद्रा के आचरण से नष्ट होते हैं। चन्द्रस्वर से अभ्यास करके सूर्यांग से निश्चित संख्या पर्यन्त अभ्यास करने से

पथ्य-अपथ्य विषादि भी भक्षण करने पर पच जाते हैं। क्षयादि रोग महामुद्रा के अभ्यास से नष्ट होते हैं। जरामरण के नाश वाली यह महामुद्रा है। इसे गोपनीय रखना चाहिए।

नभोमुद्रा

यत्र-तत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरोभूत्वाधारयेत्पवनं सदा ।८।
नभोमुद्राभवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी।

भावार्थ - . योगी निरन्तर सब कामों में स्थिर ऊर्ध्वजिह्व होकर कुम्भक द्वारा वायु को रोके। इसको नभोमुद्रा कहते हैं, इससे योगी के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।8।

उड्डीयानबन्ध

उदरे पश्चिमे तानं नाभेरुर्ध्वन्तुकारयेत्।९।
उड्डीयानं कुरुतेयत् तदविश्रान्त महाखगः।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातंग केशरी।१०।

भावार्थ - नाभि के ऊपर के भाग और पश्चिम द्वार को उदर के समभाव में संकोच करे अर्थात् उदर के अधोभाग में स्थिर गुह्यादि चक्र की सब नाड़ियों को नाभि के ऊपर को उठावे- इसका ही नाम उड्डीयान बन्ध हैं यह बन्ध मृत्युरूप हाथी के लिए सिंह के समान है ।9,10।

अन्यत्र उड्डीयान का फल ऐसा भी लिखा है-

'नित्यंयः कुरूतेयोगी चतुर्वारं दिने-दिने।
तस्यनाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येनशुद्धोभवेन्मरूत्॥
षणमासमभ्यसेद् योगी मृत्युं जयति निश्चितम्।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिश्चजायते॥

रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनां भवति ध्रुवम्।
गुरौर्लब्ध्वातु यत्नेन साधयेच्चविचक्षणः॥
निर्जनेसुस्थिते देशे बन्धं परम दुर्लभम्।

अर्थात् दिन में चार बार इस उड्डीयान-बन्ध को जो करता है, उसकी नाभि-शुद्धि और मरूत्-शुद्धि होती है। छः मास तक इसका अभ्यास करने से मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। इसके अभ्यास से जठराग्नि तीव्र होती है, शरीर पुष्ट कर रस संचार होता है। इसका उपदेश प्राप्त कर एकान्त में अभ्यास करना चाहिए। दत्तात्रेय संहिता में कहा है-

'अभ्यसेद्यस्तु सत्त्वस्थो वृद्धोऽपि तरूणायते।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः॥'

अर्थात् उड्डीयान के अभ्यास से बूढ़ा भी जवान हो जाता है। छः महीने के अभ्यास से अवश्य मृत्यु पर विजय होती है।

समग्राद् बन्धनाद्धयेतदुड्डीयानं विशिष्यत।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ।११।

भावार्थ - जितने बन्ध हैं उनमें उड्डीयान प्रधान है। इसके अभ्यास से मुक्ति अनायास ही हो जाती है ।।11।।

जालंधर बन्ध

कण्ठ संकोचनं कृत्वा चिवुकं हृदयेन्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।
जालन्धरं महामुद्रामृत्योश्चक्षय कारिणीं ।१२।

भावार्थ - कण्ठ को संकोच कर, हृदय पर ठोड़ी को रखकर जालन्धर बन्ध होता है। इससे सोलह तरह का आधार - बन्ध होता है और यह मृत्यु को पराजित करता है ।12।

ग्रहयामल में कहा है-

'कण्ठमाकुञ्चयहृदये स्थापयेतु चिवुकं दृढ़म्।
बन्धोजालन्धराख्योऽयममृता व्ययकारकः॥'

अर्थात् कण्ठ को संकोच कर, ठोड़ी को दृढ़ता के साथ हृदय पर रक्खे। इसे जालन्धर-बन्ध कहते हैं। इसके द्वारा शरीरस्थ अमृत निरन्तर परिपूर्ण रहता है।

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम्।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः ।१३।

भावार्थ - यह जालन्धर - बन्ध योगियों को सिद्धि प्रदान करता है। इसके छः महीने के अभ्यास से योगी सिद्ध हो जाता है ।13।
अन्य ग्रंथों में कहा है-

'बन्धनानेन पीयूषंस्वयं पिबति बुद्धिमान्।
अमरत्वं च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये॥
जालन्धर बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिनासिद्धिमिच्छता॥'

अर्थात् इस जालन्धर-बन्ध से योगी अमृत पान करता है और इससे अमृतत्व प्राप्त कर योगी भुवन-त्रय में विचरता है। इसलिए योग-सिद्धि चाहने वाले को इसका अभ्यास सदैव करना चाहिए।

मूलबन्ध

पार्ष्णिना वामपादस्त योनिमाकुञ्चयेत्ततः।
नाभिग्रंथिमेरूदण्डे संपीड्य यत्नतः सुधीः ।१४।
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढ़बन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ।१५।

भावार्थ - बायीं एड़ी से गुह्यप्रदेश की सिकोड़े और यत्नतः मेरूदण्ड में नाभिग्रन्थि को लगाकर दबावे तथा दाहिनी एड़ी से उपस्थ को दृढ़ता के साथ दाब कर रक्खे; इसको मूलबन्ध कहते हैं। इससे बुढ़ापा दूर हो जाता है। 14,15।

'पादमूलेन सम्पीड्य गुदमार्गं सुयंत्रितम्
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्व समभ्यसेत्॥
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः।'

अर्थात् गुह्यप्रदेश को गुल्फ (एड़ी) से दबाकर भली भांति बांधे हुए अपान वायु को बल के साथ धीरे-धीरे ऊपर को खींचे, इसका नाम मूलबन्ध है। यह बुढ़ापा तथा मृत्यु को हटाता है।

संसार समुद्रं तर्त्तुमभिलषति यः पुमान्।
विजनेषु गुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत् ।१६।
अभ्यासाद् बन्धनस्यास्य मरूत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
साधयेद्यत्नतो तर्हिं मौनी तु विजितालसः ।१७।

भावार्थ - जो संसार से तरना चाहते हैं, वे निर्जन में छिपकर इस मुद्रा का अभ्यास करें। इसका अभ्यास करने से निश्चय ही मरूत्-सिद्धि होती है। अतएव आलस्यरहित मौनी होकर यत्नपूर्वक इसका अभ्यास करना चाहिए ।16,17।

इस मूलबन्ध से योनिमुद्रा की सिद्धि होती है। इसके प्रसाद से साधक आकाश में उड़ता है।

महाबन्धः

वामपादस्य गुल्फे तु पायुमूलं निरोधयेत्।
दक्षपादेन तद् गुल्फे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ।१८।

शनैः शनैश्चलयेत् पार्ष्णि योनिमाकुञ्चयेच्छनैः।
जालन्धरे धारयेत्प्राणं महाबन्धोनिगद्यते ।१९।

भावार्थ - बायीं एड़ी से गुदामूल का निरोध करके, दाहिने पैर से यत्नपूर्वक बायीं एड़ी को दबाता हुआ धीरे-धीरे गुह्यदेश को चलावे और धीरे-धीरे गुह्यदेश को सिकोड़े तथा जालन्धर - बन्ध से प्राण वायु को धारण करे, इसका नाम महाबन्ध है ।18,19।

तन्त्रों में इस प्रकार कहा है-

'ततः प्रसारितपादो विन्यस्यतमूरूपरि।
गुदायोनिं समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम्॥
योजयित्वासमानेन कृत्वाप्राणमधोमुखम्।
बन्धयेदूदरेऽत्यर्थ प्राणापानाभ्यां यः सुधीः॥
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदर्शकः।'

अर्थ उक्त श्लोक के अनुकूल ही है।

महाबन्धः परोबन्धो जरामरणनाशनः।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम् ।२०।

भावार्थ - यह महावन्ध सब मुद्राओं में श्रेष्ठ है। यह जरा मृत्यु को दूर करती है, इसके प्रभाव से सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं।20।

महावेधः

रूपयौवन लावण्यं नारीणां पुरूषं बिना।
मूलबन्ध महाबन्धो महावेधं विना यथा ।२१।
महाबन्धं समासाद्य उड्डीनकुम्भकं चरेत्।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धि दायकः ।२२।

भावार्थ - पुरूष के बिना जैसे स्त्री का रूप यौवन और लावण्य व्यर्थ है, ऐसे ही महावेध के बिना मूलबन्ध और महाबन्ध निष्फल है। प्रथम महाबन्धमुद्रा का अभ्यास कर उड्डीयान-बन्ध कर कुम्भक से वायु को रोके, इसे महावेध कहते हैं ।22।

महाबन्धमूलबन्धौ महावेधसमन्वितौ।
प्रत्यहं कुरूतेयस्तु स योगीयोगवित्तमः ।२३।
न च मृत्यु भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुंगवैः ।२४।

भावार्थ - जो योगी प्रतिदिन महावेध के साथ महाबन्ध और मूलबन्ध का आचरण करते हैं, वे योगी योगियों में श्रेष्ठ हो जाते हैं; मृत्यु बुढ़ापा उन पर आक्रामण नहीं करता। यह परमगुह्य है, इसे गुप्त रखना चाहिए ।23,24।

खेचरी मुद्रा

जिह्वाधोनाड़ीं संछिन्नां रसनां चालयेत् सदा।
दोहयेन्नवनीतेन लोहयन्त्रेण कर्षयेत् ।२५।
एवं नित्यं समाभ्यासाल्लम्बिकादीर्घतां ब्रजेत्।
यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी ।२६।
रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत्।
कपालकुहरेजिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोर्मध्येगता दृष्टिर्मुद्राभवति खेचरी ।२७।

भावार्थ - जिह्वा के नीचे, जिह्वा और उसकी जड़ को मिलाने वाली जो नाड़ी है, उसको छेदता हुआ निरन्तर रसना के अग्र भाग को परिचालित करे, प्रतिदिन ऐसा करने से जिह्वा बड़ी हो जाती है। क्रम से अभ्यास द्वारा जिह्वा को इतना लम्बा करे कि वह भौंह के मध्य तक पहुंच जाय, जिह्वा को क्रमशः तालुमूल में ले जाय तालु के बीच के गड्ढे को कपाल-कुहर कहते हैं। जिह्वा को इस कपाल-कुहर

के मध्य में ऊपर को उल्टी करके ले जाय और दोनों भौंहों के मध्य-स्थल को देखता रहे; इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं ।25,26,27।

शास्त्रान्तर में खेचरी मुद्रा का वर्णन इस प्रकार भी है-

'भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टि विधायसुदृढ़ां सुधीः।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जिते॥
लाम्बिकोर्ध्वस्थितेगतंलां रसनां विपरीतगाम्।
संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः॥
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरागतः।'

अर्थ उक्त श्लोकों के अनुसार ही है।

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरामृत्युर्देवदेहं प्रपद्यते ।२८।

नाग्निनादह्यतेगात्रं न शोषयति मारूतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुङ्गमः ।२९।

लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।
कपाल वक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात् ।३०।

नाना रससमुद्भूतमानन्दं च दिने-दिने।
आदौ लवणक्षारं च ततस्तिक्त कषायकम् ।३१।

नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।
द्राक्षा रसं च पीयूषं जायते रसनोदकम् ।३२।

भावार्थ - खेचरी के अभ्यासी को मूर्च्छा, क्षुधा और प्यास नहीं सताते, न आलस्य आता है। रोग, बुढ़ापा और मौत का भय नहीं रहता। शरीर देव तुल्य हो जाता है। खेचरी-अभ्यासी को अग्नि नहीं जला सकती, न वायु सुखा सकता, न

जल भिगा सकता, न सर्प काटता है। शरीर में लावण्य (सौन्दर्य) आता है। समाधि -सिद्धि होती है। कपाल और रसना के योग होने पर अनेक रस पैदा होते हैं। जो इसका अभ्यास करते हैं उनकी जिह्वा से विलक्षण रस का संचार होता है। नये-नये आनंद उत्पन्न होते है। पहले-पहल लवण, पश्चात् क्षाररस, फिर तिक्त, फिर कषाय, इसके बाद मक्खन, घी, दूध, दही-मट्ठा, मधु (शहद), दाख, अमृत आदि स्वादिष्ट रसों का आविर्भाव होता है ।28,29,30,31,32।

विपरीतकरिणी मुद्रा

नाभिमूलेवसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमा:।
अमृतं ग्रसते मृत्युस्ततो मृत्युवशो नरः ।३३।
ऊर्ध्वं च जायते सूर्यचन्द्र च अध आनयेत्।
विपरीतकरीमुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता ।३४।
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मा समाहित:।
ऊर्ध्वपादः स्थिरोभूत्वा विपरीतकरीमता ।३५।

भावार्थ - नाभि में सूर्य नाड़ी और तालुमूल में चन्द्र नाड़ी है। सहस्रार में सुधा-धारा प्रवाह होता है। सूर्य नाड़ी के अमृत पान से जीव मरता है। यदि चन्द्र नाड़ी से उसे पीले तो मृत्यु का भय नहीं रहता। इसलिए सूर्य नाड़ी को ऊपर तथा चन्द्र नाड़ी को नीचे कर लेना चाहिए। इस विपरीतकरिणी को करने से उक्त बात सिद्ध होती है। शिर को पृथ्वी में लगा कर दोनों हाथों को टेक ले, दोनों पाँवों को ऊपर उठा कुम्भक द्वारा वायु रोके-इसे ही विपरीतकरिणी कहते हैं ।33,34,35।

मुद्रैयं साधिता नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत्।
ससिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति।३६।

भावार्थ - इस मुद्रा के अभ्यास से जरा-मृत्यु नष्ट होते हैं। इसका अभ्यासी सब लोकों में सिद्ध होकर प्रलय में भी दुखी नहीं होता ।36।

योनिमुद्रा

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्न सोमुखम्।
अंगुष्ठ तर्जनी मध्यानामाभिश्चैव साधयेत् ।३७।

काकीभिः प्राणं संकृष्य अपाने योजयेत् ततः।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हूं हंसमनुना सुधीः ।३८।

चैतमन्यमानयेद् देवीं निद्रितां यां भुजङ्गिनीम्।
जीवेन सहितांशक्ति समुत्थाप्यकराम्बुजे ।३९।

शक्तिमयः स्वयंभूत्वा परशिवेन संगमम्।
नाना सुखं विहारं च चिन्तयेत् परमं सुखम्।४०।

शिव शक्ति समायोगादेकान्तेभुविभावयेत्।
आनन्दं च स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत्।४१।

भावार्थ - सिद्धासन से बैठकर दोनों हाथ के अंगूठों से कानों की, दोनों तर्जनी से नेत्रों को, मध्यमा से मुंह को तथा अनामिका से नाक निरूद्ध करे। प्राण को काकीमुद्रा से खींचता हुआ अपान से मिला दे। देहस्थ षट्चक्रों का ध्यान करता हुआ 'हूं' या 'हंस' इन दोनों मन्त्रों से कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर जीवात्मा को उसके साथ सहस्रार में ले जावे; उस समय ऐसी भावना करे कि 'मैं शिव के साथ शक्तिमय होकर परम सुखमय विहार कर रहा हूं। शिवशक्ति के योग से ही आनन्दमय ब्रह्म हूं'- इसे योनिमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा गोपनीय तथा देवताओं को भी दुर्लभ है। इसका अभ्यास करके साधक सिद्धि प्राप्त करता है और अनायास ही समाधिस्थ हो जाता है ।37,38,39,40,41।

ब्रह्महाभ्रूणहाचैव सुरापीगुरूतल्पगः।
एतैपापैर्नलिप्येत योनिमुद्रा निबन्धनात् ।४२।

यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानिच।
तानिसर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबन्धनात् ।४३।
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति ।४४।

भावार्थ - योनिमुद्रा के साधन से ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, मद्यपान, गुरूदारागमन आदि पापों से रहित हो जाता है। पृथ्वी के समस्त महापातक उपपातक योनिमुद्रा के बांधने से नष्ट हो जाते हैं; इसलिए मुक्ति चाहने वालों को इसका अभ्यास करना योग्य है ।42,43,44।

शास्त्रान्तर्गत योनिमुद्रा

आदौपूरकयोगेन स्वाधारेपूरयेन्मनः।
गुदमेढ्रान्तरे योगिस्तमांकुञ्च्य प्रवर्तते।
ब्रह्मयोनि गतंध्यात्वा कामंबन्धूकसन्निमम्॥
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलं।
तस्योर्ध्वेतु शिखासूक्ष्मा चिद्रूपापरमाकला॥
तत्रापिहितमात्मामेकीभूतं विचिन्तयेत्।
गच्छन्ति ब्रह्म मार्गेण सिद्धित्रयक्रमेणवै॥
अमृतं तद्विसर्गस्थं परमानन्द लक्षणम्।
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षणम्॥
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत् कुलम्।
पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रा योगेन नान्यथा।
सा च प्राणसमाख्याताह्यस्मिन् तन्त्रे मयोदिता।
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशि वात्मकम्॥
योनिमुद्रापरा ह्येषाबन्धतस्याः प्रकीर्तितः।
तस्यास्तुबन्धमात्रेण तन्नास्ति यत्र साधयेत्॥

अर्थात् पहले-पहल पूरक के प्रभाव से मूलाधार वायु को पूर्ण करे। गुदा से उपस्थपर्यन्त योनिदेश कहा जाता है। इसी के संकोच से योनि-मुद्रा होती है। ब्रह्मयोनि में लाल बन्धूक पुष्प सदृश काम का ध्यान, कोटि सूर्य के सदृश कान्तिमान तथा कोटिचन्द्र के समान शीतल रूप में करें।

इसके अनन्तर अग्नि के लपट के सदृश महाशक्ति का चिंतन करें, जो सूक्ष्म चैतन्य परमात्मा के साथ सूक्ष्म रूप में जीव के साथ एक होती है। जीव ब्रह्म मार्ग से सुषुम्नाछिद्र द्वारा गमन करता है। सहस्रार में कुन्डलिनी शिव के साथ मिलकर रहती है, वहां से अमृतधारा टपकती है। ऊपर उठकर जीव कुलामृत का पान कर मूलाधार की ब्रह्मयोनि में जाकर घुस जाता है। इस प्रकार जीव प्राणायाम से गमनागमन करता है। इसे तीन बार करने से मूलाधार पद्म में ब्रह्मयोनि गत कुण्डलिनी परमात्मा की प्राणस्वरूपिणी होकर रहती है। पुनः यह जीवात्मा कालाग्नि आदि शिवात्मक ब्रह्मयोनि मे लीन रूप से उसकी चिंता होती है। इसे ही योनिमुद्रा कहते हैं। इसके प्रभाव से समस्त कामों की सिद्धि होती है। यह मुद्रा सर्वश्रेष्ठ है।

वज्राली मुद्रा

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्याम् ऊर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगंशिरःखे।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रालिमुद्रा कवयो वदन्ति।४५।

भावार्थ - दोनों हाथों को पृथ्वी पर स्थिर भाव से टेंक कर दोनों पैरों और मस्तक को आकाश में उठा देने को वज्राली मुद्रा कहते हैं। इससे बल-संचार तथा दीर्घ-जीवन प्राप्त होता है।45।

अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम्।
अयंहितप्रदोयोगो योगिनां सिद्धिदायकः ।४६।

एतद्योगप्रसादेन विन्दुसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
सिद्धेविन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ।४७।

भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रा समाचरेत्।
तथापि सकलासिद्धिस्तस्य भवतिनिश्चितम् ।४८।

भावार्थ - यह योग मुद्रा में श्रेष्ठ, मुक्ति का कारण, परम उपकारी सिद्धिप्रद है। इससे बिन्दु सिद्धि, ऊर्ध्वरेतस्त्व सिद्धि होकर वीर्यपात नहीं होता, विन्दु सिद्धि

होने पर कौन सा कार्य नहीं हो सकता। भोगियों को इसे करने से नि:संदेह सभी सिद्धियां मिलती हैं। 46,.47, 48

शक्तिचालिनी मुद्रा

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्ध त्रिवलयान्विता:।४९।

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवो पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्।५०।

उद्घांटयेत् कपाटं च यथाकुञ्चिकयाहठात्।
कुण्डलिन्या प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ।५१।

नाभिं सम्वेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो वहिः स्थितः।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्।५२।

भावार्थ - मूलाधार में कुण्डलिनी सार्ध त्रिवलय होकर सर्पिणी के रूप में सोयी हुई है। उसकी सुप्तावस्था में योगी अज्ञ अवस्था में रहता है। जैसे चाभी से ताला खुलता है; इसी तरह कुण्डलिनी के जागरण से ब्रह्मरन्ध्र खुलता है। नाभि को वस्त्र से लपेट कर एकान्त स्थान में शक्चिालिनी मुद्रा का अभ्यास करें। नग्नावस्था में बाहर इसका साधन नहीं करना चाहिए। 49,50,51,52।

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलम्।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्वर लक्षणम्।५३।

एवमम्वरयुक्तं च कटिसूत्रेणयोजयेत्।
भस्मनागात्र संलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत्।५४।

नासाभ्यां प्राणामाकृष्य अपानेयोजयेदवलात्।
तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्वनिमुद्रया ।५५।

यावद्गच्छेत् सुषुम्नायां वायुः प्रकाश्येत् हठात्।
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी।५६।

वद्धश्वासस्ततोभूत्वा उर्ध्वमार्ग प्रपद्यते।
शक्तोर्विनाचालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति।५७।

भावार्थ - बालिश्त भर चौड़ा, चार अंगुल लम्बा सफेद मुलायम वस्त्र नाभि पर रख कर कटिसूत्र में बांध दें। शरीर में भस्म लेपन कर, सिद्धासन पर बैठाकर, प्राण को खींच कर अपान से युक्त करें। जब तक सुषुम्ना द्वार से वायु गमन करती हुई प्रकाशित न हो, तब तक अश्विनी मुद्रा से गुह्य का संकोच करता रहे। इस प्रकार श्वास रुकने से कुम्भक के प्रभाव से सर्पाकार कुण्डलिनी जागकर ऊपर मार्ग में खड़ी हो जाती है, अर्थात् सहस्रार में परमात्मा के साथ मिल जाती है। इस शक्ति चालिनी मुद्रा के बिना योनि मुद्रा सिद्ध नहीं होती। 53,54,55,56,57।

आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत्।
इतिते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम्।५८।

गोपनीयं प्रयत्नेन दिने-दिने समभ्यसेत्।
मुद्रेयं परमागोप्याजरामरणनाशिनी।५९।

तस्माद्भ्यासनं कार्य योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः।
नित्यं योऽभ्यसतेयोगी सिद्धिस्तस्य करेस्थिता।
तस्यविग्रहसिद्धिः स्याद् रोगाणां संक्षयो भवेत्।६०।

भावार्थ - चालिनी के बाद ही योनिमुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। हे चण्डकापाले! इस प्रकार शक्तिचालिनी मुद्रा को मैंने कहा। इसे यत्नपूर्वक रखना और प्रतिदिन अभ्यास करना। जो योगी इसका अभ्यास करता है उसे सिद्धियां प्राप्त होती हैं। विग्रह-सिद्धि हो जाती है और रोग नष्ट हो जाते हैं।

तंत्रों में दूसरी तरह भी यह मुद्रा कही गयी है –

'आधारे कमले गुप्तां चालयेत् कुण्डलीं दृढ़ाम्।
अपान वायुमारुह्य वलादाकृष्य बुद्धिमान्।।
शक्तिचालन मुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी।'

अर्थात कुन्डलिनीशक्ति आधार कमल में सो रही है, उसे जगाकर बलपूर्वक अपान वायु को खींचे। यही शक्तिचालिनी मुद्रा है; यह सर्वशक्ति देने वाली हें 58, 59, 60।

ताड़ागी मुद्रा

उत्तरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिम्।
ताडागी सा परामुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी।६१।

भावार्थ – पश्चिमोत्तान आसन से बैठकर पेट को तड़ाग के समान करने को ताड़ागी मुद्रा कहते हैं। इससे जरामृत्यु नष्ट हो जाती है।61।

माण्डुकी मुद्रा

मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां माण्डूकीं मुद्रिकां विदुः।६२।

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम्।
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम्।६३।

भावार्थ मुंह बंद कर तालु में जिह्वा को घुमाने और जिह्वा से शनै-शनै सहस्रदल से टपकते हुए अमृत का पान करे, इसे माण्डुकी मुद्रा कहते हैं। इसके अभ्यास से वलिपलित, झुर्री तथा सफेद बाल का होना दूर हो जाता है। 62, 63।

शाम्भवीमुद्रा

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।
साभवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।६४।
वेदशास्त्र पुराणानि सामान्य गणिका इव।
इयन्तु शाम्भवीमुद्रा गुप्ताकुलवधूरिव।६५।

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाभ्भवीम्।६६।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः।
शाम्भवीं यो विजानाति स च ब्रह्म न चान्यथा।६७।

भावार्थ - भ्रूयुगल के बीच में दृष्टि को स्थिर कर, एकाग्र मन से चिंता योग पूर्वक परमात्मा का दर्शन करें; इसे शाम्भवीमुद्रा कहते हैं। यह सब तंत्रों में गुप्त रूप से कही गयी है। वेदादि शास्त्र सामान्य गणिका की तरह प्रकाशित है, परन्तु यह शाम्भवी मुद्रा कुलवधू की तरह परम गोपनीय है। जो इसका अभ्यास करता है वह आदिनाथ है, वह नारायण तथा सृष्टिकर्ता ब्रह्म स्वरूप है। मैं सत्य कहता हूं, शाम्भवी को जानने वाला साक्षात् ब्रह्म स्वरूप ही है। 64, 65, 66, 67।

पञ्चधारणामुद्रा

कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम्।
धारणानि समामाद्य किं न सिध्यतिभूतले।६८।

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषुगमनागमम्।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा।६९।

भावार्थ - शाम्भवी मुद्रा कही गयी, अब पञ्चधारणा कहते हैं। इन पांचों धारणाओं के सिद्ध होने पर ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो सिद्ध न हो सके। इन धारणाओं की सिद्धि होने से मनुष्य शरीर से ही स्वर्ग में आना-जाना होता है। मनुष्य

इससे मनोगति और खेचरीत्व को पा सकता है। 68,69।

पार्थिवीधारणा

यत्तत्वं हरितालदेश रचितं भौमं लकारान्वितं,
वेदास्तंकमलासनेन सहितम्कृत्वाहृदिस्थापिनम्।

प्राणांस्तत्रविनीय पंचघटिकां चिन्तान्वितां धारये-
देषास्तंभकरीं ध्रुवंक्षितिजयं कुर्यादधोधारणाम्।७०।

भावार्थ - पृथ्वी तत्व का वर्ण हरताल के समान है। वीज 'लँ', चौकोन आकृति, ब्रह्मदेवता है। योग बल से इसे उदय कर हृदय में धारण कर, दो घंटे प्राण के निरोध-पूर्वक, कुम्भक करें; इसे पार्थिवी मुद्रा कहते हैं। इसे ही अधोधारणा-मुद्रा भी कहते हैं। इसके सिद्ध होने पर योगी पृथ्वी जय होता है। अर्थात् पृथ्वी सम्बन्धी घटना से उसकी मृत्यु नहीं होती ।70।

पार्थिवीधारणामुद्रां य करोति हि नित्यशः।
मृत्युञ्जयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद्भुवि।७१।

भावार्थ - जो इस पार्थिवीधारणा को करता है वह मृत्यु को जीतकर, सिद्ध होकर पृथ्वी में विचरता है।71।
तंत्रों में इसे अन्य प्रकार से भी कहा है -

'पृथिवीधारणां वक्ष्ये पार्थिवेभ्योभयापहाम्।
नाभेरधो गुदस्योर्ध्वं घटिकां पंचधारयेत्॥

वायुं ततो भवेत् पृथिवी धारणां तद्भयापहाम्।
पृथिवीसम्भवात् तस्य न मृत्युयोगिनी भवेत्।'

इस पद्य में मूलाधार से वायु-धारण कहा गया है, यह विशेष है और सब लक्षण एक सें हैं।

आम्भसीधारणामुद्रा

शंखेन्दु प्रतिमं च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं।
तत्पीयूष बकार बीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।

प्राणांस्तत्रविनीयपंचघटिकां चिन्तान्विता धारयेत्।
एषा दुःसहतापपापहरिणी स्यादाम्भसी धारणा।७२।

भावार्थ - जल का वर्ण शंख, चन्द्र, कुन्द के समान शुभ्र है। बकार इसका बीज है, विष्णु देवता। योग-बल से हृदय में इसे उदय कर, प्राण को, एकाग्र चित्त से पांच घड़ी कुम्भक द्वारा धारण करे- इसे आम्भसी धारणा कहते हैं। इसके अभ्यास से जल से मृत्यु नहीं होती। असह्य संसार-पीड़ा नष्ट होती है। इसका दूसरा लक्षण ऐसा भी है -

'नाभिस्थाने ततो वायुं धारयेत् पंचघंटिकाम्।
ततो जललयंनास्ति जलमृत्युर्नयोगिनः॥'

इस लक्षण में नाभि स्थान में वायु-धारण कहना विशेष है ।72।

आम्भसीं परमां मुद्रा यो जानाति स योगवित्।
जले च गंभीरे घोरे मरणं तस्यनोभवेत्।७३।
इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः।
प्रकाशात् सिद्धि हानिः स्यात् सत्यं वच्मिच तत्वतः।७४।

भावार्थ - आम्भसी धारणा मुद्रा का वेत्ता योगी, भीषण गंभीर जल में पड़कर भी नहीं मरता। यह मुद्रा सब मुद्राओं में मुख्य है; इसका यत्न से गोपन करे मैं यह सत्य कहता हूं। इसे प्रकाशित करने से सिद्धि की हानि होती है।73,74।

आग्नेयीधारणामुद्रा

तन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं,
तत्त्वं वह्निमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेणयत्सिद्धिदम्।
प्राणांस्तत्रविनीयपञ्चघटिकां चिन्तान्वितां धारये-
देषा कालगभीरभीतिहरिणी वैश्वानरीधारणा।७५।

भावार्थ - नाभि में अग्नि का वास है। इसका वर्ण इन्द्रगोप कीड़े के तुल्य हैं, अर्थात् लाल रंग है। रकार इसका बीज है, आकृति त्रिकोण है, रुद्र इसका देवता हैं। यह तत्व तेज:पुञ्जमय दीप्तिमान और सिद्धिप्रद है। योग से उदय कर चित्त के एकाग्र से पाँच घड़ी तक कुम्भक करके, प्राण को धारण करे- इसे आग्नेयीधारणा कहते हैं। इसके अभ्यास होने पर काल-भय नष्ट हो जाता है और इसके अभ्यासी की अग्नि से मृत्यु नहीं होती।75।

इसे और प्रकार से भी कहते हैं-

'नाभ्यूर्ध्वमण्डले वायुं धारयेत् पंचघटिकाम्।
आग्नेयीधारणा सेयं न मृत्युस्तस्य वह्निना॥
नदह्यते शरीरं हि प्रक्षिप्ते वह्नि कुन्डके।'

अर्थात् नाभि के ऊर्ध्व में पाँच घड़ी कुम्भक करके वायु धारण करे, इसे आग्नेयी धारणा कहते हैं। इसके अभ्यास से अग्नि से मृत्यु नहीं होती। यदि साधक को जलते हुए अग्नि-कुण्ड में भी डाल दें, तो वह नहीं जलता।

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ पतितो यदि साधकः।
एन्तमुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक्।७६।

भावार्थ - यदि साधक प्रदीप्त अग्नि में भी गिर जाए, तो भी इस मुद्रा के प्रभाव से जीवित रहेगा।76।

वायवीयधारणा

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदंधूम्रावभासं परे,
तत्त्वंसत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता।

प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चिन्तान्वितां धारयेत्।
एषाखेगमनं करोति यामिमांस्याद् वायवीधारणा।७७।

भावार्थ - घुटे हुए अंजन और धुएं के समान कृष्ण वर्ण। यकार बीज और देवता ईश्वर है। यह वायु तत्व सत्व गुणमय है। योग से इसके उदय होने पर एकाग्र मन से कुम्भक कर दो घण्टे तक प्राण को धारण करने से, वायवीयधारणा होती है। इसके अभ्यास होने पर वायु से मृत्यु नहीं होती और साधक को आकाश-गमन प्राप्त होता है।

इसका दूसरा लक्षण ऐसा भी है -

'नाभिभ्रुवोर्मध्ये तु प्रादेशद्वयसम्मिते।
धारयेत् पंचघटिकां वायुं सैवहिवायवी।।'

नाभि और भ्रूमध्य में दो बालिश्त स्थान में, कुम्भक द्वारा पांच घटिका वायु धारण करने से, यह वायवी धारणा होती है, इसका साधन सब विपत्तियों का विनाशक है।77।

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।
वायुनाम्रियतेनापि खे च गति प्रदायिनी।७८।

शठायभक्तिहीनाय न देया यस्यकस्यचित्।
दत्तेचसिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मिच चण्डते।७९।

भावार्थ - यह मुद्रा जरा मृत्यु को दूर करती है। वायु से साधक की मृत्यु नहीं होती और आकाशगति प्राप्त होती है। भक्तिहीन शठ को इसे नहीं बताना चाहिये। हे चण्ड! ऐसा करने पर सिद्धि की हानि होती है, यह मैं सत्य कहता हूं। 78,79।

आकाशीधारणा

यत्सिद्धौवर शुद्धवारिसदृशं व्योमं परंभासितं,
तत्त्वंदेवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम्।

प्राणांस्तत्रविनीय पंचघटिकां चिन्तान्वितां धारयेत्,
एतां मोक्षकपाटभेदनकरीं कुर्यान्नभोधारणाम्।८०।

भावार्थ - आकाश तत्व का वर्ण विशुद्ध सागर जल सदृश है। सदाशिव देवता, हकार बीज है। प्राण संयम पूर्वक पांच घड़ी तक कुम्भक करने से इसकी सिद्धि होती है। इसकी सिद्धि से देवत्व और मुक्ति प्राप्त होती है।

'भ्रू मध्यादुपरिष्टात् धारयेत् पंचनाडिकाम्।
वायुं योगी प्रयत्नेन आकाशी धारणा शुभा।।
आकाश धारणां कुर्वन् मृत्युं जयति तत्त्वतः।
यत्रयत्रस्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते।'

यह मुद्रा पांच घड़ी तक भ्रूमध्य के ऊपर कुम्भक करने से होती है। इसे आकाशीधारणा कहते हैं। इससे मृत्यु को भी जीता जा सकता है। वासानुसार योगी को सौख्यवृद्धि होती है।80।

आकाशीधारणा मुद्रां यो वेत्ति स योगवित्।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलयेऽपि न सीदति।८१।

भावार्थ - जो योगवेता आकाशीधारणा को जानता है उसकी मृत्यु नहीं होती है। प्रलय में भी उसे खेद नहीं होता।81।

इस पंचधारणा की प्रशंसा योग ग्रन्थों में इस प्रकार की गयी है -

'मेधावीपंचभूतानां धारणांयः समभ्यसेत्।
शतब्रह्मागतेनापि मृत्युस्तस्य नविद्यते।।
एवं च धारणाः पंच कुर्याद् योगी विधानतः।
ततोदृढ़ शरीरस्यमृत्युस्यस्य न जायते।
इत्येवं पञ्चभूतानां धारणांयः समभ्यसेत्।।
ब्रह्मणः प्रलये चापिमृत्युस्तस्य न विद्यते।'

इसका अर्थ स्पष्ट है

आश्विनीमुद्रा

आकुंञ्चयेद् गुदाद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
साभवेदाश्विनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।८२।
आश्विनीपरमामुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी।
वलपुष्टिकरीचैव अकालमरणंहरेत्।८३।

भावार्थ- बारबार गुह्येन्द्रिय का संकोच-प्रसारण करने को आश्विनी मुद्रा कहते हैं। इससे कुण्डलिनी जागती है, गुह्य रोग नष्ट होते हैं। बल पुष्टि की प्राप्ति होती है। और असमय की मौत टल जाती है। 82,83।

पाशिनीमुद्रा

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढ़बन्धनम्।
सा एव पाशिनीमुद्रा शक्तिप्रवोधकारिणी।८४।
पाशिनी महतीमुद्रा बलपुष्टि विधायिनी।
साधिनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः।८५।

भावार्थ- दोनों पाँवों को पाश की तरह गले में दृढ़ रूप से बाँधे, इसे पाशिनी कहते हैं। यह शक्ति को जगाती है। यह श्रेष्ठ मुद्रा है, बल पुष्टि चाहने वाले योगी को यत्नपूर्वक इसकी साधना करनी चाहिए। 84,85।

काकीमुद्रा

काकचञ्चु वदास्येन पिवेद् वायुं शनैः शनैः।
काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी।८६।
काकीमुद्रा परामुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।
अस्याः प्रसाद मात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत्।८७।

भावार्थ- कौए की तरह चोंच (as a pipe) के समान मुँह को, जिह्वा निकाल कर बनावे। पुनः धीरे-धीरे वायु का पान करे- इसे काकीमुद्रा कहते हैं। इससे सभी रोग नष्ट होते हैं। यह परम गोपनीय मुद्रा है, इसके करने से योगी कौए के समान सर्वदा नीरोग रहता है।86,87।

मातंगिनीमुद्रा

कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्।८८।

नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः-पुनः।
मातङ्गिनी परामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।८९।

विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः।
कुर्यान्मातङ्गिनी मुद्रां मातङ्ग इव जायते।९०।

यत्र-यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते।
तस्मात् सर्वं प्रयत्नेन साधयेत् मुद्रिकामिमाम्।९१।

भावार्थ- कण्ठ तक जल में खड़े होकर, नासिका के दोनों छेदों से जल खींचे और मुँह से निकाले; इसे बारम्बार करने से मातङ्गिनीं मुद्रा होती है। इससे जरामृत्यु का आक्रमण नहीं होता। निर्जनस्थान में बैठकर एकाग्रचित्त से इसे करे। इसके सिद्ध

होने से साधक हाथी के समान बली हो जाता है। इसके प्रभाव से योगी सर्वदा सुखी रहता है। अत: यत्नपूर्वक इस मुद्रा का साधन करें। 88, 89, 90, 91।

भुजंगिनी मुद्रा

वक्त्रंकिंचित् सुप्रसार्यं चानिलं गलयापिवेत्।
साभवेद्भुजंगिनीमुद्रा जरा मृत्यु विनाशिनी।९२।
यावच्ख उदरेरोगमजीर्णादिविशेषतः।
तत्सर्वनाशयेदाशु यत्रमुद्रा भुजङ्गिनी।९३।

भावार्थ- मुख को फैलाकर गले से वायु को पिए- इसे ही भुजङ्गिनी मुद्रा कहते हैं। इससे बुढ़ापा-मृत्यु दूर होते हैं। उदर के अजीर्णादि रोग इसके अभ्यास से नष्ट होते हैं।92,93।

माहात्म्यम्

इदं तु मुद्रा पटलं कथितं चण्डकापाले।
वल्लभंसर्वसिद्धानां जरामरणनाशकम्।९४।

शठायभक्तिहीनाय न देयं यस्यकस्यचित्।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि।९५।

ऋजवेशान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्ति प्रदायकम्।९६।

मुद्राणां पटलं ह्येतत् सर्वव्याधि विनाशकम्।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविविर्धनम्।९७।

तस्य न जायते मृत्युर्नास्य वार्धक्यमायते।
न चाग्निजलमयं तस्य वायोरपिकुतोभयम्।९८।

कासः श्वासः प्लीहा श्लेष्मरोगाश्चविंशतिः।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः।९९।

वहुनाकिमिहोक्तेनसारं वच्मि च चण्ड! ते।
नास्तिमुद्रा समंकिञ्चित् सिद्धिदंक्षितिमण्डले।१००।

भावार्थ- हे चण्डकापाले! यह मुद्रापटल जरा-मरण का नाश करने वाला, सब सिद्धों का प्रिय, तुम्हें बताया गया। इसे शठ भक्तिहीन जिस किसी को नहीं देना, देवताओं को भी दुर्लभ हैं इसकी प्रयत्न पूर्वक रक्षा करना। सरल, शान्त गुरुभक्तियुक्त कुलीन अधिकारी को ही, भुक्ति-मुक्ति प्रद इस योग को देना चाहिए। मुद्राओं का यह पटल सब रोगों का नाशक है। इसका जो नित्य पाठ करेगा उसकी जठराग्नि बढ़ेगी। उसकी मृत्यु-बुढ़ापा नहीं होगा। अग्नि, जल का भय उसे नहीं होगा। वायु का भय तो होगा ही कैसे। कास-श्वास प्लीहा श्लेष्म रोग जो बीस प्रकार के हैं; मुद्रा के साधन से नष्ट हो जाते हैं। हे चण्ड! बहुत कहाँ तक कहें मुद्राओं के समान पृथ्वी में कोई भी सिद्धिप्रद साधन नहीं है। 94 से 100 पर्यन्त।

卐 卐 卐

।तृतीयोपदेशः समाप्तः।।

तृतीयोपदेशः ।

सशैलवनधात्रीणां यथाऽऽधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाऽऽधारो हि कुण्डली ॥१॥

अथ कुण्डल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह—सशैलेति । शैलश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्तासाम् । धात्र्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्भेद-मादाय बहुवचनम् । अहीनां सर्पाणां नायको नेताऽहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत् सर्वेषां योगस्य तन्त्राणि योगतन्त्राणि योगोपायास्तेषां कुण्डल्याधार-शक्तिराश्रयः । कुण्डलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैय-र्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥२॥

कुण्डलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्याम्—सुप्तेति । सुप्ता कुण्डली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि

पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यन्ते भिन्नानि भवन्ति। ग्रन्थयोऽपि च ब्रह्मग्रन्थिविष्णुग्रन्थिरुद्रग्रन्थयो भिद्यन्ते भेदं प्राप्नुवन्तीत्यन्वयः ॥ २ ॥

प्राणस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥ ३ ॥

प्राणस्येति। तदा शून्यपदवी सुषुम्णा प्राणस्य वायो राज्ञां पन्था राजपथं राजपथमिवाचरति राजपथायते राजमार्गायते। सुखेन गमनसंभवात्। तदा चित्तमालम्बनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालम्बं निर्विषयं भवति। तदा कालस्य मृत्योर्वञ्चनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः।
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

सुषुम्णापर्यायानाह—सुषुम्णेति। इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः। पर्याया इत्यर्थः। स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ ४ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥

तस्मादिति। यस्मात्कुण्डलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणं तस्य

द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्णा तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्णाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुण्डलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥५॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।

मुद्रा उद्दिशति—महामुद्रेत्यादिना सार्धेन । सार्धार्थः स्पष्टः ॥ ६ ॥

इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशकम् ॥ ७ ॥

मुद्राफलमाह सार्धद्वाभ्याम्—इदमिति । इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकम् ॥७॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितम् । दिवि भवं दिव्यमुत्तमम् अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिममहिमगरिमलघिमप्राप्तिप्राकाम्येशतावशिताख्यानि । तत्राणिमा संकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता । १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः । २ । गरिमा

लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः । ३ । लघिमा गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः । ४ । प्राप्तिः सर्वभावसांनिध्यम् । यथा भूमिस्थ एवाङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम् । ५ । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च । ६ । ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् । ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणम् । ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥

गोपनीयमिति । प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयम् । गोपनीयत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । रत्नानां हीरकादीनां करण्डकं रत्नकरण्डकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् । कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वाच्यं किमुतान्यस्य । तत्र दृष्टान्तः—कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा यद्वत् ॥

अथ महामुद्रा—

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढम् ॥१०॥

मुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह—पादमूलेनेति। वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपादपार्ष्णिनेत्यर्थः। योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्याकुञ्चितवामपादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः। दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वाङ्गुलिकं दण्डवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायाकुञ्चितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदङ्गुष्ठप्रदेशे गृह्णीयात् ॥ १० ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

कण्ठे कण्ठदेशे बन्धनं सम्यगारोप्य कृत्वा। जालंधरबन्धं कृत्वेत्यर्थः। वायुं पवनमूर्ध्वत उपरि सुषुम्णायां धारयेत्। अनेन मूलबन्धः सूचितः। स तु योनिसंपीडनेन जिह्वाबन्धनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः। यथा दण्डेन हतस्ताडितो दण्डहतः सर्पः कुण्डली दण्डाकारः दण्डस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः। कुण्डलाकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः। प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥

तथा कुण्डल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत्। तदा सेति। द्वे पुटे इडापिङ्गले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते। कुण्डलीबोधे सति सुषुम्णायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२ ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥ १३ ॥

ततस्तदनन्तरं शनैः शनैरेव रेचयेत्। वायुमिति संबध्यते। वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत्। वेगतो रेचने बलहानिप्रसङ्गात्। खल्विति वाक्यालंकारे। इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता ॥ १३ ॥

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥

महामुद्राया अन्वर्थत्वमाह—महान्तश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च त आदयो येषां ते तत्कार्याणां शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयन्ते। मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयन्ते नश्यन्ति। यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदन्ति। महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १४ ॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१५॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह—चन्द्राङ्ग इति । चन्द्रेण चन्द्रनाड्योपलक्षितमङ्गं चन्द्राङ्गं तस्मिन् चन्द्राङ्गे वामाङ्गे । तुशब्दः पादपूरणे । सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिङ्गलयोपलक्षितमङ्गं सूर्याङ्गं तस्मिन् सूर्याङ्गे दक्षाङ्गे पुनर्वामाङ्गाभ्यासानन्तरं यावद्यावत्कालपर्यन्तं तुल्या वामाङ्गे कुम्भकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत् । ततः संख्यासाम्यानन्तरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत् । अत्रायं क्रमः—आकुञ्चितवामपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादाङ्गुष्ठमाकुञ्चिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाऽभ्यासो वामाङ्गेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामाङ्गे तिष्ठति । आकुञ्चितदक्षपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादाङ्गुष्ठमाकुञ्चिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाऽभ्यासो दक्षाङ्गेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षाङ्गे तिष्ठति ॥ १५ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ॥ १६ ॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः—न हीति । हि यस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः । पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्य-

विचारो नास्तीत्यर्थः। तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कट्वम्लादयो जीर्यन्त इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः। नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यन्ते। घोरमिति दुर्धरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति। किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥

यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगविशेषाः। अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यान्ति प्राप्नुवन्ति ॥ १७ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ १८ ॥

महामुद्रामुपसंहरन् तस्या गोप्यत्वमाह—कथितेति। इयमेषा महामुद्रा कथितोक्ता। मयेति शेषः। कीदृशी? नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम्। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा यस्य कस्यचिद्यस्य कस्याप्यनधिकारिणः। संबन्धसामान्ये षष्ठी। न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथ महाबन्धः—

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥

महाबन्धमाह—पार्ष्णिमिति । वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्ष्णिं गुल्फयोरधोभागम् । 'तद्ग्रन्थी गुल्फौ पुमान् पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः । योनिस्थाने गुदमेढ्रयोरन्तराले नियोजयेन्नितरां योजयेत् । वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा । तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य वायुमाकुञ्चय मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२०॥

पूरयित्वेति । ततस्तदनन्तरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरबन्धः प्रोक्तः । योनिं गुदमेढ्रयोरन्तरालमाकुञ्चय । अनेन मूलबन्धः सूचितः । स तु जिह्वाबन्धेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः । मनः स्वान्तं मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

धारयित्वेति। शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुम्भयित्वा शनैर्मन्दं मन्दमनिलं वायुं रेचयेत्। सव्याङ्गे वामाङ्गे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षाङ्गे दक्षिणाङ्गे पुनर्यावत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

मतमत्र तु केषांचित्कण्ठबन्धं विवर्जयेत्।
राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥

अथ जालंधरबन्धे कण्ठसंकोचस्यानुपयोगमाह—मतमिति। केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतम्। किं तदित्याह—अत्र जालंधरबन्धे कण्ठस्य बन्धनं बन्धः। संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत्। कुतः? यतो दन्तानां राजानो दन्तराजाः राजदन्ता राजदन्तेषु तिष्ठन्तीति राजदन्तस्था राजदन्तस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धस्तदुपरिभागस्य संबन्धः शस्तः। कण्ठाकुञ्चनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः ॥ २२ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥

अयं त्विति। अयं तु राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्णातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वगतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबन्धकः। एतेन 'बध्नाति हि सिराजालम्' इति जालंधरोक्तं

फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम् । महाबन्धस्य फलमाह—अयं खल्विति । अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण ददातीति तथा ॥ २३ ॥

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥

कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबन्धो बन्धनं तस्य विशेषेण मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणी समुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यम् । तं मनः स्वान्तं प्रापयेत् । 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह—रूपेति । रूपं सौन्दर्यं चक्षुःप्रियो गुणो लावण्यं कान्तिविशेषः । तदुक्तम्—'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरम् । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति । ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबन्धश्च तौ वेधेन महावेधेन विनाऽपि ।

'प्रत्ययपूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्यः' इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य लोपः। वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः ॥ २५ ॥

अथ महावेधः—

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥ २६ ॥

महावेधमाह—महाबन्धेति। महाबन्धे महाबन्धमुद्रायां स्थितो महाबन्धस्थितः, एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा कण्ठे मुद्रा कण्ठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिमूर्ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथाऽऽवृत्य निरुध्य कुम्भकं कृत्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥

समहस्तेति। भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं हस्तयुगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः। स्फिचौ कटिप्रोथौ। 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथौ' इत्यमरः। भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलम्बनेन

योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मन्दं संताडयेत्सम्यक्ताडयेत् । भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडा-पिङ्गलयोर्युग्ममतिक्रम्योल्लङ्घ्य मध्ये सुषुम्णामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८ ॥

सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तद-धिष्ठिता नाड्य इडापिङ्गलासुषुम्णा ग्राह्यास्तेषां संबन्धः । तद्वायुसंबन्धात्तेषां संबन्धः, अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिङ्गलयोः प्राणसंचारा-भावात् । ततस्तदनन्तरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनै-स्त्यजेत् ॥ २८ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥

महावेध इति । अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनः पुनरावर्तनान्महा-सिद्धयोऽणिमाद्यास्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्पकः । वली जरया चर्मसंकोचः पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः

कम्पस्तान्हन्तीति वलीपलितवेपघ्नः। अत एव साधकेष्व-भ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्यत इत्यर्थः ॥२९॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह—एतदिति। एत-त्त्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम्। अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि—हि यस्माज्जरा वार्द्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान्प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम्। चकार आरोग्यबिन्दुजयादिसमुच्च-यार्थः। एवशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ३० ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने।
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथैतत्त्रयस्य पृथक्साधनविशेषमाह—अष्टधेति। दिने दिने प्रतिदिनम्। यामे यामे प्रहरे प्रहरे। पौनःपुन्ये द्विर्वचनम्। अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते। चशब्दोऽवधारणे। एतत्त्रय-मित्यत्रापि संबध्यते। कीदृशम्? पुण्यानां संभारः समूहस्तस्य

संधायि विधायि। पुनः कीदृशम्? पापानामोघः पूरः समूह इति यावत्। तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाऽभ्यस्तं तदैव पापनाशनम्। सम्यक् सांप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा। एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्त-रीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम्॥ ३१॥

अथ खेचरी—

> **कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।**
> **भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ ३२॥**

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह—कपालेति। कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात्। भ्रुवोरन्तर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात्। सा खेचरीमुद्रा भवति। कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरन्तर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम्॥ ३२॥

> **छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेणाथ वर्धयेत्तावत्।**
> **सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः॥**

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह—छेदनेति। छेदनमनुपदमेव वक्ष्य-माणम्। चालनं हस्तयोरङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा

सव्यापसव्यतः परिवर्तनम् । दोहः करयोरङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनम् । तैः कलां जिह्वां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् । तावत् । कियत् ? यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति । यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥३३॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥

तत्साधनमाह—स्नुहीति । स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रेण सदृशं स्नुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानन्तरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगुच्छिनेच्छिन्द्यात् । रसनामूलसिरामिति कर्माध्याहारः । 'मिश्रेयाऽप्यथ सीहुण्डो वज्रः स्नुक् स्त्री स्नुही गुडा' इत्यमरः ॥ ३४ ॥

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

ततश्छेदनानन्तरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैन्धवं सिन्धुदेशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षयेच्छिन्नं सिराप्रदेशम् । सप्तदिनपर्यन्तं छेदनं सैन्धवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयम् । योगाभ्यासिनो लवणनिषे-

धात्वदिरपथ्याचूर्णं गृह्णन्ति । मूले सैन्धवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण । सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् । ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वं छेदनापेक्षयाऽधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलसिराबन्धः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

एवमिति । एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तदिनपर्यन्तं तावदेव सायंप्रातश्छेदनं घर्षणं च । अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यन्तं नित्यं युक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः । षण्मासादनन्तरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या सिरा कपालकुहररसनासंयोगप्रतिबन्धकीभूता नाडी तया बन्धो बन्धनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह—कलामिति । कलां जिह्वां पराङ् मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं

प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पन्थाः त्रिपथस्तस्मिन् त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्संयोजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

अथ खेचरीगुणाः—रसनामिति । ऊर्ध्वं तालूपरि विवरं गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते । व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते । 'उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दो व्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते ॥' इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

न रोग इति । यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तन्द्रा तामसान्तःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न

क्षुधा न तृषा पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाऽभिभूताव-
स्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

पीड्यत इति । यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न योज्यते ॥ ४० ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥

चित्तमिति । यस्माद्धेतोश्चित्तमन्तःकरणं खे भ्रुवोरन्तरव-
काशे चरति जिह्वा खे तत्रैव गता सती चरति । तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययम् । सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता । खे भ्रुवो-
रन्तर्व्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता । उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥ ४१ ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याऽऽश्लेषितस्य च ॥

खेचर्येति । येन योगिना खेचर्या मुद्रया लम्बिकाया ऊर्ध्वमिति लम्बिकोर्ध्वतः । 'सार्वविभक्तिकस्तसिः' । लम्बिका तालु तस्या ऊर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम् । कामिन्या युवत्याऽऽश्लेषितस्यालिङ्गितस्यापि । चशब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिन्दुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डलम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥४३॥

चलित इति । चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिन्दुर्यदा यस्मिन् काले योनिमण्डलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुञ्चनरूपया । एतेन वज्रोली मुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याऽऽकर्षणशक्त्या हृतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति । सुषुम्णामार्गेण बिन्दुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वजिह्व इति । ऊर्ध्वा लम्बिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लम्बिकोर्ध्व-विवरगलितचन्द्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन

पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभिभवति । न संदेहः, निश्चित-मेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥

नित्यमिति । यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ४६ ॥

यथा वह्निः इन्धनानि काष्ठादीनि न मुञ्चति दीपको दीपः तैलवर्त्तिं च तैलयुक्तां वर्त्तिं न मुञ्चति । तथा सोमकलापूर्णं चन्द्र-कलामृतापूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुञ्चति न त्यजति ॥ ४६ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्य इतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

गोमांसमिति । गोमांसं पारिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगि-नम् । अहमिति ग्रन्थकारोक्तिः । कुले जातः कुलीनः तं

सत्कुलोत्पन्नं मन्ये। तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते—'कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत्। जायते योगवान् यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत्॥ दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान्। भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम्'। ब्रह्माण्डपुराणे—'गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च। ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते'। राजयोगे वामदेवं प्रति शिववाक्यम्—'राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः। तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम्॥ दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः। अज्ञा मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः॥ अन्तर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः। त्वया मयाऽप्यसौ बन्धः शेषैर्वेद्यस्तु किं पुनः॥' इति। कूर्मपुराणे—'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा। ये युञ्जते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः॥' इति। इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः, सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात्॥ ४७॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥ ४८॥

गोमांसशब्दार्थमाह—गोशब्देनेति। गोशब्देन गोहत्याकारकेण शब्देन गोपदेनेत्यर्थः। जिह्वा रसनोदिता कथिता।

तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपोर्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह—जिह्वेति । जिह्वायाः प्रवेशो लम्बिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते । यः सारः चन्द्राद् भ्रुवोरन्तर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥५०॥

चुम्बन्तीति । यदि चेल्लम्बिकाग्रं लम्बिकोर्ध्वविवरं चुम्बन्ती स्पृशन्ती । अनिशं निरन्तरम् । अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्यन्दः स्यन्दनं प्रस्रवणमस्यामस्तीति रसस्यन्दिनी यस्य जिह्वा । क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा कटुकं मरिचादि

अम्लं चिञ्चाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना। मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा। तथाशब्दः समुच्चये। एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वात्स्निग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्यन्दने तथात्वमुक्तम्। तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अन्तकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वामिमुखागमनं तस्योदीरणं निवारणम्। अष्टौ गुणा आणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्वममरभावः सिद्धानामङ्गनाः सिद्धाङ्गनाः सिद्धाश्च ता अङ्गनाश्चेति वा तासामाकर्षणमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ५० ॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन्।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति॥

मूर्ध्न इति। रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य। उर्ध्वमुत्तानमास्यं यस्य सः। ऊर्ध्वास्य इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता। परां शक्तिं कुण्डलिनीं चिन्तयन् ध्यायन्सन् प्राणात्साधनभूतात्। षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं कण्ठस्थाने वर्तमानं तस्मिन् गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं

धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरङ्गं च तत्कलाजलं सोमकलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता विविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान्धारयति । हठाद्धठयोगात् । प्राणात्साधनभूता- द्वाप्तमिति वा योजना । प्राणैरिति क्वचित्पाठः ॥ ५१ ॥

यत्प्रालेयप्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमतो नान्यथा कायसिद्धिः ॥५२॥

यत्प्रालेयेति । मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्णा मेरुस्तस्य मूर्धो- परिभागस्तस्यान्तरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धान्तरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरम् , तस्मिन्विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः । तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्व- मित्युक्तम् । निम्नगानां गङ्गायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्या-

नामिडापिङ्गलासुषुम्णागांधारीप्रभृतीनां तत्तस्मिन्विवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चन्द्रात्सोमाद्वपुषः शरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चन्द्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति। अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात्। सुकरणे बद्धे चन्द्रसारस्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः। अन्यथा सुकरणबन्धनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात्॥ ५२॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम्।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरञ्जने॥ ५३॥

सुषिरमिति। पञ्च यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैः समन्वितं सम्यगनुगतम्। सप्तस्रोतःसमन्वितमिति क्वचित्पाठः। ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽञ्जनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्त-न्निरञ्जनं तस्मिन्निरञ्जने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति। 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम्॥५३॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्ब एकाऽवस्था मनोन्मनी॥५४॥

एकमिति। सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यम्। तदुक्तं माण्डूक्योपनिषदि—'ओमित्येतदक्षरमिदं

सर्वम्' इति। खेचरी मुद्रा एका मुख्या। निरालम्ब आलम्बनशून्य एको मुख्यो देवः, आलम्बनपरित्यागेनात्मानः स्वरूपावस्थानात्। उन्मन्यवस्थैका मुख्या। 'एके मुख्या-न्यकेवलाः' इत्यमरः। बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अथोड्डीयानबन्धः—

बद्धो येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥५५॥

उड्डीयानबन्धं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह—बद्ध इति। यतो यस्माद्धेतोर्येन बन्धेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्णायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्णां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बन्धो योगिभिर्मत्स्येन्द्रादिभिरुड्डीयनमा-ख्याऽभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्यु-त्पत्त्योदाहृतः कथितः। सुषुम्णायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम्। उत्पूर्वात् 'डीङ् विहायसा गतौ' इत्यस्मात्करणे ल्युट् ॥ ५५ ॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥

उड्डीनमिति। महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः। सर्वदा देहावकाशे गतिमत्त्वात्। यस्माद्बन्धादविश्रान्तं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते। सुषुम्णायामित्यध्याहार्यम्। तदेव बन्धविशेषमुड्डीयाननामकं स्यात्। तत्र तस्मिन्विषये बन्धोऽभिधीयते बन्धस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः ॥ ५६ ॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ५७ ॥

उड्डीयानबन्धमाह—उदर इति। उदरे तुन्दे नाभेरूर्ध्वं चकारादधः उपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसंलग्नौ स्यातां तथा तानंताननं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात्। णिजर्थोऽविवक्षितः। असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्ताननरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बन्धः। कीदृशः? मृत्युरेव मातङ्गो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः ॥ ५७ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥

उड्डीयानं त्विति। गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिर्गमनम्।

सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात् । यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरन्तरमभ्यसेत् । उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते । स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥

नाभेरिति । नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूपमुक्तम् । अथ तत्प्रशंसा । षण्मासं षण्मासपर्यन्तम् । उड्डीयानमित्यध्याहारः । अभ्यसेत्पुनः पुनरनुतिष्ठेत् । स मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

सर्वेषामिति । सर्वेषां बन्धानां मध्ये उड्डियानकः उड्डियानबन्ध एव । स्वार्थे कप्रत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्मादुड्डियाने बन्धे दृढे सति स्वाभाविकी स्वभावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत् । उड्डियानबन्धे कृते विहंगमगत्या सुषुम्णायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात् ‘ समाधौ मोक्षमाप्नोति ’ इति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

अथ मूलबन्धः—

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

मूलबन्धमाह—पार्ष्णिभागेनेति । पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधः-प्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुञ्चयेत् । अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबन्धोऽभिधीयते कथ्यते । पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुञ्चनं मूलबन्ध इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥ ६२ ॥

अधोगतिमिति । यः अधोगतिमधोऽर्वाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुञ्चनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्णायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबन्धं मूलस्य मूलस्थानस्य बन्धनं मूलबन्धस्तं मूलबन्धमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबन्धशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बन्धनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ ६२ ॥

गुदं पाष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबन्धमाह—गुदमिति । पाष्ण्यो-र्गुल्फयोरधोभागेन गुदं वायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्णाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारं वारं पुनःपुनर्वायुम-पानमाकुञ्चयेद्गुदस्याकुञ्चनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबन्ध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४॥

अथ मूलबन्धगुणानाह—प्राणापानाविति । प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वाधोगंती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः बिन्दुरनु-स्वारस्तौ मूलबन्धेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसिद्धिं यच्छतो ददतः । अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न, संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः—मूलबन्धे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्णायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति । ततो नादेन सह

प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिन्दुना सहैक्यं बिन्दुनाऽऽधाय मूर्ध्नि गच्छतः । ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ६५ ॥

अपानप्राणयोरिति । सततं मूलबन्धनान्मूलबन्धमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६॥

अपान इति । मूलबन्धनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तस्मिंस्तादृशे सति वह्निमण्डलं वह्नेर्मण्डलं त्रिकोणं नाभेरधोभागेऽस्ति । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—'देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् । त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥ मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥' इति । तदा तस्मिन् काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते । वर्धत इति क्वचित्पाठः ॥ ६६ ॥

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

तत इति । ततस्तदनन्तरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ । उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो गच्छतः । ततोऽनलशिखादैर्घ्या-दुष्णस्वरूपकादिति वा योजना । तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यन्तमधिकं दीप्तो भवति । तथेति पादपूरणे । अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राण-संगत्याऽत्यन्तं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजंगीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८ ॥

तेनेति । तेन ज्वलनस्यात्यन्तं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुण्डलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति । दण्डेनाहता दण्डाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निःश्वस्य निःश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥

बिलं प्रविष्टेति । ततः ऋजुताप्राप्त्यनन्तरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्णा तस्या अन्तरं मध्यं

गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबन्धो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

अथ जालंधरबन्धः—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चुबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

जालंधरबन्धमाह— कण्ठमिति । कण्ठे गले बिलमाकुञ्च्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरङ्गुलान्तरितप्रदेशे चुबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात् । अयं कण्ठाकुञ्चनपूर्वकं चतुरङ्गुलान्तरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चुबुकस्थापन-रूपो जालंधर इत्याख्या यत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बन्धः । कीदृशः ? जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीति विनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

बध्नाति हि सिराजालमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह—बध्नातीति । हि यस्मात्सिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति । अधो गन्तुं शीलमस्येत्य-धोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रति-बध्नाति । ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बन्धः जालं दशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । कीदृशः ?

कण्ठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥

जालंधरगुणानाह—जालंधर इति । कण्ठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोच आकुञ्चनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कण्ठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बन्धे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति । वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यन्तरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥ ७३ ॥

कण्ठसंकोचनेनेति । दृढं गाढं कण्ठसंकोचनेनैव कण्ठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिङ्गले स्तम्भयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कण्ठस्थाने स्थितं विशुद्ध्याख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयम् । कीदृशम् ? षोडशाधारबन्धनं षोडशसंख्याका ये आधारा अङ्गुष्ठाधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तास्तेषां बन्धनं बन्धनकारकम् । ‘अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिङ्गनाभयः । हृद् ग्रीवा कण्ठदेशश्च लम्बिका नासिका तथा ॥

भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरन्ध्रकम् । एते हि षोड-शाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ' ॥ तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धान्तादवगन्तव्यः ॥ ७३ ॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत् ।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥

उक्तस्य बन्धत्रयस्योपयोगमाह—मूलस्थानमिति । मूल-स्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुञ्च्य सम्यगाकुञ्च्य उड्डि-यानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बन्धं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽवि वक्षितः । इडां पिङ्गलां गङ्गां यमुनां च बद्ध्वा । जालं-धरबन्धेनेत्यर्थः, ' कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेत् ' इत्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्णामार्गे वाहयेद्गमयेत्प्राण-मितिशेषः ॥ ७४ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

अनेनेति । अनेनैवोक्तेनैव विधानेन पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति । गत्यभावपूर्वकं रन्ध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयान्मृत्युर्जरारोगादिकम् । तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततन्द्रालस्यादिकं ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥

बन्धत्रयमिति । इदं पूर्वोक्तं बन्धत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबन्धेऽतिप्रशस्तं महासिद्धैर्मत्स्येन्द्रादिभिश्चकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिः सेवितं सर्वेषां हठतन्त्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानन्ति ॥ ७६ ॥

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ७७ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्घातत्वेन पिण्डस्य जराकरणं तावदाह—यत्किंचिदिति । दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्माद्दिव्यरूपिणश्चन्द्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यत्किंचिद्यत्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति सत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति । तदुक्तं गोरक्षनाथेन—'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ॥ वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः । करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ॥' इति । तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रसनेन पिण्डो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥

तत्रेति । तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वञ्च्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति । तद्गुरूपदेशतः गुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यम् । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥

विपरीतकरणीमाह—ऊर्ध्वनाभेरिति । ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधः अधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यमृतात्मा चन्द्रो भवति । प्रथमान्तपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधः शशी भवति । यदातदापदयोरध्याहारेणान्वयः । इयं विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चन्द्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणेनान्वर्था गुरुवाक्येन गुरोर्वाक्येनैव लभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

नित्यमिति । नित्यं प्रतिदिनमभ्यासोऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्यावहितस्य जठराग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणम् । तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनं बहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । च पादपूरणे ॥ ८० ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ८१ ॥

अल्पाहार इति । यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्दहेत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चन्द्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणक्रियामाह—अधःशिरा इति । अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलम्ब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां स्कन्धाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यन्तरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरम्भदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥८२॥

दिने दिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणं एकदिनवृद्ध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात्। विपरीतकरणीगुणानाह— वलितमिति। वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च, षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्वमुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते। साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः। यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत्। एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबन्धकत्वमपि सूचितम्। तदुक्तं विष्णुधर्मे— 'स्वदेहारम्भकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः। यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम्॥' इति। विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम्—'यथा प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः। अत एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यते' इति। भागवतेऽप्युक्तम्—'देहं जह्यात्समाधिना' इति॥ ८२॥

अथ वज्रोली—

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम्॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह—स्वेच्छयेति। योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण

स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह—तत्रेति । तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं वक्ष्ये कथयिष्ये । कीदृशं वस्तुद्वयम्? यस्य कस्यचित् यस्य कस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा, 'दुः स्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशात् । किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह—क्षीरमिति । एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानन्तरमिन्द्रियनैर्बल्यात्तद्बलार्थं क्षीरपानं युक्तम् । केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः । तस्यान्तर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तम् । द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथ वा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह—मेहनेनेति । मेहनेन स्त्रीसङ्गानन्तरं बिन्दोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथ वा नार्यपि

योषिदपि शनैर्मन्दं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुञ्चनमूर्ध्वमुपर्याकुञ्चनं मेढ्राकुञ्चनेन बिन्दोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुया-त्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वाङ्गप्रक्रियामाह—यत्नत इति । शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मन्दं मन्दं यथाऽग्नेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेढ्रविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुनः पुनः कुर्वीत । अथ वज्रोलीसाधनप्रक्रिया—सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशाङ्गुलमात्रां शलाकां कारयित्वा तस्या मेढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकाङ्गुलमात्रां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यङ्गुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यङ्गुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशाङ्गुलमात्रप्रवेशे मेढ्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशाङ्गुलमात्रां द्व्यङ्गुलमात्रव-क्रामूर्ध्वमुखां कारयित्वा तां द्वादशाङ्गुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यङ्गुलमात्रं बहिः स्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनीभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेढ्र-

प्रवेशितद्वादशाङ्गुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यङ्गुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात्। तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति। ततो जलस्य मेढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत्। जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिन्दोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसेत्। बिन्द्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः। इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्य। खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यग् भवति ॥ ८६ ॥

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

एवं वज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह—नारीभग इति। नारीभगे स्त्रीयोनौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिन्दुश्च पतद्बिन्दुस्तं पतद्बिन्दुं रतिकाले पतन्तं बिन्दुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत्। पतनात्पूर्वमेव। यदि पतनात्पूर्वं बिन्दोराकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदित्याह—चलितं चेति। चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिन्दुं चकारात्तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत् ॥ ८७ ॥

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ८८ ॥

वज्रोलीगुणानाह—एवमिति। एवमुक्तरीत्या बिन्दुं यः संरक्षयेत् सम्यग् रक्षयेत् स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं

जयत्यभिभवति । यतो बिन्दोः शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति । बिन्दोर्धारणं बिन्दुधारणं तस्माद्बिन्दुधारणाज्जीवनं भवति । तस्माद्बिन्दुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ८९ ॥

सुगन्ध इति । योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे बिन्दोः शुक्रस्य धारणं बिन्दुधारणं तस्मात्सुगन्धः शोभनो गन्धो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद्बिन्दुः स्थिरस्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

चित्तायत्तमिति । हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनम् । जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणाच्छुक्राधीनम् । तस्माच्छुक्रं बिन्दुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं रक्षणीयमित्यर्थः । एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥

ऋतुमत्या इति । एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं बिन्दुं च रक्षयेत् । पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति—मेढ्रेणेति । अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो योग-साधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेढ्रेण गुह्येन्द्रियेण सम्य-ग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् । रजो बिन्दुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः क्षिप्तः ॥ ९१ ॥

अथ सहजोली—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जलेषु भस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह—सह-जोलिश्चेति । वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च । तत्र हेतुः एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः । एकशब्दाद्भाव-प्रधानात्पञ्चम्यास्तसिः । सहजोलिमाह—जलेष्विति । गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वोत्तर उत्तरश्लोकेनान्वेति ॥ ९२॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वङ्गलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥९३॥

वज्रोलीति । वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनन्तरं सुखेनैवानन्देनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वङ्गलेपनं शोभनान्यङ्गानि स्वङ्गानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कन्धभुजादीनि तेषु लेपनम् ॥ ९३ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥९४॥

सहजोलिरिति । इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येन्द्रादिभिः । कीदृशी ? सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोल्याख्यो योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः, 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यभिधानात् । कीदृशो योगः ? भोगेन युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥९५॥

अयं योग इति। अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवन्तः सुकृतिनस्तेषां पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यन्तीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां मत्सरान्निष्क्रान्ता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेषरहितानाम्। 'मत्सरोऽन्यगुणद्वेषः' इत्यमरः। तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत्। मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत्॥९५॥

अथामरोली—

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां
विहाय निःसारतयाऽन्त्यधारा।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली॥ ९६॥

अमरोलीमाह—पित्तोल्बणत्वादिति। पित्तेनोल्बणोत्कटा पित्तोल्बणा तस्या भावः पित्तोल्बणत्वं तस्मात्। यथा प्रथमा पूर्वा याऽम्बुनः शिवाम्बुनो धारा तां विहाय शिवाम्बुनिर्गमनसमये किंचित्पूर्वां धारां त्यक्त्वा। निर्गतः सारो यस्याः सा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निःसारत्वेनान्त्यधारा अन्त्या चरमा या धारा तां विहाय किंचिदन्त्यां धारां त्यक्त्वा। शीतला पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते।

खण्डो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खण्डमतस्तस्मिन् खण्डमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापालिके खण्डकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः। अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यक्साऽमरोलीति कथ्यते ॥ ९७॥

अमरीमिति। अमरीं शिवाम्बु यः पुमान् नित्यं पिबेत्। नस्यं कुर्वन् श्वासेनामर्या घ्राणान्तर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिने दिने प्रतिदिनं वज्रोलीम् 'मेहनेन शनैः' इति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीति कथ्यते। कापालिकैरिति शेषः। अमरी पीताऽमरी। नस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत्।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥

अभ्यासादिति। अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चान्द्रीं चन्द्रस्येयं चान्द्री तां चान्द्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयोजयेत्। उत्तमाङ्गेषु शिरःकपालनेत्रस्कन्धकण्ठहृदयभुजादिषु धारयेत्। भस्ममिश्रितां चान्द्रीमिति शेषः। दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते। अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवाम्बुकल्पादवगन्तव्याः ॥

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या साऽपि योगिनी ॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह—पुंसो बिन्दुमिति । सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य बिन्दुं वीर्यं समाकुञ्च्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत्, सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया । पुंसो बिन्दुसमायुक्तमिति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम् ॥ ९९ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति ॥१००॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह—तस्या इति । तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र संशयो न संदेहो न । तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि बिन्दुभावं गच्छति । बिन्दुना सहैकीभवतीत्यर्थः । अमृतसिद्धौ—'बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम् । अनयोर्बाह्ययोगेन सृष्टिः संजायते नृणाम् ॥ यदाऽभ्यन्तरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते । बिन्दुश्चन्द्रमयः प्रोक्तो रजः

सूर्यमयं तथा ॥ अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिन्दुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा । तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठन्ते सूक्ष्मरूपतः ॥' इति ॥ १०० ॥

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥१०१॥

बिन्दुरिति । स पुंसो बिन्दुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥ १०१ ॥

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥१०२॥

रक्षेदिति । या नार्याकुञ्चनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरि स्थाने नीत्वा रजो रक्षेत् । हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्यं च वस्तु वेत्ति जानाति ध्रुवमिति निश्चितं खेऽन्तरिक्षे चरतीति खेचर्यन्तरिक्षचरी भवेत् ॥१०२॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३॥

देहसिद्धिमिति । वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभते ।

अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः। कीदृशो योगः? भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ १०३ ॥

अथ शक्तिचालनम्—

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१०४॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्घाततया कुण्डलीपर्यायान् तथा मोक्षद्वारविभेदनादिकं चाह सप्तभिः—कुटिलाङ्गीति। कुटिलाङ्गी १ कुण्डलिनी २ भुजंगी ३ शक्तिः ४ ईश्वरी ५ कुण्डली ६ अरुन्धती ७ चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः ॥ १०४ ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥

उद्घाटयेदिति। यथा येन प्रकारेण पुमान् कुञ्चिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्बलात्कपाटमररमुद्घाटये-दुत्सारयेत्। हठादिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्र संबध्यते। तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुण्डलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्णामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत्, 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥ १०५ ॥

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६ ॥

येनेति । आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरन्ध्रम्, 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । येन मार्गेण सुषुम्णामार्गेण गन्तव्यं गमनार्हमस्ति तद्द्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुद्ध्वा परमेश्वरी कुण्डलिनी प्रसुप्ता निद्रिताऽस्ति ॥ १०६ ॥

कंदोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥

कंदोर्ध्वे इति । कुण्डली शक्तिः कंदोर्ध्वे कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता, मूढानां बन्धनाय सुप्ता । योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवन्ति, मूढास्तदज्ञानाद्बद्धास्तिष्ठन्तीति भावः । तां कुण्डलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतन्त्राणां कुण्डल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ १०७ ॥

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ।
सा शक्तिश्चालिता येन स युक्तो नात्र संशयः ॥१०८॥

कुण्डलीति। कुण्डली शक्तिः सर्पवद्भुजंगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः। सा कुण्डली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधाराद्रूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबन्धान्निवृत्तः। अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः, 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः॥ १०८॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम्॥१०९॥

गङ्गायमुनयोरिति। गङ्गायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्गङ्गायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गङ्गायमुने इडापिङ्गले तयोर्मध्ये सुषुम्णामार्गे तपस्विनीं निरशनस्थितेः, बालरण्डां बालरण्डाशब्दवाच्यां कुण्डलीं बलात्कारेण हठेन गृह्णीयात्। तत्तस्या गङ्गायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम्॥ १०९॥

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली॥ ११०॥

गङ्गायमुनादिपदार्थमाह—इडेति। इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गङ्गा गङ्गापदवाच्या, पिङ्गला दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या नदी। इडापिङ्गलयोर्मध्ये

मध्यगता या कुण्डली सा बालरण्डा बालरण्डाशब्द-वाच्या ॥ ११० ॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥१११॥

शक्तिचालनमाह—पुच्छ इति । सुप्तां निद्रितां भुजगीं तां कुण्डलिनीं पुच्छे प्रगृह्योद्बोधयेत्प्रबोधयेत्सा शक्तिः कुण्डली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वं तिष्ठत इत्यन्वयः । एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगन्तव्यम् ॥ १११ ॥

अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या
प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ ११२ ॥

अवस्थितेति । अवस्थिताऽवाक् स्थिता मूलाधारस्थिता फणावती भुजंगी सा कुण्डली सूर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्धमेव प्रहरार्धमात्रं मुहूर्तद्वयमात्रं परिचालनीया परितश्चालयितुं योग्या । परिधानयुक्तिर्देशिका-द्बोध्या ॥ ११२ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ॥ ११३ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाह—ऊर्ध्वमिति । मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरि नाभिमेढ्रयोर्मध्ये । एतेन कंदस्य स्थानमुक्तम् । तथा चोक्तं गोरक्षशतके—'ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगाण्डवत् । तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥' इति । याज्ञवल्क्यः—'गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः । देहमध्यं तनोर्मध्यं मनुजानामितीरितम् ॥ कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलविस्तारमायामं च तथाविधम् ॥ अण्डाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः । चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुन्दमध्यगम् ॥' इति । गुदाद् द्व्यङ्गुलोपर्येकाङ्गुलं मध्यं तस्मान्नवाङ्गुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशाङ्गुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम् । चतुर्णामङ्गुलीनां समाहारश्चतुरङ्गुलं चतुरङ्गुलप्रमाणं विस्तारम् । विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणम् । चतुरङ्गुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदम्बरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम् । कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ ११३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ११४ ॥

सतीति । वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रन्थी तयोर्देशौ प्रदेशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ' इत्यमरः । पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात् । चकाराद्धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत् । गुल्फादूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥ ११४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५ ॥

वज्रासन इति । वज्रासने स्थितो योगी कुण्डलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां कृत्वेत्यर्थः । अनन्तरं शक्तिचालनानन्तरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुम्भकं कुर्यात् । एवंरीत्या कुण्डलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात् । वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं शक्तिचालनानन्तरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥ ११५ ॥

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ११६ ॥

भानोरिति । भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुञ्चनं कुर्यात् । नाभेराकुञ्चनेनैवास्याकुञ्चनं भवति । ततो भानोराकुञ्चनात्कुण्डलीं शक्तिं चालयेत् । मृत्योर्वक्त्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ११६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्णायां समुद्गता ॥११७॥

मुहूर्तद्वयमिति । मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यन्तं तदवधि निर्भयं निःशङ्कं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्णायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ॥११८॥

तेनेति । तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुण्डलिनी तस्याः प्रसिद्धायाः सुषुम्णाया मुखं प्रवेशमार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति । तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतः स्वयमेव सुषुम्णां व्रजति गच्छति । सुषुम्णामुखात्प्रागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥११९॥

तस्मादिति। यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणः सुषुम्णां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुन्धतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत्। तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ११९ ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२० ॥

येनेति। येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति। अत्रास्मिन्नर्थे बहुनोक्तेन बहुप्रशंसनेन किम्? न किमपीत्यर्थः। कालं मृत्युं लीलया क्रीडयाऽनायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ १२० ॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः ॥

ब्रह्मचर्येति। ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा, तस्य मण्डलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनन्तरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते। 'नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चन्द्राभः परिपूरितामृत-

तनुः प्राग्घण्टिकायास्ततः । छित्त्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरन्ध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कन्धवत्' ॥ १२१ ॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२ ॥

कुण्डलीमिति । कुण्डलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा । अथानन्तरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुम्भकं कुर्यात् । नित्यं प्रतिदिनम् । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यसतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः ? न कुतोऽपीत्यर्थः । योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ १२२ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥ १२३ ॥

द्वासप्ततीति । द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुण्डल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः ? न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ १२३ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२४ ॥

इयं त्विति । इयं मध्यमा नाडी सुषुम्णा योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ १२४ ॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥१२५॥

अभ्यास इति । समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वाऽन्तःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाऽभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषाम् । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथ वा पराऽन्या उन्मन्यादिका भद्रा शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ १२५ ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्राऽपि न शोभते ॥१२६॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह—राजयोगमिति । वृत्त्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्वि-

कल्पकवृत्ती राजयोगः। हठं विना राजयोग इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते। पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणः राजयोगादासनं लक्ष्यते। राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धेरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः। राजयोगं विना निशेव निशा कुम्भको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात्। निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुम्भको लक्ष्यते। राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्राऽपि विविधाऽपि विलक्षणाऽपि वा न राजते न शोभते। पक्षान्तरे। राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबन्धस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते, शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात्। राजा चन्द्रः, 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा, इति श्रुतेः। तस्य योगं संबन्धं विना निशा रात्रिर्न राजते। राजयोगं विना नृपसंबन्धं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः। विचित्राऽपि। पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणाऽपि, निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्राऽपि, मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्राऽपि न राजते॥ १२६॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा॥ १२७॥

मारुतस्येति । मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुम्भकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत् । मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ १२७ ॥

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥१२८॥

मुद्रा उपसंहरति—इतीति । आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः । तासु मुद्रासु मध्ये एकैकाऽपि प्रत्येकमपि या काचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्यणिमादिप्रदात्री वा ॥ १२८ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥१२९॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति—उपदेशमिति । यः पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरम्परारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति, स एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः । स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः । ईश्वराभिन्न एव स इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम् ॥१३०॥

तस्येति। तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुम्भकाद्यनुष्ठानविषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान्। आदरश्च विहिततपःकरणम्। भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्धं साकं कालस्य मृत्योर्वञ्चनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानन्दकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ॥ ६४ ॥
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।

अहोरात्रनिर्वर्त्योच्छ्वासनिःश्वासरूपहंसविद्याऽजपास्वरूपमाह — **हकारेणेति** ॥ ६१ ॥ प्राणापानव्यापारोच्छ्वासनिःश्वासव्यापार एव हंसमनुः तं **हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं** हंसमन्त्रावर्तनसंख्येयत्तामाह — **शनानीति** ॥ ६२ ॥ **स्वयमजपन्** तूष्णीं तिष्ठन्नपि एतन् इति । या अजपता जपभावमेति सेयं **अजपा गायत्री** सदैवमनुसन्धानयोगिनां **मोक्षदा** भवति ॥ ६३ ॥ यतः एवं अतः **अस्याः** इति । अजपां स्तौति—**अनयेति** ॥ ६४ ॥

कुण्डलिनीबोधनेन मोक्षद्वारविभेदनम्

येन मार्गेण गन्तव्यं [1]ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥ ६५ ॥
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ॥ ६६ ॥
सूचिवद्गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा [2]कुञ्चिकया हठात् ॥ ६७ ॥
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ ६८ ॥
कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वाऽथ पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयन्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोध[3]मतुलं शक्ति[4]प्रभावान्नरः ॥ ६९ ॥

[1] ब्रह्मरन्ध्रं—क. ब्रह्मद्वारं—अ २. [2] कुञ्चितया—अ १, अ २.
[3] ममलं—क. [4] प्रवाहान्न—अ २ (पाठान्तरत्वेन).

कुण्डलिनीस्थितिमाह— येनेति । "तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितं" इति श्रुत्यनुरोधेन सहस्रारचक्रं ब्रह्मस्थानं, तत्रैवोपलभ्यते हि ब्रह्म योगिनाम् । तत्र स्वातिरिक्तामयवैरल्यात् निरामयम् ॥ ६५ ॥ येन सुषुम्नामार्गेण तद्गन्तव्यं तद्द्वारं स्वमुखेन आच्छाद्य परमेश्वरी कुण्डलिनी प्राणिसामान्यजठरे प्रसुप्ता भवति । सा कदा प्रतिबुध्यते इत्यत्र योगिनः केवलकुम्भकावस्थायां मूलाधारस्थाग्निना मनसा मरुता च सह प्रबुद्धा सती ॥ ६६ ॥ सूक्ष्मसूचिवत् गुणं भोगमादाय सुषुम्नयोर्ध्वं ब्रह्मस्थानं सहस्रारं व्रजति । कुण्डलिन्या सुषुम्नावदनं विभेदयेदित्याह—**उद्घाटयेदिति** । **यथा नरो हठात् कुञ्चिकाप्रयत्नेन** कवाटमुद्घाटयेत् तथैव योगी कुण्डलिन्या मोक्षहेतुसुषुम्नाद्वारं विभेदयेदित्यर्थः ॥ ६७–६८ ॥ सुषुम्नामार्गभेदोपायमाह— **कृत्वेति** । आदौ योगी पद्मासनं बद्ध्वा अथ स्वकरौ **संपुटितौ कृत्वा वक्षसि चुबुकं** चेतसि स्वस्वरूपध्यानं च सन्निधाय वारंवारमपानानिलमूर्ध्वं **प्रोच्चारयन्** आकुञ्चयन् एवं पूरितं प्राणं सुषुम्नायां **मुञ्चन्** नरो योगी सुषुम्नां प्रविष्टकुण्डलिनीशक्तिप्रभावात् निरुपमं अतुलं निरतिशयं ब्रह्माहं अहमेव ब्रह्मेति ब्रह्मात्मबोधमुपैति ॥ ६९ ॥

ब्रह्मचर्यादिना कुण्डलिनीबोधः

पद्मासनस्थितो योगी नाडीद्वारेषु पूरयन् ।
मारुतं कुम्भयन्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ७० ॥
अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमजातेन वारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरपानरतः सुखी ॥ ७१ ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ७२ ॥
[1]कन्दोर्ध्वकुण्डलीशक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।

[1] कन्दोर्ध्वे—उ.

एवं सुषुम्नाकुम्भकान्मुक्तो भवतीत्याह पद्मेति । यस्तु पुनः योगी पद्मासने स्थित्वा बाह्यं वायुमिडया आकृष्य नाडीद्वारेषु पूरयन् पूरितं मारुतं कुम्भयन् सुषुम्नां प्रापयित्वा यदा योगी ब्रह्मरन्ध्रं भिनत्ति सोऽयं योगी ततो ब्रह्मरन्ध्रं भित्त्वा यत्प्राप्यं तत् प्राप्य मुक्तो भवतीत्यत्र न हि संशयोऽस्तीत्यर्थः ॥ ७० ॥ तत्रोपायमाह —अङ्गानामिति । अभ्यासदशाया-मादौ प्राणायामकाले स्वेदो जायते । तेन सर्वाङ्गानां मर्दनं कृत्वा दृढकायो भूत्वा तदानीं कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरपानरतः सुखी ॥ ७१ ॥ एवं ब्रह्मचर्यादिनियमसम्पन्नो भूत्वा संवत्सरादूर्ध्वं सिद्धो भवति ॥ ७२ ॥ यस्य नाडीकन्दोर्ध्वभागे सुषुम्नायां कुण्डलिनीशक्तिः स्यात् सोऽयं योगी योगसिद्धिभाजनं भवति ॥

बन्धत्रयम्

अपानप्राणयोरैक्यं [1]क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ॥ ७३ ॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ।
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ॥ ७४ ॥
अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ।
उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः ॥ ७५ ॥
उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते ।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ॥ ७६ ॥
उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ।
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम् ॥ ७७ ॥
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठ[2]संकोचलक्षणे ॥ ७८ ॥

[1] क्षयोमू—अ १.
[2] दुःखौघल—अ २.

तदङ्गत्वेन बन्धत्रयं तत्फलं चाचष्टे—अपानेति ॥ ७३–७५ ॥ उदरसङ्कोचनं पश्चिमं ताणमित्यर्थः ॥ ७६ ॥ अयमुड्डियाणबन्धः शिरोनभोजातं सहस्रारनभोविद्यमानं सर्वरोगाकरं कफजलं बध्नाति शुष्कं करोतीत्यर्थः ॥ ७७–७८ ॥

खेचरीमुद्राऽभ्यासः

न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥ ७९ ॥
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥ ८० ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥ ८१ ॥
बध्यते न च कालेन यस्य मुद्राऽस्ति खेचरी ।
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा भवति खेगता ॥ ८२ ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धनमस्कृता ।

योगाङ्गतया बन्धत्रयमुक्त्वाऽथ खेचरीमुद्रां तदभ्याससिद्धफलं चाह—कपालेति ॥ ७९ ॥ तदभ्यासान्तरालिकफलं तु न रोग इति ॥ ८०–८२ ॥

खेचर्यभ्यासेन वज्रोलिसिद्धिः

खेचर्या मुद्रया यस्य विवरं [1]लम्बिकोर्ध्वतः ॥ ८३ ॥
[2]बिन्दुः क्षरति नो यस्य कामिन्यालिङ्गितस्य च ।
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ॥ ८४ ॥

[1] बन्धि—अ २.   [2] बीजं—अ २.

यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ।
गलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले ॥ ८५ ॥
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ।

खेचरीमुद्रारूढस्य जीवनहेतुबिन्दुस्थैर्यं वज्रोळिसिद्धिरपि भवतीत्याह—**खेचर्येति । खेचर्या मुद्रया यस्य जिह्वा लम्बिकायाः अन्तर्जिह्वाया ऊर्ध्वतः तद्विवरं प्रविशति ॥ ८३ ॥ यच्छब्दस्तच्छब्दार्थः । अप्यर्थः चकारः । कामिन्यालिङ्गितस्यापि यस्य तस्य नैव बिन्दुः शुक्लं क्षरति । यावद्बिन्दुस्थैर्यं** जायते तावत्तस्य मृत्युभयं कुतः संभवति ॥ ८४ ॥ यावत्खेचरीमुद्रा बद्धा भवेत् तावद्बिन्दुः न गच्छति । यदा गळितोऽपि बिन्दुः योनिमण्डले संप्राप्तोऽपि ॥ ८५ ॥ तदा वज्रोळिसंस्कृतयोनिमुद्रया हठाच्छक्त्या ऊर्ध्वं व्रजति ॥

द्विविधबिन्द्वैक्यबोधतो जीवन्मुक्तत्वम्

स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ॥ ८६ ॥
पाण्डरं शुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ।
विद्रुमद्रुमसंकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः ॥ ८७ ॥
शशिस्थाने वसेद्बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ।
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ॥ ८८ ॥
उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं वपुः ।
वायुना शक्ति[1]चालेन प्रेरितं खे यथा रजः ॥ ८९ ॥
रविणैकत्वमायाति भवेद्दिव्यवपु[2]स्तदा ।
शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्यसमन्वितम् ॥ ९० ॥
द्वयोः समरसीभावं यो जानाति स योगवित् ।

[1] जालेन—अ १. [2] स्तथा—क, अ १.

बिन्दोर्द्वैविध्यं तयोरैक्यप्रबोधतो जीवन्मुक्तत्वं चाह— स एवेति ॥ ८६ ॥ मूलाधारस्थं योनिस्थानं तत्र रजो देवीतत्त्वं जीवाख्यं वा भवति ॥ ८७ ॥ भ्रूमध्यसहस्रारमध्यं शशिस्थानं, तत्र बिन्दुः शिवतत्त्वं वसति। तयोः शिवशक्त्योः जीवपरयोर्वा ऐक्यं योगिनो विना यस्य कस्यापि दुर्लभं भवेत् ॥ ८८–९० ॥ शुक्लरजोरूपभ्रूसहस्रारमध्यस्थसोमसूर्यैक्यं यो जानाति स योगवित् ब्रह्मवित् भवतीत्यर्थः ॥

महामुद्राऽभ्यासः

शोधनं मलजालानां घटनं चन्द्रसूर्ययोः ॥ ९१ ॥
रसानां शोषणं सम्यङ् महामुद्राऽभिधीयते ॥ ९२ ॥
वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुषिरं योनेश्च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन् प्रविततं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचये-
देषा पातक[1]नाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥९३॥

महामुद्रालक्षणमुच्यते - शोधनमिति । नानासाधनसिद्धरेचकपूरककुम्भकात्मकप्राणायामशुद्धोदकेन नाडीगतमलजातशोधनं चन्द्रसूर्ययोरैक्यं वातपित्तादिरसानां शोषणं च यया भवति सेयं महामुद्रेत्यभिधीयते ॥ ९१–९२ ॥ महामुद्राभ्यासमाह - वक्ष इति । आदौ योगी जालन्धरबन्धमारोप्य वामाङ्घ्रिणा योनिसुषिरं निपीडय प्रसारितदक्षिणपादं हस्ताभ्यां धारयन् कुक्षियुगळं श्वसनेनापूर्य कुम्भयित्वाऽथ शनैरिडया रेचयेत् । सैषा रीतिः सर्वपातकनाशिनी नृणां योगिनां योगविघ्ननाशिनी महामुद्रेति प्रोच्यते ॥ एवं प्राणायाम उक्तः । अनात्मदेहादि[2]गताहंभावं [वस्य] प्रतीचि प्रत्याहरणं

[1] नाशनी—उ, मु. [2] गतं भा—उ १.

प्रत्याहारः । प्रत्यगेव ब्रह्मेति निश्चयो धारणा भवति । अहं ब्रह्माऽस्मि ब्रह्मैवाऽहमस्मि इति दृढभावना ध्यानम् । ध्यानादित्रिपुटीविकल्पलयो निर्विकल्पसमाधिः । "षडङ्गो योग उच्यते" इति प्रतिज्ञातत्वात् तदनुरोधेन प्रतिवचनाभावेऽप्येवं प्रत्याहारादि ऊह्यमित्यर्थः ॥ ९३ ॥

हृदये आत्मसाक्षात्कारः

अथात्मनिर्णयं व्याख्यास्ये—हृदि स्थाने अष्टदलपद्मं वर्तते तन्मध्ये रेखावलयं कृत्वा जीवात्मरूपं ज्योतीरूपमणुमात्रं वर्तते । तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं भवति सर्वं जानाति सर्वं करोति सर्वमेतच्चरितमहं कर्ताऽहं भोक्ता सुखी दुःखी काणः खञ्जो बधिरो मूकः कृशः स्थूलोऽनेन प्रकारेण स्वतन्त्रवादेन वर्तते ॥ ९३–१ ॥ पूर्वदले विश्रमते पूर्वदलं श्वेतवर्णं तदा भक्तिपुरःसरं धर्मे मतिर्भवति ॥ ९३–२ ॥ यदाऽऽग्नेयदले विश्रमते तदाग्नेयदलं रक्तवर्णं तदा निद्रालस्यमतिर्भवति ॥ ९३–३ ॥ यदा दक्षिणदले विश्रमते तद्दक्षिणदलं कृष्णवर्णं तदा द्वेषकोपमतिर्भवति ॥ ९३–४ ॥ यदा नैर्ऋतदले विश्रमते तन्नैर्ऋतदलं नीलवर्णं तदा पापकर्महिंसामतिर्भवति ॥ ९३–५ ॥ यदा पश्चिमदले विश्रमते तत्पश्चिमदलं स्फटिकवर्णं तदा क्रीडा[1]विनोदमतिर्भवति ॥ ९३–६ ॥ यदा वायव्यदले विश्रमते वायव्यदलं माणिक्यवर्णं तदा गमन[2]चालनवैराग्यमतिर्भवति ॥ ९३–७ ॥ यदोत्तरदले विश्रमते तदुत्तरदलं पीतवर्णं तदा सुखशृङ्गारमतिर्भवति ॥ ९३–८ ॥ यदेशानदले

[1] विनोदे—क, अ १, अ २. [2] चलन—क, अ २.

मिताहारः

एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम् ।
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशावशेषकः[1] ॥ ३ ॥
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।

तत्र सुस्निग्धेति ॥ ३–४ ॥

पद्मवज्रासन

आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा ॥ ४ ॥
ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५ ॥
वामाङ्घ्रि[2]मूलं कन्दाधः अन्यं तदुपरि क्षिपेत् ।
समग्रीवशिरःकायो वज्रासनमितीरितम् ॥ ६ ॥

तत्र पद्मासनलक्षणं तु ऊर्वोरिति ॥ ५–६ ॥

शक्तिचालनं तत्साधनद्वयं च

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्बुधः ।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते ॥ ७ ॥
तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम् ।
प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत् ॥ ८ ॥

[1] शविवर्जितः—क, अ १, अ २.   [2] मूल—अ १.

किं तच्छक्तिचालनमित्यत्र कुण्डल्येव ॥ ७ ॥ तत्साधनं किमित्यत्र तत्साधने इति ॥ ८–१४ ॥

सरस्वतीचालनम्

तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते ।
अरुन्धत्यैव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती ॥ ९ ॥
यस्याः संचालने[1] नैव स्वयं चलति कुण्डली ।
इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम् ॥ १० ॥
द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च अम्बरं चतुरङ्गुलम् ।
विस्तीर्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः ॥ ११ ॥
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ।
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनःपुनः ॥ १२ ॥
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः ।
ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्नां कुण्डलीगता ॥ १३ ॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥ १४ ॥
तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठसंकोचने कृते ।
सरस्वत्याश्चालनेन वक्षः स्यादूर्ध्वगो मरुत् ॥ १५ ॥
सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने ।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षः स्यादूर्ध्वगो मरुत् ॥ १६ ॥

[1] चैव—क.

तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भां सरस्वतीम् ।
यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ १७ ॥
गुल्मं जलोदरप्लीहो ये चान्ये तुन्दमध्यगाः ।
सर्वे ते शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम् ॥ १८ ॥

मूलादिबन्धत्रयपूर्वकं सरस्वतीचालनतः वक्षः वक्षसः ऊर्ध्वगो मरुत् स्यात् ॥ १५ ॥ उक्तार्थमेतत् ॥ १६ ॥ यस्मादेवं तस्मात् ॥ १७–२४ ॥

प्राणायामभेदाः

प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः ।
प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः ॥ १९ ॥
स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा ।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥ २० ॥
सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका ।
भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः ॥ २१ ॥

पवित्रे निर्जने देशे शर्करादिविवर्जिते ।
धनुःप्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते ॥ २२ ॥
पवित्रे नात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे ।
बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम् ॥ २३ ॥

भस्त्राकुम्भकः

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः ।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ३२ ॥
यथा लगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः ।
वेगेन पूरयेत् किंचिद्धृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ३३ ॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ३४ ॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः ।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण [1]रेचयेत् ॥ ३५ ॥
यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु ।
धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ ३६ ॥
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयाऽनिलम् ।
कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ३७ ॥
कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम् ।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ३८ ॥
गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥ ३९ ॥

बन्धत्रयविधिः

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते ।
बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः ॥ ४० ॥

[1] पूर—क, अ १, अ २.

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः ।
जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते ॥ ४१-॥

मूलबन्धः

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥ ४२ ॥
अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले ।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥ ४३ ॥
ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ४४ ॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दण्डाहतभुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ४५ ॥
बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ४६ ॥

हता चलिता ॥ ४३–६२ ॥

उड्डियाणबन्धः

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥ ४७ ॥
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ ४८ ॥

गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।
पश्चिमं ताणमुदरे धारयेद्धृदये गले ॥ ४९ ॥
शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्धिं निगच्छति ।
तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः ॥ ५० ॥

जालन्धरबन्धः

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ॥ ५१ ॥
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ५२ ॥
पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः ।
चालनं तु सरस्वत्याः कृत्वा [1]प्राणं निरोधयेत् ॥ ५३ ॥

अभ्यासकुम्भकसंख्यानियमः

प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम् ।
प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा ॥ ५४ ॥
विंशत्यलं तृतीयेऽह्नि पञ्चवृद्ध्या दिने दिने ।
कर्तव्यः कुम्भको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः ॥ ५५ ॥

योगाभ्यासविघ्नाः, तत्त्यागश्च

दिवा [2]सुप्तिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात् ।
बहुसंक्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः ॥ ५६ ॥

[1] प्राणान्—उ १. [2] सिनि—अ १.

रुद्रग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥ ८६ ॥
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणा ॥ ८७ ॥

इति ॥

इत्थंभूतज्ञानोपायतया समाधियोगमाचष्टे—**शक्तिरिति** ॥ ८२–८४ ॥ घातेनेत्यत्र **घातोरिति** छान्दसः ॥ ८५ ॥ षट्चक्रालङ्कारग्रन्थित्रयभेदनानन्तरं इयं कुण्डलिनीशक्तिः **शिवेन सह** सहस्रारे **मोदते** ॥ ८६ ॥ स्वविकल्पित-भेदप्रपञ्चं ग्रसित्वा निर्विशेषब्रह्मविद्यारूपमासाद्य स्वयमपि निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्र-पर्यवसन्नेति याऽवस्थोक्ता **सैवावस्था परा** विदेहमुक्तिरिति **ज्ञेया** । **सैव निर्वृतिकारणा,** तस्याः परमानन्दाविर्भावहेतुत्वात् । इतिशब्दो हठयोगसमाप्त्यर्थोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थश्च ॥ ८७ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः

द्वितीयोऽध्यायः

खेचरीविद्या

अथाहं संप्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम् ।
यथा [1]विज्ञातवानस्य लोकेऽस्मिन्नजरामरः ॥ १ ॥
मृत्युव्याधिजराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने ।
बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत् ॥ २ ॥

[1] विज्ञान—अ २.

जरामृत्यु[1]गदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले ।
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥ ३ ॥
तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत् ।
दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोऽपि दुर्लभः ॥ ४ ॥
अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिध्यति ।
अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम् ॥ ५ ॥
अभ्यासं लभते ब्रह्मन् जन्मजन्मान्तरे क्वचित् ।
मेलनं जन्मनां तत्तु शतान्तेऽपि न लभ्यते ॥ ६ ॥
अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्भावसाधितम् ।
मेलनं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित् ॥ ७ ॥
यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः ।
तदा तत्सिद्धिमाप्नोति [2]यदुक्ता शास्त्रसंततौ ॥ ८ ॥
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलनं लभते यदा ।
तदा शिवत्वमाप्नोति निर्मुक्तः सर्वसंसृतेः ॥ ९ ॥
शास्त्रं विनाऽपि संबोद्धुं गुरवोऽपि न शक्नुयुः ।
तस्मात्सुदुर्लभतरं [3]लभ्यं शास्त्रमिदं मुने ॥ १० ॥
यावन्न लभ्यते शास्त्रं तावद्गां पर्यटेद्यतिः ।
यदा संलभ्यते शास्त्रं तदा सिद्धिः करे स्थिता ॥ ११ ॥

[1] गदा—उ, उ १. [2] यदुक्तं—उ, उ १. [3] लभ्य—उ, उ १.

न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा चैव जगत्त्रये ।
तस्मान्मेलनदातारं शास्त्रदातारमच्युतम् ॥ १२ ॥
तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा समाश्रयेत् ।
लब्ध्वा शास्त्रमिदं [1]मह्यमन्येषां न प्रकाशयेत् ॥ १३ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता ।
यत्रास्ते च गुरुर्ब्रह्मन्दिव्ययोगप्रदायकः ॥ १४ ॥
तत्र गत्वा च [2]तेनोक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम् ।
[3]तेनोक्तः सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः ॥ १५ ॥
अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत् ।
खेचर्या खेचरीं युञ्जन् खेचरीबीजपूरया ॥ १६ ॥
खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत् ।

ज्ञानसहितहठयोगसर्वस्वं प्रतिपाद्य सप्रपञ्चं लम्बिकायोगमाचष्टे—**अथेति** । **यथा** यथावत् ॥ १–१२ ॥ **मह्यं** मत्तः ॥ १३–१५ ॥ **ह्रीमित्यादिखेचरीबीजपूरया**

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ।
मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा
शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवि ॥

इति श्रुतिसिद्धखेचरीमुद्रया **खेचरीयोगं युञ्जन्** यः कालं नयति ॥ १६ ॥ स योगी देहान्ते **खेचराधिपतिः** सूर्यो भूत्वा **खेचरेषु** खेचरणीयलोकेषु **सदा वसेत्** ॥

[1] गुह्य—क [2] तेनोक्तं—क, अ १, अ २, उ १. [3] तेनोक्त—अ १.

खेचरीमन्त्रराजोद्धारः

खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम् ॥ १७ ॥
आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति ।
सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ॥ १८ ॥
तस्मात् त्र्यं[1]शकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम् ।
तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेनापरं मुने ॥ १९ ॥
[2]तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमा ।
इन्दोश्च बहुभिन्नं च कूटोऽयं परिकीर्तितः ॥ २० ॥

मेळनमन्त्रराजमुद्धरति—**खेचरेति** । खवाचकतया चरतीति **खेचरः** हकारः **आवसथमिति** धारणाशक्तिरीकारः रेति **वह्निः अम्बुमण्डलमिति** बिन्दुः । एतत् सर्वं मिळित्वा **भूषितं** ह्रीमिति ॥ १७ ॥ **खेचरीबीजं आख्यातम्** । तेनैव लम्बिकायोगः **प्रसिध्यति** । शिष्टबीजषट्कमप्यम्बुमण्डल-भूषितमिति ज्ञेयम् । **सोमांशः** सकारः चन्द्रबीजं तत्प्रतिलोमेन **तन्नवकं वर्णमुद्धरेत्** भमिति ॥ १८ ॥ **तस्मात्** भकारादनुलोमेन **त्रित्र्यंशकं** चन्द्रबीज-**माख्यातं** समिति । **तस्मात्** सकारात् **विलोमेन अपरमष्टमं वर्णमुद्धरेत्** [3]ममिति ॥ १९ ॥ तथा मकारात् विलोमेन अपरं पञ्चमवर्णं[4]पमिति **विद्धि** । पुनरिन्दोश्च बीजं समित्युद्धरेत् । बहुभिः ककारषकारबिन्दुभिः युक्तोऽयं **कूटः** क्षमिति । आहत्य बीजानि सप्त—ह्रीं, भं, सं, मं, पं, सं, क्षं, इति ॥ २०–२१ ॥

मन्त्रजपात् खेचरीसिद्धिः

गुरूपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम् ।
यत्तस्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया ॥ २१ ॥

[1] वक—क. [2] तदा—क, अ १, अ २, उ १. [3] व—उ १. [4] ध—उ १.

स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य नित्यं द्वादशजप्यतः ।
य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः ॥ २२ ॥
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते ।
नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः ॥ २३ ॥
वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः ।
एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः ॥ २४ ॥
अन्यथा क्लिश्यते [1]ब्रह्मन्न सिद्धिः खेचरीपथे ।
यदभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम् ॥ २५ ॥
ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां सदा जपेत् ।
नान्यथा रहितो ब्रह्मन्न किंचित्सिद्धिभाग्भवेत् ॥ २६ ॥
[2]यदिदं लभ्यते शास्त्रं तदा विद्यां समाश्रयेत् ।
ततस्तदोदितां सिद्धिमाशु तां लभते मुनिः ॥ २७ ॥

नित्यं द्वादशवारं यो जपति स मायातीतो भवतीत्यर्थः ॥ २२–२७ ॥

खेचर्यभ्यासक्रमः

तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित् ।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ॥ २८ ॥
स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन लोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २९ ॥

[1] ब्रह्म न—क.
[2] यदि तं—अ १.

हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३० ॥
एवं क्रमेण षाण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत् ।
षाण्मासाद्रसनामूलं सिराबन्धं प्रणश्यति ॥ ३१ ॥
अथ वागीश्वरीधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत् ।
शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित् ॥ ३२ ॥
पुनः षाण्मासमात्रेण नित्यं संघर्षणान्मुने ।
भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि ॥ ३३ ॥
अधश्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रम[1]चारिता ।
पुनः संवत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया ॥ ३४ ॥
केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्शाखाऽवधिर्मुने ।
अधस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु ॥ ३५ ॥
ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः ।
तिर्यक् चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधिः ॥ ३६ ॥
शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकवाटभित् ।
पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता याति दुर्लभाम् ॥ ३७ ॥
तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तया षट्स्वरभिन्नया ।
कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादिहेतवे ॥ ३८ ॥
शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि ।
युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत् ॥ ३९ ॥

[1] चारितां—क. चारितः—अ १, अ २.

तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं मुनिपुङ्गव ।
• यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मबिलं व्रजेत् ॥ ४० ॥
तदा ब्रह्मार्गलं ब्रह्मन्दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वामात्रं निवेशयेत् ॥ ४१ ॥
एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं [1]प्रविश्यति ।
ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङ्मथनमाचरेत् ॥ ४२ ॥
मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः ।
खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिध्यते मथनं विना ॥ ४३ ॥
जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत् ।
स्वर्णजां रौप्यजां वाऽपि लोहजां वा शलाकिकाम् ॥ ४४ ॥
नियोज्य नासिकारन्ध्रं दुग्धसिक्तेन तन्तुना ।
[2]प्राणान्निरुध्य हृदये सुखमासनमात्मनः ॥ ४५ ॥
शनैः सुमथनं कुर्याद्भ्रूमध्ये न्यस्तचक्षुषि ।
[3]षाण्मासान्मथनावस्थाभावेनैव प्रजायते ॥ ४६ ॥
यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्तथा भवेत् ।
न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत् ॥ ४७ ॥
सदा रसनया योगी मार्गं न परिसंक्रमेत् ।
एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति [4]ध्रवा ॥ ४८ ॥

[1] प्रप—क.
[2] प्राणं नि—क, अ १, अ २.
[3] षाण्मासं म—क, अ २.
[4] ध्रुवं—अ २.

शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्माविभेदतः ।
ब्रह्माण्डोऽयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली ॥ ४९ ॥

इति ॥

अभ्यासक्रममाह—**तात्विति** ॥ २८–२९ ॥ कार्यान्तरं **हित्वेति** । हरीतकी **पथ्याशब्दार्थः** ॥ ३०–३१ ॥ **वागीश्वरीधामशिरः** जिह्वाग्रम् ॥ ३२–३४ ॥ **तिर्यक्छाखावधिः** शिखामूलमित्यर्थः ॥ ३५—३६ ॥ **दुर्लभां** दुर्लभताम् ॥ ३७ ॥ **षट्स्वरभिन्नया** ह्रां ह्रीं इत्यादिनेत्यर्थः ॥ ३८–४० ॥ **ब्रह्मार्गळं** अन्तर्जिह्वासुषिरम् ॥ ४१–४७ ॥ एवं गुरुमुखात् लम्बिकाविद्यां अभ्यस्य द्वादशवर्षानुष्ठानात् लम्बिकायोगसिद्धिः भवति ॥ ४८ ॥ **शरीरे सकलं विश्वं पश्यती**त्यनेन विराट्सूत्रबीजतुर्यरूपं क्रमेण प्रतिपद्यते । यत्र सहस्रारे **राजदन्तोर्ध्वकुण्डली** जिह्वा प्रसरति सोऽयं मार्गः ब्रह्माण्डनिभो भवति, सुपथत्वात् । **इति**शब्दः लम्बिकायोगसमाप्त्यर्थः, द्वितीयाध्यायसमाप्त्यर्थश्च भवति ॥ ४९ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

तृतीयोऽध्यायः

मेळनमन्त्रः

ह्रीं [1]भं सं [2]मं [3]पं सं क्षम् ।

मेळनमनुं कण्ठतः पठति—**ह्रीमिति** ।

[1] हं—अ २. [2] पं—उ १.
[3] फं—उ १. वं—अ १. यं—अ २.

अजपागायत्र्या अनुसन्धानम्

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥ ३१ ॥
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
षट्शतानि दिवा[1]रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ॥ ३२ ॥
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥ ३३ ॥
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ॥ ३४ ॥
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ।
कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ॥ ३५ ॥
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ।

प्राणापानोच्छ्वासादिव्यापृतिरेव हंसमनुः अजपागायत्री जीवनिर्वर्त्या भवतीति अजपेयत्तां तज्ज्ञानफलं चाह—**हकारेणेति** ॥ ३१–३३ ॥ उच्छ्वासनिःश्वासयोः हंसः सोऽहमित्यजपाऽनुसन्धानेन जीवः **सर्वपापैः प्रमुच्यते** । अजपां स्तौति—**अनयेति** ॥ ३४ ॥ अजपा कुण्डलिनीजन्येति ज्ञानफलमाह—**कुण्डलिन्यामिति** ॥ ३५ ॥

कुण्डलिन्या मोक्षद्वारभेदनम्

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ॥ ३६ ॥
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्म[2]द्वारमनामयम् ॥ ३७ ॥

[1] रात्रं—क, अ २.   [2] द्वारं मनो—अ २.

मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ॥ ३८ ॥
सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।
उद्धाटयेत्कवाटं तु [1]यथा कुञ्चिकया गृहम् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ३९ ॥
कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं [2]बद्ध्वाऽथ पद्मासनं
गाढं वक्षसि संनिधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेष्टितम् ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चा[3]रयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥ ४० ॥
अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ४१ ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ४२ ॥
सुस्निग्धमधुरा[4]हारश्चतुर्था[5]शावशेषितः ।
भुञ्जते शिवसंप्रीत्या मिता[6]हारी स उच्यते ॥ ४३ ॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा ॥ ४४ ॥

[1] यदा—क, अ १.
[2] बद्ध्वा तु—क, अ १, अ २.
[3] रितं—क. रयन्—अ २.
[4] हारं च—अ १.
[5] शविवर्जितः—क, अ २. शावशेषितं—अ १.
[6] हारः—क, अ २.

सर्वप्राण्याधारकुण्डलिनीस्वरूपं तद्व्याप्तिं चाह—**कन्देति** ॥ ३६ ॥ सुषुम्नाख्यं **ब्रह्मद्वारमुखम्** ॥ ३७ ॥ अयोगिनां मूलाधारप्रदेशे-प्रसुप्ता । योगिनां योगकाले **प्रबुद्धा** ॥ ३८ ॥ यतः इयं मोक्षद्वारभेदनपटुः अतः कुञ्चिकया देवालयकवाटमिव योगी तया मोक्षद्वारं विभेदयेदित्याह—**उद्घाटयेदिति** ॥ ३९ ॥ तद्भेदनोपायं तत्फलं चाह—**कृत्वेति** । **नरो** योगी **स्वहृदयसमं स्वकरौ सम्पुटितौ कृत्वा पद्मासनं बद्ध्वा गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं** कण्ठसङ्कोचलक्षणजालन्धरबन्धमारोप्य मूलबन्धेन **वारंवारं अपानं ऊर्ध्वं अनिलपूरितं प्रोच्चारयेत्** ऊर्ध्वं प्राणेनैक्यं नयेत् । ऐक्यानन्तरं केवल-कुम्भकमास्थाय कुण्डलिनीशक्तिप्रभावात् तत्कुण्डलिनीचेष्टितं प्राणादिव्यापारं **मुञ्चन्** शरीरत्रयकलनाविरळं ब्रह्मास्मीति मननं ध्यानं च कृत्वा सम्यक् प्रबोधमेत्य तत्समकालं **प्राणं** परमात्मानं **उपैति** ॥ ४० ॥ एवं साधनानुष्ठानवान् योगी अचिरात् सिद्धो भवतीत्याह—**अङ्गानामिति** । यद्यभ्यासकाले स्वेदो जायते तदा **अङ्गानां . . . वारिणा** दृढकायो भवेदित्यर्थः । योगानुकूलाहार-नियममाह—**कट्विति** ॥ ४१–४३ ॥ अयोगियोगिनां इयं शक्तिः बन्धमोक्षहेतुः स्यादित्याह—**कन्देति** । कन्दाधोभागे यदि स्थिता तदा **बन्धनाय** । यदि सुषुम्नामार्गेण कन्दोर्ध्वमार्गं गता तदा **योगिनां मोक्षदा** ॥ ४४ ॥

बन्धत्रयम्

महामुद्रा नभोमुद्रा [1]ओड्याणं च जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम् ॥ ४५ ॥
पार्ष्णिघातेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो[2]यमुच्यते ॥ ४६ ॥

[1] ओड्या—क, अ १, अ २. [2] विधीयते—क, अ १, अ २.

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति [1]वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ४७ ॥

ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
ओड्डियाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ४८ ॥

उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते ।
ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥ ४९ ॥

बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ५० ॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठ[2]दुःखौघनाशने ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥ ५१ ॥

वक्ष्यमाणमहामुद्राऽऽदिज्ञानतो मुक्तिभाक् भवतीत्याह––महामुद्रेति ॥ ४५ ॥ मूलबन्धादिलक्षणमाह––पार्ष्णीति ॥ ४६ ॥ तत्फलमेतत्––अपानेति ॥ ४७–५२ ॥

खेचरीमुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ५२ ॥

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ५३ ॥

[1] वृद्धो वा––उ, उ १. [2] संकोचलक्षणे––क, अ १, अ २.

पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः ।
[1]बध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ५४ ॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे यतः ।
तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता ॥ ५५ ॥
बिन्दुमूलशरीराणि सिरा[2]यत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीराणि आपादतलमस्तकम् ॥ ५६ ॥
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥ ५७ ॥
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ ५८ ॥

तत्फलमेतत् न रोग इति ॥ ५३–५५ ॥ खेचरीमुद्रारूढाः योगिनः शरीरे सर्वं पश्यन्तीत्याह—बिन्द्विति । सिराशब्देन नाड्यः उच्यन्ते । तदुपलक्षितचतुर्दशभुवनानि यत्र प्रतिष्ठितानि तद्बिन्दुः ईश्वरः एव मूलं येषां अनन्तकोटिब्रह्माण्डानां तानि बिन्दुमूलानि तानि च शरीराणि अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डानि खेचरीमुद्रारूढयोगिनः स्वाधिष्ठितापादतलमस्तकं स्वशरीरं भावयन्ति महाविराड्भावं नयन्तीत्यर्थः ॥ ५६ ॥ किंच—खेचर्येति ॥ ५७ ॥ नभोमुद्रा खेचरीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

वज्रोल्यादियोगिलक्षणम्

ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥ ५९ ॥

[1] बाध्यते—क, अ १, अ २. [2] स्तव—अ १.

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ।
पाण्डरं शुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ॥ ६० ॥

सिन्दूरव्रातसंकाशं रविस्थानस्थितं रजः ।
शशिस्थानस्थितं शुक्लं तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥ ६१ ॥

बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ।
उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ६२ ॥

वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः ।
याति बिन्दुः सदैकत्वं भवेद्दिव्यवपुस्तदा ॥ ६३ ॥

शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः [1]सूर्यसमन्वितम् ।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥ ६४ ॥

वज्रोळ्यादियोगिलक्षणमाह—ज्वलितोऽपीति । यथा लोहद्रावकबिन्दुः लोहसान्निध्यात् ज्वलति तथाऽयं बिन्दुः योषित्सान्निध्यात् ज्वलितोऽपि पुरुषेण हुतं रेतः अश्नातीति हुताशनं योषिद्योनिमण्डलं संप्राप्तोऽपि लिंगाकुञ्चनलक्षणया योनिमुद्रया शक्त्या यथाबलं निरुद्धः सन् ऊर्ध्वमेव व्रजति नाधः पततीत्यर्थः । अस्यामरोळियोगसिद्धत्वात् तद्बिन्दुः कदाऽपि न क्षरतीति भावः ॥ ५९–६० ॥ भ्रूमण्डलोर्ध्ववामदक्षिणभागयोः रविशशिस्थाने भवतः । रजःशुक्लरूपयोः सूर्याचन्द्रमसोः ऐक्यं योगिनो विना यस्य कस्यापि दुर्लभमित्यर्थः ॥ ६१ ॥ किञ्च—बिन्दुरिति ॥ ६२ ॥ केन रवीन्द्वोरैक्यं, तेन किं जायते इत्यत आह—वायुनेति । यथा स्वशक्तिचालेन प्रचण्डवायुना प्रेरितं सद्रजो रविनैकत्वमायाति तथा वायुना सह कुण्डलिनीशक्तिचालेन प्रेरितं शशिमण्डलस्थं रजः, बिन्दुरिति तृतीयार्थे प्रथमा, बिन्दुना रविणा सदा एकत्वं

[1] सूर्येण संगतं—क, अ १, अ २.

याति । यदा सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं भवति तदा अयं योगी दिव्यवपुः भवेत् ॥ ६३–६४ ॥

महामुद्रा

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राऽभिधीयते ॥ ६५ ॥
वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचये-
देतद्व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥ ६६ ॥
चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः ।
या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६७ ॥
नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ६८ ॥
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ ६९ ॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ७० ॥

महामुद्रास्वरूपं तत्फलं चाह—शोधनमिति । यन्नाडीशुद्धिकरं चन्द्र-सूर्ययोरपि चालकं शरीरस्थदुष्टवातपित्तादिरसानां शोषणकरं भवति तदेव महामुद्रेत्यभिधीयते ॥ ६५ ॥ तदभ्यासप्रकारस्तु—आदौ जालन्धरबन्ध-

मारोप्य वामपादतलेन योनिं निपीड्य बहिः प्रसारितदक्षिणचरणं हस्ताभ्यां धारयन् चन्द्रनाडीसमुद्भवश्वसनेन वामदक्षिणकुक्षियुगळमापूर्य निरुच्छ्वासं बद्ध्वा कुम्भकान्ते पिंगळया शनैरेव रेचयेदिति यदेतत् सैषा नृणां सर्वव्याधिविनाशिनी महामुद्रा भवति ॥ ६६ ॥ एवं चन्द्रांशेनेति ॥ ६७–७० ॥

प्रणवजपः

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोंकारमव्ययम् ॥ ७१ ॥

एवं महामुद्रामभ्यस्य ततो यथोक्तविधिना प्रणवार्थानुसन्धानपूर्वकं प्रणवं सदा जपेदित्याह—पद्मेति ॥ ७१ ॥

प्रणवार्थरूपं ब्रह्म

ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरञ्जनं निराख्यातमनादिनिधनमेकं तुरीयं यद्भूतं भवद्भविष्यत् परिवर्तमानं सर्वदाऽनवच्छिन्नं परं ब्रह्म । तस्माज्जाता परा शक्तिः स्वयं ज्योतिरात्मिका । आत्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । तेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्रविष्णुब्रह्माणश्चेति । तेषां ब्रह्मविष्णुरुद्राश्चोत्पत्तिस्थितिलयकर्तारः । राजसो ब्रह्मा सात्त्विको विष्णुस्तामसो रुद्र इति । एते त्रयो गुणयुक्ताः । ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव । धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्रः प्रथमजा बभूवुः । एतेषां ब्रह्मणो लोका देवतिर्यङ्नरस्थावराश्च जायन्ते । तेषां मनुष्यादीनां

महाबन्धलक्षणम्

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ ११२ ॥
चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेत् ॥ ११३ ॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन [1]समभ्यसेत् ।
प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि मानयेत् ॥ ११४ ॥
अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत्

महामुद्रालक्षणं अन्यत्राम्नायते-

वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुषिरं योनेश्च वामांघ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगळं मूर्ध्नि स्थितं धारये-
देषा पातकनाशनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥

इति । महाबन्धलक्षणमाह—पार्ष्णिमिति ॥ ११२–११३ ॥ मानयेत् समर्पयेत् आरोपयेदित्यर्थः ॥ ११४ ॥ अभ्यसेत् वामांगवत् दक्षांगेऽपीत्यर्थः

महावेधलक्षणम्

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥ ११५ ॥
[2]वायूनां गतिमा[3]वृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ॥ ११६ ॥
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।

[1] ततोभ्य—क, अ १, अ २. [2] वायुना—क, अ १, अ २. [3] हृत्य—अ १.

वेधस्वरूपमाह—महाबन्धेति ॥ ११५ ॥ उच्छ्वासनिश्वासरेचकपूरकवायूनां गतिं आवृत्य आच्छाद्य कण्ठमुद्रया जालन्धरबन्धेन निरुध्य ततः प्राणवायुः इडापिंगळापुटद्वयं सम्यगाक्रम्य अतिक्रम्य सत्वरं सुषुम्नायां स्फुरतीति यत् अयमेव ॥ ११६ ॥

खेचरीस्वरूपम्

अन्तः कपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत् ॥ ११७ ॥
भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी

खेचरीस्वरूपमाह—अन्तरिति ॥ ११७ ॥

बन्धत्रयस्वरूपं तत्फलं च

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढया धिया ॥ ११८ ॥
बन्धो जालंधराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥ ११९ ॥
उड्याणाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः मुदाः ।
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढ ॥ १२० ॥
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते ।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ॥ १२१ ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ।

बन्धत्रयस्वरूपं तत्फलं चाह—कण्ठमिति ॥ १२१ ॥

विपरीतकरणीलक्षणं तत्फलं च

करणी विपरीताख्या [1]सर्वव्याधिविनाशिनी ॥ १२२ ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी ।

आहा[2]रा बहवस्तस्य [3]संपाद्याः साधकस्य च ॥ १२३ ॥

अल्पाहारा यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात् ।

अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ १२४ ॥

[4]क्षणात्तु [illegible]चिदधिकमभ्यसे[5]त्तु दिनेदिने ।

वलि[illegible] च प[illegible]तं चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते ॥ १२५ ॥

या[illegible]मात्रं [illegible] यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ।

[illegible]र्णी [illegible]नित्फलं चाह—करणीति ॥ १२२-१२३ ॥
स्वस्थितिविपरीत[illegible] क्रि[illegible]नु इति विपरीतकरणी । तदेव प्रपञ्चयति—
अध इति ॥ १२[illegible]-१[illegible]न ॥

क[illegible]

वज्रोळीस्वरूपम्

[illegible]म

[illegible]ीमभ्[illegible] सेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १२६ ॥

[illegible] यां तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता ।

[illegible]ान[illegible] तं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ १२७ ॥

[illegible]व[illegible] तत्फलं चाह—वज्रोळीमिति । किं नाम वज्रोळी?
कांस्यपात्रे गो[illegible] [illegible]क्षिप्य वज्रोळीतुल्यलिंगनाळेन प्रसित्वा पुनर्विरेच्य
[illegible]मा[illegible]

[1] [illegible]—अ १, अ २. [2] रो बहुल—अ १, अ २. रो बहुश—क.
[3] [illegible]—[illegible]१, अ २. [4] क्षणाच—क, अ १, अ २.
[5] [illegible]—अ १[illegible] १.

पुनर्प्रसनादिकमभ्यस्याथ स्त्रीयोनिमण्डले रेतो विसृज्य तच्छोणितेन साकं प्रसेदिति यत् सैव वज्रोळीत्युच्यते । यस्तामभ्यस्यति स तु सिद्धो भवतीत्याह —लभ्यत इति । सोऽयं योगी अतीतानागतं वेत्ति । तस्यैव खेचरी ॥ १२६–१२७ ॥

अमरोळीस्वरूपम्

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते ॥ १२८ ॥

अमरोळीस्वरूपमाह—अमरीमिति । अमरीशब्देन मूत्रमुच्यते । तत्र प्रथमान्त्यधारे विहाय मध्यधारां हस्ते पात्रे वा गृहीत्वा योऽयं योगी तत्त्रिभागं दिनेदिने पिबन् नासापुटयोः नस्यं कुर्वन् [illegible] यं व[illegible]ोळीमभ्यसेत् इति यत् सैव अमरोळीति कथ्यते । तथा च हठयोगत[illegible] अभि[illegible]नम्—

पित्तोल्बणत्वात् प्रथमां च धारां
विहाय निस्सारतयाऽन्यधाराम् ।
निषेव्यते शीतळमध्यधारा
वज्रोळिसिद्धैरमरोळिसिद्धैः ॥

इति । एवममरोळीसिद्धस्यामरीपाननस्यं विना [illegible] रि द्रुतदेति सैव सहजोळीत्युच्यते ॥ १२८ ॥

राजयोगनिष्पत्तिः

ततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम्
यदा तु राजयोगेन निष्पन्ना योगिभिः [1][illegible]याः ॥ १२९ ॥
तदा विवेकवैराग्यं जायते योगिनो ध्रुवम्
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः ॥ [illegible]० ॥
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ।

[1] क्रिया—क, अ १, अ २.

योगाभ्यासार्थं जितप्राणगुरूपसदनम्

अधुना संप्रवक्ष्यामि योगाभ्यासस्य लक्षणम् ॥ ७९ ॥

मरुज्जयो यस्य सिद्धः सेवयेत्तं गुरुं सदा ।

गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः ॥ ८० ॥

तदा पश्यति योगेनेत्युक्तं, सोऽयं योगः कीदृश इत्याकांक्षायां तदियत्तां ससाधनां सफलामाचष्टे—अधुनेति ॥ ७९ ॥ तत् गुरुमुखेनैव ज्ञेयमित्याह—मरुदिति ॥ ८० ॥

सरस्वतीचालनम्

वितस्तिप्रमितं दैर्घ्यं चतुरङ्गुलविस्तृतम् ।

मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ॥ ८१ ॥

आदौ सरस्वतीनाडीचालनपुरस्सरं कुण्डलिनीस्थितिं तच्चालनोपायं चाह—वितस्तीति । सरस्वतीनाडीमस्तकमुक्तलक्षणलक्षितवस्त्रेणावेष्टय ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय मुहूर्तपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत् ॥ ८१ ॥

कुण्डलीचालनेन ग्रन्थित्रयभेदः

निरुध्य मारुतं गाढं शक्तिचालनयुक्तितः ।

अष्टधा कुण्डलीभूतामृज्वीं कुर्यात्तु कुण्डलीम् ॥ ८२ ॥

पायोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्तदा ।

मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ८३ ॥

एतदेव परं गुह्यं कथितं तु मया तव ।

वज्रासनगतो नित्यमूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ॥ ८४ ॥

वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत् ।
संतप्ता साऽग्निना [1]जीवा शक्तिस्त्रैलोक्यमोहिनी ॥ ८५ ॥
प्रविशेच्चन्द्र[2]कुण्डे तु सुषुम्नावदनान्तरे ।
वायुना वह्निना सार्धं ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्ति सा ॥ ८६ ॥
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्त्वा रुद्रग्रन्थौ च तिष्ठति ।
ततस्तु कुम्भकैर्गाढं पूरयित्वा पुनःपुनः ॥ ८७ ॥

सरस्वतीनाडीचालनानन्तरं निरुध्य ॥ ८२ ॥ तदा वायोः । कुण्डलिनीचालनतोऽस्य विमृत्युत्वमाह—मृत्युवक्त्रेति ॥ ८३ ॥ कुण्डलीं चालयेदिति यदुक्तं सोपायं तदाह—वज्रेति ॥ ८४ ॥ आकुञ्चनोत्थवायुना । तेन दाहेन सन्तप्ता ॥ ८५ ॥ ततः सा किं करोतीत्यत्र प्रविशेत् । सुषुम्नायाः चन्द्रवत् शीतलत्वात् कुण्डलीतापशान्तिकरत्वं योग्यनुभवसिद्धमित्यर्थः । दृक्प्राणवायुना । मूलाधारप्रवेशमार्गकवाटाभं ब्रह्मग्रन्थिम् ॥ ८६ ॥ अनाहतकवाटं विष्णुग्रन्थिम् । आज्ञाकवाटे रुद्रग्रन्थौ । रुद्रग्रन्थिभेदनोपायमाह—तत इति ॥ ८७ ॥

कुम्भकचतुष्टयाभ्यासविधिः

अथाभ्यसेत्सूर्यभेदमुज्जायीं चापि शीतलीम् ।
भस्त्रां च सहितो नाम स्याच्चतुष्टयकुम्भकः ॥ ८८ ॥
बन्धत्रयेण संयुक्तः केवलप्राप्तिकारकः ।

कुम्भकभेदमाह—अथेति ॥ ८८–८९ ॥

[1] जीव—अ, मु. [2] कुण्डे—क. खण्डे—अ. तुण्डेन—अ २.

मुखेन वायुं संगृह्य घ्राणरन्ध्रेण रेचयेत् ॥ ९५ ॥

शीतलीकरणं चेदं हन्ति पित्तं क्षुधां तृषम् ।

शीतळीलक्षणमाह—मुखेनेति ॥ ९५ ॥

भस्त्रिकाकुम्भकलक्षणम्

स्तनयोरथ भस्त्रेव लोहकारस्य वेगतः ॥ ९६ ॥

रेचयेत्पूरयेद्वायुमाश्रमं देहगं धिया ।

यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत् ॥ ९७ ॥

कण्ठसंकोचनं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ।

वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ९८ ॥

कुण्डलीबोधकं वक्त्रदोषघ्नं शुभदं सुखम् ।

ब्रह्मनाडीमुखान्तःस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ९९ ॥

सम्यग्बन्धसमुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदकम् ।

विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥ १०० ॥

भस्त्रिकाकुम्भकलक्षणमाह—स्तनयोरिति । भस्त्रिकाचालकस्तनयोः समं अथ ॥ ९६–९९ ॥ भस्त्रिकाकुम्भकात् रुद्रग्रन्थिरपि भिद्यते इत्यर्थः ॥ १०० ॥

बन्धत्रयविधिः

बन्धत्रयमथेदानीं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ।

नित्यं कृतेन तेनासौ वायोर्जयमवाप्नुयात् ॥ १०१ ॥

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते ।
बन्धत्रयमिदं कार्यं वक्ष्यमाणं मया हि तत् ॥ १०२ ॥
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः ।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम् ॥ १०३ ॥

कुम्भकचतुष्टयांगतया बन्धत्रयलक्षणमाह—बन्धेति ॥ १०१–१०४ ॥

मूलबन्धः

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य [1]वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ १०४ ॥
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ १०५ ॥

नादबिन्दुशब्देन बुद्धिमनसी उच्येते ॥ १०५–१०७ ॥

उड्डियाणबन्धः

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥ १०६ ॥
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
उड्डियाणं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥ १०७ ॥
अभ्यसेत्तदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि त्राणं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥ १०८ ॥
षाण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ।

[1] पायु—क, अ २.

ताणं आकुञ्चनम् ॥ १०८–१११ ॥

जालन्धरबन्धः

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ॥ १०९ ॥
कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया ॥ ११० ॥
बन्धो जालन्धराख्योऽयममृता[1]प्यायकारकः ।
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ॥ १११ ॥
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ।

कुण्डल्या ग्रन्थित्रयविभेदनेन निर्विकल्पकप्राप्तिः

वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम् ॥ ११२ ॥
कुर्यादनन्तरं भस्त्रीं कुण्डलीमाशु बोधयेत् ।
भिद्यन्ते ग्रन्थयो वंशे तप्तलोहशलाकया ॥ ११३ ॥
तथैव पृष्ठवंशे स्याद्ग्रन्थिभेदस्तु वायुना ।
पिपीलिकायां लग्नायां कण्डूस्तत्र प्रवर्तते ॥ ११४ ॥
सुषुम्नायां तथाऽभ्यासात्सततं वायुना भवेत् ।
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा ततो याति शिवात्मकम् ॥ ११५ ॥
चन्द्रसूर्यौ समौ कृत्वा तयोर्योगः प्रवर्तते ।
गुणत्रयमतीतं स्याद्ग्रन्थित्रयविभेदनात् ॥ ११६ ॥
शिवशक्तिसमायोगे जायते परमा [2]स्थितिः ।

[1] प्याय—अ १, अ २, क.   [2] स्थितः—अ, अ १.

बन्धत्रययुक्तो योगी वज्रासनेति ॥ ११२–११६ ॥ ब्रह्मरन्ध्रगततुरीय एव शिवः, शक्तिस्तु कुण्डलिनी, तयोर्योगादेव परमा स्थितिः सहजनिर्विकल्पकावस्था जायते इत्यर्थः ॥

सुषुम्नायाः मोक्षमार्गत्वं कालभोक्तृत्वं च

यथा करी करेणैव पानीयं प्रपिबेत्सदा ॥ ११७ ॥
सुषुम्नावज्रनालेन पवमानं ग्रसेत्तथा ।
वज्रदण्डसमुद्भूता मणयश्चैकविंशतिः ॥ ११८ ॥
सुषुम्नायां स्थिताः सर्वे सूत्रे मणिगणा इव ।
मोक्षमार्गे प्रतिष्ठाना सुषुम्ना विश्वरूपिणी ॥ ११९ ॥
यथैव निश्चितः कालश्चन्द्रसूर्यनिबन्धनात् ।
आपूर्य कुम्भितो वायुर्बहिर्नो याति साधके ॥ १२० ॥
पुनःपुनस्तद्वदेव पश्चिमद्वारलक्षणम् ।
पूरितस्तु स तद्द्वारैरीषत्कुम्भकतां गतः ॥ १२१ ॥
प्रविशेत्सर्वगात्रेषु [1]वायुः पश्चिममार्गतः ।
रेचितः क्षीणतां याति [2]पूरितः पोषयेत्ततः ॥ १२२ ॥

सुषुम्नया प्राणोदकं पिबेदित्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति ॥ ११७ ॥ वज्रदण्डो नाम सुषुम्नाश्रयो वीणादण्डः तत्र भवा एकविंशतिमणयश्चणकवन्मांसपिण्डाः सुषुम्नामार्गगतध्वान्तग्रासत्वात् दीपवत् प्रकाशरूपेण मूलाधारमारभ्य ब्रह्मरन्ध्रान्तं सुषुम्नावेणुपर्ववत् विद्यन्ते योगिप्रत्यक्षाः भवन्तीत्यर्थः ॥ ११८ ॥ तथाविधसुषुम्नाया मोक्षमार्गत्वं कालभोक्तृत्वं चाह—

[1] वायुं—अ, अ १.   [2] पूरितं—अ

कुण्डलिनीप्रबोधनम्

सुखसंसेवितं स्वप्नं सुजीर्णमितभोजनम् ।
शरीरशुद्धिं कृत्वाऽऽदौ सुखमासनमास्थितः ॥ ३६ ॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं रेचपूरककुम्भकैः ।
गुदमाकुञ्च्य यत्नेन मूलशक्तिं प्रपूजयेत् ॥ ३७ ॥

एवमाहारतः शरीरशुद्धिम् । स्वस्य येन सुखधारणा स्यात् तत् सुखमासनम् ॥ ३६ ॥ मूलशक्तिं प्रपूजयेत् कुण्डलिनीशक्तिं प्रबोधयेदित्यर्थः ॥ ३७–४२ ॥

खेचरीमुद्राभ्यासः तत्फलं च

नाभौ लिङ्गस्य मध्ये तु उड्याणाख्यं च बन्धयेत् ।
उड्डीय याति तेनैव शक्तितोड्याणपीठकम् ॥ ३८ ॥
कण्ठं संकोचयेत्किंचिद्बन्धो जालन्धरो ह्ययम् ।
बन्धयेत्खेचरीमुद्रां दृढचित्तः समाहितः ॥ ३९ ॥
कपालविवरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ४० ॥
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥ ४१ ॥
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ।
न च मृत्युर्भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ४२ ॥

सहस्रारे नारायणभावनातः कैवल्यसिद्धिः

ततः पूर्वापरे व्योम्नि द्वादशान्तेऽच्युतात्मके ।
उड्याणपीठे निर्द्वन्द्वे निरालम्बे निरञ्जने ॥ ४३ ॥
ततः पङ्कजमध्यस्थं चन्द्रमण्डलमध्यगम् ।
नारायणमनुध्यायेत्स्रवन्तममृतं सदा ॥ ४४ ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ ४५ ॥

ततो योगी सहस्राराकाशे स्रवदमृतं नारायणं स्वात्मतया ध्यायन् ग्रन्थिसंशयकर्मासम्भवकैवल्यसिद्धिमेतीत्याह—तत इति । सहस्रारे आज्ञायां वा ॥ ४३–४५ ॥

यथोक्तभावनायुक्तस्य तत्तत्सिद्ध्युपायाः

अथ सिद्धिं प्रवक्ष्यामि सुखोपायं सुरेश्वर ।
जितेन्द्रियाणां शान्तानां जितश्वासविचेतसाम् ॥ ४६ ॥
नादे मनोलयं ब्रह्मन् दूरश्रवणकारणम् ।
बिन्दौ मनोलयं कृत्वा दूरदर्शनमाप्नुयात् ॥ ४७ ॥
कालात्मनि मनो लीनं त्रिकालज्ञानकारणम् ।
परकायमनोयोगः परकायप्रवेशकृत् ॥ ४८ ॥
अमृतं चिन्तयेन्मूर्ध्नि क्षु[1]तृषाविषशान्तये ।
पृथिव्यां धारयेच्चित्तं पातालगमनं भवेत् ॥ ४९ ॥

[1] तृष्णा—अ, अ १.

विधिवत् प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ।

सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥ ९ ॥

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ।

यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥ १० ॥

ततो वायुः सुषुम्नां प्रविश्य योगिनं मनोन्मन्यवस्थाऽऽरूढं कुर्यादित्याह—यथेष्टेति ॥ ८–९ ॥ तेन किं स्यादित्यत्र—मारुत इति ॥ १० ॥

बन्धत्रयस्य कर्तव्यता

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ॥ ११ ॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ।

मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ १२ ॥

बन्धत्रयपूर्वकाभ्यास एव फलवानित्याह—पूरकान्त इति ॥ ११–१२ ॥

प्राणापानयोगफलम्

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयन् ।

योगी जराविनिर्मुक्तः षोडशो वयसा भवेत् ॥ १३ ॥

प्राणापानयोगफलमाह—अपानमिति ॥ १३ ॥

कपालशोधनोपायः

सुखासनस्थो दक्षनाड्या बहिस्थं पवनं समाकृष्याकेशमानखाग्रं कुम्भयित्वा सव्यनाड्या रेचयेत् । तेन कपालशोधनं वातनाडीगतसर्वरोगविनाशनं भवति ॥ १३–१ ॥

कपालशोधनोपायमाह—सुखेति । योगी सुखासनस्थः । कपालशोधनं भवति । तेन किं भवतीत्यत्र—वातेति ॥ १३–१ ॥

उज्जायीप्राणायामः

हृदयादिकण्ठपर्यन्तं सस्वनं नासाभ्यां शनैः पवनमाकृष्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा इडया विरेच्य गच्छंस्तिष्ठन्कुर्यात् । तेन श्लेष्महरं जाठराग्निवर्धनं भवति ॥ १३–२ ॥

श्लेष्महरोज्जायीलक्षणमाह—हृदयादीति । तिष्ठन् उज्जायीनामकं प्राणायामं कुर्यात् ॥ १३–२ ॥

सीत्कारप्राणायामः

वक्त्रेण सीत्कारपूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत् । तेन क्षुत्तृष्णाऽऽलस्यनिद्रा न जायन्ते ॥१३–३॥

सीत्कारप्राणायाममाह—वक्त्रेणेति ॥ १३–३ ॥

शीतलप्राणायामः

जिह्वया वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत् । तेन गुल्मप्लीहज्वरपित्तक्षुधादि नश्यति ॥ १३–४ ॥

शीतळी तु जिह्वया ॥ १३–४ ॥

उपायापयकुम्भकद्वयम्

[1]कुम्भकः स द्विविधः सहितः केवलश्चेति । रेचकपूरकयुक्तः सहितः । तद्विवर्जितः केवलः । केवलसिद्धिपर्यन्तं सहितमभ्यसेत् ।

[1] अथकुम्भकः—क, अ २.

केवलकुम्भके सिद्धे त्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति । केवल-
कुम्भकात् कुण्डलिनीबोधो जायते ॥ १३–९ ॥

उपायोपेयकुम्भकद्वयमाह—कुम्भक इति । ततः किं जायत इत्यत्र-
केवलेति ॥ १३–९ ॥

कुम्भकाभ्यासफलम्

ततः कृशवपुः प्रसन्नवदनो निर्मललोचनोऽभिव्यक्तनादो
निर्मुक्तरोगजालो जितबिन्दुः पट्वग्निर्भवति ॥ १३–६ ॥

ततः किं स्यादित्यत्र ततः इति ॥ १३–६ ॥

वैष्णवीमुद्राप्राप्तिः

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ १४ ॥

तेन किमित्याकांक्षायां अनेन योगी वैष्णवीमुद्राऽऽरूढो भवतीत्याह—
अन्तर्लक्ष्यमिति । मूलाधारानाहताज्ञासहस्रारेषु यथाक्रमं विराट् सूत्रं बीजं
तुरीयं वा अन्तर्लक्ष्यं तदेकतानं मनः बहिर्दृष्टिस्तु अन्तर्दृष्टिर्भूत्वा यदा
निमेषोन्मेषवर्जिता भवति तदा दृष्टिरियं वैष्णवीमुद्रा भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

खेचरीप्राप्त्या ब्रह्मदर्शनम्

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ।
मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा
शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं [1]वैष्णवी ॥

[1] वैष्णवं—अ.

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्यन्दभावोत्तरम् ।
ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तुविषयं शाण्डिल्य विद्धीह तत् ॥

यदा योगी वैष्णवीमुद्राऽऽरूढो भवति तदा इयं वैष्णवीमुद्रा खेचरीपदवीमेत्य तत्त्वंपदलक्ष्यैक्यप्रत्यगभिन्नब्रह्मगोचरा भवतीत्याह—अन्तरिति । अन्तर्दृष्टिभावमापन्ननिश्चलबहिर्दृष्टिरेव मुद्रेयम् । शून्यं सुषुप्तिः अशून्यं स्वप्नादिकं तदुभयवर्जितं यथा भवति तथा लक्ष्यैकताना वैष्णवी स्फुरतीत्यर्थः ॥ १५ ॥ खेचरीमुद्राऽऽरूढयोगिनः स्थितिं तद्ध्येयस्वरूपं चाह—अर्धेति । अर्धोन्मीलितलोचनः इत्यादिविशेषणविशिष्टो योगी चन्द्रार्कौ इडापिंगळागोचरवायू मनोदृष्ट्यग्निभिः सह सुषुम्नायां लीनतां लयभावं उपनयन् यदा तिष्ठति तदा स्वान्तर्बाह्यविस्मारकब्रह्मानन्दनदी प्रवहति । ततो निष्यन्दभावोत्तरं नितरां स्रवदानन्दभावानुभवानन्तरं तदनुभूत्यसंगतया यद्वस्तु प्रत्यग्ज्योतीरूपं अशेषबाह्यान्तःकलनाविरळं परमात्माभेदेन देदीप्यमानं "परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" इति श्रुतिसिद्धं परं तत्त्वमस्ति हे शाण्डिल्य तद्विषयं तद्भावापन्नं वस्तु ब्रह्माहमिति विद्धि ॥ १६ ॥

खेचर्या उन्मनीभावापत्तिः

तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमय भ्रुवौ ।
पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ १७ ॥

तस्मात् खेचरीमुद्रामभ्यसेत् । ततोन्मनी भवति । ततो योगनिद्रा भवति । लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः कालो नास्ति ॥ १७–१ ॥

कथं एवं ज्ञातुं शक्यते इत्यत्रोपायमाह—तारमिति । भ्रूमध्यविलसज्ज्योतिषि समभावमापन्नकृष्णतारयुगळं दृढं संयोज्य अवलोक्य किंचित्

भ्रुवौ ऊर्ध्वमुन्नमय्य उर्ध्वोत्क्षेपणं कृत्वा अथ सहस्रारविलसिततुरीयं तत्कलनाविरळतुरीयातीतं वा स्वावशेषधिया पश्येदिति शेषः । "तारं ज्योतिषि संयोज्य" इति यो दर्शितः "अन्तर्लक्ष्यं" इत्यादिपूर्वाभ्यासस्य अयमेव मार्गः क्षणादुन्मनीकारकः निर्विकल्पकब्रह्मभावापत्तिहेतुरित्यर्थः ॥ १७ ॥ यस्मादेवं तस्मात् । ततोन्मनीभवति निर्व्यापारं मनो भवतीत्यर्थः । ततः किमित्यत आह—तत इति । योगनिद्रा निर्विकल्पभावापत्तिः । ततो व्युत्थान-शङ्कां वारयति—लब्धेति । एवं लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः निर्विकल्पकतो व्युत्थापककालो नास्ति ॥ १७–१ ॥

कालापरिच्छिन्नब्रह्मप्राप्तिसाधनम्

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं च मनमध्यगाम् ।
मनसा मन आलोक्य शाण्डिल्य त्वं सुखी भव ॥ १८ ॥
खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तय ॥ १९ ॥

कालापरिच्छिन्ननिर्विकल्पकब्रह्मभावापत्त्युपायमाह—शक्तीति । कुण्ड-लिनीशक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनोलयं कृत्वा ततः कुण्डलिनीशक्तिं, चशब्दात् दृष्टिं, मनमध्यगां मनःप्रवृत्तिनिमित्तप्रत्यक्चैतन्यपर्यवसन्नां कृत्वा प्रत्यग्भावापन्नेन मनसा मनः मनोवृत्तिसहस्रभावाभावप्रकाशकप्रत्यगभिन्नं ब्रह्म अहमस्मीत्यालोक्य हे शाण्डिल्य त्वं तन्मात्रावस्थानलक्षणकैवल्यसुखी भवेत्यर्थः ॥ १८ ॥ प्रकारान्तरमाह—खमध्य इति । चित्खमध्ये आत्मानमन्तःकरणं कुरु आत्मान्तःकरणमध्ये च खं कुरु । एवं व्यतिहारेण सर्वं चित्खमयं कृत्वा चिदाकाशातिरिक्तं न किंचिदस्ति इति चिन्तय ॥ १९ ॥

दिवा सूर्यनाड्यां न पूजयेत् न व्यापारयेत् । तथा चन्द्रनाड्यां रात्रौ नैव प्रपूजयेत् । ततः अव्याकृताकाशं तेन पूरितं सततं सुषुम्नाऽऽख्यं महापथं प्रति विष्णुं पूजयेत् । कदाऽपि दिवारात्रं न पूजयेदित्यर्थः ॥ ३८ ॥

खेचरीमुद्राप्राप्तिः

सुषिरो ज्ञानजनकः पञ्चस्रोतःसमन्वितः ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा त्वं हि शाण्डिल्य तां भज ॥ ३९ ॥
सव्यदक्षिण[1]नाडीस्थो मध्ये चरति मारुतः ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥ ४० ॥
इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ।
तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ४१ ॥
सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बतले पुनः ।
संस्थिता व्योमचक्रे सा मुद्रा नाम च खेचरी ॥ ४२ ॥

सुषुम्नाप्रवेशतः किं स्यादित्याशङ्क्य तत्र खेचरीमुद्रा वर्तते तत्साक्षात्कारात् कृतकृत्यो भवसीत्याह—सुषिर इति । यत्र सुषुम्नामध्ये सुषिरः विराडादि-तुरीयातीतान्तपञ्चस्रोतस्समन्वितः सन् मूलाधारानाहताज्ञासहस्रारेषु योगिनः क्रमेण विराडादिज्ञानजनको भवति तत्रैव खेचरीमुद्रा निर्विकल्पकरूपिणी वर्तते । मत्प्रसादतः तां त्वं भजेत्यर्थः ॥ ३९ ॥ उक्तार्थमेव पुनः पुनः शब्दान्तरेण विशदयति—सव्येति ॥ ४० ॥ शून्यशब्देन अव्याकृतमाकाश-मुच्यते, आकाशस्य वायुग्रासत्वात् ॥ ४१ ॥ व्योमचक्रस्य निरालम्बत्वात् ॥ ४२ ॥

[1] नासि—अ.

बाह्यखेचरीसिद्ध्युपायः

छेदनचालनदोहैः [1]कलां परां जिह्वां कृत्वा दृष्टिं भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते । जिह्वा चित्तं च खे [2]चरति । तेनोर्ध्वजिह्वः पुमानमृतो भवति ॥ ४२–१ ॥

बाह्यखेचरीसिद्ध्युपायमाह—छेदनेति । प्रतिभानुवासरं षण्मासावधि स्नुहिपत्रनिभशस्त्रेण रोममात्रं जिह्वासिराच्छेदनेन प्रतिब्राह्मे मुहूर्ते जिह्वाचालनतः प्रातः सैन्धवपथ्याचूर्णतो दोहैः कलां परां सूक्ष्मां जिह्वां कृत्वा दृष्टियुग्मं भ्रूमध्ये स्थाप्य घण्टिकारन्ध्रेण कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरीमुद्रा उदेति । सहस्रारगजिह्वाप्रवेशतो योगी कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥ ४२–१ ॥

अभ्यासकाले प्राणजयोपायः

वामपादमूलेन योनिं संपीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत् । तेन सर्वक्लेशहानिः । ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते । क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वगादिदोषा नश्यन्ति । एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः ॥ ४२–२ ॥

अभ्यासकाले प्राणजयोपायमाह—वामेति । महामुद्राऽभ्यासेन तेन ॥ ४२–२ ॥

[1] फलां—मु. [2] चरी—अ २.

बन्ध

१. **मूलबन्ध**—मूल गुदा एवं लिङ्ग-स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूलबन्ध है । वाम पाद की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्यभाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिङ्ग एवं कन्द के बीच के भाग को दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपानवायु को बल के साथ धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने को मूलबन्ध कहते हैं । सिद्धासन के साथ यह बन्ध अच्छा लगाया जा सकता है । अन्य आसनों के साथ एड़ी को सीवनी पर बिना लगाये हुए भी मूलबन्ध लगाया जा सकता है ।

फल—इससे अपानवायु का ऊर्ध्व-गमन होकर प्राण के साथ एकता होती है । कुण्डलिनी-शक्ति सीधी होकर ऊपर की ओर चढ़ती है । कोष्ठबद्धता दूर करने, जठराग्नि को प्रदीप्त करने और वीर्य को ऊर्ध्वरितस् बनाने में यह बन्ध अति उत्तम है । साधकों को न केवल भजन के अवसर पर किन्तु हर समय मूल बन्ध को लगाये रखने का अभ्यास करना चाहिये ।

२. **उड्डीयानबन्ध**—दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलवों को परस्पर भिड़ाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी से) ऐसा लगा दे जिससे कि पेट के स्थान पर गढडा-सा दीखने लगे । पेट को अंदर की ओर जितना अधिक खींचा जायगा, उतना ही यह बन्ध अच्छा होगा । इसमें प्राण पक्षी के सदृश सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है, इसलिये यह बन्ध उड्डीयान कहलाता है । इस बन्ध को पैरों के तलवों को बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है ।

फल—प्राण और वीर्य का ऊपर की ओर दौड़ना, मन्दाग्नि का नाश, क्षुधा की वृद्धि, जठराग्नि का प्रदीप्त और फेफड़े का शक्तिशाली होना है, इस बन्ध के फल हैं ।

३. **जालन्धरबन्ध**—कण्ठ को सिकोड़कर ठोढ़ी को दृढ़तापूर्वक कण्ठकूप में इस प्रकार स्थापित करे कि हृदय से ठोडी का अन्तर केवल चार अंगुल का रहे, सीना आगे की ओर तना रहे । यह बन्ध कण्ठस्थान के नाड़ी-जाल के समूह को बाँधे रखता है, इसलिये इसका नाम जालन्धर-बन्ध है ।

फल—कण्ठ का सुरीला, मधुर और आर्कषक होना, कण्ठ के संकोच द्वारा इडा, एवं पिङ्गला नाडियों के बंद होने पर प्राण का सुषुम्ना में प्रवेश करना है ।

प्रायः सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयानबन्ध के साथ किये जाते हैं । किन्तु राजयोग में ध्यानावस्था में जालन्धरबन्ध लगाने की बहुत कम आवश्यकता होती है ।

४. महाबन्ध—महाबन्ध की दो विधियों में पहली विधि इस प्रकार है—बायें पैर की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्यभाग में जमाकर बायीं जंघा के ऊपर दाहिने पैर को रख, समसूत्र में हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्र से वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगाये । फिर मूलद्वार से वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगाये । मन को मध्य नाड़ी में लगाये हुए यथाशक्ति कुम्भक करे । तत्पश्चात् पूरक के विपरीत वाली नासिका से धीरे- धीरे रेचन करे । इस प्रकार दोनों नासिका से अनुलोम एवं विलोम रीति से समान प्राणायाम करे ।

इसकी दूसरी विधि इस प्रकार है—पद्म अथवा सिद्धासन से बैठे, योनि और गुह्यप्रवेश सिकोड़, अपानवायु को ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समानवायु के साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायु को अधोमुख करके प्राण और अपानवायुओं के साथ नाभिस्थल पर दृढ़रूप से कुम्भक करे ।

फल—प्राण का ऊर्ध्वगामी होना-वीर्य की शुद्धि, इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना का सङ्गम प्राप्त होना, बल की वृद्धि आदि इसके गुण है ।

५. महाबन्ध—यह दो प्रकार से किया जाता है – महाबन्ध की प्रथम विधि के अनुसार मूलबन्धपूर्वक कुम्भक करके दोनों हाथों की हथेली भूमि में दृढ़ स्थिर करके, हाथों के बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों को शनै:शनै: ताड़ना दे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इडा एवं पिङ्गला को छोड़कर कुण्डलिनी-शक्ति को जगाता हुआ सुषुम्ना में प्रवेश कर रहा है । तत्पश्चात् वायु को शनै:-शनै: महाबन्ध की विधि के अनुसार रेचन करे इसकी दूसरी विधि इस प्रकार है –

मूलबन्ध के साथ पद्मासन से बैठे, अपान और प्राणवायु को नाभिस्थान पर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथों को तानकर नितम्बों से मिलते हुए भूमि पर जमाकर नितम्ब को आसनसहित उठा-उठाकर भूमि पर ताड़ित करते रहें ।

फल—कुण्डलिनी-शक्ति का जाग्रत् होना, प्राण का सुषुम्ना में प्रवेश करना इसके प्रमुख गुण हैं । महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा – तीनों को मिलाकर करना अधिक फलदायक है ।

मुद्रा

१. खेचरी मुद्रा— जीभ को ऊपर की ओर उलटी ले जाकर तालु-कुहर (जीभ के ऊपर तालु के बीच के गढ़े) में लगाये रखने का नाम 'खेचरी-मुद्रा' है । इसके निमित्त जिह्वा को बढ़ाने के तीन साधन किये जाते हैं—छेदन, चालन और दोहन ।[१]

(१) छेदन—जीभ के नीचे के भाग में सूताकार वाली एक नाड़ी नीचे वाले दाँतों की जड़ के साथ जीभ को खींचे रखती है । इसलिये जीभ को ऊपर चढ़ाना कठिन

---

१. द्र० रुद्र० २५.९८.१०३

होता है । प्रथम इस नाड़ी के दाँतों के निकट वाले एक ही स्थान पर स्फटिक (बिल्लौर) का धार वाला टुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पाँच बार फेरते रहें । कुछ दिनों तक ऐसा करने के पश्चात् वह नाड़ी उस स्थान में पूर्ण कट जायगी । इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थान को जिह्वामूल तक काटते चले जायँ । स्फटिक फेरने के पश्चात् माजूफल का कपड़छन चूर्ण (टेरिन ऐसिड) जीभ के ऊपर-नीचे तथा दाँतों पर मलें और उन सब स्थानों से दूषित पानी निकलने दें । माजूफल-चूर्ण के अभाव में अकरकरा, नून, हरीतकी और कत्थे का चूर्ण छेदन किये हुए स्थान पर लगाये । यह छेदन-विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकार की हानि पहुँचने की सम्भावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा । साधारणतया छेदन का कार्य किसी धातु के तीक्ष्ण यन्त्र से प्रति आठवें दिन उस शिरा को बाल के बराबर छेदकर घाव पर कत्था और हरड़ का चूर्ण लगाकर करते हैं । इसके छेदन के लिये नाखून काटने वाला-जैसा एक तीक्ष्ण यन्त्र और खाल छीलने के लिये एक दूसरे यन्त्र की आवश्यकता होती है, जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे । इसमें नाड़ी के सम्पूर्ण अंश के एक साथ कट जाने से वाक् तथा आस्वादन-शक्ति के नष्ट हो जाने का भय रहता है । इसलिये इसे किसी अभिज्ञ पुरुष की सहायता से ही करना चाहिये । छेदन की आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और यह नाड़ी मोटी होती है । जिनकी जीभ लंबी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदन की अधिक आवश्यकता नहीं है ।

(२-३) चालन व दोहन—अँगूठे और तर्जनी अँगुली से अथवा बारीक वस्त्र से जीभ को पकड़कर चारों तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खींचने को चालन कहते हैं । मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथों की अँगुलियों से जीभ का गाय के स्तनदोहन जैसे पुनः-पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करने की क्रिया का नाम दोहन है ।

निरन्तर अभ्यास करते रहने से अन्तिम अवस्था में जीभ इतनी लम्बी हो सकती है कि नासिका के ऊपर भ्रूमध्यतक पहुँच जाय । इस मुद्रा का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यान की अवस्था परिपक्व करने में बड़ी सहायता मिलती है । जिह्वाओं के भी नाना प्रकार के भेद देखने में आये हैं । किसी जिह्वा में सूताकार नाड़ी के स्थान में मोटा मांस होता है, जिसके काटने में अधिक कठिनाई होती है । किसी-किसी जिह्वा में न यह नाड़ी होती है, न मांस । उसमें छेदन की आवश्यकता नहीं है । केवल चालन एवं दोहन होना चाहिये ।

२. महामुद्रा—इसकी पहली विधि इस प्रकार है—मूलबन्ध लगाकर बायें पैर की एड़ी से सीवन (गुदा और अण्डकोष के मध्य का चार अँगुल स्थान) दबाये और दाहिने पैर को फैलाकर उसकी अँगुलियों को दोनों हाथों से पकड़े । पाँच घर्षण करके बायीं नासिका से पूरक करे और जालन्धर-बन्ध लगाये । फिर जालन्धर-बन्ध-खोलकर दाहिनी नासिका से रेचक करे । वह वामाङ्ग की मुद्रा समाप्त हुई । इसी प्रकार दक्षिणाङ्ग में इस मुद्रा को करना चाहिये तथा दूसरी विधि इस प्रकार है—बायें पैर की एड़ी को सीवन (गुदा और उपस्थ के मध्य के चार अङ्गुल-भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैर

को लम्बा फैलाये । फिर शनैः-शनैः पूरक के साथ मूल तथा जालन्धर बन्ध लगाते हुए दायें पैर का अँगूठा पकड़कर मस्तक के दायें पैर के घुटने पर जमाकर यथाशक्ति कुम्भक करे । कुम्भक के समय पूरक की हुई वायु को कोष्ठ में शनैः-शनैः फुलावे और ऐसी भावना करे कि प्राण कुण्डलिनी को जाग्रत् करके सुषुम्ना में प्रवेश कर रहा है । तत्पश्चात् मस्तक को घुटने से शनैः-शनैः रेचक करते हुए उठाकर यथास्थिति में बैठ जाय । इसी प्रकार दूसरे अङ्ग से करना चाहिये । प्राणायाम की संख्या एवं समय बढ़ाता रहे ।

फल—मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि उदर के रोगों तथा प्रमेह का नाश, क्षुधा की वृद्धि और कुण्डलिनी का जाग्रत् होना है ।

३. अश्विनीमुद्रा -सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर योनिमण्डल को अश्व के सदृश पुनः-पुनः सिकोड़ना अश्विनीमुद्रा कहलाती है ।

फल—यह मुद्रा प्राण के उत्थान और कुण्डलिनी-शक्ति के जाग्रत् करने में सहायक होती है । अपानवायु को शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओं को मजबूत करती है।

४. शक्तिचालिनीमुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर हाथों की हथेलियाँ पृथ्वी पर जमा दे । बीस-पचीस बार शनैः-शनैः दोनों नितम्बों को पृथ्वी से उठा-उठाकर ताड़न करे । तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओं से अथवा वाम से अथवा जो स्वर चल रहा हो उस नासिका से पूरक करके प्राणवायु को अपानवायु से संयुक्त करके जालन्धर-बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे । कुम्भक के समय अश्विनीमुद्रा करे अर्थात् गुह्य-प्रदेश का आकर्षण-विकर्षण करता रहे । तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर यदि दोनों नासिकापुट से पूरक किया हो तो दोनों से अथवा पूरक के विपरीत नासिकापुट से रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रतापूर्वक बैठ जाय ।

घेरण्डसंहिता में इस मुद्रा को करते समय बालिश्त भर चौड़ा, चार अङ्गुल लंबा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभि पर कटिसूत्र से बाँधकर सारे शरीर पर भस्म मलकर करना बतलाया गया है ।

फल—सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्धक होने के अतिरिक्त कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत् करने में अत्यन्त सहायक है । इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करता है ।

५. योनिमुद्रा—सिद्धासन से बैठ सम-सूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, दोनों मध्यमाओं से नाक के छिद्रों को बंद करके और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठिकाओं को दोनों ओठों के पास रखकर काफी मुद्रा द्वारा अर्थात् जिह्वा को कौए की चोंच के सदृश बनाकर उसके द्वारा प्राणवायु को खींचकर अधोगत अपानवायु के साथ मिलाये । तत्पश्चात् ओ३म् का जाप करता हुआ ऐसी भावना करे कि उसकी ध्वनि के साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनी को जाग्रत् करके षट्चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रदल-कमल में जा रही है । इससे अन्तर्ज्योति का साक्षात्कार होता है ।

६. योगमुद्रा—मूलबन्ध के साथ पद्मासन से बैठकर प्रथम दोनों नासिकापुटों से पूरक करके जालन्धरबन्ध लगाये । तत्पश्चात् दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर बायें हाथ से दायें हाथ की और दायें हाथ से बायें हाथ की कलाई को पकड़े, शरीर को आगे झुकाकर पेट के अन्दर एड़ियों को दबाते हुए सिर को जमीन पर लगा दें । इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् सिर को जमीन से उठाकर जालन्धर-बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओं से रेचन करे ।

फल—पेट के रोगों को दूर करने और कुण्डलिनी-शक्ति को जागृत् करने में यह मुद्रा सहायक होती है ।

७. शाम्भवीमुद्रा—मूल और उड्डीयानबन्ध के साथ सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर नासिका के अग्रभाग अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान जमाना 'शाम्भवी मुद्रा' कहलाती है ।

८. तड़ागी मुद्रा—तड़ाग (तालाब) के सदृश कोष्ठ को वायु से भरने को तड़ागी मुद्रा कहते हैं । शवासन से चित्त लेटकर जिस नासिका का स्वर चल रहा हो, उससे पूरक करके तालाब के समान पेट को फैलाकर वायु से भर लेना चाहिए । तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायु को पेट में इस प्रकार हिलावे, जिस प्रकार तालाब का जल हिलता है । कुम्भक के पश्चात् सावधानी से वायु का शनैः-शनैः रेचन कर दे, इससे पेट के सर्वरोग समूल नष्ट होते हैं ।

९. विपरीतकरणीमुद्रा—शीर्षासन-कपालासन—पहिले जमीन पर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उस पर अपने मस्तक को रखे । फिर दोनों हाथों के तलों को मस्तक के पीछे लगाकर शरीर को उलटा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे । थोड़े ही प्रयत्न से मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है । यह मुद्रा पद्मासन के साथ भी की जा सकती है । इसको ऊर्ध्व-पद्मासन कहते हैं । आरम्भ में इसको दीवार के सहारे करने में आसानी होगी ।

फल—वीर्यरक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्नि का बलवान् होना, प्राण की गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिरदर्द आदि का दूर होना, रक्त का शुद्ध होना और कफ के विकार का दूर होना है ।

१०. उन्मनी मुद्रा—किसी सुख-आसन से बैठकर आधी खुली हुई और आधी बंद आँखों से नासिका के अग्रभाग पर टकटकी लगाकर देखते रहना यह 'उन्मनी मुद्रा' कहलाती है । इससे मन एकाग्र होता है ।

रुद्रयामलगत स्वरयोग

एकादश पटल में स्वरोदय पर विचार प्रस्तुत किया गया है । इस सम्बन्ध में द्वादश चक्रों का निर्माण और उनके स्वरज्ञान एवं वायु की गति को जानकर अपने प्रश्नों का विवेचन करना चाहिए । स्वर–योग के अन्य ग्रन्थों से इसे लेकर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

3. मुद्रा-विमर्श

आचार्य घेरण्ड ने 'घेरण्ड-संहिता' के मुद्रा प्रकरण में पच्चीस प्रकार की मुद्राओं का वर्णन किया है। ये निम्नवत् हैं –

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोणि, शक्तिचालिनी ताडागी, माण्डूकी, शाम्भवी, पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवीय धारणा, आकाशी धारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गिनी और भुजङ्गिनी।

हठयोगप्रदीपिका में स्वात्माराम ने दस मुद्राओं का उल्लेख किया है – महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरणी, वज्रोली एवं शक्तिचालन।[1]

शिवसंहिता नामक ग्रन्थ में हठयोगप्रदीपिका के दस मुद्राओं के अतिरिक्त योनिमुद्रा को भी माना गया है।[2]

घेरण्ड-संहिता में वर्णित मुद्राओं का विवेचन इस प्रकार है –

1. **मूलबन्ध** – वामपाद की एड़ी से गुदाप्रदेश को आकुञ्चित

---

[1] द्रष्टव्य, हठयोगप्रदीपिका 3/6-7

[2] द्रष्टव्य, शिवसंहिता 4/7, 24-25

करके प्रयत्नपूर्वक मेरुदण्ड में नाभिग्रन्थि को संसक्त करके दाहिनी एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबाना मूलबन्ध कहलाता है।[1]इसका आलस्यविहीन एवं मौन होकर अभ्यास करना चाहिए।[2]

2. जालन्धर बन्ध – कण्ठस्थान का संकोच करते हुए ठोढ़ी को हृदय पर ले जाना जालन्धर बन्ध कहा जाता है। इससे सोलह आधारों का नियन्त्रण होता है। यह महामुद्रा मृत्यु का भी नाश करने वाली होती है।

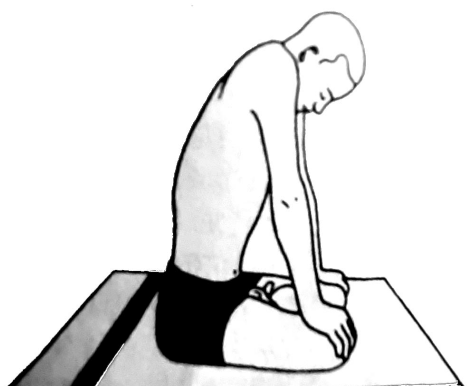

3. उड्डीयान बन्ध – नाभि के ऊपरी उदर भाग को पीठ की तरफ पीछे खींचने पर प्राणवायु को ऊपर की ओर उठाने पर साधक को गरुड के समान आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है, यही उड्डीयान बन्ध है। यह बन्ध मृत्युरुपी गज के लिये सिंह के समान है।[3]

---

1 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/14-15

2 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/17

3 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/10

4. महाबन्ध –वामपाद की एड़ी से गुदामूल को अवरुद्ध करके दाहिने पाद से यत्नपूर्वक वाम एड़ी को दबाकर धीरे-धीरे गुह्यदेश का चालन करते हुए धीरे-धीरे ही संकुचन करना तथा जालन्धर बन्ध द्वारा प्राणवायु को धारण करना महाबन्ध कहा जाता है।

इसके अभ्यास से वायु सुषुम्ना के साथ स्थित होता है तथा अस्थियाँ मजबूत होती हैं।[1]

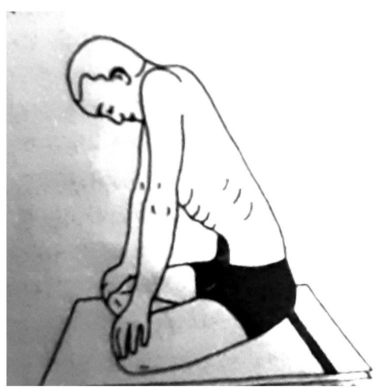

5. पार्थिवी धारणा – हरिताल-सदृश वर्ण वाले लकार बीज वाले, कमलासन में विराजमान ब्रह्म का हृदय में ध्यान करते हुए पाँच घड़ी

---

[1] द्रष्टव्य, शिवसंहिता 4/41

तक प्राण का निरोध अर्थात् कुम्भक करना पार्थिवी धारणा कहलाती है, इसी पार्थिवी धारणा मुद्रा को अधोधारणा मुद्रा भी कहते हैं।[1]

6. आम्भसी धारणामुद्रा – शङ्ख वर्ण वाले, चन्द्रमा के समान विमल, कुन्द के फूल की तरह धवल और शुभ अमृत संज्ञा तथा 'व' कार बीज वाले एवं भगवान् विष्णु जिसके देवता हैं, ऐसे जलतत्त्व को हृदय में स्थापित करके एकाग्रचित्त से पाँच घड़ी तक कुम्भक द्वारा प्राण को धारण करना आम्भसी धारणा कहलाती है।

7. **आग्नेयी धारणा –**नाभिप्रदेश में विद्यमान, इन्द्रगोपसदृश अर्थात् लाल वर्ण के सदृश, 'र' (रेफ) बीज वाले, त्रिकोणान्वित तथा रुद्र देवता वाला अग्नितत्त्व अत्यन्त तेजयुक्त, दीप्तियुक्त तथा सिद्धिदायक होता है। योगबल का आश्रय लेकर अग्नितत्त्व का हृदय में एकाग्रचित्त से पाँच घड़ी तक कुम्भक प्राणायाम की सहायता से प्राणवायु को धारण करना आग्नेयी धारणा कही जाती है।[2]

8. **वायवीय धारणा –** वायु मर्दित अञ्जन तथा धुँए के समान वर्ण वाला होता है। यह वायु 'य' कार बीज वाला तथा सत्त्वगुण से युक्त है।

---

1 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/70

2 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/75

एकाग्रचित्त से हृदय में वायु तत्त्व का ध्यान करते हुए कुम्भक प्राणायाम द्वारा पाँच घड़ी तक प्राणवायु को धारण करना वायवी धारणा कहलाती है।[1]

9. **आकाशी धारणा** – समुद्र के नीले शुद्ध जल के सदृश वर्ण वाले, 'ह' कार बीज मन्त्र वाले तथा सदाशिव देवता से युक्त आकाश तत्त्व को योगबल से एकाग्रचित्त होकर हृदय में धारण कर कुम्भक प्राणायाम द्वारा पाँच घड़ी तक प्राणवायु को स्थिर करना आकाशीधारणा कही जाती है।

10. **महामुद्रा** – पायुमूल को अत्यन्त दृढ़तापूर्वक वाम एड़ी से दबाकर दक्षिण पाद का प्रसारण करते हुए हाथों से उसकी समस्त अंगुलियों को पकड़कर कण्ठ का संकोचन करते हुए भौंहों के मध्यभाग को देखना महामुद्रा कहलाती है।[2] हठयोगप्रदीपिका में इसके अभ्यासक्रम को बतलाते हुए कहा गया है कि पहले इडा (चन्द्र) नाडी में अभ्यास करने के बाद पिङ्गला (सूर्य) नाडी में अभ्यास करना चाहिए। जब इन दोनों की अभ्यास की संख्या समान हो जाये तो महामुद्रा में अभ्यास को रोक देना

---

1 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/77

2 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/6-7

चाहिए।[1]

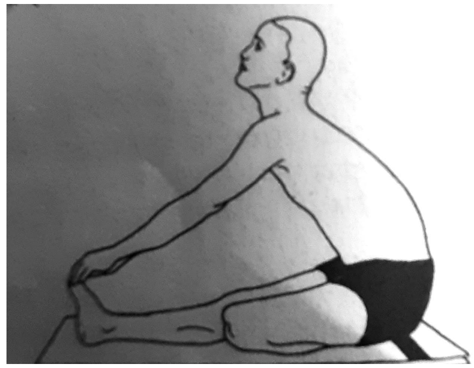

11. नभो मुद्रा – किसी भी कार्य में संलग्न रहकर तथा कहीं भी अवस्थित हुआ योगी ऊर्ध्वजिह्व अथवा अपनी जिह्वा को ऊपर उठाकर खेचरी मुद्रा का आश्रय लेकर कुम्भक द्वारा वायु को रोक कर नभोमुद्रा को साधित कर सकता है। इसी नभोमुद्रा को आकाशी मुद्रा भी कहते हैं।[2]

12. खेचरी मुद्रा – जिह्वा के निचले भाग में विद्यमान जिह्वामूल को मिलाने वाली नाडी का छेदन करते हुए जिह्वा के अग्रभाग का निरन्तर चालन के साथ मक्खन से उसका दोहन करते हुए लौहयन्त्र से जिह्वा को खींचना चाहिए। इस क्रिया का नित्य अभ्यास करने पर चिह्वा लम्बी हो जाती है। इस प्रकार भौंहों के मध्यभाग को स्पर्श करने की लम्बाई प्राप्त होने पर जिह्वा को धीरे-धीरे तालु के भीतर प्रवेश कराते हुए तालु के

---

1 द्रष्टव्य, हठयोगप्रदीपिका 3/15

2 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/9

मध्यभाग में स्थित कपालकुहर (तालु का मध्यभाग) में प्रविष्ट कराकर जिह्वा को उल्टा करके ऊपर कपालरन्ध्र में ले जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में दोनों भौंहों के मध्य में दृष्टि को रखना चाहिए। यह स्थिति खेचरी मुद्रा कहलाती है।[1]

शिवसंहिता में कहा गया है कि जो क्षणार्ध भी खेचरीमुद्रा को करता है, वह पाप रुप महासागर को पारकर दिव्य भोगों को भोगते हुए सत्कुल में उत्पन्न होता है।[2]

13. महावेध मुद्रा –महाबन्ध मुद्रा का अभ्यास करने के पश्चात् उड्डीयान बन्ध करते हुए कुम्भक प्राणायाम द्वारा वायु को रोकने की क्रिया महावेध मुद्रा कहलाती है।

महावेध मुद्रा के बिना मूलबन्ध और महाबन्ध मुद्राएँ उसी प्रकार निष्फल हैं जैसे नारी का रुप, यौवन और लावण्य किसी पुरुष के न होने पर निष्फल होता है।[3]

14. विपरीतकरणी मुद्रा –शिरोभाग को भूमि पर ठीक प्रकार

1 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/25-27

2 द्रष्टव्य, शिवसंहिता 4/56

3 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/21-22

से स्थित करके दोनों हाथों से भूमि का आश्रय लेकर पैरों को आकाश में ऊपर उठाते हुए सीधे खड़ा करके स्थिर रहना विपरीतकरणी मुद्रा कही जाती है। नाभिमूल में सूर्य का और तालुमूल में चन्द्रनाडी का वास होता है। सूर्य द्वारा सहस्रदल कमल से स्रावित अमृत का पान करने से मनुष्य मृत्यु के वशीभूत हो जाता है, परन्तु यदि चन्द्रनाडी द्वारा उस स्रावित अमृत को ग्रहण किया जाता है तो मनुष्य की मृत्यु कभी भी सम्भव नहीं हो पाती, अतः साधकों को योगबल द्वारा विपरीत क्रम से सूर्यनाडी को ऊर्ध्वभाग में तथा चन्द्रनाडी को अधोभाग में स्थित करना चाहिए। विपरीतकरणी मुद्रा सर्वतन्त्रों में अत्यन्त गुप्त है।[1]

[1] द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/33-35

15. योनि मुद्रा –सिद्धासन में बैठकर दोनों कर्णछिद्रों को अँगुष्ठों से, आँखों को तर्जनी अङ्गुलियों द्वारा, नासिका छिद्रों को मध्यमा अङ्गुलियों द्वारा तथा मुख को दोनों अनामिका अङ्गुलियों द्वारा निरुद्ध करने के पश्चात् काकीमुद्रा द्वारा प्राणवायु को खींचकर अपान वायु के साथ मिलाने के बाद देहस्थ षट् चक्रों का ध्यान करते हुए 'हुं' या 'हंस' मन्त्रों के सहयोग से कुण्डलिनी शक्ति को जागृतकर जीवात्मा को सहस्रार में ले जाकर एकान्त में यह भावना करते हुए कि 'मैं शिव के साथ शक्तिमय होकर अनेक प्रकार के विहारों और सुखों को अनुभव कर रहा हूँ, एवं शिवशक्ति के समायोग से मैं ही आनन्दमय ब्रह्म हूँ।' इस प्रकार की अवस्था को ही योनिमुद्रा कहते हैं।[1]

शिवसंहिता में उल्लिखित है कि योनिमुद्रा परमगोपनीया है, इसे अनधिकारी को कभी नहीं देना चाहिए चाहे प्राण ही कण्ठ पर आ जायें।[2]

---

1 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/37-41

2 द्रष्टव्य, शिवसंहिता 4/20

16. वज्रोणि मुद्रा – दोनों हथेलियों को भूमि पर दृढ़तापूर्वक रखकर दोनों पादों और शिर को आकाश में उठाने की क्रिया को 'वज्रोणि' मुद्रा कहते हैं।[1] इसके अन्य नाम वज्रोलिमुद्रा[2], वज्रोली मुद्रा[3], वज्रोणी मुद्रा भी मिलते हैं। इस मुद्रा के अभ्यास से देह में शक्तिसञ्चार तथा दीर्घ जीवन की प्राप्ति होती है। इस मुद्रा के प्रसादवश साधक पृथ्वी लोक में समस्त सिद्धियाँ प्राप्त करता है।

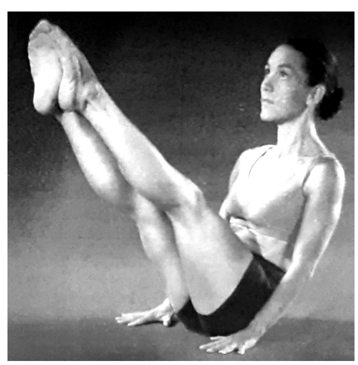

---

1 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/45

2 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/39, कैवल्यधाम प्रकाशन

3 द्रष्टव्य, हठयोगप्रदीपिका 3/83

17. शक्तिचालनी मुद्रा –मूलाधार में कुण्डलिनी साढ़े तीन फेरा लगाये हुए भुजङ्गिनी के रूप में शयनावस्था में रहती है। जब तक कुण्डलिनी निद्रामग्न रहती है, तब तक अनेकों प्रकार से योगाभ्यास करने पर भी जीव को ज्ञान नहीं प्राप्त होता, वह अज्ञानावृत्त पशु के समान रहता है। जिस प्रकार चाभी से ताला खुलने पर ही कपाट खुलता है, वैसे ही कुण्डलिनी के जागृत होने पर ही ब्रह्मद्वार खुल सकता है, जिससे जीव में ज्ञान का सञ्चार होता है। नाभिप्रदेश को वस्त्र द्वारा आच्छादितकर एकान्त स्थान में बैठकर शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। यह अभ्यास नग्नावस्था में सार्वजनिक स्थल में नहीं करना चाहिए। वितस्तिमात्र (एक बित्ता) चौड़े और चार अङ्गुल लम्बे कोमल एवं स्वच्छ वस्त्र को नाभि में लगाकर कटिसूत्र में बाँधकर तथा शरीर में भस्म लगाकर सिद्धासन में बैठकर प्राण को अपान से युक्त करना चाहिए, जब तक वायु सुषुम्ना नाडी के अन्दर जाकर प्रकाशित न हो तब तक अश्विनीमुद्रा द्वारा शनैः शनैः गुह्यस्थान को आकुञ्चित करना चाहिए। इस प्रकार निःश्वास को रोककर कुम्भक प्राणायाम करने से वायु के रुक जाने के फलस्वरूप सर्पाकार कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर ऊर्ध्वमार्ग का आश्रय लेती है अथवा सहस्रदल कमल में ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाती है।

शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास किये बिना योनिमुद्रा को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।[1]

18. ताडागी मुद्रा – पश्चिमोत्तान आसन में पेट को तडाग (तालाब) की आकृति देते हुए अर्थात् पेट को पीठ की ओर खींचते हुए अभ्यास करना ताडागी मुद्रा कहलाती है। इसके अभ्यास से वृद्धावस्था और मृत्यु का क्षय होता है।[2]

19. माण्डूकीमुद्रा – मुख को अच्छी तरह से बन्द करके जिह्वामूल को चलाते हुए अर्थात् तालु के ऊपर इधर-उधर घुमाते हुए सहस्रारदल कमल से निकले हुए अमृत का धीरे-धीरे ग्रहण करना ही माण्डूकी मुद्रा कहलाती है। इसके अभ्यास से शरीर पर झुर्रियाँ पड़ना और बालों में सफेदी आना रुक जाता है तथा स्थायी यौवन की प्राप्ति होती है।[3]

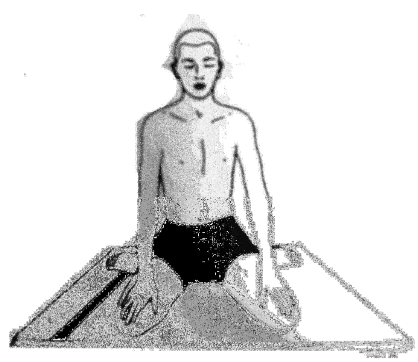

---

1 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/49-57

2 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/61

3 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/62-63

20. शाम्भवी मुद्रा –दोनों भौंहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करते हुए एकाग्रचित्त से उस स्थान पर आत्मा का ध्यान शाम्भवी मुद्रा कही जाती है। लोक के समस्त शास्त्र प्रकाशित हैं, परन्तु यह शाम्भवी मुद्रा कुलवधू के समान परमगोपनीय रखने योग्य है।[1]

21. अश्विनी मुद्रा – गुदाद्वार का बार-बार आकुञ्चन-प्रसारण करना अश्विनी मुद्रा कही जाती है, इससे कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है। यह मुद्रा गुदा रोगों का नाश करने वाली, देहशक्तिवर्धक तथा अकाल मृत्यु का क्षय करने वाली है।[2]

22. पाशिनी मुद्रा – दोनों पैरों को कण्ठ या गर्दन के पीछे की ओर ले जाकर पाश के समान दृढ़तापूर्वक बन्धन करने को ही पाशिनी मुद्रा कहते हैं। सिद्धि की इच्छा वाले साधक को इसका प्रयत्नपूर्वक अभ्यास

---

1 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/64-65

2 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/82-83

करना चाहिए।[1]

23. काकी मुद्रा –मुख को कौवे के चोंच के समान करके उसके द्वारा धीरे-धीरे वायु का पान करना काकी मुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा से मनुष्य काक के सदृश निरोगी रहता है।[2]

24. मातङ्गिनी मुद्रा – कण्ठपर्यन्त जल में खड़े होकर नासाछिद्रों से जल खींचकर और मुखद्वार से बाहर निकालकर पुनः मुख के द्वारा जल ग्रहण करके नासाछिद्रों से बाहर निकालते हुए इस क्रिया का बार-बार अभ्यास करना मातङ्गिनी मुद्रा कही जाती है।

---

1 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/84-85

2 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/86-87

25. भुजङ्गिनी मुद्रा –मुख को खोलकर कण्ठ या गले से वायु का पान करना भुजङ्गिनी मुद्रा कहलाती है। इसकी सिद्धि से जरा-मृत्यु का नाश होता है तथा उदर सम्बन्धी अजीर्णादि विकार दूर होते हैं।[1]

---

1 द्रष्टव्य, घेरण्डसंहिता 3/92-93

मुद्राएँ

तान्त्रिक साधना में मुद्रा सबसे श्रेष्ठ है। मुद्राएँ, आसन, प्राणायाम, धारणा और ध्यान आदि सभी क्रियाएँ सम्मिलित हैं। मुद्राओं की सहायता से साधक सर्व शक्तिवान् होकर शिव की पदवी प्राप्त कर सकता है।

घेरंड, शिव व दत्तात्रेय आदि संहिताओं में मुद्राओं का वर्णन है, परन्तु उनको किसी अनुभवी गुरु से ही सीखना चाहिये। गुरु व महान् पुरुष की कृपा से आसन, मुद्राएँ व प्राणायाम आदि सहज ही में आ जाता है।

घेरंड, संहिता के अनुसार आगे लिखे अनुसार २५ प्रकार की मुद्राएँ हैं।

(१) महामुद्रा(२) नभोमुद्रा(३)महाबंध (४)महावेध (५)खेचरी (६) विपरीत करणी(७)योनि (८)बज्रोली (९)शक्ति चालनी (१०) ताड़गी (११)मांडवी (१२)शाम्भवी(१३)अधोधारणा(१४)आम्भसी धारणा (१५)वैश्वानरी धारणा (१६)वायवी धारणा(१७)नभो धारणा (१८)अश्विनी (१९) पाशिनी (२०) काकी (२१) मातंगी (२२) भुजंगिनी (२३) मूलबंध (२४) उड्डियानबंध (२५)जालंधर बंध।

शिव संहिता के अनुसार आगे लिखी हुई दस प्रकार की मुद्राएँ हैं।

(१)महामुद्रा (२)महाबंध (३) महाभेद (४)विपरीत करणी (५) बज्रोली (६) शक्ति चालन (७) खेचरी (८) मूलबंध (९) उड्डियान बधं (१०)जालंधर बंध।

उपर्युक्त मुद्राओं के अलावा योनि, शाम्भवी, योग, अगोचरी, भूचरी, चाचरी व ज्ञान मुद्रा व षड्मुखी मुद्रा का विवरण भी आगे दिया जा रहा है।

इन सब मुद्राओं का एक मात्र आधार कुण्डलिनी शक्ति है सुषम्ना

मुख से इस शक्ति के जाग्रत होने पर षट्चक्रों-ग्रन्थियों का भेद हो जाता है और सुषुम्ना के मार्ग से प्राणवायु सुखपूर्वक आने जाने लगती हैं। बिना किसी अवलम्ब के चित्त स्थिर हो जाने पर काल को वंचित किया जा सकता है अर्थात् मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। अतएव चित्त शक्ति को स्थिर करने के लिए मुद्राओं का अभ्यास करने की विशेष आवश्यकता है उनके अभ्यास से शीघ्र ही समाधि प्राप्त होती है व जरा अवस्था दूर रहती है। ये मुद्राएँ सिद्धों व योगियों को बड़ी प्रिय हैं।

यहाँ पर विस्तार भय से पूर्व लिखित सब मुद्राओं का लिखना कठिन है अतएव योगी व सिद्ध लोग जिन मुद्राओं का अधिकतर अभ्यास करते हैं उनमें से कुछ विशेष मुद्राओं का विवरण आगे दिया जाता है।

महामुद्रा, महाबंध और शक्ति चालनी मुद्रा करने से अर्थात् गुदाद्वार और मूत्रद्वार के बीच में दो अंगुल मध्यस्थान को एड़ी से दबाने से प्राण वायु व कुण्डलिनी जाग उठती है।

(१) महामुद्रा

(१) बाएँ पैर की एड़ी को गुदा और मूत्रेन्द्रिय के बीच में सीवन पर अच्छी तरह दबाकर रखें और दाहिने पैर को पूरा फैला कर उसके अँगूठे को ज़ोर से दोनों हाथों से पकड़े। नवों द्वारों को संयम करने के पश्चात् पूरक,जालंधर व उड्डियान बंध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करके धीरे-धीरे रेचक कर दे। देखने में यह जानुशिरासन की तरह मालूम होती है।

प्राणायाम की जितनी संख्या दाहिना पैर फैलाकर करे उतनी ही व उसी तरह बायाँ पैर फैलाकर करे। दृष्टि भ्रूमध्य में रखें।

इसके करने से बड़े-बड़े कष्ट दूर हो जाते हैं किसी तरह के रोग नहीं होते। क्षय, बवासीर, प्लीहा,अपच,कुष्ठ व मलावरोध नष्ट होकर

आयु बढ़ती है,बुढ़ापे का आक्रमण नहीं हो पाता तथा शरीर पर लावण्य आ जाता है। मनोवांछित फल व सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इसका अभ्यास बहुत गुप्त रूप से करना चाहिए।

(२) बाएँ पैर की एड़ी सीवन (गुदा व अंडकोष के मध्य) में लगाकर दाहिना पैर लम्बा करके और दोनों हाथ, एक नासिका के ऊपर दूसरा घुटने के पास रखकर दोनों नासिकाओं से पाँच घर्षण करे। फिर बायीं नासिका से पूरक करे, कुंभक के समय लम्बे किए हुए पैर के अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़े रहें और सिर को घुटने पर लगाने का प्रयत्न करे तथा मन में यह भावना करे कि मेरी कुंडलिनी शक्ति जागृत हो रही है और मैं इसे ब्रह्मरंध्र में ले जाता हूँ। यथाशक्ति कुम्भक करके नासिका से धीरे-धीरे रेचक करे। इस प्रकार बायीं अङ्ग से जितनी मुद्रा करने का विचार हो, इकट्ठी कर लें, फिर दाहिने पैर से भी विपरीत क्रम से उतनी ही मुद्रा करे जितनी बाएँ से की थी, परन्तु दाहिने अङ्ग में पूरक दाहिनी नाक से और रेचक बायीं से करे तथा दाहिने पैर की एड़ी सीवन में लगाई जाय। यह मुद्रा कपिल मुनि ने की थी।

इसके अभ्यास से अविद्या, अस्मिता (सूक्ष्म अहंकार),राग द्वेष, अभिनिवेष (मरणभय) यह पंच क्लेश, क्षय, गुल्म, भगन्दर,प्रमेह और कोढ़ का नाश होता है तथा अष्ट प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(२) महाबंध

(१) सिद्धासन से बैठकर मूलबन्ध को बराबर दृढ़ता से लगाकर दोनों हाथ चूतडों के पास रखकर पाँच घर्षण करें, फिर नासिका के दोनों छिद्रों से पूरक करे। कुम्भक के समय "मैं कुंडलियनी को जागृत करता हूँ" ऐसी भावना करे और स्थिरासन सहित ऊपर उठ उठकर कंद स्थान को रगड़े। यथाशक्ति कुम्भक करके नासिका के दोनों छिद्रों से धीरे-धीरे रेचक करे।

(२) पद्मासन से बैठकर बायीं नाक से पाँच घर्षण करे। फिर उसी नाक से पूरक करे। कुम्भक के समय लोलासन से स्थित हो और यह भावना करे कि "मैं कुंडलिनी को जागृत कर रहा हूँ" यथाशक्ति कुम्भक करके दाहिनी नाक से धीरे-धीरे रेचक करे। इस प्रकार बाएँ अङ्ग में भी जितनी मुद्राएँ करनी हो उतनी करके दाहिने अङ्ग में उसके विपरीत क्रम से उतनी ही मुद्राएँ करें ।

(३) बाएँ पैर की एड़ी से गुदा और अंडकोष के बीच का भाग कसकर दबाए और बायीं जाँघ पर दाहिना पैर रखकर रीढ़ को सीधा करके बैठे, फिर गुदा को सिकोड़ते हुए पाँच घर्षण करके बायीं नासिका से पूरक करे और अन्त में जालंधर बंध करके ठोड़ी को छाती में लगा दे व योनि स्थान (सीवन) का आकुंचन कर मन को सुषुम्ना में प्रविष्ट करे और यह भावना करे कि मैं कुंडलिनी शक्ति को जागृत करके ब्रह्मरन्ध्र में ले जा रहा हूँ। यथा-शक्ति कुम्भक करके धीरे-धीरे रेचक करे। कुम्भक के समय दोनों हाथों को तान कर दाहिने पैर के घुटने को पकड़े रहे और फिर दाहिने पैर की एड़ी सीवन पर लगाकर बायाँ पैर दाहिनी जाँघ पर रखकर पहले की तरह फिर प्राणायाम करे व कुम्भक के समय दोनों हाथों को फैलाकर बाएँ पैर के घुटने को पकड़े रहे। दोनों अभ्यासों की संख्या बराबर रहे। इस अभ्यास से इड़ा व पिंगला का संगम भ्रूमध्य से होता है जहाँ से ब्रह्मरंध्र की राह गई है। इसका भी महामुद्रा जैसा फल होता है।

योगी लोग साधारणतया महामुद्रा, महाबंध व महावेध करते हैं। इन तीनों का अच्छा मेल है। इन तीनों के अभ्यास से अधिक लाभ प्राप्त हो सकता है।

(३) महावेध

इसका अभ्यास करते समय दोनों तरफ़ हथेलियों को अपने दोनों तरफ़ पृथ्वी पर जमा दे और फिर धीरे-धीरे चूतड़ों को ऊपर उठावे। इस तरह धीरे-धीरे उठाने से प्राणवायु इड़ा व पिंगला छोड़कर सुषुम्ना में प्रवेश करने लगेगा। महावेध किए बिना महामुद्रा और महाबंध करना निष्फल है। इसको प्रहर-प्रहर में करना उचित है। इसके अभ्यास से वायु ताड़न के कारण छहों चक्रों के मध्य में रहने वाले देवता काँप उठते हैं। और कुण्डलिनी के लिए राह खुल जाती है जिससे वह ब्रह्मरंध्र में प्रवेश करने लगती है।

इस मुद्रा से खाल का सिकुड़ना, बालों की सफ़ेदी व सिर का हिलना तथा पाप नष्ट हो जाते हैं।

(४) विपरीतकरणी

(१) पृथ्वी पर चित लेटकर पीठ (कंधों की तरफ़) का कुछ हिस्सा व सिर पृथ्वी पर रखकर शेष धड़ सीधा ऊपर को उठावे और नितम्बों को हाथों से साधे, यह सर्वांगासन की तरह ही है। अन्तर यह है कि इसमें नितम्ब साधे जाते हैं सर्वांग में कमर। इसका अभ्यास प्रातःकाल करे।

इसके अभ्यास करने पर दूध का सेवन अच्छी तरह करे। इससे जठराग्नि तीव्र व जरा और मृत्यु दूर रहते हैं। एक मिनिट से आरम्भ कर धीरे-धीरे तीन घंटे तक बढ़ाइए।

(२) दोनों पैरों को लम्बे फैलाकर हाथों को घुटनों पर रख कर पाँच घर्षण करे। फिर नासिका के दोनों छिद्रों से पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भक के समय महाबंध में बतलाई हुई भावना करे। फिर पूर्व स्थिति में आकर नासिका के दोनों छिद्रों से

धीरे-धीरे रेचक करे।

नाभि के मूल में सूर्य नाड़ी है और तालु के मध्य में चन्द्र नाडी है। सहस्रार कमल से निकली हुई अमृतधारा का नाभि स्थिति सूर्य नाड़ी पान किया करती हैं। इसी से मनुष्य को मृत्यु के वश में होना पड़ता है। यदि तालु के मूल में स्थित चन्द्र नाड़ी के द्वारा योगी उस सुधा धारा को पी सके तो उसे मृत्यु के वश में नहीं होना पड़ता। अतएव योग के द्वारा सूर्य नाड़ी को ऊपर और चन्द्र को नीचे ले आना चाहिए। इसका उपाय यह है कि मस्तक को पृथ्वी पर रखकर दोनों हाथ उसके नीचे दोनों ओर लगा दे और दोनों पैरों को सीधे ऊपर उठाकर कुम्भक करे।

इस मुद्रा को प्रथम प्रत्येक सीढ़ी पर दो-दो सेकिण्ड ठहरते हुए करे। पश्चात् पूर्ण मुद्रा को दो बार आरम्भ करके प्रत्येक पक्ष में एक-एक बढ़ाते हुए पाँच बार तक ले जावे तथा प्रत्येक बार दस सेकिण्ड तक स्थिर रखे।

छः मास में चेहरे की झुर्रियाँ व सफ़ेद बालों का लोप हो जायेगा। मृत्युजंय देर तक अभ्यास करने के बाद हल्का नाश्ता या दूध पीना चाहिए।

(५) बज्रोली

योग शास्त्र में यह मुद्रा अत्यन्त कठिन मानी जाती है। जो इसे जानता है वह अन्य यौगिक क्रियाओं के बिना किये ही अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है।

अभ्यासी पहले मूत्रेन्द्रिय में एक चाँदी की नली डालकर उसके द्वारा पहले पानी भीतर की ओर बारह इंच तक चढ़ाते हैं फिर दूध, तेल व शहद और अन्त में पारा चढ़ाते हैं। पश्चात् बिना नली के ही यह पदार्थ चढ़ाये जाते हैं। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए यह क्रिया बड़ी ही सहायक व लाभदायक है। पहले दिन नली को केवल एक इंच

ही भीतर चढ़ाना चाहिए, एक इंच के डालने में सरलता व अभ्यास होने पर दो इंच, फिर तीन इंच, इसी प्रकार क्रमशः बारह इंच तक भीतर ले जाने का अभ्यास करना चाहिये।

जो इस क्रिया को करता है उसका एक बूंद भी वीर्य बाहर नहीं जा सकता। यदि बाहर जावे भी तो वह इस मुद्रा से उसे भीतर ही रख सकता है। जो योगी वीर्य को ऊपर खींचकर उसे सुरक्षित रख सकता है। वह मृत्यु पर विजयी हो सकता है। उसके शरीर से सुगंध निकलती है।

भगवान् कृष्ण इस मुद्रा में बड़े कुशल थे। यही कारण है कि गोपियों के बीच रहने पर भी वे नित्य ब्रह्मचारी कहे जाते हैं।

यह हठयोग की एक आवश्यक यौगिक क्रिया है। इसमें सफलता प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इस क्रिया के जानने वाले योगी बहुत कम मिलेंगे। इसका अभ्यास जानकार गुरु द्वारा ही सीखना चाहिए।

(६) शक्ति चालन

(१) एकांत कमरे में सिद्धासन से बैठे-बैठे बलपूर्वक पूरक द्वारा वायु खींचे और उसे अपान वायु में मिला दे। जब तक वायु सुषुम्ना में प्रवेश न करे मूलबंध किए रहे। वायु को रोके रहने से कुण्डलिनी दम घुटने का अनुभव कर जागृत होती है और सुषुम्ना द्वारा ब्रह्मरंध में पहुँचती है।

(२) सिद्धासन से बैठे व टखने के पास पैर को पकड़े और पैर से धीरे-धीरे नितम्ब को पीटे, परन्तु यह ताड़न क्रिया है। इस साधन से भी कुण्डलिनी जाग्रत होती है। इसके अभ्यास से साधक सिद्ध हो जाता है।

यह बज्रोली मुद्राएँ अत्यन्त गोपनीय और सर्व साधारण के लिए ज्ञातव्य भी नहीं है। इसलिए केवल किताबों में पढ़कर ही कोई इनको

न करे बल्कि किसी अनुभवी गुरु के तत्वावधान में उनके आदेशानुसार ही करे।

पतंजलि योग दर्शन के पढ़ने से योग सम्बन्धी बहुत-सी बातों का ज्ञान हो सकता है।

(७) खेचरी

जीभ को उलटकर कपाल कुहर में प्रविष्ट करके भ्रूमध्य में स्थिर करे। कपाल कुहर में जब जीभ लगने लगे तब पहले नमकीन फिर मिर्च, खट्टा, दूध का, शहद का पश्चात् घी का स्वाद मालूम होता है। घी का स्वाद मालूम होने पर इस मुद्रा का सिद्ध हुआ समझना चाहिए। दोहन से जब जीभ इतनी लम्बी हो जाय कि नासाग्र को छूने लगे तब उलटकर कपाल कुहर में प्रविष्ट कर सकती है।

जीभ के निचले भाग में जिह्वामूल और जीभ के साथ जो नाड़ी जुड़ी है उसे काटकर जीभ के उस निचले भाग पर, जीभ के अग्रभाग को सदा चलाते रहना चाहिए और मक्खन से जीभ को दोहन करके लोहे की शलाका से उसे खींचना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास करने से जीभ लम्बी हो जाती है। जीभ को इतनी लम्बी कर लेना चाहिए कि वह भौहों के बीच के स्थान को छूने लगे। जीभ को क्रम-क्रम से तालु के बीच में ले जाना चाहिए। तालु के बीच में जो गड्ढा है जिसे कपाल कुहर कहते हैं उसमें जीभ को ऊपर की ओर उल्टाकर घुसा देना चाहिए और दोनों भौंहों के बीच में दृष्टि जमाना चाहिए।

'ख' का अर्थ है आकाश और 'चर' का अर्थ है चलना। योगी आकाश में चलता है। इसलिए इसे खेचरी कहते हैं। गुरु की संरक्षता में ही इसका अभ्यास करना चाहिए। इस मुद्रा व योग गुटिका द्वारा मनुष्य हवा में उड़कर कहीं भी जा सकता है।

इस मुद्रा द्वारा ब्रह्मरंध्र से बहने वाली सोमधारा को पान करने से

अमृत समान नशा होता है। सिर घूमता है, नेत्र स्वयं अधमुन्दे और स्थिर रहते हैं व भूख-प्यास जाती रहती है तब यह मुद्रा सिद्ध होती है। इसके साधन से ब्रह्मरंध्र से सोमधारा झरती है वह साधक के सारे शरीर को अमृत से प्लावित करती है। इससे साधक शिथिलता, जरा आदि से रहित होकर दृढ़काय, पराक्रमी व कामदेव के समान सुन्दर हो जाता है। नाना रसों के स्वाद मिलते हैं। दूध का स्वाद अनुभूत होने पर रोग नष्ट हो जाते हैं और घी का स्वाद मिलने पर अमरत्व प्राप्त होने लगता है।

वास्तविक रूप में इस मुद्रा के साधन से साधक सब रोगों से मुक्त हो जाता है। क्षीणता, तन्द्रा, भूख, प्यास व मूर्च्छा के आक्रमण नहीं होते ओर न किसी कर्म-बंधन में फँसने पाता है तथा न काल का भय ही सताता है। काया-सिद्धि प्राप्त होती है। यह सब मुद्राओं में श्रेष्ठ हैं। राजा भर्तृहरि इसे बड़ी कुशलता से करते थे।

खेचरी सिद्ध करने के लिए जिह्वा छेद बतलाया गया है। छेदन के पश्चात् दोहन है। जिह्वा तीन प्रकार की होती हैं।(१) नाग, (२) हस्ति (३) धेनु जिह्वा। नाग जिह्वा स्वत: लम्बी होती है। शेष दोनों छेदन योग्य होती हैं। जिनकी जिह्वा नासिका अग्रभाग में लग जाती है, उनको छेदन की आवश्यकता नहीं, केवल दोहन की है। दोहन के लिये पहले बच (उग्रगंधा) के चर्ण से जिह्वा को मलना पड़ता है। इससे कफ़ादि दोष नष्ट हो जाते हैं। बहेड़ा चूर्ण से दोहन करे और सेंधा नमक से जिह्वा का छिदा भाग घिसे। छेदन गुरु के समीप रहकर ही करे। डाक्टर द्वारा छेदन कराने से वाचा शक्ति नष्ट हो जाती है। खेचरी सिद्ध हो जाने पर प्राणायाम करके खेचरी करे। इसका अभ्यास होने पर प्राण शक्ति सिद्ध करने के लिए शक्ति चालनी मुद्रा बतलाई है। इस मुद्रा से कुण्डलिनी मणिपुर चक्र तक आती है। बाद में जालंधर बंध से रुद्र ग्रंथि का भेदन होता है और प्राण शक्ति उड्डियान बंध के सहारे विशुद्ध

चक्र से मणिपुर चक्र तक आकर कुंडलिनी को ऊपर ले जाती है। इसके पश्चात् वह आज्ञाचक्र से ललना चक्र मनश्चक्र और सोमचक्र से होकर सहस्त्रार में पहुँचती है।

गुरु जीभ की निचली संयोजक शिरा को तेज चाकू से प्रति सप्ताह थोड़ा-थोड़ा काट देगा। नमक व हल्दी का चूर्ण छिड़क देने से कटे हुये किनारे फिर नहीं जुडेंगे। जीभ ताज़े मक्खन से रगड़े और बाहर निकाले, उँगलियों से पकड़कर इधर-उधर हिलावे। जिस प्रकार ग्वाला गाय के थन को दुहता है उसी प्रकार जीभ को पकड़कर दुहो। सप्ताह में एक बार जीभ के निचले सिरे को काटते जाने का क्रम छः मास तक नियमित रूप से जारी रखना चाहिए इस प्रकार जीभ ललाट तक पहुँचने लगेंगी। यह प्रारंभिक अंश है।

(८) योनिमुद्रा

सिद्धासन से बैठकर दोनों अँगूठों से दोनों कान, दोनों तर्जनियों से दोनों आँखें, दोनों मध्यमाओं से दोनों नाक के छिद्र और दोनों अनामिकाओं से मुँह बन्द कर लेना चाहिए। काफ़ी मुद्रा के द्वारा प्राणवायु को खींचकर अपान वायु के साथ मिला देना चाहिए। देहस्थित छहों चक्रों का ध्यान करके 'हुं' और 'हंस' इन दो मंत्रों के द्वारा सोई हुई कुण्डलिनी देवी को जगाना चाहिए और जीवात्मा के साथ मुक्त कुंडलिनी शक्ति को सहस्त्रदल कमल पर ले जाकर ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि 'मैं स्वयम् शक्तिमय होकर शिवजी के साथ नाना प्रकार के विहार कर रहा हूँ। फिर दृढ़ चित्त से ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि 'शिवशक्ति के संयोग से आनन्द स्वरूप होकर मैं ही ब्रह्म स्वरूप में स्थित हूँ। यह देवताओं के लिए भी दुर्लभ व गोपनीय है। इसके साधन करने से सिद्धि-प्राप्त व समाधि लगने लगती है। इसके अभ्यास के समय बहुत ही

सावधानी रखे व पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहे ।

(९) शाम्भवी मुद्रा

(१) मन को आज्ञाचक्र में स्थिर करके दृष्टि को सम स्थल में अधिक से अधिक दो हाथ और कम से कम एक बालिस्त के अन्तर से किसी मनोनीत पदार्थ की कल्पना में केन्द्रित रखकर स्थिर करना,अथवा चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते व काम करते समय अपने में अपना लक्ष्य रखकर अलक्ष्य का लक्ष्य करना। परा का स्फुरण यशवंती बनकर मध्यमा वैखरी के अर्थ शब्दों की एकता करता है या नहीं इसी का निरीक्षण करना ही अन्तर लक्ष्य है। इसी मुद्रा के करने के कारण शिवजी का नाम शाम्भवी पड़ा।

(२) नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाना चाहिए। इसका यह भाव है कि यदि साधक नेत्रों को अधिक खोलेगा तो विक्षेप होगा और सर्वथा बंद रखने पर आलस्य से चित्त का लय होगा। अतएव भृकुटी के मध्य (अन्तर तत्त्व) में लक्ष्य रखें। अर्थात् नेत्रों को किंचित् खुला रखे जिससे चित्त का लक्ष्य अन्तर्मुख (ध्येयाकार) रहे। दृष्टि बाहर की ओर अर्थात् नेत्र खुले रहते हैं किन्तु बाह्य पदार्थ दिखाई नहीं देते। यह सम्पूर्ण शास्त्रों में गुप्त 'शाम्भवी मुद्रा' कहलाती है।

(३) दोनों भृकुटियों के बीच में दृष्टि जमाकर स्थिर मन से ध्यान के द्वारा परमात्मा का दर्शन करना चाहिए। यह मुद्रा सभी तंत्रों में गोपनीय है। जिसको इस मुद्रा का पूर्णरूप से साधन हो जाता है वह ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। महादेव जी ने इस बात को तीन बार सत्य कहकर निरूपण किया है।

(१०) योगमुद्रा

पद्मासन से बैठकर हथेलियों को एड़ियों पर रखिए। धीरे-धीरे साँस बाहर निकालकर व आगे झुककर माथे को ज़मीन से लगाइए।

यदि अधिक समय तक अभ्यास करना हो तो साधारण ढंग से व पहली अवस्था में आकर साँस ले। हाथों को एड़ियों पर न रखकर पीठ पर भी रखा जा सकता है। बायीं कलाई को दाहिनी कलाई से पकड़े। इससे पेट के सभी विकार दूर हो जाते हैं।

(११) अगोचरी

नासिका के अग्रभाग पर मन को दृढ़ता पूर्वक स्थित करने को अगोचरी मुद्रा कहते हैं।

(१२)भूचरी

नासिका के अग्रभाग से चार अँगुल दूर आकाश में मन को पूर्ण रूप से स्थिर करने को भूचरी मुद्रा कहते हैं।

(१३) चाचरी

आज्ञाचक्र में मन को स्थिर करना। पक्षान्तर में इसे चाचरी मुद्रा भी कहते हैं।

(१४) ज्ञानमुद्रा

पद्म-सिद्ध अथवा अन्य किसी ऐसे ही आसन से बैठकर दोनों हाथों के पंजे घुटनों पर खोलकर रखे फिर तर्जनी अँगुलियों को अँगूठों के बीच में इस तरह लगावे कि गोल छल्ला सा बन जावे। इस मुद्रा से ध्यान जमता है।

(१५) षड्मुखी मुद्रा

अँगूठों से दोनों कान बंद करना, तर्जनी और मध्यमा से नेत्र बन्द करना और अनामिका-कनिष्ठिका से नासारंध्र को बन्द करके ध्यान लगाने से प्रकाश का साक्षात्कार होता है।

जिनको कब्ज रहता हो उनको योग मुद्रा बहुत देर तक नहीं करनी चाहिए। हृदय की साधारण निर्बलता वालों को उड्डियान व कपालभाति नहीं करना चाहिए तथा जिनके फेफड़े कमज़ोर हों उनको कपालभाति, भस्रिका व उज्जाई कुम्भक करना उचित नहीं, किन्तु केवल रेचक व पूरक उज्जाई करने में हानि नहीं।

उड्डियान, कपालभाति, भस्त्रिका और उज्जाई प्रातःकाल करना चाहिए । कपालभाति, भस्रिका व उज्जाई करने के पहले शौच हो लेना चाहिए। इसका अभ्यास पद्म व सिद्धासन से सुगमता से होता है। कपालभाति व भस्रिका के लिए तो पद्मासन ही अधिक लाभदायक है।

योगमुद्रा, उज्जाई व कपालभाति शाम को भी की जा सकती है।

प्राणायाम में पूर्ण सफलता बंधों की सहायता के बिना नहीं प्राप्त हो सकती। अतएव पहले उनका अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है। बिना बंध के प्राणायाम कदापि न करना चाहिए अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि होने की सम्भावना रहती है।

बंध तीन प्रकार के होते हैं। (१) मूलबंध (२) जालंधर बंध (३) उड्डियान बंध।

मूलबंध आरम्भ से अन्त तक रहता है। शेष दोनों समयानुसार खोले व बंद किए जाते हैं। प्रत्येक प्रकार पूरक, कुम्भक व रेचक के साथ दो बंध रहते हैं। पूरक के साथ मूलबंध, कुम्भक के साथ मूल व जालंधर ओर रेचक के समय मूल व उड्डियान बंध अवश्य लगाए रहना चाहिए। पूरक समाप्त करते ही कुम्भक के साथ-साथ जालंधर बंध व रेचक के साथ ही उड्डियान बंध लगाना अत्यन्त आवश्यक है।

(१) मूलबंध

गुदा को दृढ़तापूर्वक ऊपर को सिकोड़कर व अपान वायु को ऊपर

खींचने को मूलबंध कहते हैं। प्राणायाम के समय मूलबंध आरम्भ से अन्त तक दृढ़तापूर्वक लगा रहना चाहिए। इस बंध के दृढ़ होने से मलमूत्र का त्याग नियमित रूप से होगा। मलावरोध न होगा। रक्ताभिसरण क्रिया बलवती बनने से नाद खुल जावेंगे। कुण्डलिनी जाग्रत होगी। इसके दृढ़ न होने से फुफ्फुस निर्बल हो जावेंगे। मलावरोध होकर मल बकरी की मेंगनी सा हो जायेगा।

इस बंध के अभ्यास से ब्रह्मचर्य की रक्षा व धातु पुष्ट होती है। कोष्ठ बद्धता दूर होकर जठराग्नि बढ़ती है। वृद्ध लोगों को भी युवा अवस्था प्राप्त होती है। बाल कभी सफ़ेद नहीं होते। जिसने इसे पक्का कर लिया उसके सब विघ्न मिट जाते हैं।

अपान वायु जो मल को बाहर लाती है उसका नीचे की ओर जाने का स्वभाव होता है। इसके अभ्यास में गुदा के सिकोड़ने ओर अपान वायु के बलपूर्वक ऊपर खींचने से वह ऊपर की ओर जाती है। प्राण वायु का अपान वायु से संयोग होकर संयुक्त अपान व प्राण वायु को सुषुम्ना नाड़ी में ले जाती है। तब योगी को योग में पूर्णता प्राप्त होती है। यह योग का एक महत्वपूर्ण रहस्य है। उस अवस्था में योगी संसार के लिए मृतवत् होकर अमरत्व प्राप्त करता है। वह सहस्रार में शिव पद और सभी दैवी विभूतियाँ तथा ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

अपान का प्राण से संयोग होने पर अनहद व अन्य अनेक नाद स्पष्ट सुनाई देते हैं। समाधि लग जाती है तथा प्राण, अपान, नाद व बिन्दु का संयोग हो जाता है और योगी को योग में पूर्णता प्राप्त हो जाती है। अग्नि की दीप्ति से मल-मूत्र कम हो जाता है।

(२) जालंधर बंध

गले को आगे झुकाकर ठुड्डी को छाती से कंठकूप की जगह दृढ़तापूर्वक लगाने को ही जालंधर बंध कहते है वायु की उर्ध्वगति को रोकना इस बंध का काम है। इससे सोलह आधारों का बंधन होता है।

इस बंध को भी पूरक के अन्त व कुम्भक के पहले किया जाता है। उक्त क्रिया द्वारा प्राण ब्रह्म नाड़ी से होकर जाता है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। सरस्वती नाड़ी को जाग्रत करके प्राण को वश में कर लेना चाहिए। पहले दिन चार बार, दूसरे दिन दस बार और फिर पाँच बार अतिरिक्त कुम्भक करे। तीसरे दिन बीस बार करना पर्याप्त होगा। इसके उपरांत फिर अन्य बंधों के साथ प्रतिदिन पाँच बार बढ़ाते हुए करे।

इस बंध के अभ्यास से प्राण की गति ठीक मार्ग से होती है। उसका अपान से संयोग हो जाता है। इड़ा पिंगला नाड़ी बन्द हो जाती है। जठराग्नि जिसका निवास नाभि प्रदेश है, उस अमृत का पान करती है जो तालुरंध्र द्वारा सहस्रार के बाहर स्रवित होता है। इस प्रकार नष्ट होते हुए अमृत को रोकने के लिए योगी को इस बंध का अभ्यास करना चाहिए। इससे योगी अमृत का पान करता हुआ अमरत्व प्राप्त करता है। जालंधर बंध और महामुद्रा यह दोनों मृत्यु को हटाने वाले हैं।

पूरक के पश्चात् तुरन्त ही इसे लगाना चाहिए। इससे दृढ़ होने से कुम्भक के समय फुफ्फुसों में से वायु उछलकर घण्टिका के ऊपर के भाग में आघात नहीं करती। इस बंध से शरीर के समस्त ज्ञानतन्तु बलवान् होते हैं। क्योंकि उस बंध(विशुद्ध चक्र) का सम्बन्ध पादांगुष्ठ, गुल्फ, जानु (घुटने), उरू(जँघा), सीवनी, नाभि,हृदय, ग्रीवा, विशुद्ध चक्र के नीचे का भाग,कंठदेश (विशुद्ध चक्र के ऊपर का भाग) लम्बिका (घण्टिका),नासिका, भ्रू, कपाल, मूर्द्धा (कान के पीछे का भाग) और ब्रह्मरंध्र इन सोलह आधारों से है। प्राणायाम के समय मस्तिष्क को वायु के आधातों से बचाना इसी बंध पर निर्भर करता है। उसके दृढ़ होने से मस्तिष्क व समस्त ज्ञानतन्तु का रक्षण होता है। इसके दूषित होने से नासिका, नेत्र, मस्तिष्क और कंठ स्थान में विकार व प्रकोपजन्य व्याधि भी हो जाती है।

(३) उड्डियान बंध

पेट को नाभि के नीचे और ऊपर के भाग को रीढ़ अर्थात् मेरुदंड की तरफ़ बलपूर्वक खींचने व ढीला छोड़ देने को उड्डियान बंध कहते हैं। इस बंध को दिन में चार बार करने से प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाभि चक्र तथा सब नाड़ियाँ शुद्ध रहती हैं। यह क्रिया बैठे-बैठे, घुटनों पर हाथ रखकर खड़े-खड़े व दीवार के सहारे की जाती है।

प्राणायाम करते समय कुम्भक के बाद रेचक करते समय उड्डियान बंध खोल देना चाहिए।

उड्डियान बैठकर

पद्मासन से बैठकर हाथ घुटनों पर रखे तथा कुछ आगे झुक कर व पेट को आगे की तरफ़ सिकोड़कर तथा ज़ोर से रेचक करके पेट बिलकुल खाली करने के पश्चात् कुम्भक करे। उसके उपरान्त साँस न लेते हुए अन्दर लेने के समान ही पसलियों को ऊपर उठावें और पेट की नसों को ढीला छोड़ दे। आँतों और नाभि को सिकोड़ कर पीछे की तरफ़ खींचने से पेट ऊपर की ओर उठकर पीठ से सट जाएगा। इस प्रकार पेट पाँच की संख्या की तरह अन्दर-अन्दर की ओर सिकुड़ कर गोलाकर हो जाएगा। अर्थात् नाभि पीछे खिंचकर मेरुदंड से मिल जायगी, इससे फुफ्फुस बलवान् होते हैं।

खड़े होकर

दोनों पैरों के बीच में कुछ अन्तर छोड़ते हुए खड़े होकर कुछ आगे झुकिए व घुटनों को मोड़िए तथा हाथ जाँघों या घुटनों पर रखे व पेट की नसों को पूरी तौर पर अन्दर की तरफ़ सिकोड़ कर पूर्ण रेचक करिए और बाह्य कुम्भक करके साँस बाहर ही रोकिए। जिस प्रकार पूरक करते समय पसलियाँ ऊपर उठती है व पेट की नसें शिथिल

हो जाती हैं उसी तरह साँस अन्दर न लेते हुए पसलियों को ऊपर उठाइए व पेट की नसों को ढीला छोड़ दीजिए। इस प्रकार पेट अन्दर की तरफ़ सिकुड़कर गोलाकार हो जाएगा।

उड्डियान बंध का निरंतर अभ्यास करने से अभ्यासी युवा होकर मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। सभी बंध कुंडलिनी जागृत करते हैं। यह बंध कुंभक के अन्त और रेचक के आरम्भ में किया जाता है, क्योंकि प्राण इस बंध में उड्डियान करता हुआ उड़कर सुषुम्ना में पहुँचता है। यह मानव जाति के लिए एक बहुत ही उत्तम (सुखप्रद) क्रिया है। इसके अभ्यास से सुन्दर स्वास्थ्य, शक्ति, बल और जीवन शक्ति प्राप्त होती है। जब इसका नौली क्रिया से संयोग हो जाता है जिसमें पेट को मथा जाता है तो यह पेट और आँतों को मुलायम करने मे बहुत ही उपयोगी होता है। पाचन प्रणाली के आमाशय रस और आँतों के विकारों व दुर्बलता, कोष्ठबद्धता दूर करने के लिए योगियों के पास यह दो बड़े शक्तिशाली अस्त्र हैं। इन दो अभ्यासों द्वारा ही पेट के सम्पूर्ण आंतरिक यंत्रों की मालिश व पुष्टि होकर सब विकार दूर हो जाते हैं।

जो लोग नौली का अभ्यास करना चाहें उनको आरम्भ में इस बंध का अभ्यास करना चाहिए। पेट के पूर्व व पश्चात् व्यायामों में इस बंध व नौली का मुक़ाबला कोई भी व्यायाम नहीं कर सकता।

अपान वायु जिसकी स्वाभाविक गति नीचे की ओर रहती है, शरीर को नीचे झुकाकर उर्ध्वगति कर दी जाती है, ऐसा करने पर जब अपान वायु अग्नि स्थान में पहुँचता है तो अग्नि प्रदीप्त हो जाती है, पश्चात् अग्नि और अपान का प्राण की उष्णावस्था से मेल हो जाता है। इस अग्नि से एक प्रकार की ज्वाला निकलती है जो सुषुम्ना व कुंडलिनी को जगा देती है। उस समय कुंडलिनी चोट खाये हुए सर्प की भाँति फुफकार मारती हुई ब्रह्म नाड़ी (सुषुम्ना) के रंध्र में प्रवेश करती है।

पूर्व लिखे अभ्यास के पश्चात् बज्रासन में बैठकर तथा दोनों पैर के अँगूठों को पकड़कर सरस्वती नाड़ी की गति को धीरे-धीरे पहले हृदय तब गर्दन की ओर ले जाना चाहिए। सरस्वती नाड़ी का स्थान पेट के पश्चिमी भाग में नाभि के ऊपर है। जब प्राण नाभि के संधि स्थान पर पहुँचता है तब वह नाभि सम्बन्धी सभी रोगों को दूर कर देता है। अतएव इस बंध का पूरा अभ्यास व उपयोग किया जाना चाहिए, इसे प्राणायाम के समय के सिवाय साधारणतया भी करना चाहिए। इससे त्रिधातु से उत्पन्न होने वाले सब रोग नष्ट हो जाते हैं। इसे शास्त्रकारों ने "मृत्यु मातंगकेसरी" अर्थात् मृत्युरूपी हाथी को पछाड़ने वाला केसरीसिंह बतलाया है। इसके दोषयुक्त होने से फुफ्फुस व आमाशय निर्बल हो जाते हैं।

❖ ❖ ❖

षट्कर्म

नाड़ी शुद्धि के उपाय

मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक होने के कारण प्राणी मात्र के शरीर वात, पित्त व कफ़ इन त्रिधातुओं के नाना प्रकार के रूपान्तरों से सम्मिश्रण हैं। अतः कुछ शरीर वात प्रधान, कुछ पित्त प्रधान और कुछ कफ़ प्रधान होते हैं और आहार-विहार, देशकाल व जलवायु का उक्त धातुओं पर अच्छा बुरा प्रभाव पड़ता है। इन त्रिधातुओं से मल कुपित होने पर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इन व्याधियों को उत्पन्न न होने देने व हो गये हों तो उनको दूर करके देह को पूर्ववत् स्वस्थ बनाने के लिए जैसे आयुर्वेदाचार्यो ने स्नेहपान, स्वेदन, वमन, विरेचन व बस्ति यह पंच कर्म बतलाए हैं वैसे ही हठयोग प्रवर्तक महर्षियों ने साधकों के शरीर की शुद्धि के लिए षट्कर्म निश्चित किए है। यह

भी दो चार नाड़ियाँ योगियों के देखने की हैं सो भी इनके बीच में कहेंगे।

नाड़ियों की उत्पत्ति।

यह इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाम वाली नाड़ियाँ तो आज्ञा-चक्र से उत्पन्न हुईं हैं और सहस्र दल कमल के पास में होकर मेरु के बराबर में चलती हुई पश्चिम मुख से निकलकर गुह्य स्थान में होकर कन्द को भेद कर नाभि में जो कन्द है उसमें मिल गई हैं। फिर आगे को नासा द्वारा अन्य चक्रों का भेदन करती हुई निकलती हैं।

और, गुह्यद्वार से ऊपर जो मूलाधार चक्र है उसमें व्याप्त सुषुम्ना नाड़ी के बीच में लिंग देश से निकलकर शिर तक पहुँची हुई वज्र-नाम की एक नाड़ी है वह देदीप्यमान – चमकने वाली है। यह नाड़ी योगी-श्वरों को ध्यान में प्रतीत होती है, जो मकड़ी के तार से भी सूक्ष्म है। और सुषुम्ना नाड़ी उक्त छओं पद्मों की नाल का भेद कर गई है। वैसे ही चित्रनाड़ी भी उसी छिद्र से ऊपर को चली गई है। और इसी के बीच में एक ब्रह्मनाड़ी बिजली के समान देदीप्यमान है। और वह नाड़ी सुषुम्ना से भी मोहनीय स्वरूप वाली है। जिनको शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ है और जिनका आचरण शुद्ध है उनके देखने में यह नाड़ी ठीक ठीक आती है, न कि प्रत्येक मनुष्य इसको देख सकता है।

कुण्डली चलाने का उपाय।

इस कुण्डली के, कुण्डलिनी, नागन, बालरण्डा, शक्ति, आदि कई नाम हैं। यह कुण्डलिनी नामक नाड़ी सब नाड़ियों के ऊपर स्थित होकर मणिपूरक चक्र कर्णिका में आवृत करके ब्रह्मरन्ध्र के द्वार का रोक कर सर्वदा रहती है, और सुषुम्ना को नहीं जाने देती है। इस लिये प्राण-वायु और अपानवायु को धोंकने वाला—अर्थात् उत्तेजित करने वाला जो पुरुष है वह उस प्राण और अपान वायु की एकता से उत्तेजित हुई

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जो अग्नि उससे जागृत होकर मन और प्राणवायु सहित सुषुम्ना को सूचीतंतु न्याय से ऊपर ले जाता है। जैसे सूई में तन्तु पोया हुआ हो तो वह सुई कपडे के अनेक सूतों को भेदकर तन्तु-सहित ऊपर को निकल जाती है। वैसे ही वह करनेवाला पुरुष मन और प्राण वायु के साथ सुषुम्ना नाड़ी को ऊपर ले जाकर अपने आनन्द को प्राप्त होता है।

अथवा, सोते हुए सर्प के समान कुंडली नाड़ी है। उसको जागृत करने के वास्ते पहिले अपानवायु और प्राणवायु से विधिपूर्वक बीच की अग्नि के स्वरूप को तेज करे। अग्नि की तेजीसे उसे जगाकर जैसे अति वेग से चलता हुआ सर्प समान गति को छोड़कर कुटिल गति से जाता है, वैसे ही वह करनेवाला ज्योतिमयस्वरूप होकर सुषुम्ना मार्ग से लय हो जाता है।

जैसे ताले में कुञ्जी लगाने से ताला खुल कर कपाट (किवाड़) खुल जाते हैं वैसे ही कुंडली करके सुषुम्ना रूप कुञ्जी (ताली) से आत्म-स्वरूप कपाट खुल जाता है।

दूसरो रीति से शक्ति-चालनादि का वर्णन।

दूसरा प्रकार यह है कि वज्र-आसन लगाकर हाथों से पगों (पैरों) की एड़ी पकड़ कर कन्द स्थान को दृढ़ता से पीडन करे। और उस वक्त में वज्रासन से ही धोंकनी-कुंभक करके वायु को प्रचलित करे, उस वायु के प्रचलित होने से अग्नि प्रज्वलित होती है, उस प्रज्वलित अग्नि की गर्मी से वह बालरंडा मुख फाड़ देती है। उस समय भी सुषुम्ना करके योगीश्वर अपने स्वरूप का आनन्द पाता है।

अथवा, नाभि स्थान में सूर्य को आकुञ्चन कर कुंडली को चलावे, या चार घड़ी पर्यन्त निर्भय होकर शक्ति चालन करे तो कुंडली कुछ सुषुम्ना में ऊपर को ऊठे तब प्राणवायु आप ही सुषुम्ना में प्रवेशकर जाती है।

इस शक्ति के चलाने में नोलीचक्र, और भस्त्रिका, कुंभक, और महा-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मुद्रा ये तीनों बहुत उपयोगी है। जो पुरुष इनका विशेष रूप से अभ्यास करेगा वही इस बालरंडा को जगाकर सुषुम्ना के संग होकर अपने आत्म-स्वरूप आनन्द को प्राप्त होगा। परन्तु ये सब बातें वायु के साधन से होती हैं। इसलिये वायु के नाम दिखाते हैं:- १ प्राण २ अपान ३ समान ४ उदान ५ व्यान ६ नाग ७ कूर्म ८ कृकल ९ देवदत्त १० धनञ्जय। ये दस वायु सर्व शरीर में रहती हैं।

वायुओं का स्थान

प्राणवायु हृदय में रहती है और श्वास-प्रश्वास को बाहिर-भीतर निकालती है, और जठराग्नि से अन्न पानादि को परिपक्व करती है। अपानवायु मूलाधार से मल-मूत्र को बाहिर निकालती है। समानवायु नाभि में रहकर सब नाड़ियों को यथास्थान रखती है। उदानवायु कण्ठ में रहकर शरीर की वृद्धि करती है। व्यानवायु सर्व शरीर में व्याप्त है। वह लेना छोड़ना (आदान-उत्सर्ग धर्म) करती है। नागवायु उद्गार अर्थात् डकार कराती है। कूर्मवायु नेत्रों के पलकों को ऊपर-नीचे लाती है। कृकलवायु नासिका से छींक कराती है। देवदत्तवायु जंभाई (जृम्भा) कराती है। धनञ्जय सर्व शरीर में रहती है। इनको दश प्राण भी कहते हैं। परन्तु मुख्यता जो कुछ है वह श्वास-प्रश्वास की है। जो कुछ काम जगत में हो रहा है वह सब इसकी कृपा है।

इस आर्यावर्त से कितने ही मनुष्योंने योगाभ्यास का भेद पाया है। अरबस्थान वाले मुसलमानों ने यहाँ से योगाभ्यास को पाकर इसका नाम अपने संकेत में (हवसेदम) रख लिया है; और अङ्गरेज लोगों में 'मैस्मेरिज़्म' कहते हैं। ये सब खेल मन-वायु के साथ होने से यथावत् सिद्ध होता है। क्योंकि मन-वायु की एकता होगी, तब चित्त को एकाग्र कर जिस काम में लगावेगा, उस कार्य्य में अवश्य प्रवृत्त होगा। क्योंकि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है ऐसा भगवान् पतञ्जलिने योग-दर्शन में लिखा है "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २॥" इसका अर्थ यह है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बन्ध के प्रकार।

अब बन्ध का वर्णन करते हैं,क्योंकि जो पहले ही बन्ध का वर्णन न करें तो कुम्भक-मुद्रा-प्राणायाम आदि का वर्णन करना व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि विना बन्ध के लगाये कुंभक आदि कोई क्रिया नहीं होती। इस लिये बन्ध का पृथक् कहना आवश्यक है। वह बन्ध चार प्रकार से होता है १ मूलबन्ध, २ जालन्धरबन्ध, ३ उड़ियानबन्ध, ४ जिह्वाबन्ध।

१ मूलबन्ध।

इस मूलबन्ध की विधि यह है, कि एड़ी से योनिस्थान को दबाकर गुदाको संकोचित करे। फिर अपानवायु जो कि नीचे को जाने वाली है, उसको ऊपर चढ़ावे, उसका नाम मूलबन्ध है। अथवा एड़ी को गुदा के नीचे रखे, या एक गेंद बनाकर गुदा के नीचे रखे, और अपान-वायु का ऊर्ध्वगमन अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में प्राप्त करे ; इसी को मूल-बन्ध कहते हैं।

मूलबन्ध के गुण।

अधोगति (नीचे को जाने वाली) अपानवायु को तो ऊपर करे और दूसरी जो प्राणवायु ऊर्ध्वगमनी (ऊपर जाने वाली) है उसे नीचे करे। इन दोनों वायुओं को मिलाकर एक करे। उस एकता के होने से वायु का सुषुम्ना (नाड़ी) में प्रवेश होता है। उस वक्त जो करने वाले पुरुष हैं उनको नाद की प्रतीति होती है। उस नाद का वर्णन आगे करेंगे। दूसरा, प्राण और अपान के एक हो जाने से वायु विशेषकर पङ्खा के समान चलती है। इस लिये उससे जठराग्नि के कुण्ड के ऊपर जो मल रूपी छार (राख) है, वह उड़ जाती है, और उसके उड़ जाने से जठराग्नि तेज होती है। उस तेजी की गरमी से कुण्डलिनी अर्थात् बालरण्डा चमककर खड़ी हो जाती है। उसके चमकने से ही योगियों के योग सिद्ध हो जाते हैं। इत्यादि जो अनेक गुण इसमें हैं वे लिखे नहीं जा सकते। जो मनुष्य करते हैं वे योगीश्वर होते हुए आनन्द लूटते हैं,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिज्ञासु को योग्य जानकर उपदेश भी देते हैं, आत्मा को अपने आनन्द रूपी रस में ही भिगोते हैं।

२ जालन्धर बन्ध।

इस जालन्धर-बन्ध का स्वरूप यह है, कि कण्ठ को नीचे झुकाकर हृदय से चार अंगुल अलग ठोड़ी को यत्न से दृढ़ स्थापित करे, इसका नाम जालन्धरबन्ध है। परन्तु इसमें पद्मासन लगावे। जालन्धर पद का अर्थ यह है, कि नाड़ियों का जाल (समूह) बांधे, और नीचे को गमन करे ऐसा जो कपाल का छिद्र उसको बान्धे। जालन्धरबन्ध के करने से कण्ठ के सर्व रोग नष्ट हो जाते हैं। फिर कण्ठ के सङ्कोचित करने से दोनों नाड़ियों (इडा और पिङ्गला) का स्तम्भन करे। इसी का नाम जालन्धर-बन्ध है।

३ उड़ियान बन्ध।

इस उड़ियान बन्ध की विधि कहने के पहिले उड़ियान शब्द का अर्थ करते हैं, कि जिस हेतु से अथवा जिस बन्ध करके रोकी हुई वायु सुषुम्ना नाड़ी में उड़ जाय अर्थात् प्रवेश कर जाय। सुषुम्ना के जोर से आकाशमार्ग में प्रवेश कर सकता है, इस वास्ते इसका नाम उड़ियान है। महान् खग अर्थात् आकाश में निकलकर प्राण जिसमें बन्ध करे, और जिसमें श्रम न हो और सुषुम्णा पक्षी की तरह गति करे; उसका नाम उड़ियान-बन्ध है।

उड़ियान बन्ध की रीति।

उड़ियानबन्ध की रीति यह है कि नाभि के ऊपर का भाग और नीचे का भाग इन दोनों को उदर समेत पीछे को खींचे, और पीठ में लग जाय ऐसा खींचे; इसका नाम उड़ियानबन्ध है। नाभि के ऊपर-नीचे के भागों को यत्न-पूर्वक पीछे को लगावे, अर्थात् पीठ की तरफ दोनों भागों को ले जाय। इस उड़ियानबन्ध का अभ्यास रोटी खाने के पहले बारम्बार करे तो छः महीने में इसके गुण आपसे आप प्रकट हो जाते हैं, अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४ जिह्वाबन्ध।

जिह्वाबन्ध की विधि यह है, कि जालन्धरबन्ध अर्थात् कण्ठ को झुकाकर ठोड़ी को हृदय में स्थापित करें और दोनों राजदन्तों (मुख के सामने के ऊपर के जो दांत हैं उनके) पर जिह्वा को काढ़कर लगावे उसी का नाम जिह्वाबन्ध है। इस जिह्वाबन्ध से एक सुषुम्ना नाड़ी रहित जो सम्पूर्ण नाड़ियां हैं उनके ऊपर वायु की गति रुक जाती है, इस लिये इसको कोई जालन्धरबन्ध भी कहते हैं। जाल नाम नसों का है उनका जो बांधना उसी का नाम जालन्धर है। यह ऊपर लिखी हुई बन्धों की रीति के साथ जो पुरुष प्राणायाम करेगा, उसी को हठयोग की प्राप्ति होगी और हठयोग से ही राजयोग की प्राप्ति होती है। इस वास्ते आत्मार्थियों को इसमें भी परिश्रम करना चाहिये। परन्तु इन बन्धों में गुरु की अपेक्षा जरूर है, क्योंकि गुरु यथावत् रीति करके दिखावे तो जिज्ञासु असल भेद पावे। जिह्वा-बन्ध, खेचरीमुद्रा से सम्बन्ध रखता है, वह खेचरीमुद्रा तो आगे दिखलावेंगे। उस खेचरीमुद्रा को भी कितने ही लोग जालन्धर-बन्ध कहते हैं।

कुम्भकों के नाम।

कुम्भकों के नाम ये हैं;—१ सूर्यभेदन, २ उज्जाई, ३ सीत्कारी, ४ सीतली, ५ भस्त्रिका, ६ भ्रामरी, ७ मूर्छा, और ८ प्लावनी।

१ सूर्यभेदन का वर्णन।

सूर्यभेदन की रीति यह है कि मूलबन्ध करके पूरक के अन्त में शीघ्र ही जालन्धरबन्ध लगावे। कुम्भक के अन्त में और रेचन की आदि में उड़ियानबन्ध लगावे।

इस रीति से सूर्यस्वर से प्राणायाम करे। जो बन्ध के साथ प्राणायाम करेगा उसको वायु-प्रकोप कभी नहीं होगा। और, इसमें इतना विशेष है, कि पूरक शीघ्रता से भी करे तो कुछ हर्ज नहीं, परन्तु रेचन धीरे से करे। यदि शीघ्रता करेगा तो कुम्भक की रुकी हुई वायु शीघ्रता होने से रोमादिक भेद कर निकलेगी और वह रोमादिक द्वारा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और इसी कुम्भक से केले की पालकी में बैठकर श्रीस्वामी शङ्कराचार्य्य कुमारपाल राजा के पास गये थे। और कुमारपाल राजा को जैनमत से भ्रष्ट करना विचारा था। फिर श्री हेमाचन्द्राचार्य्य ने इसी कुम्भक से अधर होकर व्याख्यान उच्चारा, कुमारपाल को सम्हाला, शङ्कराचार्य को वहां से निवारा, इन रीतियों को न होने से जैनमत में हो गया अन्धियारा, दुःख-गर्भित मोह-गर्भित, वैराग्यवालों को माल खाने का मिल गया सहारा, गुरु-विनय को हटाय मन-कल्पना को चलाय किया पन्थ न्यारा न्यारा।

इस रीति से आठ कुम्भक कही, चन्द्रभेदादि नवमी कुम्भक भी हो गई सही, किञ्चित् गुरुकृपा से हमने अनुभव में बात लही। परन्तु 'हठ-प्रदीपिका' में पिछले तीनों कुम्भकों की जो रीति है, वह भी दिखाते हैं, कि जो पूरक वेग से करे तो भ्रमर की तरह नाद होता है, इस लिये पूरक वेग से करे, जिसमें भ्रमर की तरह नाद होय। उस रीति से नाद करता हुआ पूरक करे। फिर भ्रमरी कासा नाद होय, जिसमें मन्द २ रीति से रेचन करे, वह रेचन पूरक की विशेषता है। और पूरक पीछे रेचक तो भ्रमरी की तरह स्वभाव-सिद्ध है। इस वास्ते विशेष नहीं लिखा है। इस रीति से अभ्यास करे। इसके आनन्द को योगीश्वर भी कह नहीं सकते।

अब मूर्छा कहते हैं कि पूरक के अन्त में जालन्धरबन्ध बान्धक शनैः २ रेचन करे। इस कुम्भक का नाम मूर्छा है जो मन को मुच्छित करता है। प्लावनी कुम्भक यह है कि शरीर के भीतर भरी जो अधिक वायु, उस करके चारों तरफ से भर लिया है उदर जिसने,वह पुरुष अगाध जल में कमल पत्र के समान गमन करता है। यह रीति तीनों कुम्भकों की स्वयं आत्माराम योगी की बनाई हुई 'हठप्रदीपिका' में लिखी है।

मुद्राओं का वर्णन।

अब इसके आगे मुद्राओं का वर्णन करते हैं, सो पहिले जो 'हठप्रदी-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पिकादि ग्रन्थों में उनके नाम लिखे हैं उस रीति से यहां नाम दिखाते हैं ;—१ महामुद्रा, २ महाबन्ध, ३ महावेध, ४ खेचरी, ५ उड्डियान, ६ मूलबन्ध, ७ जालन्धर बन्ध, ८ विपरीतकरणी, ९ वज्रोली, १० शक्ति-चालन।

इस तरह हठप्रदीपिका और गोरक्षपद्धति आदि ग्रन्थों में उड्डियान-बन्ध, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, इन तीनों को भी मुद्राओं में ही गिना है, सो इन तीनों बन्धों की रीति ऊपर लिख चुके हैं। इन मुद्राओं में कई मुद्रा निष्प्रयोजन भी हैं। इस वास्ते जो मुद्रा सप्रयोजन हैं उनको दिखाकर फिर अपनी भी युक्ति उसमें कहेंगे। इस लिये पाठकगण ध्यान रखें कि पीछे लिखी मुद्रा उनके ग्रन्थानुसार हैं।

१ महामुद्रा वर्णन।

इस महामुद्रा की विधि यह है कि वाम (बायां) पाद की एड़ी को योनि-स्थान में लगावे (योनि-स्थान का मतलब पहिले दिखा चुके हैं सो वहां से देखो) और दक्षिण चरण को लम्बा करके फैलावे, और एड़ी जमीन पर लगावे, और अंगूठा, अंगुलियों को डंडे की भांति ऊँची खड़ी करे, फिर जीमने (दक्षिण) हाथ के अंगूठा और तर्जनी अंगुली से जीमने पग के अंगूठे को पकड़े, और बन्ध-पूर्वक सुषुम्ना नाड़ी में धारण करे, और मूलबन्ध भी बाँध करके योनिस्थान को पीड़न करे। फिर जिह्वा-बन्ध लगावे। जो कुण्डली सर्प के आकार सी टेढ़ी हो रही है ; वह, जैसे डण्डे के प्रहार से टेढ़ेपन को छोड़कर सर्पिणी सरल हो जाती है, वैसे ही, उस समय शीघ्र ही सरल हो जाती है। जब वह कुण्डली सरल हो गई तब कुण्डली के बोध से सुषुम्ना में प्राण का प्रवेश होता है। उस समय इडा और पिङ्गला को सहायता देने वाला जो प्राण है वह सहायता देने में समर्थ नहीं रहता। इस लिये इड़ा पिङ्गला यह दोनों नाड़ी मरण-प्राप्त होती है अर्थात् घर छोड़कर भाग जाती हैं। उस समय के आनन्द को तो उसके करने वाले जानते हैं, न कि लिखने, लिखाने या बांचने वाले। जो इस आनन्द को प्राप्त करेंगे, वे ही इनका अभ्यास करेंगे,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उनको करने वालों का ही मोह, राग, द्वेषादि मिटेगा, आत्मा में उन्हीं का दिल डटेगा, ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों का मेल सटेगा, जब कर्मों के पुद्गल आत्मा से हटेगा। देखो, जिन्होंने इस आनन्द को पाया, उन्होंने ही पदोंमें गाया, हमको भी श्रीआनन्दघनजी का पद याद आया, इस जगह लिखाने का अवसर पाया, सब पाठकगणों को दिखाया ;—

"इडा पिङ्गला घर तज भागी, सुषुम्ना का घर वासी।
ब्रह्मरन्ध्र मध्यासन पूरो, बाबा अनहद नाद बजासी ॥१॥"

ऐसा श्रीआनन्दघनजी का फरमाना (कथन) है। इससे प्रतीत होता है कि वे इस मुद्रा के भी अभ्यासी थे। जिन्होंने ऐसा अभ्यास किया है, वे कब किसी के जाल में फंसते हैं? आत्मा को भजते हैं, राग-द्वेष को तजते हैं, गच्छादिक के मद में नहीं धसते हैं। इसी लिये श्रीअभिनन्दन भगवान् के स्तवन में श्रीआनन्दघनजी महाराज कह गये हैं कि ;—

"दरिशण २ रटतो जो फिरूं, तो रण-रोझ समान।
जेहने पिपासा हो अमृतपाननी, किम भाँजे विषपान ॥अभि०॥"

इसका अर्थ ज्ञानसागरजी ने गुजराती भाषा में किया है सो उसी के अनुसार यहां हिन्दी भाषा में कुछ दिखाते हैं ;—

"हे अभिनन्दन प्रभु! आपके दर्शन की, पूर्वोक्त कारण से अप्राप्ति समझकर, मात्र दार्शनिक अर्थात् बौद्ध, न्याय, वेदान्त, सांख्या, वैशेषिक, मीमांसा आदि मतावलम्बियों से पूछूँ तो वे एकान्त पक्ष ग्रहण करके आपका दर्शन यथावत् कह न सकेंगे। इस लिये उनकी उपेक्षा करके जो वर्तमान काल में स्याद्वाद-शैली के जानकार का नाम धराने वाले हैं, उनसे पूछूँ कि अहो उपकारियों! शुद्ध आत्मिक-स्वरूपानुयायी, परम पद की प्राप्ति होने का हेतु ऐसा जो दर्शन है और वह जिस रीति से मेरे हाथ चढ़े अर्थात् प्राप्त हो ऐसी रीति बताओ। इस रीति से यदि इन जैनधर्म के मतभेदियों में पूछता हुआ भ्रमण करूँ अर्थात् जैनधर्म के गच्छ आम्नाय, अथवा दिगम्बरी, श्वेताम्बरी, सम्बेगी, ढूंढ़िया, तेरहपन्थी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इत्यादि फिरके वालों से वारम्वार पूछता भटकूं तो हे प्रभो! आपका दर्शन इस रीति से हाथ न लगे, किन्तु उलटा वे देखकर ऐसा कहेंगे कि यह आकार से तो मनुष्य है परन्तु जङ्गली रोझके सरीखा है अर्थात् मूर्ख शिरोमणि है। तिस पर भी यदि कोई ऊपर लिखे हुए जैन-मत-भेदियों में उसकी शोध करे, तो कोई एक महावश्यक उत्सर्ग, अपवाद, कारण, कार्य, नय के वहाने से ऐसी वात सुनावे कि जिससे जैनधर्म-प्राप्ति तो दूर रही, उलटे उन गप्पों को सुनकर जैनधर्म की श्रद्धा से भ्रष्ट होकर अन्य मत को अङ्गीकार करे और जैनमत की हंसी करने को लग जाय। इस लिये हे सुमते! जिस चीज की मुझे चाहना है, सो तो मिले नहीं, परन्तु जिस चीज को मैं नहीं चाहता, वह कदाग्रह रूप अज्ञान मेरी श्रद्धा में प्रवेश कर जाय। इस लिये इन मत-भेदियों से पूछने की इच्छा न रही, क्योंकि जिस पुरुष को अमृत की प्यास होय, और उसको जहर दिया जाय तो उस अमृत-पान को चाहने वाले की तृषा कैसे मिट सकती है?"

इस रीति से यदि आगे भी आत्मार्थी पुरुषों को इन जैनधर्म के मत-भेदियों ने आदर नहीं दिया, आत्मा का अर्थ भी नहीं किया, तो इस वर्तमान काल में जो उस काल से न्यून है, कौन किसको मानता है? दुःख-गर्भित मोह-गर्भित वैराग्य वाला अपनी विद्वत्ता को तानता है, वह अपने को पूजाने को ही जानता है। अस्तु।

महामुद्रा के अभ्यास का विधान।

इसकी विधि यह है कि चन्द्र अङ्ग अर्थात् वाम-अङ्ग से अभ्यास करे, फिर सूर्य अङ्ग अर्थात् दक्षिण अङ्ग से अभ्यास करे। परन्तु दोनों अङ्गों से अभ्यास बराबर करे, कमी बेशी न होने दे। फिर इसको विसर्जन कर दे। परन्तु इस बात का ध्यान रखे कि जब बाम अङ्ग से अभ्यास करे तो दक्षिण चरण को फैलावे, और ऊपर लिखी रीति से चरण के अंगूठे को दक्षिण हाथ से पकड़े। और जब दक्षिण अङ्ग से अभ्यास करे तब वाम चरण को फैलाकर वाम हाथ से चरण का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अंगूठा पकड़े। इस रीति से दोनों अङ्गों में समान अभ्यास करे।

१ महामुद्रा के गुण।

जो पुरुष इसका अभ्यास करने वाले हैं, उन पुरुषों को पथ्य-अपथ्य का भय करने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण कटुक, खटाई आदि जो भोजन करेगा सो ही पच जायगा। ऐसी कोई चीज़ नहीं है कि उसको हज़म न होवे, क्योंकि साधु की गोचरी में गृहस्थ के घर से सब तरह की निरसादि चीज़ आती है। सो इन क्रिया करने वालों को हज़म हो जाती है; किसी रोगादि को उत्पन्न नहीं करती है।

२ महाबन्ध मुद्रा।

अन्य मतों की रीति का भी वर्णन कर देते हैं कि वाम चरण की एड़ी योनिस्थान में लगाकर फिर वाम चरण की जानु के ऊपर दक्षिण चरण को धरे, उसके बाद पूरक करे; फिर हृदय में ठोड़ी लगाकर जालन्धर बन्ध लगावे, और मूलबन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करके मन्द २ रेचन करे। इसका गुण हठप्रदीपिका या गोरक्षपद्धति में देखो।

३ महावेध मुद्रा।

इसका विधान यह है कि महामुद्रा में स्थित, जिसकी एकाग्र बुद्धि है ऐसा योगी नासिका पुट से पूरक करके कण्ठ की जालन्धर मुद्रा से वायु की ऊपर नीचे गमन रूप जो गति उसको रोककर कुम्भक करे, और पृथ्वी में लग रहें हैं तालुआ जिनके, ऐसे दोनों हाथ समान करके, फिर योनि-स्थान में लगे हुए एड़ी वाले पांव के साथ हाथों के सहारे कुछ ऊपर उठकर फिर मन्द मन्द भूमि में ताड़न करे। इड़ा पिङ्गला दोनों को उल्लंघन करके सुषुम्ना के मध्य में वायु प्राप्त होय। सोम, सूर्य, और अग्नि में अधिष्ठित नाड़ी जो इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना, उनका सम्बन्ध मोक्ष के लिये होता है। निश्चय करके प्राण वियोग की अवस्था अर्थात् मृतसी अवस्था प्राप्त होती है। उसके पीछे वायु को नासिका-पुटन कर केधीरे धीरे रेचन करे। परन्तु इस जगह इतना विशेष है कि योनि·

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्थान में एड़ी लगी रहने से जब वह हाथों के बल से ऊपर को उठेगा तो आसन भङ्ग हो जाने से मूलबन्ध यथावत् न रहेगा ; इस लिये इस मुद्रा के अभ्यास में पद्मासन लगावे। और मूलबन्ध को कम न होने दे। इतने पर भी इसकी असली रीति गुरुगम से जानों, पुस्तकों के लेख को मत मानों, पोथियों के लेख से कितनों ही का हो गया नुकसानों, हठ-प्रदीपिका वाले ने पद्मासन न लिखा सो तो उसकी इच्छा की बात है, परन्तु गोरक्षपद्धति में लिखा हुआ है।

४ विपरीतिकरणी मुद्रा।

विपरीत मुद्रा करने का प्रकार यह है कि पृथ्वी पर मस्तक टेककर हाथों से सिर को थामकर मयूर आसन की तरह पैर ऊँचे करके आकाश की तरफ सतर कर देवे। इस रीति से सिर के बल अधर खड़ा होना उसका नाम विपरीत-करणी मुद्रा है। इसके करने का प्रयोजन यही है, कि चन्द्रमा ऊर्ध्व भाग में है, और सूर्य अधोभाग में है, सो जो चन्द्रमा से अमृत झरता है वह सूर्य में पड़कर भस्म हो जाता है। इस लिये विपरीत मुद्रा करने से चन्द्रमा अधोभाग में हो जाता है, और सूर्य ऊर्ध्व भाग में हो जाता है सो सूर्य को अमृत न मिलने से सूर्य निर्बल होकर इड़ा-पिङ्गला को जोर नहीं दे सकता। और, जो इसका अभ्यास करे वह पहिले दिन एक क्षण, दूसरे दिन दो क्षण, इसी प्रकार से प्रतिदिन बढ़ाता चला जाय। जब एक पहर की मुद्रा होने लगे तब आगे अभ्यास न बढ़ावे। और, इसके कारण से क्षुधा बहुत लगती है। जो कम खाने वाला है, और इस क्रिया को करता है, कम खाने से उसके शरीर को यह मुद्रा जला देगी। इस लिये इससे कुछ प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती। न मालूम इन लोगों ने लिखकर क्यों इसकी इतनी महिमा की है ?

खेचरी मुद्रा का कथन।

प्रथम खेचरी हो जाने की विधि लिखते हैं, इसके बाद इसके गुणादि और करने की विधि लिखेंगे। सो इसकी पहिली विधि यह है कि पहिले जिह्वा को होंठों के बाहिर निकाले, और दोनों हाथों के अंगूठा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और तर्जनी से पकड़कर शनैः शनैः बाहिर को खींचे । और गौ के थनों से जैसे दूध निकालते हैं उसी रीति से दोनों हाथों से खींचे, वह बढ़ते २ इतनी बढ़ जाय कि नाक पर होकर भृकुटी के मध्य में जा लगे । जब इस तरह का अभ्यास हो जाय तब उसका छेदन—साधन किया जाता है । वह दिखाते हैं कि जैसे थूहर के पत्र की धार तीक्ष्ण होती है, इस तरह का चिकना, निर्मल और तीक्ष्ण धार वाला शस्त्र लेकर उससे जिह्वा के नीचे जो नस है उसको पहिले लवमात्र छेदे ; फिर उसके ऊपर सिन्धांलूण और हर्रें दोनों को पीसकर उस छेदी हुई जगह लगावे । परन्तु इस क्रिया करने वाले को दोनों वक्त लवण खाना मना है, तो भी हर्रें और लवण को लगाले । फिर सात दिन के पीछे आठवें दिन कुछ अधिक छेदे । इस रीति से छः महीने पर्यन्त युक्ति से करे तो जिह्वा के मूल में जो नाड़ी है वह नाड़ी कपाल के छिद्र में जाने के लायक होगी । इस रीति से पहिले साधन करे । यह रीति ग्रन्थों में लिखी है । परन्तु इसकी असल रीति तो यह है कि जिसमें शस्त्रादि से छेदने का कुछ प्रयोजन नहीं है, किन्तु वह रीति गुरु की कृपा के विना मिलनी कठिन है । और, वह रीति शास्त्र द्वारा लिखी भी नहीं जाती,क्योंकि गुरु आदि तो योग्य अयोग्य देखकर युक्ति-क्रम बताते हैं, शास्त्र में लिखें तो योग्य-अयोग्य की कुछ खबर न पड़े । और विना योग्य के असल वस्तु नहीं दी जाती । हमने अपने गुरु की बताई रीति आजमाई, बिना छेदन के जिह्वा अलग कराई, एक दो जिज्ञासुओं को बताई, उलटकर जिह्वा छिद्रों में पहुँचाई, इतनी बात हमने अपनी तरफ से लिखाई ।

खेचरी मुद्रा के गुण और प्रयोजन ।

जब जिह्वा की नस अलग हो जाय, तब जिह्वा को तिरछी करके गले में ले जाय। और, तीनों नाड़ियों के जो मार्ग अर्थात् नासिका के जो छिद्र, जिसमें इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना नासिका के बाहिर निकलकर मालूम होती हैं, उनके बन्द करने के वास्ते छिद्रों के ऊपर जिह्वा लगाकर छिद्रों को बन्ध कर दे, जिससे इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना इन तीनों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नासिका के बाहिर न निकल सकें। इसका नाम खेचरी मुद्रा है। इसको कितने ही व्योम-चक्र भी कहते हैं, परन्तु यह व्योम-चक्र नहीं है, क्योंकि व्योम-चक्र भृकुटी के ऊपर है। इसके करने से यह गुण हैं कि यदि तालु के ऊपर के छिद्रों में लगी हुई जिह्वा, एक घड़ीमात्र भी उस जगह स्थित रहे, तो सर्प बिच्छू आदि के जो ज़हर हैं वह उसको असर नहीं करता। अथवा सर्प को लेकर जितने ज़हरीले जानवर हैं उनका ज़हर दूर करने की शक्ति उस पुरुष को प्राप्त हो जाती है। उसको किसी जानवर का ज़हर (विष) नहीं चढ़ता। और, इस मुद्रा के करने वाले पुरुष को आलस्य, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्च्छा आदि विशेष नहीं होते हैं। और, तालु के ऊपर के छिद्रों के सन्मुख जिह्वा लगाये हुए जो स्थित होय, वह गले के छिद्रों में से पड़ता हुआ चन्द्र-अमृत का पान करता है, और सर्व कार्य की सिद्धि हृदय में धरता है, राग द्वेष को परिहरता है, कर्मों से झगड़ता है, अपने समान सर्व जीवों को जान किसी से न लड़ता है, मध्यस्थभाव में प्रवृत्त रहता है। परन्तु इसकी पूर्ण रीति बिना गुरु के नहीं प्राप्त होती, क्योंकि शास्त्र द्वारा अथवा पुस्तक लिखने, लिखाने, बांचने से या अन्य पुस्तकों की रीति देखकर अपनी बुद्धि मिलाकर पुस्तक बनाने से नहीं होती। जो पुस्तक देखने से वह प्राप्त होती तो वर्तमान काल में छापा होने से हठयोगादि की पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं, इससे कई योगी हो जाते। परन्तु इन पुस्तकों को देखकर कई भद्र लोग अपनी जान तक खो बैठे हैं। इसलिये यदि आत्मार्थी बनकर योगाभ्यास करने की इच्छा हो तो सद्गुरु की विनय, प्रतिपत्ति, शुश्रूषादि करो। जिससे तुम्हारे पर गुरु अनुग्रह करके उसे बतावे, और आशीर्वाद देवे, जिससे तुमको यथावत् प्राप्ति हो जाय, तुम्हारा भ्रम सो जाय, दुःख-गर्भित मोह-गर्भित वैराग्य वालों का वैराग्य भी खो जाय, सुमति की सेज पर चेतन जाकर सो जाय, शुद्ध चेतना के स्वरूप चिदानन्द मोह जाय। इस खेचरी मुद्रा के विषय में 'हठप्रदीपिका' आदि ग्रन्थों में जो प्रक्रिया लिखी है, वह प्रक्रिया यहां नहीं लिखी है। क्योंकि, उसमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गोमांस और अमर-वारुणी (मदिरा) का भक्षण करना और पीना लिखा है। फिर उन्होंने गो शब्द करके तो जिह्वा को लिया है, और वारुणी शब्द करके चन्द्र-अमृत-स्राव लिया है। सो केवल जिज्ञासुओं को बहकाने की जाल है। सो इस जाल के फैलाने में गोरक्ष नाथ के सम्प्रदाय के आत्माराम का हाथ दीखता है, न कि गोरक्षनाथ का, क्योंकि गोरक्षनाथ ने 'गोरक्षपद्धति' में इसको अङ्गीकार नहीं किया है। क्योंकि, छापे की उन पुस्तकों में लिखा है, कि ग्रन्थान्तर की खेचरी मुद्रा। इससे प्रतीत होता है कि गोरक्षनाथ की ऊपर लिखी बातों में सम्मति नहीं थी। परन्तु वज्रोली मुद्रा जो हम आगे कहेंगे, उनमें दोनों ग्रन्थकारों की सम्मति है। और कनफटा योगियों की परम्परा देखने से भी मालूम होता है, कि कनफटा योगी लोग मांस खाते हैं और मदिरा पीते हैं, अपना इष्ट बताते हैं, और लोगों को जाल में फँसाकर खवाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि गोमांस, अमरवारुणी का अर्थ जाल से बनाया, योग का नाम ले लोगों को भरमाया, इस लिये हमने इस ग्रन्थ में जिह्वा-छेदन की प्रक्रिया उनके ग्रन्थानुसार लिखाया, सो उसका भी पीछे से खण्डन कर बिना शस्त्र-छेदन गुरु के पास बताया।

इसका कुछ खुलासा भी देते हैं कि छोटी हड़ें को बारह पहर अथवा सोलह पहर तक कुंवारी गौ की अर्थात् आठ दश महीने की बछिया की पेशाब में भिगोवे। जब वे दो दिन में भीजकर फूल जायें, फिर उनको छाया में सुकावे, सूर्य की धूप न लगने दे, फिर उनको कोरे बर्तन में डालकर अग्नि पर सेके। उसे इस तरह सेके कि जल न जायें और कच्ची भी न रहें। उन हड़ों में सेंधा लवण अन्दाज़े से मिलाकर चूर्ण बनावे। उससे सायं और प्रातः दोनों वक्त जिह्वा की जड़ में मालिश करे। और दस २ मिनट ऊपर लिखी रीति से जिह्वा को शनैः शनैः खैंचा करे, बाहिर की तरफ ही ले जाया करे, फिर तीन महीने के बाद उलटकर गले की तरफ ही ले जाया करे, छः महीना इस रीति से करेगा तो जिह्वा कागल्या से आगे निकल जायगी। नव महीनों में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

छिद्रों के पास में पहुँच जायगी। जिसकी इच्छा होवे वह विश्वास सहित इस काम को अङ्गीकार करे तो, हमारे लिखे अनुसार प्राप्ति हो जायगी। विशेष गुरुओं के पास जाकर उनसे जिज्ञासा पूर्ण करनी चाहिये, क्योंकि जो आत्मार्थी योगाभ्यास की इच्छा वाले हैं, उनके वास्ते सङ्केत (इशारा) लिखाया। अन्यमतावलम्बियों का खण्डन भी कर दिखाया।

वज्रोली मुद्रा।

प्रथम 'हठपदीपिका' और 'गोरक्षपद्धति' की प्रक्रिया दिखाकर पीछे किञ्चित् अपनी रीति, जो गुरु-कृपा से मैंने पाई है, उसको लिखेंगे। प्रथम मूल का श्लोक लिखेंगे पीछे टीका के अनुसार जो भाषा है उसको लिखेंगे। कदाचित् भाषा में न्यूनता होगी, तो टीका के उतने ही अक्षर दिखाकर पीछे भाषा लिखेंगे। सो प्रथम 'हठप्रदीपिका' का श्लोक लिखते हैं।

"स्वेच्छया वर्तमानोऽपि, योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलीं यो विजानाति, स योगी सिद्धिभाजनम् ॥८३॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये, दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु, नारी च वशवर्तिनी ॥८४॥
मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽप्यथवा नारी, वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥८५॥
यत्नतः शस्तनालेन, फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः २ प्रकुर्वीत, वायुसंचारकारणात् ॥८६॥
नारी भगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितश्च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥८७॥
एवं संरक्षयन् बिन्दुं, मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात् ॥८८॥
सुगन्धो योगिनां देहे, जायते बिन्दुधारणात्।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे, तावत्कालभयं कुतः ॥८९॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चिन्तायत्तं नृणां शुक्रं, शुक्रायत्तञ्च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव, रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥९०॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं, बीजं बिन्दुञ्च रक्षयेत्।
मेढ्रेण कर्षयेदूर्ध्वं, सम्यगभ्यासयोगवित् ॥९१॥"

भाषा टीका।

"अब वज्रोली के आदि में इसका फल कहते हैं जो योगाभ्यासी वज्रोली मुद्रा को विशेषकर अपने अनुभव करके जाने, सो योगी जो योगशास्त्र में कहे हुए ब्रह्मचर्यादि किये बिना अपनी इच्छा करके वर्तमान रहे, अणिमादि अष्ट सिद्धि को भोगने वाला होय ॥८३॥ वज्रोली के अभ्यास में दो वस्तु कही है, एक तो दूध पीना दूसरी आज्ञाकारी वशवर्तिनी स्त्री ॥८४॥

वज्रोली मुद्रा का प्रकार यह है कि स्त्री-सङ्ग के पीछे विन्दु को क्षरण कहां पड़नो, जिसको पुरुष अथवा स्त्री यत्नपूर्वक इन्द्रिय को ऊपर आकुंचन करके वीर्य को ऊपर खींचने का अभ्यास करे, तो वह वज्रोली सिद्ध होती है ॥८५॥ अब वज्रोली की पूर्वाङ्ग क्रिया कहते हैं। चांदी की बनी हुई नाल की शनैः २ ऊसे अग्नि सुलगाने को फूंक मारते हैं,वैसे ही फुङ्कार से इन्द्रिय के छिद्र में वायु का संचार वारम्वार करे।

वज्रोली की साधन क्रिया।

वज्रोली की साधन प्रक्रिया यह है कि सीसे की बनी हुई चिकनी होय, इन्द्रिय में प्रवेश करने के योग्य होय, ऐसी चौदह (चतुर्दश) अङ्गुल की शलाका करा करके उसको इन्द्रिय में प्रवेश कराने का अभ्यास करे। पहिले दिन एक अङ्गुल प्रवेश करे। दूसरे दिन दो अङ्गुल प्रवेश करे। तीसरे दिन तीन अङ्गुल प्रवेश करे। इस रीति से क्रम से बारह अङ्गुल प्रवेश हो जाय तो इन्द्रिय मार्ग शुद्ध होवे। अथवा चौदह अङ्गुल की शलाका बनवावे, जिसमें दो अङ्गुल टेढ़ी और ऊँचे मुँह वाली होनी चाहिये, वह दो अङ्गुल बाहिर स्थापन करे। इसके पीछे सुनार की अग्नि सुलगाने की नाल के सदृश नाल ग्रहण करके उस नाल का जो अग्रभाग

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसको इन्द्रिय में प्रवेश की हुई नाल के दो अङ्गुल वाहिर निकले हुए भाग के मध्य में प्रवेश कर फूत्कार करे। इस प्रकार भली भांति इन्द्रिय मार्ग शुद्ध हो जाय, तब पीछे से इन्द्रिय द्वारा जल को ऊपर चढ़ाने का अभ्यास करे। जब जल का आकर्षण होने लग जाय, तब पहिले श्लोक में लिखी हुई रीति के अनुसार वीर्य के आकर्षण करने का अभ्यास करे। जब वीर्य का आकर्षण करना सिद्ध हो जाय, तब वज्रोली मुद्रा सिद्ध होती है। जिस मनुष्य को खेचरी मुद्रा, और प्राण-जय यह दोनों सिद्ध हों उसको वज्रोली मुद्रा सिद्ध होगी ; दूसरे को नहीं ॥८६॥

जब इस प्रकार वज्रोली मुद्रा का अभ्यास सिद्ध हो जाय, उसके आगे साधन बतलाते हैं। नारीभगे इति। रतिकाल में स्त्री की योनि में वीर्य गिर पड़ा यह मालूम होवे लेकिन गिरे नहीं, उससे पहले जो वीर्य उसको वज्रोली के अभ्यास द्वारा ऊपर को आकर्षण करे। यदि गिरने के पहले बिन्दु को आकर्षण न कर सके तो स्त्री की भग में गिरा हुआ जो अपना वीर्य और स्त्री का रज इन दोनों को ऊपर खींचकर स्थापित करे ॥ ८७ ॥

वज्रोली के गुणवर्णन।

"एवमिति। इस रीति से जो वीर्य्य को स्थिर करता है, वह योग-वेत्ता होता है, और मृत्यु को जीत लेता है। परन्तु जो वीर्य का पतन करता है, वह मरण को प्राप्त होता है। इस रीति से वीर्य को धारण करने वाला जीवित होता है। इसलिये बिन्दु को इस रीति से स्थित करे ॥ ८८ ॥

सुगन्धेति। वज्रोली के अभ्यास करने वाले देह में वीर्य को धारण करते हैं, उससे बहुत सुन्दर सुगन्ध पैदा होती है। और जब तक बिन्दु स्थित रहता है, तब तक काल का भय नहीं होता है ॥ ८६ ॥

चित्तायत्तमिति। निश्चय जो चित्त चलायमान होय, तो मनुष्य का वीर्य चलायमान होता है। और जो चित्त स्थिर होय तो वीर्य भी स्थिर रहता है। इस लिये चित्त के अधीन वीर्य है, और शुक्र जो स्थिर हो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तो जीवन स्थिर हो, जो शुक्र नष्ट हो तो मरण होय, इस लिये शुक्र के अधीन जीवन है, इस वास्ते शुक्र और बिन्दु इन दोनों की अवश्य रक्षा करनी चाहिये ॥ ९० ॥

ऋतुमित्यादि । ऋतुमती स्त्री का रज, और अपना बिन्दु इन दोनों को इस रीति से स्थिर करे। इन्द्रिय करके यत्नपूर्वक रज और बिन्दु को ऊपर आकर्षण करे। वह वज्रोली-अभ्यासवेत्ता योगी जानो ॥ ९१ ॥"

यह हठ प्रदीपिका का लेख लिखानो, अब 'गोरक्ष-पद्धति' का भी करते हैं वखानो।

गोरक्ष-पद्धति की रीति से वज्रोली वर्णन।

"स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि, योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलीं यो विजानाति, स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १ ॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये, दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयन्तु, नारी च वशवर्तिनी ॥ २ ॥
मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽप्यथवा नारी, वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥
यत्नतः शस्तनालेन, फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत, वायुसञ्चारकारणात् ॥ ४ ॥
नारीभगे पतद्विन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं विन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ५ ॥
एवं संरक्षयन् बिन्दुं, मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन, जोवनं बिन्दुधारणात् ॥ ६ ॥
सुगन्धो योगिनो देहे, जायते बिन्दुधारणात्।
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे, तावत्कालभयं कुतः ॥ ७ ॥
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं, शुक्रायत्तञ्च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव, रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ८ ॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं, बीजं बिन्दुञ्च रक्षयेत्।
मेढ्रेण कर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इन श्लोकों का अर्थ इस वास्ते नहीं दिखाते कि जैसा अर्थ 'हठप्रदीपिका' में है,वैसा ही इनका भी है। श्लोकों का लिखना तो ठीक समझा, कुछ भेद होता तो अर्थ अवश्य ही लिखते, क्योंकि निष्प्रयोजन ग्रन्थ को वढ़ाना ठीक नहीं समझा। थोड़े ही से प्रयोजन निकले तो वहुत क्यों वढ़ावें ?

अब ऊपर लिखी हुई जो रीति है उससे योग करनेवाले को ही योगीन्द्र हम समझते हैं यह उसका लिखना और ऐसे ही योगीन्द्र समझना असम्भव सा है, क्योंकि प्रथम ही योगाभ्यास के आरम्भ में अपथ्यभोजनादि अथवा स्नानादि क्रियाएं, और स्त्री का सङ्ग विलकुल न करे, क्योंकि धर्मशास्त्रों में वा स्मृतियों में भी अनेक ऋषियों ने ऐसा लिखा है कि जिस जगह स्त्री का चित्र वा मूर्त्ति होय, उस मकान में योगी, संन्यासी यति, ब्रह्मचारी आदि को नहा ठहरना चाहिये। और जो कि स्त्री-विषय के आलङ्कारिक काव्य हैं उनको भी यति, ब्रह्मचारी, योगी, संन्यासी न बांचे, क्योंकि बांचने से विकार उत्पन्न होता है। और उस मकान में ठहरने से भी उस चित्र-मूर्त्ति को देखने से चित्त की चञ्चलता हो जाती है। जब काव्य बांचने से और चित्र-मूर्त्ति के देखने से चित्त की चञ्चलता आर विकार उत्पन्न होता है, तो स्त्री के पास में रहने से क्योंकर चित्त स्थिर रह सकता है ? और यांनि में लिङ्ग को देकर क्रिया करना, और वीर्य को निकालना, और उसको भग में न पड़ने देना, अथवा न रुक सके और पड़ जाय तो उसका वायु के जोर से आकर्षण करके फिर स्तम्भन करना, इससे तो पहले ही न करना श्रेष्ठ है, क्योंकि पहले शरीर को कीचड़ मलकर फिर पानी से धोना, इससे तो कीचड़ न मलना ही श्रेष्ठ है। इस लिये यदि आदिनाथ, मच्छन्दरनाथादि योगियों ने इस बात को अङ्गीकार किया है, तो उनके योगीन्द्र होने में वा अमर होने में विवेक-सहित बुद्धि से विचार करने वाले को सन्देह होता है। सम्भव है कि स्त्री-सङ्ग करने से मोक्ष मानना, "कवलक" (कौलक) मतावलम्बियों के बिना और कोई मतावलम्बी स्वीकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

न करेगा। कौलक मत वाले पांच मकार से मोक्ष मानते हैं। वे पांच मकार ये हैं ;—मांस, मदिरा, मछली, मैथुन, मुद्रा। वे इनको अङ्गीकार करते हैं। उनके भी दक्षिणी, वामी, उत्तरादि, काचलियापन्थ, कूंड़ापन्थ, अधरवीर्य, आदि अनेक भेद हैं। यहां पर प्रसङ्ग से इनके भेदों का थोड़ा हाल कहते हैं।

१ वाम मार्ग का स्वरूप।

सब से प्रथम वाम मार्गियों का कुछ विचार दिखाते हैं कि वमन (उल्टी) किये हुए को ग्रहण करने से उसका नाम वाम-मार्गी है। इनमें जो मुख्य आचार्य होता है, वह चक्र की जगह में सर्व सामग्री रख कर, शिष्यादिकों को भी वहीं पर बैठाता है और आप मन्त्र पढता हुआ जिस जगह चाण्डाल अर्थात् मेहतर लोग रहते हैं उस जगह उनके मकान की दीवार के पीछे खड़ा रहकर मन्त्र जपता रहता है, जब मन्त्र की संख्या पूरी होती है उस वक्त चाण्डालनी (मेहतरानी) अपने घर से नग्न होकर निकलती है और जिस जगह चक्र की सामग्री रखी जाती है उस स्थान पर रखे हुए सिंहासन पर जाकर बैठ जाती है। फिर जो आचार्य उसको लाता है वह कुछ सामग्री उस मेहतरानी के सामने रखता है और मदिरा के प्याले भर २ कर उसके हाथ में देता जाता है। सो वह इस कदर पीती है कि पीते २ वमन हो जाता है उस वमन को वह आचार्य पात्र में लेता है और उसमें और शराब मिलाकर उसका प्याला सब को पिलाता है। इसी लिये इसको वाम मार्ग कहते हैं।

२ दक्षिणी भेद का वर्णन।

इनके मत में मेहतरानी के आने का कुछ काम नहीं। किन्तु एक ब्राह्मण की स्त्री चक्र में सम्मिलित होती है। सो पहले उसको मदिरा का प्याला दिया जाता है, वह औरत उसमें से थोड़ा सा पी लेती है। और उस प्याले को लौटा देती है। उस प्याले को लेकर आचार्य, जितने उस चक्र में बैठे हुए हैं, उनके जितने प्याले हैं, उन सब में एक २ बूंद डालता है, फिर वे प्याले सर्व जिज्ञासुओं को देता है। कदाचित् वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्त्री एक वार के सिवाय दूसरी वार प्याला न ले तो पहले प्याले की उच्छिष्ट मदिरा ही सब वोतलों में मिला दी जाती है।

३ उत्तर मार्गियों का वर्णन।

इसमें ब्राह्मण की स्त्री का कुछ नियम नहीं। किसी जाति की स्त्री हो, और वह स्त्री भी प्याला पीने में निपुण हो। अन्यथा ऐसा भी इनमें एक भेद है कि जो जो पुरुष हो उसकी स्त्री साथ होय और वारी २ से अछूता एक प्याला स्त्री को दिया जाय। उसकी जो उच्छिष्ट बचे, वह कुल प्यालों में डाली जाती है। और जितनी स्त्रियां होंगी उतने ही प्याले सब को पीने पड़ेंगे। कदाचित् उस समय किसी को मैथुन की इच्छा होय तो अपनी स्त्री के साथ अलग जा कर करे।

४ कूंडापन्थियों का मार्ग।

इन कूंडापन्थियों का मार्ग यह है कि ये लोग जङ्गल में जाकर पुरुष और स्त्री सब जमा होते हैं। और खाने की सब सामग्री एकत्रित करके जो कुछ इनकी विधि है उसको करते हैं। उसे करने के बाद एक कपड़े पर सब चीज़ रखकर सब स्त्री पुरुष एकत्रित हो भोजन करते हैं, और मदिरा आदि पीते हैं, और जिससे जिसकी इच्छा हो उससे मैथुन भी करते हैं।

५ कांचलिया मार्ग।

इनके मार्गानुयायी सब स्त्री पुरुष एकान्त स्थान में जाकर एकत्रित होते हैं, और एक मटके में उन स्त्रियों की कांचली (चोली—अँगिया) भरकर रख दी जाती है। फिर उस मटकी के आगे सर्व सामग्री रख कर पूजनादिक करके तम्बूरा के ऊपर अध्यात्म-गीता गाते हैं, और खाना पीना भी करते हैं। उस वक्त जिसको मस्ती अर्थात् मैथुन करने की इच्छा हो, वह मनुष्य उस मटके के अन्दर से आंख मींचकर एक चोली निकालता है, और जिसकी वह चोली होगी उसी स्त्री को हाथ पकड़कर ले जाता है और उसके साथ मैथुन करता है। जिस पुरुष के हाथ जो चोली लगती है, यदि उस चोली वाली उसकी माता हो, वा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पुत्री हो, अथवा भगिनी हो, अथवा फूआ (पितृस्वसा) हो, अथवा स्त्री हो, उसी के साथ उसको मैथुन करना पड़ता है।

६ अधर वीर्य लाने वाले का मार्ग।

यह अधर वीर्य वाले भी जैसे कांचली वाले एकत्रित होते हैं, वैसे ही एकत्रित होते हैं और मटकी में कांचली (चोली) जमा करते हैं, और कांचली पहले निकालते हैं, और जिसकी चोली निकले; उसी स्त्री को ले जाकर उससे मैथुन करते हैं। जिस समय वीर्य निकलता है उस समय वीर्य को योनि में नहीं पड़ने देते हैं, बाहर एक कटोरी में निकालते हैं। कदाचित् वीर्य भग में पड़ जाय और कटोरी में न निकल सके तो उस पुरुष को उसी समय चक्र से बाहर निकाल देते हैं, और फिर उससे दण्ड लेते हैं। इस रीति से कटोरियों में जो वीर्य इकट्ठा हुआ है, उसको मिलाकर मदिरा के साथ पिलाते हैं, कोई स्त्री पुरुष शेष नहीं छोड़ा जाता है।

इस रीति से प्रसङ्गवश अनेक कौलिकादि मत दिखाये गये। अब इस जगह कोई ऐसा कहे कि तुमने जो यह भेद लिखाये हैं, तो क्या तुम सर्व मतों में फिर आये हैं? इसका समाधान इस प्रकार है कि जिसने सर्वज्ञ मत को अङ्गीकार किया है उसको सब हाल मालूम है। जो उसको सब हाल मालूम न होगा, और उसके घर की सब यथावत् रीति न जानेगा, तो फिर उसके मार्ग की असत्यता कैसे बतावेगा? और जो भव्य जीव उसके जाल में फँसे हुए हैं, उनको क्योंकर बचावेगा? उनको सच्चा मोक्षमार्ग कैसे दिखावेगा?

ये सब सन्देह तब तक उत्पन्न होते हैं कि जब तक सद्गुरु यथावत् आत्म-अनुभव और अध्यात्म के आत्मार्थी न मिलें। इस लिये नम्रता-पूर्वक पाठकगणों को दिखाता हूँ, कि जैसा गुरु मेरे को मिला, और उन्होंने बातें सुनाईं, और अनुभव कराया, दो मिनट में मानो अमृत का प्याला पिलाया, शासनपति श्री वीरभगवान् के निर्वाण-भूमि पर ध्यान करना फरमाया, मैंने भी उस जगह आकर चौंतीस की साल में आसन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जमाया, ध्यान के प्रारम्भ से ग्यारहवें दिन अनुभव का आनन्द पाया, कर्म-हीनपन से सम्पूर्ण हाथ न आया, उसी के किञ्चित् स्वाद से इतना लेख लिखाया।

ऊपर की बात से अब हम को यह विचार करना चाहिये कि जब योनि में लिङ्ग देकर क्रिया करना, और वीर्य न पड़ने देना, अथवा पड़े हुए को ऊपर चढ़ाते जाना ही यदि 'हठप्रदीपिका' आदि के मत से योगीन्द्रपन हो तो पूर्वोक्त अधर वीर्य वाले भी योगवेत्ता हो जायंगे।

दूसरी बात यह है कि जो चीज पहले साबुत बनी हुई है, उस चीज में से थोडी निकाल कर फिर उसमें मिलावे तो मिलाने से जो घाट पहले था वह घाट न रहेगा। जैसे दही किसी बरतन में जमा हुआ है, उसमें से कुछ निकाल कर फिर पीछे से उसमें मिलावे तो पहले जैसा यथावत् स्वरूप था वैसा कदापि न होगा। यही हाल वीर्य का भी है। इस लिये पहले उस वीर्य को कदापि न निकालना चाहिये।

तीसरी बात यह भी है कि योनि में लिङ्ग देने से यदि योगवेत्ता होता हो, तो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, समाधि, आदि साधन व्यर्थ हो जायंगे।

चौथा कारण यह है कि गोरक्षपद्धति के सातवें और हठप्रदीपिका के ८९ वें श्लोक में लिखा है, कि चित्त के स्थिर होने से वीर्य स्थिर होता है। इससे आत्म-अनुभव—अध्यात्म वाले इसी बात को अङ्गीकार करेंगे कि चित्त को स्थिर करना कि जिससे वीर्य आप ही स्थिर हो जायगा।

पांचवां कथन यह है कि योनि में लिङ्ग देकर क्रिया करना, और वीर्य को न देना, यह बात शौकीन जार पुरुष भी कर सकते हैं। अथवा दवाई आदि से भी हो सकता है। परन्तु ऐसी क्रिया अर्थात् वज्रोली से कदापि चित्त स्थिर न होगा। उलटी विशेष करके चित्त की चञ्चलता हो जायगी, और चञ्चलता होने से व्यभिचारादि विशेष करने लगेगा। क्योंकि देखो अग्नि में ज्यों २ घृत काष्ठादि पड़ेगा, त्यों २ अग्नि विशेष करके प्रज्वलित होगी इस रीति से जो योनि में लिङ्ग देकर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्रिया करेगा, उसका चित्त विषयासक्त होगा और जिस समय वह वीर्य निकलता है सो रुकना भी कठिन है; क्योंकि वीर्य निकलते समय जो विषयानन्द होता है, उस विषयानन्द में जगत् फँस रहा है, और जरा-मरण करता है, और फिर वह वीर्य भग में पड़ा हुआ पीछे खींचकर ले जाय तो वह वीर्य दही के दृष्टान्त के अनुसार कदापि एकरस न होगा। इसलिये वर्त्तमान काल में कितने ही लोग इन ग्रन्थों के अनुसार वज्रोली में प्रवृत्त होते हैं और अपने दिल में विचारते हैं कि इस क्रिया के करने से हम योगवेत्ता होकर योगीन्द्र वन जायें। किन्तु वह तो होता नहीं है, उलटे लोग भ्रष्ट और पतित हो जाते हैं। इस लिये इन ग्रन्थों की रीति आत्मार्थियों के वास्ते उपयुक्त हमारे समझ में न आई, इस कारण से हमने विशेष खोलकर दिखाई, कितने ही वेषधारी इस क्रिया को कर के साधुत्व से भ्रष्ट हों गये रे भाई, इसकी प्रवृत्ति अन्य मत में ही छाई, जैनमत के साधु भ्रष्ट न हुए क्योंकि उन्होंने यह क्रिया न पाई, अन्य मत के साधुओं इन बातों की प्रवृत्ति कर आपस में करते हैं बड़ाई, इस लिये प्रसङ्ग से हमने भी इतनी बात सुनाई।

वज्रोली की रीति और प्रयोजन।

अब हम वज्रोली का प्रयोजन और रीति गुरु की कृपा से बतलाते हैं, आत्मार्थी पाठकगणों को सुनाते हैं, कुछ अनुभव भी दिखाते हैं, वीर्य को बचाते हैं,स्त्री का बिलकुल त्याग कराते हैं, अपने स्वरूप को मिलाते हैं। सो पाठकगण बुद्धि पूर्वक विवेक सहित ग्रहण कर और श्रद्धा-सहित परिश्रम करेगा तो स्वरोदय-साधन में सहायता देगा, और कुछ इससे विशेष सिद्धि नहीं है। हां, विषयी पुरुषों के वास्ते स्त्रियों को प्रसन्न करना, और आप आनन्द लूटना होता है, परन्तु यह काम योगियों का नहीं। इन्द्रिय में गज डालकर छिद्र बढ़ाना भी निष्प्रयोजन है। क्योंकि लघुनीति बिना साफ मार्ग के कदापि न निकलेगी। और फूंकनी लगाकर उसमें वायु को फूंक से भरना भी निष्प्रयोजन है। यद्यपि लघुनीति होना, अथवा विषय करने से भी वीर्य का निकलना,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इन दोनों बातों का अनुभव जगत् को हो रहा है। परन्तु ख्याल न रखने से उसका रहस्य समझते नहीं हैं। विवेक के साथ विचार करें तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यही दिखाते हैं कि, जिस समय पुरुष अठारह अथवा बीस वर्ष की आयु में हो, और स्त्री तेरह या चौदह वर्ष की आयु में हो और जब वह लघुनीति करने को बैठे, उस समय गुदा को ऊपर आकुञ्चन करने से लघुनीति (पेशाव) की धार बन्द हो जाती है। और जब आकुंचन छोड़ते हैं तब धार निकलती है। इस रीति से जो मैथुनादि क्रिया करते हैं, तब वीर्य निकलते समय गुदा ऊपर को स्वयं ही आकुञ्चित हो जाती है, और वीर्य रुक जाता है, जब गुदा नीचे को होती है तब वह वीर्य निकलता है। यह सब प्राणवायु का ख्याल है। परन्तु वीर्य और पेशाव रुकने और निकलने का अनुभव सब को है। बल्कि कितने ही मनुष्य श्वास को रोक कर वीर्य को रोकते हैं, और किसी समय उसे रोकने से वीर्य रुककर घाव (क्षत) कर देता है, जिस घाव के होने से सुजाक की बीमारी कहलाती है। यह अनुभव साधारण पुरुषों को भी हो रहा है।

और, जो योगी जन हैं उनको यदि कभी कोई कारण (गर्मी आदि) से वीर्य चलायमान हो जाय, तो उसको प्राण अपान की एकता, और नोली चक्र से कुंभक करके लिङ्ग के ऊपर रोक लेते हैं, क्योंकि जिसको नोली-चक्र यथावत् याद है वह पुरुष लिङ्ग से और गुदा से द्रावण (पिघला हुआ घृत, दुग्ध, जल और तेल) चढ़ा सकता है। सो घृत, दुग्ध, शहद आदि लिङ्ग से चढ़ाना केवल लोगों को तमाशा दिखाना है, क्योंकि वीर्य निकल गया वह खराब हो गया, उसके चढ़ाने से सिवाय हानि के और कुछ लाभ नहीं होगा। इस लिये इस वज्रोली का मुख्य तात्पर्य यही है कि स्वर-साधन करने वाले ऐसा कहते हैं कि लघुनीति चन्द्रस्वर में करे और वृद्धनीति (पाखाना) सूर्य स्वर में। लघुनीति को वज्रोली रोक सकती है, यही इसका प्रयोजन है। क्योंकि जब पुरुष वा स्त्री पाखाना आदि को जाते हैं उस समय दोनों ही स्वर होते हैं। इस बात को सर्व

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साधारण जानते हैं। कदाचित् गज डाल कर उसमें फूंकादि लगाकर लिङ्ग को साफ करे, परन्तु जब तक उसको नोलीचक्र न आता होगा, तब तक उससे वस्तीकर्म और वज्रोली कदापि न होगी।

और, जो इन ग्रन्थकारों ने ऐसा लिखा है, कि "जिसको वज्रोली होगी, उसी को खेचरी होगी और खेचरी होगी तो वज्रोली होगी" यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि इन दोनों का आपस में कुछ सम्बन्ध नहीं, बल्कि विना वज्रोली के खेचरी मैंने कराई है; और विना खेचरी के वज्रोली करते हमने कितने ही मनुष्यों को देखा है। हां, विना नौली के वज्रोली कदापि न होगी, क्योंकि नौलीकर्म जिसको सिद्ध होगा, वह पुरुष नल उठाकर बाहर की वायु को खींच सकता है, विना नोली के कुम्भक वायु नहीं खिंचती, इस लिये जिसको नोली याद होगी उसको वज्रोली जब करेगा तब ही याद हो जायगी। इस रीति से किञ्चित् वज्रोली की प्रक्रिया दिखाई।

जोली, अम्रोली क्रियायें भी इस वज्रोली का ही भेद है ऐसा 'गोरक्ष-पद्धति' आदि में लिखा है। और इसका असल भेद ओघड़मत या अघोरियों का आचरण है परन्तु इसके करने से कुछ आत्मा की सिद्धि नहीं। हां, किसी कदर साधन करने से लोगों को चमत्कारादि सिद्धि दिखाने का कारण है। सो इसके लिखने के लिये चित्त तो नहीं चाहता। परन्तु जिज्ञासुओं को ऐसा भ्रम होगा, कि इनको सम्पूर्ण प्रक्रिया मालूम न थी; परन्तु मेरे गुरु ने मुझको बताने में किसी प्रकार सङ्कोच नहीं रखा। यदि वे कुछ सङ्कोच रखते तो मैं भी सङ्गति पाकर उनके (अघोरियों) के जाल में फँस जाता। सो उन गुरु की चरण-कृपा से और सब हाल जानने से उनके जाल में न आता हूँ, उनके घर के हाल को कहकर सर्वज्ञ मत पुख्ता बताता हूँ। इस प्रकार लिखे हेतु से किञ्चित् दिखाते हैं कि लघुनीति का पीना और वृद्धनीति का खाना, उसका नाम जोली है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अम्रोली।

वृद्धनीति को और लघुनीति को मिलाकर कपड़े से छानना, और उसको गरम करके पीना, और उसके बोदर (फोकस) को शरीर पर मालिश करना उसका नाम अम्रोली है।

वे लोग एक मन्त्र का जाप भी करते हैं, उस जाप से उनको सिद्धि प्राप्त होती है। इस काम के करने वाले इस संसार को दिखाते हैं तमाशा, क्रिया करने में रखते हैं सिद्धि की आशा, नहीं है आत्मा के स्वरूप का किञ्चित् भी वास्ता, हमको उन लोगों के परलोक सुधरने में हो गया सांसा।

अब इस प्रपञ्च को छोड़कर प्राणायामादि दिखाते हैं, प्रथम मल-शुद्धि का उपाय कराते हैं, क्योंकि प्राणायाम से भी मलशुद्धि होती है।

प्राणायाम के तीन भेद।

एक तो पूरक, दूसरा कुम्भक, तीसरा रेचक। पूरक उसको कहते हैं कि वायु को ऊपर अर्थात् बाहर से पेट में ले जाना।

कुम्भक उसको कहते हैं कि श्वास को बन्द रखना अर्थात् न तो भीतर ले जाना न बाहर निकलना।

और रेचक नाम उसका है, कि जो वायु रोकी हुई है, उसको बाहर निकालना।

तीनों प्राणायाम करने की रीति।

इनकी रीति यह है कि प्रथम पद्मासन लगावे, फिर चन्द्र अर्थात् डावी (बाम) नासिका से वायु को खींचे—अर्थात् पूरक करे। फिर अंगूठा और अनामिका अङ्गुली से दोनों नासिका के छिद्रों को बन्द करे, जितनी जिसको शक्ति हो उतने समय पर्यन्त इस माफिक करना चाहिये। और मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, उड़ियानबन्ध, इन तीनों को करे।

फिर सीधे (दक्षिण) स्वर से वायु का धीरे २ रेचन करे। परन्तु इस रीति से धीरे २ रेचन करे, कि जिसमें किसी तरह का शरीर को जोर न पड़े।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

फिर दक्षिण स्वर से धीरे २ पूरक करे—अर्थात् प्राणवायु को खींचता रहे। फिर दोनों नासिका के छिद्रों को वन्द करके यथाशक्ति कुम्भक करे।

वाद चन्द्रस्वर (वाम) से वन्धपूर्वक धीरे २ रेचन करे। फिर जिस नाड़ी से रेचन करे, उसी से ही पूरक करे। फिर यथाशक्ति कुम्भक करके बन्ध-पूर्वक दूसरी नाड़ी से रेचक करे। जव तक पसीना और कम्प होय तब तक पूरक और रेचक करता ही रहे। परन्तु जिस नाड़ी से पूरक करे, उससे रेचक न करे, परन्तु जिससे रेचक करे, उससे पूरक करले तो कोई हानि नहीं है। इस रेचक को जल्दी २ न करे— अर्थात् एक साथ न छोड़े; क्योंकि जोर से रेचक करने से वल की हानि होती है।

इस रीति से जो अभ्यास करता है, उसकी नाड़ी तीन या पांच मास में शुद्ध हो जाती है।

प्राणायाम के काल तथा नियम का वर्णन।

इसको प्रातःकाल सूर्य उदय होने के समय (वादलों में लाली मालूम पड़ने लगे तव) से प्रारम्भ करे, और तीन घड़ी तक करे।

और मध्याह्न को भी तीन घड़ी तक करे। इसी प्रकार सायंकाल में तीन घड़ी करे। इन तीनों कालमें अस्सी २ वार कुम्भक, रेचक, पूरक करे। तीनों काल के ये दो सौ चालीस प्राणायाम हुए।

जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट प्राणायाम।

जघन्य प्राणायाम में पसीना होता है। और मध्यम में कंप होता है और उत्कृष्ट प्राणायाम में ब्रह्मरन्ध्र होता है। ब्यालीस विपल से कम कुम्भक रहे तो जघन्य प्राणायाम होता है। चौरासी विपल से कुछ अधिक कुम्भक रहे तो मध्यम प्राणायाम होता है। और बन्धपूर्वक १२५ विपल कुम्भक रहे तो उसको उत्कृष्ट प्राणायाम काल कहते हैं।

जब प्राणायाम स्थिर हो जाता है, तव प्राण ब्रह्मरन्ध्र को प्राप्त होता है। और ब्रह्मरन्ध्र में गया हुआ प्राण जव पचीस पल तक स्थित रहे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसको प्रत्याहार कहते हैं। ऐसे ही धारणा भी है। और जब छः घड़ी तक स्थिर रहे, तब ध्यान होता है। और बारह दिन तक स्थिर रहे तब समाधि होती है।

प्राणायाम के अभ्यास से जो पसीना होय, उसे शरीर पर तैल की तरह मालिस करे। उस मालिस के होने से शरीर में दृढ़ता—अर्थात् पराक्रम बढ़ता है, शरीर नरम होता है और जड़ता दूर होती है।

जो मनुष्य इस प्राणायाम को करे, वह पहिले ऊपर लिखे हुए जो तीन बन्ध हैं उनका अभ्यास करे; क्योंकि जो बिना बन्ध के अभ्यास करेगा, उसके बल वीर्यकी हानि होगी, और श्वास-कासादिक की बीमारी भी। इस लिये बन्ध-पूर्वक प्राणायाम करे।

बन्ध लगाने की रीति।

बन्ध लगाने की रीति इस प्रकार है कि जिस समय में पूरक करे, उस समय से ही मूल-बन्ध को लगावे। अथवा, पूरक के अन्त और कुम्भक के आदि में अवश्य करके मूलबन्ध को लगावे। और अर्द्ध-कुम्भक में जालन्धर बन्ध को लगावे। कुम्भक का अन्त और रेचक की आदि में उड़ियान बन्ध लगावे।

जो इन बन्धों में से कोई एक भी बन्ध को न लगावेगा, उसको अनेक तरह की बीमारी उत्पन्न होगी। परन्तु हमारा अनुभव ऐसा भी है कि यदि जालन्धर बन्ध न लगावे तो उसमें कोई हानि न होगी, परन्तु मूलबन्ध और उड़ियान बन्ध यत्न-पूर्वक अवश्य ही लगावे।

इस प्राणायाम के लिये हमने तीन काल लिखे हैं। परन्तु रात के बारह बजे का चौथा काल भी लिया जाता है। इस लिये चारों काल की संख्या के तीन सौ बीस प्राणायाम होते हैं।

यहां पर हम इतना बता देना आवश्यक समझते हैं कि पूरक कुछ शीघ्रता से भी करेगा तो उसको किसी प्रकार की हानि न होगी। परन्तु रेचक करने में यदि शीघ्रता करेगा तो वायु रोमों द्वारा निकलकर कुष्ठादि रोगों को उत्पन्न करेगी। जैसे बन्धा हुआ हाथी रस्सी आदि टनेतु

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र ४६ ॥ अभ्यास ऐसी कोठरी या कमरेमें करना चाहिये, जो शुद्ध, शान्त, एकान्त और निर्विघ्न हो। हर प्रकारके शोरगुल, मच्छर, पिस्सू और पील आदिसे रहित हो। अभ्याससे पहले अथवा पीछे हवन अथवा घृतके साथ धूप-दीप आदि सुगन्धित वस्तुओंके जलानेसे उसको सुगन्धित रखना चाहिये। नदीतट अथवा पाँच हजार फीटसे अधिक ऊँचाईवाले पहाड़ी स्थानोंका वायुमण्डल शुद्ध और भजनके लिये अधिक उपयोगी होता है। गरम मैदानवाले स्थानोंमें शरद् और वसन्त ऋतुमें भजन अच्छा हो सकता है। पहाड़ोंमें अथवा जमीनमें खुदी हुई गुफा समाधि लगानेके लिये अति उत्तम है; किंतु उसमें सील किंचिन्मात्र भी न होने पावे और शुद्ध हो। योगाभ्यासमें खान-पानमें संयम रखना अति आवश्यक है और शरीर तथा नाड़ीशोधनसे शीघ्र सफलता प्राप्त होती है, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन इस पादके प्रथम तथा ३२ वें सूत्रके विशेष विचारमें कर दिया गया है। यहाँ शरीरके सूक्ष्म; सात्त्विक, शुद्ध, स्वस्थ, नीरोग, आसनको दृढ़ और ध्यानको स्थिर करने तथा कुण्डलिनीको जाग्रत् करनेवाले कुछ उपयोगी बन्ध-मुद्राएँ और आसन बतलाये देते हैं—

१ मूल-बन्ध—मूल गुदा एवं लिङ्ग-स्थानके रन्ध्रको बंद करनेका नाम मूल-बन्ध है। वाम पादकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ़ लगाकर गुदाको सिकोड़कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिङ्ग एवं कन्दके बीचके भागको दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपानवायुको बलके साथ धीरे-धीरे ऊपरकी ओर खींचनेको मूल-बन्ध कहते हैं। सिद्धासनके साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनोंके साथ एड़ीको सीवनीपर बिना लगाये हुए भी मूल-बन्ध लगाया जा सकता है।

फल—इससे अपानवायुका ऊर्ध्व-गमन होकर प्राणके साथ एकता होती है। कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपरकी ओर चढ़ती है। कोष्ठबद्ध दूर करने, जठराग्निको प्रदीप्त करने और वीर्यको ऊर्ध्वरेतस् बनानेमें यह बन्ध अति उत्तम है। साधकोंको न केवल भजनके अवसरपर किंतु हर समय मूलबन्धको लगाये रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

२ उड्डीयान-बन्ध—दोनों जानुओंको मोड़कर पैरोंके तलुओंको परस्पर भिड़ाकर पेटके नाभिसे नीचे और ऊपरके आठ अंगुल हिस्सेको बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़की हड्डीसे) ऐसा लगा दे जिससे कि पेटके स्थानपर गड्ढा-सा दीखने लगे। जितना पेटको अंदरकी ओर अधिक खींचा जायगा उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षीके सदृश सुषुम्णाकी ओर उड़ने लगता है, इसलिये इस बन्धका नाम उड्डीयान रखा गया है। यह बन्ध पैरोंके तलुओंको बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है।

फल—प्राण और वीर्यका ऊपरकी ओर दौड़ना, मन्दाग्निका नाश, क्षुधाकी वृद्धि, जठराग्निका प्रदीप्त और फेफड़ेका शक्तिशाली होना।

३ जालन्धर-बन्ध—कण्ठको सिकोड़कर ठोडीको दृढ़तापूर्वक कण्ठकूपमें इस प्रकार स्थापित करे कि हृदयसे ठोडीका अन्तर केवल चार अंगुलका रहे, सीना आगेकी ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठस्थानके नाडी-जालके समूहको बाँधे रखता है, इसलिये इसका नाम जालन्धर-बन्ध रखा गया है।

फल—कण्ठका सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कण्ठके सङ्कोचनद्वारा इड़ा, पिङ्गला नाड़ियोंके बंद होनेपर प्राणका सुषुम्णामें प्रवेश करना।

लगभग सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्धके साथ किये जाते हैं।

राजयोगमें ध्यानावस्थामें जालन्धर-बन्ध लगानेकी बहुत कम आवश्यकता होती है।

४ महाबन्ध—पहली विधि—बायें पैरकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें जमाकर बायीं जङ्घाके ऊपर दाहिने पैरको रख, समसूत्रमें हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्रसे वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे। फिर मूलद्वारसे वायुका ऊपरकी ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगावे। मनको मध्य नाड़ीमें लगाये हुए यथाशक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् पूरकके विपरीतवाली नासिकासे धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार दोनों नासिकासे अनुलोम-विलोम-रीतिसे समान प्राणायाम करे।

दूसरी विधि—पद्म अथवा सिद्धासनसे बैठ, योनि और गुह्यप्रदेश सिकोड़, अपानवायुको ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान-वायुके साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायुको अधोमुख करके प्राण और अपानवायुओंके साथ नाभिस्थलपर दृढ़रूपसे कुम्भक करे।

फल—प्राणका ऊर्ध्वगामी होना, वीर्यकी शुद्धि, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णाका सङ्गम प्राप्त होना, बलकी वृद्धि इत्यादि।

५ महावेध—पहली विधि—महाबन्धकी प्रथम विधिके अनुसार मूलबन्धपूर्वक कुम्भक करके, दोनों हाथोंकी हथेली भूमिमें दृढ़ स्थिर करके, हाथोंके बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों (चूतड़) को शनैः-शनैः ताड़ना देवे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इड़ा, पिङ्गलाको छोड़कर कुण्डलिनी शक्तिको जगाता हुआ सुषुम्णामें प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायुको शनैः-शनैः महाबन्धकी विधिके अनुसार रेचन करे।

दूसरी विधि—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठे, अपान और प्राणवायुको नाभिस्थानपर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथोंको तानकर नितम्बों (चूतड़ों) से मिलते हुए भूमिपर जमाकर नितम्ब (चूतड़) को आसनसहित उठा-उठाकर भूमिपर ताड़ित करते रहें।

फल—कुण्डलिनी शक्तिका जाग्रत् होना, प्राणका सुषुम्णामें प्रवेश करना। महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा—तीनोंको मिलाकर करना अधिक फलदायक है।

मुद्रा

१ खेचरी मुद्रा—जीभको ऊपरकी ओर उलटी ले जाकर तालु-कुहर (जीभके ऊपर तालुके बीचका गढ़ा) में लगाये रखनेका नाम खेचरी मुद्रा है। इसके निमित्त जिह्वाको बढ़ानेके तीन साधन किये जाते हैं—छेदन, चालन और दोहन।

पहिला साधन—छेदन—जीभके नीचेके भागमें सूताकारवाली एक नाड़ी नीचेवाले दाँतोंकी जड़के साथ जीभको खींचे रखती है। इसलिये जीभको ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ीके दाँतोंके निकटवाले एक ही स्थानपर स्फटिक (बिल्लौर) का धारवाला टुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पाँच बार फेरते रहें। कुछ दिनोंतक ऐसा करनेके पश्चात् वह नाड़ी उस स्थानमें पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थानको जिह्वामूलतक काटते चले जायँ। स्फटिक फेरनेके पश्चात् माजूफलका कपड़छान चूर्ण (Tarin acid टेरिन ऐसिड) जीभके ऊपर-नीचे तथा दाँतोंपर मलें और उन सब स्थानोंसे दूषित पानी निकलने दें। माजूफल-चूर्णके अभावमें अकरकरा, नून, हरीतकी और कत्थेका चूर्ण छेदन किये हुए स्थानपर लगावें। यह छेदन-विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकारकी हानि

पहुँचनेकी सम्भावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदनका कार्य किसी धातुके तीक्ष्ण यन्त्रसे प्रति आठवें दिन उस शिराको बालके बराबर छेदकर घावपर कत्था और हरड़का चूर्ण लगाकर करते हैं। इसके छेदनके लिये नाखून काटनेवाला-जैसा एक तीक्ष्ण यन्त्र और खाल छीलनेके लिये एक दूसरे यन्त्रकी आवश्यकता होती है, जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ीके सम्पूर्ण अंशके एक साथ कट जानेसे वाक् तथा आस्वादन-शक्तिके नष्ट हो जानेका भय रहता है। इसलिये इसे किसी अभिज्ञ पुरुषकी सहायतासे करना चाहिये। छेदनकी आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और यह नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लम्बी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदनकी अधिक आवश्यकता नहीं है।

दूसरा एवं तीसरा साधन—चालन व दोहन—अँगूठे और तर्जनी अँगुलीसे अथवा बारीक वस्त्रसे जीभको पकड़कर चारों तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खींचनेको चालन कहते हैं। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे जीभका गायके स्तनदोहन-जैसे पुनः-पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करनेकी क्रियाका नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे अन्तिम अवस्थामें जीभ इतनी लम्बी हो सकती है कि नासिकाके ऊपर भ्रूमध्यतक पहुँच जाय। इस मुद्राका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यानकी अवस्था परिपक्व करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वाओंके भी नाना प्रकारके भेद देखनेमें आये हैं। किसी जिह्वामें सूत्राकार नाड़ीके स्थानमें मोटा मांस होता है, जिसके काटनेमें अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वामें न यह नाड़ी होती है, न मांस। उसमें छेदनकी आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिये।

२ *महामुद्रा*—मूलबन्ध लगाकर बायें पैरकी एड़ीसे सीवन (गुदा और अण्डकोषके मध्यका चार अंगुल स्थान) दबाये और दाहिने पैरको फैलाकर उसकी अँगुलियोंको दोनों हाथोंसे पकड़े। पाँच घर्षण करके बायीं नासिकासे पूरक करे और जालन्धर-बन्ध लगाये। फिर जालन्धर-बन्ध खोलकर दाहिनी नासिकासे रेचक करे। यह वामाङ्गकी मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दक्षिणाङ्गमें इस मुद्राको करना चाहिये।

दूसरी विधि—बायें पैरकी एड़ीको सीवन (गुदा और उपस्थके मध्यके चार अंगुल भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैरको लंबा फैलावे। फिर शनैः-शनैः पूरकके साथ मूल तथा जालन्धर-बन्ध लगाते हुए दायें पैरका अँगूठा पकड़कर मस्तकको दायें पैरके घुटनेपर जमाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय पूरक की हुई वायुको कोष्ठमें शनैः-शनैः फुलावे और ऐसी भावना करे कि प्राण कुण्डलिनीको जाग्रत् करके सुषुम्णामें प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तकको घुटनेसे शनैः-शनैः रेचक करते हुए उठाकर यथास्थितिमें बैठ जाय। इसी प्रकार दूसरे अङ्गसे करना चाहिये। प्राणायामकी संख्या एवं समय बढ़ाता रहे।

फल—मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि उदरके रोगों तथा प्रमेहका नाश, क्षुधाकी वृद्धि और कुण्डिलिनीका जाग्रत् होना।

३ *अश्विनी मुद्रा*—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर योनिमण्डलको अश्वके सदृश पुनः-पुनः सिकोड़ना अश्विनी मुद्रा कहलाती है।

फल—यह मुद्रा प्राणके उत्थान और कुण्डलिनी शक्तिके जाग्रत् करनेमें सहायक होती है।

अपानवायुको शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओंको मजबूत करती है।

४ शक्तिचालिनी मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर हाथोंकी हथेलियाँ पृथ्वीपर जमा दे। बीस-पचीस बार शनैः-शनैः दोनों नितम्बोंको पृथ्वीसे उठा-उठाकर ताड़न करे। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओंसे अथवा वामसे अथवा जो स्वर चल रहा हो उस नासिकासे पूरक करके प्राणवायुको अपानवायुसे संयुक्त करके जालन्धर-बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय अश्विनीमुद्रा करे अर्थात् गुह्यप्रदेशका आकर्षण-विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर यदि दोनों नासिकापुटसे पूरक किया हो तो दोनोंसे अथवा पूरकसे विपरीत नासिकापुटसे रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रतापूर्वक बैठ जाय।

घेरण्डसंहितामें इस मुद्राको करते समय बालिश्त-भर चौड़ा, चार अंगुल लम्बा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभिपर कटिसूत्रसे बाँधकर सारे शरीरपर भस्म मलकर करना बतलाया है।

फल—सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्द्धक होनेके अतिरिक्त कुण्डिलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें अत्यन्त सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करें।

५ योनिमुद्रा—सिद्धासनसे बैठ सम-सूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे दोनों नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे नाकके छिद्रोंको बंद करके और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठकाओंको दोनों ओठोंके पास रखकर काकीमुद्राद्वारा अर्थात् जिह्वाको कौएकी चोंचके सदृश बनाकर उसके द्वारा प्राणवायुको खींचकर अधोगत अपानवायुके साथ मिलावे। तत्पश्चात् ओ३म्‌का जाप करता हुआ ऐसी भावना करे कि उसकी ध्वनिके साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनीको जाग्रत् करके षट्‌चक्रोंका भेदन करते हुए सहस्रदल-कमलमें जा रही है। इससे अन्तर्ज्योतिका साक्षात्कार होता है।

६ योगमुद्रा—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठकर प्रथम दोनों नासिकापुटोंसे पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे, तत्पश्चात् दोनों हाथोंको पीठके पीछे ले जाकर बायें हाथसे दायें हाथकी और दायें हाथसे बायें हाथकी कलाईको पकड़े, शरीरको आगे झुकाकर पेटके अंदर एड़ियोंको दबाते हुए सिरको जमीनपर लगा दे। इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करनेके पश्चात् सिरको जमीनसे उठाकर जालन्धर-बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओंसे रेचन करे।

फल—पेटके रोगोंको दूर करने और कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें सहायक होती है।

७ शाम्भवी मुद्रा—मूल और उड्डीयान-बन्धके साथ सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर नासिकाके अग्रभाग अथवा भ्रूमध्यमें दृष्टिको स्थिर करके ध्यान जमाना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है।

८ तड़ागी मुद्रा—तड़ाग (तालाब) के सदृश कोष्ठको वायुसे भरनेको तड़ागी मुद्रा कहते हैं। शवासनसे चित्त लेटकर जिस नासिकाका स्वर चल रहा हो उससे पूरक करके तालाबके समान पेटको फैलाकर वायुसे भर ले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायुको पेटमें इस प्रकार हिलावे जिस प्रकार तालाबका जल हिलता है। कुम्भकके पश्चात् सावधानीसे वायुको शनैः-शनैः रेचन कर दे, इससे पेटके सर्वरोग समूल नाश होते हैं।

९ विपरीतकरणी मुद्रा—शीर्षासन=कपालासन—पहिले जमीनपर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उसपर अपने मस्तकको रखे। फिर दोनों हाथोंके तलोंको मस्तकके पीछे लगाकर शरीरको उलटा

ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे। थोड़े ही प्रयत्नसे मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासनके साथ भी की जा सकती है। इसको ऊर्ध्व-पद्मासन कहते हैं। आरम्भमें इसको दीवारके सहारे करनेमें आसानी होगी।

फल—वीर्यरक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्निका बलवान् होना, प्राणकी गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिरदर्द आदिका दूर होना, रक्तका शुद्ध होना और कफके विकारका दूर होना।

१० वज्रोली मुद्रा—मूत्रत्यागके समय कई बार मूत्रको बलपूर्वक ऊपरकी ओर आकर्षित करे। ऐसा करते समय इस बातको ध्यानसे देखे कि मूत्रधारा कितने नीचेसे आकर्षित होकर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरन्तर अभ्याससे जब मूत्रधार दस-बारह अंगुल नीचेसे आकर्षित होकर खींची जा सके और उतारनेमें कुछ शक्ति लगाना पड़े तो समझना चाहिये कि वज्रोली क्रिया सिद्ध हो गयी है। तत्पश्चात् क्रमशः जल, दूध, तेल अथवा घी, शहद और अन्तमें पारा खींचनेका अभ्यास करे।

दूसरी विधि—एक चौदह अंगुल रबरका कैथीटर (जो कि अंग्रेजी दवाखानोंमें मिल सकता है) पानीमें उबालकर लिङ्ग-छिद्रमें प्रवेश करनेका अभ्यास करे। यह अभ्यास एक अंगुलसे प्रारम्भ करके क्रमशः एक-एक अंगुल बढ़ाता जाय। जब बारह अंगुल प्रविष्ट होने लगे तो चौदह अंगुल लम्बी और लिङ्गके छिद्र-अनुसार चौड़ी जस्तेकी सलाई जो दो अंगुल मुड़ी हुई ऊपरको मुँहवाली हो जिससे कि लिङ्गेन्द्रियमें प्रविष्ट कर सके उपर्युक्त रबरके कैथीटरकी रीतिसे लिङ्ग-छिद्रमें प्रवेश करनेका अभ्यास करे। जब बारह अंगुलतक प्रविष्ट होने लगे, तब चौदह अंगुल लम्बी लिङ्गके छिद्र-अनुसार चौड़ी अंदरसे पोली एक चाँदीकी सलाई बनवावे, जो दो अंगुल टेढ़ी और ऊर्ध्वमुखी हो। इस टेढ़े भागको लिङ्ग-छिद्रमें प्रविष्ट करके दो अंगुल बाहर रहने दे, फिर सुनारकी धमनीके सदृश धमनीसे उस सलाईमें लगातार फूत्कार करे। इस प्रकार लिङ्गमार्गकी अच्छी प्रकार शुद्धि हो जानेपर वायुको खींचने और छोड़नेका अभ्यास करे, इस अभ्यासके सिद्ध हो जानेपर लिङ्ग-छिद्रसे उपर्युक्त रीतिसे जल, तेल, दुध, शहद और पारेके खींचनेका क्रमशः अभ्यास करे। कैथीटर और यन्त्र इन्द्रीके छिद्र और उसके आकारके अनुसार होने चाहिये।

फल—लिङ्गेन्द्रियके छिद्रकी शुद्धि और अपानवायुपर पूर्णतया अधिकार प्राप्त हो जाता है, पथरीको तोड़कर निकालनेमें सहायता मिलती है।

इस मुद्राका फल हठयोगके शास्त्रमें अलौकिक सिद्धियाँ बतलायी गयी हैं; परंतु जरा-सी असावधानी होनेपर इन्द्रिय-छिद्रमें विकार होनेसे भयङ्कर शारीरिक रोग उत्पन्न होने तथा स्त्रीके रज खींचनेकी चेष्टामें ऊँचे-से-ऊँचे अभ्यासीके लिये भी आध्यात्मिक पतन होनेकी अधिक सम्भावना है। इस प्रकारके बहुत-से उदाहरण दृष्टिगोचर हुए हैं। इन मुद्राओं आदिको किसी अनुभवीकी सहायतासे करना चाहिये अन्यथा लाभके स्थानमें हानि पहुँचनेकी अधिक सम्भावना है।

११ उन्मुनि मुद्रा—किसी सुख-आसनसे बैठकर आधी खुली हुई और आधी बंद आँखोंसे नासिकाके अग्रभागपर टकटकी लगाकर देखते रहना यह उन्मुनि मुद्रा कहलाती है। इससे मन एकाग्र होता है।

काकी और भुजङ्गी मुद्राका वर्णन पचासवें सूत्रके विशेष वक्तव्यमें किया जायगा।

चित लेटकर करनेके आसन

१ पादाङ्गुष्ठ-नासाग्र-स्पर्शासन—पृथिवीपर समसूत्रमें पीठके बल सीधा लेट जाय। दृष्टिको नासाग्रमें

संयुक्त करके प्रणव का चिन्तन करना चाहिए तथा इसके बाद पिङ्गला नाड़ी द्वारा अन्दर की वायु को बाहर निकालना चाहिए। तदनन्तर पिङ्गला से वायु भरकर अन्तः कुम्भक करके इड़ा नाड़ी से बाहर निकाल दे। इस तरह से [43] दिन, तीन, चार या सात मास अथवा एक वर्ष पर्यन्त त्रिकाल सन्ध्या के साथ तीन-तीन अथवा चार-चार बार अभ्यास करने से नाड़ी शुद्धि होती है।[149] लगभग यही नाड़ी शोधन विधि त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[150], दर्शनोपनिषद्[151], योग चूड़ामण्युपनिषद्[152], योगतत्त्वोपनिषद्[153] तथा हठ योग प्रदीपिका[154] में भी प्राप्त होती है।

दर्शनोपनिषद्[155], त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[156], योग चूड़ामण्युपनिषद्[157] तथा शाण्डिल्योपनिषद्[158] के अनुसार नाड़ी शुद्धि होने के कुछ प्रत्यक्ष लक्षण दिखाई देते हैं। इससे शरीर का हल्का होना, जठराग्नि का उद्दीप्त होना, अनाहत नाद की अभिव्यक्ति होना आदि लक्षण सिद्धि को प्रकट करते हैं। जब तक इन लक्षणों का आभास न हो तब तक नाड़ी शोधन का अभ्यास करते रहना चाहिए।

बन्ध :-

प्राणायाम के अभ्यास से यद्यपि प्राण पूर्ण रूप से संयमित हो जाते हैं तथापि मनः स्थिरता को दृढ बनाने के लिए एवं कुण्डलिनी जागरण हेतु हठ योग परम्परा में मुद्रा एवं बन्ध का अभ्यास भी बताया गया है। मुद्रा के अभ्यास का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मरन्ध्र के द्वार पर प्रसुप्त कुण्डली को जगाने हेतु प्रयत्नपूर्वक

---

149. विद्वान् समग्रीवशिरोनासाग्रदृग्भ्रूमध्ये शशभृद्बिम्बं पश्यन् नेत्राभ्याममृतं द्वादशमात्रया इडया वायुमापूर्योदरे स्थितं ज्वालानलीयुतं रेफ बिन्दुयुक्तमग्निमण्डलयुतं ध्यायेद्रे चयेत् पिङ्गलया। पुनः पिङ्गलयापूर्य कुम्भित्या रेचयेदिडया।।त्रिचतुस्त्रिचतुः सप्त त्रि चतुर्मास पर्यन्तं त्रिसंधिषु तदन्तराले च षट्कृत्व आचरेन्नाडीशुद्धिर्भवति।
-शाण्डि - 1/5/2, 3
150. त्रिशिखि. - मन्त्र -95-102
151. दर्शनो. - 1/5/6-10
152. यो. चूड़ा. 93-94 तथा 98-99
153. यो. तत्त्वो. - 44-45
154. ह.यो. प्र. - 2/7-11
155. नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक्चिह्नोपलक्षितः। शरीर लघुता दीप्तिर्वह्नेजठिर वर्तिनः।।
नादाभिव्यक्तिरित्येतच्चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम्। यावददेतानि संपश्येत् तावदेवं समाचरेत्।।दर्शनो. 1/5/11-12
156. त्रिशिखि. मन्त्र - 102-103
157. यो. चूडा. - 99
158. शाण्डि. - 1/5/4

मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।[159] हठ योग प्रदीपिका में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डियान, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली तथा शक्तिचालन इन दस मुद्राओं का उल्लेख किया गया है।[160] जो योगी महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान, जालन्धर और मूलबन्ध को जानता है वह मुक्ति का पात्र होता है।[161]

योगोपनिषदों में बन्ध और मुद्राओं का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु इनका पूर्वापर सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता। फिर भी महामुद्रा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि सर्वप्रथम जालन्धर बन्ध लगाकर इस मुद्रा को किया जा सकता है अर्थात् योगी को बन्ध का अभ्यास करके ही मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।

हठ योग के समान ही योगकुण्डल्योपनिषद्[162] तथा योगशिखोपनिषद्[163] के अनुसार ये बन्ध तीन प्रकार के हैं - मूलबन्ध, उड्डीयाण बन्ध तथा जालन्धर बन्ध। इनका नित्य अभ्यास करने से वायु पर विजय प्राप्त होती है। साधक को पूरक के अन्त में (कुम्भक के समय) जालन्धर नामक बन्ध लगाना चाहिए तथा कुम्भक के अन्त में एवं रेचक के प्रारम्भ में उड्डियान् नामक बन्ध लगाना चाहिए।[164]

नीचे की ओर मूल रन्ध्र का संकोचन करने में कण्ठ का संकोचन होता है और बीच के भाग को पश्चिम (पीछे) की ओर खींचने से प्राणवायु ब्रह्मनाड़ी में निरन्तर गतिमान् होती रहती है।[165]

---

159. तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरम्। ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।। ह.यो.प्र. 3/5
160. महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी। उड्डियान मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः।।
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्। इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्।। ह.यो. प्र. 3/6-7
161. महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलंधरम्।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्।। यो. चू. उ. - 45
162. बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः।। प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयाणाभिधः।
जालंधरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते।। - यो. कु. - 1/40-41
163. बन्धत्रयमेदानीं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम्। नित्यं कृतेन तेनासौ वायोर्जयमवाप्नुयात्।।
चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते। बन्धत्रयमिदं कार्यं वक्ष्यमाणं मया हि तत्।।
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयाणाभिधः। जालंधरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम्।।
- योग शिखो. 1/101-103
164. पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालंधराभिधः।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः।। शाण्डि. - 1/7/11
165. अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः।। - शाण्डि. 1/7/12

1. मूलबन्ध :-

ध्यानबिन्दूपनिषद्[166], योगकुण्डल्योपनिषद्[167], योग चूड़ामाण्युपनिषद्[168], योगतत्त्वोपनिषद्[169], योगशिखोपनिषद्[170] के अनुसार एड़ी से योनि स्थान को दबाकर गुदा को आकुञ्चित कर अपान वायु को ऊपर की ओर खींचना ही मूलबन्ध है।

अपान वायु ऊपर जाकर वह्निमण्डल से मिलता है तो उसके प्रभाव से अग्नि की तीव्रता बहुत अधिक हो जाती है। उस अपान वह्नि से प्राण ऊष्ण हो जाता है, वह्नि के अत्यन्त प्रदीप्त होने से सारा शरीर ज्वलनशील हो जाता है। उस ज्वाला से सन्तप्त होकर सोई हुई कुण्डलिनी जागृत हो जाती है और डण्डे से मारी जाने वाली सर्पिणी के समान फुंकार कर सीधी हो जाती है। तब यह बिल में प्रवेश करने के समान सुषुम्ना के भीतर जाती है। इस प्रकार योगियों को मूलबन्ध अभ्यास सदैव करना चाहिए।[171]

हठयोग प्रदीपिका में भी ऐसा ही उल्लेख है कि जब योगी अधोगति वाले अपान वायु को गुदेन्द्रिय प्रदेश के आकुञ्चन द्वारा बलपूर्वक ऊर्ध्वमुखी करता है अर्थात् सुषुम्ना में प्रवाहित करता है, उसे ही मूलबन्ध कहते हैं।[172] घेरण्ड संहिता में इसका निरूपण इस प्रकार से किया गया है कि बायीं एडी से गुह्य प्रदेश को संकुचित कर प्रयत्नपूर्वक मेरुदण्ड में नाभि ग्रन्थि को लगाकर दबाएं और दायीं एडी से उपस्थ को दृढतापूर्वक दबा ले। यह मूलबन्ध है।[173]

---

166. पार्ष्णि भागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।।
अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते। ध्यान बिन्दु. 74-75
167. योगकुण्ड. - 1/42
168. यो. चूड़ा. उ. - 46
169. योग तत्त्वो. - 120-121
170. यो. शिखो. - 104
171. अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले। ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता।।
ततो यातौ वह्नयपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्। तेनाऽत्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते। दण्डाहत भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुता व्रजेत्।।
बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्।। तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा।।
- यो. कु. 1/43-46
172. अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्। आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः।। ह.यो. प्र. - 3/61
173. घेरण्ड संहिता - 3/14-15

मूलबन्ध का अवान्तर फल :-

मूलबन्ध का मुख्य फल यद्यपि कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करना है किन्तु इसके अन्य अनेक अवान्तर फल भी बताये गये हैं।

ध्यानबिन्दूपनिषद्,[174] योगचूड़ामण्युपनिषद्[175] के अनुसार नियमित रूप से मूलबन्ध का अभ्यास करने से प्राण और अपान की एकता होती है। मल-मूत्र कम हो जाता है और वृद्ध भी युवा हो जाता है। योगतत्त्वोपनिषद्[176] तथा योगशिखोपनिषद्[177] के अनुसार इस क्रिया से प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता की प्राप्ति होती है तथा यह निश्चित रूप से योग सिद्ध कराने वाला है।

हठयोग प्रदीपिका[178] में भी ऐसा ही वर्णन प्राप्त होता है जब इस बन्ध के अभ्यास से अपान वायु ऊर्ध्वगामी हो जाती है, तब वह वह्निमण्डल अर्थात् उदर की जठराग्नि में जा पहुँचता है। अपान वायु से आहत हुई जठराग्नि और अधिक प्रदीप्त हो उठती है। तब अग्नि और अपान वायु प्राण को ऊष्ण बना देते है। इससे अग्नि की देह अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त इस बन्ध के निरन्तर अभ्यास से गुदा सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण तथा उदर सम्बन्धी रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। बवासीर सदृश रोगों की तो यह अचूक दवा है।

घेरण्ड संहिता में कहा गया है कि इससे वृद्धावस्था नष्ट हो जाती है। संसार रूपी सागर से पार होने वाले आकांक्षियों को जनहीन स्थान (निर्जन) में छिपकर ही इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इससे मरुत् सिद्धि होती है। अतएव मौन एवं आलस्य रहित होकर इसका अभ्यास करना चाहिए।[179]

---

174. अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्र पुरीषयोः।। युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।
– ध्या. बिन्दु. 73-74
175. यो. चू. उ. – 47
176. प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।। यो. तत्त्वो. – 121-122
177. योगशिखो. – 105
178. ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्। तेनात्यन्तप्रदीपस्तु ज्वलनो देहजस्तथा।।
– हठ यो. प्र. – 3/66
179. घेरण्ड संहिता – 3/16-17

उड्डियाण बन्ध :-

ध्यानबिन्दूपनिषद्[180], योगचूड़ामण्युपनिषद्[181] तथा योगतत्त्वोपनिषद्[182] के अनुसार जिस प्रकार अविश्रान्त पक्षी ऊपर की ओर उड़ान भरता रहता है उसी प्रकार उदर से नाभि को ऊपर की ओर तानना पश्चिमोत्तान कहा जाता है। उड्डियाण बन्ध भी उदर में होता है। इसको वही किया जाता है। इस बन्ध से प्राण सुषुम्ना में उठ जाता है इसीलिए इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

योगकुण्डल्योपनिषद्[183] तथा योगशिखोपनिषद्[184] के अनुसार कुम्भक के पश्चात् रेचक करने से पूर्व उड्डियान बन्ध करना चाहिए जिससे प्राणवायु सुषुम्ना के भीतर उड़ती है। इसलिए योगीजन इसको उड्डियाण कहते हैं। अतः वज्रासन लगाकर पैरों को हाथों से दृढतापूर्वक पकड़े। जहाँ गुल्फ (टखना) रखा जाता है वहाँ कन्द स्थानों को दबायें, पेट को ऊपर की तरफ खींचें और हृदय तथा गले को भी तनाव देकर खींचें। इस विधि से प्राण क्रमशः पेट की सन्धियों में प्रवेश करता है और पेट के सब दोषों को दूर करता है। इस कारण यह अभ्यास सदैव करते रहना चाहिए।

इसके अभ्यास से आलस्य रहित, वृद्ध व्यक्ति भी तरुण के समान हो जाता है। नाभि के ऊर्ध्व एवं अधः भाग में अच्छी तरह से आकर्षण पूर्वक छः मास तक अभ्यास करने से योगी निस्संदेह मृत्यु को वश में कर लेता है।[185]

हठयोग प्रदीपिका में समस्त बन्धों में इसे उत्तम माना जाता है। उड्डियाण बन्ध के दृढ होने पर साधक

---

180. उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः।। उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्।। उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।।
– ध्यान बिन्दू. – 75–77

181. यो. चू. उ. – 48–49

182. मृत्युमातङ्गकेसरी बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।।
उड्यानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः। योग तत्त्वो. – 119–120

183. कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः। बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।।
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः। सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम्।।
गुल्फ देश समीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्। पश्चिमं ताणमुदरे धारयेद्धृदये गले।।
शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसंधिं निगच्छति। तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः।। यो. कु. – 1/47–50

184. योगशिखो. – 1/106–107

185. अभ्यसेत् तदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्। नाभेरूर्ध्वमधर ध्श्चा ताणं कुर्यात् प्रयत्नतः।।
षाण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः। योग शिखो. – 1/108–109

स्वभावतः मुक्त हो जाता है।[186]

जालंधर बन्ध :-

ध्यानबिन्दूपनिषद्[187] तथा योगचूड़ामण्युपनिषद्[188] के अनुसार जो नीचे की तरफ जाने वाले आकाश और जल तत्त्व को शिर में ही स्थिर रखता है। ऐसा जालन्धर बन्ध दुःख और कष्ट समूह का नाश करने वाला है। जालन्धर बन्ध के करने में जो कण्ठ का संकोचन किया जाता है, उससे अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और वायु भी नहीं दौड़ती है अर्थात् स्थिर हो जाती है।

योगकुण्डल्योपनिषद्[189] के अनुसार जालंधर बन्ध में कण्ठ का संकोचन वायु को रोकने के निमित्त किया जाता है। वह बन्ध पूरक के अन्त में करना होता है। अधो भाग में मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुञ्चन करे और ऊपर से जालन्धर बन्ध द्वारा कण्ठ का सङ्कोचन करे और मध्य में पश्चिमोत्तान उड्डियाण से प्राण को खींचें। इस प्रकार सब तरफ से रोका गया ब्रह्मनाड़ी (सुषुम्ना) में चढ़ता है। सम्यक् प्रकार से आसन पर बैठकर सरस्वती का चालन करके प्राण निरोध करना चाहिए।

हठ योग प्रदीपिका में कण्ठ को संकुचित करके हृदय में चिबुक को दृढतापूर्वक स्थापित करना ही जालन्धर बन्ध बताया है। जो वृद्धावस्था तथा मृत्यु का विनाशक है। यह बन्ध इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में वायु के प्रवाह को दृढ़तापूर्वक रोकता है। यह मध्य चक्र अर्थात् विशुद्ध चक्र है। इससे शरीर के सोलह आधारों का बन्ध होता है। इन आधारों का बन्द होना आवश्यक है क्योंकि इसके बिना योगसिद्धि की कल्पना ही व्यर्थ है। मूल, उड्डियमाण एवं जालन्धर इन तीन बन्धों का हठ योग क्रियाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन बन्धों को अनेक सिद्धियों का जनक बताया गया है।[190]

---

186. ह.यो.प्र. - 3/55-60

187. बध्नाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम्।। ततो जालंधरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः।
जालंधरे कृते बन्धे कण्ठ संकोच लक्षणे।। न पीयूषं पतयग्नौ न च वायुः प्रधावति।।
- ध्यान बि. - 77-78

188. यो. चू. उ. - 50-51

189. पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालंधराभिधः। कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः।।
अधस्तात कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते। मध्ये पश्चिमताणेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः।।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः। पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः।
चालन तु सरस्वत्याः कृत्वा प्राणं निरोधयेत्।। यो.कु. 1/51-53

190. ह.यो.प्र. - 3/70-75

मुद्रा :-

हठ योग एवं योगोपनिषदों में नाड़ी शोधन व प्राण के ऊर्ध्वगमन हेतु विभिन्न मुद्राएँ प्रतिपादित की गयी हैं। जैसे खेचरी मुद्रा, महामुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, वज्रोली, अमरोली, अश्विनी मुद्रा, शक्ति चालिनी, योनिमुद्रा, षण्मुखी मुद्रा, शांभवी मुद्रा आदि।

खेचरी मुद्रा :-

ध्यानबिन्दूपनिषद्[191], योगचूड़ामण्युपनिषद्[192], योगतत्त्वोपनिषद्[193], योगशिखोपनिषद्[194] तथा शाण्डिल्योपनिषद्[195] के अनुसार जिह्वा को लौटाकर कपाल कुहर में प्रविष्ट करने और दोनों भौहों के बीच दृष्टि स्थिर करना ही खेचरी मुद्रा है। योगकुण्डल्योपनिषद्[196] में इसका स्वरूप अन्य उपनिषदों से अत्यन्त भिन्न है। सर्वप्रथम साधक को सात दिन तक तालु के मूल स्थान को घिसते हुए वहाँ का मैल दूर करना चाहिए। तत्पश्चात थूधूहर के पत्ते के समान तीक्ष्ण धार वाले चाकू से तालू के मूल को बाल के बराबर काटे। कटे स्थान पर हर्र और सैन्धे नमक का चूर्ण लगायें। पुनः सात दिन पश्चात् पूर्ववत् काटे। इस क्रम से निरन्तर अभ्यास करते हुए जीभ का तालु के साथ वाला बन्धन कट जाएगा। तब जीभ के अग्रभाग को कपड़े से लपेट कर धीरे-धीरे बाहर की ओर दोहन करे। इस प्रकार छः मास तक अभ्यास करने से जीभ बढ़कर भौहों तक, कान के छेद तक पहुँचने लगती है। निरन्तर अभ्यास से तीसरे वर्ष बालों तक, कन्धे तक, कण्ठकूप तक पहुँच जाती है। अगले तीन वर्षों के अभ्यास से गर्दन के पीछे तक तथा कण्ठ के अन्त तक पहुँच जाती है। धीरे-धीरे जिह्वा मस्तक से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र को भेद जाती है। तब विधिपूर्वक मन्थन करना चाहिए। मन्थन के लिए सुवर्ण, चांदी अथवा लोहे की शलाकों के सिरे पर दुग्ध लगाकर उसे नाक के भीतर डाले और प्राण को हृदय में निरोध कर सुखासन पर बैठकर, भ्रूमध्य में ध्यान लगाते हुए मन्थन करे। मन्थन महीने में एक बार करना चाहिए। इस प्रकार बारह वर्ष अभ्यास करने पर

---

191. कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।।
 भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी। - ध्यान. - 79-80
192. योगचूड़ा. - 52
193. योग तत्त्वो. - 117-118
194. योगशिखो. - 5/40
195. शाण्डि. - 1/42-1
196. तालुमूलं समुत्कृत्य सप्तवासरमात्मवित्। स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत्।।
 स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्ध निर्मलम्। समादाय ततस्तेन लोमभा समुच्छितेत्।।
 शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्मात्माविभेदतः। ब्रह्माण्डोडयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली।। - योगकुण्ड.2/28-49

निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त होती है।

फल :-

योगचूड़ामण्युपनिषद्[197], ध्यानबिन्दूपनिषद्[198], योगकुण्डल्योपनिषद्[199] तथ योगशिखोपनिषद्[200] के अनुसार पैर से लेकर सिर तक समस्त अङ्गों का पोषण करने वाली सभी नाड़ियों का आधार बिन्दु खेचरी मुद्रा है। जो योगी खेचरी मुद्रा से कपाल कुहर को बन्द करने में अभ्यस्त हो जाता है उसका वीर्य किसी प्रकार भी नष्ट नहीं होता। जब तक देह में वीर्य विद्यमान है तब तक उसे न मृत्यु का, न रोग का, न भूख प्यास का भय रहता है। वह काल बन्धन से भी रहित होता है। अत: ऐसे सिद्ध खेचरी मुद्रा के अभ्यासी को नमस्कार करते हैं।

शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार खेचरी मुद्रा से उन्मनी दशा प्राप्त होती है, फिर योगनिद्रा प्राप्त होती है। योग निद्रा प्राप्त योगी का काल नहीं होता।[201]

महामुद्रा :-

ध्यानबिन्दूपनिषद्[202], योग चूडामण्युपनिषद्[203] तथा योगतत्त्वोपनिषद्[204] के अनुसार नाड़ी जाल का

---

197. न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा। न च मूर्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।
पीड्यते न चरोगेण लिप्यते न स कर्मभि:। बध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खे चरीम्।।
चित्तं चरति सेखे यस्माज्जिह्वा चरति खे यत:। तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता।।
बिन्दुमूलशरीराणि सिरा यत्र प्रतिष्ठित:। भावयन्ति शरीराणि आपादतलमस्तकम्।।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वत:। न तस्य क्षीयते बिन्दु: कामिन्यालिङ्गितस्य च।।
यावद्बिन्द्ब: स्थितो देहे तावन्मृत्यभयंकुत:। यावद्बद्धा नभो मुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति।।
–योग चुड़ा. – 53–58

198. ध्यानबिन्दु 80–85

199. योगकुण्ड. 2/1–4

200. योगशिखो. – 5/41–42

201. तस्मात् खेचरीमुद्रामभ्यसेत्। ततोन्मनी भवति। ततो योगनिद्रा भवति। लब्ध योगनिद्रस्य योगिन: कालो नास्ति।।
शाण्डि. – 1/7/17

202. शोधनं मलजालानां घटनं चन्द्रसूर्ययो:।
रसानां शोषणं सम्यङ् महामुद्राभिधीयते।।
वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुषिरं योनेश्च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन् प्रविततं पादं तथा दक्षिणम्।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचयेद्वेषा
देषा पातकनाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते।। ध्यान बिन्दु. – 91–93

शोधन करने वाली, चन्द्र-सूर्य को चलाना और रस को सुखाने वाली महामुद्रा है। ठोढी को छाती पर रखकर अर्थात् जालंधर बन्ध लगाकर बाँयें पैर से योनि स्थान को देर तक दबाकर, दाँये पैर को सीधा फैला कर दोनों हाथों से भली प्रकार पकड़े, तब उन दोनों कुक्षियों (बगलों) में श्वास भरे और फिर धीरे-धीरे उनका रेचन करे। यह सब प्रकार की व्याधियों को नष्ट करने वाली महामुद्रा कही जाती है। पहले चन्द्रांश (बाँयी नासिका) से अभ्यास करे और फिर सूर्यांश (दाँयी नासिका) से अभ्यास करे। जब दोनों की संख्या समान हो जाये तब अभ्यास को बन्द कर दें।

हठ योग प्रदीपिका के अनुसार महामुद्रा में वामपाद से योनिस्थान (सीवनी) को अच्छी तरह दबाकर दाहिना पैर फैलाकर, दोनों हाथों से दृढतापूर्वक धारण करना चाहिए। तत्पश्चात् कण्ठ में जालन्धर बन्ध लगाकर वायु को सुषुम्ना नाड़ी में स्थित करना चाहिए जिस प्रकार सर्प डण्डे की चोट से दण्ड के समान सीधा हो जाता है, उसी प्रकार मुद्राओं के निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सहसा सीधी हो जाती है। उसी समय प्राण का दोनों नासापुटों से वियोग होने पर इडा एवं पिङ्गला प्राण रहित होने के कारण मरणावस्था को प्राप्त होती है। तत्पश्चात् वायु को धीरे-धीरे रेचन किया जाता है। श्रेष्ठ योगियों ने इसी को महामुद्रा कहा है। यह महासिद्धि देने वाली है।[205]

फल :-

इस मुद्रा के प्रभाव से पथ्य-अपथ्य ही नही, सब प्रकार का नीरस भोजन भी रसवान बन जाता है। अधिक खाया हुआ और तीव्र विष भी अमृत के समान पच जाता है। क्षय, कोढ, गुदावर्त (भगन्दर) गुल्म, अजीर्ण और आगे होने वाले समस्त रोग महामुद्रा के अभ्यास से शमन हो जाते हैं। यह महासिद्धि देने वाली है।

203. योगचूडा. - 65-67

204. योगतत्त्वो., पृ. 382

205. पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम्।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यांये धारयेद् दृढम्।
कण्ठे बन्धं समारोप्य धारपेद्वायुमूर्ध्वतः।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।।
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया।।
ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः।।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता।। हठ योग. प्र. - 3/10-13

इसको यत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिए, चाहे जिस किसी को नहीं बताना चाहिए।[206]

विपरीतकरणी मुद्रा :-

योगतत्त्वोपनिषद्[207] में 'करणी विपरीत' के द्वारा ही इसका लक्षण बताया गया है। इस मुद्रा के लिए प्रथम दिन क्षण भर के लिए सिर नीचे की ओर करके तथा पैरों को ऊपर की ओर करे। इसके पश्चात् प्रत्येक दिन एक-एक क्षण भर निरन्तर अभ्यास बढ़ाते रहें, तो छः मास में ही साधक के शरीर की झुर्रियाँ तथा बालों की सफेदी समाप्त हो जाएगी। इसका नित्य अभ्यास करने से साधक की जठराग्नि बढ़ जाती है। इस कारण साधक अधिक आहार (भोजन) को पचा सकने में समर्थ हो जाता है। जो प्रतिदिन एक पहर (तीन घंटे) तक इसका अभ्यास करता है, वह योगी काल को अपने वश में कर लेगा।

यहाँ हठयोग प्रदीपिका[208], गोरक्ष संहिता[209], घेरण्ड संहिता[210] में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है। यहां इसके अभ्यासी को पर्याप्त मात्रा में आहार ग्रहण करना चाहिए अन्यथा प्रदीप्त जठराग्नि शरीरस्थ रक्त, मज्जादि धातुओं को जलाने लगती है। अभ्यास का आरम्भ करते समय प्रथम दिन क्षण मात्र के लिए ही सिर नीचे एवं पैर ऊपर करने चाहिए। शनैः शनैः क्षणों में वृद्धि करनी चाहिए।[211]

वज्रोली मुद्रा :-

उपनिषद्कार ने वज्रोली मुद्रा से होने वाले लाभ का ही उल्लेख किया है। टीकाकार श्री उपनिषद्

206. नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः। अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते।।
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः। तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्। गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।।
– योग चूडा. – 68–70

207. करणी विपरीताख्या सर्वाधि व्याधिनाशिनी।। नित्यमभ्यास युक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी।।
आहारा बहवस्तस्य संपाद्याः साधकस्य च। अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात्।
अध शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने।। क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेत्तु दिने दिने।।
वली च पलितं चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते।। याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्सतुकालजित्।।
– योग तत्त्वो. – 122–126

208. ह.यो.प्र. – 3/78

209. गोरक्ष. – 2/32–33

210. घेर. सं. – 3/33–34

211. नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्नि विवर्धिनी।। आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च।।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्।। अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने।। – ह.यो.प्र. – 3/79–80

ब्रह्मयोगी ने इसका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है। काँसे के पात्र में गो का दूध डालकर ताँबे, स्वर्ण, रजत अथवा रबड़ की पतली नली को लिङ्गेन्द्रिय के माध्यम से प्रतिदिन एक-एक अङ्गुल परिमाण से ऊपर की ओर प्रवेश कराना चाहिए। इस अभ्यास में सिद्धहस्त योगी स्वबिन्द्र का पतन नहीं होने देता। बिन्दू का शरीर में धारण करना ही वज्रोली मुद्रा है।[212]

हठयोग में भी उपर्युक्त उपनिषद् के अनुसार ही इसका स्वरूप बतलाया है परन्तु सहजोली तथा अमरोली दो भेद बतलाए हैं[213] जबकि योगोपनिषद् में अमरोली मुद्रा को भिन्न मुद्रा माना है तथा सहजोली का उल्लेख ही नहीं मिलता। जो योगी 'अमरी' (मूत्र) को प्रतिदिन पीता है। घ्राणेन्द्रिय के द्वारा सूँघता है तथा वज्रोली का सम्यक् अभ्यास करता है, उसे अमरोली का साधक कहा जाता है।[214] हठयोग के अनुसार वज्रोली का सम्यक् अभ्यास करते हुए नासिका प्रदेश से स्त्रवित होने वाला स्राव का पान ही अमरोली है तथा वज्रोली के उपरान्त गोबर की उत्तम भस्म को जल में मिलाकर सम्पूर्ण अङ्गों पर लगाना ही सहजोली है। यह भोग युक्त होते हुए भी मुक्तदायिनी है। व्रजोली मुद्रा का अभ्यस्त योगी शीघ्र ही सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है। तीनों कालों का ज्ञाता तथा आकाश मार्ग में गमन करने में समर्थ हो जाता है।[215]

षण्मुखी मुद्रा :-

षण्मुखी मुद्रा के अभ्यास से प्राण वायु वश में हो जाती है। दर्शनोपनिषद् में ही इस मुद्रा की दो विधियों का उल्लेख मिलता है। प्रथमानुसार एकाग्र चित्त से स्वास्तिकासन लगाकर प्रणव जप करते हुए धीरे-धीरे प्राण वायु को ऊपर की उठायें। दोनों अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनी अँगुलियों से दोनों नेत्रों को तथा अन्य

212. कांस्य पात्रे गोक्षीरं निक्षिप्य वजोलीतुल्यलिङ्गनालेन ग्रसित्वा पुनर्विरेच्य पुनर्ग्रसना दिकमभ्यस्याथ स्त्रीयोनिमण्डले रेतो विसृज्यं तच्छोणितेन साकं ग्रसेदिति यत् सैव वज्रोली त्युच्यते। - योगतत्त्वो,-टीका, पृ. 384

213. यत्नत: शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे। शनै: शनै प्रकुर्वीत वायु सञ्चार कारणात्।।
नारी भगे पतद्बिन्दुमभ्यासे नोर्ध्वमाहरेत्। चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।।
एवं संरक्षयेद् बिन्दु मृत्युं जयति योगवित्। मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दु धारणात्।।
सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकत:। जलेषु भस्म विक्षिप्य दग्धगोमय सम्भवम्।।
वज्रोली मैथुनादूर्ध्व स्त्री प्रंसो: स्वाङ्गलेपनम्। आसीनयो: सुखेनैव मुक्त व्यायकयो: क्षणात्।।
अमरीं य: पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने। वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते।।
- ह. यो. प्र. - 3/85-95

214. योग तत्त्वो. - 128

215. वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम्।। लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धि: करे स्थिता।।
अतीतनागतंवेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्।। ह. यो. 3/80-81

दो-दो अँगुलियों से नासिका के दोनों छिद्रों को बन्द कर लें। अपान वायु को मस्तिष्क में तब तक धारण करे, जब तक आनन्द रूपी अमृत प्रकट न हो जाए। इस प्रकार प्राण वायु ब्रह्मरून्ध्र में प्रविष्ट होने पर सर्वप्रथम शंखध्वनि की भाँति गम्भीर नाद सुनाई देता है। बीच में वह नाद में मेघर्गजन की भाँति होने लगता है। जब प्राण मस्तिष्क के बीच में प्रतिष्ठित होता है। तब पर्वत से गिरते हुए झरने की कल-कल ध्वनि के समान शब्द होता है। तदनन्तर योगी आत्मानन्द की अनुभूति करते हुए सांसारिक बन्धनों से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है।[216] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[217] तथा योगचूड़ामण्युपनिषद्[218] में भी षण्मुखी मुद्रा का यही स्वरूप बताया गया है।

द्वितीयानुसार, गुदा एवं लिङ्ग के मध्य स्थित सीवनी को दायें एवं बायें टखने से दबाकर बैठें तथा घुटनों को नीचे जोड़ में भगवान् त्र्यम्बक् रूप ज्योतिर्लिङ्ग, माता सरस्वती तथा गणेश जी का चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् ॐकार का जप करते हुए लिङ्ग के छिद्र से प्राणवायु को खींचकर मूलाधार में रोकने से वहाँ की अग्नि कुण्डलिनी पर आरूढ़ हो जाती है। तत्पश्चात् अग्नि को साथ लेकर वायु सुषुम्ना नाड़ी के माध्यम से ऊर्ध्वगामी हो जाती है।[219]

---

216. स्वस्तिकासनमास्थाय समाहितमनास्तथा।। अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्रणवेन शनैः शनैः।
हस्ताभ्यां धारयेत् सम्यक् कर्णादि करणानि च।। अङ्गुष्ठाभ्यां मुने श्रोत्रे तर्जनीभ्यां तु चक्षुषी।
नासापुटावथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि वै। आनन्दाविर्भावो यावत् तावन्मूर्धनि धारयेत्।
प्राणः प्रयात्यनेनैव ब्रह्मरन्ध्रं महामुने।। ब्रह्मरन्ध्रं गते वायौ नाद श्चोत्पद्यतेऽनघ।
शङ्खध्वनिनिभर श्चादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा। शिरोमध्यगते वायौ गिरि प्रस्त्रवणं यथा।
पश्चात् प्रीतो महाप्राज्ञ साक्षादात्मोन्मुखे भवेत्।। पुनस्तज्ज्ञाननिष्पत्तिर्योगात् संसार निह्नुतिः।
- दर्शनो. 6/32-38

217. मनसो धारणादेव पवनो धारितो भवेत्। मनसः स्थापने हेतुरुच्यते द्विजपुङ्गव।।
कारणानि समाहृत्य विषयेभ्यः समाहितः। अपानमूर्ध्वमाकृष्येदुदरोपरि धारयेत्।।
बध्नन् कराभ्यां श्रोत्रादिकरणानि यथा तथम्। युञ्जानस्य तथोक्तेन वर्त्मना स्ववंश मनः।।
मनोवशात् प्राणवायुः स्ववशे स्थाप्यते सदा। नासिकापुटयोः प्राणः पर्यायेण प्रवर्तते।।
- त्रिशिखि. मन्त्र. - 114-117

218. योग चूड़ा. - 114-115

219. दक्षिणोत्तरगुल्फेन सीवनीं पीडयेत् स्थिराम्।। सव्येतरेण गुल्फेन पीडयेद् बुद्धिमान् नरः।
जान्वोरधः स्थितां संधिं स्मृत्वा देवं त्रियम्बकम्।। विनायकं च संस्मृत्य तथा वागीश्वरीं पुनः।
लिङ्गनालात् समाकृष्य वायुमप्यग्रतो मुने।। प्रणवेन नियुक्तेन बिन्दुयुक्तेन बुद्धिमान्।
मूलाधारस्य विप्रेन्द्र मध्ये तं तु निरोधयेत्।। निरुध्य वायुना दीप्तो वह्निरूहति कुण्डलीम्।
पुनः सुषुम्नया वायुर्वह्निना सह गच्छति।। दर्शनो. - 6/38-42

इस प्रकार के अभ्यास से वायु पर विशेष रूप से विजय प्राप्त होती है। सर्वप्रथम शरीर से पसीने का बहिर्गमन होना, शरीर में कम्पन होना तथा शरीर का ऊपर की ओर उठना – ये सभी वायु को विजयी करने के संकेत हैं। सभी रोग, पाप–पुण्य नष्ट हो जाते हैं। पारलौकिक सुखों के प्रति भी विरक्ति हो जाती है। इस प्रकार वह जन्म–मरण के चक्र से छूट जाता है।[220]

शांभवी मुद्रा :–

अद्वय तारकोपनिषद् के अनुसार साधक की अन्त: बाह्य लक्ष्य को देखने वाली दृष्टि का स्थिर होना ही शांभवी मुद्रा है। इस मुद्रा से युक्त योगी के देखने मात्र से ही दूसरे लोग पवित्र हो जाते हैं तथा जो ऐसे योगी की उपासना करते हैं वह मुक्त हो जाता है।[221]

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार योगी को सिद्धासन लगाकर षण्मुखीमुद्राभ्यास के क्रम से वह्निमण्डल आदि दिखाई देते है। सर्वप्रथम अग्नि मण्डल, उसके ऊपर सूर्य मण्डल तथा दोनों के बीच में सुधा स्वरूप चन्द्रमण्डल हैं। उसके बीच में अखण्ड ब्रह्म का तेजोमण्डल हैं। वह विद्युत रेखावत् श्वेत और प्रकाशमान् है। यही शांभवी मुद्रा का लक्षण है।[222] अखण्ड ब्रह्म का दर्शन करने से तीनों स्वरूप दृष्टि में आते हैं। ये रूप – अमावस्या, प्रतिपदा और पूर्णिमा रूप है। निमीलित दृष्टि अमावस्या स्वरूप है, अर्धनिमीलित दृष्टि प्रतिपदा स्वरूप है और पूरी तरह खुली हुई दृष्टि पूर्णिमा स्वरूप है। इसलिए पूर्णिमा रूप दृष्टि का ही अभ्यास करना चाहिए।[223]

---

220. प्रस्वेद: प्रथम: पश्चात् कम्पनं मुनिप्रङ्गव।। उत्थानं च शरीरस्य चिह्नमेतज्जितेऽनिले।
एवमभ्यस्तस्तस्त मूल रोगो विनश्यति।। भगंधरं च नष्टं स्यात् सर्वरोगाश्च सांकृते।
पातकानि विनश्यन्ति क्षुद्राणि च महान्ति च।। नष्टे पापे विशुद्धं स्यच्चित्तदर्पणमदतभुम्।
पुनर्ब्रह्मादि भोगेभ्यो वैराग्यं जायते हृदि।। विरक्तस्य तु संसाराज्ज्ञानं कैवल्यसाधनम्।
तेन पाशापहानि: स्यात् ज्ञात्वा देवं सदाशिवम्।। ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत्।।
स सर्वकार्यमुत्सृज्य तत्रैव परिधावति।। ज्ञान स्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणा:।
अर्थस्वरूपम ज्ञानात् पश्यन्त्यन्ते कुदृष्ट्य:।। आत्मस्वरूप विज्ञानादज्ञानस्य परिक्षय:।
क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षय:।। रागाद्यसंभवते प्राज्ञ पुण्यपाप विमर्शनम्।
तयोर्नाशे शरीरेण न पुन: संप्रयुज्यते।। दर्शनो. – 6/43–51

221. अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टौ निमेषोन्मेष वर्जितायां सत्यां शांभवी मुद्रा भवति। तन्मुद्रारूढ ज्ञानिनिवासात् भूमि: पवित्रा भवति। तद्दृष्ट्या सर्वे लोका: पवित्रा भवन्ति। तादृशयोगि पूजा यस्य लभ्यते सोऽपि मुक्तो भवति।। अद्वय. – 12

222. आदावग्निमण्डलम्। तदुपरि सूर्यमण्डलम्। तन्मध्ये सुधा चन्द्रमण्डलम्। तन्मध्येऽखण्डब्रह्मतेजोमण्डलम्। तद्विद्युल्लेखावच्छुक्ल भास्वरम्। तदेव शांभवी लक्षणम्।। मण्डल – 2/5

223. तद्दर्शने तिस्त्रो दृष्ट्य: अमाप्रतिपत्पूर्णिमा चेति। निमीलित दर्शनममादृष्टि:। अर्धोन्मीलितं प्रतिपत्। सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति। तासु पूर्णिमाभ्यास: कर्तव्य:। मण्डल. – 2/1/6

उस (पूर्णिमा रूप दृष्टि) का लक्ष्य नासाग्र है। जिस समय तालुमूल में प्रगाढ़ अन्धकार के दर्शन होते है, उस समय अभ्यास के द्वारा अखण्ड मण्डलाकार ज्योति दिखाई देती है, वही सच्चिदानन्द ब्रह्म है जब मन सहजानन्द में लीन हो जाता है, तब शाम्भवी मुद्रा सिद्ध होती है, उपनिषद्कार ने इसी शांभवी मुद्रा को खेचरी मुद्रा कहा है।[224] उसके अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है फिर वायु स्थिर हो जाती है। उसके चिह्न इस प्रकार होते हैं जैसे पहले तारा दिखाई देता है फिर हीरे के दर्पण जैसा दिखाई देता है। उसके बाद पूर्ण चन्द्रमण्डल जान पड़ता है उसके पश्चात् नवरत्नों की प्रभा का मण्डल दिखाई देता है। फिर दोपहर के सूर्य का मंडल दिखाई देता है और फिर क्रम से अग्नि की शिखा का मंडल दिखाई देता है।[225]

इसी उपनिषद् में एक स्थान पर सूर्य मण्डल में रहने वाला पुरुष महामुनि याज्ञवल्क्य को अमनस्क स्थिति का स्वरूप बताते हुए कहते है कि यह अत्यन्त रहस्यमय है, इसके ज्ञान से मनुष्य कृतार्थ हो जाता है, वह सदैव शांभवीमुद्रायुक्त होता है।[226]

हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि जब योगी अपने चित्त एवं प्राण वायु को अन्तर्लक्ष्य में विलीन कर निश्चल तारे वाली दृष्टि से बाहर नीचे की ओर देखता हुआ भी नहीं देखता है, तब यही स्थिति शाम्भवी मुद्रा है।[227] घेरण्ड संहिता के अनुसार भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर कर एकाग्र मन से परमात्मा का ध्यान ही शाम्भवी मुद्रा है।[228]

वैष्णवी मुद्रा :-

इस मुद्रा का उल्लेख मात्र शाण्डिल्योपनिषद् में ही मिलता है। अन्तः करण में लक्ष्य निहित हो तथा बाह्य दृष्टि निमेष-उन्मेष अर्थात् पलक झपकने से विहीन हो, यही वैष्णवी मुद्रा है।[229]

---

224. तल्लक्ष्यं नासाग्रम्। तदा तालुमूले गाढ़तमो दृश्यते। तदभ्यासादखण्डमण्डलाकार ज्योतिर्दश्यते। तदेव सच्चिदानन्द ब्रह्म भवति।। एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शांभवी भवति। तामेव खेचरीमाहुः।।
म.ब्रा. 2/1/7-8

225. तदभ्यासान्मनःस्थैर्यम्। ततो बुद्धिस्थैर्यम्। तच्चिह्नानि। आदौ तारकवद् दृश्यते। ततो वज्रदर्पणम्। ततः परिपूर्ण चन्द्रमण्डलम्। ततो रत्नप्रभामण्डलम्। ततो मध्याह्नार्क मण्डलम्। ततो वह्निशिखामण्डलं क्रमाद् दृश्यते।।
म.ब्रा. 2/1/10

226. इदममनस्कमतिरहस्यम् यज्ज्ञानेन कृतार्थो भवति तन्नित्यं शांभवीमुद्रान्वितम्।। म. ब्राह्म. 3/1/2

227. ह.यो.प्र. - 3/37

228. घेरण्ड संहिता - 3/64

229. अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता। एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।। शाण्डि. - 1/7/14

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम्।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्ति भाजनम् ॥४५॥

जो साधक योगी महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याण जालन्धर तथा मूलबन्धों को जान लेता है अर्थात् इन्हें सिद्धकर लेता है, उसे मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। ये सभी मुद्रा और बन्ध कुण्डलिनी जागरण में सहायक हैं।

मूलबन्ध

पार्ष्णिघातेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् दृढम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥४६॥

एड़ी से दबाव देते हुए तथा योनि और मलमार्ग का दृढता पूर्वक आकुञ्चन करते हुए अपान वायु को ऊपर की ओर खींचे। इसे मूलबन्ध कहते हैं।

अपान - प्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥४७॥

निरन्तर मूलबन्ध करने से अपान और प्राण वायु का संयोग होने पर मल और मूत्र का क्षय हो जाता है और वृद्ध व्यक्ति भी युवा हो जाता है।

ओड्ड्याण बन्ध (उड्डीयान बन्ध)—

ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
ओड्डीयाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥४८॥

जिस क्रिया के द्वारा महापक्षि गरुड निरन्तर उड़ता रहता है, उस क्रिया को ओड्डियाण कहते हैं। इसके द्वारा साधक मृत्यु पर उसी प्रकार विजय पा लेता है, जिस प्रकार हाथी पर सिंह विजय प्राप्त कर लेता है।

उदरात्पश्चिमं ताणमधो नाभे निगद्यते।
ओड्याणमुदरे बन्धः तत्र बन्धो विधीयते ॥४९॥

नाभि के नीचे के भाग को उदर के पीछे की ओर खींचना यह ओड्याण है। यह बन्ध उदर में किया जाता है, अतः ओड्याण बन्ध उदर में ही सम्पन्न होता है। यह क्रिया प्राणायाम में कुम्भक के समय की जाती है। इसका अभ्यास प्रारम्भ करने के लिए पहले तड़ागी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए।

जालन्धर बन्ध

बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम्।
ततो जालन्धरोबन्धः कष्टदुःखौघनाशनः ॥५०॥

Scanned by CamScanner

क्योंकि जालन्धर बन्ध शिर में उत्पन्न होने वाले नीचे की ओर प्रवाहित होने वाले नभोजल (अमृतस्राव) को बांध देता है, अतः उसे जालन्धर बन्ध कहते हैं, और यह कष्टों और दुःखों के समूह को नष्ट कर डालता है। यह बन्ध भी प्राणायाम साधना का अंग है। इसे भी कुम्भक के साथ ही किया जाता है।

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥५१॥

कण्ठसंकोचरूप जालन्धर बन्ध करने पर न तो अमृत ही अग्नि में गिरता है, और न वायु का आना जाना हो पाता है। इसलिए कुम्भक प्राणायाम के समय उसे अवश्य करना चाहिए।

खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टि र्मुद्रा भवति खेचरी ॥५२॥

जिह्वा को पलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट करना, और भ्रूमध्य में दृष्टि को केन्द्रित करना, इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं।

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥५३॥
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः।
बाध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥५४॥

जो साधक खेचरी मुद्रा का अभ्यास कर लेता है, उसे न रोग सताते हैं, न मृत्यु; न निद्रा कष्ट देती है न भूख और प्यास। मूर्च्छा से भी वह कभी ग्रस्त नहीं होता। खेचरी मुद्रा को सिद्ध कर लेने पर रोगों से उत्पन्न पीडा कर्मों का बन्धन अथवा अन्य किसी प्रकार की बाधाएं उसके मार्ग में बाधक नहीं बन पातीं हैं।

चित्तं चरति खे यस्मात् जिह्वा चरति खे यतः।
तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता ॥५५॥

इस स्थिति में क्योंकि चित्त आकाश अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में विचरण करता है, और जिह्वा ऊर्ध्व गामी होती है, अतः इसे खेचरी मुद्रा कहते है, सभी सिद्धजन इस मुद्रा का आदर करते हैं, अर्थात् इसे अन्यन्त मद्त्त्व पूर्ण मानते हैं।

Scanned by CamScanner

बिन्दुमूलशरीराणि शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।
भावयन्ती शरीराणि आपादतलमस्तकम् ॥५६॥

क्योंकि बिन्दु (वीर्य) मूल शरीर और शिरः स्थान आकाश (ख) अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है, अतः खेचरीमुद्रा पादतल से मस्तक पर्यन्त आप्यायित करती है।

खेचर्या मुद्रिदं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्याऽऽलिङ्गितस्य च ॥५७॥

जिसने खेचरी मुद्रा द्वारा जिह्वा से ऊर्ध्व गामी विवर बन्द कर दिया है। कामिनी द्वारा आलिङ्गित होने पर भी उसका बिन्दुक्षय अर्थात् वीर्य का नाश नहीं होता, अर्थात् वह ऊर्ध्वरेता हो जाता है।

यावत् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः।
यावद् बद्धा नभो मुद्रा तावत् बिन्दुर्न गच्छति ॥५८॥

जब तक खेचरी मुद्रा लगी हुई है, तब तक बिन्दु अर्थात् वीर्य स्खलित नहीं होता और जब तक बिन्दु स्खलित नहीं है, बल्कि देह में स्थित है। तब तक मृत्यु का भय कैसे हो सकता है। स्मरणीय है कि नभोमुद्रा और खेचरीमुद्रा शब्द सामनार्थक हैं।

चलितोऽपि यथा बिन्दुः सम्प्राप्तश्च हुताशनम्।
व्रजत्यूर्ध्वं गतो शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥५९॥

जिस प्रकार अग्नि में पहुंच कर जल जाने पर भी बिन्दु ऊपर चला जाता है, उसी प्रकार योनि मुद्रा द्वारा अर्थात् शक्ति साधना द्वारा निरुद्ध होने पर बिन्दु भी ऊर्ध्वगामी हो जाता है।

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा।
पाण्डरं शुक्लमित्याहु र्लोहिताख्यं महारजः ॥६०॥

वह बिन्दु दो प्रकार का है, पाण्डर और लोहित। पाण्डर को ही शुक्ल या शुक्र कहते हैं। लोहित नामक बिन्दु को महारज भी कहते हैं।

सिन्दूरव्रातसंकाशं रविस्थानस्थितं रजः।
शशिस्थानस्थितं शुक्लं तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥६१॥

Scanned by CamScanner

सूर्यस्थान में स्थित बिन्दु, जिसे महारज भी कहते हैं, सिन्दूर के समूह के समान है, तथा चन्द्र स्थान में स्थित बिन्दु शुक्ल अर्थात् श्वेत है, जिसे शुक्र कहते हैं। इन दोनों का एक होना अत्यन्त दुर्लभ है।

बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्तिः, बिन्दुरिन्दू रजो रविः।
उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ६२॥

बिन्दु और रजस् की महिमा का कथन करते हुए ग्रन्थकार उनके लिए सूर्य और चन्द्र की उपमा देते हुए कहता है कि बिन्दु ब्रह्मा है और रजस् शक्ति है; बिन्दु चन्द्र है और रजस् सूर्य है। दोनों के संगम से ही परम पद की प्राप्ति होती है ॥

वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यदा रजः।
याति विन्दुः सदैवत्वं भवेद् दिव्यवपुस्तदा ॥६३॥

शक्ति चालन अर्थात् खेचरी मुद्रा द्वारा प्रेरित वायु से जब रजस् बिन्दु स्थान में पहुंचता है, तब साधक देवभाव को प्राप्त हो जाता है, और उसका शरीर दिव्य हो जाता है ॥

शुक्लं चन्द्रेण सयुक्तं रजः सूर्येण संगतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगविद् ॥६४॥

चन्द्र से संयुक्त अर्थात् चन्द्र स्थान में स्थित शुक्ल एवं सूर्य से संयुक्त रजस् इन दोनों की सामरस्यपूर्ण एकता को अर्थात् उसकी विद्या को जो जानता है, वह निश्चय ही योगविद्या को जानता है। अर्थात् रजस् और बिन्दु की समरसता ही योग की सफलता है।

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥६५॥

हठयोग के ग्रन्थों में महामुद्रा का बहुत महत्त्व वर्णित है। प्रस्तुत सन्दर्भ में फल की दृष्टि से महामुद्रा का वर्णन किया जा रहा है। समस्त नाड़ियों की शोधन प्रक्रिया को इच्छानुसार चन्द्र एवं सूर्य नाड़ियों में प्राणों का संचालन एवं रसों का शोषण जिससे होता है, उसे महामुद्रा कहते हैं।

महामुद्रा

वक्षो न्यस्त हनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिंच वामांध्रिणा,
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्।

Scanned by CamScanner

आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनैः रेचयेत्,
सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥६६॥

ठुड्डी को वक्षस्थल में लगाकर बायें पैर से योनि स्थान को दबाकर तथा सामने फैलाए हुए दाहिने पैर को दोनों हाथों से पकड़कर दोनों पार्श्व (कुक्षि-युगल) को वायु से पूर्ण कर मुद्राबन्ध को पूर्ण करे, और शनैः शनैः वायु का रेचन करे। इसे महामुद्रा कहते हैं, इसके अभ्यास द्वारा सतस्त रोग दूर हो जाते है।

चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः।
या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥६७॥

पूर्वोक्त प्रकार से चन्द्रांश अर्थात् बायें पैर की एड़ी से योनिस्थान को दबाते हुए महामुद्रा का अभ्यास करके पुनः सूर्य अंश से अर्थात् दाहिने पैर की एड़ी से योनि को दबाते हुए) तथा बाएं पैर को फैलाकर दोनों हाथों से उसे (फैलाए हुए दाहिने पैर को पकड़कर दोनों पार्श्व को वायु से परिपूर्ण कर फिर धीरे वायु का रेचन करे। इस भांति जितनी बार चन्द्रांश से महामुद्रा का अभ्यास किया हो, उतनी ही बार सूर्य अंश से अभ्यास करके महामुद्रा का विसर्जन करे।

महामुद्रा सिद्धि का फल

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥६८॥
क्षयकुष्ठगुदावर्त्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥६९॥

जो व्यक्ति महामुद्रा का अभ्यास करता है, उसके लिए पथ्य और अपथ्य कुछ नहीं रह जाता; सभी रस नीरस से हो जाते हैं। अधिक भोजन अथवा घोर विष का भोजन भी अमृत के समान पच जाता है। इसके साथ ही महामुद्रा के अभ्यास से क्षय कुष्ठ गुदावर्त्त गुल्म अजीर्ण इत्यादि रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥७०॥

यह उपर्युक्त महामुद्रा अतिशय सिद्धियां प्रदान करने वाली है। इसका प्रयत्न पूर्वक गोपन करना चाहिए। चाहे जिसको इसका उपदेश न देकर केवल उचित अधिकारी को ही इसकी शिक्षा देनी चाहिए।

Scanned by CamScanner

प्राण और अपान वायुओं की स्थिति के सम्बन्ध में भी ग्रन्थकार का कहना है कि ये दोनों एक दूसरे के आकर्षण पर स्थित है। प्राण नीचे से अपान को ऊपर की ओर खींचता रहता है, और अपान ऊपर स्थित प्राण को नीचे की ओर खींचता रहता है। इस परस्पर आकर्षण से ही ये दोनों भी बंधे रहते हैं।

ग्रन्थकार ने प्राण और अपान की गति पर विचार करते हुए हंस मन्त्र से अजपा जप की ओर संकेत किया है। उसके अनुसार प्राण वायु का सहज भाव से बाहर निकलना अर्थात् प्रश्वास की क्रिया 'ह' ध्वनि ('हं' मन्त्रांश) का मौन उच्चारण तथा उसका अन्दर प्रवेश अर्थात् श्वास की क्रिया 'स' ध्वनि ('स' मन्त्रांश) का मौन उच्चारण है। इस प्रकार प्रश्वास और श्वास की क्रिया के साथ सहज भाव से एक अहोरात्र में इक्कीस हजार छ सौ संख्या में 'हंस' मन्त्र का जप चलता रहता हैं। इस 'हंस' मन्त्र का जप सहज भाव से अनजाने में तो सदा चलता रहता है, किन्तु साधक जब इस सहज प्रक्रिया से सामञ्जस्य करके इस जप में स्वयं को लगा देता है, तब यह जप अजपा गायत्री बन जाता है, जिसके लिए साधक को केवल संकल्प भर करना होता है, शेष क्रिया स्वतः सम्पन्न होती है, किन्तु इस संकल्प मात्र से वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। इस सहज संकल्प साधना को यहां प्राण विद्या कहते हुए महाविद्या के रूप में स्वीकर किया गया है।

कुण्डलिनी साधना

योग चूड़ामणि में कुण्डलिनी साधना का भी संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इसके अनुसार कन्द से ऊपर आठ स्थानों से वलयित कुण्डल की आकृति की एक कुंडलिनी शक्ति विद्यमान है। सुषुम्ना नाड़ी के जिस मार्ग से जीव सहित प्राणों का प्रवेश ऊर्ध्व गमन के लिए होता है, वह ब्रह्मद्वार इस कुण्डलिनी के मुख से आच्छादित रहता है और यह कुण्डलिनी प्रसुप्त बनी रहती है। किन्तु प्राणायाम साधना द्वारा वह्नि के अत्यन्त प्रदीप्त होने पर वह मार्ग अनावृत हो जाता है, और यह प्राणशक्ति कुण्डलिनी मन और वायु (बाहरी प्राण) के साथ सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट होकर क्रमशः ऊर्ध्व गामिनी हो जाती है। इसलिए साधक को चाहिए कि जिस प्रकार कुञ्जी से द्वार खोला जाता है, उसी प्रकार वह प्राणायाम साधना द्वारा ब्रह्मद्वार का उद्घाटन करे, और मोक्ष मार्ग का पथिक बने तथा मोक्ष मार्ग का उद्घाटन कर ले। इसके लिए उसे चाहिए कि वह पद्मासन में बैठकर जालन्धर और उड्डीयान बन्धों के साथ मूल बन्ध द्वारा अपान

Scanned by CamScanner

को बार-बार ऊर्ध्व गामी करे। ऐसा करने से अपान ऊर्ध्व गामी होकर प्राण वायु से मिलता है। और इसके बाद इस प्राण शक्ति के प्रभाव से योगी को अपूर्व ज्ञान शक्ति प्राप्त हो जाती है।

इस साधना के लिए प्राणायाम की जो विधि है, उसका वर्णन ग्रन्थकार ने न करके संकेत मात्र किया है। ऐसा संभवत: प्राण विद्या की गोपनीयता के कारण किया गया है। प्राणायाम साधना प्रारम्भ करने पर प्रथम स्तर पर साधक जब सफलता के निकट पहुंचता है, तब उसके शरीर में स्वेद का प्रवाह प्रारम्भ होता है, उस समय साधक को चाहिए कि वह उस पसीने को पोछे बिना ही उससे शरीर का मर्दन कराये। ऐसा करने से साधना में स्वेद रूप उपद्रव शांत हो जाता है और साधक साधना के द्वितीय स्तर में पहुंच जाता है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार के अनुसार प्राणायाम के साधक को प्रारम्भ में कड़ुवा खट्टा और नमकीन पदार्थों का भोजन पूरी तरह छोड़ देना चाहिए तथा केवल दूध ही आहार में लेना चाहिए। वह भी अल्प मात्रा में। योग साधक के लिए उपर्युक्त प्रकार के भोजन नियम के साथ ही पूर्ण ब्रह्मचर्य का भी पालन करना चाहिए। ऐसा करने से उसे एक वर्ष के अन्दर ही योग साधना में सिद्धि मिल जाती है। इसी प्रसंग में ग्रंथ में मिताहार शब्द का प्रयोग हुआ है। योग चूड़ामणि के अनुसार मिताहार का अर्थ है 'सुस्निग्ध और मधुर आहार लेना, वह भी इतनी ही मात्रा में कि उदर का चौथाई भाग खाली बना रहे।'[1] इस साधना से साधक कुंडलिनी शक्ति को जागृत करके मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इस साधना के क्रम में साधक को महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्ड्याणबन्ध जालन्धरबन्ध और मूलबन्धों का निरन्तर अभ्यास करना होता है। इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने तीन बन्धों एवं अनेक मुद्राओं का संक्षिप्त विवरण भी प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार इनका विवरण निम्नलिखित है।

मूल बन्ध

मूलबंध में एड़ी के दबाव के साथ योनि का आकुंचन किया जाता है और उसके द्वारा अपान को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जाता है। यह मूलबन्ध न केवल

---

१. सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांश विवर्जित:।
भुंजते शिवसंप्रीत्या मिताहारी स उच्यते ॥ यो० चू० ४३

आध्यात्मिक साधना में ही उपयोगी है, बल्कि इसकी साधना से मल मूत्र और स्वेद अत्यन्त अल्प हो जाते हैं, और प्राण तथा अपान का मिलन हो जाता है तथा उसके अनन्तर जराजीर्ण मनुष्य भी पुनः तरुण हो जाता है।

उड्डीयान बन्ध

उड्डीयान बन्ध को योग चूड़ामणि में ओड्डीयान बन्ध नाम से स्मरण किया गया है। यह बन्ध उदर प्रदेश में किया जाता है। इसमें नाभि से नीचे उदर के भाग को पीछे की ओर तानते हैं। प्रारम्भिक अभ्यास के लिए प्रश्वास को बाहर निकाल कर खाली पेट को पीछे की ओर तानते हैं। इस स्थिति को तड़ागी मुद्रा कहा गया है। कुछ अभ्यास के बाद पूरक के अनन्तर कुम्भक के समय पूर्वोक्त प्रकार से पेट को पीछे की ओर तानते है। यह क्रिया उड्डीयान-बन्ध कही जाती है। साधना क्रम में इसे प्राणायाम का अंग मानना चाहिए। इस बन्ध का नाम उड्डीयान बन्ध इस कारण पड़ा है कि इसकी साधना से प्राण अपान से मिलकर सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट होकर ऊपर को उठता है। इस उड्डयन (उड़ने) के कारण इस बन्ध को उड्डीयान नाम से स्मरण करते हैं। उड्डीयान बन्ध के अभ्यास से साधक मृत्यु को भी जीत लेता है।

जालन्धर बन्ध :—

जालन्धर बन्ध में कण्ठ का संकोचन किया जाता है। इस बन्ध के लगाने से प्रथम तो प्राणायाम के समय प्राण वायु स्वतः बाहर नहीं निकल पाता है। साथ ही नभः स्थान कण्ठ से निरन्तर नीचे को स्रवित होने वाला तरल पदार्थ, जिसे पीयूष अमृत अथवा नभोजल नाम से स्मरण किया जाता है, टपक कर जठराग्नि में पहुंच कर जल कर व्यर्थ ही नष्ट नहीं होता। इस बन्ध के अभ्यास से शरीर के अनेक प्रकार के कष्ट और दुःख नष्ट हो जाते हैं।

खेचरी या नभोमुद्रा :—

खेचरी मुद्रा बहुत प्रसिद्ध मुद्रा है। इसे ही नभो मुद्रा भी कहते हैं। इस मुद्रा में जिह्वा को पलट कर तालु मूल से कपाल कुहर में प्रविष्ट कराया जाता है, साथ ही दृष्टि को भ्रू मध्य में स्थिर किया जाता है। इस मुद्रा में जिह्वा के साथ ही चित्त को भी अन्दर कपाल कुहर में प्रविष्ट कर भ्रू मध्य पर स्थित करते हैं। साधक परम्परा में इस मुद्रा का बहुत अधिक महत्त्व स्वीकार किया जाता

Scanned by CamScanner

है। योग चूड़ामणिकार की यह भी मान्यता है कि इसके अभ्यास से सभी प्रकार के रोग, निद्रा, भूख-प्यास पर ही विजय नहीं प्राप्त होती, बल्कि योगी मृत्यु को भी जीत लेता है। खेचरी मुद्रा द्वारा मृत्यु पर विजय की प्रक्रिया को सम्पन्न करते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि इस मुद्रा में जिह्वा द्वारा ऊपर का विवर बन्द कर देने पर वीर्य वाहिनी नाड़ी से सम्बन्धित शिराएं जो शरीर भर में फैली हैं, क्रियाशील हो जाती हैं। इसके परिणाम स्वरूप कामिनी द्वारा पूर्णतया आलिङ्गित होने पर भी वीर्य (बिन्दु) का पतन नहीं होता और वह बिन्दु योगाग्नि में जलकर ऊर्ध्वगामी हो जाता है, इस स्थिति में उस वीर्य को ओज कहते हैं। ओज बन जाने के बाद वीर्य शक्ति रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, और फिर कभी उसका विनाश नहीं होता है। इस प्रकार नभोमुद्रा के अभ्यास से जब तक बिन्दु का नाश नहीं होता तब तक मृत्यु भी नहीं हो सकती, फलतः इस स्थिति में पहुंचे हुए योगी की मृत्यु की सम्भावना नहीं रह जाती। वह अमर हो जाता है।

योनि मुद्रा :—

ऊर्ध्वरेता होने के प्रसंग में ग्रन्थकार ने योनिमुद्रा की भी चर्चा की है। यद्यपि उसने योनि मुद्रा का स्पष्ट विवरण नहीं किया है।

ग्रन्थकार के अनुसार प्रत्येक शरीर में बिन्दु (वीर्य) दो प्रकार का होता है (१) पाण्डर और (२) लोहित। पाण्डर बिन्दु को ही शुक्ल (शुक्र) भी कहते है। लोहित बिन्दु को महारज कहते हैं। इसका वर्ण सिन्दूर के पिण्ड के समान होता हैं। इन दोनों प्रकार के बिन्दुओं के केन्द्र भी अलग-अलग हैं। शुक्ल बिन्दु चन्द्र स्थान अर्थात् इड़ा नाड़ी के मूल में एवं लोहित बिन्दु सूर्य स्थान अर्थात् पिङ्गला नाड़ी में स्थित रहता है। योग परम्परा में शुक्ल बिन्दु को ब्रह्मा शिव चन्द्र और बिन्दु नाम से तथा लोहित बिन्दु को शक्ति सूर्य रज और महारज नामों से भी जाना जाता है। प्राणायाम साधना द्वारा इन बिन्दु और रज का मिलन सम्पन्न होता है। इस बिन्दु और रजस् के मिलन को ही शिव और शक्ति का सूर्य और चन्द्र का मिलन कहते हैं। इस मिलन के अनन्तर योगी सिद्ध हो जाता है, उसे परम पद की प्राप्ति हो जाती है। योगी का शरीर भी दिव्य हो जाता है। इस योनि मुद्रा की सिद्धि के लिए महामुद्रा एवं प्राणायाम की साधना करनी पड़ती है।

Scanned by CamScanner

महामुद्रा :—

इस मुद्रा को करने के लिए बायें पैर को मोड़कर उसको इस प्रकार से रखे कि उसकी एड़ी से योनि स्थान पूरी तरह दबाव युक्त हो जाए। दाहिने पैर को इस प्रकार सामने की ओर फैलाए कि जांघ का भाग बायें पैर के तलवे को छूता रहे। अब बायीं नासिका से श्वास को अधिक से अधिक मात्रा में अन्दर लेकर हनु (ठुड्ढी) को वक्ष स्थल पर लगाते हुए जालन्धर बन्ध लगाये एवं दोनों हाथों से सामने फैलाये हुए पैर के पंजे को पकड़े, एवं शिर को घुटने से लगाये। जितनी देर तक श्वास रोक सके उतनी देर इस स्थिति में रहे। पुनः सीधा होकर दाहिनी नासिका से श्वास रेचन करे। इसी प्रकार दाहिने पैर की एड़ी से योनि स्थान को दबाते हुए बायें पैर को सामने फैलाकर दाहिनी नासिका से श्वास लेकर (पूरक करके) पूर्ववत् दोनों हाथों से बायें पैर के पंजे को पकड़े और शिर को घुटने से लगाए। और जब श्वास निकालनी हो सीधे होकर श्वास को बायीं नासिका से निकाले अर्थात् रेचक करे। इस क्रिया को महामुद्रा कहते हैं। इसे जितनी बार बायें अंग से करे उतनी ही बार दाहिने अंग से भी करे।

इस महामुद्रा के अभ्यास से सभी नाड़ियां शुद्ध हो जाती हैं, और सभी रस सूख जाते हैं जिसके फलस्वरूप सभी रोगों की भी निवृत्ति हो जाती है। इसके निरन्तर अभ्यास से पाचक शक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि साधक योगी पथ्य-अपथ्य, सरस-नीरस जो कुछ भी खालेता है तथा सीमा से अधिक भी खा लेता है, विष भी खा लेता है, वह सब कुछ पचकर अमृततुल्य हितकर हो जाता है। क्षय, कुष्ठ, भगन्दर, बवासीर गुल्म, अजीर्ण आदि अनेक रोग पूर्णतः निर्मूल हो जाते हैं। इतना ही नहीं महामुद्रा के अभ्यास से अनेक प्रकार की महासिद्धियां भी साधक को प्राप्त हो जाती हैं। महामुद्रा के अभ्यास के अनन्तर योगी अन्य आगे की साधनाओं के भी योग्य बनता है। जप और ध्यान की क्रियाएं भी महामुद्रा में सिद्धि मिलने के बाद ही व्यवस्थित रूप से की जा सकती है।

प्रणवजप

योगचूड़ामणिकार ने नाड़ी शुद्धि के अनन्तर साधक को प्रणवजप करने का निर्देश किया है। प्रणवजप करने के लिए एकान्त में पद्मासन लगाकर इस प्रकार सीधा बैठे कि शरीर सिर और ग्रीवा एक सीध में रहें, और अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करे। इस स्थिति में आकर ओङ्कार मन्त्र का ज़प करे और उस मन्त्र के अर्थ की भावना इस प्रकार करे कि इस मन्त्र

Scanned by CamScanner

२. मुद्रा — हठयोग का द्वितीय प्रमुख अंग विचित्र मुद्राएँ हैं। हठयोग प्रदीपिका में इनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा है कि आसन, प्राणायाम तथा मुद्राओं के प्रयोग से नाड़ियों की शुद्धि होती है, कुण्डलिनी प्रबुद्ध होती है तथा अष्टविध ऐश्वर्य और सिद्धियों की प्राप्ति होती है।[१] गोरक्षपद्धति में मुद्राओं द्वारा मध्य नाड़ी (सुषुम्ना) की सरलता का वर्णन है।[२] घेरण्ड संहिता में इन की महिमा का अधिक विस्तार है। सम्पूर्ण व्याधियों का विनाश तथा जरा-मृत्यु आदि भय-समाप्ति मुद्रा-अभ्यास द्वारा सरलता से निष्पन्न होती है। इसी कारण घेरण्ड संहिता का यह विश्वास है कि 'मुद्राके समान सिद्धिदाता पृथ्वीमण्डल पर अन्य कोई नहीं है।'[३]

मुद्राओं की संख्या अनेक है। घेरण्ड संहिता में २५ मुद्राओं का नामोल्लेख तथा स्वरूप-वर्णन किया गया है,[४] योगतत्त्वोपनिषद् में दस महामुद्राओं का वर्णन है।[५] हठयोग प्रदीपिका में भी मुख्य मुद्राएँ दस ही मानी गई हैं[६] — १. महामुद्रा, २. महाबन्ध, ३. महावेध, ४. खेचरी, ५. उड्डीयान, ६. मूलबन्ध, ७. जालन्धर बन्ध, ८. विपरीत करणी, ९. वज्रोली तथा १०. शक्ति चालन। कबीर ने यद्यपि इन मुद्राओं का विशेष वर्णन कहीं नहीं किया है, तथापि कुछ मुद्राओं का उल्लेख अवश्य किया है। कुण्डलिनी-योग के रूप में शक्तिचालन मुद्रा का तो उनमें विशेष विस्तार उपलब्ध होता ही है। अतः उपर्युक्त मुद्राओं के शास्त्रीय स्वरूप की संक्षिप्त मीमांसा अनुपयोगी न होगी।

(१) महामुद्रा — इस मुद्रा का वर्णन शिवसंहिता (४।२६-३४), हठयोग प्रदीपिका (३।१०-१४), घेरण्डसंहिता (३।६-८), गोरक्षपद्धति(१।५८-६२), योगचूडामण्युपनिषद् (६५-७०), ध्यानबिन्दूपनिषद् (९१-९३) आदि ग्रन्थों में

---

१. हठयोगप्रदीपिका १।५६ तथा ३।५-८. २. गोरक्षपद्धति १।१२.

३. 'नास्ति मुद्रासमं किंचित् सिद्धिदं क्षितिमण्डलम्।' - घेरण्डसंहिता ३।९५.

४. घेरण्डसंहिता ३।१-३.

५. योगतत्त्वोपनिषद् २६-२७. ६. हठयोग प्रदीपिका ३।६-७.

उपलब्ध होता है । शिवसंहिता के अनुसार इस मुद्रा में 'योगी को वामपाद की एड़ी से गुदा और मेंढ्र के मध्य में स्थित योनि को पीड़ित करना चाहिए । दाएं पैर को दोनों हाथों से दबाना चाहिए । नवों द्वारों को रोक कर ठोढ़ी को हृदय पर स्थित कर चित्तवृत्ति की स्थिरतापूर्वक वायु का निरोध करना चाहिए ।'[1] यह मुद्रा क्षयकास, गुदावर्त, प्लीहा, जीर्णज्वर आदि सम्पूर्ण व्याधियों का नाश करने वाली, मल-जाल की शोधिका तथा 'चन्द्र-सूर्य' का मेल कराने वाली होती है ।[2]

(२) महाबन्ध मुद्रा — शिवसंहिता के अनुसार 'योगी जब पैरों को फैलाकर दक्षिण चरण को वाम उरु पर स्थित करता है और गुदा का आकुंचन कर, अपान को ऊर्ध्व-मुखी कर उदान से संयोजित करता हुआ प्राणवायु को अधोमुखी करता है - उस स्थिति को महाबन्ध मुद्रा कहते हैं ।'[3] यह मुद्रा मृत्यु पाश को काटने वाली, इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना तीनों के संगम प्रयाग को करने वाली तथा मन को भृकुटियों के मध्य शिवजी के स्थान-केदार तक ले जाने वाली है ।[4]

(३) महाबेध मुद्रा -- इस मुद्रा के महत्त्व के विषय में हठयोग प्रदीपिका में कहा है कि प्रथम दो मुद्राएँ भी इस महाबेध मुद्रा के बिना व्यर्थ हैं ।[5] इस ग्रन्थ में इस मुद्रा का स्वरूप तथा फल निम्न बताया गया है - 'महाबन्ध मुद्रा में स्थित योगी को एकाग्र बुद्धि से पूरक प्राणायाम करना चाहिए । तदनन्तर उसे चाहिए कि वह कण्ठ-मुद्रा (जालन्धर) से प्राणादि वायुओं की ऊर्ध्व अधोगति को निश्चल रीति से रोके अर्थात् कुम्भक प्राणायाम करे । फिर दोनों हाथों की हथेलियों को भूमि पर टेक कर उनके सहारे अपने शरीर को ऊपर उठाता हुआ दोनों जघनों को धीरे धीरे पृथ्वी से ताड़ित करे । इस प्रकार करने से इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियों का उल्लंघन कर प्राणवायु मध्य नाड़ी (सुषुम्ना) में गति करने लगता है

---

१. शिवसंहिता ४।२७-३०.
२. घेरण्डसंहिता ३।८ .
३. शिवसंहिता ४।३७-४२.
४. हठयोगप्रदीपिका ३।२३-२४.
५. 'रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं बिना ।
महामुद्रा महाबन्धौ निष्फलौ बंधवर्जितौ ।।' - हठयोगप्रदीपिका ३।२५.

एवं चन्द्रात्मक इड़ा, सूर्यात्मक पिंगला तथा अग्न्यात्मक सुषुम्ना तीनों नाड़ियों का सम्बन्ध मोक्ष का हेतु बन जाता है और योगी की मृतावस्था स्थापित हो जाती है। तदनन्तर वायु का धीरे-धीरे विरेचन कर देना चाहिए। इस मुद्रा द्वारा अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ, वली, पलित तथा कम्प आदि नष्ट हो जाते हैं।`[1]

(४) खेचरी मुद्रा — सन्त कवियों ने मुद्राओं में सब से अधिक चर्चा खेचरी मुद्रा की है। इस मुद्रा को हठयोग-प्रदीपिका में व्योमचक्र[2] तथा गोरक्षपद्धति में नभोमुद्रा[3] भी कहा गया है। इस मुद्रा को खेचरी कहने का भी एक विशेष कारण है — `क्योंकि इस मुद्रा में चित्त भ्रुकुटियों के मध्यरूप आकाश में विचरण करता है तथा जिह्वा भी उसी आकाश में घूमती है ( खे चरति ) — इस कारण सिद्धों की निरूपण की गई इस मुद्रा को खेचरी कहा जाता है।`[4] योगोपनिषदों में खेचरी विधा या खेचरी योग के रूप में इस के अत्यन्त विस्तृत वर्णन हैं।[5] अन्य हठयौगिक ग्रन्थों - हठयोग-प्रदीपिका (३।३२-५४), घेरण्डसंहिता (३।२६-२७) तथा गोरक्षपद्धति (१।६३-७६) आदि में भी इसका वर्णन उपलब्ध होता है। प्राय: सभी के वर्णन में समानता है। इस मुद्रा में साधक वज्रासन या पद्मासन से बैठकर दोनों भ्रुवों के मध्य में अपनी दृष्टि को स्थिर करता है तथा जिह्वा को उलट कर, उसे सुधाकूप तालुविवर से संयोजित कर अमृत का पान करता है। हठयोग प्रदीपिका में इस क्रिया को ही `गोमांसभक्षण` तथा `अमरवारुणी का सेवन`[6] नाम दिया गया है एवं सब मुद्राओं में इसे ही मुख्य माना है।

(५) उड्डीयान-बन्ध मुद्रा — वक्ष्यमाण अगली तीनों मुद्राएँ — उड्डीयान,

---

१. हठयोग-प्रदीपिका ३।२६-२६। २. हठयोग-प्रदीपिका, ३।३७.

३. गोरक्षपद्धति १।६६. ४. हठयोग-प्रदीपिका ३।४१.

५. `योग कुण्डल्युपनिषद्, द्वितीय अध्याय ; ध्यानबिन्दूपनिषद् ७६-८५ ; योगचूडामण्युपनिषद् ५२-५८ ; योगतत्त्वोपनिषद् ११७-११८।

६. हठयोगप्रदीपिका ३।४८-४६, ५४.

मूल और जालन्धरबन्ध — सम्मिलित रूप में 'बन्धत्रय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त सभी हठयौगिक ग्रन्थों में इन मुद्राओं का वर्णन भी उपलब्ध हो जाता है। हठयोग प्रदीपिका में 'उड्डीयान' का तात्पर्य समझाते हुए कहा गया है — 'जिस मुद्रा द्वारा बंधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उड़ने लगे अर्थात् प्रविष्ट हो जाए, योगी उसे उड्डीयान मुद्रा कहते हैं'[1] अथवा 'क्योंकि प्राण रूपी महाखग इस मुद्रा द्वारा सुषुम्ना में पक्षी के समान गति (उड्डीन) करने लगता है - अत: इसका नाम उड्डीयानबन्ध है।'[2] इसके स्वरूप के विषय में कहा है कि 'जब साधक उदर को पीछे से आकर्षित कर नाभि के ऊपरी भाग में आकुंचित करता है तब वह उड्डीयान बन्ध कहा जाता है। यह मुद्रा मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान है।'[3]

(६) <u>मूलबन्ध मुद्रा</u> — वराहोपनिषद् (५।४५) में इस मुद्रा को 'सम्पुट योग' तथा योगशिखोपनिषद् (श्लोक १२१) में 'योनिबन्ध' नाम देकर इसकी बड़ी प्रशंसा की गई है। हठयोग प्रदीपिका में इसका निम्न स्वरूप बताया गया है — 'इस मुद्रा में योगी को दोनों एड़ियों से योनि-स्थान को पीड़ित करना तथा अपान वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करना चाहिए। जिस बन्ध द्वारा अधोगति अपानवायु बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी अर्थात् सुषुम्नामार्गी की जाती है उस मुद्रा को अपानवायु द्वारा मूलाधार का आकुंचन करने से मूलबन्ध मुद्रा कहते हैं।'[4]

(७) जालन्धरबन्ध मुद्रा — इस मुद्रा के नाम के विषय में हठयोगप्रदीपिका का कथन है — 'क्योंकि इस बन्ध में योगी शिरा (नाड़ी) जाल को बान्ध देता है - इस कारण यह जालन्धर है अथवा जाल का अर्थ जल समुदाय है। यह बन्ध कपाल के छिद्ररूप नभ के जल का नीचे गिरने से प्रतिबन्ध कर देता है - इसलिए इसे जालन्धरबन्ध कहते हैं।'[5] इस मुद्रा में साधक शिरा जाल को बांधकर अर्थात् कण्ठ को संकुचित कर तथा चिबुक को हृदय पर स्थिर कर चन्द्रमण्डल से द्रवित होने वाले

---

१. हठयोग प्रदीपिका ३।५५.
२. वही ३।५६.
३. वही ३।५७.
४. हठयोग प्रदीपिका ३।६१-६२.
५. वही ३।७१.

अमृत का पान करता है ।

(८) विपरीतकरणी मुद्रा — इस मुद्रा का वर्णन प्राय: शीर्षासन के रूप में किया जाता है, जिससे अधोभागस्थ सूर्य और उपरिभागस्थ चन्द्रमा विपरीत स्थिति में आ सकें । हठयोग प्रदीपिका में कहा है -- ' दिव्य रूप चन्द्रमा से जो कुछ अमृत का स्रवण होता है, उसे अधोवर्ती सूर्य ग्रस लेता है । इसी कारण शरीर बूढ़ा हो जाता है । अत: सूर्य के मुख की वंचना करने वाली, गुरु मुख से ज्ञेय इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए । नाभि को ऊपर तथा तालु को नीचे अर्थात् सूर्य को ऊर्ध्व मुखी और चन्द्रमा को अधोमुखी करने वाली मुद्रा विपरीतकरणी मुद्रा कही जाती है ।'[१]

(९) वज्रोली मुद्रा — यह मुद्रा सम्भवत: सब मुद्राओं में सबसे अधिक कठिन है । शिवसंहिता में इसे 'शांकर योग' नाम दिया गया है ।[२] घेरण्ड संहिता (३।३२-३७) में वर्णित 'योनि मुद्रा' इससे भिन्न है । इसी मुद्रा के दो भेद -सहजोली और अमरोली मुद्राएँ भी हैं । ये तीनों ही मुद्राएँ स्पष्टरूप से कापालिक तांत्रिक प्रभाव को सूचित करती हैं, जैसा कि स्वयं हठयोग प्रदीपिकाकार ने इन मुद्राओं के वर्णन में स्वीकार किया है ।

(१०) शक्तिचालन मुद्रा —कुण्डलिनी-उत्थापन — हठयोग की अन्तिम तथा सबसे प्रधान मुद्रा शक्तिचालन मुद्रा है । हठयोग प्रदीपिका में कुण्डलिनी के सप्त पर्यायवाची नामों में से एक 'शक्ति' भी है ।[३] इस शक्ति अथवा कुण्डलिनी का अपने स्थान से जिस मुद्रा द्वारा चालन होता है - वह शक्तिचालन मुद्रा है । हठयोग की यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक प्रक्रिया है 'जिस प्रकार कुंचिका (ताली) से किवाड़ों को हठात् खोल लिया जाता है, उसी प्रकार कुण्डलिनी द्वारा योगी मोक्ष द्वार का भेदन कर डालता है ।'[४] इस के लिए वहीं कहा गया

---

१. हठयोग प्रदीपिका ३।७९.
२. शिव संहिता ४।९२.
३. हठयोग प्रदीपिका ३।१०४.
४. वही ३।१०५-

है कि 'सोती हुई इस भुजगी (कुण्डलिनी) को पूंछ पकड़ कर जगाना चाहिए। तब वह शक्ति निद्रा को त्याग कर हठपूर्वक ऊपर स्थित हो जाती है। अत: साधक को वज्रासन में स्थित होकर कुंडली को संचालित करने के लिए भस्त्रा नामक कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए। नित्यश: दो मुहूर्त भी चलायमान करने से सुषुम्ना में प्राप्त हुई वह शक्ति किंचित ऊपर को खिंच जाती है।'[1] इस मुद्रा द्वारा ७२ हजार नाड़ियों की मल-शुद्धि हो कर समस्त व्याधियों का विनाश हो जाता है एवं नादानुसन्धान रूप लक्ष्य की प्राप्ति में परम सहायता प्राप्त होती है।

षट्चक्र — कुण्डलिनी का मार्ग षट्चक्रों के भीतर से होकर ही गया है, अत: कुण्डलिनी-उत्थापन द्वारा षट्चक्र-भेदन भी हठयोग की एक आवश्यक प्रक्रिया है। शिवसंहिता (पंचम पटल), गोरक्षपद्धति (प्रथम शतक), योगोपनिषदों (ध्यान-बिन्दूपनिषद्) आदि में चक्रों का वर्णन भी उपलब्ध होता है। प्रमुख षट्चक्र निम्न हैं — मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र। सप्तम चक्र सहस्रार है। इन चक्रों का स्वरूप बहुत कुछ तांत्रिक पद्धति पर आधारित है, जिसका विस्तृत वर्णन पीछे किया जा चुका है। अत: पिष्टपेषण के भय से यहाँ हमारे लिए वह त्याज्य है।

उपर्युक्त हठयौगिक मुद्राओं के अतिरिक्त कुछ ध्यान सम्बन्धी मुद्राओं का भी वर्णन कियागया है। ऐसी मुद्राएँ ६ हैं - अगोचरी, भूचरी, चाचरी, खेचरी, शाम्भवी तथा उन्मनी। इन मुद्राओं का लययोग से सम्बन्ध होने के कारण उसी प्रकरण में इन पर विचार करना ठीक होगा। अब हठयोग के तृतीय प्रमुख अंग - प्राणायाम पर विचार करना चाहिए।

३. प्राणायाम — स्वदेह स्थित जीवन की अवस्था का नाम प्राण है, उसके आयाम अर्थात् निरोध को प्राणायाम कहते हैं।[2] इस प्राणायाम का हठयोग में विशेष महत्त्व है। इस कारण हठयौगिक ग्रन्थों में जितनी महिमा इस एक अंग की

---

१. हठयोग प्रदीपिका ३।१११,११५,११७.

२. 'त्रि:पठेदायतप्राण: प्राणायाम: स उच्यते।' - अमृतनादोपनिषद् १०.

अमन्दावर्त वेगेन तुन्दं सव्याजसव्यतः।

नतांसो भ्रामयेत् तेषां लौलि गौढैः प्रशस्यते॥

मन्दाग्नि सन्दीपन पाचनादि संदायि सानन्दकरी सदैव।

p. 55)

अशेषदोषामय शोषणी च हठक्रियामौलिरियं हिलौलि॥

भस्त्रीव लोहकारस्य रेचपूरौ च संभ्रमौ।

कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥

षट्कर्मभिर्गतस्थौलय कफदोषमलादिकः।

प्राणायामं ततः कुर्यात् अनायासेन सिध्यति॥

हठयोगे प्रतिपादित सूर्यभेदिताकुम्भकानां स्वरूपं पूर्वमेव

प्राणायाम प्रकरणे प्रतिपादितम्। महामुद्रामहाबन्धो महावेगश्च

खेचरी।

ओड्याण पीठबन्धश्च ततो जालंधराभिधा॥

करणी विपरीतादि वज्रोली शक्ति चापलम्।
अन्ते सा खेचरी मुद्रा दशमुद्राः प्रकीर्तिताः॥

आदि नाथोदितामुद्राः अष्टैश्वर्यप्रदायकाः।
दुर्लभा सर्वसिद्धानां दुर्लभा त्रिदशैरपि॥

एकैका तासु मुख्या स्यात् महासिद्धिप्रदायिनी।
महामुद्रांप्रवच्छ्यामि वसिष्ठेनोक्तमादरात्॥

पादमूलेन वामेन योनिं संपीडयदक्षिणम्।

पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेन्मुखे।
कण्ठे बंधं समारोप्यपूरयेद्वायुमूर्ध्वतः॥

यथादण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।
ऋज्वीभूता तदाशक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तथाष्टौ मणि रणावस्था जायन्ते द्विपुटा स्थिताः॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषंघोरं पीयूषमिवजीर्यते॥

क्षयकुष्ठगुदावर्त गुल्मप्लीह पुरोगमाः।
तस्य दोषां शमं (क्षयं) यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥

कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित्॥

पार्ष्णीं पादस्य वामस्य योनि स्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरिसंस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥

पूरयेन्मुखतो वायुं हृदये चिबुकं दृढम्।
निभृत्य योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत्॥

रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते।
अमुंयोनि महाबन्धं सर्वसिद्धि प्रदायकम्॥

सव्याङ्गे च समभ्यस्य दक्षिणे च समभ्यसेत्।
अयं च सर्वनाडीनामूर्ध्वंगति विबोधकः॥

त्रिवेणी संगमद्वारा केदारं प्रापयेन्मनः।

रूपलावण्यसम्पन्ना यथास्त्री पुरुषं विना ॥

p. 56)

महामुद्रो महाबन्धो महावेधं विना तथा ।
महावेधं प्रवक्ष्यामि यथा तौ सिध्यतस्ततः ॥

महाबन्धस्थितो योगी धृत्वापूरकमेवधीः ।
वायुनागतिमाहृत्य निभृतं कण्ठ मुद्रया ॥

समहस्त युगो भूमौ स्फिजासन्ताऽयेच्छनैः ।
घटि द्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरः ॥

सोमसूर्याग्नि संबन्धो जायते चामृतं च वै ॥

मृतावस्था समुत्पत्तौ ततो वायुं विरेचयेत् ।
महद्वेधोऽयमभ्यस्तो महासिद्धि प्रदायकः ॥

वलीपलितवेगघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ।
महामुद्रा त्रयं गुह्यं जरामृत्यु निवारणम् ॥

वह्नि वृद्धिकरं चैव ह्यणिमादि गुणप्रदम् ।

अष्टधादीर्यचैतद्यां यामं यामं दिने दिने ॥

पुण्य चञ्चार सन्दायी पापौघ बिदुरं सदा ॥

साम्यक्छिक्षावतामेव प्रथमं स्वल्पसाधने ।

वह्निस्त्रीपथसेवानामादौवर्जनमाचरेत् ॥

च्छेदन दोहन चालैः कण्ठकाल क्रमेण वर्धयेत् तावत् ।

भ्रूमध्यं स्पृशति तदा नित्याभ्यासेन खेचरी सिद्धिः ॥

कपाल कुहरे सिद्धिजिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।

भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥

कलां पराङ्मुखी कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।

सा भवेत्खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणं वा यदि तिष्ठति ।

क्षणेन मुच्यते योगी व्याधि मृत्यु जरादिभिः ॥

न रोग मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।

बध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा ॥

बाध्यते न स केनापि यस्य मुद्रास्ति खेचरी ।
चित्तं चरति वै यस्मात् जिह्वा चरति खे गता ॥

तेनैवा खेचरी नाम मुनिसिद्धैर्नमस्कृता ।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरंलम्बकोर्ध्वतः ॥

तस्य नक्षरते बिन्दुः कामिन्या श्लेषितस्य च ।
चलितोऽपि यथाबिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डलम् ॥

वज्रत्यूर्ध्वं यथाशक्ति निबद्धो योनिमुद्रया ॥
ऊर्ध्वजिह्वा स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥

p. 57)

नित्यं सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।
गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥

कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ।
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुके ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातक नाशनम् ।

जिह्वा प्रवेशसंभूता वह्निनोत्तापिताखलु ॥

चन्द्राति स्त्रवति यः सारस्सस्वेदोमरवारुणी ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तुड्ढीयते यतः ॥

तस्या दुड्याणनामायं योगिभिः समुदाहृतः ।
उड्याणं कुरुते यस्मात् अविश्रान्तो महाखगः ॥

उड्याणं च तदेव स्यात् तत्र बन्धो निगद्यते ।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥

उड्डियाणमिदं बन्धो मृत्युमातङ्ग केसरी ।
उड्डियान्तु सहजा गुरुणा कथितं सदा ॥

अभ्यसेदुड्डियाणं तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि ताणं कुर्यात् प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्नित्यं जयत्येव न संशयः ॥

सति पद्मासने पद्मौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।
गुल्फ देशे समीपेऽथ गुदं तत्र प्रपीडयेत् ॥

पश्चिमे ताणमुदरे काययेद् हृदये गले ।
शनैश्शनैस्तदा प्राणस्तुन्दस्संधिन्न गच्छति ॥

सर्वेषामेव बन्धानां उमेसा उड्डियाण नामकः ।
उड्डीयाणकृते बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ।

अपानमूर्ध्वमाकृष्यमूलबन्धोऽयमुच्यते ।
अधो गतिरपानं वैह्यूर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥

आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं च योगिनः ।
गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद् बलात् ॥

वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ।
प्राणापानौ नादबिन्दूमूलबंधो न चैकतः ॥

गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्रसंशयः ।
आपन प्राणयोरैक्यात् क्षयान्मूत्र पुरीषयोः ॥

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात्।
अपाने चोर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डले ॥

p. 58)

तदानल शिखाशीघ्रं वर्धते वायुना सह ॥

ततो यावद्वह्नपानौ प्राणमूर्ध्वस्वरूपकम् ॥

तेनात्यन्तं प्रदीप्तस्य ज्वलनो देहिनस्तथा।
तेन कुण्डलिनीसुप्ता सन्तप्ता संप्रबुध्यते।
दण्डाहत भुजंगीष निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥

बिलप्रविष्टेव ततो ब्रह्म नाडयन्तरं व्रजेत् ॥
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥

पाताले यद्वियति सुषिरं मेरुमूले तदस्मिन्
तत्त्वैतत् प्रवदति सुधीः संमुखं निम्नगानाम्।
चन्द्राधारा स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
संबध्नीयात् सुकरणमृदा नान्यथा काय सिद्धिः ॥

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढमिच्छया ।

बन्धो जालंधराख्योऽयममृताप्याय कारकः ॥

बध्नाति हि सिरो जालमधोगामी नभोजलम् ।

ततो जालंधरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।

न पीयूषः पतत्यग्नौ न च वायुः प्रवाति हि ॥

कण्ठसंकोचने नैव द्विनाड्यो स्तम्भयेद् दृढम् ।

अयं बन्धो मया प्रोक्तः षोडशाधार बन्धनम् ॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्ध निषेवितम् ।

सर्वेषां हठ तन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥

अधस्यात् कुञ्चने नाशुकण्ठसंकोचने कृते ।

मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥

मूल स्थानं समाकुञ्च्य चोड्डियाणं तु कारयेत् ।

इडां च पिङ्गलां बध्वा वाहयेत् पश्चिमं पदम् ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरा रोगादिकं तथा ॥

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधश्शशी ।
करिणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥

करिणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्नि विवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य तु ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं दहेत् क्रमात् ।
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने ॥

p. 59)

वलिश्चपलितश्चैव षण्मासार्ध्वेन दृश्यते ॥

याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ।
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥

वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धि भाजनम् ।

पुच्छं प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेत् सुधीः ॥

निद्रां विहाय सा ॠज्वी ऊर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ।
वितस्ति प्रमितं दीर्घं विस्तारं चतुरंगुलम् ॥

मृदुलं धवलं दिव्यं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ।
भानोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत् ततः ॥

मृत्यु वक्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ।

नासादक्षिणमार्गवाहि पवनात् प्राणोऽतिदीर्घाकृतिः
चन्द्राम्भः परिपूरिता मृत तनुः प्राद्घण्टिकायां सदा ।
विद्यात्कान्ति विशालवह्नि वशगान् भ्रूरंध्रनाडीगणान्
तंकायं कुरुते सुवर्णरुचिरं पूर्णद्रुमस्कन्धवत् ॥

कुण्डलीं चालयित्वाथ कुर्याद् भस्त्रां विशेषतः ।
एवमभ्यासतो नित्यं यमिनः शक्यते यमः ॥

तदाभ्यसेत् सूर्यभेदमुज्जीयां शीतलीं तथा ।
एवमभ्यास युक्तस्य दिव्यकायं भवेद्ध्रुवम् ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकुंचते किंचित् सुषुम्नां कुण्डलीं गताम् ॥

तेन कुण्डलिनी शक्तिः सुषुम्नायाः समुद्धृताः ।
जठाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्ना व्रजति स्वतः ॥

तस्मात् संचालयेन्नित्यं शंभुगर्भामरुंधतीम् ।
यस्याः सञ्चालनेनाशु योगीरोगैः प्रमुच्यते ॥

येन संचालिताशक्तिः स योगी सिद्धचालनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।
वज्रोल्यादि त्रयं पूर्वं निन्दन्तं तत्ववादिभिः ॥

कापालिकमतत्वेन योगसारेण लेखितम् ।
इति मुद्रा दशप्रोक्ता चादिनाथेन शम्भुना ।
करणे सर्वसिद्धिः स्यान्नचैकापि क्षयो भवेत् ॥ इति ।

॥ इति योगसारसंग्रहे हठयोग स्वरूपनिरूपणं नाम दशमोध्यायः ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विनानिशि ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते ॥

p. 60)

न भेदः शिवयोगस्य राजयोगस्य तत्वतः ।
बहिर्मुद्रांकितं पूर्वं बहिर्योगं च तन्मतम् ॥

अन्तर्मुखाख्यमपरमन्तर्योगः स एव हि ।
राजयोगः स कथितस्स एव मुनिपुङ्गव ॥ इति ॥

नन्दिकेश्वरतारावलयाम्- बहिर्मुद्रापरिज्ञानाद्योगस्तारक उच्यते ॥

अन्तर्मुद्रापरिज्ञानादमनस्क इतीरितः ॥

बहिर्मुद्रापुरा प्रोक्ता चादिनाथेन शम्भुना ।
अन्तर्मुद्रां प्रवक्ष्यामि योगशांकरवर्तिनीम् ॥

राजयोगः समाधिश्चोन्मनी च मनोन्मनी ।
शिवयोगो लयस्तत्वं शून्याशून्यं निरञ्जनम् ।
अमनस्कं यथा चैतन्निरालम्बं निरञ्जनम् ।
जीवन्मुक्तिश्च सहजमित्यदिर्ह्येक वाचकम् ॥

राजानन्दीप्यमानन्तं परब्रह्माणमव्ययम्।

देहिनं प्रापयेद्यस्तु राजयोगस्स उच्यते॥

यदा संक्षीयते प्राणः मानसञ्च प्रलीयते।

यदा समरसत्वं तत् समाधिरभिधीयते॥

दृग् दृश्य विवेके -

मनसो वृत्ति शून्यस्य ब्रह्माकारतयास्थितिः।

असंप्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते॥ इति।

व्यासभाष्ये -

विरामप्रत्ययाभ्यास पूर्वकसंस्कारशेषोऽन्यस्सर्ववृत्ति प्रत्यस्तमये

निरोध चित्तस्य समाधिरसं प्रज्ञातः॥

उत्तरगीतायाम्

प्रमाशून्यं मनः शून्यं बुद्धिशून्यमनामयम्।

सर्वशून्यं निराकारं समाधिस्थस्य लक्षणम् ॥

दत्तः

नेत्र त्रयोन्मेषनिमेष शून्यैर्वायुर्यमावर्जितरेचकपूरैः ।
मनश्च सङ्कल्पविकल्पशून्यैर्मनोन्मनीमग्नधियो भवन्ति ॥

उन्मन्यवस्थाधिगमाय विद्वन्नुपायमेकं तव निर्दिशामः ।
पश्यन्नुदासीनदृशाप्रपञ्च सङ्कल्पमुन्मूलय सावधानः ॥

नन्दिकेश्वरतारावल्याम् -

अन्तर्लक्ष्यंबहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः ।
एषासाशांभवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

शिवयोगे -

लक्ष्यलीनमनसा निलेन यो वर्तते चलित तारको भवेत् ।
खेचरीगमय शैवशांभवी मुद्रया सततयाजगद्गुरुः ॥

आदिनाथः -

विच्छिन्नसर्वसङ्कल्पो निश्शेषाशेषवर्जितः ।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥

योगशांकरे -

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते दृष्टया निश्चलतारया बहिरयः
पश्यन्न पश्यन्नपि ।
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा युष्मत् प्रसादाद्गुरो
शून्याशून्यविवर्जितं स्मरति यत्तत्वं पदं शाम्भवम् ॥

p. 61)

गोरक्षः -

सुषिरोज्ञानजनकः पञ्चस्रोतस्समन्वितः ।
तिष्ठेत खेचरी मुद्रा तस्माच्छून्ये निरञ्जने ॥

सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बन्तले पुनः ।
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥

प्रणवचिन्तामणौ -

सा मया विदिता या माया साक्षाच्छिववल्लभा ।
पूरयेन्मारुतं दिव्यं सुषुम्ना पश्चिमे मुखे ॥

पुरस्ताच्चैवपूर्येत निश्चितं खेचरी भवेत् ।
निरालम्बे मनश्शून्ये व्योमचक्रे व्यवस्थिते ॥

निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा ।
सदा संदीयमानञ्च मनस्तत्वं विलीयते ॥

लयोलय इति प्राहुरीदृशं विद्धि लक्षणम् ।
अपुनर्वासनोत्थानं लयमित्युच्यते बुधैः ॥

परमेश्वरेण कुण्डल्या सहराजयोगं कुण्डलिनी प्रकरणे उच्यते ॥

॥ इति योगसारसंग्रहे राजयोगस्वरूपनिरूपणं नाम एकादशोध्यायः ॥

एवमभ्यास शीलस्य विघ्नाः प्रादुर्भवन्ति हि ।

मुद्रा वर्णन :–

घेरण्डसंहिता में महर्षि घेरण्ड ने पच्चीस मुद्राओं का वर्णन किया है।

''महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबंधो महाबंधो महाबेधश्च खेचरी।।
विपरीतकरी योनिर्वज्रोणि शक्तिचालनी।
ताडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पंचधारणा।।
अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पंचविंशतिमुद्राश्चसिद्धदा इह योगिनाम्''[72]।।

योगियों को सिद्धि प्रदान करने वाली पच्चीस मुद्राएं हैं।

यह मुद्राएं निम्नलिखित हैं – 1. महामुद्रा 2. नभोमुद्रा 3. उड़्डीयान 4. जालन्धर 5. मूलबंध 6. महावेध 7. महावेध 8. खेचरी 9. विपरीतकरणी 10. योनिमुद्रा 11. वज्रोलि 12. शक्तिचालिनी 13. तडागी 14. भांडवी 15. शांभवी 16 पंचधारणा (पार्थिवीधारणामुद्रा, आम्भसीधारणामुद्रा, आग्नेयीधारणामुद्रा, वायवीयधारणामुद्रा, आकाशीयधारणामुद्रा) 17. अश्विनीमुद्रा 18. पाशिनीमुद्रा 19. काकीमुद्रा 20. मातंगिनीमुद्रा 21. भुजंगिनीमुद्रा।

महर्षि घेरण्ड ने मुद्रा प्रकरण में सोलह मुद्राओं, चार बंधो और पाँच धारणाओं का वर्णन किया है।

महामुद्रा :–

योगग्रंथों में महामुद्रा को समस्त प्रकार प्रकार के रोगों का नाश करने वाली मुद्रा कहा गया है। महामुद्रा को कुण्डलिनी जागरण में सहायक माना गया है। पाचनतंत्र को सुव्यवस्थित करने में यह विशेष रूप से सहयोगी है। घेरण्डसंहिता में महामुद्रा का सारगर्भित वर्णन मिलता है–

''पायुमूलं वामगुल्फे सम्पीडय दृढयत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदांगुलः।।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः''[73]।।

योग साधक दृढतापूर्वक अपनी बाईं एड़ी से गुदा प्रदेश को दबाए और दाएं पाँव को सीधे फैलाकर दोनों हाथों से उस पैर की उंगलियों को पकडे। इसके बाद गले को संकोच करके भ्रूमध्य में दृष्टि लगाए रहें। विद्वत योगियों ने इसे महामुद्रा के नाम से कहा है। घेरण्डसंहिता में इसके लाभों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि महामुद्रा के नियमित अभ्यास करने से क्षय, सूखी खांसी, कब्ज, तिल्ली रोग, पुराना बुखार तथा और भी कई रोग ठीक होते हैं और स्वास्थ्य प्राप्त होता है। महामुद्रा के अभ्यास से तपेदिक, चर्मरोग, कब्ज, अफारा, अपाचन तथा भविष्य में होने वाले अनेक दोष भी नष्ट हो जाते हैं।

शाण्डिल्योपनिषद में भी महामुद्रा का वर्णन मिलता है।
वमपादमूलेन योनिं संपीडय दक्षिणपादं प्रसार्यं तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबंध समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत्। तेन सर्वक्लेशहानिः। ततः पीयुषमिव विषं जीर्यते। क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वागादिदोषा नश्यन्ति। एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः[74]।
बाएं पांव की एड़ी से गुदामूल को दबाकर दाएं पैर आगे की ओर सीधा फैलाकर उसे दोनों हाथों से पकड़ें और तत्पश्चात् नासिकारन्ध्रों से वायु भर कर जालंधरबंध में लगाएं व ऊपर की ओर उठी हुई वायु को स्थिर करें।
यह महामुद्रा समस्त क्लेशों का विनाश करने वाली है। इसकी सिद्धि होने से विष भी अमृत समान हो जाता है। क्षयरोग, गुल्म, कब्ज, चर्मरोग व असाध्य व पुराने रोगों का नाश हो जाता है। यह प्राणों पर भी विजय प्राप्ति का साधन है। जिससे मृत्यु को पूर्णरूप से विनष्ट किया जा सकता है।
घेरण्डसंहितानुसार महामुद्रा मूलबंध, जालंधरबंध और शांभवी मुद्रा का सम्मिलन है। अतः महामुद्रा के अभ्यास से पूर्व उपरोक्त तीनों मुद्राओं का अभ्यास सिद्ध होना आवश्यक है।

नभोमुद्रा :–

"यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा।
उर्ध्वजिहवः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी"[75]।।

योग साधक जहां कहीं भी रहे, सभी कार्यों को करते समय, स्थिर भाव से उर्ध्वजिहवा होकर कुंभक के द्वारा वायु को रोके। यह योगग्रंथों में वर्णित नभोमुद्रा है जिसके अभ्यास से योग साधक के सभी रोगों का नाश हो जाता है।

नभोमुद्रा, खेचरीमुद्रा की तरह का ही अभ्यास है। यह भी कहा जा सकता है कि नभोमुद्रा का ही सरल अभ्यास है। खेचरीमुद्रा करने के लिए जहाँ जिहवा को लंबा करने हेतु दोहन, चालन आदि का विधान हैं वहीं नभोमुद्रा में केवल जीभ को उलटकर ऊपर तालू से लगाना है व कुंभक लगाकर वायु को रोकना है।

नभ का शाब्दिक अर्थ है 'आकाश' और कपाल के अंदर रिक्त स्थान तालुविवर। नभोमुद्रा में जिहवा को 'आकाश' या रिक्त स्थान की ओर प्रेरित किया जाता है जो कि तालुविवर है। साथ में साधक को अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर रखना होता है। नभोमुद्रा को सिद्ध तभी समझना चाहिए जब जिहवा उलट कर तालु विवर में पहुंच जाए और कुछ समय वहाँ टिके रहे।

नभोमुद्रा के अभ्यास से अनेक रोग नष्ट किए जा सकते है।

उड्डियानबंध :–

"उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्वं तु कारयेत्।
उड्डीनं कुरूते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं त्वसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी"[76]।।

नाभि से ऊपरी भाग और पार्श्वभाग (पीठ) को उदर के समानभाव से सिकोडे अर्थात उदरस्थ ऊपर की ओर नाड़ी समूह को संकुचित करके उठाएं। यह उड्डियान बंध कहा गया है।

घेरण्डसंहितानुसार यह बंध मृत्युरूपी गज के लिए सिंह के समान है। सभी बंधों में उडड़ीयान बंध प्रमुख है। इसके अभ्यास से सहज ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।
योगचूड़ामण्युपनिषत् में भी उड्डियानबंध का अन्य योग क्रियाओं के साथ वर्णन मिलता है। इस उपनिषद् में वर्णन मिलता है कि–

''उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते। ओडयाणमुदरे बंधस्तत्र बन्धो विधीयते''[77]।।

पेट को नाभि के नीचे तानना अर्थात् खींचना पश्चिमोत्तान कहलाता है। वहीं उदर में बंध होने से यह उड्डियान बंध भी किया जाता है।
योगतत्त्वोपनिषद् में भी उड्डियानबंध का कुछ इसी प्रकार वर्णन मिलता है :–

''बंधो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
उड्डयानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः[78]''।।

जिस बंध के द्वारा बंधे हुए प्राण सुषुम्ना में उड़ने लगे या उठने लगे, ऐसे बंध को योगी जन उड्डियान बंध कहते हैं। उड्डियानबंध से प्राणशक्ति को सुषुम्ना में प्रेषित कर सकने का सामर्थ्य आ जाता है। और यह कुण्डलिनी को भी ऊपर उठाने में सहयोगी होता है।
हठप्रदीपिका के अनुसार जो साधक उड्डीयानबंध का गुरू के निर्देशानुसार सदा अभ्यास करता है तो वह वृद्ध होने पर भी युवा व्यक्ति के समान हो जाता है।

जालंधरबंध :–

''कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदयेन्यसेत्।
जालंधर कृते बंधे षोडशाधारबन्धनम्।
जालन्धरमहामुद्रा मृत्योश्चक्षयकारिणी''[79]।।

अपने कण्ठ का संकोच कर हृदय स्थल पर ठोड़ी को टिकाएं, इस प्रकार यह जालंधरबंध कहलाता है। जालंधर नामक बंध से सोलह प्रकार से आधार बंध हो जाता है। यह जालंधर नामक महामुद्रा मृत्यु का भी क्षय कर देती है। यह जालंधरबंध योगियों को सिद्धि प्रदान करने

वाला कहा गया है। इसका नियमित अभ्यास यदि छः मास पर्यंत किया जाए तो साधक निःसंदेह पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाता है।

ठोडी को संकोच कण्ठकूप में या हृदय से 4 अंगुल ऊपर दृढ़तापूर्वक स्थापित करने से व गर्दन और दृष्टि को सीधा रखने से यह जालंधरबंध लगता है। यह कुंभक से धारण की गई वायु को रोकने व सहस्रार चक्र से झरने वाले अमृत को भी नीचे गिरने से रोकता है। कण्ठ में स्थित शिराओं का जाल इस बंध से संकोच किया जाता है, इसलिए इसे जालंधर बंध कहते हैं। यह बंध वायु निरोध में सहायक होने से मृत्यु को हरने वाला माना गया है।

हठप्रदीपिका ज्योत्सना में जालंधरबंध का वर्णन कुछ इस प्रकार से मिलता है–

''कण्ठमाकुचंय हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः''[80]।।

कण्ठ को संकोच कर हृदय स्थल पर ठोडी को दृढ़ता से लगाएं। यह जालंधर नामक बंध बुढ़ापा और मृत्यु का भी विनाशक है।

जालंधर बंध गले संबंधी रोगों को नष्ट करता है और सोमस्त्राव को जठराग्नि में जाने से रोक कर, वायु के प्रकोप से भी रक्षा करता है। जालंधर बंध से प्राण लय (ब्रह्मरंध्र) को प्राप्त कर, मृत्यु, बुढ़ापा व रोग आदि नहीं होते।

मूलबंध :–

''पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुचयेत्ततः।
नाभिग्रन्थिं मेरूदण्डे सम्पीडय यत्नतः सुधीः।।
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबंधं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबंधो निगद्यते''[81]।।

बाएं पैर की एड़ी से गुह्य–स्थान को संकुचित करें और यत्नपूर्वक नाभि को मेरूदण्ड में लगाकर दबाएं और दाईं एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबाएं। यह वृद्धावस्था का नाश करने वाला मूलबंध है। जो साधक संसार रूपी भवसागर से मुक्ति चाहते हैं ऐसे आकांक्षियों को निर्जन स्थान में छिपकर इस मुद्रा का अभ्यास करन चाहिए। इस मुद्रा के अभ्यास से वायु

सिद्धि निश्चित रूप से होती है। इसलिए निरालस्य होकर व मौनधारण कर यत्नपूर्वक इस मूलबंधमुद्रा का अभ्यास करें, इस प्रकार कहा गया है।
'योगतत्त्वोनिषद्' में योनिबंध के नाम से मूलबंध का उल्लेख मिलता है। गुदा और उपस्थ प्रदेश को ऊपर संकुचित करना व प्राण–अपान को मिलना मूलबंध है।

योगतत्त्वोपनिषद् में वर्णित है–

''पार्ष्णि भागेन संपीडय योनिमाकृंचयेद्दृढम्।
अपानमुर्ध्वमुत्थाप्य योनिबंधोऽयमुच्यते।।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबंधेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः''[82]।।

एड़ी से योनि स्थान को दबाकर भीतर की ओर खींचे। इस प्रकार अपान वायु को ऊपर की उठाकर प्राणवायु से सम्मिलन को योनिबंध कहते हैं। इस प्रकार प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबंध के द्वारा एकता प्राप्त होती है। यह योग में निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त कराने वाला होता है।

महाबंध :–

''वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत्।
दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीडय यत्नतः सुधीः।।
शनैः शनैश्चालयेत् पार्ष्णिं योनिमाकुंचयेच्छनः।
जालन्धरे धारयेत् प्राणं महाबन्धो निगद्यते''[83]।

सर्वप्रथम योग साधक बाएं पैर की एड़ी से पायुमूल को निरूद्ध करके दाएं पैर से यत्नपूर्वक बाईं एड़ी को दबाएं और धीरे–धीरे गुह्य प्रदेश का चालन करें। तदुपरांत दुबारा उसे धीरे–धीरे ही संकुचित करें तथा जालन्धरबंध कर प्राणवायु को धारण करें। इसे ही योग ग्रथों में महाबंध की संज्ञा दी गई है। महाबन्ध को सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ कहा गया है। महाबंध से वृद्धावस्था एवं मृत्यु का भी नाश हो जाता है। इस बंध की सिद्धि से प्रसादरूप व्यक्ति की संपूर्ण इच्छाएं पूर्ण होती हैं।

हठप्रदीपिका ज्योत्सना में महाबंध के महत्व को कुछ इस प्रकार वर्णित किया गया है–

''अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनरोधकः।
अयं खलु महासिद्धिप्रदायकः।।
कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः''[84]।।

महाबंध सभी नाडियों में प्राण की उर्ध्वगति को रोकने वाला है और यह निश्चित रूप से महान् सिद्धियाँ देने वाला है। यह महाबंध काल के पाशरूपी बंधनों को हटाने में समर्थ है। इसी महाबंध के अभ्यास से इड़ा, पिंगला सुषुम्ना का संगम होता है। जिससे मन भ्रूकुटी मध्य स्थित महाकाश में पहुंच जाता है।

महावेध :–

''रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरूषं विना।
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा।।
महाबंधं समासाद्य उड्डीयान कुंभकं चरेत्।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः।।
महाबंधमूलबंधौ महावेध समन्वितौ।
प्रत्यहं करूते यस्तु स योगी योगवित्तमः''[85]।।

जिस प्रकार से बिना पुरूष के स्त्री का सौंदर्य, युवावस्था और मधुरता व्यर्थ ही है उसी प्रकार महावेध के बिना मूलबंध और महाबन्ध व्यर्थ ही हैं। इसलिए सर्वप्रथम महाबंधमुद्रा का अभ्यास कर योगी उड्डीयानबंध लगाकर कुंभकं करते हुए वायु को रोके। यह योगिजनों को सिद्धि प्रदान करने वाली महावेधमुद्रा कही गई है। प्रतिदिन जो मूलबंध और महाबंध से साथ महावेध का नियमित अभ्यास करता है उसे सबसे उत्तम योग विद्या का साधक कहा जाता है।

महावेधमुद्रा के अभ्यास से पहले पूर्वोक्त बंधों का अभ्यास आवश्यक है। योगतत्त्वोपनिषद् के अनुसार –

> ''वायुना गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया।
> पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम्।।
> अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्तेऽनिशम''[86]।

महाबन्ध की क्रिया में सतत संलग्न रहने वाले योगी को एकाग्र होकर उड्डियानबंध की क्रिया में सतत संलग्न होकर उड्डियानबंध (कण्ठमुद्रा) द्वारा वायु की गति को आवृत करके दोनों नासिका–रंध्रों को संकुचित करने से तत्परतापूर्वक वायु भर जाती है।

सिद्धजन इस महावेध का सतत अभ्यास करते रहते हैं।

विपरीतकरणी मुद्रा :–

> ''नाभिमूलेवसेत् सुर्यसतालुमूले च चंद्रमाः।
> अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः।। ऊर्ध्वं
> च योजयेत् सुर्यं चन्द्रं चाप्यध आनयेत्।
> विपरीतकरी मुद्रासर्वतन्त्रेषु गोपिता।।
> भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः।
> उर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता''[87]।।

हठयोग ग्रंथों मे व महर्षि घेरण्ड के अनुसार, सूर्य नाड़ी नाभि मूल में और चंद्र नाड़ी का मूल स्थान तालुमूल में है। नाभिमूल स्थित सूर्य द्वारा चंद्रस्थान से निरंतर स्त्रावित अमृत का पान कर लेने से ही मनुष्य मृत्यु के वश में आता है। परन्तु चंद्रनाड़ी के अमृत का पान पहले ही कर लेने से मृत्यु का डर नहीं रहता। इसलिए योग साधक को चाहिए कि व सूर्यस्थान को ऊपर व चंद्रस्थान को नीचे कर अमृत का स्वंयमेव आस्वादन करे। यह विपरीतकरणी मुद्रा कही गई है। इस मुद्रा के अभ्यास हेतु साधक अपना सिर जमीन पर लगाकर व दोनों कोहनियों को टिकाए। धीरे–धीरे दोनों पैरों को दण्ड की तरह ऊपर उठाकर कुंभक कर वायु को रोके, यही

विरीतकरणीमुद्रा है। विपरीतकरणीमुद्रा का नियमित अभ्यास करने से योग साधक जरामरण से मुक्त होकर लोक में सिद्ध हो प्रलय में भी विचलित नहीं होता। इसके अतिरिक्त विपरीतकरणी मुद्रा से वीर्य रक्षा, ओज में वृद्धि, मस्तिष्क तीव्र, दृष्टि तेज, जठराग्नि प्रदीप्त होकर, प्राणों की गति स्थिर व शांत होकर, रक्त की शुद्धि, कफ विकारों का नाश तथा कब्ज, सिरदर्द, थकान आदि अनेक समस्याओं का समाधान हो जाता है। विपरीतकरणीमुद्रा के नाम से भी स्पष्ट हो जाता है कि यह मुद्रा शरीर की स्थिति को विपरीत करने से है। विपरीतकरणी में वस्तुतः कपालकुहर (चंद्रस्थान) से गिरने वाले अमृत स्त्राव की रक्षा की जाती है।

गोरक्षसंहिता में विपरीतकरणी मुद्रा का वर्णन किया गया है :–

''नाभिदेशे वसत्येको भास्करो देहमात्मनः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमा।।
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रोग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः।
ज्ञातव्याकरणी तत्र तथा पीयूषमाप्यते''[88]।।

अग्निरूप सूर्य नाभि में रहता है और अमृतरूप आत्मा चंद्रमा हमेशा तालुमूल में रहता है। तालू में नीचे की ओर मुख किए चंद्रमा से निरंतर अमृत को अग्नि के मुख से बचाकर स्वयं अपने मुख में ले लेता है। इस प्रकार की मुद्रा के अभ्यास से रोगादि का नाश होकर आयुवृद्धि होकर मृत्यु का भी भय नहीं रहता ।

शक्तिचालिनीमुद्रा :–

''मूलाधारे आत्माशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्ध त्रिवलयान्विता।।
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगं समभ्यसेत्।।
उद्घाटयेत् कपाटं च तथा कुचिंकयाहठात्।
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत्।।
नाभिं सम्वेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्''[89]।।

शक्तिचलिनी मुद्रा का सीधा संबंध कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर उसके ऊर्ध्वचालन से है। इसलिए इसे 'शक्तिचालिनी मुद्रा' कहा गया है। लंबे व सतत् अभ्यास से सिद्ध होने वाली यह मुद्रा अत्यंत महत्वपूर्ण है। घेरण्डसंहिता में शक्तिचालिनी मुद्रा के बारे में कहा गया है कि मूलाधार में सुप्त अवस्था में स्थित कुण्डलिनी शक्ति को इस मुद्रा विशेष द्वारा जगाया व चालन किया जाता है।

शक्तिचालिनी मुद्रा की प्रक्रिया घेरण्ड संहितानुसार इस प्रकार से है– नाभि को वस्त्र से लपेटकर शक्तिचालिनी मुद्रा का नितांत एकांत स्थान में अभ्यास करना चाहिए। नग्नावस्था में इस मुद्रा का साधन बाहर कभी भी न करें। बालिश्त भर चौड़ा और चार अंगुल लम्बा कोमल और स्वच्छ वस्त्र नाभि पर रखकर उसे कटिसूत्र (नाड़े आदि) से कमर पर बांधे। शरीर पर भस्म मलकर सिद्धासन में बैठकर प्राण की खींचकर अपान से मिलाएं। सुषुम्ना के द्वार से गमन करती हुई वायु जब तक प्रत्यक्ष न हो, तब तक 'अश्विनी मुद्रा' से गुदा संकोचन करें। इस प्रकार वायु के रूकने से सर्पाकार कुण्डलिनी जागृत हो कर ऊर्ध्व मार्ग में बढ़ती है। इस शक्तिचालिनी मुद्रा के बिना योनिमुद्रा (मूलबंध) की सिद्धि नहीं होती। शक्तिचालिनी मुद्रा की व्याख्या से पूर्व कुण्डलिनी शक्ति सर्पाकार अवस्था में साढे तीन लपेटे लगाकर सुप्तावस्था में रहती है। जब तक कुण्डलिनी शक्ति सुप्तावस्था में रहती है तब तक योग साधक भी अज्ञानावस्था में रहता है। चाबी से ताला खुलने पर दरवाजा खुलने के समान ही कुण्डलिनी के जागृत होने पर ब्रह्मरंध्र का मार्ग खुल जाता है। इसलिए जब तक उस अवस्था की प्राप्ति न हो तब तक अभ्यास प्रशस्त करते रहना चाहिए।

गोरक्षसंहिता में भी शक्तिचालिनी मुद्रा का वर्णन प्राप्त होता है। शक्तिचालिनी मुद्रा के बारे में गोरक्षसंहिता में कहा गया है कि :–

''कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढ़तरं बध्वा तु पद्मासनं।

गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि''।।

''बांरवारम पानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं।।

मुंचंप्राणमुपैतिवोधमतुलं शक्तिप्रभावदतः''[90]।।

दोनों हाथों की अंजली बांधकर दोनों कोहनियों को दृढ़ता से हृदय पर रखकर पदमासन करें। ठुड्डी को हृदय से दृढ़तापूर्वक लगाकर ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का ध्यान करें। प्राणायाम द्वारा वायु खींचकर उसे अपानवायु से मिलाएं और कुंभक द्वारा धारण करके शनैः शनैः छोड़ दें। ऐसा करने से योग साधक को कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव का अतुलित बोध होता है अथवा कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है।

घेरण्डसंहितानुसार की गई शक्तिचालिनी मुद्रा की व्याख्या में पद्मासन के स्थान पर सिद्धासन का प्रयोग इस मुद्रा में अधिक लाभकारी प्रतीत होता है क्योंकि अश्विनीमुद्रा और योनिमुद्रा में यही सिद्धासन अधिक सहयोगी और कम प्रयास में ही मुद्रा को सिद्ध करता है। शरीर पर भस्म रमाने के भी तीन संभावित कारण हो सकते हैं। पहला नग्न अवस्था को ढकने हेतु। दूसरा वैराग्य भाव जागृत करने के लिए बाहर से प्रयास और तीसरा इस क्रिया में शरीर से निकलने वाले पसीने को सोखने के लिए क्योंकि पसीने का बहना मुद्रा के स्थायित्व में बाधक हो सकता है। संभावना यह भी है हठयोग के आदिवक्ता भगवान शिव को समर्पित यह मुद्रा है नाभि पर वस्त्र लपेटने या वस्त्र को नाभि पर रख कटि सूत्र से बांधने के पीछे भी उद्देश्य निहित हैं। पहला उद्देश्य है उड्डियान बंध में सहयोग एवं नाभिमण्डल को भीतर दबाकर उद्वेलित करना। दूसरा उद्वेश्य है नाभिमण्डल पर ध्यान लगाने में सहयोग प्राप्त करना। सुषुम्ना में वायु को प्रत्यक्ष करने का अर्थ वायु वहाँ अनुभव करने से है।

तब तब 'अश्विनी मुद्रा' का निर्देश दिया है क्योंकि 'अश्विनीमुद्रा' अपने आप में कुण्डलिनी शक्ति को उत्तेजित करने में सहायक है।

तड़ागीमुद्रा :–

''उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिम्।

ताडागी सा परामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी''[91]।।

पश्चिमोत्तानासन में बैठकर और पेट को तालाब के समान स्थिर करें। यह तडागी मुद्रा बुढ़ापा और मृत्यु का नाश करने वाली है। तड़ागी मुद्रा पश्चिमोत्तानासन में की जाती है। इसमें पेट को तड़ाग (तालाब) समान वायु से भरना और वायु से रिक्त करने की प्रक्रिया है। सर्वप्रथम

पश्चिमोत्तान आसन में अधिक न झुक कर श्वास अंदर खीचते हैं। पेट जितना फूल सकता है, उतना बढ़ाते हैं। श्वसन तंत्र बहुत अधिक जोर डाले बिना सुविधाजनक स्थिति में श्वास अंदर रोकते हैं। फिर सांस छोड़ते समय पेट को अंदर कर थोडे समय रूकते हैं। यह तड़ागी मुद्रा कहलाती है। इस पूरी प्रक्रिया में मुख्य अभ्यास उदर का ही है।

पेप्टिक अल्सर, हर्निया आदि से पीड़ित व्यक्तियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

तड़ागी मुद्रा से पाचनसंस्थान सुव्यवस्थित, मज़बूत और संतुलित बनता है। पाचनसंस्थान संबंधित रोगों में लाभकारी है।

माण्डुकीमुद्रा :—

''मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्यमूलं प्रचालयेत्।
शनैर्ग्रसेदमृतं तनमाण्डूकीं मुद्रिकां विदुः।।
वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम्।
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम्''[92]।।

योग साधक को सबसे पहले मुख बंद कर तालु में जीभ को चलाकर धीरे—धीरे सहस्त्रार से रिसते हुए अमृत रस का धीरे—धीरे पान करना चाहिए। यह माण्डुकी मुद्रा कहलाती है। माण्डुकी मुद्रा के सतत् अभ्यास से शरीर पर झुर्रियाँ पड़ना और बालों का सफेद होना दूर हो जाता है और दीर्घकाल तक स्थायी यौवन की प्राप्ति होती है। वज्रासनादि किसी ध्यानात्मक आसन में बैठ कर सिर और मेरूदण्ड को सीधा रखें। मुख को बंद स्थित ग्रंथियों से रस स्त्राव होगा, जिसे योग ग्रंथों में अमृत समान माना गया है। इस अमृतरस का जीभ द्वारा आस्वादन करने पर शरीर बलशाली बन कभी भी रोगग्रस्त नहीं होता। योगसाधक के इस अभ्यास की सिद्धि से न केवल शरीर पर कभी झुर्रियाँ ही पड़ती हैं और न ही बाल कभी सफेद ही होते हैं अर्थात साधक हमेशा लावण्ययुक्त रहकर यौवनावस्था में रहता है।

अश्विनीमुद्रा :–

''आकुंचयेद् गुदाद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।

सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकरिणी।।

आश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी।

बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत्''[93]।।

साधक को चाहिए कि अपने गुदा द्वार को बार–बार संकुचित और प्रसारित करे। यह अश्व के गुदा संकोचन व विस्फारित क्रिया की तरह है इसलिए इसे अश्विनीमुद्रा कहते हैं। यह शक्ति को जगाने वाली मुद्रा है इसलिए इस मुद्रा से कुण्डलिनी जागृत होती है, ऐसा योग शास्त्रों का मत है। यह श्रेष्ठ अश्विनीमुद्रा गुदा संबंधी रोगों का नाश करने वाली शारीरिक शक्ति को बढाने वाली व पोषण करने वाली कही गई है। 'अश्विनी मुद्रा' स्वयंमेव कुण्डलिनी शक्ति को उत्तेजित करने में सहायक है। इसलिए महर्षि घेरण्ड ने वायु का सुषुम्ना के द्वार पर अनुभव करने तक अश्विनी मुद्रा के प्रयोग का निर्देश दिया है। अश्विनी मुद्रा का अभ्यास स्तम्भन सामर्थ्य भी बढ़ाता है।

पाशिनी मुद्रा :–

''कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढ़बन्धनम्। सा

एव पाशिनी मुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी।।

पाशिनी महती मुद्रा वयपुष्टि विधायिनी।

साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः''[94]।।

योग साधक को चाहिए कि अपने दोनों पाँवों को गले से पीछे की ओर ले जाकर, उन्हें आपस में परस्पर मिलाकर पाश के समान दृढतापूर्वक बांध लें। यह पाशिनीमुद्रा कही गई है जो कुण्डलिनी–शक्ति को जगाने वाली कही गई है।

पाशिनी मुद्रा एक महत्वपूर्ण मुद्रा है जो शक्ति जागरण के अभ्यास में सहायक है। प्रांरभ में इसका अभ्यास थोड़ा कठिन अवश्य है परंतु इसके अभ्यास जांघों समेत शरीर का अंग–प्रत्यंग

शक्तिशाली हो जाता है। पाशिनीमुद्रा की सिद्धि से जागृत हुई शक्ति से बड़े—बड़े अद्भुत कार्यों में सफलता प्राप्ति हो सकती है। पाशिनी मुद्रा शारीरिक और मानसिक रूप से योगी को शक्तिशाली बनाती है।

काकीमुद्रा :—

''काकचंचुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।

काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी।।

काकीमुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।

अस्याः प्रसादमात्रेण काकवन्नीरूजो भवेत्''[95]।।

योग साधक अपने मुख को कोने की चोंच के समान बनाकर उससे धीरे—धीरे वायु का पान करें। यह सभी रोगों को नष्ट करने वाली काकी मुद्रा कही गई है। इस श्रेष्ठ मुद्रा को सभी प्रकार से गुप्त रखना चाहिए। केवल इस मुद्रा के अभ्यास मात्र से योगसाधक रोगरहित हो जाता है, जैसा कौवे को कोई रोग नहीं होता। काकीमुद्रा सरलतम मुद्राओं में से एक है। यह स्वास्थ्य के लिए अत्यंत लाभकारी मुद्रा है। शरीर की पाचन संस्था की शक्ति बढाकर अनेक रोगों से छुटकारा दिलाती है।

काकीमुद्रा में प्राणों का निरोध न करके प्राणवायु का पान किया जाता है। उस समय जीभ को कौवे की चोंच के समान नालीदार बनाकर वायु धारण की जाती है। अतः इसे 'काकी मुद्रा' कहा जाता है। जरावस्था (बुढापा) रोकने हेतु यह अत्यंत लाभकारी मुद्रा है।

गोरक्ष संहिता में इसके लाभों का वर्णन मिलता है :—

''काकचंचुवदास्येन शीतलं सलिलंपिबेत्।

प्राणापानविधानेनयोऽसौ भवति निर्जरः।।

रसना तालुमूलेन य प्राणमनिलं पिबेत्।

अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगस्य संक्षयः''[96]।।

कौए की चोंच की तरह मुख को बनाकर जो साधक प्राणापान के विधान से शीतल वायु का पान करता है, वह कभी बूढ़ा नहीं होता। जो योग साधक जीभ से प्राणवायु पीकर तालुमूल को भर लेता है, वह छः मास के अभ्यास से समस्त रोगों से छुटकारा पा जाता है।

भुजंगिनीमुद्रा :–

''वक्त्रं किंचित् सुप्रसार्य चानिलं गलया पिबेत्।
सा भवेद् भुजंगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।।
यावच्च उदरे रोगा अर्जीणादि विशेषतः।
तत् सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजंगिनी''[97]।।

योग साधक को चाहिए कि अपने मुख को किंचित फैलाकर कण्ठ से वायु को अंदर खींचे। यह योगियों द्वारा भुजंगिनी मुद्रा कही गई है। नियमित अभ्यास से सिद्ध होने पर यह जरामृत्यु के भय का नाश करती है। भुजंगिनी मुद्रा से अजीर्णादि उदर से संबंधित रोग नष्ट हो जाते हैं।

ध्यानात्मक किसी भी आसन विशेष में बैठ कर, आंखें बंद कर शरीर को शिथिल करना है। फिर कण्ठ को पूरा खोलकर वायु को खींचना है। यथासंभव वायु से पेट को भरकर फैला लेना है। सुविधापूर्वक जितनी देर रोक सकें, उतनी देर रोक कर, वायु को बाहर निकाल लें। मुख की स्थिति की भिन्न्ता को छोड़, यह काकीमुद्रा की ही समतुल्य है। भुजंङ्गिनी मुद्रा से आमाशय में पाचक रस ग्रंथियों और ग्रास नली को नया जीवन मिलता है, उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। उदरस्थ अंगों को स्वस्थ बनाता है। पान की हुई वायु जब तालु और जिह्य के बीच में घूमती है तब शरीर अभूतपूर्व शक्ति का अनुभव करता है।

योनिमुद्रा :—

> ''सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखम्।
> अंगुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत्।।
> काकीभिः प्राणंसंकृष्य अपाने योजयेतत्तः।
> षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधीः''[98]।।

योग साधक को चाहिए कि सिद्धासन लगाकर दोनों हाथों के अंगूठों से कानों को, तर्जन से नेत्र, मध्यमा से मुख, अनामिका उंगलियों से नासिकारंध्रों को रोकें। तत्पश्चात् काकी मुद्रा धारण करें और प्राणवायु को खींचकर अपानवायु से मिलाएं। शरीर में स्थित षट् चक्रों का ध्यान करे व 'हुँ' या 'हंस' इन दो मंत्रो से कुण्डलिनी शक्ति जागृत कर साथ ही जीवात्मा को सहास्त्रार में ले जाकर यह चिंतन करे कि मैं शिव—शक्ति के साथ सुखपूर्वक विचरण कर रहा हूँ और उनके संगम से ही मैं आनान्दमय स्वयंभू ब्रह्य हो गया हूँ। इसे योनिमुद्रा की अति गोपनीय और देवताओं के लिए भी दुलर्भ कहा गया है।

एक बार भी इस मुद्रा की साधना करने पर साधक सिद्धि प्राप्त कर समाधि लाभ भी प्राप्त कर लेता है। इस मुद्रा की साधना करने वाले साधक ब्रह्य, भ्रुण हत्या, सुरापान, आदि पापकर्मों के कुफलों से मुक्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य महापाप भी योनिमुद्रा के अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं। इसलिए सभी दुष्कर्मों व पापों से मुक्ति पाने के लिए इच्छुक योग साधक को योनिमुद्रा का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

योनिमुद्रा से चेहरे का तेज़ बढ़ता है।
आंख नाक व गले के रोगों में लाभदायक है।
मन को अन्तमुर्खी कर एकाग्रता बढ़ाने में सहायक है।

मातंगिनीमुद्रा :–

''कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।

मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्।।

नासाभ्याँ रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः।

मातंगिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी''[99]।।

मातंग का अर्थ है हाथी। जिस प्रकार से हाथी जल में सूंड से पानी भरने की क्रिया करता है कुछ उसी प्रकार की क्रिया है मातंगिनीमुद्रा में भी। योगी को पानी में गले तक खड़े होकर नाक से पानी खींचना है। फिर खींचे हुए उस पानी को मुख मार्ग से बाहर निकाल देना है। तत्पश्चात विपरीतक्रम से करते हुए मुख से पानी खींचकर नासाछिद्रों से बाहर निकाल देना है। यह अभ्यास सिद्ध करने तक बार–बार करना पड़ेगा। योग ग्रंथों व महर्षि घेरण्ड अनुसार मातंगिनीमुद्रा के सिद्ध होने पर वृद्धावस्था व मृत्यु के भय से मुक्ति मिलती है ऐसी परम महिमा मातंगिनी मुद्रा की है। इसे करने के लिए योगसाधक को किसी ऐसे स्थान का चुनाव करना चाहिए जो निर्जन व एकांत हो, वहीं ऐसे स्थान पर एकाग्रचित्त होकर मातंगिनीमुद्रा का सतत् अभ्यास करें।

महर्षि घेरण्ड अनुसार इस मुद्रा के सिद्ध होने पर योग साधक हाथी के समान बलशाली व सदा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है।

इसलिए मातंगिनीमुद्रा का सतत् अभ्यास प्रयत्ननपूर्वक करके इसे सिद्ध करना ही योगसाधक का कर्त्तव्य है।

खेचरीमुद्रा :–

''जिहवाधो नाड़ीं संछिन्नां रसनां चालयेत् सदा।

दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत्।।

एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।

यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तदागच्छति खेचरी''[100]।।

खेचरी मुद्रा को सभी योगग्रंथों में अति सम्मानपूर्वक स्थान दिया गया है तथा प्रमुखता से महत्वपुर्ण व अति उपयोगी बताया गया है। विशेष रूप से पातंजलयोगप्रदीप, हठप्रदीपिका, गोरक्षसंहिता, शाण्डिल्योपनिषद् तथा योगकुण्डलयोपनिषद् में इस संबंध में विस्तृत जानकारी मिलती है। इस मुद्रा की सिद्धि हेतु जीभ का दोहन, मंथन आदि करना पड़ता है। पातजंलयोगप्रदीप में इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध है तथापि यह क्रिया अत्यंत कष्टपूर्ण, कठिन व नाजुक है। गुरू के मार्गदर्शन के बिना इस मुद्रा का अभ्यास संभव ही नहीं है।

हठयोग ग्रंथों में वर्णन प्राप्त होता है कि सहस्त्रार चक्र से निरंतर स्त्रावित हो रहे अमृतरस को नाभिकचक्र स्थित सूर्य ग्रस लेता है। खेचरी मुद्रा इसी अमृत रस के पान की विधि है।

घेरण्डसंहिता में खेचरीमुद्रा का वर्णन कुछ इस प्रकार है :—

जीभ के मूलभाग और जीभ को मिलाने वाली नाड़ी का छेदन कर, प्रत्येक दिन लोहे की चिमटी आदि से दोहन करते हुए खींचें। प्रतिदिन सतत् अभ्यास से जीभ लंबी हो जाती है। अभ्यास से जीभ को इतना लंबा कर लेना चाहिए कि वह भृकुटी तक पहुंच सके। तत्पश्चात जीभ को तालुमूल में धीरे—धीरे प्रवेश कराने का अभ्यास करना चाहिए। अन्ततः जीभ को कपालरंध्र में प्रवेश कराना चाहिए, जिसके लिए उसे उल्टा कर ऊपर ले जाना पड़ेगा। उस समय दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थापित करें, यह खेचरीमुद्रा कहलाती है।

खेचरीमुद्रा के अभ्यासी योग साधक को कभी भी मूर्च्छा, भूख—प्यास, आलस्य, तृष्णा आदि नहीं सताते। योग साधक किसी भी प्रकार के रोग, बुढ़ापा, डर से मुक्त हो, देवतुल्य शरीर वाला हो जाता है। न तो अग्नि में जलता ही है, न हवा से सूखता हैं, न तो पानी उसे गीला कर सकता है और न ही सांपादि के काटने पर उस पर विष का ही असर होता है। साधक का शरीर तेजोमय लावणय से युक्त हो जाता है तथा उसे निश्चल स्थिर समाधि की प्राप्ति हो जाता है। खेचरीमुद्रा में कपाल और मुख का जीभ द्वारा जुड़ाव होने से अनेक रसों की उत्पत्ति होती है, इसलिए परिणामस्वरूप योग साधक को जीभ से प्रतिदिन नए—नए रसों का स्वाद प्राप्त होकर आनंद की प्राप्ति होती है। प्रारंभ अवस्था में नमकीन, खट्टा, तिक्त कषाय, रस और इसके बाद नवनीत, घी, दही, शहद और द्राक्षा और अमृतादि रसों का स्वाद पैदा होता है।

हठयोग ग्रंथों के अनुसार खेचरी मुद्रा अमृत के पान की विधि है। 'ख' वर्ण आकाश के लिए प्रयुक्त होता है। पक्षी को भी खग कहा जाता है। 'खेचरी' का अर्थ हुआ आकाश में गमन करने वाली। अतः यह 'खेचरीमुद्रा' कहलाती है क्योंकि इस मुद्रा में जीभ आकाश में विचरण करती है। सहस्त्रार चक्र में से निरंतर अमृतस्त्राव होता है। तालुमूल में स्थित चंद्रमा से होता हुआ यह अमृत नीचे गिरता है और नाभिस्थित अग्नि रूपी सूर्य द्वारा ग्रस लिया जाता है, इस प्रकार व्यर्थ चला जाता है । जब तक जीवन है, तब मृत्यु होती है। इस अमृत की रक्षा के लिए हठयोग में खेचरीमुद्रा का प्रावधान है।

गोरक्षसंहिता में खेचरीमुद्रा का वर्णन कुछ इस प्रकार मिलता है :–

''कपालकुहरे जिहवा प्रविष्ठा विपरीतगा।
भ्रूवोरन्तर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी।।
न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न मूर्च्छा तु भवेतस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्''[101]।।

जीभ को उलटकर कपालकुहर में प्रविष्ट कर दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर कर लेना ही खेचरी मुद्रा है। जो योगी इस मुद्रा के अभ्यास में प्रवीण है उसे रोग, मृत्यु, निद्रा, भूख–प्यास और मूर्च्छा आदि से पीडित नहीं होना पड़ता।

शांभवीमुद्रा :–

''नेत्राजंन समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।
सा भवेच्छांभवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वर।
शांभवी यो विजानीयात् स च ब्रह्य न चान्यथा''[102]।।

अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर कर योग साधक एकाग्रमन से ईश्वर का दर्शन करे, यह शाम्भवी मुद्रा कहलाती है। सभी तंत्र–शास्त्रों में इसे गोपनीय मुद्रा कहा गया है। वेद, शास्त्र,

पुराणादि में केवल शांभवीमुद्रा ही कुलवधु के समान गोपनीय है। इसके ज्ञाता व अभ्यास करने वाले योग साधक स्वयं आदिनाथ, नारायण और ब्रह्म के समान हो जाते हैं। यह निश्चित रूप से सत्य है कि शांभवी मुद्रा को अभ्यास कर जानने वाला योगसाधक स्वयं साक्षात ब्रह्मरूप ही है। शांभवीमुद्रा आज्ञाचक्र को जागृत करने वाली असाधरण क्रिया है। इसके अतिरिक्त भी यह एक विशेष प्रक्रिया है क्योंकि इसके बारे में स्वयं भगवान शिव ने कहा है कि इसके सिद्ध होने पर ऐसा कौन सा कार्य है जो सिद्ध न हो सके। इसलिए यह मुद्रा गोपनीय कही गई है और यह मुद्रा वेद, पुराण शास्त्रों से भी उच्च स्थान की मानी गई है। शांभवीमुद्रा में भ्रूमध्य में साधक साक्षात् ईश्वर के साथ एकाकार हो जाता है। यह अभ्यास मन और प्राण को संयमित कर साधक को पूर्णता प्राप्त करा 'ब्रह्मतुल्य' बना देता है।

शांभवीमुद्रा के अभ्यास से साधक की गति मन के समान हो जाती है। शांभवीमुद्रा के अभ्यास से साधक की एकाग्रता, मनःसथैर्य और विचारशून्यता की अवस्था प्राप्त होती है। मानसिक शांति प्राप्त कर तनाव, क्रोध व चिंता को हर लेती है।

व्रज्रोणिमुद्रा :–

वज्रोणिमुद्रा का योगशास्त्रों व तंत्रग्रंथों में बहुत महत्व बताया गया है। वज्रोणिमुद्रा के अभ्यास से योगसाधक अपनी अधोगामी शक्ति को उर्ध्वगानी बना सके। बिन्दु सिद्धि हेतु इस वज्रोणिमुद्रा की साधना का उल्लेख प्राप्त होता है। इस मुद्रा के अभ्यास में शरीर की जो स्थिति बनती है वह है ब्रह्मचर्य आसन।

''धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यामूर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे।

शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वजोणिमुद्रां मुनयो वदन्ति''[103]।।

योगसाधक को चाहिए कि अपने दोनों हाथों को धरती पर दृढ़ता से टिकाएं और दोनों पैरों और धड (सिर) को ऊपर की ओर उठा के रखें। स्थिति की पूर्णावस्था में ध्यान रहे कि सिर जमीन से ऊपर उठा रहे और हथेलियों पर सम्पूर्ण शरीर का भार रहे। प्राचीन योगीजनों ने इस क्रिया को वज्रोणि मुद्रा का नाम दिया है।

इस मुद्रा को पूरे शरीर में शक्ति संचार करने वाली और नवजीवन देने वाली कहा है। यह मुद्रा साधकों को मुक्ति देने हेतु, हित करने वाली, सिद्धिप्रदाता तथा सर्वोत्तम साधन रूप है। इस मुद्रा की शक्ति से साधक वीर्य रोकने में समर्थ होकर बिन्दुजयी हो जाता है और इन उर्ध्वगामी बिन्दुशक्ति की सिद्धि से धरती पर ऐसा कौन सा कार्य है जो सिद्ध हो सकता ?

यदि भोग में आसक्त व्यक्ति भी इस मुद्रा का अभ्यास करे, तो उसे निश्चित रूप से सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। इस मुद्रा के अभ्यास से पूरा शरीर, मूत्रेद्रिय, गुदाप्रदेश, पैरों से लेकर कमर तक की मांसपेशियों में संकुचन होता है जिससे स्वभाविक रूप से ही मूलबंध लगता हैं साथ ही शरीरस्थ वज्र नाड़ी प्रभावित होती है। इस मुद्रा से वज्र नाड़ी पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है, इसलिए इसका नाम वज्रोणि पड़ा है। वज्रोणिमुद्रा पाचन क्रिया को सुधारने व ब्रह्यचार्यपालन में भी सहायक है।

पंचधारणा –

मुद्रा प्रकरण में पंचधारणा के अर्न्तगत पाँच तत्वों की धारणा का विधान है। पृथ्वी तत्व लं बीज, आम्भसी (जल) तत्व व बीज, अग्नि तत्व 'रं' बीज मंत्र को क्रमशः पांच घडी तक हृदय में धारण करना होता हे। पृथ्वी धारणा की सिद्धि से साधन मृत्युंजय और सिद्धि होकर पृथ्वी पर विचरण करता हैं। जल धारणा से जल तत्व के गुण अर्थात भीतर की अग्नि व आंतरिक उत्तेजना समाप्त हो जाती है। इसके अभ्यास से गहरे पानी में डूबने पर भी मनुष्य को हानि नहीं होती। आग्नेयी धारणा से किसी भी प्रकार से साधक की अग्नि से हानि नहीं होती । वायुवीय धारणा से जरा–मृत्यु को नष्ट करती है और आकाश गमन को समर्थ बनाती हैं। आकाशी धारणा की सिद्धि से भी मरण नहीं होता।

प्रत्याहार :– हठयोगमंजरी में श्री सहजानंद नाथ प्रत्याहार का वर्णन करते हैं–

> ''जहाँ जहाँ मन विकल्पे भाई। महा चंचलहोएगमन कराई।।
> तहाँ तहाँ सों उल्टा ल्यावे। आतम मांही आण बसावे''[104]।।

अर्थात जहाँ–2 मन चंचल होकर जिस विषय की ओर भाग कर जाए, वहाँ–2 से उस मन को लौटा कर अपनी आत्मा में लगाने या स्ववश करने का प्रयास करें। दूसरे अर्थों में चित्त को अन्तर्मुखी करने की प्रक्रिया प्रत्याहार है। योगसूत्र में भी महर्षि पतंजलि प्रत्याहार का वर्णन करते हैं–

तृतीयोपदेशः ।

सशैलवनधात्रीणां यथाऽऽधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाऽऽधारो हि कुण्डली ॥१॥

अथ कुण्डल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह—सशैलेति । शैलश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्तासाम् । धात्र्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्भेद-मादाय बहुवचनम् । अहीनां सर्पाणां नायको नेताऽहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत् सर्वेषां योगस्य तन्त्राणि योगतन्त्राणि योगोपायास्तेषां कुण्डल्याधार-शक्तिराश्रयः । कुण्डलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैय-र्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥२॥

कुण्डलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्याम्—सुप्तेति । सुप्ता कुण्डली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि

पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यन्ते भिन्नानि भवन्ति। ग्रन्थयोऽपि च ब्रह्मग्रन्थिविष्णुग्रन्थिरुद्रग्रन्थयो भिद्यन्ते भेदं प्राप्नुवन्तीत्यन्वयः ॥ २ ॥

प्राणस्य शून्यपद्वी तदा राजपथायते।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥ ३ ॥

प्राणस्येति। तदा शून्यपदवी सुषुम्णा प्राणस्य वायो राज्ञां पन्था राजपथं राजपथमिवाचरति राजपथायते राजमार्गायते। सुखेन गमनसंभवात्। तदा चित्तमालम्बनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालम्बं निर्विषयं भवति। तदा कालस्य मृत्योर्वञ्चनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

सुषुम्णा शून्यपद्वी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः।
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

सुषुम्णापर्यायानाह—सुषुम्णेति। इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः। पर्याया इत्यर्थः। स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ ४ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥

तस्मादिति। यस्मात्कुण्डलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणं तस्य

द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्णा तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्णाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुण्डलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥५॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।

मुद्रा उद्दिशति—महामुद्रेत्यादिना सार्धेन । सार्धार्थः स्पष्टः ॥ ६ ॥

इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशकम् ॥ ७ ॥

मुद्राफलमाह सार्धद्वाभ्याम्—इदमिति । इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकम् ॥७॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितम् । दिवि भवं दिव्यमुत्तमम् अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिममहिमगरिमलघिमप्राप्तिप्राकाम्येशतावशिताख्यानि । तत्राणिमा संकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता । १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः । २ । गरिमा

लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः । ३ । लघिमा गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः । ४ । प्राप्तिः सर्वभावसांनिध्यम् । यथा भूमिस्थ एवाङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम् । ५ । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च । ६ । ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् । ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणम् । ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥

गोपनीयमिति । प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयम् । गोपनीयत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । रत्नानां हीरकादीनां करण्डकं रत्नकरण्डकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् । कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वाच्यं किमुतान्यस्य । तत्र दृष्टान्तः—कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा यद्वत् ॥

अथ महामुद्रा—

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढम् ॥१०॥

मुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह—पादमूलेनेति। वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपादपार्ष्णिनेत्यर्थः। योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्याकुञ्चितवामपादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः। दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वाङ्गुलिकं दण्डवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायाकुञ्चितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदङ्गुष्ठप्रदेशे गृह्णीयात् ॥ १० ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

कण्ठे कण्ठदेशे बन्धनं सम्यगारोप्य कृत्वा। जालंधरबन्धं कृत्वेत्यर्थः। वायुं पवनमूर्ध्वत उपरि सुषुम्णायां धारयेत्। अनेन मूलबन्धः सूचितः। स तु योनिसंपीडनेन जिह्वाबन्धनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः। यथा दण्डेन हतस्ताडितो दण्डहतः सर्पः कुण्डली दण्डाकारः दण्डस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः। कुण्डलाकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः। प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥

तथा कुण्डल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत्। तदा सेति। द्वे पुटे इडापिङ्गले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते। कुण्डलीबोधे सति सुषुम्णायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२ ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥ १३ ॥

ततस्तदनन्तरं शनैः शनैरेव रेचयेत्। वायुमिति संबध्यते। वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत्। वेगतो रेचने बलहानिप्रसङ्गात्। खल्विति वाक्यालंकारे। इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता ॥ १३ ॥

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥

महामुद्राया अन्वर्थत्वमाह—महान्तश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च त आदयो येषां ते तत्कार्याणां शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयन्ते। मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयन्ते नश्यन्ति। यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदन्ति। महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १४ ॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१५॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह—चन्द्राङ्ग इति । चन्द्रेण चन्द्रनाड्योपलक्षितमङ्गं चन्द्राङ्गं तस्मिन् चन्द्राङ्गे वामाङ्गे । तुशब्दः पादपूरणे । सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिङ्गलयोपलक्षितमङ्गं सूर्याङ्गं तस्मिन् सूर्याङ्गे दक्षाङ्गे पुनर्वामाङ्गाभ्यासानन्तरं यावद्यावत्कालपर्यन्तं तुल्या वामाङ्गे कुम्भकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत् । ततः संख्यासाम्यानन्तरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत् । अत्रायं क्रमः—आकुञ्चितवामपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादाङ्गुष्ठमाकुञ्चिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाऽभ्यासो वामाङ्गेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामाङ्गे तिष्ठति । आकुञ्चितदक्षपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादाङ्गुष्ठमाकुञ्चिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाऽभ्यासो दक्षाङ्गेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षाङ्गे तिष्ठति ॥ १५ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ॥ १६ ॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः—न हीति । हि यस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः । पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्य-

विचारो नास्तीत्यर्थः। तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कट्वम्लादयो जीर्यन्त इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः। नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यन्ते। घोरमिति दुर्धरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति। किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥

यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगविशेषाः। अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यान्ति प्राप्नुवन्ति ॥ १७ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ १८ ॥

महामुद्रामुपसंहरन् तस्या गोप्यत्वमाह—कथितेति। इयमेषा महामुद्रा कथितोक्ता। मयेति शेषः। कीदृशी? नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम्। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा यस्य कस्यचिद्यस्य कस्याप्यनधिकारिणः। संबन्धसामान्ये षष्ठी। न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथ महाबन्धः—

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥

महाबन्धमाह—पार्ष्णिमिति । वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्ष्णिं गुल्फयोरधोभागम् । 'तद्ग्रन्थी गुल्फौ पुमान् पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः । योनिस्थाने गुदमेढ्रयोरन्तराले नियोजयेन्नितरां योजयेत् । वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा । तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२०॥

पूरयित्वेति । ततस्तदनन्तरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरबन्धः प्रोक्तः । योनिं गुदमेढ्रयोरन्तरालमाकुञ्च्य । अनेन मूलबन्धः सूचितः । स तु जिह्वाबन्धेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः । मनः स्वान्तं मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

धारयित्वेति । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुम्भयित्वा शनैर्मन्दं मन्दमनिलं वायुं रेचयेत् । सव्याङ्गे वामाङ्गे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षाङ्गे दक्षिणाङ्गे पुनर्यावत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

मतमत्र तु केषांचित्कण्ठबन्धं विवर्जयेत् ।
राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥

अथ जालंधरबन्धे कण्ठसंकोचस्यानुपयोगमाह—मतमिति । केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतम् । किं तदित्याह—अत्र जालंधरबन्धे कण्ठस्य बन्धनं बन्धः । संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः ? यतो दन्तानां राजानो दन्तराजाः राजदन्ता राजदन्तेषु तिष्ठन्तीति राजदन्तस्था राजदन्तस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धस्तदुपरिभागस्य संबन्धः शस्तः । कण्ठाकुञ्चनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः ॥ २२ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥

अयं त्विति । अयं तु राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्णातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वगतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबन्धकः । एतेन 'बध्नाति हि सिराजालम्' इति जालंधरोक्तं

फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम् । महाबन्धस्य फलमाह—अयं खल्विति । अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण ददातीति तथा ॥ २३ ॥

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥

कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबन्धो बन्धनं तस्य विशेषेण मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणी समुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यम् । तं मनः स्वान्तं प्रापयेत् । 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह—रूपेति । रूपं सौन्दर्यं चक्षुःप्रियो गुणो लावण्यं कान्तिविशेषः । तदुक्तम्—'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरम् । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति । ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबन्धश्च तौ वेधेन महावेधेन विनाऽपि ।

'प्रत्ययपूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्यः' इति भाष्यकारोक्तेर्मे-हच्छब्दस्य लोपः। वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः ॥ २५ ॥

अथ महावेधः—

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥ २६ ॥

महावेधमाह—महाबन्धेति। महाबन्धे महाबन्धमुद्रायां स्थितो महाबन्धस्थितः, एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा कण्ठे मुद्रा कण्ठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिमूर्ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथाऽऽवृत्य निरुध्य कुम्भकं कृत्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥

समहस्तेति। भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं हस्तयुगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः। स्फिचौ कटिप्रोथौ। 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथौ' इत्यमरः। भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलम्बनेन

योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मन्दं संताडयेत्सम्यक्ताडयेत् । भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडा-पिङ्गलयोर्युग्ममतिक्रम्योल्लङ्घ्य मध्ये सुषुम्णामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८ ॥

सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तद-धिष्ठिता नाड्य इडापिङ्गलासुषुम्णा ग्राह्यास्तेषां संबन्धः । तद्वायुसंबन्धात्तेषां संबन्धः, अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिङ्गलयोः प्राणसंचारा-भावात् । ततस्तदनन्तरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनै-स्त्यजेत् ॥ २८ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥

महावेध इति । अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनः पुनरावर्तनान्महा-सिद्धयोऽणिमाद्यास्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्पकः । वली जरया चर्मसंकोचः पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः

कम्पस्तान्हन्तीति वलीपलितवेपघ्नः। अत एव साधकेष्व-भ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्यत इत्यर्थः ॥२९॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह—एतदिति। एत-त्त्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम्। अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि—हि यस्माज्जरा वार्द्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान्प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम्। चकार आरोग्यबिन्दुजयादिसमुच्च-यार्थः। एवशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ३० ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने।
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथैतत्त्रयस्य पृथक्साधनविशेषमाह—अष्टधेति। दिने दिने प्रतिदिनम्। यामे यामे प्रहरे प्रहरे। पौनःपुन्ये द्विर्वचनम्। अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते। चशब्दोऽवधारणे। एतत्त्रय-मित्यत्रापि संबध्यते। कीदृशम्? पुण्यानां संभारः समूहस्तस्य

संधायि विधायि। पुनः कीदृशम्? पापानामोघः पूरः समूह इति यावत्। तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाऽभ्यस्तं तदैव पापनाशनम्। सम्यक् सांप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा। एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्त-रीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम्॥ ३१॥

अथ खेचरी—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ ३२॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह—कपालेति। कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात्। भ्रुवोरन्तर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात्। सा खेचरीमुद्रा भवति। कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरन्तर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम्॥ ३२॥

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेणाथ वर्धयेत्तावत्।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह—छेदनेति। छेदनमनुपदमेव वक्ष्य-माणम्। चालनं हस्तयोरङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा

सव्यापसव्यतः परिवर्तनम् । दोहः करयोरङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनम् । तैः कलां जिह्वां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् । तावत् । कियत् ? यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति । यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥३३॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥

तत्साधनमाह—स्नुहीति । स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रेण सदृशं स्नुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानन्तरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगुच्छिनेच्छिन्द्यात् । रसनामूलसिरामिति कर्माध्याहारः । 'मिश्रेयाऽप्यथ सीहुण्डो वज्रः स्नुक् स्त्री स्नुही गुडा' इत्यमरः ॥ ३४ ॥

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

ततश्छेदनानन्तरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैन्धवं सिन्धुदेशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षयेच्छिन्नं सिराप्रदेशम् । सप्तदिनपर्यन्तं छेदनं सैन्धवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयम् । योगाभ्यासिनो लवणनिषे-

धात्वदिरपथ्याचूर्णं गृह्णन्ति । मूले सैन्धवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण । सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् । ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वं छेदनापेक्षयाऽधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलसिराबन्धः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

एवमिति । एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तदिनपर्यन्तं तावदेव सायंप्रातश्छेदनं घर्षणं च । अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यन्तं नित्यं युक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः । षण्मासादनन्तरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या सिरा कपालकुहररसनासंयोगप्रतिबन्धकीभूता नाडी तया बन्धो बन्धनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह—कलामिति । कलां जिह्वां पराङ् मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं

प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पन्थाः त्रिपथस्तस्मिन् त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्संयोजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

अथ खेचरीगुणाः—रसनामिति । ऊर्ध्वं तालूपरि विवरं गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते । व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते । 'उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दो व्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते ॥' इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

न रोग इति । यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तन्द्रा तामसान्तःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न

क्षुधा न तृषा पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाऽभिभूताव-
स्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

पीड्यत इति । यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न योज्यते ॥ ४० ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥

चित्तमिति । यस्माद्धेतोश्चित्तमन्तःकरणं खे भ्रुवोरन्तरवकाशे चरति जिह्वा खे तत्रैव गता सती चरति । तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययम् । सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता । खे भ्रुवोरन्तर्व्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता । उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥ ४१ ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याऽऽश्लेषितस्य च ॥

खेचर्येति। येन योगिना खेचर्या मुद्रया लम्बिकाया ऊर्ध्वमिति लम्बिकोर्ध्वतः। 'सार्वविभक्तिकस्तसिः'। लम्बिका तालु तस्या ऊर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम्। कामिन्या युवत्याऽऽश्लेषितस्यालिङ्गितस्यापि। चशब्दोऽप्यर्थे। तस्य बिन्दुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥४३॥

चलित इति। चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिन्दुर्यदा यस्मिन् काले योनिमण्डलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुञ्चनरूपया। एतेन वज्रोली मुद्रा सूचिता। निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याऽऽकर्षणशक्त्या हृतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति। सुषुम्णामार्गेण बिन्दुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वजिह्व इति। ऊर्ध्वा लम्बिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा। सोमस्य लम्बिकोर्ध्व-विवरगलितचन्द्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति। योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन

पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभिभवति । न संदेहः, निश्चित-मेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥

नित्यमिति । यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ४६ ॥

यथा वह्निः इन्धनानि काष्ठादीनि न मुञ्चति दीपको दीपः तैलवर्त्तिं च तैलयुक्तां वर्त्तिं न मुञ्चति । तथा सोमकलापूर्णं चन्द्र-कलामृतापूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुञ्चति न त्यजति ॥ ४६ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्य इतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

गोमांसमिति । गोमांसं पारिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगि-नम् । अहमिति ग्रन्थकारोक्तिः । कुले जातः कुलीनः तं

सत्कुलोत्पन्नं मन्ये। तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते—'कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत्। जायते योगवान् यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत्॥ दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान्। भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम्'। ब्रह्माण्डपुराणे—'गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च। ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते'। राजयोगे वामदेवं प्रति शिववाक्यम्—'राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः। तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम्॥ दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः। अज्ञा मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः॥ अन्तर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः। त्वया मयाऽप्यसौ बन्धः शेषैर्वेद्यस्तु किं पुनः॥' इति। कूर्मपुराणे—'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा। ये युञ्जते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः॥' इति। इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः, सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात्॥ ४७॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥ ४८॥

गोमांसशब्दार्थमाह—गोशब्देनेति। गोशब्देन गोहत्याकारकेण शब्देन गोपदेनेत्यर्थः। जिह्वा रसनोदिता कथिता।

तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपोर्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह—जिह्वेति । जिह्वायाः प्रवेशो लम्बिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते । यः सारः चन्द्राद् भ्रुवोरन्तर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥५०॥

चुम्बन्तीति । यदि चेल्लम्बिकाग्रं लम्बिकोर्ध्वविवरं चुम्बन्ती स्पृशन्ती । अनिशं निरन्तरम् । अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्यन्दः स्यन्दनं प्रस्रवणमस्यामस्तीति रसस्यन्दिनी यस्य जिह्वा । क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा कटुकं मरिचादि

अम्लं चिञ्चाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना। मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा। तथाशब्दः समुच्चये। एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वात्स्निग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्यन्दने तथात्वमुक्तम्। तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अन्तकरणं नाशनं शस्त्राणा-मायुधानामागमः स्वामिमुखागमनं तस्योदीरणं निवारणम्। अष्टौ गुणा आणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्वम-मरभावः सिद्धानामङ्गनाः सिद्धाङ्गनाः सिद्धाश्च ता अङ्गनाश्चेति वा तासामाकर्षणमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ५० ॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन्।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति॥

मूर्ध्न इति। रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य। उर्ध्वमुत्तानमास्यं यस्य सः। ऊर्ध्वास्य इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता। परां शक्तिं कुण्डलिनीं चिन्तयन् ध्यायन्सन् प्राणात्साधनभूतात्। षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं कण्ठस्थाने वर्तमानं तस्मिन् गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं

धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरङ्गं च तत्कलाजलं सोमकलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता विविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान्धारयति । हठाद्धठयोगात् । प्राणात्साधनभूता-द्वाप्तमिति वा योजना । प्राणैरिति क्वचित्पाठः ॥ ५१ ॥

यत्प्रालेयप्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमतो नान्यथा कायसिद्धिः ॥५२॥

यत्प्रालेयेति । मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्णा मेरुस्तस्य मूर्धो-परिभागस्तस्यान्तरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धान्तरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरम् , तस्मिन्विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः । तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्व-मित्युक्तम् । निम्नगानां गङ्गायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्या-

नामिडापिङ्गलासुषुम्णागांधारीप्रभृतीनां तत्तस्मिन्विवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चन्द्रात्सोमाद्वपुषः शरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चन्द्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति। अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात्। सुकरणे बद्धे चन्द्रसारस्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः। अन्यथा सुकरणबन्धनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात् ॥ ५२ ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम्।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरञ्जने ॥ ५३ ॥

सुषिरमिति। पञ्च यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैः समन्वितं सम्यगनुगतम्। सप्तस्रोतःसमन्वितमिति क्वचित्पाठः। ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽञ्जनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्त-न्निरञ्जनं तस्मिन्निरञ्जने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति। 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् ॥५३॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्ब एकाऽवस्था मनोन्मनी ॥५४॥

एकमिति। सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यम्। तदुक्तं माण्डूक्योपनिषदि—'ओमित्येतदक्षरमिदं

सर्वम्' इति। खेचरी मुद्रा एका मुख्या। निरालम्ब आलम्बनशून्य एको मुख्यो देवः, आलम्बनपरित्यागेनात्मानः स्वरूपावस्थानात्। उन्मन्यवस्थैका मुख्या। 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः। बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अथोड्डीयानबन्धः—

बद्धो येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥५५॥

उड्डीयानबन्धं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह—बद्ध इति। यतो यस्माद्धेतोर्येन बन्धेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्णायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्णां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बन्धो योगिभिर्मत्स्येन्द्रादिभिरुड्डीयनमाख्याऽभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्युत्पत्त्योदाहृतः कथितः। सुषुम्णायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम्। उत्पूर्वात् 'डीङ् विहायसा गतौ' इत्यस्मात्करणे ल्युट् ॥ ५५ ॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥

उड्डीनमिति। महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः। सर्वदा देहावकाशे गतिमत्त्वात्। यस्माद्बन्धादविश्रान्तं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते। सुषुम्णायामित्यध्याहार्यम्। तदेव बन्धविशेषमुड्डीयाननामकं स्यात्। तत्र तस्मिन्विषये बन्धोऽभिधीयते बन्धस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः॥ ५६॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी॥ ५७॥

उड्डीयानबन्धमाह—उदर इति। उदरे तुन्दे नाभेरूर्ध्वं चकारादधः उपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसंलग्नौ स्यातां तथा तानंताननं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात्। णिजर्थोऽविवक्षितः। असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्ताननरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बन्धः। कीदृशः? मृत्युरेव मातङ्गो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः॥ ५७॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते॥ ५८॥

उड्डीयानं त्विति। गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिर्गमनम्।

सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात् । यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरन्तरमभ्यसेत् । उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते । स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥

नाभेरिति । नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूपमुक्तम् । अथ तत्प्रशंसा । षण्मासं षण्मासपर्यन्तम् । उड्डीयानमित्यध्याहारः । अभ्यसेत्पुनः पुनरनुतिष्ठेत् । स मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥६०॥

सर्वेषामिति । सर्वेषां बन्धानां मध्ये उड्डियानकः उड्डियानबन्ध एव । स्वार्थे कप्रत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्मादुड्डियाने बन्धे दृढे सति स्वाभाविकी स्वभावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत् । उड्डियानबन्धे कृते विहंगमगत्या सुषुम्णायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात् ‘ समाधौ मोक्षमाप्नोति ’ इति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

अथ मूलबन्धः—

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

मूलबन्धमाह—पार्ष्णिभागेनेति । पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधःप्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुञ्चयेत् । अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबन्धोऽभिधीयते कथ्यते । पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुञ्चनं मूलबन्ध इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥ ६२ ॥

अधोगतिमिति । यः अधोगतिमधोऽर्वाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुञ्चनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्णायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबन्धं मूलस्य मूलस्थानस्य बन्धनं मूलबन्धस्तं मूलबन्धमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबन्धशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बन्धनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ ६२ ॥

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबन्धमाह—गुदमिति । पार्ष्ण्यो-र्गुल्फयोरधोभागेन गुदं वायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्णाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारं वारं पुनःपुनर्वायुम-पानमाकुञ्चयेद्गुदस्याकुञ्चनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबन्ध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४॥

अथ मूलबन्धगुणानाह—प्राणापानाविति । प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वाधोगती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः बिन्दुरनु-स्वारस्तौ मूलबन्धेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसिद्धिं यच्छतो ददतः । अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न, संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः—मूलबन्धे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्णायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति । ततो नादेन सह

प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिन्दुना सहैक्यं बिन्दुनाऽऽधाय मूर्ध्नि गच्छतः । ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ६५ ॥

अपानप्राणयोरिति । सततं मूलबन्धनान्मूलबन्धमुद्राकरणाद-पानप्राणयोरैक्यं भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६॥

अपान इति । मूलबन्धनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तस्मिंस्तादृशे सति वह्निमण्डलं वह्नेर्मण्डलं त्रिकोणं नाभेरधोभागेऽस्ति । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन— 'देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् । त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥ मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥' इति । तदा तस्मिन् काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते । वर्धेत इति क्वचित्पाठः ॥ ६६ ॥

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

तत इति । ततस्तदनन्तरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ । उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो गच्छतः । ततोऽनलशिखादैर्घ्या-दुष्णस्वरूपकादिति वा योजना । तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यन्तमधिकं दीप्तो भवति । तथेति पादपूरणे । अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राण-संगत्याऽत्यन्तं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजंगीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८ ॥

तेनेति । तेन ज्वलनस्यात्यन्तं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुण्डलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति । दण्डेनाहता दण्डाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निःश्वस्य निःश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥

बिलं प्रविष्टेति । ततः ऋजुताप्राप्त्यनन्तरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्णा तस्या अन्तरं मध्यं

गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबन्धो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

अथ जालंधरबन्धः—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चुबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

जालंधरबन्धमाह— कण्ठमिति । कण्ठे गले बिलमाकुञ्च्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरङ्गुलान्तरितप्रदेशे चुबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात् । अयं कण्ठाकुञ्चनपूर्वकं चतुरङ्गुलान्तरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चुबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्या यत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बन्धः । कीदृशः ? जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीति विनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

बध्नाति हि सिराजालमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह—बध्नातीति । हि यस्मात्सिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति । अधो गन्तुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति । ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बन्धः जालं दशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । कीदृशः ?

कण्ठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥

जालंधरगुणानाह—जालंधर इति । कण्ठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोच आकुञ्चनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कण्ठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बन्धे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति । वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यन्तरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥ ७३ ॥

कण्ठसंकोचनेनेति । दृढं गाढं कण्ठसंकोचनेनैव कण्ठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिङ्गले स्तम्भयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कण्ठस्थाने स्थितं विशुद्ध्याख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयम् । कीदृशम् ? षोडशाधारबन्धनं षोडशसंख्याका ये आधारा अङ्गुष्ठाधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तास्तेषां बन्धनं बन्धनकारकम् । 'अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिङ्गनाभयः । हृद् ग्रीवा कण्ठदेशश्च लम्बिका नासिका तथा ॥

भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरन्ध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः' ॥ तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धान्तादवगन्तव्यः ॥ ७३ ॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत् ।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥

उक्तस्य बन्धत्रयस्योपयोगमाह—मूलस्थानमिति । मूलस्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुञ्च्य सम्यगाकुञ्च्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बन्धं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । इडां पिङ्गलां गङ्गां यमुनां च बद्ध्वा । जालंधरबन्धेनेत्यर्थः, 'कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेत्' इत्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्णामार्गे वाहयेद्गमयेत्प्राणमितिशेषः ॥ ७४ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

अनेनेति । अनेनैवोक्तेनैव विधानेन पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति । गत्यभावपूर्वकं रन्ध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयान्मृत्युर्जरारोगादिकम् । तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततन्द्रालस्यादिकं ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥

बन्धत्रयमिति । इदं पूर्वोक्तं बन्धत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबन्धेऽतिप्रशस्तं महासिद्धैर्मत्स्येन्द्रादिभिश्चकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिः सेवितं सर्वेषां हठतन्त्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानन्ति ॥ ७६ ॥

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ७७ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्धातत्वेन पिण्डस्य जराकरणं तावदाह—यत्किंचिदिति । दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्माद्दिव्यरूपिणश्चन्द्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यत्किंचिद्यत्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति सत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति । तदुक्तं गोरक्षनाथेन—'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ॥ वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः । करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ॥' इति । तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रसनेन पिण्डो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥

तत्रेति । तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वञ्च्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति । तद्गुरूपदेशतः गुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यम् । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥

विपरीतकरणीमाह—ऊर्ध्वनाभेरिति । ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधः अधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यमृतात्मा चन्द्रो भवति । प्रथमान्तपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधः शशी भवति । यदातदापदयोरध्याहारेणान्वयः । इयं विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चन्द्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणेनान्वर्था गुरुवाक्येन गुरोर्वाक्येनैव लभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

नित्यमिति । नित्यं प्रतिदिनमभ्यासोऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्यावहितस्य जठराग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणम् । तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनं बहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । च पादपूरणे ॥ ८० ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ८१ ॥

अल्पाहार इति । यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्दहेत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चन्द्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणक्रियामाह—अधःशिरा इति । अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलम्ब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां स्कन्धाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यन्तरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरम्भदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥८२॥

दिने दिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणं एकदिनवृद्ध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात्। विपरीतकरणीगुणानाह—वलितमिति। वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च, षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्वमुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते। साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः। यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत्। एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबन्धकत्वमपि सूचितम्। तदुक्तं विष्णुधर्मे—'स्वदेहारम्भकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः। यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम्॥' इति। विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम्—'यथा प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः। अत एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यते' इति। भागवतेऽप्युक्तम्—'देहं जह्यात्समाधिना' इति॥ ८२॥

अथ वज्रोली—

> **स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।**
> **वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम्॥**

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह—स्वेच्छयेति। योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण

स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह—तत्रेति । तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं वक्ष्ये कथयिष्ये । कीदृशं वस्तुद्वयम्? यस्य कस्यचित् यस्य कस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा, 'दुः स्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशात् । किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह—क्षीरमिति । एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानन्तरमिन्द्रियनैर्बल्यात्तद्बलार्थं क्षीरपानं युक्तम् । केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः । तस्यान्तर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तम् । द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथ वा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह—मेहनेनेति । मेहनेन स्त्रीसङ्गानन्तरं बिन्दोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथ वा नार्यपि

योषिदपि शनैर्मन्दं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुञ्चनमूर्ध्वमुपर्याकुञ्चनं मेढ्राकुञ्चनेन बिन्दोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नया-त्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वाङ्गप्रक्रियामाह—यत्नत इति । शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मन्दं मन्दं यथाऽग्नेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेढ्रविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुनः पुनः कुर्वीत । अथ वज्रोलीसाधनप्रक्रिया—सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशाङ्गुलमात्रां शलाकां कारयित्वा तस्या मेढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकाङ्गुलमात्रां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यङ्गुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यङ्गुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशाङ्गुलमात्रप्रवेशे मेढ्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशाङ्गुलमात्रां द्व्यङ्गुलमात्रव-क्रामूर्ध्वमुखां कारयित्वा तां द्वादशाङ्गुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यङ्गुलमात्रं बहिः स्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनीभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेढ्र-

प्रवेशितद्वादशाङ्गुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यङ्गुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात्। तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति। ततो जलस्य मेढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत्। जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्त-श्लोकरीत्या बिन्दोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसेत्। बिन्द्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः। इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्य। खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यग् भवति ॥ ८६ ॥

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

एवं वज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह—नारीभग इति। नारीभगे स्त्रीयोनौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिन्दुश्च पतद्बिन्दुस्तं पतद्बिन्दुं रतिकाले पतन्तं बिन्दुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत्। पतनात्पूर्वमेव। यदि पतनात्पूर्वं बिन्दोराकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदित्याह—चलितं चेति। चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिन्दुं चकारात्तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत् ॥ ८७ ॥

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ८८ ॥

वज्रोलीगुणानाह—एवमिति। एवमुक्तरीत्या बिन्दुं यः संरक्षयेत् सम्यग् रक्षयेत् स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं

जयत्यभिभवति । यतो बिन्दोः शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति । बिन्दोर्धारणं बिन्दुधारणं तस्माद्बिन्दुधारणाज्जीवनं भवति । तस्माद्बिन्दुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ८९ ॥

सुगन्ध इति । योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे बिन्दोः शुक्रस्य धारणं बिन्दुधारणं तस्मात्सुगन्धः शोभनो गन्धो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद्बिन्दुः स्थिरस्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

चित्तायत्तमिति । हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनम् । जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणाच्छुक्राधीनम् । तस्माच्छुक्रं बिन्दुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं रक्षणीयमित्यर्थः । एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥

ऋतुमत्या इति । एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं बिन्दुं च रक्षयेत् । पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति—मेढ्रेणेति । अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो योग-साधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेढ्रेण गुह्येन्द्रियेण सम्य-ग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् । रजो बिन्दुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः क्षिप्तः ॥ ९१ ॥

अथ सहजोली—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जलेषु भस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह—सह-जोलिश्चेति । वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च । तत्र हेतुः एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः । एकशब्दाद्भाव-प्रधानात्पञ्चम्यास्तसिः । सहजोलिमाह—जलेष्विति । गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वोत्तर उत्तरश्लोकेनान्वेति ॥ ९२॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वङ्गलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥९३॥

वज्रोलीति । वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनन्तरं सुखेनैवानन्देनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वङ्गलेपनं शोभनान्यङ्गानि स्वङ्गानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कन्धभुजादीनि तेषु लेपनम् ॥ ९३ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥९४॥

सहजोलिरिति । इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येन्द्रादिभिः । कीदृशी ? सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोल्याख्यो योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः, 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यभिधानात् । कीदृशो योगः ? भोगेन युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥९५॥

अयं योग इति। अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवन्तः सुकृतिनस्तेषां पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यन्तीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां मत्सरा-न्निष्क्रान्ता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेषरहितानाम्। 'मत्सरोऽन्यगुणद्वेषः' इत्यमरः। तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत्। मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत्॥९५॥

अथामरोली—

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां
विहाय निःसारतयाऽन्त्यधारा।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली॥ ९६॥

अमरोलीमाह—पित्तोल्बणत्वादिति। पित्तेनोल्बणोत्कटा पित्तोल्बणा तस्या भावः पित्तोल्बणत्वं तस्मात्। यथा प्रथमा पूर्वा याऽम्बुनः शिवाम्बुनो धारा तां विहाय शिवाम्बुनिर्ग-मनसमये किंचित्पूर्वां धारां त्यक्त्वा। निर्गतः सारो यस्याः सा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निःसारत्वेनान्त्यधारा अन्त्या चरमा या धारा तां विहाय किंचिदन्त्यां धारां त्यक्त्वा। शीतला पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते।

खण्डो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खण्डमतस्तस्मिन् खण्डमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापालिके खण्डकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः। अमरोली प्रसिद्धेति शेषः॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यक्साऽमरोलीति कथ्यते॥९७॥

अमरीमिति। अमरीं शिवाम्बु यः पुमान् नित्यं पिबेत्। नस्यं कुर्वन् श्वासेनामर्या घ्राणान्तर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिने दिने प्रतिदिनं वज्रोलीम् 'मेहनेन शनैः' इति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीति कथ्यते। कापालिकैरिति शेषः। अमरी पीताऽमरी। नस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः॥

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत्।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते॥ ९८॥

अभ्यासादिति। अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चान्द्रीं चन्द्रस्येयं चान्द्री तां चान्द्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयोजयेत्। उत्तमाङ्गेषु शिरःकपालनेत्रस्कन्धकण्ठहृदयभुजादिषु धारयेत्। भस्ममिश्रितां चान्द्रीमिति शेषः। दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते। अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवाम्बुकल्पादवगन्तव्याः॥

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या साऽपि योगिनी ॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह—पुंसो बिन्दुमिति। सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य बिन्दुं वीर्यं समाकुञ्च्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत्, सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया। पुंसो बिन्दुसमायुक्तमिति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम् ॥ ९९ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति ॥१००॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह—तस्या इति। तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः। अत्र संशयो न संदेहो न। तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि बिन्दुभावं गच्छति। बिन्दुना सहैकीभवतीत्यर्थः। अमृतसिद्धौ—'बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम्। अनयोर्बाह्ययोगेन सृष्टिः संजायते नृणाम् ॥ यदाऽभ्यन्तरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते। बिन्दुश्चन्द्रमयः प्रोक्तो रजः

सूर्यमयं तथा ॥ अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिन्दुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा । तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठन्ते सूक्ष्मरूपतः ॥' इति ॥ १०० ॥

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥१०१॥

बिन्दुरिति । स पुंसो बिन्दुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥ १०१ ॥

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥१०२॥

रक्षेदिति । या नार्याकुञ्चनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरि स्थाने नीत्वा रजो रक्षेत् । हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्यं च वस्तु वेत्ति जानाति ध्रुवमिति निश्चितं खेऽन्तरिक्षे चरतीति खेचर्यन्तरिक्षचरी भवेत् ॥१०२॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३॥

देहसिद्धिमिति । वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभते ।

अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः। कीदृशो योगः? भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः॥ १०३॥

अथ शक्तिचालनम्—

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः॥१०४॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्घाततया कुण्डलीपर्यायान् तथा मोक्षद्वारविभेदनादिकं चाह सप्तभिः—कुटिलाङ्गीति। कुटिलाङ्गी १ कुण्डलिनी २ भुजंगी ३ शक्तिः ४ ईश्वरी ५ कुण्डली ६ अरुन्धती ७ चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः॥ १०४॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥१०५॥

उद्घाटयेदिति। यथा येन प्रकारेण पुमान् कुञ्चिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्बलात्कपाटमररमुद्घाटये-दुत्सारयेत्। हठादिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्र संबध्यते। तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुण्डलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्णामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत्, 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः॥ १०५॥

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६ ॥

येनेति । आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरन्ध्रम्, 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । येन मार्गेण सुषुम्णामार्गेण गन्तव्यं गमनार्हमस्ति तद्द्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुद्ध्वा परमेश्वरी कुण्डलिनी प्रसुप्ता निद्रिताऽस्ति ॥ १०६ ॥

कंदोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥

कंदोर्ध्वे इति । कुण्डली शक्तिः कंदोर्ध्वे कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता, मूढानां बन्धनाय सुप्ता । योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवन्ति, मूढास्तदज्ञानाद्बद्धास्तिष्ठन्तीति भावः । तां कुण्डलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतन्त्राणां कुण्डल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ १०७ ॥

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ।
सा शक्तिश्चालिता येन स युक्तो नात्र संशयः ॥१०८॥

कुण्डलीति । कुण्डली शक्तिः सर्पवद्भुजंगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुण्डली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधाराद्रूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबन्धान्निवृत्तः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः, 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥ १०८ ॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०९॥

गङ्गायमुनयोरिति । गङ्गायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्गङ्गायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गङ्गायमुने इडापिङ्गले तयोर्मध्ये सुषुम्णामार्गे तपस्विनीं निरशनस्थितेः, बालरण्डां बालरण्डाशब्दवाच्यां कुण्डलीं बलात्कारेण हठेन गृह्णीयात् । तत्तस्या गङ्गायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम् ॥ १०९ ॥

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥ ११० ॥

गङ्गायमुनादिपदार्थमाह—इडेति । इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गङ्गा गङ्गापदवाच्या, पिङ्गला दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या नदी । इडापिङ्गलयोर्मध्ये

मध्यगता या कुण्डली सा बालरण्डा बालरण्डाशब्द-वाच्या ॥ ११० ॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥१११॥

शक्तिचालनमाह—पुच्छ इति । सुप्तां निद्रितां भुजगीं तां कुण्डलिनीं पुच्छे प्रगृह्योद्बोधयेत्प्रबोधयेत्सा शक्तिः कुण्डली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वं तिष्ठत इत्यन्वयः । एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगन्तव्यम् ॥ १११ ॥

अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या
प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ ११२ ॥

अवस्थितेति । अवस्थिताऽवाक् स्थिता मूलाधारस्थिता फणावती भुजंगी सा कुण्डली सूर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्धमेव प्रहरार्धमात्रं मुहूर्तद्वयमात्रं परिचालनीया परितश्चालयितुं योग्या । परिधानयुक्तिर्देशिका-द्बोध्या ॥ ११२ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ॥ ११३ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाह—ऊर्ध्वमिति । मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरि नाभिमेढ्रयोर्मध्ये । एतेन कंदस्य स्थानमुक्तम् । तथा चोक्तं गोरक्षशतके—'ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगाण्डवत् । तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥' इति । याज्ञवल्क्यः—'गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः । देहमध्यं तनोर्मध्यं मनुजानामितीरितम् ॥ कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलविस्तारमायामं च तथाविधम् ॥ अण्डाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः । चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुन्दमध्यगम् ॥' इति । गुदाद् द्व्यङ्गुलोपर्येकाङ्गुलं मध्यं तस्मान्नवाङ्गुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशाङ्गुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम् । चतुर्णामङ्गुलीनां समाहारश्चतुरङ्गुलं चतुरङ्गुलप्रमाणं विस्तारम् । विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणम् । चतुरङ्गुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदम्बरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम् । कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ ११३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ११४ ॥

सतीति । वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रन्थी तयोर्देशौ प्रदेशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ' इत्यमरः । पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात् । चकाराद्धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत् । गुल्फादूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥ ११४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५ ॥

वज्रासन इति । वज्रासने स्थितो योगी कुण्डलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां कृत्वेत्यर्थः । अनन्तरं शक्तिचालनानन्तरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुम्भकं कुर्यात् । एवंरीत्या कुण्डलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात् । वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं शक्तिचालनानन्तरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥ ११५ ॥

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ११६ ॥

भानोरिति । भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुञ्चनं कुर्यात् । नाभेराकुञ्चनेनैवास्याकुञ्चनं भवति । ततो भानोराकुञ्चनात्कुण्डलीं शक्तिं चालयेत् । मृत्योर्वक्त्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ११६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्णायां समुद्गता ॥११७॥

मुहूर्तद्वयमिति । मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यन्तं तदवधि निर्भयं निःशङ्कं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्णायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ॥११८॥

तेनेति । तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुण्डलिनी तस्याः प्रसिद्धायाः सुषुम्णाया मुखं प्रवेशमार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति । तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतः स्वयमेव सुषुम्णां व्रजति गच्छति । सुषुम्णामुखात्प्रागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥११९॥

तस्मादिति। यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणः सुषुम्णां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुन्धतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत्। तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति॥ ११९॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया॥ १२०॥

येनेति। येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति। अत्रास्मिन्नर्थे बहुनोक्तेन बहुप्रशंसनेन किम्? न किमपीत्यर्थः। कालं मृत्युं लीलया क्रीडयाऽनायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः॥ १२०॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः॥

ब्रह्मचर्येति। ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा, तस्य मण्डलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनन्तरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते। 'नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चन्द्राभः परिपूरितामृत-

तनुः प्राग्घण्टिकायास्ततः । छित्त्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरन्ध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कन्धवत्' ॥ १२१ ॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२॥

कुण्डलीमिति । कुण्डलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा । अथानन्तरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुम्भकं कुर्यात् । नित्यं प्रतिदिनम् । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यसतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः ? न कुतोऽपीत्यर्थः । योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ १२२ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥ १२३ ॥

द्वासप्ततीति । द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुण्डल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्या-सादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः ? न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भव-तीत्यभिप्रायः ॥ १२३ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२४ ॥

इयं त्विति । इयं मध्यमा नाडी सुषुम्णा योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ १२४ ॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥१२५॥

अभ्यास इति । समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वाऽन्तःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाऽभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषाम् । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथ वा पराऽन्या उन्मन्यादिका भद्रा शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ १२५ ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्राऽपि न शोभते ॥१२६॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह—राजयोगमिति । वृत्त्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्वि-

कल्पकवृत्ती राजयोगः। हठं विना राजयोग इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते। पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणः राजयोगादासनं लक्ष्यते। राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धेरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः। राजयोगं विना निशेव निशा कुम्भको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात्। निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुम्भको लक्ष्यते। राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्राऽपि विविधाऽपि विलक्षणाऽपि वा न राजते न शोभते। पक्षान्तरे। राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबन्धस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते, शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात्। राजा चन्द्रः, 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा, इति श्रुतेः। तस्य योगं संबन्धं विना निशा रात्रिर्न राजते। राजयोगं विना नृपसंबन्धं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः। विचित्राऽपि। पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणाऽपि, निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्राऽपि, मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्राऽपि न राजते॥ १२६॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा॥ १२७॥

मारुतस्येति। मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुम्भकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत्। मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ १२७ ॥

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥१२८॥

मुद्रा उपसंहरति—इतीति। आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन। इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः। तासु मुद्रासु मध्ये एकैकाऽपि प्रत्येकमपि या काचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्यणिमादिप्रदात्री वा ॥ १२८ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम्।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥१२९॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति—उपदेशमिति। यः पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरम्परारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति, स एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः। स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः। ईश्वराभिन्न एव स इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम् ॥१३०॥

तस्येति । तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुम्भकाद्यनुष्ठानविषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान् । आदरश्च विहिततपःकरणम् । भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्धं साकं कालस्य मृत्योर्वञ्चनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानन्दकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

रेचक, पूरक और कुम्भक नाम के प्राणायामों से जब सब नाडियें शुद्ध हो जाती हैं तब अनाहतनाद शरीर के अन्दर अनेक प्रकारों से सदा ही सुनाई पड़ने लगता है।

नादानुसन्धान ! नमोस्तु तुभ्यं
त्वां साधनं तत्त्वपदस्य जाने ।
भवत्प्रसादा त्पवनेन साकं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥४॥

हे नादानुसन्धान ! तुझको मेरा बार बार नमस्कार हो, क्योंकि मैं तुम्हें तत्त्वपद की प्राप्ति का एक उत्तम साधन समझ गया हूँ। तेरा अनुग्रह होने पर मेरा मन प्राण को भी अपने साथ लेकर विष्णुपद (ब्रह्मरन्ध्र) में लीन हो जाता है।

जालन्धरोड्याणनमूलबन्धान्,
जल्पन्ति कण्ठोदरपायुमूलान् ।
बन्धत्रयेऽस्मिन् परिचीयमाने,
बन्धः कुतो दारुणकालपाशात् ॥५॥

जालन्धर, उड्यान तथा मूलबन्ध* ये तीनों बन्ध क्रम से कण्ठ,

---

*मूलबन्ध—सिद्धासन लगाकर गुदा को सिकोड़कर अपानवायु को ऊपर को खेंचे रहो। यह मूलबन्ध कहाता है, गुदा का बारबार तथा अनवरत संकोच ही इस मूलबन्ध का प्रधान अंग है। इसके अभ्यास से अपान और प्राणवायु का ऐक्य हो जाता है।

जालन्धर—ठोड़ी को कण्ठ के नीचे के गड्ढे में जमाकर छाती को ज़ोर से दबाना चाहिये, कि कण्ठमणि का दीखना बन्द होजाय, इसको जालन्धर बन्ध कहते हैं, इससे मृत्यु का क्षय होजाता है। छः मास तक अभ्यास करने से इसकी सिद्धि होजाती है।

उडियान—नाभि को पीठ की तरफ़ को सिकोड़कर कि पेट भीतर

ॐ मूलाधार, इ=कुंडलिनी।

उदर तथा गुदा के मूल में होते हैं, इन तीनों बन्धों के सिद्ध होजाने पर दारुण कालपाश तक का बन्धन नहीं रह जाता।

ओड्याणजालन्धरमूलबन्धै,
रुन्निद्रिताया मुरगाङ्गनायाम्।
प्रत्यङ्मुखत्वा त्प्रविशन्सुषुम्नां,
गमागमौ मुञ्चति गन्धवाहः ॥६॥

उड्यान, जालन्धर और मूलबन्ध इनके करने से जबकि कुण्डलिनी जाग जाती है तो प्राण (पर कुछ ऐसा अद्भुत प्रभाव होता है कि वह) प्रत्यङ्मुख होजाने के कारण सुषुम्ना में प्रवेश करने लगता है और आना जाना छोड़ देता है अर्थात् वाम दक्षिण नासिकावाले अपने स्वाभाविक मार्ग को त्याग देता है।

॥ ॐ ॥

उत्थापिताधारहुताशनोल्कै:
राकुञ्चनैः शश्वदपानवायोः।
सन्तापिताच्चन्द्रमसः पतन्तीं,
पीयूषधारां पिबतीह धन्यः ॥७॥

ऊपर को उठाये हुए आधार से उत्पन्न हुई गरमी की लपटों से तथा अपानवायु के निरन्तर आकुंचन करते रहने से जब चन्द्रमण्डल तपता है तब वहाँ से जो अमृत की धार टपकती है उसे तो कोई धन्य ही पान करता है।

जबकि मूलबन्ध के द्वारा अपानवायु बंद हो जाती है, जब उसका अधोमार्ग बंद हो जाता है और वह भीतर की तरफ़ संकुचित होकर

घुस जाय नाभि को ऊपर उठाया जाय कि हृदयकमल हृदय में खिल उठे इसको 'उडियान बन्ध' कहते हैं यह बन्ध नाभि से नीचे स्वाधिष्ठान-चक्र वस्तिस्थान के ऊपर बनता है। सिद्ध होने पर यह बन्ध मुक्ति के मार्ग को सरल कर देता है इससे भी मृत्यु का क्षय होता है।

घुटने लगती है, उसके घुटते ही मूलाधार में एक प्रकार की गरमी पैदा होजाती है । इस क्रिया के साथ ही जबकि वह अभ्यासी अपानवायु को भी निरन्तर ऊपर को आकर्षण करता रहता है तो अग्नि और वायु का मेल होते ही उस मूलाधार में से अग्नि की ज्वालयें उठने लगती हैं (जोकि एक प्रकार का गरम वायु ही होती हैं जिन्हें आध्यात्मिक भाषा में सूर्य भी कहा जासकता है) जोकि बढ़ते बढ़ते सीधी ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाती है तब तो ब्रह्मरन्ध्रनिवासी चन्द्रमा (जोकि एक प्रकार का शीतल वायु है) में एक विचित्र सन्ताप पहुँचता है । इन सूर्य, चन्द्र नाम के उष्ण तथा शीतल वायुओं का परस्पर मेल होते ही उस चन्द्रमण्डल में से अमृतबिन्दु टपकने लगता है इस अमृतबिन्दु को पीने का सौभाग्य तो किसी धन्य पुरुष के ही हाथ लगता है ।

बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां,
विवर्जितां रेचकपूरकाभ्याम् ।
विशोषयन्तीं विषयप्रवाहं,
विद्यां भजे केवलकुम्भरूपाम् ॥८॥

तीनों बन्धों के अभ्यास के पकने पर पैदा होनेवाली विषयनदी के झरने को सुखाती हुई केवल कुम्भक नाम की विद्या का भजन करता हूँ जिसमें रेचक पूरक नहीं होते ।

अनाहते चेतसि सावधानै-
रभ्यासशूरै रनुभूयमाना ।
संस्तम्भितश्वासमनःप्रचारा,
सा जृम्भते केवलकुम्भकश्रीः ॥९॥

अनाहतचित्त में सावधान रहनेवाले अभ्यासी लोग ही जिसका अनुभव ले सकते हैं जो श्वास और मन के प्रचार को रोक देती है ऐसी कुम्भकश्री बड़ी ही शोभित होती है ।

सहस्रशः सन्तु हठेषु कुम्भाः,
सम्भाव्यते केवल कुम्भ एव।
कुम्भोत्तमे यत्र तु रेचपूरौ,
प्राणस्य न प्राकृतवैकृताख्यौ ॥१०॥

हठयोग में भले ही हज़ारों कुम्भक हों परन्तु यह केवल कुम्भक ही सर्वोत्कृष्ट कुम्भक है। इस उत्तम कुम्भक के सिद्ध होजाने पर तो प्राण के प्राकृत या वैकृत (स्वभाव से या यत्न से होनेवाले) दोनों प्रकार के रेचक, पूरक स्वयमेव बन्द हो जाते हैं।

त्रिकूटनाम्नि स्तिमितेऽन्तरङ्गे,
खे स्तम्भिते केवलकुम्भकेन।
प्राणानिलो भानुशशाङ्कनाड्यौ,
विहायसद्यो विलयं प्रयाति ॥११॥

जब त्रिकूट (नामक भ्रुकुटी के मध्यस्थान) में अन्तरंग (मन) को निश्चल (करके खड़ा) कर दिया जाता है तथा जब केवल कुम्भक से मन को ख (अर्थात् आत्मा) में स्तम्भित कर दिया जाता है तब (प्राण-वायु पर उसका ऐसा प्रभाव पड़ता है कि) वह प्राणवायु दक्षिण और वाम नासिका में रहनेवाली, पिङ्गला और इडा नाम की सूर्य और चन्द्र नाडियों को त्यागकर (बिल का मार्ग बंद होजाने पर अन्दर ही अन्दर घुटकर मरे हुए बिलवासी जीवों की तरह) तत्काल ही विलीन होजाता है।

प्रत्याहृतः केवलकुम्भकेन,
प्रबुद्धकुण्डल्युपभुक्तशेषः।
प्राणः प्रतीचीनपथेन मन्दं,
विलीयते विष्णुपदान्तराले ॥१२॥

जब प्राणवायु को केवल कुम्भक से प्रत्याहृत किया (सकोड़ा) जाता

है और जबकि वह प्राणवायु उद्बुद्ध जगदम्बा कुण्डलिनी (शक्ति के तपी हुई भट्टी के समान तेजोमय अंगों में होकर निकलता अर्थात् उस) के उपभोग से भी बच रहता है तो उस समय (गरमी के कारण अतिसूक्ष्म हुआ) वह प्राणवायु, (अपने दोनों स्वाभाविक मार्गों [वामदक्षिण नासिका] के रुक जाने के कारण—दोनों मार्गों के रुक जाने पर किसी तीसरे मार्ग को ढूँढ लेनेवाले सर्पादि की तरह—तीसरा मार्ग ढूँढने के लिये व्याकुल होजाता है। इतने ही में उसे एक सुषुम्नानामक सूक्ष्ममार्ग दिखाई दे जाता है। बस शनैः शनैः) उसी पश्चिम मार्ग (मेरुदण्ड—पीठ की हड्डी में रहनेवाली सुषुम्ना) के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में (जाकर) विलीन होजाता है।

वहां तो चन्द्रामृत भरा रहता है। यह गरम वायु वहां जाकर वहां की लोकोत्तर शीतलता का स्पर्श पाते ही एक दम विलीन हो जाता है। देखते हैं कि ठण्डे प्रदेश में पहुंचते ही वायु स्तब्ध हो जाता है।

निरङ्कुशानां श्वसनोद्गमानां,
निरोधनैः केवलकुम्भकाख्यैः।
उदेति सर्वेन्द्रियवृत्तिशून्यो,
मरुल्लयः कोपि महामतीनाम् ॥१३॥

जब कि इन निरंकुश श्वासगतियों को केवल कुम्भकों के द्वारा रोका जाता है, तो महामति पुरुषों का प्राणवायु कुछ ऐसे अद्भुत प्रकार से विलीन होता है, कि फिर इन्द्रियों के सम्पूर्ण व्यापार भी स्वभाव से बन्द हो जाते हैं।

न दृष्टिलक्ष्याणि न चित्तबन्धो
न देशकालौ न च वायुरोधः।
न धारणाध्यानपरिश्रमो वा,
समेधमाने सति राजयोगे ॥१४॥

कारं चतुर्वक्त्रं हिरण्मयम्। धारयेत्पञ्च घटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात् ॥८६॥ पृथिवीयोगतो मृत्युर्नभवेदस्य योगिनः। आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ॥८७॥ आपोऽर्धचन्द्रं शुक्लं च वं बीजं परिकीर्तितम्। वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितं ॥८८॥ स्मरेन्नारायणं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनं। शुद्धस्फटिक-संकाशं पीतवाससमुच्युतम् ॥ ८६ ॥ धारयेत्पञ्च घटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते। ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते ॥६०॥ आपायोर्हृदयान्तंच वन्हिस्थानं प्रकीर्तितम्। वन्हिस्त्रिकोणं रक्तं च रेफाक्षरसमुद्भवम् ॥६१॥ वन्हौ चानिलमारोप्य रेफाक्षर समुज्ज्वलम्। त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसंनिभम् ॥६२॥ भस्मोद्धूलित सर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन्। धारयेत्पञ्चघटिका वन्हिनासौ न दाह्यते ॥६३॥ न दह्यते शरीरंच प्रविष्टस्याग्नि मण्डले। आहृदया-द्भ्रुवोर्मध्यं वायुस्थानं प्रकीर्तितम् ॥६४॥ वायुः षट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षरभासुरम्। मारुतं मरुतां स्थाने यकाराक्षरभासुरम् ॥६५॥ धारयेत्तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वतोमुखम्। धारयेत्पञ्चघटिका वायुवत् व्योमगो भवेत् ॥६६॥ मरणं न तु वायोश्च भयं भवति योगिनः। आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्त-माकाशस्थानमुच्यते ॥६७॥ व्योम वृत्तं च धूम्रंच हकाक्षरभासुरम्। आकाशे वायुमारोप्य हकारो-परिशंकरम् ॥६८॥ बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम्। शुद्धस्फटिक संकाशं धृतबालेन्दुमौ-लिनम् ।६६। पञ्चवक्त्र युतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम्। सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषण भूषितम्।१००।

शक्तिचालन (कुण्डली चालन)—

उपनिषदों और योग तथा पुराण, तन्त्र और सन्तों के ग्रन्थों में बताई युक्तियों के अनुसन्धान से जो थोड़ा बोध मुझे हुआ है, उसे पाठकों के सामने प्रकाशित करता हूं।

इनके अतिरिक्त, पुस्तकों के आधार पर ही बिना गुरूपदेश के योगाभ्यास करने वाले थोड़े साधकों की शारीरिक और मानसिक बीमारियों के देखने का भी अवसर मुझे मिला है। इन्हें देखकर मैं इसी निर्णय पर पहुंचा हूं कि कुण्डली जगाने का अभ्यास किसी योगी गुरु से ही सीखना चाहिये।

कुण्डलिनी ही शक्ति है। उसका अपने स्थान से भ्रूमध्य में पहुंचाना ही शक्ति-चालन कहाता है। मुख्य साधन, दो हैं। सरस्वतीचालन और प्राणरोध (कुम्भक)। से कुण्डलिनी ऋज्वी होती है। अर्थात छेड़ने (ताड़ित होने) पर सर्पवत् सीधी होकर अपने शरीर को पसारती या फैलाती है।

शक्तिचालन का अभ्यास एकान्त में करना चाहिये। बारह अंगुल लम्बे चार अंगुल चौड़े नरम या सफेद वस्त्र को आगे करधनी में लगा कर नाभि और इन्द्री को ढक कर, वज्रासन या सिद्धासन पर बैठकर, नासिका से प्राण को खींचकर अपान वायु से बलपूर्वक मिलाना चाहिये। साथ ही साथ मूलबन्ध या अश्विनी मुद्रा द्वारा गुदा का आकुञ्चन करना चाहिये। इससे हठात् वायु सुषुम्ना में प्रवेश करती है। जब वायु ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश कर जाती है तब नाद आरम्भ हो जाता है। जैसा श्रीभगवान आदि शंकराचार्य ने अपने योगतारावली में बताया है। यथा—

ब्रह्मरन्ध्र गते वायौ गिरः प्रश्रवणं भवेत्। शृणोति श्रवणातीतं नादं मुक्तिर्नसंशयः॥

योग कुण्डलिनी उपनिषत् में कुण्डली चालनार्थ इस सरस्वती चालन अभ्यास में बद्ध पद्मासन या वज्रासन पर बैठकर बन्धत्रय समन्वित् इड़ा नाड़ी से शनैः २ पूरक और सूर्यनाड़ी से

रेचन का वार २ दो मुहूर्त पर्यन्त करने से सुषुम्ना में अपान वायु सहित कुण्डलिनी किञ्चित् ऊपर खींची जाती है।

शक्तिचालन के पश्चात् कुण्डलिनी को बलपूर्वक जल्दी से जगाने और षटचक्र तथा ग्रन्थित्रय भेदन कर सुषुम्ना में मूलाधार त्रिकोण से भ्रूमध्य तक पहुंचाने के लिये बन्धत्रय समन्वित भस्त्राख्य कुम्भक का अभ्यास नित्य करना चाहिये। ऐसे अभ्यास काल में शुद्ध चित्त से शिव प्रीत्यर्थ यमनियमादि का पूर्णतया पालन करने वाले अभ्यासी को होसके तो दूध और शुद्ध घृत, माखन आदि का ही सेवन करना चाहिये। आरम्भ में प्राणायाम विधि से नाड़ीशोधन के पश्चात् ही भस्त्राख्य अर्थात् वेग से लोहार की धौंकनी की तरह, मुख बन्द करके इड़ा (वांये) और कभी पिंगला (वांये नथने) से-एक से थकने और पसीना निकलने पर दूसरे से-पूरक और रेचक जल्दी २ और वार २ किये जाते हैं।

मूलवन्ध से अधोगतिशील अपान वायु नीचे की ओर वढ़ने से रोकी जाती है। सन्त चरणदास जी ने मूलबन्ध के लिये बज्रासन या एड़ी को गुदा के नीचे रखने के स्थान में एक कपड़े की गेंद को कसकर गुदामध्य में अभ्यास काल में बांधना बताया है। उड्डीयान बन्ध से वायु, ब्रह्म नाड़ी में उड़कर प्रवेश करती है। जालन्धर बन्ध से अर्थात् कण्ठ का संकोचन कर सिर को झुका कर ठोढ़ी को छाती पर लगाने से कुम्भक काल में छाती की वायु ऊपर की ओर दौड़ती है और ऊपर की तरफ हठ पूर्वक चलाई हुई अपान वायु प्राण की ओर आकर्षित होती है और चन्द्रमण्डल से वर्षता हुआ अमृत अग्नि के मुख में नहीं गिरने पाता।

❀ उपरोक्त शक्तिचालनादि के वर्णन के समर्थक थोड़े अन्य आप्त प्रमाण— ❀

मरुज्जयो यस्य सिद्धः सेवयेत्तं गुरुं सदा। गुरुवक्त्र प्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः ॥८०॥ वितस्ति प्रमितं दैर्घ्यं चतुरङ्गुलविस्तृत। मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ॥८१॥ निरुध्य मारुतं गाढं शक्तिचालन युक्तितः। (योगशिखोपनिषत्)

❀ शक्तिचालन मुद्रा (घेरण्ड संहिता)— ❀

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता। ... नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो वहिः स्थितः। गोपनीये गृहे स्थित्वा शक्ति चालनमभ्यसेत् ॥४७॥ वितस्ति प्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम्। मृदुलं धवल सूक्ष्मं वेष्टनाम्बर लक्षणम् ॥ एवमम्बर युक्तं च कटि सूत्रेण योजयेत ॥ ४८॥ भस्मना गात्रसंलिप्तं सिद्धासन समाचरेत। नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद्बलात् ॥४९॥ तावदाकुंचयेद्गुह्यं शनैरश्विनि मुद्रया। यावद्गच्छेत्सुषुम्नायां प्रवेशयेतद्धठात् ॥५०॥

(इन्हें इसी पुस्तक के पृष्ठ १०७ के योगचूड़ामण्युपनिषत् के ३९ वें श्लोक के बाद पढ़िये)

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढ़तरं बध्वा तु पद्मासनं गाढं वक्षसि संनिधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेष्टितम्। वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं मुञ्चनप्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभान्नरः ॥ ४०॥ योगचूड़ामण्युपनिषत् ॥

निम्न बचनों को इसी लेख के पृष्ठ १०८ पर योगकुण्डल्युपनिषत् के श्लोकों के साथ पढ़िये।

❀ शक्ति और शक्तिचालन (योगकुण्डल्योपनिषत्) ❀

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद् बुध। स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्ति-चालनमुच्यते ।७।

तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम् प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत् ॥ ८ ॥
तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते । ९ । यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली । इड़ायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम् ॥ १० ॥ ... स्वशक्तया चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनः पुनः ॥१२॥ मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः । ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम् ।१३। तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं व्रजेत् । जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः । ॥१४॥ ... यथालगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः । वेगेन पूरयेत् किंचिद्धृत्पद्मावधि मारुतम् ॥३३॥ पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः । यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ३४ ॥ तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं ... यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु । धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम् ।३६। कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिड़यानिलम् । कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥३७॥ कुण्डली बोधकं... ब्रह्मनाड़ीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ।३८॥ ... ग्रन्थित्रय विभेदकम् । विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥ ३९ ॥ चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते । बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः ॥ ४० ॥

❀ बन्धत्रय (योगशिखोपनिषत्)— ❀

बन्धत्रयम् ... यथा क्रमम् । नित्यं कृतेन तेनासौ वायोर्जयमाप्नुवात् ॥१०१॥ चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके ... । बन्धत्रयमिदं कार्यं ... ॥१०२॥ ... गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य पायुमाकुञ्चयेत्-बलात् । वारंवार यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥१०४॥ प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् । गत्वा योगस्य संसिद्धिं...नात्र संशयः ।१०५। कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ।

बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।।१०६।। अभ्यसेत्तदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्। नाभेरूर्ध्व मधश्चापि ताणं कुर्यात्प्रयत्नतः ।।१०८।। ... पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।१०६। कण्ठसंकोच रूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधकः। कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया।११०। बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताप्यायकारकः। अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते।१११। मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः। वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वातु कुण्डलीम् ।११२। कुर्यादनन्तरं भस्त्रीं कुण्डली माशु बोधयेत्। भिद्यन्ते ग्रन्थयो वंशे तप्तलोहशलाकया ।११३। तथैव पृष्ठवंशे स्याद्ग्रन्थिभेदस्तु वायुना ।११४। ... सुषुम्नायां तथाभ्यासात्सततं वायुना भवेत्। रुद्रग्रन्थि ततोभित्वा ततोयाति शिवात्मकम् ११५। चन्द्रसूर्यौ समीकृत्वा तयोर्योगः प्रवर्तते। गुणत्रयमतीतं स्याद्ग्रन्थित्रय विभेदनात् ।११६। शिवशक्तिसमायोगे जायते परमा स्थितिः। ... मोक्षमार्गे प्रतिष्ठानात्सुषुम्ना विश्वरूपिणी ।।११८।।

बन्धत्रय समन्वित युक्त प्राणायाम के अभ्यास से शरीरस्थ पञ्चवाय धीरे २ बश में हो जाते हैं और हठ-पूर्वक अधोगतिशील अपानवायु ऊर्ध्वगामी की जाती है। तब वह मुड़कर सुषुम्ना नाड़ी में कुण्डलिनी सहित प्रवेश कर ऊपर चढ़ती है और जिन २ चक्रों का वह भेदन करती जाती है वे चक्र उलट २ कर ऊर्ध्वमुख होते जाते हैं।

भस्त्राख्य कुम्भक से शरीर की अग्नि की वृद्धि होती है, सुषुम्ना नाड़ी के मुख का श्लेष्म या कफ और अन्य अर्गल (रुकावट) आदि भी नष्ट हो जाते हैं तथा मूलाधार में स्थित तेजनिधि त्रिकोण की वन्हि भी तेज हो जाती है। तब ऊष्ण वायु और जलती अग्नि से ताड़ित

होकर संतप्त विद्युतपुञ्जप्रभामयी या विद्युतस्वरूपा तप्तसुवर्ण की तरह चमकती स्वयम्भूलिंग में लपटी कुण्डलिनी (अत्यन्त सूक्ष्म बाली के रूप की) डंडे से मारी हुई नागिन तुल्य शरीर को सीधा अर्थात् फैलाकर तप्त सूई की भांति सुषुम्ना मुख या ब्रह्मरन्ध्र में वायु और मन सहित प्रवेश करती है। और विद्युद्वत् स्फुरित होकर शीघ्रता से ब्रह्मग्रन्थि तथा चक्रों का भेदन कर हृदय में विष्णुग्रन्थि का भी भेदन कर भ्रूमध्य में रुद्रग्रंथि का भेदन कर तथा शशि मंडल पार कर सहस्त्रार में पहुंच शिव के साथ युक्त होकर मुदित होती है। और वहां से अमृत में लपटी हुई फिर लौट कर मूलाधार में स्थित कुलकुण्ड में प्रवेश कर पूर्ववत् स्वयम्भूलिंग में लिपट कर निद्रालु हो जाती है।

कुण्डलिनी चलाने की अन्य युक्तियों के भी संकेत यथा केवल-कुम्भक, वज्रासनगत-मूलबन्ध का अभ्यास, दीर्घ प्रणवोच्चारण, अन्य मंत्रों-यथा बौद्धों के-"ॐ मणि-पद्मे हुँ", या तांत्रिकों के हुंकार। उसके जगने की अवधि ४० दिन से वर्षों तक बताई गई हैं।

योगाभ्यास तथा ईश्वर चिंतन का उत्तम काल सुषुम्ना स्वर है। यह नाक के दोनों नथनों में भीतर ही भीतर सांस चलने का काल है। इस समय जीवसंज्ञक प्राण इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की संधि पर रहता है।

प्रथम बार २५०] आश्विन शुक्ल १, २००६ । ओरिएन्टल प्रेस, कानपुर ।
प्रकाशक-डाक्टर, श्री प्रसादीलाल झा, एल.एम.एस, आयुर्वेदनिधि। (सर्वाधिकार रक्षित)

चर्चाकी विषय नहीं हैं। इसका आशय यह है कि आसन सुन्दर और सुखद होना चाहिये। (१६३—१८५)

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥

फिर आसनासीन होकर अन्तःकरणको एकाग्र करके सद्गुरुका स्मरण करना चाहिये, पुनः अन्तरंग और बहिरंग, दोनों तरफ सात्त्विक वृत्तिसे भरकर श्रद्धापूर्वक तबतक सद्गुरुका स्मरण करते रहना चाहिये, जबतक अहंभावकी जड़ता एकदम चली न जाय, सारे विषयोंकी बिलकुल विस्मृति न हो जाय, ऐन्द्रिक चपलता एकदम रुक न जाय और चित्त एकाग्र होकर हृदयमें प्रतिबिम्बित न हो जाय और इस प्रकारकी स्वाभाविक एकताकी स्थिति बिलकुल मिल न जाय। फिर इसी आत्मज्ञानवाली स्थितिमें आसनासीन रहना चाहिये। ऐसी स्थितिमें यह अनुभव होने लगेगा कि शरीर स्वतः सँभलता हुआ ठीक रास्तेपर आ रहा है और देहमेंकी वायु एक ही जगहपर इकट्ठी हो रही है। इस स्थितिमें बैठते ही प्रवृत्ति विमुख हो जाती है, चित्तकी समाधि निकट आ जाती है और योगाभ्यासका साधन होता है। अब हम यह बतलाते हैं कि उस समय मुद्राकी स्थिति कैसी होनी चाहिये।

पहले-पहल पिण्डलीको जाँघसे सटाकर पैरके तलवेको ऐसे तिरछे करने चाहिये कि वे ऊपरकी ओर हो जायँ और तब उन्हें गुद-स्थानके मूलमें रखकर बलपूर्वक दबाना चाहिये। दाहिने तलवेसे गुद-स्थानकी सीवनका ठीक बीचवाला भाग दबाना चाहिये। इस क्रियासे बायाँ तलवा बड़ी सरलतासे ठीक ऊपर जमकर बैठ जायगा। गुदा और वृषणके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर होता है। उसमेंसे यदि दोनों ओर डेढ़-डेढ़ अंगुल छोड़ दिया जाय तो बीचमें एक अंगुल बचा रह जाता है, वहींपर एड़ीका पिछला भाग रखकर और सारे शरीरका वजन खूब नाप-तौलकर उस स्थानको ठीक तरहसे दबाना चाहिये। फिर पीठके निचलेवाले हिस्सेको इस प्रकार

हलकेपनसे ऊपर उठाना चाहिये, जिसमें यह भी भान न हो कि ऊपरका शरीर उठाया गया है अथवा नहीं और दोनों घुटनोंको भी उसी प्रकार उठाकर रखना चाहिये। हे पार्थ! इस क्रियासे सारे शरीरका वजन एड़ीके केवल अग्रभागपर आ पड़ेगा। हे अर्जुन! इस आसनका नाम मूलबन्ध है और इसीको लोग वज्रासन भी कहते हैं। इस प्रकार जब गुदा और वृषणके बीचोबीच स्थित आधारचक्रपर ऊपरके शरीरका सारा भार पड़ता है, और शरीरके नीचेका भाग दबता है, तब आँतोंमें संचार करनेवाला अपानवायु उलटे शरीरके भीतरी भागकी ओर अर्थात् पीछेकी ओर हटने लगता है। (१८६—२००)

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥

पुनः हाथकी हथेलियाँ सम्पुटाकार (दोनेकी तरह) होकर स्वतः बायें पैरपर आकर टिक जाती हैं और मालूम पड़ता है कि कन्धोंकी कुछ ऊँचाई बढ़ गयी है। शरीर-दण्ड सीधा स्थिर रहता है और उसके मध्यमें मस्तक घुसा हुआ-सा जान पड़ता है और नेत्र-द्वारके किंवाड़रूपी पलकें स्वतः बन्द होती-सी दीखती हैं। नेत्रोंकी ऊपरवाली पलकें तो बन्द हो जाती हैं, पर नीचेवाली पलकें खुली रहती हैं। इससे आँखें अर्धोन्मीलित रहती हैं, फिर दृष्टि भीतरकी तरफ बढ़कर थोड़ा-सा बाहरकी तरफ आती है और आकर नासाग्रपर टिक जाती है। इस प्रकार दृष्टि भीतरकी तरफ जानेके कारण फिर बाहर नहीं जा सकती; और तब उस अर्धविकसित दृष्टिको नासाग्रपर ही स्थिर होना पड़ता है। फिर किसी दिशामें दृष्टिक्षेप अथवा किसीके रूप-रंगको देखनेकी इच्छा स्वतः समाप्त हो जाती है। सिर दबकर नीचे बैठ जाता है और ठुड्डी कण्ठके नीचेके गड्ढेमें जम जाती है और सिर बिलकुल वक्षसे जा सटता है। इससे कण्ठनलिका भी उसीमें सिमटकर फँस जाती है, इस प्रकार जो बन्ध बनता है, उसीको जालन्धर कहते हैं। नाभि ऊपर उठ आती है और पेट भीतर घुस जाता है, किन्तु हृदय-कोश प्रफुल्लित हो

जाता है, इस प्रकार नाभिके नीचे स्वाधिष्ठान चक्रके ऊपर जो बन्ध बनता है, उसे उड्डीयान-बन्ध कहते हैं। इस प्रकारकी बन्ध-मुद्रासे शरीरके बाह्य अंगोंपर योगाभ्यासका प्रभाव पड़ता है। (२०१—२१०)

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

इस प्रकार शरीरके बाहर अभ्यासकी छाया दीखती है और शरीरके भीतरका वह आधार ही समाप्त हो जाता है, जिसमें मनोवृत्तियाँ रहती हैं। कल्पना बन्द हो जाती है और प्रवृत्ति शान्त हो जाती है। शरीर, भाव तथा मन सहज ही विराम पाते हैं। फिर इस बातकी कुछ सुध-बुध ही नहीं रह जाती कि भूख क्या हो गयी और निद्रा कहाँ चली गयी! हे पार्थ! अभी मैंने तुम्हें जो मूलबन्धके विषयमें बतलाया है, उसके द्वारा सम्यक् रूपसे बँध जानेके कारण अपानवायु शरीरमें पीछेकी तरफ पलटती है और दबाव पड़नेके कारण फूलने लगती है। फिर वह कुपित होकर मत्त होती है और उसी बन्द स्थानमें गड़गड़ाने लगती है और नाभिप्रदेशमें स्थित मणिपुर नामक चक्रको रह-रहकर धक्के देती रहती है। तत्पश्चात् जब यह हलचल शान्त हो जाती है,तब वह देहरूपी गृहकी खोज करके बचपनसे लेकर आजतक जितना मल अन्दर इकट्ठा रहता है, वह सब देहके बाहर निकाल फेंकती है। अपानवायुकी यह तरंग देहके भीतर तो समा ही नहीं सकती, इसलिये वह कोठोंमें प्रविष्ट कर कफ और पित्तको आश्रय-स्थानसे बाहर कर देती है। फिर यह ऊपर उठी हुई अपानवायु रक्त आदि सप्त धातुओंके समुद्रको उलट देती है, मेदके पर्वतोंको फोड़कर चूर-चूर कर देती है और हड्डियोंके भीतर मिली हुई मज्जातकको बाहर निकाल फेंकती है। वायु-मार्गकी नलिकाका खुलासा करती है और समस्त अवयवोंको ढीला कर देती है। इस प्रकार अपने इन लक्षणोंसे यह अपानवायु योगकी साधना करनेवाले नवसाधकोंको भयभीत कर देती है; परन्तु साधकोंको भयभीत नहीं होना चाहिये। इसका कारण यह है कि यह अपानवायु कुछ व्याधि उत्पन्न करती है और साथमें

ही उसका परिहार भी करती रहती है। शरीरमें रहनेवाले कफ और पित्त आदि जो जलीय तत्त्व हैं तथा मांस और मज्जा इत्यादि जो पृथ्वीके अंश हैं, वह उन सबको एकमें मिला देती है। इसी बीचमें, हे धनुर्धर! वज्रासनकी उष्णताके कारण कुण्डलिनी नामकी शक्ति जाग्रत् होती है। जैसे नागिनका कुंकुमकी तरह लाल बच्चा कुण्डली मारकर सोता है,वैसे ही यह छोटी-सी कुण्डलिनी साढ़े तीन फेरेकी कुण्डली मारकर अधोमुख होकर सर्पिणीकी भाँति सोयी रहती है। विद्युत्के बने हुए कंकण अथवा अग्नि-ज्वालाकी रेखा अथवा सोनेके घोंटे हुए पाँसेकी भाँति यह कुण्डलिनी नाभिप्रदेशकी अत्यन्त छोटी-सी संकुचित जगहमें बहुत अच्छी तरहसे बँधी हुई पड़ी रहती है। परन्तु जिस समय उसपर वज्रासनका दबाव पड़ता है, उस समय वह जाग उठती है, फिर जैसे कोई नक्षत्र टूट पड़ता है या सूर्यासन छूट जाता है या स्वयं तेजके बीजमेंसे कोमल अंकुर निकलता है, वैसे ही यह कुण्डलिनी अपना घेरा त्याग देती है और मानो कौतुकसे अँगड़ाई लेती हुई नाभिकन्दपर खड़ी हो जाती है। वह बहुत दिनोंकी भूखी रहती है, तिसपर वह दबाकर जगायी जाती है; इसलिये वह अपना मुख बड़े आवेशसे ऊपरकी ओर उठाकर फैलाती है। हे किरीटी! तत्क्षण उसे अपने समक्ष वह अपानवायु प्राप्त हो जाती है जो हृदय-कोश-तलमें आकर जमी रहती है; और तब वह उस वायुको अपने अधीन कर लेती है। अपने मुखकी ज्वालासे वह उसे ऊपर-नीचे और चतुर्दिक् आवेष्टित कर लेती है तथा मांसके निवाले लेने लगती है। जिस-जिस स्थानपर मांस रहता है, उस-उस स्थानपर पहुँचकर वह उसे खाने लगती है और अन्तमें वह हृदयके भी एक-दो निवाले ले ही लेती है। फिर वह तलवों तथा हथेलियोंकी भी खोज-खबर लेती है और तब ऊपरके हिस्सेपर भी हाथ लगाती है। इस प्रकार वह शरीरके अंग-प्रत्यंगकी तलाशी लिये बिना शान्त नहीं रहती। वह नीचेके हिस्सोंको भी क्षमा नहीं करती। और-तो-और वह नाखूनोंका भी सत्त्व निचोड़ लेती है और त्वचाको धोकर हड्डीके ढाँचोंसे जोड़ देती है। वह अस्थियोंकी

नलियोंतकका सत्त्व पी लेती है। नसोंकी जालतक चट कर डालती है जिससे बाहरी रोमकूप भी बन्द हो जाते हैं।

तदनन्तर, वह प्यासी कुण्डलिनी सप्त धातुओंके समुद्रको एक ही घूँटमें पी जाती है जिससे शरीरका हर अवयव शुष्क हो जाता है। फिर नासारन्ध्रसे बारह अंगुलतक जो हवा निकलती है, उसे भी यह कुण्डलिनी दबोचकर भीतरकी ओर खींचने लगती है। ऐसी दशामें अधोवायु ऊर्ध्वगामी होने लगती है और ऊर्ध्ववायु अधोमुखी होने लगती है और इन दोनोंके मध्यमें केवल बीचवाले चक्रके परदेकी ही आड़ रह जाती है। यदि बीचमें यह आड़ न हो तो ये दोनों वायु तत्क्षण परस्पर मिल जायँ। परन्तु कुण्डलिनी कुछ व्याकुल होकर इनसे कहती है—'क्या केवल तुम्हीं दोनों अबतक बची हुई हो?' हे पार्थ! इसका मतलब यह है कि यह कुण्डलिनी शरीरमेंसे पृथ्वी-तत्त्वको खाकर भी साफ कर डालती है और जल-तत्त्वका तो नामोनिशान ही मिटा डालती है। जब यह शरीरमेंसे पृथ्वी और जल दोनों महाभूतोंको चबा डालती है, तब यह बिलकुल संतृप्त हो जाती है और तब किंचित् शान्त होकर सुषुम्ना नामक नाड़ीके पास रहती है। वहाँ संतृप्त और सन्तुष्ट होकर वह जो विष उगलती है, वही प्राणवायुके लिये अमृतके सदृश हो जाता है और उस अमृतसे प्राणवायु जीवन धारण करती है। यद्यपि वह प्राणवायु उस विषकी अग्निमेंसे ही निकलती है, पर फिर भी वह शरीरके अन्दर और बाहर दोनों हिस्सेको शीतल कर देती है और तब वह अंग-प्रत्यंगमें फिरसे वह शक्ति भरने लगती है जो वह पहले उनमेंसे निचोड़ चुकी होती है। किन्तु नाड़ियोंके मार्ग भर चुके होते हैं और उनका वेग बन्द हो चुका रहता है और शरीरमें रहनेवाली अपान, व्यान आदि नौ प्रकारकी वायु समाप्त हो चुकी होती है और एकमात्र प्राणवायु ही शेष रहती है, इसलिये शरीरके समस्त धर्म विनष्ट हो जाते हैं।

तत्पश्चात् नासिकाके दोनों रन्ध्रोंकी इडा और पिंगला नामकी नाड़ियाँ परस्पर मिलकर एक हो जाती हैं, उनकी तीनों गाँठें खुल जाती हैं और

शरीरके भीतरी छहों चक्रोंके ऊपरके आवरण फट जाते हैं। फिर नासारन्ध्रोंसे प्रवाहित होनेवाली जिन वायुओंकी समता चन्द्र और सूर्यसे दी जाती है, उनका इस तरहसे नाश हो जाता है कि वे दीपक लेकर ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलते। बुद्धिकी चपलता चली जाती है,नाकमें जो गन्ध शेष रहती है, वह भी कुण्डलिनीके साथ-साथ सुषम्ना नाड़ीमें प्रवेश कर जाती है। इसी बीचमें चन्द्रमाकी सत्रहवीं कलाके अमृतका वह सरोवर, जिसका निवास ऊपरकी ओर है, धीमी गतिसे तिरछा होने लगता है और आकर कुण्डलिनीके मुखके साथ जुड़ जाता है। फिर इस कुण्डलिनीकी नलीमें जो अमृत-रस भरता है, वह अंग-प्रत्यंगमें फैल जाता है और प्राणवायुके योगसे सारे शरीरमें व्याप्त होकर जहाँ-का-तहाँ सूख जाता है, जैसे साँचेको गरम करनेसे उसमें स्थित मोम निकल जाता है और फिर वह साँचा केवल धातु-रससे ही लबालब भरा रहता है, वैसे ही मानो चन्द्रकला इस शरीरके रूपमें अवतरित होती हुई मालूम पड़ती है और उसके चतुर्दिक् केवल त्वचारूपी आवरण ही बचा रहता है। मेघोंके आ जानेसे सूर्य अदृश्य हो जाता है; पर उन मेघोंके चले जानेपर जैसे वह फिर अपनी प्रकाशयुक्त प्रभासे प्रकट होता है, वैसे ही इसी चन्द्रकलाके तेजस्वी स्वरूपपर केवल त्वचारूपी सूखा आवरण ही बचा रहता है और फिर वह भी भूसीकी तरह उड़ जाता है। तब शरीरके अवयवोंकी कान्ति ऐसी प्रतीत होती है कि मानो वह शुद्ध स्फटिकका दोषरहित स्वरूप ही हो अथवा रत्नरूपी बीजमें अंकुर निकला हुआ हो अथवा ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सन्ध्याकालका रंग निचोड़कर यह शरीर बनाया गया है अथवा अन्तस्थ चैतन्यके तेजपुंजकी निर्मल प्रभा है। यह शरीर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कुंकुमसे भरा हुआ अथवा चैतन्यरससे ढाला गया है अथवा मैं समझता हूँ कि यह शरीर साक्षात् मूर्तिमयी शान्ति ही है। यह शरीर मानो आनन्दरूपी चित्रका रंग अथवा ब्रह्मसुखकी प्रत्यक्ष मूर्ति है अथवा सन्तोषरूपी वृक्ष दृढ़तासे रोपा हुआ मालूम पड़ता है। यह शरीर कनक चम्पककी

कली है अथवा अमृतका पुतला है अथवा कोमलताका ऐसा बागीचा है जो वसन्त-ऋतुसे व्याप्त है अथवा शरद्-ऋतुकी आर्द्रतासे चन्द्रबिम्ब पल्लवित हुआ है अथवा यह कल्पना होती है कि स्वयं तेज ही मूर्तिमान् होकर आसनपर बैठा हुआ है। जब कुण्डलिनी चन्द्रकलाके अमृतका पान करती है, तब शरीरकी ऐसी ही दशा हो जाती है। उस समय यमराज (कृतान्त)भी इस शरीरसे भय खाने लगता है, उस समय बुढ़ापा भी दूर-दूरतक नजर नहीं आता। युवावस्थाकी गाँठ खुल जाती है और लुप्त हुई बाल्यावस्था फिरसे प्रकट होती है। यदि केवल अवस्थाके विषयमें सोचा जाय तब तो वह बालकोंके ही सदृश दीखता है; पर उसकी शक्ति इतनी प्रबल होती है कि 'बाल' शब्दका अर्थ 'बल' ही करना पड़ता है। उस समय उसके शरीरमें जो नये तेजयुक्त नख निकलते हैं, उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कनक-वृक्षमें ऐसी रत्नकलिका निकली है, जो कभी मुरझानेवाली न हो। उस समय उसके जो नये दाँत निकलते हैं, वे भी इतने छोटे होते हैं कि उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि मानो जबड़ेमें दोनों ओर हीरक-कणिकाकी पंक्ति बिछायी गयी हो। सारे शरीरपर नुकीले रोम ऐसे दीखते हैं कि मानो सूक्ष्म माणिकके कण हों। हथेलियाँ और तलवे रक्तकमलके सदृश सुन्दर जान पड़ते हैं और उसकी जो आँखें हैं, वे धुलकर इतनी निर्मल हो जाती हैं कि फिर उनका वर्णन कौन कर सकता है! जब मोती अपनी परिपक्वताको प्राप्त होता है, तब वह सीपीमें नहीं समाता, उस समय सीपीकी सीवन (खोल) जिस प्रकार खुल जाती है, उसी प्रकार उसकी दृष्टि भी आँखोंकी पलकोंमें नहीं अँटती और आवेशसे बाहर निकलकर व्यापक होना चाहती है। जिस समय उसकी आँखें अर्धोन्मीलित रहती हैं, उस स्थितिमें वह सारे आकाशको ढँक सकती है। हे पार्थ! योगीका शरीर यद्यपि कान्तिकी दृष्टिसे स्वर्णका होता है, पर भारकी दृष्टिसे वह वायुका ही होता है; कारण कि उसमें पृथ्वी और जलका अंश लेशमात्र भी नहीं होता। फिर उस योगीको समुद्र-पारकी

वस्तुएँ भी दिखायी देने लगती हैं; स्वर्गका मन्द-मन्द स्वर भी सुनायी पड़ने लगता है और पिपीलिकाके मनोभावोंको भी अच्छी तरहसे जान सकता है। वह वायुके अश्वपर सवार होता है; यदि वह जलपर चले तो उसके पैरके तलुए जलसे नहीं भींगते। बस, इसी प्रकारकी तरह-तरहकी सिद्धियाँ उसे मिल जाती हैं।

हे अर्जुन! सुनो, प्राणवायुका हाथ पकड़कर हृदयकोशके तलोंको सीढ़ियोंके डण्डे बनाकर और सुषुम्ना नाड़ीकी सीढ़ी बनाकर जो कुण्डलिनी हृदयतक पहुँच जाती है, उसे जगदम्बा ही जानना चाहिये; वही चैतन्यरूपी चक्रवर्तीकी शोभा है और वही जगत्-बीज ओंकारके अंकुरके ऊपरकी छाया है। वही शून्यकी बैठक और परमात्मारूपी शिवका सम्पुट है अथवा ओंकारकी एकमात्र जन्मभूमि ही है। किंबहुना, जब इस प्रकारकी यह सुकोमल कुण्डलिनी हृदयमें प्रवेश करती है, तब स्वतः होनेवाला दिव्य अनाहत ध्वनिका नाद उठने लगता है। कुण्डलिनीके साथ ही बुद्धिको भी चेतना मिलती रहती है, इसलिये यह दिव्य अनाहत ध्वनि उसे कुछ-कुछ सुनायी पड़ने लगती है। यह अनाहत ध्वनि दस प्रकारकी है,उनमेंसे प्रथम घोष है जो सबसे पहले सुनायी पड़ता है। फिर उसी घोषके कुण्डमें ओंकारके रूपकी ही भाँति अंकित नाद-चित्रकी आकृति बनने लगती है। ये सब बातें केवल कल्पनासे ही समझनी चाहिये। किन्तु कल्पना करनेवालेको भी भला इन सब बातोंकी जानकारी कैसे हो सकती है? पर वास्तविकता तो यह है कि यही समझमें नहीं आता कि उस जगहपर काहेका नाद हो रहा है। किन्तु हे अर्जुन! इस व्याख्यानके चक्करमें पड़कर तो मैं एक बात ही भूल गया। जबतक प्राणवायुका विनाश नहीं होता, तबतक हृदयाकाशमें आवाज होती ही रहती है और वही आवाज इस तरह गूँजती रहती है। जब उस अनाहतरूपी मेघनादसे हृदयरूपी आकाश गूँज उठता है, तब ब्रह्मरन्ध्रकी खिड़की स्वतः खुल जाती है। हे पार्थ! हृदयरूपी आकाशके ऊपर जो महदाकाश होता है, उसीमें चैतन्य

बिना आधारका निवास करता है, ज्यों ही उस हृदयरूपी घरमें कुण्डलिनी परमेश्वरीका प्रवेश होता है, त्यों ही वह अपना तेज उस चैतन्यके समक्ष भोजनके रूपमें अर्पित करती है। ज्यों ही बुद्धिरूपी शाकका इस भोजनके साथ नैवेद्य लगता है, त्यों ही फिर द्वैतका कहीं नामोनिशान भी नहीं रह जाता। फिर कुण्डलिनी अपना तेज छोड़कर प्राणवायुका स्वरूप प्राप्त कर लेती है। यदि तुम यह प्रश्न करो कि उस समय उसका स्वरूप किस प्रकारका हो जाता है तो मैं बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। ऐसा मालूम पड़ता है कि अबतक वायुकी यह पुतली स्वर्णिम पीत वस्त्र धारण किये हुए थी, परन्तु अब वह अपना पीत वस्त्र फेंककर निर्वस्त्र हो गयी है अथवा प्रतीत होता है कि किसी दीपककी ज्योति वायुसे टकराकर बुझ गयी है अथवा जैसे बिजली आकाशमें एक बार चमककर फिर छिप जाती है, वैसे ही हृदयकमलतक स्वर्णशलाकाकी भाँति दिखायी देनेवाली या प्रकाश स्रोतकी भाँति प्रवहमान वह कुण्डलिनी हृदयप्रदेशकी दरीमें अकस्मात् प्रवेश कर जाती है और सद्यः शक्तिका शक्तिमें लय हो जाता है। ऐसी स्थितिमें हम उसे भले ही शक्ति कहकर पुकारें, पर यदि तत्त्वतः विचार किया जाय तो वह प्राणवायु ही होती है। फर्क सिर्फ यही है कि उसका नाद, कान्ति और तेज दृष्टिगोचर नहीं होता। फिर उस दशामें मनको वशमें करने, वायुको रोकने अथवा ध्यान लगानेकी भी कोई जरूरत नहीं रह जाती। उस समय मनमें संकल्प-विकल्प उठनेका कोई प्रश्न ही नहीं। वास्तवमें इस अवस्थाको पंचमहाभूतोंको बिलकुल विनष्ट करनेवाली ही जानना चाहिये।" इस प्रकार योगके द्वारा पिण्ड-से-पिण्डका ग्रसन नाथ-सम्प्रदायका मूल रहस्य है; यहाँ इसी अभिप्रायका संकेत श्रीमहाविष्णुने किया है। यहाँ एक-से-एक गुणोंके ग्राहक हैं, जो कथा सुननेके लिये पूर्ण मनोयोगसे बैठे हुए हैं, यही कारण है कि श्रीकृष्णकी ध्वनितार्थवाली गठरीको छोड़कर मैंने यथार्थरूपी वस्त्रकी गठरी खोलकर सारे लोगोंके आगे रख दी है। (२११—२९२)

मुद्रा : एक दृष्टिकोण

हमारे ऋषि-मुनियों ने इस मानव-जाति को बहुत कुछ दिया। हमारे ग्रहण करने की क्षमता में ही कुछ कमियाँ थीं अन्यथा आज हमारे देश के पदचिन्हों पर पूरा विश्व चल रहा होता। अनेक रहस्यों से उन्होंने पदा हटाया। एक से एक विद्याएँ हमें प्रदान कीं और उसी श्रृंखला में यह एक विज्ञान है जिसे हम मुद्रा विज्ञान कहते हैं। यह आसन, प्राणायाम से अधिक गहरी पहुँच वाला, सूक्ष्म माना जाता है। इनका प्रभाव इतनी गहराई तक पहुँचता है कि हमारी समस्त जीवनदायिनी ऊर्जा की क्षमता अधिक प्रखर और अंतरोन्मुख बनाई जा सके एवं उनमें जो दुर्बलता, रुग्णता व शिथिलता का समावेश हो गया है उसका निवारण हो सके। इन मुद्राओं का उपयोग कर हम अपने जीवन में अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व और आध्यात्मिकता की चरम सीमा का आनंद उठा सकते हैं।

घेरण्ड संहिता में पच्चीस मुद्राओं का वर्णन आता है जो कि सभी अनगिनत लाभों की जन्मदाता हैं परंतु मुख्य रूप से हम उन मुद्राओं का वर्णन करेंगे जिनका प्रचलन ज़्यादा है। अन्य मुद्राओं के लाभ भी हमें इन्हीं मुख्य मुद्राओं से प्राप्त होते हैं। ये सभी मुद्राएँ सरल हैं एवं क्रमिक रूप से हमें सार्थकता प्रदान करती हैं।

1. महामुद्रा

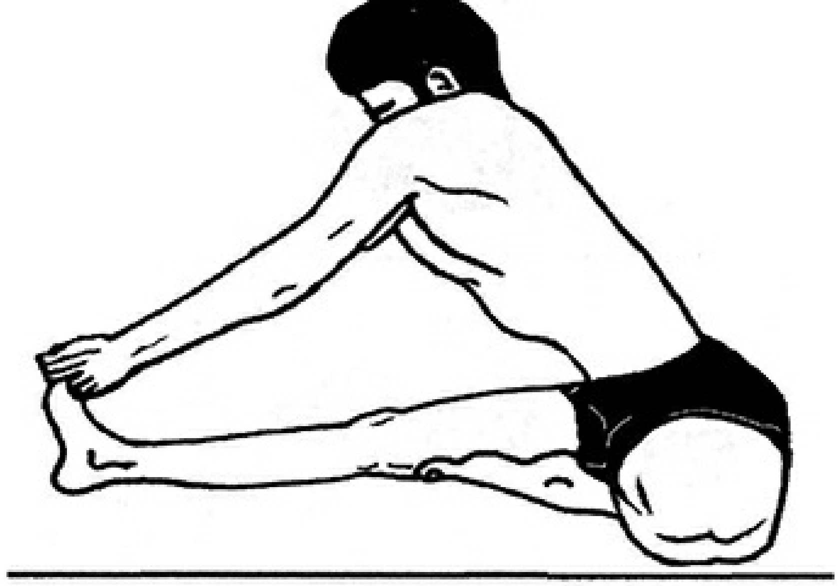

विधि : अपने आसन में प्रसन्नचित्त होकर दोनों पैर सामने फैलाकर बैठ जाएँ। अब दाहिने पैर को मोड़ते हुए एड़ी को गुदा द्वार के नीचे रखें। तत्पश्चात् सामने झुकते हुए बाएँ पैर के अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़ें तथा गहरी श्वास लें। मूल बंध एवं जालंधर बंध लगाएँ। कुंभक करते हुए अंतर्चेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाने का प्रयास करें। कुण्डली-चक्रों का ध्यान करें तथा बंध हटाएँ। धीरे-धीरे रेचक क्रिया करें। यही क्रम दाहिने पैर से करें एवं यथासंभव कुंभक करें। लगभग 3 से 5 चक्र करें।

लाभ:
- उदर-रोग जैसे मंदाग्नि, अजीर्ण, अपच, क़ब्ज़ इत्यादि को दूर करता है।
- बवासीर (अर्श) और प्रमेह का नाश करता है।
- ध्यान के लिए उत्कृष्ट एवं कुण्डली जागरण में सहयोगी।
- बढ़ी हुई तिल्ली एवं क्षयरोग दूर करता है।
- पुराना ज्वर नाशक है।

नोट : विशेष जानने के लिए महामुद्रासन भी देखें।

2. महावेध मुद्रा

विधि : दाहिने पैर की एड़ी को गुदा-द्वार और लिंग के बीच स्थित सीवन में स्थिर करें। बाएँ पैर को आगे फैलाकर बैठ जाएँ। सामने पैर के अँगूठे को दोनों हाथों से झुकते हुए पकड़े। श्वास लें (पूरक करें)। दृष्टि भ्रूमध्य में रखें। त्रिबंध लगाएँ (जालन्धर बंध, मूलबंध, उड्डियान बंध)। अंतःचेतना को देखें।

मूलाधार से उर्ध्व के चक्रों का ध्यान करें। यथाशक्ति रुकें। तत्पश्चात् उड्डियान, मूलबंध और अंत में जालंधर को शिथिल करें तथा नेत्रों को सामान्य करें। धीरे-धीरे रेचक करें।
विशेष : कहीं-कहीं महावेध मुद्रा के समान ही बैठना है और कहीं-कहीं बंध लगाने के बाद कूल्हों को धीरे-धीरे उठाते हुए भूमि पर पटकना है। आसन में दृढ़ता के बाद यह अभ्यास कर सकते हैं।
घेरण्ड संहितानुसार : पुरुष के बिना जैसे स्त्री का लावण्य और रूप यौवन बेकार हैं वैसे ही महावेध के बिना मूलबंध और महाबंध निष्फल है। पहले महाबंध मुद्रा का अभ्यास कर उड्डियान-बंध कर कुंभक से वायु को रोकें, इसे महावेध कहते हैं। जो योगी प्रतिदिन महावेध के साथ महाबंध और मूलबंध का आचरण करते हैं। वे योगी योगियों में श्रेष्ठ हो जाते हैं। बुढ़ापा और मृत्यु उन पर आक्रमण नहीं कर पाते अर्थात् उनका काया कल्प हो जाता है।

लाभ:
- कई सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।
- शरीर पर झुर्रियाँ नहीं पड़तीं। व्यक्ति सदा युवा दिखता है।
- कंपवात नहीं होता। बाल सफेद नहीं होते।
- प्राण सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगते हैं एवं समाधि भी लगती है।

नोट : महाबंध जानने के लिए बन्ध अध्याय देखें।

3. खेचरी मुद्रा

विधि : साधक अपनी जिव्हा को उल्टी ले जाकर तालू-कुहर में स्पर्श कराएँ (मुंह बंद रखते हुए)। यह मुद्रा खेचरी मुद्रा कहलाती है। साधक अपनी जीभ को तालू-कुहर से स्पर्श नहीं करा पाता है अतः जिव्हा को बढ़ाने के तीन साधन बतलाए हैं। छेदन, चालन और दोहन।
छेदन : जीभ के नीचे के भाग में एक सूताकार तंतु से जीभ जबड़े से जुड़ी हुई रहती है इस कारण जीभ को पलटकर तालू से लगाना मुश्किल हो जाता है। इसके लिए प्रतिदिन उस तंतु को सैंधा नमक की डली से रगड़े या यदि शल्य क्रिया द्वारा विच्छेद संभव हो तो वह प्रयोग किया जा सकता है। कुछ दिनों के पश्चात् अभ्यास से जिव्हा का अग्रभाग तालू के ऊपरी छिद्र में आसानी से चला जाता है।

चालन और दोहन : अँगूठे और तर्जनी अँगुली से या महीन (बारीक) वस्त्र से जीभ को पकड़कर चारों तरफ़ उलट फेरकर हिलाने और खींचने को चालन कहते हैं।
मक्खन या घी आदि से लगाकर दोनों हाथों की अँगुलियों से जीभ को खींचें (जैसे गाय का स्तन दोहन करते हैं)। धीरे-धीरे आकर्षण करने का नाम दोहन है।
इन सब क्रियाओं में जो सुखद लगे वह गुरु-निर्देशन में करना चाहिए। तत्पश्चात् जीभ इतनी लंबी हो जाती है कि नासिका के ऊपर भ्रूमध्य तक पहुँच जाती है।

सावधानी : उपरोक्त अभ्यास में जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। अन्यथा परिणाम खतरनाक हो सकते हैं। बिना योग्य शिक्षक के न करें।

विशेष : ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करें। सफलता की संभावना बढ़ जाती है।

लाभ : अभ्यास हो जाने के बाद साधक ब्रह्मरंध्र से टपकने वाले मधुर रस अर्थात् अमृत का पान करता है। जीभ के प्रविष्ट होने पर इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के मार्ग खुल जाते हैं। जिससे समाधि की स्थिति उत्पन्न होती है। अमृतपान करने से साधक अपनी मृत्यु को भी वश में कर लेता है (दीर्घायु होता है)। निद्रा, आलस्य तथा भूख-प्यास इत्यादि अधिक नहीं सताती।

नोट : हमने कुछ साधक देखे हैं जो कि स्वाभाविक रूप से नित्य प्रति अभ्यास करने पर अपनी जिव्हा को इतनी लंबी कर लेते हैं कि वह तालु-कुहर से स्पर्श हो जाए।

4.विपरीतकरणी मुद्रा

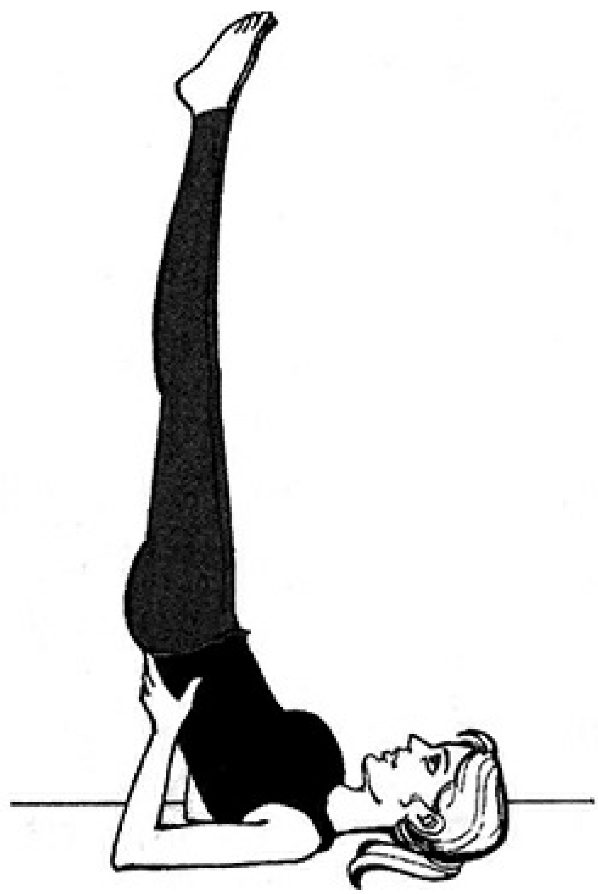

विधि: घेरण्ड संहिता के अनुसार नाभि के मूल में सूर्य नाड़ी है और मुख के तालुओं की जड़ में चंद्र नाड़ी है। जब नीचे से सूर्य नाड़ी अपने तेज से शरीर में स्थित अमृत का पान कर लेती है तब मनुष्य की मृत्यु होती है। इसलिए सूर्य को ऊपर उठाना चाहिए और चन्द्र को

नीचे की ओर ले आना चाहिए। इसका नाम विपरीतकरणी मुद्रा है। इसके अभ्यास के लिए साधक सर्वांगासन की तरह ही दिखने वाली विपरीतकरणी क्रिया करें। थोड़े ही प्रयत्न से मूलबंध और उड्डियान बंध स्वयं लग जाएँगे। घेरण्ड संहिता में आचार्य कहते हैं कि तब पूरक प्राणायाम कर कुंभक करें एवं यथाशक्ति रुकें तो इसको विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं।
सावधानी: उच्च रक्तचाप एवं हृदय रोग से पीड़ित व्यक्ति न करें।

लाभ:
- जो साधक प्रतिदिन अभ्यास करता है वह मृत्यु और बुढ़ापे को जीत लेता है।
- इसके प्रतिदिन अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। अतः आहार की मात्रा संतुलित रखनी चाहिए।
- चक्रों का ध्यान करने से ओज, तेज, बल, वीर्य आदि की वृद्धि होती है।
- युवावस्था बनी रहती है एवं स्थिरता प्रदान करता है।

5. वज्रोली मुद्रा

विधि : रबर की एक विशेष नली जिसे केथेटर कहते हैं, वह 4-5 नम्बर की डेढ़ फीट के करीब लें। यह नली मूत्र नलिका में प्रवेश कराई जाती है। उस रबर की नली के अग्रभाग में चार-पाँच इंच तक शुद्ध घी या बादाम का तेल लगाकर धीरे-धीरे मूत्र नलिका के छिद्र में डालें। पीड़ा होने पर निकाल लें और क्रमश: अभ्यास करें एवं अभ्यास हो जाने पर इससे थोड़ी मोटी नलिका 7-8 नम्बर वाली डालने का अभ्यास करें। अभ्यास हो जाने पर नौलि क्रिया से आँतों को उठाकर मूलाधार को सिकोड़कर मूत्र-प्रणाली का संकुचन करते हुए पहले वायु का आकर्षण करें। तत्पश्चात् जल, दूध, (शुद्ध किया हुआ संस्कारित पारा) का आकर्षण करें। बाद में ये द्रव्य मूत्र त्यागते समय बाहर आ जाते हैं। इसका अभ्यास रबर नली के बाद चाँदी की नलिका से करें।
विशेष : किसी योग्य गुरु के निर्देशन में ही करें।

लाभ:
- ऊर्जा ऊर्ध्वमुखी होती है। अतः शरीर कांतिवान बनता है।
- ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है।
- मानसिक शांति, आनंद व आध्यात्मिक लाभ मिलता है।
- मृत्यु पर्यन्त साधक युवा बना रहता है।
- साधक के शरीर से सुगंध आने लगती है।
- यह मुद्रा साधक को अमृत प्रदान करती हुई विश्व का महान योगी बनाती है।

मुद्राएँ धीरे-धीरे साधक की आत्मा को उत्थान एवं
विशुद्धता की ओर ले जाती हैं।
-RJT

6. योनि मुद्रा/षण्मुखी मुद्रा

विधि : सुखासन में बैठ जाइए। दोनों हाथ अपने चेहरे पर इस प्रकार रखिए कि अँगूठे द्वारा कान के छिद्र, तजनियों द्वारा दोनों आँखें, मध्यमा द्वारा नासिका रंध्र और अनामिका व कनिष्ठा द्वारा होठ के ऊपर आसानी से रखते बन जाए। काकी मुद्रा द्वारा प्राण को खींचकर अपान वायु से मिला दें। शरीर के चक्रों का ध्यान करते हुए या हैं सः मंत्र द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को जगाते हुए साधक अपनी उर्जा को सहस्रार में ले जाएँ। साधक अभ्यास के समय केवल यह धारणा करें कि वह भगवान शिव के साथ शक्तिमय होता हुआ आनंदमय विहार कर रहा है और वह स्वयं पूर्ण ब्रह्म हो गया है। इसे योनिमुद्रा कहा गया है।

लाभ:
- यह दुर्लभ मुद्रा है। इस मुद्रा के अभ्यास से साधक कई पापों से मुक्ति पाता है। (घेरण्ड संहिता)
- शरीर में तेज, बल व वीर्य की वृद्धि होती है।
- शरीर निरोगी होता है।
- यह मुद्रा नया यौवन प्रदान करती है।
- पूर्ण एकाग्रता से अभ्यास करने पर साधक को सूक्ष्म ध्वनियों का अनुभव मिलता है।

देवों के समान दिखना चाहते हो तो प्राणायाम एवं
मुद्राओं का अभ्यास करो।
-RJT

7. शक्तिचालिनी मुद्रा

विधि : घेरण्ड संहिता के अनुसार मूलाधार में जो कुण्डलिनी साढ़े तीन लपेटे कुण्डली मारकर सो रही है, जब तक यह सुप्त अवस्था में है तब तक जीव अज्ञानी ही रहता है। अतः सम्यक् ज्ञान प्राप्ति तक इसको जगाने का अभ्यास करना चाहिए। जैसे बिना ताला खोले द्वार नहीं खोला जा सकता वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति जागरण के बिना ब्रह्मरंध्र का द्वार नहीं खुल सकता। एकांत स्थान में जाकर एक हाथ लंबा और चार अँगुल चौड़ा कोमल वस्त्र नाभि से लपेटकर कमर में बाँधे। शरीर में भस्म, राख आदि लगाकर सिद्धासन में बैठ जाएँ। अब प्राण को खींचकर अपान वायु से मिलाएँ। अब अश्विनी मुद्रा द्वारा गुदा स्थान को संकुचित करते रहें। इस प्रकार कुंभक करने से सर्प रूपिणी कुण्डलिनी जागकर ऊपर की ओर उठती है। शक्ति चालिनी मुद्रा के अभ्यास के बाद योनिमुद्रा का अभ्यास करें।

लाभ:

- प्रतिदिन अभ्यास से विग्रह-सिद्धि सहित सर्व सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।
- सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग समाप्त होते हैं।
- आत्मिक आनंद की प्राप्ति होती है।

यदि आप निरोगी हैं तो सदा निरोग बने रहने के लिए योगाभ्यास करें और यदि आप रोग ग्रस्त हैं तो निरोग होने के लिए योगाभ्यास अवश्य करें ताकि आप स्वस्थ व सुंदर हो जाएँ।

-RJT

8. ताड़ागी मुद्रा

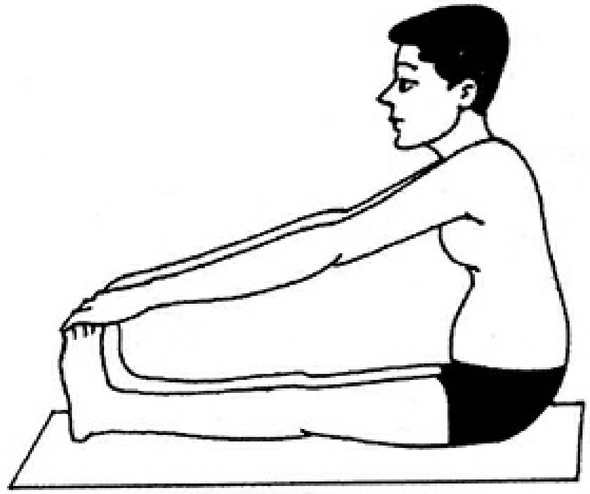

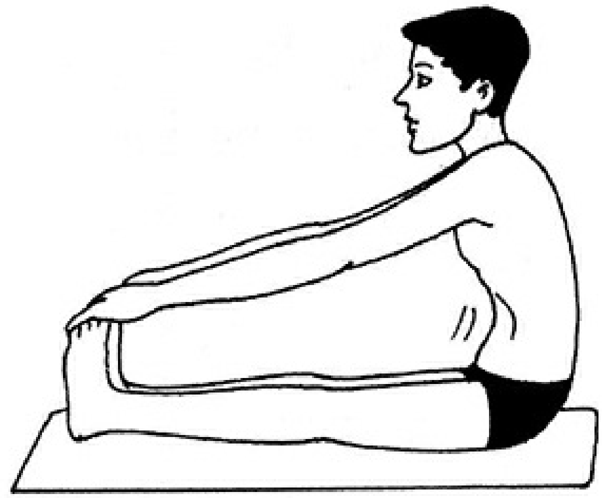

उदरंपश्चिमोत्तानं कृत्वा च ताड़ागाकृतिः।
ताड़ागी सा परामुद्रा जरा मृत्युं विनाशनी।

(घे. सं. 3/73)

अर्थ : पश्चिमोत्तानासन लगाकर बैठें और उदर को इस प्रकार फुलाएँ मानो पेट के भीतर पानी भरा हो; यही ताड़ागी मुद्रा है। इससे वृद्धावस्था और मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हैं। पश्चिमोत्तानासन में बैठे। दोनों हाथों से पैर के पंजों को पकड़ें, परंतु झुकें नहीं। अब श्वास अंदर लें और पेट को जितना फुला सकते हैं फुलाएँ। यथाशक्ति कुंभक करें। अंत में धीरे-धीरे रेचक करें। रेचक करते समय पेट को तालाब जैसा गहरा बना लें। कही-कहीं योगीजन कुंभक के समय वायु को तालाब में लहर की तरह चलायमान करते हैं।

लाभ:
- उदर सम्बंधी सभी रोग नष्ट होते हैं।
- पेट लचीला होता है तथा पाचन-तंत्र सुचारु होता है।
- वृद्धावस्था पर विजय पाई जा सकती है।

9. माण्डुकी मुद्रा

मुखं संमुद्रितं कृत्वा जिह्ववामूल प्रचालयेत।
शनैग्रसेदमृतं तां माण्डुकीं मुद्रिकां विदुः।
वलितपलितं नैव जायते नित्य यौवनम।
न केशे जायते पाको यः कुर्यानित्यमाण्डुकीम्

(घे.सं 3/74-75)

विधि : मुख को बंद कर जीभ को तालू में घुमाना चाहिए और सहस्रार से टपकते हुए अमृत का जिव्हा से पान करना चाहिए। यह माण्डुकी मुद्रा है।

भद्रासन में बैठ जाएँ (पृष्ठ 215 देखें)। हाथों को घुटनों पर रखें। यथाशक्ति नितम्बों को ज़मीन पर टिकाएँ। मेरुदण्ड, गर्दन व सिर सीधा रखें। मुख बंद करें। अब अंदर ही अंदर जिव्हा को ऊपर तालू में दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे घुमाएँ। इस प्रकार की क्रिया करने से ग्रंथि स्राव होता है। ऋषि कहते हैं कि यही अमृत है। इसके पान से बुढ़ापा पास नहीं आता। शरीर कांतिवान रहता है, अतः साधक को नित्य अभ्यास करना चाहिए।

विशेष : इस मुद्रा को करते समय सहस्रार पर ध्यान एकाग्र कर आत्मिक आनंद का लाभ उठाना चाहिए।

लाभ:
- बालों का झड़ना एवं असमय पकना बंद होता है।
- स्थायी यौवन की प्राप्ति होती है।
- शरीर कांतिवान बनता है व समस्त रोगों का नाश होता है।
- यह मुद्रा शरीर में वात-पित्त-कफ़ का संतुलन स्थापित करती है।

10. शाम्भवी मुद्रा

विधि : भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान पूर्वक परम आत्मा का चिंतन करें। यही

शाम्भवी मुद्रा है।

सुखासन में बैठ जाएँ। मेरुदण्ड, ग्रीवा एवं सिर एक सीध में रखें। हाथों को एक-दूसरे के ऊपर रख लें या घुटनों पर रखकर ज्ञान मुद्रा बना लें। अब पूर्ण एकाग्रचित होकर दृष्टि दोनों भौंहों के बीच करें और अपनी शुद्धात्मा का ध्यान करें।

विशेष : आँखों में दर्द महसूस हो तो विराम करें। आँखों में पानी के छींटे डालें या फिर पहले आँखों के अन्य अभ्यास कर लें।

समय : श्वास सामान्य रखते हुए अनुकूलतानुसार करें।

लाभ:
- आज्ञा चक्र विकसित होता है।
- अचेतन मस्तिष्क जागृत होता है।
- आँखों में आकर्षण पैदा होता है।
- ध्यान शक्ति का विकास होता है।
- स्मरण शक्ति तीक्ष्ण होती है।

11. अश्विनी मुद्रा

आकुंचयेद् गुदाद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
सा भवेदश्विनीमुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी।।
आश्विनी परमा मुद्रा गुहारोग विनाशनीं।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत्।।

(घे.सं 3/82-83)

विधिः सुखासन में तनाव रहित बैठिए। नेत्रों को बंद करें व पूरक करें। कुंभक करते हुए गुदा द्वार का बार-बार आकुंचन (संकोचन) करें। यथाशक्ति क्रिया करें। तत्पश्चात् रेचक करें। सुविधानुसार क्रिया करें।

विशेष: श्वास क्रिया सामान्य रखते हुए भी कर सकते हैं।

लाभ:
- अकाल मृत्यु का भय खत्म होता है।
- गुदा प्रदेश के रोग स्वतः समाप्त हो जाते हैं।
- कुण्डलिनी जागरण में सहायता मिलती है।
- शारीरिक और मानसिक लाभ मिलते हैं।

12. पाशिनी मुद्रा

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढबन्धनम्।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी।
पाशिनी महती मुद्रा वयःपुष्टि विधायिनी।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः ।।

(घे.सं 3/84-85)

विधि: दोनों पैरों को उठाकर गले के पीछे से लाते हुए उन्हें आपस में पाश के समान दृढ़ता से बाँध लें। कुण्डलिनी को जगाने वाली यह पाशिनी मुद्रा है।
विशेष: योग्य शिक्षक की देख-रेख में करें।
ध्यान: विशुद्धि चक्र या मूलाधार चक्र।

लाभ:
- बलवर्द्धक है। शरीर पुष्ट होता है।
- सिद्धि प्रदाता है। अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।
- मानसिक शांति एवं प्रसन्नता रहती है।

13. काकी मुद्रा

काकचन्चुवदास्येन पिबेद्वायं शनैः शनैः।

काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोग विनाशनी।
काकी मुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।
अस्याः प्रसादमात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत्।।

(घे.सं 3/86-87)

अर्थ: कौवे की चोंच के समान मुख बनाकर धीरे-धीरे वायु पान करें। इससे सब प्रकार के रोग दूर होते हैं। यह काकी मुद्रा कहलाती है। इस अभ्यास से साधक कौवे के समान रोग रहित हो जाता है।

महर्षि घेरण्ड का कहना है कि यह मुद्रा गुप्त रखनी चाहिए।

विशेष: इसमें श्वास मुँह द्वारा ही लेना है। नासिका से नहीं लेना है परंतु श्वास छोड़ने का कार्य मुख बंद कर नासिका द्वारा से ही करना है।

लाभ:
- सर्वरोग नाशक है।
- शीतलता मिलती है।
- उच्च रक्तचाप में लाभकारी।
- पाचन-तंत्र ठीक कर क़ब्ज़ से छुटकारा दिलाती है।
- मानसिक शांति मिलती है।
- सामान्य रूप से यह कई बीमारियों का क्षय करती है।

सावधानी: निम्न रक्तचाप वाले न करें।

14. मातंगिनी मुद्रा

कण्ठमग्नेजले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखानिर्गमयेत्पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्।
नासाभ्यां रेचयेत, पश्चात कुर्यादेवं पुनः पुनः।
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्यु विनाशनी।
विरले निर्जने देशे। स्थित्वा चैकाग्रमानसः ।
कुर्यान्मातङ्गिनी मुद्रां मातङ्ग इव जायते।
यत्र यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते।
तस्मात सर्व प्रयत्नेन साधयेत् मुद्रिकांपराम्

(घे.सं 3/88-91)

अर्थ: गले तक जल में खड़े होकर नासिका द्वारा जल खींचकर मुख से जल को बाहर निकालना चाहिए और फिर मुख से जल भरकर नासिका के द्वारा निकालें। पुनः नासिका से

जल खींचे और मुँह द्वारा बाहर निकालें। यह क्रिया बार-बार करें। यह मातंगिनी नाम की मुद्रा है।

लाभ:
- इसके सिद्ध होने से जरा-मरण का भय नहीं होता।
- इसकी सिद्ध करें तो हाथी के समान शक्तिमान बन सकते हैं।
- इस मुद्रा को करने से सब प्रकार के सुख मिलते हैं।

15. भुजंगिनी मुद्रा

वक्त्रं किञ्चित्सुप्रसार्य चानिलं गलया पिवेत।
सा भवेद्भुजङ्गी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।
यावच्च उदरे रोगमजीर्णादि विशेषत: ।
तत्सर्वनाश्येदाशु यत्र मुद्रा भुङ्गीनी।

(घे.सं 3/92-93)

अर्थ: मुख को फैलाकर, खोलकर गले से वायु का पान करें एवं गले में पवन का धक्का ज़ोर से लगे। इसको भुजंगिनी मुद्रा कहते हैं। सिद्धासन, पद्मासन, या वज्रासन में बैठकर उपरोक्त विधि को करना चाहिए।

लाभ:
- बुढ़ापा और मुत्यु का नाश करती है।
- उदर-रोग सम्बंधी सभी विकारों का नाश होता है।
- अजीर्ण रोग दूर होता है। पाचन-संस्थान मज़बूत होता है।
- कंठ-रोग दूर होता है।

16. योग मुद्रा

विधि : पद्मासन में शांतचित होकर आँख बंद करके बैठें। प्रारंभिक अवस्था में दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाएँ एवं दोनों हाथों की हथेली से (इस प्रकार दाहिने हाथ में दाहिने पैर का पंजा तथा बाएं हाथ से बाएं पैर का पंजा पकड़ने में आएगा।) पैरों के अंगूठी को दोनों हाथों के पंजी से पकड़े (इस प्रकार दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अगूंठा एवं बायें हाथ से बाँये पैर का अंगूठा पकड़ने में आयेगा) अब श्वास छोड़ते हुए सिर को सामने ज़मीन पर धीरे-धीरे झुकाएँ। माथा ज़मीन से स्पर्श कराएँ। 10 से 15 सेकण्ड तक उसी स्थिति में रहते हुए श्वास-प्रश्वास करते रहें। श्वास लेते हुए मूल स्थिति में लौटें।
दिशाः आध्यात्मिक कारणों से पूर्व या उत्तर दिशा करें।
ध्यान: समस्त चक्रों को जागृत करने के लिए उपयुक्त। मूलाधार एवं आज्ञाचक्र पर विशेष।

लाभ:
- पाचन-संस्थान की तीव्र करता है।
- कोष्ठबद्धता दूर करता है।
- आध्यात्मिकता में लाभ पहुँचाता है।
- मेरुदण्ड को पूर्ण लाभ मिलता है।
- चेहरे में निखार लाता है नेत्रज्योति तीव्र होती है।

टिप्पणी: पूर्ण आसन के लिए यथासंभव धीरे-धीरे प्रयास करें। यदि कठिनाई महसूस हो तो हाथों को पीठ पर रखकर आपस में बाँध लें।
नोट: अधिक जानकारी के लिए योग मुद्रासन भी देखें।

17. ब्रह्म मुद्रा

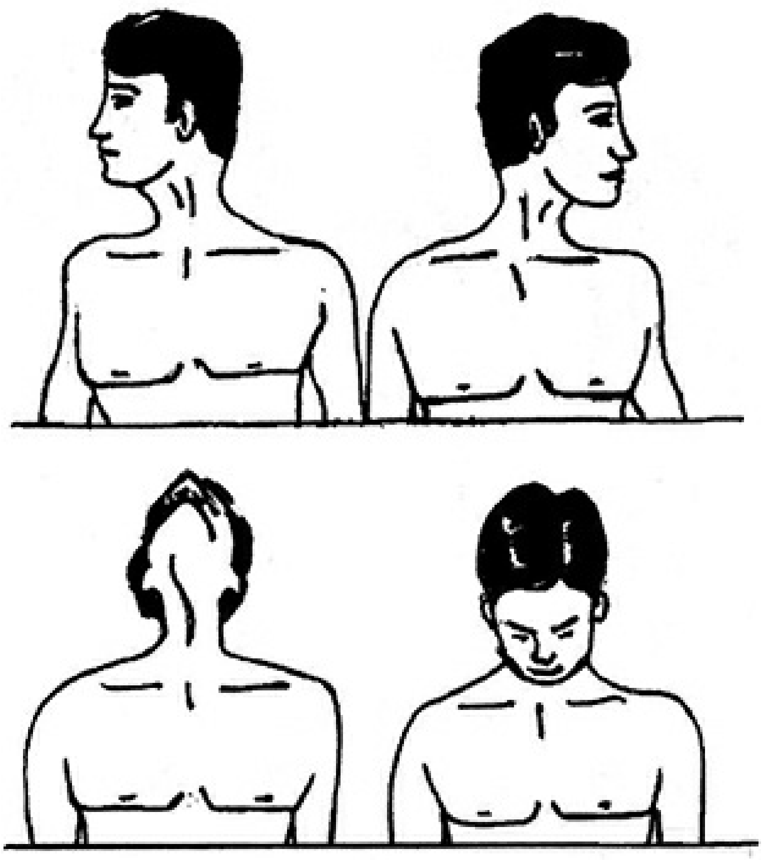

आकृति: ब्रह्मा के चार मुख के समान।

विधि: किसी भी ध्यानात्मक आसन (पद्मासन, सुखासन) में बैठे। मेरुदण्ड व धड़ को सीधा कर आँखों को बंद कर लें। हाथ को ज्ञान या चिन मुद्रा में घुटने पर रखें। शांत मनोभाव से इस मुद्रा का अभ्यास करने के लिए सिर सामने स्थिर करें। फिर सिर को धीरे-धीरे दाहिनी ओर घुमाएँ इतना धीरे-धीरे कि वह ढाई मिनट में कंधे की सीध में आ जाए।

समय की गणना करने के लिए गिनती या साँसों की संख्या का सहारा लें। लगभग चौथाई मिनट (15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को वापस बाईं ओर घुमाना प्रारंभ करें तथा पाँच मिनट में बाएँ कंधे की सीध में पहुँचा दें। लगभग चौथाई मिनट (15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को वापस दाहिनी ओर घुमाना प्रारंभ करें तथा ढाई मिनट में प्रारंभिक स्थिति में पहुँचे। लगभग चौथाई मिनट(15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को ऊपर की ओर ले जाना प्रारंभ करें। ढाई मिनट तक ऊपर उठाते हुए सिर को अधिकतम पीछे ले जाएँ। लगभग चौथाई मिनट (15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को वापस सामने लाते हुए नीचे की ओर पाँच मिनट में लाएँ। चौथाई मिनट (15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को वापस प्रारंभिक स्थिति में ढाई मिनट में ले आएँ। चारों दिशाओं में सिर की गति में 21 मिनट व्यतीत होने चाहिए। यह ब्रह्म मुद्रा का एक चक्र माना जाता है। श्वास की गति सामान्य से कम रहेगी।

लाभ:
- बारी-बारी से गले की नसों को तानने व ढीला करने से उनमें शक्ति व लचीलापन आता है।
- क्रेनियल नर्व्स जो गर्दन से गुज़रती हैं, की अच्छी मालिश हो जाने से मस्तिष्क से विभिन्न अंगों जैसे आँख, कान, नाक, जिव्हा इत्यादि स्वस्थ होते हैं।
- टॉन्सिल्स की अनचाही बढ़त, जलन व सूजन समाप्त होती है।
- मन को शांत, स्थिर व अंतःकेंद्रित करने में सहायक है। जिससे ध्यान के उच्च प्रयोग किए जा सकते हैं।
- विशुद्धि, आज्ञा व सहस्त्रार चक्र पर प्रभाव डालता है।

मुद्रा : उपसंहार एवं समस्त लाभ

- मुद्राओं का अभ्यास सभी इच्छाओं की पूर्ति करता है। बुढ़ापे और मृत्यु को दूर रखता है।
- परम गोपनीय और देव-दुर्लभ है। दुष्ट, नास्तिक तथा अयोग्य व्यक्ति को नहीं बताना चाहिए।
- सच्चे भक्त, उच्च चिंतनशील एवं शांतचित्त वाले को यह ज्ञान देना चाहिए।
- सर्व व्याधि का नाशक है। नित्य अभ्यास से शील की रक्षा होती है
- जठराग्नि तीव्र होती है।
- बुढ़ापे और मृत्यु पर विजय कर लेता है। उसे अग्नि, जल और वायु का भय नहीं रहता।
- कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ, श्लेष्मा आदि बीस प्रकार के रोग दूर होते हैं।
- रक्त शोधक है।
- वात, पित्त व कफ़ का शमन होता है।

नए स्वर्ग की रचना करनी हो तो
योग-विद्याओं को अपनाओ।
-RJT

एकाग्र होकर दोनों नेत्रोंकी अचल दृष्टिसे दोनों भौहोंके बीचके स्थानको देखता रहा जाय।

आसनोंके अभ्याससे शरीरमें स्फूर्त्ति और उत्साहकी वृद्धि होती है, शरीर नीरोग रहता है तथा अनेक प्रकारके रोग दूर होकर शरीर स्वस्थ हो जाता है किन्तु केवल अनुभव-सिद्ध सदगुरु योगीसे ही आसन सीखकर अभ्यास करना चाहिए अन्यथा विपरीत फल हो सकता है।

मुद्रा

यों तो निम्नांकित २० मुद्राएँ गिनाई गई हैं— महामुद्रा, योनिमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्ति-चालिनी, विपरीतकारिणी, वज्राणी, शक्तिधारिणी, ताडागी, माण्डवी, शाम्भवी, नभो मुद्रा, उन्मनी, प्राङ्मुखी, धारिणी, पार्थिव-धारिणी, आम्भसीधारिणी, वैश्वानरीधारिणी और वामनीधारिणी। किन्तु इनमेंसे कुण्डलिनी योगमें केवल तीन ही मुद्राएँ सहायक मानी गई हैं— शक्ति-चालिनी, योनि और खेचरी।

शक्तिचालिनी मुद्रा

सिद्धासनसे बैठकर दोनों हाथोंसे दोनों पैरोंकी एड़ियोंको मूलाधारपर बलपूर्वक दबाया जाय, हृदयसे ठोढ़ी लगाकर ज़ोरसे साँस ली जाय जिससे कि पेटकी अंतड़ियोंके दबाव और उनके शिथिल होनेका दबाव मणिपूर चक्रपर पड़े और इसीके साथ साथ गुदाका संकोचन और उद्‌घाटन किया जाय। इस क्रियासे मूलाधारके अपान वायुकी टक्कर मणिपूरके प्राण वायुपर लगनेसे सोई हुई कुण्डलिनी जाग जाती है। इसका अभ्यास करते समय योगीको जितेन्द्रिय होकर नमक, खट्टा और तीता पदार्थ छोड़कर परिमित भोजन अथवा केवल दुग्ध-पान करके काम, क्रोध, मोह, अहंकार छोड़कर प्रतिदिन कमसे कम चार घड़ी-पर्यन्त साधना करनेसे कुण्डलिनीको जगानेमें सहायता मिलती है।

योनिमुद्रा

सिद्धासन लगाकर शरीरके नवों बाहरी द्वारोंको उँगलियों तथा एड़ियोंसे बन्द कर दिया जाय। दोनों अँगूठों से दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे दोनों नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे दोनों नयनोंको, दोनों एड़ियोंसे गुदा और लिङ्गको दबाकर जीभको कौएकी चोंचकी तरह बनाकर साँस भीतर खींचकर कनिष्ठिकाओंसे मुँहँ बन्द करके उस प्राण-वायुको अपान वायुसे मिलाते हुए प्रथम चक्रमें कुण्डलिनीका ध्यान किया जाय और हुं मन्त्रका मानस जप किया जाय। इससे सोई हुई कुण्डलिनी जागने लगती है किन्तु शक्ति-पालिनी मुद्राके बिना योनि-मुद्रा सिद्ध नहीं होती।

खेचरी मुद्रा (लम्बिका योग)

जीभको लम्बा करके उलटकर मुँहँके भीतर तालुके बीच नाककी जड़के नीचे छिद्रमें प्रवेश करके अमर वारुणीका इस प्रकार पान किया जाय कि श्वास भीतर-बाहर न आ जा सके और दोनों नेत्रोंसे दोनों आँखोंके बीचके स्थानको देखते रहा जाय। जीभको पर्याप्त लम्बा करनेके लिये घेरण्ड-संहिता, गोरक्ष-पद्धति और हठयोग-प्रदीपिकामें छेदन, चालन और दोहन नामक बहुत कष्टकर क्रियाएँ बताई गई हैं। खेचरी मुद्रा सिद्ध करनेपर योगी अपने हृदयकी गति बन्द करके समाधि-लाभ कर लेता है। इसीलिये इसे मुद्राओंका राजा कहा जाता है।

बन्ध

यों तो बन्ध अनेक प्रकारके हैं किन्तु चार ही मुख्य हैं— मूलबन्ध, महाबन्ध, जालन्धरबन्ध, उड्डियानबन्ध। इनमेंसे भी मूल, जालन्धर और उड्डियान ही कुण्डलिनी-योगमें सहायक होते हैं।

मूलबन्ध

गुदा और लिङ्गके प्रदेशको एड़ियोंसे दबाकर गुदामार्गका संकोचन किया जाय। इससे अपान वायु ऊपरको उठकर प्राणवायुके साथ जा मिलता है और सोई हुई कुण्डलिनी जागकर सुषुम्णामें प्रवेश करने लगती है।

उड्डियानबन्ध

दोनों जाँघोंको मोड़कर पैरोंके तलवोंको परस्पर मिलाकर बैठा जाय, पेटके भीतर नाभि चक्रके ऊपर-नीचेके भागको पीठकी ओर ऐसे खींचा जाय कि पेट पीठसे लग जाय और तब प्राणायाम साधा जाय। इस क्रियासे नाभिके ऊपर-नीचेके भागपर अधिक तनाव बढ़नेसे प्राण-वायु सुषुम्णाकी ओर चलने लगता है।

जालन्धरबन्ध

कण्ठको सिकोड़कर ठोड़ीको हृदयपर जमानेसे शरीरकी नाडियाँ कस जाती हैं जिससे इडा और पिंगला नाडियोंके स्तम्भित होनेसे प्राण-वायु सुषुम्णाकी ओर बढ़ चलता है और ब्रह्मरन्ध्रसे टपकनेवाले अमृतका बन्धन हो जाता है।

महावेध

जब उड्डियानबन्ध करते समय कुम्भक प्राणायाम किया जाता है उसे महावेध कहते हैं।

ये सब क्रियाएँ किसी सिद्ध गुरुसे सीखकर ही करनी चाहिएँ।

सूक्ष्म क्रिया

(क) प्राणायाम

प्राणायामसे अंतड़ियाँ, फेफड़े और यकृत आदि दृढ होते हैं, विषाक्त रुधिर कपालसे लौट आता है और शुद्ध रुधिर पहुँच जाता है। इससे प्राण और चित्त दोनों निश्चल हो जाते हैं। जब प्राणायामके द्वारा प्राणवायुका वेग सुषुम्णामें प्रवेश कर जाता है तब शरीरके सारे दोष दूर हो जाते हैं, नाडियाँ तथा धमनियाँ शुद्ध हो जाती हैं और फिर षट्कर्म— धौति (चार प्रकारकी), बस्ति (दो प्रकारकी), नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति (तीन प्रकारकी)-की आवश्यकता नहीं रहती। प्राणायाममें तीन क्रियाएँ होती हैं— रेचक, पूरक और कुम्भक।

रेचक

नथुनों से धीरे धीरे वायु बाहर निकालनेको रेचक कहते हैं। कभी भी रेचक वेगसे नहीं करना चाहिए क्योंकि उससे बलकी हानि होती और रोग उत्पन्न होते हैं।

त्रिकालदर्शी बन जाता है ॥ १५६-१५७ ॥

अथ समाधिः—

यदेतद् ध्यानमाख्यातं तच्चेत् परिणमत्यपि ।
चैतन्यानन्दरूपेण सा समाधिरुदीरिता ॥ १५८ ॥

अब समाधि के विषय में कहते हैं—अभी जिस ध्यान को हमने कहा है, वह यदि चैतन्यानन्द रूप से परिणामी हो जावे तो उसे 'समाधि' कहते हैं ॥ १५८ ॥

अथ जाग्रदाद्यवस्थाः—

बुद्धिपूर्वं तु यद् ज्ञानं बहिर्विषयसेवितम् ।
प्रत्यक्षमविरुद्धं च तज्जागरितमुच्यते ॥ १५९ ॥
अर्थाभावे तु यज्ज्ञानं प्रत्यक्षमिव दृश्यते ।
गन्धर्वनगराकारं स्वप्नं तदुपलक्षयेद् ॥ १६० ॥
जाग्रत्स्वप्नावुभावेतौ नित्यं यत्र प्रतिष्ठितौ ।
उत्पत्तिः प्रलयश्चैव सौषुप्तमवधारयेत् ॥ १६१ ॥
स्वप्नाभावो विनिद्रा च द्वयं यत्र न विद्यते ।
तत्तुरीयमिति प्रोक्तमुत्पत्तिलयवर्जितम् ॥ १६२ ॥

अब जाग्रदवस्था के विषय में कहते हैं—बुद्धिपूर्वक जिसका ज्ञान बाह्य विषयों में प्रत्यक्ष रूप से आसक्त है और अविरुद्ध है तो उसे 'जाग्रत् अवस्था' कहा जाता है। वस्तु रूप अर्थ के न रहने पर भी जो ज्ञान गन्धर्व नगर के समान झूठा होने पर भी प्रत्यक्ष दिखलाई पड़े उसे 'स्वप्न' कहा जाता है। जिसमें जाग्रत् और स्वप्न—ये दोनों नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं। जिसमें उत्पत्ति और प्रलय दोनों ही होते रहते हैं, उसे 'सुषुप्ति' कहा जाता है। जिसमें स्वप्नाभाव तथा जाग्रत् दोनों ही दिखाई न पड़े उसे 'तुरीयावस्था' कहते हैं। उसमें न उत्पत्ति दिखाई पड़ती है और न प्रलय ही। यहाँ तक अवस्था के विषय में कहा गया ॥ १५९-१६२ ॥

अथ शुद्धिकर्माणि

अथ देहं स्थिरीकर्तुं योगिनां सिद्धिमिच्छताम् ।
कथ्यन्ते शुद्धिकर्माणि यैः सिद्धिं प्रापुरुत्तमाः ॥ १६३ ॥
महामुद्रां नभोमुद्रामुड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं स्थिरं दण्डं तद्वच्च शक्तिचालनम् ॥ १६४ ॥
चिबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद् वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेत् ।
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन चाभ्यसेत् ॥१६५॥ इति ।

अब सिद्धि की इच्छा रखने वाले योगीजनों के शरीर की स्थिरता के लिये शुद्ध कर्मों को कहता हूँ । जिससे श्रेष्ठ महात्माओं ने उत्तम सिद्धि प्राप्त की है । महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान बन्ध, जलन्धर बन्ध, मूल बन्ध, स्थिर दण्ड, उसी प्रकार स्थिर चालन—ये उपाय हैं । चिबुक को हृदय से सदा लगा देवे । फिर वायु से उसे पूर्ण करे । फिर अपनी शक्ति के अनुसार कुम्भक से उसे रोके और फिर उसका विरेचन करे । इस प्राणायाम की क्रिया में बायें नासा पुट से वायु ऊपर खींचे और दाहिने से बाहर करे । अथवा दाहिने नासा पुट से वायु खींचे और बायें से बाहर करे । इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करे ॥ १६३-१६५॥

अन्यच्च—

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि वसिष्ठेनोदितां पुरा ।

महामुद्राविधानम्

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ॥ १६६ ॥
पादं प्रसारितं कृत्वा स्वराभ्यां पूरयेन्मुखम् ।
कण्ठे बन्धं समारोप्य पूरयेद् वायुमूर्ध्वतः ॥ १६७ ॥
यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ।
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्॥ १६८ ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटीस्थिता ।
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥ १६९ ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ।
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्मप्लीहपुरोगमाः ॥ १७० ॥
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।
कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ १७१ ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ।

और भी बतलाया गया है—अब मैं पूर्वकाल में वशिष्ठ द्वारा कही गई महामुद्रा को कहता हूँ—बायें पैर के मूल से दाहिनी ओर की योनि को पीड़ित कर दूसरा पैर फैला देवे, फिर दोनों स्वरों से मुख को पूर्ण करे और कण्ठ में बाँध कर, रोक कर, ऊपर से वायु खीचकर, उस बन्ध को पूर्ण करे । जिस प्रकार डण्डे से आहत साँप दण्डाकार हो जाता है, उसी प्रकार कुण्डली शक्ति सहसा सीधी हो जाती है । उस समय उसके दोनों पुट पूँछ और मुख अलग-अलग होकर स्थित हो जाते हैं और वह 'मरणावस्था' को प्राप्त हो जाती है । उस समय योगी को पथ्यापथ्य का विचार नहीं रहता । सभी नीरस पदार्थ उसे सरस लगते हैं । यहाँ तक कि विष भी खा लेने पर अमृत के समान जीर्ण हो जाता है । उस समय उस योगी के क्षय, कोढ़, उदावर्त्त, गुल्म, प्लीहादि समस्त

दोष नष्ट हो जाते हैं । इस महामुद्रा का अभ्यास करने वाले योगी की ऐसी दशा होती है । हमने जरा-मृत्यु का विनाश करने वाली इस 'महामुद्रा' को कहा । इसे प्रयत्नपूर्वक साधक गुप्त रखे; जिस किसी को कदापि न देवे ॥ १६६-१७२ ॥

अथास्याङ्गभूतो महाबन्धः—

पार्ष्णिर्वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरुपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं पुनः ॥ १७२ ॥
पूरयेन्मुखतो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निभृत्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ १७३ ॥
रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते ।
अयं योगी महाबन्धः सर्वसिद्धिप्रदायकः ॥ १७४ ॥

अब इसके अङ्गभूत अन्य महाबन्धों को कहते हैं—बायें पैर की पार्ष्णि योनि स्थान पर स्थापित करे । पुनः दाहिना पैर बायें पैर के ऊरु पर स्थापित करे । फिर ठुड्डी को हृदय में दृढ़तापूर्वक सटा कर उसमें मुख से वायु पूर्ण करे । फिर योनि को सिकोड़ कर मन को मध्य भाग में स्थापित करे । फिर धीरे-धीरे उस वायु का रेचन करे । इस योग को 'महाबन्ध' कहा जाता है; जो सभी सिद्धियाँ प्रदान करता है ॥ १७२-१७४ ॥

सव्याङ्गे च समभ्यस्य दक्षिणाङ्गे समभ्यसेत् ।
अयं च सर्वनाडीनां गतिमूर्ध्वां विबोधकः ॥ १७५ ॥
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेत् पुनः ।
रूपलावण्यसम्पूर्णा यथा स्त्री पुरुषं विना ॥ १७६ ॥
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।

बायें भाग में इसका अभ्यास कर पुनः दक्षिण भाग में भी इसका अभ्यास करे। यह 'महाबन्ध' योग समस्त नाडियों की गति को ऊर्ध्व की ओर पहुँचाने वाला है । यह योग त्रिवेणी के सङ्गम को धारण करता है और पुनः इसे ऊपर उठाकर केदारेश्वर में पहुँचा देता है । जिस प्रकार रूप लावण्य से सम्पन्न स्त्री पुरुष के बिना निष्फल है; उसी प्रकार महामुद्रा और महाबन्ध दोनों ही वेधरहित होने के कारण निष्फल जानना चाहिये ॥ १७५-१७७ ॥

वायूनां गतिमाकृष्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।
अष्टधा क्रियते चैतद् यामे यामे दिने दिने ॥ १७७ ॥
पुण्यसङ्घातसन्धायी पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक् श्रद्धावतामेव सुखं प्रथमसाधने ॥ १७८ ॥
वह्निस्त्रीपथसेवानामादौ वर्जनमादिशेत् ।

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेत् शनैः ॥ १७९ ॥
अयमेव महावेधः सिद्धिदोऽभ्यासतो भवेत् ।
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥ १८० ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ।

कण्ठ की मुद्रा से जो वायु का आकर्षण आठ-आठ बार प्रत्येक याम और प्रत्येक दिन निरन्तर करता है; वह पुण्य समूहों का धारण करता है तथा पाप समूहों का भेदन करने वाला योगी होता है । इसका सुख प्रथम साधन में श्रद्धावानों को ही प्राप्त होता है । योगी वह्नि, स्त्री तथा रास्ते की सेवा, योगाभ्यास में प्रथम ही वर्जित करे । दोनों हाथों को समतल बनाकर, दोनों स्फिचों (नितम्ब चूतड़) को पृथ्वी पर ताडन धीरे-धीरे करे । यही 'महावेध' है जो अभ्यास करने से सिद्धिप्रद हो जाता है । यह महाबन्ध, महामुद्रा तथा वेध—ये तीनों ही जरा-मृत्यु का विनाश करने वाले हैं । यह जठराग्नि को प्रदीप्त करते हैं तथा अणिमादि सिद्धियों के गुणों को भी प्रदान करते हैं ॥ १७७-१८१ ॥

अथ नभोमुद्रा—

अन्तःकपालकुहरे जिह्वामाकुञ्च्य धारयेत् ।
भ्रूमध्यदृष्टिरमृतं पिबेत् खेचरिमुद्रया ॥ १८१ ॥

अब नभोमुद्रा कहते हैं—कपाल कुहर के भीतर जिह्वा को संकुचित कर धारण करे । फिर दोनों भ्रू के मध्य में दृष्टि स्थापित कर 'खेचरी मुद्रा' से अमृतपान करे ॥ १८१ ॥

दत्तात्रेयस्तु—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ १८२ ॥

दत्तात्रेयतन्त्र के अनुसार बतलाया गया है—कपाल कुहर में विपरीत रीति से जिह्वा प्रविष्ट करे और दृष्टि को दोनों भ्रुवों के मध्य में स्थापित करे । तब 'खेचरी मुद्रा' बन जाती हे ॥ १८२ ॥

न रोगी मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ १८३ ॥
पीड्यते न च रोगाद्यैर्लिप्यते न च कर्मणा ।
वध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ १८४ ॥
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समतायास्तु जिह्वाया रोममात्रं समुच्छिदेत् ॥ १८५ ॥

रोममात्रस्य भेदेन विलम्बेन हि लम्बिका ।
हृदयं ग्रन्थकाराणामाकूतं भणितं मया ॥ १८६ ॥

ऐसे योगी को रोग नहीं होता, मरण नहीं होता, निद्रा, क्षुधा और प्यास नहीं लगती । किं बहुना; उसे मूर्च्छा नहीं होती जो इस खेचरी मुद्रा को जान लेता है । रोगादि उसे पीड़ित नहीं करते, कर्म उसे लिप्त नहीं करता और काल उसका वध नहीं कर सकता जो खेचर मुद्रा को जानता है । अत्यन्त तीक्ष्ण, चिकना, निर्मल, स्नुही पत्र के समान पतला शस्त्र हो, उससे समान रूप वाली (समतल) जिह्वा पर उत्पन्न समस्त रोम का उच्छेद करे । उस रोम मात्र के भेदन से लम्बिका (=जिह्वा) के विलम्बन से ग्रन्थकारों का हृदय आकूत (?) हो जाता है; यह मैंने लम्बिका के विषय में कहा ॥ १८३-१८६ ॥

खेचरीपटले तु विशेषः—

छेदनचालनदोहैः कलाक्रमेण वर्धयेत् तावत् ।
सा याति यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदानीं हि खेचरीसिद्धिः ॥ १८७ ॥
छेदनस्य प्रकारोक्तेरभावान्मूढता यतः ।
साधारणोक्तिदुर्बोधान् नाङ्गीकार्यमिदं मतम् ॥ १८८ ॥
गुरुदर्शितमार्गेण सङ्केतः कथ्यते मया ।
सङ्केतशृङ्खलाभावे खेचरी तु कथं भवेत् ॥ १८९ ॥

अब खेचरी पटल में विशेष कहते हैं—जिह्वा को छेदन, चालन और दोहन करते रहने से उसे तब तक बढ़ावे, जब तक वह दोनों भ्रुवों के मध्य में जाकर उसका स्पर्श न करे; यही 'खेचरी सिद्धि' कही जाती है । जिह्वा का च्छेदन असम्भव है । अतः उसका अभाव होने के कारण जिह्वा छेदनोक्ति मूर्खता की उक्ति है । अतः इस मत को अङ्गीकार नहीं करना चाहिये । यह साधारणोक्ति दुर्बोध होने के कारण कही गई है । अब आपको गुरु दर्शित मार्ग से मैं सङ्कतों को बतलाता हूँ । यदि सङ्केत रूप शृङ्खला न हो, तब खेचरी की सिद्धि भला किस प्रकार हो सकती है?॥ १८७-१८९ ॥

सर्पाकारं सवलयं शृङ्खलाद्वयसंमितम् ।
स खर्परं षड्वितस्तेर्दैर्घ्यं सङ्केतलक्षणम् ॥ १९० ॥
शृङ्खलाद्वितयनिर्मितां वरां सर्पवद्वलयखर्परान्विताम् ।
विंशदङ्गुलमितां सुदीर्घिकां लम्बिकोत्पादकारिणीं विदुः॥ १९१ ॥

सर्पाकार जो वलय के सहित हो, जो दो शृङ्खला से युक्त हो, वह खर्पर से संयुक्त हों, जिसकी लम्बाई छह वित्ते की हो, ऐसा सङ्केत का लक्षण है । दो शृङ्खला में बनाई गई, साँप के समान वलय और खर्पर से युक्त हो, जिसकी

लम्बाई २० अङ्गुल हो, चौड़ाई अत्यन्त सुन्दर हो, जो लम्बिका उत्पन्न करने में समर्थ हो, ऐसी शृङ्खला होनी चाहिये ॥ १९०-१९१ ॥

शृङ्खलायाश्च वलये जिह्वां तत्र प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे पश्चाज्जिह्वां चैव प्रवेशयेत् ॥१९२॥ इति ।

उस शृङ्खला के वलय में जिह्वा को प्रविष्ट करे । इसके पश्चात् उस शृङ्खला के द्वारा जिह्वा को कपाल कुहर में प्रविष्ट करावे ॥ १९२ ॥

अथ जालन्धरबन्धः—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं सुधाव्ययनिवारणः ॥ १९३ ॥

अब जालन्धर बन्ध कहते हैं—कण्ठ को हृदय तक संकुचित कर, उसमें चिबुक (ठुड्डी) दृढ़तापूर्वक स्थापित करे । यह जालन्धर बन्ध कहा जाता है; जिससे अमृत का व्यय होना रुक जाता है ॥ १९३ ॥

नाभिस्थोऽग्निः कपालस्थसहस्रकमलच्युतम् ।
अमृतं सर्वदा सर्वं पिबन् ज्वलति देहिनाम् ॥ १९४ ॥

नाभि में रहने वाली अग्नि, कपालस्थ सहस्रकमल से गिरने वाले अमृत को पीते हुये, समस्त प्राणियों के शरीर में जलती रहती है ॥ १९४ ॥

यथा सोऽग्निस्तदमृतं न पिबेत् तद् व्यधात् स्वयम् ।
यान्ति दक्षिणमार्गेण एवमभ्यसता सदा ॥ १९५ ॥
अमृतीकुरुते देहं जरामृत्युं विनाशयेत् ।
बध्नाति हि शिराजालं नाधो याति नभोजलम् ॥ १९६ ॥

अतः जिस प्रकार वह नाभिस्थ अग्नि उस अमृत का पान न कर सके, उसका एक मात्र यही उपाय है । इस प्रकार अभ्यास करने से समस्त नाडियाँ दक्षिण मार्ग से जाने लगती हैं । तब वह अमृत व्यय न होने के कारण समस्त देह को अमृत बना देता है और जरा-मृत्यु को विनष्ट कर देता है । समस्त नाडियों में ऊपर से गिरता हुआ वह अमृत प्रवाह रुक जाता है और नीचे जाने नहीं पाता ॥ १९५-१९६ ॥

ततो जालन्धरो बन्धः कृतो दुःखौघनाशनः ।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥१९७॥ इति ।

वह नाडी जाल को बाँध देता है । इसलिये वह जालन्धर बन्ध कहा जाता है । जो समस्त दुःख समूहों को नष्ट करने वाला है । कण्ठ सङ्कोच लक्षण

जालन्धर बन्ध के करने से अमृत 'नाभिस्थ अग्नि' में न जाकर जलने से बच जाता है और वायु का प्रकोप भी नहीं होता ॥ १९७ ॥

अथ उड्डीयानबन्धः—

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत्।
उड्डीयानं तु सहजं कथितं गुरुणा सदा ॥ १९८ ॥
अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्।
इडां च पिङ्गलां बध्वा वाहयेत् पश्चिमां पथम्॥ १९९ ॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥२००॥ इति।

अब उड्डीयान बन्ध के विषय में कहते हैं—मूलस्थान को आकुञ्चित कर 'उड्डीयान बन्ध' करना चाहिये। उड्डीयान सहज है। ऐसा हमारे गुरु जी का कहना है जो सर्वदा इसका अभ्यास करता है वह वृद्ध होते हुये भी युवावस्था सम्पन्न हो जाता है। इडा और पिङ्गला को बाँधकर पश्चिम नासा पुट से वायु निकाले। इस विधान से वायु लय हो जाता है। ऐसा करने से जरा-मृत्यु नहीं होती और न रोगादि होते हैं ॥ १९८-२०० ॥

अन्यत्रापि—

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि पानं कुर्यात् प्रयत्नतः।
षणमासाभ्यासतो मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥२०१॥ इति।

अन्यत्र भी बतलाया गया है—साधक प्रयत्नपूर्वक प्राणवायु को नाभि के ऊपर और नीचे करे। छह मास के अभ्यास से निःसन्देह साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥ २०१ ॥

अथ मूलबन्धः—

मूलबन्धं तु यो नित्यमभ्यसेत् स हि योगवित्।
पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥ २०२ ॥
अधोगतिमनेनैव चोर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥ २०३ ॥
गुदं पार्ष्ण्या च सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ २०४ ॥

अब मूलबन्ध कहते हैं—जो नित्य 'मूलबन्ध' का अभ्यास करता है वही योगवेत्ता योगी है। योनि को पार्ष्णि भाग से दबाकर गुदास्थान को सिकोड़े

(संकुचित करे), अपान कों ऊपर ले जावे, इसे 'मूलबन्ध' कहा जाता है। साधक इस आकुञ्चन विधान से नीचे जाने वाले अपान को बलात् ऊर्ध्वगति बनाता है, इसलिये इसे मूलबन्ध कहते हैं। गुदा स्थान को पार्ष्णि से दबा कर वायु को बलात् आकुञ्चित करे। इस क्रिया को बारम्बार इस प्रकार करे जिससे वायु ऊपर की ओर गतिमान् होवे ॥ २०२-२०४ ॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गते योगस्य संसिद्धिं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ २०५ ॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ २०६ ॥
अपाने चोर्ध्वगं याते प्रयाते वह्निमण्डले।
यथानले शिखादीप्तं वह्निना प्रेरितं तथा ॥ २०७ ॥
यातायातौ वह्न्यपानौ प्राणमूलस्वरूपकौ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ २०८ ॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यति।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋतुतां व्रजेत् ॥ २०९ ॥
विलं प्रविष्टे च ततो ब्रह्मनाड्यन्तरे व्रजेत्।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्त्तव्यो योगिभिः सदा ॥२१०॥ इति।

मूलबन्ध के द्वारा प्राण, अपान, नाद एवं बिन्दु के एक करने से योग संसिद्धि हो जाती है; इसमें संशय नहीं। मूलबन्ध से प्राण, अपान की एकता और मूत्र पुरीष का क्षय होता है। मूलबन्ध करने से वृद्ध पुरुष भी युवावस्था सम्पन्न हो जाता है। अपान ऊपर की ओर उठते हुये जब वह्निमण्डल में पहुँच जाता है। तब जिस प्रकार अग्नि में दीप्त ज्वाला उठती है, उसी प्रकार वह्नि से प्रेरित वह अपान भी ज्वाला युक्त हो जाता है। प्राण स्वरूप और मूल स्वरूप जब अग्नि और अपान यातायात करते हैं, तब शरीर में रहने वाली जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है। उस ज्वाला से सन्तप्त होने के कारण सुप्त कुण्डलिनी जाग जाती है। जिस प्रकार दण्ड से आहत होने पर सर्पिणी क्रुद्ध हो जाती है और क्रोध से भयङ्कर श्वास लेती है, वैसे ही कुण्डलिनी निश्वास लेती हुई ऋतुमती (कामार्त्त!) हो जाती है। फिर बिल में प्रवेश करते हुये ब्रह्मनाडी तक पहुँच जाती है। इस कारण योगिजनों को निरन्तर ही 'मूलबन्ध' का अभ्यास करते रहना चाहिये ॥ २०५-२१० ॥

अथ दण्डधारणम्—

पृष्ठबन्धं दृढं कुर्यादनम्रं स्थिरसञ्चयम्।
दण्डधारणमेतद्धि योगिनां परमं मतम् ॥ २११ ॥

दिनरात्रिविभेदनिराकरणमुदितानुदितस्य निराकरणम् ।
यदि चैकनिरंतरसर्वशिवं रविचन्द्रमसौ ज्वलनश्च कथम् ॥
(६ । ४

यदि दिन और रात्रि के भेद का तथा उदय-अस्त का निराकरण कर देना और एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही सर्वत्र शिवरूप से निरन्तर व्याप्त है, तो सूर्य चन्द्रमा और अग्नि की स्थिति ही किस तरह सिद्ध होती है । (सूर्य, चन्द्रमा तेज सब-के-सब उसी परमात्मा से प्रकाशित हैं ।)

न च आश्रमवर्णविहीनपरो न तु कारणकर्तुविहीनपरः ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं गुणदोषविचारवचांसि कथम् ॥

यदि वह परमात्मतत्व परब्रह्म न वर्ण-आश्रम के धर्म से अतीत है और युक्त है तथा कारण और कर्तापन से न परे है अथवा न युक्त है, एकमात्र शिवरू से ही निरन्तर सर्वत्र व्याप्त है तो गुण-दोष (है या नहीं, ऐसा है, ऐसा नहीं आदि) के विचारसंगत वचनों से उसके स्वरूप का निर्वचन किस तरह युक्ति संगत है ।

खेचरी-मुद्रा का स्वरूप

हठयोगप्रदीपिका में :—

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥
(१ । ६७

योगाभ्यास में तत्पर साधक को ही सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है । निष्क्रि (योगाभ्यासरहित व्यक्ति) को वह किस तरह सुलभ हो सकती है ? यदि व शास्त्रों में योगसाधना की विधि पढ़ कर ही सिद्धि प्राप्त कर ले, योगसिद्ध हो ज तो यह कदापि सम्भव नहीं है ।

वर्जयेद्दुर्जनप्रीतिं (प्रान्त) वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।
प्रातः स्नानोपचारादि (उपवासादि) कायक्लेशादिकं (काय-क्लेशविधिं) तथा ॥

योगाभ्यासी को दुर्जनों से प्रेम अथवा दुष्टों के साथ निवास, अग्नि का तापना, स्त्री-प्रसंग, इधर-उधर आना-जाना, प्रातः स्नान, उपवास तथा शरीर को क्लेश पहुँचाने वाले सभी दूसरे-दूसरे उपायों का परित्याग कर देना चाहिए।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥
(२।२)

(योगी के लिये प्राणायाम करते रहना आवश्यक है।) प्राणवायु के चंचल रहने पर चित्त भी चंचल रहता है और प्राणवायु के संयमित होने पर चित्त भी निश्चल (वश में) हो जाता है। इस तरह प्राणवायु और चित्त के स्थिर होने पर योगी स्थाणु (खम्भे) की तरह निश्चल, जरा और रोग से रहित होकर सुदृढ़ शरीरवाला हो जाता है, इसलिये वायु का निरोध (संयम) करना चाहिए।

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः।
तेन सिद्धिं गतास्ते च (अभूवन्नंतकभयात्)
तस्मात्पवनमभ्यसेत्॥
यावद्देहे मरुद्बद्धस्तावच्चित्तं निरामयम्।
(यावद् बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम्।)
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः॥
(२।३९-४०)

ब्रह्मा आदि देवगण भी प्राणायाम (प्राणवायु के संयम) में तत्पर थे। इसी कारण उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी (वे मृत्यु के भय से छूटने के लिये प्राणवायु के निरोध में प्रवृत्त रहते हैं) इसलिये वायु-निरोध का अभ्यास करना चाहिए। जब तक शरीर में (प्राणायाम द्वारा) वायु है, तब तक चित्त स्थिर बना रहता है और जब तक (ध्यानावस्था में) दृष्टि भौहों के मध्यभाग में स्थिर रहती है, तब तक योगी को मृत्यु का भय नहीं रहता अर्थात् काल उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकता।

कलां पराङ्मुखीकृत्य त्रिपथे परिवर्तयेत् (परियोजयेत्)।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते॥
(३।३७)

(उपर्युक्त क्रिया—जिह्वा-मूल के शिराबन्धन जो कपाल कुहर को रोके रहता है, के छेदन—द्वारा जब जिह्वा ऊपर की ओर हो जाय, तब) जिह्वा को पीछे की ओर लौटा कर इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा—इन तीनों नाड़ियों के मार्ग पर लगा देना चाहिए। यही खेचरी मुद्रा है और इसी को व्योमचक्र भी कहा जाता है।

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम्।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ् शून्ये निरञ्जने॥
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्बश्चैकावस्था मनोन्मनी॥
(३। ५३-५४)

जब इड़ा आदि पाँच नाड़ियों के प्रवाह से युक्त कपाल में स्थित छिद्र ज्ञान उत्पन्न करता है (खेचरी-मुद्रा के प्रभाव से जब मन कपाल के छिद्र में प्रविष्ट होता है, तब आत्मज्ञान होता है) तब उस (मायातीत) निरंजन-शून्य तत्व में खेचरी-मुद्रा की स्थिरता होती है। जिस प्रकार सृष्टिमय बीज-प्रणव एक है, निराधार निरालम्ब (निराकार) देवता एक मात्र परमात्मा है और योगसिद्धि (आत्म-साक्षात्कार) की अवस्थाओं में मन की उन्मनी अवस्था हो सर्वश्रेष्ठ है, उसी तरह मुद्राओं में खेचरी-मुद्रा ही प्रधान कही गयी है।

अयं योगः पुण्यवतां धन्यानां तत्वशालिनाम्।
(धीराणां तत्वदर्शिनाम्)
निर्मत्सराणां सिद्धेन न तु मत्सरशालिनाम्॥
(३। ६५)

यह योग पुण्यात्मा, ऐश्वर्यशाली, दिव्यसम्पत्ति से युक्त तत्वदर्शी (आत्म तत्व चिन्तक) और ईर्ष्यारहित (द्वेषरहित) पुरुषों को ही सिद्ध होता है, जो लोग मत्सर-युक्त हैं, एक-दूसरे से डाह करते हैं, उन्हें योगसिद्धि दुर्लभ है।

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते॥
(४। ८)

राजयोग की महिमा को स्वरूपतः (अच्छी तरह) कौन जानता है, यह ज्ञान से साध्य नहीं है, यह योगस्थ होकर परमात्मा में सहज-स्वाभाविक रूप

चित्तवृत्ति के लगने पर योगी के लिये सुलभ होता है। ज्ञान, मोक्ष, स्थिति और सिद्धि की प्राप्ति सद्गुरु (योगसिद्धअत्याश्रमी अवधूत) के उपदेश से होती है।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते।
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरसौ (अधः)पश्यन्नपश्यत्यपि॥
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा (युष्मत्) प्रसादाद् गुरौ।
शून्याशून्यविवर्जितं (विलक्षणं) स्फुरति तत्त्वं परं शाम्भवम्॥
(४। ३७)

जब योगी अपने चित्त और वायु को अन्तर्लक्ष्य में विलीन कर देता है और निश्चल तारिकावाली दृष्टि से बाहरी पदार्थों को देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता, तब यह शाम्भवी मुद्रा सिद्ध होती है। (गुरुदेव परब्रह्म शिवस्वरूप) वह मुद्रा (आप की कृपा से ही प्राप्त होती है अथवा) गुरु की कृपा और प्रसन्नता से सिद्ध होती है और उसके सिद्ध होने पर चित्त में उस शाम्भव रूप परब्रह्म शिवस्वरूप परमतत्व का स्फुरण होता है, जो शून्य और अशून्य से विलक्षण (अतीत अथवा रहित) एकमात्र परम कैवल्य- स्वरूप अलख-निरंजन है।

अर्द्धोद्घाटित (अर्द्धोन्मीलित) लोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पन्दभावेन यः।
ज्योतीरूपमशेष (बीजमखिलं) बाह्यरहितं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम्॥

(उन्मनी अवस्था में योगी के नेत्र आधे खुले और आधे बन्द रहते हैं।) जो योगी नेत्रों को अध खुला रखकर मन को स्थिर कर अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर (आज्ञाचक्र-स्वच्छ आकाश में) एकाग्र करके निष्पन्द भाव से प्राण-वायु को संयमित कर सूर्य और चन्द्रमा को भी (हठयोग के द्वारा सूर्यनाड़ी—पिंगला और चन्द्रनाड़ी इड़ा को) सुषुम्ना में विलीन कर देता है, वह अत्यन्त देदीप्यमान, ज्योतिःस्वरूप अखिल बाह्य भावों (मन और इन्द्रियों के विषय-व्यापारों) से रहित परमवस्तुस्वरूप उस तत्वपद (परमपद) को प्राप्त कर लेता है, इस सम्बन्ध में और अधिक क्या कहा जाय ?

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरीनाम मुद्रा सिद्धैर्नमस्कृता॥
(३। ४१)

इस खेचरी मुद्रा में चित्त भौहों के बीच में स्थित आज्ञाचक्र-आकाश में प्रवेश करता है और जिह्वा भी वहीं (भौहों के बीच में) आकाश में जाकर विचरण करती है, इसी कारण सिद्धयोगेश्वरों द्वारा वन्दित इस मुद्रा का नाम खेचरी है।

सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालम्बेऽनिले (निरालम्बान्तरं) पुनः।
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी॥
(४। ४५)

जो मुद्रा सूर्य (दक्षिणनाड़ी, पिंगला) और चन्द्रमा वामनाड़ी, इड़ा) के मध्य में शून्यप्राणवायु का ग्रास करनेवाले आश्रयरहित व्योमचक्र में स्थित रहती है, वह खेचरी नाम की मुद्रा है।

निरालम्बं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।
स वाह्याभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम्॥
(४। ५०)

योगी को चाहिए कि वह मन को आश्रयरहित करके मन की सारी वृत्तियों का निरोध करे, किसी की भी चिन्ता न करे (दोनों भौहों के मध्य में स्थित आकाश चक्र में एकमात्र स्थित शिव में मन को विलीन करे) तब वह निश्चय ही बाह्य और आभ्यन्तर आकाश में खाली घड़े की तरह स्थित होता है अर्थात् जिस तरह घड़ा रिक्त बाहर-भीतर आकाश में पूर्ण होता है, उसी प्रकार योगी ब्रह्म (परमशिव) में स्वस्थ हो जाता है।

आरम्भावस्था

ब्रह्मग्रन्थिर्भवेद्भिन्ना ह्यानन्दः शून्यसम्भवः।
विचित्रः क्वणिको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः॥
दिव्यगन्धोदिव्यचक्षुस्तेजस्वी स्यादरोगवान्।
सम्पूर्णं हृदयः शून्य आरम्भो योगवान्भवेत्।
(४। ७०-७१)

(प्राणायाम के अभ्यास से) जब ब्रह्मग्रंथि का भेदन हो जाता है, तब शरीर के भीतर हृदयाकाश से उत्पन्न आभूषण की-सी विचित्र आनन्ददायिनी अनाहतध्वनि सुनाई पड़ती है। उस समय साधक के शरीर से दिव्य गन्ध निकलती

अलबत्त, भोजन करने के दो पहर (प्रहर) अथवा डेढ़ पहर के बाद जो नौलीचक्र करेगा उसको कुछ हानि न होगी। इस रीति से यह दसों क्रियाओं का वर्णन कर चुके हैं। इन दसों क्रियाओं में धर्म का लेश भी नहीं है। हां, यह परम्परा से धर्म का साधन जो शरीर उसमें रोगादिक की उत्पत्ति को दूर करने के लिए बिना ही वैद्य, हकीम अथवा धन-खर्च रोग को निवारण करने का हेतु है। इसलिये गुरु परम्परा से यथावत् याद हो तो रोगादि दूर करने का कारण है, न कि धर्म का।

बन्ध के प्रकार

अब बन्ध का वर्णन करते हैं, क्योंकि जो पहले ही बन्ध का वर्णन न करें तो कुम्भक-मुद्रा प्राणायाम आदि का वर्णन करना व्यर्थ हो जायेगा, बिना बन्ध के लगाये कुम्भक आदि कोई क्रिया नहीं होती। इसलिये बन्ध का पृथक् कहना आवश्यक है। वह बन्ध चार प्रकार से होता है १. मूलबन्ध २. जालन्धरबन्ध, ३. उड़ियानबन्ध, ४. जिह्वाबन्ध।

१—मूलबन्ध

इस मूलबन्ध की विधि यह है, कि एड़ी से योनि स्थान को दबाकर गुदा को संकोचित करे। फिर अपान वायु जो कि नीचे को जाने वाली है, उसको ऊपर चढ़ावे, उसका नाम मूलबन्ध है। अथवा एड़ी को गुदा के नीचे रखे, और अपानवायु को ऊर्ध्वगमन अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में प्राप्त करे, इसी को मूलबन्ध कहते हैं।

मूलबन्ध के गुण

अधोगति (नीचे को जाने वाली) अपान वायु को तो ऊपर करे और दूसरी जो प्राणवायु ऊर्ध्वगामनी (ऊपर जाने वाली) है उसे नीचे करे। इन दोनों वायुओं को मिलाकर एक करे। उस एकता के होने से वायु का सुषु-म्ना (नाड़ी) में प्रवेश होता है। जो करने वाले पुरुष हैं उस वक्त उनको नाद की प्रतीति होती है। उस नाद का वर्णन आगे करेंगे। दूसरा प्राण और अपान के एक हो जाने से वायु विशेष कर पंखे के समान चलती है। इसलिए उससे जठराग्नि के कुण्ड के ऊपर जो मल रूपी छार (राख) है,

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

वह उड़ जाती है, और उसके उड़ जाड़े से जठराग्नि तेज होती है। उस तेजी की गरमी से कुण्डलिनी अर्थात् बालरण्डा चमक कर खड़ी हो जाती है। उसके चमकने से ही योगियों के योग सिद्ध हो जाते हैं। इत्यादि जो अनेक गुण इसमें हैं वे लिखे नहीं जा सकते। जो मनुष्य करते हैं वे योगीश्वर होते हुए आनन्द लूटते हैं, जिज्ञासु को योग्य जानकर उपदेश भी देते हैं, आत्मा को अपने आनन्द रूपी रस में ही भिगोते हैं।

२—जालन्धर बन्ध

इस जालन्धर बन्ध का स्वरूप यह है, कि कण्ठ को नीचे झुकाकर हृदय से चार अंगुल अलग ठोड़ी को यत्न से दृढ़ स्थापित करे, इसका नाम जालन्धरबन्ध है। परन्तु इसमें पद्मासन लगावे। जालन्धरबन्ध का अर्थ है, कि नाड़ियों का जाल (समूह) बांधे, और नीचे को गमन करे ऐसा जो कपाल का छिद्र है उसको बांधे। जालन्धरबन्ध के करने से कण्ठ के सर्व रोग नष्ट हो जाते हैं। फिर कण्ठ के संकोचित करने से दोनों नाड़ियों (इड़ा और पिंगला) का स्तम्भन करे। इसी का नाम जालन्धरबन्ध है।

३—उड़ियान बन्ध

इस उड़ियान बन्ध की विधि कहने के पहले उड़ियान शब्द का अर्थ करते हैं, कि जिस हेतु से अथवा जिस बन्ध करके रोकी हुई वायु सुषुम्ना नाड़ी में उड़ जाये अर्थात् प्रवेश कर जाये। सुषुम्ना के ज़ोर से आकाश मार्ग में प्रवेश कर सकता है, इस वास्ते इसका नाम उड़ियान है। महान् खग अर्थात् आकाश में निकलकर प्राण जिसमें बन्ध करे, और जिसमें श्रम न हो तथा सुषुम्ना पक्षी की तरह गति करे, उसका नाम उड़ियानबन्ध है।

उड़ियान बन्ध की रीति

उड़ियान बन्ध की रीति यह है कि नाभि के ऊपर का भाग और नीचे का भाग इन दोनों को उदर समेत पीछे को खींचे, और पीठ में लग जाये ऐसा खींचे, इसका नाम उड़ियान बन्ध है। नाभि के ऊपर नीचे के भागों को यत्न पूर्वक पीछे को लगावे, अर्थात् पीठ की तरफ दोनों भागों को ले जाये। इस उड़ियान बन्ध का अभ्यास रोटी खाने के पहले बारम्बार करे तो छः महीने

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

में इसके गुण आप से आप प्रकट हो जाते हैं, अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

४—जिह्वा बन्ध

जिह्वाबन्ध की विधि यह है, कि जालन्धरबन्ध अर्थात् कण्ठ को झुकाकार ठोड़ी को हृदय में स्थापित करें और दोनों राजदन्तों (मुख के सामने के ऊपर के जो दांत हैं उन) पर जिह्वा को काढ़कर लगावे उसी का नाम जिह्वा-बन्ध है। इस जिह्वा बन्ध से एक सुषुम्ना नाड़ी रहित जो सम्पूर्ण नाड़ियां हैं उनके ऊपर वायु की गति रुक जाती है, इसलिए इसको कोई जालन्धर बन्ध भी कहते हैं। जाल नाम नसों का है उनका जो बांधना उसी का नाम जालन्धर है। यह ऊपर लिखी हुई बन्धों की रीति के साथ जो पुरुष प्राणायाम करेगा, उसी को हठयोग की प्राप्ति होगी और हठयोग से ही राजयोग की प्राप्ति होती है। इस वास्ते आत्मार्थियों को इसमें भी परिश्रम करना चाहिये। परन्तु इन बन्धों में गुरु की अपेक्षा जरूर है, क्योंकि गुरु यथावत् रीति करके दिखावे तो जिज्ञासु असल भेद पावे। जिह्वाबन्ध, खेचरीमुद्रा से सम्बन्ध रखता है, वह खेचरीमुद्रा तो आगे दिखलावेंगे। उस खेचरीमुद्रा को भी कितने ही लोग जालन्धरबन्ध कहते हैं।

कुम्भकों के नाम

कुम्भकों के नाम ये हैं—१. सूर्यभेदन, २. उज्जाई, ३. सीत्कारी, ४. सीतली, ५. भस्त्रिका, ६. भ्रामरी, ७. मूर्छा, और ८. प्लावनी।

१—सूर्यभेदन का वर्णन

सूर्यभेदन की रीति यह है कि मूलबन्ध करके पूरक के अन्त में शीघ्र ही जालन्धगबन्ध लगावे। कुम्भक के अन्त में और रेचन की आदि में उड़ियान-बन्ध लगावे।

इस रीति से सूर्यस्वर से प्राणायाम करे। जो बन्ध के साथ प्राणायाम करेगा उसको वायु-प्रकोप कभी नहीं होगा और इसमें इतना विशेष है, कि पूरक शीघ्रता से भी करे तो कुछ हर्ज नहीं, परन्तु रेचन धीरे-धीरे से करे। यदि शीघ्रता करेगा तो कुम्भक की रुकी हुई वायु शीघ्रता होने से

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

इस रीति से अभ्यास करे। इसके आनन्द को योगीश्वर भी कह नहीं सकते।

अब मूर्छा कहते हैं कि पूरक अन्त में जालन्धरबंध बांधकर शनैः शनैः रेचन करे। इस कुम्भक का नाम मूर्छा है जो मन को मुर्च्छित करता है। प्लावनी कुम्भक यह है कि शरीर के भीतर भरी जो अधिक वायु, उस करके चारों तरफ से भर लिया है उदर जिसने, वह पुरुष अगाध जल में कमल पत्र के समान गमन करता है। यह रीति तीनों कुम्भकों की स्वयं आत्माराम योगी की बनाई हुई 'हठप्रदीपिका' में लिखी है।

मुद्राओं का वर्णन

अब इसके आगे मुद्राओं का वर्णन करते हैं, सो पहले जो 'हठप्रदीपिकादि ग्रंथों में उनके नाम लिखे हैं उस रीति से यहां नाम दिखाते हैं—१ महामुद्रा, २ महाबन्ध, ३ महावेध, ४ खेचरी, ५ उड़ियान, ६ मूलबन्ध, ७ जालंधर बंध, ८ विपरीतकरणी, ९ वज्रोली, १० शक्तिचालन।

इस तरह हठप्रदीपिका और गोरक्षपद्धति आदि ग्रंथों में उडियानबंध, मूलबंध, जालंधरबंध, इन तीनों को भी मुद्राओं में ही गिना है, सो इन तीनों बंधों की रीति ऊपर लिख चुके हैं। इन मुद्राओं में कई मुद्रा निष्प्रयोजन भी है। इस वास्ते जो मुद्रा सप्रयोजन हैं उनको दिखाकर फिर अपनी भी युक्ति उसमें कहेंगे। इसलिए पाठकगण ध्यान रखें कि पीछे लिखी मुद्रा उनके ग्रंथानुसार है।

१ महामुद्रा वर्णन

इस महामुद्रा की विधि यह है कि वाम (बायां) पाद की एड़ी को योनि-स्थान में लगावे (योनि-स्थान का मतलब पहले दिखा चुके हैं सो वहां से देखो) और दक्षिण चरण को लम्बा करके फैलावे, एड़ी जमीन पर लगावे, और अंगूठा, अंगुलियों को डण्डे की भांति ऊंची खड़ी करे, फिर जीमने (दक्षिण) हाथ का अंगूठा और तर्जनी अंगुली से जीमने पग के अंगूठे को पकड़े, और बन्ध-पूरक सुषुम्ना नाड़ी में धारण करे, और मूलबंध भी बांध करके योनिस्थान को पीड़न करे। फिर जिह्वाबन्ध लगावे। जो कुण्डली सर्प के आकार सी टेढ़ी हो रही है; वह जैसे डण्डे के प्रहार से

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

टेढ़ेपन को छोड़कर सर्पिणी सरल हो जाती है, वैसे ही उस समय शीघ्र ही सरल हो जाती है। जब वह कुण्डली सरल हो गई तब कुण्डली के बोध से सुषुम्ना में प्राण का प्रवेश होता है। उस समय इड़ा और पिंगला को सहायता देने वाला जो प्राण है वह सहायता देने में समर्थ नहीं रहता। इसलिए इड़ा पिंगला यह दोनों नाड़ी मरण प्राप्त होती है अर्थात् घर छोड़कर भाग जाती है। उस समय के आनन्द को तो उसके करने वाले ही जानते हैं, न कि लिखने, या वांचने वाले। जो इस आनंद को प्राप्त करेंगे, वे ही इनका अभ्यास करेंगे, उनको करने वालों का ही मोह, राग, द्वेषादि मिटेगा, आत्मा में उन्हीं का दिल डटेगा, ज्ञान दर्शन, चरित्र तीनों का मेल सटेगा, तब कर्मों के पटल आत्मा से हटेंगे। जिन्होंने इस आनन्द को पाया है उन्होंने ही पदों में गाया हैं। हमको श्री आनन्दघन जी का पद याद आया, इसका यहां उल्लेख करते हैं।

"इड़ा पिंगला घर तज भागी, सुषुम्ना का घर वासी।
ब्रह्मरन्ध्र मध्यासन पूरो, बाबा अनहद नाद बजासी ॥१॥"

ऐसा श्री आनन्दघन जी का फरमाना (कथन) है। इससे प्रतीत होता है कि वे इस मुद्रा के भी अभ्यासी थे। जिन्होंने ऐसा अभ्यास किया है, वे कब किसी के जाल में फंसते हैं? आत्मा को भजते हैं और राग-द्वेष को तजते हैं गच्छादिक के मद में नहीं धसते हैं।

महामुद्रा के अभ्यास का विधान

इसकी विधि यह है कि चन्द्र अंग अर्थात् वाम-अंग से अभ्यास करे, फिर सूर्य अंग अर्थात् दक्षिण अंग से अभ्यास करे। परन्तु दोनों अंगों से अभ्यास बराबर करे, कमी बेशी न होने दे। फिर इसको विसर्जन कर दे। परन्तु इस बात का ध्यान रखे कि जब बाम अंग से अभ्यास करे तो दक्षिण चरण को फैलावे, और ऊपर लिखी रीति से चरण के अंगूठे को दक्षिण हाथ से पकड़े और जब दक्षिण अंग से अभ्यास करे तब वाम चरण को फैलाकर वाम हाथ से चरण का अंगूठा पकड़े। इस रीति से दोनों अंगों में समान अभ्यास करे।

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

महामुद्रा के गुण

जो पुरुष इसका अभ्यास करने वाले हैं, उन पुरुषों को पथ्य-अपथ्य का भय करने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण कटुक, खटाई आदि जो भोजन करेगा सो ही पच जायेगा। ऐसी कोई चीज़ नहीं है कि उसको हज़म न होवे, क्योंकि साधु की गोचरी में गृहस्थ के घर से सब तरह की निरसादि चीज़ आती है। सो इन क्रिया करने वालों को हज़म हो जाती है; किसी रोगादि को उत्पन्न नहीं करती है।

२ महाबन्ध मुद्रा

अन्य मतों की रीति का भी वर्णन कर देते हैं कि वाम चरण की एड़ी योनिस्थान में लगा कर फिर वाम चरण को जानु के ऊपर दक्षिण चरण को धरे, उसके बाद पूरक करे; फिर हृदय में ठोड़ी लगाकर जालंधर बन्ध लगावे, और मूलबन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करके मंद-मंद रेचन करे। इसका गुण हठप्रदीपिका या गोरक्षपद्धति में देखो।

३ महावेध मुद्रा

इसका विधान यह है कि महामुद्रा में स्थित, जिसकी एकाग्र बुद्धि है ऐसा योगी नासिका पुट से पूरक करके कण्ठ की जालन्धर मुद्रा से वायु की ऊपर नीचे गमन रूप जो गति उसको रोककर कुम्भक करे, और पृथ्वी में लग रहे हैं तालुआ जिनके, ऐसे दोनों हाथ समान करके, फिर योनि-स्थान में लगे हुए एड़ी वाले पांव के साथ हाथों के सहारे कुछ ऊपर उठकर फिर मन्द-मन्द भूमि में ताड़न करे, इड़ा पिंगला दोनों को उल्लंघन करके सुषुम्ना के मध्य में वायु प्राप्त हो। चन्द्र, सूर्य, और अग्नि में अधिष्ठित नाड़ी जो इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, उनका सम्बन्ध मोक्ष के लिए होता है। निश्चय करके प्राण वियोग की अवस्था अर्थात् मृतसी अवस्था प्राप्त होती है। उसके पीछे वायु को नासिका-पुटन करके धीरे-धीरे रेचन करे। परन्तु इस जगह इतना विशेष है कि योनि-स्थान में एड़ी लगी रहने से जब वह हाथों के बल से ऊपर उठेगा तो आसन भंग हो जाने से मूलबन्ध यथावत् न रहेगा; इस लिए इस मुद्रा के अभ्यास में पद्मासन लगावे, और मूलबन्ध को कम न

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

होने दे। इतने पर भी इसकी असली रीति गुरुगम से जानों, हठप्रदीपिका वाले ने पद्मासन नहीं लिखा परन्तु गोरख पद्धति में लिखा हुआ है।

४ विपरीतकरणी मुद्रा

विपरीत मुद्रा करने का प्रकार यह है कि पृथ्वी पर मस्तक टेककर हाथों से सिर को थामकर मयूर आसन की तरह पैर ऊंचे करके आकाश की तरफ सतर कर देवे। इस रीति से सिर के बल अधर खड़ा होना, उसका नाम विपरीत करणी मुद्रा है। इसके करने का प्रयोजन यही है, कि चन्द्रमा ऊर्ध्व भाग में है, और सूर्य अधोभाग में है, सो जो चन्द्रमा से अमृत झरता है वह सूर्य में पड़कर भस्म हो जाता है। इसलिये विपरीत-मुद्रा करने से चन्द्रमा अधोभाग में हो जाता है, और सूर्य ऊर्ध्व भाग में हो जाता है। सूर्य को अमृत न मिलने से सूर्य निर्बल होकर इड़ा-पिंगला को जोर नहीं दे सकता। जो इसका अभ्यास करे वह पहले दिन एक क्षण, दूसरे दिन दो क्षण, इसी प्रकार से प्रतिदिन बढ़ाता चला जाय। जब एक पहर की मुद्रा होने लगे तब आगे अभ्यास न बढ़ावे। इसके कारण से क्षुधा बहुत लगती है। जो कम खाने वाला है, यदि वह इस क्रिया को करता है, तो कम खाने से उसके शरीर को यह मुद्रा जला देगी। इसलिए इससे कुछ प्रयोजन सिद्धि नहीं होती। न मालूम इन लोगों ने लिखकर क्यों इसकी इतनी महिमा की है?

खेचरी मुद्रा का कथन

प्रथम खेचरी हो जाने की विधि लिखते हैं, इसके बाद इसके गुणादि और करने की विधि लिखेंगे। सो इसकी पहली विधि यह है कि पहले जिह्वा को होठों के बाहर निकाले, और दोनों हाथों के अंगूठों और तर्जनियों से पकड़कर शनैः शनैः बाहर को खींचे, तथा गौ के थनों से जैसे दूध निकालते हैं उसी रीति से दोनों हाथों से खींचे, वह बढ़ते-बढ़ते इतनी बढ़ जाय कि नाक पर होकर भृकुटी के मध्य में जा लगे। जब इस तरह का अभ्यास हो जाय तब उसका छेदन—सोधन किया जाता है। वह दिखाते हैं कि जैसे थूहर के पत्ते की धार तीक्ष्ण होती है, इस तरह का चिकना,

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

निर्मल और तीक्ष्ण धार वाला शस्त्र लेकर उससे जिह्वा के नीचे जो नस है उसको पहले लवमात्र छेदे; फिर उसके ऊपर सेन्धा लूण और हर्रों को पीसकर उस छेदी हुई जगह लगावे। परन्तु इस क्रिया करने वाले को दोनों वक्त लवण खाना मना है, तो भी हर्रें और लवण को लगा ले। फिर सात दिन के पीछे आठवें दिन कुछ अधिक छेदे। इस रीति से छः महीने पर्यन्त युक्ति से करे तो जिह्वा के मूल में जो नाड़ी है वह नाड़ी कपाल के छिद्र में जाने लायक होगी। इस रीति से पहले साधन करे। यह रीति ग्रंथों में लिखी है। परन्तु इसकी असल रीति तो यह है कि जिसमें शस्त्रादि से छेदने का कुछ प्रयोजन नहीं है, किन्तु वह रीति गुरु की कृपा के बिना मिलनी कठिन है और वह रीति शास्त्र द्वारा लिखी भी नहीं जाती, क्योंकि गुरु आदि तो योग्य अयोग्य देखकर युक्ति-क्रम बताते हैं, शास्त्र में लिखें तो योग्य अयोग्य की कुछ खबर न पड़े। और बिना योग्य के असल वस्तु नहीं दी जाती। हमने अपने गुरु की बताई रीति आजमाई है। बिना छेदन के जिह्वा अलग कराई है। एक दो जिज्ञासुओं को बताई भी है। उलटकर जिह्वा छिद्रों में पहुंचाई है।

खेचरी मुद्रा के गुण और प्रयोजन

जब जिह्वा की नस अलग हो जाय, तब जिह्वा को तिरछी करके गले में ले जाय, और तीनों नाड़ियों के जो मार्ग अर्थात् नासिका के जो छिद्र, जिसमें इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नासिका के बाहर निकलकर मालूम होती हैं, उनके बन्द करने के वास्ते छिद्रों के ऊपर जिह्वा लगाकर छिद्रों को बन्द कर दे, जिससे इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना इन तीनों नासिका के बाहर न निकल सकें। इसका नाम खेचरी मुद्रा है। इसको कितने ही व्योम-चक्र भी कहते हैं, परन्तु यह व्योम-चक्र नहीं है, क्योंकि व्योम-चक्र भृकुटी के ऊपर है। इसके करने से यह गुण है कि यदि तालु के ऊपर के छिद्रों में लगी हुई जिह्वा, एक घड़ी मात्र भी उस जगह स्थिर रहे, तो सर्प से लेकर जितने ज़हरीले जानवर हैं उनका ज़हर दूर करने की शक्ति उस पुरुष को प्राप्त हो जाती है। उसको किसी जानवर का ज़हर (विष) नहीं चढ़ता और

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

इस मुद्रा के करने वाले पुरुष को आलस्य, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्छा आदि विशेष नहीं होते हैं। तालु के ऊपर के सन्मुख जिह्वा लगाये हुए जो स्थिर होकर वह गले के छिद्रों में से पड़ता हुआ चन्द्र-अमृत का पान करता है वह सर्व कार्य की सिद्धि हृदय में धरता है, राग द्वेष की परिहरता है मात्र कर्मों से झगड़ता है, परन्तु अपने समान सर्व जीवों को जान किसी से लड़ता नहीं है, मध्यस्थभाव में प्रवृत्त रहता है। परन्तु इसकी पूर्ण रीति बिना गुरु के नहीं प्राप्त होती। वर्तमान काल में छापा होने से हठयोगादि की पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं। इससे कई योगी हो जाते हैं। परन्तु इन पुस्तकों से अपनी जान खो बैठते हैं। इसलिए यदि आत्मार्थी बनकर योगाभ्यास करने की इच्छा हो तो सद्गुरु की विनय, प्रतिपत्ति, शुश्रूषादि करो। जिससे तुम्हारे पर गुरु अनुग्रह करके उसे बतावे, और आशीर्वाद देवे, जिससे तुमको यथावत् प्राप्ति हो जाये, इस खेचरी मुद्रा के विषय में 'हठप्रदीपिका' आदि ग्रंथों में जो प्रक्रिया लिखी है, वह प्रक्रिया यहां नहीं लिखी है। क्योंकि, उसमें गोमांस और अमर-वारुणी (मदिरा) का भक्षण करना और पीना लिखा है।

इसका कुछ खुलासा भी देते है कि छोटी हरडों को बारह पहर अथवा सोलह पहर तक कुंवारी गौ अर्थात् आठ दस महीने की बछिया के पेशाब में भिगोवे। जब वे दो दिन में भीजकर फूल जाये, तब उनको छाया में सुखा लें, सूर्य की धूप न लगने दें फिर उनको कोरे बर्तन में डाल कर सेकें। उन्हें इस तरह सेकें कि जल न जायें और कच्ची भीन रहें। उन हरडों में सेंधा लवण अन्दाज़े से मिलाकर चूर्ण बनावे। उससे सायं और प्रात: दोनों वक्त जिह्वा की जड़ में मालिश करे और दस-दस मिनट ऊपर लिखी रीति से जिह्वा को शनै: शनै: खेंचा करे, बाहर की तरफ ही ले जाया करे, फिर तीन महीने के वाद उलटकर गले की तरफ ही ले जाया करे, छ: महीने इस रीति से करेगा तो जिह्वा कागल्या से आगे निकल जायेगी। नव महीनों में छिद्रों के पास में पहुंच जायेगी। जिसकी इच्छा होवे वह विश्वास सहित इस काम को अंगीकार करे तो हमारे लिखे

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

अनुसार प्राप्ति हो जायेगी । विशेष गुरुओं के पास जाकर उनसे जिज्ञासा पूर्ण करनी चाहिए, क्योंकि जो आत्मार्थी योगाभ्यास की इच्छा वाले हैं, उनके वास्ते संकेत (इशारा) लिखा है । अन्यमतावलम्बियों का खण्डन भी कर दिखाया है । बिना शस्त्र छेद के खेचरी मुद्रा करना बतला दिया ।

वज्रोली मुद्रा

प्रथम 'हठप्रदीपिका' और 'गोरक्षपद्धति' की प्रक्रिया दिखाकर पीछे किञ्चित् अपनी रीति, जो गुरु-कृपा से पाई है, उसको लिखेंगे । प्रथम मूल का श्लोक लिखेंगे पीछे टीका के अनुसार जो भाषा है उसको लिखेंगे । कदाचित् भाषा में न्यूनता होगी, तो टीका के उतने ही अक्षर दिखाकर पीछे भाषा लिखेंगे । सो प्रथम 'हठप्रदीपिका' के श्लोक लिखते हैं ।

"स्वेच्छया वर्तमानोऽपि, योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति, स योगी सिद्धिभाजनम् ॥८३ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये, दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु, नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी, वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

यत्रतः शस्तनालेन, फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः-शनैः प्रकुर्वीत, वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

नारी भगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितञ्च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

एवं संरक्षयन् बिन्दुं, मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ८८ ॥

सुगन्धो योगिनां देहे, जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे, तावत्कालभयं कुतः ॥८९ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं, शुक्रायत्तञ्च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव, रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं, बीजं बिन्दुञ्च रक्षयेत् ।
मेढेरा कर्षयेदूर्ध्वं, सम्यगभ्यासयोगवित् ।। ९१ ।।"

भाषा टीका

"अब वज्रोली के आदि में इसका फल कहते हैं। जो योगाभ्यासी वज्रोली मुद्रा को विशेषकर अपने अनुभव करके जाने, सो योगी योगशास्त्र में कहे हुए ब्रह्मचर्यादि किये बिना अपनी इच्छा करके वर्तमान रहे, अरिगमादि अष्ट सिद्धि को भोगने वाला हो ।। ८३ ।। वज्रोली के अभ्यास में दो वस्तु कही है, एक तो दूध पीना दूसरी स्त्री आज्ञाकारी वशवर्तिनी हो ।। ८४ ।। वज्रोली मुद्रा का प्रकार यह है कि स्त्री-संग के पीछे बिन्दु को क्षरण कहां पड़ना, जिसको पुरुष अथवा स्त्री यत्नपूर्वक इन्द्रिय को ऊपर आकुंचन करके वीर्य को ऊपर खींचने का अभ्यास करे, तो वह वज्रोली सिद्ध होती है ।। ८५ ।। अब वज्रोली की पूर्वांग क्रिया कहते हैं। चांदी की बनी हुई नाल को शनैः शनैः जैसे अग्नि सुलगाने को फूंक मारते हैं, वैसे ही फुंकार से इन्द्रिय के छिद्र में वायु का संचार बारम्बार करे।

वज्रोखी की साधन क्रिया

वज्रोली की साधन प्रक्रिया यह है कि सीसे की बनी हुई चिकनी हो, इन्द्रिय में प्रवेश करने के योग्य हो, ऐसी चौदह (चतुर्दश) अंगुल की शलाका करा करके उसको इन्द्रिय में प्रवेश कराने का अभ्यास करे। पहले दिन एक अंगुल प्रवेश करे। दूसरे दिन दो अंगुल प्रवेश करे। तीसरे दिन तीन अंगुल प्रवेश करे। इस रीति से क्रम से बारह अंगुल प्रवेश हो जाय तो इन्द्रिय मार्ग शुद्ध होवे। अथवा चौदह अंगुल की शलाका बनवावे, जिसमें दो अंगुल टेड़ी और ऊंचे मुंह वाली होनी चाहिए, वह दो अंगुल बाहर स्थापन करे। इसके पीछे सुनार की अग्नि सुलगाने की नाल के सदृश नाल ग्रहण करके उस नाल का जो अग्रभाग उसको इन्द्रिय में प्रवेश की हुई नाल के दो अंगुल बाहर निकले हुए भाग के मध्य में प्रवेश कर फूत्कार करे। इस प्रकार भली भांति इन्द्रिय मार्ग शुद्ध हो जाय, तब पीछे से इन्द्रिय द्वारा जल को ऊपर चढ़ाने का अम्तास करे। जब जल का आकर्षण होने लग जाय, तब पहले

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

श्लोक में लिखी हुई रीति के अनुसार वीर्य के आकर्षण करने का अभ्यास करे। जब वीर्य का आकर्षण करना सिद्ध हो जाय, तब वज्रोली मुद्रा सिद्ध होती है। जिस मनुष्य को खेचरी मुद्रा, और प्राण जय यह दोनों सिद्ध हो उसको वज्रोली मुद्रा सिद्ध होगी; दूसरे को नहीं ॥ ८६ ॥

जब इस प्रकार वज्रोली मुद्रा का अभ्यास सिद्ध हो जाय, उसके आगे साधन बतलाते हैं। नारीभगे इति। रतिकाल में स्त्री की योनि में वीर्य गिर पड़ा यह मालूम होवे लेकिन गिरे नहीं, उससे पहले जो वीर्य उसको वज्रोली के अभ्यास द्वारा ऊपर को आकर्षण करे। यदि गिरने के पहले बिन्दु को आकर्षण न कर सके तो स्त्री की भग में गिरा हुआ जो अपना वीर्य और स्त्री का रज इन दोनों को ऊपर खींचकर स्थापित करे ॥ ८७ ॥

वज्रोली के गुण वर्णन

"एवमिति। इस रीति से जो वीर्य को स्थिर करता है, वह योगवेत्ता होता है, और मृत्यु को जीत लेता है। परन्तु जो वीर्य का पतन करता है, वह मरण को प्राप्त होता है। इस रीति से वीर्य को धारण करने वाला जीवित होता है। इसलिए बिन्दु को इस रीति से स्थित करे ॥ ८८ ॥

सुगन्धेति। वज्रोली के अभ्यास करने वाले देह में वीर्य को धारण करते हैं, उससे बहुत सुन्दर सुगन्ध पैदा होती है और जब तक बिन्दु स्थित रहता है, तब तक काल का भय नहीं होता है ॥ ८९ ॥

चित्तायत्त मिति। निश्चय जो चित्त चलायमान हो, तो मनुष्य का वीर्य चलायमान होता है। और जो चित्त स्थिर हो तो वीर्य भी स्थिर रहता है। इसलिए चित्त के अधीन वीर्य है, और शुक्र जो स्थिर हो तो जीवन स्थिर हो, जो शुक्र नष्ट हो तो मरण हो, इस लिए शुक्र के अधीन जीवन है, इस वास्ते शुक्र और बिन्दु इन दोनों की अवश्य रक्षा करनी चाहिए ॥ ९० ॥

ऋतुमत्यादि। ऋतुमती स्त्री का रज और अपना बिन्दु इन दोनों को इस रीति से स्थिर करे कि इन्द्रिय करके यत्नपूर्वक रज और बिन्दु को ऊपर आकर्षण करे। वह वज्रोली-अभ्यासवेत्ता योगी जानता है ॥ ९१ ॥"

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

यह हठ प्रदीपिका का लेख लिखा, अब 'गोरक्ष-पद्धति' का भी लेख लिखते हैं।

गोरक्ष-पद्धति की रीति से वज्रोली वर्णन

"स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि, योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलीं यो विजानाति, स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १ ॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये, दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयन्तु, नारी च वशवर्तिनी ॥ २ ॥
मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽप्यथवा नारी, वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥
यत्नतः शस्तनालेन, फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनै प्रकुर्वीत, वायुसञ्चारकारणात् ॥ ४ ॥
नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ५ ॥
एवं संरक्षयन् बिन्दुं, मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ६ ॥
सुगन्धो योगिनो देहे, जायते बिन्दुधारणात्।
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे, तावत्कालभयं कुतः ॥ ७ ॥
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं, शुक्रायत्तञ्च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव, रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ८ ॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं, बीजं बिन्दुञ्च रक्षयेत्।
मेढ्रेण कर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित्। ९ ॥

इन श्लोकों का अर्थ इसलिये नहीं लिखते कि जैसा अर्थ 'हठप्रदीपिका' में है' वैसा ही इनका भी है। श्लोकों का लिखना तो ठीक समझा, कुछ भेद होता तो अर्थ अवश्य ही लिखते, क्योंकि निष्प्रयोजन ग्रन्थ को बढ़ाना ठीक नहीं समझा। थोड़े ही से प्रयोजन निकले तो बहुत क्यों बढ़ावें ?

अब ऊपर लिखी हुई जो रीति है उससे योग करने वाले को ही योगीन्द्र समझते हैं यह उसका लिखना और ऐसे ही योगीन्द्र समझना असम्भव सा है,

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

क्योंकि प्रथम ही योगाभ्यास के आरम्भ में अपथ्यभोजनादि अथवा स्नानादि क्रियाएं, और स्त्री का संग बिलकुल मना किया है। धर्मशास्त्रों में वा स्मृतियों में भी अनेक ऋषियों ने ऐसा ही लिखा है कि जिस जगह स्त्री का चित्र व मूर्ति हो, उस मकान में योगी, सन्यासी यति ब्रह्मचारी आदि को नहीं ठहरना चाहिए और जो कि स्त्री-विषय के आलंकारिक काव्य है उनको भी यति, ब्रह्मचारी, योगी, सन्यासी न पढ़े, क्योंकि पढ़ने से विकार उत्पन्न होता है यदि उस मकान में ठहरने और उस चित्र-मूर्ति को देखने से चित्त की चंचलता और विकार उत्पन्न होता है, तो स्त्री के पास में रहने से क्यों कर चित्त स्थिर रह सकता है? और योनि में लिंग को देकर क्रिया करना और वीर्य का निकालना और उसको भग में न पड़ने देना, अथवा न रुक सके और पड़ जाय तो उसका वायु के जोर से आकर्षण करके फिर स्तम्भ करना, इससे तो पहले ही न करना श्रेष्ठ है, क्योंकि पहले शरीर को कीचड़ मलकर फिर पानी से धोना, इससे तो कीचड़ न मलना ही श्रेष्ठ है। इस लिए यदि आदिनाथ, मच्छन्दरनाथादि योगियों ने इस बात को अंगीकार किया है, तो उनके योगीन्द्र होने में वा अमर होने में विवेक-सहित बुद्धि से विचार करने वाले को सन्देह होता है। सम्भव है कि स्त्री-संग करने से मोक्ष मानना, "कवलक" (कौलक) मतावलम्बियों के बिना और कोई मतावलम्बी स्वीकार न करेगा। कौलक मत वाले पांच मकार से मोक्ष मानते हैं। वे पांच मकार ये हैं—मांस, मदिरा, मछली, मैथुन, मुद्रा। वे इनको अंगीकार करते हैं। उनके भी दक्षिणी, वामी, उत्तरादि, काचलियापन्थ, कूंडापन्थ, अधरवीयं, आदि अनेक भेद हैं।

तब तक योग का सच्चा ज्ञान ही होता जब तक आत्मानुभव और अध्यात्म का आत्मार्थी गुरु न मिले। इसलिए मैं नम्रता-पूवंक पाठक-गणों को कहता हूं, कि जैसा गुरु मुझे मिला, और उन्होंने जो बातें मुझे बताईं, अनुभव कराया, दो मिनट में मानो अमृत का प्याला पिलाया, शासनपति श्री वीर भगवान् के निर्वाण-भूमि पर ध्यान करना फरमाया, मैंने भी उस जगह आकर उन्नीस सौ चौतीस की साल में आसन जमाया, ध्यान

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

के प्रारम्भ से ग्यारहवे दिन अनुभव का आनन्द पाया, उसी के किञ्चित् स्वाद से इतना लेख लिखाया है।

ऊपर की बात से अब हमको यह विचार करना चाहिए कि जब योनि में लिंग देकर क्रिया करना, और वीर्य न पड़ने देना, अथवा पड़े हुए को ऊपर चढ़ाते जाना ही यदि 'हठप्रदीपिका' आदि के मत से योगीन्द्रपन हो तो सब कामी मनुष्य भी योगवेत्ता हो जायेंगे।

दूसरी बात यह है कि जो चीज पहले साबुत बनी हुई है, उस चीज में से थोड़ी निकाल कर फिर उसमें मिलावे तो मिलाने से जो घाट पहले था वह घाट न रहेगा। जैसे दही किसी बरतन में जमा हुआ है, उसमें से कुछ निकाल कर फिर पीछे से उसमें मिलावे तो पहले जैसा यथावत् स्वरूप था वैसा कदापि न होगा। यही हाल वीर्य का भी है। इस लिए पहले उस वीर्य को कदापि न निकालना चाहिए।

तीसरी बात यह भी है कि योनि में लिंग देने से यदि योगवेत्ता होता हो, तो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, समाधि, आदि साधन व्यर्थ हो जायंगे।

चौथा कारण यह है कि गोरक्षपद्धति के सातवें और हठप्रदीपिका के ८३ वें श्लोक में लिखा है, कि चित्त के स्थिर होने से वीर्य स्थिर होता है। इससे आत्म-अनुभवी—अध्यात्म इसी बात को अंगीकार करेंगे कि चित्त को स्थिर करने से वीर्य आप ही स्थिर हो जाएगा।

पांचवां कथन है कि योनिमें लिंग डाल कर क्रिया करना और वीर्य को न गिरने देना, यह बात शौकीन जार पुरुष भी कर सकते हैं। अथवा दवाई आदि से भी हो सकता है। परन्तु ऐसी क्रिया (वज्रोली) से कदापि चित्त स्थिर न होगा। उलटी विशेष रूप से चित्त की चंचलता हो जाएगी, और चंचलता होने से व्यभिचारादि विशेष करने लगेगा। क्योंकि देखो अग्नि में ज्यों-ज्यों घृत काष्ठादि पड़ेगा, त्यों-त्यों अग्नि विशेष करके प्रज्वलित होगी। इस रीति से जो योनि में लिंग देकर क्रिया करेगा, उसका चित्त विषयासक्त होगा ही और जिस समय वह वीर्य निकलता है सो रुकना भी कठिन है; क्यों

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

कि वीर्य निकलते समय जो विषयानन्द होता है, उस विषयानन्द में जगत् फंस रहा है और जरा-मरण करता है, और फिर वह वीर्य भग में पड़ा हुआ पीछे खींचकर ले जावे तो वह वीर्य दही के दृष्टांत के अनुसार कदापि एक-रस न होगा। इसलिए वर्तमान काल में कितने ही लोग इन ग्रन्थों के अनुसार वज्रोली में प्रवृत्त होते हैं और अपने दिल में विचारते हैं कि इस क्रिया के करने से हम योगवेत्ता होकर योगीन्द्र वन जायेंगे। किन्तु वह तो होता नहीं है, उलटे वे लोग भ्रष्ट और पतित हो जाते हैं। इसलिए इन ग्रंथों की रीति आत्मार्थियों के वास्ते उपयुक्त हमारे समझ में नहीं आई, इस कारण से हमने विशेष खोलकर लिखा है, कितने ही वेषधारी इस क्रिया को करके साधुत्व से भ्रष्ट हो गए हैं। भाई, इसकी प्रवृत्ति अन्य मत में ही है जैनमत के साधु भ्रष्ट न हुए, क्योंकि उन्होंने यह क्रिया को अपनाया नहीं है। अन्य मत के साधु काम विकार जन्य प्रवृत्ति कर आपस में बड़ाई करते हैं इसलिए प्रसंग से हमने भी इतनी बात लिख दी है।

वज्रोली की शुद्ध रीति और प्रयोजन

अब हम वज्रोली का प्रयोजन और रीति गुरु की कृपा से जो पाई है वह बतलाते हैं, आत्मार्थी पाठकगणों को सुनाते हैं, कुछ अनुभव भी दिखाते हैं, वीर्य को बचाते हैं, स्त्री का बिलकुल त्याग कराते हैं, अपने स्वरूप को मिलाते हैं। जो बुद्धि पूर्वक विवेक सहित ग्रहण कर श्रद्धा-सहित परिश्रम करेगा उसे स्वरोदय-साधन में सहायता मिलेगी और इससे कुछ विशेष सिद्धि नहीं है। हां विषयी पुरुषों के वास्ते स्त्रियों को प्रसन्न करना, और आप आनन्द लूटना होता है, परन्तु यह काम योगियों का नहीं। इन्द्रिय में गज डालकर छिद्र बढ़ाना भी निष्प्रयोजन है। क्योंकि लघुनीति साफ मार्ग के बिना कदापि न निकलेगी और फूंकनी लगाकर उसमें वायु को फूंक से भरना भी निष्प्रयोजन है। यद्यपि लघुनीति होना, अथवा विषय करने से भी वीर्य का निकलना, इन दोनों बातों का अनुभव जगत् को हो रहा है। परन्तु ख्याल न रखने से उसका रहस्य समझते नहीं हैं। विवेक के साथ विचार करें तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यही दिखाते हैं कि जिस समय पुरुष अठारह अथवा बीस वर्ष की आयु में हो, और

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

स्त्री तेरह या चौदह वर्ष की आयु में हो और जब वह लघुनीति करने को बैठे, उस समय गुदा को ऊपर आकुञ्चन करने से लघुनीति (पेशाब) की धार बन्द हो जाती है। और जब आकुंचन छोड़ते हैं तब धार निकलती है। इस रीति से जो मैथुनादि क्रिया करते हैं, तब वीर्य निकलते समय गुदा ऊपर को स्वयं ही आकुञ्चित हो जाती है, और वीर्य रुक जाता है, जब गुदा नीचे को होती है तब वह वीर्य निकलता है। यह सब प्राणवायु का ख्याल है। परन्तु वीर्य और पेशाब रुकने और निकलने का अनुभव सबको है। बल्कि कितने ही मनुष्य श्वास को रोक कर वीर्य को रोकते हैं, और किसी समय उसे रोकने से वीर्य रुककर घाव (क्षत) कर देता है, जिस घाव के होने से सुजाक की बीमारी कहलाती है। यह अनुभव साधारण पुरुषों को भी हो रहा है।

और जो योगी जन हैं उनको यदि कभी कोई कारण (गर्मी आदि) से वीर्य चलायमान हो जाय, तो उसको प्राण अपान की एकता, और नौली चक्र से कुंभक करके लिंग के ऊपर रोक लेते हैं, क्योंकि जिसको नौली-चक्र यथावत् याद है वह पुरुष लिंग से और गुदा से द्रावण (पिघला हुआ घृत, दुग्ध, जल और तेल) चढ़ा सकता है। सो घृत, दुग्ध, शहद आदि लिंग से चढ़ाना केवल लोगों को तमाशा दिखाना है, क्योंकि वीर्य निकल गया वह खराब हो गया, उसके चढ़ाने से सिवाय हानि के और कुछ लाभ नहीं होगा। इसलिए इस वज्रोली का मुख्य तात्पर्य यही है कि स्वर-साधन करने वाले ऐसा कहते है कि लघुनीति चन्द्र स्वर में करे और बड़ीनीति (पाखाना) सूर्य स्वर में करे। लघुनीति को वज्रोली रोक सकती है, यही इसका प्रयोजन है। क्योंकि जब पुरुष अथवा स्त्री पाखाना आदि को जाते हैं उस समय दोनों ही स्वर होते हैं। इस बात को सर्व साधारण जानते हैं। कदाचित् गज डाल कर उसमें फूंकादि लगाकर लिंग को साफ करे, परन्तु जब तक उसको नौलीचक्र न आता होगा, तब तक उससे बस्ती कर्म और वज्रोली कदापि न होगी।

और जो इन ग्रन्थकारों ने ऐसा लिखा है, कि "जिसको वज्रोली होगी, उसी को खेचरी होगी और खेचर होगी तो वज्रोली होगी" यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि इन दोनों का आपस में कुछ सम्बन्ध नहीं, बल्कि बिना वज्रोली

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

के खेचरी मैंने कराई है, और बिना खेचरी के वज्रोली करते हमने कितने ही मनुष्यों को देखा है। हां, बिना नौली के वज्रोली कदापि न होगी, क्योंकि नौलीकर्म जिसको सिद्ध होगा, वह पुरुष नल उठाकर बाहर की वायु को खींच सकता है, बिना नौली के कुम्भक वायु नहीं खिचती, इसलिए जिसको नौली याद होगी उसको वज्रोली जब करेगा तब ही याद हो जायगी। इस रीति से किञ्चित् वज्रोली की प्रक्रिया दिखाई।

जोली, अम्रोली क्रियायें भी इस वज्रोली का ही भेद है ऐसा 'गोरक्ष-पद्धति आदि में लिखा है और इसका असल भेद ओघड़मत या अघोरियों का आचरण है परन्तु इसके करने से कुछ आत्मा की सिद्धि नहीं। हां, किसी कदर साधन करने से लोगों को चमत्कारादि सिद्धि दिखाने का कारण है। सो इसके लिखने के लिए चित्त तो नहीं चाहता। परन्तु मेरे गुरु ने मुझको बताने में किसी प्रकार का संकोच नहीं रखा। यदि वे कुछ संकोच रखते तो मैं भी संगति पाकर उनके (अघोरियों) के जाल में फंस जाता। सो उन गुरु की चरण-कृपा से और सब हाल जानने से उनके जाल में नहीं आया हूं, उनके घर के हाल को कहकर सर्वज्ञ मत पुख्ता बताता हूं। इस प्रकार लिखे हेतु से किञ्चित् दिखाते हैं कि लघुनीति का पीना और बड़ीनीति का खाना, अर्थात् पाखाना का खाना और पेशाब का पीना उसका नाम जोली है। अघोरी मतवाले ऐसा करते हैं।

अम्रोली

बड़ीनीति को और लघुनीति को मिलाकर कपड़े से छानना, और उसको गरम करके पीना, तथा उसके बोदर [फोकम] को शरीर पर मालिश करना उसका नाम अम्रोली है।

इसे करने वाले लोग एक मन्त्र का जाप भी करते हैं, उस जाप से उनको सिद्धि प्राप्य होती है। इस काम के करने वाले इस संसार को यह तमाशा दिखाते हैं। क्रिया करने में सिद्धि की आशा रखते हैं, इन लोगों को आत्मा के स्वरूप का किञ्चित् भी बोध नहीं है।

अब इस प्रपञ्च को छोड़कर प्रणायामादि दिखाते हैं, प्रथम मल-शुद्धि का उपाय कराते हैं, क्योंकि प्राणायाम से भी मलशुद्धि होती है।

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

नाड़ियों की उत्पत्ति

यह इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाम वाली नाड़ियां तो आज्ञा-चक्र से उत्पन्न हुई हैं और सहस्र दल कमल के पास में होकर मेरु के बराबर में होती हुई पश्चिम मुख से निकलकर गुह्य स्थान में होकर कन्द को भेद कर नाभि में जो कंद है उसमें मिल गई हैं। फिर आगे को नासा द्वारा अन्य चक्रों को भेदन करती हुई निकलती हैं।

और गुह्यद्वार से ऊपर जो मूलाधार चक्र है उसमें व्याप्त सुषुम्ना नाड़ी के बीच में लिंग देश से निकलकर सिर तक पहुंची हुई वज्र-नाम की एक नाड़ी है वह देदीप्यमान चमकने वाली है। यह नाड़ी योगीश्वरों को ध्यान में प्रतीत होती है, जो मकड़ी के तार से भी सूक्ष्म है और सुषुम्ना नाड़ी उक्त छओं पद्मों की नाल को भेद कर गई है। वैसे ही चित्रनाड़ी भी उसी छिद्र से ऊपर को चली गई है और इसी के बीच में एक ब्रह्मनाड़ी बिजली के समान देदीप्यमान है और वह नाड़ी सुषुम्ना से भी मोहनीय स्वरूप वाली है। जिनको शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ है और जिनका आचरण शुद्ध है उनके देखने में यह नाड़ी ठीक-ठीक आती है, न कि प्रत्येक मनुष्य इसको देख सकता है।

कुण्डली चलाने का उपाय

इस कुण्डली के, कुण्डलिनी, नागन, बालरण्डा, शक्ति आदि कई नाम हैं। यह कुण्डलिनी नामक नाड़ी सब नाड़ियों के ऊपर स्थित होकर मणिपूरक चक्र कर्णिका में आवृत करके ब्रह्मरन्ध्र के द्वार को रोक कर सर्वदा रहती है और सुषुम्ना को नहीं जाने देती है। इसलिए प्राण-वायु और अपान-वायु को धोंकने वाला—अर्थात् उत्तेजित् करने वाला जो पुरुष है वह उस प्राण और अपान वायु की एकता से उत्तेजित हुई जो अग्नि उससे जागृत होकर मन और प्राणवायु सहित सुषुम्ना को सूची तंतु न्याय से ऊपर ले जाता है। जैसे सूई में तंतु (धागा) पोया हुआ हो तो वह सुई कपड़े के अनेक सूतों को भेदकर तंतु-सहित ऊपर को निकल जाती है वैसे ही वह करने वाला पुरुष मन और प्राण वायु के साथ सुषुम्ना नाड़ी को ऊपर ले

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

जाकर आनन्द को प्राप्त होता है।

अथवा सोते हुए सर्प के समान कुण्डली नाड़ी है। उसको जागृत करने के वास्ते पहले अपानवायु और प्राणवायु से विधिपूर्वक बीच की अग्नि के स्वरूप को तेज करे। अग्नि की तेजी से उसे जगाकर जैसे अति वेग से चलता हुआ सर्प समान गति को छोड़कर कुटिल गति से जाता है, वैसे ही करने वाला ज्योतिमयस्वरूप होकर सुषुम्ना मार्ग से लय हो जाता है।

जैसे ताले में कुंजी लगाने से ताला खुलकर कपाट (किवाड़) खुल जाते हैं वैसे ही कुण्डली करके सुषुम्ना रूप कुंजी (ताली) से आत्म-स्वरूप कपाट खुल जाता है।

दूसरी रीति से शक्ति-चालनादि का वर्णन

दूसरा प्रकार यह है कि वज्र-आसन लगाकर हाथों से पगों (पैरों) की एड़ी पकड़ कर कंद स्थान को दृढ़ता से पीड़न करे और उस वक्त में वज्रासन से ही धोंकनी-कुम्भक करके वायु को प्रचलित करे, उस वायु के प्रचलित होने से अग्नि प्रज्वलित होती है, उस प्रज्वलित अग्नि की गर्मी से वह बाल-रंडा मुख फाड़ देती है। उस समय भी सुषुम्ना करके योगश्वर अपने स्वरूप का आनन्द पाता है।

अथवा, नाभि स्थान में सूर्य नाड़ी को आकुंचन कर कुंडली को चलावे, या चार घड़ी पर्यन्त निर्भय होकर शक्ति चालन करे तो कुंडली कुछ सुषुम्ना में ऊपर को उठे तब प्राणवायु आप ही सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है।

इस शक्ति के चलाने में नौली-चक्र जौर भस्त्रिका, कुम्भक और महामुद्रा ये तीनों बहुत उपयोगी है। जो पुरुष इनका विशेष रूप से अभ्यास करेगा वही इस बालरंडा को जगाकर सुषुम्ना के संग होकर अपने आत्मस्वरूप आनन्द को प्राप्त करेगा। परन्तु ये सब बातें वायु के साधन से होती हैं। इसलिए वायु के नाम दिखाते हैं :—१ प्राण २ अपान ३ समान ४ उदान ५ व्यान ६ नाग ७ कूर्म ८ कृकल ९ देवदत्त १० धनंजय। ये दस वायु सर्व शरीर में रहती हैं।

CC-0. Late Pt. Manmohan Shastri Collection Jammu. Digitized by eGangotri

द्वात्रिंशमाह्निकम्

* विवेकः *

शुद्धाशुद्धाध्वभिदा द्विगह्वरं मुद्रयत्यशेषजगत् ।
संविद्रूपतया यः कलयतु स किल्विषं सतां कालः ॥

इदानीं मुद्राविधिमभिधातुमुपक्रमते—

अथ कथये मुद्राणां गुर्वागमगीतमत्र विधिम् ।

तमेव आह—

मुद्रा च प्रतिबिम्बात्मा श्रीमद्देव्याख्ययामले ।
उक्ता बिम्बोदयश्रुत्या वाच्यद्वयविवेचनात् ॥ १ ॥

तत्र श्रीदेव्यायामले

'प्रतिबिम्बोदयो मुद्रा................................।'

---

* ज्ञानवती *

जो शुद्ध अशुद्ध भेद से दो गुफा वाले संसार को (संविद् के द्वारा) मुद्रित करते हैं वह कालरूपी (शिव) सज्जनों के पाप को संविद्रूप से कल्पित करें ।

अब यहाँ गुरु और आगम के द्वारा उक्त मुद्राओं की विधि को कहता हूँ ॥ १- ॥

उसी को कहते हैं—

श्री देवीयामल में विम्बोदय श्रुति के दो वाच्यों का विवेचन करने से मुद्रा को प्रतिबिम्ब रूपा कहा गया है ॥ -१ ॥

इत्येवंरूपाया बिम्बोदयश्रुतेः पञ्चमीष्ठ्यर्थबहुव्रीहिद्वारस्य वाच्यद्वयस्य विवेकमाश्रित्य परसंविदाकृतिरूपत्वात् प्रतिबिम्बात्मा मुद्रा उक्ता—इति वाक्यार्थः । इदं च अत्र वाच्यद्वयम्—प्रतिराभिमुख्ये, तेन बिम्बसंनिधिं निमित्तीकृत्य बिम्बैकनियत उदयो यस्येति बिम्बस्य प्रतिबिम्बोत्पत्तिनिमित्तत्वमुक्तम्,

बिम्बस्य अभिव्यक्तिलक्षण उदयः प्रतिगतः प्राप्तो यस्मादिति प्रतिबिम्बस्य ज्ञप्त्युपायत्वमिति । यद्वा

'मुद्रा बिम्बोदयो नाम्ना......................।'

इतिबिम्बोदयश्रुतेः प्रतिशब्दार्थमपहायैव व्याख्येयम् ॥ १ ॥

तदेव तात्पर्यद्वारेण आह—

बिम्बात्समुदयो यस्या इत्युक्ता प्रतिबिम्बता ।
बिम्बस्य यस्या उदय इत्युक्ता तदुपायता॥ २ ॥

समुदय इति = उत्पत्तिः । यस्या इति—प्रतिबिम्बरूपाया मुद्रायाः—इति षष्ठ्यर्थः, यस्याश्च सकाशात्—इति पञ्चम्यर्थः । उदय इति ज्ञप्तिस्तदुपायतेति

वहाँ = श्रीदेवीयामल में—

'प्रतिबिम्ब का उदय ही मुद्रा है'

इस प्रकार की बिम्बोदयश्रुति के पञ्चमी और षष्ठी अर्थ वाले दो बहुव्रीहि वाले दो वाच्यों (= अर्थों) के भेद के आधार पर परसंविद् के आकृति जैसी होने के कारण मुद्रा प्रतिबिम्ब रूप कही गयी है—यह वाक्यार्थ है । यहाँ दो अर्थ ये हैं—'प्रति' उपसर्ग का प्रयोग 'सामने' अर्थ में हुआ है । इससे बिम्बसन्निधि के कारण केवल बिम्ब के अधीन उदय है जिसका इस प्रकार बिम्ब को प्रतिबिम्ब का निमित्त कहा गया । बिम्ब का अभिव्यक्तिलक्षण उदय (प्रति =) प्रतिगत = प्राप्त है जिससे । इस प्रकार प्रतिबिम्ब ज्ञान का उपाय है । अथवा—

'बिम्ब का उदय है (जो) मुद्रा नाम से (जाना जाता है) ।'

इस बिम्बोदयश्रुति की (दृष्टि से) प्रतिशब्द को छोड़कर व्याख्या करनी चाहिये ॥ १ ॥

उसी को तात्पर्य के द्वारा कहते हैं—

बिम्ब से जिसका उदय होता है—**इस कारण प्रतिबिम्बता** कही गयी । जिससे बिम्ब का उदय होता है—**इस कारण** वह (प्रतिबिम्ब) उसका (= बिम्ब = ज्ञान का) उपाय है । **यह कहा गया** २ ॥

समुदय = उत्पत्ति । यस्याः = **प्रतिबिम्ब** रूपा **मुद्रा** का—**यह षष्ठी विभक्ति** का अर्थ है । जिसके पास से **यह पञ्चमी का अर्थ है** । उदय = ज्ञान । उसका

ज्ञप्तिद्वारिका बिम्बोपायतेत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं मुद्राशब्दस्य रूढिमुपदर्श्य योगमपि दर्शयति—

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम् ।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता ॥ ३ ॥

यद्यपि च अत्र

'इत्याशयेन मुद्रा मोचयते पाशजालतोऽशेषात् ।
कायीयान्पुर्यष्टकसंस्कारान्द्रावयेत्तथा मन्त्रम् ॥
योगं क्रियां च चर्यां मुद्रयति तदेकरूपतया ।'

इत्यादिदृष्ट्या बहुधा योगः सम्भवति, तथापि परानन्दनिर्भरस्वरूपताधायितया अयमेव मुख्य इति एतावदेव उक्तम् ॥ ३ ॥

आसामेव गुणप्रधानभावं तावत् दर्शयति—

तत्र प्रधानभूता श्रीखेचरी देवतात्मिका ।
निष्कलत्वेन विख्याता साकल्येन त्रिशूलिनी ॥ ४ ॥
करङ्किणी क्रोधना च भैरवी लेलिहानिका ।
महाप्रेता योगमुद्रा ज्वालिनी क्षोभिणी ध्रुवा ॥ ५ ॥
इत्येवं बहुभेदेयं श्रीखेचर्येव गीयते ।

उपाय अर्थात् ज्ञान के द्वारा बिम्बोपायता ॥ २ ॥

मुद्राशब्द की रूढि को दिखा कर योग को भी दिखाते है—

जिस कारण आत्मा को शरीर के माध्यम से स्वरूपलाभ नामक मुद (= आनन्द) को राति = अर्पित करती है, इस कारण शास्त्रों में (इसे) मुद्रा कहा गया है ॥ ३ ॥

यद्यपि यहाँ—

'समस्त पाशजाल से जो मुक्त कराती है, कायीय पुर्यष्टक संस्कारों को द्रावित (= नष्ट) करती है, तथा मन्त्र योग क्रिया एवं चर्या रूप (= मुद्रात्मक रूप) से मुद्रित करती है, इस आशय से मुद्रा (कही जाती) है ।'

इत्यादि दृष्टि से अनेक प्रकार का विग्रह सम्भव है तथापि परानन्दनिर्भरस्वरूपता का आधायी होने से यही (यौगिक अर्थ) मुख्य है इसलिये यही कहा गया ॥ ३ ॥

इन्हीं का गुणप्रधानभाव दिखलाते हैं–

उसमें श्री खेचरी (मुद्रा) जो कि देवतारूपा है निष्कल कही गयी है । सकल रूप से त्रिशूलिनी करङ्किणी क्रोधना भैरवी लेलिहानिका महाप्रेता

ध्रुवेति खेचरीविशेषणम्, तस्या हि त्रिशूलिन्यादिसकलरूपोपग्रहेऽपि न निष्कलाद्रूपात्प्रच्यावः—इति अभिप्रायः । उक्तं हि—

'इयं सा खेचरी मुद्रा निष्कला परिकीर्तिता ।
सकलं रूपमेतस्या भेदैस्तैस्तैरवस्थितम् ॥' इति ॥

ननु त्रिशूलिन्यादिवदन्या अपि एतदङ्गभूता मुद्राः सम्भवन्तीति कथमिह ता अपि न उक्ताः ?—इत्याशङ्क्य आह—

अन्यास्तदङ्गभूतास्तु पद्माद्या मालिनीमते ॥ ६ ॥
तासां बहुत्वामुख्यत्वयोगाभ्यां नेह वर्णनम् ।

ननु श्रीमालिनीमते पद्ममुद्रादिसाहचर्येणैव श्रीखेचरी अपि निर्दिष्टा, तत् सैव प्रधानेति तु कुतस्त्यम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

श्रीखेचरीसमाविष्टो यद्यत्स्थानं समाश्रयेत् ॥ ७ ॥
देवीसंनिधये तत्स्यादलं किं डम्बरैर्वृथा ।

अलमिति—पर्याप्तम् ॥

योगमुद्रा ज्वालिनी क्षोभिणी इस प्रकार यह ध्रुवा खेचरी ही अनेक भेदों वाली कही जाती है ॥ ४-६- ॥

'ध्रुवा' यह खेचरी का ही विशेषण है । त्रिशूलिनी आदि समस्त (सकल) रूप को धारण करने पर भी इसका (अपने) निष्कल रूप से पतन नहीं होता—यह अभिप्राय है । कहा भी है—

'यह खेचरी मुद्रा निष्कल कही गयी है । इसका सकल रूप उन-उन भेदों के कारण है ॥'

प्रश्न—त्रिशूलिनी आदि के समान इसकी अङ्गभूत अन्य भी मुद्रायें सम्भव हैं फिर यहाँ उनका भी कथन क्यों नहीं हुआ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र के मत में उस (खेचरी) की अङ्गभूत पद्मा आदि अन्य (मुद्रायें) हैं । उन मुद्रा भेदों के बहुत और अमुख्य होने के कारण (उन भेदों का) यहाँ वर्णन नहीं है ॥ -६-७- ॥

प्रश्न—मालिनी मत में पद्म मुद्रा आदि के साहचर्य से ही खेचरी भी निर्दिष्ट है तो वही प्रधान हो गयी ऐसा कहाँ से (कहा गया)?—यह शङ्का कर कहते हैं—

श्रीखेचरी मुद्रा से समाविष्ट व्यक्ति जिस-जिस स्थान को पहुँचता है वह (स्थान) देवीसन्निधि के लिये पर्याप्त हो जाता है फिर व्यर्थ के आडम्बर से क्या ? ॥ -७-८- ॥

अलम् = पर्याप्त ॥

ननु आसामपि

'याभिः संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात् ।'

इत्याद्युक्त्या साधकविषयं मुख्यत्वमस्तीति कथमेवमुक्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

काम्ये कर्मणि ताश्च स्युर्मुख्याः कस्यापि जातुचित् ॥ ८ ॥

कस्यापीति—साधकस्यैव, नतु पुत्रकादेः । जातुचिदिति—नतु नित्यवत् सर्वकालम् ॥ ८ ॥

इह पुनर्मोक्षाख्यमुख्यार्थप्रतिपादनपरत्वादस्य ग्रन्थस्य काम्यमेव कर्म न उक्तमिति तदुपयोगिना अपि मुद्रावर्णनेन कोऽर्थः ?—इत्याह—

तच्च नास्माभिरुदितं तत्किं तदुपयोगिना ।

आसां च भेदनिर्देशद्वारेण स्वरूपमभिधातुमाह—

मुद्रा चतुर्विधा कायकरवाक्चित्तभेदतः ॥ ९ ॥
तत्र पूर्णेन रूपेण खेचरीमेव वर्णये ।

वागिति—मन्त्रविलापनरूपा । यदुक्तम्—

प्रश्न—इनका भी—

'जिनके द्वारा संरक्षित मन्त्री मन्त्रसिद्धि को प्राप्त करता है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा मुख्यता साधक की होती है फिर ऐसा कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

काम्य कर्म में ये किसी के लिये कदाचित् मुख्य होती हैं ॥ ८ ॥

किसी के लिये = साधक के लिये ही न कि पुत्रक आदि के लिये । कदाचित्—न कि नित्य कर्मों की भाँति सब समय ॥ ८ ॥

यहाँ मोक्ष नामक मुख्य अर्थ (= विषय) का प्रतिपादक होने वाले इस ग्रन्थ का काम्य कर्म कहा ही नहीं गया फिर उसके उपयोगी मुद्रावर्णन से क्या लाभ?—यह कहते हैं—

और वह हमारे द्वारा नहीं कहा गया फिर उसके उपयोगी (मुद्रा वर्णन) से क्या (लाभ)? ॥ ९- ॥

भेदनिर्देशपूर्वक इनका स्वरूप कहते हैं—

मुद्रा शरीर हाथ वाक् और चित्त भेद से चार प्रकार की होती है । उनमें से पूर्णरूप से खेचरी का ही वर्णन करता हूँ ॥ -९-१०- ॥

वाक्—मन्त्रविलापनरूपा । जैसा कि कहा गया—

'करकायविलापान्तःकरणानुप्रवेशतः ।
मुद्रा चतुर्विधा ज्ञेया...................... ॥'

इत्युपक्रम्य

'अंगुलीन्यासभेदेन करजा बहुमार्गगा ।
सर्वावस्थास्वेकरूपा वृत्तिर्मुद्रा च कायिकी ॥
पञ्चमुद्राधरं चैतद् व्रतं सिद्धनिषेवितम् ।
मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलापाख्या प्रकीर्तिता ॥
ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी परिकीर्तिता ।' इति ॥

पूर्णेनेति—चतुर्विधेनापि—इत्यर्थः ॥

तत्रापि प्राधान्येन श्रीपूर्वशास्त्रोक्तमेव तावदस्या रूपमाह—

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं क्षिपेत् ॥ १० ॥
दण्डाकारं तु तं तावन्नयेद्यावत्ककत्रयम् ।
निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ॥ ११ ॥
एतां बद्ध्वा खे गतिः स्यादिति श्रीपूर्वशासने।

स्थिरसुखासनस्थो हि योगी जन्माधारादुदेत्य नाभिदेशे मनो निवेश्य—तत्रैव बहुशः परिभ्राम्य मध्यप्राणशक्त्येकीकारेण दण्डाकारतया मूर्धन्यं बिन्दुनादब्रह्मरन्ध्र-

---

'कर काय विलाप एवं अन्तःकरणानुप्रवेश भेद से मुद्रा चार प्रकार की जाननी चाहिये.......... ।'

ऐसा प्रारम्भ कर

'हाथ की मुद्रा अङ्गुलीन्यास के भेद से अनेक प्रकार की है । सब अवस्थाओं में एकरूपा वृत्ति कायिकी मुद्रा है । पाँच मुद्रा वाला यह व्रत सिद्धों के द्वारा सेवित होता है । मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलाप नाम से कही गयी है । ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी कही गयी है ।'

पूर्णता के साथ = चार प्रकारों के साथ ॥

उसमें भी प्रधानरूप से भी मालिनीविजय में उक्त इसका स्वरूप बतलाते हैं—

योगी पद्मासन लगाकर नाभिप्रदेश में मन को स्थिर करे । फिर दण्ड के आकार के रूप में उसको वहाँ तक ले जाय जहाँ क तीन और ख तीन हैं । वहाँ उसको रोक कर शीघ्र ही तीन ख के द्वारा (आगे) बढ़ाये । इसका बन्धन करने पर आकाश में गति हो जाती है—ऐसा मालिनीविजयतन्त्र में (कहा गया है) ॥ -१०-१२- ॥

स्थिरसुख वाले आसन पर बैठा योगी मूलाधार से उठकर नाभिदेश में मन को

लक्षणं खत्रयं यावत् नीत्वा तत्रैव कुम्भकानुवृत्त्या निरुध्य शक्तिव्यापिनीसमनात्मना खत्रयेण तूर्णमुद्घातगत्या प्रेरयेदुन्मनापदाक्रमणेन परमशिवाभिमुख्यं नयेत् येन अस्य एतदवष्टम्भेन परबोधगगनचारित्वं स्यात् ॥

अस्या एव अवान्तरभेदसहितायाः श्रीयोगसञ्चारोक्तं रूपं निर्दिशति—

ध्वनिज्योतिर्मरुद्युक्तं चित्तं विश्रम्य चोपरि ॥ १२ ॥
अनेनाभ्यासयोगेन शिवं भित्त्वा परं व्रजेत् ।

ध्वनिः = नादः, ज्योतिः = बिन्दुः, मरुत् = शक्तिः, तेन तद्द्वादशान्तं ब्रह्मरन्ध्रम् । एवं जन्माधारात्प्रभृति एतद् व्योमत्रययोगि चित्तं विधाय तत्रैव निविडध्यानेनैव क्रमेण उपरितनं शक्त्यात्मकमपि खत्रयं भित्त्वा योगी परं शिवं व्रजेत्—इति वाक्यार्थः ॥

एतदनुवेधेन त्रिशूलिन्या अपि रूपमाह—

जत्र्वधस्तात्करौ कृत्वा वामपादं च दक्षिणे ॥ १३ ॥
विदार्यास्यं कनिष्ठाभ्यां मध्यमाभ्यां तु नासिकाम्।

लगा कर वहीं पर कई बार भ्रमण कराकर सुषुम्ना शक्ति से एकाकार होने के कारण दण्ड के आकार के रूप में मूर्धा में स्थित, बिन्दु, नाद, ब्रह्मरन्ध्र लक्षण वाले तीन क तक ले जाकर वहीं कुम्भक के रूप में (उसे) रोक कर शक्ति, व्यापिनी, समना रूप तीन ख के द्वारा शीघ्र ही उपर की ओर प्रेरित करे अर्थात् उन्मना पद पर पहुँच कर परमशिव की ओर ले जाँय जिससे इसको यहाँ स्तम्भन करने से परबोधरूप गगन में विचरण करने की शक्ति मिलती है ॥

अवान्तरभेदसहित इसी का श्रीयोगसञ्चार में कथित रूप का निर्देश करते हैं—

(योगी) ध्वनि ज्योति और वायु से युक्त चित्त को विश्रान्त कर उसी अभ्यास के द्वारा ऊपर की ओर भेदन कर परम शिव को प्राप्त करता है ॥ -१२-१३- ॥

ध्वनि = नाद, ज्योति = बिन्दु, मरुत् = शक्ति । इससे इसका द्वादशान्त = ब्रह्मरन्ध्र । इस चित्त को इस प्रकार मूलाधार से लेकर इस (उपर्युक्त) तीन व्योम से युक्त करके वहीं पर गहन ध्यान के द्वारा क्रमशः उपरिवर्त्ती शक्त्यात्मक तीन शून्य (= शक्ति व्यापिनी समना) का भेदन कर योगी परमशिव को प्राप्त करता है—यह वाक्यार्थ है ॥

इसके अनुवेध से त्रिशूलिनी का भी रूप कहते हैं—

दोनों हाथों को कण्ठ के नीचे और बायें पैर को दायें पैर के ऊपर रख कर दोनों कनिष्ठाओं से मुख को फैला कर तथा दोनों मध्यमाओं से

अनामे कुञ्चयेत्प्राज्ञो भ्रूभङ्गं तर्जनीद्वयम् ॥ १४ ॥
जिह्वां च चालयेन्मन्त्री हाहाकारं च कारयेत् ।
त्रिशूलेन प्रयोगेण ब्रह्मरन्ध्रमुपस्थितः ॥ १५ ॥
पदं सन्त्यज्य तन्मात्रं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

जत्रुशब्देन अत्र कण्ठो लक्ष्यते, तेन तदधः—इत्यर्थः । नासिकामिति—तद्रन्ध्रद्वयम्, चालयेदिति—भ्रूभङ्गादौ त्रयेऽपि योज्यम् । तन्मात्रमिति—स्थितम् । मेदिनीं त्यजतीति—देहाद्यहन्तापहस्तनेन परबोधाकाशचारी भवेत्—इत्यर्थः ॥

त्रिशूलप्रयोगमेव शिक्षयति—

शून्याशून्यलये कृत्वा एकदण्डेऽनिलानलौ ॥ १६ ॥
शक्तित्रितयसम्बद्धे अधिष्ठातृत्रिदैवते ।
त्रिशूलं तद्विजानीयाद्येन व्योमोत्पतेद् बुधः ॥ १७ ॥

एवंविधोऽयमनिलानलौ प्राणापानावर्थात् मध्यप्राणे समरसितौ कृत्वा अत एव एकस्मिन्मूलाधारात्प्रभृति ऊर्ध्वं प्रसरणात् दण्डाकारे च तस्मिन् जाते सति तदेवं प्रयुज्यमानं त्रिशूलं विजानीयात् येन अस्य व्योमोत्पतनं स्यात् । एकदण्डाकारं

नासिका (के दोनों छिद्रों) को फैलाकर प्राज्ञ मन्त्री अनामिकाओं को आकुञ्चित करे (= फैलाये)। भ्रूभङ्ग दोनों तर्जनी और जिह्वा को चलाये तथा हा हा करे । इस त्रिशूल प्रयोग से (योगी) ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाता है । फिर तन्मात्रपद को छोड़कर तत्काल पृथ्वी को छोड़ देता है ॥ -१३-१६- ॥

'जत्रु' शब्द से यहाँ कण्ठ (= हँसुली) लक्षित है । इससे यह अर्थ (निकला कि) उससे (= कण्ठ से) नीचे । नासिका को = उसके दोनों छिद्रों को । सञ्चालित करे—इसे भ्रूभङ्ग आदि तीनों के साथ जोड़ना चाहिये । तन्मात्र = स्थित । धरती को छोड़ देता है = देह आदि में आत्मभाव को हटाकर परबोधरूपी आकाश में विचरण करता है—यह अर्थ है ॥

त्रिशूलप्रयोग को ही बतलाते हैं—

अनिल (= प्राण) और अनल (= अपान) को एक दण्ड (=सुषुम्ना) में कर के उन दोनों को तीन शक्तियों से सम्बद्ध तथा तीन अधिष्ठातृदेवों से संयुक्त कर शून्याशून्य का लय कर दे । तो इसे त्रिशूल समझना चाहिये जिसके द्वारा विद्वान् चिदाकाश में विचरण करता है ॥ -१६-१७ ॥

इस प्रकार का यह (विद्वान्) अनिल और अनल = प्राण और अपान को मध्यप्राण (= सुषुम्ना) में एक रस बनाकर इसलिये मूलाधार से लेकर ऊपर की ओर प्रसरण करने से उसके दण्डाकार होने पर इस प्रकार प्रयुज्यमान उसको त्रिशूल

मध्यप्राणमेव विशिनष्टि—अधिष्ठातृत्रिदैवते इति = भ्रूमध्याद्यवस्थितेश्वरसदाशिवानाश्रिताख्यकारणत्रयाधिष्ठिते—इत्यर्थः। तथा शक्तिव्यापिनीसमनासम्बद्धे तत्संयोगमाप्ते, अत एव परपदप्राप्त्या शून्याशून्यलये विगलितसदसदादिशब्दव्यवहारे इत्यर्थः ॥ १७ ॥

नच एतावतैव अयं व्योम उत्पतेत्—इत्याह—

आकाशभावं सन्त्यज्य सत्तामात्रमुपस्थितः।
शूलं समरसं कृत्वा रसे रस इव स्थितः ॥ १८ ॥
एकदण्डं स विज्ञाय त्रिशूलं खचरं प्रिये।
बद्ध्वा तु खेचरीं मुद्रां ध्यात्वात्मानं च भैरवम् ॥ १९ ॥
खेचरीचक्रसङ्घुष्टं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

एवं खचरमेकदण्डं त्रिशूलं विज्ञाय तत्तदवच्छेदाधायि सत्तामात्रमपि परित्यज्य खेचरीमुद्राबन्धमाविश्य स बुधः पराकाशरूपतामुपस्थितः सन् स्थितस्तत्रैव रसे इव रसं शूलमपि समरसीकृत्य खेचरीचक्रसङ्घुष्टमात्मानं भैरवं ध्यात्वा च सद्य एव मेदिनीं त्यजति—इति सम्बन्धः ॥

ननु एवमस्य किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

समझे जिसके द्वारा इसका (चिद्) व्योम में उत्पतन होता है । एकदण्डाकार मध्यप्राण का ही विशेषण बताते हैं—अधिष्ठातृत्रिदैवते = भ्रूमध्य में स्थित ईश्वर सदाशिव और अनाश्रित नामक तीन कारणों से अधिष्ठित । तथा शक्ति व्यापिनी समना से सम्बद्ध = उसके संयोग को प्राप्त । इसलिये परपदप्राप्ति के द्वारा शून्य अशून्य लय होने पर सत् असत् आदि शब्दव्यवहार के लुप्त हो जाने पर—यह अर्थ है ॥ १७ ॥

इतने से ही वह आकाश में उत्पतन नहीं करता-यह कहते हैं—

(योगी) सत्ता मात्र को छोड़कर आकाशभाव में उपस्थित होता है । फिर त्रिशूल को रस में रस के समान समरस कर स्थित होता है । हे प्रिये ! वह एकदण्ड खचर त्रिशूल को जानकर, खेचरी का धारण कर खेचरीचक्र से संयुक्त आत्मा का भैरवरूप में ध्यान कर सद्यः पृथ्वी को छोड़ देता है ॥ १८-२०- ॥

इस प्रकार खचर एकदण्ड त्रिशूल को जानकर तत्तद् अवच्छेद की आधायक सत्ता को भी छोड़ कर खेचरीमुद्राबन्ध से आविष्ट होकर वह विद्वान् पराकाशरूपता को प्राप्त होकर स्थित हुआ रस में रस की भाँति शूल को भी समरस कर तथा खेचरीचक्र से युक्त आत्मा भैरव का ध्यान कर सद्यः ही पृथ्वी को छोड़ देता है—यह सम्बन्ध है ॥

त्यक्तांशको निराचारो निःशङ्को लोकवर्जितः ॥ २० ॥
अवधूतो निराचारो नाहमस्मीति भावयन् ।
मन्त्रैकनिष्ठः संपश्यन् देहस्थाः सर्वदेवताः ॥ २१ ॥
ह्लादोद्वेगास्मिताक्रुष्टनिद्रामैथुनमत्सरे ।
रूपादौ वा कर्तृकर्मकरणेषु च सर्वशः ॥ २२ ॥
नाहमस्मीति मन्वान एकीभूतं विचिन्तयन् ।
कर्णाक्षिमुखनासादिचक्रस्थं देवतागणम् ॥ २३ ॥
ग्रहीतारं सदा पश्यन् खेचर्या सिद्ध्यति स्फुटम् ।

त्यक्तांशक इति—निरंशतामापन्नः—इत्यर्थः । निराचार इति—निष्क्रान्ता आचारा यस्मादाचारेभ्यश्च निष्क्रान्त इति योज्यम् । देहस्थाः सर्वदेवताः संपश्यन्निति सर्वदेवतामयमात्मानं जानानः—इत्यर्थः । ह्लादेत्यादिना चित्तवृत्तिविशेषा आसूत्रिताः । रूपादाविति—विषयपञ्चके । ग्रहीतारमिति परप्रमात्रेकरूपम्—इत्यर्थः ॥

एतदेव व्यतिरेकद्वारेण द्रढयति—

विद्याशङ्की मलाशङ्की शास्त्रशङ्की न सिद्ध्यति ॥ २४ ॥

प्रश्न—इस प्रकार इसका क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(साधक) आशङ्कारहित, आचारशून्य, निःशङ्क, लोकवर्जित, अवधूत, आचार से बाहर, 'मैं नहीं हूँ'—ऐसी भावना करता हुआ, मन्त्रैकनिष्ठ, समस्त देवताओं को शरीरस्थ देखता हुआ (स्थित रहता है) । ह्लाद, उद्वेग, अस्मिता, आक्रोश, निद्रा, मैथुन, मत्सर में अथवा रूप आदि में तथा कर्त्ता कर्म करण में सब प्रकार से 'मैं नहीं हूँ' ऐसा मानते हुये कान आँख मुख नासिका आदि चक्र में स्थित देवतागण को एकीभूत जानता हुआ (अपने को) सदा ग्रहीता समझता हुआ स्पष्टरूप से खेचरी से सिद्ध होता है ॥ -२०-२४- ॥

त्यक्तांशक = निरंशता को प्राप्त । निराचार—जिसमें से आचार निकल चुके हैं और आचारों से निष्क्रान्त = परे, ऐसी योजना करनी चाहिये । देहस्थ सब देवताओं को देखता हुआ = अपने को सर्वदेवतामय जानता हुआ । ह्लाद (उद्वेग....) इत्यादि के द्वारा चित्तवृत्ति के विशेष सङ्केतित हैं । रूप आदि के विषय में = (रूप रस गन्ध आदि) पाँच विषयों के सन्दर्भ में । ग्रहीता = परप्रमाता रूप ॥

इसी को व्यतिरेक के द्वारा दृढ़ करते हैं—

विद्याशङ्की, मलाशङ्की (= आणव आदि मल के विषय में शंकालु) और शास्त्रशङ्की (= शैवशास्त्र के विषय में नाना प्रकार की उचितानुचित

विद्येति—शुभकरी वेदविद्या ॥ २४ ॥

ननु एवमयं कस्मात् न सिद्ध्येत्?—इत्याशङ्क्य आह—

शिवो रविः शिवो वह्निः पक्तृत्वात्स पुरोहितः ।
तत्रस्था देवताः सर्वा द्योतयन्त्योऽखिलं जगत् ॥ २५ ॥

रविः = प्रमाणम्, वह्निः = प्रमाता, अत एव पुरोहितो यष्टा—इत्यर्थः । पक्तृत्वादिति—सर्वस्य स्वात्मसात्काररूपत्वात् द्योतयन्त्यः स्थिताः—इति शेषः । एवं हि शिव एव सर्वमिति किमाशङ्कास्पदमित्याशयः ॥ २५ ॥

एवं त्रिशूलिन्याः स्वरूपमभिधाय करङ्किण्या अपि आह—

कनिष्ठया विदार्यास्यं तर्जनीभ्यां भ्रुवौ तथा ।
अनामे मध्यमे वक्त्रे जिह्वया तालुकं स्पृशेत्॥ २६ ॥
एषा करङ्किणी देवी ज्वालिनीं शृणु सांप्रतम् ।
हनुर्ललाटगौ हस्तौ प्रसार्याङ्गुलितः स्फुटौ ॥ २७ ॥
चालयेद्वायुवेगेन कृत्वान्तर्भ्रुकुटीं बुधः ।

शंका करने वाला) को सिद्धि नहीं मिलती ॥ -२४ ॥

विद्या = शुभकरी वेदविद्या ॥ २४ ॥

प्रश्न—इस प्रकार का यह (= साधक) क्यों सिद्धि प्राप्त नहीं करता?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शिव ही रवि शिव ही अग्नि और पाचक होने के कारण वही (= शिव ही) पुरोहित है । समस्त संसार को चमत्कृत करती हुयी सब देवतायें भी उसी में हैं ॥ २५ ॥

रवि = प्रमाण, वह्नि = प्रमाता, इसीलिये पुरोहित = यष्टा ॥ पक्ता होने से = सबको आत्मसात् करने वाला होने से, द्योतित करती हुयी स्थित हैं । इस प्रकार शिव ही सब कुछ हैं फिर आशङ्का का स्थान कहाँ? ॥ २५ ॥

त्रिशूलिनी के रूप का कथन कर करङ्किणी के भी (रूप का कथन) करते हैं—

कनिष्ठा के द्वारा मुँह को तथा दोनों तर्जनी से भ्रुवों को फैलाकर अनामिका और मध्यमा को मुख में (डालकर) जिह्वा से तालु का स्पर्श करे । यह करङ्किणी देवी (मुद्रा) है । अब ज्वलिनी (मुद्रा) को सुनो । हनु से लेकर ललाट तक फैली अंगुलियों वाले दोनों हाथों को स्पष्ट फैलाकर विद्वान् भ्रुकुटी को (हाथों के) भीतर कर वायु वेग से चलाये और जिह्वा के

विदार्यास्यं सजिह्वं च हाहाकारं तु कारयेत् ॥ २८ ॥
एषा ज्वालिन्यग्निचक्रे तया चाष्टोत्तरं शतम् ।
जपेद्यदि ततः सिद्ध्येत् त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २९ ॥

कनिष्ठयेति—उभयकरसम्बन्धिन्या । वक्त्रे इति—अर्थात् कृत्वा । प्राकरणिकश्च अत्र खेचरीमुद्राबन्धानुवेधोऽनुसन्धातव्य एव—इति गुरवः । हनुरिति—ऐशः पाठः, तेन हनुतः प्रभृति ललाटान्तं स्थितौ कार्यौ—इत्यर्थः । प्रसार्यांगुलित इति—प्रसृतांगुलीकौ—इत्यर्थः । अन्तरिति—हस्तयोः । अग्निचक्रे इति—ऊर्ध्वमुखे त्र्यश्रे अन्तरात्मानं भावयित्वा ॥ २९ ॥

सिद्धिमेव दर्शयति—

परदेहेषु चात्मानं परं चात्मशरीरतः ।
पश्येच्चरन्तं हानादाद्गमागमपदस्थितम् ॥ ३० ॥
नवच्छिद्रगतं चैकं नदन्तं व्यापकं ध्रुवम् ।
अनया हि खचारी श्रीयोगसञ्चार उच्यते ॥ ३१ ॥

हानादेति—हाकारस्य नादेन उच्चारेण—इत्यर्थः । गमागमेति—स्वदेहात् परदेहे, परदेहाद्वा स्वदेहे । खचारीत्यनेनापि खेचरीमुद्राबन्धानुवेधो दर्शितः ॥३१॥

सहित मुँह को फैला कर हाहाकार करे । यह ज्वालिनी (मुद्रा) है । अग्निचक्र में उसके साथ यदि एक सौ आठ बार (मन्त्र) जपे तो सचराचर त्रैलोक्य वश में हो ॥ २६-२९ ॥

कनिष्ठा के द्वारा—दोनों हाथों से सम्बद्ध (कनिष्ठा) । वक्त्र में—अर्थात् करके । यहाँ प्रासङ्गिक खेचरीमुद्राबन्ध के अनुवेध का अनुसन्धान अवश्य करना चाहिये—ऐसा हमारे गुरु कहते हैं । 'हनुः' यह ऐश (= ईश्वरीय) पाठ है । इससे (यह अर्थ होता है कि) हनु से लेकर ललाट तक (दोनों हाथों को) स्थित करे । अंगुली फैलाकर = जिसमें अंगुलियाँ फैली हों । भीतर—दोनों हाथों के । अग्निचक्र में = ऊर्ध्वमुख त्रिकोण में भीतर आत्मा का ध्यान कर ॥ २९ ॥

सिद्धि को ही दिखलाते हैं—

(साधक) दूसरे के शरीर में अपने को और अपने शरीर में दूसरे को 'स्वा' और 'हा' के उच्चारण के द्वारा गमनागमन पद में स्थित, नव छिद्रों (= दो आँख, दो कान, दो नाक, मुँह, मलद्वार, और लिङ्ग या योनि) में रहने वाले, एक, शब्द करने वाले, व्यापक, ध्रुव आत्मा को देखता है । इस (मुद्रा) के द्वारा (साधक) (चिद्-) आकाश में विचरण करता है—ऐसा श्री योगसञ्चार में वर्णित है ॥ ३०-३१ ॥

हा नाद से = हा के नाद = उच्चारण से । गमागम = अपने देह से पर देह

इदानीं श्रीवीरावल्युक्तमपि अस्या विधिमाह—

कुलकुण्डलिकां बद्ध्वा अणोरन्तरवेदिनीम् ।
वामो योऽयं जगत्यस्मिंस्तस्य संहरणोद्यताम् ॥ ३२ ॥
स्वस्थाने निर्वृतिं लब्ध्वा ज्ञानामृतरसात्मकम् ।
व्रजेत्कन्दपदं मध्ये रावं कृत्वा ह्यरावकम् ॥ ३३ ॥
यावज्जीवं चतुष्कोणं पिण्डाधारं च कामिकम् ।
तत्र तां बोधयित्वा तु गतिं बुद्ध्वा क्रमागताम् ॥ ३४ ॥
चक्रोभयनिबद्धां तु शाखाप्रान्तावलम्बिनीम् ।
मूलस्थानाद्यथा देवी तमोग्रन्थिं विदारयेत् ॥ ३५ ॥
वज्राख्यां ज्ञानजेनैव तथा शाखोभयान्ततः ।
कोणमध्यविनिष्क्रान्तं लिङ्गमूलं विभेदयेत् ॥ ३६ ॥
तत्र सङ्घट्टितं चक्रयुग्ममैक्येन भासते ।
वैपरीत्यात्तु निक्षिप्य द्विधाभावं व्रजत्यतः ॥ ३७ ॥
ऊर्वाद्यंगुष्ठकालाग्निपर्यन्ते सा विनिक्षिपेत् ।
गमागमनसञ्चारे चरेत्सा लिङ्गलिङ्गिनी ॥ ३८ ॥

अथवा परदेह से अपने देह में । 'खचारी'—इस शब्द से खेचरीमुद्राबन्ध का अनुवेध दर्शित है ॥ ३१ ॥

अब श्रीवीरावली में उक्त इस विधि को कहते हैं—

(साधक को चाहिये कि वह) अणु के भीतर रहने वाली कुलकुण्डली को नियन्त्रित कर, इस संसार में जो वाम (= अज्ञान) है उसका संहरण करने में उद्यत (कुण्डली) को अपने स्थान (= मूलाधार) में स्थित कर, मध्य (= सुषुम्ना) में बिना ध्वनि के शब्द उत्पन्न कर जीव (= अमृतपूर्ण) चतुष्कोण पिण्ड (= शरीर) का आधारभूत, कामिक (= कामनापूरक चिन्तामणि नामक) ज्ञानअमृतरसात्मक कन्दपद को प्राप्त करे । वहाँ पर उस (= कुण्डली) को उद्बुद्ध कर क्रमशः प्राप्त गति को जानकर दोनों चक्रों (= मूलाधार से लेकर द्वादशान्त) में निबद्ध मूलाधार से शाखाप्रान्त में रहने वाली वज्रनामक तमोग्रन्थि का ज्ञान से उत्पन्न (शक्ति) के द्वारा भेदन करे । फिर दोनों शाखाओं (= प्राण अपान) के अन्त से लेकर त्रिकोण के मध्य तक निकले हुये लिङ्गमूल का भेदन करे । वहाँ सङ्घटित चक्रयुग्म (= दोनों चक्र) एक होकर भासित होता है । यहाँ से उल्टा निक्षेप होने पर (जीव) द्विधा भाव को प्राप्त हो जाता है । वह (= वह कुण्डलिनी) उरु से लेकर अंगुष्ठकालअग्नि तक निक्षेप करती है । वह

तत्र तत्पदसंयोगादुन्मीलनविधायिनी ।
यो जानाति स सिद्ध्येत्तु रसादानविसर्गयोः ॥ ३९ ॥
ससङ्गममिदं स्थानमूर्मिण्युन्मीलनं परम् ।
एष क्रमस्ततोऽन्योऽपि व्युत्क्रमः खेचरी परा ॥ ४० ॥
योन्याधारेति विख्याता शूलमूलेति शब्द्यते ।
वर्णास्तत्र लयं यान्ति ह्यवर्णे वर्णरूपिणि ॥ ४१ ॥

इह अणोरन्तरवेदिनीमन्तश्चरन्तीं तन्मयतामाप्तां कुलकुण्डलिकां = मध्यप्राण-शक्तिम्, आक्रम्य अज्ञानसंहर्त्रीं स्वस्थाने शाक्ताधारे तदैक्यापत्तिरूपां निर्वृतिं प्राप्य

'मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ।'

इत्युक्त्या तस्य बोधनादप्रवर्तकत्वात् मध्यविषाधारादावरावकं प्रशान्तरूपं रावं नादं कृत्वा

'.........................कन्दे षड्रसलम्पटाः ।'

इतिभङ्ग्या ज्ञानामृतरसात्मकं कन्दपदं कामिकं सर्वकामाभिधं जीवं सञ्जीवन्यमृताभिधं चतुष्पथवर्तित्वात् चतुष्कोणं चिन्तामण्यभिधानं च यावत् पैण्डं शरीरमाधारं व्रजेत् । तत्र आधारेषु च क्रमागतां तां कुलकुण्डलिकां बोधयित्वा

लिङ्ग-लिङ्गिनी गमागमन सञ्चार में विचरण करती है । वहाँ उस पद के संयोग से (वह) उन्मीलन करती है । जो इस उर्मि का उन्मीलन करने वाले इस संगम स्थान को जानता है वह रस के आदान और विसर्ग में सिद्ध हो जाता है । यह क्रम है । इससे भिन्न भी क्रम है (जिस कारण) यह परा खेचरी योनि का आधार कही गयी है । इसे शूलमूला कहा जाता है । वर्णरूपी इस अवर्ण में (समस्त) वर्ण लीन हो जाते हैं ॥ ३२-४१॥

यहाँ (योगी) अणु की अन्तर्वेदिनी = भीतर सञ्चरण करने वाली = तन्मयता को प्राप्त, कुलकुण्डलिका = सुषुम्ना में सञ्चरणशील प्राणशक्ति को आक्रान्त कर अज्ञानसंहर्त्री को = अपने स्थान मूलाधार में उसके साथ एकता की प्राप्ति रूपा निर्वृति को, प्राप्त कर

'मूल में शाक्त उल्लास होता है जो बोधनाद का प्रवर्त्तक कहा गया है ।'

इस उक्ति के अनुसार उस (= अणु) के बोधनाद के प्रवर्त्तक होने के कारण मध्यविषाधार आदि में अराव = प्रशान्तरूप, रावक = नाद को उत्पन्न करके

'कन्द में छह रसों का लम्पट (योगी अमृतपान करता है)'

इस भङ्गी से (योगी) ज्ञानअमृतरस रूप कन्दपद को, जो कि कामिक = सर्वकाम नामवाला, जीव = सञ्जीवनी अमृत नामवाला, चतुष्पथ में रहने के कारण

मूलस्थानादारभ्य प्राणापानात्मचक्रद्वयोम्भितां द्वादशान्तं यावत् गच्छन्तीं ज्ञात्वा यथा अयं योगी ज्ञानजेनैव माहात्म्येन अज्ञानग्रन्थिं दुर्भेद्यत्वात् वज्राख्यां मध्यनाडीं च विदारयेत्, तथा प्राणापानात्मशाखाद्वयस्य अन्तमवलम्ब्य जन्माधाररूपत्रिकोण-मध्यादपि विनिष्क्रान्तमत एव मेढ्राधोवर्तित्वात् लिङ्गमूलम् = तदाख्यमकुलाधारम्, अपि विभेदयेत् । तत्र हि प्राणापानरूपं चक्रयुग्मं स्वस्वरूपत्रोटनेन सङ्घट्टितं सदैक्येन भासते मध्यप्राणशक्तेरेव ततः समुदयः—इत्यर्थः । अतो लिङ्गमूलाख्या-दकुलपदात्पुनः सा वैपरीत्यादधोगत्या निक्षेपं विधाय द्विधाभावं व्रजति यदियमूर्वा-द्यंगुष्ठपर्यन्तत्वनिमित्तमात्मानं विनिक्षिपेत्—तद्रूपतां गृह्णीयात्—इत्यर्थः । सा कुलकुण्डलिका हि ऊर्ध्वाधःसञ्चारमनादृत्य प्राणापानलक्षणाभ्यां लिङ्गाभ्यां लिङ्गिनी तत्क्रोडीकारेण ज्ञप्तिं प्राप्ता सती चरेत् तत्तदाधारादिभेदेन मध्यधाम आक्रामेत् । सा हि तत्र मध्यधाम्नि प्राणापानपदद्वयसंयोगात्संविद्विकासमादध्यात् । यश्च एवंविधमिदं सर्वभावानुस्यूतमूर्मिण्युन्मीलनं परसंविद्विकासाधायि परं स्थानं जानाति, स संविद्रसादानविसर्गयोः सिद्ध्येत् सृष्टिसंहारकारित्वेऽस्य सामर्थ्य-मुत्पद्यते—इत्यर्थः । अस्याश्च एष यथोक्तस्तत्तदाधारादिसञ्चारात्मा क्रमः स्वारसिक

चतुष्कोण और चिन्तामणि नामक पैण्ड = आधारभूत, शरीर को प्राप्त करता है । उन आधारों में क्रमागत उस = कुलकुण्डली को उद्बुद्ध कर मूल स्थान से लेकर प्राण अपान रूप दो चक्रों से उठायी गयी द्वादशान्त तक जाने वाली (कुलकुण्डलिनी) को जानकर यह योगी ज्ञानजन्य माहात्म्य से अज्ञानग्रन्थिभूत तथा दुर्भेद्य होने के कारण वज्र नामक सुषुम्ना नाड़ी का भेदन करता है । तथा प्राण अपानरूप दो शाखाओं के अन्त का अवलम्बन कर जन्माधाररूप त्रिकोण के मध्य से भी विनिष्क्रान्त इसलिये मेढ़ के अधोवर्त्ती होने के कारण लिङ्गमूल = उस नाम वाले अकुलाधार, का भी भेदन करे । वहाँ प्राण और अपानरूप दो चक्र अपने-अपने स्वरूप को तोड़ कर सङ्घट्टित होते हुये एक प्रतीत होते हैं अर्थात् वहाँ से मध्यप्राण शक्ति का उदय होता है । फिर इस = लिङ्गमूल नामक अकुलपद, से वह विपरीतता के कारण अधोगति से निक्षेप कर द्विधाभाव को प्राप्त होती है अर्थात् कि यह उरु से लेकर अंगुष्ठ पर्यन्तत्व के लिये अपने को निक्षिप्त करती है = उस रूप का ग्रहण करती है । वह = कुलकुण्डलिका, ऊपर नीचे के सञ्चार की अपेक्षा न कर प्राणअपानलक्षण वाले दो लिङ्गों के द्वारा लिङ्गिनी उसका आत्मसात् करने के कारण ज्ञप्ति को प्राप्त होती हुयी सञ्चरण करती है = तत्तत् आधार आदि भेद से मध्यधाम को आक्रान्त करती है । वह (= कुलकुण्डलिका) वहाँ = मध्यधाम में प्राण अपान रूपी दो पदों के संयोग से संविद्विकास को उत्पन्न करती है । जो (व्यक्ति) इस प्रकार के इस सर्वभावानुस्यूत उर्मि में उन्मीलन करने वाले परसंविद्विकास को उत्पन्न करने वाले पर स्थान को जानता है वह संविद्रस के आदान और विसर्ग में सिद्धि प्राप्त करता है अर्थात् सृष्टि और संहार करने में इसका सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है । और इसका यह = यथोक्त तत्तत्

एव वाहः—इत्यर्थः । ततोऽन्यो व्युत्क्रमोऽपि अस्याः सम्भवति यदियं परा खेचरी योन्याधारेति विख्याता तत उदिता सती शूलमूलेति शब्द्यते झटित्येव शक्तिव्यापिनीसमनात्मकारात्रययोगित्वात् द्वादशान्तपदं प्राप्ता—इत्यर्थः । यतस्तत्र सर्वोच्छेदरूपे क्रोडीकृतबाह्यामर्शेऽपि स्वामर्शमात्रात्मनि अवर्णे वर्णा बाह्यामर्शा लयं यान्ति—तद्विश्रान्ता एव भवन्ति—इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

ननु भवतु एवं, योगी पुनरस्याः कथं प्रबोधमादद्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

नादिफान्तं समुच्चार्य कौलेशं देहसंनिभम् ।
आक्रम्य प्रथमं चकं खे यन्त्रे पादपीडितम् ॥ ४२ ॥
नादं वै शक्तिसद्गर्भं सद्गर्भात्कौलिनीपदम् ।
बीजपञ्चकचारेण शूलभेदक्रमेण तु ॥ ४३ ॥
हृच्छूलग्रन्थिभेदैश्चिद्रुद्रशक्तिं प्रबोधयेत् ।
वायुचक्रान्तनिलयं बिन्द्वाख्यं नाभिमण्डलम् ॥ ४४ ॥
आगच्छेल्लम्बिकास्थानं सूत्रद्वादशनिर्गतम् ।
चन्द्रचक्रविलोमेन प्रविशेद्भूतपञ्जरे ॥ ४५ ॥
भूयस्तु कुरुते लीलां मायापञ्जरवर्तिनीम् ।

आधार आदि में सञ्चार रूप, क्रम = प्रवाह, स्वाभाविक ही है उससे भिन्न इसका व्युत्क्रम भी सम्भव है कि यह परा खेचरी योन्याधारा कही गयी है । वहाँ से उदित हुई अर्थात् उठकर यह शूलमूला कही जाती है । अर्थात् शीघ्र ही शक्ति व्यापिनी और समनारूप तीन अराओं से युक्त होने के कारण द्वादशान्त पद को प्राप्त हो जाती है । जिस कारण वहाँ = सर्वोच्छेद रूप बाह्य आमर्श के क्रोडीकृत होने पर भी स्वामर्शमात्र रूप अवर्ण में, वर्ण = बाह्य आमर्श, लीन हो जाते हैं = उसमें विश्रान्त हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

प्रश्न—ऐसा हो, किन्तु योगी इसका प्रबोध कैसे प्राप्त करता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

योगी कौलेश एवं देहसदृश नादि फान्त (= 'न' से लेकर 'फ' तक) का उच्चारण कर प्रथम चक्र को 'ख' यन्त्र में 'क' अंश से पीड़ित कर शक्तिगर्भित नाद को (प्राप्त कर) फिर शक्तिसद्गर्भ से कौलिनी पद को (प्राप्त कर); तत्पश्चात् पाँच बीजों में सञ्चरण के द्वारा शूलभेद के क्रम से हृदशूल और द्वादश ग्रन्थिभेदों के द्वारा चिद्रुद्रशक्ति को प्रबुद्ध करे । (इसके फलस्वरूप योगी) वायुचक्रान्तनिलय बिन्दुनामक नाभिमण्डल, लम्बिकास्थान, जो कि द्वादश सूत्रों से परे है, को प्राप्त होता है । फिर चन्द्रचक्र के विलोम से भूतपञ्जर में प्रवेश करता है और बार-बार मायापञ्जरवर्त्तिनी लीला को करता है । विद्वान् (योगियों) के द्वारा खेचरी

पुनः सृष्टिः संहृतिश्च खेचर्या क्रियते बुधैः ॥ ४६ ॥
श्रीमद्वीरावलीयोग एष स्यात्खेचरीविधिः ।

चित्—शुद्धात्मा, कौलेशं रहस्यज्ञानप्रधानभूतमत एव गर्भीकृतमध्यशक्ति नादिफान्तरूपं सर्वमन्त्रारणिस्वभावं नादं स्वदेहाभेदेन समुच्चार्य तमेव च एवं सगर्भमुच्चार्यमाणं नादमधिकृत्य खे जन्माकाशरूपे मर्मणि कौलिन्याः कुलकुण्डलिन्याः पदं

'जन्माख्ये नाडिचक्रं तु..................... ।'

इत्युक्तं नाड्यात्म प्रथमं चक्रं पादेन अंशेन पीडितं विधाय तत्र कथञ्चित् प्राणशक्तिं निरुध्य अवशिष्टानि पञ्चापि चक्राणि आक्रम्य ब्रह्मादिकारणपञ्चको-ल्लङ्घनक्रमेण हृत्स्थस्य नाडित्रयात्मनः शूलस्य ग्रन्थिद्वादशकस्य ब्रह्मरन्ध्रो-परिवर्तिनः शक्त्याद्यात्मनः शूलस्य च भेदनक्रमेण रुद्रशक्तिं प्रबोधयेत् । येन अयं जन्मपदादारभ्य पवनाधारात्मनो वायुचक्रस्य अन्ते संनिकर्षे वर्तमानं नाभिमण्डलं तत्सङ्घट्टाधारं लम्बिकास्थानं तदूर्ध्वस्थितं सुधाधारं बिन्द्वाख्यं भ्रूमध्यवर्तिनं विद्याकमलसंज्ञितमाधारं नाडीनां तात्स्थ्यात् ग्रन्थीनां द्वादशकात् निर्गतं सर्वसंबन्धोत्तीर्णं द्वादशान्तपदं च यावत् आ समन्तादृजुना क्रमेण

के द्वारा बार-बार सृष्टि और संहार किया जाता है । श्रीमद्वीरावलीयोग में यह खेचरीविधि (कही गयी) है ॥ ४२-४७- ॥

चित् = शुद्ध आत्मा, कौलेश को = रहस्यज्ञानप्रधानभूत अत एव मध्यशक्ति को गर्भ में रखने वाले नादि फान्त रूप तथा समस्त मन्त्रों के अरणिस्वभाव वाले नाद को, अपने शरीर से अभिन्न रूप में उच्चारण कर और इस प्रकार सगर्भ उच्चार्यमाण इसी नाद के आधार पर ख में = जन्माकाशरूप मर्म में, कौलिनी के = कुलकुण्डलिनी के, पद जो कि

'जन्म नाम के (आकाश) में नाडिचक्र को.............।'

ऐसा कहा गया है, नाडीरूप प्रथमचक्र को पाद = एक अंश से पीड़ित कर वहाँ किसी प्रकार प्राणशक्ति को (योगी) निरुद्ध करे । तत्पश्चात् अवशिष्ट पाँचों चक्रों (= मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत और शाकिनी) को आक्रान्त कर ब्रह्मादि (= ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) पाँच कारणों का उल्लङ्घन करते हुये हृदय में स्थित तीन नाड़ी (= इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना) रूप शूल का भेदन कर रुद्रशक्ति को प्रबुद्ध करे जिससे यह (योगी) जन्मपद से लेकर पवनाधार रूप वायुचक्र के अन्त = सन्निकर्ष, में वर्त्तमान नाभिमण्डल और उसके सङ्घट्ट का आधार लम्बिकास्थान उसके ऊपर स्थित सुधाधारबिन्दु नामक भ्रूमध्य में स्थित विद्याकमल नामक नाड़ियों का आधार और उसमें स्थित बारह ग्रन्थियों सहस्त्रार, अ, उ, म्, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना

गच्छेत्—तत्र विश्रान्तिं कुर्यात्—इत्यर्थः । भूयस्तु तत्र चन्द्रचक्रादपानस्थात् प्रत्यावृत्त्यात्मना विलोमक्रमेण स्वशरीरमेव प्रविशेत्, येन अयं व्युत्थानदशोचितं व्यवहरेत् । अतश्च खेचरीमुद्रावेशभाजां ज्ञानिनामन्तर्बहिरुन्मेषनिमेषाभ्यामा- जवञ्जवीभावेन सृष्टिसंहारकारित्वं स्यात्—इति संक्षेपार्थः । योगे इति तद्वचनावसरे इति—यावत् ॥

श्रीकामिकोक्तमपि अस्या रूपमाह

चुम्बाकारेण वक्त्रेण यत्तत्त्वं श्रूयते परम् ॥ ४७ ॥
ग्रसमानमिदं विश्वं चन्द्रार्कपुटसंपुटे ।
तेनैव स्यात्खगामीति श्रीमत्कामिक उच्यते ॥ ४८ ॥

चुम्बाकारेण काकचञ्चुपुटाकृत्यनच्ककलात्मना मध्यप्राणशक्त्यवलम्बिनापि स्वरूपेण वक्त्रेण यदिदं प्रमाणप्रमेयात्मकं विश्वं स्वात्मसात्कुर्वाणमत एव परं प्रमात्रेकरूपं तत्त्वं चन्द्रार्कपुटस्य प्राणापानयुग्मस्य संपुटे = मध्यधाम्नि श्रूयते = साक्षात्क्रियते, तत एव अस्य खचारित्वं स्यात्—इति वाक्यार्थः ॥ ४८ ॥

इदानीं श्रीकुलगह्वरोक्तं सविशेषमस्या रूपं वक्तुमाह—

भवान्मुक्त्वा द्रावयन्ति पाशान्मुद्रा हि शक्तयः ।

से निर्गत सब सम्बन्धों को पार करने वाले (अधः) द्वादशान्त पद तक ऋजु क्रम से जाता है अर्थात् वहाँ विश्राम करता है । फिर वहाँ अपानस्थ चन्द्रचक्र से प्रत्यावृत्तिरूप उल्टे क्रम से अपने शरीर में ही प्रवेश करता है जिससे यह योगी व्युत्थानदशा के अनुरूप व्यवहार करता है । इसलिये खेचरी मुद्रा के आवेश वाले ज्ञानी भीतर बाहर उन्मेष-निमेष के द्वारा आजवञ्जवी भाव (= उन्मेषनिमेषमय भाव) से सृष्टिसंहारकारी होते हैं--यह संक्षिप्त अर्थ है । योग में = उसके कथन के समय ॥

इसका श्री कामिकोक्त भी स्वरूप बतलाते हैं—

चुम्बाकार मुख से ग्रसमान जो विश्वरूप परतत्त्व चन्द्रसूर्य रूप पुट के संपुट में सुना जाता है इसी से (योगी) खेचर होता है—ऐसा श्रीमत् कामिक शास्त्र में कहा जाता है ॥ -४७-४८ ॥

चुम्बाकार से = कौवे के चञ्चुपुट की आकृति वाले स्वररहित कलारूप, मध्यप्राणशक्ति का अवलम्बन करने वाले स्वरूप मुख से, जो यह प्रमाणप्रमेयात्मक विश्व का साक्षात्कार करने वाला अत एव परप्रमात्रेकरूप तत्त्व चन्द्रसूर्यपुट = प्राणापान दोनों के संपुट = मध्यधाम, में सुना जाता है = साक्षात्कृत होता है, इसी कारण यह खचारी होता है—यह वाक्यार्थ है ॥ ४८ ॥

अब श्री कुलगह्वरोक्त इसके रूप को विशेषता के साथ कहते हैं—

मुख्यासां खेचरी सा च त्रिधोच्चारेण वाचिकी॥ ४९ ॥
त्रिशिरोमुद्‌गरो(रे) देवि कायिकी परिपठ्यते ।

अतो हि पारमेश्वर्यः शक्तय एव मुद्रा उक्ता यदासां पशूनां संसारात् मोचयित्वा पाशान् द्रावयन्तीति निर्वचनम् । यदुक्तम्—

'मोचयन्ति महाघोरात्संसारमकराकरात् ।
द्रावयन्ति पशोः पाशांस्तेन मुद्रा हि शक्तयः॥' इति ।

उच्चारेणेति—मन्त्रादेः । त्रिशिरोमुद्गर इति—

'इच्छाज्ञानक्रियापूर्वा................................ ।'

इत्यादिनीत्या शक्तित्रयमयत्वात् त्रिशिरोमुद्गरो मुदं परानन्दं गृणाति स्वात्मनि आमृशतीति परसंवित्—इत्यर्थः ॥

एवमेव हि परा संवित् कायत्वेन उल्लसिता—इत्याह—

नासां नेत्रद्वयं चापि हृत्स्तनद्वयमेव च ॥ ५० ॥
वृषणद्वयलिङ्गं च प्राप्य कायं गता त्वियम् ।

संसार से मुक्त कराकर पाशों को द्रावित करती है इस कारण शक्तियाँ ही मुद्रा हैं । इनमें खेचरी मुख्य है और वह (वाचिकी, कायिकी और मानसी) तीन प्रकार की है । हे देवि ! उच्चार के कारण वाचिकी, हे त्रिशिरोमुदगरे ! (= इच्छा ज्ञान क्रिया रूप तीन शीर्ष के द्वारा मुद् = आनन्द का अपने में गरण = निगरण = परामर्श करने वाली !) कायिकी कही जाती है ॥ ४९-५०- ॥

इस कारण पारमेश्वरी शक्तियाँ ही मुद्रा कही गयी हैं क्योंकि ये पशुओं को संसार से मुक्त कराकर पाशों को द्रावित करती हैं—ऐसी व्याख्या है । जैसा कि कहा गया—

'महाघोर संसार रूपी मकर के आकर से जो मुक्त कराती हैं और पशु के पाशों को द्रावित कर देती हैं इसलिये शक्तियाँ ही मुद्रायें हैं ।'

उच्चार के द्वारा—मन्त्र आदि के । त्रिशिरोमुद्‌गर—

'इच्छा ज्ञान क्रिया पूर्वा.....................।'

इत्यादि नीति के अनुसार तीन शक्तियों से युक्त होने के कारण त्रिशिरः । मुद्‌गर = मुद् = परानन्द, का गीर्णन करती है = स्वात्मा में आमर्शन करती है (इस कारण मुद्‌गर) अर्थात् परसंवित् ॥

इसी प्रकार परासंवित् कायरूप में उल्लसित होती है—यह कहते हैं—

(यह परा संवित्) नासिका, दोनों नेत्र, हृदय, दोनों स्तन, दोनों वृषण

भवस्थानाभवस्थानमुच्चारेणावधारयेत् ॥ ५१ ॥
मानसीयमितस्त्वन्याः पद्माद्या अष्ट मुद्रिकाः ।
मातृव्यूहकुले ताः स्युरस्यास्तु परिवारगाः ॥ ५२ ॥
शरीरं तु समस्तं यत्कूटाक्षरसमाकृति ।
एषा मुद्रा महामुद्रा भैरवस्येति गह्वरे ॥ ५३ ॥

हृदिति—हृत्पद्मनालरूपम् । एतत्सतत्त्वं च तत्र तत्र शास्त्रे निरूपितमिति अतिरहस्यत्वादिह न प्रपञ्चितम् । तत् गुरुमुखादेव बोद्धव्यम् । भवस्थानं शरीरमभवस्थानमुच्चारेणेति—

'पद्मं हृत्पद्ममेवात्र शूलं नाडित्रयं प्रिये ।
नाभिं चक्रं विजानीयाच्छक्तिं नादान्तरूपिणीम् ॥
बिन्दुदेशोद्भवं दण्डं वज्रं चित्तमभेदकम् ।
दंष्ट्रां जिह्वां महाभागे कपालं व्योममण्डलम् ॥
एषु स्थानेषु सञ्चारान्मानसी परिपठ्यते ।'

इत्यादिनयेन ऊर्ध्वं चारेण गमनेन—इत्यर्थः । अष्टेति—यदुक्तम्—

'खेचर्याः परिवारस्तु अष्टौ मुद्राः प्रकीर्तिताः ।

और लिङ्ग को प्राप्त कर यह (= खेचरी) शरीर को प्राप्त हो गयी है । भवस्थान अभवस्थान का निश्चय उच्चार के द्वारा करना चाहिये । यह मानसी (तृतीय प्रकार की खेचरी) है । इससे भिन्न पद्मा आदि आठ मुद्रायें हैं । मातृव्यूहकुल में वह इस (= खेचरी) की परिवारगामिनी (कही गयी) हैं । समस्त शरीर को जो कूट अक्षर के समान आकृति वाला (बनाया जाता है) यह मुद्रा भैरव की महामुद्रा है—ऐसा गह्वरशास्त्र में (उक्त है) ॥ -५०-५३ ॥

हृत् = हृदयकमलनाल रूप । यह तत्त्व भिन्न-भिन्न शास्त्रों में निरूपित है इस कारण अत्यन्त रहस्य होने से यहाँ विस्तारपूर्वक नहीं (कहा गया) । इसे गुरुमुख से ही जानना चाहिये । भवस्थान (भव = संसार, का स्थान = आश्रय) = शरीर । अभवस्थान = उच्चार ।

'हे प्रिये ! 'कमल' का अर्थ यहाँ हृदयकमल है और तीनों नाड़ियाँ शूल हैं । नाभि को चक्र और नादान्त को शक्ति जानना चाहिये । दण्ड बिन्दुदेश में उत्पन्न है और वज्र भेदरहित चित्त को (कहते हैं) । हे महाभागे ! जिह्वा दाँत और व्योममण्डल कपाल है । इन स्थानों में सञ्चरण के कारण (यह खेचरी मुद्रा) मानसी कही जाती है ।'

इत्यादि शास्त्र के आधार पर (उत् =) ऊपर, चार = गमन, के कारण उच्चार कहा जाता है । आठ—जैसा कि कहा गया—

शूलाष्टके च देवेशि मातृव्यूहे च ताः स्मृताः ॥
पद्मं शूलं तथा चक्रं शक्तिर्दण्डं सवज्रकम् ।
दंष्ट्रा कपालमित्येवं तदशेषव्यवस्थितम् ॥' इति ॥

कूटाक्षरम् = क्षकारः । एतत्सतत्त्वं च प्राक् बहुशः प्रतिपादितम् । अनेन प्रागुद्दिष्टाया भैरवमुद्राया अपि लक्षणमुक्तम् ॥ ५३ ॥

अस्या एव सर्वत्र अविगीततां दर्शयितुं शास्त्रान्तरतोऽपि सप्रभेदं रूपमाह—

सूपविष्टः पद्मके तु हसताग्रांगुलिरश्मिभिः ।
पराङ्मुखैर्झटित्युद्यद्रश्मिभिः पृष्ठसंस्थितैः ॥ ५४ ॥
अन्तःस्थितिः खेचरीयं सङ्कोचाख्या शशाङ्किनी ।
तस्मादेव समुत्तम्ब्य बाहू चैवावकुञ्चितौ ॥ ५५ ॥
सम्यग्व्योमसु संस्थानाद् व्योमाख्या खेचरी मता ।
मुष्टिद्वितयसङ्घट्टात्धृदि सा हृदयाह्वया ॥ ५६ ॥
शान्ताख्या सा हस्तयुग्मगूर्ध्वाधः स्थितमुद्गतम् ।
समदृष्ट्यावलोक्यं च बहिर्योजितपाणिकम् ॥ ५७ ॥
एषैव शक्तिमुद्रा चेदधोधावितपाणिका ।

'हे देवेशि ! आठ मुद्रायें खेचरी का परिवार कही गयी हैं । शूलाष्टक और मातृव्यूह में उनकी स्थिति है (अथवा उनका वर्णन) है । पद्म, शूल, चक्र, शक्ति दण्ड, वज्र, दंष्ट्रा और कपाल (ये आठ शूल हैं) इस प्रकार वह सब व्यवस्थित है ।'

कूटाक्षर = क्षकार । यह तत्त्व पहले अनेक बार प्रतिपादित है । इसके द्वारा पूर्व उद्दिष्ट भैरवमुद्रा का भी लक्षण कहा गया ॥ ५३ ॥

इसका सर्वत्र मतैक्य दिखलाने के लिये दूसरे शास्त्रों में भी इसका भेद के साथ रूप बतलाते हैं—

(योगी) पद्मासन पर भलीभाँति बैठ कर हस्ताग्रअंगुलि रूपी रश्मियों, जो कि पीछे स्थित हैं (अतः) पराङ्मुख और झटिति उठ रही हैं, के द्वारा अन्तः में स्थित होता है (= कुम्भक प्राणायाम करता है) यह सङ्कोचनामक शशाङ्किनी (मुद्रा) है । उसी (आसन) से अवकुञ्चित दोनों भुजाओं को समुत्तम्बित (स्वस्तिक के आकार का बना) कर व्योमों (= पाँच छिद्रों) में सम्यक् स्थित (= ध्यानस्थ) होने से खेचरी मानी गयी है । हृदय में दोनों मुट्ठियों के सङ्घट्ट से वह हृदया नामक (कही गयी) है । दोनों हाथ ऊपर नीचे स्थित हों, बाहर की ओर (दोनों) हाथों को मिलाकर समान दृष्टि से (दोनों को) ऊपर की ओर उठा हुआ देखना शान्ता नाम्नी (मुद्रा) है ।

दशानामंगुलीनां तु मुष्टिबन्धादनन्तरम् ॥ ५८ ॥
द्राक्क्षेपात्खेचरी देवी पञ्चकुण्डलिनी मता ।
संहारमुद्रा चैषैव यद्यूर्ध्वं क्षिप्यते किल ॥ ५९ ॥
उत्क्रामणी झगित्येव पशूनां पाशकर्तरी ।
श्वभ्रे सुदूरे झटिति स्वात्मानं पातयन्निव ॥ ६० ॥
साहसानुप्रवेशेन कुञ्चितं हस्तयुग्मकम् ।
अधोवीक्षणशीलं च सम्यग्दृष्टिसमन्वितम् ॥ ६१ ॥
वीरभैरवसंज्ञेयं खेचरी बोधवर्धिनी ।
अष्टधेत्थं वर्णिता श्रीभर्गाष्टकशिखाकुले ॥ ६२ ॥

इह पद्माद्यासनस्थो योगी यदा पृष्ठसंस्थितत्वादेव पराङ्मुखैरुद्यद्रश्मिभिर्बहिर्निर्गच्छच्छशाङ्करश्मिभिर्हस्ताग्रांगुलय एव रश्मयः = रज्जवः, तैरुपलक्षितः सन् झटित्येव बाह्योपसंहारादन्तःस्थितिः स्वात्मनि एव विश्रान्तः स्यात्; तदा एवंभावितशशाङ्कत्वात् शशाङ्किनी, बाह्यस्य च सङ्कुचितत्वात् सङ्कोचाख्या इयमेका खेचरी मुद्रा । तथा तं हस्तांगुल्यादिसंनिवेशमाश्रित्य बाहू सम्यगवकुञ्चितौ समुत्तम्भ्य स्वस्तिकाकारतया अवष्टभ्य

'खमनन्तं तु मायाख्यं....................... ।'

यदि यही नीचे किये गये हाथों वाली है तो शक्ति मुद्रा (मानी जाती) है । दशों अंगुलियों की मुट्ठी बाँधने के बाद झट से खोल देने से यह खेचरी देवी पञ्चकुण्डलिनी मानी गयी है । यही यदि ऊपर की ओर निक्षिप्त होती है तो संहार मुद्रा होती है । यही उत्क्रामणी और पशुओं के पाश का नाश करने वाली है । (योगी जब) नीचे देखता हुआ सम्यक् दृष्टि से युक्त, दोनों हाथों को बटोर कर सुदूर छिद्र में झट से अपने को मानो गिराता हुआ (समझता है तब) यह बोधवर्धिनी खेचरी मुद्रा वीरभैरव नामवाली होती है । इस प्रकार श्री भर्गाष्टक शिखाकुल में यह आठ प्रकार की (मुद्रा) वर्णित है ॥ ५४-६२ ॥

पद्म आदि आसन से बैठा हुआ योगी जब पीछे स्थित होने के ही कारण पराङ्मुख उद्यद् रश्मियों के द्वारा बाहर निकलती हुयी चन्द्रकिरणों के द्वारा, हाथ के अग्रभाग की अंगुलियाँ ही रश्मियाँ = रस्सियाँ हैं, उनसे उपलक्षित होता हुआ झट से बाह्य (परिवेश) का उपसंहार करने से, अन्तः स्थिति वाला = आत्मा में ही विश्रान्त, हो जाता है तब इस प्रकार भावित शशाङ्कता के होने से शशाङ्किनी और बाह्य के सङ्कोच के कारण सङ्कोचा नामक यह एक खेचरी मुद्रा है । तथा उस हाथ अंगुली आदि सन्निवेश के आधार पर सम्यक् अवकुञ्चित दोनों भुजाओं को समुत्तम्बित कर = स्वस्तिक के आकार में बाँध कर,

इत्याद्युक्तेषु पञ्चसु व्योमसु सम्यगुक्तेन क्रमेण स्थानात् गाढावष्टम्भात् व्योमाख्या द्वितीया । तथा अन्तःकृताधोवर्तिदक्षिणमुष्ट्यंगुष्ठोपरिगतोच्छ्रितांगुष्ठ-वाममुष्टिलक्षणस्य मुष्टिद्वयस्य हृदि सङ्घट्टात् सा खेचरी हृदयाख्या तृतीया । तथा हस्तशब्देन बाहूपलक्षणात् बाहुयुग्ममधःस्थितवाममूर्ध्वस्थितदक्षिणमन्तःसंमुख-पाणिकत्वेऽपि उद्गतमूर्ध्वस्थितहस्तं दृष्टिसाम्येन अवलोकनीयं यदा स्यात्, तदा सा शान्ताख्या चतुर्थी । तथा एषैव शान्ताख्या एवंसंनिवेशेऽपि अधोधावितपाणिका चेत् भवेत्, तदा शक्तिमुद्राख्या पञ्चमी । तथा द्वयोरपि करयोः मुष्टिबन्धादनन्तरं दशानामपि अंगुलीनां झटित्येव तिर्यक्प्रतिक्षेपात् प्रतिकरं पञ्चकुण्डलिनीरूपत्वात् पञ्चकुण्डलिन्याख्या षष्ठीं । तथा यद्येवं दशानामपि अंगुलीनामूर्ध्वं प्रक्षेपः, तदैव एषैव पञ्चकुण्डलिनी संहारमुद्राख्या सप्तमी । संहारमुद्रात्वमेव च अस्या उत्क्रामणीत्यादिना प्रदर्शितम् । तथा अधोवीक्षणशीलत्वेन सम्यगन्तर्लक्ष्यतया दृष्ट्या समन्वितं कुञ्चितं हस्तयुग्मं विधाय सुदूरे श्वभ्रे साहसमुद्रानुप्रवेशेन झटिति स्वात्मानं पातयन्निव यदा योगी वर्धितबोधो भवेत्, तदैव इयं वीरभैरवसंज्ञा अष्टमी,—इति श्रीभर्गशिखाकुलम् ॥ ६२ ॥

एतदुपसंहरन् वीर्यवन्दनमवतारयति—

'माया नामक 'ख' (= आकाश) अनन्त है........ ।'

इत्यादि उक्त पाँच आकाशों में सम्यक् उक्त क्रम से स्थित होने के कारण = गाढ़ अवष्टम्भ के कारण, व्योमा नामक दूसरी (मुद्रा) है । तथा भीतर किये गये नीचे की ओर दायीं मुट्ठी के अंगूठे के ऊपर स्थित बाँयी मुट्ठी, जिसका अंगूठा ऊपर उठा है, वाली दोनों मुट्ठियों के हृदय में सङ्घट्ट से वह हृदया नामक तीसरी खेचरी मुद्रा है । तथा 'हस्व' शब्द से बाहु को समझने से दोनों बाहुओं को, जिसमें बाँया नीचे और दायाँ ऊपर होगा तथा दोनों के हाथ भीतर की ओर सामने होंगे, ऐसा होने पर भी जब ऊर्ध्वस्थित हाथ को समदृष्टि से देखा जाय तब वह शान्ता नामक चतुर्थी (खेचरी) मुद्रा होती है । तथा यही शान्ता नामक (मुद्रा) ऐसा ही सन्निवेश होने पर यदि नीचे की ओर गये हुये हाथों वाली होती है तब शक्तिनामक पाँचवीं मुद्रा होती है । तथा दोनों हाथों की मुट्ठी बाँधने के बाद दशों अंगुलियों के झट से तिर्यक् क्षेप से प्रत्येक हाथ में पाँच कुण्डलिनी रूप होने पञ्चकुण्डलिनी नामक छठीं (मुद्रा) है । तथा यदि इसी प्रकार दशों उंगलियों का ऊर्ध्वप्रक्षेप हो तब यह पञ्चकुण्डलिनीसंहार नामक सप्तमी मुद्रा है । इसका संहारमुद्रात्व (मूलश्लोकस्थ) ही 'उत्क्रमणी' इत्यादि के द्वारा प्रदर्शित है । तथा जब योगी अधोवीक्षणशील होने से सम्यक् अन्तर्लक्ष्यवाली दृष्टि से समन्वित तथा दोनों हाथों को कुञ्चित कर सुदूर छिद्र में साहस मुद्रा के अनुप्रवेश के द्वारा झट से अपने को मानों गिराता हुआ प्रवृद्धज्ञान वाला हो जाता है तब यह वीरभैरव नामक आठवीं मुद्रा होती है—ऐसा श्री भर्गशिखाकुल (मे उक्त) है ॥ ६२ ॥

एवं नानाविधान्भेदानाश्रित्यैकैव या स्थिता।
श्रीखेचरी तयाविष्टः परं बीजं प्रपद्यते ॥ ६३ ॥

नानाविधानिति—त्रिशूलिन्यादीन् । आसां च त्रिशूलिन्यादीनामनवक्लृप्ति-परतया सर्वासामेव स्वरूपं न उक्तम् । परं बीजमिति—सृष्टिमयं पराबीजम् । वस्तुतो हि अनयोरभेदः—इति भावः । यदागमः—

'एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
द्वावेकं यो विजानाति स वै पूज्यः कुलागमे ॥' इति ॥ ६३ ॥

अत एव आह—

एकं सृष्टिमयं बीजं यद्वीर्यं सर्वमन्त्रगम् ।
एका मुद्रा खेचरी च मुद्रौघः प्राणितो यया ॥ ६४ ॥

अतश्च तदावेश एव सर्वमुद्राणां तत्त्वम्—इत्याह—

तदेवं खेचरीचक्ररूढौ यद्रूपमुल्लसेत् ।
तदेव मुद्रा मन्तव्या शेषः स्याद्देहविक्रिया ॥ ६५ ॥

शेष इति—तदावेशशून्यः ॥ ६५ ॥

इसका उपसंहार करते हुये वीर्यवन्दन की अवतारणा करते हैं—

इस प्रकार एक ही जो श्रीखेचरी मुद्रा अनेक भेदों का आश्रयण कर स्थित है उससे समाविष्ट (योगी) परबीज को प्राप्त करता है ॥ ६३ ॥

नानाविध = त्रिशूलिनी आदि । इन त्रिशूलिनी आदि के अनवक्लृप्तिपरक (कल्पना से परे) होने से सबका स्वरूप नहीं कहा गया । परबीज = सृष्टिमय परा बीज । वस्तुतः इन दोनों (= खेचरीमुद्रा और परबीज) में अभेद हैं—यह तात्पर्य है। जैसा कि आगम है—

'सृष्टिमय बीज एक ही है और एक ही मुद्रा है—खेचरी । इन दोनों को जो एक समझता है वह कौलमार्ग में पूज्य है' ॥ ६३ ॥

इसलिये कहते हैं—

एक ही सृष्टिमय बीज है जो वीर्य सब मन्त्रों में वर्त्तमान है । एक ही मुद्रा खेचरी है जिसके द्वारा मुद्रासमूह प्राणित है ॥ ६४ ॥

इसलिये उसका आवेश ही सब मुद्राओं का तत्त्व है—यह कहते हैं—

तो इस प्रकार खेचरीचक्र के रूढ होने पर (= खेचरीमुद्रा की साधना में परिपक्व होने पर) जो रूप उल्लसित होता है उसी को मुद्रा मानना चाहिये । शेष तो देह का विकार है ॥ ६५ ॥

आसामेव च बन्धाय कालभेदं निरूपयितुमाह—

यागादौ तन्मध्ये तदवसितौ ज्ञानयोगपरिमर्शे ।
विघ्नप्रशमे पाशच्छेदे मुद्राविधेः समयः ॥ ६६ ॥

ननु एवं समये मुद्राबन्धेन किं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

बोधावेशः सन्निधिरैक्येन विसर्जनं स्वरूपगतिः ।
शङ्कादलनं चक्रोदयदीप्तिरिति क्रमात्कृत्यम् ॥ ६७ ॥

चक्रोदयदीप्तिरिति—सप्तमाह्निकनिरूपितस्थित्या उदितानां मन्त्राणां दीप्तिः = दीपनमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

एतदेव अर्धेन उपसंहरति—

इति मुद्राविधिः प्रोक्तः सुगूढो यः फलप्रदः ।

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके मुद्राप्रकाशनं नाम द्वात्रिंशमाह्निकम् ॥ ३२ ॥

शेष = उसके आवेश से शून्य ॥ ६५ ॥

इन्हीं के बन्ध के लिये कालभेद का निरूपण करते हैं—

याग के प्रारम्भ में, उसके मध्य में और उसके अन्त में, ज्ञानयोग के परामर्श, विघ्नशान्ति, और पाशच्छेद में मुद्राविधि का समय होता है (= उक्त अवसरों पर मुद्राबन्ध करना चाहिये) ॥ ६६ ॥

प्रश्न—इस प्रकार के समय में मुद्राबन्ध से क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

बोधावेश, (शिव के) ऐक्य के साथ (शिव की) सन्निधि, (विश्वात्मकता का) विसर्जन, स्वरूपलाभ, शङ्कानाश, चक्रोदयदीप्ति ये कार्य क्रमशः होते हैं ॥ ६७ ॥

चक्रोदयदीप्ति = सप्तम आह्निक में वर्णित स्थिति के अनुसार उदित मन्त्रों की दीप्ति = दीपन ॥ ६७ ॥

इसी का श्लोकार्ध से उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार सुगूढ मुद्राविधि कही गयी जो कि फलप्रद है ।

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्य अभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के द्वात्रिंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३२ ॥

इति शिवम् ॥

श्रीखेचरीसतत्त्वप्रविमर्शसमुन्मिषच्चिदावेशः ।
द्वात्रिंशं निरणैषीदाह्निकमेतज्जयरथाख्यः ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते मुद्राप्रकाशनं नाम द्वात्रिंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३२ ॥

खेचरीतत्त्व के विमर्श के द्वारा समुन्मिषित चिदावेश वाले जयरथ ने बत्तीसवें आह्निक का समापन किया ।

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के द्वात्रिंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३२ ॥

कपालभाति कर्म :-

लुहार की धौंकनी की तरह साधक एक नथूने से साँस ले,दूसरे से छोड़े,पुनः उससे लेकर दूसरी से छोड़ता जाए । इससे कफ विकार दूर होता है और मस्तिष्क शान्त और शीतल रहता है ।[57]

यह षट्कर्म समस्त साधकों के लिए उपयोगी नहीं है,क्योंकि इनमें हानि का भय रहता है तथा इनके साधनें के लिएसमय भी अधिक लगता है । ये कर्म केवल बाह्य शरीर के उपकरणों को शुद्ध करते हैं । शरीर त्रिस्थूणा माना गया है । वात पित कफ इन तीन तत्वों रज तम सत के स्थानापन्नों के द्वारा बना भवन है । इनकी तुल्यता जिस साधक से ही अपनी नाड़ीशुद्धि कर सकता है । उसे इन प्रपंचों में अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहिए । जिनके शरीरों में इन तीनों को असमता है । उन साधकों को अवश्य ही षट्कर्म में जाना पड़ता है । कुछ भी हो साधक का लक्ष्य तो दोषों को मारकर अपने शरीर को योग योग्य बनाना होता है । वह चाहे षट्कर्मों से बने अथवा प्राणायाम से ।

मुद्रा :-

योग साधना में तन्त्रशास्त्र भी अत्यधिक सहायक होते हैं । इसीलिए कलियुगी सिद्ध गोरक्षनाथ जी भी अपने "गोरक्षसंहिता" नामक ग्रन्थ के योगखण्ड के अन्तर्गत मुद्राओं को योगी के लिए मोक्ष देने वाला बतलाते हैं । उनके मत में महामुद्रा,नभोमुद्रा,उड्डीयान

---

57. हठयोगप्रदीपिका 2.25

Indological Truths

जालन्धर और मूलबन्ध नामक पाँच विद्याएँ मानो गई है[58]। जब की बहुत्र ग्रन्थों में अन्त के तीनों को अलग बन्ध विधा में माना है।

मुद्रा शब्द मुद् मोदे धातु से या रा आदाने धातु से बना है, क्योंकि "मुदं राति-ददाति इति मुद्रा निर्वचन बनता है। इसका अर्थ होता है खुश होकर उस कर्म में रमण करना। तभी तो इन मुद्राओं के प्रदर्शन से मन्त्र देवता प्रसन्न हो जाते हैं[59]। इसोलिए इन मुद्राओं को पूजा, जप, ध्यान, काम्यकर्म, स्नान, आवाहन, शंख प्रतिष्ठा, रक्षा नैवेद्य निवेदन और उस स्थान में जहाँ विशेष देवता का विशेष कला से कोई काम हो रहा हो दिखलाना अत्यावश्यक है। वे अपने-अपने देवता को अपनी-अपनी रूचि के अनुसार प्रिय है[60]। उनमें से षडंग मुद्रा तो सभी देवता के लिए समान है। बाकि विष्णु को 2। मुद्रा शिव को दस मुद्रा, सूर्य को एक, गणेश को सात, दुर्गा को आठ, त्रिपुरा को दस, गायत्री को चौबिस मुद्राएँ मन्त्रमहार्णव में देवताओं को प्रसन्न करने वाली कहा गया है। शारदा तिलक में इन मुद्राओं से सब देवताओं के प्रसन्न होने को बात कही गई है[61]। अतः सब कर्मों में मुद्रा के द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता है।

---

58. गो०सं०य०ख० ।.56 महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धञ्च यो वेति स योगी मुक्तिभोजनः ।।

59. मन्त्रमहार्णव पृ० 23, याभिर्विरचिताभिश्च मोदन्ते मन्त्रदेवताः ।

60 वही, पृ० 23, 1-3

61. शारदातिलक 13.106 याभिर्विरचिताभिस्तु मोदन्ते सर्वदेवताः ।

Indological Truths

इसीलिए घेरण्ड, शिव तथा दत्तात्रेय आदि संहिताओं में इन मुद्राओं का विशेष वर्णन है तथा योग्य गुरु से उन्हें सीखने का निर्देश दिया गया है । घेरण्ड में 25 मुद्राएं गिनाई हैं । जैसे महामुद्रा, नभोमुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी ताड़गी, मांडवी, शाम्भवी, अधोधारणा, अभ्यासोधारणा, वैश्वानरीधारणा, वायवीधारणा, नभोधारणाअश्विनि, पाशिनि काकी मातंगी, भुजंगिनि, मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध तथा जालन्धर-बन्ध ।

शिवसंहिता में इनकी संख्या दस बतलाई गई है-महामुद्रा, महाबन्ध, महाभेद, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालनी, खेचरी, मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध और जालन्धर-बन्ध[62] । इन्ही दस को हठ्योगदीपिका में भी माना है[63] ।

इनके इलावा योगविज्ञान में योनि, शाम्भवी, भूचरी, चाचरी, ज्ञानमुद्रा, तथा षड्मुखी आदि का भी वर्णन किया गया है । इन सब का आधार कुण्डलिनी शक्ति है । उसके जागरण के लिए मन की एकाग्रता अपेक्षित होती है । उस एकाग्रता के लिए मुद्राएं अत्यन्त उपयोगी मानी गई है । अतः "गोरक्षसंहिता" में सभी मुद्रओं का संक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है ।

1• महामुद्रा :-

इसमें बांए पैर की एड़ी को सीवनी के ऊपर रख दें । दाहिने

62•शिवसंहिता, 4•24•24

63•हठ्योग प्रदीपिका 3•6-7

Indological Truths

पांव को लम्बा पसार करके दोनों हाथों से उसे पकड़ लें । तब अपने सिर को जानु पर लगा लें । इसके बाद उड्डीयान बन्ध लगाकर नवद्वारों को बन्द करके,पूरक प्राणायाम करके,जालन्धर बन्ध लगाकर,धीरे-धीरे रेचन करें । इसके बाद दूसरी एड़ी से ऐसा ही कार्य करें । इस तरह से महामुद्र नामक कर्म होता है । जिससे अनेक रोग नष्ट होते हैं,आयु बढ़ती है,मनवांछित फल भी मिलता है । ये फल तभी मिलेगा जब साधक इस प्रक्रिया में कुम्भक को साधना करे ।[63]

2·नभोमुद्रा :-

इस मुद्रा का नाम खेचरी मुद्रा भी है । जीभ को उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट कराके भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर करें । जब यह कपाल कुहर में ठीक रूप से प्रविष्ट हो जाएगी तो नमकीन मिर्च खट्टा मीठा आदि का स्वाद आने लगेगा । अगर जीभ तालु के शिवलिंग में स्पर्श न कर सके तो किसी साधन से जीभ के निचले हिस्से को काट लें और प्रातःकाल जिह्वा का दोहन करके उसे खींचकर लम्बा कर लें । इसी प्रक्रिया से पिण्ड सहस्रसार से बहने वाला अमृत लेकर साधक को रस सिद्ध होकर वज्र देह की प्राप्ति होगी । सहस्रसार के बिन्दु की प्राप्ति से सात धातुओं का अन्तिम तत्व वीर्य या सात सूक्ष्म यन्त्रों से मथन होने के बाद अन्तिम धातु सूक्ष्मातिसूक्ष्म वीर्य भी शरीर से स्त्री आदि के आलिंगन पर स्खलित नहीं होगा ।[64]

63·गो०सं०यो०ख० 1·57-61,हठयोगप्रदीपिका 3·10-18,शाण्डिल्योपनिषद् ।

64·गो०सं०यो०ख० 1·62-68

Indological Truths

3・उड्डीयानबन्ध :-

इस बन्ध में कुण्डलिनी के बीच में रहने वाला प्राण रूपी पक्षी उड़ता हुआ सुषुम्ना नाड़ी से ब्रह्मरन्ध्र की तरफ उड़ता जाता है । अत: इसका नाम अन्वर्थक है । यह नाभि के नीचे खींचकर पेट को पीठ तरफ बढ़ाकर किया जाता है।[65] रेचक करके नाभि स्थान के नीचे और ऊपर के भाग को ऐसे खींचे ताकि वे ~~जिससे~~ पीठ के साथ जाकर मिल जाए ।

4・जालन्धरबन्ध :-

कण्ठ को संकुचित करके वायु को रोकना ही जालन्धरबन्ध कहलाता है । इससे चन्द्रामृत गिरकर नाभि में प्रज्वलित होने वाली अग्नि में पड़ने से बच जाता है । इसमें अपनी ठोडी को संकुचित करके छाती को उपरले हिस्से पर लगाना चाहिए और कुम्भक करके आज्ञा चक्र में दृष्टिपात रखना चाहिए । योग तत्व उपनिषद् में इसका वर्णन करते हुए कहा है कि "कण्ठ को सिकोड़कर दृढ़ता पूर्वक छाती पर रखने से यह बन्ध बनता है । जो कि मृत्युरूपी हाथी के लिए शेर के समान है ।[66]

5・मूलबन्ध :-

अपने पैर की एड़ी कीसीवनी भाग पर रखकर, मूलाधार की वायु के द्वारा ऊपर खींचकर प्राण और अपान को इकट्ठा कर लें । गुह्य द्वार को सिकोड़ लें । यही मूलबन्ध कहलाता है । योग तत्वोपनिषद् में इसका नाम योनिबन्ध रखा है ।

65・यो०सं० यो०खं० 1・76-77, योगतत्वोपनिषद्, हठयोग प्रदीपिका 3・55・60

66・ वही, 1・78-79

Indological Truths

शिवसंहिता में भी इसका वर्णन इसी रूप में आया है । इसमें प्राण और अपान की एकता को बतलाया गया है ।[67]

शरीर में इन प्रक्रियाओं को करने से कुण्डलिनी रूपी देवी प्राणदेवताओं शिवरूप ब्रह्मतत्व सभी प्रसन्न हो जाते हैं । इसीलिए इनका सब कर्मों में करना अनिवार्य रूप में दर्शाया गया है ।

धारणा :-

षडंग योग में धारणा का चौथा स्थान है । यह उसी को सिद्ध हो सकती है, जिसने आसन प्राणायाम और प्रत्याहार को सिद्ध कर लिया हो । तभी तो गोरक्षनाथ ने कहा है कि "आसन से युक्त, प्राणायाम सहित प्रत्याहार सम्पन्न धारणा का अभ्यास करना चाहिए ।[68] हृदय में पृथिवी जल तेज वायु आकाश की पृथक्पृथक् धारणा करनी चाहिए । यमादि के द्वारा चंचल मन की धारणा ही संसार सागर से पार लगाने वाली है ।[69] इस प्रकार चित की निश्छलता ही धारणा है । योग तत्वोपनिषद् में कहा है कि "जिसका चित वायु के साथ सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है । उसे पंचभूतों की धारणा हो जाती है । जैसे "भूमिरूपो नलो वायुराकाशश्चेति पंचक: । येषु पंचसु देवानां धारणा पंचधोच्यते" अर्थात् उस योगी को भूमि जल, अग्नि, वायु और आकाश के सब देवताओं को

---

67. गो०सं० 1.80-91, शि०सं० 4.64-65

68. वही, गो०खं० 2.52

69. "मनसो धारणं युक्तस्य च यमादिभि: ।
(त्रिशिखब्राह्मण) चित्तस्य निश्चलोभावो धारणा धारणं विदु: ।

Indological Truths

4. खेचरी मुद्रा :– शब्दिक रूप से खेचरी का तात्पर्य आकाश में विचरण करने वाली होता है और शरीर के अंगों के विशेष प्रकार के विन्यास को मुद्रा कहते हैं । परन्तु अध्यात्मपरक शास्त्रों में 'ख ' से तात्पर्य चेतना से लिया गया है । अतेव खेचर से तात्पर्य 'शिव ' लिया गया है और इससे सम्बन्धित मुद्रा को खेचरी मुद्रा कहा जाता है । जिसके अनुसरण से शैवी चेतन्यता की अनुभूति अनयास हो जाती है । मुद्रा शब्द शैवागमानुसार अनेक अर्थों का प्रतीक है –

1. मुदम् (हर्षम्) राति (ददाति) अर्थात् जो आनन्द प्रदान करती है ।

2. मुम् (बन्धनम्) द्रावयति निवारयति अर्थात् जो बन्धन को दूर कर देती है ।

3. मुद्रयति इति मुद्रा अर्थात् जो जगत की सृष्टि, स्थिति, संहार को तुर्या में मुद्रित करती है , उसे मुद्रा कहते हैं । अभिवन गुप्त ने तन्त्रालोक में कहा है कि इसको मुद्रा इसलिए कहते हैं क्योंकि यह शरीर की सभी जाग्रत् आदि अवस्थाओं में आत्मस्वरूप को अनुभव करने के योग्य बनाती है । [1] खेचरी मुद्रा को व्योमचक्र भी कहते हैं ।

---

1) मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मना ।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता ।। (तं. आ. आह. – 32)

भगवान शिव सिद्धवसुगुप्त को उपदेश देते हुए बतलाते हैं कि शुद्धविद्या के उदय होने पर स्वाभाविक खेचरी शिव अवस्था की प्राप्ति हो जाती है ।[1] कुलचूड़ामणि में कहा गया है कि परमसत्ता का एक ही सृष्टिमय बीज और मुद्राओं में एक ही खेचरी मुद्रा है इन दोनों की जिनको अनुभूति हो जाती है, तो वह अतिशान्त पद को प्राप्त हो जाता है ।[2] स्पन्दशास्त्र में मन्त्रवीर्य के स्वरूप को निरूपित करते हुए मुद्रावीर्य को संग्रहित किया गया है , जिसमें बताया गया है कि जब क्षोभ नष्ट (प्रलीन) हो जाता है, तब परमपद की प्राप्ति हो जाती है ।[3]

खेचरी मुद्रा की विधि :- श्रीमदअमृतवाग्भवाचार्य के अनुसार इस अद्वितीय मुद्रा को करने के लिए ऊपर की ओर सञ्चार करने वाली अपनी जिहा से अपने मस्तिष्क की ओर जाने वाले छिद्र को भरकर चन्द्रमण्डल से टपकने वाले अमृत का पान किया जाता है ।[4]

---

1) ' विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था ' (शि. सू. 2/5)

2) त्रयुक्तं कुलचुड़ामणौ –
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
द्वावेतो यस्य जायेते सोऽतिशान्तपदे स्थित : ।। (शि. सू. पृ.– 99)

3) यदा क्षोमः प्रतीयेत तदा स्यात्परमं परम् ।
इत्यर्धेन अन्यपरेणापि चूड़ामण्युक्तं खेचरीस्वरूपं भङ्ग्या सूचितम् ।। (स्. का. 1/9)

4) केचित् कपालक कुहरं खेचर्यापूर्य जिह्वया ।
सोमपीयूषपानेन यजन्ते शाकमेव नः ।। (सि. रह. आह. 6/5)

खेचरी मुद्रा के लाभ :-

खेचरी मुद्रा को करते हुए जो योगी जिह्वा को लौटाकर कपाल के मध्य छिद्र में लगाकर अर्धक्षण भी स्थित रहता है, वह सर्प वृश्चिक आदि के विषों से तथा शीघ्र जरा और मृत्यु के आक्रमण से सुरक्षित रहता है ।[1] खेचरी मुद्रा का अभ्यास करनेवाले योगी को रोग, मृत्यु, निद्रा, आलस्य, भूख, प्यास, मुर्च्छा शीघ्र नहीं सताते हैं । अर्थात् इसके अभ्यास से तितिक्षा बढ़ती है । रोगों के आक्रमण से मुक्त होकर कर्मबन्धन का क्षय तथा दीर्घायुष्य लाभ होता है ।[2] जो योगी इस खेचरी मुद्रा से अपने वीर्य की सुरक्षा करके अपने शरीर को पुष्ट बना लेता है, वह सर्पादि विषैले जन्तुओं के काटने पर भी विषाक्रान्त नहीं होता है ।[3] जिस प्रकार से अग्नि काष्ठों को तथा दीपक तेल और बत्ती को नहीं त्यागते, ठीक उसी प्रकार से ब्रह्मचर्ययुक्त शरीर को आत्मा नहीं त्यागती ।[4] अथर्ववेद में भी कहा गया है कि ब्रह्मचर्य तप से ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है ।[5]

---

1) रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ।। (यो. प्र. 3/38)

2) न रोगो मरणं तन्द्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।। (यो. प्र. – 3/45)

3) नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ।। (यो. प्र. – 3/45)

4) इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।। (यो.प्र. 3/46)

5) ''ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ''। (अथर्व 11/5/19)

खेचरी मुद्रा में जिह्वा को तालुभाग में लगाने पर तथा मन को भृकुटी में स्थिर करने पर प्राणवायु सुषुम्ना मार्ग से चलकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होने लगती है । वायु सुषुम्ना मार्ग से बहने पर वीर्य भी मस्तिक की ओर गति करने लगता है । इस स्थिति में ऊपर मस्तिक में स्थित चन्द्रवत् शीतल वार्य के प्रभाव से जो ब्रह्म को प्राप्त करने में आनन्द प्राप्त होगा, उस आनन्द को अमरवारूणी आनन्द कहेंगे । [1] जब कपालछिद्र जिह्वा द्वारा, लवण, कटु, अम्ल, दुग्ध, मधु, धृत के तुल्य रसों का आस्वादन होने लगता है, तब अनेक रोगों का क्षय, वृद्धत्व नाश, शास्त्र प्रहारकाल में रक्षा, अणिमा आदि अष्ट ऐश्वर्य लाभ तथा सिद्धों का साक्षात्कार इत्यादि लाभ होने लगते हैं ।[2] जिस प्रकार से सृष्टिरूपी कार्य का कारण मूल प्रकृति, तथा देवों में परमात्मा देव है एवं प्रत्याहारात्मक अवस्ताओं में मनोन्मनी अवस्था श्रेष्ठ है उसी प्रकार सम्पूर्ण मुद्राओं में खेचरी मुद्रा उत्तम है ।[3]

---

1) जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात् यः सारः स स्यादमरवारूणो ।। (यो. प्र. 3/49)

2) चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पन्दिनी,
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं,
तस्य स्यादमरत्वभष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।। (यो. प्र. 3/50)

3) एकं सृष्मियं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ।। (यो. प्र. 3/54)

5. बज्रोली मुद्रा :- श्रीमद् अमृतवाग्भव आचार्य जी ने श्रीसिद्धमहारहस्यम् में बज्रोली क्रिया पर अधिक प्रकाश नहीं डाला है । उनके अनुसार कोई विरले ही साधक स्त्री के साथ मिथुन बनकर बज्रोली क्रिया के अभ्यास के द्वारा अपने शरीर को वज्रसार जैसा सुदृढ़ बनाकर ' सकने ' (परमशिव) का भजन करते हैं ।[1] अतः बज्रोली क्रिया का मूल प्रयोजन अपनी शक्तिघनता का साक्षात्कार करना ही है ।

योगप्रदीपिका में श्रीस्वात्माराम योगी ने बज्रोली क्रिया के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि योग और भोग ये दोनों शब्द सर्वथा परस्पर विरोधार्थक हैं । ''ब्रह्मचर्य की रक्षा योग की सिद्धि के बिना तीनों कालों में असम्भव है '' पतञ्जलि आदि महर्षियों ने जो योग में यम और नियम को योग की आधार शिला माना है तथा वही मार्ग श्रेयस्कर है । श्रीस्वात्माराम योगी के अनुसार वीर्य की सुरक्षा से जीवन तथा वीर्य के विनाश से मृत्यु होती है, अतः योगी को मृत्युञ्जय

---

1) योषिता मिथुनीभूता विरलाः साधकाः पुनः ।
वज्रोल्या वज्रसाराङ्गा भजन्ते शाकमेव नः ।। (सि. रह. आह. 6/7)

के उत्कृष्ट साधन वीर्य की सुरक्षा करनी चाहिए । [1] वीर्य सुरक्षा से योगी का शरीर सुगन्धमय हो जाता है । जब तक ब्रह्मचर्य के सुपरिपालन से शरीर में वीर्य सुरक्षित रहता है, तब तक असामयिक मृत्यु नहीं होती है तथा दीर्घायुष्य प्राप्त होता है । [2] अतः योगाभ्यासी को महान् प्रयत्न से मन तथा वीर्य की सुरक्षा करनी चाहिये । क्योंकि मनुष्यों के चित्त की पवित्रता से वीर्य रक्षा तथा वीर्य की रक्षा से चित्त स्वच्छ बनता है । [3]

---

1) एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।। (यो. प्र. 3/88)

2) सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे तावत् कालभयं कुतः ।। (यो. प्र. 3/89)

3) चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् । (यो. प्र. 3/90)

5. षण्मुखी मुद्रा :- आचार्य के अनुसार योग की इस मुद्रा को पद्मासन लगाकर तथा प्राणों को रोककर किया जाता है ।[1] अर्थात् दोनों हाथों के अंगुठों कनिष्टिकाओं ओर अनामिकाओं के द्वारा क्रम से कर्णछिद्रों को और नेत्रों को दबाए रखते हुए शेष दो – दो अंगुलियों को माथे पर जमाकर रखकर षण्मुखी मुद्रा की जाती है ।

सैद्धदर्शन में माया दशा को भव, विद्या दशा को अभव और शक्ति दशा को अतिभव कहा जाता है । साधक द्वारा अपने आप का परम – आनन्दमय चमत्कारात्मक विमर्शन ही उसका अभिनन्दन होता है । इस प्रकार साधक में कृतकृत्यता रूपीं अपूर्व सन्तोष अभिष्यक्त होता रहता है । अतः साधक पद्मासन में ठहरकर, शरीर के सभी अंगों को समभाव में सीधे ठहराकर, एक दूसरे के ऊपर रखे हुए दोनों हाथों को (हथेलिया ऊपर किए हुए) गोद में ठहराकर [2] निर्वात स्थान पर जलते हुए दीपज्योति की तरह निश्चल बैठा हुआ, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, इन सभी का न ही उपादान और न ही परित्याग करता हुआ तथा स्थिर एवं निश्चल ठहरा हुआ नित्य आत्मरूप परमशिव का लगातार साक्षातकार करता है ।[3]

---

1) पद्मासनमधिष्ठाय मुद्रामालम्ब्य षण्मुखीम् ।
केचित् प्राणनिरोधेन भजन्ते शाकमेव नः ।। (सि. रह. आह. 5/4)

2) पद्मासनमधिष्ठाय समसर्वाङ्गविग्रहम् ।
परस्परोपरिधृतो करौ कृत्वाङ्गावुभौ ।। (सि. रह. आह. 6/21)

3) निवातदीपवत्तिष्ठन् क्रियाज्ञानैषणाः समाः ।
अमृह णन्नत्यजन् नित्यं स्वात्मानं शम्भुमीक्षते ।। (सि. रह. आह. 6/22)

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

श्रीजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते

द्वात्रिंशमाह्निकम्

शुद्धाशुद्धाध्वभिदा द्विगह्वरं मुद्रयत्यशेषजगत् ।
संविद्रूपतया यः कलयतु स किल्बिषं सतां कालः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित

श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक

हिन्दी भाष्य संवलित

श्री तन्त्रालोक

का

बत्तीसवाँ आह्निक

शुद्ध-अशुद्धाध्वावरी-युग-जग-मुद्रक काल ।
संविद्रूपतया प्रसे सज्जन-किल्बिष-जाल ॥

इदानीं मुद्राविधिमभिधातुमुपक्रमते

अथ कथये मुद्राणां गुर्वागमगीतमत्र विधिम् ।

तमेव आह

मुद्रा च प्रतिबिम्बात्मा श्रीमद्देव्याख्ययामले ।
उक्ता बिम्बोदयश्रुत्या वाच्यद्वयविवेचनात् ॥ १ ॥

तत्र श्रीदेव्यायामले

'प्रतिबिम्बोदयो मुद्रा···· ···· ····· ····· ।'

आचार्य जयरथ इस आह्निक के आरम्भ में ही अशेष विश्व पर एक व्यापक दृष्टि निक्षेप कर रहे हैं। जगत् पर दृष्टि जाते ही उनके मस्तिष्क में यह विचार विद्युत् की तरह कौंध गया कि,

शुद्ध और अशुद्ध नामक द्विगह्वर इस विश्व को संविद्रूप से कोई तत्त्व मुद्रित कर रहा है। उस तत्त्व पर तुरत मनीषा दौड़ गयी। यह स्पष्ट हो गया कि, वह तत्त्व महाकाल ही है। उसी काल तत्त्व से यह प्रार्थना भी कर रहे हैं कि, इस विभेदमय किल्बिष भाव को वह सज्जनों के हृदय से दूर करे।

आह्निक के आरम्भ में शास्त्रकार मुद्राओं की विधि के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हुए कह रहे हैं कि,

प्रस्तुत आह्निक में गुरु परम्परा से प्राप्त आगमों में वर्णित मुद्रा विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ। अपनी इसी प्रतिज्ञा की पूर्त्ति के उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रथम कारिका का अवतरण कर रहे हैं—

मुद्रा प्रतिबिम्बात्मक होती है। यह बात श्रीदेव्या-यामल शास्त्र में कही गयी है। वहाँ की उक्ति का उदाहरण आचार्य जयरथ ने दिया है। उनके अनुसार—

'प्रतिबिम्ब का उदय ही मुद्रा है।'

इत्येवंरूपाया बिम्बोदयश्रुतेः पञ्चमीषष्ठ्यर्थबहुव्रीहिद्वारस्य वाच्यद्वयस्य विवेकमाश्रित्य परसंविदाकृतिरूपत्वात् प्रतिबिम्बात्मा मुद्रा उक्तेति वाक्यार्थः। इदं च अत्र वाच्यद्वयम्—प्रतिराभिमुख्ये, तेन बिम्बसंनिधिं निमित्तीकृत्य बिम्बैकनियत उदयो यस्येति बिम्बस्य प्रतिबिम्बोत्पत्तिनिमित्तत्वमुक्तम्, बिम्बस्य अभिव्यक्तिलक्षण उदयः प्रतिगतः प्राप्तो यस्मादिति प्रतिबिम्बस्य ज्ञप्त्युपायत्वमिति। यद्वा

'मुद्रा बिम्बोदयो नाम्ना…. …. …. ….।'

इतिबिम्बोदयश्रुतेः प्रतिशब्दार्थमपहायैव व्याख्येयम् ॥ १ ॥

यह स्पष्ट उल्लेख है। इसे 'बिम्बोदयः श्रुति' कहकर आचार्य ने इसके महत्त्व का ख्यापन किया है। इस श्रुति में पञ्चमी कारकार्थ और षष्ठी विभक्त्यर्थ बहुव्रोहि-द्वारक वाच्यद्वयार्थ विज्ञान का उपयोग करने पर अर्थानुभूति को नयी दिशा मिलती है। बिम्ब से उदय और बिम्ब का उदय इन दोनों प्रयोगों में प्रथम प्रयोग पञ्चमी विभक्ति का अर्थ दे रहा है। दूसरे प्रयोग में षष्ठी विभक्ति का विलास एक अभिनव अर्थ में उल्लसित कर रहा है।

'प्रतिबिम्बोदय' शब्द में प्रतिउपसर्ग आभिमुख्य का द्योतक है। अर्थात् बिम्ब नितान्त संनिध्य में है, एकदम पास में ही मानो। उसी का एकमात्र नियत भाव से उसी का ही उदय हो रहा है और उसी से हो रहा है, यह स्पष्ट विवेक हो रहा है। एक तरह से प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति का वही निमित्त है। प्रतिबिम्व की अभिव्यक्ति हो रही है। यह अभिव्यक्ति ही उसका उदय है। यह किससे उदित अथवा अभिव्यक्त हो रहा है, इस प्रश्न का स्वयम् बिम्ब ही उत्तर है।

वही प्रतिबिम्ब की ज्ञप्ति का उपाय है। इसी भाव को अभिव्यक्त करने वाली एक दूसरी उक्ति भी देव्याख्ययामल शास्त्र में है—

"बिम्ब का उदय ही नामतः मुद्रा मानी जाती है।"

तदेव तात्पर्यद्वारेण आह

बिम्बात्समुदयो यस्या इत्युक्ता प्रतिबिम्बता ।
बिम्बस्य यस्या उदय इत्युक्ता तदुपायता ॥ २ ॥

समुदय इति उत्पत्तिः । यस्या इति प्रतिबिम्बरूपाया मुद्राया इति षष्ठ्यर्थः, यस्याश्च सकाशादिति पञ्चम्यर्थः । उदय इति ज्ञप्तिस्तदुपायतेति ज्ञप्तिद्वारिका बिम्बोपायतेत्यर्थः ॥ २ ॥

इस उक्ति में प्रति उपसर्ग का प्रयोग नहीं है। केवल 'बिम्बोदय' शब्द ही प्रयुक्त है। यह ध्यान देने की बात है कि, इस प्रयोग में भी वाच्यद्वय का विवेक सरलता से हो रहा है। इसलिये यह कथन समर्थित हो जाता है कि, बिम्बोदय श्रुति से वाच्यद्वय विवेक सरलता पूर्वक हो रहा है।

पञ्चम्यन्तार्थबहुव्रीहि का विग्रह वाक्य 'उदयः यस्मात्' अर्थात् 'बिम्ब की अभिव्यक्ति प्रतिगत है जिससे, वही प्रतिबिम्ब की ज्ञप्ति का उपाय है' इस प्रकार पूरा होता है।

षष्ठ्यर्थ बहुव्रीहि में बिम्ब से नियत उदय हो रहा है जिसका, वही प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति का निमित्त है, यह विग्रह वाक्य अर्थ को स्पष्ट करता है ॥ १ ॥

इसी का तात्पर्य स्पष्ट कर रहे हैं—

बिम्ब से समुदय अर्थात् उत्पत्ति होती है जिसकी, वही बिम्ब की प्रतिबिम्ब रूपा मुद्रा मानी जाती है। यहाँ समुदय ही उत्पत्ति है। पञ्चम्यर्थ में उदय ज्ञप्ति है। ज्ञप्ति द्वारिका बिम्बोपायता है। यह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ प्रतिबिम्बता और तदुपायता शब्द बिषय के वास्तविक अर्थ की ओर संकेत कर रहे हैं। प्रतिबिम्बता बिम्ब की होती है और उपायता बिम्ब की ज्ञप्ति से सिद्ध होती है। मुद्रा के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने के लिये भगवान् शास्त्रकार ने इतनी गहराई से वाच्यद्वय का विवेचन किया है।

एवं मुद्राशब्दस्य रूढिमुपदर्श्य योगमपि दर्शयति

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम् ।
रात्यर्पयति तत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता ॥ ३ ॥

यद्यपिच अत्र

'इत्याशयेन मुद्रा मोचयते पाशजालतोऽशेषात् ।
कायीयान्पुर्यष्टकसंस्काराद्द्रावयेत्तथा मन्त्रम् ॥
योगं क्रियां च चर्यां मुद्रयति तदेकरूपतया ।'

इत्यादिदृष्ट्या बहुधा यागः सम्भवति, तथापि परानन्दनिर्भरस्वरूपताधायितया अयमेव मुख्य इति एतावदेव उक्तम् ॥ ३ ॥

इसी तथ्य का आचार्य जयरथ ने भी पूर्ण विवेचन किया है। यस्याः पञ्चमी और षष्ठी दोनों विभक्तियों का एकवचनान्त रूप है। प्रथम 'यस्या' प्रतिबिम्बरूपा मुद्रा की उत्पत्ति का बोधक है और दूसरा जिससे उदय अर्थात् ज्ञप्ति होती है, इसका बोधक है ॥ २ ॥

इस प्रकार मुद्रा शब्द की रूढि का ख्यापन हो रहा है। मुद्रा शब्द का यौगिक अर्थ भी शास्त्रों में प्रचलित है। उसी का प्रदर्शन कर रहे हैं—

'मुद' शब्द प्रसन्नता के अर्थ में व्यवहृत होता है। संसार की सर्वातिशायिनी प्रसन्नता स्वात्मस्वरूप की अधिगति रूप उपलब्धि ही मानी जाती है। प्राणिमात्र को स्वरूपताख्याति रूप मुद् अर्थात् प्रसन्नता को जो शरीर के माध्यम से ही अर्पित करती है, वही मुद्रा है, यह शास्त्रों में वर्णित है।

इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि, स्वरूपलाभाख्य मुद्, देह द्वारा ही जो आत्माओं को राति अर्थात् अर्पित करती है, वही मुद्रा है।

आसामेव गुणप्रधानभावं तावत् दर्शयति

तत्र प्रधानभूता श्रीखेचरी देवतात्मिका ।
निष्कलत्वेन विख्याता साकल्येन त्रिशूलिनी ॥ ४ ॥
करङ्किणी क्रोधना च भैरवी लेलिहानिका ।
महाप्रेता योगमुद्रा ज्वालिनी क्षोभिणी ध्रुवा ॥ ५ ॥
इत्येवंबहुभेदेयं श्रीखेचर्येव गीयते ।

यद्यपि यहाँ अर्थात् शास्त्रों में,

'मुद्रा अशेष अर्थात् सम्पूर्ण पाशराशि से मुक्त करती है और काया के माध्यम से मिले सारे मलात्मक पुर्यष्टक संस्कार-कदम्बक को द्रावित करती है, तथा अपने इस मुद्रात्मक रूप से मन्त्र, योग, क्रिया और चर्या को मुद्रित करती है, वही मुद्रा है' ।

इस प्रकार की व्याख्या भी मिलती है, और ऐसी ही अन्य अनेक यौगिक अर्थ भी किये जा सकते हैं । फिर भी श्लोक ३ में व्यक्त यौगिक अर्थ रूप व्याख्या स्वरूपख्याति रूप परानन्द-निर्भर-भाव का आधान करती है। अतः यही यौगिक व्याख्या सर्वोत्तम और सर्व प्रमुख रूप से स्वीकार्य है ॥ ३ ॥

मुद्राओं के गौण और प्रधान भावों की ओर अध्येता का ध्यान शास्त्रकार आकर्षित कर रहे हैं—

समस्त मुद्राओं में देवतात्मिका और प्रधानभूता मुद्रा श्रीखेचरी ही मानी जाती है । यह निष्कल मुद्रा है, इस रूप में यह प्रसिद्ध है । साकल्य दृष्टि से इस पर विचार करने से इसके अनेक रूप और भेद अनुभूत होते हैं । उन्हें शास्त्र त्रिशूलिनी, करङ्किणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहानिका, महाप्रेता, योगमुद्रा, ज्वालिनी, क्षोभिणी और ध्रुवा आदि संज्ञाओं से विभूषित करते हैं । इन भेदों प्रभेदों और एक प्रकार के विशेषणों के विस्तार के रहते हुये भी

ध्रुवेति खेचरीविशेषणं, तस्या हि त्रिशूलिन्यादिसकलरूपोपग्रहेऽपि न निष्कलाद्रूपात्प्रच्याव इति अभिप्रायः। उक्तं हि

'इयं सा खेचरी मुद्रा निष्कला परिकीर्तिता।
सकलं रूपमेतस्या भेदैस्तैस्तैरवस्थितम् ॥' इति।

ननु त्रिशूलिन्यादिवदन्या अपि एतदङ्गभूता मुद्राः सम्भवन्तीति कथमिह ता अपि न उक्ता इत्याशङ्क्य आह

अन्यास्तदङ्गभूतास्तु पद्माद्या मालिनीमते ॥ ६ ॥
तासां बहुत्वामुख्यत्वयोगाभ्यां नेह वर्णनम् ।

अर्थात् सकल रूपों से आकलित किये जाने पर भी श्रीखेचरी अपने निष्कल रूप का परित्याग नहीं करती अर्थात् निष्कलता का प्रच्याव इससे नहीं होता। कहा गया है कि,

'यह वह खेचरी मुद्रा है, जिसे निष्कला मुद्रा कहते हैं। इसके अनेकानेक सकल रूप भी होते हैं। उन-उन रूपों में यही देवतात्मिका मुद्रा स्वात्म भाव से उल्लसित रहती है।'

शास्त्रकार ने इसका सर्वोपरि महत्व स्वीकार किया है और इसे शास्त्र में सर्वप्रथम स्थान दिया है ॥ ४-५ ॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, गुरुदेव ! त्रिशूलिनी आदि की तरह अन्य अनेक अङ्गभूत मुद्रायें भी होती हैं। यहाँ खेचरी मुद्रा की ही अङ्गभूत वे मुद्रायें क्यों नहीं कही गयीं हैं ? गुरुदेव ने कहा—वत्स ! शास्त्रकार ऐसी आशङ्काओं से अवगत थे। उन्होंने स्वयं कहा है कि,

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के अनुसार 'पद्मा' आदि कई भेद स्वीकृत हैं। वास्तविकता यह है कि, प्रथम तो ऐसे अनेकानेक भेद हो सकते हैं और दूसरे यह कि, वे मुख्य नहीं होते। अतएव महत्त्वहीन होते हैं। इसलिये उनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है ॥ ६ ॥

ननु श्रीमालिनीमते पद्ममुद्रादिसाहचर्यणैव श्रीखेचरी अपि निर्दिष्टा, तत् सैव प्रधानेति तु कुतस्त्यमित्याशङ्क्य आह

श्रीखेचरीसमाविष्टो यद्यत्स्थानं समाश्रयेत् ॥ ७ ॥

देवीसंनिधये तत्स्यादलं किं डम्बरैर्वृथा ।

अलमिति पर्याप्तम् ॥ ७ ॥

ननु आसामपि

'याभिः संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात् ।'

इत्याद्युक्त्या साधकविषयं मुख्यत्वमस्तीति कथमेवमुक्तमित्याशङ्क्य आह

काम्ये कर्मणि ताश्च स्युर्मुख्याः कस्यापि जातुचित् ॥ ८ ॥

मालिनी मत में पद्मादि मुद्रा के साहचर्य में ही श्रीखेचरी मुद्रा निर्दिष्ट है। ऐसी अवस्था में वही प्रधान है, ऐसा क्यों माना जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर शास्त्रकार दे रहे हैं—

शास्त्रकार की मान्यता है कि, श्रीखेचरी मुद्रा ही प्रधान मुद्रा है। इस मुद्रा में समाविष्ट होकर साधक धन्य हो जाता है। खेचरी समावेश-सिद्ध साधक जिन-जिन स्थानों का आश्रय ग्रहण करता है, वे स्थान देवी के सान्निध्य के लिये अलम् अर्थात् देवी के साक्षात्कार कराने में पूर्ण समर्थ होते हैं। ऐसी अवस्था में व्यर्थ के आडम्बर से क्या लाभ ? अर्थात् अप्रधान मुद्राओं के वर्णन का कोई विशेष अर्थ या तात्पर्य नहीं है ॥ ७ ॥

एक आगमिक उक्ति है कि,

"इन खेचरी की अङ्गभूत मुद्राओं से संरक्षित मन्त्र जप में निरत साधक मन्त्रों की सिद्धि प्राप्त कर लेता है।"

इससे यह सिद्ध होता है कि, साधक को सिद्धि प्रदान करने की सामर्थ्य के कारण इनमें भी मुख्यता माननी चाहिये। ऐसी स्थिति में भी उनमें

कस्यापीति साधकस्यैव, नतु पुत्रकादेः। जातुचिदिति नतु नित्यवत् सर्वकालम् ॥ ८ ॥

इह पुनर्मोक्षाख्यमुख्यार्थप्रतिपादनपरत्वादस्य ग्रन्थस्य काम्यमेव कर्म न उक्तमिति तदुपयोगिना अपि मुद्रावर्णनेन कोऽर्थ इत्याह—

तच्च नास्माभिरुदितं तत्किं तदुपयोगिना।

गौणत्व का आरोप लगाकर उनकी उपेक्षा क्यों की गयी है? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

काम्यकर्मों में कभी-कभी यह देखा जाता है कि, ये अङ्गभूत मुद्रायें भी मुख्यरूप से किसी किसी को कार्यसाधिका हो जाती हैं और अपनी मुख्यता सिद्ध कर देती हैं। प्रस्तुत कारिका में 'कस्यापि' और 'जातुचित्' दो प्रयोग ध्यान आकर्षित करते हैं। किसी-किसी साधक को ही ये कार्य साधिकायें होती हैं। पुत्रक सदृश साधकों की सिद्धि इनसे नहीं होती। जातुचित् का तात्पर्य यह है कि, ये कभी-कभी कदाचित् कार्य तो सिद्ध कर देती हैं किन्तु ये नित्य ऐसा नहीं कर पातीं अर्थात् सार्वकालिक नित्य कार्य साधिका नहीं हैं ॥ ८ ॥

एक विशेष तथ्य की ओर अध्येता का ध्यान आकर्षित कर रहे है। श्री तन्त्रालोक नामक यह महाग्रन्थ मुख्यतया मोक्ष का प्रतिपादक शास्त्र है। मोक्ष नामक परम पुरुषार्थ के प्रतिपादन के उद्देश्य से ही यह अवतरित है। इसमें काम्य कर्म पर विशेष प्रकाश नहीं निक्षिप्त किया गया है। फिर भी काम्यकर्म के उपयोग में आने वाली मुद्रायें यहाँ निर्दिष्ट की गयी हैं। इसका क्या उद्देश्य हो सकता है? इस आशङ्का की दृष्टि-समाधायक कारिका प्रस्तुत कर रहे हैं—

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, सत्य है। मैंने तो उनका कथन किया ही नहीं। उनकी उपयोगिता आदि के सम्बन्ध में चर्चा की आवश्यकता ही नहीं आकलित की जा सकी। इन मुद्राओं को एक अन्य दृष्टि से भेद-

आसां च भेदनिर्देशद्वारेण स्वरूपमभिधातुमाह—

मुद्रा चतुर्विधा कायकरवाक्चित्तभेदतः ॥ ९ ॥

तत्र पूर्णेन रूपेण खेचरीमेव वर्णये ।

वागिति मन्त्रविलापनरूपा । यदुक्तं

'करकार्यविलापान्तःकरणानुप्रवेशतः ।
मुद्रा चतुर्विधा ज्ञेया.......................॥'

इत्युपक्रम्य

'अङ्गुलीन्यासभेदेन करजा बहुमार्गगा ।
सर्वावस्थास्वेकरूपा वृत्तिमुद्रा च कायिकी ॥

वादिता के सम्बन्ध में शास्त्रकारों का मत है कि, मुद्रायें चार प्रकार की होती हैं—१. कायिक मुद्रायें, २. कर प्रयोगवती मुद्रायें, ३. वाचिक सिद्धिप्रदा मुद्रायें और ४. चित्तभेदिनी मुद्रायें । यह जानकारी देने के बाद यहाँ अब मैं पूर्णरूप से खेचरी मुद्रा का ही अर्थात् चतुर्भेद सिद्ध खेचरी का ही वर्णन करने जा रहा हूँ ।

जहाँ तक वाचिक मुद्रा का प्रश्न है, यह मात्र वागात्मिका होती है । मन्त्र उस अवस्था में वाक् में विलापन कर जाता है । इस विषय में आगमिक उक्ति है कि,

'कर, काय, विलाप और अन्तःकरणानुप्रवेश भेद से मुद्रायें चार प्रकार की होती हैं ।'

इस उक्ति से प्रारम्भ कर आगे के वर्णन क्रम में कहा गया है कि,

'अङ्गुलियों के न्यास-भेद से कर अर्थात् हाथों से बनायी जाने वाला मुद्रायें अनेक प्रकार और पद्धतियों से निर्मित होती हैं । ये सभी अवस्थाओं में एक रूप ही होती हैं । कायिकी मुद्रा काया से सम्बद्ध मानी जाती हैं । यह वृत्तियों पर निर्भर करती हैं । क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर की

पञ्चमुद्राधरं चैतद्व्रतं सिद्धनिषेवितम् ।
मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलापाख्या प्रकीर्तिता ॥
ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी परिकीर्तिता ।' इति ।

पूर्णेनेति चतुर्विधेनापीत्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्रापि प्राधान्येन श्रीपूर्वशास्त्रोक्तमेव तावदस्या रूपमाह

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं क्षिपेत् ॥ १० ॥
दण्डाकारं तु तं तावन्नयेद्यावत्कखत्रयम् ।

पञ्चात्मकता से भावित वृत्तियों के प्रभाव से इनका अस्तित्व उल्लसित होता है । ये सिद्धों द्वारा निषेवित व्रत के रूप में प्रचलित हैं ।

विलापाख्या मुद्रा मन्त्रतन्मयता रूपा होती है । मन्त्र वाग्रूपता में विलुप्त हो जाते हैं । वाक् से मन्त्र उच्चरित होते हैं किन्तु जब मन्त्र वाङ्मयता को प्राप्त हो कर वाक् में ही स्पन्दित हो रहे होते हैं, वहाँ वाचिकी मुद्रा का उल्लास माना जाता है । इसे ही विलापाख्या मुद्रा कहते हैं ।

चौथी मुद्रा मानसी कहलाती है । इसमें ध्येय तादात्म्य सिद्ध हो जाता है । आगम इसे ध्येयतन्मया मुद्रा कहता है ।

ये चार प्रकार की खेचरी मुद्रायें तन्त्रों में प्रसिद्ध हैं । इनके पूर्वोक्त भेद-प्रभेदों के साथ विशिष्ट खेचरी मुद्राओं को शास्त्रकार को प्रतिज्ञा के अनुसार इस पूरे आह्निक में वर्णन का विषय बनाया गया है ॥ ९ ॥

यहाँ प्रधानतः श्रीपूर्वशास्त्रोक्त इसके स्वरूप का ख्यापन किया जा रहा है—

सर्व प्रथम योगयुक्त साधक पद्मासन सिद्ध होकर विराजमान हो जाये । पद्मासन सिद्ध हो जाने पर सुखासन हो जाता है । पद्मासन का नामतः उल्लेख इस प्रक्रिया में इसके महत्त्व का ही निर्देश करता है । इस आसनबन्ध में बैठ कर अक्षेश्वर अर्थात् इन्द्रियाधीश्वर मन को नाभिकेन्द्र में अवस्थित

निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ॥ ११ ॥
एतां बद्ध्वा खे गतिः स्यादिति श्रीपूर्वशासने ।

स्थिरसुखासनस्थो हि योगी जन्माधारादुदेत्य नाभिदेशे मनो निवेश्य तत्रैव बहुशः परिभ्राम्य मध्यप्राणशक्त्येकीकारेण दण्डाकारतया मूर्धन्यं

करना चाहिये। क्षिपेत् क्रिया नियन्त्रण कर केन्द्रावस्थित करने का संकेत कर रही है। अश्विनी मुद्रा द्वारा प्राणापानवाह को परिचालित करने के क्रम में पूरक करते हुए कुम्भक में अवस्थित हो जाय। कुम्भक दशा में प्राण दण्ड के आकार का सीधा ऊर्ध्वोत्थान प्राप्त कर लेता है। साधक इस प्राण दण्ड को क-ख त्रयपर्यन्त ले जाय। इसकी विशिष्ट विधि है। चक्र साधना का यह विषय है। कुण्डलिनी जागृत करने की यही प्रक्रिया है।

प्राण तालुरन्ध्र से ऊपर आज्ञा चक्र में प्रवेश करता है। आज्ञा के केन्द्र में बिन्दु का स्थान अ, उ और म् के ऊपर माना जाता है। बिन्दु के ऊपर अर्धचन्द्र और निरोधिनी को पार कर नाद तक पहुँचते हैं। ब्रह्मरन्ध्र में प्राणदण्ड समाप्त होकर नाद में स्पन्द रूप से आगे बढ़ता है। इस प्रकार नादतक विन्दु का क्षेत्र माना जाता है। इसी में ब्रह्मरन्ध्र भी आ जाता है। इस प्रकार विन्दु ब्रह्मरन्ध्र और नाद ये तीन कखत्रय प्रसिद्ध योगसिद्धि के मुख आधार विन्दु सिद्ध हो जाते हैं।

यहाँ कुम्भक वृत्ति में ही अवस्थिति रहती है। इसी वृत्ति में नादान्त को पारकर पुनः खत्रय रूप शक्ति, व्यापिनी और समना चक्रों की यात्रा में योगी युक्त हो जाता है। इसे खत्रय यात्रा में प्राण को प्रेरित करने की प्रक्रिया के रूप से जाना जाता है। विन्दु से लेकर समना तक भी इस प्राण प्रक्रिया में क्षेप, आक्रान्ति, चिदुद्बोध; स्थापन, दीपन और तत्संवित्ति नामक छः स्पन्दोल्लास होते हैं। यह खत्रय-खत्रय की यात्रा के छः स्पन्द माने जाते हैं। इस स्पन्दोल्लास को 'उद्घात' प्रक्रिया भी कहते हैं।

बिन्दुनादब्रह्मरन्ध्रलक्षणं खत्रयं यावत् नीत्वा तत्रैव कुम्भकानुवृत्त्या निरुध्य शक्तिव्यापिनीसमनात्मना खत्रयेण तूर्णमुद्घातगत्या प्रेरयेदुन्मनापदाक्रमणेन परमशिवाभिमुख्यं नयेत् येन अस्य एतदवष्टम्भेन परबोधगगनचारित्वं स्यात् ।

अस्या एव अवान्तरभेदसहितायाः श्रीयोगसञ्चारोक्तं रूपं निर्दिशति

ध्वनिज्योतिर्मरुद्युक्तं चित्तं विश्रम्य चोपरि ॥ १२ ॥
अनेनाभ्यासयोगेन शिवं भित्त्वा परं व्रजेत् ।

समना ही सहस्रार चक्र का प्रतिष्ठान है। इस चक्र तक शक्ति, व्यापिनी और समना की संयुक्त शक्तिमत्ता काम करती है। यह द्वितीय खत्रय है। यहाँ से ऊर्ध्व की ओर शाक्त गतिशीलता के लिये एक अभिनव प्रयत्न की आवश्यकता होती है। 'उद्घात' प्रक्रिया से प्राण को प्रेरित कर अधोमुख कमल के मध्यनालछिद्र से तीन अराओं के सहारे साधक उन्मना पद में प्रतिष्ठित हो जाता है। उन्मना पर बन्धन अर्थात् नियन्त्रण हो जाने पर आकाशचारिता की गति निश्चित रूप से प्राप्त हो जाती है, यह श्रीपूर्वशास्त्र कहता है। श्रीपूर्वशास्त्र मालिनी विजयोत्तरतन्त्र को ही कहते हैं। यह खेचरीशक्ति पर विजय की साधना यात्रा का स्वरूप है। यहाँ जो सबसे बड़ी उपलब्धि होती है—वह पर-शिवाभिमुखता है। पर शिवरूप गगन में अनुप्रवेश से साधक का अस्तित्व धन्य हो जाता है। उसको शैवतादात्म्य-सिद्धि हो जाती है। वह परशिव भाव में शाश्वतविहार करता है। यही परबोध गगनचारित्व है। यहाँ अवष्टम्भ हो जाने पर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का शरीर की पार्थिवता पर प्रभाव समाप्त हो जाता है और अणिमा की सिद्धि हो जायी है। शरीर हल्का हो जाता है। वह सचमुच आकाशचारी हो जाता है ॥ १०-११ ॥

इसी मुद्रा की अवान्तर-भेदरूपता की चर्चा कर रहे हैं। यह क्रम श्री योगसञ्चर शास्त्र के अनुसार कहा जा रहा है—

ध्वनिर्नादः, ज्योतिर्बिन्दुः, मरुत् शक्तिः, तेन तद्द्वादशान्तं ब्रह्मरन्ध्रम्। एवं जन्माधारात्प्रभृति एतद्व्योमत्रययोगि चित्तं विधाय तत्रैव निविडध्यानेनैव क्रमेण उपरितनं शक्त्यात्मकमपि खत्रयं भित्त्वा योगी परं शिवं व्रजेदिति वाक्यार्थः।

एतदनुवेधेन त्रिशूलिन्यापि अपि रूपमाह

जत्र्वधस्तात्करौ कृत्वा वामपादं च दक्षिणे ॥ १३ ॥
विदार्यास्यं कनिष्ठाभ्यां मध्यमाभ्यां तु नासिकाम्।

ध्वनि (नाद) ज्योति (विन्दु) मरुत् (शक्ति) इन तीनों व्योमत्रय से चित्त को युक्त करने की प्रक्रिया अपनानी चाहिये। इस विधि का संकेत आचार्य जयरथ ने 'जन्माधारात् प्रभृति एतद्व्योमत्रययोगि' प्रयोग द्वारा किया है। जन्माधार से अश्विनी मुद्रा के प्रयोग से प्राणापानवाह चक्रों को पार करता हुआ विन्दु, नाद और नादान्त रूप खत्रय तक पहुँचता है। यहाँ 'मरुद्' प्राण के लिये ही प्रयुक्त है। जब इन तीनों से एक योगात्मकता सिद्ध हो जाती है, तो योगी निविड ध्यान योग से उपरितन शक्ति, व्यापिनी और समना रूप खत्रय का भेदन करते हैं। इससे योगी पर-शिव भाव को प्राप्त कर लेता है। आचार्य की विवेक व्याख्या में शक्ति, के बाद 'तेन द्वादशान्तं ब्रह्मरन्ध्रम्' इतना लेख प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। आचार्य सदृश परमगुरु यह अपार्थक प्रयोग नहीं कर सकता ॥ १२ ॥

इसी अनुवेध के माध्यम से त्रिशूलिनी के रूप का निरूपण कर रहे हैं—

त्रिशूलिनी शब्द से ही अन्वर्थ रूप से यह आकलित होता है कि, इसमें त्रिशूल की आकृति की प्रतिच्छाया-सी उपलक्षित होती है। यह सच्चाई भी है। इसमें त्रिशूल का प्रयोग किया भी जाता है। त्रिशूल विधि को अपनाने के कारण ही इसे त्रिशूलिनी कहते हैं। सर्वप्रथम दोनों हाथों को गले के नीचे की दो गोलाकार हड्डियों के नीचे ले जाना चाहिये। देशज प्रयोग में इन्हें

अनामे कुञ्चयेत्प्राज्ञो भ्रूभङ्गं तर्जनीद्वयम् ॥ १४ ॥
जिह्वां च चालयेन्मन्त्री हाहाकारं च कारयेत् ।
त्रिशूलेन प्रयोगेण ब्रह्मरन्ध्रमुपस्थितः ॥ १५ ॥
पदं सन्त्यज्य तन्मात्रं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

जत्रुशब्देन अत्र कण्ठो लक्ष्यते तेन तदध इत्यर्थः । नासिकामिति तद्रन्ध्रद्वयम्, चालयेदिति भ्रूभङ्गादौ त्रयेऽपि योज्यम् । तन्मात्रमिति स्थितम् । मेदिनीं त्यजतीति देहाद्यहन्तापहस्तनेन परबोधाकाशचारी भवेदित्यर्थः ॥ १३-१५ ॥

'हँसुली' कहते हैं । संस्कृत में उन्हें ही जत्रु कहते हैं । उन्हीं के नीचे हाथ ले जाना है । बैठने की मुद्रा में पलत्थी नहीं लगानी है, वरन् बाँये पाँव को दाहिने पर रखना चाहिये । फिर हाथों को मुँह तक ऊपर उठा दोनों कनिष्ठिकाओं से मुख को फैलाना चाहिये । साथ ही दोनों बिचली अङ्गुलियों का नाक के छिद्रों में डालकर उभयतः फैलाना चाहिये ।

बुद्धिमान् साधक अनामिकाओं का आकुञ्चन करके ही उपर्युक्त प्रक्रिया अपनाये । इसके बाद दोनों भौंहों, दोनों तर्जनियों, और जीभ इन तीनों अवयवों को चालित करें । इसके साथ ही फैले हुए मुँह की दशा में गले से 'हा' 'हा' 'हा' की ध्वनि भी करता रहे । इधर प्राणापान के नियन्त्रण पूर्वक त्रिशूल विधि अपनाये । इस विधि के फलस्वरूप ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थिति हो जाती है । यही नहीं, इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है कि, इस अवस्था में तन्मात्राओं के प्रभाव का प्रत्यावर्त्तन हो जाता है और मेदिनी अर्थात् शरीर की पार्थिव सत्ता की अनुभूति का अर्थात् देहाध्यास और देह सम्बन्धिनी अशुद्ध अहन्ता का अपहस्तन हो जाता है । साधक इस अवस्था में स्थित होकर परबोध रूप शून्य गगन में विहार की शक्ति से समन्वित हो जाता है । यह एक प्रकार की आकाशचारी होने की ही दशा मानी जा सकती है ॥ १३-१५ ॥

त्रिशूलप्रयोगमेव शिक्षयति

शून्याशून्यलये कृत्वा एकदण्डेऽनिलानलौ ॥ १६ ॥

शक्तित्रितयसम्बद्धे अधिष्ठातृत्रिदैवते ।

त्रिशूलं तद्विजानीयाद्येन व्योमोत्पतेद्बुधः ॥ १७ ॥

एवंविधोऽयमनिलानलौ प्राणापानावर्थात् मध्यप्राणे समरसितौ कृत्वा अत एव एकस्मिन्मूलाधारात्प्रभृति ऊर्ध्वं प्रसरणात् दण्डाकारे च तस्मिन् जाते सति तदेवं प्रयुज्यमानं त्रिशूलं विजानीयात् येन अस्य व्योमोत्पतनं स्यात्। एकदण्डाकारं मध्यप्राणमेव विशिनष्टि अधिष्ठातृत्रिदैवते इति भ्रूमध्याद्यवस्थितेश्वरसदाशिवानाश्रिताख्यकारणत्रयाधिष्ठिते इत्यर्थः। तथा

त्रिशूल प्रयोग की विधा का निर्देश कर रहे हैं—

इस प्रकार परबोधाकाशचारी साधक अनिल रूप अपान और अनल रूप प्राण इन दोनों को समरस दशा में अवस्थित कर देता है। यह समरसता मध्यप्राण रूपी एक दण्डात्मक अवस्था में आती है। मूलाधार से अश्विनी मुद्रा की सिद्धि के उपरान्त ऊर्ध्वप्रसरण का क्रमिक अनुसन्धान साधक को होता रहता है। श्वासजित् होने पर प्राण की दण्डाकारता का साक्षात्कार हो जाता है। उस एक दण्ड के वैशिष्ट्य पर ध्यान देने पर तीन बातें विशेष रूप से सामने आती हैं—१. इस दण्ड में अनाहत बिन्दु पर ईश्वर अधिष्ठित हैं। २. विशुद्ध बिन्दु पर सदाशिव अधिष्ठित हैं और ३. भ्रूमध्य में अनाश्रित शिव का अधिष्ठान है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने अधिष्ठातृत्रिदैवत का महत्त्वपूर्ण विशेषण प्रयुक्त किया है।

इसकी दूसरी विशेषता को 'शक्तित्रितय सम्बद्ध' शब्द व्यक्त कर रहा है। बिन्दु से क्षेप और आक्रान्ति रूप स्पन्दनों द्वारा यह नाद और नादान्त अवस्थानों को पार कर चिदुद्बोध से शक्ति में, स्थापन से व्यापिनी में और दीपन से समना में संश्लिष्ट होता है। यही शक्तित्रितय की सम्बद्धता है।

शक्तिव्यापिनीसमनासम्बद्धे तत्संयोगमाप्ते, अत एव परपदप्राप्त्या शून्याशून्य-लये विगलितसदसदादिशब्दव्यवहारे इत्यर्थः ॥ १६-१७ ॥

नच एतावतैव अयं व्योम उत्पतेदित्याह

आकाशभावं सन्त्यज्य सत्तामात्रमुपस्थितः ।
शूलं समरसं कृत्वा रसे रस इव स्थितः ॥ १८ ॥

तीसरा और अप्रतिम महत्त्व का इसका विशेषण है—शून्याशून्यलयत्व । शून्य यहाँ पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त है। विन्दु नाद और नादान्त के साथ ही शक्ति, व्यापिनी और समना रूप दो शून्य त्रिकों का वर्णन श्लोक ११ में अभी-अभी किया गया है। इनमें रहने पर यह एकदण्डात्मकता शून्य में उल्लसित रहती है। जब इस शून्य दशा को पार करती है, तो अशून्य रूपता में अभिमुख हो जाती है। उन्मना की परावस्था में परमशिवता की तादात्म्यमयी अशून्यता का भी लय हो जाता है। शक्ति आदि कई दृष्टियों से इसे त्रिशूल की संज्ञा दी गयी है। इसका बोध हो जाने पर सुबुद्ध साधक त्रिशूलिनी द्वारा खेचरत्व प्राप्त कर लेता है ॥ १६-१७ ॥

प्राणापान साधना की यह एक उत्कृष्ट स्थिति है। इसमें परबोधरूपी गगन में विहार की अलौकिक अनुभूतियाँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं। यह ध्यान देने की बात है कि, इस दशा में भी आकाश में उत्पतन की क्षमता नहीं होती। उसके लिये विशेष प्रयास आवश्यक होता है। यद्यपि आकाश उत्पतन आत्मोकर्ष की दृष्टि से उपादेय नहीं माना जा सकता, फिर भी चमत्कार की दृष्टि से साधक इस विद्या में भी सिद्ध हो जाता है। मत्स्येन्द्रनाथ और गुरुवर्य गोरखनाथ सदृश सिद्ध खेचरण करने में समर्थ थे, ऐसा सुना जाता है। यहाँ शास्त्रकार यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि, आकाश विहार कैसे सिद्ध हो जाता है। इसी उद्देश्य से इन कारिकाओं का अवतरण कर रहे हैं—

एकदण्डं सा विज्ञाय त्रिशूलं खचरं प्रिये ।
बद्ध्वा तु खेचरीं मुद्रां ध्यात्वात्मानं च भैरवम् ॥ १९ ॥
खेचरीचक्रसंजुष्टं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

एवं खचरमेकदण्डं त्रिशूलं विज्ञाय तत्तदवच्छेदाधायि सत्तामात्रमपि परित्यज्य खेचरीमुद्राबन्धमाविश्य स बुधः पराकाशरूपतामुपस्थितः सन् स्थितस्तत्रैव रसे इव रसं शूलमपि समरसीकृत्य खेचरीचक्रसंजुष्टमात्मानं भैरवं ध्यात्वा च सद्य एव मेदिनीं त्यजतीति सम्बन्धः ॥ १८-१९ ॥

साधक सत्ता-भाव का परित्याग कर दे। असत्ता मात्र में अवस्थित हो जाय। यह असाधारण अवस्था है। सत्ता मात्र में स्थित साधक काल में नहीं रहता है। वह शाश्वत में वर्त्तमान हो जाता है। काल को अतिक्रान्त करना असत्तामात्र में अवस्थान माना जाता है। मानव जीवन की यह शिखर स्थिति होती है। उस समय शूल समरस हो जाता है। रस रूप परामृत में रसानन्द रूप आत्मतत्त्व के सम्मिलन से तादात्म्यमयी रसानुभूति सिद्ध हो जाती है, उसी तरह शूल को समरस करने से श्वासजित् अवस्था सिद्ध होती है। उस समय साधक को यह स्फुरित हो जाता है कि, इस समय प्राणापानकी एकदण्डात्मकता ऊर्ध्वत्रिशूल के ऐकात्म्य से समन्वित है और खत्रय से भी एक रस हो चुकी है। यह जानकारी निरन्तर हो रही होती है। साधकस्वात्म भैरव भाव से खेचरीचक्र से बँधा हुआ है। इस दशा में वह ध्यान में प्रतिष्ठित हो जाता है। उस ध्यान की गहराई में साधक के विराट व्यक्तित्व के समस्त संकोच अपास्त हो जाते हैं। अब वह एक अभौतिक अस्तित्व का प्रतीक बन जाता है। उस पर मेदिनी की आकर्षण शक्ति का प्रभाव नहीं रह जाता और साधक का शरीर धरातल से ऊपर यथेच्छ आकाश की सूक्ष्मता की तरह विहार करने में समर्थ हो जाता है। यही मेदिनी का परित्याग कहलाता है ॥ १८-१९ ॥

ननु एवमस्य किं स्यादित्याशङ्क्य आह

त्यक्तांशको निराचारो निःशङ्को लोकवर्जितः ॥ २० ॥

अवधूतो निराचारो नाहमस्मीति भावयन् ।

मन्त्रैकनिष्ठः संपश्यन् देहस्थाः सर्वदेवताः ॥ २१ ॥

ह्लादोद्वेगास्मिताक्रुष्टनिद्रामैथुनमत्सरे ।

रूपादौ वा कर्तृकर्मकरणेषु च सर्वशः ॥ २२ ॥

नाहमस्मीति मन्वान एकीभूतं विचिन्तयन् ।

प्रश्न करते हैं कि, ऐसा होने से साधक में क्या होता है? क्या कोई बदलाव आता है? कोई चमत्कार होता है? आदि? इन्हीं आशङ्काओं का समाधान कर रहे हैं—

१. सर्वप्रथम उसमें जो अस्तित्वगत चमत्कार होता है, वह है, उसके विराट् स्वरूप का उल्लास। अंश रूप संकोच से ग्रस्त अणुता का निराकरण हो जाता है। अंश भाव छूट जाता है। अब वह निरंशता को प्राप्त या उपलब्ध हो जाता है।

२. उसका दूसरा स्तर और भी दिव्य हो जाता है। अबतक वह बँटी हुई जिन्दगी जो रहा था। उसके आचार में भी पार्थक्य प्रथा का प्रथन हो रहा था। यह करो, यह न करो आदि के खंडित दृष्टिकोण थे। अब ऐसा नहीं रह जाता। वह सभी आचारों को अतिक्रान्त कर जाता है।

३. निःशङ्कता का वह प्रतिमान हो जाता है।

४. लोकाचार की खण्डित जीवनचर्या से उसे मुक्ति मिल जाता है।

५. अवधूत अवस्था का प्रतीक परमहंस बन जाता है।

६. देहाध्यास में देह में ही अहं भाव का उल्लास रहता है। इस अवस्था में 'मैं यह नहीं हूँ' इस दृढ भाव से भावित हो जाता है।

७. मन्त्र में निश्चयात्मक आस्था आ जाती है।

कर्णाक्षिमुखनासादिचक्रस्थं　　देवतागणम् ॥ २३ ॥

ग्रहीतारं सदा पश्यन् खेचर्या सिद्ध्यति स्फुटम् ।

त्यक्तांशक इति निरंशतामापन्न इत्यर्थः। निराचार इति निष्क्रान्ता आचारा यस्मादाचारेभ्यश्च निष्क्रान्त इति योज्यम् । देहस्थाः सर्वदेवताः संपश्यन्निति सर्वदेवतामयमात्मानं जानान इत्यर्थः । ह्लादेत्यादिना चित्त-वृत्तिविशेषा आसूत्रिताः । रूपादाविति विषयपञ्चके। ग्रहीतारमिति पर-प्रमात्रेकरूपमित्यर्थः ॥ २०-२३ ॥

एतदेव व्यतिरेकद्वारेण द्रढयति

विद्याशङ्की मलाशङ्की शास्त्रशङ्की न सिद्ध्यति ॥ २४ ॥

विद्येति शुभकरी वेदविद्या ॥ २४ ॥

---

८. देह में दिव्यत्व का प्रकल्पन, शक्ति-पुञ्जता की दृष्टि और अङ्गप्रत्यङ्ग में कवचरूप से अवस्थित शक्ति प्रतीकों का भान होने लगता है।

९. आह्लाद, उद्वेग, अस्मिता, आकाश, नींद, मैथुन, मत्सर रूपगर्व आदि चित्तवृत्तियों से ऊपर उठकर मैं कर्त्ता हूँ, मेरे द्वारा ये कार्य सम्पन्न हो रहे हैं आदि कर्त्ता, कर्म और करण आदि कारक वृत्तियों को अतिक्रान्त कर लेता है। अहन्ता के व्यापक परिवेश में विचरण करता है।

१०. बिश्वात्मकता में शैवमहाभावैक्य का दर्शन करता है।

११. कर्णादि इन्द्रियों द्वारा करणेश्वर देववृन्द ही सारा अर्थ-ग्रहण कर रहा है, यह उसकी अन्यतम मान्यता हो जाती है। ये सारी स्थितियाँ और वृत्तियाँ खेचरी मुद्रा सिद्धि के माहात्म्य से स्वतः सिद्ध हो जाती हैं ॥ २०-२३ ॥

इस लोकोत्तर चर्यात्मक जीवन्तता का व्यतिरेक दृष्टि से दृढ़तापूर्वक समर्थन करने का उपक्रम कर रहे हैं—

विद्या रूप शैवज्ञानप्रदा आत्मविद्या के प्रति आशङ्का कर अनिश्चय स्थिति में जीने वाला, षट्कञ्चुकों की मान्यता और प्रभावशालिता के प्रति

ननु एवमयं कस्मात् न सिद्धयेदित्याशङ्कय आह

शिवो रविः शिवो वह्निः पक्तृत्वात्स पुरोहितः ।
तत्रस्था देवताः सर्वा द्योतयन्त्योऽखिलं जगत् ॥ २५ ॥

रविः प्रमाणं, वह्निः प्रमाता, अत एव पुरोहितो यष्टा इत्यर्थः । पक्तृत्वादिति सर्वस्य स्वात्मसात्काररूपात्वात् द्योतयन्त्यः स्थिता इति शेषः । एवं हि शिव एव सर्वमिति किमाशङ्कास्पदमित्याशयः ॥ २५ ॥

शङ्कालु और शास्त्रों के आदेशों एवं निर्देशों के प्रति सन्दिग्ध वृत्ति वाला साधक कभी और किसी अवस्था में सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। अवस्था-शैथिल्य उत्कर्ष की प्रकल्पना को ही कीलित कर देता है ॥ २४ ॥

व्यतिरेक दृष्टि की सदोषता का अनुसन्धान कर रहे हैं—

वास्तविकता यह है कि, शिव ही सर्वरूप में उल्लसित हैं। शिव उपास्य हैं। उपास्य में शङ्का के लिये अवकाश नहीं होता। त्रिकशास्त्र की यह मान्यता है कि, विश्व, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति की चतुष्कता में परिचालित है। सूर्य को प्रमाण माना जाता है। अग्नि ही प्रमाता है। ये सूर्य और सर्वाभासक अग्नि दोनों शिव ही हैं। शिव ही सूर्य रूप से प्रकाशमान हैं। शिव ही अग्नि रूप से प्रकाश को परिभाषित कर रहा है। पक्तृत्व अर्थात् रवि और अग्नि में भी उद्दीप्ति भरने वाला शिव ही पुरोहित है अर्थात् प्रकाशरूप यज्ञ का याजक भी शिव ही है। यह सर्वस्व को स्वात्म में शाश्वत रूप से समाहित कर रहा है। शिवत्व के परिवेश में सर्व का समर्पण एक अभिराम महोत्सव है। इस प्रकार खेचरी सिद्ध शरीर में सारी दिव्य शक्ति रूपी देवताः समस्त विश्व को आलोकित करती हैं अथवा शिव के इस विराट्-परिवेश में वर्तमान देवी शक्तियाँ ही शिवत्वाधिष्ठान के कारण विश्व को विद्योतित कर रही हैं ॥ २५ ॥

एवं त्रिशूलिन्याः स्वरूपमभिधाय करङ्किण्या अपि आह

कनिष्ठया विदार्यास्यं तर्जनीभ्यां भ्रुवौ तथा ।
अनामे मध्यमे वक्त्रे जिह्वया तालुकं स्पृशेत् ॥ २६ ॥
एषा करङ्किणी देवो ज्वालिनीं शृणु सांप्रतम् ।
हनुर्ललाटगौ हस्तौ प्रसार्याङ्गुलितः स्फुटौ ॥ २७ ॥
चालयेद्वायुवेगेन कृत्वान्तर्भ्रुकुटीं बुधः ।
विदार्यास्यं सजिह्वं च हाहाकारं तु कारयेत् ॥ २८ ॥
एषा ज्वालिन्यग्निचक्रे तथा चाष्टोत्तरं शतम् ।
जपेद्यदि ततः सिद्ध्येत्त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २९ ॥

कनिष्ठयेति उभयकरसम्बन्धिन्या । वक्त्रे इति अर्थात् कृत्वा । प्राकरणिकश्च अत्र खेचरीमुद्राबन्धानुवेधोऽनुसन्धातव्य एवेति गुरवः हनुरिति ऐशः पाठः तेन हनुतः प्रभृति ललाटान्तं स्थितौ कार्यावित्यर्थः । प्रसार्याङ्गुलित इति प्रसृताङ्गुलीकावित्यर्थः । अन्तरिति हस्तयोः । अग्निचक्रे इति ऊर्ध्वमुखे त्र्यश्रे अन्तरात्मानं भावयित्वा ॥ २९ ॥

यहाँ त्रिशूलिनी का चित्रण करने के उपरान्त करङ्किणी खेचरी की चर्चा कर रहे हैं—

दोनों हाथों की कनिष्ठिकाओं को मुख के भीतर डाल कर दोनों ओर खींचना इसकी पहली विधि है। दोनों तर्जनी उँगलियों द्वारा दोनों भौहों के ऊपर अपनी ओर खिचाव देना दूसरी अवस्थिति है। पुनः अनामा और मध्यमा अंगुलियों को मुख में डाले रहे और जीभ से तालु का स्पर्श करते हुए श्वास साधन करे। यह करङ्किणी मुद्रा का चित्र है ॥ २६ ॥

ज्वालिनी मुद्रा भी इसी की एक भेद है। हनु से लेकर ललाट पर्यन्त हाथ की फैली हुई अङ्गुलियों से मुख पर एक सामान्य दवाव देना चाहिये। ज्वालिनी की यह पहली क्रिया है। दूसरी क्रिया जिह्वा निकाले हुए मुँह

सिद्धिमेव दर्शयति

परदेहेषु चात्मानं परं चात्मशरीरतः।
पश्येच्चरन्तं हानादाद्गमागमपदस्थितम् ॥ ३० ॥
नवच्छिद्रगतं चैकं तदन्तं व्यापकं ध्रुवम् ।
अनया हि खचारी श्रीयोगसञ्चार उच्यते ॥ ३१ ॥

हानादेति हाकारस्य नादेन उच्चारेणेत्यर्थः । गमागमेति स्वदेहात् परदेहे, परदेहाद्वा स्वदेहे । खचारीत्यनेनापि खेचरीमुद्राबन्धानुवेधो दर्शितः ॥ ३१ ॥

को फैलाना चाहिये। गले से हा हा कार का उच्चारण होता हो। सुबुद्ध साधक आज्ञाचक्र के त्रिकोण में अपनी अन्तरात्मा का अनुसन्धान करता रहे। साथ ही वायुवेग से हनुसहित मुंह को चालित करना चाहिये। इस स्थिति में ही ज्वालिनी मन्त्र का भी एक माला जप उसी दशा में सम्पन्न करता रहे। यह ज्वालिनी मुद्रा थोड़ी कठिन है और कठिनाई से सिद्ध होती है। इसके सिद्ध हो जाने पर सचराचर त्रैलोक्यसिद्ध हो जाता है ॥ २७-२९ ॥

सिद्धि के प्रकार का दिगदर्शन और उसके महत्त्व का प्रकाशन कर रहे हैं—

दूसरे के शरीरों में स्वात्म का अनुप्रवेश और दूसरे को स्वात्म शरीर द्वारा स्वात्म में ही आचरण समन्वित करने की शक्ति इससे आ जाती है। इसमें 'हा' सदृश नाद का अप्रतिम महत्त्व है। यहाँ एक बात गुप्त रखी गयी है। हा नाद के साथ 'स्वा' का आन्तर उच्चार भो चाहिये। इससे आत्मानुप्रवेश के समय, पर क प्राणामृतप्रवाह का अपनो आर आनयन तथा दूसरे शरीर में स्वात्म का प्रलयन दोनों सम्भव हो जाते हैं।

योगसञ्चर शास्त्र में इसका महत्त्व प्रतिपादित है। मनुष्य का शरीर ऐसे ढङ्ग से निर्मित है, जिसमें नौ छिद्र हैं। इन सबको पृथक्-पृथक् उपयोगिता निर्धारित है। इन सबमें खेचरी साधक की समान शक्तिमत्ता काम करती

इदानीं श्रीवीरावल्युक्तमपि अस्या विधिमाह

कुलकुण्डलिकां बध्वा अणोरन्तरवेदिनीम् ।
वामो योऽयं जगत्यस्मिंस्तस्य संहरणोद्यताम् ॥ ३२ ॥
स्वस्थाने निर्वृतिं लब्ध्वा ज्ञानामृतरसात्मकम् ।
व्रजेत्कन्दपदं मध्ये रावं कृत्वा ह्यरावकम् ॥ ३३ ॥

इह अणोरन्तरवेदिनीमन्तश्चरन्तीं तन्मयतामाप्तां कुलकुण्डलिकां मध्यप्राणशक्तिमाक्रम्य अज्ञानसंहर्त्री स्वस्थाने शाक्ताधारे तदैक्यापत्तिरूपां निर्वृतिं प्राप्य

है। इनमें ध्रुव भाव से सतत नदनशील एक व्यापक तत्त्व का दर्शन किसी सामान्य व्यक्ति को नहीं हो सकता। वही साधक महत्त्वपूर्ण है, जो इनमें एकतात्त्विकता के सौहित्य का अनुसन्धान करने में समर्थ हो जाता है। इस साधना में नैपुण्य प्राप्त अधिकारी ही वस्तुतः खचारी कहलाने का भी अधिकारी होता है ॥ ३०-३१ ॥

श्रीवीरावली शास्त्र में इसकी विधि का निर्देश प्राप्त है। उसे भी यहाँ प्रदर्शित कर रहे हैं—

कुल कुण्डलिनी को नियन्त्रित कर साधक स्वस्थान अर्थात् शाक्ताधार में ऐक्यात्म्य की सिद्धि करने में समर्थ हो जाता है। यहाँ कुल कुण्डलिनी शब्द के कई विशेषण दिये गये हैं, जो उसकी विशेशता का ख्यापन करते हैं। १. वह अणु पुरुष को अन्तर्वेदिनी है। अन्तर्वेदन अन्तः संचार से ही सिद्ध होता है। इस तरह वह अणु की आन्तरिकता की साक्षिणी सिद्ध होती है।

२—वह जागतिक वामता के संहरण में उद्यत रहती है। अर्थात् मध्य प्राणशक्ति पर आरूढ रह कर वाम रूप अज्ञान का संहार करती है।

३—स्वस्थान को मलाधार मानते हैं। आगम कहता है कि,

यावज्जीवं चतुष्कोणं पिण्डाधारं च कामिकम् ।
तत्र तां बोधयित्वा तु गतिं बुद्ध्वा क्रमागताम् ॥ ३४ ॥
चक्रोभयनिबद्धां तु शाखाप्रान्तावलम्बिनीम् ।
मूलस्थानाद्यथा देवि तमोग्रन्थिं विदारयेत् ॥ ३५ ॥

'मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ।'

इत्युक्त्या तस्य बोधनादप्रवर्तकत्वात् मध्यविषाधारादावरावक प्रशान्तरूपं रावं नादं कृत्वा

'..... ... . कन्दे षड्रसलम्पटाः ।' इति ।

इतिभङ्ग्या ज्ञानामृतरसात्मकं कन्दपदं कामिकं सर्वकामाभिधं जीवं सञ्जीवन्यमृताभिधं चतुष्पथवर्तित्वात् चतुष्कोणं चिन्तामण्यभिधानं च यावत्

मूल में शाक्त उल्लास होता है। उल्लास के क्रम में बोधरूप नाद का प्रवर्त्तन होता है। इसकी शक्ति यों तो स्वयं शिव में ही होती है किन्तु सिद्ध साधक भी बोधनाद का प्रवर्त्तक बन जाता है। साक्षी तो वह है ही। उसी शाक्ताधार में ऐकात्म्य वृत्ति से निर्वृति की प्राप्ति साधक कर लेता है। निर्वृति परमसंतृप्ति का पर्याय है। कुण्डलिनी साधना में मूलाधार से द्वादशान्त पर्यन्त तादात्म्य का परमानन्द साधक अश्विनी मुद्रा के एक स्पन्द में ही प्राप्त कर लेता है। जो शाश्वत ऐक्य से सम्पन्न है, उसके उस चरम परम सुख का कहना ही क्या ? आगम की एक उक्ति है—

'कन्द में षड्रसलम्पट योगी (अमृत पान करता है)'।

इस उक्ति के अनुसार वह ज्ञान विज्ञान की शैवानुभूतियों का रसामृत पान करता है। इसी क्रम में कन्दपदवी का भी आश्रयण कर आनन्दित होता है।

४—यह ध्यान देने की बात है कि, नाद तो अव्यक्त शब्दमय होता है किन्तु बोधनाद में शब्दता का नितान्त अभाव रहता है। यही स्थिति

वज्राख्यां ज्ञानजेनैव तथा शाखोभयान्ततः ।
कोणमध्यविनिष्क्रान्तं लिङ्गमूलं विभेदयेत् ।। ३६ ।।

पैण्डं शरीरमाधारं व्रजेत् । तत्र आधारेषु च क्रमागतां तां कुलकुण्डलिकां बोधयित्वा मूलस्थानादारभ्य प्राणापानात्मचकद्वयाम्भितां द्वादशान्तं यावत् गच्छन्तीं ज्ञात्वा यथा अयं योगी ज्ञानजेनैव माहात्म्येन अज्ञानग्रन्थिं दुर्भेद्यत्वात् वज्राख्यां मध्यनाडीं च विदारयेत्, तथा प्राणापानात्मशाखाद्वयस्य अन्तमवलम्ब्य जन्माधाररूपत्रिकोणमध्यादपि विनिष्क्रान्तमत एव मेढ्राधावर्तित्वात् लिङ्गमूलं तदाख्यमकुलाधारमपि विभेदयेत् ।। ३२-३६ ।।

अरावक राव की होती है। मध्यप्राण कुण्डलिनो में यह अरावक राव बोधनाद रूप ही माना जा सकता है। अथवा प्रशान्त स्पन्द की संज्ञा उसे दी जा सकती है।

५—यह कन्द पद 'कामिक' होता है। यह 'जीव' को संजीवनी शक्ति प्रदान करता है। कन्द पद से चतुष्कोणात्मक चिन्तामणि मन्दिर की यात्रा का सामर्थ्य कुलकुण्डलिनी ही देती है।

६—इसीलिये साधक उस चिन्तामणि नामक पिण्डाधार को साधनायात्रा में सदा संलग्न रहता है।

७—पिण्डाधार शरीर के विभिन्न चक्र भी माने जाते हैं। इनमें 'क्रमागता' कुलकुण्डलिनी ही है। उसका उद्बुद्ध करना और उसकी गति का आकलन करना साधक की अनुभूति और साधना का विषय है।

८—कुलकुण्डलिनी चक्रोभय निबद्ध होती है। मूलाधार से लेकर द्वादशान्त में निबद्ध होना या प्राण और अपानवाह के आवागमन में निबद्ध होना उसकी विवशता होती है। यह प्राणापान रूप दो शाखाओं के अन्त का अवलम्बन करती है।

इस प्रकार की सारी स्थितियों का ज्ञाता योगी होता है। अपने इसी ज्ञानज विज्ञान के बल पर पिण्डस्थ तमोग्रन्थिका और वज्रा नामक

तत्र सङ्घट्टितं चक्रयुग्ममैक्येन भासते ।
वैपरीत्यात्तु निक्षिप्य द्विधाभावं व्रजत्यतः ॥ ३७ ॥
ऊर्वाद्यङ्गुष्ठकालाग्निपर्यन्ते सा विनिक्षिपेत् ।
गमागमनसञ्चारे चरेत्सा लिङ्गलिङ्गिनी ॥ ३८ ॥

तत्र हि प्राणापानरूपं चक्रयुग्मं स्वस्वरूप-त्रोटनेन सङ्घट्टितं तदैक्येन भासते मध्यप्राणशक्तेरेव ततः समुदय इत्यर्थः । अता लिङ्गमूलाख्यादकुल-पदात्पुनः सा वैपरीत्यादधोगत्या निक्षेपं विधाय द्विधाभावं व्रजति यदिय-मूर्वाद्यङ्गुष्ठपर्यन्तत्वनिमित्तमात्मानं विनिक्षिपेत् तद्रूपतां गृह्णीयादित्यर्थः । सा

मध्यनाडी का भी वह विदारण करे, शास्त्रकार का यह मुख्य निर्देश है । दूसरा निर्देश इससे भी महत्त्वपूर्ण और शरीर विज्ञान से सम्बद्ध है । जन्माधार को त्रिकोण भी कहते हैं । उसी त्रिकोण के मध्य से शाक्त उल्लास स्पन्दित होता है । वहाँ से ऊपर उठकर स्वाधिष्ठानात्मक लिङ्ग मूलावस्थित अकुलाधार का भी भेदन करे, यही लिङ्गमूल का विभेद कहलाता है । वीरावलि नामक इस ग्रन्थ के अनुसार खेचरी साधक की कुण्डलिनी सिद्ध होनी चाहिये, यह सिद्ध हो जाता है ॥ ३३-३६ ॥

जन्माधार और द्वादशान्त के मध्य का महत्त्व पूर्ण सन्धान-महोत्सव पिण्ड शरीर में शाश्वत चलता है । साधक अभ्यास के बल पर इसे परखता है और इसका साक्षात्कार कर लेता है । श्वास और प्रश्वास अर्थात् प्राणापानवाह का यह चक्र-युग्म साधक के प्रयत्न से सङ्घट्टित हो जाता है और श्वास जिस अवस्था में ऐक्य भाव से भासित होने लगता है, उसी दशा में अन्वर्थ 'प्राणवान्' शब्द चरितार्थ हो जाता है ।

यह एकीभूत प्राण शक्ति ऊर्ध्वाधर विद्युत् तत्त्व का निक्षेप करती है । प्राणजित् साधक द्वादशान्त क्षेत्र में परमशिव के अखण्ड सद्भाव की भव्यता में रमा रहता है । वहीं मध्यबिन्दु से अधर दशा में गतिशील होकर कटि प्रदेश, ऊरु, जानु, गुल्फ, प्रपद, पादमूल और अङ्गुलि श्रेष्ठ अङ्गुष्ठ

तत्र तत्पदसंयोगादुन्मीलनविधायिनी ।
यो जानाति स सिद्धयेत्तु रसादानविसर्गयोः ॥ ३९ ॥

कुलकुण्डलिका हि ऊर्ध्वाधः सञ्चारमनादृत्य प्राणापानलक्षणाभ्यां लिङ्गाभ्यां लिङ्गिनी तत्क्रोडीकारेण ज्ञप्तिं प्राप्ता सती चरेत् तत्तदाधारादिभेदेना मध्यधाम आक्रामेत् । सा हि तत्र मध्यधाम्नि प्राणापानपदद्वयसंयोगात्संविद्विकासमादध्यात् । यश्च एवंविधमिदं सर्वभावानुस्यूतमूर्मिण्युन्मीलनं परसंविद्विकासाधायि परं स्थानं जानाति, स संविद्रसादानविसर्गयोः सिद्धयेत् सृष्टिसंहारकारित्वेस्य सामर्थ्यमुत्पद्यते इत्यर्थः ॥ ३७-३९ ॥

के अग्रभाग तक उल्लसित होती है । यह अकारण गति निक्षेप ही जीवन का मन्त्र है । गतिशीलता के इस द्विधाभाव का दर्शन और प्रतिक्षण अनुभव स्वभावतः होता रहता है । कुल कुण्डलिनी शक्ति का अधः प्रवाह नहीं होता । वह प्राणापान लिङ्ग से समन्वित होकर लिङ्गलिङ्गनी संज्ञा से विभूषित हो जातो है । उस समय प्राणापान उसके आक्रोश में।शिशु की तरह विश्राम करते हैं ।

वह स्थान जहाँ यह अलौकिक आलोक-लीला अपने लालित्य के साथ प्रतिफलित और उल्लसित होती है, उसे शास्त्र की भाषा से मध्यधाम कहते हैं । संवित्ति का सूरज वहों विकसित होता है । इस विकास के मूल में प्राण और अपान नामक दो तत्त्वों का ऐक्य ही है । इस गमागम संचार में विहार करने वाली, उनके उभयैक्य में उल्लसित और आमूलाङ्गुष्ठात् आद्वादशान्त सञ्चरण शील कुल कुण्डलिनी शक्ति का जो साक्षात्कार कर लेता है, वह आदान रूप सर्जन प्रक्रिया और विसर्ग रूप संहार प्रक्रिया का तो साक्षी होता हो है, स्वयं सृजन संहार की सिद्धि से समन्वित हो जाता है । वह उल्लास के शैव महाभावात्मक आनन्द का रसास्वाद स्वयं तो करता हो है, उल्लास की संरचना में भी सक्षम हो जाता है ॥ ३७-३९ ॥

ससङ्गमिदं स्थानमूर्मिण्युन्मीलनं परम् ।
एष क्रमस्ततोऽन्योऽपि व्युत्क्रमः खेचरी परा ॥ ४० ॥
योन्याधारेति विख्याता शूलमूलेति शब्द्यते ।
वर्णास्तत्र लयं यान्ति ह्यवर्णे वर्णरूपिणि ॥ ४१ ॥

अस्याश्च एष यथोक्तस्तत्तदाधारादिसञ्चारात्मा क्रमः स्वारसिक एव वाह इत्यर्थः। ततोऽन्यो व्युत्क्रमोऽपि अस्याः सम्भवति यदियं परा खेचरी योन्याधारेति विख्याता। तत उदिता सती शूलमूलेति शब्द्यते झटित्येव शक्ति-व्यापिनीसमनात्मकारात्रययोगित्वात् द्वादशान्तपदं प्राप्तेत्यर्थः। यतस्तत्र सर्वोच्छेदरूपे क्रोडीकृतबाह्यामर्शेऽपि स्वामर्शमात्रात्मनि अवर्णे वर्णा बाह्यामर्शा लयं यान्ति तद्विश्रान्ता एव भवन्तीत्यर्थः ॥ ४०-४१ ॥

मध्यधाम का वैशिष्ट्य आदानविसर्ग के साक्षात्कार से स्पष्ट तथा ज्ञात हो जाता है। उसे शास्त्रकार ससङ्गम स्थान के रूप में निरूपित कर रहे हैं। ऊर्मि रूप परसंवित् के शान्त परिवेश में यह उन्मीलन अर्थात् उल्लास का प्रतीक माना जाता है। इस स्थान से ऊर्ध्व संचरण को चर्चा की गयी है। यही उसका क्रम है। इसका भो व्युत्क्रमण योगी करता है। वही परा खेचरी अवस्था मानो जाता है। उसे योनि का आधार कहते हैं। योनि विश्व की उत्पत्ति का कारण होती है और उसकी भी आधार यह व्युत्क्रान्ता खेचरो मुद्रा है। वहाँ इसे शूलमूला कहते हैं। वहाँ वर्ण विलीन हो जाते हैं। वर्ण मात्र समना तक ही रहते हैं। समना के बाद उस परा संविद् का अवर्णा कहते हैं। वहाँ पहुँच कर वर्णरूपिणो यही शक्ति अवर्णा हो जाती है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, वर्णात्मकता की समाप्ति पर, संवित् परविमर्शमयी हो जाती है। शूलमूलावस्था में शक्ति, व्यापिनी और समना की तीनों अरायें उन्मना के मूल तक पहुँचती हैं। समना को पार करना ही व्युत्क्रम कहलाता है। वही द्वादशान्त अवस्था मानो जाती

ननु भवतु एवं, योगी पुनरस्याः कथं प्रबोधमादद्यादित्याशङ्क्य आह

नादिफान्तं समुच्चार्य कौलेशं देहसंनिभम् ।
आक्रम्य प्रथमं चक्रं खे यन्त्रे पादपीडितम् ॥ ४२ ॥

चित् शुद्धात्मा कौलेशं रहस्यज्ञानप्रधानभूतमत एव गर्भीकृतमध्यशक्ति नादिफान्तरूपं सर्वमन्त्रारणिस्वभावं नादं स्वदेहाभेदेन समुच्चार्य तमेव च एवं सगर्भमुच्चार्यमाणं नादमधिकृत्य खे जन्माकाशरूपे मर्मणि कौलिन्याः कुलकुण्डलिन्याः पदं

है। वहाँ सर्वोच्छेद हो जाता है। बाह्य आमर्श अब उसके अन्तर्गर्भ में विलीन रहते हैं। अब केवल स्वात्म का अहमात्मक आमर्श होता रहता है। यह अवर्णात्मक माना जाता है। अवर्ण में वर्णरूपता की बात कहकर शास्त्रकार उस लोकोत्तर स्पन्द दशा की ओर अध्येता का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। इस लोकोत्तरता का साक्षात्कार आगमिक उपलब्धियों की सर्वातिशायिनी अवस्था का चमत्कार ही माना जाता है ॥ ४०-४१ ॥

कर्त्ता एकमात्र चित्तत्व है। वह रुद्रशक्ति को प्रबुद्ध करता है। यह तान्त्रिक योग प्रक्रिया है, हठयोग नहीं। इसीलिये विधिलिङ् का प्रयोग कर प्रबोध की विधि की ओर संकेत किया गया है। इस विधि के कई खण्ड हैं। एक-एक क्रिया पूरी करनी है। उसके बाद दूसरी क्रिया विधि में उतरना है। इसी को प्रदर्शित करने के लिये पूर्वकालिक क्रियाओं का प्रयोग किया गया है। इस पर क्रमशः विचार करना चाहिये—

१—शुद्धात्मा चित् सर्वप्रथम नादिफान्त रूप कौलेश का देहसन्निभ समुच्चारण करे। 'न' से लेकर 'फ' पर्यन्त मालिनी विद्या का उच्चारण कैसे हो ? मालिनी नादमयी या शब्दरूपिणी मानी जाती है। यह सारे मन्त्रों की 'अरणि' मानी जाती है। इसके उच्चारण में नादविधि का प्रयोग करना होता है। नाद में मध्य शक्ति का विकास निहित रहता है। इस नाद को

नादं वै शक्तिसद्गर्भं सद्गर्भात्कौलिनीपदम् ।
बीजपञ्चकचारेण शूलभेदक्रमेण तु ॥ ४३ ॥

'जन्माख्ये नाडिचक्रं तु ……………।'

इत्युक्तं नाड्यात्म प्रथमं चक्रं पादेन अंशेन पीडितं विधाय तत्र कथञ्चित् प्राणशक्तिं निरुध्य अवशिष्टानि पञ्चापि चक्राणि आक्रम्य ब्रह्मादिकारण-

---

उच्चारित करते समय देह ही नादमय हो जाता है। देह का समग्र अस्तित्व, इसके अणु-अणु कण-कण, अङ्ग प्रत्यङ्ग सभी नाद का नदन कर रहे होते हैं। यह देहाभेदमय नादानुसन्धान होता है। शुद्धात्मा चित् इसका साक्षी रहता है। इस पर उसका पूरा अधिकार होता है।

२—इतनी प्रक्रिया पूरी कर लेने पर जन्माकाश रूपी ख पर आक्रमण करना पड़ता है। यह आक्रमण युद्ध का आक्रमण नहीं होता। यह शनैः-शनैः उस देश पर अधिकार करने जैसा आक्रम मात्र होता है। साधक 'ख' यन्त्र को पाद से पीड़ित करे। यहाँ पाद शब्द का श्लिष्ट अर्थ है। सिद्धासन द्वारा पादपीडित करना अर्थात् कन्द पर दबाव देना और पाद अर्थात् अंशतः दबाव देना भी अर्थ सम्भव है। इस तरह वहाँ से उच्चरित नाद पर भी दबाव पड़ता है।

इस अवस्था में ऊर्ध्वगति होने की आज्ञा गुरुदेव द्वारा दी जाती है। यह गति क्रमिक रूप से अपनायी जाती है। इसमें चक्रभेदन की क्रिया करनी पड़ती है। सर्वप्रथम शक्तिसद्गर्भ नाद का भेदन, पुनः प्राण शक्ति को थोड़ा निरुद्धकर उससे ऊपर उठ कौलिकी रूपिणी कुलकुण्डलिनी को आक्रान्त करते हैं। इसके बाद पाँच बीजों के केन्द्र स्वरूप मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध इन पाँचों चक्रों का क्रमिक उल्लङ्घन करते हैं। इस क्रम में हृत्-शूल और द्वादश ग्रन्थियों का भेदन भी सम्मिलित रहता है। हृदय मुख्य रूप से नाडित्रय का अवस्थान माना जाता है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना ही वे तीन नाड़ियाँ हैं।

पञ्चकोल्लङ्घनक्रमेण हृत्स्थस्य नाडित्रयात्मनः शूलस्य ग्रन्थिद्वादशकस्य ब्रह्मरन्ध्रोपरिवर्तिनः शक्त्याद्यात्मनः शूलस्य च भेदनक्रमेण रुद्रशक्तिं प्रबोधयेत् ॥ ४२-४३ ॥

हृच्छूलग्रन्थिभेदैश्चिद्रुद्रशक्तिं प्रबोधयेत् ।
वायुचक्रान्तनिलयं विन्द्वाख्यं नाभिमण्डलम् ॥ ४४ ॥
आगच्छेल्लम्बिकास्थानं सूत्रद्वादशनिर्गतम् ।
चन्द्रचक्रविलोमेन प्रविशेद्भूतपञ्जरे ॥ ४५ ॥

येन अयं जन्मपदादारभ्य पवनाधारात्मनो वायुचक्रस्य अन्ते संनिकर्षे वर्तमानं नाभिमण्डलं तत्सङ्घट्टाधारं लम्बिकास्थान तदूर्ध्वस्थितं सुधाधारं बिन्द्वाख्यं भ्रूमध्यवर्तिनं विद्याकमलसंज्ञितमाधारं नाडीनां तात्स्थ्यात्

इसके उपरान्त द्वादश ग्रन्थियों का भेदन किया जाता है। ये १२ ग्रन्थियाँ अ, उ, म्, विन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना हैं। यह साधना यात्रा आज्ञा से समना पर्यन्त को यात्रा है। इस प्रक्रिया में सिद्ध होने पर रुद्र शक्ति के प्रबोध की क्षमता साधक में पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है ॥ ४२-४३ ॥

साधना यात्रा यहीं पूरी नहीं होती। उसे वायुचक्र, नाभिचक्र, विन्दुमण्डल, लम्बिका की विलोम यात्रा भी करनी पड़ती है। जन्माधार से लेकर पवन के आधार रूप प्राणाश्रित चक्रों की यात्रा पूरी करने पर उसे परमविश्रान्ति का अनुभव होता है। इस तरह साधक धन्य हो जाता है।

नाभिकेन्द्र, उसके संघट्ट के आधार के रूप में प्रथमतः सिद्ध अन्य चक्र, सबको नियन्त्रित कर साधक आगे बढ़ता है। वहाँ से लम्बिका की दूरी तै करने में साधक को कितने अनुसन्धान करने पड़ते हैं। उसके ऊपर सुधा के आधार रूप में बिन्दु का परिवेश प्राप्त होता है। भ्रूमध्य

भूयस्तु कुरुते लीलां मायापञ्जरवर्तिनीम् ।
पुनः सृष्टिः संहृतिश्च खेचर्या क्रियते बुधैः ॥ ४६ ॥
श्रीमद्वीरावलीयोग एव स्यात्खेचरीविधिः ।

ग्रन्थीनां द्वादशकात् निर्गतं सर्वसंबन्धोत्तीर्णं द्वादशान्तपदं च यावत् आ समन्तादृजुना क्रमेण गच्छेत् तत्र विश्रान्तिं कुर्यादित्यर्थः । भूयस्तु तत्र चन्द्र-चक्रादपानस्थात् प्रत्यावृत्यात्मना विलोमक्रमेण स्वशरीरमेव प्रविशेत्, येन अयं व्युत्थानदशोचितं व्यवहरेत् । अतश्च खेचरीमुद्रावेशभाजां ज्ञानिनामन्त-

---

के अन्तराल में आग्नेय प्रकाश में विकसमान और विद्योतित विद्यापद्म के मकरन्द रसास्वाद का अवसर आता है । द्वादशग्रन्थियों को पार करता हुआ द्वादशान्त का चिरअभोसित सन्निधान मिलता है । यह सब गुरुकृपा और पारमेश्वर शक्तिपात से अनायास सिद्ध हो गया है । यह साधना का सर्वोच्च शिखर है, जिस पर वह सोपान क्रमारोह पूर्वक आरूढ हो गया है । प्राण के संप्रीणन से यह पराकाष्ठा प्राप्त होती है ।

यह सदा अनुसन्धातव्य तथ्य है कि, प्राण का सूर्य अपान सोम के रथ पर सवार हो कर ही ऊर्ध्व की ओर अग्रसर होता है । मध्य द्वादशान्त के चितिकेन्द्र में तो सूर्य और सोम साथ रहते हैं । ऊर्ध्वद्वादशान्त में केवल सूर्य प्राण का ही प्रकाश काम करता है । अपानचक्र में चन्द्र का प्रभाव शरीर को सोमसुधा की संज्ञोवनी से ओतप्रात करता है निःश्वास में चन्द्रचक्र विलोम गतिशोलता के लिये प्राण को प्रेरित करता है । यह पौर्णमास केन्द्र की यात्रा का प्रारम्भ माना जाता है । इसी क्रम में प्राणापानवाह भौतिक पिण्ड में पुनः अपना रस भरता है । श्वास शरीर में पेट और नाभि तक पहुँचता है । इसे शाक्त उल्लास भी कहते हैं । प्रतिपदा से चलकर पूर्णिमा तक की चाँदनी का अमृत उल्लासित हाता है । यही चन्द्रचक्र है । इसमें विलोम गति होती है ।

बहिरुन्मेषनिमेषाभ्यामाजवञ्जवीभावेन सृष्टिसंहारकारित्वं स्यादिति संक्षेपार्थः योगे इति तद्वचनावसरे इति यावत् ॥ ४४-४६ ॥

श्रीकामिकोक्तमपि अस्या रूपमाह

चुम्बाकारेण वक्त्रेण यत्तत्त्वं श्रूयते परम् ॥ ४७ ॥

ग्रसमानमिदं विश्वं चन्द्रार्कपुटसंपुटे ।

तेनैव स्यात्खगामीति श्रीमत्कामिक उच्यते ॥ ४८ ॥

चुम्बाकारेण काकचञ्चुपुटाकृत्यनच्ककलात्मना मध्यप्राणशक्त्यवलम्बिनापि स्वरूपेण वक्त्रेण यदिदं प्रमाणप्रमेयात्मकं विश्वं स्वात्मसात्कुर्वाण-

---

इसी क्रम में लालसामयी भूतपञ्जर लीला का लास्य शाश्वत रूप से चलता है। प्राणापानवाह का पीयूष इसे प्रेयान् रूप प्रदान करता है। श्वास निःश्वास से जीवन जीवन्त होता है। श्वास की सृष्टि का और निःश्वास की संहृति का साक्षात्कार इसी खेचरी सिद्धि से संभव हो पाता है। उन्मेष निमेषमय यही आजवञ्जवी भाव है। यही जीवन का रस है। श्रीवीरावली समुदीरित खेचरी की विधि का यही विधान है ॥ ४४-४६ ॥

श्रीकामिक शास्त्र में भी खेचरी के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा की गयी है। वही कह रहे हैं—

श्रीकामिक शास्त्र प्राणापानवाह को वक्त्रविधि से ग्रस्त बनाने की बात करता है। 'चुम्बाकार' एक पारिभाषिक शब्द है। आचार्य जयरथ ने उसे बहुत अच्छी तरह परिभाषित किया है। मुख द्वारा

१. सर्वप्रथम काक चञ्चु पट के समान ओठों को गोल बनाकर एक पतला छिद्र बनाने की मुद्रा बनायी जाये।

२. उसी छिद्र से मध्यप्राणशक्त्यवलम्बी प्राणक्रिया की जाये।

३. इस प्राणप्रक्रिया को चन्द्रार्कपुट कह सकते हैं। इस चन्द्रार्कपुट संपुट में प्रमाण प्रमेयात्म विश्व को ग्रसमान करने के अभ्यास द्वारा ग्रास

मत एव परं प्रमात्रेकरूपं तत्त्वं चन्द्रार्कपुटस्य प्राणापानयुग्मस्य संपुटे मध्यधाम्नि श्रूयते साक्षात्क्रियते, तत एव अस्य खचारित्वं स्यादिति वाक्यार्थः ॥ ४८ ॥

इदानीं श्रीकुलगह्वरोक्तं सविशेषमस्या रूपं वक्तुमाह

भवान्मुक्त्वा द्रावयन्ति पाशान्मुद्रा हि शक्तयः ।
मुख्यासां खेचरी सा च त्रिधोच्चारेण वाचिकी ॥ ४९ ॥
त्रिशिरोमुद्गरो देवि कायिकी परिपठ्यते ।

अतो हि पारमेश्वर्यः शक्तय एव मुद्रा उक्ता यदासां पशूनां संसारात् मोचयित्वा पाशान् द्रावयन्तीति निर्वचनम् । यदुक्तं

करने की क्षमता प्राप्त कर ली जाये। यह ग्रास करना ही विश्व को स्वात्मसात् करना माना जाता है। यह भी ध्यान देना चाहिये कि, अर्क (सूर्य) प्रमाण और चन्द्र प्रमेय माने जाते हैं। इस एकान्तश्वास प्रक्रिया में संलग्न साधक खेचरी सिद्ध हो जाता है। जहाँ तक परतत्त्व की श्रवण प्रक्रिया का प्रश्न है, यह तो प्रमाण प्रमेयात्मक विश्व की ग्रसमानता का मध्यधाम में ही साक्षात्कार मात्र है। इसका अनुभव उस समय होता रहता है। यही इस खेचरी मुद्रा का वैशिष्ट्य है ॥ ४७-४८ ॥

इसके बाद कुल गह्वर शास्त्र में उक्त खेचरी मुद्रा के स्वरूप पर प्रकाश का प्रक्षेप कर रहे हैं—

वहाँ मुद्रा के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया गया कि, अणु को भव अर्थात् संसार से मुक्त कर पाशराशि को द्रावित करने की प्रक्रिया का नाम ही मुद्रा है। मुक्ति से 'मु' और द्रावयति से द्रा लेकर 'मुद्रा' शब्द की व्युत्पत्ति नैरुक्त प्रक्रिया के अनुसार की गयी है। इसलिये पारमेश्वरी शक्तियाँ ही मुद्रायें हैं, यह सिद्ध हो जाता है। इन शक्तियों में मुख्य शक्ति ही खेचरी मुद्रा कहलाती है। कुलगह्वर शास्त्र की ही उक्ति है कि,

'मोचयन्ति महाघोरात्संसारमकराकरात् ।
द्रावयन्ति पशोः पाशांस्तेन मुद्रा हि शक्तयः ॥' इति ।

उच्चारेणेति मन्त्रादेः । त्रिशिरोमुद्गर इति कायिकीति

'इच्छाज्ञानक्रियापूर्वा··· ···· ···· ···· ···· ।' इति

"ऐसी शक्तियाँ जो महाघोर संसार रूपिणी घडियालिनी के जबड़ों में पड़े प्राणियों को उसकी दंष्ट्रा के दबाव से छुड़ा लेती हैं। तथा पशुओं की पाशराशि को द्रावित कर पशुपति स्तर की ओर अग्रसर कर देती हैं, वही मुद्रायें कहलाती हैं।',

इस प्रकार की अलौकिक विशेषताओं से विशिष्ट खेचरी मुद्रा वाचिकी, कायिकी और मानसी भेद से तीन प्रकार की होती है। प्राणापानवाह क्रम के अनुसार मन्त्रों का उच्चारण करते हुए जप भी सम्पन्न करने की अवस्था में यह वाचिकी खेचरी मुद्रा कहलाती है।

इसका दूसरा प्रकार 'कायिकी' कहलाता है। यह मुद्रा विशेषण शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पाठ में इसे 'त्रिशिरोमुदगरो' लिखा है। व्याकरण शास्त्र का यह अलौकिक उदाहरण है। इस प्रयोग में 'ओ' की मात्रा नहीं है। यह अनूठा प्रयाग सामरस्य की सौहित्यमयी सत्ता का स्वारस्य यहाँ स्वयम् उल्लासित करता है। आ के साथ ए का यह सुगुप्त पर प्रकट सान्निध्य है। आ आनन्द का और ए त्रिकोण रूपिणी मातृ सत्ता का प्रतीक है। एक साथ रहने पर यह ओके छद्म रूप में नील नभ की तरह परिदृश्यमान है।

यहाँ भगवान् शङ्कर माँ पार्वती को देवि! कहकर सम्बोधित कर रहे हैं। सम्बोधन में ही देवी का विशेषण भी प्रयुक्त है। वह विशेषण है— त्रिशिरोमुद्गरे। इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप तीन शीर्ष माध्यमों से मुद् अर्थात् परानन्द का स्वात्म में ही परामर्श करने वाली ऐसी परासंविद्वपुष्के!

एवमेव हि परा संवित् कायत्वेन उल्लसितेत्याह

नासां नेत्रद्वयं चापि हृत्स्तनद्वयमेव च ॥ ५० ॥

वृषणद्वयलिङ्गं च प्राप्य कायं गता त्वियम् ।

इत्यादिनीत्या शक्तित्रयमयत्वात् त्रिशिरोमुद्गरो मदं परानन्दं गृणाति स्वात्मनि आमृशतीति परसंविदित्यर्थः । हृदिति हृत्पद्मनालरूपम् । एतत्सत्त्वं च तत्र तत्र शास्त्रे निरूपितमिति अतिरहस्यत्वादिह न प्रपञ्चितम् । तत् गुरुमुखादेव बोद्धव्यम् ।

भवस्थानाभवस्थानमुच्चारेणावधारयेत् ॥ ५१ ॥

मानसोयमितस्त्वन्याः पद्माद्या अष्ट मुद्रिकाः ।

यह अर्थ होता है । खेचरी भेद भिन्ना कायिकी मुद्रा भी स्त्रीलिङ्ग के कारण त्रिशिरोमुद्गरा कहलाती है । इसमें टाप् प्रत्यय का आनन्दवादी प्रयोग है । इस पक्ष में भी कायिकी मुद्रा इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप परामर्शों के माध्यम से स्त्री पुरुष को षडर मुद्रा में काया में उल्लसित होती है । उस समय के नासिका, नेत्रद्वय और दोनों स्तन मेलापक मुद्रा में रहते हैं । कायिकी हृदय पद्मनाल के द्वारा काया में प्रवेश करती है । पुरुष के दोनों वृषण और लिङ्ग षडर मुद्रा में समाहित रहते हैं । चर्या का यह रहस्यार्थ है । साधना की दशा में ध्यान द्वारा भी काया में मुद्रा का सन्धान आगमिक करते हैं । यह सब ज्ञानवान् गुरु से जाना जा सकता है ।

इस तरह त्रिशिरोमुद्गरा काया का विशेषण बनकर और त्रिशिरोमुद्गरे ! देवि ! शब्द का सम्बुद्धि रूप विशेषण बनकर एक साथ ही एक शाब्दिक काया में दो शब्द उल्लसित हैं । शास्त्रकार का यह सारस्वत प्रयोग आगमिक वाङ्मय के वैलक्षण्य को व्यक्त करता है ॥ ४९-५० ॥

इसका तीसरा प्रकार 'मानसी' मुद्रा के नाम से जाना जाता है । 'मानसी' संज्ञा का कारण मानस द्वारा विभिन्न ऊर्ध्व अवयवों में शक्ति

मातृव्यूहकुले ताः स्युरस्यास्तु परिवारगा ॥ ५२ ॥
शरीरं तु समस्तं यत्कूटाक्षरसमाकृति ।
एषा मुद्रा महामुद्रा भैरवस्येति गह्वरे ॥ ५३ ॥

भवस्थानं शरीरमभवस्थानमुच्चारेणेति

'पद्मं हृत्पद्ममेवात्र शूलं नाडित्रयं प्रिये।
नाभि चक्रं विजानीयाच्छक्तिं नादान्तरूपिणीम् ॥
बिन्दुदेशोद्भवं दण्डं वज्रं चित्तमभेदकम् ।
दंष्ट्रां जिह्वां महाभागे कपालं व्योममण्डलम् ॥
एषु स्थानेषु सञ्चारान्मानसी परिपठ्यते ।'

का संचार है। इसे शास्त्रकार ने एक वाक्य में ही व्यक्त कर दिया है। वे कहते हैं कि, भव अर्थात् संसार का स्थान यह शरीर है। शरीर ही संसार का स्थान है। इसे अभव स्थान में परिणत करना है। यह मनन करना है कि, यह शाक्त उल्लास पारमेश्वर प्रसूत है। इस रूप में मनन करने से भव-स्थान अभवस्थान में परिणत होता प्रतीत होता है। अस्तित्वगत अवधारणा में एक क्रान्ति आ जाती है। इन तीनों के अतिरिक्त आठ मुद्राओं का विवेचन कुल गह्वर में और मालिनी मत में इस प्रकार किया गया है—

'पद्म' हृदयपद्म को ही संकेतित करता है। 'शूल' शब्द इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना इन नाडियों को अभिव्यक्त करता है। नाभि ही 'चक्र' है। नादान्तरूपिणी 'शक्ति' और बिन्दु से अर्धचन्द्र और रेखिनी को पार कर नाद तक 'दण्ड' मुद्रा होती है। अभेद स्थिति में दृढ़तापूर्वक विद्यमान चित्त ही 'वज्र' है। जिह्वा ही दंष्ट्रा के मध्य में रहती हुई पर्याय का काम कर रही है। कपाल ही व्योममण्डल है। इन स्थानों में मानस प्रयोग द्वारा शक्ति संचार होता है। इन आठों को आत्मसात् करने वाली मुद्रा मानसी मुद्रा ही कही जा सकती है"।

इत्यादिनयेन ऊर्ध्वं चारेण गमनेत्यर्थः । अष्टेति यदुक्तं

खेचर्या परिवारस्तु अष्टौ मुद्राः प्रकीर्तिताः ।
शूलाष्टके च देवेशि मातृव्यूहे च ताः स्मृताः ॥
पद्मं शूलं तथा चक्रं शक्तिर्दण्डं सवज्रकम् ।
दंष्ट्रा कपालमित्येवं तदशेषं व्यवस्थितम् ॥' इति ।

कूटाक्षरं क्षकारः । एतत्सतत्त्वं च प्राक् बहुशः प्रतिपादितम् । अनेन प्रागुद्दिष्टाया भैरवमुद्राया अपि लक्षणमुक्तम् ॥ ५१-५३ ॥

अस्या एव सर्वत्र अविगीतता दर्शयितुं शास्त्रान्तरतोऽपि सप्रभेदं रूपमाह

यह सब भवस्थान में उच्चारण के समान है। यहाँ उच्चारण शब्द का ऊर्ध्वगमन अर्थ है। इस शक्ति संसार में गतिक्रिया का प्राधान्य होता है। हृदय से लेकर व्योम मण्डल पर्यन्त यह ऊर्ध्वगमन ही उच्चारण है। इसी उच्चारण से मानस-मुद्रा का अवधारण होता है।

यह खेचरी का परिवार है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि,

"खेचरी मुद्रा के परिवार में आठ मुद्रायें परिगणित हैं। ये सभी शूलाष्टक रूप मातृव्यूह में रहती हैं। इस अष्टक का नाम इस प्रकार अभिहित किया गया है।

१. पद्म, २. शूल, ३. चक्र, ४. शक्ति, ५. दण्ड, ६. वज्र, ७. द्रंष्ट्रा और ८. कपाल। ऊपर भी इनका विश्लेषण किया जा चुका है।"

यह ध्यान देने की बात है कि, यह शरीर चक्रेश्वर वर्ण 'क्षकार' रूप कूटाक्षर के आकार का ही निर्मित है। जैसे 'क्षकार' में सारे व्यजन वर्ण संहृत हैं, उसी तरह खेचरी मानव शरीररूपी क्षकार में व्याप्त है। गह्वर शास्त्र में तो इन आठों स्थानों में समानरूप से व्याप्त मुद्रा को भैरवी मुद्रा के नाम से भी अभिहित किया गया है। भैरवी मुद्रा का नाम श्लोक ५ में आया हुआ है ॥ ५१-५३ ॥

सूपविष्टः पद्मके तु हस्ताग्राङ्गुलिरश्मिभिः ।
पराङ्मुखैर्झटित्युद्यद्रश्मिभिः पृष्ठसंस्थितैः ।। ५४ ।।
अन्तःस्थितिः खेचरीयं संकोचाख्या शशाङ्किनी ।
तस्मादेव समुत्तम्ब्य बाहू चैवावकुञ्चितौ ।। ५५ ।।

इह पद्माद्यासनस्थो योगी यदा पृष्ठसंस्थितत्वादेव पराङ्मुखैरुद्यद्रश्मिभिर्बहिर्निर्गच्छच्छशाङ्कर्रश्मिभिर्हस्ताग्राङ्गुल्य एव रश्मयो रज्जवः, तैरुपलक्षितः सन् झटित्येव बाह्योपसंहारादन्तःस्थितिः स्वात्मनि एव विश्रान्तः स्यात्; तदा एवंभावितशशाङ्कत्वात् शशाङ्किनो, बाह्यस्य च सङ्कुचितत्वात् सङ्कोचाख्या इयमेका खेचरा मुद्रा। तथा तं हस्ताङ्गुल्यादिसंनिवेशमाश्रित्य बाहू सम्यगवकुञ्चितौ समुत्तम्ब्य स्वस्तिकाकारतया अवष्टभ्य

'खमनन्तं तु मायाख्यं ··· ··· ····· ··· ।'

खेचरो मुद्रा को सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है। इस अप्रतिम प्रभावमयी शक्ति को सभो शास्त्र प्रशंसा करते हैं। अन्यान्य आगमिक ग्रन्थों में इसके विविध भेद प्रभेदों को चर्चा करते हैं। भगवान् अभिनव इसके अभिनव भेदों की नव्यतम उद्भावनाओं पर प्रकाश डाल रहे हैं—

१. पद्मासन सदृश उत्कृष्ट कोटि के आसनों पर समुपविष्ट साधक पृष्ठभाग में स्थित अपनो अङ्गुलियों के अग्रभाग में अवस्थित वैद्युतिक केन्द्रों से निकलने वाली रश्मियों की आकुञ्चन विधि के साथ अपान शशाङ्क की बाहर गयी सासों को भो अन्तःस्थितः कर कुम्भक मुद्रा में आ जाता है, उस समय पौर्णमास केन्द्र में अवस्थिति हो जाती है। बाह्यविस्तार के विपरीत सङ्कोच की स्थिति होती है। अतः इस मुद्रा को शशाङ्किनी मुद्रा कहते हैं। खेचरी की यह एक विधा है ।। ५४ ।।

२. हाथ की अङ्गुलियों का वह संन्निवेश उसी तरह रखकर बाहु को इस प्रकार से आकुञ्चित किया जाय कि, स्वस्तिक की आकृति-सी बन जाये।

सम्यग्व्योमसु संस्थानाद्व्योमाख्या खेचरो मता ।
मुष्टिद्वितयसङ्घट्टाद्धृदि सा हृदयाह्वया ॥ ५६ ॥

इत्याद्युक्तेषु पञ्चसु व्योमसु सम्यगुक्तेन क्रमेण स्थानात् गाढावष्टम्भात् व्योमाख्या द्वितोया । तथा अन्तःकृताधोवर्तिदक्षिणमुष्टयङ्गुष्ठोपरिगतोच्छ्रिताङ्गुष्ठवाममुष्टिलक्षणस्य मुष्टिद्वयस्य हृदिसङ्घट्टात् सा खेचरी हृदयाख्या तृतीया ॥ ५४-५६ ॥

शान्ताख्या सा हस्तयुग्ममूर्ध्वाधःस्थितमुद्गतम् ।
समदृष्टयावलोक्यं च बहिर्योजितपाणिकम् ॥ ५७ ॥
एषैव शक्तिमुद्रा चेदधोधावितपाणिका ।
दशानामङ्गुलीनां तु मुष्टिबन्धादनन्तरम् ॥ ५८ ॥

तथा हस्तशब्देन बाहूपलक्षणात् बाहुयुग्ममधः स्थितवाममूर्ध्वस्थितदक्षिणमन्तः संमुखापाणिकत्वेऽपि उद्गतमूर्ध्वस्थितहस्तं दृष्टिसाम्येन अवलोक-

---

नीचे वामबाहु और दक्षिण बाहु ऊर्ध्व हो, मुद्रा का स्वरूप बनाने के लिये पाँचों व्योम अंशों पर गाढ अवष्टम्भ करे । इन व्योमांशों पर अवष्टम्भ करने के कारण ही इस मुद्रा को व्योम खेचरी कहते हैं । यह दूसरा भेद है ।

३. इसी तरह तीसरा भेद भी होता है । उसे 'हृदया' नामक खेचरी मुद्रा कहते हैं । इसमें ऊर्ध्व स्थित मुष्टिबद्ध हाथ हृदय का स्पर्श करते हैं ॥ ५५-५६ ॥

४. चौथी खेचरी मुद्रा शक्ति का नाम शान्ता है । इसमें दोनों हाथों को दाहिनी ओर ऊपर या ठीक सामने उठाते हैं । नीचे बायाँ उसके ऊपर दायाँ हाथ रखते हैं । केवल दृष्टि साम्य से उसे निहारते हैं । यह अत्यन्त सरल होने पर भी अनन्तफलप्रदा मानी जाती है ।

५. शक्ति मुद्रात्मिका खेचरी—इस मुद्रा की सारी प्रक्रिया शान्ता के समान है । अन्तर इतना ही है कि, यह अधोधावितपाणिका होती है । चतुर्थी

द्राक्क्षेपात्खेचरी देवी पञ्चकुण्डलिनी मता।
संहारमुद्रा चैषैव यद्यूर्ध्वं क्षिप्यते किल ॥ ५९ ॥

नीयं यदा स्यात्, तदा सा शान्ताख्या चतुर्थी। तथा एषैव शान्ताख्या एवं-संनिवेशोऽपि अधोधावितपाणिका चेत् भवेत्, तदा शक्तिमुद्राख्या पञ्चमी। तथा द्वयोरपि करयोः मुष्टिबन्धादनन्तरं दशानामपि अङ्गुलीनां झटित्येव तिर्यक्प्रतिक्षेपात् प्रतिकरं पञ्चकुण्डलिनीरूपत्वात् पञ्चकुण्डलिन्याख्या षष्ठी। तथा यद्येवं दशानामपि अङ्गुलीनामूर्ध्वं प्रक्षेपः, तदेव एषैव पञ्च-कुण्डलिनी संहारमुद्राख्या सप्तमी। संहारमुद्रात्वमेव च अस्या उत्क्रामणी-त्यादिना प्रदर्शितम् ॥ ५७-५९ ॥

उत्क्रामणी झगित्येव पशूनां पाशकर्तरी।
श्वभ्रे सुदूरे झटिति स्वात्मानं पातयन्निव ॥ ६० ॥

मुद्रा में पाणि ऊपर होते हैं और इसमें नीचे। इसमें दृष्टि समान भाव से पाणि पर ही रहती है ॥ ५७-५८ ॥

६. छठीं मुद्रा का नाम पञ्चकुण्डलिनी शास्त्रों में प्रसिद्ध है। इसमें दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बँधी हुई होती और त्वरित भाव से अङ्गुलियों को फैलाकर तिर्यक् प्रतिक्षिप्त करते हैं। पाँचों अङ्गुलियों के तिर्यक् प्रतिक्षिप्त करने के कारण ही इसे 'पञ्चकुण्डलिनी' कहते हैं। स्वयं कुण्डली भी तिर्यक् लिपटी ही रहती है। यहाँ अङ्गुलियाँ भी बँधी अवस्था में रहकर ही ऊर्ध्वगति में खुलती हैं। उसी की समानता यहाँ भी है।

७. इसी मुद्रा में दशों अङ्गुलियों का तिर्यक् प्रक्षेप न कर ऊर्ध्वप्रक्षेप करने से भी समदृष्टि अपेक्षित होती है। पशु-पाशकर्त्तरी संहार मुद्रा का पर्याय उत्क्रामणी मुद्रा है ॥ ५९-६० ॥

८. वीर भैरवी नाम की आठवीं मुद्रा बोध का अविलम्ब संवर्धन करती है। इसे साधने में संलग्न साधक उस समय जैसे ऊँची कूद में उत्क्रमण को

साहसानुप्रवेशेन कुञ्चितं हस्तयुग्मकम् ।
अधोवीक्षणशीलं च सम्यग्दृष्टिसमन्वितम् ॥ ६१ ॥

वीरभैरवसंज्ञेयं खेचरी बोधवर्धिनी ।
अष्टधेत्थं वर्णिता श्रीभर्गाष्टकशिखाकुले ॥ ६२ ॥

तथा अधोवीक्षणशीलत्वेन सम्यगन्तर्लक्ष्यतया दृष्ट्या समन्वितं कुञ्चितं हस्तयुग्मं विधाय सुदूरे श्वभ्रे साहसमुद्रानुप्रवेशेन झटिति स्वात्मानं पातयन्निव यदा योगी वर्धितबोधो भवेत्, तदैव इयं वीरभैरवसंज्ञा अष्टमी,—इति श्रीभर्गशिखाकुलम् ॥ ५६-६२ ॥

एतदुपसंहरन् वीर्यवन्दनमवतारयति

एवं नानाविधान्भेदानाश्रित्यैकैव या स्थिता ।
श्रीखेचरी तयाविष्टः परं बीजं प्रपद्यते ॥ ६३ ॥

तैयारी में कूदने वाला धावक रहता है, उसी प्रकार ऊर्ध्वाकाशरन्ध्र में स्वात्म को प्रक्षिप्त करने की मुद्रा में आ जाता है। हाथ सङ्कुचित हो जाते हैं। दृष्टि अधोमुखी रहती है और अन्तर्लक्ष्य की प्रमुखता बनी रहती है। अपनी सत्ता का उपग्रह की तरह अनन्त में प्रक्षेपण असाधारण उपक्रम माना जाता है। शास्त्रकार यह स्पष्ट करते हैं कि, श्रीभर्गाष्टक शिखा-कुल नामक ग्रन्थ में ये आठ प्रकार की खेचरी मुद्रायें वर्णित हैं ॥ ६१-६२ ॥

खेचरी मुद्रा वर्णन के उपसंहार करने के अवसर पर उसके माहात्म्य के सम्बन्ध में अपने हृदय का उद्गार अभिव्यक्त कर रहे हैं—

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, इस प्रकार अनेक शास्त्रों में अनेक प्रकार से वर्णित और त्रिशूलिनी इत्यादि अनेक नामों से आख्यात यह एक मात्र खेचरी मुद्रा ही है। अनन्त भेदों का आश्रय लेकर यह अभिव्यक्त होती है। यह अनन्तभेदमयी उक्ति अनवक्लृति से भरी हुई है अर्थात् उनका पृथक्-पृथक् सभेद वर्णन असंभाव्य ही है।

नानाविधानिति त्रिशूलिन्यादीन्। आसां च त्रिशूलिन्यादीनामनव-क्लृप्ति परतया सर्वासामेव स्वरूपं न उक्तम्। परं बीजमिति सृष्टिमयं पराबीजम्। वस्तुतो हि अनयोरभेद इति भावः। यदागमः

'एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
द्वावेकं यो विजानाति स वै पूज्यः कुलागमे ॥' इति ॥ ६३ ॥

अत एव आह

एकं सृष्टिमयं बीजं यद्वीर्यं सर्वमन्त्रगम्।
एका मुद्रा खेचरी च मुद्रौघः प्राणितो यया ॥ ६४ ॥

अतश्च तदावेश एव सर्वमुद्राणां तत्त्वमित्याह

तदेवं खेचरीचक्ररूढौ यद्रूपमुल्लसेत्।
तदेव मुद्रा मन्तव्या शेषः स्याद्देहविक्रिया ॥ ६५ ॥

शेष इति तदावेशशून्यः ॥ ६५ ॥

खेचरी सिद्ध साधक सर्वदा खेचरी के आवेश से आविष्ट रहता है। उस अवस्था में वह पराबीज की परावस्था को प्राप्त कर लेता है। वास्तविकता यह है कि, इनमें अभेद सम्बन्ध ही प्रधान होता है। आगम कहता है कि,

"संसार में सृष्टि बीज एक ही है। यह खेचरी मुद्रा ही एक मुद्रा है। कुलागम में वह परम पूज्य माना जाता है, जो परासृष्टि बीज और खेचरी मुद्रा के अभेद अद्वय भाव का साक्षात्कार कर लेता है" ॥ ६३ ॥

इसी आगमिक तथ्य का प्रतिपादन शास्त्रकार भी कर रहे हैं। उनका कहना है कि,

एक ही बीज सर्वतोभावेन सर्वातिशायी प्रभाव सम्पन्न है। उसे सृष्टिबीज कहते हैं। उसी का मन्त्रवीर्य सभी मन्त्रों में वीर्यवत्ता प्रदान करता है। इसी तरह एक ही सर्वप्रधान मुद्रा है, जिसे खेचरी मुद्रा कहते हैं। मुद्राओं की सारी माण्डलिकता इसी मुद्रा से मण्डित होती है। मुद्रौघ अर्थात् मुद्रा समूह इसी के प्राण से सतत अनुप्राणित है ॥ ६४ ॥

आसामेव च बन्धाय कालभेदं निरूपयितुमाह

यागादौ तन्मध्ये तदवसितौ ज्ञानयोगपरिमर्शे ।
विघ्नप्रशमे पाशच्छेदे मुद्राविधेः समयः ॥ ६६ ॥

इसलिये यह कह सकते हैं कि, खेचरी चक्र की रूढ़ि में जो साधक आरूढ़ हो जाता है और उस अवस्था में उसके स्वात्मस्वरूप का जिस प्रकार का उल्लास होता है, वही मुद्रा का वास्तविक स्वरूप है। शेष सारे रूप आङ्गिक विक्रिया मात्र हैं। अर्थात् खेचरी आवेश शून्य सारी मुद्रायें आवयविक विक्रिया मात्र मानी जाती हैं ॥ ६५ ॥

साधक को यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि, वह इन मुद्राओं का कब कैसे और किस उद्देश्य से आश्रय ले। वही यहाँ निरूपित कर रहे हैं—

१. इसे याग के आदि में अवश्य करना चाहिये। इससे वातावरण तैयार होता है और अस्तित्व में दिव्यता का आधान हो जाता है।

२. याग जब अपने पूर्ण उल्लास में पहुँचने वाला हो, तो मध्य में पुनः शक्ति संचार के लिये इसे कर लेना चाहिये।

३. याग की अवसिति अर्थात् अन्त में इसका प्रयोग करना भी अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है। इससे पूर्णता में चार चाँद लग जाते हैं।

४. साधकों को सक्रियता के उद्देश्य से प्रज्ञापरिषद् आहूत की गयी है। परामर्श परिमर्श प्रारम्भ ही होने वाला है। उस समय ज्ञान योग परिमर्श के ठीक अवसर पर इसके आवेश से आविष्ट होना ही चाहिये।

५. समस्त विघ्नों के प्रकाशन में यह मुद्रा गणपतित्व का उत्तरदायित्व स्वयं निर्वहन करती है। अर्थात् इसके करने से विघ्नों के जाल का उज्जासन हो जाता है।

ननु एवं समये मुद्राबन्धेन किं स्यादित्याशङ्क्य आह

बोधावेशः सन्निधिरैक्येन विसर्जनं स्वरूपगतिः ।

शङ्कादलनं चक्रोदयदीप्तिरिति क्रमात्कृत्यम् ॥ ६७ ॥

चक्रोदयदीप्तिरिति सप्तमाह्निकनिरूपितस्थित्या उदितानां मन्त्राणां दीप्तिर्दीपनमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

---

६. गुरु की कृपा से, पारमेश्वर शक्तिपात के प्रभाव से जब यह अनुभूत हो जाये कि, मेरे समस्त जागतिक बन्धन्न छिन्न-भिन्न हो गये हैं । मैं बुद्धत्व को प्राप्त हो गया हूँ । उस समय इसी आवेश में समाहित हो जाना चाहिये ।

इसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण अवसरों का चयन साधक को स्वयं करना चाहिये । ये उक्त छः बिन्दु तो उपलक्षण मात्र हैं ॥ ६६ ॥

प्रश्न करने वाला यह जानना चाहता है कि, ऐसे अवसरों पर इस मुद्रा के प्रयोग से क्या होता है । उसी प्रश्न का समाधान शास्त्रकार अपने शब्दों में कर रहे है—

१. बोध के आवेश से साधक प्रबोध सिद्ध हो जाता है ।

२. शैवमहाभावभावित साधक शिवैक्य से शैवसान्निध्य का आनन्द-रसास्वाद कर परमतृप्त हो जाता है ।

३. विश्वात्मकता के व्यामोह का विसर्जन हो जाता है ।

४. स्वात्मसंविद् समुल्लास के कारण स्वात्म का साक्षात्कार हो जाता है । यहाँ गति का अर्थ स्वरूप की उपलब्धि माना जाता है ।

५. समस्त शङ्काओं के आतङ्करूपी कलङ्कपङ्क का प्रक्षालन हो जाता है ।

६. सबसे बड़ी सिद्धि कुण्डलिनी शक्ति के जागरण रूप में साधक को प्राप्त हो जाती है । समस्त चक्रों से ज्ञान के सूरज का दीप्तिमन्त प्रकाश

एतदेव अर्धेन उपसंहरति

इति मुद्राविधिः प्रोक्तः सुगूढो यः फलप्रदः ।

इति शिवम् ॥

श्रीखेचरीसतत्त्वप्रविमर्शसमुन्मिषच्चिदावेशः ।
द्वात्रिंशं निरणैषीदाह्निकमेतज्जजयरथाख्यः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यं श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
श्रीजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेकहिन्दीभाषाभाष्यसंवलिते
श्रीतन्त्रालोके मुद्राप्रकाशनं नाम
द्वात्रिंशमाह्निकम् समाप्तम् ॥ ३२ ॥

पुञ्ज परितः संव्याप्त हो जाता है । इन सभी प्रकार की क्रियाशीलताओं का साक्षात्कार कर साधक धन्य हो जाता है । मन्त्रदीप्त हो जाते हैं और साधक मन्त्रमय हो जाता है ॥ ६७ ॥

आह्निक अब अपने उपसंहार की प्रतीक्षा कर रहा है । उसे भगवान् शास्त्रकार अर्धाली का सहारा देकर विसृष्टि लोक की ओर प्रस्थित कर रहे हैं—

इस प्रकार मुद्राविधि का वर्णन सम्पन्न हुआ । यह अत्यन्त सुगूढ़ है । जीवन का वास्तविक फल इस आह्निक के स्वाध्याय से उपलब्ध हो जाता है ॥ इति शिवम् ॥

खचरविमर्शोन्मेषकृत जयरथ हार्दिक हर्ष ।
द्वात्रिंशाह्निक-विवृति से प्रकटित चित्युत्कर्ष ॥

\+ + +

यस्याः पादारविन्दे मधुमयमहितेऽजस्रमास्ते मदीया,
श्रद्धा संवित्तिभव्या सुरतिरनुपमा ह्लादहृद्या वरेण्या ।
तस्याः शक्त्यैव मुद्राप्रकरणरुचिरं ह्याह्निकं संविवृत्य,
मातुःवामे प्रकोष्ठे कुलकुसुमनिभं ह्यर्पयत्यद्य 'हंसः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक
हिन्दीभाषाभाष्य संवलित
श्रीतन्त्रालोक का
बत्तीसवाँ आह्निक सम्पूर्ण ॥ ३२ ॥
॥ इति शिवम् ॥

३. कायिकीमुद्रा जो देह के अंगविक्षेपों पर आधारित होती है।

उपर्युक्त सभी मुद्राओं का सम्मिलितरूप खेचरी मुद्रा होने से तन्त्रालोक में प्रमुखतः उसी का निरूपण प्रस्तुत है (तन्त्रा., ३२. ६-१०ब)। खेचरी मुद्रा निष्कल एवं सकल दो प्रकार की होती है। सकल खेचरी मुद्रा के पुनः --- त्रिशूलिनी, करंकिणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहानिका, महाप्रेता, योगमुद्रा, ज्वालिनी, क्षोभिणी आदि भेद होते हैं (वि० भै०, ७६)। इन सकल भेदों के होने पर भी यह अपने निष्कलरूप से च्युत नहीं होती है (तन्त्रा., ३२. ४-६अब)।

खेचरी मुद्रा--

अभिनवगुप्त ने श्रीपूर्वशास्त्र-- मालिनीविजयोत्तरतन्त्र (७. १५स - १७ब) से शब्दतः उद्धरणपूर्वक खेचरी मुद्रा का स्वरूप निरूपित किया है। जब योगी पद्मासन लगा कर, मन को जन्माधार से उठाकर नाभिस्थान में निविष्ट करके वहीं पर अनेकशः भ्रमण कराते हुए मध्यप्राणशक्ति से एकीकार कराता है एवं प्राणशक्ति से एकीकृत मन अथवा उस भाव को दण्डाकाररूप में मूर्धा में स्थित बिन्दु, नाद, ब्रह्मरन्ध्र स्वरूप तीन शून्यों तक ले जाकर वहीं कुम्भक वृत्ति से निरुद्ध कर देता है तथा शक्तिव्यापिनी समनारूप खत्रय के द्वारा उद्घात गति से प्रेरित करते हुए उन्मनापद का उल्लंघन करते हुए परमशिव के सम्मुख ले जाता है, तब वह परमबोधरूपी आकाश में विचरण करने में समर्थ होता है (तन्त्रा., ३२. १०६-१२ब)। परबोधरूप आकाश (ख) में गति प्रदान करने (चर्) के कारण ही इसे खेचरीमुद्रा कहा जाता है।

इस प्रकार खेचरी मुद्रा-विधि में मुद्रा के चारों प्रकारों -कायिक, करजा, वाचिक एवं मानसिक का समावेश है। कायिक-मुद्रा की दृष्टि से योगी पद्मासन में स्थित होता है, हस्त - सम्बन्धी किसी विशेष विन्यास का अभिनवगुप्त ने उल्लेख नहीं किया है। वाचिक मुद्रा की दृष्टि से मन्त्र-जप के साथ परिपूर्ण अहं का विमर्शन चलता रहता है एवं मानसी मुद्रा की दृष्टि से नाभिस्थान में चित्त को एकाग्र करके, बिन्दु, नाद, ब्रह्मरन्ध्र आदि स्थानों का अतिक्रमण करते हुए, भावना के द्वारा शक्ति, व्यापिनी एवं समना में से चित्त को संचरित करते हुए उन्मना पद पर स्थापित किया जाता है। इस प्रकार समस्त प्रकार की मुद्राओं के सम्मिलित रूप से खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है।

श्रीयोगसंचरशास्त्र में किंचित् अन्तर के साथ खेचरी-मुद्रा का स्वरूप बताया गया है। योगी जन्माधार से लेकर व्योमत्रय-नाद, बिन्दु, शक्ति से युक्त द्वादशान्त में चित्त को एकाग्र करके, वहीं पर ध्यान करता हुआ, क्रम से ऊपर स्थित शक्त्यात्मक खत्रय शक्तिव्यापिनी समना का भेदन करता हुआ परमशिव को प्राप्त करता है (तन्त्रा., ३२. १२स-१३ब)। साथ ही इसके अवान्तर प्रकारों के अन्तर्गत अभिनवगुप्त ने त्रिशूलिनी, करंकिणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहानिका, महाप्रेता, योगमुद्रा, ज्वालिनी, क्षोभिणी आदि का नामोल्लेख किया है। इनमें से उन्होंने केवल त्रिशूलिनी, करंकिणी एवं ज्वालिनी की ही विधि का निरूपण किया है। अन्य मुद्राओं के विषय में विज्ञानभैरव एवं उसकी टीका में यत्किंचित् उल्लेख प्राप्त होता है जिसके अनुसार क्रोधनी मुद्रा पृथ्वी से लेकर प्रकृतिपर्यन्त चौबीस तत्त्वों को मन्त्रमय शरीर में इकट्ठा कर देती है इसके साधक मन्त्रसिद्ध कहलाते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भैरवीमुद्रा अपने स्वरूप में सारे जगत् को विलीन कर लेती है इसके साधक मेलाप - सिद्ध कहलाते हैं। लेलिहाना मुद्रा सारे जगत् का अपने पूर्णविमर्शमय स्वरूप में बार-बार आस्वादन करती रहती है। इसके साधक शाक्तसिद्ध कहलाते हैं। खेचरी मुद्रा शक्ति व्यापिनी आदि स्थानों में सदा विचरण करने वाली है इसके साधक शाम्भवसिद्ध कहलाते हैं (द्र० - वि० भै०, व्या० द्विवेदी, व्रजवल्लभ, पृ० ८७)।

१. त्रिशूलिनी-- इस मुद्रा में योगी (कण्ठ पर) ठोडी के नीचे दोनों हाथों को रख कर और बांए पैर को दाहिनी ओर रख कर, कनिष्ठिका से मुख फाड़ कर मध्यमा से नासारन्ध्रों को खोल कर, अनामिका को संकुचित करते हुए , तर्जनी से भौहों को टेढी करते हुए जिह्वा को चलाता है और हाहाकार करता है। इसके साथ त्रिशूल प्रयोग के द्वारा मन्त्री की (पूर्व) पद के त्यागपूर्वक ब्रह्मरन्ध्र में स्थिति होती है। साथ ही वह देहादि में अहन्ता के समाप्त हो जाने के कारण पृथ्वी का त्याग करके परमबोधरूपी गगन में विचरण करता है।

त्रिशूल-प्रयोग-- प्राणापान को मध्यप्राण में समरसित करके, मूलाधार से ऊपर प्रसरण कराते हुए दण्डाकाररूप ग्रहण करके उत्पतन करने पर प्राण का शक्तित्रितय (शक्तिव्यापिनीसमना) से सम्बन्धित ईश्वर , सदाशिव अनाश्रित इन तीन अधिष्ठातृ देवताओं से संयोग होता है। इस संयोग को ही त्रिशूल कहते हैं। इसके द्वारा परमपद को प्राप्त कर लेने से शून्याशून्य का लय हो जाने पर योगी आकाश में विचरण करता है (तन्त्रा., ३२. १३सद - १७)।

मालविकातन्त्र (७.५) के अनुसार दाहिने हाथ की तर्जनी, मध्यमा एवं अनामिका अंगुलियों को फैलाकर कनिष्ठा को अंगूठे से दबा लेने पर त्रिशूल मुद्रा होती है।

योगी आकाशरूप एकदण्ड त्रिशूल को जानकर उसमें अवच्छेद उत्पन्न करने वाली सत्तामात्र का त्याग कर देता है। खेचरीमुद्रा बांध कर बुद्धिमान् साधक पराकाशरूपता में उपस्थित होकर वहीं स्थित रहता है एवं रस में रस के समान शूल को भी समरस करके, खेचरीचक्रसंजुष्ट अपने भैरवस्वरूप का ध्यान करके शीध्र ही पृथ्वी का त्याग करता है जिससे आशंकारहित, आचाररहित, लोकरहित, अंशरहित अवधूत आचरण से रहित, मैं नहीं हूँ, इस प्रकार की भावना करता है। मन्त्रमात्र में निरत रह कर स्वयं को समस्त देहस्थ देवतामयरूप में जानते हुए, प्रसन्नता, उद्वेग, अस्मिता, क्रोध, निद्रा, मैथुन, मत्सर आदि विशिष्ट चित्तवृत्तियों में, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्दादि विषयों में, कर्ता, कर्म करणादि सभी में, "मैं नहीं हूँ" यह मानता हुआ, कर्ण, अक्षि, मुख, नासादि चक्रस्थ देवताओं से स्वयं के एकीभाव का चिन्तन करते हुए, ग्रहीता परप्रमातृरूप आत्मा को देखते हुए, खेचरीमुद्रा को सिद्ध करता है जबकि विद्या, मल व शास्त्र में आशंका करने वाला इसे सिद्ध नहीं कर पाता (तन्त्रा., ३२. १८-२४)।

करंकिणी--

कनिष्ठिका से मुख फाड़ कर तर्जनी अंगुलियों से भौहों को फैला कर अनामिका एवं मध्यमा अंगुलियों को वक्त्र (मुख) पर रखते हुए जिह्वा से तालु का स्पर्श करने पर करंकिणी मुद्रा होती है (तन्त्रा., ३२. २६)। इसके साथ ही खेचरीमुद्रा बन्ध के अनुवेध का अनुसन्धान भी करना चाहिये।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विज्ञानभैरव की टीका के अनुसार सारे जगत् को संज्ञाशून्य करके करन (कंकाल) रूप में देखने वाली मुद्रा करंकिणी कहलाती है एवं इसके साधक ज्ञानसिद्ध कहलाते हैं --"करंकिण्या विगतचेष्टं करंकमात्रं शवमिव विश्वं पश्यन्त्या ......" (वि.भै., पृ0 ८६)।

ज्वालिनी--

इस मुद्रा के अन्तर्गत ठोड़ी से ललाट तक हाथों को अंगुलियों सहित फैला कर, अन्तर्भृकुटी अर्थात् हाथों से भौंहें चढ़ा करके हाथों को वायु वेग से चलाया जाता है। साथ ही मुँह फाड़ कर जिह्वासहित हाहाकार करना चाहिये। यह ज्वालिनी मुद्रा है। ऊर्ध्वमुख त्र्यश्र अग्निचक्र में आत्मा की भावना करते हुए इस मुद्रा के साथ एक सौ आठ जप करने पर जडाजड़सहित त्रैलोक्य सिद्धि होती है (तन्त्रा., ३२. २७-६)।

अभिनवगुप्त ने अन्य शास्त्रों में निरूपित परस्पर न्यूनाधिक वैषम्ययुक्त खेचरी मुद्राबन्ध की विधि का भी निरूपण किया है।

श्रीयोगसंचरशास्त्र में कहा है कि दूसरों की देह में अपनी आत्मा को एवं दूसरों की आत्मा को स्वयं की देह में देखते हुए,हानाद-हाकार के उच्चारण के द्वारा गमागमन करते हुए (स्वदेह से परदेह एवं परदेह से स्वदेह में) नौ छिद्रों में प्रविष्ट एक ही नादयुक्त व्यापक ध्रुव आत्मा का अनुसन्धान करते हुए योगी खचारी अर्थात् खेचरी मुद्राबन्ध से अनुविद्ध हो जाता है (तन्त्रा., ३२. ३०-३१)।

वीरावलिशास्त्र के अनुसार खेचरी मुद्रा के अन्तर्गत अणु, पशुप्रमाता के भीतर विचरण करती हुई तन्मयता को प्राप्त कुलकुण्डलिका अर्थात् मध्यप्राणशक्ति को बांधकर इस संसार में स्थित अज्ञानादि का संहार करने को उद्यत शक्ति को अपने स्थान शाक्ताधार में ऐक्यापत्तिरूप निर्वृत्ति प्राप्त कराई जाती है। साथ ही ज्ञानामृतरसात्मक कन्दपद में सर्वकाम स्वरूप वाले जीव को, मध्यविषधारादि प्रशान्तरूप कंदस्थान में, राव (नाद) करते हुए चिन्तामणि नामक चतुष्कोण जिसमें संजीवनीरूप अमृत स्थित है, तक एवं पिण्डाधार शरीर में पहुँचाया जाता है। उन आधारों को प्राप्त उस कुलकुण्डलिनी को प्रबुद्ध करके अर्थात् मूलस्थान से प्रारम्भ करके प्राणापानरूप चक्रद्वय से संयुक्त करते हुए द्वादशान्त तक पहुँचाया जाता है। योगी इस गति के ज्ञान से उत्पन्न माहात्म्य से ही दुर्भेद्य अज्ञानग्रन्थि एवं वज्र नामक मध्यनाड़ी को विदीर्ण करता है एवं प्राणापानात्मक दोनों शाखाओं के अन्त का आश्रय लेकर जन्माधाररूप त्रिकोण में से निकले हुए, मेढ्र के नीचे स्थित लिंगमूल का भेदन कर देता है। वहीं पर प्राणापानरूप चक्र से ऐक्यरूप होकर भासित होने वाली मध्यप्राणशक्ति का उदय होता है। पुनः विपरीत संचारपूर्वक,अधोगति से वह प्राणशक्ति द्विधाभाव ग्रहण करती है एवं ऊर्ध्व आद्य अंगुष्ठरूप कालाग्नि-पर्यन्त गमन अर्थात् तद्रूप ग्रहण करती है। वही कुण्डलिनी ऊर्ध्व एवं अधःसंचार को छोड़कर प्राणापानरूप लिंगों के द्वारा ज्ञात होने के कारण लिंगिनीरूप में उन - उन आधारों का भेदन करती हुई मध्य-धाम में पहुँचती है और वहाँ पर प्राण एवं अपान इन दोनों पदों के संयोग से संवित् को विकसित करती है। इन समस्त भावों में अनुस्यूत ऊर्मियों के उन्मीलन अर्थात् परासंवित् का विकास करने वाले स्थान के स्वरूप एवं प्रक्रिया का ज्ञान हो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जाने पर योगी में संवित् के रसादान एवं विसर्ग अर्थात् सृष्टि एवं संहार की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। प्राणशक्ति के संचार एवं परासंवित् के उदय का यह क्रम निश्चित नहीं है, इसका व्युत्क्रम भी हो सकता है। जब पराखेचरी योन्याधार से उदित होकर शूलमूलरूप में हठात् शक्ति-व्यापिनीसमनारूप अंरात्रय से संयुक्त होकर द्वादशान्त पद को प्राप्त कर लेती है। इस स्थिति में समस्त बाह्य भावों का उच्छेद अथवा क्रोडीकार हो जाता है एवं स्वावमर्शरूप "अ" वर्ण में बाह्यामर्शरूप अन्य समस्त वर्ण लीन हो जाते हैं (तन्त्रा., ३२. ३२-४२)।

शुद्धात्मा देहस्थित कौलेश (योगी) सर्वप्रथम नादिफांन्त - मालिनीरूप सर्वमन्त्रारणिस्वभाव नाद का अपनी देह से अभिन्नरूप में उच्चारण करता है एवं उसी गर्भयुक्त उच्चार्यमाण नाद का आधार लेकर जन्माकाशरूप मर्मस्थान में कौलिनी कुलकुण्डलिनी के पदरूप नाड्यात्मक प्रथम चक्र को पाद अर्थात् अंश से पीड़ित करते हुए, वहाँ किसी तरह प्राणशक्ति का निरोध करके, अवशिष्ट पाँचों चक्रों पर आक्रमण करके ब्रह्मादि कारण-पंचक (ब्रहमा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर व सदाशिव) का उल्लंघन कर देता है एवं हृदयस्थित नाडित्रयात्मक शूल एवं द्वादश ग्रन्थ्यात्मक ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर स्थित शक्त्याद्यात्मक शूल के भेदन - क्रम से रुद्र शक्ति को प्रबुद्ध करता है जिससे यह जन्मपद से प्रारम्भ करके वायुचक्र के अन्त अर्थात् समीप में स्थित नाभिमण्डल और उनके संघट्ट के आधारभूत लम्बिकास्थान और उससे ऊपर स्थित बिन्दु नामक अमृत के आश्रयस्थल, भ्रूमध्य में स्थित विद्याकमल - संज्ञक, नाडियों के रहने के कारण द्वादशग्रन्थ्यात्मक (नाड़ियों के) आधारस्थल से निकल कर समस्त सम्बन्धों को पार करके द्वादशान्त पद पर्यन्त ऋजुक्रम से जाता है और वहाँ विश्रान्ति करता है। पुनः उसे चन्द्रचक्र अपानस्थान से प्रत्यावृत होते हुए विलोम क्रम से स्वशरीर में प्रवेश करके व्युत्थान दशा के अनुकूल व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकारखेचरी - मुद्राविष्ट ज्ञानी अन्तर्बहिरुन्मेष व निमेष के माध्यम से सृष्टिसंहार करते रहते हैं (तन्त्रा., ३२. ४२-४७अब)।

कामिकागम के अनुसार खेचरीमुद्रा के अन्तर्गत योगी चुम्बाकार अर्थात् काक चंचुपुट की आकृति वाले मुख से अनच्ककलात्मा "ह" के द्वारा मध्यप्राणशक्ति का अवलम्बन करने वाले वक्त्र से इस प्रमाणप्रमेयात्मक विश्व को स्वात्मसात् कर लेता है एवं इसलिए परप्रमाता से एकरूप तत्त्व का चन्द्रार्कपुट अर्थात् प्राणापानयुग्म के मिलनस्थल मध्यधाम में साक्षात्कार करता है उसी से योगी का खचारित्व सिद्ध हो जाता है (तन्त्रा., ३२. ४७स-४८)।

श्रीकुलगह्वरशास्त्र में समस्त मुद्राओं में खेचरी मुद्रा को प्रधान माना गया है एवं उसके तीन प्रकार वाचिक, कायिक एवं मानसी माने गये हैं। वाचिक खेचरी मुद्रा मन्त्र के त्रिविध उच्चार (उपांशु, मानस एवं वाच्य) के आधार पर तीन प्रकार की होती है। कायिकी मुद्रा शक्तित्रय (समना, उन्मना एवं व्यापिनी) से युक्त होती है एवं स्वात्मा में परासंवित् के आमर्शनपूर्वक परानन्द की प्राप्ति कराती है। मानसी मुद्रा के अन्तर्गत परासंवित् शरीर के विभिन्न अंगों नासापुट, नेत्रद्वय, हृदय, स्तनद्वय एवं लिंग आदि के माध्यम से

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शरीर में स्थित है, इसका जन्मस्थान से लेकर द्वादशान्त तक ऊर्ध्वचार के द्वारा अवधारण किया जाता है (तन्त्रा., ३२. ४९स-५१)।

. इनके अतिरिक्त गह्वरशास्त्र में पद्मादि आठ अन्य मुद्राएँ भी बताई गई हैं। अभिनवगुप्त ने इनका नामोल्लेख नहीं किया है। जयरथ के उद्धरण एवं मा. वि. तन्त्र (७.२) के अनुसार ये पद्म, त्रिशूल, शक्ति, चक्र, सवज्रा, दण्ड, दंष्ट्रा, महाप्रेता होती हैं। मा. वि. तन्त्र में इन्हें खगेश्वरी महामुद्रा कहा गया है।

भर्गाष्टक शिखाकुल में खेचरी मुद्रा के निम्नलिखित आठ भेद बताए गए हैं---

१. योगी पद्मासन में बैठकर पृष्ठस्थित होने के कारण उदित होती पराङ्मुख रश्मियों के द्वारा बाहर निकलती हुई शशांकरश्मियों व हाथों की अंगुलियों के अग्रभागरूप रश्मियों के द्वारा शीघ्र बाह्य उपसंहार करके अन्तःस्थित हो जाता है। बाह्य वस्तुओं के संकुचित हो जाने से यह संकोचाख्या शशांकिनीमुद्रा है।

२. उसी स्थिति में हस्तांगुल्यादि सन्निवेश का आश्रय लेकर भुजाओं को अवकुंचित करके उठाते हुए-- स्वस्तिकाकार- रूप में रखते हुए पाँचों व्योमों में निर्दिष्टक्रम से अवस्थित कराने के कारण व्योमाख्य द्वितीय मुद्रा है।

३. अन्दर करके नीचे स्थित दक्षिण मुट्ठी के ऊपर बाहर निकले हुए बाईं मुट्ठी के अंगूठे रूप दोनों मुट्ठियों के हृदय पर संघट्ट कराने पर सिद्ध होने वाली यह हृदयाख्य तृतीय खेचरी मुद्रा है।

४. शान्ताख्य चतुर्थी मुद्रा में भुजाओं को ऊपर की ओर करके दोनों हाथों को एक दूसरे के ऊपर - नीचे करते हुए (बांया हाथ ऊर्ध्वमुख एवं दांया हाथ अन्तर्मुख होगा) उन्हें समदृष्टि से देखना चाहिये।

५. शान्ताख्या खेचरी मुद्रा के समान सन्निवेश होने पर भी जब हथेली नीचे की ओर हो तो वह शक्तिमुद्रा नामक पंचम खेचरी मुद्रा है।

६. दोनों हाथों की मुट्ठी बांध कर दसों अंगुलियों को शीघ्र टेढ़ी फेंकने से प्रत्येक हाथ में पाँच कुण्डलिनीरूप होने पर पंचकुण्डलिनी नामक छठी मुद्रा है।

७. जब इसी प्रकार इन अंगुलियों का ऊपर प्रक्षेप हो तो यही पंचकुण्डलिनी संहारमुद्रा कहलाती है। यही पशुओं की पाशकर्तनी उत्क्रामणी मुद्रा भी कहलाती है।

८. नीचे देखते हुए भलीभाँति अन्तर्लक्षित दृष्टि से आकुंचित हस्तयुगल को सुदूर आकाश में साहसमुद्रा में अनुप्रवेशपूर्वक शीघ्र स्वयं को गिराते हुए जब योगी का बोध बढ़ जाए तो यह बोधवर्तिनी खेचरी वीरभैरवसंज्ञक अष्टम मुद्रा होती है (तन्त्रा., ३२. ५४-६२)।

इस प्रकार अनेक भेदों में से किसी भी एक का आश्रय लेकर उस खेचरी मुद्रा से आविष्ट होते हुए योगी एक सृष्टिमय पराबीज को प्राप्त कर लेते हैं। एक ही सृष्टिमय बीज है जो समस्त मन्त्रों का वीर्य है : एक ही मुद्रा खेचरी मुद्रा है जिसमें समस्त मुद्रा - समूह स्थित है। उस खेचरी चक्र पर आरूढ़ योगी को संवित् जिस रूप में उल्लसित हो वही मुद्रा माननी चाहिये, शेष तो देह के विकार हैं। याग के प्रारम्भ, मध्य व अन्त में, ज्ञानयोग

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विमर्श में, पाशच्छेद में, विघ्नशान्ति में मुद्रा - विधि की जानी चाहिये।

यज्ञादि में प्रमुखतः काम आने वाली कुछ मुद्राएँ इस प्रकार हैं---

आवाहन मुद्रा : उत्तानौ तु करौ कृत्वा अंगुष्ठौ तलमध्यगौ आवाहनी त्वियम्

स्थापन मुद्रा : बद्धांगुष्ठौ स्थितौ मुष्टी उन्मुखौ स्थापनी भवेत् स्व.त., २.१००

दोनों हाथ ऊपर की ओर करके अंगूठों को हथेली के बीच में करते हुए देवताओं का आवाहन किया जाता है। उनके स्थापन के लिए दोनों हाथों के अंगूठों को संश्लिष्ट करते हुए मुट्ठी बाँधी जाती है।

मृगीमुद्रा का प्रायः तर्पण के लिए प्रयोग होता है। अंगुष्ठाग्र को मध्यमा एवं अनामिका से संयुक्त करते हुए एवं कनिष्ठिका एवं तर्जनी को दूर रखते हुए मृगी मुद्रा का प्रयोग होता है (विवेक, १५.४२०)।

नाराच मुद्रा--

"अंगुष्ठ तर्जन्यग्राभ्यां स्फोटो नाराचमुद्रिका" -- प्र.सा.(टी.शा. ति.) ४.३३

तर्जनी अंगुलि के अग्रभाग एवं अंगुष्ठ को शीघ्रतापूर्वक संयुक्त करते हुए दूर कर देना स्फोट होता है जिससे नाराचमुद्रा की सिद्धि होती है।

कुम्भ मुद्रा--

"संहतागुलिकौ पाणी पृष्ठार्धेन्दूदराहितौ।

सुश्लिष्टमूलावंगुष्ठौ कुम्भमुद्रा प्रकीर्तिता।।" --विवेक, १५. ७३

हाथों की अंगुलियों एवं अंगूठों को संयुक्त कराते हुए, हथेलियों को बीच में से दूर रखने पर कलश की-सी आकृति के द्वारा कुम्भमुद्रा की सिद्धि होती है।

मुद्राओं में प्रमुख खेचरी मुद्राबंध की प्राप्ति हो जाने पर साधक को क्रमशः बोधावेश, संवित् की सन्निधि, संविदैक्य, विसर्जन, ग्वरूपगति, शंकादलन, चकोदय, दीप्ति आदि फलों की प्राप्ति होती है (तन्त्रा., ३२. ६४-७)।

इस प्रकार याग, मण्डल, मन्त्र आदि अन्य कर्मकाण्डों के समान मुद्रा के प्रसंग में भी इससे प्राप्त होने वाले फल का निरूपण किया गया है। अन्य क्रियाओं से जो संवित्समावेशरूप फल प्राप्त होता है, वह केवल मुद्राबन्ध द्वारा भी प्राप्त हो जाता है।

तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड का निरूपण कश्मीर शैव दर्शन की कुलशाखा अथवा कौलसम्प्रदाय के आधार पर है। कौल सम्प्रदाय उपासना की चरमभूमि से सम्बन्धित है। उसका अधिकारी अत्यन्त दुर्लभ है। साथ ही अधिकारी होते हुए भी उसमें प्रवृत्त होने पर विरुद्धाचरण के दोष की सम्भावना बनी रहती है। इसलिए उसकी निन्दा की जाती है कि अधिकारी होने पर भी अत्यधिक रहस्यविषय में प्रवृत्ति हो। कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है--

"कुलमार्गरतो देवि न मया निन्दितः क्वचित्।

आचाररहिता येऽत्र निन्दितास्ते न चेतरे।।"

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्राणायाम निरोधन[१३८] करई अैसै वज्र कपाटही जरई ॥६०६ ॥

अैसै महावेध यह धारै यामे मायाबीज उचारे ।

अजपाबीज जपै पुनि जोई सहस्त्रकमलदल फूलै सोई ॥६०७ ॥

अैसै बुधि [१३९]अमलता पावै बहुरौ सहज समाधि लगावै ।

आगै गोप्य[१४०] रहै कछू नाही जयतराम या मुद्रामाही ॥६०८ ॥

॥इति महावेध मुद्रा ॥

अथ सप्तदसमी खेचरी मुद्रा ।

खेचरी मुद्रा बरन सुनाउ सब मुद्रामहि सार लखाउ

जयतराम गुरुमुख सधि आवै याते जोग समाधि ही पावै ॥६०९ ॥

जिभ्या उलटि कपाल चढावै भुवकै मधि द्रिष्टि ठहरावै ।

आसन साधि जुगति यह रहिये खेचरी मुद्रा तासौ कहिये ॥६१० ॥

बहरो खट अंग याके जोई तिनकौ वरनि सुनाऊ सोई ।

छेदन चालन मथन प्रवेशन दोहन मंत्र पढै द्रिढ करि मन ॥६११ ॥

को एक रिषजन अैसै [१४१]गावत साधन द्वादस बरस बतावत ।

अैसी भांति क्रिया जब सधै अंगुर च्यारि खेचरी वधै ॥६१२ ॥

द्वादस वर्ष क्रियामें रहिनौ अतिही कठिन खेदकौ सहनौ ।

ताते गुरुक्रिपा हम पाई याकी सुगम उपाय बताई ।

साधन मास षटही जो करै बढै खेचरी बिंद न टरै ॥६१३ ॥

अथ प्रथमे छेदनचालन कहिये है ।

चौपाई— सुनही पत्र सम सस्त्र धरावै ताकैहि पत्र गजवेल मगावै ।

अति तीक्षण उजलि अति करै सो ले जिभ्याकै तरि धरै ॥६१४ ॥

जिभ्यामूल बालसम छेदे आठै आठै दिनमै भेदै ।

साधिक हाथिमित्र [१४२]पुनि भेदे अथवा [१४३]गुरुवा आपही छेदे ॥६१५ ॥

---

१३७. चंद्रसिधानि (भां) *१३८. निरोधनि (भां)*

१३९. बुध (ना.) *१४०. गोपि (ना.)*

१४१. वरष द्वादसकिरियाओ गाहत (ना.) *१४२. कर देवे (भां)*

T CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

जिभ्यातले सुखमना नारी ताकौ छेदन करे विचारी ।
ऐसी भांति छेदना कहिये याके किया वृधिता लहिये ॥६१६ ॥
इडा [१४४] पिंगुला सुखमना जानु तीनौ नाडि जिम्यातरि मानु ।
जिभ्या अणी [१४५] सुचालन करावै तीनो नाडि प्रगट होय आवै ॥६१७ ॥
हरडे सिंधव सूठ जू आनै [१६६] चूरण कर जीभतर ठानै ।
कछूक जीभ अर्थ करि लेवे वाती सूत्र की तरि देवे ॥६१८ ॥
जिभ्या माहि अमी नित आवै तातै छिद्र तुरत मिलि जावै ।
यातै वासी करै जु जोई छिद्र मधि धरि राखै सोई ॥६१९ ॥
ऐसै साधन नितप्रति साधै षटमास लग जे आराधै ।
आठ दिवस प्रति छेदन ठांनौ वार चौईस ऐसी विध जानौ ॥६२० ॥
यामे अल्प अहारही लेवै दूधभात भखि सब तजि देवै ।
भोजन करत जुगति यहि ठाने वाती ले मुख बाहरि आनै ॥६२१ ॥
जिभ्या सदा उर्ध करि राखै गुरु उपदेस मंत्र मुख भाखै ।
यह क्रिया षटमास करावै जिभ्या अंगुर च्यार बढावै ॥६२२ ॥
ब्रह्मरंध्रमै पहुचै सोई गुरुमुख साधन साधे कोई ।
जयतराम छेदन यों जानौ ताकै पीछै दोंहन ठानौ ॥६२३ ॥
॥इति छेदन चालन ॥

अथ दोहन ।

दोहा— ब्रह्ममहूरत उठ करि बैठ ऐ करित जाय ।
जयतराम ताही समै जिभ्या दोहन थाय ॥६२४ ॥

चौपाई— मुखतैं जिभ्या बाहरि आने दोऊ [१४७] करसौ दोहन ठांनै ।
जथासक्ति खैचे पुनि जोइ याते वृधि [१४८] लहै पुन सोई ॥६२५ ॥
बहुरि दछिनकर अंगुष्ट जानौ सो ले मुखकै माही आनौ ।
चणक प्रमाण सिवलिंगही धोवै ऐसीभांति अमल सो होवै ॥६२६ ॥

१४३. गुरकै आपही लेवे (भां)
१४४. प्यंगुला (भां)
१४५. सुमथन (भां)
१४६. चूर्ण करै जीभ तरि ठांनै (भां)
१४७. हाथस्यौ (भां)
१४८. वृध (ना.)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

ऐसै जिभ्या मारग पावै ब्रह्मकपाट तुरत खुलि जावै ।
बहुरौ अंगुष्ट उर्ध चलावै [१४९]तालूमध्यहि आनि ठहरावै ॥६२७ ॥
बहुरि काढि मुखबाहरि आनै जलसो धोय पुनि मुखमै ठानै ।
नासाछिद्र लगावै जोई ताकरि सुधि विवर व्है सोई ॥६२८ ॥
बहुरों अंगुष्ट उर्ध चलावै [१५०] नासा केस लगी आनि ठहरावै ।
नासा सीवनिको सुधि करै अंगुष्ट उचौ बहुरौ धरै ॥६२९ ॥
ब्रह्म[१५१] विवरमें ले ठहरावै सुखमनका घर सुध करावै ।
नेत्रविवर अंगुष्टकौ आनै करै सुध अमलता ठानै ॥६३० ॥
नेत्रजोति यातें अधिकावै अरु पुनि नाडी सुध रहावै ॥
बहुरि तरजनी मुखमै आनै दसमै द्वारि ताकौ ले ठानै ॥६३१ ॥
नेत्रमूल के ऊपरि जोई ब्रह्मरंध्र का घर है सोई ।
चणक अंकुर प्रमाण तहां लहिये परम सिवलिंग तहां ही कहिये ॥६३२ ॥
ताको ताकरि सुधि जु करै ता पीछै पुनि उर्धज धरै ।
ऊर्ध छिद्र अवर इक जानौ सो भी ताकरि सुध जु ठांनौ ॥६३३ ॥
अैसी भांति जुगति यह धरै जिभ्या सिवलिंग दोहन करै ।
जयतराम बहुरौ यह जानै तै पीछै परवेसन ठांनै ॥६३४ ॥

अथ परवेसन विधि ।

चौपाई— सुस्तक आसन बैठक धरई स्वास रोकि सरीर सम करई ।
बंध उड्याण [१५२]कामवरु देवै बहुरौ उर्ध जीभ कों लेवै[१५३] ॥६२५ ॥
पूरव छिद्र कहै पुनि जोई सुध कीये अंगुष्ट करि सोई ।
सोसो जिभ्यासौ सुध करै क्रम-क्रम उर्ध [१५४]को ले धरै ॥६३६ ॥
ब्रह्मविवर लग ले ठहरावै ताकै जाय कपाट लगावै ।
तामै बिंद अहोनिस झरे देय कपाट ताकौ वसि [१५५]करे ॥६३७ ॥

---

१४९. तालू मधि (भां)
१५०. नासाकेस आनि (भां)
१५१. ब्रह्मधाममै (भां)
१५२. कामरु देय (भां)
१५३. लेय (भां)
१५४. उर्ध उर्ध (ना.)
१५५. थिर करे (भां)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अथवा नारि अलिंगन करई ताकौ बिंद न कबहु ढरई ।
कला खेचरीकी सब फुरै मासमाहि नाडी सुध करै ॥६३८ ॥
अनहद दूजै मासि प्रकासै तीजै मास काया [१५६]दिवि भासै ।
चौथे मास यहै फल होई देखै सुणै द्वरकी सोई ॥६३९ ॥
फुरै सरस्वती पांच मासा बालकरूपी मन व्है तासा ।
छठे मास शिवरूपी भयौ आगै [१५७]करणा कछू नही रहयौ ॥६४० ॥

दोहा— ऐसे प्रवेशन करै जिभ्या उर्ध चढाय ।
जयतराम ता पुरखको छटे मास सिध[१५८] थाय ॥६४१ ॥

॥इति प्रवेशन ॥

अथ मथन विचार ।

दोहा— तालुमूल सिवलिंग पुनि अथवा अग्निस्थान ।
[१५९]करि अंगुष्टतें तासको मथन त्रिसंध्याः ठान ॥६४२ ॥

चौपाई— अथवा कील [१६०]धातमय करै मथै ताहि [१६१]करि सुधता धरै ।
मथन जु कांहु नाही दिखावे द्रिष्ट परै तो विघन[१६२] परावै ॥६४३ ॥
ऐसी भांति गुप्त करि राखै जो गुन ज्ञेय सो काहू न भाषै ।
[१६३]च्यार स्थान मथनके जानै जिभ्या करि जो मन जो ठानै ॥६४४ ॥
प्रथम अखिका जानौ सोई अरु दुतीये लंबिका होई ।
त्रितिये तालु नाम जु जानौ चतुर्थ नाम घटिको मानौ ॥६४५ ॥
जिभ्यामूल अंबिका जोई ताकी छेदन करे जानये सोई ।
ताकी वाति बाहरि आनै जिम्या उलटि मथन तहां ठाने ॥६४६ ॥
जिभ्या अणी अति तीछण जानौ सस्त्रहु ते अधिक करि मानौ ।
अग्नि नीर तत्व दोउ लहिये तिनकरि जिभ्या तीछणक ये ॥६४७ ॥
ताते अणीसों छेदन करई ताही समै मंत्र उचरेई ।
याकरि सहज वृधिता पावै बहुरि लंबिका मथन करावै ॥६४८ ॥

---

१५६. दिव (ना.) *१५७. फणै (ना.)*
१५८. पर ताथ (ना.) *१५९. कर (भा.)*
१६०. धातमध (ना.) *१६१. तासकरि (भां)*
१६२. विखनि पवारे (ना.) *१६३. From this line onwards six verses missing upto 650 in (भां)*

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

दसमै द्वारि लंबीका जानौ जीभ अणीसो मथन जु ठानौ ।
बहुरि उलटि कंठमधि लावै ताकरि स्वास उस्वास न आवै ॥६४९ ॥
सिवलिंग तालूका पुनि जानौ बहुरि तहां भी मथन जु ठानौ ।
जाप जीभ थिर कीवै वरषै अमी सु ताकौ पीवै ॥६५० ॥
घंटिका चणक अंकूर कहावै ताकौ मथै सो अनहद पावै ।
अैसै कामधेनमय जोई खेचरी मुद्रा कहिये सोई ॥६५१ ॥
च्यार स्थान मथन के कहिये सोई च्यारो थन करि[१६४]गहिये ।
तिनको दुहि अमी नित पीवै सो जोगी बहुत काल ही जीवै ॥६५२ ॥
जोगी मनोरथ पूरण होवै लहै प्रकास मूढता खोवै ।
जयतराम मथन यह कहियै गुरुकी क्रिपा तासकौ लहियै ॥६५३ ॥
॥इति मथन ॥

अथ मंत्र साधन ।

चौपाई— षटअंगसहित खेचरी कहिये तिनमै मंत्र अंग बड लहिये ।
जो कोई मंत्र अंग को साधे षटअंगन कौ सो भल लाधै ॥६५४ ॥
मेलकमुद्रा लागै सही अनंत कालमै जो सिध कही ।
षटही मासमांहि सो लगै जाकै मंत्र ह्रिदा में जगै ॥६५५ ॥

अथ मंत्र आवाहन ।

अथ श्री खेचरी स्मर्यामीति अस्य श्री खेचरी मंत्रस्य
कपिल ऋषि श्रीमन्नारायण देवता सिध अनयासेन
खेचरी मुद्रा साधनसिध्यर्थं जपे विनयोग:
-हां -हीं -हुं -हैं -हौं -ह: ॥ इति मंत्र ॥

अथ न्यासः ।

चौपाई— गं ह्रदयायनम: इति कहिये सं शिरसे स्वाहा[१६५]उच्चरये ।
नं शिखाय वौषट् पुन जानौ मं कवचाय इसी विधि मानौ ॥६५६ ॥
हुं नेत्रत्रयाय वौषट् लं अस्त्राय जानिये फट् ।
॥इति न्यास ॥

१६४. के कहिये (-ना.) *१६५. लहिये (भां)*

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अथ षडंग ध्यान —ह्रूं — ह्रीं

आधार चक्र वरन है जोई खेचरी मुद्रा कहिये सोई ।
मुद्रा राजहंस सो लहिये गगनवास ताको पुनि कहिये ॥६५७ ॥
आनंद बीजरूप सो जानो अरु पुनि सिबकी सक्ति जू मानौ ॥
ब्रह्मलोक जननी है जोई करौ स्तुति जौर [१६६]करि दोई ॥६५८ ॥
॥इति षडंग ध्यान ॥

अथ पानमुदक्षण ।

चौपाई— सिधासन करि बैठक ठानौ बहुरि जुगतिविधसौ तहां जानौ ।
मूलद्वार कुंडलनी जोई ताकौ चांपि जगावै सोई ॥६५९ ॥
बहुरि वहां ते उर्ध चलावै प्राण अपान [१६७]तामधि मिलावै ।
षटचक्रकों वेधे जोई ब्रह्मध्यान करै तहां सोई ॥६६० ॥
बहुरौ जिभ्या उर्ध चढावै षटछिद्रनकै पाट लगावै ।
सकल पवन कौ उर्धही आने लेकरि ब्रह्मरंध्र में ठाने ॥६६१ ॥
ऐसीविधी आनंद बढावै सो जोगी समाधिसुख पावै ।
सूर्यतेज चंद्र धरि आनै चंद्र अमी की वर्षा ठानै ॥६६२ ॥
सोई अमी सु [१६८]अधकौ आवै सुखमन तंतु [१६९]माहि समावै ।
षटचक्रनमधि बरसै आई तासौ देह पुष्ट रहै भाई ॥६६३ ॥
जोगीअजर अमरता लहै ईश्वरभाव सकलही गहै ।
याकी महिमा सिव अति भाखी सो पुनि [१७०]मुखसो जाय न आखी ॥६६४ ॥
॥इति पानमुदक्षण ॥

अथ अवखदी वरननं ।

बहुरि औखदि[१७१] वरनि सुनाउ दिव्य दिव्य प्रगट कहि गाऊ ।
अवखदिविना[१७२] सिध नही लहै तातै जोगी अवखदि नित गहै ॥६६५ ॥

---

१६६. कर (भां)
१६७. करै तहांमधि (ना.)
१६८. अर्धकौ (भां)
१६९. सु माह (भां)
१७०. मुनमुखसौ (ना.)
१७१. अवषध (भां)
१७२. अवषधविना सिधि (भां)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

भृंग समूल संग्रह आनै ताहि सुकायरु चूरण ठानै ।
क्रिष्णतिल आमल दधि लेवै मधित्रिय सकल कौ सेवै ॥६६६ ॥

दोहा— रोगव्याध सबही कटै जरामृत्यु मिटि जाय ।
जयतराम अवखद भखै तो ये ता गुण थाय ॥६६७ ॥

चौपाई— एक एक निर्गुडी पात दिनप्रति तीने बेर जो खात ।
वरसवार है ऐसो होवै जरामृत्यु दोनूसों खोवै ॥६६८ ॥
निर्गुडी नलनी अरु मूंडी समकरि वनतै ल्यावै ढुंढी ।
बहुरि सर्करा घृत जु मिलावै वरसदिवस साध्या सिध पावै ॥६६९ ॥
षटमास गंधक सो धरै[१७३] तिलकरु गोलोचन सम करै ।
मधुत्रय जुक्ति चूर्ण करि खावे अजर अमर पदवी सो पावे ॥६७० ॥

अथ [१७४]रहनविधान ।

चौपाई— प्रथम एकांत मढी एक ठाने वनग्रह माहि जहां मन माने ।
षटमास आसन द्रिढ धरै प्राणीमात्रसौ बात न करै ॥६७१ ॥
मंत्र जाप निसदिन ही उचारै चावल पय भखि लूण निवारै ।
[१७५]नागरवेल भूलि [१७६]नही खावे कछुक मींठो भोजन पावै ॥६७२ ॥
पूरब अवखद वरनी जोई साधन करै तासकौ सोई ।
दिवस सातवे रवि दिन आवै ता दिन छेदन जु करावै ॥६७३ ॥
पाखि पाखि प्रति दोहन करै मथन अहोनिसही मन धरै ।
अैसैं करत मास षट जावे वृद्ध खेचरी तबै पावै ॥६७४ ॥
अंगुर च्यार जीभ [१७७]बढावै भक्तिमुक्ति दोउ फल पावै ।
कृत्य कृत्य सोई नर होय जन्ममृत्यमल डारै धोय ॥६७५ ॥

दोहा— ग-योजु तावा उपरै बूंद एक धरि देह ।
जयतराम सो कनक होय खेचरि [१७८]का गुण येह ॥६७६ ॥
॥इति खेचरी मुद्रा ॥

---

१७३. रुद्रलोचन (भां) *१७४. रहिन (ना.)*
१७५. नागरवेलि (भां) *१७६. मूलि (ना.)*
१७७. बढि आवै (भां) *१७८. खेचर (भां)*

T CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

जो यहु कुंभक द्रिढ करि साधै सावधन गुरुमुख आराधै ।[२९२]
मुद्रा चतुरवीस सधि आवै कुंभक अष्ट श्रमहि विन पावै ॥८५६ ॥
॥इति कपालसोधन ॥

अथ खेचरी वर्णन ।

चौपाई— बहुरि खेचरी मुद्रा जोई महागोप्य प्रगट कहौ सोई* ।
इडा पिंगला वाई भरै भिश्रक भांति कपालमै धरै* * ॥८५७ ॥
पुन कपालतै बाहरि ल्यावै पवनक्रिया तबही सध आवै ॥**
क्रियासहित मोहि गुरदई स मै वरनि प्रगटहि कही* ॥८५८ ॥
याही तै षटचक्र विकासै सकल कुवृत्य चित्तकी नासे ।*
जोग समाधि सहजही पावै जयतराम सब दोष मिटावै* ॥८५९ ॥
॥खेचरी मै सुखमना भेद ॥

अथ सुखमना वरनन ।

चौपाई—. गुदा वृषण बिचि [२९३]ढौर जु जोई जोनि स्थान कहावै सोई ।
तीन नाडि तामधि रहावै ताकौ भेद गुरुमुख पावै ॥८६० ॥
वाम भाग[२९४] मै इडा जु कहिये दछन नाडि पिंगुला लहिये ।
मधि सुखमना अति सुखरूपा साधै ताहि मिटे भवकूपा ॥८६१ ॥
सो पुनि बढि वेलि जीम आई दसम द्वारलगि पहुती जाई ।
बहुरौ और अंग भये याके कहौ प्रगट गोप्य नही राखै[२९५] । ।८६२ ॥
[२९६]मेढुस्थान सिसन भयो सोई सिसन तंतु प्रगट कह्यौ आई ।
नाभि स्थान वढी इक आई [२९७]नाम कुंडली शक्ति कहाई ॥८६३ ॥

२९२. सावधान गुरुमुख आराधे जो इ कुंभक द्रढ करि साधै (ना.)
** These lines bear yellow pigment in (भां)*
*** These lines are missing in (भां)*
२९३. गैल (भां)
२९४. दिसामै (ना.)
२९५. ताके (भां)
२९६. याकौ एक अंकुर बढायौ ताकर सिसन प्रगट है आयौ (भां)
२९७. नाभि (नां)

T CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

सो पुनि सर्पाकार विराजत कुंडल[२९८] कीये तहां पुनि [२९९]राजत ।
ताकौ मुख अति तीछण भारी मोक्षद्वारि गहि रही जु नारी ॥८६४ ॥

दोहा— महासक्ति यह मोहनी बैठी वपु दोय धारि ।
माया होय जग मोहि यो घटमै मोक्षद्वारि ॥८६५ ॥

॥इति सिसन कुंडलीनी ॥

अथ खेचरी वरनन ।

चौपाई— बहुरि नाल इक मुखमै आयौ सो तिन नाम खेचरी पायौ ।
जिह्वा नाम तासको कहिये याके सधे समाधि जु लहिये ॥८६६ ॥

दोहा— जिह्वा इंद्रिय एकही सुसमन याकौ नाल ।
उलटै ताहि कपाल मै ताहि न गंजै काल ॥८६७ ॥

चौपाई— रसना अधोमूल पुन जहा छिद्र सहित त्रय नाडी तहां ।
धार अखंडित तिनकी आवै ताकरि जिह्वा सजल रहावै ॥८६८ ॥
तालूमध्य छित्र त्रिय ओर बोलत जीभ लगै तिह ठौर ।
तिनकरि अमी निरंतर आवै मुख अरु वकना सजल रहावै ॥ ८६९ ॥
जिभ्या अगर छिद्र त्रिय जानौ पीवत अमी निरंतर मानौ ।
सोई अमी सरीरमधि आवै तासो जोगी अमर रहावै ॥८७०* ॥
जब ही यह अमी सुख जावै तबही देह नास को पावै ।
तातै जोगी जुक्ति अराधै खंडन काल खेचरी साधै ॥८७१ ॥

दोहा— अैसी अद्भुत नारि है अंग अंग में सोय ।
जयतराम गुरुमुख लहै तो साधन सिध होय ॥८७२ ॥

॥इति खेचरी भेद ॥

अथ खेचरी साधन वरनन ।

चौपाई— गुदा वृषण मधि नाडि जु जोई पूर्व वरनी कही है सोई ।
तिनमै मधि सुखमना नारी मोक्षद्वार सो देत उघारी ॥८७३ ॥
प्रथम ही मूलबंध द्रिढ देवै सिसनवाट वाई भरि लेवै ।
सो ले वाइ उदरमै राखै मुखकरि बीज खेचरी भाषै ॥८७४ ॥

---

२९८. कुंडिलि किया (ना.)

२९९. साजत (ना.) This verse is missing in (भां)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

बहुरि मधि की सुखमन नारी एडी करि चापे जु विचारी ।
सिसन बंध याही तै लागे कुंडलनी सूती पुन जागे ॥८७५ ॥
जैसे [३००] भस्त्रक मिलै जु कोई वाई भरे सरल सो होई ।
याही भांति सुखमना सोय सर्व ठोरते सुधी होय ॥८७६ ॥
वाय अपान उरध कौ आवै प्राणवाय मै आण समावै ।
याही भांति प्राण तजै चलै सो पुनि आनि अपानै रलै ॥८७७ ॥
यातै सिसन जु लघुता पावै जिह्वा सहज वृधि होय आवै ।
अनंग जीत जो जोगी होवै सकल विकास देहके खोवै ॥८७८ ॥

दोहा— सब अंगन मै सार यह मुद्रा खेचरी सोय ।
मोक्षद्वार कुंडल तजै अरु समाधि सिधि होय ॥८७९ ॥
सब मुद्रा या माहि है कही जोग मै सोय ।
जयतराम याके सध्या दुरगम रहै न कोय ॥८८० ॥
॥इति खेचरी मुद्रा साधन ॥

अथ पूर्व साधन दिखाई है ।

चौपाई —
पूर्व खेचरी अैसै गाई छेदन चालन सहित बताई ।
मंथन दोहन [३०१] विधान पुन कह्यौ अैसी भांति वृधि तब लह्यौ ॥८८१ ॥
अति कलेस छेदन मै सोई अजुक्ति किया मूकता होई ।
तातै जोगी छेदन तजै चालन दोहन [३०२] मंथन सजै ॥८८२ ॥
ताहूमांहि जुक्ति यह धरै अवखध पंच आनि [३०३] सप्त करे ।
तिनकौ सार जिह्वा तरि देवे अवखध करि मंथन करि लेवै ॥८८३ ॥
याविधि दोहन चालन साधै छेदन तजै मंथन अराधै ।
बहुरि क्रीया पूर्व जो भाखी मूलबंध आदिक जे आखी ॥८८४ ॥

३००. भिश्रा बाल (भां) *३०१. हु पुनि (भां)*
३०२. मैथन (ना.) *३०३. सम (भां)*

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

तिन करि वृध खेचरी पावै या [३०४]आरंभ मै मन ठहरावै ।
करै अन्यथा लहै न सोई वृथा [३०५]श्रम करौ मत [३०६] कोई ॥
॥इति खेचरी मुद्रा की क्रिया ॥

अथ खेचरी सिधि कहिये है ।

कपालमधि त्रीघंटी जोई तिनकौ वरनि सुनाउ सोई ।
नासाविवर प्रथमही कहिये नेत्रविवर दुसरी लहिये ।८८६ ॥
श्रवणविवर तीसरे जानौ अैसी भांति त्रिघंटी मानौ ।
तामधि उलटि खेचरी ल्यावै त्रिघंटी करि सु उर्ध चढावै ॥८८७ ॥
अखंड धार अमृत जहां झरे सहस्रकमल नित वर्षा करे ।
सो पुनि जिह्वा पीवै जहां ब्रह्मानंद सु उपजे तहां ॥८८८ ॥
त्रिघंटी लग[३०७] रसना जावै सोई जालंधर बंध कहावै ।
अैसैही जे है [३०८]नवद्वार बंध भयै सब एक ही बार ॥८८९ ॥
कारजरूप वाय नव जोई नवद्वारनिमधि फिरती सोई ।
कारण प्राण माहि सो आई नाना गमन सकल छिटकाई ॥८९० ॥
याही भांति सकल जो वाई नाभिस्थान मिली सो आई ।
सुखमन मारग प्राण वस होई नाभिस्थान मिली सो आई ।
सुखमन मारग प्राण वस होई दसमै द्वारि पहुती सोय ॥८९१ ॥
जैसे वरिषा रुत जब आवै सरिता अधिक वेगसो पावै ।
मिले सिंधु मै शीघ्र सु जाई तदवत [३०९] ब्रह्म सु जोगी पाई ॥८९२ ॥
तिर्जग अरध कमल षट जोई वेध्या वाय सरल किया सोई ।
फूले सकल सुगंध अति वासी मनकी सर्व कल्पना नासी ॥८९३ ॥
जैसै वेली मै [३१०] जल देवै ताके फूल विकास जु लेवै ।
अैसै सुखमन वेली जानौ वारि समीर तहां पुनि आनौ ॥८९४ ॥

आरंभन (ना.)
३०५. सरम (भां)
३०६. मति कौही (भां)
३०७. लंधि (भां)
३०८. जे (भां)
३०९. तब ब्रह्मानंद (भां)
३१०. वेली जलमै (ना.)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

दोहा— अैसी गोप्य जू खेचरी कही प्रगट करि सोय ।
जयतराम गुरुक्रिपाते याको साधन होय ॥८९५ ॥

॥इति खेचरी मुद्रा ॥

अथ षटचक्र वरनन ।

ध्यान अजपासहित कहिये है ।

चौपाई— प्रथमही अजपा सो मन लावै ताकै जपै सकल सिध पावै ।
विनही जाप होत है जोई [311]अजपाजाप कहावै सोई ॥८९६ ॥
सोहं सोहं सासोसास घटमै करै निरंतर वास ।
षट सत सहश्र इकीस जु आवै गुरुकी क्रिपा भेद सो पावै ॥८९७ ॥
सो पुनि ले घटमै उलटावै षटचक्रनमधि आनि मिलावै ।
क्रमसौ जाप करै मन लावै जाविधि आग्या गुरुतै पावै ॥८९८ ॥

॥इति अजपा ॥

अथ षटचक्रवरनन ।

चौपाई— प्रथम चक्र आधार बखानू स्वर्न वर्न तासकौ जानू ।
सक्ति गणेश चतुर्दल सोई वंशंषंसं अक्षर होई ॥८९९ ॥
तपत स्वर्णमय ध्यान जु धारै षटसत तामधि जाप उचारै ।
सोई जाप गणपति को दैवै निर्भय होय चरण पुनि सेवै ॥९०० ॥

॥इति आधारचक्र ॥

अथ स्वाधिष्ठान चक्र ।

स्वाधिष्ठान चक्र पुनि दूजा तेजमनो विजुरी को पूजा ।
षटदल षट तहा अक्षर राजत बंभंमंयंरंलं सहित विराजत ॥९०१ ॥
ब्रह्मासावित्री पुनि जहां षटसहस्र जप जपिये तहां ।
सो पुनि अजपा अजहि चढावै तिनके चरन सीसकौ नावै ॥९०२ ॥

॥इति स्वाधिष्ठान चक्र ॥

अथ मणिपूरक चक्र ।

त्रितीय चक्र मणिपूरक जोई नीलवरनमय जानो सोई ।
लक्ष्मीसहित विष्णु तहां राजत पीत वरन अति सोभा साजत ॥ ९०३ ॥

---

३११. अजपानाम (भां)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

द्वात्रिंशमाह्निकम्

* विवेकः *

शुद्धाशुद्धाध्वभिदा द्विगह्वरं मुद्रयत्यशेषजगत् ।
संविद्रूपतया यः कलयतु स किल्विषं सतां कालः ॥

इदानीं मुद्राविधिमभिधातुमुपक्रमते—

अथ कथये मुद्राणां गुर्वागमगीतमत्र विधिम् ।

तमेव आह—

मुद्रा च प्रतिबिम्बात्मा श्रीमद्देव्याख्ययामले ।
उक्ता बिम्बोदयश्रुत्या वाच्यद्वयविवेचनात् ॥ १ ॥

तत्र श्रीदेव्यायामले

'प्रतिबिम्बोदयो मुद्रा.............................।'

---

* ज्ञानवती *

जो शुद्ध अशुद्ध भेद से दो गुफा वाले संसार को (संविद् के द्वारा) मुद्रित करते हैं वह कालरूपी (शिव) सज्जनों के पाप को संविद्रूप से कल्पित करें ।

अब यहाँ गुरु और आगम के द्वारा उक्त मुद्राओं की विधि को कहता हूँ ॥ १- ॥

उसी को कहते हैं—

श्री देवीयामल में बिम्बोदय श्रुति के दो वाच्यों का विवेचन करने से मुद्रा को प्रतिबिम्ब रूपा कहा गया है ॥ -१ ॥

इत्येवंरूपाया बिम्बोदयश्रुतेः पञ्चमीष्ठ्यर्थबहुव्रीहिद्वारस्य वाच्यद्वयस्य विवेकमाश्रित्य परसंविदाकृतिरूपत्वात् प्रतिबिम्बात्मा मुद्रा उक्ता—इति वाक्यार्थः । इदं च अत्र वाच्यद्वयम्—प्रतिराभिमुख्ये, तेन बिम्बसंनिधिं निमित्तीकृत्य बिम्बैकनियत उदयो यस्येति बिम्बस्य प्रतिबिम्बोत्पत्तिनिमित्तत्वमुक्तम्,

बिम्बस्य अभिव्यक्तिलक्षण उदयः प्रतिगतः प्राप्तो यस्मादिति प्रतिबिम्बस्य ज्ञप्त्युपायत्वमिति । यद्वा

'मुद्रा बिम्बोदयो नाम्ना.....................।'

इतिबिम्बोदयश्रुतेः प्रतिशब्दार्थमपहायैव व्याख्येयम् ॥ १ ॥

तदेव तात्पर्यद्वारेण आह—

बिम्बात्समुदयो यस्या इत्युक्ता प्रतिबिम्बता ।
बिम्बस्य यस्या उदय इत्युक्ता तदुपायता॥ २ ॥

समुदय इति = उत्पत्तिः । यस्या इति—प्रतिबिम्बरूपाया मुद्रायाः—इति षष्ठ्यर्थः, यस्याश्च सकाशात्—इति पञ्चम्यर्थः । उदय इति ज्ञप्तिस्तदुपायतेति

वहाँ = श्रीदेवीयामल में—

'प्रतिबिम्ब का उदय ही मुद्रा है'

इस प्रकार की बिम्बोदयश्रुति के पञ्चमी और षष्ठी अर्थ वाले दो बहुव्रीहि वाले दो वाच्यों (= अर्थों) के भेद के आधार पर परसंविद् के आकृति जैसी होने के कारण मुद्रा प्रतिबिम्ब रूप कही गयी है—यह वाक्यार्थ है । यहाँ दो अर्थ ये हैं—'प्रति' उपसर्ग का प्रयोग 'सामने' अर्थ में हुआ है । इससे बिम्बसन्निधि के कारण केवल बिम्ब के अधीन उदय है जिसका इस प्रकार बिम्ब को प्रतिबिम्ब का निमित्त कहा गया । बिम्ब का अभिव्यक्तिलक्षण उदय (प्रति =) प्रतिगत = प्राप्त है जिससे । इस प्रकार प्रतिबिम्ब ज्ञान का उपाय है । अथवा—

'बिम्ब का उदय है (जो) मुद्रा नाम से (जाना जाता है) ।'

इस बिम्बोदयश्रुति की (दृष्टि से) प्रतिशब्द को छोड़कर व्याख्या करनी चाहिये ॥ १ ॥

उसी को तात्पर्य के द्वारा कहते हैं—

बिम्ब से जिसका उदय होता है—इस कारण प्रतिबिम्बता कही गयी । जिससे बिम्ब का उदय होता है—इस कारण वह (प्रतिबिम्ब) उसका (= बिम्ब = ज्ञान का) उपाय है । यह कहा गया २ ॥

समुदय = उत्पत्ति । यस्याः = प्रतिबिम्ब रूपा मुद्रा का—यह षष्ठी विभक्ति का अर्थ है । जिसके पास से यह पञ्चमी का अर्थ है । उदय = ज्ञान । उसका

ज्ञप्तिद्वारिका बिम्बोपायतेत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं मुद्राशब्दस्य रूढिमुपदर्श्य योगमपि दर्शयति—

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम् ।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता ॥ ३ ॥

यद्यपि च अत्र

'इत्याशयेन मुद्रा मोचयते पाशजालतोऽशेषात् ।
कायीयान्पुर्यष्टकसंस्कारान्द्रावयेत्तथा मन्त्रम् ॥
योगं क्रियां च चर्यां मुद्रयति तदेकरूपतया ।'

इत्यादिदृष्ट्या बहुधा योगः सम्भवति, तथापि परानन्दनिर्भरस्वरूपताधायितया अयमेव मुख्य इति एतावदेव उक्तम् ॥ ३ ॥

आसामेव गुणप्रधानभावं तावत् दर्शयति—

तत्र प्रधानभूता श्रीखेचरी देवतात्मिका ।
निष्कलत्वेन विख्याता साकल्येन त्रिशूलिनी ॥ ४ ॥
करङ्किणी क्रोधना च भैरवी लेलिहानिका ।
महाप्रेता योगमुद्रा ज्वालिनी क्षोभिणी ध्रुवा ॥ ५ ॥
इत्येवं बहुभेदेयं श्रीखेचर्येव गीयते ।

उपाय अर्थात् ज्ञान के द्वारा बिम्बोपायता ॥ २ ॥

मुद्राशब्द की रूढि को दिखा कर योग को भी दिखाते है—

जिस कारण आत्मा को शरीर के माध्यम से स्वरूपलाभ नामक मुद (= आनन्द) को राति = अर्पित करती है, इस कारण शास्त्रों में (इसे) मुद्रा कहा गया है ॥ ३ ॥

यद्यपि यहाँ—

'समस्त पाशजाल से जो मुक्त कराती है, कायीय पुर्यष्टक संस्कारों को द्रावित (= नष्ट) करती है, तथा मन्त्र योग क्रिया एवं चर्या रूप (= मुद्रात्मक रूप) से मुद्रित करती है, इस आशय से मुद्रा (कही जाती) है ।'

इत्यादि दृष्टि से अनेक प्रकार का विग्रह सम्भव है तथापि परानन्दनिर्भरस्वरूपता का आधायी होने से यही (यौगिक अर्थ) मुख्य है इसलिये यही कहा गया ॥ ३ ॥

इन्हीं का गुणप्रधानभाव दिखलाते हैं–

उसमें श्री खेचरी (मुद्रा) जो कि देवतारूपा है निष्कल कही गयी है । सकल रूप से त्रिशूलिनी करङ्किणी क्रोधना भैरवी लेलिहानिका महाप्रेता

ध्रुवेति खेचरीविशेषणम्, तस्या हि त्रिशूलिन्यादिसकलरूपोपग्रहेऽपि न निष्कलाद्रूपात्प्रच्यावः—इति अभिप्रायः । उक्तं हि—

'इयं सा खेचरी मुद्रा निष्कला परिकीर्तिता ।
सकलं रूपमेतस्या भेदैस्तैस्तैरवस्थितम् ॥' इति ॥

ननु त्रिशूलिन्यादिवदन्या अपि एतदङ्गभूता मुद्राः सम्भवन्तीति कथमिह ता अपि न उक्ताः ?—इत्याशङ्क्य आह—

अन्यास्तदङ्गभूतास्तु पद्माद्या मालिनीमते ॥ ६ ॥
तासां बहुत्वामुख्यत्वयोगाभ्यां नेह वर्णनम् ।

ननु श्रीमालिनीमते पद्ममुद्रादिसाहचर्येणैव श्रीखेचरी अपि निर्दिष्टा, तत् सैव प्रधानेति तु कुतस्त्यम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

श्रीखेचरीसमाविष्टो यद्यत्स्थानं समाश्रयेत् ॥ ७ ॥
देवीसंनिधये तत्स्यादलं किं डम्बरैर्वृथा ।

अलमिति—पर्याप्तम् ॥

योगमुद्रा ज्वालिनी क्षोभिणी इस प्रकार यह ध्रुवा खेचरी ही अनेक भेदों वाली कही जाती है ॥ ४-६- ॥

'ध्रुवा' यह खेचरी का ही विशेषण है । त्रिशूलिनी आदि समस्त (सकल) रूप को धारण करने पर भी इसका (अपने) निष्कल रूप से पतन नहीं होता—यह अभिप्राय है । कहा भी है—

'यह खेचरी मुद्रा निष्कल कही गयी है । इसका सकल रूप उन-उन भेदों के कारण है ॥'

प्रश्न—त्रिशूलिनी आदि के समान इसकी अङ्गभूत अन्य भी मुद्रायें सम्भव हैं फिर यहाँ उनका भी कथन क्यों नहीं हुआ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र के मत में उस (खेचरी) की अङ्गभूत पद्मा आदि अन्य (मुद्रायें) हैं । उन मुद्रा भेदों के बहुत और अमुख्य होने के कारण (उन भेदों का) यहाँ वर्णन नहीं है ॥ -६-७- ॥

प्रश्न—मालिनी मत में पद्म मुद्रा आदि के साहचर्य से ही खेचरी भी निर्दिष्ट है तो वही प्रधान हो गयी ऐसा कहाँ से (कहा गया)?—यह शङ्का कर कहते हैं—

श्रीखेचरी मुद्रा से समाविष्ट व्यक्ति जिस-जिस स्थान को पहुँचता है वह (स्थान) देवीसन्निधि के लिये पर्याप्त हो जाता है फिर व्यर्थ के आडम्बर से क्या ? ॥ -७-८- ॥

अलम् = पर्याप्त ॥

ननु आसामपि

'याभिः संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात् ।'

इत्याद्युक्त्या साधकविषयं मुख्यत्वमस्तीति कथमेवमुक्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

काम्ये कर्मणि ताश्च स्युर्मुख्याः कस्यापि जातुचित् ॥ ८ ॥

कस्यापीति—साधकस्यैव, नतु पुत्रकादेः । जातुचिदिति—नतु नित्यवत् सर्वकालम् ॥ ८ ॥

इह पुनर्मोक्षाख्यमुख्यार्थप्रतिपादनपरत्वादस्य ग्रन्थस्य काम्यमेव कर्म न उक्तमिति तदुपयोगिना अपि मुद्रावर्णनेन कोऽर्थः ?—इत्याह—

तच्च नास्माभिरुदितं तत्किं तदुपयोगिना ।

आसां च भेदनिर्देशद्वारेण स्वरूपमभिधातुमाह—

मुद्रा चतुर्विधा कायकरवाक्चित्तभेदतः ॥ ९ ॥
तत्र पूर्णेन रूपेण खेचरीमेव वर्णये ।

वागिति—मन्त्रविलापनरूपा । यदुक्तम्—

प्रश्न—इनका भी—

'जिनके द्वारा संरक्षित मन्त्री मन्त्रसिद्धि को प्राप्त करता है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा मुख्यता साधक की होती है फिर ऐसा कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

काम्य कर्म में ये किसी के लिये कदाचित् मुख्य होती हैं ॥ ८ ॥

किसी के लिये = साधक के लिये ही न कि पुत्रक आदि के लिये । कदाचित्—न कि नित्य कर्मों की भाँति सब समय ॥ ८ ॥

यहाँ मोक्ष नामक मुख्य अर्थ (= विषय) का प्रतिपादक होने वाले इस ग्रन्थ का काम्य कर्म कहा ही नहीं गया फिर उसके उपयोगी मुद्रावर्णन से क्या लाभ?—यह कहते हैं—

और वह हमारे द्वारा नहीं कहा गया फिर उसके उपयोगी (मुद्रा वर्णन) से क्या (लाभ)? ॥ ९- ॥

भेदनिर्देशपूर्वक इनका स्वरूप कहते हैं—

मुद्रा शरीर हाथ वाक् और चित्त भेद से चार प्रकार की होती है । उनमें से पूर्णरूप से खेचरी का ही वर्णन करता हूँ ॥ -९-१०- ॥

वाक्—मन्त्रविलापनरूपा । जैसा कि कहा गया—

'करकायविलापान्तःकरणानुप्रवेशतः ।
मुद्रा चतुर्विधा ज्ञेया........................ ॥'

इत्युपक्रम्य

'अंगुलीन्यासभेदेन करजा बहुमार्गगा ।
सर्वावस्थास्वेकरूपा वृत्तिर्मुद्रा च कायिकी ॥
पञ्चमुद्राधरं चैतद् व्रतं सिद्धनिषेवितम् ।
मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलापाख्या प्रकीर्तिता ॥
ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी परिकीर्तिता ।' इति ॥

पूर्णेनेति—चतुर्विधेनापि—इत्यर्थः ॥

तत्रापि प्राधान्येन श्रीपूर्वशास्त्रोक्तमेव तावदस्या रूपमाह—

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं क्षिपेत् ॥ १० ॥
दण्डाकारं तु तं तावन्नयेद्यावत्कखत्रयम् ।
निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ॥ ११ ॥
एतां बद्ध्वा खे गतिः स्यादिति श्रीपूर्वशासने।

स्थिरसुखासनस्थो हि योगी जन्माधारादुदेत्य नाभिदेशे मनो निवेश्य—तत्रैव बहुशः परिभ्राम्य मध्यप्राणशक्त्येकीकारेण दण्डाकारतया मूर्धन्यं बिन्दुनादब्रह्मरन्ध्र-

---

'कर काय विलाप एवं अन्तःकरणानुप्रवेश भेद से मुद्रा चार प्रकार की जाननी चाहिये.......... ।'

ऐसा प्रारम्भ कर

'हाथ की मुद्रा अङ्गुलीन्यास के भेद से अनेक प्रकार की है । सब अवस्थाओं में एकरूपा वृत्ति कायिकी मुद्रा है । पाँच मुद्रा वाला यह व्रत सिद्धों के द्वारा सेवित होता है । मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलाप नाम से कही गयी है । ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी कही गयी है ।'

पूर्णता के साथ = चार प्रकारों के साथ ॥

उसमें भी प्रधानरूप से भी मालिनीविजय में उक्त इसका स्वरूप बतलाते हैं—

योगी पद्मासन लगाकर नाभिप्रदेश में मन को स्थिर करे । फिर दण्ड के आकार के रूप में उसको वहाँ तक ले जाय जहाँ क तीन और ख तीन हैं । वहाँ उसको रोक कर शीघ्र ही तीन ख के द्वारा (आगे) बढ़ाये । इसका बन्धन करने पर आकाश में गति हो जाती है—ऐसा मालिनीविजयतन्त्र में (कहा गया है) ॥ -१०-१२- ॥

स्थिरसुख वाले आसन पर बैठा योगी मूलाधार से उठकर नाभिदेश में मन को

लक्षणं खत्रयं यावत् नीत्वा तत्रैव कुम्भकानुवृत्त्या निरुध्य शक्तिव्यापिनीसमनात्मना खत्रयेण तूर्णमुद्घातगत्या प्रेरयेदुन्मनापदाक्रमणेन परमशिवाभिमुख्यं नयेत् येन अस्य एतदवष्टम्भेन परबोधगगनचारित्वं स्यात् ॥

अस्या एव अवान्तरभेदसहितायाः श्रीयोगसञ्चारोक्तं रूपं निर्दिशति—

ध्वनिज्योतिर्मरुद्युक्तं चित्तं विश्रम्य चोपरि ॥ १२ ॥
अनेनाभ्यासयोगेन शिवं भित्त्वा परं व्रजेत् ।

ध्वनिः = नादः, ज्योतिः = बिन्दुः, मरुत् = शक्तिः, तेन तद्द्वादशान्तं ब्रह्मरन्ध्रम् । एवं जन्माधारात्प्रभृति एतद् व्योमत्रययोगि चित्तं विधाय तत्रैव निविडध्यानेनैव क्रमेण उपरितनं शक्त्यात्मकमपि खत्रयं भित्त्वा योगी परं शिवं व्रजेत्—इति वाक्यार्थः ॥

एतदनुवेधेन त्रिशूलिन्या अपि रूपमाह—

जत्र्वधस्तात्करौ कृत्वा वामपादं च दक्षिणे ॥ १३ ॥
विदार्यास्यं कनिष्ठाभ्यां मध्यमाभ्यां तु नासिकाम्।

लगा कर वहीं पर कई बार भ्रमण कराकर सुषुम्ना शक्ति से एकाकार होने के कारण दण्ड के आकार के रूप में मूर्धा में स्थित, बिन्दु, नाद, ब्रह्मरन्ध्र लक्षण वाले तीन क तक ले जाकर वहीं कुम्भक के रूप में (उसे) रोक कर शक्ति, व्यापिनी, समना रूप तीन ख के द्वारा शीघ्र ही उपर की ओर प्रेरित करे अर्थात् उन्मना पद पर पहुँच कर परमशिव की ओर ले जाँय जिससे इसको यहाँ स्तम्भन करने से परबोधरूप गगन में विचरण करने की शक्ति मिलती है ॥

अवान्तरभेदसहित इसी का श्रीयोगसञ्चार में कथित रूप का निर्देश करते हैं—

(योगी) ध्वनि ज्योति और वायु से युक्त चित्त को विश्रान्त कर उसी अभ्यास के द्वारा ऊपर की ओर भेदन कर परम शिव को प्राप्त करता है ॥ -१२-१३- ॥

ध्वनि = नाद, ज्योति = बिन्दु, मरुत् = शक्ति । इससे इसका द्वादशान्त = ब्रह्मरन्ध्र । इस चित्त को इस प्रकार मूलाधार से लेकर इस (उपर्युक्त) तीन व्योम से युक्त करके वहीं पर गहन ध्यान के द्वारा क्रमशः उपरिवर्त्ती शक्त्यात्मक तीन शून्य (= शक्ति व्यापिनी समना) का भेदन कर योगी परमशिव को प्राप्त करता है—यह वाक्यार्थ है ॥

इसके अनुवेध से त्रिशूलिनी का भी रूप कहते हैं—

दोनों हाथों को कण्ठ के नीचे और बायें पैर को दायें पैर के ऊपर रख कर दोनों कनिष्ठाओं से मुख को फैला कर तथा दोनों मध्यमाओं से

अनामे कुञ्चयेत्प्राज्ञो भ्रूभङ्गं तर्जनीद्वयम् ॥ १४ ॥
जिह्वां च चालयेन्मन्त्री हाहाकारं च कारयेत् ।
त्रिशूलेन प्रयोगेण ब्रह्मरन्ध्रमुपस्थितः ॥ १५ ॥
पदं सन्त्यज्य तन्मात्रं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

जत्रुशब्देन अत्र कण्ठो लक्ष्यते, तेन तदधः—इत्यर्थः । नासिकामिति—तद्रन्ध्रद्वयम्, चालयेदिति—भ्रूभङ्गादौ त्रयेऽपि योज्यम् । तन्मात्रमिति—स्थितम् । मेदिनीं त्यजतीति—देहाद्यहन्तापहस्तनेन परबोधाकाशचारी भवेत्—इत्यर्थः ॥

त्रिशूलप्रयोगमेव शिक्षयति—

शून्याशून्यलये कृत्वा एकदण्डेऽनिलानलौ ॥ १६ ॥
शक्तित्रितयसम्बद्धे अधिष्ठातृत्रिदैवते ।
त्रिशूलं तद्विजानीयाद्येन व्योमोत्पतेद् बुधः ॥ १७ ॥

एवंविधोऽयमनिलानलौ प्राणापानावर्थात् मध्यप्राणे समरसितौ कृत्वा अत एव एकस्मिन्मूलाधारात्प्रभृति ऊर्ध्वं प्रसरणात् दण्डाकारे च तस्मिन् जाते सति तदेवं प्रयुज्यमानं त्रिशूलं विजानीयात् येन अस्य व्योमोत्पतनं स्यात् । एकदण्डाकारं

नासिका (के दोनों छिद्रों) को फैलाकर प्राज्ञ मन्त्री अनामिकाओं को आकुञ्चित करे (= फैलाये)। भ्रूभङ्ग दोनों तर्जनी और जिह्वा को चलाये तथा हा हा करे । इस त्रिशूल प्रयोग से (योगी) ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाता है । फिर तन्मात्रपद को छोड़कर तत्काल पृथ्वी को छोड़ देता है ॥ -१३-१६- ॥

'जत्रु' शब्द से यहाँ कण्ठ (= हँसुली) लक्षित है । इससे यह अर्थ (निकला कि) उससे (= कण्ठ से) नीचे । नासिका को = उसके दोनों छिद्रों को । सञ्चालित करे—इसे भ्रूभङ्ग आदि तीनों के साथ जोड़ना चाहिये । तन्मात्र = स्थित । धरती को छोड़ देता है = देह आदि में आत्मभाव को हटाकर परबोधरूपी आकाश में विचरण करता है—यह अर्थ है ॥

त्रिशूलप्रयोग को ही बतलाते हैं—

अनिल (= प्राण) और अनल (= अपान) को एक दण्ड (=सुषुम्ना) में कर के उन दोनों को तीन शक्तियों से सम्बद्ध तथा तीन अधिष्ठातृदेवों से संयुक्त कर शून्याशून्य का लय कर दे । तो इसे त्रिशूल समझना चाहिये जिसके द्वारा विद्वान् चिदाकाश में विचरण करता है ॥ -१६-१७ ॥

इस प्रकार का यह (विद्वान्) अनिल और अनल = प्राण और अपान को मध्यप्राण (= सुषुम्ना) में एक रस बनाकर इसलिये मूलाधार से लेकर ऊपर की ओर प्रसरण करने से उसके दण्डाकार होने पर इस प्रकार प्रयुज्यमान उसको त्रिशूल

मध्यप्राणमेव विशिनष्टि—अधिष्ठातृत्रिदैवते इति = भ्रूमध्याद्यवस्थितेश्वरसदाशिवानाश्रिताख्यकारणत्रयाधिष्ठिते—इत्यर्थः। तथा शक्तिव्यापिनीसमनासम्बद्धे तत्संयोगमाप्ते, अत एव परपदप्राप्त्या शून्याशून्यलये विगलितसदसदादिशब्दव्यवहारे इत्यर्थः ॥ १७ ॥

नच एतावतैव अयं व्योम उत्पतेत्—इत्याह—

आकाशभावं सन्त्यज्य सत्तामात्रमुपस्थितः।
शूलं समरसं कृत्वा रसे रस इव स्थितः ॥ १८ ॥
एकदण्डं स विज्ञाय त्रिशूलं खचरं प्रिये।
बद्ध्वा तु खेचरीं मुद्रां ध्यात्वात्मानं च भैरवम् ॥ १९ ॥
खेचरीचक्रसङ्घुष्टं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

एवं खचरमेकदण्डं त्रिशूलं विज्ञाय तत्तदवच्छेदाधायि सत्तामात्रमपि परित्यज्य खेचरीमुद्राबन्धमाविश्य स बुधः पराकाशरूपतामुपस्थितः सन् स्थितस्तत्रैव रसे इव रसं शूलमपि समरसीकृत्य खेचरीचक्रसङ्घुष्टमात्मानं भैरवं ध्यात्वा च सद्य एव मेदिनीं त्यजति—इति सम्बन्धः ॥

ननु एवमस्य किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

समझे जिसके द्वारा इसका (चिद्) व्योम में उत्पतन होता है । एकदण्डाकार मध्यप्राण का ही विशेषण बताते हैं—अधिष्ठातृत्रिदैवते = भ्रूमध्य में स्थित ईश्वर सदाशिव और अनाश्रित नामक तीन कारणों से अधिष्ठित । तथा शक्ति व्यापिनी समना से सम्बद्ध = उसके संयोग को प्राप्त । इसलिये परपदप्राप्ति के द्वारा शून्य अशून्य लय होने पर सत् असत् आदि शब्दव्यवहार के लुप्त हो जाने पर—यह अर्थ है ॥ १७ ॥

इतने से ही वह आकाश में उत्पतन नहीं करता-यह कहते हैं—

(योगी) सत्ता मात्र को छोड़कर आकाशभाव में उपस्थित होता है । फिर त्रिशूल को रस में रस के समान समरस कर स्थित होता है । हे प्रिये ! वह एकदण्ड खचर त्रिशूल को जानकर, खेचरी का धारण कर खेचरीचक्र से संयुक्त आत्मा का भैरवरूप में ध्यान कर सद्यः पृथ्वी को छोड़ देता है ॥ १८-२०- ॥

इस प्रकार खचर एकदण्ड त्रिशूल को जानकर तत्तद् अवच्छेद की आधायक सत्ता को भी छोड़ कर खेचरीमुद्राबन्ध से आविष्ट होकर वह विद्वान् पराकाशरूपता को प्राप्त होकर स्थित हुआ रस में रस की भाँति शूल को भी समरस कर तथा खेचरीचक्र से युक्त आत्मा भैरव का ध्यान कर सद्यः ही पृथ्वी को छोड़ देता है—यह सम्बन्ध है ॥

त्यक्तांशको निराचारो निःशङ्को लोकवर्जितः ॥ २० ॥
अवधूतो निराचारो नाहमस्मीति भावयन् ।
मन्त्रैकनिष्ठः संपश्यन् देहस्थाः सर्वदेवताः ॥ २१ ॥
ह्लादोद्वेगास्मिताक्रुष्टनिद्रामैथुनमत्सरे ।
रूपादौ वा कर्तृकर्मकरणेषु च सर्वशः ॥ २२ ॥
नाहमस्मीति मन्वान एकीभूतं विचिन्तयन् ।
कर्णाक्षिमुखनासादिचक्रस्थं देवतागणम् ॥ २३ ॥
ग्रहीतारं सदा पश्यन् खेचर्या सिद्ध्यति स्फुटम् ।

त्यक्तांशक इति—निरंशतामापन्नः—इत्यर्थः । निराचार इति—निष्क्रान्ता आचारा यस्मादाचारेभ्यश्च निष्क्रान्त इति योज्यम् । देहस्थाः सर्वदेवताः संपश्यन्निति सर्वदेवतामयमात्मानं जानानः—इत्यर्थः । ह्लादेत्यादिना चित्तवृत्तिविशेषा आसूत्रिताः । रूपादाविति—विषयपञ्चके । ग्रहीतारमिति परप्रमात्रेकरूपम्—इत्यर्थः ॥

एतदेव व्यतिरेकद्वारेण द्रढयति—

विद्याशङ्की मलाशङ्की शास्त्रशङ्की न सिद्ध्यति ॥ २४ ॥

प्रश्न—इस प्रकार इसका क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(साधक) आशङ्कारहित, आचारशून्य, निःशङ्क, लोकवर्जित, अवधूत, आचार से बाहर, 'मैं नहीं हूँ'—ऐसी भावना करता हुआ, मन्त्रैकनिष्ठ, समस्त देवताओं को शरीरस्थ देखता हुआ (स्थित रहता है) । ह्लाद, उद्वेग, अस्मिता, आक्रोश, निद्रा, मैथुन, मत्सर में अथवा रूप आदि में तथा कर्त्ता कर्म करण में सब प्रकार से 'मैं नहीं हूँ' ऐसा मानते हुये कान आँख मुख नासिका आदि चक्र में स्थित देवतागण को एकीभूत जानता हुआ (अपने को) सदा ग्रहीता समझता हुआ स्पष्टरूप से खेचरी से सिद्ध होता है ॥ -२०-२४- ॥

त्यक्तांशक = निरंशता को प्राप्त । निराचार—जिसमें से आचार निकल चुके हैं और आचारों से निष्क्रान्त = परे, ऐसी योजना करनी चाहिये । देहस्थ सब देवताओं को देखता हुआ = अपने को सर्वदेवतामय जानता हुआ । ह्लाद (उद्वेग....) इत्यादि के द्वारा चित्तवृत्ति के विशेष सङ्केतित हैं । रूप आदि के विषय में = (रूप रस गन्ध आदि) पाँच विषयों के सन्दर्भ में । ग्रहीता = परप्रमाता रूप ॥

इसी को व्यतिरेक के द्वारा दृढ़ करते हैं—

विद्याशङ्की, मलाशङ्की (= आणव आदि मल के विषय में शंकालु) और शास्त्रशङ्की (= शैवशास्त्र के विषय में नाना प्रकार की उचितानुचित

विद्येति—शुभकरी वेदविद्या ॥ २४ ॥

ननु एवमयं कस्मात् न सिद्ध्येत्?—इत्याशङ्क्य आह—

शिवो रविः शिवो वह्निः पक्तृत्वात्स पुरोहितः ।
तत्रस्था देवताः सर्वा द्योतयन्त्योऽखिलं जगत् ॥ २५ ॥

रविः = प्रमाणम्, वह्निः = प्रमाता, अत एव पुरोहितो यष्टा—इत्यर्थः । पक्तृत्वादिति—सर्वस्य स्वात्मसात्काररूपत्वात् द्योतयन्त्यः स्थिताः—इति शेषः । एवं हि शिव एव सर्वमिति किमाशङ्कास्पदमित्याशयः ॥ २५ ॥

एवं त्रिशूलिन्याः स्वरूपमभिधाय करङ्किण्या अपि आह—

कनिष्ठया विदार्यास्यं तर्जनीभ्यां भ्रुवौ तथा ।
अनामे मध्यमे वक्त्रे जिह्वया तालुकं स्पृशेत्॥ २६ ॥
एषा करङ्किणी देवी ज्वालिनीं शृणु सांप्रतम्।
हनुर्ललाटगौ हस्तौ प्रसार्याङ्गुलितः स्फुटौ ॥ २७ ॥
चालयेद्वायुवेगेन कृत्वान्तर्भ्रुकुटीं बुधः ।

शंका करने वाला) को सिद्धि नहीं मिलती ॥ -२४ ॥

विद्या = शुभकरी वेदविद्या ॥ २४ ॥

प्रश्न—इस प्रकार का यह (= साधक) क्यों सिद्धि प्राप्त नहीं करता?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शिव ही रवि शिव ही अग्नि और पाचक होने के कारण वही (= शिव ही) पुरोहित है । समस्त संसार को चमत्कृत करती हुयी सब देवतायें भी उसी में हैं ॥ २५ ॥

रवि = प्रमाण, वह्नि = प्रमाता, इसीलिये पुरोहित = यष्टा ॥ पक्ता होने से = सबको आत्मसात् करने वाला होने से, द्योतित करती हुयी स्थित हैं । इस प्रकार शिव ही सब कुछ हैं फिर आशङ्का का स्थान कहाँ? ॥ २५ ॥

त्रिशूलिनी के रूप का कथन कर करङ्किणी के भी (रूप का कथन) करते हैं—

कनिष्ठा के द्वारा मुँह को तथा दोनों तर्जनी से भ्रुवों को फैलाकर अनामिका और मध्यमा को मुख में (डालकर) जिह्वा से तालु का स्पर्श करे । यह करङ्किणी देवी (मुद्रा) है । अब ज्वलिनी (मुद्रा) को सुनो । हनु से लेकर ललाट तक फैली अंगुलियों वाले दोनों हाथों को स्पष्ट फैलाकर विद्वान् भ्रुकुटी को (हाथों के) भीतर कर वायु वेग से चलाये और जिह्वा के

विदार्यास्यं सजिह्वं च हाहाकारं तु कारयेत् ॥ २८ ॥
एषा ज्वालिन्यग्निचक्रे तया चाष्टोत्तरं शतम् ।
जपेद्यदि ततः सिद्ध्येत् त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २९ ॥

कनिष्ठयेति—उभयकरसम्बन्धिन्या । वक्त्रे इति—अर्थात् कृत्वा । प्राकरणिकश्च अत्र खेचरीमुद्राबन्धानुवेधोऽनुसन्धातव्य एव—इति गुरवः । हनुरिति—ऐशः पाठः, तेन हनुतः प्रभृति ललाटान्तं स्थितौ कार्यौ—इत्यर्थः । प्रसार्यांगुलित इति—प्रसृतांगुलीकौ—इत्यर्थः । अन्तरिति—हस्तयोः । अग्निचक्रे इति—ऊर्ध्वमुखे त्र्यश्रे अन्तरात्मानं भावयित्वा ॥ २९ ॥

सिद्धिमेव दर्शयति—

परदेहेषु चात्मानं परं चात्मशरीरतः ।
पश्येच्चरन्तं हानादाद्गमागमपदस्थितम् ॥ ३० ॥
नवच्छिद्रगतं चैकं नदन्तं व्यापकं ध्रुवम् ।
अनया हि खचारी श्रीयोगसञ्चार उच्यते ॥ ३१ ॥

हानादेति—हाकारस्य नादेन उच्चारेण—इत्यर्थः । गमागमेति—स्वदेहात् परदेहे, परदेहाद्वा स्वदेहे । खचारीत्यनेनापि खेचरीमुद्राबन्धानुवेधो दर्शितः ॥३१॥

सहित मुँह को फैला कर हाहाकार करे । यह ज्वालिनी (मुद्रा) है । अग्निचक्र में उसके साथ यदि एक सौ आठ बार (मन्त्र) जपे तो सचराचर त्रैलोक्य वश में हो ॥ २६-२९ ॥

कनिष्ठा के द्वारा—दोनों हाथों से सम्बद्ध (कनिष्ठा) । वक्त्र में—अर्थात् करके। यहाँ प्रासङ्गिक खेचरीमुद्राबन्ध के अनुवेध का अनुसन्धान अवश्य करना चाहिये—ऐसा हमारे गुरु कहते हैं । 'हनुः' यह ऐश (= ईश्वरीय) पाठ है । इससे (यह अर्थ होता है कि) हनु से लेकर ललाट तक (दोनों हाथों को) स्थित करे । अंगुली फैलाकर = जिसमें अंगुलियाँ फैली हों । भीतर—दोनों हाथों के । अग्निचक्र में = ऊर्ध्वमुख त्रिकोण में भीतर आत्मा का ध्यान कर ॥ २९ ॥

सिद्धि को ही दिखलाते हैं—

(साधक) दूसरे के शरीर में अपने को और अपने शरीर में दूसरे को 'स्वा' और 'हा' के उच्चारण के द्वारा गमनागमन पद में स्थित, नव छिद्रों (= दो आँख, दो कान, दो नाक, मुँह, मलद्वार, और लिङ्ग या योनि) में रहने वाले, एक, शब्द करने वाले, व्यापक, ध्रुव आत्मा को देखता है । इस (मुद्रा) के द्वारा (साधक) (चिद्-) आकाश में विचरण करता है—ऐसा श्री योगसञ्चार में वर्णित है ॥ ३०-३१ ॥

हा नाद से = हा के नाद = उच्चारण से । गमागम = अपने देह से पर देह

इदानीं श्रीवीरावल्युक्तमपि अस्या विधिमाह—

कुलकुण्डलिकां बद्ध्वा अणोरन्तरवेदिनीम् ।
वामो योऽयं जगत्यस्मिंस्तस्य संहरणोद्यताम् ॥ ३२ ॥
स्वस्थाने निर्वृतिं लब्ध्वा ज्ञानामृतरसात्मकम् ।
व्रजेत्कन्दपदं मध्ये रावं कृत्वा ह्यरावकम् ॥ ३३ ॥
यावज्जीवं चतुष्कोणं पिण्डाधारं च कामिकम् ।
तत्र तां बोधयित्वा तु गतिं बुद्ध्वा क्रमागताम् ॥ ३४ ॥
चक्रोभयनिबद्धां तु शाखाप्रान्तावलम्बिनीम् ।
मूलस्थानाद्यथा देवी तमोग्रन्थिं विदारयेत् ॥ ३५ ॥
वज्राख्यां ज्ञानजेनैव तथा शाखोभयान्ततः ।
कोणमध्यविनिष्क्रान्तं लिङ्गमूलं विभेदयेत् ॥ ३६ ॥
तत्र सङ्घट्टितं चक्रयुग्ममैक्येन भासते ।
वैपरीत्यात्तु निक्षिप्य द्विधाभावं व्रजत्यतः ॥ ३७ ॥
ऊर्वाद्यंगुष्ठकालाग्निपर्यन्ते सा विनिक्षिपेत् ।
गमागमनसञ्चारे चरेत्सा लिङ्गलिङ्गिनी ॥ ३८ ॥

अथवा परदेह से अपने देह में । 'खचारी'—इस शब्द से खेचरीमुद्राबन्ध का अनुवेध दर्शित है ॥ ३१ ॥

अब श्रीवीरावली में उक्त इस विधि को कहते हैं—

(साधक को चाहिये कि वह) अणु के भीतर रहने वाली कुलकुण्डली को नियन्त्रित कर, इस संसार में जो वाम (= अज्ञान) है उसका संहरण करने में उद्यत (कुण्डली) को अपने स्थान (= मूलाधार) में स्थित कर, मध्य (= सुषुम्ना) में बिना ध्वनि के शब्द उत्पन्न कर जीव (= अमृतपूर्ण) चतुष्कोण पिण्ड (= शरीर) का आधारभूत, कामिक (= कामनापूरक चिन्तामणि नामक) ज्ञानअमृतरसात्मक कन्दपद को प्राप्त करे । वहाँ पर उस (= कुण्डली) को उद्बुद्ध कर क्रमशः प्राप्त गति को जानकर दोनों चक्रों (= मूलाधार से लेकर द्वादशान्त) में निबद्ध मूलाधार से शाखाप्रान्त में रहने वाली वज्रनामक तमोग्रन्थि का ज्ञान से उत्पन्न (शक्ति) के द्वारा भेदन करे । फिर दोनों शाखाओं (= प्राण अपान) के अन्त से लेकर त्रिकोण के मध्य तक निकले हुये लिङ्गमूल का भेदन करे । वहाँ सङ्घटित चक्रयुग्म (= दोनों चक्र) एक होकर भासित होता है । यहाँ से उल्टा निक्षेप होने पर (जीव) द्विधा भाव को प्राप्त हो जाता है । वह (= वह कुण्डलिनी) उरु से लेकर अंगुष्ठकालअग्नि तक निक्षेप करती है । वह

तत्र तत्पदसंयोगादुन्मीलनविधायिनी ।
यो जानाति स सिद्ध्येत्तु रसादानविसर्गयोः ॥ ३९ ॥
ससङ्गममिदं स्थानमूर्मिण्युन्मीलनं परम् ।
एष क्रमस्ततोऽन्योऽपि व्युत्क्रमः खेचरी परा ॥ ४० ॥
योन्याधारेति विख्याता शूलमूलेति शब्द्यते ।
वर्णास्तत्र लयं यान्ति ह्यवर्णे वर्णरूपिणि ॥ ४१ ॥

इह अणोरन्तरवेदिनीमन्तश्चरन्तीं तन्मयतामाप्तां कुलकुण्डलिकां = मध्यप्राण-शक्तिम्, आक्रम्य अज्ञानसंहर्त्रीं स्वस्थाने शाक्ताधारे तदैक्यापत्तिरूपां निर्वृतिं प्राप्य

'मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ।'

इत्युक्त्या तस्य बोधनादप्रवर्तकत्वात् मध्यविषाधारादावरावकं प्रशान्तरूपं रावं नादं कृत्वा

'.........................कन्दे षड्रसलम्पटाः ।'

इतिभङ्ग्या ज्ञानामृतरसात्मकं कन्दपदं कामिकं सर्वकामाभिधं जीवं सञ्जीवन्यमृताभिधं चतुष्पथवर्तित्वात् चतुष्कोणं चिन्तामण्यभिधानं च यावत् पैण्डं शरीरमाधारं व्रजेत् । तत्र आधारेषु च क्रमागतां तां कुलकुण्डलिकां बोधयित्वा

लिङ्ग-लिङ्गिनी गमागमन सञ्चार में विचरण करती है । वहाँ उस पद के संयोग से (वह) उन्मीलन करती है । जो इस उर्मि का उन्मीलन करने वाले इस संगम स्थान को जानता है वह रस के आदान और विसर्ग में सिद्ध हो जाता है । यह क्रम है । इससे भिन्न भी क्रम है (जिस कारण) यह परा खेचरी योनि का आधार कही गयी है । इसे शूलमूला कहा जाता है । वर्णरूपी इस अवर्ण में (समस्त) वर्ण लीन हो जाते हैं ॥ ३२-४१॥

यहाँ (योगी) अणु की अन्तर्वेदिनी = भीतर सञ्चरण करने वाली = तन्मयता को प्राप्त, कुलकुण्डलिका = सुषुम्ना में सञ्चरणशील प्राणशक्ति को आक्रान्त कर अज्ञानसंहर्त्री को = अपने स्थान मूलाधार में उसके साथ एकता की प्राप्ति रूपा निर्वृति को, प्राप्त कर

'मूल में शाक्त उल्लास होता है जो बोधनाद का प्रवर्त्तक कहा गया है ।'

इस उक्ति के अनुसार उस (= अणु) के बोधनाद के प्रवर्त्तक होने के कारण मध्यविषाधार आदि में अराव = प्रशान्तरूप, रावक = नाद को उत्पन्न करके

'कन्द में छह रसों का लम्पट (योगी अमृतपान करता है)'

इस भङ्गी से (योगी) ज्ञानअमृतरस रूप कन्दपद को, जो कि कामिक = सर्वकाम नामवाला, जीव = सञ्जीवनी अमृत नामवाला, चतुष्पथ में रहने के कारण

मूलस्थानादारभ्य प्राणापानात्मचक्रद्वयोम्भितां द्वादशान्तं यावत् गच्छन्तीं ज्ञात्वा यथा अयं योगी ज्ञानजेनैव माहात्म्येन अज्ञानग्रन्थिं दुर्भेद्यत्वात् वज्राख्यां मध्यनाडीं च विदारयेत्, तथा प्राणापानात्मशाखाद्वयस्य अन्तमवलम्ब्य जन्माधाररूपत्रिकोण-मध्यादपि विनिष्क्रान्तमत एव मेढ्राधोवर्तित्वात् लिङ्गमूलम् = तदाख्यमकुलाधारम्, अपि विभेदयेत् । तत्र हि प्राणापानरूपं चक्रयुग्मं स्वस्वरूपत्रोटनेन सङ्कुट्टितं सदैक्येन भासते मध्यप्राणशक्तेरेव ततः समुदयः—इत्यर्थः । अतो लिङ्गमूलाख्या-दकुलपदात्पुनः सा वैपरीत्यादधोगत्या निक्षेपं विधाय द्विधाभावं व्रजति यदियमूर्वा-द्यंगुष्ठपर्यन्तत्वनिमित्तमात्मानं विनिक्षिपेत्—तद्रूपतां गृह्णीयात्—इत्यर्थः । सा कुलकुण्डलिका हि ऊर्ध्वाधःसञ्चारमनादृत्य प्राणापानलक्षणाभ्यां लिङ्गाभ्यां लिङ्गिनी तत्क्रोडीकारेण ज्ञप्तिं प्राप्ता सती चरेत् तत्तदाधारादिभेदेन मध्यधाम आक्रामेत् । सा हि तत्र मध्यधाम्नि प्राणापानपदद्वयसंयोगात्संविद्विकासमादध्यात् । यश्च एवंविधमिदं सर्वभावानुस्यूतमूर्मिण्युन्मीलनं परसंविद्विकासाधायि परं स्थानं जानाति, स संविद्रसादानविसर्गयोः सिद्ध्येत् सृष्टिसंहारकारित्वेऽस्य सामर्थ्य-मुत्पद्यते—इत्यर्थः । अस्याश्च एष यथोक्तस्तत्तदाधारादिसञ्चारात्मा क्रमः स्वारसिक

चतुष्कोण और चिन्तामणि नामक पैण्ड = आधारभूत, शरीर को प्राप्त करता है । उन आधारों में क्रमागत उस = कुलकुण्डली को उद्बुद्ध कर मूल स्थान से लेकर प्राण अपान रूप दो चक्रों से उठायी गयी द्वादशान्त तक जाने वाली (कुलकुण्डलिनी) को जानकर यह योगी ज्ञानजन्य माहात्म्य से अज्ञानग्रन्थिभूत तथा दुर्भेद्य होने के कारण वज्र नामक सुषुम्ना नाड़ी का भेदन करता है । तथा प्राण अपानरूप दो शाखाओं के अन्त का अवलम्बन कर जन्माधाररूप त्रिकोण के मध्य से भी विनिष्क्रान्त इसलिये मेढ़ के अधोवर्त्ती होने के कारण लिङ्गमूल = उस नाम वाले अकुलाधार, का भी भेदन करे । वहाँ प्राण और अपानरूप दो चक्र अपने-अपने स्वरूप को तोड़ कर सङ्कुट्टित होते हुये एक प्रतीत होते हैं अर्थात् वहाँ से मध्यप्राण शक्ति का उदय होता है । फिर इस = लिङ्गमूल नामक अकुलपद, से वह विपरीतता के कारण अधोगति से निक्षेप कर द्विधाभाव को प्राप्त होती है अर्थात् कि यह उरु से लेकर अंगुष्ठ पर्यन्तत्व के लिये अपने को निक्षिप्त करती है = उस रूप का ग्रहण करती है । वह = कुलकुण्डलिका, ऊपर नीचे के सञ्चार की अपेक्षा न कर प्राणअपानलक्षण वाले दो लिङ्गों के द्वारा लिङ्गिनी उसका आत्मसात् करने के कारण ज्ञप्ति को प्राप्त होती हुयी सञ्चरण करती है = तत्तत् आधार आदि भेद से मध्यधाम को आक्रान्त करती है । वह (= कुलकुण्डलिका) वहाँ = मध्यधाम में प्राण अपान रूपी दो पदों के संयोग से संविद्विकास को उत्पन्न करती है । जो (व्यक्ति) इस प्रकार के इस सर्वभावानुस्यूत उर्मि में उन्मीलन करने वाले परसंविद्विकास को उत्पन्न करने वाले पर स्थान को जानता है वह संविद्रस के आदान और विसर्ग में सिद्धि प्राप्त करता है अर्थात् सृष्टि और संहार करने में इसका सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है । और इसका यह = यथोक्त तत्तत्

एव वाहः—इत्यर्थः । ततोऽन्यो व्युत्क्रमोऽपि अस्याः सम्भवति यदियं परा खेचरी योन्याधारेति विख्याता तत उदिता सती शूलमूलेति शब्द्यते झटित्येव शक्तिव्यापिनीसमनात्मकारात्रययोगित्वात् द्वादशान्तपदं प्राप्ता—इत्यर्थः । यतस्तत्र सर्वोच्छेदरूपे क्रोडीकृतबाह्यामर्शेऽपि स्वामर्शमात्रात्मनि अवर्णे वर्णा बाह्यामर्शा लयं यान्ति—तद्विश्रान्ता एव भवन्ति—इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

ननु भवतु एवं, योगी पुनरस्याः कथं प्रबोधमादद्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

नादिफान्तं समुच्चार्य कौलेशं देहसंनिभम् ।
आक्रम्य प्रथमं चकं खे यन्त्रे पादपीडितम् ॥ ४२ ॥
नादं वै शक्तिसद्गर्भं सद्गर्भात्कौलिनीपदम् ।
बीजपञ्चकचारेण शूलभेदक्रमेण तु ॥ ४३ ॥
हृच्छूलग्रन्थिभेदैश्चिद्रुद्रशक्तिं प्रबोधयेत् ।
वायुचक्रान्तनिलयं बिन्द्वाख्यं नाभिमण्डलम् ॥ ४४ ॥
आगच्छेल्लम्बिकास्थानं सूत्रद्वादशनिर्गतम् ।
चन्द्रचक्रविलोमेन प्रविशेद्भूतपञ्जरे ॥ ४५ ॥
भूयस्तु कुरुते लीलां मायापञ्जरवर्तिनीम् ।

आधार आदि में सञ्चार रूप, क्रम = प्रवाह, स्वाभाविक ही है उससे भिन्न इसका व्युत्क्रम भी सम्भव है कि यह परा खेचरी योन्याधारा कही गयी है । वहाँ से उदित हुई अर्थात् उठकर यह शूलमूला कही जाती है । अर्थात् शीघ्र ही शक्ति व्यापिनी और समनारूप तीन अराओं से युक्त होने के कारण द्वादशान्त पद को प्राप्त हो जाती है । जिस कारण वहाँ = सर्वोच्छेद रूप बाह्य आमर्श के क्रोडीकृत होने पर भी स्वामर्शमात्र रूप अवर्ण में, वर्ण = बाह्य आमर्श, लीन हो जाते हैं = उसमें विश्रान्त हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

प्रश्न—ऐसा हो, किन्तु योगी इसका प्रबोध कैसे प्राप्त करता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

योगी कौलेश एवं देहसदृश नादि फान्त (= 'न' से लेकर 'फ' तक) का उच्चारण कर प्रथम चक्र को 'ख' यन्त्र में 'क' अंश से पीड़ित कर शक्तिगर्भित नाद को (प्राप्त कर) फिर शक्तिसद्गर्भ से कौलिनी पद को (प्राप्त कर); तत्पश्चात् पाँच बीजों में सञ्चरण के द्वारा शूलभेद के क्रम से हृदशूल और द्वादश ग्रन्थिभेदों के द्वारा चिद्रुद्रशक्ति को प्रबुद्ध करे । (इसके फलस्वरूप योगी) वायुचक्रान्तनिलय बिन्दुनामक नाभिमण्डल, लम्बिकास्थान, जो कि द्वादश सूत्रों से परे है, को प्राप्त होता है । फिर चन्द्रचक्र के विलोम से भूतपञ्जर में प्रवेश करता है और बार-बार मायापञ्जरवर्त्तिनी लीला को करता है । विद्वान् (योगियों) के द्वारा खेचरी

पुनः सृष्टिः संहृतिश्च खेचर्या क्रियते बुधैः ॥ ४६ ॥
श्रीमद्वीरावलीयोग एष स्यात्खेचरीविधिः ।

चित्—शुद्धात्मा, कौलेशं रहस्यज्ञानप्रधानभूतमत एव गर्भीकृतमध्यशक्ति नादिफान्तरूपं सर्वमन्त्रारणिस्वभावं नादं स्वदेहाभेदेन समुच्चार्य तमेव च एवं सगर्भमुच्चार्यमाणं नादमधिकृत्य खे जन्माकाशरूपे मर्मणि कौलिन्याः कुलकुण्डलिन्याः पदं

'जन्माख्ये नाडिचक्रं तु.................... ।'

इत्युक्तं नाड्यात्म प्रथमं चक्रं पादेन अंशेन पीडितं विधाय तत्र कथञ्चित् प्राणशक्तिं निरुध्य अवशिष्टानि पञ्चापि चक्राणि आक्रम्य ब्रह्मादिकारणपञ्चको-ल्लङ्घनक्रमेण हृत्स्थस्य नाडित्रयात्मनः शूलस्य ग्रन्थिद्वादशकस्य ब्रह्मरन्ध्रो-परिवर्तिनः शक्त्याद्यात्मनः शूलस्य च भेदनक्रमेण रुद्रशक्तिं प्रबोधयेत् । येन अयं जन्मपदादारभ्य पवनाधारात्मनो वायुचक्रस्य अन्ते संनिकर्षे वर्तमानं नाभिमण्डलं तत्सङ्घट्टाधारं लम्बिकास्थानं तदूर्ध्वस्थितं सुधाधारं बिन्द्वाख्यं भ्रूमध्यवर्तिनं विद्याकमलसंज्ञितमाधारं नाडीनां तात्स्थ्यात् ग्रन्थीनां द्वादशकात् निर्गतं सर्वसंबन्धोत्तीर्णं द्वादशान्तपदं च यावत् आ समन्तादृजुना क्रमेण

के द्वारा बार-बार सृष्टि और संहार किया जाता है । श्रीमद्वीरावलीयोग में यह खेचरीविधि (कही गयी) है ॥ ४२-४७- ॥

चित् = शुद्ध आत्मा, कौलेश को = रहस्यज्ञानप्रधानभूत अत एव मध्यशक्ति को गर्भ में रखने वाले नादि फान्त रूप तथा समस्त मन्त्रों के अरणिस्वभाव वाले नाद को, अपने शरीर से अभिन्न रूप में उच्चारण कर और इस प्रकार सगर्भ उच्चार्यमाण इसी नाद के आधार पर ख में = जन्माकाशरूप मर्म में, कौलिनी के = कुलकुण्डलिनी के, पद जो कि

'जन्म नाम के (आकाश) में नाडिचक्र को.............।'

ऐसा कहा गया है, नाडीरूप प्रथमचक्र को पाद = एक अंश से पीड़ित कर वहाँ किसी प्रकार प्राणशक्ति को (योगी) निरुद्ध करे । तत्पश्चात् अवशिष्ट पाँचों चक्रों (= मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत और शाकिनी) को आक्रान्त कर ब्रह्मादि (= ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) पाँच कारणों का उल्लङ्घन करते हुये हृदय में स्थित तीन नाड़ी (= इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना) रूप शूल का भेदन कर रुद्रशक्ति को प्रबुद्ध करे जिससे यह (योगी) जन्मपद से लेकर पवनाधार रूप वायुचक्र के अन्त = सन्निकर्ष, में वर्त्तमान नाभिमण्डल और उसके सङ्घट्ट का आधार लम्बिकास्थान उसके ऊपर स्थित सुधाधारबिन्दु नामक भ्रूमध्य में स्थित विद्याकमल नामक नाड़ियों का आधार और उसमें स्थित बारह ग्रन्थियों सहस्त्रार, अ, उ, म्, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना

गच्छेत्—तत्र विश्रान्तिं कुर्यात्—इत्यर्थः । भूयस्तु तत्र चन्द्रचक्रादपानस्थात् प्रत्यावृत्त्यात्मना विलोमक्रमेण स्वशरीरमेव प्रविशेत्, येन अयं व्युत्थानदशोचितं व्यवहरेत् । अतश्च खेचरीमुद्रावेशभाजां ज्ञानिनामन्तर्बहिरुन्मेषनिमेषाभ्यामा-जवञ्जवीभावेन सृष्टिसंहारकारित्वं स्यात्—इति संक्षेपार्थः । योगे इति तद्वचनावसरे इति—यावत् ॥

श्रीकामिकोक्तमपि अस्या रूपमाह

चुम्बाकारेण वक्त्रेण यत्तत्त्वं श्रूयते परम् ॥ ४७ ॥
ग्रसमानमिदं विश्वं चन्द्रार्कपुटसंपुटे ।
तेनैव स्यात्खगामीति श्रीमत्कामिक उच्यते ॥ ४८ ॥

चुम्बाकारेण काकचञ्चुपुटाकृत्यनच्ककलात्मना मध्यप्राणशक्त्यवलम्बिनापि स्वरूपेण वक्त्रेण यदिदं प्रमाणप्रमेयात्मकं विश्वं स्वात्मसात्कुर्वाणमत एव परं प्रमात्रेकरूपं तत्त्वं चन्द्रार्कपुटस्य प्राणापानयुग्मस्य संपुटे = मध्यधाम्नि श्रूयते = साक्षात्क्रियते, तत एव अस्य खचारित्वं स्यात्—इति वाक्यार्थः ॥ ४८ ॥

इदानीं श्रीकुलगह्वरोक्तं सविशेषमस्या रूपं वक्तुमाह—

भवान्मुक्त्वा द्रावयन्ति पाशान्मुद्रा हि शक्तयः ।

से निर्गत सब सम्बन्धों को पार करने वाले (अधः) द्वादशान्त पद तक ऋजु क्रम से जाता है अर्थात् वहाँ विश्राम करता है । फिर वहाँ अपानस्थ चन्द्रचक्र से प्रत्यावृत्तिरूप उल्टे क्रम से अपने शरीर में ही प्रवेश करता है जिससे यह योगी व्युत्थानदशा के अनुरूप व्यवहार करता है । इसलिये खेचरी मुद्रा के आवेश वाले ज्ञानी भीतर बाहर उन्मेष-निमेष के द्वारा आजवञ्जवी भाव (= उन्मेषनिमेषमय भाव) से सृष्टिसंहारकारी होते हैं--यह संक्षिप्त अर्थ है । योग में = उसके कथन के समय ॥

इसका श्री कामिकोक्त भी स्वरूप बतलाते हैं—

चुम्बाकार मुख से ग्रसमान जो विश्वरूप परतत्त्व चन्द्रसूर्य रूप पुट के संपुट में सुना जाता है इसी से (योगी) खेचर होता है—ऐसा श्रीमत् कामिक शास्त्र में कहा जाता है ॥ -४७-४८ ॥

चुम्बाकार से = कौवे के चञ्चुपुट की आकृति वाले स्वररहित कलारूप, मध्यप्राणशक्ति का अवलम्बन करने वाले स्वरूप मुख से, जो यह प्रमाणप्रमेयात्मक विश्व का साक्षात्कार करने वाला अत एव परप्रमात्रेकरूप तत्त्व चन्द्रसूर्यपुट = प्राणापान दोनों के संपुट = मध्यधाम, में सुना जाता है = साक्षात्कृत होता है, इसी कारण यह खचारी होता है—यह वाक्यार्थ है ॥ ४८ ॥

अब श्री कुलगह्वरोक्त इसके रूप को विशेषता के साथ कहते हैं—

मुख्यासां खेचरी सा च त्रिधोच्चारेण वाचिकी॥ ४९ ॥
त्रिशिरोमुद्गरो(रे) देवि कायिकी परिपठ्यते ।

अतो हि पारमेश्वर्यः शक्तय एव मुद्रा उक्ता यदासां पशूनां संसारात् मोचयित्वा पाशान् द्रावयन्तीति निर्वचनम् । यदुक्तम्—

'मोचयन्ति महाघोरात्संसारमकराकरात् ।
द्रावयन्ति पशोः पाशांस्तेन मुद्रा हि शक्तयः॥' इति ।

उच्चारेणेति—मन्त्रादेः । त्रिशिरोमुद्गर इति—

'इच्छाज्ञानक्रियापूर्वा................................ ।'

इत्यादिनीत्या शक्तित्रयमयत्वात् त्रिशिरोमुद्गरो मुदं परानन्दं गृणाति स्वात्मनि आमृशतीति परसंवित्—इत्यर्थः ॥

एवमेव हि परा संवित् कायत्वेन उल्लसिता—इत्याह—

नासां नेत्रद्वयं चापि हृत्स्तनद्वयमेव च ॥ ५० ॥
वृषणद्वयलिङ्गं च प्राप्य कायं गता त्वियम् ।

संसार से मुक्त कराकर पाशों को द्रावित करती है इस कारण शक्तियाँ ही मुद्रा हैं । इनमें खेचरी मुख्य है और वह (वाचिकी, कायिकी और मानसी) तीन प्रकार की है । हे देवि ! उच्चार के कारण वाचिकी, हे त्रिशिरोमुदगरे ! (= इच्छा ज्ञान क्रिया रूप तीन शीर्ष के द्वारा मुद् = आनन्द का अपने में गरण = निगरण = परामर्श करने वाली !) कायिकी कही जाती है ॥ ४९-५०- ॥

इस कारण पारमेश्वरी शक्तियाँ ही मुद्रा कही गयी हैं क्योंकि ये पशुओं को संसार से मुक्त कराकर पाशों को द्रावित करती हैं—ऐसी व्याख्या है । जैसा कि कहा गया—

'महाघोर संसार रूपी मकर के आकर से जो मुक्त कराती हैं और पशु के पाशों को द्रावित कर देती हैं इसलिये शक्तियाँ ही मुद्रायें हैं ।'

उच्चार के द्वारा—मन्त्र आदि के । त्रिशिरोमुद्गर—

'इच्छा ज्ञान क्रिया पूर्वा....................।'

इत्यादि नीति के अनुसार तीन शक्तियों से युक्त होने के कारण त्रिशिरः । मुद्गर = मुद् = परानन्द, का गीर्णन करती है = स्वात्मा में आमर्शन करती है (इस कारण मुद्गर) अर्थात् परसंवित् ॥

इसी प्रकार परासंवित् कायरूप में उल्लसित होती है—यह कहते हैं—

(यह परा संवित्) नासिका, दोनों नेत्र, हृदय, दोनों स्तन, दोनों वृषण

भवस्थानाभवस्थानमुच्चारेणावधारयेत् ॥ ५१ ॥
मानसीयमितस्त्वन्याः पद्माद्या अष्ट मुद्रिकाः ।
मातृव्यूहकुले ताः स्युरस्यास्तु परिवारगाः ॥ ५२ ॥
शरीरं तु समस्तं यत्कूटाक्षरसमाकृति ।
एषा मुद्रा महामुद्रा भैरवस्येति गह्वरे ॥ ५३ ॥

हृदिति—हृत्पद्मनालरूपम् । एतत्सतत्त्वं च तत्र तत्र शास्त्रे निरूपितमिति अतिरहस्यत्वादिह न प्रपञ्चितम् । तत् गुरुमुखादेव बोद्धव्यम् । भवस्थानं शरीरमभवस्थानमुच्चारेणेति—

'पद्मं हृत्पद्ममेवात्र शूलं नाडित्रयं प्रिये ।
नाभिं चक्रं विजानीयाच्छक्तिं नादान्तरूपिणीम् ॥
बिन्दुदेशोद्भवं दण्डं वज्रं चित्तमभेदकम् ।
दंष्ट्रां जिह्वां महाभागे कपालं व्योममण्डलम् ॥
एषु स्थानेषु सञ्चारान्मानसी परिपठ्यते ।'

इत्यादिनयेन ऊर्ध्वं चारेण गमनेन—इत्यर्थः । अष्टेति—यदुक्तम्—

'खेचर्याः परिवारस्तु अष्टौ मुद्राः प्रकीर्तिताः ।

और लिङ्ग को प्राप्त कर यह (= खेचरी) शरीर को प्राप्त हो गयी है । भवस्थान अभवस्थान का निश्चय उच्चार के द्वारा करना चाहिये । यह मानसी (तृतीय प्रकार की खेचरी) है । इससे भिन्न पद्मा आदि आठ मुद्रायें हैं । मातृव्यूहकुल में वह इस (= खेचरी) की परिवारगामिनी (कही गयी) हैं । समस्त शरीर को जो कूट अक्षर के समान आकृति वाला (बनाया जाता है) यह मुद्रा भैरव की महामुद्रा है—ऐसा गह्वरशास्त्र में (उक्त है) ॥ -५०-५३ ॥

हृत् = हृदयकमलनाल रूप । यह तत्त्व भिन्न-भिन्न शास्त्रों में निरूपित है इस कारण अत्यन्त रहस्य होने से यहाँ विस्तारपूर्वक नहीं (कहा गया) । इसे गुरुमुख से ही जानना चाहिये । भवस्थान (भव = संसार, का स्थान = आश्रय) = शरीर । अभवस्थान = उच्चार ।

'हे प्रिये ! 'कमल' का अर्थ यहाँ हृदयकमल है और तीनों नाड़ियाँ शूल हैं । नाभि को चक्र और नादान्त को शक्ति जानना चाहिये । दण्ड बिन्दुदेश में उत्पन्न है और वज्र भेदरहित चित्त को (कहते हैं) । हे महाभागे ! जिह्वा दाँत और व्योममण्डल कपाल है । इन स्थानों में सञ्चरण के कारण (यह खेचरी मुद्रा) मानसी कही जाती है ।'

इत्यादि शास्त्र के आधार पर (उत् =) ऊपर, चार = गमन, के कारण उच्चार कहा जाता है । आठ—जैसा कि कहा गया—

शूलाष्टके च देवेशि मातृव्यूहे च ताः स्मृताः॥
पद्मं शूलं तथा चक्रं शक्तिर्दण्डं सवज्रकम् ।
दंष्ट्रा कपालमित्येवं तदशेषव्यवस्थितम् ॥' इति ॥

कूटाक्षरम् = क्षकारः । एतत्सतत्त्वं च प्राक् बहुशः प्रतिपादितम् । अनेन प्रागुद्दिष्टाया भैरवमुद्राया अपि लक्षणमुक्तम् ॥ ५३ ॥

अस्या एव सर्वत्र अविगीततां दर्शयितुं शास्त्रान्तरतोऽपि सप्रभेदं रूपमाह—

सूपविष्टः पद्मके तु हसताग्रांगुलिरश्मिभिः ।
पराङ्मुखैर्झटित्युद्यद्रश्मिभिः पृष्ठसंस्थितैः ॥ ५४ ॥
अन्तःस्थितिः खेचरीयं सङ्कोचाख्या शशाङ्किनी ।
तस्मादेव समुत्तम्ब्य बाहू चैवावकुञ्चितौ ॥ ५५ ॥
सम्यग्व्योमसु संस्थानाद् व्योमाख्या खेचरी मता ।
मुष्टिद्वितयसङ्घट्टात्धृदि सा हृदयाह्वया ॥ ५६ ॥
शान्ताख्या सा हस्तयुग्मगूर्ध्वाधः स्थितमुद्गतम् ।
समदृष्ट्यावलोक्यं च बहिर्योजितपाणिकम् ॥ ५७ ॥
एषैव शक्तिमुद्रा चेदधोधावितपाणिका ।

'हे देवेशि ! आठ मुद्रायें खेचरी का परिवार कही गयी हैं । शूलाष्टक और मातृव्यूह में उनकी स्थिति है (अथवा उनका वर्णन) है । पद्म, शूल, चक्र, शक्ति दण्ड, वज्र, दंष्ट्रा और कपाल (ये आठ शूल हैं) इस प्रकार वह सब व्यवस्थित है ।'

कूटाक्षर = क्षकार । यह तत्त्व पहले अनेक बार प्रतिपादित है । इसके द्वारा पूर्व उद्दिष्ट भैरवमुद्रा का भी लक्षण कहा गया ॥ ५३ ॥

इसका सर्वत्र मतैक्य दिखलाने के लिये दूसरे शास्त्रों में भी इसका भेद के साथ रूप बतलाते हैं—

(योगी) पद्मासन पर भलीभाँति बैठ कर हस्ताग्रअंगुलि रूपी रश्मियों, जो कि पीछे स्थित हैं (अतः) पराङ्मुख और झटिति उठ रही हैं, के द्वारा अन्तः में स्थित होता है (= कुम्भक प्राणायाम करता है) यह सङ्कोचनामक शशाङ्किनी (मुद्रा) है । उसी (आसन) से अवकुञ्चित दोनों भुजाओं को समुत्तम्बित (स्वस्तिक के आकार का बना) कर व्योमों (= पाँच छिद्रों) में सम्यक् स्थित (= ध्यानस्थ) होने से खेचरी मानी गयी है । हृदय में दोनों मुट्ठियों के सङ्घट्ट से वह हृदया नामक (कही गयी) है । दोनों हाथ ऊपर नीचे स्थित हों, बाहर की ओर (दोनों) हाथों को मिलाकर समान दृष्टि से (दोनों को) ऊपर की ओर उठा हुआ देखना शान्ता नाम्नी (मुद्रा) है ।

दशानामंगुलीनां तु मुष्टिबन्धादनन्तरम् ॥ ५८ ॥
द्राक्क्षेपात्खेचरी देवी पञ्चकुण्डलिनी मता ।
संहारमुद्रा चैषैव यद्यूर्ध्वं क्षिप्यते किल ॥ ५९ ॥
उत्क्रामणी झगित्येव पशूनां पाशकर्तरी ।
श्वभ्रे सुदूरे झटिति स्वात्मानं पातयन्निव ॥ ६० ॥
साहसानुप्रवेशेन कुञ्चितं हस्तयुग्मकम् ।
अधोवीक्षणशीलं च सम्यग्दृष्टिसमन्वितम् ॥ ६१ ॥
वीरभैरवसंज्ञेयं खेचरी बोधवर्धिनी ।
अष्टधेत्थं वर्णिता श्रीभर्गाष्टकशिखाकुले ॥ ६२ ॥

इह पद्माद्यासनस्थो योगी यदा पृष्ठसंस्थितत्वादेव पराङ्मुखैरुद्यद्रश्मिभिर्बहिर्निर्गच्छच्छशाङ्करश्मिभिर्हस्ताग्रांगुलय एव रश्मयः = रज्जवः, तैरुपलक्षितः सन् झटित्येव बाह्योपसंहारादन्तःस्थितिः स्वात्मनि एव विश्रान्तः स्यात्; तदा एवंभावितशशाङ्कत्वात् शशाङ्किनी, बाह्यस्य च सङ्कुचितत्वात् सङ्कोचाख्या इयमेका खेचरी मुद्रा । तथा तं हस्तांगुल्यादिसंनिवेशमाश्रित्य बाहू सम्यगवकुञ्चितौ समुत्तम्भ्य स्वस्तिकाकारतया अवष्टभ्य

'खमनन्तं तु मायाख्यं........................।'

यदि यही नीचे किये गये हाथों वाली है तो शक्ति मुद्रा (मानी जाती) है । दशों अंगुलियों की मुट्ठी बाँधने के बाद झट से खोल देने से यह खेचरी देवी पञ्चकुण्डलिनी मानी गयी है । यही यदि ऊपर की ओर निक्षिप्त होती है तो संहार मुद्रा होती है । यही उत्क्रामणी और पशुओं के पाश का नाश करने वाली है । (योगी जब) नीचे देखता हुआ सम्यक् दृष्टि से युक्त, दोनों हाथों को बटोर कर सुदूर छिद्र में झट से अपने को मानो गिराता हुआ (समझता है तब) यह बोधवर्धिनी खेचरी मुद्रा वीरभैरव नामवाली होती है । इस प्रकार श्री भर्गाष्टक शिखाकुल में यह आठ प्रकार की (मुद्रा) वर्णित है ॥ ५४-६२ ॥

पद्म आदि आसन से बैठा हुआ योगी जब पीछे स्थित होने के ही कारण पराङ्मुख उद्यद् रश्मियों के द्वारा बाहर निकलती हुयी चन्द्रकिरणों के द्वारा, हाथ के अग्रभाग की अंगुलियाँ ही रश्मियाँ = रस्सियाँ हैं, उनसे उपलक्षित होता हुआ झट से बाह्य (परिवेश) का उपसंहार करने से, अन्तः स्थिति वाला = आत्मा में ही विश्रान्त, हो जाता है तब इस प्रकार भावित शशाङ्कता के होने से शशाङ्किनी और बाह्य के सङ्कोच के कारण सङ्कोचा नामक यह एक खेचरी मुद्रा है । तथा उस हाथ अंगुली आदि सन्निवेश के आधार पर सम्यक् अवकुञ्चित दोनों भुजाओं को समुत्तम्बित कर = स्वस्तिक के आकार में बाँध कर,

इत्याद्युक्तेषु पञ्चसु व्योमसु सम्यगुक्तेन क्रमेण स्थानात् गाढावष्टम्भात् व्योमाख्या द्वितीया । तथा अन्तःकृताधोवर्तिदक्षिणमुष्ट्यंगुष्ठोपरिगतोच्छ्रितांगुष्ठ-वाममुष्टिलक्षणस्य मुष्टिद्वयस्य हृदि सङ्घट्टात् सा खेचरी हृदयाख्या तृतीया । तथा हस्तशब्देन बाहूपलक्षणात् बाहुयुग्ममधःस्थितवाममूर्ध्वस्थितदक्षिणमन्तःसंमुख-पाणिकत्वेऽपि उद्गतमूर्ध्वस्थितहस्तं दृष्टिसाम्येन अवलोकनीयं यदा स्यात्, तदा सा शान्ताख्या चतुर्थी । तथा एषैव शान्ताख्या एवंसंनिवेशेऽपि अधोधावितपाणिका चेत् भवेत्, तदा शक्तिमुद्राख्या पञ्चमी । तथा द्वयोरपि करयोः मुष्टिबन्धादनन्तरं दशानामपि अंगुलीनां झटित्येव तिर्यक्प्रतिक्षेपात् प्रतिकरं पञ्चकुण्डलिनीरूपत्वात् पञ्चकुण्डलिन्याख्या षष्ठीं । तथा यद्येवं दशानामपि अंगुलीनामूर्ध्वं प्रक्षेपः, तदैव एषैव पञ्चकुण्डलिनी संहारमुद्राख्या सप्तमी । संहारमुद्रात्वमेव च अस्या उत्क्रामणीत्यादिना प्रदर्शितम् । तथा अधोवीक्षणशीलत्वेन सम्यगन्तर्लक्ष्यतया दृष्ट्या समन्वितं कुञ्चितं हस्तयुग्मं विधाय सुदूरे श्वभ्रे साहसमुद्रानुप्रवेशेन झटिति स्वात्मानं पातयन्निव यदा योगी वर्धितबोधो भवेत्, तदैव इयं वीरभैरवसंज्ञा अष्टमी,—इति श्रीभर्गशिखाकुलम् ॥ ६२ ॥

एतदुपसंहरन् वीर्यवन्दनमवतारयति—

'माया नामक 'ख' (= आकाश) अनन्त है........ ।'

इत्यादि उक्त पाँच आकाशों में सम्यक् उक्त क्रम से स्थित होने के कारण = गाढ़ अवष्टम्भ के कारण, व्योमा नामक दूसरी (मुद्रा) है । तथा भीतर किये गये नीचे की ओर दायीं मुट्ठी के अंगूठे के ऊपर स्थित बाँयी मुट्ठी, जिसका अंगूठा ऊपर उठा है, वाली दोनों मुट्ठियों के हृदय में सङ्घट्ट से वह हृदया नामक तीसरी खेचरी मुद्रा है । तथा 'हस्व' शब्द से बाहु को समझने से दोनों बाहुओं को, जिसमें बाँया नीचे और दायाँ ऊपर होगा तथा दोनों के हाथ भीतर की ओर सामने होंगे, ऐसा होने पर भी जब ऊर्ध्वस्थित हाथ को समदृष्टि से देखा जाय तब वह शान्ता नामक चतुर्थी (खेचरी) मुद्रा होती है । तथा यही शान्ता नामक (मुद्रा) ऐसा ही सन्निवेश होने पर यदि नीचे की ओर गये हुये हाथों वाली होती है तब शक्तिनामक पाँचवीं मुद्रा होती है । तथा दोनों हाथों की मुट्ठी बाँधने के बाद दशों अंगुलियों के झट से तिर्यक् क्षेप से प्रत्येक हाथ में पाँच कुण्डलिनी रूप होने पञ्चकुण्डलिनी नामक छठीं (मुद्रा) है । तथा यदि इसी प्रकार दशों उंगलियों का ऊर्ध्वप्रक्षेप हो तब यह पञ्चकुण्डलिनीसंहार नामक सप्तमी मुद्रा है । इसका संहारमुद्रात्व (मूलश्लोकस्थ) ही 'उत्क्रमणी' इत्यादि के द्वारा प्रदर्शित है । तथा जब योगी अधोवीक्षणशील होने से सम्यक् अन्तर्लक्ष्यवाली दृष्टि से समन्वित तथा दोनों हाथों को कुञ्चित कर सुदूर छिद्र में साहस मुद्रा के अनुप्रवेश के द्वारा झट से अपने को मानों गिराता हुआ प्रवृद्धज्ञान वाला हो जाता है तब यह वीरभैरव नामक आठवीं मुद्रा होती है—ऐसा श्री भर्गशिखाकुल (मे उक्त) है ॥ ६२ ॥

एवं नानाविधान्भेदानाश्रित्यैकैव या स्थिता।
श्रीखेचरी तयाविष्टः परं बीजं प्रपद्यते ॥ ६३ ॥

नानाविधानिति—त्रिशूलिन्यादीन् । आसां च त्रिशूलिन्यादीनामनवक्लृप्तिपरतया सर्वासामेव स्वरूपं न उक्तम् । परं बीजमिति—सृष्टिमयं पराबीजम् । वस्तुतो हि अनयोरभेदः—इति भावः । यदागमः—

'एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
द्वावेकं यो विजानाति स वै पूज्यः कुलागमे ॥' इति ॥ ६३ ॥

अत एव आह—

एकं सृष्टिमयं बीजं यद्वीर्यं सर्वमन्त्रगम् ।
एका मुद्रा खेचरी च मुद्रौघः प्राणितो यया ॥ ६४ ॥

अतश्च तदावेश एव सर्वमुद्राणां तत्त्वम्—इत्याह—

तदेवं खेचरीचक्ररूढौ यद्रूपमुल्लसेत् ।
तदेव मुद्रा मन्तव्या शेषः स्याद्देहविक्रिया ॥ ६५ ॥

शेष इति—तदावेशशून्यः ॥ ६५ ॥

इसका उपसंहार करते हुये वीर्यवन्दन की अवतारणा करते हैं—

इस प्रकार एक ही जो श्रीखेचरी मुद्रा अनेक भेदों का आश्रयण कर स्थित है उससे समाविष्ट (योगी) परबीज को प्राप्त करता है ॥ ६३ ॥

नानाविध = त्रिशूलिनी आदि । इन त्रिशूलिनी आदि के अनवक्लृप्तिपरक (कल्पना से परे) होने से सबका स्वरूप नहीं कहा गया । परबीज = सृष्टिमय परा बीज । वस्तुतः इन दोनों (= खेचरीमुद्रा और परबीज) में अभेद हैं—यह तात्पर्य है। जैसा कि आगम है—

'सृष्टिमय बीज एक ही है और एक ही मुद्रा है—खेचरी । इन दोनों को जो एक समझता है वह कौलमार्ग में पूज्य है' ॥ ६३ ॥

इसलिये कहते हैं—

एक ही सृष्टिमय बीज है जो वीर्य सब मन्त्रों में वर्त्तमान है । एक ही मुद्रा खेचरी है जिसके द्वारा मुद्रासमूह प्राणित है ॥ ६४ ॥

इसलिये उसका आवेश ही सब मुद्राओं का तत्त्व है—यह कहते हैं—

तो इस प्रकार खेचरीचक्र के रूढ होने पर (= खेचरीमुद्रा की साधना में परिपक्व होने पर) जो रूप उल्लसित होता है उसी को मुद्रा मानना चाहिये । शेष तो देह का विकार है ॥ ६५ ॥

आसामेव च बन्धाय कालभेदं निरूपयितुमाह—

यागादौ तन्मध्ये तदवसितौ ज्ञानयोगपरिमर्शे ।
विघ्नप्रशमे पाशच्छेदे मुद्राविधेः समयः ॥ ६६ ॥

ननु एवं समये मुद्राबन्धेन किं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

बोधावेशः सन्निधिरैक्येन विसर्जनं स्वरूपगतिः ।
शङ्कादलनं चक्रोदयदीप्तिरिति क्रमात्कृत्यम् ॥ ६७ ॥

चक्रोदयदीप्तिरिति—सप्तमाह्निकनिरूपितस्थित्या उदितानां मन्त्राणां दीप्तिः = दीपनमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

एतदेव अर्धेन उपसंहरति—

इति मुद्राविधिः प्रोक्तः सुगूढो यः फलप्रदः ।

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके मुद्राप्रकाशनं नाम द्वात्रिंशमाह्निकम् ॥ ३२ ॥

शेष = उसके आवेश से शून्य ॥ ६५ ॥

इन्हीं के बन्ध के लिये कालभेद का निरूपण करते हैं—

याग के प्रारम्भ में, उसके मध्य में और उसके अन्त में, ज्ञानयोग के परामर्श, विघ्नशान्ति, और पाशच्छेद में मुद्राविधि का समय होता है (= उक्त अवसरों पर मुद्राबन्ध करना चाहिये) ॥ ६६ ॥

प्रश्न—इस प्रकार के समय में मुद्राबन्ध से क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

बोधावेश, (शिव के) ऐक्य के साथ (शिव की) सन्निधि, (विश्वात्मकता का) विसर्जन, स्वरूपलाभ, शङ्कानाश, चक्रोदयदीप्ति ये कार्य क्रमशः होते हैं ॥ ६७ ॥

चक्रोदयदीप्ति = सप्तम आह्निक में वर्णित स्थिति के अनुसार उदित मन्त्रों की दीप्ति = दीपन ॥ ६७ ॥

इसी का श्लोकार्ध से उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार सुगूढ मुद्राविधि कही गयी जो कि फलप्रद है ।

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्य अभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के द्वात्रिंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३२ ॥

इति शिवम् ॥

श्रीखेचरीसतत्त्वप्रविमर्शसमुन्मिषच्चिदावेशः ।
द्वात्रिंशं निरणैषीदाह्निकमेतज्जयरथाख्यः ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते मुद्राप्रकाशनं नाम द्वात्रिंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३२ ॥

खेचरीतत्त्व के विमर्श के द्वारा समुन्मिषित चिदावेश वाले जयरथ ने बत्तीसवें आह्निक का समापन किया ।

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के द्वात्रिंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३२ ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

श्रीजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते

द्वात्रिंशमाह्निकम्

शुद्धाशुद्धाध्वभिदा द्विगह्वरं मुद्रयत्यशेषजगत् ।
संविद्रूपतया यः कलयतु स किल्विषं सतां कालः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित

श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक

हिन्दी भाष्य संवलित

श्री तन्त्रालोक

का

बत्तीसवाँ आह्निक

शुद्ध-अशुद्धाध्वावरी-युग-जग-मुद्रक काल ।
संविद्रूपतया प्रसे सज्जन-किल्विष-जाल ॥

इदानीं मुद्राविधिमभिधातुमुपक्रमते

अथ कथये मुद्राणां गुर्वागमगीतमत्र विधिम् ।

तमेव आह

मुद्रा च प्रतिबिम्बात्मा श्रीमद्देव्याख्ययामले ।
उक्ता बिम्बोदयश्रुत्या वाच्यद्वयविवेचनात् ॥ १ ॥

तत्र श्रीदेव्यायामले

'प्रतिबिम्बोदयो मुद्रा.... .... ।'

आचार्य जयरथ इस आह्निक के आरम्भ में ही अशेष विश्व पर एक व्यापक दृष्टि निक्षेप कर रहे हैं। जगत् पर दृष्टि जाते ही उनके मस्तिष्क में यह विचार विद्युत् की तरह कौंध गया कि,

शुद्ध और अशुद्ध नामक द्विगह्वर इस विश्व को संविद्रूप से कोई तत्त्व मुद्रित कर रहा है। उस तत्त्व पर तुरत मनीषा दौड़ गयी। यह स्पष्ट हो गया कि, वह तत्त्व महाकाल ही है। उसी काल तत्त्व से यह प्रार्थना भी कर रहे हैं कि, इस विभेदमय किल्बिष भाव को वह सज्जनों के हृदय से दूर करे।

आह्निक के आरम्भ में शास्त्रकार मुद्राओं की विधि के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हुए कह रहे हैं कि,

प्रस्तुत आह्निक में गुरु परम्परा से प्राप्त आगमों में वर्णित मुद्रा विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ। अपनी इसी प्रतिज्ञा की पूर्त्ति के उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रथम कारिका का अवतरण कर रहे हैं—

मुद्रा प्रतिबिम्बात्मक होती है। यह बात श्रीदेव्या-यामल शास्त्र में कही गयी है। वहाँ की उक्ति का उदाहरण आचार्य जयरथ ने दिया है। उनके अनुसार—

'प्रतिबिम्ब का उदय ही मुद्रा है।'

इत्येवंरूपाया बिम्बोदयश्रुतेः पञ्चमीषष्ठ्यर्थबहुव्रीहिद्वारस्य वाच्यद्वयस्य विवेकमाश्रित्य परसंविदाकृतिरूपत्वात् प्रतिबिम्बात्मा मुद्रा उक्तेति वाक्यार्थः। इदं च अत्र वाच्यद्वयम्—प्रतिराभिमुख्ये, तेन बिम्बसंनिधिं निमित्तीकृत्य बिम्बैकनियत उदयो यस्येति बिम्बस्य प्रतिबिम्बोत्पत्तिनिमित्तत्वमुक्तम्, बिम्बस्य अभिव्यक्तिलक्षण उदयः प्रतिगतः प्राप्तो यस्मादिति प्रतिबिम्बस्य ज्ञप्त्युपायत्वमिति। यद्वा

'मुद्रा बिम्बोदयो नाम्ना ....।'

इतिबिम्बोदयश्रुतेः प्रतिशब्दार्थमपहायैव व्याख्येयम् ॥ १ ॥

यह स्पष्ट उल्लेख है। इसे 'बिम्बोदयः श्रुति' कहकर आचार्य ने इसके महत्त्व का ख्यापन किया है। इस श्रुति में पञ्चमी कारकार्थ और षष्ठी विभक्त्यर्थ बहुव्रोहि-द्वारक वाच्यद्वयार्थ विज्ञान का उपयोग करने पर अर्थानुभूति को नयी दिशा मिलती है। बिम्ब से उदय और बिम्ब का उदय इन दोनों प्रयोगों में प्रथम प्रयोग पञ्चमी विभक्ति का अर्थ दे रहा है। दूसरे प्रयोग में षष्ठी विभक्ति का विलास एक अभिनव अर्थ में उल्लसित कर रहा है।

'प्रतिबिम्बोदय' शब्द में प्रतिउपसर्ग आभिमुख्य का द्योतक है। अर्थात् बिम्ब नितान्त संनिध्य में है, एकदम पास में ही मानो। उसी का एकमात्र नियत भाव से उसी का ही उदय हो रहा है और उसी से हो रहा है, यह स्पष्ट विवेक हो रहा है। एक तरह से प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति का वही निमित्त है। प्रतिबिम्व की अभिव्यक्ति हो रही है। यह अभिव्यक्ति ही उसका उदय है। यह किससे उदित अथवा अभिव्यक्त हो रहा है, इस प्रश्न का स्वयम् बिम्ब ही उत्तर है।

वही प्रतिबिम्ब की ज्ञप्ति का उपाय है। इसी भाव को अभिव्यक्त करने वाली एक दूसरी उक्ति भी देव्याख्ययामल शास्त्र में है—

"बिम्ब का उदय ही नामतः मुद्रा मानी जाती है।"

तदेव तात्पर्यद्वारेण आह

बिम्बात्समुदयो यस्या इत्युक्ता प्रतिबिम्बता।

बिम्बस्य यस्या उदय इत्युक्ता तदुपायता॥ २॥

समुदय इति उत्पत्तिः । यस्या इति प्रतिबिम्बरूपाया मुद्राया इति षष्ठ्यर्थः, यस्याश्च सकाशादिति पञ्चम्यर्थः । उदय इति ज्ञप्तिस्तदुपायतेति ज्ञप्तिद्वारिका बिम्बोपायतेत्यर्थः॥ २॥

इस उक्ति में प्रति उपसर्ग का प्रयोग नहीं है। केवल 'बिम्बोदय' शब्द ही प्रयुक्त है। यह ध्यान देने की बात है कि, इस प्रयोग में भी वाच्यद्वय का विवेक सरलता से हो रहा है। इसलिये यह कथन समर्थित हो जाता है कि, बिम्बोदय श्रुति से वाच्यद्वय विवेक सरलता पूर्वक हो रहा है।

पञ्चम्यन्तार्थबहुव्रीहि का विग्रह वाक्य 'उदयः यस्मात्' अर्थात् 'बिम्ब की अभिव्यक्ति प्रतिगत है जिससे, वही प्रतिबिम्ब की ज्ञप्ति का उपाय है' इस प्रकार पूरा होता है।

षष्ठ्यर्थ बहुव्रीहि में बिम्ब से नियत उदय हो रहा है जिसका, वही प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति का निमित्त है, यह विग्रह वाक्य अर्थ को स्पष्ट करता है॥ १॥

इसी का तात्पर्य स्पष्ट कर रहे हैं—

बिम्ब से समुदय अर्थात् उत्पत्ति होती है जिसकी, वही बिम्ब की प्रतिबिम्ब रूपा मुद्रा मानी जाती है। यहाँ समुदय ही उत्पत्ति है। पञ्चम्यर्थ में उदय ज्ञप्ति है। ज्ञप्ति द्वारिका बिम्बोपायता है। यह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ प्रतिबिम्बता और तदुपायता शब्द बिषय के वास्तविक अर्थ की ओर संकेत कर रहे हैं। प्रतिबिम्बता बिम्ब की होती है और उपायता बिम्ब की ज्ञप्ति से सिद्ध होती है। मुद्रा के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने के लिये भगवान् शास्त्रकार ने इतनी गहराई से वाच्यद्वय का विवेचन किया है।

एवं मुद्राशब्दस्य रूढिमुपदर्श्य योगमपि दर्शयति

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम् ।
रात्यर्पयति तत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता ॥ ३ ॥

यद्यपिच अत्र

'इत्याशयेन मुद्रा मोचयते पाशजालतोऽशेषात् ।
कायीयान्पुर्यष्टकसंस्कारान्द्रावयेत्तथा मन्त्रम् ॥
योगं क्रियां च चर्यां मुद्रयति तदेकरूपतया ।'

इत्यादिदृष्ट्या बहुधा यागः सम्भवति, तथापि परानन्दनिर्भरस्वरूपताधायितया अयमेव मुख्य इति एतावदेव उक्तम् ॥ ३ ॥

इसी तथ्य का आचार्य जयरथ ने भी पूर्ण विवेचन किया है। यस्याः पञ्चमी और षष्ठी दोनों विभक्तियों का एकवचनान्त रूप है। प्रथम 'यस्या' प्रतिबिम्बरूपा मुद्रा की उत्पत्ति का बोधक है और दूसरा जिससे उदय अर्थात् ज्ञप्ति होती है, इसका बोधक है ॥ २ ॥

इस प्रकार मुद्रा शब्द की रूढि का ख्यापन हो रहा है। मुद्रा शब्द का यौगिक अर्थ भी शास्त्रों में प्रचलित है । उसी का प्रदर्शन कर रहे हैं—

'मुद' शब्द प्रसन्नता के अर्थ में व्यवहृत होता है । संसार को सर्वातिशायिनी प्रसन्नता स्वात्मस्वरूप की अधिगति रूप उपलब्धि ही मानी जाती है। प्राणिमात्र को स्वरूपताख्याति रूप मुद् अर्थात् प्रसन्नता को जो शरीर के माध्यम से ही अर्पित करती है, वही मुद्रा है, यह शास्त्रों में वर्णित है।

इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि, स्वरूपलाभाख्य मुद्, देह द्वारा ही जो आत्माओं को राति अर्थात् अर्पित करती है, वही मुद्रा है।

आसामेव गुणप्रधानभावं तावत् दर्शयति

तत्र प्रधानभूता श्रीखेचरी देवतात्मिका ।
निष्कलत्वेन विख्याता साकल्येन त्रिशूलिनी ॥ ४ ॥
करङ्किणी क्रोधना च भैरवी लेलिहानिका ।
महाप्रेता योगमुद्रा ज्वालिनी क्षोभिणी ध्रुवा ॥ ५ ॥
इत्येवंबहुभेदेयं श्रीखेचर्येव गीयते ।

यद्यपि यहाँ अर्थात् शास्त्रों में,

'मुद्रा अशेष अर्थात् सम्पूर्ण पाशराशि से मुक्त करती है और काया के माध्यम से मिले सारे मलात्मक पुर्यष्टक संस्कार-कदम्बक को द्रावित करती है, तथा अपने इस मुद्रात्मक रूप से मन्त्र, योग, क्रिया और चर्या को मुद्रित करती है, वही मुद्रा है'।

इस प्रकार की व्याख्या भी मिलती है, और ऐसी ही अन्य अनेक यौगिक अर्थ भी किये जा सकते हैं। फिर भी श्लोक ३ में व्यक्त यौगिक अर्थ रूप व्याख्या स्वरूपख्याति रूप परानन्द-निर्भर-भाव का आधान करती है। अतः यही यौगिक व्याख्या सर्वोत्तम और सर्व प्रमुख रूप से स्वीकार्य है ॥ ३ ॥

मुद्राओं के गौण और प्रधान भावों की ओर अध्येता का ध्यान शास्त्रकार आकर्षित कर रहे हैं—

समस्त मुद्राओं में देवतात्मिका और प्रधानभूता मुद्रा श्रीखेचरी ही मानी जाती है। यह निष्कल मुद्रा है, इस रूप में यह प्रसिद्ध है। साकल्य दृष्टि से इस पर विचार करने से इसके अनेक रूप और भेद अनुभूत होते हैं। उन्हें शास्त्र त्रिशूलिनी, करङ्किणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहानिका, महाप्रेता, योगमुद्रा, ज्वालिनी, क्षोभिणी और ध्रुवा आदि संज्ञाओं से विभूषित करते हैं। इन भेदों प्रभेदों और एक प्रकार के विशेषणों के विस्तार के रहते हुये भी

ध्रुवेति खेचरीविशेषणं, तस्या हि त्रिशूलिन्यादिसकलरूपोपग्रहेऽपि न निष्कलाद्रूपात्प्रच्याव इति अभिप्रायः। उक्तं हि

'इयं सा खेचरी मुद्रा निष्कला परिकीर्तिता।
सकलं रूपमेतस्या भेदैस्तैस्तैरवस्थितम् ॥' इति।

ननु त्रिशूलिन्यादिवदन्या अपि एतदङ्गभूता मुद्राः सम्भवन्तीति कथमिह ता अपि न उक्ता इत्याशङ्क्य आह

अन्यास्तदङ्गभूतास्तु पद्माद्या मालिनीमते ॥ ६ ॥
तासां बहुत्वामुख्यत्वयोगाभ्यां नेह वर्णनम् ।

अर्थात् सकल रूपों से आकलित किये जाने पर भी श्रीखेचरी अपने निष्कल रूप का परित्याग नहीं करती अर्थात् निष्कलता का प्रच्याव इससे नहीं होता। कहा गया है कि,

'यह वह खेचरी मुद्रा है, जिसे निष्कला मुद्रा कहते हैं। इसके अनेकानेक सकल रूप भी होते हैं। उन-उन रूपों में यही देवतात्मिका मुद्रा स्वात्म भाव से उल्लसित रहती है।'

शास्त्रकार ने इसका सर्वोपरि महत्व स्वीकार किया है और इसे शास्त्र में सर्वप्रथम स्थान दिया है ॥ ४-५ ॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, गुरुदेव! त्रिशूलिनी आदि की तरह अन्य अनेक अङ्गभूत मुद्रायें भी होती हैं। यहाँ खेचरी मुद्रा की ही अङ्गभूत वे मुद्रायें क्यों नहीं कही गयीं हैं? गुरुदेव ने कहा—वत्स! शास्त्रकार ऐसी आशङ्काओं से अवगत थे। उन्होंने स्वयं कहा है कि,

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के अनुसार 'पद्मा' आदि कई भेद स्वीकृत हैं। वास्तविकता यह है कि, प्रथम तो ऐसे अनेकानेक भेद हो सकते हैं और दूसरे यह कि, वे मुख्य नहीं होते। अतएव महत्त्वहीन होते हैं। इसलिये उनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है ॥ ६ ॥

ननु श्रीमालिनीमते पद्ममुद्रादिसाहचर्येणैव श्रीखेचरी अपि निर्दिष्टा, तत् सैव प्रधानेति तु कुतस्त्यमित्याशङ्क्य आह

श्रीखेचरीसमाविष्टो यद्यत्स्थानं समाश्रयेत् ॥ ७ ॥

देवीसंनिधये तत्स्यादलं किं डम्बरैर्वृथा ।

अलमिति पर्याप्तम् ॥ ७ ॥

ननु आसामपि

'याभिः संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात् ।'

इत्याद्युक्त्या साधकविषयं मुख्यत्वमस्तीति कथमेवमुक्तमित्याशङ्क्य आह

काम्ये कर्मणि ताश्च स्युर्मुख्याः कस्यापि जातुचित् ॥ ८ ॥

मालिनी मत में पद्मादि मुद्रा के साहचर्य में ही श्रीखेचरी मुद्रा निर्दिष्ट है। ऐसी अवस्था में वही प्रधान है, ऐसा क्यों माना जाता है? इस प्रश्न का उत्तर शास्त्रकार दे रहे हैं—

शास्त्रकार की मान्यता है कि, श्रीखेचरी मुद्रा ही प्रधान मुद्रा है। इस मुद्रा में समाविष्ट होकर साधक धन्य हो जाता है। खेचरी समावेश-सिद्ध साधक जिन-जिन स्थानों का आश्रय ग्रहण करता है, वे स्थान देवी के सान्निध्य के लिये अलम् अर्थात् देवी के साक्षात्कार कराने में पूर्ण समर्थ होते हैं। ऐसी अवस्था में व्यर्थ के आडम्बर से क्या लाभ? अर्थात् अप्रधान मुद्राओं के वर्णन का कोई विशेष अर्थ या तात्पर्य नहीं है ॥ ७ ॥

एक आगमिक उक्ति है कि,

"इन खेचरी की अङ्गभूत मुद्राओं से संरक्षित मन्त्र जप में निरत साधक मन्त्रों की सिद्धि प्राप्त कर लेता है।"

इससे यह सिद्ध होता है कि, साधक को सिद्धि प्रदान करने की सामर्थ्य के कारण इनमें भी मुख्यता माननी चाहिये। ऐसी स्थिति में भी उनमें

कस्यापीति साधकस्यैव, नतु पुत्रकादेः। जातुचिदिति नतु नित्यवत् सर्वकालम् ॥ ८ ॥

इह पुनर्मोक्षाख्यमुख्यार्थप्रतिपादनपरत्वादस्य ग्रन्थस्य काम्यमेव कर्म न उक्तमिति तदुपयोगिना अपि मुद्रावर्णनेन कोऽर्थ इत्याह—

तच्च नास्माभिरुदितं तत्किं तदुपयोगिना ।

गौणत्व का आरोप लगाकर उनकी उपेक्षा क्यों की गयो है ? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

काम्यकर्मों में कभी-कभो यह देखा जाता है कि, ये अङ्गभूत मुद्रायें भी मुख्यरूप से किसो किसी को कार्यसाधिका हो जाती हैं और अपनी मुख्यता सिद्ध कर देती हैं। प्रस्तुत कारिका में 'कस्यापि' और 'जातुचित्' दो प्रयोग ध्यान आकर्षित करते हैं। किसी-किसो साधक को ही ये कार्य साधिकायें होती हैं। पुत्रक सदृश साधकों की सिद्धि इनसे नहीं होतो। जातुचित् का तात्पर्य यह है कि, ये कभी-कभो कदाचित् कार्य तो सिद्ध कर देती हैं किन्तु ये नित्य ऐसा नहीं कर पातीं अर्थात् सार्वकालिक नित्य कार्य साधिका नहीं हैं ॥ ८ ॥

एक विशेष तथ्य की ओर अध्येता का ध्यान आकर्षित कर रहे है। श्री तन्त्रालोक नामक यह महाग्रन्थ मुख्यतया मोक्ष का प्रतिपादक शास्त्र है। मोक्ष नामक परम पुरुषार्थ के प्रतिपादन के उद्देश्य से हो यह अवतरित है। इसमें काम्य कर्म पर विशेष प्रकाश नहीं निक्षिप्त किया गया है। फिर भी काम्यकर्म के उपयोग में आने वाली मुद्रायें यहाँ निर्दिष्ट की गयो हैं। इसका क्या उद्देश्य हो सकता है ? इस आशङ्का की दृष्टि-समाधायक कारिका प्रस्तुत कर रहे हैं—

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, सत्य है। मैंने तो उनका कथन किया ही नहीं। उनकी उपयोगिता आदि के सम्बन्ध में चर्चा की आवश्यकता ही नहीं आकलित को जा सको। इन मुद्राओं को एक अन्य दृष्टि से भेद-

आसां च भेदनिर्देशद्वारेण स्वरूपमभिधातुमाह—

मुद्रा चतुर्विधा कायकरवाक्चित्तभेदतः ॥ ९ ॥

तत्र पूर्णेन रूपेण खेचरीमेव वर्णये ।

वागिति मन्त्रविलापनरूपा । यदुक्तं

'करकार्यविलापान्तःकरणानुप्रवेशतः ।
मुद्रा चतुर्विधा ज्ञेया ………………… ॥'

इत्युपक्रम्य

'अङ्गुलीन्यासभेदेन करजा बहुमार्गगा ।
सर्वावस्थास्वेकरूपा वृत्तिमुद्रा च कायिकी ॥

वादिता के सम्बन्ध में शास्त्रकारों का मत है कि, मुद्रायें चार प्रकार की होती हैं—१. कायिक मुद्रायें, २. कर प्रयोगवती मुद्रायें, ३. वाचिक सिद्धिप्रदा मुद्रायें और ४. चित्तभेदिनी मुद्रायें। यह जानकारी देने के बाद यहाँ अब मैं पूर्णरूप से खेचरी मुद्रा का ही अर्थात् चतुर्भेद सिद्ध खेचरी का ही वर्णन करने जा रहा हूँ।

जहाँ तक वाचिक मुद्रा का प्रश्न है, यह मात्र वागात्मिका होती है। मन्त्र उस अवस्था में वाक् में विलापन कर जाता है। इस विषय में आगमिक उक्ति है कि,

'कर, काय, विलाप और अन्तःकरणानुप्रवेश भेद से मुद्रायें चार प्रकार की होती हैं।'

इस उक्ति से प्रारम्भ कर आगे के वर्णन क्रम में कहा गया है कि,

'अङ्गुलियों के न्यास-भेद से कर अर्थात् हाथों से बनायी जाने वाला मुद्रायें अनेक प्रकार और पद्धतियों से निर्मित होती हैं। ये सभी अवस्थाओं में एक रूप ही होती हैं। कायिकी मुद्रा काया से सम्बद्ध मानी जाती हैं। यह वृत्तियों पर निर्भर करती हैं। क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर की

पञ्चमुद्राधरं चैतद्व्रतं सिद्धनिषेवितम् ।
मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलापाख्या प्रकीर्तिता ॥
ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी परिकीर्तिता ।' इति ।

पूर्णेनेति चतुर्विधेनापीत्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्रापि प्राधान्येन श्रीपूर्वशास्त्रोक्तमेव तावदस्या रूपमाह

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं क्षिपेत् ॥ १० ॥
दण्डाकारं तु तं तावन्नयेद्यावत्कखत्रयम् ।

पञ्चात्मकता से भावित वृत्तियों के प्रभाव से इनका अस्तित्व उल्लसित होता है। ये सिद्धों द्वारा निषेवित व्रत के रूप में प्रचलित हैं।

विलापाख्या मुद्रा मन्त्रतन्मयता रूपा होती है। मन्त्र वाग्रूपता में विलुप्त हो जाते हैं। वाक् से मन्त्र उच्चरित होते हैं किन्तु जब मन्त्र वाङ्मयता को प्राप्त हो कर वाक् में ही स्पन्दित हो रहे होते हैं, वहाँ वाचिकी मुद्रा का उल्लास माना जाता है। इसे ही विलापाख्या मुद्रा कहते हैं।

चौथी मुद्रा मानसी कहलाती है। इसमें ध्येय तादात्म्य सिद्ध हो जाता है। आगम इसे ध्येयतन्मया मुद्रा कहता है।

ये चार प्रकार की खेचरी मुद्रायें तन्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इनके पूर्वोक्त भेद-प्रभेदों के साथ विशिष्ट खेचरी मुद्राओं को शास्त्रकार को प्रतिज्ञा के अनुसार इस पूरे आह्निक में वर्णन का विषय बनाया गया है ॥ ९ ॥

यहाँ प्रधानतः श्रीपूर्वशास्त्रोक्त इसके स्वरूप का ख्यापन किया जा रहा है—

सर्व प्रथम योगयुक्त साधक पद्मासन सिद्ध होकर विराजमान हो जाये। पद्मासन सिद्ध हो जाने पर सुखासन हो जाता है। पद्मासन का नामतः उल्लेख इस प्रक्रिया में इसके महत्त्व का ही निर्देश करता है। इस आसनबन्ध में बैठ कर अक्षेश्वर अर्थात् इन्द्रियाधीश्वर मन को नाभिकेन्द्र में अवस्थित

निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ॥ ११ ॥
एतां बद्ध्वा खे गतिः स्यादिति श्रीपूर्वशासने ।

स्थिरसुखासनस्थो हि योगी जन्माधारादुदेत्य नाभिदेशे मनो निवेश्य तत्रैव बहुशः परिभ्राम्य मध्यप्राणशक्त्येकीकारेण दण्डाकारतया मूर्धन्यं

करना चाहिये। क्षिपेत् क्रिया नियन्त्रण कर केन्द्रावस्थित करने का संकेत कर रही है। अश्विनी मुद्रा द्वारा प्राणापानवाह को परिचालित करने के क्रम में पूरक करते हुए कुम्भक में अवस्थित हो जाय। कुम्भक दशा में प्राण दण्ड के आकार का सीधा ऊर्ध्वोत्थान प्राप्त कर लेता है। साधक इस प्राण दण्ड को क-ख त्रयपर्यन्त ले जाय। इसकी विशिष्ट विधि है। चक्र साधना का यह विषय है। कुण्डलिनी जागृत करने की यही प्रक्रिया है।

प्राण तालुरन्ध्र से ऊपर आज्ञा चक्र में प्रवेश करता है। आज्ञा के केन्द्र में बिन्दु का स्थान अ, उ और म् के ऊपर माना जाता है। बिन्दु के ऊपर अर्धचन्द्र और निरोधिनी को पार कर नाद तक पहुँचते हैं। ब्रह्मरन्ध्र में प्राणदण्ड समाप्त होकर नाद में स्पन्द रूप से आगे बढ़ता है। इस प्रकार नादतक विन्दु का क्षेत्र माना जाता है। इसी में ब्रह्मरन्ध्र भी आ जाता है। इस प्रकार विन्दु ब्रह्मरन्ध्र और नाद ये तीन कखत्रय प्रसिद्ध योगसिद्धि के मुख आधार विन्दु सिद्ध हो जाते हैं।

यहाँ कुम्भक वृत्ति में ही अवस्थिति रहती है। इसी वृत्ति में नादान्त को पारकर पुनः खत्रय रूप शक्ति, व्यापिनी और समना चक्रों की यात्रा में योगी युक्त हो जाता है। इसे खत्रय यात्रा में प्राण को प्रेरित करने की प्रक्रिया के रूप से जाना जाता है। विन्दु से लेकर समना तक भी इस प्राण प्रक्रिया में क्षेप, आक्रान्ति, चिदुद्बोध; स्थापन, दीपन और तत्संवित्ति नामक छः स्पन्दोल्लास होते हैं। यह खत्रय-खत्रय की यात्रा के छः स्पन्द माने जाते हैं। इस स्पन्दोल्लास को 'उद्घात' प्रक्रिया भी कहते हैं।

बिन्दुनादब्रह्मरन्ध्रलक्षणं खत्रयं यावत् नीत्वा तत्रैव कुम्भकानुवृत्त्या निरुध्य शक्तिव्यापिनीसमनात्मना खत्रयेण तूर्णमुद्घातगत्या प्रेरयेदुन्मनापदाक्रमणेन परमशिवाभिमुख्यं नयेत् येन अस्य एतदवष्टम्भेन परबोधगगनचारित्वं स्यात् ।

अस्या एव अवान्तरभेदसहितायाः श्रीयोगसञ्चारोक्तं रूपं निर्दिशति

ध्वनिज्योतिर्मरुद्युक्तं चित्तं विश्रम्य चोपरि ॥ १२ ॥
अनेनाभ्यासयोगेन शिवं भित्त्वा परं व्रजेत् ।

समना ही सहस्रार चक्र का प्रतिष्ठान है। इस चक्र तक शक्ति, व्यापिनी और समना की संयुक्त शक्तिमत्ता काम करती है। यह द्वितीय खत्रय है। यहाँ से ऊर्ध्व की ओर शाक्त गतिशीलता के लिये एक अभिनव प्रयत्न की आवश्यकता होती है। 'उद्घात' प्रक्रिया से प्राण को प्रेरित कर अधोमुख कमल के मध्यनालछिद्र से तीन अराओं के सहारे साधक उन्मना पद में प्रतिष्ठित हो जाता है। उन्मना पर बन्धन अर्थात् नियन्त्रण हो जाने पर आकाशचारिता की गति निश्चित रूप से प्राप्त हो जाती है, यह श्रीपूर्वशास्त्र कहता है। श्रीपूर्वशास्त्र मालिनी विजयोत्तरतन्त्र को ही कहते हैं। यह खेचरीशक्ति पर विजय की साधना यात्रा का स्वरूप है। यहाँ जो सबसे बड़ी उपलब्धि होती है—वह पर-शिवाभिमुखता है। पर शिवरूप गगन में अनुप्रवेश से साधक का अस्तित्व धन्य हो जाता है। उसको शैवतादात्म्य-सिद्धि हो जाती है। वह परशिव भाव में शाश्वतविहार करता है। यही परबोध गगनचारित्व है। यहाँ अवष्टम्भ हो जाने पर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का शरीर की पार्थिवता पर प्रभाव समाप्त हो जाता है और अणिमा की सिद्धि हो जाती है। शरीर हल्का हो जाता है। वह सचमुच आकाशचारी हो जाता है ॥ १०-११ ॥

इसी मुद्रा की अवान्तर-भेदरूपता की चर्चा कर रहे हैं। यह क्रम श्री योगसञ्चर शास्त्र के अनुसार कहा जा रहा है—

ध्वनिर्नादः, ज्योतिर्बिन्दुः, मरुत् शक्तिः, तेन तद्द्वादशान्तं ब्रह्म-रन्ध्रम् । एवं जन्माधारात्प्रभृति एतद्व्योमत्रययोगि चित्तं विधाय तत्रैव निविडध्यानेनैव क्रमेण उपरितनं शक्त्यात्मकमपि खत्रयं भित्त्वा योगी परं शिवं व्रजेदिति वाक्यार्थः ।

एतदनुवेधेन त्रिशूलिन्यापि अपि रूपमाह

जत्र्वधस्तात्करौ कृत्वा वामपादं च दक्षिणे ॥ १३ ॥
विदार्यास्यं कनिष्ठाभ्यां मध्यमाभ्यां तु नासिकाम् ।

ध्वनि (नाद) ज्योति (विन्दु) मरुत् (शक्ति) इन तीनों व्योमत्रय से चित्त को युक्त करने की प्रक्रिया अपनानी चाहिये । इस विधि का संकेत आचार्य जयरथ ने 'जन्माधारात् प्रभृति एतद्व्योमत्रययोगि' प्रयोग द्वारा किया है । जन्माधार से अश्विनी मुद्रा के प्रयोग से प्राणापानवाह चक्रों को पार करता हुआ विन्दु, नाद और नादान्त रूप खत्रय तक पहुँचता है । यहाँ 'मरुद्' प्राण के लिये ही प्रयुक्त है । जब इन तीनों से एक योगात्मकता सिद्ध हो जाती है, तो योगी निविड ध्यान योग से उपरितन शक्ति, व्यापिनी और समना रूप खत्रय का भेदन करते हैं। इससे योगी पर-शिव भाव को प्राप्त कर लेता है। आचार्य को विवेक व्याख्या में शक्ति, के बाद 'तेन द्वादशान्तं ब्रह्मरन्ध्रम्' इतना लेख प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। आचार्य सदृश परमगुरु यह अपार्थक प्रयोग नहीं कर सकता ॥ १२ ॥

इसी अनुवेध के माध्यम से त्रिशूलिनी के रूप का निरूपण कर रहे हैं—

त्रिशूलिनी शब्द से ही अन्वर्थ रूप से यह आकलित होता है कि, इसमें त्रिशूल की आकृति की प्रतिच्छाया-सी उपलक्षित होती है। यह सच्चाई भी है। इसमें त्रिशूल का प्रयोग किया भी जाता है । त्रिशूल विधि को अपनाने के कारण ही इसे त्रिशूलिनी कहते हैं। सर्वप्रथम दोनों हाथों को गले के नीचे की दो गोलाकार हड्डियों के नीचे ले जाना चाहिये । देशज प्रयोग में इन्हें

अनामे कुञ्चयेत्प्राज्ञो भ्रूभङ्गं तर्जनीद्वयम् ॥ १४ ॥
जिह्वां च चालयेन्मन्त्री हाहाकारं च कारयेत् ।
त्रिशूलेन प्रयोगेण ब्रह्मरन्ध्रमुपस्थितः ॥ १५ ॥
पदं सन्त्यज्य तन्मात्रं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

जत्रुशब्देन अत्र कण्ठो लक्ष्यते तेन तदध इत्यर्थः । नासिकामिति तद्रन्ध्रद्वयम्, चालयेदिति भ्रूभङ्गादौ त्रयेऽपि योज्यम् । तन्मात्रमिति स्थितम् । मेदिनीं त्यजतीति देहाद्यहन्तापहस्तनेन परबोधाकाशचारी भवेदित्यर्थः ॥ १३-१५ ॥

'हँसुली' कहते हैं । संस्कृत में उन्हें ही जत्रु कहते हैं। उन्हीं के नीचे हाथ ले जाना है । बैठने की मुद्रा में पलत्थी नहीं लगानी है, वरन् बाँये पाँव को दाहिने पर रखना चाहिये। फिर हाथों को मुँह तक ऊपर उठा दोनों कनिष्ठिकाओं से मुख को फैलाना चाहिये । साथ ही दोनों बिचली अङ्गुलियों का नाक के छिद्रों में डालकर उभयतः फैलाना चाहिये ।

बुद्धिमान् साधक अनामिकाओं का आकुञ्चन करके ही उपर्युक्त प्रक्रिया अपनाये । इसके बाद दोनों भौंहों, दोनों तर्जनियों, और जीभ इन तीनों अवयवों को चालित करें । इसके साथ ही फैले हुए मुँह की दशा में गले से 'हा' 'हा' 'हा' की ध्वनि भी करता रहे । इधर प्राणापान के नियन्त्रण पूर्वक त्रिशूल विधि अपनाये । इस विधि के फलस्वरूप ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थिति हो जाती है । यही नहीं, इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है कि, इस अवस्था में तन्मात्राओं के प्रभाव का प्रत्यावर्त्तन हो जाता है और मेदिनी अर्थात् शरीर की पार्थिव सत्ता की अनुभूति का अर्थात् देहाध्यास और देह सम्बन्धिनी अशुद्ध अहन्ता का अपहस्तन हो जाता है। साधक इस अवस्था में स्थित होकर परबोध रूप शून्य गगन में विहार की शक्ति से समन्वित हो जाता है। यह एक प्रकार की आकाशचारी होने की ही दशा मानी जा सकती है ॥ १३-१५ ॥

त्रिशूलप्रयोगमेव शिक्षयति

शून्याशून्यलये कृत्वा एकदण्डेऽनिलानलौ ॥ १६ ॥

शक्तित्रितयसम्बद्धे अधिष्ठातृत्रिदैवते ।

त्रिशूलं तद्विजानीयाद्येन व्योमोत्पतेद्बुधः ॥ १७ ॥

एवंविधोऽयमनिलानलौ प्राणापानावर्थात् मध्यप्राणे समरसितौ कृत्वा अत एव एकस्मिन्मूलाधारात्प्रभृति ऊर्ध्वं प्रसरणात् दण्डाकारे च तस्मिन् जाते सति तदेवं प्रयुज्यमानं त्रिशूलं विजानीयात् येन अस्य व्योमोत्पतनं स्यात्। एकदण्डाकारं मध्यप्राणमेव विशिनष्टि अधिष्ठातृत्रिदैवते इति भ्रूमध्याद्यवस्थितेश्वरसदाशिवानाश्रिताख्यकारणत्रयाधिष्ठिते इत्यर्थः। तथा

त्रिशूल प्रयोग को विधा का निर्देश कर रहे हैं—

इस प्रकार परबोधाकाशचारी साधक अनिल रूप अपान और अनल रूप प्राण इन दोनों को समरस दशा में अवस्थित कर देता है। यह समरसता मध्यप्राण रूपी एक दण्डात्मक अवस्था में आती है। मूलाधार से अश्विनी मुद्रा की सिद्धि के उपरान्त ऊर्ध्वप्रसरण का क्रमिक अनुसन्धान साधक को होता रहता है। श्वासजित् होने पर प्राण की दण्डाकारता का साक्षात्कार हो जाता है। उस एक दण्ड के वैशिष्ट्य पर ध्यान देने पर तीन बातें विशेष रूप से सामने आती हैं—१. इस दण्ड में अनाहत बिन्दु पर ईश्वर अधिष्ठित हैं। २. विशुद्ध बिन्दु पर सदाशिव अधिष्ठित हैं और ३. भ्रूमध्य में अनाश्रित शिव का अधिष्ठान है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने अधिष्ठातृत्रिदैवत का महत्त्वपूर्ण विशेषण प्रयुक्त किया है।

इसकी दूसरी विशेषता को 'शक्तित्रितय सम्बद्ध' शब्द व्यक्त कर रहा है। बिन्दु से क्षेप और आक्रान्ति रूप स्पन्दनों द्वारा यह नाद और नादान्त अवस्थानों को पार कर चिदुद्बोध से शक्ति में, स्थापन से व्यापिनी में और दीपन से समना में संश्लिष्ट होता है। यही शक्तित्रितय की सम्बद्धता है।

शक्तिव्यापिनीसमनासम्बद्धे तत्संयोगमाप्ते, अत एव परपदप्राप्त्या शून्याशून्य-लये विगलितसदसदादिशब्दव्यवहारे इत्यर्थः ॥ १६-१७ ॥

नच एतावतैव अयं व्योम उत्पतेदित्याह

आकाशभावं सन्त्यज्य सत्तामात्रमुपस्थितः ।
शूलं समरसं कृत्वा रसे रस इव स्थितः ॥ १८ ॥

तीसरा और अप्रतिम महत्त्व का इसका विशेषण है—शून्याशून्यलयत्व । शून्य यहाँ पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त है। विन्दु नाद और नादान्त के साथ ही शक्ति, व्यापिनी और समना रूप दो शून्य त्रिकों का वर्णन श्लोक ११ में अभी-अभी किया गया है। इनमें रहने पर यह एकदण्डात्मकता शून्य में उल्लसित रहती है। जब इस शून्य दशा को पार करती है, तो अशून्य रूपता में अभिमुख हो जाती है। उन्मना की परावस्था में परमशिवता की तादात्म्यमयी अशून्यता का भी लय हो जाता है। शक्ति आदि कई दृष्टियों से इसे त्रिशूल की संज्ञा दी गयी है। इसका बोध हो जाने पर सुबुद्ध साधक त्रिशूलिनी द्वारा खेचरत्व प्राप्त कर लेता है ॥ १६-१७ ॥

प्राणापान साधना की यह एक उत्कृष्ट स्थिति है। इसमें परबोधरूपी गगन में विहार की अलौकिक अनुभूतियाँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं। यह ध्यान देने की बात है कि, इस दशा में भी आकाश में उत्पतन की क्षमता नहीं होती। उसके लिये विशेष प्रयास आवश्यक होता है। यद्यपि आकाश उत्पतन आत्मोकर्ष की दृष्टि से उपादेय नहीं माना जा सकता, फिर भी चमत्कार की दृष्टि से साधक इस विद्या में भी सिद्ध हो जाता है। मत्स्येन्द्रनाथ और गुरुवर्य गोरखनाथ सदृश सिद्ध खेचरण करने में समर्थ थे, ऐसा सुना जाता है। यहाँ शास्त्रकार यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि, आकाश विहार कैसे सिद्ध हो जाता है। इसी उद्देश्य से इन कारिकाओं का अवतरण कर रहे हैं—

एकदण्डं सा विज्ञाय त्रिशूलं खचरं प्रिये ।
बद्ध्वा तु खेचरीं मुद्रां ध्यात्वात्मानं च भैरवम् ॥ १९ ॥
खेचरीचक्रसंजुष्टं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

एवं खचरमेकदण्डं त्रिशूलं विज्ञाय तत्तदवच्छेदाधायि सत्तामात्रमपि परित्यज्य खेचरीमुद्राबन्धमाविश्य स बुधः पराकाशरूपतामुपस्थितः सन् स्थितस्तत्रैव रसे इव रसं शूलमपि समरसीकृत्य खेचरीचक्रसंजुष्टमात्मानं भैरवं ध्यात्वा च सद्य एव मेदिनीं त्यजतीति सम्बन्धः ॥ १८-१९ ॥

साधक सत्ता-भाव का परित्याग कर दे। असत्ता मात्र में अवस्थित हो जाय। यह असाधारण अवस्था है। सत्ता मात्र में स्थित साधक काल में नहीं रहता है। वह शाश्वत में वर्त्तमान हो जाता है। काल को अतिक्रान्त करना असत्तामात्र में अवस्थान माना जाता है। मानव जीवन की यह शिखर स्थिति होती है। उस समय शूल समरस हो जाता है। रस रूप परामृत में रसानन्द रूप आत्मतत्त्व के सम्मिलन से तादात्म्यमयी रसानुभूति सिद्ध हो जाती है, उसी तरह शूल को समरस करने से श्वासजित् अवस्था सिद्ध होती है। उस समय साधक को यह स्फुरित हो जाता है कि, इस समय प्राणापानकी एकदण्डात्मकता ऊर्ध्वत्रिशूल के ऐकात्म्य से समन्वित है और खत्रय से भी एक रस हो चुकी है। यह जानकारी निरन्तर हो रही होती है। साधकस्वात्म भैरव भाव से खेचरीचक्र से बँधा हुआ है। इस दशा में वह ध्यान में प्रतिष्ठित हो जाता है। उस ध्यान को गहराई में साधक के विराट व्यक्तित्व के समस्त संकोच अपास्त हो जाते हैं। अब वह एक अभौतिक अस्तित्व का प्रतीक बन जाता है। उस पर मेदिनी की आकर्षण शक्ति का प्रभाव नहीं रह जाता और साधक का शरीर धरातल से ऊपर यथेच्छ आकाश की सूक्ष्मता की तरह विहार करने में समर्थ हो जाता है। यही मेदिनी का परित्याग कहलाता है ॥ १८-१९ ॥

ननु एवमस्य किं स्यादित्याशङ्क्य आह

त्यक्तांशको निराचारो निःशङ्को लोकवर्जितः ॥ २० ॥

अवधूतो निराचारो नाहमस्मीति भावयन् ।

मन्त्रैकनिष्ठः संपश्यन् देहस्थाः सर्वदेवताः ॥ २१ ॥

ह्लादोद्वेगास्मिताक्रुष्टनिद्रामैथुनमत्सरे ।

रूपादौ वा कर्तृकर्मकरणेषु च सर्वशः ॥ २२ ॥

नाहमस्मीति मन्वान एकीभूतं विचिन्तयन् ।

प्रश्न करते हैं कि, ऐसा होने से साधक में क्या होता है ? क्या कोई बदलाब आता है ? कोई चमत्कार होता है ? आदि ? इन्हीं आशङ्काओं का समाधान कर रहे हैं—

१. सर्वप्रथम उसमें जो अस्तित्वगत चमत्कार होता है, वह है, उसके विराट् स्वरूप का उल्लास । अंश रूप संकोच से ग्रस्त अणुता का निराकरण हो जाता है । अंश भाव छूट जाता है । अब वह निरंशता को प्राप्त या उपलब्ध हो जाता है ।

२. उसका दूसरा स्तर और भी दिव्य हो जाता है । अबतक वह बँटी हुई जिन्दगी जो रहा था । उसके आचार में भी पार्थक्य प्रथा का प्रथन हो रहा था । यह करो, यह न करो आदि के खंडित दृष्टिकोण थे । अब ऐसा नहीं रह जाता । वह सभी आचारों को अतिक्रान्त कर जाता है ।

३. निःशङ्कता का वह प्रतिमान हो जाता है ।

४. लोकाचार की खण्डित जीवनचर्या से उसे मुक्ति मिल जाता है ।

५. अवधूत अवस्था का प्रतीक परमहंस बन जाता है ।

६. देहाध्यास में देह में ही अहं भाव का उल्लास रहता है । इस अवस्था में 'मैं यह नहीं हूँ' इस दृढ भाव से भावित हो जाता है ।

७. मन्त्र में निश्चयात्मक आस्था आ जाती है ।

कर्णाक्षिमुखनासादिचक्रस्थं देवतागणम् ॥ २३ ॥

ग्रहीतारं सदा पश्यन् खेचर्या सिद्धयति स्फुटम् ।

त्यक्तांशक इति निरंशतामापन्न इत्यर्थः। निराचार इति निष्क्रान्ता आचारा यस्मादाचारेभ्यश्च निष्क्रान्त इति योज्यम् । देहस्थाः सर्वदेवताः संपश्यन्निति सर्वदेवतामयमात्मानं जानान इत्यर्थः । ह्लादेत्यादिना चित्त-वृत्तिविशेषा आसूत्रिताः । रूपादाविति विषयपञ्चके। ग्रहीतारमिति पर-प्रमात्रेकरूपमित्यर्थः ॥ २०-२३ ॥

एतदेव व्यतिरेकद्वारेण द्रढयति

विद्याशङ्की मलाशङ्की शास्त्रशङ्की न सिद्धयति ॥ २४ ॥

विद्येति शुभकरी वेदविद्या ॥ २४ ॥

---

८. देह में दिव्यत्व का प्रकल्पन, शक्ति-पुञ्जता की दृष्टि और अङ्गप्रत्यङ्ग में कवचरूप से अवस्थित शक्ति प्रतीकों का भान होने लगता है।

९. आह्लाद, उद्वेग, अस्मिता, आकाश, नींद, मैथुन, मत्सर रूपगर्व आदि चित्तवृत्तियों से ऊपर उठकर मैं कर्त्ता हूँ, मेरे द्वारा ये कार्य सम्पन्न हो रहे हैं आदि कर्त्ता, कर्म और करण आदि कारक वृत्तियों को अतिक्रान्त कर लेता है। अहन्ता के व्यापक परिवेश में विचरण करता है।

१०. बिश्वात्मकता में शैवमहाभावैक्य का दर्शन करता है।

११. कर्णादि इन्द्रियों द्वारा करणेश्वर देववृन्द ही सारा अर्थ-ग्रहण कर रहा है, यह उसकी अन्यतम मान्यता हो जाती है। ये सारी स्थितियाँ और वृत्तियाँ खेचरी मुद्रा सिद्धि के माहात्म्य से स्वतः सिद्ध हो जाती हैं ॥ २०-२३ ॥

इस लोकोत्तर चर्यात्मक जीवन्तता का व्यतिरेक दृष्टि से दृढ़तापूर्वक समर्थन करने का उपक्रम कर रहे हैं—

विद्या रूप शैवज्ञानप्रदा आत्मविद्या के प्रति आशङ्का कर अनिश्चय स्थिति में जीने वाला, षट्कञ्चुकों की मान्यता और प्रभावशालिता के प्रति

ननु एवमयं कस्मात् न सिद्धयेदित्याशङ्कय आह

शिवो रविः शिवो वह्निः पक्तृत्वात्स पुरोहितः ।
तत्रस्था देवताः सर्वा द्योतयन्त्योऽखिलं जगत् ॥ २५ ॥

रविः प्रमाणं, वह्निः प्रमाता, अत एव पुरोहितो यष्टा इत्यर्थः । पक्तृत्वादिति सर्वस्य स्वात्मसात्काररूपात्वात् द्योतयन्त्यः स्थिता इति शेषः । एवं हि शिव एव सर्वमिति किमाशङ्कास्पदमित्याशयः ॥ २५ ॥

शङ्कालु और शास्त्रों के आदेशों एवं निर्देशों के प्रति सन्दिग्ध वृत्ति वाला साधक कभी और किसी अवस्था में सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता । अवस्था-शैथिल्य उत्कर्ष की प्रकल्पना को ही कीलित कर देता है ॥ २४ ॥

व्यतिरेक दृष्टि की सदोषता का अनुसन्धान कर रहे हैं—

वास्तविकता यह है कि, शिव ही सर्वरूप में उल्लसित हैं । शिव उपास्य हैं । उपास्य में शङ्का के लिये अवकाश नहीं होता । त्रिकशास्त्र की यह मान्यता है कि, विश्व, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति की चतुष्कता में परिचालित है । सूर्य को प्रमाण माना जाता है । अग्नि ही प्रमाता है । ये सूर्य और सर्वाभासक अग्नि दोनों शिव ही हैं । शिव ही सूर्य रूप से प्रकाशमान हैं । शिव ही अग्नि रूप से प्रकाश को परिभाषित कर रहा है । पक्तृत्व अर्थात् रवि और अग्नि में भी उद्दीप्ति भरने वाला शिव ही पुरोहित है अर्थात् प्रकाशरूप यज्ञ का याजक भी शिव ही है । यह सर्वस्व को स्वात्म में शाश्वत रूप से समाहित कर रहा है । शिवत्व के परिवेश में सर्व का समर्पण एक अभिराम महोत्सव है । इस प्रकार खेचरी सिद्ध शरीर में सारी दिव्य शक्ति रूपी देवताः समस्त विश्व को आलोकित करती हैं अथवा शिव के इस विराट्-परिवेश में वर्तमान देवी शक्तियाँ ही शिवत्वाधिष्ठान के कारण विश्व को विद्योतित कर रही हैं ॥ २५ ॥

एवं त्रिशूलिन्याः स्वरूपमभिधाय करङ्किण्या अपि आह

कनिष्ठया विदार्यास्यं तर्जनीभ्यां भ्रुवौ तथा ।
अनामे मध्यमे वक्त्रे जिह्वया तालुकं स्पृशेत् ॥ २६ ॥
एषा करङ्किणी देवी ज्वालिनीं शृणु सांप्रतम् ।
हनुर्ललाटगौ हस्तौ प्रसार्याङ्गुलितः स्फुटौ ॥ २७ ॥
चालयेद्वायुवेगेन कृत्वान्तर्भ्रुकुटीं बुधः ।
विदार्यास्यं सजिह्वं च हाहाकारं तु कारयेत् ॥ २८ ॥
एषा ज्वालिन्यग्निचक्रे तथा चाष्टोत्तरं शतम् ।
जपेद्यदि ततः सिद्धयेत्त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २९ ॥

कनिष्ठयेति उभयकरसम्बन्धिन्या । वक्त्रे इति अर्थात् कृत्वा । प्राकरणिकश्च अत्र खेचरीमुद्राबन्धानुवेधोऽनुसन्धातव्य एवेति गुरवः हनुरिति ऐशः पाठः तेन हनुतः प्रभृति ललाटान्तं स्थितौ कार्यावित्यर्थः । प्रसार्याङ्गुलित इति प्रसृताङ्गुलीकावित्यर्थः । अन्तरिति हस्तयोः । अग्निचक्रे इति ऊर्ध्वमुखे त्र्यश्रे अन्तरात्मानं भावयित्वा ॥ २९ ॥

यहाँ त्रिशूलिनी का चित्रण करने के उपरान्त करङ्किणी खेचरी की चर्चा कर रहे हैं—

दोनों हाथों की कनिष्ठिकाओं को मुख के भीतर डाल कर दोनों ओर खींचना इसकी पहली विधि है । दोनों तर्जनी उँगलियों द्वारा दोनों भौहों के ऊपर अपनी ओर खिचाव देना दूसरी अवस्थिति है । पुनः अनामा और मध्यमा अंगुलियों को मुख में डाले रहे और जीभ से तालु का स्पर्श करते हुए श्वास साधन करे । यह करङ्किणी मुद्रा का चित्र है ॥ २६ ॥

ज्वालिनी मुद्रा भी इसी की एक भेद है । हनु से लेकर ललाट पर्यन्त हाथ की फैली हुई अङ्गुलियों से मुख पर एक सामान्य दवाव देना चाहिये । ज्वालिनी को यह पहली क्रिया है । दूसरी क्रिया जिह्वा निकाले हुए मुँह

सिद्धिमेव दर्शयति

परदेहेषु चात्मानं परं चात्मशरीरतः।
पश्येच्चरन्तं हानादाद्गमागमपदस्थितम् ॥ ३० ॥
नवच्छिद्रगतं चैकं तदन्तं व्यापकं ध्रुवम्।
अनया हि खचारी श्रीयोगसञ्चार उच्यते ॥ ३१ ॥

हानादेति हाकारस्य नादेन उच्चारेणेत्यर्थः। गमागमेति स्वदेहात् परदेहे, परदेहाद्वा स्वदेहे। खचारीत्यनेनापि खेचरीमुद्राबन्धानुवेधो दर्शितः ॥ ३१ ॥

को फैलाना चाहिये। गले से हा हा कार का उच्चारण होता हो। सुबुद्ध साधक आज्ञाचक्र के त्रिकोण में अपनी अन्तरात्मा का अनुसन्धान करता रहे। साथ ही वायुवेग से हनुसहित मुंह को चालित करना चाहिये। इस स्थिति में ही ज्वालिनी मन्त्र का भी एक माला जप उसी दशा में सम्पन्न करता रहे। यह ज्वालिनी मुद्रा थोड़ी कठिन है और कठिनाई से सिद्ध होती है। इसके सिद्ध हो जाने पर सचराचर त्रैलोक्यसिद्ध हो जाता है ॥ २७-२९ ॥

सिद्धि के प्रकार का दिगदर्शन और उसके महत्त्व का प्रकाशन कर रहे हैं—

दूसरे के शरीरों में स्वात्म का अनुप्रवेश और दूसरे को स्वात्म शरीर द्वारा स्वात्म में ही आचरण समन्वित करने की शक्ति इससे आ जाती है। इसमें 'हा' सदृश नाद का अप्रतिम महत्त्व है। यहाँ एक बात गुप्त रखी गयी है। हा नाद के साथ 'स्वा' का आन्तर उच्चार भी चाहिये। इससे आत्मानुप्रवेश के समय, पर के प्राणामृतप्रवाह का अपनी ओर आनयन तथा दूसरे शरीर में स्वात्म का प्रलयन दोनों सम्भव हो जाते हैं।

योगसञ्चार शास्त्र में इसका महत्त्व प्रतिपादित है। मनुष्य का शरीर ऐसे ढङ्ग से निर्मित है, जिसमें नौ छिद्र हैं। इन सबकी पृथक्-पृथक् उपयोगिता निर्धारित है। इन सबमें खेचरी साधक की समान शक्तिमत्ता काम करती

इदानीं श्रीवीरावल्युक्तमपि अस्या विधिमाह

कुलकुण्डलिकां बध्वा अणोरन्तरवेदिनीम् ।

वामो योऽयं जगत्यस्मिंस्तस्य संहरणोद्यताम् ॥ ३२ ॥

स्वस्थाने निर्वृतिं लब्ध्वा ज्ञानामृतरसात्मकम् ।

व्रजेत्कन्दपदं मध्ये रावं कृत्वा ह्यरावकम् ॥ ३३ ॥

इह अणोरन्तरवेदिनीमन्तश्चरन्तीं तन्मयतामाप्तां कुलकुण्डलिकां मध्यप्राणशक्तिमाक्रम्य अज्ञानसंहर्त्री स्वस्थाने शाक्ताधारे तदैक्यापत्तिरूपां निर्वृतिं प्राप्य

है। इनमें ध्रुव भाव से सतत नदनशील एक व्यापक तत्त्व का दर्शन किसी सामान्य व्यक्ति को नहीं हो सकता। वही साधक महत्त्वपूर्ण है, जो इनमें एकतात्विकता के सौहित्य का अनुसन्धान करने में समर्थ हो जाता है। इस साधना में नैपुण्य प्राप्त अधिकारी ही वस्तुतः खचारी कहलाने का भी अधिकारी होता है ॥ ३०-३१ ॥

श्रीवीरावली शास्त्र में इसकी विधि का निर्देश प्राप्त है। उसे भी यहाँ प्रदर्शित कर रहे हैं—

कुल कुण्डलिनी को नियन्त्रित कर साधक स्वस्थान अर्थात् शाक्ताधार में ऐक्यात्म्य की सिद्धि करने में समर्थ हो जाता है। यहाँ कुल कुण्डलिनी शब्द के कई विशेषण दिये गये हैं, जो उसकी विशेशता का ख्यापन करते हैं। १. वह अणु पुरुष की अन्तर्वेदिनी है। अन्तर्वेदन अन्तः संचार से ही सिद्ध होता है। इस तरह वह अणु की आन्तरिकता की साक्षिणी सिद्ध होती है।

२—वह जागतिक वामता के संहरण में उद्यत रहती है। अर्थात् मध्य प्राणशक्ति पर आरूढ रह कर वाम रूप अज्ञान का संहार करती है।

३—स्वस्थान को मलाधार मानते हैं। आगम कहता है कि,

यावज्जीवं चतुष्कोणं पिण्डाधारं च कामिकम् ।
तत्र तां बोधयित्वा तु गतिं बुद्ध्वा क्रमागताम् ॥ ३४ ॥
चक्रोभयनिबद्धां तु शाखाप्रान्तावलम्बिनीम् ।
मूलस्थानाद्यथा देवि तमोग्रन्थिं विदारयेत् ॥ ३५ ॥

'मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ।'

इत्युक्त्या तस्य बोधनादप्रवर्तकत्वात् मध्यविषाधारादावरावक प्रशान्तरूपं रावं नादं कृत्वा

'..... ... . कन्दे षड्रसलम्पटाः ।' इति ।

इतिभङ्गया ज्ञानामृतरसात्मकं कन्दपदं कामिकं सर्वकामाभिधं जीवं सञ्जीवन्यमृताभिधं चतुष्पथवर्तित्वात् चतुष्कोणं चिन्तामण्यभिधानं च यावत्

मूल में शाक्त उल्लास होता है। उल्लास के क्रम में बोधरूप नाद का प्रवर्त्तन होता है। इसकी शक्ति यों तो स्वयं शिव में ही होती है किन्तु सिद्ध साधक भी बोधनाद का प्रवर्त्तक बन जाता है। साक्षी तो वह है ही। उसी शाक्ताधार में ऐकात्म्य वृत्ति से निर्वृति की प्राप्ति साधक कर लेता है। निर्वृति परमसंतृप्ति का पर्याय है। कुण्डलिनी साधना में मूलाधार से द्वादशान्त पर्यन्त तादात्म्य का परमानन्द साधक अश्विनी मुद्रा के एक स्पन्द में ही प्राप्त कर लेता है। जो शाश्वत ऐक्य से सम्पन्न है, उसके उस चरम परम सुख का कहना ही क्या? आगम की एक उक्ति है—

'कन्द में षड्रसलम्पट योगी (अमृत पान करता है)'।

इस उक्ति के अनुसार वह ज्ञान विज्ञान की शैवानुभूतियों का रसामृत पान करता है। इसी क्रम में कन्दपदवी का भी आश्रयण कर आनन्दित होता है।

४—यह ध्यान देने की बात है कि, नाद तो अव्यक्त शब्दमय होता है किन्तु बोधनाद में शब्दता का नितान्त अभाव रहता है। यही स्थिति

वज्राख्यां ज्ञानजेनैव तथा शाखोभयान्ततः ।
कोणमध्यविनिष्क्रान्तं लिङ्गमूलं विभेदयेत् ।। ३६ ।।

पैण्डं शरीरमाधारं व्रजेत् । तत्र आधारेषु च क्रमागतां तां कुलकुण्डलिकां बोधयित्वा मूलस्थानादारभ्य प्राणापानात्मचक्रद्वयाभिभतां द्वादशान्तं यावत् गच्छन्तीं ज्ञात्वा यथा अयं योगी ज्ञानजेनैव माहात्म्येन अज्ञानग्रन्थिं दुर्भेद्य-त्वात् वज्राख्यां मध्यनाडीं च विदारयेत्, तथा प्राणापानात्मशाखाद्वयस्य अन्तमवलम्ब्य जन्माधाररूपत्रिकोणमध्यादपि विनिष्क्रान्तमत एव मेढ्राधा-र्वतित्वात् लिङ्गमूलं तदाख्यमकुलाधारमपि विभेदयेत् ।। ३२-३६ ।।

अरावक राव को होती है। मध्यप्राण कुण्डलिनो में यह अरावक राव बोधनाद रूप ही माना जा सकता है। अथवा प्रशान्त स्पन्द की संज्ञा उसे दी जा सकती है।

५—यह कन्द पद 'कामिक' होता है। यह 'जीव' को संजीवनी शक्ति प्रदान करता है। कन्द पद से चतुष्कोणात्मक चिन्तामणि मन्दिर को यात्रा का सामर्थ्य कुलकुण्डलिनी ही देती है।

६—इसीलिये साधक उस चिन्तामणि नामक पिण्डाधार को साधना-यात्रा में सदा संलग्न रहता है।

७—पिण्डाधार शरीर के विभिन्न चक्र भी माने जाते हैं। इनमें 'क्रमागता' कुलकुण्डलिनी ही है। उसका उद्बुद्ध करना और उसकी गति का आकलन करना साधक की अनुभूति और साधना का विषय है।

८—कुलकुण्डलिनी चक्रोभय निबद्ध होती है। मूलाधार से लेकर द्वादशान्त में निबद्ध होना या प्राण और अपानवाह के आवागमन में निबद्ध होना उसकी विवशता होती है। यह प्राणापान रूप दो शाखाओं के अन्त का अवलम्बन करती है।

इस प्रकार की सारी स्थितियों का ज्ञाता योगी होता है। अपने इसी ज्ञानज विज्ञान के बल पर पिण्डस्थ तमोग्रन्थिका और वज्रा नामक

तत्र सङ्घट्टितं चक्रयुग्ममैक्येन भासते ।
वैपरीत्यात्तु निक्षिप्य द्विधाभावं व्रजत्यतः ॥ ३७ ॥
ऊर्वाद्यङ्गुष्ठकालाग्निपर्यन्ते सा विनिक्षिपेत् ।
गमागमनसञ्चारे चरेत्सा लिङ्गलिङ्गिनी ॥ ३८ ॥

तत्र हि प्राणापानरूपं चक्रयुग्मं स्वस्वरूप-त्रोटनेन सङ्घट्टितं तदैक्येन भासते मध्यप्राणशक्तेरेव ततः समुदय इत्यर्थः । अता लिङ्गमूलाख्यादकुल-पदात्पुनः सा वैपरीत्यादधोगत्या निक्षेपं विधाय द्विधाभावं व्रजति यदिय-मूर्वाद्यङ्गुष्ठपर्यन्तत्वनिमित्तमात्मानं विनिक्षिपेत् तद्रूपतां गृह्णीयादित्यर्थः । सा

मध्यनाडी का भी वह विदारण करे, शास्त्रकार का यह मुख्य निर्देश है । दूसरा निर्देश इससे भो महत्त्वपूर्ण और शरीर विज्ञान से सम्बद्ध है । जन्माधार को त्रिकोण भी कहते हैं । उसो त्रिकोण के मध्य से शाक्त उल्लास स्पन्दित होता है । वहाँ से ऊपर उठकर स्वाधिष्ठानात्मक लिङ्ग मूलावस्थित अकुलाधार का भी भेदन करे, यही लिङ्गमूल का विभेद कहलाता है । वोरावलि नामक इस ग्रन्थ के अनुसार खेचरी साधक की कुण्डलिनी सिद्ध होनी चाहिये, यह सिद्ध हो जाता है ॥ ३३-३६ ॥

जन्माधार और द्वादशान्त के मध्य का महत्त्व पूर्ण सन्धान-महोत्सव पिण्ड शरीर में शाश्वत चलता है । साधक अभ्यास के बल पर इसे परखता है और इसका साक्षात्कार कर लेता है । श्वास और प्रश्वास अर्थात् प्राणापानवाह का यह चक्र-युग्म साधक के प्रयत्न से सङ्घट्टित हो जाता है और श्वास जिस अवस्था में ऐक्य भाव से भासित होने लगता है, उसो दशा में अन्वर्थ 'प्राणवान्' शब्द चरितार्थ हो जाता है ।

यह एकीभूत प्राण शक्ति ऊर्ध्वाधर विद्युत् तत्त्व का निक्षेप करती है । प्राणजित् साधक द्वादशान्त क्षेत्र में परमशिव के अखण्ड सद्भाव को भव्यता में रमा रहता है । वहीं मध्यबिन्दु से अधर दशा में गतिशील होकर कटि प्रदेश, ऊरु, जानु, गुल्फ, प्रपद, पादमूल और अङ्गुलि श्रेष्ठ अङ्गुष्ठ

तत्र तत्पदसंयोगादुन्मीलनविधायिनी ।
यो जानाति स सिद्धयेत्तु रसादानविसर्गयोः ॥ ३९ ॥

कुलकुण्डलिका हि ऊर्ध्वाधः सञ्चारमनादृत्य प्राणापानलक्षणाभ्यां लिङ्गाभ्यां लिङ्गिनी तत्क्रोडीकारेण ज्ञप्तिं प्राप्ता सती चरेत् तत्तदाधारादिभेदेना मध्यधाम आक्रामेत् । सा हि तत्र मध्यधाम्नि प्राणापानपदद्वयसंयोगात्संविद्विकासमादध्यात् । यश्च एवंविधमिदं सर्वभावानुस्यूतमूर्मिण्युन्मीलनं परसंविद्विकासाधायि परं स्थानं जानाति, स संविद्रसादानविसर्गयोः सिद्धयेत् सृष्टिसंहारकारित्वेस्य सामर्थ्यमुत्पद्यते इत्यर्थः ॥ ३७-३९ ॥

के अग्रभाग तक उल्लसित होती है । यह अकारण गति निक्षेप ही जीवन का मन्त्र है । गतिशीलता के इस द्विधाभाव का दर्शन और प्रतिक्षण अनुभव स्वभावतः होता रहता है । कुल कुण्डलिनी शक्ति का अधः प्रवाह नहीं होता । वह प्राणापान लिङ्ग से समन्वित होकर लिङ्गलिङ्गनी संज्ञा से विभूषित हो जाती है । उस समय प्राणापान उसके आक्रोश में शिशु की तरह विश्राम करते हैं ।

वह स्थान जहाँ यह अलौकिक आलोक-लीला अपने लालित्य के साथ प्रतिफलित और उल्लसित होती है, उसे शास्त्र की भाषा से मध्यधाम कहते हैं । संवित्ति का सूरज वहीं विकसित होता है । इस विकास के मूल में प्राण और अपान नामक दो तत्त्वों का ऐक्य ही है । इस गमागम संचार में विहार करने वाली, उनके उभयैक्य में उल्लसित और आमूलाङ्गुष्ठात् आद्वादशान्त सञ्चरण शील कुल कुण्डलिनी शक्ति का जो साक्षात्कार कर लेता है, वह आदान रूप सर्जन प्रक्रिया और विसर्ग रूप संहार प्रक्रिया का तो साक्षी होता ही है, स्वयं सृजन संहार की सिद्धि से समन्वित हो जाता है । वह उल्लास के शैव महाभावात्मक आनन्द का रसास्वाद स्वयं तो करता ही है, उल्लास की संरचना में भी सक्षम हो जाता है ॥ ३७-३९ ॥

ससङ्गमभिदं स्थानमूर्मिण्युन्मीलनं परम् ।
एष क्रमस्ततोऽन्योऽपि व्युत्क्रमः खेचरी परा ॥ ४० ॥
योन्याधारेति विख्याता शूलमूलेति शब्द्यते ।
वर्णास्तत्र लयं यान्ति ह्यवर्णे वर्णरूपिणि ॥ ४१ ॥

अस्याश्च एष यथोक्तस्तत्तदाधारादिसञ्चारात्मा क्रमः स्वारसिक एव वाह इत्यर्थः । ततोऽन्यो व्युत्क्रमोऽपि अस्याः सम्भवति यदियं परा खेचरी योन्याधारेति विख्याता । तत उदिता सती शूलमूलेति शब्द्यते झटित्येव शक्ति-व्यापिनीसमनात्मकारात्रययोगित्वात् द्वादशान्तपदं प्राप्तेत्यर्थः । यतस्तत्र सर्वोच्छेदरूपे क्रोडीकृतबाह्यामर्शेऽपि स्वामर्शमात्रात्मनि अवर्णे वर्णा बाह्यामर्शा लयं यान्ति तद्विश्रान्ता एव भवन्तीत्यर्थः ॥ ४०-४१ ॥

मध्यधाम का वैशिष्ट्य आदानविसर्ग के साक्षात्कार से स्पष्ट तथा ज्ञात हो जाता है । उसे शास्त्रकार ससङ्गम स्थान के रूप में निरूपित कर रहे हैं । ऊर्मि रूप परसंवित् के शान्त परिवेश में यह उन्मीलन अर्थात् उल्लास का प्रतीक माना जाता है । इस स्थान से ऊर्ध्व संचरण को चर्चा की गयी है । यही उसका क्रम है । इसका भो व्युत्क्रमण योगी करता है । वही परा खेचरी अवस्था मानो जाता है । उसे योनि का आधार कहते हैं । योनि विश्व की उत्पत्ति का कारण होती है और उसकी भी आधार यह व्युत्क्रान्ता खेचरो मुद्रा है । वहाँ इसे शूलमूला कहते हैं । वहाँ वर्ण विलीन हो जाते हैं । वर्ण मात्र समना तक ही रहते हैं । समना के बाद उस परा संविद् का अवर्णा कहते हैं । वहाँ पहुँच कर वर्णरूपिणो यही शक्ति अवर्णा हो जाती है । यहाँ यह ध्यान देने को बात है कि, वर्णात्मकता को समाप्ति पर, संवित् परविमर्शमयो हो जाती है । शूलमूलावस्था में शक्ति, व्यापिनी और समना को तीनों अरायें उन्मना के मूल तक पहुँचती हैं । समना को पार करना ही व्युत्क्रम कहलाता है । वही द्वादशान्त अवस्था मानो जाती

ननु भवतु एवं, योगी पुनरस्याः कथं प्रबोधमादद्यादित्याशङ्क्य आह

नादिफान्तं समुच्चार्य कौलेशं देहसंनिभम् ।
आक्रम्य प्रथमं चक्रं खे यन्त्रे पादपीडितम् ॥ ४२ ॥

चित् शुद्धात्मा कौलेशं रहस्यज्ञानप्रधानभूतमत एव गर्भीकृतमध्यशक्ति नादिफान्तरूपं सर्वमन्त्रारणिस्वभावं नादं स्वदेहाभेदेन समुच्चार्य तमेव च एवं सगर्भमुच्चार्यमाणं नादमधिकृत्य खे जन्माकाशरूपे मर्मणि कौलिन्याः कुलकुण्डलिन्याः पदं

है। वहाँ सर्वोच्छेद हो जाता है। बाह्य आमर्श अब उसके अन्तर्गर्भ में विलीन रहते हैं। अब केवल स्वात्म का अहमात्मक आमर्श होता रहता है। यह अवर्णात्मक माना जाता है। अवर्ण में वर्णरूपता की बात कहकर शास्त्रकार उस लोकोत्तर स्पन्द दशा की ओर अध्येता का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। इस लोकोत्तरता का साक्षात्कार आगमिक उपलब्धियों की सर्वातिशायिनी अवस्था का चमत्कार ही माना जाता है ॥ ४०-४१ ॥

कर्त्ता एकमात्र चित्तत्व है। वह रुद्रशक्ति को प्रबुद्ध करता है। यह तान्त्रिक योग प्रक्रिया है, हठयोग नहीं। इसीलिये विधिलिङ् का प्रयोग कर प्रबोध की विधि की ओर संकेत किया गया है। इस विधि के कई खण्ड हैं। एक-एक क्रिया पूरी करनी है। उसके बाद दूसरी क्रिया विधि में उतरना है। इसी को प्रदर्शित करने के लिये पूर्वकालिक क्रियाओं का प्रयोग किया गया है। इस पर क्रमशः विचार करना चाहिये—

१—शुद्धात्मा चित् सर्वप्रथम नादिफान्त रूप कौलेश का देहसन्निभ समुच्चारण करे। 'न' से लेकर 'फ' पर्यन्त मालिनी विद्या का उच्चारण कैसे हो? मालिनी नादमयी या शब्दरूपिणी मानी जाती है। यह सारे मन्त्रों की 'अरणि' मानी जाती है। इसके उच्चारण में नादविधि का प्रयोग करना होता है। नाद में मध्य शक्ति का विकास निहित रहता है। इस नाद को

नादं वै शक्तिसद्गर्भं सद्गर्भात्कौलिनीपदम् ।
बीजपञ्चकचारेण शूलभेदक्रमेण तु ॥ ४३ ॥

'जन्माख्ये नाडिचक्रं तु ....।'

इत्युक्तं नाड्यात्म प्रथमं चक्रं पादेन अंशेन पीडितं विधाय तत्र कथञ्चित् प्राणशक्तिं निरुध्य अवशिष्टानि पञ्चापि चक्राणि आक्रम्य ब्रह्मादिकारण-

---

उच्चारित करते समय देह ही नादमय हो जाता है। देह का समग्र अस्तित्व, इसके अणु-अणु कण-कण, अङ्ग प्रत्यङ्ग सभी नाद का नदन कर रहे होते हैं। यह देहाभेदमय नादानुसन्धान होता है। शुद्धात्मा चित् इसका साक्षी रहता है। इस पर उसका पूरा अधिकार होता है।

२—इतनी प्रक्रिया पूरी कर लेने पर जन्माकाश रूपी ख पर आक्रमण करना पड़ता है। यह आक्रमण युद्ध का आक्रमण नहीं होता। यह शनैः-शनैः उस देश पर अधिकार करने जैसा आक्रम मात्र होता है। साधक 'ख' यन्त्र को पाद से पीड़ित करे। यहाँ पाद शब्द का श्लिष्ट अर्थ है। सिद्धासन द्वारा पादपीडित करना अर्थात् कन्द पर दबाव देना और पाद अर्थात् अंशतः दबाव देना भी अर्थ सम्भव है। इस तरह वहाँ से उच्चरित नाद पर भी दबाव पड़ता है।

इस अवस्था में ऊर्ध्वगति होने की आज्ञा गुरुदेव द्वारा दी जाती है। यह गति क्रमिक रूप से अपनायी जाती है। इसमें चक्रभेदन की क्रिया करनी पड़ती है। सर्वप्रथम शक्तिसद्गर्भ नाद का भेदन, पुनः प्राण शक्ति को थोड़ा निरुद्धकर उससे ऊपर उठ कौलिकी रूपिणी कुलकुण्डलिनी को आक्रान्त करते हैं। इसके बाद पाँच बीजों के केन्द्र स्वरूप मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध इन पाँचों चक्रों का क्रमिक उल्लङ्घन करते हैं। इस क्रम में हृत्-शूल और द्वादश ग्रन्थियों का भेदन भी सम्मिलित रहता है। हृदय मुख्य रूप से नाडित्रय का अवस्थान माना जाता है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना ही वे तीन नाड़ियाँ हैं।

पञ्चकोल्लङ्घनक्रमेण हृत्स्थस्य नाडित्रयात्मनः शूलस्य ग्रन्थिद्वादशकस्य ब्रह्मरन्ध्रोपरिवर्तिनः शक्त्याद्यात्मनः शूलस्य च भेदनक्रमेण रुद्रशक्ति प्रबोधयेत् ॥ ४२-४३ ॥

हृच्छूलग्रन्थिभेदैश्चिद्रुद्रशक्तिं प्रबोधयेत् ।
वायुचक्रान्तनिलयं विन्द्वाख्यं नाभिमण्डलम् ॥ ४४ ॥
आगच्छेल्लम्बिकास्थानं सूत्रद्वादशनिर्गतम् ।
चन्द्रचक्रविलोमेन प्रविशेद्भूतपञ्जरे ॥ ४५ ॥

येन अयं जन्मपदादारभ्य पवनाधारात्मनो वायुचक्रस्य अन्ते संनिकर्षे वर्तमानं नाभिमण्डलं तत्सङ्घट्टाधारं लम्बिकास्थान तदूर्ध्वस्थितं सुधाधारं बिन्द्वाख्यं भ्रूमध्यवर्तिनं विद्याकमलसंज्ञितमाधारं नाडीनां तात्स्थ्यात्

इसके उपरान्त द्वादश ग्रन्थियों का भेदन किया जाता है। ये १२ ग्रन्थियाँ अ, उ, म्, विन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना हैं। यह साधना यात्रा आज्ञा से समना पर्यन्त की यात्रा है। इस प्रक्रिया में सिद्ध होने पर रुद्र शक्ति के प्रबोध की क्षमता साधक में पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है ॥ ४२-४३ ॥

साधना यात्रा यहीं पूरी नहीं होती। उसे वायुचक्र, नाभिचक्र, विन्दुमण्डल, लम्बिका की विलोम यात्रा भी करनी पड़ती है। जन्माधार से लेकर पवन के आधार रूप प्राणाश्रित चक्रों की यात्रा पूरी करने पर उसे परमविश्रान्ति का अनुभव होता है। इस तरह साधक धन्य हो जाता है।

नाभिकेन्द्र, उसके संघट्ट के आधार के रूप में प्रथमतः सिद्ध अन्य चक्र, सबको नियन्त्रित कर साधक आगे बढ़ता है। वहाँ से लम्बिका की दूरी तै करने में साधक को कितने अनुसन्धान करने पड़ते हैं। उसके ऊपर सुधा के आधार रूप में बिन्दु का परिवेश प्राप्त होता है। भ्रूमध्य

भूयस्तु कुरुते लीलां मायापञ्जरवर्तिनीम् ।
पुनः सृष्टिः संहृतिश्च खेचर्या क्रियते बुधैः ॥ ४६ ॥

श्रीमद्वीरावलीयोग एव स्यात्खेचरीविधिः ।

ग्रन्थीनां द्वादशकात् निर्गतं सर्वसंबन्धोत्तीर्णं द्वादशान्तपदं च यावत् आ समन्तादृजुना क्रमेण गच्छेत् तत्र विश्रान्ति कुर्यादित्यर्थः । भूयस्तु तत्र चन्द्र-चक्रादपानस्थात् प्रत्यावृत्यात्मना विलोमक्रमेण स्वशरीरमेव प्रविशेत्, येन अयं व्युत्थानदशोचितं व्यवहरेत् । अतश्च खेचरीमुद्रावेशभाजां ज्ञानिनामन्त-

---

के अन्तराल में आग्नेय प्रकाश में विकसमान और विद्योतित विद्यापद्म के मकरन्द रसास्वाद का अवसर आता है। द्वादशग्रन्थियों को पार करता हुआ द्वादशान्त का चिरअभीसित सन्निधान मिलता है। यह सब गुरुकृपा और पारमेश्वर शक्तिपात से अनायास सिद्ध हो गया है। यह साधना का सर्वोच्च शिखर है, जिस पर वह सोपान क्रमारोह पूर्वक आरूढ हो गया है। प्राण के संप्रीणन से यह पराकाष्ठा प्राप्त होती है।

यह सदा अनुसन्धातव्य तथ्य है कि, प्राण का सूर्य अपान सोम के रथ पर सवार हो कर ही ऊर्ध्व की ओर अग्रसर होता है। मध्य द्वादशान्त के चितिकेन्द्र में तो सूर्य और सोम साथ रहते हैं। ऊर्ध्वद्वादशान्त में केवल सूर्य प्राण का ही प्रकाश काम करता है। अपानचक्र में चन्द्र का प्रभाव शरीर को सोमसुधा की संजीवनी से ओतप्रोत करता है निःश्वास में चन्द्रचक्र विलोम गतिशीलता के लिये प्राण को प्रेरित करता है। यह पौर्णमास केन्द्र की यात्रा का प्रारम्भ माना जाता है। इसी क्रम में प्राणापानवाह भौतिक पिण्ड में पुनः अपना रस भरता है। श्वास शरीर में पेट और नाभि तक पहुँचता है। इसे शाक्त उल्लास भी कहते हैं। प्रतिपदा से चलकर पूर्णिमा तक की चाँदनी का अमृत उल्लासित होता है। यही चन्द्रचक्र है। इसमें विलोम गति होती है।

बहिरुन्मेषनिमेषाभ्यामाजवञ्जवीभावेन सृष्टिसंहारकारित्वं स्यादिति संक्षेपार्थः योगे इति तद्वचनावसरे इति यावत् ॥ ४४-४६ ॥

श्रीकामिकोक्तमपि अस्या रूपमाह

चुम्बाकारेण वक्त्रेण यत्तत्त्वं श्रूयते परम् ॥ ४७ ॥
ग्रसमानमिदं विश्वं चन्द्रार्कपुटसंपुटे ।
तेनैव स्यात्खगामीति श्रीमत्कामिक उच्यते ॥ ४८ ॥

चुम्बाकारेण काकचञ्चुपुटाकृत्यनच्ककलात्मना मध्यप्राणशक्त्यवलम्बिनापि स्वरूपेण वक्त्रेण यदिदं प्रमाणप्रमेयात्मकं विश्वं स्वात्मसात्कुर्वाण-

---

इसी क्रम में लालसामयी भूतपञ्जर लीला का लास्य शाश्वत रूप से चलता है। प्राणापानवाह का पीयूष इसे प्रेयान् रूप प्रदान करता है। श्वास निःश्वास से जीवन जीवन्त होता है। श्वास की सृष्टि का और निःश्वास की संहृति का साक्षात्कार इसी खेचरी सिद्धि से संभव हो पाता है। उन्मेष निमेषमय यही आजवञ्जवी भाव है। यही जीवन का रस है। श्रीवीरावली समुदीरित खेचरी की विधि का यही विधान है ॥ ४४-४६ ॥

श्रीकामिक शास्त्र में भी खेचरी के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा की गयी है। वही कह रहे हैं—

श्रीकामिक शास्त्र प्राणापानवाह को वक्त्रविधि से ग्रस्त बनाने की बात करता है। 'चुम्बाकार' एक पारिभाषिक शब्द है। आचार्य जयरथ ने उसे बहुत अच्छी तरह परिभाषित किया है। मुख द्वारा

१. सर्वप्रथम काक चञ्चु पट के समान ओठों को गोल बनाकर एक पतला छिद्र बनाने की मुद्रा बनायी जाये।

२. उसी छिद्र से मध्यप्राणशक्त्यवलम्बी प्राणक्रिया की जाये।

३. इस प्राणप्रक्रिया को चन्द्रार्कपुट कह सकते हैं। इस चन्द्रार्कपुट संपुट में प्रमाण प्रमेयात्म विश्व को ग्रसमान करने के अभ्यास द्वारा ग्रास

मत एव परं प्रमात्रेकरूपं तत्त्वं चन्द्रार्कपुटस्य प्राणापानयुग्मस्य संपुटे मध्यधाम्नि श्रूयते साक्षात्क्रियते, तत एव अस्य खचारित्वं स्यादिति वाक्यार्थः ॥ ४८ ॥

इदानीं श्रीकुलगह्वरोक्तं सविशेषमस्या रूपं वक्तुमाह

भवान्मुक्त्वा द्रावयन्ति पाशान्मुद्रा हि शक्तयः ।
मुख्यासां खेचरी सा च त्रिधोच्चारेण वाचिकी ॥ ४९ ॥
त्रिशिरोमुद्गरो देवि कायिकी परिपठ्यते ।

अतो हि पारमेश्वर्यः शक्तय एव मुद्रा उक्ता यदासां पशूनां संसारात् मोचयित्वा पाशान् द्रावयन्तीति निर्वचनम् । यदुक्तं

करने की क्षमता प्राप्त कर ली जाये। यह ग्रास करना ही विश्व को स्वात्म-सात् करना माना जाता है। यह भी ध्यान देना चाहिये कि, अर्क (सूर्य) प्रमाण और चन्द्र प्रमेय माने जाते हैं। इस एकान्तश्वास प्रक्रिया में संलग्न साधक खेचरी सिद्ध हो जाता है। जहाँ तक परतत्त्व की श्रवण प्रक्रिया का प्रश्न है, यह तो प्रमाण प्रमेयात्मक विश्व की ग्रसमानता का मध्यधाम में ही साक्षात्कार मात्र है। इसका अनुभव उस समय होता रहता है। यही इस खेचरी मुद्रा का वैशिष्ट्य है ॥ ४७-४८ ॥

इसके बाद कुल गह्वर शास्त्र में उक्त खेचरी मुद्रा के स्वरूप पर प्रकाश का प्रक्षेप कर रहे हैं—

वहाँ मुद्रा के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया गया कि, अणु को भव अर्थात् संसार से मुक्त कर पाशराशि को द्रावित करने की प्रक्रिया का नाम ही मुद्रा है। मुक्ति से 'मु' और द्रावयति से द्रा लेकर 'मुद्रा' शब्द की व्युत्पत्ति नैरुक्त प्रक्रिया के अनुसार की गयी है। इसलिये पारमेश्वरी शक्तियाँ ही मुद्रायें हैं, यह सिद्ध हो जाता है। इन शक्तियों में मुख्य शक्ति ही खेचरी मुद्रा कहलाती है। कुलगह्वर शास्त्र की ही उक्ति है कि,

'मोचयन्ति महाघोरात्संसारमकराकरात् ।
द्रावयन्ति पशोः पाशांस्तेन मुद्रा हि शक्तयः ॥' इति ।
उच्चारेणेति मन्त्रादेः । त्रिशिरोमुद्‌गर इति कायिकीति
'इच्छाज्ञानक्रियापूर्वा···· ···· ···· ···· ···· ।' इति

"ऐसी शक्तियाँ जो महाघोर संसार रूपिणी घडियालिनी के जबड़ों में पड़े प्राणियों को उसकी दंष्ट्रा के दबाव से छुड़ा लेती हैं। तथा पशुओं की पाशराशि को द्रावित कर पशुपति स्तर की ओर अग्रसर कर देती हैं, वही मुद्रायें कहलाती हैं।',

इस प्रकार की अलौकिक विशेषताओं से विशिष्ट खेचरी मुद्रा वाचिकी, कायिकी और मानसी भेद से तीन प्रकार की होती है। प्राणा-पानवाह क्रम के अनुसार मन्त्रों का उच्चारण करते हुए जप भी सम्पन्न करने की अवस्था में यह वाचिकी खेचरी मुद्रा कहलाती है।

इसका दूसरा प्रकार 'कायिकी' कहलाता है। यह मुद्रा विशेषण शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पाठ में इसे 'त्रिशिरोमुदगरो' लिखा है। व्याकरण शास्त्र का यह अलौकिक उदाहरण है। इस प्रयोग में 'ओ' की मात्रा नहीं है। यह अनूठा प्रयाग सामरस्य की सौहित्यमयी सत्ता का स्वारस्य यहाँ स्वयम् उल्लासित करता है। आ के साथ ए का यह सुगुप्त पर प्रकट सान्निध्य है। आ आनन्द का और ए त्रिकोण रूपिणी मातृ सत्ता का प्रतीक है। एक साथ रहने पर यह ओके छद्म रूप में नील नभ की तरह परिदृश्यमान है।

यहाँ भगवान् शङ्कर माँ पार्वती को देवि! कहकर सम्बोधित कर रहे हैं। सम्बोधन में ही देवी का विशेषण भी प्रयुक्त है। वह विशेषण है— त्रिशिरोमुद्‌गरे। इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप तीन शीर्ष माध्यमों से मुद् अर्थात् परानन्द का स्वात्म में ही परामर्श करने वाली ऐसी परासंविद्रूपिके!

एवमेव हि परा संवित् कायत्वेन उल्लसितेत्याह

नासां नेत्रद्वयं चापि हृत्स्तनद्वयमेव च ॥ ५० ॥

वृषणद्वयलिङ्गं च प्राप्य कायं गता त्वियम् ।

इत्यादिनीत्या शक्तित्रयमयत्वात् त्रिशिरोमुद्गरो मदं परानन्दं गृणाति स्वात्मनि आमृशतीति परसंविदित्यर्थः । हृदिति हृत्पद्मनालरूपम् । एतत्सत्त्वं च तत्र तत्र शास्त्रे निरूपितमिति अतिरहस्यत्वादिह न प्रपञ्चितम् । तत् गुरुमुखादेव बोद्धव्यम् ।

भवस्थानाभवस्थानमुच्चारेणावधारयेत् ॥ ५१ ॥

मानसोयमितस्त्वन्याः पद्माद्या अष्ट मुद्रिकाः ।

यह अर्थ होता है । खेचरी भेद भिन्ना कायिकी मुद्रा भी स्त्रीलिङ्ग के कारण त्रिशिरोमुद्गरा कहलाती है । इसमें टाप् प्रत्यय का आनन्दवादी प्रयोग है । इस पक्ष में भी कायिकी मुद्रा इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप परामर्शों के माध्यम से स्त्री पुरुष को षडर मुद्रा में काया में उल्लसित होती है। उस समय के नासिका, नेत्रद्वय और दोनों स्तन मेलापक मुद्रा में रहते हैं। कायिकी हृदय पद्मनाल के द्वारा काया में प्रवेश करती है। पुरुष के दोनों वृषण और लिङ्ग षडर मुद्रा में समाहित रहते हैं। चर्या का यह रहस्यार्थ है। साधना की दशा में ध्यान द्वारा भी काया में मुद्रा का सन्धान आगमिक करते हैं। यह सब ज्ञानवान् गुरु से जाना जा सकता है।

इस तरह त्रिशिरोमुद्गरा काया का विशेषण बनकर और त्रिशिरो-मुद्गरे ! देवि ! शब्द का सम्बुद्धि रूप विशेषण बनकर एक साथ हो एक शाब्दिक काया में दो शब्द उल्लसित हैं। शास्त्रकार का यह सारस्वत प्रयोग आगमिक वाङ्मय के वैलक्षण्य को व्यक्त करता है ॥ ४९-५० ॥

इसका तीसरा प्रकार 'मानसी' मुद्रा के नाम से जाना जाता है। 'मानसी' संज्ञा का कारण मानस द्वारा विभिन्न ऊर्ध्व अवयवों में शक्ति

मातृव्यूहकुले ताः स्युरस्यास्तु परिवारगा ॥ ५२ ॥
शरीरं तु समस्तं यत्कूटाक्षरसमाकृति ।
एषा मुद्रा महामुद्रा भैंरवस्येति गह्वरे ॥ ५३ ॥

भवस्थानं शरीरमभवस्थानमुच्चारेणेति

'पद्मं हृत्पद्ममेवात्र शूलं नाडित्रयं प्रिये ।
नाभि चक्रं विजानीयाच्छक्ति नादान्तरूपिणीम् ॥
बिन्दुदेशोद्भवं दण्डं वज्रं चित्तमभेदकम् ।
दंष्ट्रां जिह्वां महाभागे कपालं व्योममण्डलम् ॥
एषु स्थानेषु सञ्चारान्मानसी परिपठ्यते ।'

का संचार है। इसे शास्त्रकार ने एक वाक्य में ही व्यक्त कर दिया है। वे कहते हैं कि, भव अर्थात् संसार का स्थान यह शरीर है। शरीर ही संसार का स्थान है। इसे अभव स्थान में परिणत करना है। यह मनन करना है कि, यह शाक्त उल्लास पारमेश्वर प्रसूत है। इस रूप में मनन करने से भव-स्थान अभवस्थान में परिणत होता प्रतीत होता है। अस्तित्वगत अवधारणा में एक क्रान्ति आ जाती है। इन तीनों के अतिरिक्त आठ मुद्राओं का विवेचन कुल गह्वर में और मालिनी मत में इस प्रकार किया गया है—

'पद्म' हृदयपद्म को ही संकेतित करता है। 'शूल' शब्द इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना इन नाडियों को अभिव्यक्त करता है। नाभि ही 'चक्र' है। नादान्तरूपिणी 'शक्ति' और बिन्दु से अर्धचन्द्र और रेखिनी को पार कर नाद तक 'दण्ड' मुद्रा होती है। अभेद स्थिति में दृढ़तापूर्वक विद्यमान चित्त ही 'वज्र' है। जिह्वा ही दंष्ट्रा के मध्य में रहती हुई पर्याय का काम कर रही है। कपाल ही व्योममण्डल है। इन स्थानों में मानस प्रयोग द्वारा शक्ति संचार होता है। इन आठों को आत्मसात् करने वाली मुद्रा मानसी मुद्रा ही कही जा सकती है"।

इत्यादिनयेन ऊर्ध्वं चारेण गमनेत्यर्थः । अष्टेति यदुक्तं

खेचर्या परिवारस्तु अष्टौ मुद्राः प्रकीर्तिताः ।
शूलाष्टके च देवेशि मातृव्यूहे च ताः स्मृताः ॥
पद्मं शूलं तथा चक्रं शक्तिर्दण्डं सवज्रकम् ।
दंष्ट्रा कपालमित्येवं तदशेषं व्यवस्थितम् ॥' इति ।

कूटाक्षरं क्षकारः । एतत्सतत्त्वं च प्राक् बहुशः प्रतिपादितम् । अनेन प्रागुद्दिष्टाया भैरवमुद्राया अपि लक्षणमुक्तम् ॥ ५१-५३ ॥

अस्या एव सर्वत्र अविगीतता दर्शयितुं शास्त्रान्तरतोऽपि सप्रभेदं रूपमाह

यह सब भवस्थान में उच्चारण के समान है। यहाँ उच्चारण शब्द का ऊर्ध्वगमन अर्थ है। इस शक्ति संसार में गतिक्रिया का प्राधान्य होता है। हृदय से लेकर व्योम मण्डल पर्यन्त यह ऊर्ध्वगमन ही उच्चारण है। इसी उच्चारण से मानस-मुद्रा का अवधारण होता है।

यह खेचरी का परिवार है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि,

"खेचरी मुद्रा के परिवार में आठ मुद्रायें परिगणित हैं। ये सभी शूलाष्टक रूप मातृव्यूह में रहती हैं। इस अष्टक का नाम इस प्रकार अभिहित किया गया है।

१. पद्म, २. शूल, ३. चक्र, ४. शक्ति, ५. दण्ड, ६. वज्र, ७. द्रंष्ट्रा और ८. कपाल। ऊपर भी इनका विश्लेषण किया जा चुका है।"

यह ध्यान देने की बात है कि, यह शरीर चक्रेश्वर वर्ण 'क्षकार' रूप कूटाक्षर के आकार का ही निर्मित है। जैसे 'क्षकार' में सारे व्यजन वर्ण संहृत हैं, उसी तरह खेचरी मानव शरीररूपी क्षकार में व्याप्त है। गह्वर शास्त्र में तो इन आठों स्थानों में समानरूप से व्याप्त मुद्रा को भैरवी मुद्रा के नाम से भी अभिहित किया गया है। भैरवी मुद्रा का नाम श्लोक ५ में आया हुआ है ॥ ५१-५३ ॥

सूपविष्टः पद्मके तु हस्ताग्राङ्गुलिरश्मिभिः ।
पराङ्मुखैर्झटित्युद्यद्रश्मिभिः पृष्ठसंस्थितैः ॥ ५४ ॥
अन्तःस्थितिः खेचरीयं संकोचाख्या शशाङ्किनी ।
तस्मादेव समुत्तम्ब्य बाहू चैवावकुञ्चितौ ॥ ५५ ॥

इह पद्माद्यासनस्थो योगी यदा पृष्ठसंस्थितत्वादेव पराङ्मुखैरुद्यद्रश्मिभिर्बहिर्निर्गच्छच्छशाङ्करश्मिभिर्हस्ताग्राङ्गुलय एव रश्मयो रज्जवः, तैरुपलक्षितः सन् झटित्येव बाह्योपसंहारादन्तःस्थितिः स्वात्मनि एव विश्रान्तः स्यात्; तदा एवंभावितशशाङ्कत्वात् शशाङ्किनी, बाह्यस्य च सङ्कुचितत्वात् सङ्कोचाख्या इयमेका खेचरी मुद्रा । तथा तं हस्ताङ्गुल्यादिसंनिवेशमाश्रित्य बाहू सम्यगवकुञ्चितौ समुत्तम्ब्य स्वस्तिकाकारतया अवष्टभ्य

'खमनन्तं तु मायाख्यं ··· ··· ····· ··· ।'

खेचरी मुद्रा की सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है। इस अप्रतिम प्रभावमयी शक्ति की सभी शास्त्र प्रशंसा करते हैं। अन्यान्य आगमिक ग्रन्थों में इसके विविध भेद प्रभेदों की चर्चा करते हैं। भगवान् अभिनव इसके अभिनव भेदों की नव्यतम उद्भावनाओं पर प्रकाश डाल रहे हैं—

१. पद्मासन सदृश उत्कृष्ट कोटि के आसनों पर समुपविष्ट साधक पृष्ठभाग में स्थित अपनी अङ्गुलियों के अग्रभाग में अवस्थित वैद्युतिक केन्द्रों से निकलने वाली रश्मियों की आकुञ्चन विधि के साथ अपान शशाङ्क की बाहर गयी सासों को भी अन्तःस्थितः कर कुम्भक मुद्रा में आ जाता है, उस समय पौर्णमास केन्द्र में अवस्थिति हो जाती है। बाह्यविस्तार के विपरीत सङ्कोच की स्थिति होती है। अतः इस मुद्रा को शशाङ्किनी मुद्रा कहते हैं। खेचरी की यह एक विधा है ॥ ५४ ॥

२. हाथ की अङ्गुलियों का वह संन्निवेश उसी तरह रखकर बाहु को इस प्रकार से आकुञ्चित किया जाय कि, स्वस्तिक की आकृति-सी बन जाये।

सम्यग्व्योमसु संस्थानाद्व्योमाख्या खेचरी मता ।
मुष्टिद्वितयसङ्घट्टाद्धृदि सा हृदयाह्वया ॥ ५६ ॥

इत्याद्युक्तेषु पञ्चसु व्योमसु सम्यगुक्तेन क्रमेण स्थानात् गाढावष्टम्भात् व्योमाख्या द्वितीया । तथा अन्तःकृताधोवर्तिदक्षिणमुष्ट्यङ्गुष्ठोपरिगतोच्छ्रिताङ्गुष्ठवाममुष्टिलक्षणस्य मुष्टिद्वयस्य हृदिसङ्घट्टात् सा खेचरी हृदयाख्या तृतीया ॥ ५४-५६ ॥

शान्ताख्या सा हस्तयुग्ममूर्ध्वाधःस्थितमुद्गतम् ।
समदृष्ट्यावलोक्यं च बहिर्योजितपाणिकम् ॥ ५७ ॥
एषैव शक्तिमुद्रा चेदधोधावितपाणिका ।
दशानामङ्गुलीनां तु मुष्टिबन्धादनन्तरम् ॥ ५८ ॥

तथा हस्तशब्देन बाहूपलक्षणात् बाहुयुग्ममधः स्थितवाममूर्ध्वस्थितदक्षिणमन्तः संमुखापाणिकत्वेऽपि उद्गतमूर्ध्वस्थितहस्तं दृष्टिसाम्येन अवलोक-

---

नीचे वामबाहु और दक्षिण बाहु ऊर्ध्व हो, मुद्रा का स्वरूप बनाने के लिये पाँचों व्योम अंशों पर गाढ अवष्टम्भ करे । इन व्योमांशों पर अवष्टम्भ करने के कारण ही इस मुद्रा को व्योम खेचरी कहते हैं । यह दूसरा भेद है ।

३. इसी तरह तीसरा भेद भी होता है । उसे 'हृदया' नामक खेचरी मुद्रा कहते हैं । इसमें ऊर्ध्व स्थित मुष्टिबद्ध हाथ हृदय का स्पर्श करते हैं ॥ ५५-५६ ॥

४. चौथी खेचरी मुद्रा शक्ति का नाम शान्ता है । इसमें दोनों हाथों को दाहिनी ओर ऊपर या ठीक सामने उठाते हैं । नीचे बायाँ उसके ऊपर दायाँ हाथ रखते हैं । केवल दृष्टि साम्य से उसे निहारते हैं । यह अत्यन्त सरल होने पर भी अनन्तफलप्रदा मानी जाती है ।

५. शक्ति मुद्रात्मिका खेचरी—इस मुद्रा की सारी प्रक्रिया शान्ता के समान है । अन्तर इतना ही है कि, यह अधोधावितपाणिका होती है । चतुर्थी

द्राक्क्षेपात्खेचरी देवी पञ्चकुण्डलिनी मता।
संहारमुद्रा चैषैव यद्यूर्ध्वं क्षिप्यते किल ॥ ५९ ॥

नीयं यदा स्यात्, तदा सा शान्ताख्या चतुर्थी। तथा एषैव शान्ताख्या एवं-संनिवेशोऽपि अधोधावितपाणिका चेत् भवेत्, तदा शक्तिमुद्राख्या पञ्चमी। तथा द्वयोरपि करयोः मुष्टिबन्धादनन्तरं दशानामपि अङ्गुलीनां झटित्येव तिर्यक्प्रतिक्षेपात् प्रतिकरं पञ्चकुण्डलिनीरूपत्वात् पञ्चकुण्डलिन्याख्या षष्ठी। तथा यद्येवं दशानामपि अङ्गुलीनामूर्ध्वं प्रक्षेपः, तदेव एषैव पञ्च-कुण्डलिनी संहारमुद्राख्या सप्तमी। संहारमुद्रात्वमेव च अस्या उत्क्रामणी-त्यादिना प्रदर्शितम् ॥ ५७-५९ ॥

उत्क्रामणी झगित्येव पशूनां पाशकर्तरी।
श्वभ्रे सुदूरे झटिति स्वात्मानं पातयन्निव ॥ ६० ॥

मुद्रा में पाणि ऊपर होते हैं और इसमें नीचे। इसमें दृष्टि समान भाव से पाणि पर ही रहती है ॥ ५७-५८ ॥

६. छठीं मुद्रा का नाम पञ्चकुण्डलिनी शास्त्रों में प्रसिद्ध है। इसमें दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बँधी हुई होती और त्वरित भाव से अङ्गुलियों को फैलाकर तिर्यक् प्रतिक्षिप्त करते हैं। पाँचों अङ्गुलियों के तिर्यक् प्रतिक्षिप्त करने के कारण ही इसे 'पञ्चकुण्डलिनी' कहते हैं। स्वयं कुण्डली भी तिर्यक् लिपटी ही रहती है। यहाँ अङ्गुलियाँ भी बँधी अवस्था में रहकर ही ऊर्ध्वगति में खुलती हैं। उसी की समानता यहाँ भी है।

७. इसी मुद्रा में दशों अङ्गुलियों का तिर्यक् प्रक्षेप न कर ऊर्ध्वप्रक्षेप करने से भी समदृष्टि अपेक्षित होती है। पशु-पाशकर्त्तरी संहार मुद्रा का पर्याय उत्क्रामणी मुद्रा है ॥ ५९-६० ॥

८. वीर भैरवी नाम की आठवीं मुद्रा बोध का अविलम्ब संवर्धन करती है। इसे साधने में संलग्न साधक उस समय जैसे ऊँची कूद में उत्क्रमण को

साहसानुप्रवेशेन कुञ्चितं हस्तयुग्मकम् ।
अधोवीक्षणशीलं च सम्यग्दृष्टिसमन्वितम् ॥ ६१ ॥
वीरभैरवसंज्ञेयं खेचरो बोधवर्धिनो ।
अष्टधेत्थं वर्णिता श्रीभर्गाष्टकशिखाकुले ॥ ६२ ॥

तथा अधोवीक्षणशीलत्वेन सम्यगन्तर्लक्ष्यतया दृष्ट्या समन्वितं कुञ्चितं हस्तयुग्मं विधाय सुदूरे श्वभ्रे साहसमुद्रानुप्रवेशेन झटिति स्वात्मानं पातयन्निव यदा योगी वर्धितबोधो भवेत्, तदैव इयं वीरभैरवसंज्ञा अष्टमो,—इति श्रीभर्गशिखाकुलम् ॥ ५६-६२ ॥

एतदुपसंहरन् वीर्यवन्दनमवतारयति

एवं नानाविधान्भेदानाश्रित्यैकैव या स्थिता ।
श्रीखेचरी तयाविष्टः परं बीजं प्रपद्यते ॥ ६३ ॥

तैयारी में कूदने वाला धावक रहता है, उसी प्रकार ऊर्ध्वाकाशरन्ध्र में स्वात्म को प्रक्षिप्त करने की मुद्रा में आ जाता है। हाथ सङ्कुचित हो जाते हैं। दृष्टि अधोमुखी रहती है और अन्तर्लक्ष्य की प्रमुखता बनी रहती है। अपनी सत्ता का उपग्रह की तरह अनन्त में प्रक्षेपण असाधारण उपक्रम माना जाता है। शास्त्रकार यह स्पष्ट करते हैं कि, श्रीभर्गाष्टक शिखाकुल नामक ग्रन्थ में ये आठ प्रकार की खेचरी मुद्रायें वर्णित हैं ॥ ६१-६२ ॥

खेचरी मुद्रा वर्णन के उपसंहार करने के अवसर पर उसके माहात्म्य के सम्बन्ध में अपने हृदय का उद्गार अभिव्यक्त कर रहे हैं—

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, इस प्रकार अनेक शास्त्रों में अनेक प्रकार से वर्णित और त्रिशूलिनी इत्यादि अनेक नामों से आख्यात यह एक मात्र खेचरी मुद्रा ही है। अनन्त भेदों का आश्रय लेकर यह अभिव्यक्त होती है। यह अनन्तभेदमयी उक्ति अनवक्लृति से भरी हुई है अर्थात् उनका पृथक्-पृथक् सभेद वर्णन असंभाव्य ही है।

नानाविधानिति त्रिशूलिन्यादीन्। आसां च त्रिशूलिन्यादोनामनवक्लृप्ति परतया सर्वासामेव स्वरूपं न उक्तम्। परं बीजमिति सृष्टिमयं पराबीजम्। वस्तुतो हि अनयोरभेद इति भावः। यदागमः

'एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
द्वावेकं यो विजानाति स वै पूज्यः कुलागमे ॥' इति ॥ ६३ ॥

अत एव आह

एकं सृष्टिमयं बोजं यद्वीर्यं सर्वमन्त्रगम्।
एका मुद्रा खेचरो च मुद्रौघः प्राणितो यया ॥ ६४ ॥

अतश्च तदावेश एव सर्वमुद्राणां तत्त्वमित्याह

तदेवं खेचरीचक्ररूढौ यद्रूपमुल्लसेत्।
तदेव मुद्रा मन्तव्या शेषः स्याद्देहविक्रिया ॥ ६५ ॥

शेष इति तदावेशशून्यः ॥ ६५ ॥

खेचरी सिद्ध साधक सर्वदा खेचरी के आवेश से आविष्ट रहता है। उस अवस्था में वह पराबीज की परावस्था को प्राप्त कर लेता है। वास्तविकता यह है कि, इनमें अभेद सम्बन्ध ही प्रधान होता है। आगम कहता है कि,

"संसार में सृष्टि बीज एक ही है। यह खेचरी मुद्रा ही एक मुद्रा है। कुलागम में वह परम पूज्य माना जाता है, जो परासृष्टि बीज और खेचरी मुद्रा के अभेद अद्वय भाव का साक्षात्कार कर लेता है" ॥ ६३ ॥

इसो आगमिक तथ्य का प्रतिपादन शास्त्रकार भी कर रहे हैं। उनका कहना है कि,

एक ही बोज सर्वतोभावेन सर्वातिशायी प्रभाव सम्पन्न है। उसे सृष्टिबीज कहते हैं। उसो का मन्त्रवोर्य सभी मन्त्रों में वीर्यवत्ता प्रदान करता है। इसी तरह एक ही सर्वप्रधान मुद्रा है, जिसे खेचरो मुद्रा कहते हैं। मुद्राओं की सारी माण्डलिकता इसी मुद्रा से मण्डित होती है। मुद्रौघ अर्थात् मुद्रा समूह इसी के प्राण से सतत अनुप्राणित है ॥ ६४ ॥

आसामेव च बन्धाय कालभेदं निरूपयितुमाह

यागादौ तन्मध्ये तदवसितौ ज्ञानयोगपरिमर्शे ।
विघ्नप्रशमे पाशच्छेदे मुद्राविधेः समयः ॥ ६६ ॥

इसलिये यह कह सकते हैं कि, खेचरी चक्र की रूढ़ि में जो साधक आरूढ़ हो जाता है और उस अवस्था में उसके स्वात्मस्वरूप का जिस प्रकार का उल्लास होता है, वही मुद्रा का वास्तविक स्वरूप है। शेष सारे रूप आङ्गिक विक्रिया मात्र हैं। अर्थात् खेचरी आवेश शून्य सारी मुद्रायें आवयविक विक्रिया मात्र मानी जाती हैं ॥ ६५ ॥

साधक को यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि, वह इन मुद्राओं का कब कैसे और किस उद्देश्य से आश्रय ले। वही यहाँ निरूपित कर रहे हैं—

१. इसे याग के आदि में अवश्य करना चाहिये। इससे वातावरण तैयार होता है और अस्तित्व में दिव्यता का आधान हो जाता है।

२. याग जब अपने पूर्ण उल्लास में पहुँचने वाला हो, तो मध्य में पुनः शक्ति संचार के लिये इसे कर लेना चाहिये।

३. याग की अवसिति अर्थात् अन्त में इसका प्रयोग करना भी अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है। इससे पूर्णता में चार चाँद लग जाते हैं।

४. साधकों को सक्रियता के उद्देश्य से प्रज्ञापरिषद् आहूत की गयी है। परामर्श परिमर्श प्रारम्भ ही होने वाला है। उस समय ज्ञान योग परिमर्श के ठीक अवसर पर इसके आवेश से आविष्ट होना ही चाहिये।

५. समस्त विघ्नों के प्रकाशन में यह मुद्रा गणपतित्व का उत्तरदायित्व स्वयं निर्वहन करती है। अर्थात् इसके करने से विघ्नों के जाल का उज्जासन हो जाता है।

ननु एवं समये मुद्राबन्धेन किं स्यादित्याशङ्क्य आह

बोधावेशः सन्निधिरैक्येन विसर्जनं स्वरूपगतिः ।

शङ्कादलनं चक्रोदयदीप्तिरिति क्रमात्कृत्यम् ॥ ६७ ॥

चक्रोदयदीप्तिरिति सप्तमाह्निकनिरूपितस्थित्या उदितानां मन्त्राणां दीप्तिर्दीपनमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

---

६. गुरु की कृपा से, पारमेश्वर शक्तिपात के प्रभाव से जब यह अनुभूत हो जाये कि, मेरे समस्त जागतिक बन्धन्न छिन्न-भिन्न हो गये हैं । मैं बुद्धत्व को प्राप्त हो गया हूँ । उस समय इसी आवेश में समाहित हो जाना चाहिये ।

इसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण अवसरों का चयन साधक को स्वयं करना चाहिये। ये उक्त छः विन्दु तो उपलक्षण मात्र हैं ॥ ६६ ॥

प्रश्न करने वाला यह जानना चाहता है कि, ऐसे अवसरों पर इस मुद्रा के प्रयोग से क्या होता है। उसी प्रश्न का समाधान शास्त्रकार अपने शब्दों में कर रहे है—

१. बोध के आवेश से साधक प्रबोध सिद्ध हो जाता है।

२. शैवमहाभावभावित साधक शिवैक्य से शैवसान्निध्य का आनन्द-रसास्वाद कर परमतृप्त हो जाता है।

३. विश्वात्मकता के व्यामोह का विसर्जन हो जाता है।

४. स्वात्मसंविद् समुल्लास के कारण स्वात्म का साक्षात्कार हो जाता है। यहाँ गति का अर्थ स्वरूप की उपलब्धि माना जाता है।

५. समस्त शङ्काओं के आतङ्करूपी कलङ्कपङ्क का प्रक्षालन हो जाता है।

६. सबसे बड़ी सिद्धि कुण्डलिनी शक्ति के जागरण रूप में साधक को प्राप्त हो जाती है। समस्त चक्रों से ज्ञान के सूरज का दीप्तिमन्त प्रकाश

एतदेव अर्धेन उपसंहरति

इति मुद्राविधिः प्रोक्तः सुगूढो यः फलप्रदः ।

इति शिवम् ॥

श्रीखेचरीसतत्त्वप्रविमर्शसमुन्मिषच्चिदावेशः ।
द्वात्रिंशं निरणैषीदाह्निकमेतज्जयरथाख्यः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
श्रीजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेकहिन्दीभाषाभाष्यसंवलिते
श्रीतन्त्रालोके मुद्राप्रकाशनं नाम
द्वात्रिंशमाह्निकम् समाप्तम् ॥ ३२ ॥

पुञ्ज परितः संव्याप्त हो जाता है। इन सभी प्रकार की क्रियाशीलताओं का साक्षात्कार कर साधक धन्य हो जाता है। मन्त्रदीप्त हो जाते हैं और साधक मन्त्रमय हो जाता है ॥ ६७ ॥

आह्निक अब अपने उपसंहार की प्रतीक्षा कर रहा है। उसे भगवान् शास्त्रकार अर्धाली का सहारा देकर विसृष्टि लोक की ओर प्रस्थित कर रहे हैं—

इस प्रकार मुद्राविधि का वर्णन सम्पन्न हुआ। यह अत्यन्त सुगूढ़ है। जीवन का वास्तविक फल इस आह्निक के स्वाध्याय से उपलब्ध हो जाता है ॥ इति शिवम् ॥

खचरविमर्शोन्मेषकृत जयरथ हार्दिक हर्ष।
द्वात्रिंशाह्निक-विवृति से प्रकटित चित्युत्कर्ष ॥

\+ \+ \+

यस्याः पादारविन्दे मधुमयमहितेऽजस्रमास्ते मदीया,
श्रद्धा संवित्तिभव्या सुरतिरनुपमा ह्लादहृद्या वरेण्या।
तस्याः शक्त्यैव मुद्राप्रकरणरुचिरं ह्याह्निकं संविवृत्य,
मातुःवामे प्रकोष्ठे कुलकुसुमनिभं ह्यर्पयत्यद्य 'हंसः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक
हिन्दीभाषाभाष्य संवलित
श्रीतन्त्रालोक का
बत्तीसवाँ आह्निक सम्पूर्ण ॥ ३२ ॥
॥ इति शिवम् ॥

अध्याय-5

मुद्रा-निरूपण

प्राणायाम के सिद्ध होने पर मुद्राओं का अभ्यास कुण्डलिनी जागरण हेतु परमावश्यक है। मुद्राओं के निरूपण से पूर्व मुद्राओं के महत्त्व तथा प्रयोजन की चर्चा यहाँ आवश्यक प्रतीत होती है। शास्त्रों में तो स्पष्ट उक्त है कि बिना प्रयोजन के तो मंद भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता अतएव इनका प्रयोजन बताते हुए ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ब्रह्मरन्ध्र के द्वार पर प्रसुप्त कुण्डली को जगाने हेतु सब प्रयत्नों द्वारा मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।[1]

योग तन्त्रों में कुण्डलिनी कोई नवीन वस्तु नहीं है। इसका वर्णन हठयोग के ग्रन्थों तथा उपनिषदों में प्राप्त होता है, इसका दूसरा नाम आधार शक्ति है और वह सभी पदार्थों को आश्रय देती हुई उन सबकी मूल सत्ता के रूप में विद्यमान रहती है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि हृदय की 101 नाड़ियाँ हैं तथा उनमें से एक मस्तक में प्रवेश करके अमरता की उपलब्धि कराती है। अन्यों से अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती।[2] यह कुण्डलिनी शक्ति चैतन्य सम्पादन करने के कारण निरालम्ब होकर शुद्ध चित्तस्वरूप में स्थित हो जाती है। यदि यह आधारशून्य हो जाएगी तो समस्त संसार की वस्तुएं भी आधारहीन होकर नष्ट हो जायेंगी। ग्रन्थकार के शब्दों में जिस प्रकार पर्वतों तथा वनों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी का आधार शेषनाग है, उसी प्रकार सभी योग यन्त्रों का आधार कुण्डली है।[3] और जब गुरु के प्रसाद से यह प्रसुप्त कुण्डली जग जाती है, तब

---

1. (क) ह० प्र०—3/5
   (ख) शिव-संहिता—4/14
2. छान्दोग्योपनिषद्—8/6/6
3. ह० प्र०—3/1

सभी पद्म (मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि) तथा सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।[1] और जब तक यह देह में सोई रहती है तब तक जीव पशु के समान रहता है तथा असंख्य योगाभ्यास करने पर भी उसको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।[2] इसके जागरण पर सुषुम्ना मार्ग प्राण हेतु राजपथ के समान सुखदायी हो जाता है। चित्तविषयों से हट जाता है तथा मृत्युभय नष्ट हो जाता है। इस सुषुम्ना नाड़ी के कई पर्यायवाची शब्द हैं जैसे शून्य पदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्य मार्ग।[3]

अतः इसी कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिए ही मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए। इन मुद्राओं की संख्या दस है—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यानबन्ध, मूलबन्ध, जालंधर बन्ध, विपरीत करणी, वज्रोली और शक्तिचालन।[4]

जबकि घेरण्ड संहिता में इनकी संख्या पच्चीस और गोरक्ष-संहिता में इनकी संख्या पाँच बताई गई है।[5] शिव-संहिता में मुद्राओं की संख्या दस बताते हुए इनको क्रमशः उत्तमोत्तम कहा है।[6]

हठयोग के अतिरिक्त मुद्राओं का उल्लेख तन्त्र साहित्य में भी प्राप्त होता है। इनका नाम क्रमशः डोम्बि, नटी, रजकी, ब्राह्मणी और चण्डाली है तथा इनकी संख्या पाँच मानी गई है।[7]

1. महामुद्रा

वाम पैर की एड़ी से सीवनी नाड़ी को दबाएँ तथा दाहिने पैर को भूमि पर फैला कर दोनों हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़ लें तदुपरान्त जालन्धर बन्ध लगाकर वायु को ऊपर की ओर ले जाकर रोकना चाहिए। जिस प्रकार डण्डे की चोट से सर्प दण्ड के समान सीधा हो जाता है उसी प्रकार मुद्राओं के निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सहसा

---

1. (क) वही—3/2
   (ख) शिव-संहिता—4/13
2. घेरण्ड-संहिता—3/50
3. ह० प्र०—3/3-4
4. वही—3/6-7
5. (क) घेरण्ड-संहिता—3/1-3
   (ख) गोरक्ष-संहिता—1/56
6. शिव-संहित—4/58
7. Studies in the Tantras Part I by Prabodh Chandra Bagchi, Published by the university of Calcutta—1939

सीधी हो जाती है और तब इड़ा और पिंगला मृतवत् हो जाती हैं तथा वायु सुषुम्ना मार्गी हो जाता है। इसके बाद योगी को धीरे-धीरे श्वास का रेचक करना चाहिए, अत्यन्त शीघ्रता से नहीं। श्रेष्ठ योगियों ने इसी को महामुद्रा कहा है। महासिद्धों द्वारा बताई गई इस महामुद्रा के अभ्यास से महाक्लेश आदि दोष तथा मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। इसी कारण विद्वानों में श्रेष्ठों ने इसे महामुद्रा कहा है।

चन्द्र नाड़ी से अभ्यास करने के पश्चात् सूर्य नाड़ी से अभ्यास एवं जब दोनों की संख्या समान हो जाए तब इस मुद्रा को विसर्जित करना चाहिए। इस महामुद्रा के अभ्यासी के लिए पथ्य भोजन तथा अपथ्य भोजन नहीं रह जाता, रसहीन वस्तु भी रसयुक्त हो जाती है तथा विषतुल्य कुत्सितान्न भी अमृत के समान बन जाता है। महामुद्रा के अभ्यास से अभ्यासी के क्षय, कुष्ठ, कोष्ठबद्धता, गुल्म, अजीर्ण तथा अनेक प्रकार के उत्पन्न होने वाले रोग नष्ट हो जाते हैं। इस महामुद्रा को जो कि मनुष्य को महासिद्धि प्रदायक है, प्रयत्नपूर्वक गुप्त तथा किसी अधर्मी को नहीं बतानी चाहिए।[1]

गोरक्ष-संहिता[2] तथा घेरण्ड-संहिता[3] में भी इनके लाभों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि इसके निरन्तर अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, गुल्म, अजीर्ण आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

2. महाबन्ध

वाम चरण को एड़ी की सीवनी नाड़ी पर लगायें तथा दक्षिण चरण को वाम-जङ्घा पर दृढ़तापूर्वक स्थापित करें। तत्पश्चात् वायु का पूरक करके चिबुक को कण्ठकूप पर दृढ़तापूर्वक रखें। तब मूल बन्ध लगाते हुए मन को सुषुम्ना में लगाना चाहिए। यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे वायु का रेचक करना चाहिए। इस प्रकार वायीं ओर से अभ्यास करने के बाद पुनः दायीं तरफ से अभ्यास करना चाहिए।

कुछ आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए हठयोग प्रदीपिकाकार कहते हैं कि जालन्धर बन्ध नहीं लगाना चाहिए अपितु जालन्धर बन्ध की अपेक्षा जिह्वा-बन्ध ही श्रेयस्कर है क्योंकि इससे प्राणों की गति ब्रह्मरन्ध्र की ओर हो जाती है।

यह महाबन्ध निश्चित ही महान् सिद्धियों का प्रदाता है तथा इसके अभ्यास से

---

1. ह० प्र०—3/10-18
2. गोरक्ष-संहिता, प्रथम शतक
3. घेरण्ड-संहिता—3/6-7

सभी नाड़ियों की ऊर्ध्वगामिता रुक जाती है। यह महाबन्ध कालपाश को तोड़ने में सामर्थ्य रखता है, इसके अभ्यास से तीनों धाराओं (इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना) का संगम होता है तथा मन भृकुटि (शिव स्थान) में लगने लगता है।[1] योगकर्णिका में कहा गया है कि यह त्रिवेणी सङ्गम को प्राप्त करता है तथा मन केदार में रमण करता है।[2]

3. महावेध

महावेध की महत्ता का वर्णन हठयोगप्रदीपिका[3] तथा घेरण्डसंहिता[4] में इस प्रकार से किया गया है कि जिस प्रकार रूपयौवनसम्पन्ना स्त्री पुरुष के बिना व्यर्थ होती है, उसी प्रकार महामुद्रा तथा महाबन्ध ये दोनों ही महावेध के बिना व्यर्थ ही हैं। इसके अनन्तर इसकी प्रक्रिया निर्धारित करते हुए कहा गया है कि योगी को महाबन्ध लगाकर मन को एकाग्रचित्त कर श्वास को ग्रहण करने के पश्चात् जालंधर बन्ध द्वारा वायु की गति का निरोध करना चाहिए।

तदुपरान्त दोनों हथेलियों को भूमि पर लगाकर सम्पूर्ण शरीर को तुला के समान दोनों हथेलियों पर उठा लेवें। इसके अनन्तर धीरे-धीरे नितम्ब प्रदेश को भूमि पर ताड़न करें। ऐसा करने से प्राणवायु दोनों नासारन्ध्रों को छोड़कर सुषुम्नावाही हो जाता है।

सोम (इड़ा) सूर्य (पिङ्गला) अग्नि (सुषुम्ना) इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध होने पर अमरता की प्राप्ति तथा मृतावस्था की उत्पत्ति होने पर अर्थात् इड़ा और पिंगला के निष्क्रिय होने पर वायु का सुषुम्ना से रेचन करना चाहिए।

इस महावेध के अभ्यास से अभ्यासी को महासिद्धियों की प्राप्ति, झुर्रियों, वालों का पकना तथा शरीर का कांपना बन्द होता है। इसलिए श्रेष्ठ साधक इसका अभ्यास करते हैं।

इन तीनों (महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध) को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिए। ये तीनों वृद्धावस्था और मृत्यु का विनाश करती हैं, इनके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा ये अणिमा आदि सिद्धियों की प्रदाता मानी जाती हैं।

प्रतिदिन तीन घंटे तक आठ बार इनका अभ्यास करना चाहिए। ये (साधक को) सभी द्रव्यों को देने वाली और सभी प्रकार के पापों को नष्ट करने वाली हैं। अच्छे

---

1. ह० प्र०—3/19-24
2. योगकर्णिका—8/38
3. ह० प्र०—3/25
4. घेरण्ड-संहिता—3/21

जानकार साधकों को भी इनका अभ्यास प्रारम्भ काल में अल्प मात्रा में ही करना चाहिए।[1]

शिव-संहिता में कहा गया है कि जो साधक प्रतिदिन इन मुद्राओं का चार बार अभ्यास करता है वह केवल छः मास में ही मृत्यु पर विजय पाता है।[2]

4. खेचरी

योग-विज्ञान में यह तथ्य सर्वविदित है कि हमारे तालुमूल में एक विवर से चन्द्र-रसरूपी अमृत स्रवित होता रहता है तथा जो नाभि प्रदेश पर पहुंच कर भस्म हो जाता है, उसका नष्ट होना ही मृत्यु का हेतु है। अतः उसको यत्नपूर्वक नाभि प्रदेश तक न पहुंचने देना ही खेचरी मुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा की प्रक्रिया में जिह्वा को इतना दीर्घ करना चाहिए कि वह भृकुटि प्रदेश का स्पर्श करने लगे। तब उसको वापिस मुख में उलट कर उस विवर तक ले जाकर उससे स्रवित होने वाले सार को जिह्वा द्वारा ग्रहण करना चाहिए, ऐसा करने से मृत्यु का भय सदा के लिए समाप्त हो जाता है। स्वयं ग्रन्थकार के अनुसार जिह्वा को उलटकर कपाल-छिद्र में प्रवेश कराने के पश्चात् दृष्टि को भृकुटि पर स्थापित करने से खेचरी मुद्रा कहलाती है। खेचरी मुद्रा की सिद्धि के लिए जिह्वा का छेदन, चालन और दोहन इन तीन क्रियाओं को तब तक करते रहना चाहिए जब तक जिह्वा का स्पर्श भृकुटि पर न हो जाए। जिह्वा की छेदन, चालन और दोहन प्रक्रिया बताते हुए आगे कहा गया है कि स्नुही के पत्ते के समान धार वाले चिकने और निर्मल शस्त्र के द्वारा जिह्वा को रोममात्रा में काट दें। तत्पश्चात् सैन्धव नमक तथा हरड़ के चूर्ण को सात दिन तक कटे हुए भाग पर मलना चाहिए। सात दिन पश्चात् पुनः रोम मात्रा में काट दें। साधक इसी क्रम का षट्मास पर्यन्त प्रति दिन अभ्यास करता रहे। छः मास तक इसी क्रिया को करने से जिह्वा मूल का आवरण हट जाता है।

तदनन्तर जिह्वा को उलटकर कपाल छिद्र में लगाना चाहिए, इसी को खेचरी मुद्रा तथा इसी को व्योमचक्र भी कहते हैं।

जो साधक आधे क्षण भी जिह्वा को विपरीत कर कपाल छिद्र में लगाता है, वह शीघ्र ही विष, रोग, मृत्यु तथा वृद्धावस्था आदि से मुक्त हो जाता है। जो खेचरी मुद्रा को जान जाता है, उसे रोग, मृत्यु, तन्द्रा, निद्रा, भूख, प्यास तथा मूर्च्छा आदि से मुक्ति

---

1. ह० प्र०--3/26-31
2. शिव-संहिता—4/28

मिल जाती है। वह कर्मों में लिप्त तथा काल से भी बाधित नहीं होता। इसमें चित्त भृकुटि रूपी शून्य में विचरण करता है तथा जिह्वा कपाल-कुहर रूपी आकाश में स्थित रहती है, इसी कारण से सिद्ध लोग इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं, इस के द्वारा जिस योगी ने जिह्वा को उलटकर कपाल छिद्र को बन्द कर लिया है, उसका बिन्दु कामिनी के द्वारा आलिङ्गित होने पर भी स्खलित नहीं होता अर्थात् उसके बिन्दु की रक्षा होती है। यदि वह बिन्दु कदाचित् स्खलित हो जाए तथा योनि-मण्डल को प्राप्त कर ले तो भी वह बिन्दु योनिमुद्रा के द्वारा निबद्ध होने पर भी शक्ति से खींचकर ऊर्ध्वगामी हो जाता है। जो योगवित् स्थिर रहकर जिह्वा को उलटाकर सोमपान करता है वह अर्धमास में ही मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं क्योंकि जिस योगी का शरीर प्रतिदिन सोमद्रव्य से पूर्ण रहता है उसको सर्पदंश का विष नहीं चढ़ता तथा जिस प्रकार अग्नि लकड़ी को और दीपक तेल तथा बाती को नहीं त्यागता, उसी प्रकार सोमद्रव्य से पूर्ण देही को आत्मा नहीं त्यागती। जिह्वा के प्रवेश से उत्पन्न अग्नि से जो चन्द्रद्रव्य स्रवित होता है, उसी को अमरवारुणी कहते हैं और यदि जिह्वा का अग्रभाग सदा कपालछिद्र का चुम्बन कर, उससे स्रवित होने वाले स्राव का ग्रहण करता रहे, तो जिह्वा को क्रमशः लवण, तीखा, खट्टा, दुग्ध, मधु तथा घृत के समान रसों का आस्वादन होने लगेगा।[1] उसके समस्त रोगों का नाश, वृद्धावस्था का निवारण, शस्त्र का प्रभाव नष्ट तथा अणिमा आदि अष्टसिद्धियों की प्राप्ति के साथ-साथ उसके प्रति सिद्धांगनाएँ आकर्षित होती हैं।

जिह्वा को कपाल छिद्र में स्थिर करके ऊर्ध्व स्थित पराशक्ति का चिन्तन करते हुए, प्राणायाम के द्वारा षोडशदल-कमल से स्रवित निर्मल धारा की तरङ्गों के समान चन्द्ररस का जो साधक पान करता है, वह कमल डण्ठल के समान कोमलकाय प्राप्त कर व्याधि रहित होकर दीर्घायु को प्राप्त करता है।

ज्ञान के जनक तथा पांच स्रोतों (दो नाक, दो कान तथा एक मुख) से युक्त छिद्र जो कि ज्ञानयुक्त शून्य है उसी में खेचरी मुद्रा रहती है। जिस प्रकार से सृष्टि का मूल बीज प्रकृति है, देवों में श्रेष्ठ परमात्मा है और अवस्थाओं में एकमात्र अवस्था मनोन्मनी अवस्था है, उसी प्रकार मुद्राओं में एकमात्र खेचरी मुद्रा मानी गई है।[2]

5. उड्डीयान बन्ध

इसके नामकरण विषयक प्रसङ्ग के अनुसार सुषुम्ना नाड़ी में निरुद्ध प्राण-वायु

---

1. घेरण्ड-संहिता—3/31-32
2. ह० प्र०—3/32-53

इस बन्ध के द्वारा ऊर्ध्वगामी किया जाता है, क्योंकि इससे प्राणवायु रूपी पक्षी निरन्तर सुषुम्नामार्ग से शून्य में उड़ान भरता रहता है, इसीलिए इसे उड्डीयान कहा जाता है। इस बन्ध की प्रक्रिया निर्धारित करते हुए निर्दिष्ट है कि साधक को रेचक करने के उपरान्त नाभिस्थल को ऊपरी की ओर तथा उदर को नीचे और पीछे की ओर खींचकर मेरुदण्ड के साथ लगाना चाहिए। यह उड्डीयान बन्ध मृत्यु रूपी गज हेतु सिंह के समान है।

योगकुण्डल्युपनिषद् में इसको प्रथम स्थान न देकर द्वितीय स्थान पर रखा गया है।[1]

यदि कोई वृद्ध भी गुरु निर्दिष्ट मार्ग से एवं निरन्तर स्वाभाविक रूप से उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करता है तो वह भी युवक सदृश बन जाता है। इस बन्ध के छः मास तक निरन्तर अभ्यास से साधक की मृत्यु पर विजय तथा उसको निश्चित ही मुक्ति प्राप्त होती है।[2]

इसके निरन्तर अभ्यास से नाभिचक्र की गति ठीक होती है, उदर सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है, फेफड़ों को असीम बल की प्राप्ति, वीर्य ऊर्ध्वगामी जठराग्नि प्रदप्ति होती है एवं कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में भी यह बन्ध सहायक सिद्ध होता है।

6. मूलबन्ध

दोनों पावों की किसी भी एक एड़ी से गुदेन्द्रिय तथा लिंगेन्द्रिय के मध्य भाग को दबाकर गुदा का आकुंचन करते हुए अपान वायु को ऊपर की ओर खींचना चाहिए। इसी को मूलबन्ध कहते हैं। अर्थात् अधोगामी अपानवायु को जो साधक गुदेन्द्रिय प्रदेश के आकुंचन के द्वारा बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी कर लेता है, उसे ही योगीजन मूलबन्ध कहते हैं। इस प्रक्रिया में गुदेन्द्रिय प्रदेश को दबाकर बलपूर्वक बार-बार योनि का आकुंचन तब तक करते रहना चाहिए जब तक अपान वायु ऊर्ध्वगामी न हो जाए।[3]

घेरण्ड-संहिता में इसका निरूपण इस प्रकार से किया गया है कि बायीं एड़ी से गुह्यप्रदेश को संकुचित कर प्रयत्नपूर्वक मेरुदण्ड में नाभिग्रन्थि को लगाकर दबाए और दायीं एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबा ले। यह मूलबन्ध है तथा इससे वृद्धावस्था नष्ट होती है। संसार रूपी सागर से पार होने वाले आकांक्षियों को जनहीन स्थान (निर्जन)में

---

1. योगकुण्डल्युपनिषद्—41
2. ह० प्र०—3/54-59
3. ह० प्र०—3/60-62

छिपकर ही इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इससे मरुत् सिद्धि होती है। अतएव मौन एवं आलस्य रहित होकर इसका अभ्यास करना चाहिए।[1]

इसके लाभों की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि इसके निरन्तर अभ्यास से प्राण तथा अपान वायु की एकता एवं नाद और बिन्दु में ऐक्य स्थापित होकर योगसिद्धि की प्राप्ति होती है। प्राण और अपान की एकता से मल और मूत्र की अल्पता होती है। यहाँ तक कि वृद्ध भी युवक सदृश बन जाता है।

जब इस बन्ध के अभ्यास से अपान वायु ऊर्ध्वगामी हो जाता है, तब वह वह्नि-मण्डल अर्थात् उदर की जठराग्नि में जा पहुंचता है। अपान वायु से आहत हुई जठराग्नि और अधिक प्रदीप्त हो उठती है। तब अग्नि और अपान वायु प्राण को उष्ण बना देते हैं। इससे देह की अग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है।

जब प्राणवायु और अपान वायु का घर्षण होता है, तब सोई हुई कुण्डलिनी सन्तप्त होकर जग जाती है तथा दण्ड से आहत हुई सर्पिणी की भांति फुन्कारती हुई सीधी हो जाती है और ब्रह्मनाड़ी में उसी प्रकार प्रवेश करती है जिस प्रकार सर्पिणी अपने बिल में प्रवेश करती है। अतएव योगियों को प्रति दिन मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए।[2]

इस प्रकार का वर्णन योगकुण्डल्युपनिषद् में भी प्राप्त होता है।[3] इसके अतिरिक्त इस बन्ध के निरन्तर अभ्यास से गुदा सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण तथा उदर सम्बन्धी रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। बवासीर सदृश रोगों की तो यह अचूक दवा है।

7. जालन्धर बन्ध

सभी हठयोग के ग्रन्थों में इस बन्ध की चर्चा की गई है। कुछ प्राचीन योगियों के मतानुसार इस की आवश्यकता नहीं समझी गई क्योंकि उनके मतानुसार जिह्वा बन्ध होने पर जालन्धर बन्ध के समस्त लाभ योगी को प्राप्त हो जाते हैं, अतएव जालन्धर बन्ध की विशेष उपयोगिता दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु हठयोगप्रदीपिकाकार ने इसके महत्त्व को समझ कर इसकी प्रक्रिया निर्धारित करते हुए कहा है कि 'कण्ठ को संकुचित करने के

---

1. घेरण्ड-संहिता—3/14-17
2. ह० प्र०—3/63-68
3. योगकुण्डल्युपनिषद्—43-45

उपरान्त ठोड़ी को हृदय-प्रदेश (कण्ठ-कूप) में दृढ़ता पूर्वक स्थापित करने को जालन्धर बन्ध कहते हैं, जो वृद्धावस्था तथा मृत्यु का विनाशक है।[1]

शिव-संहिता में इसके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए इसे देवताओं के लिए भी दुर्लभ बताया है।[2]

इससे प्राप्त लाभों की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि यह बन्ध समस्त नाड़ी जाल को बांधता है जिससे निम्नगामी चन्द्ररस का बाध होने पर कण्ठ सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है।

शिव-संहिता में कहा है कि बुद्धिमान पुरुष इस बन्ध के द्वारा अमरवारुणी को पीकर अमरत्व तथा भुवनत्रय में प्रसन्नता को प्राप्त करता है।[3] कण्ठ-सङ्कोच वाले इस बन्ध को लगाने से चन्द्ररस जठराग्नि में नहीं गिरता तथा इससे वायु के विकार भी नहीं होते। यह बन्ध इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में वायु के प्रवाह को दृढ़तापूर्वक रोकता है। यह मध्यचक्र अर्थात् विशुद्ध चक्र है। इससे शरीर के सोलह आधारों का बन्ध होता है। सोलह आधारों के नाम इस प्रकार हैं—(1) अंगुष्ठ (2) गुल्फ (3) जानु (4) ऊरू (5) सीवनी (6) लिङ्ग (7) नाभि (8) ग्रीवा (9) हृदय (10) कण्ठदेश (11) लम्बिका (12) नासिका (13) भ्रू मध्य (14) मस्तक (15) मूर्धा और (16) ब्रह्मरन्ध्र।

इन आधारों का बन्ध परमावश्यक है क्योंकि इसके बिना योगसिद्धि की कल्पना ही व्यर्थ है।

इसके अतिरिक्त इस बन्ध से मन में स्थिरता, मस्तिष्क सन्तुलित एवं विशुद्ध रहता है। कण्ठ सम्बन्धी समस्त रोगों का नाश तथा नेत्र, कर्ण, नासिका और ग्रीवा के लिए भी यह बन्ध उपयोगी है।

महासिद्धों के द्वारा इन तीनों बन्धों (मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध और जालंधर बन्ध) का सेवन श्रेष्ठ है तथा योगियों के मतानुसार ये सभी बन्ध हठतन्त्रों के साधन स्वरूप हैं।[4]

8. विपरीतकरणी मुद्रा

दिव्यरूप चन्द्रमण्डल से जो अमृत तत्त्व स्रवित होता है, उस सबको

1. ह० प्र०—3/69
2. शिव-संहिता—4/38
3. शिव-संहिता—4/39
4. ह० प्र०—3/75

नाभिमण्डल स्थित अग्निस्वरूप सूर्य ग्रसता रहता है, इसी कारण से शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त है।

सूर्य के मुख में वह चन्द्र रस स्रवित न हो, इसकी एक दिव्य क्रिया कही गई है तथा इस क्रिया को गुरु के उपदेश से ही जाना जा सकता है न कि करोड़ों शास्त्रों के समूह से। नाभिमण्डल को ऊपर और तालुमूल को नीचे करने से सूर्यमण्डल ऊपर तथा चन्द्र-मण्डल नीचे की ओर हो जाता है। इसी क्रिया को विपरीत करणी मुद्रा कहते हैं जो कि गुरु के द्वारा ही प्राप्त है।[1]

घेरण्ड-संहिता के अनुसार नाभिमूल में सूर्य नाड़ी और तालुमूल में चन्द्रनाड़ी का वास माना गया है। सहस्रार के अमृतस्राव को सूर्य नाड़ी ग्रहण करती है और उसी से प्राणी की मृत्यु कही गई है। यदि उसी स्राव का पान चन्द्र नाड़ी करें तो जीव को मृत्युभय नहीं सताता। अतः सूर्यनाड़ी को ऊपर तथा चन्द्रनाड़ी को नीचे करना ही विपरीत-करणी मुद्रा कहलाती है।[2]

शिव-संहिता के अनुसार भूमि पर सिर रखकर दोनों पैरों को ऊपर स्थापित करना ही विपरीतकरणी मुद्रा है।[3] इसका प्रतिदिन अभ्यास जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। किन्तु यह विशेष ध्यातव्य है कि इसके अभ्यासी को पर्याप्त मात्रा में आहार ग्रहण करना चाहिए अन्यथा प्रदीप्त जठराग्नि शरीरस्थ रक्त, मज्जा आदि धातुओं को जलाने लगती है।

प्रारम्भकाल में एकक्षणपर्यन्त ही नीचे की ओर सिर एवं पांवों को ऊपर की ओर स्थापित करना चाहिए। इसके अभ्यास की वृद्धि प्रतिदिन क्षणमात्रा में ही करनी चाहिए।

इस मुद्रा के छः मास निरन्तर अभ्यास से शरीर की झुर्रियां तथा बालों की श्वेतता नष्ट एवं इसका प्रतिदिन एक प्रहर का अभ्यास साधक को कालजित् बना देता है[4]

9- वज्रोली

योगोक्त नियम रहित स्वेच्छाचारी योगी यदि इस क्रिया को जानता है तो

1. ह० प्र०—3/78
2. घेरण्ड-संहिता—3/33-34
3. शिव-संहिता—4/45
4. ह० प्र०—3/79-81

वह भी योगसिद्धि का अधिकारी होगा। इस मुद्रा की सिद्धि अप्राप्य न सही किन्तु दुष्कर अवश्य मानी गई है। चौदह अंगुल पर्यन्त शीशे, तांबे, स्वर्ण, रजत अथवा रबड़ की पतली नली को लिंगेन्द्रिय के माध्यम से प्रतिदिन एक-एक अंगुल परिमाण से ऊपर की ओर प्रवेश कराना चाहिए। बारह दिन पर्यन्त लिंगेन्द्रिय के शुद्ध होने पर वायु का ग्रहण और त्याग करना चाहिए। दृढ़ अभ्यासानन्तर क्रमश: जल, दूध, तेल, शहद और पारा ग्रहण करना चाहिए। इस अभ्यास में सिद्धहस्त होने पर ही योगी स्वबिन्दु अथवा रज को आकर्षित करें।

इस प्रकार स्वबिन्दु की रक्षा करने वाला साधक मृत्यु पर विजय पाता है क्योंकि बिन्दु का पतन ही मृत्यु और बिन्दु की रक्षा ही जीवन है। बिन्दु को शरीर में धारण करने वाले साधक के शरीर से सुगन्ध उत्पन्न होती है।

सहजोली और अमरोली भेदों से यह दो प्रकार की है। सहज़ोली क्रिया में साधक वज्रोली के उपरान्त गोबर के उत्तम भस्म को जल में मिलाकर अपने सम्पूर्ण अंगों पर लगाते हैं। यह शुभकारी सहजोली क्रिया भोगयुक्त होते हुए भी मुक्ति-दायिनी है।

वज्रोली का सम्यक् अभ्यास करते हुए नासिका प्रदेश से स्रवित होने वाले स्राव का पान ही अमरोली है। ज्योत्स्ना टीका के अनुसार जो पुरुष शिवाम्बुरूप अमरी को नासिका से नित्य पीता है अर्थात् नासिकाछिद्र द्वारा अमरी को अंतर्गत करता है और प्रतिदिन वज्रोली का भली प्रकार अभ्यास करता है उस मुद्रा को कापालिक अमरोली कहते हैं अर्थात् नासिका के छिद्र से पान की अमरी वज्रोली के अनन्तर अमरोली कहलाती है।[1]

यदि कोई साधिका भी इस क्रिया को जानती है तो वह शीघ्र ही भूत-भविष्य को जानने वाली, आकाशगामिनी एवं उसे कार्यसिद्धि की प्राप्ति होती है।[2]

10 शक्तिचालन

भारतीय दर्शनों में जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम तीन सामान्य जन के लिए जहां सुलभ हैं वहीं चतुर्थ तुरीयावस्था की उपलब्धि केवल योगियों को ही होती है। प्रथम तीन अवस्थाओं में कुण्डलिनी (जीव की मार्मिक शक्ति) प्राय: सुप्तावस्था में रहती है और तुरीयावस्था में यह जागृत हो उठती है तभी 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध होता है।

---

1. ज्योत्स्ना टीका—3/97
2. ह० प्र०—3/82-96

घेरण्ड-संहिता के अनुसार यह शक्ति मूलाधार से 4 अंगुल ऊपर 3/1-2 लपेटे खाकर सोई रहती है और जब तक यह सुप्तावस्था में विद्यमान रहती है तब तक जीव पशु के समान इस मर्त्यलोक में विचरण करता है, कोटियोग का अभ्यास करने पर भी उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।[1]

जिस प्रकार कोई सामान्य जन चाभी से अवरोधक कपाट को खोलता है, उसी प्रकार योगी इस शक्ति के द्वारा मोक्षद्वार का भेदन करता है। डा० गोपीनाथ कविराज के अनुसार 'अरणि-मंथन करने से जिस प्रकार अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है, अर्थात् अरणिस्थ सुप्त अग्नि जिस प्रकार संघर्षण से उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार साधन प्रणाली द्वारा प्रसुप्त कुण्डलिनी को जगाना पड़ता है। अग्नि जिस प्रकार प्रकट होते ही ईंधन (काष्ठादि) को दग्ध करती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के चैतन्य होने पर साधना विलुप्त हो जाती है। बाह्य साधनामात्र—अर्थात् विचार, भक्ति या हठ किंवा मन्त्र-योगादि—यह सम्पूर्ण उपासना पुरुषकार-सापेक्ष अथवा कर्त्तृत्वाभिमानजन्य हैं। यह कर्तृत्व-बोध क्रम से कुण्डलिनी-चैतन्य के समान लुप्त हो जाती है, और कर्तृत्व-बोध के लुप्त होने से कुण्डलिनी अधिक जागृत होती है। जिस समय एक बार कुण्डलिनी चेतन होने लगती है, उस समय स्वभाव के नियम से ही सब कार्य स्वयं ही होते जाते हैं। जिस प्रकार अनुकूल स्रोत में नौका छोड़ देने पर उसको समुद्र में पहुंचाने के अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार कुण्डलिनी को जगाने से और उसके प्रवाह में प्राण व मन को डाल देने से जीव को ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के लिए पृथक् उपाय करने की आवश्यकता नहीं रहती। सङ्कोच शक्ति अथवा ऊर्ध्वबिन्दु-स्थित आकर्षण-शक्ति के प्रभाव में अन्तर्मुखगति क्रमशः वृद्धिगत होती है, और अन्त में साम्यावस्था में स्थिर हो जाती है।[2]

स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं कि 'प्राणायाम से पहले त्रिकोण-मण्डल को ध्यान में देखने का प्रयत्न करना चाहिए। आंखें बन्द करके इसके चित्र की मन-ही-मन स्पष्ट रूप से कल्पना कर सोचना चाहिए कि इसके चारों ओर अग्निशिखा है और उसके बीच में कुण्डलिनी सोई पड़ी है। ध्यान में इस कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार चक्र में जब स्पष्ट भाव से देख सकोगे, तब उसको जगाने के लिए कुम्भक करके उस वायु के बल से उसके मस्तक पर आघात करो। जिनकी कल्पना शक्ति जितनी अधिक है वे फल भी उतनी शीघ्रता से पाते हैं और उनकी कुण्डलिनी भी उतनी ही शीघ्र जागृत होती है। जितने दिन वह जागृत नहीं है उतने दिन सोचे—वह जग गयी है और इड़ा तथा पिंगला की गति अनुभव करने की चेष्टा करो, जोर देकर उनको सुषुम्ना पथ में चलाने की चेष्टा करो, इससे शीघ्र ही कार्य होगा।'[3]

---

1. घेरण्ड-संहिता—3/49/60
2. भारतीय संस्कृति और साधना—डा० गोपीनाथ कविराज
3. सरल-राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, पृ० 21

हठयोगप्रदीपिकाकार के अनुसार जिस सुषुम्ना मार्ग से उस निरामय ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है, यह कुण्डलिनी उसी सुषुम्ना मार्ग को मुख के द्वारा ढककर सोई रहती है। यह शक्ति सर्प के समान कुटिल आकार वाली तथा गङ्गा (इड़ा नाड़ी) और यमुना (पिङ्गला नाड़ी) के मध्य में स्थित है जिसको पुरुषार्थ से ही जगाना चाहिए, क्योंकि वहीं भगवान् विष्णु का परम पद है।

कन्द के ऊपर स्थित इस शक्ति को प्रातः और सायं आधे प्रहर तक पिंगला नाड़ी से पूरक करके परिधान युक्ति से पकड़ कर प्रतिदिन चलाना चाहिए। आगे कन्दस्थान का लक्षण देते हुए कहा है कि लिंगेन्द्रिय तथा नाभि के मध्य एक हाथ ऊंचाई वाला, चार अंगुल परिमाण वाला, कोमल, श्वेत तथा वस्त्र के द्वारा लिपटे हुए के समान कन्द स्थान है। इस कन्द प्रदेश को वज्रासन में स्थित होकर दोनों पैरों के टखनों से दबाना चाहिए। तदनन्तर भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए, इससे कुण्डलिनी शीघ्रता से जागृत हो जाती है। अथवा नाभिमण्डल स्थित सूर्यनाड़ी का आकुंचन कर इस शक्ति को चलाने का अभ्यास करना चाहिए। इस शक्ति को दो मुहूर्त्त पर्यन्त निर्भय होकर चलाने से यह शक्ति सुषुम्ना में कुछ प्रविष्ट होकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है।

जिस साधक ने इस शक्ति को चलायमान कर लिया है, वही राजयोग आदि सिद्धियों को प्राप्त करता है। वह योगी लीला करता हुआ मृत्यु पर विजय पाता है। इस शक्ति चालन के अभ्यास से बहत्तर सहस्र नाड़ियों का मल दूर हो जाता है।[1]

इस प्रकार आदिनाथ शम्भु द्वारा उपदिष्ट ये सभी मुद्राएं साधकों को महा-सिद्धि प्रदान करने वाली हैं। और जो साधक एकाग्र मन से इन मुद्राओं का अभ्यास करता है, वह अणिमा आदि गुण-ऐश्वर्य के साथ-साथ मृत्यु पर भी विजय पाता है।[2]

---

1. ह० प्र०—3/97-116
2. शिव-संहिता—4/58

दिन से दसवें दिन तक दो प्राणायाम सुबह एवं शाम में भी होना चाहिये। ग्यारहवें दिन से पन्द्रहवे दिन तक तीन-तीन प्राणायाम सुबह-शाम होने चाहिये। सोलहवे दिन से बीसवे दिन तक चार-चार प्राणायाम सुबह शाम करना उचित होगा। एक्कीसवे दिन से पच्चीसवे दिन तक पाँच-पाँच प्राणायाम सुबह शाम होना चाहिये। इसी प्रकार हर पाँच रोज के बाद एक प्राणायाम बढ़ाते जाना चाहिये। सबके अन्त में दस-दस प्राणायाम पर पहुँचकर प्रतिदिन सुबह एवं शाम को दोनो समय दस-दस प्राणायाम होना चाहिये। ये दस प्राणायाम ही नियमानुसार पर्याप्त है। इसके अलावा जो योगी या ब्रह्मचारी इसे और आगे बढ़ाना चाहें तो बढ़ा सकते हैं। लेकिन उनका प्रतिदिन करना उचित होगा। ऐसे तो इससे जितने लाभ लिखे गये है, वे सभी दस प्राणायामों से ही प्राप्त हो जाने वाले हैं। योगी एवं बालब्रह्मचारी का नियम है कि यह प्राणायाम (सुबह, दोपहर, शाम) तीन बार होना चाहिये। अपने सामर्थ्य के अनुसार ही करेंगे। ऐसा करने से साधक कुछ ही दिनों में प्राणवायु को जीत लेंगे। नियमानुसार इसे एक प्राणायाम से प्रारम्भ किया जाता है। इसका कारण है कि दस प्राणायाम अगर प्रथम दिन से ही प्रारम्भ कर दिया जाय तो साधक के पेट में कब्ज होने की सम्भावना रहती है। इसलिये धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाना चाहिये। योग में अति शीघ्रता अनुचित है।

प्राणायाम के साथ बन्द का प्रयोग :—

पूरक के साथ मूल बन्द का प्रयोग :—श्वास खींचते समय मल द्वार, अण्डकोष एवं इन्द्री को ऊपर के तरफ धीरे-धीरे खींचना चाहिये। जैसे पैखाना या पेशाब के वेग तेज रहने पर प्रत्येक व्यक्ति उसे रोकने के लिये ऊपर के तरफ सिकोड़ते (खींचते) हैं। उसी प्रकार इस मूलबन्द का व्यवहार होना चाहिये।

कुंभक के साथ उडियान बन्द का प्रयोग :—श्वास को जितना समय रोका जायेगा उतनी समय तक मल द्वार, अण्डकोष एवं इन्द्री को जहाँ तक ऊपर खींचे हैं वहीं रोके रहना 'उडियान बन्द' कहलाता है।

रेचक के साथ जालन्दर बन्द का प्रयोग :—श्वास छोड़ने के बाद श्वास खींचने के बीच में जितना समय तक रोकना है। उतने समय के

Sri Gayatri Devi (New)

चित्र संख्या – २६

J. B. KHANNA & Co.

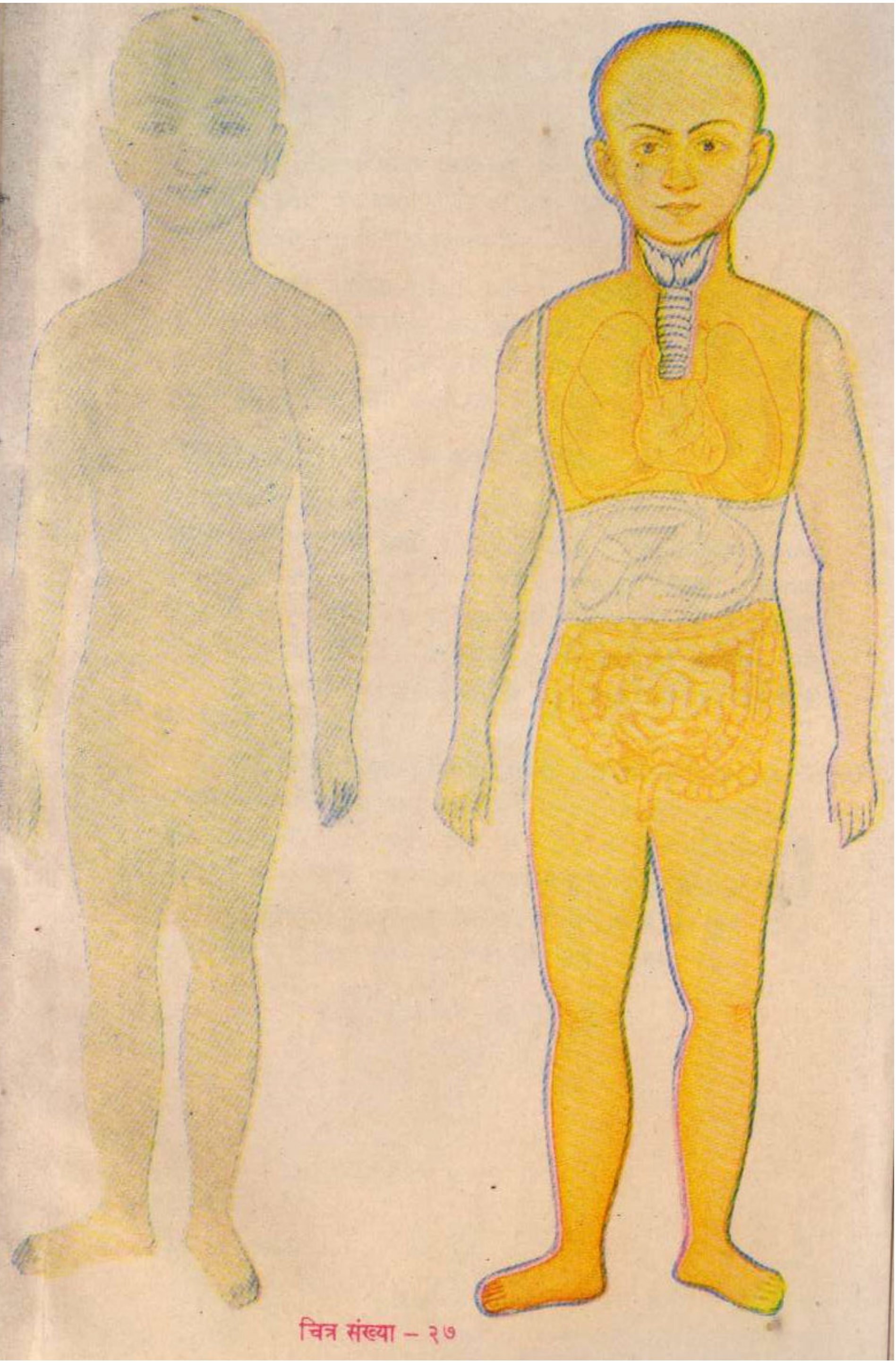

चित्र संख्या – २७

लिये मलद्वार, अण्डकोष एवं इन्द्री को जो ऊपर खींच कर रोके हैं उसे केवल ढीला छोड़ देना होगा। उस पर ऊपर से वेग (दबाव) नहीं दिया जायेगा। ये जालन्दर बन्द कहलाता है।

इसी प्रकार प्रत्येक रेचक, पूरक एवं कुंभक के साथ मूलबन्द, उडियान बन्द एवं जालन्दर बन्द का प्रयोग होना चाहिये। बन्द का प्रयोग जब भी होता है तो प्राणायाम के साथ हो होता है। बिना प्राणायाम के इस बन्द का कभी प्रयोग नहीं होता है।

प्राणायाम के साथ बन्द के प्रयोग से लाभ :—

प्राणायाम के साथ बन्द का प्रयोग करने से स्वप्न दोष की बीमारी सदा के लिये समाप्त हो जाती है। दूसरा लाभ (भोजन) पर नियंत्रण हो जाता है। अर्थात् भोजन नियमित हो जाता है। अच्छा से अच्छा भोजन मिलने पर भी अधिक नहीं खा सकते हैं। इसलिये योग के नियमानुसार भोजन पर नियंत्रण अनिवार्य है। यह स्वतः हो जाता है। जो योगी या साधक बालब्रह्मचारी हैं, उन्हें इस बन्द के साथ प्राणायाम करना अति अनिवार्य है।

योगाभ्यासी को यह दोनों नियंत्रण उसके योग मार्ग में अग्रसर करने में विद्युत धारा के सदृश काम करती है। साधक को शीत (ठंढ़क) एवं रोगों से मुक्त करती है, अनेक लाभ इससे हैं। जो बात नहीं समझे हों उसे किसी जानकार से समझ कर प्रारम्भ करना उचित होगा। लेखक या गुरुदेव भगवान अगर नजदीक में हों तो उनसे मिलकर अपने समस्याओं का समाधान पहले कर लेना अति उत्तम होगा।

** हरि ॐ तत् सत् **

५. योग मुद्रा

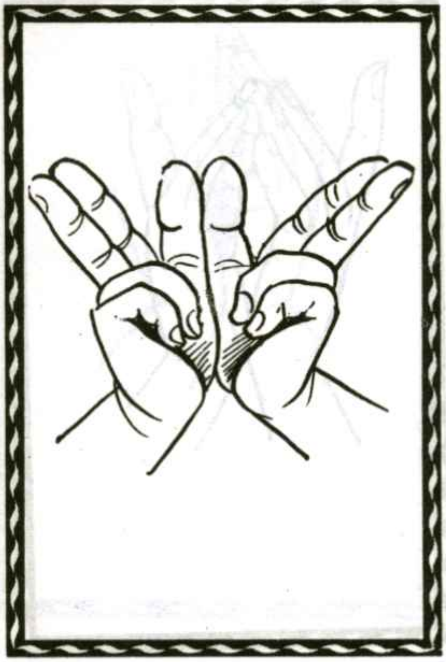

विधि–तर्जनी तथा कनिष्ठा अँगुलियों को थोड़ा मोड़ कर हथेली के मध्य में इस प्रकार रखें कि अधोमुख अँगुलियों के नख दिखाई देते रहें। शेष चारों मध्यमाओं तथा अनामिकाओं को पीठ में खड़ी करें तथा अँगूठों को एक करके खड़ा करें।

इस प्रकार 'योग मुद्रा' बनती है।

६. महा मुद्रा

विधि–मूल-द्वार (गुदा) को एड़ी से दबाकर दायें हाथ से पाँव की अँगुली पर रखदें तथा कण्ठ को मोड़ कर भौहों के मध्यभाग में देखें।

इसे 'महामुद्रा' कहते हैं।

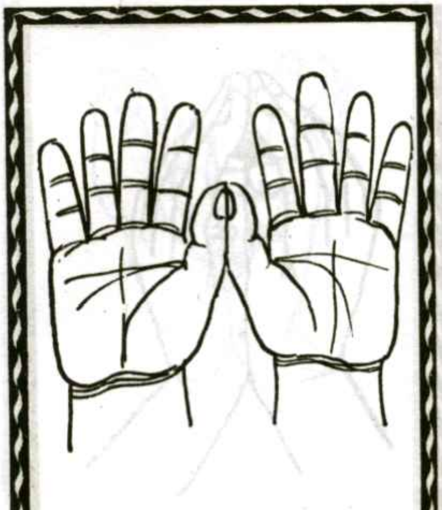

७. उड्डीयान मुद्रा

विधि–पेट को भीतर की ओर धँसाने से 'उड्डीयान मुद्रा' बनती है।

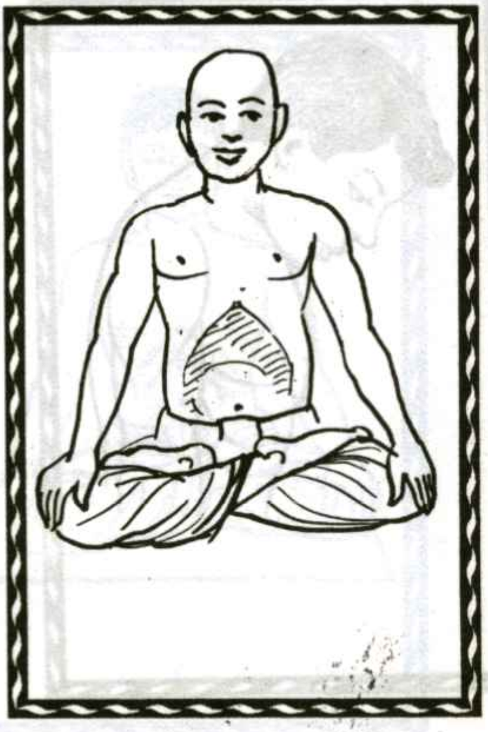

८. महाखग मुद्रा

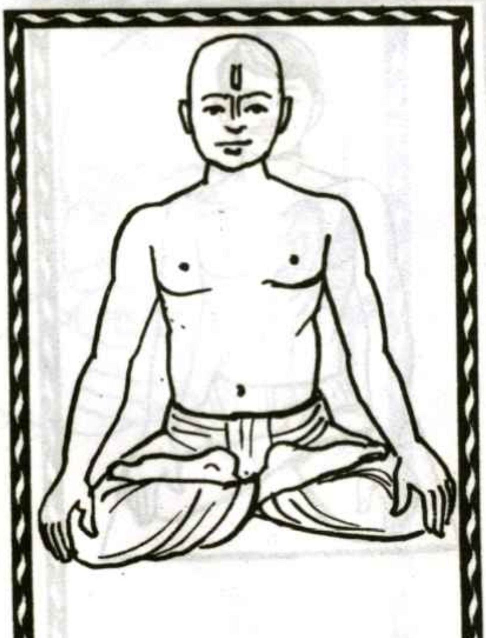

विधि–'उड्डीयान मुद्रा' की स्थिति में जब पेट भीतर को धँसा हो, तब उसे नाभि के ऊपर विश्राम देने से 'महाखग मुद्रा' होती है।

९. जालन्धर मुद्रा

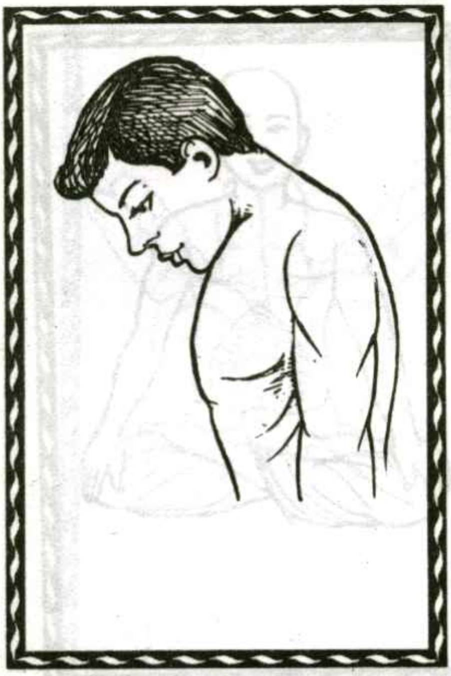

विधि–कण्ठ को सिकोड़ते हुए ठोड़ी को हृदय से लगाने पर 'जालन्धर मुद्रा' बनती है।

१०. मूलबन्ध मुद्रा

विधि–बाँई एड़ी से गुदा को दबाकर मेरुदण्ड की गाँठ को दबायें तथा मूत्रेन्द्रिय को एड़ी से दबायें।

इसे 'मूल बन्ध मुद्रा' कहते हैं।

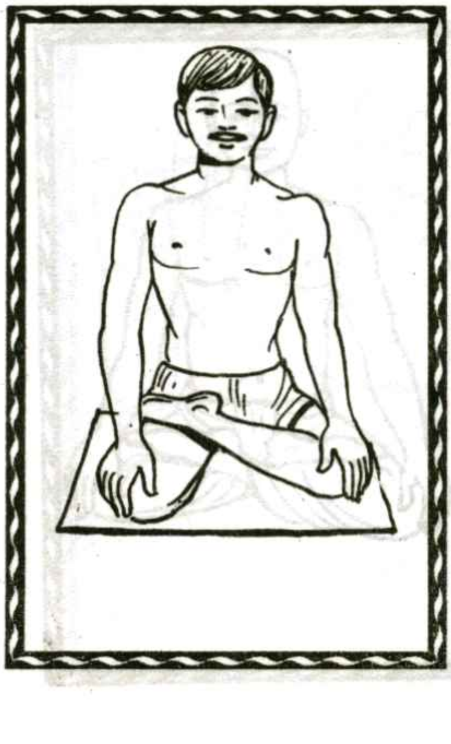

११. महावेध मुद्रा

विधि-उड्डीयान मुद्रा में 'कुंभक प्राणायाम' करने से 'महावेध मुद्रा' होती है।

यह मुद्रा योग सिद्धि देने वाली कही गई है।

१२. विपरीतकरणी मुद्रा

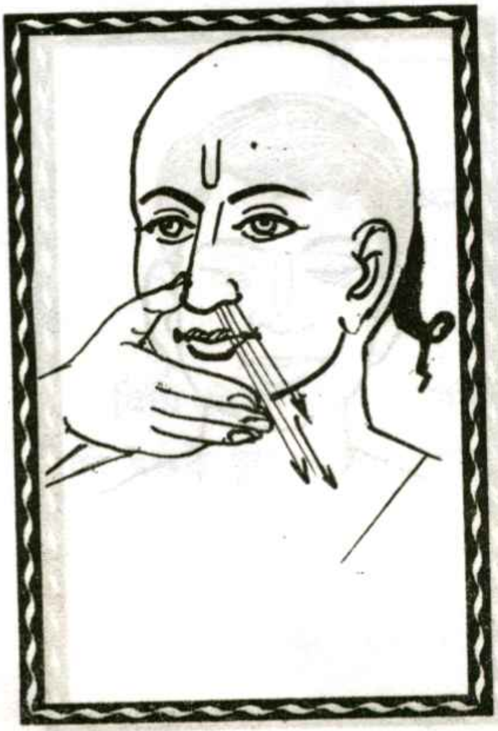

विधि-'सूर्य नाड़ी' अर्थात् दाँये नासा छिद्र से आने वाले श्वांस को ऊपर चढ़ावें (खींचें) तथा चंन्द्रनाड़ी अर्थात् बाँये नासा-छिद्र से श्वांस को नीचे लायें अर्थात् बाहर निकालें।

इसे 'विपरीतकरणी मुद्रा' कहते हैं।

१३. वज्रोली मुद्रा

विधि-दोनों हाथों की हथेलियों को पृथ्वी पर जमाकर दोनों पाँवों को ऊँचा करके आधे शरीर को ऊपर उठायें।

इसे 'वज्रोली मुद्रा' कहते हैं।

१४. माण्डूकी मुद्रा

विधि-मुँह को बन्द करके जीभ को तालु से लगायें तथा क्रमानुसार सहस्रार से निकलने वाले अमृत का पान करें।

इसे 'माण्डूकी मुद्रा' कहते हैं।

१५. शाम्भवी मुद्रा

विधि-दोनों भौंहों के मध्य भाग में दृष्टि को स्थिर करके आत्माराम को देखते हुए ध्यान करना ही 'शाम्भवी मुद्रा' है।

इति योग-साधन मुद्राः समाप्ताः

विषय में जगत प्रसिद्ध हैं ही, जिन्होंने वहाँ के मिलिट्री सी. आई. डी. तक को गुप्त भेद बताकर आश्चर्य में डाल दिया था। अमरीका में सबसे पहले १९५२ में डॉ. जे. बी. राहीन (J. B. Rahine) ने असाधारण मानसिक शक्तियाँ (Extra Sensory Perceptions) पर अनुसंधान प्रारम्भ किया था।

एक और उदाहरण—"आध्यात्मिक व गुप्त विद्यायें' नामक पुस्तक के 'वीर्य को नष्ट होने से रोकने के लिए वज्रोली मुद्रा' नामक शीर्षक से प्रकाशित विवरण को देखिये—"आध्यात्मिक और गुप्त शक्तियाँ प्राप्त करने के लिए योगी अपने वीर्य की एक बूँद को भी नष्ट नहीं करते। गुप्त विधियों से योगी अपने वीर्य को गुप्तांगों से निकाल कर रीढ़ की हड़ी द्वारा खींचकर मस्तिष्क में ले जाते हैं। एक शुक्राणु Sperm स्त्री के अंडे में जाकर ताकतवर मनुष्य बन सकता है। एक बार सम्भोग करने पर मनुष्य के एक चम्मच वीर्य में ५ से ८ करोड़ वीर्य कीट होते हैं। योगी ऐसे करोड़ों वीर्य कीट अपने मस्तिष्क के आध्यात्मिक केन्द्र में पहुँचाकर इनका शोषण कर लेते हैं, जिससे उनमें इतनी अधिक आध्यात्मिक शक्ति, दिव्य दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। वीर्य को नष्ट होने से बचाने के लिए योगियों को कठिन परिश्रम करना पड़ता है।

कुछ योगी ही निरन्तर प्रैक्टिस से वीर्य को नष्ट होने से बचाने में सफल होते हैं। डॉक्टर बन्द मूत्र से निकालने के लिए रबड़ और धातु के बने कैथेटर मूत्र मार्ग में प्रवेश किया करते हैं। कैथेटर एक ट्यूब होती है। योगी इस उद्देश्य के लिए चाँदी के विशेष प्रकार के कैथेटर बनवाते हैं। इस कैथेटर को मूत्र के छेद में पहले दिन एक इन्च अन्दर दूसरे दिन दो इन्च अन्दर प्रवेश करते हैं। इस प्रकार प्रतिदिन प्रैक्टिस करके १२ दिन में १२ इन्च मूत्र प्रणाली में गुजार कर मूत्राशय तक पहुँचा लेते हैं। पहले दिन इस कैथेटर द्वारा प्रक्षालित जल (डिस्टिल्ड वाटर) को मूत्राशय में पहुँचाते हैं और उसके पश्चात् तेल और बाद में मधु चढ़ाने की प्रैक्टिस करते हैं। इन वस्तुओं को चढ़ाने में सफल हो जाने के पश्चात् अन्त में पारा चढ़ाने की प्रैक्टिस की जाती है। पारा सबसे भारी वस्तु है। योगी जब इन वस्तुओं को कैथेटर से चढ़ाने में सफल हो जाता है तो बाद में विशेष विधि से सांस अन्दर खींच कर कैथेटर के बिना ही मूत्र के छिद्र में बारी-बारी उपरोक्त वस्तुओं को चढ़ाता है। जो योगी पारे जैसी वस्तु को मूत्र प्रणाली में खींचकर चढ़ा सकता है, उसका वीर्य यदि निकल भी जाये तो निकलते हुए वीर्य को ऊपर खींच लेता है।

ऐसे योगी जो अपने वीर्य को नष्ट नहीं होने देते बल्कि उसको अध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने के लिए अपने मस्तिष्क में शोषण कर लेते हैं, उनके चेहरे व आँखों में विशेष प्रकार की ज्योति और तेज उत्पन्न हो जाता है। इन योगियों के शरीर से खुशबू आती है। इस प्रयोग की गुप्त विधियाँ सफल योगी अपने योग्य शिष्य को ही सिखलाते हैं। प्राचीनकाल में राजा भर्तृहरि इस विद्या के विशेषज्ञ मान जाते थे। **कई योगी स्त्री से सम्भोग करने पर भी वीर्य को इस विधि द्वारा नहीं निकलने देते। यह प्रैक्टिस सांस द्वारा ही की जाती है।** कोई योग्य योगी ही इस विधि को वर्षों के परिश्रम के पश्चात् सिखाता है। स्वयं अभ्यास करने से हानि हो सकती है। यहाँ जानकारी के

लिए योगियों की इस क्रिया का सिद्धान्त लिख दिया गया है। योग में इसको 'वज्रोली मुद्रा' कहते हैं।

वज्रोली मुद्रा के इस विवरण को पढ़ कर मुझे एक बच्चे की बाद याद आ गई। वह बच्चा एक दूसरे बच्चे को अपनी माँ के बारे में बता रहा था। सूसी ! मेरी माँ बहुत अच्छी है। वह भगवान से भी नहीं डरती, शेर तो कोई चीज ही नहीं। मेरी छोटी बहन है न, जिसको मेरी मम्मी दो दिन पहले अस्पताल से लाई है। मालूम है कितनी मुश्किल से लाई है? वहाँ की नर्स और डॉक्टर तो लाने ही नहीं दे रहे थे। वे कहते थे—इतनी सुन्दर गुड़िया को तो हम यहाँ ही रखेंगे। पर मेरी माँ तो भगवान से छीन कर लाई थी, तो उनके पास कैसे छोड़ देती? भगवान भी दे थोड़े ही रहे थे। अस्पताल में सीढ़ियाँ लगी हैं जो भगवान के पास तक जाती हैं। उन पर चढ़ कर मम्मी भगवान के कमरे में गईं तो वहाँ बहुत सारे बच्चे हैं, उनमें से मम्मी ने इस गुड़िया को उठा लिया तो भगवान बोले कि तुम कुछ भी ले जाओ पर इस गुड़िया को मत ले जाओ, ये तो यहाँ की सबसे सुन्दर गुड़िया है, पर मम्मी को तो वही पसन्द आई। फिर बहुत झगड़ा करके भगवान से ये गुड़िया लेकर आई हैं। हमारी दादी तो बेकार में मम्मी से लड़ती थीं कि भैया लेकर नहीं आईं। पहले तो मैं भी मम्मी से बोला नहीं था मैंने कहा भैया लेकर आओ तो घर में घुसने दूँगा पर जब मम्मी ने पूरी बात बताई तब मेरी समझ में आई कि मम्मी कितनी अच्छी हैं।

जिस तरह से इस बच्चें की कहानी सुनकर आप हँस रहे हैं और सोच रहे हैं "मम्मी कितनी अच्छी हैं?" उसी प्रकार कोई भी कुण्डलिनी और वज्रोली मुद्रा का जानकार उपर्युक्त वज्रोली कहानी को पढ़कर हंसेगा और कहेगा "योगी कितना ऊँचा है।"

"वज्रोली मुद्रा की विधि सैद्धान्तिक रूप में आपके सम्मुख ब्रह्मचर्य वाले अध्याय में प्रस्तुत की जा चुकी है। उससे मिलाकर आप सारी शंकाओं का निवारण करके वज्रोली की कहानी को सही रूप में समझ सकते हैं। इसकी क्रियात्मक विधि मुद्रा वाले अध्याय में दी गई है। संक्षेप में यहाँ इतना कह देना काफी होगा कि **वज्रोली मुद्रा अत्यन्त सरल विधि है और थोड़े से अभ्यास से सीखी जा सकती है।**

कई लोगों का यह भ्रम है कि 'आत्मिक स्वाध्याय' में केवल भारतीय लोग ही रुचि लेते हैं। 'आध्यात्म' मनुष्य मात्र की आवश्यकता है, जैसे भाषा। भाषा प्रत्येक विकसित अथवा अविकसित मानव की विधा है। इसका अनुभव उस समय होता है जब हम समूचे विकसित मानवों से अलग-अलग रह रहे आदिवासी जैसे समूहों का अध्ययन करते हैं। सन् १९६५ में जब मैं निकोबार द्वीप समूह पहुँचा तो मैं यह देखकर दंग रह गया कि वहाँ के नंगे रहने वाले लोग भी अंग्रेजी और हिन्दी ऐसे बोलते थे जैसे कि हमारे यहाँ का सामान्य व्यक्ति किसी विदेशी भाषा को बोल लेता है और अपनी निकोबारी भाषा को धारा प्रवाह बोलते थे। बाद में मुझे और दूसरे द्वीपों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। वहाँ विभिन्न प्रकार की आदिम जातियों की आध्यात्मिक विकास की शैली देखकर यह सोचना पड़ा कि इस आदम खोर (Man eaters) लोगों में आध्यात्म का स्फुरण क्योंकर हुआ?

है। जब हम पेट फुलाते हैं तो महाप्राचीर भी फैलती है और उस पर टिके फेफड़े भी फैलते हैं फलतः श्वास अन्दर की ओर खिंच आती है। इस प्रकार आप देखते हैं कि उदर की पेशियों का हमारी श्वास क्रिया में विशेष हाथ है। विभिन्न मुद्राओं और बन्धों से छाती और उदर की आवश्यक पेशियों का नियन्त्रण किया जाता है।

सामान्य बन्ध

यह एक प्राकृतिक नियम है कि जहाँ भी आप कोई बन्ध लगाते हैं वहाँ वह वस्तु अधिक मात्रा में एकत्र होने लगती है जिसके प्रति बन्ध लगाया गया है। यदि आप बहते पानी को रोकें तो बाँध लगाने वाले स्थल पर पानी का दबाव बढ़ता जायेगा। यदि हवा को रोकें तो उसका दबाव बढ़ता जायेगा। प्राणायाम के समय **बन्ध लगाकर हम अन्दर की वायु का दबाव विभिन्न स्थलों पर बढ़ाकर उन्हें शक्तिकृत करते हैं।** और उस एकत्र शक्ति से आवश्यक कार्य कर सकते हैं। स्थिति के अनुसार बन्ध कई प्रकार के हैं—

मूल बन्ध

मल-मूत्र विसर्जन संस्थान की वायु को स्तंभित करने का नाम 'मूल बन्ध' है। बाँयें पैर की एड़ी गुदा और लिंग/योनि के मध्य भाग (सीवन) में दृढ़ता से लगाकर उस क्षेत्र को ऊपर की ओर सिकोड़ें और इस प्रकार धीरे-धीरे अधोगत (अपान) वायु को बल के साथ ऊपर की ओर खींचें। सिद्धासन के साथ मूल बन्ध आसानी से लग जाता है। थोड़ा अभ्यास हो जाने पर एड़ी को सीवन स्थान में लगाये बिना यह बन्ध लगाया जा सकता है।

उड्यान बन्ध

दोनों जाँघे वज्रासन की स्थिति में मोड़कर बैठें। अब पेट को (नाभि से नीचे और ऊपर पसली तक) पीठ से ऐसा मिलायें कि पूरे पेट में गड्ढा सा दिखाई देने लगे। पेट को अधिक से अधिक अन्दर की ओर खिंचा हुआ रखें यही उड्यान बन्ध है। योगी मानते हैं कि इस बन्ध के लगाने से प्राण एक पक्षी की तरह सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है इसलिये इसे उड्यान बन्ध कहा जाता है। इस बन्ध को आवश्यतानुसार दूसरे आसनों के साथ भी सम्पन्न किया जा सकता है।

जालंधर बन्ध

छाती की हड्डी और गर्दन के जोड़ पर एक गड्ढा है उसे कंठ कूप कहते हैं। इस बन्ध को लगाने के लिये गर्दन को सिकोड़ कर ठोड़ी दृढ़तापूर्वक कंठ कूप में इस प्रकार जमायें कि छाती आगे की ओर निकली रहे। इस बन्ध के द्वारा कंठ स्थान के नाड़ी समूह को बाँधा जाता है।

महा बन्ध

बायें पैर की एड़ी सीवन स्थल पर लगाकर बाँयी जाँघ पर दाहिना पैर रखें। जिस स्वर से साँस आ रही हो उसी से पूरक करें और जालंधर बन्ध लगा दें। अब मूल द्वार से

अपान वायु को ऊपर की ओर खींचते हुए मूल बन्ध भी लगा दें। अपना ध्यान सुषुम्ना में लगाते हुए कुम्भक करें। तत्पश्चात् जिस स्वर से पूरक किया था उसके विपरीत स्वर से रेचक कर दें। इस प्रकार दोनों स्वरों से अनुलोम विलोम रीति से समान संख्या में प्राणायाम करें।

महा वेध

महाबन्ध की विधि में बताये अनुसार जालंधर और मूलबन्ध लगाकर कुम्भक करें। दोनों हथेली भूमि पर नितम्बों के इर्द-गिर्द जमाकर हाथों के बल अपने नितम्बों को उठा-उठाकर जमीन में मारें। इस स्थिति में ध्यान करें कि प्राण सुषुम्ना में प्रवेश कर रहा है और कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो रही है। तत्पश्चात् वायु को महाबन्ध के अनुसार ही रेचक कर दें।

इस बन्ध को सिद्धासन के स्थान पर पद्मासन में भी लग सकते हैं। महाबन्ध, महामुद्रा और महावेध तीनों के अभ्यास से कुण्डलिनी शीघ्र जाग्रत होती है।

तान्त्रिक बंध

प्रसंग वश यहाँ यह और स्पष्ट कर दूँ कि तान्त्रिक कर्मों में कुछ विशेष बन्ध प्रयोग मे आते हैं चूँकि उनके अनुष्ठान अधिकतर 'गुप्त' होते हैं। पंच 'मकार' पूजा करने वालों के यहाँ तो 'मुँह बन्द कान खुले' वाली कहावत चलती ही है परन्तु यज्ञशाला (दुर्ग) तथा यज्ञ होता (भक्तों) की रक्षा हेतु दुर्गा की अध्यक्षता में दिक्बंध करना आवश्यक ही है।

दिक्बन्ध (दिशाबंध) —यज्ञशाला अथवा दुर्ग के रक्षार्थ विभिन्न दिशाओं में रक्षक तैनात करना जो पशु (विधर्मी) को सीमा तक न पहुँचने दें अथवा उसके सीमाँत पर पहुँचने से पूर्व ही दुर्ग की अधिष्ठात्री देवी को सूचित कर दें।

द्वार बंध—द्वार की रक्षार्थ विभिन्न प्रकार के योद्धा तथा रक्षक नियुक्त करना जो उचित अनुचित व्यक्तित्व का निरीक्षण करने के पश्चात् ही व्यक्ति को यज्ञशाला अथवा दुर्ग में आने दें तथा पशु को अन्दर आने से रोकने में समर्थ हों।

सीमा बंध—दुर्ग के द्वार से न घुस सकने वाले पशु (शत्रु) सीमायें तोड़ कर घुसने का प्रयत्न करते हैं। उन्हें रोकने तथा सीमा पर कड़ी नजर रखने के लिए 'सीमा बन्ध रक्षक' नियुक्त करना।

इन तीनों प्रकार के कार्यों के लिए सामान्य हिन्दु जन 'गणेशार्चन' करते हैं। 'हिन्दू कौमारी तन्त्र' में यह तीनों कार्य शालपर्णी, शील भद्र और नैन तारा देवियों के द्वारा कराये गये हैं और इनके दुर्ग की अधिष्ठात्री 'दुर्गा' को माना गया है। गुरुमुखी में लिखे हुए 'सतनामी विन्दर जीत तन्त्र' में जसवीराचार्य तथा हरजीताचार्य ने भी अपने इन्द्रा दुर्ग की रक्षा हेतु परिविन्दर (प्रवीन्द्र) और जसविन्दर (यशवीन्द्र)

नामक देवियों को दिक्बंध तथा सीमाबंध के लिए उचित माना है। प्राकृत भाषा में पाये गये अति जीर्ण ग्रन्थ 'महेशाशोक' में 'चन्द्रेश' तथा 'मृगेश' नामक देवताओं का नाम द्वार बंध के निमित्त, तथा 'मुकेशमुनेश' तथा 'प्रतापेटन' नामक देवताओं का नाम 'सीमा बंध' के निमित्त, और दिक्बंध के निमित्त संजय, दिनेश आदि देवों के नाम मिलते हैं। 'प्रर्दापाल का तन्त्र' में भी दिक्बन्ध हेतु दो देवियों के नाम मिलते हैं जो स्पष्ट नहीं है। 'मुबिलाचंक' में दुर्गाधिष्ठात्री 'सुवर्णार्चना' मानी गयी है जबकि अन्य तीन देवियों से वह छोटी है। वैसे तो सतयुग से ही 'छोटा' सदैव खटपटी रहता आया है और 'बड़ा' गम्भीर। यदुवंशी परिवार में श्रीकृष्ण तथा आदित्य परिवार के देवों में विष्णु इसके उदाहरण हैं।

मुद्रा (Postures)

हठयोग में विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ विद्युत शक्ति जाग्रत करने के लिए उपयोग में लाई जाती हैं। कुछ उपयोगी मुद्राएँ इस प्रकार हैं—

महामुद्रा

'विश्वदीपक तन्त्र' में महामुद्रा को कुण्डलिनी योग के लिए उपयुक्त एक मात्र मुद्रा कहा गया है। 'विनोद रहस्य' में इसकी विधि निम्न प्रकार है—

प्रथम विधि—मूल बन्ध लगाकर बायें पैर की ऐडी से सीबन दबा लें। दाहिने पैर को लम्बा करके उसकी अँगुलियों को दोनों हाथ से पकड़ लें। पाँच घर्षण (लम्बी और गहरी साँस ले) करके बाँयी नासिका से पूरक करें और जालंघर बंध लगा दें। थोड़ी देर बाद दाहिने पैर से सीवन दबा कर दाहिने स्वर से पूरक करते हुए बायें पैर को लम्बा कर दोनों हाथ से पकड़ें। बाद में बायें स्वर से रेचक कर दें तो यह दाहिनी महामुद्रा होगी।

द्वितीय विधि—'मृत्युंजय तन्त्र' में महामुद्रा की एक और विधि दी है। साधकों के लाभार्थ उसे हम यहाँ दे रहे हैं—बायें पैर की ऐडी को सीवन (गुदा और लिंग के मध्य का भाग) में बलपूर्वक जमाकर दाहिने पैर को लम्बा कर दें। अब धीरे-धीरे पूरक करके मूल और जालंधर बंध लगा दें। दाहिने पैर का अँगूठा दोनों हाथों से पकड़ें और मस्तक को घुटने पर जमाकर कुम्भक करें। कुम्भक के समय वायु को कोष्ठ में फुलायें और ऐसी भावना करें कि प्राण कुण्डलिनी को जाग्रत करके सुषुम्ना में प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् मस्तक को शनः शनः रेचक करता हुआ उठा लें और यथा स्थिति बैठ जायें। इसी प्रकार दूसरे अंग से करें। धीरे-धीरे प्राणायाम की संख्या एवं समय में वृद्धि करते जायें। यह मुद्रा मंदाग्नि, अजीर्ण, प्रमेह, उदर रोगों का शमन कर क्षुधा की वृद्धि तथा कुण्डलिनी जाग्रत करती है।

वज्रोली एवं अश्विनी मुद्रा

पुष्ट शरीर वाली छरहरी, कामिनी युवती को अश्विनी कहा जाता है। भगवान विष्णु ने अपनी पत्नी रेणु को अश्विनी कहा था जिसके नाम पर उससे उत्पन्न दो जुड़वाँ बच्चों को 'अश्विनी कुमार' कहा गया। ये अश्विनी कुमार बहुत अच्छे चिकित्सक थे। अश्विनी घोड़ी को भी कहते हैं। वास्तव में घोड़ी की तरह कूदने वाली युवती को इसी सन्दर्भ में अश्विनी कहा जाता है। इस अश्विनी मुद्रा के प्रारम्भिक अभ्यास में व्यक्ति अपने विसर्जन संस्थान को घोड़ी की योनि की तरह सामान्य रूप में बार-बार सिकोड़ता है। इसकी विधि बहुत कुछ अलकासन से मिलती है। घेरण्ड संहिता के अनुसार—**सिद्धासन अथवा पद्मासन में बैठ कर योनि/लिंग एवं गुदा को घोड़ी योनि की तरह बार-बार संकोचन करें।** जननांगों को पुष्ट करने तथा अर्श के रोग को दूर करने एवं वीर्य की ऊर्ध्व गति कराने में सहायक है। अपान वायु को शुद्ध कर प्राण का उत्थान करती है। यही मुद्रा पुरुष करे तो वज्रोली कही जाती है। इस मुद्रा के गहराई तक प्रभाव देने वाले अभ्यासों में प्राणायाम भी किया जाता है जो गुप्तांगों के सन्दर्भ में गुप्त रूप से उपयुक्त पात्र को ही बतलाया जाता है।

शक्ति चालिनी मुद्रा

शक्ति चालिनी से तात्पर्य यहाँ 'कुण्डलिनी-शक्ति चालिनी' से है—सिद्ध अथवा पद्मासन में बैठकर हथेली पृथ्वी पर जमा कर पच्चीस बार नितम्बों को पृथ्वी पर उठा-उठा कर मारें। तत्पश्चात् दोनों नासारंध्रों से अथवा जो स्वर चल रहा हो उससे पूरक कर प्राण और अपान वायु को मिलाने का प्रयत्न करते हुए जालंधर बन्ध लगाकर कुम्भक करें। कुम्भक के समय अश्विनी मुद्रा करें। अब जालंधर बन्ध खोल कर यदि दोनों नासारंध्रों से पूरक किया हो तो दोनों से रेचक करें अवा पूरक के विपरीत नासारंध्र से रेचक कर दें। घेरण्ड संहिता में इस मुद्रा को करते समय बालिश्त भर चौड़ा चार अंगुल लम्बा कोमल श्वेत वस्त्र नाभि पर कटि सूत्र (करधनी) से बाँध कर सारे शरीर पर भस्म मल कर बैठने की बात कही गई है। यह मुद्रा रोगनाशक, स्वास्थ्वर्धक और कुण्डलिनी जाग्रत करने में सहायक है।

षटमुखी मुद्रा

पद्मासन या सिद्धासन में बैठें। दोनों अँगूठों से दोनों कान, तर्जनियों से दोनों आँखें, मध्यमाओं से दोनों नाक के छिद्रों को बन्द करें। दोनों अनामिका और कनिष्ठाओं को होठों पर रखें।

योनि मुद्रा

सिद्धासन में बैठकर षटमुखी मुद्रा लगायें और साथ ही 'काकी मुद्रा' (जीभ को कौए की चोंच के समान गोल बनाएँ) करें, उसके द्वारा श्वास खींच कर अपान वायु से मिलायें। तत्पश्चात् ॐ का उच्चारण करते हुए ऐसी भावना करें कि उसकी ध्वनि के साथ

मिलकर वायु कुण्डलिनी को जाग्रत करके षटचक्रों का भेदन करती हुई सहस्त्र दल कमल में जा रही है। इस मुद्रा से अन्तर्ज्योति का साक्षात्कार होता है।

योग मुद्रा

'ममतानुपम सिद्धान्त' में पेट के रोगों में लाभ दिलाने के साथ-साथ कुण्डलिनी जागरण हेतु 'योग मुद्रा' की विधि इस प्रकार दी है—मूल बन्ध के साथ पद्मासन से बैठ कर दोनों नासारंध्रों से पूरक कर जालंधर बन्ध लगा दें। फिर दोनों हाथों को पीठ के पीछे करके दाहिने हाथ से बायें हाथ की कलाई पकड़ लें। अब शरीर को आगे की ओर झुकायें। पेट को एड़ियों से दबाते हुए सिर को जमीन पर टिका दें। इस प्रकार यथा शक्ति कुम्भक करने के पश्चात् सिर को जमीन से उठाकर सीधे हो जायें और दोनों नासारंध्रों से रेचक कर दें।

शाम्भवी मुद्रा

मन को शीघ्र स्थिर करने के लिए "अतुलामृतानिता" नामक विलोची ग्रन्थ में शाम्भवी मुद्रा को महत्वपूर्ण बताया गया है—मूल बन्ध और उड्डयान बन्ध के साथ सिद्ध अथवा पद्मासन में बैठें। अब नासिका के अग्र भाग पर अथवा भ्रू मध्य में ध्यान जमाएँ। यही शाम्भवी मुद्रा है।

तड़ागी मुद्रा

एक अन्य विलोची ग्रन्थ 'राजेन्द्र कुसुमावली' में वायु विकार दूर करने के लिए तड़ागी मुद्रा की विधि इस प्रकार दी है—सरलेशासन में चित्त लेट कर चालू स्वर से पूरक कर पेट को वायु से भर लें। अब कुम्भक करके पेट को इस प्रकार हिलावें जैसे जल हिलाते हैं। फिर सावधानी से वायु को रेचक कर दें।

योग में प्रयुक्त होने वाली अन्य मुद्राएँ

वज्रासन में बैठकर होने वाली अन्य सरल मुद्राओं में चिन मुद्रा, चिन्मय मुद्रा, आदि मुद्रा, ब्रह्म मुद्रा आदि के नाम आते हैं। यह अँगुलियों की विभिन्न दशाओं की मुद्राएँ हैं और अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं।

अब कुछ ऐसी मुद्रायें दे रहे हैं जो दक्षिण मार्गी तान्त्रिकों में प्रयुक्त होती हैं—

दक्षिण मार्गी तान्त्रिक मुद्राएँ

'गायत्री सिद्धि' में जप के पूर्व और जप के पश्चात् दिखाई जाने वाली कुछ गुप्त मुद्राओं का वर्णन है। ये लोग मुद्रा का अभिप्राय केवल हाथ द्वारा विभिन्न आकृतियाँ दर्शाना मानते हैं और यह मुद्रा-प्रदर्शन एकान्त में देवता की मूर्ति के सम्मुख किया जाता है। किसी दूसरे व्यक्ति के उपस्थित होने पर मुद्रा प्रदर्शन वर्जित होता है। जप के पूर्व की मुद्रायें निम्न हैं—

१. **सुमुखम् मुद्रा**—प्रत्येक हाथ की अँगुलियों और अँगूठों के पोरों को अलग-अलग मिलाकर दोनों हाथों के दसों पोरों को आपस में मिला दें।

२. **सम्पुटम् मुद्रा**—दोनों हाथों की हथेली कलाई के पास मिला दें और दसों अँगुलियों के पारों को भी आपस में मिला दें।

पूर्वार्जितानि पापानि पुण्यानि विविधानि च ।

नाशयेत् षोडशप्राणायामेन योगिपुङ्गवः ॥ इति ।

एवं पापपुण्यानां नाशनेन वासनाक्षयः सम्भवति । ततः निर्मलः सन् योगी वैराग्येन परं पदमवप्नोतीति वायुयोगप्रक्रिया ज्ञायते ।

५.५.२. महामुद्रा

कुण्डलिनीयोगे मुद्राः[१८३] प्रमुखं स्थानमावहन्ति । शैव-वैष्णव-शाक्तागमेषु बह्व्यः मुद्राः प्रोक्ताः याश्च देवानां पूजासु सङ्केतरूपेण प्रदर्श्यमानानि साम्प्रदायिकचिह्नानि । एते पूजाविशेषाः मुद्राः तथा हठयोगाभ्यसान्तर्गताः मुद्राश्च भिन्नाः । प्रायः हठयौगिकग्रन्थेषु मुद्रादशकं[१८४] प्रकीर्त्यते[१८५] । तद्यथा -

१. महामुद्रा २. महाबन्धः ३. महावेधः ४. खेचरी ५. उड्यानं ६. मूलबन्धः ७. जालन्धरः ८. विपरीतकृतिः ९. वज्रोली १०. शक्तिचालनम् ।

एवं दशमुद्रासु अन्तर्गतया महामुद्रया हि जन्मान्तरेषु कृतानि पापानि परिमार्जितानि भवन्तीति मुद्रेयं सङ्कीर्त्य तदभ्यासक्रमं प्रदर्शयति[१८६] कृतिकारः ।

अमृतसिद्धियोगे[१८७] विरूपाक्षेण "पापपुण्यस्य कर्तारौ द्वावेतौ पार्श्वगामिनौ" इति इडापिङ्गले सम्बोध्येते । इदं विरूपाक्षकथनं हठयोगविद्यायां मध्यनाड्याः नितान्तं प्राधान्यं प्रद्योतयति । *अमृतसिद्धियोगे* कुण्डलिनीजागरणहेतुकः महामुद्राभ्यासक्रमः ततः

---

[१८३] *गो.सं* ८.१९४ - मोदितं गोपितं देवि तेन मुद्रा प्रकीर्तिता ।

[१८४] *गोरक्षसंहितायां* (८.११७) मुद्रापञ्चकं प्रोच्यते । *घेरण्डसंहितायां* (३.१-३) षोडशमुद्राः कथिताः ।

[१८५] *शि.सं.* ४.५, *ह.यो.प्र.* ३.६,७

[१८६] महामुद्राविवेकः २-४

[१८७] तत्रैव १३

महाबन्धाभ्यासक्रमश्च संप्रदर्श्यते तयोः महिमा च गेगीयते। महामुद्रा इत्थं परिभाष्यते *योगचूडामण्युपनिषदा* [१८८] -

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।

रसानां शोधनं चैव महामुद्राभिधीयते ॥ इति ।

५.५.२.अ. अभ्यासक्रमः

वामपादमूलेन योनिं संपीड्य प्रसारितं दक्षिणपादं कराभ्यां संगृह्णीयात् साधकः । ततः उदरं वायुना प्रपूर्य चुबुकं हृदयोपरि स्थापनीयमिति[१८९] महामुद्रा प्रकारः वर्णितः[१९०] । यथा –

योनिं सम्पीड्य वामेन पादमूलेन यत्नतः ।

दक्षं प्रसारितं पादं कराभ्यां धारयेत् दृढम्॥

आसने कटिमारोप्य चुबुकं हृदयोपरि ।

नवद्वाराणि संयम्य कुक्षिमापूर्य वायुना ॥

चित्तं चतुष्पथे कृत्वा प्रारभेत् प्राणयन्त्रणाम् ।

भित्त्वा चन्द्रार्कयोर्ग्रन्थिं कुर्याद्वायुनिवारणम् ॥ इति ।

समं हठयौगिकग्रन्थेषु महामुद्रा-लक्षणं प्रदत्तं वर्तते । *योगचूडामण्युपनिषद्* [१९१]महामुद्रालक्षणमित्थं संस्करोति -

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा

हस्ताभ्यामनुधारयन् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।

---

१८८ *यो. चू. उ.* ६५

१८९ जालन्धरबन्धं विधाय इत्यर्थः ।

१९० महामुद्राविवेकः ३-५

१९१ *यो. चू. उ.* ६६

आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनैः रेचयेद्

एतद्व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥ इति ।

चित्रमिदं विरूपाक्षेणोक्तं महामुद्राप्रकारं प्रदर्शयति । -

५.५.२.आ. चतुष्पथः

एवं महामुद्राभ्यासप्रकारं प्रदर्श्य तस्यां स्थितौ चित्तं चतुष्पथे[१९२] निर्धारणीयं, यस्मात् चन्द्रार्कयोः ग्रन्थिभेदः सञ्जायते तदा साधकेन कुम्भकम् आचरणीयमिति निर्दिशति विरूपाक्षः ।

वराहोपनिषदि[१९३] चतुष्पथबन्धोपायः संपुटयोगः इति नाम्ना नूतनप्रकारः प्रकाश्यते । अत्र चतुष्पथ-बन्धेन इडा-पिङ्गला-कुहूनाडीगतमार्गत्रयं निरुद्धं भवति । ततः कुण्डलिनी सुषुम्नामार्गेण ऊर्ध्वं सहस्रारचक्रं यातीति अयं योगः संपुट इत्यभिधीयते। यथा –

---

[१९२] इडा-पिङ्गला-कुहू-सुषुम्नानाडीगतमार्गः

[१९३] *व.उ.* ५.४२,४३

सर्वासामेव नाडीनामेष बन्धः प्रकीर्तितः ।

बन्धस्यास्य प्रसादेन स्फुटीभवति देवता ॥

एष चतुष्पथो बन्धो मार्गत्रयनिरोधकः ।

एकं विकासयन् मार्गं येन सिद्धाः सुसङ्गताः ॥ इति ।

अयं हि चतुष्पथः *अमृतसिद्धियोग*-ग्रन्थकारेण निर्दिश्यते । अस्मिन् चतुष्पथे स्थाने प्राणयन्त्रणेन चन्द्रार्कयोः ग्रन्थिर्भिद्यते इति निर्देशो वर्तते । इह महामुद्राप्रकारेण चन्द्रार्कयोः वेधनं सम्भवतीति विरूपाक्षस्य कथनं इतरयौगिकग्रन्थेषु उपलक्षितुं न शक्यते । किन्तु चन्द्रार्कयोरैक्यं महामुद्रालक्षणमिति प्रोच्यते *ध्यानबिन्दूपनिषदा* [१९४] । रेचक-पूरक-कुम्भकात्मक-प्राणायाम-शुद्धोदकेन नाडीगतमलशोधनं चन्द्रसूर्ययोरैक्यं वातपित्तादिरसानां शोषणं च यया मुद्रया साध्यते सेयं महामुद्रेति परिभाष्यते अनया उपनिषदा । यथा -

शोधनं मलजलानां घटनं चन्द्रसूर्ययोः ॥

रसानां शोषणं सम्यङ्महामुद्राभिधीयते ॥ इति ।

५.५.२.इ. फलानि

महामुद्राभ्यासेन जरानाशनं, सर्वनाडीषु शक्तिचालनम्, जठराग्नेः उद्दीपनं तथा बिन्दुनादयोः वैभवाद् अतिक्रमणञ्च सम्भवतीति कृतिरियं वर्णयति [१९५] । असौ अभ्यासः कायवाक्चित्तसाधनं भवति [१९६] ततः कैवल्यसंसिद्धिरपि जायते इति कारणाद् मुद्रासु श्रेयसी महामुद्रेति गेगीयते । महामुद्रया असङ्ख्यानि योगलक्षणानि तथा महासिद्धिश्च जायन्ते इति

---

[१९४] *ध्या.बि.उ.* ९१-२

[१९५] महामुद्राविवेकः ६

[१९६] तत्रैव ७

एकश्लोकेन महामुद्रासिद्धिलक्षणं प्रोच्यते[१९७] । यथा -

महामुद्राविभेदेन महासिद्धिश्च योगिनाम् ।
संपद्यते सदा सर्वमसङ्गं योगलक्षणम् ॥

५.५.३. महाबन्धः

द्विविधो बन्धः उपस्थीयते कृतिकारेण । एकः योनिबन्धः अपरः कर्णबन्धः । किन्तु द्वयोरपि वर्णनम् अकृत्वैव महाबन्धस्य अभ्यासक्रमः निर्दिश्यते । महामुद्रां धृत्वा अभ्यस्तव्यः महाबन्धः इत्थं सुवर्णितः वर्तते *अमृतसिद्धियोगे*[१९८] - समकाले गुदयोनी आकुञ्च्य अपानमूर्ध्वगं कृत्वा समानेन योजयेत् साधकः इति । ततः नाभिपार्श्वस्थं त्रिपथं[१९९] प्रयत्नेन समृद्ध्य प्राणगतिः परिवर्तनीया । एवं नाभिपार्श्वस्थ-त्रिपथस्य निरोधनेन सुषुम्नामार्गो विकासितो भवतीति उपनिषद्ब्रह्मयोगिनः व्याख्या *वराहोपनिषदः* पञ्चमे अध्याये दृश्यते[२००] । *अमृतसिद्धियोगेनोक्तः* महाबन्धो हि संपुटयोगः इति अभिधीयते *वराहोपनिषदा* इति ज्ञायते ।

प्रकारोऽयं चित्रेण सन्दर्शितः । -

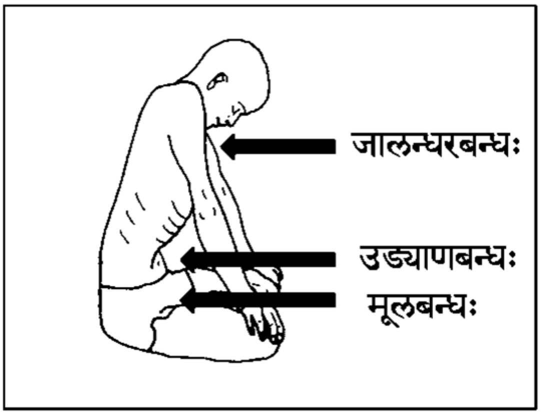

---

[१९७] महामुद्रासिद्धिविवेकः १

[१९८] महाबन्धविवेकः ४

[१९९] इडा-पिङ्गला-कुहू-नाडिगतमार्गत्रयम्

[२००] *व.उ.* ५.४२-३ - तत्र येन सुषुम्नाबिलप्रवेशेन सिद्धा ब्रह्मभावभावितां सिद्धिं भजन्ति तमेकं सुषुम्नामार्गं विकासयन् इडापिङ्गलाकुहूनाडीगतमार्गत्रयनिरोधको भवति ।

५.५.३.अ. फलानि

नाडीभ्यः शक्तिः अधो मार्गेण स्रवति । अनेन बन्धेन शक्तिः विपरीतदिशायाम् ऊर्ध्वं याति । अधो वाहिनीभ्यः नाडीभ्यः शरीरतत्त्वानि शरीरस्य पोषणं विना वृथा बहिर्यान्ति, यथा नदीप्रवाहः क्षेत्रस्थवस्तूनि अपनीय वेगेन वहति तथा इति महाबन्धलक्षणं सुन्दरदृष्टान्तेन कीर्तयति *अमृतसिद्धियोगः*[२०१]। यथा –

अधो वाहेन तत्त्वञ्च शरीराद्बाह्यगामि च ।

शरीराणि पलायन्ते सुक्षेत्रे स्रोतसो यथा ॥

यथा बाह्यगतस्सेतुः प्रवाहस्स्वनिरोधतः ।

तथा शरीरगश्चायं ज्ञातव्यो योगिभिस्सदा ॥ इति ।

नद्याः प्रवाहः यथा सेतुना निरुद्ध्यते तथा महाबन्धोऽयं शरीरात् बाह्यं स्रवमानं तत्त्वं निरोधयति । *वराहोपनिषद्व्याख्या*-द्वारा निरूपितः यत् इडा-पिङ्गला-कुहू-नाडीगतमार्गत्रयनिरोधेन चतुर्थः कुण्डलिनीशक्तिवाहकः सुषुम्नानाडीमार्गः अपावृतो भवतीति । अनेन बन्धेन हि प्राणाः सन्धारिताः भवन्ति शरीरस्थानि तत्त्वानि सुरक्षितानि भवन्तीति कृतिकारः दृढं ब्रवीति । अतः इमं बन्धं 'चतुष्पथो बन्धः' इति आख्यायति कृतिकारः । सुषुम्नामार्गविकासनेन साधकः अभीष्टं प्राप्नोति, तथा तत्त्वानां सुरक्षणेन शरीरपुष्टिञ्च अवाप्नोति इति कृतिकारस्य कथनं *शिवसंहितापि* दृढयति [२०२]। यथा -

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्नां मध्यसङ्गतः

अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपञ्जरे ।

सम्पूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।

---

[२०१] महाबन्धविवेकः ९-१०

[२०२] *शि.सं.* ४.२२

बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ॥ इति ।

पार्श्वगामिन्याम् इडापिङ्गलानाड्यां प्राणसञ्चारेण अपरोक्षानुभूतिः न सिद्ध्यते तथा अज्ञानोपेतः संसारः अनुवर्त्यते । अत एव "पापपुण्यस्य कर्तारौ द्वावेतौ पार्श्वगामिनौ "[२०३] इति कृतिकारेण इडापिङ्गलानाड्यौ संबोध्येते । अनेन महाबन्धेन सर्वनाडीनां गतिर्निरुद्ध्यते ततः योगबोधः संसिद्ध्यते इति कृतिरियं वेदयति [२०४]। यथा -

बन्धोऽयं सर्वनाडीनां मध्ये गतिनिरोधकः ।

एतस्यैव प्रसादेन योगबोधः प्रसिध्यते ॥ इति।

युज् "समाधौ" इत्यर्थे एव योगपदस्य अर्थः निर्दिष्टः व्यासमहर्षिणा[२०५] इति हेतोः 'योगबोधः' इति कृतिकारस्य उक्तिः समाधेः बोधः सिद्ध्यते इति गृह्यते । तथा हठ-लय-मन्त्राख्यं योगत्रयम् अनेन महाबन्धेन हि सिद्ध्यते इति महाबन्धः संस्तूयते[२०६] ।

एवं प्राणापानयोः सङ्गमः, कुम्भकाभ्यासः, सुषुम्नानाडीविकासनं तत्र वायोः स्थिरीभावः इतीमे अंशाः ये कुण्डलिनीशक्तेः ऊर्ध्वगमनाय अपेक्षिताः ते संक्षेपतः विरूपाक्षेण महामुद्रामहाबन्धविवेकयोः निगदिताः । आभ्यां सह महावेधाभ्यासक्रमः प्रदर्श्यते बहुषु हठयौगिकग्रन्थेषु । अस्य प्रकाशनं नोपलक्ष्यते *अमृतसिद्धियोगे*।

हठयोगतत्त्वप्रदीपसमः *अमृतसिद्धियोगः* कुण्डलिनीयोगसाधने तदभ्यासे च इतरहठयौगिग्रन्थैः सह साम्यं भजते इति सुज्ञायते । अस्मिन् अध्याये प्रकारान्तस्य सम्भावनाः अपि प्रदर्शिताः । किञ्च बहुत्र योगलक्षणानि गेगीयन्ते न तु तेषामभ्यासदिशा आदिष्टा। अतीव

---

[२०३] महाबन्धविवेकः १३

[२०४] तत्रैव १५

[२०५] *यो.सू.* १.१

[२०६] महाबन्धविवेकः १६

मुद्रा : मुद्रा शब्द की निष्पत्ति 'मुदहर्षे' धातु में रक् प्रत्यय जोड़ने से हुई है, जिसका अर्थ होता है– प्रसन्नदायिनी स्थिति। स्थूल रुप में चित्त के विशेष भाव को मुद्रा कहा जाता है। हठयोग साधना में मुद्रा एवं बंध का मुख्य उद्देश्य कुण्डलिनी शक्ति का जागरण बताया गया है। *हठयोग प्रदीपिका* में जिन मुद्राओं का विवरण प्राप्त होता है, उनका विवरण इस प्रकार है :

[kpjh enk

खेचरी दो शब्दों के मेल से बना है जिसमें से 'ख' का अर्थ है 'आकाश' और 'चरी' का अर्थ 'चलना'। अर्थात् इस मुद्रा के अभ्यास के द्वारा योगी आकाश में विचरण करता है। सर्वप्रथम ध्यानात्मक आसन में बैठकर दोनों हाथों को ऊपर करके सहजता से आँखों को बन्द करके बैठते हैं। तत्पश्चात् जीभ को मोड़कर सावधनीपूर्वक तालु के ऊपरी छिद्र में प्रवेश कराकर धीरे धीरे मुँह बन्द करके करनी चाहिए। पूरी प्रक्रिया के दौरान आज्ञाचक्र पर अपने ध्यान को केन्द्रित करें। साथ ही यह ध्यान रखें कि श्वॉस प्रश्वॉस की गति समान होनी चाहिए। अभ्यास के अन्त में जीभ को सीधा करके शान्ति की अवस्था में बैठकर आँखो को खोलेगें। ''जीभ को उलटाकर कपालगुहा में प्रविष्ट करा दें और तब दृष्टि को भ्रूमध्य में लगाने से खेचरी मुद्रा होती है।''[38] खेचरी मुद्रा के अभ्यास के द्वारा आलस्य, रोग, निद्रा, मूर्च्छा आदि से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। भूख–प्यास न लगने के साथ साथ व्यक्ति जन्म–मरण आदि चक्रों से मुक्त हो जाता है। कुण्डलिनी

---

[38] कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा। भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। *हठप्रदीपिका,* 3/32।

शक्ति को जाग्रत करने के कारण तथा प्राणशक्ति का संचय करने के कारण अत्यधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है।

mfMM;ku cU/k

उड्डियान का अर्थ होता है–उड़ना। प्राणरुप में सुषुम्ना के भीतर स्थित पक्षी द्वारा निरन्तर उड़ान भरते रहने के कारण इस बन्ध को उड्डियान कहा जाता है। इस बन्ध की प्रक्रिया खड़े और बैठकर दोनों प्रकार से किया जा सकता है। इस बन्ध को करने के लिए सर्वप्रथम किसी ध्यानात्मक आसन में बैठकर शरीर को शिथिल करके दोनों हथेली को घुटनों के ऊपर रखते हैं। नासिका से श्वॉस को भीतर लेते हुए वायु से फेफड़ों को भर देते हैं। तत्पश्चात् मुँह से पूरी श्वॉस को बाहर निकालकर पेट की मांसपेशियों को पीठ से चिपका देने के बाद गर्दन को सीधा करके श्वॉस को धीरे–धीरे भीतर की ओर लेकर सामान्य स्थिति में वापस आकर इसी प्रकार 5 बार इसका अभ्यास करना चाहिए। ''उदर को नाभि के ऊपर, नीचे और पीछे की ओर खींचें। यह उड्डियान बन्ध मृत्यु रुपी हाथी के लिए सिंह के समान है।''[39] यह बन्ध पाचन की प्रक्रिया को सक्रियता प्रदान करने के साथ–साथ पाचन सम्बन्धी सभी रोगों को नष्ट करता है। श्वसन तन्त्र के सभी अंग सक्रिय होने के साथ–साथ सबकी कार्यक्षमता में वृद्धि भी हो जाती है। इस बन्ध का महत्व इसलिए अधिक माना जाता है क्योंकि इस बन्ध के द्वारा मणिपूर चक्र की जाग्रति भी हो जाती है। ''सभी बन्धों में

---

[39] उदरे पश्चिमं तानं नाभेरुर्ध्वं च कारयेत्। उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।। *हठप्रदीपिका,* 3/57।

उड्डीयान बन्ध श्रेष्ठ है। उड्डीयान बन्ध का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर मुक्ति का मार्ग सरल हो जाता है।''[40]

e|ycU/k

यह मूलबन्ध जालन्धर बन्ध और उड्डियान बन्ध का संयुक्त रुप है। जिस बन्ध में शरीर के आधार वाले भाग को बाँध दिया जाता है, उसे मूलबन्ध कहते हैं। सिद्धासन में बैठकर प्राणायाम करते समय बंध त्रय के लिए पूरक करते समय गुदा द्वार को संकुचित करने पर मूलबन्ध होता है। अपनी क्षमतानुसार इसे लयबद्ध तरीके से करते रहें। ''एड़ी से सीवनी को दबाकर गुदा का आकुन्चन करना चाहिए। फिर अपानवायु को ऊपर की ओर खींचकर रखने से मूलबन्ध होता है।''[41] मूलबन्ध द्वारा शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकार के लाभ मिलते हैं। इसके अभ्यास के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति अत्यन्त ही तीव्रता से जाग्रत होती है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके अभ्यास के द्वारा मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध और उड्डियान बन्ध के सभी प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। ''निरन्तर मूलबन्ध का अभ्यास करने से अपान और प्राण की एकता होती है, मल–मूत्र की अल्पता होती है तथा वृद्ध भी युवक हो जाता है।''[42]

tkyU/kj cU/k

जालन्धर बन्ध तीन शब्दों के मेल से बना है जिसमें जाल का अर्थ है गला, धर का अर्थ है धारण करना तथा बन्ध का अर्थ है बाँधना अर्थात् गले

---

40 सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः। उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।। *हठप्रदीपिका,* 3/60।

41 पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुन्चयेद्गुदम्। अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।। *हठप्रदीपिका,* 3/61।

42 अपानप्राणयोरैक्यं क्षया`मूत्रपुरीषयोः। युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।। *हठप्रदीपिका,* 3/65।

में उपस्थित नाड़ियों को दबाव बनाकर ऊपर की ओर खिंचवा देते हुए बाँधने को जालन्धर बन्ध कहा जाता है। इसका अभ्यास श्वॉस को रोकते समय किया जाता है। कंठ को संकुचित करके ठोढ़ी को दृढ़तापूर्वक वक्ष पर दबाना चाहिए। जब कुम्भक की अवधि की समाप्ति हो जाये तब सिर को ऊपर उठाकर सामान्य स्थिति में लाकर सिर, गर्दन और धड़ को एक सीध में करके श्वॉस को बाहर निकाल देना चाहिए। ''कण्ठ को संकुचित कर हृदय में चिबुक को दृढ़तापूर्वक लगावें। यह जालन्धर नामक बन्ध बुढ़ापा और मृत्यु को दूर करता है।''[43] इस बन्ध के द्वारा मानसिक, तनाव, चिन्ता, कष्ठ सम्बन्धी रोग तथा कफ सम्बन्धी रोगों से मुक्ति मिलती है। जालन्धर बन्ध में पड़ने वाला दबाव प्राणशक्ति के संचार को बढ़ाता है।

foijhrdj.kh

विपरीतकरणी मुद्रा तीन शब्दों के मेल से बनी है जिसमें विपरीत का अर्थ होता है उल्टा, करणी का अर्थ है करना तथा बन्ध का अर्थ है बाँधना। अर्थात् जिस शारीरिक शक्ति में आनन्द की अनुभूति होती है अथवा इस मुद्रा की पूर्ण स्थिति में अभ्यासी के पैर ऊपर एवं सिर नीचे की ओर करके स्थिर होकर जब आनन्द का अनुभव किया जाता है तो उसे विपरीतकरणी मुद्रा कहा जाता है। भूमि को लेटकर पैरों और जांघों को सीधा करके ऊपर की ओर उठायें। पैरों को सहारा देने के लिए हाथों से कमर को पकड़ लें और स्थिर रहें। ''नाभि को ऊपर और तालु के नीचे करने से सूर्यमण्डल ऊपर और सोममण्डल नीचे हो जाता है। इसे ही विपरीतकरणी कहते हैं,

---

43 कण्ठमाकुन्चय हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्। बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः।। *हठप्रदीपिका,* 3/70।

जिसे गुरु से ही सीखना चाहिए।''[44] इस मुद्रा का अभ्यास करने से पाचनशक्ति तथा रक्त के संचार में वृद्धि होती है। इससे बाल काले होते हैं, झुर्रियाँ दूर होती हैं तथा यह शरीर में सन्तुलन बना रहता है जिससे शारीरिक व मानसिक स्तर को लाभ मिलता है। ''इसके अभ्यास से छः महीने के बाद ही झुर्री तथा सफेद बाल नहीं दिखाई पड़ते हैं। जो प्रतिदिन एक घंटे तक नियमित रुप से इसका अभ्यास करता है, वह मृत्यु को जीत लेता है।''[45]

otkyh enk

हठयोग में बिन्दु को झरने से रोकने के लिए उसके ऊपर आकुंचन का अभ्यास करने का उपदेश प्राप्त होता है। यही वज्रोली मुद्रा कही जाती है। इस प्रकार, ''धीरे–धीरे अच्छी तरह से योनिमण्डल का आकुन्चन करने का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करने से पुरुष अथवा नारी वज्रोली का फल प्राप्त करते हैं।''[46] यहाँ पर आकुंचन से तात्पर्य मूलबन्ध के अभ्यास के साथ–साथ शारीरिक स्नायुओं का आकुंचन का भी अभ्यास करना। इस प्रकार के अभ्यास द्वारा निचले भाग के स्त्राव को ऊपर उठाना चाहिए।

lgtkyh

सहजोली और अमरोली दोनों ही मुद्रा को वज्रोली मुद्रा के समान माना जाता है। परन्तु कुछ विशेषताओं के कारण सहजोली की विधि इस प्रकार बतायी गयी है : ''सहजोली और अमरोली एक वज्रोली का ही भेद

---

[44] ऊर्ध्व नाभेधस्तालोरुर्ध्वं भानुरधः शशी। करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते।। *हठप्रदीपिका,* 3/79।

[45] वलितं पलितं चैव षष्मासोर्ध्वं न दृश्यते। याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित्।। *हठप्रदीपिका,* 3/82।

[46] मेहनेन शनै5 सम्यगूर्ध्वाकुन्चनमभ्यसेत्। पुरुषोप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात्।। *हठप्रदीपिका,* 3/84।

है। सहजोली वह है जिसमें जले हुए गोबर का उत्तम भस्म जल में मिलाकर, स्त्री अथवा पुरुष योगी वज्रोली प्रक्रिया से बिन्दु को खींचने के बाद अपने अंग में लगाते हैं और उस क्रिया से मुक्त होकर सुखपूर्वक कुछ देर तक बैठते हैं।''[47] सहजोली मुद्रा को करने के लिए साधक स्त्री–पुरुष संसर्ग के अनन्तर कण्डों की भस्म को जल में मिलाकर अपने सिर, नेत्र, भुजा, उदर तथा नाभि पर लेप करें। वज्रोली मुद्रा के साथ इस प्रकार के लेपन को सहजोली मुद्रा कहा जाता है।

vejkyh

वज्रोली और सहजोली मुद्रा के बाद अमरोली मुद्रा का वर्णन करते हैं जो इस प्रकार है : ''पित्त की अधिकता के कारण शिवाम्बु अर्थात् स्वमूत्र की प्रथम धारा तथा निःसारता के कारण अन्त की धारा को छोड़कर शीतल मध्य धारा का सेवन किया जाता है। उसे कापालिक खण्डमत में अमरोली कहा जाता है।''[48] प्रथम बिन्दुधारा में पित्त की अधिकता तथा अन्तिम धारा में सारांश का अभाव होने के कारण इन दोनों धाराओं का त्याग करके शीतल तथा शान्तिप्रद धारा का सेवन करना चाहिए। यहाँ पर शीतल मध्य धारा का तात्पर्य चन्द्रामृत से है।

'kfDrpkyu enk

शक्तिचालिनी मुद्रा में कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर उसका चालन किया जाता है। इसी कारणवश इसे शक्तिचालन मुद्रा कहा जाता है। इस

---

[47] सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या एव भेदतः। जले सुभस्य निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम्।। वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम्। आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात्।। *हठप्रदीपिका,* 3/90।

[48] अमरीं यः पिवेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने। वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यक् सामरोलीति कथ्यते।। *हठप्रदीपिका,* 3/97।

मुद्रा के अभ्यास के लिए वज्रासन में बैठकर दाहिने पैर की एडी को दायें हाथ से तथा बायें पैर की एडी को बायें हाथ से पकड़कर पैरों को जमाना चाहिए। अब नितम्बों को उठाकर जितनी बार हो सकें उसे पटके। अंत में भस्त्रिका प्राणायाम को कुम्भक के साथ करके विश्राम करके अपनी सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार इसे 2 से 3 बार दोहरायें। ''उस सोती हुई सर्पिणी को पूँछ पकड़कर जगाना चाहिए। इससे वह शक्ति निद्रा छोड़कर एकाएक ऊपर की ओर उठती है।''[49] शक्तिचालन मुद्रा सुषुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत करके उर्ध्वगामी बनाती है। इस मुद्रा के द्वारा चक्रों के जागरण की प्रक्रिया सम्भव होती है तथा चेतना को उच्चस्तरीय गति प्रदान करती है।

इस प्रकार उपरोक्त व्याख्या में *हठयोग प्रदीपिका* में वर्णित आसनों, प्राणायामों तथा मुद्राओं का वर्णन किया गया है। इन आसनों, प्राणायामों तथा मुद्राओं का भली प्रकार ज्ञान प्राप्त करके इनका अभ्यास करना चाहिए। स्वात्माराम योगी अपने *हठप्रदीपिका* ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहते हैं कि : 'यदि इन अभ्यासों को किसी भी अर्थ में यौगिक कहना है तो इन प्रक्रियाओं के अभ्यास में हमें निश्चित रुप से इनके आध्यात्मिक तथा मानसिक पहलुओं को ध्यान में रखना होगा।'

हठयोग प्रदीपिका में वर्णित आसन, प्राणायाम और मुद्राओं की विधियों और लाभों की व्याख्या करने के उपरान्त हठयोग के द्वितीय महत्वपूर्ण ग्रन्थ *घेरण्ड संहिता* में वर्णित षट्कर्म, आसन, मुद्राबन्ध तथा धारणा का वर्णन करना प्रांसगिक है, परन्तु *घेरण्ड संहिता* में वर्णित जो आसन, मुद्रायें तथा प्राणायाम *हठयोग प्रदीपिका* में समानरुप से हैं, उनका वर्णन यहाँ पर पुनः

---

[49] पुच्छे प्रगृह्य भुज्रगी सुप्तामुद्बोधयेतच्च ताम्। निद्रां विहाय सा शक्तिरुर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्।। *हठप्रदीपिका,* 3/111।

वायुं निरुध्य मेधवी जीवन्मुक्तो भवेद्ध्रुवम् ।
समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ॥ ११४॥

यदि स्याद्देहमुत्स्त्रष्टुमिच्छा चेदुत्सृजेत्स्वयम् ।
परब्रह्मणि लीयेत्त्यक्त्वा कर्मशुभाशुभम् ॥ ११५॥

अथ चेन्नो समुत्स्त्रष्टुं स्वशरीरं यदि प्रिअयम् ।
सर्व लोकेषु विचरेदणिमादिगुणान्वितः ॥ ११६॥

कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गयपि संचरेत् ।
मनुष्यो वापि यक्षो वा स्वेच्छया हि क्षणाद्भवेत् ॥ ११७॥

सिंहो व्याघ्रो गजो वा स्यादिच्छया जन्तुतां व्रजेत् ।
यथेष्टमेव वर्त्तेत योगी विद्वान्महेश्वरः ॥ ११८॥

कविमार्गोऽयमुक्तः ते सांकृते अष्टाङ्गयोगतः ।
सिद्धानां कपिलादीनां मतं वक्ष्ये ततः परम् ॥ ११९॥

अभासभेदतो भेदः फल तु सममेव हि ।
महामुद्रां प्रवक्ष्यामि भैरवेणोक्तमादरात् ॥ १२०॥

पार्ष्णिवामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १२१॥

चिबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेत् वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेत् ।
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन चाभ्यसेत् ॥ १२२॥

प्रसारितस्तु यः पादस्तमुरूपरि विन्यसेत् ।
अयमेव महाबन्धो मुद्रावच्चामुमभ्यसेत् ॥ १२३॥

महाबन्धस्थितो योगी स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः ।
अयमेव महाबन्धः सिद्धैः अभ्यस्यते नरैः ॥ १२४॥

अन्तः कपालकुहरे जिह्वां व्यावर्त्य बन्धयेत् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिः अप्येषा मुद्रा भवति खेचरी ॥ १२५॥

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया ।
जलन्धरो बन्ध एष अमृतद्रवपालकः ॥ १२६॥

नाभिस्थोऽग्निः कपालस्थसहस्त्रकमलच्च्युतम् ।
अमृतं सर्वदा तावदन्तर्ज्वलति देहिनाम् ॥ १२७॥

यथा चाग्निस्तदमृतं न पिबेत्तु पिबेत्स्वयम् ।
याति पश्चिममार्गेणैवमभ्यासतः सदा ।
अमृतं कुरुते देहं जलन्धरमतोऽभ्यसेत् ॥ १२८॥

उड्याणं तु सहजं गुणौघात्कथितं सदा ।
अभ्यसेदस्ततन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ॥ १२९॥

नाभेः ऊर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयेदेव न संशयः ॥ १३०॥

मूलबन्धं तु यो नित्यमभ्यसेत्स च योगवित् ।
गुदे पार्ष्णिं तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ १३१॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ १३२॥

करणं विपरिताख्यं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निः विवर्द्धते ॥ १३३॥

आहारो बहुलः तस्य सम्पाद्यः सांकृते ध्रुवम् ।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निः दाहं करोति वै ।
ऊर्ध्वं भानुरधश्चन्द्रस्तद्यथा श्रृणु सांकृते ॥ १३४॥

अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ।
क्षणात्तु किंचिदधिकमभ्यसेन दिने दिने ॥ १३५॥

वलिश्च पलितश्चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु ओगवित् ॥ १३६॥

वज्रोलिं कथयिष्यामि गोपितं सर्वयोगिभिः ।
अतीवैतद्रहस्यं तु न देयं यस्य कस्यचित् ।
स्वप्राणैस्तु समो यो स्यात्तसमै च कथयेद्ध्रुवम् ॥ १३७॥

स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि योगोक्तनियमैः विना ।
वज्रोलिं यो विजानति स योगी सिद्धिभाजनः ॥ १३८॥

तत्र वस्तु द्वयं वक्ष्ये दुर्लभं येन केनचित् ।
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिकरं स्मृतम् ॥ १३९॥

क्षीरमाङ्गिरसं चेति द्वयोराद्यं तु लभते ।
द्वितीयं दुर्लभं पुंसां स्त्रीभ्यः साध्यमुपायतः ।
योगाभ्यासरता स्त्री च पुंसा यत्नेन साधयेत् ॥ १४०॥

पुमान् स्त्री वा यदन्योन्यं स्त्रीपुंस्त्वानपेक्षया ।
स्वप्रयोजनमात्रैकसाधनात्सिद्धिमाप्नुयात् ॥ १४१॥

चलितो यदि बिन्दुः तमुर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ।
एवं च रक्षितो बिन्दुः मृतुं जयति तत्त्वतः ॥ १४२॥

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणत् ।
बिन्दुरक्षाप्रसादेन सर्वं सिध्यति योगिनः ॥ १४३॥

अमरोलिस्तद्यथा स्यात्सहजोलिस्ततो यथा ।
तदभ्यासक्रमः शस्यः सिद्धानां सम्प्रदायतः ॥ १४४॥

एतैः सैः वैस्तु कथितैरभ्यसेत् काललालतः ।
ततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम् ।
न दिङ्मात्रेण सिद्धिः स्यादभ्यसेनैव जायते ॥ १४५॥

राजयोगं वरं प्राण्य सर्वसत्त्ववशंकरम् ।
सर्वं कुर्यान्नवा कुर्याद्यथारुचिविचोष्टितम् ॥ १४६॥

यथान्तरा च योगेन निष्पन्ना योगिनः क्रिया ।
यथावस्था हि निष्पत्तिर्भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ॥ १४७॥

सर्वं ते कथितं ब्रह्मन् सांस्कृते योगमाचर ।
इति तस्य वचः श्रुत्वा सांस्कृतिः योगमाप्तवान् ।
सर्वासिद्धीरवाप्यासौ दत्तात्रेयप्रसादतः ॥ १४८॥

य इदं पठते नित्यं साधुभ्यः श्रावयेदपि ।
तस्य योगः क्रमेणैव सिध्यत्येव न संशयः ॥ १४९॥

योगिनोऽभ्यासयुक्ताः ये ह्यरण्येषु गृहेषु वा ।
बहुकालं रमन्ते स्म बहुकालविवर्जिताः ॥ १५०॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगमेव सदाभ्यसेत् ।

देह की तीन क्रियाओं—इन तीनों के तीन भेद करने पड़ते हैं, यह सुनो।

मुद्रामहा, महाबन्ध, ने खेचरी महावेध,
जालंधरो. डिड्याणी, ने मूलबंध मा वेद। ५

महा-बन्ध, महा-वेध, खेचरी ये तीन मुद्राएँ हैं और जालंधर-बन्ध, उड्डयान बन्ध तथा मूल बन्ध—ये तीनों बन्ध हैं।

सन्धान दीर्घ प्रणवी, सिद्धान्तनू श्रवण जे,
आ सर्व योग विद्या, सरसारना लवण जे। ६

प्राण को मन के साथ जोड़ना, ॐकार (प्रणव मन्त्र) को दीर्घ करके (फैलाकर) उच्चारण करना और तत्व-विज्ञान को सुनना—ये सब योग की विद्या कहलाती हैं। यह सर्व-साधन रूपी सरोवर के सार का नमक है।

दाबा चरण नी एडी, योनि परे अडावे,
जमणो चरण पसारी, कर जोरथी चढावे। ७

अब पहले 'महा-बन्ध' के अर्थ क्या है, वह सुनो—

बायें पैर की एड़ी को योनि और गुदा के बीच के जोड़ पर लगाकर, दाहिना पैर लिङ्ग के ऊपर के भाग पर चढ़ाना और दोनों हाथों की हथेलियों को

दोनों घुटनों के ऊपर के भाग पर उल्टा दिशा में जोर से दबाना। इससे शरीर का हिलना-डुलना बिलकुल बन्द हो जाता है।

दाढी हृदय लगाडी, पूरक पराण कुम्भक,
धीमे धरी सुधारी, दृढ धार छोड़ रेचक। ८

ठोढ़ी को हृदय (छाती) पर लगाना। शुरू में आठ मात्रा गिनकर श्वास को अन्दर लेना। ३२ मात्रा तक श्वास को अन्दर रोकना और फिर १६ मात्रा गिनते-गिनते श्वास को बाहर निकालना।

इस क्रिया को क्रमानुसार पूरक कुम्भक और रेचक कहते हैं। इसको 'प्राणायाम' कहते हैं।

दाबे करी फरोने, कर दक्ष पाद रोकी,
जे पग छे पसार्यो, ते मांड मांडि रोकी। ९

बायाँ पैर लम्बा करके, दोनों हाथों से पैर के अँगूठे को पकड़ना और सिर को घुटने के पास अड़ाना।

महाबन्ध नाम आ छे, सद्योग आपनारु,
जे को करे जगत मां, ते मुक्ति पामनारु। १०

इसको 'महा-बन्ध' कहते हैं। इससे योग साधा जाता है। इसको जो कोई भा करेगा, वह मुक्ति पा जायेगा।

आ बन्धने जमावी, पूरक अनन्य थाजे,

करतो स्वकर्ण मुद्रा, गति प्राण आवरी जे। ११

'महा-वेध' के क्या अर्थ हैं; सुनो ! कान में मुद्रा लगाकर पूरक करना—

पुट बे समा क्रम्याथी, वायु स्फुरे वधे छे,

महावेध नाम जेथी, दृढ धारणा बधे छे। १२

और दोनों पैर सीधे फैलाकर, पैरों को जोड़कर, वायु को बहुत समय तक रोके रहना।

इस क्रिया को 'महा-वेध' कहते हैं। इसके करने से 'धारणा-शक्ति' बढ़ती है।

जिह्वा वधारी झाली, ने कण्ठ मां मुके जो,

गल छिद्र नासिकाना, पर्दा बंधी रुके जो। १३

अब 'खेचरी मुद्रा' के अर्थ सुनिये ! पहले जीभ के नीचे के जोड़ को बाँस की धार से धीरे-धीरे काटना। फिर जिह्वा का दोहन करके उसे लम्बी करना। तब नाक और गले का पर्दा बन्द हो जाये, ऐसी रीति से गले में जीभ को रखना।

मुद्रा ते खेचरी छे, भ्रूमध्य दृष्टि राखे,

योगी करे जरा ने, यम बीक ते न राखे। १४

इसको 'खेचरी मुद्रा' कहते हैं। इसे करके भृकुटि

के बीच में ध्यान करने से बुढ़ापे और यम (मृत्यु) का डर नहीं रहता है।

निज कण्ठ ने सिकोडी, हृदये लगाडतो जे,
जालन्धराख्य ते छे, दृढता वधारतो जे। १५

अपने गले के बाहर निकले हुए भाग को सिकोड़कर, गले को हृदय पर लगाना। इस क्रिया को 'जालन्धर बन्ध' कहते हैं। इसे करने से दृढ़ता बढ़ती है।

एडी थकी दबावी, सङ्कोच योनि केरु,
जेथी अपान ऊठे, ते बन्ध योनि केरु। १६

एडी को लिङ्ग के ऊपर के भाग पर दबाकर, योनि को संकुचित करने से अपान वायु ऊपर चढ़ती है। इसे 'योनि-बन्ध' कहते हैं।

जे प्राण ने सुषुम्ना, प्रेरे दबाव नाखी,
उडे गति प्रवेगे, उडि्डयान बन्ध राखी। १७

फिर उसके ऊपर दबाव डालने से 'उड्डयान बन्ध' होता है और उससे प्राण तथा सुषुम्ना नाड़ी में वेग से गति के उठने की प्रेरणा होती है।

भेगा अपान प्राणो, ने नाद बिन्दु भेगा,
छे मूल-बन्ध जेथी, वे जीव ब्रह्म भेगा। १८

ऊपर से प्राण और नीचे से अपान के दबाव के बीच में नाद-विन्दु का विस्फोट होने से, जीव आवरण रहित होकर मूल-तत्त्व चित्त के सन्मुख आ जायेगा। प्राण और अपान की इस क्रिया को 'मूल-बन्ध' कहते हैं।

नीचे कपाल उपर, पग आसमान जोता,
विपरीत नाम मुद्रा, कर्ता न मृत्यु जोता । १६

नीचे सिर और ऊपर पैर कर जो शीर्षासन होता है, उसे 'विपरीत मुद्रा' कहते हैं। उसको करनेवाला मृत्यु से परे हो जाता है।

आहार सूक्ष्म लघु जे, ते यम बने अहिंसा,
नियमो कहुँ बतावूं, जो त्याग कर्म हिंसा । २०

अभ्यास करने के लिये, नीचे लिखे दस यमों में से 'सूक्ष्म और लघु आहार' खाने का यम और दस नियमों में से 'अहिंसा' का पालन करना विशेष रूप से आवश्यक है, नहीं तो अभ्यास ठीक नहीं होगा।

आसन प्रधान चारे, जो नाम सांभळीने,
ते पद्म, सिद्ध, भद्रो, ने सिंह ले कळोने । २१

अब चार प्रकार के प्रधान 'आसन' कहते हैं।

कपाल-कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥

अर्थात् तालु के मध्य में छिद्र या गड्ढा है, जिसे योगी अमृत-कूप, कपाल-कुहर, कपाल-विवर, दशम-द्वार, भ्रुकुटी-गुहा, व्योम-चक्र या ब्रह्म-रन्ध्र कहते हैं। उसमें जब जिह्वा उलट कर प्रवेश करती है और दृष्टि भ्रू-मध्य में स्थिर हो जाती है, तब 'खेचरी-मुद्रा' बनती है।

तीनों बन्ध एवं मुद्रायें अत्यन्त सरल हैं। इसके लिए केवल नित्य अभ्यास की आवश्यकता है। खेचरी-मुद्रा के विषय में जन-साधारण में अनेक भ्रान्त धारणायें प्रचलित हैं, इस प्रकार की धारणाओं से घबराना नहीं चाहिये। खेचरी मुद्रा में जिह्वा के नीचे के जोड़ को, बाँस की धार से इतनी नम्रता से काटा जाता है कि उससे रक्त नहीं निकलता और न ही कष्ट होता है। इसके लिए अनुभवी गुरु का सान्निध्य आवश्यक है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में २ से ३ वर्ष लग जाते हैं और इसका प्रारम्भ २५ वर्ष की आयु के पूर्व ही किया जाना चाहिये।

इस प्रकार खेचरी-मुद्रा में जिह्वा की वृद्धि की जाती है, जिससे जिह्वा को ऊपर की ओर उल्टी करके कपाल के मध्य वाले छिद्र में प्रविष्ट किया जा सके और तब भौंहों के मध्य में दृष्टि को मन से संयुक्त करके चित्ताकाश का लय चिदाकाश में किया जाता है। इसके द्वारा समाधि की त्वरित उपलब्धि सम्पादित होने लगती है, परन्तु बिना अनुभवी गुरु के इसे नहीं किया जा सकता क्योंकि अनुभवी गुरु की अनुपस्थिति में इसमें असावधानी सम्भव है।

यदि कोई इसे नहीं करना चाहता, तो उसका विकल्प भी है। ज्ञान-सङ्कलिनी तन्त्र में लिखा है—

मनः स्थिरं यस्य वितावलम्बनम्।
वायुः स्थिरो यस्य विना निरोधनम्॥
दृष्टिः स्थिरा यस्य विनावलोकनम्।
सा एव मुद्रा विचरन्ती खेचरी॥

अर्थात् जो बिना किसी भौतिक पदार्थ का आधार लिये अपने मन को एकाग्र कर सकता है; जो प्राणायाम के द्वारा अपने श्वास-प्रश्वास को विशेष शारीरिक

प्रयास के बिना ही नियमित कर सकता है; जो अपनी दृष्टि देखे बिना नियमित कर सकता है, तो यह समझ लेना चाहिये कि उसने 'खेचरी-मुद्रा' की विद्या प्राप्त कर ली है। 'खेचरी-मुद्रा' के इस सरल विधान में जिह्वा को काटने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। केवल इसे पीछे मोड़ कर ऊपरी तालू को स्पर्श करते हुए, ध्यान का अभ्यास करना होता है।

आसन

साधारणतः हम लोग 'आसन' का अर्थ शारीरिक व्यायाम समझते हैं। वास्तव में 'आसन' का अर्थ है—शरीर की सामञ्जस्य-पूर्ण स्थिति। आसनों का प्रभाव केवल शरीर तक सीमित नहीं रहता। शरीर, मन और चित्त तीनों पर 'आसन' का प्रभाव पड़ता है।

'आसन' का लक्ष्य साधक को परम चेतना के मार्ग पर ले जाना है, जिससे साधक को स्व - अस्तित्व का वास्तविक ज्ञान हो सके। इसीलिये आसन 'योग' का पहला अङ्ग है।

'आसन' करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है—

केवल मां दिल अलोटे, चित्त वृत्तिनी निवृत्ति,
ते धारणा धरीने ध्याने रमे प्रवृत्ति । ४४

ऐसी रीति से 'केवल कुम्भक' होने पर मन उसमें रम जाता है। चित्त-वृत्ति की निवृत्ति होती है। उस निवृत्ति को पाए हुए मन को ध्यान में लगाने से उसकी प्रवृत्ति ध्यान में ही लगी रहेगी।

लय थाय आत्म-ज्योति, आनन्द नी समाधी,
जो योग भोग बाणे जागी जमे समाधी । ४५

तब मन आत्म-ज्योति में लय होता है और ईश्वर के बराबर आनन्द की समाधि प्राप्त करता है। उस योग में सब भोग जल जाते हैं।

त्यां ब्रह्म जीवना जे, भेदी बधा मटे तो,
जो एक तत्व जागी, आनन्द तत्व जोतो । ४६

वहाँ जीव और ब्रह्म के सब भेद मिट जाते हैं और एकमात्र आनन्द ही बाकी रह जाता है।

वज्रोली आमरोली, सहजोली नी क्रिया जे,
तेनोज मर्म भाखू, सुण शब्द मां क्रिया जे। ४७

इस प्रकार के योग के लिए तीन प्रकार कीदूसरी क्रियाएँ भी हैं। उनके नाम—१ वज्रोली, २ आम्रोली, ३ सहजोली हैं। अब इनका रहस्य कहता हूँ, सुनो—

अमरीकपाय पीतां, नित साध आ क्रियानें,
वज्रोली नाम तेनुं, अच्युत थइ जमाने । ४८

वज्रोली क्रिया करने के समय गुरुचि, आंवला और गोखरू का काढ़ा पीना या अकेले आंवले का काढ़ा पीना। इस क्रिया के करने से साधक अच्युतत्व को प्राप्त करता है।

वज्रोली —यह क्रिया हठ-योग की एक उप-क्रिया है, जिसका उपयोग योगी लोग ब्रह्मचर्य के भाव को सँभालने के लिए करते हैं। कुम्भकादि योग के मुखाभ्यास से इसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। यह क्रिया, साधक के अघटित मार्ग में चले जाने की सम्भावना होने से और कई साधकों के इसी साधना से उलटे मार्ग में चले जाने से, यहाँ विस्तार-पूर्वक नही लिखी गई! इसका अभ्यास कठिन और (गलत होने से) रोग-कर है। इसलिए गुरु के सम्मुखत्व बिना इसे करना ठीक नहीं है। आत्म-साधनार्थ यह क्रिया इतनी उपयुक्त भी नहीं है।

रज-रज्ज विश्व भोगे, पण भोग ना सतावे,
मन जो न क्यां फसे तो, चित्त मस्त योग दावे। ४९

इस क्रिया से साधक को विश्व मे भोग भोगते हुए भी, भोग सताता नहीं है और यदि मन किसी जगह फँस न जाये, तो मन योग में ही मस्त रहता है।

अथ भुजङ्गासनम् ।

पादादिनाभिपर्यन्तमधोभूमौ विनिन्यसेत्[1] ।
करतलाभ्यां धरां धृत्वा ऊर्ध्वशीर्षः फणीव हि ॥४२॥
देहाग्निर्वर्द्धते नित्यं सर्वरोग[2]विनाशनम्[3] ।
जागर्ति भुजगी देवी भुजगासनसाधनात् ॥ ४३ ॥

अथ योगासनम् ।

उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि ।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकम् ॥ ४४ ॥
पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
योगासनं भवेदेतद्योगिनां योगसाधने ॥ ४५ ॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घटस्थयोगे घेरण्डचण्ड-संवादे आसनप्रयोगो नाम द्वितीयोपदेशः समाप्तः ।

तृतीयोपदेशः ।

अथ मुद्राकथनम् ।

घेरण्ड उवाच—

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्[4] ।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च[5] खेचरी ॥ १ ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालनी ।
ताडागी[6] माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पञ्चधारणा ॥ २ ॥

---

१ च. २ गं. ३ येत्. ४ जा. ५ भा च. ६ त.

अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी।
पञ्चविंशति मुद्राणि[1] सिद्धिदानीह[2] योगिनाम् ॥ ३ ॥

अथ मुद्राणां फलकथनम्।

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव सन्निधौ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥ ४ ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित्।
प्रीतिदं योगिनाञ्चैव दुर्लभं मरुतामपि ॥ ५ ॥

अथ महामुद्राकथनम्।

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदाङ्गुलः ॥ ६ ॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं[3] निरीक्षयेत्।
पूरकैर्वायुं संपूर्य महामुद्रा निगद्यते ॥ ७ ॥

अथ महामुद्राफलकथनम्।

क्षयकासं गुदावर्त्तं प्लीहाजीर्णं ज्वरं तथा।
नाशयेत्सर्वरोगांश्च महामुद्रा च साधनात् ॥ ८ ॥

अथ नभोमुद्राकथनम्।

यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु[4] सर्वदा।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत् पवनं सदा।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥ ९ ॥

अथ उड्डीयानबन्धः।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्।

---

१ श्च. २ ति. ३ ध्ये. ४ कर्मसु.

उड्डानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ १० ॥

अथ उड्डीयानबन्धस्य फलकथनम्।

समग्राद्बन्धनाद् ह्येतदुड्डीयानं विशिष्यते।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ११ ॥

अथ जालन्धरबन्धकथनम्।

कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।
जालन्धरमहामुद्रा मृत्योश्च[1] क्षयकारिणी ॥ १२ ॥

अथ जालन्धरबन्धस्य फलकथनम्।

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम्।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः ॥ १३ ॥

अथ मूलबन्धकथनम्।

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः।
नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥ १४ ॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ॥ १५ ॥

अथ मूलबन्धस्य फलकथनम्।

संसारसमुद्रं तर्तुमभिलषति यः पुमान्।
विरले सुगुप्तो भूत्वा मुद्रामेतां समभ्यसेत् ॥ १६ ॥
अभ्यासाद् बन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
साधयेद् यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः ॥ १७ ॥

---

१ अमृता.

अथ महाबन्धकथनम् ।

वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत् ।
दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥ १८ ॥
शनैः शनैश्चालयेत् पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छनैः ।
जालन्धरे[1] धारयेत् प्राणं महाबन्धो[2] निगद्यते ॥ १९ ॥

अथ महाबन्धस्य फलकथनम् ।

महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशनः ।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम् ॥ २० ॥

अथ महावेधकथनम् ।

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा ॥ २१ ॥
महाबन्धं समासाद्य उड्डानकुम्भकं[3] चरेत् ।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ॥ २२ ॥

अथ महावेधस्य फलकथनम् ।

महाबन्धमूलबन्धौ महावेधसमन्वितौ ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः ॥ २३ ॥
न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोयं योगिपुङ्गवैः ॥ २४ ॥

अथ खेचरीमुद्राकथनम् ।

जिह्वाधो नाडीं संछिन्नां रसनां चालयेत् सदा ।
दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत् ॥ २५ ॥

---

१ रं. २ धं. ३ पूरकं.

एवं नित्यं सम[1]भ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।
यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तदागच्छति[2] खेचरी ॥ २६ ॥
रसनां तालुम[3]ध्ये तु शनैः शनैः प्रवे[4]शयेत्।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ २७ ॥

अथ खेचरीमुद्रायाः फलकथनम्।

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते ॥ २८ ॥
नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः ॥ २९ ॥
लावण्यञ्च भवेद्गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात् ॥ ३० ॥
नानारससमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने।
आदौ लवणक्षारञ्च ततस्तिक्तकषायकम् ॥ ३१ ॥
नवनीतं घृतं क्षीरं दधि तक्रमधूनि च।
द्राक्षारसञ्च पीयूषं जायते रसनोदकम् ॥ ३२ ॥

अथ विपरीतकरणीमुद्राकथनम्।

नाभिमूले वसेत् सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ॥ ३३ ॥
ऊर्ध्वं च योजयत् सूर्यश्चन्द्रश्च अध आनयेत्।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ३४ ॥

---

१ मा. २ सिध्यति. ३ रंध्रे. ४ प्रसारयेत्.

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः।
ऊर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता॥ ३५॥

अथ विपरीतकरणीमुद्रायाः फलकथनम्।

मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरां मृत्युञ्च नाशयेत्।
स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति॥ ३६॥

अथ योनिमुद्राकथनम्।

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नासामुखम्।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत्॥ ३७॥
काकीभि[1]: प्राणं संकृष्य अपाने योजयेत्ततः।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं[2] हंस[3]मनुना सुधीः॥ ३८
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे॥ ३९॥
शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परं शिवेन सङ्गमम्।
नानासुखं विहारञ्च चिन्तयेत् परमं सुखम्॥ ४०॥
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं[4] भुवि[5] भावयेत्।
आनन्दमानसो भूत्वा अहं ब्रह्मेति संभवेत्॥ ४१॥
योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा।
सकृत्तु लाभ[6]संसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि॥ ४२॥

अथ योनिमुद्राफलकथनम्।

ब्रह्महा भ्रूणहा चैव सुरापी गुरुतल्पगः।
एतैः पापैर्न लिप्येत योनिमुद्रानिबन्धनात्॥ ४३॥

---

१ काकिना–काकीवत्. २ हूं. ३सो. ४ त्म.–त्मा. ५ त्वं–नं. ६भाव.

यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबन्धनात्।
तस्मादभ्यसनं कुर्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति॥ ४४॥

अथ वज्रोलीमुद्राकथनम्।

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यामूर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रोलिमुद्रां मुनयो वदन्ति४५

अथ वज्रोलीमुद्रायाः फलकथनम्।

अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम्।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः॥ ४६॥
एतद्योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति भूतले॥ ४७॥
भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत्।
तथापि सकला सिद्धिस्तस्य भवति निश्चितम्॥ ४८॥

अथ शक्तिचालनीमुद्राकथनम्।

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता॥ ४९॥
यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्॥ ५०॥
उद्घाटयेत् कवाटञ्च यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत्॥ ५१॥
नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिस्थितः।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्॥ ५२॥

---

१ करद्वयेन. २ संयुता. ३ ऊर्ध्व. ४ कपाटं. ५वि. ६ नातिबृहद्वेष्टनं च.

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ।
एवमम्बरयुक्तञ्च कटिसूत्रेण योजयेत् ॥ ५३ ॥
भस्मना गात्रं संलिप्य सिद्धासनं समाचरेत् ।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजवेद् बलात् ॥ ५४ ॥
तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनीमुद्रया ।
यावद्गच्छेत् सुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेद्धठात् ॥ ५५ ॥
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी ।
बद्धश्वासस्[1]ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ॥ ५६ ॥
विना शक्तिचालनेन योनिमुद्रा न सिद्ध्यति ।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत् ॥ ५७ ॥
इति ते कथितं चण्डकपाले[2] शक्तिचालनम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत् ॥ ५८ ॥

अथ शक्तिचालनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी ।
तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिभिः सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥५९॥
नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता ।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद्रोगाणां संक्षयो भवेत् ॥ ६० ॥

अथ तडागीमुद्राकथनम् ।

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृति ।
ताडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ६१ ॥

---

१ सा. २ प्रकारं—प्रकाशं.

अथ माण्डुकीमुद्राकथनम्।

मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्।
शनैर्ग्रसेदमृतं तन्माण्डुकीं मुद्रिकां विदुः ॥ ६२ ॥

अथ माण्डुकीमुद्रायाः फलकथनम्।

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम्।
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम् ॥ ६३ ॥

अथ शाम्भवीमुद्राकथनम्।

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ६४ ॥

अथ शाम्भवीमुद्रायाः फलकथनम्।

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ६५ ॥
स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम् ॥ ६६ ॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वर।
शाम्भवीं यो विजानीयात् स च ब्रह्म न चान्यथा ॥६७॥

अथ पञ्चधारणामुद्राकथनम्।

कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम्[1]।
धारणानि समासाद्य[2] किं न सिध्यति भूतले ॥ ६८ ॥
अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम्।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ॥ ६९ ॥

---

१ धारणां च. २ ध्य.

अथ पार्थिवीधारणामुद्राकथनम्।

यत्तत्त्वं हरितालदेशरचितं भौमं[1] लकारान्वितं
वेदास्त्रं[2] कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थायिनम्[3]।
प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ७०

अथ पार्थिवीधारणामुद्रायाः फलकथनम्।

पार्थिवीधारणामुद्रां यः करोति च नित्यशः।
मृत्युञ्जयः स्वयं सोपि स सिद्धो विचरेद् भुवि ॥ ७१ ॥

अथ आम्भसीधारणामुद्राकथनम्।

शङ्खेन्दुप्रतिमञ्च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं
तत्पीयुषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेदेषा
दुःसहतापपापहरणी स्यादाम्भसी धारणा ॥७२॥

अथ आम्भसीमुद्रायाः फलकथनम्।

आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित्।
जले च गभीरे घोरे मरणं तस्य नो भवेत् ॥ ७३ ॥
इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः।
प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च तत्त्वतः ७४

अथ आग्नेयीधारणामुद्राकथनम्।

यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं
तत्त्वं तेजोमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत् सिद्धिदम्।

---

१ हेमा. २ थं. ३ स्थापितम्.

प्राणं तत्र विलीय पञ्चवटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा कालगभीरभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा ७५

अथ आग्नेयीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ यदि पतति साधकः ।
एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक् ॥ ७६ ॥

अथ वायवीधारणामुद्राकथनम् ।

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्ज[1]सन्निभमिदं धूम्रावभासं परं[2]
तत्त्वं सत्त्व[3]मयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ७७

अथ वायवीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।
वायुना म्रियते नापि खे गतेश्च प्रदायिनी ॥ ७८ ॥
शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्य कस्यचित् ।
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च चण्ड ते ॥७९॥

अथ आकाशीधारणामुद्राकथनम् ।

यत् सिन्धौ[4] वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं[6] परं भासितं
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चवटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकवाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणाम् ॥ ८० ॥

---

१ पुष्प. २ वृत्तं भ्रुवोरन्तरे. ३ सत्य. ४ धोः. ५ प्रविशुद्ध.
६ व्योम्नः.

अथ आकाशीधारणामुद्रायाः फलकथनम्।

आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति सच योगवित्।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति ॥ ८१ ॥

अथ अश्विनीमुद्राकथनम्।

आकुञ्चयेद् गुदद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥ ८२ ॥

अश्विनीमुद्रायाः फलकथनम्।

अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत् ॥ ८३ ॥

अथ पाशिनीमुद्राकथनम्।

कण्ठ[1]पृष्ठे क्षिपेत् पादौ पाशवद् दृढबन्धनम्।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥ ८४ ॥

अथ पाशिनीमुद्रायाः फलकथनम्।

पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥ ८५ ॥

अथ काकीमुद्राकथनम्।

काकच[2]ञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ॥ ८६ ॥

अथ काकीमुद्रायाः फलकथनम्।

काकीमुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।
अस्याः प्रसादमात्रेण न रोगी काकवद् भवेत् ॥ ८७ ॥

---

१ स्कंध. २ च्चू.

अथ मातङ्गिनीमुद्राकथनम्।

कण्ठमग्ने[1] जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्॥ ८८॥
नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः।
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥ ८९॥

अथ मातङ्गिनीमुद्रायाः फलकथनम्।

विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः।
कुर्यान्मातङ्गिनीं मुद्रां मातङ्ग इव जायते॥ ९०॥
यत्र यत्र स्थितो रोगी सुखमत्यन्तमश्नुते।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साधयेन्मुद्रिकां पराम्॥ ९१॥

अथ भुजङ्गिनीमुद्राकथनम्।

वक्त्रं किञ्चित् सुप्रसार्य चानिलं गलया पिबेत्।
सा भवेद् भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥ ९२॥

अथ भुजङ्गिनीमुद्रायाः फलकथनम्।

यावन्त उदरे रोगा अजीर्णादि विशेषतः।
तत् सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजङ्गिनी॥ ९३॥

अथ मुद्राणां फलकथनम्।

इदं तु मुद्रापटलं कथितं चण्ड ते शुभम्।
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम्॥ ९४॥
शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्य कस्यचित्।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि॥ ९५॥

---

१ म.

ऋजवे शान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च ।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम् ॥ ९६ ॥
मुद्राणां पटलं ह्येतत् सर्वव्याधिविनाशनम् ।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविवर्धनम् ॥ ९७ ॥
न तस्य जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा ।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम् ॥ ९८ ॥
कासः श्वासः प्लीहा कुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः ।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः ॥ ९९ ॥
वहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्ड ते ।
नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले ॥१००॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डचण्डसंवादे घटस्थ-योगप्रकरणे मुद्राप्रयोगो नाम तृतीयोपदेशः ।

चतुर्थोपदेशः ।

घेरण्ड उवाच—

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनम् ॥ १ ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २ ॥
यत्र यत्र गता दृष्टिर्मनस्तत्र प्रगच्छति ।
ततः प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ ३ ॥

कुराडलीवोधकंवक्त भावदनंसुखदंशुभं ।
ब्रह्मनारीसुखंसंस्थ्यं कफाद्यर्गलनाशनं॥१०२

यदि कुण्डली का रोध होतो वक्रभाव दूरीभूत सुख और स्वास्थ अधिकृत होता है और कफादिक की कोई मति बंधकता नहीं रहती ॥१०२॥

सम्यक्गात्रसमुद्भूत ग्रन्थित्रयविभेदकं ।
विशेषैवकर्त्तव्यं भस्त्रोख्यंकुम्भकन्तुदं १०३

विशेष प्रकार से भस्त्र नामक कुंभक का अनुष्ठान करना चाहिये, इसके द्वारा शरोत्पन्न तीनों ग्रन्थिका बिभेद होता है ॥

चतुर्णामपिभेदानां कुम्भकेसमुपस्थिते ।
वन्धत्रयमिदंकार्य्यं वक्ष्यमाणंमयास्फुटं १०४

चार भेद विषय में कुम्भक का आविर्भाव हुआ है, मैं तुम्हारे निकट स्पष्ट भाव से जो कहता हूं इन्हीं तीन बंधन का अनुष्ठान करना चाहिये ॥१०४॥

प्रथमोमूलवन्धस्तु द्वितीयउड्डियानकः ।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणंकथयाम्यहं १०५

प्रथम मूलबंध, द्वितीय उड्डीयान और तृतीय जालन्धर नामसे परिचित है, मैं क्रमानुसार इनका लक्षण वर्णन करताहूं ॥

योनिपार्ष्णयांतुसंपीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारंवारंतथाचोर्द्धं समायातिसमीरणः १०६

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पार्ष्णिदेश (पैरका तलुआ) द्वारा योनि को निपीडित करके वल पूर्वक वायुको आकुञ्चित करना । इस प्रकार करनेसे वायु वारंवार ऊर्द्ध में प्रसर गति होती है ॥१०६॥

प्राणापानंनादविन्दु मूलवन्धेनचैकतां ।
गत्वायोगस्यसंसिद्धिं यच्छतेनात्रसंशयः १०७

मूलवंध द्वारा प्राण और अपान के सहित जो नादविन्दु मिलित होता है, उस में निःसन्देह योगी को सिद्धावस्था होती है ॥१०७॥

कुम्भकास्तेरेचकान्ते कर्त्तव्यस्तूड्डियानकः ।
वद्धोयेनसुषुम्नायां प्राणस्तूड्डियतेततः १०८

रेचक और कुंभक के अन्त में उड्डियान नामक बंधन का अनुष्ठान करना चाहिये, यह सुषुम्ना में वद्ध होने से प्राण को उड्डीन दशामें होती है ॥१०८॥

तस्मादुड्डियानाख्योऽहं योगिभिःसमुदाहृतः
उड्डियानस्तुसहजं गुरुणाकथितंमुदा ॥१०९॥

योगीगण इसका नाम उड्डीयान कहते हैं, गुरु प्रसन्न मनसे इसकाही स्वाभाविक गुण गरिमा वर्णन करते हैं १०९

अभ्यासादस्वतन्त्रस्तु वृद्धोऽपितरुणायते ।
नाभेरुर्द्धमधश्चापि प्राणंकुर्य्यात्प्रयत्नतः ११०

वास्तविक अभ्यास होनेसे इसके द्वारा स्वतंत्रता लाभ

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होतो है, अन्यबात क्याहै, इसकी शक्ति से वृद्धभी नवीन भाव धारण करता है। जोहो, सर्व प्रयत्न से प्राण को नाड़ी के अर्द्ध और अधोदेश में स्थापन करना चाहिये ॥११०॥

षन्मासमभ्यसेन्मृत्यु ञ्जयत्येवनसंशयः।
पूरकान्तेतिकर्त्तव्यो वन्धोजालन्धराभिधः॥

अधिक क्या कहूं यदि इस प्रकार के अभ्यास से छैमास पर्यन्त कार्य किया जायतो जीवमृत्यु को जीतसकता है जोहो पूरक के अन्त में जालन्धर नामक बंधन का अनुष्ठान करना चाहिये ॥१११॥

कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः।
कण्ठमाकुञ्च्यहृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया॥

यह बंधन कंठ शक्ति का संकोचक और वायु पथ निरोधक है कंठको आकुञ्चन करके हृदय में रक्षा करनाही दृढ़ताभिलाषी योगी का कार्य है ॥११२॥

वन्धोजालन्धराख्योऽय ममृताव्ययकारकः
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचनेनच११३
मध्यमाभ्रमणेनस्यात् सप्राणोब्रह्मनाडिगः
वज्रासनस्थितोयोगीचालयित्वातुकुण्डलीं॥

यह जालन्धर नामक बंधनही अव्यय और अमृत दायक है, अधःस्थान कुंचन और कंठ संकोचन द्वारा मध्यमा भ्रमण

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होनेसे प्राणका ब्रह्म नाड़ी में गमन होता है और इस समय योगी कुण्डली को चालित करके वज्रासन पर आसीन होतेहैं ॥

सुषुम्नयातथाभ्यासात् सततंवायुनाभवेत्।
रुद्रग्रन्थिंततोभित्वा सैवयातिशिवात्मकं११५

इस प्रकार अभ्यास बलसे सुषुम्ना के संयोग में वायु के सहित संमिश्रवाण होता है तदनन्तर रुद्र ग्रन्थि विभेदन पूर्वक शिवात्मकता प्राप्त होती है ॥११५॥

चन्द्रसूर्य्यौसमौकृत्वा तयोर्योगःप्रवर्त्तते ।
गुणत्रयादतीतःस्यात् ग्रन्थित्रयविभेदकः ॥

तिस काल चन्द्र सूर्य को समान जानकर योग प्रवर्त्तना होती है, इसमें तीनों गुण अतीत होकर तीन ग्रन्थि का विभेद होता है ॥११६॥

शिवशक्तिसमायोगात् जायतेपरमास्थितिः
यथाकरीकरेणैव पानीयंप्रथिवेत्तथा ॥११७॥

तदनन्तर शिवशक्ति के संयोग में हाथी जिस प्रकार अपनी कर अर्थात् शुण्ड के द्वारा पानीय जल ग्रहण पूर्वक पान करता है इसी प्रकार जीवकी परम पदमें स्थिति होती है ११७

सुषुम्नायास्थितःसर्व्वे सूत्रेमणिगणाइव ।
मोक्षमार्गेप्रसिद्धासा सुषुम्नाविश्वधारिणी११८

यथार्थ विवेचना करके देखने से सूत्रमें जिस प्रकार मणि

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नष्ट करता है । इसी आसन के अभ्यास करने से भुजगी देवी अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है । जिसका वृत्तान्त आगे लिखेंगे ॥

योगासन ।

उत्तानौचरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि ।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं कर युग्मकम् ॥४३॥
पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्र मवलोकयेत् ।
योगासनं भवेदेतत् योगिनां योग साधने ॥४४॥

दोनो पैरो का चित्त कर दोनो जाघों के ऊपर संस्थापित कर के दोनो कर उत्तान भाव से आसन के ऊपर राखे, बाद पूरक प्राणायामके द्वारा वायु खींच कुम्भक करै अर्थात् जहां तक हो सकै थामे रहे और उसी समय में नासिका का अग्र भाग अवलोकन करै । इसी को योगासन कहते हैं । योग साधन विषय में यह आसन योगियो को अवश्य साधन करना चाहिये ॥

इति घेरण्डसंहितायां द्वितीयोपदेश ॥ २ ॥

तृतीयोपदेश:

अथ मुद्रा कथनम् (अब मुद्रा कहते है)

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानं, जलंधरम् ।
मूलबन्ध महाबन्ध, महावेधश्च, खेचरी ॥१॥

विपरीतकरी, योनि, वज्रोणी, शक्तिचालिनी ।
ताडागी, मांडवीमुद्रा, शाम्भवी पञ्चधारणी ॥२॥
अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गीच, भुजङ्गिनी ।
पञ्चविंशति मुद्राणि, सिद्धदानीह योगिनाम् ॥३॥

घेरण्ड महाराज ने फिर कहा कि, पहिले जो भुजङ्गासन के फल में कुण्डलिनी शक्ति के जागने की बात कह आये हैं उस कुण्डलिनी शक्ति के जागने में मुद्रा भी चाहिये बिना मुद्रा कुण्डलिनी शक्ति * सोई रहती है इसलिये पचीस प्रकार की मुद्रा हैं, उनके नाम ये हैं:—

* रुद्रयामल में लिखा है कि गुरु के प्रसाद से यह सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति जागती है अन्यथा नहीं, यह कुण्डलिनी शक्ति क्या है उसपर कहतेहैं कि देहके अन्तर्गत जो ६ चक्रहैं उनमें कमलकी पखुरियोंके समान मांस पेशियां आपस में जकड़ी कमल के फूल की तरह सिकुड़ी रहतीहैं तथा जहां २ हड्डियों के जोड़ हैं वे भी "अस्थिबन्धन" नामक कठोर २ नसों से जकड़े रहते हैं, इससे जब शरीर में मांस या रक्त मज्जा की अधिकता होती है तो वह शरीर मन के योग की वश में नहीं रहता, जिधर चाहिये उधर फेरिये, जिधर चाहिये उधर झुकाइये, जिधर चाहिये उधर मरोड़िये, अथवा शीघ्रगति से अङ्गोंको उठाइये बैठाइये, यह नहीं हो सक्ता । परन्तु जब देहकी कुण्डलिनीशक्ति जाग उठतीहै तो ये सब मन के अधीन हो जाते हैं, जिधर चाहिये फेरिये मरोड़िये उठाइये बैठाइये, लम्फ, झम्प, जोर, क्रिटिक बड़ी फुर्ती से हो सक्ते हैं, यह कुण्डलिनी शक्ति यही है कि रग, नस, पेशी आदि की जकड़ बन्दी, उसका जागना यह है कि उन रग, नस, पेशियों की जकड़बन्दी खुल जावे, यह खुलजाही उसका जागना है ॥

१ महामुद्रा, २ नभोमुद्रा ३ उड्डीयान, ४ जलन्धर, ५ मूलबन्ध, ६ महाबन्ध, ७ महावेध, ८ खेचरी, ९ विपरीतकरी, १० योनि, ११ वज्रोणी, १२ शक्तिचालिनी, १३ ताड़ागी, १४ मांडवी, १५ शाम्भवी, धारणा मुद्रा पांच प्रकार की है जैसे १ पार्थिवीधारणा (१६) २ आम्भसी धारणा (१७) ३ वैश्वानरी धारणा (१८) ४ वायवी धारणा (१९) ५ नभोधारणा (२०) इसके बाद २१ अश्विनी, २२ पाशिनी, २३ काकी, २४ मातङ्गी २५ भुजङ्गिनी ॥

मुद्राणां पटलं देवि, कथितं तव सन्निधौ ।
येनविज्ञात मात्रेण, सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥४॥
गोपनीयं सयत्नेन; न देयं यस्य कस्यचित् ।
प्रीतिदं योगिनां चैव, दुर्लभं मरुतामपि ॥८॥

श्री महादेव जी पार्वती जी से कहते हैं कि हे देवि ! तुम्हारे निकट सब मुद्राओं का नाम हमने कहा । इनके जान लेने ही से सब

लिखा है कि यह कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्म रंध्र की ओर मुख किये सोती है, तात्पर्य यह है कि हृदय कमल जिसको कलेजा कहतहैं उससे सब नाड़ियां निकल कर समस्त शरीर में व्याप्त हैं और उनकी दौड़ मस्तिष्क की ओर है, जहां कहीं धक्का लगता है तो वह झनझाहट बिजुली की शक्ति से भी शीघ्र मस्तिष्क में पहुंच कर सुख दुख बोध करती हैं। परन्तु जब तक सब रग, नस, नाड़ी, पेशी आदि शरीर के टुकड़े अलग२ शक्ति कारक नहीं होते तब तक मानसिक वृत्ति को स्थिति स्थापकता नहीं आती और इसीसे पढ़ लिख कर ज्ञान होने पर भी चित्त वृत्ति का निरोध जो योग का प्रथम लक्षण है नहीं प्राप्त होता । इसी लिये हठ योग द्वारा उस कुण्डलिनी शक्ति को जगाना उचित है, इससे आसन मुद्रा आदि प्रयोग करना आवश्यक है ॥

प्रकार की सिद्धियां लाभ होती हैं। ये सब विषय परम गोपनीय है। जिस किसी को कभी नहीं देना चाहिये (क्योंकि बिना प्रतिज्ञा ये साधित हो नहीं सक्ते, ध्रुव जन दोषित करेंगे, न बन पड़ेगा तो इस विद्या को झूठी कह कर दृढ़ मतिवालों का भी मन भड़काय देंगे, थोड़े दिन बाद यह विद्या लोप हो जायगी) ये सब मुद्रा योगियों को ही परम प्रीति देनेवाली हैं। यह मुद्रा देवताओं को भी दुर्लभ हैं। तात्पर्य यह कि जो कोई साधन करेगा उसी की सम्पत्ति है, ढिल्लड़ों को कभी अवसर नहीं है ॥

महा मुद्रा।

पायुमूलंवामगुल्फे संपीड्यदृढ़यत्नतः।
याम्यपादंप्रसार्य्याथ करेधृतपदांगुलः ॥६॥
कंठसंकोचनंकृत्वा भ्रुवोर्मध्यनिरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यतेचैवसूरिभिः ॥७॥

गुदा मूल को बाईं एड़ीसे खूब मजबूती के साथ दबावै और दहिने पैर को फैलाय दे। और हाथ से पैर की अंगुली धरै, फिर कंठ को संकुचित करके भौंहों के मध्य भाग को देखै। इसी को पण्डित गण महामुद्रा नाम से पुकारते हैं ॥

इसका फल।

क्षयकासंगुदावर्तं प्लीहाजीर्णज्वरन्तथा।
नाशयेत्सर्वरोगांश्च महामुद्रातिसेवनात् ॥८॥

उपरोक्त महामुद्रा को अधिक२सेवन करने से अर्थात् अभ्यास करने से, क्षय कास, (क्षयी की खांसी) गुदावर्त (गुदा के चारो ओर वाले व्रण)

प्लीहा (पिलई) जीर्ण ज्वर (पुराना ज्वर) तथा और २ सब प्रकार रोगों को यह महामुद्रा नाश करती है ॥

नभोमुद्रा ।

यत्रयत्रस्थितेयोगी सर्वकार्येषुसर्वदा ।
ऊर्द्ध्वजिह्वःस्थिरोभूत्वा धारयेत्पवनंसदा ।
नभोमुद्राभवेदेषा योगिनांयोगनाशिनी ॥९॥

जब जब योगी किसी कार्य्य में लगे तब २ सर्वदा ही ऊपर की ओर जिह्वा करके कुम्भक द्वारा स्थिर हो पवन को धारण किया करे, यह अभ्यास सदा रखने से योगियों के समस्त रोग नष्ट हुआ करते हैं, इसी को नभो मुद्रा कहते हैं ॥

तात्पर्य्य यह कि हर काम में हर प्रकार की गुण औगुणकारी हवा आपही गुण औगुणकारी रही जाती है। यदि इस नभोमुद्रा का अभ्यास रहेगा तो झट कुम्भक के द्वारा, बाहर की हवा का आना बन्द करदेगा और मलीन दुर्गन्धित तथा विकारी हवा पेट के भीतर न जा सकैगी। रोगों की उत्पत्ति अकसर हवा के साथ जहरीले रेशों के पेट में आने से हुआ करती है सो देशकाल देख उससे तो बहुतही अभाव हुआ करैगा ॥

उड्डीयानबन्ध ।

उदरेपश्चिमंतानं नाभेरूर्द्ध्वन्तुकारयेत् ।
उड्डीयानकुरुतेयत् तदविश्रान्तंमपाखग. ॥
उड्डीयानन्त्यसौवन्धो मृत्युमातङ्गकेशरी ॥१०॥

नाडी का ऊपरी भाग और पश्चिम द्वार को उदर के सम भाव में सिकोड़ना चाहिये । अर्थात् उदर की मध्यम भागस्थ गुह्यादि चक्र स्थित

नाड़ी समूह को नाभी के ऊपर खिंचाइ के उठाना चाहिये, इसी को उड्डीयानबन्ध कहते हैं, यह उड्डीयानबन्ध मृत्यु के लिये मातंग और केशरी भाव से हैं, अर्थात् मृत्यु रूपी हाथी को यह सिंह की तरह मारडालता है, तात्पर्य्य यह कि मृत्यु इसके साधन से जल्द नहीं हो सक्ती॥

उड्डीयान बंध का विशेष फल।

समग्रात्बन्धनात्ह्येतत् उड्डीयानंविशिष्यते।
उड्डीयानेसमभ्यस्तेमुक्ति स्वाभाविकींभवेत् ॥११॥

जितने मुद्रा बन्ध कहे गये हैं सब में यह उड्डीयान बन्ध विशेष अर्थात् उत्तम है। इस उड्डीयान बन्ध के अभ्यास से, आपही आप मुक्ति प्राप्त होती है, अर्थात् और बहुत मानसिक व्यापारों की आवश्यकता नहीं रहती। तात्पर्य्य यह कि इसके साधन से सदसत् का ज्ञान स्वभाव ही से बढ़ता है॥

शिव संहिता में इस मुद्रा का फल यह लिखा है कि जो योगी इस को प्रतिदिन चार बार करता है उसके नाभी का पवन शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार छः महीना अभ्यास करने से मृत्यु को जीत लेता है। अर्थात् उसके उदर की अग्नि प्रज्वलित होती है और जो कुछ खाता है वह सब भस्म हो के रस यानी (जबसार की वृद्धि करता है और रोगों को नष्ट कर डालता है, फिर दत्तात्रयी जी की संहिता में भी लिखा है कि जो लोग अत्यन्त बुड्ढे होगये हों और इस उड्डीयानबंध का अभ्यास करें तो युवा हो सक्ते हैं और छः महीना प्रतिदिन करने से मृत्यु को जीत सक्ते हैं॥

इन सब योग ग्रन्थ से साफ मालुम होता है कि वैद्यक शास्त्र से और योग शास्त्र से बहुतही सम्बन्ध है, इसी निमित्त हमारे भारतवर्ष

का वैद्यक सर्वांश सब देश के वैद्यक से उत्तम था, परन्तु अब इस समय आलसी लोगों ने सब नष्ट करडाला, सिर्फ विदेशी चिकित्सा के आधीन हो गये ।

जालंधर बंध ।

कण्ठसंकोचनंकृत्वा चिबुकंहृदयेन्यसेत् ।
जालन्धरेकृतेबंधे षोड़शाधारबन्धनम् ॥१२॥
जालन्धरंमहामुद्रा मृत्योश्चक्षयकारिणी ।

कण्ठ सङ्कोचन करके हृदय (छाती) पर चिबुक (ढाढ़ी) रखनेही से जालन्धर बन्ध कहा जाता है, इसके साधन करने से सोलह प्रकार के आधार बन्ध हुआ करते हैं, और यह मृत्यु को भी नष्ट करडालता है ॥

जालंधर बन्ध का फल ।

सिद्धंजालन्धरंबंधं योगिनांसिद्धिदायकं ।
षण्मासमभ्यस्येत् योहिससिद्धोनात्रसंशयः ॥१३॥

यह जालंधर बंध स्वयं सिद्ध है। यह योगियों को सिद्धि देनेवाला है। जो बुद्धिमान छः महीना इसका अभ्यास करता है वह अवश्य सिद्ध हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥

शिव संहिता में लिखा है कि इस जालंधर बंध को साधन कर के साधक इसीकेद्वारा शरीरस्थ सहस्रदल कमल से अमृत को नीचे की ओर ललाट के पास कर सक्ता है और अमर पद अर्थात् मृत्यु कभी न हो ऐसा पद पा सक्ता है। तात्पर्य यह है कि हृदय में एक स्थान ऐसा है जिसे कलेजा कहते हैं, यह यथार्थ में कमल की तरह है और उस की

नसे येनियां भी कमल दल की तरह हैं। ये येनियां हजारसे भी अधिक होंगी। आमाशय से जब भोजन की वस्तु का रस रक्त बन के जाताहै तो पहिले वहीं जमा होकर नाड़ियों के द्वारा शरीर में व्याप्त होता है, इस मुद्रा से नाड़ियां तन कर पंच्छ छोड़ सार भाग को व्याप्त कर रोग नष्ट करती है ॥

मूलबन्ध।

पार्ष्णिनावामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः।
नाभिग्रन्थिंमेरुदण्डं सम्पीडंय यत्नतःसुधीः ॥१४॥
मेढ्रं दक्षिण गुल्फेतु दृढबन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा, मूलबन्धो निगद्यते ॥१५॥

बायें पैर की एड़ी से गुदा प्रदेश को सिकोड़े उसके बाद नाभी की ग्रन्थि को मेरु दण्ड (कमर के पीछे की हड्डी) से दबावे और उपस्थ को दहिने एड़ी से मजबूत दबा के राखैं, इसी को मूलबन्ध कहते हैं। यह मुद्रा बुढ़ाई को नष्ट कर डालती है ॥

मूलबन्ध का फल।

संसार सागरं तर्तुं मभिलपति यः पुमान्।
विरलेपुगुप्तोभूत्वा, मुद्रामेनां समभ्यसेत् ॥१६॥
अभ्यासाद्बंधनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम्।
साद्धयेद्यत्नतस्तर्हि मौनी तु विजितालसः ॥१७॥

जो मनुष्य संसार सागर पार होने की इच्छा करें वे विरल स्थान (निर्जन) में गुप्त भाव से इस मुद्रा का अभ्यास करें। इस मूलबन्ध के

अभ्यास से निश्चय मरु सिद्धि (वायु को काबू) कर सक्ते हैं । इस से साधक आलस्य को परित्याग करके शीघ्र हो यत्न पूर्वक इसको साधन करैंगे ॥

तात्पर्य यह है कि जब वायु काबू हो जायगा तब वह साधक जब पूरी तौर से वायु को शरीर में भर के कुम्भक प्राणायाम से अपने पौरुष को भी सञ्चालन करैगा तो जहां इच्छा हो वहां उड़ सक्ता है । इसी साधना से बहुतेरे हाथ दो हाथ ऊंची जमीन से निराधार उठ आया करते हैं ॥

महाबन्ध ।

वाम पादस्य गुल्फेतु पायुमानं निरोधयेत् ।
दक्षपादेन तद्गुल्फं सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ॥१८॥
शनैःशनैश्चालयेत्पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छनैः ।
जालंधरे धारयेत्प्राणं, महाबन्धोनिगद्यते ॥१९॥

बायें गुल्फ (एडी) से गुदा द्वार को रोक लेना और दहिने पैर से बायें को दाबते हुये धीरे २ गुह्य देश को चलावे और धीरे २ उसी गुह्य देश को सिकोड़े । और जालधर बन्ध जो कह आये हैं उसके द्वारा प्राण वायु को धारण करै । इसी को महाबन्ध कहते हैं ॥

महाबन्ध का फल ।

महाबन्धः परोबन्धो जरामरण नाशनः ।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत्सर्वं वांछितम् ॥२०॥

यह महाबन्ध नामकी मुद्रा सब मुद्राओंसे श्रेष्ठ है और जरा (बुढाई)

तथा मरण नाश करने वाली है । इस महाबन्ध के प्रसाद से सब प्रकार के वाञ्छित सधे जासक्ते है ॥

महावेध कथन ।

रूपयौवनलावण्यं नारीणांपुरुषंविना ।
मूलबंधमहाबंधौ महावेधंविनातथा ॥२१॥
महाबन्धं समासाद्य उड्डीनकुम्भकंचरेत् ।
महावेधःसमाख्यातो योगिनांसिद्धिदायकः ॥२२॥

जैसे पुरुष के विना नारियों का सुन्दर रूप, जवानी तथा लावण्य (लोनाई) निष्फल रहती है । वैसाही महावेध मुद्रा के विना मूल बन्ध तथा महाबन्ध भी किसी काम के नहीं रहते । पहिले महाबंध मुद्रा करै फिर उड्डीयान बन्ध (जो कह आये हैं) मुद्रा करके कुम्भक प्राणायाम से वायु को निरोध करनेही से महावेध मुद्रा कही जाती है । इसी महावेध के द्वारा योगी लोग सिद्धि लाभ किया करते हैं ॥

महावेध का फल ।

महाबन्धमूलबन्धौ महावेधसमन्वितौ ।
प्रत्यहंकुरुतेयस्तु सयोगीयोगवित्तमः ॥२३॥
नमृत्युतोभयंतस्य नजरातस्यविद्यते ।
गोपनीयःप्रयत्नेन वेधोयंयोगिपुंगवैः ॥२४॥

जो साधक प्रतिदिन इस महावेध के सहित महाबन्ध और मूलबंध का साधन किया करते हैं वेही योगियों में उत्तम योग विद्या के जानने

वाले कहे जासक्ते हैं । मृत्यु और बुढ़ाई उनको कभी नहीं दबाय सक्ती यह मुद्रा परम गोपनीय है योगियों में श्रेष्ट जन इसको हर किसी से नहीं कहते ॥

खेचरी मुद्रा ।

जिह्वाधोनाडींसंछिन्नां रसनांचालयेत्सदा ।
दोहयेन्नवनीतेन-लौहयंत्रेणकर्षयेत् ॥२५॥
एवंनित्यंसमभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतांव्रजेत् ।
यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तथागच्छतिखेचरी ॥२६॥
रसनांतालुमध्येतु शनैःशनैःप्रवेशयेत् ।
कपालकुहरेजिह्वा प्रविष्टाविपरीतगा ॥
भ्रुवोर्मध्येगतादृष्टि मुंद्राभवतिखेचरी ॥२७॥

जिह्वा के नीचे जिह्वामूल और जिह्वा इन दोनों को जो नाड़ी जोड़े रहती है उसको काट देवे और नित्यही जिह्वा के अग्र भाग जिह्वा के नीचे,सदा चलाया करे । और जीभ को नवनीत (मैनू) से दुहा करे और लोहे की जिह्वा लेखनी (चिमटा) द्वारा खींचा करे । इसी प्रकार प्रति-दिन करने से, जीभ लंबी हो जाती है । क्रम से अभ्यास करते २ जीभ को इस प्रकार लंबी करे जिससे कि वह दोनों भौहों के बीच तक पहुंच जावे । फिर उसी जीभ को क्रम से तलुवे के बीच ले जाना चाहिये । तालु प्रदेश मध्यस्थ गह्वर.(गड्ढा) को कपाल कुहर कहते हैं । जीभ को उसी कपाल कुहर में ऊपर की-ओर उलट के प्रवेशित कर के दोनों भौहों का मध्यस्थल अवलोकन करे. इसको खेचरी मुद्रा कहते हैं ॥

खेचरी मुद्रा का फल।

नचमूर्च्छा क्षुधातृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरा मृत्यु देवदेहः स जायते ॥२८॥

जो मनुष्य इस खेचरी मुद्रा का साधन किया करतेहैं उनको मूर्छा, क्षुधा, तृष्णा, कभी नहीं क्लेश दे सके, और न कभी आलस्य आवै, न रोग निकट आवै, और उनके समीप बुढ़ाई, वा मृत्यु कभी नहीं आ सकी, और वे देव देह हो जाते हैं। और भीः–

नाग्निना दह्यते गात्रं, न शोषयति मारुतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजंगमः ॥२९॥

जो खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते हैं, उनको अग्नि नहीं जलाय सकी, वायु उसको नहीं सुखाय सके। जल उसके शरीर को घुलाय नहीं सके। तथा उसको सर्प भी नहीं काट सके॥

विपरीतकरी मुद्रा।

नाभिमूले वसेत्सूर्य्य स्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृतं ग्रसतेसूर्य्य स्ततोमृत्यु वशीनरः ॥३०॥
ऊर्ध्वंच गमयेत्सूर्य्यं चन्द्रञ्च अध आनयेत्।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥३१॥
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः।
ऊर्ध्वपादः शिरोभूत्वा विपरीतकरीमता ॥३२॥

नाभि की जड़ में सूर्य्य (सूर्य्य नाड़ी) वास करते हैं और मुखके तलुये की जड़ में चन्द्रमा (चन्द्र नाड़ी) है जब नीचे से सूर्य्य अपने तेज के आकर्षण से देह स्थित अमृत को ग्रास कर लेते हैं, तब मनुष्य मृत्यु के वश हो जाता है ॥

इस लिये ऊपर की ओर सूर्य्य को उठाना चाहिये और नीचे की ओर चन्द्रमा को ले आना चाहिये । इसी का नाम विपरीतकरी मुद्रा है जो सब तन्त्रों में गुप्त रक्खी गई है ॥

इसकी क्रिया इस प्रकार है—भूमि में शिर को स्थापन करै और दोनों हाथों से भूमि थाम कर पैरों को ऊपर की ओर उठाय के सीधा खड़ा करै और पूरक प्राणायाम से वायु खींच कर कुम्भक के द्वारा जहां तक ठहरा जावे ठहरे । इसी को विपरीतकरी मुद्रा कहते हैं ॥

तात्पर्य्य—नाभि में एक नाड़ी ऐसी है जिसको जठराग्नि उत्तेजक कहते हैं अर्थात् हृदय के पास जो पित्तस्राव नाड़ीहै उससे बड़ा गरम २ पित्त थोड़ा २ बढ़कर उसी नाड़ी के द्वारा जा कर आमाशय के अन्न को पकाता है और वहां से अन्न रस निकल कर अन्न रस ग्राहक नाड़ी के द्वारा समस्त शरीर में पहुंचता है, परन्तु जब पित्त रस अधिक प्रवाहित हो कर उस नाड़ी में जाता है तब पित्त कोपित हुआ कहा जाता है अर्थात् पित्त की इतनी अधिकाई हो जाती है कि शरीर के समस्त रस को भस्म कर डालता है और अन्न रस की शक्ति को दूषित करके अनेक प्रकार की पैत्तिक व्याधियां उत्पन्न करता है, फिर उन व्याधियों से मनुष्य बहुत जल्द मर जाता है, इस क्रिया के निवारण के वास्ते यह विपरीतकरीमुद्रा कहाहै, यानी शिर नीचे करके ऊपरको ओर पैर उठाय के प्रति दिन घंटे दो घंटे जहां तक ठहर सके किया करै तो वह पित्त रस जो अधिकाई से नाभि की जड़ वाली नाड़ी में जाके विकार उत्पन्न किया करता है वह नहीं होवै, अर्थात् वह पित्त रस तरलीय पदार्थ है,

जल की गति नीचे को ओर है सो नीचे तालु नाड़ीको ओर आकर कफ की नाड़ी जिसे चन्द्र नाड़ी कहते हैं आकर मिलेगा तो क्लेद (खिखार) बनके दन्तधावन आदि क्रियाओं से निकल जाया करैगा, बस शरीर नीरोग रह कर दीर्घायु प्राप्त करैगा ॥

अक्सर जब पित्त कोप करता है तब नाभि के पास टटोलने से आग की तरह जलता है, मूत्र गरम और लाल होता है, तमाम बदन नीरस हो कर पीड़ा करता है, पैत्तिक ज्वर होने से दाह, (जलन) तृषा (प्यास) आदि तेजमय उपद्रव शरीर भर में हो जाते है योगीलोग इन सब उपद्रवों से साफ बचे रहते हैं ॥

विपरीतकरी मुद्रा का फल।

मुद्रेयं साधयेन्नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत्।
ससिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेपि न सीदति ॥३३॥

जो मनुष्य इस मुद्राको प्रतिदिन साधन करता है, वह जरा (बुढ़ाई) और मरण से बचा रहता है, फिर वह सब लोकों में सिद्ध हो जाता है और प्रलय होने पर भी अभय रहता है, नहीं मरता ॥

अथ योनि मुद्रा।

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखम्।
अंगुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्चसाधयेत् ॥३४॥
काकीभिः प्राणंसकृष्य अपाने योजयेत्ततः।
षट्चक्राणिक्रमाद्ध्यात्वा हुं, हंस., मनुनासुधीः॥३५॥
चैतन्य मानयेद्देवी निद्रिताया भुजंगिनी।

जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य करांबुजे ॥३६॥
शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परंशिवेन संगमम् ।
नानासुखं विहारं च, चिन्तयेत्परमं सुखम् ॥३७॥
शिवशक्तिसमायोगा देकान्तं भुविभावयेत् ।
आनन्दंचस्वयंभूत्वा अहंब्रह्मेति सम्भवेत् ॥३८॥
योनिमुद्रा परागोप्या देवानामपि दुर्लभा ।
सकृत्तुलाभ संसिद्धिः समाधिस्थः स एवहि ॥३९॥

प्रथम सिद्धासन (जो पहिले कह आयेहै) से बैठे, फिर कान, आंख, नाक, मुंह ये चार द्वारों को अँगूठे,.तर्जनी, मध्यमा, अनामिका इन अँगुलियों से ढांप ले । अर्थात् कान के दोनों छेदों को दोनों अँगूठों से, दोनों आंखों को दोनों तर्जनी से, दोनों नाक के छेदों को दोनों मध्यमा से, मुख को दोनों अनामिका से दाबै । फिर काकी मुद्रा से प्राण वायु को आकर्षण करै और फिर उसे अपान वायु (अधोवायु) में मिलाय दे, उसके बाद शरीरस्थ जो छः चक्रहैं उनका ध्यान करै अर्थात् यह कल्पना करै मानों हम उन्हें देख रहे हैं उसी समय में "हुं" और "हंसः" इन दो मंत्रों के द्वारा भुजंगिनी रूप कुण्डलिनी देवी को जगावै । तथा जीवात्मा सहित उस कुण्डलिनी को सहस्रार कमल में उठाय के ले जावे, और॰यह साधक इस प्रकार चिन्ता करै मानो "मैं शक्तिमय होकर शिव के साथ प्रसंग में आसक्त होते हुये परम आनन्द भोग और बिहार करता हूं तथा शिव शक्ति के संयोग से महां आनन्द मय ब्रह्म हूं" इसी को योनि मुद्रा कहते हैं, यह मुद्रा परम गोपनीय है यह देवतों को भी दुर्लभ है इस मुद्रा को एक बार भी कोई साधन करै तो साधनेवाला पुरुष सिद्ध हो जाता है, इसके द्वारा बहुत ही जल्द समाधि प्राप्त होसक्ती है ॥

तात्पर्य यह कि—मनुष्य जिस वस्तु का अभ्यास जी लगा कर करे वही वस्तु उसके मनोवृत्ति में दृढ बद्ध हो जाती है. यदि मनुष्य रात दिन दुःख की कथा, दुःख की वार्ता, दुःख की आलोचना दुःख की चिन्ता करता रहे तो वह दुःख उसके तन मन में विन्धा रहता है. परतु यदि मनुष्य निरंतर सुख की ओर मन को लगाये रहे तो उस के समीप सदाही सुख रूपवान सा बना रहता है. इसीलिये योगी लोग दुःख की जगह भी सुखही ध्यान किया करते हैं । योग शस्त्र का यह सिद्ध न्त है कि सुख दुःख समान मानना, परतु यह बात बिना अभ्यास नहीं हो सकी, घेरंड महाराज ने सब मुद्राओं को शारीरक दुःख निवृत्ति के लिये कहा है परन्तु इसको मानसिक दुःख निवृत्ति के लिये बताया है । अभ्यास करते २ जब इस प्रकार की शक्ति हो जावे कि चित्त वृत्ति जिस में लगावे उसीमें चुभी रहे अन्यत्र न टलैं तो समाधि सिद्ध हो गई । बस सब से बढ़ कर चित्त वृत्ति निरोध के अभ्यास को बढ़ाने वाली यह योनि मुद्रा है ॥

शिव संहिता आदि ग्रन्थों में इस योनि मुद्रा को दूसरे प्रकार से कहा है परंतु वह इस घेरंड महाराज की दर्शाई हुई योनि मुद्रा के तुल्य शीघ्र फलदायक नहीं है । वहां इस प्रकार लिखा है—प्रथम मन को पूरक योग से अपने मूलाधार पद्म में वायु के सहित पूरण करै बाद योनिस्थान (गुदा और लिंग के बीच के स्थान को योनि स्थान कहते हैं) को पैरो से सिकोड़ कर भगाकार बनावे । उसी समय में उस ब्रह्मयोनि में कामदेव का ध्यान करै, वह कामदेव लाल पुष्प की तरह लाल वर्ण कोटि सूर्य की तरह तेज, कोटि चन्द्रमाकी भाति शीतल है यह भी चिन्ता करै. फिर ऊपर परमाशक्ति को भी इसी प्रकार ध्यान करै कि मानों वे शक्ति अग्नि शिखा की तरह, सूक्ष्म रूप, चैतन्य मात्र हैं और वे परमात्मा के सहित एकत्र हो मिली हैं । इस प्रकार ध्यान करना होगा फिर प्राणायाम के बल से स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन प्रकार के सब-

चक्रों से युक्त जीवात्मा कुंडलिनी शक्ति के सहित सुषुम्ना के छेद हो के ब्रह्म मार्ग में जाता है । शिर के मध्य में जो नीचे मुख कमल है उसकी कर्णिका के भीतर कुण्डलिनी शक्ति परमात्मा के साथ सङ्गम में आसक्त हो रही है उसके संगम से पाटल वर्ण (कुछ सफेदी लिये पीला) तेजवान् आनन्द मय अमृत की धारा बहती है । जीवात्मा योग बल से मूलाधार के ऊपर हो के उठ कर उसी बहते हुये अमृत को पान करता है । इसी प्रकार फिर आप नीचे की तरफ निकल के मूलाधारमें स्थित ब्रह्मयोनि में आकर प्रवेश करै । इसी प्रकार साधक जीवात्मा को ब्रह्मयोनि में निकाल पैठार रूपी प्राणायाम की मात्रा युक्त करै । इसी प्रकार प्राणायाम तीन बार करना चाहिये । मूलाधार पद्म में ब्रह्मयोनि में प्राप्त कुण्डलिनी परमात्मा की प्राण रूपिणी हो रही हैं । इसी प्रकार निकाल पैठार के बाद फिर भी वही जीवात्मा कालाग्नि आदि शिवात्मक ब्रह्म योनि में लय प्राप्त होता है, इसी प्रकार चिन्ता करै । इसी को योनि मुद्रा कहते हैं । यह मुद्रा जितनी मुद्रा हैं सब में प्रधान है । इस के प्रभाव से साधक समस्त कर्म अच्छी तरह से सिद्ध कर सक्ता है । इन सब बातों का गूढ़ तात्पर्य यह है कि श्वास के रोकने के सहित मानसिक वृत्ति को जिस तरफ लगाइये उसी तरफ वह लग कर उसी प्रकार का सुख दुःख अनुभव करेगा । आप अपने मन को यदि पूरी तौर से इस कल्पना में लगावें कि हम नर्क कुण्ड में डुबोये जा रहे हैं, हमें लोहे के तप्त खंभे में कोई चिपकाय रहा है तो वही दुःख साक्षात् होगा, यदि इन्द्रासन पर बैठे देव लोक की साम्राज भोग रहे हैं ऐसी कल्पना कीजियेगा तो वही सुख प्राप्त होगा । इसी निमित्त मानसिक स्थिति के अभ्यास के लिये हठ योग को घेरंड महाराज ने उत्तम समझ कर ऐसी ऐसी क्रियायें सिद्ध की हैं ॥

योनिमुद्रा का फल।

ब्रह्महा भ्रूणहा चैव सुरापी गुरुतल्पगः।
एतैः पापैर्न लिप्येत योनिमुद्रा निबन्धनात् ॥४०॥
यानिपापानिघोराणि, उपपापानि यानिच।
तानिसर्वाणिनश्यन्ति योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥४१॥
तस्मादभ्यसनं कुर्य्या द्यदि मुक्तिंसमिच्छति।

जो जन योनिमुद्रा साधन करतेहै,वे,यदि ब्रह्मघात भी कर चुकेहों या बाल घात कर चुके हो अथवा सुरा पान करते २ पिआतक हो गये हों, या गुरुपत्नी के साथ पापाचरण कर चुके हों तो भी इनके महापापो से लिप्त नहीं होते॥

और भी जो २ बड़े २ भयानक महा पाप हैं, या जितने उपपाप हैं वे भी सब इस योनिमुद्रा के निबन्धन से नष्ट हो जातेहैं, इसमे यदि कोई मुक्ति की इच्छा करै तो वह योनिमुद्रा का अभ्यास जरूर करै॥

तात्पर्य्य—ब्रह्मघात आदि पाप से छूटने का जहां कहीं फल आता है वहां अक्सर लोग शङ्का कर बैठते हैं कि यह तो और भी पाप का बढ़ाना ठहरा यानी रोजर पाप करो और रोजर योनिमुद्रा आदि कर्म साधन करो तो कभी पाप नहीं लगैगा,'बस मानो पाप करने के लिये एक अभय मार्ग ठहराया गया। विवेचना—दोनों ऊपरके श्लोक में लिखा है कि 'एतैः पापैर्नलिप्येत" अर्थात् इन पापो से लिप्त न हो। सो लिप्त होने का क्या तात्पर्य्य है? लिप्त कहते हैं जो कि रात दिन उमीमें मन वच कर्म से लिपटा रहै, अर्थात् लगा रहै, परन्तु जो शख्स योनि मुद्रा का अभ्यास करैगा वह कदाचित् ब्रह्म हत्या गुरु पत्नी

प्रसङ्ग आदि पापों में लिप्त अर्थात् मन वच कर्म से रात दिन लगा भी हो तो इस आनन्द की क्रिया में लगने से फिर उसको उधर के पापों के करने की फुरसत नहीं रह जावेगी। आप जानते हैं कि एक तुच्छ बात चौपड़ शतरंज का खेल है जिसमें कोई भी फल नहीं परन्तु जब मनुष्य का चित्त उधर लग जाता है तो रोटी खाना तक नहीं अच्छा लगता और यहां तक देखा गया है कि शाम से खेलने बैठे और सवेरा होगया, सूर्य्य उदय हो आये, निद्रा का सुख भस्मीभूत कर, प्रिय समागम में तिलाञ्जलि दे पौ-बारा-छह छकड़ी-कर रहे हैं, तो यदि योग की क्रिया में मन लग जावे तो कहिये फिर यह लिप्तता जोकि दिन रात भयानक पापों की ओर तुरङ्ग के समान दौड़ता हुआ मन विश्राम नहीं पाता था क्यों कर रह सक्ता है? अर्थात् योनिमुद्रा के अद्भुत सुख की साधना से ये सब भूल जावेंगे और यह मूढ़ चित्त उन सब महा पापों से तथा उप पापों से अनायास बच कर विशुद्धता लाभ करेगा, इसीसे श्लोक में एक पद लिखा है कि "योनिमुद्रा निबन्धनात्" अर्थात् योनिमुद्रा साधन के बन्धन से। तात्पर्य्य यह कि योनिमुद्रा का साधन उसको बान्धे रहेगा कि सो प्रकार उक्त महा पातक तथा उप पातकों के निकट नहीं जानेपावेगा, इससे यह सिद्ध भया कि फल के लिखने वाले घेरण्ड महाराज ने मिथ्या नहीं लिखा, जो भक्त साधन करेगा वह अवश्य सब पापों से मुक्त हो सिद्धि भाव को प्राप्त होगा, अन्त में मुक्ति लाभ करेगा। घेरण्ड जी ने साफ लिखा है कि जो मुक्ति की इच्छा करैं अर्थात् यदि चाहै कि हम सब पापों से छूटैं वेही इस मुद्रा का अभ्यास करैं, तात्पर्य्य यह कि दूसरे से नहीं हो सकेगा।

वज्रोणीमुद्रा।

धरामवष्टभ्यकरयोस्तलाभ्यां ऊर्द्ध्वं क्षिपेत्पादयुगंशिरःखे।
शक्तिप्रबोधायचिरजीवनाय वज्रोणिमुद्रांमुनयोवदन्ति ४२

दोनों हाथों की गदोरी से धरातल को पकड़ के दोनों पावों को ऊपर उठाय दे और उधर शिर भी आकाश में उठाय दे केवल हाथ के बल खड़ारहै, इसीको मुनिलोग वज्रोणीमुद्रा कहते हैं, इसके अभ्यास से शरीर की शक्ति (ताकत) बढ़ती है और बहुत दिन तक जी सक्ता है ॥

वज्रोणीमुद्रा का बिशेष फल ।

अयंयोगोयोगश्रेष्ठो योगिनांमुक्तिकारणम् ।
अयंहितप्रदोयोगो योगिनांसिद्धिदायकः ॥४३॥
एतद्योगप्रसादेन विन्दुसिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
सिद्धेविन्दौमहायत्ने किंनसिध्यतिभूतले ॥४४॥
भोगेनमहतायुक्तो यदिमुद्रांसमाचरेत् ।
तथापिसकलासिद्धि स्तस्यभवतिनिश्चितम् ॥४५॥

यह मुद्रा साधन रूप योग सब योगों से श्रेष्ठ है और योगियों के मुक्ति का कारण है, फिर यह योग अत्यन्त हित का देनेवाला है, तथा योगियों को सब प्रकार सिद्धि दायक है ॥

इसी योग के प्रसाद से बिन्दु की सिद्धि हो जाती है अर्थात् इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर रक्षित कामदेव किसी प्रकार बूंदों के द्वारा नहीं झर सक्ता (रक्षित कामदेव भी मूत्र के सग, वा स्वप्नादि दोष से कभी झर जाता है वह इसके अभ्यास से बँधा रहता है) जब इस प्रकार के महा यत्न से बिन्दु सिद्ध हो जाता है अर्थात् शरीर में कामदेव बँध जाता है तब भूतल में कौनसी बात है जो सिद्ध न हो जावे ? अर्थात् सब सिद्धि प्राप्त हो सक्ती है क्योंकि कामदेव ही शरीर का राजा है। जब शरीर में कान्ति आ जावेगी तब उसको देख कर लोगों का चित्त

आकर्षित होगा, स्नेह के स्थान पर स्नेह, भय के स्थान पर भय, मनोरथ के स्थान पर मनोरथ सिद्धि जान कर लोग वशीभूत हो जायेंगे ॥

समस्त बड़े २ भोगों से युक्त पुरुष भी यदि इस मुद्रा का अभ्यास करे तो सब प्रकार की सिद्धियां निश्चय करके उसको प्राप्त होती हैं। अर्थात् धनधान्य कुटुम्बादि नाना विभव रहते महात्मापन उसमें नहीं आ सक्ता, वह भी बहुत सी बातों की आकांक्षा से महा दरिद्र साधु सन्त फकीर वगैरा के मुंह की ओर ताका करता है, सो इसके साधन से यह बात न होकर इसकी ओर भी बड़े २ विभव धारी ताका करेंगे ॥

शक्तिचालनी मुद्रा।

मूलाधारेआत्मशक्तिः कुण्डलीपरदेवता।
शयिताभुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ॥४६॥
यावत्सानिद्रितादेहे तावज्जीवःपशुर्यथा।
ज्ञानंनजायतेतावत् कोटियोगंसमभ्यसेत् ॥४७॥

मूलाधार में आत्म शक्ति (परमात्मा की ताकत) सब से परे देवता कुण्डलिनी (जिसका बयान पीछे कर आये हैं) सर्प की तरह साढ़े तीन लपेटे की गुंडरी बांधे सो रही है ॥

जब तक वह देह में सोती रहती है तब तक जीव पशु की तरह अज्ञान बना रहता है, सत् असत् कुछ भी नहीं जान पड़ता। तब तक चाहे कोटि प्रकार योगाभ्यास करो कभी सच्चा ज्ञान नहीं होगा। अर्थात् जैसे पशु को भी घास छोड़ कंकड़ पत्थर के न खानेमें विचार रहता है वही पर इतना ही मात्र रहता है, किन्तु उसके ऊपर ४ मन बोझेकी जगह ८ मन लाद दो तो पहिले वह उसको मालुम नहीं पड़ेगा कि यह बोझा मेरी

पीठ पर आने से कष्ट दायक होगा इससे लादनेवाले को दसारो से रोक सके बल्कि लाद देने पर जब नहीं चल सकेगा तब बैठ जावेगा, मार खायगा, नाना प्रकार की दुर्दशा भोगैगा । उधर लादनेवाला भी बिना उसकी गहनाई की वेदना जान उसको गरिआर समझ के मारते २ एक बार ऐसा मारा कि वह पशु मर गया, अन्तमें उधर पशु अपनी अज्ञानता से दुःख पाय प्राण त्याग किया । इधर वह लादने वाला मनुष्य भी अपने काम काजी पशु से हाथ धो बैठा, जिसकी हानि किया और ऊपर से पशु हत्या का भागी हो लोकमें निन्दित हुआ इत्यादि रीतिसे दोनो अर्थात् पशु और मनुष्य बराबर ज्ञानवाले ठहरे विचार शक्ति किसी में नहीं आई । यह सब विवेक जब तक कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है कभी नहीं होता, यदि वह जगी रहती है तो चहे योगाभ्यास करे चहे नहीं, चहे कर दिखाने की शक्ति रहे चहे नहीं, पर यह सत् यह असत् ऐसा विज्ञान तो उसके हृदय में अवश्य निरन्तर प्रज्वलित रहता है ॥

उद्घाटयेत्कपाटञ्च यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्याप्रबोधेन ब्रह्मद्वारंप्रबोधयेत् ॥४८॥

इसी निमित्त कहा है कि जैसे ताले से बन्द किवाड़ को कुञ्जी से पट पट उघारके भीतर पैठा जाताहै इसी प्रकार कुण्डलिनीके जागने पर ब्रह्म द्वार अर्थात् मस्तिष्क (मगज) प्रभेद किया जा सक्ता है अर्थात् चैतन्य किया जा सक्ता है कि जिस्से सत् असत् का ज्ञान हो जावे ॥

शक्तिचालिनी मुद्रा की विधि ।

नाभिंसंवेष्टयवस्त्रेण नचनग्नोवहिस्थितः ।
गोपनीयगृहेस्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥४९॥

एक वस्त्र के द्वारा नाभि देश को लपेटके किसी गुप्त गृह में बैठकर

शक्ति चालनी मुद्रा का अभ्यास करै, किन्तु नग्न होके बहिर्भाग में इस योग का साधन करना उचित नहीं है । अर्थात् यह योग नग्न हो के गुप्त स्थान में करना चाहिये ॥

वितस्तिप्रमितंदीर्घं विस्तारेचतुरंगुलं ।
मृदुलंधवलंसूक्ष्मं वेष्ठनाम्बरलक्षणम् ॥५०॥
एवमम्बरयुक्तञ्च कटिसूत्रेणयोजयेत् ।

एक बिलस्त लम्बा और चार अंगुल चौड़ा कोमल और महीन सुफेद वस्त्र से नाभि को वेष्ठन करै (लपेटै) और फिर उसी वस्त्र को कटि सूत्र (करधनी) से बांधे ॥

भस्मनागात्रसंलिप्तं सिद्धासनंसमाचरेत् ।
नासाभ्यांप्राणमाकृष्य ह्यपानेयोजयेद्बलात् ॥५१॥
तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया ।
यावद्गच्छेत्सुषुम्नायां वायुःप्रकाशयेद्धठात् ॥५२॥

भस्म (राख) से शरीर को लेपन करै और सिद्धासन बांध कर बैठै, फिर नासिका के दोनो छेदों से प्राण वायु को खींच के बल के सहित अपान वायु के साथ मिलाय दे, जब तक वायु सुषुम्ना नाड़ी के भीतर जाके प्रकाशित न हो तब तक अश्विनी मुद्रा के द्वारा धीरे २ गुह्य प्रदेश को सिकोड़े ॥

तदावायुप्रबन्धेन कुम्भिकाचभुजङ्गिनी ।
बद्धश्वासस्ततोभूत्वा ऊर्द्ध्वमार्गंप्रपद्यते ॥५३॥

इसी प्रकार निश्वास को रोक के कुंभक प्राणायाम धारण करै तो

भुजङ्गाकार कुण्डलिनी शक्ति जाग के ऊपर की ओर उठती है। अर्थात् सहस्र दल कमल में परमात्मा के सहित मिल जाती है॥

विनाशक्ते श्चालनेन योनिमुद्रा न सिद्धयति।
आदौचालनमस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत् ॥८४॥

बिना शक्ति चालिनी मुद्रा के अभ्यास किये योनि मुद्रा कभी सिद्ध नहीं हो सक्ती इसें प्रथम इस शक्ति चालिनी मुद्रा का अभ्यास कर ले तब योनि मुद्रा अभ्यास करे॥

इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम्।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिनेदिने समभ्यसेत् ॥८५॥

घेरण्ड महाराज कहतेहैं कि हे चण्डकापालि। तुम्हारे निकट यह मुद्रा मैंने कही जिसका नाम शक्तिचालिनी है, यह मुद्रा यत्न से दिन २ अभ्यास करना चाहिये और यह अभ्यास करना गुप्त भाव से रहै सहसा प्रसिद्ध न होने पावे॥

शक्तिचालिनीमुद्रा का फल।

मुद्रेयं परमागोप्या जरामरण नाशिनी।
तस्मादभ्यसनंकुर्य्याद्योगिभिःसिद्धिकांक्षिभिः ॥५६॥

यह मुद्रा परम गोप्य है (इसकी क्रिया गुप्त करनी चाहिये) इसके द्वारा बुढ़ाई और मृत्यु दोनों नष्ट हो जाती है, इसीसे सिद्धि के चाहने वाले योगियों को इसका अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

नित्यंयोभ्यसतेयोगी सिद्धिस्तस्यकरेस्थिताः।
तस्यविग्रहसिद्धिस्याद्रोगाणां संक्षयोभवेत् ॥५७॥

जो योगी इस मुद्रा को प्रतिदिन अभ्यास करता है उसके हाथ में सिद्धि आ जाती है अर्थात् वह पूरा सिद्ध हो जाता है, और उसी को विग्रह सिद्धि होती है (विग्रह सिद्धि वह है जिसमें विशेष ग्रहण की शक्ति होती है अर्थात् कोई कार्य्य करे झटपट पूरा हो जायगा) और उसके रोगराशि नष्ट हो जाते हैं ॥

तड़ागी मुद्रा ।

उदरंपश्चिमोत्तानं कृत्वाचतड़ागाकृतिः ।
तड़ागीसा परामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥५८॥

पश्चिमोत्तान अर्थात् उत्तान होकर पड़े और पेट को तड़ाग (तलाब) की तरह गहिरा करे और कुंभक प्राणायाम करे इसी को तड़ागी मुद्रा कहते हैं । यह मुद्रा एक प्रधान गिनी जाती है, इसके द्वारा बुढ़ाई और मृत्यु जीती जा सक्ती है ॥

मांडूकी मुद्रा ।

मुखंसम्मुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ।
शनैर्ग्रसेदमृतं तन्मांडूकी मुद्रिकां विदुः ॥५९॥

मुंह को मूंद ले और जिह्वा के मूल को तलुवे के ऊपर की ओर चलावे और धीरे २ सहस्र दल कमल निर्गत अमृत पान करे । इसी को मांडूकीमुद्रा कहते है ॥

मांडूकीमुद्रा का फल ।

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम् ।
नकेशी जायतेपाको यः कुर्यान्नित्यमांडुकीं ॥६०॥

मांडूकी मुद्रा का नित्य अभ्यास जो कोई करे उसके शरीरमें वलित (चमड़े की सिकुड़न) पलित (मांस गलकर हड्डी मात्र का रहना) ये दो शरीर के शिथिल करनेवाले आयु के नाशक आगम नहीं आ सक्ते और निरइही युवावस्था सी बनी रहती है, तथा शिर के बाल भी नहीं पकते॥

शांभवी मुद्रा।

नेत्रांजनंसमालोक्य आत्मारामंनिरीक्षयेत्।
साभवेच्छांभवीमुद्रा सर्वतंत्रेषुगोपिता ॥६१॥

दोनों भौंहों के बीच में वा दोनों भौंहों कोही स्थिर दृष्टि से अव लोकन करके और मन को एक रस करके वही आत्मा राम (परमात्मा) को देखै (मानों सच्चिदानन्द वही बैठे हैं) इसी को शांभवी मुद्रा कहते हैं, यह सब तन्त्रों में गुप्त मानी गई है॥

शांभवी मुद्रा का फल

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिकाइव।
इयन्तुशांभवीमुद्रा गुप्ताकुलवधूरिव ॥६२॥

४ वेद, ६ शास्त्र (न्यायादि तथा धर्मशास्त्र) १८ पुराण ये सब जैसे गणिका (वेश्या) लोग सब जगह प्रसिद्ध रहती हैं, किसी से गुप्त नहीं रहतीं वैसेही सामान्य वस्तु हैं, परन्तु यह शांभवी मुद्रा जैसे कुल वधू बड़ी यत्न से सहसा किसी की दृष्टि में नहीं पड़तीं वैसे ही जानिये॥

सएवआदिनाथश्च सचनारायणःस्वयं।
सचब्रह्मासृष्टिकारी योमुद्रांवेत्तिशांभवीं ॥६३॥

जो मनुष्य इस शांभवी मुद्रा को जानता है वह आदिनाथ (सबका प्रथम स्वामी) है वही नारायण (जीव समूह की शक्ति) है, और वही जग रचने वाला ब्रह्मा भी है ॥

सत्यं सत्यं पुनस्सत्यं सत्यमूचेमहेश्वरः ।
शांभवांयोविजानीयात् सचब्रह्मनचान्यथा ॥६४॥

जो मनुष्य इस शांभवी मुद्रा को जानता है वही मूर्तिमान ब्रह्म है, इस बात को महादेव जी तीन बार (त्रिवाचा) करके सत्य कहते हैं इसमें संशय नहीं है ॥

पंचधारणा मुद्रा ।

कथिताशांभवीमुद्रा शृणुष्वपंचधारणां ।
धारणानिसमासाद्य किंनसिद्ध्यतिभूतले ॥६५॥

घेरण्ड महाराज कहतेहैं शांभवी मुद्रा तो कह आये अब हे चण्डकापालि ! तुम पञ्चधारणा मुद्रा सुनो यह पञ्चधारणा मुद्रा भी पांच प्रकार की है जिन पांचोंके प्राप्त होने पर फिर भूतलमें कौन ऐसी बात है जो सिद्ध न हो ? अर्थात् सब कुछ सिद्ध हो जाता है ॥

अनेननरदेहेन स्वर्गेषुगमनागमम् ।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वंनचान्यथा ॥६६॥

ये पांच प्रकार की धारणा मुद्रा सिद्ध होने पर इसी नरदेहमें (बिना मरे; जीते जी) स्वर्गलोक में आना जाना हो सक्ता है, और उस साधन करनेवालों की मनोगति (जहे जहां चाहे जाय) हो सक्ती है, तथा खेचरत्व (आकाश में उड़ने की शक्ति) प्राप्त हो जाती है (पांच प्रकार

की धारणा पहिले कह आये हैं, जैसे-पार्थिवी १, आम्भसी २, वायवी ३, आग्नेयी ४, आकाशी ५,)

पार्थिवीधारणा मुद्रा।

यत्तत्त्वंहरितालदेशरचितं भौमंलकारान्वितं।
वेशास्त्रंकमलासनेनसहितं कृत्वाहृदिस्थायिनं॥
प्राणांस्तत्रविनीयपंचघटिकां चिंतान्वितांधारये।
देपाशाम्भकरीभवेत्क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा॥६७॥

पृथिवी तत्व का वर्ण हरिताल के समान पीला है, इस पृथिवीतत्व का बीज लकार है, इसका आकार चौकोना बराबर है, ब्रह्मा इसके देवता हैं, योग के प्रभाव से उक्त सब वस्तुओं के सहित हृदय में ध्यान कर स्थायी करै, उसी समय में प्राणवायु को आकर्षण करके कुंभक के द्वारा पांच घड़ी (दो घंटे) चित्त न डुगने पावै धारण किये रहै, इसी स्तंभकरी (श्वास ठहरानेवाली) क्रिया को पार्थिवी धारणा कहते हैं, इसका दूसरा नाम अधोधारणा भी है, इसके धारण करनेसे अर्थात् अभ्यास करने से पृथिवी जीती जा सक्ती है, अर्थात् पृथिवी सम्बन्धी कोई भी बाधा हो तो इसके धारक को कुछ भी विघ्न नहीं कर सक्ती॥

पार्थिवीधारणामुद्रा का फल।

पार्थिवींधारणांमुद्रा यःकरोतीनित्यशः।
मृत्युंजयःस्वयंसोपि ससिद्धोविचरेद्भुवि॥६८॥

जो मनुष्य प्रतिदिन (रोज २) इस पार्थिवीधारणा मुद्रा को करता है वही निज मृत्युञ्जय हो जाता है, अर्थात् कभी नहीं मरता, और वही सिद्ध हो के पृथिवी में विचरण करता है॥

आम्भसीधारणामुद्रा ।

शंखेन्दुप्रतिमञ्चकुन्दधवलं तत्वंकिलालंशुभं ।
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तंसदाविष्णुना ॥
प्राणांस्तत्रविनीयपंचघटिकां चित्तान्वितोधारये ।
देषादुःसहतापपापहरिणी स्यादाम्भसीधारणा॥६९॥

जल तत्व का वर्ण शंख तथा चन्द्रमा की तुल्य विमल और कुन्द पुष्प की तरह उज्ज्वल है, और शोभन है, इसकी अमृत संज्ञा है और वकार इसका बीज है, और विष्णु इसके देवता हैं, योग के प्रभाव से हृदय के बीच उक्त जल तत्व के समुदाय का ध्यान करै और उसी समय प्राणवायु को खींच कर पांच घड़ी चित्त स्थिर करके कुंभक प्राणायाम में स्थिर रहै, इसीको आम्भसी धारण मुद्रा कहतेहैं, यही मुद्रा बड़े २ दुःसह तापों को तथा पापों को नाश करती है ॥

आम्भसीमुद्रा का फल ।

आम्भसीपरमांमुद्रां योजानातिसयोगवित् ।
जलेचगंभीरेघोरे मरणंतस्यनोभवेत् ॥७०॥

जो साधक इस आम्भसी मुद्रा को जानता है वही योगवित् (योग का जाननेवाला) है, यह यदि महा भयानक और गंभीर (गहिरे) जल में भी यह जावे तो उसका मरण नहीं हो सक्ता, अर्थात् उसके साधन के प्रभाव से वह डूब नहीं सक्ता ॥

इयंतुपरमामुद्रा गोपनीयाप्रयत्नतः ।
प्रकाशात्सिद्धिहानिः स्यात्सत्यंवच्मिचतत्वतः ॥७१॥

यही शांभवी मुद्रा परम श्रेष्ठ है और यह यत्न के सहित गुप्त करने योग्य है, इसके प्रकाश से सिद्धि की हानि होती है, घेरण्डजी कहते हैं यह मैं खूब विचार करके सत्य कहता हूं॥

तात्पर्य यह कि यदि इसको करनेवाला सब जगह कहै कि हम इस प्रकार की क्रिया करते हैं तो बहुत से लोग इस के करने की अभिलाषा करके उसके पास आवेंगे जिस्से उसके चित्त की एकाग्रता में विघ्न डालेंगे इससे गुप्त रीति से साधन करने पर कोई भी बाधा नहीं पहुंच सकैगी और क्रम से अभ्यास बढ़ जावेगा, परन्तु जो नितान्त दृढ़ हो इस को सीखा चाहै उसके लिये गुप्त नहीं हो सक्ती, यही तात्पर्य घेरण्ड महाराज का है॥

आग्नेयी मुद्रा।

यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं,बीजंत्रिकोणान्वितम्।
तत्वंतेज मयं प्रदीप्त मरुणं, रुद्रेण यत्सिद्धिदम्॥
प्राणांस्तत्र विनीयपंचघटिकां, चित्तान्वितंधारये।
देषाकाल भगोरभीति हरिणी, वैश्वानरीधारणा॥७२॥

अग्नि तत्व का स्थान नाभी स्थल है, इसका वर्ण इन्द्रगोप कीट (बीरबहूटी) की तरह लाल है, रकार इसका बीज है, इसका आकार त्रिकोण और रुद्र इसके देवता हैं, यह तत्व तेज का पुञ्ज है यह दीप्तमान (प्रकाश करने वाला) और सिद्धि दायक है, योग बल से इस अग्नि तत्व को उदय कराय के एकाग्र चित्त हो पांच घड़ी तक कुम्भक प्राणायाम से प्राण वायु को धारण करे। इसीका नाम आग्नेयीधारणा मुद्रा है, इसके अभ्यास करने से संसार का भय दूर हो जाता है, और अग्नि के द्वारा साधक की मृत्यु कभी नहीं हो सक्ती॥

आग्नेयी धारणा मुद्रा का फल ।

प्रदीप्ते ज्वलितेवन्हौ पतितो यदि साधकः ।
एतन्मुद्रा प्रसादेन सजीवति न मृत्युभाक् ॥७३॥

यदि साधक खूब बरती हुई धकधकाती आग में पड़ जावे तोभी इस आग्नेयीधारणा मुद्रा के प्रसाद से जीता रहेगा, कभी मृत्यु का भागी नहीं होगा ।

वायवीधारणा मुद्रा ।

यद्भिन्नांजनपुंज सन्निभमिदं, धूम्रावभासंपरम् ।
तत्वंसत्यमयं यकारसहितं, यत्रेश्वरी देवता ॥
प्राणांस्तत्रविनीयपंचघटिकां चित्तान्वितांधारये।
देषाखेगमनंकरोतियमिनां, स्याद्वायवीधारणा ॥७४॥

वायु तत्व का वर्ण घिसा हुआ अञ्जन (सुर्मा) तथा धुवें की तरह है, यकार इसका बीज है और ईश्वर इसके देवता हैं, यह तत्व सत्व-गुण मय है, योग के प्रभाव से इस वायु तत्व को उदित कराय के एकाग्र चित्त हो प्राण वायु को आकर्षण कर कुम्भक प्राणायाम के द्वार पांच घड़ी धारण करै, इसी का नाम वायवी मुद्रा है, यह मुद्रा साधन करने वालेको वायु से कभी मृत्यु नहीं हो सक्ती, और साधक की शक्ति आकाश मार्ग जाने की भी हो जाती है ।

वायवीधारणा मुद्रा का फल ।

इयन्तु परमा मुद्रा जरा मृत्यु विनाशिनी ।
वायुनाम्रियते नापि खे च गति प्रदायिनी ॥७५॥

यह मुद्रा परम श्रेष्ठ जरा (बुढ़ाई) और मरण इन दोनों को नष्ट कर डालती है और साधक वायु के किसी प्रकार के कोप से नहीं मर सक्ता, और यह मुद्रा आकाश गमन की शक्ति को भी देनेवाली है ॥

सठायभक्तिहीनाय नदेयायस्यकस्यचित् ।
दत्तेचसिद्धिहानिः स्यात्सत्यंवच्मिचण्डते ॥७६॥

घेरण्ड जी कहते हैं कि हे चण्डकापालि ! इस मुद्रा की विधि सठ (जो लोगों को ठगने के लिये चाहे) को और भक्ति हीन (जो चाहे कि सिर्फ जान कर आचरण न करैं, लोगों को धोखा दे सिद्धाई फैलावैं) को कभी नहीं बताना चाहिये, और भी जिस तिस को कभी नहीं देना चाहिये, यदि दे तो देने वाले की सिद्धि में हानि होती है, अर्थात् उन सठ आदि की कलई खुलने पर यथार्थ सिद्ध को भी लोग सठ आदि समझ कर बाधा डाला करते हैं, घेरण्ड जी प्रतिज्ञा करते हैं कि हम यह तुम से सत्य कहते हैं ॥

आकाशी धारणा मुद्रा ।

यत्सिन्धौवरशुद्धवारिसदृशं व्योमंपरंभासितं ।
तत्त्वंदेवसदाशिवेनसहितं बीजंहकारान्वितं ॥
प्राणांस्तत्रविनीयपंचघटिकां चित्तान्वितांधारये,।
देषामोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणा ॥७७॥

आकाशतत्व का वर्ण समुद्र के विशुद्ध जल की तरह प्रकाशित होता है, सदाशिव इसके देवता हैं, हकार इसका बीज है, इसी आकाश तत्व को सदाशिव के सहित योग प्रभाव से उदित कर एकाग्र मन हो ध्यान करै और उसी समय प्राण वायु को खींच कर कुम्भक प्राणायम से पांच

रही धारण किये रहै, इसी को आकाशी धारण कहते हैं, यह मुद्रा मोक्ष के किवाड़ों को खोल देती है, अर्थात् साधक शीघ्र मुक्ति हो जाता है॥

आकाशी धारण मुद्रा का फल।

आकाशीधारणांमुद्रां योवेत्तिसैवयोगवित्।
नमृत्युजीयतेतस्य प्रलयेनावसीदति ॥७८॥

जो मनुष्य आकाशी मुद्रा को जानता है वही निश्चय योग का जाननेवाला है, उसकी मृत्यु भी किसी से नहीं होती और वह प्रलय होनेपर भी ज्यों का त्यों बना रहता है॥

ये पंच धारण मुद्रा समाप्त हुई।

अश्विनी मुद्रा।

आकुंचयेद्गुद्वारं प्रकाशयेत्पुनःपुनः।
साभवेदश्विनींमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥७९॥

साधक फिर २ अपने गुह्य द्वार को सिकोड़े और फैलावे इसी का नाम अश्विनी मुद्रा है, यह मुद्रा शक्ति (ताकत) को जगाने वाली है॥

अश्वनी मुद्रा का फल।

अश्विनीपरमामुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी।
बलपुष्टिकरीचैव अकालमरणंहरेत् ॥८०॥

यह श्रेष्ठ अश्विनी मुद्रा गुदा के जितने रोग हैं सबको नष्ट करती बल और पुष्टि का बढ़ाती और अकाल मृत्यु को भी हरलेती है॥

पाशिनी मुद्रा।

कण्ठे पृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवं दृढ़ बन्धने।
साएव पाशिनीमुद्रा शक्तिप्रबोध कारिणी॥८१॥

दोनों पांव कण्ठ (गरदन) की पीठमें डाल कर जैसे पाश (रस्से) से बांधा जाता है वैसाही दृढ़ (मजबूती से) बांधे, यही पाशिनी मुद्रा कही जाती है, यह भी शक्ति (ताकत) जगाने वाली है॥

पाशिनी मुद्रा का फल।

पाशिनी महतीमुद्रा बल पुष्टि विधायिनी।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः॥८२॥

यह पाशिनी एक बड़ी भारी मुद्रा है, यह बल और पुष्टि देनेवाली बढ़ानेवाली है, सिद्धि के चाहनेवाले साधक लोग इसको अवश्य बड़े यत्न से साधन करें॥

काकी मुद्रा।

काक चंचुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।
काकी मुद्रा भवेदेषा सर्व रोग विनाशिनी॥८३॥

अपने मुख को कौवे की होट की तरह बनायके धीरे २ वायु पान करे इसी का नाम काकी मुद्रा है। यह सब प्रकार के रोगों को नष्ट करता है॥

काकीमुद्रा परामुद्रा सर्व तन्त्रेषु गोपिता।
अस्याः प्रसाद मात्रेण काकवन्नीरोगी भवेत्॥८४॥

यह काकी मुद्रा बहुत उत्तम है और सब तन्त्रों में गोपनीयहै, इस के प्रसाद मात्र से मनुष्य काक की तरह रोग रहित हो जाता है ॥

मातङ्गिनीमुद्रा ।

कण्ठमग्नेजलेस्थित्वा नासाभ्यांजलमाहरेत् ।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत् ॥८४॥
नासाभ्यां रेचयेत्पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः ।
मातङ्गिनी परामुद्रा जरा मृत्यु विनाशिनी ॥८५॥

गला पर्य्यन्त जल में खड़ा हो कर पहिले नाक से जल को खींचके मुख से गिराय दे, फिर मुख से भी जल को खींच के पीछे नाक के दोनो छेदो से बहाय दे, इसी प्रकार बार २ खींचे और फेंके, इसी का नाम मातङ्गिनी मुद्रा है । यह मुद्रा जरा (बुढ़ाई) और मृत्यु को नष्ट कर डालती है ॥

मातङ्गिनी मुद्रा का फल ।

विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्र मानसः ।
कुर्यान्मातङ्गिनी मुद्रां मातङ्गइव जायते ॥८६॥

साधक निर्जन स्थानमें स्थित हो एकाग्र चित्त करके इस मातङ्गिनी मुद्रा को साधे तो मातङ्ग (हाथी) की तरह बली हो जावे ॥

यत्रयत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्त मश्नुते ।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन साधये न्मुद्रिकां परां ॥८७॥

इस मुद्राके साधन करनेवाला योगी जहा जहां स्थित रहैगा, वहीं

वही अत्यन्त सुख का भोगी होगा, इस लिये सब तरह से प्रयत्न करके इस श्रेष्ठ मुद्रा का साधन करना चाहिये ॥

भुजंगिनी मुद्रा।

वक्त्रंकिञ्चित्सुप्रसार्य्य चानिलंगलयापिवेत्।
साभवेद्भुजगीमुद्रा-जरामृत्युविनाशिनी॥८८॥

मुंह को किञ्चित् (थोड़ा सा) फैलाय के गले के द्वारा वायु पानकरै (गला में वायु को धक्का जोर से लगै) इसी को भुजङ्गिनी मुद्रा कहते हैं। यह जरा (बुढ़ाई) को नष्ट करती है॥

भुजंगिनी मुद्रा का फल।

यावच्चउदरेरोगमजीर्णादिविशेषतः।
तत्सर्वंनाशयेदाशु यत्रमुद्राभुजंगिनी॥९९॥

उदर (पेट) में जितने रोग हों विशेषकर अजीर्ण हो तो इन सभों को बहुत जल्द यह भुजङ्गिनी मुद्रा नष्ट कर डालती है। तात्पर्य यह कि जहां कहीं ऐसा मौका आनपड़े कि कोई दवा नहीं, कोई वैद्य नहीं, वा किसी प्रकार की क्षमता नहीं कि पेट की पीड़ा आदि रोग नष्ट हों और दुःख बड़ा भारी हो रहा है वहां इस मुद्रा के करने से अवश्य तुरंत सब रोग नष्ट हो जाते हैं, यह मुद्रा बहुत सहज है, जिसने कभी अभ्यास भी नहीं किया वह भी सावधान होके करै तो फायदा बहुत करता है॥

अब समस्त मुद्राओं का फल कहते हैं।

इदन्तुमुद्रापटलं कथितंचंडकपाले।
वल्लभंसर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम्॥९०॥

घेरण्ड मुनि जी कहते हैं कि हे चण्डकपालि ! मैंने तुम्हारे निकट यह मुद्रा पटल (मुद्राओं की गिनती और विधि आदि) कहा यह पटल समस्त सिद्धों का प्रिय है और जरामरण को नष्ट करनेवाला है ॥

सठायभक्तिहीनाय नदेयंयस्यकस्यचित् ।
गोपनीयंप्रयत्नेन दुर्लभंमरुतामपि ॥९१॥

जो शठ हो और भक्तिहीन हो उसको ये सब मुद्रा कभी नहीं देना चाहिये, और जिस तिस को भी देना उचित नहीं है इसको यत्न से गुप्त रखना चाहिये, ये सब मुद्रा देवतों को भी दुर्लभ हैं ॥

ऋजुवेशांतचित्ताय गुरुभक्तिपरायच ।
कुलीनायप्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम् ॥९२॥

ये सर्व मुद्रा भोग और मुक्ति दोनों देनेवाली हैं इससे ऐसे विचार से लोगों को बताना चाहिये जोकि ऋजु (कोमल सुभाव) हों, जो शान्त चित्त (चञ्चलता रहित) हों जो गुरुभक्ति पर (उपदेष्टा के वचन को मानने वाले) हों, और जो कुलीन (जिनको अपने नामी पुरखों की बदनामी के डरसे उनकी उत्तम लीक पर चले जाने में दृढता हो) उन्हीं को देना चाहिये । तात्पर्य यह कि कोमल चित्त नहीं है और सिद्ध हो गया तो सिवाय संसार को कष्ट देने के और कुछ भी उत्तम कार्य नहीं करेगा यदि चञ्चल हुआ तो उसको इन आसन मुद्रादि से सिद्धिही नहीं प्राप्त होगी, यदि उपदेष्टा के वचन को न मानने वाला हुआ तो भी क्रिया उटपटाग करने से कुछ भी सिद्धि हासिल नहीं होगी, और यदि अपने नामी पुरुखो की बदनामी को नहीं डरैगा तो वह बड़े २ भयानक अत्याचार करके अपनाही प्रयोजन देखेगा ऐसे २ लोगों को इस योग विद्या का यह सारा उलटा फलदायक होता है अर्थात् भोग वस्तु की

क्रिया से ग्रहण करेंगे परन्तु मुक्ति जो परम पुरुषार्थ है उसको नहीं प्राप्त कर सकेंगे, इसी निमित्त सब जगह "नदातव्य नदातव्य" कहा है ॥

मुद्राणां पटलंह्येतत्सर्व व्याधि विनाशनम् ।
नित्यमभ्यास शीलस्य, जठराग्निविवर्द्धनम् ॥९३॥

यह मुद्रा पटल सब व्याधि को नष्ट करनेवाला है, और जो नित्य अभ्यास करता है उसके जठर की अग्नि खूब बढ़ाती है ॥

तस्य नोजायतेमृत्यु नास्य जरादिकं तथा ।
नाग्निजल भयंतस्य वायोरपि कुतोभयम् ॥९४॥

जो मनुष्य मुद्रा साधन करते हैं उनको न मृत्यु न बुढ़ाई, आदि, न आग, न पानी, न वायु यह सब कभी नहीं भय पहुंचाय सके हैं ॥

कासःश्वासःप्लीहकुष्ठं श्लेष्मरोगाश्चविंशतिः।
मुद्राणां साधनाच्चैव, विनश्यन्ति न संशयः ॥९५॥

मुद्रा साधन करने से, कास (खांसी) श्वास (दमा) प्लीहा (तिल्ली) कुष्ट (कोढ़) तथा बीस प्रकारके श्लेष्मा (कफ के) रोग नष्ट हो जाते हैं ॥

बहुनाकिमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्डते ।
नास्तिमुद्रासमंकिञ्चित् सिद्धिदंक्षितिमण्डले ॥९६॥

घेरण्ड महाराज कहते हैं, हे चण्डकपालि। तुम्हारे निकट बहुत कहने से क्या है, किन्तु सार बात मैं कहता हूं कि इस भूमण्डलमें मुद्रा के समान कोई भी वस्तु सिद्ध देने वाली नहीं है ॥

इति घेरण्डसंहितायां घेरण्ड चण्डकपालि सम्वादे घटस्थयोग प्रकरणे मुद्रा प्रयोगो नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

गुणवद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ॥ २८॥

अपानः कर्षति प्राणः प्राणोऽपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ॥ २९॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलीकृता ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति ॥ ३० ॥

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मारुता हता ।
प्रजीवगुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ३१ ॥

महामुद्रां नमोमुद्रामुड्डियानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ३२॥

वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा
हस्ताभ्यामवधारितं प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्धा शनै रेचयेद्
एषा पातकनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥ ३३॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३४॥

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेरुड्डियानं प्रचक्षते ।
उड्डियानजयो बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ३५॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ३६॥

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो निगद्यते ॥ ३७॥

यतः कालभयात् ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणं निबन्धयेत् ॥ ३८॥

चले वाते चलं सर्वं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥ ३९॥

षट्त्रिंशदङ्गुलं हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामदक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते ॥ ४०॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ ४१॥

प्राणो देहस्थितो वायुरायामस्तन्निबन्धनम् ।
एकश्वासमयी मात्रा तद्योगो गगनायते ॥ ४२॥

Scanned by CamScanner

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा स्मृता ॥ ५६॥

महामुद्रां नमोमुद्रामुड्डियानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ५७॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥ ५८॥

वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामवधारितं प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचयेद्
एषा पातकनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥ ५९॥

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्याङ्गेनाभ्यसेत् पुनः ।
यावत् तुल्या भवेत्सङ्ख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६०॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि मुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यते ॥ ६१॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ ६२॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ।

गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ६३॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ६४॥

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ६५॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ६६॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ६७॥

बिन्दुमूलं शरीरं तु शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीरं या आपादतलमस्तकम् ॥ ६८॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥ ६९॥

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावत्कालभयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ ७०॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥ ७१॥

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरं शुक्रमित्याहुर्लोहितं तु महाराजः ॥ ७२॥

Scanned by CamScanner

सिन्दूरद्रवसङ्काशं रविस्थाने स्थितं रजः ।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥ ७३॥

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुमिन्दू रजो रविः ।
उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ७४॥

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु महारजः ।
बिन्दुनैति सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ॥ ७५॥

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम् ।
तयोः समरसैकत्वं योजानाति स योगवित् ॥ ७६॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तव बन्धोऽभिधीयते ॥ ७७॥

उदरात्पश्चिमे भागे ह्यधो नाभेर्निगद्यते ।
उड्डीयानस्य बन्धोऽयं तत्र बन्धो विधीयते ॥ ७८॥

बध्नाति हि सिराजालमधोगामि शिरोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७९॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
पीयूषं न पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ८०॥

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥ ८१॥

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ८२॥

Scanned by CamScanner

।।षष्ठः पटलः।।

[15a] ईश्वर उवाच––

धारणां संप्रवक्ष्यामि येन दोषक्षयो भवेत् ।
प्राणायामं द्विषट्कन्तु (?) धारणा योगः उच्यते ।।१।।

धारणा त्रिविधा देवि तां श्रुणुश्च (श्रुणुष्व) यथाविधिः ।
आदौ प्राणं (प्राणान्) समागृह्य धारयेद् वायुधारणाम् ।।२।।

वायुधारणादाध्वस्तमहापातकशं(स)ञ्चयः ।
आग्नेयीं धारणां ध्यायेत् सर्वदोषापनुत्तये ।।३।।

अग्निमारुतसंयोगाद् वारुणाकर्मयोगतः ।
संसिद्धियोगिनो देहे चिह्नमे (चिह्नमे)तत् प्रदृश्यते ।।४।।

चल (?) वर्णप्रसादं च स्वरलाघवसौष्टक (°सौष्ठवम्) ।
आरोग्यं शीघ्रगामित्वम् अरोगत्वं च जायते ।।५।।

एवं सिद्धस्तनुर्योगी क्षुत्पिपासाविघातनीम् ।
धारयेद् वारणां भूयः अमृताख्यां महेश्वरि ।।६।।

मूर्द्धादिपादपर्यन्तं प्लावये(द)मृतां शुचि ।
संभृत्य चिन्तयेज् जीवे-अमृतप्रशनेन (°प्रथनेन) तु ।।७।।

देहं चामृतसम्पूर्णं तत् तृप्तिपरिमोदितम् ।
भावयेदनिशं योगी जरामरणशान्तये ।।८।।

दिव्यामृतमहाध्यानधारणापूतविग्रहः ।
क्षत (क्षुत्) पिपासामहानिद्राजरारोगैर्विमुच्यते ।।९।।

षण्मासं धारयेद् यस्तु दिव्यामम‍ृतधारणाम् ।
बलीपलितनिर्मुक्तः स योयो (योगी) योगभा(क्) भवेत् ।।१०।।

सिध्यन्ति सर्वकार्याणि वाञ्छितानि महेश्वरि ।
तत् धारणान्महेशानि दृश्यन्ते योगसिद्धयः ।।११।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन धारणायोगमाचरेत् ।
शनैर्धारणया सिद्धिः धारणां च समुत्क्रमेत् ।।१२।।

प्राणायामैः दहेद् दोषं धारणाभिश्च किश्विषं (किल्बिषम्) ।
सर्वैन्द्रियवशीकारः प्रत्याहारेण जायते ।।१३।।

[15b]
देवि शिरणा (शिरसा) योगं यद्धि कुर्याद् दिने दिने ।
मद्दासः सिद्धिमापन्नः तदाशक्तो (तदासक्तो) परिव्रजेत् ।।१४।।

धारणायां च सिद्धायां योगीनो यच्चेतसः ।
विघ्नार्थमभिवर्तन्ते गुह्यकाः कलिकामुकाः ।।१५।।

तस्मात् तेषां वलिं दद्यात् अभीच्छन् सिद्धिमात्मनः ।
अन्यथा वर्त्तमानस्य विघ्नं कुर्वन्ति दारुणा ।।१६।।

रोगैर्बहुविधैर्देवि समसा (तमसा)निद्रा तत्त्वथ (तत् तथा) ।
प्रतिबन्धैश्च विविधैरविश्वासैश्च जृम्भणैः ।।१७।।

तस्मात् तेषां बलिं दद्यात् यथावन् नियतात्मवान् ।
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वा बलिं हरेत् ।।१८।।

अर्धरात्रे विशेषेण तद् यथा श्रृणु पार्वति ।
एकान्ते विजने देशे कृत्वा (कृत्वा) मण्डलमुत्तमम् ।।१९।।

ऐं व्यापक मं कलाय (मण्डलाय) ऐम् इत्थं सकृदर्चयेत् ।
चतुरस्रं महेशानि मण्डलं जस्तुमाक्षतैः (कुसुमाक्षतैः) ।।२०।।

तत्र मण्डलमाधाय साधारं पात्रमुत्तमम् ।
अर्घ्यान्नं पूर्णसलिलं सपुष्पं साक्षतं गृहे ।।२१।।

बलिं दद्याच(च्च) मन्त्रेण तर्ज्जन्या संप्रदर्शयन् ।
सर्वभूतेभ्य इत्यन्ते हं कारं सम्यगुच्चरेत् ।।२२।।

स्वार्हं तोयं महामन्त्रः तारपञ्चकसंपुटः ।
सर्वविघ्नविघातार्थं ईरितः परमेश्वरि ।।२३।।

सर्वस्यादिति भूतांश्च भूतानांश्च तर्पयेत् ।
दक्षिणे सकलान्यक्षात् यक्षकन्याश्च तर्पयेत् ।।२४।।

पश्चिमे राक्षसान् देवि तथा राक्षसयोषितः ।
उत्तरे क्षेत्रपालाश्च तत्कन्याश्च प्रतर्पयेत् ।।२५।।

[16a]
ऊर्ध्वायां दिशि देवांश्च देवकन्याश्च तर्पयेत् ।
अधस्ताद् दिशिनागांश्च नागकन्यांश्च तर्पयेत् ।।२६।।

मध्ये चराचरगुरुमांश्च भुवने सहः (सह) ।
भैरवान् योगिनीक्षेत्रनायकान् गणनानपि (गणकानपि) ।।२७।।

तर्पयेतांश्च भूताद्यै भावयेदपि विष्टियं (व्यष्टितान्) ।
तत्परामृतसंतृप्तां भावयेत् सचराचरम् ।।२८।।

अनेन बलिना तृप्ताः योगिनः सिद्धिमुत्तमाम् ।
विशन्ति भूतनाथास्ते चान्यथा विघ्नयन्ति च ।।२९।।

अनेन वाञ्छिता तृप्ताः योगिनं योगसाधकम् ।
रक्षयन्ति महेशानि विघ्नमुत्सादयन्ति च
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन बलिं दद्याद् विचक्षणाः ।।३०।।
न दान (दानै) यज्ञैर्न तपोभिरुग्रै (ग्रै?)
न चोपवासैर्नियमैः कदाचित् ।
संसिध्य देवि शिशु(?) योगमार्गं
विना गुरुं तत्फलदानदक्षम् ।। ३१

।। इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां षष्ठः पटलः ।।

।।चतुर्दशः पटलः।।

[38a] ईश्वर उवाच —

अथ देवि प्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरीसंहिताम् ।
यथा विज्ञायते (अ)भ्यासात् लोके (ऽ)स्मिन्नजरामरः ।।१।।

मृत्यु-व्याधिजराग्रस्तं दृष्टं विश्वमिदं प्रिये ।
वुद्धि (बुद्धिं) दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समाश्रयेत् ।।२।।

जरामृत्युगदघ्नीयां खेचरीं वेत्ति भूतले ।
ग्रन्थतश्चार्थतश्चापि तक्षया (तत् क्षयः) सप्रयोगतः ।।३।।

तं देवि सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत् ।
दुर्लभा(म्) खेचरी(म्) विद्या(म्) तदभ्यासं च दुर्लभम् ।।४।।

अभ्यासमेलनं चैव युगपन्नैव सिध्यति ।
अभ्यासमात्रविरतो न विन्देतेह मेलकम् ।।५।।

अभ्यासाल्लभते देवि जन्मजन्मान्तरे क्वचित् ।
मेलने भुजगानां च जन्मान्ते तु न लभ्यते ।।६।।

अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा सद्भावसाधितम् ।
मेलके लभते देवि योगी जन्मान्तरे क्वचित् ।।७।।

तदा (यदा) तन्मेलकं कर्म तदा शिवत्वमाप्नोति (आप्नुयात्) ।
विमुक्तिः (विमुक्तिं) संसृतिवृत्तात् लभते परमेश्वरि ।
तदा तत् सिद्धिमाप्नोति तदुक्तं शास्त्रसंततौ ।।८।।

ग्रन्थतश्चार्थ(त)श्चैव लभते मेलकं तदा ।
तदा शिवत्वमाप्नोति विमुक्तः संसृतिवृत्तात् ।।९।।

[39a] शास्त्रं विना समारोढुं गुरवो(ऽ)पि न शक्नुयुः ।
तस्मात् सदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं प्रिये ।।१०।।

यावन् न लभते (लभ्यते) ग्रन्थस्तावद गां पर्यटेदिमाम् ।
यदा स लभते (लभ्यते) देवि तदा सिद्धि करे स्थिता ।।११।।

न शास्त्रेण विना सिद्धि रटतो(ऽ)पि जगत् त्रये ।
तस्मान् मेलकदातारं शास्त्रदातारमीश्वरि ।।१२।।

तदभ्यासप्रदातारं शिव(म्) मत्वा सदा जपेत ।
तन्त्राश्च बहवो देवि मया प्रोक्ता (:) सुरार्चिते ।।१३।।

न तेषु खेचरीसिद्धिराख्याता मृत्युनाशिनी ।
महाकालं च मार्तण्डं विवेकाद्यं (?) च शाभरं
(शांबरम् ?)।।१४।।

विशुद्धेशरसंज्ञं (?) च तथा वै जालशं (योगिनीजालं) वरम् ।
एतेषु तन्त्रवर्येषु तदभ्यासप्रकाशितम् ।।१५।।

क्वचित् स्पृष्टं तथास्पृष्टं क्वचित् तं मेलकादिकम्।
अस्मिन् तन्त्रे वरे दिव्ये मेलकादि प्रकाशितम् ।।१६।।

यदज्ञेयं भवेत् किञ्चि(द्) दुर्ज्ञेयं खेचरीमते ।
ततः सम्यगिहास्माभिस्तव देवि प्रकाशितम् ।।१७।।

तस्माच्छास्त्रं प्रलभ्येत् मयोक्तमिदमद्भुतम् ।
गोपनीयं सुगुप्तत्वा(न्) न सर्वत्र प्रकाशितम् ।।१८।।

मन्मुखाम्बुरुहाज् जातं यस्तु शास्त्रामृतं वदेत् ।
स एव हि गुरुः सत्यमर्थतो वेत्ति यः पुनः ।।१९।।

स चाधिकसमाख्यातो न गुरुस्तेन चाधिकः।
लब्ध्वा शास्त्रमिह (शास्त्रमिदं) गुह्यं अन्येषां न प्रकाशयेत् ।।२०।।

सुविचार्य प्रवक्तव्यमेकमार्गोपजीविना ।
षट्पदं परसं (परमं) शास्त्रं यथा तथा प्रकाशयेत् ।।२१।।

स शीघ्रं भक्ष्यते देवि योगिनीभिः शिवाज्ञया ।
ग्रन्थिर्नोद्ग्रन्थयेदस्य विना कौलिकतर्पणात् ।।२२।।

पूजितं सुभवस्त्रस्यं (सुमनस्त्रक्षं) दिव्यधूपसुधूपितम् ।
श्रावणेद् (श्रावयेद्) विजने स्थाने योगिने योगशालिने ।।२३।।

यस्मिन् (न) पूजितं शास्त्रं इदं तिष्ठति विग्रहे ।
तत्राग्निरुद्वहारात्रिपीडा भवति निश्चितम् ।।२४।।

यत्रेमं (यत्रेदं) पूजितं ग्रन्थं गृहे तिष्ठति पार्वति ।
तत्र सर्वार्थदायिन्यौ (° दायिन्यः) वसन्ति कुलदेवताः ।।२५।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता ।
यो(ऽ)स्मिन् योगी मयोक्तानि संसिद्धानि समीहते ।।२६।।

स योगी सर्वभावेन गोपये(त्) पुस्तकं त्विदम् ।
अहं तस्तु (तत्र तु) गुरु देवि यशस्ते (यत्रास्ते)
पुस्तकं स्वयम् ।। २७।।

गुणा(न्) श्रृणु महेशानि पुस्तकस्य च रक्षणे ।
प्रकटं च मया प्रोक्तं इदानीं खेचरीं श्रृणु ।।२८।।

यत्रास्ते च गुरुर्देवि दिव्ययोगप्रसाधकः ।
तत्र गत्वा च तेनोक्तां विद्यां संगृह्य खेचरीम् ।।२९।।

तेनोक्ता सम्यगभ्यासं कुर्याद् आदावतन्द्रितः ।
विद्यां च खेचरीं देवि प्रवक्षे (प्रवक्ष्ये) योगसिद्धिदाम् ।।३०।।

न तया रहितो योगी खेचरीं सिद्धिभाग् भवेत् ।
खेचयों (खेचर्या) खेचरीं युञ्जन् खेचरीबीजं पूर्वया ।।३१।।

खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत् ।
खेचरावमथं वह्निरह्नि (°रवि) मण्डलभूपितम् ।।३२।।

व्याख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिद्ध्यति ।
मस्तकाख्यो महाचण्डाशिविवह्निक् वज्रमृत् (??) ।।३३।।

पूर्वं बीजयुता विद्या व्याख्याता ह्यतिदुर्लभा ।
षडङ्गविद्यां वक्ष्यामि तथा षट्स्वरभिन्नया ।।३४।।

कुर्याद् देवि यथान्यासं सर्वविद्यामिहेतवे (° विद्यासिहेतवे) ।
[40a) सोमेशान् नवमं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ।।३५।।

तस्यास्त्रिंशकमाख्यातम् अक्षरं चन्द्ररूपकम् ।
तस्मादप्यष्टकं वर्णं विलोमेन् वरं (?) प्रिये ।।३६।।

तथा तत्त्वं च मे देवि तदादिरपि पञ्चमम् ।
इन्द्रो(ऽ)पि बिन्दुसंभिन्नं कूटो(ऽ)यं परिकीर्तितम् ।।३७।।

गुरूपदेशलभ्यं सर्वयोगप्रसिद्धिदम् ।
यत्तस्य देवजा माया विरुपा कारणाश्रया ।।३८।।

स्वप्नो(ऽ)पि न भवेत् तस्य नित्यं द्वादशजाप्यतः ।
यं (यः) इमां पञ्चलक्षाणि जपेद् सुनियंत्रितम् ।।३९।।

तस्मात् श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्त्तते ।
नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदति च देवता ।।४०।।

वलीपलीत (वलिपलित) नाशश्च भविष्यति न संशयः ।
एवं लब्ध्वा महाविद्याभभ्यासं कारयेत्ततः ।।४१।।

अन्यथा क्लिश्यतो देवि न सिद्धिः खेचरीपदे ।
यदभ्यासविधौ देवि लभेद् यश्च सुधामयम् ।।४२।।

ततः संमेलकादौ च लब्ध्वां विद्यां समुज्ञयेत ।
नानया सहितो देवि न क्वचित् सिद्धिभाग्भवेत् ।।४३।।

यदिदं लभ्यते शास्त्रं तदा विद्यां समाश्रयेत् ।
ततस्तन्त्रोदितां सिद्धिमाशु शलनते (संलभते) प्रिये ।।४४।।

तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित् ।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ।।४५।।

स्नुहीयंत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोगमात्रं समुच्छिनत्ते ।।४६।।

छित्त्वा (?) सैन्धवं पश्चायाभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोगमात्रं समुच्छिनत्ते ।।४७।।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्योयुक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद् रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ।।४८।।

अथ वागीश्वरीधाम शिरोवस्त्रेण वेष्टितम् ।
शनैरुत्कर्षयेद् योगी कालवेलाविधानवित् ।।४९।।

पुनः षण्मासमात्रेण नित्यसघंषर्णात् प्रिये ।
भ्रूमध्यावधि चा भेति (?) तिर्यग् वर्णाविलावधि ।।५०।।

अधस्वा (अधस्तात्) चिबुकं मूलं प्रयाति क्रमकारितम्।
पुनः संवत्सराणां तु त्रितये देवि लीलया ।।५१।।

केशान्तमूर्ध्वक्रमतिर्यक् तरवावधि (?) प्रिये ।
अधस्तात् कण्ठकूपान्त पुनर्वर्षत्रयेण तु।।५२।।

ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठति अमरवन्दिते ।
तिर्यक चूलीतले अधः कण्ठविलावधि (?) ।।५३।।

शनैः शनै मस्तकाद्य महावस्त्रं कपाटधृक् (?)।
पूर्वबीजयुता विद्याप्यरव्याता याति दुर्लभा ।।५४।।

तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तथा षट् द्वारभिन्नया ।
कुर्याद् देवि यथान्यायं सर्वं सिद्ध्याप्तिहेतवे ।।५५।।

शनैः शनैः प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन् नहि।
युगपद् यश्चरेद् अस्य शरीरं विलयं व्रजेत् ।।५६।।

तस्या शनैः शनैः कार्यमभ्यासं वरवर्णिनि।
यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मविलं व्रजेत ।।५७।।

तदा ब्रह्मार्गलं देवि दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
अंगुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वा मंत्रं निवेशयेत् ।।५८।।

एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविशति ।
ब्रह्मद्वारं प्रविष्टे तु सम्यक् मन्थनमारभेत् ।।५९।।

मन्थनेन विना केचित् साधयन्ति विपश्चितः ।
खेचरीमंत्रसिद्धस्य सिद्धयते मन्थनं विना ।।६०।।

[41a] जपं च मन्थनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत्।
स्वर्णजां रोप्यजां वापि लौहजां वा शलाकिकाम्।।६१।।

नियोज्य नासिकारन्ध्रे दृढस्निन्धेन तन्तुना ।
प्राणान् निरुध्य हृदये दृढमासनमास्थितः ।।६२।।

शनैः समन्थनं कुर्यात् भ्रूमध्ये न्यस्य च चक्षुंषी ।
षण्मा(स)मन्थनावस्था तावतैव प्रजायते ।।६३।।

सम्यक् संरुध्य जीवस्य योगतस्तन्मयात्मनः ।
यथा सुषुप्ति वलिना (?) यथाभावस्तथा भवेत्।।६४।।

न सदा मन्थनं (प्र)शस्तं मासि मासि (मासे मासे) समाचरेत् ।
सदा रसनया देवि मार्गं तु परिसंक्रमेत।।६५।।

एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धि (संसिद्धः) परमेश्वरि ।
शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्माविभेदतः ।।६६।।

व्रह्माण्डे यत् महामार्गं राजदन्तोर्ध्वमंडले ।
भ्रूमध्ये तं विजानीयात् भ्रुकुटं सिद्धिसेवितम् ।।६७।।

चणकाङ्कुरसंकाशं तत्र संयोजयेन्मनः ।
लिहेत् रसनायातं तु स्रवन्तं परमामृतम् ।।६८।।

शनैरभ्यासमार्गस्य (° मार्गेण) चतुवर्षं पिबेत् प्रिये ।
वलीपलितनाशश्च संसिद्धि (:) परमा भवेत् ।।६६।।

सर्वशास्त्रार्थवेत्ता च जीवेद् वर्षसहस्रकम् ।
कन्याविलमहीपादरसवादादि सिद्धयः ।।७०।।

योगिनः संप्रवर्त्तन्ते पञ्चवर्षेण पार्वति ।
सम्यग् रसनया योगी स्रवन्तममृतोदकम् ।।७१।।

पीत्वा पीत्वा विशेत् व्रतस्यो द्वादशात्मकम् ।
अनेनाभ्यासयोगेन वलीपलितवर्जितः ।।७२।।

वज्रकायो महायोगी वर्षलक्षं प्रजीवति ।
दशनागसहस्राणां बलेन सहितः प्रिये ।।७३।।

स दूरदर्शनः चैव दूरश्रवणमेव च ।
निग्रहानुग्रहे शक्तिः सर्वत्र बलवान् भवेत् ।।७४।।

एतद्याः सिद्धयो देवि भ्रूमध्ये संभवन्ति हि।
आकाशे रसनां कृत्वा दन्तपक्तिं न पीड्येत् ।।७५।।

काकचञ्चुपुटं वक्त्रं कृत्वा तदमृतं पिवेत् ।
भानुवत्सरतः सत्यं जरामरणवर्जितम् ।।७६।।

खेचरत्वमवाप्नोति जीवत्या चन्द्रतारकम्।
पादुका - खड्ग - वतोलः (वेताल?) सिद्धिद्रव्यमनःशिला ।।७७।।

अंजनं विचरश्चैव खेटकं यक्षिणी तथा ।
यत्किञ्चित्सिद्धम(न्यच्च) विद्याते (विद्यते) भुवनत्रये ।।७८।।

तत्सर्वमेव सहसा साधयेत् साधकोत्तमः ।।७६।।

।।इति मत्स्येन्द्रसंहितायां चतुर्दशः पटलः।।

।।पञ्चदशः पटलः।।

[41b] ईश्वर उवाच —

यत्र ब्रह्मार्गलं द्वारं दुर्विज्ञेयं महेश्वरि ।
कला चतुर्कूव (चतुष्कं ?) तत्रस्थं चतुर्वक्त्रात्मकं परम् ।।१।।

पूर्वभागे कृता नाम गुप्ता दक्षिणगोचरा ।
शिवा पश्चिमदिवभागे परापरसिवोत्तरे (° शिवोत्तरे) ।।२।।

तद् द्वारं रसनाग्रेण भित्त्वा पूर्वकलामृतम् ।
यदा पिबति वै योगी मासार्धेनाधिपो भवेत् ।।३।।

यदा गुप्तामृतं दक्षे योगी रसनया लिहेत् ।
मासादेव न सन्देह (:) साक्षाद् अर्थेश्वरोभवेत् ।।४।।

तत् पश्चिमकलाजातं शुद्धं पिबति जिह्वया ।
यदा तदा महायोगी मासात् कामेश्वरो भवेत् ।।५।।

उत्त(र)स्थकलाजातममृतं प्रपिबेद् यदा ।
तदासौ पारमेष्ठिनामाधिपत्यम् अवाप्नुयात् ।।६।।

तदूर्ध्वं मण्डले लीने ब्रह्मरन्ध्रे परामृतम् ।
यदा तदासौ पिबति जीवन्मुक्तः शिवो भवेत् ।।७।।

मासे मासे विधिं यदा द्वादशाष्टं (?) समाचरेत् ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तः सर्वज्ञगुणपूरितः ।।८।।

[42a] जायते शिववद् योगी लोके(ऽ)स्मिन्नजरामरः ।
चतुष्ककलामृतं द्वापि पीत्वा पीत्वा महेश्वरि ।।९।।

ब्रह्मस्थाने तथा जिह्वां स नियोज्यामृतं पिबेत् ।
सुस्वादु शीतलं हृद्यं क्षीरवर्णमफेलिनम् (?)।।१०।।

मासमात्रप्रयोगेण जायते शिववत् स्वयम् ।
द्विमासे सर्वशास्त्रार्थं सम्यग् जानाति पार्वति ।।११।।

स्वतन्त्रः शिववन् मासत्रये भवति वै शिवे ।
चतुर्मासे महेशानि सर्वज्ञत्वं प्रवर्तते ।।१२।।

पञ्चमासे महासिद्धिस्त्रैलोक्यमपि पश्यति ।
षण्मासे परमानन्दं गुणसद्भावपूजितः ।।१३।।

जायते नात्र सन्देहो जीवन्मुक्तः परावरे ।
सप्तमासे महाभूतपिशाचोरगराक्षसैः ।। १४।।

स ह संवर्त्तते नित्यं स्वेच्छया हृष्टमानसः ।
अष्टमे मासपर्याये देवैः सम्मेलनं भवेत् ।। १५।।

नवमे मास्यदृष्टत्वं सूक्ष्मत्वं चैव जायते ।
दशमे कामरूपत्वं सर्वलोकप्रकाशना ।। १६ ।।

एकादशे त्रिकालज्ञः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ।
जायते शिववद् देवि सत्यमेतन्मयोदितम् ।। १७ ।।

यत्र तुलीतलां प्रोक्तं केदारं प्राहुरीश्वरि ।
तत्र सौमकलाश्चाष्टौ विरव्याता वीरवन्दिते ।। १८ ।।

Verse 19 missing

अमृता प्रथमा देवि द्वितीया मानदाह्वया ।
पूषा तुष्टिश्च ....रतिश्चैव धृतिस्तथा ।। २० ।।

शंखिनी चाष्टमी सर्वाः परामृतमहार्णवाः ।
तद् धामाभिमुखी जिह्वां यदा योगी करोति च ।। २१ ।।

अष्टधा स्रवते तत्र तदा तुहिनसन्ततिः ।
तदा स्रवनसंयोगात् कलेवरनादक्षयः ।। २२ ।।

[42b] अष्टभिर्मासपर्यायैः खेचरत्वं प्रजायते ।
भ्रूमध्यं नाम यद्धाम (?)तत् प्रोक्तं सोममण्डलम् ।। २३ ।।

कलाचतुष्कं तत्रोक्तं परमामृतनिकेतनम् ।
चंकिकाख्या (?) च कान्तिश्च ज्योत्स्नाश्रीश्चेति नामतः ।। २४।।

तत्र जिह्वां समावेश्य पीत्वा पीत्वा समाविशेत् ।
देवि मासचतुष्केण जायते निरुद्रवः ।। २५।।

वज्रकायो भवेत् सत्यं तदाप्तवनपाततः ।
तदूर्ध्ववज्रकन्दाख्यं शिलाखेचरमध्यगम् ।। २६।।

ललाटं तं विजानीयात् तत्र देवि कलात्रयम् ।
प्रीतिस्तथा गजापूर्णा (?) तत्र जिह्वां प्रवेशयेत् ।। २७।।

क्षीरधारामृतं शीतं स्रवन्तं जिह्वया पिबेत् ।
मासत्रयेण देवेशि सर्वव्याधिविवर्जितः ।। २८।।

अच्छेद्यः सर्वशस्त्रैश्च अभेद्यः सर्वलोकशैः (?)।
अचिन्त्यः सर्वविज्ञानैविरूपविषमान्वितैः ।। २९।।

भैरवाभो भवेत् सत्यं वज्रकन्दप्रभावतः ।
नासिकोर्धोधरोष्ठौ राजदन्तं (?) महापथां (?)।। ३०।।

तत्र पूर्णामृतं देवि शीतला च कलाह्वयां (?)।
सम्प्राप्य कुम्भकावस्थां रसनाग्रेण संस्पृशेत् ।। ३१।।

तत्र सञ्जायते (देवि) सुस्वादु शीतलं जलम् ।
स्वमनस्तत्र संयोज्य पिबेन्मासत्रयं व्रती ।। ३२।।

अजरामरतामेति सर्वव्याधिविवर्जितः ।
गुदबीजान्तरस्थानमाधारं परिकीर्तितम् ।। ३३।।

तत्र पञ्चकलाः प्रोक्ताः प्रगलत् परमामृताः ।
सुधासुधामयी प्रज्ञा कालघ्नी ज्ञानदायिकाः।। ३४।।

कला(:) पञ्चसुधाधारा(:) कीर्तिता(:)सर्वसिद्धिदाः ।
तत्रस्था परमा शक्तिः मायाकुण्डलिनी शिवे ।। ३५।।

[43a] तत्राकुञ्चनयोगेन कुम्भकेन सुरार्चिते ।
मूलशक्त्या समासाद्य तत्रगं शीतलामृतम् ।। ३६।।

सुषुम्णया समुन्नम्य (समुन्नत्य?) स्वाधिष्ठानपङ्कजात् ।
वसुधा वृष्टि (:) संसिक्तं स्मरेद् ब्रह्माण्डकावधि ।। ३७।।

तत्रस्थम् अमृतं गृह्य शक्तिः श्रीकुण्डलीपराः ।
सुषुम्णामार्गमासाद्य ब्रह्मधाम तमीयुषी ।। ३८।।

मूलपञ्चकसंजाता सुधातृप्तिपरिप्लुता ।
आपादमस्तपर्यन्तं व्यापयन्तीं तनुं स्मरेत् ।। ३९।।

पञ्चमासप्रयोगेण पञ्चभूतजयं लभेत् ।
शिवसाम्यो भवेत् सत्यं त्रिकालाभ्यासयोगतः ।। ४०।।

नाभिस्थानं हि देवि स्वाधिष्ठानं तदुच्यते ।
तत्र दिव्यामृतमयं कलात्रयमुदीरितम् ।। ४१।।

सूसुक्षां (सुसूक्ष्मा) परमाह्लादा विद्या चेति प्रकीर्तिता ।
पूर्ववत् कुम्भकावस्थां प्राप्य शक्तिं प्रयोध्य (प्रबोध्य च) ।। ४२।।

पीत्वा ब्रह्माण्डपर्यन्तं स्नापयेद् यः स्वकां तनुम् ।
योगी त्रिमासपर्याये पूर्वोक्तं लभते फलम् ।। ४३।।

गुद-मेढान्तरं यद् वै वेणु दंकं (?) तदुच्यते ।
कलाचतुष्कं तत्रोक्तं परामृतरसात्मकम् ।। ४४।।

सुशीता च महातृप्तिः पलितघ्नी वलीक्षया ।
तत्र शक्तिं समुद्बोध्य पूर्ववत् प्लावयेत् तनुम् ।। ४५।।

चतुर्मासप्रयोगेण पूर्वोदितं फलं लभेत् ।
पिङ्गला-रवि-विवाह्याख्या (वाहाख्या) इडाख्या चन्द्रवाहिनी ।। ४६।।

विषवाहो खेर्बाहुः सुधावाहो निशाकरे ।
अभ्यासं सूर्यवाहाख्ये चन्द्रवाहे च शस्यते ।। ४७।।

धारणं चन्द्रवाहेन योगी कुम्भकमाचरेत् ।
शशिवाहेन एवं तु पूरयेदात्मनस्तनुम् ।। ४८।।

[4-८] रविवाहेन चोत्सर्गः शस्यते देहवृद्धये ।
एतत् ते व्याहृतं देवि कलास्थानं च तद्गुणः ।। ४९।।

अतःपरं प्रवक्ष्यामि पराभूत - (परामृत-) महापदम् ।
वज्रकन्दे ललाटे तु प्रज्वलच् चन्द्रसन्निभम् ।। ५०।।

लं-गर्भ चतुरस्रं च तत्र देवः परः शिवः ।
देवतास्तमुपासन्ते योगिन्यः शक्तिसंयुतम् ।। ५१।।

चूलितले महादेवि लक्षं सूर्यसमप्रभम् ।
त्रिकोणमण्डलं मध्ये देवं लिङ्गात्मकं शिवम् ।। ५२।।

रं-गर्भमध्यगं देवि स्वशक्त्यालिङ्गितं परम् ।
देवतागणसजुष्टं भावयेत् परमेश्वरि ।। ५३।।

दक्षशंखे महाभागे षट्बिन्दुवलयान्वितम् ।
यं-गर्भं धूम्रवर्णं च तत्र देवं महेश्वरम् ।। ५४।।

लिङ्गाकारं स्मरेद् देवि शक्तियुक्तं गणावृतम् ।
वामशङ्खोर्ध्वं (?) चन्द्राभं स्वपद्मं मंडलं शिवे ।। ५५।।

वं-गर्भं टढ पक्ष्य (?) -मध्ये तत्र लिङ्गं सुधामयम् ।
गोक्षीरधवलाकारं शरच्चन्द्रायुतप्रभम् ।। ५६।।

स्वशक्तिसहितं सर्वदेवतागणसेवितम्।
एवं देवि चतुर्दिक्षु स्थानान्युक्तानि वै मया।।५७।।

तेषां मध्ये महावृत्तं हं -गर्भं तत्र पार्वति।
परमेशः परः शम्भुः स्वशक्त्या सहिता स्थिताः।। ५८ ।।

लिङ्गाकारो गुणयुतः सूर्यकोटि समप्रभः।
पृथिव्यधिपतिः भाले पश्चिमे सूर्यनायकः।। ५६ ।।

दक्षशङ्खे नीलप्रति (नीलपति ?) वामे जलपति (:) शिवः ।
मध्ये व्योमाधिपः शम्भु स्थानाः (?) पञ्चमयोदिता।।६० ।।

व्योमाधिपस्य देवस्य शिरोर्ध्वे चतुरङ्गुले।
ज्योर्तिमडंलमध्यस्थं कोटिचन्द्रसमप्रभम्।। ६२

[44a] दिव्यामृतमयं भाकं (भालं) मूलबन्धकवाटकम्।
ऊर्ध्वैरुर्ध्वं महाशैलमभेद्यममृतास्पदम्।। ६२ ।।

शीतलामृतमध्ये तु विलीनं लिङ्गमीश्वरि।
त्रसरेणुप्रतीकाशं कोटिचन्द्रसमप्रभम् ।।६३।।

हेयोपादेयरहितम् अज्ञानतिमिरापहम्।
अतीत्य यं च स्थानानि परतत्त्वोपलब्धये ।।६४।।

परामृतघटाधारं कवाटं कुम्भकान्वितम्।
मनसा सह वागीशीमूर्ध्ववक्त्रं प्रसारयेत् ।।६५।।

संरुद्धप्राणसंचारो योगी रसनयार्गलम्।
लीलयोद्घाटयेत् सत्यं संप्राप्य मनसा सह ।।६६।।

शीतलक्षाररसस्वादु तत्र क्षीरामृतं हितम्।
योगपानं पिवेन्मध्यं दुर्लमं विबुधैरपि ।।६७।।

तत् सुधातृप्तिसंतृप्तः परास्थाम् उपेत्यच।
उन्मन्या तत्र संयोगं लब्ध्वा ब्रह्माक (ब्रह्मण्ड)- कान्तरे ।।६८।।

नादबिन्दुमयं मासं योगी योगेन भक्षयेत्।
एतद् रहस्यं देवेशि दुर्लभं परिकीर्तितम् ।।६९।।

सर्वज्ञेन शिवेनोक्तं यत्फलं शास्त्रसंततौ ।
तत्फलं लभते सत्यं षण्मासान् नात्र सशंयः ।।७०।।

[44 b] संप्राप्य सिद्धिसन्तानं योगी योगमपीश्वरि।
न वेत्ति तस्य वक्तव्यं न क्वचित् सिद्धिमिच्छता ।।७१।।

न जानन्ति गुरुं देवं शास्त्रोक्तान् समयांस्तथा
दंभकौटिल्यनिरतास्तेषां शास्त्रं न दापयेत् ।।७२।।

जिह्वामूले स्थितो देवि सर्वतेजमयो (ऽ)नलः।
तदग्रे भास्करश्चन्द्रो भालमध्ये प्रतिष्ठितः ।।७३।।

एवं यो वेत्ति देवेशि तस्य सिद्धि(:) प्रजायते।
मथित्वा मण्डलः वह्नेः समुद्बोध्य प्रयत्नतः ।।७४।।

उलसारद्रवितं (?) भालनं चन्द्रमण्डलम्।
भास्कराधिष्ठितो(ऽ)ग्रेण रसनेन (?) समाश्रयेत् ।। ७५।।

तच् चन्द्रागलितं देवि शीतलं तत्पयो(ऽ)मृतम्।
नासिकारन्ध्रनिर्यातं पात्रेण परिसंग्रहेत् ।। ७६।।

तेनाङ्गमर्दनात् सत्यं नाडीसिद्धि(:) प्रजायते।
गुदलिङ्गोहतं देवि निर्गतं चामरीरसम् ।। ७७।।

कलामृतं च संलोड्य संस्कृत्य चाधरारसैः।
तेनां(ग)- मर्दनं कृत्वा योगी लोके निरामयः ।। ७८।।

बलवान् जायते सत्यं बलीपलितवर्जितः।
जिह्वामूलं समूत्कृष्य तत्र जातं मदद्रवम् ।। ७९ ।।

स्वदेहे मर्दयेत् पूर्वाद् रसना वत्सरार्द्धतः।
चतुरगुंलवृद्धा च जायते नात्र संशयः।। ८० ।।

उत्कृष्य रसनामूर्ध्वे दक्षिणाङ्गुलिभिः शिवे।
वामहस्ताङ्गुलिभिश्च घंटिकां स्फोटयेच्छिवे ।। ८१ ।।

मथित्वा वामकं स्थानमूर्ध्ववक्त्रं शनैः शनैः।
त्रिकूटोर्ध्वं च वज्रान्त्यो (?) शिवस्थानं समाश्रयेत्।। ८२ ।।

एषा ते खेचरी मुद्रा कथिता मृत्युनाशिनी।
सर्वसि[illegible]प्रदा देवि जीवन्मुक्तिप्रदायिनी।। ८३ ।।

।।इति मत्स्येन्द्रसंहितायां पञ्चदशः पटलः।।

। । षोडशः पटलः । ।

ईश्वर उवाच —

एवमभ्यासशीलस्य तद्विध्नां (तत्तद्विघ्ना) भवन्ति हि ।
भटभेदाश्च चत्वारो नटभेदास्तथैव च । । १ । ।

अङ्गशोषः क्षुधालस्यं कंडदेहिविवर्णता (कण्डू देहविवर्णता) ।
भटस्य प्रत्ययाश्चैते तेषां श्रृणु च भेषजम् । । २ । ।

मनो निर्विषयं पुडका (?) त्रिमासम् अमरीरसम् ।
देहमुद्वर्तये(त्) तस्य देहवृद्धिः प्रजायते । । ३ । ।

त्रिरुद्वर्त्तनकं कुर्यात् दिवारात्रौ तथैव च ।
रसनामूर्ध्वमायोज्य वज्रकन्दपरोन्मुखीम् । । ४ । ।

तत्सुधां लिहतः सत्यं क्षुधालस्यं च नश्यति ।
तत्सुधाममरीं देवि गृहीत्वा चाङ्गमर्दनात् । । ५ । ।

[45a] स्वशरीरविवर्णत्वं कंडूत्वं च प्रणश्यति ।
नभदेदाश्च (नटभेदाश्च) चत्वारो बहुधा संस्थिताः प्रिये । ६ । ।

नेत्ररोगो(ऽ)ङ्गशोषश्च दाहो भ.. त(स्त)थैव च ।
भेदमेकं मया प्रोक्तं द्वितीयमधुना श्रृणु । । ७ । ।

दन्तरुक(°रुग्)-वाल्पसत्त्वं च देहलाघवनाशनम् ।
तृतीयभेदं च तथा श्रृणु देवि महाज्वरः । । ८ । ।

शिरोरुक्श्लेष्मदोषश्च चतुर्थं सम्प्रधार्यताम् ।
वमनं श्वासदोषश्च नेत्रान्धत्वं तथैव च । । ९ । ।

दुर्ज्ञया च तथा निद्रतिषां (निद्रा तेषां) श्रृणु च भेषजम् ।
समूला छाससंभिन्नां (?)मुर्ध्वं कुंडलिनीं नयेत् । । १० । ।

निश्चलामूर्ध्वगां जिह्वां कृत्वा कुम्भकमाश्रयेत्।
शक्तिशोभान् (?) महेशानि जलनादः प्रवर्तते ।। ११ ।।

यदा श्रृणोति तं नादं तदा मुक्तः स उच्यते।
चिन्तयेद् अमृतासिक्तं स्वदेहं परमेश्वरि ।। १२ ।।

अनेन देवि मासेन सर्वदोषैः प्रमुच्यते।
अनेनैव विधानेन द्विमासान्तं यदाचरेत् ।। १३ ।।

तदा श्रृणोति कर्णाभ्यां महागजवरध्वनिम्
पूर्ववच् चिन्तयेद् देहं द्वितीयैर्मुच्यते गदैः ।। १४ ।।

त्रिमासात् सिंहनादं च श्रुत्वा पूर्ववत् स्मरेत्।
तृतीयभेददोषैश्च मुच्यते नात्र संशयः ।। १५ ।।

मेघनादम् अघोराख्यं चतुर्थे मासि पर्ययेत्।
श्रुत्वा पूर्ववद् अभ्यस्य भ्रान्तै दोषैश्च मुद्यते (मुच्यते) ।।१६।।

एवं स्थिरमतिर्ध्यानम् अभ्यसेच्च द्विकालकम्।
साधयेत् प्रवृत्तः सत्यं जायते ह्यजरामरः ।। १७ ।।

भटदोषचतुष्कस्य नटदोषस्य चैव हि।
निवारणं मया प्रोक्तं भूयः श्रृणु नराधिपः[1] ।। १८ ।।

यो(ऽ)स्मिन् शान्ते परे तत्त्वे योगे योगी सुखात्मके।
प्रविष्टः सर्वतत्त्वज्ञः तस्य पादं नमाम्यहम्।। १९ ।।

[45b] प्रथमं चालनं देवि द्वितीयं मंथनं भवेत्।
तृतीयं पानमुद्दिष्टं चतुर्थं च प्रवेशकम् ।। २० ।।

तालुमूलं समुद्धृत्य जिह्वामुत्कर्षयेत् प्रिये।
चालनं तद् विजानीयाद् ब्रह्मार्गलविभेदनम्।। २१ ।।

---

1. Addressed to king of Cola by Matsyendranātha. Strangely this occurs in the dialogue between Śiva-Pārvatī.

तं वदन्ति....................
लोहकील- प्रवेशेन यथा मंथनमारभेत् ।। २२ ।।

मंथनं तद् विजानीयाद् योगिवृद्धिकरं प्रिये।
उदर्घोगतमाकाशे (?) जिह्वामूर्ध्वं प्रसारयेत् ।। २३ ।।

प्रवेशं प्राहुरीशानि योगसिद्धिप्रवर्तकम्।
ब्रह्मार्गलप्रभेदेन जिह्वासंक्रमणेन च।। २४ ।।

प्रत्ययः परमेशानि क्षणोर्ध्वात् संप्रजायते।
आदावानन्दभावत्वं निद्राहानिरतःपरम् ।। २५ ।।

संगमं भोजनं देवि स्वल्पमल्पं प्रजायते।
पुष्टिः सञ्जायते तेजोवृद्धिश्च भवति प्रिये ।। २६ ।।

न जरा न च मृत्युश्च न व्याधि(:) पलितं न च।
ऊर्ध्वरेता महेशानि अणिमादिगुणान्वितः।। २७ ।।

यदि निश्चलभावेन योगी भावं प्रसारयेत्।
तदा प्रोक्तान् इमान् सम्यक् फलान् लभति पार्वति ।। २८ ।।

जिह्वाग्रे श्री(श्च)वागीशा संस्थिता वीरवन्दिते।
जिह्वा मूलाधारे भागे बन्धमृत्युः प्रतिष्ठितः ।। २९ ।।

बन्धमृत्युपदं सर्वमुन्मूलय गणाम्बिके ।
तदग्रेण विशामोहं (विशाम्यहं) धाम श्रीशम्भुसंज्ञकम् ।। ३० ।।

अनेन देवि योगेन मनसा साधिते चले।
उन्मन्या आवेशम् आयान्ति योगी तल्लयमाप्नुयात् ।। ३१ ।।

[46 a] लयस्य प्रत्ययः सद्यः संभवति अविचारतः।
जिह्वाग्रे मन आधाय दृशा तद्धाम लक्षयेत् ।। ३२ ।।

मूलासुषुम्णामार्गेण पवनं चोर्ध्वमानयेत्।
ब्रह्मधामगतो योगी मनः शून्ये निवेशयेत् ।। ३३ ।।

ध्यायेत् परतरं तत्त्वं हेयोपादेयवर्जितम्।
आकाशगङ्गास्त्रवीतं ब्रह्मस्थानात् सुशीतलम् ।। ३४ ।।

प्रपिवन् मासमात्रेण वज्रकायो भवेद् ध्रुवम्।
दिव्यकायो भवेत् सत्यं दिव्यवाग् दिव्यदर्शनः ।। ३५ ।।

दिव्यबुद्धिर्भवेद् देवि दिव्यश्रवण एव च।
जिह्वाग्रे कोटिचन्द्राभां वागीशीं परिभावयेत् ।। ३६ ।।

परामृतकलातृप्तां काचितां (?) लभते क्षणात्।
जिह्वाग्रे संस्थितां लक्ष्मीं परामृतविमोदतः ।। ३७।।

घ्यायन् योगी महेशानि योगसाम्राज्यमाप्नुयात्।
सहजा (:) पञ्च विख्याता (:) पिण्डे(ऽ)स्मिन् परात्मके।। ३८।।

यदा सञ्जायते देहे मातृदेहे(ऽ)पि नृक्षणात् (?) ।
तत्र सार्धं भवन्ति स्म देहे वृद्धिमुपेयुषिम्।। ३९ ।।

आद्या कुण्डलिनीशक्तिः प्रथमा सहजा स्थिता ।
द्वितीया सुषुम्णाख्या जिह्वा चैव तृतीयका ।। ४० ।।

तालुस्थानं चतुर्थं च ब्रह्मस्थानं च पञ्चमम्।
उन्नध्या (?) सहजा माया द्वितीये शहजे (सहजे) विशेत् ।। ४१

तृतीया सहजा मूर्धा चतुर्थं सहजा विशेत्।
चतुर्थं सहजा भित्वा सहजं पञ्चममभ्यसेत् ।। ४२ ।।

एतद् भेदं मया प्रोक्तं दुर्विज्ञेयं कुलेश्वरि।
मूलात् कुण्डलिनीशक्तिं सुषुम्णामार्गमागताम्।। ४३ ।।

लूतैकतन्तुप्रतिभां (प्रतिमं) कोटिसूर्यसमप्रभम्।
प्रविश्य घटिकामार्गे शिवद्वारार्गलं शिवे ।। ४४ ।।

भित्त्वा रसनया योगी कुम्भकेन महेश्वरि।
प्रविशेत् कोटिसूर्याभं धाम स्वायम्भुवं प्रिये ।।४५।।

[46 b] तत्रामृता महाम्भोधौ शीतकल्लोलमालिनी।
पीत्वा विश्रम्य च सुधां परमानन्दपूर्णया ।।४६।।

बुध्या तत्सुधया तृप्तमात्मदेहं प्रभावयेत्।
अनेन देवि योगेन जायते दिव्यदर्शनम् ।।४७।।

खेचरत्वं भवेत् सत्यं सर्वरोगक्षयस्तथा।
वचनं कालमृत्युश्च त्रैलोक्यभ्रमणं तथा ।। ४८ ।।

अणिमादिगुणोपेतां संसिद्धिं लभे (लभते) ध्रुवम् ।
योगीन्द्रत्वमाप्नोति गतिरव्याहता भवेत्।।४९।।

नवनागसहस्राणां बलेनं सहित (:) स्वयम्।
जायते शिववद् देवि सत्यं सत्यं मयोदितम् ।।५०।।

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा ज्योतिरूपिणी।
वर्णरूपगणैः साकं तेजस्तत्र निरामयम् ।।५१।।

सुषुम्णाभुजगाकाशे यत्तत्कुण्डलिनी परा।
गङ्गा च यमुना चैव इडापिङ्गलसंज्ञके ।।५२।।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये तां शक्तिं सन्निवेशयेत्।
ब्रह्मधावधि (ब्रह्मबोधावधि) शिवे परमामृतरुपिणी ।।५३।।

तन्मयो जायते सत्यं परमामृततनुं(परामृततनुः) स्वयम् ।
शिवधामगता शक्तिः परमेशास्पदं पदम् ।।५६।।

तद् वागतृप्तिसंतृप्ता परमानन्दरुपिता।
सिञ्चति योगिनो देह मायादतलमस्तकम् (?) ।।५५।।

सुधया शिशिरस्निग्धशीतं वा परमेश्वरी (?)।
पुनस्तेनैव मार्गेण प्रयातः स्वपदं शिवे ।।५६।।

एतद्रहः समाख्यातं योगं योगीन्द्रवन्दिते।
उत्सृज्य सर्वशास्त्राणि जपहोमादिकं च यत् ।।५७।।

धर्माधर्मविनिर्मुक्तो योगी योगं समभ्यसेत्।
रसनामुर्ध्वगां कृत्वा त्रिकुटेशं निवेशयेत् ।।५८।।

[47a] ब्रह्माण्डे ब्रह्मरेखाध्वो राजदन्तोर्ध्वमण्डले।
त्रिकूटं तं विजानीहि तत्र लिङ्गं समुज्चल(म्) ।।५९।।

कालकर्मविनिर्मुक्तं दुर्विज्ञेयं सुरैरपि।
इडायां रात्रिरुद्दिष्टा पिङ्गलायामह स्मृतः।।६०।।

चन्द्रादित्यौ स्थितौ देवि नित्यं रात्रिदिवात्मकौ ।
न दिवा पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ न च महेश्वरि ।।६१।।

सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवा रात्रौ निरोधवाः(निरोधका) ।
अहोरात्रिमयं देवं कालकर्म-स्वभावजम् ।।६२।।

कालकर्मनिरोधेन कालमृत्युञ्जयं लभेत्।
कालकर्मविनिर्मुक्तं चिन्तयन्नात्मनस्तनु(म्) ।।६३।।

पूजयेद् भावपुष्पेण तर्पयेत् पंकजामृतैः।
एवं षण्मासयोगेन जायते ह्यजरामरः ।।६४।।

सर्वज्ञत्वं लभेत् सत्यं शिवसाम्यो निरामयः।
तालुमूले समावेश्य रसनामूर्ध्ववक्त्रकाम् ।।६५।।

तत्र जातं तु पिबन् सीत्कारेण शनैः शनैः।
प्रपिबेत् पवनं योगी निरालम्बि पदे शिवे ।।६६।।

मनः संयोज्य चोन्मन्या सहजं योगमाचरेत्।
अनेन योगी षण्मासाज् जायते ह्यजरामरः ।।६७।।

चिबुकं योजयेद् देवि षोडशस्वरमण्डले।
भ्रूमध्ये चक्षुणा मीनस्य (?) जिह्वामूर्ध्वं प्रसारयेत् ।।६८।।

संप्राप्य कुम्भकावस्थां इडापिङ्गलरोधनात्।
मूलशक्तिं समुद्बोध्य भित्वा षट्सरसीरुहान् ।।६९।।

तडितसहस्रसङ्काशां ब्रह्माण्डोदरमध्यगे।
धाम्नि शीतामृताम्भोधौ संन्निवेश्य चिरं वसेत्।।७०।।

यदा ब्रह्ममये धाम्नि योगी वसेत् लीलया।
तदा निर्जीवव(द्) देहं भावि स्फुरति तत्पदम् ।।७१।।

[47b] अनेन देवि योगेन दिनसप्तकमाचरेत्।
तदा तदा संभवति जरामरणवर्जितः ।।७२।।

मासमात्रप्रयोगेण जीवेद् आचन्द्रतारकम्।
यदा ब्रह्मपुरं भित्त्वा योगी ब्रजति लीलया ।।७३।।

तदाखि(ल)त्वमाप्नोति त्यक्त्वा देहमिमं शिवे।
न पुनः पिचे (पिबति) मातु (:) स्तनं (स्तन्यं)
संसारचक्रमा(त्) ।। ७४।।

तदा तु योगिनो वृद्धिस्त्यक्तं देहमिमं प्रिये।
तदा स्थिरासनो भूत्वा मूलशक्तिं समुज्च(ज्व)लाम् ।।७५।।

कोटिसूर्यप्रतीकाशां भावयेच् चिरमात्मवित्।
आपादतलपर्यन्तं प्रसृतं जीवमात्मनः ।।७६।।

संहृत्य क्रमयोगेन मूलाधारपदं नयेत् ।
तत्र कुण्डिलिनीशाक्तिं संवर्त्तानलसंन्निभाम् ।।७७।।

जीवो नित्यं चेन्द्रियाणि ग्रसन्तीं चिन्तयेद् धिया ।
संप्राप्य कुम्भकावस्थां तडिद्वलयभास्वरम् ।।७८।।

मूलादुन्नीय देवेशि खाधिष्ठानपदं नयेत् ।
तत्र सजीवमखिलं ग्रसन्तीं चिन्तयेताम् ।।७९।।

तडित्कोटिप्रतीकाशां तस्माद् उन्नीय सत्वरम् ।
मणिपूरपदं प्राणं तत्र सूर्यवदाचरेत् ।।८०।।

समुन्नीय पदस्थानाद् अनाहतं पदं नयेत् ।
तत्रस्थित्वा क्षणं देवि पूर्ववद् हि सती स्मरेत् ।।८१।।

उन्नीय च पुनः पद्मे षोडषरिति (षोडशारे) निवेशयेत् ।
तत्रापि चिन्तयेद् देवि पूर्वं तद् योगमात्मवित् ।।८२।।

तस्मादुन्नीय भ्रूमध्यं नीत्वा जीवं ग्रसेत्पुनः ।
ग्रस्तजीवां महाशक्तिं कोटिसूर्यसमप्रभाम् ।।८३।।

मनसा सह वागीशि भित्त्वा ब्रह्मर्गलं क्षणात् ।
परामृत महाम्भोधौ विश्वासं सम्यग् आचरेत् ।।८४।।

तत्रस्थं परमं देवि शिवं परमकारणम्।
शक्त्या सह समायोज्य तयोरैक्यं विभावयेत् ।।८५।।

[48a] यदि मोचितम्(मु)द्युक्तः कालं कालविभागवित् ।
यावद् भजति तं कालं तावत्तत्र सुखं वशेत् (वसेत्) ।।८६।।

ब्रह्मद्वारार्गलस्य अधो देहे कालप्रयोजनम् ।
तस्यादर्धपदे (तस्मादूर्ध्वपदे) देवि न कालप्रयोजनम् ।।८७।।

यदा देव्याप्त (देव्याप्तं) न कालमतिक्रान्तं प्रविश्यति ।
तदा ब्रह्मार्गलं भित्त्वा शक्तिं मूलपदे नयेत् ।।८८।।

शक्तिं देहात्मसूत्रं तु स्वजीवं चेन्द्रियैः सह ।
तत्तत् कर्मणि संजोज्य (संयोज्य) स्वस्य देहं सुखं चरेत् ।।८९।।

अनेन देवि योगेन वञ्चयेत् कालमार्गणम् ।
यदि मानुष्यकं देहं त्यक्तुमिच्छा प्रवर्तते ।।९०।।

ततः परमसन्तुष्टो ब्रह्मस्थानं गतं शिवम् ।
शक्त्या संयोज्य निर्भिन्नव्योमब्रह्मशिलां विशेत् ।।९१।।

व्योमत्त्वं महाव्योम्नि वायुतत्त्वमथानिले ।
तेजस्तत्त्वं तथा तेजस्यामत्वं (?) जलमण्डले ।।९२।।

धरातत्त्वं धराभागे निराल (निश्चलं) वै मनः परे ।
व्योमादिगुणतत्त्वेषु स्वेन्द्रियाणि निवेशयेत् ।।९३।।

एवं सांसारिकं त्यत्कावा परतत्त्वावलम्बकः ।
अदृष्टः पञ्चभूताद्यैर्भित्त्वा सूर्यस्य मण्डलम् ।।९४।।

परतत्त्वे परे शान्ते शिवे लीने शिवायते ।
न कल्पकोटिसहस्रैः पुनरावर्तनं भवेत् ।।९५।।

अनुग्रहाय लोकानां यदि देहं न संत्यजेत् ।
प्रलयोते (प्रलयान्ते) तनुं त्यक्त्वा स्वात्मन्येव अवतिष्ठते ।।९६।।

इत्येषा खेचरीमुद्रा खेचराधिपतित्वदा ।
जन्ममृत्युजरारोगवलिपलितनाशिनी ।।९७।।

अनायासदृशी (अनया सदृशी) विद्या
क्वचिच् छास्रातरेन (छास्त्रान्तरे) नहि ।
खेचरीमेलनं देवि सुगुप्तं न प्रकाशयेत् ।।९९।।

[48b] तस्याः स्वाभ्यासयोगो(ऽ)यं तव स्नेहात् प्रकाशितः ।
मदिरा नाम या देवि सर्वयोगीन्द्र-वन्दिता ।।१००।।

गुरुवक्त्रोपसंलब्धां विद्या (याः) अंशतो(ऽ)पि च ।
खेचरी मेलनमादिश्च नित्यं सप्रेमचेतसः ।।१०१।।

न सिध्यति महायोगं मदिराराधनं विना ।
तत्प्रसादविहीनानां तन् निन्दापरचेतसाम् ।।१०२।।

पशोः पाशप्रबन्धस्य योगः क्लेशाय जायते ।
सर्वज्ञेन शिवेनोक्तां पूजां संत्यज्य मादिरीम् ।।१०३।।

युञ्जतः सततं देवि योगो नाशाय जायते ।
वारुण्या तर्पयेद् देवि सर्वलोकमयं शिवे ।।१०४।।

गौडी माध्वी च पैष्टी च तथा कादम्बरी वराः ।
कादम्बरी च द्रुमला (द्रुमजा) माध्वी मधुसमुद्भवा ।।१०५।।

पैष्टी पिष्टसमुद्भूताः गौडीक्षुरससंभवा ।
तासामेकतमां गृह्य तर्पयेत् सर्वदेवताः ।।१०६।।

असक्तासु (अशक्तस्तु) महापूजां यदि कर्तुं च साधकः ।
कुर्याद्धि द्रेकदानं (?) वा गुरुवाक्यावलम्बकः ।।१०७।।

एकबिन्दुप्रदानेन तृप्यन्ते कोटिदेवताः ।
तस्मात् सम्पूज्य युञ्जीत तत्प्रसाद - पवित्रितः ।।१०८।।

अन्यथा क्लेश एव स्यात् न सिद्धिर्जन्मकोटिसु ।
सर्वे सिद्ध्यन्ति मन्त्राश्च योगाश्च परमेश्वरि ।।१०९।।

सम्यक् पूजा प्रयोगेण मदिरानन्दचेतसः ।
असम्पूज्य पिवद् देवि मदिरां यः स पापभाक् ।।११०।।

महाराधनशीलस्य मयैवा (मय्येवा)-सक्तचेतसः ।
तस्मात् सम्पूजयेद् देवि सर्वयोगाभिवृद्धये ।।१११।।

[49a] मदिरानन्दितो योगी योगं युञ्जीत नित्यदा ।
विजने जन्तुरहिते सर्वोपद्रववर्जिते ।।११२।।

मृद्धान (मृदासनं) समास्थाय स्वगुरूक्तप्रकारतः ।
सन्तर्प्य शिवमीशानं देवि देवींश्च सर्वशः ।।११३।।

तत् प्रसादेन लभते सम्यग् ज्ञानमखण्डितम् ।
एतद् योगं समारव्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।।११४।।

।।इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां षोडशः पटलः।।

।।सप्तदश पटलः।।

श्रीदेव्युवाच —

शम्भो सद्भावसंलभ्य जयचन्द्रार्धशेखरः ।
त्वया श्रीखेचरीविद्यासाधनं गुह्यमीरितम् ।।१।।

संसिद्धिः केन मार्गेण खेचरीमेलनं लभेत् ।
तन्मे ब्रूहि जगन्नाथ परमानन्दनन्दितम् ।।२।।

श्री भैरव उवाच —

श्रृणु गुह्यं महादेवि सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ।
खेचरीमेलनं लोके महायोगीन्द्रसेवितम् ।।३।।

खेचरी नाम इयं विद्या सद्यः प्रत्ययकारिका ।
सर्वसिद्धिप्रदा देवि जरामरणनाशिनी ।।४।।

दार्छा (भेत्ता) ब्रह्मकपाटस्य पशूनां दूरमार्गगाः ।
असिद्धानामपि च यो योगीनां परमेश्वरि ।।५।।

ब्रह्मधाम परित्यह्य (परित्यज्य) आयाता नासिकापथम् ।
भित्वा ब्रह्मकपाटं तु यदा ध्रुवपदं व्रजेत् ।।६।।

तक्ष (तत्र)स्यात् परमानन्दं संविद्भावककारणम् ।
ज्ञानं तथा च विज्ञानं तत्प्रसादात् स्फुरत्यपि ।।७।।

एवं योगे क्रियायां च स्थिता सकलकामदा ।
चिद्रूपा कुञ्चिका नाम दुर्विज्ञेया सुरासुरैः ।।८।।

एवं कुण्डलिनीशक्तिरुर्धा (रूर्ध्वा)- धो(ऽ)नेकधागता ।
तत्स्थे योगः पदस्थे हि अणिमादिप्रसाधकः ।।९।।

तानि स्थानानि वक्ष्यामि यथाग्रेषु च सिद्धिदा ।
मूलाधारं चतुः पत्री (चतुष्पत्रो) बिन्दुस्त्रिवलयान्वितः ।।१०।।

[49b] गमागमौ समोपेतौ आधाराख्यशिखिप्रभा ।
गुह्यं तं षट्दलं दीप्तं षट्बिन्दु परिकीर्तितम् ।।११।।

सप्तजाम्बूनदाभ्यासं(° नदाभास°) स्वाधिष्ठानं हि तद्भवेत् ।
नाभिमध्यगतं शुद्धं द्वादशारं शशिप्रभम् ।।१२।।

मणिपूरकविज्ञानमर्द्धचन्द्रस्थमध्यगम् ।
अनाहतदसारं (अनाहतानन्दसारं) ब्रह्मरन्ध्रातिगं सदा ।।१३।।

शुद्धं स्फटिकसंकाशं भावयेन् नादपूरकम् ।
षोडशारं महापद्मं त्रिकोणं कण्ठमाश्रितम् ।।१४।।

पूर्णचन्द्रनिभाकारं विशुद्धं मोक्षदायकम् ।
पञ्चकूटमहस्थानं विद्युत्कोटिसमप्रभम् ।।१५।।

मध्यदिनार्कसंकाशं भावयेद् बिन्दुरूपकम् ।
स तु नाना ततो मध्ये शक्तिर्व्योमप्रभेदिनी ।।१६।।

ज्वलन्ती पञ्चधा रन्ध्रे सेयमाज्ञा प्रकीर्तिताः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।।१७।।

पृथिव्यादि निरंघ्राणि (?) पञ्चपञ्चकमेव च ।
तथा च कोष्टकाः पञ्च स्वाधिष्ठानादय (:) स्मृताः ।।१८।।

एतेषु स्थानभेदेषु पृथग्धानं (पृथग्ध्यानं) शिवोदितम् ।
तत्रैकमभिचाभ्यस्य(तत्रैककम् चाभ्यस्य) योगीं स्यादजरामरः ।।१९।।

अभ्यासेनैव नश्यन्ति पापाः जन्मसहस्रजाः ।
मेलनात् शिवतां याति सुमहान् खेचराधिपः ।।२०।।

स्वतंत्रः सर्वलोकेषु गतिरव्याहता भवेत् ।
अविज्ञाय च यः कुर्यात् गुरूवाक्यामृतं विना ।।२१।।

भक्ष्याते (भक्ष्यते) सो(ऽ)चिराद् दिवि (देवि)
योगि (नी) भिर्न संशयः ।
य इदं परमं शास्त्रं ग्रन्थतश्चार्थतस्ततः ।।२२।।

[50a] गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत परो (परां) सिद्धिमवाप्नुयात् ।
य इदं परमं गुह्यं खेचरीमेलकं ददेत् ।।२३।।

स एव हि गुरुर्देवि नान्यो(ऽ)स्ति परमेश्वरि ।
इदं गुह्यतमं शास्त्रं पशूनां य प्रदापयेत्।।२४।।

अपरीक्षितवृत्तस्य स शीघ्रं नश्यति प्रिये ।
बहुधा क्लिश्यमानाय भक्तयानंन्यचेतसे
(भक्तायाऽनन्यचेतसे) ।। २५।।

एकान्ते विजने स्थाने प्रवक्तव्यं विपश्चिता ।
व्याख्यानकाले कर्तव्या पूजाविधिरथाग्रतः ।।२६।।

कुलामृतैश्च मांसैश्च कस्तूरीचन्दनादिभिः ।
रक्तवस्त्रे समाधाय विद्यापुस्तकमादरात् ।।२७।।

पूजये(त्) पूर्वविधिना ततो व्याख्यानमाचरेत् ।
अथ वायव्यशक्तस्तु मानसेन कलामृतैः ।।२८।।

सन्तर्प्य पूज्य विजने ब्याख्यानं गुप्तमाचरेत् ।
(एकचित्त?) गतेनैव भावना (भावेना)राध्य पुस्तकम् ।।२९।।

श्रृणुयाद् विजने देशो तत् ज्ञे (तत्त्वज्ञो) युक्तो(ऽ)थवा प्रिये ।
पूर्वोक्तविधिना देवि स्वगुरूक्तप्रकारतः ।।३०।।

समभ्यस्य यथान्यायं द्वादश(द्वादशा)-ब्दमतन्द्रितः ।
पर्यटेत् पृथिवीमेनां यत्रस्थान (यत्रस्थो) मेलको गुरुः ।।३१।।

तं दृष्ट्वा सर्वभावेन समाराध्य प्रयत्नतः ।
आत्मनि(:)श्रेयस्करं तेनोक्तं सम्यगाचरेत् ।।३२।।

ज्ञानयुक्तं तु मातङ्गमपि कुर्याद् गुरुं प्रिये ।
ज्ञानविज्ञानहीनं तु षट्कर्मस्थमपि त्यजेत् ।।३३।।

यत्र यत्र विशिष्टार्थं तत्र तत्र समाश्रयेत् ।
यस्य हस्थो(हस्तो) - स्थितं दिव्यं विद्यापुस्तकमीश्वरि ।।३४।।

तस्य मूर्तिगतं देवि सकुलं ज्ञानसागरम् ।
यथाद्यो (?) ग्रन्थतश्चेदमर्थतश्च वदिष्यति ।।३५।।

[50b] अशेषेण जगद्धात्रि स एव परमो गुरुः ।
सर्वज्ञेन शिवेनोक्तं इदं जन्मार्वुदेरपि ।।३६।।

दुर्लभं शास्त्रसारन्तु दिव्यज्ञानप्रकाशकम् ।
द्वाविमौ पुरुषौ लोके सिद्धः साधक एव च ।।३७।।

अभ्यासेनैव सततं य सर्वः (सर्वं) परिवर्तते ।
अभिच्छुरात्मनः सिद्धिं स योगी साधक (:) स्मृतः ।।३८।।

सम्यगभ्यासं विज्ञाय यः समं मेलनं चरेत् ।
सर्वसाधारणत्वेन विकल्पकुटिलो
जितः (°कुटिलोज्भ्मितः) ज्भ्दि।।३९।।

कर्त्ता भर्त्ता च संहर्ता नित्यतृप्तो निरामयः ।
पश्यत्यात्मा अविभेदेन जगतेतच् चराचरम् ।।४०।।

स योगी सर्वविहीमान् (सर्वविच्छ्रीमान्) सिद्ध इत्युच्यते बुधैः ।
साधको बहुजन्मान्ते प्रयाति परमं पदम् ।।४१।।

देवैः सुदुर्लभां सिद्धिं सिद्धो याति न संशयः ।
तस्मादभ्यस्य यत्नेन खेचरीमेलनं चरेत् ।।४२।।

मेलनादप्यनभ्यासी सर्वं लभति पार्वति ।
तस्मादभ्यासहीनो(ऽ)पि मेलनात् स्यादजरामरः ।।४३।।

यदा संमेलति गुरुः शिष्यं मेलनकर्मणि ।
संयोजयिष्यति शिवे तदेवं समुदाचरेत् ।।४४।।

एकान्ते विजने स्थाने पशुदृष्टिर-(दृष्टेर)-गोचरे ।
पूजायोग्यानि वस्तूनि साधयेत् परमेश्वरि ।।४५।।

सुस्निग्धे च सुसम्भृष्टे गोमयेनोषः पलेंयिते (गोमयेनोपलेपिते) ।
चारुवस्त्रवितानाग्रे (?) सर्वोपद्रववर्जिते ।।४६।।

वीरेणमकुर्पूर (वीरेणागरुकर्पूर) - लघुसिन्दूररेणुभिः ।
वृत्तषट्कोणावस्थारवृत्तभूवलयोज्ज्वलम् ।।४७।।

कारयेन्मण्डलं देवि तत्रापि कलसं न्यसेत् ।
पूरयेद् दिव्यतोयेन रत्नगर्भं सवस्त्रकम् ।।४८।।

[51a] माल्यधूपसमायुक्तं दर्पणालङ्कृतं प्रिये ।
तत्र पञ्चमहारत्नान् न्यसेद विद्यां च पूर्ववत् ।।४६।।

तदग्ने (तदग्रे) देवि साधारे पात्रं पूर्णकलामृतैः ।
पूर्ववत् परिसंस्कृत्य पूर्वोक्तविधिनाचरेत् ।।५०।।

पूजावसाने देवेसि (देवेशि) तत्प्रसादपवित्रितम् ।
स्नापयेत् कलसेनाङ्गं परामृतधिया गुरः (गुरोः) ।।५१।।

बिना स्नानप्रसादाभ्यां कल्पानमयुतै (कल्पानामयुतै)रपि ।
न सिध्यति महेशानि खेचरीमेलकं प्रिये ।।५२।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन त्प्रसाद ....सहाभिध (?) ।
सस्नानं दापयेद् विद्यां नान्यथा सिद्धिभाग् भवेत् ।।५३।।

स्नापयित्वा शिवं देवि योगस्थाने विशेषवित् ।
पञ्चाशतवर्णमालां च स्थले वा दर्पणे(ऽ)थवा ।।५४।।

यदे (पत्रे?) वा चन्दने देवि तल् लिखेन् न तु भूतले ।
शिष्यहस्तेन देवेशि तत्र पुष्पं प्रचोदयेत् ।।५५।।

यस्मिन् वर्णे विपतितं पुष्पं तद्वर्णपूर्वकम् ।
नाम चानन्दनाथान्तं दापयेद् गुरुमीश्वरि ।।५६।।

शक्तिमाम च (?) संप्रेक्ष्य परां वा तं प्रदापयेत् ।
पूर्वप्रसादसन्दग्धमहापातकसञ्चयः।।५७।।

पुनश्च कलासासेकान् (कलसासेकात्) परामृततनुर्भवेत् ।
भूयश्च नामग्रहणात् शिवसाम्यः प्रजायते ।।५८।।

एवं ॠते (कृते) शिवे शिष्यो योग्यो मेलनकर्मणि ।
अन्यथा परमेशानि न देवान(न्द)कृद् भवेत् ।।५९।।

इति सिद्धतनुः सिद्धो यद् यद्भावमुपासते ।
तत्तत् फलं च प्रत्यक्षं भविष्यति न शंसयः (संशयः) ।।६०।।

।। इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां सप्तदशः पटलः ।।

।।अष्टादशः पटलः।।

श्रीभैरव उवाच —

इति सर्वज्ञपाशाद्यस्तीर्णः संसारसागरात् ।
भुञ्जीत स्वेच्छया भोगान् स्वेच्छया योगमभ्यसेत् ।।१।।

[51b] उपदीयः प्रयो (उपादेयः प्रियो) यस्मात् कौलिके प्रियमेलकः ।
अतः कुर्यादनुष्ठानं प्रमाण ....वेमेव (?) वा ।।२।।

अत्यन्तविजने स्थाने सर्वोपद्रववर्जिते ।
नितान्तं मनसो रम्ये हृद्यधूपसुगन्धिते ।।३।।

विकीर्णपुष्पप्रकरसिन्दूरादिसुरञ्जिते ।
गुरुमण्डलकं ज्ञात्वा भक्तिमान् योगमभ्यसेत् ।। ४ ।।

स्थिरमासनमासीनः शकली (?) - कृतविग्रहः ।
जितश्वासो जितमना जितकर्मा जितेन्द्रियः ।। ५ ।।

नियोज्यं घान्टिकारंध्रे ....
अधस्ताच् चिन्तयेच् चक्रमाक्रान्तधारमण्डलम् ।।६।।

तत्र मध्ये समो दीप्तां मूलशक्तिं विभावयेत् ।
प्राणान्निरोध्योर्ध्वमुखं नयेद् भित्त्वा षडाम्बुजान् ।।७।।

एकीभूता हि नादाख्या चक्रभेदक्रमेण च ।
तडिद्वलयसङ्काशां स्फुरत् किरणरूपिणीम् ।।८।।

चिन्ह्या च निरालम्बे शून्ये तेजोमये परे ।
ब्रह्मद्वारस्य गर्भे तु विसर्गाख्ये विलीयते ।।६।।

ततो रसनयोद्भेद्य प्रविशेद् ब्रह्मणः पदम् ।
तस्मिन् कुलामृतं दिव्यं पीत्वा भूयो विशेत् कुलम् ।।१०।।

तेन प्रासितमात्रेण (ग्रासितमात्रेण?) परां सिद्धिमवाप्नुयात् ।
योगमूले रजके स्थाने भूमस् तस्मात् समुत्थितः ।। ११ ।।

पृथिव्याधारसंकोचात् एकोच्चारक्रमेण तु।
एतद्वामीश्वरीवीजं (वामेश्वरी बीजं) रहस्यं सम्प्रकाशितम् ।।१२।।

व्यारव्याता खेचरी मुद्रा तस्या बन्धो(ऽ)यमेव हि।
एतस्या बन्धमात्रेण भाग्यहीनो(ऽ)पि सिद्धयति ।।१३।।

मेलकं (मेलकात्) खेचरीणां च दिव्यवेषो(ऽ)भिजायते ।
अमुना सम्प्रदानेन यत्र यत्र विलीयते ।।१४।।

[52 a] तत्र तत्र परानन्दरूपमेव प्रकाशते ।
सर्वशास्त्रार्थवेत्ता सौभाग्यं परमं तथा ।।१५।।

काव्यं च सर्वभाषाभिः सालङ्कारपदोज्ज्वलम्।
करोति लीलया योगी रुद्रशक्तिप्रभावतः ।।१६।।

अनेनैव प्रयोगेण सर्वमात्राः (?) स्फुरन्ति हि ।
आणवाः शाम्भवाः शाक्ताः ये के उच्चरति (?) प्रिये ।।१७।।

मणिपूरे लयाद् वश्यं शान्तिश्रीपुष्टितुष्टयः ।
आकर्षणं पुरक्षोभो (?) भवन्त्येव हि सिद्धयः ।।१८।।

अनाहते तु संल्लीनो योगी ग्रन्थिविभेदनात्।
गिरीणां पातनं देवि कुर्यात् मृत्युश्च (मृत्योश्च) वञ्चनाम् ।।१६।।

विशुद्धे अत्यमृताधारे योगस्तु स्यादसंशयः।
क्षुत्-तृषादारुनिर्मुक्तो जरारोगविवर्जितः ।।२०।।

आज्ञास्थानगतो योगी त्रैलोक्यमपि पश्यति।
त्रिकालज्ञः स्वयं कर्त्ता स एव परमेश्वरः ।।२१।।

अतीतं वेत्ति नाभिस्थो वर्त्तमानं हृदि स्थितम्।
आज्ञास्थानगतो योगी सर्वं जानाति सर्वदा ।।२२।।

अधुना वा उन्मनीभावः परतत्त्वोपलब्धये।
पारम्पर्यक्रमायातो ब्रह्माण्डोदरमध्यगः ।।२३।।

यल् लिङ्गाधारमध्यस्थं मध्ये शक्त्यङ्कुरान्वितम्।
यत्र मात्रं प्रमाणं तु त्रिकोणाकृतिरुत्तमा ।।२४।।

निष्कलं यत्परं तेजः परस्पर(सु)संस्थितम् ।
जनमणीन्द्रियं (?) यद्वत् विस्फुरश्चैव दृश्यते ।।२५।।

तथाकृतिर्भवेत् तस्य मीलनोन्मीलनानि च ।
प्रथमं भेदयेच चक्रं नाभिजं नाडिभिर्युतम् ।।२५।।

तदूर्ध्वे हृदयावस्थं चक्रं चै (वै) कुलसंज्ञकम्।
हृच्चकं भेदयेत् पश्चात् कठं चक्रं (कंठचक्रं) ततः शनैः ।।२७।।

[52 b] तदूर्ध्वे लम्बिकां भेद्य नासाग्रं तु ततो नयेत।
नासाग्रे श्वाससंभिन्नं भ्रूमध्ये सन्निवेशयेत् ।।२८।।

श्वासेन सहितं बीजं तेजोरूपं ललाटके।
गत्वा लक्षं (लक्ष्यं) ललाटस्य प्रविशेत् सूर्यसंनिभम् ।।२९।।

कुञ्चिकाग्रं ततः सूक्ष्मा........... णु च सूक्ष्मकम्।
उद्घाटयेत् ततो द्वारं शिवद्वारार्गलं महत् ।।३०।।

बिन्दुद्वारार्गलं भित्त्वा दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि।
ब्रह्माण्डोद्रमित्युक्तं योगिनी सिद्धसेवितम् ।।३१।।

तदेतद् अङ्गुलोत्सेधं कुलाये (?) संव्यवस्थितम्।
प्रवेशात् स्पर्शनं तत्र बालानामिव जायते ।।३२।।

शक्तितत्त्वावबोधो हि विज्ञानं सिद्धिसाधनम्।
परतत्त्वावबोधश्च ज्ञानमोहप्रसाधनम् ।।३३।।

भुक्तिमुक्त्योर्द्वयोर्हेतुं परमानन्दतां गतः ।
जीवन्मुक्तिमिवाप्नोति वत्सरार्धान् न संशयः ।।३४।।

प्राप्तद्वादशकेनैव शिवसाम्यबलं प्रिये।
सर्वार्थकृत्यं सूक्ष्मत्वं सर्वज्ञत्वं विशुद्धता ।।३५।।

नित्यानन्दस्वभावत्वं सर्वव्याप्तिमेव च ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं गरिमा तथा ।।३६।

ईशित्वं च वशित्वं च यच्च कामावसायिता।
स्यान्महासिद्धयस्त्वेता अष्टौ विज्ञानयोनयः ।।३७।।

योगिनः संप्रवर्तन्ते वत्सरात् परमेश्वरि।
अथातः संप्रवक्ष्यामि साधनं परमं प्रिये ।।३८।।

विधिनानुत्थितं पूर्वं मया च बरवर्णिनि।
अन्येषां देवि देवानां ब्रह्मादीनां च दुर्लभम् ।।३९।।

बिन्दुजीवजलाक्रान्तं वर्त्तुलं चन्द्रमण्डलम्।
बिन्दुप्राणानिलाक्रान्तं त्रिकोणं वह्निमण्डलम् ।।४०।।

[53a] आपूर्य वामया नाड्या (द्) मुञ्चे (नासिक्या?) दक्षिणयाबहिः।
पुनर्दक्षिणया(ऽऽ)पूर्य बहुशो वामया त्यजेत् ।।४१।।

एवं विशुद्धनाडीक (:) कुम्भकामां (कुम्भकेन) शतं शतम्।
कुर्याद् बहिः हंसेन सहजेनान्तरस्थितम् ।।४२।।

स पश्यति जगत्कीर्णं तेजसः परमाणुभिः।
दृष्टेति प्रत्ययं कुर्यात् प्रत्येकमयुतं यदा ।।४३।।

तदा पश्यति नासाग्रे हृदयेन्दोज्ज्वलं सहः।
तयोः संचिन्तयेद् ऐक्यं तथात्मानं स पश्यति ।।४।।

अतिमग्नं मनः कुर्यात् प्रत्येकमयुतं यदा।
तस्मिन् पर्युष्टकात्मके..................
ततः स प्रियसंगत्या द्रुतामप्य (?) दीप्यति ।।४५।।

शक्तिबन्धकप्रयोगेण सप्तरात्रं निरोधकः।
कोदण्डद्वयमध्यस्थं बिन्दुनादेन भेदयेत् ।।४६।।

एवमभ्यसतस्तस्य प्रत्ययः संप्रजायते।
याममात्रा ध्रुवं त्यक्ता (?) गमने भव(ति) स्थितः ।।४७।।

द्वादशान्ते दिनार्धेन दृष्ट्वा साक्षान्महेश्वरम्
सम्प्राप्य प्रियसाङ्गत्यं शिवसायुज्यमप्नुयात् ।।४८।।

सुख(मा)सनासीनः सकलीकृतविग्रहः।
किञ्चिदभ्युन्नतोरस्को मयूराञ्चितमस्तकः ।।४९।।

विस्रस्तां सः स्थिरो भूत्वा रसनां घटिकाबिले
संयोज्य परमेशानि ध्यानं कुर्याज् जितेन्द्रयः ।।५०।।

अत्यन्तं निपुणां कुर्यात् सुषुम्णान्तर्गतं मनः।
शक्तिक्षोभान्ततस्तस्य परो(ऽ)भिव्यज्यते ध्वनिः ।।५१।।

नदेव सद संबीजं तत्र संयोजयेन् मनः ।
क्षणात् क्षौर्णीं परित्यज्य गगने भवति स्थिरः ।।५२।।

मूहूर्त्ताद्वीक्षते सर्वं तेजमयमिदं जगत्।
याममात्रं नदा तेजस्तदेव परिपश्यति ।।५३।।

[53b] तदा तस्य निवर्तन्ते निखिलाश्चित्तवृत्तयः।
यामलं यमसङ्कल्पो यदा स्थाणुवद् आस्थितः।।५४।।

यदा ब्रह्माण्डभाण्डस्य सर्वं प्रत्यक्षमीक्षसे (°मीक्षते?)।
अहोरात्रेण सर्वाणि साक्षात् तत्त्वानि पश्यति ।।५५।।

तद्रुपःपश्यति परिषतः (परितः) तदाऽसौ जायते शिवः।
नियोज्य घन्टिकारन्ध्रे रसनां निश्चलात्मिकाम् ।।५६।।

भ्रूमध्ये चक्ष्ण....... (चक्षुयुगलं) स्थिरं कृत्वा मनोहृदि ।
क्षीरोदार्णवनिमग्नं पद्मद्वये पुटीकृतम् ।।५७।।

पिबन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण क्षीरधारामृतं हिमम्।
रोमकूपैर्विनिर्गत्य कोटिशः क्षीरबिन्दुभिः ।।५८।।

अमोघपाण्डुरन्तस्थमिवात्मानं विचिन्तयेत्।
अजरामरतामेति मासमात्रा(न्) न संशयः ।।५६।।

मासावधि महेशानि योगमेकं शिवोदितम्।
दिने दिने द्वयामान्तं (द्वियामान्तं) यामान्तं वा समुच्चरेत् ।। ६०।।

एकेनैव तु योगेन भुवनान्तमनुव्रजेत्।
द्वितीयेन तु योगेन सप्तद्वीपावलिं व्रजेत्।।६१।।

तृतीयेन तु योगेन शिवलोके महीयते।
अतीत्य सकलान् लोकान् प्रथाभोगान्यः
(पृथग्भोगानि) भुज्यच।। ६२।।

शरीराय महायोगी चन्द्रद्वीपे सुखं वसेत्।
श्रीदेव्युवाच -
अक्षयं वाचकं लोकं वद देव महेश्वर ।।६३।।

(श्री ईश्वर उवाच)—

शिवपूर्वं मया ख्यातं किं न बुध्यसि पार्वति।
त्रैलोक्यं ज्ञायते सर्वं सहस्रयुगपर्यये ।।६७।।

कल्पारव्यं ब्रह्मणस्स्थानं वैकुण्ठं चैव वैष्णवम्।
कैलाशं रुद्रसंस्थानं क्षीयते च महाक्षये ।।६८।।

अक्षयं चन्द्रद्वीपं तु यत्र देवी कुलनंविका (कुलाम्बिका)।
तिष्ठते (अ)त्र मया सार्धं सत्यं सत्यं महातपे ।।६६।।

[54a] योगिन्यस्तत्र या देवी सिद्धाश्च वरवर्णिनि ।
इच्छारूपधरा सर्वे सर्वे चामोक्षशक्तयः (चामोघशक्तयः) ।।६७।।

स्वतन्त्रा(श्च) स्वरूपाश्च सर्वे कुब्जेश्वरप्रभाः ।
किमत्र बहुनोक्तेन जल्पितेन पुनः पुनः ।।६८।।

क्षपयात्त(द्) विहीनं तु चन्द्रद्वीपं वरानने।
तत्क्षये यौवनान्दः क्रीडते स्वेच्छया प्रिये ।।६९।।

कल्पकोटि प्रातैस्तस्य (°शतस्तस्य) क्षयो नैव प्रजायते।
न च सांसारिका व्याप्तिः स्वस्य भूयः प्रवर्तते ।।७०।।

पशुमार्गस्थितो नित्यं योनियोन्यन्तरं व्रजेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुं तोष्य महेश्वरि ।।७१।।

प्रबोधव्यमिदं शास्त्रं संसारं तर्त्तुमिच्छता।
येन सिद्धिमवाप्नोति सत्यं सत्यं न संशयः ।। ७२।।

।। इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायाम अष्टादशः पटलः ।।

।।एकोनविंशः पटलः।।

ईश्वर उवाच —

अकृत(अ)भ्यासयुक्तानां योगीनां सिद्धिमिच्छताम् ।
ध्यानयोगं प्रवक्ष्यामि जरा-मृत्यु-गदापहम् ।।१।।

अकलङ्कोज्ज्वलत् शीतकिरणांभोदरस्थितम् (?)
शरीरं चिन्तयेन् मासाद् वलीपलितनाशनम् ।।२।।

शुद्धेन्दुविम्बहृन्मध्ये श्रवन्तममृतं स्मरेत् ।
अमृतेन स्वकं देहमापादतलमस्तकम् ।।३।।

स्नाप्यमानं स्मरेद् अङ्गं तर्पयेत् सुधया तथा ।
तदर्धमात्रा ....स्वं सौकुमार्यं गदक्षयम् ।।४।।

वलीपलितनाशश्च भविष्यति सुरार्च्चिते ।
कञ्जनाशाद् अधोदेशे करंधादूर्ध्वमेव च ।।५।।

पूवोक्तमण्डलौ शीतसुधावृष्टिसमन्वितौ ।
मूलबीजौज्ज्वलत् शीतसुधावृष्टिविनिर्गतैः ।।६।।

सुधासागरसंल्लीनां भसरन्तः(?) विभावयेत् ।
अन्तरङ्गमशेषं तु ब्रह्मरन्ध्रेन्दुनिर्गतैः ।।७।।

[54b] परामृतैर्ब्रह्मरन्ध्रा नाडीविलनिवेशितैः ।
तर्पयेदात्मनो बीजं देवताश्च शिवे धिया ।।८।।

अन्तरङ्गमशेषं तु तत्सुधावृष्टिपूरितम् ।
परिभाष्य सलोमाखा (?) मार्गकोटिविनिर्गतैः ।।९।।

सुधावृष्टिभिरेकं च बाह्याभ्यन्तरयोः स्मरेत् ।
तत्र (तन्) मध्ये समुल्लीनमात्मदेहं तदात्मकम् ।।१०।।

तर्पयेदात्मसुधया ब्रह्माण्डमखिलं शिवे ।
तत्सुधातृप्तिसन्तृप्तं परमानन्दधीमयम् ।।११।।

ब्रह्माण्डमखिलं चेदं आत्मदेहं विचिन्तयेत् ।
वेष्टयेत् सुधया देवि श्रियः सुस्निग्धशीतया ।।१२।।

अनेन देवि योगेन षण्मासाद् अजरामरः ।
लोहितं नवमं वर्णं सबिन्दुममृतात्मकम् ।।१३।।

नेत्रयोः परिसंचिन्त्य तत्सुधावृष्टिरश्मिभिः ।
ब्रह्माण्डमखिलं ध्यायेद् आत्मदेहं समर्पितम् ।।१४।।

त्रिवर्षध्यानयोगेन निर्विकल्पेन चेतसा ।
सप्तसप्तान्तलोकानि सप्तजन्म च दृश्यते ।।१५।।

पयः पयोमयाम्भोधौ लीनमात्मकलेवरम् ।
नित्यं चिन्तयतो वर्षात् स्याद् वलीपलितक्षयः ।।१६।।

ब्रह्मरन्ध्रामृताधारस्रवत् परसुधामृतैः ।
संसिच्यमानं षण्मासात् ध्यायन् देहं जरां जयेत् ।।१७।।

स्वदेहं चन्द्रसंकाशं अकलङ्कं सुधामयम् ।
ध्यायन् वर्षार्धतो योगी वलीपलित स्र (?) भवेत् ।।१८।।

सप्तचन्द्रसमो विवात् (विद्यात् ?) सकलङ्कामृतप्लुताम् ।
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं षट्पद्मेषु प्रभावयेत् ।।१९।।

वेदषदलसूर्येन्दु (?) कला द्विशतसंख्यया ।
पत्रैरक्षरसंलीनैरमृतकैर्वृतेषु (?) च ।।२०।।

[55a] एकत्र चिन्तयेत् तेषां मण्डलानामनुक्रमात् ।
अवच्छिन्नवदाधाराद (अवच्छिन्नधारावद्)
ब्रह्माण्डावधि पार्वति।।२१।।

प्रज्वलत् कोटिचन्द्राभं आत्मदेहं तदात्मकम् ।
चिन्तयेदमृतासिक्तां योगी योगप्रसिद्धये ।।२२।।

षण्मासाद् वलिशौत्त्यादीन् (वलिपलितादीन् ?) नाशयेच् च गदान् अपि ।
वांच्छात्यंतर्गता (?) यान्ति दुःखान् मुच्येत वै विषात् ।।२३।।

स(मा)त् सर्वज्ञताप्राप्तिरष्टाद् ईश्वरसंन्निभः ।
खेचरत्वं भवेद् देवि अणिमादिप्रपूजितम् ।।२४।।

विभिद्य योगिनी द्वारं वागीश्वर्या सुखासनः ।
कुम्भकावधि संजाप्य गमागमविभेदतः ।।२५।।

षण्मासाद् वलिपलित्वं नाशयेद् वत्सरत्रयात् ।
सर्वज्ञगुणसंतृप्तो द्वादशाब्दाद् हि प्रभुः ।
जरामृत्युगदैस्त्यक्तो भविष्यति न संशयः ।।२६।।

।।इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायामेकोनविंशः पटलः।।

।।विंशः पटलः।।

कार्मुकद्वयमध्यस्थं मैहिरं (?) मण्डलं प्रिये ।
ध्यायेन् मासावधि तदा रोगयुग्मक्षयं नयेत् ।।१।।

षण्मासाद् इन्द्रसाम्यः स्यात् अब्दाद् विणु (विष्णु) समो भवेत् ।
षड्वर्षाद् रुद्रसाम्यः स्यात् दशाब्दाद् अतिप्रभ (अतिसंप्रभः) ।।२।।

जायते नियतात्मा चेत् सत्यं सूर्यानुभावनम् ।
..........रक्तामृतपरिप्लुतम् ।।३।।

ध्यायन् वर्षार्धमात्रेण जायते ह्यजरामरः ।
मूलाधारे स्मरेद् देवि ज्वलन्तं रविमण्डलम् ।।४।।

तत्प्रभापटलं व्याप्तं शरीरं परिचिन्तयेत् ।
नदेह ब्रह्मरन्ध्रे च ध्यायेद् हृत्कमले(ऽ)पि च ।।५।।

मूले बिम्बे च च्छद्विवं (?) ब्रह्मरन्ध्रगतं तथा ।
अन्योन्यप्रभयाश्लिष्टान् शरेरेकत्रमात् (°क्रमात्) स्मरेत् ।।६।।

तन्मयं चिन्तयेद् देहे हियमांतं (द्वियामान्तं) दिने दिने ।
षण्मासादणिमादीनाम् आधिपत्यम् अवाप्नुयात् ।।७।।

[55b] सर्वज्ञत्वं च लभते त्रिवर्षात् सूर्यसन्निभः ।
त.....वीतः स्मरेज्जीवं ज्वलद् दीप्तशिखाकृतिम् ।। ८ ।।

तृड्बाधवलिपालित्यमृत्युव्याधिभयं हरेत् ।
वर्षात् सर्वज्ञको भूत्वा वसेद् योमाकंणोर्ध्वके (?)।।९।।

सर्वामरशिरोरंघ्रदन्तांघ्रिद्वयपङ्कजः ।
सर्वगुणसम्पूर्णः सपिण्डो भवति प्रिये ।।१०।।

सहस्रकिरणान्तस्थम् आत्मानं सुस्थिरं स्मरेत् ।
ब्रह्मरन्ध्रपरं विम्बं भावयन् निर्विकल्पधीः ।।११।।

तद् रश्मिजालैः संच्छिन्नं देहमीश्वरि भावयेत् ।
ताभ्यामावेष्टितं देहं तेजरूपं वरानने ।।१२।।

दीप्तं दीप्तशिखाकारं बिम्बद्वयपुटीकृतम् ।
दुभिधि-तेजोन्दुगतं (?) भावयेत् कुंभकावधि ।।१३।।

ब्रह्मद्वारार्गलं भित्त्वा सुखिरोर्ध्व(सुषिरोर्ध्व)मुखेन च ।
शीतलामृतकल्लोलधारावृष्टिकुलामृतम् ।।१४।।

पीत्वा पीत्वार्करन्ध्रेण तत्सुधातृप्तिमोदितम् ।
चिन्तयेद् आत्मनो रूपं ज्योतिर्लिङ्गवद् आस्थितम् ।।१५।।

तदण्डाभ्यन्तरं सर्वे अमृतपूरितं (सर्वममृतापूरितं) स्मरेत् ।
तत्र मध्यगतो योगी गन्धाख्यगुणपूरितम् ।।१६।।

सर्वाधारमशेषं तु धारातन्त्वं (धरातत्त्वं) न विस्मरेत् ।
वाण्यांतसुगणाधारा (?) जलतत्त्वमशेषकम् ।।१७।।

तथा रूपगुणोदारं तेजस्तत्त्वमरोषकम् ।
नेत्रत्रयेषु सञ्चिन्त्य स्पर्शाख्यगुणपूरितम् ।।१८।।

वायुतत्त्वमशेषं तु श्वासमात्रं स्मरेच्छिवे ।
शब्दाख्यगुणसंजुष्टव्योमतत्त्वमशेषकम् ।।१९।।

श्रुतिस्थाने स्मरेद् योगी सशनैर्हत्य बाह्यकान् ।
ज्वालाण्डमध्यसंल्लीनं देहं विश्वमयं स्मरेत् ।।२०।।

[56a] स्वदेहमध्यसंल्लीनं ब्रह्माण्डमिदमव्ययम् ।
लयादिप्रलयान्तं च ग्रसेत् कालं च लीलया ।।२१।।

एकीभावेन सुदृढं बद्ध्वा पद्मासनं स्मरेत् ।
चिन्तयेत्कालकलुषैर्मुक्तदेहं निरामयम् ।।२२।।

तदा तद् दण्डमीशानि स्मरेन् सुश्विर (?) वर्जितम् ।
तदा कालभयं ग्रस्त्वा शिववस्त्वेच्छया (शिववत् स्वेच्छया)
वसेत् ।। २३।।

अनेन देवि ध्यानेन वञ्चयेत्कालमागतम् ।
पृथिव्यादीनि तत्त्वानि स्वीकृत्वा (स्वीकृत्य) आस्ते
(स्यान्) निरामयः ।।२४।।

ध्यानस्यास्य समासेन फलं च श्रृणु पार्वति ।
स्फोटयेत्सैल (स्फोटयेच्छैल)वृक्षादीन् शोषयेज्
जलधीश्वरान् ।। २५।।

करोति लीलया काग्नि (चाग्नि)जलानिलनिवारणम् ।
शब्दतत्त्वं जपेद् योगी जरामरणवर्जितः ।।२६।।

त्रिकालज्ञ (:) स्वयं कर्त्रा सर्वव्याधित्वमाप्नुयात्।
मृतकोत्थापनं देवि दग्धसञ्जीवनं महत् ।।२७।।

सृष्टिस्थितिलयाधीशः सर्वत्र समदर्शनः
परकायप्रवेशं च (परकायप्रवेशश्च) खेचरत्वं विशुद्धता ।।२८।।

क्षुत्तृषादाहनिर्मुक्तो स्वो ....छया वशेत् ?।
अप्रमेयबलो योगी दुर्विज्ञेयमति (:) प्रभो (प्रभुः) ।।२९।।

षण्मासा(द्) ध्यानयोगेन नित्ययुक्तेन पार्वति ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यं सत्यं न संशयः ।
महाक्षयेष्वपि च वै क्षयं नैव प्रजायते ।।३०।।

इत्थं सहत्य(संहत)सर्वचित्रविषयस्याशेषविश्वात्मनः ,
संविद् भावमणे (भावमणौ) सकारणमहायोगे चिरं तिष्ठतः ।
मेरौ सर्ववदर्णवे चुलकवत् खद्योत(व)द्भास्करे,
ब्रह्माण्डवदहोनि (?)..................कौतुकं योगिनः ।।३१।।

।।इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां विंशः पटलः।।

प्राणायाम निरोधन[१३८] करई अैसै वज्र कपाटही जरई ॥६०६ ॥
अैसै महावेध यह धारै यामे मायाबीज उचारे ।
अजपाबीज जपै पुनि जोई सहस्त्रकमलदल फूलै सोई ॥६०७ ॥
अैसै बुधि [१३९]अमलता पावै बहुरौ सहज समाधि लगावै ।
आगै गोप्य[१४०] रहै कछू नाही जयतराम या मुद्रामाही ॥६०८ ॥
॥इति महावेध मुद्रा ॥

अथ सप्तदसमी खेचरी मुद्रा ।

खेचरी मुद्रा बरन सुनाउ सब मुद्रामहि सार लखाउ
जयतराम गुरुमुख सधि आवै याते जोग समाधि ही पावै ॥६०९ ॥
जिभ्या उलटि कपाल चढावै भुवकै मधि द्रिष्टि ठहरावै ।
आसन साधि जुगति यह रहिये खेचरी मुद्रा तासौ कहिये ॥६१० ॥
बहरो खट अंग याके जोई तिनकौ वरनि सुनाऊ सोई ।
छेदन चालन मथन प्रवेशन दोहन मंत्र पढै द्रिढ करि मन ॥६११ ॥
को एक रिषजन अैसै [१४१]गावत साधन द्वादस बरस बतावत ।
अैसी भांति क्रिया जब सधै अंगुर च्यारि खेचरी वधै ॥६१२ ॥
द्वादस वर्ष क्रियामें रहिनौ अतिही कठिन खेदकौ सहनौ ।
ताते गुरुक्रिपा हम पाई याकी सुगम उपाय बताई ।
साधन मास षटही जो करै बढै खेचरी बिंद न टरै ॥६१३ ॥

अथ प्रथमे छेदनचालन कहिये है ।

चौपाई— सुनही पत्र सम सस्त्र धरावै ताकैहि पत्र गजवेल मगावै ।
अति तीक्षण उजलि अति करै सो ले जिभ्याकै तरि धरै ॥६१४ ॥
जिभ्यामूल बालसम छेदे आठै आठै दिनमै भेदै ।
साधिक हाथिमित्र [१४२]पुनि भेदे अथवा [१४३]गुरुवा आपही छेदे ॥६१५ ॥

---

१३७. चंद्रसिधानि (भां) *१३८. निरोधनि (भां)*
१३९. बुध (ना.) *१४०. गोपि (ना.)*
१४१. वरष द्वादसकिरियाओ गाहत (ना.) *१४२. कर देवे (भां)*

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

जिभ्यातले सुखमना नारी ताकौ छेदन करे विचारी ।
अैसी भांति छेदना कहिये याके किया वृधिता लहिये ॥६१६ ॥
इडा [१४४]पिंगुला सुखमना जानु तीनौ नाडि जिम्यातरि मानु ।
जिभ्या अणी [१४५]सुचालन करावै तीनो नाडि प्रगट होय आवै ॥६१७ ॥
हरडे सिंधव सूठ जू आनै [१६६] चूरण क्रर जीभतर ठानै ।
कछूक जीभ अर्थ करि लेवे वाती सूत्र की तरि देवे ॥६१८ ॥
जिभ्या माहि अमी नित आवै तातै छिद्र तुरत मिलि जावै ।
यातै वासी करै जु जोई छिद्र मधि धरि राखै सोई ॥६१९ ॥
ऐसै साधन नितप्रति साधै षटमास लग जे आराधै ।
आठ दिवस प्रति छेदन ठांनौ वार चौईस अैसी विध जानौ ॥६२० ॥
यामे अल्प अहारही लेवै दूधभात भखि सब तजि देवै ।
भोजन करत जुगति यहि ठाने वाती ले मुख बाहरि आनै ॥६२१ ॥
जिभ्या सदा उर्ध करि राखै गुरु उपदेस मंत्र मुख भाखै ।
यह क्रिया षटमास करावै जिभ्या अंगुर च्यार बढावै ॥६२२ ॥
ब्रह्मरंध्रमै पहुचै सोई गुरुमुख साधन साधे कोई ।
जयतराम छेदन यों जानौ ताकै पीछै दोंहन ठानौ ॥६२३ ॥
॥इति छेदन चालन ॥

अथ दोहन ।

दोहा— ब्रह्ममहूरत उठ करि बैठ ऐ करिंत जाय ।
जयतराम ताही समै जिभ्या दोहन थाय ॥६२४ ॥

चौपाई— मुखतैं जिभ्या बाहरि आने दोऊ[१४७]करसौ दोहन ठांनै ।
जथासक्ति खैचे पुनि जोइ याते वृधि [१४८]लहै पुन सोई ॥६२५ ॥
बहुरि दछिनकर अंगुष्ट जानौ सो ले मुखकै माही आनौ ।
चणक प्रमाण सिवलिंगही धोवै अैसीभांति अमल सो होवै ॥६२६ ॥

१४३. गुरकै आपही लेवे (भां) *१४४. प्यंगुला (भां)*
१४५. सुमथन (भां) *१४६. चूर्ण करै जीभ तरि ठांनै (भां)*
१४७. हाथस्यौ (भां) *१४८. वृध (ना.)*

T CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अैसै जिभ्या मारग पावै ब्रह्मकपाट तुरत खुलि जावै ।
बहुरौ अंगुष्ट उर्ध चलावै [१४९]तालूमध्यहि आनि ठहरावै ॥६२७ ॥
बहुरि काढि मुखबाहरि आनै जलसो धोय पुनि मुखमै ठानै ।
नासाछिद्र लगावै जोई ताकरि सुधि विवर व्है सोई ॥६२८ ॥
बहुरों अंगुष्ट उर्ध चलावै [१५०] नासा केस लगी आनि ठहरावै ।
नासा सीवनिको सुधि करै अंगुष्ट उचौ बहुरौ धरै ॥६२९ ॥
ब्रह्म[१५१] विवरमें ले ठहरावै सुखमनका घर सुध करावै ।
नेत्रविवर अंगुष्टकौ आनै करै सुध अमलता ठानै ॥६३० ॥
नेत्रजोति यातें अधिकावै अरु पुनि नाडी सुध रहावै ॥
बहुरि तरजनी मुखमै आनै दसमै द्वारि ताकौ ले ठानै ॥६३१ ॥
नेत्रमूल के ऊपरि जोई ब्रह्मरंध्र का घर है सोई ।
चणक अंकुर प्रमाण तहां लहिये परम सिवलिंग तहां ही कहिये ॥६३२ ॥
ताको ताकरि सुधि जु करै ता पीछें पुनि उर्धज धरै ।
ऊर्ध छिद्र अवर इक जानौ सो भी ताकरि सुध जु ठांनौ ॥६३३ ॥
अैसी भांति जुगति यह धरै जिभ्या सिवलिंग दोहन करै ।
जयतराम बहुरौ यह जानै तै पीछै परवेसन ठांनै ॥६३४ ॥

अथ परवेसन विधि ।

चौपाई— सुस्तक आसन बैठक धरई स्वास रोकि सरीर सम करई ।
बंध उड्याण [१५२]कामवरु देवै बहुरौ उर्ध जीभ कों लेवै[१५३] ॥६२५ ॥
पूरव छिद्र कहै पुनि जोई सुध कीये अंगुष्ट करि सोई ।
सोसो जिभ्यासौ सुध करै क्रम-क्रम उर्ध [१५४]को ले धरै ॥६३६ ॥
ब्रह्मविवर लग ले ठहरावै ताकै जाय कपाट लगावै ।
तामै बिंद अहोनिस झरे देय कपाट ताकौ वसि [१५५]करे ॥६३७ ॥

---

१४९. तालू मधि (भां)
१५०. नासाकेस आनि (भां)
१५१. ब्रह्मधाममै (भां)
१५२. कामरु देय (भां)
१५३. लेय (भां)
१५४. उर्ध उर्ध (ना.)
१५५. थिर करे (भां)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अथवा नारि अलिंगन करई ताकौ बिंद न कबहु ढरई ।
कला खेचरीकी सब फुरै मासमाहि नाडी सुध करै ॥६३८ ॥
अनहद दूजै मासि प्रकासै तीजै मास काया [१५६]दिवि भासै ।
चौथे मास यहै फल होई देखै सुणै द्वरकी सोई ॥६३९ ॥
फुरै सरस्वती पांच मासा बालकरूपी मन व्है तासा ।
छठे मास शिवरूपी भयौ आगै [१५७]करणा कछू नही रहयौ ॥६४० ॥

दोहा— ऐसे प्रवेशन करै जिभ्या उर्ध चढाय ।
जयतराम ता पुरखको छटे मास सिध[१५८] थाय ॥६४१ ॥

॥इति प्रवेशन ॥

अथ मथन विचार ।

दोहा— तालुमूल सिवलिंग पुनि अथवा अग्निस्थान ।
[१५९]करि अंगुष्टतें तासको मथन त्रिसंध्या ठान ॥६४२ ॥

चौपाई— अथवा कील [१६०]धातमय करै मथै ताहि [१६१]करि सुधता धरै ।
मथन जु कांहु नाही दिखावे द्रिष्ट परै तो विघन[१६२] परावै ॥६४३ ॥
ऐसी भांति गुप्त करि राखै जो गुन ज्ञेय सो काहू न भाषै ।
[१६३]च्यार स्थान मथनके जानै जिभ्या करि जो मन जो ठानै ॥६४४ ॥
प्रथम अखिका जानौ सोई अरु दुतीये लंबिका होई ।
त्रितिये तालु नाम जु जानौ चतुर्थ नाम घटिको मानौ ॥६४५ ॥
जिभ्यामूल अंबिका जोई ताकी छेदन करे जानये सोई ।
ताकी वाति बाहरि आनै जिम्या उलटि मथन तहां ठाने ॥६४६ ॥
जिभ्या अणी अति तीछण जानौ सस्त्रहु ते अधिक करि मानौ ।
अग्नि नीर तत्व दोउ लहिये तिनकरि जिभ्या तीछणक ये ॥६४७ ॥
ताते अणीसों छेदन करई ताही समै मंत्र उचरेई ।
याकरि सहज वृधिता पावै बहुरि लंबिका मथन करावै ॥६४८ ॥

---

१५६. दिव (ना.) *१५७. फणै (ना.)*
१५८. पर ताथ (ना.) *१५९. कर (भा.)*
१६०. धातमध (ना.) *१६१. तासकरि (भां)*
१६२. विखनि पवारे (ना.) *१६३. From this line onwards six verses missing upto 650 in (भां)*

T CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

दसमै द्वारि लंबीका जानौ जीभ अणीसो मथन जु ठानौ ।
बहुरि उलटि कंठमधि लावै ताकरि स्वास उस्वास न आवै ॥६४९ ॥
सिवलिंग तालूका पुनि जानौ बहुरि तहां भी मथन जु ठानौ ।
जाप जीभ थिर कीवै वरषै अमी सु ताकौ पीवै ॥६५० ॥
घंटिका चणक अंकूर कहावै ताकौ मथै सो अनहद पावै ।
अैसै कामधेनमय जोई खेचरी मुद्रा कहिये सोई ॥६५१ ॥
च्यार स्थान मथन के कहिये सोई च्यारो थन करि[१६४]गहिये ।
तिनको दुहि अमी नित पीवै सो जोगी बहुत काल ही जीवै ॥६५२ ॥
जोगी मनोरथ पूरण होवै लहै प्रकास मूढता खोवै ।
जयतराम मथन यह कहियै गुरुकी क्रिपा तासकौ लहियै ॥६५३ ॥
॥इति मथन ॥

अथ मंत्र साधन ।

चौपाई— षटअंगसहित खेचरी कहिये तिनमै मंत्र अंग बड लहिये ।
जो कोई मंत्र अंग को साधे षटअंगन कौ सो भल लाधै ॥६५४ ॥
मेलकमुद्रा लागै सही अनंत कालमै जो सिध कही ।
षटही मासमांहि सो लगै जाकै मंत्र हिदा में जगै ॥६५५ ॥

अथ मंत्र आवाहन ।

अथ श्री खेचरी स्मर्यामीति अस्य श्री खेचरी मंत्रस्य
कपिल ऋषि श्रीमन्नारायण देवता सिध अनयासेन
खेचरी मुद्रा साधनसिध्यर्थं जपे विनयोग:
-हां -हीं -हुं -हैं -हौं -हः ॥ इति मंत्र ॥

अथ न्यासः ।

चौपाई— गं हृदयायनमः इति कहिये सं शिरसे स्वाहा[१६५]उच्चरये ।
नं शिखाय वौषट् पुन जानौ मं कवचाय इसी विधि मानौ ॥६५६ ॥
हुं नेत्रत्रयाय वौषट् लं अस्त्राय जानिये फट् ।
॥इति न्यास ॥

---

१६४. के कहिये (-ना.) *१६५. लहिये (भां)*

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अथ षडंग ध्यान —ह्वूं — ह्रीं

आधार चक्र वरन है जोई खेचरी मुद्रा कहिये सोई ।
मुद्रा राजहंस सो लहिये गगनवास ताको पुनि कहिये ॥६५७ ॥
आनंद बीजरूप सो जानो अरु पुनि सिबकी सक्ति जू मानौ ॥
ब्रह्मलोक जननी है जोई करौ स्तुति जौर [१६६]करि दोई ॥६५८ ॥
॥इति षडंग ध्यान ॥

अथ पानमुदक्षण ।

चौपाई— सिधासन करि बैठक ठानौ बहुरि जुगतिविधसौ तहां जानौ ।
मूलद्वार कुंडलनी जोई ताकौ चांपि जगावै सोई ॥६५९ ॥
बहुरि वहां ते उर्ध चलावै प्राण अपान [१६७]तामधि मिलावै ।
षटचक्रकों वेधे जोई ब्रह्मध्यान करै तहां सोई ॥६६० ॥
बहुरौ जिभ्या उर्ध चढावै षटछिद्रनकै पाट लगावै ।
सकल पवन कौ उर्धही आने लेकरि ब्रह्मरंध्र में ठाने ॥६६१ ॥
ऐसीविधी आनंद बढावै सो जोगी समाधिसुख पावै ।
सूर्यतेज चंद्र धरि आनै चंद्र अमी की वर्षा ठानै ॥६६२ ॥
सोई अमी सु [१६८]अधकौ आवै सुखमन तंतु [१६९]माहि समावै ।
षटचक्रनमधि बरसै आई तासौ देह पुष्ट रहै भाई ॥६६३ ॥
जोगीअजर अमरता लहै ईश्वरभाव सकलही गहै ।
याकी महिमा सिव अति भाखी सो पुनि [१७०]मुखसो जाय न आखी ॥६६४ ॥
॥इति पानमुदक्षण ॥

अथ अवखदी वरननं ।

बहुरि औखदि[१७१] वरनि सुनाउ दिव्य दिव्य प्रगट कहि गाऊ ।
अवखदिविना[१७२] सिध नही लहै तातै जोगी अवखदि नित गहै ॥६६५ ॥

---

१६६. कर (भां) *१६७. करै तहांमधि (ना.)*
१६८. अर्धकौ (भां) *१६९. सु माह (भां)*
१७०. मुनमुखसौ (ना.) *१७१. अवषध (भां)*
१७२. अवषधविना सिधि (भां)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

भृंग समूल संग्रह आनै ताहि सुकायरु चूरण ठानै ।
क्रिष्णतिल आमल दधि लेवै मधित्रिय सकल कौ सेवै ॥६६६ ॥

दोहा— रोगव्याध सबही कटै जरामृत्यु मिटि जाय ।
जयतराम अवखद भखै तो ये ता गुण थाय ॥६६७ ॥

चौपाई— एक एक निर्गुडी पात दिनप्रति तीने बेर जो खात ।
वरसवार है ऐसो होवै जरामृत्यु दोनूसों खोवै ॥६६८ ॥
निर्गुडी नलनी अरु मूंडी समकरि वनतै ल्यावै ढुंढी ।
बहुरि सर्करा घृत जु मिलावै वरसदिवस साध्या सिध पावै ॥६६९ ॥
षटमास गंधक सो धरै[१७३] तिलकरु गोलोचन सम करै ।
मधुत्रय जुक्ति चूर्ण करि खावे अजर अमर पदवी सो पावे ॥६७० ॥

अथ [१७४] रहनविधान ।

चौपाई— प्रथम एकांत मढी एक ठाने वनग्रह माहि जहां मन माने ।
षटमास आसन द्रिढ धरै प्राणीमात्रसौ बात न करै ॥६७१ ॥
मंत्र जाप निसदिन ही उचारै चावल पय भखि लूण निवारै ।
[१७५]नागरवेल भूलि [१७६]नही खावे कछुक मींठो भोजन पावै ॥६७२ ॥
पूरब अवखद वरनी जोई साधन करै तासकौ सोई ।
दिवस सातवे रवि दिन आवै ता दिन छेदन जु करावै ॥६७३ ॥
पाखि पाखि प्रति दोहन करै मथन अहोनिसही मन धरै ।
अैसैं करत मास षट जावे वृद्ध खेचरी तबै पावै ॥६७४ ॥
अंगुर च्यार जीभ [१७७]बढावै भक्तिमुक्ति दोउ फल पावै ।
कृत्य कृत्य सोई नर होय जन्ममृत्यमल डारै धोय ॥६७५ .॥

दोहा— ग-योजु तावा उपरै बूंद एक धरि देह ।
जयतराम सो कनक होय खेचरि [१७८]का गुण येह ॥६७६ ॥
॥इति खेचरी मुद्रा ॥

---

१७३. रुद्रलोचन (भां) *१७४. रहिन (ना.)*
१७५. नागरवेलि (भां) *१७६. मूलि (ना.)*
१७७. बढि आवै (भां) *१७८. खेचर (भां)*

T CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

जो यहु कुंभक द्रिढ करि साधै सावधन गुरुमुख आराधै ।[२९२]
मुद्रा चतुरवीस सधि आवै कुंभक अष्ट श्रमहि विन पावै ॥८५६ ॥
॥इति कपालसोधन ॥

अथ खेचरी वर्णन ।

चौपाई— बहुरि खेचरी मुद्रा जोई महागोप्य प्रगट कहौ सोई* ।
इडा पिंगला वाई भरै भिश्रक भांति कपालमै धरै* * ॥८५७ ॥
पुन कपालतै बाहरि ल्यावै पवनक्रिया तबही सध आवै ॥**
क्रियासहित मोहि गुरदई स मै वरनि प्रगटहि कही* ॥८५८ ॥
याही तै षटचक्र विकासै सकल कुवृत्य चित्तकी नासे ।*
जोग समाधि सहजही पावै जयतराम सब दोष मिटावै* ॥८५९ ॥
॥खेचरी मै सुखमना भेद ॥

अथ सुखमना वरनन ।

चौपाई— गुदा वृषण बिचि [२९३]ढौर जु जोई जोनि स्थान कहावै सोई ।
तीन नाडि तामधि रहावै ताकौ भेद गुरुमुख पावै ॥८६० ॥
वाम भाग[२९४] मै इडा जु कहिये दछन नाडि पिंगुला लहिये ।
मधि सुखमना अति सुखरूपा साधै ताहि मिटे भवकूपा ॥८६१ ॥
सो पुनि बढि वेलि जीम आई दसम द्वारलगि पहुती जाई ।
बहुरौ और अंग भये याके कहौ प्रगट गोप्य नही राखै[२९५] ।८६२ ॥
[२९६]मेढुस्थान सिसन भयो सोई सिसन तंतु प्रगट कह्यौ आई ।
नाभि स्थान वढी इक आई [२९७]नाम कुंडली शक्ति कहाई ॥८६३ ॥

---

२९२. सावधान गुरुमुख आराधे जो इ कुंभक द्रढ करि साधै (ना.)

** These lines bear yellow pigment in (भां)*

*** These lines are missing in (भां)*

२९३. गैल (भां)

२९४. दिसामै (ना.)

२९५. ताके (भां)

२९६. याकौ एक अंकुर बढायौ ताकर सिसन प्रगट है आयौ (भां)

२९७. नाभि (नां)

T CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

सो पुनि सर्पाकार विराजत कुंडल[२९८] कीये तहां पुनि [२९९]राजत ।
ताकौ मुख अति तीछण भारी मोक्षद्वारि गहि रही जु नारी ॥८६४ ॥

दोहा— महासक्ति यह मोहनी बैठी वपु दोय धारि ।
माया होय जग मोहि यो घटमै मोक्षद्वारि ॥८६५ ॥

॥इति सिसन कुंडलीनी ॥

अथ खेचरी वरनन ।

चौपाई— बहुरि नाल इक मुखमै आयौ सो तिन नाम खेचरी पायौ ।
जिह्वा नाम तासको कहिये याके सधे समाधि जु लहिये ॥८६६ ॥

दोहा— जिह्वा इंद्रिय एकही सुसमन याकौ नाल ।
उलटै ताहि कपाल मै ताहि न गंजै काल ॥८६७ ॥

चौपाई— रसना अधोमूल पुन जहा छिद्र सहित त्रय नाडी तहां ।
धार अखंडित तिनकी आवै ताकरि जिह्वा सजल रहावै ॥८६८ ॥
तालूमध्य छित्र त्रिय ओर बोलत जीभ लगै तिह ठौर ।
तिनकरि अमी निरंतर आवै मुख अरु वकना सजल रहावै ॥ ८६९ ॥
जिभ्या अगर छिद्र त्रिय जानौ पीवत अमी निरंतर मानौ ।
सोई अमी सरीरमधि आवै तासो जोगी अमर रहावै ॥८७०* ॥
जब ही यह अमी सुख जावै तबही देह नास को पावै ।
तातै जोगी जुक्ति अराधै खंडन काल खेचरी साधै ॥८७१ ॥

दोहा— अैसी अद्भुत नारि है अंग अंग में सोय ।
जयतराम गुरुमुख लहै तो साधन सिध होय ॥८७२ ॥

॥इति खेचरी भेद ॥

अथ खेचरी साधन वरनन ।

चौपाई— गुदा वृषण मधि नाडि जु जोई पूर्व वरनी कही है सोई ।
तिनमै मधि सुखमना नारी मोक्षद्वार सो देत उघारी ॥८७३ ॥
प्रथम ही मूलबंध द्रिढ देवै सिसनवाट वाई भरि लेवै ।
सो ले वाइ उदरमै राखै मुखकरि बीज खेचरी भाषै ॥८७४ ॥

---

२९८. कुंडिलि किया (ना.)

२९९. साजत (ना.) This verse is missing in (भां)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

बहुरि मधि की सुखमन नारी एडी करि चापे जु विचारी ।
सिसन बंध याही तै लागे कुंडलनी सूती पुन जागे ॥८७५ ॥
जैसे [३००] भस्त्रक मिलै जु कोई वाई भरे सरल सो होई ।
याही भांति सुखमना सोय सर्व ठोरते सुधी होय ॥८७६ ॥
वाय अपान उरध कौ आवै प्राणवाय मै आण समावै ।
याही भांति प्राण तजै चलै सो पुनि आनि अपानै रलै ॥८७७ ॥
यातै सिसन जु लघुता पावै जिह्वा सहज वृधि होय आवै ।
अनंग जीत जो जोगी होवै सकल विकास देहके खोवै ॥८७८ ॥

दोहा— सब अंगन मै सार यह मुद्रा खेचरी सोय ।
मोक्षद्वार कुंडल तजै अरु समाधि सिधि होय ॥८७९ ॥
सब मुद्रा या माहि है कही जोग मै सोय ।
जयतराम याके सध्या दुरगम रहै न कोय ॥८८० ॥
॥इति खेचरी मुद्रा साधन ॥

अथ पूर्व साधन दिखाई है ।

चौपाई —

पूर्व खेचरी अैसै गाई छेदन चालन सहित बताई ।
मंथन दोहन [३०१] विधान पुन कह्यौ अैसी भांति वृधि तब लह्यौ ॥८८१ ॥
अति कलेस छेदन मै सोई अजुक्ति किया मूकता होई ।
तातै जोगी छेदन तजै चालन दोहन [३०२] मंथन सजै ॥८८२ ॥
ताहूमांहि जुक्ति यह धरै अवखध पंच आनि [३०३] सप्त करे ।
तिनकौ सार जिह्वा तरि देवे अवखध करि मंथन करि लेवै ॥८८३ ॥
याविधि दोहन चालन साधै छेदन तजै मंथन अराधै ।
बहुरि क्रीया पूर्व जो भाखी मूलबंध आदिक जे आखी ॥८८४ ॥

---

३००. भिश्रा बाल (भां) *३०१. हु पुनि (भां)*
३०२. मैथन (ना.) *३०३. सम (भां)*

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

तिन करि वृध खेचरी पावै या [३०४]आरंभ मै मन ठहरावै ।
करै अन्यथा लहै न सोई वृथा [३०५]श्रम करौ मत [३०६] कोई ॥
॥इति खेचरी मुद्रा की क्रिया ॥

अथ खेचरी सिधि कहिये है ।

कपालमधि त्रीघंटी जोई तिनकौ वरनि सुनाउ सोई ।
नासाविवर प्रथमही कहिये नेत्रविवर दुसरी लहिये ।८८६ ॥
श्रवणविवर तीसरे जानौ अैसी भांति त्रिघंटी मानौ ।
तामधि उलटि खेचरी ल्यावै त्रिघंटी करि सु उर्ध चढावै ॥८८७ ॥
अखंड धार अमृत जहां झरे सहस्रकमल नित वर्षा करे ।
सो पुनि जिह्वा पीवै जहां ब्रह्मानंद सु उपजे तहां ॥८८८ ॥
त्रिघंटी लग[३०७] रसना जावै सोई जालंधर बंध कहावै ।
अैसैही जे है [३०८]नवद्वार बंध भयै सब एक ही बार ॥८८९ ॥
कारजरूप वाय नव जोई नवद्वारनिमधि फिरती सोई ।
कारण प्राण माहि सो आई नाना गमन सकल छिटकाई ॥८९० ॥
याही भांति सकल जो वाई नाभिस्थान मिली सो आई ।
सुखमन मारग प्राण वस होई नाभिस्थान मिली सो आई ।
सुखमन मारग प्राण वस होई दसमै द्वारि पहुती सोय ॥८९१ ॥
जैसे वरिषा रुत जब आवै सरिता अधिक वेगसो पावै ।
मिले सिंधु मै शीघ्र सु जाई तदवत [३०९] ब्रह्म सु जोगी पाई ॥८९२ ॥
तिर्जग अरध कमल षट जोई वेध्या वाय सरल किया सोई ।
फूले सकल सुगंध अति वासी मनकी सर्व कल्पना नासी ॥८९३ ॥
जैसै वेली मै [३१०] जल देवै ताके फूल विकास जु लेवै ।
अैसै सुखमन वेली जानौ वारि समीर तहां पुनि आनौ ॥८९४ ॥

आरंभन (ना.) — *३०५. सरम (भां)*
३०६. मति कौही (भां) — *३०७. लंधि (भां)*
३०८. जे (भां) — *३०९. तब ब्रह्मानंद (भां)*
३१०. वेली जलमै (ना.)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

दोहा— अैसी गोप्य जू खेचरी कही प्रगट करि सोय ।
जयतराम गुरुक्रिपाते याको साधन होय ॥८९५ ॥

॥इति खेचरी मुद्रा ॥

अथ षटचक्र वरनन ।

ध्यान अजपासहित कहिये है ।

चौपाई— प्रथमही अजपा सो मन लावै ताकै जपै सकल सिध पावै ।
विनही जाप होत है जोई [३११]अजपाजाप कहावै सोई ॥८९६ ॥
सोहं सोहं सासोसास घटमै करै निरंतर वास ।
षट सत सहश्र इकीस जु आवै गुरुकी क्रिपा भेद सो पावै ॥८९७ ॥
सो पुनि ले घटमै उलटावै षटचक्रनमधि आनि मिलावै ।
क्रमसौ जाप करै मन लावै जाविधि आग्या गुरुतै पावै ॥८९८ ॥

॥इति अजपा ॥

अथ षटचक्रवरनन ।

चौपाई— प्रथम चक्र आधार बखानू स्वर्न वर्न तासकौ जानू ।
सक्ति गणेश चतुर्दल सोई वंशंषंसं अक्षर होई ॥८९९ ॥
तपत स्वर्णमय ध्यान जु धारै षटसत तामधि जाप उचारै ।
सोई जाप गणपति को दैवै निर्भय होय चरण पुनि सेवै ॥९०० ॥

॥इति आधारचक्र ॥

अथ स्वाधिष्ठान चक्र ।

स्वाधिष्ठान चक्र पुनि दूजा तेजमनो विजुरी को पूजा ।
षटदल षट तहा अक्षर राजत बंभंमंयंरंलं सहित विराजत ॥९०१ ॥
ब्रह्मासावित्री पुनि जहां षटसहस्र जप जपिये तहां ।
सो पुनि अजपा अजहि चढावै तिनके चरन सीसकौ नावै ॥९०२ ॥

॥इति स्वाधिष्ठान चक्र ॥

अथ मणिपूरक चक्र ।

त्रितीय चक्र मणिपूरक जोई नीलवरनमय जानो सोई ।
लक्ष्मीसहित विष्णु तहां राजत पीत वरन अति सोभा साजत ॥ ९०३ ॥

३११. अजपानाम (भां)

CC-0. RORI. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

The Khecarīvidyā of Ādinātha

A critical edition and annotated translation of an early text of *haṭhayoga*

James Mallinson

Routledge Studies in Tantric Traditions

The Khecarīvidyā of Ādinātha

The Khecarīvidyā of Ādinātha, a Sanskrit text dated to pre-1400 CE, teaches *khecarīmudrā*, one of the most important exercises of *haṭhayoga*, in which the tongue is inserted above the palate in order to drink the *amṛta* or nectar of immortality dripping from the top of the skull. It is said to bestow immortality, the ability to remain in deep meditation for long periods and the power of flight upon its practitioners. The text has been edited for the first time and has never before been accessible to an English speaking readership. It is accompanied by an introduction and an extensively annotated translation. The author has drawn on twenty-seven Sanskrit manuscripts and original fieldwork amongst yogins in India to demonstrate how earlier tantric yogic techniques developed and mutated into the practices of *haṭhayoga*. The work sheds new light on the development of *haṭhayoga* and explains its practices.

James Mallinson has a BA and DPhil in Sanskrit from Oxford and an MA in South Asian ethnography from the School of Oriental and African Studies. He has spent several years living with sadhus and yogins in India and now translates Sanskrit poetry for the Clay Sanskrit Library and yoga texts for YogaVidya.com.

Routledge Studies in Tantric Traditions

Edited by Gavin Flood

Professor of Religious Studies, University of Stirling

The *Routledge Studies in Tantric Traditions* series is a major new monograph series which has been established to publish scholarship on South, East and Southeast Asian tantric traditions. The series aims to promote the serious study of both Hindu and Buddhist tantric traditions through the publication of anthropological and textual studies and will not be limited to any one method. Indeed, the series would hope to promote the view that anthropological studies can be informed by texts and textual studies informed by anthropology. The series will therefore publish contemporary ethnographies from different regions, philological studies, philosophical studies, and historical studies of different periods which contribute to the academic endeavour to understand the role of tantric texts and their meaning in particular cultural contexts. In this way, the series will hope to establish what the continuities and divergencies are between Buddhist and Hindu tantric traditions and between different regions. The series will be a major contribution to the fields of Indology, Sinology, History of Religions and Anthropology.

Identity, ritual and state in Tibetan Buddhism
Martin A. Mills

The Khecarīvidyā of Ādinātha
A critical edition and annotated translation of an early text of *haṭhayoga*
James Mallinson

The Khecarīvidyā of Ādinātha

A critical edition and annotated translation of an early text of *haṭhayoga*

James Mallinson

Routledge
Taylor & Francis Group
LONDON AND NEW YORK

First published 2007
by Routledge
2 Park Square, Milton Park, Abingdon, Oxon OX14 4RN

Simultaneously published in the USA and Canada
by Routledge
270 Madison Ave, New York, NY 10016

Routledge is an imprint of the Taylor & Francis Group, an informa business

This edition published in the Taylor & Francis e-Library, 2008.

"To purchase your own copy of this or any of Taylor & Francis or Routledge's collection of thousands of eBooks please go to www.eBookstore.tandf.co.uk."

© 2007 James Mallinson

All rights reserved. No part of this book may be reprinted or reproduced or utilised in any form or by any electronic, mechanical, or other means, now known or hereafter invented, including photocopying and recording, or in any information storage or retrieval system, without permission in writing from the publishers.

British Library Cataloguing in Publication Data
A catalogue record for this book is available from the British Library

Library of Congress Cataloging in Publication Data
Ādinātha, 10th cent.
[Khecarīvidyā. English & Sanskrit]
The Khecarīvidyā of Ādinātha : a critical edition and annotated translation of an early text of hathayoga / James Mallinson.
p. cm. – (Routledge studies in tantric traditions series)
Includes bibliographical references and index.
ISBN-13: 978–0–415–39115–3 (hardback : alk. paper)
1. Hatha yoga–Early works to 1800. I. Mallinson, James, 1970- . II. Title.
BL1238.56.H38 A3513
294.5'436–dc22

2006033161

ISBN10: 0–415–39115–6 (Print Edition)
ISBN13: 978–0–415–39115–3

ISBN 0-203-93826-7 Master e-book ISBN

Contents

Preface

The original impetus for the work contained in this book, which is a revision of the doctoral thesis I submitted for examination in Oxford in 2003, was my wish to use Sanskrit philology to investigate Hindu asceticism. It was clear to me that the practice of yoga, and in particular *haṭhayoga*, was one of the traits shared by most of the ascetic orders that flourish in India today, and the one most suited to philological research. I thus sought a Sanskrit text on *haṭhayoga* to edit critically. Christian Bouy's masterful survey of haṭhayogic literature, *Les Nātha-Yogin et les Upaniṣads*, threw up various possibilities, and I settled on the *Khecarīvidyā*. Not only was it important to the yogic textual tradition - it is cited by several commentators and verses from it are used in later texts - but its beautiful and unique teachings describe a practice still used by yogins in India today, so I could draw on their insights to elucidate the text.

Furthermore, the *Khecarīvidyā* appeared to suit my purposes for two practical reasons. Firstly, according to the catalogues I consulted, there were seven manuscripts of it to be collated, an easily manageable number for a text three hundred *śloka*s long. Secondly, unlike most other texts on *haṭhayoga*, it taught a single practice, so I thought it would be relatively easy to understand. How misguided I was! By discovering more names under which the text was known and more ways of searching for witnesses, I ended up unearthing twenty-seven manuscripts of the text, and I soon realised that to get to the bottom of its teachings would require an understanding of a wide range of subjects, in particular the vast and dauntingly complex world of tantric Śaivism.

I could not have been in a better place for help in overcoming these problems. The presence in Oxford of my thesis supervisor, Professor Alexis Sanderson, had attracted a group of doctoral and post-doctoral students whose energy and enthusiasm for philological research into tantric Śaivism were a constant inspiration to me, and they helped to reassure me of the importance for understanding Indian religion of the often tedious business of collating and editing manuscripts. Many helped directly with this book but a few were particularly generous with their time and learning. I must first thank Professor Sanderson who was always ready to help me with his encyclopedic knowledge and expert guidance. Dr. Somdev Vasudeva is responsible for any elegance in the book's presentation and provided me with a great deal of useful textual material as well as encouragement and advice. Dr. Dominic Goodall spurred me into going to India in search of manuscripts and helped

me with the south Indian witnesses. Csaba Kiss was very generous with the fruits of his work on the *Matsyendrasaṃhitā*. Other Oxford contemporaries whom I wish to thank by name for their comments and help are Dr. Harunaga Isaacson, Dr. Alex Watson, Dr. Isabelle Onians, Dr. Jim Benson, Professor Richard Gombrich and Dr. Csaba Dezső. From outside of Oxford I thank Christian Bouy, whose work inspired me to start the thesis and who has helped me in my search for sources, Sebastian Pole, who with his practical expertise in yoga and his knowledge of *āyurveda* both encouraged and aided me in my work, Professor Arlo Griffiths, who made several improvements and corrections to the original thesis, Dr. Matthew Clark, who provided me with a copy of his doctoral thesis on Indian asceticism and answered my many questions, and the late Dr. Manmath Gharote who obtained several manuscripts for me and gave me copies of his editions of Sanskrit works on *haṭhayoga*.

Thanks are due to the many people who have helped me obtain copies of manuscripts, in particular Simon Stocken, Dr. David White, Cassia Smith-Bingham, His Highness Gaj Singh, Maharaja of Jodhpur, M. Ram, Dr. Dominik Wujastyk and the staff at the following institutions: the Maharaja Man Singh Library, Jodhpur (especially Kr. Mahendra Singh Tanwar), the Indian Institute Library, Oxford, the Wellcome Institute for the History of Medicine, London, the Government Oriental Manuscripts Library, Madras, the Scindia Oriental Research Institute, Ujjain, the Sarvajanik Library, Nasik, the Prajñāpāṭhaśālā, Wai, the National Archives, Kathmandu, the Nepal-German Manuscript Preservation Project, the Oriental Institute, Baroda, the Institut français de Pondichéry, the Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune, the Bombay University Library, the Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur, and the Oriental Research Institute, Bikaner.

For funding my studies and field trips I thank the British Academy for Humanities Research, the Boden Fund, Eton College and the Spalding Trust.

Finally, this book could not have been completed without the help of my wife Claudia, my family and all the yogins in India who shared their knowledge and insights with me, in particular Śrī Rām Bālak Dās.

Introduction

The *Khecarīvidyā*

The *Khecarīvidyā* is a dialogue between Śiva and his consort, Devī. It calls itself a tantra[1] and consists of 284 verses divided into four *paṭala*s. In the colophons of its manuscripts its authorship is ascribed to Ādinātha, the first of the gurus of the Nātha order, who is usually identified with Śiva.[2] The first *paṭala* (77 verses) starts with praise of the text itself, followed by a coded description of the *khecarīmantra* and detailed instructions for the key physical practice of the text. This practice is called *khecarīmudrā*,[3] and involves the freeing and lengthening of the tongue of the yogin in order that it might be turned back and inserted above the soft palate to break through the *brahmadvāra*, the door of Brahmā, so that the yogin can drink the *amṛta*, the nectar of immortality, which is stored behind it. The second *paṭala* (124 verses) describes the different *kalā*s in the body where *amṛta* is stored, the rewards to be gained from accessing the *amṛta* in these *kalā*s, and how to cure the problems that may arise in the course of the practice. The third *paṭala* (69 verses) describes practices involving the insertion of the tongue into the abode of Brahmā and the raising of Kuṇḍalinī in order to flood the body with *amṛta* and defeat death by temporarily or permanently leaving the body. The short fourth *paṭala* (14 verses) describes herbal preparations which can effect various magical results (*siddhi*s) for the yogin.

The *Khecarīvidyā* is the source of four verses in the vulgate of the *Haṭhapradīpikā*, eleven verses in its ten-chapter recension and at least sixty-four verses in its long recension.[4] It is also the source of all 49 *śloka*s of the second *adhyāya* of the *Yogakuṇḍalyupaniṣad* and of two verses in the *Haṭharatnāvalī*. It is cited by Nārāyaṇa in his commentaries on 52 atharvan *upaniṣad*s and is quoted in the *Gorakṣasiddhāntasaṃgraha*, an anthology of passages connected with Gorakṣanātha, who is said to be the original teacher of *haṭhayoga*. The *Matsyendrasaṃhitā*, a collection of haṭhayogic and tantric lore associated with Matsyendranātha, who is claimed by the Nātha school to have been Gorakṣanāṭha's guru, has among its 55 *paṭala*s all four *paṭala*s of the *Khecarīvidyā*. The *Khecarīvidyā* was the subject of a lengthy commentary by Ballāla called the *Bṛhatkhecarīprakāśa*. Jayatarāma used it extensively when composing his Hindī manual of *haṭhayoga*, the *Jogpradīpakā*.[5] The *Khecarīvidyā* was thus regarded as an authority on *haṭhayoga* and associated with the Nātha order of yogins.[6]

The text has received little attention from modern scholars. R.G. Harshe, in

Summaries of Papers submitted to the 17th Session of the All-India Oriental Conference, Ahmedabad, 1953, under the heading "*Mahākālayogaśāstra*: *Khecarīvidyā* by Ādinātha", wrote: "It is not published so far as it is known and a critical edition is being presented for the first time". It has not been possible to ascertain whether this edition was in fact ever presented or published. Bouy (1994) noticed the borrowings from the *Khecarīvidyā* in the *Haṭhapradīpikā* and *Yogakuṇḍalyupaniṣad*; it was his pioneering work that first drew my attention to the text. White (1996:169–170) gives a synopsis of the text and Roşu (1997:429 n.40) mentions it in passing.[7]

The date and place of composition of the text

The *terminus a quo* of the *Khecarīvidyā* is the date of composition of the *Vivekamārtaṇḍa*, a work mentioned at *Khecarīvidyā* 1.14cd.[8] *Vivekamārtaṇḍa* (or °*mārtāṇḍa*) is one of the many names by which the work now usually known as the *Gorakṣaśataka* has been called.[9] No internal references allow us to establish a *terminus a quo* for the *Vivekamārtaṇḍa*, so its mention in the text is not especially helpful in dating the *Khecarīvidyā*. As noted by Bouy (ibid.:15 n.30), two verses of the *Vivekamārtaṇḍa* are cited without attribution in the *Śārṅgadharapaddhati*, a lengthy anthology of verses on a wide range of subjects.[10] This establishes a *terminus ad quem* for the *Vivekamārtaṇḍa* of 1363 CE (Sternbach 1974:17).

The *terminus ad quem* of the *Khecarīvidyā* is the date of composition of the *Haṭhapradīpikā* which, as mentioned above, borrows four *śloka*s from the *Khecarīvidyā*. The *Haṭhapradīpikā* is an anthology of passages from various texts.[11] The four borrowed verses are not found in any work other than the *Khecarīvidyā*, so one can be confident that the *Haṭhapradīpikā* has borrowed from the *Khecarīvidyā* and was therefore composed after it. Bouy (1994:81–85) summarises earlier attempts at dating the *Haṭhapradīpikā* and, adding further evidence, concludes "Dans l'état actuel des connaissances, il y a tout lieu de penser que la *Haṭhapradīpikā* est une anthologie qui a été composée dans le courant du XV^{e} siècle".[12] Thus the most that can be said about the date of the composition of the *Khecarīvidyā* is that it was almost certainly prior to 1400 CE.

About the place of composition of the text nothing definite can be said. Its witnesses are found all across the subcontinent, from Jodhpur in the west to Calcutta in the east, and from Kathmandu in the north to Pondicherry in the south. An origin in southern India is hinted at by the superiority of the readings found in the manuscripts of the *Matsyendrasaṃhitā*, parts of which show evidence of origins in the Tamil region of south India, and by the good readings found in a Grantha manuscript from Pondicherry (witness G) which is unique in showing no signs of contamination with the other manuscript traditions.[13]

The witnesses of the text

The manuscript witnesses of the *Khecarīvidyā* fall into five groups:[14]

- The *Khecarīvidyā* manuscripts (S$\alpha\beta\gamma$)

- The *Matsyendrasaṃhitā* manuscripts (μ)
- Manuscript G
- Manuscript R_2
- The *Yogakuṇḍalyupaniṣad (U)* and manuscript T.

The five manuscript groups are now examined in detail.

The *KhV* manuscripts

Twenty-two manuscripts form a discrete group on account of their similarity. Their sigla are: S, NW_1 MK_1K_3 (=subgroup α), $J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5K_6C$ (=subgroup β) and $J_1J_5W_2R_1B$ (=subgroup γ). In the following pages these witnesses are referred to collectively as "the *KhV* manuscripts". The edited text as presented corresponds most closely to the text as found in these witnesses.

The twenty-two *KhV* manuscripts present similar versions of the text but can be divided into three distinct subgroups which I have called α, β and γ. See for example the list of *siddhi*s given at 1.75cd (this verse is omitted in G):[15]

> *pādukākhaḍgavetālasiddhidravyamanaḥśilāḥ* //75//
> 75d °manaḥśilāḥ] μ; °m abhīpsitaṃ Sα, °manaḥśilā β, °m anekaśaḥ γ

Of these three subgroups, α is perhaps the best, sharing the most readings with μ and G (which as will be shown below often preserve the best readings). β is the largest and least homogeneous subgroup while γ is the most idiosyncratic. The subgroups themselves can be further divided. Thus K_1 and K_3 make up α_3. The rest of α, i.e. N, W_1 and M, make up α_1, which is in turn further divided because of the close similarity of N and W_1 (=α_2). J_2, J_4, V and K_4 make up β_1 on account of their similarity while in γ B is distinct on account of its corrected readings, leaving γ_1 (=J_1, J_5, W_2 and R) which contains γ_2 (=J_1 and J_5). Because of extensive contamination between and within the subgroups it has not been possible to use stemmatic analysis to decide which readings are to be adopted.[16] The *KhV* manuscripts are divided into subgroups in order to make the apparatus less cluttered.

The text as presented in the *Bṛhatkhecarīprakāśa* (witness S) is derived from witnesses in the tradition of groups α and β. Several times in his extensive commentary Ballāla gives alternative readings and these can all be found among the witnesses of α and β.[17]

The *Matsyendrasaṃhitā* manuscripts

Three manuscripts of a text entitled *Matsyendrasaṃhitā* have been collated. Their sigla are AJ_6J_7 and they are referred to collectively as "the *MaSaṃ* manuscripts", or as the group μ.[18] Verses 14.1–17.1 of the *Matsyendrasaṃhitā* correspond to the

first three *paṭala*s of the *Khecarīvidyā* and *Matsyendrasaṃhitā paṭala* 28 corresponds to *Khecarīvidyā paṭala* 4.

The *Matsyendrasaṃhitā* is a long treatise in 55 *paṭala*s on Śaiva tantric ritual and *haṭhayoga*.[19] It is ascribed to Matsyendranātha, the second in the traditional list of gurus of the Nātha order[20] with which the *Khecarīvidyā* is usually affiliated.[21] As far as I am aware, the *Matsyendrasaṃhitā* is neither mentioned nor cited in any other works.[22] Evidence helpful in dating the text is scant, but there are clues as to where some parts of it were composed. The mention of cannabis *(siddhimūlikā)* in *paṭala*s 29 and 39 suggests an origin in eastern India after the advent of Islam in that region.[23] There is strong evidence for other parts of the text having been composed in the Tamil region of south India. At 55.3 the frame story mentions a king from the south whose city is called Allūra. The city has not been identified, but the suffix *-ūra* suggests the Tamil region.[24] References to the predominantly south Indian *paścimāmnāya* stream of Śaivism are found throughout the text. Southern origins can also be inferred from the injunction at 8.31 to worship the god Śāstṛ, a village deity found only in the Tamil region.[25] Furthermore the yoga taught in the text is often described as *śāmbhava*, a name commonly used in south India to describe Śaiva yoga.[26]

The layers of narrative in the text are complex—it is a dialogue between Śiva and Pārvatī which was overheard by Matsyendranātha while in the belly of a fish and which he then told to an unnamed Cola king who had it written down. The *Khecarīvidyā* as a dialogue between Śiva and the goddess fits neatly into the didactic section of the text but appears to have been added to an earlier layer. At the beginning of the *Matsyendrasaṃhitā* when Pārvatī asks Śiva for instruction in *śāmbhava* yoga she lists the subjects about which she wants to know. These subjects correspond closely to the subject matter of *paṭala*s 2–7 and 22–38, and she does not mention *Khecarīvidyā*.[27] The inclusion of the *Khecarīvidyā* causes some internal contradictions in the text: for example, a hand-gesture *khecarīmudrā* unlike those described at *Khecarīvidyā* 2.81–82 or 3.54 is mentioned in the eleventh *paṭala*,[28] and the praise of cannabis as the ultimate drug at 29.1–2 contrasts sharply with its not being mentioned in *paṭala* 28 (=*Khecarīvidyā paṭala* 4).[29] This evidence suggests that the *Khecarīvidyā* is a later addition to an earlier version of the *Matsyendrasaṃhitā*. However the *Khecarīvidyā* does tie in well with the subject matter of the *Matsyendrasaṃhitā*, which for the most part is a blend of Kaula ritual and *haṭhayoga*. In style and language too the texts are very similar. *Matsyendrasaṃhitā* 17.2–18.63 (particularly 17.20c–37b) echoes parts of the *Khecarīvidyā* and appears to be derived from it. For example, 17.24c–31, about the use, protection and worship of the book in which the text is written, is very similar to 14.18–28 (= *Khecarīvidyā* 1.18–28). The *Matsyendrasaṃhitā* is not entirely derivative when it covers subjects found in the *Khecarīvidyā*. Parts of its earliest layer are helpful for understanding the *Khecarīvidyā*. Thus *Matsyendrasaṃhitā paṭala* 27 covers in greater detail the practices described at *Khecarīvidyā* 2.72–79.[30]

Many of the readings found in μ are different from, and often superior to, those of the other *Khecarīvidyā* witnesses. Their superiority can be seen at 3.24a where we find *prapibet pavanaṃ yogī*, "the yogin should breathe in air". Only μ

and G have the reading *pavanaṃ*; the other witnesses read *paṃcamaṃ*. Similarly at 2.64ab, in the description of the location of the vessel of nectar in the head, only J_6 and J_7 read *parāmṛtaghaṭādhārakapāṭaṃ*, "the doorway at the base of the vessel of the supreme *amṛta*". For *°ghaṭā°*, A reads *°caṭā°*, G has *°ghaḍā°* and R_2 and the *KhV* manuscripts have *°ṣaḍā°*. At 1.22cd, in the instructions for the worship of the written text, only μ has *granthiṃ (em.; granthi codd.) nodgranthayed asya vinā kaulikatarpaṇāt*, "one should not untie its knot without [carrying out] a Kaula libation"; for the first *pāda* G and α have variants on the unlikely *granthaṃ samarpayed asya*, R_2, S and β retain the negative with *granthaṃ tu nārcayed asya* while γ has *granthaṃ tu cārcayed devi*.[31] Again, at 3.13a–14b, in a description of Kuṇḍalinī, the edition reads:

> *siñcantī yogino deham āpādatalamastakam |*
> *sudhayā śiśirasnigdhaśītayā parameśvari ||13||*
> *punas tenaiva mārgeṇa prayāti svapadaṃ priye |*
>
> "...sprinkling the body of the yogin from the soles of his feet to his head with dewy, unctuous, cool nectar, o supreme goddess, she then returns by that same pathway to her own abode, my dear."

For 13cd all the witnesses other than μ have variants on *atha sā śaśiraśmisthā śītalā parameśvari*, "then she, cool [and] sitting on a moonbeam, o supreme goddess". The particle *atha* and the omission of *sudhayā śiśirasnigdhaśītayā* leave the participle *siñcantī* with neither a main verb nor anything with which to sprinkle the yogin's body.

As hinted at in the example of *°ghaṭā°* above, μ and G (and sometimes R_2) often share readings not found elsewhere and generally these readings are superior to those of the other witnesses. A very clear example of this is found at 1.69. This verse is found only in μ, G and R_2 and is necessary to make sense of the passage in which it occurs. Similarly, at 2.37a, μ, G and R_2 read *tatrastham amṛtaṃ* while the *KhV* manuscripts have the inferior *tatra sthāne 'mṛtaṃ* and *tatra saṃsthāmṛtaṃ*.

So far, the superior variants found in μ (and occasionally G and R_2) that have been pointed out are simple and obvious improvements to the syntax or meaning of the readings found elsewhere. If we turn to 3.55a–69b, however, the differences become more interesting.[32]

The passage as found in μ is a Kaula eulogy of *madirā*, alcohol. In G, R_2 and the *KhV* manuscripts, it has been redacted to make it more palatable to orthodox practitioners of *haṭhayoga*.[33] Thus μ's *madirā* becomes *khecarī* (see 3.56a, 57a and 65c) and the necessity of alcohol for success becomes the necessity of *śivabhakti*: *madirārādhanaṃ* at 3.59b becomes *madīyārādhanaṃ*; where μ has *tatprasādavihīnānāṃ tannindāparacetasām* at 3.59cd the *Khecarīvidyā* manuscripts substitute *mat°* and *man°* for *tat°* and *tan°*; *pūjāṃ saṃtyajya mādirīm* at 3.60d becomes *pūjāṃ saṃtyajya māmakīm*; *vāruṇyā tarpayet* at 3.62a becomes *bhaktyā saṃtarpayet* and so on.[34] Other passages in μ were so alcoholic that they had to be omitted altogether (see the entries in the last register of the critical edition apparatus at 3.62b, 3.64b and 3.67c). G, R_2 and the *Khecarīvidyā* manuscripts probably derive from a single archetype, in which the text as it is found in μ was first redacted to remove the

Kaula references. There are several differences between them, however, and it is likely that their traditions diverged early on in the transmission of the text. In G attempts have been made to alter some of the verses found in μ that are omitted in R_2 and the *Khecarīvidyā* manuscripts. Thus at 17.110cd μ has

> *asaṃpūjya pibed devi madirāṃ yaḥ sa pāpabhāk*

which is found in G as

> *mām asaṃpūjya yogena pāpaṃ bhavati nānyathā*

and where μ at 113c–114b has

> *saṃtarpya śivam īśānaṃ devīṃ devāṃś ca sarvaśaḥ*
> *tatprasādena labhate samyagjñānam akhaṇḍitam*

in G we find

> *saṃtarpya śivam īśānaṃ sarvadevotsavapradam*
> *matprasādena mahatā sarvavijñānavān bhavet.*

μ's 17.107ab, *asaktaḥ sumahāpūjāṃ yadi kartuṃ ca sādhakaḥ*, is found verbatim at G 273ab but is absent from the *Khecarīvidyā* manuscripts. μ follows this half-verse with *kuryād bindvekadānaṃ vā guruvākyāvalambakaḥ*, the *bindvekadānaṃ vā* of which is replaced with *ekaikayā devi* in G; the *Khecarīvidyā* manuscripts have this half-verse at 3.67ab but in a different context and replace the offending phrase with *ekaikam abhyāsaṃ*.

It might well be asked how one can be so certain of the direction of borrowing, especially since the *Matsyendrasaṃhitā* has borrowed the entire *Khecarīvidyā*. Several points indicate that μ's version of the passage is the oldest:

- As mentioned above, μ's primacy can be inferred elsewhere in the text from its preservation of good readings not found in the other witnesses, and from its containing a large number of *aiśa* forms that are found corrected in the other witnesses.[35]

- Contextually, μ's version seems to fit better. The first three lines of the passage suggest that the section on Khecarī is over.[36]

- At 3.61ab, the combination of *śivena* and *mādirīm* fits better than the *KhV* manuscripts' incongruous pairing of *śivena* with *māmakīm* (G has *mānavaḥ* for the latter).

- At 3.62a, μ's *vāruṇyā tarpayed* is more natural than the unlikely *bhaktyā saṃtarpayed* of G, R_2 and the *Khecarīvidyā* manuscripts.

- If one were altering a text, it is more likely that one would omit troublesome passages than insert extra ones. The passage in μ at 17.106c–107d, which is omitted in R_2 and the *Khecarīvidyā* manuscripts (apart from 17.107cd

> which is found slightly altered at *Khecarīvidyā* 3.67ab), fits well contextually as well as syntactically with the following half-verse while its omission in the *Khecarīvidyā* manuscripts gives the passage a disjointed feel.[37]

Analysis of the three witnesses of μ indicates that they all descend from a single hyparchetype and that the readings of A derive from those of J_7 which derive from those of J_6.[38]

Manuscript G

Witness G is a palm-leaf manuscript written in Grantha script in the collection of the Institut français de Pondichéry. Entitled *Khecarīvidyā*, it is missing its first two folios and starts at the edition's 1.20a. It has no *paṭala* divisions and does not include *paṭala* 4.

As stated above, G, R_2 and the *KhV* manuscripts probably derive from an earlier attempt to expunge the explicitly Kaula references found in μ. G often shares good readings with μ that are not found in the *Khecarīvidyā* manuscripts, and has unique readings that appear to be deliberate alterations. See for example G's *ca gurutarpaṇāt* at 1.22d, where μ, R_2 and the *KhV* manuscripts have *kaulikatarpaṇāt*.[39] G also regularly has good readings not found in any other witnesses and several of these have been adopted in the edition. See e.g. 1.70a, 2.3d, 2.22c, 2.40a, 2.88c and 2.92a. G shows no evidence of contamination with any of the other manuscript traditions.

Manuscript R_2

Witness R_2 is a paper manuscript of the *Khecarīvidyā* from the collection of the Asiatic Society of Bengal. Like G it does not include *paṭala* 4 of the *Khecarīvidyā*, but unlike G it breaks the text into three *paṭala*s in the same places as the *Khecarīvidyā* manuscripts.

R_2 shares several readings with μ or μ and G which are not found in the other witnesses. Twice it shares readings with G which are not found elsewhere. On the other hand, it often has readings which are not found in μ or G but are found in the *Khecarīvidyā* manuscripts. In the few verses for which witness *D* (Nārāyaṇa's *Dīpikā*) is a witness, R_2's readings are uniquely close to it.[40]

As stated above it seems likely that G, R_2 and the *Khecarīvidyā* manuscripts derive from a single archetype in which attempts were made to expunge references to the explicitly Kaula practices found in μ. R_2's preservation of readings found only in μ and/or G and its lack of a fourth *paṭala* indicate that it and the *Khecarīvidyā* manuscripts derive from another later archetype from which G does not descend. At this point, the manuscript tradition of R_2 branched off before the redaction of the archetype of the *Khecarīvidyā* manuscripts. Later, through contamination with the tradition of the *Khecarīvidyā* manuscripts, R_2 acquired some of their readings.

At two places (2.110ab, 3.49b), R_2 has good readings which are not found elsewhere but neither of these has been adopted in the edition.

The *Yogakuṇḍalyupaniṣad* (*U*) and manuscript T

The 49 *śloka*s of the second *adhyāya* of the *Yogakuṇḍalyupaniṣad* are all found in the first 64 *śloka*s of the first *paṭala* of the *Khecarīvidyā*. Witness T, like *U*, stops at what is 1.64b in my edition of the *Khecarīvidyā*, but it has the $14\frac{1}{2}$ *śloka*s that the *upaniṣad* omits.

Bouy (1994) has shown how in the eighteenth century a corpus of 108 *upaniṣad*s was compiled in south India. In order to do this, some new *upaniṣad*s had to be put together and the vogue at that time for the teachings of *haṭhayoga* led to haṭhayogic works being used for the task. The compilers were orthodox *vedāntin*s and tried to keep their compositions within the limits of upaniṣadic and *advaita* convention. Thus *U* omits most of the *Khecarīvidyā*'s first *paṭala*'s explicit references to tantra and tantric practices. Fourteen of the *Khecarīvidyā*'s first sixty-three verses are omitted altogether in the *upaniṣad*. In these verses (13c–20b, 21a–25b, 26a–28b, 30ab, 61ab) Śiva calls the *Khecarīvidyā* a tantra and mentions other tantras in which the practice is taught. The verses omitted by the *upaniṣad* include (at 22–25) the directions for worship of the *grantha* in which the text is written down, a practice described in other tantric works but not possible in the case of a divinely-revealed *upaniṣad*. Verses in which the text is referred to abstractly as *śāstra* rather than the more tangible *grantha* are generally retained and in 11a only *U* and J3 have *śāstraṃ* as opposed to *granthaḥ*.[41] The first chapter of the *upaniṣad* is not presented as a dialogue.[42] Without introducing his interlocutors, the redactor presses on with the second chapter, keeping it as a dialogue but concealing the tantric leitmotif of the text as a conversation between Śiva and Pārvatī by substituting the vocative forms *brahman* and *mune* where the *Khecarīvidyā* has *devi* and *priye* respectively. For longer vocatives, he substitutes colourless verse-fillers. Thus at *Khecarīvidyā* 8b *parameśvari* becomes *guruvaktrataḥ* and at 1.50d *tiṣṭhaty amaravandite* becomes *tiṣṭhed eva na saṃśayaḥ*.

Witness T is curious in that like *U* it stops at the edition's 1.64b but it keeps the verses that *U* omits and the vocatives addressed to the goddess. This must be either the result of conflation between manuscripts of the *upaniṣad* and of the *Khecarīvidyā* or evidence that *Khecarīvidyā* 1.1–64b existed as a text in its own right before being redacted to make the *upaniṣad*'s first *adhyāya*.

On the next page is a stemmatic diagram of the relationships between the witnesses. In this diagram, only the positions of the witnesses themselves represent definite historical facts; the remaining nodes and the lines are conjectural, and no attempt has been made to indicate the widespread contamination between the witnesses and witness groups.

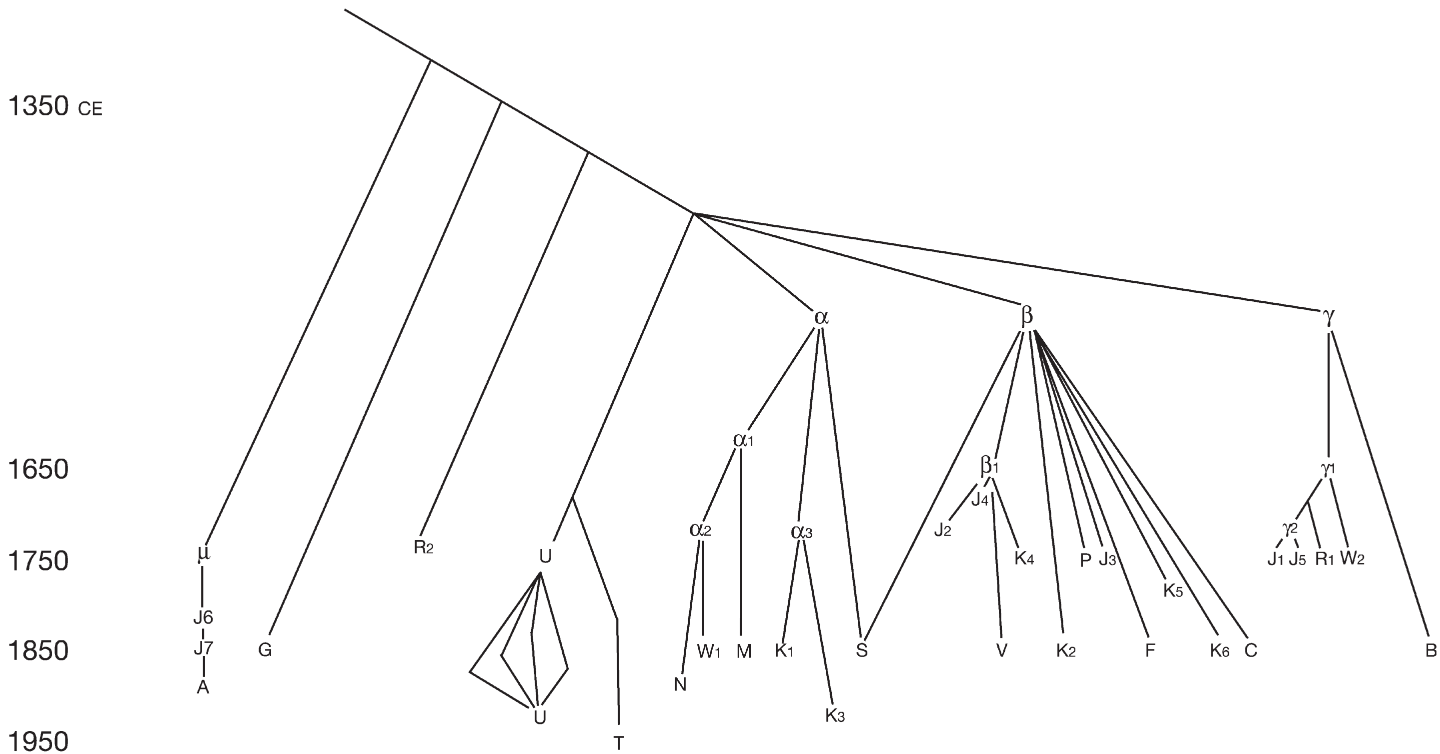

Figure 1: Stemmatic diagram of the relationship between the witnesses of the *Khecarīvidyā*

The *Khecarīvidyā*: part, whole or wholes?

The colophons of G, R_2 and the *Khecarīvidyā* manuscripts describe the *Khecarīvidyā* as being part of the *Mahākālayogaśāstra* of Ādinātha.[43] I have found no catalogue references to a manuscript by that name and the single textual reference to it that I have come across postdates the *Khecarīvidyā*'s composition by some centuries and may be derived from the *Khecarīvidyā*'s own attribution to the text.[44] This suggests that the *Mahākālayogaśāstra* never existed and that the *Khecarīvidyā* was connected with this fictitious text in order to anchor it within an appropriately weighty-sounding tradition.[45] Alternatively, the name *Mahākālayogaśāstra* may have been used to mean the teachings on yoga found in the *Mahākālasaṃhitā*, whose authorship is also ascribed to Ādinātha. As noted by GOUDRIAAN (GOUDRIAAN & GUPTA 1981:78), the *Mahākālasaṃhitā* "functions as the locus of ascription for a number of *stotras* and other texts".[46] Its manuscript colophons say that the text originally consisted of 500,000 verses, but the manuscripts themselves provide only fragments of it (30 of at least 255 *paṭalas*).[47]

Whether or not the *Mahākālayogaśāstra* ever existed, examination of the *Khecarīvidyā* indicates that it was part of a larger work. The name of the text is very unusual—I know of no other tantric or haṭhayogic work called *vidyā*. In such texts *vidyā* may mean a mantra or a particular type of mantra and in all instances of the word in the text of the *Khecarīvidyā* this is what it means. Some tantras contain coded descriptions and instructions for the use of many different *vidyā*s.[48] It seems that the framework of the *Khecarīvidyā* was taken from a chapter of such a text in which the *vidyā* of Khecarī was described, and then filled out with instructions about the physical practice.[49]

The third *paṭala* ends with Śiva saying to the Goddess (3.68):

> "I have taught this yoga, which brings success in all yogas, out of fondness for you, o Goddess. What more would you like to hear?"

To which the Goddess replies (3.69):

> "O Śambhu, on whose head is the half-moon [and] who can be attained [only] by true devotion, may you be victorious. You have described well the secret *Khecarīvidyā*."

The second line is as it is found in the *KhV* manuscripts and fits with this being the end of the teaching of a text called *Khecarīvidyā*. In μ, however, we find the following:[50]

> "...you have taught the secret method of mastering the *vidyā* of Khecarī."

As we have seen above, μ often preserves older readings than those found in the *Khecarīvidyā* manuscripts and this reading suggests that we have come to the end of a section describing the form and practice of the Khecarī mantra rather than the end of the text itself.

The *Khecarīvidyā* manuscripts also have a fourth *paṭala* in just fourteen verses which makes no mention of Khecarī or the practice,[51] but describes drugs *(auṣadhāni)* for attaining magical powers. Besides its lack of continuity in subject matter, this *paṭala* is different in style from the preceding three, most noticeably in the variety and complexity of the metres that it uses. The first three *paṭala*s are entirely in *anuṣṭubh* metre with a few *vipulā*s. The fourth *paṭala* uses *vasantatilakā*, *upajāti*, and *sragdharā* metres as well as *anuṣṭubh*. Witnesses μ, G and R_2, which regularly have better readings than the *Khecarīvidyā* manuscripts, do not include this fourth *paṭala* with the other three.[52] The colophon to the Mysore *Khecarīvidyā* manuscript's fourth *paṭala* reads *iti siddhauṣadhāni* without ascribing it to the *Khecarīvidyā*, while in the colophons of the first three *paṭala*s it reads *iti śrīādināthaviracite mahākālayogaśāstre khecaryāṃ prathamaḥ/dvitīyaḥ/tṛtīyaḥ paṭalaḥ*. It seems likely that this fourth *paṭala* has been appended to the *Khecarīvidyā*, perhaps on the model of the *Yogasūtra*'s fourth *pāda*, which mentions drugs *(auṣadhi)* in its first *sūtra*. Similarly, Digambarjī & Jhā's edition of the *Haṭhapradīpikā* includes a short fifth *upadeśa*, found in only a small proportion of the witnesses, which details ways of curing physical imbalances through breath-control and diet.[53]

Analysis of the witnesses thus indicates that the text probably went through the following four stages in the course of its development:

1. It first existed as part of a longer text, in the form of a chapter describing the mantra *(vidyā)* of Khecarī. As such the text would probably have consisted of the edition's 1.1–44 and 3.55–69.[54]

2. This chapter was extracted from the larger text and the remaining verses found in the edition's first three *paṭala*s were added.[55] These verses contain instructions for the physical practice of *khecarīmudrā* and were probably gathered from a number of different sources.[56]

3. These three *paṭala*s were then redacted to remove the references to unorthodox Kaula practices found in the *Matsyendrasaṃhitā* manuscripts.

4. The fourth *paṭala*, on magical potions, was added to the text.

Editorial policy

The text has been presented in the form in which it is found in the *Khecarīvidyā* manuscripts. It is in this form that the text enjoyed its greatest popularity and it is this form for which there is the greatest amount of evidence. The composite nature of the text and the redaction it has undergone have resulted in internal contradictions that must have been present since at least the second stage outlined above. Rather than attempt the impossible task of creating a completely coherent text I am presenting it as an occasionally incoherent document whose incoherence tells the story of the development of both the text and *haṭhayoga*.

It has been impossible to adopt readings by means of the kind of stemmatic analysis advocated by WEST (1973) and others. There is considerable contamination between and within the witness groups to the extent that stemmatic analysis is impossible.[57] The following are among the most glaring indicators of this contamination:

- $\mu \leftarrow$ all other witnesses : 1.33c–35b is found after 1.53d in all witnesses. It is only found at 1.33c–35b in μ, which has the passage twice. It seems that it was originally at 1.33c–35b but was then mistakenly put after 1.53d and this mistake found its way into the μ manuscripts through conflation of sources.
- $\mu \leftarrow$ the *Khecarīvidyā* witnesses : these witnesses have *nābhi°* at 2.40a as opposed to G's correct *liṅga°*. Cf. 2.92a.
- $\alpha \leftrightarrow \beta$: as mentioned above, Ballāla mentions alternative readings in his commentary. These can all be found in α and β.
- $\mu \leftrightarrow \alpha_3$: e.g. 1.6a *abhyāsāl*, 1.9d *saṃsṛti*, 1.19d *vadet*, 1.74b *prajīvati*, 4.6d *labhet*.
- $R_2 \leftarrow$ everything else: R_2 is often the only other witness to share readings with μ, G or the *Khecarīvidyā* witnesses.
- $K_2PJ_3F \leftrightarrow \gamma$: these witnesses omit 2.90d–91a, 3.30 and 4.4ab.
- $K_4 \leftarrow \mu G\alpha$: K_4, uniquely among the witnesses of β and γ, has the reading *abhedyaḥ* found in $\mu G\alpha$ at 2.29a.
- $N \leftrightarrow J_1R_1$: these witnesses omit 2.107.
- $\alpha_1 \leftrightarrow K_2$: these witnesses omit 2.5b–6a.
- $\alpha_3 \leftrightarrow K_2 \leftrightarrow \gamma$: these witnesses omit 3.56cd.

As WEITZMANN (1977:229) has observed, in a contaminated tradition the true reading can easily survive in just one witness, so I have taken the merit of each individual variant to be the criterion for its selection.[58] As stated above, the text as found in the *Khecarīvidyā* manuscripts has been used as a blueprint, but where a variant reading from μ, G or *U* improves the text without conflicting with the ideological standpoint of the *Khecarīvidyā* manuscripts, it has been adopted.[59]

Where a plausible alternative can be found among the other witnesses, the readings of *U* have not been adopted. This is because *U* has undergone the most redaction so its variant readings are the least likely to be original. At 1.6cd, however, its reading has been adopted since it is the only one of which I can make any sense. There are two other places (1.38c, 1.51a) where the reading of *U* has been adopted over those of all the other witnesses.

Examples have been given above of how μ, G and R_2 often preserve better readings than the other witnesses. Where these are straightforward improvements to the text they have been adopted. Where their variants in the *Khecarīvidyā* manuscripts

show signs of doctoring for ideological reasons they have not. Thus, in the example already given of μ and G's *pavanam* for the *Khecarīvidyā* manuscripts' *pañcamam* at 3.24a, *pavanam* has been adopted. Similarly, the verse found at 1.69 in μ, G and R_2, which is missing from the *Khecarīvidyā* manuscripts, is adopted. On the other hand, the passage at 3.57–69 is presented as it is found in the *KhV* manuscripts despite μ's version being original and more coherent. Verses in which I have considered doctrine more important than originality include 2.39 (*°bhūtalayo bhavet* for *°bhūtajayaṃ labhet*), 2.50 (*yoginaḥ* for *yoginyaḥ*), 2.72 (*tālu°* for *bhāla°*), 3.11 (*sadāmṛtatanuḥ* for *parāmṛtatanuḥ*) and 3.31 (*nityadehamayam* for *tyaktvā deham imam*).

On matters such as how long a technique should be practised or how long it takes to produce results the readings of μ, G and R_2 have usually been adopted if they differ from those of the *KhV* manuscripts. This approach could of course be flawed—the redactors of the *Khecarīvidyā* may have altered practical details as a result of first-hand observation.

My reliance on the quality of individual variants as the criterion for their adoption gives me considerable editorial licence. Where I feel that my reasons for adopting a particular variant may not be clear I have explained them in the notes to the translation.

Language

The *Khecarīvidyā* is written in simple Sanskrit, similar to that of other tantric and haṭhayogic works. *Aiśa* peculiarities are common, more so in μ than in the *Khecarīvidyā* manuscripts in which the *aiśa* forms found in μ have often been corrected. In the following list of *aiśa* forms I have for the most part only included those peculiarities which are found in the text as constituted or in μ.[60]

Aiśa peculiarities in the text

plural declined as singular 4.7a *pañcamāsena*.

neuters declined as masculines in dual and plural 2.59d *sthānāḥ*; 2.110b *phalān*.

masculine singular becoming neuter singular 1.4d *tadabhyāsaṃ ca durlabham* (μ only); 1.5a *abhyāsam*;[61] 1.54b, 1.55b *abhyāsam*; 2.89a, 2.124c *bhedam*; 2.107c *saṃgamam*; 3.14d *yogam*; 3.44a *kālam*; 3.59c *na sidhyati mahāyogam* (μ only); 3.68a *etad yogaṃ mayākhyātam* (μ only).

neuter singular becoming masculine singular 2.117a *divyadarśanaḥ*.

neuter singular becoming feminine singular 2.77b *adharā*.

dual *-ābhyām* for *-ayoḥ* 2.95c *karṇābhyām*.

***-in* stem declined as *-i* stem** *(metri causa)* 2.6c *parameṣṭhīnām*.

substantive for adjective 2.39c, 3.22d *śivasāmyaḥ*; 4.3c *mahāmārutasāmyavegaḥ*.

***-ya* for *-tvā* in the absolutive** 2.37a *tatrastham amṛtaṃ gṛhya* (μ only); after 3.62b *tāsām ekatamāṃ gṛhya* (μ only).

***-tvā* for *-ya* in the absolutive** 1.70a *saṃpītvā*.

active verb with causative sense 2.123d *viśet*; 3.2a *praviśya*; 3.3a *praviśet*.

incorrect verb-forms 1.46d, 1.47d *samucchinet*; 1.52a *kramati*; 1.57b *praviśyati*; 2.50c *samupāsante*; 2.96d *śṛṇutvā* (μ only); 2.110b *labhati*; 3.39b *grasatīm*.

consonant stem becomes vowel stem for purposes of sandhi 2.60b *śirordhve*; 3.8 *jyotirūpiṇī*.

incorrect sandhi 1.16c *asmin tantravare*;[62] 2.18d *vikhyātā 'maravandite*.[63]

awkward syntax 1.8cd *tadā tat siddhim āpnoti yad uktaṃ śāstrasaṃtatau*; 2.71cd *dambhakauṭilyaniratās teṣāṃ śāstraṃ na dāpayet*.[64]

Metre

The first three *paṭala*s of the text were composed in *anuṣṭubh* metre. In *paṭala* 4, verses 1, 5–9 and 11–14 are in *anuṣṭubh*, verse 2 is in *vasantatilakā*, verses 3 and 10 are in *upajāti* and verse 4 is in *sragdharā*. As I have presented it, the text contains the following *vipulā*s in its *anuṣṭubh* verses:

na-vipulā [17 in total]: 1.5c, 10c, 60c, 76c, 77a; 2.8a, 40c, 47c, 58a, 59a, 63a, 71c; 3.4a, 11a, 30a, 37a, 66a.

bha-vipulā [5]: 1.52a; 2.90a, 116a; 3.1c; 4.9a.

ma-vipulā [6]: 1.34c, 62c; 2.23a, 43c, 114c; 3.25a.

ra-vipulā [2]: 2.111a; 3.35c.

The haṭhayogic *khecarīmudrā*

This chapter starts with a survey of textual evidence for practices related to the haṭhayogic *khecarīmudrā* before the composition of the *Khecarīvidyā*.[65] This is followed by an examination of the practice as it is described in haṭhayogic texts. Next ethnographic data is drawn on to see how and why *khecarīmudrā* is practised today. The chapter finishes with a brief look at those who practised the technique in the past and those who practise it today.

Forerunners of the haṭhayogic *khecarīmudrā*

The Pali canon

A practice which has elements of the *Khecarīvidyā*'s *khecarīmudrā* is described in three passages in the Buddhist Pali canon. In two of the passages the technique is said to bring the mind under control and in the third it is said to suppress the appetite. The first passage is from the *Mahāsaccakasutta* (*Majjhima Nikāya* I, Book 9, pp. 242–246). The Buddha has been questioned by Saccaka, a Jaina who is also called Aggivessana, about *kāyabhāvanā*, "development of the body", and *citta-bhāvanā*, "development of the mind". In his reply the Buddha describes his attempts to control his mind with physical practices including the pressing of the tongue against the palate, before describing further attempts involving *appānaka jhāna*, "non-breathing meditation", and fasting. The passage runs as follows:[66]

> "Then, Aggivessana, this occurred to me: 'Suppose now that I clench my teeth, press my palate with my tongue and restrain, suppress and torment my mind with my mind.' So, indeed, Aggivessana, I clenched my teeth, pressed my palate with my tongue and restrained, suppressed and tormented my mind with my mind. Aggivessana, as I clenched my teeth, pressed my palate with my tongue and restrained, suppressed and tormented my mind with my mind, sweat came from my armpits. Just as when, Aggivessana, a strong man, taking hold of a weaker man by the head or shoulders, restrains, suppresses and torments him, so when I clenched my teeth, pressed my palate with my tongue and restrained, suppressed and tormented my mind with my mind, sweat

> came from my armpits. But although, Aggivessana, unsluggish energy arose in me and unmuddled mindfulness came about, my body was impetuous, not calmed, while I was troubled by that painful exertion. And indeed, Aggivessana, this painful feeling arose in me and remained without taking over my mind. Then, Aggivessana, this occurred to me: 'Suppose I meditate the non-breathing meditation'..."

He goes on to hold his breath until he is afflicted by terrible headaches, strong winds in the stomach and a great heat that is like being roasted over burning coal. He then tries fasting until the skin of his belly touches his backbone, he falls over from fainting, his hair falls out and, finally, he loses his fair complexion. At this point he declares:[67]

> "Then, Aggivessana, this occurred to me: 'The ascetics or Brahmins of the past who experienced painful, sharp [and] severe sensations due to [self-inflicted] torture [experienced] this much at most, not more than this. And those ascetics or Brahmins who in the future will experience painful, sharp [and] severe sensations due to [self-inflicted] torture [will experience] this much at most, not more than this. And those ascetics or Brahmins who in the present experience painful, sharp [and] severe sensations due to [self-inflicted] torture [experience] this much at most, not more than this. But I indeed, by means of this severe and difficult practice, do not attain to greater excellence in noble knowledge and insight which transcends the human condition. Could there be another path to enlightenment?"

The Buddha is here clearly condemning the ascetic practices that he has undertaken, including the technique of pressing the tongue against the palate. However, in the following passage from the *Vitakkasanthānasutta* (*Majjhima Nikāya* I, Book 9, pp. 120–121), after being asked about *adhicitta*, "higher thought", he recommends the practice that we have just seen dismissed:[68]

> "Then if, monks, a monk concentrates on the thought function and the nature of those thoughts, but there still arise in him sinful and unwholesome thoughts associated with desire, aversion and confusion, then, monks, he should clench his teeth, press his palate with his tongue and restrain, suppress and torment his mind with his mind. Then, when he clenches his teeth, presses his palate with his tongue and restrains, suppresses and torments his mind with his mind, those sinful and unwholesome thoughts associated with desire, aversion and confusion are got rid of, they disappear. By getting rid of these the mind turns inward, becomes calm, one-pointed and focussed."

In the *Suttanipāta* (p. 138, vv. 716–718), when asked to explain *monam*, "sagehood", the Buddha says:[69]

> "[The sage] should be [as sharp] as a razor blade. Pressing his palate with his tongue he should be restrained with respect to his stomach.

> He should not have an inactive mind nor should he think too much. [He should be] without taint, independent and intent on the holy life. He should learn the practices of solitude and serving ascetics. Solitude is called sagehood. Solitary you will indeed be delighted and shine forth in the ten directions."

The *Paramatthajotikā* commentary on this passage describes the pressing of the palate with the tongue as a means of overcoming thirst and hunger. This is echoed both in medieval haṭhayogic texts,[70] and by contemporary Indian yogins who say that the haṭhayogic *khecarīmudrā* enables extended yogic practice by removing the need to eat or drink.

Here is not the place to attempt to ascertain the Buddha's true attitude towards this practice. For our purposes it is enough to conclude that these passages provide evidence that an ascetic technique involving the pressing of the tongue against the palate (but *not* its insertion above the palate) was current at the time of the composition of the Pali canon and that this practice had two aims: the control of the mind and the suppression of hunger and thirst.[71]

Early Sanskrit texts

The earliest Sanskrit reference that I have found to a practice similar to the *Khecarīvidyā*'s *khecarīmudrā* is in the *Viṣṇusmṛti*. DERRETT (1973:32) describes this dharmaśāstric text as "a puzzle", standing "between the thought-world of Manu and that of the Vaiṣṇava Purāṇas". KANE (1968: vol. 1.2 p. 125) believes the text to consist of two layers, a prose nucleus composed between 300 and 100 BCE, and a later verse layer, added between 400 and 600 CE. The following passage (97.1) comes at the beginning of a prose section on *dhyāna*:[72]

> "With the feet placed on the thighs and facing upwards, with the right hand placed in the left, with the tongue unmoving and placed at the palate, not touching the teeth together, looking at the tip of his nose and not looking around, fearless and calm, he should think of that which is beyond the twenty-four elements...And for him who is devoted to meditation yoga manifests within a year."

Here the practice involving the tongue has no explicit purpose but is just one of various physical postures to be adopted by the meditator.

The next passage is from the *Maitrāyaṇīyopaniṣad*. This work is a later *upaniṣad* but its date is uncertain. In his edition of the text, VAN BUITENEN makes no attempt at dating it. He does however distinguish between an early layer of the text and later interpolations, and includes the following passage among the interpolations (1962:85). The mention of Suṣumṇā *nāḍī* shows that the passage has been influenced by tantric physiology; it may be no older than the *Khecarīvidyā*.

At 6.18 yoga has been described as *ṣaḍaṅga*, consisting of *prāṇāyāma*, *pratyāhāra*, *dhyāna*, *dhāraṇā*, *tarka* and *samādhi*. The following passage (6.20–21) concerns *dhāraṇā*:[73]

> "Elsewhere it has also been said: Next is the ultimate fixing of this [object of *dhyāna*]. By pressing the tip of the tongue and the palate [and there]by checking speech, mind and breath [the yogin] sees Brahman through consideration *(tarkeṇa)*. When, after the termination of mental activity [the yogin] sees the *ātman* by means of the *ātman*, more minute than an atom and shining, then having seen the *ātman* by means of the *ātman* he becomes without *ātman*. Because of his being without *ātman* he is to be conceived of as without thought, without origin; this is the definition of liberation. That is the ultimate mystery. For it is said thus:
>
> > 'For by calmness of the mind
> > he destroys good and bad action.
> > Happy and abiding in the *ātman*
> > he attains eternal bliss.'
>
> Elsewhere it has also been said: The upward-flowing channel called Suṣumṇā carries the breath and ends in the palate. By way of this [channel] which is joined with Om and the mind, the breath moves upward. Turning the tip [of the tongue] back over the palate and restraining the sense-organs greatness looks upon greatness. Then he becomes without *ātman*. Through being without *ātman* he does not partake of pleasure or pain and attains isolation."

Here the technique of turning the tongue back onto the palate seems to serve a similar purpose to that found in the first two Pali passages, namely that of controlling the activity of the mind. It is also connected with the raising of the breath by way of the Suṣumṇā *nāḍī*.

The Pali and Sanskrit passages cited above provide evidence (albeit rather scant) that a meditational practice involving pressing the tongue to the palate was known and used by Indian ascetics as early as the time of the composition of the Pali canon. The practice as described in these texts is however very different from the *khecarīmudrā* of the *Khecarīvidyā*, being merely its bare bones. We must turn to the texts of tantric Śaivism for the flesh.

Texts of tantric Śaivism[74]

A verse from the *yogapāda* of the *Kiraṇatantra* describes in brief a practice similar to that described in the *Maitrāyaṇīyopaniṣad* (which may well postdate the *Kiraṇatantra*):[75]

> "Holding the breath and, while trembling (*sasphuram* ?), contracting the throat, by means of the conjunction of the tongue and palate there is instant rising [of the breath]."

Both this and the *Maitrāyaṇīyopaniṣad* passage describe a forerunner of the idea found in the *Khecarīvidyā* and other haṭhayogic texts that the insertion of the tongue into the cavity above the palate results in the raising of Kuṇḍalinī.[76] The later tantric and haṭhayogic emphasis on the raising of Kuṇḍalinī is not found in the *yogapāda*s of early works of tantric Śaivism such as the *Kiraṇatantra*, where the emphasis is on the raising of the breath through the central channel.

We now turn to five passages from texts that are products of possession-based Yoginī cults or their Kaula derivatives. These passages describe methods of conquering death by drinking *a-mṛta*, "non-death". Similar techniques are described elsewhere in tantric Śaiva works but in these the yogin is instructed to visualise the body being flooded with the *amṛta* rather than to drink it.[77]

The first of these passages is from the *mudrāṣaṭka* of the *Jayadrathayāmala*. It is a description of a yogic *karaṇa* called *antarjala* and comes in the middle of a long passage describing several other such *karaṇa*s.[78] These are all extremely obscure and the text is corrupt in several places. However the passage contains one of the earliest references to a yogic practice in which the tongue is definitely placed in *the hollow above* the palate and which links the practice with the drinking of *amṛta*. The previous twenty verses describe a technique of breath-retention by which the yogin can flood his body with *amṛta* and then increase the duration of the retention to attain various magical powers and worlds. I translate the passage thus:[79]

> "[The *sādhaka*] should drink that nectar of the stream which is milked as if from a cow's teats. Satiated by that *amṛta* he [becomes] free from wrinkles and grey hair. [...] When the tongue has reached the head of Viṣṇu, on union with the void it enters the aperture of the palate without even slightly touching [the side]. Then, o Brahmin, making the mouth like the hollow beak of a bird and then holding that sensation until [his] condition becomes steady, the yogin in the steady state floats comfortably. As a result of the relaxation of [the yogin] there and of the consideration of the two smells (?), the supreme nectar flows forth, struck by the tongue at the moon in the void. That which has the form of consciousness having tasted that *[amṛta]* assuredly moves upwards. This conjunction of Śiva and Śakti is the uprooting of the Key goddess.[80] †[The conjunction] in which the power of sight is above the pronunciation of an extended vowel is a garden created by the pervasiveness of Śiva.† Joining the tongue and the palate, [the yogin] joins the aperture of the palate above the throat with the energy of vibration up to the twelve levels."

Although there are many difficulties in this passage it is clearly the closest we have come so far to the *khecarīmudrā* of the *Khecarīvidyā*.[81]

In the *Maitrāyaṇīyopaniṣad* and *Kiraṇatantra* passages, the placing of the tongue at the palate is connected with the raising of the breath; in this passage, at 160a, *cidrūpam*, "that which has the form of consciousness", is said to rise. The breath is often associated with consciousness, but Kuṇḍalinī is also said to be *cidrūpā* (see

e.g. *KMT* 6.4) so it may be that here we have the first instance of the placing of the tongue at the palate being associated with the raising of the goddess Kuṇḍalinī (or a forerunner of her), particularly in the light of the following half-verse, in which Śiva and Śakti are said to be united.

The next passage is from the *Mālinīvijayottaratantra*:[82]

> "And now the supreme secret, the acme of the *amṛta* of Śiva's gnosis is described for the destruction of disease and death in yogins. [The yogin] should visualise Parā in her own form pouring forth *amṛta* in the sixteen-spoked wheel in the void, whose hub is formed by the moon. Armed with the previously[-described] *nyāsa*, for an instant (?) the wise [yogin] should then lead his tongue to the uvula and insert it [there]. He should visualise the white heavenly *amṛta*, flowing from the orb of the moon. [If] his mouth fills with a slightly salty liquid that smells of iron then he should not drink it but spit it out. He should practise thus until [the liquid] becomes sweet-tasting. Drinking it, within six months he effortlessly becomes free of decrepitude and disease; after a year he becomes a conqueror of death. Once it has become sweet-tasting thenceforth his mouth fills up with whatever flowing substance he, with focussed mind, visualises in it, such as blood, alcohol or fat or milk or ghee and oil etc."[83]

Unlike in the other passages describing the defeat of death, in this passage the tongue is not explicitly said to enter the aperture above the uvula—*lambake viniyojayet* at 21.3d could mean either "[the yogin] is to place [his tongue] at the uvula" or "[the yogin] should place [his tongue] in [the cavity above] the uvula". However, in the light of the other passages, in which the insertion of the tongue above the palate is explicitly instructed, it seems likely that the same is intended here.[84]

The next passage is from the *Kaulajñānanirṇaya*:[85]

> "Next, a great secret which destroys all diseases. [The yogin] should point his tongue upwards and insert his mind in there. By regular practice he destroys death, my dear. In an instant he is freed from sickness, disease, death, decrepitude and the like. All diseases are destroyed, like deer by a lion. In an instant disease is destroyed, [there is] the destruction of severe leprosy. With a sweet taste, o great goddess, there is the removal of wrinkles and grey hair. With a milky taste, o wise one, a man becomes immortal. When [there is] a taste like ghee, o goddess, then autonomy arises."

The idea of a progression of tastes presented in the *Mālinīvijayottaratantra* and *Kaulajñānanirṇaya* passages is nowhere mentioned in the *Khecarīvidyā*, but is found at *Gorakṣaśataka*$_{N}$ 149 (=*Haṭhapradīpikā* 3.49) and *Gheraṇḍasaṃhitā* 3.27–28.[86]

The next passage is another from the *Kaulajñānanirṇaya*, in a difficult section found at 6.15–28. The goddess asks Bhairava about *kālavañcana*, "cheating death". Bhairava answers:[87]

> "Stretching the uvula *(dantarāyam)* until he can reach the aperture of Brahmā *(brahmabilam)*,[88] the wise man also extracts the best of *amṛta*s with the tip of his tongue. Truly indeed, o great ascetic lady, he conquers death in a month. Putting the tongue at the root of the palate, he should gently breathe in. He should practise for six months, o goddess; he will be freed from great diseases."

Various benefits arise from the practice: the yogin becomes free of old age and death, he knows the past and future, has long-distance hearing and vision, is not affected by poison and is impervious to attack. Then at 23–26 we read:[89]

> "[The yogin] should recognise that which is in the middle of the uvula in the form of a drop to be *amṛta*, which destroys wrinkles and grey hair. The wise man should put his tongue in the place cool to the touch; he becomes free of wrinkles and grey hair and devoid of all disease. Always devoted to the way of yoga, death cannot happen to him. He should insert his tongue into the base of the palate to destroy disease. Standing, awake, asleep, moving, eating [or] delighting in sexual intercourse, he should curl [back] his tongue constantly, joining it with its own mouth *(svavaktreṇa)*."[90]

The yogin defeats death and becomes free *(svacchandagaḥ)* (vv.27–28).

The final passage describing the conquering of death is from the *Kubjikāmata-tantra*:[91]

> "And now I shall teach another practice, which destroys death. [The yogin] should contract the *mūla cakra* situated at the organ of generation and immediately concentrate on it. He should open up the uvula after rubbing and pressing [it]. Satiated by the *amṛta* from the uvula he is sure to conquer death. By carrying out this practice, o beautiful goddess, he destroys fever, consumption, excessive heat or extreme discolouration [of the body].[92] Putting the tongue in the void, without support, not touching the teeth with the teeth nor joining the lips together, eschewing [any] contact of these, [the yogin] is sure to defeat death. This yoga that is the conquest of death has not been [taught] before, nor will it be [taught again]."

As I have said above, these five passages describing techniques for the conquest of death are all from scriptures of possession-based Yoginī cults or their Kaula derivatives. They contain the first references to practices in which the tongue enters the hollow above the palate, so it seems likely that the technique has its roots in rites of possession. The tongue's entry into the cavity above the palate has been reported to occur spontaneously as a result of altered mental states which themselves can be

precipitated by breathing practices and drugs.[93] In the above passages the yogin is instructed to put his tongue into the cavity; there is no suggestion of spontaneity. Thus these techniques may be attempts to recreate a state of possession.[94] With the tongue inserted in the cavity, it is difficult for the yogin to swallow and saliva/*amṛta* collects in the mouth.

The last passage from the texts of tantric Śaivism that I shall examine is found in the *Kularatnoddyota*, a work of the Paścimāmnāya's Kubjikā cult. It is the earliest example, that I have located, of a practice involving the tongue being called *khecarīmudrā*.[95] This *khecarīmudrā* is the first of eight *mudrā*s described in the text:[96]

> "[The yogin] should block all the doors of the body and restrain the breath. The tongue should be placed at the tip of the uvula, blocking the internal channel. Tensing the hands and feet, with clenched fists, o great ascetic lady, raising the face upwards, half-stretched out into space, and fixing the pupils [of the eyes], contracting the base region, fixing the gaze in the way of the ether and making the mind have me as its support at the crossroads *(catvarastham)*,[97] o beautiful lady: the technique is considered to be like this. This *mudrā* is called *khecarī* and is the queen of all the *mudrā*-kings."

This practice is in the tradition of the pre-āgamic tongue practices cited earlier rather than those of the tantric Śaiva passages above. Here and in the passages from the Pali canon, the *Viṣṇusmṛti* and the *Maitrāyaṇīyopaniṣad*, the yogin is to exert himself, straining to hold his breath and tensing the body, whereas in the other āgamic passages (and in the *Khecarīvidyā*) the yogin is to relax,[98] breathing freely,[99] as his body is flooded with *amṛta*. The absence of *amṛta* in the *Kularatnoddyota* passage and the description of the tongue as *ghaṇṭikāntasthā*, "at the tip of the uvula", make it likely that the tongue was to be held at the uvula rather than inserted into the cavity above it. The absence of *amṛta* is all the more striking in the light of the third *mudrā* described in the passage, the *śaśinī*, "lunar", *mudrā*:[100]

> "Placing his mind at the left side of the Svādhiṣṭhāna, o queen of the gods, [the yogin] should visualise the Sahasrāra *cakra* as spotless and full of the supreme *amṛta*, o great goddess of illusion. Flooding [it] with a stream of *amṛta* he should visualise his entire body as joined with the Vidyāyoginī. This *mudrā* is called *śaśinī* and accomplishes all ends."

Khecarīmudrā in tantric texts

The passages cited above that describe the conquest of death indicate that physical practices very similar to the *Khecarīvidyā*'s *khecarīmudrā* were used by *sādhaka*s of various tantric traditions before the composition of the *Khecarīvidyā*. Like the *Khecarīvidyā*'s *khecarīmudrā* these practices were connected with the raising of breath/Kuṇḍalinī and enabled the yogin to drink *amṛta* and thereby be free of old

age, disease and death. However, despite there being descriptions of many different *khecarīmudrā*s in the texts of tantric Śaivism, it is not until the relatively late *Kularatnoddyota* that we find the first instance of a practice involving the tongue being called by that name, and even then that practice is somewhat different from the *Khecarīvidyā*'s *khecarīmudrā*.[101]

Mudrā in tantric Śaivism is a large and complex subject and I shall not attempt to explore it in detail here.[102] Instead I shall examine only the *khecarīmudrā* in tantric Śaiva texts and in particular those *khecarīmudrā*s which are in some way related to the haṭhayogic *khecarīmudrā*, in order to help explain the adoption of the name for the haṭhayogic practice.

In the texts of tantric Śaivism, a Khecarī is a particular type of Yoginī,[103] and she lives among the Khecaras, "sky-dwellers". Becoming a Khecara, sporting with them, being worshipped by them and reaching their abode *(khecarapada)* are mentioned throughout the Bhairavāgama as goals of *sādhana*, and *khecarīmudrā* is often the means.[104]

The *Kubjikāmatatantra* (*paṭala*s 14–16) describes a hierarchy of five groups of feminine deities: Devīs, Dūtīs, Mātṛs, Yoginīs and Khecarīs, among whom the Khecarīs are the highest, distinguished from Yoginīs. In the *Kaulajñānanirṇaya* Khecarī is described as the overall mother of all *siddhiyoginī*s.[105] The same verse of the *Kaulajñānanirṇaya* lists two other types of Yoginī: Bhūcarī and Gocarī.[106]

Kṣemarāja describes four groups of deities *(devatācakrāṇi)* in the sequence of manifestation of *śakti* at *Spandanirṇaya* 1.20: Khecarī, Gocarī, Dikcarī and Bhūcarī, of which the most refined is Khecarī.[107] In his *Śivasūtravimarśinī* (2.5), the same author describes Khecarī as °*parasaṃvitsvarūpā*, "having the form of the highest consciousness". Kṣemarāja's formulations are sophisticated interpretations of the less metaphysically refined Yoginī cult. In both systems Khecarī, however she is understood, occupies an exalted position, and the same is true of her *mudrā*. Thus, in the 32nd *āhnika* of the *Tantrāloka*, which is devoted to *mudrā*, we read:[108]

> "Among these (i.e. the *mudrā*s taught in the *Mālinīvijayottaratantra*) the most important is *khecarī* [since it is the one] whose essence is a deity."

The importance of *khecarīmudrā* is stressed again later in the same chapter:[109]

> "There is one seed-syllable, that of emission, whose power resides in all mantras; and there is one *mudrā*, *khecarī*, which animates all *mudrā*s."

Similarly, at *Jayadrathayāmala* 4.2.645c *khecarīmudrā* is described as "the queen amongst all *mudrā*s" *(sarvamudrāsu rājeśī)*, and we saw above how *Kularatnoddyota* 3.108d calls *khecarīmudrā* "the queen of all *mudrā*-kings" *(sarvamudreśvareśvarī)*.

Thus *khecarīmudrā* is a key component of tantric practice. But what is it? In his analysis of the *mudrā*s of the *Mālinīvijayottaratantra*, VASUDEVA (1997:15–20) follows the divisions found in the text in identifying three types of *mudrā*: liturgical, iconic and yogic. Yogic *mudrā*s are so called "not because they are primarily employed in yoga but rather because their practice involves yogic principles" (ibid.:18).

The *khecarīmudrā*s of tantric Śaivism fall into this yogic category. In the 32nd *āhnika* of his *Tantrāloka*, Abhinavagupta describes nine variants of the *khecarīmudrā*. These involve esoteric yogic techniques and require the yogin to assume bizarre physical attitudes in imitation of the *mudrā*-deities that he seeks to propitiate.[110] At the beginning of the chapter he cites the *Devyāyāmala*'s definition of *mudrā* as *bimbodayā* and analyses the compound in two ways: either *mudrā* is "that which arises from the original" or "that from which the original arises". As VASUDEVA says (ibid.:19):

> ...these extreme Khecarīmudrās are reflections, imprints or replications *(pratibimba)* of the dynamism of consciousness (Khecarī). The corollary is...the direct experience of Khecarī, or to use different terminology the possession by the goddess Khecarī, manifests itself in the practitioner with these bizarre symptoms.

Thus the two levels of sophistication possible in the interpretation of Khecarī mentioned above are also possible in her *mudrā*. On the level of Khecarī as etheric Yoginī, *khecarīmudrā* brings about possession by her; on the level of Khecarī as supreme consciousness, *khecarīmudrā* brings about experience of that consciousness. In the *Jayadrathayāmala* the *lelihānā mudrā* (one of the nine types of *khecarīmudrā* described by Abhinavagupta) is said to be *sarvadāveśakārikā*, "always effecting possession";[111] Kṣemarāja says that *khecarīmudrā* is so called "because [it brings about] movement in the ether, i.e. the sky of awakened consciousness" *(khe bodhagagane caraṇāt)*.[112]

The *khecarīmudrā* of the *Khecarīvidyā* has many of the attributes of the possession-oriented *mudrā*s of the Bhairavāgama, and these are the key to its understanding rather than the sophisticated interpretations of the Kashmiri exegetes. The *Jayadrathayāmala*'s *mudrāṣaṭka* describes several extremely bizarre *mudrā*s and many of these result in *yoginīmelaka* and *khecaratva*, the aims of *khecarīmudrā* as described in the earliest layer of the *Khecarīvidyā*.[113]

Why was the haṭhayogic practice called *khecarīmudrā*?

The purpose of *mudrā*s in *haṭhayoga* is to awaken Kuṇḍalinī.[114] As we have seen above, causing breath or Kuṇḍalinī to rise up the central channel is mentioned as an aim of many of the practices described in the *śaivāgama* in which the tongue enters the cavity above the palate. Thus it is appropriate that such a practice should be called *mudrā* in the texts of *haṭhayoga*. But why should it be called *khecarīmudrā*?[115]

Many of the practices of *haṭhayoga* can be understood as tantric ritual within the realm of the yogin's own body.[116] The *haṭhayogin* can accomplish the ends of tantric practice without external ritual or a consort with whom to engage in sexual rites. *Gorakṣaśataka* 72–75 locates both *bindu*, sperm, and *rajas*, menstrual fluid, in the body of the yogin. By combining the two, the *haṭhayogin* can produce within his own body the supreme *tattva* of the tantric sexual rite.[117] There are two processes at work in this interiorisation of tantric ritual. Firstly, it is a way of effecting

independence similar in some ways to both the vedic renouncer's internalisation of the sacrifice[118] and the Kashmiri Śaiva exegetes' transformation of tantric ritual into a mental process. Secondly, it is the result of a deliberate strategy of the redactors of the texts of *haṭhayoga*. By adopting the terminology of tantric works the writers of these texts would have lent them the authority of the *āgama*s. As we have seen above, *khecarīmudrā* was a highly esteemed part of tantric ritual, and its accommodation within the practices of *haṭhayoga* would have brought that esteem with it. A contraction of *Tantrāloka* 32.64 (which was cited above, on page 25) is found at *Haṭhapradīpikā* 3.53ab:[119]

> "There is one seed-syllable, that of emission, and one *mudrā*, *khecarī*."

Parallel to the interiorisation of tantric ritual is a process in which practices of tantric Śaivism are transformed into techniques that work on the human body. I call this process "corporealisation". Although the techniques of *haṭhayoga* are the richest source of examples of this process, it began long before any haṭhayogic texts had been composed, as is evinced by the five passages describing the conquest of death by drinking *amṛta* cited earlier in this chapter.[120]

Besides *khecarīmudrā*, the *Khecarīvidyā* describes two more corporealised techniques. The first is the bizarre practice of *mathana*, "churning" or "kindling", described at 1.57c–64d, which involves inserting a probe into the nasal cavity and churning it about. At *Kubjikāmatatantra* 12.60–65 a subtler *mathana* is described which combines yogic techniques and visualisation, using sexual intercourse as its explanatory paradigm. This in turn can be seen as a grosser form of a visualisation given in the *Tantrāloka* which, although not called *mathana*, describes the meditation on the rubbing together of Soma, Sūrya and Agni as the *araṇi*, "the kindling stick", by the agitation of which, the meditator, "burning brightly, becomes full by enjoying the oblation of Mahābhairava in the great sacrificial fire which is called the heart".[121] Jayaratha gives a yogic interpretation of this passage which is similar in some ways to the technique of *mathana* described in the *Kubjikāmatatantra*.

The second corporealised technique in the *Khecarīvidyā* is the practice of massaging the body with various bodily fluids described at 2.72–79. This technique appears to be a corporealisation of alchemical practices in which various substances are rubbed into mercury in order to fix it.[122]

An example of corporealisation from elsewhere in the haṭhayogic corpus is the *mudrā* called *mahāvedha*, "the great piercing", described at *Haṭhapradīpikā* 3.25–28. The yogin is to sit cross-legged with his left heel under his perineum. Putting his hands flat on the ground, he should raise his body and then gently drop it, thus making his heel tap against the perineum, forcing the breath or Kuṇḍalinī into the central channel. This is a corporealisation of the tantric *vedhadīkṣā*, "piercing initiation". *TĀ* 29.236–281 describes several different types of *vedhadīkṣā*. Using mantras and visualisations, the guru causes *śakti* to rise up the pupil's middle path and pierce the *cakra*s and *ādhāra*s stationed along it.

The haṭhayogic *khecarīmudrā* can be seen as a corporealisation of tantric techniques of cheating death in which the head is visualised as containing a store of lunar *amṛta* which, when accessed by means of the breath or Kuṇḍalinī, pours out

into the rest of the body, nourishing and immortalising it. The subtle practice is described in many tantric works.[123] The haṭhayogic *khecarīmudrā* (as well as its tantric predecessors) bestows a concrete ontological status on the *amṛta*. In the descriptions of the subtle technique the yogin is to visualise it (verb forms from √*smṛ* are used); in the corporealised technique the tongue is inserted into the cavity above the palate and the yogin drinks the *amṛta*.

The haṭhayogic *khecarīmudrā* is also a corporealisation of the tantric ritual practices of eating meat and drinking wine: the tongue is meat and *amṛta* is wine. This is explicitly stated in the *Haṭhapradīpikā*:[124]

> "[The yogin] should constantly eat the meat of the cow and drink the liquor of the gods. I reckon him to be a Kaula; the others are destroyers of the *kula*. By the word 'cow' the tongue is meant, because the insertion of [the tongue] at the palate is the eating of the meat of the cow, which destroys great sins. The essence that flows from the moon, brought about by the fire generated by the tongue's insertion, is the liquor of the gods."

The name *khecarī*, "[she who] moves in the ether", is particularly appropriate for a practice in which the tongue enters a hollow space.[125] In the *Gorakṣaśataka* the name *khecarī* is explained thus:[126]

> "The mind moves in the ether *(khe)* because the tongue moves in the void *(khe)*; thus there is this *khecarīmudrā* worshipped by all the *siddha*s."

This explanation neatly connects the insertion of the tongue above the palate with a sophisticated interpretation of *khecarīmudrā* similar to that given by the Kashmiri exegetes.[127]

Khecarīmudrā in haṭhayogic texts

If one examines the early texts of *haṭhayoga* different approaches to its practice become apparent.[128] At one end of the spectrum is the *Khecarīvidyā*, with its roots in Yoginī-cults and Kaulism. At the other end is the *Dattātreyayogaśāstra* which, while still far from the realm of orthodoxy, is a product of a more renunciatory and ascetic tradition.[129] The two different approaches are summarised succinctly in the *Śārṅgadharapaddhati* (the *Dattātreyayogaśāstra* practice is given first):[130]

> "[The yogin] should insert the previously trained mind and breath into the *śaṅkhinī [nāḍī]*[131] in the rod[-like] pathway at the rear by contracting the *mūlādhāra*. Breaking the three knots he should lead [mind and breath] to the bee-cave. Then the *bindu* born of *nāda* goes from there to dissolution *(layam)* in the void.[132] Through training the yogin becomes one whose destiny is assured, chaste *(ūrdhvaretāḥ)*, supremely blissful, and free of old age and death.

> Or, by upward impulses of the breath *(udghātaiḥ)*[133] [the yogin] should awaken the sleeping goddess Kuṇḍalinī whose abode is the Base [and] whose form is like a lotus fibre. Inserting her into the Suṣumṇā *[nāḍī]* he should pierce the five *cakra*s. Then he should insert the goddess into Śiva, who has the radiance of the moon, a shining faultless light, in the thousand-petalled lotus, and flood his entire body, inside and out, with the nectar there. Then the yogin should think of nothing."

The practices that are taught in the *Khecarīvidyā* can be understood in the terms of the second paradigm. The language and ideas of the first are almost entirely absent, with just a brief appearance at 2.107–115.

Of all the texts of *haṭhayoga* only the *Dattātreyayogaśāstra* describes practices which conform exactly to the first paradigm. The *Dattātreyayogaśāstra* mentions neither Kuṇḍalinī nor *cakra*s. Closest to this position are the original *Gorakṣaśataka*[134] and the *Yogabīja*, whose descriptions of *sādhana* match that described in the first alternative but also include *śakticālana*, a technique for awakening Kuṇḍalinī that involves pulling on the tongue.[135] Only the *Khecarīvidyā* and the *Vasiṣṭhasaṃhitā* adhere closely to the second alternative. All other haṭhayogic texts teach both approaches and, as we shall see below, this results in some inconsistencies.

The standpoint of any particular text can be seen in how it understands the purpose of *khecarīmudrā*. In the *Khecarīvidyā*, as we have seen, *khecarīmudrā* is used to raise Kuṇḍalinī and access the store of *amṛta* in the head in order to flood the entire body, rejuvenating and nourishing it. In the *Dattātreyayogaśāstra* the purpose of *khecarīmudrā* is not explicitly stated, but the practice is grouped with *jālandharabandha*, the chin-lock, which is said to prevent the lunar *amṛta* from being consumed by the solar fire in the stomach, thereby rendering the body immortal.[136] This aim of *khecarīmudrā*, for which the name *mudrā*, in its meaning of "seal", is particularly appropriate, is explained in the *Gorakṣaśataka*$_{\mathrm{N}}$:[137]

> "The *bindu*[138] of [the yogin] who has sealed the hollow above the uvula by means of *khecarī* does not fall [even] when he is embraced by an amorous woman. As long as *bindu* is in the body where is the danger of death?"

Thus there are two contradictory aims of *khecarīmudrā* in the texts of *haṭhayoga*. In one, *amṛtaplāvana*, the store of *amṛta* is to be accessed and used to flood the body; in the other, *bindudhāraṇa*, *amṛta* (or *bindu*) is to be kept where it is.[139] Many texts describe both aims. In contrast to the verse cited above, at *Gorakṣaśataka*$_{\mathrm{N}}$ 149–152 the body is to be filled with *amṛta*; the first two lines of the *Gorakṣaśataka*$_{\mathrm{N}}$ passage cited above are also found at *Haṭhapradīpikā* 3.41, while at *Haṭhapradīpikā* 4.53ab in another description of *khecarīmudrā* we read *amṛtaiḥ plāvayed deham āpādatalamastakam*, "[the yogin] should inundate his body from top to toe with the *amṛta*s".[140]

The existence of both ideas in these texts shows how the early manuals of *haṭhayoga* were attempting to syncretise the practices of different schools. None of the

texts that attempt to describe a complete system of yoga (e.g. the *Dattātreyayogaśāstra*, *Gorakṣaśataka*$_N$ or *Haṭhapradīpikā*) is entirely coherent. Only the more specialist treatises such as the *Amanaskayoga* and the original *Gorakṣaśataka* present an uncontradictory whole. As mentioned above, the *Khecarīvidyā* has not entirely escaped this syncretism: 2.107–115 is more in keeping with the idea of *bindudhāraṇa* than *amṛtaplāvana*.[141]

The *Khecarīvidyā* seems to be an attempt by a school of yogins whose roots lay in Kaula tantrism at reclaiming the haṭhayogic *khecarīmudrā* from more orthodox *bindudhāraṇa*-oriented schools of *haṭhayoga*.[142] The *Dattātreyayogaśāstra*, which almost certainly predates the *Khecarīvidyā*, teaches a *bindudhāraṇa*-oriented *khecarīmudrā*. The practice as described in the *Gorakṣaśataka*$_N$ is for the most part a technique of *bindudhāraṇa* and may derive from the *khecarīmudrā* described in the *Kularatnoddyota* (see note 96). The compilers of the *Khecarīvidyā* knew the *Gorakṣaśataka*$_N$ and pay it respect at *Khecarīvidyā* 1.16, but give a very different interpretation of the haṭhayogic *khecarīmudrā*.

Of all haṭhayogic works, the most eclectic is the *Haṭhapradīpikā*, which borrows verses from almost every haṭhayogic text that we know existed before its compilation. The *Haṭhapradīpikā* is the second work (after the *Yogabīja*) that claims to belong to the Nātha school and it is the founding of this most eclectic of orders that resulted in its composition.[143]

After the composition of the *Haṭhapradīpikā*, we find a proliferation in the number of haṭhayogic texts and commentaries.[144] The main reason for this increase is the interest in *haṭhayoga* taken by Advaita Vedāntins. Bouy (1994) examines the textual evidence for this interest in detail. He summarises the situation thus (ibid.:5):

> The *Haṭhapradīpikā*, which is nothing more than an anthology, was compiled by Svātmārāma during the XVth century. This Haṭha-yogic work aroused great interest, especially among followers of Śaṃkara's Advaita philosophy. As early as the XVIth–XVIIth centuries, works written by Advaita Vedāntins, such as Nārāyaṇa's *Dīpikā* on a collection of Ātharvaṇa Upaniṣads, Śivānanda Sarasvatī's *Yogacintāmaṇi*, and Nārāyaṇa Tīrtha's commentary on the *Yogasūtra*, entitled the *Yogasiddhāntacandrikā*, referred to Gorakṣa, i.e. the author of the *Gorakṣaśataka*, and quoted from the *Haṭhapradīpikā* and Nātha treatises on *haṭhayoga*. In other words, from that time a number of Sanskrit texts belonging to Nātha literature were considered by Advaita adepts to be authoritative on *yoga*.

The texts of *haṭhayoga* provided material for part of a corpus of one hundred and eight *upaniṣad*s that was compiled in the first half of the eighteenth century. Works on *haṭhayoga* were used to create new recensions of old Upaniṣads and to compose entirely new ones (including the *Yogakuṇḍalyupaniṣad* whose second *adhyāya* contains 49 of the *Khecarīvidyā*'s first 65 verses). This is well documented by Bouy (for a summary see ibid.:6).

What effect did the Advaita interest have on the understanding and practice of *khecarīmudrā*? We may assume that the Nāthas continued to practise it as before: few new Sanskrit Nātha texts appear after the *Haṭhapradīpikā* yet we know that the Nāthas attracted considerable patronage until at least the beginning of the nineteenth century and for a long period were probably the largest ascetic order in North India.[145] It seems that, textually speaking, they could rest on their laurels with an established corpus of works, while the Vedāntins sought to accommodate the newly fashionable practices of *haṭhayoga* within their soteriology.[146] Other than the *Yogakuṇḍalyupaniṣad*'s second *adhyāya* the upaniṣadic passages that mention *khecarīmudrā* are all taken from *Gorakṣaśataka*$_{\mathrm{N}}$ 64–71 and thus describe it as a method of *bindudhāraṇa*.[147] The verses in the *Yogakuṇḍalyupaniṣad* taken from the *Khecarīvidyā* describe the *khecarīmantra* and the mechanics of the practice without mentioning *amṛtaplāvana*. In the *Yogacintāmaṇi* of Śivānanda Sarasvatī (c.1600 CE; see BOUY 1994:119), *khecarīmudrā* is said to be useful in holding *prāṇa* in the head; *bindu* is not mentioned (f. $6r^{4-7}$). The Advaita Saṃnyāsins, intent on liberation, concentrated on the renunciatory and controlling aspect of *khecarīmudrā*, playing down its *siddhi*-oriented tantric heritage. They added little but a shift of emphasis to the nexus of ideas surrounding the practice.

A late Vaiṣṇava manual of *haṭhayoga*, the *Gheraṇḍasaṃhitā*, makes no mention of *amṛta* when describing the practice, but describes the variously flavoured *rasa*s that the tongue will taste (3.27c–28d).[148] The benefits of *khecarīmudrā* listed at 3.24a–26b and 7.11 are purely physical except for *samādhi*. As the orthodox ideologies of Vedānta and Bhakti increased their grip on yoga, tantric ideas were slowly squeezed out. The *khecarīmudrā* of later haṭhayogic works has little connection with tantra; indeed it has more in common with the practice that was current at the time of the composition of the Pali canon.[149]

Khecarīmudrā in modern India

My ethnographic fieldwork in India has focussed on traditional *haṭhayoga*, by which I mean *haṭhayoga* that has not been shaped by the developments which started in the late nineteenth century and which have helped to make yoga the global phenomenon it is today.[150] *Khecarīmudrā* appears to play little part in this modern *haṭhayoga*: IYENGAR, perhaps the most influential of all modern teachers of *haṭhayoga*, mentions it only in passing (1977:118-9) and neither ALTER (2004) nor DE MICHELIS (2004), who examine the development of modern yoga in India and abroad, mention it at all.

Haṭhayogic texts talk of four types of yoga: *mantra, laya, haṭha* and *rāja*. *Rājayoga* is usually said to be the best and often equated with *samādhi*.[151] Some traditional *haṭhayogin*s in India today have adopted the modern yogic understanding of *haṭhayoga* as denoting physical practices and *rājayoga* mental ones. *Haṭha* is seen as a preliminary for *rāja*. Some practices are deemed to have two varieties, one *haṭha* and one *rāja*. Thus the *bindudhāraṇa*-oriented *khecarīmudrā* described at *Haṭhapradīpikā* 3.31–53 is the physical *haṭhayoga* practice, while the *samādhi*-oriented

khecarīmudrā of 4.42–55, in which the tongue is not explicitly mentioned, is the purely mental, and therefore superior, *rājayoga* practice. This is how *khecarīmudrā* was explained to me by Raghuvara Dās Yogīrāj of Jaipur and he assured me that the *rājayoga* variety was much more important than that of *haṭhayoga*, about which he was somewhat dismissive. Satyānanda SARASVATĪ distinguishes between two types of *khecarīmudrā* in his commentary on the *Haṭhapradīpikā* (1993:279): a *haṭhayoga khecarīmudrā*, in which the tongue is inserted into the cavity above the palate, and an implicitly superior, *samādhi*-oriented *rājayoga khecarīmudrā*, in which the tongue is pressed against the palate in the manner of the practices described in the Pali canon and early Sanskrit works. The majority of the *khecarīmudrā*-practising yogins that I met during my fieldwork emphasised the practice's importance for entering a state of *samādhi*. Paraśurām Dās Yogīrāj of Kota called it *samādhi kā aṅg*, "a limb of *samādhi*". By *samādhi*, most of my informants meant simply a trance-like meditation carried out for long periods of time rather than the specific state of absorption described in the *Yogasūtra* and its commentaries.[152]

Only two of my informants (Dr. Tripāṭhī of Varanasi and Svāmī Praṇavānand Sarasvatī of Rishikesh) mentioned *bindudhāraṇa* as an aim of *khecarīmudrā* and I suspect that this is at least partly due to their having read haṭhayogic texts. Both associated *bindudhāraṇa* with the raising of Kuṇḍalinī. They did not mention the drinking or tasting of *amṛta*. In contrast, all my other informants said that the main aim of the practice is the drinking of *amṛta* and associated it with the ability to fly.[153] Lāl Jī Bhāī of Rishikesh practises *khecarīmudrā* for at least two to three hours every day in order to drink *amṛta*, which, he said, brings about *naśā*, "intoxication", like whisky. If he doesn't drink it every day he feels out of sorts and cannot apply himself to anything. Govind Dās Yogīrāj said that *amṛta* has a taste *jiskā varṇan kiyā nahīṃ jāyega*, "whose taste cannot be described". Similarly, Nainā Dās Yogīrāj said that the goal of the practice is the drinking of *amṛta* and that its rewards could not be described but had to be experienced.[154]

Thus, while all are agreed that *khecarīmudrā* is an important means to *samādhi*, the more educated practitioners of *haṭhayoga* frame their understanding of its aims in the terms of the prevalent ideology of orthodox asceticism (i.e. *samādhi* by means of *bindudhāraṇa* and the raising of Kuṇḍalinī), but those whose understanding derives from non-textual sources see it to be also a means of attaining such *siddhi*s as the drinking of *amṛta*, the power of flight and the ability to remain in meditation without food or water for extended periods. Despite the orthodox elite's attempts to remove or ignore the power-seeking, *siddhi*-oriented heritage of the practice (and of *haṭhayoga* in general), it lives on in the oral tradition of the *haṭhayogin*s of today.

Practitioners of *khecarīmudrā*

What can be said about ascetics who use or have used techniques involving the tongue? Apart from the passage from the *Viṣṇusmṛti*, the evidence from works prior to the haṭhayogic corpus seems to indicate that it was the preserve of unorthodox yogins. In the *Mahāsaccakasutta* the Buddha includes the technique of

pressing the tongue against the palate amongst extreme ascetic disciplines, such as extended breath-retention and fasting, that were practised by Jainas and Ājīvikas. SANDERSON (1986:211) has pointed out that the *Jayadrathayāmala* preserves elements of Kāpālika practice. The descriptions of ascetics in the *Kaulajñānanirṇaya* and *Matsyendrasaṃhitā* indicate their Pāśupata and Kāpālika heritage.[155]

Khecarīmudrā gained fame as part of the *sādhana* of the Nāthas who continued this tradition of antinomian asceticism. The long version of the *Haṭhapradīpikā* calls the practitoner of *khecarīmudrā* an *avadhūta*.[156] The Nātha order was open to anyone, regardless of caste or sex and the same text says, "Pure or impure or in any state, he who practises *khecarī* is assuredly an adept", adding that both outcastes and brahmins can quickly attain *mokṣa* through the practice.[157]

The popularity of the Nāthas led to other orders adopting their appearance and practices (and, in the case of the Vedāntins, their texts). With their monopoly on the magical asceticism that so appeals to the Indian public broken, the Nāthas found it hard to compete for patronage. ELIADE (1969:302) described them as showing "all the signs of a sect in decomposition". Meanwhile, the numerically strongest ascetic orders in India today all have suborders that closely resemble the Nāthas, and some of their members practise *haṭhayoga*.[158] In my fieldwork in India I found that among *haṭhayogin*s of all sects, those who practise *khecarīmudrā* are rare and are held in respect by their peers. Although the practice has a long pedigree, I doubt that it has ever been very popular.

As indicated by the inclusion of two householders among my ethnographic informants, the practice is not nowadays restricted to ascetics.[159] Whether this is because of the advent of printing having increased awareness of haṭhayogic practices or whether ascetic gurus have always initiated lay disciples into such techniques is impossible for me to say. Both the lay practitioners of *khecarīmudrā* that I met during my fieldwork were acqainted with the texts of *haṭhayoga*, but both had been initiated into the practice by ascetic gurus.

Sources

Manuscript sources of the *Khecarīvidyā*

In this chapter I first list the sources that have been collated as the basis of the critical edition of the *Khecarīvidyā*. These sources are presented here in the order in which they are reported in the apparatus. Their order reflects the age of their archetypes.[160] Thus the manuscripts that make up the group μ are given first because the archetype of μ is the earliest witness of the *Khecarīvidyā* of which we have evidence.

- A (**A**mritsar)

  Matsyendrasaṃhitā. Paper. Devanāgarī. Good condition. c. 1850 CE. 120 folios, numbered at top left and bottom right of verso. 30 × 14 cm. with 11 lines to a side. The text consists of 55 *paṭala*s with 14.1 to 17.1 (inclusive) corresponding to the first three *paṭala*s of the *Khecarīvidyā*. These are found at ff. 39r-49v. *Paṭala* 14 (f. 39r⁴–f. 41v⁵) corresponds to the *Khecarīvidyā*'s first *paṭala*. *Paṭala* 15 (f. 41v⁵–f. 45r⁷) ends at verse 83 (= *KhV* 2.81). *Paṭala* 16 (f. 45r⁷–f. 49v³) consists of 114 verses (= *KhV* 2.82–3.68b). The *Matsyendrasaṃhitā*'s *paṭala* 28 (f. 69v¹⁰–f. 70v⁵) corresponds to the *Khecarīvidyā*'s *paṭala* 4. There is a title page consisting of a label from "Bhajan Lal Mss Dealer and Bookseller, Gali Tokrian, Katra Safaid, Amritsar". The label has the number 64657 in arabic numerals written at the top. In addition to the information given above it states that the author of the manuscript is "Matsya Nātha", the "Recension" is "Kasmir" and it was written "Near 1900 V.S.". The "Where from obtained" section has been left blank.

  The readings of A are very close to those of J_6 and J_7 but include more careless errors. A appears to derive from J_7 which in turn derives from J_6.

  Beginning (f. 1r¹):

  > oṃ śrīgaṇeśāya namaḥ śrīnāthāya namaḥ

  End (f. 120r¹):

  > iti śrīmatsyendrasaṃhitāyāṃ paṃcapaṃcāśaḥtpaṭalaḥ samāptasaṃpūrṇam // oṃ yādṛśaṃ pustakaṃ dṛṣṭvā tādṛśaṃ likhitaṃ

> mayā yadi śuddhaḥm aśudhaṃ vā / mama doṣa na dīyate // 1 //⊛//⊛//⊛// × // × // × //⊛//⊛//⊛//⊛//

Uncatalogued.

The Wellcome Institute for the History of Medicine, London. MS Sansk. *β* 1115.

- J6 (Jodhpur)

  Matsyendrasaṃhitā. Paper. Devanāgarī. Complete and good condition. c. 19th century. 83 folios, numbered at top left and bottom right of verso. 26 × 10.5 cm. with 11 lines to a side. The *paṭala* and verse numbers correspond to those of the *KhV* in the same way as those of witness A described above. 14.1 (=*KhV* 1.1) is at f. 26v[4], 17.1 (=*KhV* 3.68) is at f. 34r[1] and *paṭala* 28 (=*KhV paṭala* 4) is at f. 48v[2]–f. 49r[3].

  I am grateful to David White for providing me with xerox copies of f. 1v, ff. 26v–49r (*paṭala*s 14–28) and f. 83v.

  The readings of J6 are very close to those of A and J7. J6 appears to be the source of the readings of J7, and J7 the source of those of A.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīgaṇeśaśāradāgurubhyo namaḥ

  End (f. 83v[11]):

  > iti śrīmatsyendrasaṃhitāyāṃ *paṃcapaṃcāśaḥ paṭalaḥ samāptaḥ*

  Described by Vyas & Kshirsagar (1986:184–5).

  MMSL, Mehrangarh Fort, Jodhpur. MS No. 1784.

- J7 (Jodhpur)

  Matsyendrasaṃhitā. Paper. Devanāgarī. Complete. c. 19th century. 179 folios, numbered at top left and bottom right of verso. 27.5 × 12.5 cm. with 10 lines to a side. 14.1 (=*KhV* 1.1) is at f. 55r[8], 17.1 (=*KhV* 3.68) is at f. 71r[1] and *paṭala* 28 (=*KhV paṭala* 4) is at f. 102r[2]–f. 103r[7].

  I am grateful to David White for providing me with xerox copies of f. 1v, ff. 55r–f. 78v (*paṭala*s 14–18), ff. 100r–103r (*paṭala*s 27 and 28) and f. 179v.

  The readings of J7 are very close to those of A and J6. They appear to derive from those of J6 and to be the source of those of A.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīnāthāya namaḥ

  End (f. 179v[9]):

  > iti śrīmatsyendrasaṃhitāyāṃ paṃcapaṃcāśaḥ paṭalaḥ samāptaḥ

Described by VYAS & KSHIRSAGAR (1986:184–5).

MMSL, Mehrangarh Fort, Jodhpur. MS No. 1782.

- G (**G**rantha)

  Khecarīvidyā. Palm Leaf. Grantha. Incomplete, starting with 1.20a at the beginning of f. 18r.[161] At the right hand edge of f. 18r is written "Fol. 16–17 missing". 9 folios, numbered at bottom left of recto. 22.5 × 4.0 cm. with 12 lines to a side. Condition good, but occasionally worm-eaten, and worn at tops of ff. 18v, 19v, 20v and 21v. The text is not divided into *paṭala*s but is numbered intermittently (usually at every fifth verse) from 30 (at the edition's 1.29) to 48 (i.e. 248, at the edition's 3.45c). The fourth *paṭala* of the edition is not found in this manuscript. Following the text of the *KhV* is a work whose colophon (end of f. 29r) reads *iti gorakṣabodha nāma yogaśāstram*. Dominic GOODALL, who had the manuscript photocopied, reported that the rest of the codex is made up of short works on Advaita.

  Colophon (f. 26r[6]):

  > śrīmadādināthaviracite mahākāḷayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ prathamaḥ paṭalaḥ —— śivamayam —— nityakalyāṇisahāyya —— gurave namaḥ

  Described by RAGHAVAN (1969b:188).

  Institut français de Pondichéry. MS RE 12663.

- R$_2$ (**R**oyal Asiatic Society of Bengal)[162]

  Khecarīvidyā. Paper. Devanāgarī. 11 folios. Complete in three *paṭala*s.[163] Torn and badly pasted together, resulting in several lacunae. c. 18th century. Many trivial errors. Its readings show conflation with almost all the other manuscript traditions. The cover page reads *"khecarīvidyā 11 mālavīyaraghunātharāmaśarmmaṇaḥ"*.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ

  End (f. 1v[1] 1):

  > iti śrīmatādināthaviṃsacite mahākālayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvā[....]ḥ samāpto ya graṃthaḥ // //cha // cha // cha // yeṣāṃ na vidyā na tapo na dānaṃ [....] mṛtyuloke bhuvi bhārabhutā mānuṣyarūpeṇa mṛgā caranti // 1 //[164] śrīrāmasahādraḥ gaṇapa[.....]

  Described by SHASTRI (1939:303).

  Library of the Asiatic Society of Bengal, Kolkata. MS No. 8409.

- *U* (Upaniṣad)

  Yogakuṇḍalyupaniṣad. Edited by Mahādev Śāstrī, in *The Yoga Upaniṣads* (Adyar Library 1920). *Adhyāya* 2 (pp. 321–328) consists of 49 of the first 64 *śloka*s of the first *paṭala* of the *Khecarīvidyā*. According to the preface (pp. v–vi), seven sources were used for the edition of the twenty "Yoga Upaniṣads":

  1. Adyar Library TR 34. Contains "Minor Upaniṣad-s with Appayācārya's commentary". Devanāgarī.
  2. Adyar Library 75883–5. Contains 108 Upaniṣads. Grantha.
  3. Adyar Library 75217. Contains 108 Upaniṣads. Grantha.
  4. "A Grantha MS. of 108 Upaniṣad-s lent by Mr. V. Kachchapesvara Iyer, B.A., B.L., of Vellore."
  5. Adyar Library PM 211. 108 Upaniṣads with Upaniṣadbrahmayogin's commentary. Devanāgarī.
  6. Adyar Library 75709–10. 108 Upaniṣads with Upaniṣadbrahmayogin's commentary. Grantha.
  7. "The printed edition of 108 Upaniṣad-s published by Tukaram Javaji, Bombay, 1913, based on a South Indian MS."

  Upaniṣadbrahmayogin's commentary is given at four places in the edited text:

  1. after 17b (=*KhV* 1.32b):

     jñānasahitahaṭhayogasarvasvaṃ pratipādya saprapañcaṃ lambikāyogam ācaṣṭe – atheti / yathā yathāvat // 1-12 // mahyaṃ mattaḥ // 13-15 // hrīm ityādikhecarībījapūrayā
     "antarlakṣyavilīnacittapavano yogī sadā vartate
     dṛṣṭyā niścalatārayā bahir adhaḥ paśyann apaśyann api /
     mudreyaṃ khalu khecarī bhavati sā lakṣyaikatānā śivā
     śūnyāśūnyavivarjitaṃ sphurati sā tattvaṃ padaṃ vaiṣṇavi //"
     iti śrutisiddhakhecarīmudrayā khecarīyogaṃ yuñjan yaḥ kālaṃ nayati // 16 // sa yogī dehānte khecarādhipatiḥ sūryo bhūtvā khecareṣu khecaraṇīyalokeṣu sadā vaset //

  2. after 20d (=*KhV* 1.35d):

     melanamantrarājam uddharati—khecareti / khavācakatayā caratīti khecaraḥ hakāraḥ āvasatham iti dhāraṇāśaktir īkāraḥ reti vahniḥ ambumaṇḍalam iti binduḥ / etat sarvaṃ militvā bhūṣitaṃ hrīm iti // 17 // khecarībījam ākhyātam / tenaiva lambikāyogaḥ prasidhyati / śiṣṭabījaṣaṭkam apy ambumaṇḍalabhūṣitam iti jñeyam / somāṃśaḥ sakāraḥ candrabījaṃ tatpratilomena tannavakaṃ varṇam uddharet bham iti // 18 // tasmāt bhakārād anulomena tryaṃśakaṃ candrabījam ākhyātaṃ sam iti / tasmāt sakārāt vilomena aparam aṣṭamaṃ varṇam uddharet mam (ṣam U^{vl}) iti // 19 // tathā makārāt vilomena aparaṃ pañcamavarṇaṃ pam (tham U^{vl}) iti viddhi / punar

indoś ca bījaṃ sam ity uddharet / bahubhiḥ kakāraṣakārabindubhiḥ yukto 'yaṃ kūṭaḥ kṣam iti / āhatya bījāni sapta—hrīṃ, bhaṃ, saṃ, maṃ, paṃ, saṃ, kṣaṃ, iti // 20–21 //

3. after 27d (=*KhV* 1.42d):

   nityaṃ dvādaśavāraṃ yo japati sa māyātīto bhavatīty arthaḥ // 22–27 //

4. after the last verse, 49d (=*KhV* 1.65b):

   abhyāsakramam āha—tālv iti // 28–29 // kāryāntaraṃ hitveti / harītakī pathyāśabdārthaḥ // 30–31 // vāgīśvarīdhāmaśiraḥ jihvāgram // 32–34 // tiryak cchākāvadhiḥ śikhāmūlam ity arthaḥ // 35–36 // durlabhāṃ durlabhatām // 37 // ṣaṭsvarabhinnayā hrāṃ hrīṃ ityādinety arthaḥ // 38–40 // brahmārgalam antarjihvāsuṣiram // 41–47 // evaṃ gurumukhāt lambikāvidyām abhyasya dvādaśavarṣānuṣṭhānāt lambikāyogasiddhiḥ bhavati // 48 // śarīre sakalaṃ viśvaṃ paśyatīty anena virāṭ sūtrabījaturyarūpaṃ krameṇa pratipadyate / yatra sahasrāre rājadantordhvakuṇḍalī jihvā prasarati so 'yaṃ mārgaḥ brahmāṇḍanibho bhavati, supathyatvāt / itiśabdaḥ lambikāyogasamāptyarthaḥ, dvitīyādhyāyasamāptyarthaś ca bhavati // 49 //

Section headings are found at four places in the text:

1. at the beginning:

   khecarīvidyā

2. before 17c (*KhV* 1.32c):

   khecarīmantrarājoddhāraḥ

3. before 21a (*KhV* 1.36a):

   mantrajapāt khecarīsiddhiḥ

4. before 28a (*KhV* 1.43a):

   khecaryabhyāsakramaḥ

- T (Madras, Tamil Nadu)

  Khecarīvidyā. Paper transcription in Devanāgarī from a Kannada manuscript in bad condition. It was transcribed on 4th May 1947 from folios 80r–84r of an uncatalogued manuscript R2831(e) into a bound book, and covers seven pages of the book with 20 lines per page. It consists of the first 64 *śloka*s of *paṭala* 1 of the edited *KhV* and contains several careless errors.

Beginning:

> khecarīvidyā

End (p.7):

> iti khecarīvidyā saṃpūrṇam //
> iti śrīmaś śaṃkarācāryapadāraviṃdābhyāṃ namaḥ
> hariḥ oṃ
> kṛṣṇārpaṇam astu
> Copied By S.R.Raghuthanachar *[sic]*
> Darsanakovida 4/5/47
> Restored in 1947-48 from a library ms. R2831

Uncatalogued.

Government Oriental Manuscripts Library, Madras. MS R7878.

- S (Scindia Oriental Research Institute, Ujjain)

  Bṛhatkhecarīprakāśa. Paper. Devanāgarī. Complete. 117 folios, numbered at top left of verso up to only 112 because there are two folios numbered 13, three numbered 42 and three numbered 86. I refer to these folios as 13(1), 13(2), 42(1), 42(2),[165] 42(3),[166] 86(1), 86(2) and 86(3) and thus adhere to the numbering found in the manuscript. 31.5 × 13.0 cm. with 9 or 10 lines to a side. Good condition. c. 1750–1800 CE.[167] The manuscript consists of the text of the *Khecarīvidyā*, the verses of which are written in the middle of each folio, with a *ṭīkā* by Ballāla. Sometimes the text of the *ṭīkā*, having filled up the page, runs from the bottom right of the page up the right hand margin, occasionally running around the top of the folio upside down relative to the main body of text. At many places in the manuscript comments, corrections, and additions have been made in the margins by later hands. There are very few errors in the text of the commentary. From variant readings given in the commentary it is clear that Ballāla had access to manuscripts in the traditions of groups α and β.[168]

  Beginning (f. 1v[1], after a *maṅgala* invoking Hanumān written in the top margin of f. 1v by a later hand):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ // oṃ namaḥ śivāya // namaḥ sarasvatyai // gaṇādhyakṣaṃ namaskṛtya śivam aṃbāṃ sarasvatīṃ // prakāśaṃ khecarīnāmnyā bruve ballāḷanāmakaḥ //1// jayati sadā śivatīrthaḥ kāśyāṃ yasmād avāptavān eṣaḥ // vidyāṃ khecarasaṃjñāṃ sābhyāsāṃ suhitapustakāṃ sāṃgāṃ //2// ataḥ sāraṃ samālocya graṃthe⌈bhya⌉s tatvato mayā ⌈śaktye⌉ // vyākhyāsye khecarīvidyāpaṭalam iti śabdataḥ //3// ādināthaṃ ca matsyeṃdraṃ gorakṣaṃ cānyayoginaḥ // namaskurmo haṭhasyāsya rājayogasya cāptaye // 4// guror ājñāṃ samālaṃbya durbodhām api khecarīṃ // apūrvaṭīkāṃ savyākhyāṃ kurve yogijanapriyāṃ //5//

Then follows the commentary on the first verse of the *Khecarīvidyā*.

End of commentary on the first *paṭala* (f. 28v[9]):

> iti śrīmajjāmadagnyagotra⌈bābūbhaṭṭātmaja śrī⌉rudrabhaṭṭ[…] sarvavidyānidhānayogataṃtrapravīṇaśrīballāḷaviracite khecarīpaṭalaprakāśe upodghātādidvādaśavārṣikābhyāsanirūpaṇaṃ nāma prathama udyotaḥ ⌈saṃpūrṇaḥ⌉ // cha

End of *KhV* (f. 112r[8]):

> iti śrīmadādināthanirūpite mahākālopavartini umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ caturthaḥ paṭalaḥ saṃpūrṇaḥ // ccha //

End of *ṭīkā* (f. 112r[5]):

> bābūbhaṭṭatanūjarudratanujaḥ sāṃbe śive bhaktimān evaṃ sadgurupādayor atha janitror anyasādhuṣv api ballāḷo 'racayat prakāśam atulaṃ śāstraikasiddhāṃtajaṃ khecaryās tam imaṃ vibhāvanaparā gṛh*ṇ*aṃtv aho bhāvakāḥ //1// muktāphalāṃtararasagrahaṇā hi haṃsā āraktacaṃcucaraṇā madhurāsadacchāḥ // śuktyāratās taditare *'*rasamāṃsabhāvā ekākṣavṛṣṇatanavo vicaraṃti loke //2// sādhvī mātā pārvatī ∗yadbharyā rukmiṇī tathā // vāsudevaḥ somanātho putraugadhe pi nāma ca // ⌈3⌉ tenātra sad asat proktaṃ kṣaṃtavyaṃ tan mahātmabhiḥ // bālakasya pralāpo hi kṣamyate gurubhiḥ kila //4// prakāśanāt kalādīnāṃ pāṃḍityasya parasya ca // jñānaikarūpī sarvātmā śivaḥ prīṇātu kevalaḥ //5// ⌈saṃkarṣaṇo mahābuddhir brāhmaṇo hi janārdanaḥ tadannāśrayato nūnaṃ vyekaṭāṃṇṇā sahāyataḥ //⌈6⌉ agāṃka*maja* ⌈1897⌉caṃdrākhye vatsare vyaṃgatas tathā // śake sapteṃduke ⌈176*2*⌉ pūrṇaḥ paurṇamāsyāṃ śucer bhuvi //7//⌉ iti śrīmajjāmadagnyagotrabābūbhaṭṭātmajaśrīru drabhaṭṭasūnusarvavidyānidhānayogataṃtrapra -vīṇaśrīgoviṃdāparanāmaśrīballāḷaviracite śrīkhecarī⌈vidyāpaṭala⌉∗śe yogopayuktauṣadhīvyākhyāne ⌈caturthaṃ paṭalaṃ⌉ saṃpūrṇatām agamad iti //1//**(f. 112v)** iti bṛhatkhecarīprakāśaḥ saṃpūrṇaḥ //

At f. 1v[2] there is a benediction to "Sadāśivatīrtha" from whom the commentator obtained the text of the *Khecarīvidyā*. In the margin, the note *saṃnyāsīty arthaḥ* has been added by a later hand confirming that the name refers to a Daśanāmī ascetic (*saṃnyāsī*). The Tīrtha suborder of the Daśanāmīs consists of Daṇḍī *saṃnyāsī*s of Brahmin birth. We thus have some indication of the milieu in which the commentary was composed. Ballāla, however, appears to have no particular axe to grind, be it that of *advaitavedānta* or brahmanic orthodoxy and describes extreme ascetic practices that go far beyond those found in other haṭhayogic texts and commentaries.[169]

Ballāla mentions and quotes from several works in his commentary (a list of all the works cited and the location(s) in the manuscript of their citations is

found in the appendices, pp. 157–162). I have quoted from the commentary extensively in the notes to the translation. Unless indicated otherwise, the quotations are exactly as found in the manuscript.

Described by RAGHAVAN (1969b:188).

Scindia Oriental Research Institute Library, Ujjain. MS 14575.

- N (**N**asik)

  Khecarīvidyā. Paper. Devanāgarī. Complete and in good condition. c. 20th century. 42 folios, numbered at bottom right of verso. Approximately 18 × 9 cm. 5 lines to a side.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ // śrīgurubhyo namaḥ //

  After the edition's final verse N has (f. 42r[5]):

  > / cha // yāvaṃ naiva praviśati caranmāruto madhyamārgaṃ yāvad viṃdur na bhavati dṛḍhaḥ prāṇavātapraba(**f. 43v**)ddhaḥ // yāvat vyomnā sahajasadṛśaṃ jāyate naiva cittaṃ yāvaj jñānaṃ vadati manujo daṃbhamithyāpralāpaḥ //1// śrībhavānīśaṃkarārpaṇam astu // cha

  N and W_1 are very similar. At 2.110c both contain an extra section consisting of *Gorakṣaśataka*$_N$ 184–90, 192 and 197–8. N concludes the second *paṭala* after this section; W_1 has the final 14 *śloka*s of the *KhV*'s second *paṭala*. The passage in N runs as follows (f. 28r[2]–f. 29v[5]):

  > dhāraṇā paṃcanāḍīṣu dhyāna dvisaptanāḍikaṃ
  > dinadvādaśakenaiva samādhi prāṇasaṃyamāt
  > anasaṃdhāna yo yogai soḍaṃlasatināṃgināṃ
  > tathātmanasayor aikyaṃ samādhiḥ so bhidhīyate
  > tathā saṃkṣīyate prāṇo mānasaṃ ca pralīyate
  > tathā (**f. 28v**) samarasatvaṃ ca samādhiḥ so bhidhīyate
  > yat samatvaṃ dvayor atra jīvātmāparamātmanoḥ
  > naṣṭasamastasaṃkalpa samādhiḥ so bhidhīyate
  > iṃdriyāṇi manovṛtti sarvajīvāśrayaṃ bhavet
  > atha yat tad gate jīve na mano neṃdriyāṇi ca
  > na gaṃdho na raso rūpaṃ na sparśaḥ śabdatanmayaṃ
  > nātmānaṃ na paraṃ vetti yogī yuktiṃ samādhi(**f. 29r**)na
  > khādyate na sa kālena bādhyate na sa karmaṇā
  > bādhyate na sa kenāpi yogī yuktisamādhitaḥ
  > na ca jānāti śītoṣṇaṃ na duḥkhaṃ na sukhaṃ tathā
  > na mānaṃ nāvamānaṃ ca yogī yuktasamādhitaḥ
  > avadhya sarvaśāstrāṇām abādhyaḥ sarvadehināṃ
  > agrāhyo maṃtrataṃtrāṇāṃ yogī yuktasamādhitaḥ
  > nirādyaṃ ca nirālaṃbaṃ niḥprapaṃcaṃ nirāśra(**f. 29v**)yaṃ

nirāya ca nirākāraṃ tatvaṃ tatvavido viduḥ
dugdhe kṣīraṃ ghṛte sarpir agnau vahnir ivārpayet
tanmayatvaṃ vraje yogī sa līnaḥ parame pade
sakāra sarvavarṇeṣu yuktaceṣṭas tu sarvataḥ
yuktāni drāvabodhas tu yas tatvaṃ sa ca viṃdati
bhavabhaya bhavavahnir muktisopānapaṃktiḥ
prakaṭitaparamārthe yāni guhyaṃ

The P.D. Chandratre mentioned as the owner of a manuscript of the *Khecarīvidyā* in the NCC (Raghavan 1969b:188) gave all his manuscripts to the Sarvajanik Library, Nasik. The *Khecarīvidyā* MS is No. 1973; acc. No. 5/3 in the library hand-list.

- W_1 (Wai Prajñāpāṭhaśālā)

Yogaśāstrakhecarīmudrāpaṭala. Devanāgarī. Paper. Complete and in good condition. Dated Śaka 1777 (1855 CE). 25 folios numbered at bottom right of verso. 21.5 × 15.0 cm. 10 lines to a side. On the front cover is written:

// atha yogaśāstrakhecarīmudrāpaṭalaprāraṃbhaḥ //

On the back (f. 25v) is written:

// iti yogaśāstrakhecarīmudrāpaṭalasamāptaḥ //

Beginning (f. 1v[1]):

śrīgaṇeśāya namaḥ // śrīsarasvatyai namaḥ // śrīgurubhyo namaḥ

End (f. 24v[9]):

iti śrī ādināthanirūpite mahākālayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde (**f. 25r**) khecarīmudrābījaṃ nāma caturthapaṭalaṃ saṃpūrṇaṃ // // śrīkṛṣṇārpanam astu // // śake 1777 rākṣasanāmasaṃvatsare bhādrapadakṛṣṇaṣaṣṭhyāṃ tithau iṃduvāsare taddine pustakaṃ samāptaḥ // // śubhaṃ bhavatu // // cha // //

As mentioned above, both N and W_1 contain an extra section of 12 *śloka*s, consisting of *Gorakṣaśataka*$_N$ 184–90, 192 and 197–8, at 2.111c. N concludes the second *paṭala* after this section; W_1 has the usual last 14 verses. In W_1 this section is as follows (f. 15r[3]–f. 16r[2]):

satatadhyānataḥ paraṃ //
dhāraṇā paṃcanāḍīṣu dhyānaṃ dviḥsaptanāḍikaṃ //
dinadvādaśakenaiva sadhiḥ prāṇasaṃtramāt //
anusaṃdhāna yo yogai sohaṃ lasatināṃginām //
tathātmamanasayor aikyaṃ samādhiḥ so bhidhīyate //
yathā saṃkṣīyate prāṇo mānasaṃ ca pralīyate //
tathā samarasatvaṃ ca samādhiḥ so bhidhīyate //

yat samatvaṃ dvayor atra jīvātmāparamātmanoḥ //
naṣṭaḥ samastasaṃkalpaḥ samādhiḥ so bhidhīyate //
iṃdriyāṇi manovṛtti sarvajīvāśrayaṃ bhavet //
atha yat tad ga(**f. 15v**)te jīve na mano neṃdriyāṇi ca //
na gaṃdho na raso rūpaṃ na sparśaḥ śabdatanmayaṃ //
nātmānaṃ na paraṃ vetti yogī yuktaḥ samādhinā //
khādyate na sa kālena bādhyate na sa karmaṇā //
bādhyate na sa kenāpi yogī yuktaḥ samādhinā //
na ca jānāti śītoṣṇaṃ na duḥkhaṃ na sukhaṃ tathā //
na mānaṃ nāpamānaṃ ca yogī yukta samādhitaḥ //
abadhyaḥ sarvaśāstrāṇām abādhyaḥ sarvadehināṃ //
agrāhyo maṃtrataṃtrāṇāṃ yogī yukta samādhitaḥ //
nirādyaṃ ca nirālaṃbaṃ niṣprapaṃca nirāśrayaṃ //
nirāmayaṃ nirākāraṃ tatvaṃ tatvavido viduḥ //

dugdhe kṣīraṃ ghṛte sarpir agnār agnir ivārpayet //
tanmayatvaṃ vrajet yogī sa līnaḥ parame pade //
sakāra sarvavarṇeṣu yuktaceṣṭas tu sarvataḥ //
yukta(**f. 16r**)nidrāvabādhas tu yas tatvaṃ sa ca viṃdati //
bhavabhaya va∗bhe vahnir muktisopānapaṃktiḥ //
prakaṭitaparamārthe yāni guhyaṃ

W_1 also has an additional passage at the end of the text which is not found in N (f. 23v[4]–f. 24v[9]):

śrīsūryaśastra 1 caṃdraśastra 2 rudraśastra 3 bhavānīśastra 4 gaṇapatiśastra 5 iṃdraśastra 6 brahmaśastra 7 cohyāsīsiddhaśastra 8 navanāthaśastra 9 kuṃbhaśastra 10 śvetarajaśastra 11 nakhaśastra 12 romaśastra 13 cāpaśastra 14 kaiṃcaśastra 15 siddhaśastra 16 etāni śastrāṇi khecarīchedanārthaṃ // tena vṛddhigāmī bhavati jihvā etat // [*The next section, up to* khecarīpaṭele, *is also found in the colophon of* K_1] // īśvara uvāca // khecarīsamarpaṇaṃ / / sa tu khecarīmaṃtragraṃthokta // someśān navamaṃ varṇam ityādi // gamanasaphalaṃ // ṣaḍākṣarakhecarībījaṃ // hrīṃkārā khecarīpaṭele paśo anekayogeśvarāsādhitale upadeśakramaṃ // [*There follows a ṣaṭkoṇa star with* oṃ *at the top*, sa *to the right*, kha *at the bottom and* phroṃ *to the left. In the points, starting at the top and going clockwise, are* gaṃ, saṃ, na, ma, pha *and* laṃ. *In the centre is* hrīṃ.] asya śrīkhecarīmaṃtrasya // kapila ṛṣiḥ // siddhir anāyāse khecarīmudrāprasādasidhyarthe jape viniyogaḥ // atha nyāsaḥ // gaṃ hṛdayāya namaḥ // saṃ śirase svāhā // naṃ śikhāyai vaṣaṭ // ma kavacāya huṃ // pha netratrayāya vauṣaṭ // laṃ astrāya phaṭ // hrāṃ hrīṃ hrūṃ hraiṃ hrauṃ hraḥ iti ṣaḍaṃgaḥ // ādhārapadmabhavena khecararājahaṃsam atar mahāgaganavāsavibhāpralekhaṃ // ānnaṃdabījakam anaṃgaripoḥ puraṃdhrīm

> ābrahmalokajananīm abhivādaye tvāṃ // mūlālavālakuharād uditā bhavānīṃ // oṃ hrīṃ gasanasaphalaṃ aṃsakhaphroṃ // iti maṃtraḥ //

Throughout the manuscript several incorrect "corrections" have been made in the margin.

Described by RAGHAVAN (1969b:188).

Prajñāpāṭhaśālā, Wai, Maharashtra. List No. 6-4/398.

- M (**M**ysore)

  Khecarīpaṭala. Paper. Devanāgarī. 13 folios, numbered on bottom right of verso. Approximately 22 × 8 cm., with 11 lines to a side. Complete and in good condition. c. 19th century. Untidy hand.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ // īśvara uvāca //

  End (f. 13r[8]):

  > iti siddhauṣadhāni //

  The first three *paṭala*s end:

  > iti śrī ādināthaviracite mahākālayogaśāstre khecaryāṃ [amukaḥ] paṭalaḥ

  Described by RAGHAVAN (1969b:188).

  Oriental Research Institute, Mysore. MS No. 34979 C170.

- K_1 (**K**athmandu)

  Catalogued as *Mahākālayogaśāstra*, but the first two folios have *khe paṭ* at top left of verso while subsequent folios have *khe vi*. Devanāgarī. Paper. Complete and in good condition. 13 folios numbered at top left of verso. 28 × 12.5 cm. with 9 lines to a side. c. 19th century. Similar to K_3 and equally full of careless errors, but both K_1 and K_3 often have good readings which they share only with μ. Final -m and homorganic nasals are not written as *anusvāra*.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > oṃ namaḥ śrī gaṇeśāya namaḥ oṃ namaḥ śivāya

  End (f. 13r[9]):

  > iti śrīmahā(**f. 13v**)ādināthena nirūpite mahākālayogaśāstre khecaryāṃ vidyāyāṃm auṣadhayogo nāma caturtha paṭalaḥ 4 //
  > īśvara uvāca // śrīkhecarīsamarpaṇasatu khecarīmantragranthoktasomemātuvasaṃvarṇamity ādi // gamanasaphalaṃ ṣaḍākṣarakhecarībījam // hrīṃkārā khecarīpaṭalepa

NAK 5-6568. NGMPP Reel A 207/9.

- K_3 (Kathmandu)

  Mahākālayogaśāstra Khecarīvidyā. Devanāgarī. Paper. 17 folios, numbered at bottom right of verso. 23.1 × 10.5 cm. with 9 lines to a side. Complete and in good condition. c. 20th century. Similar to K_1 and equally full of careless errors. However, as stated above, both K_1 and K_3 often have good readings which they share only with μ.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ // // oṃ namaḥ śivāya //

  End (f. 17v[3]):

  > iti śrīmahā ādināthena nirūpite mahākālayogaśāstre khecaryāṃ vidyāyām auṣadhyogo nāma caturthaḥ paṭalaḥ // 4 // samāptā // śubhm *[sic]* // o //

  Kesar Library, Kathmandu. MS No. 316. NGMPP Reel C 32/12. (Retake of C86/6).

- J_2 (Jodhpur)

  Khecarīpaṭalaḥ. Devanāgarī. Paper. 19 folios, numbered at bottom right of verso. Approximately 23 × 10 cm. with 8 lines to a side. Complete and in good condition. Untidy hand. Dated Samvat 1783 (1726 CE) and copied in Varanasi. From f. 15v[7] to the end of *paṭala* 4, the verse order is different from that of all other witnesses apart from J_4. 3.27c–55b are found at the end of the manuscript (f. 17v[8] onwards) with just the last 2 *pāda*s of *paṭala* 4 after them. 3.27c–30b can also be found as a marginal insertion on f. 15v, indicating that an attempt at sorting out the order has been made.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ

  End (f. 19v[4]):

  > iti śrīmahādināthanirupite mahākālayogaḥ caturthaḥ paṭalaḥ samāptāḥ saṃvat 1783 likhitaṃ kāśyāṃ madhye maṇikarṇikāsanīpe // subham astu // śrīrāma // śrī // śrīrāma // śrīrāma // śrīrāma // śrīvisvesvara //

  Described by VYAS & KSHIRSAGAR (1986:168–9).

  MMSL, Jodhpur. MS No. 1375.

- J_4 (Jodhpur)

  Khecarīvidyā. Devanāgarī. Paper. 15 folios, numbered at top left of verso. Approximately 23 × 10.5 cm. with 9 lines to a side. Complete and in good

condition. Dated Samvat 1740 (1683 CE) and copied in Varanasi. As in J2, from 3.27b (f. 12v[1]) the verse order is different from that of other witnesses. 3.27c–3.55c is found at the end of the manuscript (f. 14r[5] to f. 15v[5]). 3.27c–29d is also given in its usual position at f. 12v[1−3]. 3.55c to the end of *paṭala* 4 is found after this, at f. 12v[3]– f. 14r[5].

On f. 1r is written twice, in different hands, a *nyāsa* of a six-syllable mantra. The first is in the same hand as the rest of the manuscript and is easy to read:

> anyanyāsa haṃ hṛdayāya namaḥ saṃ sirase svāhā ṣaṃ sikhāya vauṣaṭ phaṃ kavacāya hūṃ raṃ netratrayāya baṣaṭ iṃ strāya phaṭ // hsphrīṃ //

The second is upside-down relative to the first, in a different hand and very unclear, with some parts so faded as to be illegible:

> haṃ ∗dayāya namaḥ saṃ śirase svāhā // khaṃ ∗i∗āya vauṣaṭ // phaṃ kavacāya hūṃ // raṃ netratrayāya ∗∗∗īṃ ⌈astrāya phaṭ⌉// 7 // *[Above in a different hand]* hskhphrīṃ

Beginning (f. 1v[1]):

> śrīgaṇeśāya namaḥ // atha khecarīpaṭala likhyate //

End (f. 15v[5]):

> iti śrīmadādināthanirūpite mahākālayogaśāstre° *[sic]* caturthaḥ paṭalaḥ // 4 // saṃvat // 1740 // agahanakṛṣṇa ekama ravivāsara likhitaṃ gaṃgānāthena kāsyāṃ madhye svarga⌈dvā⌉rīsiddhipīṭhe maṇikarṇikātārakesvarasamīpe pustakaṃ saṃpūrṇaṃ samāptaṃ lekhakapāṭhakānāṃ subhaṃ bhuyāt // // // śrīādināthāya namaḥ // devyai namaḥ //

Described by VYAS & KSHIRSAGAR (1986:168–9).

MMSL, Jodhpur. MS No. 1377.

- V (**V**aḍodarā)

Khecarīvidyā. Devanāgarī. Paper. 20 folios, numbered on bottom right of verso. Approximately 24 × 12 cm. with 9 or 10 lines to a side. Complete and in good condition. c. 19th century. From the beginning of *paṭala* 3 (f. 14v[8]) to the end of the manuscript another hand has deliberately altered the text to produce nonsense. For example, at 3.2c (f. 14v[10]) भित्वा रसनया योगी has been altered to भित्वा रेसंमयो योगी. Corrected forms of these alterations have been used in the critical edition; the uncorrected forms are given in the full collation at http://www.khecari.com. Uncorrected readings are marked V^{ae}, corrected readings V^{pe} (V *ante/post emendationem*).

Beginning (f. 1v[1]):

// śrī gaṇeśāya namaḥ // śrī gurubhyo namaḥ //

End (f. 20v[4]):

> iti śrīmadādināthanirūpite mahākālayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ caturthaḥ paṭalaḥ // 4 //

After the colophon is written in a different hand from the rest of the manuscript (f. 20v[7]):

> oṃ hrīṃ ⌈gaṃ⌉ saṃ naṃ maṃ phaṃ laṃ // phreṃ ṣaṭdīrghabhājā // oṃ hrīṃ gaṃ saṃ naṃ maṃ phaṃ laṃ aṃ saṃ khaṃ

Described by Raghavan (1969b:188).

Oriental Institute, Baroda. MS No. 4109.

- K_4 (Kathmandu)

  Khecarīvidyā. Paper. Devanāgarī. 11 folios, numbered at top left and bottom right of verso. 27.1 × 12.4 cm. with 10 lines to a side. Complete and in good condition. c. 18th century. K_4 is very similar to J_2 but shows contamination with the manuscript traditions of J_6 (1.18c) and $\mu GS\alpha$ (2.28b). There are some idiosyncracies in writing style: *tu* looks like *nu*, *dhā* is written as *dhya*, *ca* and *ja* in conjunct consonants are written vertically; *-o* is often wrongly written for *-ī* and there are many incorrect *anusvāra*s.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ

  End (f. 11v[3]):

  > iti śrīmahādināthanirūpite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturthaḥ paṭalaḥ samāptaḥ

  NAK 4-1817. NGMPP Reel A 1289/9.

- K_2 (Kathmandu)

  Khecarīvidyā. Paper. Devanāgarī. 15 folios, numbered at top left and bottom right of verso. 28.6 × 12 cm. with 11 lines to a side. Complete and in fair condition. c. 19th century. Full of simple errors and very close to the readings of P but occasionally unique (e.g. 3.31b, 3.59b).

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīmataṃ rāmānujāya namaḥ oṃ

  End (f. 14v[9]):

  > iti śrīmahākālayogaśāstre umāmaheśvarasamvāde ādināthaviracite caturthapaṭalaḥ 4 ⊛

After the *Khecarīvidyā* the codex has two short works: from f. 14v[9]–f. 15v[10] is a work describing a mantra and its effects whose colophon reads:

> itty ātharvaṇavede upaniṣadaḥ prātemṛttyulāṃgūlaṃ (**f. 15v**) samāptam ⊛

The second work (f. 15v[1−10]) has the following colophon:

> iti śrī atharvaṇavedokta allopaniṣat samāptā ⊛ ⊛ ⊛ ⊛ ⊛ ⊛

Found in Janakpur. From the private collection of Rāmakṛpālaśaraṇa. NGMPP Reel M 23/10.

- P (**P**une)

  Khecarīvidyā. Paper. Devanāgarī. 15 folios, numbered at top left and bottom right of verso. Approximately 22 × 11 cm. with 9 lines to a side. Complete and in good condition. Dated Samvat 1805 (1748 CE) and copied in Varanasi.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ

  End (f. 15v[3]):

  > iti śrīmadināthanirupite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturthaṃḥ paṭalaḥ saṃpūrṇaṃ saṃvat 1805 śamai nāma agahanamāse śuklu pakṣe ca paṃcamīyāṃ ravīvāśare // liḥ kāśyā madhye kedāraghāṭanyāre hanumānaghāṭa /

  Described by RAGHAVAN (1969b:188).

  Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune. MS 129 of A1882–3.[170]

- J3 (**J**odhpur)

  Khecarīvidyā. Devanāgarī. Paper. 23 folios, numbered at bottom right of verso. The sixth and seventh folios are both numbered 6; all subsequent folios are thus numbered one less than they should be. Approximately 25 × 11 cm. with 7 lines to a side. Complete and in good condition. c. 18th century.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ // atha khecarīpaṭa likhyate // śrīśiva uvāca //

  End (f. 23v[3]):

  > iti śrīmadādināthe prokte mahākālayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvade khecarīvidyāyāṃ caturthapaṭalaḥ // samāptaṃ // hasta akṣa viśvanāthena likhitaṃ // cha // cha // cha // cha // cha // cha // cha //

Described by Vyas & Kshirsagar (1986:168–9).

MMSL, Jodhpur. MS No. 1376.

- F (Institut **F**rançais de Pondichéry)

  Khecarīvidyā. Telugu. Paper. 37 pages, numbered in arabic numerals at the top of each page. 17.5 × 22 cm. with 19 lines to a side. c. 1850 CE. *Paṭala* 1 is written in a neat hand. *Paṭala* 2 onwards (from p. 9 l. 8) is written in a less tidy hand which becomes progressively untidier. This second hand has also made some corrections to *paṭala* 1. Aspirated and unaspirated consonants are often confused. In sandhi final *-ḥ* assumes the form of a following sibilant. Initial *e-* is written *ye-*.

  Beginning (p.1 l.2):

  > śrīmātre namaḥ śrīsaccidānandasadguruparabrahmane namaḥ śrī mahāgaṇādhipataye namaḥ
  >
  > > śuklāmbaradharaṃ viṣṇuṃ śaśivarṇaṃ caturbhujaṃ
  > > prasannavadanaṃ dhyāyet sarvavighnopaśāntaye

  End (p.37 l.4):

  > iti śrīmadādināthanirūpite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ caturthaḥ paṭalaḥ hariḥ oṃ tat sat sarvaṃ śrī kṛṣṇārpaṇam astu

  Described by Raghavan (1969b:188).

  Institut français de Pondichéry. MS RE 19027.

- K_5 (**K**athmandu)

  Khecarīvidyā. Devanāgarī. Good condition. 14 folios numbered 1 to 15 with folio 11 missing. Numbered at top left and bottom right of verso. 27 × 11.7 cm. with 9 lines to a side. Dated 1813 CE. Readings generally match β but are occasionally unique (e.g. *śaṃkarapūjanāt* at 1.22d) and in *paṭala* 4 show conflation with witnesses of α, especially M (see e.g. 4.3c).

  Beginning (f. $1v^1$):

  > śrīkṛṣṇāya namaḥ

  End (f. $15r^2$):

  > iti śrīmadādināthanirūpite mahākālayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ caturthaḥ paṭalaḥ //4// // // śubham astu // //graṃthasaṃkhyā//285//oṃ maṅgalam maṅgalanātho maṅgalam maṅgalā sutaḥ//maṅgalam maṅgalā nityaṅ karotu mama maṃdire //1//oṃ maṅgalam bhagavān viṣṇur maṅgalaṅ garuḍadhvajaḥ//maṅgalaṃ puṇḍarikākṣo maṅgalāyatano hariḥ//2// //yādṛśaṃ pustakaṃ dṛṣṭvā tādṛśaṃ likhitaṃ mayā//yadi śuddham

> aśuddhaṃ vā śodhanīyā mahajjanaiḥ//3// //idaṃ pustakaṃ śrī-******** *(these syllables have been deliberately obscured)* sya//śrīḥ/ / //śrīvikramādityasaṃvat 1870//śrīśalivāhanīyaśāke 1735//śrīnaipālāvde 933//vaiśākhamāsi sitetaradale vyālatithau vudhavāsare likhitam idam pustakam pāśu⌈pata⌉kṣatre śubham bhūyāt // // //

MS No. 6-1636 from the Rāṣṭrīyābhilekhālaya. NGMPP Reel A 999/7.

- K_6 (**K**athmandu)

  Khecarīvidyā. Paper. Devanāgarī and Nevārī. 20 folios numbered 2–21 with 1 and 22 missing due to damage. Numbered at bottom right of verso. c. 19th century. Starts in reasonably tidy Devanāgarī but at f. $5r^2$ becomes Nevārī with occasional reversions to Devanāgarī, giving the impression that the scribe was copying from a Devanāgarī witness but slipped into his native hand. Readings generally tally with those of β but some contamination is evident, e.g. with α_1 at 3.65b. Nasals are usually assimilated with following consonants and not written as *anusvāra*s; *sch* is written for *sth*. Neither of these idiosyncracies is reported in the collations.

  NGMPP Reel No. E1145/12.

- C (**C**handra Shum Shere)

  Khecarīvidhāna. Paper. Devanāgarī. 7 folios. Good condition. Incomplete, ending at 2.14d. c. 19th century.

  Beginning (f. $1v^1$):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ

  Uncatalogued.

  Bodleian Library, Oxford. MS e.155(5) in the Chandra Shum Shere collection.

- J_1 (**J**odhpur)

  Khecarīvidyā. Devanāgarī. Paper. 16 folios, numbered at bottom right of verso. 27 × 13 cm. with 9 lines to a side. Complete and in good condition. c. 18th century.

  Beginning (f. $1r^1$):

  > śrīnāthāya namaḥ

  End (f. $16r^8$):

  > iti śrīmadādināthaniropite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturthaḥ paṭalaṃ samāptam iti // // śrīkalyāṇam astu

Described by VYAS & KSHIRSAGAR (1986:168–9).

MMSL, Jodhpur. MS No. 1374.

- J_5 (Jodhpur)

  Khecarīvidyā. Devanāgarī. Paper. 9 folios, numbered at top left and bottom right of verso. 29.5 × 15.5 cm. with 14 lines to a side. Complete and in good condition. c. 18th century. For *sth* the scribe writes *sch*—this is not reported in the collations.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīyogeśvarāya namaḥ

  End (f. 9v[12]):

  > iti śrīmadādināthaniropiteṃ mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturthaḥ paṭalaṃ // cha // cha // cha //

  Described by VYAS & KSHIRSAGAR (1986:170–1).

  MMSL, Jodhpur. MS No. 1378.

- W_2 (**W**ai Prajñāpāṭhaśālā)

  Khecarīmudrāpaṭala. Paper. Devanāgarī. 18 folios, numbered at bottom right and top left of each folio. 21.5 × 11.5 cm. with 10 lines to a side. Complete and in good condition. c. 19th century. The covering folio has *haṭṭadīpikā* written in its centre and the rest of the codex (ff. 18v–39r) consists of the *Haṭhapradīpikā* of Svātmārāma.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > // śrīgaṇeśāya namaḥ //

  End (f. 18r[9]):

  > iti śrīmadādināthaniropite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturthapaṭalaṃ // 4 // // gratha // 279 // cha

  Described by RAGHAVAN (1969b:188).

  Prajñāpāṭhaśālā, Wai, Maharashtra. List No. 6-4/399.

- R_1 (**R**oyal Asiatic Society of Bengal)

  Khecarīvidyā. Devanāgarī. Paper. 48 folios, numbered at bottom right of verso. 28 × 12.7 cm. 4 or 5 lines to a side. Complete and in good condition. c. 19th century. M. Ram of Marseille kindly provided me with photostat copies of xeroxes from a microfilm of the manuscript. F.17v (2.14d °*śācora*°–2.16c *trikālajñaḥ*) is missing from the copy. Due to a copyist missing a folio and then noticing his mistake, f. 35 is found after f. 39 and 3.16b–17d and

3.19 are found twice, on f. 36r and at f. 37r[1]–f. 37v[1] (where 3.18 is also found). The manuscript contains many minor mistakes.[171]

Beginning (f. 1v[1]):

> oṃ śrīgaṇeśāya namaḥ

End (f. 48r[3]):

> iti śrīmadādināthaniropite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturthaḥ paṭalaṃ samāptam iti // śrīgurunārāṇa '*syaṇa*

Described by SHASTRI (1939:302) and RAGHAVAN (1969b:188).

Library of the Asiatic Society of Bengal, Calcutta. MS 5854.

- B (**B**ombay)

Khecarīvidyā. Devanāgarī. Paper. 17 folios, numbered at bottom right of verso. Approximately 21 × 11 cm. with 10 lines to a side. Complete and in good condition. c. 19th century. The codex continues with the *Haṭhapradīpikā* of Svātmārāma. The text often shows signs of scribal emendation and in many places where the other members of γ have corrupt readings a meaningful reading can be found in B which is not found in any other witness.

Beginning (f. 1v[1]):

> śrīmaṃgalamūrtaye namaḥ // śrīmadavadhūtadigaṃvarāya namaḥ //

End (f. 17r[4]):

> iti śrīmadādināthaviracite mahākālayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ caturthaṃ paṭalaṃ samāptaṃ // 4 //

Described by RAGHAVAN (1969b:188).

Bombay University Library. MS 2016.

There is another manuscript of the *Khecarīvidyā* in the Bombay University Library, No. 2015. It is a xerox copy of a poor reconstruction of a badly damaged paper manuscript and is full of lacunae. The crumbling original is also in the library but is little more than a collection of fragments. Where the reconstruction is legible, it is virtually identical to 2016 and its readings have not been collated. However it seems that neither is a direct copy of the other since the introductory *maṅgala*s are different. 2015 has:

> śrīgaṇeśāya namaḥ // śrīsarasvatyai namaḥ // śrīgurubhyo namaḥ //

Testimonia

- *D* (**D**īpikā)

  Nārāyaṇa's *Dīpikā* on one hundred and eight *upaniṣad*s cites the *KhV* in three places. Readings from the text have been included in the apparatus of the critical edition and the full collation, for which two editions of the text have been consulted:

  1. D_1 : *Śrīnārāyaṇaśaṅkarānandaviracitadīpikāsametānām upaniṣadāṃ samuccayaḥ*. Ānandāśrama Sanskrit Series 29. Poona. 1895.

  2. D_2 : *Ātharvvaṇopaniṣadaḥ Nārāyaṇakṛtadīpikāsahitāḥ*, ed. Rāmamaya Tarkaratna. Calcutta: Asiatic Society of Bengal (New Series No. 249). 1872.

  Bouy (1994:30), following Gode (1938:128–32), dates Nārāyaṇa to between 1500 CE and 1700 CE. The *KhV* passage cited *ad Brahmavidyopaniṣad* 8 is without the corrupt interpolation of 2.75ab found after 2.72b in S$\alpha\beta\gamma$. The later limit of Nārāyaṇa's dates can thus be put back to before 1683 CE, the date that J_4 was copied.

  The passages from the *KhV* which are cited are as follows:

  1.45–49, 55c–56d, 64 *ad Kṣurikopaniṣad* 11 *("khecaryām")*. This citation is not found in D_2.

  2.72a–73b *ad Brahmavidyopaniṣad* 8 (ascribed with the preceding quotation to Yājñavalkya in D_1; *"khecaryyām"* in D_2.)

  3.32c–47d *ad Kṣurikopaniṣad* 12 *("khecarīpaṭale")*.

  3.41c–42d *ad Yogaśikhopaniṣad* 2.3 *("khecaryām")*.

- O (Rajasthan **O**riental Research Institute, Jodhpur.)

  Khecarīvidyā. Devanāgarī. Paper. 11 folios. Good condition. c. 19th century. Approximately 22 cm. × 10 cm. 7 lines to a side. This manuscript consists of a short treatise on physical yoga, composed mainly of citations (from the *Khecarīvidyā*, the *Śivasaṃhitā*, the *Haṭhapradīpikā*, the *Haṭhasaṃketacandrikā* and the *Yogasaṃgraha*), with sections on the *khecarīmantra*, *turīyāvasthā*, *kuṭīpraveśa*, *auṣadhikalpa* and *śivāmbupāna*. The following three passages from the edited *KhV* are cited:

  1. 1.30c–33b, 35c–44d at f. $1v^7$–f. $3v^6$. Introduced with *"yathā coktaṃ khecarīpaṭale"* and closed with *"iti khecarīpaṭalāt khecarīvidyā"*. Between 1.41b and 1.41c is an explanatory section:

prastāraḥ // *h*sphreṃ khecaryai namaḥ // asya śrī khecarī-maṃtrasya bhagavān ādinātho ṛṣiḥ gāyatrī chandaḥ śrīkhecarī-siddhipradā khecarī devatā *oṃ h* sphreṃ vīja namaḥ // śaktiḥ mama yogasiddhyarthaṃ jape viniyogaḥ // oṃ hrāṃ aṃguṣṭhā-bhyāṃ hṛdayāya namaḥ // oṃ hrīṃ tarjanībhyāṃ śirase svāhā // oṃ hraḥ karatalakarapraṣṭābhyāṃ astrāya phaṭ //

> atha dhyānaṃ
> (**f. 3r**) mūlādibrahmaraṃdhrāṃtavisataṃtunipasīṃ //
> udyatsūryaprabhājālavidyutkoṭisamaṃprabhāṃ //14//
> caṃdrakoṭiprabhād āva trailokyaikaprabhāmayā //
> aśeṣajagadutpatisthitisaṃhārakāriṇīṃ //15//
> dhyāyed yathā mano devi niścalaṃ jāyate tataḥ //
> sahajānaṃdasaṃdohamaṃdiraṃ bhavati kṣaṇāt //16//
> mano niścalatāṃ prāptaṃ śivaśaktiprabhāvataḥ //
> samādhi jāyate tatra saṃjñādvayavijṛṃbhitaḥ //17//
> śaṃbhavena ca vedhena sukhī bhūyān nirantaraṃ //

atra suṣumṇādhyānamahimnā manasthairya svayam eva yātini // śaktiḥ suṣumṇāsarvasṛṣṭimayī mūlaprakṛtiḥ //(**f. 3v**) śivas tadantargatacitrāṃtaḥ *rūpa* paṃcadevātmakaṃ vale // iti dhyātvā japet

2. 3.1cd at f. 4r[1], introduced with *"tad uktaṃ khecarīdhavale"*. There follows a description of Kuṇḍalinī (up to f. 5r[1]) of which only the first two lines are found in the *Khecarīvidyā*.
3. 4.4 at f. 8v[7]–f. 9r[4]. This verse is not introduced as a quotation. It follows a verse about *"muṃḍīkalpa"* and is followed by *"iti vārohīkaṃdakalpaḥ"*.

MS No. 34946 in the collection of the Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur. Reported as ' "Khecarīvidyā" (O)' in the testimonia apparatus.[172]

- *H*1 (**Haṭhapradīpikā**)

The *Haṭhapradīpikā* includes four verses which it has borrowed from the *Khecarīvidyā*.[173] I have used the edition of DIGAMBARJĪ & JHĀ to note variants from the critical edition of the *Khecarīvidyā*. The passages are *HP* 3.33–35 (= *KhV* 1.44–46) and *HP* 4.42 (= *KhV* 3.19).

- H2 (**Haṭhapradīpikā**)

Haṭhapradīpikā. Devanāgarī. Paper. 171 folios, numbered at top left and bottom right of verso. 20 cm. × 11 cm. 8 or 9 lines to a side. Complete and in good condition. Copied at the command of King Jayasiṃhadeva of Jodhpur in 1707 CE.

Beginning (f. 1v[1]):

> śrīmānmahāgaṇapataye namaḥ

End (f. 171v[2]):

> iti śrīsahajanāthasiṣyeṇa śrīsvātmārāmayogīṃdreṇa viracitāyāṃ haṭhapradīpikāyāṃ siddhāṃtamuktāvalyāṃ ṣaṣṭhopadeśaḥ // iti //// śrīr astu ///////śrīmanmahārājādhirājajīśrījayasiṃhadevajīkasyājñayā likhitam idaṃ tulārāmeṇa // saṃvat 1765 varṣe caitre māse kṛṣṇe pakṣe 10 //// śrīrāmo jayati //// śrīgaṇapataye namaḥ ///// sarve te sukhinaḥ saṃtu sarveḥ saṃtu nirāmayāḥ // sarve bhadrāṇi

This is the longest version of the *Haṭhapradīpikā* so far discovered (1553 verses in 6 *upadeśa*s). The manuscript is described in detail in GHAROTE 1991. In all the chapter colophons the text is called *Siddhāntamuktāvalī* as well as *Haṭhapradīpikā.*

The manuscript has a long passage (vv. 5.93–5.347) on *khecarīmudrā* at f. 95v[4] to f. 119v[1]. Amongst these verses are the following from the *Khecarīvidyā* — *paṭala* 1: 1–4, 6ab, 8–16, 19c–30b, 31c–34d, 35c–44b, 45–52b, 53ab, 54c–55b, 56c-58b, 61ab, 63c-64b, 66c-67b, 68cd, 70ab, 74cd; *paṭala* 2: 78c–81b, 93c–94b, 95cd, 96cd, 105; *paṭala* 3: 15, 18, 21ab, 26, 29cd, 30cd, 31c–32b.[174] Noteworthy features of this passage are the detailed description of the lengthening of the tongue and the division of the practice of *khecarī* into six *aṅga*s: *chedana, cālana, dohana, pāṇigharṣaṇa, praveśa* and *mantrasādhana*. The *Khecarīvidyā* verses have been collated for the critical edition and many of the remaining verses have been adduced in the introduction and notes to the translation. The readings of this witness are very similar to those of the manuscripts of the subgroup α_3.

Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur. MS No. 6756.

- H_3 (Haṭhapradīpikā)

  There are two manuscripts of a ten chapter *Haṭhapradīpikā* in the MMSL. Its vv. 5.39–41 and 5.43–49 are the *Khecarīvidyā*'s vv. 1.33cd, 1.45–46, 1.48–52b, 1.53ab, 1.54a–55b, 1.56cd and 1.57ab (but not in exactly the same order); its 7.41c–42b is *KhV* 3.19. I have used the edition of GHAROTE & DEVNATH to collate the verses from the *Khecarīvidyā*.

- *Gorakṣasiddhāntasaṃgraha*

  The *Gorakṣasiddhāntasaṃgraha* (pp.10–11) quotes three verses from a *Khecarīsaṃhitā* of which only the first is found in the *Khecarīvidyā*, at 3.15. Its readings have not been collated. The text of the quotation runs as follows:

> utsṛjya sarvaśāstrāṇi japahomādi karma ca /
> dharmādharmavinirmukto yogī yogaṃ samabhyaset //
> varṇāśramābhimānena vartate śrutikiṃkaraḥ /
> abhimānavihīnas tu vartate śrutimūrddhani //

na vedo veda ity āhur vedāvedo nigadyate /
parātmā vidyate yena sa vedo veda ucyate //

Manuscripts consulted but not collated

1. *Mahākālayogaśāstra* MS No. 1794(c) in the collection of the MMSL. Paper. Devanāgarī. Incomplete. c. 19th century. 28 × 19 cm. 5 folios, numbered 2–6 at bottom right of verso. Folio 2r starts with *Khecarīvidyā* 1.43d *(digbhāga [sic] bhavet)*. This verse is numbered 23 in the manuscript. The verses of *paṭala* 1 are all numbered, the last being 57. None of the subsequent verses is numbered. The colophon to *paṭala* 1 is found at f. $3v^{4-6}$ and reads:

   iti śrīmahāādināthena mahākālayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde prathamaḥ paṭalaḥ samāptaḥ //1

   The text of the *Khecarīvidyā* breaks off abruptly at f. $5r^{8}$, in the middle of *Khecarīvidyā* 2.38d with *āpādatalaryaṃta vyā śrīrāmāya namaḥ // śrīgurave namaḥ* // From here to the end of the codex (f. $6v^{12}$) is a short work on mantras, introduced with *atha japanāmasaṃkhyāṃ*.

   The text as found in this witness is very similar to that in the manuscripts of the subgroup α_3.

2. *Khecarīvidyā*. Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur MS No. 39873. Paper. Devanāgarī. Incomplete. The first folio is missing; the text starts with 1.39b at f. $2r^{1}$. 10 folios, numbered at top left and bottom right of verso. Many folios are damaged. c. 18th century. 27.5 × 14 cm. In some of the *paṭala* colophons the text is said to be the *mūla* of the *Bṛhatkhecarīprakāśa* (a manuscript of which has been collated as witness S in the critical edition of the *Khecarīvidyā*), but the manuscript does not give Ballāla's commentary. In the top left of each verso is written the abbreviation *khe°rī°kā°* (every other syllable of *khecarīprakāśa*). The *paṭala* colophons are as follows:

   1. iti śrīmadādināthanirūpite mahākālataṃtrāṃtargatayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ prathamaḥ paṭalaḥ //1//
   2. iti śrīmadādināthanirūpite mahākālataṃtrāṃtargatayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ dvitīyaḥ paṭalaḥ pūrṇaḥ //2//
   3. iti śrī°vṛhatkhecarīprakāśe tṛtīyaḥ paṭalaḥ //3//
   4. iti śrīmadādināthanirūpite mahākālāntarvartiny umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ caturthaḥ paṭalaḥ saṃpūrṇaḥ //4//iti vṛhatkhecarīmūlasamāptam //śrīḥ//śrīḥ//śrīḥ//śrīḥ//śrīḥ// śrīvedamātāyai namo namaḥ // śubhaṃ bhūyāj janatāyāḥ//

   The text of the *Khecarīvidyā* as given in this manuscript is very similar to that given in witness S.

3. *Khecarīvidyā*. Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur MS No. 18376. Paper. Devanāgarī. Complete. 14 folios, numbered at the bottom right of each verso. 26.5 × 13 cm. Good condition.

   Beginning (f. 1r[1]):

   > //śrīgaṇeśāya namaḥ//śrīnāthāya namaḥ//

   End (f. 14v[8]):

   > iti śrīmadādināthaniropite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturthaḥ paṭalaḥ samāptam//14//

   This manuscript would be in the subgroup γ were it to be collated.

4. *Khecarīvidyā*. Asiatic Society of Bengal MS No. 8827. Paper. Devanāgarī. Incomplete. The first folio is missing; the text starts with 1.9b at f. 2r[1]. 13 folios, numbered at the top left and bottom right of verso. Good condition but written in an untidy hand. 24 × 12.5 cm. 1799 CE.

   End (f. 14r[6]):

   > iti śrīmahādināthanirūpite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturtha paṭalaḥ //4//śubham astu samvat 1856 śāke 1721 mārgasīrṣa śukladutiyāyāṃ guruvāsare līṣata durgāprasāda tīvāri śubhaḥ //

   There follows a description of the *khecarīmantra* almost identical to the passage in the colophon of W_1 which starts *śrīkhecarīmantrasya* and finishes *abhivādaye tvāṃ*. In this manuscript it ends with a colophon: *iti khecarīmudrābījayaṃtra nāma pañcamaḥ paṭala*. This is followed by instructions for the *mālakāgulīkalpa*.

   Described by Shastri (1939:304).

   This manuscript would be in the subgroup β were it to be collated.

5. *Matsyendrasaṃhitā*. MMSL, Jodhpur MS No. 1783. Paper. Devanāgarī. Complete. Good condition. 172 folios. 11 lines per page. 30 letters per line. 13.3 × 28.5 cm. (Vyas & Kshirsagar 1986:184–5).[175]

   The readings of this manuscript are very similar to those of J_6 but include several careless errors. In a personal communication in August 2005 Csaba Kiss pointed out to me that comparison of the readings found in this manuscript with those of J_6 at *Matsyendrasaṃhitā* 13.9 indicates that it is in fact a direct copy of J_6.

Manuscripts not consulted

I have not located the following catalogued manuscripts. I have not tried to find any of them other than the first in the list.

1. *Khecarīpaṭala*. MS No.1279 in the collection of the library of the Maharaja of Bikaner. Paper. Devanāgarī. 19 folios. 12 lines per page. "On secret worship of Piśāchīs or female imps to bring them under subjugation. An extract from a Tantra." (MITRA 1880:589). I was unable to locate this manuscript on a visit to Bikaner in February 2001. It is not mentioned in the Anup Sanskrit Library Catalogue at the Lalgarh Palace nor in the library catalogue at the Bikaner Oriental Research Institute. Dr. Usha GOSWAMI suggested that it may have been moved to Jodhpur since no works on Tantra or Yoga are held in Bikaner.

2. *Khecarīvidyā* by Śiva. 20 folios. 10 lines per page. No date. "In possession of Yajñeśvara Śāstrī, Surat" (BÜHLER 1873: A 2–3.)[176]

3. *Khecarīvidyā*. No. 1131 in HIRALAL 1926 (p. 108). "Author—Ādinātha. Subject—Yoga. Is a part of Mahākāla Yoga Śāstra by Ādinātha. Owner—- Puttelāl Gauriśaṅkar of Valgaon (Amraoti district)."

4. *Khecarīvidyā* of Ādinātha. Reported by WESTERGAARD (1846:9). Codex XII(2). Palm leaf. Telugu. 66 folios. The first 40 folios are of the *Pāṭha*[sic]-*pradīpikā*. The *KhV* is on f. 40r – f. 59v. It is part of the *Kālayogaśāstra*. It opens with *oṃ namaḥ kapileśāya mahādevāya śambhave viśvatattvapa*[sic]*dātre [ca] viśvasiddhipradāyine*. The manuscript is summarised thus: "Śiva expounds to the goddess Uma the magical science of flying through the air".[177]

5. *Khecarīvidyā.* Tantra MS 19 listed by KIELHORN (1874:38) and said to be in the possession of Chāndā Gaḍīpanta Paṭalavāra. Attributed to "Madādi" (presumably Śrīmadādinātha). 19 folios, 9 lines to a side. 342 *śloka*s. c. 1825 CE.[178]

6. *Khecarīvidyā*. MS No. 174 in a list in the Municipal Museum, Allahabad (RAGHAVAN 1969b:188).

7. *Khecarītantra.* No. 1663 A in the collection of Dacca University, Dacca, Bangladesh (RAGHAVAN *loc. cit.*).

8. *Mahākālayogaśāstram.* Oriental Research Institute, Mysore. MS No. 35007 C4063/4. Kannada (RAGHAVAN *loc. cit.).*

9. *Khecarīvidyā.* Incomplete MS listed on p. 30 of the Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Punjab University Library, Lahore Vol. 2 (RAGHAVAN *loc. cit.).*

10. *Khecarīvidyā.* No. 25 in a list of manuscripts belonging to Pt. Radhakrishnan of Lahore (RAGHAVAN *loc. cit.).*

11. *Khecarīvidyā.* No. 41 in the above list.

Ethnographic sources

In the introductory chapters and the notes to the translation I have occasionally used ethnographic data. I have primarily drawn on the experiences of *haṭhayogin*s that I met during my fieldwork, but have also used reports of others who have met *haṭhayogin*s that practise *khecarīmudrā*, and published accounts.

I met the following *haṭhayogin*s during my fieldwork:[179]

Śrī Bālyogī Rām Bālak Dās Jī Though not a practitioner of *khecarīmudrā*, Rām Bālak Dās has been a *haṭhayogin* since early childhood. His insights into haṭhayogic practice have helped me considerably with my research and he introduced me to several of my other informants. He is a Rāmānandī Tyāgī *sādhu* and is for the most part itinerant but has established ashrams near Bharuch and Nasik.

Śrī Paraśurām Dās Jī Yogīrāj Another Rāmānandī Tyāgī, Paraśurām Dās has been practising *khecarīmudrā* for many years. I first met him at the Daśaharā festival in Kullu, Himachal Pradesh in October 1996, where he demonstrated the technique and discussed it with me. He is also mainly itinerant, but has established an ashram near Kota.

Śrī Govind Dās Jī Mahātyāgī Again a Rāmānandī, but of the Mahātyāgī suborder, Govind Dās showed me *khecarīmudrā* at an ashram near Surat, Gujarat, in November 1996. He had not practised it for some years and had difficulty in doing so when I asked him to demonstrate it.

Dr. K.M.Tripāṭhī I met Dr. Tripāṭhī in December 1996 when he was working at the Yoga Centre at Benares Hindu University. He showed me a *khecarīmudrā* different from that described in haṭhayogic texts and demonstrated to me by other yogins. It involved placing the tip of the tongue behind the upper front teeth and holding it there while opening the mouth as wide as possible. This action was to be repeated at least a thousand times a day. By doing thus, pressure is exerted on the *merudaṇḍa* and Kuṇḍalinī is awakened.

Dr. Ashok Ṭhākur Dr. Ṭhākur is an āyurvedic doctor from Mumbai. I met him in January 1997. He first experienced *khecarīmudrā* when his tongue spontaneously adopted the position while he was practising *prāṇāyāṃa*. He demonstrated the technique to me and introduced me to his son who rarely practises yoga but is a keen swimmer and has found that his tongue also spontaneously adopts the position when he holds his breath for long periods.

Śrī Nainā Dās Jī Yogīrāj Nainā Dās is a Rāmānandī Nāgā *sādhu* who lives in Delhi. I met him in February 1997. A well-respected ascetic, he had mastered various haṭhayogic techniques, including both *khecarī-* and *vajrolī- mudrā*s but did not practise them any more.

Svāmī Praṇavānand Sarasvatī I met Svāmī Praṇavānand at his ashram in Rishikesh in February 1997. A well-educated Śaiva Dasnāmī Saṃnyāsī, he has been practising *khecarīmudrā* for many years and has written a book called *Jñān Bherī* which includes a chapter on yoga.

ŚRĪ BĀLYOGĪ LĀL JĪ BHĀĪ A neighbour of Svāmī Praṇavānand, I met Lāl Jī Bhāī at his ashram in Rishikesh in February 1997. Initiated a Rāmānandī Tyāgī, he had also studied under Nāthapanthī *sādhu*s. Well-read in Sanskrit and Hindī, he has been practising *khecarīmudrā* for many years and is a fount of information on the subject.

ŚRĪ RAGHUVAR DĀS JĪ YOGĪRĀJ A *gurubhāī* of Rām Bālak Dās, Raghuvar Dās lives in Jaipur. I had met him several times before he surprised me by demonstrating *khecarīmudrā* to me at the 1998 Hardwar Kumbh Melā.

I heard accounts of the following practitioners of *khecarīmudrā*:

ŚRĪ PRAHLĀD DĀS JĪ YOGIRĀJ The guru of Rām Bālak Dās and Raghuvar Dās, Prahlād Dās was an itinerant Rāmānandī Tyāgī who had mastered the practices of *haṭhayoga*. A disciple of the famous Devrāhā Bābā, he died in 1991.

ŚRĪ RĀM DĀS JĪ YOGĪRĀJ Another disciple of Prahlād Dās, Rām Dās lives in Jaipur.

SAMPAT NĀTH A Nāthapanthī ascetic living near Ajmer, Rajasthan, Sampat Nāth is said to be an expert practitioner of *khecarīmudrā* whose tongue can reach his forehead.

SVĀMĪ RĀMĀNAND An ascetic of the Caitanya tradition, the late Svāmī Rāmānand lived at the Kaivalya Dhām Yoga Research Institute in Lonavla, Maharashtra.

I have consulted the following published accounts of the practice of *khecarīmudrā*:

BERNARD 1982: 65–69

BRUNTON 1995: 117

GERVIS 1970: 201–202

Praṇavānand SARASVATĪ 1984: 203–204

Satyānanda SARASVATĪ 1993: 278–298, 474–490

SVOBODA 1986: 278–279.

Conventions in the apparatus

There are four registers in the apparatus of the critical edition, of which only the third is found on every page. The first register reports testimonia and parallel passages from other texts. The second is found only on the first page of each *paṭala*. It reports all the witnesses for that *paṭala* and gives the key to the manuscript groups. The third register reports variants from the edited text. The fourth register reports significant omissions and additions in the witnesses and any other comments.[180]

With thirty-one witnesses of the text, a critical edition with a full collation would have an unwieldy and uninviting apparatus. I have therefore presented the text as a critical edition with only significant variants reported in the apparatus. In this case, the criteria for significance are, of course, subjective, so I have put a full collation at http://www.khecari.com for those who want to be sure of having all the available evidence.

In the critical edition, I have reported all variants whenever there is considerable disagreement between the witnesses or if I am at all unsure of which reading to choose for the edited text. If only one or two witnesses differ from the edited text, I have considered the importance of both variant and witness. Thus, if a variant appears insignificant but is from a witness that is often the only one to preserve a good reading (i.e. A, J_6, J_7, G or R_2), then I am much more likely to report it[181] than if it is from a witness that is rarely or never the only one to preserve a good reading[182] or if it is from a witness that is part of a manuscript group and the variant can easily be explained as a corruption of the form found in the other members of that group.[183] However, if one of these less individual witnesses has a variant that is interesting in its own right, then even if I think it unlikely that it might be useful in establishing an older stage of the text, I do report it. Thus I report all the variants found in *U*, the *Yogakuṇḍalyupaniṣad*.

I have composed the following half-verse and hypothetical apparatus to illustrate most of the conventions and abbreviations used in the third register of the apparatus of the critical edition:

शिवोक्ता खेचरीविद्या †कथं† संपादिता मया ॥४७॥

47c शिवोक्ता] *conj.* Devadatta; देव्युक्ता *codd.* ◇ खेचरी°] *em.*; ⌈शाम्भ⌉वी° A, शाम्भवी J_6J_7, खेचर° *cett.* *(unm.)* ◇ °विद्या] °∗द्यां A, °f*व*द्या G, यथा γ *(unm.)* **47d** †कथं†] μGR_2*U*Tβ_1; परा Sα, साधु K_2P, न सु° J_3FK_5K_6C, तथा γ_1, परि° B^{ac}, यथा B^{pc} ◇ संपादिता मया] *transp.* μ *(unm.)*, संपादिता त्व[.] G, संपादिता ⊔या N

The verse number and *pāda* letter precede the apparatus entries for each *pāda*. Entries for different elements within a *pāda* are separated by a diamond (◇). The lemma word or phrase is followed by the lemma sign (]). If the lemma word or phrase is found in the majority of witnesses then the apparatus is negative; if not, or if the distribution of witnesses whose readings match the lemma word is not clearly split within manuscript groups, then the apparatus is positive. When the apparatus is positive, all witnesses whose readings match the lemma word are given after the lemma sign, followed by a semi-colon, after which the readings of the other witnesses are reported, separated by commas. When the apparatus is negative, all the variant readings are separated by commas. The witnesses' readings are always reported in the order in which the witnesses are listed in the description of sources (μGR_2 *UT*S$\alpha\beta\gamma$*DH*).

In the above example, in *pāda* 47c, *śivoktā* has been conjectured by Devadatta. All the witnesses ("*codd.*") have the reading *devyuktā*.

In the next entry, that of *khecarī°*, the sign "°" is used to indicate that *khecarī* is part of a longer word or compound. The abbreviation *em.* indicates that I have emended the readings of the witnesses. Where I have emended the text to *khecarī*, witness A has ⌈*śāmbha*⌉*vī*. The "⌈" and "⌉" signs show that *śāmbha* is found in the witness as a *kākapada* or addition in the margin. Witnesses J_6 and J_7 have *śāmbhavī*. The rest of the witnesses ("*cett.*') have *khecara* which is unmetrical (" *(unm.)*").

At the next entry, for *vidyā*, the apparatus is negative. Thus all witnesses except AGγ have *vidyā*. Witness A has an illegible syllable ("∗") followed by *dyāṃ*. Witness G has **v* idyā*, indicating that the letter "v" is written unclearly (the "i" part of the syllable is clear).[184] The manuscript group γ has *yathā* which is unmetrical.

In *pāda* 47d, the reading *kathaṃ* is marked with crux marks ("†") because it is spurious and I have been unable to conjecture anything better. It is found in witnesses μGR_2 *UT*β_1; Sα have *parā*; K_2 and P have *sādhu*; J_3F$K_5$$K_6$ and C have *na su°*, with the "°" sign indicating that I think that *su* should be construed with the following word; γ_1 has *tathā*; B originally (B^{ac}, i.e. B before correction, "*ante correctionem*") had *pari* (with the "°" sign again indicating that *pari* is to be read with the following word); B has been corrected (B^{pc}, "*post correctionem*") to read *yathā*.

All the witnesses except μGN have the reading *saṃpāditā mayā*. μ has *mayā saṃpāditā* which is unmetrical. G has *saṃpāditā tva* followed by a syllable missing due to damage to the manuscript ("[.]"—the number of full stops indicates the number of syllables omitted). In N the scribe has deliberately left a gap before the syllable *yā* ("⊔yā").

A word or phrase not reported in the apparatus of the critical edition has no significant variants.

There is some misrepresentation of the witnesses' readings in the apparatus of the critical edition. I have reported neither the punctuation nor the verse numbering of any of the witnesses. Neither has been helpful in establishing the text (in *paṭala* 4 the punctuation of some witnesses only added to the confusion caused by the different metres). Where the apparatus is positive and I have reported that readings match the lemmata, they often do not match them exactly. This is because

the lemmata are reproduced as they are found in the edited text and the Sanskrit of the edited text has been standardised: *-m* at the end of a half-verse is written as such but is found as *-ṃ* in almost all the witnesses; homorganic nasals have been written in full in the edited text while again almost all the witnesses use only *anusvāra*.

In order to keep the apparatus to a manageable size, I have occasionally sacrificed veracity for economy of space. When grouping readings together, I have ignored gemination and degemination of consonants in ligature with semivowels,[185] variant spellings,[186] and confusion of *v* with *b* and *s* with *ś*. I do not report variants that are the result of different effects of *sandhi* caused by variants that I do report.[187] When the reading of one or two members of a manuscript group differs from the rest of the group in a way that I consider insignificant, I ignore the variant and report that the group agrees on that reading.[188] Occasionally I report a variant in a corrected form.[189] I have only corrected readings in this way when I am confident that I am not obscuring any important detail. If I am unsure of the reading adopted in the edited text then I include all available information.

खेचरीविद्या

प्रथमः पटलः

ईश्वर उवाच
अथ देवि प्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिताम् ।
यया विज्ञातया च स्याल्लोकेऽस्मिन्नजरामरः ॥१॥
मृत्युव्याधिजराग्रस्तं दृष्ट्वा विश्वमिदं प्रिये ।
बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समाश्रयेत् ॥२॥
जरामृत्युगदघ्नीं यः खेचरीं वेत्ति भूतले ।
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥३॥
[मेलकम्]
तं देवि सर्वभावेन गुरुं नत्वा समाश्रयेत् ।
दुर्लभा खेचरीविद्या तदभ्यासश्च दुर्लभः ॥४॥
अभ्यासो मेलकं चैव युगपन्नैव सिध्यति ।

Witnesses for the first paṭala:
$AJ_6J_7R_2SNW_1MK_1K_3J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5CJ_1J_5W_2R_1B$; G *from* 20b; *U* (1–13b, 20cd, 26ab, 29–30b, 31–61d, 62c–65b); T (1–10c, 13b–65b); K_6 *from* 8a; O (30c–33b, 35c–44d); *D* (45–49, 55c–56d, 64); H_1H_3 (46–48); H_2 (1–4, 6ab, 8–16, 19c–30b, 31c–34d, 35c–44b, 45–52b, 53ab, 54c–55b, 56c-58b, 61ab, 63c-64b, 66c-67b, 68cd, 70ab, 74cd).
μ=AJ_6J_7 ◇ α=$NW_1MK_1K_3$ α_1=NW_1M α_2=NW_1 α_3=K_1K_3 ◇
β=$J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5K_6C$ β_1=$J_2J_4VK_4$ ◇ γ=$J_1J_5W_2R_1B$ γ_1=$J_1J_5W_2R_1$ γ_2=J_1J_5

1a अथ देवि] शृणु देवि R_2, अथाह सं° *U*, अथ देवीं α_3, अथातः सं° H_2 **1b** खेचरि°] खेचर° μMK_2, खेचरी° VF *(unm.)* ◇ °संज्ञिताम्] °संहितां μ, °संज्ञिकां R_2, °संज्ञिकाम् *U*, °संज्ञकं J_3 **1c** यया] $\mu\alpha_3\beta_1H_2$; यथा R_2*U*TPJ_3C, यस्या $S\alpha_1FK_5\gamma_1$, यस्याः B ◇ विज्ञातया च स्याल्] β_1K_5C; विज्ञायते भ्यासात् μ, विज्ञाय पुंस स्या R_2, विज्ञातवानस्य *U*T, विज्ञानवानस्य U^{vl}, विज्ञानमात्रेण $S\alpha K_2J_3FH_2$, विज्ञातयां च स्या P, संज्ञानमात्रेण γ **1d** लोकेऽस्मिन्न°] त्रैलोक्ये स्मिन्न° α_3 *(unm.)*, त्रैलोक्ये स्मिन् H_2 **2a** °ग्रस्तं] °ग्रस्तो *U*, °ग्रस्ता T **2b** विश्वमिदं प्रिये] लोकमिमं प्रिये R_2, विद्यामिमां मुने *U* **2d** खेचरीं तु समाश्रयेत्] $\mu R_2NM\alpha_3H_2$; खेचरीं तु सम्अभ्यसेत् *U*T, खेचरीं च समाश्रयेत् SW_1, खेचरीं च समाचरेत् $\beta\gamma_2$, खेचरीचरमाचरेत् W_2, खेचरी च समाचरेत् R_1, खेचरीवरमाप्नुयात् B **3a** °घ्नीं] $R_2S\alpha_1K_1\beta_1CBH_2$; °घ्नी $\mu K_3K_2PJ_3\gamma_1$, °घ्नो *U*T ◇ यः] R_2*U*$TS\alpha_1K_5$; या μK_3H_2, यां K_1, यो $\beta_1K_2PJ_3FC\gamma$ **3c** ग्रन्थतश्चार्थतश्] μR_2*U*$T\alpha_3H_2$; ग्रंथादाचार्यतश् $S\alpha_1\beta\gamma$ ◇ चैव] चापि μ **3d** तदभ्यास°] तत्त्वयास° A **4a** तं देवि] $\mu TS\alpha_1J_2J_4K_4$; तां देवीं R_2K_2, तं मुने *U*, तां सर्व° α_3, तं देवी $VPCH_2$, तां देवी J_3F, तन् देवं K_5, तां देवि γ ◇ सर्वभावेन] °भावेन गुरुं α_3 **4b** गुरुं] तां च K_1, तां व K_3 ◇ नत्वा] $R_2SMVK_2K_5\gamma$; मत्वा μ*U*$T\alpha_2K_3J_2J_4K_4PJ_3FCH_2$, *om.* K_1 **4c** °विद्या] °मुद्रा α_3H_2 **4d** तदभ्यासश्च] $S\alpha_1\beta_1FK_5H_2$; तदभ्यासं च μ, तदभ्यासंश्च R_2, तदभ्यासो पि *U*T, तदभ्यासाश्च K_1, तद*द्री*वा च K_3, तदभ्यासस्त K_2, तदभ्यासस्य $PC\gamma_1$, तदभ्यास सुतद J_3 *(unm.)*, तदभासो पि R_1, तदभ्यासस्तु B,तद्भ्यासाश्च H_2 *(unm.)* ◇ दुर्लभः] दुर्लभं μW_2, दुर्लभा $\alpha_3J_4H_2$, दुर्ल्लभाः K_2 **5a** अभ्यासो] MFB; अभ्यास μK_3, अभ्यासं *cett.* ◇ मेलकं] S; मेलनं *cett.*

अभ्यासमात्रनिरतो न विन्देतेह मेलकम् ॥५॥
अभ्यासाल्लभते देवि जन्मजन्मान्तरे क्व चित् ।
मेलकं जन्मनां तत्तु शतान्ते ऽपि न लभ्यते ॥६॥
अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा सद्भावसाधितम् ।
मेलकं लभते देवि योगी जन्मान्तरे क्व चित् ॥७॥
यदा तु मेलकं कामी लभते परमेश्वरि ।
तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्तं शास्त्रसंततौ ॥८॥
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलकं लभते यदा ।
तदा शिवत्वमाप्नोति विमुक्तः संसृतेर्भयात् ॥९॥
[अयं ग्रन्थः]
शास्त्रं विना समाबोद्धुं गुरवो ऽपि न शक्नुयुः ।
तस्मात्सुदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं प्रिये ॥१०॥
यावन्न लभ्यते ग्रन्थस्तावद्गां पर्यटेदिमाम् ।

5c °मात्रनिरतो] $J_6J_7\alpha_3$; °मात्रविरतो A, °मत्रनिरता $R_2J_2K_4$, °निरता देवि S, °माननिरता K_2, °मंत्रनिरता J_4, °मात्रनिरता *cett.* **5d** न] विं° F ◇ विन्देतेह] μ; विंदन्तीह $R_2SMJ_2J_4K_4$-PJ_3B, विंदंते ह UT, विंदंति च N, च विंदति W_1, विन्दतीह α_3C *(unm.)*, विंदति स K_2, °दंति न च F, वदंति हि J_1, विंदंति ह J_5 ◇ मेलकम्] $\mu\alpha_3J_3$; मेलनं *cett.* **6a** अभ्यासाल्] $\mu\alpha_3H_2$; अभ्यासो B, अभ्यासं *cett.* ◇ लभते] लभ्यते $J_6J_7J_4B$, तत्तु ते R_2 ◇ देवि] ब्रह्मन् U, देवीं α_3 **6b** जन्म°] योगी T **6c** मेलकं] *em.*; मेलने A, मेलनं $J_6J_7R_2UT$, अभ्यास° $S\alpha_2\beta\gamma$ ◇ जन्मनां तत्तु] U; भुजगानां च AJ_7, भुजगा नाम J_6, तत्तु जन्मान्ते R_2, तत्वजन्मीर्णं T, °मात्रनिरता $S\alpha_2\beta\gamma$ **6d** शतान्ते ऽपि न लभ्यते] UT; जन्मांते तु न लभ्यते μ, लभ्यते मानव प्रिये R_2, न च विंदंति मेलनं $S\alpha_2J_4VK_4J_3$, न च विंदंति मेलकं $J_2PFK_5C\gamma$, न विंदति हि मेलनं K_2 **7a** अभ्यासं] *om.* R_2, अभ्यास° T ◇ बहुजन्मान्ते] तत्तु जन्मांते R_2 **7b** सद्°] A; तद्° $J_6J_7R_2UT$ ◇ °साधितम्] μU; °साधिते R_2, °साधितः T **7c** मेलकं] मेलके μ, मेलनं R_2UTMJ_4 ◇ देवि] कश्चिद् U **7d** योगी] जन्म° S, योगे α_3, योगि° V **8a** यदा तु] तदा तन्° μ, तदा तु R_1H_2 ◇ मेलकं] मलकं J_6J_7, मेलनं R_2U ◇ कामी] कर्म μ, योगी UTR_1, चैव N, देवि M **8b** परमेश्वरि] $\mu R_2SNMJ_4VK_4K_5K_6C\gamma H_2$; गुरुवक्त्रतः U, परमेश्वरी $TW_1J_2PJ_3F$, परमेश्वरीम् α_3K_2 **8c** तदा तत्] तदांतः H_2 **8d** उक्तं] उक्ता U, उक्तं U^{vl} ◇ °संततौ] °संमतौ J_4, °संमतां J_3, °संततैः J_6, °सत्तमैः γ **9a** ग्रन्थतश्] अभ्यासा° M, ग्रंथादा° K_2 ◇ चार्थतश्] छास्त्रतश् M, चार्यतश् $J_4K_2J_3\gamma$ **9b** मेलकं लभते] *transp.* μ, मे*ल*नं लभ्यते R_2, मेलनं लभते UM, मेलकं लभ्यते $J_3\gamma$ ◇ यदा] तदा AJ_7 **9d** विमुक्तः] μ; निर्मुक्तः *cett.* ◇ संसृतेर्] $S\alpha_1\beta_1FK_5$-CB; संसृति° $\mu\alpha_3H_2$ *(unm.)*, संसृतिर् R_2, सर्वसं° U, संस्मृति T *(unm.)*, स मृतेर् $K_2PJ_3\gamma_2R_1$, स सृतेर् K_6, संमृतेर् W_2 ◇ भयात्] $S\alpha_1\beta\gamma$; °वृतान् A, °व्र*जा*त् J_6, °वृतात् J_7, व्रजेत् R_2, °सृतेः U, प्रजात् $T\alpha_3H_2$ **10a** समाबोद्धुं] $R_2S\alpha_2J_4K_4PJ_3FK_5K_6CH_2$; समावोढुं A, समावोढं J_6J_7, पि संबोद्धुं U, पि संभोक्तुं T, बोधयितुं M, सममावोद्धुं K_1 *(unm.)*, मसावोद्धुं K_3, समावोद्धं J_2K_2, समाबोद्धु V, समोबोधं γ_2, समोबोद्धुं W_2B, स[मा]वोद्धं वै R_1 *(unm.)* **10c** सु°] स $AJ_7K_6\gamma_1$, तु α_2, धि M, च K_2 **10d** लभ्यं] $AJ_6U\alpha_3H_2$; लभ्यां J_7, तेभ्यः *cett.* ◇ प्रिये] मुने U **11a** लभ्यते] $J_6J_7R_2U\alpha_3J_2J_4K_4J_3H_2$; लभते $A\alpha_1VK_2PFK_5K_6C\gamma$, लभ्[य]ते S ◇ ग्रन्थस्] $\mu S\alpha_2VPFK_6C\gamma H_2$; ग्रंथ R_2, ग्रंथं $M\alpha_3K_5$, ग्रंथ $J_2J_4K_4$, ग्रंथः K_2, शास्त्रं U, शास्त्र J_3 **11b** तावद्गां पर्यटेद्] तावन्न पर्यटेद् N, तावत्पर्यटते γ ◇ इमाम्] यतिः U, इशां α_3, दिशा γ_2W_2, दिशां R_1, दिशः B

5cd *om.* VK_5W_2 **6ab** *om.* J_3W_2 **6cd** *om.* $M\alpha_3J_3J_1$ **7ab** *om.* $S\alpha\beta\gamma$ **7cd** *om.* K_2J_1 **8a** *start of readings from* K_6 ◇ तदा शिवत्वमाप्नोति विमुक्तः संसृतिवृता*त्* *add.* A **10d – 13a** *om.* T

यदा स लभ्यते देवि तदा सिद्धिः करे स्थिता ॥११॥
न शास्त्रेण विना सिद्धिरटतो ऽपि जगत्त्रये ।
तस्मान्मेलकदातारं शास्त्रदातारमीश्वरि ॥१२॥
तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा सदा यजेत् ।
तन्त्राश्च बहवो देवि मया प्रोक्ताः सुरार्चिते ॥१३॥
न तेषु खेचरीसिद्धिराख्याता मृत्युनाशिनी ।
महाकालं च मार्तण्डं विवेकाद्यं च शावरम् ॥१४॥
विशुद्धेश्वरसंज्ञं च तथा वै जालशंवरम् ।
एतेषु तन्त्रवर्येषु तदभ्यासः प्रकाशितः ॥१५॥
क्व चित्स्पष्टं तथास्पष्टं क्व चित्तन्मेलकादिकम् ।
अस्मिन्तन्त्रवरे दिव्ये मेलकादि प्रकाशितम् ॥१६॥
यद्यज्ज्ञेयं भवेत्किं चिद् दुर्ज्ञेयं खेचरीमते ।
तत्तत्सर्वमिहास्माभिस्तव प्रीत्या प्रकाशितम् ॥१७॥

11c यदा] यावत् K_5 ◇ स लभ्यते] μ; संलभ्यते R_2 *U*$S\alpha_3\beta_1PJ_3K_5\gamma_1H_2$, संलभते $\alpha_2K_2FK_6C$, स लभते M, च लभते B ◇ देवि] शास्त्रं *U*$M\alpha_3$ **11d** सिद्धिः] मुक्तिः M **12b** अटतो ऽपि] दृष्टा चैव *U* ◇ °त्रये] μ*U*MF^{ac}; °त्रयं *cett.* **12c** मेलक°] मेलन° *U* **12d** ईश्वरि] अच्युतम् *U* **13a** °प्रदातारं] °प्रदं देवि M **13b** शिवं] गुरुं S ◇ सदा यजेत्] $\mu R_2S\alpha_1PK_5C\gamma$; समाश्रयेत् *U*, तदाश्रये T, सदा जपेत् $\alpha_3J_2J_4K_4K_2K_6H_2$, सदा जयेत् V, सदा व्रजेत् F **13c** तन्त्राश्] μR_2; मंत्राश् *cett.* **13d** सुरार्चिते] सुरेश्वरी T, सुरेश्वरि S **14a** °सिद्धिर्] विद्यार् R_2 **14b** आख्याता मृत्युनाशिनी] आख्याता पापनाशिनी R_2, विख्यातामृतवासिनी γ **14c** मार्तण्डं] $\mu R_2S\alpha_1K_1\beta_1K_2PK_5K_6CJ_1BH_2$; मार्तांडं T, मार्त्तांडं K_3, मार्तंडो J_3, मार्तांड F, मार्त्तंडं $J_5W_2R_1$ *(unm.)* **14d** °आद्यं] $\mu\beta\gamma$; °आहा R_2, °आर्थं T, °आढ्यं S, °आख्यं αH_2 ◇ शाबरम्] *conj.*; शाभरं A, शांवरं J_6J_7, शोभनं α_3, शोभितं H_2, शांभवं *cett.* **15a** विशुद्धेश्वर°] विशुद्धैश्वर्य° R_2, ⌈तंत्रं⌉विशुद्ध° M ◇ °संज्ञं] °तंत्रं T **15b** तथा वै जाल°] तद्भवं जाल° R_2, शास्त्रं वै जाल° M, तथ्य वेताल° T ◇ °शंवरम्] $\mu R_2\alpha_1J_2K_4PK_5C$; °शंबरं T, °शाबरं S, °संज्ञितं M, °मंवरे α_3, °संवरं VK_2, °मेव च J_3, °संभरं F, °शंव*रां* K_6, °शंभवं γ_1, °संभवं B, °संवरे H_2 **15c** तन्त्र°] $\mu R_2\alpha_1\beta_1K_5$; मंत्र° $TS\alpha_3K_2PJ_3FK_6C\gamma H_2$ ◇ °वर्येषु] °चर्येषु α_3K_2 **15d** तदभ्यासः] तदभ्यास $\mu\gamma_2W_2$, तदाभ्यास TK_2R_1, सदाभ्यास H_2 ◇ प्रकाशितः] $S\alpha VK_2J_3K_5K_6CW_2BH_2$; प्रकाशितं $\mu J_2J_4K_4$, प्रभावतः R_2, प्रकाशतः T, प्रकीर्तितः SF, प्रकाशिताः γ_2, प्रकाशित R_1 **16a** स्पष्टं तथास्पष्टं] स्पृष्टं तथास्पृ J_6J_7 *(unm.)*, स्पष्टस्तथास्पष्टः M, स्पृष्टं तथास्पष्टं K_1, स्पृष्टं तथाप्यष्टं K_3 **16b** तन्°] $TS\alpha K_5H_2$; तं $\mu\beta_1K_2PJ_3FK_6C\gamma$ ◇ °दिकम्] °दिक् J_6J_7 *(unm.)*, °धिकं α_3 **16c** अस्मिन्] अस्मिंस् N ◇ तन्त्र°] तंत्रे AJ_7, तंत्रै J_6, मंत्र° α_3H_2 **17a** यद्यज्ज्ञेयं] $STK_2F^{ac}K_5C$; यद्यज्ञेयं $\mu\beta_1BF^{pc}$, यदा ज्ञेय R_2, यदि ज्ञेयं α, यद्यहेयं P, यदज्ञेयं J_3, यद्यद्वेयं K_6, यद्यभयं J_1, यद्यद्ज्ञयं J_5, यद्यद*यं W_2 ◇ किं चिद्] लोके S **17b** दुर्ज्ञेयं खेचरीमते] μTK_2J_3F; दुर्ज्ञेय खेचरीमते R_2, दुर्ज्ञेयं खेचरीमृते $S\alpha_1J_2VK_4PK_5C$, दुर्ज्ञेया खेचरीमता α_3, दुर्गेयं खेचरीं मते J_4, तज्ञेयं खेचरीम् ऋते K_6, गुरुज्ञेयं खेचरीमते γ_1 *(unm.)*, गुरुगम्यं च खेचरी B **17c** तत्तत्सर्वमिहास्माभिस्] ततः सम्यगिहास्माभिस् μ, तत्तत्सर्वं मया देवि MJ_3, तत्तत्सर्वं महात्माभिस् K_2P, मते तत्सर्वमास्माभिस् B **17d** प्रीत्या] देवि μ

12b अभ्यासमात्रनिरता न च विंदंति (विंदति R_1) मेलकं मेलकं लभते देवि योगी जन्मांतरे क्व चित् (*cf.* 5cd, 7cd) *add.* J_1R_1 **13c – 20b** *om.* *U* **16** *om.* R_2

तस्माच्छास्त्रं प्रलभ्येत मयोक्तमिदमद्भुतम् ।
गोपनीयं महेशानि न सर्वत्र प्रकाशितम् ॥१८॥
मन्मुखाम्बुरुहाज्जातं यस्तु शास्त्रामृतं वदेत् ।
स एव हि गुरुः सत्यमर्थतो वेत्ति यः पुनः ॥१९॥
स चाधिकतमः ख्यातो गुरुर्नास्ति ततोऽधिकः ।
लब्ध्वा शास्त्रमिदं गुह्यमन्येषां न प्रकाशयेत् ॥२०॥
सुविचार्य प्रवक्तव्यमेतन्मार्गोपजीविनाम् ।
य इदं परमं शास्त्रं यत्र तत्र प्रकाशयेत् ॥२१॥
स शीघ्रं भक्ष्यते देवि योगिनीभिः शिवाज्ञया ।
ग्रन्थिं नोद्ग्रन्थयेदस्य विना कौलिकतर्पणात् ॥२२॥
पूजितं शुभवस्त्रस्थं दिव्यधूपसुधूपितम् ।
श्रावयेद्द्विजनस्थाने योगिने योगशालिने ॥२३॥

18a प्रलभ्येत] $\mu\alpha_3$FR_1; प्रलीभ्यते T, प्रयुक्तैतन् R_2, प्रलभ्यैतन् *cett.* **18b** मयोक्तम्] यथोक्तम् α_3 **18c** गोपनीयं] सुगृह्यत्वान् R_2, गुह्याद् गुह्यं T, सुगुह्यत्वान् VK_5 ◇ महेशानि] सुगुप्तत्वा A, सुगुह्यत्वान्महेशानि J_6K_4 *(unm.)*, सुगुप्तत्वान्महेशानि J_7 *(unm.)* **18d** न सर्वत्र] μ; सम्यक्सर्वं $R_2\beta_1K_5$, सम्यक्सत्यं T, यतः सर्वं *cett.* **19b** वदेत्] $\mu\alpha_3$; पिवेत् R_2, ददेत् S$\alpha_2K_5\gamma$, च तत् T, ददत् M$J_2K_4K_2$PK_6C, ददात् J_4, दतत् V, महत् J_3, धधत् F **19d** अर्थतो वेत्ति यः] वेदयेद्यः पुनः α_2, यो वेत्ति च पुनः M **20a** स] μSF; न *cett.* ◇ चाधिकतमः] S; चाधिक समा° A, चाधिकः समा° J_6J_7, वाधिकस्तमा R_2K_3, चाधिकस् स∗मा° T, चाधिकतमा W_1J_2PK_6Cγ, वाधिक∗त∗मा K_1, वाधिकतमया J_4 *(unm.)*, वाधिकतमा VK_4J_3, चाधिकमया K_2, हित्यधिकमा F, चाधिकतया K_5, बाधिकस्तमा H_2 ◇ ख्यातो] खातो J_2VK_4 **20b** गुरुर्नास्ति ततोऽधिकः] न गुरुस्तेन चाधिकः μ **20c** गुह्यम्] मह्यम् *U*T, गुह्यम् U^{vl} **20d** न] म AJ_7, त R_2, तत् J_2K_4, नत् J_4 **21a** सुविचार्य] μR_2MS$\alpha_3\beta H_2$; विचार्यैव T, सुविचार्या α_2, सविचार्य γ_2W_2, सर्व∗व∗[र्य] R_1, सम्यग्विचा° B ◇ प्रवक्तव्यम्] μTS$W_1\alpha_3\beta_1$FK_5; श्ववक्तव्यम् R_2, प्रवक्तव्य NM, प्रकर्त्तव्यम् K_2PC$K_6\gamma_1H_2$, प्रकर्त्तव्यः J_3, °र्य कर्तव्यम् B **21b** एतन्मार्गोपजीविनां] SPFK_6C; एकमार्गोपजीविना μ, एष मार्गो य जीवतु R_2, एतदात्मोपजीविनं T, एष मार्गो पजीविनाम् NMβ_1K_5, एष मार्गोऽपि जीवनं W_1, एकं मार्गोपजीविनं K_1, एकं मार्गोपजीवितं K_3, एतत्मार्गोप्रजीवनां K_2, तेन मार्गोपजीविना J_3, एतन्मार्गो पि जीवनं J_1R_1, एतन्मार्गे पि जीवनं J_5W_2, एतन्मार्गे च जीवनं B, एकमार्गोपजीवितं H_2 **21c** य इदं परमं शास्त्रं] षत्पदं परमं शास्त्रं μ, प्रकाशितं यदि पुनर् G, जपदं परमं शास्त्रं K_2 **21d** यत्र तत्र प्रकाशयेत्] यथा तथा प्रकाशयेत् μ *(unm.)*, म्मूढेनात्माभियातिना G, साधकैश्च प्रका∗श्∗येत् R_2, यत्र कुत्र प्रकाशयेत् TSα_1^{ac} **22a** भक्ष्यते] वद्यते G **22c** ग्रन्थिं] *em.*; ग्रंथि μ, श्रजं T, ग्रंथं *cett.* ◇ नोद्ग्रन्थयेदस्य] μ; समर्पयेत्तस्य G, तु नार्पयेद्देवी R_2, सदाच्चयेकृस्य T, तु नार्पयेद्देवि SJ_2VK_4K_2PK_5K_6C, सम्अर्पयेदस्य α_1, समार्पयेद्यस्य α_3, तु नार्चयेद्देवि J_4F, तु नाये देवि J_3 *(unm.)*, तु चार्चयेद्देवि γ, समर्पयेद्यस्य H_2 **22d** विना कौलिकतर्पणात्] विना च गुरुतर्पणात् G, विना कौषकदर्पणम् T, विना कौलिकतर्पणं αH_2, नास्तिके कौलतर्प्पणात् K_2, विना शंकरपूजनात् K_5 **23a** पूजितं] पूजिते T ◇ शुभवस्त्रस्थं] शुभ्रवस्त्रेण G, तु भवेत्स्वस्थं T, शुभवस्त्रेण Sα_1, शुभवस्तुस्थं γ_1 **23b** °धूपसु°] °धूपैस्तु $R_2J_2K_4$, °धूपैश्च TS **23c** विजनस्थाने] विजने स्थाने μ, द्विजसंस्थाने Sα_2 **23d** योगिने] योगिनी M ◇ °शालिने] μGR_2TM$\alpha_3J_3K_5\gamma H_2$; °शीलिने SNJ_2K_4PFC, °शीलने W_1J_4VK_2K_6

18cd *om.* NMα_3 **20ab** *om.* NM **20b** कः : *start of readings from* G **21ab** *om.* G**21a – 25b** *om.* *U*

यस्मिन्नपूजितं शास्त्रमिदं तिष्ठति वै गृहे ।
तत्राग्निरुग्ग्रहारातिपीडा भवति निश्चितम् ॥२४॥
यत्रेदं पूजितं ग्रन्थं गृहे तिष्ठति पार्वति ।
तत्र सर्वार्थदायिन्यो वसन्ति कुलदेवताः ॥२५॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता ।
यस्तु योगी मया प्रोक्ता इमाः सिद्धीः समीहते ॥२६॥
स योगी सर्वभावेन गोपयेत्पुस्तकं त्विदम् ।
अहं तस्य गुरुर्देवि यत्रास्ते पुस्तकं स्वयम् ॥२७॥
गुणागुणं महेशानि पुस्तकस्य च रक्षणात् ।
प्रकटं च मया प्रोक्तमिदानीं खेचरीं शृणु ॥२८॥
यत्रास्ते च गुरुर्देवि दिव्ययोगप्रसाधकः ।
तत्र गत्वा च तेनोक्तां विद्यां संगृह्य खेचरीम् ॥२९॥
तेनोक्तं सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः ।
विद्यां च खेचरीं देवि प्रवक्ष्ये योगसिद्धिदाम् ॥३०॥

30c – 33b *cit.* “खेचरीविद्या” (O) f.1v

24a अपूजितं] पूजितं नु G, वै पूजितं γ **24b** तिष्ठति] तिष्ठंति μT$J_4J_3J_5W_2$ ◇ वै गृहे] विग्रहे A, वै ग्रहे TJ_3, चैव हि α_2, सुन्दरि M, य*हे B **24c** °रुग्ग्रहाराति°] SK_5; °रुद्गहारात्नि° AJ_6, °रुद्गहारात्नि° J_7, °रुग्रहाराति° $R_2\alpha_2J_2K_4$FB, °चोरजा पीडा T, °ररातीरणां M^{ac} *(unm.)*, °वार्रारातीरणां M^{pc}, °रुग्नहारात्नि° α_3, °रुग्राहाराति J_4, °रुग्महाराति° V, °रुग्रग्राहार्त्ति° K_2, °रुग्ग्नहारार्ति° P, °रुग्ग्रहारार्ति° J_3, °स्तग्रहारार्त्ति° K_6, °रुग्रहारार्ति° C, °रुग्गाहाराति° γ_2W_2, °*ग्गाहारात्ति° R_1, °रूपहाराभि° H_2 **24d** °पीडा भवति निश्चितम्] भवत्येव हि निश्चयम् T **25a** यत्रेदं] यत्रेमं μ, यत्रायं TB, यत्रेयं γ_1 ◇ पूजितं] पूजिते γ ◇ ग्रन्थं] शास्त्रं R_2W_1MC^{pc}, ग्रंथे γ **25b** गृहे] ग्रहे AVK_2 **25d** वसन्ति कुल°] वसंत्यखिल° R_2 **26b** विजानता] प्रयत्नतः G, विजानतः α_3, विजानताः K_4K_6 **26c** यस्तु] Gα_1; योऽस्मिन् μ, यस्मि* R_2, यश्च T, यस्मिन् S$\beta\gamma$, तस्मिन् α_3H_2 ◇ योगी] योगि A, योगे Sγ, योगो J_2, योग* P, योगा J_3 ◇ मया प्रोक्ता] α_2; मयोक्तानि μGTS$\alpha_3\beta_1$PJ_3FK_5CγH_2, [....] R_2, इमां प्रोक्तां M, मया प्रोक्तान् K_2, [म]योभक्ता K_6 **26d** इमाः सिद्धीः] W_1; संसिद्धीनि μ, संसिद्धानि G, सिद्धिवाव्या° R_2, संसिद्धिर्न Tα_3H_2, सिद्धवाक्या° S$\beta\gamma$, इमाः सिद्धि N, मया सिद्धिं M ◇ समीहते] μGTαH_2; °नि संवते R_2, °नि संवदेत् S$\beta\gamma$ **27c** तस्य गुरुर्] तस्तु गुरुं μ **27d** स्वयम्] त्विदं GMK_5B **28a** °गुणं] °शुणं AJ_7, °गुणा G, °गुणां R_2, °गुणौ T, °गुण $K_2K_6\gamma$ **28b** रक्षणात्] रक्षणे μR_2TαH_2 **28c** प्रकटं च मया प्रोक्तम्] प्रकटां च मया प्रोक्ताम् G, प्रकटत्वमिति प्रोक्तं S, प्रकटं च मया प्रोक्तां W_1F, तत्प्रकटं मया प्रोक्तम् H_2 **29a** च] μGR_2*U*TMF; स $S^{pc}\beta_1K_2$PJ_3FK_5Cγ, सद् $S^{ac}J_3$, त्व N, त्वद् W_1, चा α_3, सन् K_6 ◇ गुरुर्] गुरु ATM^{ac}, गुरुं J_6J_7, गुरोर् K_2 ◇ देवि] ब्रह्मन् *U* **29b** °प्रसाधकः] °प्रभावतः G, °प्रदायकः *U*, °स्य साधकः S **29c** तेनोक्तां] तेनोक्त° *U*, तेनोक्तं R_2U^{vl}SαJ_4J_3F$J_1R_1H_2$ **29d** विद्यां संगृह्य खेचरीम्] दिव्यां संगृह्य खेचरीं G, संप्रधार्य प्रयत्नतः α_1, संप्रदायत्नयत्नतः α_3H_2 **30a** तेनोक्तं] GR_2SβJ_1R_1; तेनोक्ते μ, तेनोक्तः *U*, तेनोक्त U^{vl}T, सम्यग° α, तेनोक्तां J_5W_2B, सम्यक् भ्या° H_2 ◇ सम्यगभ्यासं] °भ्यासं यत्नेन MK_3, °भ्यासयत्नेन α_2K_1, °सं प्रयत्नेन H_2 **30b** आदावतन्द्रितः] आहावत्लंद्रितः A, आहावलंद्रितः J_7, वेत्ता अतंद्रितः α_3, आदौ च तं ततः γ, *धि*त्वा अतन्द्रितः H_2 **30c** विद्यां च] तां विद्यां G ◇ देवि] देवीं GW_1 **30d** योग°] गण° $\alpha_2\alpha_3$, सर्व° M

24b वै – **25b** तिष्ठति *om.* G (*eye-skip* तिष्ठति – तिष्ठति) **26c – 28d** *om.* *U* **30cd** *om.* *U*

न तया रहितो योगी खेचरीसिद्धिभाग् भवेत् ।
खेचर्या खेचरीं युञ्जन्खेचरीबीजपूर्वया ॥३१॥
खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत् ।

[मन्त्रोद्धारः]

खेचरावसथं वह्निमम्बामण्डलभूषितम् ॥३२॥
व्याख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति ।
मस्तकाख्या महाचण्डा शिखिवह्निकवज्रभृत् ॥३३॥
पूर्वबीजयुता विद्या व्याख्याता ह्यतिदुर्लभा ।
षडङ्गविद्यां वक्ष्यामि तया षट्स्वरभिन्नया ॥३४॥
कुर्याद्देवि यथान्यायं सर्वसिद्ध्याप्तिहेतवे ।

31a न तया रहितो] $\mu R_2\alpha_3\beta O$; *आदौ हि कशितो* G, अनया विद्यया *U*, अनया सहितो T, नैतया रहितो $S\alpha_2$, नैतया खेचरी M, न खेचर्या हितो $\gamma_2 W_2 B$, न खेचर्या विना R_1 **31b** खेचरी°] रहितो M ◇ °भाग्] °वान् R_2 **31c** खेचर्या] खेचर्यो A, खेचर्यां $G\alpha_3$ ◇ खेचरीं] μR_2-$US\alpha_2\alpha_3 J_3 K_5 COH_2$; खेचरी $GTM\beta_1 K_2 PF\gamma$, *om.* K_6 ◇ युञ्जन्] $\mu R_2 UTSJ_2 VK_4 PFK_5$; युजन् GC, युंज्यात् α_2, पूज्या M, योज्या K_1, योज्यात् K_3, पुंजन् $J_4 O$, जंपन् K_2, च्युबन् J_3, *om.* K_6, युंजान् $\gamma_2 R_1$, पुंजान् $W_2 B$, युज्यात् H_2 **31d** °पूर्वया] °पूर्वकं G, °पूरया $U\alpha_3$, °पूर्वयाः $J_2 J_4 K_4$ **32b** खेचरेषु] खेचरीषु K_2 **32c** खेचरा°] खेचरी° $GJ_3\gamma$, खेचरे R_2 ◇ °वसथं] AJ_7-$UTS\alpha_1\beta_1 PJ_3 FK_5 CO$; °वसंथं J_6 *(unm.)*, °वसतं G, वसथो R_2, °वसथ α_3, °हस्त्रवं K_2, °वस*थं* K_6, °वसतां $J_1 R_1$, °वसथां $J_5 W_2 B$, वसथों H_2 ◇ वह्निम्] वह्निर् μ, वह्नीम् R_2, वह्नि MK_6, वह्निं α_3, वह्निर्म $J_2 K_4$, वव्रज्विम् V *(unm.)* **32d** अम्बा°] $R_2 SJ_4 VK_4 K_2 PK_5 C\gamma O$; अह्नी° μ, अंभो° G, अम्बु° *U*, अभ्र° T, अंडवा° N *(unm.)*, आया° W_1, वडवा° M *(unm.)*, सर्वा α_3, अवा° J_2, अथा° J_3, आबा° F, वाम K_6, अम्वा° H_2 ◇ °भूषितम्] °भूषितां $FW_2 B$ **33a** व्याख्यातं] आख्यातं *UT*, व्याख्याता K_2, व्याख्यानं γ **33b** योगः] योगी $\alpha_3 H_2$ **33c** मस्तकाख्या] *em.*; मस्तकाख्यो μ_a, शनैः शनैश् G, शनैः शनैर् *cett.* ◇ महाचराडा] μ_a; शिरोव्योम° G, मस्तकाश्च α_3, मस्तकार्घ V, मस्तकस्थ° H_3, मस्तकाच्च *cett.* **33d** शिखि°] J_7; शिवि° A^a, शिंखि° J_6^a, सह° α_3, महा° *cett.* ◇ °वह्नि°] μ_a; °वस्त्रं μ_b, °वज्र° $GR_2 UTS\alpha J_3 H_2 H_3$, °वस्त्र° $\beta_1 PK_5$-$K_6 C\gamma$, वस्त्रा° F ◇ °कवज्र°] μ_a; °कपाट° $A^b J_7^b R_2 S\alpha\beta_1 PJ_3 FK_5 K_6 C\gamma H_2 H_3$, °कयाट° J_6^b, °कवाट° *GUT* ◇ °भृत्] μ_a; °धृक् $\mu_b\beta\gamma$, °वित् G, °हृत् R_2, °भित् $UTS\alpha H_2 H_3$ **34a** पूर्व°] पूर्वं *U*, पूंर्व° K_1 ◇ °बीजयुता°] बीजयुतां $GW_1 H_2$, °वीजोजिता° α_3 ◇ विद्या] विद्यां $GW_1 H_2$ **34b** व्याख्याता] $\mu_a R_2 TSM\beta_1 F$; °प्याख्याता A^b, ख्याता $J_6^b J_7^b$ *(unm.)*, व्याख्याताम् GH_2, ह्याख्याता *U*, विख्याता $N\alpha_3\gamma$, विख्यातां W_1, व्याख्यातād $K_2 PK_5 C$, विख्याताद् J_3- ◇ ह्यतिदुर्लभा] $\mu_a S$; यातिदुर्लभा $\mu_b\beta_1 K_2 PJ_3 K_5 C\gamma$; अतिदुर्लभा* G, ह्यतिदुर्लभ R_2, याति दुर्लभां *UT*, चान्यदुर्लभां α_2, चान्यदुर्लभा M, तिसुर्दुर्लभा K_1, निसुदुर्लभा K_3, °प्यतिदुर्लभा F, याताद्*र्ल्ल*भा K_6, अतिदुर्लभाम् H_2 **34c** षडङ्गविद्यां वक्ष्यामि] μ_a; तस्याः षडंगं कुर्वंत $J_2 J_4$-$K_4 J_3 F$, तस्याः षडंगं कुर्वंति $K_2 K_6$, तस्य स्वंडं प्रकुर्वीत K_1, तस्य षंडं प्रकुर्वीत K_3, अस्याः षडङ्गं कुर्वीत H_2, तस्याः षडङ्गं कुर्वीत *cett.* **34d** तया] तथा $\mu_a\mu_b$ ◇ षट्स्वर°] $\mu_a GUT\alpha$; षट्द्वार° μ_b, षड्स R_2 *(unm.)*, षड्दीर्घ° $S\beta\gamma$, षट्चक्र° H_2 **35a** देवि] देवी GK_3, एवं *UT*, देवीं K_1, दिवि J_3 ◇ यथान्यायं] यथा न्यासं $A^a J_7 GK_5 K_6$, करन्यासं *UT*, यथात्यास्त्रं J_2, यथाशास्त्रं J_4, यथात्यांस्त्रं K_4 **35b** °सिद्ध्याप्ति°] $\mu_b S\beta$; °विद्याप्ति° μ_a, सिध्यंति G, °सिद्ध्यादि° *UT*, °सिद्धिप्र° α_1, °विद्याप्र° α_3, °सिद्धार्थ° γ ◇ °हेतवे] °हेतवः G

32c – 33b *and* **35c – 36b** *transp.* R_1 **33c – 35b** *is found after* 53d *in all the witnesses that report it* ($\mu UTS\alpha\beta\gamma$)*; μ has the passage twice, at both* 33c–35b ($\mu_a = A^a J_6^a J_7$) *and after* 53d ($\mu_b = A^b J_6^b J_7^b$) **35ab** *om.* R_2

सोमेशान् नवमं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ॥३५॥
तस्मात् त्रिंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम् ।
तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेनापरं प्रिये ॥३६॥
तथा तत्पञ्चमं देवि तदादिरपि पञ्चमः ।
इन्द्रो ऽपि बिन्दुसंभिन्नः कूटो ऽयं परिकीर्तितः ॥३७॥
गुरूपदेशलभ्यं च सर्वलोकप्रसिद्धिदम् ।
यतस्य देहजा माया विरूपा करणाश्रया ॥३८॥
स्वप्ने ऽपि न भवेत्तस्य नित्यं द्वादशजाप्यतः ।
य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदतिसुयन्त्रितः ॥३९॥
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते ।
नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः ॥४०॥
वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः ।

35c – 44d *cit.* "खेचरीविद्या" (O) f.2r

35c सोमेशान्] सोमेशा GO, सोमांश *U*T, सोमेशन् γ_1, सोमेशं B, शोमेशान् H_2 ◇ नवमं] नवमे G, नवकं *U*, नवमा F, नंवमं O ◇ वर्णं] वर्ण AK_3, वर्णो G^{ac} **36a** तस्मात्] तस्यास् μ, तस्माद् TM, तस्या J_4, ततस् K_2, तस्मीस् P ◇ त्रिंशकम्] $\mu GSJ_2VK_4PFK_5K_6C\gamma O$; त्रिंशकाम् R_2, त्र्यंशकम् *U*, त्र्यम्बकम् U^{vl}, अंशम् T *(unm.)*, त्रिंशाच्च° $\alpha_2\alpha_3H_2$, वि⌈शंति⌉ M, त्रि*शिं∗াক*म् J_4, मान्निंशम् K_2, त्रिशकम् J_3 ◇ आख्यातम्] °रं शास्त्रम् α_2, ⌈मं⌉ शास्त्रम् M, °रशास्त्रम् α_3, °रं शस्त्रं H_2, आख्यातं O **36b** अक्षरं] मकारं O ◇ °रूपकम्] °भूषितं G, °सूर्यकं M **36c** अप्यष्टमं] G*UT*; अप्यष्टकं μ, अप्यष्∗मं R_2, अथाष्टमं $S\alpha_1\beta\gamma$, अधाम व° α_3, अधाष्टमं H_2 ◇ वर्णं] वर्णो μ, °र्णं च α_3 **36d** विलोमेनापरं] $GR_2US\alpha_2\beta_1PFK_5C\gamma O$; विलोमेन्य वरं A, विलोमेनावरं J_6J_7, विलोमेनापुरं TK_6, विलोमेन परं MK_2, विलोमं परमं α_3, विलोमेनाप्रियं J_3, विलो*मेनापरं* H_2 ◇ प्रिये] मुने *U* **37a** तथा] तदा U^{vl}, तस्मात् αH_2 ◇ तत्पञ्चमं] $S\beta_1PJ_3FK_5K_6C\gamma_1O$; तत्वंचमे A, तत्वंचमं J_6J_7, तत्वंचमां G, तत्पचमं R_2, तत्परमं *U*, तत्पुरमन् T, पंचममित्य् α_1H_2, परममित्य् α_3, तां पंचमं K_2, °न्यत्पंचमं B ◇ देवि] विद्धि *U*, उक्तं αH_2 **37b** तदादिर्] वेदादिर् H_2 ◇ पञ्चमः] पंचमं $\mu TK_2J_3R_1$, पंचमा *U* **37c** इन्द्रो ऽपि] इंदोश्च *U*T, चंद्रो यं M, इदापि K_2, इन्द्रापि γ_1 ◇ बिन्दुसंभिन्नः] $S\alpha_1K_2FK_5$; बिंदुसंभिन्नं $\mu\alpha_3\beta_1$-$J_3PK_6C\gamma H_2$, बिंदुसंभिंनां G, विंदुसभिंन R_2, बहुभिन्नं च *U*, बहुभिश्चल T, भिन्नसंभिन्नं O **37d** कूटो] मोच्चो G ◇ °कीर्तितः] °कीर्तितं AJ_7T **38a** गुरूपदेश°] $\mu GR_2UTK_3H_2$; गुरूपदेशाल् *cett.* **38b** सर्वलोक°] $GR_2S\beta\gamma$; सर्वयोग° μU, स वै योग° T, सर्वलोके αH_2 ◇ °सिद्धिदम्] °सिद्धि*द*ः G, °सिद्धिदः F **38c** यतस्य] $K_2\gamma O$; यत्तस्य $\mu GR_2UJ_2J_4K_4C$, युक्तस्य T, न स्पृशेद् $S\alpha_1$, या तस्य $\alpha_3VK_5H_2$, यत्नस्य PF, प्रत*च्चय* J_3, यात्नस्या K_6 ◇ देहजा] *U*T; देवजा μ-$GR_2\alpha_2J_2VK_4K_5K_6$, देवता $SMK_2PJ_3FC\gamma O$, देवया $\alpha_3J_4H_2$ ◇ माया] मायां MK_2 **38d** विरूपा] μCO; विरूप° $GR_2S\alpha_1\beta_1K_2PJ_3FK_5K_6\gamma H_2$, निरुद्ध° *U*, निरूढ° T, तद्रूप° α_3 ◇ करणाश्रया] कारणाश्रया μ, करणाश्रयां M, करणाश्रयः α_3H_2 **39a** स्वप्ने] स्वप्नो $\mu GNM\alpha_3$-$K_2K_6H_2$ ◇ न] ना $K_2PK_6J_1W_2R_1B$ ◇ भवेत्तस्य] लभेत्तस्य *U*, भवेतस्य $J_4\gamma O$ **39b** °जाप्यतः] °जप्यतः *U*T, °भावतः J_3, °जापतः K_5, °जाप्यतेः K_6 **39d** अतिसु°] μ; आसंनि° G, अपि सु° $R_2UTS\alpha_1\beta\gamma H_2O$, अपि स्व° α_3 ◇ °यन्त्रितः] °यंत्रितं J_6J_7, °यत्नतः α_1, °यांत्रितः K_6 **40a** तस्य श्री] $R_2UTS\beta\gamma O$; तस्मात् श्री μ, तस्यास्ति $\alpha_2\alpha_3$, तस्यापि M, तस्यास्त्रि H_2 **40d** प्रसीदन्ति] प्रसीदति AJ_7, प्रसीदंते α_3 ◇ च] थ AJ_7, ⌈∗⌉ J_6, न K_2 ◇ देवताः] देवता $AJ_6R_2K_2J_3$ **41a** °नाशश्च] $\mu U\alpha_1K_5BO$; °नाशं च $GR_2S\alpha_3\beta_1K_2PJ_3FK_6C\gamma_1H_2$, सर्वं च T, नाश्यंति J_4

एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः ॥४१॥
अन्यथा क्लिश्यते देवि न सिद्धिः खेचरीपदे ।
यद्यभ्यासविधौ विद्यां न लभेत सुधामयीम् ॥४२॥
ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां समुज्जपेत् ।
अनया रहितो देवि न क्व चित्सिद्धिभाग् भवेत् ॥४३॥
यदेदं लभ्यते शास्त्रं तदा विद्यां समाश्रयेत् ।
ततस्तत्रोदितां सिद्धिमाशु संलभते प्रिये ॥४४॥
[खेचर्यभ्यासक्रमः]
तालुमूलं समुद्घृष्य सप्तवासरमात्मवित् ।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ॥४५॥
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥४६॥

---

45 – 49 *cit.* नारायणदीपिका *(D) ad* क्षुरिकोपनिषद् 11, ĀSS 29, p.151
46 = हठरत्नावली 2.136
46 – 48 = हठप्रदीपिका *(H_1)* 3.33–35

41d अभ्यासं कारयेत्ततः] अभ्यासं कारयेत् बुधः G, अभ्यासात्को ऽपि साधयेत् K_2 **42a** क्लिश्यते] क्लिश्यतो μ, क्लेशतो G ◇ देवि] देवी GTW_1, ब्रह्मन् *U*, ब्रह्म U^{vl} **42b** सिद्धिः] सिद्धिं A, क्व चित् R_2 ◇ खेचरीपदे] सिद्धिवान्भवेत् R_2, खेचरीपथे *U*, खेचरीं विना α, खेचरी विना H_2 **42c** यद्यभ्यास°] μ; यथाभ्यास° $GS\alpha J_2J_4K_2PJ_3FK_6CH_2O$, यदभ्यास° *U*, यदाभ्यास° T, यश्चाभ्यास° VK_5, यथाभ्यस° K_4, यथाभास° γ ◇ विद्यां] देवि A, वि J_7 *(unm.)*, विद्याम् α_1 **42d** न लभेत] K_5; लभेद्यश्च μ, न लभेद्यः $GUTS\beta\gamma$, आलभ्येमां α_1, नालभेये K_1, नालभेयं K_3, नालभ्येयं H_2, न लभेव्यः O ◇ °मयीम्] °मयं A, °मयां $J_6J_7K_4$, °मयी $VJ_3\gamma$ **43a** ततः] $\mu GUTS\alpha H_2$; नातः $J_2J_4K_4PFC\gamma_2W_2BO$, जातः VK_5K_6, नात J_3R_1 ◇ सं°] $\mu GUTH_2$; सा γ_2, शा R_1, स *cett.* ◇ °मेलका°] °मेळना° G, मेलेका° R_1 **43b** लब्ध्वा] लब्धां α_3, लध्वां H_2 ◇ विद्यां] विद्या GW_1V, विद्याम् M ◇ समुज्जपेत्] $SJ_2VK_4K_5J_5W_2B$; समुज्जयेत् $\mu\alpha_2\alpha_3J_1$, समजिते G, सदा जपेत् *UT*, अमुं जपेत् M, समुच्चयेत् J_4, समुजुयेत् P, समुंजयेत् J_3, समुद्धरेत् F, समं जपेत् K_6, समुजुपेत् C, समाज्जयेत् R_1, समुंजपेत् H_2, समुजपेत् O **43c** अनया] $S\alpha VK_5H_2$; नानया $\mu GJ_2J_4K_4PJ_3FC\gamma_2W_2BO$, नान्यथा *UT*, न तया K_6, नातया R_1 ◇ रहितो] सहितो AJ_7 ◇ देवि] ब्रह्मन् *U*, देवी TV, विद्या N **43d** न क्व चित्] कुत्र चित् G, न किं चित् UTJ_3 ◇ सिद्धिभाग् भवेत्] सिद्धिमेष्यति α_1J_3 **44a** यदेदं] $J_6J_7S\beta_1PK_5CO$; यदिदं $AGUTK_6\gamma$, यदीदं R_2, यदि तं U^{vl}, यदैव αH_2, यदेतल् F ◇ लभ्यते] लभते $\alpha_2\alpha_3FK_6H_2$ **44c** तत्रो°] $R_2\alpha VPK_5C\gamma$; तंत्रो° μSJ_2F, त्वत्रो° G, तदो° UTJ_4, *त्रचे*° K_2, ततो° K_4J_3 **44d** आशु] [आश्रि]° T, अयु° α_3 ◇ संलभते] J_6; शंलनते A, तां लभ्यते $R_2\gamma$, तां लभते *cett.* ◇ प्रिये] मुनिः *U* **45a** तालुमूलं] स्वतालुमू° H_2H_3 ◇ °उद्घृष्य] $GSJ_2VJ_3K_5K_6C\gamma$; °उत्कृष्य AJ_7T, °उ*ष्य J_6, °उधृ R_2 *(unm.)*, °उत्कृष्य *U*, °उद्घर्ष्य N, °उद्घर्ष्य W_1, °उद्*त्य M, °उद्धृत्यै α_3, °उद्घृत्य J_4, °उद्घष्य K_4, °उघृष्य K_2, °उद्घष्य P, °उद्धृत्य F, °उत्कृत्य *D*, °लं संघृष्य H_2H_3 **45b** आत्मवित्] आत्मनि H_2H_3 **45c** °ऊक्तप्रकारेण] °ऊक्तेन मार्गेण G **45d** विशोधयेत्] विशोषयेत् R_2D **46a** स्नुही°] स्नुहि° $GUMJ_4K_4W_2$, सहि° T, सुहि J_2, पप्नी J_3, स्नुहा F, स्नुह γ_2R_1 ◇ °पत्र°] पत्रं AJ_6K_6, यंत्रं J_7, पर्व K_3 **46b** सुतीक्ष्णं स्निग्ध°] सुक्ष्मं स्निग्धं च V ◇ °निर्मलम्] निर्मलः A **46c** °आदाय] °आधाय AW_2B, °आदाया° G ◇ ततस्तेन] °थ जिह्वाधो G, यतस्तेन *D* **46d** रोममात्रं] लोममात्रं *U*, संछिद्याद्रो° H_3 ◇ समुच्छिनेत्] समुच्छिदेत् SK_2D, °ममात्रकम् H_3

42c – 43d *om.* R_2 **42c – 44b** *om.* K_2 **44ab** *om.* J_3 **45ab** *found after* 45d *in* α_2

छित्त्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥४७॥
एवं क्रमेण षण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ॥४८॥
अथ वागीश्वरीधामशिरो वस्त्रेण वेष्टितम् ।
शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित् ॥४९॥
पुनः षण्मासमात्रेण नित्यसंकर्षणात्प्रिये ।
भ्रूमध्यावधि साभ्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि ॥५०॥
अधश्च चिबुकं मूलं प्रयाति क्रमकारिता ।
पुनः संवत्सराणां तु त्रितयादेव लीलया ॥५१॥
केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्शङ्खावधि प्रिये ।

47a छित्त्वा] कृत्वा R_2H_2, हित्वा $UT\alpha_3$, ततः H_1, आदौ H_1^{vl} ◇ सैन्धव°] सजव° T ◇ °आभ्यां] °आदि° H_2 **47b** चूर्णिताभ्यां] प्रणीताभ्यां T, चूर्णं तेन *D* ◇ प्रघर्षयेत्] प्रकर्षयेत् R_2UT, च घर्षयेत् α_2, च चर्षयेत् M, प्रदर्शयेत् α_3 **47d** समुच्छिनेत्] समुच्छिदेत् SH_2D **48b** नित्योद्युक्तः] $UTSW_1VK_2PJ_3FK_5C$, नित्यो युक्तः $\mu J_2J_4K_4K_6$, इत्युद्युक्तस् G, नित्ययुक्तः R_2-MDH_1H_3, नित्योद्वक्त्व N, नित्यं संदर्श α_3, नित्याप्युक्तः γ_1, नित्यं युक्तः BH_1^{vl}, नित्यमुक्तं H_2, नित्ययुक्तं H_1^{vl} ◇ समाचरेत्] °अनात्प्रिये α_3 **48c** °मूल°] °मूलं $R_2UTK_2\gamma$, °मूले VH_3 **48d** शिरा°] शरा H_2, शिला° H_1^{vl}, नाडी° H_3 ◇ °बन्धः] °बंधं UH_2, °बजं T, °मूलं K_5, °बंधात् γ **49a** वागीश्वरी°] वागीश्वरि N, वागीश्वरीं MJ_2K_4D, वागेश्वरी° H_3, प्रिये च वाग् H_3^{vl} ◇ °धाम°] देवि α_1H_3, °धस्ता° α_3, °मध्य° J_3, नाम *D* **49b** °शिरो] सिक्त° G, शिवे J_1 ◇ वेष्टितम्] μ; वेष्टयेत् *cett.* **49c** उत्कर्षयेद्] उत्घर्षयेद् G, अद्वर्तयेद् R_2, उद्धार्षयेद् α_3 **49d** °वेला°] °देश° M **50b** नित्य°] $\mu R_2C\gamma_2$; नित्यं $GUTS\alpha\beta_1K_5K_6R_1H_2$, योनि° K_2F, नि P *(unm.)*, योनी° J_3, निस W_2, निःशे° B, पुनः H_3 ◇ °संकर्षणात्] $R_2\alpha_1\beta_1K_2PJ_3FK_5CH_2$-$H_3$; °संघर्षणात् μTSK_6, संघर्षयेत् G, संघर्षनान् *U*, °संदर्शनात् α_3, संकर्षयेत् J_1R_1, शकर्षत् J_5 *(unm.)*, शकर्षणात् W_2, °षं कर्षणात् B ◇ प्रिये] मुने *U* **50c** साभ्येति] G; चाभेति AJ_4, चाभ्येति $J_6J_7\alpha_2\alpha_3K_5$, चाप्येति $R_2UTJ_2VPJ_3FK_6C\gamma$, वर्धेत SH_2H_3, लभ्येत M, चापोप्येति K_4 *(unm.)*, चाप्नोति K_2 **51a** अधश्च] *UT*; अध स्वा AJ_7, अधः स्वा J_6, अथ स्व° $GF^{pc}J_1R_1$, अधस्ताच् $R_2S\alpha_1\alpha_3H_2H_3$, अध स्व° $J_2J_4K_4J_5W_2$, अधः स्व° $VPJ_3F^{ac}K_5K_6CB$, अधः शस्व K_2 *(unm.)* ◇ चिबुकं] $\mu R_2W_1\beta H_3$; चुबुके G, चुबुकं *U*NB, अब्रकर् T, चिबुक° SMH_2 *(unm.)*, चिवुके α_3, चुबकं γ_1 **51b** प्रयाति] प्रजाति K_1, पूजाति K_3, प्रवाति γ ◇ क्रम°] μ-$GR_2UTSNM\alpha_3H_2H_3$; भ्रम° βJ_1W_2, श्रम° W_1J_5B, रस° H_3 ◇ °कारिता] $\mu R_2S\alpha\beta H_2$; °कारिका $G\gamma_2W_2BH_3$, °चारिता *U*, °चारितः U^{vl}, °चारिताम् U^{vl} T, °कारका R_1, °नाक्रमात् H_3 **51c** संवत्सराणां तु] संवत्सराद्देवि H_2H_3 **51d** त्रितयाद्] μT; तृतीये GB, तृतीयाद् $R_2U\alpha\beta$, द्वितीयाद् S, तृतीया γ, द्वितीया H_2H_3 ◇ एव] देव G, देवि γ, चैव H_2H_3 **52a** केशान्तम्] केशांते α_2, केशामू° B, कोशादू° H_2, केशादू° H_3 ◇ ऊर्ध्वं] $\mu UTSVFK_5$; ऊर्ध्व GK_3C, ऊर्धं R_2, ऊर्ध्वम् M, मूर्धम् N, मूर्द्धम् W_1, ऊर्द्ध $K_1J_4K_4J_3K_6$, उर्द्ध J_2P, उर्द्धं K_2, ऊर्ध γ_1, °र्ध क्र° B, °र्द्धं च° H_2, °ध्वं क्र° H_3 ◇ क्रमति] $\mu R_2UTSJ_2J_4K_4J_3F^{ac}K_5K_6C$; क्रमणा G, आक्रम्य α_1, क्राम्पंति α_3, क्रममिति V *(unm.)*, क्रमते K_2, क्रमाति $P\gamma_2W_2$, क्रमत्*: F^{pc}, क्रमा ती° R_1, °मा तिर्यक् B, °क्रमिति H_2, °माति च H_3 **52b** तिर्यक्] र्यक् μJ_1R_1 *(unm.)*, तिर्यक GP *(unm.)*, तिर्यग् α_3J_4, °र्यक् मि J_5, °र्यच्चि W_2, शिखा B ◇ शङ्खावधि] $R_2S\alpha_1VPJ_3FK_5CJ_5W_2R_1B$; सखावधि μ, कर्णावधेः G, शाखावधिर् *U*, शंकापति T, वत्सरवा° α_3, आख्यवधि J_2J_4, यांखावधि K_4, संख्यावधि $K_2K_6H_2H_3^{vl}$, श्रोत्रावधि H_3 ◇ प्रिये] मुने *U*, °वधि K_1, °विधि K_3

---

47 *om.* K_6

अधस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु ॥५२॥
ब्रह्मरन्ध्रान्तमावृत्य तिष्ठत्यमरवन्दिते ।
तिर्यक्चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधि ॥५३॥
शनैरेव प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि ।
युगपद्यश्चरेत्तस्य शरीरं विलयं व्रजेत् ॥५४॥
तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं वरवर्णिनि ।
यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मबिलं व्रजेत् ॥५५॥
तदा ब्रह्मार्गलं देवि दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वां तत्र निवेशयेत् ॥५६॥
एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविश्यति ।
[मथनम्]
ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङ्मथनमारभेत् ॥५७॥
मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः ।

55c – 56d *cit.* नारायणदीपिका *(D) ad* क्षुरिकोपनिषद् 11 (ĀSS 29, p.151)

52c कण्ठ°] कंठं A, क∗ G, कर्ण° M, कंव° J_2, कूट° K_2 **53a** °रन्ध्रान्तमावृत्य] °रंध्रं समावृत्य *U*, °रज्जुं समाप्रत्य T, °रंध्रांतमावृत्या R_1 **53b** तिष्ठत्यमरवन्दिते] तिष्ठेदेव न संशयः *U*, तिष्ठ परमवन्दिते J_3, तिष्ठेत्परमवन्दिते H_2, तिष्ठेदमरवन्दिते H_3 **53c** तिर्यक्चूलितलं] तिर्यक्चूलीतले A, तिर्यक्चूलीतलै J_6J_7, तिर्यक्तूलीतलं R_2, तस्मादाषतलं T **53d** अधः कण्ठ°] $\mu U F^{pc}$; अधः कर्ण° R_2, अधः कणा° T, अथ कर्ण° $S\alpha\beta_1K_2PJ_3K_5K_6C\gamma$, अध कठ° F^{ac} ◇ °बिलावधि] °बिलावधिः *U*, बिलादधः S^{pc} **54a** शनैरेव] $S\beta\gamma$; शनैः शनैः μ, अनेनैव G, क्रमेणैव R_2H_3, शनैरेवं *U*, शनैरिमं α_1, शनैरियं α_3 ◇ °कर्तव्यम्] °कर्तव्यो GSH_3, °कुर्वीत α_1, °कर्तव्याम् γ_1 **54b** अभ्यासं] ह्यभ्यासो G, ∗यासो न R_2, भ्यासश्च S, अभ्यासो B, ऽभ्यासो वै H_3 ◇ युगपन्न हि] युगपत्प्रिये R_2, वरवर्णिनि H_3 **54c** युगपद्] युगपन् T ◇ यश्चरेत्] *em.*; यश्वरेद् A, यश्चरेद् J_6J_7, य[..]स् G, यतते $R_2SH_2H_3$, वर्तते *U*, मुच्यते T, यश्च तत् NW_1^{ac}, यस्य तत् W_1^{pc}, कुर्वतस् M, यस्वते α_3, यत J_2K_4 *(unm.)*, कृपत J_4, यततस् $VK_2PJ_3FK_5K_6C\gamma_1$, यततः B ◇ तस्य] अस्य μ, यस्य *U*T, पुंसः B **54d** विलयं] विमलं H_2 **55a** छनैः शनैः] छनैरियं α_2, छनैरिदं M, छनै रसं α_3 ◇ कार्यम्] कुर्याद् G, कार्यो $R_2H_2H_3$, कार्या α_2, कार्य B **55b** अभ्यासं] अभ्यासो GB, भ्यासो न R_2, अभ्यासाद् α_2, भ्यासेन H_2, ऽभ्यासो च H_3 ◇ वरवर्णिनि] वरवर्णि∗ R_2, मुनिपुंगव *U*, युगपन्न हि M, युगपत्प्रिये H_2H_3 **55c** बाह्य°] वायु° α_3 **55d** ब्रह्म°] मूल° G ◇ °बिलं] °किलं α_3 **56a** देवि] ब्रह्मन् *U* **56c** अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य] अंगुल्यग्रे समुत्घृष्य G, अंगुष्ठाग्रेण संघृष्य S^{ac} **56d** जिह्वां तत्र] DH_2H_3; जिह्वामंत्रं A, जिह्वामत्र $J_6J_7SK_3K_2PFK_5K_6$-CH_2^{vl}, जिह्वामं∗ G, जिह्वामात्रं *U*TB, जिह्वामंत्रे° N, जिह्वामंत्र W_1J_3, जिह्वां मत्रे° M, जिह्वामत्रं K_1, जिह्वामात्र $\beta_1\gamma_1$ ◇ निवेशयेत्] °ण वेशयेत् NM, प्रवेशयेत् W_1K_6D **57b** प्रविश्यति] प्रविशति A *(unm.)*, विशोद्धरुवं $R_2H_2H_3$, प्रपश्यति U^{vl}, प्रवेशते α_2, प्रवेशति M, [प्रविश्यति] J_2, प्रवेश्यति VK_6, प्रविश्यंति K_4, प्र[वेश्य]ति C **57c** °द्वारे] °द्वारं AJ_4K_2 ◇ प्रविष्टे] प्रशुद्धे $\alpha_2\alpha_3H_2$ **57d** सम्यङ] सदा G ◇ मथनम्] मंथनम् R_2S ◇ आरभेत्] आचरेत् $GUT\alpha J_4$-$J_3\gamma H_2$ **58a** मथनेन] मंथनेन R_2S ◇ विना] विशु° H_2 ◇ के चित्] देवि $\beta_1K_2PJ_3FC\gamma$, नैव K_5, देवी K_6, °द्धासु H_2 **58b** विपश्चितः] विचक्षणाः α_1, विचक्षणैः α_3H_2

53cd *om.* G **55** *om.* K_5 **55b** प्रकर्तव्यं तमभ्यासं कारयेद्वर*णि*नि *add.* G

खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिध्यते मथनं विना ॥५८॥
जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत् ।
स्वर्णजां रौप्यजां वापि लोहजां वा शलाकिकां ॥५९॥
नियोज्य नासिकारन्ध्रे दृढस्निग्धेन तन्तुना ।
प्राणान्निरुध्य हृदये दृढमासनमास्थितः ॥६०॥
शनैश्च मथनं कुर्याद् भ्रूमध्ये न्यस्य चक्षुषी ।
षण्मासान्मथनावस्था तावतैव प्रजायते ॥६१॥
सम्यक्संरुद्धजीवस्य योगिनस्तन्मयात्मनः ।
यथा सुषुप्तिर्बालानां तथा भावस्तदा भवेत् ॥६२॥
न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत् ।
सदा रसनया देवि मार्गं तु परिसंक्रमेत् ॥६३॥
एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिः परमेश्वरि ।
शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्माविभेदतः ॥६४॥

---

64 *cit.* नारायणदीपिका *(D) ad* क्षुरिकोपनिषद् 11 (ĀSS 29, p.151)

58c खेचरी°] खेचरो J_2K_4 ◇ °सिद्धस्य] सिध्यंते α_2, °सिद्धास्ते M, °सिद्धिः स्यात् α_3, °सिध्यर्थं B **58d** सिध्यते] संसिद्धेन् R_2, सिध्यंते $T\alpha_2J_4$, कुर्वते M, सिद्धा ते K_6 ◇ मथनं] मंथनं μR_2S **59a** मथनं] मंथनं μR_2S **59b** लभेत्] व्रजेत् G, भवेत् α **59c** स्वर्णजां रौप्यजां] μGR_2-$UTW_1\alpha_3$; स्वर्णजा रौप्यजा $SNM\beta\gamma$ **59d** लोहजां वा शलाकिकां] $\mu GR_2UTW_1\alpha_3$; लोहजा वा शलाकिका $SNM\beta\gamma$ **60a** नियोज्य] नियोज्या μNMC, नियोज्यं V ◇ °रन्ध्रे] °रन्ध्रं U **60b** दृढस्निग्धेन] दुग्धसिक्तेन U **60c** प्राणान्] प्राणं GU^{vl} **60d** दृढम्] सुखम् UT ◇ आसनमास्थितः] आसनमात्मनः U, आसनसंस्थितः α_2, आसनसंस्थिते α_3 **61a** च] $S\beta\gamma$; स AJ_6R_2, सं° $J_7\alpha H_2$, तु G, सु° U, सृ T ◇ मथनं] मंथनं AS ◇ कुर्याद्] कार्यं αH_2 **61b** न्यस्य] न्यस्त° $GUS\gamma$ ◇ चक्षुषी] $J_6J_7T\alpha_1\beta_1PK_5C\gamma$; चक्षूषी A, चक्षुषि GUK_6, चक्षुषीं R_2, लोचनः S, चक्षुषां α_3, वक्षषी K_2, चक्षुषा J_3F, चक्षुषम् H_2 **61c** षण्मासान्] षण्मासं U^{vl} **61d** तावतैव] $J_7GR_2S\alpha_2K_4PK_5K_6CR_1$; तावनैव A, तावन्नैव J_6, भावेनैव UT, तद्विनैव M, तावन्नैव α_3, तावैतैव $J_2J_4V\gamma_2W_2B$, भावनैव K_2, तावतैतैव P *(unm.)*, स्यतंवैव J_3, तावदैव F **62a** सम्यक्°] संज्ञा° G ◇ °संरुद्ध°] $\mu R_2TS\alpha$; °निरुद्ध° G, °संरुध° J_2K_4, संरुध्य $J_4K_2PFC\gamma_1$-, संरूध्य V, संद्रध्य J_3, °संरूध° K_5, संरुद्ध्य K_6, संरुह्य B **62b** तन्मयात्मनः] स्यान्मनोन्मनी S, स्यान्मनो यथा α_1, तन्मनो यथा α_3 **62c** यथा सुषुप्तिर्बालानां] $R_2UTS\beta\gamma$; यथा सुषुप्ति वलिनां μ, यथा सुषुप्तिर्बहुळा G, सुषुप्तिर्बालकानां च α **62d** तथा भावस्] $VK_2PFK_5K_6C\gamma$; यथा भावस् μR_2GUT, तथा वै सा S, यथा वै सा α_2, यथा सैव M, बालकानां α_3, तथा भवेस् J_2, तथा भावेत् J_4, तथा भवस् K_4, तदा भावस् J_3 ◇ तदा भवेत्] $GK_2PFK_6C\gamma$; तथा भवेत् $\mu R_2UT\alpha_3\beta_1J_3K_5$, प्रजायते $S\alpha_1$ **63a** न सदा] स तथा G, रसना R_2 ◇ शस्तं] शक्तिं G, सह्यं S, कार्यं α_1, सक्तः J_4 **63b** मासे मासे] मासि मासि A, मासि मासे J_6J_7, शस्तमासे R_2 **63c** सदा] यदा $GMJ_2J_4K_4$ ◇ देवि] योगी GUT, मार्गम् M **63d** मार्गं] मार्ग° R_2, मार्गम् α_2, उपर्य M, मार्गे α_3H_2 ◇ तु परि°] °तः परि° R_2, न परि° UT, चोपरि SW_1, उपरि NM **64a** °वर्षान्ते] μGR_2UTD; °वर्षेण $SVK_2PJ_3FK_5K_6CJ_1R_1$, °वर्षं च $\alpha_2\alpha_3H_2$, °वर्षे च M, °वर्षाणि $J_2J_4K_4B$, °वर्षण J_5W_2 **64b** °सिद्धिः] °सिद्धि $A\alpha_3\gamma_1$, °सिद्धे M, °सिद्धः J_3F, °सिद्धिं BH_2 ◇ परमेश्वरि] भवति ध्रुवा U, भवति ध्रुवम् U^{vl}, परमेश्वरी $T\alpha_3K_2J_3K_6H_2$ **64d** पश्यत्य्] पश्यंन् G ◇ आत्मावि°] $J_6J_7UTJ_3$; आत्मादि° R_2, आत्मवि° *cett.*

58cd *om.* K_2 **62ab** *om.* U **41a – 43b** *repeated after* 62d G

[अमृतपानम्]
ब्रह्माण्डे यन्महामार्गं राजदन्तोर्ध्वमण्डले ।
भ्रूमध्ये तद्विजानीयात् त्रिकूटं सिद्धसेवितम् ॥६५॥
चणकाङ्कुरसंकाशं तत्र संयोजयेन्मनः ।
लिहन्रसनया तत्र स्रवन्तं परमामृतम् ॥६६॥
शनैरभ्यासमार्गस्थश्चतुर्वर्षं पिबेत्प्रिये ।
वलीपलितनाशश्च संसिद्धिः परमा भवेत् ॥६७॥
सर्वशास्त्रार्थवेत्ता च जीवेद्वर्षसहस्रकम् ।
खन्याबिलमहीवादरसवादादिसिद्धयः ॥६८॥
योगिनः संप्रवर्तन्ते पञ्चवर्षेण पार्वति ।
सम्यग्रसनया योगी स्रवन्तममृतोदकम् ॥६९॥
संपीत्वोपवसेत्स्वस्थो व्रतस्थो द्वादशाब्दकम् ।
अनेनाभ्यासयोगेन वलीपलितवर्जितः ॥७०॥
वज्रकायो महायोगी वर्षलक्षं स जीवति ।
दशनागसहस्राणां बलेन सहितः प्रिये ॥७१॥

68c – 69b ≃ हठरत्नावली 2.153

65a ब्रह्माण्डे] ब्रह्माण्डो *UT* ◇ यन्] मन् A, यो R_2, ऽयं *UT* ◇ °मार्गं] °मार्गे A$K_2\gamma$, °मार्गो GR_2*U*, °मार्ग α_2 **65b** °मण्डले] °कुण्दली *UT*, °मंडलं $J_4\gamma$ **65c** °मध्ये] °मध्यं M ◇ तद्] F; तं *cett.* **65d** त्रिकूटं] भ्रूकुटं A, भ्रूकूटं J_6J_7 ◇ सिद्ध°] सिद्धि° $\mu K_3K_2\gamma_1$ **66b** °योजयेन्] °कोचयेन् G, °योज्य यन् α_3, °योजयन् γ **66c** तत्र] तंतु μ, तंत्र R_2 **66d** स्रवन्तं] स्रवंत° μGNM, संवर्त्तं K_1, संवर्त्त K_3, संश्रवत् R_2 **67a** °मार्गस्थश्] °मार्गस्य μJ_4, °मार्गेण K_2F **67b** पिबेत्] पिबन् $J_2VK_4PK_5C$ **67c** °नाशश्] °नाशं $S\beta\gamma$ **67d** संसिद्धिः परमा] μ; संसिद्धिश्च परा $GJ_2J_4J_3K_5K_6$, यं सिद्धिश्च परा R_2, सिद्धिश्च परमा $S\alpha_2\gamma$, परमा⌈मृततो⌉ M, संसिद्धिर्निश्चला α_3, संसिद्धश्च परो VPC, संसिद्धिश्च परो K_4, स सिद्धश्चापरो K_2, संसिद्धस्य परो F **68c** खन्याबिलमहीवाद] *em.* Sanderson; कन्याविलं महीपाद° A, कन्याविलमहीपाद J_6J_7, कन्याबलमहावाद° G, खनीविलमहानाद° R_2, खन्याद्विलं महावादे S, खन्याबिल NM, खन्याविलं W_1, खनित्याविमहावादे α_3, खन्याविलमहावादे $\beta_1K_5K_6C$, स्वर्णादिधातुवादानि K_2, खन्याविलं महावादे $PJ_3J_1W_2B$, खन्यानिलमहावादे F, स्वन्याविलं महावाटे J_5R_1, खनित्या*क्ति*महारन्ध्रे H_2 **68d** °रसवादादि°] °रसवादाश्च G, °रसनादादि S, °रसनादीनि α_3H_2 ◇ °सिद्धयः] $\mu GR_2\alpha_3$-H_2; °सिद्धये *cett.* **69d** स्रवन्तममृतोदकम्] μ; स्रवन्तं तं परामृतं G, संश्रवच्चामृतोदकं R_2 **70a** संपीत्वोपवसेत्] G; पीत्वा रस विशे R_2, पीत्वा पीत्वा विशेत् *cett.* ◇ स्वस्थो] स्वस्थं $\mu\alpha_3H_2$, षस्यं R_2 **70b** व्रतस्थो] $\mu GR_2SJ_2VK_4K_5K_6C$; व्रतस्यो α_3H_2, ⌈वस्थो⌉ J_4 *(unm.)*, यतस्थे K_2, यतस्थो $P\gamma$, यातस्यो J_3, यतस्था F^{ac}, यत्नस्** F^{pc} ◇ °आब्दकम्] °आत्मकम् $\alpha_3K_2H_2$, °आव्दके $J_2J_4K_4K_6$, °आष्टकं J_3, °आब्दकः γ **71b** स जीवति] प्रजीवति $\mu\alpha_3$, संजीवति B **71d** बलेन] बलवान् $J_2J_4K_2PJ_3C\gamma$, वलं वा K_6

65b *end of witnesses UT* **68c** °मही – **71a** °कायो *om.* α_1 (*eye-skip from* °मही *to* महा) **69** *om.* $S\alpha\beta\gamma$
70b पीत्वा पीत्वा विशेषेण द्वौ प्रस्थौ द्वादशाब्दकं *add.* G **70cd** *om.* K_2 **71ab** *found after* 72b *in* γ

स दूरदर्शनश्चैव दूरश्रवण एव च ।
निग्रहानुग्रहे शक्तः सर्वत्र बलवान् भवेत् ॥७२॥
एता हि सिद्धयो देवि भ्रूमध्ये संभवन्ति हि ।
आकाशे रसनां कृत्वा दन्तपङ्क्तिं निपीडयेत् ॥७३॥
काकचञ्चुपुटं वक्त्रं कृत्वा तदमृतं पिबेत् ।
पानाद्वत्सरतः सत्यं जरामरणवर्जितः ॥७४॥
खेचरत्वमवाप्नोति जीवत्याचन्द्रतारकम् ।
पादुकाखड्गवेतालसिद्धिद्रव्यमनःशिला: ॥७५॥
अञ्जनं विवरं चैव चेटकं यक्षिणी तथा ।
यत्किं चित्सिद्धिसमयं विद्यते भुवनत्रये ॥७६॥
तत्सर्वमेव सहसा साधयेत्साधकोत्तमः ।

इति श्रीमदादिनाथप्रोक्ते महाकालयोगशास्त्रे
उमामहेश्वरसंवादे खेचरीविद्यायां प्रथमः पटलः

72a स] सु° $J_6J_7R_2\alpha_1$, सं° G ◇ °दर्शनश्] $S\alpha_2\alpha_3K_2P$; °दर्शनं $\mu GR_2\beta_1FK_5K_6C\gamma$, °श्रवगाश् M, °श्रवगा J_3 ◇ चैव] लब्ध्वा J_3, वेद F **72b** दूर°] दूरा° $\alpha_3\gamma_2B$ ◇ °श्रवग] $S\alpha_2$; °श्रवगाम् $\mu GR_2\beta_1K_2PFK_5K_6C\gamma_1$, °दर्शनम् MJ_3, °छ्रवगाम् α_3B **72c** शक्तः] शक्तिः μR_2 **73a** एता हि] एताद्य μ, एताश्च α_3 **73b** भ्रू°] भू° J_6J_7 **73d** °पङ्क्तिं] °पंक्तिर् A, °पंक्तीर् J_6J_7, °पक्ति R_2K_3, °पंक्ति NPJ_3J_5, पंक्ता K_2, पं*क्ति*: F ◇ निपीडयेत्] न पीडयेत् AR_2K_3, निपीज्येत् J_6 *(unm.)* **74a** °पुटं] पदं α_3 ◇ वक्त्रं] कृत्वा α_1, चक्रं α_3 **74b** कृत्वा] चक्रं α_2, वक्त्रं M, दत्वा VK_5 **74c** पानाद्वत्सरतः] $G\alpha H_2$; भानुवत्सरतः μ, पानाद्वत्सतर R_2-, तेनाब्दशतसा° SF, तेनाव्दा[नी]शतं J_2, तेन चावृषतं J_4, तेना*षु*सं*श*तं V, तेनाव्दशतं K_4 *(unm.)*, तेनाष्टशतसा° K_2J_3, तेनाव्दशतः PW_2 *(unm.)*, तेनाव्दानां शतं K_5, तेन नादात्स्मृत K_6, तेनाव्दात्स्मृतः C *(unm.)*, तेनावृशतः γ_2 *(unm.)*, तेनावृतः R_1 *(unm.)*, तेनैवाब्दशतं B ◇ सत्यं] °हस्त्रं SJ_3F, °हस्त्र्यं K_2 **75a** खेचर°] खेचरी° R_1 **75b** जीवत्याचन्द्रतारकम्] जीवेच्चंद्रार्कतारकं G, जीवेदाचंद्रतारकं S, जीवेद्वर्षसहस्त्रकं α_1 **75c** पादुका°] पादुके S ◇ °खड्ग°] °खड्गर् A, °खड्गु° R_2J_3, °षड° α_3, खड्गः V *(unm.)*, °खर्ड्ग° K_4, °खेच[री]° R_1 *(unm.)* ◇ °वेताल°] J_7R_2-SMFK$_6\gamma$; °वेतोलः AJ_6, °वेतालं α_2K_3, °वेता*ल*° K_1, °वेताला° $J_2J_4K_4PK_5C$, °वैताला° VJ_3, °वेतालाः K_2 **75d** °सिद्धि°] °सिद्ध° $\mu R_2VK_5K_6$, °सिद्धिं α_3 ◇ °द्रव्यमनःशिलाः] AK_6; °द्रव्यमनःशिला $J_6J_7R_2\beta_1K_2PJ_3FK_5C$, °द्रव्यमभीप्सितं $S\alpha$, °द्रव्यमनेकशः γ **76b** चेटकं] खेटकं μ, चेटको R_2, चेटका N ◇ यक्षिणी] चाक्षिणी α_1, यक्षणी $K_1\beta_1K_5\gamma_1$ **76c** यत्किं चित्] ये के चित् α_3, पंक्तिवित् β_1K_6C ◇ सिद्धिसमयं] $\alpha_1K_2FW_2$; सिद्धमयं A *(unm.)*, सिधमयं J_6J_7 *(unm.)*, स तु यं ज्ञात्व G^{ac}, सफलं ज्ञात्व G^{pc}, सिद्धसमयं $S\alpha_3\beta_1J_3PK_5K_6C$, सिद्धिसमये γ_2R_1B **76d** विद्यते] विद्याने A, विद्या ते J_6J_7, भिद्यते G **77a** तत्] त्वत् A **77b** साधयेत्] सेवयस् γ_1, सेवयेत् B ◇ साधकोत्तमः] तारकोत्तमः γ

75cd *om.* G **76cd** *om.* R_2 **77ab** *om.* V

द्वितीयः पटलः

[ब्रह्मद्वारार्गलकलाः]
यत्र ब्रह्मार्गलद्वारं दुर्विज्ञेयं महेश्वरि ।
कलाचतुष्कं तत्रस्थं चतुर्वर्गात्मकं परम् ॥१॥
पूर्वभागे कृता नाम गुप्ता दक्षिणगोचरा ।
शिवा पश्चिमदिग्भागे परापरशिवोत्तरे ॥२॥
तद्द्वारं रसनाग्रेण भित्त्वा पूर्वकलामृतम् ।
यदा पिबति वै योगी मासाद्धर्माधिपो भवेत् ॥३॥
यदा गुप्तामृतं दक्षे योगी रसनया लिहेत् ।
मासादेव न संदेहः साक्षादर्थेश्वरो भवेत् ॥४॥
तत्पश्चिमकलाजातममृतं जिह्वया पिबेत् ।
यदा तदा महायोगी मासात्कामेश्वरो भवेत् ॥५॥
उत्तरस्थकलाजातममृतं प्रपिबेद्यदा ।
तदासौ परमेष्ठीनामाधिपत्यमवाप्नुयात् ॥६॥
तदूर्ध्वमण्डले लीनं ब्रह्मरन्ध्रे परामृतम् ।

Witnesses for the second paṭala:
$AJ_6J_7GR_2SNW_1MK_1K_3J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5K_6J_1J_5W_2R_1B$;
C (*up to* 14d); H_2 (78c-81b, 93c–94b, 95cd, 96cd, 105); *D* (72–73b).
μ=AJ_6J_7 ◇ α=$NW_1MK_1K_3$ α_1=NW_1M α_2=NW_1 α_3=K_1K_3 ◇
β=$J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5K_6C$ β_1=$J_2J_4VK_4$ ◇ γ=$J_1J_5W_2R_1B$ γ_1=$J_1J_5W_2R_1$ γ_2=J_1J_5

1a यत्र] μ; तच्च G, यत्तद् $R_2S\beta_1PJ_3FK_5CJ_5W_2B$, एतद् $\alpha_1J_1R_1$, यत्तज् α_3, यत्तु K_2, तत्र K_6 ◇ ब्रह्मार्गल°] $J_6J_7GR_2\beta_1K_2PF\gamma_1$; ब्रह्मार्गलं $ASJ_3K_5K_6CB$, गुह्यार्गल° α_1, जिह्वार्गल° α_3 ◇ °द्वारं] देवि S, देवी J_3 **1b** दुर्विज्ञेयं] दुर्जेयं वै F ◇ महेश्वरि] महेश्वरी $AJ_6J_4VK_2K_6CW_2B$, सुरेश्वरि G, कुलेश्वरी J_3 **1c** °चतुष्कं] °चतुर्क्क A, °चतुर्ष्क J_6J_7, °चतुष्ट R_2 ◇ तत्र°] तंत्र° $J_3\gamma$ **1d** °वर्गात्मकं परम्] °वक्त्रात्मकं परं AJ_7, °वर्गफलप्रदं G, वर्षात्परंयरं R_2 **2b** °गोचरा] °गोचरं G, °गोचरः R_2, °गोचरे α_3 **2c** शिवा] $\mu GR_2SMVK_5K_6$; शिवः α_2PJ_3FC, दिवा α_3, शिव $J_2J_4K_4\gamma$, शिवाय K_2 *(unm.)* **2d** परा°] परात् G ◇ °शिवोत्तरे] °शिवोत्तरा $R_2\beta\gamma$ **3c** यदा] यदि γ_1 **3d** मासाद्धर्माधिपो] G; मासार्द्धे माधिपो A, मासा धर्माधिपो J_6J_7, मासार्धमधिपो $R_2S\alpha\beta_1PK_6C\gamma_2W_2$, मासार्द्धमधि यो $K_2J_3R_1$, मासार्धेमधिपो F, मासार्द्धादधिपो K_5, मासार्द्धमपि यो B **4a** यदा] तदा W_1K_1, यदि J_3W_2B ◇ दक्षे] दत्ते γ **4b** लिहेत्] पिबेत् $GS\alpha_1$ **4c** मासादेव] मासार्धेन α **4d** अर्थेश्वरो भवेत्] स खेचरो भवेत् G, दीर्घश्चिरो भवेत् R_2, अर्थो भवेन्नरः α_2, अर्थे भवेन्नरः M **5a** तत्पश्चिम°] पश्चिमन्तु α_3, यत्पश्चिम° $J_5W_2R_1$, यत्पश्चिमं J_1 ◇ °कलाजातम्] °कलाजालं μ, °कलायातम् α_2, °कलायांतम् α_3 **5b** अमृतं जिह्वया पिबेत्] शुद्धं पिवति जिह्वया μ, सुधां पिबति जि[.]या G **6a** उत्तरस्थ°] उत्तस्था A *(unm.)*, उत्तरस्य α_3J_4, उत्तरस्था γ **6b** यदा] μ; यदि *cett.* **6c** परमेष्ठीनाम्] पारमेष्ठीनाम् μG **7a** °ऊर्ध्व°] $J_6J_7R_2S\alpha_2J_2VK_4K_5K_6\gamma$; °ऊर्ध्वं $AGMJ_4K_2PJ_3FC$, °ओर्ध्वं α_3 ◇ लीनं] लीने AJ_7

4 *added in margin by later hand* K_6 5 *om.* K_5B *and found after 7 in* J_1R_1 **5b – 6a** *om.* α_1K_2 **6ab** *om.* K_6

यदा पिबति योगीन्द्रो जीवन्मुक्तः शिवो भवेत् ॥७॥
माससमासावधि यदा द्वादशाब्दं समाचरेत् ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तः सर्वज्ञो मुनिपूजितः ॥८॥
जायते शिववद्योगी लोके ऽस्मिन्नजरामरः ।
चतुष्कलामृतं वारि पीत्वा पीत्वा महेश्वरि ॥९॥
ब्रह्मस्थाने तथा जिह्वां संनियोज्यामृतं पिबेत् ।
सुस्वादु शीतलं हृद्यं क्षीरवर्णमफेनिलम् ॥१०॥
मासमात्रप्रयोगेन जायते देववत्स्वयम् ।
द्विमासे सर्वशास्त्रार्थं सम्यग्जानाति पार्वति ॥११॥
स्वतन्त्रः शिववन्मासत्रयाद्भवति वै शिवे ।
चतुर्मासान्महेशानि सर्वज्ञत्वं प्रवर्तते ॥१२॥
पञ्चमासे महासिद्धस्त्रैलोक्यमपि पश्यति ।
षण्मासे परमानन्दगुणसद्भावपूरितः ॥१३॥
जायते नात्र संदेहो जीवन्मुक्तः परापरे ।
सप्तमासे महाभूतपिशाचोरगराक्षसैः ॥१४॥
सह संवर्तते नित्यं स्वेच्छया हृष्टमानसः ।
अष्टमे मासपर्याये देवैः संमेलनं भवेत् ॥१५॥

7c यदा पिबति योगीन्द्रो] M; यदा तदासौ पिबति μGR$_2$SW$_1\beta$B, यदासौ संपिबति N, यदासौ पिवते योगे α_3, यदा तदासो पिबति γ_1 **8a** माससमासावधि] मासे मासे विधि A, माससमासविधि J$_6$J$_7$, मासान्मासावधिर् G, माससमासावधौ R$_2$, माससमासावपि α_2, मासं मासं पिबेद् M ◇ यदा] याव G, देवी R$_2$, एवं M, यद्वा γ **8d** सर्वज्ञो मुनिपूजितः] सर्वज्ञगुणपूरितः μ, सर्वज्ञस् सर्वपूजितः G, सर्वज्ञगुणपूजितः R$_2$, सर्वलक्षणसंयुतः α_1, सर्वसंपूर्णलक्षणः α_3, सर्वतो मुनिपूजितः J$_4\gamma$ **9c** वारि] द्वापि μ **9d** महेश्वरि] महेश्वरी AK$_3$J$_4$J$_3$K$_6\gamma_1$, °मरेश्वरी B **10a** तथा] तदा GF, निजां M, स्थिता α_3 ◇ जिह्वां] जिह्वा α_3J$_4$K$_4$PJ$_3$K$_5$K$_6\gamma_2$W$_2$ **10d** अफेनिलम्] मनोहरं G **11b** जायते] ज्ञायते β_1PJ$_3$C ◇ देववत्] शिववत् μ, देवता S **12a** स्वतन्त्रः] $\mu S^{vl}\alpha_1$; स्वतंत्र° G, स्वयं च S, स्वतंत्रं α_3, स्वतत्वं J$_2$VK$_4$K$_5$C, स्वततं J$_4$, स्वतुल्मं K$_2$, स्वतलं Pγ, स्वतुल्यं J$_3$, स्वस्तलं F, स्वत*त्व* K$_6$ ◇ शिववन्] °वद्वसन् G **12b** °त्रयाद्] °त्रये μG, यावद् R$_2$ ◇ भवति वै शिवे] भवति पार्वति G, ऊर्ध्वं भवेच्छिवे M, भव* वै शिवो K$_6$ **12c** चतुर्मासान्] GαVK$_2$F; चतुर्मासे μSJ$_2$J$_4$K$_4$J$_3$K$_5$K$_6$C, चतुमासान् R$_2$, चतुर्मास P, धातुमांस γ_2, धातुभास W$_2$, धातुभासा B **13a** °मासे] °मासान् F ◇ °सिद्धस्] R$_2$Sα_2VK$_4$J$_3$K$_5$K$_6$; °सिद्धिस् μGMα_3-J$_2$J$_4$K$_2\gamma$, °सिद्धश् PC, °सिद्धिं F **13c** परमानन्द°] परमानंदं μR$_2$, शिवसत्भाव° G, परमानंदो Sα, परमानंदः K$_2$ **13d** °गुणसद्भाव°] °परमानंद° G, °गुणः सद्भाव° α_1 ◇ °पूरितः] *em.* Sanderson; °पूजितः *codd.* **14b** परापरे] परावरेः A, परावरे J$_6$J$_7$R$_2$Sα_2, परात्परे GK$_2$ **14c** सप्तमासे] μ; सप्तमे च GK$_5$, सप्तमेन *cett.* ◇ महाभूत°] μG; महाकायः R$_2$SM$\alpha_3\beta$, महाकाया α_2, महाकायो γ **15a** सह संवर्तते] सदा संवेष्टितो G **15b** हृष्ट°] μGR$_2$SK$_1$VF; तुष्ट° α_1, दृष्ट° K$_3$PJ$_3$, दृष° J$_2$K$_4$, दृष्य° J$_4$, दृढ° $K_5^{pc}\gamma$, दृश° K_5^{ac}, दृष्टृ° K$_6$ **15c** मास°] मासि α_2J$_2$VK$_4$PK$_6$B, °मासे J$_4$ ◇ °पर्याये] °पर्याप्ते R$_2$K$_5$, °पर्यायैर् K$_2$J$_5$W$_2$, °प्रजाये J$_4$, °पर्यायै PJ$_3$K$_6$B **15d** देवैः संमेलनं] वैष्णवं मेलनं N, सहसा मेलनं W$_1$, देवसंमीलनं α_3

13cd *om.* J$_3$ **14d** शाचोरग° – **17a** त्रिकालज्ञः *om.* R$_1$ (f.17v *missing*) ◇ °राक्ष *end of* C

नवमे मास्यदृश्यत्वं सूक्ष्मत्वं चैव जायते ।
दशमे कामरूपत्वं सर्वलोकप्रकाशकम् ॥१६॥
एकादशे त्रिकालज्ञः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ।
जायते शिववद्देवि सत्यमेतन्मयोदितम् ॥१७॥

[केदारकला:]

यत्र चूलितलं प्रोक्तं केदारं प्राहुरीश्वरि ।
तत्र सोमकलाश्चाष्टौ विख्याता वीरवन्दिते ॥१८॥
अमृता प्रथमा देवि द्वितीया मानदाह्वया ।
पूषा तुष्टिश्च पुष्टिश्च रतिश्चैव धृतिस्तथा ॥१९॥
शशिनी चाष्टमी सर्वाः परामृतमहार्णवाः ।
तद्वामाभिमुखीं जिह्वां यदा योगी करोति च ॥२०॥
अष्टधा स्रवते तत्र तदा तुहिनसंततिः ।
तदाप्लावनसंयोगात्कलेवरगदक्षयः ॥२१॥
अष्टभिर्मासपर्यायैः खेचरत्वं प्रजायते ।

[सोममण्डलकला:]

16a नवमे मास्य्] μR_2MB; नवमासेषु G, नवमे स्याद् K_5, नवमासे ह्य् *cett.* **16c** दशमे] दशाभिः N, दशभिः W_1 **16d** °लोक°] °लोम° A, °ज्ञत्व° M ◇ °प्रकाशकं] °प्रकाशना AK_6, प्रकाशता J_7, °प्रकाशितं GR_2, प्रकाशनं K_6 **17b** °लोकेश्वरः] °लोकेश्वर° AJ_7K_3 **17c** देवि] देवी R_2K_6, योगी $MFK_5^{ac}\gamma$, विद्धि α_3 **17d** सत्यम्] तत्वम् α_3 **18a** चूलितलं] $S\alpha K_4PK_5K_6W_2B$; तूलीतलां AJ_7, तूलीतलं J_6, चोळुतं G *(unm.)*, चु*ीतलम् R_2, वूलितलं J_2V, चूलतलं J_4, *हिलिनलं K_2, चूलितरं J_3, चूलीतलं F, चुलित्तरं J_1, चुलित्तलं J_5, चुलितरं R_1 **18b** ईश्वरि] ईश्वरी $\alpha_3K_2J_3K_6J_1W_2R_1$ **18c** सोम°] सौम° μ ◇ °कलाश्] $\mu GNMJ_2VK_4$; °कला *cett.* ◇ चाष्टौ] चाष्ट GF^{pc}, अष्टौ R_2, *शा*ष्ट F^{ac} **18d** विख्याता] विख्यातास् G, विख्यातौ R_2 ◇ वीरवन्दिते] $\mu\alpha_3$; सुरवंदिते G, वीरवन्दितौ R_2, [ऽ]मरवंदिते S, अमरार्चिते α_2, भ्रमरार्चिते M, °मरवन्दिते $\beta\gamma$ **19a** देवि] देवी $R_2J_3K_6F^{pc}$ **19b** मानदाह्वया] मानदातुया M, मानवाह्वया α_3 **19c** पूषा तुष्टिश्च पुष्टिश्च] $GSVK_4K_2PJ_3K_5K_6B$; पूषा तुष्टिश्च μ *(unm.)*, पूषा पुष्टिश्च तुष्टिश्च R_2, सुपुष्टिश्चाथ तुष्टिश्च α_2, [पू]षा पुष्टिश्चाथ तुष्टी M, पुष्टिश्चाथ तुष्टिश्च α_3 *(unm.)*, पुषा तुष्टिश्च पुष्टिश्च $J_2\gamma_1$, पूषा तुष्टश्च पुष्टिश्च J_4, पूषा तुष्टिश्च युष्टिश्च J_3F^{ac}, पूषा तुष्टिश्च मष्टिश्च F^{pc} **19d** रतिश्] शांतिश् SJ_3, शक्तिश् K_2, स्मतिश् F **20a** शशिनी] $GS\alpha_1\beta_1FK_5B$; शंखिनी μR_2K_6, सात्मीनि α_3, अशिनी K_2, शशिना PJ_3, रासिनी J_1W_2, रासिनि J_5, शसिनी R_1 ◇ चाष्टमी] शंखिनी R_2 ◇ सर्वाः] $\mu GR_2SM\alpha_3F$; सर्व N, सर्वा $W_1\beta\gamma$ **20b** परामृत°] $GR_2S\alpha\beta B$; परमामृ° μ, परामृता° γ_1 ◇ °महार्णवाः] GR_2SF; °तहार्णवाः A, °तमहार्णवाः J_6J_7 *(unm.)*, °रसार्णवा N, °रसार्णव W_1, °रसार्णवाः $M\alpha_3$, °महार्णवा $J_2PJ_3K_5K_6$, °महारगवा J_4 *(unm.)*, °महार्णवी $V\gamma$, °मर्हर्णवा K_4 *(unm.)*, °महार्णदा K_2 **20c** °मुखीं] J_6J_7GSVPB; °मुखी $AR_2K_2K_6\gamma_1$, °मुखं $\alpha_2\alpha_3J_2J_4K_4$, °मुखां MFK_5, °मुखिं J_3 ◇ जिह्वां] जिह्वा $\alpha_3J_4K_4K_6\gamma_1$ **21a** स्रवते] च्यवते β, द्रवते γ **21c** °प्लावन°] °प्लुवन° $\mu\alpha_2\alpha_3$, °प्[...] G, °श्र[व]रा° M ◇ °संयोगात्] °संयोगः α_1, °संयोगे α_3 **21d** °गद°] °वद° G, °मत° K_2 **22b** प्रजायते] प्रपेदिरे $\beta\gamma$

16b – 17a *om.* K_2

भ्रूमध्यं नाम यद्धाम तत्प्रोक्तं सोममण्डलम् ॥२२॥
कलाचतुष्कं तत्रोक्तं परामृतनिकेतनम् ।
चन्द्रिकाख्या च कान्तिश्च ज्योत्स्ना श्रीश्चेति नामतः ॥२३॥
तत्र जिह्वां समावेश्य पीत्वा पीत्वा समापिबेत् ।
योगी मासचतुष्केण जायते निरुपद्रवः ॥२४॥
वज्रकायो भवेत्सत्यं तदाप्लावनपानतः ।
[खेचरमण्डलकलाः]
तदूर्ध्वं वज्रकन्दाख्यं शिला खेचरमण्डलम् ॥२५॥
ललाटान्ते विजानीयात्तत्र देवि कलात्रयम् ।
प्रीतिस्तथाङ्गदा पूर्णा तत्र जिह्वां प्रवेशयेत् ॥२६॥
क्षीरधारामृतं शीतं स्रवन्तं जिह्वया पिबेत् ।
मासत्रयेण देवेशि सर्वव्याधिविवर्जितः ॥२७॥
अच्छेद्यः सर्वशस्त्रैश्च अभेद्यः सर्वसाधनैः ।
अचिन्त्यः सर्वविज्ञानैर्विरूपविषयान्वितैः ॥२८॥

22c भ्रूमध्यं] μG; भ्रूमध्ये $R_2S\alpha_1\beta\gamma$, भ्रूमध्यो° α_3 ◇ नाम यद्धाम] G; नाम युद्धाम A, नाम युद्धाम J_6J_7, वाम यत्प्रोक्त R_2, धाम यत्प्रोक्तं $S\alpha_1\beta\gamma$, °र्ध्वं मया प्रोक्तं α_3 **22d** प्रोक्तं] प्रभो α_3 ◇ °मण्डलम्] °मंडले S **23a** तत्रोक्तं] तंत्रोक्तं AB **23b** परामृत°] परमामृत° $\mu\gamma$ *(unm.)* **23c** चन्द्रिका°] चंडिका° μK_4, चंदिका α_3, चंद्रका° $J_4\gamma$ ◇ °ख्या च कान्तिश्च] °ख्याथ कांतिश्च G, °ख्याश्च कांतिश्च R_2K_2, नवकांतिश्च α, °ख्यं चंद्रकांति B **23d** श्रीश्चेति] श्री प्रीति F, सुश्रेति γ **24a** जिह्वां] जिह्वा $N\alpha_3J_4K_2\gamma_1$ ◇ समावेश्य] समावेश्या $S\alpha$ **24b** पीत्वा पीत्वा] °मृतं पीत्वा $S\alpha_1$ ◇ समापिबेत्] *conj.* Sanderson; समालिहेत् G, समं विशेत् W_1, समाविश्येत् J_4, संविशेत् R_1 *(unm.)*, समाविशेत् *cett.* **24c** योगी] *conj.*; देव μ, देवी J_3K_6, देवि *cett.* ◇ मास°] भास° μ **25b** तद्°] μGMJ_4; सद्° *cett.* ◇ °आप्लावन°] °आपवन° J_6F, °आप्तवन° J_7, °आपावन° $NM\alpha_3J_1R_1$ ◇ °पानतः] $AGSJ_2VK_4PFK_5K_6J_5W_2B$; °पाततः J_6, °यावन R_2, °पावनः α, °मानतः J_4, °पातनः K_2, °याततः J_3, °प्लावनतः J_1 *(unm.)*, °प्लानतः R_1 **25c** °ऊर्ध्वं] $J_6J_7SM\alpha_3$-$K_2J_3FK_6J_1B$; °ऊर्ध्व° $A\alpha_2PJ_5W_2$, °ऊर्ध्व G *(unm.)*, °ऊर्ध्वै R_2, °ऊर्ध्वे $J_2VK_4K_5$, °ऊर्द्धं J_4, °उर्द्धं R_1 ◇ वज्र°] वज्रे G ◇ °कन्दाख्यं] $\mu R_2S\alpha_1\beta_1K_2J_3K_5$; नंदाख्यं G, °कंदाख्य° α_3PF, °कदाख्यं K_6, °कन्दाख्या γ **25d** शिला] शिरा K_5 ◇ खेचर°] रसे च α_3, खेचरी R_1 ◇ °मण्डलं] °मध्यगं μG, °मंडलः F **26a** ललाटान्ते] $R_2SW_1\beta$; ललाटं तं μGNM, ललाटान्तं α_3, ललाटांतो γ **26b** कलात्रयम्] कलान्वितं G, कलात्रये $J_2J_4K_4$ **26c** तथाङ्गदा] GF; तथांगजा μ, तथांग[दा] M, तथा गजा *cett.* ◇ पूर्णा] पुण्या α_3 **27a** क्षीर°] एतत्सुधामयं क्षीर° G *(unm.)* ◇ शीतं] शितं J_6J_7 *(unm.)*, शांतं J_3 **27b** स्रवन्तं] संश्रवज् R_2 **27c** °त्रयेण] $\mu\alpha FJ_1R_1$; °मात्रेण $GR_2S\beta J_5W_2B$ **28a** अच्छेद्यः] अभेद्यः α_3, अवेद्यः J_3 ◇ °शस्त्रैश्च] J_6J_7G, °शस्त्रेश्च A, °शस्त्रैस्त R_2, °शास्त्रौघैर् J_3K_6, °शस्त्रौघ R_1, °शस्त्रौघैर् *cett.* **28b** अभेद्यः] $\mu G\alpha K_4$; ख्य R_2 *(unm.)*, अलक्ष्यः SJ_2PFK_5, अलक्षः J_4K_2, अलभ्यः V, अलक्ष J_3, अलख्यः K_6, उल्लिख्य J_1, उल्लक्ष्यः J_5W_2B, नल्लिख्य R_1 ◇ °साधनैः] G; °लोकशै A, °लेखकैः $J_6S\alpha_3VK_4PJ_3FK_5\gamma$, °लेशकैः J_7, °लेखनै R_2, °भेदकैः α_1, °लौकिकैः J_2, °लोककैः J_4K_6, °लक्ष्यकैः K_2 **28d** विरूप°] $\mu GR_2M\alpha_3$; निरूपो S, विरूपं N, निरूपं W_1, निरूप° $\beta_1PJ_3FK_6\gamma$, अरूप° K_2, निरूप्यो K_5 ◇ °विषयान्वितैः] °विषमान्वितैः μ, विषयान्वितः K_6

22d – 23a *om.* J_4 **24 – 30** *found in margin of* f.29v J_6 (*eye-skip* तत्र–तत्र) **25c** शिवश् शिखरी मण्डलं तदूर्ध्वं वज्रकेशाख्यं *add.* G

भैरवाभो भवेत्सत्यं वज्रकन्दप्रभावतः ।
[राजदन्तकलाः]
नासिकाधो ꣸धरोष्ठोर्ध्वं राजदन्तं महापदम् ॥२९॥
तत्र पूर्णामृता देवि शीतला च कलाद्वयम् ।
संप्राप्य कुम्भकावस्थां रसनाग्रेण संस्पृशेत् ॥३०॥
तत्र संजायते देवि सुस्वादु शीतलं जलम् ।
स्वमनस्तत्र संयोज्य पिबेन्मासत्रयं व्रती ॥३१॥
अजरामरतामेति सर्वव्याधिविवर्जितः ।
[आधारकलाः कुण्डलिनीशक्तिश्च]
गुदबीजान्तरस्थानमाधारं परिकीर्तितम् ॥३२॥
तत्र पञ्च कलाः प्रोक्ताः प्रगलत्परमामृताः ।
सुधा सुधामयी प्रज्ञा कालघ्नी ज्ञानदायिनी ॥३३॥
कलाः पञ्च सुधाधाराः कीर्तिताः सर्वसिद्धिदाः ।
तत्रस्था परमा शक्तिराद्या कुण्डलिनी शिवे ॥३४॥
तत्राकुञ्चनयोगेन कुम्भकेन सुरार्चिते ।

29a ◦आभो] ◦आंगो M, ◦आंभो α_3 **29b** ◦कन्दप्र◦] ◦कन्दर्प◦ γ **29c** नासिकाधो] $GR_2SJ_2J_4$-$VK_2FK_5K_6$; नासिकोर्धो AJ_7, नासिकोर्द्धो J_6, नासिकाधों◦ α_1, नासिकाधा◦ α_3, नासिका∗◦ K_4, नासिकाद्यो◦ $P\gamma$, शशिंकाद्यो◦ J_3 ◇ ꣸धरोष्ठोर्ध्वं] *em.*; ◦धरोष्ट्राई A *(unm.)*, ◦धरौष्ठार्द्ध◦ J_6, धरौष्ट्रार्द्र J_7, धरोष्ठोर्ध्वे G, धरोष्ठौध R_2, ◦त्तरोष्ठोर्ध्वे S, ◦तरोष्ठोधो N, ◦तष्टोरोधो W_1^{pc}, ◦तष्टोराधो W_1^{ac}, ◦तरोष्ठाधो M, ◦तरोष्टोर्ध्वो α_3, ◦त्तरोष्ठोर्ध्वं β, ◦तरोष्टाधः γ **29d** ◦दन्तं] ◦दंत◦ $R_2MJ_4\gamma$ ◇ ◦पदम्] $R_2\beta\gamma$; ◦पथां AJ_7, ◦पथं $J_6G\alpha_1K_5^{ac}$, ◦पदः α_3 **30a** पूर्णामृता] GR_2SVK_6; पूर्णामृतं $AJ_7\alpha_1$, पूर्णामृते J_6, पूर्णामहं α_3, पुर्णामृतो $J_2J_4K_4K_2PF$, पाणिमृता J_3, पूर्णानना K_5, पूर्णा ततो γ ◇ देवि] देवी $R_2J_3K_6$ **30b** शीतला] $GS\beta\gamma$; शीतता AJ_7, शीलता J_6, शीत∗ल∗ा R_2, शीतलं α ◇ कलाद्वयम्] कलाह्वयां μ, कलाह्वया G **30c** संप्राप्य] पूर्णापि α ◇ कुम्भका◦] कुलका◦ J_3 ◇ ◦वस्थां] ◦वस्था $R_2M\alpha_3K_2PFK_6\gamma$ **30d** रसनाग्रेण संस्पृशेत्] रसनाग्रं प्रवेशयेत् B **31a** देवि] *om.* μ, सत्वं α_1, सत्यं $GR_2\alpha_3$ **31b** सुस्वादु शीतलं जलम्] μ; जलं सुस्वादु शीतलं G, सुखदं शीतलं जलं $R_2S\alpha\beta\gamma$ **31c** स्वमनस्] सुमनस् α_3, स्वं मनस् B **31d** पिबेन्] पिबन् $SJ_4PF\gamma_1$ ◇ मासत्रयं व्रती] μ; मासद्वयं प्रये G, मासत्रयं ज इति R_2 *(unm.)*, मासद्वयं व्रती $S\beta\gamma$, मासचतुष्टयं α **32c** ◦बीजान्तर◦] ◦बीजांतरं S, ◦बीजांकुर◦ α **33a** पञ्च] सोम◦ G ◇ कलाः] कला $J_6J_7G\alpha_2\alpha_3K_2J_3K_5^{ac}K_6\gamma_1$ ◇ प्रोक्ताः] [पूर्णाः] G, प्रोक्ता NM-$\alpha_3K_2J_3$, सक्ताः J_4, प्रोक्तः PJ_5, प्रोक्त J_1R_1 **33b** प्रगलत्] प्रस्रवत् G, विगलत् M ◇ ◦मृताः] $\mu GS\alpha_1\beta_1PFK_5K_6$; ◦मृ∗ता∗ R_2, ◦मृतः K_1, ◦मृतः˙ K_3, ◦मृतां $K_2J_5W_2$, ◦मृता J_3, ◦मृतं J_1R_1B **33c** सुधा◦] रस◦ R_2 ◇ प्रज्ञा] प्राज्ञा $G\beta_1J_3K_5K_6J_5W_2B$, धारा J_1R_1 **33d** कालघ्नी] कलघ्नी α_2J_4VB ◇ ज्ञानदायिनी] ज्ञानदायका μ, कामदायिनी GF **34a** कलाः पञ्च] $S\alpha_1$; कला पंच $\mu\alpha_3J_3$, कला∗:∗ पंच G, ककता पंच R_2 *(unm.)*, कल्पं पंच J_2J_4, कल्प पंच VK_4PFK_6, कलाः च J_3 *(unm.)*, कस्य पंच K_5, कल्पय च γ_1, कल्पयेच्च B ◇ सुधाधाराः] सुधाराश्च α_1, सधारा च α_3 **34b** कीर्तिताः] कीर्तिता $AJ_7\alpha_3\gamma_1$ ◇ ◦सिद्धिदाः] ◦सिद्धिदा $\alpha_3J_3K_5^{ac}\gamma_1$ **34c** तत्र◦] मंत्र◦ J_4 ◇ शक्तिर्] शक्ति μM, शक्तिः α_2, शक्तिःर् J_3B **34d** आद्या] माया μG, आह्री R_2, ख्याता α_1, अच्चा α_3, आधा VK_2 ◇ शिवे] परा S, शिवा α_2, सिता α_3, प्रिये B **35a** तत्रा◦] तत्र MK_2PJ_3, तत्रां γ_1

33c – 34b *om.* K_2

मूलशक्त्या समासाद्य तत्रस्थं शीतलामृतम् ॥३५॥
सुषुम्णया समानीय स्वाधिष्ठानादिपङ्कजात् ।
तत्सुधावृष्टिसंसिक्तं स्मरेद् ब्रह्माण्डकावधि ॥३६॥
तत्रस्थममृतं गृह्य शक्तिः श्रीकुण्डली परा ।
सुषुम्णामार्गमासाद्य ब्रह्मधामान्तमीयुषी ॥३७॥
मूलपञ्चकलाजातसुधातृप्तिपरिप्लुता ।
आपादमस्तपर्यन्तं व्यापयन्तीं तनुं स्मरेत् ॥३८॥
पञ्चमासप्रयोगेन पञ्चभूतलयो भवेत् ।
शिवसाम्यं भवेत्सत्यं त्रिकालाभ्यासयोगतः ॥३९॥
[स्वाधिष्ठानकलाः]
लिङ्गस्थानं हि यद्देवि स्वाधिष्ठानं तदुच्यते ।
तत्र दिव्यामृतमयं कलात्रयमुदीरितम् ॥४०॥
सुसूक्ष्मा परमाह्लादा विद्या चेति प्रकीर्तिताः ।
पूर्ववत्कुम्भकावस्थां प्राप्य शक्तिं प्रबोध्य च ॥४१॥

35c °शक्त्या] °शक्तिं G **35d** तत्रस्थं] तत्रगं μG **36a** सुषुम्णया] $AJ_6^{pc}J_7VK_5$; सुषुम्नया $J_6^{ac}GJ_2K_4J_3PFB$, सुषुम्णयां R_2, सुषुम्नायां $SW_1\alpha_3$, सुषुम्नयां N, सुषुम्णायां M, सुषुम्नाया J_4-J_1, सुषुम्णाया K_6R_1, सुषुमृणाया J_5W_2 ◇ समानीय] $GS\beta\gamma$; समुन्नय्य A, समुन्नध्य J_6J_7, समीनीय R_2, समासीना α_2, समासीनः M, समासीन α_3 **36b** °ष्ठानादि°] °ष्ठानाद्य° α_2 ◇ °पङ्कजात्] °पंकजान् VJ_3, °पंचकात् K_2B **36c** तत्सुधावृष्टि°] G; वसुधावृष्टि° μ, तं सुधारस° K_5, तत्सुधारस° *cett.* ◇ °संसिक्तं] °ससिक्ता R_2, °संसिक्तां $S\alpha_2$ **36d** स्मरेद्] स्मरद् $R_2\gamma_1$, स्रवद् B ◇ °कावधि] °वत्*सु*धीः G, °कार्यधीः α_3 **37a** तत्रस्थममृतं] μGR_2; तत्र स्थाने मृतं $S\alpha$, तत्र संस्थामृतं $\beta\gamma$ ◇ गृह्य] μ; गुह्यं $GR_2S\alpha_2\alpha_3\beta$, [मयी] M, गुह्य γ **37b** श्रीकुण्डली] $\mu K_3\beta_1K_5K_6$; कुंडलिनी $GR_2S\alpha_1$, कुंडली K_1J_3 *(unm.)*, कुडलनीं K_2, थी कुंडली P, सा कुंडली F, यत्कुंडलिका J_1R_1 *(unm.)*, यत्कुंडलि J_5W_2, य कुंडलिनी B *(unm.)* ◇ परा] पराः A, परां K_2P, पुरा B **37c** सुषुम्णा°] सुषुम्ना° $J_6^{ac}\alpha_3J_2J_4K_4PJ_3FB$ **37d** °धामान्तम्] $J_6GR_2S\alpha_2K_5B$; °धामं तम् $AJ_7\alpha_3$, °धामातम् $J_2J_4K_4$, °धामांत $VJ_3F\gamma_1$, °धायांन K_2, °धामात P, °धामांत्तर् K_6 ◇ ईयुषी] $\mu SW_1J_2J_4K_4K_5K_6B$; श्रायुषी $GN\alpha_3$, उन्मुखीं R_2, पीयुषी $VP\gamma_1$, पीयुषा K_2, यायुषा J_3, पीयुषि F **38a** °पञ्च°] °पर्व° α_3 ◇ °कला°] °कसा° A ◇ °जात°] $GR_2SJ_2VK_4K_2$-PFK_5; °जाता $\mu\alpha_2K_6\gamma$, °जाताः M, °याता α_3, °जातं J_4J_3 **38b** °तृप्ति°] °वप्ति° J_2, °तप्ति° γ_2R_1 ◇ °प्लुता] *प्लु*तां R_2, °प्लुताः MK_5 **38c** °मस्त°] μ; °तल° *cett.* **38d** व्यापयन्तीं] $\mu R_2SMK_1J_2K_4PK_5$; [वि]ख्यायंती N, व्यापयंती $W_1K_3J_4VK_2FB$, व्यापयंतिं J_3, व्यापती[त] K_6, व्यापयंति γ_1 ◇ तनुं] $J_6J_7R_2SMK_1$; तनु $A\alpha_2K_3$, तु तां $\beta_1PJ_3FK_5K_6\gamma$, तु सं° K_2 **39b** °लयो भवेत्] °जयं लभेत् μ **39c** °साम्यं] GR_2; °तुल्यो K_2B, °सम γ_1, °साम्यो *cett.* **39d** त्रिकाला°] त्रिविधा° G **40a** लिङ्गस्थानं हि यद्] G; नाभिस्थानं हि यद् μ, नाभिस्थानादधो *cett.* **40c** °मयं] °मयी γ **41a** सुसूक्ष्मा] सुषुम्णा $S\alpha\gamma$ ◇ परमाह्लादा] GSJ_4K_6; परमा हृद्या α_1, परमाह्लाद *cett.* **41b** विद्या चेति] कला विद्या G, दिव्या चेति R_2, नाम्ना देवि M ◇ प्रकीर्तिताः] $J_6GR_2MK_5$; प्रकीर्तिता *cett.* **41d** प्राप्य] प्राण° α_1 ◇ प्रबोध्य] प्रयोध्य AJ_7

35d – 36a *om.* K_2 **37cd** *om.* M **38cd** *om.* G**39a – 40d** *om.* α_3

नीत्वा ब्रह्माण्डपर्यन्तं प्लावयेच्च स्वकां तनुम् ।
योगी त्रिमासपर्याये पूर्वोक्तं लभते फलं ॥४२॥
[वेणुदण्डकलाः]
गुदमेढ्रान्तरं यद्वै वेणुदण्डं तदुच्यते ।
कलाचतुष्कं तत्रोक्तं परामृतरसात्मकम् ॥४३॥
सुशीता च महातृप्तिः पलितघ्नी वलिक्षया ।
तत्र शक्तिं समुद्बोध्य पूर्ववत्प्लावयेत्तनुम् ॥४४॥
चतुर्मासप्रयोगेन पूर्वोदितफलं लभेत् ।
पिङ्गला रविवाह्या स्यादिडा स्याच्चन्द्रवाहिनी ॥४५॥
विषवाहो रविः प्रोक्तः सुधावाहो निशाकरः ।
अभ्यासः सूर्यवाहाख्ये चन्द्रवाहे च शस्यते ॥४६॥
†धारणा चन्द्रवाहे च† योगी कुम्भकमाचरेत् ।
शशिवाहेन पवनं पूरयेदात्मनस्तनुम् ॥४७॥
रविवाहेन चोत्सर्गः शस्यते देहवृद्धये ।
एतत्ते व्याहृतं देवि कलास्थानं चतुर्गुणम् ॥४८॥

42a नीत्वा ब्रह्माण्डपर्यन्तं] पीत्वा ब्रह्मांडपर्यंतं μ, कलां प्राप्य पीत्वा ब्रह्मादिपर्यंतं G *(unm.)* **42b** प्लावयेच्च स्वकां] प्लावयेद्यः स्वकां μ, प्लावयित्वा स्वकां G, प्लावयेच्च स्वकीं $R_2J_4K_4$, प्लावयेदात्मनस् M **42c** °पर्याये] °पर्यायैः $S\alpha_1K_2J_3$, °पर्याय γ_1, °पर्यायात् B **43a** गुद°] गुह्य° α_3 ◇ °मेढ्रान्तरं यद्] °मेढ्रांततंतुर् G, °मेढ्रांतरे यद् R_2F **43b** वेणु°] वीणा° G **44a** सुशीता च] सुगतं च G, सुशांता च J_3, सुशीतला B ◇ महातृप्तिः] परा तृप्तिः $R_2\alpha$, महातृप्ति $J_2VK_4PJ_3\gamma$ **44b** पलितघ्नी] वलिघ्नी च G, तदंघ्रीव N ◇ वलिक्षया] परिक्षया G, वलीजय R_2 **44d** प्लावयेत्] भावयेत् $SPJ_3F\gamma$ **45c** रवि°] विष° G ◇ °वाह्या] $AJ_6SJ_2J_4K_4PK_6\gamma$; °वाज्या° J_7, °वाहा $GR_2W_1MK_5$, °वाह $N\alpha_3F$, °वाह्य VK_2J_3 ◇ स्याद्] °ख्या μG, °स्थाद् α_2 **45d** इडा स्याच्] इडाख्या μ, चेडाख्या G ◇ चन्द्र°] छशि° M **46a** विषवाहो] $\mu R_2\alpha_1\gamma$; विषवाहा G, विषवाही S, विषवाहस् α_3, विषमहो β_1PJ_3, विषमंहो K_2, विषवाह F, विषमहा K_5, विषमाहो K_6 ◇ रविः प्रोक्तः] B; रवेर्बाहुः A, रवेर्वाहुः $J_6J_7K_6$, रवेर्वाहा G, रविर्वार्वाहो R_2 *(unm.)*, रवेर्वाहः SMJ_2K_4PF, रवेर्वाह α_2, तु खे वाहः K_1, तु रवे वाहः K_3 *(unm.)*, रवे वहिः J_4, रारवेर्वाहः V *(unm.)*, रचे वहिः K_2, रवे वह्निः J_3, रविवाहः K_5 *(unm.)*, रवेर्काहः γ_1 **46b** सुधावाहो] सुधावाहा GK_2, क्षुधावाहो α_3, सुधावा*हे* F ◇ निशाकरः] निशाकरे $\mu GR_2\alpha_2\alpha_3$, निशाकरं V **46c** अभ्यासः] अभ्यासं μ, अभ्यास $W_1K_2FJ_1R_1$ ◇ सूर्य°] पूर्व° R_2 ◇ °वाहाख्ये] μ-α_3; °वाहस्य G, °वादौ स्या R_2, °वाहाच्च $SK_4K_2J_3FK_6$, °वाहाख्य N, °वाहाख्यश् W_1, वाहाख्यः M, °वाहच्च J_2V, °वावा च J_4, °वाह च P, °वाहाद्ये K_5, °वाहे च γ **46d** चन्द्र] शिशि M ◇ °वाहे] °वाह° G, °वाहश् NM, वाहः W_1, °वाहो $V^{ac}J_3$ ◇ च शस्यते] $J_6J_7R_2NM\alpha_3$; च शम्यते A, °स्य शस्यते G, प्रशस्यते $W_1\beta_1PJ_3FK_5\gamma$, प्रकाश्यते K_2, प्रशास्यते K_6 **47a** †धारणा†] $S\alpha_2VK_4\gamma$; धारणं μJ_2, धारणां GJ_3K_5, धारणाच् R_2K_2PF, धीरः स्याच् M, न रक्षा α_3, धारःणा J_4, धारनाच् K_6 ◇ †°वाहे च†] °वाहेन μ **47c** °वाहेन] °वाहे च $\beta\gamma$ ◇ पवनं] पवनैः K_5 **47d** पूरयेदात्मनस्] पूरयित्वात्मनस् G ◇ तनुम्] पदं K_2 **48a** रविवाहेन] विषवाहेन G, रविवाहे च γ_1, रविवाहे त° B ◇ चोत्सर्गः] त्वोत्सर्गः α_2, वोत्सर्गः VK_4, °थोत्सर्गः B **48b** °वृद्धये] °सिद्धये G **48c** एतत्] एवं AB ◇ व्याहृतं] कथितं S, व्याकृतं α_3 **48d** चतुर्गुणम्] च तद्गुणः AJ_7, च [त]द्गुणं J_6

42d लभते तनु संगम् *add.* G ◇ **42d** लभते – **43c** तत्रोक्तं *om.* V

[परामृतमहापदम्]
अतः परं प्रवक्ष्यामि परामृतमहापदम् ।
वज्रकन्दं ललाटे तु प्रज्वलच्चन्द्रसंनिभम् ॥४९॥
लंगर्भं चतुरस्रं च तत्र देवः परः शिवः ।
देवताः समुपासन्ते योगिनः शक्तिसंयुतम् ॥५०॥
चूलितले महादेवि लक्षसूर्यसमप्रभम् ।
त्रिकोणमण्डलं मध्ये देवं लिङ्गात्मकं शिवम् ॥५१॥
रंगर्भमध्यमं देवि स्वशक्त्यालिङ्गितं परम् ।
देवतागणसंजुष्टं भावयेत्परमेश्वरि ॥५२॥
दक्षशङ्खे महाभागे षड्बिन्दुवलयान्वितम् ।
यंगर्भं धूम्रवर्णं च तत्र देवं महेश्वरम् ॥५३॥
लिङ्गाकारं स्मरेद्देवि शक्तियुक्तं गणावृतम् ।
वामशङ्खे ऽर्धचन्द्राभं सपद्मं मण्डलं शिवे ॥५४॥
वंगर्भं च दृढं मध्ये तत्र लिङ्गं सुधामयम् ।
गोक्षीरधवलाकारं शरच्चन्द्रायुतप्रभम् ॥५५॥

49b °महापदम्] μ; महापथं $GSM\alpha_3\beta_1PFK_5K_6\gamma$, महापथां R_2, महामृतं α_2, महामथं K_2, महीपथं J_3 **49c** °कन्दं] °कंदे μ, °कंद α_2, °कुंद J_1R_1 ◇ ललाटे तु] ललाटोक्तं S, ललाठं च R_2, ललाटे च αJ_3 **49d** प्रज्वलच्°] प्रस्फुरच्° R_2 **50a** लंगर्भं] μG; लंभग° R_2, लंगर्भे $S\beta\gamma$, लं[बीजं] N, लंबितं W_1, लंबीजं M, लीगलं K_1, लांगलं K_3 ◇ चतुरस्रं] °र्भचतुस्रं R_2, चतुरस्रे VK_5 **50b** तत्र देवः परः शिवः] तत्र देवं पर ग्रावरं G *(unm.)*, तावदेव परः शिवः α_3 **50c** देवताः] $R_2S^{pc}\alpha_3J_2VK_4K_5$; देवतास् μ, देवता $GJ_4PJ_3\gamma_1$, तद्देवाः S^{ac}, ते देवाः N, तं देवाः W_1, त देवाः M, देवतां K_2FK_6B ◇ समुपासन्ते] तमुपासंते J_6, तुमुपासंते AJ_7, समुपासते J_2, समुपासत्ते VK_4, शक्तिसंयुक्ता M **50d** योगिनः] $S\alpha_1B$; योगिन्यः μGR_2, योगिन्याः α_3, योगीभ्यः $\beta_1K_2PK_5K_6$, योगीन्यः J_3, योगिभ्यश् F, योगिभ्यां γ_1 ◇ शक्तिसंयुतम्] $\mu R_2\beta\gamma_1$; शक्तिसंयुताः $S\alpha_2\alpha_3$, समुपासते M, शक्तिसंयुतां B **51a** चूलितले] चुलितले A, चूलीतले $J_6J_7R_2K_1K_2FK_5\gamma$, चूळीतले G, चूलिताले α_2 ◇ °देवि] °भागे G **51b** °प्रभम्] °प्रभां γ **51c** °मण्डलं] °मराडल° W_2, °मरादले B **51d** देवं] देव $\alpha_2J_2J_4PFK_6$, देवि $K_2\gamma$ ◇ शिवम्] $\mu R_2S\alpha V$; शिवे $GJ_2J_4K_4K_2PJ_3FK_5K_6\gamma$ **52a** °गर्भ°] °गर्भं $GS\alpha VF$ ◇ °मध्यमं] °मध्यगं μG, °परमं α_3, °मध्यम° γ_1 **52b** °लिङ्गितं] °लिंगितां γ ◇ परम्] परे G **52c** °संजुष्टं] °संवीतं G, °संयुक्तं αJ_4, °संतुष्टं K_2, °जुष्तं च γ **52d** भावयेत्] प्लावयेत् J_2, सावयेत् J_4, लावयेत् K_4 ◇ परमेश्वरि] परमेश्वरी $K_3J_4K_2K_6$, परमेश्वरं J_3B **53a** दक्ष°] लक्ष° R_2 ◇ °शङ्खे] °संख्ये R_2K_6, °शाखे α_3 **53b** °आन्वितम्] °आंकितं M, °आन्विते $\alpha_3\gamma_2R_1$ **53c** °गर्भं] °गर्भ° $R_2NJ_2J_4VP\gamma_1$, °गर्भे B **53d** देवं महेश्वरम्] देवो महेश्वरः $S\alpha K_6$ **54b** शक्तियुक्तं] शिवयुक्त α_3, शक्तियुक्ति K_2 ◇ गणावृतम्] गुणीवृत R_2, गुणावृतं K_2, गुणान्वितं J_3 **54c** °शङ्खे] °शंखो $\mu J_2J_4\gamma_1$, °शाखे α_3, °संखो K_2, °[स]खे P, °सेखे J_3 **54d** सपद्मं] स्वपद्मं μ, सपद्म° $K_2\gamma_1$, पापघ्नं J_3 **55a** वं°] व° μ, य° K_3, तं° J_3 ◇ च दृढं] टढं पद्म्य° A *(unm.)*, दृढं पद्म° J_6J_7 *(unm.)*, च कूरितं G *(unm.)*, च टृटं M, चन्द्राद्य° K_6 **55b** लिङ्गं] लिंग° γ_1

स्वशक्तिसहितं सर्वदेवतागणसेवितम् ।
एवं देवि चतुर्दिक्षु स्थानान्युक्तानि वै मया ॥५६॥
तेषां मध्ये महावृत्तं हंगर्भं तत्र पार्वति ।
परमेशः परः शम्भुः स्वशक्तिसहितः स्थितः ॥५७॥
लिङ्गाकारो गणयुतः सूर्यकोटिसमप्रभः ।
पृथिव्यधिपतिर्भाले पश्चिमे सूर्यनायकः ॥५८॥
दक्षशङ्खे ऽनिलपतिर्वामे जलपतिः शिवे ।
मध्ये व्योमाधिपः शम्भुस्थानाः पञ्च मयोदिताः ॥५९॥
व्योमाधिपस्य देवस्य शिरोर्ध्वे चतुरङ्गुलम् ।
ज्योतिर्मण्डलमध्यस्थं कोटिचन्द्रसमप्रभम् ॥६०॥
दिव्यामृतमयं भाण्डं मूलबन्धकपाटकम् ।
ऊर्ध्वचन्द्रं महाशैलमभेद्यममृतास्पदम् ॥६१॥
शीतलामृतमध्ये तु विलीनं लिङ्गमीश्वरि ।
त्रसरेणुप्रतीकाशं कोटिचन्द्रसमप्रभम् ॥६२॥

56a स्वशक्ति॰] संशक्ति॰ N, सशक्ति॰ W_1, सुशक्ति॰ γ ◇ सर्व॰] $\mu G\alpha_1K_1K_2K_6B$; [..] R_2, सर्वं $SK_3J_2VK_4FK_5\gamma_1$, सर्वे J_4, संर्व P, तत्र J_3 **57a** ॰वृत्तं] $\mu GS\alpha_2\alpha_3VK_5$; ॰वृत्यं R_2, ॰वृत्ते M, ॰वृत्त्वं $J_2PJ_3FK_6\gamma$, ॰वृतं J_4K_4, ॰वृत्त्वां K_2 **57b** ॰गर्भं] ॰गर्भे $M\gamma_1$ ◇ तत्र] तव M, तत्त्व α_3 **57c** परमेशः] μFK_5; परेश्वर॰ G, परमेश्व॰ R_2, परमेश्वरः $SNJ_2VK_4K_2PK_6\gamma$ *(unm.)*, परेश्वरः $W_1M\alpha_3J_4$, परमे J_3 *(unm.)* ◇ परः] ॰रश्च R_2 **57d** स्वशक्ति॰] स्वशक्त्या μG, स्वसिन॰ K_1, खसित॰ K_3, स्वशक्तिः J_3K_6 ◇ ॰सहितः स्थितः] $J_6SNMJ_2J_4K_4PJ_3F$; ॰सहितस्थितः $AJ_7GR_2W_1VK_2K_6$, ॰शक्तिसंस्थितः α_3, ॰सहितः शिवः K_5, ॰परतः स्थितः γ_1, ॰परिसेवितः B **58a** ॰आकारो] ॰आकारा R_2, ॰आकारे $NK_3J_2K_6$, ॰आकारैर् W_1, ॰आकार M, ॰आकारै K_1 ◇ गण॰] $J_6J_7GK_6B$; गुण॰ $AR_2S\beta_1K_2PFK_5\gamma_1$, गुणैर् α, गुणी॰ J_3 ◇ ॰युतः] ॰युक्तः α **58b** सूर्यकोटि॰] कोटिसूर्य॰ G **58c** पृथिव्य॰] पृथिव्या॰ $AR_2M\alpha_3\beta W_2B$ ◇ ॰पतिर्] $J_6J_7GR_2\alpha_1K_2$; ॰पति $A\beta_1$, ॰पतिः $SPJ_3FK_5K_6\gamma$, ॰पतेर् α_3 ◇ भाले] $\mu\alpha_2\alpha_3$; जाले G, वामे R_2K_4, लाभे M, पूर्वे $SVK_5K_6\gamma$, पुर्वे J_2, पूर्व J_4K_2F, पुर्वैर् P, पूर्वैः J_3 **59a** दत्त॰] तथा G, दत्ति॰ γ_1 ◇ ॰शङ्खे] ॰शाखे α_3 ◇ निल॰] नील॰ μ **59b** शिवे] शिवः μGM **59c** मध्ये] *om.* G ◇ व्योमाधिपः] μ; व्योमाधिप॰ G, व्योमपति॰ $R_2W_1M\alpha_3\beta_1K_2PFR_1$, व्योमपतिः $SNK_5\gamma_2W_2B$, सोमपति॰ J_3, यामपतिः K_6 ◇ शम्भु॰] μ; स्थानान्य् $GR_2\beta\gamma$, स्थाने $S\alpha$ **59d** ॰स्थानाः] μ; एताः G, एषां $R_2J_2J_4K_4PJ_3FK_5K_6\gamma$, एते $S\alpha$, एषा VK_2 ◇ मयोदिताः] $J_6GSW_1MK_1$; मयोदिता $AJ_7NK_3R_1$, मयोदितं $R_2\beta_1PK_5K_6B$, मयोदित K_2, मयोदितः J_3F, मयोदितां γ_2W_2 **60b** शिरोर्ध्वे] $J_6J_7R_2SFK_5$; शिरोर्द्धे $A\alpha_1\beta_1K_2PJ_3FK_6$, शिरोर्ध्वश् G, शिरोर्धे α_3, सिद्धं च γ ◇ ॰अंगुलम्] $SJ_2PJ_1R_1B$; ॰अंगुले $\mu GR_2\alpha J_4VK_4K_2K_5K_6$, ॰अंगुलां J_5W_2 **61a** ॰मयं] $\mu GR_2S\alpha K_5$; ॰मये $\beta_1K_2PK_6\gamma$, ॰मयो F ◇ भाण्डं] $\mu GR_2S\alpha K_5$; भांडे $J_2J_4K_2PK_6\gamma$, भांड V **61b** कपाटकम्] कवाटकं AGK_4, कवाठकं J_6J_7 **61c** ऊर्ध्वचन्द्रं] K_5B; ऊर्ध्वेरुर्ध्व॰ A, ऊर्ध्वेरूद्धर्व॰ J_6, ऊर्ध्वेरूर्ध्व॰ J_7, ऊर्ध्वरंध्र॰ G, ऊर्ध्वे चंद्र R_2, ऊर्ध्वचंद्र $S\alpha J_2J_4K_4K_2PJ_3F\gamma_2W_2$, ऊर्ध्वशैलं V, ऊर्द्धच*न्द्र K_6, उर्द्धं चंद्रं R_1 ◇ महाशैलम्] तथा चंद्र॰ V **61d** अभेद्यम्] $\mu GR_2\alpha K_5$; अभेदम् $SJ_2J_4K_4K_2PF$, भवेदम् V, अभेदाम् J_3, अहाभेद् K_6, अमेदम् γ ◇ अमृतास्पदम्] अमृतं परं α_3, अमृतात्मकं J_4 **62a** शीतलामृत॰] शीतरमृत G **62b** ईश्वरि] ऐश्वरं R_2, ईश्वरं $\beta\gamma$ **62d** ॰चन्द्र॰] ॰सूर्य॰ S

58c – 62d *found after 2.66d in* R_2 *(probably as a correction of an eye-skip to 2.63a)* **60c – 61a** *om.* J_3
62a ॰मध्ये तु – **64a** परामृत॰ *om.* G *(eye-skip)*

हेयोपादेयरहितमज्ञानतिमिरापहम् ।
अतीत्य पञ्च स्थानानि परतत्त्वोपलब्धये ॥६३॥
परामृतघटाधारकपाटं कुम्भकान्वितम् ।
मनसा सह वागीशामू र्ध्ववक्त्रां प्रसारयेत् ॥६४॥
निरुद्धप्राणसंचारो योगी रसनयार्गलम् ।
लीलयोद्घाटयेत्सत्यं संप्राप्य मनसा सह ॥६५॥
शीतलेक्षुरसस्वादु तत्र क्षीरामृतं हिमम् ।
योगपानं पिबेद्योगी दुर्लभं विबुधैरपि ॥६६॥
तत्सुधातृप्तिसंतृप्तः परावस्थामुपेत्य च ।
उन्मन्या तत्र संयोगं लब्ध्वा ब्रह्माण्डकान्तरे ॥६७॥
नादबिन्दुमयं मांसं योगी योगेन भक्षयेत् ।
एतद्रहस्यं देवेशि दुर्लभं परिकीर्तितम् ॥६८॥
सर्वज्ञेन शिवेनोक्तं यत्फलं शास्त्रसंततौ ।
तत्फलं लभते सत्यं षण्मासान्नात्र संशयः ॥६९॥
संप्राप्य सिद्धिसंतानं यो योगमिममीश्वरि ।
न वेत्ति तस्य वक्तव्यं न किं चित्सिद्धिमिच्छता ॥७०॥

63c अतीत्य] अभीष्ट α ◇ पञ्च] °तत्व° M ◇ स्थानानि] शून्यानि α **63d** परतत्त्वोपलब्धये] परं तत्वे पि लभ्यते $\alpha_2\alpha_3$, परतत्वे च लभ्यते M, परतत्त्वोपलभ्यते J_3, परं तत्वे *पि* लब्धये K_5 **64a** °घटाधार°] J_6J_7; °चटाधार° A, °घडाधार° G, °षडाधार° $R_2SK_3J_4VK_4PJ_3FK_5K_6\gamma$, °षडाधारं $\alpha_1K_1J_2$, °षडाधारा° K_2 **64b** °कपाटं] °कवाटं μG; कपालं α_1, कपाल α_3 **64c** वागीशाम्] $S\alpha_1J_3$; वागीशीम् $\mu G\alpha_3FK_5$, वागीशी* R_2, वागीशिम् $J_2J_4K_4PK_6\gamma_1$, वागीशम् V, वागीश K_2, वागीशी B **64d** ऊर्ध्व°] ऊर्ध्वं $G\alpha_3R_1B$ ◇ °वक्त्रां] वक्त्रे G **65a** निरुद्ध°] संरुद्धा° A, संरुद्ध° J_6J_7G, निरुद्धा° J_2P ◇ °संचारो] °संस्थानो R_2 **66a** शीतलेक्षु°] शीतलक्षण° A, शीतेक्षुर° α ◇ °रसस्वादु] °रसस्वादं S, °ससुस्वादं α, रसः स्वादु γ_1 **66b** तत्र क्षीरामृतं] μ; हृद्यं क्षीरोपमं G, ****मृतं R_2, तत्क्षीरममृतं $S\alpha_2\alpha_3\beta_1K_2PFK_5\gamma$, तत्क्षरममृतं M, तत्क्षारममृतं J_3, *तत्*क्षिरममृतं K_6 ◇ हिमम्] हितं μK_2, परं α **66c** योगपानं] परामृतं G ◇ पिबेद्योगी] $GS\alpha$; पिबेन्मध्यं μ, पिबेत्क्षीरं $R_2\beta_1K_2PFK_6\gamma$, पिबेत्क्षारं J_3, भवेत्क्षीरं K_5 **66d** विबुधैर्] विविधैर् μK_2, त्रिदशैर् S **67a** °तृप्ति°] °पान° G, °रस° M ◇ °तृप्तः] GSK_5; °तप्तः μ, °तृप्त्यै α_2, °तृप्त्य M, °तृप्तो *cett.* **67c** उन्मन्या तत्र] उन्मन्यंते त्र° α_2, तन्मयं नेत्र° α_3, उन्मना तत्र K_5 **67d** लब्ध्वा] बध्वा γ ◇ °कान्तरे] °काननं G **68a** मांसं] मासं $AJ_6W_1J_4J_3B$, मास W_2R_1 **68d** परिकीर्तितम्] त्रिदशैरपि M **69a** सर्वज्ञेन] सर्वज्ञानं G, सर्वं तेन γ **69b** यत्फलं] μ; सकलं R_2, सफलं *cett.* ◇ °संततौ] °संमतौ J_4, °संसृतौ P, °संमतं B **69c** फलं] μ; सर्वं *cett.* ◇ लभते] लभ्यते $\alpha_2\alpha_3\gamma$ ◇ सत्यं] नित्यं GR_2, सिद्ध N, सिद्धं W_1 **69d** °मासान्] °मासां G, °मासे α_2 **70a** सिद्धि°] सिद्धिं AJ_2VK_2 ◇ °संतानं] $\mu GR_2J_2VK_4FK_5K_6\gamma$; °सोपानं $S\alpha_1$, °संपानं α_3, °संज्ञानं J_4, °संतानां K_2, °सतांनां P, °संतानो J_3 **70b** यो योगमिममीश्वरि] योगगम्यमपीश्वरि A, योगयोगममीश्वरि J_6J_7, यो योगमिममीश्वरम् K_5, *य*ोगगम्यं महेश्वरि B **70d** किं] क्व μ, च α ◇ चित्सिद्धिम्] सिद्धिं प्र° α_1, सिद्धिं नि° α_3 ◇ इच्छता] $\mu SK_2PJ_3FK_6$; इच्छतां $G\gamma$, इच्छतः $R_2S^{vl}J_2J_4K_4K_5$, °यछति α_1, °यच्छसि K_1, °यक्कसि K_3, इच्छति V

---

67 *found after* 68 J_3

न जानन्ति गुरुं देवं शास्त्रोक्तान्समयांस्तथा ।
दम्भकौटिल्यनिरतास्तेषां शास्त्रं न दापयेत् ॥७१॥

[अमृतेनाङ्गमर्दनम्]

जिह्वामूले स्थितो देवि सर्वतेजोमयो ऽनलः ।
तदग्रे भास्करश्चन्द्रो भालमध्ये प्रतिष्ठितः ॥७२॥
एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य सिद्धिः प्रजायते ।
मथित्वा मण्डलं वह्नेः समुद्बोध्य प्रयत्नतः ॥७३॥
तदुष्णसारद्रवितं भालजं चन्द्रमण्डलम् ।
भास्कराधिष्ठिताग्रेण रसनेन समाश्रयेत् ॥७४॥
तच्चन्द्रगलितं देवि शीतलं परमामृतम् ।
नासिकारन्ध्रनिर्यातं पात्रेण परिसंग्रहेत् ॥७५॥
तेनाङ्गमर्दनात्सत्यं नाडीशुद्धिः प्रजायते ।
गुदलिङ्गोद्गतं पात्रे निर्गतं चामरीरसम् ॥७६॥
कक्षामृतं च संलोड्य संस्कृतं चाधरारसैः ।

72a – 73b *cit.* नारायणदीपिका *(D) ad* ब्रह्मविद्योपनिषद् 8, ĀSS 29, p.341

71a गुरुं] गुरून् F **71b** °श्रोक्तान्] °श्रोक्त° $G\gamma_2$, °श्रोक्तं K_1W_2, °श्रोक्तः K_3 ◇ समयांस्तथा] समयं तथा G, समयान् पुनः K_5 **71c** दम्भकौटिल्यनिरतास्] ये दंभ्यकुटिलास्तेभ्यश् G **71d** तेषां शास्त्रं] शस्त्रमेतं G **72a** °मूले] °मूल° G ◇ स्थितो] स्थिति A, स्थिते J_6, स्थिता $G\alpha_3$ ◇ देवि] देवी $R_2\alpha_3J_4J_3K_6$, देवः D_1 **72b** ऽनलः] निलः J_4B, जलः J_3 ◇ **72c** चन्द्रो] μ; चंद्रस् $GSNM\alpha_3J_4VK_4FK_5BD$, चंद्र $R_2W_1K_2J_3J_1R_1$, चंद्रः J_2PJ_5, चेंद्र K_6, चद्रः W_2- **72d** भालमध्ये] μ; तालुमूले GM, तालुमध्य° K_5, तालुमध्ये *cett.* ◇ प्रतिष्ठितः] व्यवस्थितः G **73a** तत्त्वेन] देवेशि μ, तत्वज्ञस् G, तत्वे च R_2 **73b** प्रजायते] प्रयुज्यते γ **73c** वह्नेः] वन्हिं G **74a** तदुष्णसारद्रवितं] GR_2B; उष्णसारद्रवितं A *(unm.)*, दुष्णसारद्रवितं J_6J_7 *(unm.)*, तदुष्णत्वद्रवीभूतं $S\alpha_1$, तदुष्णं चंद्रवीभूतं α_3, तद्विष्णुसारद्रवितं K_5 ($\beta_1K_2PJ_3F\gamma_1$ *have corruptions of* तदुष्णसारद्रवितं) **74b** भालजं] μ; तज्जलं α_3, वह्निजं K_5, तालुजं *cett.* ◇ °मण्डलम्] °मंडले α_3 **75a** तच्] μR_2K_6B; त्वं γ_1, तं *cett.* ◇ चन्द्र°] चंद्रा° A **75b** शीतलं] शीतं[*] G, शितला γ_1 ◇ परमामृतं] तत्पयोमृतं AJ_7, यत्पयोमृतं J_6, *यंप*योगी तं G **75d** पात्रेण] पात्रे च α_3 **76a** तेनाङ्ग°] तदंग° G, तेभ्यांग° γ ◇ °मर्दनात्सत्यं] °मर्द्दनां नित्यं G, °मर्दनं कृत्वा R_2 **76b** नाडी°] नाडि° AGJ_3, नदा° R_1 ◇ °शुद्धिः] °सिद्धिः μ **76c** गुद°] गुह्य° J_3, गुड° K_6, गूढ° γ ◇ °लिङ्गोद्गतं] $GR_2SJ_2VPJ_3FK_5\gamma$; °लिङ्गोहृतं μK_6, °लिंगद्रुतं α_2, °लिंगं द्रुतं M, °लिंगाद्द्रुतं α_3, °लिंगाहृतं J_4, °लिंगोहृतं K_4, °लिंगागतं K_2 ◇ पात्रे] देवि μ **76d** निर्गतं] निर्गमं μ, निर्मथ्यम् α_1, निर्मथ्या α_3, निर्गत° K_2FK_6 ◇ चामरी°] μG; यपुरी R_2, योमरी° SJ_4J_3, अमरी° α_1, सशरी° α_3, व्योमरी° $J_2VK_4PFK_5\gamma$, °त्त्योमरी° K_2, °स्यामरी° K_6 ◇ °रसम्] °रयं R_2, °रकं α_3 **77a** कक्षामृतं] कलामृतं μ, काक्षामलं R_2, कक्ष्यामृतं α_3, कक्षामतं J_2V, कंक्षामृतं P, संख्यामृतं J_3, कथामृतं γ ◇ °लोड्य] °योज्य M, °लेप K_2, °लोद्य P, °लेद्य J_3, °लेप्य γ **77b** संस्कृतं] $R_2S\alpha_1J_2VK_2FK_5K_6B$; संस्कृत्यं μ, संस्कृत्य G, स सत्यं α_3, सस्कृतं J_4K_4, संस्कृजं P, संस्कार्यं J_3, संस्कृतां γ_1 ◇ चाधरा°] स्वामरी° G, वाधरा° B ◇ °रसैः] °रसं G, °रसः α_3, °रसौ $J_2J_4K_4$

72b *all witnesses except* μGD *insert corrupt versions of* 75ab **72b – 73a** *om.* V **75** *om.* J_3

तेनाङ्गमर्दनं कृत्वा योगी लोके निरामयः ॥७७॥
बलवान् जायते सत्यं वलीपलितवर्जितः ।
जिह्वामूलं समुद्घृष्य तत्र जातं महाद्रवम् ॥७८॥
स्वदेहं मर्दयेत्पूर्वं रसना वत्सरार्धतः ।
चतुरङ्गुलवृद्धा च जायते नात्र संशयः ॥७९॥

[खेचरीमुद्रा]
उत्कृष्य रसनामूर्ध्वं दक्षिणाङ्गुलिभिः शिवे ।
वामहस्ताङ्गुलीभिश्च घण्टिकां स्फोटयेच्छिवे ॥८०॥
मथित्वा पावकस्थानमूर्ध्ववक्त्रं शनैः शनैः ।
त्रिकूटोर्ध्वे च चन्द्रांशे शिवस्थानं समाश्रयेत् ॥८१॥
एषा ते खेचरीमुद्रा कथिता मृत्युनाशिनी।
[भटनटदोषाः]
एवमभ्यासशीलस्य तद्विघ्नार्थं भवन्ति हि ॥८२॥
भटभेदाश्च चत्वारो नटभेदास्तथैव च ।
अङ्गशोषः क्षुधालस्यं कण्डूर्देहविवर्णता ॥८३॥
भटस्य प्रत्यया एते तेषां शृणु च भेषजम् ।

77d योगी लोके] योगी स्यात्तु G, *transp.* $S\beta\gamma$ **78c** समुद्घृष्य] GW_2; समूद्घृष्य A, समुद्धृष्य J_6J_7, च संघृष्य $S\alpha_1H_2$, च संमर्द्य α_3, संमुद्*घृ*ख्य J_2, समुद्धृत्य J_4VK_5, समुद्दृत्य K_4, समुत्कृष्य K_2PB, समुद्घष्य J_3, समुघृ*ष्य*K_6, समुद्*ुष्य γ_2, समुष्टाष्य R_1 **78d** जातं] जात° GK_2 ◇ महाद्रवम्] मदद्रवं μ **79a** स्वदेहं] स्वदेहे $AJ_2J_4K_4K_2$ ◇ पूर्वं] पूर्वाद् μ, पूर्व° α_2 **79b** रसना] रसेन $M\alpha_3H_2$ **79c** °वृद्धा] μJ_3; °वृद्ध्या *cett.* **80a** उत्कृष्य] आकृष्य G ◇ ऊर्ध्वं] ऊर्ध्वे J_6J_7, ऊर्ध्व° $R_2\alpha_2\beta_1K_2PJ_3FK_6$ **80d** घण्टिकां] $GR_2SNJ_2K_5$; रसनां M, घटिका H_2, घंटिका *cett.* **81a** पावकस्थानं] वामकं स्थानं μ, पावकास्थाने G, पावकं स्थानं F **81b** °वक्त्रं] $\mu SJ_2J_3FR_1$; °वक्त्रः $G\alpha_1K_5$, °वक्त्र $R_2K_1J_4K_4$, °चक्र K_3K_6, °चक्रः V, °चक्रं $K_2P\gamma_2W_2B$, °चक्त्र H_2 **81c** °र्ध्वे च] GNM; °र्ध्वं च μ, °र्द्धे च R_2W_1, °र्ध्वे र्ध° SF, °र्ध्वोर्च्चे K_1, °र्ध्वोर्ध च K_3 *(unm.)*, °र्द्धेद्व J_2, °र्द्धेद्वं J_4, °र्द्धे द्य V, °र्द्धे द्यं K_4, °र्द्धं K_2 *(unm.)*, °र्द्वे P *(unm.)*, °र्द्धे र्द्ध° J_3K_6, °र्ध्वे थ K_5, °द्धाट° $J_1J_5R_1$, °द्धाट्य W_2B ◇ चन्द्रांशे] $SM\beta_1FK_5K_6$; वज्रांत्यो μ, वज्रांते G, वज्रांशे R_2, चांद्रांशे α_2, चक्रांशे α_3, चंद्रांसो K_2, चंद्राशे P, चंद्रातं J_3, °यच्चंद्रो J_1, चंद्रोंशे J_5, चंद्रोशे W_2, °यच्चंद्रा R_1, चंद्रांशं B **81d** समाश्रयेत्] समाचरेत् G **82a** एषा] एषां $AJ_4V\gamma_1$ **82d** °विघ्नार्थं] विज्ञानं G, °विद्यार्थं α_3, °विद्याश्च J_2J_4, °विज्ञार्थं J_3, °विघ्नाश्च K_6 ◇ भवन्ति हि] भवति हि A, भवत्यथ G, भवेंति हि J_2, भवेति हि J_4, भवन्न हि K_2 **83a** भट°] μB; हट° $GR_2\alpha_2J_2K_5$, हठ° $SMK_1J_4K_4K_2FK_6$, ह° K_3 *(unm.)*, हर° V, हव° P, देह° J_3, म° J_1R_1 *(unm.)*, भ° J_5W_2 *(unm.)* **83b** नट°] नर° V, नट° P *(unm.)* **83c** °शोषः] $\mu S\alpha_1K_5$; °दोषः G, °शोष° $R_2\alpha_3J_2^{pc}$, °सोक° $J_4\gamma_1$, °शोष्क° V, °शोक° $J_2^{ac}K_4K_2PJ_3K_6$, °शोकः F, °सेक° B ◇ °आलस्यं] °आलस्य° $GK_2PFK_6\gamma$ **83d** कण्डूर्] $GSNMVK_4F$; कंड $AR_2\alpha_3$, कंडू $J_6J_7J_4K_6$, कडूर् W_1, कंडुर् $J_2K_2PK_5$, कुंडर् J_3, कटु J_1W_2B, कडु J_5, कदु R_1 **84a** भटस्य] $J_6J_7VPK_5^{ac}\gamma$; भटःस्य A, हटस्य $GR_2NK_4FK_5^{pc}$, हठस्य SW_1MJ_4, नटस्य $\alpha_3K_2J_3K_6$, भ्दतस्य J_2 ◇ प्रत्यया] प्रत्ययाश् μG ◇ एते] चेते A, चैते J_6J_7, चैव G, °प्येते α_3 **84b** शृणु च] $\mu G\alpha$; स शृणु R_2, *transp.* $S\beta\gamma$

78c – 79b *om.* R_2 **80ab** *om.* J_4K_2F **82b** सर्वसिद्धिप्रदा देवि जीवन्मुक्तिप्रदायिनी ।। इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां पंचदशः पटलः *add.* μ

मनो निर्विषयं कृत्वा त्रिमासममरीरसम् ॥८४॥
देहमुद्वर्तयेत्तेन देहवृद्धिः प्रजायते ।
त्रिस्त्रिरुद्वर्तनं कुर्याद्दिवा रात्रौ तथैव च ॥८५॥
रसनामूर्ध्वमायोज्य वज्रकन्दपदोन्मुखीम् ।
तत्सुधां लिहतः सत्यं क्षुधालस्यं च नश्यति ॥८६॥
तत्सुधाममरीं देवि गृहीत्वा चाङ्गमर्दनात् ।
स्वशरीरविवर्णत्वं कण्डूश्चापि प्रणश्यति ॥८७॥
नटभेदाश्च चत्वारो बहुधा संस्थिताः प्रिये ।
नेत्ररोगो ऽङ्गवेपश्च दाहो भ्रान्तिस्तथैव च ॥८८॥
भेदमेकं मया प्रोक्तं द्वितीयमधुना शृणु ।
दन्तरुक्चाल्पसत्त्वं च देहलाघवनाशनम् ॥८९॥
तृतीयभेदं च तथा शृणु देवि महाज्वरः ।
शिरोरुक्श्लेष्मदोषश्च चतुर्थः संप्रधार्यताम् ॥९०॥
वमनं श्वासदोषश्च नेत्रान्धत्वं तथैव च ।

84c कृत्वा] पुडका A *(unm.)*, पुड्का J_6, पुदका J_7 **84d** °मासम्] °मासाद् G, °वारम् B ◇ अमरीरसम्] μG; अमृतारसैः B, अमरीरसैः *cett.* **85a** तेन] α_3B; तस्य *cett.* **85c** त्रिस्त्रिरुद्वर्तनं] त्रिरुद्वर्त्तनकं μ, त्रिस्त्रि कुर्यादह्नि R_2, निरुद्वर्त्तनकं α_3 ◇ कुर्याद्] रात्रौ R_2 **85d** दिवा] μM; सप्त° G, अह्नि *cett.* ◇ रात्रौ] °रात्रं G, कुर्या R_2 **86b** °पदोन्°] °परोन्° AJ_6, °वदुन्° G ◇ °मुखीं] °मुखी $\alpha_3J_2K_4K_2K_6\gamma$ **86c** °सुधां] °सुधा $R_2\alpha_3K_2\gamma$ ◇ लिहतः] लिहितः K_5, लिहितं γ **87a** अमरीं देवि] G; अमरी देवी A, अमरी देवि J_6J_7, अमरीं चापि R_2M, अमृतं चापि $SFK_5\gamma$, अमरी चाथ α_3, अमृतश्चापि $J_2VK_4K_2PK_6$, अमृतं J_4 *(unm.)*, अमृतं त्वापि J_3 **87b** गृहीत्वा] कषित्वा G **87c** स्वशरीरविवर्णत्वं] $\mu GR_2M\alpha_3$; सर्वं शरीरवैवर्ण्यं *cett.* **87d** कण्डूश्चापि प्र°] $SM\alpha_3J_4K_4F$; कंडूत्वं च प्र° μ, कंडुश्चापि प्र° R_2, कंडूकत्वं च G, कंदुश्चापि प्र° $J_2PJ_3K_5\gamma_1$, कडूस्यापि प्र° V, कुण्डश्चां प्र° K_2 *(unm.)*, कन्तुश्चापि प्र° K_6, कंडूश्चापि वि° B **88a** नटभेदाश्] नभटेदाश् A, नवभेदाश् J_4 **88b** बहुधा] हि मुदा G ◇ संस्थिताः] J_6GSMF; संस्थिता $AJ_7R_2W_1J_2J_4K_4K_2PJ_3\gamma_1$, संस्थितां NK_6, शंसिना K_1, शंसिता K_3, संस्थिते VK_5, संस्थिताश् B ◇ प्रिये] च ये B **88c** नेत्ररोगो] नेत्ररोगा° $GR_2N\alpha_3$, नेत्ररोगश् K_2, नेत्रे रोगं J_3, नेत्रस्य रो° B ◇ ऽङ्गवेपश्] G; ङ्गशेषश् A, ङ्गशोषश् $J_6J_7R_2S\alpha J_2VK_5$, ङ्गशोकश् $J_4K_4K_6$, च शोकश् K_2, शोकश् PJ_5W_2 *(unm.)*, च शोकं J_3, पि शोकश् FJ_1R_1, °गो शोकश् B **88d** दाहो भ्रान्तिस्तथैव च] भ्रांतिदाहोपशोषकाः G **89a** भेदमेकं] $\mu\alpha$; इदमेकं G, एको दवो R_2, एको भेदो S, एको दोषो $\beta\gamma$ ◇ मया] तथा α ◇ प्रोक्तं] $\mu G\alpha$; प्रोक्तो $R_2S\beta\gamma$ **89c** °रुक्] $\mu GR_2M\alpha_3VPJ_3K_6$; °रुग् SFK_5, °कं N, °क° W_1, °क् J_2 *(unm.)*, °*तुक*J_4 *(unm.)*, तुक्रु K_4 *(unm.)*, °हः K_2, °रुक्* J_1, °रुक्र $J_5W_2R_1$ *(unm.)*, °रुक B *(unm.)* ◇ चाल्पसत्त्वं] J_6J_7G; वाल्पसत्वं A, चालसत्वं R_2, अलसत्वं S, कायसत्वं N, °षायसत्वं W_1, कायशोषश् M, वलसत्वं $K_1\beta_1PJ_3FK_6\gamma$, कलशत्वं K_3, खलसत्त्वं K_2, गलसत्त्वं K_5 **89d** देहलाघव°] देहरोमवि° G **90a** तृतीयभेदं च तथा] तथा त्रितीयं भेदं च G, तृतीयभेदमधुना B **90b** देवि महाज्वरः] $\mu S\alpha_3J_2J_4VK_2PJ_3K_5$; देवि महाज्वरं G, *छे*को महेश्वर R_2, देवि महेश्वरि α_2, वच्यामि सुंदरि M, देवि महा*घ*रः K_4, देवि भयज्वरः F, देवी महाज्वरः K_6, देवि महज्ज्वरः γ **90c** °दोषश्] °शोषश् M, °दोषाश् F **90d** चतुर्थः] $S\alpha_2$; चतुर्थं $\mu G\alpha_3J_2J_4K_4K_5$, चतुर्थश् M ◇ संप्रधार्यताम्] चावधार्यतां M **91a** वमनं श्वासदोषश्] वमनश्वासदोषं A, वमनं श्वासदोषं J_6J_7, पंचम*श्*वासदोषश् G **91b** तथैव च] प्रजायते S

86cd *om.* J_4 (*eye-skip from* तत् *to* तत्) **87** *om.* α_2 **89bc** *om.* J_4 **90d – 91a** *om.* $R_2VK_2PJ_3F\gamma$

दुर्जया च तथा निद्रा तेषां शृणु च भेषजम् ॥९१॥
मूलाधारात्सुषुम्नायामूर्ध्वं कुण्डलिनीं नयेत् ।
निश्चलामूर्ध्वगां जिह्वां कृत्वा कुंभकमाश्रयेत् ॥९२॥
शक्तिक्षोभान्महेशानि महानादः प्रवर्तते ।
यदा शृणोति तं नादं तदा मुक्तः स उच्यते ॥९३॥
चिन्तयेदमृतासिक्तं स्वदेहं परमेश्वरि ।
अनेन देवि मासेन पूर्वदोषैः प्रमुच्यते ॥९४॥
अनेनैव विधानेन द्विमासं तु यदाचरेत् ।
तदा शृणोति कर्णाभ्यां महागजरवध्वनिम् ॥९५॥
पूर्ववच्चिन्तयेद्देहं द्वितीयैर्मुच्यते गदैः ।
त्रिमासाद् ब्रह्मनादं च शृणुत्वा पूर्ववत्स्मरेत् ॥९६॥
तृतीयभेददोषैश्च मुच्यते नात्र संशयः ।
मेघनादमघोराख्यं चतुर्थे मासपर्यये ॥९७॥
श्रुत्वा पूर्ववदभ्यस्य भ्रान्तिदोषैः प्रमुच्यते ।

91d तेषां शृणु च] $J_6J_7R_2W_1M\alpha_3K_6$; तिषां शृणु च A, तदा शृणुत G, तेषां च शृणु $S\beta_1$-$K_2PJ_3FK_5\gamma$, शृणु देवि च N **92a** मूलाधा°] G; संमूला A, समूला $J_6J_7\gamma_1$, स्वमला R_2, स्वमूलो $SW_1M\alpha_3$, समूलो $NVK_4K_2J_3FK_5$, समूलात् J_2J_4, समूलाच् PK_6, समूलां B ◇ °रात्सु°] G; छास° A, छ्वास° $J_6J_7\alpha_2K_1VPFK_5K_6$, °श्वास° R_2, च्छ्वास° S, °द्वान° M, क्वास° K_3, स्वास° J_2, स्वाश° J_4, ष्वास° K_4, °त्थास° K_2, साव° J_3, चशि° γ ◇ °षुम्नायाम्] G; °संयुक्तां S^{ac}, °रांभिन्नाम् B, °सम्भिन्नाम् *cett.* **92b** ऊर्ध्वं] $\mu R_2MK_2K_6B$; ऊर्ध्वां F, ऊर्ध्व° *cett.* ◇ कुण्डलिनीं] कुंडलिनी $W_1M\alpha_3K_2PJ_3K_6\gamma_1$ **92d** आश्रयेत्] आचरेत् F **93b** महानादः] जलनादः μ, महानांदः γ_2R_1 **93d** स उच्यते] स मुच्यते $J_2K_4PJ_3$, प्रमुच्यते VK_5 **94a** चिन्तयेद्] सेचयेद् G ◇ अमृतासिक्तं] अमृतांज्ञाभि G, अमृताशक्तिं α_3H_2, अमृताशक्तं J_3 **94b** स्वदेहं परमेश्वरि] सांगोपांगकलेवरे H_2 **94c** अनेन देवि] क्रमेण देवि R_2, तेन देवेशि F **94d** पूर्व°] सर्व° μV ◇ प्रमुच्यते] विमुच्यते G **95b** द्विमासं तु] द्विमासांत A, द्विमासांतं J_6J_7G, द्विमासं च $K_2J_1R_1$ ◇ यदाचरेत्] सदा चरेत् R_2, समाश्रयेत् M, यदा*ध*रेत् J_2, यदा धरेत् J_4K_4, समाचरेत् K_2K_6 **95d** °गज°] °राज° α_2 ◇ °रव°] GMF; °वर° $\mu R_2S\alpha_2\alpha_3K_2J_3H_2$, °वरं $J_2VK_4PK_5\gamma$, र J_4 *(unm.)*, °रवं K_6 **96a** चिन्तयेद्] कुंभयेद् M ◇ देहं] देवि $G\alpha_1J_4$, देह $R_2\gamma$, देहे J_2 **96b** द्वितीयैर्] μM; द्वितीयो α_3, द्वितीयै K_4, द्वितीय K_2K_5, द्वितीयं F, द्वितीये *cett.* ◇ गदैः] भ्रमैः G **96c** त्रिमासाद्ब्रह्मनादं च] त्रिमासात्सिंहनादं च μ, त्रिमासाज्जिह्वया नादं G, त्रिमास ब्रह्मवन्नादं H_2 **96d** श्रुणुत्वा] μ; शृणुयात् *cett.* **97a** तृतीय°] तृतीये $GR_2\gamma$, तृतीयैर् M **97d** चतुर्थे] चतुर्थं γ ◇ मासपर्यये] $K_4K_2FK_5K_6$; मासि पर्ययेत् μ, मासि पर्याये GJ_3, मास पर्ययेत् R_2, मासि श्रूयते $S\alpha_2\alpha_3$, श्रूयते प्रिये M, मासे ** J_2, मास श्रूयते J_4, मासपर्ययत् V, मासपर्य्यये P, मासपर्यते γ_1, मासपर्यतः B **98a** श्रुत्वा] स्मृत्वा $\alpha_2J_2J_4$, शृण γ_1, शृणु B ◇ अभ्यस्य] $\mu G\alpha_2$; अभ्यासे $R_2\alpha_3$, अभ्यस्येद् M, अभ्यासाद् *cett.* **98b** भ्रान्ति°] भ्रांत्या R_2 ◇ °दोषैः] $GS\alpha FB$; °दोषैश् μ, °शेषैः $\beta_1K_2PJ_3K_5K_6W_2$ ◇ प्रमुच्यते] च मुद्यते A, च मुच्यते $J_6J_7R_2$

94ab *om.* K_2 **98bcd** *om.* γ_2R_1

एवं स्थिरमतिर्ध्यानमभ्यासं च त्रिकालतः ॥९८॥
साधयेत् त्र्यब्दतः सत्यं जायते ह्यजरामरः ।
भटदोषचतुष्कस्य नटदोषस्य चैव हि ॥९९॥
निवारणं मया प्रोक्तं भूयः शृणु सुराधिपे ।
यो ऽस्मिन् शान्ते परे तत्त्वे योगे योगी सुखात्मके ॥१००॥
प्रविष्टः सर्वतत्त्वज्ञस्तस्य पादौ नमाम्यहम् ।

[अभ्यासक्रमः]
प्रथमं चालनं देवि द्वितीयं भेदनं भवेत् ॥१०१॥
तृतीयं मथनं शस्तं चतुर्थं च प्रवेशनम् ।
तालुमूलं समुद्घृष्य जिह्वामुत्कर्षयेत्प्रिये ॥१०२॥
चालनं तद्विजानीयाद् ब्रह्मार्गलविभेदनम् ।
भेदनं तद्वदन्ति स्म मथनं तन्तुना प्रिये ॥१०३॥
लोहकीलप्रवेशेन यदा मथनमाचरेत् ।

98c एवं] ब्रह्म° G ◇ स्थिरमतिर्ध्यानम्] $\mu R_2 SNM\alpha_3$; स्थिरमतिध्यानम् GW_1, सर्वस्थिरमतिध्यानम् J_2 *(unm.)*, सर्वस्थिरमतिर् $J_4K_4J_3B$, सर्वं स्थिरमतिर् $VPFK_5$, स्थिरसर्वमतिर् K_2, सर्वस्थिरसरमतिर् K_6 *(unm.)*, सर्वास्थिरमतिर् W_2 **98d** अभ्यासं च] अभ्यसेच्च μ, अभ्यासेन K_2 ◇ त्रिकालतः] द्विकालकं μ, त्रिकालकं G, त्रिकालिकाः α_2, त्रिकालिकः α_3, त्रिकालसः $J_2J_4K_4$ **99a** साधयेत्] μMK_1VK_2; कृत्वाथ G, साधयेद् $R_2SJ_2J_4K_4PJ_3FK_5K_6$, [धारयत्] N, धारयेत् W_1, साधयत् K_3, साधू यद् γ_2, साधयद् W_2, साध्यु यद् R_1, संसाध° B ◇ त्र्यब्दतः] G; प्रवृतः AJ_7, अवृतः J_6R_2, अब्दतः $SJ_2J_4K_4PFK_5K_6$, पृष्ठतः α_1, पष्ठतः α_3, अष्टतः VJ_3, दृष्टतः K_2, भुतः γ_2W_2 *(unm.)*, भुत R_1 *(unm.)*, °येद् भुतः B **99c** भट°] $\mu VK_4K_5^{ac}$; हट° $GNJ_2PFK_5^{pc}\gamma$, नट° $R_2\alpha_3$, हठ° $SW_1MJ_4K_6$, हव° K_2J_3 ◇ °दोष°] °भेद° α_1, °भेदैश् α_3 **99d** नट°] भट° $J_2J_4K_4PJ_3\gamma$ ◇ °दोषस्य] °भेदस्य M, °भेदश्च α_3 ◇ चैव हि] जायते α_3 **100b** सुराधिपे] सुराधिप A, नराधिपे GB, सुरार्चिते $\alpha_1J_2J_4F$ **100c** यो ऽस्मिन्] μF; यस्मिन् $GS\beta_1K_2PJ_3K_5K_6\gamma$, यस्मि R_2, यस्मिन्न् α_2, याश्म° α_3 ◇ शान्ते] अंते α_1, °न शां° α_3 ◇ परे तत्त्वे] $\mu R_2S\beta\gamma$; परतत्वे G, पतित्वा तु α_2, पतित्वा यो M, °ते पतित्वा α_3 **100d** योगे] μ; ज्योतिः J_2, योगी *cett.* ◇ योगी सुखात्मके] J_6J_7; योगी सुकात्मके A, योगसुखात्मनि G, योगे सुरात्मके $R_2\alpha_2$, योगे सुरार्चिते M, योगेश्वरात्मके *cett.* **101a** प्रविष्टः] प्रविष्ट μJ_3R_1, प्रविष्टा $J_2J_4J_1$, प्रतिष्टा K_4, प्रविष्टाः J_5 **101b** पादौ] पादं $\mu GJ_2J_4K_4$ **101d** द्वितीयं] द्वितीये SPJ_3B, द्वितीयो γ_1 ◇ भेदनं] *conj.*; मंथनं M, मथनं *cett.* **102a** तृतीयं] तृतीये S, तृतीयो K_2 ◇ मथनं शस्तं] *conj.*; पानमुद्दिष्टं $\mu GR_2S\alpha_1VK_4PJ_3FK_5K_6\gamma$, पीनमुद्दिष्टं α_3, पामनमुद्दिष्टं J_2 *(unm.)*, यामनमुद्दिष्टं J_4 *(unm.)*, पातमुद्दिष्टं K_2 **102b** चतुर्थं] चतुर्थां A, चतुर्थे SK_2 ◇ च] μG; तत्° *cett.* ◇ प्रवेशनं] प्रवेशकं μ, प्रमेलनं G **102c** °उद्घृष्य] $GSMJ_2J_4F^{ac}B$; °उद्हृष्य A, °उद्धृष्य $J_6J_7K_3F^{pc}K_6$, °उघृष्य R_2, °उद्धर्ष्य N, °उद्धर्ष्य W_1, °उद्धष्य K_1, °उत्कृष्य V, °उद्*ष्य K_4, °उदिष्टं K_2, °उष्टष्य P, °उर्द्धाष्य J_3, °उद्घश्य K_5, °उष्टस्य γ_1 **102d** उत्कर्षयेत्] उद्धर्षयेत् GNM, उद्धर्षयेत् W_1, उत्तक्षिपेत् J_1R_1 **103a** तद्] $\mu GS\alpha_3$; तु R_2, तं $\alpha_1\beta\gamma$ **103b** ब्रह्मार्गलवि°] μG; तृमार्गार्गल° R_2, त्रिमार्गार्गल° $S\alpha\beta_1K_2PJ_3FK_6$, त्रिभागार्गल° K_5, समार्गलम° J_1, समार्गल° $J_5W_2R_1$ *(unm.)*, परमार्ग° B *(unm.)* **103c** भेदनं तद्] S; तं μ *(unm.)*, भेदनं त[*] G, भेदनं तं $R_2\alpha_1\beta_1PK_5K_6B$, भेदं न तं α_3, भेदनं ते K_2J_3, भेदनांते F, भेदनं त γ_1 ◇ वदन्ति स्म] वदति स्मां G **103d** मथनं] ⊔⊔⊔⊔ μ ◇ तन्तुना] तंतुमत् G **104a** लोहकील°] लोहकेन G, लोहकोलं R_2 ◇ °प्रवेशेन] °प्रयोगेण F **104b** यदा] $R_2S\beta_1PJ_3\gamma$; यथा $\mu G\alpha K_2K_5K_6$, यधा F ◇ मथनम्] मंथनम् M ◇ आचरेत्] आरभेत् μK_2

मथनं तद्विजानीयाद्योगवृद्धिकरं प्रिये ॥१०४॥
उद्घाट्यार्गलमाकाशे जिह्वामूर्ध्वं प्रसारयेत् ।
प्रवेशं प्राहुरीशानि योगसिद्धिप्रवर्तकम् ॥१०५॥
ब्रह्मार्गलप्रभेदेन जिह्वासंक्रमणेन च ।
प्रत्ययः परमेशानि क्षणात्सत्यं प्रजायते ॥१०६॥
आदावानन्दभावत्वं निद्राहानिरतः परम् ।
संगमं भोजनं चैव स्वल्पमात्रं प्रजायते ॥१०७॥
पुष्टिः संजायते तेजोवृद्धिश्च भवति प्रिये ।
न जरा न च मृत्युश्च न व्याधिपलितानि च ॥१०८॥
ऊर्ध्वरेता महेशानि अणिमादिगुणान्वितः ।
यदि निश्चलभावेन योगमेवं प्रसाधयेत् ॥१०९॥
तदा प्रोक्तानिमान्सम्यक् फलान्लभति पार्वति ।
जिह्वाग्रे श्रीश्च वागीशा संस्थिता वीरवन्दिते ॥११०॥

104c मथनं] मंथनं MV ◇ तद्] μSB; तं *cett.* **104d** योग°] योगी $\mu\alpha_3$ ◇ °वृद्धि°] °सिद्धि° α ◇ प्रिये] μMB; परेन् R_2, भवेत् $S^{pc}\alpha_2\alpha_3\beta_1PFK_5K_6\gamma_2W_2$, परं $S^{ac}K_2J_3R_1$ **105a** उद्घाट्यार्गलं] उदर्घोर्गतम् A, उद्घार्गतम् J_6J_7 *(unm.)*, उभयोर्गलम् γ_2R_1 **105b** जिह्वामूर्ध्वं] जिह्वामूलं $\alpha_3J_1R_1$ ◇ प्रसारयेत्] प्रकारयेत् R_2 **105c** प्रवेशं] आवेशं F ◇ प्राहुरीशानि] प्राहुरीशानी AVJ_5W_2, परमेशानि G **105d** °सिद्धि°] °वृद्धि° G ◇ °प्रवर्तकम्] प्र**कं G, करं परं N, प्रवेशने W_1, प्रदायकं K_2 **106a** ब्रह्मार्गलप्रभेदेन] μ; प्रवेशे तालुमूलेन N, ब्रह्मार्गलप्रवेशेन *cett.* **106d** क्षणात्सत्यं] क्षणार्धात्सं° μG **107a** आनन्दभावत्वं] आनंदभावात्वं A, अनंदानुभवो G, आनंदभावश्च M, आनंदभावाति° J_5B, आनंदभावानि W_2 **107b** निद्रा°] निंद्रा° A ◇ °हानिरतः] °हनिस्ततः G, °हानिस्ततः SF, °हारे ततः K_1, °हारं ततः K_3, °हारिताः J_4 *(unm.)*, °हानि इति J_3, °हानिः मतः J_5 ◇ परं] पदं μ **107c** संगमं] μGW_1M; सगमे R_2, संगमे $S\beta_1PJ_3K_6J_5W_2B$, संगम α_3, संगमो K_2F ◇ भोजनं] भोजने K_5K_6 ◇ चैव] G; देवि *cett.* **107d** स्वल्प°] स्वल्पम् μ, जल्प° W_1M, स्वप्न° K_2B ◇ °मात्रं] अल्पं μ **108a** पुष्टिः] $\mu\alpha_3$; सृष्टिस् G, तुष्टिः *cett.* **108b** °वृद्धिश्च भवति] μ; देहसिद्धिर्भवेत् J_1R_1, देहवृद्धिर्भवेत् *cett.* **108c** न जरा न च] नं जरा नं च A, न जरा तस्य M **108d** व्याधि°] $AM\beta\gamma$; व्याधिः J_6-$J_7GS\alpha_2\alpha_3$, *धिः R_2 ◇ °पलितानि च] α; °पलितं न च μR_2, पलितं तथा G, °पलितान्यपि $S\beta\gamma$ **109a** °रेता] $GR_2S\alpha_1VK_2K_5K_6R_1B$; °येता A, °रेतो $J_6J_7\alpha_3J_2J_4K_4J_3F\gamma_2W_2$, °रतो P **109b** °गुणान्वितः] μG; °फलोदयः R_2, °चतुष्टयां J_3, °समन्वितः *cett.* **109d** योगमेवं] $GS\alpha_2FK_5$; योगी भावं μ, योगमेव M, योगमेतत् α_3, योग एव $\beta_1PJ_3K_6\gamma$, योग एवं K_2 ◇ प्रसाधयेत्] प्रसारयेत् μK_6, प्र**येत् R_2, प्रसादयेत् $J_2VK_4K_2P$ **110a** तदा] यथा NM, तथा W_1, यदा α_3 ◇ प्रोक्तानिमान्] प्रोक्तमिमं G, फलानि प्रो° R_2 ◇ सम्यक्] सर्वं G, °क्तानि R_2, सम्यग् M, सस्य α_3, सत्यं J_1 **110b** फलान्लभति] μ; फलं भवति G, लभते पार्व° R_2, कामान्लभति $SVK_2PK_5K_6\gamma$, लभते वर° α_1, लभते काम° α_3, कामाल्लभंति J_2J_4, कामा लभ्रति K_4, कार्मान्लभति J_3, कर्मान्लभति F^{ac}, कमाल्लभति F^{pc} ◇ पार्वति] °ति ध्रुवं R_2, °वर्णिनि α_1 **110c** जिह्वाग्रे श्रीश्च] जिह्वाग्रे श्री AJ_7R_1 *(unm.)*, जिह्वाश्रीरस्य R_2, जिह्वाग्रस्थं च K_2 ◇ वागीशा] $\mu S\alpha_1\beta_1PJ_3FK_5$; वागीशे G, वागीशी $R_2\alpha_3K_6$, वागीशां K_2, वागेशि γ_1, वागेशी B **110d** संस्थिता] संस्थिते G, संस्थितां K_2 ◇ वीरवन्दिते] मरवन्दिते G, वीप्सतः परं N

104cd *om.* G **107** *om.* NJ_1R_1

जिह्वामूलाधारभागे बन्धमृत्युः प्रतिष्ठितः ।
बन्धमृत्युपदं सर्वमुन्मूलय गणाम्बिके ॥१११॥
तदग्रेण विशेत्सोमधाम श्रीशम्भुसंज्ञितम् ।
अनेन देवि योगेन मनसाधिष्ठितेन च ॥११२॥
उन्मन्यावेशमायाति योगी तल्लयमाप्नुयात् ।
लयस्य प्रत्ययः सद्यः संभवत्यवि चारतः ॥११३॥
जिह्वाग्रे मन आधाय दृशा तद्धाम लक्षयेत् ।
मूलात्सुषुम्णामार्गेण पवनं चोर्ध्वमानयेत् ॥११४॥
ब्रह्मधामगतो योगी मनः शून्ये निवेशयेत् ।
ध्यायेदेवं परं तत्त्वं हेयोपादेयवर्जितम् ॥११५॥
आकाशगङ्गा स्रवति ब्रह्मस्थानात्सुशीतला ।
प्रपिबन्मासमात्रेण वज्रकायो भवेद्ध्रुवम् ॥११६॥
दिव्यदेहो भवेत्सत्यं दिव्यवाग्दिव्यदर्शनः ।

111a मूलाधार°] $M\alpha_3J_5W_2$; मूलाधरे μ, मूले ध*र*ने G *(unm.)*, मूलाध** R_2, मूलधरा° SW_1-$\beta_1K_2PJ_3K_5K_6$, मूलाधरा° FB, मूलाधारा° J_1, मूलाध्वार° R_1 **111b** °मृत्युः] μGSMF; °मृत्यु° $R_2W_1\alpha_3\beta_1K_2PK_5K_6\gamma$, °मृत्युं J_3 ◇ प्रतिष्ठितः] प्रतिष्टितं R_2, प्रतिष्ठिता α_3J_3 **111c** °पदं] $AJ_7K_5\gamma$; °प्रदं $J_6R_2S\alpha\beta_1K_2PJ_3FK_6$, °भयं G ◇ सर्वम्] सर्वेम् G, सर्वं $R_2W_1M\alpha_3$, सर्वे γ **111d** उन्मूलय] $\mu GSVK_2FK_5K_6\gamma$; उन्मूलति R_2, तन्मूलय W_1, मूलं मूल $M\alpha_3$, उन्पुलय J_2, उन्मूल J_4 *(unm.)*, उन्मुलय K_4, उन्मूय P *(unm.)*, ऊन्मूल्य J_3 *(unm.)* ◇ गणाम्बिके] μG; गुणांतिके MVK_2FK_5, गुणांकिते *cett.* **112a** °ग्रग्रेण] °ग्रग्रे य R_2 ◇ विशेत्सोम°] $S^{ac}\alpha_3$; विषा मोहं μ, विनाप्येकं G, वि*ना* माघं R_2, विशेत्सो हं S^{pc}, विनाशो हं W_1, विना मोघं M, विना मोहं β, विना मेवं J_1R_1, विना मेहं J_5W_2B **112b** °शम्भु°] °शुभ° G ◇ °संज्ञितम्] °संज्ञकं $\mu\alpha_3F$ **112d** मनसाधिष्ठितेन च] *em.*; मनसा साधिते चले μ, *त्साधिष्ठिते जने G, ***साधितेन ते R_2, मनसाधिष्ठितेन ते $SW_1\beta_1K_2PFK_6\gamma$, मनसा साधितेन च α_3, षण्मासैः साधितेन च M, दिनसप्तकमाचरेत् J_3, मनस्यधिष्ठितेन ते K_5 **113a** उन्मन्यावेशम्] ग्रान्मन्यावेशम् G, उन्मन्यवश्यम् M, उन्मनीवशम् α_3 **113c** लयस्य] μG; लयनात् $R_2S\alpha\beta$, लंघनात् γ ◇ प्रत्ययः] प्रत्यया β_1 **113d** संभवत्य°] μSK_6; संभवेत्व°M, संपिवेच्च α_3, संभवंत्य° *cett.* **114a** मन ग्राधाय] μ; मनसा ध्यायन् $G\alpha_3V$, *नसा ध्यायन् R_2, मनसा ध्यायेद् $SK_2J_3K_6\gamma$, मनसा ध्याये W_1J_4P, मनसा ध्यात्वा M, मनसा ध्याय J_2K_4, रसना ध्यायेद् F **114b** दृशा] $\mu SW_1J_2K_4PK_6$; तदा G, दृश्या R_2, दश MF, दशा $\alpha_3J_4VK_2$, दशां J_3, रसान् γ ◇ तद्धाम] $J_6J_7GSW_1\beta_1K_2PFK_6$; तद्वाम AJ_3, तद्वम R_2, धा[धा]म M, धातम α_3, वद्धाम γ **114c** मूलात्] मूला A ◇ सुषुम्णा°] सुषुम्ना° K_3PFB **114d** पवनं] उन्मन्या G ◇ ग्रानयेत्] उन्नयेत् M, चालयेत् K_3 **115a** °धाम°] $\mu G\gamma$; °स्थान° J_3, °ध्यान° *cett.* **115c** ध्यायेदेवं परं] $SW_1\beta_1K_2PJ_3F$; ध्यायेत्परतरं μ, ध्यायन्परशिवं G, ध्यायेदेवं परे R_2, ध्यायेद्देवि परं $M\alpha_3$, ध्यायेद्देवं परं तत्वं K_6, व्यापदेवं परं J_1R_1, व्यापिदेवं परं J_5W_2, *व्यामि*देवं परं B **115d** °पादेय°] °पादान° $\beta_1K_2PK_6\gamma$ ◇ °वर्जितम्] °वर्जितः $R_2J_3\gamma$ **116b** सुशीतला] सुशीतलं $\mu\alpha_3F$, सुलीलया M, सुशीतलः γ_2 **116c** प्रपिबन्] μ; प्रपिबेन् G, तापवेन् R_2, यः पिबेन् *cett.* ◇ °मात्रेण] °त्रयेण α_3 **117a** °देहो] °कायो μ **117b** दिव्यवाग्दिव्यदर्शनः] दिवादियत्वदर्शनं G, दिव्यकार्यादिदर्शनं M, दिव्यकायावदर्शनं α_3, दिव्यवाक् दिव्यदर्शनं γ_1

111a N *omits* 111–123, *replacing it with* गोरत्त्वसंहिता$_N$ 184–190, 192 and 197–198. W_1 *has the insertion but keeps* 111–123: *see description of sources for details.* **2.113d** विचारतः – 3 .8d °रूपिणी *om.* K_5 (f.11 *missing*) **115ab** *om.* R_2W_1

दिव्यबुद्धिर्भवेद्देवि दिव्यश्रवण एव च ॥११७॥
जिह्वाग्रे कोटिचन्द्राभां वागीशां परिभावयेत् ।
परामृतकलातृप्तां कवित्वं लभते क्षणात् ॥११८॥
जिह्वाग्रे संस्थितां लक्ष्मीं परामृतविमोदिताम् ।
ध्यायन्योगी महेशानि योगसाम्राज्यमाप्नुयात् ॥११९॥

[पञ्च सहजाः]

सहजाः पञ्च विख्याताः पिण्डे ऽस्मिन् †परमात्मके† ।
यदा संजायते देहो मातृदेहे पितृक्षयात् ॥१२०॥
तत्र सार्धं भवन्ति स्म देहे वृद्धिमुपेयुषि ।
आद्या कुण्डलिनीशक्तिः सहजा प्रथमा स्मृता ॥१२१॥
द्वितीया च सुषुम्णाख्या जिह्वा चैव तृतीयका ।
तालुस्थानं चतुर्थं च ब्रह्मस्थानं तु पञ्चमम् ॥१२२॥
उन्नीय सहजामाद्यां द्वितीयां सहजां न्यसेत् ।

117d दिव्यश्रवण] *em.* SANDERSON; दिव्यः श्रवण SW_1, दिव्यश्रवणम् *cett.* **118b** वागीशां] वागीशीं $\mu GJ_2J_4FK_6$ ◇ परि°] μG; प्रवि° $R_2SW_1K_2PJ_3FK_6\gamma_1$, *om.* M, प्रति° α_3B, च वि° β_1 **118c** °तृप्तां] $\mu R_2S\alpha$; °तृप्त G, °तृप्ता $\beta_1K_2PK_6\gamma$, °तृप्ताः J_3, °तृप्तः F **118d** कवित्वं] कवितां μ ◇ क्षणात्] $\mu GR_2\alpha_3$; ध्रुवं *cett.* **119a** संस्थितां] संस्थिता $W_1K_3K_2J_3K_6$-γ ◇ लक्ष्मीं] लक्ष्मी $R_2K_2K_6\gamma_1$, लक्ष्मीः B **119b** °विमोदिताम्] $M\alpha_3$; °विमोदितः μ, °[.]मोदितां G, °विमोदिनीं R_2, °विमोहिनीं $SW_1\beta_1PF$, °विमोहिनी $K_2K_6\gamma$, °विमोहिता J_3 **119c** ध्यायन्] $\mu GM\alpha_3$; ध्याये R_2, ध्यायेद् $SW_1\beta\gamma$ ◇ महेशानि] महेशानीं G **120a** सहजाः] सहजा $K_3VK_2J_3FK_6\gamma$, सहजात् J_2K_4 ◇ विख्याताः] μGR_2SMK_1; विख्याता $W_1K_3J_2J_4VK_2PJ_3FK_6\gamma$, विख्यातां K_4 **120b** †परमात्मके†] μG; परमांकितो R_2, परिसांकिते S, परमांतिके α, परिमांतिते J_2K_4, परिमांतते J_4, परिमांतितो V, परमांकिते K_2FJ_1B, परिमांकिते $PK_6J_5W_2$, परिमाकिता J_3 **120c** देहो] $S\alpha_3\beta_1K_2PJ_3K_6\gamma$; देहे AR_2F, देहं J_6J_7, देह G, देवि W_1M **120d** °देहे] $\mu R_2S\alpha$; °देह° G, °देहो $\beta\gamma$ ◇ पितृक्षयात्] $R_2S\alpha\beta$; पितृक्षणात् μ, °परिक्षये G, पितक्षकात् γ **121a** तत्र सार्धं] $J_6J_7GR_2SPFK_6$; तत्रा सार्धां A, तत्तस्यार्धं α, तत्र सार्धा β_1, तं सार्धं K_2 *(unm.)*, तत्र सार्द्ध $J_3\gamma_1$, तत्र सार्धां B ◇ भवन्ति स्म] भवति स्म P, भवत्यस्माद् F **121b** देहे] μR_2; देह° *cett.* ◇ वृद्धिम्] बुद्धिम् γ ◇ उपेयुषि] $\mu\alpha_3$; उवेयुषे G, उपेयुषी R_2W_1MV, उपयुषी J_2, उपेयुषः SJ_3FK_6B, उपेयषी J_4, उपेयुषो K_4, उपेयषुः K_2, उपेयेषः P, उपेयसः γ_1 **121d** सहजा प्रथमा] *transp.* μ, [..]मा सहजा G ◇ स्मृता] स्थिताः A, स्थिता J_6J_7, मता J_3 **122a** च] μG; तु *cett.* ◇ सुषुम्णा°] सुषुम्ना° $S\alpha_3J_4P$ ◇ °ख्या] μGR_2W_1M, स्याज् SPJ_3FK_6B, स्यात् α_3, स्या $J_2VK_4K_2\gamma_1$, °स्थाज् J_4 **122b** जिह्वा] सिद्धा α_3 ◇ तृतीयका] तृतीयकं G, तृतीयागा J_2, तृतीयगा J_4K_4, तृतीयमा V, द्वितृतीयका J_3 *(unm.)*, तृतीयकाः γ_1 **122c** च] μG; स्याद् *cett.* **122d** तु] च $J_6J_7GJ_3$ **123a** उन्नीय] $GR_2SVK_4PJ_3FK_6$; उन्नध्या A, उन्नध्य J_6J_7, उन्निद्रा W_1M, तन्निद्रां α_3, उन्मन्नी° J_2, उन्मनी° J_4-γ, उन्मतो K_2 ◇ सहजामाद्यां] $R_2S\alpha_3VPJ_3F\gamma$; सहजामाद्या A, सहजामाया J_6J_7, सहजामद्यां G, सहजावस्था W_1M, °य सहजायां J_2, °य सहजाद्यां J_4, सहजाद्यां K_4 *(unm.)*, सहजामायां K_2, सहमाद्यान्त K_6 **123b** द्वितीयां] GS, द्वितीया γ, द्वितीये *cett.* ◇ सहजां] SB; शहजे A, सहजे $J_6J_7R_2\alpha\beta_1K_2PJ_3F$, सहजा $G\gamma_1$, सहजो K_6 ◇ न्यसेत्] विशेत् μ

तृतीयां सहजामूर्ध्वं चतुर्थे सहजे विशेत् ॥१२३॥
चतुर्थं सहजं भित्त्वा सहजं पञ्चमं विशेत् ।
एतद्भेदं मया प्रोक्तं दुर्विज्ञेयं कुलेश्वरि ॥१२४॥

इति श्रीमदादिनाथप्रोक्ते महाकालयोगशास्त्रे
उमामहेश्वरसंवादे खेचरीविद्यायां द्वितीयः पटलः

123c तृतीयां] $S\alpha K_6$; तृतीय° $\mu J_4 J_3$, तृतीया $GR_2VK_4PF\gamma$, तृतया J_2, तृतीम K_2 ⋄ सहजाम्] साहजाम् A, सह*ज* G, सहजान्य् J_4 ⋄ ऊर्ध्वं] *em.*; ऊर्ध्वा μ, द्ध्वा च G, ऊर्ध R_2, उच्चैश् $S\beta\gamma$, ऊर्ध्वां W_1M, ऊर्ध्वे α_3 **123d** चतुर्थे] αJ_4F; चतुर्थ° μK_2J_3, चतुर्थं $GJ_2VK_4PK_6\gamma$, चतुर्ये R_2, चतुर्थां S ⋄ सहजे] सहजा $\mu\gamma$, सहजं G, सहजां SK_6 **124a** चतुर्थं] चतुर्थ° $\mu R_2VJ_3J_5W_2$, चतुर्थीं G, चतुर्थां S, निगुह्यं N, चतुर्थे α_3 ⋄ सहजं] सहजा A, सहजां J_6J_7GS ⋄ भित्त्वा] नित्वा R_1 **124b** सहजं पञ्चमं] पंचमे सहजे SMK_2, सहजे पंचमे F ⋄ विशेत्] भ्यसेत् A, व्रजेत् G, न्यसेत् K_2 **124c** एतद्] एवं R_2 ⋄ भेदं मया] भेदरयं M, एव मया γ ⋄ प्रोक्तं] प्रोक्ता R_2 **124d** °ज्ञेयं] °ज्ञेयाः R_2 ⋄ कुलेश्वरि] कुलेश्वरी $R_2\alpha_3K_6J_5W_2R_1$, महेश्वरी K_2

124cd *om.* J_3 **124d** तत्सर्वं प्रयत्नेन गोपनीयं समाहितः *add.* V

तृतीयः पटलः

शिव उवाच

[कुण्डलिनीशक्तिः]

मूलात्कुण्डलिनीशक्तिं सुषुम्णामार्गमागताम् ।
लूतैकतन्तुप्रतिमां सूर्यकोटिसमप्रभाम् ॥१॥
प्रविश्य घण्टिकामार्गं शिवद्वारार्गलं शिवे ।
भित्त्वा रसनया योगी कुम्भकेन महेश्वरि ॥२॥
प्रविशेत्कोटिसूर्याभं धाम स्वायम्भुवं प्रिये ।
तत्रामृतमहाम्भोधौ शीतकल्लोलशालिनि ॥३॥
पीत्वा विश्राम्य च सुधां परमानन्दपूर्णया ।
बुद्ध्या तत्सुधया तृप्तमात्मदेहं विभावयेत् ॥४॥
अनेन दिव्ययोगेन जायते दिव्यदर्शनम् ।
खेचरत्वं भवेत्सत्यं सर्वरोगक्षयस्तथा ॥५॥
वञ्चनं कालमृत्योश्च त्रैलोक्यभ्रमणं तथा ।

Witnesses for the third paṭala:
$AJ_6J_7GR_2SNW_1MK_1K_3J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5K_6J_1J_5W_2R_1B$;
D (32c–47d); H_1H_3 (19); H_2 (15, 18–19, 21ab, 26, 29cd, 30cd, 31c–32b)
$\mu=AJ_6J_7$ ◇ $\alpha=NW_1MK_1K_3$ $\alpha_1=NW_1M$ $\alpha_2=NW_1$ $\alpha_3=K_1K_3$ ◇
$\beta=J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5K_6C$ $\beta_1=J_2J_4VK_4$ ◇ $\gamma=J_1J_5W_2R_1B$ $\gamma_1=J_1J_5W_2R_1$ $\gamma_2=J_1J_5$

1a मूलात्] μGR_2S; मूलां α_2, मूल° $\alpha_3\beta_1K_2PFK_6$, मूलं $J_3\gamma$ ◇ कुण्डलिनी°] कुंडलिनीं α_2V ◇ °शक्तिं] °शक्तिः SK_2B; °शक्ति $W_1J_4J_3\gamma_1$ **1b** सुषुम्णा°] सुषुम्ना° $J_6^{ac}GS\beta_1VPJ_3$-FB ◇ °मार्गम्] °मार्ग° G ◇ आगताम्] °संस्थितां G, आगता SK_2B, आश्रिता J_3, आगतः γ_1 **1c** लूतैक°] तुलैक° γ_1, तूलैक° B ◇ °प्रतिमां] °प्रतिमा $J_2J_4K_4\gamma$ **1d** सूर्यकोटि°] कोटिसूर्य° μG ◇ °प्रभाम्] °प्रभं A, °प्रभा K_4B **2a** प्रविश्य] प्रावेश्य K_2 ◇ घण्टिका°] घटिका° AJ_4-$K_2J_3\gamma_1$, घण्टका° G, पंथिका R_2 ◇ °मार्गं] °मार्गे $A\gamma$, °मार्गा R_2M, °मार्ग J_3 **2b** शिव°] शिरो° R_2 ◇ शिवे] प्रिये M, शिवं α_3J_3, विशेत् K_6 **2d** महेश्वरि] कुलेश्वरि M **3a** प्रविशेत्] $J_6J_7SW_1\alpha_3PK_4FK_6$; प्रविंशेत् A, प्रविश्य G, ***त् R_2, प्राविशेत् NMJ_2J_4V, प्रवेश्य K_2, प्रावेशेत् J_3, प्राविशत् γ_2W_2B, प्राविश R_1 ◇ °भं] $\mu GR_2MJ_2J_4K_4$; °भां $S\alpha_2\alpha_3PJ_3K_6J_5W_2$, °भ्यां VJ_1R_1, °भा K_2B, °भः F **3b** °भुवं] $\mu G^{pc}R_2S\alpha_1J_4VK_4$; °भुवे $G^{ac}J_3K_6$, °भुवि α_3, °भवं J_2K_2, °भवे $P\gamma$, °भु*वे* F ◇ प्रिये] शुभे G, शिते F **3c** तत्रामृत°] परामृत° G, तत्रामृतं MB, तत्रमृत° α_3, तयामृत° J_3 **3d** शीत°] शिव° α_3 ◇ °शालिनि] MFB; °मालिनि AG, °मालिनी J_6J_7, °शालिनीं R_2SN, °शायिनी W_1, °शालिनी $\alpha_3\beta_1K_2PK_6\gamma_1$, °वारिणा J_3 **4a** विश्राम्य] $GS^{pc}\beta\gamma_1$; विश्रम्य $\mu R_2S^{ac}\alpha B$ ◇ च सुधां] सुधया G, वसुधां J_3 **4b** °पूर्णया] पू*र्व*या G **4c** बुद्ध्या] बुध्ये G ◇ तत्सुधया] त*च्छु*द्धया S, तच्छुद्धया J_3F ◇ तृप्तम्] μG; कृष्टम् SW_1, हृष्टम् R_2NMB, रच्चयम् α_3, *इष्ट*म् J_2, द्रष्टम् J_4K_6, दृष्टाम् $V\gamma_2W_2$, *om.* K_4, दष्टम् K_2, वृष्टम् P, दष्टःम् J_3, दृष्टम् F, षृाम् R_1 *[sic]* **4d** °देहं] $\mu GR_2S\alpha_2\alpha_3J_3F$; °देह MPK_4, °देहे $J_2J_4K_2K_6\gamma$, °चेहं V ◇ विभावयेत्] M; प्रभावयेत् μ, प्रबोधयेत् G, सुधापयेत् R_2, सुभावयेत् $S\alpha_2\alpha_3VJ_3F$, शुभावयेत् J_2K_2P, °षु भाववयेत् J_4 *(unm.)*, °षु भावयेत् K_4K_6, तु भावयेत् γ **5a** दिव्य°] देवि μ **5b** °दर्शनम्] μGR_2VK_6; °दर्शनः *cett.* **5d** °क्षयस्तथा] °क्षयंकरं $\beta\gamma$ **6a** वञ्चनं] वचनं AJ_6, चंचनं J_7, मोचनं G ◇ °मृत्योश्च] *em.*; °मृत्युश्च μ, °मृत्युं च J_3, °मृत्यूनां *cett.* **6b** त्रैलोक्य°] त्रैलोक्यं G, त्रैलोक्ये S ◇ °भ्रमणं तथा] क्रमते क्षणात् G

1ab *om.* M **1a – 8d** °रूपिणी *om.* K_5 (f.11 *missing*)

अणिमादिगुणोपेतः संसिद्धो जायते ध्रुवम् ॥६॥
योगीन्द्रत्वमवाप्नोति गतिरव्याहता भवेत् ।
नवनागसहस्राणां बलेन सहितः स्वयम् ॥७॥
जायते शिववद्देवि सत्यं सत्यं मयोदितम् ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा ज्योतिरूपिणी ॥८॥
वर्णरूपगुणैस्त्यक्तं तेजस्तत्र निरामयम् ।
प्रसुप्तभुजगाकारा या सा कुण्डलिनी परा ॥९॥
गङ्गा च यमुना चैव इडापिङ्गलसंज्ञके ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये तां शक्तिं संनिवेशयेत् ॥१०॥
ब्रह्मधामावधि शिवे परमामृतरूपिणीम् ।
तन्मयो जायते सत्यं सदामृततनुः स्वयम् ॥११॥
शिवधाम गता शक्तिः परमेशात्परं पदम् ।
तद्भोगतृप्तिसंतृप्ता परमानन्दपूरिता ॥१२॥
सिञ्चन्ती योगिनो देहमापादतलमस्तकम् ।

6c °गुणोपेतः] GSαV; °गुणोपेतं $\mu J_2 J_4 K_4$PFK_6; गुणोपेतः R_2, गुणोपेतु K_2, °गुणोपेतां $J_3\gamma$ **6d** संसिद्धो] $J_6 J_7 R_2$SMK_1VPJ_3FK_6; संसिद्धि A$J_2 K_4 \gamma_1$, प्रसिद्धो G, स सिद्धो α_2, संसिद्धा K_3, संसिद्धिं J_4B, संसिद्धिर् K_2 ◇ जायते] लभते AJ_7B, भवति M **7a** योगीन्द्रत्वमवाप्नोति] योगेंद्रतत्वमाप्नोति α_3, योगेंद्रत्वमवाप्नोति γ_2 **7b** अव्याहता] अव्यहता A, अव्याहाता J_2P, अवाहता J_4, अव्याहती J_3 **7d** बलेन] वदेत्तं PF$\gamma_2 R_1$, वदे तं $J_3 W_2$, वदेन K_6 ◇ सहितः] सहित GR_2-J_3FK_6, सहिता $J_2 J_4 K_4$ **8a** शिववद्देवि] शिवपदे पि α_3 **8d** ज्योतिरूपिणी] कांतिमत्यलं G, योनिरूपिणी K_2 **9a** °गुणैस्] S$W_1\beta$; °गणैः μ, °गुणैर् Gγ, °गुणैः NMα_3 ◇ त्यक्तं] R_2Sβ_1PJ_3F$K_5 K_6$; साकं μ; युक्तं G, पूर्णे N, त्यक्त W_1, पूर्णं M, पूर्णैस् α_3, त्यक्तः K_2, युक्तैस् γ **9b** तेजस्तत्र] तेन तत्र W_1, वस्तुतस्तु M, तेज्ञस्तत्र K_5 ◇ निरामयम्] μSMVJ_3; निरायं R_2 *(unm.)*, निरालयं *cett.* **9c** प्रसुप्त°] सुषुम्णा AJ_7, सुषुम्ण J_6^{pc}, सुषुम्न J_6^{ac}, सुषुप्त° G, प्र[..] R_2, प्रसुप्ता α_3V ◇ °गाकारा] °गाकाशे μ, °गाकारां J_4, °गाकारं K_2, °गाकार J_3, °गीकारा γ_1, °गीवेयं B **9d** या सा] यत्तत् μ, यसां R_2, माया M, या K_4 *(unm.)*, या सां W_2 **10b** °संज्ञके] μ; °संज्ञिके GSK_6, °संज्ञिता $\alpha_1 J_3$, °संज्ञिते $R_2\beta_1 K_2$PF$K_5\gamma$, °संज्ञिका α_3 **10d** शक्तिं] शाक्ति AR_2, शाक्तिं MVB **11a** °धामा°] °द्वारा° G **11b** परमामृत°] परमानंद° GM ◇ °रूपिणीम्] $\mu R_2 K_5$; °पूर्णया G, °रूपणीं J_3, °रूपिणी *cett.* **11c** तन्मयो] तन्मनो G ◇ सत्यं] शीघ्रं B **11d** सदा°] परमा° μ *(unm.)*, परा° GM, तदा° K_2, सद्य° γ_1, सद्यो B ◇ °तनुः] °तनुं A, °तनु $J_6 J_7 R_2 J_3 J_5 W_2$, °मयं G, °तमः K_2 **12a** शिवधाम] शिवागम° G, शिवधामा° $R_2\alpha_2$ ◇ गता] AG$R_2\alpha$; गतां $J_7 J_6 \beta_1 K_2$F$K_5 K_6$, गतीं P, गतं J_3, गतिं γ_1, गतिः B ◇ शक्तिः] AGR_2SαB; शक्तिं $J_6 J_7 \beta_1$PF$K_5 K_6 J_1$, शक्तीं K_2, शक्ति $J_3 J_5 W_2 R_1$ **12b** परमेशात्परं पदम्] परमेशास्पदं पदं μ, पर*मस्पिदं परम् R_2, , परमेशत्पदं परं α_3 **12c** °भोग°] °भाग° μ, °भाग्य° γ ◇ °संतृप्ता] °संदीप्तं G, °*तत्वा R_2, °संतृप्ताम् α_2 **12d** °पूरिता] °रूपिता μ, °पूरितं GR_2, °पूरितः K_2 **13a** सिञ्चन्ती] J_6SMFK_5; सिचंति AK_6, सिंचंति J_7G$R_2 J_2$VK_4P, संचिन्त्य α_3, सिंचिति J_4 *(unm.)*, शिंचिंत K_2, सिचिंती J_3, संचित्य γ

12d – 13a *om.* α_2

सुधया शिशिरस्निग्धशीतया परमेश्वरि ॥१३॥
पुनस्तेनैव मार्गेण प्रयाति स्वपदं शिवे ।
एतद्रहस्यमाख्यातं योगं योगीन्द्रवन्दिते ॥१४॥
[कालजयः]
उत्सृज्य सर्वशास्त्राणि जपहोमादि कर्म यत् ।
धर्माधर्मविनिर्मुक्तो योगी योगं समभ्यसेत् ॥१५॥
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा त्रिकूटे संनिवेशयेत् ।
ब्रह्माण्डे ब्रह्मरेखाधो राजदन्तोर्ध्वमण्डले ॥१६॥
त्रिकूटं तं विजानीयात्तत्र लिङ्गं समुज्ज्वलम् ।
कालक्रमविनिर्मुक्तं दुर्विज्ञेयं सुरैरपि ॥१७॥
इडायां रात्रिरुद्दिष्टा पिङ्गलायामहः स्मृतम् ।
चन्द्रादित्यौ स्थितौ देवि नित्यं रात्रिदिवात्मकौ ॥१८॥
न दिवा पूजयेल्लिङ्गं न रात्रौ च महेश्वरि ।

---

15 *cit.* गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह p.4 19 = हठप्रदीपिका 4.42

13c सुधया] μ; अथ सा $GR_2S\alpha\beta_1PJ_3K_5K_6$, ईष सा K_2, अधस्ताच् F, अथासाच् γ_2W_2, अथाच् R_1 *(unm.)*, अभ्यासाच् B ◇ शिशिरस्निग्ध°] μ; शक्तिरश्मिस्थ G, शशिरश्मिस्था $R_2S\alpha$, चारीरस्था J_2 *(unm.)*, रींशक्तिस्थां J_4, शक्तिरश्मिस्था $VK_4K_5^{ac}$, च शरीरस्था K_2FK_6, च्च शरारस्था P, च शरीरस्थं J_3, [स्वशरीर]स्था K_5^{pc}, च शरीरस्थो γ **13d** °शीतया] μ; शीतला $GR_2S\alpha\beta$, शीतलां γ ◇ परमेश्वरि] $J_6J_7GSNMK_3P$; परमेश्वरी $AR_2W_1K_1\beta_1K_2J_3K_5K_6$, ता महेश्वरि J_1B, ता महेश्वरी $J_5W_2R_1$ **14a** पुनस्] प्रागस् γ **14b** प्रयाति] प्रयातः μ, पूजाति α_3 ◇ स्वपदं] स्वं पदं G, स्वयं α_3 *(unm.)*, स्वपुरं K_2 ◇ शिवे] μMJ_1R_1; प्रिये *cett.* **14c** रहस्यम्] रहसम् μ ◇ आख्यातं] देवेशि J_3 **14d** योगं] योगे $R_2\alpha$, योगी VK_6, मया K_5 ◇ योगीन्द्र°] योगेंद्र° $R_2\alpha_3J_3\gamma_1$ ◇ °वन्दिते] °वन्दिताम् α_3, °वंदितं J_4K_6 **15b** कर्म] °कं च μG ◇ यत्] च $R_2M\alpha_3J_3H_2$, °जात् J_2J_4V **15c** °मुक्तो] °मुक्तं K_2 **16b** त्रिकूटे] $\mu R_2S\alpha$; भ्रूकुटीं G, त्रिकूटं $\beta\gamma$ **16c** ब्रह्माण्डे ब्रह्म°] ब्रह्मरंध्रे ब्र° J_1R_1 ◇ °रेखाधो] $\mu R_2S\alpha_1VPJ_3FK_5K_6$; °रेखो*र्ध*ो G, °रेखायां α_3, °रेख्याधो J_2K_4, °रेखाधा J_4, °रोयोर्धा K_2, °ह्मरेखा J_1, °रेखाद्यो J_5, °रेखाद्यौ W_2, °ह्मरेख R_1, °रेखाद्ये B **16d** राजदन्तोर्ध्वमण्डले] $\mu GS\alpha$; ***तोर्धमंडलो R_2, दंतोर्ध्वमंडले प्रिये J_2J_4VP, दंतोर्ध्वं मंडले प्रिये K_4F, दतो यन्मंडलं शिवे K_2, दंतोर्ध्वमंडलं प्रिये J_3K_5, दन्तोर्ध्वे म्मण्डलं प्रिये K_6, तदूर्ध्वं मण्डलं प्रिये γ_2R_1B, तदूर्ध्वमंडलं प्रिये W_2 **17a** त्रिकूटं] भ्रूकुटीं G, त्रिकूटे R_2 ◇ तं विजानीयात्] αK_2; तं विजानीही A, तं विजानीहि J_6J_7, तत्र जानीयात् $GR_2S^{ac}\beta_1PJ_3FK_5K_6\gamma$, तद्विजानियात् S^{pc} **17b** तत्र लिङ्गं समुज्ज्वलम्] त्रिलिंगं सममुज्ज्वलं α_3 **17c** कालक्रम°] *em.* SANDERSON; कलाकर्म° G, सर्वकर्म° M, कालकर्म° *cett.* ◇ °मुक्तं] °मुक्तो $S\alpha$, °मुक्तां J_5W_2 **17d** °ज्ञेयं] °ज्ञेयः α_1 **18a** इडायां] $\mu S\alpha VFK_5H_2$; इडया $GK_2\gamma$, इडाया $J_2J_4K_4PJ_3K_6$ ◇ रात्रिर्] $\mu GS\alpha K_2K_5H_2$; रात्रि $R_2J_4K_4$, रात्रिन् J_2V, रात्रिम् PJ_3FK_6B, रात्रम् γ_1 ◇ उद्दिष्टा] $J_6S\alpha_3J_2VPFK_5K_6B$; उद्दिष्टां $AJ_7\gamma_2R_1$, उत्त्विक्षा G, *द्दिष्टं R_2, उदिता α_1, तदृष्टा J_4, तुद्दिष्टा K_4, उदिष्ट K_2, उदिष्टा J_3, उद्विष्ठां W_2 **18b** पिङ्गलायाम्] पिंगलायाः V, पिंगलया B ◇ अहः] अह $AR_2\alpha_3K_2J_3K_6$, अहा G, *रुः V ◇ स्मृतम्] स्मृतः $\mu J_4VK_2J_3$-J_1R_1, स्मृत J_5W_2 **18d** °दिवा°] $\mu G\alpha_3BH_2$; दिना° *cett.* **19a** न दिवा] *transp.* $GW_1H_1H_3$, वासरे H_2 **19b** न रात्रौ] *transp.* μ, रात्रौ चै° $\alpha_3H_1H_2H_3$ ◇ च महेश्वरि] परमेश्वरि M, °व न पूजयेत् $\alpha_3H_1H_2H_3$

19b *and* **19d** *transp.* K_6

सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रिनिरोधतः ॥१९॥
अहोरात्रिमयं चेदं कालक्रमस्वभावजम् ।
कालक्रमनिरोधेन कालमृत्युजयो भवेत् ॥२०॥
कालक्रमविनिर्मुक्तां चिन्तयेदात्मनस्तनुम् ।
पूजयेद्भावपुष्पेण तर्पयेत्पङ्कजामृतैः ॥२१॥
एवं षण्मासयोगेन जायते ह्यजरामरः ।
सर्वज्ञत्वं लभेत्सत्यं शिवसाम्यो निरामयः ॥२२॥
तालुमूले समावेश्य रसनामूर्ध्ववक्त्रगाम् ।
तत्र जातां सुधां पीत्वा शीत्कारेण शनैः शनैः ॥२३॥
प्रपिबेत्पवनं योगी निरालम्बे पदे शिवे ।
मनः संयोज्य चोन्मन्या सहजं योगमाचरेत् ॥२४॥
अनेन योगी षण्मासाज्जायते ह्यजरामरः ।
चिबुकं योजयेद्देवि षोडशस्वरमण्डले ॥२५॥
भ्रूमध्ये चक्षुषी न्यस्य जिह्वामूर्ध्वं प्रसारयेत् ।
संप्राप्य कुम्भकावस्थामिडापिङ्गलरोधनात् ॥२६॥

19c सर्वदा] सततं $\alpha_3\mathrm{H}_2H_3$ **19d** ◦रात्रि◦] ◦रात्रौ $\mathrm{AK}_2\mathrm{K}_6\gamma_1\mathrm{H}_2H_3^{vl}$, ◦रात्रं $\mathrm{G}H_3$ ◇ ◦निरोधतः] निरोधवाः μ, न पूजयेत् H_2H_3 **20a** ◦रात्रिमयं] $\mu\mathrm{R}_2\alpha_3$; ◦रात्रमयं $\mathrm{S}\alpha_1\beta\gamma$, ◦रात्रमवि◦ G ◇ चेदं] $\mathrm{S}\beta\gamma$; देवं $\mathrm{AJ}_7\alpha_2\alpha_3$, वेदं J_6, ◦च्छेदं G, देव R_2, लिंगं M **20b** काल◦] कालं J_4, कालः B ◇ ◦क्रम◦] J_4; ◦कर्मश् PK_6, ◦कर्मं $\mathrm{J}_5\mathrm{W}_2$, ◦कर्म◦ *cett.* ◇ ◦स्वभावजम्] ◦स्वभावकं M, च भावजं $\mathrm{PK}_6\gamma$ **20c** ◦क्रम◦] J_4; ◦कर्म◦ *cett.* **20d** ◦मृत्युजयो भवेत्] ◦मृत्युजयं लभेत् μ, ◦मृत्युर्यथा भवेत् K_1, ◦मृत्यु यथा भवेत् K_3, ◦मृत्युर्जयो भवेत् $\mathrm{K}_2\mathrm{PJ}_3\mathrm{K}_6\gamma_1$ **21a** ◦क्रम◦] H_2; ◦धर्म◦ α_3, ◦कर्म◦ *cett.* ◇ ◦मुक्तां] $\mathrm{GR}_2\mathrm{MB}$; ◦मुक्तश् α_2, ◦मुक्तो $\alpha_3\mathrm{J}_3\mathrm{H}_2$, ◦मुक्ता V, ◦मुक्तं *cett.* **21b** चिन्तयेद्] चिंतयान्न् A, चिंतयन्न् $\mathrm{J}_6\mathrm{J}_7$ **21d** तर्पयेत्] $\mu\mathrm{GR}_2\mathrm{SNM}\alpha_3\mathrm{VK}_5\mathrm{J}_1\mathrm{B}$; तर्पयं $\mathrm{W}_1\mathrm{J}_2\mathrm{J}_4\mathrm{K}_4\mathrm{K}_2\mathrm{PJ}_3\mathrm{FK}_6\mathrm{J}_5\mathrm{W}_2\mathrm{R}_1$ ◇ पङ्कजामृतैः] μG; तं कलामृतैः $\mathrm{R}_2\mathrm{S}\alpha_2\mathrm{VPJ}_3\mathrm{K}_5\gamma$, तां कलामृतैः M, तं कलामृतं α_3, तं कलामृतो J_2, तं कलामृतौ $\mathrm{J}_4\mathrm{K}_2\mathrm{K}_4\mathrm{K}_6$, तु कुलामृतैः F^{pc}, तु कलामृतैः F^{ac} **22c** लभेत्सत्यं] μ; भवेत्सत्यं G, भवेन्नित्यं *cett.* **22d** ◦साम्यो] ◦शाम्यं α_2, ◦साम्यं M, ◦स्यास्य α_3, ◦साम्ये γ_1 **23a** ◦मूले] ◦मूलं $\mathrm{GW}_1\mathrm{J}_3$ **23b** ◦वक्त्र◦] ◦चक्र◦ $\alpha_3\gamma$ ◇ ◦गां] ◦कां μ, ◦गा α_3 **23c** तत्र जातां सुधां पीत्वा] $\mathrm{SM}\beta_1\mathrm{PJ}_3\mathrm{FK}_5\mathrm{J}_1\mathrm{R}_1\mathrm{B}$, तत्तत्र जातं तु पिवन् A, तत्तत्र जातं भु पिवन् $\mathrm{J}_6\mathrm{J}_7$, तत्र *मृ*तां सुधां पीत्वा G, तत्र जातासु पीत्वा सी N, तत्र जातां सु पीत्वा सीत् W_1, तत्र याता स्वुधां पीत्वा K_1, तत्र याता स्वधा पीत्वा K_3, तत्र जातं सुधां पीत्वा K_2, तत्र जातां शुधां पीत्वा K_6, तत्र जातं सुधां पित्वा $\mathrm{J}_5\mathrm{W}_2$ **23d** शीत्कारेण] सीत्कारेण $\mu\mathrm{S}\alpha$ **24a** पवनं] μG; पंचमं $\mathrm{SJ}_2\mathrm{VK}_2\mathrm{PJ}_3\mathrm{FK}_5\mathrm{K}_6\gamma$, पंचमे α_1, पंचसं α_3, श्राचर्म J_4 **24b** पदे] पदे परे G *(unm.)* **24c** सम्योज्य] संयम्य $\mathrm{K}_2\mathrm{B}$ ◇ चोन्मन्या] चोन्मन्यां M, यो नान्या α_3 **24d** सहजं] सिंहजं K_2, सहसं J_3 **25a** ◦मासाज्] ◦मासे α_3 **25c** चिबुकं] $\mathrm{S}\alpha_2$; चिवुकं $\mathrm{AJ}_7\mathrm{R}_2\alpha_3\beta_1\mathrm{K}_2\mathrm{PK}_5\mathrm{K}_6$, चिव्रुकं J_6, चुबुकं GB, चुवुकं M, चिबूकं J_3, चुंचुकं F, चंचुकं $\mathrm{J}_1\mathrm{R}_1$, चंवुकं J_5, चुंबुकं W_2 ◇ योजयेद्] च जपेद् α_3 **25d** ◦मण्डले] $\mu\mathrm{GR}_2\mathrm{SMVK}_2\mathrm{K}_5\mathrm{K}_6$; ◦मण्डलं *cett.* **26a** ◦मध्ये] ◦मध्य GW_1 ◇ न्यस्य] न्यस्त G **26d** ◦रोधनात्] μG; ◦रोधतः $\mathrm{R}_2\mathrm{S}\alpha_2\beta\mathrm{B}$, ◦योगतः M, ◦रोधनं $\alpha_3\mathrm{H}_2$, ◦रोधितः γ_1

22c – 25b *om.* R_2 (*eye-skip to* ◦मरः) **24a – 25b** *om.* K_4 **25ab** *om.* G

मूलशक्तिं समुद्बोध्य भित्त्वा षट्सरसीरुहान् ।
तडित्सहस्रसंकाशां ब्रह्माण्डोदरमध्यमे ॥२७॥
धाम्नि शीतामृताम्भोधौ संनिवेश्य चिरं वसेत् ।
यदा ब्रह्ममये धाम्नि योगी वसति लीलया ॥२८॥
तदा निर्जीववद्देहे भा विस्फुरति तत्पदम् ।
अनेन देवि योगेन दिनसप्तकमाचरेत् ॥२९॥
यदा तदा स भवति जरामरणवर्जितः ।
माससमात्रप्रयोगेन जीवेदाचन्द्रतारकम् ॥३०॥
यदा ब्रह्मपुरं भित्त्वा योगी व्रजति लीलया ।
तदा शिवत्वमाप्नोति नित्यदेहमयं शिवे ॥३१॥
न पुनः पिबते मातुः स्तनं संसारचक्रके ।
[देहमोचनं कालवञ्चनं च]
यदा तु योगिनो बुद्धिस्त्यक्तुं देहमिमं भवेत् ॥३२॥
तदा स्थिरासनो भूत्वा मूलशक्तिं समुज्ज्वलाम् ।

32c – 47d *cit.* नारायणदीपिका *(D) ad* क्षुरिकोपनिषद् 12, ĀSS 29, pp.154–155

27b भित्त्वा] *em.*; भित्वा μ, भीटत्वा K_5^{ac} *(unm.)*, नीत्वा *cett.* ◇ °रुहान्] $\mu G\alpha_2 K_5\gamma$; °रुहात् *cett.* **27c** तडित्सहस्र°] सहस्रसूर्य° G ◇ °संकाशां] $\mu GNVK_2$, °संकाशा $R_2J_2J_4K_4PFK_5\gamma$, °संकाशो SW_1, °संकांशां M, °संकाशं α_3, °संकासं J_3, °शंकाशाद् K_6 **27d** °मध्यमे] °मध्यगे μSK_2, °मध्यगां GR_2, °मध्यगं α_3 **28a** धाम्नि] ध्यानी α_3, धानि K_4, धात्रि γ_1, धात्री B **28b** वसेत्] $\mu GR_2SJ_2VJ_3K_5B$; विशेत् $\alpha J_2^{vl}FK_6\gamma_1$, वशेत् J_4K_2P **28c** यदा] ब्रह्म° M ◇ ब्रह्ममये] ब्रह्ममयो GK_2, °मध्ये यदा M ◇ धाम्नि] धात्रि NW_2, धात्री B **28d** योगी] योगः α_3 ◇ वसति] μG; सर्वत्र α_3, [..] R_2, गच्छति *cett.* **29a** निर्जीववद्] नीजीववद् AG, निजीवये N, निज्जीवये W_1 ◇ देहे] $J_3F\gamma$; एहं A, देहं J_6J_7, देहो $GS\alpha_1J_2^{vl}VK_4PK_5K_6$, [..] R_2, वेहो α_3, देह J_2, एहो J_4K_2 **29b** भा वि°] μ; [..] R_2, भा P *(unm.)*, भाव γ_1, भावः B, भाति *cett.* ◇ °स्फुरति] स्पुरति S, स्फरजि J_2, स्मरति J_4K_2, स्फरति K_4J_3 **29c** देवि] देव° α_3, दैव° H_2 **29d** दिन°] सप्त° α_3H_2 ◇ °सप्तकम्] °सप्तक्र° R_2 ◇ आचरेत्] आश्रयेत् G, °मेण तु R_2 **30a** यदा] तदा μ ◇ तदा] पदं G ◇ स भवति] $J_6J_7S\alpha_2V$; संभवति $AR_2\alpha_3J_2K_4K_5K_6$, समाप्नोति G, संभवंति J_4 **30c** °मात्र°] °त्रय° $S\alpha H_2$ **31a** °पुरं] °पदं G, °परं J_3 **31b** योगी] योगं α_3 **31d** नित्यदेहमयं] α_2; त्यक्त्वा देहमिमं μG, ****मिमं R_2, नित्यं देहमिमं K_6, नित्यदेहनिसं H_2, नित्यदेहमिमं *cett.* **32a** न पुनः] पुनर्न R_2 ◇ पिबते] पिबति $R_2\alpha_2\alpha_3H_2$ ◇ मातुः] $M\alpha_3V$; *om.* R_2, स्तन्यं K_2, मातु *cett.* **32b** स्तनं] स्तन्यं GF, स्तनौ $S\alpha H_2$, मातुः K_2 ◇ संसार°] स चार° K_6 ◇ °चक्रके] $S\alpha H_2$; °चक्रमा AJ_7, चंक्रमा J_6, °चक्रतः G, चच्क्रगः *(sic)* R_2, °चक्रमात् $\beta_1PJ_3K_5K_6\gamma_1$, °सागरे K_2, °चंक्रमात् FB **32c** यदा] तदा μ ◇ तु योगिनो बुद्धिस्] $R_2SJ_4VPFK_5^{pc}K_6D$; तु योगिनो वृद्धिस् AJ_7, तु योगिनो व्रुद्धिस् J_6, तु योगिनो बुद्धिर् G, वाङ्मनोबुद्धिभिस् α_2, च वाङ्मनोवुद्धिस् M, तु वाङ्मनोवुद्धिस् α_3, तु योगीनो वुद्धिस् $J_2K_4K_5^{ac}$, तु योमिनो वुद्धि K_2, तु योगिनो बुद्धि J_3, तु योगिनो J_1R_1, तु योगीनो J_5W_2, तु योगिन्मे B **32d** त्यक्तुं] $SMJ_2VK_4PFK_5K_6D$; त्यक्तं $\mu R_2\alpha_2\alpha_3J_4K_2$, मोक्तुं G, त्युक्तु J_3 ◇ इमं] इदं α_2 ◇ भवेत्] प्रिये μ **33a** स्थिरासनो] स्थिरमना S^{ac} **33b** मूल°] μGM; मूलां $R_2\alpha_2$, मूलाच् SFK_5K_6D, मूला $\alpha_3\beta_1K_2PJ_3\gamma_1$, मूर्छा B ◇ °शक्तिं] μGW_1MJ_4; श* R_2, छक्तिं $S\alpha_3J_2VK_4PJ_3FK_5K_6\gamma_2R_1D$, शक्ति NK_2B, छक्ति W_2

29a जायते नात्र संशयः तदानीं शववद्देहो *add.* G **29c – 30b** *om.* M **30** *om.* $K_2PJ_3F\gamma$ **32c** बुद्धिस् – **33a** स्थिरासनो *om.* γ (*eye-skip to* भूत्वा)

कोटिसूर्यप्रतीकाशां भावयेच्चिरमात्मवित् ॥३३॥
आपादतलपर्यन्तं प्रसृतं जीवमात्मनः ।
संहृत्य क्रमयोगेन मूलाधारपदं नयेत् ॥३४॥
तत्र कुण्डलिनीशक्तिं संवर्तानलसंनिभाम् ।
जीवानिलं चेन्द्रियाणि ग्रसन्तीं चिन्तयेद्धिया ॥३५॥
संप्राप्य कुम्भकावस्थां तडिद्वलयभासुराम् ।
मूलादुन्नीय देवेशि स्वाधिष्ठानपदं नयेत् ॥३६॥
तत्रस्थं जीवमखिलं ग्रसन्तीं चिन्तयेद् व्रती ।
तडित्कोटिप्रतीकाशां तस्मादुन्नीय सत्वरम् ॥३७॥
मणिपूरपदं प्राप्य तत्र पूर्ववदाचरेत् ।
समुन्नीय पुनस्तस्मादनाहतपदं नयेत् ॥३८॥
तत्र स्थित्वा क्षणं देवि पूर्ववद्ग्रसतीं स्मरेत् ।
उन्नीय च पुनः पद्मे षोडशारे निवेशयेत् ॥३९॥
तत्रापि चिन्तयेद्देवि पूर्ववद्योगमार्गवित् ।

33c कोटिसूर्य°] सूर्यकोटि° K$_5$*D* **33d** चिरम्] छिवम् G ◇ आत्मवित्] आत्मनि SK$_2$PJ$_3$-FK$_6\gamma$, आत्मनः *D* **34b** प्रसृतं] प्रसतं R$_2$, प्रसृतां K$_2$, प्रमृतं P, प्रन्नुतं F, अमृतं γ ◇ आत्मनः] आत्मनि Sα, आत्मनां K$_2$, आत्मनं J$_3$ **34c** संहृत्य] संहत्य AJ$_6$J$_3$, हंसत्य J$_7$, संहृष्य J$_4$, संवृत्य γ_2, संदृत्य W$_2$ ◇ क्रम°] कर्म° S$^{ac}\beta\gamma$ **35a** कुण्डलिनी°] कुंडलिनीं GR$_2\alpha_1$*D* ◇ °शक्तिं] μGR$_2$M*D*; शक्तिम् α_2, शक्तिर् SJ$_2$J$_4$K$_4$PJ$_3$FK$_5$K$_6\gamma$, शक्ति α_3, शक्तिंर् V, शक्तिर्म K$_2$ **35b** संवर्तानल°] μGR$_2$*D*; आवर्तानल° S$^{pc}\beta\gamma$, आवृतानल° S^{ac}, आवर्तानिल° α_2, सवर्त्तान[ल]° M, सर्वत्वानिल° α_3 ◇ °निभाम्] °निभा SK$_5$B, °निभं α_3F **35c** जीवानिलं] R$_2$S$\alpha_1\beta_1$FK$_5$K$_6\gamma_1$; जीवानित्यं μ, जीवानलं GK$_2$J$_3$B, जित्वानिलं α_3, जीव*नि*लं P, जीवं निजं *D* **35d** ग्रसन्तीं] GSβ_1FK$_5$*D*; ग्रसतीं AJ$_7$, ग्रसंती J$_6$R$_2\alpha_2$K$_2$PB, सिंचंतीं M, ग्रसंतं α_3, ग्रसंते J$_3$, ग्रसंति K$_6\gamma_1$ **36b** °वलय°] °ज्वलन° R$_2$*D*, °अनल° B ◇ °भासुरां] °भास्करां AJ$_6^{pc}$J$_7$, °भासुरं α_3 **36c** मूलाद्] μGSK$_5$K$_6$; मूलम् α, मूल° β_1, मूला K$_2$PJ$_3$Fγ*D* ◇ उन्नीय देवेशि] μG; उन्नीय देवेशी R$_2$, द्वितीयं देवेशि SβB, उन्निद्रयेद्देवि α_1, उत्तीर्य देवेशि α_3, द्वितीय देवेशि γ_1, °धाराद्यतिर्देवि *D* **37a** °स्थं] सं° μ, °स्थ° G, °स्थां α_2K$_2$, °स्था γ **37b** ग्रसंतीं] μSα_3VPFK$_6$; ग्रसं*तीं* G, ग्रसंती R$_2$W$_1$J$_3$B, ग्रसंतं NM, ग्रसतां J$_2$J$_4$, ग्रसतीं K$_4$, ग्रसंति K$_2\gamma_1$ ◇ व्रती] R$_2$SW$_1$-Mβ_1K$_2$J$_3$K$_6$B*D*; च ताम् μ, प्रिये G, व्रतं NK$_3$, व्रताम् K$_1$, व्रतीं P, वति J$_1$R$_1$, व्रति J$_5$W$_2$ **37c** प्रतीकाशां] J$_6$J$_7$GR$_2$K$_2$W$_2$B*D*; °प्रतिकाशां AJ$_2$K$_4$, °प्रकाशं तत् S, °प्रतीकाशं αVPJ$_3$FK$_5$K$_6$, °प्रतिकाशं J$_4$, °प्रकाशांत J$_1$R$_1$, °प्रकाशां J$_5$ *(unm.)* **37d** उन्नीय] J$_6$GSM*D*; उनीय A, उत्तीर्य *cett.* ◇ सत्वरम्] तत्परां G **38a** प्राप्य] प्राग्ग μ **38b** पूर्ववद्] सूर्यं यद् A, सूर्य यद् J$_6$J$_7$ **38c** समुन्नीय] समुत्तीर्य $\alpha_2\alpha_3$ ◇ पुनस्तस्माद्] पदस्थानाद् μ **38d** नयेत्] व्रजेत् M **39b** पूर्ववद्] पूर्व*व** G, पूर्ववर्° α_3, पूर्ववत् Pγ_1, ग्रसंतीं K$_5$ ◇ ग्रसतीं] SNVFK$_6$B; धि सतीं A, धसतीं J$_6$J$_7$, अवतिं G, योगमा° R$_2$*D*, ग्रसती W$_1$, ग्रसतां M, °गसतां α_3, धमती J$_2$, धमति J$_4$, ध सती K$_4$, ग्रसन K$_2$, ग्रसंती P *(unm.)*, रसतं J$_3$, पूर्ववत् K$_5$, ग्रसति γ_1 ◇ स्मरेत्] °र्गवित् R$_2$*D* **39c** उन्नीय च] μG; उत्तीर्य तु α_2, तन्नादयत् α_3, समुन्नाय J$_3$, समुन्नीय K$_5$, अनाहते *D$_1$*, उन्नीय तु *cett.* ◇ पुनः] ततः M, नयेद् *D$_1$* ◇ पद्मे] पादौ α_3, योगी *D$_1$* **39d** षोडशारे] षोडशरि A, षोडशांते G, तत्र पूर्व° *D$_1$* ◇ निवेशयेत्] निवाशयेत् A, व**येत् G, °वदाचरेत् *D$_1$* **40a** तत्रापि चिन्तयेद्देवि] ततो विशुद्धादानीय *D$_1$* **40b** पूर्ववद्] कुण्डलीं *D$_1$* ◇ योगमार्गवित्] योगमात्मवित् μ, पूर्ववच्चरेत् *D$_1$*

38cd *om.* *D* **39c – 40b** *om.* R$_2$*D$_2$* (*eye-skip to* उन्नीय)

तस्मादुन्नीय भ्रूमध्यं नीत्वा जीवं ग्रसेत्पुनः ॥४०॥
ग्रस्तजीवां महाशक्तिं कोटिसूर्यसमप्रभाम् ।
मनसा सह वागीशी भित्त्वा ब्रह्मार्गलं क्षणात् ॥४१॥
परामृतमहाम्भोधौ विश्रामं सम्यगाचरेत् ।
तत्रस्थं परमं देवि शिवं परमकारणम् ॥४२॥
शक्त्या सह समायोज्य तयोरैक्यं विभावयेत् ।
यदि वञ्चितुमुद्युक्तः कालं कालविभागवित् ॥४३॥
यावद् व्रजति तं कालं तावत्तत्र सुखं वसेत् ।
ब्रह्मद्वारार्गलस्याधो देहकालप्रयोजनम् ॥४४॥
तस्मादूर्ध्वपदे देवि न हि कालप्रयोजनम् ।
यदा देव्यात्मनः कालमतिक्रान्तं प्रपश्यति ॥४५॥
तदा ब्रह्मार्गलं भित्त्वा शक्तिं मूलपदं नयेत् ।
शक्तिदेहप्रसूतं तु स्वजीवं चेन्द्रियैः सह ॥४६॥

41c – 42d *cit.* नारायणदीपिका *(D) ad* योगशिखोपनिषद् 2.3, ĀSS 29, p.485

40c तस्मादुन्नीय] तस्मात् भ्रूमध्यं G, तस्मादुत्तीर्य α_2, उन्नीय तस्माद् *D* ◇ भ्रूमध्यं] उन्नीय G, भ्रूमध्ये $J_4K_2K_6B$*D* **40d** नीत्वा जीवं ग्रसेत्] नीरत्क्षीरं ग्रसे∗ R_2, नीरत्क्षीरं ग्रसन् D_1, नीरत्क्षरं ग्रसेत् D_2 **41a** ग्रस्त°] $\mu\beta_1K_2PFK_5K_6W_2B$; ग्रस° G, ग्रस्तं $R_2SW_1M\alpha_3D$, यस्तं N, यस्तु J_3 ◇ °जीवां] μG°; क्षीरं R_2D, °ज्जीवं V, °जीवा J_3B, जीवं *cett.* ◇ महाशक्तिं] $\mu GJ_4K_2K_5K_6$; महाशक्त्या R_2D, महाशक्तिः $SF\gamma$, महेशानि α, महाशक्ति $J_2VK_4PJ_3$ **41b** °प्रभाम्] $\mu GK_5K_6\gamma_1$; °प्रभं $R_2S\alpha\beta_1K_2PFD_1$, °प्रभुः J_3, °प्रभा BD_2 **41c** वागीशी] $\alpha_2VPK_5K_6$; वागीशि $\mu GS^{pc}MJ_2J_4K_4$, वागीशीं R_2F, वागीशे S^{ac}, वागीशं α_3, वागीशा $K_2J_3D_2$, वागीसी γ_1, वागेशी B, वागीश्या $D_1D_2^{vl}$ **41d** भित्त्वा] नीत्वा α_3 **42b** विश्रामं] विश्वासं μ, विश्रान्तिं *D* ◇ सम्यग्] च्चरणं M, तत्र *D* ◇ आचरेत्] कारयेत् *D* **42c** देवि] देवं R_2 **42d** शिवं] शिवे SK_2J_3F, शिवै $P\gamma_1$ **43a** सह समायोज्य] सहस्रमायोज्य $PJ_3\gamma$, सह मया योज्य K_5 **43c** यदि वञ्चितुम्] यदि मोचितुम् μ, यदिदं चिंतम G *(unm.)*, यदिदं विसम् α_3 ◇ उद्युक्तः] $J_6J_7R_2S\alpha\beta_1PK_5K_6B$; अयुक्तः A, यद्युक्तं G, उच्छक्तः K_2, उत्सुक्तः J_3, उद्यक्तः F, उद्योगं J_1, उद्योक्तं J_5W_2 **43d** कालं] कालः G ◇ °विभाग°] °विधान° M, °विभाव° F **44a** यावद्] कालः R_2, कालस् *D* ◇ व्रजति] भजति AJ_7, स यावद् R_2, जीवत K_2, यतीतं F, तु यावद् *D* ◇ तं कालं] व्रजति R_2D, तत्कालं $G\alpha_3K_2$ **44b** तत्र सुखं] तस्यां मुखं N, तस्यां सुखं W_1M, तत्संमुखं α_3 ◇ वसेत्] वशेत् $AJ_7\alpha_3K_2J_3F^{ac}$, भवेत् G, व∗शे∗त् K_6 **44c** °र्गलस्याधो] μW_1MK_5D; °र्गळस्याधः G, र्ग∗याधो R_2, °र्गलायाधो $S\beta_1PF\gamma$, °र्गलःस्याधो N, °र्गलस्यादौ α_3, °र्गलाच्चादो K_2, °र्गलायाधौ J_3, °र्गलांयाधो K_6 **44d** देह°] देहे μK_5, देवि G ◇ °काल°] °लक्ष° $NM\alpha_3$, °लक्ष्य° W_1 **45a** ऊर्ध्वपदे] ऊर्ध्वपदं αD_2, ऊर्ध्वं पदं D_1 ◇ देवि] देयं *D*, देहं D_1^{vl} **45c** यदा] यदि α_3 ◇ देव्य्] दिव्य्° $G\alpha_1$, ∗दिव्य्∗° J_4, देव्° J_3, D_2^{vl} **45d** प्रपश्यति] प्रविश्यति A, स पश्यति M, प्रसाश्यति J_2K_4, प्रशाम्यति J_4, प्रणश्यति K_5 **46b** शक्तिं] μR_2SMVFK_5D; शक्ति° *cett.* ◇ °पदं] °पदे μM **46c** शक्ति°] शक्तिं AJ_6W_1 ◇ °देह°] देहा° μ, देहे W_1, दह PJ_3, मूल F ◇ °प्रसूतं] $R_2SJ_4VK_4PJ_3FK_6\gamma D$; °त्मसूनं μ, °प्रसू∗नं∗ G, °प्रवाहस् N, प्रसृतं W_1, °प्रस्तुतं $M\alpha_3$, °प्रसुतं J_2, °प्रभूतं K_2, प्रसूतस् K_5 ◇ तु] ∗तं∗ G, तं M, च α_3, वै F **46d** स्वजीवं] $\mu GR_2M\alpha_3D$; स जीवश् $SJ_2J_4K_4PJ_3FK_5$, तं जीवं NK_6, सजीवं W_1B, सृजीवश् V, स जीवेश् K_2, सर्जाव γ_2, स जीव W_2, सुजीव R_1 ◇ सह] सहः $\mu J_2K_4PJ_3$

40cd *om.* S **40d** ग्रसेत् – **41a** जीवां *om.* γ_2R_1 **43c – 44b** *om.* R_1 **45ab** *om.* γ

तत्तत्कर्मणि संयोज्य स्वस्थदेहः सुखं वसेत् ।
अनेन देवि योगेन वञ्चयेत्कालमागतम् ॥४७॥

[देहत्यागः]
यदि मानुष्यकं देहं त्यक्तुमिच्छा प्रवर्तते ।
ततः परमसंतुष्टो ब्रह्मस्थानगतं शिवम् ॥४८॥
शक्त्या संयोज्य निर्भिद्य व्योम ब्रह्मशिलां विशेत् ।
व्योमतत्त्वं महाव्योम्नि वायुतत्त्वं महानिले ॥४९॥
तेजस्तत्त्वं महातेजस्यप्तत्त्वं जलमण्डले ।
धरातत्त्वं धराभागे निरालम्बे मनः पदे ॥५०॥
व्योमादिगुणतत्त्वेषु स्वेन्द्रियाणि निवेशयेत् ।
एवं सांसारिकं त्यक्त्वा परतत्त्वावलम्बकः ॥५१॥
अस्पृष्टः पञ्चभूताद्यैर्भित्त्वा सूर्यस्य मण्डलम् ।
परतत्त्वपदे शान्ते शिवे लीनः शिवायते ॥५२॥
न कल्पकोटिसाहस्रैः पुनरावर्तनं भवेत् ।
अनुग्रहाय लोकानां यदि देहं न संत्यजेत् ॥५३॥

47a तत्तत्कर्मणि] μVK_5K_6B*D*; तत्तत्कर्माणि $GSPJ_3F\gamma_1$, ततत्कर्मणि R_2K_2, तत्रोक्तेनापि α_1, ततोक्तिमूल° α_3, ततत्वर्मणि J_2K_4, ततंतुर्मणि J_4 ◇ संयोज्य] मार्गेण α_1, °पदं नयेत् α_3 *(unm.)*, संयोज्यं $J_4K_4PK_6\gamma_1$ **47b** स्वस्थदेहः] GF*D*; स्वस्य देहः μR_2, स्वस्थदेहं $S\beta_1K_2PJ_3$-K_5K_6, शक्तिमूलं N, शक्तिमूल° W_1M, छक्तिदेह° α_3, स्वसंदेहं J_1R_1, स्वसदेहं J_5W_2, स्वदेहं तु B ◇ सुखं वसेत्] $GS\beta_1K_5K_6\gamma$; सुखं चरेत् μ, ** वसेत् R_2, पदं नयेत् α_1, °स्य प्रश्रुतं α_3, मुखं वशेत् K_2, सुखं वशेत् PJ_3F, सुखं व्रजेत् *D* **47c** अनेन देवि योगेन] स्वजीवं चेंद्रियैः सह α_3 **47d** वञ्चयेत्कालमागतम्] वंचयेत्कालमार्गगं μ, तत्र कालसमागतः α_3 **48d** °स्थान°] °स्थानं $\mu\alpha_3K_2FK_6$ ◇ °गतं शिवम्] परं शिव α_3, °गतं शिवे J_3F **49a** निर्भिद्य] $GR_2SN\alpha_3VPJ_3$-K_5K_6; निर्भिन्न° μ, निभिद्य W_1, निर्भि*द्य*M, निर्जिद्य J_2K_4, निर्*भिद्य*J_4, निर्भिग K_2, निर्भेद्य F, नीभेदा γ **49b** व्योम] योग α_3 ◇ ब्रह्म°] °ब्रह्मा μJ_1 ◇ °शिलां] °सभां R_2, °शिवं α_3, °शिला K_2, °शिलं γ ◇ विशेत्] $\mu R_2\beta_1PK_5K_6$; वसेत् $GF\gamma$, व्रजेत् $S\alpha K_2$, वशेत् J_3 **49c** °तत्त्वं] °तत्व $\alpha_3\gamma_1$, °सत्त्वं K_2 **49d** महानिले] अथानिले μ **50a** महा°] तथा A, यथा J_6 ◇ °तेजस्य्] °तेजा° R_2, °तेजो α_3, °तेजः K_2F, °तेजस्व् γ **50b** अप्तत्त्वं] GVJ_3FK_5; आप्तत्वं μS, °पस्तत्व R_2, अंभसो α_1, यस्यत्वं α_3, अस्यत्वं J_2K_4, अपत्वं J_4K_6, जलं च K_2, असत्वं $P\gamma_1$, अतत्वं B **50c** धरातत्त्वं] महीतत्त्वं α, आपतत्त्वं γ_1, आपस्तत्त्वं B ◇ धराभागे] महीभागे α_1, महाभागे α_3 **50d** निरालम्बे] निरालंबं G ◇ पदे] GK_2B; परे $\mu SW_1M\beta_1PFK_5K_6\gamma_1$, परं $N\alpha_3J_3$ **51a** °गुण°] °पर° M **51b** स्वे°] चे° $W_1\alpha_3$ **51c** एवं] य* G ◇ सांसारिकं] μJ_4VK_5B; वंसावधिं G, सांसारकं R_2, संसारिकं $S\alpha_3J_2K_4K_2PFK_6\gamma_1$, शरीरकं α_2, शरीरं तु M ◇ त्यक्त्वा] पश्चात् N, त्यक्ता $M\alpha_3\beta_1K_2\gamma_2W_2$, त्यक्त्या R_1 **51d** पर°] परा μ, परं α_3J_4 ◇ °वलम्बकः] °वलंपकः A, °विलंवकः α_3, °वलंवकाः $J_2J_4K_4$, °वलंबकं γ_1, °वलंबनं B **52a** अस्पृष्टः] *conj.* Sanderson; अदृष्टः $\mu SK_2K_5K_6R_1$, अदृष्टं $GW_1J_2J_4$, अदृश्यः R_2, अदृष्ट° $NM\alpha_3K_4PF\gamma_2W_2B$, अदृष्टा V, अद्रष्टं J_3 ◇ पञ्च°] सर्व° S **52c** पर°] परं α_3 ◇ °तत्त्व°] $\alpha_3J_4\gamma$; °तत्वे μMV, °तत्त्वं G, **R_2, °तत्वो° $S\alpha_2J_2K_4K_2PFK_5K_6$, °त्वो J_3 *(unm.)* ◇ पदे] परे μG **52d** शिवे लीनः] शिवा लानः R_2 **53a** न कल्पकोटिसाहस्रैः] कल्पकोटिसाहस्रैश्च G, न कोटिकल्पसाहस्रैः α **53b** आवर्तनं] आवर्तिनो G, संवर्तनं α, आगमनं K_6

47cd *om.* α_1 **47c – 48d** *om.* G (*see addition at* 54b) **53a** स्रैः – **53d** यदि *om.* J_3

प्रलयान्ते तनुं त्यक्त्वा स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
इत्येषा खेचरीमुद्रा खेचराधिपतित्वदा ॥५४॥
जन्ममृत्युजरारोगवलीपलितनाशिनी ।
[खेचरीस्तुतिः शिवभक्तिश्च]
अनया सदृशी विद्या क्व चिच्छास्त्रान्तरे न हि ॥५५॥
खेचरीमेलनं देवि सुगुह्यं न प्रकाशयेत् ।
तस्याश्चाभ्यासयोगो ऽयं तव स्नेहात्प्रकाशितः ॥५६॥
खेचरी नाम या देवि सर्वयोगीन्द्रवन्दिता ।
नैनां यो वेत्ति लोके ऽस्मिन्स पशुः प्रोच्यते शिवे ॥५७॥
नित्यमभ्यासशीलस्य अटतो ऽपि जगत्त्रयम् ।
गुरुवक्त्रोपसंलब्धां विद्यामभ्यसतो ऽपि च ॥५८॥
खेचरीमेलकाद्येषु नित्यं संसक्तचेतसः ।
न सिध्यति महायोगो मदीयाराधनं विना ॥५९॥

54b स्वात्मन्य्] आत्मन्य् α_3, स्वात्मन् γ_1 **54c** एषा] एवं Gα **54d** °पतित्वदा] μ; °पतिस्त∗ G, °∗पति∗∗∗ R_2, °पतिस्तदा S$\alpha_1\beta\gamma$, °पतिस्तथा α_3 **55b** वली°] वलि $AJ_6J_4VJ_3K_6$ ◇ °पलित°] °दर्पवि° G **56a** °मेलनं] °मेलन A ◇ देवि] देवी $\alpha_2VJ_3K_6$ **56b** सुगुह्यं] सुगुप्तं μ, सगुह्य K_2, सगुह्यं γ ◇ न प्रकाशयेत्] Aα_1; न प्रकारयेत् J_6J_7, संप्रकाशितं G, ते प्रकाशितं $S\beta_1PFK_5K_6J_5W_2B$, तत्प्रकाशितं α_3, ते प्रकाशित K_2, ते प्रकाशितः J_3, ते प्रकाशिनी J_1R_1 **56c** तस्याश्] $G\alpha_1\beta_1PFK_5K_6$; तस्य μ, ∗स्य∗ R_2, तस्यां S, तस्या J_3 ◇ चाभ्यास°] स्वाभ्यास° μ, अभ्यास° SJ_3 ◇ °योगो ऽयं] °योगे यं A, °योगेन R_2J_4, °योगश्च α_1 **56d** स्नेहात्प्रकाशितः] दे∗ ∗∗∗∗ R_2, स्नेहेन कीर्तितः α_1, स्नेहात्प्रकाशितं J_2V, प्रीत्या प्रकाशितं J_3, स्नेहप्रकाशितः F **57a** खेचरी] मदिरा μ, खेचर्या α, खेचरो γ_2R_1 ◇ नाम या] न समा α, नाम यो J_1R_1 ◇ देवि] $\mu GS\alpha_1K_1J_2K_4K_2J_3FK_5^{ac}J_1R_1$; देवी $K_3J_4VPK_5^{pc}K_6J_5W_2B$ **57b** °योगीन्द्र°] °योगेंद्र° $\alpha_3\gamma_1$ ◇ °वन्दिता] °वंदिते α **57c** नैनां] एनां $G\alpha_1$, तां न α_3, नयनां γ_1 *(unm.)* ◇ यो] ∗न∗ो G **57d** पशुः] प्रभुः α_1 **58a** °शीलस्य] °शीलस्या G **58b** अटतो] आटतो AB ◇ °त्रयम्] °त्रये $W_1M\alpha_3$ **58c** गुरुवक्त्रोपसंलब्धां] μ; गुरु∗व∗क्त्रे पि लब्धस्य G, गुरुवक्त्रादसंलब्धा N, गुरुमन्त्रे च संलभ्य F, गुरुवक्त्राच्च संलभ्य *cett.* **58d** विद्यामभ्यसतो] विद्यामभशतो A, विद्यामभ्यस्यतो GK_5, विद्ययाभ्यासतो α_3 ◇ च] $\mu G\alpha_1$; वा *cett.* **59a** °मेलकाद्येषु] α_2; °मेलनादिश्च μ, °मेळनाद्येषु G, °मेलकाद्यैश्च Sβ, °मेलकामेषु M, °मीलकाद्येषु α_3, °मेलकाद्यौ श्री γ_1, °मेलकाद्यैः श्री B **59b** नित्यं] नित्य° R_2FK_6 ◇ संसक्तचेतसः] सप्रेमवेतसः μ, संसिक्तसेवतः J_3 **59c** सिध्यति] विद्यते G, सिध्यंति $J_4\gamma_1$ ◇ °योगो] °योगं μ, [..] R_2, °योगी $\alpha_2\alpha_3K_2J_3$ **59d** मदीया°] मदिरा° μ, मदिदं G, गुरुरा° V, महीया° R_1

54b अनेन देवि योगेन वंचयेत्कालमार्गतः यदि मानुष्यकं देहं त्यक्तुमिच्छा प्रवर्तते ततः परमसंतुष्टो ब्रह्मस्थानगतं शिवं । मूलाधार त्रिकोणे वृषणगुदतले वह्निमायांतबीजं पाकस्तं ∗∗युक्तं रसनपरिगतं तन्मयं भाविता ∗ा । ∗∗त्यागं कवित्वं परपुरगमनं णं स्याज जीवेदाच∗ंद्र∗तारं मरणभयहरं सम्यगीशान धा । *add.* G **55–69** *This passage is significantly different in* G *and* μ*: see pp. 139–142 for editions of the passage as found in those witnesses and p. 7 for an analysis of the differences.* **56ab** *illegible* R_2 **56cd** *om.* $\alpha_3K_2\gamma$ **56d** एतद्योगो मयाख्यातः किं भूय श्रोतुमिच्छसि शंभोस् संभावनं लभ्य जयेच्चंद्रार्कतारकं *add.* G (≃ 68a, 68d, 69ab), शिवे सकलसिद्धिदा *add.* K_4 **57abc** *illegible* R_2 **58b – 59a** *illegible* R_2 **59d – 60b** *illegible* R_2

मत्प्रसादविहीनानां मन्निन्दापरचेतसाम् ।
पशूनां पाशबद्धानां योगः क्लेशाय जायते ॥६०॥
सर्वज्ञेन शिवेनोक्तां पूजां संत्यज्य मामकीम् ।
युञ्जतः सततं देवि योगो नाशाय जायते ॥६१॥
भक्त्या संतर्पयेद्देवि सर्वलोकमयं शिवम् ।
मय्येवासक्तचित्तस्य तुष्यन्ति सर्वदेवताः ॥६२॥
तन्मां संपूज्य युञ्जीत मत्प्रसादेन खेचरीम् ।
अन्यथा क्लेश एव स्यान्न सिद्धिर्जन्मकोटिषु ॥६३॥
सर्वे सिध्यन्ति मन्त्राश्च योगाश्च परमेश्वरि ।
मदाराधनशीलस्य मय्येवासक्तचेतसः ॥६४॥
तस्मान्मां पूजयेद्देवि सर्वयोगाभिवृद्धये ।
खेचर्यानन्दितो योगी योगं युञ्जीत तन्मयम् ॥६५॥

60a मत्°] तत्° μ ◇ °प्रसाद°] °प्रसाध° α_3, °प्रसादे PJ_3 ◇ °विहीनानां] °विहीनस्य G **60b** मन्निन्दा°] तन्निंदा° μ, सदा सं° K_2 ◇ °परचेतसाम्] °परचेतसः G, °रतचेतसां S, °पारचेतसां J_2J_4V, °सारचेतसां K_2 **60c** पशूनां पाशबद्धानां] पशोः पाशप्रवंधस्य μ, पशोः पाशविबद्धस्य G **61a** सर्वज्ञेन] सर्वमेतच् G ◇ शिवेनोक्तां] J_6MK_2; छिवेनोक्तां G, शिवेनोक्त P, शिवेनोक्ते F, शिवेनोक्तं *cett.* **61b** पूजां] पूजा $K_3\gamma$ ◇ मामकीम्] $S\alpha J_4K_2J_3FK_6$; मादिरीं μ, मानवः G, मामिकीं J_2VK_4, मामिकां PK_5, मामिका γ **61c** युञ्जतः] $\mu\alpha_2$; यज्यतस् G, युज्यतः $SJ_4VPJ_3K_5^{pc}K_6$, पुंजतः M, पूजितः α_3, पुज्यतः J_2K_4, यज्यते K_2, पूज्यतस् F, युज्यत K_5^{ac}, पूज्यतः γ **61d** योगो] योगी γ **62a** भक्त्या संतर्पयेद्] $GR_2S\beta\gamma$; वारुण्या तर्पयेद् μ, भक्त्या संजायते α **62b** °मयं शिवम्] °मयं शिवे μF, °मये शिवे M **62c** मय्येवासक्तचित्तस्य] एकविंदुप्रदानेन μ, शिवध्यानपरे पुंसि G, मद्ध्यानाशक्तचित्तस्य α_3 **62d** तुष्यन्ति] तृप्तंते A, तृप्यंते J_6J_7, तुष्यंते G, सर्वास्तु° K_5 ◇ सर्वदेवताः] कोटिदेवताः μ, सर्वदेवता $NK_3K_2J_3K_6\gamma_1$, °ष्यंति देवताः K_5 **63a** तन्मां] $\beta_1PJ_3K_5K_6B$; तस्मात् $\mu GS\alpha_1K_1F$, षण्मा° K_2, तन्मा γ_1 ◇ युञ्जीत] युंजीतः A, युज्यंतं G, संपूज्य α, पुंजीत J_2J_4, युजात J_3, प्रौजीत γ_2R_1, प्रोंजीत W_2 **63b** मत्प्रसादेन खेचरीम्] $SK_1J_2VPFK_6$; तत्प्रसादपवित्रितः μ, मत्प्रसादपवित्रितं G, ***देन खेचरीम् R_2, मत्प्रसादेन खेचरी $\alpha_1J_4K_2J_3\gamma$ **63c** क्लेश] क्लेशम् W_1K_1, क्रीय° K_2, क्तेश P ◇ एव स्यान्] संयाति N, आयाति W_1, संपत्तिर् M, आप्नोति K_1, पश्यंति K_3, °ते देवि K_2 **63d** सिद्धिर्] सिद्धि $W_1\gamma_1$, सिद्धिः J_3 ◇ जन्मकोटिषु] जन्मकोटिभिः $G\alpha$, खेचरीपदः J_3 **64b** योगाश्च] $\mu GM\alpha_3K_5$; यो[..] R_2, योगश्च $S\alpha_2\beta_1K_2PJ_3FK_6$, योगस्य γ ◇ परमेश्वरि] परमेश्वरी $\alpha_3VK_2J_3K_6\gamma_1$ **64c** मद्°] मह्° $\mu P\gamma_1$, [.] R_2, सद्° K_3 **64d** मय्येवा°] मयैवा° AJ_7, मय्यैवा° J_6, मध्याना° R_2, मद्ध्याना° α_3 **65a** तस्मान्मां पूजयेद्] GM; तस्मात्सां पूजयेद् R_2, तस्मात्पूजयते γ, तस्मात्संपूजयेद् *cett.* **65b** °योगा°] °योग° $\alpha_1K_2J_3$, °रोगा° J_4, °योगान् B ◇ °भिवृद्धये] $\mu S\alpha_3\beta_1FK_5$; °भिवृच्छये G, °भिवृद्धयो R_2, °विवृद्धये α_1K_6, °स्य सिद्धये K_2, °निवृद्धये P, °निसिध्यये J_3, °निवर्द्धनी J_1R_1, °निवर्द्ध J_5 *(unm.)*, °निबर्द्धयत् W_2, °विवर्थयन् B **65c** खेचर्या°] मदिरा° μ, खेचर्यां GN ◇ योगी] *om.* β_1, देवि $K_2\gamma$ **65d** योगं] योगो $AJ_2J_4K_4K_2PJ_3F\gamma$ ◇ तन्मयम्] नित्यदा μ, मन्मयं GR_2

---

61 *illegible* R_2 **62b** गौडी माध्वी च पैष्ठी च तथा कादंबरी वराः । कादम्बरी च द्रुमजा माध्वी मधुसमुद्भवा ।। पैष्ठी पिष्टसमुद्भूता गौडीक्षुरससंभवा । तासामेकतमां गृह्य तर्पयेत्सर्वदेवताः ।। असक्तः सुमहापूजां यदि कर्तुं च साधकः । कुर्याद् बिन्द्वेकदानं वा गुरुवाक्यावलम्बकः ।। *add.* μ (*for variants see page 139*) **62c – 63a** *illegible* R_2 **63ab** *om.* K_3 **64b** सम्यक्पूजाप्रयोगेण मदिरानंदचेतसः । असंपूज्य पिवेद्देवि मदिरां यः स पापभाक् ।। *add.* μ, सम्यक्पूजाप्रयोगेन मध्याह्ने मत्तमानसः मामसंपूज्य योगेन पापं भवति नान्यथा *add.* G **64cd** *om.* G

विजने जन्तुरहिते सर्वोपद्रववर्जिते ।
सर्वसाधनसंयुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ॥६६॥
मृद्वासनं समास्थाय स्वगुरूक्तप्रकारतः ।
कुर्यादेकैकमभ्यासं गुरुवाक्यावलम्बकः ॥६७॥
अयं योगो मयाख्यातः सर्वयोगप्रसाधकः ।
तव प्रीत्या महेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥६८॥
श्रीदेव्युवाच
शम्भो सद्भक्तिसंलभ्य जय चन्द्रार्धशेखर ।
त्वया श्रीखेचरीविद्या गुह्या साधु निरूपिता ॥६९॥

इति श्रीमदादिनाथप्रोक्ते महाकालयोगशास्त्रे
उमामहेश्वरसंवादे खेचरीविद्यायां तृतीयः पटलः

66b °वर्जिते] °वर्जितः α_3 **66c** °संयुक्तः] °संपन्नः S **67a** मृद्वासनं] $J_2VPJ_3FK_5K_6J_5W_2B$; मृद्वानसम् A, मृद्वास[नं] J_6, मृद्वासन $J_7J_4K_4$, मद्वर्णं च G, **सनं R_2, सिद्धासनं $S\alpha_1K_2$, रुद्रासनं α_3, सद्वासनं J_1R_1 ◇ समास्थाय] आस्थाय A *(unm.)*, समासाद्य α_1, समास्थाप्य γ_1 **67c** एकैकमभ्यासं] एकैकया देवि G, वैकैकमभ्यासं α_3 **67d** °वाक्या°] °मार्गो° α_3, °मार्गा° K_2 ◇ °वलम्बकः] °वलंबकं α_2V **68a** अयं योगो] एत योगं A, एतद्योगं J_6J_7 ◇ °आख्यातः] °आख्यातं μK_2, °आख्यातो γ **69a** शम्भो] शंभोः α_3, शन्तो J_3, शनो K_6 ◇ सद्भक्ति°] SK_3-$J_2VK_4PJ_3FK_5\gamma$; सद्भाव μW_1, संसि*क्त* R_2, स⊔क्ति N, यद्भक्ति M, सद्भक्तिं K_1K_2, मद्भक्ति J_4, स*क्ति K_6 **69b** जय] जपं M, जयं $\alpha_3\gamma_1$ ◇ °चन्द्रार्ध°] चंद्रकं K_1, चंद्रक K_3, °चंद्रार्क° γ ◇ °शेखर] खेचरी α_3, °शेखरे $J_2J_4K_4K_2W_2$, °खेचरः V, °शेखरा K_6, °शेखरं γ_2R_1 **69c** श्री°] च G **69d** गुह्या साधु निरूपिता] $S\alpha_1\beta$; °साधनं गुह्यमीरितं μ, सारवत् गुह्यतामियात् G, गुह्या सा च निरूपिता α_3, गुह्यगुह्यनिरूपिता J_1, गुह्यद्गुह्यनिरूपिता J_5W_2, गुह्यागुह्यनिरूपिता R_1, गुह्याद्गुह्या निरूपिता B

66cd *om.* μG **67b** संतर्प शिवमीशानं सर्वदेवोत्सवप्रदं मत्प्रसादेन महता सर्वविज्ञानवान् भवेतसक्त-*स्सु*महापूजां यदि क*तुं* च साधकः *add.* G **67cd** *om.* μ ◇ संतर्प्य शिवमीशानं देवीं देवांश्च सर्वशः । तत्प्रसादेन लभते सम्यग् ज्ञानमखण्डितं ।। *add.* μ **68a–69b** *om.* G (*see addition at* 56d) **68ab** *om.* $R_2\alpha_3$ **68bc** *om.* μ **68d** इति श्रीमत्स्येंद्रसंहितायां षोडशः पटलः ।। *add.* μ **69d** *illegible* R_2

चतुर्थः पटलः

[सिद्धौषधानि]

अथ ते संप्रवक्ष्यामि सुदिव्यान्यौषधानि च ।
औषधेन विना योगी न क्व चित्सिद्धिमेष्यति ॥१॥
भिक्षूत्तमाङ्गपरिकल्पितनामधेयं
    तत्पत्रपुष्पफलदण्डसमूलचूर्णम् ।
तक्रारनालपयसा मधुशर्कराद्यै
    र्दद्यात्पृथक्कवलितं रसमण्डलानि
†पालित्यहानिमतिसत्त्वमुदारवीर्यम्
    उत्साहरोगहरणानि च सम्यगेव† ॥२॥
कर्णे वराहो नयने गरुत्मान्

Witnesses for the fourth paṭala:
$AJ_6J_7SNW_1MK_1K_3J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5J_1J_5W_2R_1B$; K_6 (*up to* 2a); O (*verse* 4)
μ=AJ_6J_7 ◇ α=$NW_1MK_1K_3$ α_1=NW_1M α_2=NW_1 α_3=K_1K_3 ◇
β=$J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5K_6C$ β_1=$J_2J_4VK_4$ ◇ γ=$J_1J_5W_2R_1B$ γ_1=$J_1J_5W_2R_1$ γ_2=J_1J_5

1a अथ ते] μ; अथातः *cett.* **1b** सुदिव्यान्य्] $S\alpha_1K_1J_2B$; सुदिव्यान् μJ_4, सुदिव्यौन्य् K_3, ते दिव्यान्य् $VK_2K_5K_6$, दिव्यान्य् K_4 *(unm.)*, त दिव्यान्य् P, मे दिव्यान्य् J_3, देवि दिव्य् F, दिव्यानि γ_2, दिनि W_2 *(unm.)*, दिव्या R_1 *(unm.)* ◇ च] $\mu\alpha J_1R_1$; तु *cett.* **1c** योगी] योगं α_3 **1d** क्व] कश् α_3, किं J_4 ◇ एष्यति] $J_6S\alpha\beta_1PJ_3FK_5K_6$; इर्ष्याति A, इष्यसि J_7, इच्छति K_2, इष्यति γ_1, आप्नुयात् B **2a** भिक्षू°] भिक्षरा° μ, साक्षा° α_3, भिक्षु° J_2K_4, मिक्षु° J_4, भिक्ष° PR_1 ◇ °त्तमाङ्ग°] °तमांग° A, °त्तमंग° α_3, °तंमाग° J_4, °त्तमां γ *(unm.)* ◇ °धेयं] $S\alpha_1\gamma$; °धेय μK_5, °धेया $\alpha_3J_2K_4$, °ध्येया J_4, °धेय VF, °ध्येयं K_2, °ध्येय P, °मध्ये J_3 **2b** तत्°] यत्° J_3 ◇ °पत्रपुष्प°] °पुष्पफुलं K_2, °पत्रापूष्प° J_3, °पुष्पपत्र° B ◇ °फल°] °फलं VP, °वस° K_2 ◇ °दण्ड°] °मूल° α_3 ◇ °चूर्णम्] °पूर्णं α_3 **2c** तक्रा°] तत्क्रा° S, तिक्ता° α_3, तक्ता° J_2VB, त्वक्रा° K_2 ◇ मधु°] घृत° M ◇ °आद्यैर्] μF; °आज्यैर् *cett.* **2d** दद्यात्] $\mu S\alpha_1J_2VPFK_5$; यादः α_3, दृद्यात् J_4, तद्यात् K_4, देया K_2, दद्या J_3, दद्यत् γ_2W_2, चह्म R_1, दध्यत् B ◇ पृथक्°] क्व चित् α_3 ◇ °कवलितं] $\mu SNMJ_2VPFK_5\gamma$; °ववलितं $W_1J_4K_4$, °क्रमगवं K_1, °कमगवं K_3, °वलित्त्वं K_2 *(unm.)*, °ववलिने J_3 **2e** पालित्य°] $J_6J_7W_1M\alpha_3J_2VK_4$; पलित्य° A, पलित° SJ_3, पालिस° N, पालित° J_4P, पलि° K_2 *(unm.)*, वलीपलित° F *(unm.)*, मालिन्य° K_5, पलितं γ ◇ अतिसत्त्वम्] $\mu S\alpha J_2J_4VPJ_3FK_5$; अलिसत्वम् K_4, असत्त्वम् K_2 *(unm.)*, अतियतित्वम् γ_1 *(unm.)*, अयतित्वम् B **2f** उत्साहरो°] $\mu\alpha$; उत्साहसे° S, उत्सापयेद् J_2, उत्प्रापयेद् J_4, उत्थापयेद् VPJ_3-FK_5, उछापयेद् K_4, उत्थायएद् *(sic)* K_2, उत्थाय यो J_1, उत्थाप यो J_5W_2, उ*त्थ*ाय यो , उत्थाप्य यो B ◇ °गहरणानि च] J_6; °गहरिणानि च AJ_7, °कगमानानि च S, °गगहनानि च NW_1K_1, °गहनननानि च M *(unm.)*, °गगहना*नि* K_3, गहनतानव $J_2J_4VK_2PK_5\gamma$, गहनतानाव K_4 *(unm.)*, गगनताथने J_3, दहनतानव F ◇ सम्यगेव] $\mu J_2J_4K_4PJ_3F$; सर्वमेव $S\alpha$, संगमेव V, सम्यगेवा K_2, संम्यगेव K_5, सभ्यगेव γ_2R_1, सभ्यगे च W_2B **3a** कर्णे] $\mu S\alpha_1J_2VK_4K_2K_5$; करर्णो α_3J_4, करर्णौ PFJ_1, कर्णौ J_3, करणौ J_5W_2, वर्णो R_1, कर्णा B ◇ वराहो] वराहेः N, वराही J_2J_4, वराहुर् K_2, चराहो PJ_3F, वरोधो B ◇ नयने] नद्यने α_3 ◇ गरुत्मान्] AJ_6MK_5; गरुच्यान् J_7, गजस्यान् S, गरूत्मान् α_2J_4V, नवात्मा α_3, गरुत्मा K_4, रुगमान् K_2, गरुपान् PF, गरूपान् J_3, गरुडयान् γ_2R_1 *(unm.)*, गरुड्यान् W_2, गरुड्पान् B

2a परिकल्पित] प *end of K_6: f.22 damaged*

नखाश्च दन्ताः किल वज्रतुल्याः ।
युवा महामारुतसाम्यवेगो
जीवेच्च यावद्धरणीन्दुताराः ॥३॥
वाराहीकन्दचूर्णं घृतगुडसहितं भक्षयेत्पुष्टिवृद्धी
तक्रे दुर्नामनाशस्त्वथ पुनरपि गोक्षीरके कुष्ठनाशः ।
तच्चूर्णं शर्कराद्यैर्मधुमपि च पयः पाययेच्च द्विकालम्
द्वौ वर्षौ कृष्णकेशी हतवलिपलितः †कृष्णभेदी शरीरे† ॥४॥
एरण्डतैलसंयुक्तं गुग्गुलुं त्रिफलायुतम् ।
गन्धकं भक्षयेत्प्राज्ञो जरादारिद्र्यनाशनम् ॥५॥
अश्वगन्धा तिला माषाः शर्करा विश्वसर्पिका ।

---

4 *cit.* "खेचरीविद्या" (O) f.8v

3b नखाश्च] ग्रखंड° μ ◇ दन्ताः] दंतश् μ, दंताश् α_3, दंता β_1PJ$_3\gamma_2$, देता W$_2$ ◇ किल वज्रतुल्याः] Sα_1J$_2$VK$_2$FK$_5$; च भवेच्च वज्रं μ, च पुनर्भवेयुः α_3, किल वज्रतुल्यः J$_4$K$_4$, किल वज्रतुल्या P, खिल वज्रतुल्या J$_3$, किल वज्रतुल्यं γ_1, किल च न तुल्याः B **3c** युवा] वायु R$_1$ ◇ °साम्य°] °तुल्य° MK$_5$, सम्यग् β_1PJ$_3$Fγ ◇ °वेगो] J$_6$J$_7$SαK$_2$K$_5$; °वेगा A, एव β_1J$_3$-Fγ, ग्रव P **3d** जीवेच्च] μM; जीवेत्तु SJ$_2$VK$_4$PFK$_5$, जीवेत्स N, जीवेंदु W$_1$, जीवेत α_3B, जीवेत् J$_4$ *(unm.)*, जीवे तु K$_2$J$_3$, जवे च γ_2, जीवे च W$_2$, जवे*च्च*R$_1$ ◇ यावद्] पार्वं K$_2$ ◇ धरणीन्°] μSW$_1$Mα_3; वरणीं° N, धरणी° J$_2$K$_4$K$_2$PFK$_5$, हरणी° J$_4$, धरस्मी° V, वरणां° J$_3$, धरिणा° γ_1, वरिणा° B ◇ °दुताराः] μSα; °हुताशः J$_2$K$_4$PFK$_5$B, °हुतासः J$_4$K$_2$, °हुतांशः V, °गतासः J$_3$, °हताश γ_2R$_1$, °हुताश W$_2$ **4a** वाराही°] चाराही° α_2 ◇ °कन्द°] °स्कन्द° K$_1$, °स्कद° K$_3$ ◇ °घृत°] °शघृत° J$_2$K$_4$ *(unm.)*, °शंघृत° J$_4$ *(unm.)* ◇ भक्षयेत्] भक्षयेद् α_3 ◇ °वृद्धी] SN; °वृध्यौ μ, °वृद्धिस् Mβ_1O, °वृद्धि W$_1$, °वृध्या K$_5$ **4b** तक्रे दुर्नाम°] μ; तक्रैर्दुर्नाम° SN, तक्रैर्दुनाम° W$_1$, तक्तें दूनाम° M, तर्क्रे दुर्नाम° J$_2$J$_4$V, तक्रें दुर्नाम° K$_4$, तक्रैन्दुर्नाम° K$_5$, तक्रे दुर्माम° O ◇ °नाशस्त्वथ] μSα_2K$_5$O; नाशस्तथ M, नासस्त्यथ J$_2$VK$_4$, न समय J$_4$ ◇ कुष्ठ°] SMK$_5^{pc}$; कुष्ट° $\mu\alpha_2$J$_2$J$_4$K$_4$K$_5^{ac}$O, कृष्ट° V **4c** तच्चूर्णं] μSα_1VK$_5$; तच्चूर्ण J$_2$, तचूंर्णं J$_4$, तद्वर्ण K$_2$, तद्वर्णं K$_4$PJ$_3$F, तद्वन्मधुशार्कराद्रुग्धवर्णं γ *(unm.)*, तद्वर्सं O ◇ °शर्क°] °संक° K$_2$ ◇ °राद्यैर्] °राज्यैर् S^{pc}W$_1^{ac}$MJ$_3$ ◇ मधुमपि च पयः पाययेच्] μ; मधुयुतमपि यः सेवते S, मधुरपि च यः सेवयेत् N *(unm.)*, मधुरपि च यत्सेवयेत् W$_1$ *(unm.)*, मधुरपि च पयः सेवते M, मधुरपि च पी*य*ते J$_2$ *(unm.)*, मधुरपि च पुन पीयते J$_4$, मधुरपि वयज सत्ते V *(unm.)*, मधुरपि च पयते K$_4$, मधुर पिवेतयोमिनः K$_2$ *(unm.)*, मधुरपि वययते P *(unm.)*, मधुर पिविते J$_3$ *(unm.)*, मधुरपि पिबते F *(unm.)*, मधुरपि वसते K$_5$ *(unm.)*, मधुरपी पिवेते γ_2R$_1$ *(unm.)*, मधुरपी पिबसे W$_2$ *(unm.)*, मधुरपी पिवसेत् B *(unm.)*, मुधुरमपि पयः पीयते O ◇ च द्विकालम्] μ; सर्वकाल γ_1, सर्वकालं *cett.* **4d** द्वौ] द्वि° Fγ, व° O ◇ वर्षौ] वर्षो μK$_4$, कर्षौ Sα_2, °र्षाभ्यो O ◇ °केशी] °केशो SMO, °केशा γ ◇ हत°] वलि° μ, दुत N, *द्रु*त W$_1$ ◇ °वलि°] °पलि° μ, °वलीत° J$_4$ *(unm.)*, °वहलि° V *(unm.)*, °वल° K$_2$, °वली° K$_5^{ac}$W$_2$B ◇ °पलितः] α_1K$_5$O; °तहरो μ, °पतितः S, °पलीता J$_2$J$_4$K$_4$, °पलिता VK$_2$J$_3$, °मलीताहतवलिमलिता P *(unm.)*, °पलितं F, °पलित γ ◇ †कृष्ण°†] वर्ष° μ, कार्श्य° Sα_2, *चं*° J$_4$ *(unm.)*, चष्ण° K$_4$, कृष्ट° K$_2$ ◇ †शरीरे†] μMJ$_3$K$_5$O; °शरीरं *cett.* **5a** °तैलसंयुक्तं] °फलतैलेन μ **5b** गुग्गुलुं] FB; त्रिफला μ, गुग्गुलं *cett.* ◇ °त्रिफलायुतम्] गुग्गुलेन च μ **5c** प्राज्ञो] प्राज्ञे VK$_5$ **5d** जरा°] वली° M, मासे J$_1$ ◇ °दारिद्र्य°] Sα_2FK$_5$B; °दारिद्र° AJ$_7$J$_2$VK$_4$K$_2$J$_3$W$_2$, °दारिड्य° J$_6$, °पलित° M, °दरिद्र° J$_4$, °दारिद्रा° P, नदज° J$_1$R$_1$ *(unm.)*, द J$_5$ *(unm.)* ◇ °नाशनम्] °रामर J$_1$R$_1$, *om.* J$_5$ **6a** °गन्धा] °गंध α_2, °गंधास् M ◇ °तिला°] °तिल° $\alpha_2\alpha_3$ *(unm.)* ◇ °माषाः] μSM; °माष° $\alpha_2\alpha_3\gamma$, °माषा° β **6b** °विश्वसर्पिका] S; °विश्वसर्पिषाः μ, °स्वसर्पिध्यानं α_3 *(unm.)*, °किश्वसर्पिषा K$_4$, °विश्वसर्पिषा *cett.*

4ab *om.* K$_2$PJ$_3$Fγ **4a** पुष्टिवृद्धिस् – **5d** *om.* α_3

मासमात्रप्रयोगेन न रोगो मरणं भवेत् ॥६॥
पञ्चभिः पञ्चमासेन प्राप्यते ऽमरता प्रिये ।
गन्धकत्रिफलाकुष्ठं मधुरत्रयमेलितम् ॥७॥
भक्षयेत्प्रातरुत्थाय षण्मासाद्वलिपालिहा ।
पारदं गन्धकं देवि तालकं च मनःशिलाम् ॥८॥
कुनष्टिकायष्टिरजो रुद्राख्यं मुण्डिकारजः ।
त्रिमधुप्लुतमास्वाद्य वत्सरात् खेचरो भवेत् ॥९॥
भृङ्गं समूलं परिशोष्य चूर्णं
कृष्णांस्तिलांश्चामलकं तदर्धम् ।
मधुत्रयैः स्वाद्य सदैव वर्षान्
न व्याधयो नापि जरा न मृत्युः ॥१०॥

6c मास°] षण्मास° α_3 *(unm.)* ◇ °मात्र°] °त्रय° MVJ_3 **6d** न रोगो मरणं भवेत्] नरो मरवरं लभेत् μ, नरः परमपदं लभेत् α_3 *(unm.)* **7b** प्राप्यते] $\mu\alpha_3$; प्राप्नोति *cett.* ◇ ऽमरता] μ; परमां $SNMJ_4VK_4K_5$, परमं W_1F, मरतां α_3, परमा $J_2K_2P\gamma$, परम J_3 **7c** गन्धक°] $V\gamma$; गंधकं *cett.* ◇ °कुष्ठं] J_6SMFW_2; °क्रुष्टं A, °कुष्टं $J_7\alpha_2K_1\beta_1K_2P\gamma_2R_1B$, °कुष्ठ K_3, °युष्टं J_3, °कुष्ट K_5 **7d** मधुरत्रय°] मधुश्रय° γ *(unm.)* **8b** वलिपालिहा] $\mu\alpha_1J_2K_4K_5^{pc}$; वलितादिहा S, वलिपालिताद् α_3, वलिपालितहा J_4 *(unm.)*, वलितापही V, वलिपल्लिहा K_2, वलित्पलिथा P, वलिपलितिहा J_3 *(unm.)*, वलिपलितहा FW_2 *(unm.)*, वलीपालिहा K_5^{ac} *(unm.)*, वलिपलिहं तदा γ_2 *(unm.)*, वलिदंतदा R_1, पलितापहं B **8d** तालकं] तारकं AN ◇ °शिलाम्] $S\alpha_2K_1\gamma$; °शिला $AJ_6MK_3\beta_1K_2PFK_5$, °शिलाः J_7J_3 **9a** कुनष्टिका°] β_1K_2PF; कुपष्टिका A, कुयष्टिका J_6J_7, कुष्ठं च ना° S, कुवंगना° α_2 *(unm.)*, कुवंगन° M, कनिष्टिका α_3, कनिष्टीका J_3, कुष्टिका° K_5 *(unm.)*, जवासा च γ ◇ यष्टिरजो] $J_6J_7\beta_1PFK_5$; यष्टिरजौ A, °डिकायष्टि° S, °टिकायष्टि° α_2, °मटिकायष्ति° M *(unm.)*, यष्टिरयो K_1, यष्तिरयो K_3, नष्टरुजो K_2, नष्तिरजो J_3, जेष्टिरजो γ_1, ज्येष्टिरजो B **9b** रुद्राख्यं] $\beta_1PJ_3K_5\gamma$; रुद्राक्षं μF, °रजोरु° $S\alpha_1$, मद्राक्षंम् K_1, मडाक्षं K_3, रुद्राख्या K_2 ◇ मुण्डिका°] $\mu J_2VK_4PFK_5^{pc}J_1B$; °[द्रा]क्षमुं° S, °द्राक्षमुं° α_2, °द्राक्षमु° M, मदुका° α_3, मुडिका° $J_4J_5W_2R_1$, मुंडका° K_2, मुद्रिका° J_3, मुंडीका° K_5^{ac} ◇ °रजः] μ; °डिका $S\alpha_2$, ग्रा[डि]का M *(unm.)*, °रजाः α_3, रसः $J_2VK_4K_2FK_5^{pc}\gamma$, रस $J_4K_5^{ac}$, रतः P, सरः J_3 **9c** त्रिमधु°] $\mu\alpha_3$; मधुर° S, मधुरा° α_1, त्रिमधुरा° $\beta_1K_2PJ_3K_5\gamma_1$ *(unm.)*, त्रिमध्या F, त्रिमध्वा B ◇ °प्लुतम्] °त्रयम् S ◇ आस्वाद्य] μ; आसाद्य *cett.* **9d** वत्सरात्] $AS\alpha J_2J_4VPFK_5$; वत्सरा $J_6J_7J_3$, वसरा K_4, वत्सराद् K_2, वद्वत् γ_2R_1 *(unm.)*, वद्धत् W_2 *(unm.)*, ब*द्ध्*वत् B ◇ खेचरो] μK_3; सबलो $SNVK_4FW_2$, प्रबलो W_1, सवलो $MJ_2PK_5\gamma_2R_1$, एव चरो K_1 *(unm.)*, सवलोक J_4 *(unm.)*, वत्सली K_2, वत्सलो J_3, सबली B **10a** भृङ्गं समूलं] मृगं समूलं γ_2R_1, मृगसंमूलं W_2, मृगस्य मूलं B ◇ परिशोष्य] परिपेष्य SW_1M, परिपेष्ट्य N, परिशोध्य K_1, शोष्यं K_5 *(unm.)* ◇ चूर्णं] $J_6J_7SNM\alpha_3J_4K_2J_3F$; चूर्ण AW_1, क्षिप्ता J_2, वंशैवचूर्णं V *(unm.)*, च शैवचूर्णं K_4 *(unm.)*, च शैलचूर्णं PK_5 *(unm.)*, शैलं γ **10b** कृष्णांस्] $S\alpha_2$; कृष्णास् μMPJ_3F, कृष्णं α_3, चूर्णंस् J_2, क्षिप्त्वा J_4, कृष्णा VK_2K_5, क्षप्राष्णास् K_4 *(unm.)*, कृष्णाति γ *(unm.)* ◇ तिलांश्] *em.*; तिला μVK_4, तिलान् $S\alpha_2$, MK_2F, तिलं α_3, तिलां $J_2J_4PJ_3K_5$, शिलाजित γ_2R_1B *(unm.)*, ति*शिलाजित W_2 *(unm.)* ◇ चामलकं] ह्यामलकं μ, आमलकं $S\alpha_2$, वामलकं γ_1 ◇ तदर्धं] तदर्धे A, तदर्ध $NJ_2J_3R_1$, दधि च α_3, तदर्थं B **10c** मधु°] मधुर° $\beta_1K_2P\gamma$ *(unm.)* ◇ °त्रयैः] $J_6S\alpha\beta$; °त्रये A, °त्रयै J_7, °त्रय° γ ◇ स्वाद्य] $S\alpha\beta_1K_2PJ_3F$; खाद° μ, खाद्य $K_5\gamma_1$, खाद्यं B ◇ सदैव वर्षान्] °ति यस्त्रिवर्षं μ, नरोत्तमा α_3 **10d** न व्याधयो नापि] निव्याधोपरोगा न K_1, निव्याधोयरोगा न K_3

6c हस्तिना सह युध्यते । त्रिफला पुष्करो व्राह्मी निःसाकोतिललंसनी पुनर्नवा वृद्धतारा †न ययुः† स्नेहमिश्रिता । षण्मासाहारयोगेन *add.* μ **6d – 7a** *om.* J_4 **7d** घृतमधुशर्करा *add.* W_1^{mg}

निर्गुण्डीपत्रमेकैकं त्रिकालं परिभक्षयेत् ।
द्वादशाब्दे भवेद्देवि जरामरणवर्जितः ॥११॥
निर्गुण्ड्यमलमुण्डीनां समं संसाधयेद्रजः ।
शर्कराघृतमध्वक्तं वत्सराद्वलिपालिहा ॥१२॥
माषकं गन्धकं स्वर्णं तालकं रुद्रलोचनम् ।
मधुत्रययुतं वर्षादजरामरणप्रदम् ॥१३॥
रसं शाल्मलिनिर्यासं गन्धकं मधुरत्रयैः ।
भक्षयेत्प्रातरुत्थाय षण्मासादजरामरः ॥१४॥

इति श्रीमदादिनाथप्रोक्ते महाकालयोगशास्त्रे
उमामहेश्वरसंवादे खेचरीविद्यायां चतुर्थः पटलः

11a निर्गुंडी°] निर्गुंठा° α_3 ◇ एकैकं] $\mu W_1\alpha_3$; एकं तु $SMVK_2PJ_3K_5\gamma$, एकं यस् N, एकं $J_2J_4K_4F$ *(unm.)* **11b** परिभक्षयेत्] परिभावयेत् μ **11c** °आब्दे] °आशाद् μ, °आब्दाद् α_3, °आब्देन J_2J_4 *(unm.)* **12a** निर्गुण्ड्य्°] $\mu S\alpha_2$; निगुंड्य्° M, निर्गुंठ्य° K_1, निगुड्य्° K_3, निर्गुंड्° βB, निगुंड्° J_1, निगुड्° J_5W_2 ◇ °अमल°] α_2; °अनल° μ, °आमल° SMK_4, °आनल° α_3, °ईमल° $J_2VK_2PJ_3FK_5$, °ईमूल° J_4J_1, °इमूल° J_5W_2, °ईमूलं B ◇ °मुण्डीनां] $J_2J_4K_4K_2$-J_3FJ_1; °मुडाना A, °मुंडानां J_6J_7, °कीमुंडी SW_1, °मुंडी N *(unm.)*, °मुंडानां M, °निर्मुंडी α_3, °मुंठानां V, °मुडीनां P, °तुंडानां K_5, °मुडिनां J_5W_2, °मुडिना B **12b** समं] साम्यं $\mu\alpha_3$, समा K_2W_2B, समां γ_2 ◇ रजः] $\mu\alpha$; रसं SJ_2, रसः $J_4VK_2PJ_3K_5\gamma$, रस K_4 **12c** °मध्वक्तं] μ; °मध्वेकं $SJ_2J_4K_4J_3$, °मध्येक N, °मध्वेक W_1, °मध्येकं $MVK_2PK_5\gamma$, °मध्वर्कं α_3, °मध्वैकं F **12d** वलिपालिहा] $\mu S\alpha_1\beta_1P$; पलितापह K_1, पलितापहं K_3, वलिपल्लितहा K_2 *(unm.)*, वलिपलीतहा $J_3\gamma_1$ *(unm.)*, वलीपलितहा F *(unm.)*, वलिपालीहा K_5 *(unm.)*, वलितपलितहा B *(unm.)* **13a** माषकं] S; माषान्य° A, माषान्न° J_6J_7, षण्माषं N, षण्माष W_1, षण्मासं MJ_4, षण्मास α_3, णमाषसं J_2^{ac}, मासंद् J_2^{pc} *(unm.)*, माषमुद् V, मासामद् K_2, माषमद् PJ_3FK_5, माषाद् γ *(unm.)* ◇ गन्धकं] °मुद्रकं AJ_7, मुहकं J_6 ◇ स्वर्णं] स्वर्णो J_6V **13b** तालकं] तारकं N, तिलकं α_3 ◇ रुद्र°] भद्र° AJ_7 **13c** मधु°] मधुर° $\alpha_3K_2\gamma$ *(unm.)* ◇ वर्षाद्] वर्षाज् μ, चूर्णं α_3, वर्षाद्य् N **13d** अजरामरणप्रदम्] जरामरफलप्रदं μ, अजरामरणप्रदा J_6, अजरामरपदप्रदं α_3 *(unm.)*, अजरामरणं पदं γ_1 **14a** रसं] रस° $MK_3J_2J_4K_4K_2P$ ◇ °निर्यासं] निर्यास° α_3, निर्यातं K_2J_3 **14b** °त्रयैः] $\mu\alpha_3$; °त्रयं *cett.*

11d कुमारीपत्रमेकैकं त्रिकालं परिभक्षयेत् द्वादशाब्दा भवेद्देवि जरामरणवर्जितः *add.* μ **12** *om.* R_1 **13b** मधुत्रययुतं वर्षादजरामरणप्रदा उपामृद्रंधकं स्वर्णं तालकं भद्रलोचनं *add.* J_6J_7 **14b** आज्यं गुडो माक्षिकं च विज्ञेयं मधुरत्रयं *add.* γ

The *Khecarīvidyā*
An annotated translation

Chapter I

"Now,[190] o goddess, I shall teach the magical science[191] called Khecarī[192] by means of which, when it is understood,[193] one becomes ageless and undying in this world. Seeing this universe stricken by death, disease and decrepitude, my dear, one should steel one's resolve and take refuge in Khecarī. To him should one pay homage and turn to as guru with [one's] whole heart,[194] o goddess, who here on earth knows Khecarī, the destroyer of decrepitude, death and disease, in letter and spirit,[195] and practice.[196]

[Melaka]

The mantra of Khecarī is hard to obtain and so is its practice. The practice[197] and *melaka*[198] are not perfected at the same time. [The yogin] intent on just the practice might not attain *melaka* in this life. Through [carrying out] the practice, o goddess, he obtains [*melaka*] sometime in a subsequent life. *Melaka,* however, is not achieved even after one hundred lives [without carrying out the practice].[199] Carrying out the practice, which has been obtained by means of the correct emotional attiude, after many lives the yogin attains *melaka*, o goddess, sometime in a later life. Now when, o supreme goddess, the desirous [yogin] attains *melaka*, then he attains the *siddhi*[200] which is described in the textual tradition. When [the yogin] attains *melaka*, both in letter and spirit, then, freed from the terror of transmigration, he becomes Śiva. 5

[This text]

Without [this] text, even gurus cannot understand [the mantra of Khecarī]. So, my dear, this very, very precious text must be obtained. As long as one does not have this text one shall wander about the earth. When it is obtained, o goddess, then *siddhi* is in [one's] hand. Without [this] text there is no *siddhi* even for one who wanders about the three worlds. So [the yogin], o goddess, should always worship Śiva, recognising [him] as the giver of *melaka*, the giver of the text, and the bestower of its practice. 10

I have taught many tantras, o goddess, [but], o you who are worshipped by the gods, in them the Khecarī *siddhi*, which destroys death, is not taught. *Mahākāla*[201] and *Vivekamārtaṇḍa*[202] and *Śābara*[203] and *Viśuddheśvara*[204] and *Jālaśamvara*:[205] 15

in these excellent tantras[206] the practice of [Khecarī] is proclaimed. *Melaka* and the other [results obtained] by means of Khecarī [are proclaimed in these tantras] sometimes clearly, sometimes unclearly. In this divine best of tantras *melaka* and the other [results] are proclaimed. Out of fondness for you I have taught here everything that there is to be known in the Khecarī doctrine[207] that might be hard to know. Therefore [the yogin] should procure this amazing text told by me; it has not been made public and is to be kept secret, o great goddess.

He alone is a guru who speaks the nectar of the teaching born from the lotus of my
20 mouth; moreover, he who knows its implicit meaning is said to be the best [guru]. There is no guru better than him.

Having obtained this secret text one should not proclaim it to others.[208] After due consideration, it is to be taught to those who live on this path. He who makes this supreme text public to all and sundry will be quickly eaten by Yoginīs, o goddess, at the order of Śiva.[209] One should not untie its knot,[210] o goddess, without [performing] a *kaula* libation.[211] [After it has been] worshipped, placed upon an auspicious cloth and well scented with divine incense,[212] one should recite it in a place free of people to a yogin skilled in yoga. Distress [arising] from fire, illness, malign astrological influences and enemies undoubtedly arises in a house where
25 this text is found unworshipped.[213] The family deities that bestow all wealth are present in the house where this book is worshipped, o Pārvatī. Therefore the wise man should protect [this book] with every effort. The yogin who wants these *siddhi*s described by me should guard this book with all [his] being.[214] I myself am the guru of him in whose possession the book is found, o goddess. The advantages and disadvantages [resulting] from the protection of [this] book have been clearly described by me, o great goddess.

[The Khecarī mantra]

Now hear [the mantra and practice of] Khecarī. And one should go, o goddess, to where there is a guru who has perfected the divine yoga and, after receiving the
30 *vidyā* called Khecarī spoken by him, one should begin by scrupulously and tirelessly carrying out the practice described by him.

I shall proclaim the Khecarī mantra, which grants success in yoga, o goddess. Without it a yogin cannot enjoy Khecarī *siddhi*. Practising the yoga of Khecarī by means of the Khecarī mantra preceded by the Khecarī seed syllable, [the yogin] becomes lord of the Khecaras and dwells amongst them forever.[215]

The abode of the Khecaras[216] [and] fire,[217] adorned with the mother[218] and the circle,[219] is called the Khecarī seed-syllable.[220] By means of it yoga is successful.

The great Caṇḍā, which is known as the peak, bearing the flaming, fiery thunderbolt [and] joined with the previously described seed-syllable, is called the Vidyā [and] is extremely hard to obtain.[221]

35 [Now] I shall teach the six-limbed mantra.[222] [The yogin] should correctly[223] perform [the mantra-repetition] with it interspersed with the six [long] vowels, o goddess, in order to obtain complete success.[224] One should take the ninth letter

back from Someśa. The thirtieth letter from there, which is in the shape of the moon, is declared [to be next]. The eighth syllable back from there is next, my dear. Then the fifth from there, o goddess. Then the first syllable after that is the fifth [syllable of the mantra]. Then Indra joined with an *anusvāra*. This [mantra] is called Kūṭa.[225] It is to be obtained from the teaching of a guru and bestows fame in all worlds. Illusion, born of the body, with many forms [and] residing in the faculties,[226] does not arise even in sleep for the controlled [yogin], as a result of the continuous twelve-fold repetition [of this mantra]. The glorious Khecarī *siddhi* arises automatically for him who, totally self-controlled, recites this [mantra] five 40 hundred thousand times.[227] All obstacles are destroyed, the gods are pleased and, without doubt, wrinkles and grey hair will disappear.

After thus obtaining the great mantra [the yogin] should then carry out the practice; otherwise, o goddess, he suffers and [there is for him] no *siddhi* in the sphere of Khecarī. If [the yogin] does not obtain [this] nectarean mantra during the observance of the practice, then he should recite [it] having obtained it at the beginning of *melaka*.[228] Without this [mantra], o goddess, [the yogin] can never enjoy success. When this text is obtained then [the yogin] should resort to the mantra. Then, my dear, he quickly obtains the *siddhi* described therein.

[The physical practice]

In the manner described by his guru, [every day] for seven days the knower of *ātman* 45 should rub the base of the palate and clean away all impurity.[229] He should take a very sharp, well-oiled and clean blade resembling a leaf of the Snuhī plant and then cut away a hair's breadth [of the frenum] with it.[230] After cutting, he should rub [the cut] with a powder of rock-salt and *pathyā*.[231] After seven days he should again cut away a hair's breadth.[232]

[The yogin], constantly applying himself, should thus practise gradually for six months. After six months the binding tendon at the base of the tongue[233] is destroyed. Then, knowing the rules of time and limit,[234] the yogin should gradually pull upwards the tip of the tongue [235] having wrapped it in cloth.[236]

Then, in six months, after regular drawing out[237] [of the tongue], my dear, it 50 reaches [upwards] between the eyebrows, obliquely to the ears, and downwards it is gradually made to reach the base of the chin.[238] Then, only after three years, upwards it easily reaches the hairline, sideways the temples, my dear, [and] downwards the Adam's apple.[239] After three years more it covers the end of Suṣumṇā,[240] o goddess; obliquely it reaches the region above the nape of the neck [241] [and] downwards the hollow [at the base] of the throat.[242]

The practice must only be carried out gradually, not all at once.[243] The body of him who tries to do it all at once is destroyed. For this reason the practice is to be 55 carried out very gradually, o beautiful lady.

When the tongue reaches the aperture of Brahmā[244] by the external path, then [the yogin], o goddess, should rub with the tip of his finger the bolt [of the doorway] of

Brahmā ,[245] [which is] hard for even the gods to pierce,[246] [and] insert [his] tongue there. Practising thus for three years the tongue enters the door of Brahmā.[247]

[Churning]

When the door of Brahmā is entered [the yogin] should duly begin churning.[248] Some wise [yogins] achieve *siddhi* without churning. For [the yogin] who has perfected the Khecarī mantra success is achieved without churning. By doing both mantra-recitation and churning [however, the yogin] quickly obtains the result.

60 By means of a strong and smooth thread,[249] [the yogin] should insert a small probe of either gold, silver or iron into the nasal cavity. Fixing the breath in the heart [and] sitting in a steady pose, he should gently perform churning with his eyes focussed between his eyebrows.[250] By doing just this much the state of churning arises after six months. For the yogin who has completely restrained his *jīva*[251] [and] who has become identical with the object of contemplation, the state [of churning] arises as [easily as does] the deep sleep of children. Churning is not meant [to be done] constantly;[252] [the yogin] should practise it every month. But [the yogin] should always move his tongue around the pathway, o goddess.[253] [By practising] in this way complete success [arises] at the end of twelve years,[254] o great goddess. In [his] body he sees the entire universe as undifferentiated from himself.[255]

[The drinking of *amṛta* and its rewards]

65 [The yogin] should know the great pathway[256] in the skull[257] in the region above the uvula[258] between the eyebrows [to be] the Three-peaked Mountain,[259] [which is] honoured by the perfected ones [and] resembles a chickpea sprout.[260] He should fix his mind there. Licking with his tongue the supreme *amṛta* flowing there [and progressing] gradually on the path of the practice, [the yogin] should drink *[amṛta]* for four years, my dear. Grey hair and wrinkles are destroyed, supreme success arises and, as the knower of the meaning of all scriptures, [the yogin] lives for a thousand years. Success in sciences such as finding buried treasure, entering subterranean realms,[261] controlling the earth[262] and alchemy arise for the yogin after five years, o Pārvatī.

70 Duly drinking the flowing *amṛta* liquid with [his] tongue, the resolute yogin should curb his diet for twelve years, [living] as an ascetic.[263] By this application of the practice, the great yogin, free of grey hair and wrinkles [and] with a body as incorruptible as diamond lives for one hundred thousand years. With the strength of ten thousand elephants, my dear, he has long-distance sight and hearing. Capable of punishing and rewarding [people], he becomes powerful with respect to everything.

These *siddhi*s, o goddess, only arise between the eyebrows.[264]

Placing the tongue in the ether,[265] [the yogin] should clench [his] teeth;[266] making the mouth [like] the hollow of a crow's beak,[267] he should drink the *amṛta* therein.

By drinking [the *amṛta*] he truly becomes free of old age and death after a year. He becomes a Khecara[268] and lives as long as the moon and the stars. The 75 best adept quickly attains absolutely all the magical powers[269] that are found in the three worlds, such as those of magical sandals,[270] the magical sword,[271] power over zombies,[272] magical elixirs, realgar,[273] invisibility,[274] access to the treasures of the subterranean realms [275] and power over male and female genies.[276]

Chapter II

[The *kalā*s at the gateway of Brahmā]

O great goddess, at the barely perceptible bolted gate of Brahmā there is a great tetrad of *kalā*s[277] consisting of the four aims of man.[278] On the eastern side is [the *kalā*] called Kṛtā, in the south Guptā, on the western side Śivā [and] in the north Parāparaśivā.[279]

When the yogin pierces that gateway with the tip of his tongue and drinks the *amṛta* from the eastern *kalā,* after a month he becomes a master of *dharma*. When the yogin licks with his tongue the *amṛta* at [the *kalā* called] Guptā in the south, there is no doubt that after just one month he becomes the lord of wealth in bodily form. When he drinks with [his] tongue the *amṛta* created in the western *kalā* of [the tetrad], then after a month the great yogin becomes the lord of pleasure. When he drinks the *amṛta* created in the northern *kalā*, then he obtains dominion over the highest gods.[280] When the lord amongst yogins drinks the great *amṛta* which is lying in the region above [the four *kalā*s] at the opening of Brahmā, he becomes Śiva, liberated while living. When he practises every month for twelve years,[281] the yogin, free from all disease, omniscient, and worshipped by sages, becomes like Śiva, ageless and undying in this world.

After the yogin has repeatedly drunk the *amṛta* from the four *kalā*s, o great goddess, he should then insert [his] tongue into the place of Brahmā and drink the *amṛta* [which is] very sweet, cool, pleasant, milk-coloured and free from froth. After just one month's practice, [the yogin] automatically becomes like a god. In two months he knows completely the meaning of all sacred texts, o Pārvatī. After three months, o goddess, he truly becomes free [and] like Śiva. After four months, great goddess, omniscience arises. In five months [he becomes] a great adept and is able to see the three worlds. In six months, filled with the goodness of the quality of ultimate bliss, [the yogin] becomes liberated while living; in this there is no doubt, o Parāparā. In the seventh month, with happy mind, he constantly associates[282] at will with great ghouls, ghosts, snakes and demons. In the course of the eighth month communion with the gods arises.[283] In the ninth month, the powers of becoming invisible and infinitesimal arise. In the tenth [month], the ability to assume any form at will, [which is] manifest to all the worlds, [arises]. In the eleventh [month], o goddess, knowing the past, present and future [and] as an almighty lord of the universe, [the yogin] becomes like Śiva. This that I have spoken is the truth.[284]

[The *kalā*s at Kedāra]

It is taught that Kedāra is where the *cūlitala* has been declared to be, o goddess.[285] Eight *kalā*s of Soma are described there, o you who are worshipped by the extreme
20 adepts.[286] The first is Amṛtā,[287] o goddess, the second is called Mānadā; [then there are] Pūṣā and Tuṣṭi and Puṣṭi and Rati and Dhṛti, and the eighth is Śaśinī; all are oceans of the great *amṛta*. And when the yogin points [his] tongue towards that place then an eightfold stream of icy liquid flows there. Through contact with the flow of that [liquid], diseases of the body are destroyed. After eight months [of this practice] the yogin becomes a Khecara.[288]

[The *kalā*s at the Orb of Soma]

Verily, the place between the eyebrows is called the Orb of Soma.[289] A group of four *kalā*s is taught [to be] there, a seat of the great *amṛta*. [They are], by name, [the *kalā*] called Candrikā, and Kānti and Jyotsnā and Śrī. [The yogin] should insert his tongue there and drink [the *amṛta*] over and over again.[290] In four months the
25 yogin becomes free from danger;[291] truly his body becomes as hard as diamond from drinking the flow of *[amṛta]*.

[The *kalā*s at the Diamond Bulb]

Above that is a rock, the Orb of the Khecaras,[292] known as the Diamond Bulb.[293] [The yogin] should recognise [it to be] at the top of the forehead; there, o goddess, is a triad of *kalā*s: Prīti, Aṅgadā and Pūrṇā. He should insert his tongue there. He should drink with his tongue the cool flowing *amṛta* of that milky stream. In three months, o goddess, [the yogin] becomes free from all disease, impervious to attack by all cutting weapons, unyielding to all methods [of hostile magic][294] [and] inconceivable by means of all the mundane sciences with their ugly objects. By the power of the Diamond Bulb he truly becomes like Bhairava.

[The *kalā*s at the Royal Tooth]

Below the nostrils and above the lips [295] is the great place [called] the Royal Tooth.[296]
30 There, o goddess, is a pair of *kalā*s, Pūrṇāmṛtā and Śītalā. Holding the breath, [the yogin] should touch [them] with the tip of [his] tongue. A sweet, cool fluid is produced there, o goddess. Focussing his mind there, the ascetic should drink [the fluid] for three months. He becomes ageless and undying, free from all disease.

[The *kalā*s at the Base and Kuṇḍalinī]

The place between the anus and the testicles is called the Base.[297] Five *kalā*s are spoken of there, from which drips the supreme *amṛta*. Sudhā, Sudhāmayī, Prajñā, Kālaghnī, Jñānadāyinī:[298] [these] five *kalā*s are praised as streams of nectar, bestowing all *siddhi*s. The supreme feminine divinity is situated there, o goddess,

the primordial Kuṇḍalinī. By contracting that region[299] [and] holding the breath, o you who are worshipped by the gods, [the yogin] should unite the cool *amṛta* situated there with the goddess of the Base. Leading [them] by way of the central channel [up] from the Svādhiṣṭhāna and other lotuses, he should think of [himself] as being sprinkled by the rain of that nectar up to his skull.[300] Taking the *amṛta* situated there, the great goddess Śrīkuṇḍalī goes by way of the central channel to the top of the abode of Brahmā, bathed in a surfeit of the nectar produced from the five *kalā*s of the Base. [The yogin] should imagine [her] pervading [his] body from his feet to his head. In five months of using [this technique], absorption into the five elements arises.[301] Through practising [it] in the morning, in the evening and at midnight[302] he truly becomes equal to Śiva. 35

[The *kalā*s at the Svādhiṣṭhāna]

That which is the place of the penis,[303] o goddess, is called the Svādhiṣṭhāna. There is said [to be] a triad of *kalā*s there, replete with the divine *amṛta*. They are called Susūkṣmā, Paramāhlādā and Vidyā. Holding his breath and awakening the goddess as before, he should lead [her up] as far as [his] skull and inundate his body [with *amṛta*]. In the course of three months the yogin attains the reward that has already been described.[304] 40

[The *kalā*s at the Bamboo Staff]

That which is between the anus and the penis is called the Bamboo Staff.[305] A tetrad of *kalā*s is taught [to be] there, consisting of the essence of the great *amṛta*. [They are] Suśītā, Mahātṛpti, Palitaghnī and Valikṣayā. [The yogin] should awaken the goddess there and inundate [his] body [with *amṛta*] as before; after four months of [this] practice he shall obtain the reward described earlier. 45

[The Iḍā and Piṅgalā Channels][306]

Piṅgalā is the channel of the sun; Iḍā is the channel of the moon.[307] The sun is called the bearer of poison, the moon is the bearer of nectar.[308] Practice is enjoined in that which is called the channel of the sun and in the channel of the moon; and concentration [is enjoined] in the channel of the moon.[309] The yogin should practise breath-retention. He should fill his body with air by way of the channel of the moon; expulsion [of air] by way of the channel of the sun is enjoined for improvement of the body.[310]

[The place of the ultimate *amṛta*]

I have taught you this four-fold place of *kalā*s, o goddess.[311] Now I shall teach the great place of the ultimate *amṛta*.[312] The Diamond Bulb in the forehead sparkles like the shining moon;[313] in its centre is the syllable *laṃ* and it is square. The deity there is the great Śiva. Gods [and] yogins worship [him] together with his consort.[314] At the *cūlitala,*[315] o great goddess, is a triangular *maṇḍala*, as bright as 50

one hundred thousand suns. In the middle [the yogin] should visualise the great god Śiva, consisting of a *liṅga*, o goddess, with the syllable *raṃ* at the centre, embraced by his consort [and] surrounded by a troop of deities, o supreme goddess. In the right temple, o most fortunate goddess, is that which is encircled by six dots, containing the syllable *yaṃ* and smoke-coloured. There [the yogin] should visualise, o goddess, the god Maheśvara in the form of a *liṅga* together with [his] consort and surrounded by his troop of attendants. In the left temple, o goddess,
55 is a [semi-]circle, looking like a half–moon, together with a lotus. It contains the syllable *vaṃ*, and in the middle there is a solid *liṅga* full of nectar, as white as cow's milk, [and] as bright as the autumn moon. It is together with its consort and is served by the entire host of gods and goddesses.

Thus have I described stations in the four directions, o goddess. In the middle of them is a great circle which contains the syllable *haṃ*. There, o Pārvatī, is situated the Supreme Lord, great Śambhu, together with his consort. He is in the form of a *liṅga*, together with [his] host, and is as bright as ten million suns. At the forehead is the lord of earth, at the back of the head is the lord of fire, in the right temple is the lord of air, in the left is the lord of water, o goddess, [and] in the middle is the lord of ether. I have described the five stations of Śambhu.[316]

60 Above the head of the god [who is] the lord of ether is a vessel full of the divine *amṛta*,[317] four fingers broad, with a door closing it at its base, a great rock with the moon above it[318] in the middle of an orb of light, as bright as ten million moons, impenetrable, the seat of *amṛta*. Immersed in the cool *amṛta* is a *liṅga*, o goddess, like a speck of dust, as bright as ten million moons, perfect,[319] [and] destroying the darkness of ignorance. Going beyond the five [*amṛta*-]stations, in order to obtain the ultimate substance,[320] [the yogin], holding the breath, should extend the goddess of speech,[321] with her mouth upwards,[322] together with [his]
65 attention, to the doorway at the base of the pot of the ultimate *amṛta*.[323] Having reached [there] together with [his] mind, truly the yogin, restraining the flow of his breath, should playfully open the bolt with [his] tongue. There the yogin should drink the drink of yoga, [which is] hard for even the gods to obtain: the icy, milky *amṛta*, sweet [like] cool sugar-cane juice. Satiated by a surfeit of that nectar and having entered the supreme state, the yogin should obtain there in the skull union with the supramental state,[324] and eat, by means of yoga, the meat that consists of *nāda* and *bindu*.[325]

This rare secret has been proclaimed, o goddess. Truly, after six months [the yogin] obtains the reward which the omniscient Śiva has taught in the scriptural trans-
70 mission; in this there is no doubt. He who desires [Khecarī] *siddhi* must not say anything to anyone who, [although] he has attained all [other] *siddhi*s, does not know this yoga, o goddess.[326] One should not cause this text to be given to those who delight in deceit and dishonesty, who do not recognise the guru as a god, and who do not know the observances taught in scripture.[327]

[Massaging the body with *amṛta*][328]

At the root of the tongue is situated, o goddess, the all-glorious fire. At its tip is the sun; the moon is situated in the middle of the forehead. *Siddhi* arises for him who correctly understands this.[329]

Having churned[330] and zealously awakened[331] the orb of fire, [the yogin] should turn [his] tongue, on the tip of which is situated the sun, to the orb of the moon at the forehead, which has liquefied due to the heat of that [fire].[332] [The yogin] 75 should gather in a vessel[333] that cool supreme *amṛta* [when it has] dripped from the moon and emerged from the nostrils,[334] o goddess. By rubbing the body with that *[amṛta],* truly the channels of the body become purified.[335]

[The yogin] should stir up the essence of immortality which is produced at the anus and penis[336] and has emerged into a vessel, with the *amṛta* from the armpits,[337] embellished with fluid from the lower lip.[338] Rubbing the body with that, the yogin truly becomes free from disease in this life, mighty [and] free of wrinkles and grey hair.

Rubbing the root of the tongue, [the yogin] should massage his body with the great fluid that is produced there. Within half a year the tongue becomes four finger-breadths longer; in this there is no doubt.[339]

[Khecarīmudrā]

Pushing the tongue upwards with the fingers of the right hand, o goddess, [the 80 yogin] should push aside[340] the uvula with the fingers of the left hand.[341] Churning the place of fire, [the yogin] should gently turn the tongue above the uvula[342] to the place of Śiva at the *kalās*[343] above the Three-peaked Mountain.[344] This *khecarīmudrā* that I have taught you destroys death.

[The problems of *bhaṭa* and *naṭa*][345]

Four types of *bhaṭa* and likewise [four] types of *naṭa*[346] arise to obstruct him who practises thus. Drying up of the body,[347] sloth induced by hunger,[348] itchiness and pallor: these are the signs of *bhaṭa*. Listen to their remedies.

Having made the mind empty [the yogin] should rub [his] body with the essence 85 of immortality[349] for three months; by means of this this the body is nourished.[350] He should rub [the body] three times in the day and three times at night.[351] By pointing the tongue upwards towards the place of the Diamond Bulb[352] and licking the nectar [produced] there, sloth induced by hunger truly disappears. By taking the nectar [produced] there [and] the *amṛta* [from the anus and penis][353] and rubbing the body [with them], both pallor and itching truly disappear.

The four varieties of *naṭa* have many manifestations, my dear. Eye-disease, trembling of the body,[354] fever and dizziness:[355] [thus] have I told [you] one type [of *naṭa*]. Now hear the second: tooth disease, lack of strength and loss of suppleness of the body. Now hear the third type [of *naṭa*], o goddess: high fever,[356] headache 90 and imbalance of the phlegmatic humour. [Now] may the fourth [type of *naṭa*]

be determined: vomiting, breathing trouble, blindness[357] and sleep that cannot be overcome.

Listen to the remedies of those [four types of *naṭa*]. [The yogin] should lead Kuṇḍalinī from the Base into Suṣumṇā.[358] Making the tongue motionless and pointing it upward, he should hold his breath. From the disturbance of Kuṇḍalinī, o great goddess, a great sound arises.[359] When [the yogin] hears that sound then he is said to be liberated [from the problems of *naṭa*]. He should visualise his body as sprinkled with *amṛta*, o supreme goddess. By this [practice], o goddess, he be-
95 comes freed from the first problems [of *naṭa*] in a month. When he practises with this method for two months, then he hears in his ears[360] the sound of the roar of a great elephant.[361] He should visualise [his] body as before; he is freed from the second [type of] problems [of *naṭa*]. After three months, having heard the sound of Brahmā,[362] he should visualise [his body sprinkled with *amṛta*] as before; he is freed from the faults of the third category. In this there is no doubt. In the fourth month, hearing the sound of thunder called Aghora[363] and practising as before, [the yogin] is freed from the problems of dizziness. Firm in his conviction, [the yogin] should thus carry out the meditation and practice three times daily; truly, after three years he becomes ageless and undying.

[The stages of the practice]

I have told [you] the remedies for the four faults of *bhaṭa* and for the problem[s]
100 of *naṭa*. [Now] hear more, o queen of the gods. I bow at the feet of that yogin who, knowing all the categories of reality,[364] has entered into this peaceful supreme reality,[365] the blissful yoga, o goddess.

The first [stage] is loosening,[366] o goddess; the second is piercing; churning is said to be the third; the fourth is insertion.[367] After rubbing the base of the palate, [the yogin] should pull out the tongue; he should know that to be loosening.[368] The cleaving asunder of the bolt of Brahmā is called piercing.[369] When [the yogin] practises churning by means of a thread and churning by inserting an iron pin he should understand that to be churning,[370] which brings progress in yoga, my dear.
105 Having opened the gateway, [the yogin] should extend his tongue upwards into the ether.[371] [This] is called insertion, o goddess. It brings about success in yoga.[372]

By breaking the bolt of Brahmā[373] and inserting the tongue, truly evidence of success arises instantly, o supreme goddess. At first [there arise] a condition of bliss[374] and a decrease in sleep;[375] social intercourse[376] and food-consumption[377] diminish. Well-being arises and the lustre [of the body] increases, my dear; [there are] no ageing and no death and no diseases and no grey hair. With his seed turned upwards,[378] o great goddess, [the yogin] is endowed with the [eight] powers whose
110 first is minuteness.[379] If, with fixed mind, [the yogin] masters yoga thus, then, o Pārvatī, he duly obtains these rewards that have been described.

On the tip of the tongue are situated Śrī[380] and Vāgīśā,[381] o you who are honoured by the heroic adepts; in the area at the base of the root of the tongue is situated the fetter of death.[382] Completely eradicate the place of the fetter of death, o mistress

of the host![383] With the tip of the tongue [the yogin] should enter the place of Soma called Blessed Śambhu.[384] By this yoga, o goddess, and with a controlled mind, the yogin enters the supramental state [and] achieves absorption in it.[385] Evidence of absorption is sure to arise immediately.

Applying his mind to the tip of the tongue, he should focus on that place with [inner] vision.[386] The yogin should lead [his] breath upwards from the Base by way of the Suṣumṇā. Having reached the abode of Brahmā he should place [his] mind in the void. He should meditate thus on the perfect[387] highest reality.[388] 115

The very cool Ethereal Gaṅgā[389] flows from the place of Brahmā. Drinking [the Ethereal Gaṅgā], [the yogin] assuredly becomes one whose body is as hard as diamond in just one month; truly, he gets a divine body, divine speech [and] divine sight. He gets divine intellect, o goddess, and, indeed, divine hearing.

On the tip of the tongue [the yogin] should visualise the Queen of Speech shining like ten million moons [and] satiated by the *kalā*s of the great *amṛta*; he instantly becomes a master poet.[390] Meditating on Lakṣmī as situated at the tip of the tongue [and] infatuated by the great *amṛta*, the yogin, o great goddess, becomes a king of yoga.[391]

[The five innate constituents]

There are said to be five innate constituents[392] in this body †which embodies the supreme†.[393] When the body [of the fetus] is produced in the body of the mother through the fall of the father,[394] all [the innate constituents] arise there by the time the body [of the fetus] has reached maturity.[395] The first innate constituent is the primordial goddess Kuṇḍalinī, the second is Suṣumṇā and the third is the tongue. The fourth is the place of the palate, the fifth is the place of Brahmā. [The yogin] should raise the first innate constituent and place it in the second innate constituent. [Then] he should insert[396] the third innate constituent upwards into the fourth innate constituent. After piercing the fourth innate constituent, [the third innate constituent] should enter the fifth innate constituent.[397] This piercing that I have taught you, o Lady of the Kula,[398] is difficult to discover. 120

Chapter III

[Kuṇḍalinī and the flooding of the body with *amṛta*]

When she has reached the path of Suṣumṇā from the Base, the yogin should insert[399] into the uvular passage the goddess Kuṇḍalinī,[400] who has the appearance of a single thread of a spider's web [and] the splendour of ten million suns. Having broken the bolt of Śiva's door[401] with the tongue, o great goddess, he should, by holding the breath,[402] insert[403] [Kuṇḍalinī] into the abode of Brahmā, which has the splendour of ten million suns, my dear. There, in the great ocean of *amṛta* which abounds in cool waves, [the yogin] should drink the flow of nectar and rest, his mind full of ultimate bliss. He should visualise his body as satiated by the nectar of that [ocean].

By means of this divine yoga divine sight arises. Truly he becomes a Khecara,[404] and there arise the destruction of all sickness [and] the [powers of] cheating death[405] and of wandering throughout the three worlds.[406] Endowed with the [eight] powers whose first is the ability to become infinitesimal[407] [the yogin] assuredly becomes completely perfected; he becomes a ruler of yogins [and his] movement is unimpeded. [The yogin] automatically gets the strength of nine thousand elephants [and] becomes like Śiva, o goddess. Verily have I taught the truth. 5

Between Iḍā and Piṅgalā is the luminous[408] Suṣumṇā. There is an undecaying light there, free of the qualities of colour and shape.[409] She who looks like a sleeping serpent is the great Kuṇḍalinī. Gaṅgā and Yamunā are called Iḍā and Piṅgalā.[410] 10 [The yogin] should insert that goddess, in the form of the supreme *amṛta*, between Gaṅgā and Yamunā, as far as the abode of Brahmā, o goddess. Truly he becomes identical with Brahmā and automatically gets an immortal body forever.[411] The goddess, having reached the abode of Śiva, the place beyond the Supreme Lord,[412] satiated by the pleasure of enjoying that place and filled with supreme bliss, sprinkling the body of the yogin from the soles of his feet to his head with the dewy, unctuous, cool nectar, o supreme goddess, proceeds again by the same path to her own home, o goddess.[413] This is the secret yoga taught [by me], o you who are honoured by the master yogins.

[Victory over death]

Shunning all sacred texts and [ritual] action such as mantra-repetition and fire- 15

oblation, [and] freed from the notions of right and wrong, the yogin should practise yoga. He should turn the tongue upwards and insert it into the Three-peaked Mountain.[414] He should know that Three-peaked Mountain to be in the skull, below the forehead and in the region above the uvula. There is a blazing *liṅga* there, free from the process of time[415] [and] hard for even the immortals to perceive. Night is said to be in Iḍā, day in Piṅgalā. The moon and the sun, o goddess, are forever established as night and day. [The yogin] should not worship the *liṅga* by day nor by night, o goddess. He should worship the *liṅga* constantly at the place where day and night are suppressed.[416] This [existence],[417] furthermore, consists of day and night; the process of time is its true nature. By the suppression of the process of time, death is defeated.[418] [The yogin] should imagine his body as free from the process of time; he should worship [it] with the flower of thought[419] [and] he should offer it a libation of the *amṛta*s from the lotuses. By applying himself thus for six months he assuredly becomes ageless and undying. Truly, he becomes all-knowing, equal to Śiva [and] free of disease.

Inserting the tongue into the base of the palate with it pointing towards the upper mouth,[420] the yogin should drink the nectar produced there and gently suck in air with a whistling sound,[421] o goddess. Uniting the mind with the supramental state in the supportless space,[422] o goddess, he should practise natural yoga.[423] [Practising] in this way the yogin becomes ageless and undying after six months .

Placing [his] chin on the circle of sixteen vowels[424] and fixing [his] eyes between [his] eyebrows, o goddess, [the yogin] should extend [his] tongue upwards. Holding his breath by stopping Iḍā and Piṅgalā, [the yogin] should awaken Kuṇḍalinī and pierce the six lotuses. Inserting [Kuṇdalinī], who has the appearance of a thousand lightning-bolts, into the very middle of the skull in the place that is an ocean of cool *amṛta*, he should remain there for a long time.[425]

When the yogin resides comfortably at the abode of Brahmā then [with him] at that place[426] the body appears lifeless.[427] If he should practise this yoga for a week, o goddess, then he becomes ageless and undying. With just one month's practice, he lives as long as the moon and the stars.[428] When the yogin easily breaks and enters the city of Brahmā, then he attains the state of Śiva, which consists of an eternal body,[429] o goddess. Never again does he drink at a mother's breast on the wheel of rebirth.

[Leaving the body and cheating death]

When the yogin who knows the *ātman* decides to leave this body [temporarily],[430] then, sitting up straight, he should visualise for a long time the goddess of the Base shining like ten million suns. Contracting his *jīva*, which has spread as far as the soles of his feet, he should gradually lead [it] to the place of the Base support. There he should imagine the goddess Kuṇḍalinī like the world-destroying fire devouring the *jīva*, the breath[431] and the sense-organs. Holding his breath,[432] o goddess, the yogin should raise [Kuṇḍalinī who is] radiant like a ball of lightning up from the Base and lead her to the place of Svādhiṣṭhāna.[433]

The ascetic should imagine the goddess devouring the entire *jīva* situated there. He should quickly raise [the goddess] who resembles ten million lightning bolts from there [and] having reached the place of Maṇipūra[434] practise there as before. Then, raising [her] up from there, he should lead [her] to the place of Anāhata.[435] Staying there for a moment, o goddess, he should visualise her devouring [the *jīva*] as before. Raising [her] again he should insert [her] into the sixteen-spoked lotus.[436] There too he who knows the path of yoga should visualise [Kuṇḍalinī devouring the *jīva*] as before, o goddess. Raising from there the great goddess who has devoured the *jīva* [and] has a radiance equal to that of ten million suns and leading [her] to between the eyebrows[437] [the yogin] should [by means of Kuṇḍalinī] again consume the *jīva*. The tongue, together with the mind, should break the bolt of Brahmā and duly come to rest[438] straight away in the great ocean of the supreme *amṛta*. Joining Śiva, [who is] situated there [and who is both] the supreme [and] the supreme cause, with the goddess, [the yogin] should visualise their union.[439] 40

If [the yogin] is keen to deceive death,[440] [then], knowing the apportionment of [the locations of] death,[441] while death[442] is approaching him he should happily remain there.[443] Below the bolt of the gateway of Brahmā is the cause of bodily death; in the region above there, o goddess, there is no opportunity for death. 45

When [the yogin] sees that [the time of] his death has passed, o goddess, then he should break the bolt [of the gateway] of Brahmā and lead the goddess [back] to the Base centre. [Re-]placing his *jīva*, which has been [re-]produced from the body of the goddess [Kuṇḍalinī], together with the sense-organs in their respective [places of] action, he should live happily and healthy. By this yoga, o goddess, [the yogin] can cheat an imminent death.

[Abandoning the body]

If the supremely content[444] [yogin] desires to abandon [his] mortal body then he should unite Śiva, who is in the place of Brahmā, with the goddess, pierce the void, and enter the rock of Brahmā.[445] He should place the ether element in the great ether, the air element in the great wind, the fire element in the great fire, the water element in the great ocean, the earth element in the earth, the mind in the supportless space [and] his sense-organs in the elements from ether to *prakṛti*.[446] Thus abandoning transmigratory [existence and] dependent only on the ultimate reality, untouched[447] by the five elements, the mind and the sense-organs, [the yogin] breaks the orb of the sun[448] and, absorbed in Śiva,[449] [who is] the serene abode of the ultimate reality, he becomes like Śiva.[450] Not in ten billion aeons will he return again. 50

If for the good of the universe he does not abandon [his] body, then he abandons it at the end of the dissolution of the universe and abides only in his own self.[451]

This is Khecarī *mudrā*, which bestows dominion over the Khecaras [and] destroys birth, death, old age, sickness, wrinkles and grey hair. 55

[Praise of Khecarī and devotion to Śiva][452]

There is no *vidyā*[453] like this anywhere in [any] other text. [The yogin] should not make public the very secret Khecarī *melana*,[454] o goddess, and I have proclaimed this method of the practice of [the *vidyā*] out of affection for you.

O goddess, he who does not know Khecarī, who is worshipped by all great yogins, is in this world called a bound soul, o Pārvatī. The great yoga cannot be perfected without my worship, even by [the yogin] who, while wandering through the three worlds, is constantly devoted to the practice and who practises the *vidyā* obtained from the mouth of [his] guru with his mind always focussed on Khecarī *melaka* and
60 such like. For those bound souls caught in bondage [who] do not have my grace [and] who are intent on scorning me, yoga is a source [only] of suffering. For him who abandons my worship, which [I], the all-knowing Śiva, have taught, [even if] he constantly practises yoga, yoga leads to destruction.

[The yogin] should worship the universal Śiva with devotion.[455] All the gods and goddesses are pleased by him whose mind is focussed on me alone. Therefore [the yogin] should worship me and practise the yoga of Khecarī with my grace. Otherwise there will be only trouble and no *siddhi* [even] in ten million births. For him who is keen on worshipping me [and] whose mind is intent on me alone all mantras and yogas are successful, o supreme goddess.

65 Therefore, to advance in all types of yoga,[456] the yogin should worship me, o goddess, [and], delighting in Khecarī, he should practise her yoga. In [a place] free of people, animals and all disturbance,[457] [the yogin], furnished with all that is necessary for the practice[458] [and] free of all anxiety, should, in the manner described by his guru, sit on a comfortable seat and do each practice one by one, relying on the teachings of his guru.

I have taught this yoga, the best of all yogas, out of fondness for you, o great goddess. What more do you wish to hear?"

The goddess said:[459]

"O Śambhu, whose diadem is the crescent moon[460] [and] who can be attained [only] by true devotion,[461] may you be victorious. You have described well the secret [and] glorious *Khecarīvidyā*."

Chapter IV

[Drugs for *siddhi*]

"And now I shall teach you some very sacred drugs. Without drugs a yogin can never attain *siddhi*.[462]

[Having prepared] a powder of the leaves, flowers, fruits and stem, together with the root, of the plant whose name consists of the highest limb of the mendicant[463] with buttermilk and water,[464] fermented rice gruel and milk, together with honey, sugar and the like,[465] one should give[466] [to the yogin] in separate mouthfuls round essential pills [of the mixture]. †[The yogin attains]†[467] all together the loss of grey hair, great well-being, great vigour[468] and the removal of debilitating diseases. [His] ears [become like those of] a boar,[469] [his] eyes [become like those of] a bird of prey, and [his] nails [and] teeth [become] like diamonds; [he becomes] young, as fast as the wind, and lives as long as the earth, the moon and the stars.

[If the yogin] should eat powdered bulb of *vārāhī*[470] with ghee and unrefined cane-sugar, [there arise] health and growth. [If he should eat that powder] in buttermilk and water, piles are got rid of. [If he should eat it] in cow's milk, leprosy is got rid of. One should have [the yogin] drink that powder with sugar and the like and sweet water twice a day for two years. [He will become] black-haired, without grey hair or wrinkles, †[and] he gets rid of blackness on the body†.[471]

To get rid of old age and debility, the wise [yogin] should eat *guggulu*[472] with castor-oil and sulphur with *triphalā*.[473] 5

By just one month's use of *aśvagandhā*,[474] sesame seeds, mung beans, sugar and *viśvasarpikā*,[475] there is no disease or death. With [these] five, immortality is obtained in five months, my dear.

[The yogin] should rise at dawn and eat sulphur, *triphalā* and *kuṣṭha*,[476] mixed with the three sweeteners;[477] after six months he is rid of wrinkles and grey hair.

O goddess, taking mercury, sulphur, orpiment, realgar, that which is called Rudra, namely the stem and pollen of *kunaṣṭi*,[478] and the pollen of *muṇḍikā*[479] soaked in the three sweeteners, [the yogin] becomes strong after a year.

By regularly eating powdered, dried *bhṛṅga*[480] with its root, black sesame seeds and an *āmalaka* fruit in half measure, together with the three sweeteners, in one year neither diseases nor old age nor death [arise]. 10

[The yogin] should eat one *nirguṇḍī*[481] leaf three times a day; in twelve years, o goddess, he becomes free of old age and death.

[The yogin] should use equal amounts of the pollen of *nirguṇḍī*, *amala*[482] and *muṇḍī*, anointed with sugar, ghee and honey; after a year he gets rid of grey hair and wrinkles.

In six months, sulphur, gold, orpiment, and *rudrākṣa*[483] seeds mixed with the three sweeteners bestow freedom from old age and death.

Rising at dawn, [the yogin] should eat mercury,[484] the sap of the silk-cotton tree,[485] sulphur and the three sweeteners; after six months he becomes free from old age and death."

Appendices

Appendix A: *KhV* 3.55–69 in μ and G

Matsyendrasaṃhitā 16.98–17.1

अनया सदृशी विद्या क्व चिच्छास्त्रान्तरे न हि ।
खेचरीमेलनं देवि सुगुप्तं न प्रकाशयेत् ॥९८॥
तस्य चाभ्यासयोगो ऽयं तव स्नेहात्प्रकाशितः ।
मदिरा नाम या देवि सर्वयोगीन्द्रवन्दिता ॥९९॥
नैनां यो वेत्ति लोके ऽस्मिन् स पशुः प्रोच्यते शिवे ।
नित्यमभ्याशशीलस्य अटतो ऽपि जगत्त्रयम् ॥१००॥
गुरुवक्त्रोपसंलब्धां विद्यामभ्यसतो ऽपि च ।
खेचरीमेलनादिषु नित्यं सप्रेमचेतसः ॥१०१॥
न सिध्यति महायोगं मदिराराधनं विना ।
तत्प्रसादविहीनस्य तन्निन्दापरचेतसः ॥१०२॥
पशोः पाशप्रबद्धस्य योगः क्लेशाय जायते ।
सर्वज्ञेन शिवेनोक्तां पूजां संत्यज्य मादिरीम् ॥१०३॥
युञ्जतः सततं देवि योगो नाशाय जायते ।
वारुण्या तर्पयेद्देवि सर्वलोकमयं शिवम् ॥१०४॥
गौडी माध्वी च पैष्टी च तथा कादम्बरी वराः ।
कादम्बरी च द्रुमजा माध्वी मधुसमुद्भवा ॥१०५॥
पैष्टी पिष्टसमुदभूता गौडीक्षुरससंभवा ।
तासामेकतमां गृह्य तर्पयेत्सर्वदेवताः ॥१०६॥
असक्तः सुमहापूजां यदि कर्तुं च साधकः ।
कुर्याद्बिन्द्वेकदानं वा गुरुवाक्यावलम्बकः ॥१०७॥

Matsyendrasaṃhitā Witnesses: A(f. $48v^{11}$ – f. $49v^{3}$), J_6 (f. $33v^{1}$ – f. $34r^{1}$), J_7 (f. $70r^{1}$ – f. $71r^{2}$) ◇ 98–104 ≃ Ed 55–61; 105a–107b *om.* Ed; 107cd ≃ Ed 67ab; 108–109 ≃ Ed 62–63; 110 *om.* Ed; 111–112 ≃ Ed 64–65; 113ab ≃ Ed 66cd; 113c–114b *om.* Ed; 114c–115d ≃ Ed 67c, 68b–69 ◇ 98a–99b ≃ G 259a–260b; 99c–104d ≃ G 261c–266d; 105–106 *om.* G; 107 ≃ G 273; 108–110 ≃ G 267–269; 111ab *om.* G; 111c–114b ≃ G 270–272; 114c–17.1b ≃ G 260c–261b; 17.1cd ≃ G 274ab.

98c °मेलनं] °मेलन A **98d** प्रकाशयेत्] प्रकारयेत् J_6J_7 **99a** चाभ्यासयोगो] *em.*; स्वाभ्यासयोगे A, स्वाभ्यासयोगो J_6J_7 **100d** अटतो] आटतो J_6 **101b** अभ्यसतो] अभ*श*तो A **101c** °मेलनादिषु] *em.*; °मेलनादिश्च μ **101d** °चेतसः] *em.*; °वेतसः μ **102c** °विहीनस्य] *corr.*; °विहीनानां μ **102d** °चेतसः] *corr.*; °चेतसां μ **103a** °प्रबद्धस्य] *em.*; °प्रवंधस्य μ **103c** °नोक्तां] J_6; °नोक्तं AJ_7 **104d** शिवम्] *em.*; शिवे μ **105a** गौडी] गौरी A **105b** वराः] A; पराः J_6J_7 **105c** द्रुमजा] द्रुमला A **106b** गौडी°] गौरी° A ◇ °संभवा] °संभवां A **106c** गृह्य] गुह्य A **106d** °देवताः] °देवता A **107b** कर्तुं] कर्त्तु A **107c** कुर्याद्] कुयोद् J_6 **107d** °लम्बकः] J_6; °लम्बक AJ_7

एकबिन्दुप्रदानेन तृप्यन्ते कोटिदेवताः ।
तस्मात्संपूज्य युञ्जीत तत्प्रसादपवित्रितः ॥१०८॥
अन्यथा क्लेश एव स्यान्न सिद्धिर्जन्मकोटिषु ।
सर्वे सिध्यन्ति मन्त्राश्च योगाश्च परमेश्वरि ॥१०९॥
सम्यक्पूजाप्रयोगेन मदिरानन्दचेतसः ।
असंपूज्य पिबेद्देवि मदिरां यः स पापभाक् ॥११०॥
महाराधनशीलस्य मय्येवासक्तचेतसः ।
तस्मात्संपूजयेद्देवि सर्वयोगाभिवृद्धये ॥१११॥
मदिरानन्दितो योगी योगं युञ्जीत नित्यदा ।
विजने जन्तुरहिते सर्वोपद्रववर्जिते ॥११२॥
मृद्वासनं समास्थाय स्वगुरूक्तप्रकारतः ।
संतर्प्य शिवमीशानं देवीं देवांश्च सर्वशः ॥११३॥
तत्प्रसादेन लभते सम्यग्ज्ञानमखण्डितम् ।
एतद्योगं मयाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥११४॥
श्रीदेव्युवाच
शम्भो सद्भावसंलभ्य जय चन्द्रार्धशेखर ।
त्वया श्रीखेचरीविद्यासाधनं गुह्यमीरितम् ॥१॥

108b तृप्यन्ते] तृप्तंते A **108c** युञ्जीत] युंजीतः A **108d** °पवित्रितः] °पवित्रेतः A **109a** स्यान्] *em.*; श्यात् A, स्यात् J_6J_7 **109b** °कोटिषु] °कोदिषु A **111b** मय्येवा°] *em.*; मयैवा° AJ_7, मय्यैवा° J_6 ◇ °चेतसः] ग्रचेतसः A *(unm.)* **112b** योगं] योगो A **113a** मृद्वासनं समास्थाय] मृद्वानसमास्थाय A *(unm.)* **113d** देवांश्] देवीश् A **114c** एतद] एत A

Manuscript G 259a–274b

अनया सदृशी विद्या क्व चिच्छास्त्रान्तरे न हि ।
खेचरीमेलनं देवि सुगुह्यं संप्रकाशितम् ॥२५९॥
तस्याश्चाभ्यासयोगो ऽयं तव स्नेहात्प्रकाशितः ।
एतद्योगो मयाख्यातः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥२६०॥
शम्भोः संभावनं लभ्य जयेच्चन्द्रार्कतारकं ।
खेचरी नाम या देवी सर्वयोगीन्द्रवन्दिता ॥२६१॥
एनां नो वेत्ति लोके ऽस्मिन् स पशुः प्रोच्यते शिवे ।
नित्यमभ्याशशीलस्य अटतो ऽपि जगत्त्रयम् ॥२६२॥
गुरुवक्त्रे ऽपि लब्धस्य विद्यामभ्यसतो ऽपि च ।
खेचरीमेलनाद्येषु नित्यं संसक्तचेतसः ॥२६३॥
न विद्यते महायोगो मदिदं साधनं विना ।
मत्प्रसादविहीनस्य मन्निन्दापरचेतसः ॥२६४॥
पशोः पाशविबद्धस्य योगः क्लेशाय जायते ।
सर्वमेतच्छिवेनोक्तां पूजां संत्यज्य मानवः ॥२६५॥
युज्यतः सततं देवि योगो नाशाय जायते ।
भक्त्या संतर्पयेद्देवि सर्वलोकमयं शिवे ॥२६६॥
शिवध्यानपरे पुंसि तुष्यन्ते सर्वदेवताः ।
तस्मात्संपूज्य युज्यन्तं मत्प्रसादपवित्रितम् ॥२६७॥
अन्यथा क्लेश एव स्यान्न सिद्धिर्जन्मकोटिभिः ।
सर्वे सिध्यन्ति मन्त्राश्च योगाश्च परमेश्वरि ॥२६८॥
सम्यक्पूजाप्रयोगेन मद्ध्याने मत्तमानसः ।
मामसंपूज्य योगेन पापं भवति नान्यथा ॥२६९॥
तस्मान्मां पूजयेद्देवि सर्वयोगाभिवृद्धये ।

MS G 259a–260b ≃ Ed 55a–56b; 260c–261b ≃ Ed 67c–68b; 261c–268d ≃ Ed 56c–63d; 269 *om.* Ed; 270a–271b ≃ Ed 64c–65d; 271cd ≃ Ed 66cd; 272a–273b *om.* Ed; 273cd ≃ Ed 67ab; 274ab ≃ Ed 69ab ◇ 259a–260b ≃ μ 98a–99b; 260c–261b ≃ μ 114c–115b; 261c–266d ≃ μ 99c–104d; 267–269 ≃ μ 108–110; 270–272 ≃ μ 111c–114b; 273 ≃ μ 107; 274ab ≃ μ 115cd.

260d भूयः] *corr.*; भूय G **261c** देवी] *em.*; देवि G **262a** नो] *corr.*; *न्*ो G **262d** जगत्त्रयम्] *corr.*; जगत्रयं G **263d** °सक्त°] *corr.*; °स*क्त*° G **266a** युज्यतः] *em.*; यज्यतः G **268b** जन्म°] *corr.*; ज्जन्म G **268c** सिध्यन्ति] *corr.*; सिद्धंति G **269b** मद्ध्याने] *em.*; मध्यान्हे G **270b** °वृद्धये] *em.*; °वृच्छये G

खेचर्यां नन्दितो योगी योगं युञ्जीत मन्मयम् ॥२७०॥
विजने जन्तुरहिते सर्वोपद्रववर्जिते ।
मद्वर्णं च समास्थाय स्वगुरूक्तप्रकारतः ॥२७१॥
संतर्प्य शिवमीशानं सर्वदेवोत्सवप्रदम् ।
मत्प्रसादेन महता सर्वविज्ञानवान् भवेत् ॥२७२॥
असक्तः सुमहापूजां यदि कर्तुं च साधकः ।
कुर्यादेकैकया देवि गुरुवाक्यावलम्बकः ॥२७३॥
त्वया च खेचरी विद्या सारवद्गुह्यतामियात्

272a संतर्प्य] *em.*; संतर्प G **273a** असक्तः सु°] *corr.*; असक्त*स् सु*° G **273b** कर्तुं] *corr.*; क*र्तुं* G **274b** °वद्] *corr.*; °वत् G

Appendix B: *MaSaṃ* 17, 18 and 27

सप्तदशः पटलः

श्रीदेव्युवाच
शम्भो सद्भावं संलभ्य जयचन्द्रार्धशेखर ।
त्वया श्रीखेचरीविद्यासाधनं गुह्यमीरितम् ॥१॥
संसिद्धं केन मार्गेण खेचरीमेलनं लभेत् ।
तन्मे ब्रूहि जगन्नाथ परमानन्दनन्दित ॥२॥
श्रीभैरव उवाच
शृणु गुह्यं महादेवि सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ।
खेचरीमेलनं लोके महायोगीन्द्रसेवितम् ॥३॥
खेचरीणामियं विद्या सद्यःप्रत्ययकारिका ।
सर्वसिद्धिप्रदा देवि जरामरणनाशिनी ॥४॥
†दार्छाद्† ब्रह्मकपाटस्य पशूनां दूरमार्गगा ।
असिद्धानामपि च या योगिनां परमेश्वरि ॥५॥
ब्रह्मधाम परित्यज्य आयाता नासिकापथम् ।
भित्त्वा ब्रह्मकपाटं तु यदा ध्रुवपदं व्रजेत् ॥६॥
तदा स्यात्परमानन्दं संविद्भावैककारणम् ।
ज्ञानं तथा च विज्ञानं तत्प्रसादात्स्फुरत्यपि ॥७॥
एवं योगे क्रियायां च स्थिता सकलकामदा ।
चिद्रूपा कुब्जिका नाम दुर्विज्ञेया सुरासुरैः ॥८॥
एवं कुण्डलिनीशक्तिरूर्ध्वाधोऽनेकधा गता ।
तत्स्थे योगः पदस्थे हि अणिमादिप्रसाधकः ॥९॥
तानि स्थानानि वक्ष्यामि यथा येषु च सिद्धिदा ।
मूलाधारं चतुःपत्रो बिन्दुस्त्रिवलयान्वितः ॥१०॥

μ=AJ_6J_7 ◇ A f. 49v³ – f. 51v¹¹ ◇ J_6 f. 34r¹ – f. 35v³ ◇ J_7 f. 71r¹ – f. 74r¹⁰

1a °भावं] *em.*; °भाव μ **2a** संसिद्धं] *corr.*; संसिद्धि A, संसिद्धिः J_6J_7 **2d** °नन्दित] J_6; °नंदितः AJ_7 **3a** श्रीभैरव उवाच] श्रीभैरवः J_6 **4b** सद्यः] सद्य A **5a** †दार्छाद्†] AJ_7; दा*र्च्छा*द् J_6 ◇ °कपाटस्य] कपटस्य A *(unm.)* **5b** पशूनां] पशुनां A ◇ °गा] °गाः A **5c** या] यो A **6a** परित्यज्य] *em.*; परित्य*ज्य*A, परित्य J_6J_7 *(unm.)* **6c** तु] J_6; त्वु A, त्नु J_7 **7b** संविद्°] सविद्° A **7d** स्फुरत्य] स्पुरत्य A **9b** ऽनेकधा] नकदा A **10b** येषु] °ग्रेषु A

गमागमसमोपेत आधाराख्यः शिखिप्रभः ।
गुह्यान्तं षड्दलं दीप्तं षड्बिन्दुः परिकीर्तितम् ॥११॥
तप्तजाम्बूनदाभासं स्वाधिष्ठानं हि तद्भवेत् ।
नाभिमध्यगतं शुद्धं द्वादशारं शशिप्रभम् ॥१२॥
मणिपूरकसंज्ञानम् अर्धचन्द्रस्य मध्यगम् ।
अनाहतं दशारं तु ब्रह्मरन्ध्रान्तगं सदा ॥१३॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं भावयेन्नादरूपकम् ।
षोडशारं महापद्मं त्रिकोणं कण्ठमाश्रितम् ॥१४॥
पूर्णचन्द्रनिभाकारं विशुद्धं मोक्षदायकम् ।
पञ्चकूटमहत्स्थानं विद्युत्कोटिसमप्रभम् ॥१५॥
मध्यदिनार्कसंकाशं भावयेद्बिन्दुरूपकम् ।
स तु नानातनोर्मध्ये शक्तिर्व्योमप्रभेदिनी ॥१६॥
ज्वालन्ती पञ्चधा रन्ध्रे सेयमाज्ञा प्रकीर्तिता ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ॥१७॥
पृथिव्यादीनि रन्ध्राणि पञ्चपञ्चकमेव च ।
तथा च कोष्ठकाः पञ्च स्वाधिष्ठानादयः स्मृताः ॥१८॥
एतेषु स्थानभेदेषु पृथग् ध्यानं शिवोदितम् ।
तत्रैकमपि चाभ्यस्य योगी स्यादजरामरः ॥१९॥
अभ्यासेनैव नश्यन्ति पापा जन्मसहस्रजाः ।
मेलनात्शिवतां याति सुमहान् खेचराधिपः ॥२०॥
स्वतन्त्रः सर्वलोकेषु गतिरव्याहता भवेत् ।
अविज्ञाय च यः कुर्याद् गुरुवाक्यामृतं विना ॥२१॥
भक्ष्यते सोऽचिराद्देवि योगिनीभिर्न संशयः ।
य इदं परमं शास्त्रं ग्रन्थतश्चार्थतस्ततः ॥२२॥
गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत स परां सिद्धिमाप्नुयात् ।
य इदं परमं गुह्यं खेचरीमेलकं ददेत् ॥२३॥

11a गमागम°] *em.*; गमागमौ μ ◇ समोपेत] *em.*; समोपेतौ AJ_6, समोयेतौ J_7 11b °राख्यः] *em.*; °राख्य μ ◇ °प्रभः] *em.*; °प्रभा μ 11c गुह्यान्तं] गुह्यं तं A 12a तप्तजाम्बूनदाभासं] *em.*; सप्तजाम्बूनदाभ्यासं A, सप्तजाम्बूनदांभासं J_6J_7 13a °संज्ञानम्] *corr.*; °विज्ञानम् μ 13d °रन्ध्रान्तगं] °रन्ध्रतिगं A 14b °रूपकम्] *em.*; °पूरकं μ 14d कराठम्] कठम् A 16a मध्य°] *em.*; मध्यं μ 17a ज्वालन्ती] ज्वालंति A, ज्वलंति J_7 17b सेयम्] संयम् A 19b ध्यानं] धानं A 20d खेचरा°] खेभूचरा° A *(unm.)* ◇ °राधिपः] °राधिप J_7 22a भक्ष्यते सोऽचिराद्देवि] भक्ष्याते सो च्चिरद्दिवि A 23b स परां सिद्धिम्] परो सिद्धिमवा° A

स एव हि गुरुर्देवि नान्यो ऽस्ति परमेश्वरि ।
इदं गुह्यतमं शास्त्रं पशूनां यः प्रदापयेत् ॥२४॥
अपरीक्षितवृत्तस्य स शीघ्रं नश्यति प्रिये ।
बहुधा क्लिश्यमानाय भक्तायानन्यचेतसे ॥२५॥
एकान्ते विजने स्थाने प्रवक्तव्यं विपश्चिता ।
व्याख्यानकाले कर्तव्यः पूजाविधिर्†शाढ्यतः† ॥२६॥
कुलामृतैश्च मांसैश्च कस्तूरीचन्दनादिभिः ।
रक्तवस्त्रे समाधाय विद्यापुस्तकमादरात् ॥२७॥
पूजयेत्पूर्वविधिना ततो व्याख्यानमाचरेत् ।
अथवा यद्यशक्तस्तु मानसेन कलामृतैः ॥२८॥
संतर्प्य पूज्य विजने व्याख्यानं गुप्तमाचरेत् ।
␣␣␣␣गतेनैव भावेनाराध्य पुस्तकम् ॥२९॥
शृणुयाद्विजने देशे तद्ज्ञैरयुक्तो ऽथवा प्रिये ।
पूर्वोक्तविधिना देवि स्वगुरूक्तप्रकारतः ॥३०॥
समभ्यस्य यथान्यायं द्वादशाब्दमतन्द्रितः ।
पर्यटेत्पृथिवीमेनां यत्र स्यान्मेलको गुरुः ॥३१॥
तं दृष्ट्वा सर्वभावेन समाराध्य प्रयत्नतः ।
आत्मनिःश्रेयसकरं तेनोक्तं सम्यगाचरेत् ॥३२॥
ज्ञानयुक्तं तु मातङ्गमपि कुर्याद्गुरुं प्रिये ।
ज्ञानविज्ञानहीनं तु षट्कर्मस्थमपि त्यजेत् ॥३३॥
यत्र यत्र विशिष्टार्थं तत्र तत्र समाश्रयेत् ।
यस्य हस्ते स्थितं दिव्यं विद्यापुस्तकमीश्वरि ॥३४॥
तस्य मूर्तिगतं देवि सकलं ज्ञानसागरम् ।
यदा यो ग्रन्थतश्चेदमर्थतश्च वदिष्यति ॥३५॥
अशेषेण जगद्धात्रि स एव परमो गुरुः ।
सर्वज्ञेन शिवेनोक्तमिदं जन्मार्बुदैरपि ॥३६॥

25d भक्तायानन्य°] भक्त्यांनन्य° A **26c** कर्तव्यः] कर्त्तव्य A **26d** †अशाढ्यतः†] AJ_7; आशाढ्यतः J_6 *(unm.)* **28b** ततो] तता A **28c** अथवा यद्य°] अथ वायव्य् A **28d** कलामृतैः] कजामृतैः J_6 **29c** *omission indicated* μ **29d** भावेना°] *em.*; भावना° μ **30b** तद्ज्ञैर] *em.*; तत्ज्ञे A, तत्ज्ञैर् J_6J_7 **31b** °दशाब्दम्] दशाष्टम् A **31c** पृथिवीम्] J_6; प्रथिवीम् AJ_7 **32c** °निःश्रेयस°] *em.*; °निश्रेयस° A, °निःश्रेय*स्व*° J_6, निःश्रेयक्य° J_7 **34c** हस्ते] हस्थो A **35b** सकलं] A; सकुलं J_6J_7 **35c** यो] *द्यो* A **36d** °जन्मार्बुदैर्] °जन्मार्बुदेर् A

दुर्लभं शास्त्रसारं तु दिव्यज्ञानप्रकाशकम् ।
द्वाव्मिौ पुरुषौ लोके सिद्धः साधक एव च ॥३७॥
अभ्यासेनैव सततं यः सर्वं परिवर्तते ।
अभीप्सुरात्मनः सिद्धिं स योगी साधकः स्मृतः ॥३८॥
सम्यगभ्यस्य विज्ञाय यः समं मेलनं चरेत् ।
सर्वसाधारणत्वेन विकल्पकुटिलोज्झितः ॥३९॥
कर्ता भर्ता च संहर्ता नित्यतृप्तो निरामयः ।
पश्यत्यात्माविभेदेन जगदेतच्चराचरम् ॥४०॥
स योगी सर्वविच्छ्रीमान् सिद्ध इत्युच्यते बुधैः ।
साधको बहुजन्मान्ते प्रयाति परमं पदम् ॥४१॥
देवैः सुदुर्लभां सिद्धिं सिद्धो याति न संशयः ।
तस्मादभ्यस्य यत्नेन खेचरीमेलनं चरेत् ॥४२॥
मेलनादप्यनभ्यासी सर्वं लभति पार्वति ।
तस्मादभ्यासहीनो ऽपि मेलात्स्यादजरामरः ॥४३॥
यदा संमिलति गुरुः शिष्यं मेलनकर्मणि ।
संयोजयिष्यति शिवे तदैवं समुदाचरेत् ॥४४॥
एकान्ते विजने स्थाने पशुदृष्टेरगोचरे ।
पूजायोग्यानि वस्तूनि साधयेत्परमेश्वरि ॥४५॥
सुस्निग्धे च सुसंमृष्टे गोमयेनोपलेपिते ।
चारुवस्त्रवितानाढ्ये सर्वोपद्रववर्जिते ॥४६॥
वीरेण मदकर्पूरलघुसिन्दूररेणुभिः ।
वृत्तषट्कोण†वस्वार†वृत्तभूवलयोज्ज्वलम् ॥४७॥
कारयेन्मण्डलं देवि तत्रापि कलशं न्यसेत् ।
पूरयेद्दिव्यतोयेन रत्नगर्भं सवस्त्रकम् ॥४८॥
माल्यधूपसमायुक्तं दर्पणालंकृतं प्रिये ।
तत्र पञ्च महारत्नान् न्यसेद्विद्यां च पूर्ववत् ॥४९॥

37a °रं तु] °रत्तु A **38b** यः सर्वं] *em.*; य सर्वःमुत्° μ *(unm.)* **38c** अभीप्सुर] *em.*; अभीत्सुर् μ **39a** अभ्यस्य विज्ञाय] *em.*; अभ्यास विज्ञात्य A, अभ्यस्य विज्ञात्य J_6, अभ्यस विज्ञात्य J_7 **39d** °कुटिलोज्झितः] °कुटिलोजितः A **41a** °विच्छ्रीमान्] °विच्छीमान् A **43b** सर्वं] *em.*; सर्वे μ **44a** °मिलति] °मेलति μ **45b** °दृष्टेर्] °दृष्टिर् A **46b** गोमयेनोपलेपिते] गोमयेनोपःपलेंपिते A *(unm.)* **46c** °नाढ्ये] °ना*द्यें* A **47a** मद°] म° A *(unm.)* **47c** °†वस्वार†°] J_6J_7; °वस्थार A **47d** °वलयोज्ज्वलम्] °वल्लयोज्वंरंलम् A *(unm.)* **49b** °लंकृतं] °लंन्नतं A

तदग्रे देवि साधारं पात्रं पूर्णं कलामृतैः ।
पूर्ववत्परिसंस्कृत्य पूर्वोक्तविधिनाचरेत् ॥५०॥
पूजावसाने देवेशि तत्प्रसादपवित्रितम् ।
स्नापयेत्कलशेनाङ्गं परामृतधिया गुरुः ॥५१॥
विना स्नानप्रसादाभ्यां कल्यानमयुतैरपि ।
न सिध्यति महेशानि खेचरीमेलकं प्रिये ॥५२॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तत्प्रसादं सहाभिधम् ।
सस्नानं दापयेद्विद्यां नान्यथा सिद्धिभाग् भवेत् ॥५३॥
स्नापयित्वा शिवं देवि योगस्थाने विशेषवित् ।
पञ्चाशद्वर्णमालां च स्थले वा दर्पणे ऽथवा ॥५४॥
पदे वा चन्दने दिव्ये तल्लिखेन्न तु भूतले ।
शिष्यहस्तेन देवेशि तत्र पुष्पं प्रमोचयेत् ॥५५॥
यस्मिन् वर्णे निपतितं पुष्पं तद्वरणपूर्वकम् ।
नाम चानन्दनाथान्तं दापयेद् गुरुरीश्वरि ॥५६॥
शक्तिनाम च संप्रेक्ष्य पराम्बान्तं प्रदापयेत् ।
पूर्वं प्रसादं संदग्धमहापातकसंचयः ॥५७॥
पुनश्च कलशासेकात्परामृततनुर्भवेत् ।
भूयश्च नामग्रहणात्शिवसाम्यः प्रजायते ॥५८॥
एवं कृते शिवे शिष्यो योग्यो मेलनकर्मणि ।
अन्यथा परमेशानि तदेवानर्थकृद्भवेत् ॥५९॥
इति सिद्धतनुः सिद्धो यद्यद्भावमुपासते ।
तत्तत्फलं च प्रत्यक्षं भविष्यति न संशयः ॥६०॥
इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां सप्तदशः पटलः

50a साधारं] J_6; साधारे A, साधारें J_7 50b पूरगं] पूरग° J_7 52b कल्यानं] A; कल्यानां J_6J_7 53b तत्प्रसादं] J_6; त्प्रसाद⊔ A, तत् प्रसाद J_7 55a पदे वा] यदेवा A ◇ दिव्ये] देवि A 56b पुष्पं] *em.*; पुष्प μ 56c °नाथान्तं] °नाथांतां J_6 57a शक्तिनाम च] *corr.*; शक्तिमाम चं A, शक्तिमाम च J_6J_7 57b पराम्बान्तं] *em.*; परां वा तं AJ_7, यरांवांतं J_6 59a कृते] ऋते A 59a शिष्यो] *em.*; शिष्ये μ 59d तद्] नद् A 60a °तनुः] °तनुं A 60c फलं] पलं A

अष्टादशः पटलः

श्रीभैरव उवाच
इति †सर्वज्ञपाशाद्† यस्तीर्णः संसारसागरात् ।
भुञ्जीत स्वेच्छया भोगान् स्वेच्छया योगमभ्यसेत् ॥१॥
उपादेयः प्रियो यस्मात्कौलिके प्रियमेलकः ।
अतः कुर्यादनुष्ठानं शाक्तमाणवमेव वा ॥२॥
अत्यन्तविजने स्थाने सर्वोपद्रववर्जिते ।
नितान्तं मनसो रम्ये हृद्यधूपसुगन्धिनि ॥३॥
विकीर्णपुष्पप्रकरसिन्दूरादिसुरञ्जिते ।
गुरुमण्डलकं कृत्वा भक्तिमान्योगमभ्यसेत् ॥४॥
स्थिरमासनमासीनः सकलीकृतविग्रहः ।
जितश्वासो जितमना जितकर्मा जितेन्द्रियः ॥५॥
नियोज्यं घण्टिकारन्ध्रे ⊔⊔⊔⊔⊔⊔⊔⊔ ।
अधस्ताच्चिन्तयेच्चक्रमाक्रान्ताधारमण्डलम् ॥६॥
तत्र मध्ये समोद्दीप्तां मूलशक्तिं विभावयेत् ।
प्राणान्निरुध्योर्ध्वमुखीं नयेद्भित्त्वा षडम्बुजान् ॥७॥
एकीभूता हि नादाख्या चक्रभेदक्रमेण च ।
तडिद्वलयसंकाशां स्फुरत्किरणरूपिणीम् ॥८॥
चिह्नया च निरालम्बे शून्यतेजोमये परे ।
ब्रह्मद्वारस्य गर्भे तु विसर्गाख्ये विलीयते ॥९॥
ततो रसनयोद्भेद्य प्रविशेद्ब्रह्मणः पदम् ।
तस्मिन् कुलामृतं दिव्यं पीत्वा भूयो विशेत्कुलम् ॥१०॥
तेन प्रासितमात्रेण परां सिद्धिमवाप्नुयात् ।
योगमूले स्वके स्थाने भूयस्तस्मात्समुत्थिता ॥११॥
पृथिव्याधारसंकोचादेकोच्चारक्रमेण तु ।
एतद्वागीस्वरीबीजं रहस्यं संप्रकाशितम् ॥१२॥

μ=AJ_6J_7 ◇ A f. 51v[11] – f. 54v[6] ◇ J_6 f. 35v[4] – f. 37v[3] ◇ J_7 f. 74r[10] – f. 78v[5]

2a उपादेयः प्रियो] उपदियः प्रयो A **2d** शाक्तमाणवम्] J_6; शामाण⊔⊔वेम् A *(unm.)*, शामाणवम् J_7 *(unm.)* **3c** नितान्तं] नितान्त° A **3d** °सुगन्धिनि] °सुंधिपिते A **4a** °प्रकर°] A; °प्रकरे J_6J_7 **6b** *omission indicated* μ **6d** आक्रान्ताधार°] आक्रान्तधार° A **7c** °मुखीं] °सु⊔खिं A **8a** नादाख्या] नादाच्या A **11d** समुत्थिता] समुत्थित A

व्याख्याता खेचरीमुद्रा तस्या बन्धोऽयमेव हि ।
एतस्या बन्धमात्रेण भाग्यहीनोऽपि सिध्यति ॥१३॥
मेलकं खेचरीणां च दिव्यवेषोऽभिजायते ।
अमुना संप्रदायेन यत्र यत्र विलीयते ॥१४॥
तत्र तत्र परानन्दरूपमेव प्रकाशते ।
सर्वशास्त्रार्थवेत्ता च सौभाग्यं परमं तथा ॥१५॥
काव्यं च सर्वभाषाभिः सालंकारपदोज्वलम् ।
करोति लीलया योगी रुद्रशक्तिप्रभावतः ॥१६॥
अनेनैव प्रयोगेन सर्वमात्राः स्फुरन्ति हि ।
आणवाः शाम्भवाः शाक्ता ये †केत्यु†च्चरति प्रिये ॥१७॥
मणिपूरे लयाद्वश्यं शान्तिश्रीपुष्टितुष्टयः ।
आकर्षणं पुरक्षोभो भवन्त्येव हि सिद्धयः ॥१८॥
अनाहते तु संलीनो योगी ग्रन्थिविभेदनात् ।
गिरीणां पातनं देवि कुर्यान्मृत्योश्च वञ्चनम् ॥१९॥
विशुद्धेऽप्यमृताधारे योगस्तु स्यादसंशयः ।
क्षुत्तृषादाहनिर्मुक्तो जरारोगविवर्जितः ॥२०॥
आज्ञास्थानगतो योगी त्रैलोक्यमपि पश्यति ।
त्रिकालज्ञः स्वयं कर्त्ता स एव परमेश्वरः ॥२१॥
अतीतं वेत्ति नाभिस्थो वर्त्तमानं हृदि स्थितः ।
आज्ञास्थानगतो योगी सर्वं जानाति सर्वदा ॥२२॥
अधुना चोन्मनीभावः परतत्त्वोपलब्धये ।
पारम्पर्यक्रमायातो ब्रह्माण्डोदरमध्यगः ॥२३॥
यल्लिङ्गाधारमध्यस्थं मध्ये शक्त्यङ्कुरान्वितम् ।
यवमात्रप्रमाणं तु त्रिकोणाकृतिमुत्तमम् ॥२४॥
निष्कलं यत्परं तेजः परस्य परसंस्थितम् ।
जवमणीन्द्रियं यद्वद्विस्फुरश्चैव दृश्यते ॥२५॥
तथाकृतिर्भवेत्तस्य मीलनोन्मीलनानि च ।
प्रथमं भेदयेच्चक्रं नाभिजं नाडिभिर्युतम् ॥२६॥

15a परानन्द°] A; परानन्दा° J_6J_7 **16b** °ज्वलं] *em.*; °ज्वलां μ **19d** मृत्योश्] मृत्युश् A ◇ वञ्चनम्] *em.*; वंचनां μ **20a** ऽप्य°] *em.*; त्य° μ **22b** स्थितः] *em.*; स्थितं μ **23a** चोन्मनी°] वोन्मनी° A **24c** यव°] यत्र A **25b** परस्य परसंस्थितम्] परस्परसंस्थित A *(unm.)* **25c** जव°] जवा° J_7 **25d** विस्फुरश्] *em.*; विस्फुराश् AJ_7, वि*ुराश् J_6

तदूर्ध्वे हृदयावस्थं चक्रं वै कुलसंज्ञकम् ।
हृच्चक्रं भेदयेत्पश्चात्कण्ठचक्रं ततः शनैः ॥२७॥
तदूर्ध्वे लम्बिकां भेद्य नासाग्रं तु ततो नयेत् ।
नासाग्रात् श्वाससंभिन्नं भ्रूमध्ये संनिवेशयेत् ॥२८॥
श्वासेन सहितं बीजं तेजोरूपं ललाटके ।
गत्वा लक्षं ललाटस्थं प्रविशेत्सूर्यसंनिभम् ॥२९॥
कुञ्चिकाढ्यं ततः सूक्ष्मा ␣␣␣णु च सूक्ष्मकम् ।
उद्घाटयेत्ततो द्वारं शिवद्वारार्गलं महत् ॥३०॥
बिन्दुद्वारार्गलं भित्त्वा दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
ब्रह्माण्डोदरमित्युक्तं योगिनीसिद्धसेवितम् ॥३१॥
तदेतदङ्गुलोत्सेधं कपाले संव्यवस्थितम् ।
प्रवेशात्स्पर्शनं तत्र बालानामिव जायते ॥३२॥
शक्तितत्त्वावबोधो हि विज्ञानं सिद्धसाधनम् ।
परतत्त्वावबोधश्च ज्ञानं मोहप्रसाधनम् ॥३३॥
भुक्तिमुक्त्योर्द्वयोर्हेतुः परमानन्दतां गतः ।
जीवन्मुक्तिमवाप्नोति वत्सरार्धान्न संशयः ॥३४॥
प्राप्तद्वादशकेनैव शिवसाम्यबलः प्रिये।
सर्वार्थकृत्यं सूक्ष्मत्वं सर्वज्ञत्वं विशुद्धता ॥३५॥
नित्यानन्दस्वभावत्वं सर्वव्यापित्वमेव च ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं गरिमा तथा ॥३६॥
ईशित्वं च वशित्वं च यच्च कामावसायिता ।
स्यान्महासिद्धयस्त्वेता अष्टौ विज्ञानयोनयः ॥३७॥
योगिनः संप्रवर्तन्ते वत्सरात्परमेश्वरि ।
अथापरं प्रवक्ष्यामि साधनं परमं प्रिये ॥३८॥
विधिनानुत्थितं पूर्वं मया च वरवर्णिनि ।
अन्येषां देवदेवानां ब्रह्मादीनां च दुर्लभम् ॥३९॥
बिन्दुजीवजलाक्रान्तं वर्तुलं चन्द्रमण्डलम् ।
बिन्दुप्राणानिलाक्रान्तं त्रिकोणं वह्निमण्डलम् ॥४०॥

27d कराठचक्रं] *em.*; कराठं वक्त्रं μ **28c** नासाग्रात्] *em.*; नासाग्रे μ **30b** *omission indicated* μ
32b कपाले] J_6; कलाये A, कयाले J_7 **33a** °बोधो] °बोधे J_6^{ac} **35c** °कृत्यं] A; °कृत्वं J_6J_7
36b °व्यापित्वम्] *em.*; °व्याप्तित्वे A, °व्याप्तित्वं J_6J_7 **38c** अथापरं] अथातः सं° A

आपूर्य वामया नाड्या मुञ्चेद्दक्षिणया बहिः ।
पुनर्दक्षिणयापूर्य बहुशो वामया त्यजेत् ॥४१॥
एवं विशुद्धनाडीकः कुम्भकानां शतं शतम् ।
कुर्याद्बहिश्च हंसेन सहजेनान्तरस्थितम् ॥४२॥
स पश्यति जगत्कीर्णं तेजसः परमाणुभिः ।
दृष्टेति प्रत्ययं कुर्यात्प्रत्येकमयुतं यदा ॥४३॥
तदा पश्यति नासाग्रे हृदयेन्दूज्ज्वलमहः ।
तयोः संचिन्तयेदैक्यं तत्रात्मानं स पश्यति ॥४४॥
अतिमग्नं मनः कुर्यात्तस्मिन् पुर्यष्टकात्मके ।
ततः स प्रियसाङ्गत्याद्रुद्रतामाप्य दीप्यति ॥४५॥
शक्तिबन्धप्रयोगेण सप्तरात्रं निरोधकः ।
कोदण्डद्वयमध्यस्थं बिन्दुनादेन भेदयेत् ॥४६॥
एवमभ्यसतस्तस्य प्रत्ययः संप्रजायते ।
याममात्रादध्रुवं त्यक्त्वा गगने भवति स्थितः ॥४७॥
द्वादशान्ते दिनार्धेन दृष्ट्वा साक्षान्महेश्वरम् ।
संप्राप्य प्रियसाङ्गत्यं शिवसायुज्यमाप्नुयात् ॥४८॥
सुखमासनमासीनः सकलीकृतविग्रहः ।
किंचिदभ्युन्नतोरस्को मयूराञ्चितमस्तकः ॥४९॥
विस्रस्तांसः स्थिरो भूत्वा रसनां घण्टिकाबिले ।
संयोज्य परमेशानि ध्यानं कुर्याज्जितेन्द्रियः ॥५०॥
अत्यन्तनिपुणं कुर्यात्सुषुम्णान्तर्गतं मनः ।
शक्तिक्षोभात्ततस्तस्य परो ऽभिव्यज्यते ध्वनिः ॥५१॥
तदेव सहजं बीजं तत्र संयोजयेन्मनः ।
क्षणात्क्षोणीं परित्यज्य गगने भवति स्थिरः ॥५२॥
मुहूर्ताद्वीक्षते सर्वं तेजोमयमिदं जगत् ।
याममात्रं तदा तेजस्तदेव परिपश्यति ॥५३॥

42a °कः] °क° A **42c** बहिश्च] *em.*; बहिछ μ **43d** प्रत्येकमयुतं] *em.*; प्रत्येकंमयुतं μ **44b** °येन्दूज्ज्वलमहः] *em.*; °येंदोज्वलंमहः A, °येदोज्वलंमहः J_6J_7 **45d** ग्राप्य दीप्यति] J_6; ग्रप्यदीप्यति A, ग्राय्पदीप्यति J_7 **47c** °मात्राद] °मात्रा μ **47d** गगने भवति स्थितः] J_6; गमने भव␣स्थित A, गमने भवस्थितः J_7 **48b** दृष्ट्वा] *em.*; दृष्टा μ **49a** सुखमासनमासीनः] J_6; सुखासासनमासिन A, सुखमासनमासीन J_7 **51c** °च्चोभात्ततस्] J_6; °च्चोभां ततस् A, °च्चोभा ततस् J_7 **52a** सहजं] सहसं A **52c** च्चोणीं] J_6; च्चोणी AJ_7

तदा तस्य निवर्तन्ते निखिलाश्चित्तवृत्तयः ।
†यामलं† यमसंकल्पो यदा स्थाणुवदास्थितः ॥५४॥
यदा ब्रह्माण्डभाण्डस्थं सर्वं प्रत्यक्षमीक्षते ।
अहोरात्रेण सर्वाणि साक्षात्तत्त्वानि पश्यति ॥५५॥
तद्रूपश्चेत् †परिषतस्† तदासौ जायते शिवः ।
नियोज्य घण्टिकारन्ध्रे रसनां निश्चलात्मिकाम् ॥५६॥
भ्रूमध्ये चक्षुषी न्यस्य स्थिरं कृत्वा मनो हृदि ।
क्षीरोदार्णवनिर्मग्नं पद्मद्वयपुटीकृतम् ॥५७॥
पिबन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण क्षीरधारामृतं हिमम् ।
रोमकूपैर्विनिर्गत्य कोटिशः क्षीरबिन्दुभिः ॥५८॥
अभेद्यपाण्डुरान्तस्थमिवात्मानं विचिन्तयेत् ।
अजरामरतामेति मासमात्रं न संशयः ॥५९॥
मासावधि महेशानि योगमेकं शिवोदितम् ।
दिने दिने द्वियामान्तं यामान्तं वा समुच्चरेत् ॥६०॥
एकेनैव तु योगेन भुवनान्तमनुव्रजेत् ।
द्वितीयेन तु योगेन सप्तद्वीपावधिं व्रजेत् ॥६१॥
तृतीयेन तु योगेन शिवलोके महीयते ।
अतीत्य सकलान्लोकान्पृथग्भोगान्प्रभुज्य च ॥६१॥
शरीराय महायोगी चन्द्रद्वीपे सुखं वसेत् ।
श्रीदेव्युवाच
अक्षयं नाथ कं लोकं वद देव महेश्वर ॥६३॥
[श्रीभैरव उवाच]
सर्वं पूर्वं मयाख्यातं किं न बुध्यसि पार्वति ।
त्रैलोक्यं क्षयते सर्वं सहस्रयुगपर्यये ॥६४॥
कल्पाख्यं ब्रह्मणः स्थानं वैकुण्ठं चैव वैष्णवम् ।
कैलाशं रुद्रसंस्थानं क्षीयते च महाक्षये ॥६५॥
अक्षयं चन्द्रद्वीपं तु यत्र देवी कुलाम्बिका ।
तिष्ठते च मया सार्धं सत्यं सत्यं महातपे ॥६६॥

55b °मीक्षते] °मीक्षसे A **56a** †परिषतस†] AJ_7; परिखतस् J_6 **59a** अभेद्य] J_6; अमेघ° A, अमेद्य° J_7 ◇ °स्थम्] *em.*; °स्थाम् μ **61d** °वधिं] °वलिं A **62d** प्रभुज्य] यः भुज्य A **63d** महेश्वर] *em.*; महेश्वरं μ **64a** ◇ सर्वं] *corr.*; शिव μ **64c** क्षयते] A; क्षायते J_6J_7 **65a** ब्रह्मणः] J_6; ब्रह्मण AJ_7 **66b** कुलाम्बिका] A; कुजांविका J_6J_7

योगिन्यस्तत्र या देवि सिद्धाश्च वरवर्णिनि ।
इच्छारूपधराः सर्वे सर्वे चामोघशक्तयः ॥६७॥
स्वतन्त्राश्च स्वरूपाश्च सर्वे कुब्जेश्वरप्रभाः ।
किमत्र बहुनोक्तेन जल्पितेन पुनः पुनः ॥६८॥
क्षयपातविहीनं तु चन्द्रद्वीपं वरानने ।
तत्क्षये यौवनानन्दः क्रीडते स्वेच्छया प्रिये ॥६९॥
कल्पकोटिशतैस्तस्य क्षयो नैव प्रजायते ।
न च सांसारिका व्याप्तिस्तस्य भूयः प्रवर्तते ॥७०॥
पशुमार्गस्थितो नित्यं योनियोन्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुं तोष्य महेश्वरि ॥७१॥
प्रबोद्धव्यमिदं शास्त्रं संसारं तर्तुमिच्छता ।
येन सिद्धिमवाप्नोति सत्यं सत्यं न संशयः ॥७२॥
इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायामष्टादशः पटलः

69a क्षयपात°] *em.*; क्षपयात° μ **70c** व्याप्तिस्] *em.*; व्याप्ति° μ **70d** तस्य] *em.*; °त्वस्य AJ$_6$, स्वस्य J$_7$ **72b** तर्तुम्] *em.*; वर्तुम् AJ$_6$, वर्त्तुम् J$_7$

सप्तविंशः पटलः

ईश्वर उवाच
क्षेत्रज्ञानविहीनस्तु बाह्यचक्रमनाः क्षमः ।
सर्वतीर्थाधिकं स्नानं योगी देवि समाचरेत् ॥१॥
लोकेशः केशवो रुद्रः ईशश्चैव सदेश्वरः ।
निगद्यन्ते च विङमूत्ररजोरेचकसारकाः ॥२॥
दृढलावण्यशौक्ल्यघ्नदेहस्थैर्यगद†क्षमः† ।
क्रमादमी प्रणश्यन्ति क्रियते विधिना यदि ॥३॥
दिव्यानुजः सुरश्रेष्ठः सूतो यज्ञो हरिः स्वयम् ।
अतिदुष्टः स्वयं रुद्रो लेभे ईशः सुरद्रवम् ॥४॥
सदाशिवो वरो ज्ञेयस्तेषां क्रममिमं शृणु ।
विजने जन्तुरहिते सुपात्रे चामरीरसम् ॥५॥
तत्र मेहनजं सारं कृत्वा चैवादिपुष्पकम् ।
पिङ्गलीवालुकं वारि सम्यगोंकारसंभवम् ॥६॥
तथा मथनजं दिव्यं ब्रह्मरन्ध्रविनिर्गतम् ।
एकीकृत्य धरातोयैः संस्कृत्य च यथाविधि ॥७॥
कर्पूरकुंकुमादीनि तस्मिन्विन्यस्य मेलयेत् ।
तेन प्रमर्दयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥८॥
नासजं †नास्त्यकं† कुर्यादजरामरफलाप्तये ।
मासेन देवदेवेशि नित्यमन्तः प्रदर्शयेत् ॥९॥
वलीपलितनाशश्च दृढलावण्यमेव च ।
भविष्यति महेशानि नाडीशुद्धिर्गदक्षयः ॥१०॥
अनेन विधिना देवि निर्विकल्पेन चेतसा ।
यश्चरेत्तस्य संसिद्धिर्जायते ह्यजरामरः ॥११॥

μ=AJ_6J_7 ◇ A f. 68v[7] – f. 69v[10] ◇ J_6 f. 47v[8] – f. 48v[1] ◇ J_7 f. 100r[7] – f. 102r[1]

1b बाह्य°] वाघ्र° A ◇ °मनाः] *conj.*; °मना μ **1c** सर्व°] सर्वं A **1d** योगी देवि समाचरेत्] *em.*; योग देंवी समं चरेत् A, योगं देवी समं चरेत् J_6J_7 **2b** ईशश्चैव] *em.*; ईशः सैव μ **2c** निगद्यन्ते] निमद्यंते A **3a** °शौक्ल्य°] °शौक्ल° A **4b** सूतो] सूनो A **4c** अतिदुष्टः] अनिद्रुष्टः A **4c** रुद्रो] *em.*; रुद्रे μ **4d** ईशः सुरद्रवम्] *em.*; द्रशः सुरद्रवः A, ईशः सुरुद्रवः J_6J_7 **5c** जन्तु°] नंतु° A **6c** पिङ्गलीवालुकं] पिगजीवालुजं J_6J_7 **6c** वारि] सारि A **7a** मथनजं] मथनलं A **8b** तस्मिन्] *em.*; तस्य μ **8c** °मर्दयेद] *em.*; °मर्दये μ **9d** नित्यम्] J_6; नित्यंम् AJ_7 ◇ प्रदर्शयेत्] A; प्रदर्शनात् J_6J_7

क्षेत्रतीर्थमये देहे यत्तीर्थं शिवनिर्गतम् ।
सर्वपापक्षयकरं वलीपलितनाशनम् ॥१२॥
करोति नात्र संदेहस्त्रिकालाभ्यङ्गयोगतः ।
षण्मासाल्लभते सत्यमजरामरतां प्रिये ॥१३॥
त्रिकालोद्वर्तनाद्वर्षाद्वलीपलितहा भवेत् ।
एककालप्रयोगेन त्रिवर्षादजरामरः ॥१४॥
विकल्पो नात्र कर्तव्यस्तर्हि सिद्धिर्न जायते ।
अविकल्पप्रवृत्तस्य योगिनः सिद्धिरुत्तमा ॥१५॥
सर्वपापक्षयश्चैव सौकुमार्यं प्रजायते ।
दिव्यं शिवमयं तीर्थं तीर्थकोटिफलप्रदम् ॥१६॥
रात्रौ पात्रान्तरे सर्वं कुर्याद्योगी समाहिताम् ।
चन्दनं कुङ्कुमं कुष्ठं हारिद्रं गोमयं तिलम् ॥१७॥
कर्पूरमगुरुं चन्द्रं गुग्गुलं कङ्गुकाघृतम् ।
गन्धकं च समालोड्य प्रातर्देहं प्रमर्दयेत् ॥१८॥
अनेन विधिना मासात्सूर्यकल्पो भवेन्नरः ।
वलीपलितनिर्मुक्तो जायते ह्यजरामरः ॥१९॥
रात्रौ कृत्वा महेशानि पात्रे सर्वामरीसुधाम् ।
तालकं कनकं गन्धं रुद्राक्षं च मनःशिलाम् ॥२०॥
पिष्ट्वा संलोड्य स्वदेहं मर्दयेत्प्रातरुत्थितः ।
मासाद्भवति देवेशि सत्यं पावकसंनिभः ॥२१॥
वलीपलितनिर्मुक्तः सिद्धिः स्यादजरामरा ।
दिवा संक्षिप्य पात्रान्तः सायं मर्दनमाचरेत् ॥२२॥
घृष्ट्वा गुग्गुलुना धूपं वस्त्रावृततनौ ददेत् ।
संदग्धगोमयं भस्म मेलयित्वामरीरसे ॥२३॥
संमिश्रोन्मत्तकरसं तेन देहं प्रमर्दयेत् ।
मर्दनादेव षण्मासाज्जायते ह्यजरामरः ॥२४॥

12a च्चेत्रतीर्थमये] *em.*; च्चेत्रं तीर्थमया AJ7, च्चेत्रं तीर्थं मया J6 **14a** त्रि°] द्वि° J6 **17c** कुष्ठं] *em.*; कुष्टं μ **17d** हारिद्रं] दारिद्रं A **18a** कर्पूरमगुरुं चन्द्रं] J6; कर्पूरुगुरुं चंद्रं च A *(unm.)*, कर्पूरगरुं चंद्रं J7 *(unm.)* **18c** गन्धकं] ⌈रो⌉धकं A **20c** तालकं कनकं] J6; तलकं कंनकं A, तलकं कनकं J7 **21a** स्व°] *em.*; सं° μ **21d** °निभः] °निभं A **22b** °मरा] J6; °मराः AJ7 **23a** घृष्ट्वा गुग्गुलुना] J7; घृष्टा गुग्गुलना A, घृष्ट्या गुग्गुलुना J6 **23b** °तनौ ददेत्] °ननौ दवेत् A **23c** °दग्ध°] *em.*; °दग्धा° A, °दग्ध्वा J6J7

सर्वतो विषनाशश्च भविष्यति न संशयः ।
यो नित्यं मर्दयेदेनं द्वादशान्तमखण्डितम् ॥२५॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वव्याधिविवर्जितः ।
अजरश्चामरो भूत्वा जीवेदाचन्द्रतारकम् ॥२६॥
अविकल्पमतिर्देवि यः सदा मर्दयेत्तनुम् ।
तस्य न व्याधिजा भीतिर्न जरामृत्युतो ऽपि च ॥२७॥
अनेन देवि स्नानेन सर्वतीर्थफलोदयः ।
भवति नात्र संदेहः सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥२८॥
पशुपाशप्रबद्धाश्च शिवज्ञानपराङ्मुखाः ।
दिव्यामरीसुधास्नानं न विन्दन्ति बहिर्मुखाः ॥२९॥
अप्रकाश्यतमं चेदं रहस्यं ते प्रकाशितम् ।
शिवेनोदाहृतं देवि नापरीक्ष्य प्रदापयेत् ॥३०॥

इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां सप्तविंशः पटलः

27c °भीतिर] °भितिर् A   28c भवति] *em.*; लभति AJ_6, लभते J_7 29b °मुखाः] J_6; °मुख्य A, °मुखा J_7 29d °मुखाः] मुखा A   30b ते प्रकाशितम्] तं प्रकाशिते A

---

26 *om.* A

Appendix C: works cited in the *Bṛhatkhecarīprakāśa*

In the following list the names of cited works are followed by the location (if I have found it) of the citation(s) in the published edition (if one is available) of the work and then the location of the beginning of the citation in the manuscript. In general, I have sought to identify only those citations that are from haṭhayogic works. I have not listed unattributed citations that I have been unable to identify. The sign "≃" indicates that the citation is found in a slightly different form in the edition that I have consulted. Where I am uncertain of the identity of the text being referred to, its name or its author's name is given in single inverted commas.

'Aṃjane': f: 42(3)v^{mg}

Atharvaśira[upaniṣad]: f. 86(1)v^{5}

Amarakośa: f. 29r^{10}, f: 70v^{mg}, f. 110v^{2}

Amṛtabindūpaniṣad: f. 90r^{9}

Aṣṭādhyāyī: 1.4.82 at f. 59v^{9} (*"iti sūtrāt"*)

Uttaragītā: f. 59r^{mg}

Kapilatantra:[486] f. 14r^{9}

Kālāgnirudropaniṣad: f. 86(1)v^{8}

'Kālidāsa': f. 42(1)r^{8}, f. 110r^{9}

Kulaprakāśatantra: f. 42(1)v^{5}, f. 88v^{mg}

Kulārṇavādau: f. 45v^{10}

Kaurmagītā: f. 89v^{3}

Kaurme Śivagītā: f. 66v^{4}, f. 85r^{5}, f. 85r^{10}, f. 89v^{mg}, f. 101r^{8}

Gāruḍa[purāṇa]: f. 63v^{7}, f. 67r^{9}, f. 67v^{5}, f. 68v^{5}

Gītāsāra: "ekonaviṃśādhyāye" f. 16v^{6}

'Gorakṣa': f. 25r^{mg},[487] f. 42(3)v^{4}, f. 45r^{mg}[488]

Gorakṣaśataka$_{N}$*:* 67 at f. 11v^{8}; 64 at f. 12r^{1}, 133–134 at f. 26r^{5} (attributed to *Haṭhapradīpikā*), 43 at f. 99r^{7}, 25–28 at f. 99v^{7}, 142 at f. 100r^{mg}, 24cd at f. 100r^{3}, 72c–76d at f. 103v^{mg}, 11 at f. 108v^{1} (=*HP* 1.35), 12 at f. 108v^{5} (=*HP* 1.44)

Carakasaṃhitā: f. 78v^{8}

Jābala[upaniṣad]: f. 86(2)r^{9}

Jaiminyaśvamedhagālava: f. 74r^{4}, f. 74r^{10}, f. 74v^{7}, f. 75r^{mg}, f. 75v^{1}

Tattvakaumudī: f. 57r^{mg}

Tattvapradīpikā: f. 69v^{mg}, f. 107v^{mg}

Tantrarāja: f. 27v^{2}, f. 42(1)v^{2}, f. 42(1)v^{9}, f. 42(2)r^{5} (=citation at f. 42(1)v^{2}), f. 42(2)r^{6} (=citation at f. 42(1)v^{9}), f. 64r^{2}, f. 73v^{3}, f. 74r^{1}, f. 78r^{1}, f. 78r^{9}, f. 78v^{5}, f. 82v^{2}, f. 90v^{8}, f. 105r^{mg}, f. 106v^{mg}

⌈*Taittirīya*⌉*śruti:* f. 42(1)r^{8}

Dakṣiṇamūrtisaṃhitā: f. 105r^{6}

Dattātreyayogaśāstra: see *Sāṃkṛtidattātreyasaṃvādaprakaraṇa*

'Devalaḥ': f. 91v^{7}

Dhātupāṭha: f. 102v^{8}

Nandipurāṇa: f. 92r^{5}

Nārāyaṇīyayogasūtravṛtti: f. 57v^{2}, f. 90v^{2}

Nārāyaṇīyavṛtti: f. 93r^{2}

Nārāyaṇīyasūtravṛtti (ad Kṣurikopaniṣad): f. 90r^{11}

Niruktaśeṣa: f. 11r^{6}.

Padmapurāṇa: f. 84v^{3}

Pādmagītā: f. 90r^{mg}

Pādmaśivagītā: f. 76r^{mg}

Pādme Kapilagītā: f. 25r^{7}, f. 68r^{1}, f. 89r^{10}

Pārthiveśvaracintāmaṇi: f. 84v^{4}

Pauṣkaraprādurbhāva: 17th *adhyāya* (of *Gāruḍapurāṇa* ?) with Nīlakaṇṭha's *vyākhyā*, the *Yogacintāmaṇi*: f. 67v^{1}, f. 83r^{mg}

Prabodhacandrodaya: f. 110r^{9}

Brahmayāmala: f. 42(1)v^{1}, f. 42(2)r^{1} (=previous citation)

Bhāgavata: f. 55r^{3}, *"ekādaśe skandhe"* f. 16v^{2}, f. 95v^{8}, *"paṃcame"* f. 69v^{6}, *"śrīdhara-vākyāyām"* f. 78r^{7}, *"dvitīyaskande"* f. 82v^{6}

Bhagavadgītā: 8.13ab at f. 17v^{1}, f. 65v^{11}, f. 66r^{mg}, 6.13 at f. 98v^{10}, 6.44a at f. 101r^{12}, f. 104r^{2}, 6.17 at f. 107v^{1}, 6.11d at f. 107v^{10}

Bhojavṛtti: f. 90r^{7}

'Mahākapilapañcarātre': f. 42(1)v^{8}, f. 42(2)v^{4}

Mahāhārakatantra: f. 88v^{mg}

Mahābhārata: "puṣkaraprādurbhāve saptadaśādhyāye" f. 24v$^{8-10}$, *"bhārate yājñaval-kyaḥ":* f. 73r^{mg}, f. 74r^{3}, f. 75r^{2}, f. 75v^{3}, *"bhārate":* f. 75r^{8}, *"bhārate kaśyapastutau":* f. 85v^{7}, *"mokṣadharme bhārate":* f. 92v^{11}, *"śāntau bhīṣmena":* f. 93r^{9}, *"bhārate pau-ṣkare saptadaśādhyāye nīlakaṃṭhena"* f. 97r^{6}

Mahābhāṣya: f. 57r^{5}

Mantramahodadhi: f. 105^{mg}

Mālatīmādhava: 5.1a at f. 68r^{mg}

'Yājñavalkya': f. 43r^{9}, f. 66v^{mg}, f. 76r^{3}, f. 77v^{2}, f. 80v^{1}, f. 82r^{6}, f. 86(2)r^{3}, f. 97r^{5}, f. 98v^{6}, f. 108v^{6}

Yājñavalkyagītā: f. 85v^{7}, f. 97r^{10}

Yājñavalkyasaṃhitā: f. 92r^{1}, f. 96r^{3}, f. 96r^{11}

Rudrahṛdaya: f. 85v^{10}

Yogacintāmaṇi: f. 25r^{2}

Yogataraṅginī: f. 73v^{6}

Yogatārāvalī: f. 89r^{4}

Yogapradīpikā:[489] f. 37r^{7}

Yogabīja: 183ab at f. 8v^{6}; 91–98 at f. 19v^{4}, 141cd at f. 26v^{7}, 131 at f. 37r^{2}, 125–127 at f. 37r^{5}, ≃ 73 at f. 45r^{mg}, f. 45r^{11}, ≃ 179, 182a–183b, 173c–176b and ≃ 177cd at f. 64r^{3}, 146–147 at f. 88r^{5}, 148–149 at f. 88v^{2}, 150–152b at f. 88v^{6}, 135c–136b at f. 90r^{4}, 102 at f. 91r^{2}, 104 at f. 91r^{4}, 106cd at f. 91r^{7}, 108a–110b at f. 91v^{11}, 15c–17d at f. 93r^{8}, 153 and 157–159 at f. 101r^{10}, ≃ 159a–160b at f. 101v^{1}, 113cd at f. 102v^{4}, 116–117 at f. 102v^{5} (=*DYŚ* 286–289), 120cd at f. 102v^{9}, 121c–122b at f. 103r^{2}, 123c–124b at f. 103r^{4}, 94a at f. 104r^{11}

Yogaratnakārikā:[490] f. 89v^{9}

Yogavāsiṣṭha: f. 64r^{9}

Yogasāra: f. 12r^{2}

Yogasiddhāntacandrikā: f. 93r^{2}

Yogasūtra with Vyāsa's *Bhāṣya:*[491] 3.50 at f. 12r^{7}–f. 12v^{3}; f. 15r^{4}; f. 16r^{8}; f. 16v^{4}; f. 16v^{8}; 3.29 at fol.21r^{mg}, 3.25 at f. 41v^{4}, 4.1 at f. 64r^{mg}, f. 64r^{10}, 3.21 at f. 73r^{11}, f. 76v^{mg}, 3.37 at f. 77v^{9}, 3.38 at f. 78r^{4}, f. 81r^{4}, f. 82v^{7}, 2.1–2 at f. 85v$^{4-6}$, 1.2 at f. 87v^{4}, 89a–90b at f. 87v^{4}, 2.29 at f. 89v^{5}, 3.28 at f. 96v^{11}, 1.33 at f. 109v^{2}

'Ratnāvalī': f. 86(1)v^{7}

Rāmāyaṇa: f. 97v^{mg} *("vālmīkīye")*

Liṅga[purāṇa]: f. 109r^{8}

'Vāmadevarṣi': f. 98v^{10}

Vāyavīyasaṃhitā: f. 88v^{mg}

Vāyupurāṇa:[492] f. 15r^{6}, f. 88r^{1}, f. 88r^{3}, f. 88v^{2}, f. 88v^{6}, f. 89v^{5}, f. 90r^{7}, f. 95r^{1}1, f. 97v^{8}, f. 107r^{7}

Vāyusaṃhitā: f. 86(1)v^{11}, f. 92r^{4}

Vāsiṣṭhasaṃhitā: 1.50 at f. 59r^{9} (without attribution)

Viśvāmitrakalpa: f. 92v^{1}

Viśvāmitrasaṃhitā: f. 90r^{10}, f. 90v^{2}

'Vyākaraṇagraṃthe': f. 25r^{4}

'Vyāsaḥ': f. 84v^{7}

Śatarudriya: f. 84v^{6}

'Śākaloktamaṃtra': f. 24r^{11}

Śāradātilakatantra:[493] f. 42(1)v^{7}, f. 42(2)v^{1} (=previous citation)

'śāstram':[494] f. 26v

'śiva':[495] f. 95v^{7}, f. 95v^{11}

Śivagītā: f. 107v^{11}

Śivatāṇḍava: f. 105v^{6}

Śivapaṃjaramārkaṇḍeyastotra:[496] f. 84v^{5}

Śivapurāṇa: f. 86(2)r^{9}

Śivarahasya: f. 86(2)r^{4}, f. 86(2)r^{9}

Śivasaṃhitā:[497] 4.13 at f. 8v^{8}, 4.6ab at f. 8v^{10}, 3.11–15 at f. 11r^{1}; 5.2c–9b at f. 14v^{9}; 3.52c–54 at f. 16r^{10}; 5.167cd, 5.169ab, 5.170–171 at f. 24v^{5}, 5.132 at f. 25r^{3}, ≃ 5.158-159d at f. 44v^{4}, 1.17 and 1.18cd at f. 45r^{10}, 3.30ab and 3.30ef at f. 46v^{10}, f. 61r^{mg}, f. 66r^{11}, 2.4ab, 2.1–3 at f. 67r^{7}, 2.6ab and 2.10 at f. 67v^{3}, 5.29–30, 5.34 at f. 74v^{mg}, 4.13 at f. 87r^{7}, 5.15 at f. 88r^{2}, 3.27c–f at f. 93r^{3}, 3.35b–37b at f. 93r^{6}, 5.10–13 at f. 93v^{2}, 3.39–41 at f. 93v^{5}, ≃ 3.51c–52 at f. 95v^{3}, 3.64 at f. 96r^{2} (*"śivena"*), 3.65ab at f. 96r^{3} (attributed to *"datta"*), 3.68–70 at f. 96v^{5} (*"śivena"*), ≃ 3.72–74 at f. 97r^{4}, 5.159a–d at f. 100v^{4}, 5.209–210 at f. 100v^{7}, 5.214cd and 211cda at f. 100v^{8}, 4.101 at f. 103v^{5}, 4.105cd at f. 104r^{9}, 5.234abc and 235ac at f. 104v^{4}, 3.22–23 at f. 107v^{12}

Śivārādhanadīpikā: f. 86(1)r^{8}

Śulbasūtra: f. 21v^{1}

'Śaivavratadaśake madīyaḥ saṃgrahaḥ': f. 86(1)r^{4}

Śaivāgama: f. 86(3)v^{9}

'Śrīdharā': f. 82v^{mg}

Śrīsūkta: f. 46r^{4}

Sāṃkṛtidattātreyasaṃvādaprakaraṇa:[498] 76–99 at f. 8r^{5}; 201–207 at f. 10r^{5}; 32–38 at f. 11r^{10}; 92 at f. 15v^{6}; 173–175 f. 16v^{1}; 158–161 at f. 47r^{1}, 157 at f. 59r^{9} (without attribution), 43 at f. 80v^{8}, 23–24 at f. 88r^{4}, 40–51 at f. 88v^{8}, 64 at f. 89v^{7}, f. 90r^{1}, 138–140 at f. 93r^{5}, 162–164 at f. 95v^{3}, 173 at f. 95v^{8}, 182–3 at f. 95v^{11}, 243–245 at f. 97r^{11}, 250 at f. 101r^{2}, 257–8 at f. 101r^{7} (unattributed), 259 at f. 101r^{9}, 260–261 at f. 101v^{3}, 263–267 at f. 101v^{7}, 268–269 at f. 101v^{11}, 270 at f. 102r^{5}, 286–289 at f. 102v^{5} (=*YB* 116–117 and attributed to *YB*), 285 at f. 102v^{6}, 283 at f. 102v^{9}, 274 at f. 103r^{3}, 295–296 and 293 at f. 103r^{8}, 107–113 at f. 107r^{5}

Siṃhasiddhānta: f. 42(1)v^{2}, f. 42(2)r^{7} (=previous citation)

'siddhāntāt': f. 100r^{4}

Siddhāntāgama: f. 86(1)v^{1}

Sudarśanasaṃhitā: f. 86(3)v^{mg}

Saundaryalaharī (saṭīkā): f. 98r^{7}

Skandapurāṇa: f. 26v^{8} *("kedārakhaṇḍa adhyāya 65 tad uktaṃ… saṃgītaprastāvane nāradaṃ prati śivena")*, f. 42(1)r^{1}, f. 86(1)v^{2}, f. 107v^{2} *("kedārakhaṃḍe")*

Svarodaya: f. 42(1)v^{mg}, f. 42(2)r^{3} (=previous citation), f. 68r^{11}, f. 69r^{3}, f. 73v^{11}, f. 74v^{mg}, f. 75r^{4}

Haṃsopaniṣad: 16–17 at f. 26v^{5}

Haṭhapradīpikā: 1.11 at f. 10r^{4}, 3.32 at f. 20r^{7}, 4.3–5 at f. 23v^{1}, 3.46ab, 3.47–48 at f. 26r^{3}, 3.50bc, 3.51 at f. 26r^{7}, 4.68ab at f. 26v^{10}, 4.23–24 at f. 33v^{8}, 4.10 at f. 37v^{4}, f. 44r^{7}, 3.46ab at f. 44v^{9}, 4.37 at f. 72r^{2} (attributed to Gorakṣa), 2.44 at f. 90v^{9}, 3.6–7d at f. 90v^{10}, f. 91r^{3}, ≃ 2.51a–52b at f. 91r^{5}, 2.57a–58b at f. 91r^{8}, ≃ 2.60a–62b at f. 91r^{9}, 2.68–69 at f. 91v^{2}, 2.72 at f. 91v^{4}, 1.59 at f. 93r^{11}, 1.62a–d at f. 93v (attributed to Gorakṣa), 1.20 at f. 93v^{7} (unattributed), 1.62e–63d at f. 94v^{6}, 3.18c–19d at f. 101v^{12}, 3.25–27 at f. 102r^{5}, ≃ 3.24 at f. 102r^{9}, 3.51cd at f. 102r^{11}, 3.110 at f. 102v^{10}, 3.70 at f. 103r^{3}, ≃ 3.79ef at f. 103r^{10}, 3.90abefgh and 3.91ab at f. 103v^{1}, 4.10 at f. 104r^{10}, 1.12 at f. 107v^{1}, 1.13 at f. 107v^{3}, 1.36 at f. 108v^{3}, 1.48e–h at f. 108v^{7}

The following works are mentioned but not cited at the indicated places in the commentary:

Karaṅkinītantra: f. 28r^{1}

'kārikā': f. 99r^{1}

Gurugītā: f. 11r^{7}

Caraka[saṃhitā]: f. 18r^{10}, f. 97r^{2}, f. 110r^{mg}

Tattvakaumudī: f. 37r^{mg}

Tantrarāja: f. 35v^{9}, f. 38v^{2}

Dattātreyatantra: f. 27v^{mg}, f. 27v^{3}, f. 28r^{1}

Nāgārjunataṃtra: f. 27v^{1}, f. 27v^{3}, f. 28r^{1}

Pādmaśivagītā: f. 5v^{1}, f. 86(1)v^{10}

Prabodhacandrodaya: f. 46r^{1}

Bhāvaprakāśa: f. 18r^{10}, f. 97r^{2}

Bhiṣakśāstra: f. 18r^{10}, f. 110r^{5}

Mārttaṃḍagītā: fol. 18r^{mg}

'Mohanadāsa': f. 20r^{2}

Yājñavalkyasaṃhitā f. 47r^{2}

'Yājñavalkya': f. 34r^{mg}, f. 94v^{2}

Yogatārāvalī: f. 32r^{4}, f. 38r^{2}

Rudrayāmala: f. 13v^{6}, f. 28v^{5}

Liṅgapurāṇa: f. 86(3)v^{4}

Vāgbhaṭṭa: f. 18r^{10}
Vāyupurāṇa: f. 99r^{3} *("upamanyu")*
Viśvālayatantra: f. 106r^{3}
Śivakavaca: f. 86(3)r^{8}
Śivapurāṇa: f. 86(2)r^{5}, f. 86(3)v^{4}
Śivamatsyeṃdrasaṃhitā: fol. 5r^{mg}
Śivarahasya: f. 85v^{3}, f. 86(3)v^{4}
Śivasaṃhitā: f. 6v^{1}, f. 34r^{mg}
Śivārcanacaṃdrikā: f. 37v^{mg}
Suśruta[saṃhitā]: f. 18r^{10}
Saṃgītadarpaṇa: f. 49r^{mg}
Saṃgītaratnākara: f. 49r^{mg}
Saundaryalaharīvyākhyā of Lakṣmīdhara: f. 6v^{1}, f. 9v^{2}
Svarodaya: f. 38v^{2}
Skandapurāṇa: f. 85r^{2} *("Brahmottarakhaṃḍa")*, f. 86(2)r^{5}, f. 86(3)v^{4}

Abbreviations

Primary sources

ATU	*Advayatārakopaniṣad*
AM	*Abhaṅgamālā*
AY	*Amanaskayoga*
AP	*Amaraughaprabodha*
AŚ	*Amaraughaśāsana*
KSS	*Kathāsaritsāgara*
KT	*Kiraṇatantra*
KMT	*Kubjikāmatatantra*
KRU	*Kularatnoddyota*
KAT	*Kulārṇavatantra*
KJN	*Kaulajñānanirṇaya*
KU	*Kṣurikopaniṣad*
GŚ$_{\mathrm{N}}$	*Gorakṣaśataka*$_{\mathrm{N}}$
GSS	*Gorakṣasiddhāntasaṃgraha*
GBP	*Gorakhbāṇī pad*
GBS	*Gorakhbāṇī sākhī*
GhS	*Gheraṇḍasaṃhitā*
JRY	*Jayadrathayāmala*
TĀ	*Tantrāloka*
TŚBM	*Triśikhībrāhmaṇopaniṣad, mantrabhāga*
DYŚ	*Dattātreyayogaśāstra*
DU	*Darśanopaniṣad*
DhBU	*Dhyānabindūpaniṣad*
NBU	*Nādabindūpaniṣad*
NSA	*Nityāṣoḍaśikārṇava*
NT	*Netratantra*
NTU	*Netratantroddyota*
BKhP	*Bṛhatkhecarīprakāśa*
BVU	*Brahmavidyopaniṣad*
MaSaṃ	*Matsyendrasaṃhitā*
MKS	*Mahākālasaṃhitā*

MBh	*Mahābhārata*
MKSK	*Mahākālasaṃhitā, Kāmakalākhaṇḍa*
MKSG	*Mahākālasaṃhitā, Guhyakālīkhaṇḍa*
MVUT	*Mālinīvijayottaratantra*
YKU	*Yogakuṇḍalyupaniṣad*
YCU	*Yogacūḍāmaṇyupaniṣad*
YTU	*Yogatattvopaniṣad*
YB	*Yogabīja*
YV	*Yogaviṣaya*
YŚU	*Yogaśikhopaniṣad*
YS	*Yogasūtra*
RAK	*Rasārṇavakalpa*
VU	*Varāhopaniṣad*
VS	*Vasiṣṭhasaṃhitā*
VD	*Vivekadarpaṇ*
VM	*Vivekamārtaṇḍa*
ŚP	*Śārṅgadharapaddhati*
ŚS	*Śivasaṃhitā*
ṢCN	*Ṣaṭcakranirūpaṇa*
SYM	*Siddhayogeśvarīmata*
SSP	*Siddhasiddhāntapaddhati*
HP	*Haṭhapradīpikā*
HPJ	*Haṭhayogapradīpikājyotsnā*
HR	*Haṭharatnāvalī*
HT	*Hevajratantra*

Other abbreviations

ĀSS	Ānandāśrama Sanskrit Series
IFP	Institut français de Pondichéry
KSTS	Kashmir Series of Texts and Studies
MMSL	Maharaja Man Singh Library
NAK	National Archives Kathmandu
NCC	New Catalogus Catalogorum
NGMPP	Nepal-German Manuscript Preservation Project

Notes

1 See verse 1.16.

2 See e.g. *Haṭhapradīpikājyotsnā* 1.1.

3 The compound *khecarīmudrā* is in fact used at just two places in the *Khecarīvidyā*: 2.82a and 3.54a. At the first occurrence it refers to the physical practice, while at the second it seems to refer to the result of the sum of the practices described in the text. Elsewhere the physical practice is called simply *abhyāsa*, "the practice".

4 On these different recensions of the *Haṭhapradīpikā* see the descriptions of witnesses H_2 and H_3 on pp. 55–6.

5 At vv. 955–7, Jayatarāma lists eleven texts which he has consulted in order to compose his work but the *Khecarīvidyā* is not among them. Much of the *Jogpradīpakā*'s description of *khecarīmudrā* is clearly derived from the *Khecarīvidyā* (see for example vv. 665–670 which is very similar to the *Khecarīvidyā*'s fourth *paṭala*) and cannot be found in Jayatarāma's main source, the long recension of the *Haṭhapradīpikā*, so it seems certain that either Jayatarāma did consult the *Khecarīvidyā* or that one of the texts he lists was the *Khecarīvidyā* by another name or contained large parts of it.

6 This association with the Nātha order is almost certainly a retroactive attribution. There is little in the text that connects it with any specific tradition, apart from general evidence of roots in Kaula tantrism. It does not contain a systematic description of its yoga, nor does it call its yoga *ṣaḍaṅga*, "having six ancillaries", or *aṣṭāṅga*, "having eight ancillaries". It contains no statements of its ontological standpoint. Other than the manuscript colophons there is nothing to link it with Ādinātha. The four tantras mentioned in the text (see note 8) help little in locating it within a specific tradition. The *Vivekamārtaṇḍa* was itself probably attributed to Gorakṣanātha some time after its composition (see note 9). The mention of a *Jālasambaratantra* in the *Kularatnoddyotatantra* (see note 205) and the *Khecarīvidyā*'s use of the system of six *cakra*s found in texts of the Paścimāmnāya cult of Kubjikā suggest a possible link with the latter. *Matsyendrasaṃhitā* 44.27 declares *etat te paramāmnāyam auttaraṃ paścimānvayam*: "this [that I have taught] you is the supreme higher tradition, consonant with/following the western [tradition]", and *Matsyendrasaṃhitā* 18.67a–68b describes all Yoginīs and Siddhas as *kubjeśvaraprabhāḥ*, "resembling Kubjeśvara". Members of the cults connected with the *Matsyendrasaṃhitā* and

the *Mahākālasaṃhitā*, the two works with which the *Khecarīvidyā* is most closely linked, add the suffix *-ānandanātha* to their initiatory names (*MaSaṃ* 17.57; JHA 1976:5). This suffix is rarely found in the names of Nātha yogins but is added to the names of Kaula initiates. See *Tantrālokaviveka* 29.42 and, for the cult of Śrīvidyā, *Nityotsava* p.37, ll. 1–3. The names by which the goddess is addressed in the *Khecarīvidyā* are common in Kaula and Vidyāpīṭha Śaiva texts. Thus *vīravandite* (*KhV* 2.18, 2.110) is found at *Mālinīvijayottaratantra* 3.28, 3.58, 7.4, *Tantrasadbhāva* (NAK 5-445) 9.199, *Picumata* (NAK 3-370) 56.87, 56.89, 85.54, *Jayadrathayāmala* 4.2.463, *Kubjikāmatatantra* 6.48 etc.; *kuleśvari* (*KhV* 2.124) occurs many times in the *Kubjikāmatatantra*. I am grateful to Alexis SANDERSON for providing me with these references.

7 MEULENBELD (1999: vol. IIA pp. 749–50) gives a description of the text which is derived from that of WHITE *(loc. cit.)*.

8 Four other works are mentioned at 1.14c–15b. Because of variants among the witnesses and a lack of manuscripts of the works mentioned, establishing their identities is difficult, and establishing their dates even more so. See the notes to the translation for further details.

9 BOUY (1994:18) lists the names by which this text has been called: *Gorakṣapaddhati*, *Gorakṣasaṃhitā*, *Gorakṣaśata*, *Gorakṣaśataka*, *Gorakṣayogaśāstra*, *Haṭhayoga*, *Haṭhayogagorakṣaśataka*, *Jñānaprakāśaśataka*, *Jñānaśataka*, *Muktisopāna*, *Vivekamārtaṇḍa,* and *Yogamārtaṇḍa.* (I have not included the following titles from his list: *Haṭhagrantha*, *Haṭhayogacintāmaṇi*, *Yogacintāmaṇi* and *Yogasāgara*. These are reported by BRIGGS (1938:256) as names by which the *Gorakṣaśataka* is referred to in its commentary in his manuscript P, but are probably no more than honorific ways of referring to the *mūla*.)

A text called *Vivekamārtāṇḍa* and attributed to Viśvarūpadeva has been edited and published in the Trivandrum Sanskrit Series (No. 119). It is a work in six *prabodha*s, the last of which, entitled *Yogasādhana*, closely matches the text of the *Gorakṣaśataka* as edited by Nowotny. This sixth chapter has also been edited, as the *Vivekamārttaṇḍa*, in the *Gorakṣagranthamālā* series (GGM 75) from a copy of a manuscript in Jodhpur (MMSL No. 2027) which consists of the sixth chapter alone. Only in this chapter is the practice of *khecarīmudrā* described, so the reference in the *Khecarīvidyā* cannot be to any of the other five *prabodha*s. In the present state of research, it cannot be definitively stated whether the first five *prabodha*s were composed (or compiled) and prefixed to the already extant sixth, or whether they were all composed together, with the sixth becoming more popular and attaining a life of its own. I concur with BOUY (1994:21) and KUVALAYĀNANDA & SHUKLA (1958:14–15) in preferring the former hypothesis.

Nowotny has edited the *Gorakṣaśataka* from four manuscripts, the oldest of which is dated *samvat* 1791 (1733–34 CE). There is a manuscript in the Oriental Institute Library, Baroda (accession number 4110) whose colophon reads *iti śrīgorakṣadevaviracito vivekamārttaṃḍaḥ samāptaḥ // ⊛ // saṃvat* 1534 (1476–77 CE). The text of this manuscript corresponds closely to Nowotny's edition of the *Gorakṣaśataka*, although it omits 24 verses found in the edition, including verse four, in which the work calls itself *Gorakṣaśataka*. Another manuscript of the *Vivekamārtaṇḍa* in

the Oriental Institute Library, Baroda (accession number 2081), which is undated but appears to be old, also transmits a work that closely matches Nowotny's edition of the *Gorakṣaśataka*. In Gharote & Bedekar's *Descriptive Catalogue of Yoga Manuscripts* (1989:356–357) the "Additional Particulars" section for MS No. 8047 in the Jodhpur Oriental Research Institute, entitled *Vivekamārtaṇḍa* and dated *samvat* 1879, reads "It is Gorakṣaśatakam". In the *Gorakṣasiddhāntasaṃgraha*, which can be dated to the seventeenth century (Bouy 1994:19), there are four quotations from a text called *Vivekamārtaṇḍa* all of which can be found in Nowotny's edition of the *Gorakṣaśataka*. A commentary on the *Siddhasiddhāntapaddhati* entitled *Nāthanirvāṇa* cites at least 55 verses which can be found in Nowotny's edition of the *Gorakṣaśataka*, attributing them to the *Vivekamārtaṇḍa* (Bouy 1994:23).
In Gharote & Bedekar's catalogue (1989:44–59), of 62 manuscripts called *Gorakṣaśataka* and 5 called *Gorakṣasaṃhitā,* the oldest dated manuscript (Varanasi Sanskrit College MS No. 3759) was written in *samvat* 1696 (1638–9 CE).
This evidence indicates that the work now generally called the *Gorakṣaśataka* was known as the *Vivekamārtaṇḍa* before the seventeenth century. This seems a more fitting name for a text which in its shortest available complete form consists of 157 verses (Kuvalayānanda & Shukla 1958:7) and a verse of which ($GŚ_N$ 200) ascribes it to Ādinātha. Recensions of the text consisting of a hundred or so verses do exist, but are either incomplete (e.g. Briggs 1938:284–304, which names the six ancillaries of yoga at verse 7 but stops half-way through the description of the second ancillary, *prāṇāyāma*, at verse 101) or are attempts by commentators to produce a coherent *śataka* (Kuvalayānanda & Shukla's 1958 edition). There is a different text called *Gorakṣaśataka* which is complete in 101 verses. This unedited work was used to compile the first chapter of the *Yogakuṇḍalyupaniṣad*; see Bouy 1994:40. It is perhaps through confusion with this work that the *Vivekamārtaṇḍa* came to be known as the *Gorakṣaśataka*. Bouy (1994:20–24) notes in detail other concordances between the *Vivekamārtaṇḍa* and the different recensions of the longer *Gorakṣaśataka*, and suggests that the *Gorakṣaśataka* may "sometimes" *(parfois)* have been known as the *Vivekamārtaṇḍa*, but does not remark on the diachronic nature of the change of name. A new edition of the *Vivekamārtaṇḍa*, drawing on the large number of variously named manuscripts of the text that exist, would make an important contribution to the study of the historical development of *haṭhayoga*.

10 *ŚP* 4374 = *VM* 7, *ŚP* 4418 = *VM* 59. *ŚP* 4372–4419 contains verses from various works on yoga (the edition has *ete yogaśāstrebhyaḥ* after verse 4419) and describes the first of two types of *haṭhayoga*, which is said to have been practised by Gorakṣa, as opposed to the second type, which was practised by the sons of Mṛkaṇḍa (*ŚP* 4372). Over half of the other verses of this passage are from the *Dattātreyayogaśāstra.*

11 Bouy (1994:82) has shown that the *HP* borrows from the following texts: the *Vivekamārtaṇḍa*, the original *Gorakṣaśataka*, the *Vasiṣṭhasaṃhitā* (*Yogakāṇḍa*), the *Dattātreyayogaśāstra*, the *Amaraughaprabodha*, the *Khecarīvidyā*, the *Yogabīja*, the *Amanaskayoga*, the *Candrāvalokana*, the *Uttaragītā*, the *Laghuyogavāsiṣṭha* and possibly also the *Śivasaṃhitā*. To these can be added the *Kaulajñānanirṇaya* (*KJN* 3.2c–3b ≃ *HP* 4.33) and possibly the *Kulacūḍāmaṇitantra* (a half-verse from which

is cited in Kṣemarāja's *Śivasūtravimarśinī ad* II.5 and found at *HP* 3.53ab). The absence of a source text or textual parallels for *HP* 3.22–36 suggests that this passage on the haṭhayogic *ṣaṭkarma*s may have been composed by the compiler of the text. I have been unable to find references to similar practices in tantric works. These cleansing techniques, which may have been developed from medical practices, are thus probably a unique feature of *haṭhayoga*.

12 Bouy *(loc. cit.)* identifies at least eleven of the works from which the *Haṭhapradīpikā* borrows but this does not help him since none of these works have themselves been satisfactorily dated. He sees the lack of a reference to the *Haṭhapradīpikā* in Mādhava's *Sarvadarśanasaṅgraha* as strong enough evidence to claim that the date of composition of that work (the second half of the fourteenth century) is the *terminus a quo* of the *Haṭhapradīpikā*. (This evidence is not conclusive. The *Sarvadarśanasaṅgraha* often relies on only a limited number of texts of a given discipline. I am grateful to Dominic Goodall and Harunaga Isaacson for pointing this out to me.) The *terminus ad quem* of the *Haṭhapradīpikā* is established by a manuscript of Mummaḍideva Vidvadācārya's *Saṃsārataraṇi* in the collection of the Maṭha of the Śaṅkarācārya of Purī. The manuscript is described by Mitra (1886:301) and the work, which is a commentary on the *Laghuyogavāsiṣṭha*, has been edited by V.S. Panasikara. In it the *Haṭhapradīpikā* is cited seven times and mentioned by name at five of the citations. The Purī manuscript is dated *samvat* 1581 (1524 CE) and is described as "incorrect" and "corrupt" by Mitra which leads Bouy to infer that the *Haṭhapradīpikā* "ne saurait être postérieure au xv[e] siècle". Gharote & Bedekar (1989:438–9) list a manuscript of the *HP* in the collection of the Sanskrit University Library, Varanasi (No. 30109) which is dated 1553. Bouy (1994:84 n.357) understands this to mean *Saṃvat* 1553 which is odd since elsewhere Gharote & Bedekar indicate when a date is *Saṃvat*. Perhaps Bouy has seen the university catalogue, which I have not. He concludes that if the date is correct "on pourrait fixer le *terminus ad quem* de la HP en 1496".

13 We can also perhaps discount the possibility of the *Khecarīvidyā* having been composed in the modern Marāṭhī-speaking region, on account of the absence of any of the esoteric physiological terminology characteristic of the texts composed in that region at about the same time as the composition of the *Khecarīvidyā*, i.e. Jñāndev's *Abhaṅgamālā* and *Lākhoṭā*, and the *Siddhasiddhāntapaddhati*. See note 259 for more details.

14 Detailed descriptions of the individual sources consulted to establish the critical edition of the *Khecarīvidyā* (including its citations in other works) can be found on pp. 35–57.

15 It is of course only through shared errors that one can confidently establish that witnesses share a hyparchetype (Vasudeva 2004:xxxii). The many such errors that support the division of the witnesses of the *KhV* are not listed here. A full collation of all the witnesses of the *KhV* can be found at http://www.khecari.com

16 On the evidence of this contamination see page 14.

17 See page 40 for a detailed discussion of the *Bṛhatkhecarīprakāśa* and its author Ballāla.

18 The abbreviation *MaSaṃ* has been used in order to avoid confusion with the abbre-

viation MS in its usual sense of "manuscript".

19 I am grateful to Csaba Kiss for passing on to me the fruits of his research on the *Matsyendrasaṃhitā* and his forthcoming edition of the text will no doubt shed much more light on this fascinating work. In a preliminary paper, he writes "[The *Matsyendrasaṃhitā*] seems to be a remarkable text, or collection of texts, of a relatively late phase of the Śaiva tradition, particularly of its yogic teachings. It is long, detailed and mostly rather well-preserved. It might provide some clues for, among other things, the understanding of the transition from the early Indian yoga traditions (Pātañjala and Śaiva) to the late and fully developed haṭha-yogic teachings as well as perhaps of the transition from the early Kula traditions to the later Kaula teachings associated with the figure of Matsyendra. It might also throw some light on the connection between the Kaula traditions of the Paścimāmnāya and Dakṣiṇāmnāya, and the Nātha tradition of haṭha-yogins. The [*Matsyendrasaṃhitā*] is an encyclopaedic compilation of yogic techniques: from *āsana*s and *prāṇāyāma* to visualisation and *mudrā*s, from mantra techniques to *maṇḍala*s, the text describes a whole world of religio-psychological practices and rites... its Kaula layer might not be the central or earliest one. It might contain some material from other, e.g. Saiddhāntika, sources. No doubt, the [*Matsyendrasaṃhitā*] also incorporates later haṭha-yogic material." (Csaba Kiss 2004:5–6). Later in the same paper (p. 12) he examines the *dhyāna* of Parameśāna and Caṇḍikā described in *paṭala* 7 and concludes that the *MaSaṃ*'s Caṇḍikā may be a variant of the goddess Kubjikā, adding "The concealment of Kubjikā's name and this unusual, or to put it in another way, forced and arbitrary juxtaposition of Śiva and Kubjikā could be seen as a tendency to de-Śāktaize the cult of Kubjikā and to conceal all its sectarian marks. It might indicate that the text in fact belongs to a Kaula yoga tradition originating from a masculinised version of Kubjikā's cult."

20 See e.g. *Haṭhapradīpikā* 1.5.

21 On this affiliation see note 6. It seems likely that the teachings of the text have not always been associated with Matsyendranātha. The text shows clear signs of accretion and his name is found only in the frame story told in the first and last *paṭala*s.

22 A *Śivamatsyendrasaṃhitā* is mentioned in the margin of f. 51r of the *Bṛhatkhecarīprakāśa* (witness S).

23 I am grateful to Alexis Sanderson for reproducing for me part of a letter on this subject that he wrote to Professor Wezler in 1994. He concludes "The literature of the bhang-drinking Kaulas appears to be from eastern India. As to its date, I know no evidence that it predates the establishment of Islam in that region". In a later paper (2003:n. 43) Sanderson writes "It is probable that the use of cannabis for spiritual intoxication was adopted following the example of Muslim ascetics in India such as those of the Madāriyya order, founded by Badīʿ ad-dīn Shāh Madārī, an immigrant who settled in Jaunpur, where he died c. 1440 (Trimingham 1973:97), an order notorious for its use of hashish". See also Meulenbeld 1989.

24 Personal communication from Alexis Sanderson 2005.

25 On Śāstṛ, see Fuller 1992:53, 54, 89, 214 and the following passages from south Indian Śaivasiddhānta works: *Rauravāgama* vol. 3, *paṭala* 49, which describes the

worship of five village deities, including Śāstṛ; *Ajitāgama* vol. 3, *paṭala* 83 and *Īśānaśivagurudevapaddhati*, *Kriyāpāda paṭala* 58, which describe the installation of Śāstṛ.

26 See SANDERSON 1988:687.

27 Devī's request is found at 2.5–11b. The following is an edition of witness A f. 7r[3–8]:

> *dehaśuddhiḥ katham deva kathaṃ syād āsanakramaḥ |*
> *prāṇāyāma⟨ḥ⟩ kathaṃ proktaḥ pratyāhāra⟨ḥ⟩ kathaṃ bhavet ||5||*
> *kathaṃ sā dhāraṇā yoge dhyānayogaś ca kīdṛśaḥ |*
> *kathaṃ śrīkuṇḍalinīyogaṃ triliṅgārcāpi kīdṛśī ||6||*
> *kāni kṣetrāṇi dehe 'smin kāni tīrthāni śaṅkara |*
> *sarvasnānādhikasnānaḥ kaḥ paraḥ parameśvara ||7||*
> *kāny auṣadhaprayogāṇi kiṃ ca deva rasāyanam |*
> *kathaṃ syāt pādukāsiddhi⟨r⟩ dehasiddhiḥ kathaṃ bhavet ||8||*
> *vetālasiddhiś ca kathaṃ kapālasya ca sādhanam |*
> *katham añjanasiddhi⟨ḥ⟩ syād yakṣiṇīsiddhir eva ca ||9||*
> *aṇimādi kathaṃ deva yoginīmelanaṃ katham |*
> *etāny eva tathānyāni bhavatā sūcitāni ca ||10||*
> *tāni sarvāṇi me brūhi vistareṇa maheśvara |*

7c °snānaḥ] *em.*; °stāna *cod.* 7d parameśvara] *em.*; parameśvaraḥ *cod.* 8a kāny] *em.*; kāy *cod.* ◇ °prayogāṇi] *em.*; °prayogāni *cod.* 8b ca deva] *em.*; cid eva *cod.* 10c etāny] *em.*; etany *cod.* 10d bhavatā] *em.*; bhavantā *cod.*

Dehaśuddhi, *āsanakrama*, *prāṇāyāma*, *pratyāhāra*, *dhāraṇā* and *dhyāna* yoga are described in *paṭala*s 2–7 respectively. *Kuṇḍalinīyoga* and the *liṅgatraya* are described in *paṭala*s 22 and 23. *Paṭala*s 26 and 27 describe *tīrtha*s and *kṣetra*s in the body. *Auṣadhaprayoga*s and *rasāyana* are described in *paṭala*s 28 (=*KhV paṭala* 4) and 29. *Pādukāsiddhi* is described in *paṭala* 30. *Paṭala* 31 covers *vajrasiddhi*—the *dehasiddhiḥ* in 2.8d is probably a corruption of *vajrasiddhiḥ*. *Vetālasiddhi*, *kapālasādhana*, *añjanasiddhi*, *yakṣiṇīsiddhi*, *aṇimādi* and *yoginīmelana* are described in *paṭala*s 32, 33, 35, 34, 36 and 37 respectively. Thus it seems likely that *MaSaṃ paṭala*s 8–21, 24–25 and 39–54 were not part of the text when Pārvatī's questions were posed.

28 11.1–3 (A f. 30r[3–5]):

> *atha naivedyam utsṛjya mukhavāsādi dāpayet |*
> *mudrāś ca darśayet paścāt pūjānte sarvasiddhaye ||1||*
> *dakṣavyāṃśau bhujau devi parivartya tathāṅgulīḥ |*
> *tarjanībhyāṃ samākrānte †sarvārdhamadhyame† ||2||*
> *aṅguṣṭhau tu maheśāni kārayet saralāv api |*
> *eṣā hi khecarīmudrā sarvasiddhipradāyinī ||3||*

1a utsṛjya] *em.*; utsṛjyaḥ *cod.* 3a aṅguṣṭhau] *em.*; aṅguṣṭau *cod.*

29 In note 27 it was observed how *MaSaṃ paṭala*s 28 and 29 correspond to Devī's request to hear about *auṣadhaprayogāṇi*. All the other subjects she lists correspond to single *paṭala*s, so it is likely that either *paṭala* 28 or *paṭala* 29 is a later addition to an earlier recension of the text. *Paṭala* 28 lists various herbal preparations while *paṭala* 29 begins *śrīdevy uvāca | sarvauṣadhamayī (em.; sarvoṣadhamayīṃ* A*) śambho yā parā siddhimūlikā. . . .* This appears to be capping the previous *paṭala* and suggests that *paṭala* 28 (=*KhV paṭala* 4) might be part of an earlier layer of the text and thus the *MaSaṃ* may be the source of *KhV paṭala* 4. The superiority of μ's readings in *KhV paṭala* 4 adds weight to this theory. However, the fact that the various different metres in *paṭala* 28 are not used elsewhere in the earlier parts of the *MaSaṃ* argues in favour of *paṭala* 29 being part of the earlier layer.

30 Critical editions of *MaSaṃ paṭala*s 17, 18 and 27 are included in the appendices.

31 The readings without *na* may be attempts by redactors to reject Kaula ritual.

32 Critical editions of this passage as it is found in μ and G are included in the appendices because the number of variants, additions and omissions, and the reordering of the verses make it difficult to compare the different passages by referring only to the apparatus of the critical edition.

33 Most of this passage is obscured in R_2 as a result of attempts to paste together the damaged manuscript, but at the few places where it is legible it shares readings with the *KhV* manuscripts.

34 A similar attempt at expunging a reference to Kaula practices involving alcohol can be seen at *Siddhasiddhāntapaddhati* 5.14, where the Lonavla edition has *jñānabhairavamūrtes tu tatpūjā ca yathāvidhi*. All the manuscript witnesses read *surādibhiḥ* for *yathāvidhi*. The editors of the text also collated four printed editions and presumably at least one of them reads *yathāvidhi* (the apparatus is negative so one cannot be sure). Mallik adopts *surādibhiḥ* in her 1954 edition; her witness Ha reads *yathāvidhiḥ*.

35 Some of μ's *aiśa* forms are listed on pp. 15–16.

36 However, *KhV* 3.69ab (≃*MaSaṃ* 17.115ab) suggests that the topic of Khecarī is not finished until then. Perhaps the *madirā* passage was an early interpolation in the text. G seems to have attempted to resolve the problem of context by shifting *MaSaṃ* 17.114cd to before *MaSaṃ* 17.99c but this only results in further confusion over who is talking to whom.

37 The half-verse at μ's 17.111ab has nothing with which to connect it syntactically but it fits well at *KhV* 3.64ab. I can only guess that the redactor of the *KhV* version inserted this half-verse in order to make sense of a passage rendered nonsensical due to the omission of μ's 17.110 and that this half-verse found its way into μ due to conflation of the sources.

38 Evidence supporting this analysis (which is probably a simplification of a contaminated transmission—more details will be found in the forthcoming edition of the *MaSaṃ* by Kiss) can be seen at the following places:
J_6 to J_7 and A: e.g. 1.40d, 2.30b, 3.20a, 3.61a, 3.64d; *MaSaṃ* 18.20c.
J_6 to J_7 to A: e.g. 1.42c; *MaSaṃ* 18.32b, 18.47d, 18.59a, 27.18a, 27.29b.
J_6 and J_7 to A: e.g. 2.20b, 3.56b, 3.56c, 3.62c; *MaSaṃ* 27.4d, 27.7a, 27.1b, 27.2c, 27.3a. The identical omissions found in all three witnesses at *KhV* 2.103d and

MaSaṃ 17.29c, 18.6b and 18.30b indicate that they share a hyparchetype.

39 The reading *kaulikatarpaṇāt* was evidently too much for the redactors in the tradition of β's K_5, which has *śaṅkarapūjanāt*.

40 For readings shared by R_2 with μ alone, see e.g. 2.31d, 97d, 98b, 108d, 121b, 3.47b; with μ and G, 2.29c, 50d, 3.36c; with G alone, 2.69c, 3.27d; with the *Khecarīvidyā* manuscripts alone, e.g. 2.33d, 96c, 111d, 3.9a, 66cd; with *D* alone, 3.39ab, 40d, 41a, 44a.

41 *U* does, however, keep 9a's *granthataḥ*.

42 Bouy (1994:102) has demonstrated how the compiler of the *upaniṣad* borrowed from an unedited work called *Gorakṣaśataka* (entirely different from the well-known *Gorakṣaśataka* edited by Nowotny—see note 9) to compile the first chapter.

43 The colophon at the end of *paṭala* 2 of the *Bṛhatkhecarīprakāśa* (witness S) reads: *iti śrīādināthanirūpite mahākālataṃtrāntargatayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde dvitīyaḥ paṭalaḥ pūrṇaḥ*, suggesting that the *Khecarīvidyā* is part of a *Mahākālatantra*. However, this is hard to reconcile with 1.14c where a *Mahākālatantra* is distinguished from the *Khecarīvidyā*.

44 *Haṭhapradīpikājyotsnā* 1.1: *ādināthakṛto haṭhavidyopadeśo mahākālayogaśāstrādau prasiddhaḥ*. White (1996:169) says that Nārāyaṇa, the commentator on Atharvan *upaniṣad*s, refers to a *Mahākālayogaśāstra* as a treatise on *haṭhayoga*. I have been unable to locate this reference.

45 I am grateful to Dominic Goodall for suggesting this possibility.

46 Goudriaan *(loc. cit.)* also identifies the *Mahākālasaṃhitā* with the *Mahākālayogaśāstra*. His reasons for this are not clear. It may be due to a mistake in the NCC (Raghavan 1969b:188) where a manuscript of the *Mahākālasaṃhitā* in the collection of the Asiatic Society of Bengal is wrongly said to be of the *Khecarīvidyā/Mahākālayogaśāstra* (from the description by Shastri (1905:11) it appears to consist of the first eight *paṭala*s of the *Mahākālasaṃhitā Guhyakālīkhaṇḍa*).

47 It is likely that at least some of the *Mahākālasaṃhitā* postdates the *KhV*. *MKSG* 11.698–1065 teaches two types of yoga, gradual *(krāmika)* and subitist *(haṭha)*. *Haṭhayoga* is said to be very dangerous: many Brahmarṣis have died from it, so it should not be practised (11.702–3). The *krāmika* yoga has eight ancillaries and instructions for it are taken directly from the *Vasiṣṭhasaṃhitā* (dated by Bouy to pre-1250 CE (1994:118)) with a few minor doctrinal alterations, including at *MKSG* 11.939a–954b a visualisation of Guhyakālī substituted for that of Hari found at *VS* 4.33b–64d. Thus *MKSG* 11.707a–964b and 11.1020c–1057 match closely *VS* 1.19–4.73 and 6.8–53. Somewhat surprisingly in the light of vv. 702–3 mentioned above, instructions for *haṭhayoga* are included at *MKSG* 11.966a–1020b. The only practice described is the haṭhayogic *khecarīmudrā* and the instructions seem to be a précis of the *KhV*. Although no verses are taken directly from the *KhV*, the instructions to cut and lengthen the tongue, and the descriptions of the tongue's attainment of successively higher places in the head in three year stages, correspond to those taught in the *KhV*. The many rewards described almost all have direct parallels in the *KhV* and the ascription of the ability to prevent *doṣa*s found at 11.985 is suggestive of *KhV* 2.82a–101b. Such parallels cannot be found in other texts that describe the technique. The main aim of the technique as described in the *MKS* and

Khecarīvidyā is *amṛtaplāvana*, flooding the body with *amṛta*, not *bindudhāraṇa*, retention of the *bindu*, the aim of the practice in most other works (on these two aims, see page 28). The one glaring difference between the *MKS* passage and the *KhV* is that the *MKS* nowhere mentions Khecarī, calling the practice *rasanāyoga*, "tongue yoga". Why this should be so is unclear. The *Vasiṣṭhasaṃhitā*, while retaining tantric features such as visualisations of Kuṇḍalinī and *amṛtaplāvana*, does not call any of its yogic techniques *mudrā*s and it may be that the writer of the passage on *rasanāyoga* was remaining faithful to this tradition.

Jhā (1976:5–9) does not ascribe any great age to the *MKS*, suggesting the twelfth century CE as the earliest possible date of its composition. He believes it was composed (or compiled) to establish a tantric *saṃpradāya* that was not anti-vedic. Thus at *MKSG* 4.196 the Veda is praised above all tantric works. The earliest external evidence for the *MKS* are citations in the seventeenth-century *Tārābhaktisudhārṇava*.

48 See e.g. *Yoginītantra paṭala* 7.1–27 which contains descriptions of the *svapnavatī*, *mṛtasañjīvanī*, *madhumatī* and *padmāvatī vidyā*s. Cf. *Tantrarājatantra paṭala* 34.

49 The practice was already called *khecarīmudrā*—the *Vivekamārtāṇḍa* mentioned at *KhV* 1.14d calls it thus ($GŚ_N$ 64). Cf. *Kularatnoddyota* 3.105–108, which is cited in note 96.

50 *Matsyendrasaṃhitā* 17.1cd (≃ *KhV* 3.69cd): *tvayā śrīkhecarīvidyāsādhanaṃ guhyam īritam* //1//.

51 In verse 9 the reading found in μ and K3 has been adopted, in which it is said that the yogin will become a Khecara from eating a particular herbal preparation.

52 μ does include the fourth *paṭala* but it is found ten *paṭala*s after those that correspond to the first three of the *Khecarīvidyā*.

53 On the likelihood of *MaSaṃ paṭala* 28 being the source of the *KhV*'s fourth *paṭala* see note 29.

It is on the strength of the *KhV*'s fourth *paṭala*, in which 8c–9b describes a preparation containing mercury, sulphur, orpiment and realgar and verse 14 describes a preparation containing mercury, that White (1996:169) has called the entire *KhV* "a paradigmatic text of the Siddha alchemical tradition". In the first three *paṭala*s there are two verses where it is said that alchemical *siddhi*s arise as a result of perfection of the practice (1.68 and 1.75), but other than that, there is nothing that could be described as specifically alchemical. The bizarre practices described at 2.72–79 suggest an attempt to render external alchemical practice redundant by effecting similar techniques within the realm of the body (see the notes to the translation). The thesis of White's work is that Rasa Siddhas (alchemists) and Nāth Siddhas (*haṭhayogin*s) "if they were not one and the same people, were at least closely linked in their practice" (ibid.:10). It seems that they were not "one and the same people" but that many of the similarities in the terminology of their practices are due to the texts of both schools being couched in the language and theory of earlier tantric works. White himself suggests (ibid.:97–101) that Gorakhnāth brought together several disparate schools when he established the Nātha *saṃpradāya* "as a great medieval changing house of Śaiva and Siddha sectarianism" (ibid.:100). None of the textual descriptions of the trainee *haṭhayogin*'s abode suggests that it might be used

as a laboratory (e.g. *DYŚ* 107–111, *HP* 12–13) while the peripatetic lifestyle of the perfected *haṭha* adept is incompatible with the encumbrances of alchemical experimentation. During my fieldwork, the *haṭhayogin*s with whom I travelled would buy beads of fixed mercury to wear in their *jaṭā* from Brahmin *rasavādin*s who lived at the *tīrtha*s through which the ascetics passed on their annual pilgrimage cycle.

54 The section from 3.55 to the end of *paṭala* 3 would have been as it is found in the *MaSaṃ* manuscripts.
The original chapter describing the *vidyā* of Khecarī was probably the first chapter in the text from which it was taken. *Khecarīvidyā* 1.1–44 contains several verses that emphasise the importance of the text and the worship of the book in which it was written, giving the passage an introductory flavour. These verses could themselves be later additions but they contain references to *melaka*, a goal of the practice of the *vidyā* that is mentioned only in the earliest layer of the text. One problem with this theory is the inclusion of the *Vivekamārtaṇḍa* among the tantras listed at 1.14c–15b. This work does not contain a description of a Khecarī mantra but does describe the tongue practice. Perhaps the list originally included the name of a different work and this was changed to *Vivekamārtaṇḍa* when the instructions for the practice were added to the text.

55 It is likely that at this stage the text was not divided into three *paṭala*s in the same way that it is in the edition. Witness G has no chapter divisions, while the *MaSaṃ* manuscripts divide the *paṭala*s at different places from the *KhV* manuscripts.

56 The verses describing the practice have some internal contradictions and are unlikely all to have been composed together. See, for example: *paṭala* 3, in which vv. 1–14, 15–22, 23–25b, 25c–32b and 32c–55b are different descriptions of similar practices; 2.101c–102b, which mentions *cālana* as one of the four stages of the practice even though it is not mentioned in *paṭala* 1 (see also note 366); 2.107–115 and 3.23–25b, which use phrases common in other, more explicitly haṭhayogic texts (e.g. *ūrdhvaretas*, *unmanī*, *śūnya*, *sahaja yoga*) but conspicuous by their absence elsewhere in the *KhV*; 1.55, where the tongue ready for the practice is said to be able to reach the top of the head, having passed the eyebrows several years earlier, while at 1.73 the *siddhi*s effected by the practice are said to arise between the eyebrows (cf. note 245).

57 Only G shows no clear evidence of contamination.

58 Where there are two or more equally acceptable readings it is usually that found in the greatest number of witnesses which has been adopted.

59 Nowhere in the edition has a reading found only in R_2 or T been adopted.

60 In compiling this list of *aiśa* peculiarities I have used that given by Goodall (1995: xxiv), which he in turn drew from a list compiled by Alexis Sanderson.

61 This reading is corrected to *abhyāsaḥ* in MFB and I have adopted the corrected form in the edition.

62 This reading is found corrected to *asmiṃs tantravare* in N.

63 This reading is found in S$\beta\gamma$ and is an attempt to alter *vikhyātā vīravandite*, the reading found in $\mu\alpha_3$ which has been adopted in the edition.

64 This anacoluthon is found repaired in G.

65 This survey of texts is of course by no means exhaustive. There is undoubtedly more

material to be unearthed. The most fertile area for research is likely to be the texts of tantric Śaivism.

66 *tassa mayhaṃ Aggivessana etad ahosi | yan nūnāhaṃ dantehi dantam ādhāya jivhāya tāluṃ āhacca cetasā cittaṃ abhiniggaṇheyyaṃ abhinippīḷeyyaṃ abhisantāpeyyan ti | so kho ahaṃ Aggivessana dantehi dantam ādhāya jivhāya tāluṃ āhacca cetasā cittaṃ abhiniggaṇhāmi abhinippīḷemi abhisantāpemi | tassa mayhaṃ Aggivessana dantehi dantam ādhāya jivhāya tāluṃ āhacca cetasā cittaṃ abhiniggaṇhato abhinippīḷayato abhisantāpayato kacchehi sedā muccanti | seyyathā pi aggivessana balavā puriso dubbalataraṃ purisaṃ sīse vā gahetvā khandhe vā gahetvā abhiniggaṇheyya abhinipīḷeyya abhisantāpeyya evam eva kho me aggivessana dantehi dantam ādhāya jivhāya tāluṃ āhacca cetasā cittaṃ abhiniggaṇhato abhinippīḷayato abhisantāpayato kacchehi sedā muccanti | āraddhaṃ kho pana me Aggivessana viriyaṃ hoti asallīnaṃ upaṭṭhitā sati asammuṭṭhā sāraddho ca pana me kāyo hoti appaṭippasaddho ten'eva dukkhappadhānena padhānābhitunnassa sato | evaṃrūpā pi kho me Aggivessana uppannā dukkhā vedanā cittaṃ na pariyādāya tiṭṭhati | tassa mayham Aggivessana etad ahosi | yan nūnāhaṃ appānakaṃ jhānaṃ jhāyeyyan ti...* (p.242 l.23–p.243 l.5).

67 *tassa mayhaṃ Aggivessana etad ahosi | ye kho keci atītaṃ addhānaṃ samaṇā vā brāhmaṇā vā opakkamikā dukkhā tippā kaṭukā vedanā vedayiṃsu etāvaparamaṃ nayito bhiyyo | ye pi hi keci anāgatam addhānaṃ samaṇā vā brāhmaṇā vā opakkamikā dukkhā tippā kaṭukā vedanā vedayissanti etāvaparamaṃ nayito bhiyyo | ye pi hi keci etarahi samaṇā vā brāhmaṇā vā opakkamikā dukkhā tippā kaṭukā vedanā vediyanti etāvaparamaṃ nayito bhiyyo | na kho panāhaṃ imayā kaṭukāya dukkarakārikāya adhigacchāmi uttariṃ manussadhammā alamariyāñāṇadassanavisesaṃ | siyā nu kho añño maggo bodhāyāti |* (p.246 ll.20–30).

68 *tassa ce bhikkave bhikkuno tesaṃ pi vitakkānaṃ vitakkasaṅkhārasanthānaṃ manasikaroto uppajjant'eva pāpakā akusalā vitakkā chandūpasaṃhitā pi dosūpasaṃhitā pi mohūpasaṃhitā pi tena bhikkhave bhikkhunā dantehi dantam ādhāya jivhāya tāluṃ āhacca cetasā cittaṃ abhiniggaṇhitabbaṃ abhinippīḷetabbaṃ abhisantāpetabbaṃ | tassa dantehi dantam ādhāya jivhāya tāluṃ āhacca cetasā cittaṃ abhiniggaṇhato abhinippīḷayato abhisantāpayato ye pāpakā akusalā vitakkā chandūpasaṃhitā pi dosūpasaṃhitā pi mohūpasaṃhitā pi te pahīyanti te abbhatthaṃ gacchanti | tesaṃ pahānā ajjhatam eva cittaṃ santiṭṭhati sannisīdati ekodihoti samādhiyati |.*

69 *...khuradhārūpamo bhave |*
jivhāya tāluṃ āhacca udare saññato siyā |
alānacitto ca siyā na cāpi bahu cintaye |
nirāmagandho asito brahmacariyaparāyano |
ekāsanassa sikkhetha samaṇopāsanassa ca |
ekattaṃ monam akkhātaṃ eko ve 'bhiramissasi |
atha bhāsihi dasa disā |.

70 E.g. *GŚ*$_N$ 65, *ŚS* 3.93. See also *KhV* 2.107 and note 377.

71 The earliest date for the composition of the Pali canon that we can confidently assert is the last quarter of the first century BCE. See e.g. SCHOPEN 1997:23–25.

72 *ūrusthottānacaraṇaḥ savye kare karam itaraṃ nyasya tālusthācalajihvo dantair dantān asaṃspṛśan svaṃ nāsikāgraṃ paśyan diśaś cānavalokayan vibhīḥ praśāntātmā caturviṃśatyā tattvair vyatītaṃ cintayet ||1||...*

...*dhyānaniratasya ca saṃvatsareṇa yogāvirbhāvo bhavati* //6//.

73 *athānyatrāpy uktaṃ / atha parāsya dhāraṇā / tālurasanāgra(°āgra°*] *em.* Isaacson & Goodall; *°āgre* Ed.)*nipīḍanād vāṅmanaḥprāṇanirodhanād brahma tarkeṇa paśyati / yadātmanātmānam aṇor aṇīyāṃsaṃ dyotamānaṃ manaḥkṣayāt paśyati tadātmanātmānaṃ dṛṣṭvā nirātmā bhavati / nirātmakatvād asaṃkhyo 'yoniś cintyo mokṣalakṣaṇam iti / tat paraṃ rahasyam iti / evaṃ hy āha*

> *cittasya hi prasādena hanti karma śubhāśubham /*
> *prasannātmātmani sthitvā sukham avyayam aśnuta iti* //20//
> (*aśnuta*] *corr.*; *aśnutā* Ed.)

athānyatrāpy uktam / ūrdhvagā naḍī suṣumṇākhyā prāṇasaṃcāriṇī tālv antar vicchinnā / tayā prāṇa (prāṇa] *em.*; *prāṇā* Ed.) *oṃkāramanoyuktayordhvam utkramet / tālv adhy agraṃ parivartya cendriyāṇi saṃyojya mahimā mahimānaṃ nirīkṣeta / tato nirātmakatvam eti / nirātmakatvān na sukhaduḥkhabhāg bhavati kevalatvaṃ labhate (labhata*] *corr.*; *labhata* Ed.) *iti* /.

74 The absence of a fixed lower limit for the date of the *Khecarīvidyā* makes it impossible to prove that these Śaiva works predate it. However, it is a chronology of ideas that is important here. The *khecarīmudrā* of the *Khecarīvidyā* combines elements of the tantric Śaiva physical practices described in this section with the non-physical tantric *khecarīmudrā* described in the following section in a way that is not found in these tantric works. The *khecarīmudrā* of the *Khecarīvidyā* must postdate its individual elements as found in these texts. It seems very likely that the *Khecarīvidyā* itself also postdates these works: the latest of them (see note 101) are the *Kubjikāmatatantra* and the *Kularatnoddyota*, early works of the Paścimāmnāya in which the system of six *cakra*s is found for the first time (see *KMT paṭala*s 11–13 and note 433). This system is found well developed in the *Vivekamārtaṇḍa*, a work mentioned at *KhV* 1.16.

75 *KT* 59.34c–35b:

> *kumbhakaṃ tu tataḥ kṛtvā kaṇṭham āpīḍya sasphuram* //34//
> *jihvātālusamāyogāt tatkṣaṇotkramaṇaṃ bhavet /*

The verse is as found in the Mysore codex (University of Mysore, Oriental Research Institute MS P 285/10). At 34d, the Nepalese MS of c. 924 CE (NAK 5-893; NGMPP Reel No. A 40/3) has *kṛtam āviśya tatpuṭam*.

76 E.g. *Brahmavidyopaniṣad* 73–74. See also note 236.

77 References to these other passages can be found later in this chapter where the corporealisation of subtle visualisation techniques into gross physical practices is explored in detail.

78 The tantric Śaiva *karaṇa*s become known as *mudrā*s in the texts of *haṭhayoga*. *HP* 1.56 describes the stages of *haṭha*[*-yoga*] and has *mudrākhyaṃ karaṇam* as the third stage. Ballāla (*BKhP* f. 37v[7]), explaining *HP* 4.10, glosses *karaṇaṃ* with *mudrā*. Singh (1979:33) quotes (without reference) a definition of *karaṇa*: *karaṇaṃ dehasanniveśaviśeṣātmā mudrādivyāpāraḥ* and translates it with "disposition of the limbs of the body in a particular way, usually known as *mudrā* i.e. control of certain organs and senses that helps in concentration". Similarly, *AY* 1.20 uses *karaṇa* as

a synonym of *mudrā*. The headstand (or shoulderstand) is known as *viparītaṃ karaṇam* or *viparītakaraṇī* in haṭhayogic texts: see e.g. *GŚ*$_N$ 135, *HP* 3.6, 3.76–78.

79 *JRY Bhairavānanavidhi Bhūmikāpaṭala* 153c–162b (f.193v–f.194r):

> *pibed dhārāmṛtaṃ tac ca yad dugdhaṃ gostanair iva* //153//
> *tenāmṛtena tṛptas tu valīpalitavarjitaḥ* /
>
> *viṣṇumastakasaṃprāptā rasanā śūnyasaṃgame* //156//
> *īṣat sparśavivarjā tu tālurandhragatā tathā* /
> *dvijacañcupuṭaprakhyaṃ vaktraṃ kṛtvā tathā dvija* //157//
> *uddhṛtya tad anu sparśaṃ yāvad bhāvaṃ sthirīgatam* /
> (**194r**) *dṛḍhabhāvagato yogī svasthaṃ plavam avāpnuyāt* //158//
> *tatrasthasya ca viśrāmād gandhadvayavicāraṇāt* /
> *parāmṛtaṃ prasravati śūnyendurasanāhatam* //159//
> *tadāsvāditacidrūpam ūrdhvaṃ gacchaty aśaṅkitam* /
> *kauñcikotpāṭanaṃ hy eṣa śivaśaktisamāgamaḥ* //160//
> †*śivavyāptikṛtodyānaṃ plutoccārordhvadṛkkriyaḥ*† /
> *lalanātāluke yojya spandaśaktiyutaṃ dadet* //161//
> *kaṇṭhotthatāluvivaraṃ yāvad dvādaśabhūmikāḥ* /

> 153c dhārā°] *conj.* Sanderson; vāra° *cod.* 153d dugdhaṃ] *em.* Sanderson; ugdhaṃ *cod.* 156c °saṃprāptā] *em.*; °saṃprāpta *cod.* 157a īṣat] *em.* Sanderson; īṣa *cod.* 157c dvijacañcupuṭa°] *em.* Sanderson; dvikacuṃcupuṭa *cod.* 160c kauñciko°] *em.* Sanderson; krauñciko° *cod.* 160d °samāgamaḥ] *em.* Sanderson; °samāgama *cod.*

80 Sanderson has made the conjectural emendation of *krauñciko°* to *kauñciko°* on semantic grounds, with the support of *KMT* 8.73d *kuñcikodghāṭayed bilam* and parallel metaphors found in the *Śrīpīṭhadvādaśikā* (NAK 5.358 ff.93v–95r: v. 5) and the *Kālīkulakramasadbhāva* (NAK 1-76: 2.87ab). (Sanderson has similarly emended *JRY* 1.45.184b *kruñcikodghāṭamatratam* to *kuñcikodghāṭamātrataḥ* and *Yoginīsaṃcāraprakaraṇa* (part of the *JRY*'s third *ṣaṭka*) 1.31b *kruñcikodghāṭam* to *kuñcikodghāṭam*. The *JRY* passage describes the Alaṃgrāsa stage in the yoga of the *vāmasrotas* while the *Yoginīsaṃcāraprakaraṇa* passage lists names of works with titles echoing the names of the phases of the *JRY*'s *vāmasrotas* yogas.) At *MaSaṃ* 17.8c Kuṇḍalinī is called both *cidrūpā* (cf. *JRY Bhairavānanavidhi Bhūmikāpaṭala* 160a) and *kuñcikā*. Cf. *MaSaṃ* 18.30a.

81 This passage has verbal parallels in the *KhV*. Compare *JRY* 2.157cd with *KhV* 1.74ab: *kākacañcupuṭaṃ vaktraṃ kṛtvā tadamṛtaṃ pibet*, "making the mouth like the open beak of a crow, [the yogin] should drink the *amṛta* therein" (see also note 267) and 2.159a with *KhV* 3.42ab: *parāmṛtamahāmbhodhau viśrāmaṃ samyag ācaret*, "[The tongue] should duly relax in the great ocean of the supreme *amṛta*."

82 *MVUT* 21.1–8:

> *athātaḥ paramaṃ guhyaṃ śivajñānāmṛtottamam* /

vyādhimṛtyuvināśāya yogināṃ upavarṇyate //1//
ṣoḍaśāre khage cakre candrakalpitakarṇike /
svarūpeṇa parāṃ tatra sravantīm amṛtaṃ smaret //2//
pūrvanyāsena saṃnaddhaḥ kṣaṇam ekaṃ vicakṣaṇaḥ /
tatas tu rasanāṃ nītvā lambake viniyojayet //3//
sravantam amṛtaṃ divyaṃ candrabimbāt sitaṃ smaret /
mukham āpūryate tasya kiṃ cil lavaṇavāriṇā //4//
lohagandhena tac cātra na pibet kiṃ tu nikṣipet /
evaṃ samabhyaset tāvad yāvat tat svādu jāyate //5//
jarāvyādhivinirmukto jāyate tat pibaṃs tataḥ /
ṣaḍbhir māsair anāyāsād vatsarān mṛtyujid bhavet //6//
tatra svāduni saṃjāte tadāprabhṛti tatragam /
yad eva cintayed dravyaṃ tenāsyāpūryate mukham //7//
rudhiraṃ madirāṃ vātha vasāṃ vā kṣīram eva vā /
ghṛtatailādikaṃ vātha dravad dravyam ananyadhīḥ //8//

Codices: K_{ED}=The KSTS edition, with selective *variae lectiones* from K1, K2, K3 and K1; V=Benares Hindu University c 4106, paper, Śāradā; J=Śrī Raghunātha Temple Library, Jammu, MS No. 1524/ka, paper, Devanāgarī; P=Deccan College, Poona MS No. 488, Collection of 1875–6, paper, Devanāgarī. Somdev VASUDEVA kindly provided me with the variant readings of witnesses V, J and P.

2b °kalpitakarṇike] K_{ED}; °kalpitakalpitam VJ, °kalpitam P *(unm.)* 3c rasanāṃ] K_{ED}VJ; rasatāṃ K3P 3d viniyojayet] VJP; viniyojayat K_{ED} 4b °bimbāt sitaṃ] K1VJP; °bimbasitaṃ K_{ED} 5d svādu] K^{pc}_{ED}V; sādu K^{ac}_{ED}, sādhu J, sādhv a° P 6a jarā°] K_{ED}P; jaya° J 7a tatra] K_{ED}VP; tac ca J ◇ svāduni] K^{pc}_{ED}VJ; sāduni K^{ac}_{ED}, sādhuni P 8b vasāṃ] K_{ED}VJ; ⌈vaṃ⌉saṃ P 8d dravad] K_{ED}VJ; dravyād P

83 *MVUT* 14.11-15 describes a similar (but subtler) practice, "the introspection of taste" *(rasarūpā dhāraṇā)*: "Now I will teach the taste-introspection, which is revered by Yogins, whereby the attainment of all flavours arises for the Yogin. One should contemplate, with a focussed internal faculty, the Sensory Medium of taste as resembling a water-bubble on the tip of the tongue. It is located at the end of [the] royal nerve *(rājanāḍī)*, it is cool, six-flavoured and smooth. Then, within a month one savours flavours. Rejecting the salty [flavours] etc., when he reaches sweetness, the Yogin, swallowing that, becomes the vanquisher of death after six months. [He is] freed from aging and disease, black-haired, undiminished is [the splendour of] his complexion. He lives as long as the moon, the stars and the sun, practising now and again." (translation VASUDEVA 2004:333).
MVUT 15.16–19 teaches the "introspection of the tongue" *(jihvādhāraṇā)*: "The yogin should contemplate his own tongue as having the colour of the moon. Within ten days he will achieve the sensation of the absence of his own tongue, as it were. After six months the single-minded [practitioner] can taste what is far away. Within

three years he directly savours the supreme nectar, whereby the Yogin is freed from old age and death. Even if he is addicted to forbidden drinks he commits no sin…" (ibid.:264).

KMT 9.19–20 teaches a visualisation of the mouth filling with *amṛta* that has arisen at the uvula, in which the *amṛta* seems to be equated with the Aghora mantra.

84 See *JRY* 4.2.157b *tālurandhragatā*; *KJN* 14.50c *ūrdhvakām* (cf. *KhV* 2.80a); *KJN* 6.18b *brahmavilaṃ gataḥ* (cf. *KhV* 1.55d); *KJN* 6.26d *svavaktreṇa saṃyutām* (cf. *KhV* 2.64d); *KMT* 23.159d *lambakaṃ tu vidārayet*.

85 *KJN* 14.50–54b:

> *ata ūrdhvaṃ paraṃ guhyaṃ sarvavyādhivimardakam |*
> *rasanām ūrdhvakāṃ kṛtvā manas tasmin niveśayet ||50||*
> *satatābhyāsayogena maraṇaṃ nāśayet priye |*
> *kṣaṇena mucyate rogair vyādhimṛtyujarādibhiḥ ||51||*
> *naśyate vyādhisaṃghātaṃ siṃhasyaiva yathā mṛgāḥ |*
> *kṣaṇena naśyate vyādhiḥ kaṭukakuṣṭhanāśanam ||52||*
> *susvādena mahādevi valīpalitanāśanam |*
> *kṣīrasvādena medhāvi amaro jāyate naraḥ ||53||*
> *ghṛtasvādopamaṃ devi svātantryaṃ tu tathā bhavet |*
>
> 50a ūrdhvaṃ paraṃ] *em.* Griffiths; ūrdhveśvaraṃ Ed. 50c rasanām ūrdhvakāṃ] *em.*; rasanā ūrddhakaṃ Ed. 51ab °ābhyāsayogena maraṇaṃ] *conj.*; °ābhyāsayet tat tu muhūrttaṃ Ed. 52d kaṭuka°] *conj.*; kaṭuke Ed. 54a °opamaṃ] *em.*; °opamanaṃ Ed. *(unm.)* 54b svātantryaṃ tu tathā] *em.*; svātantran tu yathā Ed.

Both *MVUT* 21.1–8 (see note 82) and *KJN* 14.50–54b are followed by passages on *mṛtakotthāpana*, reanimating corpses, and *paradehapraveśana*, entering another's body.

86 Govind Dās Yogīrāj said that the liquid tasted fishy at first, then salty, then like butter, then like ghee and finally had a taste that could not be described. Bernard (1982:68) reported "At first it was thick, heavy, and slimy; eventually, it became thick, clear, and smooth".

87 *KJN* 6.18–19:

> *prasārya dantarāyaṃ tu yāvad brahmabilaṃ gataḥ |*
> *amṛtāgraṃ rasāgreṇa duhyamānaḥ sudhīr api ||18||*
> *māsena jinayen mṛtyuṃ satyaṃ satyaṃ mahātape |*
> *rasanāṃ tālumūle tu kṛtvā vāyuṃ pibec chanaiḥ ||19||*
> *ṣaṇmāsam abhyased devi mahārogaiḥ pramucyate |*
>
> 18a dantarāyaṃ] *em.*; danturāyān Ed. 18d duhyamānaḥ] *conj.* Sanderson; dahyamāna Ed. 19a jinayen] *em.* Sanderson; jitayen Ed. 19c rasanāṃ] *em.*; rasanā Ed. 20a °māsam] *em.*; °māsād Ed.

88 The *dantarāya* is the *rājadanta*, on which see note 258; *brahmabila* is a synonym of *brahmarandhra*, on which see note 240.

89 *KJN* 6.23–26:

yad rājadantamadhyasthaṃ bindurūpaṃ vyavasthitam |
amṛtaṃ tad vijānīyād valīpalitanāśanam ||23||
śītalasparśasaṃsthāne rasanāṃ yujya buddhimān |
valīpalitanirmmuktaḥ sarvavyādhivivarjitaḥ ||24||
na tasya bhavate mṛtyur yogayānaparaḥ sadā |
rasanāṃ tālumūle tu vyādhināśāya yojayet ||25||
tiṣṭhañ jāgran svapaṅ gacchan bhuñjāno maithune rataḥ |
rasanāṃ kuñcayen nityaṃ svavaktreṇa tu saṃyutām ||26||

23a yad] *conj.*; dvau Ed. ◇ rājadanta°] *em.*; rājada*° Ed. 23c tad] *em.*; taṃ Ed. 24a śītala°] *em.*; śītalaṃ Ed. 24b yujya] *conj.* GRIFFITHS; kṛtvā tu Ed. *(unm.)* 25c rasanāṃ] *em.*; rasanā Ed. 26b bhuñjāno] *em.* GOODALL (26ab =*KMT* 8.78cd); bhuñjan Ed. *(unm.)* 26c rasanāṃ] *em.* GRIFFITHS; rasanaṃ Ed. 26d saṃyutām] *em.* GRIFFITHS; saṃyutam Ed.

90 This "mouth" probably refers to the opening above the uvula. See note 322.

91 *KMT* 23.158–162:

athānyaṃ api vakṣyāmi prayogaṃ mṛtyunāśanam |
saṅkocya mūlacakraṃ tu janmasthaṃ dhārayet kṣaṇāt ||158||
saṅghaṭṭaṃ pīḍanaṃ kṛtvā lambakaṃ tu vidārayet |
lambakāmṛtasantṛpto jayen mṛtyuṃ na saṃśayaḥ ||159||
dāhaṃ śoṣaṃ tu santāpaṃ vaivarṇaṃ vā mahādbhutam |
nāśayeta varārohe anenābhyāsayogataḥ ||160||
rasanāṃ śūnyamadhyasthāṃ kṛtvā caiva nirāśrayām |
na dantair daśanān spṛṣṭvā oṣṭhau naiva parasparam ||161||
tyajya sparśanam eteṣāṃ jinen mṛtyuṃ na saṃśayaḥ |
eṣa mṛtyuñjayo yogo na bhūto na bhaviṣyati ||162||

159a saṃghaṭṭaṃ] *em.*; saṃghaṭṭe Ed. 160a dāhaṃ śoṣaṃ tu santāpaṃ] *em.*; dāhaśoṣas tu santāpo Ed. 160b mahādbhutam] *em.* GRIFFITHS; mahadbhutam Ed. 161b nirāśrayām] *em.*; nirāśrayam Ed.

92 Cf. *KhV* 2.82c–88d.

93 This has happened to Dr. Ṭhākur when practising *prāṇāyāma* for long periods and to his son when holding his breath while swimming. Satyānanda SARASVATĪ (1993:280) reports "when prana is awakened in the body, the tongue will move into [the *khecarīmudrā*] position spontaneously". I have been introduced to a man who had no knowledge of yogic techniques but whose tongue assumed the *khecarīmudrā* position while he was under the influence of LSD.
Praṇavānand SARASVATĪ (1984:203–4) says that before birth a baby's tongue is in the *khecarīmudrā* position and has to be flicked out after parturition. This breaks the baby's *yoganidrā* ("yogic sleep"), it starts to breathe, experiences hunger and thirst, and beholds *saṃsāra*. An aside attributed to "the haṭhayogic tradition" *(haṭhayogasaṃpradāyaḥ)* is found in the *Haṭharatnāvalī* between vv. 2.135 and 2.136. This

corrupt passage appears to say that a fetus practises *lambikāyoga* while in the womb but that at birth the tongue falls down and is bound by the frenum. In a private communication, Dr. Lucy Colfox has told me that babies are in fact born with their tongues in their mouths.

94 Cf. VASUDEVA's definition of *mudrā* cited on page 26.

95 The *Kularatnoddyota* can be dated to approximately the twelfth century CE at the latest. See note 101.

96 The eight *mudrā*s correspond to the eight *mātṛ*s listed at *KMT* 15.6–7. *Kularatnoddyota* 3.105–108 (I am grateful to Somdev VASUDEVA for providing me with his unpublished edition of *KRU* 3.95a–129b, to which I have added the variants from witness V):

> *sarvadvārāṇi saṃrudhya mārutaṃ saṃniyamya ca /*
> *lalanā ghaṇṭikāntasthā antaḥsrotonirodhikā* //105//
> *ākuñcya karapādau tu muṣṭibandhena suvrate /*
> *ūrdhvonnataṃ mukhaṃ kṛtvā khastham ardhaprasāritam* //106//
> *stabdhe ca tārake kṛtvā ākuñcyādhāramaṇḍalam /*
> *vyomamārgagatāṃ dṛṣṭiṃ manaḥ kṛtvā tadāśrayam* //107//
> *catvarasthaṃ varārohe karaṇaivaṃvidhaṃ matam /*
> *mudreyaṃ khecarī proktā sarvamudreśvareśvarī* //108//

Q=NAK 5427 (NGMPP A 40/21), palm-leaf, Kuṭila, ca. 12th cent. CE; R=NAK 116 (NGMPP A 206/10), paper, Nevārī, dated *saṃvat* 754 (= 1634 CE); S=NAK 55142 (NGMPP A147/10), paper, Devanāgarī; T=NAK 55151 (NGMPP 149/1), paper, Nevārī; U=NAK 42454 (NGMPP A 146/6), paper, Nevārī; V=Chandra Shum Shere c.348, paper, Nevārī.

105a saṃrudhya] QSTU; saṃrudhyāṃ R, saṃrundhya V 105c lalanā] QSTUV; lalanāṃ R 105d °sroto°] *em.* VASUDEVA; °śroṇi° R, °srota° SV, °śrota° QTU 106a ākuñcya karapādau ca] RSV; ākuñcya karapādau tu Q, ākuñcya karapādo tu T, ākutra kalapādo tu U 106b °bandhena] QST; °bandhana R, °vānūna U, °vāndhana V 106d khasthaṃ] QRSUV; khasthāṃ T 107a stabdhe ca] QTV; tathaiva R, sokṣava° S, stāva U 107c °gatāṃ] QSUV; °gatā R, °gataṃ T 107d manaḥ] QRSTU; mama V ◇ madāśrayam] *conj.* GRIFFITHS; mamāśrayam V, samāśrayam *cett.* 108a catvarasthaṃ] *em.* SANDERSON; tvaccārasthaṃ QRV, catvārasthaṃ STU 108b karaṇaivaṃvidhaṃ] R; karaṇevaṃvidhaṃ QSTUV

97 The "crossroads" *(catvara/catuṣpatha/catuṣkikā)* is in the region of the *brahmarandhra*. See *TĀ* 15.94 and Jayaratha *ad loc.*, *Tantrālokaviveka ad* 5.55a and *NTU* p.147, l.18. I am grateful to Alexis SANDERSON for providing me with these references.

98 *JRY Bhairavānanavidhi Bhūmikāpaṭala* 159a.

99 *KJN* 6.19d.

100 *KRU* 3.110a–112b (for details of the witnesses see note 96):

> *svādhiṣṭhānasya vāmāṅge datvā cittaṃ sureśvari* |
> *paramāmṛtasaṃpūrṇaṃ smarec cakram anāmayam* ||110||
> *sahasrāraṃ mahāmāye vidyāyoginisaṃyutam* |
> *plāvayann amṛtaughena sarvaṃ dehaṃ vicintayet* ||111||
> *mudreyaṃ śaśinī proktā sarvakāryārthasādhanī* |
>
> 111a sahasrāraṃ] QRSV; sahastāraṃ T, sahasrāya U 111b yogini] *short final* i *metri causa* 111c plāvayann] QRSV; plāvayenn TU 111d sarvaṃ dehaṃ] Q; sarvāṃ dehāṃ R; sarvadehaṃ ST, sarvadeha° U, sarvā dehaṃ V 112a śaśinī] QRSTV; śakhinī U

101 The *Kularatnoddyota* must postdate the *Kubjikāmatatantra* since much of it is derived from that work. The *Kubjikāmatatantra* itself postdates the root tantras of Trika Śaivism (Sanderson 1986:163–164). The earliest witness of the *Kularatnoddyota* is a Nepalese palm-leaf manuscript from about the twelfth century ce (manuscript Q in the apparatus in note 96).

102 For detailed studies of *mudrā* in tantric Śaivism see Vasudeva 1997 and Padoux 1990b.

103 *KMT* 6.81c–82b gives a *nirvacana* derivation of the name Khecarī: *khagatir hy ūrdhvabhāvena khagamārgeṇa nityaśaḥ* | *carate sarvajantūnāṃ khecarī tena sā smṛtā* || "Motion in the ether arises through the higher existence [?]. Of all creatures, she who always goes *(carate)* by way of the ether *(khagamārgeṇa)* is known as Khecarī." In the *Siddhayogeśvarīmata* (which is devoted to the Yoginī cult—see *paṭala*s 13, 22 and 29 for detailed descriptions of Yoginīs), Khecarī seems to be used as a synonym of Yoginī at 29.20. Sanderson (1987:15) describes Yoginīs as "both supernatural apparitions and human females considered to be permanently possessed by the mother goddesses [cf. *SYM* 22.5ab]. They were to be invoked and/or placated with offerings of blood, flesh, wine and sexual fluids by power-seeking adepts…"

104 See *JRY mudrāṣaṭka* 2.636a, 644d (f.32r), 648d (f.32v); *Parātrīśikā* 1; *Yoginīhṛdaya cakrasaṅketa* 5d etc. The Bhairavāgama is the entire corpus of Tantras of the Mantramārga, excepting those of the Śaiva Siddhānta. For an explanation of the different categories of texts in tantric Śaivism see Sanderson 1988.

105 *KJN* 9.2ab: *sarvasiddhiyoginīnāṃ khecarīṃ sarvamātarīm* |. Cf. *KMT* 15.10, where the eight *mātṛ*s are said to be born from the bodies of the Khecarīs: *khecarītanusaṃbhūtāś cāṣṭau mātryaḥ*. In the Buddhist *Hevajratantra*, Khecarī is located at the top of the circle of Yoginīs (*HT* 1.8.15, 1.9.12).

106 At *KJN* 14.93 *paramāmṛta* is located at the *khecarīcakra*. *KMT* 14.65–67 and 15.82 say that the Dūtīs and Yoginīs flood the world with *amṛta* when disturbed *(kṣubdhāḥ)* but this is not said in the description of the Khecarīs in *paṭala* 16.

107 cf. *KMT* 25.214.

108 *TĀ* 32.4ab: *tatra pradhānabhūtā śrīkhecarī devatātmikā* |.

109 *TĀ* 32.64:

> *ekaṃ sṛṣṭimayaṃ bījaṃ yadvīryaṃ sarvamantragam* |
> *ekā mudrā khecarī ca mudraughaḥ prāṇito yayā* ||64||.

110 At *TĀ* 32.26 the *karaṅkinī* variant of the *khecarīmudrā* is described. As well as adopting other physical gestures, the yogin is to touch his palate with his tongue—*jihvayā tālukaṃ spṛśet*. This brings to mind the meditational techniques described in the passages cited above from the Pali canon, the *Viṣṇusmṛti* and the *Maitrāyaṇīyopaniṣad* and is one of the first instances of such practices being linked with the name *khecarīmudrā*. However this should not be seen as significant in the development of the haṭhayogic *khecarīmudrā*. It adds nothing to what is found in the pre-āgamic passages cited above and appears to be simply an instruction on what should be done with the tongue during *sādhana* on the same lines as, say, instructions to gaze at the tip of the nose. Instructions to press the tongue to the palate in the manner of those pre-āgamic passages are found elsewhere in the texts of tantric Śaivism and *haṭhayoga* (see e.g. *Skandapurāṇa* 179.40, *Mṛgendratantra yogapāda* 18c–19b, *Mataṅgapārameśvarāgama yogapāda* 2.27, *KMT* 7.85a, *Bṛhadyogiyājñavalkyasmṛti* 190, *Yājnavalkyasmṛti* 3.199, *HP* 1.45–46 and *DYŚ* 70) and the occurrence of such an instruction in the *Tantrāloka*'s description of a variant of *khecarīmudrā* is probably coincidental.

111 *JRY* 4.2.597d.

112 *Netratantroddyota* 7.32.

113 Perhaps surprisingly, no specific mention is made of flying in the *KhV*. *Khecaratva*, "being a Khecara", is often said to be a reward of the practice but is never specifically said to entail the ability to fly. *Khecaratva* and flying are distinguished in many other texts: a list of *siddhi*s at *KJN* 14.16–19 has both *bhūmityāga*, "leaving the ground", at 17a, and *khecaratva* at 19b; *SSP* 5.34–41 contains a list of *siddhi*s attained after different durations of practice: in the seventh year the yogin becomes *kṣitityāgī* and in the ninth he becomes a Khecara; *AŚ* p.4 ll.11–12 gives a list of *siddhi*s starting with *bhūmityāga* and culminating in *khecaratvapratiṣṭhā*. In his translation of *Vātulanāthasūtra* 1, Śāstrī adds "Khecara denotes the man who has made a remarkable progress in the spiritual realm and has, as a result thereof, occupied that state in which one always lives and moves in the ether of consciousness" (translation p.1 n.2).

Explicit mentions of flying are common in the Bhairavāgama. Many of the *JRY*'s *mudrā*s result in the *sādhaka* rising into the air: at 4.2.592d in the description of the *daṃṣṭriṇī mudrā* we read *trisaptāhāt kham utpatet*, "after three weeks he rises up into the air"; at 4.2.632a the result of *karaṅkinī mudrā* is *praharārdhāt plaved vyomni*, "after ninety minutes he floats in the void". The Kashmiri exegetes did not take such passages literally: commenting on *TĀ* 32.16c, where Abhinavagupta has quoted a description of the *triśūlinī mudrā* from the *Yogasaṃcāra* by which "[the yogin] leaves the ground" *(tyajati medinīṃ)*, Jayaratha writes *medinīṃ tyajatīti dehādyahantāpahastanena parabodhākāśacārī bhaved ity arthaḥ*, "when the text says that he leaves the ground it means that he will move in the sky of absolute consciousness by throwing off identification with the body, [the mind, the vital energy] and [the void]" (Sanderson's unpublished translation). Perhaps the composer(s) of the *KhV* also took this position. We know that folk tales of flying yogins were current at the time of its composition (Digby 1970:11–15) and other haṭhayogic texts do mention *bhūmityāga* but not in the context of *khecarīmudrā* (see e.g. *DYŚ* 155,

GhS 5.56; but cf. *MaSaṃ* 18.52 which mentions *kṣitityāga* as the result of a *dhyāna* in which, among other physical attitudes, the tongue is to be placed above the palate). The absence of any mention of *khecarīmudrā* in Ballāla's explanation of *trailokyabhramaṇa ad KhV* 3.6 is telling: *antarikṣamārgeṇa guṭikāvat*, "going by way of the atmosphere like [when one consumes] a pill". Similarly, the *Jogpradīpakā* makes no mention of flying in its lengthy description of *khecarīmudrā*, nor in its description of the *ākāśadhāraṇā*, but does say that *vāyudhāraṇā* results in *gaganagamana* (MS *bhāṃ*; MS *nāṃ* and the edition read *gaganamagana*). Today *khecarīmudrā* is often said by yogins to bestow the power of flight (see note 153). It is perhaps this association which led White (1996:169) to translate the title of the *KhV* with "The Aviator's Science; or The Arcane Science of Flight".

114 See *ŚS* 4.22 (=*HP* 3.5).

115 Not everywhere in the texts of *haṭhayoga* is the practice called *khecarīmudrā*. In the descriptions at $GŚ_N$ 131–152, *ŚS* 3.80–95 and *SSP* 6.84 it is not named. In *AŚ* pp.1–3 it is said to be a *sāraṇā*. *MKSG* 11.966a–1020b calls the technique simply *rasanāyoga*, "tongue yoga". $GŚ_N$ 70 and *HP* 3.36 give alternative names for *khecarīmudrā*: *nabho mudrā* and *vyomacakra* respectively. *GhS* 3.7 also calls the practice *nabho mudrā*.

116 Although I distinguish between tantric Śaivism and *haṭhayoga*, and between the texts of both, it should be stressed that there is no clear-cut division between the two. The *Śivasaṃhitā*, an archetypal haṭhayogic manual, calls itself a tantra (4.7, 4.25). The *Khecarīvidyā* does the same (1.16) and itself exemplifies the futility of trying to differentiate too strictly between tantric and haṭhayogic works. The origins of many of the practices that are considered quintessentially haṭhayogic can be traced to tantric works (e.g. the haṭhayogic *khecarīmudrā* and the *mūlabandha*, on which see note 299). Similarly, haṭhayogic works contain references to aspects of tantrism that might be thought to have no place in such texts. Thus the yogin who has perfected *sītkārī prāṇāyāma* is said to be "esteemed by the circle of yoginīs" *(yoginīcakrasammānyaḥ)* at *HP* 2.55. In the absence of any yardstick by which to evaluate a text's contents and classify it as haṭhayogic or not, the best method is perhaps to see whether the text considers itself as teaching *haṭhayoga*. However, for the period prior to the composition of the *HP*, this would limit us to the *Dattātreyayogaśastra*, the *Yogabīja*, the *Śārṅgadharapaddhati*, the *Amaraughaprabodha* and the *Śivasaṃhitā*. After the *HP*, the number of explicitly haṭhayogic works increases considerably but these are for the most part commentaries and derivative texts, such as the so-called Yoga Upaniṣads. Exceptions include the *Haṭharatnāvalī* and the *Gheraṇḍasaṃhitā*. At the risk of opening myself to accusations of *ativyāpti*, I include all of the works identified by Bouy (see my note 11) as being used to compile the *HP*, as well as the *Śārṅgadharapaddhati*, the *Amaraughaśāsana* and post-*HP* works which teach *haṭhayoga*, when I talk of "haṭhayogic texts".

117 On this *tattva* see e.g. *Yonitantra* 2.10 and its introduction, p. 27.

118 On which see Heesterman 1964:22–27 and Bodewitz 1973:213–318.

119 *HP* 3.53ab: *ekaṃ sṛṣṭimayaṃ bījam ekā mudrā ca khecarī* /. This half-verse is also cited by Kṣemarāja in his *Śivasūtravimarśinī* (II.5) where he attributes it to the *Kulacūḍāmaṇitantra*.

120 Although I refer to corporealisation as a "process", the traffic was not all one-way. Thus the transformation by some tantric exegetes of the sex act, or of yogic practices, into mental techniques is the opposite of corporealisation.

121 *TĀ* 5.22a–23b:

> *somasūryāgnisaṃghaṭṭaṃ tatra dhyāyed ananyadhīḥ* |
> *taddhyānāraṇisaṃkṣobhān mahābhairavahavyabhuk* ||22||
> *hṛdayākhye mahākuṇḍe jājvalan sphītatāṃ vrajet* |

122 Textual parallels are described in detail in the notes to the translation.

123 See *SYM paṭala* 11; *MVUT* 16.53–54; *KJN* 5.5–13; *NT paṭala* 7, in which the second of the two techniques taught is called *khecarīmudrā*; *ṢCN* 41–46. Cf. *SYM paṭala* 12 and *MVUT* 14.11-15, 15.16–19 (on which see note 83).
It might be argued that just because the physical *khecarīmudrā* is not mentioned in these texts, that does not mean that it was not practised: many tantric works allude to sexual rites without describing their practical details. Perhaps it was for the guru to instruct the *sādhaka* in the physical practice. However Kṣemarāja's commentary on *NT* 7.16–22 (p. 158 ll. 10–17) describes the technique whereby *śakti* enters the central channel: the *mattagandhasthāna* (i.e. the anus—see *Tantrālokaviveka ad* 6.185c–186b) is to be contracted and relaxed (the passage is cited in full in note 299). Kṣemarāja's mentioning here of a physical practice not alluded to in the *mūla* argues against his having any knowledge of the physical *khecarīmudrā*. The subtle physiology necessary for it is in place: commenting on 7.1–5 (p.147 l.14) he cites a passage describing the sixteen *ādhāra*s including the *sudhādhāra*, "the nectar *ādhāra*", which is *lambhikasya* [sic] *sthitaś cordhve*, "situated above the uvula", and *sudhātmakaḥ*, "consisting of nectar" (cf. *Svacchandatantroddyota* 7.218a–226b and *Tantrālokaviveka* 5.55).
The idea of a subtle *khecarīmudrā* persists in the texts of *haṭhayoga*. Thus *HP* 4.43-53, in a section on *rājayoga*, describes *khecarīmudrā* and the flooding of the body with *amṛta* but makes no mention of tongues. Cf. *VS* 4.41–46, 6.23–41 and *Jñāneś-varī* 6.247–260 (Kiehnle 1997:138–9), which describe similar processes but do not call them *khecarīmudrā*.

124 *HP* 3.46–48 (cf. *KhV* 2.68ab and *GBS* 137):

> *gomāṃsaṃ bhakṣayen nityaṃ pibed amaravāruṇīm* |
> *kulīnaṃ tam ahaṃ manye itare kulaghātakāḥ* ||46||
> *gośabdenoditā jihvā tatpraveśo hi tāluni* |
> *gomāṃsabhakṣaṇaṃ tat tu mahāpātakanāśanam* ||47||
> *jihvāpraveśasambhūtavahninotpāditaḥ khalu* |
> *candrāt sravati yaḥ sāraḥ sā syād amaravāruṇī* ||48||

125 Cf. the *JRY* passage cited in note 79 where the tongue, when "at the aperture of the palate" *(tālurandhragatā)*, is described as "in contact with the void" *(śūnyasaṃgame)*, and "free from the slightest touch" *(īṣatsparśavivarjā)*.

126 *GŚ*$_N$ 69:

> *cittaṃ carati khe yasmāj jihvā carati khe gatā* |
> *teneyaṃ khecarīmudrā sarvasiddhair namaskṛtā* ||69||

127 On the Kashmiri exegetes' interpretation see Kṣemarāja ad *NT* 7.32 cited on page 26.

128 By "early texts" here I mean those texts which probably or definitely predate the c.1450 CE *HP*. The works which have been used to compile the *HP* are listed in note 11. Besides the *Khecarīvidyā*, three of those texts include descriptions of the haṭhayogic *khecarīmudrā*: the *Gorakṣaśataka* (64–70, 131–152), the *Dattātreyayogaśāstra* (272–273) and the *Śivasaṃhitā* (3.80–95, 4.51–59). The *Siddhasiddhāntapaddhati* probably predates the pre-1363 CE *Śārṅgadharapaddhati* (the description of nine *cakra*s at *ŚP* 4351–4363 paraphrases that at *SSP* 2.1–9) and describes an unnamed *khecarīmudrā* at 6.84. The *Amaraughaśāsana* describes an unnamed *khecarīmudrā* on pages 1–2. The composition of this last work, whose authorship is ascribed to Gorakṣanātha, can be dated to before 1525 CE, the date of the manuscript from which it has been edited. It is quite different in style from other haṭhayogic works and, uniquely among such texts, calls the haṭhayogic practices described in its first few verses *sāraṇā*s. *Sāraṇā* is one of eighteen processes in the alchemical refinement of mercury described in a quotation in the *Sarvadarśanasaṅgraha*'s ninth chapter (p.205, l.11).

129 These two approaches are later manifestations of the structural poles of Śaivism as identified by SANDERSON (1993:57): "Śaivism in its great internal diversity is the result of the interplay of two fundamental orientations, a liberation-seeking asceticism embodied in the Atimārga and a power-seeking asceticism of Kāpālika character within the Mantramārga." The distinction between liberation-seekers and power-seekers is blurred in haṭhayogic texts but this division into two poles is still helpful in understanding the different approaches to the practice of *haṭhayoga*.

The ideological tensions within the Nātha order are explained by the Nāthas themselves with a legend that is first found in a fourteenth-century Bengali and Sanskrit work, the *Gorakṣavijaya*, and which spread throughout North India. Matsyendranātha, the first human guru of the Nāthas, has become ensnared in the ways of wine, women and song. He is at the palace of the queen of Kadalīdeśa, "Banana country", and passes his time intoxicated, enjoying the company of the sixteen hundred dancing girls who live in the palace. The queen of Kadalīdeśa, fearing that attempts might be made to rescue her new lover, has banned men from the palace. Gorakṣanātha, Matsyendra's disciple, learns of his downfall and sets out to rescue him. He disguises himself as a dancing girl, gains entry to the palace and brings his guru back to his senses by instructing him through song and dance. Gorakṣa then turns all the women into bats and the two of them leave Kadalīdeśa.

This is the basic structure of the legend, which is now found in many different versions. It is interpreted as describing a reformation by Gorakṣa of the Kaula practices taught by Matsyendra. Matsyendra is often described as the originator of kaulism or the *yoginīkaula* tradition: he is the author of the *Kaulajñānanirṇaya* and Jayaratha (*ad TĀ* 1.7) says that 'Macchanda' is famous for being the propagator of the entire *kulaśāstra*. Gorakṣanātha, on the other hand, is portrayed in legend as a more austere and ascetic figure and this is borne out in the Sanskrit texts attributed to him. The original *Gorakṣaśataka* bears little trace of any Kaula inheritance. The interpretation of this legend shows that the contradictions within the Nāthas' texts were

apparent to the Nāthas themselves but is a simplification of a more complicated situation in which, for example, the haṭhayogic texts attributed to Dattātreya show less tantric influence than those of Gorakṣa.

130 *ŚP* 4365a–4371b:

> *pūrvābhyastau manovātau mūlādhāranikuñcanāt |*
> *paścime daṇḍamārge tu śaṅkhinyantaḥ praveśayet ||4365||*
> *granthitrayaṃ bhedayitvā nītvā bhramarakandaram |*
> *tatas tu nādajo bindus tataḥ śūnye layaṃ vrajet ||4366||*
> *abhyāsāt tu sthirasvānta ūrdhvaretāś ca jāyate |*
> *parānandamayo yogī jarāmaraṇavarjitaḥ ||4367||*
>
> *atha vā mūlasaṃsthānām udghātais tu prabodhayet |*
> *suptāṃ kuṇḍalinīṃ śaktiṃ bisatantunibhākṛtim ||4368*
> *suṣumṇāntaḥ praveśyaiva pañca cakrāṇi bhedayet |*
> *tataḥ śive śaśāṅkābhe sphurannirmalatejasi ||4369*
> *sahasradalapadmāntaḥsthite śaktiṃ niyojayet |*
> *atha tatsudhayā sarvāṃ sabāhyābhyantarāṃ tanum ||4370||*
> *plāvayitvā tato yogī na kiṃ cid api cintayet |*

131 In the *SSP* (1.66, 2.6, 6.84), *AŚ* (p.1, p.10) and *BVU* (73–76), we find descriptions of the subtle physiology underlying *khecarīmudrā* not referred to in other Sanskrit manuals of *haṭhayoga* in which *amṛta* is secreted at the *daśamadvāra*, "the tenth door", at the end of the *śaṅkhinīnāḍī*, which is located at the *rājadanta* (on which see note 258). *ŚP* 4591–4612 teaches techniques for *videhamukti*, "bodiless [i.e. final] liberation", and *kālavañcana*, "cheating death", similar to those described at *Khecarīvidyā* 3.43c–53b. In the *ŚP* passage, the yogin shuts the nine doors of the body but leaves the tenth open if he wants to abandon his body; if he wants to enter a trance in which death cannot take him but from which he can return, he should shut the tenth door. The tenth door is "frequently referred to in old and medieval Bengali literature" (DASGUPTA 1976:240), such as the *Gorakṣavijaya*, and also in the Hindī poems of Gorakhnāth: see *GBS* 135 and *GBP* 11.3. Cf. *AM* 51.1. For analyses of the workings of the *śaṅkhinī nāḍī* see DASGUPTA 1976:239-243 and WHITE 1996:254–255.

132 On *nāda* and *bindu* see notes 138 and 325.

133 On *udghāta*, "eruption [of the breath]", see VASUDEVA 2004:402–409.

134 See note 9. I have not consulted manuscripts of this unedited text but have relied on the first *adhyāya* of the *Yogakuṇḍalyupaniṣad*, which BOUY (1994:102) has shown to contain eighty of the *Gorakṣaśataka*'s one hundred verses.

135 On *śakticālana* see note 366.

136 *DYŚ* 278–280.

137 *GŚ*$_N$ 69a–70b (a more detailed description is given at *GŚ*$_N$ 131–148):

> *khecaryā mudritaṃ yena vivaraṃ lambikordhvataḥ |*
> *na tasya kṣarate binduḥ kāminyāśleṣitasya ca ||69||*
> *yāvad binduḥ sthito dehe tāvan mṛtyubhayaṃ kutaḥ |*

138 *Bindu* is used more often than *amṛta* when describing the fluid that is to be stored in the head. However the two do seem to be interchangeable: at *KJN* 5.23 in a description of flooding the body we find *bindudhārānipātaiś*, "with the descent of the flow of *bindu*", while at $G\acute{S}_N$ 141b the yogin is instructed to hold the *somakalāmṛtam* in the *viśuddhicakra* and keep it from the mouth of the sun.

139 While the theory of *bindudhāraṇa* is simple enough, there are problems with it in practice. When the tongue is placed in the hollow above the palate the throat is sealed off and saliva gradually accumulates in the mouth (see *MVUT* 21.4, cited in note 82). Eventually the mouth fills up with this fluid and something has to be done with it. BERNARD (1982:68) would at first return his tongue to its normal position so that he could swallow it. After some time he was able keep his tongue above the palate while swallowing small amounts. SVOBODA (1986:279) was taught to practise *khecarīmudrā* while performing the headstand. He says "Your guru will warn you that whenever you feel something dripping onto your tongue you should not swallow but instead come down out of the posture and let the secretion flow from your mouth into your hand. This is Amrita, which should be taken to your guru, who will put it into a special paan and only then make you eat it." The passage describing *khecarīmudrā* at $G\acute{S}_N$ 138–152 comes after instructions for *viparītakaraṇa*, the headstand, and 144c could be understood as instructing the yogin to come out of the posture to drink the *amṛta* that has accumulated.

The headstand, the chin-lock and *khecarīmudrā* are the three techniques useful for *bindudhāraṇa*. No root text of *haṭhayoga* groups them together but Ballāla does so in the *BKhP* (f. 100v^2): *khecaryā viparītakaraṇyā jālaṃdharabaṃdhena caṃdrasya bandhanena sūrye hutavahe* (*huta°] em.* SANDERSON; *hata°* S) *vāmṛtabiṃdvapatanād dehasya jīvanaṃ sidhyatīti tattvaṃ* |

140 References to the drying up of the juices of the body as an aim of haṭhayogic practice also conflict with the idea of *amṛtaplāvana*: at $G\acute{S}_N$ 77 *mahāmudrā* is said to result in *rasānāṃ śoṣaṇam*, "drying up of fluids"; in a description of *kumbhaka*, breath-retention, *YB* 135cd reads *recake kṣīnatāṃ yāti* (*em.*; *yāte* Ed.) *pūrakaṃ śoṣayet sadā*, "on exhalation [the yogin] becomes weak; inhalation always dries out [the body]"; KIEHNLE (1997:136) reports that according to the *Jñāneśvarī* (no reference is given), "the liquids of the body are dried up" by the heat of rising Kuṇḍalinī. The Rāmānandī ascetics with whom I lived during my fieldwork are intent on the drying out and mortification of the body, to which end they perform *dhūnītap*, the austerity of sitting surrounded by smouldering cow-dung fires in the midday sun.

141 It is perhaps possible to reconcile *bindudhāraṇa* with *amṛtaplāvana* by understanding *khecarīmudrā* as sealing one aperture but opening another, thereby diverting the *amṛta* away from the fire in the stomach and into the *nāḍī*s of the body. WHITE (1996:253–255) hints at this and at $G\acute{S}_N$ 141 *amṛta* is said to go *unmārgeṇa*, "by the wrong path", having cheated the mouth of the sun. However the two aims are never described together in the texts. The long version of the *Haṭhapradīpikā* (H_2 5.301 at f. 114v$^{6-7}$) does describe *bindudhāraṇa* as a reward of two to three years of *amṛtaplāvana* but does not suggest that *khecarīmudrā* results in both simultaneously: *amṛtāpūrṇadehasya yogino dvitrivatsarāt | ūrdhvaṃ pravarttate reto aṇimādiguṇodayaḥ ||*.

142 The earliest layer of the *KhV* mentions *melaka* and *khecaratva* as rewards of the practice, and includes a passage on the worship of *madirā*, alcohol, thus suggesting roots in Kaulism. However the passages on the physical practice that were inserted into this earliest layer show fewer Kaula features. The absence of sexual symbolism or allusions to tantric rites involving the consumption of bodily power-substances (see note 333) is striking. The insertion of the tongue into the hollow above the palate and the drinking of the resultant fluid has obvious parallels with such Kaula practices (see e.g. *TĀ* 4.131, *MaSaṃ* 18.11; cf. *HT* 2.4.38–39). This suggests that the compilers of the *Khecarīvidyā* came from a more ascetic or yogic tradition than the Kaula text which they used as the framework for their compilation.

143 WHITE (1996:99) lists the following groups as coming under the aegis of the Nātha order in the twelfth to thirteenth centuries: Pāśupatas, Kāpālikas, Śāktas, Māheśvara Siddhas, Rasa Siddhas, and Buddhist Siddhācāryas.
While containing some internal contradictions as a result of its inclusivism, the *HP* also seems deliberately to avoid mentioning issues that could cause division among rival groups. Thus, while Kuṇḍalinī and the *nāḍī*s are described, the *cakra*s are mentioned just once (under the name *padmāni*, "lotuses"), at 3.2 (=*ŚS* 4.21), where it is said that they are pierced by Kuṇḍalinī when she is awakened. Descriptions or lists of individual *cakra*s do not appear. Different schools of yogins had different systems of *cakra*s and by avoiding a specific description of such a system the *HP* avoids alienating any schools. At *HP* 1.3 Svātmarāma says that he has composed the text for those who do not know *rājayoga* because of their being confused in the darkness of many doctrines *(bhrāntyā bahumatadhvānte)*.

144 A glance through GHAROTE & BEDEKAR's *Descriptive Catalogue of Yoga Manuscripts* (1989) quickly reveals the extent of this growth.

145 On their patronage, see for example the account of the relationship of Mahārājā Mān Siṅh of Jodhpur (fl. 1783–1841 CE) with Ayas Dev Nāth in GOLD 1995. CALLEWAERT & BEECK's word-index of devotional Hindī literature (1991:q.q.v.) gives many more instances of the vernacular appellation of the Nāthas, *jogī*, than of those of ascetics of other orders, e.g. *vairāgī* and *saṃnyāsī*, suggesting their dominance of the ascetic milieu in the medieval period.

146 In the vernacular texts of the Nāthas composed during this period, the dominant yogic paradigm is that of *ulṭā sādhanā*, "the regressive process", which "involves yogic processes which give a regressive or upward motion to the whole biological as well as psychological systems which in their ordinary nature possess a downward tendency" (DASGUPTA 1976:229). *Bindudhāraṇa* is a key part of this process.

147 See *YŚU* 5.39c–42d, of which the first of the two lines not found in the $GŚ_N$ describes the yogin as *samāhitaḥ* while the second has been redacted to avoid $GŚ_N$ 69d's *kāminyāśleṣitasya ca*, "and of [the yogin] embraced by an amorous woman". *DhBU* 79a-86b and *YCU* 52–59 are almost identical to $GŚ_N$ 64–71. Upaniṣadbrahmayogin's commentary to *DU* 6.37–38 (which does not describe *khecarīmudrā*) mentions *amṛtaplāvana* but only of a *liṅga* in the forehead.

148 The *GhS* can be dated to approximately 1700 CE. See the introduction to my edition of the text, pp. xiii–xiv.

149 As *haṭhayoga* entered the Vedāntic mainstream it was slowly stripped of its tantric

heritage. The *GhS* turns *vajrolīmudrā*, the practice of urethral suction, into a simple physical posture (*GhS* 3.39). (The original *vajrolīmudrā*, which was first used to draw up combined sexual fluids, is described at *DYŚ* 299–314.) This process of suppression of tantric elements was given a boost by the Hindu Renaissance of the British period when Hindu apologists felt a need for a monolithic homogeneous Hinduism with which to enter into a dialogue with Christianity. A generous helping of Victorian prudery was thrown into the mix and since then all but the most broad-minded commentators on *haṭhayoga* have dismissed or ignored practices that have left-hand tantric origins. Vasu's 1914 edition of the *Śivasaṃhitā* omits entirely the description of the original *vajrolīmudrā* "as it is an obscene practice indulged in by low class Tantrists" (p.51). Rieker's commentary on the *HP* written in 1972 under the guidance of B.K.S. Iyengar, a well-known *haṭhayoga* teacher from Pune, describes the *vajrolī-, sahajolī-* and *amarolī- mudrā*s as "a few obscure and repugnant practices... a yoga that has nothing but its name in common with the yoga of a Patanjali or a Ramakrishna" (1992:127).

150 In *Yoga in Modern India* (2004), Alter shows how modern yoga practice in India has been shaped by western ideas of fitness, physiology and nature cure. The traditional practice of *haṭhayoga* continues, albeit chiefly among ascetics who do not speak English and are thus relatively uninfluenced by modern scientific paradigms. These traditional yogins are not mentioned in Alter's work. De Michelis (2004) examines the history of modern yoga, concentrating on its philosophical and theoretical underpinnings as promulgated by the Brahmo Samaj, Swami Vivekananda and B.K.S.Iyengar.

151 The now commonplace identification of *rājayoga* with the yoga of Patañjali's *Yogasūtra*s dates from the late nineteenth century CE (see De Michelis 2004:178–180). The phrase *rājayoga* is not found in any Sanskrit texts other than those of *haṭhayoga*, in which it is usually the goal of practice rather than the method and is equated with *samādhi* (see *HP* 4.3 and *GhS* 7.17). *DYŚ* 160ab says that *rājayoga* arises through *bindudhāraṇa*. *GhS* 7.3–6 teaches that *rājayoga* encompasses six types of *samādhi: dhyāna, nāda, rasānanda, laya* (these four are produced by *śāmbhavī, khecarī, bhrāmarī* and *yoni mudrā*s respectively), *bhakti* and *manomūrcchā* ('trance'). *HR* 2.105 says that the successful practitioner of *vajrolīmudrā* becomes a *rājayogī*. Some texts teach yogas beyond *rājayoga*: *YB* 143 describes *mahāyoga*, of which *mantra, haṭha, laya* and *rāja* are but levels; after *rājayoga*, *ŚS* 5.208 teaches *rājādhirājayoga*, "the king of kings amongst yogas".

Lāl Jī Bhāī added an interesting slant to the modern idea of *haṭhayoga* being a preliminary practice for *rājayoga*. He told me that *rājayoga* is itself merely a preliminary for *khecarīmudrā*, which in turn leads to the awakening of Kuṇḍalinī.

152 On this long-term *samādhi* see note 425. Ascetics who have practised such *samādhi* (often interring themselves for days or weeks) earn the honorific Hindī title *samādhiṣṭh*, "in *samādhi*".

Since *khecarīmudrā* is a part of yogic practice, it is not surprising that it should be seen as a means to *samādhi*, the *summum bonum* of all yogas. However the trend for subordinating all yogic practice to the goal of *samādhi* is sometimes taken to extremes. See for example Shukla (1966:6–7), who analyses the six cleaning

practices of *haṭhayoga*, following the interpretation of the *GhS*. *Neti*, the cleansing of the nasal and oral passages, facilitates *khecarīmudrā*, which leads to *rājayoga*. *Karṇadhauti*, ear-cleaning, facilitates the hearing of the internal *nāda*, which again leads to *samādhi*. *Trāṭaka*, staring without blinking, cleans the eyes, facilitating *śāmbhavīmudrā*, the knower of which "becomes one with Brahman". Thus, for SHUKLA, the authors of the haṭhayogic texts "have all along kept the goal of Advaita in view".

153 On the absence of textual evidence linking *khecarīmudrā* with flying see note 113. Praṇavānand SARASVATĪ (1984:204), while acknowledging that *khecarīmudrā* can make the body so light that it rises into the air, explains flying by means of *khecarīmudrā* as the upward movement of breath. For him, the aim of yoga is the cleansing of the *antaḥkaraṇa*. Lāl Jī Bhāī of Rishikesh told me two reasons why he believed flying was possible through *khecarīmudrā*. Firstly, he once sneaked into a Nātha yogin's meditation room, seeking initiation, and found him floating above the ground. Secondly, he had had to remove the fan and lamp from his own meditation room because on more than one occasion he had come out of his meditation to find himself on the other side of the room, having fallen onto the lamp or with his hair caught in the fan. He took this to be evidence that he had flown across the room.

154 As well as emphasising the ineffableness of the fruits of the practice, my informants were adamant that, contrary to instructions found in haṭhayogic texts, guarantees along the lines of "if you do x for y months, z will happen" cannot be made. Each individual's experience is unique.

155 *KJN* 12.3–9 includes descriptions of the *vratin* as *unmattākṛti*, "resembling a madman", *kaśmala*, "dirty", and *nagna*, "naked". *MaSaṃ* 44.2 describes the *sādhaka*: *avadhūto jaṭābhasmanarāsthikṛtabhūṣaṇaḥ* (*em.*; °āḥ A) / *maunī karāśanī bhūtvā paryaṭan pṛthivīm imām* // "Having cast off worldly concerns, wearing matted hair, ashes and human bones, silent, using his hand as a plate [?], wandering the earth".

156 H2 5.331 (f. $117v^{6}$).

157 H2 5.255 (f. $110r^{1-2}$): *apavitra pavitro vā sarvāvasthāṃ gato pi vā* / *khecarīṃ* (*em.*; *khecarī cod.*) *kurute yas tu sa siddho nātra saṃśayaḥ* //; H2 5.258 (f. $110r^{6-7}$): *sahasāpi bhaven mokṣaḥ* (*em.*; *mokṣa cod.*) *saha cāṇḍālapaṇḍitaiḥ* (*em.*; °*paṃḍitaḥ cod.*).

158 The two numerically strongest ascetic orders in India today are the Vaiṣṇava Rāmānandīs and the Śaiva Dasnāmī Saṃnyāsīs. It is notoriously difficult to obtain accurate estimates of ascetic numbers (see e.g. GROSS 1992:118–125). VAN DER VEER (1989:xiii) says that "the Ramanandis have become probably the largest monastic order of North India". CLARK (2004:172) calculates the number of Dasnāmīs to be about 100,000. At the Hardwar Kumbh Melā in 1998 a Rāmānandī Tyāgī *mahant* claimed that the Rāmānandīs numbered about 2,000,000 and the Saṃnyāsīs 1,500,000. The next largest order is that of the Udāsīs who trace their origin to Śrīcand, the eldest son of Guru Nānak. The Rāmānandī Tyāgīs and the Nāgās of both the Saṃnyāsīs and Udāsīs closely resemble the Nāthas in both appearance and lifestyle. The number of Nāthas at the Hardwar Kumbh Melā was less than five hundred and they did not have their own procession *(julūs)* on the main bathing

days.

159 My ethnographic informants are described on pages 60–61.

160 This is only a guiding principle and does not apply to the subgroups. Thus the order of, for example, the witnesses in β (other than those of β_1 which are grouped together because of their similarity) is the order in which they were collated.

161 In this description of the sources of the text of the *Khecarīvidyā*, *paṭala* and verse numbers refer to those of the edition unless stated otherwise.

162 The Asiatic Society of Bengal lost its majesty many years ago but the siglum A was already taken when R_1 and R_2 were collated.

163 Because of the bad condition of the manuscript and the way in which its fragments have been pasted together, I cannot be certain from my microfilm printout that the verso of the last folio really ends with chapter 3, but it seems likely. The left side of 11v is obscured, but there is enough room for the final one and a half *pāda*s of the last verse as finished on 11a.

164 This verse is attributed to Bhartṛhari (*Śatakatrayādisubhāṣitasaṃgraha* v. 697).

165 F. 42(2) is an expansion (introduced with *"prasaṃgāt"*), in a later hand, of the commentary found on f. 42(1)v.

166 Only one side of f. 42(3) is written on.

167 Samvat and Śaka dates corresponding to 1840 CE are found in the final colophon, but these probably refer to a date when the manuscript changed hands. The inserted lines are written in a different hand from the rest of the codex.

168 On these manuscript groups, see page 5.

169 See for example his description of the coprophagic *ajarī kriyā* at f. $47v^{2-4}$, quoted in my notes to the translation of 2.76c–77b, or his detailed description of the preparation for and technique of *vajrolī mudrā* at f. $103v^1$–f. $104r^6$, which goes into more detail than any other haṭhayogic text and suggests at least close acquaintance with a practitioner of the technique, if not mastery by the commentator himself.

170 Peterson (1883:117) lists a manuscript entitled *Mahākālayogaśāstre Khecarīvidyā*. It is ascribed to Ādinātha, is dated Samvat 1805 and consists of 300 verses in 15 folios. I have assumed this to be MS P and have not listed it among the unconsulted manuscripts.

171 The readings of R_1 are very similar to those of J_1, more so in fact than those of J_5 which is paired with J_1 to make the subgroup γ_2. The large number of minor errors in R_1 has, however, meant that J_1 and J_5 match one another more often than do J_1 and R_1. To keep the apparatus as concise as possible J_1 and J_5 have been dealt with as a subgroup.

172 Three other manuscripts entitled *Khecarīvidyā* were described in the Institute's catalogue but could not be found by the library staff (No. 187 on p.164 of Part 2c of the catalogue, dated Samvat 1867, 7 folios; No. 5321 in part 21, 20th century, 2 folios, incomplete; No. 18376 on p.236 of part 4, 20th century, 14 folios). By their descriptions it would appear that they contain the work found in MS O rather than that found in the other *KhV* manuscripts.

173 Bouy (1994:82) has shown how the *Haṭhapradīpikā* is for the most part an anthology of passages from other works.

174 There may be more verses from the *Khecarīvidyā* elsewhere in the text: I have not gone through all of the manuscript in detail.

175 Another MS of the *Matsyendrasaṃhitā* in the MMSL (No. 1785), reported as complete by VYAS & KSHIRSAGAR (*ibid.: loc.cit.*) is in fact incomplete. It ends during the 13th *paṭala*, before the *paṭala*s which contain the *Khecarīvidyā*.

176 This is very likely to be MS V.

177 *"...facere Çivam deae Umae exponentem magicam per aerem incedendi scientiam"* (loc.cit.).

178 This could be J_2. The date and number of folios correspond but J_2 has 8 rather than 9 lines to a side.

179 The majority of my informants are Vaiṣṇava Rāmānandī Tyāgīs. This is because I have spent more time in their company than that of other orders, but also reflects their being the numerically strongest ascetic order in India today (on this point see note 158).
I discuss in detail the practice of yoga by Rāmānandī Tyāgīs in MALLINSON 2005.

180 When additions are reported in the bottom register of the apparatus of the critical edition, they are always to be found after the *pāda* under whose verse number and letter they are reported.

181 E.g. 1.17d where μ has *devi* for the *prītyā* found in all the other witnesses and I report it.

182 E.g. 2.45c where K_2 has *°jyād* for the readings *syād, °khyā* and *°sthād* found in the other witnesses and I do not report it.

183 E.g. 2.68b where K_3 has *yogaṃ na* for the other witnesses' *yogena* and I do not report it (*-aṃ* and *-e* are easily confused in Devanāgarī).

184 I have used small asterisks to indicate when an *akṣara* is legible (to me) only with external help (usually the readings of the other witnesses).

185 E.g. *kāryya* for *kārya* and *tatva* for *tattva*.

186 E.g. *ūrdhva* written as *ūrdha*, *ūrddha* and *ūrdva* at 3.26b.

187 E.g. *cintayed vratī* at 3.37b where I report *ca tāṃ* and *priye* as variants of *vratī* but do not report the corresponding forms *cintayec* and *cintayet*.

188 E.g. 2.58a where J_3 has the unmetrical *guṇītaḥ* but I report that β has *guṇayutaḥ*.

189 E.g. 1.22c where I have reported that J_2 and K_2 agree with VPC in reading *nārpayed* when in fact they read *nāryayed* and *nāryayad* respectively.

190 *BKhP* f. $1v^{6-8}$: *atha—atha kadā cid ādināthaḥ priyāvinodena lokopakārāya sarvataṃtrāṇi samāmnāya paścād devyā teṣāṃ jarāmaraṇanāśena yogena sthirataratatvajñānaṃ kathaṃ syād iti pṛṣṭas tāṃ pratyāha athetyādi* // " 'Now' *(atha)* means: now, once, when Ādinātha had gathered together all the tantras for the amusement of his beloved and the good of the world, the goddess asked 'How does there arise the very permanent knowledge of reality by means of the yoga of those [tantras] which destroys old age and death?' He replied 'Now...' "

191 Originally, at all the occurrences of the word *vidyā* in the text it would have meant "mantra" and that is how I translate it everywhere except in this verse and at 3.55c and 3.69a, where it can be taken to mean "magical science" and refer to the name of the text. On the reasons for these different meanings of *vidyā*, see page 12 of the introduction.

192 "called Khecarī" *(khecarisaṃjñitām)* : *khecara°*, as the stem form of the adjective, is the more correct form and is attested by μMK$_2$ (cf. *NT* 7.32 *khecarākhyāṃ tu mudrām*); *khecari°*, however, preserves some of the ambiguity over whether the word is being used as an adjective or a substantive. In Śaivism Khecarī is a specific type of etheric Yoginī (e.g. *JRY* 4.2.644 f. 32r, 4.2.685 f. 33r; *KJN* 9.2, 20.10; *KMT paṭala*s 14–16 (where Khecarīs are distinguished from Yoginīs—*paṭala* 16 describes the circle of thirty-two Khecarīs in detail); see also page 25 of the introduction and Hanneder 1998:71 n.39), and a *mudrā* or mantra *(vidyā)* is named after the deity or deities with which it is associated. Thus the *khecarīmudrā* (written as a compound) of Śaivism can be both "the *mudrā* of Khecarī/the Khecarīs" (understood as a *tatpuruṣa* compound) and "the moving in the ether *mudrā*" (as a *karmadhāraya*). In the texts of *haṭhayoga* there are very few traces of the tantric Yoginī cult (one is at *SSP* 3.13 and 6.112 where Khecarī is mentioned in lists of female deities), *khecarī* has an adjectival rather than substantive force and *khecarī mudrā* (often written as two words—see e.g. *HP* 4.43) has only the latter meaning. Thus Ballāla (f. 2r$^{2-3}$) understands *khecarīmudrā* to be so called because it causes the tongue to move in the hollow above the uvula: *khe vakṣyamāṇalakṣaṇarājadaṃtordhvamaṃḍale jihvāṃ cārayatīti*. The tantric and haṭhayogic *khecarīmudrā*s are discussed in detail on pages 24 to 33 of the introduction.

193 I have adopted the reading *yayā vijñātayā ca syāl* of β_1 for two reasons: firstly, it is similar to μ's corrupt *yayā vijñāyate bhyāsāt*; secondly, it is more sophisticated and semantically apposite than the formulaic *°mātreṇa* constructions found in the rest of $\alpha\beta\gamma$.

194 "with one's whole heart" *(sarvabhāvena)* : Ballāla (f. 4r^2) explains *sarvabhāvena* with *kāyena vācā manasā svasamarpaṇena vā*, "with body, word, mind, or by offering oneself".

195 "in letter and spirit" *(granthataś cārthataḥ)* : on this expression cf. *KhV* 1.9a, *MVUT* 19.54d, *KMT* 6.34c, 10.88d, 25.197d, *Bṛhatsaṃhitā* 2.13ab.

196 Ballāla analyses the compound *tadabhyāsaprayogataḥ* as a *dvandva* and explains it thus (f. 3v^7): **pra*yogas tu maṃtravidyāyāḥ | evaṃ ca jihvordhvakramamaṃtrapuraścaraṇayor nityābhyāsād ity arthaḥ |* "The 'use' *(prayoga)* is of the mantra. Thus [the compound] means 'from regular practice of raising the tongue and reciting the mantra' ". The different layers of the text (see pages 12 to 13 of the introduction) use *vidyā* and *abhyāsa* in different ways. *Vidyā* as both "mantra" and "magical science" has been mentioned in note 191. *Abhyāsa*, which first occurs here, referred to the practice of repeating the mantra in the earliest layer of the text, but in later layers means the practice of drinking *amṛta* by lengthening the tongue and inserting it above the palate. Ballāla takes it to have the latter meaning throughout his commentary. I have tried to translate *abhyāsa* so that it can be interpreted either way. The two interpretations have resulted in confusion in the text, and corruption in its transmission. Thus, the translation of 1.5–7 is somewhat forced and I can only make sense of 1.42c–43b by taking *abhyāsa* to refer to the tongue practice alone.

197 Ballāla (f. 4v^1) divides *abhyāsa*, "practice", into two types, internal *(āntara)* and external *(bāhya)*. He further divides the internal practice into two: entry into the

aperture above the palate *(tatpraveśa* cf. 2.102b) and *melaka* (see the next note). The external practice is the lengthening of the tongue described at 1.43–51.

198 All the witnesses except S have *melanaṃ* here. At the other occurrences of *melaka/ melana* (1.5d, 6c, 7c, 8a, 9b, 12c, 16b, 41a; 3.56a, 59a) there is more complex disagreement between the witnesses over which form is used. In some witnesses the two do seem to be differentiated. This is particularly so in J_2PFCγ at 1.5–7, but this appears to be simply an attempt to make sense of a corrupt transmission in which there are two almost identical half-verses (5cd and 6cd). In *MaSaṃ* 17.1–31 *melana* means "meeting [with Khecarīs]" (see below) while at the one occurrence of *melaka* (17.31d) it is an adjective describing the guru who can effect *melana*. However, at *MaSaṃ* 17.52, 18.2 and 18.14 *melaka* is used as a substantive. Ballāla (f. $4v^5$) says that *melana* and *melaka* are synonyms: *melanaṃ melakaṃ vā paryāyaḥ*. To avoid confusion, I have decided to use only *melaka*, the form preferred in the texts of Śaivism from which the word originates. Only *U* and R_2 are similarly partisan, sticking to *melana*. (At 3.56a I have adopted *khecarīmelana* which is attested by all the witnesses.)

Melaka in tantric Śaiva texts implies *yoginīmelaka*, "a meeting with Yoginīs", in which the *sādhaka* causes a circle *(cakra)* of Yoginīs to surround him and grant him *siddhi*s. This reward of tantric *sādhana* is often mentioned in the texts and exegesis of the Bhairavāgama, e.g. *MVUT* 19.21; *JRY* 4.2.350 (f. 19v), 367 (f. 19v), 593 (f. 30r), 647 (f. 32v) etc.; *TĀ* 28:371–384; *KMT* 14.2. Cf. *Hevajratantra* I, *paṭala* 8. *KJN paṭala* 8 (particularly vv. 31–45) describes *yoginīmelaka* and its rewards in detail. Cf. *SYM paṭala* 8 which describes a meeting in the cremation-ground with various terrifying Yoginīs but does not use the word *melaka*. The *melāpasiddha*, "the master of effecting *melaka*", is described in Maheśvarānanda's *Parimala* commentary on 38ab of the *Mahārthamañjarī* (see also SILBURN 1968:133–135). *Vātulanāthasūtravṛtti* 5 gives an esoteric interpretation of *siddhayoginīmelāpa* as the union of the perceiver *(grāhaka)* and the perceived *(grāhya)*. *Melaka* is never explicitly stated to be a meeting with Yoginīs in the *KhV*, but 3.56a suggests this by mentioning *khecarīmelana*. All the occurrences of *melaka* are found in the earliest layer of the text (in the context of the *vidyā*) and later tradition does not understand it as referring to a meeting with Yoginīs. Ballāla says that *melana* is a type of internal physical practice (f. $4v^1$), and defines it as the conjunction of the tip of the tongue and *amṛta*, i.e. the drinking of *amṛta* (f. $4v^{4-5}$): *jihvāgrasyādhomukhacandrasravadamṛtasya ca saṃyogas tatpānārtho melanaṃ*.

I have taken *melaka* to be the result of the practice *(abhyāsa)* and have translated accordingly. This interpretation, which I have found necessary in order to make sense of the corrupt transmission (see note 196), may be forced: see *MaSaṃ* 17.43 where even the *sādhaka* who does not practise *(anabhyāsī)* is said to gain everything as a result of *melana*. (The *MaSaṃ* passage is almost certainly derived from the *KhV*; it may thus be the composer's own attempt to resolve the difficulties found in the *KhV*.)

199 Only $\mu R_2 UT$ have 6c–7b. S$\alpha\beta\gamma$ (excluding M$\alpha_3 J_3 J_1$ which omit 6cd) repeat 5cd at 6cd and omit 7ab. The readings found in μ, which suggest *melana* with snakes, may preserve the original reading in some way but are obscure to me. Because it is

the only reading of which I can make sense, I have have had to adopt that of *U*, although it is likely to be the result of redaction by the compiler of the *upaniṣad*. It may be that originally there was one verse rather than two at 6–7. The common practice of scribes of tantric manuscripts writing a variant line immediately after that which has been adopted could be responsible for the confusing similarity of verses 6 and 7. I am grateful to Dominic GOODALL for making this suggestion.

200 The meaning of *siddhi* falls somewhere between "magical power", "perfection", "accomplishment" and "success".

201 "*Mahākāla*" could mean the *Mahākālasaṃhitā* attributed to Ādinātha. In *paṭala* 6 of its *Kāmakalākhaṇḍa* the *khecarīsiddhividhānam* is given. By means of a magical *guṭikā*, yantras, mantras and propitiation of deities, the yogin attains *khecarīsiddhi*. However, it is very likely that the *MKS* postdates the *KhV* (see page 12 of the introduction). The *Jayadrathayāmala* lists a *Mahākālīsaṃhitā* associated with the *Viṣṇuyāmala* and a *Mahākālyupasaṃhitā* associated with the *Yoginījālaśambara* at ff. 180r and 176r respectively (DYCZKOWSKI 1988:118 and 112). The *Mahāsiddhasāratantra* lists a *Mahākālatantra* among those of the northern Rathakrāntā (AVALON 1914:lxvi). WHITE (1996:472 n.73) mentions a *Mahākālatantrarāja* in the *Kanjur*, a manuscript of which from the NAK has been microfilmed by the NGMPP (reel E-1358/7). JHĀ (1976:9) describes in brief a Buddhist *Mahākālatantra* as found in a manuscript from the Kāśīprasād Jāyasavāl Śodh Saṃsthān.

202 *Vivekamārtaṇḍa* is the original name of the text now more commonly known as the *Gorakṣaśataka* or *Gorakṣasaṃhitā*, a treatise on *haṭhayoga* attributed to Gorakṣanātha. Several editions of the work exist, the best being that of Nowotny (1976), in which *khecarīmudrā* is described at 64–69 and 138–152. This mention of a known work provides us with a *terminus a quo* for the *Khecarīvidyā*. (It is possible that in the text from which the *Khecarīvidyā*'s framework was borrowed (see pages 12 to 13) the name of a work other than the *Vivekamārtaṇḍa* was originally found here and replaced by the redactor of the *Khecarīvidyā*.) See page 4 and note 9 in the introduction for further details.

203 Here $R_2S\alpha_1\beta\gamma$ have *śāmbhavam*, A has *śābharam*, J_6J_7 have *śāṃvaram* and α_3 has *śobhanam*. Apart from a mention in the *Jayadrathayāmala* (f. 179v—DYCZKOWSKI 1988:115) of a *Śāmbaramatatantra* associated with the *Brahmayāmala*, I have found no mention of tantras by these names and have made the conjecture that *śābaram* is the original reading. The *Śābaratantra* (or *Śābaratantra*s; see GOUDRIAAN & GUPTA 1981:120–121) is associated with the Nātha order (DYCZKOWSKI 1988:28 and n. 144). The colophon of a manuscript entitled *Divyaśābaratantra* (No. 8355 in the Asiatic Society of Bengal Library) reads *iti śrīdivyaśābare gorakṣasiddhiharaṇe dattātreyasiddhisopāne nāma ekādaśapaṭalaḥ* (GHAROTE & BEDEKAR 1989:84–85) while MS No. 10542 in the same library, entitled *Śābaratantra*, ascribes the text to Gorakhanātha (ibid. 360). A *Śābaratantra* is quoted extensively in the *Mahākālasaṃhitā* and in the *Gorakṣasiddhāntasaṃgraha* (pp.14–15). *KJN* 9.6 and *HP* 1.5 include Śabara in lists of *siddha*s.

204 The *Nityāṣoḍaśikārṇava*, the root text of the cult of Tripurasundarī which was known (as the *Vāmakeśvarīmata*) to the thirteenth-century Kashmiri commentator Jayaratha, mentions a *Viśuddheśvaratantra* (1.21b). AVALON, citing the *Mahāsiddha-*

sāratantra includes a *Viśuddheśvaratantra* among the 64 tantras of the Viṣṇukrāntā in the east and the 64 of the Aśvakrāntā in the south (1914:lxv–lxvi). Kavirāj (1972:597) mentions six relatively late East Indian texts which quote from a *Viśuddheśvaratantra*: Kṛṣṇānanda's *Tantrasāra* (1580 CE), the *Puraścaryārṇava*, the *Mantramahārṇava*, the *Tārābhaktisudhārṇava*, the *Tārārahasyavṛtti* and the *Āgamatattvavilāsa* of Raghunātha Vāgīśa (1687 CE). The *Tārābhaktisudhārṇava* consists mainly of quotations, including many from the *Mahākālasaṃhitā*. The *Viśuddheśvara* is quoted in two places (pp. 127 and 148). The Bombay University Library Catalogue of Manuscripts (s.v. *Mahākālayogaśāstra*) says that the *KhV* is also quoted in the *Tārābhaktisudhārṇava* but I have been unable to locate any such quotation (confusion between the *Mahākālasaṃhitā* and *Mahākālayogaśāstra* is probably responsible for this incorrect attribution).

205 Like the *Viśuddheśvara*, the *Jālaśaṃvara* is mentioned in the *Nityāṣoḍaśikārṇava* (1.14). A tantra called *Jālasaṃvara* is mentioned in a list of tantras given at *Kularatnoddyota* 1.13 (Chandra Sham Shere c. 348 f. 2r[3]). *JRY* f. 176a lists the twelve tantras and twenty Upasaṃhitās of the *Yoginījālaśambara* root tantra. The same work mentions *Śambarā* in a list of Mata tantras at f. 185r (Dyczkowski 1988:121). *SYM* 29.16c mentions a *Savaratantra*. The *Mahāsiddhasāratantra* includes a *Samvaratantra* among the 64 tantras of the Rathakrāntā, the northern region of the subcontinent (Avalon 1914:lxvi). *KJN* 21.4 mentions *sambara* as the name of a Kaula school.

206 Ballāla (f. 6v[1]) lists more works in which *khecarīsiddhi* is described: the sixty-four Tantras, Lakṣmīdhara's commentary on the *Saundaryalaharī* and "the *Śivasaṃhitā* etc." *(śivasaṃhitādau)*.

207 "in the Khecarī doctrine" *(khecarīmate)* : a text called *Khecarīmata* is mentioned at *TĀ* 29.165b (and *Tantrālokaviveka ad loc.*) and in a list of sixteen *Mata*s in the *Manthānabhairavatantra* (NAK 5-4630, f. 209r) v. 28d. It seems unlikely however that a specific text is being referred to in this verse of the *KhV*. An inventory of religious teachings in the *Kularatnoddyota* (Bodleian Library Chandra Shum Shere Collection c.348 f. 2r[1–2]) also mentions *khecarīmata*. (I am grateful to Alexis Sanderson for providing me with the above references.) A *Khecaratantra* is mentioned at *SYM* 29.16b.

208 See *SSP* 6.99–116 for a similar passage on keeping a text safe.

209 Cf. *JRY* 2.10.50d–51b (NAK 5–4650 f. 27r[1]): *nedaṃ gūḍhaṃ prakāśayet //50// prakāśayanti ye mohād yoginyo bhakṣayanti tān (tān] conj.* Sanderson*); te codd.)* / "[The yogin] should not make this secret public. Yoginīs eat those who through ignorance make [it] public." Another passage describing Yoginīs eating negligent *sādhaka*s can be found in the Buddhist *Cakrasaṃvaratantra* (38.2–5: Baroda Oriental Institute Acc. No. 13290, f. 27v). I am grateful to Alexis Sanderson for pointing out these parallel passages.

210 The *granthi* is the knot in the string that holds together the leaves of the book *(grantha)*.

211 i.e. a libation pertaining to Kaula tantric practice. *KJN* 11.20 says that alcohol should be used for *devatātarpaṇa*: *devatātarpaṇārthāya surā deyā yathocitā*. *KAT* 6.26–35 describes *kaulikatarpaṇa* in detail. Cf. *MaSaṃ* 17.26c–29b. On this verse,

Ballāla writes (f. 8v[7]) *kaulikatarpaṇaṃ nāma vāmamārgācaraṇaṃ*, "the *kaula* libation is a practice of the left[-hand] path". He goes on to say (f. 8v[9]–f. 9r[5]) that because the practices of the left-hand path conflict with Vedic practice *(vāmasya vedaviruddhatvena)*, *kaulikatarpaṇam* must have a different meaning. He quotes from *ŚS* 4.6: *pītvā kulāmṛtaṃ divyaṃ punar eva viśet kulam* and equates *kulāmṛtam* with the *amṛta* drunk by means of *khecarīmudrā* and *kulam* with the *nāga nāḍī*. Thus he explains the external tantric practice of *kaulikatarpaṇam* as an internal haṭhayogic technique of sprinkling the *nāga nāḍī* with *amṛta*. The variant readings in GTK_2K_5 are less subtle attempts at getting around the problem.

212 Ballāla (f. 9r[9]–f. 9v[1]) lists the following as suitable fragrances: *candana* (sandal), *tamāla* (laurel), *mustaka* (*Cyperus rotunda* Linn.—Dash & Kashyap 1980:25), *kuṅkuma* (saffron), *kuṣṭhaka* (*Sassurea lappa* C.B.Clarke—Dash & Kashyap 1980: 61), *rocanā* (? probably *gorocanā*, a bright yellow orpiment—Monier-Williams 1988: s.v.), *nakha* (*Unguis odoratus*—ibid.:s.v.), *tāmbūla* (betel) and *yakṣakardama*, which consists of *karpūra* (camphor), *aguru* (aloe), *kastūrī* (musk) and *kaṅkola* (cubeb).

213 Cf. *Yonitantra* 6.3: *etat tantram mahādevi yasya gehe virājate | nāgnicaurabhayaṃ tasya ante ca mokṣabhāg bhavet ||* "He who has this tantra in his house is in no danger of fire or theft and in the end he becomes liberated".

214 In 26d I have adopted the reading found only in W_1 (and with corruptions in N). The witnesses that usually preserve the oldest readings, μ and G (as well as α), have the verb *samīhate* rather than the *saṃvadet* of $S\beta\gamma$ and I have thus adopted *samīhate*. As the object of the verb, μ and G have *saṃsiddhīni* and *saṃsiddhāni* respectively; *saṃsiddhīni* is corrupt while *saṃsiddhāni* is semantically inappropriate—we want a word meaning "*siddhi*s" here. Perhaps the original reading was that of μ and *saṃsiddhīni* was an *aiśa* form meaning *siddhīḥ* but I have decided to adopt the more grammatically correct reading of W_1.

215 Ballāla (f. 11v[9–10]) understands *khecarīṃ yuñjan* to mean "practising *khecarīmudrā*", i.e. inserting the tongue into the cavity above the soft palate and looking between the eyebrows: *khecarīṃ yuṃjann iti | atra khecarīśabdena (°śabdena] conj.* Isaacson & Goodall; *°śabde* S) *taṃtreṇa kapālāṃtarjihvāpraveśo bhrūmadhyadṛṣṭiś ca nirdiśyate || yuṃjanpadasvārasyāt ||* He glosses *khecaryā* with *jihvayā*, "by means of the tongue" (f. 11v[8]), and *khecara* (in *khecarādhipatiḥ*) with *graha*, "planet", and *deva*, "deity" (f. 12r[6]). He then (f. 12r[7]–f. 12v[3]) cites *Yogasūtra* 3.50 and Vyāsa's commentary thereon in which it is said that upon reaching the second stage *(madhumatī bhūmi)* of yoga the gods will invite the yogin to their heavenly paradise. The conscientious yogin should decline this invitation to indulge in sensual pleasures and concentrate on *samādhi*.

216 The abode of the Khecaras or "ethereal beings" is the ether. The visualisation of the lord of ether at 2.57 describes a great circle containing the syllable *haṃ*, thus this phrase denotes the letter *ha*.

217 "Fire" is a common name for the letter *ra*. At *KhV* 2.51–52 the lord of fire is said to contain the syllable *raṃ*.

218 In the *Varṇanāmapaṭala* of the *Jayadrathayāmala* (f. 199r[3]–f. 201r[5]), at verse 6, *ī* is called Mahāmāyā (i.e. Ambā). I have adopted the reading *ambā°* rather than *ahnī°*

or *ambho*°, the readings of μ and G, in order to force the *mantroddhāra* to produce the seed-syllable *hrīṃ* which is attested by various witnesses (see note 225). I have found no instances of *ī* being called *ahnī* or *ambho* so have adopted *ambā* because of the (albeit not completely conclusive) identification in the *JRY*.

219 I take *maṇḍala* to refer to the dot representing *anusvāra*.

220 The Khecarī seed-syllable is thus *ha* + *ra* + *ī* + *ṃ* = *hrīṃ*.
1.32c–37d teaches three different types of Khecarī mantra: 32c–33b teaches the *bīja*, 33c–34b teaches the *vidyā*, and 34c–37d teaches the *kūṭa*.
In witness K_5 (f. 2v[6]) a later hand has interpreted the elements of the *khecarībīja*: above *khecarāvasathaṃ* is written *kha*, above *vahnim* an unclear *akṣara* which is probably *ra*, above *aṃvā* is *au*, and above *maṇḍala, candrabindu*. These combine to make the seed-syllable *khrauṃ* (their combination is not given in the manuscript). In the appendix of *MKSK* (p.134) the *khecarībīja* is also said to be *khrauṃ*. Just as in the case of *hrīṃ*, the extraction of *khrauṃ* from this *mantroddhāra* hinges on the identification of *ambā/ahnī/ambhas*. If *au* were anywhere clearly said to have one of these names then the balance would swing in favour of *khrauṃ* as the *khecarībīja*: *khecarāvasatha* could just as well stand for *kha* as *ha*. Gharote, in his introduction to the *Jogpradīpakā* (p. 22), says that the *khecarībīja* is "*Hskhfren*" but he does not report his source for this assertion. Whatever the source, it sounds more like an interpretation of the *kūṭa* mantra given in the *mantroddhāra* at 1.34c–37d; cf. the tantric Śaiva *piṇḍa-nātha* mantras given in note 225.

221 None of the witnesses of μ gives an interpretation of this *mantroddhāra* and I am unable to suggest one myself.

222 All the witnesses except μ_a have *tasyāḥ ṣaḍaṅgaṃ kurvīta* at 34c instead of *ṣaḍaṅga-vidyām vakṣyāmi*. Ballāla (f. 21v[4–6]) glosses *ṣaḍaṅgaṃ* with *ṣaḍaṅganyāsaṃ* which he explains at f. 21v[9–10] thus: *sa ca nyāsaḥ aṃguṣṭhādiṣu hṛdādiṣu ca ṣaḍaṃgeṣu kartavyaḥ || yathā | oṃ hrāṃ gsnmphlāṃ aṃguṣṭhābhyāṃ namaḥ ||6|| oṃ hroṃ gsnmphlā* ṃ* hṛdayāya nama ityādi*. A marginal addition in a later hand cites the tantric maxim that the yogin who does not carry out *nyāsa* will be struck dumb (f. 21v[mg]): *nyāsahīno bhaven mūka iti taṃtrokteḥ.*

223 "correctly" *(yathānyāyam)* : Ballāla (f. 22r[1]) understands *yathānyāyam* to mean that the yogin should perform the mantra-repetition in exactly the way that he has heard it from his guru: *nyāyo 'tra guruvaktrāt tadgrahaṇaṃ | tad anatikramya yathā-nyāyaṃ |*.

224 33c–35b are found after 53d in all the witnesses. μ has the passage twice, with variants, both after 53d (μ_b) and here (μ_a). Its occurrence after 53d does not fit the context (the lengthening of the tongue) although attempts have been made to adapt it. Hence for *mastakākhyā mahācaṇḍā śikhivahnikavajrabhṛt* several witnesses have *śanaiḥ śanaiḥ mastakāc ca mahāvajrakapāṭabhit*, "[the tongue] gradually breaks the great diamond doorway out of the skull". It seems that the passage was originally where it is first found in μ, was then mistakenly transposed to its position after 53d, and, through conflation of sources, appears in both places in μ. Thus none of the manuscripts entitled *Khecarīvidyā* contains a description of the *khecarīvidyā.*

225 Seven witnesses give one or more interpretations of this *mantroddhāra* (for details see the descriptions of the individual sources): *U: bhaṃ saṃ maṃ paṃ saṃ kṣaṃ,*

bhaṃ saṃ saṃ ṭhaṃ saṃ kṣaṃ, haṃ saṃ maṃ yaṃ saṃ kṣaṃ, bhaṃ saṃ ṣaṃ phaṃ saṃ kṣaṃ, bhaṃ saṃ maṃ vaṃ saṃ kṣaṃ; S: *gaṃ saṃ naṃ maṃ phaṃ laṃ*; W_1: *ga ma na sa pha laṃ, ga sa na sa pha laṃ, ga sa na ma pha laṃ, oṃ sa kha phroṃ, aṃ sa kha phroṃ*; K_1: *ga ma na sa pha laṃ*; J_4: *haṃ saṃ ṣaṃ phaṃ raṃ iṃ—hsphrīṃ [sic], haṃ saṃ khaṃ phaṃ raṃ īṃ—hskhphrīṃ*; V: *gaṃ saṃ naṃ maṃ phaṃ laṃ, aṃ saṃ khaṃ phreṃ*; O: **hs*phreṃ*. *U*SW_1K_1V add that *hrīṃ* is the *khecarībīja*.

Upaniṣadbrahmayogin's interpretation of the *mantroddhāra* is straightforward: Someśa is *sa*; nine back from there (inclusively) is *bha*; 36ab describes *sa*; eight back from there is *ma*; five back from there is *pa*; the *bīja* of *indu* is *sa*; *kūṭa* is *kṣa*.

The variations on *gamanasaphalaṃ* seem to be attempts to give meaning to the mantra: *gamana[m]*, "going [into the ether]" is *saphalam*, "successful". Ballāla (f. $13v^4$–f. $13(2)v^2$) tries to extract *ga sa na ma pha la* from the *mantroddhāra* (presumably because *ga ma na sa pha la* would have required an impossible amount of verbal contortionism). He starts well: as many sources attest, Someśa is a name for *ṭa*. Nine syllables back from *ṭa* is *ga*. Thirty forward from *ga* is *sa*. He is then in trouble, however, and the remainder of his interpretation is forced.

The *Jogpradīpakā* (between vv. 655 and 656) gives *hāṃ hīṃ huṃ haiṃ hauṃ haḥ* as the *khecarīmantra* and *gaṃ, saṃ, naṃ, maṃ, huṃ* and *laṃ* as elements of a *khecarīnyāsa* which closely matches Ballāla's description given in note 227.

The interpretations found in J_4 and O, and as alternatives in W_1 and V, are more redolent of tantric Śaiva mantras than the others and appear to be variants of the *piṇḍanātha/mātṛsadbhāva* mantra (on which see Padoux 1990a:422–426). Jayaratha, commenting on *TĀ* 16.160 says that *khecarīhṛdaya* is another name for the *piṇḍanātha*. In the *TĀ* the *piṇḍanātha* is given as *khphreṃ* at 4.189–191, 5.75–85, 30.45–46 and as *hshrphreṃ* at 30.47–49. *Ṣaṭsāhasrasaṃhitā* 1.1 gives it as *hskhphreṃ* (cf. J_4^{vl}'s *hskhphrīṃ*). Despite finding several identifications of Someśa, Candra and Indra in the *JRY*, *MVUT*, *KMT*, *MKS* and various *mantrakośa*s, I have been unable to edit the text in such a way that I can extract a variant of the *piṇḍanātha* (or indeed any recognised mantra) from the *mantroddhāra*.

At the end of its description of *khecarīmantrasādhana,* H_2 gives the mantra form of the *saptavarṇamayī devī khecarīṇām*: *aiṃ hrīṃ klśrīṃ klīṃ haṃ ūṃ sauṃ*.

226 "with many forms [and] residing in the faculties" *(virūpā karaṇāśrayā)* : Ballāla, together with all of the other witnesses except $\mu U T\alpha_3 C$, has here the compound *virūpakaraṇāśrayā* which he interprets as meaning the process of ageing: *sā yoginaḥ pūrvarūpāt tāruṇyād viruddhaṃ rūpaṃ virūpaṃ vṛddhatvaṃ tasya karaṇaṃ kṛtis tadāśrayā jarety arthaḥ* (f. $14r^{1-2}$).

227 Here Ballāla quotes the following passage concerning the *japa* of the *khecarīmantra* which he ascribes to the *Kapilatantra* and other texts *(kapilatantrādau)*. This passage is also found at the end of N (see p.44).

japavidhiś coktaḥ kapilataṃtrādau yathā / ācamya deśakālau saṃkīrtya / asya śrīkhecarīmaṃtrasya / kapila ṛṣiḥ khecarī devatā / gasanamaphalaghaṭākṣaraṃ bījaṃ / hrīṃ śaktiḥ si(f. 14v)ddhir anāyāse⌈na⌉ khecarīmudrāprasādasidhyarthe jape viniyogaḥ / atha nyāsaḥ / gaṃ hṛdayāya namaḥ / saṃ śirase svāhā / naṃ śikhāyai vaṣaṭ / maṃ kavacāya huṃ / phaṃ netratrayāya vauṣaṭ / laṃ astrāya phaṭ / hrāṃ hrīṃ hrūṃ hraiṃ hrauṃ hraḥ // atha dhyānam // ādhārapadmavana khecarirājahaṃsam aṃtar mahā-

gaganavāsavibhāpralekhaṃ || ānaṃdabījakam anaṃgaripoḥ puraṃdhrīm ābrahmalokajananīm abhivādaye tvām iti || anyac ca | mūlālavālakuharād uditā bhavānīty abhidya ṣaṭsarasijāni śirodalāṃte || bhūyo pi tatra vasasīva sumaṃḍalemḍuniṣpaṃdataḥ paramam amṛtapuṣṭirūpā || mānasopacārair laṃ haṃ yaṃ raṃ vaṃ saṃ bījapūrvair gaṃdhādibhiḥ saṃpūjya maṃtraṃ japed iti || (f. 14r^{10}–f. 14v^{4}).

228 As remarked in note 196 I can only make sense of this verse by taking *abhyāsa* to refer to the tongue practice. If the *vidyā* has not been obtained then *abhyāsa* cannot mean mantra-repetition. I have been unable to conjecture how the verse might have originally read from the many variants in the witnesses. μ's *yadi* has been adopted over the reading *yathā* of most of the other witnesses because *yathā* is unlikely to be paired with the correlative *tataḥ* found in the second line. The relative clause found in all the witnesses except those of α has been eliminated by adopting K_5's *na labheta* in 42d and, in 43a, the form *saṃmelakādau* found in μG*U*T rather than the reading *sa melakādau* found in most of the other witnesses. A similar form is found at 2.15d: *devaiḥ saṃmelanaṃ bhavet*.

229 Ballāla (f. 18r$^{7-9}$) recommends using the tip of the right thumb *(dakṣiṇahastāṃguṣṭhāgreṇa)*. He explains this practice as a necessary part of *malaśodhana*, "the cleansing of impurity", and as useful in loosening the palate (f. 18v$^{1-2}$): *jihvālāghavasya chedanasādhyatvam iva samudgharṣaṇapūrvakamalaśodhanasya bilalāghavakārakatvāt*. Witnesses AJ_7T have *samutkṛṣya* for *samudghṛṣya*. While this may simply be a mistake, it could also refer to a practice not taught in the text but described to me by several of my informants and by Bernard (1982:67). In this practice the soft palate is loosened by being drawn forwards and upwards (hence *samutkṛṣya*), so as to facilitate the entry of the tongue into the cavity above. My informants said that the yogin should bend the thumb of the right hand and hook it behind the palate. Bernard was taught to use a bent teaspoon. Cf. *KhV* 2.78c–79b, 2.80.

230 *Euphorbia nerifolia* Linn. (Dash & Kashyap 1980:27). Ballāla (f. 18v^{5}) explains *snuhī* with *snuhī kṣīrikaṃṭakivṛkṣaḥ yasya khaṃḍaṃ dākṣiṇātyāḥ ṣaṣṭhīpūjanadine dvāri sthāpayaṃti | deśīyāś ca thūhara iti vadaṃti* "Snuhī is the Milkthorn tree, part of which southerners place on their doors on the day of worship of the goddess Ṣaṣṭhī. Locally it is called *thūhara*". Nowadays most yogins recommend a razor blade. W_1 lists sixteen types of blade that can be used (see page 44). One of my informants said that a blade was not essential because by pulling the tongue forward and then moving it from side to side one can slowly scrape away the frenum with the lower teeth. The frenum or *fraenum linguae* is the tendon that binds the tongue to the floor of the mouth. See also 2.111 and note 233.

The practice of cutting the frenum can be dangerous and the majority of my informants said that it is unnecessary, including those who had done it themselves. Woodroffe (1992:209) says that cutting is unnecessary, and results in "a physical injury which interferes with the *[sic]* putting out and withdrawing the tongue without manual help." Of the several texts that describe the haṭhayogic *khecarīmudrā* only the *Khecarīvidyā*, the *Mahākālasaṃhitā* (*MKSG* 11.174–5), the *Haṭhapradīpikā* (3.33-5), the *Haṭharatnāvalī* (2.130–7) and the *Gheraṇḍasaṃhitā* (3.21) deem it necessary that the frenum be cut (see also *KhV* 2.111 where the frenum is

called *bandhamṛtyu*, "the fetter of death", and must be cut for freedom from death). The *Jogpradīpakā* (v. 12) says that there are two types of *khecarīmudrā*: with or without cutting. I have met two people (Dr. Thakur of Bombay and Mark Kidd of Cirencester) and heard of two others (Dr. Thakur's son and Mrs. J.Benson of Oxford) who are able to insert their tongues into the cavity above the palate without any preliminary physical exercise. Of course, to lengthen the tongue so much that externally it can reach the top of the head as described at 1.55d will require cutting. I have not met any yogins who have caused themselves serious problems through cutting the frenum, but two of my informants did have very pronounced lisps and I heard first-hand accounts of two yogins, an ascetic of the Caitanya Sampradāya called Svāmī Rāmānand (d. 1991) who lived at Kaivalya Dhām in Lonāvalā, Mahāraṣṭra, and a Rāmānandī Tyāgī from Jaipur, who both had difficulty in eating and talking as a result of their practice of *khecarīmudrā*. *Jogpradīpakā* v. 882 says that if done incorrectly, the cutting of the frenum can result in the loss of the ability to speak.

Ballāla (f. $18v^{9}$–f. $19r^{1}$) relates what gurus teach about the cutting process: *dakṣiṇahastasyāṃgulāṃgulanyūnasaṃyuktapūrvapūrvasthitatarjanīmadhyamānāmikābhir upary aṃguṣṭhena ca sruvavat dhṛtvā tataḥ ekāṃte dattakapāṭaḥ sāvadhānaḥ ekākī dhṛtādhobhājanaḥ tena dakṣiṇahastasthitaśastrasya madhyena saṃmukhaṃ pārśveṇa tiryak vā romamātraṃ keśapramāṇaṃ samu*(f. 19r)*chidet pratisomavāsaram iti guravaḥ | tasmin chinne raktam adhaḥ patati tat pūrvādhodhṛtabhājane saṃgṛhya tyajet | ⌈pṛthivyāṃ raktapatananiṣedhāt⌉* "Gurus say: [the yogin] should hold [the blade] like a sacrificial ladle with the thumb of the right hand above the index, middle and ring fingers, which should be joined together, each one below the next. Then in a solitary place, behind a locked door *(dattakapāṭaḥ*?), carefully, alone, holding a vessel below [his face], with the middle of the blade held in the right hand, from the front, or the side, or obliquely, he should cut a hair's breadth every Monday. On cutting it blood flows. [The yogin] should gather it in a vessel held in front and below [the mouth] and get rid of it. ⌈Because of the prohibition against letting blood fall on the ground.⌉" The long *Haṭhapradīpikā* (witness H_2, v. 5.139 f. $99v^{5-6}$) and its derivative the *Jogpradīpakā* (v. 615) say that the cutting should be done by one's guru, one's pupil, one's friend, one's guru-brother or oneself. H_2 adds (v. 5.143 f. $100r^{2-3}$) *chedayed yo dayāhīno karaṃ tasya na kampate*, "If someone pitiless does the cutting, his hand will not tremble". GERVIS (1970:201–2) gives a first-hand account of a guru cutting his disciple's frenum.

231 The cut is rubbed with this powder to prevent it from healing: *chinnabhāgayor asaṃyogārthaṃ* (*BKhP* f. $19r^{2}$). About *saindhava*, "rock-salt", Ballāla (f. $19r^{2-3}$) writes *saiṃdhavaṃ lavaṇam asiddhaṃ tac cāṃtaḥ raktavarṇaṃ paṃjābadeśodbhavaṃ grāhyaṃ*: "*Saindhava* is unrefined salt. [The yogin] should use that found in the Punjab, which has a red colour inside." Ballāla (f. $19r^{3}$) glosses *pathyā* with *laghuharītakī* (*Terminalia chebula* Retz. (MEULENBELD 1974:610), an ingredient in *triphalā*: see note 473 in *paṭala* 4) and adds *(ibid.)* that the *pathyā* and *saindhava* are to be used in equal amounts: *samo bhāgo 'tra vivakṣitaḥ*. To rub the powder into the cut, the yogin should use the tips of his index finger and thumb or just the tip of his index finger: *tarjanyaṃguṣṭhāgrābhyāṃ tarjanyagreṇa vā* (f. $19r^{3-4}$).

The *Jogpradīpakā* includes *sūṭh*, dried ginger, in the list of powdered substances to be rubbed into the cut, adding that a thin thread should be kept under the tongue at all times in order to prevent the cut from healing and that the yogin should eat nothing but small quantities of rice and milk (vv. 618–621).

232 Those of my informants who did cut the frenum told me that it was to be done daily in order to prevent the cut from healing. BERNARD (1982:67) cut his each morning. See also 1.54cd and note 243.

233 Ballāla (f. 19r$^{8-9}$): *rasanāmūlaśirābandhaḥ* | *rasanā jihvā tasyā mūle yaḥ śirārūpo nāḍīlakṣaṇo baṃdhaḥ* | *baṃdhanaṃ baṃdhaḥ jarāmṛtyusaṃsārarūpaḥ sa praṇaśyati* | *asya chedane punar api jananaṃ punar api maraṇam ityādi naśyati* | "The binding tendon at the base of the tongue: the bond at the base of the tongue which has the form of a tendon, which is like a vein, is bondage; that bond, which consists of the cycle of birth and death, is destroyed. When it is cut rebirth and redeath etc. are no more".

234 Ballāla (f. 20r$^{9-10}$) analyses *kālavelāvidhāna*° as a *dvandvasamāsa*. An addition in the margin at the top of f. 20v analyses it as a *tatpuruṣa*, as I have done. Ballāla interprets *kāla* as *prātaḥkālaḥ bhojanāt pūrvaḥ*, "in the morning, before eating" and glosses *velā* with *maryādā*, saying that the tongue should not be extended more than half a finger's breadth *('rdhāṃgulam eva)*.

235 "the tip of the tongue" *(vāgīśvarīdhāmaśiraḥ)* : Vāgīśvarī, "the goddess of speech", is Sarasvatī; her "abode" *(dhāman)* is the tongue (*BKhP* f. 19v^{2}).

236 None of my informants mentioned the use of a cloth but BERNARD (1982:67) writes "I started by 'milking' the tongue. This was accomplished by washing it and then catching hold of it with a linen towel. Any sort of cloth can be used, but I found this to be the most convenient. When the tongue has become sufficiently dry, it can be handled with the bare hands; but the slightest bit of saliva makes it impossible to handle it without the aid of a piece of cloth". Ballāla (f. 19v$^{3-9}$) quotes *Yogabīja* 91–98 for a description of the cloth (on which see note 366).

Ballāla then describes three techniques to be used on the tongue: *cālana*, "moving", *dohana*, "milking", and *tāḍana*, "striking". He says at f. 20r^{6} that although they are not mentioned in the *KhV* they need to be understood because they are a part of *utkarṣaṇa*, "drawing out [of the tongue]", *(utkarṣaṇāṃgatvāt)*. *Cālana* and *dohana* are mentioned at *HP* 3.32 which he quotes at f. 20r$^{7-8}$; cf. *SSP* 6.84. About *cālana*, in which the yogin uses his fingers to pull his tongue from side to side and round in circles in order to lengthen it, Ballāla writes (f. 19v^{10}–f. 20r^{2}): *tatra cālanaṃ nāma jihvādhobhāge kaṃṭhābhimukhadakṣahastāṃguṣṭhaṃ tathā tadupari tarjanīṃ dhṛtvā rasāṃ dṛḍhaṃ dhṛtvā krameṇa śanair vāraṃ vāraṃ sṛkviṇīdvayaṃ paryāyeṇa pīḍayet* | *evaṃ muhūrtadvayaparyaṃ⌈taṃ⌉ pratyahaṃ kāryaṃ* | *evam eva jihvāṃ dhṛtvā bhramaṇam api ⌈maṃḍalākāraṃ⌉ kāryaṃ tena sarvataḥ samā vivardhate iti* | Cf. *HPJ* 3.33: *cālanaṃ hastayor aṅguṣṭhatarjanībhyāṃ rasanāṃ gṛhītvā savyāpasavyataḥ parivartanam* | On *dohana*, another technique for lengthening the tongue in which the yogin rubs his tongue with *saindhava* and *pathyā* and milks it like a cow's teat, he quotes an author called Mohanadāsa (f. 20r$^{2-3}$): *jihvāṃ bahiḥ śvavan niṣkāśya tasyāṃ saiṃdhavapathyācūrṇaṃ saiṃdhavamaricacūrṇaṃ vā kṣiptvā dohayet gostanavat* | *tatprakāraś ca pūrvavat tarjanyaṃguṣṭhābhyāṃ tadūrdhvādhaḥ*

sthāpitābhyāṃ karābhyāṃ paryāyeṇa dohanam iti. Ballāla adds that this is to be done *svastikasiddhordhvīkṛtajānvāsanādau sthitvā*, "sitting in postures such as *svastikāsana, siddhāsana,* or one in which the knees are held up", and mentions that the practitioner will dribble a lot *(bahulālāpātaḥ syāt)*. *Dohana* by means of a cloth is described at H_2 5.152–161 (f. 100v[5]– f. 101v[1]); the *dohana* described at *Jogpradīpakā* vv. 624–634 is a thorough cleansing of the pharynx. Ballāla then describes the third process, *tāḍana*, which he explains thus (f. 20r[4−6]): *tato ghaṃṭikāṃ tāḍayet / ghaṃṭāśabdas tanmadhyalolakaparaḥ ghaṃṭālolaka iva jihvā ghaṃṭikā ivārthe kan / ghaṃṭālolako yathobhayato lagnaḥ san śabdaṃ karoty evaṃ balenordhvādho daṃtapaṃktau lagnā jihvā ity etat tāḍanam /* The tongue is said to be like the clapper *(lolaka)* of a bell and vice versa (cf. Chambers 1983:113, 231, 1360). It should be struck forcefully against the upper and lower rows of teeth. In 1996, at the Yoga Centre of Benares Hindu University, I met Dr. K.M.Tripāṭhī who demonstrated a technique in which the tip of the tongue is pressed against the front teeth and held there while the mouth is repeatedly opened wide and closed again. It is to be done at least a thousand times a day, he said, and the technique tugs on the *merudaṇḍa* causing Kuṇḍalinī to rise. Dr. Tripāṭhī told me that he had to give up this technique when he got married: householder practices that pull on the lower end of the *merudaṇḍa* are incompatible with the yogin's practice of tugging at the top. This is the only practice that I have come across in my fieldwork or other sources that resembles *tāḍana* in any way. Cf. *GBS* 219, 220 and *Jogpradīpakā* 867, 873–880, in which a single channel (identified with Suṣumṇā in the *Jogpradīpakā*) is said to join the tongue and the penis. The *Jogpradīpakā* passage associates the lengthening of the tongue with *laghutā*, "lightness" (="flaccidness"?), of the penis, the overcoming of sexual urges and the awakening of Kuṇḍalinī. On the connection between the tongue and Kuṇḍalinī, see also note 366.

237 "after regular drawing out" *(nityasaṃkarṣaṇāt)* : °*saṃkarṣaṇāt* seems the correct reading here, since it picks up the *utkarṣayed* of the previous line. μG*U*TSK$_6$ have variants on *saṃgharṣaṇāt*, "rubbing", (S, at f. 20v[3], has *saṃkarṣaṇāt* as an alternative reading). This is explained by Ballāla as *tadadhaḥśirābhāgasyādhastanadaṃtapaṃktau saṃmardanaṃ*, "rubbing part of the tendon below [the tongue] on the lower row of teeth". This method of wearing away the frenum was described to me by one of my informants (see note 230) but its inclusion here in the text seems forced: we have already heard how to cut the frenum; now we want to hear how to lengthen the tongue.

238 *Metri causa*, the edition here has *cibukaṃ mūlaṃ* rather than the semantically preferable but unmetrical *cibukamūlaṃ* found in S and M.

239 "Adam's apple" *(kaṇṭhakūpa°)* : Ballāla (f. 21r[3]) glosses *kaṇṭhakūpa* with *urasa ūrdhvabhāgīyo 'vaṭaḥ*, "the cavity at the upper part of the chest". However, I have translated *kaṇṭhakūpa°* as "Adam's apple" because it must be somewhere between the *cibukaṃ mūlam* of 1.51a and the *kaṇṭhabila* of 1.53d. *VS* 3.70c–71b locates the *kaṇṭhakūpa* six finger-breadths up from the heart and four below the root of the tongue. At 1.53d all the witnesses except μ*U*F state that after six years the tongue reaches the *karṇabila*. This is clearly corrupt, for two reasons: firstly, we have already heard at 1.50d that after only six months it reaches the *karṇabila*;

secondly, 1.53c states that obliquely the tongue reaches the *cūlitala* so now we need a location below the mouth, not to the side. Thus at 1.53d I have adopted the reading *adhaḥ kaṇṭhabilāvadhi* of μ*UF*.

240 "the end of Suṣumṇā" *(brahmarandhrāntam)* : *brahmarandhra*, "opening of Brahmā", usually refers to either the region at the top of the Suṣumṇā *nāḍī* ($GŚ_N$ 16, *HP* 4.16, *ATU* 5, *VS* 3.39, *Śāktavijñāna* 16, *SSP* 1.66, 2.25, 2.26, 6.81, *ŚS* 5.134, *KAT* 5.107, *AM* 72.1; see also Silburn 1988:30–33) or the *nāḍī* itself (*HP* 3.4, *VU* 5.30, *VS* 2.17, 2.26, *ŚS* 2.18, *MaSaṃ* 17.13). I have translated it in the latter sense here and understand *brahmarandhrānta* to mean the region on the top of the skull corresponding to the *daśamadvāra*, "tenth door", mentioned in note 131. *SSP* 2.8, in a list of nine *cakra*s, locates the *nirvāṇacakra* at the *brahmarandhra*, above the *tālu*° and *bhrū*° *cakra*s (I have emended the edition's *bhū* to *bhrū*) and below the *ākāśacakra*. Rai (1982:194) says that according to the *Layayogasaṃhitā* the *brahmarandhra* is at the root of the palate (cf. *ŚS* 5.134–5 where it is said to be the opening of Suṣumṇā and is identified with the *sahasrārā cakra*). *ŚS* 4.22 and 5.159 (quoted by Ballāla at f. 24v[5]) locate it at the lower end of Suṣumṇā. Thus it seems that often *brahmarandhra* does not refer to a specific place but simply describes somewhere from which the yogin can reach Brahmā.

The stem form *brahma* found here and in many other compounds in the *KhV* is ambiguous: it can denote the deity Brahmā or the ultimate reality *brahman*. In tantric texts and early works of *haṭhayoga* it usually refers to the deity (as in the system of the three *granthi*s, *brahma*°, *viṣṇu*° and *rudra*°, at e.g. *HP* 4.70–76; cf. *KhV* 3.3b where *dhāma svāyaṃbhuvaṃ* is used as a synonym of *brahmadhāma*). The inherent ambiguity allows later authors to interpret such compounds in a Vedantic light: e.g. *HPJ* 3.106 where *brahmasthānam* is glossed by Brahmānanda with *brahmāvirbhāvajanakam sthānam*, "the place that reveals *brahman*". I have chosen to translate *brahma*° as Brahmā.

241 "the region above the nape of the neck" *(cūlitalam)* : as far as I am aware, *cūlitala* occurs only in the *MaSaṃ* (9.24a), the *KhV* and derivative texts. From the evidence of 2.49–59 it appears to mean the region above the nape of the neck, on the same level as the forehead and temples. This meaning fits well with the context here. Ballāla (f. 21r[6–7]) agrees, taking *cūli* as a variant form of *cūḍā*, "the crown of the head", and *tala* as meaning "the area below": *tiryak cūlitalaṃ śikhādhobhāgaṃ yāti cūliḥ śikhā | śikhā cūḍā ity amaraḥ | ḍalayor abhedaḥ*. See also 2.18 and note 285.

242 See note 239.

243 "not all at once" *(yugapan na hi)* : Ballāla (f. 22r[3]) glosses *yugapat* with *ekasamayāvachedena*, "cutting [the frenum] all at once". One of my informants, Govind Dās Jī Mahātyāgī, did cut his frenum all at once. He told me that the cut bled a great deal but that otherwise he had no problems. See also 1.46–48 and the notes thereon. Ballāla adds (f. 22r[2–3]): *yady api abhyāsakāle kadā cid asvāsthyaṃ tadā taddine heyo 'bhyāso 'nyadine susthatāyāṃ kartavyo na jhaṭiti*, "if ill health should ever arise during the practice then it should be abandoned for that day and taken up on another day when good health has returned, not straight away".

244 *brahmabila* is synonymous with *brahmarandhra* in its first sense (see note 240).

245 "the bolt [of the doorway] of Brahmā" *(brahmārgalam)* : Ballāla (f. 22r[9]) equates the

brahmārgala with the *brahmadvāra*: *brahmārgalaṃ brahmamārgapratibaṃdhakaṃ rājadaṃtordhvadvāraṃ*, "the *brahmārgala* is the door above the uvula which blocks the pathway of Brahmā" (on the *rājadanta* see note 258). In the text, however, the two seem to be distinguished. The *brahmārgala*, "the bolt", is to be rubbed away for three years, after which time the tongue enters the *brahmadvāra*, "the door". 2.1a and 3.44 mention the *brahmārgaladvāra*, "the bolted door of Brahmā". In descriptions of the goddess Kuṇḍalinī she is often said to be asleep blocking the *brahmadvāra* at the base of Suṣumṇā and this is its usual location (*HP* 3.5, *GŚ*$_N$ 47, *YCU* 37, *ṢCN* 3 and 50). In the *KhV* the *brahmadvāra* is at the other end of Suṣumṇā, at the opening at the base of the palate.
1.55c–57b is puzzling. After a total of seven years the yogin is instructed to start rubbing at the *brahmārgala* so that after a further three years the tongue might enter the *brahmadvāra*. This is the first time in the section on the physical practice that the yogin is told to try to turn his tongue back. As I have noted at 1.46a it is possible to insert the tongue into the cavity above the soft palate without any preparation. So what is the internal destination for a tongue that externally can reach the crown of the head? The cavity above the soft palate is surrounded by bone so it would seem that however much rubbing the yogin may do there is nowhere else for the tongue to go. And why should the yogin wait so long before turning back his tongue? Are the verses that describe the extreme extension of the tongue so much *arthavāda*, designed to put off prospective *khecarīsiddhas*? Or did some yogins actually lengthen their tongues this much in displays of ascetic self-mortification? None of my informants had particularly long tongues yet most claimed that they had perfected the practice. I have heard of one yogin, Sampat Nāth of Ajmer, Rajasthan, whose tongue could reach his *bhrūmadhya* (personal communication from Robin Brown, 1996). No other text (except the *MKS* whose description derives from that of the *Khecarīvidyā*) claims that such extreme lengthening of the tongue is necessary to practise *khecarīmudrā*. *HP* 3.32 states *chedanacālanadohaiḥ kalāṃ krameṇa vardhayet tāvat | sā yāvad bhrūmadhyaṃ spṛśati tadā khecarīsiddhiḥ ||* "By means of cutting, manipulation and milking [the yogin] should gradually lengthen the tongue until it touches the centre of the eyebrows. Then [there is] *khecarīsiddhi*." Cf. *KhV* 1.73ab, where the *siddhi*s brought about by means of the practice are said to arise between the eyebrows. The two other texts that deem the cutting of the frenum necessary for the perfection of *khecarīmudrā*, the *Haṭharatnāvalī* (2.130–142) and the *Gheraṇḍasaṃhitā* (3.21–22), also state that the tongue need only be lengthened enough for it to reach the region between the eyebrows. There is one ancillary benefit of lengthening the tongue: it can be used internally to control which nostril the yogin is breathing through, thus eliminating the need to use the hands during *prāṇāyāma*. This was reported to me by several of the yogins I met during my fieldwork and is described by Bernard (1982:68).

246 It is hard for the gods to pierce "because they are intent on pleasure" *(bhogāsaktatvāt)* : Ballāla f. 22r[9].

247 "the door of Brahmā" *(brahmadvāra)* : in the *Khecarīvidyā*, *brahmarandhra*, *brahmabila* and *brahmadvāra* seem to be synonymous (see notes 240 and 244). Kavirāj (1987:51) reports that in the *Vairāṭapurāṇa* the *brahmadvāracakra* is above the fore-

head but below the *brahmarandhra* in the cranium.

248 "churning" *(mathana)* : where the word *mathana* occurs in the text (1.57–63, 2.101–104), witnesses μSM occasionally, but not consistently, read *maṃthana*. This reflects the two forms that the root can take: $\sqrt{math}$ and $\sqrt{manth}$ (WHITNEY 1988:117).

249 Ballāla (f. 23r$^{3-4}$) explains that the thread is passed through a small hole in the probe, like that in a needle: *tena* ⌈*sūcyām iva*⌉ *śalākānuchidre protenety arthaḥ* /.

250 It is not clear to me how this practice is to be carried out. Ballāla adds little to what is found in the text, thereby indicating that he too is unfamiliar with the practice. In his commentary on 2.101 (f. 58r^{4}) he explains the purpose of practising *mathana* as *sarvamalaśodhanārtham*, "to cleanse away all impurity". This is clearly not the main aim of the practice since 1.64 says that *mathana* brings about *saṃsiddhi* and identification of body and self with the universe. In the *Khecarīvidyā*, it appears that after the probe is inserted into the nasal cavity it is to be moved about by the tongue, which has entered the cavity via the palate. The word *mathana* usually refers either to the rubbing of wood to produce fire, particularly in a sacrificial context, or to the churning of milk to produce butter. It is used in this second sense in the archaic myth of the churning of the ocean of milk by the *deva*s and *asura*s (*MBh* 1.17–19; cf. *SYM* 21.7, 22.36; see also GONDA 1965:61). Both senses of the word seem applicable here. Firstly, at *KhV* 2.72–75 the yogin is instructed to churn the circle of fire *(mathitvā maṇḍalaṃ vahneḥ)* at the base of the tongue *(jihvāmūle)* and thereby melt the orb of the moon into *amṛta* (cf. *HP* 3.48). MONIER-WILLIAMS [1988:s.v.] reports that *śalākā* can mean "a match or thin piece of wood (used for ignition by friction)". Secondly, when the ocean of milk was churned, *amṛta* was among the fourteen items that were produced. No yogin that I have met practises *mathana* as described here but Dr. Ṭhākur of Mumbai did describe how during his practice of *prāṇāyāma* and *khecarīmudrā* his tongue would involuntarily start to "bang away like a drill going into a hole".

The *Jogpradīpakā* has the most coherent description of the haṭhayogic *mathana* and describes two varieties. In the first (v. 642) the yogin is to rub the *śivaliṅga*, which is also the *agnisthāna*, at the root of the palate with his thumb three times a day. In the second (vv. 643–653), the yogin is to use a metal peg *(kīla dhātamaya)* to churn, purify and produce *amī* (=*amṛta*) at four places: *ambikā*, the frenum, *lambikā*, the tongue, *tālu*, the palate and *ghaṇṭikā*, the uvula. These four places are said to be the teats of Kāmadhenu (v. 651). Cf. the *Vairāṭapurāṇa*, which locates an *amṛtacakra* in the upper part of the forehead from which "nectar is constantly flowing. This place is described as the abode of the Gāyatrī named Kāmadhenu (the 'wish-giving cow') figured like a milch-cow with four teats, viz. Ambikā, Lambikā, Ghaṇṭikā and Tālikā" (KAVIRĀJ 1987:50). The *Amaraughaśāsana*, describing practices akin to the haṭhayogic *khecarīmudrā*, mentions *kalāpamathana*, "tongue churning", (p.2 l.10, l.13). It says that the practice brings about *nāḍīmukhojjṛmbhaṇam*, "opening of the mouth of the *[śaṅkhinī] nāḍī*", but does not go into detail. *MaSaṃ* 27.7 describes massaging the body with a preparation which has among its ingredients *amṛta* that is *mathanaja*, "produced by churning", and *brahmarandhravinirgata,* "issued forth from the aperture of Brahmā" (see note 328). At *SSP* 2.8 the *nirvāṇacakra*, which is

situated at the *brahmarandhra*, is described as *sūcikāgravedhya*, "to be pierced with the tip of a needle"; this, however, sounds more like cranial trepanning than the practice of *mathana* described in the *Khecarīvidyā*. The *SSP*'s reading °*vedhya* is uncertain. A variant °*lekhaṃ* is found in one witness. The passage also appears at *Saubhāgyalakṣmyupaniṣad* 3.8 where we find *sūcikāgṛhetaraṃ* and a paraphrase at *ŚP* 4359 reads *sūcikāgrābham*. Abhinavagupta (*TĀ* 5.22–24) describes an internal *mathana* in which *apāna* and *prāṇa* are churned to force the breath upwards into Suṣumṇā and ignite *udāna*. In one of the earliest textual references to Kuṇḍalinī, the c. eighth-century CE *Tantrasadbhāva* 1.214c–228d (NGMPP reel No. A188/22; the passage is quoted by Kṣemarāja *ad Śivasūtravimarśinī* 2.3 and Jayaratha *ad TĀ* 3.67) describes a technique whereby Kuṇḍalī is awakened through the churning of *bindu*. *KMT* 12.60–67 describes a *mathana* at the *maṇipūra* centre, in which the churning of a *liṅga* in a *yoni* results in *ajñānamalanāśana*, the kindling of *jñānāgni*, a bliss like that generated in sexual intercourse and, finally, *amṛta*, with which the yogin is to visualise his body being flooded. On the *Khecarīvidyā*'s corporealisation of these subtle practices, see page 27.

251 In the texts of *haṭhayoga*, the *jīva* is the vital principle, entering the fetus at the moment of conception (*SSP* 1.68) and leaving with the body's final exhalation (*YCU* 90). It moves about the body, propelled by the breath ($GŚ_N$ 38–39), unless restrained by means of *prāṇāyāma* ($GŚ_N$ 40–41). Ballāla (f. 23r^{10}) glosses *jīva* with *prāṇa* which seems to be an oversimplification: $GŚ_N$ 37 describes the ten *vāyu*s as flowing through the *nāḍī*s while "having the form of the *jīva*" *(jīvarūpinaḥ)*. Cf. *ŚP* 4317. See also *KhV* 3.34-46, *VS* 5.4–7, *ŚS* 2.39–53, *ŚP* 4503–4504, *TŚBM* 60-62b, *KJN* 6.1–14 and *YBD* 3.253–293 for descriptions of the workings of the *jīva*.

252 Ballāla (f. 23v^{8}) says that churning is not meant to be done constantly "because it is very difficult" *(kaṭhinataratvāt)*.

253 BERNARD (1982:68) reports that he kept his tongue in the cavity above the soft palate at all times, removing it only "to speak, eat, or engage in some other activity that made its position inconvenient". Cf. *KJN* 6.25c–26d, *GhS* 3.7. Lāl Jī Bhāī told me that *khecarīmudrā* should be practised for two to three hours a day.
The "pathway" is the pathway mentioned at 1.65a.

254 Ballāla (f. 24r$^{3-8}$) understands this to mean twelve years from the time of first cutting the frenum, thus equalling the time needed to achieve *siddhi* mentioned at 1.70. He reckons the various stages of the practice up to the perfection of *mathana* to total eight and a half years (in my edition they total ten and a half years), thus leaving three and a half to wait for *saṃsiddhi*. The *Jogpradīpakā* (v. 613) also teaches twelve years as the amount of time needed to master *khecarīmudrā*.

255 Cf. *AY* 1.95ab: *brahmāṇḍaṃ sakalaṃ paśyet karastham iva mauktikam*, "he sees the entire universe like a pearl in [his] hand"; see also *KJN* 14.62–65.

256 "the great pathway" *(mahāmārga)* : this refers to the top of Suṣumṇā (cf. *HP* 3.4 where *mahāpatha* is given as a synonym of Suṣumṇā).

257 "in the skull" *(brahmāṇḍe)* : in the *KhV brahmāṇḍa* means "skull" rather than the more usual "macrocosm"; see 2.36, 2.42, 2.67c–68b, 3.16–17d; cf. *ṢCN* 53d; *AM* 8.1, p.109; *ŚS* 1.51, 1.95, 1.97, 1.99, 2.5, 2.37, 3.9, 5.191 (in which the physical

body is called *brahmāṇḍa*); *GBS* 217; *Kathāsaritsāgara* 2.15; SHEA & TROYER (1843: 132) "the seventh region is that of the head, which is called by the Hindus *brahmāṇḍa*". Ballāla (f. 24r[9]), however, takes it to mean "macrocosm". Later Sanskrit and haṭhayogic works have a system of 21 *brahmāṇḍa*s in (and above) the head. See *GBP* 19.0 and the *Vairāṭapurāṇa* (KAVIRĀJ 1987:52). At *TĀ* 4.133cd *brahmāṇḍa* (understood to mean the universe by Jayaratha *ad loc.*) is said to arise from the *sahasrāra cakra* at the top of the head.

258 "in the region above the uvula" *(rājadantordhvamaṇḍale)* : the Royal Tooth *(rājadanta)* is the uvula. *SSP* 2.6 locates it at the *tālucakra*, equating it with the *ghaṇṭikāliṅga*, the *mūlarandhra* and the "tenth door" *(daśamadvāra)*, which is the opening of the *śaṅkhinī nāḍī* (on which see note 131). Ballāla interprets *rājadanta* in two ways: firstly (f. 24v[1−3]), it is the microcosmic equivalent of the macrocosmic Prayāgarāja; he thus seems to be putting it in the same place as *trikūṭa* (see note 259) when the text clearly states that it is below *trikūṭa*. Perhaps *trikūṭa* can be thought of as a peak above the confluence. Secondly, "some say" *(ke cit)*, in the body the *rājadanta* is the uvula (f. 24v[11]–f. 25r[1]): he describes it as a hanging piece of flesh *(māṃsalolakaḥ)* in the area above the root of the tongue *(jihvāmūlordhvabhāge)* like the clapper of a bell *(ghaṃṭālolakavat)*—cf. note 236. See also 2.29cd, 3.16c–17b and *AŚ* pp.10–11, $GŚ_N$ 147, *HP* 1.46, 3.21, *ŚS* 3.84, *KJN* 6.23, *KMT* 9.82, 23.167. *Taittirīyopaniṣad* 1.6.1 calls the uvula *indrayoni*, "the source of Indra".

259 "the Three-peaked Mountain" *(trikūṭam)* : this passage and 3.16–17 locate *trikūṭa* between the eyebrows; a variant reading at *SSP* 6.81 locates it at the *brahmarandhra*; see also *KhV* 2.81c, *SSP* 3.5, *YV* 20 (≃ *BVU* 73), *AM* 85.2, *GBP* 11.2. *MBh Sabhaparvan* 2.39.11cd implies that *trikūṭa* is in the forehead: *lalāṭasthāṃ trikūṭasthāṃ gaṅgāṃ tripathagām iva*; *MBh Bhīṣmaparvan* supplement 6.3.88 locates it at the base of the palate: *tālumūle ca lampāyāṃ trikūṭaṃ tripathāntaram*. Ballāla (f. 24v[1−4]) continues the theme of micro°/macrocosmic equivalence and takes *mahāmārga* to mean the rivers Gaṅgā, Yamunā and Sarasvatī. Thus *trikūṭa*, where the Iḍā, Piṅgalā and Sarasvatī *nāḍī*s meet, is the bodily equivalent of the confluence of the three rivers, the *triveṇīsaṅgama*, located at Prayāgarāja (the modern-day Allahabad). He explains *trikūṭa* as meaning *trayāṇāṃ mārgāṇāṃ kūṭaṃ*, "the peak of the three ways" (f. 25r[5−7]). At f. 25r[3−4] he cites *ŚS* 5.132, where the conjunction of the three *nāḍī*s is equated with the confluence in Vārāṇasī of the Gaṅgā with the Varaṇa and Asi rivers.

At f. 25r[7−8] he cites a list of esoteric centres which he ascribes to the *Kapilagītā* of the *Pādmapurāṇa*: *trikūṭaṃ śrīhaṭhasthānaṃ golhāṭaṃ auṭapīṭhakaṃ // pūrṇādri* (corrected in the margin from *puṇyādri*) *bhrāmarīguṃphā brahmarandhram anukramād iti*. In the margin of f. 25r is a quote attributed to Gorakṣa in which *trikūṭa* is located at the mouth: *asyārtho gorakṣeṇa darśito yathā // mukhaṃ trikūṭam ākhyātaṃ pṛthvītatvam ācāraliṃgaṃ ṛgveda[ḥ] brahmadaivatam īśvaraṃ pītavarṇaṃ jāgrad-* (*em.* ISAACSON & GOODALL; jāgṛd S)*avasthā sthūladeha[ṃ] iti / śrīhaṭhasthānaṃ rasanā'pastatvaṃ guruliṃgaṃ yajurvedaḥ svapnāvasthā viṣṇur deva[ḥ] śvetavarṇaṃ tatvam iti / golhāṭaṃ tu nayanasthānaṃ tejastatvaṃ śivaliṃgaṃ sāmavedaṃ suṣuptāvasthā rudradevaṃ raktavarṇaṃ trimātrādehasaṃbhavam iti / pūrṇapīṭhaṃ ca nāsikauṭhapīṭhasaṃjñakaṃ / pādatatvaṃ ṛṣir vāyur jaṃgamaliṃgaṃ (em.* ISAACSON

& GOODALL; *jaṃgamaṃ liṃga°* S) *daivataṃ | atharvavedaṃ (em.; atharvedaṃ* S) *turīyā ca oṃkāraṃ nīlavarṇakam iti | puṇyādrir (em.; puṇyādir* S) *merur ity arthaḥ | bhrāmarīgumphā śrotrasthānaṃ ākāśa ṛṣiḥ prāsādaliṃgaṃ sūkṣmavedakaṃ unmanī śivaliṃgaṃ kṛṣṇavarṇam iti | brahmaraṃdhre sahasrāre daśamadvāre sarvatatvaṃ tanmātrāśabdasparśādipaṃcakaṃ || caitanyaṃ sūkṣmadehaṃ ca parabrahmātmakaṃ mahad iti |*. I have been unable to find this passage in any other text. It is the most detailed description of these esoteric centres and their locations that I have come across. This system is usually found only in texts from the Marāṭhī-speaking region: a similar, but less detailed, passage is found at *AM* 42; see also *AM* 55.2, 63.2; *SSP* 2.27, 6.81–82; *YV* 20–21; *VD* 10. Some lists of *śāktapīṭha*s in SIRCAR (1998:s.v.) include Trikūṭa, Śrīhaṭha and Pūrṇagiri, while the goddess Bhrāmarī is associated with a *pīṭha* called Janasthāna whose microcosmic location is the chin. (As Alexis SANDERSON has suggested to me, Janasthāna may well be wrongly written for Jālasthāna (=Jālandhara).) The *brahmarandhra*'s macrocosmic location is Hiṅg Lāj in Baluchistan. Of the bodily centres listed in the *BKhP*'s citations quoted above, only *golhāṭa* and *auṭapīṭha* are not listed by SIRCAR (1998) as geographical locations. SANDERSON has suggested that they are variant spellings of *kollāṭa* (=Kolhāpur ?) and *auḍapīṭha* (=Oḍḍiyāna). A bodily centre called *gollāṭamaṇḍapa* is mentioned at *SSP* 2.27 with variants *kolhāṭa* and *kollāṭa*. The tentative identification of Kollāṭa with Kolhāpur is supported by a description of female Maharashtrian entertainers called Kolhāṭanīs by SONTHEIMER (1989:236).

A work entitled *Trikūṭārahasya* in the MS collection of the Bodleian Library (Chandra Shum Shere e.83(4)) describes tantric ritual of the Śrīvidyā tradition.

260 *Jogpradīpakā* 651 compares the uvula *(ghaṇṭikā)* to a chickpea sprout.

261 See *Kathāsaritsāgara* 34.69–73 and 56.212 for descriptions of *khanyāvādī* and *bilavādī* Pāśupata ascetics.

262 "the science of controlling the earth" *(mahīvāda)* : Alexis SANDERSON suggested this emendation. *Mahīvāda* is not found in lists of magical sciences, but a synonym *kṣetravāda* (whose meaning is never explicitly stated) is mentioned in Śaiva sources among the *mantravāda*s (see e.g. *Śivadharmottara,* Wellcome Institute for the History of Medicine, London, South Asian MS Collection, No. 16, f. $3r^7$–f. $3v^3$, and *JRY* 1.45.150–151a (NAK 5-4650, f. $161v^3$)). Most of the witnesses of $S\alpha\beta\gamma$ have *°mahāvāde* (interpreted as a vocative by Ballāla at f. $26r^1$) which seems corrupt. *Rasārṇava* 1.44 gives a hierarchy of *siddhi*s: *khanya°* (a variant found in witness M; the edition has *khaga°*), *bila°, mantra°* and *rasa°*. The emendation of *mahīvāda* to *mantravāda* would, however, be unmetrical. K_2's *svarṇādidhātuvādāni*, "the sciences of metals such as gold etc.", for the whole *pāda* is noteworthy but most probably a scribal emendation.

263 Many of my informants told me that the practice of *khecarīmudrā* enables the yogin to go without food and water, a skill necessary for extended periods of *yogābhyāsa*; this is also stated at $GŚ_N$ 65 (=*HP* 3.38), *AŚ* p.2 l.3, *GhS* 3.24, *ŚS* 3.93, 5.60 and by BERNARD (1982:68). An addition in the margin of S (f. 21r) quotes *Yogasūtra* 3.29 which suggests early origins for this idea: *kaṇṭhakūpe kṣutpipāsānivṛttiḥ* "[*saṃyama*] upon the hollow of the throat [brings about] the suppression of hunger and thirst". Cf. The passage from the *Suttanipāta* (p. 138, vv. 716–718) cited on pp. 18–19 of

the introduction and note 425 on extended *samādhi*.
Ballāla understands *vratasthaḥ* to mean "living as a *brahmacārin*", i.e. practising celibacy: *guptemḍriyasyopasthasaṃyamaḥ* (f. 27r[2]).

264 This odd-sounding assertion probably means that the *siddhi*s only arise as a result of the mental and physical practices which are focussed on the region between the eyebrows (cf. 1.66b). This emphasis on the importance of the region between the eyebrows contradicts 1.50a–55d, where the tongue is to be lengthened until externally it reaches the top of the skull (see note 245), suggesting that the two passages were not composed together.
At 2.22cd the *somamaṇḍala* is said to be between the eyebrows; this verse may be referring to that place.

265 "in the ether" *(ākāśe)* : here *ākāśa* means the cavity above the soft palate. See page 28 of the introduction. Cf. *JRY* 4.2.157a, *MVUT* 21.2, *TĀ* 3.137–140, *AM* 67.1, *GBS* 23; see also White 1996:240–242. The *Khecarīvidyā*'s subtle physiology does not include a system of bodily voids such as those found in some texts of Śaivism and *haṭhayoga* (on which see Vasudeva 2004:263–271).

266 There is disagreement both between the witnesses of the *KhV* and between other haṭhayogic texts over whether or not the teeth should be clenched during the practice. Witnesses A and K_3, and *TŚBM* 92 and 146 say that they should not; all the other witnesses, *Mahopaniṣad* 5.75 and *ŚS* 3.87 say that they should. Clenching the teeth is the preference of the more ascetic tradition—it is mentioned in the passages from the Pali canon cited in the introduction (pp.17–19) and is consistent with the ideas of effort and force implicit in the name *haṭhayoga*. Not clenching the teeth is favoured by the tantric tradition: cf. *KMT* 23.161c (see page 23 of my introduction). In instructions for physical postures to be adopted during *sādhana* (but not specifically connected with *khecarīmudrā*) *Mṛgendratantra yogapāda* 19c, *Sarvajñānottaratantra yogapāda* 12a (see Vasudeva 2004:398 n.77) and *JRY* 4.2.683c instruct the *sādhaka* not to touch his teeth with his teeth.

267 "making the mouth [like] the hollow of a crow's beak" *(kākacañcupuṭaṃ vaktraṃ)* : during the practice fluid gathers in the mouth. By pushing out the lips into the shape of a bird's beak there is more room for fluid to collect. In the haṭhayogic practice of *jālandharabandha* (described at *GŚ*$_N$ 62–63, *HP* 3.70–72, etc.) the throat is constricted by letting the head hang forward. The fluid dripping from the moon is thus diverted into the mouth and prevented from falling into the solar region at the stomach (hence the suitability of the name of the practice, *jālandhara*, which can be interpreted as a *vṛddhi* derivative from *jalaṃdhara*, "holding water"). *Jogpradīpakā* 886–889 describes a *jālandharabandha* in which the tongue is placed in the middle of the *trighaṃṭī*, the three sets of orifices at the nostrils, eyes and ears. *Vivekadarpaṇ* 10 mentions the *kākīmukhī* attitude in connection with *jālandharabandha*. Instructions to make the mouth like a bird's beak when practising *khecarīmudrā* are also to be found at *JRY* 4.2.157, *KhV* 3.25, *GŚ*$_N$ 139, *ŚS* 3.85, *GhS* 3.66.

268 Ballāla (f. 27r[10]) glosses *khecaratvam* with *devatvam*: he does not equate *khecaratva* with the ability to fly. See note 113 in the introduction.

269 "all the magical powers" *(siddhi†samayam†)* : the meaning of *samayam* here is not

clear. It is tempting to emend °*samayam* to °*santānam* (cf. *KhV* 2.70a). However, Ballāla (f. 28v[7]) reads *siddhasamayaṃ* (he glosses it with *jhoṭiṃgādivīrādibhūtapretādi* and understands the verse to mean that the *sādhakottama* can quickly get control over all these beings), and I have found three instances of the compound *siddhisamaya* in Buddhist tantras—*Guhyasamājatantra*, prose section after 17.25: *kāyasiddhisamayavajram* (I am grateful to Harunaga Isaacson for providing me with this reference); *Saṃvarodayatantra* 18.30: *siddhisamayasaṃvaraḥ*; *Kṛṣṇayamāritantra* p. 100: *tathāgatasiddhisamayaḥ*.

A marginal note in S (f. 27v) adds that all these *siddhi*s are described in the *Dattātreyatantra* and other texts *(dattātreyataṃtrādau)*.

270 *Pādukāsiddhi* gives the yogin sandals that enable him to go wherever he wishes. Ballāla (f. 27v[1–2]) says that this *siddhi* is explained in the *Nāgārjunatantra* and the *Tantrarāja*, and that the sandals can be used to cross water and travel long distances. *MaSaṃ paṭala* 30 (MS A f. 70v[6]–f. 71r[8]) describes *pādukāsiddhi* : the *sādhaka* is to make sandals out of various precious metals, go to a cremation-ground, drink alcohol and repeat a *saptakūṭamantra* one lakh times. The sandals will thus be empowered by the Yoginīs of the cremation-ground. Cf. *Kulacūḍāmaṇitantra* 6.25c–26b, Robinson 1979:258. *Tantrarājatantra paṭala* 17 describes the mantras and effects of sixteen *siddhi*s, including *pādukā*, *khaḍga*, *vetāla*, *añjana*, *ceṭaka* and *yakṣiṇī*.

271 *MKSK paṭala* 6 (pp.52–54) describes *khaḍgasiddhi* : by means of mantras, an offering of his own blood, and, if possible, a human sacrifice *(narabali)*, the *sādhaka* empowers a sword to guarantee him victory in any battle. Cf. *Kulacūḍāmaṇitantra* 6.26c–33d.

272 "power over zombies" *(vetālasiddhi)* : Ballāla (f. 27v[3]) explains this *siddhi* as *piśācavaśitvam*, "control over ghouls". *MaSaṃ paṭala* 32 (MS A f. 74v[8]–f. 75r[11]) describes *vetālasiddhi* : the *sādhaka* should drink alcohol, repeat a *saptakūṭamantra* one lakh times and make a *tarpaṇa* offering of goat's blood. If performed correctly, a *vetāla* appears and becomes his lifelong servant. Cf. *Kulacūḍāmaṇitantra* 6.19a–25b.

273 Realgar *(manaḥśilā)* is red arsenic, an ingredient in elixirs: see e.g. *KhV* 4.9. *Picumata* 46.57 (NAK MS No. 3-370, f. 224v) includes *manaḥśilā* in a list of *siddhi*s, and a Buddhist Kriyātantra, the *Amoghapāśakalparāja*, describes how *manaḥśilā*, when applied to the eyes, can make the wearer invisible and able to move in the ether: *manaḥśilā añjanaṃ vā parijapya akṣiṇy añjayitvā tato 'ntarhito bhavati. ākāśena parikramati* (pp.2–3). Cf. *Kāmasūtra* 7.2.46, in which it is said that if one coats one's hand with the faeces of a peacock that has eaten *haritāla* and/or *manaḥśilā* and touches something, it becomes invisible. I am grateful to Alexis Sanderson for providing me with these references.

274 *MaSaṃ paṭala* 35 (MS A f. 78r[11]–f. 81r[9]) gives instructions for *añjanasiddhi* : after a mantra-repetition and visualisation, various recipes are given for the preparation of the ointment *(añjana)* whose ingredients include herbs, honey and, in one concoction, mercury. By applying this ointment to the eyes, the *sādhaka* "sees everything" *(sarvaṃ paśyati)*. Cf. *MKSK paṭala* 6 (p.55), *Kulacūḍāmaṇitantra* 6.34–39. Ballāla (f. 27v[4]) says that this *siddhi* has been described in the *Nāgārjuna* and *Dattātreya* Tantras.

275 *Vivarasiddhi* is similar to the *bilasiddhi* mentioned at 1.68c. Ballāla (f. 27v$^{4-6}$) glosses it with *bhuvas tatsādhanam* and explains it as the ability to enter ponds, wells, tanks, caves and ditches, and retrieve treasure therefrom.

276 *Ceṭaka*s and *yakṣiṇī*s are genie-like male and female servants respectively. Ballāla (f. 27v^{8}) describes *ceṭakasiddhi* as *parapreṣyakāritvam*, "the power to enslave others". He says that the best slave is the *gaṇeśaceṭaka* and gives his mantra. (μ's reading for *ceṭakam*, *kheṭakam*, "shield", may be original.) *Yakṣiṇī*s are usually associated with Kubera and can bestow wealth and sexual favours (see e.g. *KSS* 37.64–83, *BKhP* f. 28v^{1}–f. 28v^{5}). *MaSaṃ paṭala* 34 (MS A f. 76r^{1}–f. 78r^{10}) describes *yakṣiṇīsiddhi*: by means of a *trikūṭa* and other mantras, and a visualisation of the goddess, the *sādhaka* gets *yakṣiṇīmelaka*. Ballāla (f. 27v^{10}–f. 27r^{1}) gives a *yakṣiṇīsiddhimantra* and says that according to the *Nāgārjuna* and *Dattātreya* Tantras there are thirty-two *yakṣiṇī*s.

The syntax of this list of *siddhi*s is odd. 1.75cd is a plural *dvandva* compound while 1.76ab lists its *siddhi*s one by one. G omits 1.75cd, suggesting that the line may be a later addition to the text. Some of the witnesses seem to have attempted to split 1.75cd into separate elements, but it is metrically impossible to alter °*khadgavetāla*° to *khadgo vetālaḥ*.

277 The basic meaning of *kalā* is "a part", especially "a sixteenth part of the moon" (e.g. *Bṛhadāraṇyakopaniṣad* 1.5.14; see GONDA 1965:115–130). The moon waxes and wanes in periods of fifteen days; each day it gains or loses one *kalā*. The sixteenth *kalā* is the *amṛtakalā* (*SSP* 1.63; cf. *ṢCN* 46) which never dies, even at the dark of the moon. (Some tantric texts add a seventeenth *kalā*; see e.g. *TĀ* 3.137, Jayaratha *ad TĀ* 5.63–64, *Parātrīśikāvivaraṇa* 35.) Many texts also describe the *kalā*s of the sun and of fire (e.g. *KAT* 6.37–40, *SSP* 1.63–65, *GBS* 89). The moon's association with *soma* and *amṛta* has led to all of its *kalā*s being thought of as containing *amṛta*, and it is in the sense of a store of *amṛta* that the word *kalā* is used in the *Khecarīvidyā*. *Kalā* can also mean "tongue" (e.g. *HP* 3.33) and, in tantric descriptions of the phonematic emanation of reality, "vowel" (*TĀ* 5.63–64; PADOUX 1990a:89–91). See also note 311; WHITE 1996:36–44.

278 The four aims of man are *kāma, artha*, *dharma* and *mokṣa.* See 2.3–6. Cf. *KJN* 5.31, 8.41.

279 I have been unable to find parallels of this list of *kalā*s in other texts.

280 Thus *mokṣa* (see 2.1) is equated with *parameṣṭhīnām ādhipatyam*, "dominion over the highest gods" and subordinated to the end described in the next verse: becoming Śiva, liberated while living.

281 The witnesses here are unanimous in reading *dvādaśābdam*, "for twelve years", or corruptions thereof. One would, however, expect a word meaning "for twelve months" rather than "for twelve years" because of the passage at 2.10–17, in which are listed the rewards obtained each month from drinking the *parāmṛta* in the *brahmarandhra* over a period of a year, culminating in the attainment of Śivahood.

282 For *saha saṃvartate* G has *sadā saṃveṣṭito*: rather than merely associating with the beings listed, the yogin is forever surrounded by them.

283 Cf. *GBS* 138: *parcay jogī unman khelā ahanisi iṃchyā karai devatā syuṃ melā*, "the yogin in the *paricaya* state plays in *unmanī* day and night, and meets with deities

at will".

284 *Jogpradīpakā* 638–640, in a section on *praveśana* (see *Khecarīvidyā* 2.105), lists the rewards of placing the tongue at the *brahmavivara*: after one month the *nāḍī*s are purified, after two months the yogin hears the *anāhata nāda* (Hindī *anahad nād)*, after three months the body has a divine radiance, after four months the yogin has long-distance hearing, after five months the mind becomes like that of a child and after six months the yogin assumes the form of Śiva.

285 Kedāra is located between the eyebrows in *HP* 3.23 and *Darśanopaniṣad* 4.48, but *KhV* 2.49–56 clearly indicates that the *cūlitala* is at the back of the head, above the nape of the neck (see also note 241). The description at 2.22 of a further set of *kalā*s at the *somamaṇḍala* between the eyebrows confirms that the *KhV*'s Kedāra is not located there. WHITE (1996:245–246) describes parallels between the site of the Himalayan shrine of Kedārnāth and the subtle body of haṭhayogic physiology.

286 On the connection between *amṛta* and Soma, see note 277, DASGUPTA 1976:250–1 and GONDA 1965: ch. 2.
Instead of *vīravandite*, "o you who are worshipped by the extreme adepts", S$\beta\gamma$ have the *aiśa* sandhi form *'maravandite*, "o you who are worshipped by the gods". This is the only occurrence of an *aiśa* form in the *KhV* manuscripts being found in a correct form in μ. I suspect that this is because of an attempt to get rid of *vīra*°, a word that has strong connotations of left-hand tantrism. Cf. 2.110d, where almost all the witnesses read *saṃsthitā vīravandite*; only G has *saṃsthitāmaravandite* (in which the sandhi is correct).

287 The names of the next sixteen *kalā*s that are listed (eight at Kedāra, four at the *somamaṇḍala*, three at the *khecaramaṇḍala* and the first of the two at the *rājadanta*) match exactly the sixteen *saumyakalā*s listed at *Kulārṇavatantra* 6.37–38 and the lunar *kalā*s listed in a quotation from the *Merutantra* in the third *taraṅga* of the *Puraścaryārṇava* (p. 215; in this list Puṣṭi and Tuṣṭi are transposed). In Amṛtānanda-nātha's *Dīpikā* on *Yoginīhṛdaya pūjāsaṃketa* 104–105 he lists sixteen *saumyakalā*s: Amṛtā, Mānadā, Pūṣā, Puṣṭi, Prīti, Revatī, Hrīmatī, Śrī, Kānti, Sudhā, Jyotsnā, Haimavatī, Chāyā, Sampūritā, Rāmā and Śyāmā. MONIER-WILLIAMS (1988:s.vv.), at the entries for each of the names of the eight *kalā*s here located at the *khecara-maṇḍala,* says that they are (in the same order) the names of the *kalā*s of the moon as described in the *Brahmapurāṇa*, but I have been unable to locate any such passage in that work.

288 In this and subsequent descriptions of groups of *kalā*s, it seems that the yogin should spend a month tasting the *amṛta* at each *kalā* because the rewards to be gained are obtained after the same number of months as *kalā*s at that particular *kalāsthāna*.

289 The Orb of Soma *(somamaṇḍala)* probably refers to the moon: the names of the *kalā*s here have particularly lunar connotations; furthermore, in the Kaivalyadhām edition of the $G\acute{S}_N$ the moon is called *somamaṇḍala* in verse 56 (KAIVALYADHĀM 1991:314). *MKSG* 11.997 mentions a *mahācakra* called Soma above the forehead. *MVUT* 16.13 and *VS* 4.41 locate the *somamaṇḍala* at the heart.

290 *samāpibet*: the reading *samāviśet* found in almost all the witnesses seems odd, particularly after *samāveśya* earlier in the line. I have thus adopted SANDERSON's

conjectural emendation *samāpibet*. One could understand *samāviśet* to mean "the yogin should enter [*samādhi*]" but there are no similar constructions elsewhere in the text. Ballāla (f. 32v[9]) understands *samāviśet* to mean that the yogin should remain with his tongue in place: *praviśyaiva sthito bhavet*.

291 I have conjectured *yogī* for the first word of 24c where G and the *KhV* manuscripts have *devi*. Nowhere else in the text does a vocative start a half-verse. The manuscripts of μ have *devabhāsacatuṣkoṇa (°keṇa J*$_6$*)*, "a square of divine appearance", for 24c which does not fit the context and is probably a corruption of the reading found in the other witnesses.

292 Witnesses μG, which often preserve original readings, have *khecaramadhyagam*, "in the middle of Khecara", for *khecaramaṇḍalam*, but I have been unable to locate any other references to a place called Khecara in the body so have adopted the reading of the *KhV* manuscripts. *Khecaramaṇḍala* perhaps refers to the sun, in contrast to the lunar *somamaṇḍala* that has just been described.

293 "known as the Diamond Bulb" *(vajrakandākhyam)* : I have found no references to a *vajrakanda* in the body in other works on yoga. *RAK* 156 mentions a plant called *vajrakanda* in a description of a mercurial preparation. Several works describe an egg-shaped *kanda* or *kandayoni* at the navel as the source of the 72,000 *nāḍī*s, e.g. *GŚ*$_N$ 25 (=*YCU* 14c–15b), *VS* 2.11–12 (=*TŚBM* 58–59), *ŚP* 4307. On the analogy of this *kanda*, the *vajrakanda* may be a point of intersection or origin of *nāḍī*s. See also 2.49c–50b, 2.86 and note 448.

294 The reading found in various forms in the manuscripts of S$\beta\gamma$, *alakṣyaḥ sarvalekhakaiḥ*, is interpreted by Ballāla (f. 33r[10]) to mean "imperceptible by the gods", i.e. "invisible" *(adarśanīyaḥ)*.

295 *nāsikādho 'dharoṣṭhordhvam*: this is an emendation of the reading found in G and, in a corrupt form, in μ. The witnesses of S$\alpha\beta$ have *nāsikādhottaro°* or corrupt versions of it (γ has the nonsensical *nāsikādyotaroṣṭādhaḥ*). This form is the result of a double sandhi ("*ārṣa*" sandhi according to Ballāla at f. 33v[1]) of *nāsikādhaḥ+uttaro°*. I have taken *adharoṣṭha* to mean both the upper and lower lips (cf. Monier-Williams 1988:19).

296 As we have seen in note 258 the *rājadanta* or "Royal Tooth" is the uvula, so its description as "below the nostrils and above the lips" is surprising and suggests that it means somewhere in the region of the front teeth. Presumably the description means that the *rājadanta* is on the same horizontal plane as the space below the nostrils and above the lips.

297 "the Base" *(ādhāram)* : this is the *ādhāra* or *mūlādhāra cakra* of tantric and yogic physiology. See e.g. *KJN* 14.15–24b, *KMT* 13.37–52, *ṢCN* 4, *GŚ*$_N$ 18, *YŚU* 1.168.

298 I have found no parallels for this or any of the subsequent lists of *kalā*s.

299 i.e. by means of the haṭhayogic *mūlabandha*. Ballāla (f. 34v[1–2]) explains it to be the forcing of breath into the head by sitting in *padmāsana* or *siddhāsana*, contracting the Base and repeating *huṃ huṃ*: *ākuṃcanaṃ tu padmasiddhāsanasthatve sati huṃh* u* ṃkāreṇādhārakamalaṃ saṃkocya tatrasthavāyoḥ pṛṣṭhavaṃśe nayanāṃbhojavṛttau tu nābhimūlāt preritasya vāyoḥ śirasy abhihananam* /. Cf. *GŚ*$_N$ 58–59, *YKU* 1.64, *HP* 3.60–68 etc. In his commentary on *NT* 7.30, Kṣemarāja de-

scribes a forerunner of this practice in which the contraction and expansion of the anus cause Kuṇḍalinī to point upwards: *cittaprāṇaikāgryeṇa kandabhūmim avaṣṭabhya tanmūlam iti mattagandhasthānaṃ śanair iti saṃkocavikāsābhyāsena śaktyunmeṣam upalakṣya pīḍayet yathā śaktir ūrdhvamukhaiva bhavati* (see also *NTU* pp.157–158). This repeated contraction and expansion is a feature of the *Gheraṇḍasaṃhitā*'s *aśvinīmudrā* which is also said to awaken Kuṇḍalinī (*GhS* 3.64).

300 "up to his skull" *(brahmāṇḍakāvadhi)* : in the *KhV brahmāṇḍa* means skull. See note 257.

301 Ballāla (f. 35v$^{7-8}$) explains *pañcabhūtalaya* as absorption into the subtle elements: *yady api sthūlānāṃ bhūtānāṃ layo* ⟨'⟩*saṃbhavas tathāpi tanmātrāṇāṃ lavarayahānāṃ bījabhūtānāṃ tatra tatra japeneṣṭadevatādhyānena ca laye tallayasyārthasiddhatvāt*. In haṭhayogic texts, *laya* is both an aim of yoga (see *KhV* 3.48–52; *AY* 1.21–98, *AŚ* p.5 ll.16–20, *HP* 4.3, 4.29–34 etc.) and a type of yoga itself (e.g. *DYŚ* 29–30 and 37–51, *HP* 4.103, *YB* 143, *ŚP* 4350–4363, *VU* 5.10). μ's reading, *pañcabhūtajayaṃ labhet*, preserves an older idea of mastery over the elements found in the *Yogasūtra* (3.43) and many tantric works (see VASUDEVA 2004:240–250). In his commentary on 3.65 (f. 97r$^{6-8}$), Ballāla quotes a passage on *bhūtajaya* which he attributes to the *Mahābhārata*: *bhārate pauṣkare saptadaś*⌈*ā*⌉*dhyāye nīlakaṃṭh∗krameṇa pādādi jānuparyaṃtaṃ* / *jānvādi pāyvaṃtaṃ* / *pāyvādi hṛdayāṃtaṃ* / *tato bhrūmadhyāṃtaṃ* / *tato mūrdhāṃtaṃ* / *cakrapaṃcakaṃ (paṃcakaṃ] em.; paṃca* S) *paṃcaghaṭikāparyaṃtaṃ mano dhārayato bījāni japata uktadevān dhyāyataś ca tattadbhūtajayo 'vaśyaṃ bhavati* /. See also note 316.

302 "in the morning, in the evening and at midnight" *(trikālābhyāsayogataḥ)* : this is the conventional meaning of *trikāla* and it is understood thus by Ballāla (f. 36r$^{1-2}$).

303 "the place of the penis" *(liṅgasthānam)* : the Svādhiṣṭhāna lotus is located in the region of the penis in *GŚ*$_N$ 22, *ŚS* 5.103, *ṢCN* 14 etc. Likewise Ballāla puts it *liṅgamūle*, "at the root of the penis" at f. 36r[7]. I have thus adopted G's reading over μ's incorrect *nābhisthānam* and the vague *nābhisthānād adhaḥ* of the other witnesses.

304 As Ballāla notes (f. 37v$^{8-10}$), this and the reward mentioned at 2.45b are presumably the reward described at 2.39.

305 "the Bamboo Staff" *(veṇudaṇḍam)* : I have not come across references to the *veṇudaṇḍa* in any other texts. Ballāla (f. 37r[1]) says that it is the lower part of the spine *(pṛṣṭhavaṃśākhyasya mūlaṃ)* and equates it with the *vajradaṇḍa* described in *YB* 131. G's reading of *vīṇā* may be original: *Tantrarājatantra* 27.35 says that the *vīṇādaṇḍa* is the spine—*suṣumṇā pṛṣṭhavaṃśākhyavīṇādaṇḍasya madhyagā*; *YŚU* 6.8 describes the *vīṇādaṇḍa* as being in the region behind the anus and supporting the body *(dehabhṛt)*.

306 45c–48b appear to be a later addition to the text: 48c follows on directly from 45b.

307 Cf. *GŚ*$_N$ 32, *VS* 2.27–28 etc.

308 The edition's reading of *raviḥ proktaḥ* in 46a is attested only by B and is possibly a scribal emendation. It is tempting to adopt μ's *raver bāhuḥ*, taking it to mean "a ray of the sun" but I have found no parallels for this usage of *bāhu*. The reading *raver vāhaḥ* found in a variety of forms in the other witnesses results in the unwanted repetition of *vāhaḥ*.

309 47a is puzzling and I suspect that the text is corrupt. I have found no parallel passages in other haṭhayogic texts. As Ballāla notes (f. 39r[10]), *dhāraṇā* can mean both fixing of the mind on a single object and fixing of the breath. (The two are linked: Vyāsa in his commentary to *YS* 2.52 states that mental *dhāraṇā* is brought about through breath-control; cf. *HP* 4.23.) I have interpreted this *pāda* with the former sense of *dhāraṇā*. It could also be interpreted with the latter sense, giving the meaning that the yogin is to inhale through the lunar channel but this would be somewhat redundant since the same is said in the next half-verse.

310 This lunar *prāṇāyāma* with its emphasis on inhalation through the Iḍā *nāḍī* has no parallel in the manuals of *haṭhayoga*, in which the yogin is usually instructed to use alternate nostrils for inhalation (e.g. *HP* 2.7–10, *ŚS* 3.24–25, *GhS* 5.38–53). There is one technique in which the yogin is to use only one nostril for inhalation: *sūryabhedana* (*HP* 2.48–50, *GhS* 5.58–63); however it is the Piṅgalā *nāḍī* which is to be used for inhalation and the Iḍā for exhalation.

311 The *kalā*s situated in the lower part of the body total twelve (five at the Base, three at the Svādhiṣṭhāna and four at the Bamboo Staff). This figure tallies with the descriptions of twelve *kalā*s of the sun (which is situated in the lower part of the body in yogic physiology: see e.g. *HP* 3.76–81) found in *SSP* 1.64 and *KAT* 6.39. This may be coincidence: here the *kalā*s are not said to have any connection with the sun while in the *SSP* and *KAT* passages the names of the *kalā*s are explicitly solar. Moreover, no such neat correspondence can be made for the twenty-two *kalā*s situated in the head. Indeed it is striking that the *kalā*s in the head do not total sixteen or seventeen (see note 277). (Ballāla (f. 38r[7]) omits the four *kalā*s at the *somamaṇḍala* and the single *kalā* above the *brahmārgaladvāra* to arrive at the scripturally prescribed total of seventeen *candrakalā*s.)

312 I usually translate *sudhā* as "nectar", *amṛta* as *"amṛta"*, *parāmṛta* as "great *amṛta*", and *paramāmṛta* as "supreme *amṛta*". I have chosen to translate *parāmṛta* here as "ultimate *amṛta*" because Śiva is now teaching the location of the highest store of *amṛta* in the head.

313 The Diamond Bulb *(vajrakanda)* has been described at 2.25c-29b. See note 293.

314 For *yoginaḥ*, "yogins", μ has *yoginyaḥ*, "yoginīs". This may indicate a difference in doctrine between μ and the other witnesses, but could also be because of a scribal error.

315 On the *cūlitala* see note 241.

316 This description of five places in the head corresponds to descriptions of the qualities of the five elements to be meditated upon in the haṭhayogic *dhāraṇā* (e.g. $GŚ_N$ 155–159, *VS* 4.1–15, *DYŚ* 220–242, *ŚS* 3.72–74, *GhS* 3.59–63, *Śivasvarodaya* 209–213; cf. *MVUT* 13.21c–13.53d, *Mṛgendratantra Yogapāda* 39–44; Ballāla (f. 42(1)v) quotes similar passages from the *Kulaprakāśatantra* (see Kavirāj 1972:143), the *Śāradātilaka* and the *Mahākapilapañcarātra* (see ibid.:484)). These elemental qualities (appearance, colour, shape, *bīja* etc.) have been imposed (with some differences) upon different sets of five physical locations in different schemata of esoteric physiology. Thus they appear in the *ṢCN*'s description of the lower five *cakra*s at the perineum, the genital region, the navel, the heart and the throat (cf. *ŚS* 3.73–74); in the $GŚ_N$ they are found at the heart, the throat, the palate, between the eyebrows

and at the *brahmarandhra;* in the *DYŚ* they are in the regions between the anus and navel, at the navel, above the navel, between the navel and the eyebrows and above the eyebrows; here in the *KhV* the first four are at the cardinal directions in the head with the fifth above, in the centre. The order in which the elements are listed here is different from that found elsewhere. In the text from 49c to 58b and in its summary at 58c–59d the order is earth *(pṛthivī)*, fire *(sūrya)*, air *(anila)*, water *(jala)* and ether *(ākāśa)*, in contrast with the usual order of earth, water, fire, air, ether. They are, however, positioned in their usual order as one circumambulates the head (albeit anticlockwise): starting at the forehead with earth, there is water at the left temple, fire at the back of the head, air at the right temple and ether on top.

317 At f. 40v[10] Ballāla likens the four *liṅga*s with the fifth in the middle and a store of cooling *amṛta* above to the four columns of a temple with the *liṅga* in the middle and a *galantikā* or *kalaśa* dripping water onto the *liṅga* from above: *caturdikṣu galaṃtikāstambhās tadupari pragalajjalakalaśaḥ*.

318 "with the moon above it" *(ūrdhvacandram)* : the readings of μ and G (*ūrdhver ūrdhva°* and *ūrdhvaraṃdhra°* respectively), although corrupt, suggest that *ūrdhvacandram* may not be the original reading. The *Vairāṭapurāṇa* locates a *cakra* called both *ūrdhvarandhra* and *tālucakra* above the *sahasrāracakra* (Kavirāj 1987:51).

319 "perfect" *(heyopādeyarahitam)* : *heyopādeyarahita* literally means "free of those things which are to be rejected *(heya)* or cultivated *(upādeya)*", i.e. free of any hierarchised duality. Ballāla (f. 43r[10]) glosses *heya* with *saṃsāra* and *upādeya* with *mokṣa*. The *Mālinīvijayottaratantra* opens with a statement of what is *upādeya* and what is *heya* (1.14c–17b): "Śiva, Śakti and Sovereigns of Mantra-regents, Mantras, Mantra-regents, and individual souls" are to be cultivated. "Impurity, karma, Māyā, the entire universe deriving from Māyā" are to be rejected (Vasudeva's translation (2004:151)).

320 "to obtain the ultimate substance" *(paratattvopalabdhaye)* : here *paratattva* can be understood both physically and metaphysically. It is *amṛta*, the ultimate substance, beyond the five elements already mentioned, and it is the ultimate reality, the goal of many tantric and haṭhayogic practices (see e.g. *KT* 59.36, *HP* 4.37 and *KhV* 2.100c). That this practice is not entirely physical is indicated by phrases such as *manasā saha* at 64c and 65d, and *unmanyā tatra saṃyogam* at 67c. Most of the first *adhyāya* of the *Amanaskayoga* (vv. 21–98) is devoted to describing *laya*, by means of which the *paratattva* is obtained. (This first *adhyāya* is called *layayoga* when quoted from by later commentators; the second, which describes *amanaskayoga*, is called *rājayoga* (Bouy 1994:22, 69, 78)).

321 On Vāgīśā, "the goddess of speech", see 2.110cd.

322 "with her mouth upwards" *(ūrdhvavaktrām)* : i.e. with the tip of the tongue pointing upwards in order to lick at the *amṛta*. G's reading, *ūrdhvavaktre*, suggests the "upper mouth" at the opening of the *śaṅkhinī nāḍī* from which *amṛta* flows (cf. *AŚ* p.10).

323 The pot of *amṛta* is a recurrent theme in Indian mythology. When the ocean of milk was churned by the gods and demons Dhanvantri appeared carrying a white pot *(kamaṇḍalu)* of *amṛta* (*Mahābhārata* 1.18). Four drops of *amṛta* fell from this

pot at the sites of the triennial Kumbh Melā, "Pot Festival" (on this recent addition to the myth see LOCHTEFELD 2004). At *SYM* 21.7 Bhairava is to be visualised in the middle of the Umāmaheśvara *cakra* churning a pot *(kalaśa)* full of *amṛta*; at *SYM* 22.36 in a description of the fearsome Yoginīcakra, at the hub of the wheel the Yoginīs churn and drink from a white pot *(kalaśa)* full of *amṛta*. The inner shrine of the Nātha monastery at Caughera in Nepal contains a pot of *amṛta (amṛtapātra)* which is said to be the *svarūp* of Gorakhnāth (BOUILLIER 1997:31–32).

324 *Unmanī*, "the supramental state", is a common goal of tantric and haṭhayogic practices. At *HP* 4.3–4 it is included in a list of synonyms of *samādhi*. It is also frequently mentioned by Hindī poets of the *nirguṇa* tradition (CALLEWAERT & DE BEECK 1991:626).

325 "that consists of *nāda* and *bindu*" *(nādabindumayam)* : in tantric works, *nāda* and *bindu* (often combined with *kalā*—see note 277) have several different meanings. In particular, they refer to places in the body (e.g. *NT* 7.29, *KT* 58.56, *Vijñānabhairava* 36–37) and describe corresponding stages in the manifestation of the phonetic universe (e.g. *Śāradātilakatantra* 1.7–8, *TĀ* 4.175; see PADOUX 1990a:86–121). In some texts they are also listed among the six *lakṣya*s, "the six manifestations of Śiva as the 'goals', or 'targets', of yogic practice" (VASUDEVA 2004:253–292). In the texts of *haṭhayoga*, *nāda* is usually the internal, "unstruck" *(anāhata)* sound heard during yoga practice (see e.g. *HP* 4.66–106, *Nādabindūpaniṣad* 31–51). Meanwhile *bindu* is understood to be the *amṛta* secreted in the head, which the yogin must prevent from falling and being discharged as semen (*HP* 2.78, 3.42, *SSP* 2.13; but cf. *ŚS* 5.144 where *nāda* and *bindu*, together with *śakti*, are *pīṭha*s in the lotus of the forehead; cf. also *BKhP* f. 100v^{3}: *pīṭhatrayaṃ bhāle biṃdunādaśaktirūpaṃ | tatphalaṃ janmāṃtarasmṛtiḥ | viparītajihvayā nādadhyānaṃ pāpanāśanaṃ | śaktau vāsanākṣayaḥ*, and *MaSaṃ* 17.14–16, in which the *viśuddhacakra* and an unnamed *cakra* somewhere above *viśuddha* are said to be *nādarūpaka* and *bindurūpaka* respectively). It is with the usual haṭhayogic meanings that Ballāla (f. 44v$^{3-4}$) understands *nāda* and *bindu* (cf. *HPJ ad* 4.1). As such, the compound *nādabindu* joins two unconnected concepts and his interpretation seems forced. I suspect that in haṭhayogic works the compound is used more as a catchphrase, harking back to its use in tantric texts and thereby adding esoteric gravitas (see e.g. *HP* 4.1, *GBS* 163, 181, 184 etc., *YŚU* 6.70, *GhS* 6.12 and the *Nādabindūpaniṣad*, which, despite its title, concerns only the "unstruck" *nāda* and mentions *bindu* just once, at verse 50). On *nāda, bindu* and *kalā* see also KIEHNLE 1997:141.
At *HP* 3.46 in the description of *khecarīmudrā* the yogin is said to eat beef and drink wine (see page 28 of the introduction). The *jogī* is said to drink *vāruṇī* at *GBS* 137. Cf. *Rasārṇava* 1.26, *Rasendracūḍāmaṇi* 1.7–10. See also ROŞU 1997:413.

326 Ballāla (f. 45v$^{4-7}$) takes this verse to be describing those entitled to teach and learn Khecarī yoga: the text is to be spoken by [a yogin] who has no desire for *siddhi (na kiṃ cit siddhim icchatā*—he interprets *siddhi* here as *śiṣyād dravya⌈sevā⌉diprāpti*, "obtaining goods, service etc. from a pupil"!) to one who has attained the means of *siddhi (siddhisopānam)* but does not know this yoga.

327 The *aiśa* anacoluthon in this verse has been emended in G, or one of its antecedents.

328 Practices involving massaging the body with various physical secretions are alluded to fleetingly in many haṭhayogic texts (see the references in the notes to 2.75a–77b). *Paṭala* 27 of the *Matsyendrasaṃhitā* (which is reproduced on page 154 of the appendices) describes several such techniques in detail, summarising them as "the ritual bath which is better than [bathing] at all the sacred bathing places" *(sarvatīrthādhikaṃ snānam* 27.1cd). (At *MaSaṃ* 27.2 faeces, urine, menstrual blood, phlegm (? *recaka*) and semen (? *sāraka*) are said to be the gods Lokeśa, Keśava, Rudra, Īśa and Sadeśvara.) These practices corporealise the techniques of *rasaśāstra*, alchemy. (On corporealisation see page 27.) The words used to describe the massaging of the body, *lepana* and *mardana*, are also used to describe *saṃskāra*s in the process of fixing mercury (see e.g. *RAK* 80, 91, 150 etc. on *lepana* and 54, 89, 98 etc. on *mardana*). As with the substances to be rubbed into mercury in the alchemical *saṃskāra*s, in *MaSaṃ paṭala* 27 minerals and herbs are added to the fluids to be massaged into the body. *MaSaṃ* 27.1 calls the knowledge of these practices *kṣetrajñāna*; at *Rasārṇava* 18.11, 18.15 and 18.19 the preparation of the human body for alchemical practice by the consumption of herbal preparations is called *kṣetrīkaraṇa* (see also White 1996:265–273).
In verses 95 and 281c–282b of the *RAK* it is said that the urine and faeces of a man who eats certain herbal preparations (which do not include mercury) can transmute copper into gold (cf. *ŚS* 3.61 and *DYŚ* 197 quoted in note 336). At 146 it is said that by eating a preparation of calcined mercury, a man becomes *sparśavedhī* and his sweat can fix mercury.
The physical practices are attacked at *SSP* 6.90:

> *śaṃkhakṣālanam antaraṃ rasanayā tālvoṣṭhanāsārasam*
> *vānter ucchadanam kavāṭam amarīpānaṃ tathā kharparīm* |
> *vīryaṃ drāvitam ātmajaṃ punar aho grāsaṃ pralepaṃ ca vā*
> *ye kurvaṃti jaḍās tu te na hi phalaṃ teṣāṃ tu siddhāntajam* ||
>
> **90b** ucchadanaṃ] *em.*; ullaṭanaṃ Ed, uchuṭhanaṃ Ed*vl* ◇ kharparīm] *em.*; kharparī Ed **90c** vīryaṃ] *em.*; vīrya Ed ◇ grāsaṃ pralepaṃ ca vā] grāsapradaṃ pañcadhā Ed*vl*

"Those who practise emesis and enema [and] use the fluids from the palate, lips and nose with the tongue, who massage themselves with vomit, who practise *kavāṭa* (?), drink their own urine, use Kharparī (coryllium?), who use their semen after causing it to flow, and eat or massage [themselves with these fluids], are stupid and do not get the reward that is produced by the correct doctrine." (Several verses towards the end of *SSP paṭala* 6 appear to be later additions to the text since they contradict earlier verses: see e.g. 6.13 where the *avadhūta* who drinks his own urine is praised.) Cf. *AY* 2.33 (=*AP* 8): *ke cin mūtraṃ pibanti svamalam. . .* , "some drink urine, their own filth. . . ", and *Rasārṇava* 1.11c–12b: *śukramūtrapurīṣāṇāṃ yadi muktir niṣevanāt* | *kiṃ na muktā mahādevi śvānaśūkarajātayaḥ* || "If liberation [comes] from using semen, urine and faeces, then why are dogs and pigs not liberated, o great goddess?"

329 Here Śiva teaches the physical locations of fire, the sun and the moon. As in the locations of the five elemental deities discussed in note 316, the system described

here is different from that found in other tantric and haṭhayogic texts. In the texts of *haṭhayoga*, the sun and fire are combined and said to dwell in the region of the navel, consuming the *amṛta* that drips from the moon which is situated at the palate (see e.g. *GŚ$_N$* 133, *HP* 3.78, *GhS* 3.29).

In this verse, only μ has *bhālamadhye*, "in the middle of the forehead", (cf. *bhālajam* at 74b), which is almost certainly original in the light of both 2.75, where the *amṛta* that has dripped from the moon emerges from the nostrils, and 2.22, where the *somamaṇḍala*, i.e. the moon, is located between the eyebrows. Similarly, at *SSP* 2.21 the yogin is told to visualise a *candramaṇḍala* at the *bhrūmadhyādhāra* while *ŚS* 5.182 locates the moon at the Sahasrāra lotus at the top of the skull. The readings of the rest of the witnesses, which locate the moon at the palate, have probably originated through confusion with other texts, rather than through deliberate alteration.

330 On *mathana*, "churning", see 1.57c–64d.

331 Ballāla (f. 46v$^{1-3}$) describes how the orb of fire is to be awakened: *dakṣahastasya madhyamāṃguṣṭhābhyāṃ ḍamaruvan nāsikāpuṭe pūrayan recayaṃś (em.; pūraya*ecayaṃś* S) *ca vādayitvā paścād gāḍhaṃ pūrayed recayed ity eṣātra bhastrā* (*em.*; *bhasrā* S*) tayā suṣumṇāvahane sati tadadhiṣṭhitavahner udbodhanaṃ bhavatīti*. This is a variation of the *bhastrā/bhastrikā prāṇāyāma* described at *YB* 108–112, *HP* 2.59–67 and *GhS* 5.70–72 (in the almost identical *YB* and *HP* passages the practice is said to be *kuṇḍalībodhakam* and bring about *śarīrāgnivivardhanam*, i.e. it awakens Kuṇḍalinī and increases the bodily fire).

332 *HP* 3.48 describes how *amṛta* flows from the moon after it has been liquefied by the heat produced when the tongue enters the opening above the palate: *jihvāpraveśasambhūtavahninotpāditaḥ khalu | candrāt sravati yaḥ sāraḥ sā syād amaravāruṇī ||*. Cf. *TĀ* 4.131cd, 134ab.

333 "in a vessel" *(pātreṇa)* : *MaSaṃ* 40.8 (A f. 90v^2) says that the vessel used to hold the yogin's urine *(amarī)* should be made of gold or silver, or, if they are unavailable, copper or brass *(kāṃsya)*. *KJN* 12.11-16 describes the different materials that can be used to make the *pātra* that holds the *cāruka*, the Kaula *pañcāmṛta* libation, which consists of faeces, urine, semen, blood and marrow (*KJN* 11.11); cf. *TĀ* 11 (29) p. 130, ll. 5–8 where the five jewels are said to be urine, semen, menstrual blood, faeces and phlegm (Sanderson 1995:82)).

334 Cf. *MaSaṃ* 27.9. A corrupt passage at *HP* 3.93–94 describes the *amarolī* technique: *amarīṃ yaḥ piben nityaṃ nasyaṃ kurvan (nasyaṃ kurvan] tasya kuryād Ed^{vl}) dine dine | vajrolīm abhyaset samyag amarolīti kathyate || abhyāsān niḥsṛtāṃ cāndrīṃ vibhūtyā saha miśrayet | dhārayed uttamāṅgeṣu divyadṛṣṭiḥ prajāyate ||* "He who always drinks urine, [also] using it as a nasally administered substance, every day [and who] correctly performs *vajrolī,* [his practice] is called *amarolī*. He should mix with ash the lunar [fluid] that has emerged after practice and put it on his head; he gets divine sight." (Translation by Goodall & Isaacson.) Brahmānanda (*HPJ ad loc.*) attributes this practice to Kāpālikas.

335 In haṭhayogic texts, *nāḍīśuddhi*, "purification of the channels of the body", is usually said to arise by means of *prāṇāyāma*. See e.g. *GŚ$_N$* 95, *HP* 2.19, *GhS* 5.2, 5.35, *SSP* 6.79.

336 "the essence of immortality produced at the anus and penis" *(gudaliṅgodgatam amarīrasam)* : cf. *MaSaṃ* 27.6. *MaSaṃ paṭala* 40 describes *amarīsnāna* in detail and calls the process *kulācāra* (40.1). Ballāla (f. $47r^{6-7}$) quotes a passage in this context which he attributes to "traditional teaching": *mūtrapurīṣayor alpatvaṃ ca | yallepāl lohasya svarṇatā gorakṣasyeva tadā vajrolyā sādhitaliṃganālo mūtrasyāgrimadhārāṃ viṣarūpāṃ tathāṃtimāṃ hīnaguṇāṃ saṃtyajya madhyamāṃ balapradāṃ gṛhītvaivam eva madhyamam alpaṃ malaṃ gṛhītvāṃgaṃ mardayed iti | paraṃparopadeśāt |*. For modern accounts of urine massage see Sarasvatī 1991 (especially pp. 74–76) and Armstrong 1994. At f. $47v^{2-4}$ Ballāla describes the *amarī* and *ajarī kriyā*s in which the yogin is to consume faeces and urine respectively: *ke cit tu gudodgataṃ kakṣāmṛtena saṃloḍya ∗dharārasaiḥ saṃskṛtya yad bhakṣaṇaṃ sāmarī kriyā | tatphalaṃ nirāmayatvaṃ balavattvaṃ ceti | liṃgodgataṃ kakṣāmṛtena saṃloḍyādharārasaiḥ saṃskṛtya yat pānaṃ sājarī kriyā tatphalaṃ valītyāgādī*(*°tyāgādī°*] *em.*; *°tyādī°* S)*ty āhuḥ | amarī hy amarakāriṇī | ajarī* ⌈*a*⌉*jarākāriṇī |*. In contrast, Parry (1994:290) reports that present-day Aghorī ascetics call urine *amarī* and faeces *bajarī*. *GBS* 141 says that he who practises *bajarī* and *amarī* is Gorakhnāth's guru-brother. The *KhV*'s description of *amarīrasa* from the *guda* and *liṅga* and Ballāla's *amarī* and *ajarī kriyā*s suggest that the Aghorī's coprophagy is more than just a combination of opposites in which "pollution becomes indistinguishable from purity" (Parry 1994:264).

ŚS 3.61 teaches how through perfection of *prāṇāyāma*, the yogin's urine and faeces can create gold or make it invisible: *viṅmūtralepane svarṇam adṛśyakaraṇaṃ tathā*. Cf. *DYŚ* 197: *malamūtrapralepena lohādīnāṃ suvarṇatā |*. See also *Rasārṇava* 18.28–29b.

HP 3.90 describes the *sahajolī* variant of *vajrolīmudrā*: *sahajoliś cāmarolir vajrolyā eva bhedataḥ | jale subhasma nikṣipya dagdhagomayasaṃbhavam || vajrolīmaithunād ūrdhvaṃ strīpuṃsoḥ svāṅgalepanam | āsīnayoḥ sukhenaiva muktavyāpārayoḥ kṣaṇāt ||*. "*Sahajolī* and *amarolī* are types of *vajrolī*. [The yogin] should put good ash made from burnt cow-dung in water. Straight after sexual intercourse using *vajrolī*, it should be rubbed on the bodies of the man and woman, [when they are] sitting happily, free of activity". It seems likely that this passage has been redacted to conceal a practice in which the combined sexual fluids of the yogin and his consort are smeared on the body. *MaSaṃ* 40.48 describes a similar technique to be practised after intercourse although here it is only semen (mixed with gold, camphor, saffron and such like) that is to be smeared on the body: *tad vīryaṃ svarṇakarpūrakuṅkumādiviloḍitam | svadehaṃ mardayet kāntiś candravat saṃprajāyate*. *Jogpradīpakā* 677–683 describes the *varaṇaka mudrā* which it says is also known as *amarolī*. The yogin is to drink three handfuls of urine first thing in the morning before mixing his urine with *nirguṇḍī, bhaṃgaro* (=Skt. *bhṛṅgarāja* McGregor 1995:s.v.), *muṇḍī* and *giloī* (=Skt. *guḍūcī* ibid.:s.v.) and smearing the mixture on his body.

The *siddha* Karṇaripa added his "own water" to a potion and it became "as the essence of the alchemists" (Robinson 1979:88–9). The *siddha* Caparipa gave a child magical powers: "From his penis came the power to transform things into gold. From his anus came the elixir of immortality" (ibid.:206–7).

337 "the *amṛta* from the armpits" *(kakṣāmṛtam)* : the reading *kalāmṛtam* found in μ

may be original. Śiva has described *amṛtakalā*s at the anus and penis (2.32 and 2.40) but not at the armpits and *MaSaṃ paṭala* 27 does not mention *aṅgamardana* with sweat. However many haṭhayogic texts do teach that the sweat produced through yogic exertion should be rubbed into the body (e.g. *GŚ*$_N$ 53, *ŚS* 3.46, *HP* 2.13, *Dhyānabindūpaniṣad* 70–72, *DYŚ* 148) and it may be because of this idea that the reading *kakṣāmṛtam* supplanted *kalāmṛtam*. *ŚS* 3.46 adds the reason for the practice: *anyathā vigrahe dhātur naṣṭo bhavati yoginaḥ*, "otherwise the basic constituents in the body of the yogin are destroyed". Cf. Ballāla (f. 95r[8]): *evaṃ saniyamaprāṇāyāme jāyamānasya dehe svedasya mardanaṃ hastābhyāṃ kāryaṃ na tu vastreṇāpalāpaḥ | ⌈lāghava⌉ balanāśanāt |*. "The sweat produced when *prāṇāyāma* is practised in this way, [i.e.] according to the rules, should be rubbed into the body with the hands, not wiped away with a cloth. Otherwise suppleness and strength are lost." Like *lepana* and *mardana*, *svedana* is an alchemical *saṃskāra* (see *Rasārṇavakalpa* 98, 368–369 etc.).

338 "with fluid from the lower lip" *(cādharārasaiḥ)* : the feminine form *adharā* for *adhara* is probably *metri causa*. Monier-Williams (1988:19) does report that *adharā* can mean "Pudendum Muliebre" but such a meaning is unlikely here. Ballāla (f. 47r[10]) takes the plural °*rasaiḥ* to indicate that fluid from the lips, tongue and nostrils should be used.

AY 2.33 castigates those who rub saliva into their bodies: *... atha tanau ke cid ujjhanti lālām... naiteṣāṃ dehasiddhir vigatanijamanorājayogād ṛte syāt ||* Cf. *SSP* 6.90 (quoted in note 328). See White 1996:311-2 for legends describing the initiatory and magical powers of yogins' saliva.

339 I have found no description of this practice in any other text. Ballāla (f. 47v[8–10]) identifies it as a supplementary practice to that described in 1.45a but he seems mistaken: at 1.45a it is the *tālumūla* which is to be rubbed and then all the impurity *(mala)* is to be cleansed. Here a potent "great fluid" (*mahādrava*; but n.b. μ's reading *madadrava*, "intoxicating fluid") is produced at the *jihvāmūla*.

340 "[the yogin] should push aside" *(sphoṭayet)* : Monier-Williams (1988:1270) gives "to push aside (a bolt)" as one of the meanings of the causative of the root *sphuṭ*. Ballāla (f. 48r[3–7]) takes this verse to refer to the practice of *tāḍana* (see note 236).

341 I have taken verses 80 and 81 to be summarising the practice of *khecarīmudrā* (unlike Ballāla who takes them with 78a–79d at f. 48r[1–9]). Verse 80 describes the process of inserting the tongue into the region above the palate. The tongue is to be pushed upwards (from its underside) while the uvula is to be brought forward thus making it easier for the tip of the tongue to reach the opening behind it (see note 229). The root *kṛṣ* normally has a sense of "pull" or "draw" but if one were to pull the tongue upwards with the fingers of the right hand, the uvula would be inaccessible to the fingers of the left hand. I have thus taken *utkṛṣya rasanām ūrdhvam* to mean that the tongue is to be pushed upwards (as was demonstrated to me by several of my informants).

342 I am here following Ballāla's interpretation of *ūrdhvavaktram* as meaning *laṃbikordhvakramam*, "going above the uvula" (f. 48r[8]). Alternatively it could mean "the upper mouth": see 3.23b and note 420.

343 "at the *kalā*s" *(candrāṃśe)* : a part of the moon *(candrāṃśa)* is a *kalā* (see note 277).

The *kalā*s referred to here are the three at the Diamond Bulb *(vajrakanda*—see 2.25c–29b and note 293) which is said to be the place of Śiva at 2.49c–50b (cf. *HP* 1.48). For *candrāṃśe*, μ has *vajrāṃtyo* and G *vajrāṃte*. G's *vajrāṃte* may be the original reading, referring to the top of the *vajrakanda*.

344 In the *Khecarīvidyā*, *trikūṭa*, "the Three-peaked Mountain", is located between the eyebrows. See note 259.

345 For similar accounts of curing physical afflictions by means of haṭhayogic practices, see *HP upadeśa* 5, *YB* 102–112 and *DU* 6:25-30b; cf. *MKSG* 11.985. *ŚP* 4508–4513 describes *doṣopasargacikitsā* by means of visualisation.

346 I have found no parallels for this usage of *bhaṭa* and *naṭa*. The usual meaning of *bhaṭa* is "mercenary" or "warrior" and that of *naṭa* is "actor" or "dancer" (Monier-Williams 1988:s.vv.). The terms may thus refer to the different types of *sādhaka* that are afflicted by the problems listed. In Hindī, *bhaṭ* can mean "misfortune, curse" (McGregor 1995:757) while the Sanskrit root *naṭ* can mean "to hurt or injure" (Monier-Williams 1988:525). A Buddhist *vihāra* was established near Mathura by two brothers called Naṭa and Bhaṭa (*Paṃśupradānāvadāna, Divyāvadāna* No.26, p.349; see also *ibid.* pp.356 and 385, Edgerton s.v. *naṭabhaṭikā*, Böhtlingk and Roth s.v. *naṭa*. I am grateful to Peter Wyzlic for supplying me with these references.) G, S and most of α and β have *haṭa* or *haṭha* for *bhaṭa*. I have adopted *bhaṭa* over *haṭa/haṭha* for three reasons: firstly, *bhaṭa* is found in both μ and γ; secondly, the use of the word *haṭha* to describe a system of practices was only just beginning at the time of the *Khecarīvidyā*'s composition and is not attested elsewhere in the text; and, thirdly, the pairing of *haṭha* with *naṭa* seems unlikely. Witness K_5 lends weight to the idea that *haṭha* is a later emendation: at 84a and 99c it has *bhaṭa*, corrected to *haṭa* in the margin. Perhaps the first description of a systematised *haṭhayoga* named as such is to be found in the *Dattātreyayogaśāstra* (17–19 and 57–62) in which the term refers specifically to the practice of ten *mudrā*s. The *DYŚ* is quoted extensively in the *Śārṅgadharapaddhati* (25 *śloka*s between *ŚP* 4376 and 4460) and was thus composed before 1363 CE.

In his commentary on *naṭa,* Ballāla devotes five folios (f. $48v^8$–f. $53r^7$) to quotations from various texts about *nāṭakādinibaddharasādi*, "the dramatic sentiments etc. involved in the various types of drama". The *Khecarīvidyā*'s *naṭabheda*s are physical manifestations of these sentiments. When they arise, actors are unfit for acting: *teṣu jāteṣu nartanayogyā naṭā na bhavaṃti* (f. $53r^8$). This is relevant to yogic practice because the sense organs are like the *naṭa*s: *vastutas tu svasvavyāpāre nartanaśīlānāṃ naṭānām iveṃdriyāṇāṃ netrādīnāṃ bhedā bhedakā naṭabhedā ity ucyaṃte* (f. $53r^7$). Concerning *haṭha* (S's reading for *bhaṭa*), Ballāla (f. $53r^9$–f. $53v^1$) writes that the four manifestations of *haṭha* given in 83cd are proof of success in *haṭhayoga* (!): *ete haṭhasya yogasya pratyayāḥ haṭhaḥ siddha iti pratītiṃ janayaṃti*.

347 "drying up of the body" *(aṅgaśoṣaḥ)* : at *Kubjikāmatatantra* 23.160 a practice similar to the haṭhayogic *khecarīmudrā* is said to get rid of *śoṣa*, *dāha* (cf. *KhV* 2.88d) and *vaivarṇa* (cf. *KhV* 2.87cd).

348 "sloth induced by hunger" *(kṣudhālasyam)* : in order for the varieties of *bhaṭa* to total four, *kṣudhālasya* must be taken as a single entity. I have chosen to take it as a *tatpuruṣa samāsa*; Ballāla (f. $53r^{9-10}$ and f. $53v^{8-9}$) understands it to be a *dvandva*

samāsa with the meaning "hunger and sloth".

349 "the essence of immortality" *(amarīrasam)* : see 2.76cd.

350 i.e. *aṅgaśoṣa*, "dryness of the body", (2.83c) is cured.

351 i.e. it should be done every four hours: *daśamadaśamaghaṭikāyām* (Ballāla f. 53v[6]). A *ghaṭikā* is 24 minutes.

352 See 2.25c–29b, 2.49c–50b and note 293 for descriptions of the Diamond Bulb *(vajrakanda)*.

353 "*amṛta* [from the anus and penis]" *(amarīm)* : see 2.76cd.

354 "trembling of the body" *(aṅgavepaḥ)* : I have adopted G's *aṅgavepaḥ* to avoid repetition of *aṅgaśoṣaḥ* from 2.83c.

355 "dizziness" *(bhrāntis)* : *bhrānti* usually means ignorance (see e.g. *KJN* 5.1). In the context here, however, it must refer to a more mundane physical affliction. Ballāla (f. 54v[2]) glosses it with *mānasī viparītadhīḥ*, "mental perversity".

356 "high fever" *(mahājvaraḥ)* : Ballāla says (f. 54v[7]) that *mahājvara* cannot be cured by doctors *(bhiṣagbhir acikitsyaḥ)* and adds that doctors' medicines are no use in curing any of the problems of *haṭha* and *naṭa*: *haṭhanaṭabhedeṣu bhiṣagauṣadhaṃ na calati*.

357 Ballāla (f. 54v[9]) takes the *tathaiva ca* that follows *netrāndhatvam*, "blindness", to imply *bādhiryam*, "deafness".

358 This is the practice described at 2.32c–39d. Only G has *mūlādhārāt suṣumnāyāṃ* at 2.92a; the other witnesses have variants of *svamūlāt śvāsasaṃbhinnām*, "from her base, together with the breath".

359 This technique involving internal sounds is similar to the haṭhayogic *nādānusandhāna* (see e.g. *SSP* 6.91, *HP* 4.66–106, *NBU* 31–51, *VS* 3.39–40, *GhS* 5.73–76), by means of which *samādhi* is realised (*HP* 4.81). Here, μ reads *jalanāda* for *mahānāda*. μ's reading may be original: in a passage which is found at both *HP* 4.83–89 and *NBU* 32–38 it is said that in the beginning of the practice one of the sounds that arises is that of *jaladhi*, "the ocean" (*HP* 4.85a). On the other hand, *HP* 4.84ab reads *śrūyate prathamābhyāse nādo nānāvidho mahān*, "in the first [stage of the] practice a great sound of many kinds is heard". *HR* 2.148 connects *khecarīmudrā* with the internal *nāda*. For a survey of descriptions of the technique of *nāda* and lists of the internal sounds found in tantric works see Vasudeva (2004:273–280).

360 "in his ears" *(karṇābhyām)* : *-ābhyām* is sometimes used for the locative and genitive dual *(-ayoḥ)* in Śaiva tantric works. See e.g. *Svacchandatantra* 2.231 and Kṣemarāja *ad loc.*, *JRY* 3.38.158c and *JRY* 3 *Yoginīsaṃcaraprakaraṇa* 1.63ab, 1.64. I am grateful to Alexis Sanderson for providing me with these references.

361 "the sound of the roar of a great elephant" *(mahāgajaravadhvanim)* : in the lists of the various sounds heard during *nādānusandhāna* given in haṭhayogic texts (see note 359 for references), no animal sounds are mentioned.

362 "the sound of Brahmā" *(brahmanādam)* : Ballāla (f. 56r[1–2]) offers two explanations of *brahmanāda*: firstly he takes *brahma°* to mean *bṛhat* and thus *brahmanāda* is the same as the *mahānāda* of 93b; secondly *brahmanāda* is the *anāhata*,"unstruck", *nāda* that is the focus of *nādānusandhāna* (see note 359). μ has *siṃhanādam*, "the sound of a lion", which may be original. The small whistle worn on a thread around

the neck by Nāthas is called *siṃhanāda*. Briggs (1938:11), however, reports that the Yogīs understand it to be called thus because ideally the whistle is made of *sīṃg*, "(deer-)horn". Cf. *SSP* 5.15a where it is called *śṛṅgī-nāda*, with a variant reading (from Mallik's edition) of *siṃhanāda*.

363 The sound of thunder, *meghanāda*, is given as one of the *anāhata* sounds at *GhS* 5.75 and *VS* 3.40. Aghora, "not terrific", is a name of Śiva and of one of his most important mantras (see e.g. *Pāśupatasūtra* 3.21–26, *KMT paṭala* 9 and the *Sisṭ* [sic] *Purāṇ* (Baḍathvāl 1960:236–237), a work ascribed to Gorakhnāth, in which Aghor is said to be the best mantra).

364 "knowing all the categories of reality" *(sarvatattvajñaḥ)* : Ballāla (f. $57v^{2-8}$) mentions four systems of *tattva*s: that described in the *Nārāyaṇayogasūtravṛtti* in which there are two types of *tattva*, *jaḍa* and *ajaḍa*, corresponding to the *prakṛti* and *puruṣa* of Sāṃkhya; a *śākta* system of twenty-five *tattva*s; a system said to be found in the *Śaivāgama*s comprising fifty *tattva*s, including the twenty-five just mentioned; and the (presumably twenty-five) *tattva*s described by Kapila in the *Bhāgavata[purāṇa]*. Ballāla adds that the system of fifty *tattva*s found in the *Śaivāgama*s has been described by him in the *Yogaratnākaragrantha*. Gharote & Bedekar (1989:208) list two manuscripts of works entitled *Yogaratnākara* but they are ascribed to Viśveśvarānanda and Rāmānandayogin.

365 "into this peaceful supreme reality" *(śānte pare tattve)* : cf. 2.63d. Ballāla (f. $57r^{10}$–f. $57v^{1}$) says that this *paraṃ tattvam* is the state reached by means of the four *mahāvākya*s of the Upaniṣads.

366 As Ballāla notes at f. $58r^{8-10}$, it is surprising to find *cālana*, "loosening", named as one of the four stages when in the first *paṭala*'s description of the practice *cālana* is only mentioned in passing (1.49) and not by name. The cutting of the frenum, however, is discussed in some detail (1.46–48) and one might expect *chedana* to be the first stage. In most of the other texts in which the practice is taught (e.g. *GhS* 1.28–31, 3.21, *Haṭhapradīpikā* (long recension) 5.147–151 (H2 f. $100r^{7}$–f. $100v^{5}$)), *cālana* is given much more emphasis than it is in the first *paṭala* of the *Khecarīvidyā*. In the *Siddhasiddhāntapaddhati* (2.19, 6.84) the tongue is to be lengthened by means of *cālana*; *chedana* is not mentioned. This suggests that *KhV* 1.44c–77b and 2.101c–105d were not composed together.

It seems likely that *cālana* here does not refer simply to the stretching of the tongue. Commenting on 1.49, Ballāla (f. $19v^{3-9}$) quotes *YB* 91–98 for a description of the cloth used to take hold of the tongue when practising *cālana*. He notes that the passage comes in the description of a *mudrā* for arousing Kuṇḍalinī, the *śakticālanamudrā*. Nowhere in the *YB* passage is it stated where the cloth is to be applied. The Hindī translation of the text supplies *nābhi*, "the navel" as the location. Similarly, in the description of *śakticālana* found in the *Gheraṇḍasaṃhitā*, a much later text, the cloth is to be wrapped around the *nābhi* (3.43). It is hard to imagine how such a practice could be performed. It is probably because Kuṇḍalinī is located in the lower part of the body that the practice is thought to be carried out there too. (Another description of *śakticālana* at *ŚS* 4.105–111 says that it is to be done by means of the *apānavāyu*; see also *ŚS* 5.11 and *YB* 124a; Satyānanda Sarasvatī (1993:385–6) says that *nauli*, churning of the stomach, should be used.) The description of the

cloth at *YB* 91–92 is found in the *HP*'s description of *śakticālana* at 3.109 without any instructions as to what to do with it. Brahmānanda (*HPJ ad loc.*) takes the description to be of the internal *kanda* above which Kuṇḍalinī sleeps. Perhaps the earliest reference (pre-1450 CE; see Bouy 1994:40) to the haṭhayogic *śakticālana* is found in a text called the *Gorakṣaśataka* which is an unedited work, found in only four manuscripts, different from the more popular text of the same name (which is available in several editions; on the different *Gorakṣaśataka*s see note 9 in the introduction). Bouy (*loc. cit.*) has noted that the first eighty verses of the first chapter of the *Yogakuṇḍalyupaniṣad* (whose second chapter is taken from the *Khecarīvidyā*'s first *paṭala*) are taken from this unedited *Gorakṣasaṃhitā*. *YKU* 1.7–8 states that there are two methods of *śakticālana*: a technique called *sarasvatīcālana*, and *prāṇāyāma*. 1.9–18 describe *sarasvatīcālana*. Again the place where the cloth is to be applied is never explicitly stated. The wise yogin is to wrap it around *tannāḍīm* (1.11). The *sarasvatī nāḍī* ends at the tip of the tongue (*VS* 2.37, *DU* 4.21, *ŚP* 4311) and, as we have seen (*KhV* 1.49), *vāgīśvarī*, "the goddess of speech", i.e. Sarasvatī, has her abode at the tongue. This leads me to believe that *śakticālana* is performed by wrapping a cloth around the tongue, not the stomach. The *Haṭharatnāvalī* (c. 17th century) confirms this and seems to preserve an understanding of *śakticālana* that had already been lost before the composition of other, older texts such as the *Śivasaṃhitā*. *HR* 2.118–127 describes the practice in detail and states explicitly that the cloth is to be wrapped around the tongue. Ballāla connects the pulling of the tongue with the awakening of Kuṇḍalinī in his commentary to 2.40–42 (f. 36v$^{4-5}$): *vastraveṣṭitajihvācālanena ca śaktiṃ prabodhya...*, "awakening [Kuṇḍalinī-]śakti by moving the tongue wrapped in a cloth..." and also at f. 37v$^{3-4}$ where he says that Kuṇḍalinī is to be awakened *āsanakuṃbhakarasanācālanamudrādinā*, "by *āsana*, breath-retention, moving the tongue, *mudrā* etc.". Touching the palate with the tongue is said to bring about immediate upward movement of the breath (which is the yogic forerunner of the awakening of Kuṇḍalinī) at *Kiraṇatantra* 59.35 (see page 20). Cf. the practice shown to me by Dr. Tripāṭhī described in note 236.

367 The witnesses here appear to be corrupt. They all have *cālana*, "loosening", as the first stage, *mathana*, "churning", second, *pāna*, "drinking", third and *praveśana/praveśaka*, "insertion", fourth (except G, which has *pramelanam* fourth). This presents two problems. Firstly, *praveśana/praveśaka* needs to precede *pāna*—the tongue must be inserted into the cavity above the palate before *amṛta* can be drunk. (Ballāla notes this at two places (f. 58r$^{4-7}$ and f. 58v$^{1-2}$) and gives two conflicting explanations. At first he says that after *mathana* the upper *kalā*s start to produce *amṛta* and thus there is an intermediate *pāna* before that which follows *praveśana*. At the second instance he employs the Mīmāṃsakas' maxim that the order of words is sometimes subordinate to the order of their meaning: *śabdakramād arthakramasya kva cid balavattvāt*.) Secondly, in 102c–105d these stages are elaborated. No mention is made of *pāna* but a stage called *bhedana* is described between *cālana* and *mathana*. I have thus conjecturally emended 101d–102a from *dvitīyaṃ mathanaṃ bhavet // tṛtīyaṃ pānam uddiṣṭam* to *dvitīyaṃ bhedanaṃ bhavet // tṛtīyaṃ mathanaṃ śastam*.

5.125–6 in the long version of the *Haṭhapradīpikā* (witness H_2) describes the *khecarī* technique as having six ancillaries *(ṣaḍaṅga)* : *chedana, cālana, dohana, pāṇigharṣaṇa, praveśa* and *mantrasādhana.* The six ancillaries are described in detail over the next 93 verses. The *Jogpradīpakā* names six ancillaries of *khecarīmudrā* at verse 611, but has *mathana* for H_2's *pāṇigharṣaṇa.*

368 On "loosening" *(cālana),* see 1.45.

369 On "piercing" *(bhedanam),* see 1.56. Cf. *MKSG* 22.971 and 985. *NT* 7.29 locates the fourth of six *cakra*s at the palate and calls it *bhedana*.

370 On "churning" *(mathanam),* see 1.57c–64d. This passage (103c–104d) is corrupt. G omits 104cd while μ omits *bhedanam* and *mathanam* in 103cd and has *taṃ vadaṃti sma* ⊔⊔⊔⊔ *taṃtunā priye* at 104ab. I have been unable to conjecture a suitable emendation but the meaning of the passage is clear.

371 "into the ether" *(ākāśe)* : on this use of *ākāśa* to mean the hollow above the palate see note 265.

372 Detailed instructions on *praveśana* are given at *Jogpradīpakā* 635–640.

373 "By breaking the bolt of Brahmā" *(brahmārgalaprabhedena)* : for *prabhedena* all the witnesses except μ read *°praveśena* (N has *praveśe tālumūlena*). The idea of insertion is also present in *jihvāsaṃkramaṇena* (which I have translated with "inserting the tongue") so *°praveśena* is redundant. I have thus adopted μ's *°prabhedena* and take the two *pāda*s to be referring to *bhedana* and *praveśana* respectively.

374 "a condition of bliss" *(ānandabhāvatvam)* : Ballāla (f. 59r[4]) quotes (without attribution) the following to explain *ānanda*: *yathā ratau yathā ca miṣṭabhojane yathā suṣuptau iti* , "like [the feeling experienced] in love-making, eating sweets and deep sleep".

375 "a decrease in sleep" *(nidrāhāniḥ)* : *Khecarīmudrā* is said to remove the need for sleep at *HP* 3.38. In the *Haṭharatnāvalī* (f. 5v[5]) the adept is described as *tyaktanidraḥ*, "not sleeping".

376 "social intercourse" *(saṃgamam)* : cf. *Yogasūtra* 2.40: *śaucāt svāṅgajugupsā parair asaṃsargaḥ*, "from purification [arises] disgust for one's own body [and] not mixing with others". Forsaking company *(janasaṅgavivarjana)* is said to lead to perfection of yoga at *HR* 1.78. Both μ and G read *saṃgamam* here while most of the other witnesses have *saṃgame*. Ballāla (f. 59r[8]) understands *saṃgame* to mean *amṛtasthānajihvāgrasaṃyoge*, "on the conjunction of the tip of the tongue and the place of *amṛta*".

377 "food-consumption" *(bhojanam)* : in the texts of *haṭhayoga* and amongst today's *haṭhayogin*s there are two different attitudes towards food consumption. As a result of success in yoga, the yogin either eats very little (e.g. *HP* 4.75) or he can eat as little or as much as he likes without any effect (e.g. *DYŚ* 157). Before attaining *siddhi*, however, the aspirant must curb his appetite (e.g. *HP* 1.15, *ŚS* 3.20, *GhS* 5.16) but he should not fast (e.g. *GhS* 5.31, *ŚS* 3.36). Cf. *Bhagavadgītā* 6.16–17.

378 "With his seed turned upwards" *(ūrdhvaretāḥ)* : this is the only mention of semen-retention in the text. Other haṭhayogic texts put much more emphasis on *khecarīmudrā*'s usefulness in preventing the loss of semen (see e.g. $GŚ_N$ 69, which is reproduced at *HP* 3.41, and on page 29 of the introduction).

379 "endowed with the [eight] powers whose first is minuteness" *(aṇimādiguṇānvitaḥ)* :

the *locus classicus* for these eight *siddhi*s is Vyāsa *ad Yogasūtra* 3.44: *aṇimā*, "minuteness", *laghimā*, "weightlessness", *mahimā*, "hugeness", *prāpti*, "the ability to reach anywhere at will", *prākāmya*, "the ability to do what one wants", *vaśitva*, "control over elements and animals", *īśitva*, "sovereignty" and *kāmāvasāyitva*, "effecting one's desires". Ballāla (f. 59v$^{3-4}$) gives a list which has *garimā*, "heaviness", in place of Vyāsa's *kāmāvasāyitva*. *MaSaṃ* 18.36c–37b substitutes *garimā* for Vyāsa's *mahimā*. VASUDEVA (2004:364–365) translates Kṣemarāja's interpretation of the eight *siddhi*s (or *guṇa*s) as given in his *Svacchandatantroddyota ad* 10.1073 and adduces parallels from other tantric Śaiva works.

380 Śrī, "splendour", is a name of Lakṣmī, the consort of Viṣṇu. Ballāla calls her Yogīśā (f. 60r[3]).

381 Vāgīśā, "the goddess of speech", is a name of Sarasvatī, the consort of Brahmā. See 1.49 and note 366.

382 "the fetter of death" *(bandhamṛtyuḥ)* : this is the *fraenum linguae* or frenum, the binding tendon at the root of the tongue. It is called *bandhamṛtyu*, "the fetter of death" because it ties down the tongue, preventing it from reaching *amṛta*, "non-death". See 1.46 and note 230. One would expect this compound to be *mṛtyubandhaḥ*. Ballāla makes no comment on the odd order of its elements.

383 "o mistress of the host" *(gaṇāmbike)* : the host *(gaṇa)* is Śiva's troop of attendants.

384 This is the area in the middle of the skull described at 2.57.

385 "absorption in it" *(tallayam)* : Ballāla (f. 61r[1]) understands *tallayam* to mean either *tatra sthāne layam*, "absorption at the place of Śambhu", or *tasya manaso layam*, "absorption of the mind". I have taken *tat* to refer to *unmanī*.

386 "with [inner] vision" *(dṛśā)* : it is of course impossible to look at the tip of the tongue when it is in the cavity above the palate so we must assume some sort of internal "sight". Ballāla (f. 61r[4]) glosses *dṛśā* with *aṃtardṛṣṭyā*. After a passage on *laya* at *HP* 4.23–34, we hear of the *śāmbhavīmudrā* (which brings about the same result as *khecarīmudrā*—*HP* 4.37—and is called *khecarīmudrā* in one manuscript of the *HP* and in a quotation of the passage in the *BKhP* at f. 72r[2]) in which the yogin is to dissolve his mind and breath in the internal *lakṣya*: *antarlakṣyavilīnacittapavanaḥ* (4.37a). *SSP* 2.26–27 describes four *antarlakṣya*s. In the *HP* and *SSP*, however, there is no mention of "sight", as such; only forms from $\sqrt{}$*lakṣ* are used. Cf. *ŚS* 5.37; *MaSaṃ* 18.29 mentions a *lakṣa* at the forehead. It may be that G's *tadā* is the original reading. The reading *rasān* found in γ is perhaps inspired by the idea that the tongue tastes different flavours during the practice, an idea found in many other texts that describe the practice (see page 22 of the introduction), but not in the *Khecarīvidyā*.

387 "perfect" *(heyopādeyavarjitam)* : on this adjective see note 319.

388 In contrast with the rest of the *Khecarīvidyā*, 2.107–115 fits the first of the two yogic paradigms described at *ŚP* 4365a–4371b in which the yogin is to raise his mind and breath by way of the central channel and cause *bindu* to enter the void. Among other rewards, he becomes *ūrdhvaretāḥ*—his seed turns upwards. *Amṛta*, Kuṇḍalinī and *cakra*s are not mentioned. On the two paradigms and their attempted synthesis in haṭhayogic works, see pages 28 to 30 of the introduction.

389 "The Ethereal Gaṅgā" *(ākāśagaṅgā)* : the homologue of the Gaṅgā in haṭhayogic

physiology is the Iḍā *nāḍī* (see *KhV* 3.10). However, Iḍā only goes as far as the left nostril (*TŚBM* 70, *VS* 2.39) and is never said to reach the cranial vault (*ākāśa*—see note 265). It is thus unlikely to be the referent of *ākāśagaṅgā*. On the macrocosmic level there is an ideal homologue of this *ākāśagaṅgā* in the high Himālaya: the Ākāśa Gaṅgā flows from Tapovan, above Gaumukh, the glacial source of the Gaṅgā.

390 "he instantly becomes a master poet" *(kavitvaṃ labhate kṣaṇāt)* : Sarasvatī (see note 235) bestows *kavitva*. At $GŚ_N$ 147 (≃ *ŚS* 3.84) the yogin is said to become a *kavi* by pressing the tongue against the *rājadanta*, drinking *[amṛta]*, and meditating on the goddess that consists of *amṛta (amṛtamayīṃ devīm)*. Cf. *SYM paṭala* 12 in which the *sādhaka* attains *kavitva* by visualising the goddess Parā (who is associated with Sarasvatī: Sanderson 1990:43-51) as pouring nectar into his mouth.

391 Meditation on Lakṣmī bestows kingship. Cf. *MaSaṃ* 34.58 where the the *rājya-lakṣmī* mantra is said to make the Kaula practitioner a king.

392 "five innate constituents" *(sahajāḥ)* : I have not come across any parallels of this usage of *sahajā* nor a similar set of innate physical constituents in any other text.

393 "which embodies the supreme" *(paramātmake)* : this description of the body is odd. It is tempting to take *paramātmake* as a vocative addressed to the goddess (wrongly written for *paramātmike*) but such a usage is not attested elsewhere.

394 "through the fall of the father" (*pitṛkṣayāt)* : witnesses μ and G have *pitṛkṣaṇāt* and *parikṣaye* respectively here, neither of which seems better than *pitṛkṣayāt* which is found in S$\alpha\beta$. This unusual compound is glossed by Ballāla (f. 62r[7]) with *pitṛśarīrāt* which has then been altered in the margin by a later hand to *pitṛvīryāt*. *Pitṛkṣayāt* has a disparaging sense to it and Alexis Sanderson has suggested that it may be some sort of yogic slang, implying a condemnation of householders who do not retain their semen. In Āyurvedic works, *kṣaya* refers to the decline of a bodily element *(dhātu)*: see Meulenbeld 1974:458–9.

395 In the ninth month according to Ballāla (f. 62r[8]).

396 "he should insert" *(viśet)* : *viśet* is being used here with a causative sense; in 124b it may be taken as indicative or causative.

397 In 123a–124b, the gender of *sahajā/sahaja* is somewhat confused throughout the witnesses. In 121c–122d it takes the gender of its referent and I have kept these genders in 123a–124b. No other witness does the same but it is the only way I can see of being consistent.

398 "o Lady of the Kula" *(kuleśvari)* : Ballāla (f. 63r[1]) understands *kuleśvari* to mean the "Mistress of Kuṇḍalinī"—*kulā kuṇḍalinī tasyā īśvari niyaṃtre*. In Kaula tantric works, Kuleśvarī is the highest goddess, the consort of Kuleśvara. See also note 6.

399 "insert" *(praviśya)* : for similar instances of $\sqrt{viś}$ having an indicative form and causative sense see 2.123d and 3.3a. Ballāla (f. 63r[10]) also understands it thus, glossing *praviśya* with *praveśayitvā* and *praviśet* (3.3a) with *praveśayet* (f. 63v[1]). In this passage (3.1–4) the subjects of the verbs are not clear. This is indicated by the confusion among the witnesses over whether Kuṇḍalinī is the object or subject in verse 1. I have chosen to adopt the readings of μ and G in which she is the object of *praviśya* (the use of *praviśya* with a causative sense adds to the subject/object confusion). I thus take *yogī* to be the subject of all the verbs in this passage. It is tempting to take Kuṇḍalinī as the subject of *pītvā* and *viśrāmya* in 4a (cf. *ṢCN* 53a where Kuṇḍalinī

drinks the *amṛta* herself; at *KhV* 3.41c the tongue *(vāgīśī)* rests in the *amṛta*) but the yogin is clearly the subject of *vibhāvayet* and even in *aiśa* Sanskrit absolutives and main verbs usually share a subject.

400 Ballāla understands 3.1–31 to be an expansion of the description of the five *sahajā*s given at 2.120–124. Thus Kuṇḍalinī is described at verse 1, Suṣumṇā at 8, the tongue at 16, the palate at 23 and the *brahmasthāna* at 28. This somewhat forced schema may be due to the corrupt reading *paṃcamam* found at 3.24a in all the witnesses except μ and G (which have the correct *pavanam*). At f. 71r[3] he takes *paṃcamam* to refer indirectly to the fifth *sahajā*, glossing it with *binduṃ sthānagalitam*.

401 "the bolt of Śiva's door" *(śivadvārārgalam)* : the *śivadvārārgala* is the *brahmārgala*. See 2.11a and 2.12a where *brahmadhāma* and *śivadhāma* are identified with one another, and note 245.

402 "by holding the breath" *(kumbhakena)* : Ballāla (f. 63r[11]) takes *kumbhakena* with *bhittvā*. This seems unlikely since *kumbhaka* is not mentioned as necessary for piercing the *brahmārgala* in *paṭala*s 1 and 2 while breath-retention is often invoked as the means of forcing Kuṇḍalinī upwards (see e.g. 2.35, 2.41cd).

403 On *praviśet* being taken as having a causative meaning see note 399. I understand its object to be Kuṇḍalinī. It could perhaps be the tongue but I have decided against understanding it thus for two reasons: firstly, there is no need to use *kumbhaka* to insert the tongue into the passage above the palate; secondly, if Kuṇḍalinī were not meant here, there would have been little point in mentioning her in verse 1. Ballāla (f. 63v[1–2]) also takes Kuṇḍalinī as the object, explaining that she is to be cooled down after being heated up in the course of her awakening: *pūrvaṃ yā ⌈vā⌉yvagninā taptā ⌈sā⌉mṛtena śītā bhavatīti tātparyaṃ*.

404 "he becomes a Khecara" *(khecaratvaṃ prajāyate)* : as at 1.75, Ballāla (f. 63v[5]) glosses *khecaratvam* with *devatvam*.

405 "cheating death" *(vañcanaṃ kālamṛtyoḥ)* : see 3.43–47 for a description of *kālavañcana* by means of this technique. I have emended μ's *kālamṛtyuś ca* to *kālamṛtyoś ca* to avoid adopting the unlikely plural *kālamṛtyūnām* found in the other witnesses. Ballāla (f. 63v[9]) explains the plural as referring to the omens of death that he is about to describe (on which see note 430): *bahuvacanaṃ tu vakṣyamāṇāriṣṭanimittam*.

406 "wandering throughout the three worlds" *(trailokyabhramaṇam)* : Ballāla explains *trailokyabhramaṇam* with *aṃtarikṣamārgeṇa guṭikāvat* "by way of the atmosphere like [when] a pill *(guṭikā)* [is consumed]" (f. 63v[9–10]). A marginal note describes the pill: *sā ca siddhapāradāder vihitā* "it is made from fixed mercury etc.". Cf. the *khecarīsiddhi* described in *MKSK paṭala* 6 which is achieved by means of, among other techniques, a *guṭikā*.

407 On these eight powers see note 379.

408 "luminous" *(jyotirūpiṇī)* : this is an *aiśa* sandhi form, avoiding the correct *jyotīrūpiṇī* which would be unmetrical. Ballāla (f. 65r[8]) identifies Suṣumṇā with the Sarasvatī *nāḍī*: *suṣumṇākhyā sarasvatīti*. This is very unusual—they are normally differentiated: see e.g. *DU* 4.7 where Sarasvatī is said to be at the side of Suṣumṇā.

409 "free of the qualities of colour and shape" *(varṇarūpaguṇais tyaktam)* : Ballāla (f. 65r[9]) understands *varṇa, rūpa* and *guṇa* to refer to consonants, colours and the

three *guṇas*: *varṇāḥ kakārādayaḥ rūpaṃ śuklādi | guṇāḥ satvādayaḥ*. Surprisingly, for *tyaktam*, μ has *sākam* and G has *yuktam*, both meaning "with".

410 Cf. *HP* 3.106, *ŚS* 5.170. Dasgupta (1976:97) quotes a passage from Ḍombīpāda (song No. 14) in which "the boat is steered through the middle of the Ganges and the Jumna". See note 259.

411 "an immortal body forever" *(sadāmṛtatanuḥ)* : the original reading here may well have been that of G and M, *parāmṛtatanuḥ*, altered in most of the *KhV* witnesses to suggest the idea of liberation in an eternal body. Cf. 3.31d.

412 "the place beyond the Supreme Lord" *(parameśāt paraṃ padam)* : i.e. the *liṅga* in the vessel of *amṛta* described at 2.60a–63b (which is above Parameśa, the Supreme Lord, whose location is taught at 2.57).

413 Only μ reads *sudhayā śiśirasnigdhaśītayā*; all the other witnesses have variants on *atha sā śaśiraśmisthā śītalā* "then, she, cool, sitting on a moonbeam". I might have adopted the picturesque latter reading were it not for *siñcantī* at 13a which requires a main verb before the sentence can be ended by a conjunction such as *atha* (the obvious emendation *siñcati* is unmetrical).
Ballāla (f. 65v[8]) interprets *siñcantī* with *dvisaptatisahasranāḍīgaṇam amṛtenāhlādayati*, "she refreshes the 72,000 *nāḍī*s with *amṛta*". Kuṇḍalinī's return to the *mūlādhāra* is described at *ṢCN* 53.

414 "into the Three-peaked Mountain" *(trikūṭe)* : on *trikūṭa*, "the Three-peaked Mountain", see note 259.

415 "free from the process of time" *(kālakramavinirmuktam)* : Alexis Sanderson made the emendation *kālakrama°* which I have adopted here. I have adopted the same form at 3.20b and 20c where only J_4 has *°krama°* and have emended 3.21a likewise. It is time that is under discussion here, not action, so *°krama°* is preferable to *°karma°*. Ballāla (f. 67r[3]) takes *kālakarma* to mean time and action, glossing *karma* with *kriyā calanādi*.

416 i.e. the yogin should hold his breath to stop it flowing in Iḍā and Piṅgalā. He thereby forces it into Suṣumṇā ("the place where day and night are suppressed"). Cf. *MaSaṃ* 44.23cd *nāḍīdvayaṃ divārātriḥ suṣumṇā kālavarjitā*, "the two channels are day and night; Suṣumṇā is timeless". See also Dādu *sākhī* 16.22 (Callewaert & de Beeck 1991:174). *KhV* 3.19 is found at *HP* 4.42. Brahmānanda, in his *Jyotsnā* commentary on the verse, understands *liṅga* to mean *ātman*. The next verse (*HP* 4.43) equates *khecarīmudrā* with the flow of the breath in the central channel: *savyadakṣiṇanāḍistho madhye carati mārutaḥ | tiṣṭhate khecarī mudrā tasmin sthāne na saṃśayaḥ ||*.

417 This is one of the few instances where I have adopted a reading of $\beta\gamma$ *(cedam)* over that of $\mu\alpha$ (*devam/liṅgam*; J_6 has *vedaṃ* while G's *(ahorātram avi)cchedam* is probably a scribal emendation). S does the same—*devam/liṅgam* makes no sense in the light of verse 17—and glosses *idam* with *pratyakṣaṃ viśvaṃ dehaṃ vā*, "the perceptible universe or the body" (f. 70v[2]).

418 "death is defeated" *(kālamṛtyujayo bhavet)* : Ballāla (f. 70v[7–8]) gives two possible ways of analysing the compound *kālamṛtyujayaḥ* : *kālasya mṛtyoś ca jayaḥ kālādhīno mṛtyur iti vā | tasya jayaḥ,* "defeat of time and death, or defeat of that death which is dependent on time". I have understood it to have the latter meaning.

419 "with the flower of thought" *(bhāvapuṣpena)* : *KJN* 3.24–27 lists eight *puṣpa*s with which the internal *liṅga* is to be worshipped. The *bhāvapuṣpa* is the fourth. The *Bṛhatkālottara* (NAK 1-89/NGMPP B 24/59) contains an *aṣṭapuṣpikāpaṭala* (f. 136v[1]–f. 137v[2]) which describes four varieties of this internal and abbreviated Śaiva worship. Only the first includes the *bhāvapuṣpa* which is last in the list of eight "flowers". See also *Harṣacarita* p.35 ll.5–8 and p.175. (I am grateful to Alexis SANDERSON for providing me with references from these last two sources.) See also *KT* 59.28–32.

420 "pointing towards the upper mouth" *(ūrdhvavaktragām)* : it may be that μ's *ūrdhvavaktrakām* was the original reading, with the sense of "having the mouth pointing upwards" where "mouth" refers to the tip of the tongue, with which *amṛta* is tasted. The reading *ūrdhvavaktragām* suggests a plan of the body found in many haṭhayogic texts (but not in the *KhV*) in which the *amṛta* tasted by the tongue flows through the *śaṅkhinī nāḍī* and emerges at the *daśamadvāra* which is situated at the *rājadanta* (the uvula). See e.g. *AŚ* p.11 l.1, where the aperture is called both *mukharandhra* and *śaṅkhinīmukha*, and *SSP* 2.6. Cf. *KhV* 2.81.

421 "with a whistling sound" *(śītkāreṇa)* : in the *sītkārī prāṇāyāma* described at *HP* 2.54–56 a whistling sound is made as the yogin inhales through his mouth.

422 "in the supportless space" *(nirālambe pade)* : i.e. practising *dhyāna* without an object. At *HP* 4.4, *nirālamba* is mentioned in a list of synonyms of *samādhi*.

423 "natural yoga" *(sahajaṃ yogam)* : like *nirālamba* and *unmanī* (on which, see note 324) *sahaja* is given as a synonym of *samādhi* at *HP* 4.4. In tantric texts *sahaja yoga* is a state that arises naturally, without being forced (personal communication from Alexis SANDERSON). DIMOCK, analysing the *Caryāpāda*s of the Vaiṣṇava Sahajīyas, writes "The state of sahaja is one of utter harmony, in which there is no motion, no passion, and no differentiation" (1991:42 n.3). Ballāla (f. 71r[4]) understands *sahajaṃ yogam* to mean *yoga* using the five *sahajā*s described at 2.120–124.

424 "on the circle of sixteen vowels" *(ṣoḍaśasvaramaṇḍale)* : this is the *viśuddhacakra* at the throat. See e.g. *KMT* 11.44a–99b, *ṢCN* 28, *ŚS* 5.121. Ballāla (f. 100r[5–6]) writes: *atha kaṃṭhe viśeṣeṇa śuddhir yebhyas te viśuddhayo 'kārādivisargāṃtāḥ ṣoḍaśārā(ṣoḍaśārā°] em.; ṣoḍaśā∗a° S)bhidhāḥ svarāḥ caṃdrakalās teṣāṃ tatra sthitākhyā yata iti tadākhyaṃ* |. Placing the chin on the throat is part of the *jālandharabandha* technique described in note 267.

425 During my fieldwork many people told me that *khecarīmudrā* was used by *haṭhayogin*s to enable them to stay in a state of extended *samādhi*. Ballāla, commenting on this verse, writes (f. 72v[7]): *eṣa cirakālasamādhyupāyaḥ*, "this is the means to long-term *samādhi*". He goes on to say that it should be done in a mountain cave, in the ground or in a *maṭha* of certain specifications. There should be a *śiṣyasaṃrakṣaṇagrāmakam*, "a group of pupils to protect him" (or perhaps "a small village [nearby] to look after a pupil"), *yato dehasaṃrakṣaṇam āvaśyakam*, "because the body [of the yogin] must be looked after [by one of his pupils]" (f. 72v[8]).

Writing in 1342 CE, Ibn Battūta reported of the *jokī*s (yogīs): "These people work wonders. For instance one of them remains for months without food and drink; many of them dig a pit under the earth which is closed over them leaving therein no opening except one through which the air might enter. There one remains for

months and I have heard that some jogis hold out in this manner for a year" (Husain 1953:164). Honigberger (1852:127–131) recounts the celebrated story of the "faqueer" Hari Dās who in 1837 was buried for forty days in a locked chest in a garden in Lahore. He was exhumed in front of "a great number of the authorities of [Maharaja Ranjit Singh's] durbar, with General Ventura, and several Englishmen from the vicinity" and revived. Describing those who practise this technique, Honigberger continues (ibid.:129): "those who do succeed must undergo a long and continual practice of preparatory measures. I was informed that such people have their *fraenulum linguae* cut and entirely loosened, and that they get their tongue prominent, drawing and lengthening it by means of rubbing it with butter mixed with some pellitory of Spain, in order that they may be able to lay back the tongue at the time they are about to stop respiration, so as to cover the orifice of the hinder part of the *fosses nasales*, and thus... keep the air shut up in the body and head". Sir Claude Wade witnessed the revival and reported that Haridas's servant "after great exertion opened his mouth by inserting the point of a knife between his teeth, and, while holding his jaws open with his left hand, drew the tongue forward with his right,—in the course of which the tongue flew back several times to its curved position upwards, in which it had originally been, so as to close the gullet" (Braid 1850:13). Boileau (1837:41–44) describes a similar spectacle that took place at Jaisalmer adding that "the individual... is, moreover said to have acquired the power of shutting his mouth, and at the same time stopping the interior opening of the nostrils with his tongue" (ibid.:43). Cf. the seventeenth-century account given by Tavernier (1925:156). Monier-Williams (1878:50–53) reports two such attempts at "Samādh", both duplicitous. In the first, the practitioner's "friends were detected by the villagers in pouring milk down a hollow bamboo which had been arranged to supply the buried man with air and food. The bamboo was removed, and the interred man was found dead when his friends opened the grave shortly afterwards" (ibid.:50). Brunton (1995:112–120) describes in detail a meeting with an Egyptian *fakīr* who used the *khecarīmudrā* technique to enter a state of catalepsy. The technique, says the *fakīr*, was originally developed by Indian yogins. At every Kumbh Melā since the 1992 Ujjain Siṃhasth, a yogin called Pilot Bābā, together with a Japanese disciple, have remained in an open pit for periods of up to a week, emerging with much ceremony in front of large crowds. See also Siegel 1991:168–170.

426 "at that place" *(tatpadam)* : Ballāla f. 72r$^{1-2}$ understands *tat* to be referring to *brahman*: *oṃ tat sad iti trividho brahmanirdeśaḥ*.

427 "lifeless" *(nirjīvavat)* : cf. *AY* 1.39, *KJN* 14.82–85, *MVUT* 17.22c–23b, *Svāyaṃbhuvasūtrasaṃgraha* 20.33–35 (as edited by Vasudeva, 2004:435). Ballāla (f. 71v^{10}) notes the objection that if the body seems lifeless then surely a bad smell and other signs of putrefaction *(daurgandhyādi)* that are found in a corpse will arise. But this is not the case, he says: it is contraindicated by the use of *bhāti* (his reading for *bhā vi°*).

428 Ballāla (f. 72v$^{6-9}$) describes the yogin's state here as *samādhi* and mentions in passing some bizarre techniques for both reaching and returning from *samādhi* practised by other schools: *anye bahvabhyāsena jñātābhyaṃtaranāḍīviśeṣamardanenāpi taṃ*

kurvaṃti kārayaṃti ca | eke tu śavāsanasthit āḥ sv* obhayapādāṃguṣṭhāgrāṃtarmana-sai⌈kā⌉gratāyāṃ ca taṃ kurvaṃti | ... tatra samādhyavatāropāyaḥ bāhyavāyusparśaḥ śirasi navanītaghṛtādimardanaṃ | tadavatāravelāyāṃ devamūrttyādi tannetrāgre dhārayen na śiṣyādis tiṣṭhed... |*. "Others, after lots of practice, use a special massage of an internal channel that they have discovered to enter *[samādhi]* (and cause others to enter it). Some enter it in the corpse pose, once they have focussed their minds on both their big toes... The touch of fresh air [or] massaging the head with butter, ghee etc. are the means of bringing [the yogin] round from *samādhi*. When bringing him round one should hold an image of a deity or such like in front of his eyes. Pupils etc. should not stand [in front of him]." At the 1998 Hardwar Kumbh Melā, Raghuvar Dās Jī Yogīrāj tried to induce *samādhi* in me by squeezing the sides of my neck. I backed away as I started to feel faint. The corpse pose practice is taught at *DYŚ* 46–48.

429 "which consists of an eternal body" *(nityadehamayam)* : S$\alpha\beta\gamma$ have *nitya°* here where μ and G have *tyaktvā*. This indicates a doctrinal difference between the earlier and later recensions of the text. In μ and G *śivatvam* happens after death; the later tradition wants *śivatvam* in an eternal body. The original idea behind 31ab was of Kuṇḍalinī breaking out of the top of the skull (resulting in physical death for the yogin) rather than just entering the abode of Brahmā (as has already been described at 28cd). The use of *vrajati* (in contrast to *vasati* at 28d) confirms that this was the meaning intended in μ and G.
The readings for 31d found in the later tradition are slightly awkward. That of α_2, *nityadehamayam*, is better than the *nityadeham imam* of the other witnesses and I have thus adopted it.

430 Cf. *DYŚ* 251–258 (=*YTU* 107-111), which describes how the yogin can leave and return to his body at will.
Ballāla here embarks on a long excursus about *ariṣṭāni*, ways of forecasting impending death, including, among several others, palmistry, pulse-reading, dream analysis and shadow-inspection (f. $73r^1$–f. $75v^4$). (*Ariṣṭajñāna* (or *kālajñāna*) is also taught at *MVUT* 16.48–52, *Dīkṣottara samudāyaprakaraṇa* 59 (Vasudeva 2004:361), *Mataṅgapārameśvara yogapāda* 4.98cd–100ab, *TĀ* 4.127–144, *KMT* 23.1–80, *Mārkaṇḍeyapurāṇa adhyāya* 43 (of which vv. 3–26 are cited at *ŚP* 4564–4590), *VS adhyāya*s 7–8, *YBD* 11.135–143, in the ninth *upadeśa* of the ten-chapter *HP* (*H*3) and in vv. 761–772 of the *Jogpradīpakā*. On *ariṣṭa* in medical literature see Meulenbeld 1974:442.) Then, at f. $75v^{4-7}$, Ballāla gives three ways (corresponding to the techniques described in *KhV* 3.32c–43b, 43c–47d and 48a–55b) in which the yogin might deal with impending death: *itthaṃ kālamṛtyum upasthitaṃ vijñāya yadā yogino buddhir imaṃ dehaṃ tyaktuṃ bhavet sā ca trividhā | samādhāv aikyabhāvinī kālavaṃcanī atyaṃtamokṣagāminī ca | tatrāpi prathamā dvidhā | svadehe jīveśaikyabhāvinī | paradehe svātmabhāvinī | aichikā parakāyapraveśarūpā ceti || dvitīyāpi dvidhā | kevalasamādhyā kālātikramāṃtā | sarvadhāraṇayā tadaṃtā ceti | tṛtīyā tu svechotkrāṃtyā brahmaikyasaṃpādinī |*. "Having thus realised that death is at hand is 'when the resolve of the yogin is to abandon this body'. And it [i.e. the resolve] is of three kinds: bringing about unity in *samādhi*, cheating death and going to final liberation. Of these, the first can take two forms: bringing about in one's body the

union of the vital principle with the Lord, and manifesting oneself in the body of another (this takes the form of willful entry into another's body). The second can also take two forms: by means of the highest *samādhi* until the time [of death] has passed, and by introspection of all [objects] until that [time] has passed. The third brings about union with Brahmā by means of voluntary yogic suicide."

431 I have taken *jīvānilam* as a *dvandva*; Ballāla (f. $76v^{3}$) takes it as a *karmadhāraya* (see also note 251).

432 Ballāla (f. $76v^{4-7}$) adds that the yogin is to inhale with the right nostril: *piṃgalāmārgeṇa pūrakapūrvakaṃ kumbhakaṃ saṃprāpya*.

433 The Svādhiṣṭhāna centre is in the region of the genitals—see e.g. *GŚ*$_N$ 22. Here Śiva is describing Kuṇḍalinī's ascent through the six centres that are the basis of a system of subtle physiology found in some haṭhayogic texts (e.g. *GŚ*$_N$ 15–16, *ŚS* 5.77–155, *Yuktabhavadeva* 3.234–252—a seventh centre, the Sahasrāra, is added in these texts) and which has become today the most widely accepted model of the body. In the texts of *haṭhayoga* there are many different systems of *cakra*s (see e.g. *SSP* 2.1–9 which lists nine *cakra*s and Kavirāj 1987, who describes a list of 26 *cakra*s given in a manuscript of the *Vairāṭapurāṇa*) and this reflects the even greater variety of such systems found in earlier tantric works. The first systematic description of the six *cakra*s can be found in *paṭala*s 11–13 of the *Kubjikāmatatantra*. (An earlier, but vague, reference to six *cakra*s can be found at *Mālatīmādhava* 5.2; a description of raising the breath through six centres which are not called *cakra*s is given at *Bhāgavatapurāṇa* 2.2.19c–21d). White (1996:134) suggests that the earliest systematic description of the six *cakra*s is found at *KJN* 17.2b–4a. 17.2c–4b reads: *gūḍhaṃ guhyaṃ sanābhiñ ca hṛdi padmam adhomukham //2/ / samīrastobhakaṃ cakraṃ ghaṇṭikāgranthiśītalam / nāsāgraṃ dvādaśāntaṃ ca bhruvor madhye vyavasthitam //3// lalāṭaṃ brahmarandhraṃ ca śikharasthaṃ sutejasam /*. The text is obscure and possibly corrupt but there are clearly at least eight *cakra*s listed and probably as many as eleven. 17.4cd implies that they number eleven: *ekādaśavidhaṃ proktaṃ vijñānaṃ dehamadhyataḥ*. (In a later article (2003:147) White acknowledges that this passage describes eleven *cakra*s.) As White also notes (ibid.:423 n.86), at *KJN* 5.25–28 there is another of the text's many lists of centres in the body, which, although again rather obscure, does describe seven centres, of which five have locations similar to those of the *cakra*s in the *KhV* and other haṭhayogic texts. At *KJN* 10.6–8 there is a list of eight *cakra*s of which six correspond to those described here in the *Khecarīvidyā*.

434 The Maṇipūra *cakra* is at the navel. See e.g. *GŚ*$_N$ 23. (But cf. *GŚ*$_N$ 25 where the *kanda,* which in verse 23 is situated at the *nābhimaṇḍala* and is the site of the *maṇipūrakacakra*, is said to be below the navel. This discrepancy (or, perhaps, textual corruption) is noted by Ballāla at f. $99v^{7}$.)

435 The Anāhata centre is located at the heart. See e.g. *ŚS* 5.113.

436 i.e. the Viśuddhi/Viśuddha *cakra* at the throat. See e.g. *KMT* 11.44a–99b, *ṢCN* 28–29. The mixing of metaphors in the description of this "lotus" as "sixteen-spoked" is curious. As a lotus, this centre is usually said to have sixteen petals (*GŚ*$_N$ 15c–16b); one would expect it to be called a wheel *(cakra)* when described as

sixteen-spoked. The emendation of *padme* to *cakre* is tempting but nowhere else in the *KhV* is *cakra* used in this sense.

437 The Ājñā centre is located between the eyebrows. See e.g. *ŚS* 5.128.

438 "rest" *(viśrāmam)* : see *JRY* 4.2.159 and *NT* 7.13 for similar descriptions of relaxation in the ocean of *amṛta*.

439 Here Ballāla has an excursus on *parakāyapraveśa*, "entering another's body" (f. 77v[8]–f. 79r[7]). *Jogpradīpakā* 797–804 describes this practice and Alexis SANDERSON has provided me with the following references to Śaiva passages on this topic: *Niśvāsamūla* (NAK 1-277/NGMPP A 41/14) 7.20; *Svacchandatantra* 7.328c–329b; *Picumata* (NAK 3-370) 3.228–232b, 5, 96.19–35; *MVUT* 21.9–19; *TĀ* 28.294–300; *JRY* f. 195v (vv. 197c–204b), 3.5.31–32b, 4.2.397c–400b; *Liṅgapurāṇa* 1.24.128–130; *Vāyupurāṇa* 1.23.209–211. RAMA (1978:437–463) tells of witnessing yogins abandoning their bodies and entering those of others.

440 *Kālavañcana*, "deceiving death", is a common motif of tantric and haṭhayogic texts. Indeed, mastery over death is the *sine qua non* of the perfected *haṭhayogin*: yoga is said to be *kālasya vañcanam* at *GŚ*$_N$ 5–6; the *mahāsiddha*s listed at *HP* 1.5–9 are said to have broken the rod of death (*khaṇḍayitvā kāladaṇḍam*); vernacular tales of Yama's rough treatment at the hands of the Nāths are common (see ELIADE 1969:313–317). Techniques of *kālavañcana* similar to that of the *KhV* but using visualisations of *amṛta* alone and not involving the tongue can be found at *SYM paṭala* 11, *MVUT* 16.53–54, *Svacchandatantra* 7.217d–226b, *NT* 7.37–53 and *VS* 4.41–46, 6.32–41. The methods taught at *KJN* 6.16–28, *ŚP* 4598–4612, *YBD* 11.144–161, in the last *upadeśa* of the ten-chapter *HP* (*H*$_2$) and at *Jogpradīpakā* 773–9 do employ the tongue. At *GBS* 219ab the tongue is associated with *kālavañcana: jibhyā indrī ekai nāl jo rākhai so baṃcai kāl*, "the tongue and the penis [are joined by] one channel; who knows this deceives death". On the corporealisation of subtle tantric practices see page 27 of the introduction.

441 "knowing the apportionment of [the locations of] death" *(kālavibhāgavit)* : i.e. knowing the division described at 3.44c–45b. Alternatively, the compound could be understood to mean "knowing the apportionment of the time of death", i.e. having *ariṣṭajñāna*—see note 430. As Ballāla says at f. 79v[1], *kāla* can of course mean both time and death: *kālo dvividhaḥ yamo 'tītādivyavahārahetuś ca |*.

442 "death" *(kālam)* : I am taking *kālam* to be an *aiśa* neuter and the subject of *vrajati*.

443 i.e. with Kuṇḍalinī in union with Śiva in the ocean of *amṛta* above the gateway of Brahmā.

444 "supremely content" *(paramasaṃtuṣṭaḥ)* : Ballāla (f. 81r[8]) glosses *paramasaṃtuṣṭaḥ* with *na tu kiṃcidicchayāsaṃtuṣṭaḥ | punarjanmaprasaṃgāt |* "not unsatisfied because of the slightest desire, because it would [then] undesirably follow that he would be reborn".

445 "the rock of Brahmā" *(brahmaśilām)* : this rock *(śilā)* is perhaps the same as that at the top of the forehead described at 2.25. Ballāla (f. 81r[10−11]) says that it is like a rock blocking the way to *brahman*: *brahmanirodhakām (em.*; *brahmaṇo rodhekām* S[pc], *brahmaṇaḥ rodhakāṃ* S[ac]*) śilām iva*, and locates it at the crown of the head where the fontanelle is found in infants and where [dead] renouncers' skulls are to be smashed with a conch shell: *yatra bālaśirasi mṛdulaṃ tatraiva ca saṃnyā-*

sināṃ śaṃkhena mūrdhā bhettavyo 'ṃtarāla iti. Witness R_2 has the variant reading *brahmasabhāṃ*, "Brahmā's assembly".

446 i.e. the yogin is to return the microcosmic elements, mind and sense-organs of his body to their macrocosmic origins. Cf. *ŚP* 4531–4541.

447 "untouched" *(aspr̥ṣṭaḥ)* : the conjectural emendation suggested by SANDERSON of *adr̥ṣṭaḥ* and its variants to *aspr̥ṣṭaḥ* is found in the *BKhP* as a marginal addition by a later hand (f. 82r[2]).

448 "the orb of the sun" *(sūryasya maṇḍalam)* : this is the only mention of the *sūrya-maṇḍala* in the text. *Maṇḍalabrāhmaṇopaniṣad* 2.1.5 describes how the *agni*°, *sūrya*°, *sudhācandra*° and *akhaṇḍabrahmatejo*° *maṇḍala*s are seen in the process of *śāmbhavī mudrā* but these are unlikely to refer to places in the body. Ballāla (f. 82r[3]) associates the *sūryamaṇḍala* with the Piṅgalā *nāḍī*: *sūryamaṇḍalaṃ piṅgalā sūryanāḍī tanmārgeṇa tanmaṇḍalaṃ pūrakapūrvakakuṃbhakena bhitvā*. His interpretation seems forced: *sūryasya maṇḍalam* almost certainly refers to a region at the top of the head. *ŚP* 4591–4611 describes both *videhamukti* and *kālavañcanā*. To deceive death the yogin seals all ten apertures of the body (4602) and floods it with *amr̥ta*. To abandon the body he seals only nine doors (4594) and then, using his breath and his mind, he fires the arrow of his soul by way of the tenth door towards the supreme target (4595–6). This tenth door is in the region of the top of the head (see note 240). Cf. *Bhagavadgītā* 8.12–13; *VS* 3.54–56. Descriptions of methods of "yogic suicide" *(utkrānti)* are found in several tantric Śaiva works. See the testimonia to *MVUT* 17.25–34 in VASUDEVA 2004 and the editor's analysis on pp. 437–445; in the *KMT*, the yogin is instructed to perform *utkrānti* when the place of the uvula dries up (23.99a). Alexis SANDERSON has provided me with the following further references to Śaiva passages on *utkrānti*: *Skandapurāṇa* 182.973–977; *Niśvāsakārikā* (NAK 1-277/NGMPP A 41/14 f. 114v ff.) *paṭala* 33; *Sārdhatriśatikālottara* (NAK 5-4632/NGMPP B 118/7) 11.13–19b and Rāmakaṇṭha *ad loc.*; *Br̥hatkālottara Utkrāntyantyeṣṭipaṭala* vv. 1–7 (NAK 1-89/NGMPP B 25/49 f. 187v[3] ff.); *Mataṅgapārameśvarāgama Caryāpāda* 9; *Picumata* (NAK 3-370) *paṭala*s 5 and 100; *TĀ* 28.292–302; *Jñānasiddhānta* (Old-Javanese, ed. and tr. Haryati Soebadio, The Hague, 1971). *Yogayājñavalkya adhyāya* 10 teaches how to abandon the body by means of *samādhi*.

449 "absorbed in Śiva" *(śive līnaḥ)* : in the description of *utkrānti* at *Svāyaṃbhuvasūtra-saṃgraha* 22.2d (VASUDEVA 2004:441 n.214) the yogin is said to be *śivalīnamanāḥ*: his mind is absorbed in Śiva. At *ŚP* 4596 he becomes absorbed in *paramātman*.

450 Ballāla (f. 82r[6]–f. 82v[11]) here describes two types of liberation: gradual *(krama-mukti)* and subitist *(kevalamukti)*, citing "Yājñavalkya", the *Tantrarājatantra*, the *Bhāgavatapurāṇa*, and the *Yogasūtra* with Vyāsa's *Bhāṣya*.

451 Cf. the description of *khecarīmudrā* in the *Haṭharatnāvalī* where it is said that the yogin abandons his body and enters the place of Brahmā at the end of the *kalpa*: *kāyaṃ tyaktvā tu kalpānte brahmasthānaṃ vrajaty asau* (f. 13v[1]).

452 From here to the end of *paṭala* three, witnesses μ and G vary considerably from each other and from the text as I have presented it. Analysis of their variant readings indicates that μ preserves the earliest version of the passage and that G represents an intermediate stage between μ and the other witnesses. μ's passage is in praise

of *madirā*, "alcohol", and this explicit Kaula ideology has been expunged from the other witnesses who have turned the passage into a eulogy of Khecarī and *śivabhakti*. See pp. 7–9 of the introduction for a detailed comparison of the different versions.

453 We return here to the oldest layer of the text (see pp. 12–13 of the introduction). Thus in this verse *vidyā* would originally have meant the mantra of Khecarī but can now be interpreted as meaning the teachings of the whole text.

454 On *melana/melaka* see note 198.

455 Here Ballāla has an excursus on the various methods of Śaiva worship (f. 85v–f. 86(3)v). Among more orthodox practices he includes at f. 86(1)r$^{2-3}$ a ten-fold physical worship from the *Rudrahṛdaya*: *kaṃṭhavikāragadgadākṣarajihvāspaṃdauṣṭhasphuraṇa śarīrakaṃpanaromāṃcasvedāvalaṃbanānirgamarodana pāravaśyatāḥ*. At f. 86(1)r^{10}–f. 86(1)v^{1} he gives a six-fold *mantranyāsa* from the *Śivārādhanadīpikā* to be performed when bathing in ashes: *om īśānāya namaḥ śirasi oṃ tatpuruṣāya namaḥ mukhe oṃ aghorāya namaḥ hṛdaye oṃ vāmadevāya namaḥ nābhau oṃ sadyojātāya namaḥ pādayoḥ oṃ namaḥ sarvāṃge evam uddhūlayed evaṃ snānaprakramaḥ*. At f. 86(1)v^{5} he mentions a *pāśupatavrata* from the *Atharvaśira[upaniṣad]*.

456 "to advance in all types of yoga" *(sarvayogābhivṛddhaye)* : the next nineteen folios of Ballāla's commentary (f. 87v–f. 106v) are devoted to a description of *sarvayoga*, all the various methods of yoga.

457 For descriptions of suitable places for the *haṭhayogin* to carry out his practice see e.g. *DYŚ* 107–114, *HP* 1.12–13. VASUDEVA (2004:247–251) surveys similar descriptions in Śaiva tantric works. *Jogpradīpakā* vv. 671–5 says that while training to practise *khecarīmudrā*, the yogin should stay in a secluded hermitage or forest hut for six months, not speak to anyone, repeat his mantra day and night, eat rice and milk without salt, use the herbal preparations described in its verses 665–670 (which are based on those described in *Khecarīvidyā paṭala* 4), cut his frenum every Sunday, perform *dohana* every fortnight and *mathana* day and night. His tongue will grow by four fingers, he will attain both *bhukti* and *mukti* and have no fear of birth and death.

458 "furnished with all that is necessary for the practice" *(sarvasādhanasaṃyuktaḥ)* : Ballāla (f. 108r^{3}) understands *sarvasādhana* to refer to food and medicinal herbs: *svāhārasādhanāni taṃḍuladugdhādīni auṣadhāni śuṃṭhyādīni ca*, "the requisites for his food [such as] rice and milk etc. and medicinal herbs [such as] dried ginger etc.". At f. 108r$^{9-10}$ he says how the yogin is to obtain them: *dhanāḍhyarājāśrayeṇa... svīyadravyeṇa vā*, "by recourse to a rich king... or by means of his own wealth".

459 Ballāla (f. 109r^{11}) expands *uvāca* with *evaṃ karuṇārdrakaṭākṣeṇa tārakopadeṣṭrā śivena prollāsitā laksyabhinnā pārvatī taṃ pratyuvāca*, "thus gladdened by Śiva, the teacher of salvation, whose sideways glance was wet with [tears of] compassion, Pārvatī, whose purpose had been fulfilled, replied to him".

460 "whose diadem is the crescent moon" *(candrārdhaśekhara)* : by this epithet "Śambhu's altruism is proven—when he holds the moon that consists of *amṛta* at his heart, there is the destruction of [his] poison and fever, but he holds it at his diadem in order to appease the three-fold afflictions of others." (*amṛtātmanaś candrasya*

svahṛdaye dhāraṇenāpi viṣadāhopaśāṃtisaṃbhave sati śikhare dhāraṇaṃ tu pareṣāṃ trividhatāpaśāṃtaye eveti lokopakāraḥ siddhaḥ : *BKhP* f. 109v[6−7]).

461 "who can be attained [only] by true devotion" *(sadbhaktisaṃlabhya)* : the reading *sadbhāva*°, "true essence", found in μW_1 and G (after 3.56d) may be original: see *KJN* 21.10 where, after giving an exposition of the different Kaula schools, Bhairava declares *"kathitaṃ kaulasadbhāvam"*; cf. ibid. 14.93–94 where *amṛta* is located in the *khecarīcakra* and identified with *kaulasadbhāva*.

462 This chapter is a later edition to the text. See page 12 for details.
The *Jogpradīpakā* (vv. 665–670) draws on this *paṭala* in its description of various herbal preparations useful in the practice of *khecarīmudrā*.
Four verses in this *paṭala* are not in *anuṣṭubh* metre: verse 2 is in *vasantatilakā*, 3 and 10 are in *upajāti*, and 4 is in *sragdharā*. These different metres have in places confused scribes and account for some of the variants and omissions in the witnesses.

463 "the highest limb of the mendicant" *(bhikṣūttamāṅgaparikalpitanāmadheyam)* : as explained by Ballāla (f. 110r[9−11]), this compound is a riddle standing for the *muṇḍī* plant (which is mentioned by name in verses 9 and 12). The mendicant *(bhikṣu)* is the *saṃnyāsī* whose highest limb *(uttamāṅga)*, his head, is shaven *(muṇḍa)*. He is thus *muṇḍī*. *Muṇḍī* is *Sphaerantus indicus* Linn. (Dash & Kashyap 1980:54). (When reporting the botanical names of plants mentioned in this chapter I give only those primarily identified with the Sanskrit term; for alternatives the relevant references in Meulenbeld 1974 or Dash & Kashyap 1980 must be consulted.)
Ballāla (f. 110r[9]) introduces his commentary on this verse with *atha muṇḍīkalpam āha*, indicating that he regards this practice as a form of *kāyakalpa*, a technique of physical rejuvenation still practised by *haṭhayogin*s in which the yogin stays in darkness in a cave or specially built room for long periods (usually a month), restricting his diet to a single herbal preparation. Similarly, his commentary on verse 4 begins *atha vārāhīkalpam āha* (f. 111r[1]). Tonics to be consumed in *kāyakalpa* are described in MS O (on which see p.54). The second *upadeśa* of the *Yuktabhavadeva* contains detailed descriptions of thirteen *kalpa*s, including *muṇḍī-kalpa*. See also the *Kākacaṇḍīśvarakalpatantra*. For a modern account of the technique, see Anantha Murthy 1986.

464 Ballāla (f. 110v[1−2]) says that *takra* here is three parts buttermilk to one part water and cites *Amarakośa* 2.8.1280 for definitions of the different varieties of *takra*: *takraṃ hy udaśvin mathitaṃ pādāṃbv ardhāṃbu nirjalam ity amaraḥ* |.

465 On the use of *takra*, *āranāla*, *madhu* and *śarkarā* in Āyurveda see Meulenbeld 1974:465–7, 445, 486–7 and 507–8 respectively.

466 Verses 2 and 4 are written as instructions for a physician attending to the yogin—in this verse the verb is *dadyāt*, "he should give", while in verse 4 there is the causative *pāyayet*, "he should cause to drink". Anantha Murthy (1986:57–61, 235) explains the necessity of an attendant physician to oversee *kāyakalpa*.
According to Ballāla (f. 110v[4−5]), the yogin should be fed the pills for either 49 or, ("some say"—*ke cit*), 40 days, in the morning and evening.

467 It seems likely that a half-line is missing at the end of this verse, in which the yogin would have been said to obtain the various benefits listed in *pāda*s 2e and 2f.

468 "vigour" *(vīrya)* : this may refer to semen—*MaSaṃ* 40.50 describes a herbal *rasāyana* useful for semen-retention.

469 Ballāla (f. 110v$^{8-9}$) adds: *varāhaḥ sūkaraḥ sa ca viprakṛṣṭaṃ sūkṣmam api śabdam avadhārayati*, "*varāha* is a boar, and a boar can make out distant and subtle sounds".

470 *Vārāhī* is *Tacca aspera* Roxb. (MEULENBELD 1974:599–600). According to Ballāla (f. 111r[1]), *vārāhī* is known as *vilāī* in the vernacular *(bhāṣāyām)*. Under *bilāī-kaṃd*, McGREGOR (1995:735) writes "cat's root: a large climbing perennial, *Ipomoea digitata*, having tuberous roots which are eaten and used medicinally".

471 "he gets rid of blackness on the body" *(kṛṣṇabhedī śarīre)* : this epithet is odd. Most of the *KhV* manuscripts read *kṛṣṇabhedī śarīram*. *Śarīram* is clearly corrupt—none of the adjectives agree with it, nor can it be taken with a verb. The reading that I have adopted, *śarīre*, is not much better. The only way I can see to translate it is "on the body" which is quite redundant in the context. The three preceding adjectives must be referring to the yogin (μ's *valipalitaharo* for *hatavalipalitaḥ* could perhaps be referring to the therapy but this is very unlikely in the light of *kṛṣṇakeśī* which must refer to the yogin). For *kṛṣṇabhedī*, S and α_2 read *kārśyabhedī*, "destroying thinness", which is probably a scribal emendation of *kṛṣṇabhedī*. The reading *varṣabhedī* found in μ is perhaps due to a scribal error in which a copyist inadvertently looked back to °*varṣau kṛṣṇa*° earlier in the line, although *varṣa*° could perhaps be understood in its meaning of "seminal effusion" (MONIER-WILLIAMS 1988:926). I have taken *kṛṣṇabhedī* to refer to the therapy's property of combating *kuṣṭha*, which, as Ballāla notes at f. 111r[3], can manifest itself in blackness: *kuṣṭhaṃ śvetaṃ kṛṣṇaṃ cety anekavidhaṃ* |.

472 *Guggulu* is bdellium, the gum of the *Commiphora* tree (*Commiphora mukul* Engl.—MEULENBELD 1974:570).

473 Ballāla (f. 111r$^{9-11}$) describes the preparation of *triphalā* in detail: *laghveraṃḍaphalāny ānīyeṣat saṃbharjya kuṭṭayitvā tatra vipulaṃ jalaṃ nikṣipya pācayitvā vastrāṃtaritaṃ kṛtvā tata uparitanaṃ tailaṃ saṃgṛhṇīyāt tac chuddhaṃ tailaṃ tena saṃyuktaṃ guggulum māhiṣākhyaṃ tathānyaṃ triphalāyutaṃ gaṃdhakaṃ ca triphalā tu*

> *ekā harītakī yojyā dvau yojyau ca vibhītakau* |
> *catvāry āmalakāni syus triphalaiṣā prakīrtitā*

"Get some young castor fruits, parch them a little, grind them, add a large amount of water, cook them, put them in a cloth and take the oil from the top. That is pure oil. The wise [yogin], who knows the qualities [of herbs], should eat the *guggulu* which is called Māhiṣa and the other [*guggulu*], mixed with that oil and *triphalā*, and sulphur. *Triphalā:* one *harītakī* [*Terminalia chebula* Retz.—MEULENBELD 1974:610] should be used, two *vibhītaka* [*Terminalia bellerica* Roxb.—ibid. 1974:601] and four *āmalaka* [*Phyllanthus emblica* Linn.—ibid. 1974:527]. This is called *triphalā*."

Ballāla (f. 111r[11]) takes *jarādāridrya*° as a *karmadhāraya*: "the debility that is old age".

474 *Winathia somnifera* Dunal. (DASH & KASHYAP 1980:46).

475 S is the only witness to read *viśvasarpikā* here but since I can make no sense of the other variants and Ballāla (f. 111r[12]) confidently asserts that *viśvasarpikā* is a synonym of *mothā* I have adopted his reading. (The Hindī word *mothā* means "a kind of grass, *Cyperus rotundus*, and its tuberous root"—McGregor 1995:836; Dash & Kashyap (1980:25) give *musta* as the Sanskrit name for *Cyperus Rotundus* Linn.)
The *MaSaṃ* manuscripts insert the following corrupt passage between 6c and 6d: *hastinā saha yudhyate // triphalā puṣkaro vrāhmī (vrāhmīḥ* J_6*)* †*niḥsākotilalaṃsanī*† / *punarnavā vṛddhatārā* †*na yayuḥ*† *snehamiśritā // ṣaṇmāsāhārayogena*. Thus the result of eating the preparation is the ability to fight with elephants, while to be free of disease and death the yogin must eat for six months a mixture of *triphalā*, *puṣkara* (*Iris germanica* Linn.—Meulenbeld 1974:570), *brāhmī* (*Bacopa monnieri* Pennell—Dash & Kashyap 1980:53), †*niḥsākotilalaṃsanī*†, *punarnavā* ("hog-weed," *Boerhavia repens* Linn.—Meulenbeld 1974:575) and *vṛddhatārā* (probably *vṛddhadāraka*, *Gmelina asiatica* Linn. or *Rourea santaloides* Wight et Arn.—ibid.:600) mixed with oil. The phrase *na yayuḥ* is likely to be a corruption of the name of an ingredient of the medicine.

476 *Sassurea lappa* C.B. Clarke (Dash & Kashyap 1980:61).

477 A marginal note in W_1 *(ghṛtamadhuśarkarā)* and two *pāda*s added after 14b in γ *(ājyaṃ guḍo mākṣikaṃ ca vijñeyaṃ madhuratrayam)* say that *madhuratraya* is ghee, honey and sugar, as does Ballāla at f. 110v[3], where he adds that they should be in equal proportions.

478 The identity of *kunaṣṭi* is uncertain. It is perhaps *kunāśaka* (*Alhagi maurorum*—Monier-Williams 1988:286).

479 *Muṇḍikā* is presumably a synonym of *muṇḍī* (see note 463).

480 *Eclipta prostrata* (Monier-Williams 1988:765).

481 *Vitex negundo* (Monier-Williams 1988:554).

482 *Amala* is a synonym of *āmalaka* : see note 473.

483 *Eleocarpus ganitrus* Roxb. (Meulenbeld 1974:596).

484 As White (1996:170) remarks in the context of this verse, Bernier reported in the seventeenth century that "certain *Fakires*...can prepare mercury in so admirable a manner that a grain or two swallowed every morning must restore a diseased body to vigorous health, and so strengthen the stomach that it may feed with avidity, and digest with ease" (1891:321).

485 "the silk-cotton tree" *(śālmali°)* : *Bombax ceiba* Linn. (Meulenbeld 1974:602).

486 See note 227.

487 See note 259.

488 The verse quoted is *abhakṣyaṃ bhakṣayen nityam apeyaṃ pīyate sadā // agamyāgamanaṃ nityaṃ sa yogī nātra saṃśaya iti gorakṣaḥ /*.

489 The passage cited is not found in the Lonavla edition of the *Haṭhapradīpikā.*

490 Ballāla wrote this text himself: *āsanāni tu asmābhir yogara⌈tna⌉kārikāsu svakṛtāsūktāni* (*em.*; *°ūkt*** S).

491 These citations are usually introduced with *sūtre* and *bhāṣye*.

492 The *Vāyupurāṇa* is quoted from regularly in Ballāla's lengthy excursus on *sarvayoga* at f. 87v–f. 116v, sometimes with *"upamanyuḥ"* to indicate the source of the citation

but often without attribution.

493 The verse cited is not in Avalon's edition.

494 This passage is about the different tastes of *amṛta*.

495 I have located some of the citations introduced with *"śivena"* in the *Śivasaṃhitā*. I have been unable to find those listed here.

496 *Śivapaṃjaramārkaṇḍeyastotra* is a correction of *śivapaṃcaratnamārkaṇḍeyastotra*.

497 The *Dattātreyayogaśāstra, Yogabīja* and *Śivasaṃhitā* are paraphrased at many places in the commentary (especially between f. 87v and f. 108v). These have not been reported.

498 This text has been published as the *Dattātreyayogaśāstra*. These citations are usually introduced with *"datta"* or *"dattātreya"*.

Bibliography

Where more than one edition of a work has been consulted, references given are from the first edition listed. The date of a text's first publication is given in square brackets.

Manuscripts of works other than the *Khecarīvidyā*

Kularatnoddyota. Bodleian Library, Oxford. MS Chandra Shum Shere c.348. Paper. Newari. 106 folios. Incomplete and missing its first folio.

"Khecarīvidyā". Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur. MS No. 34946. A work different from the *Khecarīvidyā* but containing verses from it. Reported as ' "Khecarīvidyā" (O)' in the testimonia apparatus. See pages 54–5 for more details.

Jayadrathayāmala. National Archives, Kathmandu. MS. No. 1-1468. NGMPP Reel No. B 122/4. Paper. Newari. Dated 1622/3 CE. I am grateful to Alexis SANDERSON for providing me with transcripts of passages from this manuscript.

Bṛhatkhecarīprakāśa. Scindia Oriental Research Institute Library, Ujjain. MS 14575. This is Ballāla's commentary on the *Khecarīvidyā*. See under "S" in description of sources (p. 40).

Matsyendrasaṃhitā. The Wellcome Institute for the History of Medicine, London. MS Sansk. β1115.*

——— MS No.1782, MMSL, Jodhpur.

——— MS No.1783, MMSL, Jodhpur.

——— MS No.1784, MMSL, Jodhpur.

——— MS No.1785, MMSL, Jodhpur.

Yogacintāmaṇi of Śivānandayati. Oriental Institute of Baroda Library. Acc. No. 13047. Paper. Devanāgarī.

Vivekamārtaṇḍa of Gorakṣadeva. Oriental Institute of Baroda Library. Acc. No. 4110. Paper. Devanāgarī. Dated Saṃvat 1534.

*For full details of the *Matsyendrasaṃhitā* manuscripts see the descriptions of witnesses A,J6 and J7 on pages 35 to 37 of the introduction.

Vivekamārtaṇḍa of Gorakṣanātha. Oriental Institute of Baroda Library. Acc. No. 2081. Paper. Devanāgarī.

Haṭhapradīpikā of Svātmārāma. Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur. MS No. 6756. Paper. Devanāgarī. This is the long recension of the *Haṭhapradīpikā*. See under H_2 in the description of sources (p. 55).

Haṭharatnāvalī of Śrīnivāsa. Oriental Institute of Baroda Library. Acc. No. 13,118. Paper. Devanāgarī.

Printed sources

Ajitāgama, ed. N.R. Bhatt, 2 vols. Publications de l'Institut français d'Indologie No. 24. Pondicherry. 1964, 1967.

Advayatārakopaniṣad, ed. A.M. Śāstrī in Śāstrī 1920.

Abhaṅgamālā of Jñāndev, ed. and tr. C. Kiehnle in Kiehnle 1997.

Amanaskayoga, of Gorakṣanātha, ed. Rām Lāl Śrīvāstav. Śrī Gorakhnāth Mandir, Gorakhpur. 1980.

Amarakośa, of Amarasiṃha, ed. Krishnaji Govind Oka. Poona City: Law Printing Press. 1913

Amaraughaprabodha, of Gorakṣanātha, ed. K. Mallik in Mallik 1954.

Amaraughaśāsana, of Gorakṣanātha, ed. Pt. Mukund Rām Śāstrī. KSTS 20. Srinagar. 1918.

Amoghapāśakalparāja, as transcribed by the Taisho group: "Transcribed Sanskrit Text of the Amoghapāśakalparāja, Part I", *Annual of the Institute for Comprehensive Study of Buddhism, Taisho University, No. 20.* 1998.

Īśānaśivagurudevapaddhati, ed. T. Gaṇapati Śāstrī, part 4, Kriyāpāda *paṭala*s 3–64 & Yogapāda. Trivandrum Sanskrit Series 83. Trivandrum. 1925.

Kathāsaritsāgara of Somadevabhaṭṭa, ed. Pt. Durgaprasād and K.P. Parab. Bombay: T. Jāvajī. 1903.

Kākacaṇḍīśvarakalpatantra, ed. R. Sharma. Kashi Sanskrit Series 73. Benares. 1929.

Kāmasūtra, of Vatsyāyana with the *Jayamaṅgalā* commentary of Yaśodhara, ed. G.D. Shastri. Kashi Sanskrit Series 29. Benares. 1929.

Kiraṇatantra. Unpublished collation of *paṭala*s 58 and 59 by Dominic Goodall. 1998.

Kiraṇavṛtti of Bhaṭṭa Rāmakaṇṭha, chh. 1–6, ed. Dominic Goodall. IFP. 1998.

Kubjikāmatatantra, Kulālikāmnāya version, ed. T. Goudriaan and J.A. Schoterman. Leiden: E.J.Brill. 1988.

Kularatnoddyota, ed. Somdev Vasudeva. Unpublished edition. 2000.

Kulārṇavatantra, ed. Tārānātha Vidyāratna. Tantrik Texts 5 (ed. Arthur Avalon). Madras: Ganesh and Company, 1965. Reprinted Delhi: Motilal Banarsidass. 1975.

——————, ed. R.K. Rai. Tantragranthamālā 5. Vārāṇāsi: Prācyaprakāśan. 1983.

Kṛṣṇayamāritantra, ed. S. Rinpoche and V. Dwivedi. Rare Buddhist Text Series 9. Varanasi: Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath. 1992.

Kaulajñānanirṇaya of Matsyendranātha, ed. Prabodh Candra Bagchi in *Kaulajñāna-nirṇaya and Some Minor Texts of the School of Matsyendranātha.* Calcutta Sanskrit Series, No. 3. Calcutta: Metropolitan. 1934.

Kṣurikopaniśad with commentary of Nārāyaṇa, in *Śrīnārāyaṇaśaṅkarānandavira-citadīpikāsametānām upaniṣadāṃ samuccayaḥ.* Ānandāśrama Sanskrit Series 29. Poona. 1895.

——————, in *Ātharvvaṇopaniṣadaḥ Nārāyaṇakṛtadīpikāsahitāḥ*, ed. Rāmamaya Tarkaratna. Calcutta: Asiatic Society of Bengal (New Series No. 249). 1872.

——————, ed. A.M. Śāstrī in Śāstrī 1920.

Guhyasamājatantra, ed. Y. Matsunaga. Osaka: Toho Shuppa Inc. 1978.

Gorakṣavijaya of Bhīmasena Rāy. Ed. Pañcānand Maṇḍal. Calcutta: Viśvabhārati Granthālaya. 1949.

Gorakṣaśataka$_{\mathrm{N}}$, attributed to Gorakṣanātha, ed. F. Nowotny: *Das Gorakṣaśataka*, Köln 1976 (Dokumente der Geistesgeschichte).†

Gorakṣaśatakam, ed. Svāmī Kuvalayānanda and S.A. Shukla, in *Yoga-Mīmāṃsā,* 7, 4. Lonavla: Kaivalyadhama S.M.Y.M. Samiti. 1958.

Gorakṣasiddhāntasaṃgraha, ed. Janārdhana Śāstrī Pāṇḍeya. Sarasvatībhavanagran-thamālā Vol. 110. Vārāṇaseyasaṃskṛtaviśvavidyālaye. 1973.

Gorakhbāṇī, ed. P.D. Baḍathvāl. Prayāg: Hindī Sāhity Sammelan. 1960. Reproduced in Callewaert and de Beeck 1991 (q.v.). I have used the verse numbering of the latter.

Gheraṇḍasaṃhitā, ed. and tr. J. Mallinson. New York: YogaVidya.com. 2004.

——————, ed. and tr. S.C. Vasu. London: Theosophical Publishing House. 1895.

——————, ed. P. Thomi. Wichtrach: Insitut fur Indologie Reike Texte und Ubersetzungen 2. 1993.

Jogpradīpakā of Jayatarāma, ed. M.L. Gharote. Jodhpur: Rajasthan Oriental Research Institute. 1999

Tantrarājatantra, ed. Lakshmana Shastri. Delhi: Motilal Banarsidass. 1997 [1926].

† This work was originally called *Vivekamārtaṇḍa* but came to be known as *Gorakṣaśataka* (see note 9). To avoid confusion with the original *Gorakṣaśataka*, an unedited work, I have marked references to Nowotny's edition with a subscript N.

Tantrāloka of Abhinavagupta with commentary *(°viveka)* of Rājānaka Jayaratha, ed. Madhusūdan Kaul Śāstrī. KSTS 23, 28, 30, 35, 29, 41, 47, 59, 52, 57 and 58. Bombay and Srinagar, 1918–1938.

Tārābhaktisudhārṇava of Narasiṃha, ed. Pañcānana Bhaṭṭācārya. Calcutta: Sanskrit Book Depot. 1940.

Taittirīya Upaniṣad, ed. V.P. Limaye and R.D. Vadekar in *Eighteen Principal Upaniṣads.* Pune: Vaidika Saṃśodhana Maṇḍala. 1958.

Triśikhībrāhmaṇopaniṣad, ed. A.M. Śāstrī in Śāstrī 1920.

Dattātreyayogaśāstra, ed. Brahmamitra Avasthī. Delhi: Svāmī Keśavānand Yogasaṃsthān. 1982.

Darśanopaniṣad, ed. A.M. Śāstrī in Śāstrī 1920.

Divyāvadāna, ed. E.B. Cowell and R.A. Neil in *The Divyāvadāna: A Collection of Early Buddhist Legends*. Amsterdam: Oriental Press. 1970.

Nādabindūpaniṣad in *The Yoga Upaniṣads*, ed. Pt. A.M. Śāstrī. Madras: Adyar Library. 1920.

Nityāṣoḍaśikārṇava with Śivānanda's *Ṛjuvimarśinī* and Vidyānanda's *Artharatnāvalī*, ed. Vrajavallabha Dviveda. Varanasi: Vārāṇaseya Saṃskṛta Viśvavidyālaya. 1968.

Nityotsava of Umānandanātha, ed. A. Mahadeva Sastri. Gaekwad Oriental Series No. 23. Baroda. 1923.

Netratantra with commentary *(Uddyota)* by Kṣemarāja, ed. Madhusūdan Kaul Śāstrī. KSTS 46. Srinagar. 1926.

Paramatthajotikā of Buddhaghoṣa. Pali Text Society Translation Series No. 32. London: Luzac. 1960.

Parātrīśikāvivaraṇa of Abhinavagupta, tr. Jaideva Singh, Sanskrit text corrected and annotated by Swami Lakshmanjee, ed. B. Baumer. Delhi: Motilal Banarsidass. 1988.

Pāśupatasūtra with the commentary *(Pañcārthabhāṣya)* of Kauṇḍinya, ed. Anantha-krishna Sastri. Trivandrum Sanskrit Series No. 143. Trivandrum: The Oriental Manuscript Library of the University of Travancore. 1940.

Puraścaryārṇava, ed. Muralidhar Jha. Vrajajivan Prachyabharati Granthamala No. 10. Delhi: Chaukhamba Sanskrit Pratishthan. 1985.

Bṛhatsaṃhitā of Varāhamihira with the commentary *(vivṛti)* of Bhaṭṭotpala, ed. Sudhākara Dvivedī. 2 Parts. Vizianagaram Sanskrit Series No. 12, Vol. X. Benares: E.J. Lazarus and Co. 1895 and 1897.

Bṛhadāraṇyakopaniṣad, ed. P. Olivelle in *The Early Upaniṣads: Annotated Text and Translation.* New York: Oxford University Press. 1998.

Bṛhadyogiyājñavalkyasmṛti, ed. Swami Kuvalayananda and Pandit Raghunathashastri Kokaje. Lonavla: Kaivalyadhama S.M.Y.M Samiti. 1976.

Brahmapurāṇa, ed. Hari Nārāyaṇa Āpṭe. Ānandāśrama Sanskrit Series No. 28. Poona. 1895.

Brahmavidyopaniṣad, q.v. *Kṣurikopaniṣad.*

Bhagavadgītā, ed. J.A.B. van Buitenen in *The Bhagavadgītā in the Mahābhārata: Text and Translation*. Chicago: University of Chicago Press. 1981.

Bhāgavatapurāṇa, ed. E. Burnouf. Paris: Imprimerie Royale. 1860.

Majjhimanikāya, vol. 1, ed. V. Trenchner. Pali Text Society. London: Oxford University Press. 1948 [1888].

Mataṅgapārameśvarāgama (Kriyāpāda, Yogapāda et Caryāpāda), avec le commentaire *(vṛtti)* de Bhaṭṭa Rāmakaṇṭha, ed. N.R. Bhatt. Pondicherry: Publications de l'Institut français d'Indologie No. 65. 1982.

Matsyendrasaṃhitā, ed. Debabrata Sensharma. Bibliotheca Indica Series No. 318. Calcutta: The Asiatic Society. 1994.

Mahākālasaṃhitā of Ādinātha, *Kāmakalākhaṇḍa*, ed. Kiśoranāth Jhā. Allahabad: Gaṅgānāth Jhā Kendrīya Saṃskṛta Vidyāpīṭha. 1986.

Mahākālasaṃhitā of Ādinātha, *Guhyakālīkhaṇḍa*, ed. Kiśoranāth Jhā (3 Vols.). Allahabad: Gaṅgānāth Jhā Kendrīya Saṃskṛta Vidyāpīṭha. 1976, 1977, 1979.

Mahābhārata, ed. V. Sukthankar, with the cooperation of S.K. Belvalkar, A.B. Gajendragadkar, V. Kane, R.D. Karmarkar, P.L. Vaidya, S. Winternitz, R. Zimmerman and other scholars and illustrated by Shrimant Balasaheb Pant Pratinidhi. (Since 1943 ed. S.K. Belvalkar). 19 Vols. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute, 1927–1959.

Mahārthamañjarī with the *Parimala* commentary of Maheśvarānanda, ed. T.G. Śāstrī. Trivandrum Sanskrit Series No. 63. Trivandrum. 1919.

Mahopaniṣad, ed. Pt. Mahādeva Śāstrī in *The Sāmānya Vedānta Upaniṣads*. Madras: Adyar Library. 1921.

Mārkaṇḍeyapurāṇa, ed. K.M. Banerjea. Calcutta: Bishop's College Press. 1862.

Mālatīmādhava of Bhavabhūti with commentary of Jagaddhara, ed. M.R. Kale. Delhi: Motilal Banarsidass. 1967.

Mālinīvijayottaratantra, *adhikāra*s 1–4, 7, and 12–17, ed. Somdev Vasudeva in VASUDEVA 2004.

——————, ed. Madhusūdan Kaul Śāstrī. KSTS 37. Srinagar. 1922.

Mṛgendratantra, vidyā and *yoga pāda*s, with the commentary of Bhaṭṭa Nārāyaṇakaṇṭha, ed. Madhusūdan Kaul Śāstrī. KSTS 50. Srinagar. 1930.

Maitrāyaṇīyopaniṣad, ed. J.A.B. van Buitenen. The Hague: Mouton and Co. 1962.

Yājnavalkyasmṛti of Yogīśvara Yājnavalkya, with the commentary *Mitākṣarā* of Vijnāneśvara, ed. Narayan Ram Acharya. Bombay: Nirnayasagara Press. 1949.

Yuktabhavadeva of Bhavadeva Miśra, ed. M.L. Gharote and V.K. Jha. Lonavla: Lonavla Yoga Institute. 2002.

Yogakuṇḍalyupaniṣad, ed. A.M. Śāstrī in ŚĀSTRĪ 1920.

Yogacūḍāmaṇyupaniṣad, ed. A.M. Śāstrī in ŚĀSTRĪ 1920.

Yogatattvopaniṣad, ed. A.M. Śāstrī in ŚĀSTRĪ 1920.

Yogabīja, ed. Rām Lāl Śrīvāstav. Gorakhpur: Śrī Gorakhnāth Mandir. 1982.

Yogayājñavalkya, ed. K.S.Śāstrī. Trivandrum Sanskrit Series No. 134. Trivandrum. 1938.

Yogaviṣaya, ed. K. Mallik in MALLIK 1954.

Yogaśikhopaniṣad, q.v. *Kṣurikopaniṣad*.

Yogasūtra of Patañjali with the commentaries (*Bhāṣya*, *Tattvavaiśāradī*, and *Yogavārttikā*) of Vyāsa, Vācaspatimiśra, and Vijñānabhikṣu, ed. Nārāyaṇa Miśra. Benares: Bhāratīya Vidyā Prakāśan. 1971.

Yoginītantra, ed. Biswanarayan Shastri. Delhi: Bharatiya Vidya Prakashan. 1982.

Yoginīhṛdaya with the *Dīpikā* of Amṛtānandanātha and Bhāskararāya's *Setubandha*, ed. Gopināth Kavirāj. Varanasi: Sarasvatībhavana Granthamālā Vol. 7. 1979.

Yonitantra, ed. J.A. Schoterman. New Delhi: Manohar. 1980.

Rasārṇava, ed. P.C. Ray and H. Kaviratna. Calcutta: Asiatic Society of Bengal. 1910.

Rasārṇavakalpa, ed. and tr. M. Roy with B.V. Subbarayappa. Delhi: Indian National Science Academy. 1976.

Rasendracūḍāmaṇi of Somadeva, ed. Jādavjī Trikamjī Ācārya. Lahore: Motilal Banarsidass. 1932.

Rauravāgama, ed. N.R. Bhatt, 3 vols. Pondicherry: Publications de l'Institut français d'Indologie No. 18. 1961, 1972 and 1988.

Laghuyogavāsiṣṭha, ed. V.Sh. Panasikara. Delhi. 1985. (Reprint of 1937 Bombay edition).

Liṅgapurāṇa, ed. Vīrasiṃhaśāstrin and Dhīrānandakāvyanidhi. Calcutta: Vaṅgavāsī Steam Press. 1890.

Varāhopaniṣad, ed. A.M. Śāstrī in ŚĀSTRĪ 1920.

Vasiṣṭhasaṃhitā (Yogakāṇḍa), ed. Svāmī Digambar Jī, Dr. Pītāmbar Jhā, Śrī Jñānaśaṃkar Sahāy. Lonāvalā: Kaivalyadhām Śrīmanmādhav Yogamandir Samiti. 1984.

Vātulanāthasūtrāṇi with the *Vṛtti* of Anantaśaktipāda, ed. and tr. Madhusūdan Kaul Śāstrī. KSTS 39. Bombay. 1923.

Vāyupurāṇa, ed. Rājendralāla Mitra (2 volumes). Calcutta: Bibliotheca Indica. 1880 and 1888.

Vijñānabhairava, ed. and tr. J. Singh. See SINGH 1979.

Vivekadarpaṇ, attributed to Amarnāth, ed. V.D. Kuḷkarṇī in *Nāthparamparetīl gadya graṃtha: Viveka-darpaṇ.* Hyderabad: Marāṭhī Svādhyāya Saṃśodhan Pattrikā, Marāṭhī vibhāg, Usmāniyā Vidyāpīṭh, aṃk 6vā. 1971.‡

Vivekamārtāṇḍa of Viśvarūpadeva, ed. K. Sāmbaśiva Śāstrī. Trivandrum Sanskrit Series No. 119. Trivandrum. 1935.

Viṣṇusmṛti, ed. Julius Jolly. Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series No. 95. 1962.

Śatakatrayādisubhāṣitasaṃgraha of Bhartṛhari, ed. D.D. Kosaṃbī. Bombay: Bhāratīya Vidyā Bhavan. 1948.

Śāktavijñāna of Somānanda, ed. L. Silburn. See SILBURN 1988:117–119.

Śāradātilakatantra, ed. Arthur Avalon. Delhi: Motilal Banarsidass. 1996.

Śārṅgadharapaddhati, ed. Peter Peterson. Bombay: Government Central Book Depot. 1888.

Śivasaṃhitā, ed. and tr. J. Mallinson. New York: YogaVidya.com. 2006.

———————, ed. Svāmī Maheśānandjī, Bābūrām Śarmā, Jñānśaṃkar Sahāy, Ravīndranāth Bodhe. Lonavla: Kaivalyadhām, Śrīmanmādhav Yog Mandir Samiti. 1999.

———————, ed. and tr. S.C. Basu. Allahabad: Panini Office. 1914.

Śivasvarodaya in *Svar Yog* by Svāmī Satyānand Sarasvatī. Muṅger: Bihār Yog Vidyālay. 1994.

Ṣaṭcakranirūpaṇa, ed. and tr. Sir John Woodroffe in WOODROFFE 1992.

Ṣaṭsāhasrasaṃhitā Chapters 1–5, ed. J.A. Schoterman. Leiden: Orientalia Rheno-traiectina 27. 1982.

Saṃvarodayatantra, ed. S. Tsuda. Tokyo: Hokuseido Press. 1974.

Sarvadarśanasaṃgraha, ed. Mahāmahopādhyāya Vasudev Shastri Abhyankar. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute. 1978.

Siddhayogeśvarīmata, ed. Judit Törzsök. DPhil. thesis, Merton College, Oxford. 1999.

Siddhasiddhāntapaddhati of Gorakṣanātha, ed. M.L. Gharote and G.K. Pai. Lonavla: Lonavla Yoga Institute. 2005.

——————, ed. K. Mallik in MALLIK 1954.

Suttanipāta, ed. D. Andersen and H. Smith. Pali Text Society. London: Oxford University Press. 1948.

Saubhāgyalakṣmyupaniṣad, ed. A.M. Sastri in *The Śākta Upaniṣad-s.* Madras: Adyar Library. 1916.

Skandapurāṇasya Ambikākhaṇḍa, ed. Kṛṣṇaprasāda Bhaṭṭarāī. Mahendraratnagranthamālā 2. Kathmandu: Mahendrasaṃskṛtaviśvavidyālayah. 1988.

‡I have not consulted this edition but have used quotations from it found in KIEHNLE 1997.

Svacchandatantra with the commentary *(-uddyota)* of Rājānaka Kṣemarāja, ed. Madhusūdan Kaul, KSTS 31, 8, 44, 48, 51, 53, 56. Bombay. 1921–1935.

Haṃsopaniṣad, ed. A.M. Śāstrī in Śāstrī 1920.

Haṭhapradīpikā of Svātmārāma, ed. Svāmī Digambarjī and Dr. Pītambar Jhā. Lonavla: Kaivalyadhām S.M.Y.M. Samiti. 1970.

——— of Svātmārāma (10 chapters) with *Yogaprakāśikā* commentary of Bālakṛṣṇa, ed. M.L. Gharote and P. Devnath. Lonavla: Lonavla Yoga Institute. 2001.

Haṭhayogapradīpikājyotsnā of Brahmānanda in *The Haṭhayogapradīpikā of Svātmārāma*, ed. K. Kunjuni Raja. Madras: Adyar Library. 1972.

Haṭharatnāvalī of Śrīnivāsayogī, ed. M.L. Gharote, P. Devnath and V.K. Jha. Lonavla: Lonavla Yoga Institute. 2002.

Harṣacarita of Bāṇa. Vidyabhawan Sanskrit Granthamala 36. 1972.

Hevajratantra, ed. D.L. Snellgrove. London Oriental Series Vol. 6, Pt. 2. London: Oxford University Press. 1959.

Secondary material

Alper, Harvey. 1989. *Understanding Mantras.* Albany: State University of New York Press.

Alter, Joseph S. 2004. *Yoga in Modern India: the Body Between Science and Philosophy.* Princeton: Princeton University Press.

Anantha Murthy, T.S. 1986. *Maharaj.* San Rafael, California: The Dawn Horse Press.

Armstrong, John W. 1994 [1944]. *The Water of Life. A Treatise on Urine Therapy.* Delhi: Rupa & Co.

Avalon, Arthur. 1914. *Principles of Tantra, Part 1.* London: Luzac and Co.

Baḍathvāl, P.D. 1960. *Gorakhbāṇī.* Prayāg: Hindī Sāhity Sammelan.

Bernard, Theos. 1982 [1950]. *Hatha Yoga.* London: Rider.

Bernier, François. 1891. *Travels in the Mogul Empire A.D. 1656–1668.* A revised and improved edition based upon Irving Brock's translation by Archibald Constable. London: Archibald Constable and Co.

Bodewitz, H.W. 1973. *Jaiminīya Brāhmaṇa I, 1–65 Translation and Commentary with a study Agnihotra and Prāṇāgnihotra.* Leiden: E.J.Brill.

Böhtlingk, Otto and Roth, Rudolf. 1855-1875. *Sanskrit-Wörterbuch.* 7 Volumes. St. Petersburg.

Boileau, A.H.E. 1837. *Personal Narrative of a Tour through the Western States of Rajwara, in 1835; comprising Beekaner, Jesulmer, and Jodhpoor, with the Passage of the Great Desert, and a brief visit to the Indus and to Buhawulpoor; accompanied by various Tables and Memoranda Statistical, Philological, and Geographical.* Calcutta: N.Grant.

Bouillier, Véronique. 1997. *Ascètes et rois. Un monastère de Kanphata Yogis au Népal.* Paris: CNRS Éditions.

Bouy, Christian. 1994. *Les Nātha-Yogin et les Upaniśads.* Paris: Diffusion de Boccard.

Braid, James. 1850. *Observations on Trance or, Human Hybernation.* London: John Churchill.

Briggs, George Weston. 1938. *Gorakhnāth and the Kānphaṭa Yogīs.* Delhi: Motilal Banarsidass.

Brunner, Hélène. 1994. "The Place of Yoga in the Śaivāgamas", in *Pandit N.R. Bhatt Felicitation Volume*, ed. P.S. Filliozat, S.P. Narang and C.P. Bhatta. Delhi: Motilal Banarsidass.

Brunton, Paul. 1995 [1936]. *A Search in Secret Egypt.* Maine: Weiser.

————. n.d. *A Search in Secret India.* London: Rider.

Bühler, G. 1873. *A Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Private Libraries of Gujarat, Kathiawad, Kachchh, Sindh and Khandes.* Fascicle 4. Bombay.

Callewaert, Winand M., and de Beeck, Bart Op. 1991. *Devotional Hindī Literature. A Critical Edition of the Pañc-Vāṇī or Five Works of Dādū, Kabīr, Nāmdev, Rāidās, Hardās with the Hindī Songs of Gorakhnāth and Sundardās, and a Complete Word-index.* 2 volumes. New Delhi: Manohar.

Chambers. 1983. *Chambers 20th Century Dictionary.* Ed. E.M. Kirkpatrick. Edinburgh: W & R Chambers Ltd.

Clark, Matthew. 2004. *The Daśanāmī-Saṃnyāsīs: The Integration of Ascetic Lineages into an Order.* PhD thesis, School of Oriental and African Studies, London.

Dasgupta, Shashibhushan. 1976 [1946]. *Obscure Religious Cults.* 3rd edition. Calcutta: Firma KLM Private Ltd.

Dash, Bhagwan and Kashyap, L. 1980. *Materia Medica of Ayurveda.* (Based on the *Āyurvedasaukhyam* of Toḍarānanda). New Delhi: Concept Publishing.

De Michelis, Elizabeth. 2004. *A History of Modern Yoga.* London: Continuum.

Derrett, Duncan. 1973. *Dharmaśāstra and Juridical Literature.* History of Indian Literature 4. Wiesbaden: Harrassowitz.

Digby, Simon. 1970. *Encounters with Jogīs in Indian Ṣūfī hagiography.* Unpublished paper presented at a seminar on Aspects of Religion in South Asia at the School of Oriental and African Studies, University of London.

Dimock, Edward C. Jr. 1991 [1966]. *The Place of the Hidden Moon.* Delhi: Motilal Banarsidass.

Dvivedī, Hazārīprasād. 1996 [1950]. *Nāth Sampradāy.* Ilāhābād: Lokbhāratī Prakāśan.

——————. 1978. *Nāth Siddhoṃ kī Bāniyāṃ.* Vārāṇasī: Nāgarīpracāriṇī Sabhā.

Dyczkowski, Mark. 1988. *The Canon of the Śaivāgama and the Kubjikā Tantras of the Western Kaula Tradition.* Albany: State University of New York Press.

Edgerton, Franklin. 1953. *Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar and Dictionary.* New Haven: Yale University Press.

Eliade, Mircea. 1969. *Yoga: Immortality and Freedom.* Princeton: Princeton University Press.

Fuller, C.J. 1992. *The Camphor Flame.* Princeton: Princeton University Press.

Gervis, Pearce. 1970. *Naked They Pray.* Delhi: Universal. (Reprint of Cassell's edition, n.d.).

Gharote, M.L. 1991. "A critical note on the Haṭhapradīpikā", *Journal of the Oriental Institute, Baroda* 40, 3–4, pp.243–8.

Gharote, M.L. and Bedekar, V.A. 1989. *Descriptive Catalogue of Yoga Manuscripts.* Lonavla: Kaivalyadhama S.M.Y.M. Samiti.

Gode, P.K. 1938. "Date of Nārāyaṇa, the commentator of the Upaniṣads," in *Journal of the University of Bombay,* 7, 2.

Gold, Daniel. 1995. "The Instability of the King: Magical Insanity and the Yogi's Power in the Politics of Jodhpur, 1803–1843", in *Bhakti Religion in North India: Community Identity and Political Action*, ed. David N. Lorenzen. Albany: State University of New York Press.

Gonda, Jan. 1965. *Change and Continuity in Indian Religion* (particularly chapter 2, *Soma, Amṛta and the Moon*, and chapter 4, *The Number Sixteen*). The Hague: Mouton & Co.

Goodall, Dominic. 1995. *An Edition and Translation of the First Chapters of Bhaṭṭa Rāmakaṇṭha's Commentary on the 'Vidyāpāda' of the Kiraṇāgama'.* DPhil. thesis. Wolfson College, Oxford University.

Goudriaan, Teun and Gupta, Sanjukta. 1981. *Hindu Tantric and Śākta Literature.* History of Indian Literature 2, 2. Wiesbaden: Harrassowitz.

Gross, R.L. 1992. *The Sadhus of India. A Study of Hindu Asceticism*. Jaipur: Rawat Publications.

Hanneder, Jürgen. 1998. "Śaiva Tantric Material in the *Yogavāsiṣṭha*", *Wiener Zeitschrift für die Kunde Südasiens* Band XLII, pp. 67–76.

Heesterman, J.C. 1964. "Brahmin, ritual and renouncer", *Wiener Zeitschrift für die Kunde Süd-und Ostasiens* 8, pp.1–31.

Hiralal, Rai Bahadur. 1926. *Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Central Provinces and Berar.* Nagpur.

Honigberger, John Martin. 1852. *Thirty-five years in the East. Adventures, Discoveries, Experiments, and Historical Sketches, relating to the Punjab and Cashmere; in connection with Medicine, Botany, Pharmacy, &c. together with an original Materia Medica; and a Medical Vocabulary, in four European and Five Eastern Languages.* London: H. Baillière.

Horner, I.B. 1954. *The Collection of the Middle Length Sayings*. Vol. 1. London: Pali Text Society Translation Series No. 29.

Husain, Mahdi. 1953. *The Reḥla of Ibn Battūta.* Baroda: Oriental Institute.

Iyengar, B.K.S. 1977. *Light on Yoga* (Revised edition). New York: Schocken Books.

Jhā, Kiśoranāth. 1976. Introduction *(prastāvanā)* to the *Mahākālasaṃhitā Guhyakālīkhaṇḍa* vol. 1. Gaṅgānāth Jhā Kendrīya Saṃskṛta Vidyāpīṭha. Allahabad.

Kaivalyadhama. 1991. *Yoga Kośa*. Lonavla: Kaivalyadhama S.M.Y.M. Samiti.

Kane, P.V. 1968–1975. *History of Dharmaśastra.* 5 vols. 2nd edition. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute.

Kavirāj, Gopīnāth. 1972. *Tāntrik Sāhity (Vivaraṇātmak Granthasūcī).* Lucknow: Rājārṣi Puruṣottam Dās Ṭaṇḍan Hindī Bhavan.

——————. 1987 [1966]. "The system of cakras according to Gorakṣanātha", pp.47–55 in *Notes on Religion and Philosophy*, by G. Kaviraj, ed. Gaurinath Sastri. The Princess of Wales Sarasvati Bhavana Studies. (Reprint Series No. 3). Varanasi: Sampurnanand Sanskrit University.

Kiehnle, C. 1997. *Songs on Yoga. Texts and Teachings of the Mahārāṣṭrian Nāths.* Stuttgart: Franz Steiner Verlag.

Kielhorn, Franz. 1874. *A Catalogue of Sanskrit mss. existing in the Central Provinces.* Nagpur: Government Book Depot.

Kiss, C. *Matsyendrasaṃhitā*, a critical edition of selected *paṭala*s. Forthcoming DPhil. thesis, Balliol College, Oxford.

——————. 2004. *Introduction to the Matsyendrasaṃhitā.* Unpublished DPhil. transfer paper, Balliol College, Oxford.

Kuvalayānanda, Swami & Shukla, S.A. 1958. *Gorakṣaśatakam* (Preface pp. iv–vi; Introduction, pp. 1–19) in *Yoga-Mīmāṃsā,* 7, 4. Lonavla: Kaivalyadhama S.M.Y.M. Samiti.

Lochtefeld, James G. 2004. "The Construction of the Kumbha Mela", *South Asian Popular Culture*, 2, 2, pp.103–126.

McGregor, R.S. 1995. *Hindi-English Dictionary.* Oxford: Oxford University Press.

Mallik, K. 1954. *The Siddha Siddhānta Paddhati and Other Works of Nath Yogis.* Poona: Poona Oriental Book House.

Mallinson, J. 2005. "Rāmānandī Tyāgīs and Haṭha Yoga", *Journal of Vaishnava Studies*, 14, 1, pp. 107–121.

Meulenbeld, G. Jan. 1974. *The Mādhavanidhāna and its Chief Commentary. Chapters 1–10.* Leiden: E.J.Brill.

———. 1989. "The search for clues to the chronology of Sanskrit medical texts, as illustrated by the history of *bhaṅgā* (Cannabis sativa Linn.)", *Studien zur Indologie Und Iranistik*, 15, pp. 59–70.

———. 1999(–2000). *A History of Indian Medical Literature.* Two vols. Groningen: Egbert Forsten.

Mitra, Rājendralāla. 1880. *A Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Library of His Highness the Mahārājā of Bikaner.* Calcutta.

———. 1886. *Notices of Sanskrit MSS., vol. VIII.* Calcutta.

Monier-Williams, M. 1878. *Modern India and the Indians.* London: Trübner and Co.

———. 1988 [1899]. *A Sanskrit-English Dictionary.* Delhi: Motilal Banarsidass.

Norman, K. 1992. *The Group of Discourses (Sutta-Nipāta)* vol. 2. Oxford: Pali Text Society Translation Series No. 45.

Padoux, A. (ed.). 1986. *Mantras et Diagrammes Rituelles dans l'Hindouisme.* Paris: Éditions du Centre National de la Recherche Scientifique.

———. 1990a. *Vāc.* Albany: State University of New York Press.

———. 1990b. "The Body in Tantric Ritual: the Case of the *Mudrās*", pp.66–75 in *The Sanskrit Tradition and Tantrism,* ed. T. Goudriaan (*Contributions of the panels of the VIIth World Sanskrit Conference,* Leiden 1987, vol. 1). Leiden: E.J.Brill.

Parry, Jonathan P. 1994. *Death in Banaras.* Cambridge: Cambridge University Press.

Peterson, Peter. 1883. "Prof. Peterson's Report on the Search for Sanskrit MSS. in the Bombay Circle 1882–3", *Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society Extra Number.* (No. 41 Vol. 16). London: Trübner and Co.

Raghavan, V. 1966. *New Catalogus Catalogorum Vol. 2.* University of Madras.

———. 1969a. *New Catalogus Catalogorum Vol. 1.* University of Madras.

———. 1969b. *New Catalogus Catalogorum Vol. 5.* University of Madras.

Rama, Swami. 1978. *Living with the Himalayan Masters.* Honesdale, Pennsylvania: Himalayan Institute Press.

Ray, Ram Kumar. 1982. *Encyclopaedia of Yoga.* Varanasi: Prachya Prakashan.

Rieker, Hans-Ulrich. 1992. *Hatha Yoga Pradipika: Translation and Commentary.* London: Aquarian Press.

Robinson, James B. 1979. *Buddha's Lions: The Lives of the Eighty-four Siddhas.* Berkeley: Dharma Publishing.

Roşu, Arion. 1982. *Yoga et alchimie.* Zeitschrift der Deutschen Morgenländischen Gesellschaft 132, pp. 363–379.

———. 1997. "À propos de rapports entre Rasaśāstra et Tantra: étude sur un fragment du *Rasendracuḍāmaṇi*", pp. 408–423 in *India and Beyond*, ed. Dick van der Meij. London: Kegan Paul International.

Sanderson, Alexis. 1986. "Maṇḍala and Āgamic Identity in the Trika of Kashmir," pp.169–214 in Padoux 1986.

———. 1987. "Trika Śaivism" in Mircea Eliade (ed.), *The Encyclopedia of Religion.* London: Macmillan.

———. 1988. "Śaivism and the Tantric Traditions", pp. 660–704 in *The World's Religions*, ed. S .Sutherland, L. Houlden, P. Clarke and F. Hardy. London: Routledge.

———. 1990. "The Visualisation of the Deities of the Trika", pp. 31–88 in *L'Image Divine: Culte et Méditation dans l'Hindouisme*, ed. A. Padoux. Paris: Éditions du Centre National de la Recherche Scientifique.

———. 1993. "An Outline of Brahmanism (ca. 900 A.D.)." The text of seven lectures delivered at All Souls, Oxford.

———. 1995. "Meaning in Tantric Ritual", pp. 1–98 in *Essais sur le Rituel III: Colloque du Centenaire de la Section des Sciences religieuses de l'École Pratique des Hautes Études,* ed. Anne-Marie Blondeau and Kristofer Schipper. Bibliothèque de l'École des Hautes Études, Sciences Religieuses. Louvain-Paris: Peeters.

———. 2003. "The Śaiva Religion among the Khmers Part I", *Bulletin de l'École française d'Extrême-Orient,* 90–91 (2003–2004), pp. 349–462.

———. n.d. Unpublished translation of the thirty-second *āhnika* of the *Tantrāloka*.

Sarasvatī, Svāmī Praṇavānand. 1984. *Jñān Bherī.* Rishikesh: Vijñān Press.

Sarasvatī, Svāmī Satyānanda. 1991. *Amaroli*. Munger: Bihar School of Yoga.

———. 1993. *Hathayogapradipika.* Munger: Bihar School of Yoga.

Śāstrī, A.M. (ed.). 1920. *The Yoga Upaniṣads*. Madras: Adyar Library.

Schopen, Gregory. 1997. *Bones, Stones and Buddhist Monks.* Honolulu: University of Hawai'i Press.

Shastri, Haraprasada. 1905. *Report on the Search for Sanskrit Manuscripts (1901–1902 to 1905–1906).* Calcutta: Asiatic Society of Bengal.

———. 1939. *A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Collections of the Royal Asiatic Society of Bengal.* Vol. 8, Pt. 1 Tantra Manuscripts. (Revised edition by Chintaharan Chakravarti.) Calcutta: Royal Asiatic Society of Bengal.

Shea, David and Troyer, Anthony. 1843. *The Dabistan: or School of Manners.* London: Oriental Translation Fund of Great Britain and Ireland.

SHUKLA, S.A. 1966. "The Five Haṭha Texts" in *Yoga-Mīmāṃsā* 9.2. Lonavla: Kaivalyadhama.

SIEGEL, Lee. 1991. *Net of Magic: Wonders and Deceptions in India.* Chicago: University of Chicago Press.

SILBURN, L. 1968. *Le Mahārthamañjarī de Maheśvarānanda.* Paris: de Boccard.

——————. 1988. *Kuṇḍalinī: Energy of the Depths.* Tr. J. Gontier. Albany: State University of New York Press.

SINGH, Jaideva. 1979. *Vijñānabhairava.* Delhi: Motilal Banarsidass.

SIRCAR, D.C. 1998 [1973]. *The Śākta Pīṭhas.* Delhi: Motilal Banarsidass.

SONTHEIMER, Günther-Dietz. 1989. *Pastoral Deities in Western India.* (Tr. Anne Feldhaus.) New York: Oxford University Press.

STERNBACH, Ludwik. 1974. *Subhāṣita, Gnomic and Didactic Literature.* History of Indian Literature 4. Wiesbaden: Harrassowitz.

SVOBODA, Robert. 1986. *Aghora, at the Left Hand of God.* Albuquerque: Brotherhood of Life.

TAVERNIER, Jean-Baptiste. 1925 [1676]. *Travels in India.* Translated from the original French edition of 1676 by V. Ball. Second edition ed. William Crooke. London: Oxford University Press.

TRIMINGHAM, J. Spencer. 1973. *The Sufi Orders in Islam.* London: Oxford University Press.

TUCCI, Giuseppe. 1930. *"Animadversiones Indicae", Journal of the Asiatic Society of Bengal,* New Series XXVI, pp.125–160.

VAN DER VEER, Peter. 1989. *Gods on Earth. The Management of Religious Experience and Identity in a North Indian Pilgrimage Centre.* Delhi: Oxford University Press.

VASUDEVA, Somdev. 1997. "The Mudrās of the Mālinīvijayottaratantra." Paper given at All Souls, Oxford, in Professor Alexis SANDERSON's Tantric Studies Seminar series, May 5th 1997.

——————. 2004. *The Yoga of the Mālinīvijayottaratantra.*. Pondicherry: Publications de l'Institut français d'Indologie No. 97.

VYAS, K. and KSHIRSAGAR, D.B. 1986. *A Catalogue of Manuscripts in Maharaja Man Singh Pustak Prakash, Jodhpur. Pt. 2.* Jodhpur: Maharaja Man Singh Pustak Prakash.

WEITZMANN, M.P. 1977. "Review of V.A. Dearing, 'Principles and practice of textual analysis' (Berkeley 1974)", *Vetus Testamentum* 27, pp.225–235.

WEST, M.L. 1973. *Textual Criticism and Editorial Technique.* Stuttgart: B.G. Teubner.

WESTERGAARD, N.L. 1846. *Codices Indici Bibliothecae Regiae Havniensis.* Copenhagen.

WHITE, David Gordon. 1996. *The Alchemical Body.* Chicago: University of Chicago Press.

———. 2003. "Yoga in Early Hindu Tantra", pp. 143–161 in *Yoga: The Indian Tradition,* ed. Ian Whicher and David Carpenter. London: Routledge Curzon.

WHITNEY, William Dwight. 1988. *The Roots, Verb-forms and Primary Derivatives of the Sanskrit Language.* Delhi: Motilal Banarsidass.

WOODROFFE, Sir John. 1992. *The Serpent Power.* Madras: Ganesh and Co.

Pāda index

ख

ग

Index

अथ एकविंशतितमोऽधिकारः

अथातः परमं गुह्यं शिवज्ञानामृतोत्तमम् ।
व्याधिमृत्युविनाशाय योगिनामुपवर्ण्यते ॥ १ ॥

षोडशारे खगे चक्रे चन्द्रकल्पितकर्णिके ।
स्वरूपेण परां तत्र स्रवन्तीममृतं स्मरेत् ॥ २ ॥

सौः

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचिरूपम्

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्

डॉ० परमहंसमिश्रविरचित-नीर-क्षीर-विवेकनामकभाषाभाष्यसमन्वितम्

एकविंशतितमोऽधिकारः

[२१]

भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, इन अन्य साधना विधियों के वर्णन के बाद मैं यहाँ योगियों के परम कल्याण के लिये अत्यन्त गुह्य अमृत के समान शैवज्ञान उद्घाटित कर रहा हूँ। इस ज्ञान के अनुसार आचरण करने वाला योगी समस्त व्याधियों से छुटकारा पा सकता है। वह मृत्युजित् हो सकता है। व्याधिजन्य मृत्यु का विनाश योगी कर सकता है। अतः अनवरत शिवयोग साधना के लिये यह जानना नितान्त आवश्यक है ॥ १ ॥

षोडशार चक्र विशुद्ध चक्र माना जाता है। इसमें १६ स्वर प्रत्येक दल में प्रतिष्ठित रहते हैं। इसको विशुद्ध पद्म भी कहते हैं। यह 'खग' अर्थात् शुद्ध अध्वा के आकाश में विचरण करने का प्रेरक होता है। इस पद्म की कर्णिका चन्द्रमा के समान कान्ति युक्त होती है।

उसी कणिका में एक सर्वेश्वरी शक्ति का अधिष्ठान होता है। वह स्वरूप से पराशक्ति के समान मानी जाती है। यों पराशक्ति उन्मना में अवस्थित रहती हैं। यह परा सदृश शक्ति सोमतत्त्व समन्वित होती हैं। यहाँ योगी यह स्मरण करे कि,

पूर्वंन्यासेन सन्नद्धः क्षणमेकं विचक्षणः ।
ततस्तु रसनां[1] नीत्वा लम्बके विनियोजयत् ॥ ३ ॥
स्रवन्तममृतं दिव्यं चन्द्रबिम्बसितं[2] स्मरेत् ।
मुखमापूर्यते तस्य किञ्चिल्लवणवारिणा ॥ ४ ॥
लोहगन्धेन तच्चात्र न पिबेत्किन्तु निक्षिपेत् ।
एवं समभ्यसेत्तावद्यावत्तत्स्वादु जायते ॥ ५ ॥
जराव्याधिविनिर्मुक्तो जायते तत्पिवंस्ततः ।
षड्भिर्मासैरनायासाद्वत्सरान्मृत्युजिद्भवेत् ॥ ६ ॥

विशुद्ध पद्म चक्र को कर्णिका में अवस्थित वह सोमतत्त्व समन्वित शक्ति अमृतद्रव की वर्षा कर रही हैं। उस अमृत की फुहार से आन्तर तत्त्व अभिषिक्त हो रहे हैं ॥ २ ॥

पूर्व में उक्त न्यास से शक्ति प्राप्त कर उस शक्ति से सन्नद्ध साधक अत्यन्त विचक्षण भाव से साधना में अवस्थित हो जाय। पूरी तरह सन्नद्ध होकर अपनी जोभ को उलट कर गले की ओर ले जाने का अभ्यास करे और अभ्यस्त हो जाने पर गले में लटकने वालो लम्बिका में योजित कर दे। यह विनियोजन महत्त्वपूर्ण साधना का ही एक अङ्ग माना जा सकता है ॥ ३ ॥

वहाँ यह स्मरण करे कि, वहाँ ऊपर से अमृत द्रवित होकर रसना के अग्रभाग में मिल रहा है। उस अमृत का वर्ण चन्द्रबिम्ब के समान श्वेत है। वह दिव्यता से ओत-प्रोत है। उस समय साधक का मुँह कुछ खारे नमकीन द्रव-वारि से भर जाता है ॥ ४ ॥

वह लोह गन्धो जल पीने योग्य नहीं होता। उसे गले के नीचे नहीं जाने देना चाहिये। अपितु उसका बाहर निक्षेप कर देना चाहिये। उसको थूक देना ही श्रेयस्कर होता है। यह अभ्यास तब तक अनवरत चालू रखना चाहिये, जब तक उसमें स्वाद न आ जाय। स्वादिष्ट जल आने लगना साधक की सफलता का द्योतक माना जाता है ॥ ५ ॥

उस स्वादिष्ट स्राव में अमृतत्व मिश्रित रहता है। उसको पोने से साधक जरा और व्याधियों से मुक्त हो जाता है। जराप्रद कोई व्याधि नहीं होतो। जरा

१. ग० पु० रसतीं नोत्वेति पाठः।
२. क० पु० बिम्बास्मितं स्मरेदिति पाठः।

तत्र स्वादुनि संजाते तदाप्रभृति तत्रगम् ।
यदेव चिन्तयेद् द्रव्यं तेनास्यापूर्यते मुखम् ॥ ७ ॥

रुधिरं मदिरां वाथ वसां वा क्षीरमेव वा ।
घृततैलादिकं वाथ द्रवद्द्रव्यमनन्यधीः ॥ ८ ॥

अथान्यं संप्रवक्ष्यामि संक्रान्तिविधिमुत्तमम् ।
मृते जीवच्छरीरे तु प्रविशेद्योगविद्यया ॥ ९ ॥

अवस्था स्वयम् एक व्याधि है। इससे साधक हमेशा के लिये मुक्त हो जाता है। अनवरत छः माह इस प्रक्रिया को अपनाना आवश्यक है। व्याधिमुक्ति के लिये छह मास का अभ्यास पर्याप्त होता है। एक वत्सर पर्यन्त साधक इसे यदि लगातार करता रहे, तो यह निश्चय है कि, मृत्युजेता बन सकता है ॥ ६ ॥

उस लम्बिका में समायोजित रसना में जब स्वादिष्ट वारि ऊपर से स्रवित होने लगता है, तब से यह ध्यान रखना चाहिये कि, अब इसमें क्या चमत्कार घटित होना शुरू हुआ है। प्रथम चामत्कारिक बात यह होती है कि, उस समय साधक जिस द्रव्य का चिन्तन करता है, उसी के स्वाद से मुँह भर जाता है अर्थात् उसी का स्वाद उसे मिलने लगता है ॥ ७ ॥

अनन्य बुद्धि से उस द्रव में चिन्तन करने से लगता है कि, वही द्रव्य उतर आया है। किसी ने मान लीजिये, रुधिर का ध्यान किया, तो रुधिर के आस्वाद की ही अनुभूति होगी। इसी तरह 'मदिरा' का, वसा अर्थात् चर्बी का, दूध का, घी का, तेल का तथा आदि शब्द के आधार पर किसी खाद्याखाद्य पदार्थ का ध्यान यदि उसने किया तो उसी पदार्थ के स्वाद से साधक का मुँह भर जाता है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं ॥ ८ ॥

उक्त विधि के अनन्तर एक दूसरी संक्रान्ति विधि पर प्रकाश प्रक्षिप्त कर रहे हैं। यह विधि भी बड़ी उत्तम मानी जाती है। यह योग विद्या है और इतनी अद्भुत है कि, मृत शरीर में प्रवेश कर उसे जीवित शरीरवत् कर देता है। यह परकाया प्रवेश विद्या मानी जाती है। जीवित शरीर में भी प्रवेश कर उसे अपनी इच्छा के अनुसार संचालित किया जा सकता है ॥ ९ ॥

निवातस्थो जितप्राणो जितासनविधिक्रमः ।
कुर्वीत वायुनावेशमर्कतूले शनैः शनैः ॥ १० ॥
स्वादाकृष्टविधिं[1] यावद्गुडे निम्बे च कारयेत् ।
श्रीखण्डगुडकर्पूरैस्ततः कृत्वाकृतिं शुभाम् ॥ ११ ॥
प्रगुणामगुण ··· ··· न्यङ्गेषु संदधत् ।
न्यासं कृत्वापि तत्रापि वेधं कुर्याच्छनैः शनैः ॥ १२ ॥

इसकी विधि पर प्रकाश डाल रहे हैं और क्रमिक रूप से इसे प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. निर्वात कक्ष में अवस्थित होना आवश्यक है।

२. प्राणायाम साधकर उस समय प्राणजित अवस्था में बैठ जाना चाहिये।

३. आसनजित का तात्पर्य एक आसन इतना सिद्ध होना चाहिये, जिस पर घण्टों विना हिले डुले एक रस योगी बैठ सके।

४. इस अवस्था में अर्कतूल (मदार का फूल) लेकर उसमें छिद्र कर उसी में प्राणवायु का धीरे धीरे संचार शुरू करें ॥ १० ॥

५. इस अवस्था में स्वादाकृष्टि विधि (श्लो० ७) का प्रयोग करें। विशेष रूप से गुड़ के स्वाद का आकर्षण करें अथवा निम्ब के कड़वे आस्वाद की आकृष्टि करनी चाहिये।

६. तत्पश्चात् श्रीखण्ड, गुड़ और कर्पूर इनके सम्मिलित मिश्रण से एक शुभ अर्थात् उत्तमोत्तम आकृति का निर्माण करे ॥ ११ ॥

७. बारहवाँ श्लोक खण्डित है। इसकी पहली अर्धाली में इस प्रकार समायोजन किया जाने पर अन्वयपूर्वक अर्थ किया जा सकता है—"प्रगुणामगुण (प्रख्यां भवा) न्यङ्गेषु संदधत्'

इस ऊहात्मक श्लोक पूर्ति से 'प्रगुणां' शब्द और अगुणप्रख्यां दोनों शब्द आकृति के विशेषण का काम करेंगे। भवानि! सम्बोधन और अङ्गेषु अर्थात् आकृति के अङ्गों में संदधत् क्रिया (शतृप्रत्ययान्त) से अन्वय हो जायेगा।

८. मेरी दृष्टि से अर्कतूल वाले पुष्प में स्वादाकृष्टि के बाद श्रीखण्डादि द्रव्यों से प्रगुणता विशिष्ट अगुणप्रख्य देवता के समान मूर्त्ति बनाकर उसके अङ्गों में

---

१. क० पु० स्वादाकृष्येति पाठः।

निरोधं तत्र कुर्वीत घट्टनं तदनन्तरम् ।
घट्टनं नाम विज्ञेयमङ्गप्रत्यङ्गचालनम् ॥ १३ ॥

एवमभ्यसतस्तस्य योगयुक्तस्य योगिनः ।
चलते प्रतिमा सा तु धावते चापि संमुखी ॥ १४ ॥

पुनस्तां प्रेरयेत्तावद्यावत्स्वस्थानमागताम् ।
पतितां चालयेद् भूय उत्तानां पार्श्वतः स्थिताम् ॥ १५ ॥

एवं सर्वात्मनस्तावद्यावत्स्ववशतां गता ।
ततः प्रभृत्यसौ योगी प्रविशेद्यत्र रोचते ॥ १६ ॥

मिलाते हुए प्रयोग करना चाहिये । उसमें मृत या जीवित का न्यास करना चाहिये । न्यास करने के बाद उस मूर्त्ति में शनैः शनैः वेध का प्रयोग करना चाहिये । इससे उस मूर्त्ति में शक्तिमत्ता आ जाती है ॥ १२ ॥

९. उस न्यस्त शरीर में जिसका न्यास किया गया है, उसका निरोध करना चाहिये ।

१०. निरोध के बाद घट्टन का प्रयोग किया जाता है । घट्टन अङ्ग प्रत्यङ्ग के चालन को कहते हैं ॥ १३ ॥

११. इस प्रकार के अभ्यास से योगी उस आकृति में इतनी शक्ति भर देता है, जिससे उस प्रतिमा में गति उत्पन्न हो जाती है । वह चलने लगती है । वह कुछ दूरी पर रखने पर दौड़ भी पड़ती है और योगी के संमुखीन रहती है ॥ १४ ॥

योगी उसे दूर जाने पर या सामने आने पर इस बात के लिये प्रेरित करता है कि, तुम अपने स्थान पर चली जाओ । इस प्रेरणा से वह अपने स्थान पर आदेशानुसार चली जाती है । उसे पुनः पुनः प्रेरित कर उसकी शक्ति का परीक्षण योगी कर लेता है । मान लीजिये यदि वह गिर गयी, तो उसे चलने को प्रेरित करना चाहिये । भले ही वह उत्तान हो, पार्श्व में ही स्थित हो ॥ १५ ॥

इस प्रकार योगी अपने योग के प्रभाव से, न्यास और प्राणसन्धान एवं मूर्त्ति ध्यान से उसे तब तक शक्ति देता रहे, जब तक वह पूरी तरह उसके वश में न आ जाय । इस मूर्त्ति प्रयोग की इस विद्या की सिद्धि के अनुसार उसी तरह सर्वत्र प्रवेश की सिद्धि उसे प्राप्त हो जाती है ॥ १६ ॥

मृते जीवच्छरीरे वा संक्रान्त्याक्रान्तिभेदतः ।
प्रक्षिप्य जलवच्छक्तिजालं सर्वाङ्गसन्धिषु ॥ १७ ॥

प्रत्यङ्गमङ्गतस्तस्य शक्तिं तेनाक्रमेद्बुधः ।
स्वकीयं रक्षयेद्देहमाक्रान्तावन्यथा त्यजेत् ॥ १८ ॥

बहून्यपि शरीराणि दृढलक्ष्यो यदा भवेत् ।
तदा गृह्णात्यसन्देहं युगपत्संत्यजन्नपि ॥ १९ ॥

शरीर मृत हो या जीवित उसमें संक्रान्ति और आक्रान्ति प्रक्रिया इस कर्म को पूर्ण करने के लिये अपनायी जाती है। जिस तरह जल का प्रक्षेप शरीर पर करके उसे आर्द्र किया जाता है, उसी तरह मृत या जीवत् शरीर पर शक्तिपात किया जाता है। यह शक्ति जाल प्रयोग उसके अवयवों की सभी सन्धियों पर अर्थात् जहाँ गाँठों के जोड़ हैं, उन-उन अङ्गों पर विशेष रूप से शक्तिपात का प्रयोग करना चाहिये ॥ १७ ॥

शक्तिजाल का यह प्रयोग इस प्रक्रिया में निष्णात योगी को ही करना चाहिये। यह शक्तिजाल निक्षेप अपने ही शरीर से उस शरीर पर किया जाता है। अपने उन-उन अङ्गों की शक्ति दूसरे शरीर के उन्हीं-उन्हीं अङ्गों पर प्रक्षिप्त की जाती है। इसलिये भगवान् ने कहा है कि, 'बुधः आक्रमेद्' अर्थात् इस प्रयाग को बुद्धि से सम्पन्न दक्ष योगी ही अपनी शक्ति आक्रान्त करे। इस अवस्था में अपनी शक्ति का ह्रास भी होता है। इसलिये अपने शरीर की पूरी सुरक्षा की दृष्टि भी आवश्यक है। दूसरा भाव यह भी है कि, परकाय में प्रवेश के समय अपने शरीर को सुरक्षित रखना चाहिये। ऐसी व्यवस्था पहले से हो करके रखनी चाहिये, ताकि अपना शरीर सुरक्षित रहे। यदि ऐसा सम्भव न हो, तो छाड़ ही दें ॥ १८ ॥

इसमें पूर्ण समर्थ योगी अनेक शरीरों को भी आक्रान्त कर सकता है। ऐसा दृढ़ लक्ष्य योगी अपनी शक्ति की इयत्ता का सन्तुलन बनाये रखने में दक्ष होता है। शरीर अनेक होने पर उतने ही अनुपात में शक्ति की आवश्यकता होती है। उतनी शक्ति से सम्पन्न महायोगी आक्रान्ति के उद्देश्य से निःसन्देह अनेक शरीरों का ग्रहण कर सकता है। एक साथ ही अपने शरीर का उसे परित्याग भी करना पड़ता है, यह वह जानता है। इस अवस्था में भी वह यह प्रयोग करता है और सफल रहता है। पुनः अपने शरीर में लौटने के लिये अपने शरीर की रक्षा का प्रबन्ध करना ही चाहिये ॥ १९ ॥

॥ सप्तमः पटलः॥

श्री देव्युवाच

आसां मन्त्रोदयं दिव्यं कथय स्व प्रसादतः।
येन विज्ञानमात्रेण मन्दपुण्योऽपि सिद्ध्यते॥१॥

एतच्छ्रुत्वा तु वैष्णव्यं देवदेवेन शूलिनः।
विहस्य सुचिरं कालं प्राश्यपञ्चामृतं चरुम्॥२॥

सन्दष्टोष्ठ पुटं नाथं प्राह गद्गदया गिरा।

श्री भैरव उवाच

शृणुत्वं खेचरी ज्ञानं स्वपिण्डे खगतिप्रदम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं सर्वकामविभूतिदम्॥४॥

शान्तौघरूपकं दिव्यं मन्त्रोद्धारं तु कौलिकम्।
द्विधाभेदेन वक्ष्यामि कर्णान्ते खटिकागमे॥५॥

शून्यं शून्यसमायुक्तं वह्निसम्पुटमध्यगम्।
मायानादकलोपेतं ना रुद्रो लभते स्फुटम्॥६॥

कामसम्पुटमध्यस्थं कामारिङ्कामसंस्थितम्।
नादबिन्दुकलोपेतं लभते योगिनी सुतम्॥७॥

सर्वगाद्यं पुनर्भद्रे सर्वगं बिन्दुभूषितम्।
षष्ठस्वरसमारूढं जीवं चन्द्रार्कभूषितम्॥८॥

एतत्पञ्चाक्षरं मन्त्रं स्वपिण्डे भोगमोक्षदम्।
प्रेतनाथस्य कथितं हृदयं सर्वकामदम्॥९॥

अधुना क्षेत्रपालानां सपत्नीकं शृणु प्रिये।
सप्तादशाक्षरं पूर्वं तृतयं तु चतुष्फलम्।।१०।।

चतुर्थं कथितं बीजं रक्षां तदनन्तरम्।
कामराजपराबीजमेतदष्टाक्षरान्तिमम्।।११।।

चणा - - क्षेत्रपालानां सपत्नीकां प्रकीर्तितम्।
सामान्यं हृदयं वीक्ष्य - - - रिक्षनन्तरम्।।१२।।

शक्तिबीजं शिवं शान्तं तृतीयं पारमेश्वरम्।
अनेनार्चयते दिव्यं गुरुपर्वक्रमान्तिमम्।।१३।।

तृतीयं भोगमन्त्राद्यं रावं रेफविवर्जितम्।
पायहा पञ्चमी बीजं एतत्पञ्चाक्षरान्तिमम्।।१४।।

धर्माधर्मक्षयकरं श्रीमन्त्रानक्षमान्वयम्।
अनेनार्चयते दिव्यं सिद्धचक्रं सदोदितम्।।१५।।

सर्वाधिकारफलदं शापानुग्रहसिद्धिदम्।
भोगहस्ते मयाख्यातं दिव्यरूपमकीलितम्।।१६।।

अथान्यं तु चतुष्पीठं चतुष्पीठसमन्वितम्।
सप्ताक्षरं महादीप्तं सुसिद्धं सर्वसिद्धिदम्।।१७।।

ह्रीं हुँ क्रीं तृतीयं पूर्वं निष्फलं निष्फलात्मकम्।
सर्वगं पूर्व सम्भिन्नं जीवसृष्टिसमन्वितम्।।१८।।

एषोसौ कौलिकं गुह्यं मन्त्रराजात्मतो लभेत्।
हृदयं सर्वपीठानां योगिनीनां महोदयम्।।१९।।

अधुना शक्ति सङ्घट्टं तृतीयं परमेश्वरम्।
परा च अपरा चैव तृतीया तु परापरा।।२०।।

अपरे संस्थिता ह्येव इत्याद्या सर्वदेहिनः।
आसां मन्त्रोदयं वक्ष्ये स्वपिण्डे भोगमोक्षदा॥२१॥

शिव शक्तिमयं युग्मं पराबीजं सदारुणम्।
एतत् त्रिरक्षरं मन्त्रं परादेव्या प्रकाशितम्॥२२॥

ज्ञानविज्ञानफलदमपरा च मतश्शृणु।
तदेवाद्यं परं युग्मं पराख्यं वरुणोर्ज्जितम्॥२३॥

सर्वगो दीपितं कृत्वा अपरा तृतयोदितम्।
सर्वस्वहृदयान्तस्थं - - - - - - - - - - ॥२४॥

- - - - - - ष्टस्तु मदिरानन्दनन्दितः।
- - - - - - - - - - - भैरवं वपुम्॥२६॥

प्रस्तरे भूतलं - - - - - - - - - - - - - ॥२७॥

- - स्व स्वभाव स्वरूपेण शिवं भु - - - ॥२८॥

- - - न्यसेत्पुष्पं ध्यात्वां प्रेतं जगद् गुरुम्।
- - - - - - - - - - - - - सर्वकारणम्॥२९॥

पूजयित्वा ततः पश्चात् स्वे स्वे मन्त्रेण सुब्रते।
अर्चयेत् क्षेत्रपालेशं ततो धूपं सुकल्पयेत्॥३०॥

ततो वै स्थापयेल्लिंग गन्धधूपाद्यनुक्रमैः।
दधिक्षीराज्यमधुकै द्राक्षश्चेक्षुरमासवः॥३१॥

सुरादि सोत्तमैर्द्रव्यैर्दध्यमासादिनुक्रमैः।
पश्चाद्विषोत्तमं दिव्यं महास्नानं प्रकल्पयेत्॥३२॥

मणिरत्नमये पात्रे सौवर्णे राजतेऽपि वा।
कास्ये चैवात्र सङ्घट्टे तदाभावास्तु बिल्वजे॥३३॥

मध्यवृत्तिपदोद्भूतं गृहीत्वा स्वकुलामृतम्।
कर्पूरागुरुसंयुक्ते मृगजामलयान्वितम्॥३४॥

मूलमन्त्रेति सत्कृत्वा मुनिसङ्ख्या विधानवित्।
अयमेवाथोऽयस्कान्ते पात्रान्ते लिङ्गमुत्तमम्॥३५॥

स्नात्वा चैवोपविष्टे वै लिङ्गावित्सङ्ख्यया शुभम्।
धर्माधर्मक्षये प्रोक्ते विशुद्धे विशुवे परे॥३६॥

चिच्चितान्तरसंल्लीने ध्यात्वा सङ्घट्टभैरवम्।
युक्ति युक्तं पिवेन्मद्यं पिङ्गलं निर्मलं रसम्॥३७॥

तत्क्षणाद् भवती वीरो वलीपलित वर्जितः।
- - - - - - - मपरे नित्यं द्वितीयमिव भैरवः॥३८॥

एवं स्नानविधिङ्कृत्वा कर्णिकान्ते जगद्गुरुम्।
मुनिसङ्ख्यार्चयेद्देवं पराशक्तिसमन्वितम्॥३९॥

अष्टत्रिंशाक्षरं घोरं काली सप्तादशाक्षरा।
पूजामन्त्रेण वो पश्चात् त्र्यक्षरे सर्वकामदे॥४०॥

भूतसङ्ख्यार्चयेद्देवं द्विधाशाक्ति स्त्रिधाशिवम्।
पश्चात्क्रमेऽर्चयेत्सर्वा गुरुसिद्धादिपीठगाः॥४१॥

तृसङ्घट्टं ततः पद्मं द्वादशारं ततोर्चयेत्।
षट्कोणं परमं धाम सर्वशक्त्यालयोद्भवम्॥४२॥

गृह्य पुष्पात्र्जलिं पश्चाज्जातंत्यक्त्वा तु भूतले।
विद्यायुग्मं ततः पूज्यं त्रिवर्णेशं सकृत् सकृत्॥४३॥

ततो वै समयाख्या तु भोगमोक्षार्थकामदा।
पञ्चषड्भिस्तु कोटीनां विद्यां समयमुत्तमाम्॥४४॥

या स्मृता राजराजेशी पञ्चशार्णा पराकला।
मूलमुख्यतरा दीप्ता धर्माधर्मक्षयङ्करी॥४५॥

यत्रोत्पन्नास्तु ते मन्त्रा अघोराद्यादिनुक्रमा।
सप्तादशाक्षराद्यादि मूलमुख्यतरान्तिमा॥४६॥

राजराजेश्वरादिव्या तया विद्याजगाम्बिके।
त्रिरावृत्तं प्रयोगेण नित्यमेवं प्रपूजयेत्॥४७॥

यया पूजित मात्रा वै सकृत्स्मृत्वा वानधे।
अनेन शरीरेण सायोज्यत्वं प्रयच्छति॥४८॥

पश्चात्प्रकल्पये धूपं पञ्चब्रह्मनवात्मकम्।
ततश्चाष्टाङ्गविधिना दण्डपातं प्रदक्षिणम्॥४९॥

कृत्वा दिव्या महाराणि कर्मणा मनसागिरा।
निवेदयेत्परे तत्त्वे पुष्पहस्तं प्रकल्पयेत्॥५०॥

धर्माधर्मं च - - पुण्यपापं शुभाशुभम्।
कामक्रोधमलं लोभं शब्द स्पर्श रसं तथा[क]॥५१॥

ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वर श्च सदाशिवः।
एतत् सर्वमशेषेण नानावृत्यौघमण्डलम्॥५२॥

पञ्चाभूतात्मकं पिण्डं तत्त्व षट्त्रिंशबृंहितम्।
चतुर्विंशपदोपेतं षड्ध्वनिलयं परम्॥५३॥

षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्षं व्योमपञ्चकम्।
आब्रह्मभुवनं सर्वं स्वकुलं कौलिकं पशुम्॥५४॥

निवेदयेत्परे ब्रह्मे भैरवोत्सङ्गबृंहिते।
स्वदेहोत्कर्तनं कृत्वा ज्वलयेत् - - - ॥५५॥

क. खण्डितोऽत्र पाठः।

होम एतत्समाख्यातं यन्त्रस्याप्यायनं महत्।
एतद्वै त्रिविधं का - - - - - ट्कायिक वाचिकम्।।५६।।

कृत्वा पूर्वेनयेत्पश्चात् महापशूपहारकम्।
सर्वाङ्गलक्षणोपेतं प्रत्यग्रं तु नरेश्वरम्।।५७।।

स्वसातं सुमहानन्दं बद्धनेत्रपदं शुभान्।
तदनाप्तमशेषं व अजं वा महिषं वृषम्।।५८।।

मीनं चाथ वरारोहे यत्किञ्चिज्जीवरूपिणम्।
सुशुष्कं चैव सुस्नातं सुरोमं शृंङ्गिणं शुभम्।।५९।।

सर्वलक्षणसम्पूर्णं अक्षताङ्गमरोगिणम्।
ह्रीं क्षां क्षं तृतीये नेन आकर्णान्तावलोकयेत्।।६०।।

ततो नेत्रपटोद्घाट्य कुलाचारसमन्वितैः।
अर्घपुष्पासवोपेते शिरः पृष्ठे कटिस्थले।।६१।।

प्रेक्षयित्वा प्रधानेन दिव्येन वेघ रूपकैः।
यावन्न चालयेद्देहं तावन्न पशुपातयेत्।।६२।।

ह्रीं धूंक्षः तृतये नैव वीरकर्म समार्चयेत्।
- - - - - - - - - - कामविभूतिदम्।।६३।।

यदादौ चालयेद् वक्त्रं पश्चाद् देहं वरानने।
अशुभं ते तु विज्ञेयं दुःख शोकामयप्रदम्।।६४।।

यदादौ धुनते वक्त्रं पश्चाद्देहं पुनश्शिरम्।
सिद्धिदं तत्र विज्ञेयं सप्तदेहविलम्बितम्।।६५।।

प्रवृष्टिं तु यदा मुञ्चे पुरीषाण्डानि शोभने।
समैर्वित्तागमैविन्द्या द्विषमं ज्ञानसिद्धिदम्।।६६।।

पुरीषं तु यदा मुञ्चेत् गृहीत्वा वीर वन्दिते।
स्वकुलामृतसंयुक्तं मातृभृङ्गिरजान्वितम्।।६७।।

कुहा कुष्ठसमोपेतं मुनिसंख्याभिमन्त्रितम्।।६८।।

सप्तादशाक्षरा विद्या नस्ये पाने पिवेद् गुदः।
आपादतलमुण्डान्तं सर्वाङ्गेषु समालभेत्।।६९।।

चतुष्षष्ठिविधैर्घोरैः कालकूटादिनुक्रमात्।
नाभिभूयति सो भद्रे शस्त्रास्त्रै तु स बाध्यति।।७०।।

स्तम्भयेत्सर्वसैन्यानि मन्त्रं देवासुरोपमः।
दिक्पूर्वोभिमुखे भूत्वा यदा यासौ धुनतेऽनघे।।७१।।

तदा अक्षागमं विन्द्याद दिव्यस्त्रीप्रियसंगमम्।
स्थानलाभं शरीरस्य वज्रकायवलं भवेत्।।७२।।

आग्नेया तु भवं घोरे वह्नि सञ्जाननं भवेत्।
दुर्भिक्षं राष्ट्र संपातं राजा चैव विनश्यति।।७३।।

याम्यायां मरणं घोरं कष्टारं - - - भा।
अतिवृष्टिरनावृष्टिः भवते वाम सुव्रते।।७४।।

मन्त्रहस्ताद्भवेत् - - - - - भूहानिर्वियोगम्।।७५।।

कटुबन्धुर्जनैस्सार्धं दुष्ट शत्रुभयं भवेत्।
सुभिक्षं वारुणे भागे सर्व सत्त्वसुसिद्धिदम्।।७६।।

- - - गास्साधकेन्द्रस्य सर्वभूताश्चराचराः।
वायव्यां विधुसंपातं विद्वेषोच्चाटमारणम्।।७७।।

वज्रपाताशिरभयं मरणेचार्थनाशनम्।
यत्किञ्चिदशुभं भद्रे तत्सर्वं वायवीदिशम्।।७८।।

उत्तरे ज्ञान सिद्धिः स्याद्वश्याकर्षणमारणम्।
प्रसादं सर्वदेवीनां सिद्धिं चैव मनेप्सितम्।।७९।।

अधमां मध्यमां कामां कौबेर्यां धुनते यदा।
ईशान्यभिमुखो भूत्वा यदासौ धुनते पशुम्।।८०।।

।। इति महाकौलागमे पातालपिङ्गलान्तरखण्डविनिर्गते श्री वृद्धस्वच्छन्द-
कौलाभिधाने व्याधिभक्षभैरवे सप्तमः पटलः।।

द्वात्रिंशमाह्निकम्

* विवेकः *

शुद्धाशुद्धाध्वभिदा द्विगह्वरं मुद्रयत्यशेषजगत् ।
संविद्रूपतया यः कलयतु स किल्विषं सतां कालः ॥

इदानीं मुद्राविधिमभिधातुमुपक्रमते—

अथ कथये मुद्राणां गुर्वागमगीतमत्र विधिम् ।

तमेव आह—

मुद्रा च प्रतिबिम्बात्मा श्रीमद्देव्याख्ययामले ।
उक्ता बिम्बोदयश्रुत्या वाच्यद्वयविवेचनात् ॥ १ ॥

तत्र श्रीदेव्यायामले

'प्रतिबिम्बोदयो मुद्रा.............................।'

---

* ज्ञानवती *

जो शुद्ध अशुद्ध भेद से दो गुफा वाले संसार को (संविद् के द्वारा) मुद्रित करते हैं वह कालरूपी (शिव) सज्जनों के पाप को संविद्रूप से कल्पित करें ।

अब यहाँ गुरु और आगम के द्वारा उक्त मुद्राओं की विधि को कहता हूँ ॥ १- ॥

उसी को कहते हैं—

श्री देवीयामल में बिम्बोदय श्रुति के दो वाच्यों का विवेचन करने से मुद्रा को प्रतिबिम्ब रूपा कहा गया है ॥ -१ ॥

इत्येवंरूपाया बिम्बोदयश्रुतेः पञ्चमीष्ठ्यर्थबहुव्रीहिद्वारस्य वाच्यद्वयस्य विवेकमाश्रित्य परसंविदाकृतिरूपत्वात् प्रतिबिम्बात्मा मुद्रा उक्ता—इति वाक्यार्थः । इदं च अत्र वाच्यद्वयम्—प्रतिराभिमुख्ये, तेन बिम्बसंनिधिं निमित्तीकृत्य बिम्बैकनियत उदयो यस्येति बिम्बस्य प्रतिबिम्बोत्पत्तिनिमित्तत्वमुक्तम्,

बिम्बस्य अभिव्यक्तिलक्षण उदयः प्रतिगतः प्राप्तो यस्मादिति प्रतिबिम्बस्य ज्ञप्त्युपायत्वमिति । यद्वा

'मुद्रा बिम्बोदयो नाम्ना....................।'

इतिबिम्बोदयश्रुतेः प्रतिशब्दार्थमपहायैव व्याख्येयम् ॥ १ ॥

तदेव तात्पर्यद्वारेण आह—

बिम्बात्समुदयो यस्या इत्युक्ता प्रतिबिम्बता ।
बिम्बस्य यस्या उदय इत्युक्ता तदुपायता॥ २ ॥

समुदय इति = उत्पत्तिः । यस्या इति—प्रतिबिम्बरूपाया मुद्रायाः—इति षष्ठ्यर्थः, यस्याश्च सकाशात्—इति पञ्चम्यर्थः । उदय इति ज्ञप्तिस्तदुपायतेति

वहाँ = श्रीदेवीयामल में—

'प्रतिबिम्ब का उदय ही मुद्रा है'

इस प्रकार की बिम्बोदयश्रुति के पञ्चमी और षष्ठी अर्थ वाले दो बहुव्रीहि वाले दो वाच्यों (= अर्थों) के भेद के आधार पर परसंविद् के आकृति जैसी होने के कारण मुद्रा प्रतिबिम्ब रूप कही गयी है—यह वाक्यार्थ है । यहाँ दो अर्थ ये हैं— 'प्रति' उपसर्ग का प्रयोग 'सामने' अर्थ में हुआ है । इससे बिम्बसन्निधि के कारण केवल बिम्ब के अधीन उदय है जिसका इस प्रकार बिम्ब को प्रतिबिम्ब का निमित्त कहा गया । बिम्ब का अभिव्यक्तिलक्षण उदय (प्रति =) प्रतिगत = प्राप्त है जिससे । इस प्रकार प्रतिबिम्ब ज्ञान का उपाय है । अथवा—

'बिम्ब का उदय है (जो) मुद्रा नाम से (जाना जाता है) ।'

इस बिम्बोदयश्रुति की (दृष्टि से) प्रतिशब्द को छोड़कर व्याख्या करनी चाहिये ॥ १ ॥

उसी को तात्पर्य के द्वारा कहते हैं—

बिम्ब से जिसका उदय होता है—इस कारण प्रतिबिम्बता कही गयी । जिससे बिम्ब का उदय होता है—इस कारण वह (प्रतिबिम्ब) उसका (= बिम्ब = ज्ञान का) उपाय है । यह कहा गया २ ॥

समुदय = उत्पत्ति । यस्याः = प्रतिबिम्ब रूपा मुद्रा का—यह षष्ठी विभक्ति का अर्थ है । जिसके पास से यह पञ्चमी का अर्थ है । उदय = ज्ञान । उसका

ज्ञप्तिद्वारिका बिम्बोपायतेत्यर्थ: ॥ २ ॥

एवं मुद्राशब्दस्य रूढिमुपदर्श्य योगमपि दर्शयति—

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम् ।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता ॥ ३ ॥

यद्यपि च अत्र

'इत्याशयेन मुद्रा मोचयते पाशजालतोऽशेषात् ।
कायीयान्पुर्यष्टकसंस्कारान्द्रावयेत्तथा मन्त्रम् ॥
योगं क्रियां च चर्यां मुद्रयति तदेकरूपतया ।'

इत्यादिदृष्ट्या बहुधा योग: सम्भवति, तथापि परानन्दनिर्भरस्वरूपताधायितया अयमेव मुख्य इति एतावदेव उक्तम् ॥ ३ ॥

आसामेव गुणप्रधानभावं तावत् दर्शयति—

तत्र प्रधानभूता श्रीखेचरी देवतात्मिका ।
निष्कलत्वेन विख्याता साकल्येन त्रिशूलिनी ॥ ४ ॥
करङ्किणी क्रोधना च भैरवी लेलिहानिका ।
महाप्रेता योगमुद्रा ज्वालिनी क्षोभिणी ध्रुवा ॥ ५ ॥
इत्येवं बहुभेदेयं श्रीखेचर्येव गीयते ।

उपाय अर्थात् ज्ञान के द्वारा बिम्बोपायता ॥ २ ॥

मुद्राशब्द की रूढि को दिखा कर योग को भी दिखाते है—

जिस कारण आत्मा को शरीर के माध्यम से स्वरूपलाभ नामक मुद (= आनन्द) को राति = अर्पित करती है, इस कारण शास्त्रों में (इसे) मुद्रा कहा गया है ॥ ३ ॥

यद्यपि यहाँ—

'समस्त पाशजाल से जो मुक्त कराती है, कायीय पुर्यष्टक संस्कारों को द्रावित (= नष्ट) करती है, तथा मन्त्र योग क्रिया एवं चर्या रूप (= मुद्रात्मक रूप) से मुद्रित करती है, इस आशय से मुद्रा (कही जाती) है ।'

इत्यादि दृष्टि से अनेक प्रकार का विग्रह सम्भव है तथापि परानन्दनिर्भरस्वरूपता का आधायी होने से यही (यौगिक अर्थ) मुख्य है इसलिये यही कहा गया ॥ ३ ॥

इन्हीं का गुणप्रधानभाव दिखलाते हैं—

उसमें श्री खेचरी (मुद्रा) जो कि देवतारूपा है निष्कल कही गयी है । सकल रूप से त्रिशूलिनी करङ्किणी क्रोधना भैरवी लेलिहानिका महाप्रेता

ध्रुवेति खेचरीविशेषणम्, तस्या हि त्रिशूलिन्यादिसकलरूपोपग्रहेऽपि न निष्कलाद्रूपात्प्रच्यावः—इति अभिप्रायः । उक्तं हि—

'इयं सा खेचरी मुद्रा निष्कला परिकीर्तिता ।
सकलं रूपमेतस्या भेदैस्तैस्तैरवस्थितम् ॥' इति ॥

ननु त्रिशूलिन्यादिवदन्या अपि एतदङ्गभूता मुद्राः सम्भवन्तीति कथमिह ता अपि न उक्ताः ?—इत्याशङ्क्य आह—

अन्यास्तदङ्गभूतास्तु पद्माद्या मालिनीमते ॥ ६ ॥
तासां बहुत्वामुख्यत्वयोगाभ्यां नेह वर्णनम् ।

ननु श्रीमालिनीमते पद्ममुद्रादिसाहचर्येणैव श्रीखेचरी अपि निर्दिष्टा, तत् सैव प्रधानेति तु कुतस्त्यम् ?—इत्याशङ्क्य आह—

श्रीखेचरीसमाविष्टो यद्यत्स्थानं समाश्रयेत् ॥ ७ ॥
देवीसंनिधये तत्स्यादलं किं डम्बरैर्वृथा ।

अलमिति—पर्याप्तम् ॥

योगमुद्रा ज्वालिनी क्षोभिणी इस प्रकार यह ध्रुवा खेचरी ही अनेक भेदों वाली कही जाती है ॥ ४-६- ॥

'ध्रुवा' यह खेचरी का ही विशेषण है । त्रिशूलिनी आदि समस्त (सकल) रूप को धारण करने पर भी इसका (अपने) निष्कल रूप से पतन नहीं होता—यह अभिप्राय है । कहा भी है—

'यह खेचरी मुद्रा निष्कल कही गयी है । इसका सकल रूप उन-उन भेदों के कारण है ॥'

प्रश्न—त्रिशूलिनी आदि के समान इसकी अङ्गभूत अन्य भी मुद्रायें सम्भव हैं फिर यहाँ उनका भी कथन क्यों नहीं हुआ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र के मत में उस (खेचरी) की अङ्गभूत पद्मा आदि अन्य (मुद्रायें) हैं । उन मुद्रा भेदों के बहुत और अमुख्य होने के कारण (उन भेदों का) यहाँ वर्णन नहीं है ॥ -६-७- ॥

प्रश्न—मालिनी मत में पद्म मुद्रा आदि के साहचर्य से ही खेचरी भी निर्दिष्ट है तो वही प्रधान हो गयी ऐसा कहाँ से (कहा गया)?—यह शङ्का कर कहते हैं—

श्रीखेचरी मुद्रा से समाविष्ट व्यक्ति जिस-जिस स्थान को पहुँचता है वह (स्थान) देवीसन्निधि के लिये पर्याप्त हो जाता है फिर व्यर्थ के आडम्बर से क्या ? ॥ -७-८- ॥

अलम् = पर्याप्त ॥

ननु आसामपि

'याभिः संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात् ।'

इत्याद्युक्त्या साधकविषयं मुख्यत्वमस्तीति कथमेवमुक्तम्?—इत्याशङ्क्य आह—

काम्ये कर्मणि ताश्च स्युर्मुख्याः कस्यापि जातुचित् ॥ ८ ॥

कस्यापीति—साधकस्यैव, नतु पुत्रकादेः । जातुचिदिति—नतु नित्यवत् सर्वकालम् ॥ ८ ॥

इह पुनर्मोक्षाख्यमुख्यार्थप्रतिपादनपरत्वादस्य ग्रन्थस्य काम्यमेव कर्म न उक्तमिति तदुपयोगिना अपि मुद्रावर्णनेन कोऽर्थः ?—इत्याह—

तच्च नास्माभिरुदितं तत्किं तदुपयोगिना ।

आसां च भेदनिर्देशद्वारेण स्वरूपमभिधातुमाह—

मुद्रा चतुर्विधा कायकरवाक्चित्तभेदतः ॥ ९ ॥
तत्र पूर्णेन रूपेण खेचरीमेव वर्णये ।

वागिति—मन्त्रविलापनरूपा । यदुक्तम्—

प्रश्न—इनका भी—

'जिनके द्वारा संरक्षित मन्त्री मन्त्रसिद्धि को प्राप्त करता है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा मुख्यता साधक की होती है फिर ऐसा कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

काम्य कर्म में ये किसी के लिये कदाचित् मुख्य होती हैं ॥ ८ ॥

किसी के लिये = साधक के लिये ही न कि पुत्रक आदि के लिये । कदाचित्—न कि नित्य कर्मों की भाँति सब समय ॥ ८ ॥

यहाँ मोक्ष नामक मुख्य अर्थ (= विषय) का प्रतिपादक होने वाले इस ग्रन्थ का काम्य कर्म कहा ही नहीं गया फिर उसके उपयोगी मुद्रावर्णन से क्या लाभ?—यह कहते हैं—

और वह हमारे द्वारा नहीं कहा गया फिर उसके उपयोगी (मुद्रा वर्णन) से क्या (लाभ)? ॥ ९- ॥

भेदनिर्देशपूर्वक इनका स्वरूप कहते हैं—

मुद्रा शरीर हाथ वाक् और चित्त भेद से चार प्रकार की होती है । उनमें से पूर्णरूप से खेचरी का ही वर्णन करता हूँ ॥ -९-१०- ॥

वाक्—मन्त्रविलापनरूपा । जैसा कि कहा गया—

'करकायविलापान्तःकरणानुप्रवेशतः ।
मुद्रा चतुर्विधा ज्ञेया........................ ॥'

इत्युपक्रम्य

'अंगुलीन्यासभेदेन करजा बहुमार्गगा ।
सर्वावस्थास्वेकरूपा वृत्तिर्मुद्रा च कायिकी ॥
पञ्चमुद्राधरं चैतद् व्रतं सिद्धनिषेवितम् ।
मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलापाख्या प्रकीर्तिता ॥
ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी परिकीर्तिता ।' इति ॥

पूर्णेनेति—चतुर्विधेनापि—इत्यर्थः ॥

तत्रापि प्राधान्येन श्रीपूर्वशास्त्रोक्तमेव तावदस्या रूपमाह—

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं क्षिपेत् ॥ १० ॥
दण्डाकारं तु तं तावन्नयेद्यावत्कखत्रयम् ।
निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ॥ ११ ॥
एतां बद्ध्वा खे गतिः स्यादिति श्रीपूर्वशासने।

स्थिरसुखासनस्थो हि योगी जन्माधारादुदेत्य नाभिदेशे मनो निवेश्य—तत्रैव बहुशः परिभ्राम्य मध्यप्राणशक्त्येकीकारेण दण्डाकारतया मूर्धन्यं बिन्दुनादब्रह्मरन्ध्र-

---

'कर काय विलाप एवं अन्तःकरणानुप्रवेश भेद से मुद्रा चार प्रकार की जाननी चाहिये.......... ।'

ऐसा प्रारम्भ कर

'हाथ की मुद्रा अङ्गुलीन्यास के भेद से अनेक प्रकार की है । सब अवस्थाओं में एकरूपा वृत्ति कायिकी मुद्रा है । पाँच मुद्रा वाला यह व्रत सिद्धों के द्वारा सेवित होता है । मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलाप नाम से कही गयी है । ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी कही गयी है ।'

पूर्णता के साथ = चार प्रकारों के साथ ॥

उसमें भी प्रधानरूप से भी मालिनीविजय में उक्त इसका स्वरूप बतलाते हैं—

योगी पद्मासन लगाकर नाभिप्रदेश में मन को स्थिर करे । फिर दण्ड के आकार के रूप में उसको वहाँ तक ले जाय जहाँ क तीन और ख तीन हैं । वहाँ उसको रोक कर शीघ्र ही तीन ख के द्वारा (आगे) बढ़ाये । इसका बन्धन करने पर आकाश में गति हो जाती है—ऐसा मालिनीविजयतन्त्र में (कहा गया है) ॥ -१०-१२- ॥

स्थिरसुख वाले आसन पर बैठा योगी मूलाधार से उठकर नाभिदेश में मन को

लक्षणं खत्रयं यावत् नीत्वा तत्रैव कुम्भकानुवृत्त्या निरुध्य शक्तिव्यापिनीसमनात्मना खत्रयेण तूर्णमुद्घातगत्या प्रेरयेदुन्मनापदाक्रमणेन परमशिवाभिमुख्यं नयेत् येन अस्य एतदवष्टम्भेन परबोधगगनचारित्वं स्यात् ॥

अस्या एव अवान्तरभेदसहितायाः श्रीयोगसञ्चारोक्तं रूपं निर्दिशति—

ध्वनिज्योतिर्मरुद्युक्तं चित्तं विश्रम्य चोपरि ॥ १२ ॥
अनेनाभ्यासयोगेन शिवं भित्त्वा परं व्रजेत् ।

ध्वनिः = नादः, ज्योतिः = बिन्दुः, मरुत् = शक्तिः, तेन तद्द्वादशान्तं ब्रह्मरन्ध्रम् । एवं जन्माधारात्प्रभृति एतद् व्योमत्रययोगि चित्तं विधाय तत्रैव निविडध्यानेनैव क्रमेण उपरितनं शक्त्यात्मकमपि खत्रयं भित्त्वा योगी परं शिवं व्रजेत्—इति वाक्यार्थः ॥

एतदनुवेधेन त्रिशूलिन्या अपि रूपमाह—

जत्र्वधस्तात्करौ कृत्वा वामपादं च दक्षिणे ॥ १३ ॥
विदार्यास्यं कनिष्ठाभ्यां मध्यमाभ्यां तु नासिकाम्।

लगा कर वहीं पर कई बार भ्रमण कराकर सुषुम्ना शक्ति से एकाकार होने के कारण दण्ड के आकार के रूप में मूर्धा में स्थित, बिन्दु, नाद, ब्रह्मरन्ध्र लक्षण वाले तीन क तक ले जाकर वहीं कुम्भक के रूप में (उसे) रोक कर शक्ति, व्यापिनी, समना रूप तीन ख के द्वारा शीघ्र ही उपर की ओर प्रेरित करे अर्थात् उन्मना पद पर पहुँच कर परमशिव की ओर ले जाँय जिससे इसको यहाँ स्तम्भन करने से परबोधरूप गगन में विचरण करने की शक्ति मिलती है ॥

अवान्तरभेदसहित इसी का श्रीयोगसञ्चार में कथित रूप का निर्देश करते हैं—

(योगी) ध्वनि ज्योति और वायु से युक्त चित्त को विश्रान्त कर उसी अभ्यास के द्वारा ऊपर की ओर भेदन कर परम शिव को प्राप्त करता है ॥ -१२-१३- ॥

ध्वनि = नाद, ज्योति = बिन्दु, मरुत् = शक्ति । इससे इसका द्वादशान्त = ब्रह्मरन्ध्र । इस चित्त को इस प्रकार मूलाधार से लेकर इस (उपर्युक्त) तीन व्योम से युक्त करके वहीं पर गहन ध्यान के द्वारा क्रमशः उपरिवर्त्ती शक्त्यात्मक तीन शून्य (= शक्ति व्यापिनी समना) का भेदन कर योगी परमशिव को प्राप्त करता है—यह वाक्यार्थ है ॥

इसके अनुवेध से त्रिशूलिनी का भी रूप कहते हैं—

दोनों हाथों को कण्ठ के नीचे और बायें पैर को दायें पैर के ऊपर रख कर दोनों कनिष्ठाओं से मुख को फैला कर तथा दोनों मध्यमाओं से

अनामे कुञ्चयेत्प्राज्ञो भ्रूभङ्गं तर्जनीद्वयम् ॥ १४ ॥
जिह्वां च चालयेन्मन्त्री हाहाकारं च कारयेत् ।
त्रिशूलेन प्रयोगेण ब्रह्मरन्ध्रमुपस्थितः ॥ १५ ॥
पदं सन्त्यज्य तन्मात्रं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

जत्रुशब्देन अत्र कण्ठो लक्ष्यते, तेन तदधः—इत्यर्थः । नासिकामिति—तद्रन्ध्रद्वयम्, चालयेदिति—भ्रूभङ्गादौ त्रयेऽपि योज्यम् । तन्मात्रमिति—स्थितम् । मेदिनीं त्यजतीति—देहाद्यहन्तापहस्तनेन परबोधाकाशचारी भवेत्—इत्यर्थः ॥

त्रिशूलप्रयोगमेव शिक्षयति—

शून्याशून्यलये कृत्वा एकदण्डेऽनिलानलौ ॥ १६ ॥
शक्तित्रितयसम्बद्धे अधिष्ठातृत्रिदैवते ।
त्रिशूलं तद्विजानीयाद्येन व्योमोत्पतेद् बुधः ॥ १७ ॥

एवंविधोऽयमनिलानलौ प्राणापानावर्थात् मध्यप्राणे समरसितौ कृत्वा अत एव एकस्मिन्मूलाधारात्प्रभृति ऊर्ध्वं प्रसरणात् दण्डाकारे च तस्मिन् जाते सति तदेवं प्रयुज्यमानं त्रिशूलं विजानीयात् येन अस्य व्योमोत्पतनं स्यात् । एकदण्डाकारं

नासिका (के दोनों छिद्रों) को फैलाकर प्राज्ञ मन्त्री अनामिकाओं को आकुञ्चित करे (= फैलाये)। भ्रूभङ्ग दोनों तर्जनी और जिह्वा को चलाये तथा हा हा करे । इस त्रिशूल प्रयोग से (योगी) ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाता है । फिर तन्मात्रपद को छोड़कर तत्काल पृथ्वी को छोड़ देता है ॥ -१३-१६- ॥

'जत्रु' शब्द से यहाँ कण्ठ (= हँसुली) लक्षित है । इससे यह अर्थ (निकला कि) उससे (= कण्ठ से) नीचे । नासिका को = उसके दोनों छिद्रों को । सञ्चालित करे—इसे भ्रूभङ्ग आदि तीनों के साथ जोड़ना चाहिये । तन्मात्र = स्थित । धरती को छोड़ देता है = देह आदि में आत्मभाव को हटाकर परबोधरूपी आकाश में विचरण करता है—यह अर्थ है ॥

त्रिशूलप्रयोग को ही बतलाते हैं—

अनिल (= प्राण) और अनल (= अपान) को एक दण्ड (=सुषुम्ना) में कर के उन दोनों को तीन शक्तियों से सम्बद्ध तथा तीन अधिष्ठातृदेवों से संयुक्त कर शून्याशून्य का लय कर दे । तो इसे त्रिशूल समझना चाहिये जिसके द्वारा विद्वान् चिदाकाश में विचरण करता है ॥ -१६-१७ ॥

इस प्रकार का यह (विद्वान्) अनिल और अनल = प्राण और अपान को मध्यप्राण (= सुषुम्ना) में एक रस बनाकर इसलिये मूलाधार से लेकर ऊपर की ओर प्रसरण करने से उसके दण्डाकार होने पर इस प्रकार प्रयुज्यमान उसको त्रिशूल

मध्यप्राणमेव विशिनष्टि—अधिष्ठातृत्रिदैवते इति = भ्रूमध्याद्यवस्थितेश्वरसदाशिवानाश्रिताख्यकारणत्रयाधिष्ठिते—इत्यर्थः। तथा शक्तिव्यापिनीसमनासम्बद्धे तत्संयोगमाप्ते, अत एव परपदप्राप्त्या शून्याशून्यलये विगलितसदसदादिशब्दव्यवहारे इत्यर्थः ॥ १७ ॥

नच एतावतैव अयं व्योम उत्पतेत्—इत्याह—

आकाशभावं सन्त्यज्य सत्तामात्रमुपस्थितः ।
शूलं समरसं कृत्वा रसे रस इव स्थितः ॥ १८ ॥
एकदण्डं स विज्ञाय त्रिशूलं खचरं प्रिये ।
बद्ध्वा तु खेचरीं मुद्रां ध्यात्वात्मानं च भैरवम् ॥ १९ ॥
खेचरीचक्रसङ्घुष्टं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

एवं खचरमेकदण्डं त्रिशूलं विज्ञाय तत्तदवच्छेदाधायि सत्तामात्रमपि परित्यज्य खेचरीमुद्राबन्धमाविश्य स बुधः पराकाशरूपतामुपस्थितः सन् स्थितस्तत्रैव रसे इव रसं शूलमपि समरसीकृत्य खेचरीचक्रसङ्घुष्टमात्मानं भैरवं ध्यात्वा च सद्य एव मेदिनीं त्यजति—इति सम्बन्धः ॥

ननु एवमस्य किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्य आह—

समझे जिसके द्वारा इसका (चिद्) व्योम में उत्पतन होता है । एकदण्डाकार मध्यप्राण का ही विशेषण बताते हैं—अधिष्ठातृत्रिदैवते = भ्रूमध्य में स्थित ईश्वर सदाशिव और अनाश्रित नामक तीन कारणों से अधिष्ठित । तथा शक्ति व्यापिनी समना से सम्बद्ध = उसके संयोग को प्राप्त । इसलिये परपदप्राप्ति के द्वारा शून्य अशून्य लय होने पर सत् असत् आदि शब्दव्यवहार के लुप्त हो जाने पर—यह अर्थ है ॥ १७ ॥

इतने से ही वह आकाश में उत्पतन नहीं करता-यह कहते हैं—

(योगी) सत्ता मात्र को छोड़कर आकाशभाव में उपस्थित होता है । फिर त्रिशूल को रस में रस के समान समरस कर स्थित होता है । हे प्रिये ! वह एकदण्ड खचर त्रिशूल को जानकर, खेचरी का धारण कर खेचरीचक्र से संयुक्त आत्मा का भैरवरूप में ध्यान कर सद्यः पृथ्वी को छोड़ देता है ॥ १८-२०- ॥

इस प्रकार खचर एकदण्ड त्रिशूल को जानकर तत्तद् अवच्छेद की आधायक सत्ता को भी छोड़ कर खेचरीमुद्राबन्ध से आविष्ट होकर वह विद्वान् पराकाशरूपता को प्राप्त होकर स्थित हुआ रस में रस की भाँति शूल को भी समरस कर तथा खेचरीचक्र से युक्त आत्मा भैरव का ध्यान कर सद्यः ही पृथ्वी को छोड़ देता है—यह सम्बन्ध है ॥

त्यक्तांशको निराचारो निःशङ्को लोकवर्जितः ॥ २० ॥
अवधूतो निराचारो नाहमस्मीति भावयन् ।
मन्त्रैकनिष्ठः संपश्यन् देहस्थाः सर्वदेवताः ॥ २१ ॥
ह्लादोद्वेगास्मिताक्रुष्टनिद्रामैथुनमत्सरे ।
रूपादौ वा कर्तृकर्मकरणेषु च सर्वशः ॥ २२ ॥
नाहमस्मीति मन्वान एकीभूतं विचिन्तयन् ।
कर्णाक्षिमुखनासादिचक्रस्थं देवतागणम् ॥ २३ ॥
ग्रहीतारं सदा पश्यन् खेचर्या सिद्ध्यति स्फुटम् ।

त्यक्तांशक इति—निरंशतामापन्नः—इत्यर्थः । निराचार इति—निष्क्रान्ता आचारा यस्मादाचारेभ्यश्च निष्क्रान्त इति योज्यम् । देहस्थाः सर्वदेवताः संपश्यन्निति सर्वदेवतामयमात्मानं जानानः—इत्यर्थः । ह्लादेत्यादिना चित्तवृत्तिविशेषा आसूत्रिताः । रूपादाविति—विषयपञ्चके । ग्रहीतारमिति परप्रमात्रेकरूपम्—इत्यर्थः ॥

एतदेव व्यतिरेकद्वारेण द्रढयति—

विद्याशङ्की मलाशङ्की शास्त्रशङ्की न सिद्ध्यति ॥ २४ ॥

प्रश्न—इस प्रकार इसका क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(साधक) आशङ्कारहित, आचारशून्य, निःशङ्क, लोकवर्जित, अवधूत, आचार से बाहर, 'मैं नहीं हूँ'—ऐसी भावना करता हुआ, मन्त्रैकनिष्ठ, समस्त देवताओं को शरीरस्थ देखता हुआ (स्थित रहता है) । ह्लाद, उद्वेग, अस्मिता, आक्रोश, निद्रा, मैथुन, मत्सर में अथवा रूप आदि में तथा कर्त्ता कर्म करण में सब प्रकार से 'मैं नहीं हूँ' ऐसा मानते हुये कान आँख मुख नासिका आदि चक्र में स्थित देवतागण को एकीभूत जानता हुआ (अपने को) सदा ग्रहीता समझता हुआ स्पष्टरूप से खेचरी से सिद्ध होता है ॥ -२०-२४- ॥

त्यक्तांशक = निरंशता को प्राप्त । निराचार—जिसमें से आचार निकल चुके हैं और आचारों से निष्क्रान्त = परे, ऐसी योजना करनी चाहिये । देहस्थ सब देवताओं को देखता हुआ = अपने को सर्वदेवतामय जानता हुआ । ह्लाद (उद्वेग....) इत्यादि के द्वारा चित्तवृत्ति के विशेष सङ्केतित हैं । रूप आदि के विषय में = (रूप रस गन्ध आदि) पाँच विषयों के सन्दर्भ में । ग्रहीता = परप्रमाता रूप ॥

इसी को व्यतिरेक के द्वारा दृढ़ करते हैं—

विद्याशङ्की, मलाशङ्की (= आणव आदि मल के विषय में शंकालु) और शास्त्रशङ्की (= शैवशास्त्र के विषय में नाना प्रकार की उचितानुचित

विद्येति—शुभकरी वेदविद्या ॥ २४ ॥

ननु एवमयं कस्मात् न सिद्ध्येत्?—इत्याशङ्क्य आह—

शिवो रविः शिवो वह्निः पक्तृत्वात्स पुरोहितः ।
तत्रस्था देवताः सर्वा द्योतयन्त्योऽखिलं जगत् ॥ २५ ॥

रविः = प्रमाणम्, वह्निः = प्रमाता, अत एव पुरोहितो यष्टा—इत्यर्थः । पक्तृत्वादिति—सर्वस्य स्वात्मसात्काररूपत्वात् द्योतयन्त्यः स्थिताः—इति शेषः । एवं हि शिव एव सर्वमिति किमाशङ्कास्पदमित्याशयः ॥ २५ ॥

एवं त्रिशूलिन्याः स्वरूपमभिधाय करङ्किण्या अपि आह—

कनिष्ठया विदार्यास्यं तर्जनीभ्यां भ्रुवौ तथा ।
अनामे मध्यमे वक्त्रे जिह्वया तालुकं स्पृशेत्॥ २६ ॥
एषा करङ्किणी देवी ज्वालिनीं शृणु सांप्रतम् ।
हनुर्ललाटगौ हस्तौ प्रसार्याङ्गुलितः स्फुटौ ॥ २७ ॥
चालयेद्वायुवेगेन कृत्वान्तर्भ्रुकुटीं बुधः ।

शंका करने वाला) को सिद्धि नहीं मिलती ॥ -२४ ॥

विद्या = शुभकरी वेदविद्या ॥ २४ ॥

प्रश्न—इस प्रकार का यह (= साधक) क्यों सिद्धि प्राप्त नहीं करता?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शिव ही रवि शिव ही अग्नि और पाचक होने के कारण वही (= शिव ही) पुरोहित है । समस्त संसार को चमत्कृत करती हुयी सब देवतायें भी उसी में हैं ॥ २५ ॥

रवि = प्रमाण, वह्नि = प्रमाता, इसीलिये पुरोहित = यष्टा ॥ पक्ता होने से = सबको आत्मसात् करने वाला होने से, द्योतित करती हुयी स्थित हैं । इस प्रकार शिव ही सब कुछ हैं फिर आशङ्का का स्थान कहाँ? ॥ २५ ॥

त्रिशूलिनी के रूप का कथन कर करङ्किणी के भी (रूप का कथन) करते हैं—

कनिष्ठा के द्वारा मुँह को तथा दोनों तर्जनी से भ्रुवों को फैलाकर अनामिका और मध्यमा को मुख में (डालकर) जिह्वा से तालु का स्पर्श करे । यह करङ्किणी देवी (मुद्रा) है । अब ज्वलिनी (मुद्रा) को सुनो । हनु से लेकर ललाट तक फैली अंगुलियों वाले दोनों हाथों को स्पष्ट फैलाकर विद्वान् भ्रुकुटी को (हाथों के) भीतर कर वायु वेग से चलाये और जिह्वा के

विदार्यास्यं सजिह्वं च हाहाकारं तु कारयेत् ॥ २८ ॥
एषा ज्वालिन्यग्निचक्रे तया चाष्टोत्तरं शतम् ।
जपेद्यदि ततः सिद्ध्येत् त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २९ ॥

कनिष्ठयेति—उभयकरसम्बन्धिन्या । वक्त्रे इति—अर्थात् कृत्वा । प्राकरणिकश्च अत्र खेचरीमुद्राबन्धानुवेधोऽनुसन्धातव्य एव—इति गुरवः । हनुरिति—ऐशः पाठः, तेन हनुतः प्रभृति ललाटान्तं स्थितौ कार्यौ—इत्यर्थः । प्रसार्यांगुलित इति—प्रसृतांगुलीकौ—इत्यर्थः । अन्तरिति—हस्तयोः । अग्निचक्रे इति—ऊर्ध्वमुखे त्र्यश्रे अन्तरात्मानं भावयित्वा ॥ २९ ॥

सिद्धिमेव दर्शयति—

परदेहेषु चात्मानं परं चात्मशरीरतः ।
पश्येच्चरन्तं हानादाद्गमागमपदस्थितम् ॥ ३० ॥
नवच्छिद्रगतं चैकं नदन्तं व्यापकं ध्रुवम् ।
अनया हि खचारी श्रीयोगसञ्चार उच्यते ॥ ३१ ॥

हानादेति—हाकारस्य नादेन उच्चारेण—इत्यर्थः । गमागमेति—स्वदेहात् परदेहे, परदेहाद्वा स्वदेहे । खचारीत्यनेनापि खेचरीमुद्राबन्धानुवेधो दर्शितः ॥३१॥

सहित मुँह को फैला कर हाहाकार करे । यह ज्वालिनी (मुद्रा) है । अग्निचक्र में उसके साथ यदि एक सौ आठ बार (मन्त्र) जपे तो सचराचर त्रैलोक्य वश में हो ॥ २६-२९ ॥

कनिष्ठा के द्वारा—दोनों हाथों से सम्बद्ध (कनिष्ठा) । वक्त्र में—अर्थात् करके । यहाँ प्रासङ्गिक खेचरीमुद्राबन्ध के अनुवेध का अनुसन्धान अवश्य करना चाहिये—ऐसा हमारे गुरु कहते हैं । 'हनुः' यह ऐश (= ईश्वरीय) पाठ है । इससे (यह अर्थ होता है कि) हनु से लेकर ललाट तक (दोनों हाथों को) स्थित करे । अंगुली फैलाकर = जिसमें अंगुलियाँ फैली हों । भीतर—दोनों हाथों के । अग्निचक्र में = ऊर्ध्वमुख त्रिकोण में भीतर आत्मा का ध्यान कर ॥ २९ ॥

सिद्धि को ही दिखलाते हैं—

(साधक) दूसरे के शरीर में अपने को और अपने शरीर में दूसरे को 'स्वा' और 'हा' के उच्चारण के द्वारा गमनागमन पद में स्थित, नव छिद्रों (= दो आँख, दो कान, दो नाक, मुँह, मलद्वार, और लिङ्ग या योनि) में रहने वाले, एक, शब्द करने वाले, व्यापक, ध्रुव आत्मा को देखता है । इस (मुद्रा) के द्वारा (साधक) (चिद्-) आकाश में विचरण करता है—ऐसा श्री योगसञ्चार में वर्णित है ॥ ३०-३१ ॥

हा नाद से = हा के नाद = उच्चारण से । गमागम = अपने देह से पर देह

इदानीं श्रीवीरावल्युक्तमपि अस्या विधिमाह—

> कुलकुण्डलिकां बद्ध्वा अणोरन्तरवेदिनीम् ।
> वामो योऽयं जगत्यस्मिंस्तस्य संहरणोद्यताम् ॥ ३२ ॥
> स्वस्थाने निर्वृतिं लब्ध्वा ज्ञानामृतरसात्मकम् ।
> व्रजेत्कन्दपदं मध्ये रावं कृत्वा ह्यरावकम् ॥ ३३ ॥
> यावज्जीवं चतुष्कोणं पिण्डाधारं च कामिकम् ।
> तत्र तां बोधयित्वा तु गतिं बुद्ध्वा क्रमागताम् ॥ ३४ ॥
> चक्रोभयनिबद्धां तु शाखाप्रान्तावलम्बिनीम् ।
> मूलस्थानाद्यथा देवी तमोग्रन्थिं विदारयेत् ॥ ३५ ॥
> वज्राख्यां ज्ञानजेनैव तथा शाखोभयान्ततः ।
> कोणमध्यविनिष्क्रान्तं लिङ्गमूलं विभेदयेत् ॥ ३६ ॥
> तत्र सङ्घट्टितं चक्रयुग्ममैक्येन भासते ।
> वैपरीत्यात्तु निक्षिप्य द्विधाभावं व्रजत्यतः ॥ ३७ ॥
> ऊर्वाद्यंगुष्ठकालाग्निपर्यन्ते सा विनिक्षिपेत् ।
> गमागमनसञ्चारे चरेत्सा लिङ्गलिङ्गिनी ॥ ३८ ॥

अथवा परदेह से अपने देह में । 'खचारी'—इस शब्द से खेचरीमुद्राबन्ध का अनुवेध दर्शित है ॥ ३१ ॥

अब श्रीवीरावली में उक्त इस विधि को कहते हैं—

(साधक को चाहिये कि वह) अणु के भीतर रहने वाली कुलकुण्डली को नियन्त्रित कर, इस संसार में जो वाम (= अज्ञान) है उसका संहरण करने में उद्यत (कुण्डली) को अपने स्थान (= मूलाधार) में स्थित कर, मध्य (= सुषुम्ना) में बिना ध्वनि के शब्द उत्पन्न कर जीव (= अमृतपूर्ण) चतुष्कोण पिण्ड (= शरीर) का आधारभूत, कामिक (= कामनापूरक चिन्तामणि नामक) ज्ञानअमृतरसात्मक कन्दपद को प्राप्त करे । वहाँ पर उस (= कुण्डली) को उद्बुद्ध कर क्रमशः प्राप्त गति को जानकर दोनों चक्रों (= मूलाधार से लेकर द्वादशान्त) में निबद्ध मूलाधार से शाखाप्रान्त में रहने वाली वज्रनामक तमोग्रन्थि का ज्ञान से उत्पन्न (शक्ति) के द्वारा भेदन करे । फिर दोनों शाखाओं (= प्राण अपान) के अन्त से लेकर त्रिकोण के मध्य तक निकले हुये लिङ्गमूल का भेदन करे । वहाँ सङ्घटित चक्रयुग्म (= दोनों चक्र) एक होकर भासित होता है । यहाँ से उल्टा निक्षेप होने पर (जीव) द्विधा भाव को प्राप्त हो जाता है । वह (= वह कुण्डलिनी) उरु से लेकर अंगुष्ठकालअग्नि तक निक्षेप करती है । वह

तत्र तत्पदसंयोगादुन्मीलनविधायिनी ।
यो जानाति स सिद्ध्येत्तु रसादानविसर्गयोः ॥ ३९ ॥
ससङ्गममिदं स्थानमूर्मिण्युन्मीलनं परम् ।
एष क्रमस्ततोऽन्योऽपि व्युत्क्रमः खेचरी परा ॥ ४० ॥
योन्याधारेति विख्याता शूलमूलेति शब्द्यते ।
वर्णास्तत्र लयं यान्ति ह्यवर्णे वर्णरूपिणि ॥ ४१ ॥

इह अणोरन्तरवेदिनीमन्तश्चरन्तीं तन्मयतामाप्तां कुलकुण्डलिकां = मध्यप्राण-शक्तिम्, आक्रम्य अज्ञानसंहर्त्रीं स्वस्थाने शाक्ताधारे तदैक्यापत्तिरूपां निर्वृतिं प्राप्य

'मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ।'

इत्युक्त्या तस्य बोधनादप्रवर्तकत्वात् मध्यविषाधारादावरावकं प्रशान्तरूपं रावं नादं कृत्वा

'.........................कन्दे षड्रसलम्पटाः ।'

इतिभङ्ग्या ज्ञानामृतरसात्मकं कन्दपदं कामिकं सर्वकामाभिधं जीवं सञ्जीवन्यमृताभिधं चतुष्पथवर्तित्वात् चतुष्कोणं चिन्तामण्यभिधानं च यावत् पैण्डं शरीरमाधारं व्रजेत् । तत्र आधारेषु च क्रमागतां तां कुलकुण्डलिकां बोधयित्वा

लिङ्ग-लिङ्गिनी गमागमन सञ्चार में विचरण करती है । वहाँ उस पद के संयोग से (वह) उन्मीलन करती है । जो इस उर्मि का उन्मीलन करने वाले इस संगम स्थान को जानता है वह रस के आदान और विसर्ग में सिद्ध हो जाता है । यह क्रम है । इससे भिन्न भी क्रम है (जिस कारण) यह परा खेचरी योनि का आधार कही गयी है । इसे शूलमूला कहा जाता है । वर्णरूपी इस अवर्ण में (समस्त) वर्ण लीन हो जाते हैं ॥ ३२-४१॥

यहाँ (योगी) अणु की अन्तर्वेदिनी = भीतर सञ्चरण करने वाली = तन्मयता को प्राप्त, कुलकुण्डलिका = सुषुम्ना में सञ्चरणशील प्राणशक्ति को आक्रान्त कर अज्ञानसंहर्त्री को = अपने स्थान मूलाधार में उसके साथ एकता की प्राप्ति रूपा निर्वृति को, प्राप्त कर

'मूल में शाक्त उल्लास होता है जो बोधनाद का प्रवर्त्तक कहा गया है ।'

इस उक्ति के अनुसार उस (= अणु) के बोधनाद के प्रवर्त्तक होने के कारण मध्यविषाधार आदि में अराव = प्रशान्तरूप, रावक = नाद को उत्पन्न करके

'कन्द में छह रसों का लम्पट (योगी अमृतपान करता है)'

इस भङ्गी से (योगी) ज्ञानअमृतरस रूप कन्दपद को, जो कि कामिक = सर्वकाम नामवाला, जीव = सञ्जीवनी अमृत नामवाला, चतुष्पथ में रहने के कारण

मूलस्थानादारभ्य प्राणापानात्मचक्रद्वयोम्भितां द्वादशान्तं यावत् गच्छन्तीं ज्ञात्वा यथा अयं योगी ज्ञानजेनैव माहात्म्येन अज्ञानग्रन्थिं दुर्भेद्यत्वात् वज्राख्यां मध्यनाडीं च विदारयेत्, तथा प्राणापानात्मशाखाद्वयस्य अन्तमवलम्ब्य जन्माधाररूपत्रिकोण-मध्यादपि विनिष्क्रान्तमत एव मेढ्राधोवर्तित्वात् लिङ्गमूलम् = तदाख्यमकुलाधारम्, अपि विभेदयेत् । तत्र हि प्राणापानरूपं चक्रयुग्मं स्वस्वरूपत्रोटनेन सङ्कट्टितं सदैक्येन भासते मध्यप्राणशक्तेरेव ततः समुदयः—इत्यर्थः । अतो लिङ्गमूलाख्या-दकुलपदात्पुनः सा वैपरीत्यादधोगत्या निक्षेपं विधाय द्विधाभावं व्रजति यदियमूर्वा-द्यंगुष्ठपर्यन्तत्वनिमित्तमात्मानं विनिक्षिपेत्—तद्रूपतां गृह्णीयात्—इत्यर्थः । सा कुलकुण्डलिका हि ऊर्ध्वाधःसञ्चारमनादृत्य प्राणापानलक्षणाभ्यां लिङ्गाभ्यां लिङ्गिनी तत्क्रोडीकारेण ज्ञप्तिं प्राप्ता सती चरेत् तत्तदाधारादिभेदेन मध्यधाम आक्रामेत् । सा हि तत्र मध्यधाम्नि प्राणापानपदद्वयसंयोगात्संविद्विकासमादध्यात् । यश्च एवंविधमिदं सर्वभावानुस्यूतमूर्मिण्युन्मीलनं परसंविद्विकासाधायि परं स्थानं जानाति, स संविद्रसादानविसर्गयोः सिद्ध्येत् सृष्टिसंहारकारित्वेऽस्य सामर्थ्य-मुत्पद्यते—इत्यर्थः । अस्याश्च एष यथोक्तस्तत्तदाधारादिसञ्चारात्मा क्रमः स्वारसिक

चतुष्कोण और चिन्तामणि नामक पैण्ड = आधारभूत, शरीर को प्राप्त करता है । उन आधारों में क्रमागत उस = कुलकुण्डली को उद्बुद्ध कर मूल स्थान से लेकर प्राण अपान रूप दो चक्रों से उठायी गयी द्वादशान्त तक जाने वाली (कुलकुण्डलिनी) को जानकर यह योगी ज्ञानजन्य माहात्म्य से अज्ञानग्रन्थिभूत तथा दुर्भेद्य होने के कारण वज्र नामक सुषुम्ना नाड़ी का भेदन करता है । तथा प्राण अपानरूप दो शाखाओं के अन्त का अवलम्बन कर जन्माधाररूप त्रिकोण के मध्य से भी विनिष्क्रान्त इसलिये मेढ़ के अधोवर्त्ती होने के कारण लिङ्गमूल = उस नाम वाले अकुलाधार, का भी भेदन करे । वहाँ प्राण और अपानरूप दो चक्र अपने-अपने स्वरूप को तोड़ कर सङ्कट्टित होते हुये एक प्रतीत होते हैं अर्थात् वहाँ से मध्यप्राण शक्ति का उदय होता है । फिर इस = लिङ्गमूल नामक अकुलपद, से वह विपरीतता के कारण अधोगति से निक्षेप कर द्विधाभाव को प्राप्त होती है अर्थात् कि यह उरु से लेकर अंगुष्ठ पर्यन्तत्व के लिये अपने को निक्षिप्त करती है = उस रूप का ग्रहण करती है । वह = कुलकुण्डलिका, ऊपर नीचे के सञ्चार की अपेक्षा न कर प्राणअपानलक्षण वाले दो लिङ्गों के द्वारा लिङ्गिनी उसका आत्मसात् करने के कारण ज्ञप्ति को प्राप्त होती हुयी सञ्चरण करती है = तत्तत् आधार आदि भेद से मध्यधाम को आक्रान्त करती है । वह (= कुलकुण्डलिका) वहाँ = मध्यधाम में प्राण अपान रूपी दो पदों के संयोग से संविद्विकास को उत्पन्न करती है । जो (व्यक्ति) इस प्रकार के इस सर्वभावानुस्यूत उर्मि में उन्मीलन करने वाले परसंविद्विकास को उत्पन्न करने वाले पर स्थान को जानता है वह संविद्रस के आदान और विसर्ग में सिद्धि प्राप्त करता है अर्थात् सृष्टि और संहार करने में इसका सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है । और इसका यह = यथोक्त तत्तत्

एव वाहः—इत्यर्थः । ततोऽन्यो व्युत्क्रमोऽपि अस्याः सम्भवति यदियं परा खेचरी योन्याधारेति विख्याता तत उदिता सती शूलमूलेति शब्द्यते झटित्येव शक्तिव्यापिनीसमनात्मकारात्रययोगित्वात् द्वादशान्तपदं प्राप्ता—इत्यर्थः । यतस्तत्र सर्वोच्छेदरूपे क्रोडीकृतबाह्यामर्शेऽपि स्वामर्शमात्रात्मनि अवर्णे वर्णा बाह्यामर्शा लयं यान्ति—तद्विश्रान्ता एव भवन्ति—इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

ननु भवतु एवं, योगी पुनरस्याः कथं प्रबोधमादद्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

नादिफान्तं समुच्चार्य कौलेशं देहसंनिभम् ।
आक्रम्य प्रथमं चकं खे यन्त्रे पादपीडितम् ॥ ४२ ॥
नादं वै शक्तिसद्गर्भं सद्गर्भात्कौलिनीपदम् ।
बीजपञ्चकचारेण शूलभेदक्रमेण तु ॥ ४३ ॥
हृच्छूलग्रन्थिभेदैश्चिद्रुद्रशक्तिं प्रबोधयेत् ।
वायुचक्रान्तनिलयं बिन्द्वाख्यं नाभिमण्डलम् ॥ ४४ ॥
आगच्छेल्लम्बिकास्थानं सूत्रद्वादशनिर्गतम् ।
चन्द्रचक्रविलोमेन प्रविशेद्भूतपञ्जरे ॥ ४५ ॥
भूयस्तु कुरुते लीलां मायापञ्जरवर्तिनीम् ।

आधार आदि में सञ्चार रूप, क्रम = प्रवाह, स्वाभाविक ही है उससे भिन्न इसका व्युत्क्रम भी सम्भव है कि यह परा खेचरी योन्याधारा कही गयी है । वहाँ से उदित हुई अर्थात् उठकर यह शूलमूला कही जाती है । अर्थात् शीघ्र ही शक्ति व्यापिनी और समनारूप तीन अराओं से युक्त होने के कारण द्वादशान्त पद को प्राप्त हो जाती है । जिस कारण वहाँ = सर्वोच्छेद रूप बाह्य आमर्श के क्रोडीकृत होने पर भी स्वामर्शमात्र रूप अवर्ण में, वर्ण = बाह्य आमर्श, लीन हो जाते हैं = उसमें विश्रान्त हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

प्रश्न—ऐसा हो, किन्तु योगी इसका प्रबोध कैसे प्राप्त करता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

योगी कौलेश एवं देहसदृश नादि फान्त (= 'न' से लेकर 'फ' तक) का उच्चारण कर प्रथम चक्र को 'ख' यन्त्र में 'क' अंश से पीड़ित कर शक्तिगर्भित नाद को (प्राप्त कर) फिर शक्तिसद्गर्भ से कौलिनी पद को (प्राप्त कर); तत्पश्चात् पाँच बीजों में सञ्चरण के द्वारा शूलभेद के क्रम से हृदशूल और द्वादश ग्रन्थिभेदों के द्वारा चिद्रुद्रशक्ति को प्रबुद्ध करे । (इसके फलस्वरूप योगी) वायुचक्रान्तनिलय बिन्दुनामक नाभिमण्डल, लम्बिकास्थान, जो कि द्वादश सूत्रों से परे है, को प्राप्त होता है । फिर चन्द्रचक्र के विलोम से भूतपञ्जर में प्रवेश करता है और बार-बार मायापञ्जरवर्त्तिनी लीला को करता है । विद्वान् (योगियों) के द्वारा खेचरी

पुनः सृष्टिः संहृतिश्च खेचर्या क्रियते बुधैः ॥ ४६ ॥
श्रीमद्वीरावलीयोग एष स्यात्खेचरीविधिः ।

चित्—शुद्धात्मा, कौलेशं रहस्यज्ञानप्रधानभूतमत एव गर्भीकृतमध्यशक्ति नादिफान्तरूपं सर्वमन्त्रारणिस्वभावं नादं स्वदेहाभेदेन समुच्चार्य तमेव च एवं सगर्भमुच्चार्यमाणं नादमधिकृत्य खे जन्माकाशरूपे मर्मणि कौलिन्याः कुलकुण्डलिन्याः पदं

'जन्माख्ये नाडिचक्रं तु.................... ।'

इत्युक्तं नाड्यात्म प्रथमं चक्रं पादेन अंशेन पीडितं विधाय तत्र कथञ्चित् प्राणशक्तिं निरुध्य अवशिष्टानि पञ्चापि चक्राणि आक्रम्य ब्रह्मादिकारणपञ्चको-ल्लङ्घनक्रमेण हृत्स्थस्य नाडित्रयात्मनः शूलस्य ग्रन्थिद्वादशकस्य ब्रह्मरन्ध्रो-परिवर्तिनः शक्त्याद्यात्मनः शूलस्य च भेदनक्रमेण रुद्रशक्तिं प्रबोधयेत् । येन अयं जन्मपदादारभ्य पवनाधारात्मनो वायुचक्रस्य अन्ते संनिकर्षे वर्तमानं नाभिमण्डलं तत्सङ्घट्टाधारं लम्बिकास्थानं तदूर्ध्वस्थितं सुधाधारं बिन्द्वाख्यं भ्रूमध्यवर्तिनं विद्याकमलसंज्ञितमाधारं नाडीनां तात्स्थ्यात् ग्रन्थीनां द्वादशकात् निर्गतं सर्वसंबन्धोत्तीर्णं द्वादशान्तपदं च यावत् आ समन्तादृजुना क्रमेण

के द्वारा बार-बार सृष्टि और संहार किया जाता है । श्रीमद्वीरावलीयोग में यह खेचरीविधि (कही गयी) है ॥ ४२-४७- ॥

चित् = शुद्ध आत्मा, कौलेश को = रहस्यज्ञानप्रधानभूत अत एव मध्यशक्ति को गर्भ में रखने वाले नादि फान्त रूप तथा समस्त मन्त्रों के अरणिस्वभाव वाले नाद को, अपने शरीर से अभिन्न रूप में उच्चारण कर और इस प्रकार सगर्भ उच्चार्यमाण इसी नाद के आधार पर ख में = जन्माकाशरूप मर्म में, कौलिनी के = कुलकुण्डलिनी के, पद जो कि

'जन्म नाम के (आकाश) में नाडिचक्र को............।'

ऐसा कहा गया है, नाडीरूप प्रथमचक्र को पाद = एक अंश से पीड़ित कर वहाँ किसी प्रकार प्राणशक्ति को (योगी) निरुद्ध करे । तत्पश्चात् अवशिष्ट पाँचों चक्रों (= मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत और शाकिनी) को आक्रान्त कर ब्रह्मादि (= ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) पाँच कारणों का उल्लङ्घन करते हुये हृदय में स्थित तीन नाड़ी (= इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना) रूप शूल का भेदन कर रुद्रशक्ति को प्रबुद्ध करे जिससे यह (योगी) जन्मपद से लेकर पवनाधार रूप वायुचक्र के अन्त = सन्निकर्ष, में वर्त्तमान नाभिमण्डल और उसके सङ्घट्ट का आधार लम्बिकास्थान उसके ऊपर स्थित सुधाधारबिन्दु नामक भ्रूमध्य में स्थित विद्याकमल नामक नाड़ियों का आधार और उसमें स्थित बारह ग्रन्थियों सहस्त्रार, अ, उ, म्, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना

गच्छेत्—तत्र विश्रान्तिं कुर्यात्—इत्यर्थः । भूयस्तु तत्र चन्द्रचक्रादपानस्थात् प्रत्यावृत्त्यात्मना विलोमक्रमेण स्वशरीरमेव प्रविशेत्, येन अयं व्युत्थानदशोचितं व्यवहरेत् । अतश्च खेचरीमुद्रावेशभाजां ज्ञानिनामन्तर्बहिरुन्मेषनिमेषाभ्यामा- जवञ्जवीभावेन सृष्टिसंहारकारित्वं स्यात्—इति संक्षेपार्थः । योगे इति तद्वचनावसरे इति—यावत् ॥

श्रीकामिकोक्तमपि अस्या रूपमाह

चुम्बाकारेण वक्त्रेण यत्तत्त्वं श्रूयते परम् ॥ ४७ ॥
ग्रसमानमिदं विश्वं चन्द्रार्कपुटसंपुटे ।
तेनैव स्यात्खगामीति श्रीमत्कामिक उच्यते ॥ ४८ ॥

चुम्बाकारेण काकचञ्चुपुटाकृत्यनच्ककलात्मना मध्यप्राणशक्त्यवलम्बिनापि स्वरूपेण वक्त्रेण यदिदं प्रमाणप्रमेयात्मकं विश्वं स्वात्मसात्कुर्वाणमत एव परं प्रमात्रेकरूपं तत्त्वं चन्द्रार्कपुटस्य प्राणापानयुग्मस्य संपुटे = मध्यधाम्नि श्रूयते = साक्षात्क्रियते, तत एव अस्य खचारित्वं स्यात्—इति वाक्यार्थः ॥ ४८ ॥

इदानीं श्रीकुलगह्वरोक्तं सविशेषमस्या रूपं वक्तुमाह—

भवान्मुक्त्वा द्रावयन्ति पाशान्मुद्रा हि शक्तयः ।

से निर्गत सब सम्बन्धों को पार करने वाले (अधः) द्वादशान्त पद तक ऋजु क्रम से जाता है अर्थात् वहाँ विश्राम करता है । फिर वहाँ अपानस्थ चन्द्रचक्र से प्रत्यावृत्तिरूप उल्टे क्रम से अपने शरीर में ही प्रवेश करता है जिससे यह योगी व्युत्थानदशा के अनुरूप व्यवहार करता है । इसलिये खेचरी मुद्रा के आवेश वाले ज्ञानी भीतर बाहर उन्मेष-निमेष के द्वारा आजवञ्जवी भाव (= उन्मेषनिमेषमय भाव) से सृष्टिसंहारकारी होते हैं--यह संक्षिप्त अर्थ है । योग में = उसके कथन के समय ॥

इसका श्री कामिकोक्त भी स्वरूप बतलाते हैं—

चुम्बाकार मुख से ग्रसमान जो विश्वरूप परतत्त्व चन्द्रसूर्य रूप पुट के संपुट में सुना जाता है इसी से (योगी) खेचर होता है—ऐसा श्रीमत् कामिक शास्त्र में कहा जाता है ॥ -४७-४८ ॥

चुम्बाकार से = कौवे के चञ्चुपुट की आकृति वाले स्वररहित कलारूप, मध्यप्राणशक्ति का अवलम्बन करने वाले स्वरूप मुख से, जो यह प्रमाणप्रमेयात्मक विश्व का साक्षात्कार करने वाला अत एव परप्रमात्रेकरूप तत्त्व चन्द्रसूर्यपुट = प्राणापान दोनों के संपुट = मध्यधाम, में सुना जाता है = साक्षात्कृत होता है, इसी कारण यह खचारी होता है—यह वाक्यार्थ है ॥ ४८ ॥

अब श्री कुलगह्वरोक्त इसके रूप को विशेषता के साथ कहते हैं—

मुख्यासां खेचरी सा च त्रिधोच्चारेण वाचिकी॥ ४९ ॥
त्रिशिरोमुद्गरो(रे) देवि कायिकी परिपठ्यते ।

अतो हि पारमेश्वर्यः शक्तय एव मुद्रा उक्ता यदासां पशूनां संसारात् मोचयित्वा पाशान् द्रावयन्तीति निर्वचनम् । यदुक्तम्—

'मोचयन्ति महाघोरात्संसारमकराकरात् ।
द्रावयन्ति पशोः पाशांस्तेन मुद्रा हि शक्तयः॥' इति ।

उच्चारेणेति—मन्त्रादेः । त्रिशिरोमुद्गर इति—

'इच्छाज्ञानक्रियापूर्वा............................... ।'

इत्यादिनीत्या शक्तित्रयमयत्वात् त्रिशिरोमुद्गरो मुदं परानन्दं गृणाति स्वात्मनि आमृशतीति परसंवित्—इत्यर्थः ॥

एवमेव हि परा संवित् कायत्वेन उल्लसिता—इत्याह—

नासां नेत्रद्वयं चापि हृत्स्तनद्वयमेव च ॥ ५० ॥
वृषणद्वयलिङ्गं च प्राप्य कायं गता त्वियम् ।

संसार से मुक्त कराकर पाशों को द्रावित करती है इस कारण शक्तियाँ ही मुद्रा हैं । इनमें खेचरी मुख्य है और वह (वाचिकी, कायिकी और मानसी) तीन प्रकार की है । हे देवि ! उच्चार के कारण वाचिकी, हे त्रिशिरोमुदगरे ! (= इच्छा ज्ञान क्रिया रूप तीन शीर्ष के द्वारा मुद् = आनन्द का अपने में गरण = निगरण = परामर्श करने वाली !) कायिकी कही जाती है ॥ ४९-५०- ॥

इस कारण पारमेश्वरी शक्तियाँ ही मुद्रा कही गयी हैं क्योंकि ये पशुओं को संसार से मुक्त कराकर पाशों को द्रावित करती हैं—ऐसी व्याख्या है । जैसा कि कहा गया—

'महाघोर संसार रूपी मकर के आकर से जो मुक्त कराती हैं और पशु के पाशों को द्रावित कर देती हैं इसलिये शक्तियाँ ही मुद्रायें हैं ।'

उच्चार के द्वारा—मन्त्र आदि के । त्रिशिरोमुद्गर—

'इच्छा ज्ञान क्रिया पूर्वा....................।'

इत्यादि नीति के अनुसार तीन शक्तियों से युक्त होने के कारण त्रिशिरः । मुद्गर = मुद् = परानन्द, का गीर्णन करती है = स्वात्मा में आमर्शन करती है (इस कारण मुद्गर) अर्थात् परसंवित् ॥

इसी प्रकार परासंवित् कायरूप में उल्लसित होती है—यह कहते हैं—

(यह परा संवित्) नासिका, दोनों नेत्र, हृदय, दोनों स्तन, दोनों वृषण

भवस्थानाभवस्थानमुच्चारेणावधारयेत् ॥ ५१ ॥
मानसीयमितस्त्वन्याः पद्माद्या अष्ट मुद्रिकाः ।
मातृव्यूहकुले ताः स्युरस्यास्तु परिवारगाः ॥ ५२ ॥
शरीरं तु समस्तं यत्कूटाक्षरसमाकृति ।
एषा मुद्रा महामुद्रा भैरवस्येति गह्वरे ॥ ५३ ॥

हृदिति—हृत्पद्मनालरूपम् । एतत्सतत्त्वं च तत्र तत्र शास्त्रे निरूपितमिति अतिरहस्यत्वादिह न प्रपञ्चितम् । तत् गुरुमुखादेव बोद्धव्यम् । भवस्थानं शरीरमभवस्थानमुच्चारेणेति—

'पद्मं हृत्पद्ममेवात्र शूलं नाडित्रयं प्रिये ।
नाभिं चक्रं विजानीयाच्छक्तिं नादान्तरूपिणीम् ॥
बिन्दुदेशोद्भवं दण्डं वज्रं चित्तमभेदकम् ।
दंष्ट्रां जिह्वां महाभागे कपालं व्योममण्डलम् ॥
एषु स्थानेषु सञ्चारान्मानसी परिपठ्यते ।'

इत्यादिनयेन ऊर्ध्वं चारेण गमनेन—इत्यर्थः । अष्टेति—यदुक्तम्—

'खेचर्याः परिवारस्तु अष्टौ मुद्राः प्रकीर्तिताः ।

और लिङ्ग को प्राप्त कर यह (= खेचरी) शरीर को प्राप्त हो गयी है । भवस्थान अभवस्थान का निश्चय उच्चार के द्वारा करना चाहिये । यह मानसी (तृतीय प्रकार की खेचरी) है । इससे भिन्न पद्मा आदि आठ मुद्रायें हैं । मातृव्यूहकुल में वह इस (= खेचरी) की परिवारगामिनी (कही गयी) हैं । समस्त शरीर को जो कूट अक्षर के समान आकृति वाला (बनाया जाता है) यह मुद्रा भैरव की महामुद्रा है—ऐसा गह्वरशास्त्र में (उक्त है) ॥ -५०-५३ ॥

हृत् = हृदयकमलनाल रूप । यह तत्त्व भिन्न-भिन्न शास्त्रों में निरूपित है इस कारण अत्यन्त रहस्य होने से यहाँ विस्तारपूर्वक नहीं (कहा गया) । इसे गुरुमुख से ही जानना चाहिये । भवस्थान (भव = संसार, का स्थान = आश्रय) = शरीर । अभवस्थान = उच्चार ।

'हे प्रिये ! 'कमल' का अर्थ यहाँ हृदयकमल है और तीनों नाड़ियाँ शूल हैं । नाभि को चक्र और नादान्त को शक्ति जानना चाहिये । दण्ड बिन्दुदेश में उत्पन्न है और वज्र भेदरहित चित्त को (कहते हैं) । हे महाभागे ! जिह्वा दाँत और व्योममण्डल कपाल है । इन स्थानों में सञ्चरण के कारण (यह खेचरी मुद्रा) मानसी कही जाती है ।'

इत्यादि शास्त्र के आधार पर (उत् =) ऊपर, चार = गमन, के कारण उच्चार कहा जाता है । आठ—जैसा कि कहा गया—

शूलाष्टके च देवेशि मातृव्यूहे च ताः स्मृताः ॥
पद्मं शूलं तथा चक्रं शक्तिर्दण्डं सवज्रकम् ।
दंष्ट्रा कपालमित्येवं तदशेषव्यवस्थितम् ॥' इति ॥

कूटाक्षरम् = क्षकारः । एतत्सतत्त्वं च प्राक् बहुशः प्रतिपादितम् । अनेन प्रागुद्दिष्टाया भैरवमुद्राया अपि लक्षणमुक्तम् ॥ ५३ ॥

अस्या एव सर्वत्र अविगीततां दर्शयितुं शास्त्रान्तरतोऽपि सप्रभेदं रूपमाह—

सूपविष्टः पद्मके तु हसताग्रांगुलिरश्मिभिः ।
पराङ्मुखैर्झटित्युद्यद्रश्मिभिः पृष्ठसंस्थितैः ॥ ५४ ॥
अन्तःस्थितिः खेचरीयं सङ्कोचाख्या शशाङ्किनी ।
तस्मादेव समुत्तम्ब्य बाहू चैवावकुञ्चितौ ॥ ५५ ॥
सम्यग्व्योमसु संस्थानाद् व्योमाख्या खेचरी मता ।
मुष्टिद्वितयसङ्घट्टात्धृदि सा हृदयाह्वया ॥ ५६ ॥
शान्ताख्या सा हस्तयुग्मगूर्ध्वाधः स्थितमुद्गतम् ।
समदृष्ट्यावलोक्यं च बहिर्योजितपाणिकम् ॥ ५७ ॥
एषैव शक्तिमुद्रा चेदधोधावितपाणिका ।

'हे देवेशि ! आठ मुद्रायें खेचरी का परिवार कही गयी हैं । शूलाष्टक और मातृव्यूह में उनकी स्थिति है (अथवा उनका वर्णन) है । पद्म, शूल, चक्र, शक्ति दण्ड, वज्र, दंष्ट्रा और कपाल (ये आठ शूल हैं) इस प्रकार वह सब व्यवस्थित है ।'

कूटाक्षर = क्षकार । यह तत्त्व पहले अनेक बार प्रतिपादित है । इसके द्वारा पूर्व उद्दिष्ट भैरवमुद्रा का भी लक्षण कहा गया ॥ ५३ ॥

इसका सर्वत्र मतैक्य दिखलाने के लिये दूसरे शास्त्रों में भी इसका भेद के साथ रूप बतलाते हैं—

(योगी) पद्मासन पर भलीभाँति बैठ कर हस्ताग्रअंगुलि रूपी रश्मियों, जो कि पीछे स्थित हैं (अतः) पराङ्मुख और झटिति उठ रही हैं, के द्वारा अन्तः में स्थित होता है (= कुम्भक प्राणायाम करता है) यह सङ्कोचनामक शशाङ्किनी (मुद्रा) है । उसी (आसन) से अवकुञ्चित दोनों भुजाओं को समुत्तम्बित (स्वस्तिक के आकार का बना) कर व्योमों (= पाँच छिद्रों) में सम्यक् स्थित (= ध्यानस्थ) होने से खेचरी मानी गयी है । हृदय में दोनों मुट्ठियों के सङ्घट्ट से वह हृदया नामक (कही गयी) है । दोनों हाथ ऊपर नीचे स्थित हों, बाहर की ओर (दोनों) हाथों को मिलाकर समान दृष्टि से (दोनों को) ऊपर की ओर उठा हुआ देखना शान्ता नाम्नी (मुद्रा) है ।

दशानामंगुलीनां तु मुष्टिबन्धादनन्तरम् ॥ ५८ ॥
द्राक्क्षेपात्खेचरी देवी पञ्चकुण्डलिनी मता ।
संहारमुद्रा चैषैव यद्यूर्ध्वं क्षिप्यते किल ॥ ५९ ॥
उत्क्रामणी झगित्येव पशूनां पाशकर्तरी ।
श्वभ्रे सुदूरे झटिति स्वात्मानं पातयन्निव ॥ ६० ॥
साहसानुप्रवेशेन कुञ्चितं हस्तयुग्मकम् ।
अधोवीक्षणशीलं च सम्यग्दृष्टिसमन्वितम् ॥ ६१ ॥
वीरभैरवसंज्ञेयं खेचरी बोधवर्धिनी ।
अष्टधेत्थं वर्णिता श्रीभर्गाष्टकशिखाकुले ॥ ६२ ॥

इह पद्माद्यासनस्थो योगी यदा पृष्ठसंस्थितत्वादेव पराङ्मुखैरुद्यद्रश्मिभिर्बहिर्निर्गच्छच्छशाङ्करश्मिभिर्हस्ताग्रांगुलय एव रश्मयः = रज्जवः, तैरुपलक्षितः सन् झटित्येव बाह्योपसंहारादन्तःस्थितिः स्वात्मनि एव विश्रान्तः स्यात्; तदा एवंभावितशशाङ्कत्वात् शशाङ्किनी, बाह्यस्य च सङ्कुचितत्वात् सङ्कोचाख्या इयमेका खेचरी मुद्रा । तथा तं हस्तांगुल्यादिसंनिवेशमाश्रित्य बाहू सम्यगवकुञ्चितौ समुत्तम्ब्य स्वस्तिकाकारतया अवष्टभ्य

'खमनन्तं तु मायाख्यं........................।'

यदि यही नीचे किये गये हाथों वाली है तो शक्ति मुद्रा (मानी जाती) है । दशों अंगुलियों की मुट्ठी बाँधने के बाद झट से खोल देने से यह खेचरी देवी पञ्चकुण्डलिनी मानी गयी है । यही यदि ऊपर की ओर निक्षिप्त होती है तो संहार मुद्रा होती है । यही उत्क्रामणी और पशुओं के पाश का नाश करने वाली है । (योगी जब) नीचे देखता हुआ सम्यक् दृष्टि से युक्त, दोनों हाथों को बटोर कर सुदूर छिद्र में झट से अपने को मानो गिराता हुआ (समझता है तब) यह बोधवर्धिनी खेचरी मुद्रा वीरभैरव नामवाली होती है । इस प्रकार श्री भर्गाष्टक शिखाकुल में यह आठ प्रकार की (मुद्रा) वर्णित है ॥ ५४-६२ ॥

पद्म आदि आसन से बैठा हुआ योगी जब पीछे स्थित होने के ही कारण पराङ्मुख उद्यद् रश्मियों के द्वारा बाहर निकलती हुयी चन्द्रकिरणों के द्वारा, हाथ के अग्रभाग की अंगुलियाँ ही रश्मियाँ = रस्सियाँ हैं, उनसे उपलक्षित होता हुआ झट से बाह्य (परिवेश) का उपसंहार करने से, अन्तः स्थिति वाला = आत्मा में ही विश्रान्त, हो जाता है तब इस प्रकार भावित शशाङ्कता के होने से शशाङ्किनी और बाह्य के सङ्कोच के कारण सङ्कोचा नामक यह एक खेचरी मुद्रा है । तथा उस हाथ अंगुली आदि सन्निवेश के आधार पर सम्यक् अवकुञ्चित दोनों भुजाओं को समुत्तम्बित कर = स्वस्तिक के आकार में बाँध कर,

इत्याद्युक्तेषु पञ्चसु व्योमसु सम्यगुक्तेन क्रमेण स्थानात् गाढावष्टम्भात् व्योमाख्या द्वितीया । तथा अन्त:कृताधोवर्तिदक्षिणमुष्ट्यंगुष्ठोपरिगतोच्छ्रितांगुष्ठ-वाममुष्टिलक्षणस्य मुष्टिद्वयस्य हृदि सङ्घट्टात् सा खेचरी हृदयाख्या तृतीया । तथा हस्तशब्देन बाहूपलक्षणात् बाहुयुग्ममध:स्थितवाममूर्ध्वस्थितदक्षिणमन्त:संमुख-पाणिकत्वेऽपि उद्गतमूर्ध्वस्थितहस्तं दृष्टिसाम्येन अवलोकनीयं यदा स्यात्, तदा सा शान्ताख्या चतुर्थी । तथा एषैव शान्ताख्या एवंसंनिवेशेऽपि अधोधावितपाणिका चेत् भवेत्, तदा शक्तिमुद्राख्या पञ्चमी । तथा द्वयोरपि करयो: मुष्टिबन्धादनन्तरं दशानामपि अंगुलीनां झटित्येव तिर्यक्प्रतिक्षेपात् प्रतिकरं पञ्चकुण्डलिनीरूपत्वात् पञ्चकुण्डलिन्याख्या षष्ठीं । तथा यद्येवं दशानामपि अंगुलीनामूर्ध्वं प्रक्षेप:, तदैव एषैव पञ्चकुण्डलिनी संहारमुद्राख्या सप्तमी । संहारमुद्रात्वमेव च अस्या उत्क्रामणीत्यादिना प्रदर्शितम् । तथा अधोवीक्षणशीलत्वेन सम्यगन्तर्लक्ष्यतया दृष्ट्या समन्वितं कुञ्चितं हस्तयुग्मं विधाय सुदूरे श्वभ्रे साहसमुद्रानुप्रवेशेन झटिति स्वात्मानं पातयन्निव यदा योगी वर्धितबोधो भवेत्, तदैव इयं वीरभैरवसंज्ञा अष्टमी,—इति श्रीभर्गशिखाकुलम् ॥ ६२ ॥

एतदुपसंहरन् वीर्यवन्दनमवतारयति—

'माया नामक 'ख' (= आकाश) अनन्त है........ ।'

इत्यादि उक्त पाँच आकाशों में सम्यक् उक्त क्रम से स्थित होने के कारण = गाढ़ अवष्टम्भ के कारण, व्योमा नामक दूसरी (मुद्रा) है । तथा भीतर किये गये नीचे की ओर दायीं मुट्ठी के अंगूठे के ऊपर स्थित बाँयी मुट्ठी, जिसका अंगूठा ऊपर उठा है, वाली दोनों मुट्ठियों के हृदय में सङ्घट्ट से वह हृदया नामक तीसरी खेचरी मुद्रा है । तथा 'हस्त' शब्द से बाहु को समझने से दोनों बाहुओं को, जिसमें बाँया नीचे और दायाँ ऊपर होगा तथा दोनों के हाथ भीतर की ओर सामने होंगे, ऐसा होने पर भी जब ऊर्ध्वस्थित हाथ को समदृष्टि से देखा जाय तब वह शान्ता नामक चतुर्थी (खेचरी) मुद्रा होती है । तथा यही शान्ता नामक (मुद्रा) ऐसा ही सन्निवेश होने पर यदि नीचे की ओर गये हुये हाथों वाली होती है तब शक्तिनामक पाँचवीं मुद्रा होती है । तथा दोनों हाथों की मुट्ठी बाँधने के बाद दशों अंगुलियों के झट से तिर्यक् क्षेप से प्रत्येक हाथ में पाँच कुण्डलिनी रूप होने पञ्चकुण्डलिनी नामक छठीं (मुद्रा) है । तथा यदि इसी प्रकार दशों उंगलियों का ऊर्ध्वप्रक्षेप हो तब यह पञ्चकुण्डलिनीसंहार नामक सप्तमी मुद्रा है । इसका संहारमुद्रात्व (मूलश्लोकस्थ) ही 'उत्क्रमणी' इत्यादि के द्वारा प्रदर्शित है । तथा जब योगी अधोवीक्षणशील होने से सम्यक् अन्तर्लक्ष्यवाली दृष्टि से समन्वित तथा दोनों हाथों को कुञ्चित कर सुदूर छिद्र में साहस मुद्रा के अनुप्रवेश के द्वारा झट से अपने को मानों गिराता हुआ प्रवृद्धज्ञान वाला हो जाता है तब यह वीरभैरव नामक आठवीं मुद्रा होती है—ऐसा श्री भर्गशिखाकुल (मे उक्त) है ॥ ६२ ॥

एवं नानाविधान्भेदानाश्रित्यैकैव या स्थिता।
श्रीखेचरी तयाविष्टः परं बीजं प्रपद्यते ॥ ६३ ॥

नानाविधानिति—त्रिशूलिन्यादीन् । आसां च त्रिशूलिन्यादीनामनवक्लृप्ति-परतया सर्वासामेव स्वरूपं न उक्तम् । परं बीजमिति—सृष्टिमयं पराबीजम् । वस्तुतो हि अनयोरभेदः—इति भावः । यदागमः—

'एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
द्वावेकं यो विजानाति स वै पूज्यः कुलागमे ॥' इति ॥ ६३ ॥

अत एव आह—

एकं सृष्टिमयं बीजं यद्वीर्यं सर्वमन्त्रगम् ।
एका मुद्रा खेचरी च मुद्रौघः प्राणितो यया ॥ ६४ ॥

अतश्च तदावेश एव सर्वमुद्राणां तत्त्वम्—इत्याह—

तदेवं खेचरीचक्ररूढौ यद्रूपमुल्लसेत् ।
तदेव मुद्रा मन्तव्या शेषः स्याद्देहविक्रिया ॥ ६५ ॥

शेष इति—तदावेशशून्यः ॥ ६५ ॥

इसका उपसंहार करते हुये वीर्यवन्दन की अवतारणा करते हैं—

इस प्रकार एक ही जो श्रीखेचरी मुद्रा अनेक भेदों का आश्रयण कर स्थित है उससे समाविष्ट (योगी) परबीज को प्राप्त करता है ॥ ६३ ॥

नानाविध = त्रिशूलिनी आदि । इन त्रिशूलिनी आदि के अनवक्लृप्तिपरक (कल्पना से परे) होने से सबका स्वरूप नहीं कहा गया । परबीज = सृष्टिमय परा बीज । वस्तुतः इन दोनों (= खेचरीमुद्रा और परबीज) में अभेद हैं—यह तात्पर्य है। जैसा कि आगम है—

'सृष्टिमय बीज एक ही है और एक ही मुद्रा है—खेचरी । इन दोनों को जो एक समझता है वह कौलमार्ग में पूज्य है' ॥ ६३ ॥

इसलिये कहते हैं—

एक ही सृष्टिमय बीज है जो वीर्य सब मन्त्रों में वर्त्तमान है । एक ही मुद्रा खेचरी है जिसके द्वारा मुद्रासमूह प्राणित है ॥ ६४ ॥

इसलिये उसका आवेश ही सब मुद्राओं का तत्त्व है—यह कहते हैं—

तो इस प्रकार खेचरीचक्र के रूढ होने पर (= खेचरीमुद्रा की साधना में परिपक्व होने पर) जो रूप उल्लसित होता है उसी को मुद्रा मानना चाहिये । शेष तो देह का विकार है ॥ ६५ ॥

आसामेव च बन्धाय कालभेदं निरूपयितुमाह—

यागादौ तन्मध्ये तदवसितौ ज्ञानयोगपरिमर्शे ।
विघ्नप्रशमे पाशच्छेदे मुद्राविधेः समयः ॥ ६६ ॥

ननु एवं समये मुद्राबन्धेन किं स्यात्?—इत्याशङ्क्य आह—

बोधावेशः सन्निधिरैक्येन विसर्जनं स्वरूपगतिः ।
शङ्कादलनं चक्रोदयदीप्तिरिति क्रमात्कृत्यम् ॥ ६७ ॥

चक्रोदयदीप्तिरिति—सप्तमाह्निकनिरूपितस्थित्या उदितानां मन्त्राणां दीप्तिः = दीपनमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

एतदेव अर्धेन उपसंहरति—

इति मुद्राविधिः प्रोक्तः सुगूढो यः फलप्रदः ।

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके मुद्राप्रकाशनं नाम द्वात्रिंशमाह्निकम् ॥ ३२ ॥

शेष = उसके आवेश से शून्य ॥ ६५ ॥

इन्हीं के बन्ध के लिये कालभेद का निरूपण करते हैं—

याग के प्रारम्भ में, उसके मध्य में और उसके अन्त में, ज्ञानयोग के परामर्श, विघ्नशान्ति, और पाशच्छेद में मुद्राविधि का समय होता है (= उक्त अवसरों पर मुद्राबन्ध करना चाहिये) ॥ ६६ ॥

प्रश्न—इस प्रकार के समय में मुद्राबन्ध से क्या होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

बोधावेश, (शिव के) ऐक्य के साथ (शिव की) सन्निधि, (विश्वात्मकता का) विसर्जन, स्वरूपलाभ, शङ्कानाश, चक्रोदयदीप्ति ये कार्य क्रमशः होते हैं ॥ ६७ ॥

चक्रोदयदीप्ति = सप्तम आह्निक में वर्णित स्थिति के अनुसार उदित मन्त्रों की दीप्ति = दीपन ॥ ६७ ॥

इसी का श्लोकार्ध से उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार सुगूढ मुद्राविधि कही गयी जो कि फलप्रद है ।

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्य अभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के द्वात्रिंश आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३२ ॥

इति शिवम् ॥

श्रीखेचरीसतत्त्वप्रविमर्शसमुन्मिषच्चिदावेशः ।
द्वात्रिंशं निरणैषीदाह्निकमेतज्जयरथाख्यः ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते मुद्राप्रकाशनं नाम द्वात्रिंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३२ ॥

खेचरीतत्त्व के विमर्श के द्वारा समुन्मिषित चिदावेश वाले जयरथ ने बत्तीसवें आह्निक का समापन किया ।

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के द्वात्रिंश आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३२ ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

श्रीजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते

द्वात्रिंशमाह्निकम्

शुद्धाशुद्धाध्वभिदा द्विगह्वरं मुद्रयत्यशेषजगत् ।
संविद्रूपतया यः कलयतु स किल्विषं सतां कालः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित

श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक

हिन्दी भाष्य संवलित

श्री तन्त्रालोक

का

बत्तीसवाँ आह्निक

शुद्ध-अशुद्धाध्वावरी-युग-जग-मुद्रक काल ।
संविद्रूपतया प्रसे सज्जन-किल्विष-जाल ॥

इदानीं मुद्राविधिमभिधातुमुपक्रमते

अथ कथये मुद्राणां गुर्वागमगीतमत्र विधिम् ।

तमेव आह

मुद्रा च प्रतिबिम्बात्मा श्रीमद्देव्याख्ययामले ।
उक्ता बिम्बोदयश्रुत्या वाच्यद्वयविवेचनात् ॥ १ ॥

तत्र श्रीदेव्यायामले

'प्रतिबिम्बोदयो मुद्रा····· ····· ······ ····· ।'

आचार्य जयरथ इस आह्निक के आरम्भ में ही अशेष विश्व पर एक व्यापक दृष्टि निक्षेप कर रहे हैं। जगत् पर दृष्टि जाते ही उनके मस्तिष्क में यह विचार विद्युत् की तरह कौंध गया कि,

शुद्ध और अशुद्ध नामक द्विगह्वर इस विश्व को संविद्रूप से कोई तत्त्व मुद्रित कर रहा है। उस तत्त्व पर तुरत मनीषा दौड़ गयी। यह स्पष्ट हो गया कि, वह तत्त्व महाकाल ही है। उसी काल तत्त्व से यह प्रार्थना भी कर रहे हैं कि, इस विभेदमय किल्बिष भाव को वह सज्जनों के हृदय से दूर करे।

आह्निक के आरम्भ में शास्त्रकार मुद्राओं की विधि के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हुए कह रहे हैं कि,

प्रस्तुत आह्निक में गुरु परम्परा से प्राप्त आगमों में वर्णित मुद्रा विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ। अपनी इसी प्रतिज्ञा की पूर्त्ति के उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रथम कारिका का अवतरण कर रहे हैं—

मुद्रा प्रतिबिम्बात्मक होती है। यह बात श्रीदेव्या-यामल शास्त्र में कही गयी है। वहाँ की उक्ति का उदाहरण आचार्य जयरथ ने दिया है। उनके अनुसार—

'प्रतिबिम्ब का उदय ही मुद्रा है।'

इत्येवंरूपाया बिम्बोदयश्रुतेः पञ्चमीषष्ठ्यर्थबहुव्रीहिद्वारस्य वाच्यद्वयस्य विवेकमाश्रित्य परसंविदाकृतिरूपत्वात् प्रतिबिम्बात्मा मुद्रा उक्तेति वाक्यार्थः। इदं च अत्र वाच्यद्वयम्—प्रतिराभिमुख्ये, तेन बिम्बसंनिधिं निमित्तीकृत्य बिम्बैकनियत उदयो यस्येति बिम्बस्य प्रतिबिम्बोत्पत्तिनिमित्तत्वमुक्तम्, बिम्बस्य अभिव्यक्तिलक्षण उदयः प्रतिगतः प्राप्तो यस्मादिति प्रतिबिम्बस्य ज्ञप्त्युपायत्वमिति। यद्वा

'मुद्रा बिम्बोदयो नाम्ना…… …… …… ……।'

इतिबिम्बोदयश्रुतेः प्रतिशब्दार्थमपहायैव व्याख्येयम् ॥ १ ॥

यह स्पष्ट उल्लेख है। इसे 'बिम्बोदयः श्रुति' कहकर आचार्य ने इसके महत्त्व का ख्यापन किया है। इस श्रुति में पञ्चमी कारकार्थ और षष्ठी विभक्त्यर्थ बहुव्रीहि-द्वारक वाच्यद्वयार्थ विज्ञान का उपयोग करने पर अर्थानुभूति को नयी दिशा मिलती है। बिम्ब से उदय और बिम्ब का उदय इन दोनों प्रयोगों में प्रथम प्रयोग पञ्चमी विभक्ति का अर्थ दे रहा है। दूसरे प्रयोग में षष्ठी विभक्ति का विलास एक अभिनव अर्थ में उल्लसित कर रहा है।

'प्रतिबिम्बोदय' शब्द में प्रतिउपसर्ग आभिमुख्य का द्योतक है। अर्थात् बिम्ब नितान्त संनिध्य में है, एकदम पास में ही मानो। उसी का एकमात्र नियत भाव से उसी का ही उदय हो रहा है और उसी से हो रहा है, यह स्पष्ट विवेक हो रहा है। एक तरह से प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति का वही निमित्त है। प्रतिबिम्व की अभिव्यक्ति हो रही है। यह अभिव्यक्ति ही उसका उदय है। यह किससे उदित अथवा अभिव्यक्त हो रहा है, इस प्रश्न का स्वयम् बिम्ब ही उत्तर है।

वही प्रतिबिम्ब की ज्ञप्ति का उपाय है। इसी भाव को अभिव्यक्त करने वाली एक दूसरी उक्ति भी देव्याख्ययामल शास्त्र में है—

"बिम्ब का उदय ही नामतः मुद्रा मानी जाती है।"

तदेव तात्पर्यद्वारेण आह

बिम्बात्समुदयो यस्या इत्युक्ता प्रतिबिम्बता।
बिम्बस्य यस्या उदय इत्युक्ता तदुपायता ॥ २ ॥

समुदय इति उत्पत्तिः । यस्या इति प्रतिबिम्बरूपाया मुद्राया इति षष्ठ्यर्थः, यस्याश्च सकाशादिति पञ्चम्यर्थः । उदय इति ज्ञप्तिस्तदुपायतेति ज्ञप्तिद्वारिका बिम्बोपायतेत्यर्थः ॥ २ ॥

इस उक्ति में प्रति उपसर्ग का प्रयोग नहीं है। केवल 'बिम्बोदय' शब्द ही प्रयुक्त है। यह ध्यान देने को बात है कि, इस प्रयोग में भी वाच्यद्वय का विवेक सरलता से हो रहा है। इसलिये यह कथन समर्थित हो जाता है कि, बिम्बोदय श्रुति से वाच्यद्वय विवेक सरलता पूर्वक हो रहा है।

पञ्चम्यन्तार्थबहुव्रीहि का विग्रह वाक्य 'उदयः यस्मात्' अर्थात् 'बिम्ब की अभिव्यक्ति प्रतिगत है जिससे, वही प्रतिबिम्ब की ज्ञप्ति का उपाय है' इस प्रकार पूरा होता है।

षष्ठ्यर्थ बहुव्रीहि में बिम्ब से नियत उदय हो रहा है जिसका, वही प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति का निमित्त है, यह विग्रह वाक्य अर्थ को स्पष्ट करता है ॥ १ ॥

इसी का तात्पर्य स्पष्ट कर रहे हैं—

बिम्ब से समुदय अर्थात् उत्पत्ति होती है जिसकी, वही बिम्ब की प्रतिबिम्ब रूपा मुद्रा मानी जाती है। यहाँ समुदय ही उत्पत्ति है। पञ्चम्यर्थ में उदय ज्ञप्ति है। ज्ञप्ति द्वारिका बिम्बोपायता है। यह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ प्रतिबिम्बता और तदुपायता शब्द बिषय के वास्तविक अर्थ की ओर संकेत कर रहे हैं। प्रतिबिम्बता बिम्ब की होती है और उपायता बिम्ब की ज्ञप्ति से सिद्ध होती है। मुद्रा के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने के लिये भगवान् शास्त्रकार ने इतनी गहराई से वाच्यद्वय का विवेचन किया है।

एवं मुद्राशब्दस्य रूढिमुपदर्श्य योगमपि दर्शयति

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम् ।
रात्यर्पयति तत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता ॥ ३ ॥

यद्यपिच अत्र

'इत्याशयेन मुद्रा मोचयते पाशजालतोऽशेषात् ।
कार्यीयान्पुर्यष्टकसंस्कारान्द्रावयेत्तथा मन्त्रम् ॥
योगं क्रियां च चर्यां मुद्रयति तदेकरूपतया ।'

इत्यादिदृष्ट्या बहुधा यागः सम्भवति, तथापि परानन्दनिर्भरस्वरूपताधायितया अयमेव मुख्य इति एतावदेव उक्तम् ॥ ३ ॥

इसी तथ्य का आचार्य जयरथ ने भी पूर्ण विवेचन किया है। यस्याः पञ्चमी और षष्ठी दोनों विभक्तियों का एकवचनान्त रूप है। प्रथम 'यस्या' प्रतिबिम्बरूपा मुद्रा की उत्पत्ति का बोधक है और दूसरा जिससे उदय अर्थात् ज्ञप्ति होती है, इसका बोधक है ॥ २ ॥

इस प्रकार मुद्रा शब्द की रूढि का ख्यापन हो रहा है। मुद्रा शब्द का यौगिक अर्थ भी शास्त्रों में प्रचलित है। उसी का प्रदर्शन कर रहे हैं—

'मुद' शब्द प्रसन्नता के अर्थ में व्यवहृत होता है। संसार की सर्वातिशायिनी प्रसन्नता स्वात्मस्वरूप की अधिगति रूप उपलब्धि ही मानी जाती है। प्राणिमात्र को स्वरूपताख्याति रूप मुद् अर्थात् प्रसन्नता को जो शरीर के माध्यम से ही अर्पित करती है, वही मुद्रा है, यह शास्त्रों में वर्णित है।

इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि, स्वरूपलाभाख्य मुद्, देह द्वारा ही जो आत्माओं को राति अर्थात् अर्पित करती है, वही मुद्रा है।

आसामेव गुणप्रधानभावं तावत् दर्शयति

तत्र प्रधानभूता श्रीखेचरी देवतात्मिका ।
निष्कलत्वेन विख्याता साकल्येन त्रिशूलिनी ॥ ४ ॥
करङ्किणी क्रोधना च भैरवी लेलिहानिका ।
महाप्रेता योगमुद्रा ज्वालिनी क्षोभिणी ध्रुवा ॥ ५ ॥
इत्येवंबहुभेदेयं श्रीखेचर्येव गीयते ।

यद्यपि यहाँ अर्थात् शास्त्रों में,

'मुद्रा अशेष अर्थात् सम्पूर्ण पाशराशि से मुक्त करती है और काया के माध्यम से मिले सारे मलात्मक पुर्यष्टक संस्कार-कदम्बक को द्रावित करती है, तथा अपने इस मुद्रात्मक रूप से मन्त्र, योग, क्रिया और चर्या को मुद्रित करती है, वही मुद्रा है'।

इस प्रकार की व्याख्या भी मिलती है, और ऐसी ही अन्य अनेक यौगिक अर्थ भी किये जा सकते हैं। फिर भी श्लोक ३ में व्यक्त यौगिक अर्थ रूप व्याख्या स्वरूपख्याति रूप परानन्द-निर्भर-भाव का आधान करती है। अतः यही यौगिक व्याख्या सर्वोत्तम और सर्व प्रमुख रूप से स्वीकार्य है ॥ ३ ॥

मुद्राओं के गौण और प्रधान भावों की ओर अध्येता का ध्यान शास्त्रकार आकर्षित कर रहे हैं—

समस्त मुद्राओं में देवतात्मिका और प्रधानभूता मुद्रा श्रीखेचरी ही मानी जाती है। यह निष्कल मुद्रा है, इस रूप में यह प्रसिद्ध है। साकल्य दृष्टि से इस पर विचार करने से इसके अनेक रूप और भेद अनुभूत होते हैं। उन्हें शास्त्र त्रिशूलिनी, करङ्किणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहानिका, महाप्रेता, योगमुद्रा, ज्वालिनी, क्षोभिणी और ध्रुवा आदि संज्ञाओं से विभूषित करते हैं। इन भेदों प्रभेदों और एक प्रकार के विशेषणों के विस्तार के रहते हुये भी

ध्रुवेति खेचरीविशेषणं, तस्या हि त्रिशूलिन्यादिसकलरूपोपग्रहेऽपि न निष्कलाद्रूपात्प्रच्याव इति अभिप्रायः। उक्तं हि

'इयं सा खेचरी मुद्रा निष्कला परिकीर्तिता।
सकलं रूपमेतस्या भेदैस्तैस्तैरवस्थितम् ॥' इति।

ननु त्रिशूलिन्यादिवदन्या अपि एतदङ्गभूता मुद्राः सम्भवन्तीति कथमिह ता अपि न उक्ता इत्याशङ्क्य आह

अन्यास्तदङ्गभूतास्तु पद्माद्या मालिनीमते ॥ ६ ॥
तासां बहुत्वामुख्यत्वयोगाभ्यां नेह वर्णनम् ।

अर्थात् सकल रूपों से आकलित किये जाने पर भी श्रीखेचरी अपने निष्कल रूप का परित्याग नहीं करती अर्थात् निष्कलता का प्रच्याव इससे नहीं होता। कहा गया है कि,

'यह वह खेचरी मुद्रा है, जिसे निष्कला मुद्रा कहते हैं। इसके अनेकानेक सकल रूप भी होते हैं। उन-उन रूपों में यही देवतात्मिका मुद्रा स्वात्म भाव से उल्लसित रहती है।'

शास्त्रकार ने इसका सर्वोपरि महत्व स्वीकार किया है और इसे शास्त्र में सर्वप्रथम स्थान दिया है ॥ ४-५ ॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, गुरुदेव! त्रिशूलिनी आदि की तरह अन्य अनेक अङ्गभूत मुद्रायें भी होती हैं। यहाँ खेचरी मुद्रा की ही अङ्गभूत वे मुद्रायें क्यों नहीं कही गयीं हैं? गुरुदेव ने कहा—वत्स! शास्त्रकार ऐसी आशङ्काओं से अवगत थे। उन्होंने स्वयं कहा है कि,

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के अनुसार 'पद्मा' आदि कई भेद स्वीकृत हैं। वास्तविकता यह है कि, प्रथम तो ऐसे अनेकानेक भेद हो सकते हैं और दूसरे यह कि, वे मुख्य नहीं होते। अतएव महत्त्वहीन होते हैं। इसलिये उनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है ॥ ६ ॥

ननु श्रीमालिनीमते पद्ममुद्रादिसाहचर्येणैव श्रीखेचरी अपि निर्दिष्टा, तत् सैव प्रधानेति तु कुतस्त्यमित्याशङ्क्य आह

श्रीखेचरीसमाविष्टो यद्यत्स्थानं समाश्रयेत् ।। ७ ।।

देवीसंनिधये तत्स्यादलं किं डम्बरैर्वृथा ।

अलमिति पर्याप्तम् ।। ७ ।।

ननु आसामपि

'याभिः संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात् ।'

इत्याद्युक्त्या साधकविषयं मुख्यत्वमस्तीति कथमेवमुक्तमित्याशङ्क्य आह

काम्ये कर्मणि ताश्च स्युर्मुख्याः कस्यापि जातुचित् ।। ८ ।।

मालिनी मत में पद्मादि मुद्रा के साहचर्य में ही श्रीखेचरी मुद्रा निर्दिष्ट है। ऐसी अवस्था में वही प्रधान है, ऐसा क्यों माना जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर शास्त्रकार दे रहे हैं—

शास्त्रकार की मान्यता है कि, श्रीखेचरी मुद्रा ही प्रधान मुद्रा है। इस मुद्रा में समाविष्ट होकर साधक धन्य हो जाता है। खेचरी समावेश-सिद्ध साधक जिन-जिन स्थानों का आश्रय ग्रहण करता है, वे स्थान देवी के सान्निध्य के लिये अलम् अर्थात् देवी के साक्षात्कार कराने में पूर्ण समर्थ होते हैं। ऐसी अवस्था में व्यर्थ के आडम्बर से क्या लाभ ? अर्थात् अप्रधान मुद्राओं के वर्णन का कोई विशेष अर्थ या तात्पर्य नहीं है ।। ७ ।।

एक आगमिक उक्ति है कि,

"इन खेचरी की अङ्गभूत मुद्राओं से संरक्षित मन्त्र जप में निरत साधक मन्त्रों की सिद्धि प्राप्त कर लेता है।"

इससे यह सिद्ध होता है कि, साधक को सिद्धि प्रदान करने की सामर्थ्य के कारण इनमें भी मुख्यता माननी चाहिये। ऐसी स्थिति में भी उनमें

कस्यापीति साधकस्यैव, नतु पुत्रकादेः। जातुचिदिति नतु नित्यवत् सर्वकालम् ॥ ८ ॥

इह पुनर्मोक्षाख्यमुख्यार्थप्रतिपादनपरत्वादस्य ग्रन्थस्य काम्यमेव कर्म न उक्तमिति तदुपयोगिना अपि मुद्रावर्णनेन कोऽर्थ इत्याह—

तच्च नास्माभिरुदितं तत्किं तदुपयोगिना ।

गौणत्व का आरोप लगाकर उनकी उपेक्षा क्यों की गयी है ? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

काम्यकर्मों में कभी-कभी यह देखा जाता है कि, ये अङ्गभूत मुद्रायें भी मुख्यरूप से किसी किसी की कार्यसाधिका हो जाती हैं और अपनी मुख्यता सिद्ध कर देती हैं। प्रस्तुत कारिका में 'कस्यापि' और 'जातुचित्' दो प्रयोग ध्यान आकर्षित करते हैं। किसी-किसी साधक को ही ये कार्य साधिकायें होती हैं। पुत्रक सदृश साधकों की सिद्धि इनसे नहीं होती। जातुचित् का तात्पर्य यह है कि, ये कभी-कभी कदाचित् कार्य तो सिद्ध कर देती हैं किन्तु ये नित्य ऐसा नहीं कर पातीं अर्थात् सार्वकालिक नित्य कार्य साधिका नहीं हैं ॥ ८ ॥

एक विशेष तथ्य की ओर अध्येता का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। श्री तन्त्रालोक नामक यह महाग्रन्थ मुख्यतया मोक्ष का प्रतिपादक शास्त्र है। मोक्ष नामक परम पुरुषार्थ के प्रतिपादन के उद्देश्य से ही यह अवतरित है। इसमें काम्य कर्म पर विशेष प्रकाश नहीं निक्षिप्त किया गया है। फिर भी काम्यकर्म के उपयोग में आने वाली मुद्रायें यहाँ निर्दिष्ट की गयी हैं। इसका क्या उद्देश्य हो सकता है ? इस आशङ्का की दृष्टि-समाधायक कारिका प्रस्तुत कर रहे हैं—

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, सत्य है। मैंने तो उनका कथन किया ही नहीं। उनकी उपयोगिता आदि के सम्बन्ध में चर्चा की आवश्यकता ही नहीं आकलित की जा सकी। इन मुद्राओं को एक अन्य दृष्टि से भेद-

आसां च भेदनिर्देशद्वारेण स्वरूपमभिधातुमाह—

मुद्रा चतुर्विधा कायकरवाक्चित्तभेदतः ॥ ९ ॥

तत्र पूर्णेन रूपेण खेचरीमेव वर्णये ।

वागिति मन्त्रविलापनरूपा । यदुक्तं

'करकार्यविलापान्तःकरणानुप्रवेशतः ।
मुद्रा चतुर्विधा ज्ञेया...................॥'

इत्युपक्रम्य

'अङ्गुलीन्यासभेदेन करजा बहुमार्गगा ।
सर्वावस्थास्वेकरूपा वृत्तिमुद्रा च कायिकी ॥

वादिता के सम्बन्ध में शास्त्रकारों का मत है कि, मुद्रायें चार प्रकार की होती हैं—१. कायिक मुद्रायें, २. कर प्रयोगवती मुद्रायें, ३. वाचिक सिद्धिप्रदा मुद्रायें और ४. चित्तभेदिनी मुद्रायें । यह जानकारी देने के बाद यहाँ अब मैं पूर्णरूप से खेचरी मुद्रा का ही अर्थात् चतुर्भेद सिद्ध खेचरी का ही वर्णन करने जा रहा हूँ ।

जहाँ तक वाचिक मुद्रा का प्रश्न है, यह मात्र वागात्मिका होती है । मन्त्र उस अवस्था में वाक् में विलापन कर जाता है । इस विषय में आगमिक उक्ति है कि,

'कर, काय, विलाप और अन्तःकरणानुप्रवेश भेद से मुद्रायें चार प्रकार की होती हैं ।'

इस उक्ति से प्रारम्भ कर आगे के वर्णन क्रम में कहा गया है कि,

'अङ्गुलियों के न्यास-भेद से कर अर्थात् हाथों से बनायी जाने वाली मुद्रायें अनेक प्रकार और पद्धतियों से निर्मित होती हैं । ये सभी अवस्थाओं में एक रूप ही होती हैं । कायिकी मुद्रा काया से सम्बद्ध मानी जाती हैं । यह वृत्तियों पर निर्भर करती हैं । क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर की

पञ्चमुद्राधरं चैतद्व्रतं सिद्धनिषेवितम् ।
मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलापाख्या प्रकीर्तिता ॥

ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी परिकीर्तिता ।' इति ।

पूर्णेनेति चतुर्विधेनापीत्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्रापि प्राधान्येन श्रीपूर्वशास्त्रोक्तमेव तावदस्या रूपमाह

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं क्षिपेत् ॥ १० ॥
दण्डाकारं तु तं तावन्नयेद्यावत्कखत्रयम् ।

पञ्चात्मकता से भावित वृत्तियों के प्रभाव से इनका अस्तित्व उल्लसित होता है। ये सिद्धों द्वारा निषेवित व्रत के रूप में प्रचलित हैं।

विलापाख्या मुद्रा मन्त्रतन्मयता रूपा होती है। मन्त्र वाग्रूपता में विलुप्त हो जाते हैं। वाक् से मन्त्र उच्चरित होते हैं किन्तु जब मन्त्र वाङ्मयता को प्राप्त हो कर वाक् में ही स्पन्दित हो रहे होते हैं, वहाँ वाचिकी मुद्रा का उल्लास माना जाता है। इसे ही विलापाख्या मुद्रा कहते हैं।

चौथी मुद्रा मानसी कहलाती है। इसमें ध्येय तादात्म्य सिद्ध हो जाता है। आगम इसे ध्येयतन्मया मुद्रा कहता है।

ये चार प्रकार की खेचरी मुद्रायें तन्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इनके पूर्वोक्त भेद-प्रभेदों के साथ विशिष्ट खेचरी मुद्राओं को शास्त्रकार को प्रतिज्ञा के अनुसार इस पूरे आह्निक में वर्णन का विषय बनाया गया है ॥ ९ ॥

यहाँ प्रधानतः श्रीपूर्वशास्त्रोक्त इसके स्वरूप का ख्यापन किया जा रहा है—

सर्व प्रथम योगयुक्त साधक पद्मासन सिद्ध होकर विराजमान हो जाये। पद्मासन सिद्ध हो जाने पर सुखासन हो जाता है। पद्मासन का नामतः उल्लेख इस प्रक्रिया में इसके महत्त्व का ही निर्देश करता है। इस आसनबन्ध में बैठ कर अक्षेश्वर अर्थात् इन्द्रियाधीश्वर मन को नाभिकेन्द्र में अवस्थित

निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ॥ ११ ॥
एतां बद्ध्वा खे गतिः स्यादिति श्रीपूर्वशासने ।

स्थिरसुखासनस्थो हि योगी जन्माधारादुदेत्य नाभिदेशे मनो निवेश्य तत्रैव बहुशः परिभ्राम्य मध्यप्राणशक्त्येकीकारेण दण्डाकारतया मूर्धन्यं

करना चाहिये। क्षिपेत् क्रिया नियन्त्रण कर केन्द्रावस्थित करने का संकेत कर रही है। अश्विनी मुद्रा द्वारा प्राणापानवाह को परिचालित करने के क्रम में पूरक करते हुए कुम्भक में अवस्थित हो जाय। कुम्भक दशा में प्राण दण्ड के आकार का सीधा ऊर्ध्वोत्थान प्राप्त कर लेता है। साधक इस प्राण दण्ड को क-ख त्रयपर्यन्त ले जाय। इसकी विशिष्ट विधि है। चक्र साधना का यह विषय है। कुण्डलिनी जागृत करने की यही प्रक्रिया है।

प्राण तालुरन्ध्र से ऊपर आज्ञा चक्र में प्रवेश करता है। आज्ञा के केन्द्र में बिन्दु का स्थान अ, उ और म् के ऊपर माना जाता है। बिन्दु के ऊपर अर्धचन्द्र और निरोधिनी को पार कर नाद तक पहुँचते हैं। ब्रह्मरन्ध्र में प्राणदण्ड समाप्त होकर नाद में स्पन्द रूप से आगे बढ़ता है। इस प्रकार नादतक विन्दु का क्षेत्र माना जाता है। इसी में ब्रह्मरन्ध्र भी आ जाता है। इस प्रकार विन्दु ब्रह्मरन्ध्र और नाद ये तीन कखत्रय प्रसिद्ध योगसिद्धि के मुख आधार विन्दु सिद्ध हो जाते हैं।

यहाँ कुम्भक वृत्ति में ही अवस्थिति रहती है। इसी वृत्ति में नादान्त को पारकर पुनः खत्रय रूप शक्ति, व्यापिनी और समना चक्रों को यात्रा में योगी युक्त हो जाता है। इसे खत्रय यात्रा में प्राण को प्रेरित करने की प्रक्रिया के रूप से जाना जाता है। विन्दु से लेकर समना तक भी इस प्राण प्रक्रिया में क्षेप, आक्रान्ति, चिदुद्बोध; स्थापन, दीपन और तत्संवित्ति नामक छः स्पन्दोल्लास होते हैं। यह खत्रय-खत्रय की यात्रा के छः स्पन्द माने जाते हैं। इस स्पन्दोल्लास को 'उद्घात' प्रक्रिया भी कहते हैं।

बिन्दुनादब्रह्मरन्ध्रलक्षणं खत्रयं यावत् नीत्वा तत्रैव कुम्भकानुवृत्त्या निरुध्य शक्तिव्यापिनीसमनात्मना खत्रयेण तूर्णमुद्घातगत्या प्रेरयेदुन्मनापदाक्रमणेन परमशिवाभिमुख्यं नयेत् येन अस्य एतदवष्टम्भेन परबोधगगनचारित्वं स्यात् ।

अस्या एव अवान्तरभेदसहिताया: श्रीयोगसञ्चारोक्तं रूपं निर्दिशति

ध्वनिज्योतिर्मरुद्युक्तं चित्तं विश्रम्य चोपरि ॥ १२ ॥
अनेनाभ्यासयोगेन शिवं भित्त्वा परं व्रजेत् ।

समना ही सहस्रार चक्र का प्रतिष्ठान है। इस चक्र तक शक्ति, व्यापिनी और समना की संयुक्त शक्तिमत्ता काम करती है। यह द्वितीय खत्रय है। यहाँ से ऊर्ध्व की ओर शाक्त गतिशीलता के लिये एक अभिनव प्रयत्न की आवश्यकता होती है। 'उद्घात' प्रक्रिया से प्राण को प्रेरित कर अधोमुख कमल के मध्यनालछिद्र से तीन अराओं के सहारे साधक उन्मना पद में प्रतिष्ठित हो जाता है। उन्मना पर बन्धन अर्थात् नियन्त्रण हो जाने पर आकाशचारिता की गति निश्चित रूप से प्राप्त हो जाती है, यह श्रीपूर्वशास्त्र कहता है। श्रीपूर्वशास्त्र मालिनी विजयोत्तरतन्त्र को ही कहते हैं। यह खेचरीशक्ति पर विजय की साधना यात्रा का स्वरूप है। यहाँ जो सबसे बड़ी उपलब्धि होती है—वह पर-शिवाभिमुखता है। पर शिवरूप गगन में अनुप्रवेश से साधक का अस्तित्व धन्य हो जाता है। उसको शैवतादात्म्य-सिद्धि हो जाती है। वह परशिव भाव में शाश्वतविहार करता है। यही परबोध गगनचारित्व है। यहाँ अवष्टम्भ हो जाने पर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का शरीर की पार्थिवता पर प्रभाव समाप्त हो जाता है और अणिमा की सिद्धि हो जायी है। शरीर हल्का हो जाता है। वह सचमुच आकाशचारी हो जाता है ॥ १०-११ ॥

इसी मुद्रा की अवान्तर-भेदरूपता की चर्चा कर रहे हैं। यह क्रम श्री योगसञ्चर शास्त्र के अनुसार कहा जा रहा है—

ध्वनिर्नादः, ज्योतिर्बिन्दुः, मरुत् शक्तिः, तेन तद्द्वादशान्तं ब्रह्मरन्ध्रम्। एवं जन्माधारात्प्रभृति एतद्व्योमत्रययोगि चित्तं विधाय तत्रैव निविडध्यानेनैव क्रमेण उपरितनं शक्त्यात्मकमपि खत्रयं भित्त्वा योगी परं शिवं व्रजेदिति वाक्यार्थः।

एतदनुवेधेन त्रिशूलिन्यापि अपि रूपमाह

जत्र्वधस्तात्करौ कृत्वा वामपादं च दक्षिणे ॥ १३ ॥
विदार्यास्यं कनिष्ठाभ्यां मध्यमाभ्यां तु नासिकाम्।

ध्वनि (नाद) ज्योति (विन्दु) मरुत् (शक्ति) इन तीनों व्योमत्रय से चित्त को युक्त करने को प्रक्रिया अपनानी चाहिये। इस विधि का संकेत आचार्य जयरथ ने 'जन्माधारात् प्रभृति एतद्व्योमत्रययोगि' प्रयोग द्वारा किया है। जन्माधार से अश्विनी मुद्रा के प्रयोग से प्राणापानवाह चक्रों को पार करता हुआ विन्दु, नाद और नादान्त रूप खत्रय तक पहुँचता है। यहाँ 'मरुद्' प्राण के लिये हो प्रयुक्त है। जब इन तीनों से एक योगात्मकता सिद्ध हो जाती है, तो योगी निविड ध्यान योग से उपरितन शक्ति, व्यापिनी और समना रूप खत्रय का भेदन करते हैं। इससे योगी पर-शिव भाव को प्राप्त कर लेता है। आचार्य को विवेक व्याख्या में शक्ति, के बाद 'तेन द्वादशान्तं ब्रह्मरन्ध्रम्' इतना लेख प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। आचार्य सदृश परमगुरु यह अपार्थक प्रयोग नहीं कर सकता ॥ १२ ॥

इसी अनुवेध के माध्यम से त्रिशूलिनी के रूप का निरूपण कर रहे हैं—

त्रिशूलिनी शब्द से हो अन्वर्थ रूप से यह आकलित होता है कि, इसमें त्रिशूल को आकृति का प्रतिच्छाया-सी उपलक्षित होती है। यह सच्चाई भो है। इसमें त्रिशूल का प्रयोग किया भी जाता है। त्रिशूल विधि को अपनाने के कारण ही इसे त्रिशूलिनो कहते हैं। सर्वप्रथम दोनों हाथों को गले के नोचे की दो गोलाकार हड्डियों के नोचे ले जाना चाहिये। देशज प्रयोग में इन्हें

अनामे कुञ्चयेत्प्राज्ञो भ्रूभङ्गं तर्जनीद्वयम् ॥ १४ ॥
जिह्वां च चालयेन्मन्त्री हाहाकारं च कारयेत् ।
त्रिशूलेन प्रयोगेण ब्रह्मरन्ध्रमुपस्थितः ॥ १५ ॥
पदं सन्त्यज्य तन्मात्रं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

जत्रुशब्देन अत्र कण्ठो लक्ष्यते तेन तदध इत्यर्थः । नासिकामिति तद्रन्ध्रद्वयम्, चालयेदिति भ्रूभङ्गादौ त्रयेऽपि योज्यम् । तन्मात्रमिति स्थितम् । मेदिनीं त्यजतीति देहाद्यहन्तापहस्तनेन परबोधाकाशचारी भवेदित्यर्थः ॥ १३-१५ ॥

'हँसुली' कहते हैं । संस्कृत में उन्हें ही जत्रु कहते हैं । उन्हीं के नीचे हाथ ले जाना है । बैठने की मुद्रा में पलत्थी नहीं लगानी है, वरन् बाँये पाँव को दाहिने पर रखना चाहिये । फिर हाथों को मुँह तक ऊपर उठा दोनों कनिष्ठिकाओं से मुख को फैलाना चाहिये । साथ ही दोनों बिचली अङ्गुलियों का नाक के छिद्रों में डालकर उभयतः फैलाना चाहिये ।

बुद्धिमान् साधक अनामिकाओं का आकुञ्चन करके ही उपर्युक्त प्रक्रिया अपनाये । इसके बाद दोनों भौंहों, दोनों तर्जनियों, और जीभ इन तीनों अवयवों को चालित करें । इसके साथ ही फैले हुए मुँह की दशा में गले से 'हा' 'हा' 'हा' की ध्वनि भी करता रहे । इधर प्राणापान के नियन्त्रण पूर्वक त्रिशूल विधि अपनाये । इस विधि के फलस्वरूप ब्रह्मरन्ध्र में अव-स्थिति हो जाती है । यही नहीं, इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है कि, इस अवस्था में तन्मात्राओं के प्रभाव का प्रत्यावर्त्तन हो जाता है और मेदिनी अर्थात् शरीर की पार्थिव सत्ता की अनुभूति का अर्थात् देहाध्यास और देह सम्बन्धिनी अशुद्ध अहन्ता का अपहस्तन हो जाता है । साधक इस अवस्था में स्थित होकर परबोध रूप शून्य गगन में विहार की शक्ति से समन्वित हो जाता है । यह एक प्रकार की आकाशचारी होने की ही दशा मानी जा सकती है ॥ १३-१५ ॥

त्रिशूलप्रयोगमेव शिक्षयति

शून्याशून्यलये कृत्वा एकदण्डेऽनिलानलौ ॥ १६ ॥

शक्तित्रितयसम्बद्धे अधिष्ठातृत्रिदैवते ।

त्रिशूलं तद्विजानीयाद्येन व्योमोत्पतेद्बुधः ॥ १७ ॥

एवंविधोऽयमनिलानलौ प्राणापानावर्थात् मध्यप्राणे समरसितौ कृत्वा अत एव एकस्मिन्मूलाधारात्प्रभृति ऊर्ध्वं प्रसरणात् दण्डाकारे च तस्मिन् जाते सति तदेवं प्रयुज्यमानं त्रिशूलं विजानीयात् येन अस्य व्योमोत्पतनं स्यात्। एकदण्डाकारं मध्यप्राणमेव विशिनष्टि अधिष्ठातृत्रिदैवते इति भ्रूमध्याद्यवस्थितेश्वरसदाशिवानाश्रिताख्यकारणत्रयाधिष्ठिते इत्यर्थः। तथा

त्रिशूल प्रयोग की विधा का निर्देश कर रहे हैं—

इस प्रकार परबोधाकाशचारी साधक अनिल रूप अपान और अनल रूप प्राण इन दोनों को समरस दशा में अवस्थित कर देता है। यह समरसता मध्यप्राण रूपी एक दण्डात्मक अवस्था में आती है। मूलाधार से अश्विनी मुद्रा की सिद्धि के उपरान्त ऊर्ध्वप्रसरण का क्रमिक अनुसन्धान साधक को होता रहता है। श्वासजित् होने पर प्राण की दण्डाकारता का साक्षात्कार हो जाता है। उस एक दण्ड के वैशिष्ट्य पर ध्यान देने पर तीन बातें विशेष रूप से सामने आती हैं—१. इस दण्ड में अनाहत बिन्दु पर ईश्वर अधिष्ठित हैं। २. विशुद्ध बिन्दु पर सदाशिव अधिष्ठित हैं और ३. भ्रूमध्य में अनाश्रित शिव का अधिष्ठान है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने अधिष्ठातृत्रिदैवत का महत्त्वपूर्ण विशेषण प्रयुक्त किया है।

इसकी दूसरी विशेषता को 'शक्तित्रितय सम्बद्ध' शब्द व्यक्त कर रहा है। बिन्दु से क्षेप और आक्रान्ति रूप स्पन्दनों द्वारा यह नाद और नादान्त अवस्थानों को पार कर चिद्बोध से शक्ति में, स्थापन से व्यापिनी में और दीपन से समना में संश्लिष्ट होता है। यही शक्तित्रितय की सम्बद्धता है।

शक्तिव्यापिनीसमनासम्बद्धे तत्संयोगमाप्ते, अत एव परपदप्राप्त्या शून्याशून्य-लये विगलितसदसदादिशब्दव्यवहारे इत्यर्थः ॥ १६-१७ ॥

नच एतावतैव अयं व्योम उत्पतेदित्याह

आकाशभावं सन्त्यज्य सत्तामात्रमुपस्थितः ।
शूलं समरसं कृत्वा रसे रस इव स्थितः ॥ १८ ॥

तीसरा और अप्रतिम महत्त्व का इसका विशेषण है—शून्याशून्यलयत्व । शून्य यहाँ पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त है। बिन्दु नाद और नादान्त के साथ ही शक्ति, व्यापिनी और समना रूप दो शून्य त्रिकों का वर्णन श्लोक ११ में अभी-अभी किया गया है। इनमें रहने पर यह एकदण्डात्मकता शून्य में उल्लसित रहती है। जब इस शून्य दशा को पार करती है, तो अशून्य रूपता में अभिमुख हो जाती है। उन्मना की परावस्था में परमशिवता की तादात्म्यमयी अशून्यता का भी लय हो जाता है। शक्ति आदि कई दृष्टियों से इसे त्रिशूल की संज्ञा दी गयी है। इसका बोध हो जाने पर सुबुद्ध साधक त्रिशूलिनी द्वारा खेचरत्व प्राप्त कर लेता है ॥ १६-१७ ॥

प्राणापान साधना की यह एक उत्कृष्ट स्थिति है। इसमें परबोधरूपी गगन में विहार की अलौकिक अनुभूतियाँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं। यह ध्यान देने की बात है कि, इस दशा में भी आकाश में उत्पतन की क्षमता नहीं होती। उसके लिये विशेष प्रयास आवश्यक होता है। यद्यपि आकाश उत्पतन आत्मोकर्ष की दृष्टि से उपादेय नहीं माना जा सकता, फिर भी चमत्कार की दृष्टि से साधक इस विद्या में भी सिद्ध हो जाता है। मत्स्येन्द्रनाथ और गुरुवर्य गोरखनाथ सदृश सिद्ध खेचरण करने में समर्थ थे, ऐसा सुना जाता है। यहाँ शास्त्रकार यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि, आकाश विहार कैसे सिद्ध हो जाता है। इसी उद्देश्य से इन कारिकाओं का अवतरण कर रहे हैं—

एकदण्डं सा विज्ञाय त्रिशूलं खचरं प्रिये।
बद्ध्वा तु खेचरीं मुद्रां ध्यात्वात्मानं च भैरवम् ॥ १९ ॥
खेचरीचक्रसंजुष्टं सद्यस्त्यजति मेदिनीम्।

एवं खचरमेकदण्डं त्रिशूलं विज्ञाय तत्तदवच्छेदाधायि सत्तामात्रमपि परित्यज्य खेचरीमुद्राबन्धमाविश्य स बुधः पराकाशरूपतामुपस्थितः सन् स्थितस्तत्रैव रसे इव रसं शूलमपि समरसीकृत्य खेचरीचक्रसंजुष्टमात्मानं भैरवं ध्यात्वा च सद्य एव मेदिनीं त्यजतीति सम्बन्धः ॥ १८-१९ ॥

साधक सत्ता-भाव का परित्याग कर दे। असत्ता मात्र में अवस्थित हो जाय। यह असाधारण अवस्था है। सत्ता मात्र में स्थित साधक काल में नहीं रहता है। वह शाश्वत में वर्त्तमान हो जाता है। काल को अतिक्रान्त करना असत्तामात्र में अवस्थान माना जाता है। मानव जीवन की यह शिखर स्थिति होती है। उस समय शूल समरस हो जाता है। रस रूप परामृत में रसानन्द रूप आत्मतत्त्व के सम्मिलन से तादात्म्यमयी रसानुभूति सिद्ध हो जाती है, उसी तरह शूल को समरस करने से श्वासजित् अवस्था सिद्ध होती है। उस समय साधक को यह स्फुरित हो जाता है कि, इस समय प्राणापानको एकदण्डात्मकता ऊर्ध्वत्रिशूल के ऐकात्म्य से समन्वित है और खत्रय से भी एक रस हो चुकी है। यह जानकारी निरन्तर हो रही होती है। साधकस्वात्म भैरव भाव से खेचरीचक्र से बँधा हुआ है। इस दशा में वह ध्यान में प्रतिष्ठित हो जाता है। उस ध्यान की गहराई में साधक के विराट व्यक्तित्व के समस्त संकोच अपास्त हो जाते हैं। अब वह एक अभौतिक अस्तित्व का प्रतीक बन जाता है। उस पर मेदिनी की आकर्षण शक्ति का प्रभाव नहीं रह जाता और साधक का शरीर धरातल से ऊपर यथेच्छ आकाश की सूक्ष्मता की तरह विहार करने में समर्थ हो जाता है। यही मेदिनी का परित्याग कहलाता है ॥ १८-१९ ॥

ननु एवमस्य किं स्यादित्याशङ्क्य आह

त्यक्तांशको निराचारो निःशङ्को लोकवर्जितः ॥ २० ॥

अवधूतो निराचारो नाहमस्मीति भावयन् ।

मन्त्रैकनिष्ठः संपश्यन् देहस्थाः सर्वदेवताः ॥ २१ ॥

ह्लादोद्वेगास्मिताक्रुष्टनिद्रामैथुनमत्सरे ।

रूपादौ वा कर्तृकर्मकरणेषु च सर्वशः ॥ २२ ॥

नाहमस्मीति मन्वान एकीभूतं विचिन्तयन् ।

प्रश्न करते हैं कि, ऐसा होने से साधक में क्या होता है ? क्या कोई बदलाब आता है ? कोई चमत्कार होता है ? आदि ? इन्हीं आशङ्काओं का समाधान कर रहे हैं—

१. सर्वप्रथम उसमें जो अस्तित्वगत चमत्कार होता है, वह है, उसके विराट् स्वरूप का उल्लास । अंश रूप संकोच से ग्रस्त अणुता का निराकरण हो जाता है । अंश भाव छूट जाता है । अब वह निरंशता को प्राप्त या उपलब्ध हो जाता है ।

२. उसका दूसरा स्तर और भी दिव्य हो जाता है। अबतक वह बँटी हुई जिन्दगी जो रहा था। उसके आचार में भी पार्थक्य प्रथा का प्रथन हो रहा था। यह करो, यह न करो आदि के खंडित दृष्टिकोण थे । अब ऐसा नहीं रह जाता । वह सभी आचारों को अतिक्रान्त कर जाता है ।

३. निःशङ्कता का वह प्रतिमान हो जाता है ।

४. लोकाचार की खण्डित जीवनचर्या से उसे मुक्ति मिल जाता है ।

५. अवधूत अवस्था का प्रतीक परमहंस बन जाता है ।

६. देहाध्यास में देह में ही अहं भाव का उल्लास रहता है । इस अवस्था में 'मैं यह नहीं हूँ' इस दृढ भाव से भावित हो जाता है ।

७. मन्त्र में निश्चयात्मक आस्था आ जाती है ।

कर्णाक्षिमुखनासादिचक्रस्थं　　देवतागणम् ॥ २३ ॥

ग्रहीतारं सदा पश्यन् खेचर्या सिद्धचति स्फुटम् ।

त्यक्तांशक इति निरंशतामापन्न इत्यर्थः। निराचार इति निष्क्रान्ता आचारा यस्मादाचारेभ्यश्च निष्क्रान्त इति योज्यम् । देहस्थाः सर्वदेवताः संपश्यन्निति सर्वदेवतामयमात्मानं जानान इत्यर्थः । ह्लादेत्यादिना चित्त-वृत्तिविशेषा आसूत्रिताः । रूपादाविति विषयपञ्चके। ग्रहीतारमिति पर-प्रमात्रेकरूपमित्यर्थः ॥ २०-२३ ॥

एतदेव व्यतिरेकद्वारेण द्रढयति

विद्याशङ्की मलाशङ्की शास्त्रशङ्की न सिद्धचति ॥ २४ ॥

विद्येति शुभकरी वेदविद्या ॥ २४ ॥

---

८. देह में दिव्यत्व का प्रकल्पन, शक्ति-पुञ्जता की दृष्टि और अङ्गप्रत्यङ्ग में कवचरूप से अवस्थित शक्ति प्रतीकों का भान होने लगता है।

९. आह्लाद, उद्वेग, अस्मिता, आक्राश, नींद, मैथुन, मत्सर रूपगर्व आदि चित्तवृत्तियों से ऊपर उठकर मैं कर्त्ता हूँ, मेरे द्वारा ये कार्य सम्पन्न हो रहे हैं आदि कर्त्ता, कर्म और करण आदि कारक वृत्तियों को अतिक्रान्त कर लेता है। अहन्ता के व्यापक परिवेश में विचरण करता है।

१०. बिश्वात्मकता में शैवमहाभावैक्य का दर्शन करता है।

११. कर्णादि इन्द्रियों द्वारा करणेश्वर देववृन्द ही सारा अर्थ-ग्रहण कर रहा है, यह उसकी अन्यतम मान्यता हो जाती है। ये सारी स्थितियाँ और वृत्तियाँ खेचरी मुद्रा सिद्धि के माहात्म्य से स्वतः सिद्ध हो जाती हैं ॥ २०-२३ ॥

इस लोकोत्तर चर्यात्मक जीवन्तता का व्यतिरेक दृष्टि से दृढ़तापूर्वक समर्थन करने का उपक्रम कर रहे हैं—

विद्या रूप शैवज्ञानप्रदा आत्मविद्या के प्रति आशङ्का कर अनिश्चय स्थिति में जीने वाला, षट्कञ्चुकों की मान्यता और प्रभावशालिता के प्रति

ननु एवमयं कस्मात् न सिद्धयेदित्याशङ्कय आह

शिवो रविः शिवो वह्निः पक्तृत्वात्स पुरोहितः ।
तत्रस्था देवताः सर्वा द्योतयन्त्योऽखिलं जगत् ॥ २५ ॥

रविः प्रमाणं, वह्निः प्रमाता, अत एव पुरोहितो यष्टा इत्यर्थः। पक्तृत्वादिति सर्वस्य स्वात्मसात्काररूपात्वात् द्योतयन्त्यः स्थिता इति शेषः। एवं हि शिव एव सर्वमिति किमाशङ्कास्पदमित्याशयः ॥ २५ ॥

शङ्कालु और शास्त्रों के आदेशों एवं निर्देशों के प्रति सन्दिग्ध वृत्ति वाला साधक कभी और किसी अवस्था में सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। अवस्था-शैथिल्य उत्कर्ष की प्रकल्पना को ही कीलित कर देता है ॥ २४ ॥

व्यतिरेक दृष्टि की सदोषता का अनुसन्धान कर रहे हैं—

वास्तविकता यह है कि, शिव ही सर्वरूप में उल्लसित हैं। शिव उपास्य हैं। उपास्य में शङ्का के लिये अवकाश नहीं होता। त्रिकशास्त्र की यह मान्यता है कि, विश्व, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति की चतुष्कता में परिचालित है। सूर्य को प्रमाण माना जाता है। अग्नि ही प्रमाता है। ये सूर्य और सर्वाभासक अग्नि दोनों शिव ही हैं। शिव ही सूर्य रूप से प्रकाशमान हैं। शिव ही अग्नि रूप से प्रकाश को परिभाषित कर रहा है। पक्तृत्व अर्थात् रवि और अग्नि में भी उद्दीप्ति भरने वाला शिव ही पुरोहित है अर्थात् प्रकाशरूप यज्ञ का याजक भी शिव ही है। यह सर्वस्व को स्वात्म में शाश्वत रूप से समाहित कर रहा है। शिवत्व के परिवेश में सर्व का समर्पण एक अभिराम महोत्सव है। इस प्रकार खेचरी सिद्ध शरीर में सारी दिव्य शक्ति रूपी देवताः समस्त विश्व को आलोकित करती हैं अथवा शिव के इस विराट्-परिवेश में वर्तमान देवी शक्तियाँ ही शिवत्वाधिष्ठान के कारण विश्व को विद्योतित कर रही हैं ॥ २५ ॥

एवं त्रिशूलिन्याः स्वरूपमभिधाय करङ्किण्या अपि आह

कनिष्ठया विदार्यास्यं तर्जनीभ्यां भ्रुवौ तथा ।
अनामे मध्यमे वक्त्रे जिह्वया तालुकं स्पृशेत् ॥ २६ ॥
एषा करङ्किणी देवो ज्वालिनीं शृणु सांप्रतम् ।
हनुर्ललाटगौ हस्तौ प्रसार्याङ्गुलितः स्फुटौ ॥ २७ ॥
चालयेद्वायुवेगेन कृत्वान्तर्भ्रुकुटीं बुधः ।
विदार्यास्यं सजिह्वं च हाहाकारं तु कारयेत् ॥ २८ ॥
एषा ज्वालिन्यग्निचक्रे तथा चाष्टोत्तरं शतम् ।
जपेद्यदि ततः सिद्धयेत्त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २९ ॥

कनिष्ठयेति उभयकरसम्बन्धिन्या । वक्त्रे इति अर्थात् कृत्वा । प्राकरणिकश्च अत्र खेचरीमुद्राबन्धानुवेधोऽनुसन्धातव्य एवेति गुरवः हनुरिति ऐशः पाठः तेन हनुतः प्रभृति ललाटान्तं स्थितौ कार्यावित्यर्थः । प्रसार्याङ्गुलित इति प्रसृताङ्गुलीकावित्यर्थः । अन्तरिति हस्तयोः । अग्निचक्रे इति ऊर्ध्वमुखे त्र्यश्रे अन्तरात्मानं भावयित्वा ॥ २९ ॥

यहाँ त्रिशूलिनी का चित्रण करने के उपरान्त करङ्किणी खेचरी की चर्चा कर रहे हैं—

दोनों हाथों की कनिष्ठिकाओं को मुख के भीतर डाल कर दोनों ओर खींचना इसकी पहली विधि है। दोनों तर्जनी उँगलियों द्वारा दोनों भौहों के ऊपर अपनी ओर खिचाव देना दूसरी अवस्थिति है। पुनः अनामा और मध्यमा अंगुलियों को मुख में डाले रहे और जीभ से तालु का स्पर्श करते हुए श्वास साधन करे। यह करङ्किणी मुद्रा का चित्र है ॥ २६ ॥

ज्वालिनी मुद्रा भी इसी की एक भेद है। हनु से लेकर ललाट पर्यन्त हाथ की फैली हुई अङ्गुलियों से मुख पर एक सामान्य दवाव देना चाहिये। ज्वालिनी की यह पहली क्रिया है। दूसरी क्रिया जिह्वा निकाले हुए मुँह

सिद्धिमेव दर्शयति

परदेहेषु चात्मानं परं चात्मशरीरतः ।
पश्येच्चरन्तं हानादाद्गमागमपदस्थितम् ॥ ३० ॥
नवच्छिद्रगतं चैकं तदन्तं व्यापकं ध्रुवम् ।
अनया हि खचारी श्रीयोगसञ्चार उच्यते ॥ ३१ ॥

हानादेति हाकारस्य नादेन उच्चारेणेत्यर्थः । गमागमेति स्वदेहात् परदेहे, परदेहाद्वा स्वदेहे । खचारीत्यनेनापि खेचरीमुद्राबन्धानुवेधो दर्शितः ॥ ३१ ॥

को फैलाना चाहिये । गले से हा हा कार का उच्चारण होता हो । सुबुद्ध साधक आज्ञाचक्र के त्रिकोण में अपनी अन्तरात्मा का अनुसन्धान करता रहे । साथ ही वायुवेग से हनुसहित मुंह को चालित करना चाहिये । इस स्थिति में ही ज्वालिनी मन्त्र का भी एक माला जप उसी दशा में सम्पन्न करता रहे । यह ज्वालिनी मुद्रा थोड़ी कठिन है और कठिनाई से सिद्ध होती है । इसके सिद्ध हो जाने पर सचराचर त्रैलोक्यसिद्ध हो जाता है ॥ २७-२९ ॥

सिद्धि के प्रकार का दिगदर्शन और उसके महत्त्व का प्रकाशन कर रहे हैं—

दूसरे के शरीरों में स्वात्म का अनुप्रवेश और दूसरे को स्वात्म शरीर द्वारा स्वात्म में ही आचरण समन्वित करने की शक्ति इससे आ जाती है । इसमें 'हा' सदृश नाद का अप्रतिम महत्त्व है । यहाँ एक बात गुप्त रखी गयी है । हा नाद के साथ 'स्वा' का आन्तर उच्चार भी चाहिये । इससे आत्मानुप्रवेश के समय, पर के प्राणामृतप्रवाह का अपनी ओर आनयन तथा दूसरे शरीर में स्वात्म का प्रलयन दोनों सम्भव हो जाते हैं ।

योगसञ्चर शास्त्र में इसका महत्त्व प्रतिपादित है । मनुष्य का शरीर ऐसे ढङ्ग से निर्मित है, जिसमें नौ छिद्र हैं । इन सबकी पृथक्-पृथक् उपयोगिता निर्धारित है । इन सबमें खेचरी साधक की समान शक्तिमत्ता काम करती

इदानीं श्रीवीरावल्युक्तमपि अस्या विधिमाह

कुलकुण्डलिकां बध्वा अणोरन्तरवेदिनीम् ।

वामो योऽयं जगत्यस्मिंस्तस्य संहरणोद्यताम् ॥ ३२ ॥

स्वस्थाने निर्वृतिं लब्ध्वा ज्ञानामृतरसात्मकम् ।

व्रजेत्कन्दपदं मध्ये रावं कृत्वा ह्यरावकम् ॥ ३३ ॥

इह अणोरन्तरवेदिनीमन्तश्चरन्तीं तन्मयतामाप्तां कुलकुण्डलिकां मध्यप्राणशक्तिमाक्रम्य अज्ञानसंहर्त्री स्वस्थाने शाक्ताधारे तदैक्यापत्तिरूपां निर्वृतिं प्राप्य

है। इनमें ध्रुव भाव से सतत नदनशील एक व्यापक तत्त्व का दर्शन किसी सामान्य व्यक्ति को नहीं हो सकता। वही साधक महत्त्वपूर्ण है, जो इनमें एकतात्त्विकता के सौहित्य का अनुसन्धान करने में समर्थ हो जाता है। इस साधना में नैपुण्य प्राप्त अधिकारी ही वस्तुतः खचारी कहलाने का भी अधिकारी होता है ॥ ३०-३१ ॥

श्रीवीरावली शास्त्र में इसकी विधि का निर्देश प्राप्त है। उसे भी यहाँ प्रदर्शित कर रहे हैं—

कुल कुण्डलिनी को नियन्त्रित कर साधक स्वस्थान अर्थात् शाक्ताधार में ऐक्यात्म्य की सिद्धि करने में समर्थ हो जाता है। यहाँ कुल कुण्डलिनी शब्द के कई विशेषण दिये गये हैं, जो उसकी विशेशता का ख्यापन करते हैं। १. वह अणु पुरुष की अन्तर्वेदिनी है। अन्तर्वेदन अन्तः संचार से ही सिद्ध होता है। इस तरह वह अणु की आन्तरिकता की साक्षिणी सिद्ध होती है।

२—वह जागतिक वामता के संहरण में उद्यत रहती है। अर्थात् मध्य प्राणशक्ति पर आरूढ रह कर वाम रूप अज्ञान का संहार करती है।

३—स्वस्थान को मलाधार मानते हैं। आगम कहता है कि,

यावज्जीवं चतुष्कोणं पिण्डाधारं च कामिकम् ।
तत्र तां बोधयित्वा तु गतिं बुद्ध्वा क्रमागताम् ॥ ३४ ॥
चक्रोभयनिबद्धां तु शाखाप्रान्तावलम्बिनीम् ।
मूलस्थानाद्यथा देवि तमोग्रन्थिं विदारयेत् ॥ ३५ ॥

'मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ।'

इत्युक्त्या तस्य बोधनादप्रवर्तकत्वात् मध्यविषाधारादावरावक प्रशान्तरूपं रावं नादं कृत्वा

'..... ... . कन्दे षड्रसलम्पटाः ।' इति ।

इतिभङ्ग्या ज्ञानामृतरसात्मकं कन्दपदं कामिकं सर्वकामाभिधं जीवं सञ्जीवन्यमृताभिधं चतुष्पथवर्तित्वात् चतुष्कोणं चिन्तामण्यभिधानं च यावत्

मूल में शाक्त उल्लास होता है। उल्लास के क्रम में बोधरूप नाद का प्रवर्त्तन होता है। इसकी शक्ति यों तो स्वयं शिव में ही होती है किन्तु सिद्ध साधक भी बोधनाद का प्रवर्त्तक बन जाता है। साक्षी तो वह है ही। उसी शाक्ताधार में ऐकात्म्य वृत्ति से निर्वृति की प्राप्ति साधक कर लेता है। निर्वृति परमसंतृप्ति का पर्याय है। कुण्डलिनी साधना में मूलाधार से द्वादशान्त पर्यन्त तादात्म्य का परमानन्द साधक अश्विनी मुद्रा के एक स्पन्द में ही प्राप्त कर लेता है। जो शाश्वत ऐक्य से सम्पन्न है, उसके उस चरम परम सुख का कहना ही क्या ? आगम की एक उक्ति है—

'कन्द में षड्रसलम्पट योगी (अमृत पान करता है)'।

इस उक्ति के अनुसार वह ज्ञान विज्ञान की शैवानुभूतियों का रसामृत पान करता है। इसी क्रम में कन्दपदवी का भी आश्रयण कर आनन्दित होता है।

४—यह ध्यान देने की बात है कि, नाद तो अव्यक्त शब्दमय होता है किन्तु बोधनाद में शब्दता का नितान्त अभाव रहता है। यही स्थिति

वज्राख्यां ज्ञानजेनैव तथा शाखोभयान्ततः ।
कोणमध्यविनिष्क्रान्तं लिङ्गमूलं विभेदयेत् ।। ३६ ।।

पैण्डं शरीरमाधारं व्रजेत् । तत्र आधारेषु च क्रमागतां तां कुलकुण्डलिकां बोधयित्वा मूलस्थानादारभ्य प्राणापानात्मचकद्वयाभ्भितां द्वादशान्तं यावत् गच्छन्तीं ज्ञात्वा यथा अयं योगी ज्ञानजेनैव माहात्म्येन अज्ञानग्रन्थिं दुर्भेद्यत्वात् वज्राख्यां मध्यनाडीं च विदारयेत्, तथा प्राणापानात्मशाखाद्वयस्य अन्तमवलम्ब्य जन्माधाररूपत्रिकोणमध्यादपि विनिष्क्रान्तमत एव मेढ्राधावर्तित्वात् लिङ्गमूलं तदाख्यमकुलाधारमपि विभेदयेत् ।। ३२-३६ ।।

अरावक राव को होती है। मध्यप्राण कुण्डलिनो में यह अरावक राव बोधनाद रूप ही माना जा सकता है। अथवा प्रशान्त स्पन्द की संज्ञा उसे दी जा सकती है।

५—यह कन्द पद 'कामिक' होता है। यह 'जीव' को संजीवनी शक्ति प्रदान करता है। कन्द पद से चतुष्कोणात्मक चिन्तामणि मन्दिर की यात्रा का सामर्थ्य कुलकुण्डलिनी ही देती है।

६—इसीलिये साधक उस चिन्तामणि नामक पिण्डाधार को साधना-यात्रा में सदा संलग्न रहता है।

७—पिण्डाधार शरीर के विभिन्न चक्र भी माने जाते हैं। इनमें 'क्रमागता' कुलकुण्डलिनी ही है। उसका उद्बुद्ध करना और उसकी गति का आकलन करना साधक की अनुभूति और साधना का विषय है।

८—कुलकुण्डलिनी चक्रोभय निबद्ध होती है। मूलाधार से लेकर द्वादशान्त में निबद्ध होना या प्राण और अपानवाह के आवागमन में निबद्ध होना उसकी विवशता होती है। यह प्राणापान रूप दो शाखाओं के अन्त का अवलम्बन करती है।

इस प्रकार की सारी स्थितियों का ज्ञाता योगी होता है। अपने इसी ज्ञानज विज्ञान के बल पर पिण्डस्थ तमोग्रन्थिका और वज्रा नामक

तत्र सङ्घट्टितं चक्रयुग्ममैक्येन भासते ।
वैपरीत्यात्तु निक्षिप्य द्विधाभावं व्रजत्यतः ॥ ३७ ॥
ऊर्वाद्यङ्गुष्ठकालाग्निपर्यन्ते सा विनिक्षिपेत् ।
गमागमनसञ्चारे चरेत्सा लिङ्गलिङ्गिनी ॥ ३८ ॥

तत्र हि प्राणापानरूपं चक्रयुग्मं स्वस्वरूप-त्रोटनेन सङ्घट्टितं तदैक्येन भासते मध्यप्राणशक्तेरेव ततः समुदय इत्यर्थः । अता लिङ्गमूलाख्यादकुल-पदात्पुनः सा वैपरीत्यादधोगत्या निक्षेपं विधाय द्विधाभावं व्रजति यदिय-मूर्वाद्यङ्गुष्ठपर्यन्तत्वनिमित्तमात्मानं विनिक्षिपेत् तद्रूपतां गृह्णीयादित्यर्थः । सा

मध्यनाडी का भी वह विदारण करे, शास्त्रकार का यह मुख्य निर्देश है । दूसरा निर्देश इससे भो महत्त्वपूर्ण और शरीर विज्ञान से सम्बद्ध है । जन्माधार को त्रिकोण भी कहते हैं । उसी त्रिकोण के मध्य से शाक्त उल्लास स्पन्दित होता है । वहाँ से ऊपर उठकर स्वाधिष्ठानात्मक लिङ्ग मूलावस्थित अकुलाधार का भी भेदन करे, यही लिङ्गमूल का विभेद कहलाता है । वीरावलि नामक इस ग्रन्थ के अनुसार खेचरी साधक की कुण्डलिनी सिद्ध होनी चाहिये, यह सिद्ध हो जाता है ॥ ३२-३६ ॥

जन्माधार और द्वादशान्त के मध्य का महत्त्व पूर्ण सन्धान-महोत्सव पिण्ड शरीर में शाश्वत चलता है । साधक अभ्यास के बल पर इसे परखता है और इसका साक्षात्कार कर लेता है । श्वास और प्रश्वास अर्थात् प्राणापानवाह का यह चक्र-युग्म साधक के प्रयत्न से सङ्घट्टित हो जाता है और श्वास जिस अवस्था में ऐक्य भाव से भासित होने लगता है, उसी दशा में अन्वर्थ 'प्राणवान्' शब्द चरितार्थ हो जाता है ।

यह एकीभूत प्राण शक्ति ऊर्ध्वाधर विद्युत् तत्त्व का निक्षेप करती है । प्राणजित् साधक द्वादशान्त क्षेत्र में परमशिव के अखण्ड सद्भाव को भव्यता में रमा रहता है । वहीं मध्यबिन्दु से अधर दशा में गतिशील होकर कटि प्रदेश, ऊरु, जानु, गुल्फ, प्रपद, पादमूल और अङ्गुलि श्रेष्ठ अङ्गुष्ठ

तत्र तत्पदसंयोगादुन्मीलनविधायिनी ।
यो जानाति स सिद्धयेत्तु रसादानविसर्गयोः ॥ ३९ ॥

कुलकुण्डलिका हि ऊर्ध्वाधः सञ्चारमनादृत्य प्राणापानलक्षणाभ्यां लिङ्गाभ्यां लिङ्गिनी तत्क्रोडीकारेण ज्ञप्ति प्राप्ता सती चरेत् तत्तदाधारादिभेदेना मध्यधाम आक्रामेत् । सा हि तत्र मध्यधाम्नि प्राणापानपदद्वयसंयोगात्संविद्विकासमादध्यात् । यश्च एवंविधमिदं सर्वभावानुस्यूतमूर्मिण्युन्मीलनं परसंविद्विकासाधायि परं स्थानं जानाति, स संविद्रसादानविसर्गयोः सिद्धयेत् सृष्टिसंहारकारित्वेऽस्य सामर्थ्यमुत्पद्यते इत्यर्थः ॥ ३७-३९ ॥

के अग्रभाग तक उल्लसित होती है। यह अकारण गति निक्षेप ही जीवन का मन्त्र है। गतिशीलता के इस द्विधाभाव का दर्शन और प्रतिक्षण अनुभव स्वभावतः होता रहता है। कुल कुण्डलिनी शक्ति का अधः प्रवाह नहीं होता। वह प्राणापान लिङ्ग से समन्वित होकर लिङ्गलिङ्गनी संज्ञा से विभूषित हो जातो है। उस समय प्राणापान उसके आक्रोश में।शिशु की तरह विश्राम करते हैं।

वह स्थान जहाँ यह अलौकिक आलोक-लोला अपने लालित्य के साथ प्रतिफलित और उल्लसित होती है, उसे शास्त्र को भाषा से मध्यधाम कहते हैं। संवित्ति का सूरज वहीं विकसित होता है। इस विकास के मूल में प्राण और अपान नामक दो तत्त्वों का ऐक्य हो है। इस गमागम संचार में विहार करने वालो, उनके उभयैक्य में उल्लसित और आमूलाङ्गुष्ठात् आद्वादशान्त सञ्चरण शील कुल कुण्डलिनो शक्ति का जो साक्षात्कार कर लेता है, वह आदान रूप सर्जन प्रक्रिया और विसर्ग रूप संहार प्रक्रिया का तो साक्षी होता हो है, स्वयं सृजन संहार की सिद्धि से समन्वित हो जाता है। वह उल्लास के शैव महाभावात्मक आनन्द का रसास्वाद स्वयं तो करता हो है, उल्लास की संरचना में भी सक्षम हो जाता है ॥ ३७-३९ ॥

ससङ्गमिदं स्थानमूर्मिण्युन्मीलनं परम् ।
एष क्रमस्ततोऽन्योऽपि व्युत्क्रमः खेचरी परा ॥ ४० ॥
योन्याधारेति विख्याता शूलमूलेति शब्द्यते ।
वर्णास्तत्र लयं यान्ति ह्यवर्णे वर्णरूपिणि ॥ ४१ ॥

अस्याश्च एष यथोक्तस्तत्तदाधारादिसञ्चारात्मा क्रमः स्वारसिक एव वाह इत्यर्थः । ततोऽन्यो व्युत्क्रमोऽपि अस्याः सम्भवति यदियं परा खेचरी योन्याधारेति विख्याता । तत उदिता सती शूलमूलेति शब्द्यते झटित्येव शक्ति-व्यापिनीसमनात्मकारात्रययोगित्वात् द्वादशान्तपदं प्राप्तेत्यर्थः । यतस्तत्र सर्वोच्छेदरूपे क्रोडीकृतबाह्यामर्शेऽपि स्वामर्शमात्रात्मनि अवर्णे वर्णा बाह्यामर्शा लयं यान्ति तद्विश्रान्ता एव भवन्तीत्यर्थः ॥ ४०-४१ ॥

मध्यधाम का वैशिष्ट्य आदानविसर्ग के साक्षात्कार से स्पष्ट तथा ज्ञात हो जाता है । उसे शास्त्रकार ससङ्गम स्थान के रूप में निरूपित कर रहे हैं । ऊमि रूप परसंवित् के शान्त परिवेश में यह उन्मीलन अर्थात् उल्लास का प्रतीक माना जाता है । इस स्थान से ऊर्ध्व संचरण को चर्चा की गयी है । यही उसका क्रम है । इसका भी व्युत्क्रमण योगी करता है । वही परा खेचरी अवस्था मानी जाता है । उसे योनि का आधार कहते हैं । योनि विश्व की उत्पत्ति का कारण होती है और उसकी भी आधार यह व्युत्क्रान्ता खेचरी मुद्रा है । वहाँ इसे शूलमूला कहते हैं । वहाँ वर्ण विलीन हो जाते हैं । वर्ण मात्र समना तक ही रहते हैं । समना के बाद उस परा संविद् का अवर्णा कहते हैं । वहाँ पहुँच कर वर्णरूपिणी यही शक्ति अवर्णा हो जाती है । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, वर्णात्मकता की समाप्ति पर, संवित् परविमर्शमयी हो जाती है । शूलमूलावस्था में शक्ति, व्यापिनी और समना की तीनों अरायें उन्मना के मूल तक पहुँचती हैं । समना को पार करना ही व्युत्क्रम कहलाता है । वही द्वादशान्त अवस्था मानी जाती

ननु भवतु एवं, योगी पुनरस्याः कथं प्रबोधमादद्यादित्याशङ्क्य आह

नादिफान्तं समुच्चार्य कौलेशं देहसंनिभम् ।
आक्रम्य प्रथमं चक्रं खे यन्त्रे पादपीडितम् ॥ ४२ ॥

चित् शुद्धात्मा कौलेशं रहस्यज्ञानप्रधानभूतमत एव गर्भीकृतमध्यशक्ति नादिफान्तरूपं सर्वमन्त्रारणिस्वभावं नादं स्वदेहाभेदेन समुच्चार्य तमेव च एवं सगर्भमुच्चार्यमाणं नादमधिकृत्य खे जन्माकाशरूपे मर्मणि कौलिन्याः कुलकुण्डलिन्याः पदं

है। वहाँ सर्वोच्छेद हो जाता है। बाह्य आमर्श अब उसके अन्तर्गर्भ में विलीन रहते हैं। अब केवल स्वात्म का अहमात्मक आमर्श होता रहता है। यह अवर्णात्मक माना जाता है। अवर्ण में वर्णरूपता की बात कहकर शास्त्रकार उस लोकोत्तर स्पन्द दशा को ओर अध्येता का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। इस लोकोत्तरता का साक्षात्कार आगमिक उपलब्धियों की सर्वातिशायिनी अवस्था का चमत्कार ही माना जाता है॥ ४०-४१ ॥

कर्त्ता एकमात्र चित्तत्व है। वह रुद्रशक्ति को प्रबुद्ध करता है। यह तान्त्रिक योग प्रक्रिया है, हठयोग नहीं। इसोलिये विधिलिङ् का प्रयोग कर प्रबोध की विधि की ओर संकेत किया गया है। इस विधि के कई खण्ड हैं। एक-एक क्रिया पूरी करनो है। उसके बाद दूसरी क्रिया विधि में उतरना है। इसी को प्रदर्शित करने के लिये पूर्वकालिक क्रियाओं का प्रयोग किया गया है। इस पर क्रमशः विचार करना चाहिये—

१—शुद्धात्मा चित् सर्वप्रथम नादिफान्त रूप कौलेश का देहसन्निभ समुच्चारण करे। 'न' से लेकर 'फ' पर्यन्त मालिनी विद्या का उच्चारण कैसे हो ? मालिनी नादमयी या शब्दरूपिणो मानी जाती है। यह सारे मन्त्रों की 'अरणि' मानी जाती है। इसके उच्चारण में नादविधि का प्रयोग करना होता है। नाद में मध्य शक्ति का विकास निहित रहता है। इस नाद को

नादं वै शक्तिसद्गर्भं सद्गर्भात्कौलिनीपदम् ।
बीजपञ्चकचारेण शूलभेदक्रमेण तु ॥ ४३ ॥

'जन्माख्ये नाडिचक्रं तु ………………।'

इत्युक्तं नाड्यात्म प्रथमं चक्रं पादेन अंशेन पीडितं विधाय तत्र कथञ्चित् प्राणशक्तिं निरुध्य अवशिष्टानि पञ्चापि चक्राणि आक्रम्य ब्रह्मादिकारण-

---

उच्चारित करते समय देह ही नादमय हो जाता है। देह का समग्र अस्तित्व, इसके अणु-अणु कण-कण, अङ्ग प्रत्यङ्ग सभी नाद का नदन कर रहे होते हैं। यह देहाभेदमय नादानुसन्धान होता है। शुद्धात्मा चित् इसका साक्षी रहता है। इस पर उसका पूरा अधिकार होता है।

२—इतनी प्रक्रिया पूरी कर लेने पर जन्माकाश रूपी ख पर आक्रमण करना पड़ता है। यह आक्रमण युद्ध का आक्रमण नहीं होता। यह शनैः-शनैः उस देश पर अधिकार करने जैसा आक्रम मात्र होता है। साधक 'ख' यन्त्र को पाद से पीड़ित करे। यहाँ पाद शब्द का श्लिष्ट अर्थ है। सिद्धासन द्वारा पादपीडित करना अर्थात् कन्द पर दबाव देना और पाद अर्थात् अंशतः दबाव देना भी अर्थ सम्भव है। इस तरह वहाँ से उच्चरित नाद पर भी दबाव पड़ता है।

इस अवस्था में ऊर्ध्वगति होने की आज्ञा गुरुदेव द्वारा दी जाती है। यह गति क्रमिक रूप से अपनायी जाती है। इसमें चक्रभेदन की क्रिया करनी पड़ती है। सर्वप्रथम शक्तिसद्गर्भ नाद का भेदन, पुनः प्राण शक्ति को थोड़ा निरुद्धकर उससे ऊपर उठ कौलिकी रूपिणी कुलकुण्डलिनी को आक्रान्त करते हैं। इसके बाद पाँच बीजों के केन्द्र स्वरूप मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध इन पाँचों चक्रों का क्रमिक उल्लङ्घन करते हैं। इस क्रम में हृत्-शूल और द्वादश ग्रन्थियों का भेदन भी सम्मिलित रहता है। हृदय मुख्य रूप से नाडित्रय का अवस्थान माना जाता है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना ही वे तीन नाड़ियाँ हैं।

पञ्चकोल्लङ्घनक्रमेण हृत्स्थस्य नाडित्रयात्मनः शूलस्य ग्रन्थिद्वादशकस्य ब्रह्मरन्ध्रोपरिवर्तिनः शक्त्याद्यात्मनः शूलस्य च भेदनक्रमेण रुद्रशक्तिं प्रबोधयेत् ॥ ४२-४३ ॥

हृच्छूलग्रन्थिभेदैश्चिद्रुद्रशक्तिं　　प्रबोधयेत् ।
वायुचक्रान्तनिलयं बिन्द्वाख्यं नाभिमण्डलम् ॥ ४४ ॥
आगच्छेल्लम्बिकास्थानं　सूत्रद्वादशनिर्गतम् ।
चन्द्रचक्रविलोमेन　　　प्रविशेद्भूतपञ्जरे ॥ ४५ ॥

येन अयं जन्मपदादारभ्य पवनाधारात्मनो वायुचक्रस्य अन्ते संनिकर्षे वर्तमानं नाभिमण्डलं तत्सङ्घट्टाधारं लम्बिकास्थान तदूर्ध्वस्थितं सुधाधारं बिन्द्वाख्यं भ्रूमध्यवर्तिनं विद्याकमलसंज्ञितमाधारं नाडीनां तात्स्थ्यात्

इसके उपरान्त द्वादश ग्रन्थियों का भेदन किया जाता है। ये १२ ग्रन्थियाँ अ, उ, म्, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना हैं। यह साधना यात्रा आज्ञा से समना पर्यन्त की यात्रा है। इस प्रक्रिया में सिद्ध होने पर रुद्र शक्ति के प्रबोध की क्षमता साधक में पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है ॥ ४२-४३ ॥

साधना यात्रा यहीं पूरी नहीं होती। उसे वायुचक्र, नाभिचक्र, बिन्दुमण्डल, लम्बिका की विलोम यात्रा भी करनी पड़ती है। जन्माधार से लेकर पवन के आधार रूप प्राणाश्रित चक्रों की यात्रा पूरी करने पर उसे परमविश्रान्ति का अनुभव होता है। इस तरह साधक धन्य हो जाता है।

नाभिकेन्द्र, उसके संघट्ट के आधार के रूप में प्रथमतः सिद्ध अन्य चक्र, सबको नियन्त्रित कर साधक आगे बढ़ता है। वहाँ से लम्बिका की दूरी तै करने में साधक को कितने अनुसन्धान करने पड़ते हैं। उसके ऊपर सुधा के आधार रूप में बिन्दु का परिवेश प्राप्त होता है। भ्रूमध्य

भूयस्तु कुरुते लीलां मायापञ्जरवर्तिनीम् ।
पुनः सृष्टिः संहृतिश्च खेचर्या क्रियते बुधैः ॥ ४६ ॥
श्रीमद्वीरावलीयोग एव स्यात्खेचरीविधिः ।

ग्रन्थीनां द्वादशकात् निर्गतं सर्वसंबन्धोत्तीर्णं द्वादशान्तपदं च यावत् आ समन्तादृजुना क्रमेण गच्छेत् तत्र विश्रान्ति कुर्यादित्यर्थः । भूयस्तु तत्र चन्द्र-चक्रादपानस्थात् प्रत्यावृत्यात्मना विलोमक्रमेण स्वशरीरमेव प्रविशेत्, येन अयं व्युत्थानदशोचितं व्यवहरेत् । अतश्च खेचरीमुद्रावेशभाजां ज्ञानिनामन्त-

---

के अन्तराल में आग्नेय प्रकाश में विकसमान और विद्योतित विद्यापद्म के मकरन्द रसास्वाद का अवसर आता है । द्वादशग्रन्थियों को पार करता हुआ द्वादशान्त का चिरअभोसित सन्निधान मिलता है । यह सब गुरुकृपा और पारमेश्वर शक्तिपात से अनायास सिद्ध हो गया है । यह साधना का सर्वोच्च शिखर है, जिस पर वह सोपान क्रमारोह पूर्वक आरूढ हो गया है । प्राण के संप्रीणन से यह पराकाष्ठा प्राप्त होती है ।

यह सदा अनुसन्धातव्य तथ्य है कि, प्राण का सूर्य अपान सोम के रथ पर सवार हो कर ही ऊर्ध्व की ओर अग्रसर होता है । मध्य द्वादशान्त के चितिकेन्द्र में तो सूर्य और सोम साथ रहते हैं । ऊर्ध्वद्वादशान्त में केवल सूर्य प्राण का ही प्रकाश काम करता है । अपानचक्र में चन्द्र का प्रभाव शरीर को सोमसुधा की संजीवनी से ओतप्रोत करता है निःश्वास में चन्द्रचक्र विलोम गतिशीलता के लिये प्राण को प्रेरित करता है । यह पौर्णमास केन्द्र की यात्रा का प्रारम्भ माना जाता है । इसी क्रम में प्राणापानवाह भौतिक पिण्ड में पुनः अपना रस भरता है । श्वास शरीर में पेट और नाभि तक पहुँचता है । इसे शाक्त उल्लास भी कहते हैं । प्रतिपदा से चलकर पूर्णिमा तक की चाँदनी का अमृत उल्लासित होता है । यही चन्द्रचक्र है । इसमें विलोम गति होती है ।

बंहिरुन्मेषनिमेषाभ्यामाजवञ्जवीभावेन सृष्टिसंहारकारित्वं स्यादिति संक्षेपार्थः योगे इति तद्वचनावसरे इति यावत् ॥ ४४-४६ ॥

श्रीकामिकोक्तमपि अस्या रूपमाह

चुम्बाकारेण वक्त्रेण यत्तत्त्वं श्रूयते परम् ॥ ४७ ॥
ग्रसमानमिदं विश्वं चन्द्रार्कपुटसंपुटे ।
तेनैव स्यात्खगामीति श्रीमत्कामिक उच्यते ॥ ४८ ॥

चुम्बाकारेण काकचञ्चुपुटाकृत्यनच्ककलात्मना मध्यप्राणशक्त्यवलम्बि-नापि स्वरूपेण वक्त्रेण यदिदं प्रमाणप्रमेयात्मकं विश्वं स्वात्मसात्कुर्वाण-

---

इसी क्रम में लालसामयी भूतपञ्जर लीला का लास्य शाश्वत रूप से चलता है। प्राणापानवाह का पीयूष इसे प्रेयान् रूप प्रदान करता है। श्वास निःश्वास से जीवन जीवन्त होता है। श्वास की सृष्टि का और निःश्वास की संहृति का साक्षात्कार इसी खेचरी सिद्धि से संभव हो पाता है। उन्मेष निमेषमय यही आजवञ्जवी भाव है। यही जीवन का रस है। श्रीवीरावली समुदीरित खेचरी की विधि का यही विधान है ॥ ४४-४६ ॥

श्रीकामिक शास्त्र में भी खेचरी के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा की गयी है। वही कह रहे हैं—

श्रीकामिक शास्त्र प्राणापानवाह को वक्त्रविधि से ग्रस्त बनाने की बात करता है। 'चुम्बाकार' एक पारिभाषिक शब्द है। आचार्य जयरथ ने उसे बहुत अच्छी तरह परिभाषित किया है। मुख द्वारा

१. सर्वप्रथम काक चञ्चु पट के समान ओठों को गोल बनाकर एक पतला छिद्र बनाने की मुद्रा बनायी जाये।

२. उसी छिद्र से मध्यप्राणशक्त्यवलम्बी प्राणक्रिया की जाये।

३. इस प्राणप्रक्रिया को चन्द्रार्कपुट कह सकते हैं। इस चन्द्रार्कपुट संपुट में प्रमाण प्रमेयात्म विश्व को ग्रसमान करने के अभ्यास द्वारा ग्रास

मत एव परं प्रमात्रेकरूपं तत्त्वं चन्द्रार्कपुटस्य प्राणापानयुग्मस्य संपुटे मध्यधाम्नि श्रूयते साक्षात्क्रियते, तत एव अस्य खचारित्वं स्यादिति वाक्यार्थः ॥ ४८ ॥

इदानीं श्रीकुलगह्वरोक्तं सविशेषमस्या रूपं वक्तुमाह

भवान्मुक्त्वा द्रावयन्ति पाशान्मुद्रा हि शक्तयः ।
मुख्यासां खेचरी सा च त्रिधोच्चारेण वाचिकी ॥ ४९ ॥
त्रिशिरोमुद्गरो देवि कायिकी परिपठ्यते ।

अतो हि पारमेश्वर्यः शक्त्य एव मुद्रा उक्ता यदासां पशूनां संसारात् मोचयित्वा पाशान् द्रावयन्तीति निर्वचनम् । यदुक्तं

करने की क्षमता प्राप्त कर ली जाये । यह ग्रास करना ही विश्व को स्वात्मसात् करना माना जाता है । यह भी ध्यान देना चाहिये कि, अर्क (सूर्य) प्रमाण और चन्द्र प्रमेय माने जाते हैं । इस एकान्तश्वास प्रक्रिया में संलग्न साधक खेचरी सिद्ध हो जाता है । जहाँ तक परतत्त्व की श्रवण प्रक्रिया का प्रश्न है, यह तो प्रमाण प्रमेयात्मक विश्व की ग्रसमानता का मध्यधाम में ही साक्षात्कार मात्र है । इसका अनुभव उस समय होता रहता है । यही इस खेचरी मुद्रा का वैशिष्ट्य है ॥ ४७-४८ ॥

इसके बाद कुल गह्वर शास्त्र में उक्त खेचरी मुद्रा के स्वरूप पर प्रकाश का प्रक्षेप कर रहे हैं—

वहाँ मुद्रा के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया गया कि, अणु को भव अर्थात् संसार से मुक्त कर पाशराशि को द्रावित करने की प्रक्रिया का नाम ही मुद्रा है । मुक्ति से 'मु' और द्रावयति से द्रा लेकर 'मुद्रा' शब्द की व्युत्पत्ति नैरुक्त प्रक्रिया के अनुसार की गयी है । इसलिये पारमेश्वरी शक्तियाँ ही मुद्रायें हैं, यह सिद्ध हो जाता है । इन शक्तियों में मुख्य शक्ति ही खेचरी मुद्रा कहलाती है । कुलगह्वर शास्त्र की ही उक्ति है कि,

'मोचयन्ति महाघोरात्संसारमकराकरात् ।
द्रावयन्ति पशोः पाशांस्तेन मुद्रा हि शक्तयः ।।' इति ।
उच्चारेणेति मन्त्रादेः । त्रिशिरोमुद्गर इति कायिकीति
'इच्छाज्ञानक्रियापूर्वा···· ···· ···· ···· ···· ।' इति

"ऐसी शक्तियाँ जो महाघोर संसार रूपिणी घड़ियालिनी के जबड़ों में पड़े प्राणियों को उसकी दंष्ट्रा के दबाव से छुड़ा लेती हैं। तथा पशुओं की पाशराशि को द्रावित कर पशुपति स्तर की ओर अग्रसर कर देती हैं, वही मुद्रायें कहलाती हैं।',

इस प्रकार की अलौकिक विशेषताओं से विशिष्ट खेचरी मुद्रा वाचिकी, कायिकी और मानसी भेद से तीन प्रकार की होती है। प्राणा-पानवाह क्रम के अनुसार मन्त्रों का उच्चारण करते हुए जप भी सम्पन्न करने की अवस्था में यह वाचिकी खेचरी मुद्रा कहलाती है।

इसका दूसरा प्रकार 'कायिकी' कहलाता है। यह मुद्रा विशेषण शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पाठ में इसे 'त्रिशिरोमुदगरो' लिखा है। व्याकरण शास्त्र का यह अलौकिक उदाहरण है। इस प्रयोग में 'ओ' की मात्रा नहीं है। यह अनूठा प्रयाग सामरस्य की सौहित्यमयी सत्ता का स्वारस्य यहाँ स्वयम् उल्लासित करता है। आ के साथ ए का यह सुगुप्त पर प्रकट सान्निध्य है। आ आनन्द का और ए त्रिकोण रूपिणी मातृ सत्ता का प्रतीक है। एक साथ रहने पर यह ओके छद्म रूप में नील नभ की तरह परिदृश्यमान है।

यहाँ भगवान् शङ्कर माँ पार्वती को देवि! कहकर सम्बोधित कर रहे हैं। सम्बोधन में ही देवी का विशेषण भी प्रयुक्त है। वह विशेषण है—त्रिशिरोमुद्गरे। इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप तीन शीर्ष माध्यमों से मुद् अर्थात् परानन्द का स्वात्म में ही परामर्श करने वाली ऐसी परासंविद्वपुष्के!

एवमेव हि परा संवित् कायत्वेन उल्लसितेत्याह

नासां नेत्रद्वयं चापि हृत्स्तनद्वयमेव च ॥ ५० ॥
वृषणद्वयलिङ्गं च प्राप्य कायं गता त्वियम् ।

इत्यादिनीत्या शक्तित्रयमयत्वात् त्रिशिरोमुद्गरो मदं परानन्दं गृणाति स्वात्मनि आमृशतीति परसंविदित्यर्थः। हृदिति हृत्पद्मनालरूपम् । एतत्सत्त्वं च तत्र तत्र शास्त्रे निरूपितमिति अतिरहस्यत्वादिह न प्रपञ्चितम् । तत् गुरुमुखादेव बोद्धव्यम् ।

भवस्थानाभवस्थानमुच्चारेणावधारयेत् ॥ ५१ ॥
मानसोयमितस्त्वन्याः पद्माद्या अष्ट मुद्रिकाः ।

यह अर्थ होता है। खेचरी भेद भिन्ना कायिकी मुद्रा भी स्त्रीलिङ्ग के कारण त्रिशिरोमुद्गरा कहलाती है। इसमें टाप् प्रत्यय का आनन्दवादी प्रयोग है। इस पक्ष में भी कायिकी मुद्रा इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप परामर्शों के माध्यम से स्त्री पुरुष को षडर मुद्रा में काया में उल्लसित होती है। उस समय के नासिका, नेत्रद्वय और दोनों स्तन मेलापक मुद्रा में रहते हैं। कायिकी हृदय पद्मनाल के द्वारा काया में प्रवेश करती है। पुरुष के दोनों वृषण और लिङ्ग षडर मुद्रा में समाहित रहते हैं। चर्या का यह रहस्यार्थ है। साधना की दशा में ध्यान द्वारा भी काया में मुद्रा का सन्धान आगमिक करते हैं। यह सब ज्ञानवान् गुरु से जाना जा सकता है।

इस तरह त्रिशिरोमुद्गरा काया का विशेषण बनकर और त्रिशिरो-मुद्गरे ! देवि ! शब्द का सम्बुद्धि रूप विशेषण बनकर एक साथ ही एक शाब्दिक काया में दो शब्द उल्लसित हैं। शास्त्रकार का यह सारस्वत प्रयोग आगमिक वाङ्मय के वैलक्षण्य को व्यक्त करता है ॥ ४९-५० ॥

इसका तीसरा प्रकार 'मानसी' मुद्रा के नाम से जाना जाता है। 'मानसी' संज्ञा का कारण मानस द्वारा विभिन्न ऊर्ध्व अवयवों में शक्ति

मातृव्यूहकुले ताः स्युरस्यास्तु परिवारगा ॥ ५२ ॥
शरीरं तु समस्तं यत्कूटाक्षरसमाकृति ।
एषा मुद्रा महामुद्रा भैरवस्येति गह्वरे ॥ ५३ ॥

भवस्थानं शरीरमभवस्थानमुच्चारेणेति

'पद्मं हृत्पद्ममेवात्र शूलं नाडित्रयं प्रिये ।
नाभि चक्रं विजानीयाच्छक्ति नादान्तरूपिणीम् ॥
बिन्दुदेशोद्भवं दण्डं वज्रं चित्तमभेदकम् ।
दंष्ट्रां जिह्वां महाभागे कपालं व्योममण्डलम् ॥
एषु स्थानेषु सञ्चारान्मानसी परिपठ्यते ।'

का संचार है। इसे शास्त्रकार ने एक वाक्य में ही व्यक्त कर दिया है। वे कहते हैं कि, भव अर्थात् संसार का स्थान यह शरीर है। शरीर ही संसार का स्थान है। इसे अभव स्थान में परिणत करना है। यह मनन करना है कि, यह शाक्त उल्लास पारमेश्वर प्रसूत है। इस रूप में मनन करने से भव-स्थान अभवस्थान में परिणत होता प्रतीत होता है। अस्तित्वगत अवधारणा में एक क्रान्ति आ जाती है। इन तीनों के अतिरिक्त आठ मुद्राओं का विवेचन कुल गह्वर में और मालिनी मत में इस प्रकार किया गया है—

'पद्म' हृदयपद्म को ही संकेतित करता है। 'शूल' शब्द इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना इन नाडियों को अभिव्यक्त करता है। नाभि ही 'चक्र' है। नादान्तरूपिणी 'शक्ति' और बिन्दु से अर्धचन्द्र और रेखिनी को पार कर नाद तक 'दण्ड' मुद्रा होती है। अभेद स्थिति में दृढ़तापूर्वक विद्यमान चित्त ही 'वज्र' है। जिह्वा ही दंष्ट्रा के मध्य में रहती हुई पर्याय का काम कर रही है। कपाल ही व्योममण्डल है। इन स्थानों में मानस प्रयोग द्वारा शक्ति संचार होता है। इन आठों को आत्मसात् करने वाली मुद्रा मानसी मुद्रा ही कही जा सकती है"।

इत्यादिनयेन ऊर्ध्वं चारेण गमनेत्यर्थः । अष्टेति यदुक्तं

खेचर्या परिवारस्तु अष्टौ मुद्राः प्रकीर्तिताः ।
शूलाष्टके च देवेशि मातृव्यूहे च ताः स्मृताः ॥
पद्मं शूलं तथा चक्रं शक्तिर्दण्डं सवज्रकम् ।
दंष्ट्रा कपालमित्येवं तदशेषं व्यवस्थितम् ॥' इति ।

कूटाक्षरं क्षकारः । एतत्सतत्त्वं च प्राक् बहुशः प्रतिपादितम् । अनेन प्रागुद्दिष्टाया भैरवमुद्राया अपि लक्षणमुक्तम् ॥ ५१-५३ ॥

अस्या एव सर्वत्र अविगीतता दर्शयितुं शास्त्रान्तरतोऽपि सप्रभेदं रूपमाह

यह सब भवस्थान में उच्चारण के समान है। यहाँ उच्चारण शब्द का ऊर्ध्वगमन अर्थ है। इस शक्ति संसार में गतिक्रिया का प्राधान्य होता है। हृदय से लेकर व्योम मण्डल पर्यन्त यह ऊर्ध्वगमन ही उच्चारण है। इसी उच्चारण से मानस-मुद्रा का अवधारण होता है।

यह खेचरी का परिवार है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि,

"खेचरी मुद्रा के परिवार में आठ मुद्रायें परिगणित हैं। ये सभी शूलाष्टक रूप मातृव्यूह में रहती हैं। इस अष्टक का नाम इस प्रकार अभिहित किया गया है।

१. पद्म, २. शूल, ३. चक्र, ४. शक्ति, ५. दण्ड, ६. वज्र, ७. द्रंष्ट्रा और ८. कपाल। ऊपर भी इनका विश्लेषण किया जा चुका है।"

यह ध्यान देने की बात है कि, यह शरीर चक्रेश्वर वर्ण 'क्षकार' रूप कूटाक्षर के आकार का ही निर्मित है। जैसे 'क्षकार' में सारे व्यजन वर्ण संहृत हैं, उसी तरह खेचरी मानव शरीररूपी क्षकार में व्याप्त है। गह्वर शास्त्र में तो इन आठों स्थानों में समानरूप से व्याप्त मुद्रा को भैरवी मुद्रा के नाम से भी अभिहित किया गया है। भैरवी मुद्रा का नाम श्लोक ५ में आया हुआ है ॥ ५१-५३ ॥

सूपविष्टः पद्मके तु हस्ताग्राङ्गुलिरश्मिभिः ।
पराङ्मुखैर्झटित्युद्यद्रश्मिभिः पृष्ठसंस्थितैः ॥ ५४ ॥
अन्तःस्थितिः खेचरीयं संकोचाख्या शशाङ्किनो ।
तस्मादेव समुत्तम्भ्य बाहू चैवावकुञ्चितौ ॥ ५५ ॥

इह पद्माद्यासनस्थो योगी यदा पृष्ठसंस्थितत्वादेव पराङ्मुखैरुद्यद्रश्मिभिर्बहिर्निर्गच्छच्छशाङ्करश्मिभिर्हस्ताग्राङ्गुलय एव रश्मयो रज्जवः, तैरुपलक्षितः सन् झटित्येव बाह्योपसंहारादन्तःस्थितिः स्वात्मनि एव विश्रान्तः स्यात्; तदा एवंभावितशशाङ्कत्वात् शशाङ्किनो, बाह्यस्य च सङ्कुचितत्वात् सङ्कोचाख्या इयमेका खेचरी मुद्रा। तथा तं हस्ताङ्गुल्यादिसंनिवेशमाश्रित्य बाहू सम्यगवकुञ्चितौ समुत्तम्भ्य स्वस्तिकाकारतया अवष्टभ्य

'खमनन्तं तु मायाख्यं ··· ··· ····· ··· ।'

खेचरो मुद्रा को सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है। इस अप्रतिम प्रभावमयी शक्ति को सभी शास्त्र प्रशंसा करते हैं। अन्यान्य आगमिक ग्रन्थों में इसके विविध भेद प्रभेदों की चर्चा करते हैं। भगवान् अभिनव इसके अभिनव भेदों की नव्यतम उद्भावनाओं पर प्रकाश डाल रहे हैं—

१. पद्मासन सदृश उत्कृष्ट कोटि के आसनों पर समुपविष्ट साधक पृष्ठभाग में स्थित अपनी अङ्गुलियों के अग्रभाग में अवस्थित वैद्युतिक केन्द्रों से निकलने वाली रश्मियों की आकुञ्चन विधि के साथ अपान शशाङ्क की बाहर गयी सासों को भी अन्तःस्थितः कर कुम्भक मुद्रा में आ जाता है, उस समय पौर्णमास केन्द्र में अवस्थिति हो जाती है। बाह्यविस्तार के विपरीत सङ्कोच की स्थिति होती है। अतः इस मुद्रा को शशाङ्किनी मुद्रा कहते हैं। खेचरी की यह एक विधा है ॥ ५४ ॥

२. हाथ की अङ्गुलियों का वह संन्निवेश उसी तरह रखकर बाहु को इस प्रकार से आकुञ्चित किया जाय कि, स्वस्तिक की आकृति-सी बन जाये।

सम्यग्व्योमसु संस्थानाद्व्योमाख्या खेचरी मता ।
मुष्टिद्वितयसङ्घट्टाद्धृदि सा हृदयाह्वया ॥ ५६ ॥

इत्याद्युक्तेषु पञ्चसु व्योमसु सम्यगुक्तेन क्रमेण स्थानात् गाढावष्टम्भात् व्योमाख्या द्वितीया । तथा अन्तःकृताधोवर्तिदक्षिणमुष्टयङ्गुष्ठोपरिगतोच्छ्रिताङ्गुष्ठवाममुष्टिलक्षणस्य मुष्टिद्वयस्य हृदिसङ्घट्टात् सा खेचरी हृदयाख्या तृतीया ॥ ५४-५६ ॥

शान्ताख्या सा हस्तयुग्ममूर्ध्वाधःस्थितमुद्गतम् ।
समदृष्ट्यावलोक्यं च बहिर्योजितपाणिकम् ॥ ५७ ॥
एषैव शक्तिमुद्रा चेदधोधावितपाणिका ।
दशानामङ्गुलीनां तु मुष्टिबन्धादनन्तरम् ॥ ५८ ॥

तथा हस्तशब्देन बाहूपलक्षणात् बाहुयुग्ममधः स्थितवाममूर्ध्वस्थितदक्षिणमन्तः संमुखापाणिकत्वेऽपि उद्गतमूर्ध्वस्थितहस्तं दृष्टिसाम्येन अवलोक-

---

नीचे वामबाहु और दक्षिण बाहु ऊर्ध्व हो, मुद्रा का स्वरूप बनाने के लिये पाँचों व्योम अंशों पर गाढ अवष्टम्भ करे । इन व्योमांशों पर अवष्टम्भ करने के कारण ही इस मुद्रा को व्योम खेचरी कहते हैं । यह दूसरा भेद है ।

३. इसी तरह तीसरा भेद भी होता है । उसे 'हृदया' नामक खेचरी मुद्रा कहते हैं । इसमें ऊर्ध्व स्थित मुष्टिबद्ध हाथ हृदय का स्पर्श करते हैं ॥ ५५-५६ ॥

४. चौथी खेचरी मुद्रा शक्ति का नाम शान्ता है । इसमें दोनों हाथों को दाहिनी ओर ऊपर या ठीक सामने उठाते हैं । नीचे बायाँ उसके ऊपर दायाँ हाथ रखते हैं । केवल दृष्टि साम्य से उसे निहारते हैं । यह अत्यन्त सरल होने पर भी अनन्तफलप्रदा मानी जाती है ।

५. शक्ति मुद्रात्मिका खेचरी—इस मुद्रा की सारी प्रक्रिया शान्ता के समान है । अन्तर इतना ही है कि, यह अधोधावितपाणिका होती है । चतुर्थी

द्राक्क्षेपात्खेचरी देवी पञ्चकुण्डलिनी मता।
संहारमुद्रा चैषैव यद्यूर्ध्वं क्षिप्यते किल ॥ ५९ ॥

नीयं यदा स्यात्, तदा सा शान्ताख्या चतुर्थी। तथा एषैव शान्ताख्या एवं-संनिवेशोऽपि अधोधावितपाणिका चेत् भवेत्, तदा शक्तिमुद्राख्या पञ्चमी। तथा द्वयोरपि करयोः मुष्टिबन्धादनन्तरं दशानामपि अङ्गुलीनां झटित्येव तिर्यक्प्रतिक्षेपात् प्रतिकरं पञ्चकुण्डलिनीरूपत्वात् पञ्चकुण्डलिन्याख्या षष्ठी। तथा यद्येवं दशानामपि अङ्गुलीनामूर्ध्वं प्रक्षेपः, तदेव एषैव पञ्च-कुण्डलिनी संहारमुद्राख्या सप्तमी। संहारमुद्रात्वमेव च अस्या उत्क्रामणी-त्यादिना प्रदर्शितम् ॥ ५७-५९ ॥

उत्क्रामणी झगित्येव पशूनां पाशकर्तरी।
श्वभ्रे सुदूरे झटिति स्वात्मानं पातयन्निव ॥ ६० ॥

मुद्रा में पाणि ऊपर होते हैं और इसमें नीचे। इसमें दृष्टि समान भाव से पाणि पर ही रहती है ॥ ५७-५८ ॥

६. छठीं मुद्रा का नाम पञ्चकुण्डलिनी शास्त्रों में प्रसिद्ध है। इसमें दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बँधी हुई होती और त्वरित भाव से अङ्गुलियों को फैलाकर तिर्यक् प्रतिक्षिप्त करते हैं। पाँचों अङ्गुलियों के तिर्यक् प्रतिक्षिप्त करने के कारण ही इसे 'पञ्चकुण्डलिनी' कहते हैं। स्वयं कुण्डली भी तिर्यक् लिपटी ही रहती है। यहाँ अङ्गुलियाँ भी बँधी अवस्था में रहकर ही ऊर्ध्वगति में खुलती हैं। उसी की समानता यहाँ भी है।

७. इसी मुद्रा में दशों अङ्गुलियों का तिर्यक् प्रक्षेप न कर ऊर्ध्वप्रक्षेप करने से भी समदृष्टि अपेक्षित होती है। पशु-पाशकर्त्तरी संहार मुद्रा का पर्याय उत्क्रामणी मुद्रा है ॥ ५९-६० ॥

८. वीर भैरवी नाम की आठवीं मुद्रा बोध का अविलम्ब संवर्धन करती है। इसे साधने में संलग्न साधक उस समय जैसे ऊँची कूद में उत्क्रमण को

साहसानुप्रवेशेन कुञ्चितं हस्तयुग्मकम् ।
अधोवीक्षणशीलं च सम्यग्दृष्टिसमन्वितम् ॥ ६१ ॥

वीरभैरवसंज्ञेयं खेचरो बोधवर्धिनो ।
अष्टधेत्थं वर्णिता श्रीभर्गाष्टकशिखाकुले ॥ ६२ ॥

तथा अधोवीक्षणशीलत्वेन सम्यगन्तर्लक्ष्यतया दृट्या समन्वितं कुञ्चितं हस्तयुग्मं विधाय सुदूरे श्वभ्रे साहसमुद्रानुप्रवेशेन झटिति स्वात्मानं पातयन्निव यदा यागो वर्धितबोधो भवेत्, तदैव इयं वोरभैरवसंज्ञा अष्टमो,—इति श्रीभर्गशिखाकुलम् ॥ १६-६२ ॥

एतद्रुपसंहरन् वीर्यवन्दनमवतारयति

एवं नानाविधान्भेदानाश्रित्यैकैव या स्थिता ।
श्रीखेचरी तयाविष्टः परं बीजं प्रपद्यते ॥ ६३ ॥

तैयारी में कूदने वाला धावक रहता है, उसी प्रकार ऊर्ध्वाकाशरन्ध्र में स्वात्म को प्रक्षिप्त करने की मुद्रा में आ जाता है। हाथ सङ्कुचित हो जाते हैं। दृष्टि अधोमुखी रहती है और अन्तर्लक्ष्य की प्रमुखता बनी रहती है। अपनी सत्ता का उपग्रह की तरह अनन्त में प्रक्षेपण असाधारण उपक्रम माना जाता है। शास्त्रकार यह स्पष्ट करते हैं कि, श्रीभर्गाष्टक शिखा-कुल नामक ग्रन्थ में ये आठ प्रकार की खेचरी मुद्रायें वर्णित हैं ॥ ६१-६२ ॥

खेचरी मुद्रा वर्णन के उपसंहार करने के अवसर पर उसके माहात्म्य के सम्बन्ध में अपने हृदय का उद्गार अभिव्यक्त कर रहे हैं—

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, इस प्रकार अनेक शास्त्रों में अनेक प्रकार से वर्णित और त्रिशूलिनी इत्यादि अनेक नामों से आख्यात यह एक मात्र खेचरी मुद्रा ही है। अनन्त भेदों का आश्रय लेकर यह अभिव्यक्त होती है। यह अनन्तभेदमयी उक्ति अनवक्लृति से भरी हुई है अर्थात् उनका पृथक्-पृथक् सभेद वर्णन असंभाव्य ही है।

नानाविधानिति त्रिशूलिन्यादीन्। आसां च त्रिशूलिन्यादीनामनव-क्लृप्ति परतया सर्वासामेव स्वरूपं न उक्तम्। परं बीजमिति सृष्टिमयं पराबीजम्। वस्तुतो हि अनयोरभेद इति भावः। यदागमः

'एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
द्वावेकं यो विजानाति स वै पूज्यः कुलागमे॥' इति॥ ६३॥

अत एव आह

एकं सृष्टिमयं बीजं यद्वीर्यं सर्वमन्त्रगम्।
एका मुद्रा खेचरी च मुद्रौघः प्राणितो यया॥ ६४॥

अतश्च तदावेश एव सर्वमुद्राणां तत्त्वमित्याह

तदेवं खेचरीचक्ररूढौ यद्रूपमुल्लसेत्।
तदेव मुद्रा मन्तव्या शेषः स्याद्देहविक्रिया॥ ६५॥

शेष इति तदावेशशून्यः॥ ६५॥

खेचरी सिद्ध साधक सर्वदा खेचरी के आवेश से आविष्ट रहता है। उस अवस्था में वह पराबीज की परावस्था को प्राप्त कर लेता है। वास्तविकता यह है कि, इनमें अभेद सम्बन्ध ही प्रधान होता है। आगम कहता है कि,

"संसार में सृष्टि बीज एक ही है। यह खेचरी मुद्रा ही एक मुद्रा है। कुलागम में वह परम पूज्य माना जाता है, जो परासृष्टि बीज और खेचरी मुद्रा के अभेद अद्वय भाव का साक्षात्कार कर लेता है" ॥ ६३॥

इसी आगमिक तथ्य का प्रतिपादन शास्त्रकार भी कर रहे हैं। उनका कहना है कि,

एक ही बीज सर्वतोभावेन सर्वातिशायी प्रभाव सम्पन्न है। उसे सृष्टिबीज कहते हैं। उसी का मन्त्रवीर्य सभी मन्त्रों में वीर्यवत्ता प्रदान करता है। इसी तरह एक ही सर्वप्रधान मुद्रा है, जिसे खेचरी मुद्रा कहते हैं। मुद्राओं की सारी माण्डलिकता इसी मुद्रा से मण्डित होती है। मुद्रौघ अर्थात् मुद्रा समूह इसी के प्राण से सतत अनुप्राणित है॥ ६४॥

आसामेव च बन्धाय कालभेदं निरूपयितुमाह

यागादौ तन्मध्ये तदवसितौ ज्ञानयोगपरिमर्शे ।
विघ्नप्रशमे पाशच्छेदे मुद्राविधेः समयः ॥ ६६ ॥

इसलिये यह कह सकते हैं कि, खेचरी चक्र की रूढ़ि में जो साधक आरूढ़ हो जाता है और उस अवस्था में उसके स्वात्मस्वरूप का जिस प्रकार का उल्लास होता है, वही मुद्रा का वास्तविक स्वरूप है। शेष सारे रूप आङ्गिक विक्रिया मात्र हैं। अर्थात् खेचरी आवेश शून्य सारी मुद्रायें आवयविक विक्रिया मात्र मानी जाती हैं ॥ ६५ ॥

साधक को यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि, वह इन मुद्राओं का कब कैसे और किस उद्देश्य से आश्रय ले। वही यहाँ निरूपित कर रहे हैं—

१. इसे याग के आदि में अवश्य करना चाहिये। इससे वातावरण तैयार होता है और अस्तित्व में दिव्यता का आधान हो जाता है।

२. याग जब अपने पूर्ण उल्लास में पहुँचने वाला हो, तो मध्य में पुनः शक्ति संचार के लिये इसे कर लेना चाहिये।

३. याग की अवसिति अर्थात् अन्त में इसका प्रयोग करना भी अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है। इससे पूर्णता में चार चाँद लग जाते हैं।

४. साधकों को सक्रियता के उद्देश्य से प्रज्ञापरिषद् आहूत की गयी है। परामर्श परिमर्श प्रारम्भ ही होने वाला है। उस समय ज्ञान योग परिमर्श के ठीक अवसर पर इसके आवेश से आविष्ट होना ही चाहिये।

५. समस्त विघ्नों के प्रकाशन में यह मुद्रा गणपतित्व का उत्तरदायित्व स्वयं निर्वहन करती है। अर्थात् इसके करने से विघ्नों के जाल का उज्जासन हो जाता है।

ननु एवं समये मुद्राबन्धेन किं स्यादित्याशङ्क्य आह

बोधावेशः सन्निधिरैक्येन विसर्जनं स्वरूपगतिः ।

शङ्कादलनं चक्रोदयदीप्तिरिति क्रमात्कृत्यम् ।। ६७ ।।

चक्रोदयदीप्तिरिति सप्तमाह्निकनिरूपितस्थित्या उदितानां मन्त्राणां दीप्तिर्दीपनमित्यर्थः ।। ६७ ।।

---

६. गुरु की कृपा से, पारमेश्वर शक्तिपात के प्रभाव से जब यह अनुभूत हो जाये कि, मेरे समस्त जागतिक बन्धन्न छिन्न-भिन्न हो गये हैं । मैं बुद्धत्व को प्राप्त हो गया हूँ । उस समय इसी आवेश में समाहित हो जाना चाहिये ।

इसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण अवसरों का चयन साधक को स्वयं करना चाहिये । ये उक्त छः विन्दु तो उपलक्षण मात्र हैं ।। ६६ ।।

प्रश्न करने वाला यह जानना चाहता है कि, ऐसे अवसरों पर इस मुद्रा के प्रयोग से क्या होता है । उसी प्रश्न का समाधान शास्त्रकार अपने शब्दों में कर रहे है—

१. बोध के आवेश से साधक प्रबोध सिद्ध हो जाता है ।

२. शैवमहाभावभावित साधक शिवैक्य से शैवसान्निध्य का आनन्द-रसास्वाद कर परमतृप्त हो जाता है ।

३. विश्वात्मकता के व्यामोह का विसर्जन हो जाता है ।

४. स्वात्मसंविद् समुल्लास के कारण स्वात्म का साक्षात्कार हो जाता है । यहाँ गति का अर्थ स्वरूप की उपलब्धि माना जाता है ।

५. समस्त शङ्काओं के आतङ्करूपी कलङ्कपङ्क का प्रक्षालन हो जाता है ।

६. सबसे बड़ी सिद्धि कुण्डलिनी शक्ति के जागरण रूप में साधक को प्राप्त हो जाती है । समस्त चक्रों से ज्ञान के सूरज का दीप्तिमन्त प्रकाश

एतदेव अर्धेन उपसंहरति

इति मुद्राविधिः प्रोक्तः सुगूढो यः फलप्रदः ।

इति शिवम् ॥

श्रीखेचरीसतत्त्वप्रविमर्शसमुन्मिषच्चिदावेशः ।
द्वात्रिंशं निरणैषीदाह्निकमेतज्जयरथाख्यः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यं श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
श्रीजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेकहिन्दीभाषाभाष्यसंवलिते
श्रीतन्त्रालोके मुद्राप्रकाशनं नाम
द्वात्रिंशमाह्निकम् समाप्तम् ॥ ३२ ॥

पुञ्ज परितः संव्याप्त हो जाता है। इन सभी प्रकार की क्रियाशीलताओं का साक्षात्कार कर साधक धन्य हो जाता है। मन्त्रदीप्त हो जाते हैं और साधक मन्त्रमय हो जाता है ॥ ६७ ॥

आह्निक अब अपने उपसंहार की प्रतीक्षा कर रहा है। उसे भगवान् शास्त्रकार अर्धाली का सहारा देकर विसृष्टि लोक की ओर प्रस्थित कर रहे हैं—

इस प्रकार मुद्राविधि का वर्णन सम्पन्न हुआ। यह अत्यन्त सुगूढ़ है। जीवन का वास्तविक फल इस आह्निक के स्वाध्याय से उपलब्ध हो जाता है ॥ इति शिवम् ॥

खचरविमर्शोन्मेषकृत जयरथ हार्दिक हर्ष ।
द्वात्रिंशाह्निक-विवृति से प्रकटित चित्युत्कर्ष ॥

\+ \+ \+

यस्याः पादारविन्दे मधुमयमहितेऽजस्रमास्ते मदीया,
श्रद्धा संवित्तिभव्या सुरतिरनुपमा ह्लादहृद्या वरेण्या।
तस्याः शक्त्यैव मुद्राप्रकरणरुचिरं ह्याह्निकं संविवृत्य,
मातुःवामे प्रकोष्ठे कुलकुसुमनिभं ह्यर्पयत्यद्य 'हंसः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक
हिन्दीभाषाभाष्य संवलित
श्रीतन्त्रालोक का
बत्तीसवाँ आह्निक सम्पूर्ण ॥ ३२ ॥
॥ इति शिवम् ॥

देहे न क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्च सिद्ध्यति ९६
सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनम्
स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं स्वस्तीकरणमुत्तमम् ९७
इति तृतीयः पटलः

चतुथः पटलः
आदौ पूरक योगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः
गुदमेढ्रन्तरे योनिस्तामाकुंच्य प्रवर्तते १
ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम्
सूर्य्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम्
तस्योर्ध्वं तु शिखासूक्ष्मा चिद्रूपा परमाकला
तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् २
गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिंगत्रयक्रमेण वै
अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम्
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम्
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ३
पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता ४
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवात्मकम्
योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः
तस्यास्तु बन्धामत्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ५
छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताः स्तंभिताश्च ये
दग्धामन्त्राः शिखाहीना मलिनास्तु तिरस्कृताः
मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः
अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः
तथा सत्त्वेन हीनाश्च खण्डिताः शतधाकृताः
विधानेन च संयुक्ताः प्रभवन्त्यचिरेण तु
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः

दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा
ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ६
ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि धातयेत्
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ७
गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः
एतैः पापैर्न बध्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ८
तस्मादभ्यासनं नित्यं कर्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः
अभ्यासाज्जाय ते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ९
संविदं लभतेऽभ्यासाद्योगोभ्यासात्प्रवर्तते
मुद्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम्
कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् १०
वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः
योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित्
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ११
अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम्
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् १२
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च १३
तस्मासर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमश्विरीम्
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् १४
महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी
जालंधरो मूलबंधो विपरीतकृतिस्तथा
उड्डानं चैव वज्रोणी दशमे शक्तिचालनम्
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् १५

अथ महामुद्राकथनम्

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः १६
अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम्

गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम्
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि
चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम्
महामुद्राभवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः १७
अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योपि सिध्यति
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम्
जीवनन्तु कषायस्य पातकानां विनाशनम्
सवरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम्
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम्
वांछितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणम्
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा १८
गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते
यां तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः १९
मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित् २०

अथ महाबन्धकथनम्

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि
गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम्
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम्
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः
नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं याति योगिनः
उभाभ्यां साधयेत्पद्मामेकै सुप्रयत्नतः २१
भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्नां मध्यसङ्गतः

अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपंजरे
संपूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् २२

अथ महावेधकथनम्

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना
स्फिचौ संताडयेद्धीमान्वेधोऽयं कीर्तितो मया २३
वेधेनानेन संबिध्य वायुना योगिपुंगवः
ग्रंथिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रंथिं भिनत्त्यसौ २४
यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम्
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी २५
चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात्
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते २६
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् २७
एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः २८
एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः
यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वे सिद्धिं सम्यग्लभन्ति वै २९
गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः
अन्यथा च न सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः ३०

अथ खेचरीमुद्राकथनम्

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः
लम्बिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम्
संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ३१
सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया

निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत्
तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ३२
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपिवा
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः ३३
क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम्
दिव्यभोगान्प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते ३४
मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ३५
गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम्
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम् ३६
सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मिन्कस्मिन्न दीयते
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ३७

अथ जालन्धरबन्धः

बद्धागलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्
बन्धोजालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः
नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम्
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम् ३८
बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान्
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ३९
जालन्धरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ४०

अथ मूलबन्धः

पादमूलेन संपीडय गुदमार्गं सुयन्त्रितम्
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत्
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ४१
अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम्
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ४२
सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले

बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितालसः
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ४३
सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत्
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगि पुंगवः ४४

अथ विपरीतकरणी मुद्रा

भूतले स्वशिरोदत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम्
विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ४५
एतद्यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः
मृत्युं जयति स योगी प्रलये नापि सीदति ४६
कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात्
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ४७
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत्
उड्डयानबंध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्
उड्यानाख्योऽत्र बन्धोयं मृत्युमातङ्गकेसरी ४८
नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन सिद्धो भवेन्मरुत् ४९
षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम्
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते ५०
अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते
रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ५१
गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम् ५२

अथ शक्तिचालनमुद्रा

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम्
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान्
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ५३
शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत्

आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ५४
विहाय निद्रा भुजगी स्वयमूर्ध्वे भवेत्खलु
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धमिच्छता ५५
यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम्
येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा
गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ५६
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिचालनम्
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ५७
एतत्तुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति
एकैकाभ्यासने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा ५८

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे मुद्राकथनं
चतुर्थपटलः समाप्तः ४

अथ पञ्चमः पटलः

श्री देव्युवाच
ब्रूहि मे वाक्यमीशान परमार्थधियं प्रति
ये विघ्नाः सन्ति लोकानां वद मे प्रिय शङ्कर १
ईश्वर उवाच
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा
मुक्तिं प्रति नराणाञ्च भोगः परमबन्धनः २

अथ भोगरूपयोगविघ्नकथनम्

नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्य विडम्बनम्
ताम्बूलंभक्ष्ययानानि राज्यैश्वर्यविभूतयः
हैमं रौप्यं तथा ताम्रं रत्नञ्चागुरुधेनवः
पाण्डित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतं विभूषणम्
वंशी वीणा मृदङ्गाश्च गजेंद्रश्चाश्ववाहनम्
दारापत्यानि विषया विघ्ना एते प्रकीर्तिताः

स्वपाणिभ्यां दृढं धृत्वा जानूपरि शिरोन्यसेत् ॥ ३.११२॥

आसनोग्रमिदं प्रोक्तं भवेदनिलदीपनम् ।
देहावसानहरणं पश्चिमोत्तानसंज्ञकम् ॥ ३.११३॥

य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत्सुधीः ।
वायुः पश्चिममार्गेण तस्य सञ्चरति ध्रुवम् ॥ ३.११४॥

एतदभ्यासशीलानां सर्वसिद्धिः प्रजायते ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन साधयेत्सिद्धमात्मनः ॥ ३.११५॥

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
येन शीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेदुःखौघनाशिनी ॥ ३.११६॥

स्वस्तिकासनकथनम् ।
जानूर्वोरन्तरे सम्यग्धृत्वा पादतले उभे ।
समकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ ३.११७॥

अनेन विधिना योगी मारुतं साधयेत्सुधीः ।
देहे न क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्च सिध्यति ॥ ३.११८॥

सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनम् ।
स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं स्वस्तीकरणमुत्तमम् ॥ ३.११९॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगशास्त्रे
योगाभ्यासतत्त्वकथनं नाम तृतीयपटलः समाप्तः । ३।

चतुर्थपटलः

अथ मुद्राकथनम् ।
आदौ पूरक योगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रवर्तते ॥ ४.१॥

योनिमुद्राकथनम् ।
ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥ ४.२॥

तस्योर्ध्वं तु शिखासूक्ष्मा चिद्रूपा परमाकला ।
तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥ ४.३॥

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिङ्गत्रयक्रमेण वै ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥ ४.४॥

अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ।
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम् ।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ॥ ४.५॥

पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा ।
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता ॥ ४.६ ॥

पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवात्मकम् ।
योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ॥ ४.७॥

तस्यास्तु बन्धामत्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥ ४.८॥

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताः स्तम्भिताश्च ये ।
दग्धामन्त्राः शिरोहीना मलिनास्तु तिरस्कृताः ॥ ४.९ ॥

मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ।
भेदिनो भ्रमसंयुक्ताः सप्ताहं मूर्च्छिताश्चये ॥ ४.१०॥

अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः ।
तथा सत्त्वेन हीनाश्च खण्डिताः शतधाकृताः ॥ ४.११ ॥

विधिनानेन च संयुक्तः प्रभवन्त्यचिरेण तु । (विधानेन च संयुक्ताः)
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः ॥ ४.१२॥

यद्युच्चरते योगी मन्त्ररूपं शुभाशुभम् ।
तत्सिद्धिं समवाप्नोति योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ४.१३॥

दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिञ्च्य सहस्रधा ।
ततो मन्त्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ॥ ४.१४॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ४.१५॥

गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न बध्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ४.१६॥

तस्मादभ्यासनं नित्यं कर्तव्यं मोक्षकाङ्क्षिभिः ।
अभ्यासाज्जायते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ॥ ४.१७॥

संविदं लभतेऽभ्यासाद्योगोभ्यासात्प्रवर्तते ।
मुद्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम् ॥ ४.१८॥

कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ।
वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ॥ ४.१९॥

योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित् ।
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ ४.२०॥

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम् ।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् ॥ ४.२१॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च ॥ ४.२२॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ४.२३॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा ॥ ४.२४॥

उड्डानं चैव वज्रोणी दशमे शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् ॥ ४.२५॥

महामुद्राकथनम् ।

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्ममवल्लभे ।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः ॥ ४.२६॥

अपसव्येन सम्पीड्य पादमूलेन सादरम् ।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥ ४.२७॥

सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै । (प्रसारित पाद)
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥ ४.२८॥

चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम् ।
महामुद्राभवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ४.२९॥

वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत् पुनः ।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥ ४.३०॥

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति ।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥ ४.३१॥

जीवनन्तु कषायस्य पातकानां विनाशनम् ।
कुण्डालीतापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम् ॥ ४.३२॥

सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम् ।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम् ॥ ४.३३॥

वाञ्छितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणम् ।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः ।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा ॥ ४.३४॥

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ।
यान्तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः ॥ ४.३५॥

मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता ।
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ॥ ४.३६॥

महाबन्धकथनम् ।

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि ॥ ४.३७॥

गुदयोनिं समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ॥ ४.३८॥

बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ॥ ४.३९॥

नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं याति योगिनः ।
उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ॥ ४.४०॥

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामध्यसङ्गतः ।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपञ्जरे ॥ ४.४१॥

सम्पूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ॥ ४.४२॥

महावेधकथनम् ।

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना ।

स्फिचौ सन्ताडयेद्धीमान्वेधोऽयं कीर्तितो मया ॥ ४.४३॥

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुङ्गवः ।
ग्रन्थिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ॥ ४.४४॥

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी ॥ ४.४५॥

चक्रमधे स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात् ।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ॥ ४.४६॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ । (निष्फलो)
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ॥ ४.४७॥

एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः ।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युञ्जयत्येव न संशयः ॥ ४.४८॥

एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ।
यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वे सिद्धिं सम्यग्लभन्ति वै ॥ ४.४९॥

गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः ।
अन्यथा च न सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः ॥ ४.५०॥

खेचरीमुद्राकथनम् ।

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः ॥ ४.५१॥ (सुदृढा)

उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ।
लम्बिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम् ॥ ४.५२॥

संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ॥ ४.५३॥

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया ।
निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत् ।
तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ४.५४॥

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः ॥ ४.५५॥

क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम् ।
दिव्यभोगान्प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते ॥ ४.५६॥

मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः ।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ॥ ४.५७॥

गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम् ।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम् ॥ ४.५८॥

सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मिन्कस्मिन्न दीयते । (यस्मै कस्मै न)
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ॥ ४.५९॥

जालन्धरबन्धकथनम् ।

बद्धागलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
बन्धोजालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥ ४.६०॥

नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम् ।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम् ॥ ४.६१॥

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान् ।
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ॥ ४.६२॥

जालन्धरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥ ४.६३॥

मूलबन्धकथनम् ।

पादमूलेन सम्पीड्य गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ॥ ४.६४॥

बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत् ।
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥ ४.६५॥

अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ।
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥ ४.६६॥

सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिद्ध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ।
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥ ४.६७॥

सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगि पुङ्गवः ॥ ४.६८॥

विपरीतकरणीमुद्राकथनम् ।

भूतले स्वशिरोदत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ४.६९॥

एतद्यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः ।
मृत्युञ्जयति स योगी प्रलयेनापि सीदति ॥ ४.७०॥ (योगीशः)

कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात् ।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ॥ ४.७१॥

उड्डयानबन्धकथनम् ।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ।
उड्ड्यानबन्ध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः ॥ ४.७२॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्ड्यानाख्योऽत्र बन्धोऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ४.७३॥

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन सिद्धो भवेन्मरुत् ॥ ४.७४॥ (नाभेस्सुशुद्धिः साद्येन)

षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युञ्जयति निश्चितम् ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते ॥ ४.७५॥

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते ।
रोगाणां सङ्क्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ॥ ४.७६॥

गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः ।
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम् ॥ ४.७७॥

वज्रोलीमुद्राकथनम् ।
वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम् ।
स्वेभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद्गुह्यतमामपि ॥ ४.७८॥

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना ।
मुक्तो भवति गार्हस्थो वज्रोल्यभ्यसयोगतः ॥ ४.७९॥

वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगे युक्तेऽपि मुक्तिदः ।
तस्मादतिप्रयत्नेन कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ४.८०॥

आदौ रजः स्त्रियो योन्याः यत्नेन विधिवत्सुधीः ।
आकुञ्च्य लिङ्गनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ ४.८१॥

स्वकं बिन्दुश्च सम्बन्ध्य लिङ्गचालनमाचरेत् ।
दैवाच्चलति चेदूर्ध्वं निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ४.८२॥

वाममार्गेऽपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिङ्गं निवारयेत् ।
क्षणमात्रं योनितो यः पुमांश्चालनमाचरेत् ॥ ४.८३॥

गुरूपदेशतो योगी हुंहुङ्कारेण योनितः ।
अपानवायुमाकुञ्च्य बलादाकृष्य तद्रजः ॥ ४.८४॥

अनेन विधिना योगी क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
भव्यभुक्कुरुते योगी गुरुपादाब्जपूजकः ॥ ४.८५॥

बिन्दुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमयस्तथा ।
उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ ४.८६॥

अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा ।
योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ॥ ४.८७॥

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणे ।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम् ॥ ४.८८॥

जायते म्रियते लोके बिन्दुना नात्र संशयः ।
एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिन्दुधारणमाचरेत् ॥ ४.८९॥

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ॥ ४.९०॥

बिन्दुः करोति सर्वेषां सुखं दुःखञ्च संस्थितः ।
संसारिणां विमूढानां जरामरणशालिनाम् ॥ ४.९१॥

अयं च शाङ्करो योगो योगिनामुत्तमोत्तमः ॥ ४.९२॥

अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति भोगयुक्तोऽपि मानवः ।
सकलः साधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले ॥ ४.९३॥

भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन निश्चितम् ।
अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवम् ।
सुखभोगेन महता तस्मादेनं समभ्यसेत् ॥ ४.९४॥

सहजोल्यमरोली च वज्रोल्या भेदतो भवेत् ।
येन केन प्रकारेण बिन्दुं योगी प्रधारयेत् ॥ ४.९५॥

दैवाच्चलति चेद्वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः ।
अमरोलिरियं प्रोक्ता लिङ्गनालेन शोषयेत् ॥ ४.९६॥

गतं बिन्दुं स्वकं योगी बन्धयेद्योनिमुद्रया ।
सहजोलीरियं प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ४.९७॥

संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्यं तुल्यगतिर्यदि ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ॥ ४.९८॥

अयं योगो मया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहतः प्रिये ।
गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ॥ ४.९९॥

एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति ।
तस्मादेतत्प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ॥ ४.१००॥

स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना ।
स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य तत्पुनः ॥ ४.१०१॥

गुरूपदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
बिन्दुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायिका ॥ ४.१०२॥

षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया ।
शताङ्गनाविभोगेऽपि तस्य बिन्दुर्न नश्यति ॥ ४.१०३॥

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति पार्वति ।
ईशत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभं भवेत् ॥ ४.१०४॥

शक्तिचालनमुद्राकथनम् ।

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥ ४.१०५॥

शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥ ४.१०६॥

विहाय निद्रा भुजगी स्वयमूर्ध्वे भवेत्खलु ।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धमिच्छता ॥ ४.१०७॥

यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।

येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ॥ ४.१०८॥

गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिनाशनम् ॥ ४.१०९॥

यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ॥ ४.११०॥

एतत्सुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति ।
एकैकाभ्यासने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा ॥ ४.१११॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगशास्त्रे
मुद्राकथनं नाम चतुर्थपटलः समाप्तः । ४।

पञ्चमपटलः

श्रीदेव्युवाच ।
ब्रूहि मे वाक्यमीशान परमार्थधियं प्रति ।
ये विघ्नाः सन्ति लोकानां वद मे प्रिय शङ्कर ॥ ५.१॥

ईश्वर उवाच ।
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा ।
मुक्तिं प्रति नराणाञ्च भोगः परमबन्धनः ॥ ५.२॥

भोगरूपयोगविघ्नविद्याकथनम् ।
नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्य विडम्बनम् ।
ताम्बूलभक्ष्यानानि राज्यैश्वर्यविभूतयः ॥ ५.३॥

हैमं रौप्यं तथा ताम्रं रत्नञ्चागुरुधेनवः ।
पाण्डित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतं विभूषणम् ॥ ५.४॥

वंशी वीणा मृदङ्गाश्च गजेन्द्रश्चाश्ववाहनम् ।
(दारापत्यानि विषया विघ्ना एते प्रकीर्तिताः ।)
भोगरूपा इमे विघ्ना धर्मरूपानिमाञ्छृणु ॥ ५.५॥

धर्मरूपयोगविघ्नकथनम् ।
स्नानं पूजाविधिर्होमं तथा मोक्षमयी स्थितिः ।
व्रतोपवासनियममौनमिन्द्रियनिग्रहः ॥ ५.६॥

सनं श्रित्वं प्रत्यहं साधयेत्सुधीः॥ वायुः पश्चिममार्गेण तस्य संचरति ध्रुवं॥७३॥ एतदभ्यासशी
लानां सर्वसिद्धिः प्रजायते॥ तस्माद्योगी प्रयत्नेन साधयेत्सिद्धसाधकः॥७४॥ गोप्तव्यं सप्रय
त्नेन न देयं यस्य कस्यचित्॥ येन शीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेद्दुःखौघनाशिनी॥७५॥ जान्वोरंतरे स
म्यक्कृत्वा पादतले उभे॥ समकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्ष्यते॥७६॥ अनेन विधि
ना योगी मारुतं साधयेत्सुधीः॥ देहे न क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्च सिद्ध्यति॥७७॥ सुखासन
मिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनं॥ स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं स्वस्थीकरणमुत्तमं॥७८॥ आदौ प
रकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः॥ गुदमेढ्रांतरे योनिस्तामाकुंच्य प्रवर्तयेत्॥७९॥ ब्रह्मयोनि
गतं ध्यात्वा कामं कंदुकसंनिभं॥ सूर्यकोटिप्रतीकाशं चंद्रकोटिसुशीतलं॥८०॥ तस्योर्ध्वे तु
शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला॥ तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिंतयेत्॥८१॥ गच्छंति ब्र
ह्ममार्गेण लिंगत्रयक्रमेण वै॥ सूर्यकोटिप्रतीकाशं चंद्रकोटिसुशीतलं॥८२॥ अमृतं त
द्विसर्गस्थं परमानंदलक्षणं॥ श्वेतरक्तं सुतेजाढ्यं धाराप्रपातैः प्रवर्षितं॥८३॥ पीत्वा कुलाम

तं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलं॥ पुनरेवाकुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा॥८४॥ सा च प्राणसमाख्या
तास्मिंस्तंत्रे मयोदिते॥ पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवांतकं॥८५॥ योनिमुद्रा परा ह्येषा
बंधस्तस्याः प्रकीर्तितः॥ तस्यास्तु बंधमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत्॥८६॥ छिन्नरूपाश्च
ये मंत्राः कीलितास्तंभिताश्च ये॥ मंदा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः॥८७॥ अरिप
क्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्ववर्जिताः॥ तथा सत्वेन हीनाश्च खंडिताः शतधा कृताः॥८८॥
विधानेन संयुक्ताः प्रभवंति चिरेण तु॥ सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः॥८९
॥ यद्यदुच्चरते योगी मंत्ररूपं शुभाशुभं॥ तत्तत्सिद्धिमवाप्नोति योनिमुद्रानिबंधनात्
॥९०॥ दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिंच्य सहस्रधा॥ ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकी
र्तिता॥९१॥ ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत्॥ नासौ लिप्यति पापेन योनि
मुद्रानिबंधनात्॥९२॥ तस्मादभ्यसनं नित्यं कर्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः॥ अभ्यासाज्जाय
ते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात्॥९३॥ संवित्तिं लभतेभ्यासाद्योगोभ्यासात्प्रवर्तते॥ मं

त्राणं सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनं ॥२९४॥ कालवंचनमभ्यासात्तथा मृत्युजयो भवेत्
॥ वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ॥२९५॥ योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचि
त् सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कंठगतैरपि ॥२९६॥ अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परं ॥ गो
पनीयं सुसिद्धानां योगपरमदुर्लभं ॥२९७॥ सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ॥ तदा स
र्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोपि च ॥२९८॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरी ॥ ब्रह्म
रंध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समारभेत् ॥२९९॥ महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥ जा
लंधरो मूलबंधो विपरीतकृतिस्तथा ॥३००॥ उड्यानं चैव वज्रोली दशमं दशमं शक्तिचा
लनं ॥ इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमं ॥३०१॥ महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेस्मिन्मम व
ल्लभा ॥ यां प्राप्य सिद्धिसंसिद्धिं कपिलाद्याः पुरागताः ॥२॥ अपसव्येन संपीड्य पादमू
लेन सादरं ॥ गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रांतरालयां ॥३॥ सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियु
गेन वै ॥ नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥४॥ चित्तपथे दत्वा प्रारभेद्वायुधारणं ॥ महामु

१४

द्रा भवेदेषा सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥५॥ वामांगेन समभ्यस्य दक्षांगेन भ्यसेत्पुनः ॥ प्राणायामसमे
नत्वा योगी नियतमानसः ॥६॥ मुद्रामेतां तु संप्राप्य गुरुवक्त्रात्सुशोभितां ॥ अनेन विधिना यो
गी मंदभाग्योपि सिद्ध्यति ॥७॥ सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिंदुमारणं ॥ जारणं तु कषायस्य पात
कानां विनाशनं ॥८॥ कुंडलीतापनं ॥ वायोर्ब्रह्मरंध्रप्रवेशनं ॥ वांछितार्थे फलं सौख्यमिंद्रियाणां
च मारणं ॥९॥ एतदुक्तानि सर्वाणि योगरूढस्य योगिनः ॥ भवेदभ्यासतो वश्यं नात्र कार्या विचा
रणा ॥१०॥ गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिता ॥ यां वै प्राप्य भवांभोधेः पारं गच्छति योगिनः
॥११॥ गुह्या वारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ॥ तस्या प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि ॥
१२॥ गुदयोनिसमाकुंच्यं कृत्वा पानकसर्द्धकं ॥ बंधयेदूर्ध्वगत्यर्थे प्राणापानावयोः सुधी
॥१३॥ कथितोयं महाबंधः सिद्धिमार्गप्रदायकः ॥ नाडीजालाद्रसव्यूहमूर्ध्वं नयति योगि
नः ॥१४॥ उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ॥ भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामध्य
संगता ॥१५॥ अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबंधोस्थिपंजरं ॥ संपूर्णहृदयो योगी भवंत्येतानि योगि

नः॥१६॥बंधेनानेनयोगीद्रस्साधयेत्सर्वमीप्सितं॥आपानप्राणयोरैक्यंकृत्रिभुवनेप्यपि
॥१७॥महावेधस्थितोयोगीकुक्षिमापूर्यवायुना॥स्फिजौसंताडयेद्धीमान्वेधोयंकीर्त्तितो
मया॥१८॥वेधेनानेनसंविध्यवायुनायोगिपुंगवः॥ग्रंथीन्सुषुम्णामार्गेणब्रह्मरंध्रंभि
नत्यसौ॥१९॥यःकरोतिसदाभ्यासंमहावेधंसुगोपितं॥वायुसिद्धिर्भवेत्तस्यजरामरणना
शिनी॥२०॥चक्रमध्येस्थितादेवाःकंपंतेवायुताडनात्॥कुंडल्यपिमहामायाकैलाशेसावि
लीयते॥२१॥महामुद्रामहाबंधौनिःफलौवेधवर्ज्जितौ॥तस्माद्योगीप्रयत्नेनकरोतित्रि
तयंक्रमात्॥२२॥एतत्त्रयंप्रयत्नेनचतुर्वारंकरोतियः॥षण्मासाभ्यंतरेमृत्युंजयत्येवन
संशयः॥२३॥एतत्त्रयस्यमहात्म्यंसिद्धोजानातिनेतरः॥यज्ज्ञात्वासाधकाःसर्वेसिद्धिंसम्यग्ल
भंतिवै॥२४॥गोपनीयाप्रयत्नेनसाधकैःसिद्धिमीप्सुभिः॥अन्यथावनसिद्धिःस्यान्मुद्राणा
मेषनिश्चयः॥२५॥भ्रुवोरंतर्गतांदृष्टिंविधायसुदृढंसुधीः॥उपविश्यासनेतेननानोपद्र
ववर्ज्जिते॥२६॥लंबिकोर्ध्वस्थितेगर्त्तेरसनांविपरीतगांसंयोजयेत्प्रयत्नेनसुधाकूपेविच

३५

क्षणः॥२७॥मुद्रैषाखेचरीप्रोक्ताभक्तानामनुरोधतः॥सिद्धीनांजननीह्येषाममप्राणाधिका
धिका॥२८॥निरंतरकृताभ्यासात्पीयूषंप्रत्यहंपिबेत्॥तेनविग्रहसिद्धिःस्यान्मृत्युमातं
गकेसरी॥२९॥अपवित्रःपवित्रोवासर्वावस्थांगतोपिवा॥खेचरीयस्यशुद्धातुसशुद्धोनात्र
संशयः॥३०॥क्षणार्द्धंकुरुतेयस्तुतीर्त्वापापमहार्णवं॥दिव्यभोगान्प्रभुक्त्वैवंसत्कुलेप
प्रजायते॥३१॥मुद्रैषाखेचरीयस्तुस्वस्थोह्यमतंद्रितः॥शतब्रह्मगतेनापिक्षणार्द्धंमन्य
तेपिसः॥३२॥गुरूपदेशतोमुद्रांयोवेत्तिखेचरीमिमां॥नानापापरतोधीमान्सयातिप
रमांगतिं॥३३॥सप्राणैःसदृशोयस्मात्तस्मादपिनदीयतां॥प्रच्छाद्यतेप्रयत्नेनमुद्रेयंसुरप
जिता॥३४॥बध्वागलेशिराजालंहृदयेचिबुकंन्यसेत्॥बंधोजालंधरःप्रोक्तोदेवानामपिदुर्ल
भः॥३५॥नाभिस्थोवह्निपान्तूनांसहस्रकमलच्युतं॥पिबेत्पीयूषविसरंतदर्थंबंधयेदिमं
॥३६॥बंधेनानेनपीयूषंस्वयंपिबतिबुद्धिमान्॥अमरत्वंचसंप्राप्यमोदतेभुवनत्रये॥३७॥जा
लंधरबंधएषसिद्धानांसिद्धिदायकः॥अभ्यासःक्रियतेनित्यंयोगिनासिद्धिमिच्छता॥३८॥

पादमूलेनसंपीड्यगुदमार्गंसुयंत्रितः॥बलादपानमाकृष्यक्रमादूर्ध्वंसमाचरेत्॥३९॥कल्पि
तोयंमूलबंधोजरामरणनाशनः॥अपानप्राणयोरैक्यमकरोत्सधिकल्पितं॥४०॥बंधेनाने
नसततंयोनिमुद्राप्रसिध्यति॥सिद्धायांयोनिमुद्रायांकिंनसिध्यतिभूतले॥४१॥बंधस्या
स्यप्रसादेनगगनेविजितानिलः॥पद्मासनस्थितोयोगीभवमभ्यस्यवर्त्तते॥४२॥सुबद्धेनि
र्जनेदेशेबंधमेनंसमभ्यसेत्॥संसारसागरंतर्तुंयदीच्छेद्योगिपुंगवः॥४३॥भूतलेस्वशि
रोदत्वाक्षिपेनयेच्चरणद्वयं॥विपरीतकृतिश्चैषासर्वतंत्रेषुगोपिता॥४४॥एतांयःकुरुतेनित्य
मभ्यासाद्यामामात्रकं॥मृत्युंजयतिसद्योगीप्रलयेनापिसीदति॥४५॥अमृतंकुरुतेपा
नंसिद्धानांसमतामयात्॥सेव्यसर्वेलोकानांबंधमेनंकरोतियः॥४६॥नाभेरूर्ध्वम
धश्चापितानंपश्चिममाचरेत्॥उड्डियानोबंधएषस्यात्सर्वदुःखौघनाशनः॥४७॥उद
रेपश्चिमंतानंनाभेरूर्ध्वंतुकारयेत्॥उड्डियानोयमयंबंधोमृत्युमातंगकेशरी॥४८॥नित्यं
यःकुरुतेयोगीचतुर्वारंदिनेदिने॥तस्यनाभेस्तुशुद्धिस्याद्येनशुद्धोभवेन्मरुत्॥४९॥षण्मा

१६

समभ्यसन्योगीमृत्युंजयतिनिश्चितं॥तस्योदराग्निर्ज्वलतिरसवृद्धिश्चजायते॥५०॥अनेन
सततंसिद्धिःविग्रहस्यप्रजायते॥रोगाणांसंक्षयश्चापियोगिनोभवतिध्रुवं॥५१॥गुरोर्लब्ध्वात
यत्नेनसाधयेत्तुविचक्षणः॥निर्जनेसुस्थितोदेशेबंधंपरमदुर्लभं॥५२॥वज्रोलींकथयि
ष्यामिसंसारध्वांतनाशिनीं॥स्वभक्तेभ्यःसमासेनगुह्याद्गुह्यतमामपि॥५३॥स्वेच्छयाव
र्त्तमानोपियोगोक्तनियमैर्विना॥मुक्तोभवेद्गृहस्थोपिवज्रोल्यभ्यासयोगतः॥५४॥वज्रो
ल्यासहयोगोयंभोगमुक्तेपिमुक्तिदः॥तस्मादतिप्रयत्नेनकर्त्तव्योयोगिभिःसदा॥५५॥
अंगिरसंक्लिष्टयोयोयोन्यापत्नेनविधिवत्सुधीः॥आकुंच्यलिंगनालेनस्वशरीरेप्रवेश
येत्॥५६॥स्वकंबिंदुंचसंबोध्यलिंगचालनमाचरेत्॥दैवाच्चलतिचेदूर्ध्वंनिरुद्धोयोनिमुद्र
या॥५७॥वामभागेपितद्विंदुंमत्वालिंगंनिवारयेत्॥गुरूपदेशतोयोगीहुंहुंकारेणयोनि
तः॥५८॥अपानवायुमाकुंच्यबलादाकर्षयेद्रजः॥अनेनविधिनायोगीक्षिप्रंयोग
स्यसिद्धये॥५९॥गव्यभक्कुरुतेयोगीगुरुपादाब्जपूजकः॥बिंदुर्विधुमयोज्ञेयोरजःसूर्यमयं

तथा॥५९॥ उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्रयत्नतः॥ अहं बिंदु शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा॥
६०॥ योगिनां साधनवतां भवेद्दिव्यं वपुस्तदा॥ मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणे॥६१
॥ तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिंदुधारणं॥ जायते म्रियते लोको बिंदुना नात्र संशयः॥
६२॥ एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिंदुधारणमाचरेत्॥ सिद्धे बिंदौ महारत्ने किं न सिध्यति भूत
ले॥६३॥ यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशी भवत्॥ बिंदुः करोति सर्वेषां सुखं दुःखं
च संस्थितः॥६४॥ संसारिणां विमूढानां जन्ममरणशालिनां॥ अयं शुभकरो योगो यो
गिनां मुक्तमोत्तमः॥६५॥ अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति भोगयुक्तोपि मानवः॥ सकलः साधितार्
थोपि सिद्धो भवति भूतले॥६६॥ भुक्त्वा भोगानशेषान्वै योगेनानेन निश्चितं॥ अनेन
न सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवं॥६७॥ सुखभोगेन सहिता तस्मादेनं समभ्यसेत्॥
सहजोलि अमरोली वज्रोल्या भेदतो भवेत्॥६८॥ येन केन प्रकारेण बिंदुं योगी प्रसाधये
त्॥ दैवाच्चलति चेद्वेगे मेलनं चंद्रसूर्ययोः॥६९॥ अमरोलीरियं प्रोक्ता लिंगनालेन शोषयेत्

॥ गतं बिंदुं स्वकं योगी बंधयेद्योनिमुद्रया॥७०॥ सहजोलीरियं प्रोक्ता सर्वतंत्रेषु गोपिता॥
संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्यं तत्साग तिर्यदि॥७१॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः स
दा॥ अयं योगो मया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहतः परं॥७२॥ गोपनीयो प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्य
चित्॥ एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति॥७३॥ तस्मादतिप्रयत्नेन गोपनीयं सदा बु
धैः॥ स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य धारयन्॥७४॥ स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य
तत्पुनः॥ गुरूपदेशमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत्॥७४॥ बिंदुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धि
प्रदायिका॥ षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया॥७६॥ शतांगनोपभोगेपि न बिं
दुस्तस्य नश्यति॥ सिद्धे बिंदौ महारत्ने किं न सिध्यति भूतले॥७७॥ ईशत्वं यत्प्रसादेन ममा
पि दुर्लभं भवेत्॥ अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान्॥७८॥ शक्तिचालनमेतेन हि
प्रत्यहं यः समाचरेत्॥ आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनं॥७९॥ विहाय निद्रां भुंज
गी स्वयं ऊर्ध्वं व्रजेत्खलु॥ तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता॥८०॥ यः करोति सदा

भ्यासं शक्तिचालनमुत्तमं ॥ येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ॥ ८१ ॥ गुरूपदेशविधि
नातस्य मृत्युभयं कुतः ॥ मुहूर्त्तद्वयपर्यंतविधिना शक्तिचालनं ॥ ८२ ॥ यः करोति प्रयत्नेन तस्य सि
द्धिर्न दूरतः ॥ युक्तासनेन कर्त्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनं ॥ ८३ ॥ एतत्तु मुद्रादशकं न भूतं न भ
विष्यति ॥ एकैकाभ्यसने सिद्धे सिद्धो भवति नान्यथा ॥ ८४ ॥ श्रीदेव्युवाच ॥ ब्रूहि मे वाक्यमी
शान परमार्थधियं प्रति ये विघ्नाः संति लोकानां वद मे प्रिय शंकर ॥ ८५ ॥ ईश्वर उवाच ॥ श्र
णु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा ॥ मुक्तिं प्रति नराणां च भोगः परमबंधकः ॥ ८६ ॥
नारीशय्यासनं वस्त्रं धनमस्य विडंबनं ॥ तांबूलं भक्ष्ययानानि राज्यैश्वर्यविभूतयः ॥ ८७
॥ हैमं रूप्यं तथा ताम्रं रत्नं चागुरुधेनवः ॥ पांडित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतं विभूषणं ॥ ८८
॥ वंशी वीणा मृदंगाश्च गजेंद्रो चाश्ववाहनं ॥ दारापत्यानि विषया विघ्ना एते प्रकीर्त्तिताः ॥
८९ ॥ भोगरूपा इमे विघ्ना धर्मरूपानिमान् शृणु ॥ स्नानं पूजा तिथिर्होमस्तथा मोक्षमयो
स्थितः ॥ ९० ॥ व्रतोपवासनियमा मौनमिंद्रियनिग्रहः ॥ ध्येयो ध्यानं तथा मंत्रो दानं ख्याति

१८

दिशास्तथा ॥ ९१ ॥ वापीकूपतडागादि प्रासादारामकल्पना ॥ यज्ञं चांद्रायणं कृच्छ्रं तीर्थानि विवि
धानि च ॥ ९२ ॥ दृश्यंते इमे विघ्ना धर्मरूपेण संस्थिताः ॥ येन विघ्नं भवेद्ज्ञानं कथयामि वरानने
॥ ९३ ॥ गोमुखाद्यासनं कृत्वा धौतप्रक्षालनं च यत् ॥ नाडीसंचारविज्ञानं प्रत्याहारनिरोधनं ॥ ९४
॥ कुक्षिसंचालनं क्षीरप्रवेश इंद्रियाध्वना ॥ नाडीकर्मणि कस्यापि भोजनं श्रूयतां मम ॥ ९५ ॥ नि
बंधांतरसंछिदि घटिकां ताडयेत्पुनः ॥ एककालसमाधिः स्याल्लिंगभूतमिमं शृणु ॥ ९६ ॥ सं
गमं गच्छ सधनां संकोचं भज दुर्जनात् ॥ प्रवेशनिर्गमो वायोर्गुरुलक्ष्यं विलोकयेत् ॥ ९७ ॥ पिं
डस्थं रूपसंस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितं ॥ ब्रह्मैतस्मिन्मतावस्था हृदयं च प्रशाम्यति ॥ ९८ ॥ इमे
ते प्रथिता विघ्ना ज्ञानरूपे व्यवस्थिताः ॥ मंत्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः ॥ ९९ ॥ च
तुर्थो राजयोगः स्यात्स द्विधाभवतिवर्जितः ॥ चतुर्द्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रकः ॥
४०० ॥ अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लंघनक्षमः ॥ मंदोत्साही ससंमूढो व्याधिस्थो गुरु
दूषकः ॥ ४०१ ॥ लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रमः ॥ चपलः कातरो रोगी पराधी

चतुर्थः पटलः

आदौ पूरक योगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।
गुदमेढ्रन्तरे योनिस्तामाकुंच्य प्रवर्तते ॥ ४-१ ॥

ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम् ।
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥
तस्योर्ध्वं तु शिखासूक्ष्मा चिद्रूपा परमाकला ।
तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥ ४-२ ॥

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिंगत्रयक्रमेण वै ।
अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ॥
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम् ।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ॥ ४-३ ॥

पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा ।
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता ॥ ४-४ ॥

पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवात्मकम् ।

योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ।
तस्यास्तु बन्धामत्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥ ४-५ ॥

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताः स्तंभिताश्च ये ।
दग्धामन्त्राः शिखाहीना मलिनास्तु तिरस्कृताः ॥
मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ।
अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः ।
तथा सत्त्वेन हीनाश्च खण्डिताः शतधाकृताः ॥
विधानेन च संयुक्ताः प्रभवन्त्यचिरेण तु ।
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः ॥
दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा ।
ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ॥ ४-६ ॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ४-७ ॥

गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न बध्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ४-८ ॥

तस्मादभ्यासनं नित्यं कर्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः ।

अभ्यासाज्जाय ते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ॥ ४-९ ॥

संविदं लभतेऽभ्यासाद्योगोभ्यासात्प्रवर्तते ।
मुद्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम् ॥
कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ॥ ४-१० ॥

वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेद्भ्यासयोगतः ॥
योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित् ।
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ ४-११ ॥

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम् ।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् ॥ ४-१२ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च ॥ ४-१३ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ४-१४ ॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।

जालंधरो मूलबंधो विपरीतकृतिस्तथा ॥
उड्डानं चैव वज्रोणी दशमे शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् ॥ ४-१५ ॥

अथ महामुद्राकथनम् ।

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे ।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः ॥ ४-१६ ॥

अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम् ।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेड्रान्तरालगाम् ॥
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै ।
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥
चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम् ।
महामुद्राभवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत् पुनः ।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥ ४-१७ ॥

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योपि सिध्यति ।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥

जीवनन्तु कषायस्य पातकानां विनाशनम्।
सवरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम्॥

वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम्।
वांछितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणम्॥
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा॥ ४-१८॥

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।
यां तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः॥ ४-१९॥

मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता।
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित्॥ ४-२०॥

अथ महाबन्धकथनम्।

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि।
गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम्।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम्॥
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः।

कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ।

नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं याति योगिनः ॥

उभाभ्यां साधयेत् पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ॥ ४-२१ ॥

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्नां मध्यसङ्गतः ।

अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपंजरे ॥

संपूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।

बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ॥ ४-२२ ॥

अथ महावेधकथनम् ।

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।

महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना ।

स्फिचौ संताडयेद्धीमान्वेधोऽयं कीर्तितो मया ॥ ४-२३ ॥

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुंगवः ।

ग्रंथिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रंथिं भिनत्त्यसौ ॥ ४-२४ ॥

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ।

वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी ॥ ४-२५ ॥

चक्रमधे स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते॥ ४-२६॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात्॥ ४-२७॥

एतत् त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः॥ ४-२८॥

एतत् त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः।
यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वे सिद्धिं सम्यग्लभन्ति वै॥ ४-२९॥

गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः।
अन्यथा च न सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः॥ ४-३०॥

अथ खेचरीमुद्राकथनम्।

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः॥

लम्बिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम् ।
संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ॥ ४-३१ ॥

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया ।
निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत् ॥
तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ४-३२ ॥

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपिवा ।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः ॥ ४-३३ ॥

क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम् ।
दिव्यभोगान्प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते ॥ ४-३४ ॥

मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः ।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ॥ ४-३५ ॥

गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम् ।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम् ॥ ४-३६ ॥

सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मिन्कस्मिन्न दीयते।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते॥ ४-३७॥

अथ जालन्धरबन्ध।

बद्ध्वागलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्।
बन्धोजालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः॥
नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम्।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम्॥ ४-३८॥

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान्।
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये॥ ४-३९॥

जालन्धरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता॥ ४-४०॥

अथ मूलबन्धः।

पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयन्त्रितम्।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत्।

कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥ ४-४१ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ।
बन्धेनानेन सुतरा योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥ ४-४२ ॥

सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिद्ध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितालसः ॥
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥ ४-४३ ॥

सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगि पुंगवः ॥ ४-४४ ॥

अथ विपरीतकरणी मुद्रा ।

भूतले स्वशिरोदत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ४-४५ ॥

एतद्यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः ।
मृत्युं जयति स योगी प्रलये नापि सीदति ॥ ४-४६ ॥

कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात्।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः॥ ४-४७॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत्।
उड्डयानबंध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः॥
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्।
उड्यानाख्योऽत्र बन्धोयं मृत्युमातङ्गकेसरी॥ ४-४८॥

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन सिद्धो भवेन्मरुत्॥ ४-४९॥

षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम्।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते॥ ४-५०॥

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते।
रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम्॥ ४-५१॥

गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत् तु विचक्षणः।
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परम दुर्लभम्॥ ४-५२॥

अथ शक्तिचालनमुद्रा ।

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥ ४-५३ ॥

शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥ ४-५४ ॥

विहाय निद्रा भुजगी स्वयमूर्ध्वे भवेत्खलु ।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धमिच्छता ॥ ४-५५ ॥

यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ।
गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ४-५६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिचालनम् ।
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ॥ ४-५७ ॥

एतत्तुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति ।
एकैकाभ्यासने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा ॥ ४-५८ ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे मुद्राकथनं नाम चतुर्थपटलः समाप्तः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः पटलः

श्रीदेव्युवाच ॥

ब्रूहि मे वाक्यमीशान परमार्थधियं प्रति ।
ये विघ्नाः सन्ति लोकानां वद मे प्रिय शङ्कर ॥ ५-१ ॥

ईश्वर उवाच ॥

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा ।
मुक्तिं प्रति नराणाञ्च भोगः परमबन्धनः ॥ ५-२ ॥

अथ भोगरूपयोगविघ्नकथनम् ।

नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्य विडम्बनम् ।

नामक स्थल में घूमती है। इस प्रकार भ्रमण करते समय सूक्ष्मत्व एवं चंचलत्व के कारण उसे देखना कठिन है। योगी शाम्भवी मुद्रा के अभ्यासद्वारा कुण्डलिनी का ध्यान करते है। स्थूल ध्यान से ज्योतिर्ध्यान सौ गुना श्रेष्ठ है तथा ज्योतिर्ध्यान से सूक्ष्मध्यान लाख गुना श्रेष्ठ है। इस प्रकार सूक्ष्म ध्यान से आत्मसाक्षात्कार की सिद्धि होती है।

जैसा कि ऊपर कहा है, गुरुध्यान को सिद्ध करने के लिए तन्त्र शास्त्र में योगमुद्राओं की ही प्रधानता है। मुख्य रूप से हूं एवं हंस मन्त्र शाम्भवी मुद्रा, योनिमुद्रा, खेचरीमुद्रा एवं मूल आदि बन्धत्रय का उपयोग साधकों द्वारा किया जाता है।

(व. मु. रहस्यं पृ० १३०-१३१)

योग :–

'योगतत्त्वोपनिषत्' में चार प्रकार के योग कहे गए हैं। १- मन्त्र-योग, २- लययोग, ३- हठयोग और ४- राजयोग। गोरक्ष पद्धति में संक्षेप में इनके लक्षण दिए हैं। यथा :–

"यो मंत्रमूर्तिवशगः स तु मन्त्र योगः,
यच्चित्त-सन्तत-लयः स लयः प्रदिष्टः।
यस्तु प्रभञ्जन-विधानरतो हठस्सः,
यश्चित्तवृत्तिरहितः स तु राजयोगः॥"

योग के साधन में जहाँ मन्त्र एवं मूर्ति का उपयोग होता है, वह मन्त्रयोग है। जिस साधन से चित्त का सतत लय हो जाता है वह लययोग कहा गया है। जहाँ वायु का निरोध किए जाने का विधान है वह हठयोग है। ह से अभिप्राय है चन्द्रनाडी तथा ठ सूर्यनाडी है। इडा एवं पिङ्गला इन्हीं को कहते हैं। जहाँ उभय नाडियों में प्रवाहित वायु को निरुद्धकर प्राण को सुषुम्ना में प्रविष्ट किया जाता है वह हठयोग है। योग के इन तीनों प्रकारों के

अभ्यास के लिए योनिमुद्रा, अन्तः प्राणायाम नामक बन्धत्रय का उपयोग आवश्यक है। शाम्भवी एवं खेचरीमुद्रा की सिद्धि के हेतु भी बन्धत्रय आवश्यक है। अतः प्रथम योनिमुद्रा एवं बन्धत्रय का निरूपण करते हैं।

योनि मुद्रा

साधक पद्मासन या सिद्धासन से बैठे। गुह्य स्थान पर प्रथम वाम पाद को नियोजित करे, उसके ऊपर दक्षिण पाद की एड़ी (पार्ष्णि) निवेशित करे, काया को सीधा रखे जिस से सिर एवं ग्रीवा भी एक सीध में रहें। इसके पश्चात् मुख की काकचञ्चु के समान मुद्रा बनाकर बाह्य प्राण को जठर में परिपूरित करे। कनिष्ठिका एवं अनामिका से मुख का दृढ बन्धन कर दोनों अंगूठे से कानों के रन्ध्रों को बन्द करे तथा तर्जनी से दोनों नेत्रों को बन्द करे। मध्यमा अङ्गुलियों से नासिका के दोनों रन्ध्रों को बन्द कर वायु को धारण करे, मन्त्र के वर्णों का स्मरण करता हुआ दृढ होकर योग का साधन करे।

जप के अभ्यास में भी यह मुद्रा अवश्य कर्तव्य है। इस मुद्रा के विधान से मन्त्र जप करने पर प्राण एवं मन का ऐक्य सिद्ध हो जाता है। कारण यह कि मन का निरोध प्राण के आधीन है। हृदय से प्रारम्भ होकर नासिका के द्वार पर्यन्त प्राण की गति है। अधोभाग में अपान, नाभि मण्डल में समान, कण्ठ देश में उदान, एवं समस्त शरीर में व्यान नामक वायु आवृत है। वायु जब वाम नासा रन्ध्र में प्रवाहित होती है तब यह शीतांशु चन्द्र, दक्षिण रन्ध्र में प्रवाहित होनेपर सूर्य तथा साम्य अवस्था में अग्नि का स्वरूप है। इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना की सीमा पर्यन्त वायु की गति कही गई है। प्राण योग का प्रवर्तन इन तीन नाडियों में होता है। इन तीनों में सुषुम्ना ही प्रधान नाडी है। इस के मध्य में चित्रा नाडी है जिसके अन्तर्गत पञ्चभूतों के अधिदेवताओं का निवास है जो

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव नाम से सम्बोधित हैं। चित्रा के अन्तर्गत ही षटचक्रों का चिन्तन योगी करते हैं। ऊपर षट्चकों के निरूपण में इनका स्वरूप एवं ध्यान दिया गया है।

सिद्धासन में आसीन साधक उपर्युक्त प्रकार से योनि मुद्रा का मुद्रण कर ब्रह्म प्रणव का अनुसन्धान करे तब नाद-ज्योतिर्मय शिव स्वयं प्रकट हो जाता है तथा आत्म तत्त्व का इस प्रकार आविर्भाव होता है जैसे मेघ के हट जाने पर सूर्य निर्मलरूप में प्रकट होता है। इस प्रकार योनिमुद्रा का अभ्यास करने से अन्तर्गत नाद का दक्षिण कर्ण में साधक श्रवण करता है। इस प्रकार अभ्यास से बाह्य ध्वनि से मुक्त साधक तुर्य पद को प्राप्त करता है। अभ्यास प्रारम्भ करते समय कुछ काल तक नाना प्रकार का महान नाद सुनाई देता है। पीछे अभ्यास की वृद्धि होने पर यह नाद सूक्ष्मरूप धारण करता जाता है। प्रारम्भ में जलधि, मेघ, भेरी, निर्झर आदि का शब्द सुनाई देता है। मध्य में घण्टा का शब्द एवं अन्त में किंकिणी, वंशी, वीणा, भ्रमर–नाद का साधक श्रवण करता है। इस प्रकार साधक सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर नाद का परामर्श करता है। प्रथम जिस किसी प्रकार के नाद में मन लग जाता है ततः उसके साथ ही विलीन हो जाता है। अभ्यास से बाह्य नाद का विस्मरण हो जाता तथा सहसा चिदाकाश में मन इस प्रकार विलय हो जाता है जैसे दूध में जल। संयम पूर्वक अभ्यास से मन उदासीन भाव को प्राप्त हो जाता है एवं उन्मनी अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। सब चिन्ताओं का परित्याग कर नाद का ही अनुसन्धान करना चाहिये, चित्त का इस में ही विलय हो जाता है। ब्रह्म प्रणव से संलग्न नाद अन्तरङ्ग, विकल्प समुद्र के लिये वेला के समान है। जहां तक शब्द का प्रवर्तन होता है वहीं तक आकाश का संकल्प सम्भव है। परं ब्रह्म निःशब्द है। जहां तक नाद है वहां तक मन है। उसके बाद उन्मनी अवस्था है। शब्दात्मक अक्षर के क्षीण हो जाने पर निःशब्द परम पद का उदय होता है। यहां समस्त वासनाएँ क्षीण

हो जाती हैं। वहां दुंदुभी आदि का अन्तः नाद फिर सुनाई नहीं देता। योगी शीतोष्ण, सुख, दुःख, मान, अपमान से मुक्त हो जाता है तथा स्वस्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

नाद योग भी अन्ततो गत्वा राज योग में परिणत हो जाता है जहां विना प्रयत्न किये ही वायु स्थिर हो जाता है, दृष्टि विना सदृश के एवं चित्त विना अवलम्बन के स्थिर हो जाता है। यह आन्तर नाद ही तारक ब्रह्म का रूप है। कहा है :-

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यं,
वायुः स्थिरो यत्र विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं,
स ब्रह्म तारान्तरनाद रूप॥

यह नाद योग लय योग के अन्तर्गत है। यहां ॐ के आश्रय से समाधि अवस्था का आविर्भाव कहा गया है। मन्त्र योग का विस्तृत विवरण कुण्डलिनी जागरण के स्वरूप को दर्शाते हुए किया गया है। वहां भी परमगुरु पर शिव में मन लय हो जाता है। वहां 'हंस' 'हूं' 'सोऽहम्' मन्त्रों का प्रयोग है। वास्तव में चित्त लय के यह दोनों ही प्रकार हैं। नाद और विन्दु दोनों ही अपने स्थूल एवं सूक्ष्म रूपों का परित्याग कर परब्रह्मात्मक स्वरूप में चित्त का लय कर देते हैं। जहां साधक खुले नेत्रों से ब्रह्म का दर्शन करता है। जैसा कि कबीर ने कहा है-

"खुले नयन से साहिब देखूं यह गुरु-ज्ञान बताया।"

मूलाधार पद्म की कर्णिका के मध्य योनि स्थान है। उसके अन्तर्गत सकलप्रपञ्च की निमित्तोपादान भूता चिन्मयी कुण्डलिनी शक्ति स्थित रहती है। (यह चिन्मयी शक्ति जगत् का निमित्त कारण भी है तथा उपादान कारण भी है। इस स्वरूप को ही अर्धनारी-नटेश्वर के रूप में चित्रित किया जाता है।) तीन गुणों

से युक्त होने के कारण ही इसको सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि का मूल कहा है। अविद्या के कारण यह सर्पाकार शक्ति मूलाधार में निद्रा अवस्था में रहती है। जैसे सर्प जब सोता है तब कुण्डलाकार हो जाता तथा जाग्रत होकर जब चलता है तब दण्डाकार हो जाता है। शक्ति भी निद्रित अवस्था में कुण्डलाकार हो जाती है। कुण्डलिनी ही जीव तत्त्व है। जिसको अज्ञान की अवस्था में निद्रित कहा जाता है। जिस प्रकार अंधकार में रज्जु की, भ्रमवश सर्प के रूप में अनुभूति होती है उसी प्रकार अज्ञानरूपी अंधकार से आवृत होने से चिन्मयी शक्ति को सर्प की उपमा दी गई है। जब प्राणायाम के दृढतर अभ्यास से यह सर्पिणी जाग्रत होती है तब सर्पाकृति का परित्याग कर ऊपर उठती है तथा मूल, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा एवं सहस्रार पद्मों का अतिक्रमण कर परमशिव में विलीन हो जाती है। मन्त्र विज्ञान में यह चिन्मयी शक्ति सर्वोपरि, सब का कारण कहा है अतः इस को नादरूपा कहा गया है, तथा स्थूल रूप में यह वर्णमयी है। सुषुम्ना नाडी मूलाधार से ब्रह्म रन्ध्र पर्यन्त मेरु दण्ड नामक पृष्ठ वंश में ऊर्ध्वाकार स्थित है। जाग्रत होने पर सर्पाकार शक्ति सुषुम्ना मार्ग से परम शिव तक पहुंचती है। मन्त्र का अर्थ तभी स्पष्ट होता है तथा मन्त्र चैतन्य भी तभी होता है।

कुण्डलिनी रूप चिन्मयी शक्ति के जागरण के लिये मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध को योगियों ने प्रशस्त मार्ग कहा है :-

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम्।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्॥

साधक सिद्धासन से बैठकर अपनी एड़ी के आघात से योनि स्थान का संपीडन करे तथा योनि मार्ग का दृढ आकुञ्चन कर अपान को ऊपर की ओर आकर्षित करे, इस को मूल बन्ध कहते हैं।

इस प्रकार अभ्यास से अपान एवं प्राण का ऐक्य हो जाता है। प्राणापान के ऐक्य से मूत्र एवं पुरीष का क्षय हो जाता है। वृद्ध भी युवा हो जाता है (योग तत्त्वोपनिषत्)। हूंकार एवं हंस मन्त्र के उच्चारण से भी अपान वायु की ऊर्ध्व गति हो जाती है। बगला मुखी रहस्यं में स्वामी जी ने लिखा है :– "तज्जागरणं हंस मन्त्रेण हूंकारेण वा गुरूपदिष्ट मार्गेण।" षट्चक्र निरूपण में भी कहा है :–

> हूंकारेणैव देवीं यमनियम समभ्यासशीलः सुशीलः।
> भित्त्वा तल्लिङ्ग रूपं पवनदहनयोराक्रमेणैव गुप्तम् ॥

पवन एवं दहन के आक्रमण से 'हूं' कूर्च बीज का उच्चारण करने से कुण्डलिनी का ऊपर उत्थान होता है। तब कुण्डलिनी स्वयं भू लिङ्ग के छिद्र का भेदन कर ब्रह्मद्वार के मध्य में चित्रिणी नाडी के मुख में पहुंच जाती है।–

वस्तुतः बन्धत्रय के साधन में प्राणायाम का क्रम परिवर्तित हो जाता है। यहां प्रथम रेचक का अनुष्ठान होता है। वायु के रेचन से मूल में उदर का पश्चिम (पीठ) की ओर दबाव हो जाता है तथा गुदा का आकुञ्चन स्वयं हो जाता है जिससे अपान ऊपर की ओर आकृष्ट होता है। हूं मन्त्र व हंस के उच्चारण से भी यही प्रक्रिया होती है। अतः मूलबन्ध की सिद्धि के हेतु प्रथम वायु को नासिका से बाहर की ओर वेग पूर्वक निकाले।

इसके पश्चात् पूरक क्रिया द्वारा वक्षस्थल को ऊपर की ओर खींचे। जिस मुद्रा से महा पक्षी अविश्रान्त उड़ता जाता है वह ओड्डीयाण बन्ध है। उड़ते समय पक्षी अपने पंखों को फैला कर वक्ष की जिस प्रकार क्रिया करता है वैसे ही साधक को पूरक प्राणायाम द्वारा वक्षस्थल एवं उदर प्रदेश को ऊपर की ओर आकृष्ट करना होता है यह ओड्डीयान बन्ध है। इस बन्ध को मृत्यु रूपी मातङ्ग के लिये केशरी के समान कहा गया है। कहा है।–

ओड्डयानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
ओड्डियाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्ग केशरी ॥

मूलबन्ध एवं ओड्डियाण में क्रमशः रेचक एवं पूरक करने के बाद जालन्धर बन्ध से कुम्भक का अभ्यास करे। जिससे शिर में उद्भूत नभो जल का बन्धन होता है वह जालंधर बन्ध है। जालन्धर बन्ध करने से कण्ठ का संकोच हो जाता है। जिसके कारण सहस्रार से अधोगामी पीयूष का अग्नि में क्षरण नहीं होता और न ही वायु का प्रवाह नीचे की ओर हो पाता है। कहा है:-

बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बन्धः कष्ट दुःखौघ नाशनः ॥
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठ संकोच लक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥

इस प्रकार बन्धत्रय के अभ्यास से प्राणायाम की सिद्धि होती है। यह हठयोग के अन्तर्गत है। श्री स्वामी श्री गुरुवरने बगला मुखी रहस्य में कहा है :-

"अष्ट कुम्भकमभ्यस्य मूलबन्धमुड्डीयानं जालंधराख्यं बन्धत्रयं सम्पाद्य प्राणान् नियन्तुं हठाभ्यासिनां प्रशस्तोपायः।"

मन्त्र योग एवं नाद योग के समान ही हठयोग की भी राजयोग में परिणिति हो जाती है। श्रीमद्भगवद्गीता के छठवें अध्याय की टीका में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने बन्धत्रय की प्रकिया एवं स्वानुभूत योगानन्द का अत्यन्त सजग एवं सजीव वर्णन किया है।

पतञ्जलि के योग दर्शन में भी **'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'** सूत्र में नासा पुटों से प्राण वायु के रेचन तथा धारण को मन की दृढ स्थिति के लिये साधन के रूप में प्रतिपादन किया है।

आगे द्वितीय पाद में भी 'धारणासु च योग्यता मनसः' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार व्यास ने उपर्युक्त सूत्र का उद्धरण दिया है जिसका अभिप्राय है कि प्राण के रेचन और धारण के अभ्यास से ही मन की योग्यता धारणा के अभ्यास में सिद्ध होती है। इसके पश्चात् प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है। अर्थात् महामोहमद इन्द्रिय जाल के संसार निबन्धक कर्म से सत्त्व का जो आवरण होता है वह प्राणायाम से क्षीण हो जाता है। कहा है कि प्राणायाम से श्रेष्ठ अन्य कोई तप नहीं है इससे ही आणव आदि मलत्रय की शुद्धि तथा ब्रह्म ज्ञान की दीप्ति होती है।

यह प्राणायाम बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का कहा गया है। यहां गुरुपादुका जप के अभ्यास के लिये आभ्यन्तर प्राणायाम का ही विधान है अतएव योनि मुद्रा मन्त्र योग बन्धत्रय का विस्तृत विवरण दिया है। शाम्भवी मुद्रा एवं खेचरी मुद्रा आभ्यन्तर प्राणायाम की सिद्धि का कारण हैं अतः इनका किंचित् विवरण प्रस्तुत है। — (बगलामुखी रहस्यं)

शाम्भवी मुद्रा

अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः निमेषोन्मेष वर्जितः।
एषा हि शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

शाम्भवी मुद्रा सभी सम्प्रदायों में ग्रहण की गई है। वैष्णव इस को वैष्णवी मुद्रा, शाक्त भैरवी मुद्रा, शैव शाम्भवी मुद्रा आदि नामों से इस को स्मरण करते हैं। सभी तन्त्रों में इस को गुप्त रखा गया है। आगम शास्त्र में साधकों की सुविधा के लिये इसको स्पष्ट कर दिया है। साधक अन्तः लक्ष्य को ध्यान में स्थापित कर दृष्टि को निमेष एवं उन्मेष से वर्जित कर बाह्य अर्थात् खुली आखों से लक्ष्य का अवलोकन करें। कोई साधक अर्धनिमीलित चक्षुओं से एक टक दृष्टि कर नासिका के अग्रभाग का अवलोकन करते हैं, अन्य साधक क्रूर दृष्टि से भ्रूमध्य का ध्यान करते हैं। बाह्य दृष्टि से

धारणा अर्थात् चित्त किसी बाह्य देश में स्थिर हो जाता है। निमेष–उन्मेष से वर्जित दृष्टि से निरन्तर देखने से चित्त की स्थिरता सम्पन्न हो जाती है।

लक्ष्य तीन प्रकार के कहे गये हैं। देह के अन्तर्गत सुषुम्ना में प्राण का संचार होने पर कोटि तडित् समान आभा से युक्त प्रकाश होता है यह प्रकाश मूलाधार से ब्रह्म रन्ध्र पर्यन्त योगी अवलोकन करता है। यह अन्तर्लक्ष्य है। दूसरे, तर्जनी के द्वारा कर्णों के छिद्र बन्द कर लेने पर कर्ण रन्ध्रद्वय में फूत्कार शब्द होता है। वहां मन को संलग्न करने पर चक्षुओं के अन्दर नील प्रकाश स्थल का अवलोकन करने से निरतिशय सुख उत्पन्न होता है। इस प्रकार ज्योति प्रकाश एवं शब्द प्रकाश को अन्तर्लक्ष्य कहा गया है। निमेषोन्मेष रहित चक्षुओं से बाह्य प्रदेश में दृष्टि का बन्ध करने से अन्तर्लक्ष्य की अनुभूति होती है। इस प्रकार अन्तर लक्ष्य एवं बाह्य लक्ष्य सिद्ध होने पर शाम्भवी मुद्रा सिद्ध होती है। लक्ष्य के एकाकार होने पर ही पर–शिव गुरु का दर्शन होता है।

खेचरी मुद्रा

श्री गुरुदेव स्वामीजी महाराजने योग विधि निरूपण अध्याय में गुरु दर्शन का महत्त्वपूर्ण उपाय खेचरी मुद्रा कहा है। अङ्गों की शिथिलता का त्याग कर नासिका के अग्रभाग पर नेत्रों को आरोपित करे। मुख को इस प्रकार खोले कि दांतों से दांत का स्पर्श न हो। जिह्वा को व्यावृत कर तालु में स्पर्श करे तथा आधारस्थ योनि मण्डल में मन को धारण करे। यह परमा मुद्रा निरालम्बा अथवा खेचरी मुद्रा के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार धारणा करने से ध्यान के अभ्यास की योग्यता प्राप्त होती है तदनन्तर ध्यान सिद्ध होने पर पतञ्जलि के क्रम के अनुसार समाधि की सिद्धि होती है।

(बगला मुखी रहस्यं)

इतना ही नहीं सद्गुरु खुद शिष्य की खोज में खिन्न होकर कहता है।

चलते-चलते पगु थका, नगर रहा नौ कोस।
बीच में डेरा पड़ा, कहहु कौन को दोष॥

अभी बहुत सारे सद्गुरु ही नहीं, भगवान के अवतार भी हो गए हैं। जिसमें अभी-अभी तीन-चार तो नाना प्रकार के कष्ट, रोग से मरे। अभी कुछ जिंदा दुकान लगा रहे हैं। कोई अपने को कृष्ण का अवतार, तो कोई जनक के अवतार घोषित करते हैं। बहुत से गुरु तो जेल में आकर अपने को माया से लड़ते हुए कृष्ण ही बताए हैं।

इससे सद्गुरु कबीर कहते हैं—

ये कलि गुरु बड़े परपंची, डारी ढगौरी सब जग मार।
घर-घर मंतर देत फिरत है, महिमा के अभिमाना।
गुरु सहित शिष्य सब बुड़े, अंत काल पिछताना।
गुरुआ त कुता भये, ज्ञान न जाने मूल।
शिष्य साधा अढई, रहे कान में फूंक॥

अतएव साधक का पारखी होना तथा सद्गुरु की बेचैनी का अंदाजा कबीर की उक्ति से लगा सकते हैं।

एक लोकोक्ति है। गुरु नानक देव अपने शिष्यों के साथ कहीं जा रहे थे। भीड़ काफी थी। उन्होंने हवा में हाथ हिलाया। तांबे के सिक्के बरसने लगे। अधिकांश शिष्य उसे चुनने लगे। उन्होंने आगे जाकर पीछे देखा तब उनमें से आधे लोग साथ-साथ आ रहे हैं। पुनः उन्होंने हवा में हाथ हिलाया। फिर चांदी के सिक्के बरसने लगे। आगे जाकर देखा तब केवल बाला मरदाना एवं लहना ही साथ आ रहे थे। बाकी सभी चांदी के सिक्कों में फंस गए। फिर उन्होंने हवा में हाथ हिलाया सोने के सिक्के गिरने लगे। बाला मरदाना से अब नहीं रहा गया वह उसमें फंस गया। आगे जाकर गुरु नानक जी ने देखा केवल लहना ही आ रहा है। उन्होंने पूछा, क्यों जी तुमने सोने की अशर्फी नहीं ली। वह बोला, नहीं गुरुदेव मेरे गुरु तो आप हैं। मैं आपका अनुगामी हूं। मुझे तो केवल आप ही चाहिए। गुरु नानक ने उन्हें गले से लगा लिया। वही लहना गुरु अंगद देव बना। गुरु के लिए सांसारिकता को दांव पर तो लगाना ही होगा। लेकिन आज गुरु को दांव पर संसार के लिए लगाते हैं।

मुद्रा—यह हठ योग, कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए अत्यंत लाभदायक है। अतएव निम्न प्रकार की मुद्रा हैं जो साधक को गुरु के समक्ष सीख लेनी चाहिए।

(1) खेचरी मुद्रा
(2) अश्विनी मुद्रा
(3) महा मुद्रा
(4) योनि मुद्रा
(5) शक्ति चालिनी मुद्रा
(6) शांभवी मुद्रा
(7) योग मुद्रा
(8) उन्मुनि मुद्रा
(9) विपरीत करणी मुद्रा

ये ही मुख्य मुद्राएं हैं, इसी तरह कुछ और मुद्रा भी हैं, जो साधक के लिए खास जरूरी नहीं हैं। इनका उल्लेख स्वानुभव के अनुसार ही लिख रहा हूं अतएव अन्य पुस्तकों से मेल खाना कोई जरूरी नहीं है।

खेचरी मुद्रा

यह मुद्रा योगी जन के लिए उतनी ही जरूरी है, जितना शिशु के लिए मां का दूध। कुण्डलिनी जाग्रत होने पर एवं पहले भी यह मुद्रा अत्यंत जरूरी है। तभी तो योगी जन कहते हैं–

सबसे कठिन खेचरी मुद्रा, योगीजन की मातरी।
जो जन साधन करत निरंतर, भव सागर तर जातरी।।

इस विद्या को सद्गुरु विश्वामित्र ने राम को अपने सिद्धाश्रम (बक्सर) में दिया था। जिसके बारे में वर्णन आता है। ऐसी युक्ति बता दी जिससे शरीर की कांति दिन रात बढ़ रही है, भूख प्यास नहीं लगती है। इसमें अमृत का पान करना होता है। सहस्र दल कमल से अमृत हर समय झर रहा है। जो मुंह में थूक या रस के रूप में मालूम होता है। तालु में ऊपर एक गड्ढा-सा है तथा उसमें एक छोटा-सा मस्स (लिंग) सा है जिसके बारे में शास्त्रों में कहा गया है कि वही अमरनाथ है। जिस पर हर समय टप्-टप् अमृत रूपी रस गिरता रहता है। भगवान शंकर ने कहा है कि जो व्यक्ति गुरु कृपा से उस अमरनाथ का दर्शन कर लेता है, उसका सारा पाप क्षय हो जाता है। जो उस अमृत का पान करता है, उसके लिए संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता है। वह व्यक्ति सब सुख भोगकर स्वर्ग का अधिकारी होता है। उसी को पीकर योगीजन आनंद में मग्न रहते हैं। (मीरा भई बावरी) मीरा

उसी अमृत रूपी मद को पीकर प्रभु प्रेम में बावली हो गई। इसी से इसे योगीजन की मां कहा गया है।

सात रस–खेचरी मुद्रा के सात रस आते हैं तथा विभिन्न प्रकार के रस के साथ शारीरिक क्रिया भी भिन्न होती जाती हैं। जैसे साधक यदि पहले पहल शुरू कर रहा है तो 'खारा' स्वाद मालूम होगा। जो साधक के शरीर की नाड़ियों का शोधन करता है। जिससे प्रारंभ काल में कुछ फोड़ा-फुंसी या घाव होने की संभावना है। शरीर की सफाई में यह होता है। साधक निरंतर इस मुद्रा में रह सकता है। कार्यालय में काम करते समय या घूमते, पढ़ते-लिखते, हर समय इस मुद्रा में रहकर अमृतपान कर सकता है। इस तरह **दूसरा रस** कुछ **'सुस्वादु'** होगा। खारापन दूर हो जाएगा। साधक की एकाएक स्मरण शक्ति बढ़ने लगेगी। साधना में मन लगने लगता है। वैखरी छूट जाता है। **तीसरा** रस मीठा मिश्री की तरह लगता है। कुछ काल के बाद जब यह रस मिलेगा तो उसके शरीर में कोई रोग नहीं होगा। साथ ही दिव्य दृष्टि आने लगती है। इसी तरह **चौथा** रस मधु की तरह है। इस रस के प्राप्त होने पर योगी को भूख-प्यास नहीं सताती है। अपने आप में मस्त रहता है। उसके बाद सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जो कहता है। वही होने लगता है। **पांचवें** रस में मादकता रहती है। जिसमें योगी को अपने शरीर का भान भूल जाता है। मालूम होता है मीरा की तरह मद पीकर बावला हो गया। जो बोलता है, वही काव्य हो गया।

छठा रस जब योगी प्राप्त करता है तो अत्यंत विह्वल हो जाता है। दिव्य दृष्टि, दूर श्रवण, त्रिनेत्र, पर काया प्रवेश की शक्ति या एक साथ कई जगहों पर उपस्थिति या सूक्ष्म शरीर ग्रहण कर जगत हित या दूरस्थ अपने शिष्य को साधना बताता है या विचलित होने पर बचाता है। इसे अब किसी भी चीज की जरूरत नहीं रहती, न ही प्रकृति इसके लिए कोई कमी करती है। इसकी इच्छा मात्र से जागतिक, दैविक क्रियाएं संपन्न हो जाती हैं।

सातवां रस प्राप्त होने पर योगी शरीर अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। उसकी इच्छा पर मृत्यु निर्भर करती है। जिस अवस्था में सातवां रस प्राप्त होता है वही अवस्था रह जाती है। उम्र के बंधन से मुक्त हो जाता है। भगवान शंकर कहते हैं–जिस समय सातवां रस योगी प्राप्त कर लेता है, वह हमारे ही सदृश्य हो जाता है। भीष्म पितामह या सनक, सनंदन, सनत कुमार, नारद आदि। अभी भी भारत में कुछ ऋषि हैं जो इस रस का पान कर आनंद से रह रहे हैं। इस तरह खेचरी मुद्रा की जितनी ही व्याख्या की जाए कम होगी। सद्गुरु कबीर, मीरा ये सब इसी से स्वयं सिद्ध कहलाते हैं।

विधि—सबसे पहले साधक गुरु के सान्निध्य में उचित दिन तय कर ले तथा सफेद रुमाल, महीन पीसा हुआ वच एवं बहेड़ा ले ले। इसे पीस कर कपड़े से छाने अन्यथा मोटा रहने पर जीभ कटने का भय है। सुबह नित्य क्रिया से निवृत्त होकर जीभ में बहेड़ा का लेप करे, तब कपड़े से जीभ को दोनों हाथों के अंगूठों एवं अनामिका से अच्छी तरह पकड़े एवं बाहर की तरफ तीन बार खींचें। तीन बार आगे खींचें एवं तीन-तीन बार बाएं दाएं खींचें। तत्पश्चात पानी से कुल्ला कर ले। हाथ के अंगूठे से ऊपर तालु के गड्ढे को साफ करे। अमर लिंग का स्पर्श कर जीवन को कृतार्थ करे। उसके चारों तरफ के उठे हुए मांस को हटाए या कुछ दबाए, कुल्ला करे। तब तीनों अंगुली, कनिष्ठ एवं अंगूठा छोड़कर भीतर ले जाएं। एक छोटी जीभ है उसको ऊपर नीचे से साफ करे, कुल्ला करे। इस तरह ऊपर एवं नीचे को तीन-तीन बार साफ करे। तत्पश्चात वच को लेकर जीभ के ऊपर नीचे अच्छी तरह मल दे एवं कपड़े की मदद से दोनों हाथों से भी जीभ को पकड़ कर तीन बार बाहर यानी आगे की तरफ तथा तीन बार बाएं-दाएं ले जाए। यह क्रिया एक मात्रा कहलाएगी। इस तरह तीन बार करे। यह लंबिका क्रिया पूर्ण हुई। इस तरह सुबह मुंह धोते समय एवं शाम को स्नान करते या नित्य क्रिया से निवृत्त होने के पश्चात लंबिका क्रिया अवश्य करे।

साधक साधना के समय खेचरी मुद्रा में ही बैठे। जब अभ्यास हो जाए तब साधक हर समय खेचरी मुद्रा में रह सकता है। खेचरी करना ही मद पीना या मांस भक्षण करना शास्त्रों में आया है। यथा—

"मांस खावे मदिरा पीवे तब योगी पक्का होवे।"

यही रस पीना मद पीना है। अमर लिंग के आस-पास के मांस को जीभ से हटाना ही मांस भक्षण है। यह मुद्रा साधक के व्यक्तित्व को एकाएक बदल देगी एवं उसकी साधना में चार चांद लगा देगी।

सावधानी—लंबिका क्रिया में वच एवं बहेड़ा का प्रयोग कम से कम 45 दिन तक अवश्य करना चाहिए। यदि कहीं जाते हैं तो साथ रखें एवं सुबह-शाम स्नान गृह में ही कर लें। इसे भी गुप्त रखें। इसको किसी के सामने प्रदर्शित न करें। यह अत्यंत गोपनीय मुद्रा एवं साधना दोनों ही है। गरम पदार्थ का त्याग करें। चाय या दूध अत्यधिक गरम न पिएं। गरम पदार्थ से जीभ का छल्ला जलता है। जिससे खेचरी के द्वारा प्राप्त रस का स्वाद नहीं मिल पाता। अतएव कुछ ठंडा करके ही पिएं। चाय यदि जरूरी हो तो 200 ग्राम से ज्यादा 24 घंटे में किसी भी हालत में न पिएं। कम से कम बोलें। ज्यादा से ज्यादा योगयुक्त खेचरी मुद्रा में रहें।

अश्विनी मुद्रा

साधक पद्मासन या सिद्धासन पर सीधा बैठ जाए। आंख को नासिका के आगे स्थिर रखे तथा खेचरी मुद्रा किए रहे। तत्पश्चात योनि मंडल को घोड़े (अश्व) के सदृश्य बार-बार सिकोड़े इस बार-बार सिकोड़ने एवं छोड़ने को ही अश्विनी मुद्रा कहते हैं। इससे वीर्य स्नायु तंतु मजबूत होता है। अपान वायु शुद्ध होता है। प्राण के स्थान तथा कुण्डलिनी के जाग्रत करने में मदद मिलती है।

महामुद्रा

साधक बाएं पैर में एड़ी को गुदा एवं लिंग के बीच रखे। उसी पर पूरे शरीर का भार दे। तब दायां पैर सीधा कर दे। तब धीरे-धीरे पूरक करे एवं मूलबंध तथा जलंधर बंध लगाकर दाएं पैर के अंगूठे को दोनों हाथ से पकड़े एवं सिर को दाएं पैर के घुटने पर लगावे यथाशक्ति कुंभक इसी स्थिति में रहे। ऐसी कल्पना करना है कि प्राण वायु कुण्डलिनी को जाग्रत कर सुषुम्ना में प्रवेश कर रही है। जब कुंभक अपने आप से नहीं रोका जा सके। तब सिर धीरे-धीरे ऊपर करते हुए उठाए। इस तरह छः बार करे तथा दूसरे पैर से भी इसी तरह बैठ कर छः बार करे। अपनी क्षमता के अनुसार इसे बढ़ा सकते हैं।

इससे कुण्डलिनी शीघ्र जाग्रत होती है। साथ ही प्रमेय एवं उदर पेट की बीमारी का नाश होता है।

योनि मुद्रा

साधक सीधे सिद्धासन पर बैठ जाए तथा दोनों अंगूठे से दोनों कानों को बंद करे। दोनों तर्जनी से दोनों आंखों को, दोनों मध्यमा अंगुली से दोनों नाक को, दोनों अनामिका एवं कनिष्ठा को होंठ पर रखे। इसे ही योगीजन षड्मुखी मुद्रा कहते हैं। तत्पश्चात जीभ को कौवे के चोंच की तरह बनाकर वायु का पूरक करे तथा अपान वायु के साथ मिलावे तब मूल मंत्र का जाप करते हुए, कुण्डलिनी पर आघात करे एवं ऐसी भावना करे कि कुण्डलिनी जाग्रत होकर चक्रों का भेदन कर सहस्त्र दल की तरफ जा रही है। शरीर ज्योति से भर गया है। पूरा शरीर प्रकाशमय है इससे अंदर ज्योति का साक्षात्कार शीघ्र होता है। कुण्डलिनी जगाने में साधक को सहायता मिलती है।

शक्ति चाालिनी मुद्रा

साधक सबसे पहले प्रसन्नचित्त सिद्धासन या पद्मासन पर सीधे बैठ जाए। एक छोटा-सा सफेद कपड़ा कटि सूत्र के सहारे नाभि पर बांध लें। यदि संभव हो तो शरीर पर भस्म का लेप कर ले। अन्यथा कोई जरूरी नहीं है। अब दोनों हथेली को जमीन पर दृढ़ता से जमा दे। तत्पश्चात धीरे-धीरे नितंबों को जमीन से ऊपर उठाए एवं तब मूलबंध बांधकर दोनों नासिका से पूरक करे। जलंधर लगाकर कुंभक करे। जब तक कुंभक में रह सकते हैं, रहे। कुंभक के समय अश्वनी मुद्रा भी करें, तब जलंधर खोलकर दोनों नासिका से रेचक करे। अब मन को शांत कर एकाग्र बैठ जाए एवं ध्यान करे।

इससे साधक को स्वास्थ्य लाभ के साथ कुण्डलिनी जगाने में मदद मिलती है। योगी लोग तो इसे सर्व रोग नाशक तक कह दिए हैं। यह अत्यंत ही लाभप्रद है।

शांभवी मुद्रा

साधक पद्मासन या सिद्धासन पर निश्चिंत बैठ जाए। गुरु के द्वारा दिए गए मंत्र का जाप करते हुए नासिका के अग्रभाग पर ध्यान केंद्रित करे। अग्रभाग पर ध्यान केंद्रित कर श्वास को देखे एवं इसके साथ मंत्र भी स्मरण करता रहे या त्रिकुटी पर त्राटक भी कर सकते हैं। त्रिकुटी पर ध्यान देकर भी उसी मंत्र का जाप करता रहे। खेचरी मुद्रा के साथ मूल एवं उड्डियान बंध भी लगाना है। अतएव साधक इन बंधों एवं मुद्रा के साथ ही ध्यान करे।

इससे साधक का मन शांत होता है। ध्यान केंद्रित होता है, आत्म प्रकाश का दर्शन होता है। कुण्डलिनी जाग्रत होने में मदद मिलती है।

योग मुद्रा

साधक पद्मासन पर सीधा बैठकर मूलबंध लगा ले। दोनों नासिका से पूरक कर जलंधर बंध लगा लें। अब दोनों हाथों को पीछे ले जाकर एक दूसरे की कलाई पकड़ ले तथा एड़ी से पेट को दबाते हुए, शरीर को आगे झुकाते हुए, सिर को जमीन पर लगा दे। जब तक कुंभक की स्थिति में रह सकते हैं, रहें। तत्पश्चात शरीर को ऊपर उठाकर सीधा हो जाए।

जलंधर बंध खोलकर दोनों नासिका से रेचक करे। इस तरह कम से कम 12 मात्रा अवश्य करे। इससे भी शरीर स्वस्थ होता है। कुण्डलिनी जाग्रत करने में मदद मिलती है।

उन्मुनी मुद्रा

'सहजे उनमुनी जागें, सहजे मिले रघुराई।' इस मुद्रा से ध्यान किया जाता है। साधक चाहे जिस आसन पर आराम से बैठ सकता है। बुद्ध की तरह ध्यान मुद्रा यानी अधखुली आंख से नासिका के अग्रभाग पर ध्यान करना है। यदि साधक तीन माह लगातार ध्यान करे तो मन शांत हो जाएगा। साथ ही स्वर भी दिखलाई पड़ जाएगा। स्वर के दिखलाई पड़ते ही साधक के अंदर एक विचित्र तरह का बदलाव आ जाता है। वह बुद्ध की तरह ध्यान को उपलब्ध होने लगता है।

विपरीत करणी—इसे शीर्ष आसन भी कहते हैं। शुरू में साधक को दीवार के नजदीक एक गद्देदार वस्त्र को रख देना चाहिए, तब दोनों हाथों को सिर के पीछे रखकर मस्तक को कपड़े पर रखकर उल्टा सीधा शरीर को उठा दें। शुरू में दीवार के सहारे श्रेयस्कर है। बाद में स्वयं अलग कर सकते हैं। इससे जलंधर एवं मूल बंध भी लगा सकते हैं। प्रथम दिन 1 मिनट ही करें, इस तरह इसे 10 मिनट तक बढ़ाएं। इस तरह से ज्यादा न करें इसके बाद 10 मिनट खड़ा रहे। जिससे जो खून उल्टा दौड़ा है, वह अब सीधा हो जाए।

इसमें दूध का सेवन जरूरी है। इसमें नेत्र, मस्तिष्क, उदर रोग दूर होता है। जठराग्नि मजबूत होती है। ब्रह्मचर्य धारण करने में मदद मिलती है। यह क्रिया शरीर के लिए अत्यंत लाभदायक है। परंतु ठीक से नहीं हो पाए या खान-पान ठीक नहीं हो रहा है तो योगी को पागलपन भी आ सकता है। अतएव इसे बहुत सावधानी एवं गुरु के निर्देश पर करना उचित है।

साधक के स्वास्थ्य एवं कुण्डलिनी जाग्रत करने में मदद करने के लिए कुछ आसन की भी आवश्यकता है। आज का विश्व मानव नाना प्रकार की बीमारियों से ग्रस्त है। यह बीमारी मानसिक स्तर से लेकर शारीरिक स्तर तक की है। सबसे पहले व्यक्ति का मन बीमार होता है, तत्पश्चात शरीर। यदि मन स्वस्थ है तो शरीर में विकार पड़ने की कम उम्मीद है। अतएव मन के लिए जितना आवश्यक योग है। उतना ही शरीर के स्वास्थ्य के लिए आसन। इस

बस, ऐसी लगन लगाए, जिसने मीरा को कृष्ण का दीवाना कर दिया था। सूरदास को आंतरिक चक्षु प्रदान करा दिए थे। चैतन्य महाप्रभु को परम उच्चकोटि की भगवत् नाम कीर्तन करने में तन्मयता प्राप्त करा दी थी। रामकृष्ण परमहंस और स्वामी रामतीर्थ को जिस प्रकार अपनी सुध-बुध भूल गई थी, जिस कुण्डलिनी शक्ति के स्फुरण मात्र से स्वामी विवेकानंद कई दिन के लिए समाधिस्थ हो गए थे और उनका जीवन ही बदल गया था, ऐसी तन्मयता, ऐसी चाह और ऐसी लगन जिस दिन जिस सच्चे योगी, साधक, संत, साधु और भक्त में जग जाएगी, उसे उस महाशक्ति के दर्शन में फिर कुछ चेष्टा नहीं करनी होगी और न ही उसके द्वारा कुण्डलिनी जागरण में कुछ विलंब ही होगा। ऐसी सिद्धि प्राप्त होने पर सब कुछ परम शांत, एकरस, एकाग्र और सर्वत्र आनंद-ही-आनंद का अनुभव होने लगेगा।

अपने अंदर की शक्ति को जगाने के लिए, उस अनन्त शक्ति के उद्गम का ध्यान करना चाहिए, हृदय से करुण पुकार उठनी चाहिए, उस दिव्य शक्ति को उजागर होने के लिए विवश कर दिया जाना चाहिए। जिस दिन ऐसी मार्मिक अंतर्हृदय से साधक के हृदय में अपने आपको और अपनी रहस्यमय कुण्डलिनी के जाग्रत कर देने की अत्यंत बलवती दृढ़ इच्छा पूर्णतया प्रबल आत्मविश्वास के साथ उदय हो जाएगी, बस ठीक उसी क्षण साधना के, उस निर्मल ज्ञान के, उस निर्मल सूर्य का उदय हो जाएगा। सच्चे आत्मप्रबोधन का विश्वास करने योग्य यही एकमात्र साधनमार्ग है।

ध्यान लगाने की सबसे उपयुक्त प्रक्रिया यह है—शांत होकर अपने नेत्र बंद करो और अपने अंतर्मन में धीरे-धीरे उतरते जाओ और क्रमशः बाहर की स्थिति से स्वयं को भूल जाने का प्रयत्न करो और साथ ही एक परम दिव्य, ज्योतिर्मय, सर्वव्यापक, नित्य शुद्ध, अजर-अमर, सर्वज्ञ, आनंद स्वरूप उस अनंत रहस्यों के रहस्य श्रीमन् नारायण का निरंतर ध्यान करते-करते मन की इतनी अनंत गहराइयों में उतरते जाओ जिसका कोई छोर, कोई अंत ही दिखाई न दे। ऐसा लगातार विचार करते-करते उस परम आनंदमय परात्पर, परब्रह्म स्वरूप मूलाधार चक्र में सुषुम्ना के द्वार पर स्थित कुल कुण्डलिनी शक्ति जो नेत्रों को चौंधिया देने वाले अवर्णनीय तेजोमय रूप से विद्यमान है, अपने प्राणों को अपान के साथ मिलाकर, उस स्थान पर स्थिर कर देने का अथक प्रयत्न करो, अपनी संपूर्ण प्रवृत्तियों को उधर ही लगा दो; इस क्रिया से परमानंद की प्राप्ति अवश्य प्राप्त होगी।

बंधों का परिचय

घेरण्ड संहिताकार ने योगसिद्धि में सहायक 25 मुद्राओं का वर्णन किया है। इन 25 मुद्राओं के अभ्यास के बिना कुण्डलिनी जाग्रत नहीं होती। मुद्राएं नाड़ियों के अंदर स्थित विकारों को दूर करने की अद्भुत शक्ति रखती हैं।

शरीर में अनेक प्रकार के विकार भरे पड़े हैं। गलत खान-पान के कारण एवं दूषित मल-विसर्जन प्रणाली के कारण दोषों का ठीक-ठीक बहिष्कार न होने के कारण कुछ विकार अंदर नाड़ियों में रुक जाते हैं। उनके निष्कासन में मुद्राओं का बड़ा महत्त्व है। इन्हीं मुद्राओं में तीन प्रकार के बंधों का भी वर्णन है। ये बंध मल-विसर्जन की क्रिया को तो नियमित करते ही हैं, कुछ चक्रों पर भी उनका अद्भुत प्रभाव पड़ता है।

उड्डीयान बंध, जालंधर बंध और मूलबंध। इन तीनों का वर्णन हठयोग शास्त्र में दिया गया है। ये स्वास्थ्य के लिए अत्यंत उपयोगी तो हैं ही, इनकी क्रियाएं भी सरल हैं। इनके करने में भी कठिनाई नहीं है।

इनके अभ्यास से मानसिक शक्ति बढ़ जाती है, पाचन-शक्ति प्रज्वलित हो जाती है। मूलाधार काम-केंद्र है, उस पर दबाव पड़ने से वासना का शमन होता है, अतः मानसिक व्याधियों का निराकरण सहज ही हो जाता है।

उड्डीयान बंध

संसार के किसी भी व्यायाम में ऐसी व्यवस्था नहीं है कि पेट के सभी यंत्रों को कुछ क्षण के लिए विश्राम दिया जा सके। यह व्यवस्था केवल यौगिक विधि में ही है। उड्डीयान बंध से पेट की पेशियों को पूर्णरूप से विश्राम तो मिल ही जाता है, उनकी मालिश की क्रिया भी हो जाती है।

उड्डीयान शब्द का अर्थ है, उड़ने की कला। यह बंध कुण्डलिनी को जाग्रत करने में सहायक होती है और बहिर्मुखी वृत्तियों को अंतर्मुखी बनाता है। इस प्रकार इस बंध के सध जाने से आत्मोत्थान का मार्ग प्रशस्त होता है।

उड्डीयान बंध निम्न दो प्रकार से किया जाता है—

- बैठकर
- खड़े होकर

बैठकर किया जाने वाला उड्डीयान पद्मासन में बैठने से सिद्ध होता है। इसमें पहले पद्मासन लगाकर बैठें और हाथों को घुटनों पर रखें। दाहिना हाथ दाहिने घुटने पर और बायां हाथ बाएं घुटने पर रहेगा। फिर अंदर की सारी वायु निकाल दें और श्वास बाहर ही रोककर पेट को अंदर की ओर खलाएं। जब पेट अंदर चला जाए, तब नाभि के नीचे के भाग को भी सिकोड़ें। इस प्रकार महाप्राचीरा (डायाफ्राम) ऊपर की ओर उठेगी और नाभि के नीचे के अंग, पेड़ू, गुदा और लिंग के आसपास की पेशियों का शिथिलीकरण हो जाएगा। नीचे के चक्रों का संचालन होगा।

खड़े होकर उड्डीयान करने की विधि यह है—पहले सीधे खड़े हो जाएं। थोड़ा घुटनों को मोड़ें और दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखें। अब कंधों और गरदन का भार हाथों पर डाल दें। यह उड्डीयान बंध की पूर्व तैयारी की आकृति है।

इस आकृति में आकर श्वास बाहर निकाल दें। अंदर की सारी वायु बाहर निकल जानी चाहिए। फेफड़ा एकदम वायुरहित हो जाए। अब घुटनों पर हाथों द्वारा बल देते हुए पेट को अंदर खलाएं। पेट इतना खलाना चाहिए कि पेट के अंदर गड्ढा-सा बन जाए। इस स्थिति के बाद नाभि के नीचे के भाग पेड़ू एवं गुदा तथा लिंग-मूल के चारों ओर की पेशियों को ऊपर की ओर तानें। ऐसा करने से उदर एवं पेड़ू व नीचे की पेशियों का शिथिलीकरण हो जाएगा। इसी स्थिति में रहकर, पेट का तनाव कम कर दें और धीरे-धीरे श्वास अंदर जाने दें। फेफड़े में श्वास भर जाने दें। यह एक बार पूर्ण उड्डीयान हुआ।

जो योगी साधक नए हैं, उन्हें प्रारंभ में यह क्रिया एक ही बार करनी चाहिए। 4-5 महीने में अभ्यास के बाद 2 या 3 बार यह क्रिया की जा सकती है। यह संसार में प्रचलित सभी व्यायामों में अद्‌भुत व्यायाम है। इससे आध्यात्मिक शक्ति तो जाग्रत होती ही है, पेट की सभी पेशियों को विश्राम भी मिल जाता है। इस बंध के अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्ना के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र की ओर उड़ने लगती है।

जालंधर बंध

जालंधर नाम के एक योगिराज हुए हैं। हो सकता है कि उन्होंने ही इस बंध का आविष्कार किया हो, जिस कारण इस बंध का यह नाम पड़ गया हो। इसकी विधि यह है—पद्मासन पर बैठ जाएं। शरीर व मेरुदण्ड को सीधा और स्थिर रखें। फिर गरदन की मांसपेशियों को ढीला करके नीचे की ओर झुकाएं। इससे गरदन में स्थित मेरुदण्ड का भाग भी झुकेगा। गला और ठुड्डी स्पर्श करेगी। यह बंध लगाकर प्राणायाम का पूरक (श्वास रोकने की क्रिया) करें। जब तक श्वास रुकती है, तब तक बंध लगा रहता है। इसके पश्चात् गरदन को ढीला कर दिया जाता है और श्वास निकाल दी जाती है या रेचक किया जाता है।

कुछ आचार्य कहते हैं कि सिर और गरदन को इतना झुकाना चाहिए कि ठुड्डी, हंसली की हड्डी के नीचे छाती के भाग को स्पर्श करे और हृदय तथा ठुड्डी में 4-5 अंगुल का अंतर रह जाए। यह बंध बुढ़ापे को रोकता और झुर्रियों को नष्ट करता है। यह मृत्यु और रोग को जीतने वाला है। इडा और पिंगला दोनों नाड़ियों का इस बंध से अवरोध होता है। इनके अवरोध से प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी से प्रभावित होने लगती है।

कुण्डलिनी जागरण में बंधों का महत्त्व

इस बात को हम पहले कई बार बता चुके हैं कि कुण्डलिनी शक्ति का निवास स्थल ''मूलाधार चक्र'' में

अवस्थित है। अधिकांश रूप-से कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने के लिए मूलाधार चक्र पर चेतना शक्ति को अर्थात् ध्यान को एकाग्र कर मेरुदण्ड के सबसे निचले स्थान पर, जहां महानाड़ी सुषुम्ना के द्वार पर नीचे की ओर मुख करके कुण्डली सुप्तावस्था में पड़ी हुई है, ले जाया जाता है। नए साधकों को इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि वे कुण्डलिनी को छेड़ने का साहस और प्रयास अत्यंत सावधानी के साथ करें।

साधक का सर्वप्रथम कर्तव्य है—कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्वमुखी बनाना। ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि एवं रुद्रग्रंथि—इन ग्रंथियों को भेदन करना भी आवश्यक है। इसके अनंतर ही कुण्डलिनी जागरण आरंभ होता है। जब तक तीनों महाग्रंथियों का भेदन न हो जाए (अर्थात् साधक की संपूर्ण आसक्तियां, दुर्बलताएं, कामनाएं, इच्छाएं लोप न हो जाएं), तब तक कुण्डलिनी शक्ति का ऊर्ध्वमुखी होना आरंभ नहीं होता। उचित तो यही है कि पहले बंधों (मूलबंध, उड्डीयान बंध न जालंधर बंध) के द्वारा साधना करके सोलह आधारों को सिद्ध कर लेना चाहिए। आधारों का अर्थ है, शरीर के वे सक्रिय अंग जो मर्मस्थल कहलाते हैं। जब उन आधारों के मार्ग से चेतना को बाहर निकालने में समर्थ हो जाएं, तो बंध-साधन करना चाहिए।

इन सोलह आधारों के अवरुद्ध हो जाने के अनंतर चेतनशक्ति पूर्णतया अंतर्मुखी हो जाती है। मूलबंध.नामक अत्यंत महत्त्वपूर्ण यौगिक क्रिया जो अपने आप में गुप्त, रहस्यात्मक और चमत्कारी है; इसके साधन से कुण्डलिनी शक्ति के भयंकर तेज को सहने और संभालने की शक्ति प्राप्त होती है।

यौगिक क्रिया 'मूलबंध'

कुण्डलिनी जागरण से पहले की प्रक्रिया है, मूलबंध साधना! समस्त यौगिक क्रियाओं में मूलबंध अपना श्रेष्ठ स्थान रखती है। यह चमत्कारी क्रिया बाह्य, आंतरिक, स्थूल तथा सूक्ष्म है। इसमें देह (शरीर) के साथ-साथ मानसिक विचार का प्रयोग भी किया जाता है। ब्रह्मचर्य, जप, तप, भक्ति, ज्ञान-विज्ञान, मनन, चिंतन, कला, संगीत, अध्ययन तथा समस्त प्रकार की यौगिक साधनाएं मूलबंध के बिना व्यर्थ हैं।

मूलबंध की क्रिया के द्वारा कुण्डलिनी योग की शुरुआत की जा सकती है। वस्तुतः कुण्डलिनी योग के मूल में मूलबंध की ही शक्ति छिपी हुई है।

मूलबंध एक ऐसी अद्वितीय अप्रतिहत गति से कार्य करने वाली शक्ति है, जिसके द्वारा कुण्डलिनी योग की चरम अनुभूति प्राप्त हो सकती है। मूलबंध के द्वारा सांसारिक, शारीरिक आनंद की चरम सीमा को पहुंचा जा सकता है।

कुण्डलिनी साधना में प्रारंभ से अंतिम सोपान तक और इसमें और इससे भी ऊपर सूक्ष्मता के साथ जाने के लिए मूलबंध क्रिया को सदा साथ लेकर ही चलना होगा। यदि मूलबंध का सहयोग और साथ न लिया गया तो असफलता का मुंह तक देखना पड़ सकता है।

मूल सबसे नीचे का चक्र है। इसी को गुदा चक्र भी कहते हैं। इस मूल को बांधने का नाम मूलबंध है। योगियों ने इसे बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इस बंध में पेड़ू, शिश्नमूल, गुदा आदि संपूर्ण अंगों और वहां स्थित मांसपेशियों पर दबाव एवं खिंचाव पड़ता है। इस बंध में वीर्यवाहिनी नसों, मूत्रवाहिनी नसों एवं गुदा की संपूर्ण नसों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। वीर्यरक्षा में यह बंध बहुत सहायक है।

उड्डीयान बंध में पेड़ू के नीचे के सभी अंगों पर तनाव और शिथिलीकरण का प्रभाव पड़ता है, किन्तु यह बंध बैठकर भी किया जाता है और खड़े होकर भी किया जाता है, लेकिन मूलबंध सिद्धासन में बैठकर किया जाता है।

मूलबंध से वीर्य के गाढ़ा होने में मदद मिलती है, स्वप्नदोष जैसा रोग भी इससे जाता रहता है। शीघ्रपतन और शुक्र तारल्य जैसे वीर्य संबंधी रोगों में इससे लाभ होता है, किन्तु यह आसन श्रद्धापूर्वक नियमित रूप-से करना चाहिए। शारीरिक सामंजस्य इस प्रकार इस बंध के द्वारा बनता है कि निर्बलता तथा वृद्धावस्था के कारण उत्पन्न

झुर्रियां आदि लक्षण मिट जाते हैं और शरीर में बल-वीर्य बढ़ता है। रोग निवारक शक्ति बढ़ती है और शरीर हृष्ट-पुष्ट, सुंदर एवं सुडौल बनता है। पाचन-शक्ति जाग्रत होती है।

सिद्धासन की अवस्था

मूलबंध के अभ्यास से एक अति महत्त्वपूर्ण ऊर्जा का उदय होता है। योगी साधक का कर्तव्य है कि उस ओज को अपने दृढ़ संकल्प और संयमित जीवन द्वारा बहुत बड़ी मात्रा में एकत्रित करे। उस ओज (ऊर्जा) को किसी प्रकार व्यर्थ न जाने दे। यह ऊर्जा कुण्डलिनी शक्ति को गलत दिशा में बढ़ने से रोकने का कार्य करती है।

मूलबंध क्रिया को संपादित करने के लिए मन, शरीर, बुद्धि, संकल्प शक्ति एवं ध्यान का आश्रय लेना पड़ता है। यौगिक साधना करते हुए साधक को ध्यान में जाने का प्रयत्न करते समय, अपने शरीरस्थ मल-मूत्र मार्ग को इच्छा के द्वारा ऊपर की ओर खींचने पर अपने ध्यान को चिंतन में लगाते हुए अपनी चेतन शक्ति को ऊंचे-से-ऊंचे ले जाने का प्रयत्न करें। फलतः कुछ दिन के इस प्रकार के चिंतन और अभ्यास से यह क्रिया ठीक रूप-से संचालित होने लगेगी।

मूलबंध क्रिया को करते हुए साधक का पेट हल्के से उड्डीयान बंध की तरह पीछे की ओर खिंच जाएगा। अपनी आंतरिक चेतना शक्ति को जाग्रत करने और ऊपर ले जाने के लिए, साधक को लगातार उपर्युक्त क्रियाओं को करते हुए, आज्ञाचक्र को और समस्त स्नायुमंडल के साथ ध्यान में एकाग्र होने की स्वयं को प्रेरणा देनी चाहिए।

ऐसी स्थिति में साधक के नेत्र या तो बंद हो जाएंगे या फिर अधखुली अवस्था में ऊपर को चले जाएंगे। मानसिक और शारीरिक ध्यान की ऐसी स्थिति का जब नियमित थोड़ी-थोड़ी वृद्धि करने पर और अच्छा अभ्यास हो जाए तो, मूलबंध का प्रभाव साधक स्वयं पर अनुभव करने लगता है अर्थात् स्नायुमंडल को चेतना प्राप्त होगी, ध्यान एकाग्र होने लगेगा, मन-मस्तिष्क को आनंद की अनुभूति होगी। कुण्डलिनी शक्ति की साधना में प्रवेश करने के लिए मूलबंध यौगिक क्रिया को करना आवश्यक है।

जब मूलाधार में स्थित सोई हुई कुण्डलिनी महाशक्ति का उत्थान आरंभ होता है, तब योग के छह चक्र तीनों महाग्रंथियों के भेदन के साथ-साथ विकसित होने लगते हैं। योगी के शरीर में स्थित महासुषुम्ना नाड़ी जिसका नीलवर्ण है, वह उस प्राणशक्ति के चलने का विशेष और प्रधान मार्ग हो जाता है। यह क्रिया प्रारंभ होते ही योगी मन, बुद्धि, समस्त इंद्रियां, सांसारिक आनंद एवं सुख की वस्तुओं के मोह से मुक्त हो जाता है।

मानो मृत्यु तक का भय समाप्त हो जाता है।

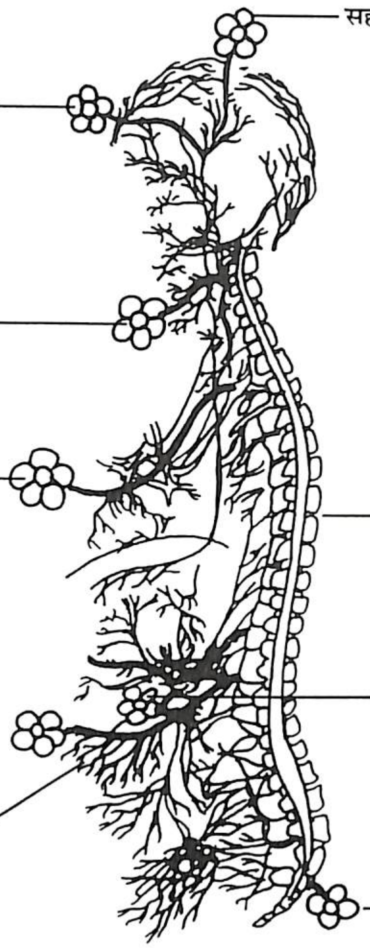

शरीर में विभिन्न योग चक्र

योग की सर्वोपरि महादेवी कुण्डलिनी शक्ति के जागरण के निमित्त उपरोक्त प्रक्रियाएं, साधकों के लिए, योग-मार्ग में अग्रसर होने के लिए वरदान सिद्ध होंगी। कुण्डलिनी जैसी शक्ति का यह ज्ञान बड़ा ही रहस्यमय और विचित्र है। साधक को कुण्डलिनी से संबंधित पहले कुछ साधारण क्रियाएं करनी चाहिए। तदनंतर कुछ और बड़ी क्रियाएं करने का प्रयास करना चाहिए। अंततः पूर्ण यौगिक संयम का (अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि का) मिश्रित प्रयास, अभ्यास एवं साधना करके उस परात्पर परब्रह्म अर्थात् स्वयं को जानने का अवसर मिल जाता है। इस संबंध में अनगिनत जागे हुए ऋषि-मुनि, संत-महात्मा आदि विद्वानों एवं शास्त्रियों ने बहुत ही स्पष्ट रूप-से कितने ही स्थानों पर अनुभवों को बताया है कि इस प्रकार की ज्ञानमयी, भक्तिमयी, योगमयी, खेचरी, प्राण-अपान साधन सहस्त्रदल कमल की कर्णिका विशेष से, जो अमृत बिंदु का क्षरण होता रहता है, उसका पान करना। ऐसी विभिन्न क्रियाओं और साधनों की उपासना से जो अद्वितीय चमत्कृत कर देने वाला, जगा देने वाला, अतुल ज्ञान प्राप्त होगा, उससे योगी का अथवा जीवात्मा का सर्वस्व परिवर्तन हो जाएगा।

इस विषय में विद्वानों का कथन है—

यदि साधना, उपासना, उत्कृष्ट प्रकार के यौगिक अभ्यासों के साधन, ज्ञान-विज्ञान, नाद, प्राण-क्रिया, भक्ति योग, सभी प्रकार के यम, नियम, संयम, तपश्चर्या आदि संपूर्ण प्रकार के साधनों के द्वारा प्रयत्न करके ज्ञान प्राप्त कर ले, तो फिर साधक के लिए कुछ और सीखने की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी। जिनकी श्रुति ऊर्ध्वगामी हो चली

है, अर्थात् जिनकी वह परचेतना महाकुण्डलिनी शक्ति सत् प्रयत्नों, साधनों, दृढ़ संकल्प और तप के प्रभाव से जाग्रत हो चली है, वह जीवात्मा साक्षात् नारायण ही हो जाता है अर्थात् जो योगी अपने प्राणों की ऊर्ध्वगति प्राप्त करा लेता है, फिर वह मनुष्य नहीं, देव तुल्य हो जाता है। समस्त धर्म, संपूर्ण योग एवं तप आदि का रहस्य कुण्डलिनी है।

मूलबंध की विधि

योग विज्ञान के अंतर्गत मूलबंध एक ऐसी महत्त्वपूर्ण यौगिक क्रिया है, जिसके जाने बिना और सीखे बिना, कुण्डलिनी साधक की स्थिति ऐसी है, जैसे बिना लगाम का घोड़ा। लगाम के द्वारा ही घोड़ा पूरी तरह से कोचवान (चालक) के वश में रहता है।

मूलबंध लगाने के लिए पहले सीधे बैठ जाइए। दोनों टांगों को सामने की ओर सीधी फैला लीजिए। अब दोनों में से किसी भी टांग को घुटने से मोड़कर, गुदा और अंडकोष के बीच में जो थोड़ी जगह बची है, उसी खाली स्थान में एड़ी को लगा लीजिए। दूसरे पांव की एड़ी को शिश्न मूल (लिंग मूल) के ऊपर जमा दीजिए। इस बात का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि यह क्रिया करते हुए अण्डकोष या जननेन्द्रिय को किसी प्रकार का कोई आघात न पहुंचे।

अब उपर्युक्त आसन में बैठे हुए, गुदा के चारों ओर की पेशियों का बलपूर्वक संकोचन करें अर्थात् ऊपर की ओर खींचिए। यह बंध आसन पर नहीं, बल्कि खिंचाव पर निर्भर करता है। इस खिंचाव या तनाव के कारण लिंग के चारों ओर की नसों और मांसपेशियों का संकोचन होता है।

अपान वायु ऊपर को उठती है। इस ऊर्ध्वगमन में लिंग और अण्डकोषों को नियंत्रण करने वाली नसों में बल आता है और शीघ्रपतन एवं नपुंसकता आदि दोष मिटने लगते हैं। इससे मानसिक शांति भी मिलती है, कुण्डलिनी शक्ति मरे हुए सर्प की भांति सीधी हो जाती है और उसकी शक्ति का प्रवाह सुषुम्ना द्वारा ऊपर की ओर होने लगता है।

जब अपान वायु ऊर्ध्व गमन करने लगती है, तब इसका संघर्ष प्राण वायु से होता है। प्राण वायु के संघर्ष से एक प्रकार की विद्युत का प्रवाह होने लगता है। इस विद्युत के प्रभाव से पाचन शक्ति में बल आ जाता है और पाचन शक्ति प्रबल होने से बल की वृद्धि होती है।

बज्रौली और विंदु साधन नामक दो क्रियाएं योगी लोग करते हैं, उन क्रियाओं की प्रथम सीढ़ी यह मूलबंध है। बज्रौली और विंदु साधन का अभ्यास उच्चकोटि के योगी करते हैं, जो ब्रह्मचर्य से कभी भ्रष्ट नहीं होते तथा ब्रह्मसिद्धि में लगे रहते हैं। कामी लोग इसे कदापि न करें।

उड्डीयान, जालंधर और मूल—ये तीन बंध हमने ऊपर लिखे हैं। ये तीनों अलग-अलग हैं और अलग-अलग लोग करते भी हैं, किन्तु प्राणायाम साधन में तीनों बंध एक साथ किए जाते हैं। पहले पद्मासन में बैठना होता है और पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर, मूलबंध लगा लिया जाता है। इसके बाद पूरक करते हैं, श्वास को अंदर भरते हैं, श्वास पूरी भर जाने पर जालंधर बंध लगा लिया जाता है; ठुड्डी को छाती से चिपका लिया जाता है और तब कुम्भक किया जाता है। श्वास को अंदर ही रोके रखने की क्रिया की जाती है।

जब कुम्भक पूर्ण हो जाता है, तब जालंधर बंध खोल देते हैं, ठुड्डी को छाती पर से ऊपर उठाकर गरदन सीधी कर लेते हैं और इसके बाद उड्डीयान बंध से पेट को खाली कर सारी श्वास बाहर निकाल देते हैं, रेचक करते हैं। इस प्रकार तीनों बंध एक साथ लगते हैं। तीनों बंध एक साथ लगाकर प्राणायाम करने से प्राण वायु सरलता से मेरुदण्ड की सुषुम्ना से गमन करने लगती है। अन्यथा इड़ा-पिंगला से गमन करती है।

कुण्डलिनी शक्ति के जागरण के लिए सिद्धासन और पद्मासन दोनों योगासनों का बहुत अच्छा अभ्यास होना चाहिए। आसन सिद्धि के लिए किसी भी एक आसन में साधक को साढ़े तीन घंटे की अवधि तक सुखपूर्वक बैठने का अभ्यास होना परमावश्यक है। वैसे पद्मासन सभी योग साधनाओं के लिए सर्वदा सिद्धि प्रदान करने वाला महत्त्वपूर्ण आसन माना गया है। किन्तु कुण्डलिनी शक्ति के प्रारंभिक साधनकाल में सभी साधक कुछ समय के लिए सिद्धासन से भी अभ्यास करें तो अधिक लाभप्रद सिद्ध होगा।

नितांत एकांत स्थान में गोपनीयता के साथ, आलस रहित होकर, शांत स्थिति में मूलबंध लगाना चाहिए तथा प्रबल इच्छाशक्ति के साथ ऊपर बताई विधि के अनुसार संकोचन-क्रिया को धीरे-धीरे बढ़ाने का अभ्यास करना चाहिए।

शिव संहिता और हिरण्य संहिता आदि योग के अनेक ग्रंथों में इस क्रिया का विशेष वर्णन किया गया है। इस क्रिया के अभ्यास के बिना योग मार्ग पर चलना और उसकी अद्भुत गतियों का चमत्कार देखना संभव नहीं है।

वैसे तो योग विद्या में अनगिनत ऐसी विचित्र क्रियाएं उपस्थित हैं जिनको जाने बिना कोई भी साधक तीव्र गति से आगे नहीं बढ़ सकता। फिर भी मूलबंध एक ऐसी अद्वितीय यौगिक विधि है जो अकेली ही दस विशेष क्रियाओं के समान मानी जाती है। मूलबंध लगाने से योगी का ध्यान बिना प्रयास के ही लग जाता है। योगी का क्षय बंद हो जाता है, मानसिक शक्ति दिनोंदिन बढ़ने लगती है, धारणा स्वाभाविक ही दृढ़ होने लगती है, आलस्य भाग जाता है और प्राणों की गति में अंतर आ जाता है।

❑❑

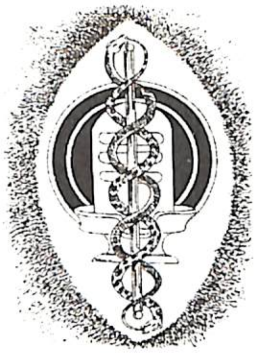

निःश्वास : चार

मुद्राएं और कुंडलिनी

मुद्रा का अर्थ है स्थिति। साधना में इसका तात्पर्य हाथों और उंगलियों की विशेष स्थिति से होता है। योग व तंत्र ग्रंथों के अनुसार मुद्राओं से साधक की आंतरिक स्थिति का ज्ञान होता है। आंतरिक स्थिति की सहज अभिव्यक्ति हुआ करती हैं ये मुद्राएं। साधक जब मुद्राओं द्वारा अर्चन, उपासना या ध्यान आदि क्रियाएं करता है, तो वह बाहर से भीतर की यात्रा करने का प्रयास सिद्ध करता है। प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है जिस प्रकार सूक्ष्म स्थितियों का प्रभाव स्थूल क्रियाओं पर पड़ता है, उसी प्रकार सायास स्थूल क्रियाओं से सूक्ष्म भी प्रभावित होता है। प्रसन्नता की अभिव्यक्ति हंसने-मुस्कराने के रूप में होती है, यह बात जितनी सच है, उतना ही वैज्ञानिक यह तथ्य भी है कि हंसने-मुस्कराने से (भले ही वह शुरू में बनावटी लगे) प्रसन्नता की लहर हृदय का बहुत गहरे में अवश्य संस्पर्श करती है।

मुद्रा चिकित्सा रहस्य एवं प्रयोग

सम्पूर्ण प्रकृति और हमारा शरीर पांच तत्त्वों से बना है। मानव-शरीर लघु ब्रह्माण्ड स्वरूप है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रतीक यह मानव-शरीर भी ब्रह्माण्ड के समान ही पांच तत्त्वों (अग्नि, वायु, आकाश, पृथ्वी, जल) के योग से बना है। मुद्रा-विज्ञान का आधारभूत सिद्धांत यह है कि शरीर में इन पंच तत्त्वों में असंतुलन से रोगोत्पत्ति होती है तथा पंच तत्त्वों में समता व सन्तुलन होने से हम स्वस्थ रहते हैं। स्वस्थ शब्द को यहां शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक संदर्भों में स्वयं में अपनी प्रकृति में स्थित रहने से लेना चाहिए।

मानव-शरीर प्रकृति की सर्वोत्तम रचना है और हाथ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग। हाथों में से एक विशेष प्रकार की प्राण-ऊर्जा या शक्ति/विद्युत चुंबकीय तरंगें/जीवनी शक्ति (AURA) निरन्तर निकलती रहती है। विभिन्न प्रकार की रहस्यमयी चिकित्साओं में हाथों के संस्पर्श मात्र से नीरोगी बनाने के पीछे यही ऊर्जा छिपी है।

भारतीय मनीषियों के अनुसार, मानव-हस्त की पांचों उंगलियां अलग-अलग पंच तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करती हैं और प्रत्येक उंगली का संबंध एक तत्त्व विशेष से है। आधुनिक विज्ञान भी मानता है कि प्रत्येक उंगली के सिरे से अलग-अलग प्रकार की ऊर्जा तरंगें (इलेक्ट्रो मैगनेटिक वेव्स) निकलती रहती हैं। प्राचीन भारतीय ऋषियों की अद्‌भुत खोज मुद्रा-विज्ञान के अनुसार पंच तत्त्वों की प्रतीक उंगलियों को परस्पर मिलाने, दबाने, मरोड़ने या विशेष प्रकार की आकृति बनाने से विभिन्न प्रकार के तत्त्वों में परिवर्तन, अभिव्यक्ति, विघटन एवं प्रत्यावर्तन होने लगता है। दूसरे शब्दों में, उंगलियों की सहायता से (बनाई जाने वाली विभिन्न मुद्राओं द्वारा) इन पंच तत्त्वों को इच्छानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। कौन-सी उंगली किस तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है, चित्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अंगूठा = अग्नि

तर्जनी (अंगूठे के पास वाली उंगली) = वायु

मध्यमा (सबसे बड़ी अंगुली) = आकाश

अनामिका (चौथी उंगली) = पृथ्वी
कनिष्ठिका (सबसे छोटी उंगली) = जल

पंच तत्त्व नियंत्रक मुद्राएं कैसे बनाई जाती हैं?

हाथों की उंगलियों को एक दूसरे से विशेष प्रकार से मिलाने, स्पर्श करने, दबाने अथवा मरोड़ने से विभिन्न प्रकार की मुद्राएं बनती हैं। इस प्रकार केवल उंगलियों को एक दूसरे के साथ किसी विशेष स्थिति में रखने या परस्पर सटा देने भर की क्रिया मात्र से ही शरीर में भिन्न-भिन्न तत्त्वों का प्रभाव आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ा सकते हैं और पंच तत्त्व नियंत्रक उंगली-मुद्राओं के नियमित अभ्यास के द्वारा तत्त्वों में संतुलन लाकर स्वस्थ रह सकते हैं। सारांश यह है कि प्रकृति के समान ही मानव शरीर पंच तत्त्वों से बना है। आरोग्य का आधार इन पंच तत्त्वों का संतुलन है। विभिन्न उंगली-मुद्राएं शरीर में चेतना के शक्ति केन्द्रों के रिमोट कंट्रोल बटन के समान हैं। उनके उचित अभ्यास से स्वास्थ्य-रक्षा और रोग-निवारण, दोनों सम्भव हैं।

उदाहरणार्थ—किसी व्यक्ति को अचानक दिल का दौरा पड़ा है और उसके पास तत्क्षण कोई प्रभावशाली दवा नहीं है। ऐसी स्थिति में, भले ही उसने किसी व्यक्ति को डॉक्टर बुलाने भेज दिया हो, यदि वह तत्काल अपने दोनों हाथों से अपानवायु मुद्रा करे तो कुछ ही क्षणों में हृदय की ओर चढ़ता और दिल पर दबाव देता हुआ गैस का गुबार निकल जाएगा। फलतः डॉक्टर के आने से पहले ही वह व्यक्ति मौत के चंगुल से बच जाएगा।

वैसे तो शास्त्रों में कई प्रकार की मुद्राओं की चर्चा योग व तंत्र ग्रंथों में मिलती है, यहां जिन विशेष मुद्राओं का वर्णन किया जा रहा है, वे तन-मन स्वस्थ रखने में तो उपयोगी हैं ही, आध्यात्मिक उन्नति में भी विशेष भूमिका निभाती हैं। षट्चक्रों का संबंध पंच तत्त्वों से है और ये मुद्राएं पांचों तत्त्वों को संतुलित करती हैं। सद्गुरु के सान्निध्य में इन मुद्राओं का प्रयोग कर साधक प्रसुप्त अनंत संभावनाओं को जाग्रत करने में सफल हो जाता है। इनसे प्रसुप्त चक्रों में विशेश आघात होता है, जिससे वे चालित हो जाते हैं।

ज्ञान मुद्रा

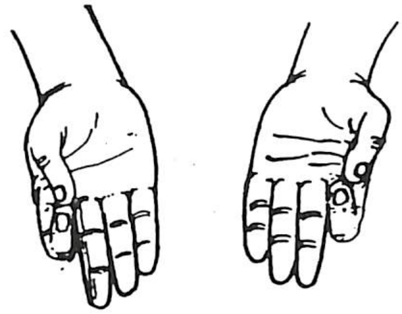

हाथ की तर्जनी (अंगूठे के साथ वाली) अंगुली के अग्रभाग (सिरे) को अंगूठे के अग्रभाग के साथ मिलाकर रखने और हल्का-सा दबाव देने से ज्ञान मुद्रा बनती है। इस मुद्रा में दबाना जरूरी नहीं है। बाकी उंगलियां सहज रूप से सीधी रखें।

यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंगुली-मुद्रा है। इस मुद्रा का सम्पूर्ण स्नायुमण्डल और मस्तिष्क पर बड़ा ही हितकारी प्रभाव पड़ता है।

❑ ज्ञान मुद्रा किसी भी आसन या स्थिति में की जा सकती है। ध्यान के समय इसे पद्मासन में करना सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसे आप दोनों हाथों से, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, गृहस्थी के कार्य करते समय या आराम के क्षणों में, जब चाहें किसी भी समय, किसी भी स्थिति में और कहीं भी कर सकते हैं।

❑ इसे अधिक-से-अधिक समय तक किया जा सकता है। इस मुद्रा के लिए समय की कोई सीमा नहीं है।

❑ हस्तरेखा विज्ञान की दृष्टि से, इस मुद्रा के नियमित अभ्यास से जीवन रेखा और बुध रेखा के दोष दूर होते हैं तथा अविकसित शुक्र पर्वत का विकास होता है।

ज्ञान मुद्रा समस्त स्नायुमण्डल को सशक्त बनाती है। विशेषकर, मानसिक तनाव के कारण होने वाले दुष्प्रभावों को दूर करके मस्तिष्क के ज्ञान तन्तुओं को सबल करती है। ज्ञान मुद्रा के निरन्तर अभ्यास से मस्तिष्क की सभी विकृतियां और रोग दूर हो जाते हैं। अनिद्रा रोग में यह मुद्रा अत्यंत कारगर सिद्ध होती है। मस्तिष्क शुद्ध और विकसित होता है। मन शान्त हो जाता है। चेहरे पर अपूर्व प्रसन्नता झलकने लगती है।

❑ ज्ञान मुद्रा मानसिक एकाग्रता बढ़ाने में सहायक होती है। तर्जनी अंगुली और अंगूठा जहां एक दूसरे को स्पर्श करते हैं, हल्का-सा नाड़ी स्पन्दन महसूस होता है। वहां ध्यान लगाने से चित्त का भटकना बन्द होकर मन एकाग्र हो जाता है।

❑ ज्ञान मुद्रा विद्यार्थियों के लिए किसी वरदान से कम नहीं है। इसके अभ्यास से स्मरण शक्ति उन्नत और बुद्धि तेज होती है।

साधना के क्षेत्र में साधक द्वारा लगातार ज्ञान मुद्रा करने से उसका ज्ञान-नेत्र (शिव-नेत्र) खुल सकता है, अन्त:दृष्टि प्राप्त होकर छठी इंद्रिय का विकास हो सकता है। दिव्य-चक्षु के खुलने से साधक त्रिकाल की घटनाओं को यथावत् देख सकने तथा दूसरे के मन की बातें जान सकने की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

वायु मुद्रा

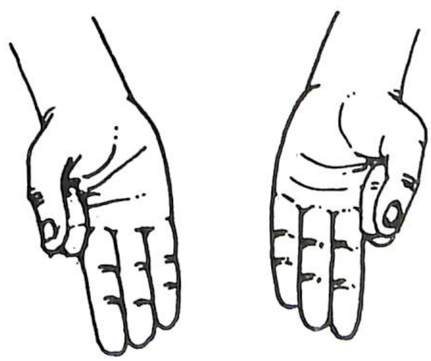

तर्जनी (अंगूठे के साथ वाली) अंगुली को मोड़कर अंगूठी की जड़ में लगाकर उसे अंगूठे से हल्का-सा दबाने पर वायु मुद्रा बनती है। इस मुद्रा से रोगी के शरीर में वायु तत्त्व शीघ्रता से घटने लगता है। अत: वायु के प्रकुपित होने से उत्पन्न होने वाले सभी रोग इस मुद्रा से शान्त हो जाते हैं।

❑ वायु मुद्रा की सहयोगी प्राण मुद्रा है। यदि इससे लाभ नजर न आता हो, तो इसके साथ प्राण मुद्रा का अभ्यास कुछ देर तक करना हितकर सिद्ध होता है।

❑ हस्तरेखा विज्ञान की दृष्टि से इससे शनि पर्वत और रेखा के दोष दूर होते हैं।

आकाश मुद्रा

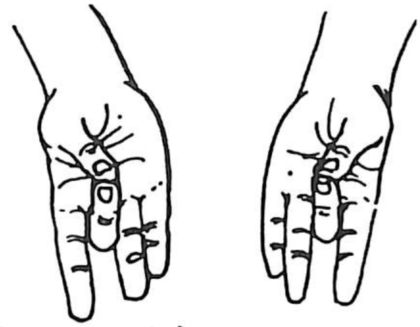

मध्यमा (सबसे बड़ी उंगली) को अंगूठे के अग्रभाग से मिलाने पर आकाश मुद्रा बन जाती है। बाकी अंगुलियां सहज-सीधी रखनी चाहिए।

इस मुद्रा को करने से शरीर में आकाश तत्त्व में वृद्धि होती है। मध्यमा उंगली का हृदय के साथ खास सम्बन्ध है, अत: यह मुद्रा हृदय के लिए लाभदायक है। आपने देखा होगा कि अधिकांश जप-क्रिया या माला फेरने में मध्यमा उंगली का उपयोग किया जाता है।

भौतिक सुखों जैसे—द्रव्य प्राप्ति, संतान प्राप्ति, परिवार शांति आदि के लिए माला अंगूठे पर रखकर मध्यमा उंगली से फेरने का विधान है जबकि मोक्ष हेतु अनामिका अंगुली से और बैर-क्लेश आदि के नाश के लिए तर्जनी उंगली से माला फेरना उचित है। माला को सदैव दाहिने हाथ के अंगूठे पर रख हृदय के पास स्पर्श करते हुए फेरना चाहिए। साथ ही ध्यान रखें कि माला के मणियों को फिराते समय उनके नख न लगें और सुमेरु का उल्लंघन न हो, अन्यथा लाभ कम होता है। इसके अतिरिक्त ये भी नियम है कि माला साफ, समान व पूरे 108 मणियों तथा सुन्दर सुमेरु वाली हो। शुभ कार्यों के लिए सफेद माला व कष्ट निवारण के लिए लाल माला का प्रयोग प्राय: किया जाता है।

माला की तरह प्रणाम करने का विधान भी अर्थपूर्ण है। प्रणाम करने के लिए अपने बाएं हाथ से पूजनीय व्यक्ति के बाएं पैर को और दाएं हाथ से उसके दाएं पैर को छूते हुए प्रणाम करना चाहिए अर्थात् हमें हाथों को क्रॉस बनाते हुए गुरुजनों को प्रणाम करना चाहिए। इससे व्यक्ति का हमारे सीधे हाथ से सीधा पैर और उलटे हाथ से उलटा पैर ही स्पर्श होगा। इस प्रकार पूजनीय व्यक्ति के शरीर से निकलने वाला विद्युत प्रवाह (ऋणात्मक और धनात्मक) या तेज का प्रभाव चरण स्पर्श करने वाले के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा।

❑ हस्तरेखा विज्ञान की दृष्टि से, शनि ग्रह से सम्बन्ध रखने वाले रोगों में यह मुद्रा लाभप्रद सिद्ध होगी जबकि जन्मकुंडली में शनि नीच का हो।

यदि जम्भाई लेते या उबासी लेते हुए अचानक जबड़ा फंस जाए और मुख बन्द न हो तो अंगूठे को मध्यमा उंगली के साथ रगड़ने या चुटकी बजाने से फंसा हुआ जबड़ा तत्काल खुल जाता है। यही कारण है कि बहुत से लोग उबासी लेते हुए (कारण न जानते हुए भी) मध्यमा और अंगूठे को मुंह के पास ले जाकर चुटकी बजाते हैं।

यह मुद्रा हृदय रोगों में भी लाभकारी है।

शून्य मुद्रा

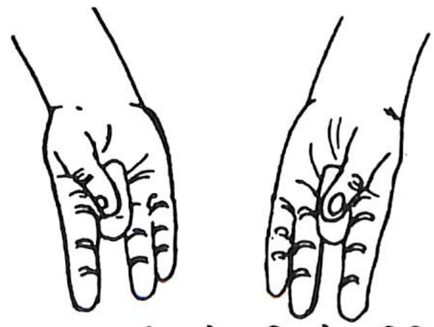

आकाश तत्त्व की प्रतीक मध्यमा उंगली को अंगूठे की गद्दी (शुक्र के पर्वत) पर रखकर, ऊपर से अंगूठे से हल्का-सा दबाने से शून्य मुद्रा बन जाती है।

यदि किसी कारणवश शरीर में आकाश तत्त्व बढ़ गया हो तो इस मुद्रा के प्रभाव से घटकर सन्तुलित हो जाता है।

❑ सामान्यत: इसे रोग शान्त हो जाने तक करना चाहिए। इस मुद्रा के अभ्यास से बहरे व्यक्ति के अतिरिक्त गूंगे भी लाभान्वित हो सकते हैं। जन्म से बहरे या गूंगे होने पर इस मुद्रा का प्रभाव नहीं होता।

पृथ्वी मुद्रा

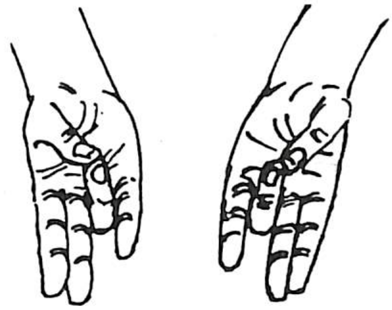

अनामिका (छोटी उंगली के पास वाली) उंगली तथा अंगूठे के सिरे को परस्पर मिलाने से पृथ्वी मुद्रा बनती है।

इस मुद्रा को करने से शरीर में पृथ्वी तत्त्व बढ़कर सम होता है जिससे सभी प्रकार की शारीरिक कमजोरियां दूर होती हैं।

❑ अनामिका एक महत्त्वपूर्ण उंगली है। अंगूठे की तरह अनामिका से भी तेज का विशेष विद्युत प्रवाह होता है। योग शास्त्र के अनुसार ललाट पर द्विदल कमल का आज्ञाचक्र स्थित है। उस पर अनामिका और अंगूठे के द्वारा शुभ भावना के साथ विधिवत् तिलक करके कोई भी व्यक्ति अपनी अदृश्य शक्ति को दूसरे में पहुंचाकर उसकी शक्ति में बढ़ोत्तरी कर सकता है, जिसे शक्तिपात कहते हैं। इसे किसी भी आसन या स्थिति में बैठकर अधिकाधिक समय तक इच्छानुसार किया जा सकता है।

❑ इस मुद्रा के प्रभाव से आंतरिक सूक्ष्म तत्त्वों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने पर विचारों की संकीर्णता मिटकर उदारता आने लगती है।

❑ आध्यात्मिक साधक को आगे बढ़ने में इस मुद्रा से सच्चे साथी की तरह सहयोग प्राप्त होता है।

सूर्य मुद्रा

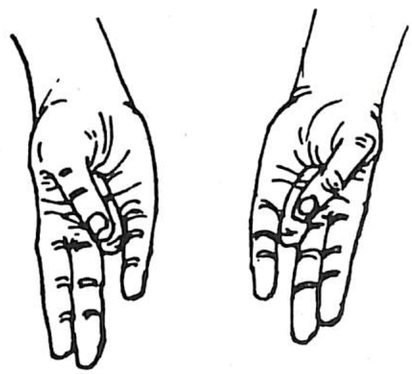

अनामिका (सबसे छोटी उंगली के पास वाली) अंगुली को अंगूठे की जड़ में लगाकर अंगूठे से हल्का-सा दबाने पर सूर्य मुद्रा बनती है।

इस मुद्रा को पद्मासन में बैठकर दोनों हाथों से करना अच्छा रहता है।

❑ इस मुद्रा से अनामिका द्वारा हथेली में थाइरॉइड ग्रंथि का केन्द्र दबता है।

❑ सूर्य मुद्रा को प्रतिदिन सुबह-शाम 5 से 10 मिनट तक करना चाहिए।

वरुण मुद्रा

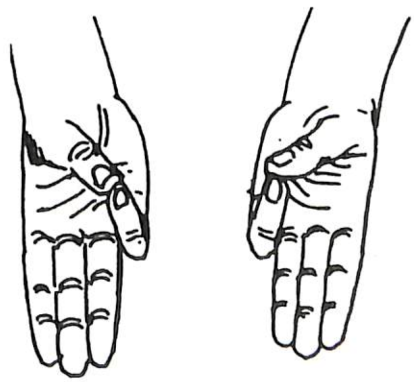

सबसे छोटी उंगली (कनिष्ठिका) को अंगूठे के अग्रभाग से मिलाने पर वरुण मुद्रा बनती है। इस तत्त्व की कमी से जहां त्वचा में रूखापन आता है, वहीं स्वभाव में भी चिड़चिड़ापन बन जाता है। एक अजीब-सा तनाव हमेशा तन-मन में बना रहता है। परिणामस्वरूप अपने सामाजिक ढांचे को भी ऐसा व्यक्ति बिगाड़ लेता है। इसको विपरीत अर्थात् जल तत्त्व की वृद्धि होने की कल्पना की उड़ान ऊंचाइयां छूने लगती हैं। कमी में पहली मुद्रा और अधिकता में दूसरी मुद्रा से लाभ होता है।

कनिष्ठिका को पहले अंगूठे की जड़ में लगाकर फिर अंगूठे से कनिष्ठिका को दबाने से दूसरी मुद्रा बनती है। इसमें बीच की तीन उंगलियां सहज एवं सीधी रहती हैं।

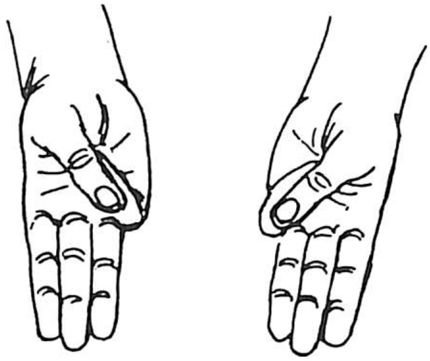

अपान मुद्रा

मध्यमा तथा अनामिका, दोनों उंगलियों के अग्रभाग को अंगूठे के अग्रभाग से मिला देने से अपान मुद्रा बनती है। इस मुद्रा में कनिष्ठिका और तर्जनी उंगलियां सहज एवं सीधी रहती हैं।

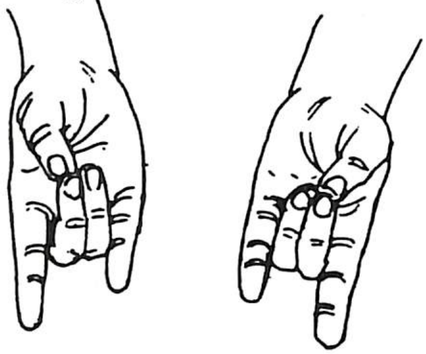

मानव स्वास्थ्य-रक्षा के लिए अपान मुद्रा बहुत महत्त्वपूर्ण क्रिया है। क्योंकि यह स्वस्थ शरीर की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता—विसर्जन क्रिया को नियमित करती है और शरीर को निर्मल बनाती है। यद्यपि योगासनों द्वारा भी शारीरिक निर्मलता प्राप्त होती है, फिर भी साधक के शरीर को योग की उच्च स्थिति में पहुंचने के लिए जिस सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वच्छ स्थिति की आवश्यकता रहती है, वह हठयोग की क्रियाओं के पश्चात्, अपान मुद्रा के निरन्तर अभ्यास द्वारा ही सम्भव हो पाती है।

❑ साधना में प्राण एवं अपान को सम करके मिला देने का नाम ही एक प्रकार से योग है। दूसरे शब्दों में, योग की ऊंची उड़ान के लिए प्राण-अपान का संयोग होना परम आवश्यक है। प्राण एवं अपान मुद्रा को प्रतिदिन बार-बार करते रहने से प्राण व अपान वायु की स्थिति शरीर को समत्व प्रदान करती है।

❑ इस मुद्रा की कोई समय-सीमा नहीं है। इस मुद्रा का अभ्यास जितना अधिक किया जाए, उतना ही अधिक लाभदायक रहेगा।

अपान मुद्रा के प्रभाव से शरीर निर्मल होता है और सम्पूर्ण विजातीय द्रव्य या मल सरलतापूर्वक शरीर से बाहर निकल जाते हैं।

इसके अभ्यास से सात्विक भाव उत्पन्न होते हैं और इनमें वृद्धि भी होती है।

प्राण मुद्रा

कनिष्ठिका और अनामिका (सबसे छोटी तथा उसके पास वाली) उंगलियों के सिरों को अंगूठे के सिरे से मिलाने पर प्राण मुद्रा बनती है। शेष दो उंगलियां सीधी रहती हैं।

प्राण मुद्रा एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मुद्रा है। रहस्यमय है जिसके संबंध में ऋषि-मुनियों ने अनन्तकाल तक तप, स्वाध्याय एवं आत्मसाधना करते हुए कई महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किए हैं। इसका अभ्यास प्रारंभ करते ही मानो

शरीर में प्राण शक्ति को तीव्रता से उत्पन्न करने वाला डायनमो चलने लगता है। फिर ज्यों-ज्यों प्राण शक्ति रूपी बिजली शरीर की बैटरी को चार्ज करने लगता है, त्यों-त्यों चेतना का अनुभव होने लगता है। प्राण शक्ति का संचार करने वाली इस मुद्रा के अभ्यास से व्यक्ति शारीरिक व मानसिक दृष्टि से शक्तिशाली बन जाता है।

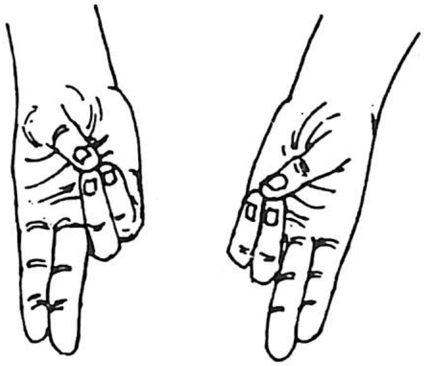

❑ ज्योतिष के हिसाब से सूर्य की अंगुली अनामिका समस्त विटामिन और प्राण शक्ति का केन्द्र मानी जाती है। बुध की उंगली कनिष्ठिका युवा शक्ति व कुमारावस्था का प्रतिनिधित्व करती है अर्थात् इस मुद्रा में सूर्य-बुध की उंगलियों का अग्नि (तेज) के प्रतीक अंगूठे के साथ महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। इस मुद्रा के अभ्यास से जीवन और बुध रेखा के दोष दूर होते हैं। शुक्र के अविकसित पर्वत का विकास होने लगता है।

❑ इस मुद्रा में पृथ्वी तत्त्व के प्रतीक अनामिका व जल तत्त्व की प्रतीक कनिष्ठिका का अंगूठे अर्थात् अग्नि तत्त्व से मिलन होता है। इसके परिणाम स्वरूप न केवल शरीर में प्राण शक्ति का संचार तेज होता है बल्कि रक्त संचार उन्नत होने से रक्त नलिकाओं की रुकावट दूर होती है तन-मन में नवस्फूर्ति, आशा एवं उत्साह उत्पन्न होता है।

यदि योग-साधना या महीनों लम्बी तपस्या के दौरान अन्न-जल न लेने से अत्यन्त कृशता या कमजोरी महसूस हो रही हो तो ऐसी स्थिति में प्राण मुद्रा करने से साधक को भूख-प्यास की तीव्रता नहीं सताती। कुल मिलाकर यह मुद्रा समस्त गड़बड़ियां दूर करके शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास में सहायता करने वाली है।

अपानवायु मुद्रा

तर्जनी (अंगूठे के पास वाली) उंगली को अंगूठे की जड़ में लगाकर अंगूठे के अग्रभाग को मध्यमा और अनामिका (बीच की दोनों अंगुलियां) के अगले सिरे से मिला देने से अपानवायु मुद्रा बनाती है। इस मुद्रा में कनिष्ठिका अलग से सहज एवं सीधी रहती है।

इस मुद्रा का प्रभाव हृदय पर विशेष रूप से पड़ता है। अतः इसे हृदय मुद्रा या मृत संजीवनी मुद्रा भी कहते हैं।

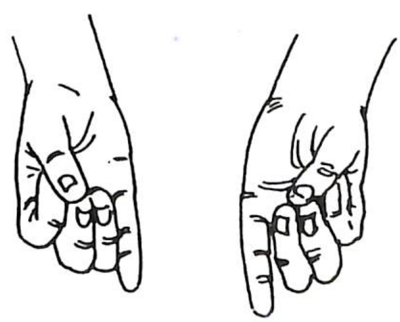

❑ अपानवायु मुद्रा में दो मुद्राएं अपान मुद्रा तथा वायु मुद्रा एक साथ की जाती हैं। अतः दोनों मुद्राओं का सम्मिलित और तत्क्षण प्रभाव एक साथ पड़ता है। जैसे पेट की गैस और शारीरिक वायु दोनों का ही शमन होता है।

❑ हाथ में सूर्य पर्वत अति विकसित और चन्द्र पर्वत अविकसित होने तथा हृदय रेखा दोषपूर्ण होने पर यह मुद्रा 15 मिनट सुबह-शाम करने से लाभ मिलता है।

शंख मुद्रा

बाएं हाथ के अंगूठे को दोनों हाथ की मुट्ठी में बंद करके बाएं हाथ की तर्जनी उंगली को दाहिने हाथ के अंगूठे से मिलाने से शंख मुद्रा बनती है। इस मुद्रा में बाएं हाथ की बाकी तीन उंगलियों को पास में सटाकर दाएं हाथ की

बन्द उंगलियों पर हल्का-सा दबाव दिया जाता है। इसी प्रकार हाथ बदल कर अर्थात् दाएं हाथ के अंगूठे को बाएं हाथ की मुट्ठी में बन्द करके शंख मुद्रा बनाई जाती है।

इस मुद्रा में अंगूठे का दबाव हथेली के बीच के भाग पर और मुट्ठी की तीन उंगलियों का दबाव शुक्र के पर्वत पर पड़ता है जिससे हथेली में स्थित नाभि और थायरॉइड (पूल्लिका) ग्रंथि के केन्द्र दबते हैं। परिणामस्वरूप नाभि और थायरॉइड ग्रंथि के विकार ठीक होते हैं।

- ❑ यह मुद्रा पूजन में भी प्रयुक्त होती है।
- ❑ इसका प्रयोग लम्बे समय तक किया जा सकता है।

❑ इस मुद्रा का नाभिचक्र से विशेष सम्बन्ध है जिसके कारण नाभि से सम्बन्धित शरीर की नाड़ियों पर सूक्ष्म और स्वास्थ्यवर्धक प्रभाव पड़ता है तथा स्नायुमण्डल शक्तिशाली बनती है।

सहज शंख मुद्रा

यह एक दूसरे प्रकार की शंख है जो दोनों हाथों की उंगलियों को आपस में फंसाकर, हथेलियां दबाकर तथा दोनों अंगूठों को बराबर में सटाकर रखने से बनती है।

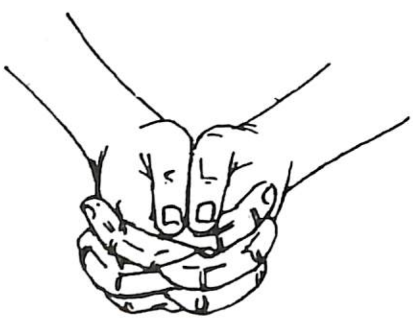

इसे वज्रासान या सुखासन में 5 से 10 मिनट तक करना चाहिए। द्विगुणित लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से इसे मूलबन्ध (गुदा के संकोचन) और प्राणायाम के साथ भी किया जा सकता है।

❑ मूलबन्ध करते समय सांस की गति स्वाभाविक रूप से रुक जाती है और शरीर में कम्पन-सा होने लगता है। योग के शब्दों में शौच की अवस्था में जब हम मल को रोकते हैं, तब शंखिनी नाड़ी को ऊपर की ओर खींचना पड़ता है, जबकि मूत्र को रोकने के लिए कुहू नाड़ी को खींचा जाता है। मूलबन्ध के नियमित अभ्यास से गुदा प्रदेश के स्नायु और काम ग्रंथियां सबल एवं स्वस्थ होती हैं। इससे स्तम्भन शक्ति बढ़ती है।

❑ हथेलियों की गद्दियों में मणिपूर चक्र व पेट की नसें मिलती हैं। अतः हथेलियों को परस्पर दबाने से हथेली में अंगूठे के नीचे गद्दी स्थित मणिपूर शक्ति के केन्द्र पर विशेष असर पड़ता है। इससे हृदय व नाभिचक्र प्रभावित होते हैं तथा रक्त का संचार सही होता है।

लिंग मुद्रा

दोनों हाथों की उंगलियों को आपस में फंसाकर अंगूठे (बायां या दायां कोई एक) को सीधा रखने से लिंग मुद्रा बन जाती है।

इस मुद्रा से शरीर में गर्मी की वृद्धि होती है, अतः इसे सर्दी में करना विशेष उपयोगी है। इस मुद्रा को करने के दौरान कुछ अधिक मात्रा में पानी पीना अथवा फलों के रस, दूध-घी का सेवन करना अच्छा रहता है।

❑ इस मुद्रा का अभ्यास किसी भी समय किया जा सकता है, लेकिन सिर्फ आवश्यकतानुसार। शरीर में उष्णता उत्पन्न करने वाली इस मुद्रा को अधिक लम्बे समय तक और स्वेच्छानुसार नहीं करना चाहिए।

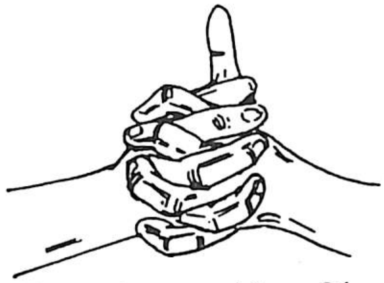

शरीर में अधिक सर्दी महसूस होने या शीत बाधा होने पर लिंग मुद्रा के प्रयोग से शीघ्र लाभ होता है। इसे अधिक देर तक करने से सर्दियों में भी पसीना आता है।

ध्यान मुद्रा

पद्मासन में बैठकर बाएं हाथ की हथेली पर दाएं हाथ की हथेली को (उल्टे हाथ पर सीधे हाथ को) हल्के से रखने से ध्यान मुद्रा बनती है।

ध्यान रखें कि इस मुद्रा में सिर, गर्दन एवं रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। आंखें और होंठ सहजता से बन्द रहें। ध्यान अपने इष्टदेव के स्वरूप पर टिकाएं अथवा कायोत्सर्ग करें अर्थात् शरीर से समता रखते हुए कुछ देर के लिए विचार रहित अवस्था में रहने का प्रयास करें।

अष्टांग योग (यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) के एक अंग 'ध्यान' की साधना में यह मुद्रा विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई है।

- जो व्यक्ति पद्मासन नहीं कर सकते, उन्हें ध्यान मुद्रा सुखासन या स्वस्तिक अथवा पालथी आसन में करना चाहिए। यह सहज ध्यान मुद्रा है। सहज ध्यान मुद्रा को साधारण व्यक्ति अधिक लम्बे समय तक सरलता से कर सकता है। इससे ध्यान मुद्रा के लाभ भी मिल जाते हैं।
- ध्यान मुद्रा में यदि हथेलियां एक दूसरे पर रखने के बाद दोनों हथेलियां ज्ञान मुद्रा की स्थिति में रखी जाएं तो ध्यान मुद्रा तथा ज्ञान मुद्रा के सम्मिलित लाभ के साथ पद्मासन के लाभ भी मिल जाते हैं।
- साधक के लिए ध्यान मुद्रा में समय की कोई सीमा नहीं है। लेकिन सहजता के साथ पद्मासन करने की क्षमता के अनुरूप ध्यान मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। साधारण व्यक्ति को इसे धीरे-धीरे बढ़ाते हुए कम-से-कम 20 मिनट से एक घंटे तक करना चाहिए। ध्यान मुद्रा न कर सकने की अवस्था में सहज ध्यान मुद्रा करके लाभ उठाना चाहिए।
- मन की चंचलता शांत होकर चित्त की एकाग्रता बढ़ती है। सात्विक विचारों की उत्पत्ति होती है और प्रभु भजन में मन लगता है।
- ध्यान के प्रभाव से साधक को ध्यान की उच्चतर स्थिति में पहुंचने में सहायता मिलती है। आत्म साक्षात्कार और ईश्वर के साक्षात्कार में यह मुद्रा सहायक है।

मुद्रा-विज्ञान : एक नजर में

क्रमांक	नाम	अंगूठे से उंगली	मुद्राओं से होने वाले लाभ
1.	ज्ञान मुद्रा	अंगूठे से तर्जनी	स्नायुमण्डल, मस्तिष्क एवं मानसिक विकार नष्ट होते हैं। अनिद्रा में यह रामबाण है।
2.	वायु मुद्रा	अंगूठे से तर्जनी	वात विकार, लकवा एवं वायुशूल में लाभ होता है।
3.	आकाश मुद्रा	अंगूठे से मध्यमा	आकाश तत्त्व की कमी के कारण होने वाले विकारों में उपयुक्त है। हृदय और हड्डियों के विकार में उपयोगी है।
4.	शून्य मुद्रा	अंगूठे से मध्यमा	कान के विकारों में लाभकारी
5.	पृथ्वी मुद्रा	अंगूठे से अनामिका	शारीरिक कमजोरी दूर करके जीवन तत्त्वों का निर्माण करती है।
6.	सूर्य मुद्रा	अंगूठे से अनामिका	शरीर का वजन घटाने के लिए लाभकारी है।
7.	वरुण मुद्रा	(क)अंगूठे से कनिष्ठिका (ख)अंगूठे से कनिष्ठिका	रक्त दोष और त्वचा रोगों में लाभदायक है। शरीर में पानी की अधिकता से उत्पन्न होने वाले रोगों को दूर करने में लाभदायक है।
8.	अपान मुद्रा	अंगूठे से मध्यमा और अनामिका	शारीरिक उत्सर्जन क्रिया को कार्यक्षम बनाने के लिए लाभदायक है। साधना और प्राण और अपान सम करके मिलाना ही एक महान योग है। इस मुद्रा से बुरे विचार हटकर मन में सात्विक विचार आते हैं।
9.	प्राण मुद्रा	अंगूठे से अनामिका	इस मुद्रा से शरीर में प्राण शक्ति, रोग निरोधक शक्ति तथा कनिष्ठिका प्रतिकारक शक्ति बढ़ती है। कमजोरी दूर होकर आंखों के विकार नष्ट होते हैं। मानसिक कमजोरी दूर होती है।
10.	शंख मुद्रा	कृति देखिए	कंठ के सभी दोष दूर होते हैं। नाभि और थायरॉइड ग्रंथि के दोष समाप्त होते हैं।
11.	सहज शंखमुद्रा	कृति देखिए	सभी लाभ शंख मुद्रा के समान हैं।
12.	अपानवायु मुद्रा	अंगूठे से तर्जनी, मध्यमा और अनामिका	इसे हृदय मुद्रा या मृतसंजीवनी मुद्रा भी कहते हैं। यह हृदय विकार में लाभदायक और उच्च रक्तचाप में उपयोगी है।
13.	लिंग मुद्रा	कृति देखिए	सर्दी, खांसी और बुखार दूर करने के लिए उपयोगी है।
14.	ध्यान मुद्रा	कृति देखिए	ध्यान के लिए अधिक उपयुक्त है।

अनेक योगी इस बात को जानते हुए भी कि मूलबंध साधना ही वस्तुत: कुण्डलिनी शक्ति को जगाने वाला एक महत्त्वपूर्ण रहस्य है, मानव शरीर में स्थित विभिन्न चक्रों की स्थिति की चर्चा ही अधिक करते हैं। कई विद्वान लेखकों ने भी अपनी पुस्तकों में चक्रों को ही प्रमुखता प्रदान की है, यह जानते हुए भी कि मूलबंध की साधना किए बिना कुण्डलिनी शक्ति की साधना नहीं हो सकती। सर जॉन बुडरॉफ ने भी कुण्डलिनी जागरण के लिए मूलबंध नामक क्रिया को ही श्रेष्ठ माना है। मूलबंध को लगाने के साथ ही मूलबंध क्रिया का पूरा-पूरा लाभ साधक को उठाना चाहिए अर्थात् विशेष यत्न द्वारा अपने पेट को खींचकर और श्वास को बाहर निकालकर दृढ़ उड्डीयान बंध लगा लेना चाहिए। इससे मूलबंध नामक योग क्रिया में कई प्रकार की नवीन आंतरिक सूक्ष्म क्रियाएं संपादित होने लगेंगी। इसके साथ ही साधक को योनि मुद्रा का अभ्यास विशेष रूप-से पद्मासन लगाकर करना चाहिए।

योनि मुद्रा

यौगिक दृष्टि से अपने अंदर कई प्रकार के रहस्य छिपाए रखने वाली मुद्रा का वास्तविक नाम ''योनि मुद्रा'' है। तत योग के अनुसार केवल हाथों की उंगलियों से महाशक्ति भगवती की प्रसन्नता के लिए योनि मुद्रा प्रदर्शित करने की आज्ञा है। प्रत्यक्ष रूप-से इसका प्रभाव लंबी योग साधना के अंतर्गत तंत्र-मंत्र-यंत्र साधना से भी दृष्टिगोचर होता है। इस मुद्रा के निरंतर अभ्यास से साधक की प्राण-अपान क्रियाओं पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

योग रहस्यों से परिचित सिद्ध योगियों ने प्राण-अपान वायु को मिला देने वाली मूलबंध क्रिया को भी साथ करने से जो स्थिति बनती है, उसे ही योनि मुद्रा की संज्ञा दी है। यह बड़ी चमत्कारी मुद्रा है।

पद्मासन की स्थिति में बैठकर, दोनों हाथों की उंगलियों से योनि मुद्रा बनाकर और पूर्व मूलबंध की स्थिति में सम्यक् भाव से स्थित होकर प्राण-अपान को मिलाने की प्रबल भावना के साथ मूलाधार स्थान पर यौगिक संयम करने से कई प्रकार की सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं।

ऋषियों का मत है कि जिस योगी को उपरोक्त स्थिति में योनि मुद्रा का लगातार अभ्यास करते-करते सिद्धि प्राप्त हो गई है, उसका शरीर साधनावस्था में भूमि से आसन सहित ऊपर अधर में स्थित हो जाता है। संभवत: इसी कारण आदि शंकराचार्यजी ने अपने योग रत्नावली नामक विशेष ग्रंथ में मूलबंध का उल्लेख विशेष रूप-से किया है।

मूलबंध योग की एक अद्भुत क्रिया है। इसको करने से योग की अनेक कठिनतम क्रियाएं स्वत: ही सिद्ध हो जाती हैं, जिनमें अश्विनी और बज्रौली मुद्राएं प्रमुख हैं। इन मुद्राओं के सिद्ध हो जाने से योगी में कई प्रकार की शक्तियों का उदय हो जाता है।

अश्विनी मुद्रा

इस मुद्रा से साधक में घोड़ों जैसी शक्ति आ जाती है, जिसे ''हॉर्स पॉवर'' कहते हैं। इस मुद्रा में गुदा-द्वार का बार-बार संकोचन और प्रसार किया जाता है। इसी से मुद्रा की सिद्धि हो जाती है। इसके द्वारा कुण्डलिनी जागरण में सुगमता रहती है और अनेक रोग नष्ट होकर शारीरिक बल की वृद्धि होती है।

अश्विनी मुद्रा सिद्ध होने से साधक की अकालमृत्यु कभी नहीं होती। गुदा और उदर से संबंधित रोगों का इसके द्वारा शमन होता है तथा दीर्घजीवन की उपलब्धि होती है। बिना मूलबंध के अश्विनी मुद्रा नहीं हो सकती।

बज्रौली मुद्रा

बज्रौली मुद्रा भी मूलबंध का अच्छा अभ्यास किए बिना किसी प्रकार संभव नहीं है। यह मुद्रा केवल योगी के लिए ही नहीं, भोगी के लिए भी अत्यंत लाभकारी है। इस मुद्रा में पहले दोनों पांवों को भूमि पर दृढ़तापूर्वक टिकाकर, दोनों पांवों को धीरे-धीरे दृढ़तापूर्वक ऊपर आकाश में उठा दें। इससे बिंदु-सिद्धि होती है।

शुक्र को धीरे-धीरे ऊपर की आकुंचन करें अर्थात् इंद्रिय के आंकुचन के द्वारा वीर्य को ऊपर की ओर खींचने का अभ्यास करें तो यह मुद्रा सिद्ध होती है। विद्वानों का मत है कि इस मुद्रा के अभ्यास में स्त्री का होना आवश्यक है, क्योंकि भग में पतित होता हुआ शुक्र ऊपर की ओर खींच लें तो रज और वीर्य दोनों ही चढ़ जाते हैं। यह क्रिया अभ्यास से ही सिद्ध होती है।

कुछ योगाचार्य इस प्रकार का अभ्यास शुक्र के स्थान पर दुग्ध से करना बताते हैं। जब दुग्ध खींचने का अभ्यास सिद्ध हो जाए, तब शुक्र को खींचने का अभ्यास करना चाहिए। वीर्य को ऊपर खींचने वाला योगी ही ऊर्ध्वरेता कहलाता है।

इस मुद्रा से शरीर हृष्ट-पुष्ट, तेजस्वी, सुंदर, सुडौल और जरा-मृत्यु रहित होता है। शरीर के सभी अवयव दृढ़ होकर मन में निश्चलता की प्राप्ति होती है। इसका अभ्यास अधिक कठिन नहीं है। यदि गृहस्थ भी इसे करें, तो बलवर्द्धन और सौंदर्यवर्द्धन का पूरा लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

शक्तिचालिनी मुद्रा

आठ अंगुल लंबा और चार अंगुल चौड़ा मुलायम वस्त्र लेकर नाभि पर लगाएं और कटिसूत्र में बांध लें। फिर शरीर में भस्म रमाकर सिद्धासन में बैठें और प्राण को अपान से युक्त करें। जब तक गुह्य द्वार से चलती हुई वायु प्रकाशित न हो, इस समय तक गुह्य द्वार को संकुचित रखें। इससे वायु का जो निरोध होता है, उसमें कुम्भक के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती हुई सुषुम्ना मार्ग से ऊपर जाकर खड़ी हो जाती है। योगमुद्रा से पहले इसका अभ्यास करने पर ही योनि मुद्रा की पूर्ण सिद्धि होती है।

इस मुद्रा से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है। यह शरीर के अधोभाग में सोती रहती है। इसका आकार सर्प के समान होता है। जब तक यह सोती है, तब तक सभी आंतरिक शक्तियां सुप्त पड़ी रहती हैं। इसलिए कुण्डलिनी का जाग्रत होना साधक के लिए बहुत आवश्यक है।

प्राण-अपान को संयुक्त करने की क्रिया प्राणवायु को पूरक द्वारा भीतर खींचने और उड्डीयान बंध से अपान वायु को ऊपर की ओर आकर्षित करने से पूर्ण होती है। इसमें गुह्य प्रदेश के संकोच और विस्तार का अभ्यास होने से अधिक सरलता हो सकती है।

तड़ागी मुद्रा

दोनों पांवों को दण्ड के समान धरती पर पसार लें और हाथों से उनके अंगूठों को पकड़ने तथा दोनों जांघों पर सिर को स्थापित करें, साथ ही उदर को तड़ाग (सरोवर) के समान कर लें। यह मुद्रा अनेक रोगों और वृद्धावस्था को भी दूर करने में सहायक सिद्ध होती है।

माण्डवी मुद्रा

मुख को बंद करके जुबान को तालु में घुमाएं और सहस्रार से टपकते हुए सुधारस को जुबान से धीरे-धीरे पीने

का यत्न करें। यही माण्डवी (या माण्डुकी) मुद्रा है। इसके द्वारा बालों की सफेदी, उनका झड़ना; शरीर पर झुर्रियों, मुंहासों आदि का पड़ना तथा निर्बलता आदि दूर होकर चिर-यौवन की प्राप्ति होती है। इससे रसोत्पादन होकर अमृतत्त्व की उपलब्धि होना संभव हो जाता है।

शाम्भवी मुद्रा

दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य स्थिर करके एकाग्र मन से परमात्मा का चिंतन करें तो ध्यान की परिपक्वता होने पर ज्योति-दर्शन होता है। यही शाम्भवी मुद्रा है। आत्मसाक्षात्कार के आकांक्षी पुरुषों के लिए यह अत्यंत कल्याणकारी मुद्रा है।

पंचधारणा मुद्रा

धारणा का अभिप्राय है, ध्यान के द्वारा ग्रहण करने की शक्ति। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पंच महाभूतों से यथार्थ का ज्ञान होना ही पंचधारणा मुद्रा का वास्तविक उद्देश्य है। यह मुद्रा पंच तत्त्वों से संबंधित होने के कारण उसको पृथक-पृथक धारणा में परिपक्व करती है, इसलिए यह निम्न पांच प्रकार की मानी जाती है—

- पार्थिवी : भूमि-संबंधी
- शाम्भवी : जल-संबंधी
- वैश्वानरी या आग्नेयी : अग्नि-संबंधी
- वायवी : वायु-संबंधी
- आकाशी : आकाश-संबंधी

इनकी सिद्धि होने पर मनुष्य सशरीर स्वर्गादि लोकों में आ-जा सकता है।

पाशिनी मुद्रा

दोनों पांवों को कंठ के पीछे की ओर ले जाकर उन्हें परस्पर मिलाएं और पाश के समान दृढ़ता से बांध लें। इसके अभ्यास से भी कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में बहुत सुगमता हो जाती है तथा साधक के शरीर में बल और पुष्टि का आविर्भाव होता है। मानसिक बलवर्द्धन में भी यह बहुत हितकर है।

काकी मुद्रा

मुख के होंठों का इस प्रकार संकोचन करें, जिससे कि कौए की चोंच के समान उसकी आकृति बन जाए (प्रायः मुख से सीटी बजाने में भी ऐसी आकृति बन जाती है)। इस प्रकार की आकृति बनाकर धीरे-धीरे वायु खींचकर पान करें। यह ध्यान रहे कि इस मुद्रा में नासिका-छिद्रों द्वारा वायु नहीं खींची जाती (नासिका द्वारा श्वास नहीं लिया जाता)।

यह गुदा, उदर, कंठ और हृदय विकार आदि को दूर करने के लिए बहुत उपयोगी है। साधक की जठराग्नि तीव्र होती है और कोष्ठबद्धता आदि विकारों का शमन हो जाता है।

मातंगिनी मुद्रा

यह मुद्रा जल में कंठ पर्यन्त खड़े होकर की जाती है। इसमें नासिका से जल खींचकर मुख-द्वार से बाहर निकाल दिया जाता है। यह क्रिया बार-बार दोहराई जाती है। इस प्रकार विपरीत क्रम से बार-बार अभ्यास करें। इस

मुद्रा के अभ्यास से शरीर में बल की वृद्धि होती है, वृद्धावस्था का आगमन रुक जाता है और मृत्यु का भी भय नहीं रहता। कुण्डलिनी जाग्रत करने में इसका सहयोग विशेषकर मिलता है।

भुजंगिनी मुद्रा

इसमें मुख को फैलाकर कंठ से बाहरी वायु खींची जाती है। तालु और जिह्वा के मध्य वायु के घूमने से शरीर में अद्‌भुत शक्ति का आविर्भाव होता है। यह मुद्रा अजीर्ण आदि उदर रोगों को नष्ट करने में भी बहुत उपयोगी है।

इस प्रकार मुद्राओं के अभ्यास से साधक को सब प्रकार के शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल की प्राप्ति होती है। योगाचार्यों के अनुसार, *''नास्ति मुद्रासनकिंचित्सिद्धिदंक्षितिमण्डले* (घेरण्ड संहिता)'' अर्थात् मुद्राओं के समान सिद्धिदायक कोई अन्य साधन भू-मंडल पर नहीं है। इसलिए योगसिद्धि के आकांक्षीजनों को मुद्राओं का अभ्यास करना श्रेयस्कर है।

मुद्राओं को भोगी पुरुषों के लिए भोगप्रद और मुमुक्षुओं के लिए मोक्षप्रद माना गया है। इसलिए मुद्राएं गृहस्थ और संन्यासी दोनों के लिए उपयोगी हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी मुद्राओं को किया जाए, वरन् जो अपनी शारीरिक स्थिति के अनुकूल और अभ्यास में सरल प्रतीत हो, उसी को करना चाहिए। ऐसा करने वाले साधक को अवश्य ही योगसिद्धि हो सकती है और वह कुण्डलिनी जाग्रत करने में पूर्णयता समर्थ हो सकता है।

साधना करने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह साधना में कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं पर पूरा नियंत्रण रखे तथा समय-समय पर उचित तांत्रिक प्रक्रियाओं का भी समन्वय करता रहे। इस दृष्टि से जिस प्रकार आसन पात्रासादन, अर्चन आदि में क्रियाओं का विधान है, उसी प्रकार उनके साथ कुछ मुद्रा बनाने का विधान है। ये मुद्राएं मुख्य रूप-से हाथ और उसकी उंगलियों के प्रयोग से बनती हैं। जैसे हमारा शरीर पंचतत्त्वमय है। अतः शास्त्रकारों ने कहा है कि इन उंगलियों के प्रयोग से इन तत्त्वों की न्यूनाधिकता दूर की जा सकती है तथा तत्त्वों की समता-विषमता से होने वाली कमी को उंगलियों की मुद्रा से सम बनाया जा सकता है। इतना ही नहीं, ऐसी मुद्राओं के सहयोग से उन तत्त्वों को स्वेच्छापूर्वक घटाया-बढ़ाया भी जा सकता है। ये तत्त्व क्रमशः अंगुष्ठ में अग्नि, तर्जनी में वायु, मध्यमा में आकाश, अनामिका में पृथ्वी और कनिष्ठिका में जल के रूप में विद्यमान रहते हैं।

''मुदं रातीति मुद्रा,'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ये मुद्राएं देवताओं के समक्ष बनाकर दिखलाने से उन्हें प्रसन्नता प्रदान करती हैं। पूजा-विधानों में ''मुद्रा'' एक आवश्यक अंग माना गया है। देवी-देवताओं के समक्ष प्रकट की जाने वाली मुद्राएं पृथक-पृथक कर्म की दृष्टि से हजारों प्रकार की होती हैं, जिनमें कुछ जपांगभूत हैं तो कुछ नैवेद्यांगभूत। कुछ का प्रयोग कर्मविशेष के प्रसंग में होता है, तो कुछ मानस पूजा और अन्य पूजाओं के साथ प्रयुक्त होती हैं।

योगतंत्र के ग्रंथों में प्रायः प्रत्येक जप-पूजादि विधानों में देवता के अनुरूप मुद्रा दिखाने के बारे में निर्देश दिया गया है। जैसे श्रीगणेश-पूजा में एकदंत मुद्रा, बीजापूर मुद्रा, अंकुश मुद्रा, मोदक मुद्रा आदि। ऐसे ही शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्यादि देवों की मुद्राएं हैं। इनका नित्य, नैमित्तिक और काम्य-प्रयोग की दृष्टि से भी मंत्रपूर्वक साधन होता है और मंत्र सिद्ध हो जाने पर इनके प्रयोग से अभीष्ट फल प्राप्त होता है।

देवताओं की प्रसन्नता, चित्त की शुद्धि और विविध रोगों के नाश में मुद्राओं से बड़ी सहायता मिलती है। मुद्रातत्त्व को समझकर, प्रत्येक योगी को इनका साधन करना चाहिए। कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में इन मुद्राओं से सहायता मिलती है। यहां हमने जिन मुद्राओं का वर्णन एवं चित्रण किया है, उससे प्रत्येक योगी, साधक को परिचित होना चाहिए।

मुद्राओं की आकृतियां

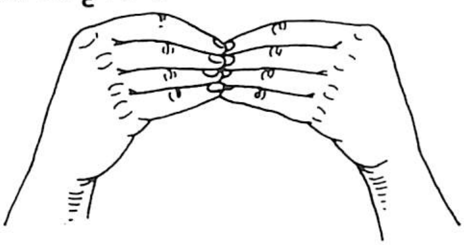

1. सुमुखम्

2. सम्पुटम्

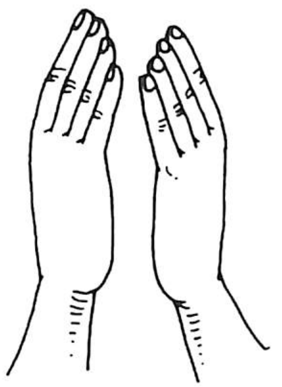

3. विततम्

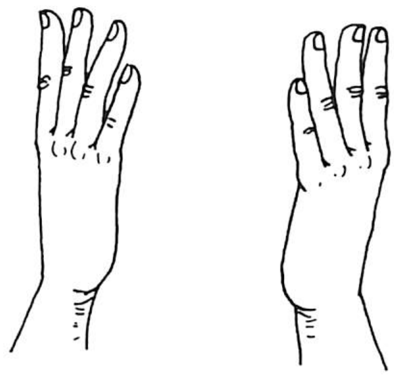

4. विस्तृतम्

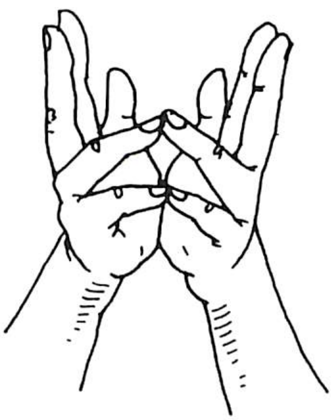

5. द्विमुखम

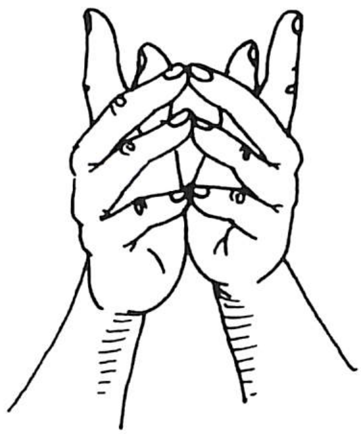

6. त्रिमुखम्

7. चतुर्मुखम्

8. पंचमुखम्

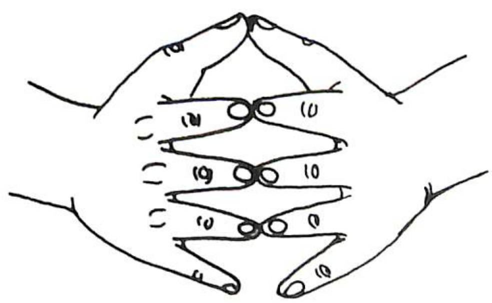

9. षणमुखम्

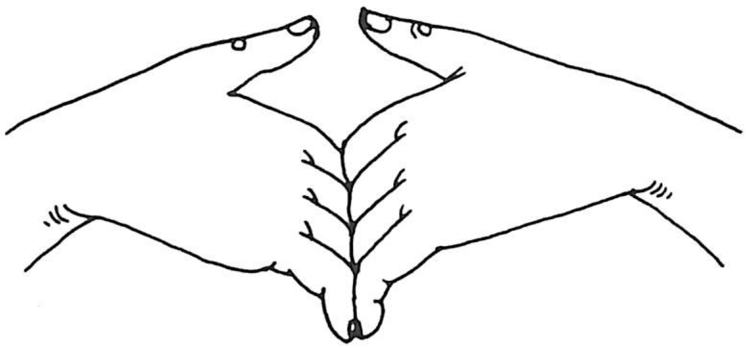

10. अधोमुखम्

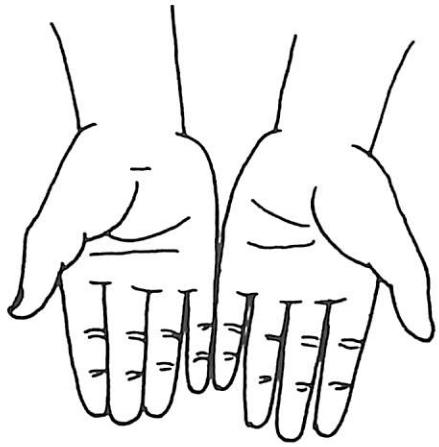

11. व्यापकांजलिम्

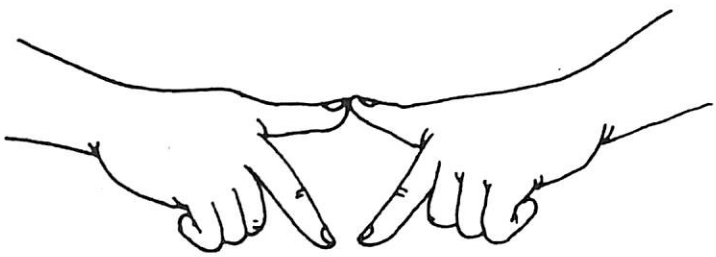

12. शकटम्

13. यमपाशम्

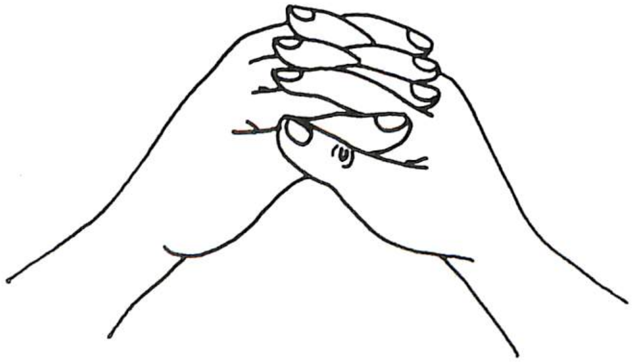

14. ग्रथितम्

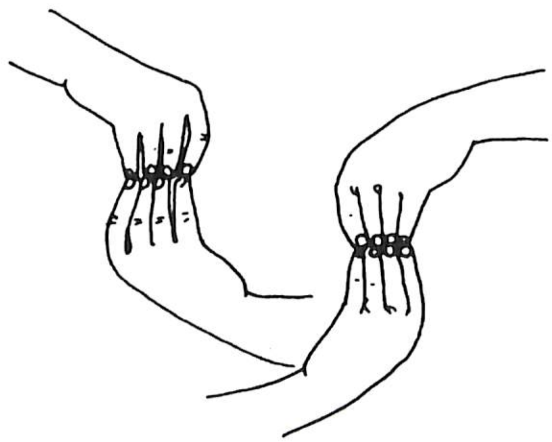

15. उन्मुखोन्मुखम्

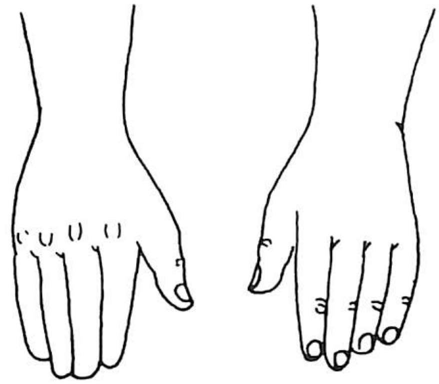

16. प्रलम्बम्

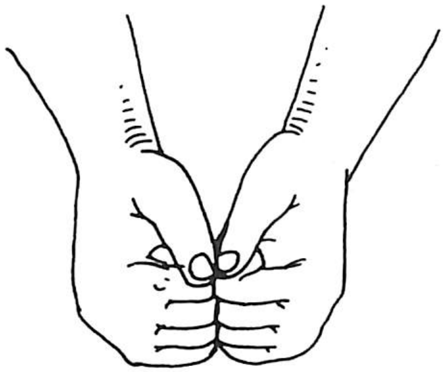

17. मुष्टिकम्

18. मत्स्यः

19. कूर्मः

20. वराहकम्

21. सिंहाक्रांतम्

22. महाक्रांतम्

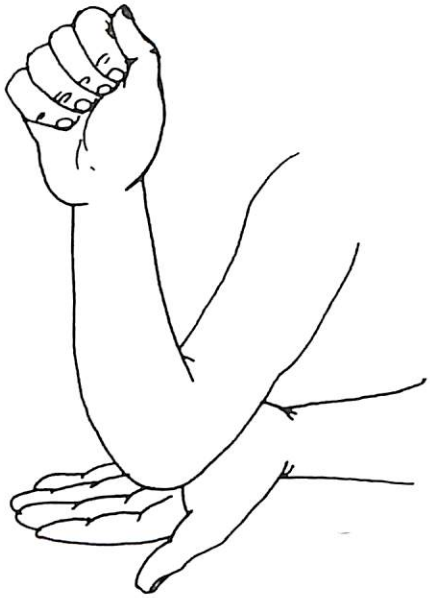

23. मुद्गरम्

24. पल्लवम्

निम्न 8 मुद्राएं जपादि में प्रयुक्त होने वाली 24 मुद्राओं के बाद की हैं—

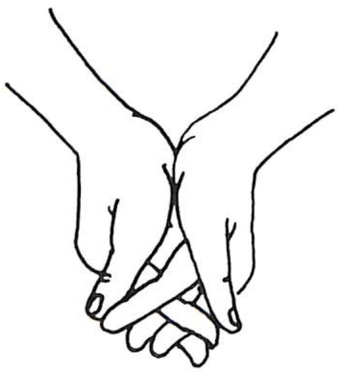

1. सुरभिः

2. ज्ञानम्

3. वैराग्यम्

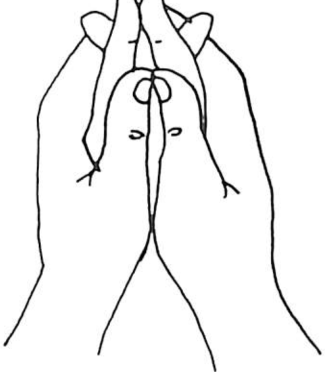

4. योनि

5. शंख

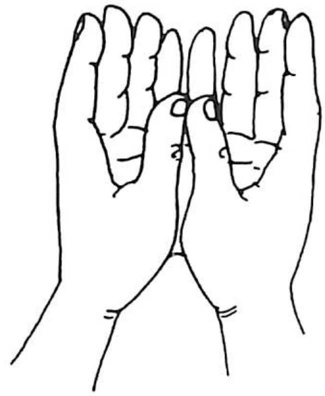

6. पंकजम्

7. लिंगम्

8. निर्वाणम्

- **सुमुखम्**—दाएं-बाएं दोनों हाथों की दसों उंगलियां मोड़कर आपस में मिलाएं।
- **सम्पुटम्**—अपने दोनों हाथों को फुलाकर परस्पर मिलाएं।
- **विततम्**—दोनों हथेलियां आमने-सामने करें।
- **विस्तृतम्**—चित्रानुसार दोनों हाथों की उंगलियों को खोलकर हाथों को कुछ अधिक अलग करें।
- **द्विमुखम्**—दोनों हाथों की अनामिका से अनामिका और कनिष्ठिका से कनिष्ठिका मिलाएं।
- **त्रिमुखम्**—दोनों हाथों की मध्यमा उंगलियों को परस्पर मिलाएं।
- **चतुर्मुखम्**—दोनों तर्जनी उंगलियां और मिलाएं।
- **पंचमुखम्**—अब दोनों अंगूठे भी मिला दें।
- **षणमुखम्**—हाथ पूर्ववत् रखे हुए ही दोनों कनिष्ठिका खोलें।
- **अधोमुखम्**—हाथों को उल्टी अवस्था में ले जाकर, उंगलियों को मोड़ें और नीचे की तरफ करें।
- **व्यापकांजलिम्**—पूर्ववत् मिले हुए हाथों को शरीर की तरफ घुमाकर सीधा करें।
- **शकटम्**—दोनों हाथों को उल्टा कर, अंगूठे से अंगूठा मिलाएं तथा तर्जनियों को सीधा रख, मुट्ठी बांधें।
- **यमपाशम्**—तर्जनी से तर्जनी बांध, दोनों मुट्ठी बांधें।
- **ग्रथितम्**—दोनों हाथों की पांचों उंगलियों को आपस में बांधें।

❑ **उन्मुखोन्मुखम्**—दोनों हाथों की उंगलियों को मिलाकर पहले बाएं पर दाहिना, फिर दाहिने पर बायां हाथ रखें।

❑ **प्रलम्बम्**—दोनों हाथों की उंगलियों को हल्का मोड़कर हाथों को उल्टा कर, नीचे की ओर करें।

❑ **मुष्टिकम्**—अंगूठे ऊपर रखते हुए, मुट्ठियां परस्पर मिलाएं।

❑ **मत्स्यः**—दाहिने हाथ की पीठ पर बायां हाथ रखकर दोनों अंगूठे मिलाएं, जैसा कि चित्र में प्रदर्शित किया गया है।

❑ **कूर्मः**—सीधे (चित्त) बाएं हाथ की मध्यमा, अनामिका तथा कनिष्ठिका मोड़कर उल्टे दाहिने हाथ की मध्यमा, अनामिका को उन तीनों उंगलियों के नीचे देकर बायीं तर्जनी पर दाहिनी कनिष्ठिका और बाएं अंगूठे पर दाहिनी तर्जनी रखें।

❑ **वराहकम्**—दाहिनी तर्जनी को बाएं अंगूठे से मिला, दोनों हाथों की उंगलियों को आपस में बांधें।

❑ **सिंहाक्रांतम्**—दोनों हाथों को कानों के पास करें।

❑ **महाक्रांतम्**—दोनों हाथों की उंगलियों को कानों के सामने करें।

❑ **मुद्गरम्**—दाहिने हाथ की मुट्ठी बांधकर, उसकी कोहनी को बाएं हाथ की हथेली पर रखें।

❑ **पल्लवम्**—दाहिने हाथ की उंगलियों को मुंह के सामने कर हिलाएं।

इस प्रकार 24 मुद्राएं चित्रों की सहायता से करनी चाहिए। बाद की आठों मुद्राओं का वर्णन निम्न है—

❑ **सुरभि**—दोनों हाथों की उंगलियां गूंथकर बाएं हाथ की तर्जनी से दाहिने हाथ की मध्यमा, मध्यमा से तर्जनी, अनामिका से कनिष्ठिका और कनिष्ठिका से अनामिका उंगली मिलाएं।

❑ **ज्ञानम्**—दाहिने हाथ की तर्जनी से अंगूठा मिलाकर हृदय में तथा इसी प्रकार बायां हाथ बाएं पैर पर सीधा रखें।

❑ **वैराग्यम्**—दोनों हाथों की तर्जनियों से अंगूठा मिलाकर पैर पर सीधा रखें।

❑ **योनि**—दोनों मध्यमा के नीचे से बायीं तर्जनी के ऊपर दाहिनी अनामिका और दाहिनी तर्जनी पर बायीं अनामिका रख, दोनों तर्जनियों से बांध, दोनों मध्यमाओं को सीधा करें। तत्पश्चात् दोनों अंगूठे मध्यमा पर रखें।

❑ **शंख**—बाएं अंगूठे को दाहिनी मुट्ठी में बांधकर, दाहिने अंगूठे से बायीं उंगलियों को मिलाएं।

❑ **पंचकम्**—दोनों हाथों के अंगूठे तथा उंगलियों को मिलाकर ऊपर की ओर करें।

❑ **लिंगम्**—दाहिने अंगूठे को सीधा रखते हुए दोनों हाथों की उंगलियों को गूंथकर बायां अंगूठा दाहिने अंगूठे की जड़ के ऊपर रखें।

❑ **निर्वाणम्**—उल्टे (करपृष्ठ की तरफ) बाएं हाथ पर दाहिना हाथ सीधा रख, उंगलियों को परस्पर गूंथ, दोनों हाथ अपनी ओर घुमाकर, दोनों तर्जनियों को सीधी कान के समीप करें।

इस प्रकार उपरोक्त आठों मुद्राएं बन जाती हैं।

योगमुद्रा

यह मुद्रा पद्मासन का एक रूपांतर है। मत्स्यासन में पद्मासन लगाकर पीठ के बल लेटने की आवश्यकता पड़ती है और इस मुद्रा में पद्मासन लगाकर आगे की ओर झुककर मस्तक को भूमि पर सटा देने की क्रिया करनी पड़ती है। इस मुद्रा से कमर में लोच आती है। पाचक अंग अपने स्वाभाविक स्थानों पर स्थिर रहते हैं। कुण्डलिनी जाग्रत करने में इस आसन का उपयोग अधिक होता है। इसी कारण इसको ''योगमुद्रा'' कहते हैं।

इस मुद्रा को बनाने के लिए सर्वप्रथम फर्श पर कंबल या दरी बिछाकर, उस पर पांव फैलाकर बैठ जाएं। अब दाहिने पांव को घुटने से मोड़कर बाएं जंघे की जड़ में सटाकर रख दें। इसके बाद बाएं पैर को घुटने से मोड़कर दाहिनी जंघा की जड़ में सटाकर रख दें। दोनों पांवों की एड़ियां पेड़ू को दबाती रहनी चाहिए।

तत्पश्चात् दोनों हाथों को पीठ की ओर ले जाकर बाएं हाथ से दाहिने हाथ की कलाई पकड़ लें (जैसा कि चित्र में दिखाया गया है)। अब कमर से धड़ को धीरे-धीरे आगे की ओर झुकाएं।

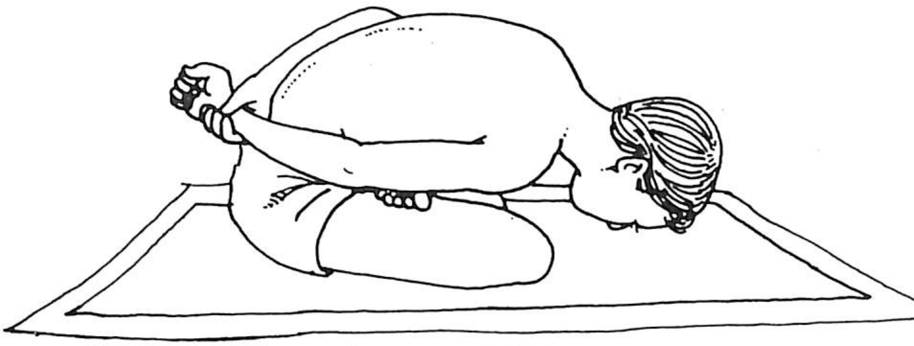

योग मुद्रा : पहली विधि

झुकाने में जल्दी करने की या झटके से झुकाने की कोशिश कभी नहीं करनी चाहिए। बल्कि झटका देने से अधिक मोड़ने पर भीतर के पाचक अंगों पर दुष्प्रभाव पड़ सकता है। कमर से जितना सरलता से झुका जाए, उतना ही झुकने का प्रयास करना चाहिए। कुछ दिनों के अभ्यास से कमर में झुकने का बल और लोच आ जाएगा। इस मुद्रा को जबरदस्ती बनाने से हानि हो सकती है। धीरे-धीरे झुकते-झुकते ललाट को फर्श पर टिका दें। इस अवस्था को ही इस मुद्रा की पूर्णता मानी जाती है।

योगमुद्रा की दूसरी विधि इस प्रकार है—इस विधि का लाभ यह है कि यदि पाचक अंग, जैसे नाभि आदि, अपने स्थान से कुछ हट गए हों तो योगमुद्रा की इस विधि से उनके अपने स्थान पर लौट आने में सहायता मिलती है। यह मुद्रा बनाने के लिए पहले फर्श पर बैठकर पद्मासन की अवस्था में हो जाएं। हाथ की दोनों हथेलियों को एक में मिलाकर गेंद की तरह गोल बनाएं और एड़ियों के ऊपर नाभि पर लगा लें।

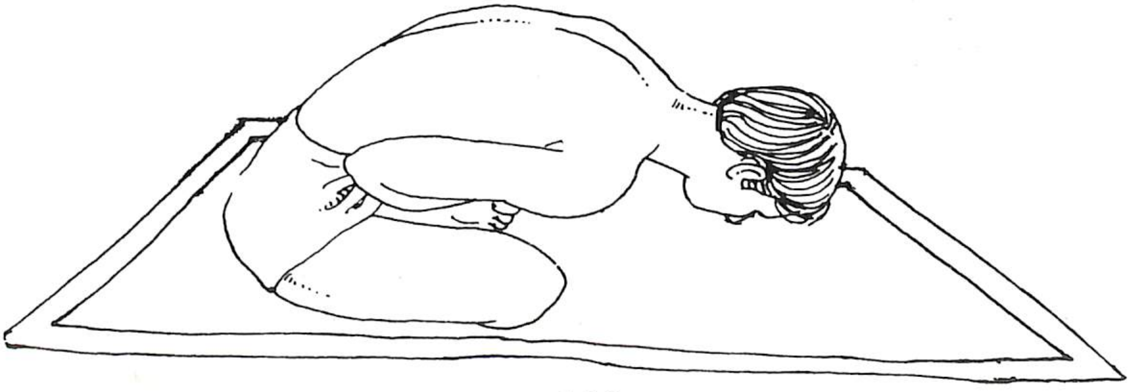

योग मुद्रा : दूसरी विधि

इसके बाद आगे की ओर झुकें। इससे मुट्ठी पर पेड़ू का दबाव पड़ेगा तथा पेड़ू अंदर को दबेगा। इसी तरह पेड़ू को दबाते हुए, धड़ को झुकाकर ललाट को भूमि से सटा दें। इस प्रकार योगमुद्रा की दूसरी मुद्रा पूर्ण हो जाती है। इसे ऊपर द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

विशेष—इस मुद्रा में श्वास का कोई विशेष नियम नहीं है, किन्तु मुद्रा की सुगमता की दृष्टि-से यह ध्यान रखना आवश्यक है कि झुकते समय श्वास बाहर निकाल दी जाए। इससे पेट अंदर दबता है और जब सिर उठाया जाए, तब श्वास भीतर भर ली जानी चाहिए।

विपरीतकरणी

योगियों ने मुद्राओं का आविष्कार शरीर को स्वस्थ एवं नीरोग रखने के लिए किया। वस्तुतः मुद्राएं कुण्डलिनी जाग्रत करने में साधक की सहायता करती हैं। योगियों को इनसे बल की प्राप्ति होती है। विपरीतकरणी मुद्रा सर्वांगासन का ही एक रूपांतर है। सर्वांगासन में जालंधर बंध लग जाता है, गरदन के निचले भाग पर शरीर का सारा बोझ रहता है और गरदन से लेकर पीठ-पांव आदि एक सीधी लाइन में होते हैं, किन्तु विपरीतकरणी मुद्रा में गरदन, कंधा और बांहों के पिछले भाग पर शरीर का बोझ होता है और कमर से लेकर पांव तक का भाग लंबा न होकर तिरछा रहता है।

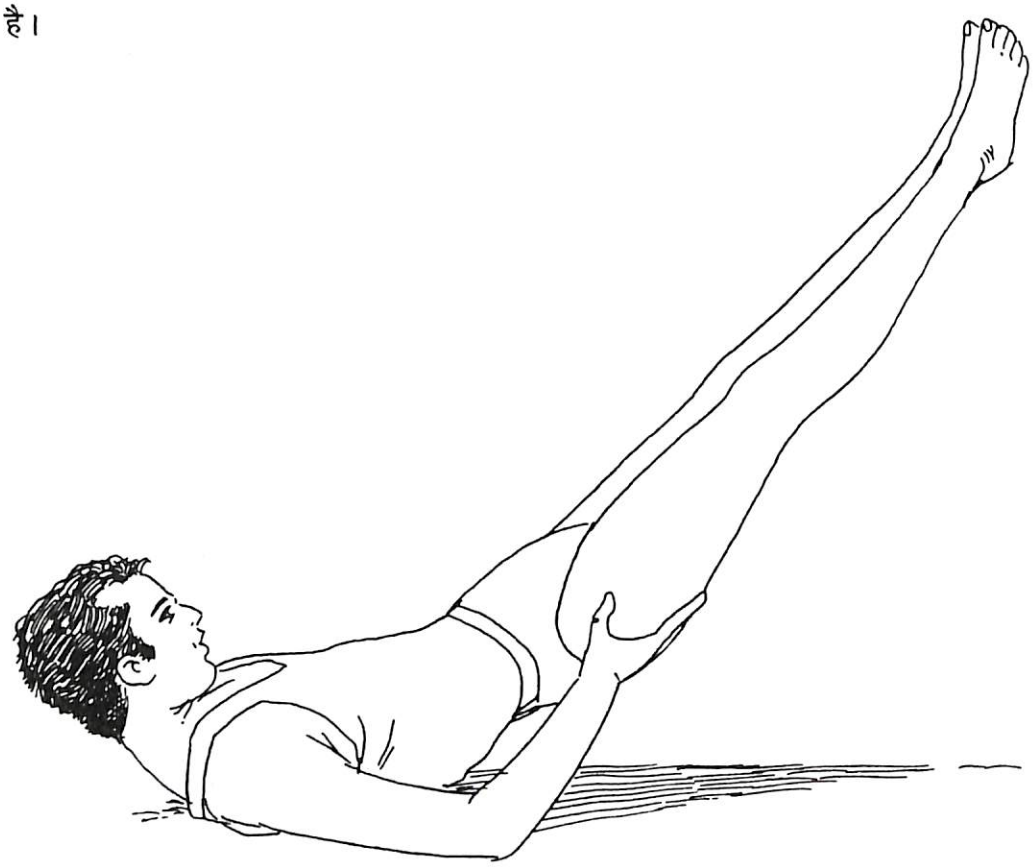

विपरीतकरणी मुद्रा

विपरीतकरणी मुद्रा की विधि इस प्रकार है—भूमि पर कंबल आदि बिछाकर पीठ के बल चित्त लेट जाएं। हाथ बगल में रहेंगे और पांव तने हुए लंबे रहेंगे। इस अवस्था में आकर शरीर को ढीला छोड़ दें और श्वास को भरकर, टांगों को 30 डिग्री के कोण पर उठाएं। 5-6 सेकंड इस अवस्था में रहकर, श्वास को भरकर पैरों को 30 डिग्री और ऊपर ले जाएं। यहां भी 5-6 सेकंड रुककर श्वास भरें और पैरों को 30 डिग्री और ऊपर उठाएं। अब कमर से पीठ और गरदन तक का भाग कंबल पर रहेगा और टांगें 90 डिग्री के समकोण पर रहेंगी। अब श्वास भरकर कमर का भाग भी ऊपर को उठाएं और दोनों हाथों से कमर को सहारा दें। शरीर का सारा बोझ गरदन, कंधा और दोनों भुजाओं पर होगा।

सीने से ठुड्डी का भाग दूर रहेगा। पैरों को इसी अवस्था में रखते हुए और कमर को हाथों का सहारा देते हुए पांवों और धड़ को थोड़ा तिरछा या टेढ़ा कर लें। इस अवस्था में शरीर गरदन और कंधों के बल हाथों पर टिका रहेगा। इसमें जालंधर बंध नहीं लगेगा और कमर से पांव तक का अंश कुछ तिरछा या टेढ़ा रहेगा। इस मुद्रा में शरीर को संभालने में बांहों पर बहुत जोर पड़ता है। किन्तु यहां जिह्वाबंध लगाने का विधान है। जिह्वाबंध की विधि यह है कि जुबान को उलटकर पीछे की ओर मोड़ें और तालु के आगे, जहां कौवा और टोंटी है, उस स्थान पर सटाएं। यह विपरीतकरणी मुद्रा की पूर्णता है।

जिह्वाबंध ही इस मुद्रा की विशेषता है। योगी लोग कहते हैं कि ललाट से एक प्रकार का अमृत झरता है। वह अमृत शरीर के उपयोग में नहीं आता, अंदर चला जाता है और पाचकाग्नि या नाभि में स्थित सूर्य उसको भस्म कर देता है। तालु में जुबान को सटाकर वह झरता हुआ अमृत रस पान करने की चेष्टा की जाती है।

विपरीतकरणी मुद्रा से वृद्धावस्था नहीं आती और यौवन बना रहता है। किन्तु इतना लाभ योगी लोग ही प्राप्त कर सकते हैं, साधारण व्यक्ति नहीं।

यहां इस बात को विशेषरूप से ध्यान में रखना चाहिए कि साधना में जो बातें बहुत साधारण दिखती हैं, वे क्रियात्मक स्तर पर वैसी सामान्य नहीं हैं। इसीलिए जब तक इनके सकारात्मक व नकारात्मक पक्षों की जानकारी विधिवत् न हो (इसे ही दीक्षा कहते हैं) इनसे खिलवाड़ नहीं करना चाहिए। संयम और सावधानी ये दो मूलमंत्र हैं साधना के, इनकी उपेक्षा क्षणभर के लिए भी नहीं करनी चाहिए। 'जिज्ञासा' की पराकाष्ठा के परिणामस्वरूप साधक में उसकी संपूर्ण पात्रता समाहित हो जाती है। ❑❑

अथ चतुर्थः पटलः

मुद्राप्रकरणम्

योनिमुद्राकथनम्

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रवर्तते ।। १ ।।

पहले पूरकयोग से आधारकमल में मन को पूरक करे । गुदा और लिङ्ग के मध्य जो योनिस्थान है, उसे आकुंचन करके प्रवृत्त हुआ जाता है ।। १ ।।

ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।। २ ।।
तस्योर्ध्वं तु शिखासूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला ।
तथा सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ।। ३ ।।

ब्रह्मयोनिगत कन्दुकवत् आभा वाले, अनेक सूर्यों जैसे प्रकाश वाले तथा बहुत-से चन्द्रों की शीतलता वाले कामदेव को उसके ऊपर सूक्ष्म शिखा चैतन्यरूपा श्रेष्ठ कलारूप एकीभूत आत्मा का चिन्तन करे ।। २-३।।

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिङ्गत्रयक्रमेण वै ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।। ४ ।।[१]

ब्रह्मयोनि से (यह जीव) तीन प्रकार से क्रम से गमन करता है, जो कोटि सूर्य और कोटि चन्द्रों जैसा प्रकाशवान् तथा शीतल है ।। ४ ।।

अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ।
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम् ।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ।। ५ ।।

उसका रूप साक्षात् अमृत, स्वर्ग रूप में स्थित (दिव्य आभा में स्थित) परमानन्द स्वरूप वाला है । श्वेत रक्तवर्ण तेज अमृतधारा की वर्षा करने

---

१. यह श्लोक कुछ प्रतियों-टीकाओं में नहीं मिलता है ।

Scanned with CamScanner

वाला है । इस दिव्य योनि अमृत को पीकर पुनः उसी ब्रह्मयोनि में प्रवेश करता है ॥ ५ ॥

पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा ।
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता ॥ ६ ॥

पुनः प्राणायाम योग से ब्रह्मयोनि को प्राण जाता है, जिसे प्राणवत् कहा है, उसे इस तंत्र में कहा गया है ॥ ६ ॥

पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवात्मकम् ।
योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ॥ ७ ॥
तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥ ८ ॥

कालाग्नि आदि शिवस्वरूप आत्मा में (जीव) पुनः लीन हो जाता है । यह श्रेष्ठ योनिमुद्रा उसका बन्धन है । उसके बन्धमात्र से संसार में ऐसा कुछ नहीं है, जो सिद्ध न हो ॥ ७-८ ॥

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताः स्तम्भिताश्च ये ।
दग्धमन्त्राः शिखाहीना मलिनास्तु तिरस्कृताः ॥ ९ ॥

जो मन्त्र छिन्नरूप है, जो कीलित हैं और स्तंभित हैं, दग्ध हैं, शिरोहीन हैं या मलिन हैं और तिरस्कृत हैं ॥ ९ ॥

मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ।
भेदिनो भ्रमसंयुक्ताः सप्ताहं मूर्च्छिताश्च ये ॥ १० ॥

(अथवा) जो मन्द हैं , बाल हैं, वृद्ध हैं, प्रौढ़ हैं और यौवनगर्वित हैं, प्रभेदित हैं या भ्रमयुक्त हैं और सप्ताह से मूर्च्छित हैं ॥ १० ॥

अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः ।
तथा सत्त्वेन हीनाश्च खण्डिताः शतधाकृताः ॥ ११ ॥

विधिनानेन संयुक्ताः प्रभवन्त्यचिरेण तु ।
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः ॥ १२ ॥

और जो शत्रुपक्ष में स्थित हैं, पराक्रमरहित हैं और सत्य से शून्य हैं या वर्जित हैं, खंडित हैं और सैकड़ो में विभक्त हैं । इस प्रकार से युक्त होकर तुरन्त प्रभाव होता है । गुरु द्वारा नियोजित सब सिद्ध और मोक्षप्रद होता है ॥ ११-१२ ॥

Scanned with CamScanner

यद्यदुच्चरते योगी मन्त्ररूपं शुभाशुभम् ।
तत्सिद्धिं समवाप्नोति योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १३ ॥[१]

योगी पुरुष मंत्ररूप जो-जो शुभ-अशुभ उच्चारण करता है, योनिमुद्रा के निबन्धन से वह सब वह प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिञ्च्य सहस्रधा ।
ततो मन्त्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ॥ १४ ॥

विधानपूर्वक दीक्षित करके सहस्रों प्रकार अभिषेक करके तब मंत्राधिकार के लिये यह मुद्रा (गुरु द्वारा) कही गयी है (या कही जाती है) ॥ १४ ॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १५ ॥

सहस्रों ब्रह्महत्या को या त्रैलोक्य का भी यदि घात करे तो भी योनिमुद्रा के बन्धन से पाप से लिप्त नहीं होता ॥ १५ ॥

गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न बध्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १६ ॥

गुरुघाती, सुरापायी, चोर, गुरुतल्पग भी योनिमुद्रा के बन्धन से इन पापों से बँधता नहीं है ॥ १६ ॥

तस्मादभ्यासनं नित्यं कर्तव्यं मोक्षकाङ्क्षिभिः ।
अभ्यासाज्जायते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ॥ १७ ॥

इसलिये मोक्षकामी जनों द्वारा नित्य अभ्यास करना चाहिये । अभ्यास से सिद्धि होती है और अभ्यास से मोक्ष प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

संविदं लभतेऽभ्यासात् योगोऽभ्यासात्प्रवर्तते ।
मुद्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम् ॥ १८ ॥

अभ्यास से ज्ञान प्राप्त होता है, अभ्यास से योग में प्रवृत्ति होती है, अभ्यास से मुद्राओं की सिद्धि होती है और अभ्यास से ही वायु का साधन होता है ॥ १८ ॥

कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ।
वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ॥ १९ ॥

---

१. यह श्लोक कुछ प्रतियों-टीकाओं में नहीं मिलता है ।

Scanned with CamScanner

अभ्यास से कालवञ्चना होती है और अभ्यास से मृत्युंजय होता है। अभ्यासयोग से ही वाणी की सिद्धि और इच्छाचारी हो जाता है ॥ १९ ॥

योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित्।
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ २० ॥

अतः योनिमुद्रा परमगोपनीया है, जिस किसी को इसे नहीं देना चाहिये। (अनधिकारी को) सर्वथा ही, चाहे प्राण कण्ठ में आ जायें तो भी नहीं देना चाहिये ॥ २० ॥

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम्।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् ॥ २१ ॥

अब मैं परमयोगी सिद्धिकारक, श्रेष्ठ सिद्धों के लिये गोपनीय तथा परम दुर्लभ योग को कहता हूँ ॥ २१ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥ २२ ॥

गुरु की कृपा से जब सोयी हुई कुंडलिनी जाग्रत् हो जाती है तब सब पद्म और ग्रंथियाँ भी वेधित हो जाती हैं ॥ २२ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ २३ ॥

इसलिये प्रयत्नपूर्वक इस सोयी हुई स्वामिनी कुंडलिनी को जगाने हेतु ब्रह्मरंध्र के मुख में मुद्राभ्यास करना चाहिये ॥ २३ ॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा ॥ २४ ॥
उड्डयानं चैव वज्रोली दशमं शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् ॥ २५ ॥

महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध खेचरी, जालंधरबन्ध, मूलबंध, विपरीतकरणी, उड्डयान, वज्रोली और शक्तिचालिनी ये दस मुद्रायें मुद्राओं में उत्तम हैं ॥ २४-२५ ॥

महामुद्राकथनम्

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः ॥ २६ ॥

हे प्रिये! (अब) इस तंत्र में महामुद्रा का कथन मैं करता हूँ । जिसे प्राप्त करके कपिल मुनि जैसे बहुत-से सिद्ध आदि पूर्व में सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं ॥ २६ ॥

अपसव्येन सम्पीड्य पादमूलेन सादरम् ।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥ २७ ॥
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै ।
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥ २८ ॥

गुरु के उपदेश से अपसव्य होकर (बाँये) पैर की एड़ी से गुदा और लिङ्ग के मध्य योनिस्थान को अच्छी प्रकार दबाकर दाये पैर को फैलाकर दोनों हाथों से धारण करके नव इन्द्रियों को संयम करके ठोड़ी को हृदय पर (लगाये) ॥ २७ -२८ ॥

चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम् ।
महामुद्राभवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ २९ ॥

मन को मन के मार्ग में लगाकर वायु का साधन करे । यही सब तंत्रों में गोपनीय महामुद्रा कही गयी है ॥ २९ ॥

वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः ।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥ ३० ॥

वामाङ्ग से अभ्यास करके दाये अंग से पुनः अभ्यास करे । नियत मन से योगी प्राणायाम को सम करे ॥ ३० ॥

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति ।
सर्वासामेव नाड़ीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥ ३१ ॥

इस विधि से योगी मन्दभाग्य होते हुए भी सिद्धि पाता है । सब नाड़ियों का चालन और बिन्दु भी स्थिर होता है ॥ ३१ ॥

जीवनन्तु कषायस्य पातकानां विनाशनम् ।
कुण्डलीतापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम् ॥ ३२ ॥[1]

जीवन में आकर्षण होकर पातकों का विनाश होता है । कुंडलिनी का जागरण और वायु का ब्रह्मरंध्र में प्रवेश होता है ॥ ३२ ॥

---

१. यह श्लोक कुछ प्रतियों-टीकाओं में नहीं मिलता है ।

सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम् ।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम् ॥ ३३ ॥

सब रोगों का शमन और जठराग्नि का वर्धन एवं शरीर की कांति सुन्दर होती है तथा जरा-मृत्यु का नाश होता है ॥ ३३ ॥

वाञ्छितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणम् ।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः ।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा ॥ ३४ ॥

वांछित फल की प्राप्ति, परम सुख और इन्द्रियनिग्रह प्राप्त होगा । योगारूढ़ योगी के लिये ये कहे गये सब अभ्यास से अवश्य प्राप्त होते हैं, इसमें संशय नही है ॥ ३४ ॥

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ।
यान्तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः ॥ ३५ ॥

हे देवी! यह मुद्रा देवों द्वारा पूजित प्रयत्नपूर्वक गोपनीय है । इसे पाकर योगीजन संसारसागर के पार चले जाते हैं ॥ ३५ ॥

मुद्रा कामदुधा ह्येषा साधकानां मयोदिता ।
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ॥ ३६ ॥

यह मुद्रा साधकों के लिये कामधेनु है जो मेरे द्वारा उत्पन्न हुई है । इसका व्यवहार (योगीजन्य होने के कारण) गोपनीय है, जिस किसी को इसे नहीं बताना चाहिये ॥ ३६ ॥

महाबन्ध कथनम्

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि ॥ ३७ ॥
गुदयोनिं समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ॥ ३८ ॥

तब पैर को फैलाकर उसके ऊपर (वाम) ऊरु पर रखकर गुदा और योनिस्थान का संकोच करके, अपान वायु को ऊर्ध्वगमन कराके समान वायु से योजित करके प्राण को अधोमुख रखे ॥ ३७-३८ ॥

बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ॥ ३९ ॥

Scanned with CamScanner

जो बुद्धिमान् प्राणापान द्वारा ऊर्ध्वगति हेतु वायु को बाँधता है, यह सिद्धि मार्ग देने वाला महाबन्ध कहा गया है ॥ ३९ ॥

नाड़ीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं यान्ति योगिनः ।
उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ॥ ४० ॥

योगियों का रस व्यूह नाड़ियों के जाल से मूर्धा की ओर गमन करता है। मुद्रा तथा बंध दोनों को एक-एक करके प्रयत्नपूर्वक साधना चाहिये ॥ ४० ॥

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्नां मध्यसङ्गतः ।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपञ्जरे ॥ ४१ ॥

अभ्यास से वायु सुषुम्णा के साथ स्थित होता है। इससे शरीर की पुष्टि तथा शरीर के अस्थिपंजर में दृढ़ता आती है ॥ ४१ ॥

सम्पूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ॥ ४२ ॥

हृदय पूर्ण सन्तुष्ट होता है और इस बन्ध के करने से योगी सर्व अभीष्ट को साधता है ॥ ४२ ॥

महावेध कथनम्

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना ।
स्फिचौ सन्ताडयेद्धीमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया ॥ ४३ ॥

हे त्रिभुवनेश्वरी ! अपान और प्राण दोनों में ऐक्य करके योगी कुक्षि को वायु से पूर्ण करके महावेध में स्थित होता है। पुनः बुद्धिमान् पार्श्वभागों में ताडन करे, इसे ही वेध कहा है ॥ ४३ ॥

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुङ्गवः ।
ग्रन्थिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ॥ ४४ ॥

योगश्रेष्ठ वायु से इस वेध से वेधकर सुषुम्णा मार्ग से ब्रह्मग्रंथी को भेदता है ॥ ४४ ॥

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी ॥ ४५ ॥

Scanned with CamScanner

जो इस गोपनीय महावेध का सदा अभ्यास करता है, उसे जरा-मरण की नाशक वायुसिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४५ ॥

चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात् ।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ॥ ४६ ॥

शरीरचक्र में स्थित देवता वायु के ताडन से कम्पायमान होते हैं । महामाया कुंडलिना(ब्रह्मरन्ध्ररूपी) कैलाश में विलीन हो जाती है ॥ ४६ ॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ॥ ४७ ॥

वेध के बिना महामुद्रा और महाबन्ध दोनों निष्फल हैं । अतः योगी प्रयत्नपूर्वक क्रम से तीनों को करता है ॥ ४७ ॥

एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः ।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ४८ ॥

जो इन तीनों को प्रयत्नसहित चार बार करता है, वह छह मासों में ही मृत्यु को जीत लेता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४८ ॥

एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ।
यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वे सिद्धिं सम्यक् लभन्ति वै ॥ ४९ ॥

इन तीनों (महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध) का माहात्म्य सिद्ध ही जानता है, अन्य नहीं । जिन्हें जानकर सभी साधक सम्यक् रूप से सिद्धि पाते हैं ॥४९॥

गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः ।
अन्यथा च न सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः ॥ ५० ॥

सिद्धि चाहने वाले साधकों द्वारा इसे गोपनीय रखना चाहिये । अन्यथा मुद्राओं की सिद्धि नहीं होती है, यह निश्चय है ॥ ५० ॥

खेचरी मुद्रा

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः ॥ ५१ ॥
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ।
लम्बिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम् ॥ ५२ ॥
संयोजयेत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ॥ ५३ ॥

Scanned with CamScanner

बुद्धिमान् जन भ्रुवों के मध्य में दृष्टि करके वज्रासन में बैठकर नाना उपद्रवों से रहित होकर जिह्वा को विपरीत ऊपर स्थित गड्ढे (विवर) में स्थित करके प्रयत्नपूर्वक सूधाकूप में योजित करे। यही भक्तों के अनुरोधवश खेचरी मुद्रा कही गयी है ॥ ५१-५३ ॥

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया ।
निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत् ।
तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ५४ ॥

यह मुद्रा सिद्धियों की जननी है, (और इसे करने वाले) हमें प्राणो से भी अधिक प्रिय है। निरन्तर अभ्यास से प्रतिदिन अमृत को पीना चाहिये। इससे शरीरसिद्धि हो जाती है और मृत्युरूपी मातंग (हाथी) के लिये यह साक्षात् सिंह ही है ॥ ५४ ॥

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः ॥ ५५ ॥

अपवित्र हो या पवित्र, किसी भी अवस्था में हो, जिसकी खेचरी सिद्ध हैं वह सदा शुद्ध होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ५५ ॥

क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम् ।
दिव्यभोगान् प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते ॥ ५६ ॥

जो क्षणार्ध भी इस खेचरी मुद्रा को करता है, वह पापरूप महासागर को पारकर दिव्य भोगों को भोगकर सत्कुल में उत्पन्न होता है ॥ ५६ ॥

मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः ।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ॥ ५७ ॥

यह खेचरी जिसके चित्त में स्थित है वह स्वस्थचित्त अनालस्य होता है। (इसके प्रभाववश) वह सैकड़ों ब्रह्मा को भी क्षणार्ध होते हैं—ऐसा मानता है ॥ ५७ ॥

गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम् ।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम् ॥ ५८ ॥

गुरुमुख से जो इस खेचरी मुद्रा को जानता है, वह अनेक पाप से युक्त होने पर भी परमगति को पाता है ॥ ५८ ॥

विशेष—'अनेक पापों से युक्त के भी परमगति पाने' का अर्थ यह है कि

Scanned with CamScanner

खेचरीमुद्रा पापों के प्रभाव को और पापप्रेरणा को ही समाप्त कर देती है। खेचरी करने वाला सिद्ध पुरुष ब्रह्मरन्ध्र-आत्मा में रमने से स्वयं ही पापदोषादि से शून्य हो जाता है।

सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मिन्कस्मिन्न दीयते।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ॥ ५९ ॥

यह खेचरी मुद्रा प्राण के समान है जिसे जिस किसी को नहीं देना चाहिये। प्रयत्नपूर्वक यह मुद्रा गोपनीय रखने योग्य है ॥ ५९ ॥

जालन्धरबन्ध कथनम्

बद्धागलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्।
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥ ६० ॥

गलशिराजाल को बाँधकर हृदय में ठोड़ी को लगाये। यह जालन्धरबन्ध देवताओं को भी दुर्लभ कहा गया है ॥ ६० ॥

नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम्।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम् ॥ ६१ ॥

नाभि में स्थित और जठरानल रूप सहस्रदल कमल से गिरने वाले अमृत को पान करना चाहिये। यह बन्ध इसी हेतु से करना चाहिये ॥ ६१ ॥

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान्।
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ॥ ६२ ॥

इस बन्ध से बुद्धिमान् स्वयं अमृत को पीता है तथा अमरत्व को प्राप्त कर तीनों लोकों में प्रसन्न होता है ॥ ६२ ॥

जालन्धरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥ ६३ ॥

यह जालन्धरबन्ध सिद्धों को सिद्धि देने वाला है। योगी के द्वारा सिद्धि की इच्छा से नित्य अभ्यास किया जाता है ॥ ६३ ॥

मूलबन्धः

पादमूलेन सम्पीड्य गुदमार्गं सुयन्त्रितम् ॥ ६४ ॥
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत्।

कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥ ६५ ॥

पैर की एड़ी से गुदामार्ग को आकुंचन करके पीड़ित करे । पुनः बलपूर्वक अपान वायु को खींचकर ऊपर ले जाये । यह जरा-मरण का नाशक मूलबन्ध कहा गया है ॥ ६४-६५ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ।
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥ ६६ ॥

इसे प्राण और अपान की एकता से कहे अनुसार जो करता है, वह इस बन्ध से योनिमुद्रा को सिद्ध कर लेता है ॥ ६६ ॥

सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ।
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥ ६७ ॥

योनिमुद्रा के सिद्ध होने पर भूतल पर क्या है जो सिद्ध नहीं होता है? इस बन्ध की कृपा से योगी वायु को जीतता है और पद्मासन में स्थित होकर भूमि को त्यागकर आकाशगमन करता है ॥ ६७ ॥

सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगिपुङ्गवः ॥ ६८ ॥

गुप्त और जनशून्य स्थान में इस बन्ध का अभ्यास करे, यदि योगी संसारसागर से पार होने की इच्छा करता है ॥ ६८ ॥

विपरीतकरणी मुद्रा

भूतले स्वशिरो दत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ६९ ॥

अपने सिर को भूमि पर रखकर दोनों पैरों को आकाश में स्थित करे । यह विपरीतकरणी मुद्रा सब तंत्रों में गोपनीय कही गई है ॥ ६९ ॥

एतद्यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः ।
मृत्युं जयति स योगी प्रलये नापि सीदति ॥ ७० ॥

जो (योगी) याम (प्रहर) मात्र तक नित्य अभ्यास करता है, वह योगीश मृत्यु को जीतता है तथा प्रलय में भी दुःखी नहीं होता है ॥ ७० ॥

Scanned with CamScanner

कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात् ।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ॥ ७१ ॥

जो पुरुष अमृतपान करता है, वह सिद्धों की समता प्राप्त करता है । वह सब लोकों का सेवनीय होता है, जो इस बन्ध को करता है ॥ ७१ ॥

उड्डयान बन्धः

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ।
उड्डयानबन्ध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः ॥ ७२ ॥

नाभि से ऊपर और नीचे आकुंचन करे । यह सब दुःखनाशक उड्डयान बन्ध होता है ॥ ७२ ॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डयानाख्योऽत्र बन्धोऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ७३ ॥

उदर को पीछे की ओर तथा नाभि के ऊपर की ओर इसे करना चाहिये। यह मृत्युरूपी हाथी का नाशक उड्डयान नामक साक्षात् सिंह है ॥ ७३ ॥

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन सिद्धो भवेन्मरुत् ॥ ७४ ॥

जो योगी नित्य चार बार प्रतिदिन इसे करता है, उसका नाभिचक्र शुद्ध होता है और वायु को सिद्ध करता है ॥ ७४ ॥

षण्मासमभ्यसेन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम् ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते ॥ ७५ ॥

योगी छह मास तक इसका अभ्यास करे तो निश्चय ही मृत्यु को जीत लेता है । उसका जठरानल प्रज्वलित होता है और पाचक रस की वृद्धि उत्पन्न हो जाती है ॥ ७५ ॥

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते ।
रोगाणां सङ्क्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ॥ ७६ ॥

इससे स्वयं ही योगी का शरीर सिद्ध हो जाता है । योगी के रोगों का क्षय भी निश्चय ही होता है ॥ ७६ ॥

गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः ।
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम् ॥ ७७ ॥

Scanned with CamScanner

बुद्धिमान् जन गुरु से यत्नपूर्वक इसे साधित कर ले। निर्जन स्थान में स्वस्थ होकर परमदुर्लभ इस बन्ध को करे ॥ ७७ ॥

वज्रोली मुद्रा

वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम् ।
स्वभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद्गुह्यतमामपि ॥ ७८ ॥

(अब) मैं संसाररूपी अन्धकार का नाश करने वाली वज्रोली मुद्रा को कहता हूँ। जो भक्तों के लिये है और परम गोपनीय है ॥ ७८ ॥

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना ।
मुक्तो भवति गार्हस्थो वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥ ७९ ॥[१]

व्रजोली मुद्रा के अभ्यासयोग से स्वेच्छा से गृहस्थ में वर्तमान होकर भी योगोक्त नियमों के बिना भी व्यक्ति मुक्त हो जाता है ॥ ७९ ॥

वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगे युक्तेऽपि मुक्तिदः ।
तस्मादतिप्रयत्नेन कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ८० ॥[२]

वज्रोली मुद्रा का अभ्यास भोगयुक्त होने पर भी मुक्तिदायी है। योगियों द्वारा अतीव प्रयत्न से इसका अभ्यास करना चाहिये ॥ ८० ॥

आदौ रजः स्त्रियो योन्या यत्नेन विधिवत्सुधीः ।
आकुञ्च्य लिङ्गनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ ८१ ॥[३]

सुधीजन विधिपूर्वक यत्न से स्त्री की योनि से रज को लिङ्गनाल से आकुंचित करके अपने शरीर में प्रवेश करे ॥ ८१ ॥

स्वकं बिन्दुश्च सम्बन्ध्य लिङ्गचालनमाचरेत् ।
दैवाच्चलति चेदूर्ध्वं निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ८२ ॥[४]

और अपने बिन्दु को निरोध कर लिङ्गचालन करे। दैव से यदि बिन्दु चले तो योनिमुद्रा से ऊपर करे ॥ ८२ ॥

वाममार्गेऽपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिङ्गं निवारयेत् ।
क्षणमात्रं योनितो यः पुमांश्चालनमाचरेत् ॥ ८३ ॥[५]

वाममार्ग में उस बिन्दु को लेकर योनि से लिङ्ग का क्षणमात्र में निवारण करे। जो भी पुरुष चालन करे ॥ ८३ ॥

१-५. ये श्लोक कुछ प्रतियों-टीकाओं में नहीं मिलते हैं।

गुरूपदेशतो योगी हुंहुंकारेण योनितः ।

अपानवायुमाकुञ्च्य बलादाकृष्य तद्रजः ॥ ८४ ॥[1]

योगी गुरु के उपदेश से हुं-हुंकार शब्द से अपान वायु का आकुंचन करके बलपूर्वक स्त्रीरज को आकर्षित करे ॥ ८४ ॥

अनेन विधिना योगी क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।

भव्यभुक् कुरुते योगी गुरुपादाब्जपूजकः ॥ ८५ ॥[2]

इस विधि से योगी शीघ्र ही योग की सिद्धि पाता है । गुरु चरणकमल-पूजक योगी शरीरामृत का पान करता है ॥ ८५ ॥

बिन्दुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमयस्तथा ।

उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ ८६ ॥[3]

बिन्दु को चन्द्रमय जाने और रज को सूर्यमय । दोनों का योग करके शरीर में प्रवेश करे ॥ ८६ ॥

अहं बिन्दु रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा ।

योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ॥ ८७ ॥[4]

अहं रूप बिन्दु और रजरूप शक्ति दोनों का जब योग हो जाता है, वह योगियों की साधनावस्था होती है तथा शरीर दिव्य हो जाता है ॥ ८७ ॥

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणे ।

तस्माददतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम् ॥ ८८ ॥

बिन्दुपात से मरण और बिन्दुधारण में जीवन है । अतः अत्यन्त प्रयत्न से बिन्दु को धारण करना चाहिये ॥ ८८ ॥

जायते म्रियते लोके बिन्दुना नात्र संशयः ।

एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिन्दुधारणमाचरेत् ॥ ८९ ॥

संसार में बिन्दु (वीर्य) से ही जन्म होता है और (बिन्दु से ही) मरण होता है, इसमें संशय नहीं है । यह जानकर योगी सदा ही बिन्दु को धारण करे ॥ ८९ ॥

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति भूतले ।

यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ॥ ९० ॥

१-४. ये श्लोक कुछ प्रतियों-टीकाओं में नहीं मिलते हैं ।

Scanned with CamScanner

यत्नसहित बिन्दु के सिद्ध हो जाने पर भूतल पर क्या सिद्ध नहीं होता है? (हे पार्वती!) इसी के प्रसाद से मेरी भी ऐसी महिमा है ॥ ९० ॥

बिन्दुः करोति सर्वेषां सुखं दुःखं च संस्थितः ।
संसारिणां विमूढानां जरामरणशालिनाम् ॥ ९१ ॥
अयं च शाङ्करो योगो योगिनामुत्तमोत्तमः ॥ ९२ ॥

मूढ़ लोगों, संसारियों या जरा-मरणशीलों आदि का बिन्दु ही सबके सुख दुःख का कारक है । योगियों के लिए यह उत्तमोत्तम शांकर योग है ॥ ९१-९२॥

अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति भोगयुक्तोऽपि मानवः ।
सकलः साधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले ॥ ९३ ॥[१]

भोगयुक्त मानव भी अभ्यास से सिद्धि प्राप्त करता है । संसार में सव वांछित फल सिद्ध हो जाता है ॥ ९३ ॥

भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन निश्चितम् ।
अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवम् ।
सुखभोगेन महता तस्मादेनं समभ्यसेत् ॥ ९४ ॥[२]

इस योग से निश्चय ही समस्त भोगों को भोगकर योगी को सकल सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । अत्यन्त सुखभोग के कारण इसका अभ्यास करना चाहिये ॥ ९४ ॥

सहजोल्यमरोली च वज्रोल्या भेदतो भवेत् ।
येन केन प्रकारेण बिन्दुं योगी प्रचारयेत् ॥ ९५ ॥[३]

सहजोली और अमरोली—ये वज्रोली के दो भेद हैं । योगी सब प्रकार से बिन्दु की धारणा करे ॥ ९५ ॥

दैवाच्चलति चेद्वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः ।
अमरोलिरियं प्रोक्ता लिङ्गनालेन शोषयेत् ॥ ९६ ॥[४]

यदि वेगपूर्वक दैववश बिन्दु चलता है और सूर्य-चन्द्र (रज और बिन्दु) का मेलन हो तो यह अमरोली होती है । लिङ्गनाल से रज और बिन्दु का शोषण करे ॥ ९६ ॥

१-४. ये श्लोक कुछ प्रतियों-टीकाओं में नहीं मिलते हैं ।

Scanned with CamScanner

गतं बिन्दुं स्वकं योगी बन्धयेद्योनिमुद्रया ।
सहजोलीरियं प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।। ९७ ।।[१]

योगी योनिमुद्रा से अपने चंचल बिन्दु को अवरुद्ध करे । यही सब तन्त्र में गोपनीय सहजोली कही है ।। ९७ ।।

संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्यं तुल्यगतिर्यदि ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ।। ९८ ।।[२]

पहचानभेद से भेद होता है किन्तु गति दोनों की समान है । योगियों द्वारा सब प्रयत्न से इन्हें साधा जाता है ।। ९८ ।।

अयं योगो मया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहतः प्रिये ।
गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ।। ९९ ।।[३]

हे प्रिये पार्वती! यह योग भक्तों के हित के लिये मेरे द्वारा कहे गये हैं । प्रयत्नपूर्वक यह गोपनीय है, जिस किसी को नहीं देना चाहिये ।। ९९ ।।

एतद्‌गुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति ।
तस्मादेतत्प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ।। १०० ।।[४]

वज्रोली मुद्रा अतीव गोपनीय है और न कोई ऐसा है, न हुआ है । अतः विद्वानों द्वारा इसे प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखा जाना चाहिये ।। १०० ।।

स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना ।
स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य तत्पुनः ।। १०१ ।।

जो मूत्रोत्सर्ग समय में बलपूर्वक वायु से मूत्र को थोड़ा-थोड़ा आकर्षित करके छोड़ता है और पुनः ऊपर को आकर्षण करता है ।। १०१ ।।

गुरूपदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
बिन्दुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायिका ।। १०२ ।।

गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग से जो प्रतिदिन इसका आचरण करता है, उसे महासिद्धिदायक बिन्दुसिद्धि प्राप्त होती है ।। १०२ ।।

षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया ।
शताङ्गनानां भोगेऽपि तस्य बिन्दुर्न नश्यति ।। १०३ ।।

१-४. ये श्लोक कुछ प्रतियों-टीकाओं में नहीं मिलते हैं ।

गुरुशिक्षा सहित छह मास तक जो इसका अभ्यास करे तो सैकड़ों अङ्गनाओं से भोग से भी उसका बिन्दुपात नहीं होगा ॥ १०३ ॥

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति पार्वति ।
ईशत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभं भवेत् ॥ १०४ ॥

हे पार्वती ! बिन्दुसिद्धि होने पर सब सिद्ध हो जाता है । इसी के प्रसाद से हमें भी ईशत्व प्राप्त हुआ है ॥ १०४ ॥

शक्तिचालनी मुद्रा

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढ़ाम् ।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥ १०५ ॥

आधारकमल में सोयी हुई कुंडली को अपानवायु को रोककर बलपूर्वक आकर्षण करके चलाये । यही शक्तिदायिनी शक्तिचालन मुद्रा है ॥ १०५ ॥

शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥ १०६ ॥

जो प्रतिदिन शक्तिचालन का अभ्यास करता है, उसकी आयुवृद्धि और रोगों का विनाश होता है ॥ १०६ ॥

विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वे भवेत्खलु ।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥ १०७ ॥

कुंडलिनी निद्रा को छोड़कर स्वयं ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है । अतः सिद्धि चाहने वाला योगी इसका अभ्यास करे ॥ १०७ ॥

यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ॥ १०८ ॥

जो शक्तिचालन मुद्रा का नित्य अभ्यास करता है, उसके द्वारा अणिमादि सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १०८ ॥

गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिचालनम् ॥ १०९ ॥
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ॥ ११० ॥

Scanned with CamScanner

गुरु-उपदिष्ट विधि से उसे मृत्युभय नहीं होता। दो मुहूर्त पर्यन्त जो विधिपूर्वक शक्तिचालन करता है तो उसे सब सिद्धि प्राप्त होती है। योगियों द्वारा युक्तासन से शक्तिचालन करना चाहिये ॥ १०९-११० ॥

एतत्तु मुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति।
एकैकाभ्यासने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा ॥ १११ ॥

॥ इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे 'मुद्राकथनं' नाम चतुर्थः पटलः पूर्णः ॥

इन दस मुद्राओं जैसा अन्य न हुआ है, न होगा। इनमें से एक-एक के अभ्यास से ही सिद्धि प्राप्त होती है। यह अन्यथा नही है ॥ १११ ॥

॥ इस प्रकार शिवसंहिता में राघवीय गीता भाष्य में मुद्राकथन नामक चतुर्थ पटल पूर्ण हुआ ॥

Scanned with CamScanner

तृतीयोपदेशः

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥ १ ॥

अथ कुण्डल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह—सशैलेति । शैलाश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्तासाम् । धात्र्या एकत्वेऽपि देशभेदाद् भेदमादाय बहुवचनम् । अहीनां सर्पाणां नायको नेताहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत् । सर्वेषां योगस्य तन्त्राणि योगतन्त्राणि योगोपायास्तेषाम् । कुण्डल्याधारशक्तिराश्रयः । कुण्डलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥ २ ॥

कुण्डलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्याम्—सुप्तेति । सुप्ता कुण्डली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यन्ते भिन्नानि भवन्ति । ग्रन्थयोऽपि च ब्रह्मग्रन्थिविष्णुग्रन्थिरुद्रग्रन्थयो भिद्यन्ते भेदं प्राप्नुवन्तीत्यन्वयः ॥ २ ॥

प्राणस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥ ३ ॥

प्राणस्येति । तदा शून्यपदवी सुषुम्ना प्राणस्य वायो राज्ञां पन्था राजपथः, राजपथ इवाचरति राजपथायते राजमार्गायते । सुखेन गमनसंभवात् ।

तदा चित्तमालम्बनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालम्बं निर्विषयं भवति । तदा कालस्य मृत्योर्वञ्चनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः ।
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

सुषुम्नापर्यायानाह—सुषुम्नेति । इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः । पर्याया इत्यर्थः । स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ ४ ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥

तस्मादिति । यस्मात् कुण्डलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना, तस्य मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुण्डलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत् सम्यगाचरेत् ॥ ५ ॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥

मुद्रा उद्दिशति—महामुद्रेत्यादिना सार्धेन । सार्धार्थः स्पष्टः ॥ ६ ॥

मुद्राफलमाह सार्धद्वाभ्याम्—इदमिति । इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकम् ॥ ७ ॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितम् । दिवि भवं दिव्यमुत्तमम् । अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिममहिमगरिमलघिमप्राप्तिप्राकाम्येशितावशिताख्यानि । तत्राणिमा संकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद् देहस्य सूक्ष्मता । १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः । २ । गरिमा लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद् गुरुभावः । ३ । लघिमा गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः । ४ । प्राप्तिः सर्वभावसांनिध्यम् । यथा भूमिस्थ एवाङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम् । ५ । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च । ६ । ईशिता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् । ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणम् । ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा, सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥

गोपनीयमिति । प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयं गोपनार्हम् । गोपने दृष्टान्तमाह—यथेति । रत्नानां हीरकादीनां करण्डकं रत्नकरण्डकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् । कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वक्तव्यं नैव वाच्यं किमुतान्यस्य । तत्र दृष्टान्तः—कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा यद्वत् ॥ ९ ॥

अथ महामुद्रा—

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढम् ॥ १० ॥

मुद्रासु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह—पादमूलेनेति। वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपादपार्ष्णिनेत्यर्थः। योनिं योनिस्थानं गुदमेण्ढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्याकुञ्चितवामपादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः। दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वाङ्गुलिकं दण्डवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायादाकुञ्चितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदङ्गुष्ठप्रदेशे गृह्णीयात् ॥ १० ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद् वायुमूर्ध्वतः।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

कण्ठ इति। कण्ठे कण्ठदेशे बन्धं बन्धनं सम्यगारोप्य कृत्वा। जालंधरबन्धं कृत्वेत्यर्थः। वायुं पवनमूर्ध्वत उपरि सुषुम्नायां धारयेत्। अनेन मूलबन्धः सूचितः। स तु योनिसंपीडनेन जिह्वाबन्धनेन च चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः। यथा दण्डेन हतस्ताडितो दण्डहतः सर्पः कुण्डली दण्डाकारः दण्डस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः। कुण्डलाकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः। प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥

ऋज्वीति। तथा कुण्डल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत्। तदा सेति। द्वे पुटे इडापिङ्गले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते। कुण्डलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः पुटयोः प्राणवियोगात् ॥ १२ ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥ १३ ॥

ततस्तदनन्तरं शनैः शनैरेव रेचयेत्। वायुमिति संबध्यते। वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत्। वेगतो रेचने बलहानिप्रसङ्गात्। खल्विति वाक्यालंकारे। इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता ॥ १३ ॥

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥

महामुद्राया अन्वर्थतामाह—महेति। महान्तश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च। त आदयो येषां तत्कार्याणां शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयन्ते। मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयन्ते नश्यन्ति। यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदन्ति। महाक्लेशान् मरणादींश्च दोषान् मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १४ ॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत्।
यावत्तुल्या भवेत् संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५ ॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह—चन्द्राङ्ग इति। चन्द्रेण चन्द्रनाड्योपलक्षितमङ्गं चन्द्राङ्गं तस्मिन् चन्द्राङ्गे वामाङ्गे। तुशब्दः पादपूरणे। सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिङ्गलयोपलक्षितमङ्गं सूर्याङ्गं तस्मिन् सूर्याङ्गे दक्षाङ्गे पुनर्वामाङ्गाभ्यासानन्तरं यावद् यावत्कालपर्यन्तं तुल्या वामाङ्गे कुम्भकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत् तावदभ्यसेत्। ततः संख्यासाम्यानन्तरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत्। अत्रायं क्रमः। आकुञ्चितवामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने संयोज्य प्रसारित-दक्षिणपादाङ्गुष्ठमाकुञ्चिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो वामाङ्गेऽभ्यासः। अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामाङ्गे तिष्ठति। आकुञ्चितदक्षपादपार्ष्णिं योनिस्थाने

संयोज्य प्रसारितवामपादाङ्गुष्ठमाकुञ्चिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो दक्षाङ्गेऽभ्यासः। अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षाङ्गे तिष्ठति ॥ १५ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ॥ १६ ॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः—न हीति। हि यस्माद् महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः। पथ्यमपथ्यं वा न। पथ्यापथ्यविचारो नास्तीत्यर्थः। तस्मात् सर्वेऽपि भुक्ता रसाः कट्वम्लादयो जीर्यन्तीति वचनविपरिणामेनान्वयः। नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यन्ति। घोरमिति दुर्जरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति। किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७ ॥

यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत् तस्य क्षयो राजरोगः कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगविशेषाः। अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि येषां महोदरज्वरादीनां ते तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यान्ति प्राप्नुवन्ति ॥ १७ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ १८ ॥

महामुद्रामुपसंहरन् तस्या गोप्यत्वमाह—कथितेति। इयमेषा महामुद्रा कथितोक्ता। मयेति शेषः। कीदृशी? नृणामभ्यस्यतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम्। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन

गोपनीया गोपनार्हा, यस्य कस्यचिद् यस्य कस्याप्यनधिकारिणः, संबन्ध-सामान्ये षष्ठी। न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथ महाबन्धः—

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥

महाबन्धमाह—पार्ष्णिमिति। वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्ष्णिं गुल्फयोरधोभागम्। 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ पुमान् पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः (II. 6. 72)। योनिस्थाने गुदमेण्ढ्योरन्तराले नियोजयेन्नितरां योजयेत्। वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा। तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम्।
निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ २० ॥

पूरयित्वेति। ततस्तदनन्तरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य। एतेन जालंधरबन्धः प्रोक्तः। योनिं गुदमेण्ढ्योरन्तरालमाकुञ्च्य। अनेन मूलबन्धः सूचितः। स तु जिह्वाबन्धेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः। मनः स्वान्तं मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत् प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

धारयित्वेति। शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति, धारयित्वा कुम्भयित्वा, शनैर्मन्दं मन्दमनिलं वायुं रेचयेत्। सव्याङ्गे वामाङ्गे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षाङ्गे दक्षिणाङ्गे पुनर्यावत् तुल्या भवेत् संख्या तावदभ्यस्येत् ॥ २१ ॥

मतमत्र तु केषांचित् कण्ठबन्धं विवर्जयेत् ।
राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥

अथ जालंधरबन्धे कण्ठसंकोचनस्यानुपयोगमाह—मतमिति । केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतम् । किं तदित्याह—अत्र जालंधरबन्धे कण्ठस्य बन्धनं बन्धः संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः ? यतो दन्तानां राजानो राजदन्ता राजदन्तेषु तिष्ठतीति राजदन्तस्था, राजदन्तस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धस्तदुपरिभागस्य संबन्धः शस्तः । कण्ठाकुञ्चनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः ॥ २२ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥

अयं त्विति । अयं तु राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वगतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबन्धकः । एतेन 'बध्नाति हि शिराजालम्' (III. 71) इति जालंधरोक्तं फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम् । महाबन्धस्य फलमाह—अयं खल्विति । अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महाबन्धः, महासिद्धीः प्रकर्षेण ददातीति तथा ॥ २३ ॥

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥

कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबन्धो बन्धनं तस्य विशेषेण मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणी समुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यम्

तं मनः स्वान्तं प्रापयेत् । 'गतिबुद्धि—' (*Pāṇ.*, 1. 4. 52) इत्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह—रूपेति । रूपं सौंदर्यं चक्षुःप्रियो गुणः, लावण्यं कान्तिविशेषः । तदुक्तम्—

'मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरम् ।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति ।

ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबन्धश्च तौ, वेधेन महावेधेन विनापि । 'प्रत्ययपूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्यः' इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य लोपः । वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः ॥ २५ ॥

अथ महावेधः—

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥ २६ ॥

महावेधमाह—महाबन्धेति । महाबन्धे महाबन्धमुद्रायां स्थितो महाबन्धस्थितः । एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा, कण्ठे मुद्रा कण्ठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिमूर्ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथावृत्य निरुध्य कुम्भकं कृत्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥

समहस्तेति । भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं हस्तयुगं समं हस्तयुगं यस्य सः समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः । स्फिचौ कटिप्रोथौ । 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथौ' इत्यमरः (II. 6. 75) । भूमिसंलग्नतल्योर्हस्तयोरवलम्बनेन योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मन्दं संताडयेत् सम्यक् ताडयेत्, भूमावेव । पुटयोर्द्वयमिडापिङ्गलयोर्युग्ममतिक्रम्योल्लङ्घ्य मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८ ॥

सोमेति । सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडापिङ्गलासुषुम्ना ग्राह्यास्तेषां संबन्धः । तद्वायुसंबन्धात् तेषां संबन्धः, अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिङ्गलयोः प्राणसंचाराभावात् । ततस्तदनन्तरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥ २८ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥

महावेध इति । अयं महावेधोऽभ्यासात् पुनःपुनरावर्तनाद् महासिद्धयोऽणिमाद्यास्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्पकः । वली जरया देहे चर्मसंकोचः, पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं, वेपः कम्पः तान् हन्तीति वलीपलितवेपघ्नः । अतएव साधकेष्वभ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

एतत् त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह—एतदिति । एतत् त्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम् । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि । हि यस्माज्जरा वार्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः, तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ, अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम् । चकार आरोग्यबिन्दुजयादिसमुच्चयार्थः । एवशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ३० ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथैतत्त्रयस्य पृथक् साधनविशेषमाह—अष्टधेति । दिने दिने प्रतिदिनम् । यामे यामे प्रहरे प्रहरे । पौनःपुन्ये द्विर्वचनम् । अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते । चशब्दो विशेषे, एवशब्दोऽवधारणे । एतत्त्रयमित्यत्रापि संबध्यते । कीदृशम्? पुण्यानां संभारः समूहस्तस्य संधायि विधायि । पुनः कीदृशं पापानामोघः पूरः समूह इति यावत् । तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाभ्यस्तं तदैव पापनाशनम् । सम्यक् सांप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां तेषाम् । एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्तरीत्या पूर्वं प्रथमं साधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम् ॥ ३१ ॥

अथ खेचरी—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह—कपालेति । कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन् कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात् । भ्रुवोरन्तर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात् । सा खेचरीमुद्रा भवति । कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरन्तर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम् ॥ ३२ ॥

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेणाथ वर्धयेत् तावत् ।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३३ ॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह—छेदनेति । छेदनम् अनुपदमेव वक्ष्यमाणम् । चालनं हस्तयोरङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनम् । दोहः करयोरङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत् दोहनम्, तैः कलां जिह्वां तावद्वर्धयेद् दीर्घां कुर्यात् । तावत्, कियत्? यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति, तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥ ३३ ॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥

तत्साधनमाह—स्नुहीति । स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रम्, स्नुहीपत्रेण सदृशं स्नुहीपत्रनिभं, सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं, स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा, ततः शस्त्रग्रहणानन्तरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत् सम्यगुच्छिनेच्छिन्द्यात् । रसनामूलशिरामिति कर्माध्याहारः । 'मिश्रेयोऽप्यथ सिंहुण्डो वज्रद्रुः स्नुक् स्नुही गुडा' इत्यमरः (II. 4. 105) ॥ ३४ ॥

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

ततश्छेदनानन्तरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैन्धवं सिन्धुदेशोद्भवं लवणं पथ्या हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत् प्रकर्षेण घर्षयेच्छिन्नं शिराप्रदेशम् । सप्तदिनपर्यन्तं छेदनं सैन्धवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयम्। योगाभ्यासिनो लवणनिषेधात् खदिरपथ्याचूर्णं गृह्णन्ति। मूले सैन्धवोक्तिस्तु हठाभ्यासात् पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण। सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात्। ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः। पुनः पूर्वछेदनापेक्षयाधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत्।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

एवमिति। एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तदिनपर्यन्तं तावदेव सायंप्रातश्छेदनं घर्षणं च। अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यन्तं नित्यं युक्तः सन् समाचरेत् सम्यगाचरेत्। छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः। षण्मासादनन्तरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या शिरा कपालकुहररसनासंयोगप्रतिबन्धकीभूता नाडी तया बन्धो बन्धनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह—कलामिति। कलां जिह्वां पराङ् मुखमग्रं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पन्थाः त्रिपथस्तस्मिन् त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत् संयोजयेत्। सा त्रिपथे रसनापरियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते, व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

अथ खेचरीगुणाः—रसनामिति । ऊर्ध्वं तालूपरि विवरं गच्छतीति ऊर्ध्वगा तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत् तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते । व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते ।

'उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा ।
क्षणशब्दो व्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते ॥'

इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ३९ ॥

न रोग इति । यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तन्द्रा तामसान्तःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न क्षुधा न तृषा पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाभिभूतावस्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ४० ॥

पीड्यत इति । यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न पीड्यते प्रमादाज्जातेनाशुभेन कर्मणा, लोकसंग्रहार्थकृतशुभेन च कर्मणा न लिप्यते । कालेन मृत्युना स न बाध्यते न हन्यते ॥ ४० ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥

चित्तमिति । यस्माद्धेतोश्चित्तमन्तःकरणं खे भ्रुवोरन्तरवकाशे चरति जिह्वा खे तत्रैव गता सती चरति । तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययम् । सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता । खे भ्रुवोरन्तर्व्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशक्त्या व्युत्पादिता । उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥ ४१ ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च ॥ ४२ ॥

खेचर्येति । येन योगिना खेचर्या मुद्रया लम्बिकाया ऊर्ध्वमिति लम्बिकोर्ध्वतः । 'सार्वविभक्तिकस्तसिः' । लम्बिका तालु, तस्या ऊर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम् । कामिन्या युवत्याश्लेषितस्यालिङ्गितस्यापि । चशब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिन्दुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डलम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ४३ ॥

चलित इति । चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिन्दुर्यदा यस्मिन् काले योनिमण्डलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुञ्चनरूपया । एतेन वज्रोली मुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याकर्षणशक्त्या हृतः आकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति । सुषुम्नामार्गेण बिन्दुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वजिह्व इति । ऊर्ध्वा लम्बिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लम्बिकोर्ध्वविवरगलितचन्द्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभिभवति । न संदेहः, निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥

नित्यमिति । यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ४६ ॥

यथा वह्निः अग्निः इन्धनानि काष्ठादीनि न मुञ्चति दीपको दीपः तैलवर्तिं च तैलयुक्तां वर्तिं न मुञ्चति । तथा सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतपूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुञ्चति न त्यजति ॥ ४६ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

गोमांसमिति । गोमांसं पारिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत् तं योगिनम् । अहमिति ग्रन्थकारोक्तिः । कुले जातः कुलीनः तं सत्कुलोत्पन्नं मन्ये । तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते —

‘कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् ।
जायते योगवान् यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥
दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् ।
भवकोटिशतोपात्तं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥’ इति ।

ब्रह्माण्डपुराणे—

‘गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च ।
ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥’

राजयोगे वामदेवं प्रति शिववाक्यम्—

‘राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः ।
तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम् ॥
दर्शनादर्चनादस्य त्रिःसप्तकुलसंयुताः ।
अज्ञा मुक्तिपदं यान्ति किंपुनस्तत्परायणाः ॥
अन्तर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः ।
त्वया मयाप्यसौ वन्द्यः शेषैर्वन्द्यास्तु किं पुनः ॥’

इति । कूर्मपुराणे—

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा ।
ये युञ्जते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ॥’ इति ।

इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः, सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात् ॥ ४७ ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥

गोमांसशब्दार्थमाह—गोशब्देनेति । गोशब्देन गोइत्याकारकेण शब्देन गोपदेनेत्यर्थः । जिह्वा रसनोदिता कथिता । तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपोर्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात् स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह—जिह्वेति । जिह्वायाः प्रवेशो लम्बिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात् संभूतो जातो यो वह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते । यः सारः चन्द्राद् भ्रुवोरन्तर्वामभागस्थात् सोमात् स्रवति गलति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥ ५० ॥

चुम्बन्तीति । यदि चेल्लम्बिकाग्रं लम्बिकोर्ध्वविवरं चुम्बन्ती स्पृशन्ती । अनिशं निरन्तरम् । अतएव रसस्य सोमकलामृतस्य स्यन्दः स्यन्दनं प्रस्रवणमस्यामस्तीति रसस्यन्दिनी यस्य जिह्वा । क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा, कटुकं मरिचादि, आम्लं चिञ्चाफलादि, दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना । मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा । तथाशब्दः समुच्चये । एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसवत्त्वाद् मधुरत्वात् स्निग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्यन्दने

तथात्वमुक्तम् । तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अन्तकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वाभिमुखागमनं तस्योदीरणं निवारणम् । अष्टौ गुणा अणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्वममरभावः सिद्धानामङ्गनाः सिद्धाङ्गनाः सिद्धाश्च ता अङ्गनाश्चेति वा तासामाकर्षणमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ५० ॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥५१॥

मूर्ध्न इति । रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य । उर्ध्वमुत्तानमास्यं यस्य सः, ऊर्ध्वास्य इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता । परां शक्तिं कुण्डलिनीं चिन्तयन् ध्यायन् सन् प्राणात् साधनभूतात् । षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं च कण्ठस्थाने वर्तमानं तस्मिन् गलितं हठाद् हठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरङ्गं च तत्कलाजलं च सोमकलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत् स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात् स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता विविधा त्रिविधा आधयो मानसी व्यथा यस्मात् स तादृशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान् धारयति । हठाद्धठयोगात् । प्राणात् साधनभूतादवाप्तमिति वा योजना । प्राणैरिति क्वचित् पाठः ॥ ५१ ॥

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।

चन्द्रात् सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद् बध्नीयात् सुकरणमधो नान्यथा कायसिद्धिः ॥ ५२ ॥

यत्प्रालेयमिति । मेरुवत् सर्वोन्नता सुषुम्ना मेरुस्तस्य मूर्धा उपरिभागस्तस्यान्तरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धान्तरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिन् तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरं तस्मिन् विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः । तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' (*Mahānā. Up.*, 11. 13) इति श्रुतेः । आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिन् तत्त्वमित्युक्तम् । निम्नगानां गङ्गायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्यानामिडापिङ्गलासुषुम्नागान्धारीप्रभृतीनां तत् तस्मिन् विवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चन्द्रात् सोमाद् वपुषः शरीरस्य सारः सारभूतो रसः स्रवति क्षरति तेन चन्द्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति । अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरी मुद्राख्यं बध्नीयात् । सुकरणे बद्धे चन्द्रसारस्रवणाभावाद् मृत्युर्न स्यादिति भावः । अन्यथा सुकरणबन्धनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात् ॥ ५२ ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने ॥ ५३ ॥

सुषिरमिति । पञ्च यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैः समन्वितं सम्यगनुगतम् । सप्तस्रोतःसमन्वितमिति क्वचित् पाठः । ज्ञानजनकमलौकिकाबाधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन् सुषिरेऽञ्जनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात् तन्निरञ्जनं तस्मिन् निरञ्जने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (*Pāṇ.* 1. 3. 23) इत्यात्मनेपदम् ॥ ५३ ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥ ५४ ॥

एकमिति । सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यम् । तदुक्तं माण्डूक्योपनिषदि । 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' (*Māṇḍ. Up.*, I. 1) इति । खेचरी मुद्रा एका मुख्या । निरालम्ब आलम्बनशून्य एको मुख्यो देवः । आलम्बनपरित्यागेनात्मनः स्वरूपावस्थानात् । उन्मन्यवस्थैका मुख्या । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः (III. 3. 16) । बीजादिषु प्रणवादिवद् मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अथोड्डीयानबन्धः—

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥

उड्डीयानबन्धं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह—बद्ध इति । यतो यस्माद्धेतोर्येन बन्धेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्नायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्नां विहायसा गच्छति तस्मात् कारणादयं बन्धो योगिभिर्मत्स्येन्द्रादिभिरुड्डीयनमाख्याभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग् व्युत्पत्त्योदाहृतः कथितः । सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम् । उत्पूर्वाड्डीङ्विहायसा गतावित्यस्मात् करणे ल्युट् ॥ ५५ ॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रन्तं महाखगः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात् तत्र बन्धोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥

उड्डीनमिति ॥ महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः । सर्वदा देहावकाशे गतिमत्त्वात् । यस्माद् बन्धादविश्रान्तं यथा स्यात् तथोड्डीनं विहङ्गमगतिं कुरुते ।

सुषुम्नायामित्यध्याहार्यम् । तदेव बन्धविशेषमुड्डीयाननामकं स्यात् । तत्र तस्मिन् विषये बन्धोऽभिधीयते बन्धस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः ॥ ५६ ॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ५७ ॥

उड्डीयानबन्धमाह—उदर इति । उदरे तुन्दे नाभेरूर्ध्वे चकारादधः उपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसंलग्नौ स्यातां तथा तानंताननं नामाकर्षणं कारयेत् कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्ताननरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बन्धः । कीदृशः मृत्युरेव मातङ्गो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः ॥ ५७ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥

उड्डीयानं त्विति । गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितम् । प्राणस्य बहिर्गमने सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात् । यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरन्तरमभ्यसेत् । उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते । स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते ॥ ५८ ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात् प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥

नाभेरिति । नाभेरुर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात् प्रयत्नतः । यत्नविशेषात् तानं पश्चिमतानं कुर्यात् ।

पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूपमुक्तम् । अथ तत्प्रशंसा । यः षण्मासं षण्मासपर्यन्तम् । उड्डीयानमित्यध्याहारः । अभ्यसेत् पुनःपुनरनुतिष्ठेत् । स मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

सर्वेषामिति । सर्वेषां बन्धानां षोडशाधारबन्धानां मध्ये उड्डियानकः उड्डियानबन्ध एव । स्वार्थे कप्रयत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः, हि यस्मादुड्डियाने बन्धे दृढे सति स्वाभाविकी स्वभावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत् । उड्डियानबन्धे कृते विहङ्गमगत्या सुषुम्नायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात् 'समाधौ मोक्षमाप्नोति' इति वाक्यात् सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

अथ मूलबन्धः—

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

मूलबन्धमाह—पार्ष्णिभागेनेति । पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधःप्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुञ्चयेत् संकोचयत् । अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबन्धोऽभिधीयते कथ्यते । पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्या-कुञ्चनं मूलबन्ध इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥ ६२ ॥

अधोगतिमिति । यः अधोगतिं अधोऽर्वाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानम-पानवायुमाकुञ्चनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्त-मूर्ध्वगं सुषुम्नायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययं । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबन्धं मूलस्य मूलस्थानस्य बन्धनं मूलबन्धस्तं मूलबन्ध-मित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबन्धशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बन्धनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ ६२ ॥

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात् ।
वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबन्धमाह—गुदमिति । पार्ष्ण्या गुल्फयोरधो-भागेन गुदं पायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद् वारंवारं पुनःपुनर्वायुमपानमाकुञ्चयेद् गुदस्याकुञ्चनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबन्ध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ ६४ ॥

अथ मूलबन्धगुणानाह—प्राणापानाविति । प्राणश्चापानश्च प्राणापाना-वूर्ध्वाधोगती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः बिन्दुरनुस्वारस्तौ मूलबन्धेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसिद्धिं यच्छतो दत्तः । अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न, संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः । मूलबन्धे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति ।

ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति। ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिन्दुना सहैक्यमाधाय मूर्ध्नि गच्छतः। ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ६५ ॥

अपानप्राणयोरिति। सततं मूलबन्धनाद् मूलबन्धमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं भवति। मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति। वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाहता ॥ ६६ ॥

अपान इति। मूलबन्धनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तस्मिन् तादृशे सति, वह्निमण्डलं वह्नेर्मण्डलं त्रिकोणं नाभेरधोभागेऽस्ति। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

‘देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम्।
त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥
मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥’ इति।

तदा तस्मिन् काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते। वर्धत इति क्वचित्पाठः ॥ ६६ ॥

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

तत इति । ततस्तदनन्तरं वह्निश्चापानश्च बह्न्यपानौ । उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो गच्छतः । ततोऽनलशिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपकमिति वा योजना । तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यन्तमधिकं दीप्तो भवति । तथेति पादपूरणे । अपानस्योर्ध्वगमनेन दीप्त एव ज्वलनः प्राणसंगत्यात्यन्तं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८ ॥

तेनेति । तेन ज्वलनस्यात्यन्तप्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुण्डलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति । दण्डेनाहता दण्डाहता, सा चासौ भुजङ्गीव सर्पिणीव निश्वस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद् गच्छेत् ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ६९ ॥

बिलं प्रविष्टेति । ततः ऋजुताप्राप्त्यनन्तरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजङ्गीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अन्तरं मध्यं व्रजेत् गच्छेत्, तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबन्धो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन् काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

अथ जालंधरबन्धः—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

जालंधरबन्धमाह—कण्ठमिति। कण्ठं गलबिलमाकुञ्च्य संकोच्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरङ्गुलान्तरितप्रदेशे चुबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात्। अयं कण्ठाकुञ्चनपूर्वकं चतुरङ्गुलान्तरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चुबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्यायत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बन्धः। कीदृशः? जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीति विनाशको विनाशकर्ता॥ ७० ॥

बध्नाति हि सिराजालमधोगामि नभोजलम्।
ततो जालंधरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः॥ ७१ ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह—बध्नातीति। हि यस्मात् सिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति। अधो गन्तुं शीलमस्येत्यधोगामि नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति। ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बन्धः; जालं सिराजालं जलानां समूहो जालं च धरतीति जालंधरः। कीदृशः? कण्ठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता॥ ७१ ॥

जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति॥ ७२ ॥

जालंधरगुणानाह—जालंधर इति। कण्ठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोच आकुञ्चनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कण्ठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बन्धे कृते सति, पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति। वायुश्च प्राणश्च न प्रकुप्यति, नाड्यन्तरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः॥ ७२ ॥

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ।। ७३ ।।

कण्ठसंकोचनेनेति । दृढं गाढं कण्ठसंकोचनेनैव कण्ठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिङ्गले स्तम्भयेद् बन्धयेद्, अयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कण्ठस्थाने स्थितं विशुद्धाख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयम् । कीदृशम् ? षोडशाधारबन्धनं षोडशसंख्याका ये आधारा अङ्गुष्ठाधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तास्तेषां बन्धनं बन्धनकारकम् ।

'अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिङ्गनाभयः ।
हृद् ग्रीवा कण्ठदेशश्च लम्बिका नासिका तथा ॥
भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरन्ध्रकम् ।
एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ॥'

तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धान्तादवगन्तव्यः ॥७३॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत् ।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमे पथि ॥ ७४ ॥

उक्तस्य बन्धत्रयस्योपयोगमाह—मूलस्थानमिति । मूलस्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुञ्च्य सम्यगाकुञ्च्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बन्धं कारयेत् कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । इडां गङ्गां पिङ्गलां यमुनां च बद्ध्वा । जालंधरबन्धेनेत्यर्थः । 'कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम्' (III. 73) इत्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्नामार्गे वाहयेद् गमयेत् प्राणमिति शेषः ॥ ७४ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

अनेनेति। अनेनैवोक्तेनैव विधानेन विधिना पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति। गत्यभावपूर्वकं ब्रह्मरन्ध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः। ततः प्राणस्य लयान्मृत्युर्जरारोगादिकम्, तथा चार्थे, न जायते नोद्भवति। आदिपदेन वलीपलिततन्द्रालस्यादिकं ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम्।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥

बन्धत्रयमिति। इदं पूर्वोक्तं बन्धत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबन्धेष्वतिप्रशस्तं महासिद्धैर्मत्स्येन्द्रादिभिश्चकाराद् वसिष्ठादिमुनिभिः सेवितं, सर्वेषां हठतन्त्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानन्ति ॥ ७६ ॥

यत्किंचित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ७७ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्घातत्वेन पिण्डस्य जराकरणं तावदाह— यत्किंचिदिति। दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्माद् दिव्यरूपिणश्चन्द्रात् सोमात् तालुमूलस्थाद् यत्किंचिद् यत्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति, तत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति। तदुक्तं गोरक्षनाथेन (57-8)—

> 'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः।
> अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ॥
> वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः।
> करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ॥'

इति। तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रसनेन पिण्डो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥

तत्रेति । तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वञ्च्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति । तद्गुरूपदेशतः गुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यम् । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥

विपरीतकरणीमाह—ऊर्ध्वनाभेरिति । ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधः अधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यमृतात्मा चन्द्रो भवति । प्रथमान्तपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधः शशी भवति, इति यदातदापदयोरध्याहारेणान्वयः । इयं विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चन्द्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणेनान्वर्था गुरुवाक्येन गुरोर्वाक्येनैव लभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥ ७९ ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ ८० ॥

नित्यमिति । नित्यं प्रतिदिनमभ्यासोऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्यावहितस्य जठराग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणम् । तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनं बहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । चः पादपूरणे ॥ ८० ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने ॥ ८१ ॥

अल्पाहार इति । यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टादूनः आहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत् स्यात् तदाग्निर्जठरानलो देहं तत्क्षणात् क्षणमात्राद् दहेत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चन्द्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणक्रियामाह । अधःशिरा इति । अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः, कराभ्यां कटिप्रदेशमवलम्ब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां स्कन्धाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यन्तरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमे दिने आरम्भदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ॥ ८२ ॥

दिने दिने प्रतिदिनं क्षणात् किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणं, एवं दिनक्रमवृद्ध्याभ्यसेदभ्यासं कुर्यात् । विपरीतकरणीगुणानाह—वलितमिति । वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च । षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्वमुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते । साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः । यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत् । एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबन्धकत्वमपि सूचितम् ।

तदुक्तं विष्णुधर्मे—

'स्वदेहारम्भकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः ।
योऽयोगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम् ॥' इति ।

विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम्—'यथा प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानात् प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः। अतएव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यते' इति। भागवतेऽप्युक्तं—'दैवं जह्यात् समाधिना' (VII. 15. 24) इति ॥ ८२ ॥

अथ वज्रोली—

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ८३ ॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह—स्वेच्छयेति। योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह—तत्रेति। तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं पदार्थयुग्मं वक्ष्ये कथयिष्ये। कीदृशं वस्तुद्वयम्? यस्य कस्यचित् यस्यकस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा। 'दुःस्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशात्। किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह—क्षीरमिति। एकं वस्तु क्षीरं दुग्धं पानार्थं, मेहनानन्तरमिन्द्रियनैर्बल्यात् तद्बलार्थं क्षीरपानं युक्तम्। केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः। तदयुक्तम्। तस्यान्तर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्। द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह—मेहनेनेति । मेहनेन स्त्रीसङ्गानन्तरं बिन्दोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथवा नार्यपि योषिदपि शनैर्मन्दं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुञ्चनमूर्ध्वमुपर्याकुञ्चनं मेण्ढ्राकुञ्चनेन बिन्दोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद् वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुयात् सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वाङ्गप्रक्रियामाह-- यत्नत इति । शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मन्दं मन्दं यथाग्निर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकन्दरे मेण्ढ्रविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकन्दरे चरणं गमनं तत्कारणात् तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुनःपुनः कुर्वीत । अथ वज्रोलीसाधनप्रक्रिया—सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेण्ढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशाङ्गुलमात्रां शलाकां कारयित्वा तस्या मेण्ढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकाङ्गुलमात्रां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यङ्गुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यङ्गुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशाङ्गुलमात्राप्रवेशे मेण्ढ्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशाङ्गुलमात्रां द्व्यङ्गुलमात्रावक्रामूर्ध्वमुखां कारयित्वा तां द्वादशङ्गुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यङ्गुलमात्रं बहिः स्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनीभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेण्ढ्रप्रवेशितद्वादशाङ्गुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यङ्गुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति । ततः कोष्णस्य जलस्य मेण्ढ्रेणाकर्षणमभ्यस्येत् । जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिन्दोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यस्येत्

बिन्द्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः । इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति, नान्यस्य । खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यग् भवति ॥ ८६ ॥

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

एवं वज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह—नारीभग इति । नारीभगे स्त्रीयोनौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिन्दुश्च पतद्बिन्दुस्तं पतद्बिन्दुं रतिकाले पतन्तं बिन्दुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत्, पतनात् पूर्वमेव । यदि पतनात् पूर्वं बिन्दोराकर्षणं न स्यात् तर्हि पतितमाकर्षयेदित्याह—चलितं चेति । चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिन्दुं चकारात् तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत् ॥ ८७ ॥

एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ८८ ॥

वज्रोलीगुणानाह—एवमिति । एवमुक्तरीत्या बिन्दुं यः संरक्षयेत् सम्यग् रक्षयेत् स योगविद् योगाभिज्ञो मृत्युं जयत्यभिभवति । यतो बिन्दोः शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति । बिन्दोर्धारणं बिन्दुधारणं तस्माद् बिन्दुधारणाज्जीवनं भवति । तस्माद् बिन्दुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे तावत् कालभयं कुतः ॥ ८९ ॥

सुगन्ध इति । योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे बिन्दोः शुक्रस्य धारणं बिन्दुधारणं तस्मात् सुगन्धः शोभनो गन्धो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद् बिन्दुः स्थिरस्तावत् कालभयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

चित्तायत्तमिति । हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तम् । चित्ते चले चलत्वात्, चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनम् । जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं, शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणात् शुक्राधीनं, तस्माच्छुक्रं बिन्दुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद् यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं रक्षणीयमित्यर्थः । एव-शब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं निजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेण्ढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥

ऋतुमत्या इति । एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रिया रजः निजं स्वकीयं बिन्दुं च रक्षयेत् । पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति—मेण्ढ्रेणेति । अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात् तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित्, मेण्ढ्रेण गुह्येन्द्रियेण सम्यग् यत्न-पूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् । रजो बिन्दुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः प्रक्षिप्तः ॥ ९१ ॥

अथ सहजोलिः—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह—सहजोलिश्चेति । वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च । तत्र हेतुः एकतः एकत्वादेक-फलत्वादित्यर्थः । एकशब्दाद्भावप्रधानात् पञ्चम्यास्तसिल् । सहजोलिमाह—

जल इति । गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म सुभस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वेत्युत्तरश्लोकेनान्वेति ॥ ९२ ॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वङ्गलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३ ॥

वज्रोलीति । वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनन्तरं सुखेनैवानन्देनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणादुत्थितयोः मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसयोः स्वङ्गलेपनं शोभनान्यङ्गानि स्वङ्गानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कन्धभुजादीनि तेषु लेपनम् । कुर्यादिति शेषः ॥ ९३ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ९४ ॥

सहजोलिरिति । इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येन्द्रादिभिः । कीदृशी ? सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोल्याख्यो योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः । 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' (*Ak.*, III. 3. 22) इत्यभिधानात् । कीदृशो योगः ? भोगेन स्त्रीसङ्गेन युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां वै सिध्येन्न तु मत्सरशालिनाम् ॥ ९५ ॥

अयं योग इति । अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवन्तः सुकृतिनस्तेषां पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां, तत्त्वं वास्तविकं द्रष्टुं शीलं येषां ते

तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनाम् । मत्सरान्निष्क्रान्ता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणा-मन्यगुणद्वेषरहितानाम् । 'मत्सरोऽन्यगुणद्वेषः' इत्यमरः (III. 3. 172) । तादृशानां पुंसां सिध्येत् सिद्धिं गच्छेत् । मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत् ॥ ९५ ॥

अथामरोली—

पित्तोल्बणत्वात् प्रथमाम्बुधारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम् ।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥ ९६ ॥

अमरोलीमाह—पित्तोल्बणत्वादिति । पित्तेनोल्बणोत्कटा पित्तोल्बणा तस्या भावः पित्तोल्बणत्वं तस्मात् । यथा प्रथमा पूर्वा याम्बुनः शिवाम्बुनो धारा तां विहाय शिवाम्बुनिर्गमनसमये किंचित् पूर्वां धारां त्यक्त्वा । निर्गतः सारो यस्याः सा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निःसारत्वेनान्त्य-धारा अन्त्या चरमा या धारा तां विहाय किंचिदन्त्यां धारां त्यक्त्वा । शीतला पित्तादिदोषनिःसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते । खण्डो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खण्डमतस्तस्मिन् खण्डमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापालिके खण्डकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः । अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥ ९६ ॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत् सम्यक् सामरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥

अमरीमिति । अमरीं शिवाम्बु यः पुमान् नित्यं पिबेत् । नस्यं कुर्वन् श्वासेनामर्या घ्राणान्तर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिने दिने प्रतिदिनं वज्रोलीं

'मेहनेन शनैः' (III. 85) इति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत् सामरोलीति कथ्यते। कापालिकैरिति शेषः। अमरीपानामरीनस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोली-शब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत्।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥

अभ्यासादिति। अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चान्द्रीं चन्द्रस्येयं चान्द्री तां चान्द्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत् संयोजयेत्। उत्तमाङ्गेषु शिरःकपालनेत्रस्कन्धकण्ठहृदयभुजादिषु धारयेत्। भस्ममिश्रितां चान्द्रीमिति शेषः। दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्ट-पदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते। अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवाम्बुकल्पादवगन्तव्याः ॥ ९८ ॥

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात्।
यदि नारी रजो रक्षेद् वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ ९९ ॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह—पुंसो बिन्दुमिति। सम्यगभ्या-सस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात् पुंसः पुरुषस्य बिन्दुं वीर्यं समाकुञ्च्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत्, सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया। पुंसो बिन्दुसमायुक्तमिति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम् ॥ ९९ ॥

तस्याः किंचिद् रजो नाशं न गच्छति न संशयः।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति ॥ १०० ॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह—तस्या इति। तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः। अत्र संशयो न, संदेहो न। तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि बिन्दुभावं गच्छति। बिन्दुना सहैकीभवतीत्यर्थः। अमृतसिद्धौ—

'बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम्।
अनयोर्बाह्ययोगेन सृष्टिः संजायते नृणाम्॥
यदाभ्यन्तरयोगः स्यात् तदा योगीति गीयते।
बिन्दुश्चन्द्रमयः प्रोक्तो रजः सूर्यमयं तथा॥
अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम्।
स्वर्गदो मोक्षदो बिन्दुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा॥
तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठन्ते सूक्ष्मरूपतः॥' इति॥ १००॥

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः॥ १०१॥

स बिन्दुरिति। स पुंसो बिन्दुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः॥ १०१॥

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्॥ १०२॥

रक्षेदिति। या नार्याकुञ्चनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरि स्थाने नीत्वा रजो रक्षेत्। हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे। सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्यं च वस्तु

वेत्ति जानाति ध्रुवमिति निश्चितं खेऽन्तरिक्षे चरतीति खेचर्यन्तरिक्षचरी च भवेत् ॥ १०२ ॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥ १०३ ॥

देहसिद्धिमिति । वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद् देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभते । अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः । कीदृशो योगः? भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ १०३ ॥

अथ शक्तिचालनम्—

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ १०४ ॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्घाततया कुण्डलीपर्यायान् तया मोक्षद्वार-विभेदनादिकं चाह सप्तभिः—कुटिलाङ्गीति । कुटिलाङ्गी । १ । कुण्डलिनी । २ । भुजङ्गी । ३ । शक्तिः । ४ । ईश्वरी । ५ । कुण्डली । ६ । अरुन्धती । ७ । चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः ॥ १०४ ॥

उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ १०५ ॥

उद्घाटयेदिति । यथा येन प्रकारेण पुमान् कुञ्चिकया कपाटार्गलोत्सारण-साधनीभूतया हठाद् बलात् कपाटमररमुद्घाटयेदुत्सारयेत् । हठादिति देहलीदी-पन्यायेनोभयत्र संबध्यते । तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात् कुण्ड-

लिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्नामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत्। 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः (*Ch. Up.*, VIII. 6. 6) ॥१०५॥

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६ ॥

येनेति। आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरन्ध्रम्। 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' (*Mah. Nār.*, XI. 13) इति श्रुतेः। येन मार्गेण सुषुम्नामार्गेण गन्तव्यं गमनार्हमस्ति तद्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुद्ध्वा परमेश्वरी कुण्डलिनी। प्रसुप्ता निद्रितास्ति ॥ १०६ ॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ १०७ ॥

कन्दोर्ध्व इति। कुण्डली शक्तिः कन्दोर्ध्वे कन्दस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता, मूढानां बन्धनाय सुप्ता। योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवन्ति। मूढास्तदज्ञानाद् बद्धास्तिष्ठन्तीति भावः। तां कुण्डलिनीं यो वेत्ति स योगवित्। सर्वेषां योगतन्त्राणां कुण्डल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ १०७ ॥

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०८ ॥

कुण्डलीति। कुण्डली शक्तिः सर्पवद्भुजङ्गवत् कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः। सा कुण्डली शक्तिर्येन

पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबन्धान्निवृत्तः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः (*Ch. Up.*, VIII. 6. 6) ॥ १०८ ॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०९ ॥

गङ्गायमुनयोरिति । गङ्गायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद् गङ्गायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गङ्गायमुने इडापिङ्गले तयोर्मध्ये सुषुम्नामार्गे तपस्विनीं निरशनस्थितेः, बालरण्डां बालरण्डाशब्दवाच्यां कुण्डलीं बलात्कारेण हठेन गृह्णीयात् । तत्तस्या गङ्गायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम् ॥ १०९ ॥

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥ ११० ॥

गङ्गायमुनादिपदार्थमाह—इडेति । इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गङ्गा गङ्गापदवाच्या, पिङ्गला दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या नदी । इडापिङ्गलयोर्मध्ये मध्यगता या कुण्डली सा बालरण्डा बालरण्डाशब्दवाच्या ॥ ११० ॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ १११ ॥

शक्तिचालनमाह—पुच्छ इति । सुप्तां निद्रितां भुजगीं तां कुण्डलिनीं पुच्छे प्रगृह्योद्बोधयेत् प्रबोधयेत् सा शक्तिः कुण्डली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वं तिष्ठत इत्यन्वयः । एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगन्तव्यम् ॥ १११ ॥

अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात् परिधानयुक्त्या
प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ ११२ ॥

अवस्थितेति । अवस्थितार्वाक् स्थिता मूलाधारस्थिता फणावती भुजङ्गी सा कुण्डली सूर्यादापूर्य सूर्यात् पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्धमेव प्रहरार्धमात्रं मुहूर्तद्वयमात्रं परिचालनीया परितश्चालयितुं योग्या । परिधानयुक्तिर्देशिकाद् बोध्या ॥ ११२ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ॥ ११३ ॥

कन्दसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कन्दस्य स्थानं स्वरूपं चाह— ऊर्ध्वमिति । मूलस्थानाद् वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरि नाभिमेण्ढ्रयोर्मध्ये । एतेन कन्दस्य स्थानमुक्तम् । तथा चोक्तं गोरक्षशतके (16)—

'ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥'

इति । याज्ञवल्क्यः—

'गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः ।
देहमध्यं तयोर्मध्यं मनुजानामितीरितम् ॥
कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम् ।
चतुरङ्गुलविस्तारमायामं च तथाविधम् ॥

अण्डाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः ।
चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुन्दमध्यगम् ॥' इति ।
(*Yy.*, IV. 14, 16-17)

गुदाद् द्व्यङ्गुलोपर्येकाङ्गुलं मध्यं तस्मान्नवाङ्गुलं कन्दस्थानं, मिलित्वा द्वादशाङ्गुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम् । चतुर्णामङ्गुलानां समाहारश्चतुरङ्गुलं चतुरङ्गुलप्रमाणं विस्तारम् । विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणम् । चतुरङ्गुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदम्बरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम् । कन्दस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ ११३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ११४ ॥

सतीति । वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रन्थी तयोर्देशौ प्रदेशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ' इत्यमरः (II. 6. 72) । पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात् । चकाराद् धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कन्दस्थाने कन्दं प्रपीडयेत् प्रकर्षेण पीडयेत् । गुल्फादूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कन्दं पीडयेदित्यर्थः ॥ ११४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५ ॥

वज्रासन इति । वज्रासने स्थितो योगी कुण्डलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां कृत्वेत्यर्थः । अनन्तरं शक्तिचालनानन्तरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुम्भकं कुर्यात् । एवंरीत्या कुण्डलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत् प्रबुद्धां कुर्यात् ।

वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपादानं शक्तिचालनानन्तरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥ ११५ ॥

भानोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत् ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ११६ ॥

भानोरिति । भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुञ्चनं कुर्यात् । नाभेरा-कुञ्चनेनैवास्याकुञ्चनं भवति । ततो भानोराकुञ्चनात् कुण्डलीं शक्तिं चालयेत् । मृत्योर्वक्त्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः ? न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ११६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित् सुषुम्नायां समुद्गता ॥ ११७ ॥

मुहूर्तद्वयेति । मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यन्तं तदवधि निर्भयं निःशङ्कं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्व-माकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥ ११८ ॥

तेनेति । तेनोर्ध्वाकर्षणेन कुण्डलिनी तस्याः प्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेशमार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति । तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतः स्वयमेव सुषुम्नां व्रजति गच्छति । सुषुम्नामुखात् प्रागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

तस्मात् संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९ ॥

तस्मादिति । यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणः सुषुम्नां व्रजति तस्मात् सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुन्धतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत् सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासज्वरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ११९ ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२० ॥

येनेति । येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति । अत्रास्मिन्नर्थे बहुनोक्तेन बहुप्रशंसनेन किम् ? न किमपीत्यर्थः । कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ १२० ॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः ॥ १२१ ॥

ब्रह्मचर्येति । ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा, तस्य मण्डलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनन्तरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ।

'नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात् प्राणोऽतिदीर्घीकृत-
श्चन्द्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घण्टिकायास्ततः ।
छित्वा कालविशालवह्निवशगं भूरन्ध्रनाडीगतं
तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नद्रुमस्कन्धवत् ॥' १२१ ॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद् विशेषतः ।
एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२ ॥

कुण्डलीमिति । कुण्डलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा । अथानन्तरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुम्भकं कुर्यात् । नित्यं प्रतिदिनम् । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यस्यतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः? न कुतोऽपीत्यर्थः । योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ १२२ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥ १२३ ॥

द्वासप्ततीति । द्वाभ्यामधिका सप्ततिः, द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुण्डल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः? न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ १२३ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२४ ॥

इयं त्विति । इयं मध्यमा नाडी सुषुम्ना योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि प्राणसंयामः प्राणायामो मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ १२४ ॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा परा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ १२५ ॥

अभ्यास इति । समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वान्तःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने, विगता निद्रा येषां ते तथा तेषाम् । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी

मुद्रा वा अथवा परान्या उन्मन्यादिका, भद्रां शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ १२५ ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ १२६ ॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह—राजयोगमिति । वृत्त्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः । 'हठं विना राजयोगः' (II. 76) इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते । पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणयोगादासनं लक्ष्यते । तन्न राजते न शोभते । राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धेरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः । राजयोगं विना निशेव निशा कुम्भको न राजते, निशायां प्रायेण जनसंचाराभावात् । निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुम्भको लक्ष्यते । राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्रापि विविधापि विलक्षणापि वा न राजते न शोभते । पक्षान्तरे । राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबन्धस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते । शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात् । राजा चन्द्रः । 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' इति श्रुतेः (*TS.*, 1. 8. 10. 2) । तस्य योगं संबन्धं विना निशा रात्रिर्न राजते । राजयोगं विना नृपसंबन्धं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः । विचित्रापि । पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि, निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि, मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्रापि न राजते ॥ १२६ ॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ १२७ ॥

मारुतस्येति । मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुम्भकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत् सम्यगभ्यस्येत् मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा, इतरत्र

मारुतस्य विचेरन्यस्मिन् विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ १२७ ॥

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ १२८ ॥

मुद्रा उपसंहरति—इतीति । आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः । तासु मुद्रासु मध्ये एकैकापि प्रत्येकमपि या काचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिनी, अणिमादिप्रदात्री कैवल्यप्रदात्री वा ॥ १२८ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ १२९ ॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति—उपदेशमिति । यः पुमान् मुद्राणां महामुद्रादीनां संप्रदायाद् योगिनां गुरुपरंपरारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति । स एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः, सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः । स्वामी प्रभुः स एव, साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः । ईश्वराभिन्न एव स इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम् ॥ १३० ॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः

तस्येति । तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुम्भकाद्यनुष्ठानविषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः, तत्परश्चादरवान् । आदरश्चावहिततया करणम् । भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्धं साकं कालस्य मृत्योर्वञ्चनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीहठयोगप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानन्दकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः

मुद्राप्रयोगो नाम तृतीयोपदेशः

घेरण्ड उवाच ।
महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी ॥ १॥

विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालनी ।
ताडागी माण्डुकीमुद्रा शाम्भवी पञ्चधारणा ॥ २॥

अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी ।
पञ्चविंशतिमुद्राश्च सिद्धिदा इह योगिनाम् ॥ ३॥

अथ मुद्राणां फलकथनम् ।
मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव संनिधौ ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥ ४॥

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरुतामपि ॥ ५।

अथ महामुद्राकथनम् ।
पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः ।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदाङ्गुलः ॥ ६॥

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥
(पाठभेद
पूरकैर्वायुं संपूर्य महामुद्रा निगद्यते ।
ततः शनैः शनैरेवं रेचयेत्तं न वेगतः) ॥ ७॥

अथ महामुद्राफलकथनम् ।
वलितं पलितं चैव जरां मृत्युं निवारयेत् ।
क्षयकासं गुदावर्तं प्लीहाजीर्णं ज्वरं तथा ।
नाशयेत्सर्वरोगांश्च महामुद्रा च साधनात् ॥ ८॥

अथ नभोमुद्राकथनम् ।
यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ।

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा ।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥ ९॥

अथ उड्डीयानकथनम् ।
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ १०॥

अथोड्डीयानबन्धस्य फलकथनम् ।
समग्राद्बन्धनाद्ध्येतदुड्डीयानं विशिष्यते ।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ११॥

अथ जालन्धरबन्धकथनम् ।
कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत् ।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम् ।
जालन्धरमहामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ॥ १२॥

अथ जालन्धरबन्धस्य फलकथनम् ।
सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम् ।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नाऽत्र संशयः ॥ १३॥

अथ मूलबन्धकथनम् ।
पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः ।
नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥ १४॥

मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत् ।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ॥ १५॥

अथ मूलबन्धस्य फलकथनम् ।
संसारसमुद्रं तर्तुमभिलषति यः पुमान् ।
विरले सुगुप्तो भूत्वा मुद्रामेतां समभ्यसेत् ॥ १६॥

अभ्यासाद्बन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
साधयेद्यत्नतस्तर्हि मौनी तु विजिताऽलसः ॥ १७॥

अथ महाबन्धकथनम् ।
वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत् ।

दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥ १८॥

शनैः शनैश्चालयेत्पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छनैः ।
जालन्धरे धारयेत्प्राणं महाबन्धो निगद्यते ॥ १९॥

अथ महाबन्धस्य फलकथनम् ।
महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशनः ।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत्सर्ववाञ्छितम् ॥ २०॥

अथ महावेधकथनम् ।
रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा ॥ २१॥

महाबन्धं समासाद्य उड्डानकुम्भकं चरेत् ।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ॥ २२॥

अथ महावेधस्य फलकथनम् ।
महाबन्धमूलबन्धौ महावेधसमन्वितौ ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः ॥ २३॥

न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुङ्गवैः ॥ २४॥

जिह्वाऽधो नाडीं सञ्छिन्नां रसनां चालयेत्सदा ।
दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत् ॥ २५॥

एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।
यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तदा गच्छति खेचरी ॥ २६॥

रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ २७॥

अथ खेचरी मुद्रायाः फलकथनम् ।
न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवाऽऽलस्यं प्रजायते ।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते ॥ २८॥

न चाग्निर्दहते गात्रं न शोषयति मारुतः ।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः ॥ २९॥

लावण्यं च भवेद्गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम् ।
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात् ॥ ३०॥

नानारससमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने ।
आदौ लवणक्षारं च ततस्तिक्तकषायकम् ॥ ३१॥

नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च ।
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम् ॥ ३२॥

अथ विपरीतकरणीमुद्राकथनम् ।
नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः ।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ॥ ३३॥

ऊर्ध्वं च योजयेत्सूर्यं चन्द्रं च अध आनयेत् ।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ३४॥

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः ।
ऊर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ॥ ३५॥

अथ विपरीतकरणीमुद्रायाः फलकथनम् ।
मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत् ।
स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ॥ ३६॥

अथ योनिमुद्राकथनम् ।
सिद्धासनं समासाद्य कर्णाक्षिनासिकामुखम् ।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च धारयेत् ॥ ३७॥

काकीभिः प्राणं सङ्कृष्य अपाने योजयेत्ततः ।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधीः ॥ ३८॥

चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी ।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य पराम्बुजे ॥ ३९॥

शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परं शिवेन सङ्गमम् ।
नानासुखं विहारं च चिन्तयेत्परमं सुखम् ॥ ४०।

शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुवि भावयेत् ।
आनन्दमानसो भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत् ॥ ४१॥

योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ।

सकृत्तु लाभसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि ॥ ४२॥

अथ योनिमुद्राफलकथनम् ।
ब्रह्महा भ्रूणहा चैव सुरापी गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न लिप्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ४३॥

यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च ।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबन्धनात् ।
तस्मादभ्यसनं कुर्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति ॥ ४४॥

अथ वज्रोलिमुद्राकथनम् ।
धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्या-
मूर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे ।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय
वज्रोलिमुद्रां मुनयो वदन्ति ॥ ४५॥

अथ वज्रोलिमुद्रायाः फलकथनम् ।
अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम् ।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः ॥ ४६॥

एतद्योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ॥ ४७॥

भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत् ।
तथाऽपि सकला सिद्धिस्तस्य भवति निश्चितम् ॥ ४८॥

अथ शक्तिचालनीमुद्राकथनम् ।
मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता ।
शयिता भुजगाऽऽकारा सार्धत्रिवलयाऽन्विता ॥ ४९॥

यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा ।
ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगं समभ्यसेत् ॥ ५०॥

उद्घाटयेत्कवाटं च यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ५१॥

नाभिं संवेष्ठ्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः ।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥ ५२॥

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ।
एवमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत् ॥ ५३॥

भस्मना गात्रं संलिप्य सिद्धासनं समाचरेत् ।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद्बलात् ॥ ५४॥

तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया ।
यावद्गच्छेत्सुषुम्णायां वायुः प्रकाशयेद्धठात् ॥ ५५॥

तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी ।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ।
शब्दद्वयं फलैकं तु योनिमुद्रां च चालयेत् ॥ ५६॥

विना शक्तिचालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति ।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत् ॥ ५७॥

इति ते कथितं चण्डकपाले शक्तिचालनम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत् ॥ ५८॥

अथ शक्तिचालनीमुद्रायाः फलकथनम् ।
मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी ।
तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिभिः सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥ ५९॥

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता ।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद्रोगाणां सङ्क्षयो भवेत् ॥ ६०॥

अथ तडागीमुद्राकथनम् ।
उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृति ।
तडागी सा परामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ६१॥

अथ माण्डुकीमुद्राकथनम् ।
मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ।
शनैर्ग्रसेदमृतं तन्माण्डुकीं मुद्रिकां विदुः ॥ ६२॥

अथ माण्डुकीमुद्रायाः कथनम् ।
वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम् ।
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम् ॥ ६३॥

अथ शाम्भवीमुद्राकथनम् ।
नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत् ।
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ६४॥

अथ शाम्भवीमुद्रायाः फलकथनम् ।
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ६५॥

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम् ।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम् ॥ ६६॥

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः ।
शाम्भवीं यो विजानीयात्स च ब्रह्म न चाऽन्यथा ॥ ६७॥

अथ पञ्चधारणामुद्राकथनम् ।
कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम् ।
धारणानि समासाद्य किं न सिध्यति भूतले ॥ ६८॥

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनाऽऽगमम् ।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चाऽन्यथा ॥ ६९॥

अथ पार्थिवीधारणामुद्राकथनम् ।
यत्तत्त्वं हरितालदेशरचितं भौमं लकाराऽन्वितं
वेदास्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थायिनम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारयेद्-
एषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ॥ ७०॥

अथ पार्थिवीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।
पार्थिवीधारणामुद्रां यः करोति च नित्यशः ।
मृत्युञ्जयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद्भुवि ॥ ७१॥

अथाऽऽम्भसीधारणामुद्राकथनम् ।
शङ्खेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारयेद्-
एषा दुःसहतापपापहरिणी स्यादाम्भसी धारणा ॥ ७२॥

अथाऽऽम्भसीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।

आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित् ।
जले च गभीरे घोरे मरणं तस्य नो भवेत् ॥ ७३॥

इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः ।
प्रकाशात्सिद्धिहानिः स्यात्सत्यं वच्मि च तत्त्वतः ॥ ७४॥

अथाऽऽग्नेयीधारणामुद्राकथनम् ।
यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणाऽन्वितं
तत्त्वं तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारयेद्-
एषा कालगभीरभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा ॥ ७५॥

अथाऽऽग्नेयीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।
प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ यदि पतति साधकः ।
एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक् ॥ ७६ ॥

अथ वायवीधारणामुद्राकथनम् ।
यद्भिन्नाऽञ्जनपुञ्जसंनिभमिदं धूम्राऽवभासं
परं तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारयेद्-
एषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥ ७७॥

अथ वायवीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।
इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।
वायुना म्रियते नाऽपि खे गतेश्च प्रदायिनी ॥ ७८॥

शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्य कस्यचित् ।
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यात्सत्यं वच्मि च चण्ड ते ॥ ७९॥

अथाऽऽकाशीधारणामुद्राकथनम् ।
यत्सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकाराऽन्वितम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारयेद्
एषा मोक्षकवाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणाम् ॥ ८०॥

अथाऽऽकाशीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।
आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति स च योगवित् ।

न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति ॥ ८१॥

अथाऽश्विनीमुद्राकथनम् ।
आकुञ्चयेद्गुदद्वारं प्रकाशयेत्पुनः पुनः ।
सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥ ८२॥

अथाऽश्विनीमुद्रायाः फलकथनम् ।
अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी ।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत् ॥ ८३॥

अथ पशिनीमुद्राकथनम् ।
कण्ठपृष्टे क्षिपेत्पादौ पाशवद्दृढबन्धनम् ।
सैव स्यात्पाशिनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥ ८४॥

अथ पशिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।
पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी ।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥ ८५॥

अथ काकीमुद्राकथनम् ।
काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ॥ ८६॥

अथ काकीमुद्रायाः फलकथनम् ।
काकीमुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।
अस्याः प्रसादमात्रेण न रोगी काकवद्भवेत् ॥ ८७॥

अथ मातङ्गिनीमुद्राकथनम् ।
कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत् ।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्रेण चाऽऽहरेत् ॥ ८८॥

नासाभ्यां रेचयेत्पश्चात्कुर्यादेवं पुनः पुनः ।
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ८९॥

अथ मातङ्गिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।
विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः ।
कुर्यान्मातङ्गिनीं मुद्रां मातङ्ग इव जायते ॥ ९०॥

यत्र यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साधयेन्मुद्रिकां पराम् ॥ ९१॥

अथ भुजङ्गिनीमुद्राकथनम् ।
वक्त्रं किञ्चित्सुप्रसार्य चाऽनिलं गलया पिबेत् ।
सा भवेद्भुजङ्गी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ९२॥

अथ भुजङ्गिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।
यावच्च उदरे रोगा अजीर्णादि विशेषतः ।
तत्सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजङ्गिनी ॥ ९३॥

सर्वे रोगा विनश्यन्ति भुजङ्गीमुद्रया ध्रुवम् ।
योगसिद्धिप्रदा चेयं प्रोक्ता योगपरायणैः ॥

अथ मुद्राणां फलकथनम् ।
इदं तु मुद्रापटलं कथितं चण्ड ते शुभम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम् ॥ ९४॥

शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्य कस्यचित् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि ॥ ९५॥

ऋजवे शान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च ।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम् ॥ ९६॥

मुद्राणां पटलं ह्येतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविवर्धनम् ॥ ९७॥

न तस्य जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा ।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम् ॥ ९८॥

कासः श्वासः प्लीहा कुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः ।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः ॥ ९९॥

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्ड ते ।
नास्ति मुद्रासमं किञ्चित्सिद्धिदं क्षितिमण्डले ॥ १००॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डचण्डकापालिसंवादे घटस्थयोगप्रकरणे
मुद्राप्रयोगो नाम तृतीयोपदेशः ॐ ॥

दं विदुः ३६ जंघोरुभ्यां धरां पीड्य स्थिरकायो द्विजानुना जानूपरि करयुग्मं गरुडासन
मुच्यते ३७ याम्यगुल्फे पादमूलं वामपादे तथेपादेतरम् विपरीतः स्पृशेद्भूमिं वृषाभा
सनमिदं भवेत् ३८ अधास्यशेते पदयुग्म वद्धं भूमिमवष्टभ्य करयोर्तलाभ्यां पादो
च शून्ये च वितस्ति चोर्द्ध्वं वदन्ति पीठं शलभं मुनीन्द्राः ३९ अधास्यशेते हृदयं निधा
य भूमौ च पादौ च प्रसार्यमानौ शिरंशांतिं चाग्रं करदंडयुग्मं देहाग्निकारं मकरा
सनं स्यात् ४० अधास्यशेते पदयुग्मव्यस्तं पृष्ठे निधायापि धृतं कराभ्यां आकुंच
येत्सम्यगुदं वामगाढं उष्ट्रं च पीठं योगिनो वदन्ति ४१ अंगुष्ठनाभिपर्यन्तमधो भूमौ
च विन्यसेत् करतलाभ्यां धरां धृत्वा ऊर्द्ध्वशीर्षः फणीव हि ४२ देहाग्निर्वर्द्धते नि
त्यं सर्वरोगं च नाशनम् जागर्ति भुजंगी देवी साधनाद्भुजंगासनम् ४३ उत्तानौ
चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मम्
४४ पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत् योगासनं भवेदेतद्योगिनां योग

साधने ४५ इति घेरंडसंहितायां घेरंडचंडसंवादे घटस्थयोगे आसनप्रयोगो नाम द्वि
तीयोपदेशः २ घेरंड उवाच महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलंधरं मूलबन्धमहा
बन्धं महावेधश्च खेचरी १ विपरीतकरणी योनी वज्रोली शक्तिचालनी तडागी
मांडुकी मुद्रा शांभवी पंचधावनि २ अश्विनी पाशनी काकी मातंगी च भुजंगिनी
पंचविंशति मुद्राणि सिद्धिदानीह योगिनाम् ३ पायुमूले वामगुल्फं संपीड्य दृढ
यत्नतः याम्यपादं प्रसार्याथ कराभ्यां धृतपदांगुलिः ४ कंठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवो
र्मध्ये निरीक्षयेत् पूरकैर्वायुं संपूर्य महामुद्रा निगद्यते ५ वलितं पलितं चापि ज
रामृत्युनिवारयेत् क्षयकासं गुदावर्त्तं प्लीहाजीर्णं ज्वरं तथा ६ नाशयेत्सर्वरो
गांश्च महामुद्राभिसेवनात् पवनश्च स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ७ ऊर्द्ध्वजि
ह्वा स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशनी ८
उड्डीयानं कुरुते यद्धृदविश्रांतं महाखगः उड्डीयानं त्वसौ च धौ मृत्युमातंगकेश

घे॰ सं॰ शा॰ री॰ ९ कंठसंकोचनंकृत्वाचिबुकंहृदयेन्यसेत् जलंधरेकृतेचस्येषोडशाधार

७ बंधनम् १० जलंधरंमहामुद्रामृत्युक्षयकारिणी पार्ष्णिंवामेनपादेनयोनिमा
कुंचयेत्ततः ११ नाभिग्रंथिंमेरुदंडेसंपीड्यप्रयत्नतः सुधीः मेढ्रंदक्षिणगुल्फेन
दृढबद्धंसमाचरनाभेरूर्ध्वमधश्चापितानंकुर्यात्प्रयत्नतः १२ जराविनाशिनी
मुद्रामूलबंधोनिगद्यते वामपादस्यगुल्फेनपायुमूलंनिरोधयेत् १३ दक्षपा
देनतद्गुल्फंसंपीड्ययत्नतःसुधीः शनैःशनैश्चालयेत्पार्ष्णिंयोनिमाकुंचयेच्छ
नैः १४ जलंधरेधारणेनप्राणोमहाबंधोनिगद्यते रूपयौवनलावण्यंनारीणांपुरुष
विना १५ मूलबंधमहाबंधंमहावेधंविनातथा महाबंधंसमासाद्यउड्डानि
कुम्भकंचरेत् १६ महावेधसमाख्यातोयोगिनांसिद्धिकारकैः जिह्वाधोनाडी
संछित्वारसनांचालयेत्सदा १७ दोहयेन्नवनीतेनलोहयंत्रेणकर्षयेत् ऊर्द्ध्वं
दृष्टिंभ्रुवोरंतेनामुद्रांवेत्तिखेचरी १८ कपालकुहरेजिह्वाप्रविष्टाविपरीतगा

भ्रुवोर्मध्येगतादृष्टिर्मुद्राभवतिखेचरी १९ नचमूर्छाक्षुधातृषानैवालस्यःप्रजायते
नचरोगोजरामृत्युर्देवदेहंप्रपद्यते २० नचाग्निर्दहतेगात्रंनशोषयतिमारुतः नदे
हंक्लेदयंत्यापोदंशयेन्नभुजंगमः २१ दशदंचवेह्रात्रेसमाधिर्जायतेध्रुवम् कपाल
वक्त्रसंयोगेरसनारसमाप्नुयात् २२ नानाविधिसमुद्भूतमानंदंचदिने आदौलव
णंक्षारंचततस्तिक्तकषायणम् २३ नवनीतंघृतंक्षीरंदधितक्रमधुत्रिच द्राक्षा
रसंपीयूषंचजायतेरसमोदकम् २४ नाभिमूलेवसेत्सूर्यस्तालुमूलेचचंद्रमाः अ
मृतंग्रसतेसूर्यस्ततोमृत्युवशोनरः २५ ऊर्द्ध्वंचजायतेसूर्यश्चंद्रमसमधोनयेत्
विपरीतकरणीमुद्रासर्वतंत्रेषुगोपिता २६ भूमौशिरश्चसंस्थाप्यकरयुग्मंस
माहितः ऊर्द्ध्वपादः स्थिरोभूत्वाविपरीतकरीमता २७ मुद्रेयंसाधयेन्नित्यंज
रामृत्युचनाशयेत् सिद्धासनंसमासाद्यकराणांक्षिनासिकामुखम् २८ अ
गुष्ठतर्जनीमध्यमानामिकाभिश्चधारयेत् काकीभिः प्राणंसंकृष्यअपाने

योजयेत्ततः २९ षट्चक्राणिक्रमान्धृत्वाहूंहंसमनुनासुधीः चैतन्यमानयेद्देवी
निद्रितायाभुजंगिनी ३० जीवेनसहितांशक्तिंसमुत्थाप्यपरांबुजेः शक्तिमयंस्वय
म्भूत्वापरशिवेनसंगमम् ३१ नानासुखंविहारंचचिंतयेत्परमंसुखम् शिवश
क्तिसमायोगादेकान्तंविभावयेत् ३२ आनन्दस्वयम्भूत्वा अहंब्रह्मेतिसं
भवेत् योनिमुद्रापरंगोप्यंदेवानामपिदुर्लभम् ३३ सकृद्ध्यानसंसिद्धः समाधिस्थ
सएवहि धरामवष्टभ्यकरयोस्तलाभ्याम्ब्रह्मक्षिपेत्पादयुग्मंशिरःखेः शक्तिप्रबो
धायचिरजीवायवज्रोलीमुद्रांमुनयोवदन्ति ३४ मूलाधारेआत्मशक्तिःकुंड
लीपरदेवतांशयिताभुजगाकारासार्द्धत्रिवलयान्विता ३५ यावत्सानिद्रिता
देहेतावज्जीवःपशुर्यथाज्ञानंनजायतेतावत्कोटियोगंसमभ्यसेत् ३६ उद्घा
टयेत्कपाटंचयथाकुंचिकयाहठात् कुण्डलीन्याप्रबोधेनब्रह्मद्वारंविभेदयेत्
३७ नाभिरहद्वेष्टनंवनसलग्नंबहिस्थितम गोपनीयागृहेस्थित्वाशक्तिचाल

नमभ्यसेत् ३८ वितस्तिप्रमितंदीर्घंविस्तारेचतुरंगुलम् मृदुलंधवलंसूक्ष्मंवेष्टना
म्बरलक्षणम् ३९ एवमम्बरयुक्तंचकटिसूत्रेणयोजयेत् भस्मनागात्रंसंलिप्तंसि
द्धासनमथाचरेत् ४० नासाभ्यांप्राणमाकृष्य अपानेयोजयेद्बलात् तावदाकुं
चयेद्गुह्यंशनैरश्विनिमुद्रया ४१ यावद्गच्छेत्सुषुम्नायांवायुःप्रकाशयेत् हठात् ता
वद्वायुप्रभेदेनकुम्भिकाचभुजंगिनी ४२ बद्धश्वासस्ततोभूत्वाऊर्द्ध्वमात्रंप्रपद्यते
शवहुपंफलेकणैंयोनिमुद्रांचचालयेत् ४३ विनाशक्तिंचालनेनयोनिमुद्रान
सिद्ध्यतिआदौचालनमभ्यस्ययोनिमुद्रांसमभ्यसेत् ४४ उदरंपश्चिमतानंच
त्वाचतडागाकृतिः तडागीसापरामुद्राजरामृत्युविनाशिनी ४५ मुखंसमुद्रितं
कृत्वाजिह्वामूलंप्रचालयेत् शनैर्ग्रसेदमृतंतन्मांडुकीमुद्रांविदुः ४६ वलितं
नैवजायतेनित्यंयोवनम् नकेशोजायतेपक्वःपःकुर्यान्नित्यंमांडूकीम् ४७ ने
त्रांजनंसमालोक्यआत्मारामःनिरीक्षयेत् साभवेच्छांभवीमुद्रासर्वतंत्रेषुगो

पिता ४८ वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ऐयं तु शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधू
रिव ४९ स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम् स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वे
त्ति शांभवीं ५० सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः शांभवीं यो विजानीयात्स च
ब्रह्म नान्यथा ५१ कथिता शांभवीमुद्रा शृणुष्व पंचधारणां धारणानि समा
साद्य किं न सिद्ध्यति भूतले ५२ अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम् मनोगतिर्भवेत्त
स्य खेचरत्वं न चान्यथा ५३ यत्तत्त्वं हरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितम् वेदा
स्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थापितं प्राणांस्तत्र विनीय पंच घटिकां चित्ता
न्वितं धारयेदेषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधो धारणा ५४ शंखेन्दुप्रति
मं च कुन्दधवलं तत्त्वं किमानं शुभं तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णु
ना प्राणांस्तत्र विनीय पंच घटिकां चित्तान्वितं धारयेदेषा दुःसहतापहारिणी भवेद्
तेस्यादम्भसी धारणा ५५ यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं तत्त्वं

तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदं प्राणांस्तत्र विनीय पंच घटिकां चित्तान्वितं धा
रयेदेषा कालगभीरभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा ५६ यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभ
मिदं धूम्रावभासं परं तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता प्राणांस्तत्र विनीय पंच
घटिकां चित्तान्वितं धारयेदेषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ५७ य
त्सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हका
रान्वितं प्राणांस्तत्र विनीय पंच घटिकां चित्तान्वितं धारयेदेषा मोक्षकपाटभेदनक
री कुर्यान्नभोधारणा ५८ आकुञ्चयेद्गुदाद्वारं प्रकाशयेत्पुनः पुनः सा भवेदश्वि
नी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ५९ कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद्दृढबंधनम् सा ए
व पाशिनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ६० काकचंचुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः श
नैः काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ६१ कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां
जलमाहरेत् मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्त्रेण चाहरेत् ६२ नासाभ्यां रेचयेत्प

श्चात्कुर्य्यादेवं पुनः पुनः मातंगिनीपरामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ९३ वक्त्रं किंचित्सु
प्रसार्य्यं चानिलं गलया पिबेत् सा भवेद्भुजंगिनी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ९४
उदरे पाचनिरोगम् अजीर्णादि विशेषतः तत्सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजंगिनी ९
५ इति घेरंडसंहितायां घेरंडचंडसंवादे घटशुद्धियोगप्रकरणं तृतीयोपदेशः ३
अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम् यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुना
शनम् १ यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ततस्ततो नियम्यैतदात्मने
व वशं नयेत् २ यत्र यत्र गता दृष्टिर्मनस्तत्र प्रगच्छति अतः प्रत्याहरेदेतदात्मन्ये
व वशं नयेत् ३ पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं वा भयानकम् मनस्तस्मान्नियम्यैत
दात्मन्येव वशं नयेत् ४ शीतं वापि तथा चोष्णं यन्मनः स्पर्शयोगतः तस्मात्प्रत्या
हरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ५ सुगन्धे वापि दुर्गन्धे घ्राणेषु जायते मनः तस्मात्प्र
हारेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ६ मधुराम्लकं तिक्तादिरसगादि यदा मनः तस्मा

त्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ७ इति घेरंडसंहितायां घेरंडचंडसंवादे प्रत्याहा
रप्रयोगो नाम चतुर्थोपदेशः ४ अथातः संप्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य यद्विधिम् य
साधनमात्रेण देवतुल्यो भवेन्नरः १ आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथापरम्
नाडीशुद्धिं च ततः पश्चात्प्राणायामं च साधयेत् २ दूरदेशे तथारण्ये राजधान्यां ज
नान्तिके योगारंभं न कुर्वीत कृते चासिद्धिहा भवेत् ३ अविश्वासं दूरदेशे अरण
ण्ये भक्षवर्जितम् लोकारण्ये प्रकाशश्च तस्मात्त्रीणि विवर्जयेत् ४ सुदेशे
धार्मिके राज्ये सुभिक्षे निरुपद्रवे तत्रैकं कुटिरं कृत्वा प्राचीरैः परिवेष्टयेत् ५
वापीकूपतडागं च प्राचीरमध्यवर्ति च नात्युच्चं नातिनीचं वा कुटिरं कीटव
र्जितम् सम्यग्गोमयलिप्तं च कुटिरं रंध्रवर्जितम् एवं स्थाने हि गुप्ते च
प्राणायामं समभ्यसेत् ७ हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौ तथा योगार
म्भं न कुर्वीत कृते योगो हि रोगदः ८ वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत् त

देहाग्निर्वर्धते नित्यं सर्वरोगविनाशनम्
जागर्ति भुजगी देवी भुजङ्गासनसाधनम् ४३
उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्योपरि जानुनोः
आसनोपरि संस्थाप्य चोत्तानं करयुग्मकम् ४४
पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत्
योगासनं भवेदेतद्योगिनां योगसाधने ४५
इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डचण्डसंवादे घटस्थयोगे
आसनप्रयोगो नाम द्वितीयोपदेशः

तृतीयोपदेशः

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी १
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालनी
ताडागी माण्डुकी मुद्रा शांभवी पञ्चधारणा २
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी
पञ्चविंशतिमुद्राश्च सिद्धिदा इह योगिनाम् ३
पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः
याम्यपादं प्रसार्याथ करोपात्तपदाङ्गुलिः ४
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं निरीक्षयेत्
पूरकैर्वायुं संपूर्य महामुद्रा निगद्यते ५
वलितं पलितं चैव जरा मृत्युं निवारयेत्
क्षयकासं उदावर्तप्लीहाजीर्णज्वरं तथा
नाशयेत्सर्वरोगांश्च महामुद्राप्रसाधनात् ६
यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा

नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ७
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ८
समग्राद्बन्धनाद्ध्येतदुड्डीयानं विशिष्यते
उड्डीयने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ९
कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्
जालन्धरमहामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी १०
सिद्धो जालन्धरो बन्धो योगिनां सिद्धिदायकः
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः ११
पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः
नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे सुधीः संपीड्य यत्नतः १२
मेढ्रं दक्षिणगुल्फेन दृढबन्धं समाचरेत्
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते १३
वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत्
दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः १४
शनकैश्चालयेत्पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छनैः
जालन्धरे धरेत्प्राणं महाबन्धो निगद्यते १५
महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशनः
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत्सर्ववाञ्छितम् १६
रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा १७
महाबन्धं समासाद्य चरेदुड्डानकुम्भकम्
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः १८

महाबन्धमूलबन्धौ महावेधसमन्वितौ
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः १९
न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुंगवैः २०
जिह्वाधो नाडीं संछित्य रसनां चालयेत्सदा
दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत् २१
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्
यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तदा सिध्यति खेचरी २२
रसनां तालुमूले तु शनैः शनैः प्रवेशयेत्
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी २३
न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः च जायते २४
नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः
न देहं क्लेदयन्त्यापो दशेन्न च भुजङ्गमः २५
लावण्यं च भवेद्गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात् २६
नानारससमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने
आदौ च लवणं क्षारं ततस्तिक्तकषायकम् २७
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम् २८
नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः २९
ऊर्ध्वं च योजयेत्सूर्यं चन्द्रं चाप्यध आनयेत्
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ३०

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः
ऊर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ३१
मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत्
स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ३२
सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसामुखम्
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामाद्यैः पिदधीत वै ३३
प्राणमाकृष्य काकीभिरपाने योजयेत्ततः
षट् चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधीः ३४
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य पराम्बुजे ३५
शक्तिमयो स्वयं भूत्वा परं शिवेन संगमम्
नानासुखं विहारं च चिन्तयेत्परमं सुखम् ३६
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुवि भावयेत्
आनन्दमानसो भूत्वा अहं ब्रह्मेति संभवेत् ३७
योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा
सकृत्तु लब्धसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि ३८
आश्रित्य भूमिं करयोस्तलाभ्यामूर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे
शक्तिप्रबुद्ध्यै चिरजीवनाय वज्रोलिमुद्रां मुनयो वदन्ति
३९
मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता
शयिता भुजगाकारा सार्धत्रिवलयान्विता ४०
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा
ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगं समभ्यसेत् ४१
उद्घाटयेत्कवाटं च यथा कुञ्चिकया हठात्
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ४२

नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ४३
वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम्
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम्
एवमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत् ४४
संलिप्य भस्मना गात्रं सिद्धासनमथाचरेत्
नासाभ्यां प्राणमाकृष्याप्यपाने योजयेद्बलात् ४५
तावदाकुञ्चयेद्गुह्यमश्विनीमुद्रया शनैः
यावद्गच्छेत्सुषुम्णायां हठाद्वायुः प्रकाशयेत् ४६
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा चोर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ४७
विना शक्तिचालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां ततोऽभ्यसेत् ४८
इति ते कथितं चराडकपाले शक्तिचालनम्
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत् ४९
उदरं पश्चिमोत्तानं तडागाकृति कारयेत्
ताडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ५०
मुखं संमुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्
शनैर्ग्रसेत्तदमृतं माराडुकीं मुद्रिकां विदुः ५१
वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम्
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाराडुकीम् ५२
नेत्रान्तरं समालोक्य चात्मारामं निरीक्षयेत्
सा भवेच्छांभवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ५३
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव
इयं तु शांभवीमुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ५४

स एव ह्यादिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शांभवीम् ५५
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमाह महेश्वरः
शांभवीं यो विजानीयात्स च ब्रह्म न चान्यथा ५६
कथिता शांभवीमुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम्
धारणानि समासाद्य किं न सिध्यति भूतले ५७
अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम्
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ५८
यत्तत्वं हरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितम्
वेदास्त्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थापितम्
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेत्
एषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ५९
शङ्खेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेत्
एषा दुःसहतापपापहरिणी स्यादाम्भसी धारणा ६०
यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितमं
तत्त्वं वह्निमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेत्
एषा कालगभीरभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा ६१
यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसंनिभमिदं धूम्रावभासं परं
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेत्
एषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ६२
यस्मिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमाख्यमुद्भासते

तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तानिव्तं धारयेत्
एषा मोक्षकवाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणा ६३
आकुञ्चयेद्गुदद्वारं प्रकाशयेत्पुनः पुनः
सा भवेदश्विनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ६४
कराठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवदृढबन्धनम्
सैव स्यात्पाशिनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ६५
काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ६६
कराठमग्नजले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्त्रेण चाहरेत् ६७
नासाभ्यां रेचयेत्पश्चात्कुर्यादेवं पुनः पुनः
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ६८
वक्त्रं किंचित्सुप्रसार्य चानिलं गलया पिबेत्
सा भेवद्भुजगीमुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ६९
यावन्तश्चोदरे रोगा अजीर्णाद्या विशेषतः
तान्सर्वान्नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजङ्गिनी ७०
इदं तु मुद्रापटलं कथितं चराड ते शुभम्
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम् ७१
शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्य कस्यचित्
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि ७२
ऋजवे शांतचित्ताय गुरुभक्तिपराय च
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम् ७३
मुद्राणां पटलं ह्येतत्सर्वव्याधिविनाशनम्
नित्यमभ्यासशीलस्य जाठराग्निविवर्धनम् ७४

न तस्य जायते मृत्युस्तथाऽस्य न जरादिकम्
नाग्निवारिभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम् ७५
कासः श्वासः प्लीहाकुगठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः
मुद्रागां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः ७६
बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चगड ते
नास्ति मुद्रासमं किंचित्सिद्धिदं क्षितिमगडले ७७
इति श्रीघेरगडसंहितायां घेरगडचगडसंवादे
घटस्थयोगप्रकरगे मुद्राप्रयोगो नाम तृतीयोपदेशः

चतुर्थोपदेशः

ग्रथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम्
यस्य विज्ञानमात्रेग कामादिरिपुनाशनम् १
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् २
यत्र यत्र गता दृष्टिर्मनस्तत्र प्रयच्छति
ग्रतः प्रत्याहरेवेतदात्मन्येव वशं नयेत् ३
पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं वा भयानकम्
मनस्तस्मान्नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ४
शीतं चापि तथा चोष्णं यन्मनस्संस्पर्शयोगतः
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ५
सुगन्धे वाऽपि दुर्गन्धे मनो घ्रागेषु जायते
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ६
मधुराम्लकतिक्तादिरसं गतं यदा मनः
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ७
इति श्रीघेरगडसंहितायां घेरगडचगडसंवादे घटस्थयोगे

ह० प्र० ॥
॥७॥

शनैस्तुघ्राणरंध्राभ्यांरेचयेदनिलंसुधीः॥६१॥गुल्मश्लेष्मादयोदोषाज्वरपित्तक्षुधातृषा॥एतानिशीत
लीनामकुंभकोयंनिहंतिच॥६२॥अथभस्त्रिकर्म॥उर्वोरुपरिवैधत्तेउभेपादतलेतथा॥पद्मासनंभवे
त्सम्यक्सर्वपापप्रणाशनं॥६३॥सम्यक्पद्मासनंबध्वासमग्रीवोदरःसुधीः॥मुखंसंयम्ययत्नेनप्राणं
घ्राणेनपूरयेत्॥६४॥यदालगतिहृत्कंठेकपोलेखशनंततः॥वेगेनपूरयेत्किंचित्हृत्पद्मावधिमारुतं
६५॥पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्चपुनःपुनः॥यथैवलोकाराणांभस्त्रावेगेनचाल्यते॥६६॥तथैवस्वशरीर
स्थंचालयेत्पवनंसुधीः॥यदाश्रमभवेद्देहेतदासूर्येणरेचयेत्॥६७॥यथोदरंभवेत्पूर्णंपवनेनतथाल
घु॥धारयेन्नासिकामध्येअंगुलीभ्यांतथादृढं॥६८॥~~यथोदरंभवेत्पूर्णंपवनेनतथालघु~~॥कुंभकंपूर्ववत्
कृत्वारेचयेदिडयानिलं॥वातपित्तश्लेष्महरंशरीराग्निविवर्द्धनं॥६९॥कुंडलीबोधकःकुंभोरोगघ्नःसु
खदःशुभः॥ब्रह्मनाडीमुखेसंस्थंकपालार्गलनाशनं॥७०॥सम्यग्भस्त्रासमुद्भूतंग्रंथित्रयविभेदकं॥
विशेषेणैवकर्तव्यंभस्त्राख्यंकुंभकंत्विदं॥इतिभस्त्राकर्म॥अथभ्रमरीकर्म॥वेगाद्घोषंपूरकंभृंग ॥७॥
नादंभृंगीनादंरेचकंमंदमंदं॥योगींद्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्तेजाताकाचिदानंदलीला॥अथमूर्छा म

३ सहितःकेवलश्चेतिकुंभकोद्विविधोमतः॥७४ रेचकःपूरकःकार्यःसवैसहितकुंभकः॥

कर्म॥पूरकांतेबढुतरंबध्वाजालंधरंशनैः॥रेचयेन्मूर्छनाख्येयंमनोमूर्छासुखप्रदं॥७२॥अथप्लाव
नीकर्म॥अंतःप्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः॥साक्षात्पयस्यगाधेचप्लवतेपद्मपत्रवत्॥७३॥अथकेव
लकुंभकं॥प्राणायामस्त्रिधाप्रोक्तारेचकपूरककुंभकैः॥यावत्केवलशुद्धस्यात्तावत्सहितमभ्यसेत्॥७५
रेचकंपूरकंमुक्त्वासुखाद्वायुनिरोधनं॥प्राणायामोयमित्युक्तःसवैकेवलकुंभकः॥७६॥केवलेकुंभके
सिद्धेरेचपूरकवर्जिते॥नतस्यदुर्लभंकिंचित्त्रिषुलोकेषुविद्यते॥७७॥सिद्धःकेवलकुंभेनयथेष्टंवायुधारणं
राजयोगपदंचैवलभतेनात्रसंशयः॥७८॥हठंविनाराजयोगोराजयोगंविनाहठः॥नसिध्यतिततोयु
ग्ममानिष्पत्तेःसमभ्यसेत्॥७९॥कुंभकंप्राणरोधांतेकुर्याच्चित्तंनिरामयं॥एवमभ्यासयोगेनराजयोगप
दंभवेत्॥८०॥कुंभकात्कुंडलीबोधःकुंडलीबोधनोभवेत्॥अनर्गलसुषुम्णाचहठसिद्धिश्चजायते॥८१
वपुःकृशत्वंवदनेप्रसन्नतानादस्फुटत्वंनयनेचनिर्मले॥आरोग्यताबिंदुजयोग्निदीपनंनाडीविशुद्धि
र्हठसिद्धिलक्षणं॥८१॥इतिआत्मारामयोगींद्रविरचितायांहठप्रदीपिकायांद्वितीयोध्यायः॥२॥०॥
सशैलवनधात्रीणांयथाधारोऽहिनायकः॥सर्वेषांयोगतंत्राणांतथाधारोहिकुंडली॥१॥सुप्तागुरुप्र

सादेन यथा जागर्ति कुंडली॥ तथा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोपि च॥२॥ प्राणस्य शून्यपदवी यथा राजपथायते॥ यथा चित्तं निरालंबं यथा कालस्य वंचनं॥३॥ अथ शून्यपदवीमिति किमुच्यते॥ सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः॥४॥ श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकः॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीं॥५॥ ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासेन बोधयेत्॥ महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी॥६॥ उड्डियानं मूलबंधस्तथो जालंधराभिधः॥ करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनं॥७॥ इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनं॥ आदिनाथोदितं सर्वं अष्टैश्वर्यप्रदायकं॥८॥ वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि॥ गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकं॥९॥ कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्री सुरतं तथा॥ वज्रोलिरमरोलिश्च सहजोलिस्त्रिधा मता॥१०॥ एतेषां लक्षणं वक्ष्ये कर्त्तव्यं च विशेषतः तत्र महामुद्रामाह॥ पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणे॥ पादं प्रसारितं धृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढं॥११॥ कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्द्धतः॥ यथा दंडाहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते॥१२॥ ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत्॥ तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता॥१४॥ ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्न तु वेगतः॥ इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रशस्यते॥१४॥ महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः॥ महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमः॥१५॥ चंद्रांगे च समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत्॥ यावत्संख्या भवेत्तुल्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्॥१६॥ नापथ्यं न हि पथ्यं च रसाः सर्वेपि नीरसाः॥ अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति॥१७॥ क्षयः कुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमः॥ दोषाः सर्वे क्षयं यांति महामुद्रां तु योभ्यसेत्॥१८॥ कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणां॥ गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥१९॥ अथ महाबंधः पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्॥ वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥२०॥ पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढं॥ निष्पीड्य योनिमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत्॥२१॥ धारयित्वा यथाशक्त्या रेचयेदनिलं शनैः॥ सव्यांगे च समभ्यस्य दक्षिणे पुनरभ्यसेत्॥२२॥ मतमत्र तु केशांचित्कंठबंधं विवर्जयेत्॥ राजदंतस्य जिह्वायां बंधः शस्तो भवेदितः॥२३॥ अयं किल महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः॥ कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः॥२४॥ अयं च सर्वनाडीनामूर्द्ध्वगतिविबोधकः॥ त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः॥२५॥ रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना॥ महामुद्रा महाबंधो निःफलो वेधवर्जितो॥२६॥

॥८॥

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

॥ह॰ प्र॰॥
॥९॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन महाबंधं समभ्यसेत्॥ अथ महावेधः॥ महाबेधोस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः॥ वायु
नागतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया॥२७॥ समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः॥ पुटद्वयसमाकृष्य वा
युःस्फुरति सत्वरं॥२८॥ सोमसूर्याग्निसंबंधाज्जायते चमृतिजयः॥ मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचये
त्॥२९॥ महावेधोयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः॥ वलीपलितवंधघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः॥३०॥ एतत्त्र
यं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥ वन्हिवृद्धिकरं चैवं अणिमादिगुणप्रदं॥३१॥ अष्टधा क्रियते चैकं
यामे यामे दिने दिने॥ पुण्यप्रायस्य संभावि पापौघभिदुरं सदा॥३२॥ सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पे प्रथम
साधनं॥ वन्हिस्त्रीपथसेवानां मादौ वर्जनमाचरेत्॥३३॥ अथ खेचरी॥ छेदनचालनदोहनकलाक्रमे
ण वर्द्धयेत्तावत्॥ सतायावद्भ्रूमध्ये स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः॥३४॥ स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्नि
ग्धनिर्मलं॥ समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्॥३५॥ आदौ सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं पुनश्छिनेत्॥३६॥ एवं क्रमेण षण्मासान्नित्ययुक्तः समाचरेत्॥ षण्मासा ॥९॥
द्रसनामूले शिराबंधः प्रणश्यति॥३७॥ कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा॥ भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मु

द्रा भवति खेचरी॥३८॥ अथ वागेश्वरीधाम शिरोवस्त्रेण वेष्टयेत्॥ शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेधाविधानवित्॥
३९॥ वितस्तिप्रमितं दैर्घ्ये विस्तारे चतुरंगुलं॥ मृदुश्च धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणं॥४०॥ पुनः षण्मासमात्रे
तु पुनः संघर्षणं प्रिये॥ भ्रूमध्यावधि परियंतं तिर्यक्कूर्णबिलावधि॥४१॥ अधस्ताच्चुबुकं मूलं प्रयाति क्रम
कारिता॥ केशाद्दूर्ध्वं च क्रमति तिर्यक्संख्यावधि प्रिये॥४२॥ पुनः संवत्सरादेव द्वितीया चैव लीलया॥ ब्रह्मरं
ध्रांतमावृत्य तिष्ठेत्सा रमवंदिते॥४३॥ स्वतालुमूलं संघृष्य सप्तवासरमात्मनि॥ स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं
विशोषयेत्॥४४॥ अंगुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वां तत्र निवेशयेत्॥ शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभृत्॥
४५॥ पूर्ववीर्ययुतां विद्यां व्याख्यातामतिदुर्लभां॥ अस्याः षडंगं कुर्वीत तया षट्स्वरभिन्नया॥४६॥ खे निर
स्तसकले क्रियाक्रमेण चित्तस्थरतिरूपखतोयदे॥ अग्निधलसमवायकारिणि खेचरीभव खेदहारिणि
४७॥ क्रमेणैव प्रकर्तव्याभ्यासेन वरवर्णिनि॥ युगपद्यतते तस्य शरीरे विलयं भजेत्॥४८॥ तस्माच्छनैः
शनैः कार्याभ्यासेन युगपत्प्रिये॥ एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारे वसेद्ध्रुवं॥४९॥ षट्चक्राणि विभिद्याशु शक्तिभुज
गीं प्रोत्सार्य मूलं स्थितां॥ भित्वा ग्रंथित्रयं च पश्चिमं शिरोप्राकाररूपं महत्॥५०॥ नित्यं प्राणमतः शिरोवल

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

मलं निर्मथ्य चित्तेन तल्लिंगं यः पिबतींदुमंडलगमं मुक्तः ससाक्षाच्छिवः ॥५१॥ नित्यं यस्तूर्ध्वजिह्वाग्रेण पिब
ति पुमन्सप्तधारामृतौघं सुस्वादं शीतलं गंदुरितभयहरं रक्षुत्पिपासानिवारि ॥ पिंडस्थैर्यं हि यस्माद्भवति
मृत यथा मृत्युरोगाद्भवंति दोर्भाग्यं याति नाशं प्रसरति सकला याति चालं पुनः पुनः ॥५२॥ तिक्ष्णं च हरते व्या
धि कटुकं कुष्टनाशनं ॥ घृतस्वादूपमं चैवामरते लभते ध्रुवं ॥५३॥ मधुस्वादूपयश्चैव शास्त्राभुद्भरतिं ब
हु ॥ लड्डुखंडकस्वादू निपक्वान्नादि न्यनेकशः ॥५४॥ दिव्यं कल्पं किडयं न्नित्यं उत्कृष्टो जायते ध्रुवं ॥ तन्म
यत्वमवाप्नोति कोशकारीच कीटकः ॥५५॥ कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे पद्ववर्तयत् ॥ सा भवेत्खेचरीमु
द्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥५६॥ रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्द्धमपि तिष्ठति ॥ दुःखैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृ
त्युजरादिभिः ॥५७॥ नरोगा मरणं तस्य न निद्रा च क्षुधा तृषा ॥ न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरी ॥
५८॥ बाध्यते न स रोगेन लिप्यते न स कर्मणा ॥ बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरी ॥५९॥ चित्तं चरति
खे यस्मात् जिह्वा चरति खे गता ॥ तेनैव खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ॥६०॥ खेचर्या मुद्रितं येन विवरं
लंबिकोर्द्ध्वतः ॥ तस्य न क्षरते बिंदुः कामिन्याश्लेषितस्य च ॥६१॥ चलितोपि यदा बिंदुः संप्राप्तश्चाग्निमंडले

व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निरुद्धो योगमुद्रया ॥६२॥ ऊर्ध्वजिह्वा स्थितो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥ मासार्द्धेन न
संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥६३॥ नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य देहिनः ॥ तक्षकेनापि दष्टस्य विषं त
स्य न सर्पति ॥६४॥ इंधृतानि यथा वह्निः तैलवर्ती च दीपकः ॥ तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंच्यति ॥६५
जिह्वाप्रवेशसंभूतं वह्निनोत्पादितं खलु ॥ चंद्रोशं श्रावयेघस्तु सास्यादमरवारुणी ॥६६॥ गोमांसं भक्ष
येन्नित्यं पिबेदमरवारुणी ॥ कुलि[illegible]नं तमहं विद्या मितरे कुलघातकाः ॥६७॥ गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्र
वेशो हि तालुनि ॥ गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनं ॥६८॥ नाभिदशे भवेदेष भास्करो दहनात्मकः ॥
अमृतात्मा स्थिरो नित्यं तालुमध्ये तु चंद्रमाः ॥६९॥ वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्द्ध्वमुखो रविः ॥ ज्ञातव्यं का
रणं तस्य येन पीयूषमाप्यते ॥७०॥ मूर्द्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणेरवाप्तं हठा दूर्ध्वास्यो रसनां विधाय
विवरे शक्तिं परां चिंतयेत् ॥ उत्कल्लोलजलाकुलं सुविमलं धारामृतं यः पिबेत् निर्दोषः समृणालकोमलत
नुर्योगी चिरं जीवति ॥७१॥ चुंबंति यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पंदिनि सक्षाराकटुकाम्लदुग्धसदृ
शीमध्वाज्यतुल्यं तथा ॥ व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शास्त्रागमोदीरणं तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धा

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

गनाकर्षणं॥७३॥एकं सृष्टिमयं बीजं एका मुद्रा च खेचरी॥ एको देवो निरालंबो एकावस्था मनोन्मनी॥७४
सुस्थिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतसमन्वितं॥ तिष्ठति खेचरी मुद्रा तस्मिन्शून्ये निरंजने॥७५॥बद्धं मूलबिल
येन तेन विघ्नो विदारितः॥ अजरामरतां यांति यथा पंचमुखो हरः॥ अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रि
वत्सरात्॥ ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतो ह्यणिमादिगुणोदयात्॥७७॥यत्प्रालंतं पिहीनं सुषिरं मेरुमूले यदस्ति त
स्मिंस्तत्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानां॥ चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां तद्बध्नीयात्सु
करणपथो नान्यथा कार्यसिद्धिः॥७८॥अथ मूलबंधः॥पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्दृढं॥अ
पानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोयमुच्यते॥७९॥अधोगतमपानं वेऊर्ध्वगं कुरुते बलात्॥आकुंचनेन तं
प्राहुर्मूलबंधो हि योगिनः॥८०॥गुदं पार्ष्णिं तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात्॥ वारं वारं यथा चोर्ध्वं समाया
ति समीरणः॥८१॥प्राणापानो नादबिंदू मूलबंधेन चैकतां॥गत्वा योगस्य संसिध्यै यच्छतो नात्र संश
यः॥८२॥अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः॥युवा भवति वृद्धोपि सततं मूलबंधनात्॥८३॥
अपाने चोर्ध्वगे याते प्रयाते नाभिमंडले॥ तथानलशिखा दीर्घा क्रीयते वायुनाहता॥८४॥ततो याते

वह्न्यपानौ प्राणमूष्णस्वरूपकं॥ तेनात्यंततः प्रदीप्तस्तु कुतो देहक्षयस्तदा॥८५॥तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता
संप्रबुध्यते॥ दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥८६॥बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरे व्रजेत्
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥८७॥अथ उड्डियानबंधः॥ऊर्ध्वोक्षिप्तः सुषुम्णायां प्राण
स्तूड्डियते यथा तः॥ तस्माच्च उड्डीयानाख्यो योगिभिः समुदाहृतः॥८८॥उड्यानं कुरुते यस्माद्विश्रांतं
महाखगः॥उड्डियानं तदेव स्यात्तत्र बंधोभिधीयते॥८९॥ उदरात्पश्चिमभागे अधो नाभेर्निगद्यते॥उड्डि
यानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी॥९०॥उड्डियानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा॥ अभ्यासेत्सततं यस्तु
वृद्धोपि तरुणो भवेत्॥९१॥नाभेरूर्ध्वमधश्चापि प्राणं कुर्यात्प्रयत्नतः॥योगी समभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न
संशयः॥९२॥सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढं॥गुल्फदेशसमीपश्च कंठं तत्र प्रपीडयेत्॥९३॥
पश्चिमं तानमुदरे कारयेद्धृदये गले॥शनैः शनैर्यथा प्राणा नाडि सिद्धिं निगच्छते॥९४॥सर्वेषामेव बंधाना
मुत्तमो ह्युड्डियानकः॥उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्॥९५॥अथ जालंधरबंधः॥कंठमाकु
च्य हृदये स्थापयेच्चुबुकं दृढं॥बंधो जालंधराख्यायं जरामृत्युविनाशकः॥९६॥बध्नाति हि शिराजालं अ

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

धोगामिनभोजलं॥ ततो जालंधरो बंधः कंठेदुःखौघनाशनं॥९७॥ जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे॥ न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति॥९८॥ कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढं॥ मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनं॥९९॥ बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितं॥ सर्वेषां योगतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः॥१००॥ मूलस्थानं समाकुंच उड्डियानं च कारयेत्॥ इडां च पिंगलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथः॥१॥ अधस्याकुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते॥ मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥२॥ ब्रह्मस्थानस्थितः सिद्धः प्रयाति पवने लयं॥ ततो न जायते मृत्युर्न स्याज्जरादिकं तथा॥३॥ अथ विपरीतकरणी॥ यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणं॥ तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडं विनाशि च॥४॥ वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः॥ करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥५॥ तत्रास्ति दिव्यकरणं सूर्यस्य मुखबंधने॥ गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः॥६॥ ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी॥ करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥७॥ करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी॥ नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निप्रवर्द्धिनी॥८॥ आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च॥ अल्पाहारो निराहारो क्षुधालस्य

वशिर्भवत्॥९॥ अध शिरश्चोर्ध्वपादो क्षणं स्यात्प्रथमे दिने॥ क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने॥१०॥ वलितं पलितं चैव षण्मासात्तु न दृश्यते॥ याममात्रं ततो नित्यमभ्यासेन तु कालजित्॥११॥ अथ वज्रोलि॥ स्वच्छंदवर्त्तमानोपि योक्तैर्विनियमैर्विना॥ वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धभाजनं॥१२॥ तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्॥ क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्त्तिनी॥१३॥ मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत्॥ पुरुषोप्यथवा नारी वज्रोलिसिद्धिमाप्नुयात्॥१४॥ प्रयत्नतः शिरानाले फूत्कारो वज्रकंधरे शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंकोचकारणा॥१५॥ भार्याभगे पतेद्बिंदुरभ्यासेनोर्द्ध्वमाहरेत्॥ चलितं चलितं बिंदुमूर्द्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्॥१६॥ एवं रक्षति यो बिंदु मृत्युं जयति योगवित्॥ मरणं बिंदुपातेन जीवितं बिंदुधारणात्॥१७॥ यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः॥ चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्राधीनं हि जीवितं॥१८॥ सुगंधयोगिनो देहे जायते बिंदुधारणात्॥ तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः॥१९॥ बिंदुमध्ये रजो प्येवं बीजं बिंदु प्रचक्षयेत्॥ मेंद्रमाकुंचयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित्॥२०॥ अपर्याप्तपुण्यवतां धन्यानां तत्त्वदर्शिनां॥ निर्मत्सराणां सिद्ध्योत न तु मत्सरशीलिनां॥२१॥ अथ सहजोलि॥ सहजोली

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

मरोली वज्रोल्या एकभेदतः ॥ जलेषु भस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवं ॥ २२ ॥ वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुं
सोः स्वांगलेपनं ॥ आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणं ॥ २३ ॥ सहजोलिरियं प्रोक्ता सिद्धये योगिभिः
सदा ॥ अयं शुभकरो योगो भोगयुक्ते विमुक्तिदः ॥ २४ ॥ अमरोलि ॥ विहाय नित्यं प्रथमां च धारां विहाय
निःसारतयांत्यधारां ॥ निष्याद्यते शीतलमध्यधारा कापालिकैः कुंटमतेरमेध्या ॥ २५ ॥ अमरीयः पिबे
न्नित्यं नस्यं कुर्याद्दिने दिने ॥ वज्रोलिमभ्यसेन्नित्यममरोलितिकथ्यते ॥ २६ ॥ पुंसो बिंदुः समाकुंच सम्यग
भ्यासपाटवात् ॥ यदि नारी रजोरक्षेत्संयोगे चापि योगिनी ॥ २७ ॥ तस्याः किंचिद्रजोनाशं न गच्छति नसं
शयः ॥ तस्याः शरीरे नादश्च बिंदुत्वं चापि गच्छति ॥ २८ ॥ स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूतौ स्वदेहजौ ॥ वज्रोल्या
भ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रजायते ॥ २९ ॥ अतीतानागतं वेत्ती खेचरश्च भवेद्ध्रुवं ॥ देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्या
भ्यासयोगतः ॥ ३० ॥ तस्मादेयं साधकानां भोगमुक्तविमुक्तिदः ॥ तस्मात्पुण्यवतामेव योगोयं संप्रसिध्यति
३१ ॥ अथ शक्तिचालनं ॥ कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ॥ कुंडल्यरुंधती चेति शब्दपर्यायवाचकः ॥ १३ ॥
३२ ॥ उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥ कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ ३३ ॥ येन मार्गेन

ण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयं ॥ मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ३४ ॥ कंदोर्ध्वे कुंडली शक्तिः सु
प्ता मोक्षाय योगिनां ॥ बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ ३५ ॥ अंभोधिशैलद्वीयानामाधारः शे
षकुंडली ॥ अशेषयोगजगतामाधारः कुंडली तथा ॥ ३६ ॥ कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ३७ ॥ गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीं ॥ बलात्कारे
ण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदं ॥ ३८ ॥ इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥ इडापिंगलयोर्मध्ये बा
लरंडा तपस्विनी ॥ ३९ ॥ पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च तां ॥ निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते
हठात् ॥ ४० ॥ परिस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्द्धमात्रं ॥ प्रसार्यय त्तसरिधानयुक्त्या प्रगृ
ह्यतेतसरिपालनीया ॥ ४१ ॥ वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारं चतुरंगुलं ॥ मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनांबरल
क्षणं ॥ ४२ ॥ वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीं ॥ कुर्यादनंतरं भस्त्रीं कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ ४३ ॥
भानोराकुंचनेनैव कुंडलीं चालयेत्तदा ॥ मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ४४ ॥ नासादक्षणमा
र्गवाहीपवनप्राणो न दीर्घीकृतश्चंद्रांभः परिपूरितामृततनुः प्रागघंटिकायास्तथा ॥ छिन्नकालविशाल

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

वह्निवशागंभूरंध्रनाडीगणास्तत्कार्यंकुरुते पुनर्नवतरं छिन्नद्रुमस्कंधवत्॥४५॥कुंडलीचालयित्वाथकु
र्याद्भस्त्रीविशेषतः॥एवमभ्यासतोनित्यं यमिनःशंकतेयमः॥४६॥तदाभ्यसेत्सूर्यभेदमुज्जायींचापिशी
तलीं॥एवमभ्यासयोगेनयमिनःशंकतेयमः॥४७॥मुहूर्तद्वयपर्यंतंनिर्भयंचालनादसौ॥ऊर्ध्वमाकृष्य
ते किंचित्सुषुम्णायाःसमुद्गतः॥४८॥तेनकुंडलिनीतस्याःसुषुम्णायाःसमुद्गतः॥नयातितस्मात्प्राणोयं
सुषुम्णांवुजनिश्चलः॥४९॥यस्मात्संचालयेन्नित्यंसुखंसुप्तामरुंधतीं॥यस्याःसंचालनादाशुयोगीरोगा
त्प्रमुच्यते॥५०॥येनसंचालिताशक्तिःसयोगीसिद्धिभाजनं॥किमत्रबहुनोक्तेनकालंजयतिलीलया॥५१॥
ब्रह्मधर्मरतस्यैवपुंसोमितहिताशीनः॥मंडलादृश्यतेसिद्धिःकुंडलीभ्यासयोगतः॥५२॥आभ्यासनिस्सृतां
चांद्रींविभूत्यासहमिश्रयेत्॥तांधारयेदुत्तमांगेदिव्यदृष्टिप्रदायिनी॥५३॥द्विसप्ततिसहस्राणांनाडीनां
मलशोधने॥कुतःप्रक्षालनोपायःकुंडल्याभ्यासनादृते॥५४॥इतिशक्तिचालनं॥मुद्रेमादशधाप्रोक्ता
आदिनाथेनशंभुना॥कारणंसर्वसिद्धीनामेकैकापिक्षमेवसा॥५५॥राजयोगंविनापृथ्वीराजयोगंविना ॥१४॥
निशा॥राजयोगंविनामुद्राविचित्रापिनराजते॥५६॥मरुदभ्यसनंकिंचिन्मनोयुक्तंसमाचरेत्॥इतरत्र

नकर्तव्यामनोवृत्तिर्मनीषिणा॥५७॥विनापिमध्यमानाडीदृढाभ्यासेनयोगिनः॥आसनप्राणसंयामैर्मु
द्राभिःसरलाभवेत्॥५८॥अभ्यासेनहिमुद्राणांतदुदेतिसमाधिना॥मुद्राणांचपरामुद्राभस्त्रासिद्धिंप्रय
छति॥५९॥उपदेशंहिमुद्राणांयोधत्तेसांप्रदायिकं॥सएवश्रीगुरुस्वामीसाक्षादीश्वरएवसः॥६०॥तस्यवा
क्यपरोभूत्वाअथाभ्याससमाहितः॥अणिमादिगुणैश्वर्यंलभतेकालवंचकः॥६१॥इत्यात्मारामयोगींद्रवि
रचितायांहठप्रदीपिकायांतृतीयोपदेशः॥३॥ ॥नमःशिवायगुरवेनादबिंदुकलात्मने॥निरंजनपदंया
तियतोयोगीपरायणः॥१॥अथेदानींप्रवक्ष्यामीसमाधिक्रममुत्तमं॥मृत्युघ्नंचसुखोपायंब्रह्मानंदकरं
परं॥२॥राजयोगसमाधिश्चउन्मनीचमनोन्मनी॥अमरोघालयस्तत्रशून्याशून्यंपरंपदं॥३॥अमनस्कंत
थाद्वैतंनिरालंबंनिरंजनं॥जीवन्मुक्तिश्चसहजंमुक्तिश्चेत्येकवाचकः॥४॥सलिलेसैंधवंयद्वत्साम्यंभज
तियोगतः॥तथात्ममनसोरैक्यंसमाधीरभिधीयते॥५॥तत्समंचद्वयोरत्रजीवात्मपरमात्मनोः॥सम
स्तनष्टसंकल्पःसमाधिःसोभिधीयते॥६॥कर्पूरसलिलेयद्वत्सैंधवंसलिलेयथा॥तथात्ममनसोरैक्यंस
माधिःसोभिधीयते॥७॥राजयोगस्यमाहात्म्यंकोवाजानातितत्वतः॥ज्ञानंमुक्तिःस्थितिःसिद्धिःगुरुवा

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

Chapter 3

तृतीयोपदेशः

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली॥ १॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च॥ २॥
प्राणस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम्॥ ३॥
सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रः महापथः ।
श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः॥ ४॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥ ५॥
महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्डीयानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः॥ ६॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्॥ ७॥
आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि॥ ८॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा॥ ९॥

अथ महामुद्रा

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणाम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम्॥ १०॥
कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते॥ ११॥
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया॥ १२॥
ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः॥ १३॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः॥ १४॥
चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्सङ्ख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्॥ १५॥
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति॥ १६॥
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥ १७॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥ १८॥

अथ महाबन्धः

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥ १९॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ।
निष्पीड्यं वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत्॥ २०॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत्॥ २१॥
मतमत्र तु केषांचित्कण्ठबन्धं विवर्जयेत् ।
राजदन्तस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति॥ २२॥
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः॥ २३॥
कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः॥ २४॥
रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ॥ २५॥

अथ महावेधः

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया॥ २६॥
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सनाडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः॥ २७॥
सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत्॥ २८॥
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः॥ २९॥
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम्॥ ३०॥
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यसंभारसन्धाय पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम्॥ ३१॥

अथ खेचरी

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ ३२॥
छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेणाथ वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः॥ ३३॥
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ ३४॥
ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ ३५॥
एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति॥ ३६॥
कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते॥ ३७॥
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः॥ ३८॥
न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥ ३९॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥ ४०॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता॥ ४१॥
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याः श्लेषितस्य च॥ ४२॥
चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डलम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया॥ ४३॥
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।

मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्॥ ४४॥
नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति॥ ४५॥
इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति॥ ४६॥
गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः॥ ४७॥
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥ ४८॥
जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी॥ ४९॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम्॥ ५०॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठाद्
ऊर्द्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेन्
निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति॥ ५१॥

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमधो नान्यथा कायसिद्धिः॥ ५२॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्शून्ये निरञ्जने॥ ५३॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी॥ ५४॥

अथ उड्डीयानबन्धः

बद्धो येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः॥ ५५॥
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तव बन्धोऽभिधीयते॥ ५६॥
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी॥ ५७॥
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते॥ ५८॥
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः॥ ५९॥
सर्वेषामेव बन्धानां उत्तमो ह्युड्डीयानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्॥ ६०॥

अथ मूलबन्धः

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते॥ ६१॥
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः॥ ६२॥
गुदं पार्ष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः॥ ६३॥
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः॥ ६४॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥ ६५॥
अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम् ।
तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाहता॥ ६६॥
ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा॥ ६७॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥ ६८॥
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यं तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥ ६९॥

अथ जलन्धरबन्धः

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः॥ ७०॥
बध्नाति हि सिराजालमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः॥ ७१॥
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति॥ ७२॥
कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम्॥ ७३॥
मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत् ।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि॥ ७४॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा॥ ७५॥
बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः॥ ७६॥

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः॥ ७७॥

अथ विपरीतकरणी मुद्रा

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः॥ ७८॥
ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥ ७९॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धनी ।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च॥ ८०॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने॥ ८१॥
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्॥ ८२॥

अथ वज्रोली

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम्॥ ८३॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी॥ ८४॥
मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात्॥ ८५॥
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात्॥ ८६॥
नारीभगे पदद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्॥ ८७॥

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्॥ ८८॥
सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः॥ ८९॥
चित्तायत्तं नृॠणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः॥ ९०॥
ॠतुमत्या रजोऽप्येवं निजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित्॥ ९१॥

अथ सहजोलिः

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम्॥ ९२॥
वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात्॥ ९३॥
सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः॥ ९४॥
अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां वै सिध्येन्न तु मत्सरशालिनाम्॥ ९५॥

अथ अमरोली

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम् ।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली॥ ९६॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यक्सामरोलीति कथ्यते॥ ९७॥
अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ।

धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते॥ ९८॥
पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी॥ ९९॥
तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति॥ १००॥
स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः॥ १०१॥
रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम्॥ १०२॥
देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः॥ १०३॥

अथ शक्तिचालनम्

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः॥ १०४॥
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥ १०५॥
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥ १०६॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥ १०७॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥ १०८॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम्॥ १०९॥
इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली॥ ११०॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजङ्गीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्॥ १११॥

अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या
प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया॥ ११२॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम्॥ ११३॥
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्॥ ११४॥
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्॥ ११५॥
भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः॥ ११६॥
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्णायां समुद्गता॥ ११७॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः॥ ११८॥
तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते॥ ११९॥
येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया॥ १२०॥
ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।
मण्डलाद्दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः॥ १२१॥
कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।

एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः॥ १२२॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते॥ १२३॥
इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत्॥ १२४॥
अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा परा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति॥ १२५॥
राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते॥ १२६॥
मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा॥ १२७॥
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी॥ १२८॥
उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः॥ १२९॥
तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम्॥ १३०॥

इति हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः ।

हठ° ९

सवैकेवलकुंभकः ७० केवले कुंभके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु
लोकेषु विद्यते ७१ शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् राजयोगपदं चैव लभते ना
त्र संशयः ७२ हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः न सिध्यति ततो युग्ममानिष्प
त्तेः समभ्यसेत् ७३ कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयं एवमभ्यासयोगेन राजयो
गपदं व्रजेत् ७४ कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् अनर्गला सुषुम्ना च हठ
सिद्धिश्च जायते ७५ वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले आरो
ग्यता बिंदुजयोग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणं ७६ इति सहजानंदसंतान
चिंतामणिस्वात्मारामयोगिविरचितायां हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः सशैलवनधा
त्रीणां यथाधारोहिनायकः सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली १ सुप्ता गु
रुप्रसादेन बोधिता स्याद्यदा भवेत् तथा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोपि च २ प्रा

९

णस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते तथा चित्तं निरालंबं तथा कालस्य वंचनं ३ शून्य
पदवीति किं सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चे
त्येकवाचकं ४ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीं ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्या
सेन बोधयेत ५ महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी उड्डियाणं मूलबंधं धा बंधो जा
लंधराभिधः ६ करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनं इदं हि मुद्रादशकं जरा
मरणनाशनं ७ आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्ल
भं मरुतामपि ८ गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकं कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुर
तं यथा ९ वक्त्रोक्तिमात्रा लिख्यन्ते सहजोलिविधानतः एतेषां लक्षणं चैव स्पष्टं तैश्चैव वि
शेषतः १० अथ महामुद्रा पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणां प्रसारितं पादं कृ
त्वा कराभ्यां धारयेद्दृढं ११ कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः यथा दंडहतः सर्पो दंडाका

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ह.ठ. २०

रः प्रजायते ११ ऋजीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् तथा सा मरणावस्थां जाते
द्विपुटाश्रया १२ ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्र
दर्शिता १३ नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमि
व जीर्यते १४ चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे तु समभ्यसेत् यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मु
द्रां विसर्जयेत् १५ क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः तस्य दोषक्षयं यांति महामु
द्रां च योभ्यसेत् १५ कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणां गोपनीया प्रयत्नेन न
देया यस्य कस्यचित् १६ अथ महाबंधः पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नि
योजयेत् १६ वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा १७ पूरयित्वा ततो वायुं हृद
ये चिबुकं दृढं निःपीड्य योनिं कुंचमनो मध्ये नियोजयेत् १८ रेचयेच्च शनैरेव महा
बंधो निगद्यते अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः १९ कालपाशमहाबंधा

10

मा

२०

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

यि मोक्षनविवर्तनात् अयंतु सर्वनाडीनां मूर्ध्वगतिनिरोधकः २० त्रिवेणीसंगमं धत्ते
केदारं प्रापयेन्मनः अथ महावेधः रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना महा
मुद्रा महाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ २१ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन महावेधं समभ्यसेत्
महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया २२
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेत् शनैः पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यमे
२३ सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेच
येत् २४ महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते
साधकोत्तमैः २५ एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनं वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणि
मादिगुणप्रदं २६ अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने पुण्यसंभारसंधायि पा
पौघभिदुरं सदा २७ सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनं वह्निस्त्रीपथसे

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ह.ह.
११

यानामार्गेण वज्रेण कारयेत् २८ अथ खेचरी ॐ छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्ताव
त् सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः २९ स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्नि
ग्धनिर्मलं समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ३० ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णि
ताभ्यां प्रघर्षयेत् पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ३१ एवं क्रमेण षण्मासा
न्नित्ययुक्तः समाचरेत् षण्मासे रसनामूलशिराबंधः प्रणश्यति ३२ कपालकुहरे जि
ह्वा प्रविष्टा विपरीतगा भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ३३ कलां पराङ्मुखीं
कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ३४ कलां प
राङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ३५ र
सनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः
३६ न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

३३ पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा बाध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं
३४ चित्तं चरति खे यस्मात् जिह्वा चरति खे गता तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्नमस्कृता
३५ खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्द्ध्वतः न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याश्लेषित स-
स्य च ३६ पाताले ऽपि हि तस्य बिंदुं मे न कमले न रसिं स्तलं चेत स्व वेदनिधौ तन्मुद्रां नि-
मग्नानां चंद्रास्तं स्वयति बंधो रोधमुक्तुनेत्राणां तद्ध्रीयासुचरणाम होनान्यथा स-
पैलिद्धिः ३७ चलितोपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलं व्रजत्यूर्द्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो
योनिमुद्रया ३८ कपालकुहरे जिह्वा कालसंहारमुद्रया ऊर्द्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सो-
मपानं करोति यः मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ३९ नित्यं सोमकला-
पूर्णं शरीरं यस्य योगिनः तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ४० इंधनानि यथा
वह्निः तैलवर्तिं च दीपकः तथा सोमकलापूर्णो देही देहं न मुंचति ४१ गोमांसं भ

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ह.यो.
१२

क्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीं कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ५२ गोशब्देनोदि-
ता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि गोमांसभक्षणं चैतत्तु महापातकनाशनं ५३ जिह्वा-
प्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ५४
मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां
चिंतयेत् उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेत् निर्व्याधिः स मृणालको-
मलवपुर्योगी चिरं जीवति ५५ चुंबंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी
सक्षारा कटुतिक्तदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रा-
गमोदीरणं तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणं ५६ एकं सृष्टिमयं बीजं
एका मुद्रा च खेचरी एको देवो निरालंबो एकावस्था मनोन्मनी ५७ सुषिरं ज्ञानज-
नकं पंचस्रोतःसमन्वितं तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्शून्ये निरंजने ५८ पश्चातेपत्र

१२

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

हितस्तुचिरंमेरुमूर्ध्नि स्थितं तस्मिंस्तत्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानां चंद्रात्साराः
स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां तद्बध्नीयात्सुकरणमधो नान्यथा कार्यसिद्धिः अथ मूल
बंधः पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदं अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीय
ते ४८ अधोगतमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते हठात् आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं तु योगिनः
४९ गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समी
रणः ५० प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकतां गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छते
नात्र संशयः ५१ अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः युवा भवति वृद्धोपि
सततं मूलबंधनात् ५२ अपाने ऊर्ध्वगे जाते संप्राप्ते वह्निमंडले तथानलशि
खा दीर्घा वर्द्धते वायुनाहता ५३ ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकं तेना
संतप्रदीप्तासौ ज्वलनो देहजस्तथा ५४ तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ६

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

दाहतभुजंगीवनिःस्वस्य ऋजुतांव्रजेत ५५ बिलंप्रविष्टेवततोब्रह्मनाड्यंतरंव्रजेत त
स्मान्नित्यंमूलबंधः कर्तव्योयोगिभिःसदा ५६ अथउड्यानबंधः बद्धोयेनसुषु
म्नायांप्राणस्तूड्डीयतेयतः तस्मादुड्डीयनाख्योऽयंयोगिभिःसमुदाहृतः ५७ उड्डी
नंकुरुतेयस्मादविश्रांतोमहाखगः उड्डीयानंतदेवस्यात्तत्रबंधोऽभिधीयते ५८
उदरेपश्चिमंतानंनाभेरूर्ध्वंतुकारयेत उड्डीयानोह्यसौबंधोमृत्युमातंगकेसरी
५९ उड्डीयानंतुसहजंगुरुणाकथितंतथा अभ्यसेत्सततंयस्तुवृद्धोऽपितरुणायते
ते ६० नाभेरूर्ध्वमधश्चापितानंकुर्यात्प्रयत्नतः षण्मासमभ्यसेन्मृत्युंजयत्येव
नसंशयः ६१ सतिवज्रासनेपादौकराभ्यांधारयेद्दृढं गुल्फदेशसमीपेचकं
दंतत्रप्रपीडयेत ६२ पश्चिमंतानमुदरेधारयेद्धृदयेगले शनैःशनैर्यथाप्रा
णः हृदसंधिंनगच्छति ६३ सर्वेषामेवबंधानामुत्तमोह्युड्डीयानकः उड्डीयाने

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ढं बंधेमत्तोस्वाभाविकंभवेत ६४ अथजालंधरबंधः कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेद्दृढमि
छया बंधोजालंधराख्योयंजरामृत्युव्ययकारकः ६५ बध्नातिहिसिराजालमधोगामि
नभोजलं ततोजालंधरोबंधः कंठदुःखौघनाशनः ६६ जालंधरेकृतेबंधेकंठसंको
चलक्षणे नपीयूषंपतत्यग्नौनचवायुःप्रधावति ६७ कंठसंकोचनेनैवद्वेनाड्यौस्तं
भयेद्दृढं मध्यचक्रमिदंज्ञेयंषोडशाधारबंधनं ६८ बंधत्रयमिदंश्रेष्ठंमहासिद्धैश्चसेवि
तं सर्वेषांहठतंत्राणांसाधनंयोगिनोविदुः ६९ मूलस्थानंसमाकुंच्यउड्डियानंतु
कारयेत् इडांचपिंगलांबध्वावाहयेत्पश्चिमेपथं ७० अधस्तात्कुंचनेनैवकंठसंको
चनेकृते मध्यपश्चिमतानेनस्यात्प्राणोमध्यनाडिगः मूलस्थानस्थितोबंधः प्र
यातिपवनोलयं अनेनैवविधानेनसेवयेत्पवनालयं ततोनजायतेमृत्युःजरा
रोगादिकंतथा ७१ अथविपरीतकरणी यत्किंचित्स्रवतेचंद्रादमृतंदिव्यरूपिणः

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ह.ठ.
१५

तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जराधिव ७२ तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनं गु
रूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ७३ ऊर्ध्वनाभिरधस्तालु ऊर्ध्वं भानुरधः शशी क
रणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ७४ करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविना
शिनी नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धनी ७५ आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः
साधकस्य तु अल्पाहारो यदि भवेत् अग्निर्दहति तत्क्षणात् ७६ अधःशिरश्चोर्ध्वपादः
क्षणं स्यात्प्रथमे दिने क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ७७ वलितं पलितं
चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते यामामात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ७८ अथ
वज्रोली स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना वज्रोलीं यो विजानाति स यो
गी सिद्धिभाजनं ७९ तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् क्षीरं चैकं द्वितीयं च
नारी च वशवर्तिनी ८० मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् पुरुषोप्यथवा

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

नेवावज्रोलीसिद्धिभाजनं ८१ ययत्नतः क्षिप्तेनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे शनैः शनैः प्रकुर्वी
त वायुसंचारकारणात ८२ नार्याभगेपतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत चलितंतुस्वकंबिं
दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत ८३ एवंसंरक्षयेद्बिंदुं मृत्युंजयतियोगवित मरणंबिंदुपाते
न जीवितंबिंदुधारणात ८४ सुगंधोयोगिनोदेहे जायतेबिंदुधारणात यावद्बिंदुः
स्थिरोदेहे तावत्कालभयंकुतः ८५ चित्तायत्तंनृणांशुक्रं शुक्रायत्तंतु जीवितं तस्मा
च्छुक्रंमनश्चैव रक्षणीयंप्रयत्नतः ८६ ऋतुमत्यारजोप्येवं निजंबिंदुंचरक्षयेत मे
ढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवान ८७ अयंयोगः पुण्यवतांधीमतांतत्वदर्शि
नां निर्मत्सराणांसिद्ध्येतनतुमत्सरशालिनां ८८ सहजस्यामरोलिश्च वज्रोल्याएव
भेदतः जलेसुभस्मनिक्षिप्य दग्धगोमयसंभवं वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांग
लेपनं ८९ आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात सहजोलीरियंप्रोक्तासेव्य

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

९ हायवि: स्नातयोः स्वधारं लिखेक्यते शीतलमध्य ४

ते योगिभिः सदा ९० पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् यदि नारी रजो रक्षेत
वज्रोल्यासेह्योगिनी ९१ तस्मात्किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः स बिंदुस्तद्र
जश्चैव एकीभूय स्वदेहजौ ९२ वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिः प्रजायते ९३ वि
तोल्यगात्वात्प्रथमांचधारंभापा सिद्धे: खंडमतैः समर्थैः ९४ केशनाकुंचनाहुंईज
साऽपि हि योगिनी ॥ अतीतानागतं धत्ते खेचरी च प्रजायते ९५ देहसिद्धिं च लभते वज्रो
ल्याभ्यासयोगतः ॥ अयं पुण्यकरो योगी भोगी भुक्तिमुक्तिभिः ९६ तस्मात्सुरायवक्ताम
व ॥ऽयं योगः प्रसिद्धति ९७ ॥ अथ शक्तिचालनं कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्ति
रीश्वरी कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ९८ उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिक
या हठात कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत ९९ येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्था
नं निरामयं मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी १०० कंदोर्ध्वं कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षा

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

यद्योगिनां बंधनाय ज्ञमूढानां पस्तां वेत्ति सयोगवित् १ ऊर्ध्वो ध्विसेलद्वीपानां आधारः क्षे
त्र कुंडली शुभैर्वयोगतेत्रासौ आधारः कुंडली तथा गश्चैर्वयोगे २ कुंडली कुटिलाकारा
सर्पवत्परिकीर्तिता साशक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ३ गंगायमुनयोर्मध्ये
बालरंडां तपस्विनीं बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदं ४ इडा भगवती गंगा पिं
गला यमुना नदी तन्मध्ये बालरंडा च कुंडलीति विंगलोऽयोः ५ पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्ताम्
उद्बोधयेच्च तां निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ६ पत्रिस्थिया वेष्टनकारणावलीसा
प्रातःसायं प्रहरार्द्धमात्रं प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ७
ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारश्चतुरंगुलं मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ८
वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुंडलीं कुर्यादनंतरं भस्त्रीं कुंडलीमाशु बोधयेत्
९ भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः १०

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ह.यो.
१६

16

नासादृष्टिलमार्गेणाहिपवनाभ्यासतो निर्दिष्टौ रतमं कुंभः पतिपूरितामृतलतुः प्राणेहि
कायास्तथा छिंद्रं वालविशालवर्त्मचिरभगमार्गं धूर्तधुनातिगमनं तं कायं पुष्टिं तेज
नेयतं हंजीर्णं तं दुग्धं स्वच्छं तत १० कुंडली बोलयित्वा थपुष्ट वा कुष्ठ्योविशेषतः एवमभ्यासतो
नित्यं यमिनः शंकुते पमः ११ तदभ्यासेन सर्पेण मुक्ता यौ बापि शीतली एवमभ्यास
युक्तस्य युवमस्य यमिनः कुतः १२ गुहस्ते वयपर्पेतं निर्मदम्बलनाडसो उर्ध्वमारुह्यते
किंचित्सुषुम्नापासमुद्धतः तेन कुंडलिनी सत्स्यात्सुषुम्नायाः समुद्धतः रुपाश्रितस्मात्सा
लोत्वं सुषुम्नापाप्ननिस्पृशः तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुषुम्नापामरुंधती यत्नात्संचाल
येदाश्च योगी रोगात्प्रमुच्यते येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनं किमत्र बहुने
नोक्तेन कालं जयति लीलया ब्रह्मचर्यप्रतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः १३ मंडलाद्दृश्यते
सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगतः आभ्यासं विप्रस्तु तं कोटिविधस्यास्य हमिस्त्रयेत १४ तदारांतं बोल

१६

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

मंगेदिव्यदृष्टिप्रदायकं द्विसप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यासनादृते १५ इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी १६ राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते १७ मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा १८ खिलापि मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनां आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् १९ उदासनविनिद्राणां राजयोगः समुद्गाः स्मृतानि समस्तेषु सा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति २० उपदेशो हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकः स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः २१ तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः अणिमादिगुणोपेतं जायते कालवंचनात् २२ इति सहजानन्दसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं
नाडीविशुद्धिर्हठसिद्धिलक्षणम् ७८
इति हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः

तृतीयोपदेशः

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली १
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च २
प्राणस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ३
सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ४
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ५
महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालंधराभिधः ६
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ७
आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ८
गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ९
अथ महामुद्रा
पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम्
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् १०
कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः

यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ११
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया १२
ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता १३
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः १४
चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत्
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् १५
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति १६
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् १७
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् १८
अथ महाबन्धः
पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा १९
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम्
निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् २०
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् २१
मतमत्र तु केषांचित्कण्ठबन्धं विवर्जयेत्
राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धः शस्तो भवेदिति २२
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः २३
कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः २४
रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ २५
अथ महावेधः
महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया २६
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः २७
सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् २८
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः २९
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ३०
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ३१
अथ खेचरी
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ३२
छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेणाथ वर्धयेत्तावत्
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ३३
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ३४
ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ३५
एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत्
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ३६
कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ३७
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति

विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ३८
न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ३९
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ४०
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ४१
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च ४२
चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डलम्
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ४३
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ४४
नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ४५
इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ४६
गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्
कुलीनं तमहं मन्य इतरे कुलघातकाः ४७
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ४८
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ४९
चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ५०
मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठाद्
ऊर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन्

उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेन्
निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ५१
यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमधो नान्यथा कायसिद्धिः ५२
सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम्
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्शून्ये निरञ्जने ५३
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ५४
अथोड्डीयानबन्धः
बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ५५
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ५६
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ५७
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ५८
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ५९
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डीयानकः
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ६०
अथ मूलबन्धः
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ६१
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ६२
गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात्

वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ६३
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ६४
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ६५
अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्
तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाहता ६६
ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ६७
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ६८
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ६९
अथ जालंधरबन्धः
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ७०
बध्नाति हि सिराजालमधोगामि नभोजलम्
ततो जालंधरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ७१
जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ७२
कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद्दृढम्
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ७३
मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत्
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ७४
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ७५
बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम्
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ७६
यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः

तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ७७
अथ विपरीतकरणी मुद्रा
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम्
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ७८
ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ७९
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ८०
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ८१
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ८२
अथ वज्रोली
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ८३
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ८४
मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत्
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ८५
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ८६
नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ८७
एवं संरक्षयेद्बिन्दुं जयति योगवित्
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ८८
सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ८९
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्

तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ९०
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं निजं बिन्दुं च रक्षयेत्
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ९१
अथ सहजोलिः
सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ९२
वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वङ्गलेपनम्
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ९३
सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ९४
अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम्
निर्मत्सराणां वै सिध्येन्न तु मत्सरशालिनाम् ९५
अथामरोली
पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम्
निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली ९६
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यक्सामरोलीति कथ्यते ९७
अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत्
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ९८
पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात्
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ९९
तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति १००
स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः १०१
रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् १०२

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः १०३
अथ शक्तिचालनम्
कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः १०४
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् १०५
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्
मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी १०६
कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् १०७
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः १०८
गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् १०९
इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ११०
पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम्
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् १११
अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या
प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ११२
ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम्
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ११३
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम्
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ११४
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम्
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ११५

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुरडलीं चालयेत्ततः
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ११६
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ११७
तेन कुरडलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम्
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ११८
तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम्
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ११९
येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया १२०
ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः
मरडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुरडल्यभ्यासयोगिनः १२१
कुरडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः
एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः १२२
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने
कुतः प्रक्षालनोपायः कुरडल्यभ्यसनादृते १२३
इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम्
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् १२४
अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना
रुद्राणी वा परा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति १२५
राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते १२६
मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा १२७
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी १२८
उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम्
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः १२९
तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः

अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम् १३०
इति हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः

चतुर्थोपदेशः

नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने
निरञ्जनपदं याति नित्यं तत्र परायणः १
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम्
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम् २
राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ३
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ४
सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ५
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ६
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ७
राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ८
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ९
विविधैरासनैः कुम्भैर्विचित्रैः करणैरपि
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते १०
उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ११
सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् १२
अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः

प्राणरोधांतेकुर्याच्चित्तंनिराश्रयं। एवमभ्यासयोगेनरा
जयोगपदंव्रजेत्॥७४॥ कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबो
धतोभवेत्। अनर्गलासुषुम्नाचहठसिद्धिश्चजायते।
७५ वपुःकृशत्वंवदनेप्रसन्नतानादस्फुटत्वंनयनेसु
निर्मले। आरोग्यताबिंदुजयोग्निदीपनंनाडीविशुद्धिर्ह
सिद्धि
ठयोगलक्षणं॥७६ इतिसहजानंदसंतानचिंतामणि
स्वात्मारामविरचितायांहठप्रदीपिकायांद्वितीयोपदे

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.प्र.

२०

यदाजागर्तिकुंडली।

श्रा:॥ ॥सशैलवनधात्रीणांयथाधारोऽहिनायकः॥स
र्वेषांयोगतंत्राणांतथाधारोहिकुंडली॥१सुप्तागुरु
प्रसादेनबोधितासुखदान्नवेत।तथासर्वाणिपद्मानि
भिद्यंतेग्रंथयोऽपि॥२प्राणस्यशून्यपदवीतथाराज
पथायते।तथाचित्तंनिरालंबंतथाकालस्यवंचनं॥
३शून्यपदवीतिकिं॥सुषुम्नाशून्यपदवीब्रह्मरंध्रं
महापथः।श्मशानंशांभवीमध्यमार्गश्चेत्येकवाचकं।

२०

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

संसमाचरेत्

॥४ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीं। ब्रह्मद्वा
रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासें न बोधये तां ॥५ महामुद्राम
हाबंधो महावेधश्च खेचरी। उड्डीयाणं मूलबंधो
बंधो जालंधरो भिधः ॥६ करणी विपरीताख्या वज्रो
लीशक्तिचालनं। एतद्धि मुद्रादशकं जरामरणनाश
नं ॥७ आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं। वल्ल
भं सर्वसिद्धानां डुर्लभं मरुतामपि। गोपनीयं प्रयत्ने

ड्रि

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

वज्रोलिरमरोलिश्च सहजोलिस्त्रिधा मतः। एतेषां लक्षणं वक्ष्ये कर्तव्यं च विशेषतः।८

नयथा रत्नकरंडकं। कस्यापि विवृणे व वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं
यथा॥९॥ अथ महामुद्रा॥ पादमूलेन वामेन योनिं संपी
ड्य दक्षिणं। पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखं॥१०॥

कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः। यथा दंड हतः
सर्पो दंडाकारः प्रजायते॥११॥ ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुं

यदी सा स्था जायते
डली सहसा भवेत् तातथा सौ मरणावस्था हरते द्विपु
श्रि ती
टाश्रया॥१२॥ न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वे पि नीर

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नतु वेगतः। इदं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता।१२

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

सा: । अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥१३॥ चं
द्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे तु समभ्यसेत् । यावत्तुल्या
भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१४॥ क्षय । कुष्ठगुदा
वर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः । तस्य दोषक्षयं यान्ति महामु
द्रां च योऽभ्यसेत् ॥१५॥ कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविना
शनी । गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥१६॥
अथ महाबंधः ॥ पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हृ.व.

२२

जयेत्॥ वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥ ११ ॥ पूरयित्वा
मुखे वायुं हृदये चिबुकं दृढं। निःपीड्य योनिमाकुंच्य मनो
मध्ये नियोजयेत्॥ १२ ॥ रेखचयेद्बन्ना नैव महाबंधोयमुच्य
ते। अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः॥ १३ ॥ काल
पाशमहाबंधो विमोचनविचक्षणः। अयं तु सर्वनाडीनां
मूर्द्धगमनबोधकः॥ १४ ॥ त्रिवेणी संगमं धत्ते केदारं प्रापये
न्मनः॥ अथ महावेधः॥ रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरु

२२

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

एवं विना महामुद्रां महाबंधो निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥२१॥
महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः । वायूनां गति
मावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥२२॥ समहस्तयुगो भूमौ ।
स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥ पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फु
रति मध्यगः ॥२३॥ सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृ
ताय वै । मृतावस्था समुत्पन्ना ततो मृत्युभयं कुतः ॥२४॥
महावेधोयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः । वली

तस्मात्सर्वप्रय
त्नेन महावेधं स
मभ्यसेत्

पलितवैवर्ज्जः । सेव्यते माघको ऽन्नमैः ॥२५ एतद्द्वयं महापुण्यं जन्म
मृत्युविनाशनं । वह्निवृद्धिकरं चैव अणिमादिगुणप्रदं ॥२६
अपथ्यं क्रियते चैव यथा मे पापे दिने दिने । पुण्यैः प्रनावसं
[illegible] मा विपापो यांति पुरं सदा ॥२७ सम्यक् कृशिष्याव नामे
वेस्वल्पं प्रथमं प्राथनं । वह्निमुद्दीपयेद्वानामादौ वर्ज
नमाचरेत् ॥२८ अथ खेचरी ॥ छेदनचालनदोहैः कलां
क्रमेण वर्द्धयेत्तावत् । यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरी

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलं। समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ ११ आदौ सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्। पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ १२ एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत्। षण्मासाद्रसनामूले शिराबन्धः प्रणश्यति॥ १३। १४

हस्तीतको

रीसिद्धिः॥ ३१ कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ ३२ कलां पराङ्मु
खीं कृत्वा त्रिपथे परिवर्तयेत् सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योम
चक्रं तदुच्यते॥ ३३॥ रसनामूर्द्धगां कृत्वा क्षणार्द्धमपि
तिष्ठति। विषैर्मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः॥
३४ न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा॥ न च मूर्च्छा भ
वेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं ३५ पीड्यते न स रोगेण न च लि

क्षणार्द्धमपि ति
ष्ठति। क्षणेन मु
च्यते सो जीव्या
मृत्युजरादिभिः।
कलां पराङ्मुखीं
कृत्वा ५

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह० ।

२४

प्यन्तिकर्मणा। बाध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेच
री॥ २४ चित्तं चरति खे यस्मात् जिह्वा चरति खे गता। ते
नैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्नमस्कृता॥ २५ खेचर्या मुद्रि
तो यस्तु विवरं लंबिकोर्द्ध्वतः। न तस्य नश्यते बिंदुः कामि
न्याश्लेषितस्य वा॥ २६ चलितोपि यदा बिंदुः संप्राप्तो यो
निमंडलं। व्रजत्यूर्द्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया॥ २७
कपालकुहरे जिह्वा कालसंहारमुद्रया॥ २८ ऊर्द्ध्वजि

पाताले यद्धि तन्य सुषिरं मेरुमूले तु दक्षिणे सत्वं चेतन्य वदति सुधी सत्कु खं विमल गानं। वंद्राद्यसारं स्रव
ति न पुष्णो देषमस्तुर्नराणां [illegible]

२४ प्रभ्ना

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

क्षेस्थितौ[रो] नूर्ध्वा सोमपानं करोति यः। मासार्द्धेन न संदेहो
मृत्युं जयति योगवित्॥३९॥ नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं
यस्य योगिनः। तक्षकेनापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति॥
४०॥ इंधनानि यथा वह्निः तैलवर्त्तिं च दीपकः। तथा
षोडशा[सोम]कलापूर्णो देही देहं न मुंचति॥४१॥ गोमांसं भक्ष
येन्नित्यं पिबेदमरवारुणीं। कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कु
लघातकाः॥४२॥ गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

तालुनिगोमांसभक्षणंत्वैतत्महापातकनाशनं॥४३
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितःखलुचांद्रात्
स्रवतियःसारःस्यात्सादमरवारुणी॥४४॥मूर्द्धःषो
डशापद्मपत्रगलितंप्राणादवाप्तंहठादूर्द्ध्वास्योरस
नांनियम्यविवरेशक्तिंपरांचिंतयेत्(यन्)उत्कल्लोलक
लाजलंचविमलंधारामयंयःपिबेन्निर्दोषःसमृणा
लकोमलवपुर्योगीचिरंजीवति॥४५॥चुंबंतीयदिलं

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

बिकाग्रमनिशं जिह्वास्रवे स्पंदिनी सा ताराकट्टुतिक्तदु
ग्धघृतदध्याज्यतुल्या तथा। व्याधीनां हरणं जरांत
करणं शास्त्रागमोदीरणं तस्य स्याद मरत्वमष्टगुणि
तं सिद्धांगनाकर्षणं ॥४६ एकं सृष्टिमयं बीजं एका मु
द्रा च खेचरी। एको देवो निरालंबा एकावस्था मनो
न्मनी॥४७ अथ मूलबंधः॥ पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनि
माकुंचयेद्गुदं। अपानमूर्द्ध्वमाकृष्य मूलबंधोयमुच्यते।

सुषिरं स्थानजनकं पंचस्रोतः समन्वितं। तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन्शून्ये निरंजनः।१। मत्स्यान्स्वेयम [illegible] हितमसुषिरं मेरुमूर्ध्नास्थितं [illegible] नां चे द्रा स्रावः स्रवंति वपु षस्ते नम्र तु र्नरा णां तं वच्मीया [illegible] रलमणीनां न्याया कार्यसिद्धिः।२।

रंध्रा १ विं [illegible] सुषुम्णा ३ जिह्वा स्तंभ ४ बिंदु ५

तालु रं[illegible]

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह०

२६

॥४८॥ अधोगतमपानंवैऊर्द्धगंकुरुतेहठात्॥ आकुंच
नेनतंप्राहुर्मूलबंधंहियोगिनः॥४९॥ गुदंपार्ष्णीतुसंपी
ड्यवायुमाकुंचयेद्बलात्॥ वारंवारंयथाचोर्द्धंसमाया
तिसमीरणः॥५०॥ प्राणापानौनादबिंदूमूलबंधेनचैक
तां॥ गत्वायोगस्यसंसिद्धिंयच्छतोनात्रसंशयः॥५१॥
अपानप्राणयोरैक्यंक्षयोमूत्रपुरीषयोः॥ युवाभवति
वृद्धोपिसततंमूलबंधनात्॥५२॥ अपानेचोर्द्धगेजाते

२६

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

संप्राप्तो वह्निमंडलं। तथानलशिखा दीर्घा वर्द्धते वायु
नाहता॥५३ ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूप
कं। तेनात्यंतप्रदीप्तो सौ ज्वलनो देहजस्तथा॥५४ तेन
कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते। दंडाहता भुजंगी
व निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥५५ बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्म
नाड्यांतरं व्रजेत्। तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगि
भिः सदा॥५६ अथ उड्डियानबंधः॥ बद्धो येन सुषुम्नायां

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.प्र.

प्राणोस्तुड्डीय[illegible]तेयतः। तस्मादुड्डीयाणाख्योयंयोगिभिः

समुदाहृतः ॥५७ उड्डीयाणं तदेवस्या कुरुते यस्माद्धवि

श्रांतो महाखगः। उड्डीयाणं तदेवस्यात् तत्र बंधोभि

धीयते ॥५८ उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्द्ध्वं तु कारयेत्। उ

ड्डीयाणो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥५९ उड्डीया

णं तु सहजं गुरुणा कथितं तथा। अभ्यसेदस्वतंत्रस्तु वृ

द्धोपि तरुणो भवेत् ॥६० नाभेरूर्द्ध्वमधश्चापि ताणं कु

२१

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

योभ्यसेत्सततं षण्मासान्मृत्युंजयत्येव न संशयः

६१ सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढं। गुल्फदेशस

मीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत्॥६२ पश्चिमं तानमुदरे कार

येच्च हृदये गले। शनैः शनैर्यथा प्राणस्तुंदसंधिं निगृह्णाति

६३ सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डीयाणकः। उड्डीया

णे दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्॥६४ अथ जालंधर

बंधः॥ कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया। बंधो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हठ.

जरामरणविनाशनः

ज्वालां खराख्यायं अमृताख्यय कारकः ॥ ८५ बध्नाति हि शि

रो ज्वालं अधो याति न स्रो जले । न तो ज्वालौं क्षरो बंधः कंठ ङः

रवो घनाशनः ॥ ८६ ज्वालौ खरे रूत बंधे कं ग संकोचलं स्रो

ता न पियूषं पततग्नो न वृवायुः प्रधावति ॥ ८७ कंठसं

कोचनेनैव वद्धनाड्यो स्तंभितेंद्रवे । मध्यबंधमिदं ज्ञेयं

षोडशाधारबंधनं ॥ ८८ बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैर्नि

षेवितं सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ८९ ॥

२८

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

अधस्तात्कुंचनेनैव कंठसंकोचने कृते। मध्यपश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः। ब्रह्मस्था
नस्थितो रोधः प्रयाति पवनो लयं।

कुं च

मूलस्थानं समाकुंष्य उड्डियाणं तु कारयेत्। इडां च पिंग
लां बध्वा वाहयेत्पश्चिमं पथं॥७० अनेनैव विधानेन स
वयेत्पवना लयं। ततो न जायते मृत्युः जरारोगादिकं
तथा॥७१ अथ विपरीतकरणी॥ यत्किंचित्स्रवते चं
द्रादमृतं दिव्यरूपिणं। तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडं
जरा
विनाशितं॥७२ तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंच
नं। गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः॥७३

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हठ॰

नाभिरधस्तालुऊर्द्ध्वंभानुरधः शशी। करणी विपरीताख्या
गुरुवाक्येन लभ्यते॥७४ करणी विपरीताख्या सर्वव्या
धिविनाशिनी॥ नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निवि
वर्द्धनी॥७५ आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य
तु। अल्पाहारो यदि भवेत् अग्निर्दहति तत्क्षणात्॥७६
अधः शिरश्चोर्ध्वपादं क्षणं स्यात्प्रथमे दिने। क्षणाद्धि किं
चिदधिकं अभ्यसेच्च दिने दिने॥७७ वलितं पलितं चैव

२९

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

तु

ष्ण्मासादूर्द्ध्वं न न स्पलितायाममात्रं यो नित्यमभ्यसेत्स तु का

लजित्॥ ८८ अथ वज्रोली॥ स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि योगो

क्तैर्नियमैर्विना॥ वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धि

मो सु मात

भाजनं॥ ८९ तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्॥

क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्त्तिनी॥ ९० मेहनेन श

नैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत्॥ पुरुषो वापि नारी वा व

ज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात्॥ ९१ नार्यां भगे पतद्बिंदुमभ्यासेनो

र्ध्व तः शिरोनालेन फूत्कारं कंबुकं धरेत् शनैः स कुर्वीत वायुसंचारकारकात्॥ ९२

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.व. ईर्द्धमाहरेत। वज्रोलि तंतु स्वकं बिंदुमूर्द्धमाकृष्य रक्षयेत ॥८२

एवं नु रक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवात्। मरणं बिंदुपा

तेन जीवितं बिंदुधारणात ॥८३ सुगंधो योगिनो देहो जा

३० यते बिंदुधारणात। यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं ३०

कुतः ॥८४ मलायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं तु जीवितं।

तस्मात् शुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥८५ ऋतुमत्या

जो रजोप्येवं बीजं बिंदुं च रक्षयेत। मेंढ्रेणाकर्षयेदूर्द्धं सम्य

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

गाभ्यासयोगावाप्नुया॥७॥ अयं योगः पुण्यवतां धन्यानां तत्त्व
दर्शिनां॥ निर्मत्सराणां वै सिद्ध्येत न तु मत्सरशालिनां॥
॥८॥ सहजश्चामरोलिश्च वज्रोल्या एव भेदतः॥ वज्रोली
मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगालेपनं॥८८॥ आसीनयोः सु
खेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात्॥ सहजोलिरियं प्रोक्ता
सेव्यते योगिभिः सदा॥८९॥ पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्या
सपाटवात्॥ यदि नारी रजो रक्षेत् वज्रोल्या सह योगिनी॥

जले सुभस्म नि
क्षिप्य दग्धगो
मयसंभवं।

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हू.ब.

रेण तस्मात्किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः॥ स बिंदुस्त
द्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ॥८२ वज्रोल्यभ्यासयोगे
न सर्वसिद्धिं प्रजायते॥८३ पित्तोल्बणत्वात्प्रथमांबुधा
रां विहाय निःसारतयांत्यधारां निषेव्यते शीतलमध्यधा
रां कापालिकैः खंडमतैः समेयैः॥८४ ये हि नौ कुंचनौ हृ
रजसापि हि योगिनी॥ अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च प्रजा
यते॥८५ देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः॥ अयं

३१

३१

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

शुभंकरोयोगीजोगीमुक्तिमुक्तिसि:॥९६ तस्मात्पुण्यवता
मेवमयंयोगः प्रसिद्ध्यति॥९७ अथशक्तिचालनं॥ कुटि
लांगीकुंडलिनीभुजंगीशक्तिरीश्वरी॥ कुंडल्यरुंधती
देवीशब्दाः पर्यायवाचकाः॥९८ उद्घाटयेत्कपाटंतुयथा
कुंचिकयाहठात्॥ कुंडलिन्यातथायोगीमोक्षद्वारंप्र
मयंविभेदयेत्॥९९ येनमार्गेणगंतव्यंब्रह्मस्थानंनिरा
मयं॥ मुखेनाच्छाद्यतद्वारंप्रसुप्तापरमेश्वरी॥१००॥ कंदो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.यो.

ईकुंडलीशक्तिर्बुद्धामोक्षाययोगिनां। बंधनायचमूढा नांयस्तांवेत्तिसयोगवित्॥१ अंभोधिशैलद्वीपानांआ धारःशेषकुंडली। अशेषयोगतंत्राणांआधारःकुंड लीतथा॥२ कुंडलीकुटिलाकारासर्पवत्परिकीर्त्ति ता। साशक्तिश्चालितायेनसमुक्तोनात्रसंशयः॥३ गं गायमुनयोर्मध्येबालरंडांतपस्विनीं। बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोःपरमंपदं॥४ पुच्छेप्रगृह्यभुजंगींसु

इडाभगवतीगंगापिंगलायमुनानदीतन्मध्येबालरंडाचकुंडलीपिंगलेडयोः।

३२

३२

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

माशुबोधयेदग्निः। निद्रां विहाय साकुञ्ची ऊर्ध्वमुत्तिष्ठ
ते हठात्॥ परिस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सा
यं प्रहरार्द्धमात्रं। प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य
नित्यं परिचालनीया॥६॥ वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे
चतुरंगुलं। मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनांबरलक्षणं॥७॥
वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुंडलीं। कुर्यादनं
तरं तु भस्त्रीं कुंडलीमाशु बोधयेत्॥८॥ भानोराकुंचनं कु

ह० ३३

र्यात्तु कुंडलीं चालयेत्ततः। मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृ
त्युभयं कुतः॥८॥ नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणो
ऽतिदीर्घीकृतश्चंद्रांभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिका
याः स्थितः॥ छिंदन्कालविशालवह्निवशगान्भ्रूरंध्रना
डीगणान्। तं कार्यं कुरुते पुनर्भवतरं जीर्णे द्रुमस्कंधव
त्॥१०॥ कुंडलीचालयित्वाथ कुर्याद्भस्त्रीं विशेषतः।
एवमभ्यासतो नित्यं यामिनः शंकते यमः॥११॥ तदाभ्यासे

३३ छिन्न

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

तुर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्णायाः समुद्धृतः । तेन कुंडलिनी नलस्या(?)त्सुषुम्णायाः समुद्धृतः । न याति तत्सुषुम्णायां ... नित्यशः । तस्मात्सर्वात्कथं (?) ... सुषुम्णाया जरं (?) ... ।

सूर्यं जेदं मुक्त्वा पीत्वा पिबती तलीं । एवमभ्यासयुक्तस्य
स्य भस्म यामिनः कुतः ॥२२॥ मुहूर्त्त द्वयपर्यंतं निर्भय
[illegible] ल नादसौ । ब्रह्मचर्यव्रतस्थैव नित्यं
हितमितभाषिणः ॥२३॥ मंडला द्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्याभ्यास
योगतः । अभ्यासे विंदुतेवांगी विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
॥२४॥ तद्धारणं वा तमांगो दिव्यदृष्टिप्रदायकं । द्विसप्तति
सहस्राणां नाडीनां मलशोधनं । कुंतः प्रक्षालनोपायः

यस्तां संचा
लयेदाभु योगी
रोगान्मुच्यते
येन संचालि
तात्किः स योगी
सिद्धिभाजनं ।
किमत्र बहुनो
क्तेन कालं जय
ति [illegible] या

हठ॰

३५

कुंडल्यभ्यासनाहता ॥१५॥ इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिना
थेन शंभुना । एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायनी ।
॥१६॥ राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा । राजयो
गं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते ॥१७॥ मारुतस्य विधिं
सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ॥ इतरत्र न कर्तव्या मनोवृ
त्तिर्मनीषिणा ॥१८॥ रिविलीपि मध्यमानाडी हठाभ्यासे
न योगिनां । आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला न वे

३५

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

लाः॥ २९ उपाश्मलविनिद्राणां राजयोगः समुद्रगः। रुद्राणी
सा परा मुद्रा मद्रां सिद्धिं प्रयच्छति॥ ३० उपदेष्टा हि मुद्रा
णां योगदस्तेषां प्रदायकः। स एव वस्तुगुरुः स्वामी साक्षा
दीश्वर एव सः॥ ३१ तस्य वाक्यापरोक्षत्वायो ऽभ्यस्यति
समाहितः। अणिमादिगुणैश्वर्यं जायते कालवं च मात
३२ इति सहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्माराम
विरचितायां हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः॥ ॥

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

कुम्भके केवले सिद्धे रेच-पूरक-वर्जिते ॥ ७३॥

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शक्तः केवल-कुम्भेन यथेष्टं वायु-धारणात् ॥ ७४॥

राज-योग-पदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुम्भकात्कुण्डली-बोधः कुण्डली-बोधतो भवेत् ।
अनर्गला सुषुम्णा च हठ-सिद्धिश्च जायते ॥ ७५॥

हठं विना राजयोगो राज-योगं विना हठः ।
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ ७६॥

कुम्भक-प्राण-रोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यास-योगेन राज-योग-पदं व्रजेत् ॥ ७७॥

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता
नाद-स्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता बिन्दु-जयोऽग्नि-दीपनं
नाडी-विशुद्धिर्हठ-सिद्धि-लक्षणम् ॥ ७८॥

इति हठ-प्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ।

॥ ३॥ तृतीयोपदेशः

स-शैल-वन-धात्रीणां यथाधारोऽहि-नायकः ।
सर्वेषां योग-तन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥ १॥

सुप्ता गुरु-प्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥ २॥

प्राणस्य शून्य-पदवी तदा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥ ३॥

सुषुम्णा शून्य-पदवी ब्रह्म-रन्ध्रः महापथः ।
श्मशानं शाम्भवी मध्य-मार्गश्चेत्येक-वाचकाः ॥ ४॥

तस्मात्सर्व-प्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्म-द्वार-मुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्डीयानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ॥ ६॥

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्ति-चालनम् ।
इदं हि मुद्रा-दशकं जरा-मरण-नाशनम् ॥ ७॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्य-प्रदायकम् ।
वल्लभं सर्व-सिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्न-करण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुल-स्त्री-सुरतं यथा ॥ ९॥

अथ महा-मुद्रा
पाद-मूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणाम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १०॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्ड-हतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ ११॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महा-मुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ १३॥

इयं खलु महामुद्रा महा-सिद्धैः प्रदर्शिता ।
महा-क्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ।
महा-मुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ १४॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्-तुल्या भवेत्सङ्ख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ १६॥

क्षय-कुष्ठ-गुदावर्त-गुल्माजीर्ण-पुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७॥

कथितेयं महामुद्रा महा-सिद्धि-करा नृणाम् ।

गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ १८॥

अथ महा-बन्धः
पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनि-स्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ।
निष्पीड्यं वायुमाकुञ्च्य मनो-मध्ये नियोजयेत् ॥ २०॥

धारयित्वा यथा-शक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥ २१॥

मतमत्र तु केषांचित्कण्ठ-बन्धं विवर्जयेत् ।
राज-दन्त-स्थ-जिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥ २२॥

अयं तु सर्व-नाडीनामूर्ध्वं गति-निरोधकः ।
अयं खलु महा-बन्धो महा-सिद्धि-प्रदायकः ॥ २३॥

काल-पाश-महा-बन्ध-विमोचन-विचक्षणः ।
त्रिवेणी-सङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४॥

रूप-लावण्य-सम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महा-मुद्रा-महा-बन्धौ निष्फलौ वेध-वर्जितौ ॥ २५॥

अथ महा-वेधः
महा-बन्ध-स्थितो योगी कृत्वा पूरकमेक-धीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठ-मुद्रया ॥ २६॥

सम-हस्त-युगो भूमौ स्फिचौ सनाडयेच्छनैः ।
पुट-द्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७॥

सोम-सूर्याग्नि-सम्बन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८॥

महा-वेधोऽयमभ्यासान्महा-सिद्धि-प्रदायकः ।
वली-पलित-वेप-घ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९॥

एतत्त्रयं महा-गुह्यं जरा-मृत्यु-विनाशनम् ।
वह्नि-वृद्धि-करं चैव ह्यणिमादि-गुण-प्रदम् ॥ ३०॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्य-सम्भार-सन्धाय पापौघ-भिदुरं सदा ।
सम्यक्-शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथम-साधनम् ॥ ३१॥

अथ खेचरी
कपाल-कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२॥

छेदन-चालन-दोहैः कलां क्रमेणाथ वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद्भ्रू-मध्यं स्पृशति तदा खेचरी-सिद्धिः ॥ ३३॥

स्नुही-पत्र-निभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्ध-निर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोम-मात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४॥

ततः सैन्धव-पथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्त-दिने प्राप्ते रोम-मात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५॥

एवं क्रमेण षण्-मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसना-मूल-शिरा-बन्धः प्रणश्यति ॥ ३६॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योम-चक्रं तदुच्यते ॥ ३७॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधि-मृत्यु-जरादिभिः ॥ ३८॥

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ३९॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ४०॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥ ४२॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनि-मण्डलम् ।

व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनि-मुद्रया ॥ ४३॥

ऊर्ध्व-जिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४॥

नित्यं सोम-कला-पूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैल-वर्ति च दीपकः ।
तथा सोम-कला-पूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ४६॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमर-वारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुल-घातकाः ॥ ४७॥

गो-शब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गो-मांस-भक्षणं तत्तु महा-पातक-नाशनम् ॥ ४८॥

जिह्वा-प्रवेश-सम्भूत-वह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमर-वारुणी ॥ ४९॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा-रस-स्यन्दिनी
स-क्षारा कटुकाम्ल-दुग्ध-सदृशी मध्वाज्य-तुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्त-करणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्ट-गुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥ ५०॥

मूर्ध्नः षोडश-पत्र-पद्म-गलितं प्राणादवाप्तं हठाद्
ऊर्द्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।
उत्कल्लोल-कला-जलं च विमलं धारामयं यः पिबेन्
निर्व्याधिः स मृणाल-कोमल-वपुर्योगी चिरं जीवति ॥ ५१॥

यत्प्रालेयं प्रहित-सुषिरं मेरु-मूर्धान्तर-स्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्-मुखं निम्नगानाम् ।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमधो नान्यथा काय-सिद्धिः ॥ ५२॥

सुषिरं ज्ञान-जनकं पञ्च-स्रोतः-समन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्शून्ये निरञ्जने ॥ ५३॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥ ५४॥

अथ उड्डीयान-बन्धः
बद्धो येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महा-खगः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तव बन्धोऽभिधीयते ॥ ५६॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्यु-मातङ्ग-केसरी ॥ ५७॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९॥

सर्वेषामेव बन्धानां उत्तमो ह्युड्डीयानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६०॥

अथ मूल-बन्धः
पार्ष्णि-भागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूल-बन्धोऽभिधीयते ॥ ६१॥

अधो-गतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूल-बन्धं हि योगिनः ॥ ६२॥

गुदं पाष्र्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३॥

प्राणापानौ नाद-बिन्दू मूल-बन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ ६४॥

अपान-प्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्र-पुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूल-बन्धनात् ॥ ६५॥

अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्नि-मण्डलम् ।

तदानल-शिखा दीर्घा जायते वायुनाहता ॥ ६६॥

ततो यातो वह्न्य्-अपानौ प्राणमुष्ण-स्वरूपकम् ।
तेनात्यन्त-प्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८॥

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्म-नाड्यं तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूल-बन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ६९॥

अथ जलन्धर-बन्धः
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरा-मृत्यु-विनाशकः ॥ ७०॥

बध्नाति हि सिराजालमधो-गामि नभो-जलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठ-दुःखौघ-नाशनः ॥ ७१॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठ-संकोच-लक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२॥

कण्ठ-संकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद्दृढम् ।
मध्य-चक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधार-बन्धनम् ॥ ७३॥

मूल-स्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत् ।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ७४॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरा-रोगादिकं तथा ॥ ७५॥

बन्ध-त्रयमिदं श्रेष्ठं महा-सिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठ-तन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६॥

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्य-रूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ७७॥

अथ विपरीत-करणी मुद्रा
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुख-वञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थ-कोटिभिः ॥ ७८॥

ऊर्ध्व-नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताखा गुरु-वाक्येन लभ्यते ॥ ७९॥

नित्यमभ्यास-युक्तस्य जठराग्नि-विवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ॥ ८०॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्-क्षणात् ।
अधः-शिराश्चोर्ध्व-पादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ८१॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याम-मात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ८२॥

अथ वज्रोली
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धि-भाजनम् ॥ ८३॥

तत्र वस्तु-द्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वश-वर्तिनी ॥ ८४॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोली-सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५॥

यत्नतः शस्त-नालेन फूत्कारं वज्र-कन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायु-संचार-कारणात् ॥ ८६॥

नारी-भगे पदद्-बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७॥

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दु-पातेन जीवनं बिन्दु-धारणात् ॥ ८८॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दु-धारणात् ।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्काल-भयं कुतः ॥ ८९॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९०॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं निजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।

मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यास-योग-वित् ॥ ९१॥

अथ सहजोलिः
सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्ध-गोमय-सम्भवम् ॥ ९२॥

वज्रोली-मैथुनादूर्ध्वं स्त्री-पुंसोः स्वाङ्ग-लेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्त-व्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोग-युक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ९४॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्व-दर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां वै सिध्येन्न तु मत्सर-शालिनाम् ॥ ९५॥

अथ अमरोली
पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बु-धारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम् ।
निषेव्यते शीतल-मध्य-धारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥ ९६॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यक्सामरोलीति कथ्यते ॥ ९७॥

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्य-दृष्टिः प्रजायते ॥ ९८॥

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यास-पाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ ९९॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति ॥ १००॥

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्य्-अभ्यास-योगेन सर्व-सिद्धिं प्रयच्छतः ॥ १०१॥

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ १०२॥

देह-सिद्धिं च लभते वज्रोल्य्-अभ्यास-योगतः ।
अयं पुण्य-करो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥ १०३॥

अथ शक्ति-चालनम्
कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्याय-वाचकाः ॥ १०४॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ १०५॥

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्म-स्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ १०७॥

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०८॥

गङ्गा-यमुनयोर्मध्ये बाल-रण्डां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०९॥

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
इडा-पिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥ ११०॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजङ्गीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ १११॥

अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्ध-मात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधान-युक्त्या
प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ ११२॥

ऊर्ध्वं वितस्ति-मात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बर-लक्षणम् ॥ ११३॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फ-देश-समीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ११४॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५॥

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।
मृत्यु-वक्त्र-गतस्यापि तस्य मृत्यु-भयं कुतः ॥ ११६॥

मुहूर्त-द्वय-पर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्णायां समुद्गता ॥ ११७॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ॥ ११८॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुख-सुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धि-भाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२०॥

ब्रह्मचर्य-रतस्यैव नित्यं हित-मिताशिनः ।
मण्डलाद्दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्य्-अभ्यास-योगिनः ॥ १२१॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यम-भीः कुतः ॥ १२२॥

द्वा-सप्तति-सहस्राणां नाडीनां मल-शोधने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्य्-अभ्यसनादृते ॥ १२३॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसन-प्राण-संयाम-मुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२४॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा परा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ १२५॥

राज-योगं विना पृथ्वी राज-योगं विना निशा ।
राज-योगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ १२६॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनो-युक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनो-वृत्तिर्मनीषिणा ॥ १२७॥

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।

एकैका तासु यमिनां महा-सिद्धि-प्रदायिनी ॥ १२८॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम् ।
स एव श्री-गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ १२९॥

तस्य वाक्य-परो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादि-गुणैः सार्धं लभते काल-वञ्चनम् ॥ १३०॥

इति हठ-प्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः ।

॥ ४॥ चतुर्थोपदेशः

नमः शिवाय गुरवे नाद-बिन्दु-कलात्मने ।
निरञ्जन-पदं याति नित्यं तत्र परायणः ॥ १॥

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ।
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्द-करं परम् ॥ २॥

राज-योगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ३॥

अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् ।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येक-वाचकाः ॥ ४॥

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथात्म-मनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ ५॥

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥ ६॥

तत्-समं च द्वयोरैक्यं जीवात्म-परमात्मनोः ।
प्रनष्ट-सर्व-सङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ७॥

राज-योगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरु-वाक्येन लभ्यते ॥ ८॥

दुर्लभो विषय-त्यागो दुर्लभं तत्त्व-दर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्-गुरोः करुणां विना ॥ ९॥

विविधैरासनैः कुभैर्विचित्रैः करणैरपि ।

नाराजयोगोराजयोगविनाहठः नसिद्ध्यतितनोयुग्ममानिष्पत्तेःसमभ्य
सेत् ७३ कुंभकप्राणरोधांतेकुर्याच्चित्तंनिराश्रयं एवंअभ्यासयोगेन
राजयोगपदंव्रजेत् ७४ कुंभकात्कुंडलीबोधःकुंडलीबोधतोभवेत् अनर्ग
लासुषुम्णाचहठसिद्धिश्चजायते ७५ वपुःकृशत्वंवदनेप्रसन्नतानादस्फु
टत्वंनयनेसुनिर्मले अरोगताबिंदुजयोग्निदीपनंनाडीविशुद्धिर्हठयोग
लक्षणं ७६ इतिसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामविरचितायां
हठप्रदीपिकायांद्वितीयोपदेशः सशैलवनधात्रीणांयथाधारोहि
नायकः सर्वेषांयोगतंत्राणांतथाधारोहिकुंडली १ सुप्तागुरुप्रसादे
नबोधितायदाभवेत् तदासर्वाणिपद्मानिभिद्यंतेग्रंथयस्तथा २ प्रा
णस्यशून्यपदवीतथाराजपथायते तथाचित्तंनिरालंबंतथाकालस्यवंच
नं ३ शून्यपदवीतिकिं सुषुम्णाशून्यपदवीब्रह्मरंध्रंमहापथम् श्मशानं

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकः ४ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्व
री ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासेन बोधयेत् ५ अथ दशमुद्राः महामुद्रा
महाबंधो महावेधश्च खेचरी उड्डीयानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ६ कर
णी विपरीताख्यं वज्रोली शक्तिचालनं इदं हि मुद्रादशकं जरामरणना
शनं ७ आदिनाथोदितं सर्वं महैश्वर्यप्रदायकं वल्लभं सर्वसिद्धानां
दुर्लभं मरुतामपि ८ गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकं कस्यचि
न्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ९ वज्रोलीरमरोली च सहजोली त्रि
धा मताः एतेषां लक्षणं वक्ष्ये कर्तव्यं च विशेषतः १० अथ महामुद्रा पा
दमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणं पादं प्रसारितं धृत्वा कराभ्यां पूरयेद्दृ
ढं ११ कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्द्धनि यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

प्रजायते १२ ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् तदा सा मरणा
वस्था जायते द्विपुटाश्रिता १३ ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः इदं खलु
महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता १४ महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणा
दयः महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः १५ चंद्रांगे च समभ्यस्य सूर्यां
गे पुनरभ्यसेत् यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् १६ न हि प
थ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जी
र्यति १७ क्षयकुष्टगुदावर्त्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः दोषाः सर्वे क्षयं यांति मह
मुद्रां च योभ्यसेत् १८ कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणां गोपनी
या प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् १९ अथ महाबंधः पार्ष्णिं वामस्य पा
दस्य योनिस्थाने नियोजयेत् वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा २०

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

14

पूरयित्वामुखेवायुंहृदयेचिबुकंदृढं निःपीड्ययोनिमाकुंच्यमनोमध्येनियो
जयेत् २१ धारयित्वायथाशक्तिरेचयेदनिलंशनैः सव्यांगेपूर्वमभ्यस्यदक्षां
गेपुनरभ्यसेत् २२ मतांतरेतुकेषांचित्कंठबंधंविवर्जयेत् राजदंतस्थजिह्वा
यांबंधःशस्तोभवेदिति २३ अयंखलुमहाबंधोमहासिद्धिप्रदायकः का
लपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः २४ अयंचसर्वनाडीनामूर्ध्वगमनरो
धकः त्रिवेणीसंगमंधत्तेकेदारंप्रापयेन्मनः २५ रूपलावण्यसंपन्नायथा
स्त्रीपुरुषंविना महामुद्रामहाबंधौनिःफलौवेधवर्जितौ २६ अथमहा
वेधः महावेधस्थितोयोगीकृत्वापूरकमेकधीः वायुनागतिमाकृष्यनिभृ
तंकंठमुद्रया २७ समहस्तयुगोभूमौस्फिचौसंताडयेच्छनैः पुटद्वयंसमा
क्रम्यवायुःस्फुरतिमध्यगः २८ सोमसूर्याग्निसंबंधाज्जायतेचमृ निंत्रयः

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

मृतावस्थासमुत्पन्नाततोमृत्युभयंकुतः २८ महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्र
दायकः वलिपलितनिर्मुक्तः सेव्यतेसाधकोत्तमैः ३० एतत्त्रयंमहामुद्राजरामृ
त्युविनाशिनी वह्निवृद्धिकरंचैवमणिमादिगुणप्रदं ३१ अष्टधाक्रियतेचैवया
मेयामेदिनेदिने पुण्यसंभारसंधायिपापौघभिदुरंसदा ३२ सम्यक्शिक्षाव
तामेवस्वल्पंप्रथमसाधनं वह्निस्त्रीपथसेवानामादौवर्जनमाचरेत् ३३ अ
थ खेचरी छेदनंचालनंदोहैः जिह्वांक्रमेणवर्द्धयेत् यावद्भ्रूमध्यंस्पृशतित
दाखेचरीसिद्धिः ३४ स्नुहीपत्रनिभंशस्त्रंसुतीक्ष्णंस्निग्धनिर्मलं समाद
यततस्तेनरोममात्रंसमुच्छिद्यात् कृत्वासैंधवपथ्यादिचूर्णिताभ्यांप्रघर्षयेत्
पुनः सप्तदिनेप्राप्तेरोममात्रंसमुच्छिद्यात् ३६ एवंक्रमेणषण्मासंनित्ययु
क्तःसमाचरेत षण्मासाद्रसनामूलनाडीबंधंविनश्यति ३७ अथवागीश्व

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

री धाम शिरो वस्त्रेणावेष्टयेत् शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलविधानवित् ३८ वि
तस्ति प्रमितं दैर्घ्यं विस्तारं चतुरंगुलं मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनांवरलक्षणं
३९ पुनः षण्मासमात्रेण पुनः संकर्षणात्प्रिये भ्रूमध्यावधि वर्द्धंते तिर्य
क्कर्णविलावधि ४० अधस्ताच्चिवुकं मूलं प्रयाति क्रमकारिता केशा
दूर्ध्वं च क्रामति तिर्यक् शंखावधि प्रिये ४१ पुनः संवत्सराद्देवि द्वितीयाच्चे
वलीलया ब्रह्मरंध्रांतमावृत्य तिष्ठत्यमरवंदिते ४२ स्वतालुमूलं संघृष्य म
ध्वासरमात्मनि स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ४३ अंगुल्य
ग्रेण संघृष्य जिह्वां तत्र निवेशयेत् शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाट
भृत् ४४ पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता मतिदुर्लभा तस्याः षडंगं कुर्वीत
तया षट्चक्रभिन्नया ४५ खेनिरस्तसकलक्रियाक्रमेणाचितत्स्वरजिषा

15

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

स्वनोदये साक्षिवचत्वसमवापकारिणी खेचरी च भवखेदहारिणी ४६ क्रमेणै
वमकर्त्तव्याभ्यासेन वरवर्णिनी युगपद्यतनेतस्य शरीरं विलयं व्रजेत् ४७ तस्मा
त्स्थनैःशनैःकार्य्यमभ्यासेन युगपत्प्रिये एवंवर्षत्रयंकृत्वा ब्रह्मद्वारं विशोध्य वं
४८ षट्चक्राणि विभिद्य शक्तिभुजंगीप्रोन्माप्यमूलस्थिता भित्वाग्रंथि
त्रयं च पश्चिमशिखाकाररूपं महत् ४९ नित्वा प्राणमतः शिरोविलमलं नि
र्मथ्य चित्तेन तत् लिंगं पः पिबतींदुमंडलगलत्पुक्तः समास्वाद्याच्छिवः ५० नि
त्यं यत्सुतं जिह्वाग्रयोः पिबति पुमान्सप्तधारामृतौघं सुस्वादं शीतलांगं दुरि
तभयहरं क्षुत्पिपासानिवारि ५१ पिंडस्थैर्यं हि तस्माद्भवति मृतंयथाम
त्युरोगाद्भवति दौर्भाग्ययातिनाशं प्रसरति सकलं याति काले भ्रमित्वा
५२ नीहाराकं हरते व्याधिं कटुकं कुष्टनाशनं घृतस्वादूपमं चैवामरत्वं

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

लभते ध्रुवं ५३ मधुस्वादूपमं चैव वशाह्यमुद्रा निबद्ध लवणं कटुकं तिक्तं घृति
पक्वान्नान्यनेकशः ५४ दिव्यकल्पं कोटि नित्यमुरुप्लष्टो जायते ध्रुवं गन्ध
यत्वमवाप्नोति कोषाकारविकीटकः ५५ कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा वि
परीतगा भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ५६ काकचंचुविधानेन शीत
लं सलिलं पिबेत् प्राणापानप्रयोगेच योगी भवति निर्ज्जरी ५७ कलां
पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परिवर्त्तयेत् सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं त
दुच्यते ५८ रसनामूर्द्ध्वगां कृत्वा क्षणार्द्धमपि तिष्ठति विषयैर्मुच्यते योगी
व्याधिमृत्युजरादिभिः ५९ न रोगो मरणं नास्य न निद्रा न क्षुधा तृषा न च
मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरी ६० पीड्यते न तु रोगेण न च लिप्यति
कर्मणा बाध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरी ६१ चित्तं चरति खे

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

यस्माज्जिह्वा चरति खे गता तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ६२
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्द्ध्वतः न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्यालिंगन
स्य च ६३ चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तश्च हुताशनं व्रजत्यूर्द्ध्वं हठः शक्त्या
निरुद्धो योनिमुद्रया ६४ कपालकुहरे जिह्वां कलासंधानमुद्रया तस्या
दिदं प्रकुर्वीत नित्ययुक्तः समाहितः ६५ नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य
योगिनः तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ६६ ऊर्द्ध्वं जिह्वा स्थिरो भू
त्वा सोमपानं करोति यः मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ६७ इंधनानि यथा
वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः तथा षोडशकलापूर्णा देही देहेन मुंचति ६८ रसनां वेशये
दूर्द्ध्वं पिबेत्तत्स्रवितं जलं गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणी ६९ कुलीनं तम
हं मन्ये इतरे कुलघातकाः गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ७० गोमां

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.प.
१७

17

संभक्षणं तत्तु महापातकनाशनं जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलुः ७१
चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी नाभिदेशे भवत्येको भास्करो दहनात्मकः
७२ अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमध्ये तु चंद्रमा वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्द्ध्वमुखो
रविः ७३ ज्ञातव्यं करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते मूर्द्ध्नः षोडशपद्मपत्रगलितं प्राणा
दवाप्तं हठात् ऊर्द्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयेत् उत्कल्लोलकलाजलं
च विमलं धारामृतं यः पिबेत् निर्दोषः समृणालकोमलवपुर्योगी चिरंजीवति चुंबं
तियदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी सक्षाराकटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्य
तुल्यं यथा व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शास्त्रागमोदीरणं ७७ तस्य स्यादमरत्वम
ष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणं सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितः ७८ तिष्ठति खे
चरीमुद्रा तस्मिन्शून्ये निरंजने यत्प्रालेयं प्रहितः सुषिरं मेरुमूर्द्धांतः ७९ तस्मिंस्त

राम
१७

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

त्वंश्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानां चंद्रात्सारः श्रवति पीयूषस्तेन मृत्युर्नराणां
८० तं बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कायसिद्धिः एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च
खेचरी एको देवो निरालंबो एकावस्था मनोन्मनी ८१ अथ मूलबंधमुद्रा बंधमू
लं विलंघ्य न तेन विघ्नो विदारितः अजरामरतां याति यथा पंचमुखो हरः ८२ अमृ
ता पूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतो ह्यणिमादिगुणोदयात् ८३
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदं अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोयमुच्यते ८४
अधोगतमपानं वै चोर्ध्वगं कुरुते हठात् आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं तु योगिनः
८५ गुदं पार्ष्णिं तु संपीड्य योनिमाकुंचयेद्बलात् बारंबारं यथा चोर्ध्वं समायाति स
मीरणः ८६ प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकतः नेतौ योगस्य संसिद्धिं कु
रुते नात्र संशयः ८७ अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः युवा भवति

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

वृद्धोपिसृततं मूलबंधनात् ६८ अपानेचोर्द्धगेजातेसंप्रेवह्निमंडले तदानलशि
खादीर्घावर्द्धतेवायुनाहता ६९ ततोयातौवह्न्यपानौप्राणमुष्णस्वरूपको तेना
भितःप्रदीप्तस्तुकुरुतेदेहजस्तथा ७० तेनकुंडलिनीसुप्तासंतप्तासंप्रबोध्य
ते दंडाहता भुजंगीवनिःश्वस्यऋजुतांव्रजेत् ७१ बिलंप्रविष्टेवततोब्रह्मना
ड्यंतरेव्रजेत् तस्मान्नित्यंमूलबंधःकर्तव्योयोगिभिःसदा ७२ अथउड्डीयानबं
धः उर्द्धयेनसुषुम्नायांप्राणस्तुड्डीयानयतः तस्मादुड्डीयाणाख्योयंयोगिभिः
समुदाहृतः ७३ उडीनंकुरुतेयस्मादविश्रांतेमहाखगः उडीयानंतदेवस्याद
त्रबंधोऽभिधीयते ७४ उदरेपश्चिमेतानंनाभेरूर्द्धंचकारयेत् उडीयानोह्यसौबं
धोमृत्युमातंगकेशरी ७५ उडीयानंतुसहजंगुरुणाकथितंसदा अभ्यसेत्स
ततंयस्तुवृद्धोपितरुणोभवेत् ७६ नाभेरूर्द्धमधश्चापितानंकुर्यात्प्रयत्न

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

त्नः षण्मासाभ्यासयोगेन जयेन्मृत्युर्न संशयः ८७ सतिवज्रासने पादौ कराभ्यां धारये
दृढं गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ८८ ऊर्ध्वमेढ्रात्त्वधो नाभेः कंदोपत्र षडं
गवत् तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्तति ८९ पश्चिमं तानमुदरे कारयेच्चि
बुकं हृदि शनैः शनैर्यथा प्राणस्कंदसंधेन गच्छति ९० सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्यु
ड्डियानकः उड्डीयाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकं भवेत् १ अथ जालंधरबंधः कंठमा
कुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढं बंधो जालंधराख्योयममृतास्यपकारकः २ वध्नाति
ह शिराजालमधोगामि नभोजलं ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशकः २ जालं
धरं कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ३ बंधत्रय
मिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितं सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ४ मूलस्था
नं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् कंठसंकोचनेनैव बद्धो नाड्यास्तंभिते ध्रुवं ५ मध्य

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

चक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनं इडा च पिंगला बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथ्यं ६ अनेनै
वचाभ्यासेन सेवयेत्पवनालयं ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ७ अधस्ता
त्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ८
अस्मिन्स्थाने ततो रोधः प्रयाति पवनोऽनलं ततो न जायते मृत्युर्नस्मान्नचैव जरा
दिकं ९ अथ विपरीतकरणी यत्किंचित्स्रवति चंद्रादमृतं दिव्यरूपिनं
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडं जरायुतं १० तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंधने गुरू
पदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ११ ऊर्द्धनाभिरधस्तालुरूर्द्धं भानुरधः शशी
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते १२ करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिवि
नाशिनी नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्द्धनी १३ आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः
साधकस्य तु अनाहारो यदि भवेदग्निर्दहेद्देहं क्षणात् १४ अधः शिरश्चोर्द्धपादः क्ष

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

रांस्यात्रयमेद्दिने क्षणाच्चकिंचिदधिकमभ्यसेच्चदिने २५ वलिस्वपलितंचैवष
ण्मासात्तुनदृश्यते यामप्मात्रंतुयोनित्यमभ्यसेत्सतुकालवित् २६ अथवज्रोली स्वे
छयावर्त्तमानोपियोगोक्तैर्नियमैर्विना वज्रोलीयोविजानातिसयोगीसिद्धिभाज
नं २७ तत्रवस्तुद्वयंवक्ष्येदुर्लभंयस्यकस्यचित् कर्मद्वयमिदंप्रोक्तंकुलिनाम्प्र
द्रुयोगिना २८ क्षीरंचैकंद्वितीयंतुनारीचवशवर्तिनी मेहनेनशनैःसम्यगूर्ध्वा
कुंचनमभ्यसेत् २९ यत्नतःशस्तनालेनफुत्कारंवज्रकंदरे शनैःशनैःप्रकु
र्वीतवायुसंचारकारणात् ३० नार्याभगेपतद्विंदुमभ्यासेनोर्द्ध्वमाहरेत् पुरुषो
वापिनारीवावज्रोलीसिद्धिभाजने ३१ नार्याभगेपतद्विंदुमभ्यासादूर्द्ध्वमाहरेत्
चलितंचस्वपंविंदुमूर्द्ध्वमाकृष्यरक्षयेत् ३२ एवंसंरक्षयेद्विंदुंमृत्युंजयतियोगवा
न् मरणंविंदुपातेनजीवितंविंदुधारणात् सुगंधियोगिनोदेहेजायतेविंदुधारणा

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह॰ प्र॰
२०

२०

त् यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावत्कालभयं कुतः २४ चित्तायत्तं नृणां शु-
क्रं शुक्रायत्तं च जीवितं तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः २५
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदुं च रक्षयेत् मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्या-
सयोगवान् २६ अयं योगः पुण्यवतां धन्यानां तत्त्वशालिनां निर्म-
त्सराणां सिद्ध्येत न तु मत्सरशालिनां २७ सहजोलिश्चामरोलिर्व-
ज्रोल्या एकभेदतः जले सुभस्म निःक्षिप्य दग्धगोमयसंभवं २८
वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं आसीनयोः सुखे-
नैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् २९ सहजोलीरियं प्रोक्ता सेव्यानि
योगिभिः सदा अयं शुभकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ३० पुंसो

व्या२

राम॰
२०

व२

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

विंदुसमाकुंच्यसम्यगभ्यासपाटवात् यदिनारीरजोरक्षेद्वज्रोल्यासाग्रहयोगि-
नी ३० यस्याःकिंचिद्रजोनाशंनगच्छतिनसंशयः तस्याःशरीरेनादस्तुविं-
दुतामेवगच्छति ३२ सविंदुस्तद्रजश्चैवएकीभूयास्वदेहजौ वज्रोल्याभ्या-
सयोगेनसर्वसिद्धिःप्रजायते ३३ विहायनित्यंप्रथमांबुधारांविहायनिः-
सारतयांत्यधारां निसेव्यतेशीतलमध्यधाराकापालिकैःखंडमतैःस-
मर्थः ३४ अमरींचपिवेन्नित्यंनस्यंकुर्वन्दिनेदिने वज्रोलीमभ्यसेन्नित्य-
ममरोलीतिकथ्यते ३५ पुंसोविंदुसमाकुंच्यसम्यगभ्यासपाटवात् यदि
नारीरजोरक्षेद्वज्रोल्यासापियोगिनी ३६ तस्याःकिंचिद्रजोनाशंनगच्छति
नसंशयः तस्याःशरीरेनादस्तुविंदुतामेवगच्छति ३७ सविंदुस्तद्रजश्चै-

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह॰प्र॰
२१

(२)

वशीभूतः स्वदेहजो वज्रोल्याभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिः प्रजायते ३८
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेत् ध्रुवं देहे सिद्धिं च लभते वज्रोल्याभ्यास
योगतः ३९ तस्मादयं साधकानां भोगे मुक्तिविमुक्तिदः तस्मात्पुण्यव
तामेव अस्यायं योगः प्रसिध्यति ४० मेहनाकुंचनादूर्ध्वं रजःसापि च योगि
नी अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्दृढं ४१ देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्या
भ्यासयोगतः अयं शुभकरो योगी भोगो मुक्तिविमुक्तिदा ४२ तस्मात्पु
ण्यवतामेव अस्यायं योगः प्रसिध्यति अथ शक्तिचालनं कुटिलांगी कुंडलिनी
भुजंगी शक्तिरीश्वरी कुटिलारुंधती देवी शब्दाः पर्यायवाचकाः ४३ कंदोर्ध्वं
कुंडली शक्तिः अष्टधा कुंडलाकृतिः ब्रह्मद्वारं मुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठ

राम॰
२१

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ति ४४ येनमार्गेनगंतव्यंब्रह्मस्थानंनिरामयं मुखेनाछाद्यतद्द्वारंप्रसुप्तापरमेश्व
री ४५ उद्घाटयेत्कपाटंतुयथाकुंचिकयाहठात् कुंडलिन्यातथायोगीमोक्षद्वा
रंविभेदयेत् ४६ कंदोर्द्धेकुंडलीशक्तिर्वद्धामोक्षायथोगिनां बंधनायचमूढानां
यस्तांवेत्तिसयोगवित् ४७ अंभोधिद्वीपशैलानामाधारः शेषकुंडली अंभो
धयोगतंत्राणामाधारः कुंडलीतथा ४८ कुंडलीकुटिलाकारासर्पवत्परिकीर्ति
ता साशक्तिश्चालितायेनसमुक्तोनात्रसंशयः ४९ गंगायमुनयोर्मध्येवा
लरंडांतपस्विनी वलात्कारेणगृह्णीयात्तद्विष्णोःपरमंपदम् ५० इडा
भगवतीगंगापिंगलायमुनानदी इडापिंगलयोर्मध्येवालरंडाचकुंडली ५१
पुच्छेप्रगृह्यभुजंगीसुप्तामुद्बोधयेच्चतां निद्रांविहायसाशक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठ
तेहठात् ५२ परिस्थितांचैवफणावतीमांप्रातश्चसायंप्रहरार्द्धमात्रं प्रप

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

र्य्येसौ पर्य्यात्मक्षिधानयुक्ता प्रागद्यानिर्यात्म विचाल्मिता सा ५३ वितस्तिप्रमितं मध्ये
विस्तारं चतुरंगुलं मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणं ५४ वज्रासनस्थितो योगी
चालयित्वा तु कुंडली सूर्यभेदात् सूर्यादनंतरं भस्त्रीकुंडलीमाशु बोधयेत् ५५ भानो
राकुंचनं कुर्य्यात् कुंडलीचालयेत्ततः मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ५६
नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोतिदीर्घीकृतः चंद्रांतःपरिपूरितामृतत
नुः प्राग्घंटिकापातयया ५७ भिंदन् कालविशालवह्निवशगात् ब्रह्मरंध्रना
डीगणान् तत्कार्यं कुरुते पुनर्न भवतां जीर्णोद्भवस्कंधवत् ५८ कुंडलीचा
लयित्वा तु कुर्य्याद्भस्त्रि विशेषतः एवमभ्यासतो नित्यं यमिनः संकतेपमः
५९ जरादाभ्यसेत् सूर्यभेदमुज्जायीं चापि शीतली एवमभ्यासयुक्तस्य यमशुक्ति
पमिनः कुतः ६० मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ऊर्ध्वमाकृष्यते किं

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

चित्सुषुम्णागते कुंडली ६१ मुहूर्तद्वयपर्य्यंतं निर्भरं चलनादसौ ब्रह्मचर्य्यरतस्यै
व नित्यं हितमिताशनः ६२ इति पाठांतरेऽपरं तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्णा
याः समुद्गताः जहाति तस्मात्प्राणोयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ६३ तस्मात्संचा
लयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीं यस्याः संचालनेनाशु योगी रोगैर्विमुच्यते
६४ येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनं किमत्र बहुनोक्तेन कालं ज
यति लीलया ६५ ब्रह्मचर्य्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशनः मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः
कुंडल्याभ्यासयोगिनः ६६ अभ्यासात्रिः मृतं चाद्यी विभूत्यासह मिश्रयेत् तद्धा
रणं चोत्तमांगे दिव्यदृष्टिप्रदायकं ६७ द्विसप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्याभ्यासतो विना ६८ मारुतस्य विधिं सर्वं मनो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

युक्तं सभ्यसेत् इति शक्तिचालनं इति मुद्रादशप्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना
एकैकातासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ६९ अथ राजयोगः राजयोगं विना
पृथ्वी राजयोगं विना निशा राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते ७० हठस्य
विधिवत्सर्वं मनो सर्वस्य मभ्यसेत् इति रैव न कर्त्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा
७१ विनापि मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनां आसनं प्राणसंयमैर्मुद्राभि
स्तल्लाभवेत् ७२ अभ्यासेन हि मुद्राणां नादे नि समाधिना मुद्राणां चापरा
मुद्रा भद्रा सिद्धिं प्रयच्छति ७३ येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनं
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ७४ उपदेशाहि मुद्राणां
यो दत्ते सांप्रदायकः स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ७५

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

तस्यवाक्येपरोभूत्वायोऽभ्यसेतसमाहितः आरोग्यमादिगुरुणोक्तंयंजायतेनका
लवंचनं ७६ ॥ इतिश्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामविर
चितायांहठप्रदीपिकायांतृतीयोपदेशः ३ नमःशिवायगुरवेनादबिंद
कलात्मने निरंजनपदंयातिनित्यंयोगपरायणः १ अथेदानींप्रवक्ष्या
मिसमाधिक्रमलक्षणं मृत्युघ्नंचसुखोपायंब्रह्मानंदकरंपरं २ सलिलेसैंध
वंयद्वत्साम्यंभजतियोगतः तथात्ममनसोरैक्यंसमाधिःसोऽभिधीयते ३ रा
जयोगस्यमहात्म्यंकोवाजानातितत्वतः ज्ञानान्मुक्तिःस्थितिसिद्धिःगुरुवाक्ये
नलभ्यते ४ दुर्लभोविषयत्यागोदुर्लभंतत्वदर्शनं दुर्लभासहजावस्थासद्गुरोः
करुणांविना ५ विविधैरासनैःकुंभैर्विचित्रकरणैरपि प्रबुद्धायांमहाश
क्तौप्राणाःशून्येविलीयते ६ उत्पन्नशक्तिबोधस्यत्यक्तनिःशेषकर्मणः

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

केवलेकुंभकेसिद्धेरेचपूरकवर्जिते ३ नत
स्यदुर्लभंकिंचित्त्रिषुलोकेषुविद्यते शक्तःके
वलकुंभेनयथेष्टंवायुधारणम् ४ राजयो
गपदंचैवलभतेनात्रसंशयः हठंविनाराज
योगोराजयोगोविनाहठः ५ नसिध्यतिततो
युग्ममनिष्पत्तेसमभ्यसेत् कुंभितःप्राणरे
चांतेकुर्याच्चित्तंनिराश्रयम् ६ एवमभ्यास
योगेनराजयोगपदंलभेत् कुंभकात्कुंडली
बोधःकुंडलीबोधतोभवेत् ७ अनर्गलासुषु
म्नाचहठसिद्धिश्चजायते वायुःकृशत्वंवदने
प्रसन्नतानादस्फुटत्वंनयनेचनिर्मलम् ८
अरोगताबिंदुजयोग्निदीपनंनाडीषुसिद्धि
हठसिद्धिलक्षणम् इतिश्रीआत्मारामयोगी
चंद्रविरचितायांहठप्रदीपिकायांद्वितीयो
पदेशः सशैलवनधात्रीणांयथाधारोहि
नायकः सर्वेषांयोगतंत्राणांतथाधारोहि
कुंडली १ तदासर्वाणिपद्मानिभिद्यंतेग्रंथयो
पिवा प्राणस्यशून्यपदवीतदाराजवीयदा
भवेत् २ तदाचित्तंनिरालंबंतदाकालस्यवं
चनम् सुषुम्नाशून्यपदवीब्रह्मरंध्रंमहाप

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

थः ३ श्मशानंशांभवीमध्यमार्गश्चेत्येकवाचक
कः तस्मात्सर्वप्रयत्नेनप्रबोधयितुमीश्वरी
म् ४ ब्रह्मद्वारमुखेसुप्तांमुद्राभ्यासंसमभ्यसेत्
महामुद्रामहाबंधोमहावेधश्चखेचरी ५ उड्डा
णंमूलबंधश्चततोजालंधराभिधः करणीविप
रीताख्यंवज्रोलीशक्तिचालनम् ६ इदंहिमुद्रा
दशकंजरामरणनाशकम् आदिनाथोदितं
दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ७ वल्लभंसर्वसि
द्धानांदुर्लभंमरुतामयम् गोपनीयंप्रयत्नेन
यथारत्नकरंडकम् ८ कस्यचिन्नैववक्तव्यंकु
लस्त्रीसुरतंयथा वज्रोलीरमरोलीचसहजो
लीत्रियामता एतेषांलक्षणंवक्ष्येकर्तव्यंचवि
शेषतः ९ तत्रमहामुद्रायथा ९ पादमूलेन
वामेनयोनिंसंपीड्यदक्षिणं पादंप्रसारितंकृ
त्वाकराभ्यांपूरयेन्मुखे ९ कंठेबंधंसमारोप्य
धारयेद्वायुमूर्ध्वतः यथादंडहतःसर्पोदंडा
कारःप्रजायते २ ऋज्वीभूतातथाशक्तिःकुंड
लीसहसाभवेत् तदेयंमरणावस्थाजायतेद्वि
पुटाश्रिता ३ ततःशनैःशनैरेवरेचयेन्नतुवे
गतः इयंखलुमहामुद्रामहासिद्धिप्रदायिनी ४

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह्ठ०
१०

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः महा
मुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ५ चंद्रांगे तु स
मभ्यस्य सूर्यांगे तु समभ्यसेत् यावत्तुल्या भवे
त्संख्या ततो मुद्रा विसर्जयेत् अपि भुक्तं विषं घोरं
पीयूषमिव जीर्यति महामेध्यममेध्यं वा रसा वि
नीरसाः ८ क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरो
गमाः तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्य
सेत् ९ कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी
नृणां गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्य
चित् १० अथ महाबंधः पार्ष्णिं वामस्य पादस्य यो
निस्थाने नियोजयेत् वामोरूपरि संस्थाप्य द
क्षिणं चरणं तथा ११ पूरयित्वा ततो वायुः हृद
ये चिबुकं दृढम् निःपीड्य योनिमाकुञ्च्य मनो
मध्ये नियोजयेत् १२ राजदंतस्थयंत्रजिह्वा
यो बंधं भवेदिति धारयित्वा यथाशक्त्या रेचये
दनिलं शनैः १३ सव्यांगे च समभ्यस्य दक्षांगे व
समभ्यसेत् मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विव
र्जयेत् अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदा
यकः १४ कालपाशमहाबंधविमोचनविच
क्षणः अयं च सर्वनाडीनां मूर्ध्वगतिविबोधकः १५

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

त्रिवेणीसंगमंधत्तेकेदारंप्राप्नुयान्नरः रूपलाव
ण्यसंपन्नोयथास्त्रीपुरुषंविना १९ महामुद्रा
महाबंधोमहावेधंविनातथा अथमहावेधः
महाबंधस्थितोयोगीकृत्वापूरकमेकधीः २०
वायूनांगतिमावृत्यनिभृतंकंठमुद्रया न्यस्त
हस्तयुगोभूमौस्फिचौसंताडयेच्छनैः २१ जे
चाहृदयंसमाकृष्यवायुस्फुरतिमध्यगः सोम
सूर्याग्निसंबंधोजायतेचामृतायवै २२ मृता
वस्थासमुत्पन्नाततोमृत्युमयंकुतः महावे
धोयमभ्यस्तोमहासिद्धिप्रदायकः २३ वली
पलितवेपघ्नःसेव्यतेसाधकोत्तमैः मुद्रात्र
यंमहागुह्यंजरामृत्युविनाशनं २४ वह्निवृ
द्धिकरंचैवमणिमादिगुणप्रदम् अष्टधाक्रि
यतेचैवंयामेयामेदिनेदिने पुण्यसंभारसं
धायपापौघविडंबंसदा २५ सम्यक्शिक्षाव
तामेवंस्वल्पंप्रथमसाधनं वह्निस्त्रीपथिसे
वानामादौमादौवर्जनमाचरेत् २६ अथखे
चरी छेदनचालनदोहैः कलांक्रमेणवर्द्धये
त्तावत् सायावद्भ्रूमध्यंस्पृशतितदाखेच
रीसिद्धिः कपालकुहरेत् जिह्वाप्रविष्टावि

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

परीतगा भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिः मुद्रा भवति खेचरी
कलं पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परिवर्जयेत् सा भ
वेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते रसनामूर्ध्वगां
कृत्वा क्षणार्द्धं यदि तिष्ठति क्षणेन मुच्यते योगी
व्याधिमृत्युजरादिभिः न रोगमरणं तस्य न निद्रा
न क्षुधा तृषा न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति
खेचरीम् चित्तं चरति खे यस्मात् जिह्वा चरति खे
गता तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्नमस्कृता
स्वमूत्रं त्यर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना लो
कं लोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य तत्पुनः गुरू
पदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत् बिंदुसि
द्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायकः षण्मासम
भ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया शतांगनो
पभोगेन बिंदुस्तस्य न नश्यति खेचर्या मु
द्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः न तस्य क्षरते
बिंदुः कामिन्यालिंगितस्य च ४० चलितोयं
यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् वायूर्ध्वं च
यथाछक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ४१ कपा
लकुहरे जिह्वा कला संध्यानमुद्रया ऊर्ध्वजि
ह्वां स्थिरीकृत्वा सोमपानं करोति यः मासार्द्धे

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ननसंदेहोमृत्युंजयतियोगवित् नित्यंसोम
कलापूर्णंशरीरंयस्यदेहिनः तक्षकेनाप
दष्टस्यविषंतस्यनसर्पति इंधनानियथा
वह्निस्तैलवर्त्तीचदीपकः तथासोमकला
पूर्णंदेहंदेहीनमुंचति पकाशीभुंजतेह्याभ्या
मागतांचंद्रमंडले त्ततीयोयःस्तुतस्माभ्यां
सभवेदजरामरः गोमांसंभक्षयेन्नित्यंपिबे
दमरवारुणीं कुलीनंतमहंमन्येइतरेकु
लघातकाः गोशब्देनोदिताजिह्वातत्प्रवेशोहि
तालुनि गोमांसभक्षणंतत्तुमहापातकना
शनम् जिह्वाप्रवेशसंभूतावह्नेनित्पादता
कला चंद्रात्स्रवतियःसारःसास्यादमरवारु
णी ४७ नभोदेशेभवेत्येषभास्करोदहनात्म
नः स्मरतात्मास्थितोनित्यंतालुमध्येतुचंद्र
माः वर्धितयोस्तुखस्थंद्रोयसत्सूहेस्तुखोरविः
ज्ञातव्यंकारणंतस्मायेनपीयूषमाप्यते ४८
ऊर्ध्वजिह्वोऽशापश्यपञगलितंप्राणेनवामाह
हा रूपीस्पोरस्सतातियस्यविवरेप्राक्पिंपरांचिं
नयेत् उत्कल्लोलकलाजलंचविमलंधारा
मरंतयःपिबेत् निर्दोषःसमृणालकोमलव

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

सयोगी चिरंजीवति ५० रसनातालुमूलेन यः
प्राणं सततं पिवेत् अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य स
र्वरोगपरिक्षयः ५१ काकचुंववि पानेन शी
तलं सलिलं पिवेत् चुम्बंती यदि लम्बिकाग्र
मनिशं जिह्वा रसस्यंदिनी सक्षारा कटुकाम्ल
दुग्धलवणं व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रा
स्त्रार्थसुज्ञीरणं तस्य स्यादमरत्वमष्टगुण
कं सिद्धांगनाकर्षणम् ५२ एकं सृष्टिलयं
बीजं एकमुद्रा तु खेचरी एको देवो निरालम्बो
ल्येकावस्था मनोन्मनी बंधं मूलबिलं येन
तेन विघ्नो विदारितः अजरामरणं याति य
था पंचमुखो हरः अमृतापूर्णदेहस्य योगी
नो द्वित्रिवत्सरात् ऊर्ध्वं प्रवर्त्तते रेतो ह्यणिमा
दिगुणोदयात् पाताले यद्वसति रुचिरं मे
रुमूले यदास्तः यद्वै चैतन्यवति रुचिरं स
र्वं निम्नगानाम् चन्द्रात्सारः स्रवति वपु
स्तेन मृत्युर्नराणां तं बध्नीयात्सुकरणानान्य
था कार्यसिद्धिः ५८ अथ मूलबंधः पार्ष्णिभा
गेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् अपानमू
र्ध्वमाकृष्य मूलबंधोयमुच्यते अधोगतिम

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

पानं तदूर्ध्वं यः कुरुते बलात् आकुंचनेन
तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिन गुदं च पार्ष्णिना पी
ड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् वारंवारं यथा चोर्ध्वं
समायाति समीरणः गत्वा योगस्य संसिद्धिं
गच्छते नात्र संशयः ६९ अपाणप्राणयोरैक
यं क्षयो मूत्रपुरीषयो युवा भवति वृद्धोपि
सततं मूलबंधनात् अपाने चोर्ध्वगे जाते
प्रजाते वह्निमंडले तदानलशिखा दीर्घा
वायुना वर्द्धते हि सा ततो जातौ वह्न्यपानौ प्रा
णमुष्णस्वरूपकौ तातोऽत्यप्रदीप्तस्तु ज्वल
नो देहजस्तथा तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता
संप्रबुध्यते यथा दंडहतो भोगी निःश्वस्य ऋ
जुतां व्रजेत् बिलं प्रविष्टे पवने ब्रह्मनाड्यं
तरं व्रजेत् तस्मान्नित्यं मूलबंधो कर्तव्यो यो
गिभि ६४ अथोड्डियानबंधः उड्डियेन सु
षुम्नायां प्राणस्तूड्डियते यथा तस्माड्डी
नबंधोयं योगिभिः समुपेतः उड्डाणं कुरुते
यस्मादविश्रांतो महाखगः उड्डियानं तदे
व स्यात्तत्र बंधो विधीयते उदरे पश्चिमं ता
नं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् उड्डियाणो ह्यसौ

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

13

बंधोमृत्युमातंगकेशरी उड्डियाणंतुसह
जंगुरुणाकथितंयथा अभ्यसेदनिशंयो
गीवृद्धोपितरुणोभवेत् ५९ नाभेरूर्ध्वमधश्चा
पिताणंकुर्यात्प्रयत्नतः षण्मासमभ्यसेन्मृ
त्युंजयत्येवनसंशयः ६० सतिवज्रासनेपा
दौकराभ्यांधारयेद्दृढं गुल्फदेशसमीपेच
कंदंतत्रप्रपीडयेत् पश्चिमंताणमुदरेधा
रयेद्धिवुकेहृदि शनैःशनैर्यतःप्राणःस्कंद
संधिंनिगच्छति सर्वेषामेवबंधानामुत्तमो
ह्युड्डियानकः उड्डियानेदृढेबंधेमुक्तिःस्वाभा
विकंभवेत् अथजालंधरबंधः कंठमाकुंच्य
हृदयेस्थापयेच्चिवुकंदृढं बंधोजालंधरा
ख्योयममृतान्यपकारकः बध्नातिहिशिरा
जालमधोगामिनभोजलम् ततोजालंध
रोबंधःकंठदुःखौघनाशनः ७१ जालंधरे
कृतेबंधेकंठसंकोचलक्षणे नपीयूषं
पतत्यग्नौनचवायुःप्रकुप्यति कंठसंको
चनेनैववद्धेनाड्योस्तंभयेद्दृढम् मध्यच
क्रमिदंज्ञेयंषोडशाधारबंधनम् बंधत्रये
मिदंश्रेष्ठंमहासिद्धैर्निषेवितं सर्वेषांयो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

गतं त्राणं साधनं योगिनो विदुः अधःस्तात्
कुंचनेनैव कंठसंकोचनेन च मध्ये पश्चिम
तानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मरंध्रगः मूलस्थाने
समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् इडां च पिं
गलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथम् ९ अने
नैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ततो
न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा अथ
विपरीतलक्षणम् यत्किंचित्स्रवते चंद्राद
मृतं दिव्यरूपि च तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन
पिंडं जरायुतं तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य
मुखवंचनम् गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शा
स्त्रार्थकोटिभिः ऊर्द्धनाभिरधस्तालूर्द्धं भा
नुरधः शशी करणं विपरीताख्यं सर्वव्या
धिविनाशनी नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठरा
ग्निविवर्धिनी आहारो बहलस्तस्य संपाद्यः
साधःस्यात्तु ९५ अल्पाहारो यदि भवेदग्नि
र्देहं हरेत्क्षणात् अधःशिराश्चोर्द्धपादः क्षणं स्या
त्प्रथमे दिने क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च
दिने दिने वलितं पलितं चैव षण्मासार्द्धा
न्न दृश्यते याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह०ठ०
१४

14

तकालजित् ८८ अथ वज्रोली स्वेछया व
र्त्तमानोपि योगोक्तैर्नियमैर्विना वज्रोलीयो
विजानाति स योगी सिद्धिभाजनः ८९ तत्र
वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् क्षीरं
चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्त्तिनी ९० मे
हनेन शनैः सम्यगूर्द्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् पु
रुषो वापि नारी वा वज्रोलीसिद्धिमाप्नुया
त् यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात्
नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्द्ध्वमाहरेत्
चलितं च निजं बिंदुमूर्द्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्
एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित्
सुगंधि योगिनो देहो जायते बिंदुधारणा
त् यावद्बिंदुः स्थितो देहे तावत्कालभयं कु
तः चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं हि जी
वितं ९५ तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्र
यत्नतः ऋतुमत्या रजोप्येवं बीजं बिंदुं च रक्ष
येत् मेढ्रेणाकर्षयेदूर्द्ध्वं सम्यगभ्यासयोग
वान् अयं योगः पुण्यवतां नतु मत्सरशालि
नाम् सहजोलिश्चामरोलिश्च वज्रोल्या एव

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

भेदत जलेसुभस्मनिःक्षिप्य दग्धगोमय
संभवम् वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वंस्त्रीपुंसोःस्वा
ंगलेपनम् ९९ आसीनयोःसुखेनैवमुक्त
व्यापारयोःक्षणात् सहजोलीरियंप्रोक्ताश्र
द्धेयोगिभिःसदा १०० अयंशुभकरोयोगो
भोगेयुक्तोपिमुक्तिदः पित्तोल्वणत्वात्प्रथ
मैवधारांविहायनिःसारतयांत्यधाराम् नि
षेव्यतेशीतलमध्यधाराकपालकैःखंडम
तेरमर्यं १०२ अमरींयःपिवेन्नित्यंनस्यंकुर्व
दिनेदिने वज्रोलीमभ्यसेवेयंसमरोलीति
कथ्यते पुंसोविंदुंसमाकुंच्यसम्यगभ्यासपा
टवात् यदिनारीरजोरक्षेदजोल्या सापियोगि
नी तस्याःकिंचिद्रजोनाशंनगच्छेदिनसंश
कः तस्याःशरीरेनादस्तुविंदुतामेवगच्छति
सविंदुस्तद्रजश्चैवएकीभूयात्स्वदेहदेजः
वज्रोल्याभ्यासयोगेनसर्वसिद्धिःप्रकुर्वतः
अतीतानागतंवेत्तिखेचरीचभवेद्ध्रुवम्
देहसिद्धिंचलभतेवज्रोल्याभ्यासयोगतः
मेहनाकुंचनादूर्ध्वंरेजसापिचयोगिनी १०८
तस्मादयंसाधकायभोगयुक्तोपिमुक्तिदः

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

15

तस्मात्सुत्यवत्नामेवस्वयंयोगः प्रसिध्यति ९७
अथशक्तिचालनम् कुंडलंगीप्रकुंडलिनीभु
जंगीशक्तिरीश्वरी कुंडल्यारुंधतीशब्दाभुजे
ग्यायपर्यायवाचिकाः ९८ उद्घाटयेत्कपाटंतुय
थाःकुंचिकयाहठात् कुंडलीन्यातथायोगी
मोक्षद्वारंविभेदयेत् येनमार्गेणगंतव्यंब्र
ह्मस्थानंनिरामयम् मुखेनाच्छाद्यतद्द्वारंप्र
सुप्तापरमेश्वरी कंदोर्ध्वेकुंडलीशक्तिः सुप्ता
मोक्षायायोगिनाम् बंधनायचमूढानांयस्तां
वेत्तिसयोगवित् अंभोधिशैलद्वीपानांमा
धारंयोषकुंडली अशेषयोगतंत्राणामाधा
रःकुंडलीतथा कुंडलीकुंडलीकारासर्पवत्प
रिकीर्तिता साशक्तिश्चालितायेनसमुक्तोना
त्रसंशयः १०३ गंगायमुनयोर्मध्येबालरंडा
न्तपस्विनी बलात्कारेणगृह्णीयात्तद्विष्णोः
परमंपदं पुच्छेनिगृह्यभुजगींसुप्तामुद्बो
धयेदमी निद्रांविहायसाशक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठ
तेहठात् परिस्थिताचैवफणावतीसाप्रात
श्चसायंप्रहरार्धमात्रम् प्रपूर्यसूर्यात्परि
धानयुक्त्याप्रगृह्यनित्यंविचालितासा वि

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

तलिश्रामिकंदीर्घंविस्तारश्चतुरंगुलम् मृ
डुलंधवलंप्रोक्तंवेष्टनाबरलक्षणम् ११७ व
ज्रासनोस्थितोयोगीचालयित्वाचकुंडली कु
र्यादनंतरंभस्त्राकुंडलीमाशुबोधयेत् नाश्वा
दक्षिणवाहिमार्गपवनात्प्राणोतिदीर्घांश्च
तश्चंद्राभःपरिपूर्णमास्वनतुःप्राग्चंडिका
याःतथा छिन्दन्कालविशालवह्निवशागान्
मूर्धनाडीगणान् तंकायंकुरुतेपुनर्नवत
रंजीर्णद्रुमस्कंदवत् १२१ कुंडलीचालयत्वाथ
कुर्याद्भस्त्रीविशेषतः एवमस्यतेनित्यंयमि
नेपंकतेयमः तदभ्यसेत्सूर्यभेदंउज्ज्ञायीचा
पिशीतली एवमभ्यासयुक्तस्यशाभिनोयमि
नःकुतः सत्कृजीहयपर्यंतेतिर्भस्त्रचालना
दसौ उर्द्धमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्नाकुंडलीकृ
तोम् १२२ तेनकुंडलिनीतस्याःसुषुमायासमु
खता जहातितस्मात्प्राणोयंसुषुम्नांव्रजति
स्वतः १२३ तस्मात्संचालयेन्नित्यंसुशुभ्रगामीम
रुंधती यस्याःसंचालयंनाश्रयोगीरोगैर्वि
मुच्यते १२४ येनसंचालिताशक्तिःसयोगीसि
द्धभाजनः किंतत्रबहुनोक्तेनकालंजयति

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

लीलया ब्रह्मचर्यं कृतस्यैव नित्यं हितमि
ताशनम् मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्याभ्या
सयोगिनः अभ्यासनिःसृतांचांद्रीविभूत्या
सहमिश्रयेत् तद्धारणंतु जमीगोदिव्यदृ
ष्टिप्रदायकम् द्विसमतिसहस्राणां १२॰॰
नाडीनामंडलेयत्नेकृतः प्रक्षालनोपायः
कुंडल्याभ्यासनाहृते इति शक्तिचालनं
इति मुद्रादशप्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना
एकैकानाश्रयमिनां महासिद्धिप्रदायिनी
राजयोगेविनाभ्यासात् हठयोगेनसिध्यति
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते १६॰
मारुताभ्यासनं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्
इतरत्र नकर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणां
चलायमध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिना
म् श्वाशाने प्राणसंयम्य मुद्राभिः सरलाभ
वेत् अभ्यासेषु विनिद्राणां मनोहृतसमा
धिनो हठराणि चापरामुद्रां भद्रां सिद्धिं प्रय
च्छति उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदा
यिकं स एवास्तु गुरुः स्वामी साक्षादीश्व
र एव सः तस्य वाक्यंपरो नित्यं योभ्यसेत्तस

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

माहितः अणिमादिगुणोश्वर्यंजायतेका
लवंचकः इतिश्रीआत्मारामयोगीन्द्रवि
रचितायांहठप्रदीपिकायांतृतीयोपदे
शः ३ नमःशिवायगुरवेनादबिंदुकला
त्मने निरंजनपदंयातिनित्यंयत्रपराय
णः १ अथेदानींप्रवक्ष्यामिसमाधि
क्रममुत्तमम् मृत्युघ्नंचसुखोपायंब्रह्मा
नंदकरंपरम् २ राजयोगःसमाधिश्चउ
न्मनीचमनोन्मनी अमरत्वंलयस्तत्वंशू
न्यंन्यस्तपरंपदम् ३ जीवन्मुक्तिश्चसहजे
स्तुर्याचेत्येकवाचम् सलिलेसैंधवंयद्व
त्साम्यंभवतियोगिनाम् यथात्ममनसो
रैक्यंसमाधिःसोभिधीयते राजयोगस्यमा
हात्म्यंकोवाजानातितत्वतः ज्ञानान्मुक्ति
स्थितासिद्धिर्गुरुवाक्येनलभ्यते ७ दुर्ल
भोविषयत्यागोदुर्लभंतत्वदर्शनम् दु
र्लभासहजावस्थासद्गुरोःकथनंविना ८
यावन्नैवप्रविशतिचरन्मारुतोमध्यमा
र्गेयावद्बिंदुर्नभवतिदृढःप्राणवातःप्रवं
धः तावद्ध्यानंसहजसदृशंजायतेनैवतत्वं

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

॥ मूल ॥

वपुः कृशत्वं वदनेप्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले
॥ अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं
नाडीविशुद्धिर्हटयोगलक्षणम् ॥ ७८ ॥

इति हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

हठसिद्धिज्ञापकमाह ॥ वपुःकृशत्वमिति ॥ वपुषो देहस्य
कृशत्वं कार्श्यं वदने मुखे प्रसंन्नता प्रसादो नादस्य
ध्वनेः स्फुटत्वं प्राकट्यं नयने नेत्रे सुष्टु निर्मले अरोगस्य
भावोऽरोगता आरोग्यं बिंदोर्धातोर्जयः क्षयाभावरूपः
अग्नेरौदर्यस्य दीपनं दीप्तिर्नाडीनां विशेषेण
शुद्धिर्मलापगमः एतद्धठस्य हठाभ्याससिद्धेर्भाविन्या
लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं ॥ ७८ ॥

॥ इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायांऽज्योत्स्नाभिधायां
ब्रह्मानंदकृतायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

तृतीयोपदेशः

॥ मूल ॥

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ॥ सर्वेषां
योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ॥ तदा सर्वाणि
पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोऽपि च ॥ २ ॥

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ॥ तदा चित्तं
निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

अथकुंडल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह ॥ सशैलेति ॥ शैलाश्च
वनानि च शैलवनानि तैः सहवर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च
ता धात्र्यश्च भूमयस्तासां। धात्र्या एकत्वेऽपि
देशभेदाद्भेदमादाय बहुवचनं। अहीनां सर्पाणां नायको
नेताहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत्।
सर्वेषां योगस्य तंत्राणि योगतंत्राणि योगोपायास्तेषां
कुंडल्याधारशक्तिराश्रयः। कुंडलीबोधं विना
सर्वयोगोपायानां वैय्यर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

कुंडलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्यां ॥ सुप्तेति ॥ सुप्ता
कुंडली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि
पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यंते भिन्नानि भवंति। ग्रंथयोऽपि
च ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथयो भिद्यंते भेदं
प्राप्नुवंतीत्यन्वयः ॥ २ ॥

प्राणस्येति ॥ तदा शून्यपदवी सुषुम्ना प्राणस्य वायो
राज्ञां पंथा राजपथं राजपथमिवाचरति राजयथायते
राजमार्गायते। सुखेन गमनसंभवात्। तदा
चित्तमालंबनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालंबं निर्विषयं
भवति। तदा कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

p. 76)

॥ मूल ॥

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ॥ श्मशानं
शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ॥ ब्रह्मद्वारमुखे
सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥ उड्यानं
मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ॥ इदं हि
मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

सुषुम्नापर्यायानाह ॥ सुषुम्नेति ॥ इत्युक्ताः शब्दा एकस्य
एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः । पर्याया इत्यर्थः । स्पष्टः
श्लोकार्थः ॥ ४ ॥

तस्मादिति ॥ यस्मात्कुंडलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म
सच्चिदानंदलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना
तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय
सुप्तामीश्वरीं कुंडलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं
मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं
समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥ ५ ॥

मुद्रा उद्दिशति । महामुद्रेत्यादिना सार्धेन ॥ सार्धार्थः
स्पष्टः ॥ ६ ॥

मुद्राफलमाह सार्धद्वाभ्यां ॥ इदमिति ॥ इदमुक्तं
मुद्राणांदशकं जरा च मरणं च

p. 77)

॥ मूल ॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ॥ वल्लभं
सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

॥ टीका ॥

जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकं ॥ ७ ॥

आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितं । दिवि भवं दिव्यमुत्तमं ।
अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि
अणिमामहिमागरिमालघिमाप्राप्तिप्राकाम्येशतावशिताख्यानि ।
तत्राणिमा संकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य
सूक्ष्मता । १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः ।
२ । गरिमा लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः । ३ ।
लघिमा गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः । ४ ।
प्राप्तिः सर्वभावसान्निध्यं । यथा भूमिस्थ एवांगुल्यग्रेण

स्पृशति चंद्रमसं । ५ । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च । ६ । ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यं । ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणं । ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

p. 78)

॥ मूल ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ॥ कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥

अथ महामुद्रा ॥

पादमूलेन वामेन योनिं संपीडय दक्षिणं ॥ प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढम् ॥ १० ॥

कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥ यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

॥ टीका ॥

गोपनीयमिति ॥ प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयं ।
गोपनीयत्वे दृष्टांतमाह ॥ यथेति ॥ रत्नानां
हीरकादीनां करंडकं रत्नकरंडकं यथा येन
प्रकारेण गोप्यते तद्वत् । कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि
ब्रह्मणोऽपि नैव वक्तव्यं नैव वाच्यं किमुतान्यस्य । तत्र
दृष्टांतः । कुलस्त्रियः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं
यथा यद्वत् ॥ ९ ॥

मुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह ॥
पादमूलेनेति ॥ वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं
पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपादपार्ष्णिनेत्यर्थः । योनिं
योनिस्थानं गुदमेंढ्रयोर्मध्यभागं
संपीड्याकुंचितवामपादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं
संयोज्येत्यर्थः । दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं
प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वांगुलिकं
दंडवत्कृत्वा कराभ्यां
संप्रदायादाकुंचितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं
धारयेदंगुष्ठप्रदेशे गृह्णीयात् ॥ १० ॥

कंठे कंठदेशे बंधनं सम्यगारोप्य कृत्वा ।

जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः। वायुं पवनमूर्ध्वत

p. 79)

॥ मूल ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत्॥ तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥

ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥ महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १३ ॥

इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥ महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ॥

॥ टीका ॥

उपरि सुषुम्नायां धारयेत्। अनेन मूलबंधं सूचितः। स तु योनिसंपीडनेन जिह्वाबंधनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः। यथा दंडेन हतस्ताडितो दंडहतः सर्पः कुण्डली दंडाकारः दंडस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः। दंडाकारं त्यक्ता सरल इत्यर्थः। प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

तथा कुंडल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव। ऋज्वी

संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत्। तदासेति॥

द्वे पुटे इडापिंगले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते।

कुंडलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः

प्राणवियोगात्॥ १२॥

ततस्तदनंतरं शनैःशनैरेव रेचयेत्। वायुमिति संबध्यते

। वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत्। वेगतो रेचने बलहानिप्रसंगात्।

खल्विति वाक्यालंकारे। इयं महामुद्रा

महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता॥

१३॥

महामुद्राया अन्वर्थमाह। महांतश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशा

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः

p. 80)

॥ मूल॥

महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः॥ १४॥

चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत्॥ यावत्तुल्या

भवेत् संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५ ॥

॥ टीका ॥

पंच त आदयो येषां ते तत्कार्याणां शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयंते । मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयंते नश्यंति । यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदंति । महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १४ ॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह ॥ चंद्रांग इति ॥ चंद्रेण चंद्रनाड्योपलक्षितमंगं चंद्रांगं तस्मिन् चंद्रांगे वामांगे । तु शब्दः पादपूरणे । सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिंगलयोपलक्षितमंगं सूर्यांगं तस्मिन् सूर्यांगे दक्षांगे पुनर्वामांगाभ्यासानंतरं यावद्यावत्कालपर्यंतं तुल्या वामांगे कुंभकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत् । ततः संख्यासाम्यानंतरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत् । अत्रायं क्रमः । आकुंचितवामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो वामांगेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो

वायुर्वामांगे तिष्ठति। आकुंचितदक्षपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो दक्षांगेऽभ्यासः। अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षांगे तिष्ठति॥ १५॥

p. 81)

॥ मूल॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः॥ अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति॥ १६॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः॥ तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥ १७॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम्॥ गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्यकस्यचित्॥ १८॥

॥ टीका॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः॥ नहीति॥ हियस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः। पथ्यमपथ्यं वा न। पथ्यापथ्यविचारो नास्तीत्यर्थः। तस्मात् सर्वे भुक्ता रसाः

कट्वम्लादयो जीर्यंत इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः।
नीरसाः निर्गतो रसो येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यंते।
घोरमिति दुर्जरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि
पीयूषमिवामृतमिव जीर्यंति जीर्णं भवति। किमुतान्यदिति
भावः॥ १६॥

यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः
कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगविशेषाः। अजीर्णं
भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि येषां
महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः
क्षयं नाशं यांति प्राप्नुवंति॥ १७॥

महामुद्रामुपसंहरन् तस्या गोप्यत्वमाह॥ कथितेति॥ इयमेषा
महामुद्रा कथितोक्ता।

p. 82)

॥ मूल॥

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्॥ वामोरूपरि
संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥ १९॥

इति महाबंधः॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम्॥ निष्पीड्य
वायुमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत्॥ २० ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः॥ सव्यांगे तु
समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत्॥ २१ ॥

॥ टीका ॥

मयेति शेषः। कीदृशी नृणामभ्यसतां नराणां
महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयं।
प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा
यस्यकस्यचिद्यस्यकस्याप्यनधिकारिणोऽसंबंधस्य। सामान्ये
षष्ठी। न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः॥ १८ ॥

महाबंधमाह॥ पार्ष्णिमिति॥ वामस्य सव्यस्य पादस्य
चरणस्य पार्ष्णि गुल्फयोरधोभागं। तद्ग्रंथी गुल्फौ पुमान्
पार्ष्णिस्तयोरध इत्यमरः। योनिस्थाने गुदमेंढ्रयोरंतराले
नियोजयेन्नितरां योजयेत्। वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं
चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा। तथाशब्दः
पादपूरणे॥ १९॥

पूरयित्वेति ॥ ततस्तदनंतरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं
दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य । एतेन
जालंधरबंधः प्रोक्तः । योनिं
गुदमेंढ्रयोरंतरालमाकुंच्य । अनेन मूलबंधः सूचितः ।
स तु जिह्वाबंधेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः । मनः स्वांतं
मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

धारयित्वेति ॥ शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा
कुंभयित्वा शनैर्मंदंमंदमनिलं

p. 83)

॥ मूल ॥

मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥
राजदंतस्थजिह्वाया बंधः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ॥ अयं खलु
महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥

कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥

॥ टीका ॥

वायुं रेचयेत्। सव्यांगे वामांगे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षांगे दक्षिणांगे पुनर्यावत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत्॥ २१॥

अथ जालंधरबंधे कंठसंकोचस्यानुपयोगमाह॥ मतमिति॥ केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतं। किंतदित्याह। अत्र जालंधरबंधे कंठस्य बंधनं बंधः। संकोचस्तंविवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत्। कुतः यतो दंतानांराजानो दंतराजानो राजदंता राजदंतेषु तिष्ठंतीति राजदंतस्था राजदंतस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तदुपरिभागस्य संबंधः शस्तः। कंठाकुंचनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः॥ २२॥

अयंत्विति॥ अयं तु राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वगतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबंधकः। एतेन बध्नाति हि शिराजालमिति जालंधरोक्तं फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितं। महाबंधस्य फलमाह॥ अयं खल्विति॥ अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण ददातीति तथा॥ २३॥

कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबंधो बंधनं तस्य विशेषेण मोचने

p. 84)

॥ मूल ॥

त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥
महामुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥

अथ महावेधः ॥

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥ वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः। तिसृणां नदीनां वेणी समुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते। केदारभ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यं तं मनः

स्वांतं प्रापयेत्। गतिबुद्धीत्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वं ॥ २४ ॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षतावदाह ॥ रूपेति ॥ रूपं सौंदर्यं चक्षुःप्रियो गुणो लावण्यं कांतिविशेषः। तदुक्तं। मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवांतरं। प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यत इति। ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबंधश्च तौ महावेधेन। विनापि प्रत्ययपूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्य इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य लोपः। वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः ॥ २५ ॥

महावेधमाह ॥ महाबंधेति ॥ महाबंधे महाबंधमुद्रायां स्थितो महाबंधस्थितः एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणम् कृत्वा कंठे मुद्रा कंठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिमूर्ध्वाधोगमनादिरूपां

p. 85)

॥ मूल ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥

सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ॥ मृतावस्था
समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥

॥ टीका ॥

निभृतं निश्चलं यथा भवति तथावृत्य निरुध्य कुंभकं
कृत्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

समहस्तेति ॥ भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं हस्तयुगं समं
हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ
यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः । स्फिचौ कटिप्रोथौ । स्त्रियां
स्फिचौ कटिप्रोथावित्यमरः ।
भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलंबनेन
योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः
किंचिदुत्थापितौ शनैर्मंदं संताडयेत्सम्यक् ताडयेत् ।
भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिंगलयोर्युग्ममतिक्रम्योल्लंघ्य

मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः

सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडा पिंगलासुषुम्ना

ग्राह्यास्तेषां संबंधः । तद्वायुसंबंधात्तेषां

संबंधः । अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययं

। मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति ।

इडापिंगलयोः प्राणसंचाराभावात् । ततस्तदनंतरं

वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥ २८ ॥

महावेध इति ॥ अयं

महावेधोऽभ्यासात्पुनःपुनरावर्तनान्महासिद्धयोऽणिमाद्यास्ता

सां

p. 86)

॥ मूल ॥

वलीपलीतवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥ वह्निवृद्धिकरं

चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥

पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥

॥ टीका ॥

प्रदायकः प्रकर्षेण समर्धकः । वली जरया चर्मसंकोचः पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः कंपस्तान् हंतीति वलीपलितवेपघ्नः । अत-एव साधकेष्वभ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह ॥ एतदिति ॥ एतत्त्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यं । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि हियस्माज्जरा वार्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदं । चकार आरोग्यबिंदुजयादिसमुच्चयार्थः एवशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ३० ॥

अथैतत्त्रयस्य पृथक् साधनविशेषमाह ॥ अष्टधेति ॥ दिने दिने प्रतिदिनं । यामे यामे प्रहरे प्रहरे पौनःपुन्ये द्विर्वचनं

। अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते। चशब्दोऽवधारणे।
एतत्त्रयमित्यत्रापि संबध्यते। कीदृशं पुण्यसंभारः
समूहस्तस्य संधायि विधायि पुनः कीदृशं पापानामोघः
पूरः समूह इति यावत्। तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं
सदा सर्वदा यदाभ्यस्तं तदैव पापनाशनं॥

p. 87)

॥ मूल ॥

सम्यक् शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम्॥ ३१॥

अथ खेचरी॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा॥ भ्रुवोरंतर्गता
दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ ३२॥

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत् तावत्॥ सा
यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः॥ ३३॥

॥ टीका॥

सम्यक् संप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा

। एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्तरीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यं ॥ ३१ ॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह ॥ कपालेति ॥ कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात्। भ्रुवोरंतर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात्। सा खेचरी मुद्रा भवति। कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरंतर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धं ॥ ३२ ॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह ॥ छेदनेति ॥ छेदनं अनुपदमेव वक्ष्यमाणं। चालनं हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनं दोहः करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनं तैः कलां जिह्वां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् तावत्। कियत्। यावत् सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥ ३३ ॥

p. 88)

॥ मूल ॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रम् सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥ समादाय

ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥

ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत् ॥ पुनः
सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

॥ टीका ॥

तत्साधनमाह ॥ स्नुहीति ॥ स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं
स्नुहीपत्रेण सदृशं स्नुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं
स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं
छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः
शस्त्रग्रहणानंतरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं
समुच्छिन्नेत्सम्यगुच्छिनेच्छिद्यात् । रसनामूलशिरामिति
कर्माध्याहारः । मिश्रेयाप्यथ सिंहुंडो वज्रस्नुक् स्त्री स्नुही
गुडेत्यमरः ॥ ३४ ॥

ततश्छेदनानंतरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां
सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकीं
ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षयेच्छिन्नं शिराप्रदेशं

। सप्तदिनपर्यंतं छेदनं सैंधवपथ्याभ्यां घर्षणं
च सायंप्रातर्विधेयं। योगाभ्यासिनो
लवणनिषेधात्खदिरपथ्याचूर्णं गृह्णंति। मूले
सैंधवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण
। सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते
सति अष्टमे दिन इत्यर्थात्। ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः।
पूर्वं छेदनापेक्षयाधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ ३५॥

एवमिति॥ एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं
सप्तदिनपर्यंतं तावदेव सायंप्रातश्छेदनं

p. 89)

॥ मूल॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्॥ सा भवेत्
खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते॥ ३७॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति॥
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः॥ ३८॥

॥ टीका॥

घर्षणं च। अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण
षण्मासं षण्मासपर्यंतं नित्ययुक्तः सन्
समाचरेत्सम्यगाचरेत्। छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः।
षण्मासादनंतरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो
रसनामूलं तत्र या शिरा कपालकुहररसनासंयोगे
प्रतिबंधिकाभूता नाडी तया बंधो बंधनं प्रणश्यति
प्रकर्षेण नश्यति॥ ३६॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह॥ कलामिति॥
कलां जिह्वां पराङ्मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां
पराङ्मुखीं प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां
पंथाः त्रिपथस्तस्मिन् त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्संयोजयेत्
। सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते
। व्योमचक्रशब्देनोच्यते॥ ३७॥

अथ खेचरीगुणाः॥ रसनामिति॥ ऊर्ध्वं तालूपरि विवरं
गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं
क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि
खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः
सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते।
व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा
वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते।

उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा। क्षणशब्दो व्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यत इति नानार्थः॥ ३८॥

p. 90)

॥ मूल॥

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा॥ न च मूर्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥ ३९॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा॥ बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥ ४०॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता॥ तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता॥ ४१॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः॥ न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याश्लेषितस्य च॥ ४२॥

॥ टीका॥

न रोग इति॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तंद्रा तामसांतःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न क्षुधा न

तृषा पिपासा न मूर्छा चित्तस्य
तमसाभिभूतावस्थाविशेषश्च न भवेत्॥ ३९॥

पीड्यत इति॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना
न योज्यते॥ ४०॥

चित्तमिति॥ यस्माद्धेतोश्चित्तमंतःकरणं खे
भ्रुवोरंतरवकाशे चरति जिह्वा खे तत्रैव गता सती चरति।
तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा
। नामेति प्रसिद्धावव्ययं। सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता। खे
भ्रुवोरंतर्व्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा
खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता। उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु
व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न
दोषाय॥ ४१॥

खेचर्येति॥ येन योगिना खेचर्या मुद्रया लंबिकाया ऊर्ध्वमिति
लंबिकोर्ध्वतः॥

p. 91)

॥ मूल॥

चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम्॥ व्रजत्यूर्ध्वं

हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥ मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ॥

॥ टीका ॥

सार्वविभक्तिकस्तसिः । लंबिका तालू तस्या ऊर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितं । कामिन्या युवत्याश्लेषितस्यालिंगितस्यापि । च शब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिंदुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

चलित इति ॥ चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिंदुर्यदा यस्मिन् काले योनिमंडलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुंचनरूपया । एतेन वज्रोली मुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याकर्षणशक्त्याहृतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति । सुषुम्नामार्गेण बिंदुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्व इति ॥ ऊर्ध्वालंबिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य

लंबिकोर्ध्वविवरगलितचंद्रामृतस्य पानं सोमपानं यः
पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं
तेन मासार्धेन पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभिभवति । न
संदेहः निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

नित्यमिति ॥ यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं
सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृतपूर्णं

p. 92)

॥ मूल ॥

तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥

इंधनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ॥ तथा
सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥ ४६ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥ कुलीनं तमहं
मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

॥ टीका ॥

तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः

शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति

॥ ४५ ॥

यथा वह्निः इंधनानि काष्ठादीनि न मुंचति दीपको दीपः

तैलवर्तिं च तैलयुक्तां वर्तीं न मुंचति। तथा

सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृतापूर्णं देहं शरीरं देही

जीवोम मुंचति न त्यजति ॥ ४६ ॥

गोमांसमिति ॥ गोमांसपरिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो

भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां

पिबेत्तं योगिनं। अहमिति ग्रंथकारोक्तिः। कुले जातः कुलीनः

तं सत्कुलोत्पन्नं मन्ये। तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते।

कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत्। जायते योगवान्

यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत्॥

दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान्।

भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणां॥

ब्रह्मांडपुराणे।

गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च।

ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥

राजयोगे वामदेवंप्रति शिववाक्यं ।

राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः। तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनं ॥

दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः। अज्ञा मुक्तिपदं यांति किंपुनस्तत्परायणाः ॥

अंतर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः।

p. 93)

॥ मूल ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥ गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ॥ चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥

चुंबंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पंदिनी सक्षारा

॥ टीका ॥

त्वया मयाप्यसौ बंधः शेषैर्वेद्यस्तु किं पुनरिति।
कूर्मपुराणे।

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा। ये युंजते
महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वरा इति॥

इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता
अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः सत्कुले जातस्य जन्मनो
वैय्यर्थ्यात्॥ ४७॥

गोमांसशब्दार्थमाह॥ गोशब्देनेति। गोशब्देन गो-इत्याकारकेन
शब्देन गोपदेनेत्यर्थः। जिह्वा रसनोदिता कथिता। तालुनीति
सामीपिकाधारे सप्तमी। तालुसमीपोर्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः
प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु
तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां
स्वर्णस्तेयादीनां नाशनं॥ ४८॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह॥ जिह्वेति॥ जिह्वायाः प्रवेशो
लंबिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात् संभूतो यो वह्निरुष्मा

तेनोत्पादितो निष्पादितः। अत्र वह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते।
यः सारः चंद्राद्भ्रुवोरंतर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति
सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत्॥ ४९॥

चुंबंतीति॥ यदि चेल्लंबिकाग्रं लंबिकोर्ध्वविवरं
चुंबंती स्पृशंती। अनिशं निरंतरं।

p. 94)

॥ मूल॥

कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा॥ व्याधीनां
हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं तस्य
स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम्॥ ५०॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं
हठादूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन्
॥ उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेन्निर्व्याधिः
स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति॥ ५१॥

॥ टीका॥

अत-एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्पंदः स्पंदनं

प्रस्रवणमस्यामस्तीतिरसस्पंदिनी यस्य जिह्वा। क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा कटुकं मरिचादि आम्लं चिंचाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना। मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा। तथाशब्दः समुच्चये। एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वात्स्निग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्पंदने तथात्वमुक्तं। तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अंतकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वामिमुखागमनं तस्योदीरणं निवारणं। अष्टौ गुणा आणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्वममरभावः सिद्धानामंगनाः सिद्धांगनाः सिद्धाश्च ता अंगनाश्चेति वा तासामार्षणमाकर्षणशक्तिः स्यात्॥ ५०॥

मूर्ध्न इति॥ रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य। उर्ध्वमुत्तानमास्यं यस्य सः।

p. 95)

॥ मूल ॥

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं तस्मिंस्तत्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्॥ चंद्रात्सारः स्रवति

वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा
कायसिद्धिः ॥ ५२ ॥

॥ टीका ॥

ऊर्ध्वास्य इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता। परां शक्तिं
कुंडलिनीं चिंतयन् ध्यायन् सन् प्राणान्साधनभूतान्।
षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं
कंठस्थाने वर्तमानं तस्मिन् गलितं
हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तंविमलं निर्मलं धारामयं
धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरंगं च तत्कलाजलं सोमकलारसं
यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्
स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता विविधा आधिर्मानसी व्यथा
यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं विसमिव कोमलं मृदु वपुः
शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं
जीवति प्राणान् धारयति। हठाद्धठयोगात्।
प्राणात्साधनभूतादवाप्तमिति वा योजना। प्राणैरिति
क्वचित्पाठः ॥ ५१ ॥

यत्प्रालेयेति ॥ मरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्ना मेरुस्तस्य
मूर्धोपरिभागस्तस्यांतरे मध्ये तिष्ठतीति
मेरुमूर्धांतरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं

निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरं तस्मिन्विवरे
सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्वा धीर्बुद्धिर्यस्य
सः। तत्वमात्मतत्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति। तस्याः
शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थित इति श्रुतेः। आत्मनो
विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्वमित्युक्तं।

p. 96)

॥ मूल ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्त्रोतः समन्वितम्॥ तिष्ठते
खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजने॥ ५३॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी॥ एको देवो
निरालंब एकावस्था मनोन्मनी॥ ५४॥

॥ टीका ॥

निम्नगानां
गंगायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्यानामिडापिंगला
सुषुम्नागांधारीप्रभृतीनां तत्तस्मिन्विवरे तत्समीपे
मुखमग्रमस्ति चंद्रात्सोमाद्वपुषः शरीरस्य सारः स्त्रवति
क्षरति तेन चंद्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां

मृत्युर्मरणं भवति। अतोहेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात्। सुकरणे बद्धे चंद्रसारस्त्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः। अन्यथा सुकरणबंधनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात्॥ ५२॥

सुषिरमिति॥ पंच यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैः समन्वितं सम्यगनुगतं। सप्तस्रोतःसमन्वितमिति क्वचित्पाठः। ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेंऽजनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्तन्निरंजनं तस्मिन्निरंजने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति। प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्चेत्यात्मनेपदं॥ ५३॥

एकमिति॥ सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यं। तदुक्तं मांडूक्योपनिषदि। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति। खेचरी मुद्रा एका मुख्या। निरालंब आलंबनशून्य एको मुख्यो देवः। आलंबनपरित्यागेनात्मनः स्वरूपावस्थानात्। उन्मन्यवस्थैका मुख्या। एके मुख्यान्यकेवला इत्यमरः। बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः॥ ५४॥

p. 97)

॥ मूल ॥

अथोड्डीयानबंधः ॥

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगः ॥ उड्डीयानं
तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥ उड्डीयानो
ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ ५७ ॥

॥ टीका ॥

उड्डीयानबंधं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह ॥
बद्ध इति ॥ यतो यस्माद्धेतोर्येन बंधेन बद्धो निरुद्धः
प्राणः सुषुम्नायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्नां
विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बंधो
योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिरुड्डीयनमाख्याभिधा यस्य स
उड्डीयनाख्यः समुदात्द्दतः सम्यग्व्युत्पत्योदात्द्दतः कथितः
। सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनं ।

उत्पूर्वाड्डीङ्विहायसा गतावित्यस्मात्करणे ल्युट् ॥ ५५ ॥

उड्डीनमिति ॥ महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः।
सर्वदा देहावकाशे गतिमत्वात्। यस्माद्बंधादविश्रांतं
यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते।
सुषुम्नायामित्यध्याहार्यं। तदेव
बंधविशेषमुड्डीयानमुड्डीयाननामकं स्यात्। तत्र
तस्मिन्विषये बंधोऽभिधीयते बंधस्वरूपं कथ्यते मयेति
शेषः ॥ ५६ ॥

उड्डियानबंधमाह ॥ उदर इति ॥ उदरे तुंदे नाभेरूर्ध्वं
चकारादधः उपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं
पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा
पृष्ठसंलग्नौ स्यातां तथा तानं ताननंनामाकर्षणं
कारयेत्कुर्यात्। णिजर्थोऽविवक्षितः। असौ
नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्ताननरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो
बंधः। कीदृशः मृत्युरेव मातंगो गजस्तस्य केसरी सिंहः
सिंह इव निवर्तकः ॥ ५७ ॥

p. 98)

॥ मूल ॥

उड्डियानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥ अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥

सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥ उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

॥ टीका ॥

उड्डीयानं त्विति ॥ गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिर्गमनं । सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात् । यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरंतरमभ्यसेत् । उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते । स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते ॥ ५८ ॥

नाभेरिति ॥ नाभेरुर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूपमुक्तं । अथ तत्प्रशंसा ।

षण्मासं षण्मासपर्यंतं। उड्डीयानमित्यध्याहारः।
अभ्यसेत्पुनःपुनरनुष्ठेत्स मृत्युं जयत्येव संशयो न। अत्र
संदेहो नास्तीत्यर्थः॥ ५९॥

सर्वेषामिति॥ सर्वेषां बंधानां मध्ये उड्डियानकः
उड्डियानबंध एव। स्वार्थे कप्रत्ययः। उत्तमः उत्कृष्टः
हियस्मादुड्डियाने बंधे दृढे सति स्वाभाविकी
स्वभावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत्। उड्डियानबंधे कृते
विहंगमगत्या सुषुम्नायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात्। समाधौ
मोक्षमाप्नोतीति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः॥ ६०॥

p. 99)

॥ मूल॥

अथ मूलबंधः॥

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते॥ ६१॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्॥ आकुंचनेन तं
प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः॥ ६२॥

गुदं पाष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ॥

॥ टीका ॥

मूलबंधमाह ॥ पार्ष्णिभागेनेति ॥ पार्ष्णेर्भागो
गुल्फयोरधःप्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं
गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं
पायुमाकुंचयेत्संकोचयेत् । अपानमधोगतिं
वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा
मूलबंधोऽभिधीयते कथ्यते । पार्ष्णिभागेन
योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुंचनं मूलबंध
इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

अधोगतिमिति ॥ यः अधोगतिं अधोऽर्वाग्गतिर्यस्यस तथा
तमपानमपानवायुमाकुंचनेन मूलाधारस्य संकोचनेन
बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं
सुषुम्नायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययं ।
योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबंधं मूलस्य मूलस्थानस्य
बंधनं मूलबंधस्तं मूलबंधमित्यन्वर्थं प्राहुः ।
अनेन मूलबंधशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य
बंधनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यं ॥ ६२ ॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबंधमाह ॥ गुदमिति ॥
पाष्ण्योर्गुल्फयोरधोभागेन गुदं वायुं संपीड्य सम्यक्
पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य

p. 100)

॥ मूल ॥

वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ॥ गत्वा योगस्य
संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥

॥ टीका ॥

विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो
वायुरूर्ध्वं सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन
प्रकारेण बलाद्धठाद्वारंवारं
पुनःपुनर्वायुमपानमाकुंचयेद्गुदस्याकुंचनेनाकर्षयेत् । अयं
मूलबंध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

अथ मूलबंधगुणानाह ॥ प्राणापानाविति ॥

प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वाधोगती वायू ।

नादोऽनाहतध्वनिः बिंदुरनुस्वारस्तौ मूलबंधेनैकतां

गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां

योगसंसिद्धिं यच्छतो ददतः । अभ्यासिन इति शेषः ।

अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न । संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं

भावः । मूलबंधे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय

सुषुम्नायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति ततो नादेन

सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिंदुना सहैक्यं

बिंदुनाधाय मूर्ध्नि गच्छतः । ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरिति ॥ सततं

मूलबंधनान्मूलबंधमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं

p. 101)

॥ मूल ॥

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥ ६५ ॥

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ॥ तदाऽनलशिखा

दीर्घा जायते वायुनाऽहता ॥ ६६ ॥

ततो यातो वह्नयपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ॥
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

॥ टीका ॥

भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति ।
वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

अपान इति ॥ मूलबंधनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे
ऊर्ध्वंगच्छतीत्यूर्ध्वगस्तस्मिन्तादृशे सति वह्निमंडले
वह्नेर्मंडलं त्रिकोणं नाभेरधोभागेऽस्ति । तदुक्तं
याज्ञवल्क्येन । देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभं ।
त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्त्रं चतुष्पदां । मंडलं तु
पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा
तिष्ठति पावके इति । तदा तस्मिन् काले वायुना अपानेनाहता
संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते
। वर्धत इति क्वचित्पाठः ॥ ६६ ॥

तत इति ॥ ततस्तदनंतरं वह्निश्चापानश्च वह्नयपानौ ।
उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं
शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो
गच्छतः । ततोऽनलशिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपकादिति वा

योजना। तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यंतमधिकं दीप्तो भवति। तथेति पादपूरणे। अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राणसंगत्याऽत्यंतं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः॥ ६७॥

p. 102)

॥ मूल॥

तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते॥ दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥ ६८॥

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत्॥ तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥ ६९॥

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्॥ बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः॥ ७०॥

॥ टीका॥

तेनेति॥ तेन ज्वलनस्यात्यंतं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुंडलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति। दंडेनाहता दंडाहता चासौ

भुजंगीव सर्पिणीव निश्वस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां
सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ ततो ऋजुताप्राप्त्यनंतरं बिलं विवरं
प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अंतरं
मध्यं गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबंधो
नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन् काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥
६९ ॥

जालंधरबंधमाह ॥ कंठमिति ॥ कंठे गले बिलमाकुंच्य
हृदये वक्षःसमीपे चतुरंगुलांतरितप्रदेशे चुबुकं हनुं
दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात्। अयं
कंठाकुंचनपूर्वकं
चतुरंगुलांतरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं
चुबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्या यत इति जालंधराख्यो
जालंधरनामा बंधः। कीदृशः जरा वृद्धावस्था
मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीति विनाशको
विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

p. 103)

॥ मूल ॥

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ॥ ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥

जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥ न पीयूषं पतत्यग्नौ न चा वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ॥

॥ टीका ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह ॥ बध्नातीति ॥ हियस्माच्छिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति । अधो गंतुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति । ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बंधः जालं दशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । किदृशः कंठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

जालंधरगुणानाह ॥ जालंधर इति ॥ कंठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोच आकुंचनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कंठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे

जालंधरसंज्ञके बंधे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ
जाठरेऽनले न पतति न सरति। वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति
नाड्यंतरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः॥ ७२॥

कंठसंकोचनेनेति॥ दृढं गाढं कंठसंकोचनेनैव
कंठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिंगले स्तंभयेदयं
जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः। इदं कंठस्थाने
स्थितं

p. 104)

॥ मूल ॥

मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम्॥ ७३॥

मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत्॥ इडां च
पिंगलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि॥ ७४॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्॥ ततो न जायते
मृत्युर्जरारोगादिकं तथा॥ ७५॥

॥ टीका ॥

विशुद्धाख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयं।
कीदृशं षोडशाधारबंधनं षोडशसंख्याका ये
आधारा अंगुष्ठाधारादिब्रह्मरंध्रांतास्तेषां बंधनं
बंधनकारकं। अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिंगनाभयः।
हृद्ग्रीवा कंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा। भ्रूमध्यं
च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकं। ऐते हि
षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः। तेष्वाधारेषु
धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धांतादवगंतव्यः॥
७३॥

उक्तस्य बंधत्रयस्योपयोगमाह। मूलस्थानमिति॥
मूलस्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुंच्य
सम्यगाकुंच्य उड्डियानं पश्चिमतानरूपं बंधं कारयेत्
कुर्यात्। णिजर्थोऽविवक्षितः। इडां पिंगलां गंगां
यमुनां च बध्वा। जालंधरबंधेनेत्यर्थः।
कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेदित्युक्तेः। पश्चिमे
पथि सुषुम्नामार्गे वाहयेद्गमयेत्प्राणमिति शेषः॥ ७४॥

अनेनेति॥ अनेनैवोक्तेनैव विधानेनैव पवनः प्राणो लयं
स्थैर्यं प्रयाति। गत्यभावपूर्वकं रंध्रे स्थितिः प्राणस्य
लयः। ततः प्राणस्य लयान्मृत्युर्जरारोगादिकं।

p. 105)

॥ मूल ॥

बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ॥ सर्वेषां
हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥

यत्किंचित्स्त्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ॥ तत्सर्वं
ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥ ७७ ॥

॥ टीका ॥

तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन
वलीपलिततंद्रालस्यादिकं ग्राह्यं ॥ ७५ ॥

बंधत्रयमिति ॥ इदं पूर्वोक्तं बंधत्रयं श्रेष्ठं
षोडशाधारबंधेऽतिप्रशस्तं
महासिद्धैर्मत्स्येंद्रादिभिश्चकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिः सेवितं
सर्वेषां हठतंत्राणां हठोपायानां साधनं
सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानंति ॥ ७६ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्घातत्वेन पिंडस्य
जराकरणं तावदाह ॥ यत्किंचिदिति ॥ दिव्यमुत्कृष्टं

सुधामयं रूपं यस्य स तथा

तस्माद्दिव्यरूपिणश्चंद्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यत्किंचिद्यत्किमप्य्

अमृतं पीयूषं स्रवते पतति तत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं

सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति। तदुक्तं

गोरक्षनाथेन। नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः।

अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमाः।

वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः। करणं तच्च

कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यत इति। तेन

सूर्यकर्तृकामृतग्रासनेन पिंडो देहो जरायुतः जरसा युक्तो

भवति॥ ७७॥

p. 106)

॥ मूल॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम्॥ गुरूपदेशतो

ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः॥ ७८॥

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी॥ करणी

विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥ ७९॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी॥ आहारो बहुलस्तस्य

संपाद्यः साधकस्य च॥ ८०॥

॥ टीका ॥

तत्रेति ॥ तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं
वंच्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं
वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति तद्गुरूपदेशतः गुरूपदेशाज्ज्ञेयं
ज्ञातुं शक्यं। शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव
ज्ञातुं शक्यं ॥ ७८ ॥

विपरीतकरणीमाह ॥ ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ ऊर्ध्वमुपरिभागे
नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधः अधोभागे तालु
तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन
ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति। अधः
अधोभागे शश्यमृतात्मा चंद्रो भवति। प्रथमांतपाठे तु
यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधः
शशी भवति। यदातदापदयोरध्याहारेणान्वयः। इयं
विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी।
ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरध-ऊर्ध्वकरणेनान्वर्था
गुरुवाक्येन गुरोर्वाक्येनैव लभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥ ७९ ॥

नित्यमिति ॥ नित्यं प्रतिदिनमभ्यासौँअभ्यसनं तस्मिन्
युक्तस्यावहितस्य जठराग्निरुदराग्निस्तस्य

p. 107)

॥ मूल ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ८१ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥ वलितं पलितं
चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥ याममात्रं तु यो
नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ८२ ॥

॥ टिका ॥

विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणं ।
तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनं बहुलो
यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । चपादपूरणे ॥ ८० ॥

अल्पाहार इति ॥ यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो
भोजनं यस्य तादृशो भवेत् स्यात् तदाऽग्निर्जठरानलो देहं
क्षणमात्राद् दहेत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः
ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरध-ऊर्ध्वकरणक्रियामाह ॥
अधःशिरा इति ॥ अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य

सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्य

बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यंताभ्यां बाहुभ्यां

स्कंधाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च

भूमिमवष्टभ्याधः शिरा भवेत्। ऊर्ध्वमुपर्यंतरिक्षे

पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं

क्षणमात्रं स्यात्॥ ८॥

दिने दिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणं

एकदिनवृध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात्॥

विपरीतकरणीगुणानाह॥ वलितमिति॥ वलितं चर्मसंकोचः

पलितं केशेषु शौक्ल्यं च। षण्णां मासानां समाहारः

षण्मासं तस्मादूर्ध्वमुपरि नैव

p. 108)

॥ मूल॥

अथ वज्रोली॥

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना॥ वज्रोलीं यो

विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम्॥ ८३॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्॥ क्षीरं

चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

॥ टीका ॥

दृश्यते नैवावलोक्यते । साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः ॥
यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु
कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत् । एतेन
योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्वमपि सूचितं । तदुक्तं
विष्णुधर्मे । स्वदेहारंभकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः ।
यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणमिति
विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तं । यथा
प्रारब्धकर्मतत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो
योगाभ्यासः प्रबलः । अत-एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां
स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यत इति । भागवतेऽप्युक्तं । देहं
जह्यात्समाधिनेति ॥ ८२ ॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह ॥ स्वेच्छयेति ॥
योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण
स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता
योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया
निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं
सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह ॥ तत्रेति ॥ तत्र वज्रोल्यभासे
वस्तुनोर्द्वयं वस्तुद्वयं

p. 109)

॥ मूल ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ॥ पुरुषोऽप्यथवा
नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ॥ शनैः शनैः
प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

॥ टीका ॥

वक्ष्ये कथयिष्ये । कीदृशं वस्तुद्वयं यस्यकस्यचित्
यस्यकस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं
दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा । दुःस्यात्कष्टनिषेधयोरिति
कोशात् ॥ किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह ॥ क्षीरमिति ॥
एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं
मेहनानंतरमिंद्रियनैर्बल्यात्तद्बलार्थं क्षीरपानं युक्तं
। केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः । तस्यांतर्गतस्य

घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तं । द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह ॥ मेहनेनेति ॥ मेहनेन स्त्रीसंगानंतरं बिंदोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथवा नार्यपि योषिदपि शनैर्मंदं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुंचनमूर्ध्वमुपर्याकुंचनं मेढ्राकुंचनेन विंदोरूपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुयात्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वांगप्रक्रियामाह ॥ यत्नत इति ॥ शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मंदं यथाग्नेर्धमनार्थं फुत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेंढ्रविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुनः पुनः कुर्वीत । अथ वज्रोलीसाधनप्रक्रिया ॥

p. 110)

॥ मूल ॥

नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्॥ चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृकृष्य रक्षयेत्॥ ८७ ॥

॥ टीका ॥

सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेंढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशांगुलमात्रां शलाकां कारयित्वा तस्या मेंढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत्। प्रथमदिने एकांगुलमात्रां प्रवेशयेत्। द्वितीयदिने द्व्यंगुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यंगुलमात्रां। एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशांगुलमात्रप्रवेशे मेंढ्रमार्गः शुद्धो भवति। पुनस्तादृशीं चतुर्दशांगुलमात्रां द्व्यंगुलमात्रवक्रामूर्ध्वमुखां कारयित्वा तां द्वादशांगुलमात्रां प्रवेशयेत्। वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यंगुलमात्रं बहिः स्थापयेत्। ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनीभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेंढ्रप्रवेशितद्वादशांगुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यंगुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात्। तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति। ततो जलस्य मेंढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत्। जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिंदोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसेत्। बिंद्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः। इयं जितप्राणस्यैव सिद्ध्यति नान्यस्य।

खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यक् भवति ॥ ८६ ॥

एवंवज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह ॥ नारीभग इति
॥ नारीभगे स्त्रीयोनौ

p. 111)

॥ मूल ॥

एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥ मरणं
बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥ ८८ ॥

सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ॥ यावद्बिंदुः स्थिरो
देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ८९ ॥

॥ टीका ॥

पततीतिपतन् पतंश्चासौ बिंदुश्च पतद्बिंदुस्तं पतद्बिंदुं
रतिकाले पतंतं बिंदुमभ्यासेन
वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत् ।
पतनात्पूर्वमेव । यदि पतनात्पूर्वं बिंदोराकर्षणं न स्यात्
तर्हि पतितमाकर्षयेदित्याह ॥ चलितं चेति ॥ चलितं नारीभगे
पतितं निजं स्वकीयं बिंदुं चकारात्तद्रजः

ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत् ॥ ८७ ॥

वज्रोलीगुणानाह ॥ एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या बिंदुं यः संरक्षयेत् सम्यक् रक्षयेत् स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं जयत्यभिभवति । यतो बिंदोः शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति । बिंदोर्धारणं बिंदुधारणं तस्माद्बिंदुधारणाज्जीवनं भवति । तस्माद्बिंदुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

सुगन्ध इति ॥ योगिनो वज्रोल्याभ्यासिनो देहे बिंदोः शुक्रस्य धारणं बिंदुधारणं तस्मात् सुगंधः शोभनो गंधो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद्बिंदुः स्थिरस्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

p. 112)

॥ मूल ॥

चित्तायतं नृणां शुक्रं शुक्रायतं च जीवितम् ॥
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदुं च रक्षयेत् ॥
मेंढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ॥ जले सुभस्म निक्षिप्य
दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

॥ टीका ॥

चित्तायतमिति ॥ हियस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायतं
चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनं जीवितं
जीवनं शुक्रायतं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणं
शुक्राधीनं तस्माच्छुक्रं बिंदुं मनश्च मानसं च
प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं
रक्षणीयमित्यर्थः । एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या इति ॥ एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः
सा-ऋतुमती तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं
स्वकीयं बिंदुं च रक्षयेत् । पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति ॥
मेंढ्रेणेति ॥ अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो
योगसाधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेंढ्रेण
गुह्येंद्रियेण सम्यग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् । रजो
बिंदुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः क्षिप्तः ॥ ९१ ॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह ॥

सहजोलिश्चेति ॥ वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च ।
तत्र हेतुः एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः ।
एकशब्दाद्भावप्रधानात्पंचम्यास्तसिः । सहजोलिमाह ॥
जलेष्विति ॥ गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि
च दग्धगोमयानि तेषु संभव

p. 13)

॥ मूल ॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम् ॥ आसीनयोः
सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥ अयं शुभकरो
योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ९४ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥ ९५ ॥

॥ टीका ॥

उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः
तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वोत्तर उत्तरश्लोकेनान्वेति ॥

९२ ॥

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनंतरं
सुखेनैवानंदेनैवासीनयोरुपविष्टयोः
क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ
मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च
स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं शोभनान्यंगानि
स्वांगानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कंधभुजादीनि तेषु
लेपनं ॥ ९३ ॥

सहजोलिरिति ॥ इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता
योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिः । कीदृशीं सदा श्रद्धेया सर्वदा
श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोल्याख्यो योग उपायः शुभकरः
शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः । योगः
संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिष्वित्यभिधानात् । कीदृशो योगः
भोगेन योक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

अयं योग इति अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते
पुण्यवंतः सुकृतिनस्तेषां

p. 14)

॥ मूल ॥

अथामरोली ॥

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय
निःसारतयांत्यधारा ॥ निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खंडमतेऽमरोली ॥ १६ ॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ॥
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ १७ ॥

॥ टीका ॥

पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं
पश्यंतीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां
मत्सरान्निष्क्रांता निर्मत्सरास्तेषां
निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेषरहितानां । मत्सरोऽन्यगुणद्वेष
इत्यमरः । तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत् ।
मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत् ॥ ९५ ॥

अमरोलीमाह ॥ पित्तोल्बणत्वादिति ॥ पित्तेनोल्बेणोत्कटा
पित्तोल्बणा तस्या भावः पित्तोल्वणत्वं तस्मात् । यथा प्रथमा
पूर्वा यांऽबुनः शिवांबुनो धारा तां विहाय

शिवांबुनिर्गमनसमये किंचित्पूर्वां धारां त्यक्त्वा।

निर्गतः सारो यस्याः सा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया

निःसारतया निसारत्वेनांत्यधारा अंत्या चरमा या धारा

तां विहाय किंचिदंत्यां धारां त्यक्त्वा। शीतला

पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा

निषेव्यते नितरां सेव्यते। खंडोयोगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य

स खंडमतस्तस्मिन् खंडमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन्

कापालिके खंडकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः। अमरोली

प्रसिद्धेति शेषः॥ ९६॥

अमरोलीमिति॥ अमरीं शिवांबु यः पुमान् नित्यं पिबेत्। नस्यं

कुर्वन् श्वासे

p. 115)

॥ मूल॥

अभ्यासान्निःसृतां चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत्॥

धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते॥ ९८॥

पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात्॥ यदि नारी

रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी॥ ९९॥

॥ टीका ॥

नामर्या घ्राणांतर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिनेदिने प्रतिदिनं
वज्रोलीं मेहनेन शनैरिति श्लोकेनोक्तां
सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीति कथ्यते। कापालिकैरिति शेषः।
अमरीपातामरी। नस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत
इत्यर्थः॥ ९७ ॥

अभ्यासादिति ॥ अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां
चांद्रीं चंद्रस्येयं चांद्री तां चांद्रीं सुधां
विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयोजयेत्। उत्तमांगेषु
शिरः कपालनेत्रस्कंधकंठहृदयभुजादिषु धारयेत्।
भस्ममिश्रितां चांद्रीमिति शेषः दिव्या
अतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या
दृष्टिर्यस्य सदिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते
। अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवांबुकल्यादवगंतव्याः॥ ९८
॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह ॥ पुंसो बिंदुमिति ॥
सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं
तस्मात्पुंसः पुरुषस्य बिंदुं वीर्यं समाकुंच्य
सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया

रक्षेत्। सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया। पुंसो बिंदुसमायुक्तमिति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणं॥ ९९॥

p. 116)

॥ मूल ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः॥ तस्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति॥ १०० ॥

स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ॥ वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः॥ १॥

॥ टीका ॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह॥ तस्या इति॥ तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः। अत्र संशयो न संदेहो न। तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादोत्हृदयोपरि बिंदुभावं गच्छति। बिन्दुनासहैकीभवतीत्यर्थः। अमृतसिद्धौ। बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवं। अनयोर्बाह्ययोगेन

सृष्टिः संजायते नृणां । यदाभ्यंतरयोगः स्यात्तदा
योगीति गीयते । बिंदुश्चंद्रमयः प्रोक्तो रजः सूर्यमयं
तथा । अनयोः संगमादेव जायते परमं पदं । स्वर्गदो
मोक्षदो बिंदुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा । तन्मध्ये देवताः
सर्वास्तिष्टंते सूक्ष्मरूपत इति ॥ १०० ॥

बिंदुरिति ॥ स पुंसो बिंदुस्तद्रजो नार्यारजश्चैव
वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय
मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥
१ ॥

p. 117)

॥ मूल ॥

रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ २ ॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥ अयं पुण्यकरो योगो
भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥ ३ ॥

अथ शक्तिचालनं ॥ कुटिलांगी कुण्डलिनी भुंजंगी
शक्तिरीश्वरी ॥ कुण्डल्यरुंधती चैते शब्दाः

पर्यायवाचकाः ॥ ४ ॥

॥ टीका ॥

रक्षेदिति ॥ या नार्याकुंचनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरिस्थाने नीत्वा रजो रक्षेत्। हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे। सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्यं च वस्तु वेत्ति जानाति ध्रुवमिति निश्चितं खेऽतरिक्षे चरतीति खेचर्यंतरिक्षचरी भवेत्॥ २॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहनत्वरूपां लभंते। अयं योगोवज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः। कीदृशो योगः भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः॥ ३॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्धाततया कुंडलीपर्यायान् तया मोक्षद्वारविभेदनादिकं चाह सप्तभिः॥ कुटिलांगीति॥ कुटिलांगी १ कुण्डलिनी २ भुजंगी ३ शक्तिः ४ ईश्वरी ५ कुण्डली ६ अरुंधती ७ चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः॥ ४॥

p. 118)

॥ मूल ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्। कुण्डलीन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥ ५॥

येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्॥
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥ ६॥

कंदोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्॥
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥ ७॥

॥ टीका ॥

उद्घाटयेदिति॥ यथा येन प्रकारेण पुनान् कुंचिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्बलात्कपाटमररमुद्घाटयेदुत्सारयेत्। हठादिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्र संबध्यते। तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुण्डलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्नामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत्। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेतीति श्रुतेः॥ ५॥

येनेति ॥ आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं
तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं
ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरंध्रं ।
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थित इति श्रुतेः । येन
मार्गेण सुषुम्नामर्गेण गंतव्यं गमनार्हमस्ति तद्द्वारं
तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुध्वा
परमेश्वरी कुण्डलिनी । प्रसुप्ता निद्रितास्ति ॥ ६ ॥

कंदोर्ध्व इति ॥ कुण्डली शक्तिः कंदोर्ध्वे कंदस्योपरिभागे
योगिनां मोक्षाय सुप्ता मूढानां बंधनाय सुप्ता ।
योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवंति ।
मूढास्तदज्ञानाद्बद्धास्तिष्ठंतीति भावः । तां
कुण्डलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतंत्राणां
कुंडल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

p. 119)

॥ मूल ॥

कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥ सा शक्तिश्चालिता
येन स युक्तो नात्र संशयः ॥ ८ ॥

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ॥ वलात्कारेण

गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥ १० ॥

॥ टीका ॥

कुण्डलीति ॥ कुंडली शक्तिः सर्पवद्भुजगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुंडली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबंधान्निवृत्तः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेतीति श्रुतेः ॥ ८ ॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्गंगायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गंगायमुने इडापिंगले तयोर्मध्ये सुषुम्नामार्गे तपस्विनीं निरशनस्थितेः । बालरंडां वालरंडाशब्दवाच्यां कुण्डलीं बलात्कारेण हठेन गृह्णीयात् । तत्तस्या गंगायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकं ॥ ९ ॥

गंगायमुनादिपदार्थमाह ॥ इडेति ॥ इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गंगा गंगापदवाच्या पिंगला दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या

p. 120)

॥ मूल ॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ॥ निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ ११ ॥

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ॥ प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ १२ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥

॥ टीका ॥

नडी । इडापिंगलयोर्मध्ये मध्यगता या कुण्डली सा बालरंडा बालरंडाशब्दवाच्या ॥ ११० ॥

शक्तिचालनमाह ॥ पुच्छे इति ॥ सुप्तां निद्रितां भुजंगीं

तां कुण्डलीनीं पुच्छे प्रगृहीत्वोद्बोधयेत्प्रबोधयेत्सा

शक्तिः कुण्डली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वं तिष्ठत

इत्यन्वयः। एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगंतव्यं ॥ ११ ॥

अवस्थिता इति ॥ अवस्थितार्वाक् स्थिता मूलाधारस्थिता

फणावती भुजंगी सा कुण्डली सूर्यादापूर्य

सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या

प्रगृह्य गृहीत्वा। सायं सूर्यास्तसमये प्रातः

सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं

प्रहरार्धं प्रहरार्धमेव प्रहरार्धमात्रं

मुहुर्तद्वयमात्रं परिचालनीया परितश्चालयितुं योग्या।

परिधानयुक्तिर्देशिकाद्बोध्या ॥ १२ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं

स्वरूपं चाह ॥ ऊर्ध्वमिति ॥

p. 121)

॥ मूल ॥

मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ १३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥

गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥ १४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ॥

॥ टीका ॥

मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरि नाभिमेढ्रयोर्मध्ये । एतेन कंदस्य स्थानमुक्तं । तथाचोक्तं गोरक्षशतके । ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत् । तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिरिति । याज्ञवल्क्यः । गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः । देहमध्यं तनोर्मध्यं मनुजानामितीरितं । कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलं । चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथा विधं । अंडाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः । चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगमिति । गुदाद्व्यंगुलोपर्येकांगुलं मध्यं तस्मान्नवांगुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशांगुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातं । चतुर्णामंगुलीनां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलप्रमाणं विस्तारं । विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणं । चतुरंगुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं

यदंबरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितं। कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ १३ ॥

सतीति ॥ वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रंथी तयोर्देशौ प्रदेशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि। तद्ग्रंथी घुटिके गुल्फावित्यमरः। पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात्। चकाराद्धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर् ।एण पीडयेत्। गुल्फादूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधो भागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥ १४ ॥

वज्रासन इति ॥ वज्रासने स्थितो योगी कुण्डलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां

p. 122)

॥ मूल ॥

कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत्॥ १५॥

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः॥

मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ १६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥ ऊर्ध्वमाकृष्यते
किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ १७ ॥

तेन कुण्डलीनि तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम् ॥ जहाति
तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

कृत्वेत्यर्थः। अनंतरं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रां
भस्त्राख्यं कुम्भकं कुर्यात्। एवं रीत्या कुण्डलीं
शक्तीमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात्। वज्रासने
शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं
शक्तिचालनानंतरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति
नियमार्थं ॥ १५ ॥

भानोरिति ॥ भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुंचनं कुर्यात्।
नाभेराकुंचनेनैव तस्याकुचनं भवति। ततो
भानोराकुंचनात्कुंडलीं शक्तिं चालयेत्। मृत्योर्वक्त्रं
मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं
कुतः। न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ १६ ॥

मुहूर्तद्वयमिप्ति ॥ मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यन्तं तदवधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ १७ ॥

तेनेति ॥ तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुण्डली तस्याः प्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेश-

p. 123)

॥ मूल ॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥ तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ १९ ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥ मंडलादृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥ २१ ॥

॥ टीका ॥

मार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति।
तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतः स्वयमेव सुषुम्नां
व्रजति गच्छति। सुषुम्नामुखात्प्रागेव कुंडलिन्या
निर्गतत्वादिति भावः॥ १८॥

तस्मादिति॥ यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणः सुषुम्नां व्रजति
तस्मत्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं
शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत्। तस्याः
शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः
कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति॥ १९॥

येनेति॥ येन योगिना शक्तिः कुंडली संचालिता स योगी
सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति। अत्रास्मिन्नर्थे
बहूक्तेन बहुप्रशंसनेन किं। न किमपीत्यर्थः। कालं
मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः॥
२०॥

ब्रह्मचर्येति॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन्
रतस्य तत्परस्य नित्यं

p. 124)

॥ मूल ॥

कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ २२ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ॥ कुतः
प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥ २३ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ॥

॥ टीका ॥

सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य
कुंडल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति
स तथा तस्य मंडलाचत्वारिंशद्दिनात्मकादनंतरं सिद्धिः
प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ।
नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चंद्राभ ।
हृ् परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकायास्ततः । छित्वा
कालविशालवह्निवशगंभ्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते
पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत् ॥ २१ ॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा ।

अथानंतरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात्।

नित्यं प्रतिदिनं। एवमुक्तप्रकारेणाभ्यसतो यमिनो योगिनो

यमभीर्यमाद्भयं कुतः। नकुतोऽपीत्यर्थः। योगिनो

देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यं॥ २२॥

द्वासप्तती द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि

सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां

नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति

कुंडल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः

प्रक्षालनोपायः। न कुतोऽपि। शक्तिचालनाभ्यासेनैव

सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः॥ २३॥

इयं त्विति॥ इयं मध्यमा नाडी सुषुम्ना योगिनां

दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि

p. 125)

॥ मूल॥

आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत्॥ २४॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना॥ रुद्राणी वा

यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति॥ २५॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ॥ राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ २४ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वांतःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाभ्यासे मनः स्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषां। निद्रापदमालस्योपलक्षणं। अनलसानामित्यर्थः। रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथवा परान्या उन्मन्यादिका भद्रां शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति। एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः॥ २५॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह ॥ राजयोगमिति ॥ वृत्यंतरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृती राजयोगः। हठं विनाराजयोग इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते पृथ्वीशब्देन

स्थैर्यगुणः राजयोगादासनं लक्ष्यते। राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धेरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः। राजयोगं विना निशेव निशा कुंभको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात्। निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुंभको लक्ष्यते। राजयोगः विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्रापि विविधापि विलक्षणापि वा न राजते न शोभते। पक्षांतरे। राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबंधस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते। शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात्। राजा

p.126)

॥ मूल ॥

मारूतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्॥ इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा॥ २७॥

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना॥ एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी॥ २८॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम्॥ स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः॥ २९॥

॥ टीका ॥

चंद्रः। सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजेति श्रुतेः। तस्य योगं संबंधं विना निशा रात्रिर्न राजते। राजयोगं विना नृपसंबंधं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिन्हविशेषः। विचित्रापि। पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि। निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि। मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्रापि न राजते॥ २६॥

मारुतस्येति॥ मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुंभकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत्। मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या॥ २७॥

मुद्रा उपसंहरति॥ इतीति॥ आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन। इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः। तासु मुद्रासु मध्ये एकैकापि प्रत्येमकपि याकाचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्यणिमादिप्रदात्री वा॥ २८ ॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति ॥ उपदेशमिति ॥ यः

पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां

p. 127)

॥ मूल ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ॥ अणिमादिगुणैः

सार्धं लभते कालवंचनम् ॥ १३० ॥

इति श्रीस्वात्मरामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां

मुद्राविधानंनाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरंपरारूपादागतं

सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति । स एव स पुमानेव

श्रीगुरुः श्रीमन् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः ।

स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः ।

ईश्वराभीन्न एव स इत्यर्थः ॥ २९ ॥

तस्येति ॥ तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो

हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः सशैलव
नधात्रीणां यथाधारोहिनायकः सर्वेषां योगतं
त्राणां तथाधारोहि कुण्डली सुप्ता गुरुप्रसादेन बो
धिता सुखदा भवेत् तथा सर्वाणि पद्मानि भिद्यं
न्ते ग्रन्थयोपि च प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजप
थायते तथा चित्तं निरालंबं तथा कालस्य वंचनं
शून्यपदवीति किं सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं
महापथः श्मशानी शांभवी मध्यमार्गः श्चेत्येकवा
चकाः तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तां बोधयितुमीश्वरम् ब्र

प्राणस्य शून्य
पदवीति ...

एकार्थवाच
कइत्यर्थः

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

ब्रह्मद्वारे सुप्ते सुप्ता मुद्राभ्यासेन बोधयेत् महामु
द्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी उड्डियानं मूल
बंधो बंधो जालंधराभिधः करणी विपरीताख्या
वज्रोली शक्तिचालनं एतद्धि मुद्रादशकं जराम
रणवर्जितं आदीश्वरोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदाय
कम् वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि गो
पनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकं कस्यचिन्नैव व
क्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा महामुद्रा पादमूले
न वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणं पादं प्रसारितं

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangot

ष्टत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखे कण्ठे बंधं समारोप्य धारयेद्वा
युमूर्ध्वतः यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् तथा
सा मरणावस्थां हरते द्विपुटाश्रया नहि पथ्यमप
थ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः अपि भुक्तं विषं घोरं पी
यूषमपि जीर्यते चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे तु स
मभ्यसेत् यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जये
त् ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्न तु वेगतः इयं खलु म
हामुद्रा महासिद्धैः प्रशंस्यते महाक्लेशा महादोषा
क्षीयन्ते मरणादयः क्षयकुष्ठगुदावर्त्तगुल्माजीर्णञ्च

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

मलमग्रं तु केषांचि कण्ठबन्धो विवर्जयेत
राजदन्तस्य जिह्वाया बन्धः प्रशस्तो भवेदिति

शस्तया तस्य दोषा नश्यन्ति महामुद्रां तु योभ्यसेत
कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी गोपनी
या प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् महाबन्धः पा
र्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् वामोरु
परि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा पूरयित्वा मुखेना
युं हृदये चिबुकं दृढम् निपीड्य योनिमाकुंच्य मनो मध्ये
नियोजयेत् रेचयेच्च शनैरेव महाबंधोयमुच्यते अ
यं त्वेतु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः कालपा
शमहाबंधे विमोचने विचक्षणः अयं तु सर्वनाडी
नामूर्ध्वंगमनरोधकः त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं श

हृ प्र

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangot

पथेन्मनः महावेधः रूपलावण्यसंपन्ना यथा
स्त्री पुरुषं विना महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ
वेधवर्जितौ महावेधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमे
कधीः वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः २८
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः सोमसूर्या
ग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै मृतावस्था समु
त्पन्ना ततो वायुभयं कुतः महावेधोयमभ्यासा
न्महासिद्धिप्रदायकः वलीपलितवेपघ्नः सेव्य
ते साधकोत्तमैः एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युवि

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

कृ प्रि

विनाशनं वह्निदाहकरं चैव दामिकादिगुणप्रदं
यथा क्रियते चैव यामयामे दिने दिने पुण्यसं
भारसंपादि पापौघभिञ्जं सदा सम्यक्शिक्षा
वनामेवस्वल्पं प्रथमसाधने वह्निदीपनमेवा
नामादौ वर्जनमाचरेत् खेचरी छेदनचालन
दोहैर्जिह्वां चैव वर्धयेत्तावत् यावदियं भ्रूमध्यं स्पृ
शति तदा खेचरी सिद्धिः कपालकुहरे जिह्वा
प्रविष्टा विपरीतगा भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भ
वति खेचरी कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे पारेव
र्धयेत् सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते

६३

२२

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

स्मरणामृतं गोकृत्वा त्वमर्थं यविलिए
त्रि विद्यैर्वैष्णवैर्योगीश्वरैर्मुनिजना
श्रितः २४ नतोस्मि सर्वतत्त्वानां नित्या
नन्दधाननन्त नमस्ते ज्ञानरूपेषु त्वमेवेश्वरो
गुहावेश्मनि विवरे २५ विश्वेश्वरानिले
वर्षा जितक्रा चरनि विगतो नैवेव
वरीकुरु सर्वसिद्धैर्नमस्कृता २८ व
वर्षोद्रिते पर्वविवरे लक्ष्मिकार्यतः

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

ननस्थूलतनेबिंदुःकामिमात्रेषिनस्य
व ३१ बलिनोपिपदार्थबिंदुःसंज्ञाश्रे
पिक्षनाशनम बलमूर्तैर्दिनक्षयप्रमित
द्वियोगनिपुण ३२ ऊर्ध्वजिकःसिद्धेप
त्वात्सम्प्रमाणेकरोति: मासार्थैवनसैदे
दोस्त्वंनयतियोगमित ३३ लिंगलोम
केलाण्मांशानीरंसमूलकोपिनः लक्ष्ममेना
पिरयमविषलस्थानसर्गति ३४ इंधनानि

दे॰ प्र॰ २८

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow; Digitized by eGangotri

स संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः अपानप्राणयो
रैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः युवा भवति वृद्धोपि
सततं मूलबंधनात् अपाने चोर्ध्वगे जाते संप्रा
प्ते वह्निमण्डले तथानलशिखा दीर्घा वर्धते वा
युनाहता ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरू
पकं तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ते
न कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबोध्यते दंडाहता
भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् तस्मान्नित्यं मूलबं
धः कर्तव्यो योगिभिः सदा उड्डीयानबंधः बद्धो
येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डयते नरः तस्मादुड्डीय

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

मानोसौयोगिभिःसमुदाहृतः उड्डीनंकुरुते
यस्मादविश्रांतंमहाखगः उड्डीयानंतदेवस्यान्त्र
ल।बंधोभिधीयते उदरेपश्चिमेतानेनाभेरूर्ध्व
चकारयेत् उड्डीयानोह्ययंबंधोमृत्युमातंगके
सरी उड्डीयानंतुसहजंगुरुणाकथितंयथा
अभ्यसेत्सततंयस्तुवृद्धोपितरुणायते नाभेरूर्ध्व
मधश्चापितानंकुर्यात्प्रयत्नतः षण्मासमभ्य
सेन्मृत्युंजयत्येवनसंशयः सतिवज्रासनेपादौ
कराभ्यांधारयेद्दृढम् गुल्फदेशसमीपेचस्थित कंदं
तत्रप्रपीडयेत् पश्चिमंतानमुदरेकारयेच्चिबुकेहृदी

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

शनैः शनैर्यथा प्राणस्तु दुसिद्धिं च गच्छति। सर्वेषामे
व बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः। उड्डीयाने कृते बंधे मु
क्तिः स्वाभाविकी भवेत्। जालंधरबंधः। कण्ठमाकुंच्य
हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया बंधो जालंधराख्योयम
मृतनाशकारकः। बध्नाति हि शिरोजालमधोगामि न
भोजलम्। ततो जालंधरो बंधः कण्ठदुःखौघनाश
नः। जालंधरे कृते बंधे कण्ठसंकोचलक्षणे। न पीयूषं
पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति। कण्ठसंकोचनेनैव द्वे
नाड्यौ स्तंभितेध्रुवे। मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधार
बंधनम्। इडा च पिंगला बद्धा वाहयेन्मध्यमे पथम्

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

मानो मौ योगिभिः समुदाहृतः उड्डीनं कुरुते
यस्मादविश्रांतं महाखगः उड्डीयानं तदेव स्यात्
त्र बंधोभिधीयते उदरे पश्चिमे तानं नाभेरूर्ध्वं
च कारयेत् उड्डीयानो ह्ययं बंधो मृत्युमातंगके
सरी उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं यथा
अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोपि तरुणायते नाभेरूर्ध्व
मधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः षण्मासमभ्य
सेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः सति वज्रासने पादौ
कराभ्यां धारयेद्दृढम् गुल्फदेशसमीपे च कंदं
तत्र पीडयेत् पश्चिमं तानमुदरे कारयेच्चिबुके हृदी

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

ग्रनेनैव विधानेन सेवयेत्पवनालयम् ततो नश्यायते
मृत्युर्जरारोगादिकं तथा विपरीतकरणी यत्किंचि
त्स्रवते चंद्राद्दृष्टं तद्दिव्यरूपि च तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो
विनाशवत् तत्रोत्तिकरणं दिव्यं सूर्यस्य तु विबंधनम् गुरुपदे
शतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ऊर्ध्वनाभिरधस्ता
लुरूर्ध्वं भानुरधः शशी करणी विपरीताख्या सर्वव्या
धिविनाशिनी नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविव
र्धिनी आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य
तु अनाहारो यदि भवेद्दाग्निर्देहं दहेत्क्षणात् अधः
शिरः ऊर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने क्षणाद्धं

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangot

किंचिदधिकमभ्यसेद्दिनेदिने वलितंपलितंचै
वषण्मासार्धेननश्यति याममात्रंतुयोनित्यमभ्यसे
त्सतुकालजित् अथवज्रोल्यावज्रोलीग्रन्थांतेलिखि
तावर्ततेक्रमप्राप्ताप्यत्यन्तासाधारणप्राप्य
नुपेयत्वान्नस्याः शक्तिचालनं कुटिलांगी
कुण्डलिनीभुजंगीशक्तिरीश्वरी कुण्डल्यरुन्धती
चैतेशब्दाःपर्यायवाचकाः॥ कुण्डलिन्यातथा
योगीमोक्षद्वारंविभेदयेत् येनद्वारेणगंतव्यं
ब्रह्मस्थानंनिरामयं मुखेनाच्छाद्यतेद्वारंप्रसुप्ताप

५+

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

उह्यान्दे येन्क्रपादं तु यथा ऊं विकथाइगन ऊंएं लि
रमेश्वरी कएंठोर्ध्वे ऊंएं लीशक्तिर्दुहामोक्षाय
योगिनां बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योग
वित् ग्रं भोधिद्वीप शेत्नाना माधारः शेषउं
एं ली ग्रशेषयोगनेत्राणामाधारः ऊं एं ली
नेथा ऊं एं ली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्ति
ता सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः
गंगा यमुनयो मध्ये बालरण्डां तपस्विनी
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम्

२८

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च तां निद्रां विहा
य सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्॥ परिस्थिता चैव
फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्॥ प्रपूर्य सूर्या
त्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया॥
वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारं चतुरंगुलं मृदुलं
धवलं प्रोक्तं वेष्टनांबरलक्षणं॥ वज्रासनस्थि
तो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्॥ सूर्यभेद
नं सूर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः॥ मृत्युवक्त्रगत
स्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः॥ भानोराकुंचनं कु

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

र्यान्तु कुण्डलीं चालयेत्ततः । मूलपङ्कजगतस्यापितस्य सू
न्सुभयं कृतः । नासाग्रदक्षिणचर्मगाहि पवनोद्वालेनि
दीर्घीकृतश्चेद्धंततः परिक्षिप्य सुरितन्तुः श्रान्त्वालिका
यास्तथा भिन्द्यात्कालविशालचक्रिविशगान्धूरं
धनाडीगणं संकार्यं कुरुते पुनर्नयनं जीर्णकुम्भसो
प्यवत् कुण्डलीं चालयित्वा तु कुर्यात्कुण्डलीं विशेषतः
एवमभ्यासतो नित्यं यमिनः शंकते यमः । तदाभ्यासे
त्सर्वभेदसुज्ञायी चापि शीतलीम् । एवमभ्यासयु
क्तस्य यमस्तु यमिनः कृतः । मुहूर्तद्वयपर्यन्तं नि
र्भयं चालनादसौ ऊर्ध्वमाकृष्यते स्वेदनिन्द्यं हितामि

६४

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

नाशिनु: मण्डलाद्दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्याभ्यासयोग
तः ।छिद्रसप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं कुतः
प्रक्षालनोपायः कुण्डल्याभ्यासतो विना इति मुद्राण
च प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना एकैकातासु यमिनां
महासिद्धिप्रदायिनी राजयोगं विना पृथ्वी राजयो
गं विना निशा राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न रा
जते मारुतस्य विधिं सिद्धं मनोयुक्तं समभ्यसेत्
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ।विलापिम
ध्यमा नाडी हठाभ्यासेन योगिनां आसनप्राणसंय
मैः मुद्राभिः सरला भवेत् तथासनविनिद्राणां गंश

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

ज्योगः समाकुलः ८ इत्येता परा मुद्रा भक्तो सिद्धिं प्र
यच्छति उपदेशं हि मुद्राणां यो धत्ते सांप्रदायिकीम्
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः तस्य वा
क्यपरो भूत्वा योऽभ्यस्यति समाहितः अणिमादिगु
णैश्वर्यं जायते कालवंचनं इति हठप्रदीपिकायां
तृतीयोपदेशः नमः शिवाय गुरवे नादबिंदु
कलात्मने निरंजनपदं याति यत्र नित्यं परायणः
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रमलक्षणं मृत्यु
घ्नं तु सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं परं सलिले सैंधवं य
द्वत्साम्यं भजति योगतः तथात्ममनसोरैक्यं समा

ह प्र
३०

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

घे॰सं॰ ६

रंविदुः ३६ जंघोरूभ्यांधरांपीड्यस्थिरकायोद्विजानुना जानूपरिकरयुग्मंगरुडासनं
मुच्यते ३७ याम्यगुल्फेपादमूलंवामपादेतथेपादेतरम् विपरीतःस्पृशेद्भूमिंवृषाभा
सनमिदंभवेत् ३८ अधास्यशेतेपदयुग्मवद्धंभूमिमवष्टभ्यकरयोर्तलाभ्यांपादौ
चशून्येचवितस्तिचोर्द्ध्वंवदन्तिपीठंशलभंमुनीन्द्राः ३९ अधास्यशेतेहृदयंनिधा
यभूमौचपादौचप्रसार्य्यमानौशिरंशनैश्चाग्रंकरदंडयुग्मन्देहाग्निकारंमकरा
सनंतत् ४० अधास्यशेतेपदयुग्मव्यस्तःपृष्ठेनिधायापिधृतंकराभ्यांआकुंच
येच्चमंगुदवामगाढं उष्ट्रंचपीठंयोगिनोवदन्ति ४१ अंगुष्ठनाभिपर्यन्तमधोभूमौ
चविन्यसेत् करतलाभ्यांधरांधृत्वा ऊर्द्ध्वशीर्षःफणीवहि ४२ देहाग्निर्वर्द्धतेनि
त्यंसर्वरोगंचनाशनम् जागर्तिभुजंगीदेवीसाधनाद्भुजंगासनम् ४३ उत्तानौ
चरणौकृत्वासंस्थाप्यजानुनोपरि आसनोपरिसंस्थाप्य उत्तानंकरयुग्मम्
४४ पूरकैर्वायुमाकृष्यनासाग्रमवलोकयेत् योगासनंभवेदेतद्योगिनांयोग

साधने ४५ इतिघेरंडसंहितायांघेरंडचंडसंवादेघटस्थयोगेआसनप्रयोगोनामद्वि
तीयोपदेशः २ घेरंडउवाच महामुद्रानभोमुद्रोड्डीयानंजलंधरं मूलबन्धमहा
बन्धंमहावेधश्चखेचरी १ विपरीतकरणीयोनीवज्रोलीशक्तिचालनीतडागी
मांडूकीमुद्राशांभवीपञ्चधावनि २ अश्विनीपाशनीकाकीमातंगीचभुजंगिनी
पंचविंशतिमुद्राणिसिद्धिदानीहयोगिनाम् ३ पायुमूलेवामगुल्फंसंपीड्यदृढ
यत्नतः याम्यपादंप्रसार्य्याथकराभ्यांधृतपदांगुलिः ४ कंठसंकोचनंकृत्वाभ्रुवो
र्मध्येनिरीक्षयेत् पूरकैर्वायुंसंपूर्य्यमहामुद्रानिगद्यते ५ वलितंपलितंचापिज
राम्रृत्युनिवारयेत् क्षयःकासंगुदावर्त्तंप्लीहाजीर्णज्वरंतथा ६ नाशयेत्सर्वरो
गांश्चमहामुद्राभिसेवनात् यत्रतत्रस्थितोयोगिसर्वकार्येषुसर्वदा ७ ऊर्द्ध्वजि
ह्वांस्थिरीभूत्वाधारयेत्पवनंसदा नभोमुद्राभवेदेषायोगिनांरोगनाशनी ८
ऊड्डीयानंकुरुतेयस्मादविश्रांतंमहाखगः उड्डीयानंत्वसौचैवमृत्युमातंगकेश

शा री ९ कंठसंकोचनंकृत्वाचिवुकंहृदयेन्यसेत् जलंधरंकृतेचस्तेषोडशाधार
वंधनम् १० जलंधरंमहामुद्रामृत्युक्षयकारिणी पार्ष्णिंवामेनपादेनयोनिमा
कुंचयेत्ततः ११ नाभिग्रंथिंमेरुदंडेसंपीड्ययत्नतःसुधीः मेढ्रंदक्षिणगुल्फेन
दृढवद्धंसमाचनाभेरूर्ध्वमधश्चापितानंकुर्यात्प्रयत्नतः १२ जराविनाशिनी
मुद्रामूलवंधोनिगद्यते वामपादस्यगुल्फेनपायुमूलंनिरोधयेत् १३ दक्षपा
देनतद्गुल्फंसंपीड्ययत्नतःसुधीः शनैःशनैश्चालयेत्पार्ष्णिंयोनिमाकुंचयेच्छ
नैः १४ जलंधरेधारणेनप्राणंमहावंधोनिगद्यते रूपयौवनलावण्यंनारीणांपुरुषं
विना १५ मूलवंधंमहावंधंमहावेदंविनातथा महावंधंसमासाद्यउड्डापि
कुम्भकंचरेत् १६ महावेदसमाख्यातोयोगिनांसिद्धिकारकः जिह्वाधोनाडीं
संछित्वारसनांचालयेत्सदा १७ दोहयेन्नवनीतेनलोहयंत्रेणकर्षयेत् ऊर्द्ध्वं
दृष्टिंभ्रुवोरंतेनामुद्रावेनिखेचरी १८ कपालकुहरेजिह्वाप्रविष्टाविपरीतगा

भ्रुवोर्मध्यगतादृष्टिमुद्राभवतिखेचरी १९ नचमूर्छाक्षुधातृष्णानैवालस्यःप्रजायते
नचरोगोजरामृत्युर्देवदेहंप्रपद्यते २० नचाग्निर्दहतेगात्रंनशोषयतिमारुतः नदे
हंक्लेदयंत्यापोदंशयेन्नभुजंगमः २१ दशदंचवेद्धांतेसमाधिर्जायतेध्रुवम् कपाल
वद्धसंयोगेरसनारसमाप्नुयात् २२ नानाविधिसमुद्भूतमानंदंचदिनेदिने आदौलव
णंक्षारंचततस्तिक्तकषायणम् २३ नवनीतंघृतंक्षीरंदधितक्रमधुनिच द्राक्षा
रसंपीयूषंचजायतेरसमोदकम् २४ नाभिमूलेवसेत्सूर्यस्तालमूलेचचंद्रमाः अ
मृतंग्रसतेसूर्यस्ततोमृत्युवशोनरः २५ ऊर्द्ध्वंचजायतेसूर्यश्चंद्रमसमधोनयेत्
विपरीतकरणीमुद्रासर्वतंत्रेषुगोपिता २६ भूमौशिरश्चसंस्थाप्यकरयुग्मंस
माहितः ऊर्द्धपादःस्थिरोभूत्वाविपरीतकरीमता २७ मुद्रेयंसाधयेन्नित्यंजर
मृत्युचनाशयेत् सिद्धासनंसमासाद्यकर्णाक्षिनासिकामुखम् २८ अं
गुष्ठतर्जनीमध्यमानामिकाभिश्चधारयेत् काकीभिःप्राणंसंकृष्यअपाने

घे॰सं॰ ८

योजयेत्ततः २९ षट्चक्राणिक्रमात्धृत्वाहूंहंसमनुनासुधीः चैतन्यमानयेद्देवी
निद्रितायाभुजंगिनी ३० जीवेनसहितांशक्तिंसमुत्थाप्यपरांबुजेः शक्तिमयंस्वयं
भूत्वापरशिवेनसंगमम् ३१ नानासुखंविहारंचचिंतयेत्परमंसुखम् शिवश
क्तिसमायोगादेकान्तंत्वंविभावयेत् ३२ आनन्दस्वयम्भूत्वा अहंब्रह्मेतिसं
भवेत् योनिमुद्रापरंगोप्यंदेवानामपिदुर्लभम् ३३ सकृद्वाबसंसिद्धः समाधिस्थ
सएवहि धरामवष्टम्भकरयोस्तलाभ्याम्ऊर्द्ध्वंक्षिपेत्पादयुगंशिरःखेः शक्तिप्रबो
धायचिरजीवायवज्रोलीमुद्रांमुनयोवदंति ३४ मूलाधारेआत्मशक्तिःकुंड
लीपरदेवतांशयिताभुजगाकारासार्द्धत्रिवलयान्विता ३५ यावत्सानिद्रिता
देहेतावज्जीवःपशुर्यथाज्ञानंनजायतेतावत्कोटियोगंसमभ्यसेत् ३६ उद्घा
टयेत्कपाटंचयथाकुंचिकयाहठात् कुण्डलीन्याप्रबोधेनब्रह्मद्वारंविभेदयेत्
३७ नाभिंसंवेष्टनंवस्त्रेणनचनग्नंबहिःस्थितम गोपनीयागृहेस्थित्वाशक्तिचाल

नमभ्यसेत् ३८ वितस्तिप्रमितंदीर्घंविस्तारेचतुरंगुलम् मृदुलंधवलंसूक्ष्मंवेष्टना
म्बरलक्षणम् ३९ एवमम्बरयुक्तंचकटिसूत्रेणयोजयेत् भस्मनागात्रसंलिप्तंसि
द्धासनमथाचरेत् ४० नासाभ्यांप्राणमाकृष्य आपानेयोजयेद्बलात् तावदाकुं
चयेद्गुह्यंशनैरश्विनिमुद्रया ४१ यावद्गच्छेत्सुषुम्नायांवायुप्रकाशयेत् हठात् ता
वद्वायुप्रभेदेनकुम्भिकाचभुजंगिनी ४२ बद्धश्वासस्ततोभूत्वाऊर्द्ध्वमात्रंप्रपद्यते
शवद्वयंपफलेकर्णेयोनिमुद्रांचचालयेत् ४३ विनाशक्तिंचालनेनयोनिमुद्रान
सिध्यति आदौचालनमभ्यस्ययोनिमुद्रांसमभ्यसेत् ४४ उदरंपश्चिमंतानंकृ
त्वाचतडागाकृतिः तडागीसापरामुद्राजरामृत्युविनाशिनी ४५ मुखंसमुद्रितं
कृत्वाजिह्वामूलंप्रचालयेत् शनैर्ग्रसेदमृतंतन्मांडुकीमुद्रांविदुः ४६ वलितं
नैवजायतेनित्ययौवनम् नकेशेजायतेपक्वःयःकुर्यान्नित्यमांडुकीम् ४७ ने
त्रांजनंसमालोक्यआत्मारामंनिरीक्षयेत् साभवेच्छांभवीमुद्रासर्वतंत्रेषुगो

पिता ४८ वेदशास्त्रपुराणादि समान्यगणिका इव एषं तु शांभवीमुद्रा गुप्ता कुलवधू
रिव ४९ स एव आदिनाथश्च स च नारायणस्स्वयम् स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वे
त्ति शांभवीं ५० सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः शांभवीं यो विजानीयात्स च
ब्रह्मा न चान्यथा ५१ कथिता शांभवीमुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणी धारणानि समा
साद्य किन्न सिद्ध्यति भूतले ५२ अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम् मनोगतिर्भवेत्त
स्य खेचरत्वं न चान्यथा ५३ यत्तत्त्वं हरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितम् वेदा
स्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थापितं प्राणांस्तत्र विनीय पंच घटिकां चित्ता
न्वितं धारयेदेषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ५४ शंखेन्दुप्रति
मं च कुन्दधवलं तत्त्वं किमानं शुभं तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विषण
ना प्राणांस्तत्र विनीय पंच घटिकां चित्तान्वितं धारयेदेषा दुःसहतापहारिणी भवेद्
तिस्याम्भसी धारणा ५५ यत्ताभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं तत्त्वं
तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदं प्राणांस्तत्र विनीय पंच घटिकां चित्तान्वितं धा
रयेदेषा कालगभीरभीतिहरणं वैश्वानरी धारणा ५६ यद्भिन्नाञ्जनपुष्पसन्निभ
दं धूम्रावभासं परं तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता प्राणांस्तत्र विनीय पंच
घटिकां चित्तान्वितं धारयेदेषा खेगमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ५७ य
त्सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हका
रान्वितं प्राणांस्तत्र विनीय पंच घटिकां चित्तान्वितं धारयेदेषा मोक्षकपाकभेदनक
री कुर्यान्नभोधारणा ५८ आकुंचयेद्गुदद्वारं प्रकाशयेत्पुनः पुनः सा भवेदश्वि
नी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ५९ कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद्दृढबंधनम् सा ए
व पाशिनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ६० काकचंचुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः श
नैः काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ६१ कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां
जलमाहरेत् मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्त्रेण चाहरेत् ६२ नासाभ्यां रेचयेत्स

श्चात्कुर्य्यादेवं पुनः पुनः मातंगिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ६३ वक्त्रं किंचित्सु
प्रसार्य्यं च अनिलं गलया पिबेत् सा भवेद्भुजंगिनी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ६४
उदरे पाचनी रोगम् अजीर्णादिविशेषतः तत्सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजंगिनी ६
५ इति घेरंडसंहितायां घेरंडचंडसंवादे घटशुद्धियोगप्रकरणं तृतीयोपदेशः ३
अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम् यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुना
शनम् १ यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्ये
व वशं नयेत् २ यत्र यत्र गता दृष्टिर्मनस्तत्र प्रयच्छति अतः प्रत्याहरेदेतदात्मन्ये
व वशं नयेत् ३ पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं वा भयानकम् मनस्तस्मान्नियम्यैत
दात्मन्येव वशं नयेत् ४ शीतं वापि तथा वोष्णं यन्मनःस्पर्शयोगतः तस्मात्प्रत्या
हरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ५ सुगन्धे वापि दुर्गन्धे घ्राणेषु जायते मनः तस्मात्प्र
हारेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ६ मधुराम्लकं तिक्तादिरसगादि यदा मनः तस्मा १०

त्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ७ इति घेरंडसंहितायां घेरंडचंडसंवादे प्रत्याहा
रप्रयोगो नाम चतुर्थोपदेशः ४ अथातः संप्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य यद्विधिम् य
स्य साधनमात्रेण देवतुल्यो भवेन्नरः १ आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथा परम्
नाडीशुद्धिं च ततः पश्चात्प्राणायामं च साधयेत् २ दूरदेशे तथारण्ये राजधानी ज
नान्तिके योगारंभं न कुर्वीत कृते च सिद्धिहा भवेत् ३ अविश्वासं दूरदेशे अरण
ण्ये भक्ष्यवर्जितम् लोकारण्ये प्रकाशश्च तस्मात्त्रीणि विवर्जयेत् ४ सुदेशे
धार्मिके राज्ये सुभिक्षे निरुपद्रवे तत्रैकं कुटिरं कृत्वा प्राचीरैः परिवेष्टयेत् ५
वापीकूपतडागं च प्राचीरमध्यवर्त्ति च नात्युच्चं नातिनीचं वा कुटिरं कीटव
र्जितम् सम्यग्गोमयलिप्तं च कुटिरं रंध्रवर्जितम् एवं स्थाने हि गुप्ते च
प्राणायामं समभ्यसेत् ७ हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौ तथा योगार
म्भं न कुर्वीत कृते योगो हि रोगदः ८ वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत् त

सनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत्सुधीः॥ वायुः पश्चिममार्गेण तस्य संचरति ध्रुवं॥७३॥ एतदभ्यासशी
लानां सर्वसिद्धिः प्रजायते॥ तस्माद्योगी प्रयत्नेन साधयेत्सिद्धसाधकः॥७४॥ गोप्तव्यं सप्रय
त्नेन न देयं यस्य कस्यचित्॥ येन शीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेद्दुःखौघनाशिनी॥७५॥ जान्वोरंतरे स
म्यक्कृत्वा पादतले उभे॥ समकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्ष्यते॥७६॥ अनेन विधि
ना योगी मारुतं साधयेत्सुधीः॥ देहे न क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्च सिद्ध्यति॥७७॥ सुखासन
मिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनं॥ स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं स्वस्थीकरणमुत्तमं॥७८॥ आदौ प
रकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः॥ गुदमेढ्रांतरे योनिस्तामाकुंच्य प्रवर्त्तयेत्॥७९॥ ब्रह्मयोनि
गतं ध्यात्वा कामं कंदुकसंनिभं॥ सूर्यकोटिप्रतीकाशं चंद्रकोटिसुशीतलं॥८०॥ तस्योर्ध्वे त
शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला॥ तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिंतयेत्॥८१॥ गच्छंति ब्र
ह्ममार्गेण लिंगत्रयक्रमेण वै॥ सूर्यकोटिप्रतीकाशं चंद्रकोटिसुशीतलं॥८२॥ अमृतं त
द्धि स्वर्गस्थं परमानंदलक्षणं॥ श्वेतरक्तं स्वतेजाढ्यं सुधाधाराप्रपातैः प्रवर्षितं॥८३॥ पीत्वा कुलाम

तं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलं॥ पुनरेवाकुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा॥८४॥ सा च प्राणसमाख्या
तास्मिंस्तंत्रे मयोदिते॥ पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादि शिवांतकं॥८५॥ योनिमुद्रापरा ह्येषा
बंधस्तस्याः प्रकीर्त्तितः॥ तस्यास्तु बंधमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत्॥८६॥ छिन्नरूपाश्च
ये मंत्राः कीलितास्तंभिताश्च ये॥ मंदा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः॥८७॥ अरिप
क्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्ववर्जिताः॥ तथा सत्वेन हीनाश्च खंडिताः शतधाकृताः॥८८॥
विधानेन संयुक्ताः प्रभवंति चिरेण तु सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः॥८९
॥ यद्यदुच्चरते योगी मंत्ररूपं शुभाशुभं॥ तत्तत्सिद्धिमवाप्नोति योनिमुद्रानिबंधनात्
॥९०॥ दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिंच्य सहस्रधा॥ ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकी
र्त्तिता॥९१॥ ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत्॥ नासौ लिप्यति पापेन योनि
मुद्रानिबंधनात्॥९२॥ तस्मादभ्यसनं नित्यं कर्त्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः॥ अभ्यासाज्जाय
ते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात्॥९३॥ संवित्तिं लभतेऽभ्यासाद्योगोऽभ्यासात्प्रवर्त्तते॥ मं

ज्ञाणांसिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनं॥२९४॥कालवंचनमभ्यासात्तथामत्युजयोभवेत्
॥वाक्सिद्धिःकामचारित्वंभवेदभ्यासयोगतः॥२९५॥योनिमुद्रापरंगोप्यानदेयायस्यकस्यचि
त्॥सर्वथानैवदातव्याप्राणैःकंठगतैरपि॥२९६॥अधुनाकथयिष्यामियोगसिद्धिकरंपरं॥गो
पनीयंसुसिद्धानांयोगपरमदुर्लभं॥२९७॥सुप्तागुरुप्रसादेनयदाजागर्तिकुंडली॥तदास
र्वाणिपद्मानिभिद्यंतेग्रंथयोपिच॥२९८॥तस्मात्सर्वप्रयत्नेनप्रबोधयितुमीश्वरी॥ब्रह्म
रंध्रमुखेसुप्तांमुद्राभ्यासंसमारभेत्॥२९९॥महामुद्रामहाबंधोमहावेधश्चखेचरी॥जा
लंधरोमूलबंधोविपरीतकृतिस्तथा॥३००॥उड्यानंचैववज्रोलीदशमंदशमंशक्तिचा
लनं॥इदंहिमुद्रादशकंमुद्राणामुत्तमोत्तमं॥३०१॥महामुद्रांप्रवक्ष्यामितंत्रेस्मिन्ममव
ल्लभा॥यांप्राप्यसिद्धिसंसिद्धिंकपिलाद्याःपुरागताः॥२॥अपसव्येनसंपीड्यपादमू
लेनसादरं॥गुरूपदेशतोयोनिंगुदमेढ्रांतरालयं॥३॥सव्यंप्रसारितंपादंधृत्वापाणियु
गेनवै॥नवद्वाराणियंम्यचिबुकंहृदयोपरि॥४॥चित्तंमेदत्वाप्रारभेद्वायुधारणं॥महामु

द्रांभवेदेशासर्वतंत्रेषुगोपिता॥५॥वामांगेनसमभ्यस्यदक्षांगेनभ्यसेत्पुनः॥प्राणायामसमे
नत्वायोगीनियतमानसः॥६॥मुद्रामेतांतुसंप्राप्यगुरुवक्त्रात्सशोभितं॥अनेनविधिनायो
गीमंदभाग्योपिसिध्यति॥७॥सर्वासामेवनाडीनांचालनंबिंदुमारणं॥जारणंतुकषायस्यपात
कानांविनाशनं॥८॥कुंडलीतापनं॥वायोर्ब्रह्मरंध्रप्रवेशनं॥वाञ्छितार्थेप्रदसौख्यमिंद्रियाणां
चमारणं॥९॥एतदुक्तानिसर्वाणियोगरूढस्ययोगिनः॥भवेदभ्यासतोवश्यंनात्रकार्याविचा
रणा॥१०॥गोपनीयाप्रयत्नेनमुद्रेयंसुरपूजिता॥यांवप्राप्यभवांभोधेःपारंगच्छतियोगिनः
॥११॥गुह्यावारेणकर्तव्यानदेयायस्यकस्यचित्॥तस्याप्रसारितःपादोविन्यस्यतमुरूपरि॥
१२॥गुदयोनिसमाकुंच्यकृत्वापानमूर्द्धकं॥बंधयेदूर्ध्वगत्यर्थंप्राणापानात्स्वयोःसुधी
॥१३॥कथितोयंमहाबंधःसिद्धिमार्गप्रदायकः॥नाडीजालाद्रसव्यूहमूर्ध्वंनयतियोगि
नः॥१४॥उभाभ्यांसाधयेत्सम्यगेकैकंसुप्रयत्नतः॥भवेदभ्यासतोवायुःसुषुम्णामध्य
संगतः॥१५॥अनेनवपुषःपुष्टिर्दृढबंधोस्थिपंजरं॥संपूर्णहृदयोयोगीभवंत्येतानियोगि

नः॥१६॥बंधेनानेनयोगींद्रःसाधयेत्सर्वमीप्सितं॥आपानप्राणयोरैक्यंकृत्त्रिभुवनेऽपि
॥१७॥महावेधस्थितोयोगीकुक्षिमापूर्यवायुना॥सिद्धोसंतांउयेद्धीमान्वेधोयंकीर्त्तितो
मया॥१८॥वेधेनानेनसंविध्यवायुनायोगिपुंगवः॥ग्रंथीन्सुषुम्णामार्गेणब्रह्मरंध्रंभि
नत्त्यसौ॥१९॥यःकरोतिसदाभ्यासंमहावेधंसुगोपितं॥वायुसिद्धिर्भवेत्तस्यजरामरणना
शिनी॥२०॥चक्रमध्येस्थितादेवाःकंपंतेवायुताडनात्॥कुंडल्यपिमहामायाकैलाशेसावि
लीयते॥२१॥महामुद्रामहाबंधौनिःफलौवेधवर्जितौ॥तस्माद्योगीप्रयत्नेनकुरुतेत्रि
तयंक्रमात्॥२२॥एतत्त्रयंप्रयत्नेनचतुर्वारंकरोतियः॥षण्मासाभ्यंतरेमृत्युंजयत्येवन
संशयः॥२३॥एतत्त्रयस्यमहात्म्यंसिद्धोजानातिनेतरः॥यज्ज्ञात्वासाधकाःसर्वेसिद्धिंसम्यग
भंतिवै॥२४॥गोपनीयाप्रयत्नेनसाधकैःसिद्धिमीप्सुभिः॥अन्यथावनसिद्धिःस्यान्मुद्राणा
मेषनिश्चयः॥१५॥भ्रुवोरंतर्गतांदृष्टिंविधायसुदृढंसुधीः॥उपविश्यासनेतेननानोपद्र
ववर्जिते॥२६॥लंबिकोर्ध्वस्थितेगर्त्तेरसनांविपरीतगां॥संयोजयेत्प्रयत्नेनसुधाकूपेविच

क्षणः॥२७॥मुद्रैषाखेचरीप्रोक्ताभक्तानामनुरोधतः॥सिद्धीनांजननीह्येषाममप्राणाधिका
धिका॥२८॥निरंतरकृताभ्यासात्पीयूषंप्रत्यहंपिबेत्॥तेनविग्रहसिद्धिःस्यान्मृत्युमातं
गकेसरी॥२९॥अपवित्रःपवित्रोवासर्वावस्थांगतोपिवा॥खेचरीयस्यशुद्धातुसशुद्धोनात्र
संशयः॥३०॥क्षणार्द्धंकुरुतेयस्तुतीर्त्वापापमहार्णवं॥दिव्यभोगान्प्रभुक्त्वैवंसत्कुलेप
प्रजायते॥३१॥मुद्रैषाखेचरीयस्तुस्वस्थचित्तोह्यतंद्रितः॥शतब्रह्मगतेनापिक्षणार्द्धंमन्य
तेपिसः॥३२॥गुरूपदेशतोमुद्रांयोवेत्तिखेचरीमिमां॥नानापापरतोधीमान्सयातिप
रमांगतिं॥३३॥स्वप्राणैःसदृशोयस्मात्तस्मादपिनदीयतां॥प्रच्छाद्यतेप्रयत्नेनमुद्रेयंसुरप
ूजिता॥३४॥बद्धागलेशिराजालंहृदयेचिबुकंन्यसेत्॥बंधोजालंधरःप्रोक्तोदेवानामपिदुर्ल
भः॥३५॥नाभिस्थोवह्निर्जंतूनांसहस्रकमलच्युतं॥पिबेत्पीयूषविसरंतदर्थंबंधयेदिमं
॥३६॥बंधेनानेनपीयूषंस्वयंपिबतिबुद्धिमान्॥अमरत्वंचसंप्राप्यमोदतेभुवनत्रये॥३७॥जा
लंधरोयंबंधसिद्धानांसिद्धिदायकः॥अभ्यासःक्रियतेनित्यंयोगिनासिद्धिमिच्छता॥३८॥

पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयंत्रितं ॥ बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं समाचरेत् ॥ ३९ ॥ कल्पि
तोयं मूलबंधो जरामरणनाशनः ॥ अपानप्राणयोरैक्यमकरोत्सधिकल्पितं ॥ ४० ॥ बंधेनाने
न सुतरां योनिमुद्रा प्रसिध्यति ॥ सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ॥ ४१ ॥ बंधस्या
स्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ॥ पद्मासनस्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥ ४२ ॥ सुगुप्ते नि
र्जने देशे बंधमेनं समभ्यसेत् ॥ संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगिपुंगवः ॥ ४३ ॥ भूतले स्वशि
रो दत्वा खे नयेच्चरणद्वयं ॥ विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥ ४४ ॥ एतां यः कुरुते नित्य
मभ्यासाद्यामामात्रकं ॥ मृत्युं जयति स योगी प्रलये नापि सीदति ॥ ४५ ॥ अमृतं कुरुते पा
नं सिद्धानां समतामियात् ॥ स सेव्यः सर्वलोकानां बंधमेनं करोति यः ॥ ४६ ॥ नाभेरूर्ध्वम
धश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ॥ उड्डियानो बंध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः ॥ ४७ ॥ उद
रे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ॥ उड्डियानोप्ययं बंधो मृत्युमातंगकेशरी ॥ ४८ ॥ नित्यं
यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ॥ तस्य नाभेस्तु शुद्धिस्यात् न शुद्धो भवेन्मरुत् ॥ ४९ ॥ षण्मा

९६

समभ्यसन् योगी मृत्युं जयति निश्चितं ॥ तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिश्च जायते ॥ ५० ॥ अनेन
सुतरां सिद्धिः विग्रहस्य प्रजायते ॥ रोगानां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवं ॥ ५१ ॥ गुरोर्लब्ध्वात
प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः ॥ निर्जने सुस्थितो देशे बंधं परमदुर्लभं ॥ ५२ ॥ वज्रोलीं कथयि
ष्यामि संसारध्वांतनाशिनीं ॥ स्वभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद्गुह्यतमामपि ॥ ५३ ॥ स्वेच्छया व
र्तमानोपि योगोक्तनियमैर्विना ॥ मुक्तो भवेद्गृहस्थोपि वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥ ५४ ॥ वज्रो
ल्यासहयोगोयं भोगयुक्तेपि मुक्तिदः ॥ तस्मादतिप्रयत्नेन कर्त्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ५५ ॥
अंगिरसं क्षिपेद्योयोन्यायतने न विधिवत्सुधीः ॥ आकुंच्य लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेश
येत् ॥ ५६ ॥ स्वकं बिंदुं च संबोध्य लिंगचालनमाचरेत् ॥ दैवाच्चलति चेदूर्ध्वं निरुद्धं योनिमुद्र
या ॥ [illegible] ॥ वामभागेपि तद्बिंदुं नत्वा लिंगं निवारयेत् ॥ गुरूपदेशतो योगी हुं हुंकारेण योनि
तः ॥ ५७ ॥ अपानवायुमाकुंच्य बलादाकर्षयेद्रजः ॥ अनेन विधिना योगी क्षिप्रं योग
स्य सिद्धये ॥ ५८ ॥ गव्यभक्षं कुरुते योगी गुरुपादाब्जपूजकः ॥ बिंदुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमयं

तथा॥५९॥ उभयोर्मेलनंकार्यंस्वशरीरेप्रयत्नतः॥ अहंबिंदुशक्तिरुभयोर्मेलनंयदा॥
६०॥ योगिनांसाधनवतांभवेद्दिव्यंवपुस्तदा॥ मरणंबिंदुपातेनजीवनंबिंदुधारणे॥६१
॥ तस्मादतिप्रयत्नेनकुरुतेबिंदुधारणं॥ जायतेम्रियतेलोकोबिंदुनानात्रसंशयः॥
६२॥ एतज्ज्ञात्वासदायोगीबिंदुधारणमाचरेत्॥ सिद्धेबिंदौमहायत्नेकिंनसिद्ध्यतिभूत
ले॥६३॥ यस्यप्रसादान्महिमाममाप्येतादृशीभवेत्॥ बिंदुःकरोतिसर्वेषांसुखंदुःखं
वसंस्थितः॥६४॥ संसारिणांविमूढानांजन्ममरणशालिनां॥ अयंशुभकरोयोगोयो
गिनामुत्तमोत्तमः॥६५॥ अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोतिभोगयुक्तोपिमानवः॥ सकलंसाधितार्थो
योपिसिद्धोभवतिभूतले॥६६॥ भुक्त्वाभोगानशेषान्वैयोगेनानेननिश्चितं॥ अनेन
नसकलासिद्धिर्योगिनांभवतिध्रुवं॥६७॥ सुखभोगेनमहतातस्मादेनंसमभ्यसेत्॥
सहजोल्यमरोलीचवज्रोल्याभेदतोभवेत्॥६८॥ येनकेनप्रकारेणबिंदुंयोगीप्रसाधये
त्॥ दैवाच्चलतिचेद्वेगेमेलनंचंद्रसूर्ययोः॥६९॥ अमरोलीरियंप्रोलिंगनालेनशोषयेत्

१७

॥ गतंबिंदुंस्वकंयोगीबंधयेद्योनिमुद्रया॥७०॥ सहजोलीरियंप्रोक्तासर्वतंत्रेषुगोपिता॥
संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदःकार्यंतुल्यगतिर्यदि॥७१॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेनसाध्यतेयोगिभिःस
दा॥ अयंयोगोमयाप्रोक्तोभक्तानांस्नेहतःपरं॥७२॥ गोपनीयःप्रयत्नेननदेयोयस्यकस्य
चित्॥ एतद्गुह्यतमंगुह्यंनभूतंनभविष्यति॥७३॥ तस्मादतिप्रयत्नेनगोपनीयंसदाबु
धैः॥ स्वमूत्रोत्सर्गकालेयोबलादाकृष्यवायुना॥७४॥ स्तोकंस्तोकंत्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य
तत्पुनः॥ गुरूपदेशमार्गेणप्रत्यहंयःसमाचरेत्॥७५॥ बिंदुसिद्धिर्भवेत्तस्यमहासिद्धि
प्रदायिका॥ षण्मासमभ्यसेद्योवैप्रत्यहंगुरुशिक्षया॥७६॥ शतांगनोपभोगेपिनबिं
दुस्तस्यनश्यति॥ सिद्धेबिंदौमहायत्नेकिंनसिद्ध्यतिभूतले॥७७॥ ईशत्वंयत्प्रसादेनममा
पिदुर्लभंभवेत्॥ अपानवायुमाकृष्यबलादाकृष्यबुद्धिमान्॥७८॥ शक्तिचालनमेतेनहि
प्रत्यहंयःसमाचरेत्॥ आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्यरोगाणांचविनाशनं॥७९॥ विहायनिद्रांभुंज
गीश्वरीस्वयमूर्ध्वंव्रजेत्स्वतः॥ तस्मादभ्यसनंकार्यंयोगिनासिद्धिमिच्छता॥८०॥ यःकरोतिसदा

भ्यासं शक्तिचालनमुत्तमं॥ येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा॥ ८१॥ गुरूपदेशविधि
नातस्य मृत्युभयं कुतः॥ मुहूर्तद्वयपर्यंतं विधिना शक्तिचालनं॥ ८२॥ यः करोति प्रयत्नेन तस्य सि
द्धिरदूरतः॥ युक्तासनेन कर्त्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनं॥ ८३॥ एतत्तु मुद्रादशकं न भूतं न भ
विष्यति॥ एकैकाभ्यसने सिद्धे सिद्धो भवति नान्यथा॥ ८४॥ श्रीदेव्युवाच॥ ब्रूहि मे वाक्यमी
शान परमार्थधियं प्रति। ये विघ्नाः संति लोकानां वद मे प्रिय शंकर॥ ८५॥ ईश्वर उवाच॥ शृ
णु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा॥ मुक्तिं प्रति नराणां च भोगः परमबंधकः॥ ८६॥
नारीशय्यासनं वस्त्रं धनमास्य विडंबनं॥ तांबूलं भक्ष्ययानानि राज्यसौधं विभूतयः॥ ८७
॥ हेमरूप्यं तथा ताम्रं रत्नान्यगुरुधेनवः॥ पांडित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतं विभूषणं॥ ८८
॥ वंशीवीणामृदंगाश्च गजेंद्रो चाश्ववाहनं॥ दारापत्यानि विषया विघ्ना एते प्रकीर्त्तिताः॥
८९॥ भोगरूपा इमे विघ्ना धर्मरूपानिमान् शृणु॥ स्नानं पूजातिथिर्होमस्तथा सौख्यमयो
स्थितः॥ ९०॥ व्रतोपवासनियमा मौनमिंद्रियनिग्रहः॥ ध्येयो ध्यानं तथा मंत्रो दानं ख्याति

३८

दिशासु च॥ ९१॥ वापीकूपतडागादिप्रासादारामकल्पना॥ यज्ञं चांद्रायणं कृच्छ्रं तीर्थानि विवि
धानि च॥ ९२॥ दृश्यंते इमे विघ्ना धर्मरूपेण संस्थिताः॥ येन विघ्नं भवेज्ज्ञानं कथयामि वरानने
॥ ९३॥ गोमुखाद्यासनं कृत्वा धौतप्रक्षालनं च यत्॥ नाडीसंचारविज्ञानं प्रत्याहारनिरोधनं॥ ९४
॥ कुक्षिसंचालनं क्षिप्रं प्रवेश इंद्रियाध्वना॥ नाडीकर्माणि कल्याणि भोजनं श्रूयतां मम॥ ९५॥ नि
बंधांतरसंछिदि घटिकां ताडयेत्पुनः॥ एषकालाः समाधिः स्याल्लिंगभूतमिमं शृणु॥ ९६॥ सं
गमं गछ सघनां संकोचं भजदु जेनात्॥ प्रवेशनिर्गमौ वायोर्गुरुलक्ष्यं विलोकयेत्॥ ९७॥ पिं
डस्थं रूपसंस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितं॥ ब्रह्मैतस्मिन्मतावस्था हृदयं च प्रशाम्यति॥ ९८॥ इत्ये
ते प्रथिता विघ्ना ज्ञानरूपे व्यवस्थिताः॥ मंत्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः॥ ९९॥ च
तुर्थो राजयोगः स्यात् स द्विधा भवति वर्जितः॥ चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रकः॥
४००॥ अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लंघनक्षमः॥ मंदोत्साही सुसंमूढो व्याधिस्थो गुरु
दूषकः॥ ४०१॥ लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रमः॥ चपलः कातरो रोगी पराधी

ह०प्र० ।। ७ ।।

शनेस्तु घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः ।। ६१ ।। गुल्मश्लेष्मादयो दोषा ज्वरपित्तक्षुधातृषा ।। एतानि शीत
ली नाम कुंभकोयं निहंति च ।। ६२ ।। अथ भस्त्रिकर्म ।। उर्वोरुपरि वै धत्ते उभे पादतले तथा ।। पद्मासनं भवे
त्सम्यक् सर्वपापप्रणाशनं ।। ६३ ।। सम्यक् पद्मासनं बध्वा समग्रीवोदरः सुधीः ।। मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं
घ्राणेन पूरयेत् ।। ६४ ।। यदा लगति हृत्कंठे कपोलेखशनं ततः ।। वेगेन पूरयेत्किंचित् हृत्पद्मावधि मारुतं
६५ ।। पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।। यथैव लोकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते ।। ६६ ।। तथैव स्वशरीर
स्थं चालयेत्पवनं सुधीः ।। यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण रेचयेत् ।। ६७ ।। यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा ल
घु ।। धारयेन्नासिकामध्ये अंगुलीभ्यां तथा दृढं ।। ६८ ।। ~~यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु~~ ।। कुंभकं पूर्वव
त्कृत्वा रेचयेदिडयानिलं ।। वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्द्धनं ।। ६९ ।। कुंडलीबोधकः कुंभो रोगघ्नः सु
खदः शुभः ।। ब्रह्मनाडीमुखे संस्थं कपालार्गलनाशनं ।। ७० ।। सम्यग्भस्त्रा समुद्भूतं ग्रंथित्रयविभेदकं ।।
विशेषेणैव कर्त्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदं ।। इति भस्त्राकर्म ।। अथ भ्रमरीकर्म ।। वेगाद्घोषं पूरकं भृंग ।। ७ ।।
नादं भृंगीनादं रेचकं मंदमंदं ।। योगींद्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला ।। अथ मूर्छा म

३ सहितः केवलश्चेति कुंभको द्विविधो मतः ।। ७४ रेचकः पूरकः कार्यः स वै सहितकुंभकः ।।

कर्म ।। पूरकांते बद्धतरं बध्वा जालंधरं शनैः ।। रेचयेन्मूर्छनाख्येयं मनोमूर्छा सुखप्रदं ।। ७२ ।। अथ प्लाव
नीकर्म ।। अंतः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ।। साक्षात्पयस्यगाधे च प्लवते पद्मपत्रवत् ।। ७३ ।। अथ केव
लकुंभकं ।। प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचकपूरककुंभकैः ।। यावत्केवलशुद्धस्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ।। ७५
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखाद्वायुनिरोधनं ।। प्राणायामोयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः ।। ७६ ।। केवले कुंभके
सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ।। न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।। ७७ ।। सिद्धे केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणं
राजयोगपदं चैव लभते नात्र संशयः ।। ७८ ।। हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ।। न सिध्यति ततो यु
ग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ।। ७९ ।। कुंभकं प्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निरामयं ।। एवमभ्यासयोगेन राजयोगप
दं भवेत् ।। ८० ।। कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधनो भवेत् ।। अनर्गला सुषुम्णा च हठसिद्धिश्च जायते ।। ८१
वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने च निर्मले ।। आरोग्यता बिंदुजयोग्निदीपनं नाडीविशुद्धि
र्हठसिद्धिलक्षणं ।। ८१ ।। इति आत्मारामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां द्वितीयोध्यायः ।। २ ।। ० ।।
सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।। सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ।। १ ।। सुप्ता गुरुप्र

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

सादेन यथा जागर्ति कुंडली॥ तथा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोपि च॥२॥ प्राणस्य शून्यपदवी यथा राज
पथायते॥ यथा चित्त निरालंबं यथा कालस्य वंचनं॥३॥ अथ शून्यपदवी मिति॰ किमुच्यते॥ सुषुम्णा
शून्यपदवी ब्रह्मरंध्र महापथः॥४॥ स्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकः॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन
प्रबोधयितुमीश्वरीं॥५॥ ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासेन बोधयेत्॥ महामुद्रा महाबंधो महावेध
श्च खेचरी॥६॥ उड्डियानं मूलबंधस्तथो जालंधराभिधः॥ करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनं
॥७॥ इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनं॥ आदिनाथोदितं सर्वं अष्टैश्वर्यप्रदायकं॥८॥ वल्लभं सर्वसि
द्धानां दुर्लभं मरुतामपि॥ गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकं॥९॥ कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्री
सुरतं तथा॥ वज्रोलिरमरोलिश्च सहजोलिस्त्रिधा मता॥१०॥ एतेषां लक्षणं वक्ष्ये कर्त्तव्यं च विशेषतः
तत्र महामुद्रामाह॥ पादमूलेन वामेन योनिं संपिड्य दक्षिणे॥ पादं प्रसारितं धृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृ
ढं॥११॥ कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्द्ध्वतः॥ यथा दंडाहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते॥१२॥ ऋज्वी
भूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत्॥ तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता॥१४॥ ततः शनैः श

नैरेव रेचयन्न तु वेगतः॥ इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रशस्यते॥१४॥ महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणा
दयः॥ महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमः॥१५॥ चंद्रांगे च समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत्॥ यावत्संख्या भ
वेत्तुल्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्॥१६॥ नापथ्यं न हि पथ्यं च रसाः सर्वेपि नीरसाः॥ अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव
व जीर्यते॥१७॥ क्षयः कुष्ट गुदावर्त गुल्माजीर्ण पुरोगमः॥ दोषाः सर्वे क्षयं यांति महामुद्रां तु योभ्यसेत्॥१८॥ क
थितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणां॥ गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥१९॥ अथ महाबंधः
पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्॥ वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥२०॥ पूरयित्वा ततो
वायुं हृदये चिबुकं दृढं॥ निक्षिप्य योनिमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत्॥२१॥ धारयित्वा यथाशक्त्या रेचयेद
निलं शनैः॥ सव्यांगे च समभ्यस्य दक्षिणे पुनरभ्यसेत्॥२२॥ मतमत्र तु केशांचित् कंठबंधं विवर्जयेत्॥ रा
जदंतस्य जिह्वायां बंधः शस्तो भवेदिति॥२३॥ अयं किल महाबंध महासिद्धिप्रदायकः॥ कालपाशमहा
बंधविमोचनविचक्षणः॥२४॥ अयं च सर्वनाडिनामूर्द्ध्वगतिविबोधकः॥ त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्राप
येन्मनः॥२५॥ रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना॥ महामुद्रा महाबंधो निःफलो वेधवर्जितो॥२६॥

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

॥ह॥ह०यो०॥
॥९॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन महाबंधं समभ्यसेत् ॥ अथ महावेधः ॥ महाबेधोस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥ वायु
नागतिमारुध्य निभृतं कंठमुद्रया ॥ २७ ॥ समहस्तयुगो भूमौ स्फीचौ संताडयेच्छनैः ॥ पुटद्वयसमाकृष्य वा
युस्फुरति सत्वरं ॥ २८ ॥ सोमसूर्याग्निसंबंधाज्जायते चामृतिजयः ॥ मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचये
त् ॥ २९ ॥ महावेधो यं भ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥ वलीपलितवंधघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ ३० ॥ एतत्त्र
यं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ वन्हिवृद्धिकरं चैवं अणिमादिगुणप्रदं ॥ ३१ ॥ अष्टधा क्रियते चैकं
यामे यामे दिने दिने ॥ पुण्यप्रायस्य संभावि पापौघभिद्दुरंसदा ॥ ३२ ॥ सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पे प्रथम
साधनं ॥ वन्हिस्त्रीपथसेवानां मादौ वर्जनमाचरेत् ॥ ३३ ॥ अथ खेचरी ॥ छेदनचालनदोहनकलाक्रमे
ण वर्द्धयेत्तावत् ॥ सतायावद्भ्रूमध्ये स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३४ ॥ स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्नि
ग्धनिर्मलं ॥ समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥ आदौ सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्
पुनस्सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं पुनश्छिनेत् ॥ ३६ ॥ एवं क्रमेण षण्मासान्नित्ययुक्तं समाचरेत् ॥ षण्मासा
द्रसनामूले शिराबंधः प्रणश्यति ॥ ३७ ॥ कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥ भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिः मु

॥९॥

द्रा भवति खेचरी ॥ ३८ ॥ अथवा गेस्वरीधाम शिरोवस्त्रेण वेष्टयेत् ॥ शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेधाविधानवित् ॥
३९ ॥ वितस्तिप्रमितं दैर्घ्ये विस्तारे चतुरंगुलं ॥ मृदुश्च धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणं ॥ ४० ॥ पुनः षण्मासमात्रे
तु पुनः संघर्षण स्त्रिये ॥ भ्रूमध्यावधि परियंतं तिर्यक्कर्णबिलावधि ॥ ४१ ॥ अधस्ताच्चुबुकं मूलं प्रयाति क्रम
कारिता ॥ केशादूर्ध्वं चक्रमति तिर्यक्संख्यावधि प्रिये ॥ ४२ ॥ पुनः संवत्सरादेव द्वितीया चैव लीलया ॥ ब्रह्मरं
ध्रांतमावृत्य तिष्ठेत्सुरमवंदिते ॥ ४३ ॥ स्वतालुमूलं संघृष्य सप्तवासरमात्मनि ॥ स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं
विशोषयेत् ॥ ४४ ॥ अंगुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वां तत्र निवेशयेत् ॥ शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभृत्
४५ ॥ पूर्ववीर्ययुतां विद्यां व्याख्यातामतिदुर्लभां ॥ अस्याः षडंगं कुर्वीत तया षड्क्रमभिन्नया ॥ ४६ ॥ खेनिर
स्तसकले क्रियाक्रमेण चित्तश्वरतिशाखतोयै दे ॥ अग्निधलसमवायकारिणि खेचरीभव खेदहारिणि
४७ ॥ क्रमेणैव प्रकर्त्तव्या भ्यासेन वरवर्णिनि ॥ युगपद्यतते तस्य शरीरे विलयं भजेत् ॥ ४८ ॥ तस्माच्छनैः
शनैः कार्याभ्यासेन युगपत्स्त्रियं ॥ एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारे वसेद्ध्रुवं ॥ ४९ ॥ षट्चक्राणि विनिर्धाय शक्तिभुज
गीं प्रोत्सार्य मूलं स्थितां ॥ भित्वा ग्रंथित्रयं च पश्चिमशिरां प्राकाररूपं महत् ॥ ५० ॥ नित्यं प्राणमतः शिरो वल

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

मलंनिर्मथ्यचित्तेनतल्लिंगंयःपिवतीदुमंडलगमंमुक्तःससाक्षाच्छिवः॥५१॥नित्यंयस्तुर्ध्वजिह्वाग्रेणपिब
तिपुमन्सप्तधारामृतोद्यंसुस्वादंशीतलोगंदुरितभयहरंक्षुत्पिपासानिवारि॥पिंडस्थैर्यंहियस्माद्भवति
मृतयथामृत्युरोगाद्भवंतिदोर्भाग्ययातिनाशंप्रसरतिसकलायातिचालंपुनःपुनः॥५२॥तिक्ष्णंचहरतेव्या
धिकटुकंकुष्टनाशनं॥घृतस्वादूपमंचैवामरतेलभतेध्रुवं॥५३॥मधुस्वादूपयश्चैवशास्त्राभुञ्जरतिंब
हु॥लडुखंडकस्वादूनिपक्कान्नादिन्यनेकशः॥५४॥दिव्यंकल्पेकिडयंन्नित्यंउत्कृष्टोजायतेध्रुवं॥तन्म
यत्वमवाप्नोतिकोशाकारीचकीटकः॥५५॥कलांपराङ्मुखीकृत्वात्रिपथेपदवर्तयत्॥साभवेत्खेचरीमु
द्राव्योमचक्रंतदुच्यते॥५६॥रसनामूर्ध्वगांकृत्वाक्षणार्द्धमपितिष्ठति॥दुःखैर्विमुच्यतेयोगीव्याधिमृ
त्युजरादिभिः॥५७॥नरोगामरणंतस्यननिद्राचक्षुधातृषा॥नचमूर्छाभवेत्तस्ययोमुद्रांवेतिखेचरी॥
५८॥बाध्यतेनसरोनेगैलिप्यतेनसकर्मणा॥बाध्यतेनसकालेनयोमुद्रांवेतिखेचरी॥५९॥चित्तंचरति
खेयस्मात्जिह्वाचरतिखेगता॥तेनैवखेचरीमुद्रासर्वसिद्धैर्नमस्कृता॥६०॥खेचर्यामुद्रितंयेनविवरं
लंबिकोर्द्धतः॥तस्यनक्षरतेबिंदुःकामिन्याश्लेषितस्यच॥६१॥चलितोपियदाबिंदुःसंप्राप्तश्चाग्निमंडले

व्रजत्यूर्ध्वंहृतश्शक्त्यानिरुद्धोयोगमुद्रया॥६२॥ऊर्ध्वजिह्वास्थितोभूत्वासोमपानंकरोतियः॥मासार्द्धेनन
संदेहोमृत्युंजयतियोगवित्॥६३॥नित्यंसोमकलापूर्णंशरीरंयस्यदेहिनः॥तक्षकेनापिदष्टस्यविषंत
स्यनसर्पति॥६४॥इंधृतानियथावन्हिःतैलवतीचदीपकः॥तथासोमकलापूर्णदेहीदेहंनमुंच्यति॥६५॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतंवह्निनोत्पादितंखलु॥चंद्रोंशंस्रावयेद्यस्तुसास्यादमरवारुणी॥६६॥गोमांसंभक्ष
येन्नित्यंपिबेदमरवारुणी॥कुलि?नंतमहंविद्यामितरेकुलघातकाः॥६७॥गोशब्देनोदिताजिह्वातत्प्र
वेशोहितालुनि॥गोमांसभक्षंतत्तुल्यंमहापातकनाशनं॥६८॥नाभिदशोभवेदेषभास्करोदहनात्मकः
अमृतात्मास्थिरोनित्यंतालुमध्येतुचंद्रमाः॥६९॥वर्षत्यधोमुखश्चंद्रोग्रसत्यूर्द्धमुखोरविः॥ज्ञातव्यंका
रणंतस्ययेनपीयूषमाप्यते॥७०॥मूर्द्धःषोडशपत्रपद्मगलितंप्राणेरवाप्तंहठादूर्ध्वास्योरसनांविधाय
विवरेशक्तिंपरांचिंतयेत्॥उत्कल्लोलजलाकुलंचसुविमलंधारामृतंयःपिबेत्निर्दोषसमृणालकोमलत
नुर्योगीचिरंजीवति॥७१॥चुंबंतियदिलंबिकाग्रमनिशंजिह्वारसस्पंदिनिसक्षाराकटुकाम्लदुग्धसदृ
शीमध्वाज्यतुल्यंतथा॥व्याधीनांहरणंजरांतकरणंशास्त्रागमोदीरणंतस्यस्यादमरत्वमष्टगुणितंसिद्धा

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

गनाकर्षणं॥७३॥एकंसृष्टिमयंबीजंएकामुद्राचखेचरी॥एकोदेवानिरालंबोएकवस्थामनोन्मनी॥७४
सुस्थिरंज्ञानजनकंपंचस्रोतसमन्वितं॥तिष्ठतिखेचरीमुद्रातस्मिन्शून्येनिरंजने॥७५॥बद्धंमूलबिल
ग्नेनतेनविघ्नोविदारितः॥अजरामरतांयातियथापंचमुखोहरः॥अमृतापूर्णदेहस्ययोगिनोद्वित्रि
वत्सरात्॥ऊर्ध्वंप्रवर्त्ततेरेतोह्यणिमादिगुणोदयात्॥७७॥यत्सातालपिहीनसुषिरंमेरुमूलेयदस्तित
स्मिंस्तत्त्वंप्रवदतिसुधीस्तन्मुखंनिम्नगानां॥चंद्रात्सारःस्रवतिवपुषस्तेनमृत्युर्नराणांतंबध्नीयात्सु
करणमथोनान्यथाकार्यसिद्धिः॥७८॥अथमूलबंधः॥पार्ष्णिभागेनसंपीड्ययोनिमाकुंचयेद्दृढं॥अ
पानमूर्ध्वमाकृष्यमूलबंधोयमुच्यते॥७९॥अधोगतमपानंवेऊर्ध्वगंकुरुतेबलात्॥आकुंचनेनतं
प्राहुर्मूलबंधोहियोगिनः॥८०॥गुदंपार्ष्णितुसंपीड्यवायुमाकुंचयेद्बलात्॥वारंवारंयथाचोर्ध्वंसमाया
तिसमीरणः॥८१॥प्राणापानौनादबिंदूमूलबंधेनचैकतां॥नतोयोगस्यसंसिध्येयच्छतोनात्रसंश
यः॥८२॥अपानप्राणयोरैक्यंक्षयोमूत्रपुरीषयोः॥युवाभवतिवृद्धोपिसततंमूलबंधनात्॥८३॥
अपानेचोर्ध्वगेयातेप्रयातेनाभिमंडले॥ततोनलशिखादीर्घाक्रीयतेवायुनाहता॥८४॥ततोयाता

वह्न्यपानौप्राणमूष्णस्वरूपकं॥तेनात्यंततःप्रदीप्तस्तुकुतोदेहक्षयस्तदा॥८५॥तेनकुंडलिनीसुप्तासंतप्ता
संप्रबुध्यते॥दंडाहताभुजंगीवनिश्वस्यऋजुतांव्रजेत्॥८६॥बिलंप्रविष्टेवततोब्रह्मनाड्यंतरंव्रजेत्
तस्मान्नित्यंमूलबंधःकर्त्तव्योयोगिभिःसदा॥८७॥अथउड्डियानबंधः॥ऊर्ध्वोक्षिप्तःसुषुम्णायाःप्राण
स्तूड्डियतेयथातः॥तस्माच्चउड्डीयानाख्योयोगिभिःसमुदाहृतः॥८८॥उड्डानंकुरुतेयस्मादविश्रांतं
महाखगः॥उड्डियानंतदेवस्यात्तत्रबंधोभिधीयते॥८९॥उदरात्पश्चिमेभागेअधोनाभेर्निगद्यते॥उड्डि
यानोह्यसौबंधोमृत्युमातंगकेसरी॥९०॥उड्डियानंतुसहजंगुरुणाकथितंसदा॥अभ्यासेत्सततंयस्तु
वृद्धोपितरुणोभवेत्॥९१॥नाभेरूर्ध्वमधश्चापिप्राणंकुर्याच्चयत्नतः॥योगीसमभ्यसेन्मृत्युंजयत्येवन
संशयः॥९२॥सतिवज्रासनेपादौकराभ्यांधारयेद्दृढं॥गुल्फदेशसमीपश्चकंठंतत्रप्रपीडयेत्॥९३॥
पश्चिमंतानमुदरेकारयेद्धृदयेगले॥शनैःशनैर्यथाप्राणानाडिसिद्धिंनिगच्छते॥९४॥सर्वेषामेवबंधाना
मुत्तमोह्युड्डियानकः॥उड्डियानेदृढेबंधेमुक्तिःस्वाभाविकीभवेत्॥९५॥अथजालंधरबंधः॥कंठमाकु
च्यहृदयेस्थापयेच्चुबुकंदृढं॥बंधोजालंधराख्योयंजरामृत्युविनाशकः॥९६॥बध्नातिहिशिराजालंअ

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

धोगामिनभोजलं॥ततोजालंधरोबंधः कंठेदुःखौघनाशनं॥९७॥जालंधरेकृते बंधे कंठसंकोचलक्षिणे॥नपीयूषंपतत्यग्नौनचवायुःप्रधावति॥९८॥कंठसंकोचनेनैवद्वेनाड्यौस्तंभयेदृढं॥मध्यचक्रमिदंज्ञेयंषोडशाधारबंधनं॥९९॥बंधत्रयमिदंश्रेष्ठंमहासिद्धैश्चसेवितं॥सर्वेषांयोगतंत्राणांसाधनंयोगिनोविदुः॥१००॥मूलस्थानंसमाकुंचउड्डियानंचकारयेत्॥इडांचपिंगलांबध्वावाहयेत्पश्चिमेपथः॥१॥अधस्याकुंचनेनाशुकंठसंकोचनेकृते॥मध्यंपश्चिमतानेनस्यात्प्राणोब्रह्मनाडिगः॥२॥ब्रह्मस्थानस्थितःसिद्धःप्रयातिपवनेलयं॥ततोनजायतेमृत्युर्नास्याज्जरादिकंतथा॥३॥अथविपरीतकरणी॥यत्किंचित्स्रवतेचंद्रादमृतंदिव्यरूपिणं॥तत्सर्वंग्रसतेसूर्यस्तेनपिंडंविनाशिच॥४॥वर्षत्यधोमुखश्चंद्रोग्रसत्यूर्ध्वमुखोरविः॥करणीविपरीताख्यागुरुवाक्येनलभ्यते॥५॥तत्रास्तिदिव्यकरणंसूर्यस्यमुखबंधने॥गुरूपदेशतोज्ञेयंनतुशास्त्रार्थकोटिभिः॥६॥ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्ध्वंभानुरधःशशी॥करणीविपरीताख्यागुरुवाक्येनलभ्यते॥७॥करणीविपरीताख्यासर्वव्याधिविनाशिनी॥नित्यमभ्यासयुक्तस्य ॥१२॥
जठराग्निप्रवर्द्धिनी॥८॥आहारोबहुलस्तस्यसंपाद्यःसाधकस्यच॥अल्पाहारोनिराहारोक्षुधालस्य

वह्निर्भवत्॥९॥अधश्शिरश्चोर्ध्वपादोक्षणंस्यात्प्रथमेदिने॥क्षणाच्चकिंचिदधिकमभ्यसेच्चदिनेदिने॥१०॥वलितंपलितंचैवषण्मासात्तुनदृश्यते॥याममात्रंततोनित्यमभ्यासेनतुकालजित्॥११॥अथवज्रोलि॥स्वच्छंदवर्त्तमानोपियोक्तैर्विनियमैर्विना॥वज्रोलिंयोभिजानातिसयोगीसिद्धभाजनं॥१२॥तत्रवस्तुद्वयंवक्ष्येदुर्लभंयस्यकस्यचित्॥क्षीरंचैकंद्वितीयंतुनारीचवशवर्त्तिनी॥१३॥मेहनेनशनैःसम्यकूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत्॥पुरुषोप्यथवानारीवज्रोलिसिद्धिमाप्नुयात्॥१४॥प्रयत्नतःशिरानालफूत्कारोवज्रकंधरेशनैःशनैःप्रकुर्वीतवायुसंकोचकारणात्॥१५॥भार्याभगेपतेबिंदुरभ्यासेतोर्द्ध्वमाहरेत्॥चलितंचलिजंबिंदुमूर्द्ध्वमाकृष्यरक्षयेत्॥१६॥एवंरक्षतियोबिंदुमृत्युंजयतियोगवित्॥मरणंबिंदुपातेनजीवितंबिंदुधारणात्॥१७॥यावद्बिंदुस्थिरोदेहेतावन्मृत्युभयंकुतः॥चित्ताधीनंनृणांशुक्रंशुक्राधीनंहिजीवितं॥१८॥सुगंधयोगिनोदेहेजायतेबिंदुधारणात्॥तस्माच्छुक्रंमनश्चैवरक्षणीयंप्रयत्नतः॥१९॥बिंदुमध्यरजोप्येवंबीजंबिंदुप्रचक्षयेत्॥मेढ्रमाकुंचयेदूर्ध्वंसम्यगभ्यासयोगवित्॥२०॥अपर्याप्तपुण्यवतांधन्यानांतत्त्वदर्शिनां॥निर्मत्सराणांसिद्धोतनतुमत्सरशीलिनां॥२१॥अथसहजोलि॥सहजोलीव

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

मरोलीवज्रोल्या एकभेदतः॥ जलेषुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवं॥ २२॥ वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं॥ आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणं॥ २३॥ सहजोलिरियं प्रोक्ता सिद्धये योगिभिः सदा॥ अयं शुभकरो योगो भोगयुक्ते विमुक्तिदः॥ २४॥ अमरोलि॥ विहाय नित्यं प्रथमां च धारां विहाय निःसारतयांत्यधारां॥ निषेव्यते शीतलमध्यधारां कापालिकैः कुंटमतेरमेध्या॥ २५॥ अमरीयः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्याद्दिने दिने॥ वज्रोलिमभ्यसेन्नित्यममरोलितिकथ्यते॥ २६॥ पुंसो बिंदुः समाकुंचसम्यगभ्यासपाटवान्॥ यदि नारी रजो रक्षेत्संयोगे चापि योगिनी॥ २७॥ तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः॥ तस्याः शरीरे नादश्च बिंदुत्वं चापि गच्छति॥ २८॥ स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूतौ स्वदेहजौ॥ वज्रोल्याभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रजायते॥ २९॥ अतीतानागतं वेत्ति खेचरश्च भवेध्रुवं॥ देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्याभ्यासयोगतः॥ ३०॥ तस्मादेयं साधकानां भोगमुक्तविमुक्तिदः॥ तस्मात्पुण्यवतामेव योगोयं संप्रसिध्यति ३१॥ अथ शक्तिचालनं॥ कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी॥ कुंडल्यरुंधती चेति शब्दपर्यायवाचकः॥ ३२॥ उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्॥ कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥ ३३॥ येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयं॥ मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥ ३४॥ कंदोर्ध्वे कुंडलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनां॥ बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥ ३५॥ अंभोधिशोलक्ष्मीयानामा धारः शैषकुंडली॥ अशेषयोगजगतामाधारः कुंडली तथा॥ ३६॥ कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता॥ सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥ ३७॥ गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीं॥ बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदं॥ ३८॥ इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी॥ इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी॥ ३९॥ पुच्छे प्रगृह्य भुजंगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च तां॥ निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्॥ ४०॥ परिस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्द्धमात्रं॥ प्रसार्य यत्नात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया॥ ४१॥ वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारं चतुरंगुलं॥ मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टणांबरलक्षणं॥ ४२॥ वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीं॥ कुर्यादनंतरं भस्त्रीं कुंडलीमाशु बोधयेत्॥ ४३॥ भानोराकुंचनेनैव कुंडलीं चालयेत्तदा॥ मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः॥ ४४॥ नासादक्षिणमार्गवाहीपवनप्राणो न दीर्घाकृतेश्चंद्राभः परिपूरितामृततनुप्राग्घटिकायास्तथा॥ छिन्नकालविशाल

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

वह्निवशाग्रंधनाडीगणास्तत्कार्यं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नद्रुमस्कंधवत् ॥ ४५ ॥ कुंडलीं चालयित्वाथ कु
र्याद्भस्त्रीं विशेषतः ॥ एवमभ्यासतो नित्यं यमिनश्शंकते यमः ॥ ४६ ॥ तदाभ्यसेत्सूर्यभेदमुज्जायीं चापि शी
तलीं ॥ एवमभ्यासयोगेन यमिनः शंकते यमः ॥ ४७ ॥ मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥ ऊर्ध्वमाकृष्य
ते किंचित्सुषुम्णायाः समुद्गतः ॥ ४८ ॥ तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्णायाः समुद्गतः ॥ नयाति तस्मात्प्राणोयं
सुषुम्णां बुजनिश्चलः ॥ ४९ ॥ यस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखं सुप्तामरुंधतीं ॥ यस्याः संचालनाद्यश्रु योगी रोगा
त्प्रमुच्यते ॥ ५० ॥ येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनं ॥ किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ ५१ ॥
ब्रह्मधर्मरतस्यैव पुंसो मितहिताशिनः ॥ मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडलीभ्यासयोगतः ॥ ५२ ॥ आभ्यासनिःसृतां
चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥ तां धारयेदुत्तमांगे दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ॥ ५३ ॥ द्विसप्ततिसहस्राणां नाडीनां
मलशोधने ॥ कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्याभ्यासनादृते ॥ ५४ ॥ इति शक्तिचालनं ॥ मुद्रेमा दशधा प्रोक्ता
आदिनाथेन शंभुना ॥ कारणं सर्वसिद्धीनामेकैकापि क्षमेव सा ॥ ५५ ॥ राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना ॥ १४ ॥
निशा ॥ राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते ॥ ५६ ॥ मरुदभ्यसनं किंचिन्मनोयुक्तं समाचरेत् ॥ इतरत्र

न कर्त्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ ५७ ॥ विनापि मध्यमानाडी दृढाभ्यासेन योगिनः ॥ आसनप्राणसंयामैर्मु
द्राभिः सरला भवेत् ॥ ५८ ॥ अभ्यासेन हि मुद्राणां तद्दुदेति समाधिना ॥ मुद्राणां च परा मुद्रा भस्त्रा सिद्धिं प्रय
छति ॥ ५९ ॥ उपदेशं हि मुद्राणां यो धत्ते सांप्रदायिकं ॥ स एव श्रीगुरुस्स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ ६० ॥ तस्य वा
क्यपरो भूत्वा अथाभ्याससमाहितः ॥ अणिमादिगुणैश्वर्यं लभते कालवंचकः ॥ ६१ ॥ इत्यात्मारामयोगींद्रवि
रचितायां हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥ ॥ नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने ॥ निरंजनपदं या
ति यतो योगीपरायणः ॥ १ ॥ अथेदानीं प्रवक्ष्यामी समाधिक्रममुत्तमं ॥ मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं
परं ॥ २ ॥ राजयोगसमाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ॥ अमरोघा लयस्तत्र शून्याशून्यं परंपदं ॥ ३ ॥ अमनस्कं त
थाद्वैतं निरालंबं निरंजनं ॥ जीवन्मुक्तिश्च सहजं मुक्तिश्चेत्येकवाचकः ॥ ४ ॥ सलिले सैंधवं यद्वत्साम्यं भज
ति योगतः ॥ तथात्ममनसोरैक्यं समाधीरभिधीयते ॥ ५ ॥ तत्समं च द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः ॥ समस्
तनष्टसंकल्पः समाधिः सोभिधीयते ॥ ६ ॥ कर्पूरं सलिले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा ॥ तथात्ममनसोरैक्यं स
माधिः सोभिधीयते ॥ ७ ॥ राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ॥ ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिः गुरुवा

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

सर्वेषेवलाकुंभयः ७० केवलेकुंभकेसिद्धेरेचपूरकवर्जिते नतस्यदुर्लभंकिंचित्त्रिषु
लोकेषुगीयते ७१ शक्तःकेवलकुंभेनयथेष्टंवायुधारणं राजयोगपदंचैवलभतेना
त्रसंशयः ७२ हठंविनाराजयोगोराजयोगंविनाहठः नसिध्यतिततोयुग्ममानिष्प
त्तिसमभ्यसेत् ७३ कुंभकप्राणरोधांतेकुर्याच्चित्तंनिराश्रयं एवमभ्यासयोगेनराजयो
गपदंव्रजेत् ७४ कुंभकात्कुंडलीबोधःकुंडलीबोधतोभवेत् अनर्गलासुषुम्नाचहठ
सिद्धिश्चजायते ७५ वपुःकृशत्वंवदनेप्रसन्नतानादस्फुटत्वंनयनेसुनिर्मले अरो
गताबिंदुजयोग्निदीपनंनाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणं ७६ इतिसहजानंदसंतान
चिंतामणिस्वात्मारामयोगिविरचितायांहठप्रदीपिकायांद्वितीयोपदेशः सशैलवनधा
त्रीणांयथाधारोहिनायकः सर्वेषांयोगतंत्राणांतथाधारोहिकुंडली १ सुप्तागु
रुप्रसादेनबोधितासुखदाभवेत् तथासर्वाणिपद्मानिभिद्यंतेग्रंथयोपिच २ प्रा

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

णस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते तथा चित्तं निरालंबं तथा कालस्य वंचनं ३ सुन्य
पदवी तिविं सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चे
त्येकवाचकं ४ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीं ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्या
सेन बोधयेत ५ महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी उड्डियाणं मूलबंधो बंधो जा
लंधराभिधः ६ करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनं इदं हि मुद्रादशकं जरा
मरणनाशनं ७ आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्ल
भं मरुतामपि ८ गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकं कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसु
रतं यथा ९ वज्रोलिरमरोलिश्च सहजोलिस्त्रिधा मतः एतेषां लक्षणं चैव कथ्यते च वि
शेषतः १० अथ महामुद्रा पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणं पादं प्रसारितं कृ
त्वा कराभ्यां धारयेद्दृढं कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः यथा दंडहतः सर्पो दंडाका

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ह.ह.
१०

रः प्रजायते ११ ऋजीभूता यथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् तथा सा मरणावस्थां हरते
द्विपुटाश्रया १२ ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रद
र्शिता १३ नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमि
व जीर्यते १४ चंद्रांगेन समभ्यस्य सूर्यांगेन समभ्यसेत् यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मु
द्रां विसर्जयेत् १५ क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः तस्य दोषाः क्षयं यांति महामु
द्रां च योऽभ्यसेत् १५ कथितेयं महामुद्राजनामस्तुविमाप्रदायिनी गोपनीया प्रयत्नेन
न देया यस्य कस्यचित् १६ अथ महाबंधः पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नि
योजयेत् १७ वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ७ पूरयित्वा ततो वायुं हृद
ये चिबुकं दृढं निःपीड्य योनिं कुंचयन्मनो मध्ये नियोजयेत् १८ रेचयेच्च शनैरेव महा
बंधोऽयमुच्यते अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः १९ कालपाशमहाबंधो

मा

१०

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

षिमोक्षणविचक्षणः अयंतुसर्वनाडीनामूर्द्धगमनबोधकः २० त्रिवेणीसंगमंधत्ते
केदारंप्रापयेन्मनः अथमहावेधः रूपलावण्यसंपन्नायथास्त्रीपुरुषंविना महा
मुद्रामहाबंधौनिष्फलौवेधवर्जितौ २१ तस्मात्सर्वप्रयत्नेनमहावेधंसमभ्यसेत्
महाबंधस्थितोयोगीकृत्वापूरकमेकधीः वायूनांगतिमावृत्यनिभृतंकंठमुद्रया २२
समहस्तयुगोभूमौस्फिचौसंताडयेत्शनैः पुटद्वयंसमाक्रम्यवायुस्फुरतिमध्यमे
२३ सोमसूर्याग्निसंबंधोजायतेचामृतायवै मृतावस्थासमुत्पन्नाततोवायुंविरेच
येत् २४ महावेधोयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः वलीपलितवेपघ्नःसेव्यते
साधकोत्तमैः २५ एतत्त्रयंमहागुह्यंजरामृत्युविनाशनं वह्निवृद्धिकरंचैवह्यणि
मादिगुणप्रदं २६ अष्टधाक्रियतेचैवयामेयामेदिनेदिने पुण्यसंभारसंधायि
पापौघभिदुरंसदा २७ सम्यक्शिक्षावतामेवंस्वल्पंप्रथमसाधनं वह्निस्त्रीपथसे

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

यानामासोयजीनमाचरेत २८ अथ खेचरी छेदनचालनदोहैः कलांक्रमेणावर्द्धयेत्ताव
त् सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः २९ स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्नि
ग्धनिर्मलं समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत ३० ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णि
ताभ्यां प्रघर्षयेत पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत ३१ एवंक्रमेणषण्मासा सा
नित्ययुक्तः समाचरेत षण्मासाद्रसनामूलशिराबंधः प्रणश्यति ३२ कपालकुहरे जि
ह्वा प्रविष्टा विपरीतगा भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ३३ रसनामूर्ध्वगां
कृत्वा क्षणार्द्धमपि तिष्ठति विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ३४ रसनाप
रामूर्ध्वगां कृत्वा त्रिपथं परिवर्तयेत सा भवेत्खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ३५ र
सनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्द्धमपि तिष्ठति विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः
३६ न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

३३ पीड्यते न च रोगेणा न च लिप्यते कर्मणा बाध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं
३४ चित्तं चरति खे यस्मात् जिह्वा चरति खे गता तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता
३५ खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्द्ध्वतः न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याश्लेषितस
स्य च ३६ पातालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमस्तैतस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं नि
म्नगानां चंद्रात्सारः स्रवति वपुषो येन मृत्युर्नराणां तद्बध्नीयात्सुकरणमतो नान्यथा का
यसिद्धिः ३७ चलितोपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलं व्रजत्यूर्द्ध्वं ततः शक्त्या निबद्धो
योनिमुद्रया ३८ कपालकुहरे जिह्वा कालसंहारमुद्रया ऊर्द्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सो
मपानं करोति यः मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ३९ नित्यं सोमकला
पूर्णं शरीरं यस्य योगिनः तक्षकेनापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ४० इंधनानि यथा
वह्निः तैलवर्त्तिं च दीपकः तथा सोमकलापूर्णो देही देहं न मुंचति ४१ गोमांसं भ

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

येन्नित्यं पिबेदमरवारुणीं कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ५२ गोशब्देनोदि
ता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि गोमांसभक्षणं चैतत्तन्महापातकनाशनं ५३ जिह्वा
प्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ५४
मूर्द्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्द्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं प
रां चिंतयेत् उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेत् निर्व्याधिः समृणालको
मलवपुर्योगी चिरं जीवति ५५ चुंबंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रा
गमोदीरणं तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणं ५६ एकं सृष्टिमयं बीजं
एका मुद्रा च खेचरी एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ५७ सुषिरं ज्ञानज
नकं पंचस्रोतःसमन्वितं तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजनः ५८ पद्मातपत्र

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ष्ठितसुषिरं मेरुमूर्द्धा स्थितं तत्तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानां चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां तद्बध्नीयात्सुकरणमतो नान्यथा कायसिद्धिः अथ मूलवंधः पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदं अपानमूर्द्ध्वमाकृष्य मूलवंधोऽयमुच्यते ५८ अधोगतमपानं वे ऊर्द्ध्वगं कुरुते हठात् आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलवंधं तु योगिनः ५९ गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् वारंवारं यथा चोर्द्ध्वं समायाति समीरणः ५० प्राणापानौ नादबिंदू मूलवंधेन चैकतां गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छते नात्र संशयः ५१ अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलवंधनात् ५२ अपाने ऊर्द्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडले तथानलशिखा दीर्घा वर्द्धते वायुनाहता ५३ ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकं तेनात्यंतप्रदीप्तो सौ ज्वलनो देहजस्तथा ५४ तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ६

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ाहत भुजंगी वनिस्वनस्ज्युतां व्रजेत ५५ बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यां तरं व्रजेत त
स्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ५६ अथ उड्याणबंधः बंधो येन सुषु
म्णायां प्राणस्तु डीयते यतः तस्मादुड्डीयणाख्योयं योगिभिः समुदाहृतः ५७ उड्डी
नं कुरुते यस्मादविश्रांतो महाखगः उड्डीयाणं तदेव स्यात्तत्र बंधोभिधीयते ५८
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत उड्डीयाणो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी
५९ उड्डीयाणं तु सहजं गुरुणा कथितं तथा अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोपि तरुणो भवे
त ६० नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव
न संशयः ६१ सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढं गुल्फदेशसमीपे च कंदं
तत्र प्रपीडयेत ६२ पश्चिमं तानमुदरे धारयेद्धृदये गले शनैः शनैर्यथा प्रा
णः रंध्रसंधिं न गच्छति ६३ सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डीयाणकः उड्डीयाणे

13

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ढ्ढबंधेमत्तोस्खामाविवेभवेत ६४ अथजालंधरवंधः कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेद्दृढमि
छया वंधोजालंधराख्योयंजरामृत्युविनाशकः ६५ वंधातिहिशिराजालंअधोयाति
नभोजलं ततोजालंधरोवंधः कंठदुःखौघनाशनः ६६ जालंधरेकृतेवंधेकंठसंको
चलक्षणे नपीयूषंपतत्यग्नौनचवायुःप्रधावति ६७ कंठसंकोचनेनैवद्वेनाड्यौस्तं
भयेद्धुवं मध्यचक्रमिदंज्ञेयंषोडशाधारवंधनं ६८ वंधत्रयमिदंश्रेष्ठंमहासिद्धैश्चसेवि
तं सर्वेषांहठतंत्राणांसाधनंयोगिनोविदुः ६९ मलस्थानंसमाकुंच्यउड्डियानंतु
कारयेत् इडांचपिंगलांवध्वावाहयेत्पश्चिमेपथि ७० अधस्तात्कुंचनेनैवकंठसंको
चनेकृते मध्यपश्चिमतानेनस्यात्प्राणोमध्यनाडिगः मूलस्थानस्थितोरोधः प्र
यातिपवनोलयं अनेनैवविधानेनसेवयेत्पवनालयं ततोनजायतेमृत्युःजरा
रोगादिकंतथा ७१ अथविपरीतकरणी यत्किंचित्स्रवतेचंद्रादमृतंदिव्यरूपिणां

३

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ह.ठ.
१५

तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जराधितः ७२ तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंधनं गु
रूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ७३ ऊर्द्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्द्ध्वं भानुरधः शशी क
रणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ७४ करणी विपरीताख्याता सर्वव्याधिविना
शिनी नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्द्धनी ७५ आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः
साधकस्य तु अल्पाहारो यदि भवेत अग्निर्देहं हरेत तत्क्षणात ७६ अधःशिरश्चोर्ध्वपादः
क्षणं स्यात्प्रथमे दिने क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ७७ वलितं पलितं
चैव षण्मासार्द्धं न दृश्यति याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित ७८ अथ
वज्रोली स्वेच्छया वर्त्तमानोपि योगोक्तैर्नियमैर्विना वज्रोलीं यो विजानाति स यो
गी सिद्धिभाजनं ७९ तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित क्षीरं चैकं द्वितीयं च
नारी च वशवर्त्तिनी ८० मेहनेन शनैः सम्यग् ऊर्द्ध्वाकुंचनमभ्यसेत पुरुषोपाधिना

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

देवा वज्रोली सिद्धिमाप्नुयात् ८१ प्रयत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे शनैः शनैः प्रकुर्वी
त वायुसंचारकारणात् ८२ नारीभगे पतद्विंदुमभ्यासेनोर्द्धमाहरेत् चलितं तु स्वकं विं
दुमूर्द्धमाकृष्य रक्षयेत् ८३ एवं संरक्षयेद्विंदुं मृत्युं जयति योगवान् मरणं विंदुपाते
न जीवितं विंदुधारणात् ८४ सुगंधो योगिनो देहे जायते विंदुधारणात् यावद्विंदुः
स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ८५ चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं तु जीवितं तस्मा
च्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ८६ ऋतुमत्या रजोप्येवं स्त्री विंदुं च सुरक्षयेत् मे
ढ्रेणाकर्षयेदूर्द्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवान् ८७ अयं योगः पुण्यवतां धीमतां तत्वदर्शि
नां निर्मत्सराणां सिद्ध्येत न तु मत्सरशालिनां ८८ सहजोल्यमरोलिश्च वज्रोल्या एव
भेदतः जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवं वज्रोलीमैथुनादूर्द्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांग
लेपनं ८९ आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् सहजोलीरियं प्रोक्ता सेव्या

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ते योगिभिः सदा ९० कुंभकोविंदुसमानुं यसम्यगभ्यासपाटवात् यदिनारीरजोरक्षेत
वज्रोल्यभ्यासेन योगिनी ९१ तस्याः किंचिद्रजोनाशंनगच्छतिनसंशयः तस्याः पिंडेस्तु
जर्ध्वमेव एकीभूय स्वदेहजौ ९२ वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिः प्रजायते ९३ ति
तौ लक्ष्मणालात्पृथमाच्च धारास्यापाशिद्धये: षंडमतेः समर्थैः ९४ देहस्थाकुंचनाद्भ्रूकुंजे
सापि हि योगिनी अतीतानागतं धत्ते खेचरी च प्रजायते ९५ देहसिद्धिं च लभते वज्रो
ल्यभ्यासयोगतः अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेपि मुक्तिदः ९६ तस्मात्कुशलवक्तामे
व अयं योगः प्रसिद्धिकृत ९७ अथ शक्तिचालनं कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्ति
रीश्वरी कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ९८ उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिक
या हठात् कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ९९ येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्था
नं निरामयं मुखेनाछाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी १०० कंदोर्ध्वे कुंडलीशक्तिसुप्तामोक्षा

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

य योगिनां बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् १ सशैलवनधात्रीणां आधारः शे
षकुंडली सर्वेषां योगतंत्राणां आधारः कुंडली तथा [illegible] योगे २ कुंडली कुटिलाकारा
सर्पवत्परिकीर्तिता सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ३ गंगायमुनयोर्मध्ये
बालरंडां तपस्विनीं बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदं ४ इडा भगवती गंगा पिं
गला यमुना नदी तन्मध्ये बालरंडा च कुंडली पिंगलेडयोः ५ पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्ता
म्बोधयेच्च तां निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ६ अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रं प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ७
ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलं मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ८
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा तु कुंडलीं कुर्यादनंतरं भस्त्रीं कुंडलीमाशु बोधयेत्
९ भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ९

अ

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

हठ० १६

16

नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोतिदीर्घीकृतश्चंद्रांभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घटि
कायास्तथा छिद्रं कालविशालवह्निवशगान्भूरंध्रनाडीगणान् तं कायं कुरुते
नयत हंसीमंडुपस्थं चरन् १० कुंडली बोधयित्वाथ षट्चक्राणि विभेदतः एवमभ्यासतो
नित्यं यमिनः शंकते यमः ११ तदभ्यासेन सर्वेषां मुद्राणां चापि शीतली एवमभ्यास
योगस्य समभ्यमस्य यमिनः कुतः १२ गुह्ये तव्ययपर्यंतं विभिदं च कमलनादस्तो ऊर्ध्वमारुह्य प्रयाते
किंचित्सुषुम्नायां प्रसूताः तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायाः समुद्धृतः रपांतितस्मात्सा
रोतां सुषुम्नापाप्य निःसृताः तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुषुम्नायामर्द्धतो यत्नात्संचले
ये तां योगी रोगात्प्रमुच्यते येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनं किमत्र बहुनो
क्तेन कालं जयति लीलया ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः १३ मंडलाद्दृश्यते
सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगतः अभ्यासे विधुतं चांडीं विधिस्नानं समभिज्ञयेत १४ तदाधारं चोत्त

१६

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

मं गोप्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं । द्विसप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं । कुतः प्रक्षालनोपायः कुं-
डल्यभ्यासनादृते १५ इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना । एकैका तासु यमिनां म-
हासिद्धिप्रदायिनी १६ राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा । राजयोगं विना
मुद्रा विचित्रापि न राजते १७ मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् । इतरत्र न कर्तव्या
मनोवृत्तिर्मनीषिणा १८ खिलापि मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनां । आसनप्राण-
संयाममुद्राभिः सरला भवेत् १९ अभ्यासन विनिद्राणां राजयोगः समुद्रगः । रज्ञानीसा
यत्राछद्रायद्रां सिद्धिं प्रयच्छति २० उपदेशो हि मुद्राणां यो दत्ते सां प्रदायिकः । स एव स्तु
गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः २१ तस्य वाक्यपरो भूत्वा योऽभ्यस्यति समाहितः । अणि-
मादिगुणैश्वर्यं जायते कालवंचनात् २२ इति सहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयो-
गींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः ॥ नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

१

प्राणरेवांतेकुर्याच्चित्तंनिराश्रयं। एवमभ्यासयोगेनरा
जयोगपदंव्रजेत्॥७५॥ कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबो
धतोभवेत्। अनर्गलासुषुम्नाचहठसिद्धिश्चजायते।
७६ वपुःकृशत्वंवदनेप्रसन्नता नादस्फुटत्वंनयनेसु
निर्मले। अरोगता बिंदुजयो ग्निदीपनंनाडीविशुद्धिर्ह
[सिद्धि] ठयोगलक्षणं॥७७ इतिसहजानंदसंतानचिंतामणि
स्वात्मारामविरचितायां हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

सदा जागर्ति कुंडली।

हृ० ग०

दृ.:॥ ॥ सशैलवनधात्रीणां यथाधारों हि नायकः॥ स
र्वेषां योगतंत्राणां तथा धारो हि कुंडली॥ २ सुप्ता गुरु
प्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली। तदा सर्वाणि पद्मानि
भिद्यंते ग्रंथयो ऽपि च॥ २ प्राणस्य शून्यपदवी तथा राज
पथायते। तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनं॥
३ शून्यपदवीति किं॥ सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं
महापथः॥ श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येक वाचकं।

२०

२०

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

संसमाचरेत्

॥४ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीं। ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासेन बोधयेत्॥५ महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी। उड्याणं मूलबंधो बंधो जालंधराभिधः॥६ करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनं। एतद्धि मुद्रादशकं जरामरणनाशनं॥७ आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं। वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि। गोपनीयं प्रयत्नेन

द्वि

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

वज्रोलिरमरोलिश्च सहजोलिस्त्रिधा मतः। एतेषां लक्षणं वक्ष्ये कर्तव्यं च विशेषतः॥८

ह०यो०

नयथारत्नकरंडकं। कस्यचिन्नैववक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा॥९॥ अथ महामुद्रा॥ पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणं। पादं प्रसारितं धृत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखं॥१०॥ कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः। यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते॥११॥ ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत्। तथासौ मरणावस्था हरते द्विपुटाश्रया॥१२॥ न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरस

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नतु वेगतः। इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता॥१२

२२

२१

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

साः। अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥१३॥ चं
द्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे तु समभ्यसेत्। यावत्तुल्या
भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१४॥ क्षयकुष्ठगुदा
वर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः। तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामु
द्रां च योभ्यसेत् ॥१५॥ कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविना
शनी। गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥१६॥
अथ महाबंधः॥ पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.व. २२

जयेत्॥ वामो मरुत्परिसंस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥ १७ मरयित्वा मुखे वायुं हृदये चिबुकं दृढं॥ निःपीड्य योनिमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत्॥ १८ एवं वै बन्धनेनैव महाबन्धो यमुच्यते॥ अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः॥ १९॥ कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः॥ अयं तु सर्वनाडीनां मूर्ध्नि गमनबोधकः॥ २० त्रिवेणीसंगमं चैव केदारं प्रापयेन्मनः॥ अथ महावेधः॥ रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरु

२२

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

पंविनामामहामुद्रामहाबंधोनिष्फलोवेधवर्जितो॥२१॥
महावं धस्थितोयोगीकृत्वापूरकमेकधीः॥वायूनांगति
मावृत्यनिभृतंकंठमुद्रया॥२२॥सम हस्तयुगौभूमौ
स्फिचौसंताडयेच्छनैः॥पुटद्वयंसमाक्रम्यवायुःस्फु
टतिमध्यमे॥२३॥सोमसूर्याग्निसंबंधाज्जायतेचामृ
तायवै॥मृतावस्थासमुत्पन्नाततोवायुंविरेचयेत्॥२४॥
महावेधोयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः॥वली

तस्मात्सर्वप्रय
त्नेनमहावेधंस
मभ्यसेत्॥

२२·

पलितवैवत्तु:।सेव्यतेसाधकोत्तमैः।२५ एतद्द्वयंमहागुह्यंजन्म

मृत्युविनाशनं।वलिवृद्धिकरंचैव अणिमादिगुणप्रदं।२६

२३

अष्टधाक्रियतेवैवयात्मेपामेदिनेदिने।पुण्येप्रमावसं

मा विपापोयातिपुरंसदा।।२७ सम्यक्शिष्यावतामे

वैवल्यंप्रथमप्राधनं।वाक्सिद्धिपथसवानामाद्दोवर्ज

नमाचरेत।।२८ अथाचवरी।। बुदनवालनदोदृः कल्लौ

क्रमेणवर्द्धयेत्तावत्तायावद्दूमध्यसंस्थातितदानीरवव

२३

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

स्तु ही पत्रमिमं शास्त्रं स्तुतीक्ष्णं स्निग्धं निर्मलं समुदाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ११ ॥ आदौ सै
न्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ १२ ॥ एवं क्रमेण षण्मा
सान्नित्यमुक्तः समाचरेत् षण्मासैः रसनामूले शिराबन्धः प्रणश्यति ॥ १३ ॥ २४

हस्तितको

रीसिद्धिः॥ २१ कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ २२ कलां पराङ्मु
खीं कृत्वा त्रिपथे परिवर्त्तयेत् सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योम
चक्रं तदुच्यते॥ २३॥ रसनामूर्द्ध्वगां कृत्वा क्षणार्द्धमपि तु
तिष्ठति। विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः॥
२४ न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा॥ न च मूर्च्छा भ
वेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं॥ २५ पीड्यते न च रोगेण न च लि

क्षणार्द्धमपि ति
ष्ठति। क्षणेन मु
च्यते यो जीवन्ति
मृत्युजरादिभिः।
कलां पराङ्मुखीं
कृत्वा ५

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह० ग०

२४

प्यन्तिकर्मणा ॥ बाध्यते न च कालेन ये मुद्रां वेत्ति खेचरी ॥ २४ ॥ चित्तं चरति खे यस्मात् जिह्वा चरति खे गता । तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्नमस्कृता ॥ २५ ॥ खेचर्या मुद्रितो येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः । न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याश्लेषितस्य वा ॥ २६ ॥ चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलं । व्रजत्यूर्ध्वं हतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥ २७ ॥ कपालकुहरे जिह्वा कालसंहारमुद्रया ॥ २८ ॥ ऊर्ध्वजि

पातालेयद्धितय सुषिरं मेरुमूलेतु दक्षिणे सत्यं चैतत् प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानां ॥ वं द्वादशारं स्रवति च पुनो दोषमृत्युर्नराणां तद्...

२४ प्र्म्रा

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह्वे स्थितौ न्न्त्वा सोमपानं करोति यः। मासार्द्धेन न संदेहो
मृत्युं जयति योगवित्॥३९॥ नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं
यस्य योगिनः। तक्षकेनापि दष्टं हि विषं तस्य न सर्पति॥
४०॥ इंधनानि यथा वह्निः तैलं वर्त्तिं च दीपवर्त्तं। तथा
षोडश्या कलापूर्णो देही देहं न मुंचति॥४१॥ गोमांसं भक्ष
येन्नित्यं पिवेदमरवारुणीं। कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कु
लघातकः॥४२॥ गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

तालुनिगोमांसभक्षणंत्वैतत्‌महापातकनाशनं॥४३
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितःखलुचंद्रात्स्र
वतियःसारःसस्यादमरवारुणी॥४४ मूर्द्धःषो
ड़शापद्मपत्रगलितंप्राणादवाप्तंहठादूर्द्धास्योरस
नांनियम्यविवरेशक्तिंपरांचिंतयेत्‌उत्कल्लोलक
लाजलंचविमलंधारामृतंयःपिबेन्निर्दोषंसमृणा
लकोमलवपुर्योगीचिरंजीवति॥४५ चुंबंतीयदिलं

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

विकाग्रमनिशं जिह्वासरेस्पंदिनीं सारां कटुतिक्तदुग्धसदृशीं मध्वाज्यतुल्यां तथा। व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणं ॥४६ एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी। एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥४७ अथ मूलबंधः॥ पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदं। अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽयमुच्यते।

सुषिरं स्यान्नजनकं पंचस्रोतः समन्वितं। तिष्ठते खेचरी तु ह्यत्रा... निरंजनः ।१। यत्स्यात्... हितं सुषिरं मेरुमूर्ध्नि स्थितं... नो... स्सारः स्रवति... पतेनम्न तु नेरा णांतं वच्ची या... कार्यसिद्धिः ।२।

इडा १ पिंगला २ सुषुम्णा ३ जिह्वा ... ४ ... ५ ... तालु रंध्रे

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह०.

२६

॥४८॥ अधोगतमपानं वै ऊर्द्ध्वगं कुरुते हठात् । आकुंच
नेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः ॥४९॥ गुदं पार्ष्ण्या तु संपी
ड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् । वारंवारं यथा चोर्द्ध्वं समाया
ति समीरणः ॥५०॥ प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैक
तां । गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥५१॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः । युवा भवति
वृद्धोपि सततं मूलबंधनात् ॥५२॥ अपाने चोर्द्ध्वगे जाते

२६

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

संप्राप्तो वह्निमंडलं तथानलशिखा दीर्घा वर्द्धते वायु
नाहता ॥५२ ततो यातौ वह्निपानौ प्राणमुष्णस्वरूप
कं। तेनात्यंतप्रदीप्तासो ज्वलनो देहजस्तथा ॥५४ तेन
कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते। दंडाहतभुजंगी
वनिःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥५५ बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्म
नाड्यांतरं व्रजेत् । तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगि
भिः सदा ॥५६ अथ उड्याणबंधः ॥ बद्धो येन सुषुम्नायां

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.र. प्राणोंस्तुड्डीयाऽऽतेयतः। तस्माड्डुड्डीयाणाख्योयंयोगिभिः

समुदाहृतः ॥५७ उड्डीयाणं तदेवस्यात् कुरुतेयस्माद्दवि

२१ श्रांतोमहाखगः। उड्डीयाणं तदेवस्यात् तत्रबंधोभि

धीयते ॥५८ उदरेपश्चिमंतानं नाभेरूर्ध्वंतुकारयेत्। उ

ड्डीयाणोह्यसोबंधोमृत्युमातंगकेसरी ॥५९ उड्डीया

णंतुसहजंगुरुणाकथितंतथा। अभ्यासेत्सततंयस्तु वृ

द्धोपितरुणोभवेत् ॥६० नाभेरूर्ध्वमधश्चापितानंकु

२१

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

योस्य यत्नतः। षण्मासादूर्ध्वमप्येष मृत्युं जयत्येव नसंशयः
६१ सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढं। गुल्फदेशस
मीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत्॥६२ पश्चिमं तानमुदरे कार
येद्धृदये गले। शनैः शनैर्यथा प्राणस्तुंदसंधिं निगाहति
६३ सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डीयाणकः। उड्डीया
णे दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्॥६४ अथ जालंधर
बंधः॥ कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया। बंधो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.प्र.

जरामरविनाशन:

जालंधराख्यायं अमृताव्ययकारकः॥७०॥ बध्नाति हि शि
राजालं अधोयाति नभोजलं। ततो जालंधरो बंधः कंठदुः
खौघनाशनः॥७१॥ जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्ष
णे। न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति॥७२॥ कंठसं
कोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेत् दृढं। मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं
षोडशाधारबंधनं॥७३॥ बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च
सेवितं। सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः॥७४॥

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

अधस्तात्कुंचनेनैव कंठसंकोचने कृते। मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः। ब्रह्मस्था
नस्थितो रोधः प्रयाति पवनो लयं।

कुंच्य

मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियाणं तु कारयेत्। इडां च पिंग
लां बध्वा वाहयेत्पश्चिमं पथि॥७०॥ अनेनैव विधानेन से
वयेत्पवनालयं। ततो न जायते मृत्युः जरारोगादिकं
तथा॥७१॥ अथ विपरीतकरणी॥ यत्किंचित्स्रवते चं
द्रादमृतं दिव्यरूपिणं। तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंड
विनाशितं॥७२॥ तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंच
नं। गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः॥७३॥ उर्द्धं

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हठ०

नाभिरधस्तालुरूर्ध्वंभानुरधः शशी।करणी विपरीताख्या
गुरुवाक्येन लभ्यते॥७४ करणी विपरीताख्या सर्वव्या
धिविनाशिनी॥ नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निवि
वर्द्धनी॥७५ आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य
तु।अल्पाहारो यदि भवेत् अग्निर्देहं हरेत्क्षणात्॥७६
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने।क्षणाच्च किं
चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने॥७७ वलितं पलितं चैव

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

थ षण्मासाद्ध्वं न नष्टपलितायाममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु का

लजित् ॥ ८२ ॥ अथ वज्रोली ॥ स्वेच्छया वर्त्तमानोपि योगो

क्तै र्नियमै र्विना ॥ वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धि

मोक्ष भात

भाजनं ॥ ८३ ॥ तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥

क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्त्तिनी ॥ ८४ ॥ मेहनेन श

नैः सम्यक् ऊर्द्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ॥ पुरुषो वापि नारी वा व

ज्रोली सिद्धिमाजनं ॥ ८५ ॥ नार्या भगे पतद्बिंदुमभ्यासेनो

प्रयत्नतः शिश्ननालेन फूत्कारं कंबुकंधरे शनैः २ प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह्‌.व.

ईं माहरेत्॥ चलितं तु स्वकं बिंदु मूर्ध्वं माकृष्य रक्षयेत्॥८२

एवं तु रक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवान्॥ मरणं बिंदुपा

तेन जीवितं बिंदुधारणात्॥८३ सुगंधो योगिनो देहो जा

यते बिंदुधारणात्॥ यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं

कुतः॥८४ मनायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं तु जीवितं।

तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः॥८५ ऋतुमत्या

रजोप्येवं बीजं बिंदुं च रक्षयेत्। मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्य

३०

जो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

गाभ्यासयोगाद्वा॥७॥ अयंयोगःपुण्यवतांधन्यानांतत्त्व
दर्शिनां॥निर्मत्सराणां[illegible]सिध्येतनतुमत्सरशालिनां॥
॥८॥सहजैश्चामरोलिश्चवज्रोल्याएवभेदतः॥वज्रोली
मैथुनाद्वृद्धिःस्त्रीपुंसोःस्वांगलेपनं॥८॥आसीनयोःसु
खेनैवमुक्तव्यापारयोःक्षणात्सहजोलिरियंप्रोक्ता
सेव्यतेयोगिभिःसदा॥९॥पुंसोबिंदुंसमाकुंच्यसम्यगभ्या
सपाटवाद्यदिनारीरजोरक्षेत्तुवज्रोल्यासाहियोगिनी॥

जलेषुभस्मनि
क्षिप्यदग्धगो
मयसंभवं।

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हृ.ठ.

पातेन तस्मात्किं बिंदुज्ञानान्नागच्छति न संशयः। स बिंदुस्त
द्रजस्यैव एकीभूय स्वदेहगौ ॥८२॥ वज्रोल्यभ्यासयोगे
न सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥८३॥ पित्तोल्बणत्वात्प्रथमांबुधा
रां विहाय निःसारतयांत्यधारां निषेव्यते शीतलमध्यधा
रा कापालिकैः खंडमतैः समर्थ्यैः ॥८४॥ पेहे नौकुंच नौहं
रजसा पि हि योगिनी। अतीतानागतं वेत्ते खेचरी च प्रजा
यते ॥८५॥ देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः। अयं

३१

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

शुभंकरोयोगीजोगीमुक्तिमुक्तिभिः॥९६ तस्मात्सुपुण्यवता
मेवश्रयंयोगःप्रसिद्ध्यति॥९७ अथशक्तिचालनं॥ कुटि
लांगीकुंडलिनीभुजंगीशक्तिरीश्वरी। कुंडल्परुंधती
देवीआख्याःपर्यायवाचकाः॥९८ उद्घाटयेत्कपाटंतुयथा
कुंचिकयाहठात्। कुंडलिन्यातथायोगीमोक्षद्वारंस
मयंविभेदयेत्॥९९ येनमार्गेणगंतव्यंब्रह्मस्थानेनिरा
मयं। मुखेनाच्छादितद्वारंप्रसुप्तापरमेश्वरी॥१००॥ कंदो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ई॰ कुंडलीशक्तिर्बुद्धामोक्षाययोगिनां। बंधनायचमूढा
नांयस्तांवेत्तिसयोगवित्॥१ अंभोधिस्तौलन्हदीपानांआ
धारःशेषकुंडली। अशेषयोगतंत्राणांआधारःकुंड
लीतथा॥२ कुंडलीकुटिलाकारासर्पवत्परिकीर्ति
ता।साशक्तिश्चालितायेनसमुक्तोनात्रसंशयः॥३ गं
गायमुनयोर्मध्येबालरंडांतपस्विनीं। बलात्कारेण
गृह्णीयात्तद्विष्णोःपरमंपदं॥४ पुच्छेप्रगृह्यभुजगींसु

इडाभगवतीगंगापिंगलायमुनानदीतन्मध्येबालरंडाचकुंडलीपिंगलेडयोः

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

प्रामुद्बोधयेदनिलः । निद्रां विहाय सा कुंडली ऊर्ध्वमुत्तिष्ठ
ते हगता ॥ ५ पारिस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सा
यं प्रहरार्द्धमात्रं । प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य
नित्यं परिचालनीया ॥ ६ वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे
चतुरंगुलं । मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनांबरलक्षणं ॥ ७
वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुंडलीं । कुर्यादनं
तरं भस्त्रीं कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ ८ भानोराकुंचनं कु

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह०

३३

र्यात्कुंडलींचालयेत्ततः॥ मृत्युवक्त्रगतस्यापितस्यमृ
त्युभयंकुतः॥१८॥ नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणो
तिदीर्घीकृतस्तंद्रांभःपरिपूरितामृततनुःप्रांघंटिका
यास्तथा॥ छिंदन्कालविशालवह्निवशगान्भूरंध्रना
डीगणान्॥ तंकायंकुरुतेपुनर्नवतरंजीर्णेद्रुमस्कंधव
त॥१९॥ कुंडलीचालयित्वाथकुर्याद्भस्त्रींविशेषतः॥
एवमभ्यस्यतोनित्यंयमिनःश्रीकतेयमः॥११॥ तदाभ्यासे

३३ जिन

33

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्णायाः समुद्गतः। तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्णायाः समुद्ग
तः। नयाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णायां व्रजति स्वयशः। तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुषुम्णायां जं यते॥

कुर्यात्तेदं मुक्तायीन्वापिकुंभीतली। एवमभ्यासयुक्तस्य
यमि नो मभीः
श्रमस्थ यमिनः कुतः॥१२२ मुहूर्त्तद्वयपर्यंतं तु निर्भय
श्चालयेन्नित्यं ... । लनादसौ। ब्रह्मचर्यव्रतस्यैव नित्यं
हितमिताशिनः॥१२३ मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यास
योगिनः। अभ्यासं विंदुतेवाङ्गे विभूत्यासह मिश्रयेत्।
॥१२४ तद्धारणं बोधमांगो दिव्यदृष्टिप्रदायकं। द्विसप्तति
सहस्राणां नाडीनां मलशोधनं। कुतः प्रक्षालनोपायः

यस्तां संचा
लयेन्नित्यं योगी
रोगात्प्रमुच्यते
येन संचालिता
शक्तिः स योगी
सिद्धिभाजनं।
किमत्र बहुनो
क्तेन कालं जय
ति लीलया

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.व.

कुंडलभ्यासनाहते ॥१५॥ इति मुद्रादशकं प्रोक्तमादिना
थेन शंभुना। एकैकं तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी।
॥१६॥ राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा। राजयो
गं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते ॥१७॥ मारुतस्य विधिं
सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्॥ इतरत्र न कर्तव्या मनोवृ
त्तिर्मनीषिणा ॥१८॥ रविलोपि मध्यमा नाडी हठाभ्यासे
न योगिनां। आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवे

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

लाः॥ २४ उपासनविनिद्राणां राजयोगः समुद्भवः । रुद्राणी
सा परा मुद्रा महासिद्धिं प्रयच्छति ॥ २१ उपदेशो हि मुद्रा
णां योऽदत्ते सांप्रदायिकः । स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षा
दीश्वर एव सः ॥ २१ तस्यवाक्यापरोभूत्वा योऽभ्यसति
समाहितः । अणिमादिगुणैश्वर्यं जायते कालवंचनात्
२२ इति सहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामवि
विरचितायां हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः ॥ ॥

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

नाराजयोगोराजयोगंविनाहठः नसिद्ध्यतितनोयुग्ममानिष्पत्तेःसमभ्य
सेत् ८३ कुंभकप्राणरोधांतेकुर्याच्चित्तंनिराश्रयं एवंअभ्यासयोगेन
राजयोगपदंव्रजेत् ८४ कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतोभवेत् अनर्ग
लासुषुम्नाचहठसिद्धिश्चजायते ८५ वपुःकृशत्वंवदनेप्रसन्नतानादस्फुट
त्वंनयनेसुनिर्मले अरोगताबिंदुजयोग्निदीपनंनाडीविशुद्धिर्हठयोग
लक्षणं ८६ इतिसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामविरचितायां
हठप्रदीपिकायांद्वितीयोपदेशः सशैलवनधात्रीणांयथाधारोहि
नायकः सर्वेषांयोगतंत्राणांतथाधारोहिकुंडली १ सुप्तागुरुप्रसादे
नयदाजागर्तिकुंडली तथासर्वाणिपद्मानिभिद्यंतेग्रंथयस्तथा २ प्रा
णस्यशून्यपदवीतथाराजपथायते तथाचित्तंनिरालंबंतथाकालस्यवंच
नं ३ शून्यपदवीतिकिं सुषुम्नाशून्यपदवीब्रह्मरंध्रंमहापथम् श्मशानी

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकः ४ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्व
री ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासेन बोधयेत् ५ अथ दशमुद्रा महामुद्रा
महाबंधो महावेधश्च खेचरी उड्डीयानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ६ कर
णी विपरीताख्यं वज्रोली शक्तिचालनं इदं हि मुद्रादशकं जरामरणना
शनं ७ आदिनाथोदितं सर्वमष्टैश्वर्यप्रदायकं वल्लभं सर्वसिद्धानां
दुर्लभं महतामपि ८ गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकं कस्यचि
न्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ९ वज्रोलीरमरोली च सहजोली त्रि
धा मताः एतेषां लक्षणं वक्ष्ये कर्त्तव्यं च विशेषतः १० अथ महामुद्रा पा
दमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणं पादं प्रसारितं धृत्वा कराभ्यां पूरयेद्दृ
ढं ११ कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्द्धनि यथा दंडहतः सर्पो दंडाकार

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

प्रजायते १२ ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् तदा सौ मरणा
वस्था हरते द्विपुटाश्रिता १३ ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः इदं खलु
महामुद्रा महासिद्धिः प्रसस्यते १४ महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणा
दयः महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः १५ चंद्रांगे च समभ्यस्य सूर्यां
गे पुनरभ्यसेत् यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् १६ नहिप
थ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जी
र्यति १७ क्षयकुष्ठगुदावर्त्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः दोषाः सर्वे क्षयं यांति महा
मुद्रां च योभ्यसेत् १८ कथितेऽयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणां गोपनी
या प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् १९ अथ महाबंधः पार्ष्णिं वामस्य पा
दस्य योनिस्थाने नियोजयेत् वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणचरणं तथा २०

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

14

पूरयित्वा मुखे वायुं हृदये चिबुकं दृढं निःपीड्य योनिमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ११ धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः सव्यांगे पूर्वमभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् १२ मतांतरे तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् राजदंतस्थजिह्वायां बंधः शस्तो भवेदिति १३ अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः १४ अयं च सर्वनाडीनामूर्ध्वगमनरोधकः त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः १५ रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना महामुद्रामहाबंधौ निःफलौ वेधवर्जितौ १६ अथ महावेधः महावेधे स्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः वायुनागतिमाकृष्य निभृतं कंठमुद्रया १७ समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः १८ सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चमृतिंजयः

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

मृतावस्थासमुत्पन्नाततोमृत्युभयंकुतः २८ महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्र
दायकः वलिपलितनिर्मुक्तः सेव्यतेसाधकोत्तमैः ३० एतत्त्रयंमहामुद्राजरामृ
त्युविनाशिनी वह्निवृद्धिकरंचैवमणिमादिगुणप्रदं ३१ अष्टधाक्रियतेचैवया
मेयामेदिनेदिने पुण्यसंभारसंधायिपापौघभिदुरंसदा ३२ सम्यक्शिक्षावि
तामेवस्वल्पंप्रथमसाधनं वह्निस्त्रीपथसेवानामादौवर्जनमाचरेत् ३३ अ
थ खेचरी छेदनंचालनंदोहैः जिह्वांक्रमेणवर्द्धयेत् यावद्भ्रूमध्यंस्पृशति त
दाखेचरीसिद्धिः ३४ स्नुहीपत्रनिभंशस्त्रंसुतीक्ष्णंस्निग्धनिर्मलं समादा
यततस्तेनरोममात्रंसमुच्छिदेत् कृत्वासैंधवपथ्यादिचूर्णिताभ्यांप्रघर्षयेत्
पुनःसप्तदिनेप्राप्तेरोममात्रंसमुच्छिदेत् ३६ एवंक्रमेणषण्मासंनित्यमु
क्तंसमाचरेत् षण्मासाद्रसनामूलशिराबंधंविनश्यति ३७ अथवागीश्व

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

रीधामशिरोवस्त्रेणावेष्टयेत् शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलविधानवित् ३८ वि
नाहिप्रमितं दैर्घ्यं विस्तारं चतुरंगुलं मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिनांवरलक्षणं
३९ पुनः षण्मासमात्रेण पुनः संकर्षणात्प्रिये भ्रूमध्यावधि वर्द्धेत तिर्य्य
क्कर्णविलावधि ४० अधस्ताच्चिवुकं मूलं प्रयाति क्रमकारिता केशा
दूर्ध्वं च कामं तितिर्य्यक्शंखावधि प्रिये ४१ पुनः संवत्सराद्देवि विद्धि जिह्वा चै
वलीलया ब्रह्मरंध्रांतमाहृत्य तिष्ठत्य समवंदिते ४२ सतालुमूलं संघृष्य स
प्रवासरमात्मनि स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ४३ अंगुल्य
ग्रेण संघृष्य जिह्वां तत्र निवेशयेत् शनैःशनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाट
भृत् ४४ पूर्वं वीर्य्ययुतां विद्यां माहात्म्यातामनि दुर्लभां अभ्यासः षडंगकुर्वीत
तया षट्चक्रभिन्नया ४५ खेनिरस्तसकलक्रियाक्रमेणावितमस्वरंजिषणा

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

स्वनोदये साक्षिवचत्वसमवाप्यकारिणी खेचरी च भवखेदहारिणी ४६ क्रमेणै
व प्रकर्तव्यमभ्यासेन वरवर्णिनी युगपद्यतते तस्य शरीरं विलयं व्रजेत् ४७ तस्मा
च्छनैः शनैः कार्य्यमभ्यासेन युगपत्प्रिये एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं विशेद्ध्रुवं
४८ षट्चक्राणि विभिद्य शक्तिभुजंगी प्रोत्थाप्य मूलस्थितां भित्वा ग्रंथि
त्रयं च पश्चिमशिखराकाररूपं महत् ४९ नित्वा प्राणमतः शिरोविलमलं नि
मग्न्य चित्तेन ततं लिंगं पः पिबतीदुमंडलगलन्मुक्तः सदा शाश्वतः ५० नि
त्यं यस्तु ईदृजिह्वाग्रयो पिबति पुमान्सप्तधारामृतौघं सुस्वादं शीतलांगं दुरि
तभयहरं क्षुत्पिपासानिवारि ५१ पिंडस्थैर्य्यं हितस्माद्भवति मृतं यथा मृ
त्युरोगाद्भवति दौर्भाग्ययातिनाशं प्रसरति सकलं याति कालं भ्रमित्वा
५२ तीक्ष्णाकं हरते व्याधिं कटुकं कुष्ठनाशनं घृतस्वादूपमं चैवामरत्वं

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

16

लभते ध्रुवं ५३ मधुस्वादूपमं चैव शाल्यमुदरनिबद्धं लड्डुखंडकनिपाघाति
पक्वान्नान्यनेकशः ५४ दिव्यकल्पं क्रीडेन्नित्यमुमुक्षुर्होजायते ध्रुवं गन्ध
यत्वमवाप्नोति कोशाकारविकीटकः ५५ कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा वि
परीतगा भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ५६ काकचंचुविधानेन शीत
लं सलिलं पिबेत् प्राणापानप्रयोगेच योगी भवति निर्ज्जरो ५७ कुलां
पराङ्मुखीकृत्वा त्रिपथे परिवर्त्तयेत् सा भवेत् खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं त
दुच्यते ५८ रसनामूर्द्ध्वगां कृत्वा क्षणार्द्धमपि तिष्ठति विषयैर्मुच्यते योगी
व्याधिमृत्युजरादिभिः ५९ नरोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा न च
मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरी ६० पीड्यते न तु रोगेण न च लिप्यति
कर्मणा बाध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरी ६१ चित्तं चरति खे

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

यस्माज्जिह्वा चरति खेगता तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ६२
खेचर्य्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्द्ध्वतः तस्य नाक्षरते बिंदुः कामिन्यालिंगन
स्य च ६३ चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तश्च हुताशनं व्रजत्यूर्द्ध्वं हठः शक्त्या
निरुद्धो योनिमुद्रया ६४ कपालकुहरे जिह्वां कल्लासंधानमुद्रया तस्या
दिं प्रकुर्वीत नित्ययुक्तः समाहितः ६५ नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य
योगिनः तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्प्पति ६६ ऊर्द्ध्वजिह्वा स्थिरो भू
त्वा सोमपानं करोति यः मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ६७ इंधनानि यथा
वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः तथा षोडशकलापूर्णा देही देहेन मुंचति ६८ रसनां वेशये
दृद्ध्वं पिबेत्तत्स्रवितं जलं गोमांसभक्षपेन्नित्यं पिबेदमरवारुणी ६९ कुलीनं तम
हं मन्ये इतरे कुलघातकाः गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ७० गोमां

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह॰प्र॰
१७

संप्रदायं तत्त्वमहापातकनाशनं जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलुः ७१
चंद्रात्स्रवति यः सारस्स्यादमरवारुणी नाभिदेशे भवत्येको भास्करो दहनात्मकः
७२ अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमध्ये तु चंद्रमा वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो
रविः ७३ ज्ञातव्यं कारणं तस्य येन पीयूषमाप्यते मूर्ध्नः षोडशपद्मपत्रगलितं प्राणा
दवाप्तं हठात् ऊर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयेत् उत्कल्लोलकलाजलं
च विमलं धारामृतं यः पिबेत् निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरंजीवति चुंबं
तियदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्य
तुल्या यथा व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं ७७ तस्य स्यादमरत्वम
ष्टगुणिता सिद्धांगनाकर्षणं सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितः ७८ तिष्ठति खे
चरीमुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजने यत्प्रालेयं चापिहितः सुषिरं मेरुमूर्द्धांतः ७९ तस्मिंन

हः प्र॰
१७

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

त्वंप्रवदंतिसुधीरास्तनुरंध्रंनिमग्नानां चंद्रात्सारःस्रवतिपीयूषस्तेनमृत्युनराणां
८० तंवध्नीयात्सुकरणीमथोनान्यथाकायसिद्धिः एकंसृष्टिमयंवीजमेकामुद्राच
खेचरी एकोदेवोनिरालंवोएकावस्थामनोन्मनी ८१ अथमूलवंधमुद्रा वंद्धमू
लविलंयेननतेनविघ्नोविदारितः अजरामरतांयातियथापंचमुखोहरः ८२ अमृ
तांपूर्णदेहस्ययोगिनोहित्रिवत्सरात् ऊर्द्ध्वंप्रवर्ततेरेतोह्यणिमादिगुणोदयात् ८३
पार्ष्णिभागेनसंपीड्ययोनिमाकुंचयेद्गुदं अपानमूर्द्ध्वमाकृष्यमूलवंधोयमुच्यते ८४
अधोगतमपानंवैचोर्द्ध्वगंकुरुतेहठात् आकुंचनेनतंप्राहुर्मूलवंधंनुयोगिनः
८५ गुदंपार्ष्णितुसंपीड्यनिमाकुंचयेद्बलात् वारंवारंयथाचोर्द्ध्वंसमायातिस
मीरणः ८६ प्राणापानौनादविंदुःमूलवंधेनचैकतः ततोयोगस्यसंसिद्धिंकु
रुतेनात्रसंशयः ८७ अपानप्राणयोरैक्यंक्षयोमूत्रपुरीषयोः युवाभवति

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

वृद्धोपिसततंमूलबंधनात् ८८ अपानेचोर्द्धगेजातेसंप्रेवह्निमंडले तदानलशि
खादीर्घावर्द्धतेवायुनाहता ८९ ततोयातौवह्न्यपानौप्राणमुष्णस्वरूपकौ तेना
भितःप्रदीप्तस्तुकुरुतेदेहजस्तथा ९० तेनकुंडलिनीसुप्तासंतप्तासंप्रबोध्य
ते दंडाहताभुजंगीवनिःश्वस्यऋजुतांव्रजेत् ९१ बिलंप्रविष्टेवततोब्रह्मना
ड्यंतरेव्रजेत् तस्मान्नित्यंमूलबंधःकर्त्तव्योयोगिभिःसदा ९२ अथउड्डीयानबं
धः उर्द्ध्वयेनसुषुम्नायांप्राणस्तुड्डीयानयतः तस्मादुड्डीयाणाख्योयंयोगिभिः
समुदाहृतः ९३ उड्डीनंकुरुतेयस्मादविश्रांतमहाखगः उड्डीयानंतदेवस्याद
त्रबंधोऽभिधीयते ९४ उदरेपाश्चिमेतानंनाभेरूर्द्ध्वचकारयेत् उड्डीयानोह्यसौबं
धोमृत्युमातंगकेसरी ९५ उड्डीयानंतुसहजंगुरुणाकथितंसदा अभ्यसेत्स
ततंयस्तुवृद्धोपितरुणोभवेत् ९६ नाभेरूर्द्धमधश्चापितानंकुर्यात्प्रयत्न

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

तः षण्मासाभ्यासयोगेनजयेत्मृत्युर्नसंशयः ६७ स्थितेवज्रासनेपादौकराभ्यांधारये
दृढं गुल्फदेशेसमीपेचकंदंतत्रप्रपीडयेत् ६८ ऊर्ध्वंमेढ्रात्तथाधोनाभेःकंदोयत्रषडं
गवत् तत्रनाड्यःसमुत्पन्नाःसहस्राणांद्विसप्ततिः ६९ पश्चिमंतानमुदरेकारयेच्चि
बुकंहृदि शनैःशनैर्यथाप्राणस्कंदसंधेनगच्छति ७० सर्वेषामेवबंधानामुत्तमोह्यु
ड्डियानकः उड्डीयानेदृढेबंधेमुक्तिःस्वाभाविकंभवेत् १ अथजालंधरबंधः कंठमा
कुंच्यहृदयेस्थापयेच्चिबुकंदृढं बंधोजालंधराख्योयमम्रृताक्षयकारकः २ बध्नाति
हिशिरोजालमधोगामिनभोजलं ततोजालंधरोबंधःकंठदुःखौघनाशकः २ जालं
धरेकृतेबंधेकंठसंकोचलक्षणे नपीयूषंपतत्यग्नौनचवायुःप्रकुप्यति ३ बंधत्रय
मिदंश्रेष्ठंमहासिद्धैश्चसेवितं सर्वेषांहठतंत्राणांसाधनंयोगिनोविदुः ४ मूलस्था
नेसमाकृष्यउड्डियानंतुकारयेत् कंठसंकोचनेनैवद्धोनाड्योस्तंभितेध्रुवं ५ मध्य

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह॰प्र॰
१९

19

चक्रमिदंज्ञेयंषोडशाधारबंधनं इडाचपिंगलांबध्वावाहयेत्पश्चिमेपथं ६ अनेनै
वचाभ्यासेनसेवयेत्पवनालयं ततोनजायतेमृत्युर्जरारोगादिकंतथा ७ अधस्ता
त्कुंचनेनाशुकंठसंकोचनेकृते मध्येपश्चिमतानेनस्यात्प्राणोब्रह्मनाडिगः ८
अलस्थानततोरोधः प्रयातिपवनोऽनलं ततोनजायतेमृत्युर्नस्मान्नचैवजरा
दिकं ९ अथविपरीतकरणी यत्किंचित्स्रवतिचंद्रादमृतंदिव्यरूपिनं
तत्सर्वंग्रसतेसूर्यस्तेनपिंडंजरायुतं १० तत्रास्तिकारणंदिव्यंसूर्यस्यमुखवंधनं गुरू
पदेशतोज्ञेयंनतुशास्त्रार्थकोटिभिः ११ ऊर्द्धनाभिरधस्तालुरूर्द्धभानुरधःशशी
करणीविपरीताख्यागुरुवाक्येनलभ्यते १२ करणीविपरीताख्यासर्वव्याधिवि
नाशिनी नित्यमभ्यासयुक्तस्यजठराग्निविवर्द्धनी १३ आहारोवहुलस्तस्यसंपाद्यः
साधकस्यतु अनाहारोयदिभवेदग्निर्दहेद्देहंक्षणात् १४ अधःशिरश्चोर्द्धपादःक्ष

राम॰
१९

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

रां स्यात्प्रथमे दिने क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने २५ वलितं पलितं चैव ष
ण्मासान्तु न दृश्यते याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालवित् २६ अथ वज्रोली स्वे
च्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाज
नं २७ तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् कर्पद्वयमिदं प्रोक्तं कुलिनामृ
दुयोगिना २८ क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वा
कुंचनमभ्यसेत् २९ यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे शनैः शनैः प्रकु
र्वीत वायुसंचारकारणात् ३० नार्याभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् पुरुषो
वापि नारी वा वज्रोलीसिद्धिभाजनं ३१ नार्याभगे पतद्बिंदुमभ्यासादूर्ध्वमाहरेत्
चलितं च स्वपं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ३२ एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवा
न् मरणं बिंदुपातेन जीवितं बिंदुधारणात् सुगंधियोगिनो देहे जायते बिंदुधारणा

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह॰प्र॰
२०

न् यावद्विंदुस्थितो देहे तावत्कालभयं कुतः २४ चित्तायत्तं नृणां शु
क्रं शुक्रायत्तं च जीवितं तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः २५
ऋतुमत्यां रजोप्येवं बीजं बिंदुं च रक्षयेत् मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्या
सयोगवान् २६ अथ पंयोगपुराणवर्ता धन्यानां तत्त्वशालिनां निर्म
त्सराणां सिद्धोन्तु न तु मत्सरशालिनां २७ सहजोलिश्चामरोलिर्व
ज्रोल्या एकभेदतः जले सुभस्म निःक्षिप्य दग्धगोमयसंभवं २८
वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं आसीनयोः सुखे

व्या॰

नैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् २९ सहजोलिरियं प्रोक्ता सेव्या
योगिभिः सदा अयं शुभकरो योगो भोगे भुक्तेपि मुक्तिदः ३० पुंसो

ह॰प्र॰
२०

२०

व२

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

विंदुसमाकुंच्यसम्यगभ्यासपाटवात् यदिनारीरजोरक्षेद्वज्रोल्योग्रहयोगि
नी ३१ यस्याः किंचिद्रजोनाशं नगच्छतिनसंशयः तस्याशरीरेनादश्च विं
दुतामेवगच्छति ३२ सविंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूयास्वदेहजौ वज्रोल्याभ्या
सयोगेनसर्वसिद्धिः प्रजायते ३३ विहायनिम्नंप्रथमांवुधारां विहायनि
सारतयांत्यधारां निसेव्यतेशीतलमध्यधाराकापालिकैः खंडमतेः स
मर्थः ३४ अमरींचपिवेन्नित्यंनस्यंकुर्वन्दिनेदिने वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यम
ममरोलीतिकथ्यते ३५ पुंसोविंदुसमाकुंच्यसम्यगभ्यासपाटवात् यदि
नारीरजोरक्षेद्वज्रोल्यासापियोगिनी ३६ तस्याः किंचिद्रजोनाशंनगच्छति
नसंशयः तस्याःशरीरेनादश्च विंदुतामेवगच्छति ३७ सविंदुस्तद्रजश्चै

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.प्र.
२१

वश्यकीभूतः स्वदेहजो वज्रोल्याभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिः प्रजायते ३८
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेत् ध्रुवं देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्याभ्यास
योगतः ३९ तस्मादयं साधकानां भोगे मुक्तिविमुक्तिदः तस्मात्पुण्यव
तामेव अयं योगः प्रसिध्यति ४० मेहनाकुंचनादूर्द्ध्वं रजसापि च योगि
नी अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवं ४१ देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्या
भ्यासयोगतः अयं पुण्यकरो योगी भोगे मुक्तिविमुक्तिदा ४२ तस्मात्पु
ण्यवतामेव अयं योगः प्रसिध्यति अथ शक्तिचालनं कुटिलांगी कुंडलिनी
भुजंगी शक्तिरीश्वरी कुटिलारुंधती देवी या बद्धाः पर्यायवाचकाः ४३ कंदोर्द्ध्वं
कुंडली शक्तिः अष्टधा कुंडलाकृतिः ब्रह्मद्वारं मुखं नित्यं मुखेनाछाद्य तिष्ठ

राम
२१

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ति ४४ येनमार्गेनगंतव्यंब्रह्मस्थानंनिरामयं मुखेनाछाद्यतद्वारं प्रसुप्तापरमेश्व
री ४५ उद्घाटयेत्कपाटंतुयथाकुंचिकयाहठात् कुंडलिन्यातथायोगीमोक्षद्वा
रंविभेदयेत् ४६ कंदोर्द्ध्वेकुंडलीशक्तिर्बद्धामोक्षायमयोगिनां बंधनायचमूढानां
यस्तांवेत्तिसयोगवित् ४७ ब्रह्मोधिद्वीपशैलानामाधारःशेषकुंडली ब्रह्मो
घयोगतंत्राणामाधारःकुंडलीतथा ४८ कुंडलीकुटिलाकारासर्पवत्परिकीर्ति
ता साशक्तिश्चालितायेनसमुक्तोनात्रसंशयः ४९ गंगायमुनयोर्मध्येबा
लरंडांतपस्विनीं बलात्कारेणगृह्णीयात्तद्विष्णोःपरमंपदम् ५० इडा
भगवतीगंगापिंगलायमुनानदी इडापिंगलयोर्मध्येबालरंडासमाख्वती ५१
पुछेप्रगृह्यभुजंगींसुप्तामुद्बोधयेद्बुधो निद्राविहायसाशक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठ
तेहठात् ५२ परिस्थितांचैवफणावतींसाप्रातश्चसायंप्रहरार्द्धमात्रं प्रप

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

र्ध्वंसो पर्यात्य दक्षिणानयुक्त्याप्रगृह्य निर्यात्य विवाल्मिकामसा ५३ वितस्तिप्रमितं मध्ये विस्तारं चतुरंगुलं मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनांबरलक्षणं ५४ कृत्वासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुंडली सूर्यभेदात् सूर्यांतं तां भस्त्री कुंडलीमाशु बोधयेत् ५५ भानोराकुंचनं कुर्य्यात् कुंडलीचालयेत्ततः मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्मान्मृत्युभयं कुतः ५६ नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोतिदीर्घीकृतः चंद्रांतःपरिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकापात्तया ५७ भिदन्शकालविशालवह्निवशगान्नक्रंध्रनाडीगणात् नत्कार्यं कुरुते पुनर्न्नवतरां शीर्णो द्रुमस्कंधवत् ५८ कुंडलीचालयित्वा तु कुर्य्यात्भस्त्रां विशेषतः एवमभ्यासतो नित्यं यमिनः संकलेपमः ५९ तदाभ्यसेत्सूर्यभेदमुज्जायीं चापि शीतली एवमभ्यासयुक्तस्य यमभुक्ति पमिनः कुतः ६० मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ऊर्द्धमाकृष्यते किं

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

त्विसुषुम्नागतेकुंडली ६१ मुहूर्त्तद्वयपर्य्यंतंनिर्भयंचालनादसौ ब्रह्मचर्य्यरतस्यै
वनित्यंहितमिताशनः ६२ इतिपाठांतरेत्रयं तेनकुंडलिनीतस्याःसुषुम्ना
याःसमुद्गताः जहातितस्मात्प्राणोयंसुषुम्नांव्रजतिस्वतः ६३ तस्मात्संचा
लयेन्नित्यंसुखसुप्तामरुंधतीं यस्याःसंचालनेनाशुयोगीरोगैर्विमुच्यते
६४ येनसंचालिताशक्तिःसयोगीसिद्धिभाजनं किमत्रबहुनोक्तेनकालंज
यतिलीलया ६५ ब्रह्मचर्य्यरतस्यैवनित्यंहितमिताशनः मंडलाद्दृश्यतेसिद्धिः
कुंडल्यभ्यासयोगिनः ६६ त्र्यभ्यासान्त्रिःसृतोचाड्डीविभूत्यासहमिश्रयेत् तद्वा
रणाचोत्तमांगेदिव्यदृष्टिप्रदायकं ६७ द्विसप्ततिसहस्राणांनाडीनांमलशोधये
कुतःप्रक्षालनोपायःकुंडल्यभ्यासतोविना ६८ मारुतस्यविधिंसर्वंमनो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह॰प्र॰
२२

23

युक्तं सम्यगभ्यसेत् इति शक्तिचालनं इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ६९ अथ राजयोगः राजयोगं विना
पृथ्वी राजयोगं विना निशा राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते ७० हठस्य
विधिवत्सर्वं मनो सर्वस्य मभ्यसेत् इतीत्र न कर्त्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणां
७१ विनापि मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनां आसनं प्राणसंयमै मुद्राभि
र्मल्लाभवेत् ७२ अभ्यासेन हि मुद्राणां नादे निसमाधिना मुद्राणां चापरा
मुद्रा भद्रा सिद्धिं प्रयच्छति ७३ येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनं
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ७४ उपदेशाद्धि मुद्राणां
यो दत्ते सांप्रदायकः स एव श्रीगुरुस्वामी साक्षादीश्वर एव सः ७५

राम॰
२२

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

तस्यवाक्यपरोभूत्वायोऽभ्यसेतसमाहितः आरोग्यमादिगुणौश्वर्यंजायतेका
लवंचनं ७६ ॥ इतिश्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामविर
चितायांहठप्रदीपिकायांतृतीयोपदेशः ३ नमःशिवायगुरवेनादविंद
कलात्मने निरंजनपदंयातिनित्यंयोगपरायणः १ अथेदानींप्रवक्ष्या
मिसमाधिक्रमलक्षणं मृत्युघ्नंचसुखोपायंब्रह्मानंदकरंपरं २ सलिलेसैंध
वंयद्वत्साम्यंभजतियोगतः तथात्ममनसोवैक्यंसमाधिःसोऽभिधीयते ३ रा
जयोगस्यमहात्म्यंकोवाजानातितत्वतः ज्ञानान्मुक्तिःस्थितिःसिद्धिःगुरुवाक्ये
नलभ्यते ४ दुर्लभोविषयत्यागोदुर्लभंतत्वदर्शनं दुर्लभासहजावस्थासद्गुरोः
करुणांविना ५ विविधैरासनैःकुंभैर्विचित्रकरणैरपि प्रबुद्धायांमहाशक्तौप्रा
णःशून्येविलीयते ६ उत्पन्नशक्तिबोधस्यत्यक्तनिःशेषकर्मणः

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः सशैलव
नधात्रीणां यथाधारोहिनायकः सर्वेषां योगत
न्त्राणां तथाधारोहि कुण्डली सुप्ता गुरुप्रसादेन बो
धिता सुदृढा भवेत् तथा सर्वाणि पद्मानि भिद्य
न्ते ग्रन्थयोपि च प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजप
थायते तथा चित्तं निरालंबं तथा कालस्य वंचनं
शून्यपदवीति किं सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं
महापथं श्मशानं शांभवी मध्यमार्गः श्च इत्येकवा
चकाः तस्मात्सर्वप्रयत्नेन बोधयितुमीश्वरम् ब्र

प्राणस्य शून्य
पदवीति [illegible]

एकार्थवाच
का इत्यर्थः

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

द्वारे मुखे सुप्तां मुद्राभ्यासे न गोपयेत् महामु
द्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी उड्डियानं मूल
बंधो बंधो जालंधराभिधः करणी विपरीताख्या
वज्रोली शक्तिचालनं एतद्धि मुद्रादशकं जराम
रणवर्जितं आदीश्वरोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदाय
कम् वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि गो
पनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकं कस्यचिन्नैव व
क्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा महामुद्रा पादमूले
न वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणं पादं प्रसारितं

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangot

ष्ट्वा कराभ्यां धारयेन्मुखं कण्ठं बंधे समारोप्य धारयेद्वा
युमूर्ध्वतः यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् तथा
सा मरणावस्थां हरन्ते द्विपुटाश्रया नहि पथ्यमप
थ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः अपि भुक्तं विषं घोरं पी
यूषमपि जीर्यते चंद्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेन स
मभ्यसेत् यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जये
त् ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नतु वेगतः इयं खलु म
हामुद्रा महासिद्धैः प्रशंस्यते महाक्लेशा महादोषा
क्षीयन्ते मरणादयः क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णप्र

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

मलमत्रनुकेथांविकराटबन्धो विवर्जयेत
राजदन्तस्य जिह्वाया बन्धः पूर्णो भवेदिति

तलथा तस्य दोषा न संभवंति महामुद्रानुयोभ्यसेत्
कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी गोपनी
याप्रयत्नेन न देयाय स्य कस्यचित् महाबन्धः पा
र्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् वामोरु
परि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा पूरयित्वा मुखेना
युं हृदये चिबुकं दृढम् निपीड्य योनिमाकुंच्य मनो मध्ये
नियोजयेत् रेचयेच्च शनैरेव महाबंधोयमुच्यते, अ
यं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः कालपा
शमहाबंधविमोचने विचक्षणः अयं तु सर्वनाडी
नामूर्ध्वगमनबोधकः त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारेश

६ प्र

२२

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangot

पयेत्नतः महावेधः रूपलावण्यसंपन्ना यथा
स्त्री पुरुषं विना महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ
वेधवर्जितौ महावेधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमे
कधिया वायूनांगतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः २८
द्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः सोमसूर्या
ग्निसन्धानं जायते वायुनायते मृतावस्था समु
त्पन्ना ततो मृत्युभयं जातः महावेधोयमभ्यासा
न्महासिद्धिप्रदायकः वलीपलितवेगघ्नः सेव्य
ते साधकोत्तमैः एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युवि

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

कृ. प्रि

विनाशनं वह्निदाहकरं चैव दन्तिमाद्रिगुणप्रदं
यत्र क्षुधा क्रियते चैव यामयामे दिने दिने पुण्यमे
भारसं पादिपापोद्भविभङ्गं सदा सम्यक्त्रिशास्त्रा
वनामेवस्वल्पंप्रथमसाधने वह्निद्वीपयमेता
नामादौ वर्जनमाचरेत खेचरी छेदनचालन
दोहैर्जिह्वां चैव धर्ययेन्नागत् यावदियं भ्रूमध्यं स्पृ
शति तदा खेचरी सिद्धिः कपालकुहरे जिह्वा
प्रविष्टा विपरीतगा भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भ
वति खेचरी कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परिवे
र्धयेत् सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते

६३
२२

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

𑆫𑆩𑆑𑆳𑆩𑆳𑆫𑇀𑆣𑆳𑆕𑇀𑆓𑆵𑆑𑆸𑆠𑇀𑆮𑆳𑆮𑆬𑇀𑆬𑆨𑆁𑆪𑆮𑆴𑆠𑆴𑆍
𑆤𑆴 𑇅 𑆮𑆴𑆯𑇀𑆮𑆼𑆯𑆁𑆨𑆮𑆼𑆑𑆼𑆤𑆓𑆵𑆫𑇀𑆮𑆳𑆟𑆴𑆩𑆲𑆳𑆨𑆷𑆠𑆓𑆳
𑆱𑇀𑆡𑆴𑆠𑆴𑆂 𑇒𑇔 𑆤𑆩𑆾𑆤𑆩𑆱𑇀𑆠𑆼𑆤𑆱𑇀𑆪𑆤𑆠𑆴𑆱𑇀𑆡𑆳
𑆤𑆠𑇀𑆮𑆣𑆳𑆤𑆮𑆠𑆳 𑆤𑆩𑆱𑇀𑆠𑇀𑆮𑆁𑆘𑇀𑆚𑆳𑆤𑆨𑆮𑆼𑆠𑇀𑆠𑆱𑇀𑆪𑆽
𑆯𑆶𑆨𑆼𑆮𑆼𑆯𑇀𑆩𑆴𑆮𑆴𑆮𑆫𑆼 𑇒𑇕 𑆮𑆴𑆯𑇀𑆮𑆼𑆯𑇀𑆮𑆫𑆤𑆴𑆮𑆼
𑆢𑆫𑇀𑆯𑆴𑆤𑆴𑆑𑆸𑆠𑇀𑆮𑆳𑆮𑆫𑆤𑆴𑆒𑆴𑆬𑆩𑆳𑆤𑆳 𑆤𑆼𑆮𑆼𑆪𑆼𑆢𑆼
𑆮𑆵𑆨𑆷𑆱𑆱𑆫𑇀𑆮𑆱𑆴𑆢𑇀𑆣𑆽𑆫𑇀𑆤𑆩𑆱𑇀𑆑𑆸𑆠𑆳 𑇒𑇖 𑆢𑆼
𑆮𑆥𑆵𑆜𑆱𑇀𑆡𑆴𑆠𑆼𑆯𑆩𑆮𑆴𑆮𑆫𑆼𑆬𑆑𑇀𑆰𑇀𑆩𑆴𑆑𑆼𑆮𑇀𑆪𑆼𑆤𑆩𑆂

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangot

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow; Digitized by eGangot

स संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः अपानप्राणयो
रैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः युवा भवति वृद्धोपि
सततं मूलबंधनात् अपाने चोर्ध्वगे जाते संप्रा
प्ते वह्निमण्डले तथानलशिखा दीर्घा वर्द्धते वा
युनाहता ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरू
पकं तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ते
न कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबोध्यते दंडाहता
भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् तस्मान्नित्यं मूलबं
धः कर्त्तव्यो योगिभिः सदा उड्डीयानबंधः बद्धो
येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डयते नरः तस्मादुड्डीय

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

मानोसौ योगिभिः समुदाहृतः उड्डीनं कुरुते
यस्मादविश्रांतं महाखगः उड्डीयानं तदेव स्या
ल।बंधोभिधीयते उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं
च कारयेत् उड्डीयानो ह्ययं बंधो मृत्युमातंगके
सरी उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं यथा
अभ्यसेत्तदतंद्रस्तु वृद्धोपि तरुणायते नाभेरूर्ध्व
मधो वापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः षण्मासमभ्य
सेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः स्थितिवज्रासने पादौ
कराभ्यां धारयेद्दृढम् गुल्फदेशसमीपे च स्कंधेत कंदं
तत्र पीडयेत् पश्चिमं तानमुदरे धारयेच्चिबुके हृदि

६१

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

२६

शनैः शनैर्यथाप्राणस्तु द्वसिद्धिं च गच्छति. सर्वेषामे
वबंधानामुत्तमोह्युड्डियानकः उड्डीयानेकृतेबंधेमू
लंस्वाभाविकंभवेत् जालंधरबंधः कण्ठमाकुंच्य
हृदयेस्थापयेद्दृढमिच्छया बंधोजालंधराख्योयम
मृतास्वरकारकः बध्नातीहशिरोजालमधोगामिन
भोजलम् ततोजालंधरोबंधः कण्ठदुःखौघनाश
नः जालंधरेकृतेबंधेकण्ठसंकोचलक्षणे नपीयूषं
पतत्यग्नौनचवायुःप्रकुप्यति कण्ठसंकोचनेनैवद्वे
नाड्यौस्तंभितेध्रुवे मध्यचक्रमिदंज्ञेयंषोडशाधार
बंधनम् इडाचपिंगलाबद्धावाहयेत्पश्चिमेपथम्

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

मार्गो यो योगिभिः समुदाहृतः उड्डीनं कुरुते
यस्मादविश्रांतं महाखगः उड्डीयानं तदेव स्यात्त
त्र। बंधोभिधीयते उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं
च कारयेत् उड्डीयानो ह्ययं बंधो मृत्युमातंगके
सरी उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं यथा
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोपि तरुणायते नाभेरूर्ध्व
मधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः षण्मासमभ्य
सेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः सति वज्रासने पादौ
कराभ्यां धारयेद्दृढम् गुल्फदेशसमीपे च स्कंधेत कंदं
तत्र पीडयेत् पश्चिमं तानमुदरे कारयेच्चिबुके हृदि

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

ग्रनेनैव विधानेन सेवयेत्पवनालयम् ततोनन्तायते
मृत्युज्वरारोगादिकं तथा विपरीतकरणी यत्किंचि
त्सवते वंशाद्दृष्टं तद्दिव्यमपि च तत्संगे ग्रसते सूर्यस्तेन पापादि
विनाशव, तस्यापि करणं दिव्यं सूर्यस्य तु विवंधनम् गुरुपदे
शतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ऊर्ध्वनाभिरधस्ता
ल्लुरूर्ध्वं भानुरधः शशी करणी विपरीताख्या सर्वव्या
धिविनाशिनी नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविव
र्धिनी आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य
तु अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति देहं तत्क्षणात् अधः
शिरः ऊर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने क्षणाच्च

६१

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

किंचिदधिकमभ्यसेन्नदिनेदिने वलितंपालितंचै
वघएमासार्धेननश्यति यामुमात्रंतुयोनित्यमभ्यसे
त्सतुकालजित् अन्यत्वाज्जोलीग्रन्थांतेलिखि
तावर्तनेक्रमशाम्राप्यशक्यकासाधारणप्राप्य
नुष्टेयत्वान्नस्याः शक्तिचालनं कुटिलांगी
कुण्डलिनीभुजंगीशक्तिरीश्वरी कुटिलारुन्धती
त्येतेशब्दाः पर्यायवाचकाः॥ कुण्डलिन्यातथा
योगीमोक्षद्वारंविभेदयेत् येनद्वारेणगंतव्यंब्र
ह्मस्थानंनिरामयं मुखेनाच्छाद्यतेद्वारंप्रसुप्ता

५

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥ कुंडलि
र मेश्वरी कंदोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय
योगिनां बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योग
वित् ॥ ग्रं भोधिष्ठीपशैल्लानां माधारः शेषवत्
ण्डली ॥ ग्रं शेषयोगतंत्राणमाधारः कुण्डली
तथा ॥ कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्ति
ता ॥ सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥
गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनी
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम्

हठ

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

पुछं प्रगृह्य भुजंगीं सुप्तामुद्बोधयेदीप निद्रां विहा
य सा शक्तीरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् परिस्थिता चै
व फणावती सैषं प्रहरार्धमात्रम् प्रपूर्य[illegible]धा ^ प्रातस्सा ३
यं परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं विचालनीया सा
वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारं चतुरंगुलं मृदुलं
धवलं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणं वज्रासनस्थि
तो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम् सूर्यभेदा
नु सूर्यात्कुण्डली चालयेत्ततः मृत्युवक्त्रगत
स्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः भानोराकुंचनं कु

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

र्यान्कुण्डलीचालयेत्ततः सूत्सुरङ्गगतस्यापितस्यसू
न्युभयं ततः नाभादक्षिणचर्मगाहिपवनोघ्राणेति
दीर्घीकृतश्चेज्जांतः परिक्षिप्यदूरिततनुः शान्त्यालिका
यालया भिन्द्रन्कालविशालवज्रिविशगान्धूरं
धमाडीगणांस्तंकार्यंकुरुते पुनर्गगनं जीर्णकुमस्को
न्धवत् कुण्डलीचालयित्वा तु कुर्यात्कुंली विशेषतः
एवमभ्यासतो नित्यं यमिनः शंकतेयमः नशाभ्यसे
न्नर्यभेदमुद्रायी चापि शीतलीम् एवमभ्यासयु
क्तस्य यमस्य यमिनः ततः मुहूर्तद्वयपर्यंतं नि
र्भयंचालनादसौ ऊर्ध्वमायेरतस्वेद नित्यं हितामि

हे ३

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

नाशिनः ॥ मण्डलादृश्यते सिद्धिः कुण्डल्याभ्यासयोग
तः ॥ द्विसप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं ॥ कुतः
प्रक्षालनोपायः कुण्डल्याभ्यासतो विना ॥ इति मुद्रा द
शप्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ॥ एकैका तासु यमिनां
महासिद्धिप्रदायिनी ॥ राजयोगं विना पृथ्वी राजयो
गं विना निशा ॥ राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न रा
जते ॥ मारुतस्य विधिं सिद्धं मनोयुक्तं समभ्यसेत्
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ खिलापि म
ध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनां ॥ आसनप्राणसंया
मैः मुद्राभिः सरला भवेत् ॥ तथासनविनिद्राणां रा

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

ण योगः समाधिकः एकैका तासु यमिनां महासिद्धिं प्र
यच्छति उपदेशं हि मुद्राणां यो धत्ते सांप्रदायिकं
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः तस्य वा
क्यपरो भूत्वा योऽभ्यस्यति समाहितः अणिमादिगु
णैश्वर्यं जायते कालवंचनं इति हठप्रदीपिकायां
तृतीयोपदेशः नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दु
कलात्मने निरंजनपदं याति यत्र नित्यपरायणः
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रमलक्षणं मृत्यु
घ्नं तु सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परं सलिले सैंधवं य
द्वत्साम्यं भजति योगतः तथात्ममनसोरैक्यं सम

हठ. ५

केवलेकुंभकेसिद्धेरेचपूरकवर्जिते ३ नत
स्यदुर्लभंकिंचित्त्रिषुलोकेषुविद्यते शक्तःके
वलकुंभेनयथेष्टंवायुधारणात् ४ राजयो
गपदंचैवलभतेनात्रसंशयः हठंविनाराज
योगोराजयोगोविनाहठः ५ नसिध्यतिततो
युग्ममानिष्पत्तेसमभ्यसेत् कुंभितःप्राणरे
चांतेकुर्याच्चित्तंनिराश्रयम् ६ एवमभ्यास
योगेनराजयोगपदंलभेत् कुंभकात्कुंडली
बोधःकुंडलीबोधतोभवेत् ७ अनर्गलासुषु
म्नाचहठसिद्धिश्चजायते वायुःकृशत्वंवदने
प्रसन्नतानादस्फुटत्वंनयनेचनिर्मलम् ८
अरोगतानाविंदुजयोग्निदीपनंनाडीषुसिद्धि
हठसिद्धिलक्षणम् इतिश्रीआत्मारामयोगी
चंद्रविरचितायांहठप्रदीपिकायांद्वितीयो
पदेशः सशैलवनधात्रीणांयथाधारोहि
नायकः सर्वेषांयोगतंत्राणांतथाधारोहि
कुंडली १ तदासर्वाणिपद्मानिभिद्यंतेग्रंथयो
पिवा प्राणस्यशून्यपदवीतदाऋजवीयदा
भवेत् २ तदाचित्तंनिरासंवंतदाकालस्यवं
चनम् सुषुम्नाशून्यपदवीब्रह्मरंध्रंमहाप

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

थः ३ श्मशानंशांभवीमध्यमार्गश्चेत्येकवाच
कः तस्मात्सर्वप्रयत्नेनप्रवोधयितुमीश्वरी
म् ४ ब्रह्मद्वारमुखेसुप्तांमुद्राभ्यासंसमभ्यसेत्
महामुद्रामहाबंधोमहावेधश्चखेचरी ५ उड्डिया
णंमूलबंधश्चततोजालंधराभिधः करणीविप
रीताख्यंवज्रोलीशक्तिचालनम् ६ इदंहिमुद्रा
दशकंजरामरणनाशकम् आदिनाथोदितं
दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ७ वल्लभंसर्वसि
द्धानांदुर्लभंमरुतामपि गोपनीयंप्रयत्नेन
यथारत्नकरंडकम् ८ कस्यचिन्नैववक्तव्यंकु
लस्त्रीसुरतंयथा वज्रोलीरमनोलीचसहजो
लीत्रिधामता एतेषांलक्षणंवक्ष्येकर्त्तव्यंचवि
शेषतः ९ तत्रमहामुद्रायथा ९ पादमूलेन
वामेनयोनिंसंपीड्यदक्षिणं पादंप्रसारितंकृ
त्वाकराभ्यांधारयेत्सुदृढं ९ कंठेबंधंसमारोप्य
धारयेद्वायुमूर्द्धतः यथादंडहतःसर्पोदंडा
कारःप्रजायते २ ऋज्वीभूतातथाशक्तिःकुंड
लीसहसाभवेत् तदेयंमरणावस्थाजायतेद्वि
पुटाश्रिता ३ ततःशनैःशनैरेवरेचयेन्नतुवे
गतः इयंखलुमहामुद्रामहासिद्धिप्रदायिनी ४

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः महा
मुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः १४ चंद्रांगे तु स
मभ्यस्य सूर्यांगे तु समभ्यसेत् यावत्तुल्या भवे
त्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् अपि भुक्तं विषं घोरं
पीयूषमिव जीर्यति महामेध्यममेध्यं वा रसा वि
नीरसाः १६ क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरो
गमाः तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योभ्य
सेत् १७ कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी
नृणां गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्य
चित् १८ अथ महाबंधः पार्ष्णिं वामस्य पादस्य यो
निस्थाने नियोजयेत् वामोरूपरि संस्थाप्य द
क्षिणं चरणं तथा १९ पूरयित्वा ततो वायुः हृद
ये चिबुकं दृढम् निःपीड्य योनिमाकुंच्य मनो
मध्ये नियोजयेत् २० राजदंतद्वयं तत्र जिह्वा
योत्तमं भवेदिति धारयित्वा यथाशक्त्या रेचये
दनिलं शनैः २१ सव्यांगे च समभ्यस्य दक्षांगे च
समभ्यसेत् मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं वि
वर्जयेत् अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदा
यकः २२ कालपाशमहाबंधविमोचनविच
क्षणः अयं च सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिविबोधकः

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्राप्नुयान्नरः रूपलाव
ण्यसंपन्नो यथा स्त्री पुरुषं विना १९ महामुद्रा
महाबंधो महावेधं विना तथा अथ महावेधः
महाबंधास्थितो योगी कृत्वा पूरकमेवहि २०
वायूनां गतिमावृत्य विभृतं कंठमुद्रया सम
हस्तयुगो भूमौ स्फुरितौ संताडयेच्छनैः २१ पु
टद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः सोम
सूर्याग्नि संबंधो जायते चामृताय वै २२ मृता
वस्था समुत्पन्ना ततो मृत्युमयं कुतः महावे
धोयमभ्यासो महासिद्धिप्रदायकः २३ वली
पलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः मुद्रात्र
यं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनं २४ वह्निवृ
द्धिकरं चैवमणिमादिगुणप्रदम् अष्टधा क्रि
यते चैकं यामयामे दिने दिने पुण्यसंभारसं
धायि पापौघविडंरं सदा २५ सम्यक् शिक्षाव
तामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनं वह्निस्त्रीपथिसे
वानामादौ मादौ वर्जनमाचरेत् २६ अथ खे
चरी छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धये
त्तावत् सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेच
री सिद्धिः कपालकुहरेत् जिह्वाप्रविष्टावि

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हठ·
८८

परीतगा भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिः मुद्रा भवति खेचरी
कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् साभ
वेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते रसनामूर्द्धगां
कृत्वा क्षणार्द्धं यदि तिष्ठति क्षणेन मुच्यते योगी
व्याधिमृत्युजरादिभिः न रोगो मरणं तस्य न निद्रा
न क्षुधा तृषा न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति
खेचरीम् चित्तं चरति खे यस्मात् जिह्वा चरति खे
गता तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता
स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना स्तो
कं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य तत्पुनः गुरू
पदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत् बिंदुसि
द्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायकः षण्मासम
भ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया शतांगनो
पभोगेन बिंदुस्तस्य न नश्यति खेचर्या मु
द्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः न तस्य क्षरते
बिंदुः कामिन्यालिंगितस्य च ४ चलितोयं
यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् वायूर्द्धंच
यत्याहृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ४ कपा
लकुहरे जिह्वाकला संध्यानमुद्रया ऊर्द्धजि
ह्वास्थिरीकृत्वा सोमपानं करोति यः मासार्द्धे

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ननसंदेहोमरत्वंजयतियोगवित् नित्यंसोम
कलापूर्णंशरीरंयस्यदेहिनः तक्षकेनाप
दृष्टस्यविषंतस्यनसर्पति इंधनानियथा
वह्निस्तैलवर्तीचदीपकः तथासोमकला
पूर्णंदेहंदेहीनमुंचति प्रकाशीभुंजतेह्यभ्या
मागतांचंद्रमंडले इतीयोयःस्तुतस्माभ्यां
समवेदजरामरः गोमांसंभक्षयेन्नित्यंपिबे
दमरवारुणी कुलीनंतमहंमन्येइतरेकु
लघातकाः गोशब्देनोदिताजिह्वातत्प्रवेशोहि
तालुनि गोमांसभक्षणंतत्तुमहापातकना
शनम् जिह्वाप्रवेशसंभूतावह्निनोत्पादिता
कला चंद्रात्स्रवतियःसारःसास्यादमरवारु
णी ४७ नभइद्देशोभवेत्स्येद्भास्करोदहनात्म
नः श्रमस्तात्मास्थितोनित्यंतालुमध्येतुचंद्र
माः वर्धत्यधोमुखस्यंद्रोयसमत्तूर्ध्वमुखोरविः
ज्ञातव्यंकरणंतस्येनपीयूषमाप्यते ४९
उर्द्धंषोडशपत्रपद्मगलितंप्राणान्नवामाह
ठा ऊर्ध्वास्योरसनांनियम्यविवरेशक्तिंपरांचिं
तयेत् उत्कल्लोलकलाजलंचविमलंधारा
मयंयःपिबेत् निर्व्याधिःसमृणालकोमलव

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

सयोगीचिरंजीवति ५० रसनातालुमूलेनयः
यःप्राणंसततंपिवेत् अब्दार्द्धेनभवेत्तस्य स
र्वरोगपरिक्षयः ५१ काकचंचुवदिपानेन शी
तलंसलिलंपिवेत् भ्रमंतीयदिलंस्वकागन
मतिशीतिलक्षा रसस्यंदिनी सरक्ता रंकुटकाल्ल
डुत्पलवर्णं व्याधीनांहरणंजरांतकरणंप्रा
स्त्रार्थसुक्षीरणं तस्यस्यादमरत्वमष्टगुण
कंसिद्धांगनाकर्षीनम् ५२ एकंसृष्टिलयं
बीजंएकमुद्रातुखेचरी एकोदेवोनिरालम्बो
ह्येकावस्थामनोन्मनी बंधंमूलविलेयेन
तेनविघ्नोविदारहः अजरामरणंयातिय
थापंचमुखोहरः अमृतापूर्णदेहस्ययोगि
नोद्विवत्सरात् ऊर्ध्वंप्रवर्ततेरेतोह्यणिमा
दिगुणोदयात् पातालेयद्वसतिकस्विरंमे
हमूलेयदास्तः पद्मेचैतत्प्रवर्तिक्षवलीस्त
सुवंनिम्नगानाम् चन्द्रास्ताःप्रवर्तिवष
लेनमरसुर्नराणांतेवशीयात्सुकरणेनाप्य
प्याकार्यसिद्धिः ५८ अथमूलबंधः पार्ष्णिभा
गेनसंपीड्ययोनिमाकुंचयेद्गुदम् अपानमू
र्द्धमाकृष्यमूलबंधोयमुच्यते अधोगतिम

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

पानं तत्तूर्ध्वगं कुरुते बलात् आकुंचनेन
तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिन गुदं च पार्ष्णिनापी
डवायुमाकुंचयेद्बलात् वारंवारं यथा चोर्ध्वं
समायाति समीरणः गतायोगस्य संसिद्धिं
गच्छते नात्र संशयः ६८ अपाणप्राणयोरैक
यं क्षयो मूत्रपुरीषयो युवा भवति वृद्धोपि
शतं तं मूलबंधनात् अपाने चोर्ध्वगे जाते
प्रजाते वह्निमंडले तदानलशिखा दीर्घा
वायुना वर्द्धते हिसा ततोजातो वंध्यानौप्रा
णमुष्णस्वरूपकौ तातोऽत्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वल
नो देहजस्तथा तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता
संप्रबुध्यते यथा दंडहतो भोगी निःश्वस्य ऋ
जुतां व्रजेत् बिलं प्रविष्टे पवने ब्रह्मनाड्यं
तरं व्रजेत् तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्त्तव्यो यो
गिभि ६९ अथोड्डियानबंधः उड्डियेन सु
षुम्नायां प्राणस्तूड्डियते यतः तस्माड्डी
यबंधयोगिभिः समुदाहृतः उड्डाणं कुरुते
यस्मादविश्रांतो महाखगः उड्डियानं तदे
व स्यात्तत्र बंधो विधीयते उदरे पश्चिमं ता
नं नाभेरूर्द्ध्वं च कारयेत् उड्डियाणो ह्यसौ

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

13

बंधोमृत्युमातंगकेशरी उड्डियाणंतुसह
जंगुरुणाकथितंयथा अभ्यसेदनिशंयो
गीवृद्धोपितरुणोभवेत् ५९ नाभेरूर्ध्वमधश्चा
पिताणंकुर्यात्प्रयत्नतः षण्मासमभ्यसेन्मृ
त्युंजयत्येवनसंशयः ६० सतिवज्रासनेपा
दौकराभ्यांधारयेद्दृढं गुल्फदेशसमीपेच
कंदंतत्रप्रपीडयेत् पश्चिमंताणमुदरेधा
रयेच्चिबुकंहृदि शनैःशनैर्यतःप्राणःस्कंद
संधिंनिगच्छति सर्वेषामेवबंधानामुत्तमो
ह्युड्डियानकः उड्डियानेदृढेबंधेमुक्तिःस्वाभा
विकीभवेत् अथजालंधरबंधः कंठमाकुंच्य
हृदयेस्थापयेच्चिबुकंदृढं बंधोजलधरा
ख्येयममृतान्यपकारकः बध्नातिहिशिरा
जालमध्योगामिनिभोजलम् ततोजालंध
रोबंधःकंठदुःखौघनाशनः ६५ जालंधरे
कृतेबंधेकंठसंकोचलक्षणे नपीयूषं
पतत्यग्नौनचवायुःप्रकुप्यति कंठसंको
चनेनैवद्वेनाड्यौस्तंभयेद्दृढम् मध्यच
क्रमिदंज्ञेयंषोडशाधारबंधनम् बंधत्रये
मिदंश्रेष्ठंमहासिद्धैर्निषेवितं सर्वेषांयो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

गतं त्राणं साधनं योगिनो विदुः अधःस्तात
कुंचनेनैव कंठसंकोचनेन च मध्ये पश्चिम
तानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मरंध्रगः मूलस्थाने
समाकुंच्योड्डियानं तु कारयेत् इडां च पिं
गलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथम् ९ अने
नैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ततो
न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा अथ
विपरीतलक्षणम् यत्किंचित्स्रवते चंद्राद
मृतं दिव्यरूपिणः तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन
पिंडं जरायुतं तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य
मुखवंचनम् गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शा
स्त्रार्थकोटिभिः ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भा
नुरधः शशी करणं विपरीताख्या सर्वव्या
धिविनाशनी नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठरा
ग्निविवर्धिनी आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः
साधः स्यात्तु ८५ अल्पाहारो यदि भवेद्दे
हं हरेत्क्षणात् अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्या
त्प्रथमे दिने क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च
दिने दिने वलितं पलितं चैव षण्मासाद्धी
न दृश्यते याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह॰ठ॰
१४

14

तकालजित् ८८ अथवज्रोली स्वेछायाव
र्तमानोपियोगोक्तैर्नियमैर्विना वज्रोलीयो
विजानातिसयोगीसिद्धिभाजनः ८९ तत्र
वस्तुद्वयंवक्ष्येदुर्लभंयस्यकस्यचित् क्षीरं
चैकंद्वितीयंतुनारीचवशवर्तिनी ९० मे
हनेनशनैःसम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् पु
रुषोवाप्यथवानारीवज्रोलीसिद्धिमाप्नुया
त् यत्नतःशस्तनालेनफूत्कारंवज्रकंदरे
शनैःशनैःप्रकुर्वीतवायुसंचारकारणात्
नारीभगेपतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्
चलितंचनिजंबिंदुमूर्ध्वमाकृष्यरक्षयेत्
एवंसंरक्षयेद्बिंदुंमृत्युंजयतियोगवित्
सुगंधियोगिनोदेहाजायतेबिंदुधारणा
त् यावद्बिंदुःस्थितोदेहातावन्मृत्युभयंकु
तः चित्तायत्तंनृणांशुक्रंशुक्रायत्तंहिजी
वितं ९५ तस्माच्छुक्रंमनश्चैवरक्षणीयंप्र
यत्नतः ऋतुमत्यारजोप्येवंबीजंबिंदुंचरक्ष
येत् मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वंसम्यगभ्यासयोग
वान् अयंयोगःपुण्यवतांनतुमत्सरशालि
नाम् सहजोलिश्चामरोलिश्चवज्रोल्याएव

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

भेदत जले सुभस्मनिःक्षिप्य दग्धगोमय
संभवम् वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वां
गलेपनम् ९५ आसीनयोः सुखेनैव मुक्त
व्यापारयोः क्षणात् सहजोलीरियं प्रोक्ता से
व्यते योगिभिः सदा ९६ अयं शुभकरो योगो
भोगयुक्तोपि मुक्तिदः पित्तोल्वणत्वात्प्रथ
मंबुधारां विहाय निःसारतयांत्यधाराम् नि
षेव्यते शीतलमध्यधारा कापालकैः खंडम
तेऽमरी स्यात् ९७ अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वं
दिने दिने वज्रोलीमभ्यसेद्वेयं समरोलीति
कथ्यते पुंसो विंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपा
टवात् यदि नारी रजो रक्षेद् वज्रोल्या सापि योगि
नी तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छेदि न संश
यः तस्याः शरीरे नादश्च विंदुतामेव गच्छति
स विंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहजः
वज्रोल्याभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिः प्रकुर्वतः
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम्
देहसिद्धिं च लभ्येत वज्रोल्याभ्यासयोगतः
मेढ्रेणाकुंचनादूर्ध्वं रजसापि च योगिनी ९८
तस्मादयं साधकाय भोगयुक्तोपि मुक्तिदः

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हठ.
१५

15

तस्मात्तु त्यवनामेव स्वयं योगः प्रसिध्यति ९७
अथ शक्तिचालनम् कुंडलंगीथ कुंडलिनीभु
जंगी शक्तिरीश्वरी कुंडल्यारुंधती शब्दाभुजे
ग्याययावाचिकाः ९८ उद्घाटयेत्कपाटं तु य
तः कुंचिकया हठात् कुंडलीन्या तथा योगी
मोक्षद्वारं विभेदयेत् येन मार्गेन गंतव्यं ब्र
ह्मस्थानं निरामयम् मुखेनाछाद्य तं द्वारं प्र
सुप्ता परमेश्वरी कंदोर्द्धे कुंडली शक्तिः सुप्ता
मोक्षाय योगिनाम् बंधनाय च मूढानां यस्तां
वेत्ति स योगवित् अंभोधिशैलद्वीपानां मा
पारंशोषकुंडली अशेषयोगतंत्राणां माचा
रः कुंडलीतया कुंडली कुंडलीकारा सर्पवत्प
रिकीर्तिता सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो ना
त्रसंशयः ११३ गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां
तपस्विनी बालात्कारेण गृह्णीयात् हि सो
परमं पदं पुच्छे निगृह्य भुजंगीं सुप्तामुद्बो
धयेदमी निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठ
ते हठात् परिस्थिता चैव फणावती सा प्रात
श्च सायं प्रहरार्द्धयामम् प्रपूर्य सूर्यात्परि
धानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालिता सा वि

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

तत्रिशामिकं दीर्घं विस्तारश्चतुरंगुलम् मृ
डुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनांबरलक्षणम् ११७ व
ज्रासनोस्थितो योगी चालयित्वा च कुंडली कु
र्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशुबोधयेत् नाभ्या
दक्षिणवाहिमार्गपवनाभ्यणोनिदीर्घाक्ष
तस्थंद्राभः परिपूर्णमासमवनतुः प्राणचंडिका
याः तया छिन्नकालविशालवद्धवपाशान्
मूर्द्धनाडीगणान् तं कायं कुरुते पुनर्नवत
रंजीर्णद्रुमस्कंदवत् १२१ कुंडलीचालयत्वाथ
कुर्याद्भस्त्रीं विशेषतः एवमभ्यस्यते नित्यं यमि
नेपंकतेयमः तदभ्यसेत्तत्र्यं भेदं उज्जायी चा
पि शीतली एवमभ्यासयुक्तस्य प्राभिनोयमि
नः कुतः सस्तूजिन्ह्यपर्य्यंतेति भस्त्रचालना
दसौ ऊर्द्धमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्नां कुंडली कृ
तोम् १२२ तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायाः समु
ष्टता जहाति तस्मात्प्राणोयं सुषुम्नां व्रजति
स्वतः १२३ तस्मात्संचालयेन्नित्यं शुभ्रसुगाभीम
रूपती यस्याः संचालयं नाशकयोगीरोगैर्वि
संचाति १२४ येन संचालिता शक्तिः सयोगी सि
द्धभाजनः किं तत्रबहुनोक्तेन कालं जयति

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हठ·
२९

16

लीलया ब्रह्मचर्यं कृतस्यैव नित्यं हितमि
ताशनम् मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्या
सयोगिनः अभ्यासनिःकृतां चांगोविभूत्या
सहमिश्रयेत् तद्गारणीं तु जगमीगोदिव्यद
ष्टिप्रदायकम् द्विसप्ततिसहस्राणां १२...
नाडीनां मंडले यत्नं कुतः प्रक्षालनोपायः
कुंडल्याभ्यासनादृते इति शक्तिचालनं
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी
राजयोगे विनाभ्यासा हठयोगेन सिध्यति
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते १२९
मारुताभ्यासनं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणां
चलायमध्यमा नाडी हठाभ्यासेन योगिना
म् आत्माने प्राणसंयम्य मुद्राभिः सरला भ
वेत् अभ्यासेण विनिद्राणां मनो हृतसमा
धिना रुद्राणी वा परा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रय
च्छति उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदा
यिकं स एवास्तु गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर
एव सः तस्य वाक्यपरो नित्यं योभ्यसेत्स्व स

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

माहितः अणिमादिगुणैश्वर्यंजायतेका
लवंचकः इतिश्रीआत्मारामयोगीन्द्रवि
रचितायांहठप्रदीपिकायांतृतीयोपदे
शः ३ नमःशिवायगुरवेनादबिंदुकला
त्मने निरंजनपदंयातिनित्यंयत्रपराय
णः १ अथेदानींप्रवक्ष्यामिसमाधि
क्रममुत्तमम् मृत्युघ्नंचसुखोपायंब्रह्मा
नंदकरंपरम् २ राजयोगःसमाधिश्चउ
न्मनीचमनोन्मनी अमरत्वंलयस्तत्वंशू
न्यंन्यस्तपरंपदम् ३ जीवन्मुक्तिश्चसहजे
तुर्याचेत्येकवाचम् सलिलेसैंधवंयद्व
त्साम्यंभवतियोगिनाम् यथात्ममनसो
रैक्यंसमाधिःसोभिधीयते राजयोगस्यमा
हात्म्यंकोवाजानातितत्वतः ज्ञानान्मुक्ति
स्थितासिद्धिर्गुरुवाक्येनलभ्यते ७ दुर्ल
भोविषयत्यागोदुर्लभंतत्वदर्शनम् दु
र्लभासहजावस्थासद्गुरोःकथनंविना ८
यावन्नैवप्रविशतिचरन्मारुतोमध्यमा
र्गेयावद्विंदुर्नभवतिदृढःप्राणवातःप्रवं
यः तावद्व्योम्नासहजसदृशंजातेनैवतत्वं

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

THIRD LESSON.

तृतीयोपदेशः ।

अथ मुद्राकथनम् ।

घेरण्ड उवाच—

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी ॥ १ ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालनी ।
ताडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पञ्चधारणा ॥ २ ॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी ।
पञ्चविंशति मुद्राणि सिद्धदानीह योगिनाम् ॥ ३ ॥

ON MUDRÂS.

Gheraṇḍa said :—1—3. There are twenty-five mudrâs, the practice of which gives success to the Yogîs. They are :—

(1) Mahâ-mudrâ, (2) Nabho-mudrâ, (3) Uddîyâna, (4) Jâlandhara, (5) Mûlabandha, (6) Mahâbandha, (7) Mahâvedha, (8) Khecharî, (9) Viparîta-karî, (10) Yoni, (11) Vajroṇî, (12) Śaktichâlanî, (13) Tadâgî, (14) Mânḍavî, (15) Śâmbhavî, (16) Panchadhâraṇâ (five dhâraṇâs), (21) Aśvinî, (22) Páśinî, (23) Kâkî, (24) Mâtangî and (25) Bhujanginî.

अथ मुद्राणां फलकथनम् ।

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव सन्निधौ ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥ ४ ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
प्रीतिदं योगिनाञ्चैव दुर्लभं मरुतामपि ॥ ५ ॥

THE ADVANTAGES OF PRACTISING MUDRÂS.

4—5. Maheśwara, when addressing his consort, has recited the advantages of Mudrâs in these words : "O Devi ! I have told you all the Mudrâs ; their knowledge leads to adeptship. It should be kept secret with great care, and should not be taught indiscriminately to every one. This gives happiness to the Yogîs, and is not to be easily attained by the maruts (gods of air) even."

अथ महामुद्राकथनम् ।

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः ।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदाङ्गुलः ॥ ६ ॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥ ७ ॥

1.—MAHÂMUDRÂ

6—7. Pressing carefully the anus by the left heel, stretch the right leg, and take hold of the great toe by the hand; contract the throat (not expelling the breath), and fix the gaze between the eye-brows. This is called Mahâ-mudrâ by the wise.

अथ महामुद्राफलकथनम् ।
क्षयकासं गुदावर्त्तं प्लीहाजीर्णज्वरं तथा ।
नाशयेत्सर्वरोगांश्च महामुद्रा च साधनात् ॥ ८ ॥

Its benefits.

8. The practice of Mahâ-mudrâ cures consumption, the obstruction of the bowels, the enlargement of the spleen, indigestion and fever—in fact it cures all diseases.

अथ नभोमुद्राकथनम् ।
यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत् पवनं सदा ।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥ ९ ॥

2.—NABHO MUDRÂ.

9. In whatever business a Yogî may be engaged, wherever he may be, let him always keep his tongue turned upwards (towards the soft palate), and restrain the breath. This is called Nabho-Mudrâ; it destroys all the diseases of the Yogî.

अथ उड्डीयानबन्धः ।
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ १० ॥

3.—UḌḌIYÂNA-BANDHA.

10. Contract the bowels equably above and below the navel towards the back, so that the abdominal viscera may touch the back. He who practises this Uḍḍîyâna (Flying up), without ceasing, conquers death. The Great Bird (Breath), by this process, is instantly forced up into the Sushumnâ, and flies (moves) constantly therein only.

अथ उड्डीयानबन्धस्य फलकथनम् ।
समग्राद्बन्धनाद्ध्येतदुड्डीयानं विशिष्यते ।
उड्डीयने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ११ ॥

Its benefits.

11. Of all Bandhanas, this is the best. The complete practice of this makes emancipation easy.

अथ जालन्धरबन्धकथनम् ।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदयेन्यसेत् ।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम् ।
जालन्धरमहामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ॥ १२ ॥

4.—JÂLANDHARA.

12. Contracting the throat, place the chin on the chest. This is called Jâlandhara. By this Bandha the sixteen Âdhâras are closed. This and the Mahâ-mudrâ destroy death.

अथ जालन्धरबन्धस्य फलकथनम् ।
सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम् ।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः ॥ १३ ॥

Its benefits.

13. The Jâlandhara is a success-giving and well-tried Bandha ; he who practises it for six months, becomes an adept without doubt.

अथ मूलबन्धकथनम् ।
पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः ।
नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥ १४ ॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत् ।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ॥ १५ ॥

5.—MÛLABANDHA.

14.—15. Press with the heel of the left foot the region between the anus and the scrotum, and contract the rectum ; carefully press the intestines near the navel on the spine ; and put the right heel on the organ of generation or pubes. This is called Mûlabandha, destroyer of decay.

अथ मूलबन्धस्य फलकथनम् ।
संसारसमुद्रं तर्तुमभिलषति यः पुमान् ।
विरले सुगुप्तो भूत्वा मुद्रामेतां समभ्यसेत् ॥ १६ ॥
अभ्यासाद्बन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ।
साधयेद् यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः ॥ १७ ॥

Its benefits.

16—17. The person who desires to cross the ocean of Existence, let him go to a retired place, and practise in secrecy this Mudrâ. By the practice of it, the Vâyu (Prâṇa) is controlled undoubtedly; let one silently practise this, without laziness and with care.

अथ महाबन्धकथनम् ।
वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत् ।
दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥ १८ ॥

शनैः शनैश्चालयेत् पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छनैः ।
जालन्धरे धारयेत् प्राणं महाबन्धो निगद्यते ॥ १९ ॥

6.—MAHÂBANDHA.

18—19. Close the anal orifice by the heel of the left foot, press that heel with the right foot carefully, move slowly and slowly the muscles of the rectum, and slowly contract the muscles of the yoni or perineum (space between anus and organ): restrain the breath by Jâlandhara. This is called Mahâbandha.

अथ महाबन्धस्य फलकथनम् ।
महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशनः ।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम् ॥ २० ॥

Its benefits.

20. The Mahâbandha is the Greatest Bandha; it destroys decay and death: by virtue of this Bandha a man accomplishes all his desires.

अथ महावेधकथनम् ।
रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा ॥ २१ ॥
महाबन्धं समासाद्य उड्डानकुम्भकं चरेत् ।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ॥ २२ ॥

7.—MAHÂVEDHA.

21—22. As the beauty, youth and charms of women are in vain without men, so are Mûlabandha and Mahâbandha without Mahâvedha. Sit first in Mahâbandha posture, then restrain breath by Uddâna Kumbhaka. This is called Mahâvedha—the giver of success to the Yogîs.

अथ महावेधस्य फलकथनम् ।
महाबन्धमूलबन्धौ महावेध समन्वितौ ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः ॥ २३ ॥
न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोयं योगिपुङ्गवैः ॥ २४ ॥

Its benefits.

23—24. The Yogî who daily practises Mahâbandha and Mûlabandha, accompanied with Mahâvedha, is the best of the Yogîs. For him there is no fear of death, and decay does not approach him: this Vedha should be kept carefully secret by the Yogîs.

अथ खेचरीमुद्राकथनम् ।
जिह्वाधो नाडीं संछिन्नां रसनां चालयेत् सदा ।
दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत् ॥ २५ ॥

8.—KHECHARÎ MUDRÂ.

25. Cut down the lower tendon of the tongue, (*frenulum linguae*) and move the tongue constantly : rub it with fresh butter, and draw it out (to lengthen it) with an iron instrument.

N.B.—This is the preliminary to Khecharî Mudrâ. Its object is so to lengthen the tongue, that when drawn out it may touch with its tip the space between the eye-brows. This can be done by cutting away the lower tendon. It takes about three years to cut away the whole tendon. I saw my Guru doing it in this wise. On every Monday he used to cut the tendon one-twelfth of an inch deep and sprinkle salt over it, so that the cut portions might not join together. Then rubbing the tongue with butter he used to pull it out. Peculiar iron instruments are employed for this purpose ; the painful process is repeated every week till the tongue can be stretched out to the requisite length.

एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।
यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तदागच्छति खेचरी ॥ २६ ॥

26. By practising this always, the tongue becomes long, and when it reaches the space between the two eyebrows, then the Khecharî is accomplished.

रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ २७ ॥

27. Then (the tongue being lengthened) practise, turning it upwards and backwards so as to touch the palate, till at length it reaches the holes of the nostrils opening into the mouth. Close those holes with the tongue (thus stopping inspiration), and fix the gaze on the space between the two eyebrows. This is called Khecharî.

अथ खेचरी मुद्रायाः फलकथनम् ।
न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते ।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते ॥ २८ ॥

Its benefits.

28. By this practice there is neither fainting, nor hunger, nor thirst, nor laziness. There comes neither disease, nor decay, nor death. The body becomes divine.

नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः ।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः ॥ २९ ॥

29. The body cannot be burned by fire, nor dried up by the air, nor wetted by water, nor bitten by snakes.

लावण्यञ्च भवेद्गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम् ।
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात् ॥ ३० ॥

30. The body becomes beautiful ; Samâdhi is verily attained, and the tongue touching the holes obtains various juices (it drinks nectar.)

नानारससमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने ।
आदौ लवणक्षारञ्च ततस्तिक्तकषायकम् ॥ ३१ ॥
नवनीतं घृतं क्षीरं दधि तक्रमधूनि च ।
द्राक्षारसञ्च पीयूषं जायते रसनोदकम् ॥ ३२ ॥

31—32. Various juices being produced, day by day the man experiences new sensations; first, he experiences a saltish taste, then alkaline, then bitter, then astringent, then he feels the taste of butter, then of ghee, then of milk, then of curd, then of whey, then of honey, then of palm juice, and, lastly, arises the taste of nectar.

अथ विपरीतकरणीमुद्राकथनम् ।
नाभिमूलेवसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः ।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ॥ ३३ ॥
ऊर्ध्वं च योजयेत् सूर्यञ्चन्द्रञ्च अध आनयेत् ।
विपरीतकरी मुद्रासर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ३४ ॥
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः ।
ऊर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ॥ ३५ ॥

9.—VIPARÎTAKARAṆÎ.

33—35. The sun (the solar Nâdî or plexus) dwells at the root of the navel, and the moon at the root of the palate; the process by which the sun is brought upward and the moon carried downward is called Viparîtakaraṇî. It is a secret Mudrâ in all the Tantras. Place the head on the ground, with hands spread, raise the legs up, and thus remain steady. This is called Viparîtakaraṇî.

अथविपरीतकरणीमुद्रायाः फलकथनम् ।
मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरां मृत्युञ्च नाशयेत् ।
स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ॥ ३६ ॥

Its benefits.

36. By the constant practice of this Mudrâ, decay and death are destroyed. He becomes an adept, and does not perish even at Pralaya.

अथ योनिमुद्राकथनम् ।
सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखम् ।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत् ॥ ३७ ॥
काकीभिः प्राणं संकृष्य अपाने योजयेत्ततः ।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधीः ॥ ३८
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी ।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे ॥ ३९ ॥

शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परं शिवेन सङ्गमम् ।
नानासुखं विहारञ्च चिन्तयेत् परमं सुखम् ॥ ४० ॥
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुवि भावयेत् ।
आनन्दमानसो भूत्वा अहं ब्रह्मेति संभवेत् ॥ ४१ ॥
योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ।
सकृत्तु लाभसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि ॥ ४२ ॥

10.—YONIMUDRÂ.

37—42. Sitting in Siddhâsana, close the two ears with the two thumbs, the eyes with the index fingers, the nostrils with the middle fingers, the upper lip with the fore fingers, and the lower lip with the little fingers. Draw in the Prâṇa-Vâyu by Kâkî-mudrâ, (as in verse 86) and join it with the Apâna-Vâyu; contemplating the six chakras in their order, let the wise one awaken the sleeping serpent-Goddess Kuṇḍalinî, by repeating the mantra Huṇ (हुँ), and Haṇsa (हंसः), and raising the Sakti (Force-kuṇḍali) with the jîva, place them at the thousand-petalled lotus. Being himself full of Śakti, being joined with the great Siva, let him think of the various pleasures and enjoyments. Let him contemplate on the union of Śiva (spirit) and Śakti (Force or energy) in this world. Being himself all bliss, let him realise that he is the Brahma. This Yoni-mudrâ is a great secret, difficult to be obtained even by the Devas. By once obtaining perfection in its practice, one enters verily into Samâdhi.

अथ योनिमुद्राफलकथनम् ।
ब्रह्महा भ्रूणहाचैव सुरापी गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न लिप्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ४३ ॥
यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च ।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबन्धनात् ।
तस्मादभ्यसनं कुर्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति ॥ ४४ ॥

Its benefits.

43—44. By the practice of this Mudrâ, one is never polluted by the sins of killing a Brâhmaṇa, killing a fœtus, drinking liquor, or polluting the bed of the Preceptor. All the mortal sins and the venal sins are completely destroyed by the practice of this Mudrâ. Let him therefore practise it, if he wishes for emancipation.

अथ वज्रोणीमुद्राकथनम् ।

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यामूर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे ।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रोणीमुद्रां मुनयो वदन्ति ॥ ४५ ॥

11.—VAJROṆÎ MUDRÂ.

45. Place the two palms on the ground, raise the legs in the air upward, the head not touching the earth. This awakens the Śakti, causes long life, and is called Vajroṇî by the sages.

अथ वज्रोणीमुद्रायाः फलकथनम् ।
अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम् ।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः ॥ ४६ ॥
एतद्योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ।
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ ४७ ॥
भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत् ।
तथापि सकला सिद्धिस्तस्य भवति निश्चितम् ॥ ४८ ॥

Its benefits.

46—48. This practice is the highest of Yogas; it causes emancipation, and this beneficial Yoga gives perfection to the Yogîs. By virtue of this Yoga, the Bindu-Siddhi (retention of seed) is obtained, and when that Siddhi is obtained what else can he not attain in this world. Though immersed in manifold pleasures, if he practises this Mudrâ, he attains verily all perfections.

अथ शक्तिचालनीमुद्राकथनम् ।
मूलाधारे आत्मशक्तिःकुण्डली परदेवता ।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ॥ ४९ ॥

12.—ŚAKTI CHÂLANÎ.

49. The great goddess Kuṇḍalinî, the energy of Self, âtma-śakti (spiritual force), sleeps in the Mûlâdhâra (rectum); she has the form of a serpent having three coils and a half.

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा ।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत् ॥ ५० ॥

50. So long as she is asleep in the body, the Jîva is a mere animal, and true knowledge does not arise, though he may practise ten millions of Yoga.

उद्घाटयेत् कवाटञ्च यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ५१ ॥

51. As by a key a door is opened, so by awakening the Kuṇḍalinî by Haṭha Yoga, the door of Brahma is unlocked.

नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिःस्थितः ।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥ ५२ ॥

52. Encircling the loins with a piece of cloth, seated in a secret room, not naked in an outer room, let him practise the Śaktichâlana.

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ।
एवमम्बरयुक्तञ्च कटिसूत्रेण योजयेत् ॥ ५३ ॥

53. One cubit long, and four fingers (3 inches) wide, should be the encircling cloth, soft, white and of fine texture. Join this cloth with the Kaṭi-Sûtra (a string worn round the loins.)

भस्मना गात्रं संलिप्य सिद्धासनं समाचरेत् ।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद् बलात् ॥ ५४ ॥
तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनीमुद्रया ।
यावद्गच्छेत् सुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेद्धठात् ॥ ५५ ॥

54—55. Rub the body with ashes, sit in Siddhâsana-posture, drawing the Prâṇa-Vâyu with the nostrils, forcibly join it with the Apâna. Contract the rectum slowly by the Aśvinî Mudrâ, so long as the Vâyu does not enter the Sushumṇâ, and manifests its presence.

तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी ।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ॥ ५६ ॥

56. By restraining the breath by Kumbhaka in this way, the Serpent Kuṇḍalinî, feeling suffocated awakes and rises upwards to the Brahmarandhra.

विना शक्तिचालनेन योनिमुद्रा न सिद्ध्यति ।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत् ॥ ५७ ॥

57. Without the Śaktichâlana, the Yoni-Mûdrâ is not complete or perfected ; first the Châlana should be practised, and then the Yoni-Mudrâ should be learnt.

इति ते कथितं चण्डकपाले शक्तिचालनम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत् ॥ ५८ ॥

58. O Chaṇḍa-Kâpâli ! thus have I taught thee the Śaktichâlana. Preserve it with care : and practise it daily.

अथ शक्तिचालनीमुद्रायाः फलकथनम् ।
मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी ।
तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिभिः सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥ ५९ ॥

Its benefits.

59. This mudrâ should be kept carefully concealed. It destroys decay and death. Therefore the Yogî, desirous of perfection, should practise it.

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता ।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद्रोगाणां संक्षयो भवेत् ॥ ६० ॥

60. The Yogî who practises this daily, acquires adeptship, attains Vigraha-siddhi and all his diseases are cured.

अथ तडागीमुद्राकथनम् ।
उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृति ।
ताडागी सा परामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ६१ ॥

13.—TADÂGI-MUDRÂ.

61. Sitting in Paschimottâna-posture, make the stomach like a tank (hollow). This is Tadâgî (Tank) Mudrâ, destroyer of decay and death.

अथ माण्डुकीमुद्राकथनम् ।
मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ।
शनैर्ग्रसेदमृतं तन्माण्डुकीं मुद्रिकां विदुः ॥ ६२ ॥

14.—MÂNDUKI-MUDRÂ.

62. Closing the mouth, move the tip of the tongue towards the palate, and taste slowly the nectar (flowing from the Thousand-petalled Lotus.) This is Frog-mudrâ.

अथ माण्डुकीमुद्रायाः फलकथनम् ।
वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम् ।
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम् ॥ ६३ ॥

Its benefits.

63. The body never sickens or becomes old, and it retains perpetual youth; the hair of him who practises this never grows white.

अथ शाम्भवीमुद्राकथनम् ।
नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत् ।
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ६४ ॥

15.—ŚÂMBHAVÎ-MUDRÂ.

64. Fixing the gaze between the two eye-brows, behold the Self-existent. This is Śâmbhavî, secret in all the Tantras.

अथ शाम्भवीमुद्रायाः फलकथनम् ।
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ६५ ॥

Its benefits.

65. The Vedas, the scriptures, the Purâṇas are like public women, but this Śâmbhavî should be guarded as if it were a lady of a respectable family.

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम् ।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम् ॥ ६६ ॥

66. He, who knows this Śâmbhavî, is like the Âdinâtha, he is a Nârâyaṇa, he is Brahmâ the Creator.

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वर ।
शाम्भवीं यो विजानीयात् स च ब्रह्म न चान्यथा ॥ ६७ ॥

67. Maheśwara has said, "Truly, truly, and again truly, he who knows the Sambhavî, is Brahma. There is no doubt of this."

अथ पञ्चधारणामुद्राकथनम् ।
कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम् ।
धारणानि समासाद्य किं न सिध्यति भूतले ॥ ६८ ॥

THE FIVE DHÂRAṆÂ-MUDRÂS.

68. The Śâmbhavî has been explained ; hear now the five Dhâraṇâs. Learning these five Dhâraṇâs, what cannot be accomplished in this world?

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम् ।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ॥ ६९ ॥

69. By this, with the human body one can visit and revisit Svarga-loka, he can go wherever he likes, as swiftly as mind, he acquires the faculty of walking in the sky. These five Dhâraṇâs are :—Pârthivi (earthy), Âmbhasi (Watery), Vâyavî (aerial), Âgneyî (Fiery), and Âkâsî (Ethereal).

अथ पार्थिवीधारणामुद्राकथनम् ।
यत्तत्त्वंहरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितं
वेदास्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थायिनम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषास्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ॥ ७० ॥

(a).—PÂRTHIVÎ.

70. The Pṛithivî-Tattva has the colour of orpiment (yellow), the letter (la) ल is its secret symbol or seed (बीज), its form is four-sided, and Brahmâ, its presiding deity. Place this Tatva in the heart, and fix by Kumbhaki the Prâṇa-Vâyus and the Chitta there for the period of five ghatikâs ($2\frac{1}{2}$ hours). This is called Adhodhâraṇâ. By this, one conquers the Earth, and no earthy-elements can injure him : and it causes steadiness.

अथ पार्थिवीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।
पार्थिवीधारणामुद्रां यः करोति च नित्यशः ।
मृत्युञ्जयः स्वयं सोपि स सिद्धो विचरेद् भुवि ॥ ७१ ॥

Its benefits.

71. He who practises this dhâraṇâ, becomes like the conqueror of Death ; as an Adept he walks over this earth.

अथ आम्भसीधारणामुद्राकथनम् ।
शङ्खेन्दुप्रतिमञ्च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेदेषा
दुःसहतापपापहरणी स्यादाम्भसी धारणा ॥ ७२ ॥

(b).—ÂMBHASÎ.

72. The Water-Tattva is white like the Kunda-flower or a conch or the moon, its form is circular like the moon, the letter व (va) is the seed of this ambrosial element, and Vishṇu is its presiding deity. By Yoga, produce the water-tattva in the heart, and fix there the Prâṇa with the Chitta (consciousness), for five ghatikâs, practising Kumbhaka. This is Watery Dhâraṇâ; it is the destroyer of all sorrows. Water cannot injure him who practises this.

अथ आम्भसीमुद्रायाः फलकथनम् ।
आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित् ।
जले च गभीरे घोरे मरणं तस्य नो भवेत् ॥ ७३ ॥
इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः ।
प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च तत्त्वतः ॥ ७४ ॥

Its benefits.

73.—74. The Âmbhasî is a great mudrâ; the Yogî who knows it, never meets death even in the deepest water. This should be kept carefully concealed. By revealing it success is lost, verily I tell you the truth.

अथ आग्नेयीधारणामुद्राकथनम् ।
यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं
तत्त्वं तेजोमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत् सिद्धिदम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा कालगभीरभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा ॥ ७५ ॥

(c).—ÂGNEYÎ.

75. The Fire-Tattva is situated at the navel, its colour is red like the Indra-gôp insect, its form is triangular, its seed is (ra, र,) its presiding deity is Rudra. It is refulgent like the sun, and the giver of success. Fix the Prâṇa along with the Chitta in this Tattva for five ghatikâs. This is called Fire-Dhâraṇâ, destroyer of the fear of dreadful death, and fire cannot injure him.

अथ आग्नेयीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।
प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ यदि पतति साधकः ।
एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक् ॥ ७६ ॥

Its benefits.

76. If the practitioner is thrown into burning fire, by virtue of this Mudrâ he remains alive, without fear of death.

अथ वायवीधारणामुद्राकथनम् ।
यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं धूम्रावभासं परं
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥ ७७ ॥

(d).—VÂYAVÎ.

77. The Air-tattva is black as unguent for the eyes (collirium), the letter य (ya) is its seed, and Îsvara its presiding deity. This Tattva is full of Satva quality. Fix the Prâṇa and the Chitta for five ghatikâs in this Tattva. This is Vâyavî-Dhâraṇâ. By this, the practitioner walks in the air.

अथ वायवीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।
इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।
वायुना म्रियते नापि खे गतेश्च प्रदायिनी ॥ ७८ ॥
शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्य कस्यचित् ।
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च चण्ड ते ॥ ७९ ॥

Its benefits.

78—79. This great Mudrâ destroys decay and death. Its practitioner is never killed by any aerial disturbances; by its virtue one walks in the air. This should not be taught to the wicked or to those devoid of faith. By so doing success is lost; Oh Chaṇḍa! this is verily the truth.

अथ आकाशीधारणामुद्राकथनम् ।
यत् सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणाम् ॥ ८० ॥

(e).—ÂKÂSÎ DHÂRANÂ.

80. The Ether-Tattva has the colour of pure sea-water, ह (ha) is its seed, its presiding deity is Sadâsiva. Fix the Prâṇa along with Chitta for five ghatikâs in this Tattva. This is Ether-Dhâraṇâ. It opens the gates of emancipation.

अथ आकाशीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।
आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति स च योगवित् ।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति ॥ ८१ ॥

Its benefits.

81. He who knows this Dhâraṇâ is the real Yogi. Death does not approach him, nor does he perish at the Pralaya.

अथ अश्विनीमुद्राकथनम् ।
आकुञ्चयेद् गुदद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः ।
सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥ ८२ ॥

21.—AŚVINÎ-MUDRA.

82. Contract and dilate the anal aperture again and again, this is called Aśvinî-mudrâ. It awakens the Śakti (Kuṇḍalinî).

अश्विनीमुद्रायाः फलकथनम् ।
अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी ।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत् ॥ ८३ ॥

Its benefits.

83. This Aśvini is a great Mudrâ; it destroys all diseases of the rectum; it gives strength and vigour, and prevents premature death.

अथ पाशिनीमुद्राकथनम् ।
कण्ठपृष्ठे क्षिपेत् पादौ पाशवद् दृढबन्धनम् ।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी ॥ ८४ ॥

22.– PÂŚINÎ-MUDRÂ.

84. Throw the two legs on the neck towards the back, holding them strongly together like a Pâśa (a noose). This is called Pâśinî-mudrâ; it awakens the Śakti (Kuṇḍalinî.)

अथ पाशिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।
पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी ।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥ ८५ ॥

Its benefits.

85. This grand Mudrâ gives strength and nourishment. It should be practised with care by those who desire success.

अथ काकीमुद्राकथनम् ।
काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ॥ ८६ ॥

23.—KÂKÎ-MUDRÂ.

86. Contract the lips, like the beak of a crow, and drink (draw in) the air slowly and slowly. This is Kâkî (crow) mudrâ, destroyer of all diseases.

अथ काकीमुद्रायाः फलकथनम् ।
काकीमुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।
अस्याः प्रसादमात्रेण न रोगी काकवद् भवेत् ॥ ८७ ॥

Its benefits.

87. The Kâkî Mudrâ is a great Mudrâ, kept secret in all Tantras. By virtue of this, one becomes free from disease like a crow.

अथ मातङ्गिनीमुद्राकथनम् ।
कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत् ।
मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत् ॥ ८८ ॥
नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः ।
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ८९ ॥

24.—MÂTANGINI-MUDRÂ.

88—89. Stand in neck-deep water, draw in the water through the nostrils, and throw it out by the mouth. Then draw in the water through [the mouth and expel it through] the nostrils. Let one repeat this again and again. This is called Elephant-mudrâ, destroyer of decay and death.

अथ मातङ्गिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।
विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः ।
कुर्यान्मातङ्गिनीं मुद्रां मातङ्ग इव जायते ॥ ९० ॥
यत्र यत्र स्थितोयोगी सुखमत्यन्तमश्नुते ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साधयेन्मुद्रिकां पराम् ॥ ९१ ॥

Its benefits.

90—91. In a solitary place, free from human intrusion, one should practise with fixed attention this Elephant mudrâ: by so doing, he becomes strong like Elephant. Wherever he may be, by this process the Yogî enjoys great pleasure; therefore this mudrâ should be practised with great care.

अथ भुजङ्गिनीमुद्राकथनम् ।
वक्त्रं किञ्चित् सुप्रसार्य चानिलं गलया पिबेत् ।
सा भवेद् भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ९२ ॥

25.—BHUJANGINÎ-MUDRA.

92. Extending the neck a little forward, let him drink (draw in) air through the œsophagus; this is called Serpent-mudrâ, destroyer of decay and death.

अथ भुजङ्गिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।
यावच्च उदरे रोगा अजीर्णादि विशेषतः ।
तत् सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजङ्गिनी ॥ ९३ ॥

Its benefits.

93. This Serpent-mudrâ quickly destroys all stomach diseases, especially indigestion, dyspepsia, &c.

अथ मुद्राणां फल कथनम् ।
इदं तु मुद्रापटलं कथितं चण्ड ते शुभम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम् ॥ ९४ ॥

THE BENEFITS OF MUDRÂS.

94. O Chaṇḍa-Kâpâli! thus have I recited to thee the chapter on Mudrâs. This is beloved of all adepts, and destroys decay and death.

शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्य कस्यचित् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि ॥ ९५ ॥

95. This should not be taught indiscriminately, nor to a wicked person, nor to one devoid of faith; this should be preserved secret with great care; it is difficult to be attained even by the Devas.

ऋजवे शान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च ।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम् ॥ ९६ ॥

96. These Mudrâs which give happiness and emancipation should be taught to a guileless, calm and peace-minded person, who is devoted to his Teacher and comes of good family.

मुद्राणां पटलं ह्येतत् सर्वव्याधिविनाशनम् ।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविवर्धनम् ॥ ९७ ॥

97. These Mudrâs destroy all diseases. They increase the gastric ire of him who practises them daily.

न तस्य जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा ।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम् ॥ ९८ ॥

98. To him death never comes, nor decay, &c.; there is no fear to him from fire and water, nor from air.

कासः श्वासः प्लीहा कुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः ।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः ॥ ९९ ॥

99. Cough, asthma, enlargement of spleen, leprosy, being diseases of twenty sorts, are verily destroyed by the practice of these Mudrâs.

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्ड ते ।
नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले ॥ १०० ॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डचण्डसंवादे घटस्थ-
योगप्रकरणे मुद्राप्रयोगो नाम तृतीयोपदेशः ।

100. O Chaṇḍa! What more shall I tell three? In short, there is nothing in this world like the Mudrâs for giving quick success.

CHAPTER III - On mudrâs

३ तृतीयोपदेशः *Trtīyopadeśah*

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।

सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥१॥

Saśailavanadhātrīnām yathādhāroahināyakah
Sarveshām yogatantrānām tathādhāro hi kundalī

As the chief of the snakes is the support of the earth with all the mountains and forests on it, so all the Tantras (Yoga practices) rest on the Kundalinî. (The Vertebral column)

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।

तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥२॥

Suptā ghuruprasādena yadā jāgharti kundalī
Tadā sarvāni padmāni bhidyante ghranthayoapi cha

When the sleeping Kundalinî awakens by favour of a guru, then all the lotuses (in the six chakras or centres) and all the knots are pierced through.

प्राणस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते ।

तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥३॥

Prānasya śūnyapadavī tadā rājapathāyate
Tadā chittam nirālambam tadā kālasya vañchanam

Susumnâ (Sûnya Padavî) becomes a main road for the passage of Prâna, and the mind then becomes free from all connections (with its objects of enjoyments) and Death is then evaded.

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रः महापथः ।

श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥४॥

Sushumnā śūnyapadavī brahmarandhrah mahāpathah
Śmaśānam śāmbhavī madhyamārghaśchetyekavāchakāh

Susumnâ, Sunya Padavî, Brahma Randhra, mahâ Patha, Śmaśâna, Śambhavî, madhya mârga, are names of one and the same thing.

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।

ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥५॥

Tasmātsarvaprayatnena prabodhayitumīśvarīm
Brahmadvāramukhe suptām mudrābhyāsam samācharet

In order, therefore, to awaken this goddess, who is sleeping at the entrance of Brahma Dwâra (the great door), mudrâs should be practised well.

The mudrâs

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।

उड्डीयानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ॥६॥

Mahāmudrā mahābandho mahāvedhaścha khecharī
Uddīyānam mūlabandhaścha bandho jālandharābhidhah

Mahâ mudrâ, mahâ Bandha, mahâ Vedha, Khecharî, Uddiyâna Bandha, mûla Bandha, Jâlandhara Bandha.

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।

इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥७॥

Karanī viparītākhyā vajrolī śaktichālanam
Idam hi mudrādaśakam jarāmarananāśanam

Viparîta Karanî, Vajroli, and Śakti Châlana. These are the ten mudrâs which annihilate old age and death.

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।

वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥८॥

Ādināthoditam divyamashtaiśvaryapradāyakam
Vallabham sarvasiddhānām durlabham marutāmapi

They have been explained by Âdi Nâtha (Śiva) and give eight kinds of divine wealth. They are loved by all the Siddhas and are hard to attain even by the marutas.

Note: The eight Aiśwaryas are:

Animâ	becoming small like an atom.
Mahimâ	becoming great, like âkâs, by drawing in atoms of Prakriti
Garimâ	light things, like cotton becoming very heavy like mountain
Prâpti	coming within easy reach of everything; as touching the moon with the little finger, while standing on the earth
Prâkâmya	nonresistance to the desires, as entering the earth like water
Îsatâ	mastery over matter and objects made of it
Vaśitwa	controlling the animate and inanimate objects

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।

कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥९॥

Ghopanīyam prayatnena yathā ratnakarandakam
Kasyachinnaiva vaktavyam kulastrīsuratam yathā

These mudrâs should be kept secret by every means, as one keeps one's box of jewellery, and should, on no account be told to any one, just as husband and wife keep their dealings secret.

The mahâ mudrâ अथ महामुद्रा

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणां ।

प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १० ॥

Atha mahāmudrā

Pādamūlena vāmena yonim sampīdya dakshinām
Prasāritam padam krtvā karābhyām dhārayeddrdham

Pressing the Yoni (perineum) with the heel of the left foot, and stretching forth the right foot, its toe should be grasped by the thumb and first finger.

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।

यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।

तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥१२॥

Kanthe bandham samāropya dhārayedvāyumūrdhvatah
Yathā dandahatah sarpo dandākārah prajāyate

Rjvībhūtā tathā śaktih kundalī sahasā bhavet
Tadā sā maranāvasthā jāyate dviputāśrayā

By stopping the throat (by Jâlandhara Bandha) the air is drawn in from the outside and carried down. Just as a snake struck with a stick becomes straight like a stick, in the same way, śakti (susumnâ) becomes straight at once. Then the Kundalinî, becoming as it were dead, and, leaving both the Idâ and the Pingalâ, enters the susumnâ (the middle passage).

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।

महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥१३॥

Tatah śanaih śanaireva rechayennaiva veghatah
Mahāmudrām cha tenaiva vadanti vibudhottamāh

It should be expelled then, slowly only and not violently. For this very reason, the best of the wise men call it the mahâ mudrâ. This mahâ mudrâ has been propounded by great masters.

इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ।

महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥१४॥

Iyam khalu mahāmudrā mahāsiddhaih pradarśitā
Mahākleśādayo doshāh kshīyante maranādayah
Mahāmudrām cha tenaiva vadanti vibudhottamāh

Great evils and pains, like death, are destroyed by it, and for this reason wise men call it the mahâ mudrâ.

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।

यावत्तुल्या भवेत्सङ्ख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१५॥

Chandrāngghe tu samabhyasya sūryāngghe punarabhyaset
Yāvattulyā bhavetsangkhyā tato mudrām visarjayet

Having practised with the left nostril, it should be practised with the right one; and, when the number on both sides becomes equal, then the mudrâ should be discontinued.

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।

अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ॥१६॥

Na hi pathyamapathyam vā rasāh sarveapi nīrasāh
Api bhuktam visham ghoram pīyūshamiva jīryati

There is nothing wholesome or injurious; for the practice of this mudrâ destroys the injurious effects of all the rasas (chemicals). Even the deadliest of poisons, if taken, acts like nectar.

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।

तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७॥

Kshayakushthaghudāvartaghulmājīrnapuroghamāh
Tasya doshāh kshayam yānti mahāmudrām tu yoabhyaset

Consumption, leprosy, prolapsus anii, colic, and the diseases due to indigestion,—all these irregularities are removed by the practice of this mahâ mudrâ.

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ।

गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ १८॥

Kathiteyam mahāmudrā mahāsiddhikarā nrnām
Ghopanīyā prayatnena na deyā yasya kasyachit

This mahâ mudrâ has been described as the giver of great success (Siddhi) to men. It should be kept secret by every effort, and not revealed to any and everyone.

The mahâ Bandha अथ महाबन्धः

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिसथाने नियोजयेत् ।

वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥१९॥

Atha mahābandhah

Pārshnim vāmasya pādasya yonisthāne niyojayet
Vāmorūpari samsthāpya dakshinam charanam tathā

Press the left heel to the perineum and place the right foot on the left thigh.

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ।

निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२०॥

Pūrayitvā tato vāyum hrdaye chubukam drdham
Nishpīdya yonimākuñchya manomadhye niyojayet

Fill in the air, keeping the chin firm against the chest, and, having pressed the air, the mind should he fixed on

the middle of the eyebrows or in the susumnâ (the spine).

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।

सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥२१॥

Dhārayitvā yathāśakti rechayedanilam śanaih
Savyāngghe tu samabhyasya dakshāngghe punarabhyaset

Having kept it confined so long as possible, it should be expelled slowly. Having practised on the left side, it should be practised on the right side.

मतमत्र तु केषांचित्कण्ठबन्धं विवर्जयेत् ।

राजदन्तस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥२२॥

Matamatra tu keshāmchitkanthabandham vivarjayet
Rājadantasthajihvāyā bandhah śasto bhavediti

Some are of opinion that the closing of throat is not necessary here, for keeping the tongue pressed against the roots of the upper teeth makes a good bandha (stop).

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।

अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥२३॥

Ayam tu sarvanādīnāmūrdhvam ghatinirodhakah
Ayam khalu mahābandho mahāsiddhipradāyakah

This stops the upward motion of all the Nâdîs. Verily this mahâ Bandha is the giver of great Siddhis.

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।

त्रिरिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥२४॥

Kālapāśamahābandhavimochanavichakshanah
Trivenīsangghamam dhatte kedāram prāpayenmanah

This mahâ Bandha is the most skilful means for cutting away the snares of death. It brings about the conjunction of the Trivenî (Idâ, Pingalâ and Susumnâ) and carries the mind to Kedâr (the space between the eyebrows, which is the seat of Śiva).

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा सत्री पुरुषं विना ।

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥२५॥

Rūpalāvanyasampannā yathā strī purusham vinā
Mahāmudrāmahābandhau nishphalau vedhavarjitau

As beauty and loveliness, do not avail a woman without husband, so the mahâ mudrâ and the mahâBandha are useless without the mahâ Vedha.

The mahâ Vedha अथ महावेधः

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।

वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥२६॥

Atha mahāvedhah

Mahābandhasthito yogī krtvā pūrakamekadhīh
Vāyūnām ghatimāvrtya nibhrtam kanthamudrayā

Sitting with mahâ Bandha, the Yogî should fill in the air and keep his mind collected. The movements of the Vâyus (Prâna and Apâna) should be stopped by closing the throat.)

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।

पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥२७॥

Samahastayugho bhūmau sphichau sanādayechchanaih
Putadvayamatikramya vāyuh sphurati madhyaghah

Resting both the hands equally on the ground, he should raise himself a little and strike his buttocks against the ground gently. The air, leaving both the passages namely Idâ and Pingalâ, starts into the middle one.

सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै ।

मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥२८॥

Somasūryāghnisambandho jāyate chāmrtāya vai
Mrtāvasthā samutpannā tato vāyum virechayet

The union of the Idâ and the Pingalâ is affected, in order to bring about immortality. When the air becomes as it were dead (by leaving its course through the Idâ and the Pingalâ) (i.e., when it has been kept confined), then it should be expelled.

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।

वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥२९॥

Mahāvedhoayamabhyāsānmahāsiddhipradāyakah
Valīpalitavepaghnah sevyate sādhakottamaih

The practice of this mahâ Vedha, the giver of great Siddhis, destroys old age, grey hair, and shaking of the body, and therefore it is practised by the best masters.

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।

वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥३०॥

Etattrayam mahāghuhyam jarāmrtyuvināśanam
Vahnivrddhikaram chaiva hyanimādighunapradam

These THREE are the great secrets. They are the destroyers of old age and death, increase the appetite, confer the accomplishments of Anima, etc.

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।

पुण्यसंभारसन्धाय पापौघभिदुरं सदा ।

सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

Ashtadhā kriyate chaiva yāme yāme dine dine
Punyasambhārasandhāya pāpaughabhiduram sadā
Samyakśikshāvatāmevam svalpam prathamasādhanam

They should, be practised in 8 ways, daily and hourly. They increase collection of good actions and lessen the evil ones. People, instructed well, should begin their practice, little by little, first.

The Khechari Mudra अथ खेचरी

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।

भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥

Atha khecharī

Kapālakuhare jihvā pravishtā viparītaghā
Bhruvorantarghatā drshtirmudrā bhavati khecharī

The Khechari mudrâ is accomplished by thrusting the tongue into the gullet, by turning it over itself, and keeping the eyesight in the middle of the eyebrows.

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेणाथ वर्धयेत्तावत् ।

सा यावद्भ्रूमध्यं सपृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥३३॥

Chedanachālanadohaih kalām kramenātha vardhayettāvat
Sā yāvadbhrūmadhyam sprśati tadā khecharīsiddhih

To accomplish this, the tongue is lengthened by cutting the frænum linguæ, moving, and pulling it. When it can touch the space between the eyebrows, then Khechari can be accomplished.

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।

समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३४॥

Snuhīpatranibham śastram sutīkshnam snighdhanirmalam
Samādāya tatastena romamātram samuchchinet

Taking a sharp, smooth, and clean instrument, of the shape of a cactus leaf, the frænum of the tongue should be cut a little (as much as a hair's thickness), at a time.

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।

पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५॥

Tatah saindhavapathyābhyām chūrnitābhyām pragharshayet
Punah saptadine prāpte romamātram samuchchinet

Then rock salt and yellow myrobalan (both powdered) should be rubbed in. On the 7th day, it should again be cut a hair's breadth.

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।

षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ॥ ३६॥

Evam kramena shanmāsam nityam yuktah samācharet
Shanmāsādrasanāmūlaśirābandhah pranaśyati

One should go on doing thus, regularly for six months. At the end of six months, the frænum of the tongue will be completely cut.

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।

सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७॥

Kalām parāngmukhīm krtvā tripathe pariyojayet
Sā bhavetkhecharī mudrā vyomachakram taduchyate

Turning the tongue upwards, it is fixed on the three ways (œsophagus, windpipe and palate.) Thus it makes the Khechari mudrâ, and is called the Vyoma Chakra.

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।

विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥३८॥

Rasanāmūrdhvaghām krtvā kshanārdhamapi tishthati
Vishairvimuchyate yogī vyādhimrtyujarādibhih

The Yogî who sits for a minute turning his tongue upwards, is saved from poisons, diseases, death, old age, etc.

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।

न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥३९॥

Na rogho maranam tandrā na nidrā na kshudhā trshā
Na cha mūrchchā bhavettasya yo mudrām vetti khecharīm

He who knows the Khechari mudrâ is not afflicted with disease, death, sloth, sleep, hunger, thirst, and swooning.

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।

बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४०॥

Pīdyate na sa roghena lipyate na cha karmanā
Bādhyate na sa kālena yo mudrām vetti khecharīm

He, who knows the Khechari mudrâ, is not troubled by diseases, is not stained with karmas, and is not snared by time.

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।

तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥४१॥

Chittam charati khe yasmājjihvā charati khe ghatā
Tenaishā khecharī nāma mudrā siddhairnirūpitā

The Siddhas have devised this Khechari mudrâ from the fact that the mind and the tongue reach âkâśa by its practice.

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।

न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च ॥४२॥

Khecharyā mudritam yena vivaram lambikordhvatah
Na tasya ksharate binduh kāminyāśleshitasya cha

If the hole behind the palate be stopped with Khechari by turning the tongue upwards, then bindu (seminal fluid) cannot leave its place even if a woman were embraced.

चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डलम् ।

व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥४३॥

Chalitopi yadā binduh samprāpto yonimandalam
Vrajatyūrdhvam hrtah śaktyā nibaddho yonimudrayā

Even though the fluid flows and comes down to the genital organ, still arrested by Yoni Mudra it is taken by force upwards.

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।

मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥४४॥

Ūrdhvajihvah sthiro bhūtvā somapānam karoti yah
Māsārdhena na sandeho mrtyum jayati yogavit

If the Yogî drinks Somarasa (juice) by sitting with the tongue turned backwards and mind concentrated, there is no doubt he conquers death within 5 days.

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।

तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥४५॥

Nityam somakalāpūrnam śarīram yasya yoghinah
Takshakenāpi dashtasya visham tasya na sarpati

If the Yogî, whose body is full of Somarasa (juice), were bitten by Takshaka (snake), its poison cannot permeate his body.

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः ।

तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥४६॥

Indhanāni yathā vahnistailavarti cha dīpakah
Tathā somakalāpūrnam dehī deham na muñchati

As fire is inseparably connected with the wood and light is connected with the wick and oil, so does the soul not leave the body full of nectar exuding from the Soma.

Note.—Soma (Chandra) is described later on located in the thousandpetalled lotus in the human brain, and is the same as is seen on Śivas' head in pictures, and from which a sort of juice exudes. It is the retaining of this exudation which makes one immortal.

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।

कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥४७॥

Gomāmsam bhakshayennityam pibedamaravārunīm
Kulīnam tamaham manye chetare kulaghātakāh

Those who eat the flesh of the cow and drink the immortal liquor daily, are regarded by me men of noble family. Others are but a disgrace to their families.

Note: The words in the text *gomamsa* and *amaravaruni are* explained in the next two verses.

कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् ।

जायते योगवान् तत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥

दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् ।

भवकोटिशतोपात्तं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥ इति ब्रह्मवैवर्ते ॥

Translation: Fortunate are the parents and blessed is the country and the family where a Yogî is born. Anything given to such a Yogî, becomes immortal. One, who discriminates between Purusa and Prakriti, purges the sins of a million incarnations, by seeing, speaking, and touching such men (i.e., Yogî.) – Brahma Vaivarta Purana.

गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च ।

ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥ इति ब्रह्माण्डपुराणे ॥

A Yogî far exceeds a thousand householders, a hundred vânaprasthas, and a thousand Brahmacharîs.

राजयोगे वामदेवं प्रति शिववाक्यम् -

राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्वतः ।

तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम् ॥

दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः ।

अज्ञा मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः ॥

अन्तर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः ।

त्वया मयाप्यसौ वन्द्यः शेषैर्वन्द्यस्तु किं पुनः ॥

Who can know the reality of the Raja Yoga? That country is very sacred where resides a man who knows it. By seeing and honouring him, generations of ignorant men get moksa, what to speak of those who are actually engaged in it. He who knows internal and external yoga, deserves adoration from you and me, what if he is adored by the rest of mankind!

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा ।

ये युञ्जते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ॥ इति कूर्मपुराणे ॥

Those who engage in the great yoga, once, twice or thrice daily, are to be known as masters of great wealth (maheshwaras) or Lords.

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।

गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८॥

Gośabdenoditā jihvā tatpraveśo hi tāluni
Gomāmsabhakshanam tattu mahāpātakanāśanam

The word गो means tongue; eating it is thrusting it in the gullet which destroys great sins.

जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।

चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥४९॥

Jihvāpraveśasambhūtavahninotpāditah khalu
Chandrātsravati yah sārah sā syādamaravārunī

Immortal liquor is the nectar exuding from the moon (Chandra situated on the left side of the space between the eyebrows). It is produced by the fire which is generated by thrusting the tongue.

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी

सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।

व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं

तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥५०॥

Chumbantī yadi lambikāghramaniśam
jihvārasasyandinī
Sakshārā katukāmladughdhasadrśī
Madhvājyatulyā tathā
Vyādhīnām haranam jarāntakaranam
śastrāghamodīranam
Tasya syādamaratvamashtaghunitam
siddhāngghanākarshanam

If the tongue can touch with its end the hole from which falls the rasa (juice) which is saltish, bitter, sour, milky and similar to ghee and honey, one can drive away disease, destroy old age, can evade an attack of arms, become immortal in eight ways and an attract fairies.

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठात्

ऊर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।

उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेत्

निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥५१॥

Murdhnah shodasapatrapadmagalitam
Pranadavaptam hathat
Ūrdvhāsyo rasanām niyamya vivare
Śaktim parām chintayan
Utkallolakalājalam cha vimalam dhārāmayam yah piben
Nirvyādhih sa mrnālakomalavapuryogī chiram jīvati

He who drinks the clear stream of liquor of the moon (soma) falling from the brain to the sixteenpetalled lotus (in the heart), obtained by means of Prâna, by applying the tongue to the hole of the pendant in the palate, and by meditating on the great power (Kundalinî), becomes free from disease and tender in body, like the stalk of a lotus, and the Yogî lives a very long life.

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं

तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।

चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां

तद्बध्नीयात्सुकरणमधो नान्यथा कायसिद्धिः ॥५२॥

Yatprāleyam prahitasushiram merumūrdhāntarastham
Tasmimstattvam pravadati sudhīstanmukham nimnagānām
Chandrātsārah sravati vapushastena mrtyurnarānām
Tadbadhnīyātsukaranamadho nānyathā kāyasiddhih

On the top of the merû (vertebral column), concealed in a hole, is the Somarasa (nectar of Chandra); the wise,

whose intellect is not overpowered by Raja and Tama gunas, but in whom Satwa guna is predominant, say there is the (universal spirit) âtma in it. It is the source of the downgoing Idâ, Pingalâ and Susumnâ Nâdis, which are the Ganges, the Yamuna and the Sarasvati. From that Chandra is shed the essence of the body which causes death of men. It should, therefore, be stopped from shedding. This (Khechari mudrâ) is a very good instrument for this purpose. There is no other means of achieving this end.

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।

तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्शून्ये निरञ्जने ॥५३॥

Sushiram jñānajanakam pañchasrotahsamanvitam
Tishthate khecharī mudrā tasminśūnye nirañjane

This hole is the generator of knowledge and is the source of the five streams (Idâ, Pingalâ, &c.). In that colorless vacuum, Khecharî mudrâ should be established.

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।

एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥५४॥

Ekam srshtimayam bījamekā mudrā cha khecharī
Eko devo nirālamba ekāvasthā manonmanī

There is only one seed germinating the whole universe from it; and there is only one mudrâ, called Khecharî. There is only one deva (god) without any one's support, and there is one condition called manonmani.

The Uddiyâna Bandha अथ उड्डीयानबन्धः

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।

तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥५५॥

Atha uddīyānabandhah

Baddho yena sushumnāyām prānastūddīyate yatah
Tasmāduddīyanākhyoayam yoghibhih samudāhrtah

Uddiyâna is so called, because the great bird, Prâna, tied to it, flies without being fatigued. It is explained below.

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।

उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ॥५६॥

Uddīnam kurute yasmādaviśrāntam mahākhaghah
Uddīyānam tadeva syāttatra bandhoabhidhīyate

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।

उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥५७॥

Udare paśchimam tānam nābherūrdhvam cha kārayet
Uddīyāno hyasau bandho mrtyumātangghakesarī

The belly above the navel is pressed backwards towards the spine. This Uddiyâna Bandha is like a lion for the elephant of death.

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।

अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥५८॥

Uddīyānam tu sahajam ghurunā kathitam sadā
Abhyasetsatatam yastu vrddhoapi tarunāyate

Uddiyâna is always very easy, when learnt from a guru. The practiser of this, if old, becomes young again.

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥५९॥

Nābherūrdhvamadhaśchāpi tānam kuryātprayatnatah
Shanmāsamabhyasenmrtyum jayatyeva na samśayah

The portions above and below the navel, should be drawn backwards towards the spine. By practising this for six months one can undoubtedly conquer death.

सर्वेषामेव बन्धानां उत्तमो ह्युड्डीयानकः ।

उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥६०॥

Sarveshāmeva bandhānām uttamo hyuddīyānakah
Uddiyāne drdhe bandhe muktih svābhāvikī bhavet

Of all the Bandhas, Uddiyâna is the best; for by binding it firmly liberation comes spontaneously.

The mûla Bandha अथ मूलबन्धः

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।

अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥६१॥

Atha mūlabandhah
Pārshnibhāghena sampīdya yonimākuñchayedghudam
Apānamūrdhvamākrshya mūlabandhoabhidhīyate

Pressing Yoni (perineum) with the heel, contract up the anus. By drawing the Apâna thus, mûla Bandha is made.

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।

आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥६२॥

Adhogatimapānam vā ūrdhvagam kurute balāt
Ākuñchanena tam prāhurmūlabandham hi yoginah

The Apâna, naturally inclining downward, is made to go up by force. This mûla Bandha is spoken of by Yogîs as done by contracting the anus.

गुदं पार्ष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।

वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥६३॥

Gudam pārshnyā tu sampīdya vāyumākuñchayedbalāt
Vāram vāram yathā chordhvam samāyāti samīranah

Pressing the heel well against the anus, draw up the air by force, again and again till it (air) goes up.

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।

गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४॥

Prānāpānau nādabindū mūlabandhena chaikatām
Gatvā yogasya samsiddhim yachchato nātra samśayah

Prâna, Apâna, Nâda and Bindu uniting into one in this way, give success in Yoga, undoubtedly.

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥६५॥

Apānaprānayoraikyam kshayo mūtrapurīshayoh
Yuvā bhavati vrddhoapi satatam mūlabandhanāt

By the purification of Prâna, and Apâna, urine and excrements decrease. Even an old man becomes young by constantly practising mûla Bandha.

अपान ऊर्ध्वगे जाते परयाते वह्निमण्डलम् ।

तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाहता ॥६६॥

Apāna ūrdhvaghe jāte prayāte vahnimandalam
Tadānalaśikhā dīrghā jāyate vāyunāhatā

Going up, the Apâna enters the zone of fire, i.e., the stomach. The flame of fire struck by the air is thereby lengthened.

तदुक्तं याज्ञवल्क्येन -

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ।

त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्त्रं चतुष्पदाम् ॥

मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतत् ब्रवीमि ते ।

तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥ इति ॥

In the centre of the body is the seat of fire, like heated gold. In men it is triangular, in quadrupeds square, in birds circular. There is a long thin flame in this fire. It is gastric fire.

ततो यातो वह्न्यअपानौ पराणमुष्ह्नसवरूपकम् ।

तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥६७॥

Tato yāto vahnyapānau prānamushnasvarūpakam
Tenātyantapradīptastu jvalano dehajastathā

These, fire and Apâna, go to the naturally hot Prâna, which, becoming inflamed thereby, causes burning sensation in the body.

तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते ।

दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ॠजुतां व्रजेत् ॥६८॥

Tena kundalinī suptā santaptā samprabudhyate
Dandāhatā bhujangghīva niśvasya rjutām vrajet

The Kundalinî, which has been sleeping all this time, becomes well heated by this means and awakens well. It becomes straight like a serpent, struck dead with a stick.

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत् ।

तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥६९॥

Bilam pravishteva tato brahmanādyam taram vrajet
Tasmānnityam mūlabandhah kartavyo yoghibhih sadā

It enters the Brahma Nâdî, just as a serpent enters its hole. Therefore, the Yogî should always practise this mûla Bandha.

The Jâlandhara Bandha अथ जलन्धरबन्धः

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।

बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥७०॥

Atha jalandharabandhah

Kanthamākuñchya hrdaye sthāpayechchibukam drdham
Bandho jālandharākhyoayam jarāmrtyuvināśakah

Contract the throat and press the chin firmly against the chest. This is called Jâlandhara Bandha, which destroys old age and death.

बध्नाति हि सिराजालमधोगामि नभोजलम् ।

ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥७१॥

Badhnāti hi sirājālamadhoghāmi nabhojalam
Tato jālandharo bandhah kanthaduhkhaughanāśanah

It stops the opening (hole) of the group of the Nâdîs, through which the juice from the sky (from the Soma or Chandra in the brain) falls down. It is, therefore, called the Jâlandhara Bandha —the destroyer of a host of diseases of the throat.

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।

न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥७२॥

Jālandhare krte bandhe kanthasamkochalakshane
Na pīyūsham patatyaghnau na cha vāyuh prakupyati

In Jâlandhara Bandha, the indications of a perfect contraction of throat are, that the nectar does not fall into the fire (the Sûrya situated in the navel), and the air is not disturbed.

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद्दृढम् ।

मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥७३॥

Kanthasamkochanenaiva dve nādyau stambhayeddrdham
Madhyachakramidam jñeyam shodaśādhārabandhanam

The two Nâdîs should be stopped firmly by contracting the throat. This is called the middle circuit or centre (madhya Chakra), and it stops the 6 âdhâras (i.e., vital parts).

अंगुष्टगुल्फजानूरुसीवनीलिङ्गनाभयः ।

हृद्ग्रीवा कण्ठदेशश्च लम्बिका नासिका तथा ॥

भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरन्ध्रकम् ।

एते हि षोडशाधाराः कथिताः योगिपुङ्गवैः ॥

The sixteen vital parts mentioned by renowned Yogîs are the (1) thumbs, (2) ankles, (3) knees, (4) thighs, (5) the prepuce, (6) organs of generation, (7) the navel, (8) the heart, (9) the neck, (10) the throat, (11) the palate, (12) the nose, (13) the middle of the eyebrows, (14) the forehead, (15) the head and (16) the Brahma randhra.

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत् ।

इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥

Mūlasthānam samākuñchya uddiyānam tu kārayet
Idām cha pingghalām baddhvā vāhayetpaśchime pathi

By drawing up the mûlasthâna (anus,) Uddiyâna Bandha should be performed. The flow of the air should be directed to the Susumnâ, by closing the Idâ, and the Pingalâ.

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।

ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥७५॥

Anenaiva vidhānena prayāti pavano layam
Tato na jāyate mrtyurjarāroghādikam tathā

The Prâna becomes calm and latent by this means, and thus there is no death, old age, disease, etc.

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।

सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥७६॥

Bandhatrayamidam śreshtham mahāsiddhaiścha sevitam
Sarveshām hathatantrānām sādhanam yoghino viduh

These three Bandhas are the best of all and have been practised by the masters. Of all the means of success in the Hatha Yoga, they are known to the Yogîs as the chief ones.

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।

तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥७७॥

Yatkimchitsravate chandrādamrtam divyarūpinah
Tatsarvam ghrasate sūryastena pindo jarāyutah

The whole of the nectar, possessing divine qualities, which exudes from the Soma (Chandra) is devoured by the Sûrya; and, owing to this, the body becomes old. To remedy this, the opening of the Sûrya is avoided by excellent means. It is to be learnt best by instructions from a guru; but not by even a million discussions.

The Viparîta Karanî अथ विपरीतकरणी मुद्रा

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।

गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥७८॥

Atha viparītakaranī mudrā

Tatrāsti karanam divyam sūryasya mukhavañchanam
Ghurūpadeśato jñeyam na tu śāstrārthakotibhih

Above the navel and below the palate respectively, are the Sûrya and the Chandra. The exercise, called the Viparîta Karanî, is learnt from the guru's instructions.

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।

करणी विपरीताखा गुरुवाक्येन लभ्यते ॥७९॥

Ūrdhvanābheradhastālorūrdhvam bhānuradhah śaśī
Karanī viparītākhā ghuruvākyena labhyate

This exercise increases the appetite; and, therefore, one who practises it, should obtain a good supply of food. If the food be scanty, it will burn him at once.

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धनी ।

आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

Nityamabhyāsayuktasya jatharāghnivivardhanī
Āhāro bahulastasya sampādyah sādhakasya cha

Place the head on the ground and the feet up into the sky, for a second only the first day, and increase this time daily.

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।

अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥८१॥

Alpāhāro yadi bhavedaghnirdahati tatkshanāt
Adhahśirāśchordhvapādah kshanam syātprathame dine

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।

वलितं पलितं छैव षहण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।

याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥८२॥

Kshanāchcha kimchidadhikamabhyasechcha dine dine
Valitam palitam chaiva shanmāsordhvam na drśyate
Yāmamātram tu yo nityamabhyasetsa tu kālajit

After six months, the wrinkles and grey hair are not seen. He who practises it daily, even for two hours, conquers death.

The Vajrolî अथ वज्रोली

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।

वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम ॥८३॥

Atha vajrolī

Svechchayā vartamānoapi yoghoktairniyamairvinā
Vajrolīm yo vijānāti sa yogī siddhibhājanam

Even if one who lives a wayward life, without observing any rules of Yoga, but performs Vajrolî, deserves success and is a Yogî.

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।

क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥८४॥

Tatra vastudvayam vakshye durlabham yasya kasyachit
Kshīram chaikam dvitīyam tu nārī cha vaśavartinī

Two things are necessary for this, and these are difficult to get for the ordinary people—(1) milk and (2) a woman behaving, as desired.

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।

पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥८५॥

Mehanena śanaih samyaghūrdhvākuñchanamabhyaset
Purushoapyathavā nārī vajrolīsiddhimāpnuyāt

By practising to draw in the bindu, discharged during cohabitation, whether one be a man or a woman, one obtains success in the practice of Vajrolî.

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।

शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥८६॥

Yatnatah śastanālena phūtkāram vajrakandare
Śanaih śanaih prakurvīta vāyusamchārakāranāt

By means of a pipe, one should blow air slowly into the passage in the male organ.

नारीभगे पदद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।

चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥८७॥

Nārībhaghe padadbindumabhyāsenordhvamāharet
Chalitam cha nijam bindumūrdhvamākrshya rakshayet

By practice, the discharged bindu is drawn out. One can draw back and preserve one's own discharged bindu.

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥८८॥

Evam samrakshayedbindum mrityum jayati yogavit
Maranam bindupātena jīvanam bindudhāranāt

The Yogî who can protect his bindu thus, overcomes death; because death comes by discharging bindu, and life is prolonged by its preservation.

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।

यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥८९॥

Sughandho yoghino dehe jāyate bindudhāranāt
Yāvadbinduh sthiro dehe tāvatkālabhayam kutah

By preserving bindu, the body of the Yogî emits a pleasing smell. There is no fear of death, so long as the bindu is wellestablished in the body.

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।

तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥९०॥

Chittāyattam nrnām śukram śukrāyattam cha jīvitam
Tasmāchchukram manaśchaiva rakshanīyam prayatnatah

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं निजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।

मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥९१॥

Rtumatyā rajoapyevam nijam bindum cha rakshayet
Medhrenākarshayedūrdhvam samyaghabhyāsayogavit

The bindu of men is under the control of the mind, and life is dependent on the bindu. Hence, mind and bindu should be protected by all means.

The Sahajolî अथ सहजोलिः

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।

जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम् ॥९२॥

Atha sahajolih

Sahajoliśchāmarolirvajrolyā bheda ekatah
Jale subhasma nikshipya daghdhaghomayasambhavam

Sahajolî and Amarolî are only the different kinds of Vajrolî. Ashes from burnt up cowdung should be mixed with water.

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं सत्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम् ।

आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥९३॥

Vajrolīmaithunādūrdhvam strīpumsoh svāngghalepanam

Āsīnayoh sukhenaiva muktavyāpārayoh kshanāt

Being free from the exercise of Vajrolî, man and woman should both rub it on their bodies.

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।

अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥९४॥

Sahajoliriyam proktā śraddheyā yoghibhih sadā
Ayam śubhakaro yogho bhoghayuktoapi muktidah

This is called Sahajolî, and should be relied on by Yogîs. It does good and gives moksa.

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।

निर्मत्सराणां वै सिध्येन्न तु मत्सरशालिनाम् ॥९५॥

Ayam yogah punyavatām dhīrānām tattvadarśinām
Nirmatsarānām vai sidhyenna tu matsaraśālinām

This Yoga is achieved by courageous wise men, who are free from sloth, and cannot he accomplished by the slothful.

The Amarolî अथ अमरोली

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतयान्त्यधाराम् ।

निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥९६॥

Atha amarolī
Pittolbanatvātprathamāmbudhārām
Vihāya nihsāratayāntyadhārām
Nishevyate śītalamadhyadhārā
Kāpālike khandamateamarolī
In the doctrine of the sect of the Kapâlikas, the Amarolî is the drinking of the mid stream; leaving the st, as it is a mixture of too much bile and the last, which is useless.

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने ।

वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यक् सामरोलीति कथ्यते ॥९७॥

Amarīm yah pibennityam nasyam kurvandine dine
Vajrolīmabhyasetsamyak sāmarolīti kathyate

He who drinks Amarî, snuffs it daily, and practices Vajrolî, is called practising Amarolî.

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ।

धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥९८॥

Abhyāsānnihsrtām chāndrīm vibhūtyā saha miśrayet
Dhārayeduttamānggheshu divyadrshtih prajāyate

The bindu discharged in the practice of Vajrolî should be mixed with ashes, and the rubbing it on the best parts of the body gives divine sight.

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।

यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥९९॥

Pumso bindum samākuñchya samyaghabhyāsapātavāt
Yadi nārī rajo rakshedvajrolyā sāpi yoghinī

If, a woman, making herself expert through sufficient practice, draws up the semen of man and preserves her own through (the practice of) Vajroli, she also becomes a Yogini.

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्चति न संशयः ।

तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति ॥१००॥

Tasyāh kimchidrajo nāśam na ghachchati na samśayah
Tasyāh śarīre nādaścha bindutāmeva ghachchati

Without any doubt, even the least part of her seminal fluid is not lost. In her body, *Nada* becomes the *bindu* itself.

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।

वज्रोल्याभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥१०१॥

sa bindustadrajaśchaiva ekībhūya svadehaghau
vajrolyabhyāsayoghena sarvasiddhim prayachchatah

That bindu and that rajas, becoming united and remaining in the body by the practice of *Vajroli* confer all *Siddhis*.

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।

अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥१०२॥

Rakshedākuñchanādūrdhvam yā rajah sā hi yoghinī
Atītānāghatam vetti khecharī cha bhaveddhruvam

She who preserves by upward contraction her rajas is a *Yogini*. She knows the past and the future and certainly attains perfection in *Khechari*.

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्याभ्यासयोगतः ।

अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३॥

Dehasiddhim cha labhate vajrolyabhyāsayogatah

Ayam punyakaro yogho bhoghe bhukteapi muktidah

By the practice of Yoga consisting of the practices of *Vajroli*, bodily perfection is obtained (beauty, grace and great strength). This Yoga confers merit (*punya*), and though there is sensual experience, it leads to emancipation.

The Śakti châlana अथ शक्तिचालनम्

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।

कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१०४॥

Atha śaktichālanam
Kutilāngghī kundalinī bhujangghī śaktirīśvarī
Kundalyarundhatī chaite śabdāh paryāyavāchakāh

Kutilângî (crookedbodied), Kundalinî, Bhujangî (a sheserpent) Śakti, Iśhwarî, Kundalî, Arundhatî,—all these words are synonymous.

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ।

कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥

Udghātayetkapātam tu yathā kumchikayā hathāt
Kundalinyā tathā yogī mokshadvāram vibhedayet

As a door is opened with a key, so the Yogî opens the door of mukti by opening Kundalinî by means of Hatha Yoga.

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।

मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥१०६॥

Yena mārghena ghantavyam brahmasthānam nirāmayam
Mukhenāchchādya tadvāram prasuptā parameśvarī

The Parameśwarî (Kundalinî) sleeps, covering the hole of the passage by which one can go to the seat of Brahma which is free from pains.

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।

बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥

Kandordhve kundalī śaktih suptā mokshāya yoghinām
Bandhanāya cha mūdhānām yastām vetti sa yogavit

Kundalî Sakti sleeps on the bulb, for the purpose of giving moksa to Yogîs and bondage to the ignorant. He who knows it, knows Yoga.

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ।

सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥१०८॥

Kundalī kutilākārā sarpavatparikīrtitā
Sā śaktiśchālitā yena sa mukto nātra samśayah

Kundalî is of a bent shape, and has been described to be like a serpent. He who has moved that Śakti is no doubt mukta (released from bondage).

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् ।

बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०९॥

Ghangghāyamunayormadhye bālarandām tapasvinīm
Balātkārena ghrhnīyāttadvishnoh paramam padam

Youngster Tapaswini (a sheascetic), lying between the Ganges and the Yamunâ, (Idâ and Pingalâ) should be caught hold of by force, to get the highest position.

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।

इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥११०॥

Idā bhaghavatī ghangghā pingghalā yamunā nadī
Idāpingghalayormadhye bālarandā cha kundalī

Idâ is called goddess Ganges, Pingalâ goddess Yamunâ. In the middle of the Idâ and the Pingalâ is the infant widow, Kundalî.

पुच्छे प्रगृह्य भुजङ्गीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।

निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ १११ ॥

Puchche praghrhya bhujangghīm
suptāmudbodhayechcha tām
Nidrām vihāya sā śaktirūrdhvamuttishthate hathāt

This sleeping sheserpent should be awakened by catching hold of her tail. By the force of Hatha, the Śakti leaves her sleep, and starts upwards.

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।

प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ ११२ ॥

Avasthitā chaiva phanāvatī sā
Prātaścha sāyam praharārdhamātram
Prapūrya sūryātparidhānayuktyā
Praghrhya nityam parichālanīyā

This sheserpent is situated in mûlâdhâr. She should be caught and moved daily, morning and evening, for ½ a prahar (½ hours), by filling with air through Pingalâ by the Paridhana method.

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।

मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्ष्हणम् ॥ ११३ ॥

Ūrdhvam vitastimātram tu vistāram chaturangghulam
Mrdulam dhavalam proktam veshtitāmbaralakshanam

The bulb is above the anus, a vitasti (angulas) long, and measures 4 angulas (inches) in extent and is soft and white, and appears as if a folded cloth.

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।

गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ११४ ॥

sati vajrāsane pādau karābhyām dhārayeddrdham
Ghulphadeśasamīpe cha kandam tatra prapīdayet

Keeping the feet in Vajraâsana (Padmaâsana), hold them firmly with the hands. The position of the bulb then will be near the ankle joint, where it should be pressed.

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।

कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५ ॥

Vajrāsane sthito yogī chālayitvā cha kundalīm
Kuryādanantaram bhastrām kundalīmāśu bodhayet

The Yogî, sitting with Vajraâsana and having moved Kundalî, should perform Bhastrikâ to awaken the Kundalî soon.

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।

मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥११६॥

Bhānorākuñchanam kuryātkundalīm chālayettatah
Mrtyuvaktraghatasyāpi tasya mrtyubhayam kutah

Bhânu (Sûrya, near the navel) should be contracted (by contracting the navel) which will move the Kundalî. There is no fear for him who does so, even if he has entered the mouth of death.

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।

ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥११७॥

Muhūrtadvayaparyantam nirbhayam chālanādasau
Ūrdhvamākrshyate kimchitsushumnāyām samudghatā

By moving this, for two muhûrtas, it is drawn up a little by entering the Susumnâ (spinal column).

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम् ।

जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥११८॥

Tena kundalinī tasyāh sushumnāyā mukham dhruvam
Jahāti tasmātprānoayam sushumnām vrajati svatah

By this Kundalinî leaves the entrance of the Susumnâ at once, and the Prâna enters it of itself.

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।

तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥११९॥

Tasmātsamchālayennityam sukhasuptāmarundhatīm
Tasyāh samchālanenaiva yogī roghaih pramuchyate

Therefore, this comfortably sleeping Arundhatî should always be moved; for by so doing the Yogî gets rid of diseases.

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।

किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥१२०॥

Yena samchālitā śaktih sa yogī siddhibhājanam
Kimatra bahunoktena kālam jayati līlayā

The Yogî, who has been able to move the Śakti deserves success. It is useless to say more, suffice it to say that he conquers death playfully.

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।

मण्डलाद्दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः ॥१२१॥

Brahmacharyaratasyaiva nityam hitamitāśinah
Mandalāddrśyate *siddhih kundalyabhyāsayoghinah*

Only one who delights in the life of celibate (*brahmacharin)*, and always conforms to a moderate and salutary diet, and who practices Yoga in the form of stimulating Kundalini approaches *Siddhi* within forty days.

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।

एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥१२२॥

Kundalīm chālayitvā tu bhastrām kuryādviśeshatah
Evamabhyasyato nityam yamino yamabhīh kutah

After moving the Kundalî, plenty of Bhastrâ should be performed. By such practice, he has no fear from the god of death.

द्वासप्ततिसहस्त्राणां नाडीनां मलशोधने ।

कुतः प्रक्ष्हालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥१२३॥

Dvāsaptatisahasrānām nādīnām malaśodhane

Kutah prakshālanopāyah kundalyabhyasanādrte

There is no other way, but the practice of the Kundalî, for washing away the impurities of 7,000 Nâdîs.

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।

आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२४॥

Iyam tu madhyamā nādī drdhābhyāsena yoghinām
Āsanaprānasamyāmamudrābhih saralā bhavet

This middle Nâdî becomes straight by steady practice of postures; Prânâyâma and mudrâs of Yogîs.

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।

रुद्राणी वा परा मुद्रा भद्रां सिद्धिं परयच्छति ॥ १२५॥

Abhyāse tu vinidrānām mano dhrtvā samādhinā
Rudrānī vā parā mudrā bhadrām siddhim prayachchati

Those whose sleep has decreased by practice and mind has become calm by samâdhi, get beneficial accomplishments by Sâmbhavî and other mudrâs.

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।

राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ १२६ ॥

Rājayogam vinā prthvī rājayogam vinā niśā
Rājayogam vinā mudrā vichitrāpi na śobhate

Without Raja Yoga, this earth, the night, and the mudrâs, be they howsoever wonderful, do not appear beautiful.

Note: Raja Yoga = âsana. Earth = steadiness, calmness. Night = Kumbhaka; cessations of the activity of the Prâna, just as King's officials cease moving at night. Hence night means absence of motion, i.e., Kumbhaka.

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।

इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥१२७॥

Mārutasya vidhim sarvam manoyuktam samabhyaset
Itaratra na kartavyā manovrttirmanīshinā

All the practices relating to the air should be performed with concentrated mind. A wise man should not allow his mind to wander away.

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।

एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥१२८॥

Iti mudrā daśa proktā ādināthena śambhunā
Ekaikā tāsu yaminām mahāsiddhipradāyinī

These are the mudrâs, as explained by Âdinâtha (Śiva). Every one of them is the giver of great accomplishments to the practiser.

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम् ।

स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥१२९॥

Upadeśam hi mudrānām yo datte sāmpradāyikam
Sa eva śrīghuruh svāmī sākshādīśvara eva sah

He is really the guru and to be considered as Îśvara in human form who teaches the mudrâs as handed down from guru to guru.

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।

अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम् ॥१३०॥

Tasya vākyaparo bhūtvā mudrābhyāse samāhitah
Animādighunaih sārdham labhate kālavañchanam

Engaging in practice, by putting faith in his words, one gets the Siddhis of Anima, etc., as also evades death.

End of chapter III, on the Exposition of the mudrâs

इति हठयोगप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः

Iti hathapradīpikāyām trtīyopadeśah

The Sâmbhavî mudrâ

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।

एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥३५॥

Vedaśāstrapurānāni sāmānyaghanikā iva
Ekaiva śāmbhavī mudrā ghuptā kulavadhūriva

The Vedas and the Śâstras are like ordinary public women. Śâmhhavî mudrâ is the one, which is secluded like a respectable lady.

अथ शाम्भवी

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।

एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥३६॥

Atha śāmbhavī

Antarlakshyam bahirdrshtirnimeshonmeshavarjitā
Eshā sā śāmbhavī mudrā vedaśāstreshu ghopitā

Aiming at Brahman inwardly, while keeping the sight directed to the external objects, without blinking the eyes, is called the Sâmbhavî mudrâ, hidden in the Vedas and the Sâstras.

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते

दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ।

मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः

शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं पदं शाम्भवम् ॥३७॥

Antarlakshyavilīnachittapavano
Yogī Yadā vartate
Drshtyā niśchalatārayā bahiradhah
paśyannapaśyannapi
Mudreyam khalu śāmbhavī bhavati sā labdhā
prasādādghuroh
Śūnyāśūnyavilakshanam sphurati tattattvam
Padam śāmbhavam

When the Yogî remains inwardly attentive to the Brahman, keeping the mind and the Prâna absorbed, and the sight steady, as if seeing everything while in reality seeing nothing outside, below, or above, verily then it is called the Sâmbhavî mudrâ, which is learnt by the favour of a guru. Whatever, wonderful, Sûnya or Asûnya is perceived, is to be regarded as the manifestation of that great Śambhû (Śiva.)

श्रीशाम्भव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ।

भवेच्चित्तलयानन्दः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥३८॥

Śrīśāmbhavyāścha khecharyā avasthādhāmabhedatah
Bhavechchittalayānandah śūnye chitsukharūpini

The two states, the Sâmbhavî and the Khecharî, are different because of their seats (being the heart and the space between the eyebrows respectively); but both cause happiness, for the mind becomes absorbed in the ChitasukhaRupaâtmana which is void.

The Unmanî

तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ ।

पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥३९॥

Tāre jyotishi samyojya kimchidunnamayedbhruvau
Pūrvayogam mano yuñjannunmanīkārakah kshanāt

Fix the gaze on the light (seen on the tip of the nose) and raise the eyebrows a little, with the mind contemplating as before (in the Śambhavî mudrâ that is, inwardly thinking of Brahma, but apparently looking outside.) This will create the Unmanî avasthâ at once.

The Târaka

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसङ्कुलैः ।

केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥४०॥

Kechidāgamajālena kechinnighamasangkulaih
Kechittarkena muhyanti naiva jānanti tārakam

Some are devoted to the Vedas, some to Nigama, while others are enwrapt in Logic, but none knows the value of this mudrâ, which enables one to cross the ocean of existence

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणः

चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पन्दभावेन यः ।

ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं

तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥४१॥

Ardhonmīlitalochanah sthiramanā nāsāghradattekshanaś
Chandrārkāvapi līnatāmupanayannispandabhāvena yah
Jyotīrūpamaśeshabījamakhilam dedīpyamānam param
Tattvam tatpadameti vastu paramam vāchyam kimatrādhikam

With steady calm mind and half closed eyes, fixed on the tip of the nose, stopping the Idâ and the Pingalâ without blinking, he who can see the light which is the all, the seed, the entire brilliant, great Tatwama, approaches Him, who is the great object. What is the use of more talk?

दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ चैव न पूजयेत् ।

सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रिनिरोधतः ॥४२॥

Divā na pūjayellinggham rātrau chaiva na pūjayet
Sarvadā pūjayellinggham divārātrinirodhatah

One should not meditate on the Linga (i.e., Âtman) in the day (i.e., while Sûrya or Pingalâ is working) or at night (when Idâ is working), but should always contemplate after restraining both.

The Khecharî अथ खेचरी

सव्यदक्षिणनाडीस्थो मध्ये चरति मारुतः ।

तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः ॥४३॥

Atha khecharī

Savyadakshinanādīstho madhye charati mārutah
Tishthate khecharī mudrā tasminsthāne na samśayah

When the air has ceased to move in the right and the left nostrils, and has begun to flow in the middle path, then the Khecharî mudrâ, can be accomplished there. There is no doubt of this.

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ।

तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥४४॥

Idāpingghalayormadhye śūnyam chaivānilam ghraset
Tishthate khecharī mudrā tatra satyam punah punah

If the Prâna can he drawn into the Sûnya (Susumnâ), which is between the Idâ and the Pingalâ, and male motionless there, then the Khecharî mudrâ can truly become steady there.

सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालम्बान्तरे पुनः ।

संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥४५॥

Sūryāchandramasormadhye nirālambāntare punah
Samsthitā vyomachakre yā sā mudrā nāma khecharī

That mudrâ is called Khecharî which is performed in the supportless space between the Sûrya and the Chandra (the Idâ and the Pingalâ) and called the Vyoma Chakra.

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ।

पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥४६॥

Somādyatroditā dhārā sākshātsā śivavallabhā
Pūrayedatulām divyām sushumnām paśchime mukhe

The Khecharî which causes the stream to flow from the Chandra (Śoma) is beloved of Śiva. The incomparable divine Susumnâ should be closed by the tongue drawn back.

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ।

अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी सम्प्रजायते ॥४७॥

Purastāchchaiva pūryeta niśchitā khecharī bhavet
Abhyastā khecharī mudrāpyunmanī samprajāyate

It can be closed from the front also (by stopping the movements of the Prâna), and then surely it becomes the Khecharî. By practice, this Khecharî leads to Unmanî.

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ।

ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥४८॥

Bhruvormadhye śivasthānam manastatra vilīyate
Jñātavyam tatpadam turyam tatra kālo na vidyate

The seat of Śiva is between the eyebrows, and the mind becomes absorbed there. This condition (in which the mind is thus absorbed) is known as Tûrya, and death has no access there.

अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ।

सम्प्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥४९॥

Abhyasetkhecharīm tāvadyāvatsyādyoganidritah
Samprāptayoganidrasya kālo nāsti kadāchana

The Khecharî should be practised till there is Yoganidrâ (Samâdhi). One who has induced Yoganidrâ, cannot fall a victim to death.

निरालम्बं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।

सबाह्याभ्यन्तरं व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥५०॥

Nirālambam manah krtvā na kimchidapi chintayet
Sabāhyābhyantaram vyomni ghatavattishthati dhruvam

Freeing the mind from all thoughts and thinking of nothing, one should sit firmly like a pot in the space (surrounded and filled with the ether).

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्यो न संशयः ।

स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥५१॥

Bāhyavāyuryathā līnastathā madhyo na samśayah
Svasthāne sthiratāmeti pavano manasā saha

As the air, in and out of the body, remains unmoved, so the breath with mind becomes steady in its place (i.e., in Brahma randhra).

एवमभ्यस्यतस्तस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ।

अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥५२॥

Evamabhyasyatastasya vāyumārghe divāniśam
Abhyāsājjīryate vāyurmanastatraiva līyate

By thus practising, night and day, the breathing is brought under control, and, as the practice increases, the mind becomes calm and steady.

अमृतैः प्लवयेद्देहमापादतलमस्तकम् ।

सिध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥५३॥

Amrtaih plāvayeddehamāpādatalamastakam
Siddhyatyeva mahākāyo mahābalaparākramah

By rubbing the body over with Amrita (exuding from the moon), from head to foot, one gets mahâkâyâ, i.e., great strength and energy.

End of the Khecharî

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ।

मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥५४॥

Śaktimadhye manah krtvā śaktim mānasamadhyaghām
Manasā mana ālokya dhārayetparamam padam

Placing the mind into the Kundalini, and getting the latter into the mind, by looking upon the Buddhi (intellect) with mind (reflexively), the Param Pada (Brahma) should be obtained.

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।

सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥५५॥

Khamadhye kuru chātmānamātmamadhye cha kham kuru
Sarvam cha khamayam krtvā na kimchidapi chintayet

Keep the âtmâ inside the Kha (Brahma) and place Brahma inside your âtmâ. Having made everything pervaded with Kha (Brahma), think of nothing else.

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे ।

अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे ॥५६॥

CHAPTER IV.

Yoni-Mudrâ. The Sacred Drink of the Kaulas.

आदैा पूरक योगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।
गुदमेढ्रन्तरे योनिस्तामाकुंच्य प्रवर्तते ॥ १ ॥

First with a strong inspiration fix the mind in the *ádhár* lotus. Then engage in contracting the Yoni, which is situated in the perineal space.

ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम् ।
सूर्य्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥
तस्योर्ध्वं तु शिखासूक्ष्मा चिद्रूपा परमाकला ।
तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥ २ ॥

2. There let him contemplate that the God of Love resides in that Brahma Yoni and that he is beautiful like Bandhuk flower (*Pentapetes Phœnicia*)—brilliant as tens of millions of suns, and cool as tens of millions of moons. Above this (Yoni) is a very small and subtle flame, whose form is intelligence. Then let him imagine that a union takes place there between himself and that flame (the Śîva and Śakti).

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिंगत्रयक्रमेण वै ।
अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ॥
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम् ।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ॥ ३ ॥

3. (Then imagine that)—There go up through the Sushumnâ vessel, the three bodies in their due order (*i.e.*, the etheric, the astral and the mental bodies). There is emitted in every chakra the nectar, the characteristic of which is great bliss. Its colour is whitish rosy (pink), full of splendour, showering down in jets the immortal fluid. Let him drink this wine of immortality which is divine, and then again enter the Kulâ (*i.e.*, perineal space.)

Note.—While these subtle bodies go up, they drink at every stage this nectar, called Kulâmrita. —

पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा ।
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता ॥ ४ ॥

4. Then let him go again to the Kulâ through the practice of *mátrá Yoga* (*i.e.*, prâṇâyâma.) This Yoni has been called by me in the Tantras as equal to life.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवात्मकम् ।
योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ।
तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥ ५ ॥

5. Again let him be absorbed in that Yoni, where dwells the fire of death—the nature of Shiva, &c. Thus has been described by me the method of practising the great Yoni-Mudrâ. From success in its practice, there is nothing which cannot be accomplished.

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताः स्तंभिताश्च ये ।
दग्धामन्त्राः शिखाहीना मलिनास्तु तिरस्कृताः ॥
मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ।
अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः ।
तथा सत्त्वेन हीनाश्च खण्डिताः शतधाकृताः ॥
विधानेन च संयुक्ताः प्रभवन्त्यचिरेण तु ।
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः ॥
दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा ।
ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ॥ ६ ॥

6. Even those mantras which are deformed (chhinna) or paralyzed (Kilita), scorched (stambhita) by fire, or whose flame has become attenuated, or which are dark, and ought to be abandoned, or which are evil, or too old, or which are proud of their budding youth, or have gone over to the side of the enemy, or weak and essenceless without vitality; or which have been divided into hundreds of parts, even they become fertile through time and method. All these can give powers and emancipation when properly given to the disciple by the Guru, after having initiated him according to proper rites, and bathed him a thousand times. This Yoni-mudrâ has been described, in order that the student may deserve (to be initiated into the mysteries of) and receive the mantras.

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ७ ॥

7. He who practises Yoni-Mudrá is not polluted by sin, were he to murder a thousand Brâhmanas or kill all the inhabitants of the three worlds:—

गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न बध्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ८ ॥

8. Were he to kill his teacher or drink wine or commit theft, or violate the bed of his preceptor, he is not stained by these sins also, by virtue of this mudrâ.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

तस्मादभ्यासनं नित्यं कर्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः ।
अभ्यासाज्जायते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ॥ ९ ॥

9. Therefore, those who wish for emancipation should *practise* this daily. Through *practice* (*abhyâsa*), success is obtained; through practice one gains liberation.

संविदं लभतेऽभ्यासाद्योगोऽभ्यासात्प्रवर्तते ।
मुद्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम् ॥
कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ॥ १० ॥

10. Perfect consciousness is gained through *practice*. Yoga is attained through *practice*; success in Mudrâs comes by *practice*; through *practice* is gained success in práṇáyáma. Death can be cheated of its prey through *practice*, and man becomes the conqueror of death by *practice*.

वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ॥
योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित् ।
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ ११ ॥

11. Through *practice* one gets the power of *vách* (prophecy), and the power of going everywhere, through mere exertion of will. This Yoni-mudrâ should be kept in great secrecy, and not be given to everybody. Even when threatened with death, it should not be revealed or given to others.

The Awakening of Kuṇḍalini.

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम् ।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् ॥ १२ ॥

12. Now I shall tell you the best means of attaining success in Yoga. The practitioners should keep it secret. It is the most inaccessible Yoga.

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥ १३ ॥

13. When the sleeping goddess Kuṇdalini is awakened, through the grace of Guru, then all the lotuses and the bonds are readily pierced through and through.

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ १४ ॥

14. Therefore, in order that the goddess, who is asleep in the mouth of the Brahmarandhra (the innermost hollow of Sushumnâ) be awakened, the Mudrâs should be practised with the greatest care.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
जालंधरो मूलबंधो विपरीतकृतिस्तथा ॥
उड्डानं चैव वज्रोणी दशमे शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् ॥ १५ ॥

15. Out of the many Mudrâs, the following ten are the best:—(1) Mahâmudrâ, (2) Mahâbandha, (3) Mahâvedha, (4) Khechari, (5) Jâlandhar, (6) Mulabandha, (7) Viparítkaraṇa, (8) Uḍḍana, (9) Vajroṇdî, and (10) Shaktichâlana.

अथ महामुद्राकथनम् ।
महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे ।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः ॥ १६ ॥

16. My dearest, I shall now describe to you the Mahâmudrâ, from whose knowledge the ancient sages Kapila and others obtained success in Yoga.

(1.)—*Mahâ-Mudrâ.*

अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम् ।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै ।
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥
चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम् ।
महामुद्राभवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥ १७ ॥

17. In accordance with the instructions of the Guru, press gently the perineum with the heel of the left foot. Stretching the right foot out, hold it fast by the two hands. Having closed the nine gates (of the body), place the chin on the chest. Then concentrate the vibrations of the mind and inspire air and retain it by kumbhaka (so long as one can comfortably keep it). This is the Mahâmudrâ, held secret in all the Tantras. The steady-minded Yogi, having practised it on the left side, should then practise it on the right side; and in all cases must be firm in prâṇâyâma —the regulation of his breath.

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योपि सिध्यति ।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥
जीवनन्तु कषायस्य पातकानां विनाशनम् ।
सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम् ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम् ।
वांछितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणम् ॥
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः ।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा ॥ १८ ॥

18. In this way, even the most unfortunate Yogi might obtain success. By this means all the vessels of the body are roused and stirred into activity; the life is increased and its decay is checked, and all sins are destroyed. All diseases are healed, and the gastric fire is increased. It gives faultless beauty to the body, and destroys decay and death. All fruits of desires and pleasures are obtained, and the senses are conquered. The Yogi fixed in meditation acquires all the above-mentioned things, through practice. There should be no hesitation in doing so.

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ।
यां तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः ॥ १९ ॥

19. O ye worshipped of the gods! know that this Mudrâ is to be kept secret with the greatest care. Obtaining this, the Yogi crosses the ocean of the world.

मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता ।
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ॥ २० ॥

20. This Mudrâ, described by me, is the giver of all desires to the practitioner; it should be practised in secrecy, and ought never to be given to everybody.

(2).—*Mahâ-Bandha.*

अथ महाबन्धकथनम् ।

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि ।
गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ॥
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ।
नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं याति योगिनः ॥
उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ॥ २१ ॥

21. Then (after Mâhamudrá), having extended the (right) foot, place it on the (left) thigh; contract the perineum, and draw the *apâna vâyû* upwards and join it with the *samâna vâyu*; bend the *prâna vâyû* downwards, and then let the wise Yogi bind them in trinity in the navel (*i.e.* the *prâna* and the *apâna* should be joined with the *Samâna* in the navel.)

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

I have told you now the Mahâbandha, which shows the way to emancipation. By this, all the fluids in the vessels of the body of the Yogi are propelled towards the head. This should be practised with great care, alternately with both feet.

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णां मध्यसङ्गतः ।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपंजरे ॥
संपूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ॥ २२ ॥

22. Through this practice, the wind enters the middle channel of the Sushumnâ, the body is invigorated by it, the bones are firmly knitted, the heart of the Yogi becomes full (of cheerfulness). By this Bandha, the great Yogi accomplishes all his desires.

(3.)—*Mahâ-Vedha.*

अथ महावेधकथनम् ।
अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना ।
स्फिचौ संताडयेद्धीमान्वेधोऽयं कीर्तितो मया ॥ २३ ॥

23. O goddess of the three worlds! when the Yogi, while performing the Mahâbandha, causes the union of the *prâna* and *apâna vâyus* and filling in the viscera with air drives it slowly towards the nates, it is called Mahâvedha.

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुंगवः ।
ग्रंथिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रंथिं भिनत्त्यसौ ॥ २४ ॥

24. The best of the Yogis having, through the help of the *vâyu*, pierced with this perforator the knot which is in the path of Sushumnâ, should then pierce the knot of Brahma.

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी ॥ २५ ॥

25. He who practises this Mahâvedha with great secrecy, obtains *vâyu-siddhi* (success over the wind). It destroys decay and death.

चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात् ।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ॥ २६ ॥

26. The gods residing in the chakras tremble owing to the gentle influx and eflux of air in prâṇâyâma; the great goddess, Kuṇali Mahâ Mâyâ, is also absorbed in the mount Kailâsa.

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ॥ २७ ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

27. The Mahâmudra and Mahâbandha become fruitless if they are not followed by Mahâ-vedha ; therefore, the Yogi should practise all these three successively with great care.

एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः ।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ २८ ॥

28. He who practises these three daily four times with great care, undoubtedly conquers death within six months.

एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ।
यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वे सिद्धिं सम्यग्लभन्ति वै ॥ २९ ॥

29. Only the siddha knows the importance of these three and no one else ; knowing these, the practitioner obtains all success.

गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः ।
अन्यथा च न सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः ॥ ३० ॥

30. This should be kept in great secrecy by the practitioner desirous of obtaining power ; otherwise, it is certain that the coveted powers can never be obtained through the practice of Mudrâs.

(4.)—*Khechari.*

अथ खेचरीमुद्राकथनम् ।
भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः ।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ॥
लम्बिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम् ।
संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ॥ ३१ ॥

31. The wise Yogi, sitting in *vajrâsana* posture, in a place free from all disturbance, should firmly fix his gaze on the spot in the middle of the two eyebrows,; and reversing the tongue backwards, fix it in the hollow under the epi-glottis, placing it with great care on the mouth of the well of nectar, (*i.e.* closing up the air passage). This mudrâ, described by me at the request of my devotees, is the Khechari-Mudrâ.

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया ।
निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत् ॥
तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ३२ ॥

32. O, my beloved! know [illegible] source of all success, always practising it [illegible] this he obtains *vigra*[illegible] elephant [illegible]

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपिवा ।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः ॥ ३३ ॥

33. Whether pure or impure, in whatever condition one may be, if success be obtained in Khechari, he becomes pure. There is no doubt of it.

क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम् ।
दिव्यभोगान्प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते ॥ ३४ ॥

34. He who practises it even for a moment crosses the great ocean of sins, and having enjoyed the pleasures of Deva-world is born into a noble family.

मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः ।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ॥ ३५ ॥

35. He who practises this Khechari-Mudrâ calmly and without laziness counts as seconds the period of hundred Brahmâs.

गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम् ।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम् ॥ ३६ ॥

36. He knows this Khechari-Mudrâ according to the instructions of his Guru, obtains the highest end, though immersed in great sins.

सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मिन्कस्मिन्न दीयते ।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ॥ ३७ ॥

37. O, ye adored of gods! this Mudrâ, dear as life, should not be given to everybody; it should be kept concealed with great care.

(5.)—*Jâlandhara.*

अथ जालन्धरबन्ध ।

बद्ध्वागलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
बन्धोजालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥
नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम् ।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम् ॥ ३८ ॥

38. Having contracted the muscles of the throat press the chin on the breast. This is said to be the Jâlandhara-Mudrâ. Even gods reckon it as inestimable. The fire in the region of the navel (*i.e.*, the gastric juice) drinks the nectar which exudes out of the thousand-petalled lotus. [In order to pr[illegible]tar to be thus consumed], he should practise this B[illegible]

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

39. Through this Bandha, the wise Yogi himself drinks the nectar, and, obtaining immortality, enjoys the three-worlds.

जालन्धरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥ ४० ॥

40. This Jâlandhara-Bandha is the giver of success to the practitioner; the Yogi desirous of success should practise it daily.

(6.)—*Mula-Bandha.*

अथ मूलबन्धः ।

पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयन्त्रितम् ।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत् ।
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥ ४१ ॥

41. Pressing well the anus with the heel, forcibly draw upwards the *apâna vâyu* slowly by practice. This is described as the Mula-Bandha—the destroyer of decay and death.

अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ।
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥ ४२ ॥

42. If, in the course of the practice of this Mudrâ, the Yogi can unite the *apâna* with the *prâṇa vâyu*, then it becomes of course the Yoni-Mudrâ.

सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितालसः ॥
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥ ४३ ॥

43. He who has accomplished Yoni-Mudrâ, what can he not accomplish in this world. Sitting in the *padmâsana* posture, free from idleness, the Yogi, leaving the ground, moves through the air, by virtue of this Mudrâ.

सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगि पुंगवः ॥ ४४ ॥

44. If the wise Yogi is desirous of crossing the ocean of the world, let him practise this Bandha in secret, in a retired place.

(7.) *Viparit-karaṇa.*

अथ विपरीतकरणी मुद्रा ।

भूतले स्वशिरो दत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ४५ ॥

45. Putting the head on the ground, let him stretch out his legs upwards, moving them round and round. This is *Viparit-karaṇa,* kept secret in all the Tantras.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

एतद्यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः ।
मृत्युं जयति स योगी प्रलये नापि सीदति ॥ ४६ ॥

46. The Yogi who practises it daily for three hours, conquers death, and is not destroyed even in the Pralaya.

कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात् ।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ॥ ४७ ॥

47. He who drinks nectar becomes equal to Siddhas; he who practises this Bandha becomes an adept among all creatures.

(8.)—*Uḍḍâna-bandha.*

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ।
उड्डयानबंध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः ॥
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डानाख्योऽत्र बन्धोयं मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ४८ ॥

48. When the intestines above and below the navel are brought to the left side, it is called Uḍḍâna-Bandha—the destroyer of all sins and sorrows. The left side viscera of the abdominal cavity should be brought above the navel. This is Uḍḍana-Bandha, the lion of the elephant of death.

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन सिद्धो भवेन्मरुत् ॥ ४९ ॥

49. The Yogi, who always practises it four times a day, purifies thereby his navel, through which the winds are purified.

षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम् ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते ॥ ५० ॥

50. By practising it for six months, the Yogi certainly conquers death; the gastric fire is kindled, and there takes place an increase of the fluids of the body.

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते ।
रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ॥ ५१ ॥

51. Through this, consequently, the *vigrahasiddhi* is also obtained. All the diseases of the Yogi are certainly destroyed by it.

गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः ।
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परम दुर्लभम् ॥ ५२ ॥

52. Having learnt the method from the Guru, the wise Yogi should practise it with great care. This most inacessible Mudrâ should be practised in a retired and undisturbed place.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

(10.)—*Shakti-châlan.*

अथ शक्तिचालनमुद्रा ।
आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥ ५३ ॥

53. Let the wise Yogi forcibly and firmly draw up the goddess Kuṇdali sleeping in the *âdhâr* lotus, by means of the *apâna vâyu.* This is Shakti-Châlan Mudrâ, the giver of all powers.

शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥ ५४ ॥

54. He who practises this Shakti-Châlan daily, gets increase of life and destruction of diseases.

विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु ।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥ ५५ ॥

55. Leaving sleep, the serpent (*i.e.* the Kuṇdali) herself goes up; therefore let the Yogi desirous of power practise this.

यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ।
गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ५६ ॥

56. He who practises always this best Shakti-Châlan according to the instructions of his guru, obtains the *vigraha-siddhi*, which gives the powers of *animâ*, etc., and has no fear of death.

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिचालनम् ।
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ॥ ५७ ॥

57. He who practises the Shakti-Châlan properly for two seconds, and with care, is very near to success. This Mudrâ should be practised by the Yogi in the proper posture.

एतत्तुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति ।
एकैकाभ्यासने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा ॥ ५८ ॥

58. These are the ten Mudrâs whose equal there never was nor ever shall be: through the practice of any one of them, a person becomes a siddha and obtains success.

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे मुद्राकथनं नाम चतुर्थपटलः समाप्तः ॥ ४ ॥

[Vajroṇdi Mudrâ described in this chapter in the original is omitted here, as it is an obscene practice indulged in by low class Tantrists, Translator.]

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

THIRD LESSON.

तृतीयोपदेशः ।

अथ मुद्राकथनम् ।

घेरण्ड उवाच—

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी ॥ १ ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालनी ।
ताडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पञ्चधारणा ॥ २ ॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी ।
पञ्चविंशति मुद्राणि सिद्धदानीह योगिनाम् ॥ ३ ॥

ON MUDRÂS.

Gheraṇḍa said :—1—3. There are twenty-five mudrâs, the practice of which gives success to the Yogîs. They are :—

(1) Mahâ-mudrâ, (2) Nabho-mudrâ, (3) Uddîyâna, (4) Jâlandhara, (5) Mûlabandha, (6) Mahâbandha, (7) Mahâvedha, (8) Khecharî, (9) Viparîta-karî, (10) Yoni, (11) Vajroṇî, (12) Śaktichâlanî, (13) Tadâgî, (14) Mâṇḍavî, (15) Śâmbhavî, (16) Panchadhâraṇâ (five dhâraṇâs), (21) Aśvinî, (22) Pâśinî, (23) Kâkî, (24) Mâtangî and (25) Bhujanginî.

अथ मुद्राणां फलकथनम् ।

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव सन्निधौ ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥ ४ ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
प्रीतिदं योगिनाञ्चैव दुर्लभं मरुतामपि ॥ ५ ॥

THE ADVANTAGES OF PRACTISING MUDRÂS.

4—5. Maheswara, when addressing his consort, has recited the advantages of Mudrâs in these words : "O Devi ! I have told you all the Mudrâs ; their knowledge leads to adeptship. It should be kept secret with great care, and should not be taught indiscriminately to every one. This gives happiness to the Yogîs, and is not to be easily attained by the maruts (gods of air) even."

अथ महामुद्राकथनम् ।

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः ।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदाङ्गुलः ॥ ६ ॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥ ७ ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

1.—MAHÂMUDRÂ.

6—7. Pressing carefully the anus by the left heel, stretch the right leg, and take hold of the great toe by the hand ; contract the throat (not expelling the breath), and fix the gaze between the eye-brows. This is called Mahâ-mudrâ by the wise.

अथ महामुद्राफलकथनम् ।
क्षयकासं गुदावर्त्तं प्लीहाजीर्णज्वरं तथा ।
नाशयेत्सर्वरोगांश्च महामुद्रा च साधनात् ॥ ८ ॥

Its benefits.

8. The practice of Mahâ-mudrâ cures consumption, the obstruction of the bowels, the enlargement of the spleen, indigestion and fever—in fact it cures all diseases.

अथ नभोमुद्राकथनम् ।
यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत् पवनं सदा ।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥ ९ ॥

2.—NABHO MUDRÂ.

9. In whatever business a Yogî may be engaged, wherever he may be, let him always keep his tongue turned upwards (towards the soft palate), and restrain the breath. This is called Nabho-Mudrâ ; it destroys all the diseases of the Yogî.

अथ उड्डीयानबन्धः ।
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ १० ॥

3.—UḌḌÎYÂNA-BANDHA.

10. Contract the bowels equably above and below the navel towards the back, so that the abdominal viscera may touch the back. He who practises this Uḍḍîyâna (Flying up), without ceasing, conquers death. The Great Bird (Breath), by this process, is instantly forced up into the Sushumnâ, and flies (moves) constantly therein only.

अथ उड्डीयानबन्धस्य फलकथनम् ।
समग्राद्बन्धनाद्ध्येतदुड्डीयानं विशिष्यते ।
उड्डीयने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ११ ॥

Its benefits.

11. Of all Bandhanas, this is the best. The complete practice of this makes emancipation easy.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

अथ जालन्धरबन्धकथनम् ।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदयेन्यसेत् ।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम् ।
जालन्धरमहामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ॥ १२ ॥

4.—JÂLANDHARA.

12. Contracting the throat, place the chin on the chest. This is called Jâlandhara. By this Bandha the sixteen Âdhâras are closed. This and the Mahâ-mudrâ destroy death.

अथ जालन्धरबन्धस्य फलकथनम् ।
सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम् ।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः ॥ १३ ॥

Its benefits.

13. The Jâlandhara is a success-giving and well-tried Bandha ; he who practises it for six months, becomes an adept without doubt.

अथ मूलबन्धकथनम् ।
पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः ।
नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥ १४ ॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत् ।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ॥ १५ ॥

5.—MÛLABANDHA.

14.—15. Press with the heel of the left foot the region between the anus and the scrotum, and contract the rectum ; carefully press the intestines near the navel on the spine ; and put the right heel on the organ of generation or pubes. This is called Mûlabandha, destroyer of decay.

अथ मूलबन्धस्य फलकथनम् ।
संसारसमुद्रं तर्तुमभिलषति यः पुमान् ।
विरले सुगुप्तो भूत्वा मुद्रामेतां समभ्यसेत् ॥ १६ ॥
अभ्यासाद्बन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ।
साधयेद् यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः ॥ १७ ॥

Its benefits.

16—17. The person who desires to cross the ocean of Existence, let him go to a retired place, and practise in secrecy this Mudrâ. By the practice of it, the Vâyu (Prâṇa) is controlled undoubtedly; let one silently practise this, without laziness and with care.

अथ महाबन्धकथनम् ।
वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत् ।
दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥ १८ ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

शनैः शनैश्चालयेत् पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छनैः ।
जालन्धरे धारयेत् प्राणं महाबन्धो निगद्यते ॥ १९ ॥

6.—MAHÂBANDHA.

18—19. Close the anal orifice by the heel of the left foot, press that heel with the right foot carefully, move slowly and slowly the muscles of the rectum, and slowly contract the muscles of the yoni or perineum (space between anus and organ): restrain the breath by Jâlandhara. This is called Mahâbandha.

अथ महाबन्धस्य फलकथनम् ।
महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशनः ।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम् ॥ २० ॥

Its benefits.

20. The Mahâbandha is the Greatest Bandha; it destroys decay and death: by virtue of this Bandha a man accomplishes all his desires.

अथ महावेधकथनम् ।
रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा ॥ २१ ॥
महाबन्धं समासाद्य उड्डानकुम्भकं चरेत् ।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ॥ २२ ॥

7.—MAHÂVEDHA.

21—22. As the beauty, youth and charms of women are in vain without men, so are Mûlabandha and Mahâbandha without Mahâvedha. Sit first in Mahâbandha posture, then restrain breath by Uddâna Kumbhaka. This is called Mahâvedha—the giver of success to the Yogîs.

अथ महावेधस्य फलकथनम् ।
महाबन्धमूलबन्धौ महावेध समन्वितौ ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः ॥ २३ ॥
न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोयं योगिपुङ्गवैः ॥ २४ ॥

Its benefits.

23—24. The Yogî who daily practises Mahâbandha and Mûlabandha, accompanied with Mahâvedha, is the best of the Yogîs. For him there is no fear of death, and decay does not approach him: this Vedha should be kept carefully secret by the Yogîs.

अथ खेचरीमुद्राकथनम् ।
जिह्वाधो नाडीं संछिन्नां रसनां चालयेत् सदा ।
दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत् ॥ २५ ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

8.—KHECHARÎ MUDRÂ.

25. Cut down the lower tendon of the tongue, (*frenulum linguae*) and move the tongue constantly: rub it with fresh butter, and draw it out (to lengthen it) with an iron instrument.

N.B.—This is the preliminary to Khecharî Mudrâ. Its object is so to lengthen the tongue, that when drawn out it may touch with its tip the space between the eye-brows. This can be done by cutting away the lower tendon. It takes about three years to cut away the whole tendon. I saw my Guru doing it in this wise. On every Monday he used to cut the tendon one-twelfth of an inch deep and sprinkle salt over it, so that the cut portions might not join together. Then rubbing the tongue with butter he used to pull it out. Peculiar iron instruments are employed for this purpose; the painful process is repeated every week till the tongue can be stretched out to the requisite length.

एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।
यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तदागच्छति खेचरी ॥ २६ ॥

26. By practising this always, the tongue becomes long, and when it reaches the space between the two eyebrows, then the Khecharî is accomplished.

रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ २७ ॥

27. Then (the tongue being lengthened) practise, turning it upwards and backwards so as to touch the palate, till at length it reaches the holes of the nostrils opening into the mouth. Close those holes with the tongue (thus stopping inspiration), and fix the gaze on the space between the two eyebrows. This is called Khecharî.

अथ खेचरी मुद्रायाः फलकथनम् ।
न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते ।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते ॥ २८ ॥

Its benefits.

28. By this practice there is neither fainting, nor hunger, nor thirst, nor laziness. There comes neither disease, nor decay, nor death. The body becomes divine.

नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः ।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः ॥ २९ ॥

29. The body cannot be burned by fire, nor dried up by the air, nor wetted by water, nor bitten by snakes.

लावण्यञ्च भवेद्गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम् ।
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात् ॥ ३० ॥

30. The body becomes beautiful; Samâdhi is verily attained, and the tongue touching the holes obtains various juices (it drinks nectar.)

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

नानारससमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने ।
आदौ लवणक्षारञ्च ततस्तिक्तकषायकम् ॥ ३१ ॥
नवनीतं घृतं क्षीरं दधि तक्रमधूनि च ।
द्राक्षारसञ्च पीयूषं जायते रसनोदकम् ॥ ३२ ॥

31—32. Various juices being produced, day by day the man experiences new sensations; first, he experiences a saltish taste, then alkaline, then bitter, then astringent, then he feels the taste of butter, then of ghee, then of milk, then of curd, then of whey, then of honey, then of palm juice, and, lastly, arises the taste of nectar.

अथ विपरीतकरणीमुद्राकथनम् ।
नाभिमूलेवसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः ।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ॥ ३३ ॥
ऊर्ध्वं च योजयेत् सूर्यञ्चन्द्रञ्च अध आनयेत् ।
विपरीतकरी मुद्रासर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ३४ ॥
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः ।
ऊर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ॥ ३५ ॥

9.—VIPARÎTAKARAṆÎ.

33—35. The sun (the solar Nâdî or plexus) dwells at the root of the navel, and the moon at the root of the palate; the process by which the sun is brought upward and the moon carried downward is called Viparîtakaraṇî. It is a secret Mudrâ in all the Tantras. Place the head on the ground, with hands spread, raise the legs up, and thus remain steady. This is called Viparîtakaraṇî.

अथविपरीतकरणीमुद्रायाः फलकथनम् ।
मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरां मृत्युञ्च नाशयेत् ।
स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ॥ ३६ ॥

Its benefits.

36. By the constant practice of this Mudrâ, decay and death are destroyed. He becomes an adept, and does not perish even at Pralaya.

अथ योनिमुद्राकथनम् ।
सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखम् ।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत् ॥३७ ॥
काकोभिः प्राणं संकृष्य अपाने योजयेत्ततः ।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधीः ॥ ३८
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी ।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे ॥ ३९ ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परं शिवेन सङ्गमम् ।
नानासुखं विहारञ्च चिन्तयेत् परमं सुखम् ॥ ४० ॥
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुवि भावयेत् ।
आनन्दमानसो भूत्वा अहं ब्रह्मेति संभवेत् ॥ ४१ ॥
योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ।
सकृत्तु लाभसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि ॥ ४२ ॥

10.—YONIMUDRÂ.

37—42. Sitting in Siddhâsana, close the two ears with the two thumbs, the eyes with the index fingers, the nostrils with the middle fingers, the upper lip with the fore fingers, and the lower lip with the little fingers. Draw in the Prâṇa-Vâyu by Kâkî-mudrâ, (as in verse 86) and join it with the Apâna-Vâyu; contemplating the six chakras in their order, let the wise one awaken the sleeping serpent-Goddess Kuṇḍalinî, by repeating the mantra Huṇ (हुँ), and Haṇsa (हंसः), and raising the Sakti (Force-kuṇḍali) with the jîva, place them at the thousand-petalled lotus. Being himself full of Śakti, being joined with the great Siva, let him think of the various pleasures and enjoyments. Let him contemplate on the union of Śiva (spirit) and Śakti (Force or energy) in this world. Being himself all bliss, let him realise that he is the Brahma. This Yoni-mudrâ is a great secret, difficult to be obtained even by the Devas. By once obtaining perfection in its practice, one enters verily into Samâdhi.

अथ योनिमुद्राफलकथनम् ।
ब्रह्महा भ्रूणहाचैव सुरापी गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न लिप्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ४३ ॥
यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च ।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबन्धनात् ।
तस्मादभ्यसनं कुर्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति ॥ ४४ ॥

Its benefits.

43—44. By the practice of this Mudrâ, one is never polluted by the sins of killing a Brâhmaṇa, killing a fœtus, drinking liquor, or polluting the bed of the Preceptor. All the mortal sins and the venal sins are completely destroyed by the practice of this Mudrâ. Let him therefore practise it, if he wishes for emancipation.

अथ वज्रोणीमुद्राकथनम् ।
धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यामूर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे ।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रोणीमुद्रां मुनयो वदन्ति ॥ ४५ ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

11.—VAJROṆÎ MUDRÂ.

45. Place the two palms on the ground, raise the legs in the air upward, the head not touching the earth. This awakens the Śakti, causes long life, and is called Vajroṇî by the sages.

अथ वज्रोणीमुद्रायाः फलकथनम् ।
अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम् ।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः ॥ ४६ ॥
एतद्योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ।
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यतिभूतले ॥ ४७ ॥
भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत् ।
तथापि सकला सिद्धिस्तस्य भवति निश्चितम् ॥ ४८ ॥

Its benefits.

46—48. This practice is the highest of Yogas; it causes emancipation, and this beneficial Yoga gives perfection to the Yogîs. By virtue of this Yoga, the Bindu-Siddhi (retention of seed) is obtained, and when that Siddhi is obtained what else can he not attain in this world. Though immersed in manifold pleasures, if he practises this Mudrâ, he attains verily all perfections.

अथ शक्तिचालनीमुद्राकथनम् ।
मूलाधारे आत्मशक्तिःकुण्डली परदेवता ।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ॥ ४९ ॥

12.—ŚAKTI CHÂLANÎ.

49. The great goddess Kundalinî, the energy of Self, âtma-śakti (spiritual force), sleeps in the Mûlâdhâra (rectum); she has the form of a serpent having three coils and a half.

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा ।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत् ॥ ५० ॥

50. So long as she is asleep in the body, the Jîva is a mere animal, and true knowledge does not arise, though he may practise ten millions of Yoga.

उद्घाटयेत् कवाटञ्च यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ५१ ॥

51. As by a key a door is opened, so by awakening the Kundalinî by Haṭha Yoga, the door of Brahma is unlocked.

नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिस्थितः ।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥ ५२ ॥

52. Encircling the loins with a piece of cloth, seated in a secret room, not naked in an outer room, let him practise the Śaktichâlana.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ।
एवमम्बरयुक्तञ्च कटिसूत्रेण योजयेत् ॥ ५३ ॥

53. One cubit long, and four fingers (3 inches) wide, should be the encircling cloth, soft, white and of fine texture. Join this cloth with the Kaṭi-Sûtra (a string worn round the loins.)

भस्मना गात्रं संलिप्य सिद्धासनं समाचरेत् ।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद् बलात् ॥ ५४ ॥
तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनीमुद्रया ।
यावद्गच्छेत् सुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेद्धठात् ॥ ५५ ॥

54—55. Rub the body with ashes, sit in Siddhâsana-posture, drawing the Prâṇa-Vâyu with the nostrils, forcibly join it with the Apâna. Contract the rectum slowly by the Aśvinî Mudrâ, so long as the Vâyu does not enter the Sushumṇâ, and manifests its presence.

तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी ।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ॥ ५६ ॥

56. By restraining the breath by Kumbhaka in this way, the Serpent Kuṇḍalinî, feeling suffocated awakes and rises upwards to the Brahmarandhra.

विना शक्तिचालनेन योनिमुद्रा न सिद्ध्यति ।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत् ॥ ५७ ॥

57. Without the Śâktichâlana, the Yoni-Mûdrâ is not complete or perfected ; first the Châlana should be practised, and then the Yoni-Mudrâ should be learnt.

इति ते कथितं चण्डकपाले शक्तिचालनम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत् ॥ ५८ ॥

58. O Chaṇḍa-Kâpâli ! thus have I taught thee the Śaktichâlana. Preserve it with care : and practise it daily.

अथ शक्तिचालनीमुद्रायाः फलकथनम् ।
मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी ।
तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिभिः सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥ ५९ ॥

Its benefits.

59. This mudrâ should be kept carefully concealed. It destroys decay and death. Therefore the Yogî, desirous of perfection, should practise it.

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता ।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद्रोगाणां संक्षयो भवेत् ॥ ६० ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

60. The Yogî who practises this daily, acquires adeptship, attains Vigraha-siddhi and all his diseases are cured.

अथ तडागीमुद्राकथनम् ।
उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृति ।
ताडागी सा परामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ६१ ॥

13.—TADÂGI-MUDRÂ.

61. Sitting in Paschimottâna-posture, make the stomach like a tank (hollow). This is Tadâgî (Tank) Mudrâ, destroyer of decay and death.

अथ माण्डुकीमुद्राकथनम् ।
मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ।
शनैर्ग्रसेदमृतं तन्माण्डुकीं मुद्रिकां विदुः ॥ ६२ ॥

14.—MÂNDUKI-MUDRÂ.

62. Closing the mouth, move the tip of the tongue towards the palate, and taste slowly the nectar (flowing from the Thousand-petalled Lotus.) This is Frog-mudrâ.

अथ माण्डुकीमुद्रायाः फलकथनम् ।
वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम् ।
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम् ॥ ६३ ॥

Its benefits.

63. Tho body never sickens or becomes old, and it retains perpetual youth; the hair of him who practises this never grows white.

अथ शाम्भवीमुद्राकथनम् ।
नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत् ।
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ६४ ॥

15.—ŚÂMBHAVÎ-MUDRÂ.

64. Fixing the gaze between the two eye-brows, behold the Self-existent. This is Śâmbhavî, secret in all the Tantras.

अथ शाम्भवीमुद्रायाः फलकथनम् ।
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ६५ ॥

Its benefits.

65. The Vedas, the scriptures, the Purâṇas are like public women, but this Śâmbhavî should be guarded as if it were a lady of a respectable family.

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम् ।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम् ॥ ६६ ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

66. He, who knows this Śâmbhavî, is like the Âdinâtha, he is a Nârâyaṇa, he is Brahmâ the Creator.

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वर ।
शाम्भवीं यो विजानीयात् स च ब्रह्म न चान्यथा ॥ ६७ ॥

67. Maheśwara has said, "Truly, truly, and again truly, he who knows the Sambhavî, is Brahma. There is no doubt of this."

अथ पञ्चधारणामुद्राकथनम् ।
कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम् ।
धारणानि समासाद्य किं न सिध्यति भूतले ॥ ६८ ॥

THE FIVE DHÂRAṆÂ-MUDRÂS.

68. The Śâmbhavî has been explained ; hear now the five Dhâraṇâs. Learning these five Dhâraṇâs, what cannot be accomplished in this world?

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम् ।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ॥ ६९ ॥

69. By this, with the human body one can visit and revisit Svarga-loka, he can go wherever he likes, as swiftly as mind, he acquires the faculty of walking in the sky. These five Dhâraṇâs are :—Pârthivi (earthy), Âmbhasi (Watery), Vâyavî (aerial), Âgneyî (Fiery), and Âkâśî (Ethereal).

अथ पार्थिवीधारणामुद्राकथनम् ।
यत्तत्त्वंहरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितं
वेदास्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थायिनम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषास्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ॥ ७० ॥

(a).—PÂRTHIVÎ.

70. The Prithivî-Tattva has the colour of orpiment (yellow), the letter (la) ल is its secret symbol or seed (बीज), its form is four-sided, and Brahmâ, its presiding deity. Place this Tatva in the heart, and fix by Kumbhaki the Prâṇa-Vâyus and the Chitta there for the period of five ghatikâs (2½ hours). This is called Adhodhâraṇâ. By this, one conquers the Earth, and no earthy-elements can injure him : and it causes steadiness.

अथ पार्थिवीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।
पार्थिवीधारणामुद्रां यः करोति च नित्यशः ।
मृत्युञ्जयः स्वयं सोपि स सिद्धो विचरेद् भुवि ॥ ७१ ॥

Its benefits.

71. He who practises this dhâraṇâ, becomes like the conqueror of Death ; as an Adept he walks over this earth.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

अथ आम्भसीधारणामुद्राकथनम् ।
शङ्खेन्दुप्रतिमञ्च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेदेषा
दुःसहतापपापहरणी स्यादाम्भसी धारणा ॥ ७२ ॥

(b).—ÂMBHASÎ.

72. The Water-Tattva is white like the Kunda-flower or a conch or the moon, its form is circular like the moon, the letter व (va) is the seed of this ambrosial element, and Vishṇu is its presiding deity. By Yoga, produce the water-tattva in the heart, and fix there the Prâṇa with the Chitta (consciousness), for five ghatikâs, practising Kumbhaka. This is Watery Dhâraṇâ; it is the destroyer of all sorrows. Water cannot injure him who practises this.

अथ आम्भसीमुद्रायाः फलकथनम् ।
आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित् ।
जले च गभीरे घोरे मरणं तस्य नो भवेत् ॥ ७३ ॥
इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः ।
प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च तत्त्वतः ॥ ७४ ॥

Its benefits.

73.—74. The Âmbhasî is a great mudrâ; the Yogî who knows it, never meets death even in the deepest water. This should be kept carefully concealed. By revealing it success is lost, verily I tell you the truth.

अथ आग्नेयीधारणामुद्राकथनम् ।
यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं
तत्त्वं तेजोमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत् सिद्धिदम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा कालगभीरभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा ॥ ७५ ॥

(c).—ÂGNEYÎ.

75. The Fire-Tattva is situated at the navel, its colour is red like the Indra-gôp insect, its form is triangular, its seed is (ra, र,) its presiding deity is Rudra. It is refulgent like the sun, and the giver of success. Fix the Prâṇa along with the Chitta in this Tattva for five ghatikâs. This is called Fire-Dhâraṇâ, destroyer of the fear of dreadful death, and fire cannot injure him.

अथ आग्नेयीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।
प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ यदि पतति साधकः ।
एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक् ॥ ७६ ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

Its benefits.

76. If the practitioner is thrown into burning fire, by virtue of this Mudrâ he remains alive, without fear of death.

अथ वायवीधारणामुद्राकथनम् ।

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं धूम्रावभासं परं
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥ ७७ ॥

(*d*).—VÂYAVÎ.

77. The Air-tattva is black as unguent for the eyes (collirium), the letter य (ya) is its seed, and Îsvara its presiding deity. This Tattva is full of Satva quality. Fix the Prâṇa and the Chitta for five ghatikâs in this Tattva. This is Vâyavî-Dhâraṇâ. By this, the practitioner walks in the air.

अथ वायवीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।
वायुना म्रियते नापि खे गतेश्च प्रदायिनी ॥ ७८ ॥
शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्य कस्यचित् ।
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च चण्ड ते ॥ ७९ ॥

Its benefits.

78—79. This great Mudrâ destroys decay and death. Its practitioner is never killed by any aerial disturbances; by its virtue one walks in the air. This should not be taught to the wicked or to those devoid of faith. By so doing success is lost; Oh Chaṇḍa! this is verily the truth.

अथ आकाशीधारणामुद्राकथनम् ।

यत् सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकवाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणाम् ॥ ८० ॥

(*e*).—ÂKÂŚÎ DHÂRAṆÂ.

80. The Ether-Tattva has the colour of pure sea-water, ह (ha) is its seed, its presiding deity is Sadâśiva. Fix the Prâṇa along with Chitta for five ghatikâs in this Tattva. This is Ether-Dhâraṇâ. It opens the gates of emancipation.

अथ आकाशीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।

आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति सच योगवित् ।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति ॥ ८१ ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

Its benefits.

81. He who knows this Dhâraṇâ is the real Yogî. Death does not approach him, nor does he perish at the Pralaya.

अथ अश्विनीमुद्राकथनम् ।

आकुञ्चयेद् गुदद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः ।
सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥ ८२ ॥

21.—AS'VINÎ-MUDRÂ.

82. Contract and dilate the anal aperture again and again, this is called As'vinî-mudrâ. It awakens the Śakti (Kuṇḍalinî).

अश्विनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी ।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत् ॥ ८३ ॥

Its benefits.

83. This As'vini is a great Mudrâ ; it destroys all diseases of the rectum ; it gives strength and vigour, and prevents premature death.

अथ पाशिनीमुद्राकथनम् ।

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत् पादौ पाशवद् दृढबन्धनम् ।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी ॥ ८४ ॥

22.—PÂS'INÎ-MUDRÂ.

84. Throw the two legs on the neck towards the back, holding them strongly together like a Pâs'a (a noose). This is called Pâs'inî-mudrâ ; it awakens the Śakti (Kuṇḍalinî.)

अथ पाशिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी ।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥ ८५ ॥

Its benefits.

85. This grand Mudrâ gives strength and nourishment. It should be practised with care by those who desire success.

अथ काकीमुद्राकथनम् ।

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ॥ ८६ ॥

23.—KÂKÎ-MUDRÂ.

86. Contract the lips, like the beak of a crow, and drink (draw in) the air slowly and slowly. This is Kâkî (crow) mudrâ, destroyer of all diseases.

5

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

अथ काकीमुद्रायाः फलकथनम् ।
काकीमुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।
अस्याः प्रसादमात्रेण न रोगी काकवद् भवेत् ॥ ८७ ॥

Its benefits.

87. The Kâkî Mudrâ is a great Mudrâ, kept secret in all Tantras. By virtue of this, one becomes free from disease like a crow.

अथ मातङ्गिनीमुद्राकथनम् ।
कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत् ।
मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत् ॥ ८८ ॥
नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः ।
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ८९ ॥

24.—MÂTANGINI-MUDRÂ.

88—89. Stand in neck-deep water, draw in the water through the nostrils, and throw it out by the mouth. Then draw in the water through [the mouth and expel it through] the nostrils. Let one repeat this again and again. This is called Elephant-mudrâ, destroyer of decay and death.

अथ मातङ्गिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।
विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः ।
कुर्यान्मातङ्गिनीं मुद्रां मातङ्ग इव जायते ॥ ९० ॥
यत्र यत्र स्थितोयोगी सुखमत्यन्तमश्नुते ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साधयेन्मुद्रिकां पराम् ॥ ९१ ॥

Its benefits.

90—91. In a solitary place, free from human intrusion, one should practise with fixed attention this Elephant mudrâ: by so doing, he becomes strong like Elephant. Wherever he may be, by this process the Yogî enjoys great pleasure; therefore this mudrâ should be practised with great care.

अथ भुजङ्गिनीमुद्राकथनम् ।
वक्त्रं किञ्चित् सुप्रसार्य चानिलं गलया पिबेत् ।
सा भवेद् भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ९२ ॥

25.—BHUJANGINÎ-MUDRÂ.

92. Extending the neck a little forward, let him drink (draw in) air through the æsophagus; this is called Serpent-mudrâ, destroyer of decay and death.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

अथ भुजङ्गिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।
यावच्च उदरे रोगा अजीर्णादि विशेषतः ।
तत् सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजङ्गिनी ॥ ९३ ॥

Its benefits.

93. This Serpent-mudrâ quickly destroys all stomach diseases, especially indigestion, dyspepsia, &c.

अथ मुद्राणां फल कथनम् ।
इदं तु मुद्रापटलं कथितं चण्ड ते शुभम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम् ॥ ९४ ॥

THE BENEFITS OF MUDRÂS.

94. O Chaṇḍa-Kâpâli! thus have I recited to thee the chapter on Mudrâs. This is beloved of all adepts, and destroys decay and death.

शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्य कस्यचित् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि ॥ ९५ ॥

95. This should not be taught indiscriminately, nor to a wicked person, nor to one devoid of faith; this should be preserved secret with great care; it is difficult to be attained even by the Devas.

ऋजवे शान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च ।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम् ॥ ९६ ॥

96. These Mudrâs which give happiness and emancipation should be taught to a guileless, calm and peace-minded person, who is devoted to his Teacher and comes of good family.

मुद्राणां पटलं ह्येतत् सर्वव्याधिविनाशनम् ।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविवर्धनम् ॥ ९७ ॥

97. These Mudrâs destroy all diseases. They increase the gastric fire of him who practises them daily.

न तस्य जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा ।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम् ॥ ९८ ॥

98. To him death never comes, nor decay, &c.; there is no fear to him from fire and water, nor from air.

कासः श्वासः प्लीहा कुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः ।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः ॥ ९९ ॥

99. Cough, asthma, enlargement of spleen, leprosy, being diseases of twenty sorts, are verily destroyed by the practice of these Mudrâs.

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्ड ते ।
नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले ॥ १०० ॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डचण्डसंवादे घटस्थ-
योगप्रकरणे मुद्राप्रयोगो नाम तृतीयोपदेशः ।

100. O Chaṇḍa! What more shall I tell three? In short, there is nothing in this world like the Mudrâs for giving quick success.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

CHAPTER III.

On Mudrâs.

तृतीयोपदेशः ।

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ १ ॥

As the chief of the snakes is the support of the earth with all the mountains and forests on it, so all the Tantras (Yoga practices) rest on the Kuṇḍalinî. (The Vertebral column.) 1.

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोऽपिच ॥ २ ॥

When the sleeping Kuṇḍalinî awakens by favour of a *guru*, then all the lotuses (in the six chakras or centres) and all the knots are pierced through. 2.

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३ ॥

Suṣumnâ (Sûnya Padavî) becomes a main road for the passage of Prâṇa, and the mind then becomes free from all connections (with its objects of enjoyments) and Death is then evaded. 3.

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ।
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

Suṣumnâ, Sunya Padavî, Brahma Randhra, Mahâ Patha, Śmaśâna, Śambhavî, Madhya Mârga, are names of one and the same thing. 4.

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥

In order, therefore, to awaken this goddess, who is sleeping at the entrance of Brahma Dwâra (the great door), mudrâs should be practised well. 5.

अथ मुद्राभेदाः

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥

The mudrâs.

Mahâ Mudrâ, Mahâ Bandha, Mahâ Vedha, Khecharî, Uḍḍiyâna Bandha, Mûla Bandha, Jâlandhara Bandha. 6.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥

Viparîta Karaṇî, Vajroli, and Śakti Châlana. These are the ten Mudrâs which annihilate old age and death. 7.

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मारुतामपि ॥ ८ ॥

They have been explained by Âdi Nâtha (Śiva) and give eight kinds of divine wealth. They are loved by all the Siddhas and are hard to attain even by the Marutas. 8.

Note.—The eight *Aiśwaryas* are: Aṇimâ (becoming small, like an atom), Mahimâ (becoming great, like âkâś, by drawing in atoms of Prakṛiti), Garimâ (light things, like cotton becoming very heavy like mountains.)

Prâpti (coming within easy reach of everything; as touching the moon with the little finger, while standing on the earth.)

Prâkâmya (non-resistance to the desires, as entering the earth like water.)

Îsatâ (mastery over matter and objects made of it.)

Vaśitwa (controlling the animate and inanimate objects.)

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥

These Mudrâs should be kept secret by every means, as one keeps one's box of jewellery, and should, on no account be told to any one, just as husband and wife keep their dealings secret. 9.

अथ महामुद्रा ॥

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणां ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारये दृढम् ॥ १० ॥

The mahâ mudrâ.

Pressing the Yoni (perineum) with the heel of the left foot, and stretching forth the right foot, its toe should be grasped by the thumb and first finger. 10.

कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥

By stopping the throat (by Jâlandhara Bandha) the air is drawn in from the outside and carried down. Just as a snake struck with a stick becomes straight like a stick, in the same way, *śakti* (suṣumnâ) becomes straight at once. Then the Kuṇḍalinî, becoming as it were dead, and,

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

leaving both the Idâ and the Pingalâ, enters the suşumnâ (the middle passage). 11-12.

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥ १३ ॥
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥

It should be expelled then, slowly only and not violently. For this very reason, the best of the wise men call it the Mahâ Mudrâ. This Mahâ Mudrâ has been propounded by great masters. 13.

Great evils and pains, like death, are destroyed by it, and for this reason wise men call it the Mahâ Mudrâ. 14.

चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५ ॥

Having practised with the left nostril, it should be practised with the right one; and, when the number on both sides becomes equal, then the mudrâ should be discontinued. 15.

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ १६ ॥

There is nothing wholesome or injurious; for the practice of this mudrâ destroys the injurious effects of all the rasas (chemicals). Even the deadliest of poisons, if taken, acts like nectar. 16.

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७ ॥

Consumption, leprosy, prolapsus anii, colic, and the diseases due to indigestion,—all these irregularities are removed by the practice of this Mahâ Mudrâ. 17.

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्यकस्यचित् ॥ १८ ॥

This Mahâ Mudrâ has been described as the giver of great success (Siddhi) to men. It should be kept secret by every effort, and not revealed to any and everyone. 18.

अथ महाबंधः ॥

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

The Mahâ Bandha.

Press the left heel to the perineum and place the right foot on the left thigh. 19.

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥ २० ॥

Fill in the air, keeping the chin firm against the chest, and, having pressed the air, the mind should be fixed on the middle of the eyebrows or in the suṣumnâ (the spine). 20.

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

Having kept it confined so long as possible, it should be expelled slowly. Having practised on the left side, it should be practised on the right side. 21.

मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥
राजदंतस्थजिव्हाया बंधः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥

Some are of opinion that the closing of throat is not necessary here, for keeping the tongue pressed against the roots of the upper teeth makes a good bandha (stop). 22.

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ॥
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥

This stops the upward motion of all the Nâḍîs. Verily this Mahâ Bandha is the giver of great Siddhis. 23.

कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥

This Mahâ Bandha is the most skilful means for cutting away the snares of death. It brings about the conjunction of the Trivenî (Iḍâ, Pingalâ and Śuṣumnâ) and carries the mind to Kedâr (the space between the eyebrows, which is the seat of Śiva). 24.

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥
महामुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥

As beauty and loveliness, do not avail a woman without husband, so the Mahâ Mudrâ and the Mahâ-Bandha are useless without the Mahâ Vedha. 25.

अथ महावेधः ॥

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥ २६ ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

The Mahâ Vedha.

Sitting with Mahâ Bandha, the Yogî should fill in the air and keep his mind collected. The movements of the Vâyus (Prâṇa and Apâna) should be stopped by closing the throat.) 26.

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥

Resting both the hands equally on the ground, he should raise himself a little and strike his buttocks against the ground gently. The air, leaving both the passages (Idâ and Pingalâ), starts into the middle one. 27.

सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ॥
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८ ॥

The union of the Idâ and the Pingalâ is effected, in order to bring about immortality. When the air becomes as it were dead (by leaving its course through the Idâ and the Pingalâ) (*i.e.*, when it has been kept confined), then it should be expelled. 28.

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥

The practice of this Mahâ Vedha, the giver of great Siddhis, destroys old age, grey hair, and shaking of the body, and therefore it is practised by the best masters. 29.

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥

These THREE are the great secrets. They are the destroyers of old age and death, increase the appetite, confer the accomplishments of Animâ, etc. 30.

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

They should be practised in 8 ways, daily and hourly. They increase collection of good actions and lessen the evil ones. People, instructed well, should begin their practice, little by little, first. 31.

अथ खेचरी ॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

The Khechari.

The Khechari Mudrâ is accomplished by thrusting the tongue into the gullet, by turning it over itself, and keeping the eyesight in the middle of the eyebrows. 32.

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३३ ॥

To accomplish this, the tongue is lengthened by cutting the frænum linguæ, moving, and pulling it. When it can touch the space between the eyebrows, then Khechari can be accomplished. 33.

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥

Taking a sharp, smooth, and clean instrument, of the shape of a cactus leaf, the frænum of the tongue should be cut a little (as much as a hair's thickness), at a time. 34.

ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत् ॥
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

Then rock salt and yellow myrobalan (both powdered) should be rubbed in. On the 7th day, it should again be cut a hair's breadth. 35.

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥
षण्मासाद्रसनामूलशिराबंधः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

One should go on doing thus, regularly for six months. At the end of six months, the frænum of the tongue will be completely cut. 36.

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥

Turning the tongue upwards, it is fixed on the three ways (œsophagus, windpipe and palate.) Thus it makes the Khechari Mudrâ, and is called the Vyoma Chakra. 37.

रसना मूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

The Yogî who sits for a minute turning his tongue upwards, is saved from poisons, diseases, death, old age, etc. 38.

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ३९ ॥

He who knows the Khechari Mudrâ is not afflicted with disease, death, sloth, sleep, hunger, thirst, and swooning. 39.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ४० ॥

He who knows the Khechari Mudrâ, is not troubled by diseases, is not stained with karmas, and is not snared by time. 40.

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥

The Siddhas have devised this Khechari Mudrâ from the fact that the mind and the tongue reach âkâśa by its practice. 41.

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याश्लेषितस्यच ॥ ४२ ॥

If the hole behind the palate be stopped with Khechari by turning the tongue upwards, then bindu cannot leave its place even if a woman were embraced. 42.

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४३ ॥

If the Yogî drinks Somarasa (juice) by sitting with the tongue turned backwards and mind concentrated, there is no doubt he conquers death within 15 days. 43.

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ॥
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४४ ॥

If the Yogî, whose body is full of Somarasa (juice), were bitten by Takshaka (snake), its poison cannot permeate his body. 44.

इंधनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ॥
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥ ४५ ॥

As fire is inseparably connected with the wood and light is connected with the wick and oil, so does the soul not leave the body full of nectar exuding from the Soma. 45.

Note.—Soma (Chandra) is described later on located in the thousand-petalled lotus in the human brain, and is the same as is seen on Śivas' head in pictures, and from which a sort of juice exudes. It is the retaining of this exudation which makes one immortal.

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ ४६ ॥

Those who eat the flesh of the cow and drink the immortal liquor daily, are regarded by me men of noble family. Others are but a disgrace to their families. 46.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

Note.—कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् ।
आयते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥
दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्या विवेकवान् ।
भवकोटि शतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥
ब्रह्मवैवर्त्त

Translation : Fortunate are the parents and blessed is the country and the family where a Yogî is born. Anything given to such a Yogî, becomes immortal. One, who discriminates between Puruṣa and Prakṛiti, purges the sins of a million incarnations, by seeing, speaking, and touching such men (*i.e.*, Yogî.)

गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेनच । ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥ ब्रह्मांडे

A Yogî far exceeds a thousand householders, a hundred vânaprasthas, and a thousand Brahmacharîs.

राजयोगस्य महात्म्यं कोविजानातितत्वतः । तज्ज्ञानीवसतेयत्र सदेशोपुण्यभाजनम् ॥
दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुल संयुताः । अज्ञामुक्तिपदंयान्ति किं पुनस्तत्परायणाः ॥
अंतर्योगं बहिर्योगं यो जानातिविशेषतः त्वया मयाप्यसौवंद्यः शेषैर्वंद्यस्तु कापुनः ॥
राजयोग, कूर्मपुराणे

एक कालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेववा । ये युञ्जतेमहायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ॥

Who can know the reality of the Râja Yoga? That country is very sacred where resides a man who knows it. By seeing and honouring him, generations of ignorant men get mokṣa, what to speak of those who are actually engaged in it. He who knows internal and external yoga, deserves adoration from you and me, what if he is adored by the rest of mankind!

Those who engage in the great yoga, once, twice or thrice daily, are to be known as masters of great wealth (maheshwaras) or Lords.

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४७ ॥

The word गो means tongue; eating it is thrusting it in the gullet which destroys great sins. 47.

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ॥
चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४८ ॥

Immortal liquor is the nectar exuding from the moon (Chandra situated on the left side of the space between the eyebrows). It is produced by the fire which is generated by thrusting the tongue. 48.

चुंबंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पंदिनी ॥
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥ ४९ ॥

If the tongue can touch with its end the hole from which falls the rasa (juice) which is saltish, bitter, sour, milky and similar to ghee and

honey, one can drive away disease, destroy old age, can evade an attack of arms, become immortal in eight ways and can attract fairies. 49.

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठाद्धूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन् ॥ उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेन्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥ ५० ॥

He who drinks the clear stream of liquor of the moon (soma) falling from the brain to the sixteen-petalled lotus (in the heart), obtained by means of Prâṇa, by applying the tongue to the hole of the pendant in the palate, and by meditating on the great power (Kuṇḍalinî), becomes free from disease and tender in body, like the stalk of a lotus, and the Yogî lives a very long life. 50.

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं ॥
तस्मिंस्तत्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां ॥
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥ ५१ ॥

On the top of the Merû (vertebral column), concealed in a hole, is the Somarasa (nectar of Chandra); the wise, whose intellect is not overpowered by Raja and Tama guṇas, but in whom Satwa guṇa is predominant, say there is the (universal spirit) âtma in it. It is the source of the down-going Idâ, Pingalâ and Suṣumnâ Nâdîs, which are the Ganges, the Yamuna and the Sarasvati. From that Chandra is shed the essence of the body which causes death of men. It should, therefore, be stopped from shedding. This (Khechari Mudrâ) is a very good instrument for this purpose. There is no other means of achieving this end. 51.

सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतः समन्वितम् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजने ॥ ५२ ॥

This hole is the generator of knowledge and is the source of the five streams (Idâ, Pingalâ, &c.). In that colorless vacuum, Khecharî Mudrâ should be established. 52.

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ॥
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥ ५३ ॥

There is only one seed germinating the whole universe from it; and there is only one Mudrâ, called Khecharî. There is only one deva (god) without any one's support, and there is one condition called Manonmaṇi. 53.

अथोड्डीयानबंधः ॥

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५४ ॥

The Uḍḍiyâna Bandha.

Uḍḍiyâna is so called by the Yogîs, because by its practice the Prâṇa (Vâyu,) flies (flows) in the Suṣumnâ. 54.

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगः ॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥ ५५ ॥

Uḍḍiyâna is so called, because the great bird, Prâna, tied to it, flies without being fatigued. It is explained below. 55.

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ ५६ ॥

The belly above the navel is pressed backwards towards the spine. This Uḍḍiyâna Bandha is like a lion for the elephant of death. 56.

उड्डियानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५७ ॥

Uḍḍiyâna is always very easy, when learnt from a guru. The practiser of this, if old, becomes young again. 57.

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५८ ॥

The portions above and below the navel, should be drawn backwards towards the spine. By practising this for six months one can undoubtedly conquer death. 58.

सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥
उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ५९ ॥

Of all the Bandhas, Uḍḍiyâna is the best; for by binding it firmly liberation comes spontaneously. 59.

अथ मूलबंधः ॥

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६० ॥

The Mûla Bandha.

Pressing Yoni (perineum) with the heel, contract up the anus. By drawing the Apâna thus, Mûla Bandha is made. 60.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः ॥ ६१ ॥

The Apâna, naturally inclining downward, is made to go up by force. This Mûla Bandha is spoken of by Yogîs as done by contracting the anus. 61.

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद् बलात् ॥
वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६२ ॥

Pressing the heel well against the anus, draw up the air by force, again and again till it (air) goes up. 62.

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः ॥ ६३ ॥

Prâṇa, Apâna, Nâda and Bindu uniting into one in this way, give success in Yoga, undoubtedly. 63.

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥ ६४ ॥

By the purification of Prâṇa, and Apâna, urine and excrements decrease. Even an old man becomes young by constantly practising Mûla Bandha. 64.

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमडलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽहता ॥ ६५ ॥

Going up, the Apâna enters the zone of fire, *i.e.*, the stomach. The flame of fire struck by the air is thereby lengthened. 65.

Note.—देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् । त्रिकोणंतु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥
मण्डलं तु पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते । तन्मध्येतु शिखातन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥
याज्ञवल्क्ये—

In the centre of the body is the seat of fire, like heated gold.
In men it is triangular, in quadrupeds square, in birds circular. There is a long thin flame in this fire.
It is gastric fire.

ततो यातो वन्ह्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६६ ॥

These, fire and Apâna, go to the naturally hot Prâṇa, which, becoming inflamed thereby, causes burning sensation in the body. 66.

तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६७ ॥

The Kuṇḍalinî, which has been sleeping all this time, becomes well heated by this means and awakens well. It becomes straight like a serpent, struck dead with a stick. 67.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ६८ ॥

It enters the Brahma Nâdî, just as a serpent enters its hole. Therefore, the Yogî should always practise this Mûla Bandha. 68.

अथ जालंधरबंधः ॥
कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ६९ ॥

The Jâlandhara Bandha.

Contract the throat and press the chin firmly against the chest. This is called Jâlandhara Bandha, which destroys old age and death. 69.

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥ ७० ॥

It stops the opening (hole) of the group of the Nâdîs, through which the juice from the sky (from the Soma or Chandra in the brain) falls down. It is, therefore, called the Jâlandhara Bandha—the destroyer of a host of diseases of the throat. 70.

जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७१ ॥

In Jâlandhara Bandha, the indications of a perfect contraction of throat are, that the nectar does not fall into the fire (the Sûrya situated in the navel), and the air is not disturbed. 71.

कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् ॥ ७२ ॥

The two Nâdîs should be stopped firmly by contracting the throat. This is called the middle circuit or centre (Madhya Chakra), and it stops the 16 âdhâras (*i.e.*, vital parts). 72.

Note.— अंगुष्ठ गुल्फ जानूरु सीवनी लिंगनाभयः । हृद्ग्रीवा कंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा ॥
भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकम् । एतेहि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ॥

The sixteen vital parts mentioned by renowned Yogîs are the (1) thumbs, (2) ankles, (3) knees, (4) thighs, (5) the prepuce, (6) organs of generation, (17) the navel, (8) the heart, (9) the neck, (10) the throat, (11) the palate, (12) the nose, (13) the middle of the eyebrows, (14) the forehead, (15) the head and (16) the Brahma randhra.

मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डीयानं तु कारयेत् ॥
इडां च पिंगलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ७३ ॥

By drawing up the mûlasthâna (anus,) Uḍḍiyâna Bandha should be performed. The flow of the air should be directed to the Suṣumnâ, by closing the Idâ and the Pingalâ. 73.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७४ ॥

The Prâna becomes calm and latent by this means, and thus there is no death, old age, disease, etc. 74.

बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७५ ॥

These three Bandhas are the best of all and have been practised by the masters. Of all the means of success in the Hatha Yoga, they are known to the Yogîs as the chief ones. 75.

यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥ ७६ ॥

The whole of the nectar, possessing divine qualities, which exudes from the Soma (Chandra) is devoured by the Sûrya; and, owing to this, the body becomes old. 76.

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७७ ॥

To remedy this, the opening of the Sûrya is avoided by excellent means. It is to be learnt best by instructions from a guru; but not by even a million discussions. 77.

अथ विपरीतकरणी ॥

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७८ ॥

The Viparîta Karanî.

Above the navel and below the palate respectively, are the Sûrya and the Chandra. The exercise, called the Viparîta Karani, is learnt from the guru's instructions. 78.

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥ ७९ ॥

This exercise increases the appetite; and, therefore, one who practises it, should obtain a good supply of food. If the food be scanty, it will burn him at once. 79.

अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥ ८० ॥

Place the head on the ground and the feet up into the sky, for a second only the first day, and increase this time daily. 80.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ८१ ॥

After six months, the wrinkles and grey hair are not seen. He who practises it daily, even for two hours, conquers death. 81.

अथ वज्रोली ॥

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ८२ ॥

The Vajrolî.

Even if one who lives a wayward life, without observing any rules of Yoga, but performs Vajrolî, deserves success and is a Yogî. 82.

तत्रवस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्य चित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८३ ॥

Two things are necessary for this, and these are difficult to get for the ordinary people—(1) milk and (2) a woman behaving, as desired. 83.

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ॥
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८४ ॥

By practising to draw in the *bindu*, discharged during cohabitation, whether one be a man or a woman, one obtains success in the practice of Vajrolî. 84.

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८५ ॥

By means of a pipe, one should blow air slowly into the passage in the male organ. 85.

नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८६ ॥

By practice, the discharged *bindu* is drawn out. One can draw back and preserve one's own discharged *bindu*. 86.

एवं संरक्षयेद् बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥ ८७ ॥

The Yogî who can protect his *bindu* thus, overcomes death; because death comes by discharging *bindu*, and life is prolonged by its preservation. 87.

सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ।
यावद् बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ८८ ॥

By preserving *bindu*, the body of the Yogî emits a pleasing smell. There is no fear of death, so long as the *bindu* is well-established in the body. 88.

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ८९ ॥

The *bindu* of men is under the control of the mind, and life is dependent on the *bindu*. Hence, mind and *bindu* should be protected by all means. 89.

अथ सहजोलि ॥

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जलेषु भस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९० ॥

The Sahajolî.

Sahajolî and Amarolî are only the different kinds of Vajrolî. Ashes from burnt up cowdung should be mixed with water. 90.

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम् ॥
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ ९१ ॥ -व्यापारयोः

Being free from the exercise of Vajrolî, man and woman should both rub it on their bodies. 91.

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥
अयं शुभकारो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ९२ ॥

This is called Sahajolî, and should be relied on by Yogîs. It does good and gives mokṣa. 92.

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्वदर्शिनाम् ॥
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥ ९३ ॥

This Yoga is achieved by courageous wise men, who are free from sloth, and cannot be accomplished by the slothful. 93. ?

अथामरोली ॥

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा ।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ॥ ९४ ॥

The Amarolî.

In the doctrine of the sect of the Kâpâlikas, the Amarolî is the drinking of the mid stream; leaving the 1st, as it is a mixture of too much bile and the last, which is useless. 94.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ॥
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९५ ॥

He who drinks Amarî, snuffs it daily, and practices Vajrolî, is called practising Amarolî. 95.

अभ्यासान्निःसृतां चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९६ ॥

The *bindu* discharged in the practice of Vajrolî should be mixed with ashes, and the rubbing it on the best parts of the body gives divine sight. 96.

अथ शक्तिचालनं ॥

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ।
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ ९७ ॥

The Śakti châlana.

Kutilângî (crooked-bodied), Kuṇḍalinî, Bhujangî (a she-serpent) Śakti, Iśhwarî, Kundalî, Arundhatî,—all these words are synonymous. 97.

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ ९८ ॥

As a door is opened with a key, so the Yogî opens the door of mukti by opening Kuṇḍalinî by means of Haṭha yoga. 98.

येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥
मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ९९ ॥

The Parameśwarî (Kuṇḍalinî) sleeps, covering the hole of the passage by which one can go to the seat of Brahma which is free from pains. 99.

कंदोर्ध्वं कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ १०० ॥

Kuṇḍalî Sakti sleeps on the bulb, for the purpose of giving mokṣa to Yogîs and bondage to the ignorant. He who knows it, knows Yoga. 100.

कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०१ ॥

Kuṇḍalî is of a bent shape, and has been described to be like a serpent. He who has moved that Śakti is no doubt Mukta (released from bondage). 101.

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ॥
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०१ ॥ २

Youngster Tapaswini (a she-ascetic), lying between the Ganges and the Yamunâ, (Idâ and Pingalâ) should be caught hold of by force, to get the highest position. 102.

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥ १०३ ॥

Idâ is called goddess Ganges, Pingalâ goddess Yamunâ. In the middle of the Idâ and the Pingalâ is the infant widow, Kuṇḍalî. 103.

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ॥
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ १०४ ॥

This sleeping she-serpent should be awakened by catching hold of her tail. By the force of Haṭha, the Śakti leaves her sleep, and starts upwards. 104.

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ॥
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ १०५ ॥

This she-serpent is situated in Mûlâdhâr. She should be caught and moved daily, morning and evening, for ½ a prahar (1½ hours), by filling with air through Pingalâ by the Paridhana method. 105.

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ १०६ ॥

The bulb is above the anus, a vitasti (12 angulas) long, and measures 4 angulas (3 inches) in extent and is soft and white, and appears as if a folded cloth. 106.

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥ १०७ ॥

Keeping the feet in Vajra-âsana (Padma-âsana), hold them firmly with the hands. The position of the bulb then will be near the ankle joint, where it should be pressed. 107.

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ॥
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ १०८ ॥

The Yogî, sitting with Vajra-âsana and having moved Kuṇḍalî, should perfom Bhastrikâ to awaken the Kuṇḍalî soon. 108.

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः ॥
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ १०९ ॥

Bhânu (Sûrya, near the navel) should be contracted (by contracting the navel) which will move the Kuṇḍalî. There is no fear for him who does so, even if he has entered the mouth of death. 109.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ ११० ॥

By moving this, for two muhûrtas, it is drawn up a little by entering the Suṣumnâ (spinal column). 110.

तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम् ॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥ १११ ॥

By this Kuaṇḍlinî leaves the entrance of the Suṣumnâ at once, and the Prâṇa enters it of itself. 111.

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११२ ॥

Therefore, this comfortably sleeping Arundhatî should always be moved ; for by so doing the Yogî gets rid of diseases. 112.

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ ११३ ॥

The Yogî, who has been able to move the Śakti deserves success. It is useless to say more, suffice it to say that he conquers death playfully. 113.

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥ ११४ ॥

The Yogî observing Brahmacharya (continence) and always eating sparingly, gets success within 40 days by practice with the Kuṇḍalinî. 114.

कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ ११५ ॥

After moving the Kuṇḍalî, plenty of Bhastrâ should be performed. By such practice, he has no fear from the god of death. 115.

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥ ११६ ॥

There is no other way, but the practice of the Kuṇḍalî, for washing away the impurities of 72,000 Nâḍîs. 116.

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ ११७ ॥

This middle Nâḍî becomes straight by steady practice of postures; Prâṇâyâma and Mudrâs of Yogîs. 117.

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ ११८ ॥

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

Those whose sleep has decreased by practice and mind has become calm by samâdhi, get beneficial accomplishments by Sâmbhavî and other Mudrâs. 118.

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ ११९ ॥

Without Râja Yoga, this earth, the night, and the Mudrâs, be they howsoever wonderful, do not appear beautiful. 119.

Note.—**Raja Yoga=âsana. Earth=steadiness, calmness. Night=Kumbhaka; cessations of the activity of the Prâṇa, just as King's officials cease moving at night. Hence night means absence of motion, *i.e.*, Kumbhaka.**

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ १२० ॥

All the practices relating to the air should be performed with concentrated mind. A wise man should not allow his mind to wander away.—120.

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ १२१ ॥

These are the Mudrâs, as explained by Âdinâtha (Śiva). Every one of them is the giver of great accomplishments to the practiser. 121.

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ १२२ ॥

He is really the *guru* and to be considered as Îśvara in human form who teaches the Mudrâs as handed down from guru to guru. 122.

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥ १२३ ॥

Engaging in practice, by putting faith in his words, one gets the Siddhis of Animâ, etc., as also evades death. 123.

इति हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

End of chapter III, on the Exposition of the Mudrâs.

NATIONAL ARCHIVES OF INDIA

त्यानंदपदछलेंदु विगलत्धारानिरालंबना ॥ एतस्याःपरतःपरात्परतरं निर्वाणशक्तेः
पदं शैवं शाश्वत ममलं नित्योदितं निःक्रियं ॥ तद्विष्णोः पदमित्युशंति
सुधियः केचित्पदं ब्रह्मणः केचिद्धंसपदं निरंजनपदं केचिन्निरालंबनं ॥ आराध्य
राध्यशक्तिं कमलजनिलयादात्मनासाकमेवस्थानेष्वात्माचसानेष्ववहितहृदय
श्चिंतयित्वाक्रमेण ॥ नीत्वानादावसानंखगकुलमहा पद्मांतरास्थां ध्यायेत्
तन्यनूपामभिलषितफलप्राप्तयेशक्तिमाद्यां ॥ साक्षाररसाभ्रंगगनगतमहापद्म
सद्मस्थेहंसात्पीत्वा दिव्यामृतौघं पुनरपिचविशेन्मध्यदेशं कुलस्य ॥ चक्रंचक्रेक्र
मेणां मृतरसविसरैस्तर्पयेद्देवतास्ता हाकिन्याद्याः समस्ताः कमलजदलगांतर्प
ती यत्कुंडलींतां ॥ अथ षट्कर्माणि हठप्रदीपिकायां ॥ धौतिर्वस्तीचैतथानेतीत्राटकंचैतथा ॥
नौलिकं कपालभातीचैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ॥ कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोध
नकारकं ॥ विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः ॥ अथ धोती ॥ चतुरंगुलविस्ता
रं सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत ॥ पुनः प्रत्याहरेदेतदभ्यासाद्धौतिकर्मवित् ॥ कासश्वासप्लीह
कुष्ठकफरोगास्त्रविंशतिः ॥ धौतीकर्मप्रभावेन प्रयांत्येव न संशयः ॥ अथ वस्ती ॥ नाभिदघ्ने

जले पायुन्यस्तनालोत्कटासनः ॥ आधाराकुंचनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥ गु
ल्मोदरं चापि वातं प्लीहपित्तकफोद्भवान् ॥ बस्तिकर्मप्रभावेन बाध्यंते सकलामयाः ॥
धात्विंद्रियांतःकरणप्रसादं दद्याच्च कांतिं दहनप्रदीप्तं ॥ अशेषदोषोपचयं निहन्या
दभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ॥ अथ नेति ॥ सूत्रं वितस्तिसुस्निग्धं नासानाले प्रवेश
येत् ॥ मुखान्निर्गमयेत्साहि नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ कपालशोधनी चैव दिव्यदृष्टि
प्रदायिनी ॥ जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेरयत्याशु नेतिवित् ॥ अथ त्राटकं ॥ निरीक्षेन्निश्च
लदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाश्रितः ॥ अश्रुपातपर्यंतमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतं ॥ यत्नतस्त्राटकं
गोप्यं यथा हाटकपेटकं ॥ अथ नौलिः ॥ अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्ययोः ॥ नतां
सो भ्रामयेदेषा नौलीयोगे प्रचक्षते ॥ मंदाग्निसंदीपनपाचनादिसंधायिका
नंदकरी तथैव ॥ अशेषदोषामयशोषिणी च हटक्रियामौलिरियं हि नौली ॥ अथ क
पालभाति ॥ भस्त्रावल्लोहकाराणां रेचपूरौ ससंभ्रमौ ॥ कपालभाती विख्याता कफ
दोषविशोषिणी ॥ अथ मुद्राः पवनयोगसंग्रहे ॥ महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च
खेचरी ॥ शक्तिचालो मूलबंधनोड्डियानां ततः परं ॥ जालंधराभिधो बंधो विपरीत

शतीस्तथेति॥हठप्रदीपिकायां॥शैलसैलवणधात्रीणां यथाधारोहिनायकः॥सर्वेषां
योगतंत्राणां तथाधारोहिकुंडली॥सुप्ता गुरुप्रसादेन बोधितासुखदा भवेत्॥त
थासर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोपि च॥प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते॥त
थाचित्तं निरालंबं तथाकालस्य वंचनं॥तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीं॥ब्र
ह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासपरो भवेत्॥महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी॥उ
ड्डियानं मूलबंधो बंधो जालंधराभिधः॥करणी विपरीताख्या तथा वै शक्तिचालनं॥
एतत्त्रिमुद्रानवकं जरामरणवर्जितं॥आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं॥वल्ल
भं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि॥गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकं॥कस्यचि
न्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा॥अथ महामुद्रा॥स्कंदपुराणे॥शोधनं नाडिजालस्य
घाटनं चंद्रसूर्ययोः॥रसानां शोधनं सम्यक् महामुद्राभिधीयते॥ईश्वरप्रोक्ते॥
महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तंत्रेस्मिन्मम वल्लभां॥यां प्राप्य सिद्धकाः सिद्धिं कपिलाद्याः
पुरागताः॥अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरं गुरू॥पदेशातो योनिं गुदमेढ्रांतरा
लगां॥सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन तु॥नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयो

त्य
परि॥चित्तं च चतुःपथे दत्वा प्रारभेद्वायुधारणं॥महामुद्रा भवेन्नूनमेषा सर्वतंत्रेषु गोपिता॥
वामांगेन समाभ्यस्य दक्षांगेनाभ्यसेत्पुनः॥प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमा
नसः॥मुद्रामेनां तु संप्राप्य गुरुवक्त्रात्सुगोपितां॥अनेन विधिना योगी मंदभाग्योपि
सिध्यति॥सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिंदुधारणं॥जारणं तु कषायस्य पातकानां वि
नाशनं॥सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनं॥वपुषः कांतिममलां जरामृत्युविनाशनं॥
वांछितार्थफलं सौख्यमिंद्रियाणां च मारणं॥एतान्युक्तानि सर्वाणि रूढस्य योगिभिः॥
भवेदभ्यासतश्चैतन्नात्र कार्या विचारणा॥गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिता॥यां
तु प्राप्य भवांभोधेः पारं गच्छंति योगिनः॥मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता॥
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित्॥इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रशस्यते॥
महाक्लेशादयो दोषा जीर्यंते मरणादयः॥महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमा॥
इति॥हठप्रदीपिकायां॥यथा दंडाहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते॥ऋज्वीभूता महा
शक्तिः कुंडली सहजा भवेत्॥पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणं॥पादं प्रसारि
तं धृत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखं॥कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः॥तथा सोमरण

Dr. BHAU DAJI MEMORIAL

वस्थां हरते त्रिपटाश्रयां ॥ नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वोपि नीरसाः ॥ अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्य्यति ॥ क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्मप्लीहपुरोगमाः ॥ तस्याद्दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां च योभ्यसेत् ॥ महाबंधः ईश्वरप्रोक्ते ॥ योस्यां प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि ॥ गुदयोनी समाकुंचनीत्वापातानमूर्ध्वगं ॥ योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखं ॥ बंधयेदूर्ध्वगत्यर्थमपानप्राणयोः सुधीः ॥ कथितोयं महाबंधः सिद्धिमार्गप्रदायकः ॥ नाडीगलद्रसव्यूहमूर्ध्वं नयंति योगिनः ॥ उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यां मेकैकं सुप्रयत्नतः ॥ मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥ राजदंतद्वयं तत्र जिव्हया तं भयेदिति ॥ भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामध्यसंगतः ॥ अनेन वपुषः कांतिर्दृढबद्धोस्थिपंजरः ॥ संपूर्णहृदयो योगी भवत्येतानि योगिनः ॥ बंधनानेन योगींद्रः साधयेत्सर्वमीप्सितं ॥ अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेषु वे ॥ हठप्रदीपिकायां ॥ पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥ वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ पूरयित्वा मुखे वायुं हृदये चुबुकं तथा ॥ निःपीड्य योनिमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ रेचयेच्छनैरेवं महाबंधोयमुच्यते ॥ अयं खलु म

त्न

हाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥ कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥ अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगमनरोधकः ॥ त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ अथ महावेधः ॥ रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥ महामुद्रामहाबंधौ निःफलौ वेधवर्जितौ ॥ महाबंधे स्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधा ॥ वायुनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥ समहस्तयुगो भूमौ स्फिजौ संताडयेच्छनैः ॥ पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ सोमसूर्याग्निसंधानं जायते चामृताय ते ॥ मृतावस्था समुत्पन्नं ततो मृत्युभयं कुतः ॥ महावेधोयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥ वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनं ॥ वन्हिवृद्धिकरं चैव अणिमादिगुणप्रदं ॥ अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥ पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥ सम्यक् शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधने ॥ ईश्वरप्रोक्ते ॥ महाबंधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना ॥ स्फिजौ संताडयेद्विद्वान् वेधोयं कीर्तितो मया ॥ वेधानानेन संविध्य वायुना योगिपुंगवः ॥ ग्रंथीन् सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मरंध्रं भिनत्त्यसौ ॥ यः करोति सदाभ्यासं महाबंधं सुगोपितं ॥ वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामृत्युविनाशनं ॥ चक्रमध्ये स्थि

व

द्वि

तादेवाः कंपंतेवायुताडनात्॥ कुंडल्यपिमहामयाकैलासांशाविलीयते॥ तस्माद्योगी
प्रयत्नेनकरोतित्रितयंक्रमात्॥ एतत्त्रयंप्रयत्नेनचतुर्वारंकरोतियः॥ षण्मासाभ्यं
तरेमृत्युंजयत्येवनसंशयः॥ एतत्त्रयस्यमाहात्म्यंसिद्धोजानातिनेतरः॥ यत्ज्ञा
त्वासिद्धयःसर्वसिद्धाख्यांलेभिरेचिरं॥ गोपनीयंप्रयत्नेनसाधनंसिद्धिमिछता॥
अन्यथाचेनसिद्धिःस्यान्मुद्राणामेषनिर्णयइति॥ अथखेचरीयोगबीजे॥ वित
स्तिप्रमितंदीर्घंविस्तारेचतुरंगुलं॥ मृदुलंधवलंप्रोक्तंवेष्टनाधारलक्षणमिति॥
हठप्रदीपिकायां॥ छेदनंचालनंदोहैर्जिह्वांसंवर्धयेत्तावत्॥ यावदियंभ्रूमध्यंस्पृ
शतितदाखेचरी॥ सिद्धिःकलांपराङ्मुखींकृत्वात्रिपथंपरिवर्तयेत्॥ साभवेत्खे
चरीमुद्राव्योमचक्रंतदुच्यते॥ रसनामूर्ध्वगंकृत्वाक्षणार्धंयदितिष्ठति॥ विषयै
र्मुच्यतेयोगीव्याधिमृत्युजरादिभिः॥ खेचर्यामुद्रितंयेनविवरंलंबिकोर्ध्वतः॥ तस्य
नक्षरतेबिंदुःकामिन्यालिंगितस्यच॥ चलितोपियदाबिंदुःसंप्राप्तश्चहुताशनं॥
व्रजत्यूर्ध्वंहृतःशक्त्यानिरुद्धोयोनिमुद्रया॥ संपातनविधौबिंदुःपांडुरोलोहित
स्तथा॥ पांडुरंशुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यंमहारजः॥ सिंदूरसंनिभंबीजंरविस्थानेस्थि

तंरजः॥ शशिस्थानेनवोबिंदुस्तयोरैक्यंसुदुर्लभं॥ बिंदुःशिवोरजःशक्तिःबिंदुरिंदु
रजोरविः॥ यौतिबिंदोस्सहैकत्वंभवेद्दिव्यंवपुस्तदा॥ शुक्लंचंद्रेणसंयुक्तंरजःसूर्ये
णासंवृतं॥ तयोःसमरसैकत्वंयोजानातिसयोगवित्॥ चित्तायत्तंनृणांशुक्लंशु
क्लायत्तंचजीवितं॥ तस्माच्चित्तंचशुक्लंचरक्षणीयंप्रयत्नतः॥ पातालायद्धियंतिशि
खरेमेरुमूलेतदस्तितत्॥ त्वंचैतत्प्रवदतिसुधीस्संमुखंनिम्नगानां॥ चंद्रात्सारःस्र
वणिवपुषस्तेनमृत्युर्नराणांबध्नीयात्स्वकरणमुदानान्यथाकायसिद्धिः॥ इंध
नानियथावन्हिस्तैलवर्तीचदीपकः॥ तापुर्णदेहिहंदेनमुंचतिरसनांवेशयेदूर्ध्वेपि
बेत्तच्चाचितंजलं गोमांसंभक्षयेन्नित्यंपिबेदमरवारुणीं॥ कुलीनंतमहंमन्येचेतरा
न्कुलघातकान्॥ गोशब्देनोदिताजिह्वातत्प्रवेशोहितालुनि॥ गोमांसभक्षणंतत्तु
महापातकनाशनं॥ जिह्वाप्रवेशसंभूतवन्हिनोत्पादितःखलु॥ चंद्रात्स्रवतियःसा
रःस्यादमरवारुणी॥ एकंसृष्टिमयंबीजमेकामुद्राचखेचरी॥ एकोदेवोनिराल
ंब एकावस्थामनोन्मनी॥ नासनंसिद्धसदृशंनकुंभःकेवलोपमः॥ नखेचरीस
मामुद्रानन्नादसदृशोलयः॥ मूर्ध्निषोडशपत्रगलितंप्राणादवाप्तंहठादूर्ध्वास्योर

सनानियम्यविवरेत्रात्किंपरंचिंतयन्॥ तत्कल्लोलकलाजलंचविमलंचयःपिबेन्निर्दे
षिःसमृणालकोमलतनुर्योगीचिरंजीवति॥ चुंबंतीयदिलंबिकाग्रमनिशं
जिह्वारसस्यंदिनीसक्षाराकटुकाम्लदुग्धसदृशंमध्वाज्यतुल्यंयदा॥ व्याधीनां
हरणंजरांतकरणंशास्त्रागमोद्धारणंतस्यास्यादिहसिद्धिरष्टगुणितासिद्धां
गनाकर्षणं। स्कंदपुराणे॥ कपालकुहरेजिह्वाप्रविष्टाविपरीतगा॥ भ्रुवोरंतर्गतादृ
ष्टिर्मुद्राभवतिखेचरी॥ चित्तंचरतिखेयस्माज्जिह्वाचरतिखेगता॥ तेनैषाखेच
रीमुद्रासिद्धैर्निषेविता॥ यावद्बद्धानभोमुद्रातावद्बिंदुर्नगच्छति॥ यावद्बिंदुः
स्थिरोदेहेतावत्कालभयंकुतः॥ पीड्यतेनसरोगेणनवालिप्यतकर्मणा॥ बाध्य
तेनसकालेनयोमुद्रांवेत्तिखेचरीं॥ रसनातालुविवरेनिधायोर्ध्वमुखामृतं॥ पि
बन्निर्जरतांगच्छेत्षण्मासान्नात्रसंशयः॥ ऊर्ध्वजिह्वःस्थिरोभूत्वासोमपानंकरो
तियः॥ मासार्धेननसंदेहोमृत्युंजयतियोगवित्॥ संपीड्यरसनाग्रेणराजदंतबि
लंमहत्॥ ध्यात्वामृतमयींदेवींषण्मासेनकविर्भवेत्॥ अमृतापूर्णदेहस्ययोगि
नोद्वित्रिवत्सरात्॥ ऊर्ध्वंप्रवर्ततेरेतोह्यणिमादिगुणोदयं॥ नित्यंसोमकलापू

र्णंशरीरंयस्ययोगिनः॥ तक्षकेनापिदष्टस्यविषंतंनचसर्पति॥ तिदत्तात्रेयः॥ अंतः
कपालविवरेजिह्वांव्यावृत्यचार्पयेत्॥ भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषामुद्राभवतिखेचरी॥ न
रोगोमरणंतस्यननिद्रानक्षुधातृषा॥ नचमूर्छाभवेत्तस्ययोमुद्रांवेत्तिखेचरी मि
ति॥ ईश्वरप्रोक्ते॥ लंबिकोर्ध्वस्थितेगर्तेरसनांविपरीतगां॥ संयोजयत्प्रयत्नेनसु
धाकूपविचक्षणः॥ मुद्रैषाखेचरीप्रोक्तानामनुराघवतः॥ निरंतरकृताभ्यासःपीयु
षंप्रत्यहंपिबेत्॥ तेनविग्रहसिद्धिःस्यान्मृत्युमातंगकेसरी॥ मुद्रैषाखेचरीयस्य
सुस्थितास्यादतंद्रिता॥ रातांब्रह्मगतेनापिक्षणार्धंमृत्युतेहिस॥ इति॥ अथमूल
बंधः॥ पादमूलेनसंपीड्यगुदमासुयंत्रितं॥ बलादपानमाकृष्यक्रमादूर्ध्वंसमभ्यसेत्॥
कथितोयंमूलबंधोजरामरणनाशनः॥ अपानप्राणयोरैक्यंक्षयोमूत्रपुरीषयोः॥ बं
धनाननसुतरांयोनिमुद्राप्रसिध्यति॥ सिद्धायांयोनिमुद्रायांकिंनसिध्यतिभूत
ले॥ बंधस्यास्यप्रसादेनगगनेविजितानिलः॥ पद्मासनस्थितोयोगिभुवमुत्सृज्य
वर्तते॥ सुगुप्तेनिर्जनेदेशेबंधमेनंसमभ्यसेत्॥ संसारसागरंतर्तुंयदीछेद्योगिपुंगव॥
हठप्रदीपिकायां॥ पार्ष्णिभागेनसंपीड्ययोनिमाकुंचयेद्गुदं॥ अपानमूर्ध्वमाकृष्य

यो॰चिं॰
२१
प्रा
ले

८१५

मूलबंधोयमुच्यते॥आधोगतमपानंच तदूर्ध्वंकुरुतेहठात्॥आकुंचनेनतंप्राहुर्मूल
बंधौतुयोगिनः॥योगर्वजिगुदंयाष्ण्यातुसंपीड्यवायुमाकुंचयमुद्दलात्॥वारंवारंते
थाचोर्ध्वंसभायातिसमीरणः॥प्राणापानौनादबिंदूमूलबंधेनचेकतां॥गत्वायो
गस्यसंसिध्दिंगछतानात्रसंशयः॥अपानेचोर्ध्वगेजातेसंप्राप्तेवन्हिमंडले॥तथा
नलशिखादीर्घावर्धतेवायुनाहता॥ततोयातौवन्ह्यपानौप्राणमुष्णस्वरूपकौ॥
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तुज्वलनोदेहजस्तथा॥तेनकुंडलिनीसुप्तासंततसंप्रबोध्यते॥
दंडाहतभुजंगीवनिश्वितंऋजुतांव्रजेत्॥बिलंप्रविष्टेवतथाब्रह्मनाड्यंतरंव्रजेत्॥
तस्मान्नित्यंमूलबंधःकर्तव्योयोगिपुंगवैः॥उड्डीयानवीजंबंधोयेनसुषुम्नायांप्रा
णस्तूड्डियतेयतः तस्मादुड्डीयनाख्यायंयोगिभिःसमुदाहृतः उड्डियानंकुरुतेय
स्माद्विश्रांतंमहाखगः॥उड्डीयानंतदेवस्यान्मूलबंधाभिधीयते॥उदरेपश्चिम
मंतानंनाभेरूर्ध्वंसमाचरेत्॥उड्डीयानोह्यसौबंधोमृत्युमातंगकेसरी॥उड्डीया
नंतुसहजंगुरुणाकथितंयथा॥अभ्यसेत्सततंयस्तुवृद्धोपितरुणायते॥नाभेरूर्ध्वम
धोचापितानंकुर्यात्प्रयत्नतः॥षण्मासात्मृत्युंजयत्येवनसंशयः॥हठप्रदीपिका

द्वि॰प॰
२

DR. BHAU DAJI MEMORIAL

यां॥सतिवज्रासनेपादौकराभ्यांधारयेद्दृढं॥गुल्फदेशसमीपेचकंदंतत्रपीडयेत्॥
पश्चिमंतानमुदरेकारयच्चुबुकंहृदी॥शनैःशनैर्यथाप्राणस्तुंदसिध्दिंनगच्छति॥स
र्वेषामेवबंधानांह्युडियात्मकः॥उड्डियानेदृढेबंधेमूलस्वाभाविकोभवेत्॥इति॥
ईश्वरप्रोक्ते॥नाभेरूर्ध्वमधश्चापितानंसमाचरेत्॥उड्डियानोबंधएषसर्वदुःखौ
घनाशनः॥नित्यंयःकुरुतेयोगिचतुर्वारंदिनेदिने॥तस्यनाभेर्विशुधिःस्यात्येन
सिध्योभवेन्मरुत्॥षण्मासमभ्यसन्योगीमृत्युंजयतितत्ववित्॥तस्योदराग्नि
र्ज्वलतिरसवृध्दिश्चजायते॥अनेनसुतरांसिध्दिर्विग्रहस्यप्रजायते॥रोगाणांसं
क्षयश्चापियोगिनोभवतिध्रुवं॥गुरोर्लब्ध्वाप्रयत्नेनसाधयेत्तुविचक्षणः॥निर्ज
नेसुस्थितेदेशेबंधंपरमदुर्लभमिति॥अथ जालंदरः॥बध्वागलशिराजालंहृदयेचु
बुकंन्यसेत्॥बंधोजालंदरःप्रोक्तोदेवानामपिदुर्लभः॥नाभिस्थवन्हिर्जंतूनांस
हस्रकमलच्युतं॥पिबेत्पीयूषसेरेव तदर्थंबंधयोदिमं॥बंधेनानेनपीयूषंस्व
यंपिबतिबुधिमान्॥अमरत्वंचसंप्राप्यमोदतेभुवनत्रये॥जालंधरोबंधएष
सिध्दानांसिध्दिदायकः॥अभ्यासःक्रियते नित्यंयोगिनासिध्दिमिछते तियोगबीजे॥

कंठमाकुंचहृदयेस्थापयेद्दृढमिछता॥बंधोजालंधरोख्योयममृताव्ययकारकइ
ति॥हठप्रदीपिकायां॥बध्नातिहिशिराजालमधोगामिनभोजलं॥ततोजालंधरो
बंधःकंठदुःखौघनाशनः॥जालंधरेकृतेबंधेकंठसंकोचलक्षणे॥नपीयूषंपतत्य
ग्नौनचवायुःप्रकुप्यति॥मध्यचक्रमिदंज्ञेयंषोडशाधारबंधनं॥बंधत्रयमिदंश्रे
ष्ठंमहासिध्यनिषेवितं॥सर्वेषांहठतंत्राणांसाधनंयोगिनोविदुरिति॥अथविपरी
तकरणी॥हठयोगे॥नाभिदेशेस्थितोनित्यंभास्करोदहनात्मकः॥अमृतात्मा
स्थितोनित्यंतालुमध्येचचंद्रमाः॥वर्षत्यधोमुखश्चंद्रोग्रसत्यूर्ध्वमुखोरविः॥
करणंतच्चकर्तव्यंयेनसाप्राप्यतेसुधा॥विशुध्धेपरमेचक्रेरुध्वासोमकलांमृत॥
तन्मार्गेस्थितंयातिवंचयित्वामुखंरवेः॥बध्यंसोमकलाजालंचविमलंकंठस्थतदूर्
ध्वंतोनासांतशिखरेणयातिगगनंद्वारंततःसर्वतः॥कूर्ध्वस्थोभविसंनितरामुत्ता
नपादःपिबेदेवंयःकुरुतेजितेंद्रियचयोनैवास्तितस्यक्षयः॥अमृतंकंदरेकृत्वाना
सांतंशिखरेक्रमात्॥स्वयमुच्चालितंयातिवंचयित्वामुखंरवेः॥हठप्रदीपिकायां॥
यत्किंचित्स्रवतेचंद्रादमृतंदिव्यरूपिच॥तत्सर्वंग्रसतेसूर्यस्तेनपिंडंविनाशिच॥

२८

तत्रास्तिकरणंदिव्यंसूर्यस्यमुखबंधनं॥शास्त्रार्थकोटिभिःकूर्ध्वनाभिरधःस्तालु
रूर्ध्वंभानुरधःशशी॥करणीविपरीताख्यासर्वव्याधिविनाशिनी॥दत्तात्रेयः॥ऊर्ध्वं
भानुरधश्चंद्रस्तद्यथाश्रुणुसांकृते॥अधःशिराश्चोर्ध्वपादःक्षणंस्यात्प्रथमेदि
ने॥क्षणाच्चकिंचिदधिकमभ्यसेच्चदिनेदिने॥वलिश्चपलितंचैवषण्मासार्धेनदृ
श्यते॥याममात्रंतुयोनित्यमभ्यसेत्सतुकालजित्॥नित्यमभ्यासयुक्तस्याजठरा
ग्निविवर्धनं॥अंशोबहुलस्तस्यसंपाद्यःसांकृतध्रुवं॥अल्पाहारोयदिभवेदग्निर्दहे
करोतिवै॥अथशक्तिचालनं॥ईश्वरप्रक्ते॥अधारकमलेसुप्तांचालयेत्कुंडलींदृढां॥
अपानवायुनाकृष्यबलादाकुंचबुध्धिमान्॥शक्तिचालनमेवंहिप्रत्यहंयःसमभ्य
सेत्॥अग्निवृध्धिर्भवेत्तस्यरोगाणांचविनाशनं॥विहायनिद्रांभुजगीस्वयमूर्ध्वे
भवेत्खलु॥तस्मादभ्यसनंकार्यंयोगिनासिधिमिछता॥यःकरोतिसदाभ्यासंश
क्तिचालनमुत्तमं॥येनविग्रहसिध्धिःस्यादणिमादिगुणप्रदा॥गुरूपदेशविधि
नातस्यमृत्युभयंकुतः॥मुहूर्तद्वयपर्यंतंविधिनाशक्तिचालनं॥यैनैवज्रासनगतो
नित्यंमासार्धंतुसमभ्यसेत्॥वायुनाज्वलितोवन्हिःकुंडलींदहतेनिशं॥संतप्तासा

यो॰चिं॰ ह्रिं॰प॰

२९ २

दीना

ग्निनाडीचशक्तिः स्त्रैलोक्यमोहिनी॥ विशत्तवक्त्रतुंडेनसुषुम्णावदनांतरे॥ वायु
नावन्हिंसार्धंब्रह्मग्रंथींविभिद्यसा॥ विष्णुग्रंथिंततो भित्वारुद्रग्रंथौचतित
ततस्तुकुंभकैर्गाढंपूरयित्वापुनःपुनः॥ भिद्यंतेग्रंथयोवंशेतप्तलोहशलाकया॥ त
थैवपृष्ठवंशस्याद्ग्रंथिभेदस्तुवायुना॥ पिपीलिकायथालग्नाकंडूस्तत्रप्रवर्त्तते॥ सु
षुम्णायांतथाभ्यासात्सततंवायुनाभवत्॥ रुद्रग्रंथिंततो भित्वाततयोतौ गौर्ध्वाद्वार्येत्कुवारं
तुयथाकुंचिकयाहठात्॥ कुंडलिन्यातथायोगीमोक्षद्वारंविभेदयेत्॥ येनद्वारेण
गंतव्यंब्रह्मस्थानंनिरामयं॥ मुखेनाछाद्यद्वारंप्रसुप्तापरमेश्वरी॥ कंदोर्ध्वेकुंड
लीशक्तिःसुप्तामोक्षाययोगिनां॥ बंधनायचमूढानांयस्तांवेत्तिसयोगवित्॥ अं
भोधिशैलद्वीपानामाधारः शेषकुंडली॥ अशेषयोगतंत्राणामाधारः कुंडलीमता॥
कुंडल्यंगीकुंडलिनीभुजंगीशक्तिरीश्वरी॥ कुंटिलारुंधतीदेवीशद्वाःपर्यायवाचकाः॥
कुंडलीकुटिलाकारासर्पवत्परिकीर्तिता॥ साशक्तिश्चालितायेनसमुक्तोनात्रसंशयः॥
गंगायमुनयोर्मध्येबालरंडीतपस्विनी॥ बलात्कारेणगृण्हीयात्तद्विष्णोःपरमंपदं॥
पुच्छंप्रगृह्यभुजगींसुप्तामुद्बोधयेदम्बिं॥ निद्रांविहायसाशक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठतेहठात्॥

नी

त

२९ या

परिस्थिताचैवफणावतीसाप्रातश्चसायंप्रहरार्धमात्रं॥ प्रपूर्य्यसौर्यापरिधानयु
क्ताप्रगृह्यनित्यंपरिचालितासा॥ वज्रासनस्थितोयोगीचालयित्वातुकुंडलीं॥
सूर्यादनंतरोभस्त्राकुंडलीमाशुबोधयेत्॥ भानोराकुंचनीकुर्यात्कुंडलींचालये
ततः॥ मृत्युवक्त्रगतस्यापितस्यमृत्युभयंकुतः॥ नासादक्षिणमार्गवाहिपवनो
प्राणातिदीर्घीकृतश्चंद्राभःपरिपूरितामृततनुःप्राग्घंटिकायास्ततः॥ भिंदन्काल
विनालवन्हिवशगान्ब्रह्मरंध्रनाडीगणांस्तंकायंकुरुतेपुनर्नवतरंजीर्णाद्रुमःस्कं
धवत्॥ कुंडलींचालयित्वातुकुर्य्याद्भस्त्रांविशेषतः॥ एवमभ्यासतोनित्यंयमिनः
संकतेयमः॥ तदाभ्यसेत्सूर्यभेदमुज्जायींचापिशीतलीं॥ एवमभ्यासक्तस्ययमस्तु
यमिनःकुतः॥ मुहूर्तद्वयपर्यंतंनिर्भरंचालनंत्विवे॥ ब्रह्मचर्यरतस्यैवमिताशिनः॥
मंडलाद्दृश्यतेसिद्धिःकुंडलाभ्यासयोगिनः॥ द्विसप्ततिसहस्राणांनाडीनांमलशो
धनं॥ कुतःप्रक्षालनोपायःकुंडल्यभ्यासतोविना॥ अत्रशक्तिचालनेपद्मासनमे
वद्रष्टव्यं॥ नवज्रासनमनुभवविरोधात् तथाचग्रंथांतरे॥ कृत्वासंपुटितौकरौदृढ
तरंबध्वाचपद्मासनंगाढंवक्षसिसंनिधायचिबुकंध्यानंचतच्चेतसि॥ वारंवा

नी

द्रं

यु

मा

त्रि

रमपानमूर्ध्वमनिलंप्रोत्सारयेत्पूरयेत्प्राणंमुंचतिबोधमेतिनियतंशक्तिःप्रबोधो
दयात्॥इतिमुद्रानवप्रोक्ताआदिनाथेनशंभुना॥एकैकातासुयमिनांमहासिद्धिप्र
दायिनी॥दत्तात्रेयः॥अभ्यासभेदतोभेदःफलंतुसममेवहि॥महामुद्रांसमभ्यस्य
महाबंधंततःपरं॥महावेधंचनियतंप्रकुर्याच्छक्तिचालनं॥आसनंसुदृढंबध्वामूल
बंधंविधायच॥उड्डियानंतथाबंधंततोजालंधराभिधं॥अभ्यसेदितिसंबंधःहठ
प्रदीपिकायां॥मूलस्थानंसंकृष्यउड्डीयानंतुकारयेत्॥इडांचपिंगलांबाहयेत्पश्चि
मपथि॥अनेनैवविधानेनसेवयेत्पवनाम्लयं॥ततोनजायतेमृत्युर्जरारोगादिकं
तथेति॥योगबीजे॥चतुर्णामपिभेदानांकुंभकेसमुपस्थिते॥बंधत्रयमिदंकार्यं
वक्ष्यमाणंमयास्फुटं॥पूरकांतेतुकर्त्तव्योबंधोजालंधराभिधः॥कुंभकांतेरेचकादौ
कर्तव्यस्तुड्डियानकः॥अधस्तात्कुंचनेनाशुकंठसंकोचनेनच॥मध्येपश्चिमतानेन
स्यात्प्राणोब्रह्मनाडिगः॥अपानमूर्ध्वमुत्थाप्यप्राणंकंठादधोनयन्॥योगीजरा
विमुक्तोयंवयसाषोडशोभवेत्॥उड्डियानस्यसाहक्तिकत्वात्कुंभकदशायांकर्तव्यः॥
अत्रकेचित्॥यद्यपिकपिलादिस्थानामिवमहामुद्रादयःसंमतानयाज्ञवल्क्यादिमु

त्रि

निनांतथापिसाधारणेनबोधव्याइत्याहुः तन्नुतद्ग्रंथार्थावबोधविधुरत्वाद्धि॥नादोत्प
त्तिप्रकरणेअपानमूर्ध्वमाकृष्यप्रणवेनसमाहित इत्यत्रमूलबंधः कंठतएवोक्तः तदु
त्थाचतत्संबंधिनावुड्डियानजालंधरावपिप्राप्तौ॥एकसमयावच्छेदेनत्रयाणामनु
ष्ठानस्यपूर्वंदर्शितत्वात् किंचजिह्वयावायुमानीयजिह्वामूलेनिरोधयेत्॥यःपिबेदमृ
तंविद्वान्सकलंभद्रमश्नुते॥इत्यत्रखेचरींविनामृतपानानुपपत्तेःस्पष्टत्वात्॥तस्मात्संति
याज्ञवल्क्यादीनामपिमुद्राअभिप्रेताःप्रतिपादनंतुग्रंथांतरप्रसिद्धत्वाद्विशेषेणात्र
नकृतमित्यवधेयं॥इदानींपूर्वोक्तबाह्याभ्यंतरसाधनसंपन्नस्याधारमुद्राचक्रादिज्ञानव
तःमुमुक्षोःचित्तशुद्धिद्वारामोक्षसाधनीभूततत्वज्ञानोपयोगीनियोगांगानिनिरूप्यंते
तथाचपातंजलेयोगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षयेज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेरिति॥वक्ष्यम
णानांयोगांगानामनुष्ठानादाविवेकख्यातेरशुद्धिक्षये चित्तसत्वस्यप्रकाशावरणक्लेश
ख्यायाअशुद्धेर्निवृत्तौसत्यांभवतिज्ञानदीप्तिःसात्विकःपरिणामोविवेकख्यातिपर्यं
तः सतस्याविवेकख्यातेर्हेतुरित्यर्थः॥योगांगोद्देशपरंचसूत्रं॥यमनियमासनप्रा
णायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टावंगानीतियाज्ञवल्क्यः॥वक्ष्याम्यंगानि

Dr. BHAU DAJI MEMORIAL

MEMORIAL

रंविदुः ३६ जंघोरुभ्यां धरां पीड्य स्थिरकायो द्विजानुना जानूपरि करयुग्मं गरुडासन
मुच्यते ३७ याम्यगुल्फे पादमूलं वामपादे तथेपादेतरम् विपरीतः स्पृशेद्भूमिं वृषाभा
सनमिदं भवेत् ३८ अधास्यशेते पदयुग्मं वद्धे भूमिमवष्टभ्य करयोर्तलाभ्यां पादो
च शून्ये च चितन्ति वोर्द्धं वदन्ति पीठं शलभं मुनीन्द्राः ३९ अधास्यशेते हृदयं निधा
य भूमौ च पादौ च प्रसार्यमानौ शिरश्चात्तिवाग्रं करदंडयुग्मं देहाग्निकारं मकरा
सनं सतत् ४० अधास्यशेते पदयुग्मव्यस्तः पृष्ठे निधायापि धृतं कराभ्यां आकुंच
येत्सम्यगुदस्यमागाढं उष्ट्रं च पीठं योगिनो वदन्ति ४१ अंगुष्ठनाभिपर्यन्तमधो भूमौ
च विन्यसेत् करतलाभ्यां धरां धृत्वा ऊर्ध्वशीर्षः फणीव हि ४२ देहाग्निर्वर्द्धते नि
त्यं सर्वरोगं च नाशनम् जागर्ति भुजंगी देवी साधनाद्भुजंगासनम् ४३ उत्तानौ
चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मम्
४४ पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत् योगासनं भवेदेतत् योगिनां योग

साधने ४५ इति घेरंडसंहितायां घेरंडचंड-संवादे घटस्थयोगे आसनप्रयोगो नाम द्वि
तीयोपदेशः २ घेरंड उवाच महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलंधरं मूलबन्धमहा
बन्धं महावेधश्च खेचरी १ विपरीतकरणी योनी वज्रोली शक्तिचालनी तडागी
मांडुकीमुद्रा शांभवी पञ्चधारणी २ अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी
पंचविंशतिमुद्राणि सिद्धिदानीह योगिनाम् ३ पायुमूले वामगुल्फं संपीड्य दृढ
यत्नतः याम्यपादं प्रसार्याथ करधृतपदांगुलिः ४ कंठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवो
र्मध्ये निरीक्षयेत् पूरकैर्वायुं संपूर्य महामुद्रा निगद्यते ५ वलितं पलितं चापि ज
रां मृत्युं निवारयेत् क्षयः कासं गुदावर्तं प्लीहाजीर्णं ज्वरं तथा ६ नाशयेत्सर्वरो
गांश्च महामुद्राभिसेवनात् यत्र तत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ७ ऊर्ध्वजि
ह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशनी ८
उड्डीयानं कुरुते यद्द्वद विश्रान्तं महाखगः उड्डीयानं त्वसौ च धो मृत्युमातंगकेश

घे॰ सं॰ शारी ९ कंठसंकोचनंकृत्वाचिवुकंहृदयेन्यसेत् जलंधरंकृतेवंधेषोडशाधार

७ वंधनम १० जलंधरमहामुद्रामृत्युक्षयंकारिणी पार्ष्णिंवामेनपादेनयोनिमा
कुंचयेत्ततः ११ नाभिग्रंथिंमेरुदंडेसंपीड्ययत्नतःसुधीः मेढ्रंदक्षिणगुल्फेन
दृढवद्धंसमाचनाभेरुर्द्धमधश्चापितानाणंकुर्यात्प्रयत्नतः १२ जराविनाशिनी
मुद्रामूलवंधोनिगद्यते वामपादस्यगुल्फेनपायुमूलंनिरोधयेत् १३ दक्षपा
देनतद्गुल्फंसंपीड्ययत्नतःसुधीः शनैःशनैश्चालयेत्पार्ष्णिंयोनिमाकुंचयेच्छ
नैः १४ जलंधरेधार्यात्प्राणांमहावंधोनिगद्यते रूपयौवनलावण्यंनारीणांपुरुष
विना १५ मूलवंधमहावंधंमहावेधंविनातथा महावंधंसमासाद्यउड्डानि
कुम्भकंचरेत् १६ महावेधसमाख्यातोयोगिनांसिद्धिकारकः जिह्वाधोनाडी
संछित्वा रसनांचालयेत्सदा १७ दोहयेन्नवनीतेनलोहयंत्रेणकर्षयेत् ऊर्द्धं
दृष्टिंभ्रुवोरंतेनांमुद्रांवेत्तिखेचरीं १८ कपालकुहरेजिह्वाप्रविष्टाविपरीतगा

भ्रुवोर्मध्येगतादृष्टिर्मुद्राभवतिखेचरी १९ नचमूर्छाक्षुधातृषानैवालस्यःप्रजायते
नचरोगोजरामृत्युर्देवदेहंप्रपद्यते २० नचाग्निर्दहतेगात्रंनशोषयतिमारुतः नदे
हंक्लेदयंत्यापोदंशयेन्नभुजंगमः २१ दशदंचवेद्गात्रेसमाधिर्जायतेध्रुवम् कपाल
वक्त्रसंयोगेरसनारसमाप्नुयात् २२ नानाविधिसमुद्भूतमानंदंचदिने आदौलव
णंक्षारंचततस्तिक्तकषायकम् २३ नवनीतंघृतंक्षीरंदधितक्रमधूनिच द्राक्षा
रसंपीयूषंचजायतेरसमोदकम् २४ नाभिमूलेवसेत्सूर्यस्तालमूलेचचंद्रमाः अ
मृतंग्रसतेसूर्यस्ततोमृत्युवशोनरः २५ ऊर्द्धंचजायतेसूर्यश्चंद्रमसमधोनयेत्
विपरीतकरणीमुद्रासर्वतंत्रेषुगोपिता २६ भूमौशिरश्चसंस्थाप्यकरयुग्मंस
माहितः ऊर्द्धपादःस्थिरोभूत्वाविपरीतकरीमता २७ मुद्रेयंसाधयेन्नित्यंज
रामृत्युचनाशयेत् सिद्धासनंसमासाद्यकर्णाक्षिनासिकामुखम् २८ अ
गुष्ठतर्जनीमध्यमानामिकाभिश्चधारयेत् काकीभिः प्राणंसंकृष्य अपाने

घे·सं·
८

योजयेत्ततः २९ षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हूं हंस मनुना सुधीः चैतन्यमानयेद्देवी
निद्रिता या भुजंगिनी ३० जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य पराम्बुजे शक्तिमयं स्वयं
भूत्वा परं शिवेन संगमम् ३१ नानासुखं विहारं च चिंतयेत्परमं सुखम् शिवश
क्तिसमायोगादेकान्तं भुवि भावयेत् ३२ आनन्दं स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति सं
भवेत् योनिमुद्रा परं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम् ३३ सकृद्वा लब्धसंसिद्धिः समाधिस्थ
स एव हि धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्याम् ऊर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे शक्तिप्रबो
धाय चिरंजीवाय वज्रोलीमुद्रां मुनयो वदन्ति ३४ मूलाधारे आत्मशक्तिः कुंड
ली परदेवता शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ३५ यावत्सा निद्रिता
देहे तावज्जीवः पशुर्यथा ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगं समभ्यसेत् ३६ उद्घा
टयेत्कपाटं च यथा कुंचिकया हठात् कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं विभेदयेत्
३७ नाभिं हृद्वेष्टनं च न च लग्नं बहिःस्थितम् गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचाल

नमभ्यसेत् ३८ वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलम् मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टना
म्बरलक्षणम् ३९ एवमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत् भस्मना गात्रसंलिप्तं सि
द्धासनमथाचरेत् ४० नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद्बलात् तावदाकुं
चयेद्गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया ४१ यावद्गच्छेत्सुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेद्धठात् ता
वद्वायुप्रभेदेन कुम्भिका च भुजंगिनी ४२ बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्द्धमार्गं प्रपद्यते
शक्तरूपं फलेकणैं योनिमुद्रां च चालयेत् ४३ विना शक्तिचालनेन योनिमुद्रा न
सिद्ध्यति आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत् ४४ उदरं पश्चिमं तानं कृ
त्वा च तडागाकृतिः ताडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ४५ मुखं संमुद्रितं
कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् शनैर्ग्रसेदमृतं तन्माण्डुकीं मुद्रिकां विदुः ४६ वलितं
नैव जायते नित्यं यौवनम् न केशे जायते पक्वः यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम् ४७ ने
त्रांजनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत् सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गो

घे॰सं॰
२३

पिता ४८ वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव एषा तु शांभवीमुद्रा गुप्ता कुलवधू
रिव ४९ स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम् स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वे
त्ति शांभवीं ५० सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः शांभवीं यो विजानीयात्स च
ब्रह्म न चान्यथा ५१ कथिता शांभवीमुद्रा शृणुष्व पंचधारणी धारणानि समा
साद्य किं न सिद्ध्यति भूतले ५२ अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम् मनोगतिर्भवेत्त
स्य खेचरत्वं न चान्यथा ५३ यत्तत्त्वं हरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितम् वेदा
स्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थापितं प्राणांस्तत्र विनीय पंच घटिकां चित्ता
न्वितं धारयेदेषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ५४ शंखेंदुप्रति
मं च कुंदधवलं तत्त्वं किमालं शुभं तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णु
ना प्राणांस्तत्र विनीय पंच घटिकां चित्तान्वितं धारयेदेषा दुःसहतापहारिणी भवद्
तिस्याम्भसी धारणा ५५ यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं तत्त्वं २३

त्तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदं प्राणांस्तत्र विनीय पंच घटिकां चित्तान्वितं धा
रयेदेषा कालगभीरभीतिहरणं वैश्वानरी धारणा ५६ यद्भिन्नाञ्जनपुंजसन्निभ
मिदं धूम्रावभासं परं तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता प्राणांस्तत्र विनीय पंच
घटिकां चित्तान्वितं धारयेदेषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ५७ य
त्सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं तत्त्वं देव सदाशिवेन सहितं बीजं हका
रान्वितं प्राणांस्तत्र विनीय पंच घटिकां चित्तान्वितं धारयेदेषा मोक्षकपाटभेदनक
री कुर्यान्नभोधारणा ५८ आकुंचयेद्गुदद्वारं प्रकाशयेत्पुनः पुनः सा भवेदश्वि
नी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ५९ कंठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद्दृढबंधनम् सा एव
पाशिनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ६० काकचंचुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः श
नैः काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ६१ कंठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां
जलमाहरेत् मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्त्रेण चाहरेत् ६२ नासाभ्यां रेचयेत्प

घे·स·
१०

श्वात्कुर्य्यादेवं पुनः पुनः मातंगिनीपरा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ९३ वक्त्रं किंचित्सु
प्रसार्य्यं चानिलं गलया पिबेत् सा भवेद्भुजंगिनीमुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ९४
उदरे पाचनिरोगं च अजीर्णादिविशेषतः तत्सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजंगिनी ९
५ इति घेरंडसंहितायां घेरंडचंडसंवादे घटशुद्धियोगप्रकरणांतृतीयोपदेशः ३
अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम् यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुना
शनम् १ यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ततस्ततो नियम्यैतदात्मने
वशंनयेत् २ यत्र यत्र गता दृष्टिर्मनस्तत्र प्रयच्छति अतः प्रत्याहरेदेतदात्मने
वशंनयेत् ३ पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं वा भयानकम् मनस्तस्मान्नियम्यैत
दात्मन्येव वशंनयेत् ४ शीतं वापि तथा चोष्णं यन्मनःस्पर्शयोगतः तस्मात्प्रत्या
हरेदेतदात्मन्येव वशंनयेत् ५ सुगन्धे वापि दुर्गन्धे घ्राणेषु जायते मनः तस्मात्प्र
हारेदेतदात्मन्येव वशंनयेत् ६ मधुराम्लकतिक्तादिरसगादि यदा मनः तस्मा १०

त्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशंनयेत् ७ इति घेरंडसंहितायां घेरंडचंडसंवादे प्रत्याहा
रप्रयोगो नाम चतुर्थोपदेश ४ अथातः संप्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य सद्विधिम् य
स्याधनमात्रेण देवतुल्यो भवेन्नरः १ आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथापरम्
नाडीशुद्धिं ततः पश्चात्प्राणायामं च साधयेत् २ दूरदेशे तथारण्ये राजधानौ ज
नान्विते योगारंभं न कुर्वीत कृते च सिद्धिहा भवेत् ३ अविश्वासं दूरदेशे अर
ण्ये भक्ष्यवर्जितम् लोकारण्ये प्रकाशश्च तस्मात्त्रीणि विवर्जयेत् ४ सुदेशे
धार्म्मिके राज्ये सुभिक्षे निरुपद्रवे तत्रैकं कुटिरं कृत्वा प्राचीरैः परिवेष्टयेत् ५
वापीकूपतडागं च प्राचीरमध्यवर्त्ति च नात्युच्चं नातिनीचं वा कुटिरं कीटव
र्जितम् सम्यग्गोमयलिप्तं च कुटिरं रंध्रवर्जितम् एवं स्थाने हि गुप्ते च
प्राणायामं समभ्यसेत् ७ हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौ तथा योगार
म्भं न कुर्वीत कृते योगो हि रोगदः ८ वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत् त

सनंश्रेष्ठंप्रत्यहंसाधयेत्सुधीः॥वायुःपश्चिममार्गेणतस्यसंचरतिध्रुवं॥७३॥एतदभ्यासशी
लानांसर्वसिद्धिःप्रजायते॥तस्माद्योगीप्रयत्नेनसाधयेत्सिद्धसाधकः॥७४॥गोप्तव्यंसप्रय
त्नेननदेयंयस्यकस्यचित्॥येनशीघ्रंमरुत्सिद्धिर्भवेद्दुःखौघनाशिनी॥७५॥जानूर्वोरंतरेस
म्यक्कृत्वापादतलेउभे॥समकायःसमासीनःस्वस्तिकंतत्प्रचक्ष्यते॥७६॥अनेनविधि
नायोगीमारुतंसाधयेत्सुधीः॥देहेनक्रमतेव्याधिस्तस्यवायुश्चसिद्ध्यति॥७७॥सुखासन
मिदंप्रोक्तंसर्वदुःखप्रणाशनं॥स्वस्तिकंयोगिभिर्गोप्यंस्वस्थीकरणमुत्तमं॥७८॥आदौपू
रकयोगेनत्वाधारेपूरयेन्मनः॥गुदमेढ्रांतरेयोनिस्तामाकुंच्यप्रवर्तयेत्॥७९॥ब्रह्मयोनि
गतंध्यात्वाकामंकंदुकसंनिभं॥सूर्यकोटिप्रतीकाशंचंद्रकोटिसुशीतलं॥८०॥तस्योर्ध्वंत
शिखासूक्ष्माचिद्रूपापरमाकला॥तयासहितमात्मानमेकीभूतंविचिंतयेत्॥८१॥गच्छंतिब्र
ह्ममार्गेणलिंगत्रयक्रमेणवै॥सूर्यकोटिप्रतीकाशंचंद्रकोटिसुशीतलं॥८२॥अमृतंत
द्विसर्गस्थंपरमानंदलक्षणं॥श्वेतरक्तंसुतेजाढ्यंसुधाधाराभिःप्रवर्षितं॥८३॥पीत्वाकुलाम

तंदिव्यंपुनरेवविशेत्कुलं॥पुनरेवाकुलंगच्छेन्मात्रायोगेननान्यथा॥८४॥सात्रप्राणसमाख्या
तात्वस्मिंतंत्रेमयोदिते॥पुनःप्रलीयतेतस्यांकलाग्न्यादिशिवांतकं॥८५॥योनिमुद्रापराह्येषा
बंधस्तस्याःप्रकीर्तितः॥तस्यास्तुबंधमात्रेणतन्नास्तियन्नसाधयेत्॥८६॥छिन्नरूपाश्च
येमंत्राःकीलितास्तंभिताश्चये॥मंदावालास्तथावृद्धाःप्रौढायौवनगर्विताः॥८७॥अरिप
क्षेस्थितायेचनिर्वीर्याःसत्ववर्जिताः॥तथासत्वेनहीनायेखंडिताःशतधाकृताः॥८८॥
विधानेनसंयुक्ताःप्रभवंतिविरेणतु॥सिद्धिमोक्षप्रदाःसर्वेगुरुणाविनियोजिताः॥८९
॥यद्यदुच्चरेतेयोगीमंत्ररूपंशुभाशुभं॥तत्तत्सिद्धिमवाप्नोतियोनिमुद्रानिबंधनां
॥९०॥दीक्षयित्वाविधानेनअभिषिंच्यसहस्रधा॥ततोमंत्राधिकारार्थमेषामुद्राप्रकी
र्तिता॥९१॥ब्रह्महत्यासहस्राणित्रैलोक्यमपिघातयेत्॥नासौलिप्यतिपापेनयोनि
मुद्रानिबंधनात्॥९२॥तस्मादभ्यसनंनित्यंकर्तव्यंमोक्षकांक्षिभिः॥अभ्यासाज्जाय
तेसिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात्॥९३॥संवित्तिंलभतेभ्यासाद्योगोभ्यासात्प्रवर्तते॥मं

त्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनं ॥२९४॥ कालवंचनमभ्यासात्तथा मृत्युजयो भवेत्
॥ वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ॥२९५॥ योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचि
त् सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कंठगतैरपि ॥२९६॥ अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परं ॥ गो
पनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभं ॥२९७॥ सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ॥ तदा स
र्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोपि च ॥२९८॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरी ॥ ब्रह्म
रंध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समारभेत् ॥२९९॥ महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥ जा
लंधरो मूलबंधो विपरीतकृतिस्तथा ॥३००॥ उड्यानं चैव वज्रोली दशमं दशमं शक्तिचा
लनं ॥ इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमं ॥३०१॥ महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तंत्रेस्मिन्मम व
ल्लभा ॥ यां प्राप्य सिद्धिसंसिद्धिं कपिलाद्याः पुरागताः ॥२॥ अपसव्येन संपीड्य पादमू
लेन सादरं ॥ गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रांतरालयां ॥३॥ सव्यप्रसारितं पादं धृत्वा पाणियु
गेन वै ॥ नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥४॥ चित्तयमेदत्वा प्रारभेद्वायुधारणं ॥ महामु

१४

द्रा भवेदेषा सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥५॥ वामांगेन समभ्यस्य दक्षांगेन भ्यसेत्पुनः ॥ प्राणायामसमे
न त्वायोगी नियतमानसः ॥६॥ मुद्रामेतां तु संप्राप्य गुरुवक्त्रात्सुशोभितां ॥ अनेन विधिना यो
गी मंदभाग्योपि सिद्ध्यति ॥७॥ सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिंदुमारणं ॥ जारणं तु कषायस्य पात
कानां विनाशनं ॥८॥ कुंडलीतापनं ॥ वायोर्ब्रह्मरंध्रप्रवेशनं ॥ वाञ्छितार्थफलं सौख्यमिंद्रियाणां
च मारणं ॥९॥ एतदुक्तानि सर्वाणि योगरूढस्य योगिनः ॥ भवेदभ्यासतो वश्यं नात्र कार्या विचा
रणा ॥१०॥ गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिता ॥ यां वै प्राप्य भवांभोधेः पारं गच्छति योगिनः
॥११॥ गुह्या वारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ॥ तस्याः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि ॥
१२॥ गुदयोनिसमाकुंच्यं कृत्वा पानकसंडकं ॥ बंधयेदूर्ध्वगत्यर्थे प्राणापानाख्ययोः सुधी
॥१३॥ कथितोयं महाबंधः सिद्धिमार्गप्रदायकः ॥ नाडीजालाद्रसव्यूहं मूर्धानं याति योगि
नः ॥१४॥ उभाभ्यां साधयेत्सम्यग्मेकैकं सुप्रयत्नतः ॥ भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामध्य
संगतः ॥१५॥ अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबंधोस्थिपंजरं ॥ संपूर्णहृदयो योगी भवंत्येतानि योगि

नः॥१६॥बंधेनानेनयोगींद्रःसाधयेत्सर्वमीप्सितं॥आपानप्राणयोरैक्यंकृत्रिभुवनेपि
॥१७॥महावेधस्थितोयोगीकुक्षिमापूर्यवायुना॥स्फिचौसंताडयेद्धीमान्वेधोयंकीर्त्तितो
मया॥१८॥वेधेनानेनसंविध्यवायुनायोगिपुंगवः॥ग्रंथीन्सुषुम्णामार्गेणब्रह्मरंध्रंभि
नत्यसौ॥१९॥कपःकरोतिसदाभ्यासंमहावेधंसुगोपितं॥वायुसिद्धिर्भवेत्तस्यजरामरणना
शिनी॥२०॥चक्रमध्येस्थितादेवाःकंपंतेवायुताडनात्॥कुंडल्यपिमहामायाकैलाशेसावि
लीयते॥२१॥महामुद्रामहाबंधौनिःफलौवेधवर्ज्जितौ॥तस्माद्योगीप्रयत्नेनकरोतित्रि
तयंक्रमात्॥२२॥एतत्त्रयंप्रयत्नेनचतुर्वारंकरोतियः॥षण्मासाभ्यंतरेमृत्युंजयत्येवन
संशयः॥२३॥एतत्त्रयस्यमहात्म्यंसिद्धोजानातिनेतरः॥यज्ज्ञात्वासाधकाःसर्वेसिद्धिंसम्यग्ल
भंतिवै॥२४॥गोपनीयाप्रयत्नेनसाधकैःसिद्धिमीप्सुभिः॥अन्यथावनसिद्धिःस्यान्मुद्राणा
मेषनिश्चयः॥२५॥भ्रुवोरंतर्गतांदृष्टिंविधायसुदृढंसुधीः॥उपविश्यासनेतेननानोपद्
यवर्ज्जितेः॥२६॥लंबिकोर्ध्वस्थितेगर्त्तेरसनांविपरीतगां॥संयोजयेत्प्रयत्नेनसुधाकूपेविच

क्षणः॥२७॥मुद्रैषाखेचरीप्रोक्ताभक्तानामनुरोधतः॥सिद्धीनांजननीह्येषाममप्राणाधिका
धिका॥२८॥निरंतरकृताभ्यासात्पीयूषंप्रत्यहंपिबेत्॥तेनविग्रहसिद्धिःस्यान्मृत्युमातं
गकेसरी॥२९॥अपवित्रपवित्रोवासर्वावस्थांगतोपिवा॥खेचरीयस्यज्ञानातिसशुद्धोनात्र
संशयः॥३०॥क्षणार्द्धंकुरुतेयस्तुतीर्त्वापापमहार्णवं॥दिव्यभोगान्प्रभुक्त्वैवंसत्कुलेप
प्रजायते॥३१॥मुद्रैषाखेचरीयस्तुस्वस्थितोह्यप्रमतंद्रितः॥शतब्रह्मगतेनापिक्षणार्द्धंमन्य
तेपिसः॥३२॥गुरूपदेशतोमुद्रांयोवेत्तिखेचरीमिमां॥नानापापरतोधीमान्सयातिप
रमांगतिं॥३३॥सप्राणैःसदृशोयस्तुतस्मादपिनदीयते॥प्रच्छाद्यतेप्रयत्नेनमुद्रेयंसुरप
र्जिता॥३४॥बध्वागलेशिराजालंहृदयेचिबुकंन्यसेत्॥बंधोजालंधरःप्रोक्तोदेवानामपिदुर्ल
भः॥३५॥नाभिस्थोवह्निपान्नूनांसहस्रकमलच्युतं॥पिबेत्पीयूषविसरंतदर्थंबंधयेदिमं
॥३६॥बंधेनानेनपीयूषंस्वयंपिबतिबुद्धिमान्॥अमरत्वंचसंप्राप्यमोदतेभुवनत्रये॥३७॥जा
लंधरोबंधएषसिद्धानांसिद्धिदायकः॥अभ्यासःक्रियतेनित्यंयोगिनासिद्धिमिच्छता॥३८॥

पादमूलेनसंपीड्यगुदमार्गंसुयंत्रितः ॥ बलादपानमाकृष्यक्रमादूर्ध्वंसमाचरेत् ॥ ३९ ॥ कल्पि
तोयंमूलबंधोजरामरणनाशनः ॥ अपानप्राणयोरैक्यमकरोत्सधिकल्पितं ॥ ४० ॥ बंधेनाने
नसततंयोनिमुद्राप्रसिध्यति ॥ सिद्धायांयोनिमुद्रायांकिंनसिध्यतिभूतले ॥ ४१ ॥ बंधस्या
स्यप्रसादेनगगनेविजितानिलः ॥ पद्मासनस्थितोयोगीभवभयस्त्रपवर्त्तते ॥ ४२ ॥ सबुद्धेनि
र्जनेदेशेबंधमेनंसमभ्यसेत् ॥ संसारसागरंतर्तुंयदीच्छेद्योगिपुंगवः ॥ ४३ ॥ भूतलेस्वशि
रोदत्त्वाक्षिपेनयेच्चरणद्वयं ॥ विपरीतकृतिश्चैषासर्वतंत्रेषुगोपिता ॥ ४४ ॥ एतांयःकुरुतेनित्य
मभ्यासाद्यामात्रकं ॥ मृत्युंजयतिसयोगीप्रलयेनापिसीदति ॥ ४५ ॥ अमृतंकुरुतेपा
नंसिद्धानांसमतामयात् ॥ ससेव्यःसर्वलोकानांबंधमेनंकरोतियः ॥ ४६ ॥ नाभेरूर्ध्वम
धश्चापितानंपश्चिममाचरेत् ॥ उड्डीयानोबंधएषस्यात्सर्वदुःखौघनाशनः ॥ ४७ ॥ उद
रेपश्चिमंतानंनाभेरूर्ध्वंतुकारयेत् ॥ उड्डीयानोप्ययंबंधोमृत्युमातंगकेशरी ॥ ४८ ॥ नित्यं
यःकुरुतेयोगीचतुर्वारंदिनेदिने ॥ तस्यनाभेस्तुशुद्धिस्याद्येनशुद्धोभवेन्मरुत् ॥ ४९ ॥ षण्मा

९६

समभ्यसन्योगीमृत्युंजयतिनिश्चितं ॥ तस्योदराग्निर्ज्वलतिरसवृद्धिश्चजायते ॥ ५० ॥ अनेन
सततंसिद्धिःविग्रहस्यप्रजायते ॥ रोगाणांसंक्षयश्चापियोगिनोभवतिध्रुवं ॥ ५१ ॥ गुरोर्लब्धात
यत्नेनसाधयेत्तुविचक्षणः ॥ निर्जनेसुस्थितोदेशेबंधंपरमदुर्लभं ॥ ५२ ॥ वज्रोलींचप्रव
क्ष्यामिसंसारध्वांतनाशिनीं ॥ स्वभक्तेभ्यःसमासेनगुह्याद्गुह्यतमामपि ॥ ५३ ॥ स्वेच्छयाव
र्त्तमानोपियोगोक्तनियमैर्विना ॥ मुक्तोभवेद्गृहस्थोपिवज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥ ५४ ॥ वज्रो
ल्याःसहयोगोयंभोगमुक्तेपिमुक्तिदः ॥ तस्मादतिप्रयत्नेनकर्त्तव्योयोगिभिःसदा ॥ ५५ ॥
आंगिरसंक्षिप्ययोयोयोन्यायत्नेनविधिवत्सुधीः ॥ आकुंच्यलिंगनालेनस्वशरीरेप्रवेश
येत् ॥ ५६ ॥ स्वकंबिंदुंचसंबोध्यलिंगचालनमाचरेत् ॥ दैवाच्चलतिचेदूर्ध्वंनिरुद्धोयोनिमुद्र
या ॥ ५७ ॥ वाममार्गेपितद्बिंदुंमत्वालिंगंनिवारयेत् ॥ गुरूपदेशतोयोगीहूंहूंकारेणयोनि
तः ॥ ५८ ॥ अपानवायुमाकुंच्यबलादाकर्षयेद्रजः ॥ अनेनविधिनायोगीक्षिप्रंयोग
स्यसिद्धये ॥ ५९ ॥ गव्यभुक्कुरुतेयोगीगुरुपादाब्जपूजकः ॥ बिंदुर्बिधुमयोज्ञेयोरजःसूर्यमयं

तथा॥५९॥ उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्रयत्नतः॥ अहं बिंदु शक्ति रज उभयोर्मेलनं यदा॥
६०॥ योगिनां साधनवतां भवेद्दिव्यं वपुस्तदा॥ मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणे॥६१
॥ तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिंदुधारणं॥ जायते म्रियते लोको बिंदुना नात्र संशयः॥
६२॥ एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिंदुधारणमाचरेत्॥ सिद्धे बिंदौ महारत्ने किं न सिध्यति भूत
ले॥६३॥ यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशी भवेत्॥ बिंदुः करोति सर्वेषां सुखं दुःखं
च संस्थितः॥६४॥ संसारिणां विमूढानां जन्ममरणशालिनां॥ अयं शुभकरो योगो यो
गिनामुत्तमोत्तमः॥६५॥ अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति भोगयुक्तोपि मानवः॥ सकलः साधितार्
थोपि सिद्धो भवति भूतले॥६६॥ भुक्त्वा भोगानशेषान्वै योगेनानेन निश्चितं॥ अनेन
न सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवं॥६७॥ सुखभोगेन सहिता तस्मादेनं समभ्यसेत्॥
सहजोल्यमरोली च वज्रोल्या भेदतो भवेत्॥६८॥ येन केन प्रकारेण बिंदुं योगी प्रसाधये
त्॥ दैवाच्चलति चेद्वेगे मेलनं चंद्रसूर्ययोः॥६९॥ अमरोलीरियं प्रोक्ता लिंगनालेन शोषयेत्

१७

॥ गतं बिंदुं स्वकं योगी बंधयेद्योनिमुद्रया॥७०॥ सहजोलीरियं प्रोक्ता सर्वतंत्रेषु गोपिता॥
संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्यं तस्यागतिर्यदि॥७१॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः स
दा॥ अयं योगो मया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहतः परं॥७२॥ गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्य
चित्॥ एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति॥७३॥ तस्मादतिप्रयत्नेन गोपनीयं सदा बु
धैः॥ स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना॥७४॥ स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य
तत्पुनः॥ गुरूपदेशमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत्॥७५॥ बिंदुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धि
प्रदायिका॥ षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया॥७६॥ शतांगनोपभोगेपि न बिं
दुस्तस्य नश्यति॥ सिद्धे बिंदौ महारत्ने किं न सिध्यति भूतले॥७७॥ ईशत्वं यत्प्रसादेन ममा
पि दुर्लभं भवेत्॥ अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान्॥७८॥ शक्तिचालनमेनं हि
प्रत्यहं यः समाचरेत्॥ आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनं॥७९॥ विहाय निद्रां भुजं
गी स्वयमूर्ध्वं व्रजेत्खलु॥ तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता॥८०॥ यः करोति सदा

भ्यासं शक्तिचालनमुत्तमं॥ येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा॥८१॥ गुरूपदेशविधि
ना तस्य मृत्युभयं कुतः॥ मुहूर्त्तद्वयपर्यंतविधिना शक्तिचालनं॥८२॥ यः करोति प्रयत्नेन तस्य सि
द्धिरदूरतः॥ युक्तासनेन कर्त्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनं॥८३॥ एतत्तु मुद्रादशकं न भूतं न भ
विष्यति॥ एकैकाभ्यसने सिद्धे सिद्धो भवति नान्यथा॥८४॥ श्रीदेव्युवाच॥ ब्रूहि मे वाक्यमी
शान परमार्थधियं प्रति॥ ये विघ्नाः संति लोकानां वेत्थापि प्रियशंकर॥८५॥ ईश्वर उवाच॥ शृ
णु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा॥ मुक्तिं प्रति नराणां च भोगः परमबंधकः॥८६॥
नारीशय्यासनं वस्त्रं धनमस्य विडंबनं॥ तांबूलं भक्ष्ययानानि राज्यैश्वर्यविभूतयः॥८७
॥ हैमं रौप्यं तथा ताम्रं रत्नं चागुरुधेनवः॥ पांडित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतं विभूषणं॥८८
॥ वंशी वीणा मृदंगाश्च गजेंद्रो चाश्ववाहनं॥ दारापत्यानि विषया विघ्ना एते प्रकीर्त्तिताः॥
८९॥ भोगरूपा इमे विघ्ना धर्मरूपानिमान् शृणु॥ स्नानं पूजातिथिर्होमस्तथा सौख्यमयो
स्थितः॥९०॥ व्रतोपवासनियमा मौनमिंद्रियनिग्रहः॥ ध्येयो ध्यानं तथा मंत्रो दानं ख्याति

१८

र्दिशासु च॥९१॥ वापीकूपतडागादिप्रासादारामकल्पना॥ यज्ञं चांद्रायणं कृच्छ्रं तीर्थानि विवि
धानि च॥९२॥ दृश्यंते इमे विघ्ना धर्मरूपेण संस्थिताः॥ येन विघ्नं भवेद्ध्यानं कथयामि वरानने
॥९३॥ गोमुखाद्यासनं कृत्वा धौतप्रक्षालनं च यत्॥ नाडीसंचारविज्ञानं प्रत्याहारनिरोधनं॥९४
॥ कुक्षिसंचालनं क्षीरप्रवेशं इंद्रियाध्वना॥ नाडीकर्माणि कस्यापि भोजनं श्रूयतां मम॥९५॥ नि
बंधांतरसंस्थिति दिघटिकां ताडयेत्पुनः॥ एककालासमाधिः स्याल्लिंगभूतमिमं शृणु॥९६॥ सं
गमं गच्छ सघनां संकोचं भजदुजेनात्॥ प्रवेशनिर्गमौ वायोर्गुरुलक्ष्यं विलोकयेत्॥९७॥ पिं
डस्थं रूपसंस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितं॥ ब्रह्मैतस्मिन्मतावस्था हृदयं च प्रशाम्यति॥९८॥ इत्ये
ते प्रथिता विघ्ना ज्ञानरूपे व्यवस्थिताः॥ मंत्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः॥९९॥ च
तुर्थो राजयोगः स्यात् द्विधाभावविवर्जितः॥ चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रकः॥
४००॥ अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लंघनक्षमः॥ मंदोत्साही सुसंमूढो व्याधिस्थो गुरु
दूषकः॥४०१॥ लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रमः॥ चपलः कातरो रोगी पराधी

ह० प्र०॥
॥८॥

शनैस्तु घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः॥ ६१॥ गुल्मश्लेष्मादयो दोषा ज्वरपित्तक्षुधा तृषा॥ एतान्निशीत
ली नाम कुंभको यं निहंति च॥ ६२॥ अथ भस्त्रिकर्म॥ उर्वोरुपरि वै धत्ते उभे पादतले तथा॥ पद्मासनं भवे
त्सम्यक् सर्वपापप्रणाशनं॥ ६३॥ सम्यक् पद्मासनं बध्वा समग्रीवोदरः सुधीः॥ मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं
घ्राणेन पूरयेत्॥ ६४॥ यदा लगति हृत्कंठे कपोले खशानं ततः॥ वेगेन पूरयेत्किंचित् हृत्पद्मावधि मारुतं
६५॥ पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः॥ यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते॥ ६६॥ तथैव स्वशरीर
स्थं चालयेत्पवनं सुधीः॥ यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण रेचयेत्॥ ६७॥ यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा ल
घु॥ धारयेन्नासिकामध्यं अंगुलीभ्यां तथा दृढं॥ ६८॥ ~~यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु॥~~ कुंभकं पूर्ववं
त्कृत्वा रेचयेदिडयानिलं॥ वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्द्धनं॥ ६९॥ कुंडलीबोधकः क्षिप्रं पापघ्नः सु
खदः शुभः॥ ब्रह्मनाडीमुखे संस्थं कफाद्यर्गलनाशनं॥ ७०॥ सम्यग्भस्त्रासमुद्भूतं ग्रंथित्रयविभेदकं॥
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदं॥ इति भस्त्राकर्म॥ अथ भ्रमरीकर्म॥ वेगाद्घोषं पूरकं भृंग ॥८॥
नादं भृंगीनादं रेचकं मंदमंदं॥ योगींद्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला॥ अथ मूर्छा म

३ सहितः केवलश्चेति कुंभको द्विविधो मतः॥ ७४ रेचकः पूरकः कार्यः स वै सहितकुंभकः॥

कर्म॥ पूरकांते बद्धुतरं बध्वा जालंधरं शनैः॥ रेचयेन्मूर्छनाख्येयं मनोमूर्छा सुखप्रदं॥ ७२॥ अथ प्लाव
नीकर्म॥ अंतः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः॥ साक्षात्पयस्यगाधेपि प्लवते पद्मपत्रवत्॥ ७३॥ अथ केव
लकुंभकं॥ प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचकपूरककुंभकैः॥ यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत्॥ ७५
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखाद्वायुनिरोधनं॥ प्राणायामोयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः॥ ७६॥ केवले कुंभके
सिद्धे रेचपूरकवर्जिते॥ न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते॥ ७७॥ सिद्धे केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणं
राजयोगपदं चैव लभते नात्र संशयः॥ ७८॥ हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः॥ न सिध्यति ततो यु
ग्ममा निष्पत्तेः समभ्यसेत्॥ ७९॥ कुंभकं प्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निरामयं॥ एवमभ्यासयोगेन राजयोगप
दं व्रजेत्॥ ८०॥ कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधनो भवेत्॥ अनर्गला सुषुम्णा च हठसिद्धिश्च जायते॥ ८१
वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने च निर्मले॥ आरोग्यता बिंदुजयोग्निदीपनं नाडीविशुद्धि
र्हठसिद्धिलक्षणं॥ ८२॥ इति आत्मारामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां द्वितीयोध्यायः॥ २॥०॥
सशैलवनधात्रीणां यथा धारोऽहिनायकः॥ सर्वेषां योगतंत्राणां तथा धारो हि कुंडली॥ १॥ सुप्ता गुरुप्र

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

सादेनयथाजागर्तिकुंडली॥ तथासर्वाणिपद्मानिभिद्यंतेग्रंथयोपिच॥२॥ प्राणस्यशून्यपदवीयथाराज
पथायते॥ यथाचित्तनिरालंबंयथाकालस्यवंचनं॥३॥ अथशून्यपदवीमिति॰ किमुच्यते॥ सुषुम्णा
शून्यपदवीब्रह्मरंध्रमहापथः॥४॥ स्मशानंशांभवीमध्यमार्गश्चेत्येकवाचकः॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन
प्रबोद्धुयितुमीश्वरीं॥५॥ ब्रह्मद्वारमुखेसुप्तांमुद्राभ्यासेनबोधयेत्॥ महामुद्रामहाबंधोमहावेध
स्तुखेचरी॥६॥ उड्डियानंमूलबंधस्तथोजालंधराभिधः॥ करणीविपरीताख्यावज्रोलीशक्तिचालनं
॥७॥ इदंहिमुद्रादशकंजरामरणनाशनं॥ आदिनाथोदितंसर्वंअष्टैश्वर्यप्रदायकं॥८॥ वल्लभंसर्वसि
द्धानांदुर्लभंमरुतामपि॥ गोपनीयंप्रयत्नेनयथारत्नकरंडकं॥९॥ कस्यचिन्नैववक्तव्यंकुलस्त्री
सुरतंतथा॥ वज्रोलिरमरोलिश्चसहजोलिस्त्रिधामता॥१०॥ एतेषांलक्षणंवक्ष्येकर्तव्यंचविशेषतः
तत्रमहामुद्रामाह॥ पादमूलेनवामेनयोनिंसंपीड्यदक्षिणे॥ पादंप्रसारितंधृत्वाकराभ्यांधारयेदृ
ढं॥११॥ कंठेबंधंसमारोप्यधारयेद्वायुमूर्द्धतः॥ यथादंडाहतःसर्पोदंडाकारप्रजायते॥१२॥ ऋज्वी ॥८॥
भूतातथाशक्तिःकुंडलीसहसाभवेत्॥ तदासामरणावस्थाजायतेत्रिपुटिश्रिता॥१४॥ ततःशनैःश

नैरेवरेचयन्नतुवेगतः॥ इयंखलुमहामुद्रामहासिद्धैःप्रशस्यते॥१४॥ महाक्लेशादयोदोषाःक्षीयंतेमरणा
दयः॥ महामुद्रांचतेनैववदंतिविबुधोत्तमः॥१५॥ चंद्रांगेचसमभ्यस्यसूर्यांगेपुनरभ्यसेत्॥ यावत्संख्याभ
वेत्तुल्याततोमुद्रांविसर्जयेत्॥१६॥ नापथ्यंनहिपथ्यंवारसाःसर्वेपिनीरसाः॥ अपिभुक्तंविषंघोरंपीयूषमिव
वजीर्यते॥१७॥ क्षयःकुष्टगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमः॥ दोषाःसर्वेक्षयंयांतिमहामुद्रांतुयोभ्यसेत्॥१८॥ क
थितेयंमहामुद्रामहासिद्धिकरीनृणां॥ गोपनीयाप्रयत्नेननदेयायस्यकस्यचित्॥१९॥ अथमहाबंधः
पार्ष्णिंवामस्यपादस्ययोनिस्थानेनियोजयेत्॥ वामोरूपरिसंस्थाप्यदक्षिणंचरणंतथा॥२०॥ पूरयित्वाततो
वायुंहृदयंचिबुकंदृढं॥ निष्पीड्ययोनिमाकुंचमनोमध्येनियोजयेत्॥२१॥ धारयित्वायथाशक्त्यारेचयेद
निलंशनैः॥ सव्यांगेचसमभ्यस्यदक्षिणेपुनरभ्यसेत्॥२२॥ मतमत्रतुकेषांचित्कंठबंधंविवर्जयेत्॥ रा
जदंतस्यजिह्वायांबंधःशस्तोभवेदिति॥२३॥ अयंकिलमहाबंधमहासिद्धिप्रदायकः॥ कालपाशमहा
बंधविमोचनविचक्षणः॥२४॥ अयंचसर्वनाडीनामूर्द्ध्वगतिविबोधकः॥ त्रिवेणीसंगमंधत्तेकेदारंप्राप
येन्मनः॥२५॥ रूपलावण्यसंपन्नायथास्त्रीपुरुषंविना॥ महामुद्रामहाबंधोनिःफलोवेधवर्जितो॥२६॥

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन महाबंधं समभ्यसेत् ॥ अथ महावेधः ॥ महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥ वायु
नागतिमारुध्य निभृतं कंठमुद्रया ॥ २७ ॥ समहस्तयुगो भूमौ स्फीचो संताडयेच्छनैः ॥ पुटद्वयसमाक्रम्य वा
युस्फुरति सत्वरं ॥ २८ ॥ सोमसूर्याग्निसंबंधा ज्जायते चामृताय वै ॥ मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचये
त् ॥ २९ ॥ महावेधोयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥ वलीपलितवंधघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ ३० ॥ एतत्त्र
यं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ वन्हिवृद्धिकरं चैवं अणिमादिगुणप्रदं ॥ ३१ ॥ अष्टधा क्रियते चैकं
यामे यामे दिने दिने ॥ पुण्यप्रायस्य संभावि पापौघभिद्दुरं सदा ॥ ३२ ॥ सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पे प्रथम
साधनं ॥ वन्हिस्त्रीपथसेवानां मादौ वर्जनमाचरेत् ॥ ३३ ॥ अथ खेचरी ॥ छेदनचालनदोहनकलाक्रमे
ण वर्द्धयेत्तावत् ॥ सतायावद्भ्रूमध्ये स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३४ ॥ स्नुहीपत्रनिर्भशास्त्रं सुतीक्ष्णं स्नि
ग्धनिर्मलं ॥ समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुछिनेत् ॥ ३५ ॥ आदौ सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्
पुनस्सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं पुनश्छिनेत् ॥ ३६ ॥ एवं क्रमेण षण्मासान्नित्ययुक्तं समाचरेत् ॥ षण्मासा
द्रसनामूलेशिराबंधः प्रणश्यति ॥ ३७ ॥ कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥ भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिः मु

द्राभवति खेचरी ॥ ३८ ॥ अथवा गेस्वरीधाम शिरोवस्त्रेण वेष्टयेत् ॥ शनैरुत्कटयेद्योगी कालवेधाविधानवित् ॥
३९ ॥ वितस्तिप्रमितं दैर्घ्ये विस्तारे चतुरंगुलं ॥ मृदुश्च धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणं ॥ ४० ॥ पुनः षण्मासमात्रे
तु पुनः संघर्षण प्रिये ॥ भ्रूमध्यावधिपरियंतं तिर्यक्कर्णबिलावधि ॥ ४१ ॥ अधस्तात्चुबुकं मूलप्रयाति क्रम
कारिता ॥ केशादूर्ध्वं चक्रमति तिर्यक्संख्यावधिप्रिये ॥ ४२ ॥ पुनः संवत्सरादेव द्वितीया चैव लीलया ॥ ब्रह्मरं
ध्रांतमावृत्य तिष्ठेत्सेरमवं दिते ॥ ४३ ॥ स्वतालुमूलं संघृष्य सप्तवासरमात्मनि ॥ स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं
विशोषयेत् ॥ ४४ ॥ अंगुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वां तत्र निवेशयेत् ॥ शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभृत्
४५ ॥ पूर्ववीर्ययुतां विद्यां व्याख्यातामतिदुर्लभां ॥ अस्याः षडंगं कुर्वीत तया षट्ककभिन्नया ॥ ४६ ॥ खेनिर
स्त सकले क्रियाक्रमेण चित्तश्चरति शाखतोयदे ॥ अग्निधत्तसमवायकारिणि खेचरीभवभवखेदहारिणि
४७ ॥ क्रमेणैव प्रकर्तव्याभ्यासेन वरवर्णिनि ॥ युगपद्यतते तस्य शरीरे विलयं भजेत् ॥ ४८ ॥ तस्माछ्नैः
शनैः कार्याभ्यासेन युगपत्प्रिये ॥ एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारे वसेध्रुवं ॥ ४९ ॥ षट्चक्राणि विभिद्य शक्तिभुज
गीं प्रोत्सार्य मूलं स्थितां ॥ भित्वा ग्रंथित्रयं च पश्चिमशिरां प्राकाररूपं महत् ॥ ५० ॥ नित्यं प्राणमतः शिरोवल

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

मलंनिर्मथ्यचित्तेनतल्लिंगंयःपिबतींदुमंडलगमंमुक्तःससाक्षाच्छिवः॥५१॥नित्यंयस्तूर्ध्वजिह्वाग्रेणपिब
तिपुमन्सप्तधारामृतौघंसुस्वादंशीतलंगंदुरितभयहरंक्षुत्पिपासानिवारि॥ पिंडस्थैर्यंहियस्माद्भवति
मृतयथामृत्युरोगाद्भवंतिदौर्भाग्यंयातिनाशंप्रसरतिसकलायातिचालंपुनःपुनः॥५२॥ तिक्ष्णंचहरतेव्या
धिकटुकंकुष्टनाशनं॥घृतस्वादूपमंचैवामरतेलभतेध्रुवं॥५३॥मधुस्वादूपयश्चैवशास्त्रामुद्गरतिंब
हु॥लड्डुखंडकस्वादूनिपक्वान्नादिन्यनेकशः॥५४॥दिव्यंकल्पंकिडयंन्नित्यंतुल्यहोजायतेध्रुवं॥तन्म
यत्वमवाप्नोतिकोशकारीवकीटकः॥५५॥कलांपराङ्मुखींकृत्वात्रिपथेपदवर्तयत्॥साभवेत्खेचरीमु
द्राव्योमचक्रंतदुच्यते॥५६॥रसनामूर्ध्वगांकृत्वाक्षणार्द्धमपितिष्ठति॥दुःखैर्विमुच्यतेयोगीव्याधिमृ
त्युजरादिभिः॥५७॥नरोगामरणंतस्यननिद्राचक्षुधातृषा॥नचमूर्छाभवेत्तस्ययोमुद्रांवेत्तिखेचरी॥
५८॥बाध्यतेनसरोगेनलिप्यतेनसकर्मणा॥बाध्यतेनसकालेनयोमुद्रांवेत्तिखेचरी॥५९॥चित्तंचरति
खेयस्मात्जिह्वाचरतिखेगता॥तेनैवखेचरीमुद्रासर्वसिद्धैर्नमस्कृता॥६०॥खेचर्यामुद्रितंयेनविवरं
लंबिकोर्द्धतः॥तस्यनक्षरतेबिंदुःकामिन्याश्लेषितस्यच॥६१॥चलितोपियदाबिंदुःसंप्राप्तश्चाग्निमंडले

व्रजत्यूर्ध्वंहृतश्शक्त्यानिरुद्धोयोगमुद्रया॥६२॥ऊर्ध्वजिह्वास्थितोभूत्वासोमपानंकरोतियः॥मासार्द्धेनन
संदेहोमृत्युंजयतियोगवित्॥६३॥ नित्यंसोमकलापूर्णंशरीरंयस्यदेहिनः॥ तक्षकेनापिदष्टस्यविषंत
स्यनसर्पति॥६४॥इंधृतानियथावह्निःतैलवर्तीचदीपकः॥तथासोमकलापूर्णंदेहीदेहंनमुंच्यति॥६५॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतंवह्निनोत्पादितंखलु॥चंद्रांशुश्रावयेद्यस्तुसास्यादमरवारुणी॥६६॥गोमांसंभक्ष
येन्नित्यंपिबेदमरवारुणीं॥कुलिनंतमहंविद्यामितरेकुलघातकाः॥६७॥गोशब्देनोदिताजिह्वातत्प्र
वेशोहितालुनि॥ गोमांसभक्षणंतत्तुमहापातकनाशनं॥६८॥नाभिदेशेभवेदेषभास्करोदहनात्मकः
अमृतात्मास्थितोनित्यंतालुमध्येतुचंद्रमाः॥६९॥वर्षत्यधोमुखश्चंद्रोग्रसत्यूर्द्धमुखोरविः॥ज्ञातव्यंका
रणंतस्ययेनपीयूषमाप्यते॥७०॥मूर्द्धःषोडशपत्रपद्मगलितंप्राणेरवाप्तंहठादूर्ध्वास्योरसनांविधाय
विवरेशक्तिंपरांचिंतयेत्॥उत्कल्लोलजलाकुलंसुविमलंधारामृतंयःपिबेत्निर्दोषःसमृणालकोमलत
नुर्योगीचिरंजीवति॥७२॥चुंबंतियदिलंबिकाग्रमनिशंजिह्वारसस्पंदिनिसक्षाराकटुकाम्लदुग्धसदृ
शीमध्वाज्यतुल्यंतथा॥व्याधीनांहरणंजरांतकरणंशास्त्रागमोदीरणंतस्यस्यादमरत्वमष्टगुणितंसिद्धा

गनाकर्षणं ॥ ७३ ॥ एकं सृष्टिमयं बीजं एका मुद्रा च खेचरी ॥ एको देवो निरालंबो एकावस्था मनोन्मनी ॥ ७४
सुस्थिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतसमन्वितं ॥ तिष्ठति खेचरीमुद्रा तस्मिञ्छून्ये निरंजने ॥ ७५ ॥ बद्धं मूलबिल
येन तेन विघ्नो विदारितः ॥ अजरामरतां याति यथा पंचमुखो हरः ॥ अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रि
वत्सरात् ॥ ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतो ह्यणिमादिगुणोदयात् ॥ ७७ ॥ यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूले यदस्ति त
स्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानां ॥ चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां तं बध्नीयात्सु
करणपथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥ ७८ ॥ अथ मूलबंधः ॥ पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्दृढं ॥ अ
पानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोयमुच्यते ॥ ७९ ॥ अधोगतमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥ आकुंचनेन तं
प्राहुर्मूलबंधो हि योगिनः ॥ ८० ॥ गुदं पार्ष्णितु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ॥ वारं वारं यथा चोर्ध्वं समाया
ति समीरणः ॥ ८१ ॥ प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकतां ॥ गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संश
यः ॥ ८२ ॥ अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥ युवा भवति वृद्धोपि सततं मूलबंधनात् ॥ ८३ ॥
अपाने चोर्ध्वगे याते प्रयाते नाभिमंडले ॥ तथा नलशिखा दीर्घा क्रियते वायुना हता ॥ ८४ ॥ ततो याता

वह्न्यपानौ प्राणमूष्णस्वरूपकं ॥ तेनात्यंततः प्रदीप्तस्तु कुतो देहक्षयस्तदा ॥ ८५ ॥ तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता
संप्रबुध्यते ॥ दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ८६ ॥ बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरे व्रजेत्
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्त्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ८७ ॥ अथ उड्डियानबंधः ॥ ऊर्ध्वोक्षिप्तः सुषुम्णायाः प्राण
स्तूड्डियते यथा तः ॥ तस्माच्च उड्डीयानाख्यो योगिभिः समुदाहृतः ॥ ८८ ॥ उड्यानं कुरुते यस्मादविश्रांतं
महाखगः ॥ उड्डियानं तदेव स्यात्तत्र बंधोभिधीयते ॥ ८९ ॥ उदरात्पश्चिमभागे अधो नाभेर्निगद्यते ॥ उड्डि
यानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ ९० ॥ उड्डियानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥ अभ्यासेत्सततं यस्तु
वृद्धोपि तरुणो भवेत् ॥ ९१ ॥ नाभेरूर्ध्वमधश्चापि प्राणं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥ योगी समभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न
संशयः ॥ ९२ ॥ सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढं ॥ गुल्फदेशसमीपश्च कंठं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ९३ ॥
पश्चिमं तानमुदरे कारयेद्धृदये गले ॥ शनैः शनैर्यथा प्राणा नाडिसिद्धिं निगच्छते ॥ ९४ ॥ सर्वेषामेव बंधानां
मुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥ उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ९५ ॥ अथ जालंधरबंधः ॥ कंठमाकुं
च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढं ॥ बंधो जालंधराख्यायं जरामृत्युविनाशकः ॥ ९६ ॥ बध्नाति हि शिराजालं अ

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

धोगामिनभोजलं॥ ततो जालंधरो बंधः कंठेदुःखौघनाशनं॥ ९७ जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे॥ न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति॥ ९८ कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेदृढं॥ मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनं॥ ९९ बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितं॥ सर्वेषां योगतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः॥ १०० मूलस्थानं समाकुंच उड्डियानं च कारयेत्॥ इडां च पिंगलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथः॥ १॥ अधस्याकुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते॥ मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥ २॥ ब्रह्मस्थाने स्थितः सिद्धः प्रयाति पवने लयं॥ ततो न जायते मृत्युर्नाशस्यात्तु जरादिकं तथा॥ ३॥ अथ विपरीतकरणी॥ यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणं॥ तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडं विनाशि च॥ ४॥ वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः॥ करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥ ५॥ तत्रास्ति दिव्यकरणं सूर्यस्य मुखबंधनं॥ गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः॥ ६॥ उर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी॥ करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥ ७॥ करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी॥ नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निप्रवर्द्धिनी॥ ८॥ आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च॥ अल्पाहारो निराहारो क्षुधालस्य

वशीभवतु॥ ९॥ अधःशिरश्चोर्ध्वपादो क्षणं स्यात्प्रथमे दिने॥ क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने॥ १०॥ वलितं पलितं चैव षण्मासाच्च न दृश्यते॥ याममात्रं ततो नित्यमभ्यासेन तु कालजित्॥ ११॥ अथ वज्रोलि॥ स्वच्छंदवर्त्तमानो पि योक्तैर्विनियमैर्विना॥ वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनं॥ १२॥ तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्॥ क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्त्तिनी॥ १३॥ मेहनेन शनैः सम्यकूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत्॥ पुरुषोप्यथवा नारी वज्रोलिसिद्धिमाप्नुयात्॥ १४॥ प्रयत्नतः शिरानाले फूत्कारो वज्रकंधरे शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंकोचकारणा॥ १५॥ नार्या भगे पतेद्विंदुरभ्यासेतोर्द्ध्वमाहरेत्॥ चलितं च निजं बिंदुमूर्द्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्॥ १६॥ एवं रक्षति यो बिंदुं मृत्युं जयति योगवित्॥ मरणं बिंदुपातेन जीवितं बिंदुधारणात्॥ १७॥ यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः॥ चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्राधीनं हि जीवितं॥ १८॥ सुगंधयोगिनो देहे जायते बिंदुधारणात्॥ तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः॥ १९॥ बिंदुमध्ये रजोप्येवं बीजं बिंदु प्रचक्षयेत्॥ मेंढ्रमाकुंचयेदूर्ध्वं सम्यग्भ्यासयोगवित्॥ २०॥ अपर्याप्तपुण्यवतां धन्यानां तत्त्वदर्शिनां॥ निर्मत्सराणां सिद्ध्येत न तु मत्सरशालिनां॥ २१॥ अथ सहजोलि॥ सहजोली च

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

ह॰प्र॰
१३

मरोली वज्रोल्या एकभेदतः॥ जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवं॥२२॥ वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं॥ आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणे॥२३॥ सहजोलिरियं प्रोक्ता सिद्धये योगिभिः सदा॥ अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तेः विमुक्तिदः॥२४॥ अमरोलि॥ विहाय नित्यं प्रथमां च धारां विहाय निःसारतयांत्यधारां॥ निष्पाद्यते शीतलमध्यधारां कापालिके कुंटमतेरमेध्या॥२५॥ अमरीयः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्याद्दिने दिने॥ वज्रोलिमभ्यसेन्नित्यममरोलिति कथ्यते॥२६॥ पुंसो बिंदुः समाकुंच सम्यगभ्यासपाटवात्॥ यदि नारी रजो रक्षेत् संयोगे चापि योगिनी॥२७॥ तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः॥ तस्याः शरीरे नादश्च बिंदुत्वं चापि गच्छति॥२८॥ स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूतौ स्वदेहजौ॥ वज्रोल्याभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रजायते॥२९॥ अतीतानागतं वेत्ती खेचरश्च भवेध्रुवं॥ देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्याभ्यासयोगतः॥३०॥ तस्मादेयं साधकानां भोगमुक्तविमुक्तिदः॥ तस्मात्पुण्यवतामेव योगोयं संप्रसिध्यति॥३१॥ अथ शक्तिचालनं॥ कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी॥ कुंडल्यरुंधती चेति शब्दपर्यायवाचकः॥ ॥१३॥
३२॥ उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्॥ कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥३३॥ येन मार्गेण

गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयं॥ मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥३४॥ कंदोर्द्ध्वे कुंडलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनां॥ बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥३५॥ अंभोधिशोलह्रीयानामा धारः शैष कुंडली॥ अशेषयोगजगतामाधारः कुंडली तथा॥३६॥ कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता॥ सा शक्तीसुरुता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥३७॥ गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीं॥ बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदं॥३८॥ इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी॥ इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी॥३९॥ पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च तां॥ निद्रां विहाय सा शक्तीर्ऊर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्॥४०॥ परिस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्द्धमात्रं॥ प्रसार्य यत्नत्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया॥४१॥ वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारं चतुरंगुलं॥ मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टणां बरलक्षणं॥४२॥ वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीं॥ कुर्यादनंतरं भस्त्रीं कुंडलीमाशु बोधयेत्॥४३॥ भानोराकुंचनं नैव कुंडलीं चालयेत्तदा॥ मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः॥४४॥ नासा दक्षणमार्गवाही पवनः प्राणो न दीर्घा कुते श्चंद्रोभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घटिकायास्तथा॥ छिन्नकालविशाल

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

वह्निवशागं भूरं धनाडीगणास्तत्कार्यं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नद्रुमस्कंधवत् ॥४५॥ कुंडलीचालयित्वाथ कु
र्याद्भस्त्रीं विशेषतः॥ एवमभ्यासतो नित्यं यमिनः शंकतेयमः॥४६॥ तदाभ्यसेत्सूर्यभेदमुज्जायीं चापि शी
तलीं॥ एवमभ्यासयोगेन यमिनः शंकतेयमः॥४७॥ मूहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ॥ ऊर्ध्वमाकृष्य
ते किंचित्सुषुम्णायाः समुद्गतः॥४८॥ तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्णायाः समुद्गतः॥ नयाति तस्मात्प्राणोयं
सुषुम्णां बुजनिश्चलः॥४९॥ यस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखं सुप्तामरुंधती॥ यस्याः संचालनाद्धाशु योगी रोगा
त्प्रमुच्यते॥५०॥ येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनं॥ किमत्र बहुनोक्तेन कालं रजति लीलया॥५१॥
ब्रह्मधर्मरतस्यैव पुंसो मितहिताशीनः॥ मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडलीभ्यासयोगतः॥५२॥ आभ्यासनिस्तं
चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत्॥ तां धारयेदुत्तमांगे दिव्यदृष्टिप्रदायिनी॥५३॥ द्विसप्ततिसहस्राणां नाडीनां
मलशोधने॥ कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्याभ्यासनादृते॥५४॥ इति शक्तिचालनं॥ मुद्रेमा दशधा प्रोक्ता
आदिनाथेन शंभुना॥ कारणं सर्वसिद्धीनामेकैकापिक्षमेव सा॥५५॥ राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना ॥१४॥
निशा॥ राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते॥५६॥ मरुदभ्यसनं किंचिन्मनोयुक्तं समाचरेत्॥ इतरत्र

न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा॥५७॥ विनापि मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनः॥ आसनप्राणसंयामैर्मु
द्राभिः सरला भवेत्॥५८॥ अभ्यासेन हि मुद्राणां तदुदेति समाधिना॥ मुद्राणांच परा मुद्रा भस्त्रा सिद्धिं प्रय
छति॥५९॥ उपदेशं हि मुद्राणां योधते सांप्रदायिकं॥ स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः॥६०॥ तस्य वा
क्यपरो भूत्वा अथाभ्याससमाहितः॥ अणिमादिगुणैश्वर्यं लभेत कालवंचकः॥६१॥ इत्यात्मारामयोगींद्रवि
रचितायां हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः॥३॥ ॥ नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने॥ निरंजनपदं या
ति यतो योगीपरायणः॥१॥ अथेदानीं प्रवक्ष्यामी समाधिक्रममुत्तमं॥ मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं
परं॥२॥ राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी॥ अमरोघा लयस्तत्र शून्याशून्यं परं पदं॥३॥ अमनस्कं त
थाद्वैतं निरालंबं निरंजनं॥ जीवन्मुक्तिश्च सहजं मुक्तिश्चेत्येकवाचकः॥४॥ सलिले सैंधवं यद्वत्साम्यं भज
ति योगतः॥ तथात्ममनसोरैक्यं समाधीरभिधीयते॥५॥ तत्समं च द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः॥ सम
स्तनष्टसंकल्पः समाधिः सोभिधीयते॥६॥ कर्पूरसलिले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा॥ तथात्ममनसोरैक्यं स
माधिः सोभिधीयते॥७॥ राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्वतः॥ ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिः गुरुवा

CC-0 Devanagari Manuscripts at UPSS Lucknow, Digitized by eGangotri

सवैकेवलकुंभकः ७० कुंभके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु
लोकेषु विद्यते ७१ शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् राजयोगपदं चैव लभते ना-
त्र संशयः ७२ हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः न सिध्यति ततो युग्ममानिष्प-
त्तेः समभ्यसेत् ७३ कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयं एवमभ्यासयोगेन राजयो-
गपदं व्रजेत् ७४ कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् अनर्गला सुषुम्ना च हठ-
सिद्धिश्च जायते ७५ वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले आरो-
ग्यता बिंदुजयोग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणं ७६ इति सहजानंदसंतान-
चिंतामणिस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः सशैलवनधा-
त्रीणां यथाधारोहिनायकः सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली १ सुप्ता गु-
रुप्रसादेन बोधिता हि यदा भवेत् तथा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोपि च २ प्रा-

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

णस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते तथा चित्तं निरालंबं तथा कालस्य वंचनं ३ शून्य
पदवीति विं सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चे
त्येकवाचकं ४ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीं ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्या
सेन बोधयेत ५ महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी उड्डियाणं मूलबंधो बंधो जा
लंधराभिधः ६ करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनं एतद्धि मुद्रादशकं जरा
मरणनाशनं ७ आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्ल
भं मरुतामपि ८ गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकं कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसु
रतं यथा ९ वज्रोलिरमरोलिश्च सहजोलिस्त्रिधा मताः एतेषां लक्षणं चाग्रे वक्तव्यं वि
शेषतः १० अथ महामुद्रा पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणं पादं प्रसारितं कृ
त्वा कराभ्यां धारयेद्दृढं कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः यथा दंडहतः सर्पो दंडाका

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ह. ह.
२०
10

रः प्रजायते ११ ऋज्वीभूता यथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् तथा सा मरणावस्था जायते
द्विपुटाश्रया १२ ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रद
र्शिता १३ न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमि
व जीर्यते १४ चंद्रांगेन समभ्यस्य सूर्यांगेन समभ्यसेत् यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मु
द्रां विसर्जयेत् १५ क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः तस्य दोषाः क्षयं यांति महामु
द्रां च योभ्यसेत् १५ कथितेयं महा[illegible]विनाशनी गोपनीया प्रयत्नेन
न देया यस्य कस्यचित् १६ अथ महाबंधः पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नि
योजयेत् १६ वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा १७ पूरयित्वा ततो वायुं हृद
ये चिबुकं दृढं निःपीड्य योनिमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत् १८ रेचयेद्वै शनैरेव महा
बंधोयमुच्यते अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः १९ कालपाशमहाबंधो

मा

२०

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

यि मोचनविदुत्तमाः अयंतु सर्वनाडीनांमूर्द्ध्वंगतिनिरोधकः २० त्रिवेणीसंगमंधत्ते
केदारंप्रापयेन्मनः अथमहावेधः रूपलावण्यसंपन्नायथास्त्रीपुरुषंविना महा
मुद्रामहाबंधौनिष्फलौवेधवर्जितौ २१ तस्मात्सर्वप्रयत्नेनमहावेधंसमभ्यसेत्
महाबंधस्थितोयोगीकृत्वापूरकमेकधीः वायूनांगतिमावृत्यनिभृतंकंठमुद्रया २२
समहस्तयुगोभूमौस्फिचौसंताडयेच्छनैः पुटद्वयंसमाक्रम्यवायुःस्फुरतिमध्यगः
२३ सोमसूर्याग्निसंबंधोजायतेचामृतायवै मृतावस्थासमुत्पन्नाततोवायुंविरेचयेत्
२४ महावेधोयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते
साधकोत्तमैः २५ एतत्त्रयंमहागुह्यंजरामृत्युविनाशनं वह्निवृद्धिकरंचैवह्यणि
मादिगुणप्रदं २६ अष्टधाक्रियतेचैवयामेयामेदिनेदिने पुण्यसंभारसंधायि
पापौघभिदुरंसदा २७ सम्यक्शिक्षावतामेवंस्वल्पंप्रथमसाधनं वह्निस्त्रीपथसे

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

६६.
११

यानामादौवर्जनमाचरेत २८ अथ खेचरी छेदनचालनदोहैः कलांक्रमेणाथवर्द्धयेत्साया
त् यावद्भ्रूमध्यंस्पृशतितदाखेचरीसिद्धिः २९ स्नुहीपत्रनिभंशस्त्रंसुतीक्ष्णंस्नि
ग्धनिर्मलं समादायततस्तेनरोममात्रंसमुच्छिनेत ३० ततःसैंधवपथ्याभ्यांचूर्णि
ताभ्यांप्रघर्षयेत पुनःसप्तदिनेप्राप्तेरोममात्रंसमुच्छिनेत ३१ एवंक्रमेणषण्मासा
न्नित्ययुक्तःसमाचरेत षण्मासेरसनामूलशिराबंधःप्रणश्यति ३२ कपालकुहरेजि
ह्वाप्रविष्टाविपरीतगा भ्रुवोरंतर्गतादृष्टिर्मुद्राभवतिखेचरी ३३ कलांपराङ्मुखीं
कृत्वाक्षणार्द्धमपितिष्ठति हरोगैर्मुच्यतेयोगीव्याधिमृत्युजरादिभिः ३४ कलांप
राङ्मुखींकृत्वात्रिपथेपरियोजयेत साभवेत्खेचरीमुद्राव्योमचक्रंतदुच्यते ३५ र
सनामूर्ध्वगांकृत्वाक्षणार्द्धमपितिष्ठति विषैर्विमुच्यतेयोगीव्याधिमृत्युजरादिभिः
३६ नरोगोमरणंतस्यननिद्रानक्षुधातृषा नचमूर्छाभवेत्तस्ययोमुद्रांवेत्तिखेचरीं ११

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

३३ पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा बाध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं
३४ चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता
३५ खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्द्ध्वतः न तस्य नाहरते बिंदुः कामिन्याश्लेषित
स्य च ३६ पातालेपद्धितयमुद्रिंमेदमस्मेतद्रसिंस्तलंचेतस्वदृतिद्युधीस्तन्मुखंनि
ष्णगाग्नं चंद्रास्तांस्यपतिवद्युषो हेवमृत्युनं रत्तीणीतद्धश्रीयास्तुकरणामहोनान्यथाम
योनिबद्धः ३७ चलितोपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलं व्रजत्यूर्द्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो
योनिमुद्रया ३८ कपालकुहरे जिह्वाकालसंहासुद्रया ऊर्द्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सो
मपानं करोति यः मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ३९ नित्यं सोमकला
पूर्णं शरीरं यस्य योगिनः तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ४० इंधनानि यथा
वह्निः तैलवर्तिं च दीपवत् तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ४१ गोमांसं भ

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

येन्नित्यं पिबेदमरवारुणीं कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ५२ गोशब्देनोदि
ता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनं ५३ जिह्वा
प्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ५४
मूर्द्धः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्द्धास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिंप
तं चिंतयेत् उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेन् निर्व्याधिः समृणालको
मलवपुर्योगी चिरं जीवति ५५ चुंबंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी
रक्षारा कटुतिक्तदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रा
गमोदीरणं तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणं ५६ एकं सृष्टिमयं बीजं
एका मुद्रा च खेचरी एको देवो निरालंबो एकावस्था मनोन्मनी ५७ सुषिरं ज्ञानज
नकं पंचस्रोतःसमन्वितं तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्शून्ये निरंजनः ५८ पश्चात्पत्र

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

हितसुखिरं येहमर्ध्यास्तिनथं तस्मिंस्तलं श्रवदलिसुधोस्तत्सुखं निमृगानां चंद्रास्रा:
स्त्रवतियवुघस्तेनमस्युनेरगणांतेवध्नीयात्स्वकराग्रमपोनान्यथावद्रावविधि: ॥ अथमूल
बंध: पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदं ॥ अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोयमुच्य
ते ५८ ॥ अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥ आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिन:
५९ गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समी
रण: ५० प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकतां गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छते
नात्र संशय: ५१ अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयो: युवा भवति वृद्धोपि
सततं मूलबंधनात् ५२ अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडले तथानलशि
खा दीर्घा वर्धते वायुनाहता ५३ ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकं तेना
त्यंतप्रदीप्तोसौ ज्वलनो देहजस्तथा ५४ तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ६

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ह.प्र.
१३

13

ग्रहतभुजंगीवनिःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत ५५ बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत त
स्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ५६ अथ उड्याणबंधः बद्धो येन सुषु
म्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः तस्मादुड्डीयणाख्योयं योगिभिः समुदाहृतं ५७ उड्डी
नं कुरुते यस्मादविश्रांतो महाखगः उड्डीयाणं तदेव स्यात्तत्र बंधोभिधीयते ५८
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत उड्डीयाणो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी
५९ उड्डीयाणं तु सहजं गुरुणा कथितं तथा अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोपि तरुणो भवे
त ६० नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः षण्मासाभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव
न संशयः ६१ सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढं गुल्फदेशसमीपे च कं
दं तत्र प्रपीडयेत ६२ पश्चिमं ताननमुदरे धारयेद्धृदये गले शनैः शनैर्यदा प्रा
णः ह्रदसंधिं नगच्छति ६३ सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डीयाणकः उड्डीयाणे

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ढं बंधेमत्योस्वामात्विवंभवेत ६४ अथजालंधरबंधः कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्छुबुकंदृढमि
छ्पा बंधोजालंधराख्योयंजरामृत्युविनाशकः ६५ बध्नातिहिशिरोजालंअधोयाति
नभोजलं ततोजालंधरोबंधः कंठदुःखौघनाशनः ६६ जालंधरेकृतेबंधेकंठसंको
चलक्षणे नपीयूषंपतत्यग्नौ नचवायुःप्रधावति ६७ कंठसंकोचनेनैवद्वेनाड्यौस्तं
भयेदृढं मध्यचक्रमिदंज्ञेयंषोडशाधारबंधनं ६८ बंधत्रयमिदंश्रेष्ठंमहासिद्धैश्चसेवि
तं सर्वेषांहठतंत्राणांसाधनंयोगिनोविदुः ६९ मूलस्थानंसमाकुंच्यउड्डियानंतु
धारयेत् इडांचपिंगलांबध्वावाहयेत्पश्चिमंपथं ७० अधस्तात्कुंचनेनैवकंठसंको
चनेकृते मध्यपश्चिमतानेनस्यात्प्राणोमध्यनाडिगः मूलस्थानस्थितोबंधःप्र
चलितपवनोलयं अनेनैवविधानेनसेवयेत्पवनालयं ततोनजायतेमृत्युःजरा
रोगादिकंतथा ७१ अथविपरीतकरणी यत्किंचित्स्रवतेचंद्रादमृतंदिव्यरूपिणः

७

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ह.ठ.
१५

15

तत्सर्वंग्रसतेसूर्यस्तेनपिंडोजराधिवः ७२ तत्रास्तिकरणंदिव्यंसूर्यस्यमुखवंचनं गु
रूपदेशतोज्ञेयंनतुशास्त्रार्थकोटिभिः ७३ ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्ध्वंभानुरधः शशी क
रणीविपरीताख्यागुरुवाक्येनलभ्यते ७४ करणीविपरीताख्यासर्वव्याधिविना
शिनी नित्यमभ्यासयुक्तस्यजठराग्निविवर्धनी ७५ आहारोबहुलस्तस्यसंपाद्यः
साधकस्यतु अल्पाहारोयदिभवेतअग्निर्दहतितत्क्षणात ७६ अधःशिराश्चोर्ध्वपादः
क्षणंस्यात्प्रथमेदिने क्षणाच्चकिंचिदधिकमभ्यसेच्चदिनेदिने ७७ वलितंपलितं
चैवषण्मासार्ध्वंनदृश्यति यामनात्रंतुयोनित्यमभ्यसेत्सतुकालजित ७८ अथ
वज्रोली स्वेच्छयावर्तमानोपियोगोक्तैर्नियमैर्विना वज्रोलींयोविजानातिसयो
गीसिद्धिभाजनं ७९ तत्रवस्तुद्वयंवक्ष्येदुर्लभंयस्यकस्यचित क्षीरंचैकंद्वितीयंच
नारीचवशवर्तिनी ८० मेहनेनशनैःसम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत पुरुषोप्यथवा

१५

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

तिवावज्रोलीसिद्धिमाप्नुयं ८१ प्रयत्नतः क्षितेनालेनफूत्कारं वज्रकंदरे शनैः प्रकुर्वी
त वायुसंचारकारणात ८२ नारीभगेपतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत चलितं तु स्वकं बिं
दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत ८३ एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवान मरणं बिंदुपाते
न जीवितं बिंदुधारणात ८४ सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात यावद्बिंदुः
स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ८५ चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं तु जीवितं तस्मा
च्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ८६ ऋतुमत्या रजोप्येवं स्त्री बिंदुं च सुरक्षयेत मे
ढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवान ८७ अयं योगः पुण्यवतां धन्यानां तत्त्वशालि
नां निर्मत्सराणां सिद्ध्येत न तु मत्सरशालिनां ८८ सहजोल्यमरोली च वज्रोल्या एव
भेदतः जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवं वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांग
लेपनं ८९ आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात सहजोलीरियं प्रोक्ता सेव्या

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

९ हायनिःस्रातयोस्यधारं निबेध्यते शीतलमध्य ४

तेयोगिभिः सदा ९० उक्तेविंदुसमायुक्तमभ्यासमगमभ्यासकाद्यावर पद्मिनीरजोस्तेत
यत्नोभ्यासेहयोगिना ९१ तस्माल्लिंगविंदुजोनाशंनगच्छतिनसंशयः सपिंडस्तद
जयेद्येषएवीभ्यपस्वदेहजो ९२ यत्नेनाल्पाभ्यासयोगेनसर्वसिद्धिःप्रजायते ९३ दि
तीलग्गात्वात्प्रथमांवधारयोनापासिद्धेःषंडमतेःसमर्थैः ९४ केवलाकुंचनाद्दिजे
स्तापिहियोगिनी अतीतानागतंधत्तेखेचरीचप्रजायते ९५ देहसिद्धिंचलभतेवस्त्रो
स्याभ्यासयोगतः अयंपुण्यकरोयोगीभोगमुक्तिमुक्तिभिः ९६ तस्मात्कुरायवज्रोमे
व अयंयोगःप्रसिद्ध्यति ९७ अथशक्तिचालनं कुटिलांगीकुंडलिनीभुजंगीशक्ति
रीश्वरी कुंडल्यरुंधतीदेवीशब्दाःपर्यायवाचकाः ९८ उद्घाटयेत्कपाटंतुयथाकुंचिक
याहठात् कुंडलिन्यातथायोगीमोक्षद्वारंविभेदयेत् ९९ येनमार्गेणगंतव्यंब्रह्मस्था
नंनिरामयं मुखेनाच्छाद्यतद्वारंप्रसुप्तापरमेश्वरी १०० कंदोर्ध्वंकुंडलीशक्तिःसुप्तामोक्षा

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ययोगिनां बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् १ खंभोध्विमेलद्वीपानां आधारः षे
षकुंडली श्लेषवयोगतेश्रातां आधारः कुंडलीतथा गुह्येंवयोगे २ कुंडलीकुटिलाकारा
सर्पवत्परिकीर्तिता साशक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ३ गंगायमुनयोर्मध्ये
बालरंडां तपस्विनीं बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदं ४ इडा भगवती गंगा पिं
गला यमुना नदी तन्मध्ये बालरंडा च कुंडलीति पिंगलेडयोः ५ पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्ताउ
द्बोधयेच्च तां निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ६ पतिस्थितैव फणावती सा

श्रा

प्रातश्च सायं प्रहरार्द्धमात्रं प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ७
वितस्तिश्च मितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलं मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनांबरलक्षणं ८
वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुंडलीं कुर्यादनंतरं भस्त्रीं कुंडलीमाशु बोधयेत्
९ भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ९

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

ह०
१६

नासाग्रदृष्टिमार्गस्थो हि पवनाभ्यासतो निरोधितस्तम्भं कुंभः परिपूरितामृततलतः प्राणेहि
काकास्तथा छिंदन्ते कालविशालवह्निपवनाग्रान्प्रग्रंथिनाडीगणान् तं कायं कुरुते च
नैव तं जीर्णं द्रुमस्कंदवत् १० कुंडलीं बोधयित्वा तु पश्चात् ओडग्रन्थिं विभेदयेत् एवमभ्यासतो
नित्यं यमिनः शीर्यते यमः ११ तदभ्यासेन सर्वेषां मुक्तायोग्या पि शीतलीं एवमभ्यास
युक्तस्य यमिनः कुतः १२ मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ऊर्ध्वमाकृष्यते
किंचित्सुषुम्णायां समुद्गता तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्णायाः समुद्गतः न्याति तस्मात्ता
लोऽप्यंगं सुषुम्णायाः निःसृताः तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुषुम्णा कामदंधती यस्तां संचाल
येन्नाभ्यो योगी रोगात्प्रमुच्यते येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनं किमत्र बहुने
तेनु कालं जयति लीलया ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः १३ मंडलादृश्यते
सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगतः अभ्यासं विद्धि तं बोद्धिं विधत्स्व सहमित्रयेन १४ तदा सरस्वतीं चाल

१६

मंगोदिष्टमहासिद्धिप्रदायकं द्विसप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं कुतः प्रक्षालनोपायः कुं-
डल्यभ्यासनादृते १५ इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना एकैका तासु यमिनां म-
हासिद्धिप्रदायिनी १६ राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा राजयोगं विना
मुद्रा विचित्रापि न राजते १७ मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् इतरत्र न कर्तव्या
मनोवृत्तिर्मनीषिणा १८ शिथिलापि मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनां आसनप्राण-
संयाममुद्राभिः सरला भवेत् १९ अभ्यासे निद्रालूनां राजयोगः एकमुद्राः रुद्राणीस-
यत्नमुद्रा यत्सिद्धिं प्रयच्छति २० उपदेशो हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकः स एव श्री-
गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः २१ तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः अणि-
मादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनात् २२ इति सहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयो-
गींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने

© Dharmartha Trust JK. Digitized by eGangotri

प्राणारेवंतेकुर्याच्चित्तंनिराश्रयं। एवमभ्यासयोगेनरा
जयोगपदंव्रजेत्॥७७॥ कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबो
धतोभवेत्। अनर्गलासुषुम्नाचहठसिद्धिश्चजायते।
७०पवपुःकृशत्वंवदनेप्रसन्नतानादस्फुटत्वंनयनेसु
निर्मले। आरोग्यताबिंदुजयोग्निदीपनंनाडीविशुद्धिर्ह
सिद्धि
ठयोगलक्षणं॥७९॥ इतिसहजानंदसंतानचिंतामणि
स्वात्मारामविरचितायांहठप्रदीपिकायांद्वितीयोपदे

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह०यो०

यदाजागर्तिकुंडली।

हः॥ ॥सशैलवनधात्रीणांयथाधारोऽहिनायकः॥स
र्वेषांयोगतंत्राणांतथाधारोहिकुंडली॥१सुप्तागुरु
प्रसादेनबोधितासुखदानवेत।तथासर्वाणिपद्मानि
भिद्यंतेग्रंथयोऽपि॥२प्राणस्यशून्यपदवीतथाराज
पथायते।तथाचित्तंनिरालंबंतथाकालस्यवंचनं॥
३शून्यपदवीतिकिं॥सुषुम्नाशून्यपदवीब्रह्मरंध्रं
महापथः।श्मशानंशांभवीमध्यमार्गश्चेत्येकवाचकं।

२०

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

संसमाचरेत्

॥४ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीं। ब्रह्मद्वा
रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासेन बोधयेत्॥५ महामुद्राम
हाबंधो महावेधश्च खेचरी। उड्डीयाणं मूलबंधो
बंधो जालंधरोभिधः॥६ करणी विपरीताख्या वज्रो
लीशक्तिचालनं। एतद्धि मुद्रादशकं जरामरणनाश
नं॥७ आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं। वल्ल
भं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि। गोपनीयं प्रयत्ने

६

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

वज्रोलिरमरोलिश्च सहजोलिस्त्रिधा मतः । एतेषां लक्षणं वक्ष्ये कर्त्तव्यं च विशेषतः ।२

हृ१७

नयत्यारल्लकरंडकं कस्य विघ्ने ववक्र यं कुलस्त्रीसुरतं
यथा ॥ ९ ॥ अथ महामुद्रा ॥ पादमूलेन वामेन योनिं संपी
ड्य दक्षिणं । पादं प्रसारितं धृत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखं ॥ १०
कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्द्ध्वतः । यथा दंडहतः
सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥ ऋज्वी भूत्वा तथा शक्तिः कुं
डली सहसा भवेत्तात तथासौ मरणावस्था हरते द्विपु
टाश्रया ॥ १२ ॥ नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीर

२२

२१

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नतु वेगतः । इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।१

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

स्याः। अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ १३ ॥ एवं
अंगे तु समभ्यस्य सव्यांगे तु समभ्यसेत्। यावत्तुल्या
भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १४ ॥ क्षयकुष्ठगुदा
वर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः। तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामु
द्रां यो भ्यसेत् ॥ १५ ॥ कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविना
शनी। गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥
अथ महाबंधः। पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह॰ य॰ २२

जयेत्॥ वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥ १७ ॥ पूरयित्व
मुखेवायुं हृदये चिबुकं दृढं॥ निःपीड्यो निमाकुंच्य मनो
मध्ये नियोजयेत्॥ १८ ॥ एवचये बंधानेरेव महाबंधोयमुच्य
ते॥ अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः॥ १९ ॥ काल
पाशमहाबंधोविमोचनविचक्षणः॥ अयंतु सर्वनाडीनां
मूर्द्धगमनबोधकः॥ २० ॥ त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापये
न्मनः॥ अयं महाबंधः॥ रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरु

२२

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

पंविना। महामुद्रामहाबंधौ। निष्फलौ वेधवर्जितौ।।२१।।
महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः। वायूनां गति
मावृत्य निभृतं कंठमुद्रया।।२२ समहस्तयुगो भूमौ
स्फिचौ संताडयेच्छनैः।।पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फु
रति मध्यगः।।२३ सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृ
ताय वै। मृतावस्था समुत्पन्ना ततो मृत्युभयं कुतः।।२४
महावेधोयमभ्यासात् महासिद्धिप्रदायकः। वली

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन महावेधं समभ्यसेत्

पलितवैवब्रः। सेव्यते साधकोत्तमैः।२५ एतद्व्रयं महागुह्यं जन्म
मृत्युविनाशनं। वह्निवृद्धिकरं चैव अणिमादिगुणप्रदं २६
अष्टधा क्रियते वैद्य मेयामे दिने दिने। पुण्ये प्रमावसं
...मा विपापो यानि पुरं सदा।।२७ सम्यक् शिष्याव नामे
वंस्वल्पं प्रथमं मासे धनं। वह्निसूर्यप थर्मे दानामादौ वर्ज
नमाचरेत्।।२८ अथ खेचरी।। छेदनचालनदोहैः कलां
क्रमेण वर्द्धयेत्तावत्। यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेच

२३

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

स्तु हीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलं समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ १॥ आदौ स्नेच व पथ्या स्या चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ २॥ एवं क्रमेण षण्मासं नित्ययुक्तः समाचरेत् षण्मासैः रसनामूले शिराबन्धः प्रणश्यति॥ ३॥ २४

हरीतकी

रीसिद्धिः॥ ३१॥ कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ ३२॥ कलां पराङ्मु
खीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्। सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योम
चक्रं तदुच्यते॥ ३३॥ रसनामूर्द्ध्वगां कृत्वा क्षणार्द्धं यस्तु
तिष्ठति। विषयैर्मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः॥
३४ न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा॥ न च मूर्छा भ
वेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं॥ ३५ पीड्यते न च रोगेण न च लि

क्षणार्द्धमपि तिष्ठति। क्षणेन मुच्यते सो जीव्याधि मृत्युजरादिभिः। कलां पराङ्मुखीं कृत्वा ५

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.यो. २४

प्यन्तिकर्मणा। बाध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥ ३४॥ चित्तं चरति खे यस्मात् जिह्वा चरति खे गता। तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्नमस्कृता॥ ३५॥ खेचर्या मुद्रितो येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः। न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याश्लेषितस्य वा॥ ३६॥ चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलं। व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया॥ ३७॥ कपालकुहरे जिह्वा कालसंहारमुद्रया॥ ३८॥ ऊर्ध्वजि

पाताले यद्धि तन्यत् सुषिरं मेरुमूले तदस्मिं स तत्त्वं चैतन्यं वदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानां। वं द्राक्संरंसत्व तिन पुनोदोषम्, स्तुर्नरालां तत् [illegible] कार्यसिद्धिः॥

२४ प्रभा

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह्वः स्थितौ भूत्वा सोमपानं करोति यः। मासार्द्धेन न संदेहो
मृत्युं जयति योगवित्॥३९॥ नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं
यस्य योगिनः। तक्षकेनापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति॥
४०॥ इंधनानि यथा वह्निः तैलं वर्त्तिं च दीपकः। तथा
षोडश्या कलापूर्णो देही देहं न मुंचति॥४१॥ गोमांसं भक्ष
येन्नित्यं पिबेदमरवारुणीं। कुलीनं तमहं मन्येतरे कु
लघातकाः॥४२॥ गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.ग.

२५

तालुनि गोमांसभक्षणं त्वै तत् महापातकनाशनं ॥४३
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु चंद्रात्
स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥४४ मूर्द्ध्नः षो
डशपद्मपत्रगलितं प्राणादवाप्तं हठा दूर्द्ध्वास्यो रस
नां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयेत् उत्कल्लोलक
लाजलं च विमलं धारामृतं यः पिबेत् निर्दोषं स मृणा
लकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥४५ चुंबंती यदि लं

२५

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

विकाग्रमनिशं जिह्वासरेस्यंदिनी रसारा कटुतिक्तदु (शिर) (यैं)
ग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा। व्याधीनां हरणं जरांत
करणं शास्त्रागमोदीरणं तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणि
तं सिद्धांगनाकर्षणं॥४८ एकं सृष्टिमयं बीजं एका मु
द्रा च खेचरी। एको देवो निरालंबा एकावस्था मनो (समा)
न्मनी॥४९ अथ मूलबंधः॥ पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनि
माकुंचयेद्गुदं। अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोयमुच्यते॥

ह्रा॰१ पं॰ नाला॰ सुषुम्णा इडा पिं स्तत ४ पिं ५ — सुषिरं स्नानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितं। तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजनः॥१॥ मत्स्यांतस्थम [illegible] हितं सुषिरं मेरुमूर्ध्नि स्थितं [illegible] नां पे द्रा सारः स्रवति वपु षस्तेन मृत्युर्नराणां तं वध्नीयात् [illegible] फलमथो नान्यथा कायसिद्धिः॥२॥ — तालुरंध्रे

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हृ०. ॥४९॥ अधोगतमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते हठात्। आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं तु योगिनः ॥४९॥ गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात्। वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥५०॥ प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकतां। गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥५१॥ अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः। युवा भवति वृद्धोपि सततं मूलबंधनात् ॥५२॥ अपाने चोर्ध्वगे जाते

२६. २८

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

संप्राप्तो वह्निमंडलं तथानलशिखा दीर्घा वर्द्धते वायु
नाहता ॥५३ ततो यातौ वह्निपानौ प्राणमुष्णस्वरूप
कं । तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥५४ तेन
कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते दंडाहता भुजंगी
व निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥५५ बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्म
नाड्यांतरं व्रजेत् । तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्त्तव्यो योगि
भिः सदा ॥५६ अथ उड्डियाणबंधः ॥ बद्धो येन सुषुम्नायां

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह्र.

प्राणोस्तुड्डीयानंतेयतः। तस्माडुड्डीयाणाख्योयंयोगिभिः

समुदाहृतः॥५७ उड्डीयाणंतदेवस्यात्कुरुतेयस्माद्दवि

श्रांतोमहाखगः। उड्डीयाणंतदेवस्यात्तत्रबंधोभि

धीयते॥५८ उदरेपश्चिमंताणंनाभेरूर्द्ध्वंतुकारयेत्। उ

ड्डीयाणोह्यसौबंधोमृत्युमातंगकेसरी॥५९ उड्डीया

णंतुसहजंगुरुणाकथितंतथा। अभ्यसेदस्वतंत्रस्तुवृ

द्धोपितरुणोभवेत्॥६० नाभेरूर्द्ध्वमधश्चापिताणंकु

२१

२१

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

योस्त्रयत्नतः। षण्मासादभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः
॥६१॥ सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढं। गुल्फदेशस
मीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत्॥६२॥ पश्चिमं तानमुदरे कार
येद्धृदये गले। शनैः शनैर्यथा प्राणस्तुंदसंधिं निगृह्णाति
॥६३॥ सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डीयाणकः। उड्डीया
णे दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्॥६४॥ अथ जालंधर
बंधः॥ कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया। बंधो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.व.

जरामरविनाशनः

जालंधराख्यायं अमृताख्यय कारकः॥८५॥ बध्नाति हि शि
रो जालं अधो याति नभो जलं। ततो जालंधरो बंधः कंठदुः
खौघनाशनः॥८६॥ जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्ष
णे। न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति॥८७॥ कंठसं
कोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेत् दृढं। मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं
षोडशाधारबंधनं॥८८॥ बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैर्नि
षेवितं। सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः॥८९॥

२८

२८

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

अधस्तात्कुंचनेनैव कंठसंकोचनेकृते । मध्यपश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः । ब्रह्मस्थाना
न्स्थितोरोध्यः प्रयाति पवनो लयं ।

कुंच्य

मूलस्थानंसमाकुंच्यउड्डियाणंतुकारयेत्।इडांवपिंग
लांबध्वावाहयेत्पश्चिमेपथि ॥ ७० ॥ अनेनैवविधानेनस
वयेत्पवनोलयं। ततोनजायतेमृत्युः जरारोगादिकं
तथा ॥ ७१ ॥ अथविपरीतकरणी ॥ यत्किंचित्स्रवतेचं
द्रादमृतंदिव्यरूपिणं। तत्सर्वंग्रसतेसूर्यस्तेनपिंडो
जरा यु
विनाशितः ॥ ७२ ॥ तत्रास्तिकरणंदिव्यंसूर्यस्यमुखवंच
नं। गुरूपदेशतोज्ञेयंनतुशास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७३ ॥ उर्द्ध्वं

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हठ.

नाभिरधस्तालुऊर्द्धं भानुरधः शशी। करणी विपरीताख्या
गुरुवाक्येन लभ्यते॥७४ करणी विपरीताख्यासर्वया
व्याधिविनाशिनी॥ नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निवि
वर्द्धनी॥७५ आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य
तु। अल्पाहारो यदि भवेत् अग्निर्देहं हरेत्क्षणात्॥७६
अधःशिरश्चोर्द्धपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने। क्षणाच्च किं
चिदधिकं अभ्यसेच्च दिनेदिने॥७७ वलितं पलितं चैव

२९

२९

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

षण्मासाद्र्ध्वं न नूपलिता॥ याममात्रं[तु] यो नित्यमभ्यसेत्स तु का
लजितः॥ ७८ अथ वज्रोली॥ स्वेछया वर्त्तमानोपि यो गो
क्तैर्नियमैर्विना॥ वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धि
[मोक्ष भाज] भाजनं॥ ७९ तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्॥
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्त्तिनी॥ ८० मेहनेन श
नैः सम्यकूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत्॥ पुरुषो वापि नारी वा व
ज्रोलीसिद्धिभाजनं॥ ८१ नार्या भगे पतद्बिंदुमभ्यासेनो
प्रयत्नतः शिस्रोनालेन फूत्कारं कंबुकंधरे॥ शनैः २ प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात्तदप॥ ८२

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.व.

र्द्ध्वमाहरेत्। चलितं तु स्वकं बिंदुमूर्द्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्॥८२
एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित्। मरणं बिंदुपा
तेन जीवितं बिंदुधारणात्॥८३ सुगंधो योगिनो देहो जा
यते बिंदुधारणात्। यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं
कुतः॥८४ मलायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं तु जीवितं।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः॥८५ ऋतुमत्या
रजोप्येवं निजं बिंदुं च रक्षयेत्। मेढ्रेणाकर्षयेदूर्द्ध्वं सम्य

३०

जो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

गाभ्यासयोगावाप्ता ॥ ९७ ॥ अयंयोगः पुण्यवतांधन्यानांतत्व
दर्शिनां ॥ निर्मत्सराणां [illegible] सिद्ध्येत न तु मत्सरशालिनां ॥
॥ ९८ ॥ सहजैश्चामरौलिश्च वज्रोल्या एवभेदतः ॥ वज्रोली
मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं ॥ ९९ ॥ आसीनयोः सु
खेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ सहजोलिरियंप्रोक्ता
सेव्यते योगिभिः सदा ॥ १०० ॥ पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्या
सपाटवात् ॥ यदि नारी रजो रक्षेत् वज्रोल्या सा हि योगिनी ॥

जलेषु भस्म नि
क्षिप्य दग्धगो
मयसंभवं ॥

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह. यो.

पाटो॥ तस्मात्किं विद्वज्ज्ञाता नाग्रं लुगच्छति न संशयः॥ स बिंदुस्त

द्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहजौ॥८२ वज्रोल्याभ्यासयोगे

न सर्वसिद्धिः प्रजायते॥८३ पित्तोल्बणत्वात्प्रथमांबुधा

रां विहाय निःसारतयोत्तरधारां विषेव्य तन्नीतलमध्यधा

रां कापालिकैः खंडमतैः समर्थ्यैः॥८४ देहजौ कुंचनौ हृदी

रजसा पिहि योगिनी। अतीतानागतं चैव खेचरी च प्रजा

यते॥८५ देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्याभ्यासयोगतः॥ अयं

31

31

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

भुजनकरो योगी योगी मुक्तिमुक्तिभिः ॥९६ तस्मात्पुण्यवता
मेव ध्रुवं योगः प्रसिध्यति ॥९७ अथ शक्तिचालनं ॥ कुटि
लांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी। कुंडल्यरुंधती
देवी शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥९८ उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा
कुंचिकया हठात्। कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं
विभेदयेत् ॥९९ येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरा
मयं। मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥१०० कंदो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह॰ व॰

३२

ई॥ कुंडलीशक्तिर्बुद्धा मोक्षाय योगिनां। बंधनाय च मूढा
नां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥१॥ ओं मोघितो लब्धी पालानां आ
धारः शेष कुंडली। अशेष योगतंत्राणां आधारः कुंड
ली तथा॥२॥ कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्त्ति
ता। सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥३॥ गं
गायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनी। बलात्कारेण
गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदं॥४॥ पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सु

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी तन्मध्ये बालरंडा च कुंडली पिंगलेडयोः।

३२

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ष तां

मामुद्बोधयेदनिः । निद्रां विहाय सा कुण्डली ऊर्ध्वमुत्तिष्ठ
तेहठात ॥ परिस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सा
यं प्रहरार्द्धमात्रं । प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य
नित्यं परिचालनीया ॥ वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे
चतुरंगुलं । मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनांबरलक्षणं ॥
वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुंडलीं । कुर्यादनं
तरं भस्त्रीं कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ भानोराकुंचनं कु

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.व.

यात्तु कुंडलीं चालयेत्ततः। मूलकवक्त्रगतस्थापितस्य म

ल्पकलयंत्कुतः॥८॥नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणो

३३ तिदीर्घीकृतस्तत्रांभःपरिपूरितामृततनुःप्रांघंटिका

याल्पं॥ हिदंनकालविश्रालवह्निवशगामाकृष्यकुंडलिनी

डीगणाय॥ तं कार्यं कुरुते पुनर्भवतरं जीर्णं द्रुमस्कंध

वत्॥९॥ कुंडलीचालयित्वाथ कुर्याद्भस्त्रीं विशेषतः।

एवमभ्यासतो नित्यं यमिनः शंकते यमः॥११॥ तदाभ्यसे

३३ चिन

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

कुर्ध्वं मा रुष्यते किंचित्सुषुम्णायाः समुद्धृतः। तेन कुंडलिनी तस्मात्सुषुम्णायाः समुद्धृ
तः। नयाति तस्मात्प्रलोभ्य सुषुम्णायां [illegible] नित्यशः। तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुषुम्णायां [illegible]

कुर्यादिदं मुद्रा पीत्वा पिबेत्तली। एवमभ्यासयुक्तस्य
श्रमस्थ्य यामिनः कृतः ॥२२॥ मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भय
[illegible] ॥ लनादसमौ। ब्रह्मचर्यव्रतस्थैव नित्यं
हितमितभोजिनः ॥२३॥ मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यास
योगतः। अभ्यासं बिंदुं तं वांड्री विमूत्याभ्यासहमिश्रयेत।
॥२४॥ तद्धारणं योगमार्गो दिव्यदृष्टिप्रदायकं। द्विसप्तति
सहस्राणां नाडीनां मलशोधनं। कृतः प्रक्षालनोपायः

। यस्तां संचा
लयेदात्मयोगी
[illegible]
येन संचालि
तः स योगी
सिद्धिभाजनं।
[illegible]
[illegible]
[illegible]

कुंडल्यभ्यासनाहतो ॥१५॥ इति मुद्रादशप्रोक्ता आदिना
थेन शंभुना । एकैकातासुयमिनां महासिद्धिप्रदायनी ॥
१६ राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा । राजयो
गं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते ॥१७॥ मारुतस्य विधिं
सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ॥ इतरत्र न कर्तव्या मनोवृ
त्तिर्मनीषिणा ॥१८॥ शिवलीपि मध्यमानाडी हठाभ्यासे
न योगिनां । आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरलानवे

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ला॥ १९ ॥ उपासनविनिद्राणां राजयोगः समुद्गतः । रुद्राणी
सा परा मुद्रा महतीं सिद्धिं प्रयच्छति ॥ २० ॥ उपदेष्टा हि मुद्रा
णां योगदं तेषां प्रदायकः । स एव श्रीगुरुस्वामी साक्षा
दीश्वर एव सः ॥ २१ ॥ तस्य वाक्यापरोक्षत्वा योऽभ्यसति
समाहितः । अणिमादिगुणैश्वर्यं जायते कालवंचमात्
॥ २२ ॥ इति सहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्माराम
विरचितायां हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः ॥ ॥

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

नाराजयोगोराजयोगविनाहठः नसिद्ध्यतिततोयुग्ममानिष्पत्तेःसमभ्य
सेत् ८३ कुंभकप्राणरोधांतेकुर्याच्चित्तंनिराश्रयं एवंअभ्यासयोगेन
राजयोगपदंव्रजेत् ८४ कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतोभवेत् अनर्ग
लासुषुम्नाचहठसिद्धिश्चजायते ८५ वपुःकृशत्वंवदनेप्रसन्नतानादस्फु
टत्वंनयनेसुनिर्मले अरोगताबिंदुजयोग्निदीपनंनाडीविशुद्धिर्हठयोग
लक्षणं ८६ इतिसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामविरचितायां
हठप्रदीपिकायांद्वितीयोपदेशः सशैलवनधात्रीणांयथाधारोहि
नायकः सर्वेषांयोगतंत्राणांतथाधारोहिकुंडली १ सुप्तागुरुप्रसादे
नयदाजागर्तिकुंडली तथासर्वाणिपद्मानिभिद्यंतेग्रंथयस्तथा २ प्रा
णस्यशून्यपदवीतथाराजपथायते तथाचित्तंनिरालंबंतथाकालस्यवंच
नं ३ शून्यपदवीतिकिं सुषुम्नाशून्यपदवीब्रह्मरंध्रंमहापथम् श्मशानं

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

सांभवीमध्यमार्गश्चेत्येकवाचकः ४ तस्मात्सर्वप्रयत्नेनप्रबोधयतुमीश्व
री ब्रह्मद्वारमुखेसुप्तामुद्राभ्यासेनबोधयेत् ५ अथदशमुद्रा महामुद्रा
महाबंधोमहावेधश्चखेचरी उड्डीयानंमूलबंधश्चबंधोजालंधराभिधः ६ कर
णीविपरीताख्यंवज्रोलीशक्तिचालनं इदंहिमुद्रादशकंजरामरणना
शनं ७ आदिनाथोदितंसर्वमष्टैश्वर्यप्रदायकं वल्लभंसर्वसिद्धाना
दुर्लभंमहतामपि ८ गोपनियंप्रयत्नेनयथारत्नकरंडकं कस्यचि
न्नैववक्तव्यंकुलस्त्रीसुरतंयथा ९ वज्रोलीरमरोलीश्चसहजोलीस्त्रि
धामताः एतेषांलक्षणंवक्ष्येकर्त्तव्यंचविशेषतः १० अथमहामुद्रा पा
दमूलेनवामेनयोनिसंपीड्यदक्षिणं पादंप्रसारितंधृत्वाकराभ्यांपूरयेद्दृ
ढं ११ कंठेबंधंसमारोप्यधारयेद्वायुमूर्द्धनि यथादंडहतः सर्पोदंडाकार

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

प्रजायते १२ ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् तदासौ मरणा
वस्था हरते द्विपुटाश्रिता १३ ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः इदं खलु
महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता १४ महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणा
दयः महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः १५ चंद्रांगे च समभ्यस्य सूर्यां
गे पुनरभ्यसेत् यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् १६ न हि प
थ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जी
र्यति १७ क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः दोषाः सर्वे क्षयं यांति मह
मुद्रां च योभ्यसेत् १८ कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणां गोपनी
या प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् १९ अथ महाबंधः पार्ष्णिं वामस्य पा
दस्य योनिस्थाने नियोजयेत् वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा २०

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

पूरयित्वामुखेवायुंहृदयेचिवुकंदृढं निःपीड्ययोनिमाकुंच्यमनोमध्येनियो
जयेत् २१ धारयित्वायथाशक्तिरेचयेदनिलंशनैः सव्यांगेपूर्वमभ्यस्यदक्षां
गेपुनरभ्यसेत् २२ मतंतत्रतुकेषांचित्कंठबंधंविवर्जयेत् राजदंतस्थजिह्वा
यांबंधःशस्तोभवेदिति २३ अयंखलुमहाबंधोमहासिद्धिप्रदायकः का
लपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः २४ अयंचसर्वनाडीनामूर्द्धगमनरो
धकः त्रिवेणीसंगमंधत्तेकेदारंप्रापयेन्मनः २५ रूपलावण्यसंपन्नायथा
स्त्रीपुरुषंविना महामुद्रामहाबंधौनिःफलौवेधवर्जितौ २६ अथमहा
वेधः महावेधेस्थितोयोगीकृत्वापूरकमेकधीः वायुनागतिमाकृष्यनिभृ
तंकंठमुद्रया २७ समहस्तयुगोभूमौस्फिचौसंताडयेच्छनैः पुटद्वयंसमा
क्रम्यवायुःस्फुरतिमध्यगः २८ सोमसूर्याग्निसंबंधोजायतेचमृतिंजयः

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

मृतावस्थासमुत्पन्नाततोमृत्युभयंकुत: २९ महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्र
दायक: वलिपलितनिर्मुक्त:सेव्यतेसाधकोत्तमै: ३० एतत्त्रयंमहामुद्राजरामृ
त्युविनाशिनी वह्निवृद्धिकरंचैवमणिमादिगुणप्रदं ३१ अष्टधाक्रियतेचैवया
मेयामेदिनेदिने पुण्यसंभारसंधायिपापौघभिदुरंसदा ३२ सम्यक्शिक्षाव
तामेवस्वल्पंप्रथमसाधनं वह्निस्त्रीपंथसेवानामादौवर्जनमाचरेत् ३३ अ
थ खेचरी छेदनंचालनंदोहै:जिह्वांक्रमेणवर्द्धयेत् यावद्भ्रूमध्यमस्पृशतित
दाचखेचरीसिद्धि: ३४ स्नुहीपत्रनिभंशस्त्रंसुतीक्ष्णंस्निग्धनिर्मलं समाद
यततस्तेनरोममात्रंसमुच्छिधेत् कृत्वासैंधवपथ्याभ्यांचूर्णिताभ्यांप्रघर्षयेत्
पुन:सप्तदिनेप्राप्तेरोममात्रंसमुच्छिधेत् ३६ एवंक्रमेणषण्मासंनित्ययु
क्त:समाचरेत् षण्मासाद्रसनामूलनाडीबंधंविनश्यति ३७ अथवागीश्व

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह॰ प्र॰
१५

रीधामशिरोवस्त्रेणावेष्टयेत् शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित् ३८ वि
तस्तिप्रमितं दैर्घ्यं विस्तारं चतुरंगुलं मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणं
३९ पुनः षण्मासमात्रेण पुनः संकर्षणात्प्रिये भ्रूमध्यावधि वर्द्धते तिर्य्य
क्कर्णबिलावधि ४० अधस्ताच्चिबुकं मूलं प्रयाति क्रमचारिता केशा
दूर्ध्वं च क्रमतस्तिर्य्यक् शंखावधि प्रिये ४१ पुनः संवत्सरादेव विद्धि जिह्वा चै
वलीलया ब्रह्मरंध्रान्तमावृत्य तिष्ठत्यमरवंदिते ४२ स्वतालुमूलं संघृष्य म
त्रवासरमात्मनि स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ४३ अंगुल्य
ग्रेण संघृष्य जिह्वां तत्र निवेशयेत् शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाट
भृत् ४४ पूर्वं वीर्ययुतां विद्यां व्याप्यात्मनि दुर्लभां अभ्यासः षडंगकुर्वीत
तया षट्चक्रभिन्नया ४५ खेनिरस्तसकलक्रियाक्रमेणाचिते तम्बरजिषणा

राम॰
१५

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

खनोदये सा शिवचत्वसमवायकारिणी खेचरीचभवखेदहारिणी ४६ क्रमेणे

वम्रकर्तुमाभ्यासेन वरदर्शिनी युगपद्यतनेन स्पर्शाशरीरं विलयं व्रजेत् ४७ तस्मा

च्छनैः शनैःकार्य्याभ्यासेन युगपत्प्रिये एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं विशेस्फुटं

४८ षट्चक्राणि विभिद्य शक्ति भुजंगी प्रोत्थाप्य मूलस्थिता भित्वा ग्रंथि

त्रयं च पश्चिम शिरस्त्राकाररूपं महत् ४९ नित्वा प्राणमतः शिरोविलमलं नि

र्मथ्य विन्नेन ततः लिंगं पः पिवतीदुमंडलगलत्पुतं ः ससात्त्वाशिव ः ५० नि

त्यं यत्र्तः ईजिह्वाग्रयो पिवतिपुमान्सप्तधारामृतोघं सुस्वादं शीतलांगदुरि

तभयहरं स्नुत्पिपासानिवारि ५१ पिंडस्थैर्य्यं हितस्मात्द्भवतिमृतंपथ्यामृ

त्युरोगात्द्भवति दौर्भाग्यं यातिनाशंप्रसरतिसकलं याति कालं प्रभित्वा

५२ नीहाराकं हरते व्याधिं कटुकं कुष्टनाशनं घृतस्वादूपमं चैवामरत्वं

16

लभनेक्षवं ५३ मधुस्वादूपमंचैवशाप्यमुद्गरनिबद्ध लडुखंडकनिपाघानि
पक्वान्नान्यनेकशः ५४ दिव्यकल्पंक्रीडतिनित्यमुरुहोजायतेक्षवं गम्य
यत्वमवाप्नोतिकोशकारिवकीटकः ५५ कपालकुहरेजिह्वाप्रविष्टावि
परीतगा भ्रुवोरंतर्गतादृष्टिर्मुद्राभवतिखेचरी ५६ काकचंचुविधानेनशीत
लंसलिलंपिवेत् प्राणापानप्रयोगेचयोगीभवतिनिर्जरी ५७ कलां
पराङ्मुखीकृत्वात्रिपथेपरिवर्तयेत् साभवेत्खेचरीमुद्राव्योमचक्रंत
दुच्यते ५८ रसनामूर्द्ध्वगांकृत्वाक्षणार्द्धमपितिष्ठति विषयैर्मुच्यतेयोगी
व्याधिमृत्युजरादिभिः ५९ नरोगोमरणंतस्यननिद्रानक्षुधातृषा नच
मूर्छाभवेत्तस्ययोमुद्रांवेत्तिखेचरी. ६॰ पीड्यतेनतुरोगेणनचलिप्यति
कर्मणा वाध्यतेनचकालेनयोमुद्रांवेत्तिखेचरी ६१ चित्तंचरतिखे

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

यस्माज्जिह्वा चरति खेगता तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ६२
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्द्ध्वतः तस्य नाक्षरते बिंदुः कामिन्यालिंगन
स्य च ६३ चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तश्च हुताशनं व्रजत्यूर्द्ध्वं हठः शक्त्या
निरुद्धो योनिमुद्रया ६४ कपालकुहरे जिह्वां कल्लासंधानमुद्रया तस्या
दिक्षमकुर्वीत नित्ययुक्तः समाहितः ६५ नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य
योगिनः तक्षकेनापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्प्पति ६६ ऊर्द्ध्वजिह्वा स्थिरो भू
त्वा सोमपानं करोति यः मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ६७ इंधनानि यथा
वह्निस्तैलवर्त्तिवद्दीपकः तथा षोडशकलापूर्णा देही देहेन मुंचति ६८ रसनां वेशये
दृढं पिबेत्तत्स्रवितं जलं गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीं ६९ कुलीनं तम
हमन्येऽतरे कुलघातकाः गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ७० गोमां

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

17

संभक्षणं तच्च महापातकनाशनं जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलुः ७१
चंद्रात् स्रवति यः सारः स्यात्तस्मादमरवारुणी नाभिदेशे भवत्येको भास्करो दहनात्मकः
७२ अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमध्ये तु चंद्रमा वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्द्धमुखो
रविः ७३ ज्ञातव्यं करणं तस्य येन पीयूषमाप्यते मूर्द्धिः षोडशपद्मपत्रगलितं प्राणा
द्वाप्तहठात् ऊर्द्धास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयेत् उत्कल्लोलकलाजलं
च विमलं धारामृतं यः पिबेत् निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरंजीवति चुंबं
ती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्य
तुल्यं यथा व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं ७७ तस्य स्यादमरत्वम
ष्टगुणिता सिद्धांगनाकर्षणं सुखिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतसमन्वितः ७८ तिष्ठति खे
चरीमुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजने यत्नलंपचापिहतः सुखिरं मेरुमूर्द्धनि ७९ तस्मिन्

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

त्वेत्थंवदतिसुधीस्तन्मुखंनिम्नगानां चंद्रात्सारः स्रवतिपीयूषस्तेनमृत्युनराणां
८० तंवध्नीयात्सुकरणमथोनान्यथाकायसिद्धिः एकंसृष्टिमयंवीजमेकामुद्राच
खेचरी एकोदेवोनिरालंवोएकावस्थामनोन्मनी ८१ अथमूलवंधमुद्रा वंद्धमू
लविलंयेनतेनविघ्नोविदारितः अजरामरतांयातियथापंचमुखोहरः ८२ अमृ
तापूर्णदेहस्ययोगिनोद्वित्रिवत्सरात् ऊर्द्धंप्रवर्ततेरेतोह्यणिमादिगुणोदयात् ८३
पार्ष्णिभागेनसंपीड्ययोनिमाकुंचयेद्गुदं अपानमूर्द्धमाकृष्यमूलवंधोयमुच्यते ८४
अधोगतमपानंवैचोर्द्धगंकुरुतेहठात् आकुंचनेनतंप्राहुर्मूलवंधंतुयोगिनः
८५ गुदंपार्ष्णिंतुसंपीड्यनिमाकुंचयेद्बलात् वारंवारंयथाचोर्द्धंसमायातिस
मीरणः ८६ प्राणापानौनादविंदूमूलवंधेनचैकतः ततोयोगस्यसंसिद्धिंकु
रुतेनात्रसंशयः ८७ अपानप्राणयोरैक्यंक्षयोमूत्रपुरीषयोः युवाभवति

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

वृद्धोपिस्युतरुणंमूलबंधनात् ८८ अपानेचोर्द्धगेजातेसंप्रेवह्निमंडले तदानलशि
खादीर्घावर्द्धतेवायुनाहता ८९ ततोयातौवह्न्यपानौप्राणमुष्णस्वरूपकौ तेना
भितःप्रदीप्तस्तुकुरुतेदेहजस्तथा ९० तेनकुंडलिनीसुप्तासंतप्तासंप्रबोध्य
ते दंडाहताभुजंगीवनिःश्वस्यऋजुतांव्रजेत् ९१ बिलंप्रविष्टेवततोब्रह्मना
ड्यंतरेव्रजेत् तस्मान्नित्यंमूलबंधःकर्तव्योयोगिभिःसदा ९२ अथउड्डीयानबं
धः उर्द्ध्वयेनसुषुम्नायांप्राणस्तुड्डीयानयतः तस्मादुड्डीयाणाख्योयंयोगिभिः
समुदाहृतः ९३ उड्डीनंकुरुतेयस्मादविश्रांतंमहाखगः उड्डीयानंतदेवस्याद
त्रबंधोऽभिधीयते ९४ उदरेपश्चिमंतानंनाभेरूर्द्धंचकारयेत् उड्डीयानोह्यसौबं
धोमृत्युमातंगकेशरी ९५ उड्डीयानंतुसहजंगुरुणाकथितंसदा अभ्यसेत्स
ततंयस्तुवृद्धोपितरुणोभवेत् ९६ नाभेरूर्द्धमधश्चापितानंकुर्यात्प्रयत्न

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

तः षण्मासाभ्यासयोगेनजयेन्मृत्युर्नसंशयः ६७ सतिवज्रासनेपादौकराभ्यांधारये
दृढं गुल्फदेशसमीपेचकंदंतत्रप्रपीडयेत् ६८ ऊर्ध्वंमेढ्रात्तत्रधोनाभेः कंदोपत्रषडं
गवत् तत्रनाड्यःसमुत्पन्नाःसहस्राणांद्विसप्ततिः ६९ पश्चिमंतानमुदरेकारयेच्चि
बुकंहृदि शनैःशनैर्यथाप्राणस्कंदसंधेनगच्छति ७० सर्वेषामेवबंधानामुत्तमोह्यु
ड्डियानकः उड्डियानेदृढेबंधेमुक्तिःस्वाभाविकंभवेत् १ अथजालंधरबंधः कंठमा
कुंच्यहृदयेस्थापयेच्चिबुकंदृढं बंधोजालंधराख्योयममृतास्यपकारकः २ वध्नाती
हशिराजालमधोगामिनभोजलं ततोजालंधरोबंधःकंठदुःखौघनाशकः २ जालं
धरेकृतेबंधेकंठसंकोचलक्षणे नपीयूषंपतत्यग्नौनचवायुःप्रकुप्यति ३ बंधत्रय
मिदंश्रेष्ठंमहासिद्धैश्चसेवितं सर्वेषांहठतंत्राणांसाधनंयोगिनोविदुः ४ मूलस्था
नंसमाकुंच्यउड्डियानंतुकारयेत् कंठसंकोचनेनैवद्धोनाभ्यास्तमितेक्रुवं ५ मध्य

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह॰प्र॰
१९

19

चक्रमिदंज्ञेयंषोडशाधारबंधनं इडांचपिंगलांबध्वावाहयेत्पश्चिमेपथ्यं ६ अनेनै
वचाभ्यासेनसेवयेत्पवनाल्लयं ततोनजायतेमृत्युर्जरारोगादिकंतथा ७ अधस्ता
त्कुंचनेनाशुकंठसंकोचनेकृते मध्येपश्चिमतानेनस्यात्प्राणोब्रह्मनाडिगः ८
अपानस्थानततोरोधः प्रयातिपवनोऽनलं ततोनजायतेमृत्युर्नस्मान्नचैववज्जरा
दिकं ९ अथविपरीतकरणी यत्किंचित्स्रवतिचंद्रादमृतंदिव्यरूपिनं
तत्सर्वंग्रसतेसूर्यस्तेनपिंडंजरायुतं १० तत्रास्तिकारणंदिव्यंसूर्यस्यमुखवंधनं गुरू
पदेशतोज्ञेयंनतुशास्त्रार्थकोटिभिः ११ ऊर्द्धनाभिरधस्तालुरूर्द्ध्वंभानुरधःशशी
करणीविपरीताख्यागुरुवाक्येनलभ्यते १२ करणीविपरीताख्यासर्वव्याधिवि
नाशिनी नित्यमभ्यासयुक्तस्यजठराग्निविवर्द्धनी १३ आहारोबहुलस्तस्यसंपाद्यः
साधकस्यतु अनाहारोयदिभवेदग्निर्दहेद्देहंक्षणात् १४ अधःशिरश्चोर्द्ध्वपादःक्षा

राम॰
१९

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

रां स्यात्तृतीये दिने स्वल्पाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने २५ वलिश्च पलितं चैव ष
ण्मासान्न दृश्यते याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालवित् २६ अथ वज्रोली स्वे
च्छया वर्त्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाज
नं २७ तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् क्षीरद्वयमिदं प्रोक्तं कुलिनामु
द्धयोगिना १८ क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्त्तिनी मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वा
कुंचनमभ्यसेत् १९ यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे शनैः शनैः प्रकु
र्वीत वायुसंचारकारणात् २० नार्य्या भगे पतद्विंदुमभ्यासेनोर्द्ध्वमाहरेत् पुरुषो
वापि नारी वा वज्रोलीसिद्धिभाजने २१ नार्य्या भगे पतद्विंदुमभ्यासादूर्द्ध्वमाहरेत्
चलितं च स्वरूपं विंदुमूर्द्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् २२ एवं संरक्षयेद्विंदुं मृत्युं जयति योगवि
त् मरणं विंदुपातेन जीवितं विंदुधारणात् सुगंधियोगिनो देहे जायते विंदुधारणा

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह॰प्र॰
२०

न् यावद्विंदुस्थितो देहे तावत्कालभयं कुतः २४ चित्तायत्तं नृणांशु
क्रं शुक्रायत्तं च जीवितं तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः २५
ऋतुमत्या रजोप्येवं बिजं विंदुं च रक्षयेत् मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्या
सयोगवान् २६ अथ पर्यायोगपुराणपवतां धन्यानां तत्वशालिनां निर्म
त्सराणां सिद्ध्येत न तु मत्सरसालिनां २७ सहजोलिश्चामराेलिव
ज्रोल्या एकभेदतः जले षु भस्म निःक्षिप्य दग्धगोमयसंभवं २८
वज्रोल्लीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं आसीनयोः सुखे
नैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् २९ सहजोलीरियं प्रोक्ता सेव्या

योगिभिः सदा अयं शुभकरो योगो भोगे भुक्तेपि मुक्तिदः ३० पुंसो

व्या२

ह॰प्र॰
२०

वर

२०

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

विंदुसमाकुंच्यसम्यगभ्यासपाटवात् यदिनारीरजोरक्षेद्वज्रोल्याग्रहयोगि
नी ३१ यस्याः किंचिद्रजोनाशंनगच्छतिनसंशयः तस्याःशरीरेनादस्तुविं
दुतामेवगच्छति ३२ सविंदुस्तद्रजश्चैवएकीभूयास्वदेहजौ वज्रोल्याभ्या
संयोगेनसर्वसिद्धिःप्रजायते ३३ विहायनित्यंप्रथमांबुधारांविहायनिः
सारतयांत्यधारां निसेव्यतेशीतलमध्यधाराकापालिकैःखंडमतैःस
मर्थः ३४ अमरींयःपिबेन्नित्यंनस्यंकुर्वन्दिनेदिने वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यम
मरोलीतिकथ्यते ३५ पुंसोविंदुंसमाकुंच्यसम्यगभ्यासपाटवात् यदि
नारीरजोरक्षेद्वज्रोल्यासापियोगिनी ३६ तस्याःकिंचिद्रजोपांनगच्छति
नसंशयः तस्याःशरीरेनादस्तुविंदुतामेवगच्छति ३७ सविंदुस्तद्रजश्चैव

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह॰प्र॰
२१

वश्यकीभूतः स्वदेहजो वज्रोल्याभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिः प्रजायते ३८
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेत् ध्रुवं देहे सिद्धिं च लभते वज्रोल्याभ्यास
योगतः ३९ तस्मादयं साधकानां भोगे मुक्तिविमुक्तिदः तस्मात्पुण्यव
तामेव अयं योगः प्रसिध्यति ४० मेढ्रेनाकुंचनादूर्द्ध्वं रज सापि च योगि
नी अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवं ४१ देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्या
भ्यासयोगतः अयं पुण्यकरो योगी भोगो मुक्तिविमुक्तिदः ४२ तस्मात्पु
ण्यवतामेव अयं योगः प्रसिध्यति अथ शक्तिचालनं कुटिलांगी कुंडलिनी
भुजंगी शक्तिरीश्वरी कुटिलारुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ४३ कंदोर्द्ध्वं
कुंडली शक्तिः अष्टधा कुंडलाकृतिः ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाछाद्य तिष्ठ

राम॰
२१

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

नि ४४ येनमार्गेणगंतव्यंब्रह्मस्थानंनिरामयं मुखेनाछाद्यतद्द्वारंप्रसुप्तापरमेश्व
री ४५ उद्घाटयेत्कपाटंतुयथाकुंचिकयाहठात् कुंडलिन्यातथायोगीमोक्षद्वा
रंविभेदयेत् ४६ कंदोर्द्ध्वेकुंडलीशक्तिर्वध्वामोक्षाययोगिनां वंधनायचमूढानां
यस्तांवेत्तिसयोगवित् ४७ अंभोधिद्वीपशैलानामाधारःशेषकुंडली अंभो
घयोगतंत्राणामाधारःकुंडलीतथा ४८ कुंडलीकुटिलाकारासर्पवत्परिकीर्ति
ता साशक्तिश्चालितायेनसमुक्तोनात्रसंशयः ४९ गंगायमुनयोर्मध्येबा
लरंडांतपस्विनीं बलात्कारेणगृह्णीयात्तद्विष्णोःपरमंपदम् ५० इडा
भगवतीगंगापिंगलायमुनानदी इडापिंगलयोर्मध्येबालरंडाचकुंडली ५१
पुछेप्रगृह्यभुजंगीसुप्तामुद्बोधयेच्चतां निद्रांविहायसाशक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठ
तेहठात् ५२ परिस्थितांचैवफणावतीसाप्रातस्सायंप्रहरार्द्धमात्रं प्रप

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

र्यमसौ पर्य्यात्य दक्षिणानयुक्ताप्राग्रद्यानिर्यात्य विवाल्मितासा ५३ वितस्तिप्रमितं मृदं
विस्तारं चतुरंगुलं मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणं ५४ वज्रासनस्थितो योगी
चालयित्वा तु कुंडली कुर्य्यादनंतरं भस्त्रीं कुंडलीमाशु बोधयेत् ५५ भानो
राकुंचनं कुर्य्यात् कुंडलीं चालयेत्ततः मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ५६
नाभाद्दक्षिणमार्गवाहिपवनाभ्यासेन निर्दीर्घीकृतः चंद्रान्तः परिपूरितामृतत
नुः प्राग्घटिकापाशत्रया ५७ भिंदन् कालविषालवन्हिपदमार्गान् स्फुरंस्त्रत्ना
डीमार्गात् नकार्यं कुरुते पुनर्नवेतत्राजीर्णेदमस्कंधवत् ५८ कुंडलीचा
लयित्वा तु कुर्य्यान्मद्वि विशेषतः एवमभ्यासतो नित्यं यमिनः संकतेयमः
५९ जराभ्यसेत्सूर्यभेदमुज्जायीं चापि शीतली एवमभ्यासयुक्तस्य परमं मुक्ति
यमिनः कुतः ६० मुहूर्तं द्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ऊर्ध्वमाकृष्यते किं

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

क्षित्सुषुम्नागतेकुंडली ६१ मुहूर्त्तद्वयपर्य्यंतं निर्भयं चालनादसौ ब्रह्मचर्य्यरतस्यै
व नित्यं हितमितासनः ६२ इति पाठांतरेद्वयं तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्ना
याः समुद्गताः जहाति तस्मात्प्राणोयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ६३ तस्मात्संचा
लयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीं यस्याः संचालनेनाशु योगी रोगैर्विमुच्यते
६४ येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनं किमत्र बहुनोक्तेन कालं ज
यति लीलया ६५ ब्रह्मचर्य्यरतस्यैव नित्यं हितमितासनः मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः
कुंडल्याभ्यासयोगिनः ६६ अभ्यासात्रिः मृतं चाद्रीविभूत्या सह मिश्रयेत् तद्दु
रंशं चोत्तमांगे दिव्यदृष्टिप्रदायकं ६७ द्विसप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्याभ्यासतो विना ६८ मारुतस्य विधिं सर्वं मनो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

युक्तं समभ्यसेत् इति शक्तिचालनं इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायनी ६९ अथ राजयोगः राजयोगं विना
पृथ्वी राजयोगं विना निशा राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते ७० हठस्य
विधिवत्सर्वं मनो सर्वस्य समभ्यसेत् इतिरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा
७१ विनापि मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनां आसनं प्राणसंयमैर्मुद्राभि
सल्लाभवेत् ७२ अभ्यासेन हि मुद्राणां नादेति समाधिना मुद्राणां चापरा
मुद्रा भद्रा सिद्धिं प्रयच्छति ७३ येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनं
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ७४ उपदेशं हि मुद्राणां
यो दत्ते सांप्रदायकः स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ७५

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

तस्यवाक्यपरोभूत्वायोऽभ्यसेत्समाहितः आरोग्यमादिगुणैश्वर्यंजायतेका
लवंचनं ७६ ॥ इतिश्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामविर
चितायांहठप्रदीपिकायांतृतीयोपदेशः ३ नमःशिवायगुरवेनादबिंदु
कलात्मने निरंजनपदंयातिनित्यंयोगपरायणः १ अथेदानींप्रवक्ष्या
मिसमाधिक्रमलक्षणं मृत्युघ्नंचसुखोपायंब्रह्मानंदकरंपरं २ सलिलेसैंध
वंयद्वत्साम्यंभजतियोगतः तथात्ममनसोरैक्यंसमाधिःसोऽभिधीयते ३ रा
जयोगस्यमहात्म्यंकोवाजानातितत्वतः ज्ञानान्मुक्तिःस्थितिःसिद्धिःगुरुवाक्ये
नलभ्यते ४ दुर्लभोविषयत्यागोदुर्लभंतत्वदर्शनं दुर्लभासहजावस्थासद्गुरोः
करुणांविना ५ विविधैरासनैःकुंभैर्विचित्रकरणैरपि प्रबुद्धायांमहाशक्तौप्रा
णःशून्येविलीयते ६ उत्पन्नशक्तिबोधस्यत्यक्तनिःशेषकर्मणः

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः सशैलव
नधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः सर्वेषां योगतं
त्राणां तथाधारो हि कुण्डली सुप्ता गुरुप्रसादेन बो
धिता यदा भवेत् तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यं
ते ग्रन्थयोऽपि च प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजप
थायते तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनं
शून्यपदवीति किं सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं
महापथं श्मशानं शांभवी मध्यमार्गः च इत्येकवा
चकाः तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ब्र

प्राणस्य शून्य
पदवीति [illegible]

एकार्थवाच
क इत्यर्थः

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

ब्रह्मद्वारे मुखे सुप्तां मुद्राभ्यासेन बोधयेत्‌ महामु
द्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी उड्डियानं मूल
बंधो बंधो जालंधराभिधः करणी विपरीताख्या
वज्रोली शक्तिचालनं एतद्धि मुद्रादशकं जराम
रणवर्जितं आदीश्वरोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदाय
कम् वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि गो
पनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकं कस्यचिन्नैव व
क्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा महामुद्रा पादमूले
न वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणं पादं प्रसारितं

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangot

ष्ट्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखे कण्ठे बंधे समारोप्य धारयेद्वा-
युमूर्ध्वतः यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् तथा
सौ मरणावस्थां हरते द्विपुटाश्रया नहि पथ्यमप-
थ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः अपि भुक्तं विषं घोरं पी-
यूषमपि जीर्यते चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे तु स-
मभ्यसेत् यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जये-
त् ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्न तु वेगतः इयं खलु म-
हामुद्रा महासिद्धैः प्रशंस्यते महाक्लेशा महादोषाः
क्षीयन्ते मरणादयः क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णा

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

मलमत्रनुकेषां विकुराटबन्धो विवर्जयेत
राजहृद्ग्रस्य निहाया बन्धः पूर्णो भवेदिति

रालया तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्
कथितेयं महामुद्रा त्वरा रुद्रस्तु विनाशिनी गोपनी
या प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् महाबन्धः पा
र्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् वामोरु
परि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा पूरयित्वा मुखेना
युं हृदये चिबुकं दृढम् निपीड्य योनिमाकुंच्य मनो मध्ये
नियोजयेत् रेचयेच्च शनैरेव महाबंधोऽयमुच्यते, अ
यं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः कालपा
श महाबंधविमोचने विचक्षणः अयं तु सर्वनाडी
नामूर्ध्वगमनरोधकः त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारेश

ह प्र

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

पथेत्मनः महावेधः रूपलावण्यसंपन्नायथा

स्त्रीपुरुषंविना महामुद्रामहाबन्धौनिष्फलौ

वेधवर्जितौ महावेधस्थितोयोगीकृत्वापूरकमे

कधीः वायूनांगतिमाहत्यनिभृतंकंठमुद्रया

समहस्तयुगोभूमौस्फिचौसंताडयेच्छनैः १८

पुटद्वयंसमाक्रम्यवायुःस्फुरतिमध्यगः सोमसूर्या

ग्निसंबन्धोजायतेचामृतायवै मृतावस्थासमु

त्पन्नाततोवायुंविरेचयेत् महावेधोयमभ्यासा

न्महासिद्धिप्रदायकः वलीपलितवेपघ्नःसेव्य

तेसाधकोत्तमैः एतत्त्रयंमहागुह्यंजरामृत्युवि

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

कृ प्र

विनाशनं रक्तिहाद्धिकरं चैव दालिमादिशुभप्रदं
ग्रहधाक्रियते चैव यामयामे दिने दिने भुल्पसं
भा२सं पादिपापौद्यभिङ्गं सदा सम्यक्शिरना
वनामे वस्वल्पं प्रथमसाधने रक्ति स्त्रीपयसेना
नामादौ वर्जनमाचरेत खेचरी छेदनचालन
दोहै र्जिह्वां चैव र्धयेत्तावत् यावदियं भ्रूमध्यं स्पृ
शति तदा खेचरी सिद्धिः कपालकुहरे जिह्वा
प्रविष्टा विपरीतगा भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्राभ
वति खेचरी कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे पारिव
र्धयेत् सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते

६३
२२

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangot

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

ननष्पत्तावेविंदुः काकिन्याद्येस्थितस्य
च ३१ बलिनोपिवृद्धिंदुः संज्ञाद्यो
पिण्डानामनन्त बलस्त्रैस्तिनष्कमणिक
ड्योगानिवृत्तया ३२ ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरोभू
त्वासोमपानेकरोतियः मासार्धेननसंदे
होमृत्युंजयतियोगवित् ३४ निर्त्यसोम
कलापूर्णं शरीरं यस्ययोगिनः तक्षकेना
पिदष्टस्यविषंनस्पर्शति ४० इंधनानि

ह॰
प्र॰
२८

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow; Digitized by eGangotri

स संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः अपानप्राणयो
रैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः युवा भवति वृद्धोपि
सततं मूलबंधनात् अपाने चोर्ध्वगे जाते संप्रा
प्ते वह्निमण्डले ततोनलशिखा दीर्घा वर्द्धते वा
युनाहता ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरू
पकं तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ते
न कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबोध्यते दंडाहता
भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् तस्मान्नित्यं मूलबं
धः कर्तव्यो योगिभिः सदा उड्डीयानबंधः बद्धो
येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते नरः तस्मादुड्डीय

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

मानोमौयोगिभिः समुदाहृतः उडीनंकुरुते
यस्मादविश्रांतंमहाखगः उडीयानंतदेवस्यात्त्
ल।बंधोभिधीयते उदरेपश्चिमेतानंनाभेरूर्ध्वं
चकारयेत् उडीयानोह्ययंबंधोमृत्युमातंगके
सरी उडीयानंतुसहजंगुरुणाकथितंयथा
अभ्यसेत्सततंयस्तुवृद्धोपितरुणायते नाभेरूर्ध्वं
मधोवापितानंकुर्यात्प्रयत्नतः षण्मासमभ्य
सेन्मृत्युंजयत्येवनसंशयः सतिवज्रासनेपादौ
कराभ्यांधारयेद्दृढम् गुल्फदेशसमीपेचस्कंधेत कंदं
तत्रपीडयेत् पश्चिमंतानमुदरेकारयेच्चिबुकेहृदी

८१

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

२६

शनैः शनैर्यथाप्राणस्तु स्वसिद्धिंगच्छति. सर्वेषामे
वबंधानामुत्तमोह्युड्डियानकः उड्डीयानेकृतेबंधे मु
क्तिःस्वाभाविकंभवेत् जालंधरबंधः कण्ठमाकुंच्य
हृदयेस्थापयेद्दृढमिच्छया बंधोजालंधराख्योयम
मृताप्यायकारकः बध्नातीहशिरोजालमधोगामिन
भोजलम् ततोजालंधरोबंधः कण्ठदुःखौघनाश
नः जालंधरेकृतेबंधेकण्ठसंकोचलक्षणे नपीयूषं
पतत्यग्नौनचवायुःप्रकुप्यति कण्ठसंकोचनेनैवद्वे
नाड्यौस्तंभितेध्रुवे मध्यचक्रमिदंज्ञेयंषोडशाधार
बंधनम् इडाचपिंगलांबद्ध्वावाहयेन्मध्यमेपथम्

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

मानेगमौ योगिभिः सततादृशः उड्डीनं कुरुते
यस्मादविश्रांतं महाखगः उड्डीयानं तदेव स्यान्मू
ल। बंधोभिधीयते उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं
च कारयेत् उड्डीयानो ह्ययं बंधो मृत्युमातंगके
सरी उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं यथा
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोपि तरुणायते नाभेरूर्ध्व
मधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः षण्मासमभ्य
सेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः सति वज्रासने पादौ
कराभ्यां धारयेद्दृढम् गुल्फदेशसमीपे च स्कंधेत कंदं
तत्र पीडयेत् पश्चिमं तानमुदरे कारयेच्चिबुकं हृदि

६१

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangot

अनेनैव विधानेन सेवयेत्पवनालयम् ततो न जायते
मृत्युर्जरारोगादिकं तथा विपरीतकरणी यत्किंचि
त्स्रवते चंद्रादिष्टं दिव्यरूपि च तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडं
विनाशव, तत्रोस्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् गुरुपदे
शतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ऊर्ध्वनाभिरधस्ता
लुरूर्ध्वं भानुरधः शशी करणी विपरीताख्या सर्वव्या
धिविनाशिनी नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविव
र्धिनी आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य
तु अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहेद्देहं क्षणात् अधः
शिरः ऊर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने क्षणाद्व

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangot

किंचिदधिकमभ्यसेन्नदिने दिने वलितं पलितं चै
व षण्मासार्धेन नश्यति याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसे
त्स तु कालजित् अश्वत्या वज्रोलीयन्त्यां नेलिवि
तावर्तते क्रमशाप्राप्य अत्यक्ताश्च साधारणप्राप्य
नुष्ठेयत्वात्तस्याः शक्तिचालनं कुटिलांगी
कुण्डलिनी भुजंगी शक्तिरेश्वरी कुटिल्यरुन्धती
चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः॥ कुण्डलिन्या तथा
योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् येन द्वारेण गन्तव्यं ब्र
ह्मस्थानं निरामयं मुखेनाछाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥ कुंडलि
रमेश्वरी कन्दोर्ध्वे कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय
योगिनां बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योग
वित् ॥ अंभोधिद्वीपशैलानामाधारः शेषवत्कुं
डली अशेषयोगतंत्राणामाधारः कुंडली
तथा ॥ कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्ति
ता सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥
गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीं
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम्

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

पुच्छे प्रगृह्य भुजंगीं सुप्तामुद्बोधयेदपि निद्रां विहा-
य सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् पर्यवस्थिता चै-
व फणवती सा ^ प्रहरार्धमात्रम् प्रपूर्य सूर्या- [प्रातस्सायं ३]
र्य परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं विचालनीया सा
वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारं चतुरंगुलं मृदुलं
धवलं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणं सति वज्रासनस्थि-
तो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम् सूर्यभेदा-
न् सूर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः मृत्युवक्त्रगत-
स्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः भानोराकुंचनं कु-

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

र्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः सूक्ष्मगात्रगतस्यापितस्य सू
त्सुभयेत्ततः नासादक्षिणमार्गवाहिपवनोद्घाणेति
दीर्घीकृतश्चेत्ततः परिक्षूयद्भरितततुः शाम्भविका
यास्तथा भित्वा कालविशालवह्निविशगा न्मूर्ध
धमाडीगणं स्वकार्यं कुरुते पुनर्नवरं जीर्णकुम्भस्थो
न्धवत् कुण्डलीं चालयित्वा तु कुर्यान्मूली विशेषतः
एवमभ्यासतो नित्यं यमिनः शंकते यमः तथाभ्यासे
त्सर्वभेदमुद्रायोनीचापि शीतलीम् एवमभ्यासद्वु
कस्यपमल्पयमिनः कुतः मुहूर्तद्वयपर्यंतं नि
भेयं चालनादसौ ऊर्ध्वमायाति स्थेवं नित्यं हितामि

६४

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

नाशिनः। मण्डलाद्दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्याभ्यासयोगि
नः। द्विसप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं कुतः
प्रक्षालनोपायः कुण्डल्याभ्यासनोविना इति मुद्रान
वप्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना एकैका तासु यमिनां
महासिद्धिप्रदायिनी राजयोगं विना पृथ्वी राजयो
गं विना निशा राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न रा
जते मारुतस्य विधिं सिद्धं मनोयुक्तं समभ्यसेत्
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणां स्थित्वापि म
ध्यमानाडीदृढाभ्यासेन योगिनां आसनप्राणसंया
मैः मुद्राभिः सरला भवेत् तथासनविनिद्राणां सं

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangotri

ग्नयोगः समाङ्ककः दशानीतापरामुद्रा भज्ञौविद्धिस
घञ्छति उपदेशं हि मुद्राणां यो धत्ते सांप्रदायिकम्
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः तस्यवा
क्यपरो भूत्वा योभ्यस्यति समाहितः अणिमादिषु
तैश्वर्यं जायते कालवंचनं इति हठप्रदीपिकायां
तृतीयोपदेशः नमः शिवाय गुरवे नादबिंदु
कलात्मने निरंजनपदं याति यत्र नित्यपरायणः
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमं मृत्यु
घ्नं तु सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं परं सलिले सैंधवं य
द्वत्साम्यं भजति योगतः तथात्ममनसोरैक्यं समा

CC-0 Sharada Manuscripts at Rashtriya Sanskrit Sansthan Lucknow, Digitized by eGangot

ह.ठ.
५

केवलेकुंभकेसिद्धेरेचपूरकवर्जिते ३ नत
स्यदुर्लभंकिंचित्त्रिषुलोकेषुविद्यते शक्तःके
वलकुंभेनयथेष्टंवायुधारणम् ४ राजयो
गपदंचैवलभतेनात्रसंशयः हठंविनाराज
योगोराजयोगोविनाहठः ५ नसिध्यतितते
युग्ममानिष्पत्तेसमभ्यसेत् कुंभितःप्राणरे
चांतेकुर्याच्चित्तंनिराश्रयम् ६ एवमभ्यास
योगेनराजयोगपदंलभेत् कुंभकात्कुंडली
बोधःकुंडलीबोधतोभवेत् ७ अनर्गलासुषु
म्नावहठसिद्धिश्चजायते वायुःकृशत्वंवदने
प्रसन्नतानादस्फुटत्वंनयनेचनिर्मलम् ८
अरोगताबिंदुजयोग्निदीपनंनाडीषुसिद्धि
हठसिद्धिलक्षणम् इतिश्रीआत्मारामयोगी
चंद्रविरचितायांहठप्रदीपिकायांद्वितीयो
पदेशः सशैलवनधात्रीणांयथाधारोहि
नायकः सर्वेषांयोगितंत्राणांतथाधारोहि
कुंडली १ तदासर्वाणिपद्मानिभिद्यंतेग्रंथयो
पिवा प्राणस्यशून्यपदवीतदाराजवीयदा
भवेत् २ तदाचित्तंनिरासंवेतदाकालस्यवं
चनम् सुषुम्नाशून्यपदवीब्रह्मरंध्रमहापथ

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

थः ३ श्मशानंशांभवीमध्यमार्गश्चेत्येकवाच
कः तस्मात्सर्वप्रयत्नेनप्रबोधयितुमीश्वरी
म् ४ ब्रह्मद्वारमुखेसुप्तांमुद्राभ्यासंसमभ्यसेत्
महामुद्रामहाबंधोमहावेधश्चखेचरी ५ उड्डा
णंमूलबंधश्चततोजालंधराभिधः करणीविप
रीताख्यंवज्रोलीशक्तिचालनम् ६ इदंहिमुद्रा
दशकंजरामरणनाशकम् आदिनाथोदितं
दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ७ वल्लभंसर्वसि
द्धानांदुर्लभंमरुतामपि गोपनीयंप्रयत्नेन
यथारत्नकरंडकम् ८ कस्यचिन्नैववक्तव्यंकु
लस्त्रीसुरतंयथा वज्रोलीरमरोलीचसहजो
लीत्रियामता एतेषांलक्षणंवक्ष्येकर्त्तव्यंचवि
शेषतः ९ तत्रमहामुद्रायथा ९ पादमूलेन
वामेनयोनिंसंपीड्यदक्षिणं पादंप्रसारितंकृ
त्वाकराभ्यांपूरयेन्मुखे ९ कंठेबंधंसमारोप्य
धारयेद्वायुमूर्ध्वतः यथादंडहतःसर्पोदंडा
कारःप्रजायते २ ऋज्वीभूतातथाशक्तिःकुंड
लीसहसाभवेत् तदेयंमरणावस्थाजायतेद्वि
पुटाश्रिता ३ ततःशनैःशनैरेवरेचयेन्नतुवे
गतः इयंखलुमहामुद्रामहासिद्धिप्रदायिनी ४

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हठ०
९०

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः महा
मुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ९ चंद्रांगे तु स
मभ्यस्य सूर्यांगे तु समभ्यसेत् यावत्तुल्या भवे
त्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् अपि भुक्तं विषं घोरं
पीयूषमिव जीर्यति महामेध्यममेध्यं वा रसा वि
नीरसाः ८ क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरो
गमाः तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योभ्य
सेत् ९ कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी
नृणां गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्य
चित् १० अथ महाबंधः पार्ष्णिं वामस्य पादस्य यो
निस्थाने नियोजयेत् वामोरूपरि संस्थाप्य द
क्षिणं चरणं तथा ११ पूरयित्वा ततो वायुः हृद
ये चिबुकं दृढम् निष्पीड्य योनिमाकुंच्य मनो
मध्ये नियोजयेत् १२ राजदंतस्थ यंत्र जिह्वा
यां बंधः भवेदिति धारयित्वा यथाशक्ति रेचये
दनिलं शनैः १३ सव्यांगे च समभ्यस्य दक्षांगे व
समभ्यसेत् मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं परि व
र्जयेत् अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदा
यकः १४ कालपाशमहाबंधो विमोचन विच
क्षणः अयं च सर्वनाडीनां मूर्ध्वं गति विरोधकः

१८

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

त्रिवेणीसंगमंधत्तेकेदारंप्राप्नुयान्मनः रूपलाव
ण्यसंपन्नोयथास्त्रीपुरुषंविना १९ महामुद्रा
महाबंधोमहावेधंविनातथा अथमहावेधः
महाबंधास्थितोयोगीकृत्वापूरकमेवहि २०
वायूनांगतिमावृत्यनिभृतंकंठमुद्रया न्यस्त
हस्तयुगोभूमौस्फुरितौसंताडयेच्छनैः २१ जे
चाहयंसमाकृष्यवायुस्फुरतिमध्यगः सोम
सूर्याग्निसंबंधाजायतेचामृतायवै २२ मृता
वस्थासमुत्पन्नाततोमृत्युमयंकृतः महावे
धोयमभ्यस्तोमहासिद्धिप्रदायकः २३ वली
पलितवेपघ्नःसेव्यतेसाधकोत्तमैः मुद्रात्र
यंमहागुह्यंजरामृत्युविनाशनं २४ वह्निवृ
द्धिकरंचैवमणिमादिगुणप्रदम् अष्टधाक्रि
यतेचैवंयामेयामेदिनेदिने पुण्यसंभारसं
धायिपापौघभिदुरंसदा २५ सम्यक्शिक्षाव
तामेवंस्वल्पंप्रथमसाधनं वह्निस्त्रीपथिसे
वानामादौमादौवर्जनमाचरेत् २६ अथखे
चरी छेदनैंचालनेदोहैःकलांक्रमेणवर्द्धये
त्तावत् सायावद्भ्रूमध्यंस्पृशतितदाखेच
रीसिद्धिः कपालकुहरेत् जिह्वाप्रविष्टावि

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हठ॰
८८

परीतगा भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी
कलंपराङ्मुखीकृत्वा त्रिपथे परिवर्जयेत् सा भ
वेत्खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते रसनामूर्द्धगां
कृत्वा क्षणार्द्धं यदि तिष्ठति क्षणेन मुच्यते योगी
व्याधिमृत्युजरादिभिः न रोगो मरणं तस्य न निद्रा
न क्षुधा तृषा न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति
खेचरीम् चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे
गता तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता
स्वमूत्रेत्पर्गकाले पो बलादाकृष्य वायुना लो
कं लोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य तत्पुनः गुरू
पदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत् विंदुसि
द्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायकः रामासम
भ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया शतांगनो
पभोगेन विंदुस्तस्य न नश्यति खेचर्या मु
द्रितं येन विवरं लंविकोर्ध्वतः न तस्य क्षरते
विंदुः कामिन्यालिंगितस्य च ५० चलितोयं
यदा विंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् वायूर्द्धंच
यथाच्छन्या निवद्धो योनिमुद्रया ५१ कपा
लकुहरे जिह्वाकला संध्यानमुद्रया ऊर्द्धजि
ह्वास्थिरीकृत्वा सोमपानं करोति यः मासार्द्धे

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ननसंदेहोमृत्युंजयतियोगवित् नित्यंसोम
कलापूर्णंशरीरंयस्यदेहिनः तक्षकेणाप
दष्टस्यविषंतस्यनसर्प्पति इंधनानियथा
वह्निस्तैलवर्त्तींचदीपकः तथासोमकला
पूर्णंदेहंदेहीनमुंचति पकाशीभुंजतेह्यभ्या
मागतांचंद्रमंडले तृतीयोयःसृतस्ताभ्यां
सभवेदजरामरः गोमांसंभक्षयेन्नित्यंपिबे
दमरवारुणीं कुलीनंतमहंमन्येइतरेकु
लघातकाः गोशब्देनोदिताजिह्वातत्प्रवेशोहि
तालुनि गोमांसभक्षणंतत्तुःमहापातकना
शनम् जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादिता
कला चंद्रात्स्रवतियःसारःसास्यादमरवारु
णी ४७ नभेद्देषोभवेत्येवमास्करोदहनात्म
नः स्मरतात्मास्थितोनित्यंतालुमध्येतुचंद्र
माः वर्ध्यत्ययोस्तुवस्त्वंद्वोयसन्तूर्द्धेसुरवारविः
ज्ञातव्यंकारणंतस्ययेनपीयूषमाप्यते ४९
ऊर्ध्वंषोडशपत्रपद्मगलितंप्राणादवाप्तंहठा
दूर्ध्वास्योरसनांनियम्यविवरेशक्तिंपरांचिं
तयेत् उत्कल्लोलकलाजलंचविमलंधारा
मंतंयःपिबेत् निर्व्याधिःसमृणालकोमलव

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हठ॰
१२

स योगी चिरं जीवति ५० रसनातालुमूलेन यः
यः प्राणं सततं पिबेत् अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य स
र्वरोगपरिक्षयः ५१ काकचञ्चुवदिपानेन शी
तलं सलिलं पिबेत् अमवंतीय दिलम्बिकाग्न
मनिशं जिह्वा रसस्यंदिनी सरक्ताक्षं कटुकाम्ल
दुग्धलवणं व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शा
स्त्रार्थसंहीरणं तस्य स्यादमरत्वमष्टगुण
कं सिद्धांगनाकर्षणम् ५२ एकं सृष्टिलयं
बीजं एका मुद्रा च खेचरी एको देवो निरालम्बो
ह्येकावस्था मनोन्मनी बंधं मूलबिलं येन
तेन विघ्नो विदारितः अजरामरणं याति य
था पंचमुखो हरः अमृतापूर्णदेहस्य योगि
नो द्वित्रिवत्सरात् ऊर्ध्वं प्रवर्त्तते रेतो ह्यणिमा
दिगुणोदयात् पाताले यद्वसति कविरं मे
रुमूले यदास्तः यद्वैचैतन्न भवति कथी स्त
स्तुत्वं निम्नगानाम् चन्द्रास्तारः स्रवति च ब
लेन सत्तुर्नराणां ते वशी यान्तु करणानाम्
णाकार्यसिद्धिः ५८ अथ मूलबंधः पार्ष्णिभा
गेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् अपानमू
र्द्ध्वमाकृष्य मूलबंधोयमुच्यते अधोगतिम

पानेन तूर्ध्वगः कुरुते बलात् आकुंचनेन
तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिन गुदं च पार्ष्णिना पी
ड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् वारंवारं यथा चोर्द्ध्वं
समायाति समीरणः गता योगस्य संसिद्धि
गच्छते नात्र संशयः ६९ अपाणप्राणयोरैक
यं क्षयो मूत्रपुरीषयो युवा भवति वृद्धोपि
सततं मूलबंधनात् अपाने चोर्द्ध्वगे जाते
प्रजाते वह्निमंडले तदानलशिखा दीर्घो
वायुना वर्द्धते हि सा ततो जातो वंह्यपानौ प्रा
णमुष्णस्वरूपकौ तातोऽत्यप्रदीप्तस्तु ज्वल
नो देहजस्तथा तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता
संप्रबुध्यते यथा दंडहतो भोगी निःश्वस्य ऋ
जुतां व्रजेत् बिलं प्रविष्टे पवने ब्रह्मनाड्यं
तरं व्रजेत् तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्त्तव्यो यो
गिभि ८५ अथोड्डियानबंधः बद्धो येन सु
षुम्नायां प्राणस्तूड्डियते यतः तस्मादुड्डी
बंधं योगिभिः समुदाहृतः उड्डाणं कुरुते
यस्मादविश्रान्तो महाखगः उड्डियानं तदे
व स्यात्तत्र बंधोभिधीयते उदरे पश्चिमं ता
नं नाभेरूर्द्ध्वं च कारयेत् उड्डियाणो ह्यसौ

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हठ०
१३

13

बंधोमृत्युमातंगकेशरी उडियाणंतुसह
जंगुरुणाकथितंयथा अभ्यसेदनिशंयो
गीवृद्धोपितरुणोभवेत् ५९ नाभेरूर्ध्वमधश्चा
पितानंकुर्यात्प्रयत्नतः षण्मासमभ्यसेन्मृ
त्युंजयत्येवनसंशयः ६० सतिवज्रासनेपा
दौकराभ्यांधारयेद्दृढं गुल्फदेशसमीपेच
कंदंतत्रप्रपीडयेत् पश्चिमंतानमुदरेका
रयेच्चिबुकेहृदि शनैष्ठानेयितःप्राणःस्कंद
संधिंनिगच्छति सर्वेषामेवबंधानामुत्तमो
ह्युडियानकः उडियानेदृढेबंधेमुक्तिःस्वाभा
विकीभवेत् अथजालंधरबंधः कंठमाकुंच्य
हृदयेस्थापयेच्चिबुकंदृढं बंधोजलंधरा
ख्योयमजरामृत्युविनाशकः बध्नातिहिशिरा
जालमधोगामिनभोजलम् ततोजालंध
रोबंधःकंठदुःखौघनाशनः ७५ जालंधरे
कृतेबंधेकंठसंकोचलक्षणे नपीयूषं
पतत्यग्नौनचवायुःप्रकुप्यति कंठसंको
चनेनैवद्वेनाड्यौस्तंभयेद्दृढम् मध्यच
क्रमिदंज्ञेयंषोडशाधारबंधनम् बंधत्रये
मिदंश्रेष्ठंमहासिद्धैर्निषेवितं सर्वेषांयो

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

गतं त्राणं साधनं योगिनो विदुः अधःस्तात
कुंचनेनैव कंठसंकोचनेन च मध्ये पश्चिम
तानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः मूलस्थाने
समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् इडां च पिं
गलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथम् ९ अने
नैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ततो
न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा अथ
विपरीतलक्षणम् यत्किंचित्स्रवते चंद्राद
मृतं दिव्यरूपिण तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन
पिंडं जरायुतं तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य
मुखवंचनम् गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शा
स्त्रार्थकोटिभिः ऊर्द्धं नाभिरधस्तालूर्द्धं भा
नुरधः शशी करणं विपरीताख्यं सर्वव्या
धिविनाशनी नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठरा
ग्निविवर्धिनी आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः
साधःस्यत्तु ८५ अल्पाहारो यदि भवेदग्नि
र्दहते क्षणात् अधःशिराश्चोर्द्धपादः क्षणं स्या
त्प्रथमे दिने क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च
दिने दिने वलितं पलितं चैव षण्मासार्द्धं
न दृश्यते याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

ह.ठ.
१४

14

तकालजित् ८८ अथवज्रोली स्वेछायाव
र्तमानोपियोगोक्तैर्नियमैर्विना वज्रोलीयो
विजानाति सयोगी सिद्धिभाजनः ८९ तत्र
वस्तुद्वयंवक्ष्ये दुर्लभं यस्यकस्यचित् क्षीरं
चैकंद्वितीयंतु नारीचवशवर्तिनी ९० मे
हनेनशनैःसम्यगूर्द्ध्वकुंचनमभ्यसेत् पु
रुषोवाप्यथनारीवावज्रोलीसिद्धिमाप्नुया
त् यत्नतःशस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे
शनैःशनैप्रकुर्वीत वायुःसंचारकारणात्
नारीभगेपतद्बिंदुमभ्यासेनोर्द्धमाहरेत्
चलितंचनिजंबिंदुमूर्द्ध्वमाकृष्यरक्षयेत्
एवंसंरक्षयेद्बिंदुं मृत्युंजयति योगवित्
सुगंधियोगिनोदेहाजायतेबिंदुधारणा
त् यावद्बिंदुःस्थितोदेहातावत्कालभयंकु
तः चित्तायत्तंनृणांशुक्रं शुक्रायत्तंहिजी
वितं ९५ तस्माच्छुक्रंमनश्चैवरक्षणीयंप्र
यत्नतः ऋतुमत्यारजोप्येवंबीजंबिंदुंचरक्ष
येत् मेढ्रेणाकर्षयेदूर्द्ध्वं सम्यगभ्यासयोग
वान् अथयोगःउच्यतेनन्नमत्सरशालि
नाम् सहजोलिश्चामरोलिश्चवज्रोल्याएव

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

मेढ्र जले भस्मसमिनिःक्षिप्य दग्धगोमय
संभवम् वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वा
गलेपनम् ९४ आसीनयोः सुखेनैव मुक्त
व्यापारयोः क्षणात् सहजोलीरियं प्रोक्ता से
व्यते योगिभिः सदा ९५ अयं शुभकरो योगो
भोगयुक्तोपिमुक्तिदः पित्तोल्बणत्वात्प्रथ
मेवधारां विहाय निःसारतयान्त्यधाराम् नि
षेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिकैः खंडम
तेमरय्यो ९२ अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वं
दिने दिने वज्रोलीमभ्यसेदेवं अमरोलीति
कथ्यते पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपा
टवात् यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगि
नी तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छेदित्यसंश
कः तस्याः शरीरे नादस्तु बिंदुतामेव गच्छति
सबिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहदेजः
वज्रोल्याभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिः प्रकुर्वतः
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम्
देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्याभ्यासयोगतः
मेहनाकुंचनादूर्ध्वं रजसापि च योगिनी ९८
तस्मादयं साधकानां भोगयुक्तोपि मुक्तिदः

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

हठ. १५

15

तस्मात्सुत्व्यवतामेवस्वयंयोगः प्रसिध्यति १०३
अथशक्तिचालनम् कुंडलीगीपकुंडलिनीभु
जंगीशक्तिरीश्वरी कुंडल्यारुंधतीशब्दाभुजे
गायययावाचिकाः १०४ उद्घाटयेत्कपाटंतुय
तःकुंचिकयाहठात् कुंडलीन्यातथायोगी
मोक्षद्वारंविभेदयेत् येनमार्गेणगंतव्यंब्र
ह्मस्थानंनिरामयम् मुखेनाच्छाद्यतद्वारंप्र
सुप्तापरमेश्वरी कंदोर्ध्वेकुंडलीशक्तिः सुप्ता
मोक्षायययोगिनाम् बंधनायचमूढानांयस्तां
वेत्तिसयोगवित् अंभोधिशैलद्वीपानांमा
धारंप्रोक्तकुंडली अशेषयोगतंत्राणांमाधा
रःकुंडलीतथा कुंडलीकुंडलीकारासर्पवत्प
रिकीर्तिता साशक्तिश्चालितायेनसमुक्तोना
त्रसंशयः ११२ गंगायमुनयोर्मध्येबालरंडा
तपस्विनी बालात्कारेणगृह्णीयात्तद्विष्णो
परमंपदं पुच्छेनिरुद्धभुजंगीसुप्तासामुद्बो
धयेदमी निद्रांविहायसाशक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठ
तेहठात् परिस्थिताचैवफणावतीसाप्रात
स्सायंप्रहरार्द्धयामम् प्रपूर्यसूर्यात्परि
धाययुक्त्याप्रगृह्यनित्यंविचालितासा वि

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

नत्तिमात्रमिकंदीर्घंविस्तारश्चतुरंगुलम् मृ
दुलंधवलंप्रोक्तंवेष्टनाम्बरलक्षणम् ११७ व
ज्रासनोस्थितोयोगीचालयित्वाचकुंडली कु
र्यादनंतरंभस्त्रांकुंडलीमाशुबोधयेत् नाशा
दक्षिणवाहिमार्गपवनात्प्राणोतिदीर्घीक्ष
तश्चंद्राभः परिपूर्णमामृततनुः प्राग्घंडिका
याःतथा छित्वाकालविशालवह्निवशगान्
भूरंध्रनाडीगणान् तंकायंकुरुतेपुनर्नवत
रंजीर्णद्रुमस्कंदवत् १२१ कुंडलीचालयित्वाथ
कुर्याद्भस्त्रींविशेषतः एवमभ्यसतोनित्यंयमि
नेधुंकतेयमः तदभ्यसेत्स्वर्गभेदंउज्ज्ञायीचा
पिशीतली एवमभ्यासयुक्तस्यशाभिनोयमि
नःकुतः स्वरूजीहयपर्यंतैर्निर्भस्त्रचालना
दसौ उद्देमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्नाकुंडलीक्र
तोम् १२२ तेनकुंडलिनीतस्यासुषुमायासमु
घ्रता जहातितस्मात्प्राणोयंसुषुम्नांव्रजति
स्वतः १२३ तस्मात्संचालयेन्नित्यंसुप्तामरुंधतीम
रुंधती यस्याःसंचालयेनाशुयोगीरोगैर्वि
मुच्यति १२४ येनसंचालिताशक्तिःसयोगीसि
द्धभाजनः किंमत्रबहुनोक्तेनकालंजयति

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

लीलया ब्रह्मचर्य्यं तु तस्यैव नित्यं हितमि
ताशनम् मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्याभ्या
सयोगिनः अभ्यासतः स्तनांचाङ्गो विमूत्या
सहमिश्रयेत् तज्जारणं तु जमीगोदिव्यह
ष्टिप्रदायकम् द्विसमतिसहस्राणां ७२...
नाडीनां मंडलेयतं कुतः प्रक्षालनोपायः
कुंडल्याभ्यासनाहन्ते इति शक्तिचालनं
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी
राजयोगे विनाभ्यासा द्धठयोगे न सिध्यति
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते १२५
मारुताभ्यासनं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणां
वलायमध्यमा नाडी हठाभ्यासेन योगिना
म् आसने प्राणसंयम्य मुद्राभिः सरला भ
वेत् अभ्यासेषु विनिद्राणां मनो हृतसमा
धिना रुद्राणी वा परा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रय
च्छति उपदेशं हि मुद्राणां यो धत्ते सांप्रदा
यिकं स एवाश्च गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर
एव सः तस्य वाक्यपरो नित्यं यो अभ्यसेत्सह स

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

माहितः ग्रणिमादिगुणैश्वर्यंजायतेका
लवंचकः इतिश्रीग्रात्मारामयोगीन्द्रवि
रचितायांहठप्रदीपिकायांतृतीयोपदे
शः ३ नमःशिवायगुरवेनादविंदुकला
त्मने निरंजनपदंयातिनित्यंयत्रपराय
णः १ ग्रथेदानींप्रवक्ष्यामिसमाधि
क्रममुत्तमम् मृत्युघ्नंचसुखोपायंब्रह्मा
नंदकरंपरम् २ राजयोगःसमाधिश्च उ
न्मनीचमनोन्मनी ग्रमरत्वंलयस्तत्वंशू
न्याशून्यंपरंपदम् ३ जीवन्मुक्तिश्चसहजे
तुर्याचित्येकवाचकम् सलिलेसैंधवंयद्व
त्साम्यंभवतियोगिनाम् यथात्ममनसो
रैक्यंसमाधिःसोभिधीयते राजयोगस्यमा
हात्म्यंकोवाजानातितत्त्वतः ज्ञानान्मुक्ति
स्थितासिद्धिर्गुरुवाक्येनलभ्यते ७ दुर्ल
भोविषयत्यागोदुर्लभंतत्वदर्शनम् दु
र्लभासहजावस्थासद्गुरोःकरुणांविना ८
यावन्नैवप्रविशतिचरन्मारुतोमध्यमार्
गेयावद्बिंदुर्नभवतिदृढःप्राणवातःप्रबं
यः तावद्ध्यानेसहजसदृशंजातेनैवतत्वं

© Dharmartha Trust J&K. Digitized by eGangotri

पांयके अंगूठासे लेकर नाभिपर्यंत देहकी नीची और वाएं भाग धरातलमें अच्छी तरह स्थापन करके हाथसों दोनों पंजानको धरतीमें अवलंबन करै और सर्पके फनकी तरह शिरके भागको उठावे याको भुजंगासन कहे हैं ।।४१।।४२।।

योगासनविधिः

उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि ।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकम् ।।४३।।
पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
योगासनं भवेदेतद् योगिनां योगसाधने ।।४४।।

इति श्रीघेरण्डसंहितायाँ ऋषिघेरण्डनृपचंडकापालिसंवादे-
द्वात्रिंशासनवर्णनं नाम द्वितीयोपदेशः ।।२।।

दोनों पांयनिको चित्त कर दोनों जांघोंके ऊपर संस्थापित करकें दोनों हाथ उत्तानभावसे आसनके ऊपर राखै पीछे पूरक (प्राणायाम) के सार द्वारा पवन खेंचकें कुंभक (डाटै) और उस समय नाकको आगेको भाग ताको देखे इसको योगासन कहते हैं ।।४३।।४४।।

इति श्रीघेरंडसंयहिताश्रीमथुरास्थदक्षगोत्रोद्भवचातुर्वेदिशर्मश्री
५ कल्याणचंदात्मजराधाचंदविरचितव्रजभाषाटीकायां
आसनवर्णनो नाम द्वितीयोपदेशः ।।२।।

तृतीयोपदेशः ३

अथ मुद्राकथनप्रकरणम्

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।।१।।
विपरीतकरी योनिर्वज्राणो शक्तिधारिणी ।
ताडा ी माण्डवी मुद्रा शांभवी पंचधारिणी ।।२।।
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी ।
पंचविंशतिमुद्राणि सिद्धिदानीह योगिनाम् ।।३।।

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जलंधर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरी, योनि, वज्राणी, शक्ति धारिणी, ताडागी, मांडवी, शांभवी, धारणामुद्रा, पांच तरहकी है। जैसे–पार्थिवीधारणा, आम्भसीधारणा, वैश्वनरीधारणा, वायवीधारणा, नभोधारणा और तापीछें अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी, भुजंगिनी ॥ १–३॥

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव संनिधौ ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरुतामपि ॥५॥

श्रीमहादेव गौरीसे बोले कि, हे देवि ! मैंने तेरे आगे मुद्रानिके नाम कहे हैं। इनके जानवेसोंही सब भांतिकी सिद्धिका लाभ होइ है। यह सब विषय परम गोपनीय है जिस किसीको कभी नहीं देना। क्योंकि विना प्रतिज्ञाके साधि हो नहीं सकते और कदापि वतायभी दो तो चंचल लोग दोषित करेंगे और न बन सकेंगे तो इस विद्याकी झूंठी कहकर दृढ प्रतिज्ञोंकोभी नहीं देना, ये सब मुद्रा योगियोंको भी परम प्रीति देनेवाली है। यह मुद्रा देवताओंको भी दुर्लभ हैं ॥४॥५॥

महामुद्राविधिः

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः ।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदांगुलः ॥६॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥७॥

गुदामूलकों बांई एडीसों बहुत ताकतसों दबावे और दांये हाथको फैलायके हाथसों पांयकी अंगुली धरै फिर कंठको सकोड़के भौंहके मध्यमें ध्यान लगा देवे इसको पंडितगण महामुद्रा कहें हैं ॥६॥७॥

मुद्राफलम्

क्षयकासं गुदावर्तं प्लीहां जीर्णज्वरं तथा ।
नाशयेत् सर्वरोगांश्च महामुद्रातिसेवनात् ॥८॥

उपरोक्त (महामुद्रा) को अधिक सेवन करवेंसों क्षयसों भई खांसी,

गुदावर्त (गुदाके चारों तर्फ वारे फोडा) तापतिल्ली और जीर्ण ज्वर (पुराना ज्वर), तथा और सब तरहसे रोग या महामुद्राके सेवनसों नाश होई है ॥८॥

नभोमुद्राविधिः

यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥९॥

जब जब योगी काहू काममें लगे तब तब सर्वदाही ऊपरकी ओर जीभ करके कुंभकके द्वारा स्थिर होकर पवनको धारण किया करै यह अभ्यास सदा रखनेसे योगी समस्त रोगनिते निवृत्त होई हैं इसको नभोमुद्रा कहते हैं ॥९॥

उड्डीयानबंधविधिः

उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्वं तु कारयेत्।
उड्डीयानं कुरुते यत् तद्विश्रांतं महाखगः।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ॥१०॥

नाड़ीके ऊपरका भाग पश्चिमद्वारको उदरके समभावमें सिकोड़नों चाहिये अर्थात् उदरके मध्यम भागस्थ गुह्यादि चक्रस्थित नाड़ीसमूहकों नाभीके ऊपर सिकोड़के उठानों चाहिये इसको उड्डीयान बंधन कहते हैं यह उड्डीयान बंध मौतके लिये अर्थात् गजरूप मृत्युको सिंहके समान है ॥१०॥

उड्डीयानबंधफलम्

समग्राद्बन्धनादेतत् उड्डीयानं विशिष्यते।
उड्डीयानेसमभ्यस्तेमुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥११॥

जितने मुद्राबंध कहे गये हैं उन सबमें यह उड्डीयान बंध बहुत उत्तम है इस उड्डीयान बंधके साधनसे आपही आप मुक्ति होई है ॥११॥

जालंधरबंधविधिः

कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालंधरकृते बंधे षोडशाधारबंधनम्।
जालंधरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ॥१२॥

कंठको सकोंड करकें छातीपर डाढ़ी धरवेहीसों जालंधर बंध कह्यौ

जाय है याके साधन करवेसों सोलह भांतिके आधार बंध हुआ करते हैं यह मौतका भी नाशक है ॥१२॥

जालंधरबंधफलम्

सिद्धं जालंधरं बंधं योगिनां सिद्धिदायकम् ।
षण्मासमभ्यसेत् यो हि स सिद्धोनात्रसंशयः ॥१३॥

यह जालंधर बंध स्वयं सिद्ध है यह योगियोंको सिद्धि देवेवारो है जो बुद्धिमान् छः महीना इसका साधन करता है वह अवश्य सिद्ध हो जाता है इसमें संशय नहीं है ॥१३॥

मलबंधविधिः

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुंचयेत्ततः ।
नाभिग्रन्थि मेरुदंडं संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥१४॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबंधं समाचरेत् ।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ॥१५॥

बायें पांयकी एड़ीसों गुदा–प्रदेशको सिकोड़े वा पीछे टूंडीकी गाठको पीठकी हड्डीसे दवावै और उपस्थको दांये एड़ीसों मजबूत दवाके राखै इसकौ मूलबन्धन कहते हैं यह मुद्रा बुढापेंको दूर करै है ॥१४–१५॥

मूलवंधफलम्

संसारसागरं तर्तुमभिलषति य पुमान् ।
विरलेषु गुप्तो भूत्वा मुद्रामनां समभ्यसेत् ॥१६॥
अभ्यासाद्बंधनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
साधयेद्यत्नतस्तर्हि मौनी तु विजितालसः ॥१७॥

जो मनुष्य संसारसागरसे पार होनेकी इच्छा करै वे एकांत स्थानमें गुप्तभावसे इस मुद्राका अभ्यास करै इस मूलबंधके अभ्याससे जरूर पवन (वायु) सिद्धि होई है इसके साधक आलसकों छोड़के मौनी हो यत्नपूर्वक इसको साधन करै ॥१६॥१७॥

महाबंधफलम्

महाबंधः परो बंधो जरामरणनाशनः ।
प्रसादादस्य बंधस्य साधयेत्सर्ववांछितम् ॥१८॥

यह महाबंध (नामकीमुद्रा) सब मुद्राओंमें श्रेष्ठ है और बुढ़ापे तथा मौतको नाश करै है इस महाबंधके प्रसादसों सब मनमाने मनोरथ पूर्ण होई है ॥१८॥

महावेधविधिः

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।
मूलबंधमहाबंधौ महावेधं विना तथा ॥१९॥
महाबंधसमासस्य उड्डानकुम्भकं चरेत् ।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ॥२०॥

जैसे पुरुषके विना नारीको सुदर रूप यौवन (जवानी) तथा लावण्यता निष्फल रहती हैं। वैसेही महावेधमुद्राके विना मूलबंध तथा महाबंधभी काऊ कामके नहीं रहते। पहले महाबंध मुद्रा करै फिर उड्डीयानबंध मुद्रा करके कुंभक प्राणायामसे वायुकों निरोध करवेहीसे महावेध मुद्रा कही जाती है। यह मुद्रा महावेधके द्वारा योगिजन सर्वसिद्धिकों पावे हैं ॥१९॥२०॥

महावेधफलम्

महाबंधमूलबंधौ महावेधसमन्वितौ ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः ॥२१॥
न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ।
गोपनीयः प्रयत्नेन बेधोऽयं योगिपुंगवैः ॥२२॥

जो साधक प्रतिदिन इस महावेधके सहित महाबंध और मूलबंधका साधन कियो करे हैं वे ही योगियोंमें उत्तम योग विद्याके जाननेवारे कहे जाते हैं। मौत और बुढ़ापा उनके पास कभी नहीं आय सकती। यह मुद्रा परम गुप्त रखवेके योग्य है योगीनमें श्रेष्ठ योगी इसको किसीसे नहीं कहते हैं ॥२१॥२२॥

खेचरीमुद्राविधिः

जिह्वाधो नाडीं संछिन्ना रसनां चालयेत्सदा ।
दोहहेन्नवतीतेन लोहयंत्रेण कर्षयेत् ॥ २३॥
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।
यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी ॥२४॥

रसना तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोर्मध्ये गतां दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥२५॥

जीभके नीचे जीभकी जड़ और जीभ इन दोनोंको जो नाड़ी जोड़े रहती है उसको काट देवे और नित्यही जिह्वाके अग्रभाग और जिह्वा (जीभ) के नीचे सदा चलाया करै। और जीभको नवनीत (माखन) से दुहा करै और लोहेकी (चीमटा) सो खेंच लेय। याही प्रकार रोज करनेसे जीभ लंबी हो जाती है। क्रमसे अभ्यास करते करते जीभको इस प्रकार लंबी कर देय कि जासों दोनों भौंहोंके बीचतक पहुंच जाय। फिर उसी जीभको क्रमसे तालुके बीच ले जाय। तालु देश मध्यस्थ (गड्ढाको) कपालकुहर कहते हैं। जीभको उसी तालुके गड्ढामें ऊपरकी ओर उलटके प्रवेशित करै ता पीछे दोनों भौंहनिके मध्य (बीच) के भागको देखे याको खेचरी मुद्रा कहे हैं ॥२३॥२५॥

खेचरीमुद्राफलम्

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते ।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते ॥२६॥

जो मनुष्य या खेचरी मुद्राको साधन करे हैं उनको मूर्च्छा भूंख प्यास और आलस्य नहीं होई हैं और न रोग न बुढापो न मौत पास आवे और देवतानकीसी ताकी देह हो जाय ॥२६॥

नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः ।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः ॥२७॥

और उनको आग नहीं जलाय सके पवन सुखाय नहीं सके तथा पानी न गीला कर सके तथा सांप काट नहीं सके है ॥२७॥

विपरीतकरीमुद्राविधिः

नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः ।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ॥२८॥
उर्ध्वं च गमयेत्सूर्यं चन्द्रं च अध आनयेत् ।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥२९॥

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मे समाहितः ।
ऊर्ध्वपादः शिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ।।३०।।

नाभिकी जड़में सूर्य (सूर्यनाड़ी) वास करै है और मुखके तलुओंकी जड़में चंद्रमा (चंद्रनाड़ी) वास करै है जब नीचेसे सूर्य अपने तेजसों खेंचवेसों देहमें रहवेवारौ अमृतको ग्रास कर लेय है तब मनुष्य मौतके वश होइ है। या लिये ऊपरकी ओंरसों सूर्यको उठानों चाहिये और नीचेकी ओरसों चन्द्रमाको ले आनों चाहिये इसका नाम विपरीत करी मुद्रा है सो सब तंत्रोंसे गुप्त है अर्थात् अंत कहुं नहीं कही गई। याकी विधि इसी तरह है कि धरतीमें माथेकों धरे और दोनों हाथनिसों धरतीको पकड़कर पांयनिको ऊपरकी ओर उठायके सीधा खड़ा करै और पूरक प्राणायामसे पवन खेंचकर कुंभकके द्वारा जहांतक ठहरे तबतक ठहरावे इसको विपरीतकरी मुद्रा कहते हैं।।२८।।३०।।

विपरीतकरीमुद्राफलम्

मुद्रेयं साधयेन्नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत् ।
स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ।।३१।।

जो मनुष्य इस मुद्राको रोज साधन करता है वह बुढ़ापा और मृत्युसे बच्यो रहे है। फिर सब लोकनिमें सिद्ध हो जाता है और प्रलय होनेपर भी अभय रहता है ।।३१।।

योनिमुद्राविधिः

सिद्धासनं समासाद्य कर्ण चक्षुर्नसो मुखम् ।
अंगुष्ठातर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत् ।।३२।।
काकीभिः प्राणसंकृष्य अपाने योजयेत्ततः ।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधीः ।।३३।।
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी ।
जीवेन सहितां शक्ति समुत्थाप्य करांबुजे ।।३४।।
शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परं शिवेन संगमम् ।
नानासुखं विहारं च चितयेत्परमं सुखम् ।।३५।।
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुवि भावयेत् ।
आनंदं च स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति संभवेत् ।।३६।।

योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ।
सकृत्तु लाभसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि ॥३७॥

प्रथम सिद्धासनसों बैठे फिर कान आंख नाक मुख ये चारों द्वारोंको अंगूठा तर्जनी मध्यमा अनामिका इन अंगुरियनसों ढांक लेय अर्थात् कानके दोनों छेदोंको दोनों अंगुठानसों दोनों आंखनकों दोनों तर्जनीनसों दोनों नाकके छेदोंको दोनों मध्यमानसों, मुखकों दोनों अनामिकानसों दाबै। फिर या मुद्रासों प्राणपवनकों खेंचै और फिर उसे अपानपवनं (अधोवायु) में मिलाय दे वाके बाद अंगमें छः चक्र है उनका ध्यान करै वाही समयमें (हुं) और (हंस) इन दो मंत्रोंसे भुजंगिनी रूप कुंडलिनी देवीकों जगावै तथा जीवात्मा सहित वा कुंडलिनीको सहस्र कमलमें उठायकें ले जावै और वह साधक या प्रकार चिंता करे मानो मैं शक्तिमय होकर शिव (आनंद) के संगप्रसंगम आसक्त होते भये परम आनंद भोग और विहार करता हूं तथा शिवशक्तिके संयोगसे मैं ही आनंदमय (ब्रह्म हूं) इसको योनिमुद्रा कहते हैं यह मुद्रा परम गोपनीय है यह देवताओंको दुर्लभ है या मुद्राको एक वार भी कोई साधन करै तौ साधनेवारौ पुरुष सिद्ध हो जाय है इसके द्वारा बहुतही शीघ्र समाधि प्राप्त होवे है ॥३२-३७॥

योनिमुद्राफलम्

ब्रह्महा भ्रूणहा चैव सुरापी गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न लिप्यंते योनिमुद्रानिबंधनात् ॥३८॥
यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च ।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबंधनात् ।
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्यदि मुक्ति समिच्छति ॥३९॥

जो जन योनिमुद्राकौ साधन करें हैं वे यदि ब्रह्मघाती (ब्राह्मणकों मारवेवारों) बालघाती वा गर्भ गिरायवेवारौ दारू पीवेवारो गुरुकी नारीसों मैथुन करवेवारौ भी होइ तौ भी पापमें नहीं सने। और भी जो बड़े बड़े पाप हैं तथा उपपाप हैं तिन सबकों योनिमुद्राकौ बांधवेवारो नष्ट कर देय है या कारण जो मुक्तिकी इच्छा करे सो याको साधन करै ॥३८॥॥३९॥

वज्रोणिमुद्राविधिः

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां ऊर्ध्वे क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे ।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रोणिमुद्रा मुनयो वदन्ति।।४०।।

दोनों हाथनिकी हथेरीसों धरतीके तलकों पकड़कें दोनों पांयनिकों ऊपर उठाय दै और माथौभी आकाशकी ओर उठा देवे केवल हाथके बल खड़ा रहै इसको मुनि (जन) वज्रोणि मुद्रा कहें हैं याके अभ्याससों अंगमें शक्ति (ताकत) आवे और सदा जिया करै अर्थात् अमर हो जावै ।।४०।।

वज्रोणिमुद्राफलम्

अयं योगे योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम् ।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः ।।४१।।
एतद्योगप्रसादेन बिंदुसिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
सिद्धे विंदौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ।।४२।।
भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत् ।
तथापि सकला सिद्धिर्भवति तस्य निश्चितम् ।।४३।।

यह मुद्रा साधनरूपी योगमें सब योगोंमें अच्छा (श्रेष्ठ) है और योगियांकी मुक्ति (मोक्ष) कारण है और यह योग बहुत हितका करनेवारो है तथा योगियोंको सब तरहकी सिद्धिको देवेवारो है । इसी योगके प्रसादसे कामसिद्धि, बिंदु जो (वीर्य) सिद्धि निश्चय होइ है अर्थात् वीर्य रुक गया और जब इस भांति महायत्नसे वीर्यसिद्धि हो गये पीछे कहो भूतलमें कौन और सिद्धि न होइगी । और सबेरे बड़े बड़े भोगोंसे युक्त पुरुष भी यदि इस मुद्राका अभ्यास करै तौ सब भांतिकी सिद्धियां जरूर उसकों मिलेंगी ।।४१-४३।।

शक्तिचालनीमुद्राविधिः

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुंडली परदेवता ।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ।।४४।।
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा ।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत् ।।४५।।

मूलाधारमें आत्मशक्ति (आत्माकी ताकत) सबसों परे देवता कुंडलिनी सर्पके आकाश साढ़े तीन लपेटाकी गुंडरी (गोला) बांधे सोय रही है।

जबतक वह देहमें सोती रहै है तबतक जीव पशुकी तरह अज्ञान (ज्ञानरहित) बंधो रहै है सत्य और असत्य कछु नहीं जान पड़ता तबतक चाहें कोटिप्रकार योगाभ्यास करौ कभी सत्य ज्ञान नहीं होइगो ॥४४–४५॥

उद्घाटयेत्कपाटं च यथा कुंचिकया हठात् ।
कुंडलियाः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रबोधयेत् ॥४६॥

इसी निमित्त कहा है कि जैसे तारसों बंद किवार (कपाट) तारीसे झटपट खोलके भीतर पैठ जाय याही भांति कुंडलिनीके जानेपर ब्रह्मद्वार (माथे) को प्रभेद कियो जा सके हैं (चैतन्य कियो जाय है) कि जासों सत्य और असत्यको ज्ञान होइ हैं ॥४६॥

नाभिं, संवेष्टच्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः ।
गोपनीये गृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥४७॥

एक वस्त्रके द्वारा नाभिदेशको लपेटके काऊ गुप्त मकानमें बैठकर शक्तिचालनी मुद्राका अभ्यास करै किंतु नंगो ह्वैके बाहरके भागमें या योगका साधन करनों उचित है नहीं , अर्थात् यह योग नंगो ह्वैके गुप्तस्थानमें करनों चाहिये ॥४७॥

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ॥
एवमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत् ॥४८॥

एक बिलांद लम्बो और चार अंगुल चौड़ो कोमल (नरम) और महीन सुपेद कपड़ासों नाभिको लपेटके फिर उस वस्त्रको कमरसों बांधे ॥४८॥

भस्मना गात्रसंलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत् ।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद्बलात् ॥४९॥
तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया ।
यावद्गच्छेत्सुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेद्धठात् ॥५०॥

राखसों अंगको लपेट (लेपन) करै और सिद्धासन बांधकर बैठे और नाकके दोनों छेदनसों प्राणवायु (हृदयस्थ पवन) को खैंचके बलके सहित अपानवायुके संग मिलाय दे जबतक वायु सुषुम्नानाड़ीके भीतर जायके प्रकाशित

न हो तबतक अश्विनीमुद्राके द्वारा धीरे धीरे गुह्यप्रदेश (गुदा) को सकोड़ै ।।४९।।५०।।

तदा वायुप्रबंधेन कुंभिका च भुजंगिनी ।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ।।५१।।

याही भांति निश्वास रोकके कुंभके प्राणायाम धारण करै तौ भुजंगिनी भुजंगाकार कुंडलिनीशक्ति जागकें ऊपरकी ओर उठती है अर्थात् हजार दल कमल परमात्मामें मिल जाती है ।।५१।।

विना शक्ति चालनेन योनिमुद्रा न सिद्धयति ।
आदौ चालनमस्यास्तु योनिमुद्रां समभ्यसेत् ।।५२।।

विना शक्तिचालनी मुद्राके अभ्यास किये योनिमुद्रा कभी सिद्धि नहीं हो सकै है यासों पहिले या शक्तिचालनी मुद्राको अभ्यास कर ले तव योनि-मुद्राको अभ्यास करै ।।५२।।

इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत् ।।५३।।

घेरंड महाराज कहते हैं कि, हे चंडकापालि! तुम्हारे आगे यह मैंने मुद्रा कही जाको नाम शक्तिचालनी है यह मुद्रा यत्नसों दिन दिन अभ्यास करनो चाहिये और वह अभ्यास करनो गुप्त भावसो रहै सहसा प्रसिद्ध जाहिर न होयवे पावे ।।५३।।

शक्तिचालनीमुद्राफलम्

मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी ।
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः ।।५४।।

यह मुद्रा परम गुप्त है याके द्वारा बुढ़ापो और मृत्यु दोनों नष्ट हो जाय हैं याहीसों सिद्धिके चाहवेवारे योगियोंको इसका अभ्यास जरूर करनों चाहिये ।५४।

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता ।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद्रोगाणां संक्षयो भवेत् ।।५५।।

जो योगी या मुद्राको प्रतिदिन अभ्यास करै है वाके हाथमें सिद्धि आय जाय है और उसको विग्रहसिद्धि होय है (विग्रहसिद्धि वाकों कहैं हैं

जामें विशेष ग्रहणकी शक्ति हो जाय है) अर्थात् कोई काम करै झटपट पूरो हो जाय है और वाके रोग दूर हो जाय है ॥५५॥

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृति ।
ताडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥५६॥

पश्चिमोत्तान अर्थात् उत्तान होकर पड़े और पेटको तड़ाग (तालाव) की तरह गहरी करै और कुंभक प्राणायाम कर इसको ताडागी मुद्रा कहँ हैं यह मुद्रा एक प्रधान गिनी जाय है याके द्वारा बुढ़ापौ और मौत जीती जाय है ॥५६॥

माडूकीमुद्राविधिः

मुखं संमुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां मांडूकीमुद्रिकां विदुः ॥५७॥

मुखको मूंदके जीभकी जड़को तालुवेके ऊपरकी ओर चलावै और धीरे धीरे हजारदल कमल निर्गत अमृत पान करै इसको माडूकीमुद्रा कहते हैं ॥५७।

मांडूकीमुद्राफलम्

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम् ।
न केशे जायते पाको यःकुर्यान्नित्यमांडुकीम् ॥५८॥

मांडुकी मुद्राका नित्य अभ्यास जो कोई करै उसके अंगमें वलित (खालको सुकड़ जानों), पलित (बारनको सुपेद हो जानों) तथा मांस गलकर हाड़ मात्रको रहनों ये नहीं होंय और सदा यौवन (जवानही) बन्यो रहै (अर्थात्) मौत नहीं आवे और बाल पके नहीं (अर्थात् सुपेद नहीं होवे) ॥५८॥

शांभवीमुद्राविधिः

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत् ।
सा भवेच्छांभवी मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥५९॥

दोनों भौंहनिके बीचमें वा दोनों भौंहोंकोही स्थिर दृष्टिसों अवलोकन करके और मनको एक रस करके वही आत्माराम (परमात्मा) को देखै (मानों सच्चिदानंद वहीं बैठयो है) याहीको शांभवी मुद्रा कहँ हैं यह सब तंत्रोंसे गुप्त मानी गई है ॥५९॥

शांभवीमुद्राफलम्

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
इयं तु शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥६०॥

चारों वेद छहों शास्त्र (न्यायादि यथा धर्मशास्त्र) अठारह पुराण ये सब जैसे गणिका (रंडी) लोगप्रसिद्ध रहती हैं किसीके गुप्त नहीं रहती तैसेही सामान्य वस्तु है परंतु शांभवी मुद्रा जैसे कुलवधू (अच्छे घरकी स्त्री) बड़ी यत्नसों रहैं और सहसा काउकी आंखनिके आगे नहीं आवे वैसेही यह मुद्रा जाननी ।।६०।।

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम् ।

स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शांभवीम् ।।६१।।

जो मनुष्य या शांभवी मुद्राको जाने है वह आदिनाथ (सबको प्रथम स्वामी) है वही स्वयं नारायण (जीवसमूहकी जीवनशक्ति तथा रवि) है और वही जगत्को पैदा करवैवारो ब्रह्मा भी समझनो ।।६१।।

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः ।

शांभवीं यो विजानीयात् स च ब्रह्मा न चान्यथा ।।६२।।

जो मनुष्य या शांभवी मुद्राको जानता है वही मूर्तिमान् ब्रह्म है (परमेश्वर) है या बातको महादेवजी तीन वार (त्रिवाचा) करके सत्य कहते हैं यामें झूठ नहीं है ।।६२।।

पंचधारणमुद्राः

कथिता शांभवी मुद्रा शृणुष्व पंचधारणम् ।

धारणानि समासाद्य किं न सिद्धयति भूतले ।।६३।।

घेरंड महाराज कहते हैं कि शांभवीमुद्रा तो कह आये अब हे चंडकापाली ! तुम पंचधारणा मुद्रा सुनों यह पञ्चधारणामुद्रा भी पांच प्रकारकी है जिन पांचोंके प्राप्त होयवे पै फिर भूतलमें कौन ऐसी बात है जो सिद्ध न हों अर्थात् सब सिद्ध हो जाय हैं ।।६३।।

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम् ।

मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ।।६४।।

ये पांच प्रकारकी धारणा मुद्रा सिद्ध होनेपर इसी नरदेहसों (विना मरे) जीतेही स्वर्गलोकमें आनो जानो हो सकै है और उस साधन करनेवालोंकी मनोगति (चाहे जहां जाय) जाय सकै है तथा खेचरत्व (आकाशमें उड़वेकी शक्ति) प्राप्त हो जाती है पांच प्रकारकी धारणा पहिले कह आये हैं पार्थिवी १, आंभसी २, वायवी ३, आग्नेयी ४, आकाशी ।।५–६४।।

पार्थिवीधारणामुद्राविधिः

यत्तत्वं हरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितं
वेदास्रंकमलासनेन सहितं कृत्वा हृदिस्थायिनम् ।
प्राणास्तत्र विनीय पंचघटिकां चितान्वितां धारये-
देषाशंभकरीभवेत्क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ।।६५।।

धरतीतत्त्वका वर्ण हरितालके समान पीला है या धरतीतलका बीज लकार है इसका आकार चौकोन बराबर है ब्रह्मा याके देवता हैं योगके प्रभावसे उक्त सब बीजनके सहित हृदयमें ध्यानकर स्थापित करै उस समयमें प्राण वायुको खेंच करके कुंभकके द्वारा पांच घड़ी (दो घंटा) मन न डिगने पावे धारणा किये रहै इसी स्तंभकरी (श्वास ठहरायवेवारी) क्रियाकों पार्थिवीधारणा कहते हैं याको दूसरो नाम (अधोधारणा भी है) याको धारण करवेंसो धरती जीती जाय है अर्थात् धरतीसंबंधी कोई भी बाधा होई तौ याके धारण करवेसों धारकको कछुआ विघ्न नहीं होता ।।६५।।

पार्थिवीधारणामुद्राफलम् ।

पार्थिवीधारणामुद्रा यः करोति तु नित्यशः ।
मृत्युञ्जयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद्भुवि ।।६६।।

जो नर रोज या पार्थिवी धारणामुद्राको करता है वही स्वयं मृत्युंजय हो जाता है (अर्थात् कभी नहीं मरता) और वोही सिद्धि होके धरतीमें विचर्‍यो करै है ।।६६।।

आम्भसीधारणामुद्राविधिः

शङ्खेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं तत्त्वं किकालं शुभं-
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितो धारयेत्
तेषां दुःसहतापपापहरिणीस्यादांभसी धारणा ।।६७।।

जलतत्त्वका वर्ण शंख तथा चन्द्रमाकी तुल्य विमल और कुंदपुष्पकी तरह उज्ज्वल है और शोभन है और याकी अमृत संज्ञा है और वकार याको बीज है और विष्णु याके देवता हैं योगके प्रभावसों हृदयके बीच उक्त जल तत्त्वके समुदायका ध्यान करै और उसी समय प्राणपवनकों खेंचके

पांच घड़ी चित्त स्थिर करके कुम्भक प्राणायाममें स्थिर रहै याहीकों आंभसी-धारणामुद्रा कहते हैं यह मुद्रा बडे २ दु:सह ताप (त्रय) तथा पापनिकों नाश करै है ॥६७॥

अथांभसीमुद्राफलम्

आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित् ।
जले च घोरे गंभीर मरणं तस्य नो भवेत् ॥६८॥

जो साधक या आंभसीमुद्राको जानता है वही योगवित् (योगकौ साधवे-वारौ) है वह यदि महाभयानक और गंभीर (गहरे) जलमें भी पड़कर भी मौतकौ प्राप्त नहीं होइ है अर्थात् श्वाससाधनसों जलमें डूब भी नहीं सकै है ॥६८॥

इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः ।
प्रकाशात्सिद्धि हानिः स्यात्सत्यं वच्मि च तत्वतः ॥६९॥

यह मुद्रा बड़ी गुप्त है और यत्नसहित याकों जाहिर न करनी याके जाहिर होवेसों सिद्धि (काम) की हानि होइ है यह मैं विचारकें सांच कहों हौं ॥६९॥

आग्नेयीमुद्राविधिः

यन्नाभिस्थितमिद्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं-
तत्वं तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदम् ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितं धारयत्-
देषा कालगभीरभीतिहरिणी वैश्वानरी धारणा ॥७०॥

अग्नितत्त्वकौ स्थान नाभिस्थल है याकौ रंग इद्रगोप (बीर बहूटी) की तरह लाल है रकार याकौ बीज है याकौ आकार त्रिकोण और रुद्र याके देवता हैं यह तत्त्व तेजका समूह है यह दीप्तमान (प्रकाशमान) और सिद्धिदायक है योगबलसों या अग्नितत्त्वकौ उदय करायकें एकाग्रचित्त हो पांच घड़ीतक कुंभकप्राणायामसे प्राणवायु (हृदयमें रहवेवारी पवन) को धारण करै इसका नाम आग्नेयी धारणा मुद्रा है याके अभ्याससों संसारका भय (डर) दूर हो जाय है और अग्निके द्वारा साधक की मृत्यु (मौत) कभी नहीं हो सकेगी ॥७०॥

आग्नेयीधारणामुद्राफलम्

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ पतितो यदि साधकः ।
एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक् ॥७१॥

यदि साधक बहुत जरती भई धकधकाती आगमें गिर पड़े तौ भी या आग्नेयीधारणामुद्राके प्रसादसे जीतो रहेगो कभी मृत्युका भागी नहीं होगा ॥७१॥

वायवीधारणामुद्राविधिः

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं धूम्रावभासं परं
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितां धारयेदेषा
खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥७२॥

वायुतत्त्वकौ रंग घिस्यो भयो अंजन (सुर्मा) तथा धुएकी तरह है यकार याकौ बीज है और ईश्वर याकौ देवता है यह तत्त्व सत्त्वगुणमय है योगके प्रभावसों या वायु (पवन) तत्त्वकों उदित करायकें एकाग्रचित्त हो प्राणवायुकों खेंचकर कुंभकप्राणायामके द्वारा पांच घटीतक धारण करै इसका नाम वायवी मुद्रा है यह मुद्रा साधन करवेवारेको वायुसे कभी मृत्यु नहीं हो सकती और साधकका सामर्थ्य आकाशमें जाने आनेकी हो जाती है ॥७२॥

वायवीधारणामुद्राफलम्

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।
वायुना म्रियते नापि खे च गतिप्रदायिनी ॥७३॥

यह मुद्रा परम श्रेष्ठ है बुढ़ापे और मौत इन दोनोंको नाश करती है और साधक वायुके किसी प्रकारके कोपसो नहीं मर सकता और यह मुद्रा आकाशगमनकी सामर्थ्यको देवेवारी है ॥७३॥

शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्य कस्यचित् ।
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यात्सत्यं वच्मि च चण्डते ॥७४॥

घेरण्डमहाराज बोले कि हे चंडकापालि! या मुद्राकी विधि मूर्ख तथा जाके हृदयमें भक्ति न हो ऐसेनकों कभी नहीं बतानी चाहिये और हर काऊकों नहीं देना और शठादिकनको देनेसो बतायवेवारेकों सिद्धि नहीं होइ यह तुमसे मैंने साच कहा है ॥७४॥

आकाशीधारणामुद्राविधि:

यत्सिधौ दरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम् ।
प्राणांस्तंत्र विनीय पंचघटिकां चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणा ।।७५।।

आकाशतत्त्वका रंग समुद्रके विशुद्ध जलकी तरह प्रकाशित होता है सदाशिव याके देवता हैं हकार याकौ बीज है इसी आकाशतत्त्वकों सदाशिवके सहित योग प्रभावसे उदित एकाग्रमन होकर ध्यान करै और वाही समय प्राण-वायुको खेंचकर कुंभकप्राणायामसे पांच घड़ी धारण किये रहै इसीको आकाशी-धारणा कहते हैं यह मुद्रा मोक्ष (मुक्ति) के किवारनकों खोल देय है ।।७५।।

अकाशीधारणामुद्राफलम्

आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति सैव योगवित् ।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति ।।७६।।

जो मनुष्य आकाशीमुद्राको जानता है वही निश्चय योगको जानवे-वारो है उसकी मृत्युभी किसीसे नहीं होती है और प्रलय होनेपर भी ज्योंका त्यों बन्यो रहै है ।।७६।।

इति पंचधारणामुद्रा:

अश्विनोमुद्राविधि:

आकुंचत्येद्गुदद्वारं प्रकाशयेत्पुन: पुन: ।
सा भवेदश्विणीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ।। ७७ ।।

साधक फिर फिर अपने गुदाके मुखकों सकोड़े और फैलावै याहीको नाम अश्विनीमुद्रा है यह मुद्रा शक्ति (ताकत) को बढ़ायवेवारी है ।।७७।।

अश्विनोमुद्राफलम्

अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी ।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत् ।।७८।।

यह श्रेष्ठ मुद्रा अश्विनी गुदा (गांड) के सबरे रोगनको नाश करै है और बल और पुष्टिताकों बढ़ावे है और अकाल मरण (बेसमय मरबेकों) हर लेती है ॥७८॥

पाशिनीमुद्राविधिः

कण्ठे पृष्ठे क्षिपेत्पादौत्पाशवं दृढबंधने ।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥७९॥

दोनों पांव कंठकी पीठमें डालकर जैसे पाश (रस्सा) सों बांध्यो जाय है वैसेही दृढ़ (ताकतसो) बांधै यही पाशनी मुद्रा कही जाय है यह भी शक्ति (बल) को जगावै ॥७९॥

पाशिनीमुद्राफलम्

पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी ।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः ॥८०॥

यह पाशिनी एक वड़ी भारी मुद्रा है यह बल और पुष्टि (अंग बढ़ाना) तथा सिद्धि चाहवेवारे साधक लोग इसको जरूर बड़े यत्नसों साधन करै ॥८०॥

काकीमुद्राविधिः

काकचंचुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ॥८१॥

अपने मुखकों कौआकी चोंचके तरह बनायके धीरे धीरे वायु पीवे इसका नाम काकीमुद्रा है यह सब तरहके रोगनकों दूर करै है ॥८१॥

काकीमुद्रा परा मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ।
अस्याः प्रसादमात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत् ॥८२॥

यह काकीमुद्रा बहुत उत्तम है और सब तंत्रनिमें गुप्त है इसके प्रसाद (प्रताप सों मनुष्य काककी तरह रोगरहित हो जाय है ॥८२॥

मातंगिनीमुद्राविधिः

कंठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत् ।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्त्रेण चाहरेत् ॥८३॥
नासाभ्यां रेचयेत्पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः ।
मातंगिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥८४॥

कंठ (गरे) तक जलमें ठाडौ होकर पहले नाकसों जलको खैंचकें मुखसों निकार देवे तो पीछें मुखसों जल खैंचके पीछे नाकसों गेर देय नाकके दोनों छेदनसों वहाय देइ, या प्रकार वारंवार खेंचै और वेरवेर गेरै याको नाम मातंगिनी मुद्रा है यह मुद्रा बुढापे और मौतको नाश करै है ।।८३-८४।।

मातंगिनीमुद्राफलम्

विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः ।
कुर्यान्मातंगिनीं मुद्रां मातंग इव जायते ।।८५।।

साधक कहूं निर्जन वन (जहां कोई मनुष्य न हो) वहां एकाग्र चित्त कर बैठे या मातंगिनीमुद्राकों साधै तौ हाथीकी तरह वलवान् हो जाय है ।।८५।।

यत्र यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साधयेन्मुद्रिकां पराम् ।।८६।।

या मुद्राके साधन करवेवारे योगी जहां जहां स्थिर (बैठा रहेगा वहीं वहां वहुत सुखका भागी होगा या कारण सव तरहसे जतन करके या श्रेष्ठ मुद्राकौ साधन करनो चाहिये ।।८६।।

भुजंगिनीमुद्राविधिः

वक्त्रं किंचित्सुप्रसार्य्य चानिलं गलया पिबेत् ।
सा भवेद्भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।।८७।।

मुखकों किंचित् थोरो फैलायके गरेके द्वारा वायु पीया करै गरेमें पवनको धक्का जोरसे लगै। इसको भुजंगिनि मुद्रा कहते हैं यह बुढापौ तथा मौतको नाश करैं हैं ।।८७।।

भुजंगिनीमुद्राफलम्

यावच्च उदरे रोगमजीर्णादि विशेषतः ।
तत्सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजंगिनी ।।८८।।

जितने उदर (पेट) में रोग हैं तथा अजीर्ण आदिकोंको विशेष करके यह भुजंगिनी मुद्रा शीघ्र दूर करै ।।८८।।

सर्वमुद्राफलम्

इदं तु मुद्रापटलं कथितं चंडकापलि ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम् ।।८९।।

घेरंडमुनि बोले कि हे चंडकापालि! मैंने तेरे आगे यह मुद्रानको पटल कह्यो यह सबरे सिद्ध जनोंको प्रिय (प्यारा) है और बुढ़ापे तथा मौतको नाश करै है ॥८९॥

शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्य कस्यचित् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्ल्लभं मरुतामपि ॥९०॥

जो मूर्ख और भक्तिहीन अर्थात् जो भक्तिवान् न हो उसको ये मुद्रा कभी नहीं देनों चाहिये और जिस तिसको भी देनी उचित नहीं है इसको यत्नसों गुप्त राखनी चाहिये ये सब मुद्रा देवतानको भी दुर्लभ हैं ॥९०॥

ऋजवे शांतचित्ताय गुरुभक्तिपराय च ।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम् ॥९१॥

ये सब मुद्रा भोग (भोजनादि) मोक्ष दोनोंनको देवेवारी है यासों याकों विचार कर देनी चाहिये जैसे कि कोमल सुभाव हों शांतचित्त (चंचल मन न हो) गुरुके कहवेमें विश्वास राखता तौ होइ और अच्छे कुल (वंश) को होय ऐसेनको देनी चाहिये ॥९१॥

मुद्राणां पटलं ह्येतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविवर्द्धनम् ॥९२॥

यह मुद्रापटल सबरे रोगनको नाश करे है और जो नित्य अभ्यास करते हैं उसकी जठराग्नि (पेटकी अग्नि) बढ़ जाय है ॥९२॥

तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा ।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम् ॥९३॥

जो नर मुद्रासाधन करैं हैं उनको न तौ बुढ़ापो न मौत आदि न आग न पानी न पवन (वायु) कभी भय नहीं पहुंचा सकें हैं ॥९३॥

कासः श्वासः प्लीहकुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः ।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः ॥९४॥

मुद्रा साधन करवेसों कास श्वास प्लीह कोढ़ बीस तरहके कफरोग नाशको प्राप्त होते हैं ॥अर्थात् सर्व रोग जाते रहते हैं) ॥९४॥

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्ड ते ।
नास्ति मुद्रासमं किंचित् सिद्धिदं क्षितिमंडलम् ॥९५॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डचण्डकापालिसंवादे
घटस्थयोगप्रकरणे मुद्राप्रयोगो नाम तृतीयोपदेशः ॥३॥

घेरंडमहाराज कहते हैं कि हे चंडकापालि ! तोसों बहुत कहनेसे क्या है किंतु सार बात मैं कहता हूं कि जिस भूमंडल (धरतीके चारों तरफ) मुद्रा से परे कोई भी चीज सिद्धि देवेवारी नहीं हैं ॥९५॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां श्रीमधुपुरीयास्थदक्षगोत्रोद्भवचातुर्वेदीशर्म्म
श्री ५ कल्याणचंद्रात्मजभिष्प्राधाचंद्रविरचिते व्रजभाषाभाष्यं नाम
टीकायां घटस्थयोगप्रकरणे मुद्राकथनो नाम तृतीयोपदेशः ॥३॥

चतुर्थोपदेशः ४

प्रत्याहारप्रकरणम्

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनम् ॥१॥

घेरंड महाराज कहते हैं कि चंडकापालि ! मुद्रा कहे पीछे अब हम तोसों प्रत्याहार उत्तम योग कहते हों याके ज्ञानमात्रसेंही कामादि (क्रोध मोह मद आदि) वैर नाशकी प्राप्त होते हैं ॥१॥

अतस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२॥

जिस विषयमें मन चंचल होके भ्रमण करै प्रत्याहारके द्वारा उस उस विषयसों मनको लौटाय दे अपने वश लानो चाहिये ॥२॥

पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं भावमायकम् ।
मनस्तस्मान्नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥३॥

चाहे आदर हो चाहें निरादर हो किसीमें मनको कभी नहीं फसानों याही प्रकार कानको अच्छा लगता शब्द हो चाहे बुरो बोले हो किसीमें मन न लगावै अपनेही वश राखै ॥३॥

यही कारण है कि उसके बोध विना योगसम्बन्धी समस्त उपाय अधूरे रह जाते हैं ।। ८३ ।।

कुण्डलिनीके जागृत होनेके लिये आपने लिखा है कि मुद्राओंका अभ्यास करना चाहिये ।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जार्गात कुण्डली ।
तदासर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपिच ।। ८४ ।।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ।। ८५ ।।

--हठयोगप्रदीपिका.

गुरुकी कृपा एवं अपने अभ्यासबलसे जब कुण्डली शक्तिका जागरण होता है तब समस्त पद्म यानी षट्चक्र विकसित हो जाते हैं और ब्रह्म आदि ग्रन्थियाँ भी खुल जाती हैं। इसलिये उस कुण्डलिनीको जो ब्रह्मद्वारको रोके हुंए सो रही है जगाना हो तो प्रयत्नपूर्वक मुद्राओंका अभ्यास करना चाहिये ।। ८४-८५ ।।

मुद्राओंका लक्षणसहित वर्णन निम्नलिखित है :—

मुद्राओंके भेद

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।। ८६ ।।
विपरीतकरी योनिर्वज्राणी शक्तिधारिणी ।
ताडागी माण्डवी मुद्रा शाम्भवी पंचधारिणी ।। ८७ ।।
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजंगिनी ।
पंचविंशतिसंख्याका मुद्राः प्रोक्ता महर्षिभिः ।। ८८ ।।

घेरण्डसंहिताकार पच्चीस प्रकारकी मुद्रा लिखते हैं कि--१ महामुद्रा २ नभोमुद्रा, ३ उड्डीयानबन्ध, ४ जलन्धरबन्ध, ५ मूलबन्ध, ६ महाबन्ध, ७ महावेध, ८ खेचरी, ९ विपरीतकरणी, १० योनिमुद्रा, ११ वज्राणी, १२ शक्तिधारिणी, १३ ताडागी, १४ माण्डवी, १५ शाम्भवी, १६ पार्थिवधारिणी, १७ आम्भसीधारिणी, १८ वैश्वानरीधारिणी, १९ वायवीधारिणी २० नभोधारिणी, २१ अश्विनी, २२ पाशिनी, २३ काकी, २४ मातङ्गी और २५ भुजंगिनी, इन भेदोंसे मुद्राके पच्चीस नाम महर्षियोंने बताये हैं ।। ८६-८८ ।।

Scanned by CamScanner

(१) महामुद्राकी विधि

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य यत्नतो दृढम् ।
याम्यपादं प्रसार्याथ करैर्धृतपदाङ्गुलिः ॥ ८९ ॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधा एषा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥ ९० ॥

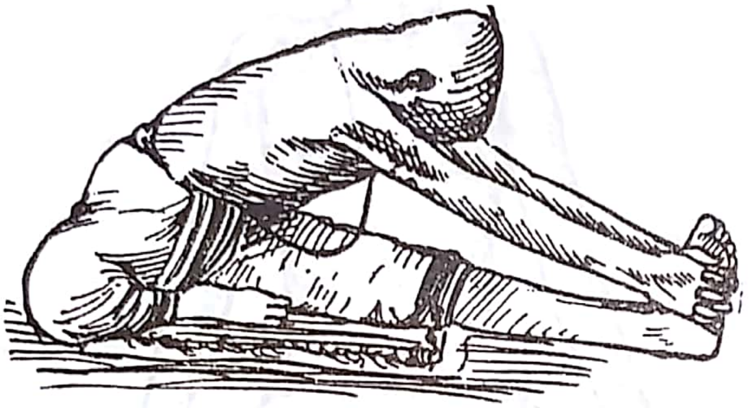

बायें पैरकी एडीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ लगाकर दाहिने पैरको दण्डाकार फैलाकर एड़ी भूमिपर रख दे, फिर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको परस्पर भिड़ाकर दाहिने पैरकी अँगुलियोंको पकड ले और कंठको सिकोड कर भौंहोंके मध्यभागको निश्चल दृष्टिसे देखता रहे । इस प्रकारकी क्रियाका नाम महात्माओंने 'महामुद्रा' बताया है । इसका अभ्यास अनुलोप और विलोम रीतिसे अर्थात् बायें अंगसे करके उसी तरह दाहिने अंगसे भी करना चाहिये । इस मुद्राके लगानेका फल यह होता है कि—"ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् । तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥" इडा और पिंगला नाडीको त्यागकर प्राणवायुको कुंडलीके पास सरलतासे पहुँचानेके लिये सुषुम्णा नाडीवाला मार्ग उपस्थित हो जाता है, इसलिये कुंडलीके जगानेका अनुकूल अवसर प्राप्त हो जाता है ॥ ८९-९० ॥

(२) नभोमुद्राकी विधि

यत्रतत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं शनैः ॥
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥ ९१ ॥

जब कभी साधकको इच्छा हो तब ऊपरको जीभ निकाल कर धीरे २ वायुको खींचकर कुम्भक करे । यह समस्त रोगोंके नाश करनेवाली 'नभोमुद्रा' नामक मुद्रा कहाती है ॥ ९१ ॥

Scanned by CamScanner

(३) उड्डीयान बन्ध

उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्वं तु कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ।। ९२ ।।

दोनों जानुओंको मोड़कर पैरोंके तलुओंको परस्पर भिडाकर उसीके सहारे बैठ जाय। फिर उदरगत नाभिचक्रके नीचे तथा ऊपरके भाग का आकर्षण इस प्रकार करे कि दोनों भाग जाकर पृष्ठभागमें लग जायँ। इसमें नाभिके ऊपरी और निचले भागका तनाव होता है, इस तनावसे सुषुम्णा नाडीके मध्य जानेके लिये प्राणवायुका मार्ग जो अवरुद्ध रहता है वह अनुकूल हो जाता है, अत एव सुखपूर्वक सुषुम्णाकी ओर प्राण–पक्षी उड जाता है, इसी लिये इस बन्धका अन्वर्थ नाम 'उड्डीयान[१]' रखा गया है। यह बन्ध दृढ अभ्यस्त हो जाने पर मृत्युरूप मतवाले हाथीके साथ सिंहकासा व्यवहार करता है और बूढोंको भी जवान बना देता है ।। ९२ ।।

(४) जालन्धर बन्ध

कण्ठमाकुच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशनः ।। ९३ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

१—'सुषुम्णायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम्। 'डीङ्' विहायसा गतौ' इत्यस्मात्करणे ल्युट।' करणेमें डी धातुसे ल्युट् प्रत्यय होकरयह शब्द सिद्ध होता है और जिसके द्वारा बँधा हुआ प्राण सुषुम्णामें जाता है, यही इसका वाच्यार्थ है।

Scanned by CamScanner

कंठको सिकोडकर अपने चिबुक (ठोढी) को हृदयकी ओर लेजाकर इस प्रकार दृढ स्थापित कर दे कि हृदयसे ठोढीका अन्तर केवल चार अंगुलका रहे। यह बन्ध जाल यानी नाडियोंके समूहको बाँधे रहता है, अथवा कपाल-कुहरसे गिरकर नीचे जाकर जठराग्निको मन्द कर देनेवाले जलबिन्दुका बन्धन किये रहता है इसलिये इसका अन्वर्थ नाम 'जालन्धर[१]' कहा गया है। नाडियोंके बंधे रहनेसे कुपित वायु नाडियोंमें जाकर किसी तरहका विकार नहीं उत्पन्न करने पाती और जलवन्धनसे जठराग्नि कभी मन्द नहीं होने पाती, जिससे साधकको यह लाभ होता है कि मृत्युभय, बूढ़ापन, रोग एवं आलस्य आदि उपद्रवोंसे छुटकारा मिल जाता है। इसमें कंठका जो संकोचन किया जाता है उसका यह भी फल होता है कि इडा और पिंगला नाडियोंके स्तम्भन होनेके कारण सुषुम्णामें जानेके लिये प्राणको सहजमें ही रास्ता खुल जाता है—जिसका फल कुण्डलीका बोधन होता है।। ९३ ।।

(५) मूलबन्ध

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोभिधीयते ।। ९४ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

दाहिनी अथवा बाईं एडीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ़ लगाकर गुदामार्गके आकुञ्चन द्वारा अधोगत अपान वायुको ऊपरकी ओर ले जाय। इस मूल (गुदा) के आकुञ्चनसे अपान वायुका ऊर्ध्वगमन होकर प्राणके साथ संयोग होता है, दोनोंको सुषुम्णा नाडीमें जानेका अवसर मिलता है, इसका नाम 'मूलबन्ध' है। इस बन्धके लक्षणमें योगबीजकारने 'अश्वकी तरह वार-वार आकुञ्चन करे' इतना विशेष लिखा है, बाकी सव समान है। इसके करनेसे जब अपान और प्राणवायु परस्पर मिलकर सुषुम्णामें प्रविष्ट होती हैं तो नाद और बिन्दुका भी मिलाप हो जाता है। जिसका फल यह होता है कि साधक नीरोग रहकर योगसिद्धि प्राप्त करता है।। ९४ ।।

(६) महाबन्ध मुद्रा

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।। ९५ ।।

---

१ जाल = समूह (नाडीसमूह)। जाल = जल संबन्धी (जलबिन्दु) जालं + धरतीति विग्रहः।

पुरयित्वा ततो वायुं हृदयं चिबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य पायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ।। ९६ ।।

बायें पैरकी एडीको गुदा और लिङ्गके मध्यमागमें लगाकर बायीं जंघाके ऊपर दाहिने पैरको रखकर दृढतापूर्वक बैठ जाय । फिर जालन्धर बन्ध लगाकर अर्थात् कण्ठको संकुचित कर ठोढीको चार अंगुलका बीच रखकर हृदयके सामने दृढ़ स्थापित कर पूरक प्राणायाम करे । और गुदाका आकुञ्चन यानी मूलबन्ध करके मनको मध्यनाडीमें प्रविष्ट करे । फिर उस पूरक द्वारा उदरमें गयी हुई वायुका यथाशक्ति धारण कर धीरे २ रेचन करे । जबतक अनुलोम, विलोमसे इस क्रियाका अभ्यास न हो जाय तबतक युक्तिपूर्वक अभ्यास करता रहे । 'महाबन्धःमुद्रा' से गंगा, यमुना और सरस्वती नामवाली नाडियोंका संगम होता है, एवं मन शिवस्थानमें जा पहुँचता है ।। ९५–९६ ।।

जैसे रूपलावण्य संयुक्त युवावस्थावाली स्त्री विना पुरुषके निष्फल रहती है ऐसे ही महावेधके विना महाबंध और महामुद्रा भी व्यर्थ हो जाती हैं, इसलिये जिज्ञासुओंके निमित्त घेरण्डसंहितासे यहाँ पर उसका लक्षण उद्धृत करता हूँ ––

(७) महावेध

महाबन्धं समास्थाय उड्डानकुम्भकं चरेत् ।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ।। ९७ ।।
समहस्तयुगौ भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ।। ९८ ।।

महावंधको करके उड्डानबन्धपूर्वक कुम्भक करना चाहिये, परन्तु कुम्भक करते हुए इस बातका ध्यान अवश्य रहे कि दोनों हाथोंके तलुओंको भूमिमें लगाकर नितम्बको ऊपर और नीचे धीरे २ युक्तिपूर्वक उठाये और छोड़े। इस तरह करनेसे इड़ा पिंगला नाडियोंको छोडकर वायु सुषुम्णामें प्रवेश करती है ।। ९७–९८ ।।

(८) खेचरीमुद्राका लक्षण

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी ।। ९९ ।।

महात्मा स्वात्मारामजी खेचरी मुद्राका निरूपण इसप्रकार लिखते हैं कि––कपालके कुहर (छिद्र) में उलट देनेपर जिह्वा यदि प्रविष्ट हो जाय,

Scanned by CamScanner

एवं भ्रुकुटियोंके मध्यमें दृष्टिका प्रवेश हो जाय तो इसीका नाम 'खेचरी-मुद्रा' है ॥ ९९ ॥

जिह्वाका प्रवेश कपाल--कुहरमें किस क्रियासे होने लगता है यह भी स्वयं कहते हैं--

खेचरीसिद्धिके उपाय

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ १०० ॥

जबतक जिह्वा इतने परिमाणमें न बढ़ जाय कि भ्रुकुटीके मध्यमभागको छू लिया करे, तबतक जिह्वा बढ़ाने के लिये १ दोहन, २ चालन और ३ छेदन; ये तीन क्रियाएँ करनी चाहिये।

इन क्रियाओंकी रीति इस प्रकार है :--

(१) प्रातःकाल जब दन्तधावन कर चुके तब जीभमें मक्खन लगाकर उसे दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे धीरे २ इस तरह दुहे कि जैसे गौ दुही जाती है। इसे 'दोहन' कहते हैं। (२) अँगूठे और तर्जनी अँगुलीसे जिह्वाको पकड़कर चारों तरफ उलटफेर कर हिलाइये। इसीका नाम 'चालन' है। और (३) सेंहुड़ (स्नुही पत्र) के आकारवाले तीक्ष्ण शस्त्रसे आठवें आठवें दिन जिह्वाके नीचे जो शिरा रहती है उसे जितने आयामका वाल (रोम) होता है उतने परिमाणमें छेदन करे। इसीको ,छेदन' कहते हैं। छेदनके बाद उसी घावपर सैंधव, नमक, अथवा कत्था और हरडका चूर्ण घिसना चाहिये। कोई २ तो तो छेदन न करके केवल औषध द्वारा ही काम लेते हैं। जो साधक छेदन करते हैं उन्हें प्रत्येक अठवड़ेमें क्रमशः थोड़ी २ घावकी मात्रा बढ़ाते जाना चाहिये। जैसे--पहले अठवाड़ेमें वालप्रमाण घाव हो तो दूसरे में इससे कुछ अधिक होन चाहिये। उपरोक्त रीतिसे छः महीनेतक लगातार करते करते जिह्वा बढ़कर उपयोगमें आने लगती है, यानी जिह्वाकी लम्बाई इतनी हो जाती है किभ्रूम-ध्यको अच्छे प्रकार छू सकती है। तब साधकको चाहिये कि जिह्वाको उलटकर कपालकुहरमें प्रविष्ट करे वहाँ तीनों नाड़ियोंके जो छिद्र रहते हैं उनमें सुषुम्णाके छिद्रसे जो अमृत बिन्दु टपकता रहता है उसे जिह्वाग्रसे पान करे ॥ १०० ॥

इस अमृत बिन्दुके पानसे साधक निरामय होकर अजर, अमर हो जाता है। तथा :--

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्पर्शिनी,
सक्षाराकटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा।

Scanned by CamScanner

व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं,
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।। १०१ ।।

—हठयोगप्रदीपिक.।

जब पूर्वोक्त क्रियाओं द्वारा जिह्वा कपालकुहरमें जाती है तो सर्व प्रथम लवणके समान स्वाद प्रतीत होता है, एवं फिर क्रमशः कडुआ, अम्ल और दूध मधु, घीका स्वाद आने लगता है। यदि घीका स्वाद आने लग जाय तो समझ लेना चाहिये कि खेचरी मुद्रा सिद्ध हो गयी। इस मुद्रासे चंद्र (वाम), नाडीगत अमृतबिन्दु (जिसे 'अमरवारुणी' भी कहते हैं) पान करनेको मिलने लग जाता है इसलिये जरा, मरण, शत्रुसे भय और रोगोंसे छुटकारा मिल जाता है तथा अणिमा आदि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।। १०१ ।।

इसकी प्रशंसामें और भी लिखा है कि :—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ।। १०२ ।।

गो शब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।। १०३ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

जो साधक प्रतिदिन तालुके समीप ऊर्ध्वविरमें जिह्वाको प्रविष्ट करके अमरवारुणीका पान करता है उसे ही स्वात्मारामजी कुलीन मानते हैं, हैं, अन्य इतरोंको कुलघातक बताते है, क्योंकि इसके विना वे योगसिद्धि मानते ही नहीं ।। १०२–१०३ ।।

(९) विपरीत करणीमुद्रा

नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः ।
अमृतं ग्रहते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ।। १०४ ।।

ऊर्ध्वं च गमयेत्सूर्यं चन्द्रं च अध आनयेत् ।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।। १०५ ।।

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मे समाहितः
ऊर्ध्वपादो दृढोभूत्वा विपरीतकरी मता ।। २० ।।

—घेरण्डसंहिता.

Scanned by CamScanner

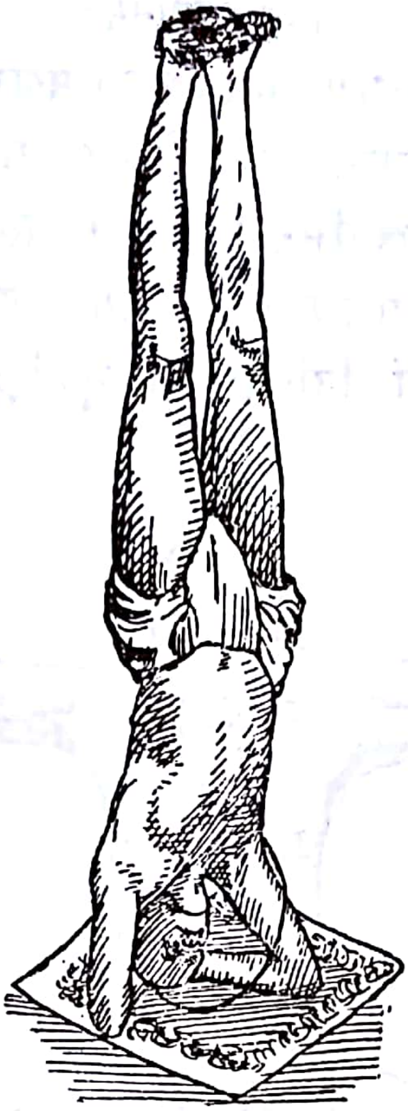

नाभिके मूलमें सूर्यनाडीका निवास है और तालुमूलमें चन्द्रनाडीका स्थान है। जब चंद्रगत अमृतको अपने तेजसे सूर्य पान कर जाता है तो मनुष्य किसी न किसी दिन मरणावस्थाको प्राप्त हो जाता है इसलिये 'विपरीतकरणी' मुद्रा करनी चाहिये। इसकी क्रिया इस तरह है कि—जिसपर शिर सुखपूर्वक टिक सके ऐसी कपड़ेकी गिंडुरी बनाकर उस पर शिरको दृढ स्थापित कर दोनों हाथोंको शिरकी दोनों ओर लगा ले, और दोनों पैर दंडाकार सीधा ऊपरको उठाये रहे। इस क्रियामें चन्द्र नीचे और सूर्य ऊपर हो जाता है यानी ऊपर का नीचे एवं नीचेका ऊपर होता है, अतएव इस मुद्राका अन्वर्थ नाम 'विपरीत–करिणी' है। इसके करनेसे त्वचाका सिकुड़ना और बालोंका श्वेत होना नहीं होता, अर्थात् वृद्धावस्था नहीं आने पाती। इतनाही नहीं, किन्तु निरंतर एक प्रहर पर्यन्त इस क्रियाके करनेवाला मनुष्य मृत्युको भी जीत लेता है। परन्तु खेचरी मुद्राके सामने इसका महत्त्व नहीं के बराबर है; क्योंकि इसे साधकर जो काम सिद्ध करना है वह पूर्णतया उसीसे होता है, इससे नहीं ॥ १०४–१०६ ॥

Scanned by CamScanner

(१०) योनिमुद्रा

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखम् ।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामिकाभिश्च साधयेत् ।। १०७ ।।
प्राणंसंकृष्य काकीभिरपाने योजयेत्ततः ।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसं मनुना सुधीः ।।
चैतन्यमानयद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी ।। १०८ ।।

—घेरण्डसंहिता.

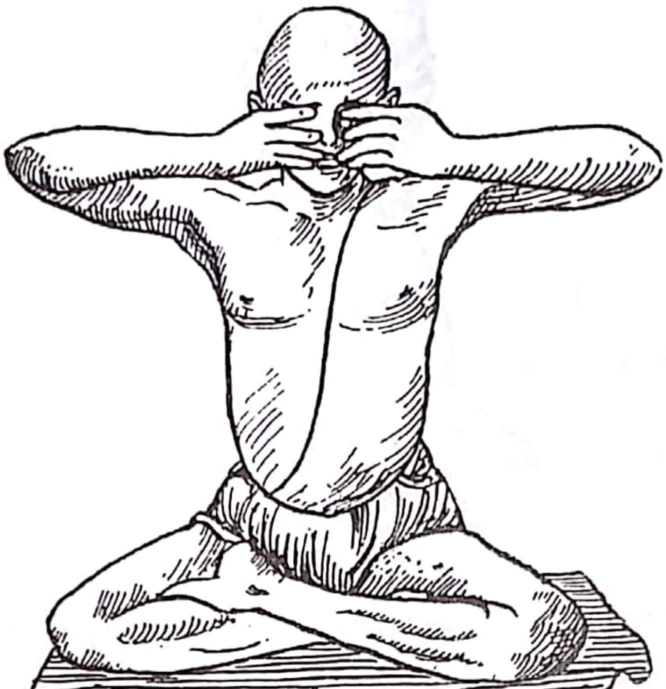

पहले सिद्धासन लगाकर दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे दोनों नाकके छिद्रोंको और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठिकाओंसे दोनों ओठोंको बन्द करके काकी मुद्रा द्वारा अर्थात् जिह्वाको कौवेकी चोंचके समान बनाकर उसके द्वारा प्राणवायुको खींचकर अधोगत अपान वायुके साथ उसका मेलन कर दे। फिर क्रमशः षट्चक्रगत ज्योतिके ध्यानपूर्वक 'हूं' हंसः' इन अक्षरोंको जपता हुआ परस्पर मिली हुई वायुओंको ऊपर लेजाकर सोती हुई कुण्डलीको जगा दे। इस प्रकारकी क्रियाको 'योनि-मुद्रा' कहते हैं और इसीका नाम 'षण्मुखी-मुद्रा' भी है ।। १०७–१०८ ।।

(११) वज्रोलीमुद्रा

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ।। १०९ ।।

Scanned by CamScanner

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ११० ॥
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १११ ॥

वज्रोली मुद्राके सिद्ध करनेमें दो वस्तुओंकी नितान्त आवश्यकता है, एक तो दूध और दूसरी अपने वशमें रहनेवाली स्त्री; विना इनके यह मुद्रा नहीं की जाती। लिङ्गके छिद्रमें वायुके संचार करनेके लिये उत्तम नालसे धीरे धीरे यत्नपूर्वक फूत्कार करना चाहिये।

वज्रोलीका क्रम इस प्रकार है कि—शीशेकी शलाका (शलाई) लिङ्गके छिद्रमें प्रवेश करनेके योग्य चौदह अंगुलकी बनवाकर उसमें प्रवेश करनेका अभ्यास क्रमशः धीरे २ बढ़ाये। जैसे— पहले दिन एक अंगुल, दूसरे दिन दो, तीसरे दिन तीन, इस प्रकार बढ़ाते २ बारह अंगुलतक प्रविष्ट करनी चाहिये। इतना होने लगे तब चौदह अंगुलकी ऐसी सलाई बनवाये— जो दो अंगुल डेढी और ऊर्ध्वमुखी हो। परंतु यह शलाका पोली होनी चाहिये। इसे भी दो अंगु-लवाले टेढ़े भागको बाहर रखकर छिद्रमें प्रविष्ट कर दे। फिर सुनारकी धमनीके समानवाली धमनीसे उस शलाकामें लगाकर फूत्कार करे (फूंके)। ऐसा करनेसे लिंगके मार्गकी अच्छी तरह शुद्धि हो जाती है, तब लिंग द्वारा वायुका खींचना और छोड़ना बड़ी आसानीसे पर्याप्त मात्रामें होने लगता है। इस तरह उक्त अभ्यासके सिद्ध होनेपर साधक अपने लिंगछिद्रसे सर्वप्रथम जल खींचनेका अभ्यास करे, कुछ दिनोंके बाद दूधका आकर्षण करे, एवं फिर तेल और तेलके बाद पारा खींचने लग जाय।

जब शुद्ध रीतिसे पारेके आकर्षणकी शक्ति हो जाय तो—"नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्। चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।" स्त्रीकी योनिमें गिरे हुए वीर्यबिन्दुके आकर्षणका अभ्यास करे। अर्थात् संभो-गकी अन्तिम अवस्थामें वीर्य पतनोन्मुख होने लगे तो उसे इस प्रकार ऊपरको आकर्षित करे कि योनिमें न गिरने पाये। कदाचित् वीर्य गिर ही पड़े तो योनि-मेंसे उसे पूर्वोक्त क्रियाके अभ्यास बलसे ऊपरको खींच ले।

इस क्रियाको सिद्ध करके साधक लोग स्त्रीसे सहवास करते हुए अपने वीर्यको मुद्राकी शक्तिसे गिरने नहीं देते, और स्त्रीके रजको मुद्रा— बलसे ऊपरको खींचकर अपना मस्तिष्क भरापुरा कर लेते हैं। फल यह होता है कि स्त्रीभोगजन्य विपत्तियाँ फिर उन्हें नहीं भोगनी पड़तीं। और उक्तक्रियासे

Scanned by CamScanner

वे अपने वीर्यकी रक्षा कर अजर अमर बन जाते हैं। क्योंकि—'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'। वीर्यके पतनसे ही देहका पात होता है, अन्यथा नहीं। इस मुद्राको वही कर सकता है जो प्राण और मनको वशमें कर लेता है॥ है॥ १०९–१११॥

अब इसके आगे शक्तिधारिणा आदि शेष मुद्राओंका उल्लेख नहीं करूँगा, दश मुद्राएँ मुख्य हैं उनका सविस्तर निरूपण कर दिया गया है। इन्हीं दश-मुद्राओंको श्रीस्वात्मारामजीने भी लिखा है। और इन्ही मुद्राओं द्वारा कुण्ड-लिनीका जारण होता है जिससे साधकको सिद्धता प्राप्त होती है॥

प्रकरणका उपसंहार

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते॥ ११२॥
न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात्॥ ११३॥

रेचक और पूरकके विना जो कुम्भक होता है उसीको 'केवल कुम्भक' अथवा 'प्राणायाम[१]' कहना चाहिये। जो मनुष्य उक्त दोनोंके विना कुम्भक कर सकता है यानी प्राणायामको सिद्ध कर लेता है उसे तीनों लोकोंमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो न प्राप्त हो सके। इसी कुम्भककी सिद्धावस्थासे साधक प्रत्याहार करने लग जाता है॥ ११२–११३॥

इति श्रीपण्डित शिवनाथशर्मात्मज–पं० रामनरेशमिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुते बृहद्योगसोपाने चतुर्थसोपान-प्रकरणं समाप्तम्॥

पंचम सापोन प्रकरण

प्रत्याहारका निरूपण

"मुझे निरन्तर सुख ही सुख मिला करे, दुःख किसी भी कालमें न उप स्थित हो" ऐसी इच्छाका होना अन्तः–करणका स्वाभाविक धर्म है। इसलिये प्रत्यक्ष सुख देनेवाले विषयोंकी शरण जाना भी चित्तका स्वाभाविक हो जाता है, क्योंकि दृष्ट पदार्थको त्यागकर अदृष्ट पदार्थकी ओर जानेमें अनेक तरहकी बाधाएँ उपस्थित हो जाया करती हैं। जिसके कारण पहले तो अदृष्टकी कल्पना करना ही दुर्लभ हो जाता है, दूसरे उसकी कल्पना करके उस ओर

---

१ प्राणायामके विषयमें विशेष जाननेकी इच्छा हो तो हठयोगप्रदीपिका का अवलोकन करना चाहिये।

Scanned by CamScanner

उठते –बैठते–सोते सर्वदा सब अवस्थाओंमें उक्त जप आपसे होता रहता है और अद्वैतानुभव करानेवाला उसके समान अन्य कोई ज्ञानशास्त्र पहले भी नहीं था और पीछे होनेवाला भी नहीं है ॥४४ ॥४५ ॥

कुण्डलिन्यां समुद्भता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥ ४६ ॥

कुंडलिनी महाशक्तिसे उत्पन्न हो रही तथा प्राणवायुको धारण करनेवाली यही अजपा गायत्री है । जीवात्माकी शक्ति प्राणविद्या-स्वरूप भी यही है इसी कारण महाविद्या भी इसको कहते हैं इसे जो योगी पहिचान सके वही योगशास्त्राभ्यासका तात्पर्य जानता है ॥४६ ॥

शक्तिचालनम्

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ ४७ ॥

अब कुंडलिनीके भेद खोलने के निमित्त एवं उसकी अधिकता प्रकट करनेके लिये कुंडलिनीके अन्य स्थान भी कहते हैं, जो कि समस्त ७२००० नाड़ियोंका उत्पत्तिस्थान पूर्वोक्त कंद है इसके ऊपर मणिपूरचक्र कर्णिकामें आठ वृत्तकरके वेष्टित हो रही कुंड-लिनिशक्ति ब्रह्मरंध्रद्वारके मुखको रोककर सर्वदा रहती है ॥४७॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ४८ ॥
प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ४९ ॥

जिस मार्ग (सुषुम्ना) द्वारा जन्ममरणके दुःख हरण करने-वाला अखंड ब्रह्मानंदपद मिलता है उस मार्गको रोककर सोई हुई

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कुंडलिनी प्राणवायुके धौंकने (उत्तेजन करने) से कालाग्निके ज्योतिके संबंधसे प्रबुद्ध (जागृत) होकर मन एवं प्राणवायुके सहित होकर सुषुम्नानामा मध्यनाड़ीसे ऊपरको जाती है, जैसे सूची (सुई) अपनेपर पिरोये तागेसहित होनेसे वस्त्रके अनेक सूत्रोंके मध्यमें प्राप्त होती है वैसे आपही सृष्टि उत्पन्न करके षट्चक्र तथा उनके देवता-प्रभृति सकलप्रपंचको उल्लंघन करके ऊपर सहस्रदलकमलके सम्मुख होकर जाती है ।। ४८ ।। ४९ ।।

प्रसुप्तभुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ।। ५० ।।

सोते सर्पके समान कुंडलिनी अपानवायुसे धमित (धौंकी गई) जो मूलाधारमें रहनेवाली कालाग्निज्योतिके संबंधसे प्रबोध पाकर अतिवेग (जोर) से चलते हुए सर्पके समान कुटिलमति होकर कमलनालके तंतु (सूत्र) समान सूक्ष्म ज्योतिर्मयस्वरूप होकर सुषुम्नामार्गसे ऊपरको जाती है ।। ५० ।।

उद्घाटयेत्कपाटं तु तथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ।। ५१ ।।

जैसे कूंची (चाबी) से ताला खुलकर कपाट (किंवाड) खुल जाते हैं वैसेही कुंडलिनी द्वारा मोक्षद्वार सुषुम्नाके मुखको योगी अभ्याससे खोले जिससे कि कुंडलिनीके प्रबोधबिना कुंडलिनीका द्वार खुलता नहीं ।। ५१ ।।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैतिबोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ।। ५२ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दोनों हाथ संपुटित करके (अंजली बांधकर) दोनों कूर्पर (बाहुमध्यभाग) हृदयमें दृढ़ स्थापन करके पद्मासन करे, चिबुक (ठोड़ी) हृदयमें दृढतर लगाकर अर्थात् जालंधरबंध करके ज्योतिः-स्वरूपका ध्यान करे केवल कुंभकप्राणायाम अधोद्वार रोककर करे, प्राणायामसे कुंभितवायुको अपानवायुसे एकत्व करके यथाशक्ति कुम्भक करे पुनः रेचकप्राणायाम (जिसमें वायु अतिमंद२ निकला) करे इस प्रकारसे कुंडलिनीका बोध होता है तथा योगीको अपरिमित ज्ञान मिलता है, कुंडलिनीको प्रबोध करनेवाली शक्तिचालनमुद्रा यही होती है परंतु प्राणायामके अभ्याससे प्राणापानवायुको वशवर्ती करके इस मुद्राका बहुत कालपर्यंत अभ्यास करना होता है ।। ५२ ।।

अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ।। ५३ ।।
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ।। ५४ ।।

शक्तिचालनमुद्राके अभ्यासीके नियम कहते हैं कि प्राणायामादिकर्मसे जो अंगोंमें स्वेद (पसीना) आता है उससे अंगमर्दन करे । लवण और खट्टा, ये दो रस न खाये केवल दुग्धान्न खाया करे । भोजनभी एक प्रमाणसे करे, ब्रह्मचर्य रक्खे, कामक्रोधसे रहित रहे, त्यागवान् हो और योगाभ्यासमात्रका अभ्यास रक्खे इसप्रकार नियममें रहकर योगाभ्याससे शक्तिचालनमुद्राका अभ्यास करे । एक वर्ष ऊपर जब इच्छा करे तभी कुंडलिनीके अभ्युत्थानकी सामर्थ्य होती है इसमें सिद्धि होती है या नहीं ऐसा संदेह न करना । अभ्याससे अवश्यमेव सिद्धि होती है ।। ५३ ।। ।। ५४ ।।

सुस्निग्धो मधुराहारी चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुञ्जते स्वरसं प्रीत्यै मिताहारी स उच्यते ।। ५५ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मिताहारके लक्षण कहते हैं–स्निग्ध (सचिकण) मीठा भोजन करे अम्ल (खट्टा) और लवणवर्जित करे, दो भाग अन्न एक भाग जल खाये चौथा भाग उदरमें वायुसंचारके लिये छोड़ दे। देवता को निवेदन करके दुग्धान्न भोजन करे इस प्रकार करनेवाला योगी मिताहारी कहलाता है ।। ५५ ।।

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्ति शुभमोक्षप्रदायिनी ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् ।। ५६ ।।

कंदके ऊपर मणिपूरचक्रकी कर्णिकामें ८ फेरे होकर कुंडलाकार कुंडलिनी शक्ति है यह मूर्खजनोंको वारंवार जन्ममरणरूप बंधन देती है और योगाभ्यास जाननेवालेको शक्तिचालनका अभ्यास जन्ममरणरूप वन्धन छुड़ाकर मोक्ष देती है ।। ५६ ।।

शक्तिचालनविधौ ग्रन्थांतरे विशेषः

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ।। १ ।।

शक्तिचालनमें ग्रन्थांतरमतसे कुछ विशेष कहते हैं कि, गंगायमुनाके बीच तपस्विनी बालरण्डा बलात्कारकरके कुंडलिनीको ग्रहण करे तो विष्णुके परमपद (ब्रह्मांड) को प्राप्त करती है ।। १ ।।

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ।। २ ।।

इडा भगवती वामश्वासा नाड़ी ऐश्वर्यादिसंपन्न गंगा, दक्षिणश्वासा पिगलानाम्नी यमुना है इनके मध्य नाड़ी सुषुम्ना बालरंडा है ।। २ ।।

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
श्वेतं तु मृदुलं प्रोक्तं वेष्टितं वरलक्षणम् ।। ३ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूलस्थानसे वितस्तिमात्र ऊपर नाभि एवं मेढ़्के मध्यमें नवांगुल विस्तार, चार अंगुल आयाम, पक्षीके अंडाकार, श्वेतरंग कोमल-वस्त्रवेष्टित जैसा कंद है ।। ३ ।।

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।। ४ ।।

वज्रासनकरके हाथोंसे पैरोंकी एड़ी पकड़ कंदस्थानमें दृढ लगाकर पीडन करे ।। ४ ।।

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ।। ५ ।।

योगी वज्रासनमें बैठ कुंडलीको शक्तिचालनमुद्रासे चलायमान करे तब भस्त्रा नाम कुंभक कर कुंडलिनीशक्तिको शीघ्र प्रबोधित करे ।। ५ ।।

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ।। ६ ।।

नाभिस्थान (सूर्य) को आकुंचन कर कुंडलीको चलाये इसका अभ्यास सिद्ध हो जाय तो मृत्युके मुखमें पड़ गया हो तो भी उसकी मृत्यु न हो ।। ६ ।।

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णायां समुद्गता ।। ७ ।।

चार घडीपर्यंत निर्भय होकर शक्तिचालन करे तो कुंडलिनी कुछ सुषुम्नामें ऊपरको उठती है ।। ७ ।।

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ।। ८ ।।

इसके कुंडलिनी (जो सुषुना रोक बैठी है) सुषुम्नाके द्वारको छोड़ देती है तब प्राणवायु आपही सुषुम्नामें प्रवेश करता है ।। ८ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ।। ९ ।।

अतः नित्यप्रति सुषुम्नाद्वारमें सोती कुंडलिनीको चलाये तो योगी सब रोगोंसे छूट जाता है ।। ९ ।।

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।। १० ।।

जिस योगीने शक्तिचालन किया वह अणिमादि सिद्धियोंका पात्र होता है और विशेष माहात्म्य क्या कहा जाय वह काल (मृत्यु) को सहज ही जीत लेता है ।। १० ।।

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ।। ११ ।।

जो यमी नित्य कुंडलीको चलाकर भस्त्राकुंभकका अभ्यास विशेष करके करता है उसे यमका भय नहीं होता ।। ११ ।।

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ।। १२ ।।

योगियोंको दृढाभ्याससे आसन प्राणायाम महामुद्रादि द्वारा मध्यनाड़ी सरल हो जाती है ।। १२ ।।

महामुद्राः

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलंधरम् ।
मूलबन्धञ्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः ।। ५७ ।।

महामुद्रा१, खेचरीमुद्रा २, उड्डीयानबंध३ , जालंधर ४, मूलबंध ५, इनको करके शक्तिचालन करे तो योगी मुक्तिभाजन होता है । शक्ति चली या नहीं इसके जाननेका प्रमाण यह है कि जैसे शरीरमें पिपीलिका (चींटी) चलनेके समान गतिसा ज्ञान होता है कि कोई जीव चलता है ऐसेही सुषुम्नामें वायु जब चलने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लगता है तो शक्ति चलायमान हो गई जानना । शक्तिचालन मुद्राके पीछे भी उक्त ५ मुद्रा करनी चाहियें ।। ५७ ।।

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीडच सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा ।
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनैरेचये–
देषाव्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ।। ५८ ।।

महामुद्राकी विधि कहते हैं कि हृदयमें चिबुक जोरसे धारण करके वामपादकी एड़ीसे योनिस्थानको अत्यन्त दृढ करके अचेते दहिना पाद लंबा करके दोनों हाथोंसे पादमध्यभाग पकड़कर रोके तब पेटमें पूरक विधिसे वायु भरे । कुछ काल यथाशक्ति कुंभक करके मन्दमन्द वायुको रेचन करे यह योगी जनकी समस्त रोग-नाशक महामुद्रा कही गयी है ।। ५८ ।।

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्याङ्गेनाभ्यसेत्पुनः ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ।। ५९ ।।

इस महामुद्राके अभ्यासमें प्रथम वामांगसे अभ्यास करके पीछे दाहिने अंगसे करे वैसे ही प्राणायाम भी करता रहे, जब दोनों ओरके अभ्याससे प्राणायामकी मात्रा बराबर हो जाय तब मुद्रा छोड़नी चाहिये ।। ५९ ।।

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ।। ६० ।।
क्षयकुष्ठमुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ।। ६१ ।।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ।। ६२ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जब महामुद्राका अभ्यास दृढ़ हो जाय तो, पथ्यापथ्यका विचार कुछ नहीं रहता, मिष्ट, लवण, तिक्त आदियोंका स्वाद कुछ नहीं रहता। जो (घृत, शहद बराबर मिलाकर कृत्रिमविष होता है) संयोगविरुद्ध वस्तु या घोरविषभी खाये तो अमृतके समान पच जाता है तथा उदावर्त , गुल्म, अजीर्ण, क्षय, कुष्ठ आदि रोग शांत हो जाते हैं। इसके अभ्यासीको महासिद्धि देनेवाली यह महामुद्रा कही है, इसे बडे यत्नसे गुप्त रखना, प्रकाश करनेसे सामर्थ्यहीन होती है, इस हेतु अनधिकारी, अयोग्य पुरुष, शठ, दांभिक आदि को न देना ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

'इसका विस्तार ग्रंथांतरसे पाठकोंके सुबोधार्थ लिखते हैं,–

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम्।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १ ॥

वामपादकी एड़ीसे गुदा और शिश्नके मध्यमें योनिस्थानको रोककर दाहिना पैर लंबा पृथ्वीमें फैलाकर एड़ी भूमिमें रहे और अंगुली ऊंची दंडके नाईं' रहे, तब हाथोंके अंगुष्ठ और तर्जनीसे दक्षिणपादांगुष्ठ पकड़कर धारण करे ॥ १ ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।
यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ २ ॥

तदनंतर कठमें जालंधरबंध करके वायुको ऊपर सुषुम्नामें धारण करे इससे मूलबंध भी हो जाता है जहाँ योनिस्थानको पीडन और जिह्वाबंध करके मूलबंध हो जाता है ॥ २ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ ३ ॥

जैसे सर्प दंडके प्रहारसे दंडाकार हो जाता है ऐसेही कुंडलिनी शक्ति भी कुटिलताको छोड़कर इस मुद्रासे सरल हो जाती है और

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कुंडलिनी बोधसे सुषुम्नामें वायुका प्रवेश होता है तब दोनों को प्राणके वियोगसे इडा-पिंगला है आश्रय जिसके ऐसी मरणावस्था होती है ॥ ३ ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ ४ ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ॥ ५ ॥

तदनंतर शनैः शनैः रेचन करे वेगसे करनेमें बलहानि होती है इससे महामुद्रा आदिनाथादि महासिद्धोंने दिखाई हैं । इसके अभ्यासमें महाक्लेश, अविद्या, राग, द्वेषादिक, शोकमोहादि दोष क्षीण होते हैं तथा जरा-मरण भी नहीं होते इससे ज्ञानिजन इसे महामुद्रा कहते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६ ॥

इसका क्रम कहते हैं कि (चंद्रांग) वामभागमें अभ्यास कर सूर्यांग (दक्षिणभाग) में अभ्यास करे और वामांगाभ्यासके पीछे जबतक वामांगमें कुंभककी संख्या समान हो तब तक अभ्यास करे जब संख्या समान हो तब महामुद्रा विसर्जन करे इसमें यह क्रम है कि वामपादकी एडीको योनिस्थानमें लगाकर दाहिना पाद लंबा फैलाकर अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ और तर्जनीसे पकड़कर अभ्यास करे यह वामागांभ्यास है। इससे पूरित जो वायु वह वामांगमें स्थित रहता है फिर दक्षिणपादको समेट कर उसकी एडी योनिमें लगाकर वामपाद लंबा फैलाकर अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ और तर्जनीसे पकड़कर अभ्यास करे इसे दक्षिणांगाभ्यास कहते हैं इससे पूरित वायु दक्षिणांग ही में रहता है ॥ ६ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ।। ७ ।।

कहते हैं कि महामुद्राके अभ्यासके लिए पथ्यापथ्यविचार नहीं है। कटु अम्लादि समस्त रसादिक जो खाये वही पच जाये नीरस, बासी (पर्युषित) सब पचे, तथा दुर्जर घोर विष आदि भी अमृतके समान पच जाये ।। ७ ।।

क्षयकुष्ठमुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्या दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।। ८ ।।

जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करे उसे क्षयरोग, कुष्ठ, गुल्मरोग, अजीर्ण, ज्वर, प्रमेह, उदररोग आदि कभी न होवे ।। ८ ।।

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।। ९ ।।

और उस अभ्यासीको अणिमादि महासिद्धि देनेवाली यह महामुद्रा कही है इसे गुप्त रखना अर्थात् अनधिकारीको न देना ।।९ ।।

खेचरीमुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।। ६३ ।।

खेचरीमुद्राकी विधि कहते हैं कि, जिह्वाको, उलटी फिराकर कंठमूलमें जो छिद्र (छिगलिग्या) याने क्षुद्रघंटिका है उसमें प्रवेश कराना तदनंतर भ्रूमध्यमें निश्चल दृष्टि स्थिर करना इसे खेचरी-मुद्रा कहते हैं ।। ६३ ।।

न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न मूर्च्छा तु भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।। ६४ ।।

जो योगी गुरूपदिष्ट मार्गद्वारा छेदन, दोहन, कर्षण (ये कर्म आगे कहेंगे) विधि से खेचरीमुद्राको बहुतकालपर्यंत अभ्यास करता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है उसके रोग, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्छा और मरणतुल्य कष्ट दूर होते हैं ।। ६४ ।।

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्यते कर्मणा ।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।। ६५ ।।

जो योगी खेचरीमुद्रा जानकर उसे अभ्यास करके सिद्धि करता है वह शोकसे पीड़ित नहीं होता कर्मके फलमें बंधन नहीं पाता और काल मृत्यु आदियोंसेभी बाधा नहीं पाता ।। ६५ ।।

चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी ।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ।। ६६ ।।

जिस कारण वहाँ परब्रह्मके लिए एकाग्र होकर मन बुद्धि चित्तशून्य होकर फिरता है तथा जिह्वा भी कंठमूल छिद्राकाशमें रहकर ब्रह्मरंध्रांतर्गत चंद्रकलामृतका पान करती है इस हेतुसे मनबुद्धि के विषयबंधन निवारण करनेवाली खेचरीमुद्रा समस्त सिद्धजनोंसे अत्यंत पूजित (नमस्य) है ।। ६६ ।।

बिन्दुमूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम् ।। ६७ ।।

शरीरका मूल (कारण) बिंदु है इससे शरीरकी रक्षा है, पादसे शिरपर्यंत समस्त नाड़ीजाल बिंदुसे सेचन हो रहा है इसी हेतु उक्तनाड़ी सजीव स्वकर्मसामर्थ्य रहती हैं अर्थात् समस्त नाड़ी बिंदुके आधारमें हैं ।। ६७ ।।

खेचर्या मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ।। ६८ ।।

जिस योगीने कंठनालके छिद्रलंबिकाके ऊपर आकाशविषे खेचरीमुद्रासे रोक लिया तो चंद्रामृत रुकनेसे उस योगीको कामिनी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(स्त्री) आलिंगन करे तो भी उसका मन चलायमान नहीं होता तथा बिंदु नहीं गिरता है ।। ६८ ।।

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्योर्भयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ।। ६९ ।।

जबतक देहमें बिंदु स्थिर है, तबतक मृत्युका भय नहीं होता, बिंदुका स्थान व्योमचक्र है इससे कालकी गति नहीं है। जबतक खेचरीमुद्रा दृढ है तब तक बिंदु व्योमचक्रसे नहीं गिरता। इसके स्वस्थानस्थ रहनेमें कालका वश नहीं चलता ।। ६९ ।।

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृते शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ।। ७० ।।

कदाचित एकाग्र न होनेसे बिंदु उतरके नाभिस्थान सूर्यमंडल-में पहुँच गया तो योनिमुद्राद्वारा कुण्डलिनीशक्तिको ऊपर उठाकर उसके आघात से उक्त बिंदु पुनः ऊपर लौटकर अपनेही स्थान में पहुँचकर स्थिर रहता है ।। ७० ।।

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरः शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः ।। ७१ ।।

उक्त बिंदु दो प्रकारका होता है—एक तो पांडुरवर्ण जिसे शुक्र कहते हैं, दूसरा (लोहित) रक्तवर्ण इसे महारज कहते हैं ।।७१।।

सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः ।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ।। ७२ ।।

तैल मिलाकर सिंदूर (हिंगुल) के द्रव (रस) के समान रज सूर्यस्थान नाभिमंडलमें रहता है तथा बिंदु (वीर्य) चन्द्रमाके स्थान कण्ठदेश षोडशाधारचक्र में स्थिर रहता है, इन दोनों का ऐक्य अत्यंत दुर्लभ है ।। ७२ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम्॥ ७३॥

बिंदु शिव रज शक्ति है, इनके एक होनेमें योगसिद्धि और परमपद मिलता है। चन्द्रमा सूर्यका (प्राणवायु-अपानवायुका, जीवात्मा-परमात्माका) ऐक्य करना यही हठयोग है॥ ७३॥

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्ततः॥ ७४॥

शक्तिचालनविधिसे वायुकरके जब रज बिंदुके साथ ऐक्यको प्राप्त होता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है अर्थात् उसे अग्नि जलाती नहीं, शस्त्रसे कटता नहीं॥ ७४॥

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित्॥ ७५॥

शुक्र बिंदुरूप हो चन्द्रमासे मिला और रज रक्तरूप होकर सूर्यसे मिला इनके समरसैकत्व (चंद्रसूर्यस्वरूप बिंदुरजके समरसत्वभाव) को जो योगी जानता है वही योगवित कहलाता है, चन्द्रमा एवं सूर्यके योगको योग कहते हैं॥ ७५॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते॥ ७६॥

नाडीजालके शोधनेसे; इनमें रहनेवाले वात-पित्त-कफादि रोगोंका हरण होता है। चंद्रसूर्यके चालनसे इनके एकत्र होनेमें खाया अन्न, पिया जल इनका शोषण होता है ऐसा महामुद्राका फल है अर्थात् इस मुद्राद्वारा नाडीजलका शोधन चंद्रसूर्यका चालन रसों का शोषण होता है॥ ७६॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ग्रन्थान्तरे खेचरीमुद्राविधिः

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
यावद्भ्रूमध्यं तु स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ।। १ ।।

जिह्वा खेचरीयोग्य करनेकी विधि ग्रंथांतरसे कहते हैं– छेदन चालन-दोहनकर्मसे जिह्वा बढ़ती है, छेदन आगे कहेंगे, चालन यह है कि अंगुष्ठ और तर्जनीसे जिह्वाको हिलाते रहना, दोहन दोनों हाथोंके अंगुष्ठ तर्जनीसे जैसे गौके थनको दुहे ऐसे खींच-खींचकर जिह्वाको लंबी करे, जब तक बाहर निकलकर भ्रुकुटीको स्पर्श न करे तबक यह विधि करता रहे ।। १ ।।

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ।। २ ।।

छेदन कहते हैं–थूहरके पत्रके समान अति तीक्ष्ण, सचिक्कण निर्मल शस्त्रसे जिह्वाके नीचेकी नसको रोममात्र छेदन करे ।। २ ।।

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ।। ३ ।।

उसके बाद सेंधानमक और हरंडका चूर्ण छेदित स्थानपर मले, परन्तु योगीको लवणनिषेध है इसलिये लवणके स्थान खदिर (कत्था) से कार्य करना योग्य है, ऐसे सायंप्रातः सात दिन करके फिर पूर्वोक्त विधिसे रोममात्र काटे, पुनः उक्त औषधि लगाता रहे ।। ३ ।।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिरां बन्धः प्रणश्यति ।। ४ ।।

ऐसे छः महीनेपर्यंत नित्य युक्तिसे करे तो जिह्वामूलकी नाड़ी जो जिह्वाको कपालकुहरमें पहुँचानेसे रोकती है वह सुखपूर्वक कट जाती है ।। ४ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ५ ॥

जिह्वाको तिर्छी करके तीनों नाड़ियोंका मार्ग जो कपालछिद्र उसमें योजित करे यह खेचरीमुद्रा है इसीको व्योमचक्रभी कहते हैं ॥ ५ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ६ ॥

तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वा प्रवेश करके एक घडीमात्र खेचरी मुद्रा स्थिर रहे तो योगीको सर्प विच्छू आदियोंका विष न लगे और बुढ़ापा, रोग, मृत्युको जीते, वलीपलित (जो बुढ़ापेमें चर्म ढीला होकर सलवटें पड़ती है) न हो ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ७ ॥

तालुके ऊपर छिद्रके सन्मुख जिह्वा लगा करके भ्रूमध्यगत चन्द्रमासे निकले हुए अमृतका पान जो योगी करे वह १ पक्ष (१५ दिन) में मृत्युको निःसन्देह जीत लेता है यह निश्चय है ॥ ७ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि डंष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ८ ॥

और जिस योगीका शरीर नित्य उक्त चन्द्रामृतद्वारा पूर्ण हो जाय उसे तक्षकनागभी डसे तो भी विष न लगे, दुःख न होवे ॥८॥

ईन्धनानि यथा वह्नि स्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ९ ॥

जैसे अग्नि काष्ठको एवं दीपक तेलसहित वत्तीको नहीं छोड़ता वैसेही चन्द्रामृतपूरित देहको जीव कदापि नहीं छोड़ता ॥ ९ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।

कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ।। १० ।।

आचार्य कहते हैं कि जो योगी नित्य गोमांसभक्षण एवं अमर-वारुणी पान करे तो उसे हम उत्तमकुलमें उत्पन्न समझते हैं अन्यथा कुयोगी, कुलनाशक हैं सत्कुलमें उत्पन्न हुएभी तो उनका जन्म व्यर्थ है ।। १० ।।

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।

गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।। ११ ।।

इस गोमांसशब्दका अर्थ कहते हैं कि गोशब्द यहाँ जिह्वाका बोधक है जिह्वाको कपालछिद्रमें प्रवेश करनेको गोमांसभक्षण कहते हैं, यह महापातकोंका नाश करता है ।। ११ ।।

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।

चन्द्रात्स्रवति यः सार सा स्यादमरवारुणी ।। १२ ।।

अमरवारुणीका अर्थ है कि तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाका प्रवेश उष्मा (गर्मी) से भ्रुकुटिके भीतर वाम भागस्थित चंद्रामृत द्रवित होकर जिह्वाग्रमें प्राप्त होता है इसे अमरवारुणीपान कहते हैं ।। १२ ।।

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा सरस्यन्दिनी

सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।

व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोद्गीरणं

तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।। १३ ।।

जब पूर्वोक्त कर्मोंसे जिह्वा बढ़कर उक्त विधिसे चंद्रामृत पान करने लगती है तो मुखमें लवणसहित मरीचादि, चिंचाफलादि, दूध, मधु, घृत आदि के स्वाद ज्ञान होते हैं तब योगीके रोग तथा वृद्धावस्थाका नाश होता है, शस्त्र (जो अपनेको काटने आया)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

का निवारण होता है, आठों सिद्धि मिलती हैं, देहभाव मिलता है सिद्धांगनाओंके आकर्षणकी सामर्थ्य होती है ।। १३ ।।

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
द्धूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्ति परां चिन्तयन्
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे–
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ।। १४ ।।

जिह्वाको कपालछिद्रमें लगाकर मुख विपरीतकरणीकी तरह ऊँचा कर कुंडलिनीके ध्यानसहित प्राणायामसे भ्रुकुटीमध्य द्विदल-कमलके नीचे कंठस्थ षोडशदलकमलमें हृदययोगसे प्राप्त जो निर्मलधारामय तरंगसहित चंद्रामृतरस है इसे योगी पान करे तो उसे ज्वरादिरोग न हो तथा कमलके गाभेका-सा कोमल शरीर हो और बहुतकालपर्यंत जीवित रहे ।। १४ ।।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिन्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ।। १५ ।।

मेरुपर्वतसदृश सबसे ऊंची सुषुम्नाके उपरी भागमें स्थित चंद्रा-मृतरूप जल जिसमें स्थित है ऐसे छिद्रमें सत्त्वगुणात्मा बुद्धि द्वारा आत्मतत्त्व है और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदासंज्ञक इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी आदि नाड़ियोंका उक्त विवरमें मुख है इनके द्वारा चन्द्रमंडलगत अमृत व्यर्थ चले जानेसे शरीर जरा मृत्युको प्राप्त होता है । इसलिये प्रथम कह आये हैं कि सुकरण नाम खेचरीमुद्रा करके चंद्रामृत व्यर्थ स्रवित नहीं होनेसे मृत्यु नहीं होती इस मुद्राके विना-देहकी सिद्धि, लावण्य, बल, वज्रसमान दृढ़ शरीर नहीं होते ।। १५ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सुषिरज्ञानजनकं पञ्चस्रोतः समन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन्शून्ये निरञ्जने ।। १६ ।।

इडा १, पिंगला २, सुषुम्ना ३, गांधारी ४, हस्तिजिह्वा ५, इनका प्रवाह ऊपरको है अतः इनके प्रवाहसंयुक्त आत्माको साक्षात् प्रकट रहनेवाला विवर है, जो अविद्या एवं अविद्याके कार्य शोक, मोहादि दूर होते हैं । ऐसे विवरमें खेचरी मुद्रा स्थित होती है ।। १६ ।।

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ।। १७ ।।

समस्त बीजोंमें मुख्य सृष्टिरूप एक प्रमाण वह है, समस्त देवताओंमें भगवान मुख्य है, वैसेही समस्त मुद्राओंमें खेचरी मुख्य है ।।१७।।

उड्यानं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगम् ।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ।। ७७ ।।

जिस कारण उड्डियानबंधसे रुका प्राणवायु कहीं भी विश्राम न करके उड़कर सुषुम्नामें गति करता है, उसी कारण वहां मृत्युरूपी गजके ऊपर सिंह जैसा यह बंध कहा जाता है ।। ७७ ।।

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते ।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो निगद्यते ।। ७८ ।।

उड्डीयानबंधका स्थान कहते हैं—उदरसे पश्चिम और नाभीसे नीचे इस बंधका स्थान योगी कहते हैं इसलिये यह बंध उसी स्थानमें करना योग्य है ।। ७८ ।।

ग्रन्थान्तरे

उदरे पश्चिमं स्थानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ।। १ ।।

नाभी के ऊपर तथा नीचे का भाग उदरमें लग जाय ऐसे पेटके पीछे खींचे इसे उड्डीयानबंध कहते हैं, मृत्युरूपी गजको मारने के लिये सिंह समान है ।। १ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ।। २ ।।

हितोपदेशकर्त्ता गुरु द्वारा उड्डीयान को सरलता से कहे गये इस बंधको निरंतर अभ्यास करे तो वृद्ध भी तरुण हो जाये ।। २ ।।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि स्थानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ।। ३ ।।

नाभीऊर्ध्वाध भागोंको खींचकर पीठमें लगाये, ऐसे इस बंधको छः महीनेपर्यंत निरंतर अभ्यास करे तो निस्संदेह मृत्युको जीत ले ।। ३ ।।

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्ति स्वाभाविकी भवेत् ।। ४ ।।

संपूर्ण बंधोंमें उड्डीयानबंध उत्तम है, यह दृढ हो जाय तो स्वभावसिद्ध मुक्ति होती है । इसके करनेसे पक्षियोंकैसी गतिकरके सुषुम्नाद्वारा प्राण मस्तिष्कमें ले जानेसे समाधिमें मोक्ष होता है यही स्वाभाविक मुक्ति है ।। ४ ।।

बध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बन्धो कण्ठदुःखौघनाशनः ।। ७९ ।।

जालंधरबंध कहते हैं—यह बंध कंठस्थानमें होता है, अनेक रोगोंको हरता है, शरीरस्थ नाडीजालका बंधन करता है, व्योमचक्रस्थ चंद्रकलामृतको कपाल कुहरसे नीचे नहीं गिरने देता इस कारण यह जालंधर बंध कहलाता है ।। ७९ ।।

जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ।। ८० ।।

कंठका संकोचन करके प्राणवायुकी गतिको रोकना जालंधर बंध है । इससे चंद्रकलामृत गिरकर सूर्यरूप अग्निमें नहीं पड़ता एवं वायु कदाचित् विरुद्ध नहीं होता ।। ८० ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ग्रन्थान्तरे

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ।। १ ।।

ग्रंथांतरसे जालंधरबंध कहते हैं–कि कंठ नीचे झुकाकर हृदयके चार अंगुल अंतर ठोढ़ी को दृढता से स्थापन करे, यह जालंधरबंध वृद्धावस्था तथा मृत्युनाशक है ।। १ ।।

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ।। २।।

दृढ संकोचनमात्र द्वारा इडा पिंगला दोनों नाडी स्तंभित होती हैं, कंठस्थानमें जो विशुद्धनामक चक्र है वह अंगुष्ठादि ब्रह्मरंध्रांत षोडश आधारोंका मध्यम चक्र है इन षोडश आधारोंका वर्णन पूर्व १३ वें श्लोक की टीकामें कर आये हैं ।। २ ।।

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ।
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ।। ३ ।।

नाभिको पश्चिमतानरूप उड्डीयानबंध करे और कण्ठ नमाय जालंधरबंधसे इड़ा-पिंगला नाडियोंको स्तंभन करे तदनंतर पश्चिम-मार्ग सुषुम्नामें प्राणवायुको प्राप्त करे ।। ३ ।।

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ।। ४ ।।

इस विधिसे वायुकी गति बन्द होकर प्राणवायु स्थिर होकर ब्रह्मरंध्रमें स्थिर रहता है, इसे प्राणलय कहते हैं । इससे मृत्यु जरा, रोग, देहकी त्रिवली, श्वेतरोगता, मूर्छा, आलस्यादिक नहीं होते हैं ।। ४ ।।

बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ।। ५ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूलबंध १, उड्डीयानबंध २, जालंधरबंध ३, ये सभी श्रेष्ठ हैं, मत्स्येंद्रादि महासिद्ध वसिष्ठादिमुनि इन्हें सेवन करते हैं, हठके उपायों की सिद्धिको प्रगट करते हैं इससे गोरक्षादि सिद्ध इन्हें जानते हैं ॥ ५ ॥

यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ६ ॥

तालुके मूलमें स्थित दिव्यरूप चन्द्रमासे अमृत स्रवित होता है उसे नाभिस्थित अग्निरूप सूर्य ग्रास कर लेता है तब देहकी वृद्धावस्था होती है ॥ ६ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७ ॥

इस प्रकरणमें उक्त सूर्यके मुखवंचना अर्थात् जिससे अमृत सूर्यके मुखमें न पड़े यह युक्ति कही है तथा विपरीतकरणी मुद्रा भी (जो आगे कहेंगे) इसके उपयोगी है ये सर्व गुरुमुखसे जाने जाते हैं बिना गुरु करोड़ों शास्त्रों से भी नहीं जाने जा सकते हैं ॥ ७ ॥

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधो विधीयते ॥ ८१ ॥

अपानवायु ऊपर खींचकर प्राणवायुसे योजित करना, पादकी एड़ीसे गुदा, एवं लिंगके मध्य योनिस्थानको दृढ अचेतके गुदद्वारको दृढ़ संकुचित करना जिससे अपानवायु बाहर न निकले इस प्रकार मूलबंध होता है ॥ ८१ ॥

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ८२ ॥)

अपान और प्राणवायुका ऐक्य कर जो निरंतर मूलबंधका अभ्यास करता है उसके मल-मूत्र क्षय होते हैं और बूढ़ा भी जवान हो जाता है ॥ ८२ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

'गोरक्षसंहितामें दशमुद्राओंमेंसे महामुद्रा १, खेचरी २, उड्डीयान ३, जालंधरबंध ४, मूलबंध ५, कही हैं अन्य महावन्ध १,महावेध २, विपरीतकरणी मुद्रा ३, वज्रोली ४, शक्तिचालन ५, ये पांच इसी शतकमें साधारण रूप से ही कह आये हैं तथापि विशेष प्रकटताके लिये हैं उन्हें ग्रन्थांतरमतसे भी लिखता हूं'—

तत्र प्रथमं महावन्धः

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।। १ ।।

वामपादकी एडीसे योनिस्थानको रोधके दक्षिणपाद उसके ऊपर रखकर अर्थात् मूलबंध करके ।। १ ।।

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निष्पीडच वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ।। २ ।।

तब जालंधरबंध करके वायुको पूरकर मनको मध्यनाडी सुषुम्ना में प्रवृत्त करे ।। २ ।।

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ।। ३ ।।

यथाशक्ति कुंभक करके मन्द २ रेचन करे, ऐसे ही वामांगमें अभ्यास करे, दोनों अंगोंके अभ्यासकी संख्या समान करे ।। ३ ।।

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ।। ४ ।।

यह समस्त नाड़ियोंको ऊपरकी गतिरोधक महासिद्धिदायक महाबंध है ।। ४ ।।

कालपाशमहाबन्धविमोचन विचक्षणः ।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ।। ५ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मृत्युपाशको काटनेवाला है, इडा, पिंगला, सुषुम्ना तीनोंके संगम (त्रिवेणी) धारण कर मनको (केदार) भ्रुकुटी शिवस्थानमें ले जाये ॥ ५ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ ६ ॥

जैसे कांति, गुण, शोभायुक्त स्त्री पुरुष बिना व्यर्थ है ऐसेही महावेध बिना महामुद्रा और महाबंध निष्फल है इसलिये अब महावेध कहते हैं ॥ ६ ॥

महावेधः

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥ १ ॥

एकाग्रबुद्धि द्वारा योगी महावेध इस प्रकार करे कि, नासापुट-से पूरक करके जालंधर बंध कर वायुकी ऊर्ध्वगतिको रोक कुंभक करे ॥ १ ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २ ॥

दोनों हाथोंकी हथेली समान पृथ्वीमें धरकर एडीको योनि–स्थानमें दृढ लगाये हुए हाथोंके सहारे पृथ्वीसे कुछेक शरीर उठाये (परन्तु जैसे मूलबंध मुद्रा न खुले) फिर मन्द-मन्द पृथ्वीके अपने शरीरासन स्फिचको ताडन करे इससे वायु इडा पिंगलाको उल्लंघन कर सुषुम्नामें प्राप्त होता है इस मुद्रामें स्वानुभवसे तथा हरिगुरूप-दिष्ट मार्गसे कहता हूं कि शरीर पृथ्वीसे उठाकर पृथ्वीमें ताडन करनेमें उक्त मुद्रा दृढ नहीं रह सकती । यदि बलसे रक्खा भी तो मूलबंध विगड़ जाता है इससे सुगम तो पद्मासनसे यह कार्य सुखपूर्वक होता है और भी सुभीता यह है कि हाथोंके जोरसे शरीर उठानेमें मूलबंध सुगमता ही से होता है ॥ २ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सोमसूर्याग्निसबन्धो जायते चामृताय वैं ।
मृताऽवस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ।। ३ ।।

इस विधिसे सूर्यचन्द्रमा अग्न्यात्मका इडा पिंगला सुषुम्नाका संयोग मोक्षके हेतु है ऐसें होनेमें मरा हुआ जैसा मृतावस्था होती है तब नासिकापुटमें मन्द २ रेचन करे ।। ३ ।।

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ।। ४ ।।

इस महावेधके अभ्यास करनेसे अणिमादि अष्टसिद्धि मिलती हैं, वली (बुढ़ापेमें मुखपर सलवटें पड़नी) पलित (बाल श्वेत होने) कंप (बुढ़ापेमें शरीर कांपना) यें उक्त अभ्यासीको नहीं होते ।। ४ ।।

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्नि वृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ।। ५ ।।

ये महामुद्रा, महाबंध, महावेध गोप्य हैं बुढ़ापे तथा मृत्युको दूर करते हैं जठराग्निको बढ़ाते हैं अष्टसिद्धि देते हैं ।। ५ ।।

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यं संभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक्छिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ।। ६ ।।

आठों प्रहरमें ८ ही वार इनका अभ्यास करे ये पुण्यको बढ़ाते हैं पापसमूहको वज्रके समान सुखाते हैं, शिक्षावान् पुरुषको इस प्रकार दिन २, प्रहर २ में थोड़ा २ करके अभ्यास करना योग्य है ।। ६ ।।

विपरीतकरणमुद्रा

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ।। १ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अब विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं कि, ऊपरको नाभि नीचे तालुकरके नाभिस्थ सूर्य ऊपरको भ्रुकुटिस्थ चंद्रमा नीचेको हो जाता है इससे चंद्रामृत सूर्यरूप अग्निमें नहीं पड़ने पाता यह विपरीतकरणी मुद्रा है यहां ग्रंथकर्त्ताने कुछ उदाहरण लिखकर गुरुलक्ष्यपर निर्भर छोड़ दिया, इसलिये मैं (भाषाकार) अपने अनुभव एवं हरिगुरूपदिष्ट मार्गसे लिखता हूं कि, दोनों पैरोंसे पद्मासन बांधकर दोनों हाथ और शिर (चोटी) को पृथ्वीमें लगाकर, उक्त पद्मासनको ऊपर अंतरिक्षमें खड़ा करे, अभ्यास होनेपर कभी तो उस पद्मासनको खोल पांव आकाशमें लंबे करे कभी फिर वैसेही पद्मासन लगाये। हाथ और शिरके सहारे उलटा खड़ा रहे तब यह मुद्रा होगी अभ्यासते सुगम हो जाती है ॥ १ ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निर्विवर्द्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ २ ॥

जो इस मुद्राका नित्य अभ्यास करता है उसकी जठराग्नि बढ़ती है, उस साधकको आहार बहुत (यथेच्छ) करना चाहिये ॥ २ ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ३ ॥

इस मुद्राका अभ्यासी यदि भोजन अल्प करे तो जठराग्नि प्रज्वलित होकर देहको फूकती है; अब क्रिया है कि पहिले दिन शिर पृथ्वीमें रखकर पैर ऊपरको क्षणमात्र करे ॥ ३ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ४ ॥

फिर प्रतिदिन एक एक क्षण बढ़ाकर अभ्यास करे तो सिद्धि होनेपर वली पलित छः महीनेमें दूर हो जाते हैं। जो प्रतिदिन एक२ प्रहरपर्यंत इसको करता है वह कालमृत्युको जीतता है ॥ ४ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वज्रोली

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १ ॥

अब वज्रोली मुद्रा कहते हैं कि जो योगोक्त नियम न जानता हुआभी अपनी इच्छासे वज्रोली को जाने वह अणिमा सिद्धि पाता है ॥ १ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ २ ॥

इस मुद्रामें हरकिसीको जो वस्तु दुर्लभ हैं विशेषत: वे अवश्य चाहियें वज्रोल्यर्थ संगमोत्तर दुग्धपान, एवं वशवर्तिनी स्त्री ये दो उपयोगी हैं ॥ २ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीं सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥

संगम करके मन्द मन्द क्षरितवीर्यको इंद्रियसंकोचनकरके ऊपर खैंचनेके अभ्यास सिद्ध होनेमें वज्रोली मुद्राकी सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ४ ॥

इसकी पूर्वांग क्रिया कहते हैं कि चांदी वा कांचकी १४ अंगुल खोखरी शलाका सच्छिद्र करे जो १२ अंगुल सरल २ अंगुल तिरछी रहे उसे लिंगछिद्रमें प्रतिदिन दो-दो अंगुल प्रवेश कर एक किनारेसे फूंककर वायु प्रवेश करते २ बारह दिनमें २४ अंगुल प्रवेश करे इससे इंद्रियमार्ग शुद्ध होता है तब इस मार्गसे जलके आकर्षणका अभ्यास करे, अभ्यास सिद्ध होनेपर वीर्यका आकर्षण करे तो सिद्धि होती है ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जिसको खेचरी एवं प्राणजय सिद्ध हों उसको वज्रोली सिद्ध होती है ।। ४ ।।

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ।। ५ ।।

स्त्रीसंयोगमें जब बिंदु (वीर्य) शरीरसे चलायमान होते ही उसे उक्ताभ्याससे ऊपरको खींच ले अथवा जब भगमें गिर पड़े तब स्त्रीके रजसहित बिंदुको आकर्षण कर ऊपरको चढ़ाकर स्थापन करे ।। ५ ।।

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।। ६ ।।

इस प्रकार जो बिंदुकी रक्षा करता है वह योगी मृत्युको जीतता है बिंदुके पतनसे मृत्यु, उसकी रक्षासे अमरत्व प्राप्त होता है इसलिये इस विधिसे बिंदुकी रक्षा करें ।। ६ ।।

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ।। ७ ।।

उक्त अभ्यासीके शरीरमें बिंदुधारणसे सुगंधि प्रकट होती है और जबतक देहमें बिंदु स्थित है तबतक कालभय नहीं होता ।।७।।

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ।। ८ ।।

वीर्य चित्तके आधीन है, चित्तके चलायमान होनेसे वीर्य चलायमान और स्थिरतासे स्थिर होता है, एवं शुक्रके आधीन जीवन है इसकी स्थिरतासे जीवन स्थिर और चलायमान होनेसे मरण होता है, इसलिये शुक्र और मनकी रक्षा करनी चाहिये ।।८।।

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ।। ९ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri
LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. 2435

ऐसेंही रजोवती स्त्रीके रजको विंदुसहित आकर्षण करके ऊपरको खींचकर स्थापित करे ऐसे वज्रोलीका अभ्यास करनेवाला योगवेत्ता होता है ॥९॥

'एक प्रकारके भेद वज्रोलीके सहजोली, अमरोली भी हैं अतः प्रथम सहजोली कहते हैं—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ १ ॥

जो वज्रोलीके फल वही सहजोली अमरोलीके भी हैं इसलिये ये भी उसीके भेद हैं, गोबरके (कंडे) गोपट्टे जलायके भस्म जलमें मिलाये ॥१॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसो स्वांगगलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ २ ॥

वज्रोली के लिए मैथुन करके क्षणमात्र सुखसे बैठकर सभी व्यापार छोड़कर उक्त भस्म जलमें मिलाकर स्त्रीपुरुष अपने अपने सर्वांग में लेपन करें ॥२॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ३ ॥

यह मत्स्येंद्रादि योगीश्वरोंने सहजोली कही है यह योग शुभकारक है अन्यत्र (साधनाओंमें) जहां भोग तहां मोक्ष नहीं जहां मोक्ष तहां भोग नहीं, इस मुद्राके अभ्यासमें भोगसहित मोक्ष भी है ॥ ३ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां सिद्धयेत नतु मत्सरशालिनाम् ॥ ४ ॥

जो योगी पुण्यवान, धैर्यवान, तत्त्वदर्शी और निर्मत्सरी हैं उनको सिद्ध होता है जो मत्सरी (अन्यशुभद्वेषी) हैं उनको सिद्ध नहीं होता ॥ ४ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अब दूसरा भेद व अमरोली कहते हैं'–

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां,
विहाय निःसारयतान्त्यधाराम् ।
निषेव्यते शीतलमन्यधारां ।
कापालिके खण्डमतेऽमरोली ।।१।।

शिवांबुक प्रथमधारा पित्तकी उष्णता से तथा अंत्यधारा निःसारतासे त्यागकर निर्विकार मध्यधाराको ग्रहण कर सेवन करते हैं यह योगाभिमत कापालिकी क्रिया है इसे अमरोली कहते हैं.यद्वा (कापालिक) कनफटे जोगियोंका (जिसे खंडमत कहते हैं) यह कर्म विशेषत: इष्ट है ।। १ ।।

अमरीयं पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ।। २ ।।

जो पुरुष अमरवारुणी (जो खेचरीप्रकरणमें कही है) का पान करते हैं एवं नासभी अमरवारुणीका लेते हैं तथा प्रतिदिन वज्रोली का अभ्यास करते हैं । वही कापालिकी अमरोली कही है ।। २ ।।

अभ्यासान्निःसृता चान्द्री विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।। ३ ।।

अमरोलीके अभ्याससे निःसृत चंद्रसुधाको पूर्वोक्त भस्ममें मिला कर उत्तम अंग मस्तक, नेत्र, स्कंध, हृदय, भुजादि में धारण करे तो भूत, भविष्य, वर्त्तमान देखने योग्य दिव्यदृष्टि हो जाती है ।। ३ ।।

स्त्रीणां वज्रोली

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ।। १ ।।

अब स्त्रियोंके लिए वज्रोलीसाधन कहते हैं कि, जो स्त्री अभ्यास से पुरुषके बिंदुको खींचकर अपने रजकी वज्रोलीमुद्रा द्वारा रक्षा करे वह भी योगिनी कहलाती है ।। १ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्या शरीरे नादश्च बिन्दुता मे न गच्छति ।। २ ।।

उसके रजका नाश(पतन) निस्संदेह अल्प भी नहीं होता तथा शरीरमें नाद भी उत्पन्न होता है चंद्ररूप बिंदु सूर्यरूप रजके बाहर संयोगसे सृष्टि (गर्भ) होती है जब अभ्याससे भीतरही योग हो तो योगसिद्धि होती है, परमपद मिलता है, इनके संयोगमें समस्त देवता स्थिर रहते हैं ।। २ ।।

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धि प्रयच्छतः ।। ३ ।।

रज, बिंदु वज्रोलीके अभ्याससे देहमें प्राप्त होनेपर सर्व सिद्धि देते हैं ।। ३ ।।

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं मा रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेत् ध्रुवम् ।। ४ ।।

जो स्त्री भगको आकुंचन करते-करते रजको ऊपर शरीरमें चढ़ा ले वह योगिनी होती है। भूत, भविष्य, वर्त्तमान जाने और अंतरिक्षमें चलनेवाली वैमानिकगति मिलती है ।। ४ ।।

देहसिद्धि च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ।। ५ ।।

वज्रोलीके अभ्यासयोगसे (देहसिद्धि) रूप, लावण्य, बल वज्र संहननभाव मिलते हैं, यह योग पुण्य देनेवाला तथा विषयभोग भोगनेमें भी मुक्ति देता है ।। ५ ।।

'इनमें दश शक्तिचालनमुद्रा प्रथम अजपा गायत्रीके उपरांत कह आये हैं अब इन १० का माहात्म्य कहते हैं'—

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ।। १ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ये दश (१०) मुद्रा आदिनाथ शिवने कहा है इनमें एक-एक मुद्रा योगीको अणिमादि देनेवाली हैं ॥ १ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुस्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ २ ॥

जो योगियोंको (सांप्रदायिक) गुरुपरंपराप्राप्त इन मुद्राओंका उपदेश दे वही सर्व गुरुसे श्रेष्ठ, स्वामी, साक्षात् ईश्वर है ॥ २ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्द्धं लभते कालवञ्चनम् ॥ ३ ॥

इनके उपदेशकर्त्ता गुरुके आसन, कुंभक, आहार, विहार, चेष्टादि वाक्योंमें आदरपूर्वक ग्रहण कर तत्पर रहे तो अणिमादि सिद्धियोंको जीतकर कालमृत्युको जीते ॥ ३ ॥

प्रणवाभ्यासाः

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥ ८३ ॥

अब प्रणव के अभ्यासकी विधि कहते हैं कि एकांत स्थलमें बैठ-कर दृढ़ पद्मासन लगाकर शरीर कंठ शिर सम (सरल) करके नासाग्रदृष्टि निरंतर करके प्रणवजप करे ॥ ८३ ॥

भूर्भुवःस्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८४ ॥

जिस प्रणवके अकार उकार मकार तीन वर्णमें भूः भुवः स्वः ये लोक तथा चन्द्रमा सूर्य अग्नि देवता रहते हैं, वह प्रणव परमकारण-रूप ज्योतिर्मय चैतन्य ॐ कारस्वरूप है ॥ ८४ ॥

त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः ।
त्रयो देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८५ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी सिद्धिभाग् भवेत् ॥ ४६ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपूरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ४७ ॥

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमुर्ध्वमाकृष्य मूलबन्ध निगद्यते ॥ ४८ ॥

ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
ओड्याणं च तथैव स्यात्तच्च बद्धो विधीयते ॥ ४९ ॥

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेस्तथा युते ।
ओड्याणाख्यो स्वयं बद्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ५० ॥

बध्नाति हि शिराजालं अधो नाभिं नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ५१ ॥

जालन्धरे कृते बद्धे कर्ण (कण्ठ) संकोचलक्षणे ।
पीयूषं न पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ५२ ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति गे गता ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥ ५३ ॥

भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टि मुद्रा भवति खेशरी ॥ ५४ ॥
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ५५ ॥

तेनैषा खेचरी मुद्रा सर्वलिद्धेर्नमस्कृता ।
गुदमूल शरीराणां (बिन्दूमूल शरीरं यः) शिरस्तत्र प्रतिष्ठिसम् ॥ ५६ ॥
भावयन्ति शरीराणां (शरीरं यः) आपादतलमस्तकः ।
खेचरीं (र्यां) मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ॥ ५७ ॥

न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च ।
यावद्बिन्दुः स्थितो देही (हे) तावन्मृत्युभयं कुतः ॥ ५८ ॥

यावद्बद्धा नभो मुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ।
चरितोऽपि यदा विन्दुः संप्राप्तस्य हुताशनम् ॥ ५९ ॥

व्रजमूर्ध्वं तथा शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ।
सततं द्विविधो विन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ॥ ६० ॥

पाण्डुरं शुक्लमित्याहुः लोहिताख्यं महारजः
सिन्धूररजसंकाशं रविस्थाने स्थितं रजः ॥ ६१ ॥

शक्तिस्थाने स्थितो विन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ।
बिन्दुः शिवो रजश्शक्तिः लम्बे यदारजः (विन्दुरिन्दुः रजो रविः)॥६२॥

यदा रजः विन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्तथा ।
सुप्रभया संगमादेव ताप्यते ह्यमुत्रपदम् ।
वायुना शक्तिं चालयेदिन्दु विन्दु रजो रविः ॥ ६३ ॥

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजस्सूर्येण संयुतम् ।
द्वयोस्समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥ ६४ ॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसना शोषणं चैव महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ॥ ६५ ॥

हंस (वक्ष) न्यस्त हनुः प्रपीडयत रसाः (सुचिरं) योनिं च वामांघ्रिणा ।
हस्ताभ्यां हनुं धारयेत् प्रसारितं पादं तथा दक्षिणम् ॥ ६६ ॥

आपूर्य श्वसनेन कुक्षिविवरं बध्वा शनैः रेचयेत् ।
सर्वव्याधिविनाशिनीति महती मुद्रा नॄणां प्रोच्यते ॥ ६७ ॥

सूर्याङ्गेण समभ्यस्य चन्द्राङ्गेणाभ्यसेत्पुनः
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६८ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ६९ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्मशूलज्वरव्यथा ।
रोगाः सर्वे क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ॥ ७० ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ॥ ७१ ॥

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोदरः ।
नासाग्रे दृष्टिरेकाकी जीवे (जपेत्) दोङ्कारमव्ययम् ॥ ७२ ॥

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाश्चन्द्रसूर्याग्निदेवताः ।
त्रयो वर्णा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ७३ ॥

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दु–संज्ञकः ।
त्रयो वर्णाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ७४ ॥

त्रयः काला स्त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्त्रयो स्वराः ।
त्रयो देवा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ७५ ॥

वचसा यज्जपेद्बीजं वपुषा यत्समभ्यसेत् ।
मनसा यत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरीमिति ॥ ७६ ॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि जपेदोङ्कारमव्ययम् ।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ७७ ॥

चले वाते चलेत्सर्वं निश्चले निश्चलं तथा ।
योनिस्थानमवाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ७८ ॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवं न मुञ्चति ।
मरणं तस्य निष्प्राणः ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ७९ ॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे तावच्चित्तं निरामयम् ।
यावच्चक्षु र्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ८० ॥

अतः मृ (का) लभयाद्ब्रह्म प्राणायामपरायणः ।
योगिनामुत्तमश्चैव ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ८१ ॥

षट्त्रिंशदङ्गुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामदक्षिणभागेन ततः प्राणो निधीयते ॥ ८२ ॥

पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म कीर्तितम्।
उद्गारादिगुणो यस्तु नागकर्मेति कीर्तितम्॥
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुधं कृकरस्य च।
देवदत्तस्य तद्रुच्य तन्द्रिकर्म प्रकीर्तितम्॥
धनंजयस्य शोभादि जीवन्तेऽपि नसत्यसौ।
एवन्नाडीगतं वायुगतिं ज्ञात्वा विचक्षणः।
समग्रीवशिरः कायस्संवृतास्यस्सुनिश्चलः॥
नासाग्रे चैव हृन्मध्ये बिन्दुमध्ये तुरीयकम्।
स्रावन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः॥
अपानं मुकुलीकृत्य वायुमाकृष्य चोन्मुखम्।
प्रणवेन समुत्थाप्य श्रीबीजेन निवर्तयेत्।
स्वात्मा(१५.२) नं च श्रियं ध्यायेदमृतप्लावनं ततः।
कालवंचनमेतद्धि सर्वं मुख्यं प्रचक्ष्यते॥
मनसा चिन्तितं कार्यं मनसा येन सिद्ध्यति।
जलाग्निज्वलनाच्छाखापक्वानि भवन्ति हि।
नाथस्यं जगतं वाक्यं विपरीतो भवेत्क्रिया॥
मार्गे बिन्दुं समाबद्ध्य वह्निं प्रज्वाल्य जीवने।
शोषयित्वा तु सलिलं तेन कायं दृढं भवेत्।
गुदयोनि समायुक्त आकुंच्यत्वेककालतः।
अपानमूर्ध्वगं कृत्वा समानेनैव योजयेत्॥

Scanned by CamScanner

स्वात्मानं च श्रियं ध्यायेदमृतप्लावनं ततः।
बन्धं समारभेद्योगी मध्यमद्वारभागतः॥
भावयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानैस्स्व योगतः।
एष योगवरो देहे सिद्धमार्गप्रकाशकः॥
संक्षिप्तिः प्रत्ययं पुष्टि स्सहार्यें तानि नान्यथा।
नद्यस्स्रवन्ति यास्सर्वे अधो मार्गेण सर्वदा॥
महतानेन बन्धेन विपरीतास्स्रवन्ति ताः।
अ (१५६) धोवराहे तत्वानि शारीराद्बाह्यगानि च॥
साराणि प्रबलायन्ते स्तुक्षेते सेतवो यथा।
यथा बाह्यगतस्सेतुः प्रवाहस्य निरोधकः॥
तथा शारीरगश्चायं ज्ञातव्यो योगिभिस्सदा।
सर्वासामेव नाडीनां एष बन्धः प्रकीर्तितः॥
बन्धस्यास्य प्रभावेन स्फुटी भवति देवता।
एष स्यात्तु त्रयो बन्धो मार्गत्रय निरोधकः।
एकं विकासयन्मार्गं येन सिद्धास्सुसंगताः॥
सृष्टिमृत्युप्रदो मार्गो कथितोऽयमधोगतः।
पुण्यपापस्य कर्तारौ द्वावेतौ पार्श्वगामिनौ॥
ॐ भके सर्वतत्वानि निक्षिपेद्दृढबन्धनात्॥
अपानमूर्ध्वगं कृत्वा प्राणेन सह योगतः॥
बन्धोऽयं सर्वनाडीनां ऊर्ध्वं याति निरोधकः॥

Scanned by CamScanner

एतस्यैव प्रभावेन योगीबन्धः प्रसिद्ध्यति ।
अयं च संपुटो योगो मूलबन्धो (९ 5. a) ऽप्ययं मतम् ॥
बन्धत्रयमनेनैव सिद्ध्यत्यभ्यासयोगतः ।
महाबन्धविवेकः ।

वायूनां गतिमावृत्य कृत्वा पूरककुंभकौ ।
अभ्यासमारभे योगी सर्वयोगः प्रसिद्ध्यति ॥
दिवारात्रमविच्छिन्नं यामे यामे यदा तदा ।
अनेनाभ्यासयोगेन वायुरभ्यसितो भवेत् ।
वायोरभ्यसिते वह्निः प्रत्यवर्द्धते तनौ ।
वह्नौ विवर्द्धमाने तु सुखमन्नस्य पाचकः ॥
अन्नस्य परिपाकेन रसवृद्धिः प्रजायते ।
रसवृद्धिगते नित्यं वर्द्धन्ते धातवस्तथा ।
धातूनां वर्द्धनादेव प्राधान्यं वर्द्धते तनौ ।
प्रधानरससंवृद्धौ संततभ्यासयोगतः ।
इति देवाः स्वयं ज्ञानं कथयन्ति मुहुर्मुहुः ।
तत्तदभ्यासयोगेन स्फुटी भवति सर्वदा ॥
दह्यन्ते सर्वपापानि जन्मकोटिशतानि च ।
इहैवाभ्यासयोगेन तृणानीव च वह्निना ॥
तपांसि (१5 b) यानि कथ्यन्ते यद्दानानि व्रतानि च ।
कोटिकोटिगुणोत्तानि भवन्त्यभ्यासयोगतः ॥

Scanned by CamScanner

एतस्यैव प्रभावेन योगीबन्धः प्रसिद्ध्यति ।
अयंच संपुटोयोगोऽन्मूलबन्धो (15.a) ऽप्ययंमतम्
अभ्यसतायमनेनैव सिद्ध्यत्यभ्यासयोगतः।
महाबन्धविवेकः।

वायूनां गतिमावृत्य कृत्वा पूरककुंभकौ ।
अभ्यासमारभे योगी सर्वयोगः प्रसिद्ध्यति ॥
द्विवाराभ्यमनिच्छिन्नं यामे यामे यदा तदा ।
अनेनाभ्यासयोगेन वायुरभ्यसितो भवेत् ।
वायोरभ्यसिते वह्निः प्रत्यवर्द्धिते तनौ ।
वह्नौ विवर्द्धमाने तु सुखमन्नस्यपाचकः॥
अन्नस्यपरिपाकेन रसवृद्धिः प्रजायते ।
रसवृद्धिगते नित्यं वर्द्धन्ते धातवस्तथा।
धातूनां वर्द्धनादेव प्राधान्यं वर्द्धितेतनौ ।
प्रधानरस संवृद्धौ संतताभ्यासयोगतः।
इति देवाः स्वयं ज्ञानं कथयन्ति मुहुर्मुहुः ।
तत्तदभ्यासयोगेन स्फुटी भवति सर्वदा ॥
दह्यन्ते सर्वपापानि जन्मकोटिशतानिच ।
इहैवाभ्यासयोगेन तृणानीवच वह्निना ॥
तपांसि (15 b) यानिकथ्यन्ते यज्ञदानव्रतानिच ।
कोटिकोटिगुणोस्तानि भवन्त्यभ्यासयोगतः॥

Scanned by CamScanner

147

प्रकृत्यैवं गुणा दोषा (त्या) व्याध्यो वि विद्यास्तुवें।
नक्षम न्यभ्यास योगेन स्वं मेधा नायुना यथा ॥

— इति सिद्धविद्या योगस्संपूर्ण: —

हरि: ओम् — श्रीकृष्णार्पणमस्तु —

— इति श्री योगसिद्धान्त मताचार्य श्रीमच्छंकराचार्य —

— पादारविन्दाभ्यां नम: —

Copied by S. K. Raghavachar.
26.5.47

Restored in 1947-48 from a library MS.
R. 2831 (b).

26.5.47

2 1 OCT 1952

Scanned by CamScanner

यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ।

यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु ॥

धारयेन्नासिकां मध्यमतर्जनीभ्यां विना दृढम् ।

कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ॥

वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ।

कुण्डलीबोधकं वक्षदोषघ्नं शुभदं सुखम् ॥

ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ।

सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदकम् ॥

विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ।

योगहठप्रदीपिकायाम्

भस्त्रीवल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ

भस्त्रीकरणमाख्यातं पूरयेदुभयरोमिनम् ।

कुंभकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ।

कुण्डली बोधकं ~~[illegible]~~ सत्यं ग्रन्थित्रयविभेदकम् ॥

(विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकन्त्विदम् । (131.[illegible])

ग्रन्थान्तरे — स्वाधिष्ठानेन मार्गेण नासिपन्ते गुणागणाम् ।

भस्त्रमुद्रा विशेषेण शरीर्णकाजसंभवाः ।

मुद्रा त्रितयमुच्यते ।

सिद्धानां कपिलादीनां मतं वक्ष्ये ततः परम् ।

अभ्यासभेदतो भेदः फलन्तु सममेव हि ॥

Scanned by CamScanner

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि भैरवेणोक्तमादरात् ।
पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ।
चिबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः ॥
कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेत् ।
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन चाभ्यसेत् ॥ इति महामुद्रा।
प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि नामयेत् ।
अयमेव महाबन्धौ उभयत्रैवमभ्यसेत् ॥
महाबन्धस्थितो भूमौ तैजसं ताडयेच्छनैः।
अ(131.6.)यमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम्॥
महामुद्रा लक्षणम् – योगशास्त्रे।
कथ्यते च महामुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥
याः संप्राप्य मनुष्यास्य भवन्ति स्वरपूजिताः।
जन्मकोटिसहस्राणि कृत्वा तत्कर्म विस्तरम् ॥
यां संप्राप्य भवाम्बोधिपारं गच्छन्ति योगिनः।
पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ॥
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखे।
कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ।
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।

Scanned by CamScanner

तदासौ मरणावस्था जायते छिद्रसाक्षिता।

मृतावस्था समुत्पन्ना ततो मृत्युभयं कुतः

अतरहस्यार्थः— गन्ध द्वारद्वयं प्राणस्य पादौ तस्मा दक्षिण

पादः। पिङ्गला नाम इडायो निस्तु नाडिका। मुद्रा बन्धलक्षणं।

उप (132.a) देशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम्।

स एव आर्य गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः॥

पूरकं कुंभकं कृत्वा धृत्वा मुद्रां भयापहाम्।

बन्धं संयोजयेत् क्षिप्रं देवताकरगोपितम्।

अभमतान्तर निराकरणे उपासनमेव साधयति।

त्रिदण्डी च भवे कैषा द्वेदाध्याये सदारतः।

द्वौ न भेदे जटाबन्धो। मुण्डो घोराद यस्तथा॥

सांख्ये प्रकृतिवादन्तु बौद्धास्ते शून्यवादिनः।

केशस्योत्पाटनं जैनं सदा जीवदयापालकः।

सर्वं नास्तीति चार्वाके नाना भेदा षडुद्भवमी॥

पन्थं भ्रान्ति मायास्सर्वे भ्रमन्ति शास्त्रमोहिताः।

कर्म ज्ञानं कृतं गोप्यं तत्स्नेहाद् वदाम्यहम्।

यस्य विज्ञानमात्रेण जन्मबन्धात् प्रमुच्यते।

उकारः पुण्यपापानां ज्ञानमुद्रा च खेचरी।

आश्रमं च कोटिनां स्मं समं चण्डालपंडितम्॥(132.b)

मनःस्थिरं यस्य विना अवलंबनं वायुः स्थिरो यस्य विना निरोधनम्।

Scanned by CamScanner

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनावलोकनं सैव मुद्रा चरतीति खेचरी।
भक्तस्य भावं मृतकस्य चेतनं स्वप्नेन हीनापि यथा यतिन्द्रा॥
गगनेन गतः पान्थं विहङ्गमो यथा स्वेच्छास्तोत्म विद्या।
सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बे तले पुनः।
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी॥
सामयो क्रोदिता नाम साक्षात्साक्षिष्णुवल्लभा।
पूरयेन्मारुतं दिव्यं सुषुम्ना पश्चिमे मुखे।
पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत्।
अभ्यासे खेचरी मुद्रा मुन्मनी संप्रजायते।
अभ्यासे खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः।
संप्राप्ते योगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन॥
भ्रुवोर्मध्ये हृदयस्थानं मनस्तेनोत लीयते।
ज्ञातव्यं तत्परं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते॥
सु (133.a) शिरो ज्ञानजनकः पंचस्त्रोतसमन्वितः।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन्शून्ये निरंजने॥
चन्द्रसूर्यद्वयोर्मध्ये मुद्रा दद्याच्च खेचरी।
निरालम्बे महाशून्ये व्योमचक्रे व्यवस्थिता॥
निरालम्बे मनः कुर्यान्न किंचिदपि चिन्तयेत्।
त्रिकूटशिखरोपान्ते कर्णिज्ञाति भूमिका॥
समुद्रस्ये गिरि हठे फणीको स्तथा परे।

Scanned by CamScanner

संचरेत्सततं वायुरन्यत्र प्रसरेत्क्वचित्।
यतेयं खेचरी मुद्रा देवानामपि दुर्लभा॥
तस्य दक्षिणनाडिस्थो मध्येचरति मारुतः।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मात्स्थाने न संशयः॥
इडापिंगलयोर्योगे शून्ये चैवानिलं ग्रसेत्।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः॥
उभयोर्गतिबन्धेन वायुर्मध्यगतो यदा।
उद्दीप्ता सर्वतत्त्वानि चित्तं सर्वगतं तथा।
पुण्यपापस्य कर्तारौ द्वावेतौ पार्श्वगामिनौ।
कुम्भके सर्वतत्त्वा (123.6) निनिक्षिपेद्दृढबन्धनात्।
प्राणानिरुद्ध्य वायुश्च कृत्वा प्राणमधोमुखम्।
वाहयेदूर्ध्वमत्यर्थमुदानेनैव योगतः।
बान्धवाः स्युः प्रसन्नेन तुष्टाः स्युर्देवता नराः॥
अयं चतुष्पथो बन्धो मार्गतम निरोधकः।
उक्तेनैव प्रकारेण योनिबन्धः प्रसिद्ध्यति।
अयंच संपुटी योगो मूलबन्धोऽप्ययं मतम्।
बन्धत्रयमनेनैव सिद्धान्तन्तस्य तां गता।—मुद्रामाहा-
त्म्यम्— गुरुतल्पनिषेवणं च पानं द्विजहत्या मध्युना
सुवर्णचौर्यम्। अमूनापि लयं प्रयांति सद्यस्सकृदभ्या-
चरितेन बन्धनेन।

नभयं पितृराजतो जयन्ति न च मृत्युप्रतिपादिता च भीतिः।

एतस्यैव तु वश्यतस्य मनुजः प्राप्नोति शक्रत्वतामथासात्

अणिमादिसिद्धिमखण्डकलां सात्विकीमथ्यूर्जिताम्। (134a)

योगस्थाप्रमं जयं च मरुतः कालस्य वा वञ्चनम्,

तद्विष्णोः परमं पदं च सततं पर्यङ्कसो भूतले।

एतस्मिन्परमात्मरुदात्मय महानन्दैककन्दे स्थाने-

पारे मानसमात्मनाप्रिरमतिस्वं योजयेन्मद्रयो ॥

योगी तत्क्षमयतां उपैति ज्ञानकौश्येतो निराकम्पया

पश्चालोजमहास्फुरं कम्पक्रादाविर्भवत्यन्तरे।

क्षीणे चेतसि चात्ता विश्वानिचये वन्होरिवार्धोकणाः

इत्थमन्तेत्वदनन्तरं च निमग्नं दीपं प्रदीपान्तरः॥

नित्यानन्दनिधिर्ब्रह्म यः पतिरिति श्रीवासुदेवः पुमान्

नाम्नेत्यच्युत इत्यचिन्त्यमहिमा योगीयते योगिभिः

स्थानेऽस्मिन् परमे स एव भगवान् ध्येयो भवत्यच्युतः।

साक्षात्प्रादुरिवां वरान्तरचरश्चन्द्रार्कयोर्मण्डले।

बिम्बस्यायतनं महाभगवतस्स्थानं यदेतत्परं

यत्तारोप्य (134b) समीरणं स्तुतिनः प्राणप्रयाणे नरः।

दीप्यन्तं पुराणपुरुषं ध्येयं कवीनां कविम्

विश्वाद्यं प्रविशन्ति सन्तत महानन्दैककन्दं विभुम्।

सहसान्तु पद्मं विसर्गीदध्यस्तादध्यो वकुमारकं किञ्जल्कपुञ्जम्।

Scanned by CamScanner

तुरंगेण हीनस्ति कुरंग स्वभगवत्स्फुरद्विश्विजाले सुधांशुस्वरूपे

तदन्तर्गत ब्रह्मरन्ध्रस्य सूक्ष्मं सदाधारस्य सुधासारमण्डलमध्यः।

तदेतत्परन्दिव्यमनन्तमज्ञं शरीरस्य गम्यं सुगोप्यं प्रयत्नात्।

स्तत्त्वं कैवल्यसंज्ञं परमकुलपदं बिन्दुरूपी निरूपी

यत्रास्ते देवदेवो भवभयतिमिरध्वंस हंसस्स हंसः।

भूतानामादिभूतो रविरिव शिरसि ता सन्ततोऽसौ

सौगन्धी राशि विमुक्त्यभिमतफलदो योगिनां योगगम्यः।

स्वभावस्यास्य ज्ञानमात्रेण नृणां संसारेऽस्मिन्न संभवो
भवति भूयः।

भूतग्रामं (85.a) सन्ततोऽभ्यासयोगात् कर्तुं हर्तुं स्याच्छक्तः
समर्थः।

स्थानेऽस्मिन्क्षयवृद्धिभावरहिता सत्योदिता योऽमृषी.

बालादित्यनिभः प्रभा वा काम्भृतः शास्ते कला षोडशी+

बालाग्रस्य विखण्डितस्य शततो भागैकरूपा यता

सूक्ष्मत्वात्स टवी निरन्तरगलत्पीयूषधाराधरा॥

एतस्यात्परतः परात्परतरा निर्वाणशक्तेः पदं

विष्णोः ब्रह्मावत मप्रमेय ममलं नित्योदितं निष्कलम्।

तद्विष्णोः पदमित्यवाग्ति सुधियः केचित्पदं ब्रह्मणः

केचिद्धंसपदं निरञ्जनपदं केचिन्निराकं बनम्॥

आरोप्यारोप्य शक्तिं क्रमकुजनिषया दत्तनावाग्रभेषु

स्थानेष्वज्ञावसानेष्ववहित हृदयं चिन्तयित्वा क्रमेण।

नीत्वा नादावसाने सगम्भुवमहापद्मसंसान्तरस्थम्

Scanned by CamScanner

६ या ये चैतन्यरूपामभिमतफलसंप्राप्तये कांक्षिमत्याम्।

उद्घातलक्षणम् (35.61" नाडीनामास्पदं पिण्डो वायुः प्राणस्य
चाश्रयः। जीवस्य निलयः प्राणः जीवो हंसस्य चाश्रयः॥
हंसः शक्तेरधिष्ठानं चराचरमिदं जगत्।
साक्षात्कारस्य कला शरीरजीवभूता प्राणोऽसाविति निगदिता.
अतस्तं लक्षयेत्॥ उद्घातस्स तु पठ्यते मुनीन्द्रैः
प्राणान्तं स्पृशति यथाक्रमेण नीतः॥
प्राणोऽसाविति प्राणवायुरूर्ध्वकृष्टत्वादुद्घाताख्य-
ग्रन्थिभेदं विदधाति।
सापि प्राणसमाख्याता तन्त्रेऽस्मिन् परमेश्वरी। इति।
उत्क्रान्त इति - उत्क्रान्तः प्रोच्यते योऽसौ प्राणान्तं स्पृशति भेदति.
प्राणान्ते प्रेर्यमाणेनापानः पीड्यते यदा।
गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुत्क्रान्तलक्षणम्॥
एतदुत्क्रान्तं भवति।
पूर्वोक्तचित्स्वरूप शक्त्यात्मकप्राणो देशिकदर्शितक्रमेण
ब्रह्मपदोर्ध्वं गच्छन् तत्स्थान लिङ्ग/36a. पीठात्मक सान्निक-
पानकलाटवकुलाद्ध प्राणात्मसंवर्तारव्यनादान्त निष्कलपदं
यदा गच्छति स पञ्चोत्क्रान्त इति गीयते। योगस्फुरिं भिरिति-
नादस्यान्तो लयो यत्र भवान्ति ब्रह्मरन्ध्रकम् इति·
अत्रैते द्वे सहस्रे षट्शतानि तथैव च

साम-- गीयतेऽथातोऽस्मात् ब्रह्मवर्तिनी।

उत्खाताऽत्मकप्राणां त्मन्कं किं साध्यो: कमलच्छेदकमाता मा:

शिरसायोग ब्रह्मर्थः॥

उद्गीथलक्षणम् – बृहदारण्यकवार्तिके

प्राण एव तत्साम गुणो वाग् उपसर्जनः।

निर्देशोऽप्यतः साक्षाद्वा प्राणः सामाभिधीयते।

ऊर्ध्वं निःसृते यस्मात् प्राणेन च गतिस्वरम्।

उत्प्राणोदर्थं प्रसिद्धस्तु गुणाद्गीथ उच्यते॥

उद्गीतमेतत्परमं ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।

अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥

वेधलक्षणं – हठयोगप्रदीपिकायाम् –

अष्टांगयोगोऽचिरकाल साध्ये प्रायोऽन्तराया बहवोऽपि चास्तु:

अतोऽचिरात् सिद्धिदवेदमार्गं सिद्धिक्रमायात् अपि ह ब्रवीमि।

लब्धोपदेशा स्वगुरोः सकाशात् स्वप्रयत्नशास्त्रादकभृतयोगात्

तत्सान्निध्यौ सद्वचनानुवर्ती तत्साधये द्वेधमसुं क्रमेण॥

ॐकारं स्वगुरूपदेशात्सन्ताडयेत्कुण्डलिनीं स्थितात्मा।

उड्डियाण जालन्धर मूलबन्धाद्वदनानि जाधारक चित्तवृत्तिः॥

उत्थाप्य शक्तिं निजकुण्डदण्डस्थितां तु नाडीं सह मारुतेन।

प्रविश्य षट्चक्रविभेदनेन नयेत्कुलं शंभुशोभमानम्।

संयोज्यतस्तेन शिवेन वा (17.a) किं प्रकाश रूपेण निमग्नरूपम्।

आनन्दसिद्धौ द्विनसामरस्य सिद्धेः निर्बीजं क्रीडति योगिराद्भूत्।
द्वैधं क्रमोऽयं कथितस्तु सा योगस्यैवं च तस्मादिह नास्ति केभ्यः।
संरक्षतास्मात्परमेषु नैष्ठिकेषु संस्थापनीयो विदुषा क्रमेण।
अष्टांगयोगे न विरुद्ध बुद्धि स्याच्चेद्ध हन्तुं बहु सिद्धिभाक्स्यात्।
जन्मान्तरोपार्जित पुण्यपुंजस्संसारबन्धाद्यदि चे बुमुक्षुः
पराख्यागमसंहितायाम् – अपरभागे ईश्वरः ज्ञानपादे -
नित्यनैमित्तिप्राप्य भावाभावास्ति इष्टिषु।
सदा सत्कर्म सिद्धयर्थं बाह्य क्रियापरो भवेत्।
अथातस्संप्रवक्ष्यामि प्राणायामं सहंसकम्।
येन विज्ञानमात्रेण योगोऽष्टांगः प्रसिद्ध्यति।
अमनस्कप्रदन्दिर्थं धारणाध्यानकारणम्।
स्वगकृत्या क्रमेणैव (37.6) कम्भसम्यया निरुद्धधीः॥
निर्विकल्पप्रसन्नात्मा प्राणायामं समभ्यसेत्।
सम्यगभ्यसतायस्योऽपि लक्ष्यं लक्षणकारणम्॥
बेधं समुद्धरेन्नित्यं सत्यसध्यानमानसः।
रेचकं पूरकं चैव कुंभमध्ये निरोधयेत्॥
सत्यगम्भस्य चित्तस्य हंसस्थम्रुपकल्पनो
दृश्यमाने परे लक्ष्ये बाह्याणि स्वयमाश्रितः॥
प्राणायामस्तु तत्वेन कथ्यते लक्षणेन तु।
बाह्यस्थं विषयं सर्व रेचकस्स उदाहृतः।

पूरकं द्वारसंतानिज्ञानं कुम्भकं स्वगतं स्मृतम् ।
एवमभ्यासचित्तस्येत् सम्यक्तो नाल संज्ञाम: ॥
अभ्यासमदपि से वक्ष्मि प्राणायाम परं शिवम् ।
कुम्भकेन सदा रेचमम् कुम्भकेनैव पूरयेत् ॥
कुम्भेन कुम्भयेत्कुम्भं तदन्तस्थ: परं शिवम् । अमरौघे—
पुनरास्फाल्यमेदन्य स्फारभिरं कर्णिकु प्रभा । (13.9)
वायुनां गतिमावृत्य धृत्वा पूरककुम्भकौ ॥
समहस्तयुगौ भूमौ समं पादयुगं तथा ।
वेधकक्रमयोगेन चतु:पीठन्तु वायुना ।
आस्फालयेन्महामेरुं वायुवक्त्रे प्रकोटिभि: ।
पुटद्वयं समाकृष्य वायु: स्फुरति सत्वरम् ।
सूर्याग्नि सोम संबन्धा जानीयादमृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो मृत्यु भयं कुत: ॥
वेधसंजायते तेन यन्ब्रह्माण्डरसात्मकम् ।
मेरुमध्यगता देवा: चलन्ते मेरुचालनात् ।
क्षियन्ते मेरुवेधेन ब्रह्माद्या देवता ध्रुवम् ।
आदौ संजायते क्षिप्रं वेधोऽस्य ब्रह्मग्रन्थित: ।
ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्यसौ ।
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्वा रुद्रग्रन्थिं भिनत्यसौ ॥
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा छित्वा मोहामरं तथा ॥

Scanned by CamScanner

उद्घाटयेत्स्वयं नासौ कुञ्ची द्वारं सुषोपितम् ।
येना सम्यक्स्थितं देवा (13.6) नाभिस्थानगतो विभुः ॥
गुह्याद्गुह्यतरं चैव गुह्याद्गुह्यं च गुह्यकम् ।
अनेनैवाधिकारेण नृणामेवाधिकारतः ॥
तत्त्वोपदेशसम्बन्धि भानयोगिवचनम् —
तदप्रोत्थितभावस्था नाद्यः कारणकं चकः ।
लक्ष्यकारणसंत्यागाद्द्वयानन्दचिद्घनः ॥
अयोरक्षा द्वयानन्द भेदव्यावर्तना परा ।
धीवृत्तिर्जायते शब्दनिर्देशो ब्रह्मज्ञानहानिकृत् ॥
अनेकजन्मसंस्कारगुरुदेवप्रसादतः ।
योगाभ्यासात्ततो जायते तस्य संभवः ॥ ब्रह्मयोगे-
-हिमालयापि कुण्डल्यो मध्ये सुषुम्णानाडिमण्डले ।
मुद्राबन्धविशेषेण आत्मरूद्ध्वं चकारमेत् ।
अकारोकारमकारात्मकं ह्रस्वदीर्घप्लुतं प्रणवलक्षणम् ।
उत्तरगीता — ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घो मोक्षप्रदा (अय) यकः ।
आप्यायनं प्लुतो वापि त्रिविधोच्चारणेन तु ।
तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ॥
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ।
ह्रस्वं बिन्दुगतं दैर्घ्यं ब्रह्मरन्ध्रगतं प्लुतम् ।
द्वादशान्तगतं मन्त्रं प्रसादं मन्त्रसिद्धये । भूतनिर्देशः
कुञ्चितत्वेन धीदोषैः [illegible] नैकान्तवासिना ।

2 10 OCT 1932
TRIPLICANE P.O. MADRAS

दीर्घप्रणवसन्धानं मनोनाशं विलीयते । दत्तात्रेयगीता ।

ततो रहस्यं पापिष्ठः प्रणवं प्लुतमात्रया ।

जपेत्प्रजाजिनांत पापानां नाशहेतवे । सर्वविघ्नहरश्चायं

प्रणवस्सर्वदोषहा । एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारंभसंभवा ॥

आरंभस्य घटस्यैव तथा परिचयस्तथा । निष्पत्तिश्चेति कथिताः

चेतसस्तस्य भूमिकाः । कारणत्रयसंभूतं बाह्यं कर्म परित्यजन् ॥

आन्तरं कर्म कुरुते य (1396) तारंभस्स उच्यते ।

वायुपश्चिमतो वेधं कुर्वन्नापूर्य सुस्थिरम् ।

यत्र तिष्ठति सा प्रोक्ता घटाख्या भूमिका बुधैः ॥

न सजीवो न निर्जीवः कामे तिष्ठति निश्चलम् ।

यत्र वायुः स्थिरं खे स्यात्सेयं प्रथम भूमिका ।

यत्रात्मना सृष्टिलयौ जीवन्मुक्तिदशां गतः ।

सहजं कुरुते योगं सेयं निष्पत्ति भूमिका ॥

इत्युपासनासारसंग्रहे अभ्यासयोगप्रकारः

हरिः ओम् ॥

Copied by S. Omadachary

Restored ~~Copied~~ in 1947-48 from a Library MS R.No. 2831(i)

AGMouy
15.5.47

वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः।। २६७।।

योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित्।
सर्वथा नैव दातव्य प्राणौः कण्ठगतैरपि।। २६८।।

अधुनाकथयिष्यामि योगं सिद्धिकरं परम्।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परम दुर्लभम्।। २६६।।

सुप्ता गुरु प्रसादेत यदा जागर्ति कुण्डली।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधसा महेश्वरी।। ३००।।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधसा महेश्वरी।
ब्रह्मरंध्र मुखे सुप्ता मुद्राभ्यासं समाचारेत्।। ३०१।।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीत कृतिस्तथा।। ३०२।।

उड्डयानश्चैव वज्रोलीं दशमं शक्तिचालनम्।
इदम् हि मुद्रा दशकं मुद्राणा मुत्तमोत्तमम्।। ३०३।।

महामुद्रा प्रवक्ष्यामि तत्रेऽस्मिन् मम बल्लमां।
यां प्राप्य सिद्धि क़पिलाद्याा पुरागताः।। ३०४।।

अपसव्येन सम्पीड्य पादमूलेन सादरम्।
गुरुपदेशतो योनिं गुदमेढ्रातंरालयाम्।। ३०५।।

सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणि युगेन वै।
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि।। ३०६।।

चिंत्त पयेद्वच्वा प्रारभेद्वायुधारणम्।
महामुद्रा भवेदेषा सर्वतंत्रेषु गोपिता।। ३०७।।

वामांगेन समभ्यस्य दशाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियत मानसः।। ३०८।।

मुद्रामेतां तु संप्राप्य गुरुवक्त्रात्सुशोभितम्।
अनेन विधिना योगी मदभाग्योऽपिसिध्यति।। ३०६।।

..................नाडीनाञ्चालनं बिन्दुधारणं।

जारणं तु कषायस्य पातकानां विनाशनम् ।। ३१० ।।

कुण्डली तापनं वायोः ब्रह्मरन्ध्रे प्रसेवनम् ।
सर्वरोग प्रशमनं जठराग्नि विवर्धनम् ।। ३११ ।।

वपुषः कान्तिममलां जरामृत्युविनाशिनम् ।
वाञ्छितार्थ फलं सौख्यमिन्द्रयाणांञ्चमारणाम् ।। ३१२ ।।

एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः ।
भवेदभ्यासतो वश्ये नात्रकार्या विचारणा ।। ३१३ ।।

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिता ।
यां च प्राप्य भवाम्भोधेः यानमिच्छन्ति योगिनः ।। ३१४ ।।

गुप्ताचार प्रकर्त्तव्यो न देया यस्यकस्यचित् ।
तस्या प्रसारितः पादो विन्यस्यतदुपरि ।। ३१५ ।।

गुदयोनी समाकुञ्च्य कृत्वा पावकमूर्ध्वकम् ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ।। ३१६ ।।

कथितोऽयम् महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ।
नाडिजालादसव्यूहं मूर्ध्वं नयन्ति योगिनः ।। ३१७ ।।

उभाम्यां साधयेत्पद्भ्यां एकैकं सुप्रयत्नतः ।
भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्ना मध्यसंगता ।। ३१८ ।।

अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थि पंजरः ।
सम्पूर्ण हृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।। ३१९ ।।

बन्धेनानेन योगीन्द्रस्साधयेत्सर्वमीप्सितम् ।
अपान प्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेष्वपि ।। ३२० ।।

महावेधस्थितो योगी कुक्षमापूर्य वायुना ।
स्फीतौसंताडऽयेद्धिमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया ।। ३२१ ।।

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुगवः ।
ग्रंथीन् सुपुम्नामार्गेण ब्रह्मरंध्रं भिनन्त्यसौ ।। ३२२ ।।

यः करोति सदाभ्यास महावेधं सुगोपितम् ।

वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरण नाशिनीम् ।।
चक्रमध्ये स्थितिः देवाः कम्पन्ते वायुताड़नात् ।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ।। ३२३ ।।

महामुद्रा महाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ।। ३२४ ।।

एतत् त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वा करोति यः ।
षण्मासाभ्यन्तरे मृत्युञ्जयत्येव न संशयः ।। ३२५ ।।

एतत् त्रयस्य माहत्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ।
यज्ज्ञात्वा साधकास्सर्वे सिद्धिं सम्यक् लभन्ति च ।। ३२६ ।।

गोपनीयं प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः ।
अनाभ्यासान्न सिद्धिं स्यात् मुद्राणामेष निश्चयः ।। ३२७ ।।

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढं सुधी ।
उपविश्यासने तेन नानोपद्रव वर्जितं ।। ३२८ ।।

लम्बिकोर्ध्वे स्थिते गर्त्ते रसनां विपरीतगां ।
संयोजयोत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ।। ३२९ ।।

मुद्रैषा खेचरी प्रोक्त भक्तानाम पुरोधतः ।
सिद्धिनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकाधिका ।। ३३० ।।

निरन्तरं कृताभ्यासात् पीयूषं प्रत्यहं पिवेत् ।
ते न विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेशरी । ३३१ ।।

अपवित्रः पवित्रो वा सेर्वावस्थां गतोऽपिवा ।
खेचरीयस्य सिद्धातु ।
क्षणार्धं कुरूते यस्तुतीर्त्वा पापमहार्णवम् ।
दिवा भोगान् प्रभुक्त्वैव सत्कुलेऽयं प्रजायते ।। ३३२ ।।

मुद्रैषा खेचरी यस्तु सुस्थितोऽस्यामतंद्रिता ।
शतब्रह्म गतेवापि क्षणार्धं मन्यतेऽपि सः ।। ३३३ ।।

गुरुपदेशतो मुद्रां यो वेन्ति खेचरीमिमां ।

नाना पापरतो धीमान् सः याति परमां गतिम् ।। ३३४ ।।
स्वप्राणैः सदृशो यस्तु तस्मादपि न दीयते।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेय सुरपूजिता ।। ३३५ ।।

बध्वा गले स्थिराजालं हृदये चिबुकं न्यंसेत् ।
वन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभम् ।। ३३६ ।।

नाभिस्थो वह्नि धातूनां सहस्त्र कमलच्युतम् ।
पिबेत् पीयूषं विरसं तदर्थ बन्धयेदिदम् ।। ३३७ ।।

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिवति बुद्धिमान् ।
असुरत्वं च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ।।

जालन्धरो बंध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
अभ्यासात् क्रियते सिद्धं योगिनः सिद्धिमिच्छताम् ।। ३३८ ।।

पादमूलेन संपीडय गुदमार्ग सुमंत्रितः ।
बलादपानमाकृष्ट्य क्रमाद्वन्धं समाचरेत् ।। ३३६ ।।

कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरण नाशनः ।
अपान प्राणयोरैक्यं यः करोत्यधिकंपितम् ।। ३४० ।।

बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिध्यति ।
सिद्धानां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ।। ३४१ ।।

बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानलः ।
पद्मासन स्थितो योगी भुवमुयसृज्य वर्तते ।। ३४२ ।।

सुसुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसार सागरं तर्तुं यदिच्छेद्योगिपुंगवः ।। ३४३ ।।

भूतले स्वशिरो दत्वा खेनयेच्चरण द्वयम् ।
विपरीत कृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेपु गोपिता ।। ३४४ ।।

एनां या कुरुते नित्यंमभ्याद्यामयात्रकम् ।
मृत्युञ्जयति सः योगी प्रलयेनापिसीदति ।। ३४५ ।।

अमृतं कुरुते पानं सिद्धानां समताभियात् ।

संसेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ।। ३४६ ।।

नाभेरुर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ।
उड्यानो बंध एष स्यात् सर्वदुःखौघनाशनः ।। ३४७ ।।

उदरं पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्यानोपमयं बन्धो मृत्युमातंग केशरी ।। ३४८ ।।

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिस्साद्येन शुद्धो भवेन्मरुत् ।। ३४९ ।।

षण्मासाभ्यासनद्योगी मृत्युञ्कजयति निश्चितम् ।
तस्योदराग्नि र्ज्वनृति रस वृद्धिश्च जायते ।। ३५० ।।

अनेन सुत गं सिद्धि विग्रहस्य प्रजायते ।
रोगाणाम् संक्षय श्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ।। ३५१ ।।

गुरोर्लब्धातु यत्नेन साधयेत विचक्षणः ।
निर्जने सुस्थितौ देशे बन्धं परमदुर्लभम् ।। ३५२ ।।

वज्रोली कथयिष्यामि संसारध्वांतनाशिनीम् ।
स्वभक्तेभ्यः षट्मासेन गुह्याद्गुहयत्तमामपि ।। ३५३ ।।

स्वेच्छाया वर्तमानोऽपियोगोक्त नियमैर्बिना ।
मुक्तो भवेत् गृहस्थोऽपि बज्रोल्याभ्यसयोगतः ।। ३५४ ।।

बज्रोल्यासह योगोऽयम् भोगमुक्तेऽपि मुक्तिदः ।
प्रस्मादति प्रयंत्नेन कर्त्तव्यो योगिभिः सदा ।। ३५५ ।।

अंगिरस भयो व्यायं यत्नेन विधिवत् सुधी ।
आकुंचन लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयत् ।। ३५६ ।।

स्वकं विन्दुं च संबोध्य लिंगवालानमाचरेत् ।
दैवाच्चलति चेदूर्ध्वम् निरूद्धो योनिमुद्रया ।। ३५७ ।।

वामभागेपितेच्छिद्रम् भृत्यालिंग निवारयेत् ।
गुरुपदेशतो योगी हूं हूं कारेण योनितः ।। ३५८ ।।

अपानवायु माकुचन बलावकर्षयेद्रजः ।

अनेनविधिनायोगी शिप्रंयोगस्य सिद्धये ।। ३५९ ।।

गव्य भुक् कुरुते योगी गुरुपादाब्ज पूजकः।
विन्दु रिन्दुभयोज्ञेयो रजः सूर्यमयं तथा ।। ३६० ।।

योगिनां साधनवतां भवेदिव्यं वपुस्तदा।
मरणां विन्दु पातेनजीवन विन्दु धारणे ।। ३६१ ।।

उभयं मेलनं कार्य स्वशरीर प्रयलतः ।। ३६२ ।।

अहं विन्दु रजो शक्तिरुभयोमेलनं यदा।
तस्मादति प्रयत्नेन कुरुते विन्दु धारणम् ।। ३६३ ।।

जायते म्रियते लोको बिन्दुनानात्र संशयः ।। ३६४ ।।

एतद्दज्ञात्वासदायोगी विन्दुधारणमाचरेत्।
सिद्धे बिन्दौमहारत्ने कि न सिध्यति भूतले ।। ३६५ ।।

यसा प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत्।
बिन्दुः करोती सर्वेषाम् सुखमृदुःखम् च संस्थिति ।। ३६६ ।।

संसारिणाम् विमूढ़ानाम् जन्मामरण शालिनाम्।
अयम् शुभकरोयोगो योगिनामतमुत्तमम् ।। ३६७ ।।

अभ्यासात् सिद्धिमाप्नोति योगे भुक्तेऽपि मानवः।
सफलसाधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले ।। ३६८ ।।

भुक्त्वा भोगानशेषान्तै योगेनानेन निश्चितम्।
अनेन सफला सिद्धिः योगिनां भवति ध्रुवम् ।। ३६९ ।।

सुखभोगेन महतांतरगादेन समभ्यसेत्।
सहजोरूपमरोली च वज्रल्या भेदतो भवेत् ।। ३७० ।।

येस केन प्रकारेण विन्दुं योगिः प्रसाधयेत्।
देवाच्चलति चेद्वेगे मेलतं चन्द्रसूर्ययो ।। ३७१ ।।

अमरोली ही यं प्रोक्तालिंगनालेन शोधयेत्।
गतम् विन्दुं स्वकम् योगिः बंधयेद्योनि मुद्रया ।। ३७२ ।।

सहजोलीहीयं प्रोक्ता सर्वतंत्रेषु गोपिता।

संज्ञाभेदादभ्वेद्भेदः कार्ये तुल्या गतिर्यदि ।। ३७३ ।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ।
अयं योगो माया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहत परम् ।। ३७४ ।।

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयो यस्यकस्यचित् ।
एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतो न भविष्यति ।। ३७५ ।।

तस्मात् अति प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ।
स्वमूत्रौत्सर्ग काले या बलादाकृष्यवायुना ।। ३७६ ।।

स्तोकं स्तोकत्यजेत् मूत्रमाकृष्यतत्पुनः पुनः ।
गुरुपदेश मार्गेण प्रत्यहः यः समाचरेत् ।। ३७७ ।।

बिन्दु सिद्धि भवेत्तस्य महासिद्धि प्रदायके ।
षण्मासमभ्यूसे द्यवै प्रत्यहं गुरुशिक्षया ।। ३७८ ।।

शतांगनोपभोगेऽपि न विन्दु स्तस्य नश्यति ।
सिद्धे विन्दौ महारत्ने किं न सिध्यति भूतले ।। ३७६ ।।

ईशत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभम् भवेत् ।। ३८० ।।

आधारे कमले सुप्तां चालयेत् कुंडलीमिमाम् ।
अपान वायुमारूध्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।। ३८१ ।।

शक्ति चालनमेनं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयु वृद्धि भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ।। ३८२ ।।

विहाय निद्राम भुजंगी स्वयं उर्ध्वम् व्रजेत्खलु ।
तत्समादभ्यासनम् कानर्यम् योगिनां सिद्धिमिच्छिताम् ।। ३८३ ।।

यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येनविग्रह सिद्धिः स्यादणिमादि गुणप्रदा ।। ३८४ ।।

गुरुपदेश विधिना तस्य मृत्यु भयं कुतः ।
मुहूर्तद्वय पर्यन्त विधिना शक्ति चालनम् ।। ३८५ ।।

यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिर्न दूरतः ।
मुक्तासनेन कर्त्तव्यम् योगिभिः शक्ति चालनम् ।। ३८६ ।।

एतत्तु मुद्रा दशकं न भूतम् न भविष्यति ।
ऐकैकाभ्यासने सिद्धो सिद्धि भवतिनान्यथा ।। ३८७ ।।

ब्रूहि में वाक्यमीशन परमार्थधिय प्रति ।
ये विघ्ना सन्ति लोकानां चेन्मयि प्रियशंकरः ।। ३८८ ।।

ईश्वर उवाच

श्रुणुदेवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा ।
मुक्तिं प्रति नराणां च भोगः परमवंधकः ।। ३८९ ।।

नारीशय्यासनं वस्त्रं पानीं वनमास्य विचुंबनम् ।
ताम्बूलम् भक्ष्य पानानि राज्य शौर्य विभूतयः ।। ३९० ।।

हेमरुप्यं तथा ताम्रं रत्नान्यगुरुधेनवम् ।
पांडित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतम् विभूषणम् ।। ३९१ ।।

वंशी वीणामृदंगाश्च गजेन्द्रो चाश्ववाहनम् ।
दारापत्यानि विषयानि विघ्नामेते प्रकीर्तिता ।। ३९२ ।।

भोगरुपाश्चये विघ्ना उत्तम अथवा सहायकन्निमान् श्रुणु ।
स्थानम् पूजातिथिर्होमस्तथा सौख्यामयोदिता ।। ३९३ ।।

व्रतोपयास नियमामौनमिन्द्रिय निग्रहः ।
ध्येयो ध्यानं तथा मंत्रोदानं ख्यातिर्दिशासु च ।। ३९४ ।।

वापी कूप तडागादि प्रसादाराम कल्पका ।
यद्वा चान्द्रायणाम् कृच्छं तीर्थानि विषयानि च ।। ३९५ ।।

दृश्यते च इमा विघ्ना धर्मारुपेण संस्थिता ।
येन विघ्नं भवेद्रानम् कथयामि वरानने ।। ३९६ ।।

गोमुखाधासनं कृत्वा धौति प्रक्षालनं च यत् ।
नाडी संचार विज्ञान प्रत्याहार निरोधनम् ।। ३९७ ।।

कुक्षि संचालनम् क्षरीम् प्रवेश इन्द्रियध्वना ।
नाडिकर्माणि कस्यापि नियमान् श्रूयतां मम ।। ३९८ ।।

मूलोड्याणजलन्द्रबन्धनविधामभ्यस्पतो योगिनो
वायोरुद्गमने निरङ्कुशविधेस्तव्द्योमसंरोधनात् ।
भूतानीन्द्रियवर्गतद्गुणमनोहश्चित्तबुध्यादयः
सर्वं लीनमुपैति वृत्तिरहितं सौख्यं तदा किञ्चन ॥ ४९ ॥

योऽपानसूर्यमथ वायुनिरोधनेन
प्राणेन्दुना सह तदूर्ध्वगतं प्रकृत्या ।

योगैकासिद्धिमनिशं कुरुते समस्तां
प्रज्ञावतामपि स एव हि मूलबन्धः ॥ ५० ॥

अधश्चोर्ध्वं च नाभेर्यो बन्धनं कुरुते बलात् ।
उड्डियानमसौ बन्धो रुग्जरामृत्युन्नाशनः ॥ ५१ ॥

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
एष जालन्धरो बन्ध ऊर्ध्वामृतनिबन्धकः ॥ ५२ ॥

अथोर्ध्वमध्यस्थिरबन्धनाभ्या-
माकुञ्चनादूर्ध्वमपानवायोः ।
प्राणैकरन्ध्रे मरुतां प्रवेशा-
च्छीघ्रं भवेत्केवलकुम्भसिद्धिः ॥ ५३ ॥

Scanned by CamScanner

अश्वा सदाऽनाहतदिव्यनादं
धृत्वा विभिन्नामलबिन्दुरत्नम् ।
पीत्वा सुधां चन्द्रमसः पतन्तीं
छित्त्वाऽथ सङ्कल्पविकल्पजालम् ॥ ५८॥

कृत्वा त्रिकूटे दृढबन्धनं ततो
गत्वा त्रिकोणे मनसाऽनिलैः सह ।
भित्त्वा तथैवोपरि सूक्ष्मकुण्डलीं
नीत्वा सखे विष्णुपदं सुखी भव ॥ ५९॥

इत्थं शिवं विष्णुषदस्वरूपं

विष्णुं सदा भावितविष्णुमूर्तिम् ।
विष्णोः पदं केवलकुम्भशुद्धं
प्राणाम्बुना स्नानविधौ भजस्व ॥ ६०॥

इति श्रीसदाशिवयोगीश्वरविराचितायां शिवयोगदीपिकायां द्वितीयः पट

Scanned by CamScanner

निरन्तरकृताभ्यासात्षण्मासात् सिद्धिभाग्भवेत् ।
वलीपलितनिर्मुक्तो जीवेदब्दशतत्रयम् ।। २८ ।।

अथ हठः—

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखे ।। २९ ।।

कण्ठे बन्धं समारोप्याधाराद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्डाहतस्सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ।। ३० ।।

ऋजुभूता तदा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदासौ मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता ।। ३१ ।।

महारोगा महाक्लेशा जीर्यन्ते मरणादयः ।
महामुद्रांच तेनैनां वदन्ति विबुधोत्तमाः ।। ३२ ।।

महामुद्राकृता येन साधकाय प्रसिध्यति ।
कथ्यतेऽसौ महाबन्धो जरामरणनाशकः ।। ३३ ।।

पूरयित्वा मुखे वायुं हृदये चु (चि) बुके कृते ।
निभृतं योनिमाकुञ्चेन्मनो मध्ये नियोजयेत् ।। ३४ ।।

अयं च सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिविशोधनः ।
त्रिवेणीसङ्गमं कृत्वा केदारं प्रापयेन्मनः ।। ३५ ।।

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।। ३६ ।।

सव्यं प्रसारितं पादं कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।
आन्दोलनं ततः कूर्याच्छरीरस्य त्रिमार्गतः ।। ३७ ।।

पुनरास्फालनं कुर्यां सुस्थिरं कण्ठमुद्रया ।
वायुना गतिमाहृत्य कृत्वा पूरककुम्भकौ ।। ३८ ।।

समहस्तयुगो भूत्वा समपादयुगस्तथा ।
वेधयेत्क्रमयोगेन चतुष्पीठं तु वायुना ॥ ३९ ॥

आफालयेन्महामेरू वायुवज्राग्निकोटिभिः ।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ॥ ४० ॥

सोमसूर्याग्निसम्बन्धं जानीयादमृताय वै ।
मृतावस्स्था समुत्पन्ना ततो मृत्युभयं कुतः ॥ ४१ ॥

एतत्त्रयं महागुण्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
अष्टधा क्रियते चैतत् यामे यामे दिने दिने ॥ ४२ ॥

वह्निवृद्धिकरं चैव अणिमादिगुणप्रदम् ।
पुण्यं सञ्चयसंहारि पापौघभिदुरं सदा ॥ ४३ ॥

सम्यग्गृशिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधने ।
वह्निस्त्रीपथसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥ ४४ ॥

आरम्भश्च घटश्चैव प्रत्ययश्च तृतीयकः ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था चतुर्विधा ॥ ४५ ॥

ब्रह्मग्रन्थे भवेद् वेधादानन्दा....न्यसम्भवम् ।
विचित्रक्वणको देहेनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥ ४६ ॥

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदयश्शूर आरम्भे योगिनो भवेत् ॥ ४७ ॥

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानादेव समप्रभः ॥ ४८ ॥

विष्णुग्रन्थेस्तथा वेधात् परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ४९ ॥

तृतीयायां ततो भित्वा विपाको (विहायो) मर्दलध्वनिः ।
महाशून्यं तदा जातं सर्वसन्धि(सद्धि)समाश्रयम् ॥ ५० ॥

आरोग्यतां बिन्दु जयोग्नि दीपनं नाडीषु सिद्धिर्हठसिद्धिलक्षणं।

स शैलवनधात्रीनां यथाधारो हि कुंडली।
सुप्तागुरु प्रसादेन यथा यागर्ति कुंडली॥

तया पद्मानि सर्वाणि भिद्यंते ग्रंथयोपि च।
प्राणस्य शून्य पदवी तदा राजपथायते॥

तथा चित्त निरालंबं तथा कालस्य वंधनं।

प्।१६२ब्)

सुषुम्ना शून्य पदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः।
श्मशानं शांभवी मध्य मार्गश्चेत्येककवाचका॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयतुमीश्वरी।
ब्रह्मद्वारमुखसुप्तं मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥

महामुद्रामहावंधो महावेधंश्च खेचरी।

उड्डियानं मूलबंधः ततोजालंधराभिधः ॥

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्ति चालनं ।
इदं च मुद्रा दशकं धरामरणनाशनं ॥

आदिनाथोदितं सर्वं अष्टैश्वर्य प्रदायकं ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां वल्लभं मनुजामपि ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथारत्न करंडकं ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥

वज्रोली रमरोभिश्च सहजालिस्त्रिधा मता ।
एतेषां लक्षणं वक्ष्य कर्तव्यं च विशेषतः ॥

पादमूलन वामेन योनि संपीड्यदक्षिणं ।
पादं प्रसारितं धृत्वा कराभ्यां धारितत्सुखं ॥

कंठे वंधंसमारोप्य धारयेद्वायुमूर्द्धतः ।
यथादंडाहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥

ऋज्वा भूता तथाशक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदस्ति मननावस्था जायते द्विपुटाश्रिता॥

ततः शनैशनैरेव रेचयेन् न तु वेगतः।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रशस्यते॥

महाक्लेशादयो दोषा जायंते मरणादयः।

प्। १६३अ)

महामुद्रा च ते नैव वदंति विवुधोत्तमा।
चंद्रांसे च समभ्यस्य सूर्यांशे पुनरभ्यसेत्॥

यावत् संख्या भवर्तुल्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्।
नापथ्यं न हि पथ्यं च रसा सर्वोपिरीरसा॥

अपि मुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति।
क्षयं कुष्टं मुदावर्त्तं तुल्याजीर्णं पुरोगमाः॥

दोषाः सर्वक्षयं यांति महामुद्रां तु योभ्यसेत्।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणां॥

गंभ्यनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।
ष्र्णि भागेन पादस्य योनि स्थानं नियोजयेत्॥

वामोरूपरिसंस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।
पूरयित्वा ततो वायुं हृदयं चिबुकं दृढं॥

निक्षिप्य योनिमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत्।
धारयित्वा यथाशक्तया रेचयेदनिलंशनैः॥

संव्यागवसमभ्यास्य दक्षिणे नरमभ्यसेत्।
मतमेतं तु केषांचित् कंठवंधं विवर्जयेत्॥

शतदंतस्य जिह्वायां वंधः शस्त्रो भवेद्धितः।
अयं किल महावंधः महासिद्धि प्रदायकः॥

महामुद्रा च ते नैव वदंति विवुधोत्तमा।

चंद्रासै च समभ्यस्य सूर्यांशे पुनरभ्यसेत् ॥

यावत् संख्या भवर्तुल्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ।
नापथ्यं न हि पथ्यं च रसा सर्वेपिरीरसा ॥

पृ । १६३ब्)

अपि मुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ।
क्षयं कुष्टं मुदावर्तं तुल्याजीर्णपुरोगमाः ॥

दोषाः सर्वक्षयं यांति महामुद्रां तु योन्यसेत् ।
कथिते यं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणां ॥

गंभ्यनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ।
पार्ष्णि भागेन पादस्य योनि स्थानं नियोजयेत् ॥

वामोरूपरिसंस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।
पूरयित्वा ततो वायुं हृदयं चिबुकं दृढं ॥

निक्षिप्य योनिमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत् ।

धारयित्वा यथाशक्त्या रेचयेदनिलंशनैः ॥

संव्यागवसमभ्यास्य दक्षिणे नरमभ्यसेत् ।
मतमेतस्तु केषांचित् कंठं वंधं विवर्जयेत् ॥

शतदं तस्य जिह्वायां बंधः शस्तो भवेद्वितः ।
अयं किल महावंधः महासिद्धि प्रदायकः ॥

कालपाशमहावंध विमोचन विचक्षणः ।
अयं च सर्वनाडीनामूर्द्ध्वं गति विबोधकः ॥

त्रिवेणी संगमं धत्ते केदारं पापयेत् मनः ।
रूपलावण्य संपन्न यथास्त्री पुरुषं विना ॥

महामुद्रा महावंधौ निःफलौ वेध वर्जितौ ।
महावेधा स्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥

वायी नामति मावृत्त्य निभृतं कंठमुद्रया ।
समहस्ता युगो भूयो स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥

पुट द्वयं समाकृष्य वायुः स्फुरति सत्वरं।

पृ। १६४अ)

सोमसूर्याग्निसंबंधा जायते च मृतोर्जयः।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत्॥

महावेधो यमभ्यासान् महासिद्धि प्रदायकः।
वलीपलितवंधघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः॥

एतत् त्रयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।
वह्निवृद्धि करा चैव मनिमादि गुणप्रदं॥

अष्टधा क्रियते चैकं यामयामे दिने दिने।
सर्वसंचारसंधायी पापौघाभिदुरं सदा॥

सम्यजिज्ञासतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनं।
वह्निस्त्री पठिसेवा नामादौ वर्जनमाचरेत्॥

छेदनचालनदोहैः कला क्रमेण चोद्धयेत्।

सायावद्भ्रूमध्यं चेति तदा खेचर मुद्रया॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टो विपरीतगा।

भ्रूवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥

कलां परां मुखी * भ्यक्षणार्द्धमपि तिष्ठति।

क्षणेन मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजलादिभिः॥

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।

न च मूर्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेष्टि खेचरी॥

वाध्यते न स रोगेन लिप्यते न स कर्मणा।

बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरी॥

वित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खेगता।

ते नैव खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धिर्नमस्कृताः॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरलंबिकोर्द्धतः।

तस्य न क्षरते विंदुः कामिन्या लिंग तस्य च ॥

प्. १६४ब्)

चरितोपि यदा बिंदुः संप्राप्तश्चाग्नि मंडलं ।
ब्रह्मत्युर्द्धं हठाछत्त्या निरोधो योगमुद्रया ॥

ऊर्द्धजिह्वा स्थितो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युंजयति योगवत् ॥

नित्य सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य देहिनः ।
तक्षकेनापि दंष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥

गोमांसं भक्षयेन् नित्यं पिबेदमरवारुणीं ।
कुलीनं तमहं विद्या इतरे कुलघातकाः ॥

गोशब्दे नोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसं भक्षणं तच्च महापातकनाशनं ॥

जिह्वा प्रवेशनं भूतं बहुनात्यादितं खलु ।

चंद्रात् स्त्रवति या सम्यक् सास्यादमरवारुणि ॥

मूर्द्धं षोडश पद्मपत्र गलितं प्राणांदवाप्तं हठादूर्द्धास्यो
रसनां विधाय विपरे शक्तिं परां चिंतयेत् ॥
तत्कल्लोलजः लाकुलं सुविमलं धारामृतं यः पिबेत् निर्दोषः समृणाल
कोमल तनुर्योगी विरंजी पति ॥

चुयंति यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पंदिनी स क्षाराकटु *?
दुग्ध सद्दशी सध्वाज्य तुल्यं तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शास्त्रागमोद्गीरणं तस्य स्यादमरत्व
गुष्ठगुणितं सिद्धां गणाकर्षणं ॥

एवं सृष्टिमयं बीज एकामुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥

प् । १६५अ)

सुचिरं ज्ञानजनकं पंचस्त्रोतः समन्वितः ।
तिष्ठंती खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्यनिरंजने ॥

यप्रालेपं पिहित सुखिलं मेरू मूर्द्ध्वा तथैततस्मिंस्तत्वं प्रवदंति सुधी
चस्तन्मुख निम्नगा चंद्रात्सारस्त्रवति वपुषस्तेन मृत्युन्नराणांत
वह्नीयाद्वरुणममृतं नान्यथा कार्य सिद्धि ॥

इति श्रीवाराहीतंत्रे दक्षिणाम्नायनिर्वाणपदे षड्विंशति पटलः ॥ २६ ॥

भैरव उवाच ॥

पार्ष्णि भागेन संपीड्ये योनिमाकुंचय दृढं ।
अपानमूर्द्धमाकृष्य मूलबंधोयमुच्यते ॥

अधोगतमकारं वै ऊर्द्धगं कुरुते वरात् ।
आकुंच्य तेन तं प्राहु मूलबंध हि योगिनः ॥

गुरुपार्ष्ण्या तु संपीड्ये वायुमाकुंचयद्बलात् ।
वारं वारं तथा चोर्द्ध समायाति समीर ॥

प्राणादितोदितो बिन्दुः मूलबंधेन चैकतः ।
ततो योगससंसिद्ध्यै प्रमा तत्र न संशयः ॥

अपानप्राणयोरैक्याक्षयो मूत्र पुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धौपि सततं मूलबंधनात्॥

अपाने चोर्द्ध माया ते मध्यतः नाभिमंडले।
तथा नरे शिखा दीर्घा क्रियते वायुनाहता॥

ततो वायु वह्नि योगौ प्राणायाम स उच्यते।
तेनात्यंतः प्रदीप्तस्तु कुतो देहक्षयस्तदा॥

तेन कुंडलिनी सुप्ता संतता संप्रबुद्धयते।

प्। १६५ब्)

दंडाहताभुजंगीवनिश्वस्य ऋजुनायिका।
विलं प्रतिष्ठाच्च ततो ब्रह्मणाड्यंतरे व्रजेत्॥

तस्मान् नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा।
उर्द्ध स्थितः सुषुम्नायाः प्राणस्तुड्डीयते यतः॥

तस्मात् त्वे उड्डियानाख्या योगिभिः समुदाहृतः।
उडडीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगः॥

उड्डियानं तदेयं स्यात् क्षत्रबंधोभिधीयते।
उड्डियानं तु सहजं गुरुना कथितं सदा॥

अभ्यसे सततं यस्तु वृद्धोपि तरुणो भवेत्।
नाभेरुद्ध्र्व मधश्चापितानं कुर्याच्च यं नतः॥

योगी समभ्यसेत् मृत्युंजयत्येवन्न संशय।
अति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारये दृढं॥

गुल्फदंशसमीपं च कदं तच्च प्रवीच्यते।
पश्चिमतानंमुपरिकारयेद्धृदय गल॥

शनैः शनैर्यथा प्राप्तं तदा गंधिं प्रगछति।
सर्वेषामेव वंधानामुत्तमोहुड्डियानकः॥

उड्डियाने दृढे वंधे मुक्तिः स्वाभविकी भवेत्।

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापये दृढमिछय ॥

वंधोजारं धराख्योयं जरामृत्युविनाशकः ।
वध्नाति हि शिराजालं अधोगानि न भोजनं ॥

ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखाघनाशनः ।
जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥

मंपीयूषंयतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ।

पृ। १६६अ)

संकोचलक्षणे नैव द्वे नाड्या स्तंभयेद् दृढं ।
मध्यं चक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनं ॥

बंधत्रयामिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितं ।
सर्वेषां योगतंत्राणां सधेनं योगिनो बिदुः ॥

अधस्म कुंचरेनाशुकंठसंकोचने कृते ।
मध्यमश्चिमतानेन स्यात् प्राणामध्यनाडिगः ॥

इडा च पिंगला चैव वाहयेत् पश्चिमं पथं ।
ब्रह्मस्थानस्थितोरोधः प्रयाति पवनोलयम् ॥

ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ।
उद्ध्र्वनाभि * रः स्तालुरुर्द्धभानुरधः शशी ॥

करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्नि प्रवर्द्धिनी ॥

आहारोवहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य तु ।
अल्वाहारो निराहारः क्षुधालस्य वसा भवेत् ॥

अद्धाशिरश्चोर्द्धपादौ क्षण स्यात् प्रथमे दिने ।
क्षणाच्च किंचिदधिकं अभ्यासे च दिने दिने ॥

वलितं परितं चैव षण्मासां तु न दृश्यते ।
मासत्रयं तु यो नित्यमभ्यसे स तु कालवित् ॥

स्वेच्छाया वर्तमानोपि योगोक्तैर्नियमर्चिना ।
वज्रोलीय विजानाति स योगी सिद्धिमान् भवेत् ॥

तत्र वस्तु द्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैव द्वितीयं तु नारी च वश वर्तिनी ॥

मेढ्रेन वसनैः सम्यक् कृत्वा कुंचनमभ्यसेत् ।

प् । १६६ब्)

पुरुषो वापि नारी वा वज्रोली सिद्धिमाप्नुयात् ।
प्रयत्नतः शिरो जाले फट्कारः कंचुकं धरे ॥

शनैः शनैः प्रकुर्वंति वायुसंचार कारणात् ।
भार्या भगे पतद्बिंदुरभ्यासेनोर्द्ध्वमाहरेत् ॥

वलितं वलितं विंदुमूर्द्धमाकृष्यरक्षयेत् ।
एवं रक्षति यो बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥

मरणं बिंदुपातेन जीवितं विंदुधारणात् ।

सुगंधियोंगिनो देहो जायते विंदुधारणात्॥

यावद् विन्दु स्थितो देहे तावन् मृत्यु भयं कुतः।
चित्तायत्तं नृणां शुक्लं शुक्रायत्तं हि जीवितं॥

तस्माच्छुक्रं रजश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः।
बिंदुमध्ये रजोप्येवं बीजं बिंदु च रक्षयेत्॥

मेढ्रेमाकुंचयदूर्ध्वं सम्यगभ्यास योगवित्।
अप्रयासः पुण्यवतं धन्यानां तत्वदर्शितं॥

निर्म *? त्सरणा सिद्ध्यंतन तु मत्सरणालिनां।
सहजोली चामरोली वज्रोल्या एकभेदतः॥

जलेषु भस्मनिःक्षिप्य दग्धमयसमुद्भवं।
वज्रोली मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसाः स्वांगलेपनं॥

आसीनयोः सुखेनैव मुक्ताव्यापरयो क्षणं।
सहयोलीरियं प्रोक्ता साध्येया योगिभिः सदा॥

अयं शुभं करो योगो भोगे भुक्तेपि मुक्तिदः।
विहर्ये नित्यं प्रथमावधारां विहाय निःसारतमांत्यधारं॥

पृ। १६७अ)

निषव्यते शीतलमध्यधारां कपालिकैः कुण्ठमतैरमेध्या।
अमरीयो पिबेन् नित्यं नस्यं कुर्याद् दिने दिने॥

वज्रालीमभ्यसेत् सत्वे अमरोलीति कथ्यते।
पुंसो विंदुं समाकुंचे सम्यगभ्यास पाटवान्॥

यदि नारी रजो रक्षेत् संयोगी चासि योगिनी।
तस्मा किंचिद् रजो नाशं न गछति न संशयः॥

तस्या शरीरे नादस्तु बिंदुना शब्द गछति।
स बिंदुतद्रजश्चैव एकीभूतः स्वदेहजैः॥

वज्रोल्याभ्यासयोगेन सर्वसिद्धि प्रजायते।
मेढ्रानाकुंचनादूर्द्धं रजसापि हि योगिनी॥

अतीतो नागतवेत्ति खेचरे च भवेद्ध्रुवं ।
देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्याभ्यास योगतः ॥

तस्मादयं साधकानां भोगमुक्तिविमुक्तिद ।
तस्मात् पुण्यवतामेव योगोयं संप्रसिद्ध्यति ॥

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिमीश्वरी ।
कुण्डल्यारुंध देवीति शब्दाः पर्याय वाचका ॥

उद्धात यत् कपाटं तु यथाकुंचितया हठात् ।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥

येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयं ।
मुखेनाछाद्यतद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥

कंदोर्द्धकुण्डली शक्तिरष्टधा कुंतलाकृतिः ।
बंधनाय च मूढानां सदा मोक्षाय योगिनां ॥

अंभोदि शैलद्वीपानां आधारः शेष कुंडली।

प्।१६७ब्)

अशेष योगतंत्रीणांमाधारः कुण्डली तथा।
कुण्डली कुटिलान्य?रासर्पवत्परिकीर्तिता॥

सा शक्तिश्चालिता येन समुक्तो नात्रसंशयः।
गंगायमुनयोर्मध्ये वालरंडातपस्विनी॥

ज्वालात्कारेण गृह्वायातद्विष्णोः परमंष्पदं।
इडाभृंगवती गंगा पिंगला यमुना नदी॥

इडापिंगलयोर्मध्ये वालरंडा सरस्वती।
पुछेत्प्रगृह्य भुजगी सुप्ताशुद्धोधयंवतां॥

निद्रां विहायस्य ऋज्वी ऊर्द्धमूर्तिष्टते हथात्।
अवस्थिता वैव फणावतीतां प्रातश्च सायं प्रहरार्द्धमात्रं॥

प्रसार्य सूर्यात् परिधान मुक्ता प्रगृह्यते तत्परिवालनीया।

वितस्ति प्रमिदं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुली ॥

मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनांवरलक्षणं ।

वज्रासन स्थितो योगी पालयित्वा च कुंडली ॥

कुर्यादनंतरं भस्त्री कुंडलीमाशु बोधयेत् ।

मनोराकुंचने नैव कुंडली चारयेत् तदा ॥

मृत्योर्वक्रगतस्यापि तस्य मृत्युर्भयं कुत ।

नासादक्षिणमार्गवा हि पवनात् प्राणाभिदीर्घाकृतौश्चंद्राभः

परिपूरिता मृततनुः प्राग्घंटिकायास्तथा ॥

छिन्नात्कालविशालवह्निवशगाभ्रूरंधनाडीगणां तत्कार्य कुरुते

पुनर्नवतरं चिन्नद्रुम स्कंधवत् ॥

कुंण्डलि चालयित्वाथ कुर्याद्भस्त्री विशेषतः ।

पृ। १३८अ)

एवमभ्यस्यते नित्यं यमिनस्तु कुतोयम ॥

यदाभ्यसेत् सूर्यभेदमुज्ज्वयी वापि शीतली ।
एवमभ्यासयोगेन शमनोयमिना कुतः ॥

मुहूर्त द्वय पर्यंतं निर्भयं वा दिशोदशः ।
ऊर्द्धमाकृष्यते किंचित् सुषुम्नायाः समुद्धृतः ॥

तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायाः समुद्धृता ।
जहाति तस्मात् प्राणोयं सुषुम्ना व्रजनिश्चला ॥

तस्मात् संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरंधती ।
यस्यासंचालयेनाशु योगी रोगात् प्रमुच्यते ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनं ।
किमत्रवहुनोक्तेन कालं व्रजति लीलया ॥

ब्रह्मचर्यरतं स्येवं नित्यं मितमितासिनः ।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धि कुंडल्याभ्यास योगतः ॥

अभ्यासें विस्तृतां चांद्री विभूतां सहमिश्रयेत्।
तां धारयेदुत्तमांगे दिव्यदृष्टि प्रदायिनी॥

द्विसप्तति सहस्राणां नाडीनामलशोधनं।
गुडप्रक्षालनीपायः कुण्डलिभ्यास इष्यते॥

इति द्वादशधा प्रोक्ता आदि नाथेन शंभुना।
कारणे सर्वसिद्धीनामेकैकापि क्षमेव सा॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापिनु राजते॥

मारुताभ्यासनं किंचि मानो युक्तं समाचरेत्।
इतरेत्र न कर्तव्या मनोवृत्ति मनीषिणा॥

पृ। १६८ब्)

विनापि मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनः।
आसनं प्राणसंयाम मुद्राभि सरला भवेत्॥

अभ्यासेन हि मुद्राणां तदुतेति समाधिना।

मुद्राणां चापरा मुद्रा भद्रासिद्धि प्रयछति॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो धत्ते सांप्रदायकं।

स एव श्री गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः॥

तस्य वाक्य परो नित्यमथा * स समाहितः।

अनिमादि गुणैस्वर्य लभते कालपंचकः॥

नमः शिवाय गुरवे नादविंदु कलात्मने।

निरंजन पदं यांति यतो योगी परायणः॥

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधि क्रममुत्तमं।

मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परं॥

राजयोगसमाधिश्च उत्मनीव * *? नी।

अमरौघारयस्तत्र शून्या छून्यं परं पदं॥

अमनस्कं तथा द्वैतं निरालंबं निरंजनं।

जीवन्मुक्त * ? क्ति पदं शब्द पर्याय वाचकं ॥

सलिले सैधवं यद्व सम्यं भजति योगतः ।
यथात्ममनसौरैक्यं समा *? रभिधीयते ॥

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मा परमात्मना ।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिसोभिधीयते ॥

समाधिस्तु तथा ज्ञानं कर्पूरं सलिले यथा ।
तथात्ममनसौरैक्यं समाधिः साभिधीयते ॥

राजयोगस्य माहात्म्यं कोटयजानाति तत्वतः ।

पृ। १६९अ)

ज्ञानमुक्ति स्थिति सिद्धिः गुरुवाक्य न सिद्धयति ।
दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभे तत्व दर्शनं ॥

दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणाविना ।

यावन्नैव प्रविशंति चरन्मारुतो मध्यमार्गं यावविंदुर्न भवति

दृढः प्राणवातः प्रबुद्धः ॥

यावद्यौन्नः सहज सदृशं जायते नैव चित्तं तावज्ञानं वदति यदिदं

दंभमिथ्या प्रलापः ॥

वायुमार्गेन संचारे सकलं लभते महः ।

तथाष्टगुणमैश्वर्यं सत्यं सत्यं वरानने ॥

विविधै रसनैः कुंभैर्विचित्रकरणैरपि ।

प्रबुद्धायामादि शक्तौ प्राणः शून्य विलीयते ॥

उत्पन्न शक्ति बोधस्य त्यक्त निःशेष कर्मणाः ।

योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रकाशते ॥

सुषुम्ना वाहिनी प्राणे शून्यविंशति मारुतः ।

तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥

अमराय नमस्तुभ्यं सोपि काल त्वयाहतः ।

पतितं पवने यस्य जगदेतच्चराचरं ॥

चित्ते समत्वमापन्ने वायुर्व्रजति मध्यमे ।
तथामरोली वज्रोली सहजोली मतोपि च ॥

ज्ञानं कुतो मनसि जीवति देहि यावत् प्राणोपि जीवम * नोस्नि पतेन यावत्
प्राणोसनो द्वयमिदं विलयं * याति मोक्षं स गछति नरो न कथं
चिदन्यत् ॥

ज्ञात्वा सुषुम्ना सद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगं ।

प्। १६९ब्)

स्थित्वा सदैदवस्थाने प्राणरंध्रं निरोधयेत् ॥

सूर्यचंद्रसमाकृत्वा दत्वा कारापि पंजरे ।
सुषुम्नां शांभवी शक्ति शेषास्त्वेवं निरर्थकाः ॥

वायुः परिचितो यस्मादनिमासहकुंडली ।
अथ चिंतांतरेभ्यास प्रत्यासा जीवयोगिना ॥

पवंनो वध्यते येन ते नैव वध्यते मनः।

हेतु द्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणे॥

तयार्विनष्ट एकस्मिन् भावनापि विनश्यतः।

तत्रैव लीयते वायुः मनस्तत्रैव लीयते॥

दुग्धांवुधत्संमिलिता वुभौ तौ तुल्य क्रियौ मानसमारुती हि।

यतो मरुन्निंद्य मनः प्रवृत्ति यतो मनस्तत्र मरुन्निवृत्तिः॥

एकस्यन्मसादपरस्य नाश तत्रैव वृत्तेरपस्य वृत्तिः।

अधस्तयोश्चेंद्रिय वर्गवृत्तिः विज्ञातयोर्मोक्ष पदस्य सिद्धिः॥

रसस्य मनसश्चैव चंचरत्वं स्वभावतः।

रसो वद्धो मनोवद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले॥

मूर्छितो हरते व्याधिं मृतो जीवयति स्वयं।

बद्धः खेचरतं धत्ते स जीवशो रसेश्वरः॥

वायुमार्गे च संचारे सफलं लभते महः।

ततोष्टगुणमैश्वर्यं सत्यमित्याह शंकरं ॥

मनस्थैर्यं स्थितो वायुस्ततो बिंदु स्थिरो भवेत्।
बिंदुस्थैर्यादया सत्ये पिंडस्थैर्यं प्रजायते ॥

इंद्रियाणां मनो नाथे मनोनाथश्च मारुतः।

पृ। १७०अ)

मारुतस्य लयोनाथस्तन्नाथं लयमाश्रयेत्।
स्वयमेवामोक्षस्वस्ति वापि मंत्रांतरो मनः ॥

प्राणापानमपानं ताल्लयकाश्चित्त वर्तिते।
प्रनष्टौ छ्वासनिःश्वासः प्रनष्टविषय ग्रहः ॥

निश्चलो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनः।
उछिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषवेष्टितः ॥

स्वावगम्यो लयः कोपि जायते वापि गोचरः।
यत्र दृष्टि लयस्तत्र भूतेंद्रिय सनातनः ॥

सा शक्तिर्जीवभूतानां दृष्टिल्लक्ष्यलयं गते।
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्या गणिका इव॥

एकैव शांभवी विद्या गोप्याकुलवधूरिव।
अन्तल्लक्षमनोदृष्टिर्निमेषां मेषवर्जिता॥

एषा तु शांभवी मुद्रा सर्वमंत्रेषु गोपिता।

अनंतल्लक्षविलीन चित्तपवनो योगी यथावर्तते दृष्ट्वा निश्चलतारया वहिरतः
पश्यन्न पश्यन्नपि॥
मुद्रेयं खेचरी भवति सायुष्म प्रसादान्गुरोः शून्याशून्यविवर्जितं
स्थलति यत्तत्वं पदं शांभवं॥

ताराज्योतिषु संयोज्यो किंचिदुच्चारयेद्भ्रुवौ।
सूर्यगतस्य मार्गेषु उन्मनी काललक्षणं॥

केचिदागमयोगेन केचिन्निगमसंकुले।
केचित्तर्केन मुह्यंति नैव जानंति तारकम्॥

अर्द्धोंद्धाटित लोचन स्थिरमनोनाशाग्र दत्वे क्षणश्चंद्रार्कौं च

विलीयतांतर गतौ निक्षिप्य भासांतरे ॥

प्_। १७०ब्)

ज्योतीरूपमशेष वाह्य रहितं देदीप्यमानं परं तत्व पश्चरमंचवस्तु

परमं वाच्यं कमत्राधिकं ॥

वासरे पूजयेल्लिंगं रात्रौ चैव न पूजयेत्।

सततं पूजयेल्लिन्गं दिवारात्रौ न पूजयेत्॥

सुखिनं ज्ञानजनकं पंचस्रोतः समन्वितं।

तिछते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्यनिरंजने॥

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये वाहीत मारुतः।

तिष्ठंते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं न संशयः॥

सोमसूर्य द्वयोर्मध्ये निरालंबंतथा पुनः।

संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी॥

सोमयोर्भेदिता धाम साक्षाद् वै शिववल्लभा।
पूजयेदतुलां दिव्या सुषुम्ना दक्षिणे मुखे॥

पुरस्ताच्चैव पूर्यंत निश्चिता खेचरी भवेत्।
अत्यस्ता खेचरी मुद्रा उन्मनी संप्रजायते॥

अभ्यसेत् खेचरी मुद्रा तांवत्स्याद् योग निद्रता।
संप्राप्त योगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन॥

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते॥

चंद्रसूर्य द्वयोर्मध्ये मुद्रां दद्याच्च खेचरी।
निरालम्बे महाशून्य व्योमचक्र व्यवस्थितं॥

निरालंबं मन कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत्।
स वाह्याभ्यंतरं व्योम्नि घटवर्तिष्ठति ध्रुवं॥

प्। १७१अ)

वाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः।
स्वस्थान गछति प्राणः सूर्याग्नि पवने तथा॥

एवमभ्यस्य मानस्य वायुमार्गं सदानिशं।
अभ्यासाज्जायते वायु मनस्तत्र विलीयते॥

अजरत्वं भवेद् देहे आपदतलमस्तके।
सिद्ध्यते च महायोगो महावलपराक्रमः॥

शक्तिमध्ये मनःकृष्य शक्तिर्मनसि मध्यतः।
मनसा मनसा लोक्ये धारयेत् परमं पदं॥

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च स्वं कुरु।
सर्वं मयं च खं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥

अन्तः शून्यो वहिः शून्यो शून्यकुंभ इवाम्वरे।
अंतः पूर्णो वहिः पूर्णः पूर्णकुंभ इवार्णवे॥

वाह्य चिंता न कर्तव्या तथैचांतरचिंतनं।
सर्वचिंता परित्यार्या न किंचिदपि चिन्तये॥

ज्ञेयं सर्वमयी तञ्च ज्ञानं मनसि उच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं मनश्चैव नान्यः पंथो द्वितीयकः॥

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित् स चराचरं।
मनसो ह्युन्मनी भावो चैतन्नेवै प्रलभ्यते॥

ज्ञेयवस्तु परित्यागाद्विरयं याति मानसं।
मानसो विलये याते कैवल्यमपि कल्पते॥

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणं।
अमुनर्वा सनोत्थानाद्वृत्त्यया विश्वविस्मृतः॥

एवं नानाविधो पायाः सम्यक् स्वानु भवान्विता।
समाधिमार्गा कथिताः पूर्वाचार्यै महात्मभिः॥

प्। १७१ब्)

अशक्यं तत्वबोधीनामूढानामपि सर्मतं ।

प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥

श्री आदिनाथेन सपादकोटिलयः प्रकारः कथिता जयंति ।

नादानुसंधानकमेव धान्यं मन्यामहेरतर्नैसंलयानां ॥

श्रवणपुटयनयुगलनासामुखरोधनेनव कर्तव्यं शुद्धसुषुम्नाशरणे

स्फुटे ममलः श्रूयते नादः ॥

आरंभश्च घटंश्चैवस्तथा परिचयस्ततः ।

निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्था चतुष्टयं ॥

ब्रह्मग्रंथि भवे भिन्ना नादः शून्यसमुद्भवः ।

विचित्रं कुणको देहे नाहतः श्रूयते ध्वनि ॥

दिव्यगंधा दिव्यचक्षुस्तेजस्वी तु अरोगवान् ।

संपूर्ण हृदय शून्य प्रारंभो योगवान् भवेत् ॥

द्वितीय भेदयुक्ते तु वायुर्भावति मध्यगः ।

हठासनो भवेद् योगी ज्ञानी देवसमस्तथा ॥

विष्णुग्रंथस्तथा भेदा परमानंदसूचकः ।

अति शून्ये विसं मंदो भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥

अथ ग्रंथि त्रयं भित्वा जायते मर्दल ध्वनिं ।

महाशून्य समायाति सर्वसिद्धि समाश्रयः ॥

विना मनस्ततो जित्वा सहजानंदसंभवः ।

दोषद्वखजरामृत्युः क्षुधा निद्रा तृषा तथा ॥

रुद्रग्रंथि ततो भित्वा सर्वपीठगतोनिलः ।

निष्पन्नो वेणवः शब्दो क्वणन्नादो क्वणो भवेत् ॥

एकीभूतं तथा चित्तं राजयोगाभिधानकं ।

पृ। १७२अ)

सृष्टिसंहारकर्तासो योगीश्वर समो भवेत् ।

राजयोगपदं प्रस्तु मुखवायौल्प चेतसां ॥

सद्यः प्रत्यूपसंधायी सेव्यते नादयो लयः।

नादानुसंधानसमाधि भाजां योगीश्वराणां हृदि वद्धमानं॥

आनन्दमेकं वचसामवाच्यं जानातितं श्रीगुरुनाथ एव॥

मुक्तासना स्थितो योगी मुद्रासंधायशांभवी।

शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतर्गते महत्॥

अभ्यस्य मानो नादोयं वाच्यमा शृणुते ध्वनि।

पश्चाद्विपक्षमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥

श्रुयते प्रथमाभ्यासे नादो नाम विधो महान्।

वर्द्धमाने ततोभ्यासे श्रूयते शूक्ष्मशूक्ष्मतः॥

आदौ जलधिजीमूत भरीनिर्भर निःस्वनः।

मध्यमर्दलशंखे च घंटाकोलाहलस्तथा॥

अन्ये तु किंकिणी वंश वीणाभ्रमरनिःस्वन।

इति नानाविधानादा श्रूयते यत्र मध्यतः ॥

महातिश्रूयमानेपि मेघभेर्यादिक ध्वनैः ।
तत्र शूक्ष्मं नादमेघ परितोपि परामृणेत् ॥

ध्वनि मुत्सृज्य वा शूक्ष्मे शूक्ष्ममुत्सृज्य वायवे ।
श्मशानमपि क्षिप्तं च मनो नेत्र प्रचारयेत् ॥

यत्र कुत्रापि वा नादे गलति प्रथमं मनः ।
तत्रैव निचलो भूत्वा तेन सार्द्धं विलीयते ॥

कोष्ठ प्रवर्तते वह्नि कोष्ठेन सहसाम्यति ।
नादे प्रवर्तते चित्तं नादेन सह लीयते ॥

पृ। १७२ब्)

औदासीन्य परो भूत्वा सदाभ्यासेन संशयः ।
उन्मनी कारकं सद्यो नादमेवादधारयेत् ॥

ज्ञातेकाचौपटी वा कुटी वा पथ्याहारोगोपयोचापयो वा भोज्यं भुक्तं

चान्नमाकंदयावा द्रोणी चाप्य चोप भोज्यैव पात्रं ॥

सर्वचिंतां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाश्च सर्वदा ।
नादमेवा न संधत्ते योगसाम्राज्यमिछति ॥

मकरंदामिवं भृंगो गंधनोप्पक्षते यथा ।
नादाशक्तं तथा चित्तं विषया न हि कांक्षति ॥

वद्धं विमुक्तं चावल्यं नादगंधकरीरणात् ।
मनः पारदमाप्नोति निरालंबाख्य खोटनं ॥

वद्धाचेन्नाद गंधेन सद्यः स त्यक्त चापले ।
प्रयाति साश्वताश्चैव व्युपाछ छिन्न इद्रुमा ॥

नादं प्रणत नित्तस्य मंतरंगा भुजंगमः ।
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रं कुत्रचित्त हि धावति ॥

मनोन्मर्तगजेंद्रस्य विषयाप्यनुचारिणः ।
लीयमानः समर्थोयं निलादनिशितांकुशं ॥

नादांतरं तु संगस्य चाजिनः परिधावते ।

अंतरंग तुरंगस्य रोगो वा गीयतेपि च ॥

अनाहत ध्वने चेतर्ज्ञेयं यत्सूक्ष्मसूक्ष्मकं ।

मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदं ॥

भावनाकाशसंकल्पो यावछंदः प्रवर्तते ।

निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मानुमीयते ॥

नादः शक्तिरितिख्याता नादनामं सदाशिवं ।

पृ। १७३अ)

नादज्ञानेन नष्टेन तदुन्मन्येव शिष्यते ॥

नादायावन्मनस्तावन्नादांते तु मनोन्मनी ।

स शब्द कथितं व्योम निःशब्दं ब्रह्म कथ्यते ॥

यदा नादानुसंधानात् संक्षीणे वासनोदये ।

निरञ्जने वलीयन्ते निस्वरे मनसारुते ॥

नादकोटि सहस्राणि बिन्दुकोटि शतानि च ।
सर्वे तत्र लयं यांति यत्र देवो निरञ्जनं ॥

एवं सृष्टिमयं बीजं एकामुद्रा च खेचरी ।
एको देवी निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥

शंखदुंदुभिनादं च न शृणोति कदाचन ।
काष्ठवर्जायते देव उन्मन्या अवस्था ध्रुवं ॥

सर्वावस्था विनिर्मुक्ता सर्वचिंता विवर्जिताः ।
मृतवत्तिष्ठते योगी समुक्तो नात्रसंशयः ॥

अवध्यः सर्वशस्त्राणांमवध्यः सर्वदेहिनां ।
अग्रा * मंत्रतन्त्राणां योगी युक्तसमाधिना ॥

प्रवेशे निर्गमे चैव दक्षिणे चोर्द्धमध्यमः ।
न पश्यवायुर्वहति समुक्तो नात्रसंशयः ॥

चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत् स्मृति वस्तु च नान्यथा ।
नास्ति मेति न चोदेति यथासौ मुक्त एवसः ॥

सृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं वायु स्थिरोय विना प्रयत्नतः चित्त स्थिरं
यस्य विनावलंवनं स एव मुक्तः स गुरुः स सेव्यः ॥

विद्या तीर्थे जगति विवुधा साधवः सत्य तीर्थे गंगातीर्थे मलिन मनसो योगिनो
ज्ञान तीर्थे ॥
प्। १७३ब्)
धारातीर्थे धरणि पतनो दानतीर्थेश्च भक्त्याः लज्जातीर्थः कुलयुवतयः
पातकं क्षालयंति ॥

इति श्रीवाराहीतंत्रे दक्षिणाम्नायनिर्वाणपदे सप्तविंशतितम पटलः ॥ २७ ॥

भैरव उवाच ॥

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि षोडशमातृकांविका ।
वाराही नीलकाली च कथयामि यथाक्रमं ॥

मुद्रा वर्णन :—

घेरण्डसंहिता में महर्षि घेरण्ड ने पच्चीस मुद्राओं का वर्णन किया है।

''महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबंधो महाबंधो महाबेधश्च खेचरी।।
विपरीतकरी योनिर्वज्रोणि शक्तिचालनी।
ताडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पंचधारणा।।
अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पंचविंशतिमुद्राश्चसिद्धदा इह योगिनाम्''[72]।।

योगियों को सिद्धि प्रदान करने वाली पच्चीस मुद्राएं हैं।

यह मुद्राएं निम्नलिखित हैं — 1. महामुद्रा 2. नभोमुद्रा 3. उड़ड्यान 4. जालन्धर 5. मूलबंध 6. महावेध 7. महावेध 8. खेचरी 9. विपरीतकरणी 10. योनिमुद्रा 11. वज्रोलि 12. शक्तिचालिनी 13. तडागी 14. भांडवी 15. शांभवी 16 पंचधारणा (पार्थिवीधारणामुद्रा, आम्भसीधारणामुद्रा, आग्नेयीधारणामुद्रा, वायवीयधारणामुद्रा, आकाशीयधारणामुद्रा) 17. अश्विनीमुद्रा 18. पाशिनीमुद्रा 19. काकीमुद्रा 20. मातंगिनीमुद्रा 21. भुजंगिनीमुद्रा।

महर्षि घेरण्ड ने मुद्रा प्रकरण में सोलह मुद्राओं, चार बंधो और पाँच धारणाओं का वर्णन किया है।

महामुद्रा :—

योगग्रंथों में महामुद्रा को समस्त प्रकार प्रकार के रोगों का नाश करने वाली मुद्रा कहा गया है। महामुद्रा को कुण्डलिनी जागरण में सहायक माना गया है। पाचनतंत्र को सुव्यवस्थित करने में यह विशेष रूप से सहयोगी है। घेरण्डसंहिता में महामुद्रा का सारगर्भित वर्णन मिलता है—

''पायुमूलं वामगुल्फे सम्पीडय दृढयत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदांगुलः।।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः''[73]।।

योग साधक दृढतापूर्वक अपनी बाईं एड़ी से गुदा प्रदेश को दबाए और दाएं पाँव को सीधे फैलाकर दोनों हाथों से उस पैर की उंगलियों को पकडे। इसके बाद गले को संकोच करके भ्रूमध्य में दृष्टि लगाए रहें। विद्वत योगियों ने इसे महामुद्रा के नाम से कहा है। घेरण्डसंहिता में इसके लाभों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि महामुद्रा के नियमित अभ्यास करने से क्षय, सूखी खांसी, कब्ज, तिल्ली रोग, पुराना बुखार तथा और भी कई रोग ठीक होते हैं और स्वास्थ्य प्राप्त होता है। महामुद्रा के अभ्यास से तपेदिक, चर्मरोग, कब्ज, अफारा, अपाचन तथा भविष्य में होने वाले अनेक दोष भी नष्ट हो जाते हैं।

शाण्डिल्योपनिषद में भी महामुद्रा का वर्णन मिलता है।
वमपादमूलेन योनिं संपीडय दक्षिणपादं प्रसार्यं तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबंध समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत्। तेन सर्वक्लेशहानिः। ततः पीयुषमिव विषं जीर्यते। क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वागादिदोषा नश्यन्ति। एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः[74]।
बाएं पांव की एड़ी से गुदामूल को दबाकर दाएं पैर आगे की ओर सीधा फैलाकर उसे दोनों हाथों से पकड़ें और तत्पश्चात् नासिकारन्ध्रों से वायु भर कर जालंधरबंध में लगाएं व ऊपर की ओर उठी हुई वायु को स्थिर करें।
यह महामुद्रा समस्त क्लेशों का विनाश करने वाली है। इसकी सिद्धि होने से विष भी अमृत समान हो जाता है। क्षयरोग, गुल्म, कब्ज, चर्मरोग व असाध्य व पुराने रोगों का नाश हो जाता है। यह प्राणों पर भी विजय प्राप्ति का साधन है। जिससे मृत्यु को पूर्णरूप से विनष्ट किया जा सकता है।
घेरण्डसंहितानुसार महामुद्रा मूलबंध, जालंधरबंध और शांभवी मुद्रा का सम्मिलन है। अतः महामुद्रा के अभ्यास से पूर्व उपरोक्त तीनों मुद्राओं का अभ्यास सिद्ध होना आवश्यक है।

नभोमुद्रा :–

"यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा।
उर्ध्वजिहवः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी"[75]।।

योग साधक जहां कहीं भी रहे, सभी कार्यों को करते समय, स्थिर भाव से उर्ध्वजिहवा होकर कुंभक के द्वारा वायु को रोके। यह योगग्रंथों में वर्णित नभोमुद्रा है जिसके अभ्यास से योग साधक के सभी रोगों का नाश हो जाता है।

नभोमुद्रा, खेचरीमुद्रा की तरह का ही अभ्यास है। यह भी कहा जा सकता है कि नभोमुद्रा का ही सरल अभ्यास है। खेचरीमुद्रा करने के लिए जहाँ जिहवा को लंबा करने हेतु दोहन, चालन आदि का विधान हैं वहीं नभोमुद्रा में केवल जीभ को उलटकर ऊपर तालू से लगाना है व कुंभक लगाकर वायु को रोकना है।

नभ का शाब्दिक अर्थ है 'आकाश' और कपाल के अंदर रिक्त स्थान तालुविवर। नभोमुद्रा में जिहवा को 'आकाश' या रिक्त स्थान की ओर प्रेरित किया जाता है जो कि तालुविवर है। साथ में साधक को अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर रखना होता है। नभोमुद्रा को सिद्ध तभी समझना चाहिए जब जिहवा उलट कर तालु विवर में पहुंच जाए और कुछ समय वहाँ टिके रहे।

नभोमुद्रा के अभ्यास से अनेक रोग नष्ट किए जा सकते है।

उड्डियानबंध :–

"उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्वं तु कारयेत्।
उड्डीनं कुरूते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं त्वसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी"[76]।।

नाभि से ऊपरी भाग और पार्श्वभाग (पीठ) को उदर के समानभाव से सिकोडे अर्थात उदरस्थ ऊपर की ओर नाड़ी समूह को संकुचित करके उठाएं। यह उड्डियान बंध कहा गया है।

घेरण्डसंहितानुसार यह बंध मृत्युरूपी गज के लिए सिंह के समान है। सभी बंधों में उडड़ीयान बंध प्रमुख है। इसके अभ्यास से सहज ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।
योगचूड़ामण्युपनिषत् में भी उड्डियानबंध का अन्य योग क्रियाओं के साथ वर्णन मिलता है। इस उपनिषद् में वर्णन मिलता है कि–

''उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते। ओडयाणमुदरे बंधस्तत्र बन्धो विधीयते''[77]।।

पेट को नाभि के नीचे तानना अर्थात् खींचना पश्चिमोत्तान कहलाता है। वहीं उदर में बंध होने से यह उड्डियान बंध भी किया जाता है।
योगतत्त्वोपनिषद् में भी उड्डियानबंध का कुछ इसी प्रकार वर्णन मिलता है :–

''बंधो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
उड्डयानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः[78]''।।

जिस बंध के द्वारा बंधे हुए प्राण सुषुम्ना में उड़ने लगे या उठने लगे, ऐसे बंध को योगी जन उड्डियान बंध कहते हैं। उड्डियानबंध से प्राणशक्ति को सुषुम्ना में प्रेषित कर सकने का सामर्थ्य आ जाता है। और यह कुण्डलिनी को भी ऊपर उठाने में सहयोगी होता है।
हठप्रदीपिका के अनुसार जो साधक उड्डीयानबंध का गुरू के निर्देशानुसार सदा अभ्यास करता है तो वह वृद्ध होने पर भी युवा व्यक्ति के समान हो जाता है।

जालंधरबंध :–

''कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदयेन्यसेत्।
जालंधर कृते बंधे षोडशाधारबन्धनम्।
जालन्धरमहामुद्रा मृत्योश्चक्षयकारिणी''[79]।।

अपने कण्ठ का संकोच कर हृदय स्थल पर ठोड़ी को टिकाएं, इस प्रकार यह जालंधरबंध कहलाता है। जालंधर नामक बंध से सोलह प्रकार से आधार बंध हो जाता है। यह जालंधर नामक महामुद्रा मृत्यु का भी क्षय कर देती है। यह जालंधरबंध योगियों को सिद्धि प्रदान करने

वाला कहा गया है। इसका नियमित अभ्यास यदि छः मास पर्यंत किया जाए तो साधक निःसंदेह पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाता है।

ठोडी को संकोच कण्ठकूप में या हृदय से 4 अंगुल ऊपर दृढ़तापूर्वक स्थापित करने से व गर्दन और दृष्टि को सीधा रखने से यह जालंधरबंध लगता है। यह कुंभक से धारण की गई वायु को रोकने व सहस्रार चक्र से झरने वाले अमृत को भी नीचे गिरने से रोकता है। कण्ठ में स्थित शिराओं का जाल इस बंध से संकोच किया जाता है, इसलिए इसे जालंधर बंध कहते हैं। यह बंध वायु निरोध में सहायक होने से मृत्यु को हरने वाला माना गया है।

हठप्रदीपिका ज्योत्सना में जालंधरबंध का वर्णन कुछ इस प्रकार से मिलता है–

''कण्ठमाकुचंय हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः''[80]।।

कण्ठ को संकोच कर हृदय स्थल पर ठोडी को दृढ़ता से लगाएं। यह जालंधर नामक बंध बुढ़ापा और मृत्यु का भी विनाशक है।

जालंधर बंध गले संबंधी रोगों को नष्ट करता है और सोमस्त्राव को जठराग्नि में जाने से रोक कर, वायु के प्रकोप से भी रक्षा करता है। जालंधर बंध से प्राण लय (ब्रह्मरंध्र) को प्राप्त कर, मृत्यु, बुढ़ापा व रोग आदि नहीं होते।

मूलबंध :–

''पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुचयेत्ततः।
नाभिग्रन्थिं मेरूदण्डे सम्पीडय यत्नतः सुधीः।।
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबंधं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबंधो निगद्यते''[81]।।

बाएं पैर की एड़ी से गुह्य–स्थान को संकुचित करें और यत्नपूर्वक नाभि को मेरूदण्ड में लगाकर दबाएं और दाईं एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबाएं। यह वृद्धावस्था का नाश करने वाला मूलबंध है। जो साधक संसार रूपी भवसागर से मुक्ति चाहते हैं ऐसे आकांक्षियों को निर्जन स्थान में छिपकर इस मुद्रा का अभ्यास करन चाहिए। इस मुद्रा के अभ्यास से वायु

सिद्धि निश्चित रूप से होती है। इसलिए निरालस्य होकर व मौनधारण कर यत्नपूर्वक इस मूलबंधमुद्रा का अभ्यास करें, इस प्रकार कहा गया है।

'योगतत्त्वोनिषद्' में योनिबंध के नाम से मूलबंध का उल्लेख मिलता है। गुदा और उपस्थ प्रदेश को ऊपर संकुचित करना व प्राण–अपान को मिलना मूलबंध है।

योगतत्त्वोपनिषद् में वर्णित है–

''पार्ष्णि भागेन संपीडय योनिमाकृंचयेद्दृढम्।
अपानमुर्ध्वमुत्थाप्य योनिबंधोऽयमुच्यते।।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबंधेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः''[82]।।

एड़ी से योनि स्थान को दबाकर भीतर की ओर खींचे। इस प्रकार अपान वायु को ऊपर की उठाकर प्राणवायु से सम्मिलन को योनिबंध कहते हैं। इस प्रकार प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबंध के द्वारा एकता प्राप्त होती है। यह योग में निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त कराने वाला होता है।

महाबंध :–

''वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत्।
दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीडय यत्नतः सुधीः।।
शनैः शनैश्चालयेत् पार्ष्णि योनिमाकुंचयेच्छनः।
जालन्धरे धारयेत् प्राणं महाबन्धो निगद्यते''[83]।

सर्वप्रथम योग साधक बाएं पैर की एड़ी से पायुमूल को निरूद्ध करके दाएं पैर से यत्नपूर्वक बाईं एड़ी को दबाएं और धीरे–धीरे गुह्य प्रदेश का चालन करें। तदुपरांत दुबारा उसे धीरे–धीरे ही संकुचित करें तथा जालन्धरबंध कर प्राणवायु को धारण करें। इसे ही योग ग्रथों में महाबंध की संज्ञा दी गई है। महाबन्ध को सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ कहा गया है। महाबंध से वृद्धावस्था एवं मृत्यु का भी नाश हो जाता है। इस बंध की सिद्धि से प्रसादरूप व्यक्ति की संपूर्ण इच्छाएं पूर्ण होती हैं।

हठप्रदीपिका ज्योत्सना में महाबंध के महत्व को कुछ इस प्रकार वर्णित किया गया है–

''अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनरोधकः।
अयं खलु महासिद्धिप्रदायकः।।
कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः''[84]।।

महाबंध सभी नाडियों में प्राण की उर्ध्वगति को रोकने वाला है और यह निश्चित रूप से महान् सिद्धियाँ देने वाला है। यह महाबंध काल के पाशरूपी बंधनों को हटाने में समर्थ है। इसी महाबंध के अभ्यास से इड़ा, पिंगला सुषुम्ना का संगम होता है। जिससे मन भ्रूकुटी मध्य स्थित महाकाश में पहुंच जाता है।

महावेध :–

''रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरूषं विना।
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा।।
महाबंधं समासाद्य उड्डीयान कुंभकं चरेत्।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः।।
महाबंधमूलबंधौ महावेध समन्वितौ।
प्रत्यहं करूते यस्तु स योगी योगवित्तमः''[85]।।

जिस प्रकार से बिना पुरूष के स्त्री का सौंदर्य, युवावस्था और मधुरता व्यर्थ ही है उसी प्रकार महावेध के बिना मूलबंध और महाबन्ध व्यर्थ ही हैं। इसलिए सर्वप्रथम महाबंधमुद्रा का अभ्यास कर योगी उड्डीयानबंध लगाकर कुंभकं करते हुए वायु को रोके। यह योगिजनों को सिद्धि प्रदान करने वाली महावेधमुद्रा कही गई है। प्रतिदिन जो मूलबंध और महाबंध से साथ महावेध का नियमित अभ्यास करता है उसे सबसे उत्तम योग विद्या का साधक कहा जाता है।

महावेधमुद्रा के अभ्यास से पहले पूर्वोक्त बंधों का अभ्यास आवश्यक है। योगतत्त्वोपनिषद् के अनुसार –

''वायुना गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम्।।
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्तेऽनिशम''[86]।

महाबन्ध की क्रिया में सतत संलग्न रहने वाले योगी को एकाग्र होकर उड्डियानबंध की क्रिया में सतत संलग्न होकर उड्डियानबंध (कण्ठमुद्रा) द्वारा वायु की गति को आवृत करके दोनों नासिका–रंध्रों को संकुचित करने से तत्परतापूर्वक वायु भर जाती है।

सिद्धजन इस महावेध का सतत अभ्यास करते रहते हैं।

विपरीतकरणी मुद्रा :–

''नाभिमूलेवसेत् सुर्यसतालुमूले च चंद्रमाः।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः।। ऊर्ध्वं
च योजयेत् सुर्यं चन्द्रं चाप्यध आनयेत्।
विपरीतकरी मुद्रासर्वतन्त्रेषु गोपिता।।
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः।
उर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता''[87]।।

हठयोग ग्रंथों मे व महर्षि घेरण्ड के अनुसार, सूर्य नाड़ी नाभि मूल में और चंद्र नाड़ी का मूल स्थान तालुमूल में है। नाभिमूल स्थित सूर्य द्वारा चंद्रस्थान से निरंतर स्त्रावित अमृत का पान कर लेने से ही मनुष्य मृत्यु के वश में आता है। परन्तु चंद्रनाड़ी के अमृत का पान पहले ही कर लेने से मृत्यु का डर नहीं रहता। इसलिए योग साधक को चाहिए कि व सूर्यस्थान को ऊपर व चंद्रस्थान को नीचे कर अमृत का स्वंयमेव आस्वादन करे। यह विपरीतकरणी मुद्रा कही गई है। इस मुद्रा के अभ्यास हेतु साधक अपना सिर जमीन पर लगाकर व दोनों कोहनियों को टिकाए। धीरे–धीरे दोनों पैरों को दण्ड की तरह ऊपर उठाकर कुंभक कर वायु को रोके, यही

विरीतकरणीमुद्रा है। विपरीतकरणीमुद्रा का नियमित अभ्यास करने से योग साधक जरामरण से मुक्त होकर लोक में सिद्ध हो प्रलय में भी विचलित नहीं होता। इसके अतिरिक्त विपरीतकरणी मुद्रा से वीर्य रक्षा, ओज में वृद्धि, मस्तिष्क तीव्र, दृष्टि तेज, जठराग्नि प्रदीप्त होकर, प्राणों की गति स्थिर व शांत होकर, रक्त की शुद्धि, कफ विकारों का नाश तथा कब्ज, सिरदर्द, थकान आदि अनेक समस्याओं का समाधान हो जाता है। विपरीतकरणीमुद्रा के नाम से भी स्पष्ट हो जाता है कि यह मुद्रा शरीर की स्थिति को विपरीत करने से है। विपरीतकरणी में वस्तुतः कपालकुहर (चंद्रस्थान) से गिरने वाले अमृत स्त्राव की रक्षा की जाती है।

गोरक्षसंहिता में विपरीतकरणी मुद्रा का वर्णन किया गया है :–

''नाभिदेशे वसत्येको भास्करो देहमात्मनः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमा।।
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रोग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः।
ज्ञातव्याकरणी तत्र तथा पीयूषमाप्यते''[88]।।

अग्निरूप सूर्य नाभि में रहता है और अमृतरूप आत्मा चंद्रमा हमेशा तालुमूल में रहता है। तालू में नीचे की ओर मुख किए चंद्रमा से निरंतर अमृत को अग्नि के मुख से बचाकर स्वयं अपने मुख में ले लेता है। इस प्रकार की मुद्रा के अभ्यास से रोगादि का नाश होकर आयुवृद्धि होकर मृत्यु का भी भय नहीं रहता ।

शक्तिचालिनीमुद्रा :–

''मूलाधारे आत्माशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्ध त्रिवलयान्विता।।
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगं समभ्यसेत्।।
उद्घाटयेत् कपाटं च तथा कुचिंकयाहठात्।
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत्।।
नाभिं सम्वेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्''[89]।।

शक्तिचलिनी मुद्रा का सीधा संबंध कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर उसके ऊर्ध्वचालन से है। इसलिए इसे 'शक्तिचालिनी मुद्रा' कहा गया है। लंबे व सतत् अभ्यास से सिद्ध होने वाली यह मुद्रा अत्यंत महत्वपूर्ण है। घेरण्डसंहिता में शक्तिचालिनी मुद्रा के बारे में कहा गया है कि मूलाधार में सुप्त अवस्था में स्थित कुण्डलिनी शक्ति को इस मुद्रा विशेष द्वारा जगाया व चालन किया जाता है।

शक्तिचालिनी मुद्रा की प्रक्रिया घेरण्ड संहितानुसार इस प्रकार से है– नाभि को वस्त्र से लपेटकर शक्तिचालिनी मुद्रा का नितांत एकांत स्थान में अभ्यास करना चाहिए। नग्नावस्था में इस मुद्रा का साधन बाहर कभी भी न करें। बालिश्त भर चौड़ा और चार अंगुल लम्बा कोमल और स्वच्छ वस्त्र नाभि पर रखकर उसे कटिसूत्र (नाड़े आदि) से कमर पर बांधे। शरीर पर भस्म मलकर सिद्धासन में बैठकर प्राण की खींचकर अपान से मिलाएं। सुषुम्ना के द्वार से गमन करती हुई वायु जब तक प्रत्यक्ष न हो, तब तक 'अश्विनी मुद्रा' से गुदा संकोचन करें। इस प्रकार वायु के रूकने से सर्पाकार कुण्डलिनी जागृत हो कर ऊर्ध्व मार्ग में बढ़ती है। इस शक्तिचालिनी मुद्रा के बिना योनिमुद्रा (मूलबंध) की सिद्धि नहीं होती। शक्तिचालिनी मुद्रा की व्याख्या से पूर्व कुण्डलिनी शक्ति सर्पाकार अवस्था में साढे तीन लपेटे लगाकर सुप्तावस्था में रहती है। जब तक कुण्डलिनी शक्ति सुप्तावस्था में रहती है तब तक योग साधक भी अज्ञानावस्था में रहता है। चाबी से ताला खुलने पर दरवाजा खुलने के समान ही कुण्डलिनी के जागृत होने पर ब्रह्मरंध्र का मार्ग खुल जाता है। इसलिए जब तक उस अवस्था की प्राप्ति न हो तब तक अभ्यास प्रशस्त करते रहना चाहिए।

गोरक्षसंहिता में भी शक्तिचालिनी मुद्रा का वर्णन प्राप्त होता है। शक्तिचालिनी मुद्रा के बारे में गोरक्षसंहिता में कहा गया है कि :–

''कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढ़तरं बध्वा तु पद्मासनं।

गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि''।।

''बांरवारम पानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं।।

मुंचंप्राणमुपैतिवोधमतुलं शक्तिप्रभावदतः''[90]।।

दोनों हाथों की अंजली बांधकर दोनों कोहनियों को दृढ़ता से हृदय पर रखकर पदमासन करें। ठुड्डी को हृदय से दृढ़तापूर्वक लगाकर ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का ध्यान करें। प्राणायाम द्वारा वायु खींचकर उसे अपानवायु से मिलाएं और कुंभक द्वारा धारण करके शनैः शनैः छोड़ दें। ऐसा करने से योग साधक को कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव का अतुलित बोध होता है अथवा कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है।

घेरण्डसंहितानुसार की गई शक्तिचालिनी मुद्रा की व्याख्या में पद्मासन के स्थान पर सिद्धासन का प्रयोग इस मुद्रा में अधिक लाभकारी प्रतीत होता है क्योंकि अश्विनीमुद्रा और योनिमुद्रा में यही सिद्धासन अधिक सहयोगी और कम प्रयास में ही मुद्रा को सिद्ध करता है। शरीर पर भस्म रमाने के भी तीन संभावित कारण हो सकते हैं। पहला नग्न अवस्था को ढकने हेतु। दूसरा वैराग्य भाव जागृत करने के लिए बाहर से प्रयास और तीसरा इस क्रिया में शरीर से निकलने वाले पसीने को सोखने के लिए क्योंकि पसीने का बहना मुद्रा के स्थायित्व में बाधक हो सकता है। संभावना यह भी है हठयोग के आदिवक्ता भगवान शिव को समर्पित यह मुद्रा है नाभि पर वस्त्र लपेटने या वस्त्र को नाभि पर रख कटि सूत्र से बांधने के पीछे भी उद्देश्य निहित हैं। पहला उद्देश्य है उड्डियान बंध में सहयोग एवं नाभिमण्डल को भीतर दबाकर उद्वेलित करना। दूसरा उद्वेश्य है नाभिमण्डल पर ध्यान लगाने में सहयोग प्राप्त करना। सुषुम्ना में वायु को प्रत्यक्ष करने का अर्थ वायु वहाँ अनुभव करने से है।

तब तब 'अश्विनी मुद्रा' का निर्देश दिया है क्योंकि 'अश्विनीमुद्रा' अपने आप में कुण्डलिनी शक्ति को उत्तेजित करने में सहायक है।

तड़ागीमुद्रा :–

''उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिम्।

ताडागी सा परामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी''[91]।।

पश्चिमोत्तानासन में बैठकर और पेट को तालाब के समान स्थिर करें। यह तडागी मुद्रा बुढ़ापा और मृत्यु का नाश करने वाली है। तड़ागी मुद्रा पश्चिमोत्तानासन में की जाती है। इसमें पेट को तड़ाग (तालाब) समान वायु से भरना और वायु से रिक्त करने की प्रक्रिया है। सर्वप्रथम

पश्चिमोत्तान आसन में अधिक न झुक कर श्वास अंदर खीचते हैं। पेट जितना फूल सकता है, उतना बढ़ाते हैं। श्वसन तंत्र बहुत अधिक जोर डाले बिना सुविधाजनक स्थिति में श्वास अंदर रोकते हैं। फिर सांस छोड़ते समय पेट को अंदर कर थोडे समय रूकते हैं। यह तड़ागी मुद्रा कहलाती है। इस पूरी प्रक्रिया में मुख्य अभ्यास उदर का ही है।

पेप्टिक अल्सर, हर्निया आदि से पीड़ित व्यक्तियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

तड़ागी मुद्रा से पाचनसंस्थान सुव्यवस्थित, मज़बूत और संतुलित बनता है। पाचनसंस्थान संबंधित रोगों में लाभकारी है।

माण्डुकीमुद्रा :–

''मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्यमूलं प्रचालयेत्।

शनैर्ग्रसेदमृतं तनमाण्डूकीं मुद्रिकां विदुः।।

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम्।

न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम्''[92]।।

योग साधक को सबसे पहले मुख बंद कर तालु में जीभ को चलाकर धीरे–धीरे सहस्त्रार से रिसते हुए अमृत रस का धीरे–धीरे पान करना चाहिए। यह माण्डुकी मुद्रा कहलाती है। माण्डुकी मुद्रा के सतत् अभ्यास से शरीर पर झुर्रियाँ पड़ना और बालों का सफेद होना दूर हो जाता है और दीर्घकाल तक स्थायी यौवन की प्राप्ति होती है। वज्रासनादि किसी ध्यानात्मक आसन में बैठ कर सिर और मेरूदण्ड को सीधा रखें। मुख को बंद स्थित ग्रंथियों से रस स्त्राव होगा, जिसे योग ग्रंथों में अमृत समान माना गया है। इस अमृतरस का जीभ द्वारा आस्वादन करने पर शरीर बलशाली बन कभी भी रोगग्रस्त नहीं होता। योगसाधक के इस अभ्यास की सिद्धि से न केवल शरीर पर कभी झुर्रियाँ ही पड़ती हैं और न ही बाल कभी सफेद ही होते हैं अर्थात साधक हमेशा लावण्ययुक्त रहकर यौवनावस्था में रहता है।

अश्विनीमुद्रा :—

''आकुंचयेद् गुदाद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।

सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकरिणी।।

आश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी।

बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत्''[93]।।

साधक को चाहिए कि अपने गुदा द्वार को बार—बार संकुचित और प्रसारित करे। यह अश्व के गुदा संकोचन व विस्फारित क्रिया की तरह है इसलिए इसे अश्विनीमुद्रा कहते हैं। यह शक्ति को जगाने वाली मुद्रा है इसलिए इस मुद्रा से कुण्डलिनी जागृत होती है, ऐसा योग शास्त्रों का मत है। यह श्रेष्ठ अश्विनीमुद्रा गुदा संबंधी रोगों का नाश करने वाली शारीरिक शक्ति को बढाने वाली व पोषण करने वाली कही गई है। 'अश्विनी मुद्रा' स्वयंमेव कुण्डलिनी शक्ति को उत्तेजित करने में सहायक है। इसलिए महर्षि घेरण्ड ने वायु का सुषुम्ना के द्वार पर अनुभव करने तक अश्विनी मुद्रा के प्रयोग का निर्देश दिया है। अश्विनी मुद्रा का अभ्यास स्तम्भन सामर्थ्य भी बढ़ाता है।

पाशिनी मुद्रा :—

''कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढ़बन्धनम्। सा

एव पाशिनी मुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी।।

पाशिनी महती मुद्रा वयपुष्टि विधायिनी।

साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः''[94]।।

योग साधक को चाहिए कि अपने दोनों पाँवों को गले से पीछे की ओर ले जाकर, उन्हें आपस में परस्पर मिलाकर पाश के समान दृढतापूर्वक बांध लें। यह पाशिनीमुद्रा कही गई है जो कुण्डलिनी—शक्ति को जगाने वाली कही गई है।

पाशिनी मुद्रा एक महत्वपूर्ण मुद्रा है जो शक्ति जागरण के अभ्यास में सहायक है। प्रांरभ में इसका अभ्यास थोड़ा कठिन अवश्य है परंतु इसके अभ्यास जांघों समेत शरीर का अंग—प्रत्यंग

शक्तिशाली हो जाता है। पाशिनीमुद्रा की सिद्धि से जागृत हुई शक्ति से बड़े–बड़े अद्भुत कार्यों में सफलता प्राप्ति हो सकती है। पाशिनी मुद्रा शारीरिक और मानसिक रूप से योगी को शक्तिशाली बनाती है।

काकीमुद्रा :–

''काकचंचुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी।।
काकीमुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।
अस्याः प्रसादमात्रेण काकवन्नीरूजो भवेत्''[95]।।

योग साधक अपने मुख को कोने की चोंच के समान बनाकर उससे धीरे–धीरे वायु का पान करें। यह सभी रोगों को नष्ट करने वाली काकी मुद्रा कही गई है। इस श्रेष्ठ मुद्रा को सभी प्रकार से गुप्त रखना चाहिए। केवल इस मुद्रा के अभ्यास मात्र से योगसाधक रोगरहित हो जाता है, जैसा कौवे को कोई रोग नहीं होता। काकीमुद्रा सरलतम मुद्राओं में से एक है। यह स्वास्थ्य के लिए अत्यंत लाभकारी मुद्रा है। शरीर की पाचन संस्था की शक्ति बढाकर अनेक रोगों से छुटकारा दिलाती है।

काकीमुद्रा में प्राणों का निरोध न करके प्राणवायु का पान किया जाता है। उस समय जीभ को कौवे की चोंच के समान नालीदार बनाकर वायु धारण की जाती है। अतः इसे 'काकी मुद्रा' कहा जाता है। जरावस्था (बुढापा) रोकने हेतु यह अत्यंत लाभकारी मुद्रा है।

गोरक्ष संहिता में इसके लाभों का वर्णन मिलता है :–

''काकचंचुवदास्येन शीतलं सलिलंपिबेत्।
प्राणापानविधानेनयोऽसौ भवति निर्जरः।।
रसना तालुमूलेन य प्राणमनिलं पिबेत्।
अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगस्य संक्षयः''[96]।।

कौए की चोंच की तरह मुख को बनाकर जो साधक प्राणापान के विधान से शीतल वायु का पान करता है, वह कभी बूढ़ा नहीं होता। जो योग साधक जीभ से प्राणवायु पीकर तालुमूल को भर लेता है, वह छः मास के अभ्यास से समस्त रोगों से छुटकारा पा जाता है।

भुजंगिनीमुद्रा :–

''वक्त्रं किंचित् सुप्रसार्य चानिलं गलया पिबेत्।
सा भवेद् भुजंगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।।
यावच्च उदरे रोगा अर्जीणादि विशेषतः।
तत् सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजंगिनी''[97]।।

योग साधक को चाहिए कि अपने मुख को किंचित फैलाकर कण्ठ से वायु को अंदर खींचे। यह योगियों द्वारा भुजंगिनी मुद्रा कही गई है। नियमित अभ्यास से सिद्ध होने पर यह जरामृत्यु के भय का नाश करती है। भुजंगिनी मुद्रा से अजीर्णादि उदर से संबंधित रोग नष्ट हो जाते हैं।

ध्यानात्मक किसी भी आसन विशेष में बैठ कर, आंखें बंद कर शरीर को शिथिल करना है। फिर कण्ठ को पूरा खोलकर वायु को खींचना है। यथासंभव वायु से पेट को भरकर फैला लेना है। सुविधापूर्वक जितनी देर रोक सकें, उतनी देर रोक कर, वायु को बाहर निकाल लें। मुख की स्थिति की भिन्न्ता को छोड़, यह काकीमुद्रा की ही समतुल्य है। भुजंङ्गिनी मुद्रा से आमाशय में पाचक रस ग्रंथियों और ग्रास नली को नया जीवन मिलता है, उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। उदरस्थ अंगों को स्वस्थ बनाता है। पान की हुई वायु जब तालु और जिह्य के बीच में घूमती है तब शरीर अभूतपूर्व शक्ति का अनुभव करता है।

योनिमुद्रा :–

"सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखम्।
अंगुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत्।।
काकीभिः प्राणंसंकृष्य अपाने योजयेतत्तः।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधीः"[98]।।

योग साधक को चाहिए कि सिद्धासन लगाकर दोनों हाथों के अंगूठों से कानों को, तर्जन से नेत्र, मध्यमा से मुख, अनामिका उंगलियों से नासिकारंध्रों को रोकें। तत्पश्चात् काकी मुद्रा धारण करें और प्राणवायु को खींचकर अपानवायु से मिलाएं। शरीर में स्थित षट् चक्रों का ध्यान करे व 'हुँ' या 'हंस' इन दो मंत्रो से कुण्डलिनी शक्ति जागृत कर साथ ही जीवात्मा को सहास्त्रार में ले जाकर यह चिंतन करे कि मैं शिव–शक्ति के साथ सुखपूर्वक विचरण कर रहा हूँ और उनके संगम से ही मैं आनान्दमय स्वयंभू ब्रह्य हो गया हूँ। इसे योनिमुद्रा की अति गोपनीय और देवताओं के लिए भी दुलर्भ कहा गया है।

एक बार भी इस मुद्रा की साधना करने पर साधक सिद्धि प्राप्त कर समाधि लाभ भी प्राप्त कर लेता है। इस मुद्रा की साधना करने वाले साधक ब्रह्य, भ्रुण हत्या, सुरापान, आदि पापकर्मों के कुफलों से मुक्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य महापाप भी योनिमुद्रा के अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं। इसलिए सभी दुष्कर्मों व पापों से मुक्ति पाने के लिए इच्छुक योग साधक को योनिमुद्रा का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

योनिमुद्रा से चेहरे का तेज़ बढ़ता है।
आंख नाक व गले के रोगों में लाभदायक है।
मन को अन्तमुर्खी कर एकाग्रता बढ़ाने में सहायक है।

मातंगिनीमुद्रा :–

''कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।

मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्।।

नासाभ्याँ रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः।

मातंगिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी''[99]।।

मातंग का अर्थ है हाथी। जिस प्रकार से हाथी जल में सूंड से पानी भरने की क्रिया करता है कुछ उसी प्रकार की क्रिया है मातंगिनीमुद्रा में भी। योगी को पानी में गले तक खड़े होकर नाक से पानी खींचना है। फिर खींचे हुए उस पानी को मुख मार्ग से बाहर निकाल देना है। तत्पश्चात विपरीतक्रम से करते हुए मुख से पानी खींचकर नासाछिद्रों से बाहर निकाल देना है। यह अभ्यास सिद्ध करने तक बार–बार करना पड़ेगा। योग ग्रंथों व महर्षि घेरण्ड अनुसार मातंगिनीमुद्रा के सिद्ध होने पर वृद्धावस्था व मृत्यु के भय से मुक्ति मिलती है ऐसी परम महिमा मातंगिनी मुद्रा की है। इसे करने के लिए योगसाधक को किसी ऐसे स्थान का चुनाव करना चाहिए जो निर्जन व एकांत हो, वहीं ऐसे स्थान पर एकाग्रचित्त होकर मातंगिनीमुद्रा का सतत् अभ्यास करें।

महर्षि घेरण्ड अनुसार इस मुद्रा के सिद्ध होने पर योग साधक हाथी के समान बलशाली व सदा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है।

इसलिए मातंगिनीमुद्रा का सतत् अभ्यास प्रयत्ननपूर्वक करके इसे सिद्ध करना ही योगसाधक का कर्त्तव्य है।

खेचरीमुद्रा :–

''जिहवाधो नाड़ीं संछिन्नां रसनां चालयेत् सदा।

दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत्।।

एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।

यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तदागच्छति खेचरी''[100]।।

खेचरी मुद्रा को सभी योगग्रंथों में अति सम्मानपूर्वक स्थान दिया गया है तथा प्रमुखता से महत्वपुर्ण व अति उपयोगी बताया गया है। विशेष रूप से पातंजलयोगप्रदीप, हठप्रदीपिका, गोरक्षसंहिता, शाण्डिल्योपनिषद् तथा योगकुण्डलयोपनिषद् में इस संबंध में विस्तृत जानकारी मिलती है। इस मुद्रा की सिद्धि हेतु जीभ का दोहन, मंथन आदि करना पड़ता है। पातजंलयोगप्रदीप में इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध है तथापि यह क्रिया अत्यंत कष्टपूर्ण, कठिन व नाजुक है। गुरू के मार्गदर्शन के बिना इस मुद्रा का अभ्यास संभव ही नहीं है।

हठयोग ग्रंथों में वर्णन प्राप्त होता है कि सहस्त्रार चक्र से निरंतर स्त्रावित हो रहे अमृतरस को नाभिकचक्र स्थित सूर्य ग्रस लेता है। खेचरी मुद्रा इसी अमृत रस के पान की विधि है।

घेरण्डसंहिता में खेचरीमुद्रा का वर्णन कुछ इस प्रकार है :—

जीभ के मूलभाग और जीभ को मिलाने वाली नाड़ी का छेदन कर, प्रत्येक दिन लोहे की चिमटी आदि से दोहन करते हुए खींचें। प्रतिदिन सतत् अभ्यास से जीभ लंबी हो जाती है। अभ्यास से जीभ को इतना लंबा कर लेना चाहिए कि वह भृकुटी तक पहुंच सके। तत्पश्चात जीभ को तालुमूल में धीरे—धीरे प्रवेश कराने का अभ्यास करना चाहिए। अन्ततः जीभ को कपालरंध्र में प्रवेश कराना चाहिए, जिसके लिए उसे उल्टा कर ऊपर ले जाना पड़ेगा। उस समय दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थापित करें, यह खेचरीमुद्रा कहलाती है।

खेचरीमुद्रा के अभ्यासी योग साधक को कभी भी मूर्च्छा, भूख—प्यास, आलस्य, तृष्णा आदि नहीं सताते। योग साधक किसी भी प्रकार के रोग, बुढ़ापा, डर से मुक्त हो, देवतुल्य शरीर वाला हो जाता है। न तो अग्नि में जलता ही है, न हवा से सूखता हैं, न तो पानी उसे गीला कर सकता है और न ही सांपादि के काटने पर उस पर विष का ही असर होता है। साधक का शरीर तेजोमय लावणय से युक्त हो जाता है तथा उसे निश्चल स्थिर समाधि की प्राप्ति हो जाता है। खेचरीमुद्रा में कपाल और मुख का जीभ द्वारा जुड़ाव होने से अनेक रसों की उत्पत्ति होती है, इसलिए परिणामस्वरूप योग साधक को जीभ से प्रतिदिन नए—नए रसों का स्वाद प्राप्त होकर आनंद की प्राप्ति होती है। प्रारंभ अवस्था में नमकीन, खट्टा, तिक्त कषाय, रस और इसके बाद नवनीत, घी, दही, शहद और द्राक्षा और अमृतादि रसों का स्वाद पैदा होता है।

हठयोग ग्रंथों के अनुसार खेचरी मुद्रा अमृत के पान की विधि है। 'ख' वर्ण आकाश के लिए प्रयुक्त होता है। पक्षी को भी खग कहा जाता है। 'खेचरी' का अर्थ हुआ आकाश में गमन करने वाली। अतः यह 'खेचरीमुद्रा' कहलाती है क्योंकि इस मुद्रा में जीभ आकाश में विचरण करती है। सहस्त्रार चक्र में से निरंतर अमृतस्त्राव होता है। तालुमूल में स्थित चंद्रमा से होता हुआ यह अमृत नीचे गिरता है और नाभिस्थित अग्नि रूपी सूर्य द्वारा ग्रस लिया जाता है, इस प्रकार व्यर्थ चला जाता है । जब तक जीवन है, तब मृत्यु होती है। इस अमृत की रक्षा के लिए हठयोग में खेचरीमुद्रा का प्रावधान है।

गोरक्षसंहिता में खेचरीमुद्रा का वर्णन कुछ इस प्रकार मिलता है :–

''कपालकुहरे जिहवा प्रविष्ठा विपरीतगा।
भ्रूवोरन्तर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी।।
न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न मूर्च्छा तु भवेतस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्''[101]।।

जीभ को उलटकर कपालकुहर में प्रविष्ट कर दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर कर लेना ही खेचरी मुद्रा है। जो योगी इस मुद्रा के अभ्यास में प्रवीण है उसे रोग, मृत्यु, निद्रा, भूख–प्यास और मूर्च्छा आदि से पीडित नहीं होना पड़ता।

शांभवीमुद्रा :–

''नेत्राजंन समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।
सा भवेच्छांभवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वर।
शांभवी यो विजानीयात् स च ब्रह्य न चान्यथा''[102]।।

अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर कर योग साधक एकाग्रमन से ईश्वर का दर्शन करे, यह शाम्भवी मुद्रा कहलाती है। सभी तंत्र–शास्त्रों में इसे गोपनीय मुद्रा कहा गया है। वेद, शास्त्र,

पुराणादि में केवल शांभवीमुद्रा ही कुलवधु के समान गोपनीय है। इसके ज्ञाता व अभ्यास करने वाले योग साधक स्वयं आदिनाथ, नारायण और ब्रह्म के समान हो जाते हैं। यह निश्चित रूप से सत्य है कि शांभवी मुद्रा को अभ्यास कर जानने वाला योगसाधक स्वयं साक्षात ब्रह्मरूप ही है। शांभवीमुद्रा आज्ञाचक्र को जागृत करने वाली असाधरण क्रिया है। इसके अतिरिक्त भी यह एक विशेष प्रक्रिया है क्योंकि इसके बारे में स्वयं भगवान शिव ने कहा है कि इसके सिद्ध होने पर ऐसा कौन सा कार्य है जो सिद्ध न हो सके। इसलिए यह मुद्रा गोपनीय कही गई है और यह मुद्रा वेद, पुराण शास्त्रों से भी उच्च स्थान की मानी गई है। शांभवीमुद्रा में भ्रूमध्य में साधक साक्षात् ईश्वर के साथ एकाकार हो जाता है। यह अभ्यास मन और प्राण को संयमित कर साधक को पूर्णता प्राप्त करा 'ब्रह्मतुल्य' बना देता है।

शांभवीमुद्रा के अभ्यास से साधक की गति मन के समान हो जाती है। शांभवीमुद्रा के अभ्यास से साधक की एकाग्रता, मनःसथैर्य और विचारशून्यता की अवस्था प्राप्त होती है। मानसिक शांति प्राप्त कर तनाव, क्रोध व चिंता को हर लेती है।

व्रज्रोणिमुद्रा :–

वज्रोणिमुद्रा का योगशास्त्रों व तंत्रग्रंथों में बहुत महत्व बताया गया है। वज्रोणिमुद्रा के अभ्यास से योगसाधक अपनी अधोगामी शक्ति को उर्ध्वगानी बना सके। बिन्दु सिद्धि हेतु इस वज्रोणिमुद्रा की साधना का उल्लेख प्राप्त होता है। इस मुद्रा के अभ्यास में शरीर की जो स्थिति बनती है वह है ब्रह्मचर्य आसन।

''धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यामूर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे।

शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वजोणिमुद्रां मुनयो वदन्ति''[103]।।

योगसाधक को चाहिए कि अपने दोनों हाथों को धरती पर दृढ़ता से टिकाएं और दोनों पैरों और धड (सिर) को ऊपर की ओर उठा के रखें। स्थिति की पूर्णावस्था में ध्यान रहे कि सिर जमीन से ऊपर उठा रहे और हथेलियों पर सम्पूर्ण शरीर का भार रहे। प्राचीन योगीजनों ने इस क्रिया को वज्रोणि मुद्रा का नाम दिया है।

तृतीय उपदेश

कुंडली बोध

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ।।१।।

टीका—जैसे पर्वतों और वनों से युक्त इस पृथिवी को अहिनायक धारण करते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण योगतन्त्रों का धारण कुण्डली ही करती है ।

व्याख्या—श्लोक में बताया गया है कि कुण्डलिनी शक्ति सब प्रकार के योगों की आश्रय स्वरूपा है । जिस प्रकार सर्पों के अधिनायक अर्थात् शेष इस सम्पूर्ण पृथिवी को अपने फण पर धारण किये हुए, उसी प्रकार सब प्रकार के योगों को कुण्डलिनी धारण करती है । आशय यह है कि सब प्रकार के योगों की सिद्धि में कुण्डलिनी ही एक मात्र कारण है, उसके जागरण बिना योग के सभी उपाय निष्फल रहते है ।

श्लोक में 'धात्रीणाम्' कहकर पृथिवी के विषय में बहुवचन का प्रयोग हुआ है, उसका आशय यह है कि देश-भेद से पृथिवी को अनेक कहा है । कुछ विद्वानों के मत में शेष भगवान् त्रिलोकी का धारण करते हैं और तीन लोकों को तीन पृथिवी हुई, इसीलिए बहुवचन प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है ।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रन्थयोऽपि च ।।२।।

सुषुम्ना के पर्याय कथन

प्राणस्य शून्यपदवो तथा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥३॥

टीका—गुरु के प्रसाद से जब सोती हुई कुण्डली जाग्रत् होती है, तब वह सभी कमलों और ग्रन्थियों का भेदन कर देती है। वैसे ही प्राण की शून्य पदवो जब राजपथ जैसी हो जाती है, तब चित्त निरालम्ब हो जाता और काल का भी वंचन होता है ॥२—३॥

व्याख्या—सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत् करने के लिए गुरु की प्रसन्नता आवश्यक है, क्योंकि गुरु प्रसन्न होकर ही उपाय बताते हैं और जब उनकी कृपा से साधक उसमें सफलता प्राप्त कर लेता है, तभी कुण्डलिनी शक्ति षट्चक्रों और सब ग्रन्थियाँ को वेधकर सहस्रार पद्म में पहुँच सकती है। उसी के लिए शून्य पदवी से कही सुषुम्ना राजपथ के समान होकर प्राण को सुख-पूर्वक गमन करने के लिए मार्ग देती है। उस अवस्था में चित्त सब विषयों से विमुख हो जाता है और तभी काल का बन्धन भी नष्ट हो जाता है, अर्थात् मृत्यु का भय भी नहीं रहता।

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ।
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥४॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥५॥

टीका—सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्य मार्ग एक अर्थ के वाचक हैं। इसलिए सब प्रकार प्रयत्न करके ब्रह्मद्वार पर सोती हुई उस

ईश्वरी को जाग्रत् करने के लिए मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए ॥४—५॥

व्याख्या—सुषुम्ना, शून्य पदवी आदि जो नाम इस श्लोक में दिये हैं, उन सबका एक ही अर्थ है—सुषुम्ना नाड़ी। यह नाड़ी ही ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है। परन्तु उसी सुषुम्ना के द्वार को रोककर कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है। उसे जगाने के लिए महामुद्रा आदि का अभ्यास करना चाहिए।

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबंचश्च बंधो जालंधराभिधः ॥६॥
करणी विपरीताख्या वाज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशम् ॥७॥
आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥८॥

टीका—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी उड्यान बन्ध, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन, यह दश मुद्राएँ जरा-मरण को नष्ट करने वाली हैं। यह मुद्राएं आदिनाथ द्वारा कहे हुए आठ दिव्य ऐश्वर्यों को प्रदान करती हैं जो कि सभी सिद्धों को प्रिय और देवताओं को भी दुर्लभ है ॥६—८॥

व्याख्या—ग्रन्थकार ने यहाँ दश मुद्राओं का वर्णन किया है। इन्हें करने वाला साधक मृत्यु को भी जीत लेने में समर्थ होता है। इनके द्वारा आठ दिव्य ऐश्वर्य अर्थात् अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। वे अष्ट सिद्धियाँ हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशता और वशिता। इनके विषय में पहले भी विवेचन किया जा

चुका है। यह आठों सिद्धियाँ मुद्राओं का अभ्यास करने वालों को सुलभ हैं।

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ।

कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥९॥

टीका—यह सभी मुद्राएं रत्नों की पिटारी के समान गुप्त रखने योग्य हैं इन्हें उसी प्रकार नहीं कहना चाहिए जिस प्रकार कि कुल-स्त्री का समागम नहीं बताया जाता ॥९॥

व्याख्या—इन मुद्राओं को अनधिकारी पुरुष को कभी न बतावे। इसी अभिप्राय से प्रयत्न पूर्वक गोपनीय कहा है। साधक का कर्त्तव्य है कि इनका अभ्यास एकान्त में ही करे।

महामुद्रा कथन

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।

प्रसारितं पदं कृत्वा धराभ्यां धारयेद्द्रढम् ॥१०॥

कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।

यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥११

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।

तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥१२॥

टीका—बाँए पाँव के तलुए से योनि स्थान को पीडित करके दाँए पाँव को फैलावे और भूमि पर रखकर दृढ़ता से पकड़े। फिर कण्ठ प्रदेश में बन्ध करके वायु को ऊर्ध्व देश में धारण करे, इससे जैसे कुण्डली लगाकर बैठा हुआ सर्प दंडे से मारे हुए के समान दण्ड के आकार का हो जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति सहसा सरल हो जाती है और तब दोनों पुटों

के आश्रय से प्राण के वियुक्त होने के कारण मरणाअवस्था जैसी हो जाती है ।।१०—१२।।

व्याख्या—यहाँ महामुद्रा का वर्णन हुआ है। इसमें वाम पादमूल से योनि स्थान को दबाने और दाँए पाँव को फैलाकर हाथों की तर्जनी अंगुलियों के द्वारा उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिए। तदनन्तर कण्ठ में जालन्धर वन्ध करके मूलबन्ध करे। कुछ विद्वानों के मत में योनि के दबाने और जिह्वा का बन्धन करने से ही मूलबन्ध चरितार्थ हो जाता है इसलिए मूलबन्ध पृथक् से करने की आवश्यकता नहीं है।

उक्त विधि के अभ्यास से डंडे से मारी हुई सर्पिणी के समान कुण्डलिनी शक्ति जागकर सीधी हो जाती है और प्राण-वायु का सुषुम्ना में प्रवेश हो जाने से इडा पिंगला दोनों नाड़ियों से उसका वियोग हो जाता है। इसीलिए उस अवस्था को मरणावस्था की समानता दी गई है।

ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ।।१३।।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ।।
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ।।१४।।

टीका—उससे वायु का रेचन धीरे-धीरे करे, वेग से न करे। श्रेष्ठ विद्वान् इसे महामुद्रा कहते हैं। इस महामुद्रा का प्रदर्शन महान् सिद्धों ने किया है, इससे महाक्लेशादि और मरणादि दोषों का भी नाश हो जाता है। इसलिए श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष इसे महा मुद्रा कहते हैं ।।१३—१४।।

व्याख्या—उपर्युक्त अवस्था होने पर वायु का रेचन वेगपूर्वक न करके धीरे-धीरे ही करे। क्योंकि वेग से रेचन करने पर शरीर को हानि पहुँचती है और शक्ति भी घटती है। यह महामुद्रा मरणादि दुःखों और पंच महाक्लेशों को भी नष्ट कर सकती है। अविद्या, स्मितता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यह पंच महाक्लेश कहलाते हैं। इन्हें नष्ट करने वाली होने से ही इसका नाम महामुद्रा हुआ।

महामुद्रा के अभ्यास का वर्णन

चन्द्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१५॥

टीका—चन्द्रांग से ठीक प्रकार अभ्यास करके सूर्यांग से अभ्यास करे। जब तक दोनों की संख्या समान हो तब तक ठीक प्रकार से अभ्यास करे और फिर मुद्रा का विसर्जन करदे ॥१५॥

व्याख्या—चन्द्रनाड़ी अर्थात् इड़ा से उपलक्षित अङ्ग को ही चन्द्राङ्ग कहते हैं और और सूर्याङ्ग का अर्थ है पिंगला से उपलक्षित अङ्ग। इसका आशय है कि पहले वाम नासिका से अभ्यास करे और फिर दक्षिण नासिका से। जब तक कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास समान संख्या में न हो जाय तब तक भले प्रकार अभ्यास करता रहे और समान संख्या होने पर महामुद्रा को विसर्जित करे।

जैसा वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है, वैसा ही अन्य अनेक ग्रन्थों में मिलता है। रुद्रयामल में तो इसको यथावत् ही कह दिया है। घेरण्ड संहिता में इस प्रकार कहा है—

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढ़ यत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करेधृत पदांगुलः ॥

कंठं संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥

अर्थात्—गुह्य प्रदेश को बाँयी एड़ी से दृढ़तापूर्वक दवावे और दाँये पाँव को फैला कर उसकी अँगुलियों को हाथ से पकड़ ले तथा कण्ठ को सकोड़ कर भौंहों के मध्य में दृष्टि लगावे, विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥१६॥

टीका—इसका अभ्यास करने वाले योगी को पथ्यअपथ्य कुछ नहीं होता। इससे भक्षण किये हुए नीरस रस जीर्ण हो जाते हैं और विष के समान घोर अन्न भी अमृत के समान पच जाता है ॥१६॥

व्याख्या—महामुद्रा के अभ्यास से सभी रसों का परिपाक ठीक प्रकार से होता है और विष के समान न पचने योग्य अन्न भी पच जाता है। 'जारणं तु कषायाय पातकानां विनाशरम्' कहकर अन्य ग्रन्थकार ने इस मुद्रा को सभी कषाओं को भस्म करने और सभी पापों को दूर करने वाली स्वीकार किया है।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥१७॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥१८॥

टीका—इसके अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण और उनके दोष नष्ट हो जाते हैं। यह वर्णन की गई

महामुद्रा मनुष्यों को महासिद्धि प्रदान करने वाली है। इसे प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखे, किसी को भी न दे ॥१७—१८॥

व्याख्या—इस मुद्रा के सिद्ध होने पर क्षयादि रोगों का सर्वथा शमन हो जाता है। इसके द्वारा साधक को परमसिद्धि और दिव्य ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। यह गुप्त रखने के योग्य हैं।

महाबन्ध कथन

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥१९॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबकं दृढ़म् ।
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२०॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥२१॥
मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ।
राजदंतस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥२२॥
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥२३॥

टीका—बाँए पाँव की एड़ी को योनि स्थान में लगावे और बाँयी जंघा पर दाँया पाँव रखकर बैठे तथा वायु को पूरित करके ठोड़ी को हृदय स्थान में दृढ़ता से लगावे और योनि को संकुचित करके मनको नाड़ी के मध्य प्रविष्ट करे। फिर वायु को यथाशक्ति धारण करके धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार बाँए अंग में समान रूप से अभ्यास करके दांये अंग में करना

चाहिए अन्य विद्वान् का यह मत है कि जालंधर बन्ध में कंठ के संकोच को न करे, क्योंकि राजदन्त पर स्थित जिह्वा का वन्ध ही प्रशस्त होता है। यह सब नाड़ियों की ऊर्ध्व गति का निरोधक है, यह महावन्ध अवश्य ही महासिद्धि का देने वाला है ।।१६ - २३।।

व्याख्या— बाँयी एड़ी को योनि स्थान में लगाकर बाँयी जाँघ पर दाँया पाँव रखने आदि की जो विधि बताई है, उसके अनुसार आसन बाँधकर वायु को भरकर ठोड़ी पर लगाने से जो जालन्धर बन्ध होता है उसे करके योनि-सकोच करता हुआ मूलवन्ध करे, परन्तु इस मूलवन्ध की सिद्धि जिह्वा के बन्धन से ही हो जाती है, इसलिए इसे करना अनावश्यक है।

कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे रेचक करे। प्रथम वाम अग में और फिर दक्षिण अंग में करे। इस प्रकार वामांग और दक्षिणांग के अभ्यास की संख्या बराबर हो जाय तब अभ्यास करना चाहिए।

कुछ विद्वानों के मत में कण्ठ के संकोच का अनुपयोग है, क्योंकि राजदन्त अर्थात् दाढ़ के ऊपर स्थित जिह्वा का बन्ध ही कण्ठ सकोच की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होता है। दाढ़ों में अवस्थित जिह्वा का बन्ध सुषुम्ना से भिन्न बहत्तर हजार नाड़ियों में प्राणवायु के ऊर्ध्व गमन का प्रतिबन्धक है। इसका अर्थ हुआ कि जिससे नाड़ी-जाल का बन्धन होता हो, वह जालन्धर बन्ध कहलाता है।

कालपाशमहाबंधविमोचन विचक्षणः ।

त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ।।२४।।

टीका—यह महावन्ध काल के पाश को छुड़ाने में अद्भुत है तथा त्रिवेणी-संगम को और मन को केदार की प्राप्ति कराने वाला है ।।२४।।

व्याख्या—जालन्धर बन्ध, उड्यान बन्ध और मूलबन्ध इन तीनों के सम्मिलित होने से महाबन्ध होता है, इसीलिए इसे त्रिवेणी संगम प्राप्त कराने वाला कहा है केदारं प्रापयेन्मनः कहने से यह अभिप्राय है कि इसके सिद्ध होने पर केदार अर्थात् शिव में मन का लय हो जाता है।

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥२५॥

टीका—जैसे पुरुष के बिना रूप-लावण्य से सम्पन्न स्त्री निष्फल है, वैसे ही महावेध के बिना महामुद्रा और महाबन्ध भी निष्फल हैं ॥२५॥

व्याख्या—इस श्लोक में महामुद्रा और महाबन्ध की निकृष्टता और महावेध की उत्कृष्टता का कथन हुआ है। ग्रन्थकार के अनुसार महावेध के बिना उक्त दोनों व्यर्थ ही हैं। इसलिए महावेध की सिद्धि का अभ्यास करना चाहिए।

महावेध वर्णन

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥२६॥
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सताडयेच्छनैः।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥२७॥
सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै।
मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत् ॥२८॥
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥२९॥

टीका—महाबन्ध में स्थित योगी बुद्धि को एकाग्र करके पूरक करे और कण्ठ मुद्रा से वायु की गति रोककर प्राणायाम करे। अपने स्फिचों को पृथिवी पर लगे हाथों से थामकर योनि स्थान में लगी हुई एड़ी वाले बाँए पाँव के सहित कुछ ऊपर की ओर उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करे। इससे प्राणवायु इडा और पिंगला को छोड़कर सुषुम्ना में चलने लगता है। तब चन्द्र, सूर्य, अग्नि सम्बन्धी क्रमश:, इडा, पिंगला को और सुषुम्ना से अमृतत्व को प्राप्ति होती है। फिर मरणावस्था के उत्पन्न होने पर वायु का रेचन करे। यह महावेध अभ्यास से महान् सिद्धि का देने वाला होता है। इससे वली, पलित, कम्पनादि दूर होते हैं। श्रेष्ठ साधक सदा इसका अभ्यास करते रहते हैं ॥२६--२६॥

व्याख्या—महाबन्ध के पश्चात् महावेध की स्थिति होती है। कण्ठ मुद्रा का अर्थ जालन्धर बन्ध है, उसके द्वारा, वायुओं के ऊर्ध्वगमन, अधोगमन को रोककर कुम्भक करना चाहिए।

महावेध में वाम एड़ी को योनिस्थान में लगाकर चूतड़ों को हाथों के आश्रय से वाम पाद के सहित कुछ उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करने से वायु इडा-पिंगला, का त्याग कर सुषुम्ना में पहुँच जाता है और तब इडा, सुषुम्ना तीनों का वायु एक हो जाता है और इडा-पिंगला में प्राण का संचार न होने से साधक की मृत्यु जैसी अवस्था हो जाती है। क्योंकि इड़ा, पिंगला में प्राणवायु का संचार रहने को ही जीवन मानते हैं। जब ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाय तब वायु का विरेचन करना चाहिए। अभ्यास करने से यह महावेध सिद्ध होकर महान् सिद्धियों का देने वाला होता है। इससे जरावस्था के सभी चिह्न बालों का सफेद होना, चर्म का संकुचित होना और शरीर का काँपना आदि नष्ट होते हैं। योग तत्त्वोपनिषत् में महावेध का लक्षण इस प्रकार बताया है—

वायुना गतिमावृत्य विभृतं कण्ठमुद्रया ।
पुटद्वय समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ।
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।।

अर्थात् – वायु की गति का निरोध करके दोनों नासारन्ध्रों का संकुचन करने से वायु शीघ्र भर जाती है। इस महावेध का सिद्ध पुरुष सदा अभ्यास किया करते है।

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ।।३०।।
अष्टधा क्रियते चैव यामे दिने दिने ।
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ।।३१।।

टीका—उक्त तीनों मुद्राएं परम गुह्य एवं जरामरण को नष्ट करने वाली, अग्नि प्रदीप्त करने वाली और अणिमादि सिद्धियों के देने वाली है। यह मुद्राएं प्रहर-प्रहर दिन-दिन में आठ प्रकार से करनी चाहिए। इनके द्वारा पुण्यों की उत्पत्ति और पापों का शमन होता है। भले प्रकार शिक्षा प्राप्त करके इन्हें करना चाहिए ।।३०—३१।।

व्याख्या—उपर्युक्त तीनों मुद्राओं से जरा-मृत्यु पर जय प्राप्त होकर, अग्नि दीप्त होती और अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इनसे पुण्य का लाभ और पापों का नाश होता है। परन्तु इनका अभ्यास आरम्भ करने से पूर्व गुरु से शिक्षा ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है।

खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।।३२।।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धि ॥३३

टीका – कपाल-कुहर में विपरीत हुई जिह्वा के प्रविष्ट होने और भौंहों के मध्य में दृष्टि रहने पर खेचरी मुद्रा होती है। छेदन, चालन और दोहन कलाओं की क्रमपूर्वक तब तक वृद्धि करे, जब तक कि भौंहों के मध्य का स्पर्श हो जाय। जब कला का भौहों में स्पर्श हो जाता है। तब खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है ॥३२– ३३॥

व्याख्या –जिह्वा को ऊपर की ओर उलटी करके कपाल के मध्य वाले छिद्र में प्रविष्ट करे और भौंहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे, इससे खेचरी होती है। छेदनादि कर्म करता हुआ जिह्वा को तब तक बढाबे, जब तक कि वह भौंहों के मध्य स्थान को स्पर्श करने लगे।

जिह्वा मूल की नाड़ी का शस्त्र से छेदन किया जाता है, इसकी विधि अगले श्लोक में कहेंगे। हाथ के अंगुष्ठ और तर्जनी अंगुली से जिह्वा को पकड़कर बाँए-दाँए हिलाना चालन कहलाता है और गोदोहन के समान जिह्वा दोहन करना इन क्रियाओं से जिह्वा बढ़ जाती है वह भौंहों के मध्य भाग को स्पर्श करती हुई और भी ऊपर पहुँच सकती है।

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३४॥
ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३५॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ॥३६॥

टीका—सेंहुड़ के पत्ते के समान तीक्ष्ण धार वाले, चिकने और स्वच्छ शस्त्र को लेकर उससे जिह्वामूल की नाड़ी का रोममात्र छेदन करे तथा पिसे हुए सेंधे नमक और हरड़ के मिश्रित चूर्ण से जिह्वामूल का ठीक प्रकार घर्षण करे। सात दिन ऐसा करने के अनन्तर पुनः रोम मात्र छेद दे। इस प्रकार के क्रम से नित्य प्रति करने से छः मास में जिह्वामूल का शिरा बन्ध नष्ट हो जाता है ॥३४—३६॥

व्याख्या—इन श्लोकों में खेचरी-सिद्धि के साधनों का वर्णन किया गया है। स्नुही अर्थात् सेंहुड़ के पत्तों में अत्यन्त तीक्ष्ण धार होती है, वैसे ही तीक्ष्ण शस्त्र से जिह्वा के मूल में एक रोम के बराबर छेद कर देना चाहिए। ऐसा करने से वहाँ घाव हो जाता है, उस पर सेंधे नमक और हरण का चूर्ण मलना चाहिए। चूर्ण मलने का यह कार्य नित्य प्रति प्रातः-सायं किया जाता है। जब सात दिन व्यतीत हो जाँय तब पुनः एक रोम के बराबर छेद कर दे और नमक तथा हरड़ के चूर्ण को मलने का क्रम यथावत् जारी रखे।

कुछ विद्वानों के विचार में नमक के स्थान पर कत्था और हरड़ का चूर्ण व्यवहार करना उचित है, क्योंकि योगाभ्यासी पुरुष के लिए नमक का सेवन वर्जित है। सात दिन के पश्चात् जो छेद किया जाय, वह पहले छेद से रोममात्र अधिक करना चाहिए, जिससे कि कुछ बड़ा छेद बन जाय।

इस प्रकार नित्य प्रति चूर्ण-मर्दन और प्रति सप्ताह छेदन करते रहने से छः मास में जिह्वा मूल का शिरा बन्धन कट

जाता है। यह शिरा बन्धन कपाल कुहर को रोके रहता है, इसके कटने पर जिह्वा उसमें प्रवेश कर सकती है, इसीलिए उस शिरा बन्धन को काटना आवश्यक होता है।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥३७॥
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥३८॥

टीका—इस प्रकार छेदनादि के उपाय द्वारा जिह्वा की वृद्धि हो जाने पर इसे उलटी पीछे की ओर लौटा कर तीनों नाड़ियों के मार्ग में करे। वह खेचरी मुद्रा होती है, उसी को व्योमचक्र कहते हैं। जो जिह्वा को तालु-रन्ध्र द्वारा ऊपर पहुँचा कर वहाँ आधे क्षण भी टिकाले तो वह योगी विषमता रूप रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि से मुक्त हो जाता है ॥३७—३८॥

व्याख्या—कपाल-रन्ध्र इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना तीनों नाड़ियों का मिलन मार्ग होने से त्रिपथ कहा जाता है। ऊपर की ओर लौटा कर जीभ को इसमें प्रविष्ट करके टिकाया जाता है। इससे सभी रोग, धातुओं की विषमता, जरावस्था मृत्यु आदि का भी क्षय हो जाता है। यह खेचरी मुद्रा व्योम चक्र भी कहलाती है।

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥३९॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न सकालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४०॥

टीका—खेचरी मुद्रा के जानने वाले योगी को रोग, मृत्यु, तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा, तृषा और मूर्च्छा नहीं होती। खेचरी का ज्ञाता रोग से पीड़ित नहीं होता, कर्म से लिप्त नहीं होता और काल से बाधित नहीं होता ॥३९—४०॥

व्याख्या—जो विद्वान् खेचरी मुद्रा को जानता है, उसे भूख-प्यास, रोग, निद्रा, तन्द्रा आदि नहीं होते। वह मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है। जो कर्म करता है उसका फल उसे नहीं भोगना होता, क्योंकि यह तो निष्काम कर्म करता है सकाम नहीं और निष्काम कर्म कर्त्ता को कभी अपने फलरूपी बन्धन में नहीं बाँधते। इसीलिए उसे काल अर्थात् मृत्युरूपी बाधा भी नहीं होती। आशय यह कि उसकी इच्छित मृत्यु होती है। जब चाहे तब शरीर को छोड़े और जब तक जीवित रहना चाहे तब तक रहे।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।

तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥४१॥

टीका—जिस मुद्रा के द्वारा चित्त भौंहों के मध्य आकाश में विचरण करता है और जिह्वा भी वहीं जाकर विचरती है उसी को सिद्ध पुरुषों ने खेचरी नाम दिया है ॥४१॥

व्याख्या—इस मुद्रा के अभ्यास में चित्त और जिह्वा दोनों ही भौंहों के मध्यरूपी आकाश में विचरते हैं। इसीलिए सिद्ध योगेश्वरों ने इसे खेचरी कहा है।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः।

न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥४२॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमंडलम्।

व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥४३॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥४४॥

टीका—खेचरी मुद्रा के द्वारा जिसने तालु के ऊपर का विवर ढक लिया, उसे यदि कामिनी का स्पर्श भी प्राप्त हो जाय तो उसका बिन्दु क्षरित नहीं होता और यदि बिन्दु चलायमान भी हो जाय तो योनि मण्डल में पहुँच कर भी वह वज्रोली के बन्धन से खिचा हुआ ऊपर चला जाता है। तालु-विवर में उन्मुखी जिह्वा वाला योगी सोमपान करता हुआ एक पक्ष में ही मृत्यु को जीत लेता है ॥४२—४४॥

व्याख्या—खेचरी के अभ्यास द्वारा जिसकी जीभ तालु के रन्ध्र में पहुँच कर टिक जाती है तो बिन्दु का क्षरण नहीं होता। यदि बिन्दु अपने स्थान से डिग भी जाय यो योनिमण्डल में पहुँच कर भी योनिमुद्रा के प्रभाव से वहाँ से खिच कर अपने स्थान में ही जा पहुँचता है।

'सोमपानं करोति' का अभिप्राय ऊर्ध्व विवर से गिरते हुए चन्द्रामृत का पान करने से है। जब जिह्वा वहाँ पहुँच जाती है, तब उस अमृत का पान करती हुई साधक को अमृतत्व की प्राप्ति करा देती है।

नित्यं सोमकलापूर्ण शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥४५॥
इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥४६॥

टीका—जिस योगी का देह सदा चन्द्रकला के अमृत से परिपूर्ण रहता है, उसके देह में तक्षक काट ले तो भी विष नहीं

फैलता। जैसे अग्नि ईंधन को और दीपक तेल बत्ती को नहीं छोड़ता वैसे ही शरीरधारी भी सोमकला से सम्पन्न शरीर को नहीं छोड़ता ॥४५—४६॥

व्याख्या—ऊर्ध्व विवर से स्रवित होते हुए चन्द्रामृत के शरीर में परिपूर्ण रहने पर तक्षक नाग का विष भी व्यर्थ हो जाता है अर्थात् भयङ्कर सर्प भी काट ले तो उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि शरीर में चन्द्रमा से झरता हुआ अमृत भरा हो तो शरीर से प्राण कभी पृथक् नहीं हो सकता जैसे कि अग्नि से ईंधन पृथक् नहीं हो सकता अर्थात् अग्नि भी तभी बुझता है जबकि ईंधन को पूरी तरह भस्म कर डाले और तैल-बत्ती का दीपक से सदा सम्बन्ध रहने का आशय यह है कि जब तक तैल-बत्ती है, तभी तक दीपक प्रकाश देता है, जब तैल-बत्ती का अभाव हो जाता है तब प्रकाश नहीं रहता, यहाँ दीपक का तात्पर्य प्रकाश से ही है। सारांश यह है कि जिह्वा से कपाल कुहुर में क्षरित होने वाले अमृत का पान करने वाला योगी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उस पर किसी रोग, विष या अवस्था आदि का प्रभाव नहीं पड़ता।

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥४७॥
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥४८॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥४९॥

टीका—जो योगी नित्य प्रति गोमांस का भक्षण करता और वारुणी (मदिरा) पीता है, वही कुलीन है, और सब तो

कुलघातक ही होते हैं। गोशब्द से जो जिह्वा कही जाती है और तालुविवर में जिह्वा का जो प्रवेश है, वही भक्षण कहलाता है। यह गोमांस भक्षण महापाप को नष्ट कर देता है। तालु के ऊपर वाले विवर में जिह्वा के प्रवेश से संभूत हुई अग्नि से उत्पन्न होकर जो सार झरता है वही अमरवारुणी है ।।४७—४६।।

व्याख्या—योगी के लिए परम सिद्धि का कारण गोमांस-भक्षण और वारुणी-पान है। 'गो' शब्द का अर्थ जिह्वा है और भक्षण का अभिप्राय ऊर्ध्व विवर में जिह्वा का प्रवेश है। इस प्रकार यही गोम स भक्षण है, इसे महापापों का भी नाश करने वाला समझना चाहिए।

तालु के उसी ऊर्ध्व विवर में जब जिह्वा प्रविष्ट होकर दोहन करती है तब वहाँ ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है और उस ऊष्मा के प्रभाव से चन्द्रमा में सार रूप अमृत उत्पन्न होकर स्रवित होने लगता है अर्थात् भौंहों के मध्य वामभाग में अवस्थित चन्द्रमा से बिन्दु रूप सार या अमृत झरने लगता, वही अमर वारुणी अर्थात् दिव्य मदिरा है उसके पान करने वाले को इसलिए कृतार्थ और कुलीन कहा है कि वह योगाभ्यास द्वारा उस श्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त करने में सफल हो जाता है और जो सिद्धि की प्राप्ति में सफल है, उसके कृतार्थ होने में सन्देह ही क्या है ?

चुम्बंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी
साक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ।।५०।।

टीका—यदि रस को स्रवित करने वाली क्षार, कटु, अम्ल, दूध, मधु और घृत के समान अनेक रस वाली जिह्वा तालु के ऊपर वाले छिद्र का बार-बार स्पर्श करे तो उससे साधक की सभी व्याधियों का हरण, वृद्धावस्था का अन्त और सन्मुख से आते हुए शस्त्र का निवारण होता है तथा अमृतत्व, अष्ट सिद्धियाँ और सिद्धांगनाओं का आकर्षण होता है । ५०॥

व्याख्या—जिह्वा सभी रसों का ग्रहण करती है। उसके लिए कटु, तिक्त, अम्ल, मधुर आदि कोई भी रस क्यों न हो, अग्राह्य नहीं है । वह जिह्वा तालु के छिद्र में प्रविष्ट होकर बार-बार चन्द्रकलामृत का स्पर्श करने लगे तो उस साधक को रोग, जरा, शस्त्र, मृत्यु आदि का कोई भय नहीं रहता तथा सिद्धों (देवताओं) की नारियाँ उसके प्रति आकर्षित होती हैं और वह अष्ट सिद्धियों को उपलब्ध करके स्वयं सिद्ध हो जाता है ।

मूर्ध्नःषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा–
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परा चिंतयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥५१

टीका—जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर और ऊर्ध्व मुख करके परम शक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करता हुआ जो योगी प्राणवायु के साधन और हठयोग के द्वारा प्राप्त षोडश दल वाले कमल में मस्तक से धारा रूप में गिरते हुए ऊर्ध्व तरंग वाले चन्द्रकलामृत का पान करता है, वह रोग-रहित एवं मृणाल जैसी कोमल देह वाला होता हुआ चिरकाल तक जीवित रहता है ॥५१॥

व्याख्या—जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर चन्द्रामृत पीने वाला योगी चिरजीवी होता है। उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती। उसका शरीर कठोर हो तो भी कमल दण्ड के समान कोमल हो जाती है।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्सेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ।।५२

टीका—जिसमें यह आलेय स्थित है, उस छिद्र में रज-तम से अतिरस्कृत बुद्धि वाले मनुष्य आत्म तत्व का होना मानते हैं। वहीं चन्द्र-सूर्य नाड़ियाँ मुख है तथा चन्द्रमा से देह के सार के स्रवित होने से मनुष्यों की मृत्यु होती है। इसलिए खेचरी मुद्रा करे, अन्यथा शरीर का पोषण नहीं हो सकता ।।५२।।

व्याख्या—प्रालेय अर्थात् जल कपाल कुहर में रहता है। जिन मनुष्यों की बुद्धि रजोगुण और तमोगुण का उल्लंघन किये रहती है यानी केवल सतोगुणी रहती है, उनके मत में आत्मतत्व भी वहीं है तथा वहीं इड़ा और पिंगला नाड़ियों का मुख भी है।

चन्द्रमा से वह जल स्रवित होता है तब उदरस्थ अग्नि रूपी सूर्य उसका ग्रास करता रहता है, इसी से मनुष्यों की आयु क्षीण होती जाती है। ग्रन्थकार का कथन है कि चन्द्रमा से स्रवित होते हुए उस अमृत का जिह्वा के द्वारा स्वयं ग्रास करले तो मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसलिए इसमें प्रयत्नशील होना चाहिए।

सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतः समन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरंजने ।।५३।।

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥५४॥

टीका – नाड़ियों के पंच स्रोत से युक्त छिद्र ज्ञान का उत्पन्न करने वाला है। उस शून्य रूप निरजन के लिए खेचरी मुद्रा में स्थिति होती है। एक सृष्टिमय बीज है, एक खेचरी मुद्रा है, एक ही निरालम्ब है और एक ही उन्मनी अवस्था है ॥५३ – ५४॥

व्याख्या – इडा आदि नाड़ियों के पंच स्रोत अर्थात् पच प्रवाह से युक्त सुषिर से ज्ञान उत्पन्न होकर शून्य रूप निरंजन में खेचरी की स्थिरता होती है अर्थात् खेचरी मुद्रा के प्रभाव से जब मन उस सुषिर (छिद्र) में प्रविष्ट होता है, तब आत्मज्ञान होता है।

सृष्टिमय बीज प्रणव है, वह एक ही है। यह संसार उसी प्रणव की महिमा को व्यक्त किये हुए स्थित है। 'ओमित्येदक्षर मिद ँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एवं, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एवं' (माण्डूक्योपनिषत्) अर्थात् 'अविनाशी ब्रह्म ओंकारमय है, उसकी महिमा को प्रत्यक्ष लक्षित कराने वाला यह सम्पूर्ण विश्व है। भूत, भविष्य, वर्तमान रूप त्रिकालमय यह संसार ओंकार ही है और त्रिकाल से भी अतीत जो अन्य तत्व है, वह भी ओंकार ही है।

'एका मुद्रा च खेचरी' कहकर ग्रन्थकार ने सभी मुद्राओं में खेचरी की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की है। इसका आशय यह समझना चाहिए कि खेचरी सभी मुद्राओं में प्रमुख मुद्रा है और सर्व प्राप्ति की आकांक्षा वाले साधक को इसकी सिद्धि प्रयत्न पूर्वक करनी चाहिए। श्लोक में 'एक' पद का प्रयोग प्रमुखता प्रदर्शित करने के रूप में हुआ है।

ओड्डीयान बन्ध वर्णन

बद्धो येन सुषम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥५५॥
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगाः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥५६॥

टीका—जिससे बंधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उड़ जाय, उस बन्ध को उड्डीयान कहते हैं। देहावकाश में गतिशील महाखग रूप प्राण जिस बन्ध से सुषुम्ना में उड़ता (गति करता) है, उसे उड्डीयान कहते हैं ॥५५—५६॥

व्याख्या—जिस बन्ध से बंधा हुआ प्राण उड़कर सुषुम्ना में जा पहुँचे, उसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं, क्योंकि वह प्राण को उडाकर सुषुम्ना में पहुँचाने का कारण होता है 'उड्डीनं कुरुते' अर्थात् 'उड़ान करता है' इसीलिए इसे उड्डियान कहा जाता है। नीचे उस बन्ध का लक्षण कहेंगे।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥५७॥
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥५८॥

टीका—उदर में नाभि के ऊपर पश्चिम तान करे तो यह मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान उड्डियान बन्ध होता है। गुरु ने इस बन्ध को सदैव सहज बताया है, इसका निरन्तर अभ्यास करने वाला वृद्ध भी तरुण हो जाता है ॥५७—५८॥

व्याख्या— उदर में स्थित टूंडी में, नाभि के ऊपर के निचले भाग को इस प्रकार ताने, जिससे कि वे दोनों भाग पीठ में लग जाँय। गुरुजन इसे स्वाभाविक बताते हैं क्योंकि प्राण स्वभाव से ही बाहर जाता है, परन्तु इसका निरन्तर अभ्यास कर लिया जाय तो यह पूर्णरूप से वश में हो जाता है। उस साधक में इतनी शक्ति, इतनी स्फूर्ति आ जाती है कि वह अपनी वृद्धावस्था को भूलकर तरुण होने का अनुभव करने लगता है।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥५६॥
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डियाने दृढ़े बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥६०॥

टीका—नाभि के ऊपर निचले भाग में ठीक प्रकार से तान करे। इस प्रकार छः मास तक निरन्तर अभ्यास करने से साधक मृत्यु को जीत लेता है, इसमें संशय नहीं है। सभी बन्धों में उड्डियान बन्ध श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके सिद्ध हो जाने से स्वाभाविक मृत्यु होती है ॥५६—६०॥

व्याख्या—उड्डियान बन्ध में नाभि के ऊपर निचले स्थान में यत्नपूर्वक तान अर्थात आकर्षण किया जाता है। यह सभी बन्धों में उत्तम माना जाता है। इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और रोग, दुःख आदि भी नष्ट हो जाते हैं।

इस बन्ध में प्राण पक्षी जैसी गति से उड़ान भरता हुआ सुषुम्ना द्वार से मस्तक में जा पहुँचता है और जब मन भी समाधि में लीन होता है, तब उसका मुक्त होना मानते हैं। यही विदेह मुक्ति कहलाती है, इसी से उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है। इसी को योगनिद्रा कहते हैं। 'ततोन्मनी

संज्ञक बन्ध है। यह बन्ध नाड़ियों के समूह को तथा कपालकुहर रूप नभ के जल को बाँधता है, इसलिए जालन्धर बन्ध कहलाता है यह कंठ के रोग दुःखों का नाश करने वाला है लक्षण जिसका कण्ठ का संकोच है, उस जालन्धर बन्ध के करने से अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और न वायु का ही प्रकोप होता है। यह बन्ध दृढ़तापूर्वक कण्ठ का संकोच करने से दोनों नाड़ियों का स्तम्भन करने वाला है। इसे सोलह आधारों का बन्धन कर्त्ता मध्य चक्र जानना चाहिए ।।७०—७३।।

व्याख्या—इस बन्ध को जरामृत्यु का नाशक इसलिए माना है कि ब्रह्मरन्ध्र से जो चन्द्रामृत स्रवित होकर उदरस्थ अग्नि में भस्म होता रहता है, उसके अभाव में जीवन का नष्ट होना अवश्य भावी है। यह बन्ध उस अमृत को अग्नि में गिरने से रोकता है। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
कण्ठ संकोच रूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधकः ।।
अधस्तात्कुंचने नाशु कण्ठ संकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ।।

अर्थात्—पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिए। इसमें कण्ठ के संकोच द्वारा वायु का निरोध किया जाता है। अधोभाग में मलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन करे और ऊपर से जालन्धर बन्ध द्वारा कंठ का सकोच तथा मध्य में उड्डयान बन्धद्वारा प्राणको खींचे तो प्राण ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में चढ़ने लगता है।

इस प्रकार कण्ठ का संकोच करने इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियों का स्तम्भन स्वतः हो जाता है। कण्ठ में सोलह दल का विशुद्ध चक्र है, वहाँ वायु को रोक कर बन्धन करने वाला होने से इस बन्ध को मध्य चक्र कहा है।

मूलस्थानं समाकुंच्य उडिड्यानं तु कारयेत् ।
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥७५॥
बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥७६॥

टीका—मूल स्थान का भले प्रकार संकोच करके उड्डियान बन्ध करे, जिससे इडा, पिंगला का स्तंभन होकर प्राण को पश्चिम मार्ग में ले जाय। इस विधान से ही प्राण का लय हो जाता है, तब रोग, जरा, मृत्यु आदि नहीं होते। यह तीन बन्ध श्रेष्ठ हैं, महासिद्धों द्वारा इनका सेवन किया जाता है। हठयोग के सब साधनों में इसकी उपयोगिता को योगी पुरुष जानते हैं ॥७४—७६॥

व्याख्या—आधार स्थान को ठीक प्रकार से संकुचित करके नाभि से पश्चिमतान रूप बन्ध (उडियान) को करना चाहिए तथा कण्ठ के संकोच से इडा-पिङ्गला का बन्धन करे, जो कि जालन्धर बन्ध से होता है। तदनन्तर प्राण के सुषुम्ना में प्रविष्ठ होने का प्रयत्न करे। ऐसा करने से प्राण का लय अर्थात् स्थैर्य हो जाता है। आशय यह है कि उसका बाह्य गमन रुक कर ब्रह्मरन्ध्र में ही स्थिति हो जाती है। इस प्रकार की उपलब्धि होने पर साधक को किसी रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि का भय नहीं रहता।

इस प्रकार उपर्युक्त उड्डियान बन्ध, मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध तीनों ही श्रेष्ठ हैं। बड़े बड़े योगीश्वर, परम

सिद्धि आदि ने इनको करके ही इच्छित सिद्धि और मोक्ष को प्राप्त किया। इसलिए योगाभ्यासियों को प्रयत्न पूर्वक इनका अभ्यास करना चाहिए।

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥७७॥
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥७८॥

टीका—दिव्य तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जिस अमृत का स्राव होता है, उसे नाभि में स्थित अग्नि सम्पूर्ण रूप से ग्रस लेता है। उसे रोकने के लिये सूर्य-मुख का वंचन करने वाले दिव्य करण को गुरु के उपदेश से जानना चाहिए, क्योंकि उसके बिना करोड़ों शास्त्रों का अर्थ जानना भी व्यर्थ है ॥७७—७८॥

व्याख्या—पहले भी बता चुके हैं कि तालुमूल में चन्द्रमा का निवास माना गया है. वह अमृत की वर्षा किया करता है। परन्तु नाभि में सूर्य संज्ञक जिस अग्नि का निवास है, वह उस अमृत का ग्रास कर लेता है। परन्तु उसके ग्रसन को रोकने के लिये सूर्य के मुख को बन्द करना आवश्यक है। यदि उसका मुख रुक जाता है तो धातुओं और रसों का ह्रास भी रुक जाता है और आयु का क्षय नहीं होता। उसे रोकने का उपाय योगीश्वर सिद्ध पुरुषों को ज्ञात रहता है, उन्हें गुरु रूप में वरण करके उनसे वह उपाय सीखना चाहिए। यदि गुरु से उसे नहीं सीखते तो करोड़ों शास्त्र पढ़ कर भी नहीं सीख सकते। क्योंकि शास्त्रों में विधि-विधान तो लिखा होता है, परन्तु उसमें अनेक बातें ऐसी होती हैं जिनका स्पष्टीकरण अनुभवी सद्गुरु ही करने में समर्थ होता है, इसलिए गुरु से दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक है।

विपरीतकरणी मुद्रा

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥७६॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविर्बधिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

टीक —जिस योगी के ऊर्ध्व भाग में नाभि और अधोभाग में तालु हो जाय, इस ऊर्ध्व भाग में सूर्य और अधोभाग में चन्द्रमा को कर देने वाली क्रिया विपरीतकरणी मुद्रा कहलाती है, इसे गुरु के वाक्यों द्वारा प्राप्त करते है । नित्यप्रति अभ्यास मैं लगे रहने वाले योगो के लिए यह मुद्रा जठराग्नि बढ़ाने वाली है तथा इसके द्वारा साधक इच्छानुसार अधिक भोजन कर सकता है ॥७६ – ८०॥

व्याख्या—इस मुद्रा के द्वारा तालु में अवस्थित चन्द्रमा नीचे और नाभि में अवस्थित सूर्य ऊपर हो जाता है । इसमें शिर नीचे और पाँव ऊपर करके स्थित होना होता है । इससे जठराग्नि इतनी बढ़ जाती है कि जितना भी खाया जाय सरलता से पच जाता है । परन्तु अल्पाहार नहीं करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है । क्योंकि—

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥८१॥
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥८२॥

भवति' ततोयोगनिद्रा भवति (शां० उ०) अर्थात् उससे उन्मनी दशा प्राप्त होती है और उससे योगनिद्रा होती है ।

मूलबंध वर्णन

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥६१॥
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आंकुचनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः ॥६२॥

टीका—एड़ी से योनि स्थान को दबाकर गुदा का संकोच करे और अपान वायु का ऊपर की ओर आकर्षित करे, इसे मूलबन्ध कहते हैं। जो अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी करता है, उसे योगीजन मूलबन्ध कहते हैं ॥६१—६२॥

व्याख्या—योनि स्थान का अभिप्राय है गुदा और लिंग के मध्य भाग से। उस स्थान को एड़ी से भले प्रकार पीड़ित करके गुदा को सकोड़े और अपान वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करे। यह क्रिया कुण्डलिनी जागरण में अत्यन्त सहायक होती है। इसके विषय में कहा है—

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुंचनेन त प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥
अपाने चोर्ध्वगे याते सम्प्राप्ते वह्नि मण्डले ।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥

अर्थात्—अधोगति वाले अपान को शक्तिपूर्वक गुदा के आकुंचन द्वारा ऊपर ले जाने से मूलबन्ध होता है। अपान ऊपर जाकर वह्निमण्डल से मिलता है तो वायु के प्रभाव से अग्नि की अत्यधिक तीव्रता होती है। इत्यादि से कुण्डलिनी जागरण की विधि कही है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

गुदं पाष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥६३॥

टीका—एड़ी से गुदा का भले प्रकार संपीडन करके बल पूर्वक वायु को बार-बार इस प्रकार आकर्षित करे कि जिससे वह सुषुम्ना के ऊपरी भाग में जा पहुँचे ॥६३॥

व्याख्या--मूलबन्ध की यह रीति योगबीज में कही हुई है। यद्यपि इसमें ऊपर की विधि से समानता है, फिर भी शाब्दिक विशेषता के कारण इसका उल्लेख यहाँ हुआ है।

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥६५
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६

टीका– अधोगति वाले प्राण और अपान, अनाहत नाद और बिन्दु मूलबन्ध के द्वारा ऐक्य को प्राप्त होकर योग की सिद्धि को प्राप्त कराते हैं, इसमें संशय नहीं है। अपान और प्राण का ऐक्य और संचित मल-मूत्र का क्षय होने से वृद्ध भी युवा होता है। अपान के ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि मण्डल में पहुँचने पर वायु से ताड़ित होने के कारण अग्नि शिखा दीर्घ हो जाती है ॥६४—६६॥

व्याख्या—नीचे की ओर गतिशील प्राणापान, नाद और बिन्दु यह सब एकता को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे कि

योग की परम सिद्धि होती है। उससे बुढ़ापा दूर होकर युवावस्था आ जाती है अर्थात् वली, पलित, झुर्री आदि मिटकर शरीर सुन्दर हो जाता है।

मूलबन्ध के करने से नीचे की गति वाला अपान वायु ऊपर चढ़ता हुआ अग्निमण्डल में पहुँच जाता है अर्थात् नाभि के नीचे के भाग में विद्यमान त्रिकोण जठराग्नि में प्रविष्ट होता है, तब अपान से ताड़ित जठराग्नि की शिखा बढ़ जाती है।

ततो यातो वह्नचपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥६७॥
तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दंडाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥६८

टीका--तब अग्नि और अपान दोनों अग्नि की दीर्घ हुई शिखा से गर्म होकर ऊपर की ओर गति वाले प्राण में जा पहुँचते हैं। उससे शरीरस्थ जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है। तब उससे भले प्रकार सन्तप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होकर डंडे से पिटी हुई सर्पिणी के समान सीधी हो जाती है ॥६७--६८॥

व्याख्या—कुण्डलिनी-जागरण के लिए तीनों बन्ध किये जाते हैं। जालन्धर बन्ध द्वारा वायु को रोकने के लिए कण्ठ का संकोच किया जाता है, मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन अधोभाग में होता है और मध्य में उड्डियान बन्ध से प्राण को खींचा जाता है। इस प्रकार सब ओर रोका जाने पर प्राण सुषुम्ना में दौड़ता है। अपान ऊपर चढ़कर अग्नि से मिलता और वह अग्नि प्राण स्थान में आकर प्राणवायु से मिलकर

सोती हुई कुण्डलिनी को ताड़ित करता है, तब वह कुण्डलिनी जागकर सीधो हो जाती और सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है।

विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं ब्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ।।६६

टीका—फिर वह कुण्डलिनी सर्पिणी के बिल में प्रविष्ट होने के समान ब्रह्मनाड़ी में प्रविष्ट होती है। इसलिए योगियों को नित्यप्रति मूलबन्ध करना चाहिए ।।६६।।

व्याख्या—इस श्लोक में मूलबन्ध करने का अभिप्राय स्पष्ट किया है कि कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्ना में प्रविष्ट कराने के लिए मूलबन्ध किया जाना आवश्यक है। इसीलिए योगाभ्यासी पुरुषों को मूलबन्ध का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

जालन्धर बन्ध

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ।।७०।।
बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभो जलम् ।।
ततो जालन्धरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ।।७१
जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ।।७२
कंठसंकोचेनैनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढ़म् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ।।७३

टीका—कण्ठ का संकोच करके हृदय पर ठोड़ी को दृढ़ता से लगावे, यह जरामृत्यु का नाश करने वाला जालन्धर

जा सकता है। पुरुष को अपने ही नहीं, स्त्री के भी रज की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि रज या वीर्य ही मनुष्य का जीवन है, यदि वही शरीर से निकल गया तो चाहे मृत्यु न भी हुई हो, तो भी मृत्यु के ही समान है।

इसमें यह भी समझ लेना चाहिए कि यदि पतन से पूर्व बिन्दु का क्षरण न रोका जा सके तो पतित हुए बिन्दु का आकर्षण किया जा सकता है। परन्तु इसका सिद्धि अभ्यास से ही सम्भव है। पतित हुए बिन्दु को उसके आश्रय स्थान मस्तक मे पुनर्स्थापित करना चाहिए।

बिन्दु चित्त के अधीन है। यदि चित्त में कामवासना का आधिक्य है, उत्तेजना बढ़ गई है तो हो सकता है कि बिन्दु का पतन हो जाय। इसीलिए स्त्री के विषय में चिन्तन का भी योगाभ्यासी के लिए निषेध किया जाता है। क्योंकि चित्त के चंचल होने पर बिन्दु भी चलायमान हो जाता है और चित्त स्थिर है तो शुक्र के पतन का अवसर ही नहीं आ सकता।

'शुक्रायत्तं च जीवितम्' कहकर ग्रन्थकार ने प्रकट किया है कि शुक्र है तो जीवन है और शुक्र नहीं तो जीवन भी नहीं। इसीलिए आवश्यक है कि शुक्र की रक्षा की जाय। क्योंकि शुक्र के रक्षित न रहने पर शरीर दुर्बल, रोग-ग्रस्त, और शक्ति-हीन हो जाता है और धीरे-धीरे वह मनुष्य मृत्यु मुख में पहुँच जाता है।

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥९२॥
वज्रोलीमैथुनाद्ध्वं स्त्रीपुन्सोः स्वांगलेपनम्।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥९३॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥९४॥
अयां योगः पुण्यवतां धीराणाँ तत्त्वदर्शिनाम्
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥९५॥

टीका—सहजोली और अमरोली यह दोनों मुद्राएँ वज्रोली के ही भेद हैं। जलाये हुए कण्डों की सुन्दर भस्म का जल में डाल दे और मैथुनानन्तर उत्साह रहित होकर सुखपूर्वक बैठेहुए स्त्री-पुरुष उस भस्म को अपने अगों पर लेपन करे। यह सहजोली कही जाने वाली क्रिया योगियों द्वारा सदैव श्रद्धा के योग्य है तथा यह शुभकारी योग भोग और मोक्ष दोनों देने वाला है। यह योग पुण्यवान, धीर, तत्वदर्शी और द्वेषरहित पुरुषों को सिद्ध होता है, द्वेषयुक्तों को सिद्ध नहीं होता ॥९४ ९५॥

व्याख्या—वज्रोली मुद्रा के समान ही सहजोली और अमरोली मुद्राएं भी हैं। कुछ विद्वान् इन्हें भिन्न मानते हैं और कुछ किंचित् विशेषता के साथ एक ही समझते है इसीलिए कुछ संहिताओं में सहजोली और अमरोली का वर्णन नहीं किया है।

सहजोली के साधक स्त्री-पुरुष संसर्ग के अनन्तर कण्डों की भस्म को जल में मिलाकर अपने सर्वांग अर्थात् शिर, ललाट, नेत्र, हृदय, भुजा, उदर, नाभि आदि पर लेप करें। वज्रोली के साथ इस भस्म लेपन को ही सहजोली कहा गया है।

अमरोली मुद्रा

पित्तोल्वणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा। निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ॥९६॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥९७॥
अभ्यासान्निःसृतां चांद्री विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥९८॥

टीका- अधिक पित्त वाली बिन्दु-धारा को तथा सार-अंश-रहित अन्त्य धारा को कुछ-कुछ छोड़कर शीतल मध्य धारा का सेवन किया जाता, उसे कापालिक मत में अमरोली मुद्रा कहते हैं। जो साधक नासिका द्वारा अमरी का नित्य पान करता हुआ वज्रोली का अभ्यास करता है उसे अमरोली कहते हैं। उस अभ्यास से निःसृत चन्द्रामृत को भस्म में मिलाकर उत्तम अंगों में धारण करे तो उसको दिव्य दृष्टि हो जाती है ॥९६—९८॥

व्याख्या- प्रथम बिन्दु धारा में पित्त की अधिकता कही है और दूसरी अन्त्यधारा में सारांश का अभाव बताया है। इन दोनों धाराओं का शनैः शनैः त्याग करना चाहिए अर्थात् पित्तादि दोषों से युक्त और निःसार धारा को छोड़कर शीतल, शान्तिप्रद धारा का सेवन करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि बिन्दुरूप धारा का सेवन (क्षरण) लाभकर नहीं है। शिवांबुरूप अमरी का नासिका द्वारा पान करता हुआ मैथुन द्वारा वज्रोली का अभ्यास करे, परन्तु बिन्दु-पातन करे।

'शीतल मध्य धारा' का अभिप्राय चन्द्रामृत से है, उसे गोबर की भस्म में मिलाकर श्रेष्ठ अंगों में मलना चाहिये, निकृष्ट अंगों में मलने का निषेध समझे। उत्तमांगों में शिर, कपाल, नेत्र, कन्धे, कण्ठ, हृदय और भुजा आदि माने जाते हैं। 'दिव्य दृष्टिः प्रजायते' का अर्थ है नेत्रों की दृष्टि तीव्र हो जाना,

उसे दूरदर्शन-शक्ति भी कह सकते हैं। इस प्रकार यह मुद्रा खण्ड कापालिक मत में अमरोली कहलाती है।

नारी की वज्रोली के साधन कथन

पुन्सो बिन्दुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥९९
तस्याःकिंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्या शरीरेनादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥१००

टीका— सम्यक् अभ्यास के कौशल से जो नारी पुरुष के बिन्दु का आकर्षण करके वज्रोली मुद्राके द्वाराअपने रज की रक्षा करती है तो उसे भी योगिनी समझना चाहिए। उस नारी का रज किंचित् भी नाश को प्राप्त नहीं होता, इसमें सशय नहीं है। उसके शरीर में नाद भी बिन्दु रूप हो जाता है ॥९९--१००॥

व्याख्या— इसमें स्त्री के वज्रोली-साधन का वर्णन हुआ है इस साधन के करने से स्त्री का रज भी अपने स्थान से च्युत नहीं होता और मूलाधार से उठा हुआ नाद हृदय के ऊपर पहुँच कर बिन्दुरूप हो जाता है। स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य का शरीर से बाह्य संयोग होने से सन्तानोत्पत्ति होती है, परन्तु दोनों का आन्तरिक योग होने पर ही योगी कहा जाता है। उन दोनों में बिन्दु चन्द्रमय और रज सूर्यमय है, इनका योग होने से परम-पद की प्राप्ति हो जाती है।

स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धि प्रयच्छतः ॥१०१॥
रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥१०२॥

टीका—यदि इसका अभ्यास करने वाला साधक यदि अल्प आहार करता है तो प्रदीप्त जठराग्नि उसके शरीर को उसी समय भस्म कर देती है। प्रथम दिन के अभ्यास में क्षण भर के लिए नीचे शिर और ऊपर पांव करने चाहिए। फिर दिनों दिन अभ्यास को एक-एक क्षण करके बढ़ावे तो छः महीने में वली, पलित अदृश्य हो जाते हैं। यदि एक प्रहर नित्य अभ्यास करे तो काल को भी जीत सकता है ॥८१—८२॥

व्याख्या—अल्प भोजन करने से इस मुद्रा के अभ्यासी साधक की जठराग्नि उसके शरीर को नष्ट कर डालती है। इसलिए यथेच्छ भोजन कर सके तो ही इस मुद्रा का अभ्यास करे।

इसमें नीचे शिर और ऊपर पाँव करके एक-एक क्षण नित्य बढ़ाते हुए अभ्यास करना चाहिए। इससे केशों का श्वेत होना, झड़ना आदि नष्ट होता है तथा तीन घन्टे नित्य अभ्यास करने से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो सकती है।

इस सब से यह भी प्रकट होता है कि योग की महिमा प्रारब्ध कर्म से भी बढ़कर है, क्योंकि योग के द्वारा प्रारब्ध के फल को भी नष्ट किया जा सकता है। इसलिए साधक को योगाभ्यास में प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस्कर है।

वज्रोली मुद्रा

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥८३
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥८४॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥८५॥
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥८६॥

टीका—जो योगी वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता है, वह योग-शास्त्र के नियमों का पालन न करके स्वेच्छा पूर्वक व्यवहार करे तो सिद्धिभाजन होता है। वज्रोली के साधक के लिए जो दो दुर्लभ वस्तुएं हैं, उन्हें मैं बताता हूँ। उनमें एक तो दूध है और दूसरी वश में रहने वाली स्त्री है। पुरुष हो या नारी बिन्दु को झरने से रोकने या आकुंचन करने का धीरे-धीरे अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो सकती है। शीशे की बनी हुई नली से धीरे-धीरे उपस्थ के छिद्र में वायु के संचारार्थ प्रयत्नपूर्वक इस प्रकार फूत्कार करे, जिस प्रकार कि अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए फूंक मारते हैं ॥८३—८६॥

व्याख्या—वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता पुरुष शास्त्र के नियमों की उपेक्षा करके भी किसी प्रकार वज्रोली मुद्रा का साधन करता है, उसे भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसका अभ्यास करने वाले के लिए दूध और स्त्री दुर्लभ वस्तु हैं। अर्थात् साधक को इनसे बचना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि अभ्यास काल में दुग्ध पान उचित है, परन्तु कुछ विद्वान् इसे ठीक नहीं मानते और यह कहते है कि स्त्री-संसर्ग के पश्चात निर्बलता को प्राप्त हुई इन्द्रियों की प्रबलता के लिए तो दुग्ध-पान हितकर है, परन्तु वज्रोली के साधक के लिए अयोग्य है।

वज्रोली मुद्रा की सिद्धि किस प्रकार हो? इस पर कहते हैं कि पुरुष या स्त्री कोई भी हो बिन्दु को झरने से रोकने के

लिए उसके ऊपर आकुंचन का अभ्यास करना चाहिए। योग-तत्वोपनिषत् में कहा है—

वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धि भाजनम्।
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्॥

अर्थात्—जो वज्रोली का अभ्यास करे वह सिद्धि का पात्र होता है। यदि वज्रोली की सिद्धि प्राप्त करले तो योग की सिद्धि उसके हाथ में ही समझो। वह भूत, भविष्य का भी ज्ञाता हो जाता है और उसे आकाश-गमन की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

शीशे की चौदह अगुल लम्बी और उपस्थ के छिद्र में प्रविष्ट होने योग्य मोटी सलाई बनवाकर उसे उपस्थ में प्रवेश करने का अभ्यास करे। प्रथम दिन केवल एक अंगुल घुसावे, फिर क्रमशः एक-एक अंगुल नित्य बढ़ाता हुआ बारह अंगुल तक ले जाय। बस बारह अंगुल सलाई के प्रवेश से ही उपस्थ का मार्ग शुद्ध हो जायगा।

तदनन्तर चौदह अगुल लम्बी एक सलाई और बनवाये जो कि टेढी और ऊपर की ओर मुख वाली हो। उसे भी क्रमशः बारह अंगुल ही प्रविष्ट करे, उस टेढे और ऊध्वमुख वाले भाग को बाहर रखे। फिर स्वर्णकार की धौंकनी के नल के समान नलका लेकर उसके अगले भाग को उपस्थ में प्रविष्ट टेढ़ी और ऊर्ध्वमुख की सलाई के मध्य में घुसाकर फूत्कार करने से उपस्थ-मार्ग का शोधन हो जाता है।

इसके पश्चात् जल के आकर्षण का अभ्यास करे और जब वह सिद्ध होजाय तब बिन्दु के ऊर्ध्व आकर्षण का अभ्यास करना चाहिए। बस, इसकी सिद्धि होने पर ही वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो जाती है।

नारीभगे पतद्विंदुमभ्यासेनोर्ध्वगासरेत् ।
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥८७॥
एवं संरक्षयेद्विंदुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥८८॥
सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्विंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥८९॥
चित्तायत्तं नृणां शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैवे रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥९०॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥९१॥

टीका—योनि में पतित होते हुए बिन्दु का अभ्यास करता हुआ ऊर्ध्व आकर्षण करे। यदि विन्दु चलित हो जाय तो भी उसका ऊपर को आकर्षण करके रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार जो योगविद् बिन्दु को रक्षा सम्यक् प्रकार करता है, वह मृत्यु को भी जीत लेता है। क्योंकि बिन्दु के पतन से मृत्यु और बिन्दु की रक्षा से ही जीवन है। मनुष्यों का शुक्र चित्त के आश्रित है और जीवन शुक्र के आश्रित है, इसलिए शुक्र और मन दोनों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। ऋतुमती स्त्री के रज की और अपने विन्दु की भी उक्त प्रकार के अभ्यास से रक्षा करे। योगवेत्ता पुरुष मेढ् द्वारा रज और बिन्दु के ऊपर की ओर आकर्षण से रक्षा कर सकता है ॥८७—९१॥

व्याख्या—पतित हुआ बिन्दु भी उक्त मुद्रा के अभ्यास के द्वारा आकर्षित करके अपने पूर्व स्थान पर स्थापित किया

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३॥

टीका—वज्रोली के अभ्यास से वह बिन्दु और रज दोनों एक होकर अपने शरीर में ही स्थित हो जाँय तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । जो स्त्री योनि-संकोच द्वारा ऊर्ध्व ले जाकर रज की रक्षा करे वह योगिनी है । उसे भूत, भविष्यत् का ज्ञान हो जाता तथा निश्चय ही खेचरी सिद्ध हो जाती है । वज्रोली के अभ्यास से अवश्य ही देह सिद्धि होती है । यह पुण्योत्पादक योग भोगों के भोगने पर भी मुक्तिदायक होता है ॥१०१—१०३॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से अभ्यास सिद्ध करने वाली स्त्री को त्रिकाल का ज्ञान होता है । रूप-लावण्य की प्राप्ति होकर शरीर में दिव्यता का समावेश होता है । अथवा जो सिद्धियाँ सिद्ध पुरुष को प्राप्त होनी कही हैं, सभी वज्रोली की साधिका योगिनी को प्राप्त हो जाती हैं—

कुण्डलिनी के पर्याय कथन

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१०४॥

टीका—कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुंजगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती यह सब पर्यायवाचक हैं ॥१०४॥

व्याख्या—यहाँ कुण्डलिनी शक्ति के सात पर्यायवाचक नामों का वर्णन किया है, जिससे जिज्ञासु को यह समझने में कठिनाई न हो कि यह सभी नाम कुण्डलिनी के ही हैं । क्योंकि स्थलभेद से ग्रन्थों में कुण्डलिनी के अर्थ में उक्त में से कोई भी नाम मिल सकता है ।

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥
येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥१०६॥
कंदोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बंधनाय च मूढ़ानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥

टीका—जिस प्रकार कुंजी के द्वारा हठपूर्वक किवाड़ खोले जाते हैं, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष के द्वार को खोलते हैं। जिस मार्ग से निरामय ब्रह्मस्थान को जाते हैं, उसी द्वार के मुख को ढककर वह परमेश्वरी सोती है। कन्द ऊर्ध्व भाग में सोती हुई कुण्डलिनी योगियों के लिए मोक्ष के निमित्त होती है, परन्तु मूढ़ों के लिए बन्धन-प्रद हो जाती है, जोउसे जानता है वही योग का जानने वाला है ॥१०५—१०७॥

व्याख्या—कुण्डलिनी शक्ति मोक्ष के द्वार को खोल सकती है ; परन्तु वह निरामय ब्रह्मपद को जाने वाले मार्ग को ढककर सोती रहती है। वह मूर्खों या अज्ञानियों के लिए बन्धन में डालने वाली है, जब कि योगाभ्यासियों को उससे मोक्ष प्राप्त हो सकती। इसलिए अभ्यास से पूर्व इसके विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना और इसके रहस्य को भले प्रकार समझ लेना चाहिए।

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥
—योगचूडामन्युपनिषत्

अर्थात्—प्राणधारिणी गायत्री कुण्डलिनी से ही उत्पन्न होती है। यही प्राणविद्या और महाविद्या है, जो इस विद्या को जानते हैं वही वेद के जानने वाले हैं।

कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥१०८॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०९॥
इडा भगवती गङ्गा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुण्डली ॥११०॥

टीका—कुण्डलिनी का आकार कुटिल, सर्प के समान कहा जाता है, जो इस शक्ति का चालन करता है, वह मुक्त है, इसमें संशय नहीं है। गंगा, यमुना के मध्य में तपस्विनी बालरंडा है, उसे बलपूर्वक ग्रहण करना ही परमपद है। इडा भगवती गंगा और पिंगला यमुना नदी है तथा इडा-पिंगला के मध्य में जो कुण्डली है, वही बालरण्डा है ॥१०८—११०॥

व्याख्या—कुण्डलिनी का आकार सर्पिणी जैसा होता है वह साढ़े तीन कुण्डल मारे हुए रहती है। इस शक्ति को चालन करने वाला साधक अवश्य मुक्त हो जाता है। गंगा, यमुना कहकर यहाँ इडा और पिंगला नाड़ियों का माहात्म्य वर्णन किया है। अर्थात् इडा नाड़ी गंगा के समान और पिंगला नाड़ी यमुना के समान पवित्र हैं। इनके मध्य में तपस्विनी बालरण्डा के नाम से स्वयं कुण्डलिनी शक्ति विद्यमान रहती है। यहाँ बालरण्डा का अर्थ कुछ न खाने वाली कहा है, इसका तात्पर्य हुआ प्रसुप्ता, उस सोती हुई कुण्डलिनी को हठयोग के द्वारा जगाकर परमपद प्राप्त करने का उपदेश है।

शक्तिचालन मुद्रा

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ।।१११।।

अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य
नित्यं परिचालनीया ।।११२।।

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ।।११३।।

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ।।११४।।

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ।
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ।।११५।।

टीका - सोती हुई भुजंगी को पूंछ को पकड़कर प्रबोधन करने से वह शक्ति निद्रा छोड़कर ऊपर उठकर स्थित हो जाती है। वह फणावती प्रात:काल, सायकाल में आधे प्रहर तक सूर्य से परित परिधान से ग्रहण करके नित्य चलानी चाहिए। मूल स्थान से विलाँद भर ऊपर चार अंगुल विस्तार वाले कोमल, श्वेत और वेष्टित किये वस्त्र के समान कहा जाता है। वज्रासन में स्थित होकर दोनों पाँवों को एड़ियों के पास से हाथों द्वारा दृढ़ता से धारण कर उस कन्द का प्रपीडन करे। वज्रासन में स्थित हुआ योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुंडली को जाग्रत् करे ।।१११--११५।।

व्याख्या—पूंछ पकड़ कर कुण्डलिनी को जगाने का अभिप्राय यह है कि प्राणनिरोध के अभ्यास से वायु द्वारा ताड़ित होने पर कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है, उस अभ्यास को सिद्ध करना चाहिए। इसका चालन करने के लिए प्रातः, सायं दोनों समय डेढ़-डेढ़ घंटे नित्य प्रति अभ्यास करना चाहिए।

मूल स्थान से बिलांद भर ऊपर यानी नाभि स्थान और उपस्थ के मध्य में कन्द स्थान कहलाता है। गोरक्षसहिता में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है कि नाभि के नीचे कन्द की जो योनि है, वह पक्षी के अण्डे समान के समान है, जिसमें से बहत्तर नाड़ियाँ उत्पन्न होकर शरीर के सभी अंगों में गई हैं। वह कन्दस्थान कोमल और उज्वल वस्त्र के समान एक बिलांद भर लम्बा और चार अंगुल चौड़ा होता है।

वज्रासन करके एड़ियों से ऊपर पाँवों को पकड़ कर नाभि के नीचे के भाग में कन्द को पीड़ित करे। इस प्रकार करता हुआ साधक शक्तिचालन मुद्रा के साथ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुंडलिनी को जाग्रत् करना चाहिए। परन्तु इससे यह प्रकट होता है कि भस्त्रा कुम्भक के साथ वज्रासन ही करे अन्य आसन न करे।

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥११६॥
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥११७॥
तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥११८॥

टीका—सूर्य का आकुंचन करने से कुंडली का चालन होता है। इस क्रिया को करने वाले योगी को मृत्यु के मुख में जाने पर भी मृत्यु का भय कहाँ है ? इसका चालन निर्भय रूप से दो घड़ी पर्यन्त करे तो सुषुम्ना गई हुई यह शक्ति ऊपर खिचती है। वैसा होने पर वह कुंडलिनी सुषुम्ना के मुख में चली जाती है, इसलिए प्राण भी स्वतः सुषुम्ना में चला जाता है ।।११६—११८।।

व्याख्या—नाभिदेश के आकुंचन से वहाँ स्थित सूर्य (अग्नि) का आकुंचन हो जाता है और सूर्य का आकुंचन होने पर ही शक्ति का चालन होता है। इस प्रकार का चालन दो मुहूर्त तक करने से ही कुण्डलिनी सुषुम्ना में जाकर ऊपर की ओर खिचती है उसके द्वारा सुषुम्ना का मुख छोड़कर ऊपर जाने के कारण प्राण के लिए सुषुम्ना का मुख खुला मिलता है, इसलिए वह भी बाधा-रहित रूप से उसमें घुसकर ऊपर की ओर चढ़ता है। 'कुण्डलीं चालयन्प्राणान्भेद यन्शशिमण्डलम्' (ब्र. वि उ.) के अनुसार कुण्डली और प्राण का चालन करके चन्द्रमण्डल का भेदन करे। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

अधस्तात्कुंचनेनाशु कण्ठ संकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ।।

अर्थात्—अधोभाग में गुदा का आकुंचन, ऊर्ध्वभाग में कण्ठ का सकोचन और मध्य में पश्चिमतान से प्राण का आकर्षण करे तो (सब ओर से रोका हुआ) प्राण ब्रह्मनाडी अर्थात् सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है।

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ।।११९।।

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥१२०॥

टीका—इसलिए नित्यप्रति के अभ्यास द्वारा सुखपूर्वक सोती हुई अरुन्धती का चालन करे, उसके चालन करने मात्र से ही योगी सब रोगों से मुक्त हो जाता है। जिसने शक्ति का चालन कर लिया वह योगी सिद्धि का पात्र हो गया। बहुत क्या कहें? वह लीलापूर्वक काल को भी जीत लेता है। ॥११६—१२०॥

व्याख्या—व्याख्या सोती हुई कुण्डलिनी को जगाकर चालन करने वाला साधक सभी रोगों से रहित एवं पूर्ण स्वस्थ हो जाता है, मृत्यु भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। सभी विघ्न बाधाओं और व्याधियों को वह क्रीडा के समान उल्लंघन करने में समर्थ होता है। इस प्रकार शक्ति के चालन में कुशल योगी मृत्यु का भी विजेता हो जाता है।

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्याभ्यासयोगिनः ॥१२१॥
कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥१२२॥

टीका—जो साधक ब्रह्मचर्य परायण रहता हुआ नित्य मिताहार करता है, उस कुण्डलिनी के अभ्यासी योगी को एक मण्डल में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जो योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक ही विशेष रूप से करता है, उस अभ्यास परायण यमी को यम का भय भी कहाँ? ॥१२१—१२२॥

व्याख्या— ब्रह्मचर्य-परायण अर्थात् इन्द्रिय संयम सदैव तत्पर योगी ही कुण्ड़लिनी के जागरण का अभ्यास कर सकता है। यदि अभ्याम करने के दिनों में ब्रह्मचर्य-रहित हो जाय तो तो बिन्दु का क्षय होने के कारण उसका शरीर रोगी होकर शनैः शनैः काल कलवित हो सकता है और सिद्धि तो उसे हो ही नहीं सकती।

'मन्डल' पद काल का वाचक है, चालीस दिन के परिमाण को मण्डल कहते हैं। विधि पूर्वक कुन्डलिनी-चालन का अभ्यास करने वाला योगी एक मन्डल के समय में ही सिद्धि का दर्शन कर लेते है अर्थात उन्हें सिद्धि मिल जाती है। परन्तु इसके लिए उन्हें भस्त्रा कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिए।

यमी का अर्थ है 'यम' का पालन करने वाला। योगी को यम-नियमों का पालन आवश्यक होता है और इसीलिए वह यम-नियम-परायण रहता है. अतः 'यमी' शब्द का प्रयोग साधक के अर्थ में हुआ है। इससे यह प्रकट किया गया कि साधक मृत्यु से भी नहीं डरता। उसकी साधना में कितने ही विघ्न क्यों न आकर उपस्थित हो जाँय, वह धैर्य और साहस पूर्वक उनका उल्लंघन कर जाता है। परन्तु जो यमों का पालन नहीं करता, उसे जन्म-मरण के भय में पड़ना होता है।

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोभने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥१२३॥
इयं तु मध्यमा नाडी दृढ़ाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरया भवेत् ॥१२४॥

टीका—कुन्डलिनी के अभ्यास विना वहत्तर हजार नाड़ियों मल-शोधनार्थ उनके प्रक्षालन का अन्य उपाय ही क्या

है ? यह मध्य नाड़ी योगियों के दृढ़ अभ्यास द्वारा आसन, प्राणायाम और मुद्रा से सरल होती है ॥१२३—१२४॥

व्याख्या—शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, सामान्य दशा में वे सभी मल से भरी रहती हैं। परन्तु कुन्डलिनी चालन का अभ्यास करने से वे नाड़ियाँ स्वयं धुल-धुल कर शुद्ध हो जाती हैं। इसलिए श्लोक में कुन्डलिनी चालन के अभ्यास का कर्त्तव्य रूप से संकेत है।

मध्य नाड़ी का अर्थ सुषुम्ना है, क्योंकि यही नाड़ी इडा और पिंगला के मध्य में रहती है। इसे सरल अर्थात् उपयोगी बनाने के लिए आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि साधनों की आवश्यकता होती है, क्योंकि उन्हीं साधनों के सिद्ध होने पर शक्ति प्रबुद्ध होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है।

अभ्याये तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यद्रा मुद्रा भद्राँ सिद्धिं प्रयच्छति ॥१२

टीका—अभ्यास काल में अनिद्रित रह कर जो साधक मन को समाधि में लीन कर लेते हैं, उन्हें रुद्राणी आदि मुद्राएं कल्याणमयी होकर सिद्धि के देने वाली होती हैं ॥१२५॥

व्याख्या--अभ्यास के समय साधक को आलस्य और निद्रा का परित्याग करना चाहिए, क्योंकि उनके होने पर समाधि में मन का लय नहीं होता, वरन् वह तो निद्रा-रहित अवस्था में ही हो सकता है। चित की एकाग्रता अनिद्रित अवस्था में ही बनती है और उसी को समाधि कहते हैं।

रुद्राणी मुद्रा का अभिप्राय शाम्भवी मुद्रा से है। 'लक्ष्येऽन्तर्वाह्ययां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां च इयं शाम्भवी मुद्रा

भवति' (मण्डलब्राह्मणोपनिषत्) अर्थात् 'लक्ष्य के भीतर और बाहर की दृष्टि जब निर्निमेष रूप से स्थिर हो जाती है, तब यह शाम्भवी मुद्रा होती है।' और इस मुद्रा का फल उसी उपनिषत् में तज्ज्ञानेन संसार निवृत्तिः, तत्पूजनं मोक्षफलदम्' कह कर उसके ज्ञान से संसार की निवृत्ति और पूजन से मोक्ष की प्राप्ति बताया है ।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥१२६॥

टीका—राजयोद्व के बिना पृथिवी, निशा और मुद्रा विलक्षण हों तो भी शोभित नहीं होती ॥१२६॥

व्याख्या—इसमें राजयोग के बिना आसनादि अङ्गों की निष्फलता कही गई है। चित्तवृत्ति को अन्य विषयों से रोक कर आत्मा में निर्विकल्प रूप से योजित करना ही राजयोग है। जब तक साधक इस प्रकार की उपलब्धि में असमर्थ रहता है, तब तक पृथिवी अर्थात् आसन, निशा अर्थात् कुम्भक, विचित्र मुद्रा अर्थात महामुद्रा आदि सभी निरर्थक हैं ।

कुछ विद्वानों ने पृथिवी का अर्थ स्थिरता भी किया है, क्योंकि पृथिवी स्थिर रहती है और वैसी स्थिरता राजयोग अर्थात् चित्त वृत्ति के निरोध से ही हो सकती है। निशा का अर्थ कुम्भक इसलिये किया है कि जैसे रात्रि में राज पुरुषों का आवागमन नहीं रहता वैसे ही कुम्भक में प्राण का संचार रुका रहता है। परन्तु यह प्राणावरोध तब तक निष्फल है जब तक कि चित्त वृत्ति को आत्म-विषयक विचार में लीन न कर लिया जाय। यही बात महामुद्रा आदि पर भी लागू होती है कि वे कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, चित्तवृत्ति असंयमित है तो उसका महत्व किसी उपयोग का नहीं ।

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥१२७॥
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥१२८॥

टीका—वायु-धारण की सम्पूर्ण विधि का अभ्यास मन लगा कर करे, उससे भिन्न किसी भी कार्य में मनीषी पुरुष को मनोवृत्ति नहीं लगानी चाहिए। आदिनाथ शिवजी ने यह दश मुद्रा बताई हैं। उनमें से कोई एक मुद्रा भी यमी (योगी) के लिए महासिद्धि के देने वाली हो सकती है ॥१२७—१२८॥

व्याख्या—प्राणायाम आदि की सभी विधियों को चंचल मन से न करे, वरन् मन को स्थिर करके उसी में लगा दे, तभी सफलता मिल सकती है। योगाभ्यासी पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह मनो को किसी अन्य विषय की ओर न जाने दे। ऊपर जो दश मुद्राएं कही हैं वह आदि नाथ रूप शिवजी द्वारा वर्णित हैं। उनमें से कोई-सी भी मुद्रा अभ्यास से सिद्धिप्रद हो सकती है।

सद्गुरु प्रशंसा

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्री गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥१२९॥
तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥१३०॥

टीका—मुद्राओं के उपदेश को जो साम्प्रदायिक रूप से देता है, वही श्री गुरुदेव स्वामी और साक्षात् ईश्वर है। उसके

वाक्यों में तत्पर होकर जो साधक मुद्रा के अभ्यास में सावधान होने पर अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति और काल के वंचन की उपलब्धि प्राप्त कर सकते हैं ।।१२९—१३०।।

व्याख्या—सम्प्रदाय का अर्थ यहाँ नाथ सम्प्रदाय है जो कि श्री आदि नाथजी से ही प्रारब्ध हुआ था। उस सम्प्रदाय के उपदेश को जो सद्गुरु प्रदान करे, वह निश्चय ही साक्षात् रूप से परमेश्वर है। अर्थात् सम्प्रदाय के अनुसार योग का उपदेश करने वाले गुरु के वचन में जिज्ञासु को श्रद्धा और विश्वास रखते हुये, उन्हीं के अनुसार चलना चाहिए। गुरु के वचनों में इस प्रकार परायण जिज्ञासु समाहित चित्त से योगाभ्यास में तत्पर हो जाय तो उसे अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ तो प्राप्त होती ही है, साथ ही वह मृत्यु के उल्लघन में भी समर्थ होता है।

।। हठयोग प्रदीपिका का तृतीयोपदेश समाप्त ।।

त्याभ्यासस्य योगो युक्तिस्तेन 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इति कोशः। राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ-अब हठयोगके अभ्याससे राजयोगप्राप्तिका प्रकार कहते हैं कि, कुम्भक-प्राणायामसे प्राणका रोध करनेके अंत (मध्य) में अन्तःकरणको निराश्रय करदे अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधिके होनेपर ब्रह्माकार स्थितिके अनन्तर वैराग्यसे चित्तका लय करदे इस पूर्वोक्त रीतिसे किये अभ्यासके योगसे राजयोग पदको प्राप्त होता है यहां योगपद इस कोशके अनुसार युक्तिका बोधक है ॥ ७७ ॥

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ॥
अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ७८

इति हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

हठसिद्धिज्ञापकमाह-वपुःकृशत्वमिति ॥ वपुषो देहस्य कृशत्वं कार्श्यं वदने मुखे प्रसन्नता प्रसादो नादस्य ध्वनेः स्फुटत्वं प्राकट्यं नयने नेत्रे सुष्ठु निर्मले अरोगस्य भावोऽरोगता आरोग्यं बिंदोर्धातोर्जयः क्षयाभावरूपः अग्नेरौदर्यस्य दीपनं दीप्तिर्नाडीनां विशेषेण शुद्धिर्मलापगमः एतद्धठस्य हठाभ्यासासिद्धेर्भाविन्या लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ज्योत्स्नाभिधायां ब्रह्मानंदकृतायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

भाषार्थ-अब हठयोगसिद्धिके लक्षणोंको कहते हैं कि देहकी कृशता सुखमें प्रसन्नता नादकी प्रकटता और दोनों नेत्रोंकी निर्मलता रोगका अभाव बिन्दुका जय अर्थात् नाडियोंमें मलका अभाव ये हठयोगसिद्धिके लक्षण हैं अर्थात् ये चिह्न होयँ तो यह जानना कि, इसको हठयोगकी सिद्धि होजायगी ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठयोगप्रदीपिकायां पण्डितमिहिरचन्द्रकृतभाषाविवृत्तिसहितायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोपदेशः ३.

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ॥
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ १ ॥

अथ कुंडल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह-सशैलेति ॥ शैलाश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्ता-

साम् । धात्र्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्भेदमादाय बहुवचनम् । अहीनां सर्पाणां नायको नेताऽहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत् । सर्वेषां योगस्य तंत्राणि योगतंत्राणि योगोपायास्तेषां कुंडल्याधारशक्तिराश्रयः । कुंडलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

भाषार्थ-अब इसके अनंतर कुण्डली सर्व योगोंका आश्रय है इसका वर्णन करते हैं कि जैसे संपूर्ण पर्वत वनोंसहित जितनी भूमि हैं उनका आश्रय (आधार) जैसे सर्पोंका नायक शेष है तिसी प्रकार योगके समस्त उपायोंका आधार भी कुण्डली है क्योंकि कुण्डलीके बोध विना योगके संपूर्ण उपाय व्यर्थ हैं यद्यपि भूमि एक है-तथापि देशभेदसे भूमिके भेदको मानकर बहुवचन (धात्रीणाम्) यहां दिया है ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ॥
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोऽपि च ॥ २ ॥

कुंडलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्याम्-सुप्तेति ॥ सुप्ता कुंडली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यंते भिन्नानि भवंति । ग्रंथयोऽपि च ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथयो भिद्यंते भेदं प्राप्नुवंतीत्यन्वयः ॥ २ ॥

भाषार्थ-अब कुण्डलीके बोधका दो श्लोकोंसे फल कहते हैं जब गुरुकी प्रसन्नतासे सोती हुई कुण्डली जागती है तब संपूर्ण पद्म अर्थात् हृदयके षट्चक्र भिन्न होजाते हैं अर्थात् खिल जाते हैं और ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथिरूप तीनों ग्रंथि भी खुल जाती हैं ॥ २ ॥

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ॥
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३ ॥

प्राणस्येति ॥ तदा शून्यपदवी सुषुम्ना प्राणस्य वायो राज्ञां पंथा राजपथं राजपथमिवाचरति राजपथायते राजमार्गायते । सुखेन गमनसंभवात् । तदा चित्तमालंबनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालंबं निर्विषयं भवति । तदा कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

भाषार्थ-और तिसीप्रकार प्राणकी शून्यपदवी (सुषुम्ना) राजपद (सडक) के समान होजाती है अर्थात् प्राण उसमेंको सुखसे गमन करने लगता है-और उसीसमय चित्तभी निरालंब होजाता है अर्थात्--विषयोंका अनुरागी नहीं रहता और उसीसमय कालका वंचन होता है अर्थात् मृत्युका भय दूर होजाता है ॥ ३ ॥

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ॥
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ॥
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥

सुषुम्नापर्यायानाह-सुषुम्नेति ॥ इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः। पर्याया इत्यर्थः स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ तस्मादिति ॥ यस्मात्कुंडलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुंडलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥ ४ ॥ ५ ॥

भाषार्थ-अब सुषुम्नानाडीके पर्यायोंको कहते हैं कि, सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरंध्र, महापथ, श्मशान, शांभवी, मध्यमार्ग ये संपूर्ण शब्द एक अर्थके वाचक हैं अर्थात् इन सबका सुषुम्ना नाडी अर्थ है जिससे कुण्डलीके बोधसेही षट्चक्र भेद आदि होते हैं इससे संपूर्ण प्रयत्नसे सच्चिदानंदरूप ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय जो सुषुम्ना उसके अग्रभागमें सुषुम्नाके द्वारको ढककर सोतीहुई जो ईश्वरी (कुण्डली) है उसका प्रबोध (जगाना) करनेके लिये मुद्राओंका अभ्यास करै अर्थात् महामुद्रा आदिको करै ॥ ४ ॥ ५ ॥

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ॥
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥

मुद्रा उद्दिशति-महामुद्रेत्यादिना सार्धेन ॥ सार्धार्थः स्पष्टः ॥ मुद्राफलमाह सार्द्धद्वाभ्याम्-इदमिति ॥ इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

भाषार्थ-महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबंध, जालंधरबंध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन, ये पूर्वोक्त दशमुद्रा जरा और मरणको नष्ट करती हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ॥
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

आदिनाथेति ॥ आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितम् । दिवि भव दिव्यमुत्तमम् । अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिमामहिमा- गरिमालघिमाप्राप्तिप्राकाम्येशतावशितारूपाणि । तत्राणिमासंकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशा- दिवन्महद्भावः २ । गरिमा लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः ३ । लघिमा गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः ४ । प्राप्तिः सर्वभाव- सान्निध्यम् । यथा भूमिस्थ एवांगुल्यग्रेण स्पृशति चंद्रमसम् ५ । प्राका- म्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च ६ । ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणम् ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवा- नामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

भाषार्थ-और आदिनाथने कहे जो उत्तम आठ ऐश्वर्य उनको भलीप्रकार देती है और संपूर्ण जो कपिल आदि सिद्ध हैं उनको प्रिय है और देवताओंकोभी दुर्लभ है वे आठ ऐश्वर्य ये हैं कि--अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशता, वशिता उनमें अणिमा वह सिद्धि होती है कि, योगीके संकल्पमात्रसे प्रकृतिके दूर होनेपर परमाणुके समान सूक्ष्म देह होजाय उसे अणिमा १ कहते हैं और प्रकृतिके आपूरको करके अर्थात् अपने देहमें भरके आकाशके समान महान् स्थूल होजानेको महिमा २ सिद्धि कहते हैं । और तूल (रुई) आदि लघुपदार्थकोभी पर्वत आदिके समान जो गुरु (भारी) होजाना है उसे गरिमा ३ कहते हैं और अत्यंत गुरु (पर्वत आदि) का जो तूल आदिके समान लघु (हलका) होना है उसे लघिमा ४ कहते हैं और संपूर्ण पदार्थोंके जो समीप पहुंचना जैसे कि भूमिपर स्थित योगी अंगुलिके अग्रसे चंद्रमाका स्पर्श करले इसे प्राप्ति ५ कहते हैं और इच्छाका अनभिघात अर्थात् जलके समान भूमिमें प्रविष्ट होजाय और निकस आवै इसको प्राकाम्य ६ कहते हैं । पांचों महाभूत और उनसे उत्पन्न भौतिकपदार्थ इनकी उत्पत्ति और प्रलय और पालनके सामर्थ्यको ईशता सिद्धि ७ कहते हैं और भूत भौतिक पदार्थोंको अपने अधीन करनेको वशिता ८ सिद्धि कहते हैं ये आठों सिद्धि पूर्वोक्त दशों मुद्राओंके करनेसे होती हैं ॥ ८ ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ॥
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥९॥

गोपनीयमिति ॥ प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयम् । गोपनीयत्वे दृष्टांतमाह-यथेति ॥ रत्नानां हीरकादीनां करंडकं रत्नकरंडकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् । कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वक्तव्यं नैव वाच्यं किमुतान्यस्य । तत्र दृष्टांतः कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा तद्वत् ॥ ९ ॥

भाषार्थ-ये पूर्वोक्त दशों मुद्रा इसप्रकार प्रयत्नसे गुप्त करने योग्य हैं जैसे हीरा आदि-रत्नोंका करंड (पेटारी) गुप्त करने योग्य होतीहै और किसी मनुष्यको वा ब्रह्माको भी इसप्रकार नहीं कहनी अन्यकी तो कौन कथा है जैसे कुलीनस्त्रीके सुरत (संगम) को किसीको नहीं कहते हैं ॥ ९ ॥

अथ महामुद्रा ।

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ॥
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १० ॥

दशविधमुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह-पादमूलेनेति ॥ वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपाद-पार्ष्णिनेत्यर्थः । योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्याकुंचितवाम-पादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः । दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वांगुलिकं दंडवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायादाकुंचितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदंगुष्ठप्रदेशे गृह्णी-यात् ॥ १० ॥

भाषार्थ-अब दसोंमुद्राओंमें प्रथम जो महामुद्रा उसका वर्णन करते हैं कि, वामपादके मूल (तल) से अर्थात् पार्ष्णिसे योनिस्थानको अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागको भलीप्रकार पीडित (दबाना) करके और दक्षिणपादको प्रसारित (फैलाना) करके अर्थात् दक्षिणपादकी पार्ष्णि (ऐड) को भूमिसे मिलाकर और उसकी अंगुलियोंको ऊप-रको करके और उस दक्षिणपादको मुकडीहुई दोनों हाथोंकी तर्जनीओंसे दृढरीतिसे (खूब) अंगूठेके स्थानमें धारण करै अर्थात् जोरसे पकडले ॥ १० ॥

कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

कंठ इति ॥ कंठे कंठदेशे बंधनं सम्यगारोप्य कृत्वा । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः । वायुं पवनमूर्ध्वत उपरि सुषुम्नायां धारयेत् । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु योनिसंपीडनेन जिह्वाबंधनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः । यथा दंडेन हतस्ताडितो दंडहतः सर्पः कुंडली दंडाकारः दंडस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः । वक्राकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः । प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

भाषार्थ–और कंठके प्रदेशमें भलीप्रकार जालंधरनामके बंधको करके वायुको ऊर्ध्वदेश (सुषुम्ना) मेंही धारण करे अर्थात् मूलबंध करे और सांप्रदायिक अर्थात् संप्रदायके ज्ञाता तो यह कहते हैं कि, वह मूलबंध तो योनिका संपीडन और जिह्वाके बंधनसे चरितार्थ है अर्थात् पृथक् मूलबंध करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा करनेसे जैसे दंडसे हताहुआ सर्प (कुण्डली) दंडके समान आकारवाला होजाताहै अर्थात् वक्रताको त्यागकर भलीप्रकार सरल होजाताहै ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥१२॥

ऋज्वीभूतेति ॥ तथा कुंडल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत् । तदा सेति । द्वे पुटे इडा पिंगले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते । कुंडलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२ ॥

भाषार्थ–तिसीप्रकार आधार शक्ति रूप जो कुंडली है वह शीघ्रही ऋज्वीभूत (सरल) होजाती है और उस समय इडा और पिंगलारूप जो दोनों पुट हैं वे आश्रय जिसके ऐसी वह मरणकी अवस्था होजाती है अर्थात् कुण्डलीका बोध होनेपर सुषुम्नानाडीमें प्राणका प्रवेश होजाता है इससे इडा और पिंगला दोनोंका प्राणवियोग (मरण) होजाताहै ॥ १२ ॥

ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥१३॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥

तत इति ॥ इयमिति ॥ ततस्तदनंतरं शनैःशनैरेव रेचयेत्। वायुमिति संबध्यते वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत्। वेगतो रेचने बलहानिप्रसंगात्। खल्विति वाक्यालंकारे। इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता। महामुद्राया अन्वर्थतामाह महांतश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशाः अविद्यास्मितरागद्वेषाभिनिवेशाः पंच ते आद्यो येषां ते शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयंते। मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयंते नश्यंति। यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदंति। महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

भाषार्थ–तिससे शनैः २ प्राणवायुका रेचन करै, वेगसे न करै क्योंकि वेगसे रेचन करनेमें बलकी हानी होती है तिससेही देवताओंमें उत्तम इसको महामुद्रा कहते हैं और वह महामुद्रा आदिनाथ आदिमहासिद्धोंने भलीप्रकार दिखाई है। अब महामुद्राके अन्वर्थनामका वर्णन करते हैं कि, अविद्या, स्मित, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पांचों महाक्लेश और मरण आदि दुःख इस मुद्राके करनेसे क्षीण (नष्ट) होजाते हैं तिससेही देवताओंमें श्रेष्ठ इसको महामुद्रा कहते हैं अर्थात् महाक्लेशोके नष्ट करनेसेही इसक देवताओंने महामुद्रा नाम रक्खा है ॥ १३ ॥ १४ ॥

चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५ ॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह–चंद्रांग इति ॥ चंद्रेण चंद्रनाड्योपलक्षितमंगं चंद्रांगं तस्मिन् चंद्रांगे वामांगे। तुशब्दः पादपूरणे। सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिंगलयोपलक्षितमंगं सूर्यांगं तस्मिन् सूर्यांगे दक्षांगे पुनर्वामांगाभ्यासानंतरं यावद्यावत्कालपर्यंतं तुल्या वामांगे कुंभकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत्। ततः संख्यासाम्यानंतरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत्। अत्रायं क्रमः। आकुंचितवामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो वामांगेऽभ्यासः। अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामांगे तिष्ठति। आकुंचितदक्षपादपार्ष्णिं योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो दक्षांगेऽभ्यासः अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षांगे तिष्ठति ॥ १५ ॥

भाषार्थ-अब महामुद्राके अभ्यासका क्रम कहते हैं कि--चंद्रनाडी (इडा) से उपलक्षित (ज्ञान) जो अंग उसे चंद्रांग कहते हैं अर्थात् वाम अंगकेविषे भलीप्रकार अभ्यास करके सूर्य नाडी (पिंगला) से उपलक्षित जो दक्षिण अंग उसके विषे अभ्यास करे और जबतक कुम्भक प्राणायामोंके अभ्यासकी संख्या समान (तुल्य) हो तबतक भलीप्रकार अभ्यास करे फिर संख्याओंकी समानताके अनंतर महासमुद्राका विसर्जन करदे, यहां यह क्रम जानना कि, संकुचित किये वामपादकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें युक्त (मिला) करके प्रसारित (पसारे) दक्षिण पादके अँगूठेको आकुंचित (सुकडी) तर्जनीयोंसे ग्रहण करके जो अभ्यास उसे वामांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया (भराहुआ) वायु वामांगमें टिकता है और आकुंचित किये दक्षिणपादकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें संयुक्त करके और प्रसारित (फैलाये) किये वामपादके अँगूठेको आकुंचित की हुई दोनों हाथोंकी तर्जनियोंसे ग्रहण करके जो अभ्यास उसे दक्षांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया वायु दक्षिण अंगमें टिकता है ॥ १५ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ १६ ॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः-न हीति ॥ हि यस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्यविचारो नास्तीत्यर्थः । तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कट्वम्लादयो जीर्यंते इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यन्ति । घोरमिति । दुर्जरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति । किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

भाषार्थ-अब तीन श्लोकोंसे महामुद्राके गुणोंको कहते हैं कि, जिससे महामुद्रा अभ्यास करनेवाले योगीको पथ्य और अपथ्यका विचार नहीं है तिससे नीरस (बिगडे हुये) भी संपूर्ण भक्षण किये कटु अम्ल आदि रस जीर्ण हो (पच) जाते हैं और भक्षण किया विषके समान घोर अन्नभी अमृतके समान जीर्ण होजाता है अर्थात् पचनेके अयोग्यभी पचजाता है तो योग्य क्यों न पचेगा ? ॥ १६ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७ ॥

क्षयेति ॥ यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः, कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगविशेषाः। अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि

येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यांति प्राप्नुवंति ॥ १७ ॥

भाषार्थ-जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करताहै, क्षय, गुदावर्त गुल्मरूप रोग विशेष अजीर्ण अर्थात् भोजन किये अन्नका अपरिपाक ये हैं मुख्य जिनमें ऐसे महोदर, ज्वर आदि-दोष उनके क्षय हो जातेहैं अर्थात् नहीं रहते हैं ॥ १७ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ १८ ॥

महामुद्रामुपसंहरंस्तस्या गोप्यत्वमाह-कथितेति ॥ इयमेषा महामुद्रा कथितोक्ता । मयेति शेषः। कीदृशी नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम् । प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा यस्यकस्यचिद्यस्य कस्याप्यनाधिकारिणोऽसंबंधस्य । सामान्ये षष्ठी । न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

भाषार्थ-अब महामुद्राको समाप्त करते हुए उसको गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, यह पूर्वोक्त जो महामुद्रा वर्णन की है वह मनुष्योंको महासिद्धिकी करनेवाली है और बडे यत्नसे गुप्त करने योग्य है और जिस किसी अनधिकारी पुरुषको न देनी ॥ १८ ॥

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥

महाबंधमाह-पार्ष्णिमिति ॥ वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्ष्णिं गुल्फयोरधोभागम् 'तद्ग्रंथी घुटिके गुल्फौ पुमान्पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः। योनिस्थाने गुदमेढ्रयोरंतराले नियोजयेन्नितरां योजयेत् । वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा। तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

भाषार्थ-अब महाबंधका वर्णन करते हैं कि, वामचरणकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागमें लगावे और वामजंघा ऊपर दक्षिण पादको रख कर बैठे ॥ १९ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीडय वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥ २० ॥

पूरयित्वेति॥ततस्तदनंतरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरबंधः प्रोक्तः । योनिं गुदमेढ्रयोरंतरालमाकुंच्य । अनेन मूलबंधःसूचितः । स तु जिह्वाबंधेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः। मनः स्वांतं मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

भाषार्थ—इसपूर्वोक्त आसन बांधनेके अनंतर वायुको पूरण करके और हृदयमें दृढतासे (खूब) चुबुक (ठोढी) को अर्थात् इस जालंधर बंधको करके और योनि (गुदा लिंगकेमध्य) को संकुचित करके अर्थात् मूलबंधको करके परन्तु यह मूलबन्ध जिह्वाके बन्धनसेही सिद्ध है इससे करने योग्य नहीं हैं फिर मनको मध्य नाडीकेविषे प्रविष्ट करे ॥ २० ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

धारयित्वेति ॥ शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा शनैर्मंदं मंदमनिलं वायुं रेचयेत् । सव्यांगे वामांगे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षांगे दक्षिणांगे पुनर्यावत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—फिर वायुको यथाशक्ति धारण करके अर्थात् कुंभक प्राणायामको करके शनैः २ वायुका रेचन करै इसप्रकार वाम अंगमें भलीप्रकार अभ्यास करके दक्षिण अंगमें फिर अभ्यास करै और वह अभ्यास तबतक करे जबतक वामांग अभ्यासकी जो संख्या उसकी तुल्यताहो ॥ २१ ॥

मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥
राजदंतस्थजिह्वाया बंधः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥

अथ जालंधरबंधे कंठसंकोचस्यानुपयोगमाह—मतमिति॥केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतम् । किं तदित्याह । अत्र जालंधरबंधे कंठस्य बंधनं बंधः संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः यतो दंतानां राजानो राजदंता राजदंतेषु तिष्ठतीति राजदंतस्था राजदन्तस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तदुपरिभागस्य संबंधः शस्तः । कंठाकुंचनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः ॥ २२ ॥

भाषार्थ—अब जालंधरबंधमें कंठके संकोचका अनुपयोग वर्णन करते हैं कि, किन्हीं आचार्योंका यह मत है कि, इस जालंधरबंधमें कंठका जो बन्धन (संकोच) उसको

विशेषकर वर्जदे. क्योंकि राजदंतों (दाढ) के ऊपर स्थित जो जिह्वा उसका बंधही जालंधर बंधमें प्रशस्त होताहै अर्थात् कंठ संकोचकी अपेक्षा वह उतम होता है ॥ २२ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ॥
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥२३॥

अयं त्विति ॥ अयं तु राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वं गतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबंधकः । एतेन 'बध्नाति हि शिराजालम्' इति जालंधरोक्तं फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम् । महाबंधस्य फलमाह—अयं खल्विति ॥ अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण ददातीति तथा ॥ २३ ॥

भाषार्थ-यह राजदंतोंमें स्थित जिह्वाका बंध, बहत्तर सहस्र ७२००० सुषुम्नासे भिन्न नाडियोंकी जो ऊर्ध्वगति अर्थात् नाडियोंमें जो प्राणवायुका ऊर्ध्वगमन उसका प्रतिबंधक है इससे यह सूचित किया कि, नाडियोंके जालको जो बंधन करै उसे जालंधरबन्ध कहते हैं यह जालंधर बन्धको फल इससेही सिद्ध है । अब महाबन्धके फलको कहते हैं कि, यह महाबन्ध निश्चयसे महासिद्धियोंको भलीप्रकार देता है ॥ २३ ॥

कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥२४॥

कालेति ॥ कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबंधो बंधनं तस्य विशेषेण मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणीसमुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यं तं मनः स्वांतं प्रापयेत् । 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ-और मृत्युके पाशका जो महाबंध उसके छुटानेमें विशेषकर प्रवीण है और तीन नदियोंका संगम जो प्रयाग है उसको करता है और मनको भृकुटियोंके मध्यमें जो शिवजीका स्थानरूप केदार है उसमें प्राप्त करता है अर्थात् पहुँचता है ॥ २४ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥
महामुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥२५॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह—रूपेति ॥ रूपं सौंदर्यं चक्षुः-

प्रियो गुणो लावण्यं कांतिविशेषः । तदुक्तम् मुक्ताफलेषु छायास्तरल-त्वमिवान्तरम् । प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते' इति । ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबंधश्च तौ महावेधेन । विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तर-पदयोर्लोपो वक्तव्यः' इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य लोपः । वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः ॥ २५ ॥

भाषार्थ-अब महावेधके कहनेके लिये प्रथम उसकी उत्तमताको कहते हैं कि, रूप (सुंदरता) और इसवचनमें कहेहुए लावण्यको मोतियोंमें छाया (प्रतिबिंबकी) तरलताके समान स्त्रीके अंगोंमें अंतर जो प्रतीत होता है वह यहां लावण्य कहाता है. इन दोनों पूर्वोक्त रूप और लावण्यसे युक्त स्त्री, पुरुषके विना निष्फल है. तिसीप्रकार महामुद्रा और बंध ये दोनों भी महावेधके विना निष्फल हैं. इस श्लोकमें वेधपदसे महावेध लेते हैं; क्योंकि इस भाष्यकारके वचनसे प्रत्ययके विनाभी पूर्व और उत्तरपदका लोप कहना । महच्छब्दका लोप होता है ॥ २५ ॥

अथ महावेधः ।

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥२६॥

महावेधमाह- महाबंधेति ॥ महाबंधे महाबंधमुद्रायां स्थितो महाबंध-स्थितः । एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा कंठे मुद्रा कंठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिमूर्ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथावृत्य निरुध्य कुंभकं कृत्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

भाषार्थ-अब महावेधका वर्णन करते हैं कि, महाबंधमुद्रामें स्थित अर्थात् करता हुआ योगी एकाग्रबुद्धिसे पूरक प्राणायामको करके अर्थात् योगमार्गसे नासिकाके पुटोंसे वायुका ग्रहण करके कंठमुद्रा (जालंधर मुद्रा) से प्राणआदि वायुओंको जो उर्ध्व अधोगतिरूप गमन है उसको निश्चल रीतिसे रोककर अर्थात् कुंभक प्राणायामको करके ॥ २६ ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥२७॥

समहस्तेति ॥ भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः ।

स्फिचौ कटिप्रोथौ । 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथौ' इत्यमरः । भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलंबनेन योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मंदं संताडयेत्सम्यक् ताडयेत् । भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिंगलयोर्युग्मनासिकाभ्यामुल्लंघ्य मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

भाषार्थ-भूमिपर लगा है तल जिनका ऐसे सरल हाथोंको अपने जो स्फिच (चूतड) हैं उनको भूमिपर लगेहुए हाथोंके आश्रय और योनिस्थानमें लगीहुई पार्ष्णि जिसकी ऐसे वामपादसहित पूर्वोक्त स्फिचोंको भूमिसे ऊपर किंचित् उठाकर शनैः २ भलीप्रकार ताडै, इस प्रकार करनेसे इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंका उल्लंघन (छोड) करके सुषुम्नाके मध्यमें वायु चलने लगता है अर्थात् सुषुम्नामें प्राणवायुकी गति होजाती है ॥ २७ ॥

सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ॥
मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत् ॥२८॥

सोमेति ॥ सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडापिंगलासुषुम्ना ग्राह्यास्तेषां संबंधः । तद्वायुसंबंधात्तेषां संबंधः । अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिंगलयोः प्राणसंचाराभावात् । ततस्तदनंतरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥ २८ ॥

भाषार्थ-फिर चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि अर्थात् ये तीनों देवता हैं क्रमसे अधिष्ठाता जिनके ऐसी इडा पिंगला सुषुम्ना नाडियोंका संबंध मोक्षका हेतु निश्चयसे होजाता है अर्थात् तीनों नाडियोंका वायु एक हो जाताहै तब इडा और पिंगलाके मध्यमें प्राणसंचारके अभावसे मरण अवस्था उत्पन्न होजाती है, क्योंकि, इडा पिंगलामें जो प्राणोंका संचार उसका नामही जीवन है, फिर मरण अवस्थाकी उत्पत्तिके अनंतर वायुको विरेचन करदे अर्थात् नासिकाके पुटोंमेंसे शनैः २ त्यागदे ॥ २८ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥

महावेध इति ॥ अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनःपुनरावर्तनान्महासिद्धयोऽणिमाद्यास्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्पकः । वली जरया चर्मसंकोचः

पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः कंपस्तान् हंतीति वलीपालितवेपघ्नः । अत एव साधकेष्वभ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्य तइत्यर्थः ॥ २९ ॥

भाषार्थ-यह महावेध अभ्यास करनेसे अणिमा आदि महासिद्धियोंको भलीप्रकार देताहै और वली अर्थात् वृद्ध अवस्थासे चर्मका संकोच और पलित अर्थात् वृद्धतासे केशोंकी शुक्लता और देहका कंपना इनको नष्ट करता है इसीसे साधकों (अभ्यासी) में जो उत्तम हैं वे इस महावेधका अभ्यासरूप सेवन करते हैं ॥ २९ ॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह—एतदिति ॥ एतत्त्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम् । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि हि यस्माज्जरा वार्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम् । चकार आरोग्यबिन्दुजयादिसमुच्चयार्थः एवशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ३० ॥

भाषार्थ-अब महामुद्रा आदि पूर्वोक्त तीनोंको अत्यंत गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, ये तीनों मुद्रा अत्यन्त गुप्त करने योग्य हैं और जोरा और मृत्युको विशेषकर नष्ट करती हैं और जठराग्निको बढाती हैं और अणिमा आदि सिद्धियोंको देती हैं अर्थात् अणिमा आदि गुणोंको भलीप्रकार उत्पन्न करती हैं और चकारके पढनेसे आरोग्य और बिंदुका जय समझना और इस श्लोकमें एव पद निश्चयका बोधक है ॥ ३० ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथैतत्त्रयस्य पृथक्साधनविशेषमाह—अष्टधेति ॥ दिने दिने प्रतिदिनम् । यामे यामे प्रहरे प्रहरे पौनःपुन्ये द्विर्वचनम् । अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते । चशब्दोऽवधारणे । एतत्त्रयमित्यत्रापि संबध्यते । कीदृशं पुण्यस्य संभारः समूहस्तस्य संधायि, पुनः कीदृशं पापानामोघः पूरः समूह इति यावत् । तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाभ्यस्तं तदैव पापनाशम् ॥ सम्यक् सांप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा । एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्तरीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ-अब इन तीनोंके पृथक् २ साधन विशेषको कहते है कि, प्रहर २ में और दिन २ में वारंवार आठप्रकारसे ये तीनों मुद्रा की जाती हैं. यहां भी एव शब्द निश्चयका वाची है और ये तीनों मुद्रा पुण्यके समूहको करती हैं और पापोंका जो समूह है उसको छेदन सदैव करती हैं और भलीप्रकार गुरुकी है शिक्षा जिनको ऐसे पुरुषोंको पूर्वोक्त आठप्रकारका जो प्रहर २ और दिन २ में साधन है वह अल्प २ (थोडा २) ही करना योग्य है अधिक २ नहीं ॥ ३१ ॥

अथ खेचरी ।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह-कपालेति ॥ कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात् । भ्रुवोरंतर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात् । सा खेचरी मुद्रा भवति । कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरंतर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ-अब खेचरीमुद्राके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम खेचरीके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, कपालके मध्यमें जो छिद्र है उसमें विपरीत (उलटी) हुई जिह्वा तो प्रविष्ट होजाय और भ्रुकुटियोंके मध्यमें दृष्टिका प्रवेश होजाय तो वह खेचरीमुद्रा होती है अर्थात् कपालके छिद्रमें जिह्वाके प्रवेश पूर्वक जो भ्रुकुटियोंके मध्यका दर्शन उसे खेचरी मुद्रा कहते हैं ॥ ३२ ॥

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३३ ॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह-छेदनेति ॥ छेदनं अनुपदमेव वक्ष्यमाणम् । चालनं हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनं, दोहः करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनं तैः कलां जिह्वां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् । तावत् कियत् । यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥ ३३ ॥

भाषार्थ-अब खेचरीमुद्राकी सिद्धिके लक्षणका वर्णन करते हैं कि, छेदन जिसका आगे शीघ्रही वर्णन करेंगे और चालन अर्थात् हाथके अँगूठे और तर्जनीसे जिह्वाको पकडकर वाम और दक्षिणरूपसे परिवर्तन (हलाना) और पूर्वोक्त अँगूठे और तर्ज-

नीसे गोदोहनके समान जिह्वाका दोहन इन तीनोसे कला (जिह्वा) को तबतक बढावै जबतक वह कला भृकुटियोंके मध्यका स्पर्श करै फिर स्पर्श होनेपर खेचरी मुद्राकी सिद्धिको जानै ॥ ३३ ॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥

तत्साधनमाह–स्नुहीति ॥ स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रेण सदृशं स्नुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानंतरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगुच्छिनेच्छिद्यात् । रसनामूलशिरामिति कर्माध्याहारः । 'मिश्रेयाप्यथ सीहुंडो वज्रस्नुक् स्त्री स्नुही गुडा' इत्यमरः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–अब खेचरीकी सिद्धिके साधनोंका वर्णन करतेहैं कि, स्नुही (सेहुंड) के पत्तेके समान जो अत्यंत तीक्ष्ण शस्त्र है चिकने और निर्मल उस शस्त्रके ग्रहण करके उससे जिह्वाके मूलकी नाडीको रोममात्र छेदन करदे ॥ ३४ ॥

ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ॥
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

तत इति ॥ ततश्छेदनानंतरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षयेच्छिन्नं शिराप्रदेशम् । सप्तदिनपर्यंतं छेदनं सैंधवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयम् । योगाभ्यासिनो लवणनिषेधात्खदिरपथ्याचूर्णं गृह्णंति मूले सैंधवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण । सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तादिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् । ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वच्छेदनापेक्षयाधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ १५ ॥

भाषार्थ–और छेदनके अनंतर चूर्ण किये (पीसे हुये) सैंधव (लवण) और हरडेसे जिह्वाके मूलको भलीप्रकार घिसे सातदिनतक प्रतिदिन छेदन और घिसनेको पूर्वोक्तप्रकारसे प्रातःकाल और सायंकालको करै और योगके अभ्यासीको लवणका निषेध है इससे यहां खदिर (कत्था) और पथ्याका चूर्ण लेना योगियोंको कहाहैं और मूलग्रंथमें तो सैंधवका कथन हठयोगके अभ्याससे पूर्व खेचरीकी सिद्धिके अभिप्रायसे है।

फिर सात दिनके बीतनेपर आठवेंदिन रोममात्रका छेदन करै अर्थात् प्रथमछेदनेसे अधिक रोममात्रका छेदन करे ॥ ३५ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥

षण्मासाद्रसनामूलशिराबंधः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

एवमिति॥एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तादिनपर्यंतं तावदेव सायंप्रातश्छेदनं घर्षणं च । अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यंतं नित्ययुक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः । षण्मासादनंतरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या शिरा कपालकुहररसनासंयोगे प्रतिबंधिकाभूता नाडी तया बंधो बंधनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

भावार्थ-इसप्रकार क्रमसे प्रथम रोममात्रका छेदन और उसकाही सातदिनपर्यंत सायंकाल प्रातःकालके समय घर्षणको प्रतिदिन युक्तहुआ छः मासपर्यंत करे और आठवें दिन पूर्व किये छेदनसे अधिक रोममात्रका छेदन करके पूर्वोक्त घर्षणको करता रहै इसरीतिसे छः मासके अनंतर जिह्वाके मूलभागमें जो शिराबन्ध है अर्थात् जिससे जिह्वा कपाल छिद्रमें नहीं पहुंच सकती वह बन्धन है वह भलीप्रकार नष्ट होजाता है ॥ ३६ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥

सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह-कलामिति ॥ कलां जिह्वां पराङ्मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पंथाः त्रिपथस्तस्मिंस्त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्संयोजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते । व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

भाषार्थ-अब छेदन आदिसे जिह्वाको वृद्धि होनेपर करने योग्य कर्मको कहते हैं कि, जिह्वाको पराङ्मुख करके अर्थात् पश्चिमको लौटाकर तीनों नाडियोंका मार्ग जो कपालका छिद्र है उसमें संयुक्त करदे वही खेचरी मुद्रा होती है और उसको ही व्योमचक्र कहते हैं ॥ ३७ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥

विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

अथ खेचरीगुणाः॥रसनामिति॥ ऊर्ध्वं ताल्वूपरि विवरं गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते । व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते । 'उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दो व्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते' इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–अब खेचरीके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, जिह्वाको तालुके ऊपरले छिद्रमें करके जो योगी क्षणार्धभी टिकता है अर्थात् एक घटिकामात्र भी स्थित रहता है (यहां क्षण पदसे इसवचनके अनुसार मुहूर्तका ग्रहण है) वह योगी धातुओंकी विषमतारूप व्याधि और मृत्यु अर्थात् प्राण और देहका वियोग और वृद्ध अवस्था आदिकोंसे और सर्प बिच्छू आदिके विषोंसे विशेषकर छूट जाता है ॥ ३८ ॥

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥३९॥

न रोग इति॥यःखेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तंद्रा तामसांतःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न क्षुधा न तृषा न पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाभिभूतावस्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–जो योगी खेचरीमुद्राको जानता है उसको रोग, मरण और अंतःकरणकी तमोगुणी वृत्तिरूप तंद्रा और निद्रा क्षुधा तृषा और चित्तकी तमोगुणीअवस्थारूप मूर्च्छा ये सब नहीं होते हैं ॥ ३९ ॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४०॥

पीड्यत इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न पीड्यते ॥ ४० ॥

भाषार्थ–जो खेचरीको जानता है वह रोगसे पीडित नहीं होता है और न कर्मसे लिप्त होता है और न कालसे बाधा जाता है ॥ ४० ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥

चित्तमिति ॥ यस्माद्धेतोश्चित्तमंतःकरणं खे भ्रुवोरंतरवकाशे चरति जिह्वा खे तत्रैव गता सती चरति। तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा। नामेति प्रसिद्धावव्ययम्। सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता। खे भ्रुवोरंतर्व्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता। उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥४१॥

भाषार्थ-जिससे चित्त (अंतःकरण) भ्रुकुटियोंके मध्यरूप आकाशमें विचरता है और जिह्वाभी भ्रुकुटियोंके मध्यमेंही जाकर विचरती है तिसीसे सिद्धों (कपिल आदि) की निरूपण कीहुई यह मुद्रा खेचरी इस नामसे प्रसिद्ध है भ्रुकुटियोंके मध्यरूप आकाशमें जिसमुद्राके करनेसे जिह्वा विचरे उसे खेचरी कहते हैं। इस व्युत्पत्तिसे सिद्धोंने यह अन्वर्थमुद्रा वर्णन की है. इन पूर्वोक्त तीनों श्लोकोंमें व्याधिआदिकी जो पुनरुक्ति है वह इसलिये दूषित नहीं है कि, ये तीनों श्लोक संगृहीत (किसीके रचेहुए) हैं अर्थात् मूलके नहीं हैं ॥ ४१ ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥४२॥

खेचर्येति ॥ येन योगिना खेचर्या मुद्रया लंबिकाया ऊर्ध्वमिति लंबिकोर्ध्वतः। सार्वविभक्तिकस्तसिः। लंबिका तालु तस्या ऊर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम्। कामिन्या युवत्याः श्लेषितस्यालिंगितस्यापि। च शब्दोऽप्यर्थे। तस्य बिंदुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ-जिस योगीने खेचरीमुद्रासे लंबिका (तालु) के ऊपरका छिद्र ढकलिया है कामिनीके स्पर्श करनेपरभी उस योगीका बिंदु (वीर्य) क्षरित (पडता) नहीं होता अर्थात् अपने मस्तकरूप स्थानसे नहीं गिरता है ॥ ४२ ॥

चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् ॥
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥४३॥

चलित इति ॥ चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिंदुर्यदा यस्मिन् काले योनिमंडलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुंचनरूपया। एतेन वज्रोलीमुद्रा सूचिता। निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याकर्षणशक्त्याहृतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति। सुषुम्नामार्गेण बिंदुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

भाषार्थ-और चलायमानहुआभी बिंदु जिससमय योनिके मंडलमें प्राप्त होजाता है तोभी लिंगके संकोचनरूप योनिमुद्रासे अर्थात् वज्रोलीसे निरंतर बँधाहुआ बिंदु आकर्षण-शक्तिसे खिंचा हुआ सुषुम्ना नाडीके मार्गसे ऊर्ध्व (बिंदुके स्थानमें) को चलाजाता है ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वजिह्व इति ॥ ऊर्ध्वा लंबिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लंबिकोर्ध्वविवरगलित-चंद्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभि-भवति । न संदेहः । निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ-तालुके ऊपरके छिद्रके उन्मुख है जिह्वा जिसकी ऐसा जो योगी वह सोमपान करता है अर्थात् ऊर्ध्व छिद्रमेंसे गिरतेहुए चंद्रामृतको पीता है योगका ज्ञाता वह एकही मासार्द्धसे अर्थात् पक्षभरसे मृत्युको जीतता है इसमें सन्देह नहीं है अर्थात् यह निश्चित है ॥ ४४ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ॥
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥

नित्यमिति ॥ यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृतपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

भाषार्थ--जिस योगीका शरीर नित्य (सदैव) चंद्रकलारूप अमृतसे पूर्ण रहता है तक्षक सर्पसे डसेहुयेभी उसके शरीरमें विष नहीं फैलता अर्थात् सर्पका विष नहीं चढता ॥ ४५ ॥

इंधनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ॥
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥ ४६ ॥

इंधनानीति ॥ यथा वह्निः इंधनानि काष्ठादीनि न मुंचति दीपको दीपः तैलवर्तिं च तैलयुक्तां वर्त्तिं न मुंचति । तथा सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतपूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुंचति न त्यजति ॥ ४६ ॥

भाषार्थ-जैसे अग्नि काष्ठआदि इंधनोंको और दीपक तैल और बत्तीको नहीं त्यागतेहैं अर्थात् उनके विना नहीं रहतेहैं तैसेही देही (जीवात्मा) सोमकलासे पूर्ण देहको नहीं त्यागताहै अर्थात् सोमकलासे पूर्ण देह सदैव बना रहताहै ॥ ४६ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

गोमांसमिति ॥ गोमांसं पारिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगिनम् । अहमिति ग्रंथकारोक्तिः । कुले जातः कुलीनः तं सत्कुलोत्पन्नं मन्ये । तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते-कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् । जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥ दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् । भवकोटिशतापात्तं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥' ब्रह्मांडपुराणे । 'गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च। ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥' राजयोगे वामदेवं प्रति शिववाक्यम्-'राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः। तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम् । दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः । अज्ञा मुक्तिपदं यांति किं पुनस्तत्परायणाः ॥ अंतर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः । त्वया मयाप्यसौ वंद्यः शेषैर्वंद्यस्तु किं पुनः ॥' इति । कूर्मपुराणे-'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा । ये युंजंते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ॥' इति । इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-जो योगी प्रतिदिन गोमांस (जो आगे कहेंगे) को भक्षण करताहै और प्रतिदिन अमरवारुणी (जो आगे कहेंगे) को पीताहै उसकोही हम श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न मानतेहैं अन्य सब मनुष्य कुलघातक (नाशक) हैं क्योंकि श्रेष्ठकुलमें उनका जन्म निरर्थक है सोई ब्रह्मवैवर्त्तमें कहाहै कि, योगीके माता पिता कृतार्थ हैं और उसके देश और कुलको धन्य है जहां योगवान् पैदा होताहै और योगीको दिया दान अक्षय होताहै पुरुष और प्रकृतिका विवेकी योगीजन दर्शन, भाषण स्पर्श करनेसे मनुष्योंके कोटियों जन्मोंके पापोंसे पवित्र करतेहैं । ब्रह्माण्डपुराणमें लिखाहै कि, सहस्र गृहस्थी और सौ वानप्रस्थ और सहस्र ब्रह्मचारियोंसे योगाभ्यासी अधिक होताहै और राजयोगके विषयमें वामदेवके प्रति शिवजीका वाक्य है कि, राजयोगके यथार्थ माहात्म्यको कौन जान सकताहै ? राज-

योगका ज्ञानी जहां वसताहै वह देश पुण्यात्मा है इसके दर्शन और पूंजनसे इक्कीस कुल सहित मूर्ख भी मुक्तिके पदको प्राप्त होतेहैं, योगमें तत्पर तो क्यों न होंगे जो अंतर्योग और बहिर्योगको विशेषकर जानताहै वह मुझे और तुझेभी नमस्कार करने योग्य है और शेषमनुष्योंको वन्दना करने योग्य तो क्यों न होगा । कूर्मपुराणमें लिखाहै कि, एकसमय वा द्विकालमें वा त्रिकालमें वा नित्य जो महायोगका अभ्यास करते हैं वे महेश्वर (शिव) जानने । इन वचनोंसे योग सर्वोत्तम है ॥ ४७ ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥

गोमांसशब्दार्थमाह–गोशब्देनेति ॥ गोशब्देन गोइत्याकारकेण शब्देन गोपदेनेत्यर्थः । जिह्वा रसनोदिता कथिता । तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपाधर्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ–अब गोमांस शब्दके अर्थको कहते हैं कि, गोपदसे जिह्वा कही जातीहै और तालुके समीप जो ऊर्ध्वछिद्र उसमें जो जिह्वाका प्रवेश उसको गोमांसभक्षण कहते हैं–वह गोमांसभक्षण महापातकोंका नाश करनेवाला है ॥ ४८ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ॥
चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह–जिह्वेति । जिह्वायाः प्रवेशो लंबिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वाह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वाह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते । यः सारः चंद्राद्भ्रुवोरंतर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ–अब अमरवारुणी शब्दके अर्थको कहते हैं कि, तालुके ऊर्ध्व छिद्रमें जिह्वाके प्रवेशसे उत्पन्न हुई जो वह्नि (ऊष्मा) उससे उत्पन्न हुआ जो सार चंद्रमासे झरताहै अर्थात् भ्रुकुटियोंके मध्यमें वामभागमें स्थित चंद्रमासे बिंदुरूप सार गिरताहै उसको अमरवारुणी कहते हैं ॥ ४९ ॥

चुम्बंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥५०॥

चुंबंतीति ॥ यदि लंबिकाग्रं लंबिकोर्ध्वविवरं चुंबंती स्पृशन्ती । अनिशं निरंतरम् । अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्यंदः स्यंदनं प्रस्रवणमस्यामस्तीति रसस्यंदिनी यस्य जिह्वा । क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा । कटुकं मरिचादि आम्लं चिंचाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना । मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा तथाशब्दः समुच्चये । एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वात्स्निग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्यंदने तथात्वमुक्तम् । तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अंतःकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वाभिमुखागमनं तस्योदीरणं निवारणम् । अष्टौ गुणा अणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्वममरभावः । सिद्धानामंगनाः सिद्धांगनाः सिद्धाश्चता अंगनाश्चेति वा तासामाकर्षणमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ५० ॥

भाषार्थ–यदि रस (सोमकलाका अमृत) का स्यंदन (झरना) करनेवाली और लवणके रसके समान और मरीच आदि कटु और इमली आदि अम्ल और दूध इनके सदृश और मधु (सहत) और घृत इनकी तुल्य इन सब विशेषणोंमें रसमें अनेक रस और मधुरता और स्निग्धता (चिकनाई) कही उस रसके झरनेवाली जिह्वाकोभी वैसीही कही समझना अर्थात् पूर्वोक्तप्रकारकी जिह्वा तालुके ऊपर वर्तमानछिद्रका वारंवार चुंबन (स्पर्श) करे तो उस मनुष्यकी व्याधियोंका हरण और वृद्ध अवस्थाका अन्त करना और सन्मुख आये शस्त्रका निवारण और अणिमा आदि आठ सिद्धि हैं जिसमें ऐसा अमरत्व (देवत्व) और सिद्धोंकी अंगनाओंका वा सिद्धरूप अंगनाओंका आकर्षण (बुलाना) उसको ये फल होते हैं ॥ ५० ॥

मूर्ध्नःषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन् ॥
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥५१॥

मूर्ध्न इति ॥ रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य। ऊर्ध्वमुत्तानमास्यं यस्य सः। ऊर्ध्वास्य इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता। परां शक्तिं कुंडलिनीं चिंतयन्ध्यायन्सन् प्राणान्साधनभूतान्। षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं कंठस्थाने वर्तमानं तस्मिन्गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरंगं च तत्कलाजलं सोम, कलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता त्रिविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान् धारयति। हठाद्धठयोगात्। प्राणात्साधनभूतादवाप्तमिति वा योजना। प्राणैरिति क्वचित्पाठः॥ ५१॥

भाषार्थ-जो योगी, जिह्वाको कपालके छिद्रमें लगाकर और ऊपरको मुख करके इससे विपरीत करणी सूचित की--और परमशक्ति जो कुण्डलिनी उसका ध्यान करता हुआ प्राणवायुके साधन और हठयोगसे प्राप्त और षोडश हैं पत्र जिसके ऐसे पद्ममें मस्तकसे पतित और निर्मल और धारारूप और ऊपरको हैं तरंग जिसके ऐसे चंद्रकलाके जलको पीता है व्याधिसे रहित और मृणाल (बिस) के समान कोमल है वपु (देह) जिसका ऐसा वह योगी चिरकालतक जीता है॥ ५१॥

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्॥
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः॥५२॥

यत्प्रालेयमिति॥ मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्ना मेरुस्तस्य मूर्धोपरिभागस्तस्यांतरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धांतरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरं तस्मिन्विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः। तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति। 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः। आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्वमित्युक्तम्। निम्नगानां गंगायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्यानामिडापिंगलासुषुम्नागांधारीप्रभृतीनां तत्तस्मिन्विवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चंद्रात्सोमाद्वपुषः

शरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चंद्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति । अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात् । सुकरणे बद्धे चंद्रसारस्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः अन्यथा सुकरणबंधनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात् ॥ ५२ ॥

भाषार्थ-मेरुके समान सबसे ऊँची जो सुषुम्ना नाडी उसके मूर्द्धा (ऊपरके भाग) के मध्यमें टिकाहुआ जो प्रालेय अर्थात् सोमकलाका जल है और जिसमें वह जल स्थित है ऐसा विवर (छिद्र) है उस विवरमें रजोगुण तमोगुणसे नहीं हुआ है तिरस्कार जिसका ऐसी बुद्धिवाले मनुष्य आत्मतत्त्वको कहते हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि, सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है-क्योंकि आत्मा विभु (व्यापक) है और खेचरी-मुद्रामें उस विवरमें आत्मा प्रकट होताहै इससे उसमें तत्त्व है यह कहना ठीक है-और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा आदि शब्दोंका अर्थ जो इडा, पिंगला सुषुम्ना, गांधारी आदि नाडी हैं उनके मुखभी उसी छिद्रके समीपमें हैं और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरताहै उससेही मनुष्योंकी मृत्यु होती है तिससे शोभन करणरूप खेचरीमुद्राको बांधे (करै) क्योंकि खेचरीमुद्राके करनेसे चंद्रमाके सारके न झरनेसे मृत्यु न होगी और अन्यथा अर्थात् खेचरीमुद्राके न करनेसे देहका जो रूप, लावण्य, बल वज्रके समान संहनन (दृढता) रूपसिद्धि न होगी । भावार्थ यह है कि, जो सोमकलाका जल सुषुम्नाके मध्यमें स्थित है वह जल जिस छिद्रमें है उस छिद्रमेंही बुद्धिमान् मनुष्य परमात्माको कहतेहैं और उसी छिद्रमें समीप इडा पिंगला आदि नाडियोंका मुख है और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरताहै उससे मनुष्योंकी मृत्यु होतीहै तिससे खेचरी मुद्राको करै क्योंकि न करनेसे देहकी सिद्धि नहीं होसकती अर्थात् पुष्ट न होगा ॥ ५२ ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितम् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरंजने ॥ ५३ ॥

सुषिरमिति॥ पंच यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैःसमन्वितं सम्यगनुगतम् ॥ "सप्तस्रोतः समन्वितम्" इति क्वचित्पाठः । ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽजनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्तन्निरंजनं तस्मिन्निरंजने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् ॥ ५३ ॥

भावार्थ-इडा आदि नाडियोंके जो पांच स्रोत (प्रवाह) हैं उनसे युक्त जो सुषिर (छिद्र) है वह ज्ञानका उत्पादक है अर्थात् आत्माके प्रत्यक्षका जनक है-शोक मोह आदिसे रहित रूप निरंजन और शून्यरूप जो है उसके विषे खेचरीमुद्रा स्थिर होती है अर्थात् खेचरीमुद्राकी महिमासे उस छिद्रमें मनके प्रवेशसे आत्मज्ञान होताहै ॥ ५३ ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ॥

एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥५४॥

एकमिति ॥ सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यम् । तदुक्तं मांडूक्योपनिषदि 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' इति । खेचरी मुद्रा एका मुख्या । निरालंब आलंबनशून्य एको मुख्यो देवः । आलंबनपरित्यागे-नात्मनः स्वरूपावस्थानात् । उन्मन्यवस्थैका मुख्या । "एकेमुख्यान्यके वलाः" इत्यमर । बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥५४॥

भावार्थ-सृष्टिरूप जो प्रणव (ॐ) नामका बीज है वह मुख्य है सोई मांडूक्य उपनिषद्में कहा है कि, यह सम्पूर्ण जगत् ॐ इस अक्षररूप है-और खेचरीमुद्राभी एक (मुख्य) है और निरालंब अर्थात् आलंबनशून्य देव परमात्मा भी एकही है-और मनोन्मनी अवस्था भी एकही है । यहां एक शब्द इस अमरके अनुसार मुख्यका बोधक है अर्थात् बीज आदिमें जैसे प्रणव मुख्य है ऐसेही मुद्राओंमें खेचरीभी मुख्य है ॥ ५४ ॥

अथोड्डीयानबन्धः ।

बद्धो येन सुषम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः

तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥

उड्डीयानबंधं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह-बद्ध इति ॥ यतो यस्माद्धेतोर्येन बंधेन बद्धो निरुद्धः प्राणःसुषुम्नायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्नां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बंधो योगिभिर्मत्स्येंद्रादि-भिरुड्डीयनमाख्याभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्युत्प-त्त्योदाहृतः कथितः । सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम् । उत्पूर्वात् 'डीङ्-विहायसा गतौ' इत्यस्मात्करणे ल्युट् ॥ ५५ ॥

भावार्थ--अब उड्डीयानबंधको कहनेके अभिलाषी आचार्य प्रथम उड्डीयान शब्दके अर्थको कहते हैं कि, जिस बंधसे बँधाहुआ प्राण मध्य नाडीरूप सुषुम्नाके विषे उडजाय अर्थात् आकाशमेंसे सुषुम्नामें प्रविष्ट हो जाय तिसकारणसे यह बंध मत्स्येंद्र आदि योगि-योंने उड्डीयान नामका कहा है अर्थात् सुषुम्नामें जिससे प्राण उडै इस व्युत्पत्तिसे इसका उड्डीयान नाम रक्खा है ॥ ५५ ॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगाः ॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥

उड्डीनमिति॥महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः। सर्वदा देहावकाशे गतिमत्त्वात्। यस्माद्बंधादविश्रांतं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते। सुषुम्नायामित्यध्याहार्यम्। तदेव बंधविशेषमुड्डियानमुड्डियाननामकं स्यात्।तत्र तस्मिन्विषये बंधोऽभिधीयते बंधस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः५६

भाषार्थ-सदैव देहके अवकाशमें गति है जिसकी ऐसा महाखगरूप प्राण जिस बंधसे निरंतर उड्डीन (पक्षीके समान गति) को सुषुम्नामें करता है वही बंध उड्डीयान नामका होता है उसमें मैं बंधके स्वरूपको कहता हूँ ॥ ५६ ॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ ५७ ॥

उड्डीयानबंधमाह-उदर इति॥ उदरे तुंदे नाभेरूर्ध्वं चकारादधःउपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसंलग्नौ स्यातां तथा तानंताननं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात्। णिजर्थोऽविवक्षितः। असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्तानरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बंधः। कीदृशः मृत्युरेव मातंगो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ-उदर (पेटके तुंद) में नाभिके ऊपर नीचे पश्चिम तान करै अर्थात् नाभिके ऊपरके और निचले भागको इस प्रकार तान (आकर्षण) करै जैसे वे दोनों भाग पृष्ठमें लगजांय यह नाभिके ऊर्ध्व अधोभागका तान उड्डीयान नामका बन्ध होता है और यह बंध मृत्युरूपी हस्तीको केसरी है अर्थात् नाशक है ॥ ५७ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥

उड्डीयानं त्विति॥ गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिर्गमनम्। सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात्।यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरंतरमभ्यसेत्।उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते।स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते५८

भाषार्थ-हितके उपदेष्टा गुरुने उड्डीयान सदैव स्वाभाविक कहा है अर्थात् प्राणका बहिर्गमन स्वभावसे सबको होता है परन्तु जो पुरुष इसका निरंतर अभ्यास करता है वृद्धभी तरुण (युवा) के समान आचरण करता है ॥ ५८ ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥

नाभेरिति॥नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूपमुक्तम् । अथ तत्प्रशंसा । षण्मासं षण्मासपर्यंतम् उड्डीयानमित्यध्याहारः । अभ्यसेत्पुनःपुनरनुतिष्ठेत्स मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९)

भाषार्थ-नाभिके ऊपर और नीचे भलीप्रकार यत्नसे तान करै अर्थात् यत्न विशेषसे पश्चिमतान करै और षण्मास (छःमास) पर्यंत इस उड्डीयानबंधका वारंवार अभ्यास करै तो मृत्युको जीतता है इसमें संशय नहीं है ॥ ५९ ॥

सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥
उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां बंधानां मध्ये उड्डीयानकः उड्डीयानबंध एव । स्वार्थे कप्रत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्मादुड्डीयाने बंधे दृढे सति स्वाभाविकी भावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत्।उड्डीयानबंधे कृते विहंगमगत्या सुषुम्नायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात्। 'समाधौ मोक्षमाप्नोति'इति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

भाषार्थ-संपूर्ण बंधोंके मध्यमें उड्डीयान बंध उत्तम है, क्योंकि उड्डीयान बंधके दृढ होनेपर स्वाभाविकी मुक्ति होती है अर्थात् उड्डीयान बंधके करानेसे पक्षीके समान गतिसे सुषुम्नाविषे प्राण मस्तकमें चलाजाता है उस समाधिमें इस वाक्यके अनुसार अनायाससे मुक्ति होजाती है ॥ ६० ॥

अथ मूलबंधः ।

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

मूलबंधमाह-पार्ष्णिभागेनेति ॥ पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधः प्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुंचयेत्संकोचयेत् । अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबंधोऽभिधीयते वक्ष्यते । पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुंचनं मूलबंध इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

भाषार्थ-अब मूलबंधमुद्राका वर्णन करते हैं कि, पार्ष्णिके भाग (गुल्फोंका अधःप्रदेश) से योनिस्थानको अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागको भलीप्रकार पीडित (दवा) करके गुदाका संकोच करे और अपान वायुका ऊपरको आकर्षण करै यह मूलबंध होताहै ऐसा योगशास्त्रको जाननेवाले आचार्य कहतेहैं ॥ ६१ ॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः ॥६२॥

अधोगातिमिति ॥ यः अधोगतिम् अधोऽर्वाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुंचनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्नायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबंधं मूलस्य मूलस्थानस्य बंधनं मूलबन्धस्तं मूलबंधमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबंधशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बंधनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यम् ॥६२॥

भाषार्थ-जो बन्ध अधः (नीचेको) गति है जिसकी ऐसे अपान वायुको बलसे ऊर्ध्वगामी करता है अर्थात् जिसके करनेसे अपान सुषुम्नामें पहुँच जाता है योगके अभ्यासी उस बन्धको मूलबन्ध कहते हैं अर्थात् मूलस्थानका जिससे बन्धन हो वह मूलबन्ध अन्वर्थनामसे कहाताहै इस श्लोकसे मूलबन्ध शब्दका अर्थ कहा और पिछले श्लोकसे बन्धनक प्रकार कहाहै इससे पुनरुक्तिदोष नहीं है ॥ ६२ ॥

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ॥
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥६३॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबंधमाह-गुदमिति ॥ पार्ष्ण्योर्गुल्फयोरधोभागेन गुदं वायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारं वारं पुनःपुनर्वायुमपानमाकुंचयेद्गुदस्याकुंचनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबंध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ-अब योगबीजमें कही हुई रीतिसे मूलबन्धको कहते हैं कि, पार्ष्णिसे गुदाको भलीप्रकार पीडित करके वायुको बलसे इसप्रकार वारंवार आकर्षण करै जैसे जो सुषुम्नाके ऊपरले भागमें पहुंचजाय यह मूलबन्ध कहाताहै इस श्लोकमें तु यह शब्द पिछले मूलबंधसे विशेष जतानेके लिये है ॥ ६३ ॥

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४॥

अथ मूलबंधगुणानाह—प्राणापानाविति ॥ प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वाधोगती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः बिंदुरनुस्वारस्तौ मूलबंधेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसंसिद्धिं यच्छतो ददतः। अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न । संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः । मूलबंधे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिंदुना सहैक्यं बिंदुनाधाय मूर्ध्नि गच्छतः, ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ-अब मूलबंधके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, नीचेको है गति जिनकी ऐसे प्राण और अपान दोनों वायु और अनाहत (स्वाभाविक) ध्वनि और बिंदु (अनुस्वार) ये दोनों मूलबन्धसे एकताको प्राप्त होकर योगाभ्यासीको योगकी सिद्धिको भलीप्रकार देते हैं इसमें संशय नहीं है, तात्पर्य यह है कि, मूलबन्धके करनेसे अपान प्राणके संग एकताको प्राप्त होकर सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै फिर नादकी प्रकटता होती है फिर नादके संग प्राण अपान हृदयके ऊपर जाकर और नादके संग बिंदुकी एकताको करके मस्तकमें चले जाते हैं फिर योगसिद्धि होजाती है ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥६५॥

अपानप्राणयोरिति ॥ सततं मूलबंधनान्मूलबंधमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

भाषार्थ--निरंतर मूलबन्धमुद्राके करनेसे अपान और प्राणकी एकता और देहमें संचित हुये मूत्र और मलका क्षय होताहै तिससे वृद्धभी मनुष्य युवा होजाताहै ॥ ६५ ॥

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६॥

अपान इति । मूलबंधनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तास्मिन्तादृशे सति वह्निमंडलं वह्नेर्मण्डलं त्रिकोणं नाभे-

धोभागेऽस्ति। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन-'देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभम्। त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम्॥ मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते। तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके॥' इति। तदा तस्मिन्काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते। 'वर्धते' इति क्वचित्पाठः॥ ६६॥

भाषार्थ-मूलबन्ध करनेसे अधोगामी अपान जब ऊर्ध्वगामी होकर अग्निमंडलमें पहुँच जाता है अर्थात् नाभिके अधोभागमें वर्तमान त्रिकोण जठराग्निके मंडलमें प्रविष्ट होजाता है उस समय अपानवायुसे ताडित की हुई जो जठराग्निकी शिखा है वह दीर्घ होजाती है अर्थात् बढ जाती है सो याज्ञवल्क्यने कहा है कि, तपाये हुये सुवर्णके समान अग्निका स्थान मनुष्योंके देहके मध्यमें त्रिकोण और पशुओंके देहमें चतुष्कोण है और पक्षियोंके देहमें गोल है यह आपके प्रति मैं सत्य कहता हूँ और अग्निके मध्यमें सदैव सूक्ष्म शिखा टिकती है॥ ६६॥

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्॥
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा॥ ६७॥

तत इति॥ ततस्तदनंतरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ। उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो गच्छतः। ततोऽनलशिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपकादिति वा योजना। तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यंतमधिकं दीप्तो भवति। तथेति पादपूरणे। अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राणसंगत्याऽत्यंतं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः॥ ६७॥

भाषार्थ-फिर अग्नि और अपान ये दोनों अग्निकी दीर्घ शिखासे उष्णरूप हुये उर्ध्वगति प्राणमें पहुंच जातेहैं तिस प्राणवायुके समागमसे देहमें उत्पन्नहुई जठराग्नि अत्यंत प्रज्वलित होजाती है अर्थात् अपानकी ऊर्ध्वगतिसे दीहुई अग्नि अत्यंत प्रदीप्त होजाती है॥ ६७॥

तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते॥
दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥ ६८॥

तेनेति॥ तेन ज्वलनस्यात्यंतं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुंडलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति।

दंडेनाहता दंडाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निश्वस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ–तिस अग्निके अत्यंत दीपनसे भलीप्रकार तपायमान हुई कुण्डलिनी शक्ति इसप्रकार भलीप्रकारसे प्रवुद्ध होजाती है और कोमल होजाती है जैसे दंडसे हतीहुई सर्पिणी कोमल होजाती है ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत् ॥
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥६९॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ ततो ऋजुताप्राप्त्यनंतरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अंतरं मध्यं गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबंधो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

भाषार्थ–उसके अनंतर बिलमें प्रविष्ट सर्पिणीके समान ब्रह्मनाडी (सुषुम्ना) के मध्यमें कुण्डलिनी प्रविष्ट होजाती है तिससे योगाभ्यासियोंको मूलबंध प्रतिदिन करने योग्य है ॥ ६९ ॥

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ॥
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

जालंधरबंधमाह–कंठमिति ॥ कंठे गले बिलमाकुंच्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरंगुलांतरितप्रदेशे चिबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात् । अयं कंठाकुंचनपूर्वकं चतुरंगुलांतरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चिबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्यायत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बंधः । कीदृशः ? जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीति विनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

भाषार्थ–अब जालंधरबंधको कहते हैं कि, कंठके बिलका संकोच करके वक्षःस्थलके समीपरूप हृदयमें चार अंगुलके अंतरपर चिबुक (ठोडी) को दृढरीतिसे स्थापन करै, कंठके आकुंचनपूर्वक चार अंगुलके अन्तरपर हृदयके समीपमें नीचेको नमनपूर्वक चिबुकका स्थापनरूप यह जालंधर नामका बन्ध कहा है और यह बन्ध जरा और मृत्युका विनाशक है ॥ ७० ॥

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभो जलम् ॥
ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह-बध्नातीति ॥ हि यस्माच्छिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति। अधो गंतुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति। ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बंधः जालं दशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः। कीदृशः कंठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

भाषार्थ-अब जालंधरपदके अर्थको कहते हैं कि, जिससे यह बन्ध शिरा. (नाडी) ओंके समूहरूप जालको बांधता है और कपालके छिद्ररूप नभका जो जल है उसका प्रतिबन्ध करता है तिससे यह जालंधर नामका अन्वर्थ बंध जालंधरबंध, कहाता है क्योंकि जाल नाम समुदाय और जलोंके समूहको कहते हैं और यह जालंधरबंध कंठमें जो दुःखोंका समूह है उसका नाशक है ॥ ७१ ॥

जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥

जालंधरगुणानाह-जालंधर इति ॥ कंठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोचं आकुंचनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कंठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बंधे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति ॥ वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यंतरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

भाषार्थ-अब जालंधरबंधके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, कंठका संकोच है स्वरूप जिसका ऐसे जालंधरबंधके करनेपर पूर्वोक्त अमृत जठराग्निमें नहीं पडता है और वायुका भी कोप नहीं होता अर्थात् अन्य नाडियोंमें वायुका गमन नहीं होता है ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेदृढम् ॥
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् ॥ ७३ ॥

कंठसंकोचनेनेति। दृढं गाढं कंठसंकोचनेनैव कंठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिंगले स्तंभयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः। इदं कंठस्थाने स्थितं विशुद्धाख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयम्। कीदृशं षोडशाधारबंधनं षोडशसंख्याका ये आधारा अंगुष्ठाधारादिब्रह्मरंध्रांतास्तेषां बंधनं बंधनकारकम्। 'अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिंगनाभयः।

हृ ग्रीवा कंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा॥भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ॥' तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धांतादवगंतव्यः ॥ ७३ ॥

भाषार्थ-यह जालंधरबंध दृढतासे कंठके संकोच करनेसेही इडा पिंगलारूप दोनों नाडियोंका स्तंभन करता है और कंठस्थानमें स्थित इन सोलह आधारोंका बंधन करनेवाला मध्य चक्र (विशुद्धनाम) जानना । अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, ऊरु, सीविनी, लिंग, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कंठदेश, लंबिका, नासिका, भ्रुकुटियोंका मध्य, मस्तक, मूर्द्धा, ब्रह्मरंध्र योगियोंमें श्रेष्ठोंने ये सोलह आधार कहे हैं इन आधारोंमें धारणाका फल विशेष तो गोरक्षसिद्धांत ग्रंथसे जानना ।। ७३ ।।

मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् ॥
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥

उक्तस्य बंधत्रयस्योपयोगमाह–मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुंच्य सम्यगाकुंच्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बंधं कारयेत्कुर्यात । णिजर्थोऽविवक्षितः । इडां पिंगलां गंगां यमुनां च बद्ध्वा । जालंधरबंधेनेत्यर्थः । 'कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेत्' इत्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्नामार्गे वाहयेद्गमयेत्प्राणमिति शेषः ॥ ७४ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त तीनों बन्धोंके उपयोगका वर्णन करते हैं कि मूलस्थानको अर्थात् आधारभूत आधारस्थानका भलीप्रकार संकोच करके नाभिके पश्चिमतानरूप उड्डीयानबंधको करै और जालंधरबंधसे अर्थात् कंठके संकोचसेही इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंको स्तंभन करै फिर प्राणको पश्चिममार्गमें (सुषुम्नामें) प्राप्त करै ॥ ७४ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ॥
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

अनेनेति ॥ अनेनैवोक्तेनैव विधानेन पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति । गत्यभावपूर्वकं रंध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयान्मृत्युजरारोगादिकम् । तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततंद्रालस्यादि ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

भाषार्थ–इस पूर्वोक्त विधानसेही प्राण लय (स्थिरता) को प्राप्त हो जाता है, गमनकी निवृत्ति होनेपर ब्रह्मरंध्रमें स्थितिही प्राणका लय होता है उस प्राणके लयसे मृत्यु, जरा, रोग और आदिपदसे वलीपलित, तंद्रा, आलस्य आदि नहीं होते हैं ।। ७५ ।।

बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ॥
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥७६॥

बंधत्रयमिति ॥ इदं पूर्वोक्तं बंधत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबंधेऽतिप्रशस्तं महासिद्धैर्मत्स्येंद्रादिभिश्चकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिः सेवितं सर्वेषां हठतंत्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानंति ॥७६॥

भाषार्थ-ये पूर्वोक्त तीनों बन्ध श्रेष्ठ हैं अर्थात् षोडशाधार बन्धमें अत्यंत उत्तम हैं और मत्स्येंद्र आदि योगिजन और वसिष्ठ आदि मुनियोंके सेवित हैं और सम्पूर्ण जो हठयोगके उपाय है उनका साधन है यह बात गोरक्ष आदि योगीजन जानतेहैं ॥ ७६ ॥

यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ॥
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥ ७७ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्धातत्वेन पिंडस्य जराकरणं तावदाह-यत्किंचिदिति॥ दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्माद्दिव्यरूपिणश्चंद्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यत्किंचिद्यत्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति तत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति । तदुक्तं गोरक्षनाथेन-'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमाः॥वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः। करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते॥' इति । तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रसनेन पिंडो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

भाषार्थ-अब विपरीत करणीके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम उसके उपोद्धातरूप होनेसे पिंडके जराकरणका वर्णन करतेहैं कि, दिव्य (सर्वोत्तम) सुधामय है रूप जिसमें ऐसे तालुके मूलमें स्थित चंद्रमासे जो कुछ अमृत झरताहै उस सम्पूर्ण अमृतको नाभिमें स्थित अग्निरूप सूर्य ग्रस लेताहै सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि, नाभिके देशमें अग्निरूप सूर्य स्थित है और तालुके मूलमें अमृतरूप चंद्रमा स्थित है अधोमुख होकर चन्द्रमा जिस अमृतको वर्षताहै और ऊर्ध्वमुख होकर सूर्य उस अमृतको ग्रस लेताहै उसमें वह करण (मुद्रा) करना चाहिये जिससे अमृतकी नष्टता न हो अर्थात् पुष्टि रहै फिर सूर्यके किये उस अमृतके ग्रसनेसे बिंदु (देह) वृद्ध अवस्थासे युक्त होजाता है ॥ ७७ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् ॥
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥

तत्रेति॥तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वंच्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति तद्गुरूपदेशतःगुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यम् । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

भाषार्थ-उस अमृतकी रक्षा करनेमें जिसे सूर्यके मुखकी वंचना होय ऐसा आगे कहनेयोग्य मुद्रारूप करण है और वह करण गुरुके उपदेशसे जानने योग्य है और कोटियो शास्त्रोंके अर्थसे जाननेको शक्य नहीं है ॥ ७८ ॥

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ॥
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥

विपरीतकरणीमाह-ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधःअधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यमृतात्मा चंद्रो भवति । प्रथमांतपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधःशशी भवति । यत्तदोर्द्वापदयोरध्याहारेणान्वयः।इयं विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी। ऊर्ध्वाधः स्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणेनान्वर्था।गुरुवाक्येन गुरोर्वाक्येनैवलभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥ ७९ ॥

भाषार्थ-अब विपरीतकरणीमुद्राके स्वरूपका वर्णन करतेहैं कि ऊपरके भागमें है नाभि जिसके और अधोभागमें है तालु जिसके ऐसा जो योगी उसके ऊपरके भागमें तो अग्निरूप सूर्य होजाय और अधोभागमें अमृतरूप चंद्रमा हो जाय और जब 'ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुः' यह प्रथमांत पाठ है तब यदा तदा पदोंके अध्याहारसे इसप्रकार अन्वय करना कि, जब ऊपरके भागमें नाभि और नीचेके भागमें तालु जिसके ऐसा योगी होजाय तब ऊपर सूर्य और नीचे चंद्रमा होजाते हैं यह विपरीत (उलटी) नामकी करणी ऊपर और नीचे स्थित जो चंद्रमा सूर्य हैं उनके नीचे ऊपर क्रमसे करनेसे अन्वर्थ है अर्थात् विपरीतकरणीका अर्थ तभी घटसकताहै जब पूर्वोक्त मुद्रा कीजाय और यह विपरीतकरणी गुरुके वाक्यसे मिल सक्तीहै अन्यथा नहीं ॥ ७९ ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ॥
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

नित्यमिति ॥ नित्यं प्रतिदिनमभ्यासोऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्यावहितस्य जठराग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणम् ॥ तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनंबहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । च पादपूरणे ॥ ८० ॥

भाषार्थ–प्रतिदिनके अभ्यासमें युक्त जो योगी है उसकी जठराग्निको यह विपरीतकरणी बढाती है और इसीसे उस विपरीतकरणीके अभ्यासी योगीको यथेच्छ अधिक भोजन संपादन करनेयोग्य है अर्थात् अल्पभोजन न करे ॥ ८० ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥८१॥

अल्पाहार इति ॥ यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्दहेत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणक्रियामाह-अधःशिरा इति । अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिरा कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यंताभ्यां बाहुभ्यां स्कंधाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यंतरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

भाषार्थ–क्योंकि, यदि विपरीतकरणीका अभ्यासी योगी अल्पाहारी हो अर्थात् अल्पभोजन कियाजाता है तो जठराग्नि उसी क्षणमात्रमें देहको भस्म करदेती है । अब ऊपर नीचे स्थित चन्द्रमा सूर्यके नीचे ऊपर करनेकी क्रियाको कहते हैं कि, प्रथम दिनमें क्षणभर नीचेको शिर करै अर्थात् भुजा दोनों स्कंध गल और शिर पृष्ठभाग (पीठ) से भूमिका स्पर्श करके नीचे शिर किये स्थित हो और ऊपरको पाद करै अर्थात् प्रारम्भके दिन क्षणमात्र इसप्रकार स्थित रहै ॥ ८१ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥८२॥

क्षणादिति ॥ दिनेदिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणम्

एकदिनवृद्ध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात् ॥ विपरीतकरणीगुणानाह वलितमिति ॥ वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च, षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्वमुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते । साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः । यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत् । एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्वमपि सूचितम् । तदुक्तं विष्णुधर्मे–'स्वदेहारंभकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः । यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम्' ॥ इति । विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम्–"यथा प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः । अत एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यत" इति । भागवतेऽप्युक्तम्–' देहं जह्यात्समाधिना ' इति ॥ ८२ ॥

भाषार्थ–फिर प्रतिदिन क्षणसे कुछ२ अभ्यास अधिक करै अर्थात् दो क्षण, तीन क्षण, काल एक २ दिनकी वृद्धिसे अभ्यासको बढाता रहै. अब विपरीतकरणीके गुणोंको कहते है कि, पूर्वोक्त प्रकारके करनेसे वलीपलित छः मासके अनंतर नहीं दीखते हैं अर्थात् यौवन अवस्था होजाती है और जो साधक प्रतिदिन प्रहरमात्र अभ्यास करता है वह मृत्युको जीतता है. इससे यह भी सूचित किया कि, योग प्रारब्धकर्मकाभी प्रतिबन्धक है सोई विष्णुधर्ममें कहा है कि, अपने देहके आरंभककर्मकाभी नाशक जो योग है हे पृथ्वीपाल ! उस योगको तू सुन और विद्यारण्यने जीवन्मुक्तिग्रंथमें यह कहा है कि, तत्त्वज्ञानसे प्रारब्धकर्म जैसे प्रबल है ऐसेही प्रारब्धकर्मसे योगाभ्यास प्रबल हैं इसीसे उद्दालक, वीतहव्य आदि योगियोंने अपनी इच्छासे देहका त्याग किया. भागवतमेंभी लिखा है कि, समाधिसे देहको त्यागै ॥ ८२ ॥

अथ वज्रोलि ।

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ८३ ॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह–स्वेच्छयेति ॥ योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

भाषार्थ-वज्रोलीमुद्राकी प्रवृत्तिको उत्पन्न करनेके लिये प्रथम वज्रोलीके फलका वर्णन करते हैं कि, जो योगाभ्यासी वज्रोलीमुद्राको अपने अनुभवसे जानता है वह योगी योगशास्त्रमें कहेहुये नियमोंके विना अपनी इच्छाके अनुसार व्यवहार करताहुआभी अणिमा आदि सिद्धियोंका भोक्ता है अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि नियमोंके विनाभी उसको सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ८३ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह-तत्रेति ॥ तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं वस्तुद्वयं वक्ष्ये कथयिष्ये। कीदृशं वस्तुद्वयं यस्यकस्यचित् यस्यकस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा। 'दुःस्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशात् ॥ किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह क्षीरमिति। एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानंतरमिंद्रियनैर्बल्यात्तद्बलार्थं क्षीरपानं युक्तम्। केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः। तस्यांतर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तम्। द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

भाषार्थ-अब वज्रोलीमुद्राके साधक दो वस्तुओंका वर्णन करते हैं कि, उस वज्रोलीकी सिद्धिमें जिसकिसी निर्धन पुरुषको दुर्लभ जो दो वस्तु हैं उनको मैं कहता हूँ उन दोनोंमें एक दूध है और दूसरी वशवर्तिनी नारी है अर्थात् मैथुनके अनंतर निर्बल हुई इंद्रियोंकी प्रबलताके लिये दूधका पान योग्य है और कोई यह कहते हैं कि, अभ्यासकालमें आकर्षणाके लिये दूधका पान उत्तम है सो ठीक नहीं, क्योंकि अंतर्गत हुए दूधका आकर्षण नहीं हो सकता है ॥ ८४ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ॥
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह-मेहनेनेति ॥ मेहनेन स्त्रीसंगानंतरं बिंदोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथवा नार्यपि योषिदपि शनैर्मंदं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुंचनमूर्ध्वमुपर्याकुंचनं मेढ्राकुंचनेन बिंदोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुयात्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

भाषार्थ-अब वज्रोलीमुद्राके प्रकारका वर्णन करते हैं कि, पुरुष अथवा स्त्री मेहन (बिंदुका झरना) से शनैः २ भलीप्रकार यत्नसे ऊपरको आकुंचन (संकोच) का अभ्यास

करे अर्थात् लिंग इंद्रियके आकुंचनसे बिंदुके ऊपर खींचनेका अभ्यास करे तो वज्रोलीमुद्रा सिद्धिको प्राप्त होती है ॥ ८५ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ॥
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वांगप्रक्रियामाह—यत्नत इति ॥ शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मंदंमंदं यथाग्नेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेढ्रविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुन पुनः कुर्वीत ॥ अथ वज्रोलीसाधनप्रक्रिया । सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशांगुलमात्रां शलाकां कारयित्वा मेढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकांगुलमात्रां शलाकां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यंगुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यंगुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशांगुलमात्रप्रवेशे मेढ्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशांगुलमात्रां द्व्यंगुलमात्रवक्रामूर्ध्वमुखीं कारयित्वा तां द्वादशांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यंगुलमात्रं बहिःस्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेढ्रप्रवेशितद्वादशांगुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यंगुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति । ततो जलस्य मेढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत् जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिंदोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसेत् । बिंद्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्य खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यक् भवति ॥ ८६ ॥

भाषार्थ—अब वज्रोली मुद्राकी पूर्वाङ्ग क्रियाका वर्णन करतेहैं कि, सीसे आदिकी उत्तमनालीसे शनैः २ इसप्रकार लिंगके छिद्रमें वायुके संचार (भलीप्रकार प्रवेश) के लिये यत्नसे फूत्कारको करै. जैसे अग्निके प्रज्वलनार्थ फूत्कारको करते हैं । अब वज्रोलीकी साधनप्रक्रियाको कहते हैं कि, सीसेसे बनीहुई लिंगके प्रवेशके योग्य चौदह अंगुलकी शलाई बनवाकर उसके लिंगमें प्रवेशका अभ्यास करे । पहिले दिन एक अंगुलमात्र प्रवेश करै दूसरे दिन दो अंगुल मात्र और तीसरे दिन तीन अंगुलमात्र प्रवेश करै इसप्रकार क्रमसे वृद्धि करनेपर बारह अंगुल शलाकाके प्रवेश होनेके अनंतर लिंगका मार्ग शुद्ध होजाताहै फिर उसीप्रकारकी और चौदह अंगुलकी ऐसी शलाई बनवावे जो दो अंगुल टेढी हो और ऊर्ध्वमुखी हो उसकोभी बारह अंगुल भर लिंगके

छिद्रमें प्रवेश करे, टेढा और ऊर्ध्वमुख जो दो अंगुल मात्र है उसको बाहर रक्खे फिर सुनारके अग्निधमनेके नालकी सदृश नालको लेकर उस नालके अग्रभागको लिंगमें प्रवेश किये बारह अंगुलके नालका टेढा और ऊर्ध्वमुख दो अंगुल है उसके मध्यमें प्रवेश करके फूत्कार करै तिससे भलीप्रकार लिंगके मार्गकी शुद्धि होतीहै फिर लिंगसे जलके आकर्षणका अभ्यास करै जलके आकर्षणकी सिद्धि होनेपर पूर्वोक्तश्लोकमें कही हुई रीतिके अनुसार बिंदुके ऊपरको आकर्षणका अभ्यास करै बिंदुके ऊर्ध्व आकर्षणकी सिद्धि होनेपर वज्रोलीमुद्राकी सिद्धि होतीहै यह मुद्रा उस योगीको ही सिद्ध होतीहै जिसने प्राणवायुको जीत लियाहै अन्यको नहीं होती है और खेचरीमुद्रा और प्राणका जय होनेपर तो भली-प्रकार सिद्ध होतीहै। भावार्थ यह है कि, लिंगके छिद्रमें वायुके संचार करनेके लिये उत-मनालसे शनैः २ यत्नपूर्वक फूत्कारको करै ॥ ८६ ॥

नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ॥
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

एवं वज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह–नारीभग इति॥नारीभगे स्त्रीयोनौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिंदुश्च पतद्बिंदुस्तं पतद्बिंदुं रतिकाले पतंतं बिंदुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत् । पतना-त्पूर्वमेव। यदि पतनात्पूर्वं बिंदोराकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदि-त्याहचलितं चेति। चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिंदुं चकारात्तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत् ॥ ८७ ॥

भावार्थ–अब वज्रोलीमुद्राकी सिद्धिके अनंतरका जो साधन है उसका वर्णन करते हैं कि, नारीके भग (योनि) में पडते हुये बिंदु (वीर्य) का अभ्याससे ऊपरको आकर्षण करै अर्थात् पडनेसे पूर्वही ऊपरको खींचले यदि पतनसे पूर्व बिंदुका आकर्षण न हो सकै तो पतितहुये बिंदुका आकर्षण करै कि चलितहुआ अपना बिंदु और चकारसे स्त्रीका रज इनकी ऊपरको आकर्षण करके रक्षा करै अर्थात् मस्तकरूप जो वीर्यका स्थान है उसमें स्थापन करे ॥ ८७ ॥

एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥
मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥८८॥

वज्रोलीगुणानाह–एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या बिंदुं यः संरक्षयेत् सम्यक् रक्षयेत् स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं जयत्यभिभवति। यतो बिंदोः

शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति। बिंदोर्धारणं बिंदुधारणं तस्माद्बिंदुधारणाज्जीवनं भवति। तस्माद्बिंदुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

भाषार्थ-अब वज्रोलीके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, इसप्रकार जो योगी बिंदुकी भली-प्रकार रक्षा करताहै योगका ज्ञाता वह योगी मृत्युको जीतताहै क्योंकि, बिंदुके पडनेसे मरण और बिंदुकी रक्षासे जीवन होताहै तिससे बिंदुकी रक्षा करै ॥ ८८ ॥

सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ॥
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥८९॥

सुगंध इति ॥ योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे बिंदोः शुक्रस्य धारणं तस्मात्सुगंधः शोभनो गंधो जायते प्रादुर्भवति। देहे यावद्बिंदुः स्थिरस्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः। न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

भाषार्थ-वज्रोलीके अभ्यासकर्ता योगीके देहमें बिंदुके धारण करनेसे सुगंध होजाती है और देहमें जबतक बिंदु स्थिर है तबतक कालका भय कहां अर्थात् कालका भय नहीं रहताहै ॥ ८९ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

चित्तायत्तमिति ॥ हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनं जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणं शुक्राधीनं तस्माच्छुक्रं बिंदुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव। अवश्यं रक्षणीयमित्यर्थः। एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

भाषार्थ-जिससे मनुष्योंका शुक्र (वीर्य) चित्तके आधीन है अर्थात् चित्तके चलायमान होनेपर चलायमान और चित्तके स्थिर होनेपर स्थिर होजाताहै इससे चित्तके वशीभूत है और मनुष्योंका जीवन शुक्रके आधीन है अर्थात् शुक्रकी स्थिरतासे जीवन और शुक्रकी नष्टतासे मरण होताहै इससे जीवन शुक्रके आधीन है तिससे शुक्र (बिंदु) और मनकी भली प्रकार यत्नसे रक्षा करै ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदु च रक्षयेत् ॥
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥

ऋतुमत्या इति। एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती

तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं विंदुं च रक्षयेत्। पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति मेढ्रेणेति। अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेढ्रेण शुद्धेंद्रियेण सम्यग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् रजो विंदुं चेति कर्माध्याहारः। अयं श्लोकः क्षिप्तः॥ ९१॥

भाषार्थ-ऋतु हुआ है जिसके ऐसी स्त्रीके रज (वीर्य) की और अपने विंदुकीभी इसी। पूर्वोक्त अभ्याससे रक्षा करे अर्थात् ऋतुस्नानके अनंतर रज और वीर्य दोनोकी रक्षा करे पूर्वोक्त अभ्यासकोही दिखाते हैं कि, वज्रोलीके अभ्यासरूप योगका ज्ञाता योगी लिंग इंद्रियसे रज और विंदुका भलीप्रकार ऊपरको आकर्षण करे (खींचे) यह श्लोक क्षेपक है अर्थात् मूलका नहीं है॥ ९१॥

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः॥
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम्॥ ९२॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह-सहजोलिश्चेति। वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च। तत्र हेतुः-एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः। एकशब्दाद्भावप्रधानात्पंचम्यास्तसिः। सहजोलिमाह जल इति। गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वेत्युत्तरश्लोकेनान्वेति॥ ९२॥

भाषार्थ-अब सहजोली और अमरोलीके मुद्राओंका वर्णन करते हैं कि, वज्रोलीमुद्राके भेदविशेषही सहजोली और अमरोली हैं, क्योंकि तीनोंका फल एक है उन दोनोंमें सहजोलीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, दग्ध किये हुये गोमयोंका जो सुंदर भस्म है उसको जलमें डालकर अर्थात् जलमिश्रित उस भस्मको करे॥ ९२॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम्॥
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात्॥९३॥

वज्रोलीति॥ वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनंतरं सुखेनैवानंदेनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं शोभनान्यंगानि स्वांगानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कंधभुजादीनि तेषु लेपनम्॥ ९३॥

भाषार्थ-वज्रोलीमुद्राकी सिद्धिके लिये किये हुए मैथुनके अनंतर आनंदसे बैठेहुये और उत्साहसे त्याग दिया है रतिका व्यापार जिन्होंने ऐसे स्त्री और पुरुष दोनों पूर्वोक्त भस्मको अपने मस्तक, शिर, नेत्र, हृदय, स्कंध, भुजा आदि अंगोंपर लेपन करे ॥ ९३ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥९४॥

सहजोलिरिति ॥ इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिः । कीदृशी सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोल्याख्यो योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः । 'योग संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यभिधानात् । कीदृशो योगः भोगेन युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

भाषार्थ-यह पूर्वोक्त भस्मलेपनरूप क्रिया मत्स्येंद्र आदि योगीजनोंने सहजोलिमुद्रा कहा है और यह योगीजनोंको सदैव श्रद्धा करने योग्य है, यह सहजोलि नामका योग (उपाय) शुभकारी जानना और भोगसे युक्त भी यह योग मोक्षका दाता है ॥ ९४ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥९५॥

अयं योग इति ॥ अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवंतः सुकृतिनस्तेषां पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यंतीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां मत्सरान्निष्क्रान्ता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेषरहितानाम् । 'मत्सरोन्यगुणद्वेषः' इत्यमरः । तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत् । मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत् ॥ ९५ ॥

भाषार्थ-और यह सहजोलिरूप योग पुण्यवान् और धीर और तत्त्व (ब्रह्म) के जो द्रष्टा हैं और अन्यके गुणोंमें द्वेषरहित (निर्मत्सर) है ऐसे पुरुषोंकोही सिद्ध होता है और जो मत्सरी हैं अन्यके गुणोंमें द्वेष (वैर) के कर्ता हैं उनको सिद्ध नहीं होता है ॥ ९५ ॥

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा ॥ निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ॥ ९६ ॥

अथामरोली ।

अमरोलीमाह-पित्तोल्बणत्वादिति ॥ पित्तेनोल्बणात्कटा पित्तोल्बण

तस्या भावःपित्तोल्वणत्वं तस्मात् । यथा प्रथमा पूर्वा यांऽबुनःशिवांबुनो धारा तां विहाय शिवांबुनिर्गमनसमये किंचित्पूर्वां धारां त्यक्त्वा निर्गतः सारो यस्याःसा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निः-सारत्वेनांत्यधारा अन्त्या चरमा या धारा तां विहाय किंचिदंत्यां धारां त्यक्त्वा । शीतला पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते । खंडो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खंडमतस्तस्मिन् खंडमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापा-लिके खण्डकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः। अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥९६॥

भाषार्थ-अब अमरोलीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, पित्त है उल्वण (अधिक) जिसमें ऐसी जो प्रथम शिवांबु (बिंदु) की धारा है उसको और नहीं है सार अंश जिसमें ऐसी जो अन्त्यधारा है उसको छोडकर अर्थात् पहली और पिछली धारोंको किंचित् २ त्याग-कर पित्त आदि दोष और सारतासे रहित शीतल मध्य धाराका जिस रीतिसे नित्य सेवन (पान) कियाजाय वह क्रिया योगविशेष जो खंड उसके माननेवाले कापालिक मतमें अर्थात् खंडकापालिक मतमें अमरोली नामकी मुद्रा प्रसिद्ध है ॥ ९६ ॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने ॥
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥

अमरीमिति॥अमरीं शिवांबु यः पुमान् नित्यं पिबेत् । नस्यं कुर्वन् श्वासेनामर्या घ्राणांतर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिनेदिने प्रतिदिनं वज्रोलीं'मेहनेन शनैः'इति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्सोऽमरोलीतिकथ्यते।कापालिकैरिति शेषः।अमरीपानामरी।नस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः॥९७

भाषार्थ-जो पुरुष शिवांबुरुप अमरीको नासिकासे नित्य पीता है अर्थात् नासिकाके छिद्रद्वारा अमरीको अंतर्गत करता है और मैथुनसे प्रतिदिन वज्रोलीका भलीप्रकार अभ्यास करता है उस मुद्राको कापालिक अमरोली कहते हैं अर्थात् नासिकाके छिद्रसे पान की अमरी वज्रोलीके अनंतर अमरोली कहाती है ॥ ९७ ॥

अभ्यासान्निःसृतां चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥

अभ्यासादिति ॥ अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चांद्रीं चंद्रस्येयं चांद्री तां चांद्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयो जयेत् । उत्तमांगेषु शिरःकपालनेत्रस्कंधकण्ठहृदयभुजादिषु धारयेत् ।

भस्ममिश्रितां चांद्रीमिति शेषः । दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहित-विप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवांबुकल्पादवगंतव्याः ॥९८॥

भाषार्थ-अमरोलीमुद्राके अभ्याससे निकसी जो चंद्रमाकी सुधा (अमृत) है उसको विभूति (भस्म) के संग मिलाकर शिर, कपाल, नेत्र, स्कंध, कंठ, हृदय, भुजा आदि उत्तम अंगोंमें धारण करै तो मनुष्य दिव्यदृष्टि होजाता है अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूर) के जो पदार्थ उनके देखनेयोग्य दृष्टि होजाती है और अमरीसेवनके विशेष भेद तो शिवांबुकल्पग्रंथसे जानने ॥ ९८ ॥

पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥९०॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह-पुंसो बिंदुमिति॥सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य बिंदुं वीर्यं समाकुंच्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत्। सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया 'पुंसो बिंदुसमायुक्तम्' इति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम् ॥ ९९ ॥

भाषार्थ-पुरुषको वज्रोलीके साधनको कहकर नारीकी वज्रोलीके साधनको वर्णन करते हैं कि, भलीप्रकारसे कियेहुये अभ्यासकी चतुरतासे पुरुषके बिंदुका भलीप्रकार आकर्षण करके यदि नारी वज्रोलीमुद्रासे अपने रजकी रक्षा करै तो वह भी योगिनी जाननी (पुंसो बिंदुसमायुक्तं) यह पाठ होय तो यह अर्थ समझना कि, पुरुषके बिंदुसे युक्त अपने रजकी रक्षा करै तो वह नारी योगिनी होती है ॥ ९९ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ॥
तस्या शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥ १०० ॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह-तस्या इति ॥तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः। अत्र संशयो न संदेहो न । तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि बिंदुभावं गच्छति । बिंदुना सहैकीभवतीत्यर्थः । अमृतसिद्धौ-'बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम् । अनयोर्बाह्ययोगेन सृष्टिः संजायते नृणाम् ॥यदाभ्यंतरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते । बिंदुश्चंद्रमयः प्रोक्तो

रजः सूर्यमयं तथा ॥ अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिंदुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा ॥ तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठंते सूक्ष्मरूपतः ' इति ॥ १०० ॥

भाषार्थ-अब नारीकी कीहुई वज्रोलीके फलको कहते हैं कि, वज्रोलीके अभ्यास करनेमें शीलवती उस नारीका किंचित् भी रज नष्ट नहीं होता है अर्थात् अपने स्थानसे पतित नहीं होता इसमें संशय नहीं है और उस नारीके शरीरमें नादभी बिंदुरूपको प्राप्त होजाता है अर्थात् मूलाधारसे उठाहुआ नाद हृदयके ऊपर बिंदुके संग एक होजाता है अमृतसिद्धि-ग्रंथमें लिखा है कि पुरुषके वीर्यको बीज और नारीके वीर्यको रज कहते हैं इन दोनोंका देहसे बाहर योग होनेसे मनुष्योंके संतान होती है यदि दोनोंका भीतरही योग होजाय तो वह योगी कहा जाता है उन दोनोंमें बिंदु चंद्रमय है और रज सूर्यमय है इन दोनोंके संगमसे परम पद होता है और यह बिंदु स्वर्ग, मोक्ष, धर्म और अधर्मका दाता है उस बिंदुके मध्यमें सूक्ष्मरूपसे संपूर्ण देवता टिकते हैं ॥ १०० ॥

स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ॥
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥१०१॥

स बिंदुरिति ॥ स पुंसो बिंदुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥ १०१ ॥

भाषार्थ-पुरुषका वह बिंदु और नारीका वह रज दोनों एक होकर वज्रोलीमुद्राके अभ्यासयोगसे यदि अपने देहहीमें स्थित रहजायँ तो संपूर्ण सिद्धियोंको देते हैं ॥१०१॥

रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥१०२॥

रक्षेदिति ॥ या नार्याकुंचनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरिस्थाने नीत्वा रजो रक्षेत् । हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्यं च वस्तु वेत्ति जानाति ॥ ध्रुवमिति निश्चितम् । खेंऽतरिक्षे चरतीति खेचर्यंतरिक्षचरी भवेत् ॥ १०२ ॥

भाषार्थ-जो नारी अपनी योनिके संकोचसे रजको ऊर्ध्वस्थानमें लेजाकर रजकी रक्षा करे वह योगिनी होती है और भूत, भविष्यत्, वर्तमान वस्तुको जान सकती है और यह निश्चित है कि वह खेचरी होती है अर्थात् उसको आकाशमें गमन करनेका सामर्थ्य होजाता है ॥ १०२ ॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभते । अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः । कीदृशो योगः भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ १०३ ॥

भावार्थ-और वज्रोलीके अभ्यासयोगसे रूप, लावण्य, वज्रोलीकी तुल्यतारूप देहकी सिद्धिको प्राप्त होती है और यह वज्रोलीके अभ्यासका योग पुण्यका उत्पादक है और भोगोंके भोगनेपर भी मुक्तिको देता है ॥ १०३ ॥

अथ शक्तिचालनम् ।

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ॥
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१०४॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्घाततया कुंडलीपर्यायान् तथा मोक्षद्वारविभेदनादिकं चाह सप्तभिः-कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १, कुंडलिनी २, भुजंगी ३, शक्तिः ४, ईश्वरी ५, कुण्डली ६, अरुंधती ७, चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः ॥ १०४ ॥

भाषार्थ-शक्तिचालनमुद्रा कहनेके अभिलाषी आचार्य कुंडलिनीके पर्याय और कुंडलिनीसे मोक्षद्वारविभेदन (खोलना) आदिका वर्णन करते हैं कि, कुटिलांगी १, कुंडलिनी २, भुजंगी ३, शक्ति ४, ईश्वरी ५, कुंडली ६, अरुंधती ७, ये सात शब्द पर्यायवाचक हैं अर्थात् सातोंका एकही अर्थ है ॥ १०४ ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥

उद्घाटयेदिति ॥ यथा येन प्रकारेण पुमान् कुंचिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्बलात्कपाटमररमुद्घाटयेदुत्सारयेत् । हठादिति देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र संबध्यते।तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुंडलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्नामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत् । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥१०५॥

भाषार्थ-जैसे पुरुष कपाटों (किवाँड) के अर्गल (ताला) आदिको

हठ (बल) से कुंचिका (ताली) से उद्घाटन करता है, तिसीप्रकार योगीभी हठयोगके अभ्याससे कुंडलिनीमुद्राकेद्वारा अर्थात् मोक्षके दाता सुषुम्नाके मार्गको भेदन करता है क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि, सुषुम्ना मार्गसे ऊपर (ब्रह्मलोक) को जाता हुआ मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १०५ ॥

येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६ ॥

येनेति ॥ आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरंध्रम्। 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः। येन मार्गेण सुषुम्नामार्गेण गंतव्यं गमनार्हमस्ति तद्द्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुद्ध्वा परमेश्वरी कुंडलिनी प्रसुप्ता निद्रितास्ति ॥ १०६ ॥

भाषार्थ-रोगसे उत्पन्न हुआ दुःखरूप आमय जिसमें नहीं है ऐसा ब्रह्मस्थान जिस मार्गसे जाने योग्य होता है अर्थात् जिसमार्गसे ब्रह्मस्थानको जाते हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखाहै कि, उस सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है उस सुषुम्ना मार्गके द्वारको मुखसे आच्छादन करके अर्थात् रोककर परमेश्वरी (कुंडलिनी) सोती है ॥ १०६ ॥

कंदोर्ध्वं कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ १०७ ॥

कंदोर्ध्वमिति ॥ कुंडली शक्तिः कंदोर्ध्वं कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता मूढानां बंधनाय सुप्ता। योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवंति। मूढास्तदज्ञानाद्बद्धास्तिष्ठंतीति भावः। तां कुंडलिनीं यो वेत्ति स योगवित्। सर्वेषां योगतंत्राणां कुंडल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ १०७ ॥

भाषार्थ-कंदके ऊपरभागमें सोतीहुई कुंडलिनी योगीजनोंके मोक्षार्थ होती है और वह पूर्वोक्त कुण्डलिनी मूढोंके बन्धनार्थ होती है अर्थात् योगीजन कुण्डलिनीको चलाकर मुक्त होजाते हैं और उसके अज्ञानी मूढ बन्धनमें पडे रहते हैं उस कुण्डलिनीको जो जानता है वही योगका ज्ञाता है क्योंकि संपूर्ण योगके तंत्र कुण्डलिनीके अधीन हैं ॥ १०७ ॥

कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०८ ॥

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्तिः सर्पवद्भुजगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुंडली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबंधान्निवृत्तः। अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥ १०८ ॥

भाषार्थ-योगीजनोंने जो सूर्यके समान कुटिल है आकार जिसका ऐसी कहीहै वह कुण्डली शक्ति जिसने चलादी है अर्थात् मूलाधारसे ऊपर पहुँचादी है वह मुक्त है अर्थात् बन्धनसे निवृत्त है इसमें संशय नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति है कि, उस सुषुम्नासे ऊपरको जाताहुआ योगी मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १०८ ॥

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीम् ॥
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०९ ॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्गंगायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गंगायमुने इडापिंगले तयोर्मध्ये सुषुम्नामार्गे तपस्विनी निरशनस्थितेः । बालरंडां बालरंडाशब्दवाच्यां कुंडलीं बलात्कारेण हठेन गृह्णीयात् । तत्तस्या गंगायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम् ॥ १०९ ॥

भाषार्थ-गंगा यमुना हैं आधार जिनके वा गंगा यमुनारूप जो इडा पिंगला नाडी हैं उनके मध्यसे अर्थात् सुषुम्नाके मार्गमें तपस्विनी अर्थात् भोजनरहित बालरण्डा हैं उसको बलात्कार (हठयोग) से ग्रहण करे वह कुण्डलीका जो बलात्कारसे ग्रहण है वही व्यापकरूप विष्णुके परमपदका प्रापक है ॥ १०९ ॥

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥ ११० ॥

गंगायमुनादिपदार्थमाह-इडेति ॥ इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गंगा गंगापदवाच्या, पिंगला, दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या नदी । इडापिंगलयोर्मध्ये मध्यगता या कुण्डली सा बालरंडा बालरंडाशब्दवाच्या ॥ ११० ॥

भषार्थ-अब गंगा यमुना आदि पदार्थोंका वर्णन करते हैं कि, इडा अर्थात् वामनिःश्वासकी नाडी भगवती गंगा कहाती हैं और पिंगलाके अर्थात् दक्षिणनिःश्वासकी नाडी यमुना नदी कहाती हैं और इडा और पिंगला मध्यसे वर्तमान जो कुण्डली है वह बालरण्डा कहाती है ॥ ११० ॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ॥
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ १११ ॥

शक्तिचालनमाह-पुच्छे इति ॥ सुप्तां निद्रितां भुजंगीं तां कुंडलिनीं पुच्छे प्रगृहीत्वोद्बोधयेत्प्रबोधयेत्सा, शक्तिः कुंडली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वंतिष्ठत इत्यन्वयः । एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगंतव्यम् ॥ १११ ॥

भाषार्थ-अब शक्तिचालनमुद्राका वर्णन करतेहैं कि सोती हुई भुजगी (कुंडली) के पुच्छको ग्रहण करके उस भुजगीका प्रबोधन करे (जगावे) तो वह कुंडली निद्राको त्यागकर हठसे ऊपरको स्थित होजाती है इसका रहस्य (गुप्तक्रिया) गुरुमुखसे जानने योग्य है ॥ १११ ॥

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ॥
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ११२

अवस्थिता इति ॥ अवस्थितावाक् स्थिता मूलाधारास्थिता फणावती भुजंगी सा कुंडलिनी सूर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्द्धमेव प्रहरार्धमात्रं परिचालनीया परितश्चालयितुं योग्या । परिधानयुक्तिर्देशिकाद्बोध्या ॥ ११२ ॥

भाषार्थ-नीचे मूलाधारमें स्थित वह फणावती कुंडलिनी सूर्यसे पूरण करनेके अनंतर परिधानमें जो युक्ति है उससे ग्रहण करके सायंकाल और प्रातःकालके समय प्रतिदिन आधे प्रहर पर्यंत चारों तर्फ चालन करने योग्य है परिधानकी युक्ति गुरुमुखसे जाननी चाहिये ॥ ११२ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ ११३ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाह-ऊर्ध्वमिति ॥ मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरिनाभिमेढ्रयोर्मध्ये । एतेन कंदस्य स्थानमुक्तम् । तथा चोक्तं गोरक्षशतके-"ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत् । तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः" इति । याज्ञवल्क्यः-"गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः। देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानामितीरितम् ॥

कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलम् । चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम् ॥ अंडाकृतिवदाकारभूषितंच त्वगादिभिः । चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगम् " इति । गुदाद्व्यंगुलोपर्येकांगुलं मध्यं तस्मान्नवांगुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशांगुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम् । चतुर्णामंगुलीनां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलप्रमाणं विस्तारम् विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणम् । चतुरंगुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदंबरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम् । कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ ११३ ॥

भाषार्थ-कंदके पीडनेसे शक्तिचालनके कथनाभिलाषी आचार्य प्रथम कंदके स्थान और स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, मूलस्थानसे वितस्तिभर ऊपर अर्थात् नाभिस्थल और लिंगके मध्यमें इसवर्णनसे कंदका स्थान कहा सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि लिंगसे ऊपर और नाभिसे नीचे पक्षियोंके अंडेके समान कंदकी योनि है उसमें बहत्तर सहस्र नाडी उत्पन्नहुई हैं. याज्ञवल्क्यने कहाहै कि, गुदासे दो अंगुल ऊपर लिंगसे दो अंगुल नीचे मनुष्योंके देह (तनु) का मध्य कहा है मनुष्योंका कंदस्थान देहके मध्यसे नौअंगुल ऊपर चार अंगुल चौडा और चार अंगुल लंबा है और त्वचा आदिसे अंडाकारके समान शोभित है और चतुष्पद और तिरछी योनियोंके और पक्षियोंके तुंद मध्यमें होताहै अर्थात् गुदाके दो अंगुलोंसे ऊपर एक अंगुलका मध्य और उससे नौ अंगुल कंदस्थान हुआ. ये सब मिलकर बारह अंगुलका प्रमाण जिसका ऐसा वितस्तिमात्र हुआ और वह कंदस्थान चार अंगुल और कोमल और धवल और वेष्टित किये (लपेटे) वस्त्रके समान है रूप जिसका ऐसा योगीजनोंने कहाहै । भावार्थ यह है कि, मूलस्थानसे ऊपर वितस्तिमात्र चार अंगुलभर कोमल शुक्ल लपेटे हुये वस्त्रके समान कंदस्थान योगीजनोंने कहा है ॥११३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥११४॥

सतीति ॥ वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रन्थी तयोर्देशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । ' तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ' इत्यमरः।पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात्। चकारात् धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत्। गुल्फा ।

दूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥११४॥

भाषार्थ-वज्रासन करनेके अनंतर हाथोंसे गुल्फोंके समीपके स्थानमें दोनों चरणोंको दृढतासे धारण करै अर्थात् गुल्फोंके कुछैक ऊपरके भागमें चरणोंको हाथोंसे खूब पकडे और हाथोंसे पकडे हुये पादोंसे कंदके स्थानमें कंदको पीडित करै अर्थात् गुल्फसे ऊपर पादोंको हाथोंसे पकडकर नाभिके अधोभागमें कंदको पीडित करै (दाबै)॥ ११४॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम्॥
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५ ॥

वज्रासन इति॥वज्रासने स्थितो योगी कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां कृत्वेत्यर्थः। अनंतरं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात्। एवंरीत्या कुंडलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात्। वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥११५॥

भाषार्थ-वज्रासनमें स्थित (बैठाहुआ) योगी कुंडलीको चलाकर अर्थात् शक्तिचालन मुद्राको करके उसके अनंतर अर्थात् शक्तिचालनके पीछे भस्त्रानामके कुंभक प्राणायामको करै, इसरीतिसे कुंडलीका शीघ्र प्रबोधन करै यद्यपि वज्रासनमें शक्तिका चालन पहिले कह आयेहैं फिर जो वज्रासनका कथन है वह इसनियमके लिये है कि, शक्तिचालनके अनंतर भस्त्रामें वज्रासनही करना, अन्य नहीं॥ ११५॥

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः॥
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः॥ ११६ ॥

भानोरिति॥भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुंचनं कुर्यात्। नाभेराकुंचनेनैव तस्याकुंचनं भवति। ततो भानोराकुंचनात्कुंडलीं शक्तिं चालयेत्। एवं यः करोति मृत्योर्वक्त्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः। न कुतोऽपीत्यर्थः॥ ११६॥

भाषार्थ-नाभिदेशमें स्थित सूर्यका आकुंचन करै और वह सूर्यका आकुंचन नाभिके आकुंचनसेही होताहै, फिर सूर्यके आकुंचनसे कुण्डली शक्तिका चालन करै, जो योगी इसप्रकारकी क्रियाको करताहै मृत्युके मुखमें गये हुयेभी उस योगीको कालका भय किसप्रकार हो सकताहै? अर्थात् मृत्युका भय नहीं रहता॥ ११६॥

मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥

ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ ११७॥

मुहूर्तद्वयमिति॥मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यंतं तदवधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

भाषार्थ-दो मुहूर्त अर्थात् चार घडीपर्यंत निर्भय (अवश्य) चलायमान करनेसे सुषुम्नामें प्राप्त हुई यह शक्ति (कुण्डली) किंचित् (कुछ) ऊपरको खिंच जातीहै ॥ ११७ ॥

तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् ॥

जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥ ११८ ॥

तेनेति॥तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुंडली तस्याःप्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेशमार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति। तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतःस्वयमेव सुषुम्नां व्रजति गच्छति । सुषुम्नामुखात्प्रागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

भाषार्थ-तिस ऊपरको आकर्षण करनेसे उस प्रसिद्ध सुषुम्नाके मुख अर्थात् प्रवेशके मार्गको निश्चयसे त्याग देतीहैं तिसमार्गके त्यागसे प्राणवायु स्वतः (स्वयं) ही सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै क्योंकि, कुण्डलिनी तो सुषुम्नाके मुखपरसे पहिलेही चली गई, अवरोधके अभाव होनेसे प्राणका स्वयंही प्रवेश होजाताहै ॥ ११८ ॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥

तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९ ॥

तस्मादिति॥यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणःसुषुम्नां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ११९ ॥

भाषार्थ-जिससे शक्तिके चालनसे प्राण सुषुम्नामें प्राप्त होताहै तिससे सुखसे सोई हुई अरुंधती (कुंडलिनी) को नित्य भलीप्रकार चलायमान करै क्योंकि तिसशक्तिके चलायमान करनेसेही रोगी कास श्वास जरा आदि रोगोंसे निवृत्त होजाताहै ॥ ११९ ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥

किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२० ॥

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति। अत्रास्मिन्नर्थे बहूक्तेन बहुप्रशंसनेन किं, न किमपीत्यर्थः। कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ १२० ॥

भाषार्थ-जिसयोगीने शक्ति चलायमान करली है वह योगी अणिमा आदि सिद्धियोंका पात्र होजाताहै और इसमें अधिक कहनेसे क्या है कालकोभी लीलासे अर्थात् अनायाससे जीत लेताहै ॥ १२० ॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥१२१॥

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनंतरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ॥ "नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चंद्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकायास्ततः। छित्त्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत् ॥"॥१२१॥

भाषार्थ-श्रोत्र आदि इंद्रियोंसहित लिंगके संयममें तत्पर जो योगी है और नित्य हितकारी प्रमित अर्थात् चतुर्थांशसे न्यून भोजन करताहै शक्तिचालनके अभ्यासी उस योगीको मंडल (४० दिन) के अनन्तर प्राणायामकी सिद्धिको देखतेहैं सोई कहा है कि, नासिकाके दक्षिणमार्गमें बहनेवाले पवनसे अत्यंत बढाया और घंटिका (कण्ठ) से पूर्व चंद्रमाके समान अमृत है शरीर जिसका ऐसा प्राण जिसके अनंतर विशालकाल और अग्नि ये वशमें हुई उसकुण्डलीके अभ्यासशील योगीकी कायाको भ्रुकुटीके छिद्रमें वर्तमान नाडीमें पहुँचकर और कायाका छेदन करके इस प्रकार पुनः अत्यन्त नवीन करताहै जैसे छेदन करनेसे वृक्षका स्कंध (डाला) नवीन होजाता है ॥ १२१ ॥

कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२ ॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा। अथानंतरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात्। नित्यं प्रतिदिनम्। एवमुक्तप्रकारे-

मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ ११७ ॥

मुहूर्तद्वयमिति॥मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यंतं तदवधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

भाषार्थ-दो मुहूर्त अर्थात् चार घडीपर्यंत निर्भय (अवश्य) चलायमान करनेसे सुषुम्नामें प्राप्त हुई यह शक्ति (कुण्डली) किंचित् (कुछ) ऊपरको खिंच जातीहै ॥ ११७ ॥

तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् ॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥ ११८ ॥

तेनेति॥तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुंडली तस्याःप्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेशमार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति। तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतःस्वयमेव सुषुम्नां व्रजति गच्छति । सुषुम्नामुखात्प्रागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

भाषार्थ-तिस ऊपरको आकर्षण करनेसे उस प्रसिद्ध सुषुम्नाके मुख अर्थात् प्रवेशके मार्गको निश्चयसे त्याग देतीहैं तिसमार्गके त्यागसे प्राणवायु स्वतः (स्वयं) ही सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै क्योंकि, कुण्डलिनी तो सुषुम्नाके मुखपरसे पहिलेही चली गई, अवरोधके अभाव होनेसे प्राणका स्वयंही प्रवेश होजाताहै ॥ ११८ ॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९ ॥

तस्मादिति॥यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणःसुषुम्नां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ११९ ॥

भाषार्थ-जिससे शक्तिके चालनसे प्राण सुषुम्नामें प्राप्त होताहै तिससे सुखसे सोई हुई अरुंधती (कुंडलिनी) को नित्य भलीप्रकार चलायमान करै क्योंकि तिसशक्तिके चलायमान करनेसेही रोगी कास श्वास जरा आदि रोगोंसे निवृत्त होजाताहै ॥ ११९ ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२० ॥

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति। अत्रास्मिन्नर्थे बहूक्तेन बहुप्रशंसनेन किं, न किमपीत्यर्थः। कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ १२० ॥

भाषार्थ-जिसयोगीने शक्ति चलायमान करली है वह योगी अणिमा आदि सिद्धियोंका पात्र होजाताहै और इसमें अधिक कहनेसे क्या है कालकोभी लीलासे अर्थात् अनायाससे जीत लेताहै ॥ १२० ॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥१२१॥

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनंतरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ॥ "नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चंद्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकायास्ततः। छित्त्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत् ॥" ॥ १२१ ॥

भाषार्थ-श्रोत्र आदि इंद्रियोंसहित लिंगके संयममें तत्पर जो योगी है और नित्य हितकारी प्रमित अर्थात् चतुर्थांशसे न्यून भोजन करताहै शक्तिचालनके अभ्यासी उस योगीको मंडल (४० दिन) के अनन्तर प्राणायामकी सिद्धिको देखतेहैं सोई कहा है कि, नासिकाके दक्षिणमार्गमें बहनेवाले पवनसे अत्यंत बढाया और घंटिका (कण्ठ) से पूर्व चंद्रमाके समान अमृत है शरीर जिसका ऐसा प्राण जिसके अनंतर विशालकाल और अग्नि ये वशमें हुई उसकुण्डलीके अभ्यासशील योगीकी कायाको भ्रुकुटीके छिद्रमें वर्तमान नाडीमें पहुँचकर और कायाका छेदन करके इस प्रकार पुनः अत्यन्त नवीन करताहै जैसे छेदन धरनेसे वृक्षका स्कंध (डाला) नवीन होजाता है ॥ १२१ ॥

कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२ ॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा। अथानंतरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात्। नित्यं प्रतिदिनम्। एवमुक्तप्रकारे-

णाभ्यसतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ १२२ ॥

भाषार्थ–कुण्डलीको चलायमान करके उसके अनन्तरही विशेषकर भस्त्रानामके कुम्भकप्राणायामको करै, इसप्रकार प्रतिदिन अभ्यास करताहुआ जो यमी (योगी) है उसको यमका भय कहां रहताहै, क्योंकि योगीके देहका त्याग अपने अधीन होताहै ॥ १२२ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ॥
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥ १२३ ॥

द्वासप्ततीति ॥ द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुण्डल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः । न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ १२३ ॥

भाषार्थ–बहत्तर सहस्र नाडियोंकी मलशुद्धिके करनेमें शक्तिचालनके विना प्रक्षालन (धोना) का अन्य कौन उपाय है अर्थात् कोई नहीं है, शक्तिचालनमुद्राके करनेसेही संपूर्ण नाडियोंके मलकी शुद्धि होती है ॥ १२३ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ॥
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२४ ॥

इयं त्विति ॥ इयं मध्यमा नाडी सुषुम्ना योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ १२४ ॥

भाषार्थ–यह सुषुम्नारूप मध्यमनाडी योगियोंके दृढअभ्याससे स्वस्तिक आदि आसन प्राणायाम और महामुद्रा इनके करनेसे सरल होजाती है ॥ १२४ ॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ॥
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ १२५ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वांतःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषाम् । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथवा परान्या उन्मन्यादिका भद्रां शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ १२५ ॥

भाषार्थ-अन्यविषयोंसे वृत्तिके रोकनेसे चित्तकी एकाग्रतारूप समाधिसे मनको धारणामें स्थित करके अभ्यास करनेमें जो निद्रा और आलस्यसे रहित हैं उनको शांभवी मुद्रा वा अन्यउन्मनी आदि मुद्रा शोभन योगसिद्धिको देती हैं इससे यह कहा कि, हठयोग राजयोगका उपकारक है ॥ १२५ ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ॥
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ १२६ ॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह-राजयोगमिति॥वृत्त्यंतरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः। 'हठं विना राजयोगः' इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणःराजयोगादासनं लक्ष्यते। राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धिरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः राजयोगं विना निशेव निशा कुंभको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात्। निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुंभको लक्ष्यते। राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्रापि विविधापि विलक्षणापि वा न राजते न शोभते। पक्षांतरे। राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबंधस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते। 'शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात्'। राजा चन्द्रः। 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' इति श्रुतेः। तस्य योगं संबंधं विना निशा रात्रिर्न राजते। राजयोगं विना नृपसंबंधं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः। विचित्रापि। पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि। निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि। मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्रापि न राजते ॥ १२६ ॥

भाषार्थ-अब राजयोगके विना आसन आदिकी निष्फलताको उपचारसे वर्णन करते हैं कि, अन्यवृत्तियोंको रोककर आत्मविषयक जो धारावाहिक निर्विकल्प मनकी वृत्ति उसे राजयोग कहते हैं और वह राजयोग-'हठके विना राजयोग वृथा है' इस वचनमें सूचित कर आये हैं उस राजयोगके वा उसके साधनोंके विना पृथ्वी (स्थिरता) शोभित नहीं होतीहै यहां पृथ्वीशब्दसे स्थिरता और राजयोगपदसे आसन लेना अर्थात् राजयोगके विना परमपुरुषार्थ (मोक्ष) रूप मोक्ष नहीं होसकता. यह हेतु आगेभी सम्पूर्ण वाक्योंमें समझना और राजयोगके विना निशा शोभित नहीं होती अर्थात् निशाके समान कुंभकप्राणायाम शोभित नहीं होता है, क्योंकि जैसे निशामें राजपुरुषोंका संचार नहीं होता है इसीप्रकार कुंभकमें प्राणोंका संचार नहीं होताहै इससे निशापदसे कुंभक लेते हैं और राज-

योगके विना विचित्र भी मुद्रा अर्थात् अनेक प्रकारकी वा विलक्षण महामुद्रा आदि मुद्रा शोभित नहीं होतीहै । पक्षांतरमें इस श्लोकका यह अर्थ है कि, राजाके संबन्ध विना रत्न आदिके उत्पन्न करनेवालीभी पृथ्वीकी शोभा नहीं है क्योंकि राजाकी शिक्षाके विना नाना-उपद्रव भूमिमें होते हैं और राजा (चन्द्रमा) के सम्बन्ध विना ग्रहनक्षत्रोंसे विचित्रभी निशाकी शोभा नहीं होती है इस श्रुतिसे यहां राजपदसे चन्द्रमा लेते हैं कि, 'सोम हम ब्राह्मणोंका राजाहै' और राजाके योगविना मुद्राकी शोभा नहीं अर्थात् रेखा आदिसे विचित्रभी मुद्रा राजाके हाथसे किये हुये चिह्नविशेषरूप राजसम्बन्धके विना ग्रहण करने योग्य नहीं होती है ॥ १२६ ॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ॥
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ १२७ ॥

मारुतस्येति॥मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुंभकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत् । मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ १२७ ॥

भाषार्थ-प्राणवायुकी जो कुंभकमुद्रा आदि संपूर्ण विधि है उसकी मनसे युक्त होकर (मन लगाकर) भलीप्रकार अभ्यास करे और प्राणवायुकी विधिसे अन्य जो विषय उनमें मनकी प्रवृत्तिको न करै ॥ १२७ ॥

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ॥
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ १२८ ॥

मुद्रा उपसंहरति॥इतीति॥आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः । तासु मुद्रासु मध्ये एकैकापि प्रत्येकमपि या काचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्यणिमादिप्रदात्री वा॥१२८॥

भाषार्थ-अब मुद्राओंकी समाप्तिका वर्णन करते हैं कि, आदिनाथ, (महादेव) ने ये दश मुद्रा कही हैं उन मुद्राओंमें एक २ भी मुद्रा (प्रत्येक) अर्थात् जो कोई मुद्रा योगीजनोंको अणिमा आदि महासिद्धियोंकी प्रदायिनी (देनेवाली) है ॥ १२८ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ॥
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ १२९ ॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति-उपदेशमिति ॥ य पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरंपरारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति। स एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः। स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः। ईश्वराभिन्न एव स इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

भाषार्थ-सांप्रदायिक (योगियों गुरुपरम्परासे चले आये) महामुद्रा आदिके उपदेशको जो पुरुष देता है वही श्रीमान् गुरु अर्थात् सब गुरुओंमें श्रेष्ठ है और वही स्वामी अर्थात् प्रभु है और वही साक्षात् परमेश्वरस्वरूप है ॥ १२९ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ॥
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥१३०॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

तस्येति ॥ तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुंभकाद्यनुष्ठान विषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान्। आदरश्च विहिततपःकरणं भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्धं साकं कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

भाषार्थ-तिन मुद्राओंके उपदेशकर्ता गुरुके वाक्यमें अर्थात् आसन कुंभक आदिके अनुष्ठान विषयकी और युक्ताहार विहारकी चेष्टा आदि विषयोंकी आज्ञामें तत्पर (आदरवान्) और शास्त्रोक्त तप करनेरूप उस आदरके अनंतर बारंबार महामुद्रा आदिके अभ्यासमें सावधान होकर मनुष्य अणिमा आदि सिद्धियों सहित कालके वंचनको प्राप्त होता है अर्थात् उसको सिद्धि और कालसे निर्भयता ये दोनों प्राप्त होते हैं ॥१३०॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां पं० मिहरचंद्रकृतभाषाविवृतिसहितायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः समाप्तः ॥ ३ ॥

मत्स्येन्द्रनाथ ने मरण-निर्मुक्ति को योग की मुख्य साधना स्वीकार की है और इसके दर्जनों उपायों का उल्लेख 'कौलज्ञाननिर्णय' में किया गया है।

मृत्युञ्जयत्व की आगमिक एवं यौगिक विधि—

तान्त्रिक योग एवं समस्त आगमिक परम्परा में इस सूत्र को सर्वत्र स्वीकार किया गया है कि—

यत्किंचित् स्रवते चन्द्रादमृतंदिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसतेसूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः।।[1]

अर्थात् सहस्रारस्थ शशाङ्क से जो पीयूष प्रवाहित होता है उसे मूलाधारस्थ सूर्य पी जाता है। यह पिण्ड को प्राप्त नहीं हो पाता। इसी कारण पिण्ड जरा-मरण द्वारा अभिशप्त है। नाभिदेश में जो दहनात्मक सूर्य है वह अमृतात्मा चन्द्रमा से अमृत छीनकर पी जाया करता है—

१. नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः॥

२. वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः।
करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते।
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुख वञ्चनम्॥[2]

३. **पवन के लय से मृत्यु पर विजयः (बन्धन से पवन-विजय)**

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्।
ततो न जायते मृत्युजरारोगादिकं तथा॥ (हठ० ३।७५)

विपरीतकरणी मुद्रा से भानु ऊपर एवं चन्द्रमा नीचे हो जाता है अतः चान्द्र पीयूष सूर्य को नहीं मिल पाता—

'ऊर्ध्वनाभरधस्तालोरुर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥[3]

परिणाम—

'वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालिजित॥ (८२)

४. **वज्रोलीमुद्रा**—बिन्दु रक्षा अमरत्व, वज्रोली मुद्रा भी बिन्दु को क्षरण से अवरुद्ध करके साधक को अमृतत्व प्रदान कराती है। इसके विषय में 'हठयोग प्रदीपिका में ३ वस्तुओं की आवश्यकता बताई गई है—१. वशवर्तिनी नारी, २. क्षीर, ३. साधक का संयत मन वज्रोली मुद्रा के अभ्यास से योगी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है—

---

१. हठयोग प्रदीपिका (३।७१)
२. हठयोग प्रदीपिका (३।७८)
३. हठयोग प्रदीपिका (३।७९)

Scanned by CamScanner

एवं संरक्षयेद्विन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवन बिन्दु धारणात् ॥[1]
यावद्विन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ?[2]

शुक्र तो चितायत्त हुआ करता है और जीवन शुक्रायत्त हुआ करता है—

'चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ (३।९०)

वज्रोली की प्रक्रिया—

'नारीभगे पतद्विन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

रतिकर्म के समय स्खलित बिन्दु को भी योगी जननेन्द्रिय से ऊपर खींच लेता है और उसे आकर्षित करके ऊपर स्थिर कर लेता है ।

इस साधना में निरत व्यक्ति गृहस्थ होकर भी योगी/योगिनी है—

'पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वजोल्या सापि योगिनी । (हठ० ३।९९)
रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥ (हठ० ३।०२)

बिन्दुरक्षण

१. नाद की बिन्दु मे परिणति
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति (हठ० ३।१००)

२. देहसिद्धि

३. सर्वसिद्धियो
स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ वज्रोल्याभ्यास योगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः (हठ० ३।१०१)

४. परमपद की प्राप्ति
चन्द्रात्मक बिन्दु का सूर्यात्मक रज के साथ संयोग होने से परमपद की प्राप्ति होती है । (अमृतसिद्धि)

परमपद की प्राप्ति—

बिन्दुश्चन्द्रमयः प्रोक्तो रजः सूर्यमय तथा ।
अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् ॥ (अमृत सिद्धि)

देह सिद्धि—

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यास योगतः ।
अयं पुण्यकरो योगोभोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥

हठयोग प्रदीपिका (३।१०३)

---

१. हठयोग प्रदीपिका (३।८८)
२. हठयोग प्रदीपिका (३।८९)

Scanned by CamScanner

[९] * **कुण्डलिनी योग और उसकी साधना** *

मनुष्य के **'नाड़ी-केन्द्र'** के ऊर्ध्व में आठ फेंटे लगाकर स्थित, मुख से ब्रह्मद्वार को रोककर अवस्थित तथा स्वयंभूलिंग को वेष्टित करके विद्यमान जो प्रसुप्ता परमेश्वरी **'मूलाधार चक्र'** में विश्राम कर रही है, उसका ही नाम है **'कुण्डलिनी'**। उसे **'वह्नियोग'** से प्रबुद्ध करके सुषुम्णा में स्थित षट्चक्रों एवं ग्रंथित्रय का भेदन कराते हुए साधक का उसे सहस्रारस्थ शिव से मिलाना (सामरस्य कराना) ही **कुण्डलिनी योग की साधना है।** यह **'कुलाकुलयोग'** ही (शिव-शक्ति-सामरस्य ही) **कुण्डलिनी योग की साधना** है। इसी सामरस्य से योगी **'मोक्ष'** पाता है—

'कुण्डलिन्या तथा योगी **मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्।।'** 'शक्तिचालनी**मुद्रा'** **'भस्त्रिका-प्राणायाम'** **'वज्रासन'** आदि साधन कुलशक्ति के प्रबोधन के प्रधान साधन हैं।

[१०] * **कुण्डलिनी शक्ति के व्यापार** *

कुण्डलिनी की सुषुप्ति ही जीवों का बन्धन है एवं उसको जागृत करके उसको अकुल से मिलाना ही जीवों की मुक्ति है। अतः 'कुण्डलिनी' मूढ़ों के लिए बन्धनकारिणी एवं योगियों के लिए मोक्षदा है—

'कुन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा स्मृता॥'

मुद्राभ्यास—मुक्ति प्राप्त करने के साधनों में **मुद्राभ्यास** भी महत्वपूर्ण है—

'स योगी मुक्तिभाजनम् ॥'

मुख्य मुद्राएँ हैं—**'महामुद्रा'** **'नभोमुद्रा'** **'उड्डियान'** **'जालन्धर'** एवं **'मूलबन्ध'। 'खेचरी मुद्रा'** का अपना विशिष्ट महत्व है।

[११] **अमृतपान एवं 'खेचरीमुद्रा'—**

'कालवञ्चन', **'अमृतत्व की प्राप्ति'**, **'पिण्डपदसमरसीकरण'**, 'निरुत्थान' ही **नाथ-योग के मुख्य लक्ष्य हैं।**

Scanned by CamScanner

[१२] * **बिन्दु-साधना (बिन्दुयोग)** *—

योगी गोरक्षनाथ कहते हैं कि—'बिन्दुमूलं शरीरं तु शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।" समस्त शरीर बिन्दु' पर ही तो अवस्थित है, अतः—

'मरणं **बिन्दुपातेन,** जीवनं बिन्दुधारणात् ॥"

बिन्दु के पतन को रोकने के लिए **'खेचरी मुद्रा'** (जिह्वा को उलट कर कण्ठमूल में ले जाना) अत्यन्त सहायक है। **जब तक बिन्दु रक्षित** है मृत्यु संभव नहीं है—

'ब्रह्मचर्येण देवाः मृत्युमुपाघ्नत।' (वेद)
'यावद् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः?'

'खेचरीमुद्रा' 'नभोमुद्रा' एवं 'वज्रोली'—की साधना से बिन्दु का अधःपतन होता ही नहीं। अतः ये साधनायें आवश्यक हैं। बिन्दु का ऊर्ध्वीकरण एवं 'उर्ध्वरितसत्व' ही ब्रह्मचर्य-साधना या **बिन्दु-साधना का प्राथमिक लक्ष्य** है। बिन्दुजय से अमृतत्व एवं अनेक सिद्धियों की प्राप्ति **द्वितीय लक्ष्य** है। ब्रह्मत्व-साक्षात्कार एवं समरसीकरण तथा मोक्षाप्ति **अन्तिम लक्ष्य** है।

'बिन्दु' और उसके भेद—'बिन्दु' के दो भेद हैं—

(१) 'पाण्डुर बिन्दु (२) 'लोहित बिन्दु'।
(शुक्र) (महाराज)

(१) शुक्र का स्थान : यह चन्द्रस्थान में स्थित है। **'बिन्दु' शिव** है। बिन्दु **'चन्द्र'** है।

(२) रज का स्थान : यह नाभि में स्थित 'रज' **शक्ति** है। रज **'रवि'** है।

* इन **दोनों की एकता** अत्यन्त दुर्लभ है। इन दोनों के संगम से **'परमपद'** की प्राप्ति होती है। *

वायु के द्वारा शक्ति का चालन करने से जब महारज ऊर्ध्वमुख होकर एवं बिन्दु से मिलकर एक हो जाता है और तब शरीर दिव्य हो जाता है। बिन्दु-साधना से परमपद की प्राप्ति होती है—'उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ।'

* **बिन्दु-साधना मोक्ष का साधन है।** *

[१३] * **ओंकार की साधना** *

एकान्त स्थान में सम्यक रीति से **पद्मासनस्थ** होकर, **कण्ठ एवं शिर को समसूत्र में रखकर, नासाग्रभाग** पर **दृष्टि** रखकर **ओंकार का जप** करना चाहिए—

Scanned by CamScanner

कुण्डलिनी-योग—अपनी सुषुप्त शक्ति को जाग्रत किये बिना या पाताल की '**शक्ति**' को स्वर्ग (मुक्ति) लोक के '**शक्तिमान्**' (अकुल) से समरस किये बिना मुक्ति एवं अपने '**स्व' का पूर्ण विकास** संभव नहीं है।

प्राणायाम—कुण्डलिनी-साधना के विधान में गोरक्षनाथ ने प्रथम साधन प्राणायाम को स्वीकार किया है। ('वज्रासन' में बैठकर) एवं बालिस्तभर लम्बे एवं चार अंगुल चौड़े कोमल श्वेत वस्त्र से नाभि को वेष्टित करके **शक्तिचालन युक्ति** से वायु का कुम्भक करना चाहिए।

अष्टकुण्डलकुण्डलित कुण्डलिनी को सीधा करने हेतु **प्राणवायु का आकुञ्चन** करना चाहिए। इसके बाद **कुण्डली का चालन** करना चाहिए।

१५ दिनों तक '**वज्रासन**' से बैठकर '**शक्तिचालिनी मुद्रा**' का अभ्यास करना चाहिए।

---

१. योगबीज (७२)
२. योगबीज (८७)

प्राण-संयमन से वायु तप्त हो उठती है और इस वायु से प्रज्वलित अग्नि कुण्डलिनी को प्रतप्त कर देती है। इससे व्याकुल होकर 'कुण्डलिनी शक्ति' सुषुम्णा के मुख में प्रवेश कर जाती है और वज्रदण्ड में वायु तथा अग्नि के साथ प्रवेश करके 'ब्रह्मग्रंथि' का भेदन करके रुद्रग्रंथि में प्रविष्ट हो जाती है। फिर कुंभक के सिद्ध होने पर (१) सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली एवं भस्त्रिका का अभ्यास करना चाहिए। ये चार प्रकार के कुंभक प्राणायाम हैं। बंधत्रयक से युक्त केवल प्राणायाम से योग साधना सिद्ध हो जाती है।[१]

प्राणायाम के ८ भेद हैं—उनमें (१) सूर्यभेदन (२) उज्जायी (३) शीतलीकरण एवं (४) भस्त्रा प्राणायाम से कुण्डलिनी जाग उठती है।

(१) 'सूर्यभेद'→उदर के वायु विकार का नाश, गले के दोषों का अन्त, शरीर में कान्ति-वृद्धि, अग्नि-वृद्धि, शिर के रोग, जलोदर एवं धातुगत रोग नष्ट हो जाते हैं।

(२) 'उज्जायी'→चलते-फिरते, रुकते उज्जायी का अभ्यास करना चाहिए।

(३) शीतलीकरण→पित्त एवं ज्वर का नाश।

(४) 'भस्त्रा'→वात, पित्त, कफ का नाश। इससे कुण्डलिनी जागृत होती है, वह टेढ़ी से सीधी हो जाती है, ग्रंथि त्रय का भेदन होता है और ब्रह्मनाड़ी के मुख पर कफ रूप अवरोध का नाश होता है।

बंध-साधना—बंधों में (१) मूल बन्ध (२) उड्डियान (३) जालन्धर प्रधान है। उनका अभ्यास करना चाहिए। (१) **मूल बन्ध से**—प्राण एवं अपान वायु + नाद बिन्दु में एकता आती है।

(२) **उड्डियान**—(कुंभक के आदि एवं रेचक के अन्त में करणीय बंध) सुषुम्णा में बद्धप्राण ऊपर की ओर उड़ता है।—वृद्ध भी तरुण हो जाता है। ६ माह के निरन्तराभ्यास से प्राण का वशीकरण एवं इच्छामृत्यु की प्राप्ति होती है।

(३) '**जालन्धर बंध**'(पूरकान्त में अवश्य करणीय)—वायु मार्ग का निरोध, हृदय में वायु का अवरोध। यह बन्ध **अमृतस्वरूप** है और इससे प्राण '**ब्रह्मनाड़ी**' में प्रविष्ट हो जाता है।

कुण्डली-साधना—प्रथमतः योगी को (१) वज्रासन में बैठना चाहिए। फिर (२) कुण्डलिनी का चालन करना चाहिए। (३) फिर भस्त्रा प्राणायाम द्वारा उसे शीघ्र प्रबोधित करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

१. योगबीज (१००)

"वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्।।"

इस साधना से मेरुदण्ड में वायु से, ग्रंथियों का भेदन होता है। इससे मेरुदण्ड में खुजली होती है। यथा चींटी के चढ़ने-सी प्रतीत होती है। उसके बाद **'रुद्रग्रंथि'** का भेदन होता है। अत: शिवात्मकता प्राप्त होती है। अन्त में **शिवशक्ति समागम** से परम स्थिति प्राप्त होती है।

'शिवशक्तिसमायोगाज्जायते परमा स्थिति:।।'

जैसे हाथी सूँड़ से पानी खींचता है, वैसे ही **सुषम्णा नाड़ी पवन को अपने भीतर खींचती है।** मेरुदण्ड में **२१ मणि स्थित हैं। सुषुम्णा मोक्षमार्ग है।** सुषुम्णा में सूर्य-चन्द्र (पिंगला-इड़ा) के निबन्धन से **काल पर भी विजय** प्राप्त हो जाती है। **'पश्चिमद्वार'** (सुषुम्णा) में वायु-प्रवेश करायें। इससे वायु समस्त शरीर में प्रविष्ट हो जाती है। इसमें 'पूरक' 'रेचक' दोनों का अन्त हो जाता है। यही है **'नाथ सङ्केत'** या **'सिद्धसङ्केत'**।

प्राण एवं चित्त का सम्बंध

(१) यदि चित्त प्राण में लयीभूत हुआ तो—

(२) चित्त में प्राण का भी लय हो जाता है।

(३) जिसके प्राण एवं चित्त में सामरस्य स्थापित नहीं हुआ उसका शास्त्र एवं गुरु एवं उसकी आत्मप्रतीति सभी निष्फल हैं—

'चित्तं हि नष्टं यदि मारुते स्यात्,
तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाश:।
न चेदिदं स्यान्न तु तस्य शास्त्रं,
नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्ष:'

उसे 'मोक्ष' भी कभी नहीं प्राप्त हो सकता।

योगाभ्यास और 'ब्रह्मनाड़ी'—

(१) निरन्तर अभ्यासयोग से **'ब्रह्मनाड़ी'** समस्त धातुओं को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

(२) **आसन-बन्ध-अभ्यास योग** से **'चित्त' प्राण में विलीन** हो जाता है। अत: **बिन्दु अधोगामी नहीं हो पाता।**

(३) अनेक **नादों की उत्पत्ति होती है।**

(४) भूख, प्यास आदि दोषों का अन्त हो जाता है।

योगी **सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित** हो जाता है।

Scanned by CamScanner

'काकमत' की सर्वोच्च श्रेष्ठता—गोरक्षनाथ कहते हैं कि 'काकमत' से श्रेष्ठतर कोई नहीं है—

(१) 'तस्मात्**काकमतान्नास्ति** त्वभ्यासारव्य मतः परम्।।'

(२) बिना **कर्म** के योगसिद्धि नहीं प्राप्त होती—

'न कर्मणा विना देवि ! योगसिद्धिः प्रजायते।।'

(३) **लयादि योग**-साधन के बिना भी सिद्धि नहीं मिलती—

(४) पूर्वजन्म-कृत अभ्यास से शीघ्र सिद्धि मिलती है—

'पूर्वजन्मकृताभ्यासात्सत्वरं फलमश्नुते।।'

इसीलिए **'काकमत'** से श्रेष्ठतर कोई मत नहीं है।

योगाभ्यास के फल—

(१) 'आदौ **रोगाः प्रणश्यन्ति**' : रोगों का अन्त।

(२) 'पश्चा**ज्जाड्यं शरीरगम्**' : शरीर की जड़ता का अन्त।

(३) 'ततः **समरसो** भूत्वा' : समरसत्व की प्राप्ति।

(४) **'चन्द्रो वर्षत्यनारतम्'** : अमृत-वर्षा।

(५) **'धातुं स्व संग्रसेद** वह्निः (फिर अग्नि पवन के साथ अपनी धातु को 'पवनेन समन्ततः।' ग्रास बना लेता है।

(६) शरीर में अनेक प्रकार के **नादों का प्रादुर्भाव**

(७) शरीर में **मृदुता** आ जाती है।

(८) पृथ्वी आदि तत्त्वों की **जड़ता को जीतकर** योगी **खेचरत्व** पाकर **ब्रह्माण्ड में स्वच्छन्द विचरण** करता है।

(९) योगी **सर्वज्ञता** प्राप्त कर लेता है।

(१०) कामदेव के समान **रूपवान्** हो जाता है।

(११) पवन के समान **वेगवान्** हो जाता है।

(१२) **लोकत्रय में रमण** करता है।

(१३) **समस्त सिद्धियाँ** प्राप्त हो जाती हैं।

(१४) **अहंकार का** लय हो जाने पर देह में कठिनता नहीं रह जाती और इस स्थिति में—

'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च स्वतंत्रो विश्वरूपवान्।
जीवन्मुक्तो भवेद् योगी स्वेच्छया भुवने भ्रमेत्।।'[१]

---

१. योगबीज (१७०)

Scanned by CamScanner

कुण्डलिनी योग—गोरक्षनाथ के हिन्दी के ग्रंथों में भी '**कुण्डलिनी योग**' का वर्णन मिलता है—

"पाताल की गंगा ब्रह्माण्ड चढ़ाइबा तहाँ विमल रस पीया।।"[१]

---

१. गोरखवानी (सबदी)

२. गोरखवानी (सबदी २)

गोरक्षनाथ जी ने **कुण्डलिनी का परिचय** इस प्रकार दिया है—

'नाभ अस्थान क मोरा सास नैं सुसरा, ब्रह्म अस्थान क मोरा बासा।
'इला प्यंगुला जोगण भेंटी, सुखमन मिल्या घर बासा।।'

कुण्डलिनी का श्वसुरालय मूलाधार एवं पीहर ब्रह्मरंध्र है।

कुण्डलिनी मूलाधार में नीचे रहती है, किन्तु आरोहण के समय उल्टा चलती है—

उलटी सकति चढ़ै ब्रह्मण्ड' नख सिख पवनां खेलै सरबंग।
उलटि चन्द्र राहू कूं ग्रहै। सिधसंङ्केत जती गोरख कहै।।२१७।।

(जब कुण्डलिनी शक्ति उलटकर ब्रह्माण्ड में पहुँच जाती है और नख से शिखा पर्यन्त सर्वाङ्ग में वायु व्याप्त हो जाती है (वायु भक्षण होने लगता है), तब उलटा सहस्रारस्थ चन्द्रमा ही राहु (आधारस्थ सूर्य) को ग्रस लेता है। इससे अमृतपान होने लगता है। यही **'सिद्ध संकेत'** है।)

अगोचरी मुद्रा एवं शांभवी मुद्रा पर बल—गोरक्षनाथ ध्यानाभ्यास के लिए दो मुद्राओं को प्राधान्य देते हैं—(१) 'अगोचरी मुद्रा' (२) 'शांभवी मुद्रा'।

'नासिका अग्रे भ्रूमण्डले अहनिस रहिबा थीरं।
माता गरभि जनम न आयबा, बहुरि न पीयबा खीरं।।२७५।।'

उन्मन योग—'समना' के बाद 'उन्मनी' की स्थिति है। यह योग-साधना में ऊर्ध्वारोहण की सर्वोच्च स्थिति है, जहाँ मन का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। गोरक्ष-योग में इसका अत्यधिक महत्व है। गोरक्षनाथ कहते हैं—ज्ञान और गुरु हमारे दो तूम्बे हैं। चेतन इच्छा तम्बूरे की डाँडी हैं, तम्बूरे पर **उन्मना की** ताँत बज उठी, इससे सारी तृष्णाओं का अन्त हो गया—

'ज्ञान गुरु दोऊ तूँबा अम्हारे, मनसा चेतनि डांडी।
उनमुनी तांती बाजन लागी, यहि बिधि तृष्णा खांडी।।'

बाह्योन्मुख साधना की व्यर्थता—गोरक्षनाथ ने अपनी साधना में तीर्थ-व्रत, मूर्तिपूजन आदि बाह्यवर्ती साधनाओं का खण्डन किया है—

"पषांणची देवली पषांण चा देव।"
'पषांण पूजिला कैसे फटीला सनेह।'
"तीरथि तीरथि सनान करीला। बाहर धोये कैसे भीतरि भेदीला।।"
'नव नाड़ी बहोतरि कोठा। ए अष्टांग सब झूठा।'

Scanned by CamScanner

गोरक्षनाथ 'अमरौघ प्रबोध' में कहते हैं—

'निर्याति चित्तरागे व्रजति खररुचौ मेरुमार्गं समन्तात्।
द्रुद्रज्ञे वह्निभावे स्रवति शशधरे पूरयत्याशुकाये।
उद्यत्यानन्दवृन्दे त्यजति तव ममेत्यादिमोहान्धकारे
प्रोद्भिन्ने **ब्रह्मरंध्रे जयति शिव शिवा सङ्गमः** कोप्यपूर्वः॥'[1]

* शरीर पर पञ्चतत्त्वों का प्रभाव *

योगिराज गोरक्षनाथ कहते हैं कि—चूँकि शरीर पञ्चमहाभूतों से निर्मित है। अतः उनकी अल्पता एवं अधिकता आदि स्थितियों में शरीर प्रभावित हुए बिना नहीं रहता—

(१) **तत्पृथिवीमण्डले क्षीणे** वलिरायाति देहिनाम् ।
(२) **तोय-क्षीणे** तृणानीव चिकुराः पाण्डुराः क्रमात् ।
(३) **तेजः क्षीणे** क्षुधाकान्तिर्नश्यति **मारुते** श्लथे।
(४) वेपथुश्च भवेन्नित्यं
(५) **नाभसे** नैव जीवति।[1]
(६) इत्थं भूतक्षयान्मृत्यु र्जीवितं भूतधारणात् ।
(७) पञ्चेद्वर्षशते लक्ष्येन्नान्यथा मरणं भवेत् ।

प्राणायाम + महामुद्रा आदि अभ्यास प्रतिदिन दिन के चारों प्रहरों में ८-८ बार करने पर प्राण मध्यम पथ (सुषुम्णा) में प्रविष्ट हो जाता है।

प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश कैसे हो ?

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'निस्तरङ्गे स्थिरे चित्ते वायुर्भवति मध्यगः।
रविरुर्ध्वपदं याति बिन्दुना याति वश्यताम्।'

* योग साधना में साफल्य-प्राप्ति के प्रति गोरक्ष-दृष्टि *

गोरक्षनाथ कहते हैं—

सर्वचिन्तां परित्यज्य दिनमेकं परीक्ष्यताम्।
यदित्प्रत्ययो नास्ति तदा मे तु मृषा वचः॥

—अमरौघ प्रबोध

---

१. अमरौघ प्रबोध (१६)

Scanned by CamScanner

(घ) यथा वातैर्विनिर्मुक्तो निश्चलो निर्मलोऽर्णवः।
शब्दादिविषयैस्त्यक्तो **लयस्थो** दृश्यते तथा।

(ङ) प्रक्षिप्तं लवणं तोये क्रमाद् यद्वद्विलीयते।
मनोऽप्यभ्यासयोगेन तद्वद् ब्रह्मणि लीयते।।

—गोरक्षनाथ

सुखदुःख, शीतोष्ण, इन्द्रियार्थी के विचार, जीवन-मृत्यु, उन्मीलन-निमीलन, सजीव-निर्जीव आदि सभी से परे एवं वायुशून्य तथा शान्त समुद्र की भाँति निस्पन्द-निश्चल, शब्दादिविषयों से असंस्पृष्ट, समुद्र में डाले गए नमक की भाँति ब्रह्म में लयीभूत एवं **ब्रह्मीभूत व्यक्ति ही लयस्थ कहा जाता है।**[1]

* साधनाकाल और तदनुगत सिद्धियाँ *

लय साधना का समय	लयस्थ योगी की सिद्धियाँ
(१) एक निमेष का लय	—परतत्त्व स्पर्श किन्तु व्युत्थान।
(२) ६ निमेषों का लय	—तापशान्ति, बार-बार निद्रा-मूर्च्छा
(३) एक श्वास पर्यन्त लय	—प्राणादि वायुओं का स्वस्थान में संचार
(४) दो श्वास पर्यन्त लय	—कूर्म, नाग आदि वायु निवृत्त, धातुपुष्टि
(५) चार श्वास पर्यन्त लय	—धातुओं के रसों की पुष्टि
(६) एक पल पर्यन्त लय	—एकासनस्थ होने पर क्लान्ति नहीं।
(७) दो पल पर्यन्त लय	—अनाहतनादोत्थान।
(८) चार पल पर्यन्त लय	—कान में अकस्मात्, सुमधुर ध्वनि का श्रवण
(९) आठ पल पर्यन्त लय	—काम 'वासना निवृत्त'
(१०) चौथाई कला तक लय	—प्राणादि वायु का सुषुम्णा में प्रवेश और वायु की शुद्धि
(११) आधी घड़ी तक का लय	—कुण्डलिनी का जागरण।
(१२) एक घड़ी तक का लय	—कुण्डिलिनी का ऊर्ध्वारोहण
(१३) दो घड़ी तक का लय	—एकक्षण में एक बार मन में कम्पन
(१४) चार घड़ी तक का लय	—निद्रा की निवृत्ति
(१५) आधे दिन तक का लय	—आत्मज्योति का प्रकटीकरण
(१६) दिनभर का लय	—इन्द्रियों के ज्ञान का विस्तार-समस्त ब्रह्माण्ड तक तथा आत्म तत्त्व प्रकाशित।

---

१. अमनस्क योग

Scanned by CamScanner

(१७) अहोरात्र का लय —दूर से गन्ध-संवेदना की प्राप्ति।
(१८) दो अहोरात्र का लय —दूर से ही रससंवेदना की प्राप्ति।
(१९) तीन अहोरात्र का लय —दूर दर्शन
(२०) चार अहोरात्र का लय —दूर स्पर्श
(२१) पाँच अहोरात्र का लय —दूर श्रवण
(२२) छ अहोरात्र का लय —अतीतानागत विश्व का ज्ञान
(२३) सात अहोरात्र पर्यन्त लय —ब्रह्मपर्यन्त विश्वज्ञान एवं श्रुतिज्ञानं
(२४) आठ अहोरात्र पर्यन्त लय —क्षुधा, तृणा आदि मुक्ति।
(२५) नौ अहोरात्र पर्यन्त लय —वाक् सिद्धि।
(२६) ११ अहोरात्र पर्यन्त लय —मनोगति के समान कायागति।
(२७) द्वादश अहोरात्र पर्यन्त लय —आधे निमेष में भूतल के चतुर्दिक परिभ्रमण की क्षमता।
(२८) त्रयोदश अहोरात्र पर्यन्त लय —खेचरी सिद्धि
(२९) १४, १६, १८, २० अहोरात्र पर्यन्त लय—क्रमश: अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, सिद्धियों की प्राप्ति।

इसी प्रकार और अधिक लय-काल होने पर, 'प्राप्ति' 'प्राकाम्य' ईशित्व' आदि सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है।

—(अमनस्क)

* * अमरौघशासनोक्त योग-विधान * *

'अमरौघशासन' नामक गोरक्ष-प्रणीत ग्रन्थ में कहा गया है कि—

(१) मेरुदण्ड के मूल में सूर्य और चन्द्र के मध्य **'योनि'** है और उसी के मध्य **'स्वयंभूज्योतिर्लिंग'** स्थित है।

(२) यहीं पर पुरुषों के रेतस् एवं नारियों के रज: स्खलन का मार्ग भी स्थित है।

(३) यहीं पर (क) **'काम'** (ख) **'विषहर'** एवं (ग) **'निरञ्जन'** का स्थान है।

(४) वीर्य के स्खलन (अध:पतन) की दो अवस्थायें हैं—(क) **'प्रलयकाल'** (ख) **'विपकाल'**

Scanned by CamScanner

'कुण्डली शक्ति'—

'कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
बन्धनाय च मूढ़ानां योगिनां मोक्षदा स्मृता।'

—गोरक्षनाथ—गोरक्षशतक

कुण्डली जागरण की विधि—

वज्रासनस्थितो योगी **चालयित्वा तु कुण्डलीम्।**
अष्टधा कुण्डलीभूतामृजुं कर्तुं तु कुण्डलीम्।
भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः।।
वज्रासनगतो नित्यं **मासार्धं** तु समभ्यसेत्।
वायुनाज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्।
संतप्ता साग्निना नाड़ी शक्तिस्त्रैलोक्य मोहिनी।।

—गोरक्षनाथ—योगबीज

'आधार शक्ति'—

'पिण्डाधार' (सि०सि०प० का चतुर्थोपदेश) के आरम्भ में 'निजाशक्ति' या **'आधार शक्ति'** के स्वरूप की विवेचना करते हुए कहा गया है कि—

(१) **'परासंवित्'** निजाशक्तिसंयुक्त है।

(२) यह शक्ति स्वसंवेद्य, संवित्स्वरूपा, नित्यप्रबुद्धा, परमशिवसमवेता, कूटस्थ, एवं स्वातंत्र्य है।

(३) यह शक्ति ही **आधारस्वरूपा आद्या भवानी** है। वह नित्यप्रकाशरूपा है।

(४) यह शिव की **अन्तरङ्गा शक्ति** है। यही सबका आधार है। यही सबका **उपादानकारण** है। यह चिद्रूपा पराशक्ति है। वह शुद्ध रूप में **शिवस्वरूपिणी** है।

(१) "अस्ति का चिदपरंपरा **संवित्स्वरूपा, सर्वपिण्डाधारत्वेन, नित्यप्रबुद्धा, निजाशक्ति,** प्रसिद्धा कार्यकारणकर्तृणांणामुत्थानदशाङ्कुरोन्मीलनेन कर्तारं करोतीत्यनन्तर-**वाधारशक्तिरिति** कथ्यते।।"

(२) **'अत्यन्तनिजप्रकाश स्वसंवेद्यानुभवैकगम्यमाना** शास्त्रलौकिक-**साक्षात्कारसाक्षिणी** सा **परा चिद्रूपिणी शक्तिर्गीयते।'**

(३) "सैव शक्तिर्यदा सहजेन स्वस्मिन्नुन्मीलिन्यां वर्तते **तदा शिव स एव भवति।।**"[1]

---

१. सि०सि०प० (४था उपदेश) सूत्र १

Scanned by CamScanner

* **मध्यशक्ति-प्रबोधन और परमपद** *

(नाभिदेश में अवस्थित 'मणिपूर चक्र' में विद्यमान कुण्डलिनी **'मध्यशक्ति'** कही जाती है।

(१) मूलाधार चक्रस्थ कुण्डलिनी = 'अध: शक्ति'

(२) मणिपूर चक्रस्थ कुण्डलिनी = 'मध्यशक्ति'

(३) सहस्रदलपद्मस्थ कुण्डलिनी = 'ऊर्ध्वशक्ति'

'मध्यशक्ति' को जागृत करने से और 'अध:शक्ति' को ऊपर की ओर आकर्षित करने से एवं 'ऊर्ध्वशक्ति' को ऊप की ओर आकर्षित करने से एवं 'ऊर्ध्वशक्ति' कुण्डलिनी के निपात-संयोजन से **'परमपद'** की प्राप्ति हुआ करती है।[३]

(१) **आधार चक्र (मूलाधार चक्र) की कर्णिका में** त्रिकोणाकार योनि

---

१. 'अप्रबुद्धेतितत्र पिण्डचेतनरूपास्वभावेन नानाचिन्ता व्यापारोद्यमप्रपञ्चरूपा कुटिलस्वभावा कुण्डलिनी ख्याता॥' (सि०सि०प० ४।१४)

२. 'विकाराणां निवारणोद्यमस्वरूपा कुण्डलिन्यूर्ध्व **गामिनीप्रसिद्धा** भवति॥ (सि०सि०प० ४।१४)

३. **मध्यशक्ति प्रबोधेन अध:शक्तिनिकुञ्चनात्** ।
ऊर्ध्व शक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम् ॥६॥

कामगिरि पीठ में **"अध: शक्ति कुण्डलिनी"** रहती है। इस शक्ति को अपानवायु के निकुञ्चन (आकर्षण) से ऊर्ध्वमुखी करके जागृत किया जाता है। सुषुम्णाद्वार को अपावृत करके इसे ऊर्ध्वमार्ग में चढ़ाया जाता है।

(२) **'नाभिचक्र' (मणिपूरक चक्र)** में आठ वलयों वाली इसी कुणलिनी को **'मध्य कुण्डलिनी'** कहा जाता है।

(३) कुण्डलिनी 'बन्धत्रय' के अभ्यास से समुत्थित होती है।

(४) प्राण से अपान का ऐक्य स्थापित होना **'ऊर्ध्वशक्तिपात'** है। षट्चक्रभेदनोपरान्त (एवं ग्रंथित्रयभेदनोपरान्त योगी) **"सहस्रार"** में कुण्डलिनी के साथ पहुँचकर **'परमपद'** प्राप्त करता है।

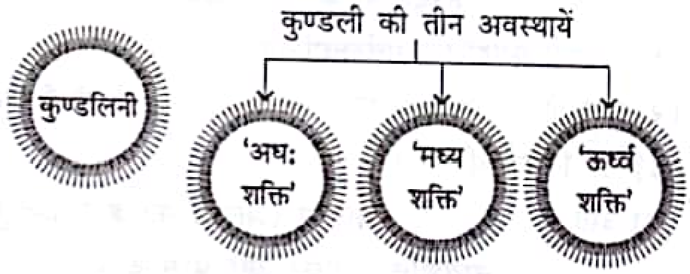

'अध:शक्ति' कुण्डलिनी का स्वरूप—

(१) कुण्डलिनी का यह स्वरूप वाह्येन्द्रिय व्यापारों से युक्त एवं नाना चिन्ताओं से संयुक्त है—

'वाह्येन्द्रिय व्यापार-नानाचिन्तामया **सैवाध: शक्तिरित्युच्यते।"**

—(सि०सि०प० ४।१८)

(२) 'अतएव योगिनस्तस्या आकुञ्चने रता यस्या आकुञ्चन मूलाधारबन्धनात्सिद्धं स्यात्।'

—(सि०सि०प० ४।१८)

योगी मूलाधार में स्थित इस शक्ति के आकुञ्चन-संकोचन में तत्पर रहते हैं।

Scanned by CamScanner

योगी मूलाधार में स्थित इस शक्ति के आकुञ्चन-संकोचन में तत्पर रहते हैं। 'मूलाधार चक्र' के बन्ध के अभ्यास (अपान और प्राण का ऐक्य स्थापित होने पर उड्डियान एवं जालन्धर बन्ध की सिद्धि) से यह शक्ति ऊर्ध्वमुखी होकर जाग जाती है और साधक को परमानन्द की प्राप्ति करा देती है।

(क) **'मूलबन्ध'** (ख) **'उड्डियान बन्ध'** (ग) **'जालन्धर बन्ध'**—बंधत्रय से कुण्डलिनी महाशक्ति 'सहस्रार' में पहुँच जाती है।

(३) जिससे चराचर, स्थावर जंगम एवं चिद्-अचिद् **समस्त जगत की उत्पत्ति**

होती है—वही **'मूलाधार'** है। जिसके संकोच-प्रसरण से कुण्डलिनी का प्रबोधन होने पर ज्ञान की वृद्धि होती है।—यह **मूलाधार ही संवित्प्रसारण भूमि है।**[1]

(४) **मूलशक्ति**—समष्टिरूप सर्वेश्वरी कुण्डलिनी 'महाशक्ति' के व्यापार कार्य से ही (संकोच-प्रसरण से ही) जगत का सृजन एवं संहार होता है। योगी इस मूल शक्ति का ध्यान कर जगत की सृष्टि और संहार कर सकता है। मूलाधार चक्रस्थिता महेश्वरी शक्ति **'मूल शक्ति'** है। यही कारण है कि सारे सिद्ध **मूलाधाररत होते** हैं।[2]

(५) **मध्याशक्ति**—यह कुण्डलिनी चिद्रूप होने से जीवात्मा, का यथार्थ स्वरूप है। अविद्या के कारण संसार-बंधन में एवं विषयादि मृगतृष्णा में आसक्त जीवात्मा को यह **'मध्या शक्ति'** अपने चिद्रूप स्वप्रकाश में धारण करने में समर्थ है। कुण्डलिनी शक्ति— (क) स्थूल (ख) सूक्ष्म दो प्रकार की है।

कुण्डलिनी के दो रूप हैं—

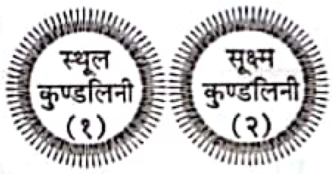

गोरक्षनाथ कहते हैं कि तरङ्गित स्वभाव वाली जो जीवात्मायें व्यर्थ में भटकती रहती हैं वे भी अपने आत्मप्रकाश के मध्य स्वस्वरूप प्राप्त कर सकती हैं, क्योंकि **'मध्या शक्ति' कुण्डलिनी** अपने चिद्रूप स्वप्रकाश में जीवात्मा को धारण करने में समर्थ है।[3]

स्थूल-सूक्ष्म कुण्डलिनी—'स्वस्वरूपतया सदा धारयितुं समर्था या सा कुण्डलिनी मध्याशक्तिर्गीयते।''

''**स्थूलसूक्ष्मरूपेण** महासिद्धानां प्रतीयते।।''

[4]यद्यपि मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी योग-सिद्ध पुरुषों के अतिरिक्त संसार में

---

१. 'यस्माच्चराचरं जगदिदं चिदचिदात्मकं प्रभवति तदेव मूलाधारं संवित्प्रसरं प्रसिद्धम्।।' (४।१९)

२. 'सर्वशक्तिप्रसरसंकोचाभ्यां जगत्सृष्टि: संहतिश्च भवत्येव न सन्देहस्तस्मात्सा मूलमित्युच्यते। अत: प्रायेण सर्वे सिद्धा मूलधाररता भवन्ति। (४।२०)।।

३. तरङ्गितस्वभावं जीवात्मानं वृथाभ्रमन्तीमपि स्वप्रकाश मध्ये स्वस्वरूपतया सदा धारयितुं समर्था या सा कुण्डलिनी मध्याशक्तिर्गीयते स्थूलसूक्ष्मरूपेण महासिद्धानां प्रतीयत इति निश्चय:।।—(सि० सि० प० ४।२१)

४. 'स्थूलेति निखिलग्राह्या धारविग्राह्य स्वरूपापि पदार्थन्तरे भ्राम्यमाणा चिद्रूपा या वर्तते सा कुण्डलिनी साकारास्थूलापुनस्त्वियमेव स्वप्रसारचातुर्यतया वर्तमाना योगिनां परमानन्दतया कुण्डलिया निश्चयभूता वर्तते सा सूक्ष्मा निराकारा प्रबुद्धा महासिद्धानां मते प्रसिद्धा:।। (सि०सि०प०४।२२)

Scanned by CamScanner

सद्गुरु का सर्वोच्च स्थान—गोरक्षनाथ कहते हैं कि चाहे करोड़ों शास्त्रों का अध्ययन कर लिया जाय, चाहे विज्ञान, तर्क, आचार, वेद, वेदान्त, तत्त्वमसि 'सोऽहं हंस: जप', जीवात्मा-परमात्मा में एकात्म्य, ध्यान एवं जप आदि में कितना भी कौशल, सिद्धि एवं विज्ञता प्राप्त कर ली जाय किन्तु—

'असाध्या: सिद्ध्य: सर्वा: सद्गुरो: करुणां विना।
अतस्तु गुरुरासेव्य: सत्यमीश्वरभाषितम्।।३५।।'[२]

सद्गुरुशरणागत योगी के योग साफल्य के क्रमिक-सोपान

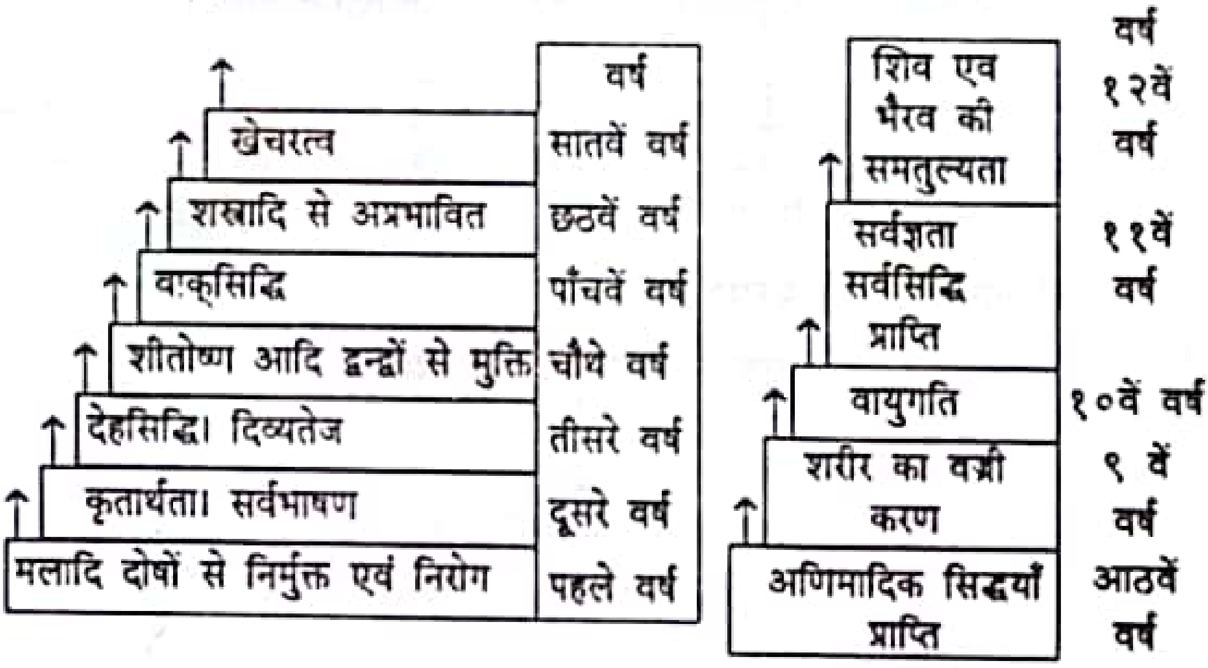

---

१. **'अद्वैत'**—अद्वैतमित्यकर्तृतयैव योगी नित्यतृप्तो निर्विकल्प: **सदा निरुत्थानत्वेन** तिष्ठति। (५।२९)

२. सिद्धसिद्धान्तपद्धति (५।३१-३५)

यथाक्रम इस प्रकार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

(१) एवं द्वादशवर्षैऽस्तु सिद्धयोगी महाबल:।
जायते सद्गुरो: पादप्रभावन्नात्रसंशय:।।[१]

(२) अनुवुभूषित योनिजविश्रमं स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुसरणात्परमं पदं **समरसीकरणे** न च दूरत:।।[२]

Scanned by CamScanner

पूरकान्ते कर्तव्यं पानं जालन्धराभिधम्।

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड़डियानक:।।

अथ आकुञ्चनेनैव कण्ठसङ्कोचने कृते।

मध्यपश्चिमतानेन प्राण: स्यान्मध्यनाभित:।।

अपानपूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधोनयेत।

योगी जराविमुक्त: सन षोडशाब्दवयोलभेत।।

भगवतगीतायाम्–

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणे प्राणं तथापरे।

प्राणापान गति रुद्धवा प्राणायामपरायण:।।

उपरोक्तसंदर्भावलोकनेन सुस्पष्टो भवति यत् जैवजगति प्राणापानगत्यानुकुलं परिवर्तनं संभवति। तदवरुधे: गति: निराकुलो भूत्वा जीव: परमं पदमश्नुते तदैव शिव भावे भारतीय–वाङमये सुशोभते।

प्राणायामङ्गभूता मुद्रा–

प्राणसंधानस्य पूर्वं मुद्राया: ज्ञानमावश्यकम् वर्तते। तद्रहस्यं मुद्रायामेव

निहितोऽस्ति इति योगतन्त्रवाङ्मये सर्वत्रैव ध्वनितो भवति। तन्त्रेषु मुद्राया: क्रियाशक्तिरूपत्वमुक्तम् **"मन्त्रो वै ज्ञानशक्तिश्च मुद्राचैव क्रियात्मिका"**[४०]। बाह्ययाभ्यन्तरभेदेन द्विविधा मुद्रा भवति। कररचनारूपा बाह्या:, आभ्यन्तरा तु बन्धरूपा। स्वच्छन्दतन्त्रे मुद्राणां त्रैविध्यमुक्तम् परञ्च तन्त्रालोके तु—करजा—कायिकी—विलापा—मानसी इति चतस्रो मुद्रा: कथिता। अत्र संस्थानविशेषानुसरणरूपा बन्धरूपा: मुद्रा: यत् हठयोग प्रदीपिकायाम् वर्णित: सन्ति तदैव प्राणसंधानाय उपयुक्ते सति उल्लेखयामि। यथा—

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।

उड्यान मूलबंधश्च बंधोजलंधराभिध:।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्ति चालनम्।

इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्।। ३/६०, ६१

अथ महामुद्रा—

पादमूलेन वामेन योनि संपीड्य दक्षिणम्।

प्रसारितं पदं कृत्वा धराभ्याम धारयेददृढ़म्।।

कण्ठे बंध समारोप्य धारयेत् वायुमूर्ध्वत:।

यथा दण्डहत: सर्पोदंडाकार: प्रजायते।। ह. प्र. ३/१०,११

अर्थात् वामपादमूलेन गुदलिङ्गयोः मध्यभागं संपीडय वा सम्यक् प्रकारेण संयोज्य दक्षिणपादं भूमौ प्रसार्य तर्जनीभ्यां पादांगुष्ठं दृढं धारयेत। जालंधरबंध चिबुकं कण्ठकुपे निधाय ऊर्ध्वतः वायुं धारयेत्। *यथा* शक्ति—कुम्भकानन्तरं शनैः शनैः रेचनं कुर्यात् एवं प्रकारेण वामाङ्गे सम्यग् अभ्यस्य दक्षपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य वामपादं भूमौ प्रसार्य तदङ्गुष्ठं गृहीत्वा पूर्ववदभ्यासं कुर्यादिति। महामुद्राभ्यासेन प्राणाः अवक्राः भवन्ति। साधकस्य पाचन तन्त्रः प्रवलो भवति। पथ्यमपथ्यं वा कटु—अम्ल विषाक्तमपि जीर्यति।

एवञ्च हठप्रदीपिकायाम्—

क्षय कुष्ठगुदावर्त गुल्माजीर्ण पुरोगमाः।

तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत।। ह. प्र ३/१७

अथ महाबन्धः —

पार्ष्णिवामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत।

वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।।

पूरयित्वां ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढ़म्।

निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत।।

अर्थात् वामपादस्य पार्ष्णि गुदमेढ्रयोरन्तराले नियोज्य दक्षिणपादं वामजंघोपरि संस्थाप्य पूरकं विधातव्यम् **"हृदये चिबुकं दृढं निष्पीड्य"** जालन्धरबन्धं कृत्वा सप्रयत्नेन वायुमाकुंच्य ततो मनोनियोजयेत। यथा शक्ति कुम्भयित्वा शनैः शनैः रेचरं कर्तव्यम् एवं प्रकारेण वामाङ्गे समभ्यस्य पुनः दक्षांगेऽभ्यसेत्। एतदभ्यासेन सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिं निरुध्यते। **"त्रिवेणीसङ्गमंधत्ते केदारं प्रापयेन्मनः"**[४१] एतदभ्यासं विना योगिनः **"रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना"** ईव भवति। केचित तु कण्ठसंकोचस्यस्थाने राजदन्तोपरि जिह्वायाः स्थापनं उत्तमोत्तमं स्वीकुर्वन्ति।

अथमहावेधः —

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।

वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया।।

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताऽयेच्छनैः।

पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः।। ह. प्र ३/२६,२७

महाबंधमुद्रायामुपविश्य एकाग्रचिन्मानसे पूरकं कर्तव्यम्, जालंधरमुद्रया वायुगतिमावृत्य कुम्भकं कृत्वा शनैः शनैः उत्प्लावनं कर्तव्यम्। महाबेधाभ्यसतो प्राणः सुषुम्ना मध्ये संचरति। अभ्यासी कदापि

जरापिडितो न भवति। एतन्त्रयोबन्धा अति गुह्य अर्थात् सावधानपूर्वको विधातव्यम्। प्रथमे स्वल्पं एवञ्च दिने–दिने वृद्धिं कर्तव्यम्। अनेन साधको अणिमादि युक्तो भवति।

अथ खेचरीमुद्रा–

खेचरीमुद्रा एव अमृतबन्धनीव्योमचक्र–तिमिरहननी आदि रूपेण तन्त्रगन्थेषु निरूपितास्ति।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।

भ्रूवोरन्तरगता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। ह. प्र. ३/३२

आवेष्ठित जिह्वा कपालकुहरे प्रविश्य दृष्टिभ्रूमध्ये संस्थापनं एव खेचरी मुद्रायाः रहस्यम्। भारतीयवाङ्मये अमरत्वेच्छनसंदर्भे सोमपानस्य परिचर्या श्रूयते। आध्यात्मिकरीत्या एतदैवाभिप्रायः खेचरीमुद्रायाः वर्तते। **मूर्ध्निविवरसंरोधनेन मूर्धातः स्रावित प्रकिण्वशरीरे न प्रविशन्ति ते ऊर्ध्वे अर्थात् कपाले एवोपचितो भवति।** साम्प्रतम् **''अनुवांशिक कुट''**[४२] अध्ययनरतावैज्ञानिकाः जीनस्य प्रकिण्वसंरचना परिवर्तनेन कायिकसमस्यायाः समाधानं कुर्वन्ति। अत्रमनोविश्लेषणात्मकरीत्या सर्वसम्मतो अभिप्रायः यत् मानसिक वृत्या शारीरिक क्रियाकलापाः अनुशेरन्ते। अस्मत् सर्वाणि व्यवहाराणि परिष्कृतो भविष्यन्ति यदि मस्तिष्कस्रावं नियन्त्रितो भवेत

अर्थात् भय–ईर्ष्या–द्वेषादि वृत्तयः मानवान् न बाधिष्यन्ति यदि मूर्धास्रवित प्रकिण्व मूर्धापरिक्षेत्रे एवोपचितो भवेत। एतत्तु आंशिकप्रकार्याणि योगिनः तु स्वाधिष्ठानमक्षुणं कर्तुं ज्ञानजनकं एतन्मुद्रायाः प्रयोगं कुर्वन्ति। तान्त्रिकग्रन्थेषु वा हठयोगेऽपि एतदाध्यात्मप्रसादः विपुलो वर्तते।

''एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी'' ह. प्र. ३/५४

अथ उड्डीयानबन्धः –

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।

तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।।

अर्थात् शरीराकाशे महाखगः प्राणः येन बन्धेन सुषुम्नायां संचरति तदुड्डीयानबन्धः। तत्तु

उदरे पश्चिमं तान नामेरुर्ध्वं च कारयेत्।

उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी।।

मृत्युमातंगकेसरी अर्थात् शरीरे सततप्रवाही प्राणशक्ति यदा विद्युदाकर्षपरिपथे संचरति तदा शरीरावयवानि विश्रामावस्थायां ऊर्जान्वितो भवति। द्रष्टाभावान्वितो वृत्तयः सापेक्षत्वं भजते एवं प्रकारेण प्रशिक्षितः ग्रन्थयः व्यष्टेः परिक्षेत्रं परिवर्धयन्ति। अतः सुकांक्षिनरः नाभेरधोभागं

पश्चाकर्षणं कृत्वा पृष्टसंलग्नं कुर्यात् एवं ऊर्ध्वमधोभागयोः तान रूपेऽवस्थाप्य उड्डीयानमुद्रा अवलम्वत।

अथमूलबन्धः –

मूलाधारो बन्ध्यते येन मुद्रया तन्मूलबन्धः।

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।

अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।। ह. प्र. ३/६१

पाष्र्या गुदमेढ्रयोमध्ये नियोजनेन एवञ्च गुदसंकोचनेन च अपानवायुः ऊर्ध्वं सुषुम्नायां संचरति। मानवशरीरे त्रिकोणे स्थित जठराग्नि प्रदीप्तो भवति। प्राणापानमेक्यं भूत्वा नादं वर्धयति। अर्थात् अनाहतमण्डलमुत्क्रमयति, नादविन्दुसंयुक्तो भवति। मनसि शिव भावं विराजते।

अथजालन्धरबन्धः –

शरीरे शिरायाः वा धमन्याः यत् व्यूहः सन्ति तदस्मिन् बन्धे नियन्त्रितो भवन्ति।

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम।

बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्यु विनाशकः।।

जालन्धरबन्धेन कपालकुहरस्य अमृतस्रावं प्रतिबन्धितो भवति। **"न पीयुषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति"**[४३]। कण्ठस्थाने स्थितं विशुद्धाख्यचक्रं षोडशचक्रेषु मध्यचक्रमाधार रूपेण निरूपितोऽस्ति। ग्रहयामले कथितमस्ति यत्—

अमृतं कुरुते देहं जालन्धरमतोऽभ्यसेत।

रूपलावण्य संयुक्तौ देहीनः सुदीर्धजीविभवेत।

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम्।

ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा।।[४४]

अथ विपरीतकरणीमुद्रा—

दिव्यमुत्कृष्टस्वरूपाकांक्षिणः सदैव विपरीतकरणीमुद्रायाः अभ्यासेन ओजस्वीनः भवन्ति मुद्रायाः संदर्भे गोरक्षादिहठयोगिनां सम्प्रत्ययानि तु एवमस्ति यथा—

नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः।

अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमा।।

वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः।

करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते।।[४५]

सुदीर्घप्रयासेन दिव्याकांक्षिण: ऋषय: अन्वेषित: यत् पिण्ड: प्रकर्षितसूर्यातपेन जरायुतो भवति।

तमपवारयितुम् ते निदानरूपेण विपरीतकरणीमुद्रां निरूपयन्ति।

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरुर्ध्वं भानुरध: शशी।

करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते।।

शीर्षासनरूपेण पूर्वं वर्णितमध: शिरश्चोर्ध्व पादौ येन शारीरिक प्रवाहो विपरीतो भवति। अतएव प्रथमे दिने क्षणमात्रं कारयेत एवञ्च दिने–दिने किञ्चिदधिकमभ्यसेत्। अनेन जठराग्नि विवर्धते। अतएव सन्तुलिताहारं पर्याप्त–रूपेण भक्षनीयम्। अन्यथा अतिचयोपचयात् शरीरक्षीणो भविष्यति। मुद्राया: परिणाम संदर्भे उक्तमस्ति। यत्

वलितं पलितं चैव षण्मासाद्धि विनाशयेत्।

मासमात्रं तु यो नित्यमभ्यसेच्च स चार्कजित।।[४६] मुद्रासाधनम्– १५३

अथवज्रोलीमुद्रा–

वज्रोली–अमरोली–सहजोली मुद्राविशेष: कुत्रचित वज्राणी–अमरोणी–सयोनिश्च नाम्ना निरूपितासन्ति। एतन्मुद्रया अधोभागे गतं विन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाकृष्यते। शक्त्याकर्षणी एषामुद्रा प्रभावेन अभ्यासिन: शक्तिपातमवरुध्येत। ग्रहयामले यथा–

एवन्तु रक्षयन विन्दुं मृत्युं जयति योगवान।

मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दु धारणात्।। मुद्रासाधनम्– १६८

मोक्षस्य सहचरी माययासर्वप्राणिन: विमोह्यन्ते। अज्ञानात् ते स्वरूपमभिज्ञातुम् असमर्था: भवन्ति। एवञ्च प्रतिक्षणमधोक्षरन्ति तानपवारयितुं वज्रोली मुद्रा कापालिके मते प्रशस्तोऽस्ति।

नारीभगे पतद्विन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत।

चलितं च निजं विन्दुमुर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत।।

गुदमेढ़योराकुञ्चनप्रविध्या स्खलितं विन्दुं स्व स्थाने आकर्षणाभ्यासेन वज्रोली मुद्रा सिद्धि भवति।

मेहनेन शनै: सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत्।

पुरुषोऽप्यथवानारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात्।। ह. प्र. ३५

एतदभ्यासेन वीर्यवान मानवा: अलौकिक सम्पत्या अन्वितो भवन्ति। तच्छारीरिक व्यापार: अक्षुणो भवति। ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे गुरुत्वाकर्षणं भवति। देशकालसीमापि अतिक्राम्यते।

सुगन्धो योगिनो देहे जायते विन्दुधारणात्।

यावद्विन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुत:।।

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायतं च जीवितम्।

तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नत:।।

भोगेऽपि योगस्य सुसिद्धि: हेतो यतिवरान्वेषितो एषामुद्रा पुण्यवति, तत्त्वदर्शिन: रीत्याविशेषेण सहजोल्यमरोली इति कथयन्ति। गुरुकृपया विषयविचित्राकांक्षिणां सुसिद्धि: भवति। यथा–

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगत:।

अयं पुण्यकरो योगो भोगे मुक्तेऽपि मुक्तिद:।।[८७]

अथशक्तिचालनम्–

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी।

कुंडल्यरुन्धती चैते शब्दा: पर्यायवाचका:।।

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।

मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।।

मूलाधारे सा भगवती विराजते। यदा सा प्रबुध्य शिरोमण्डले सहस्रदलपङ्कजे सम्बन्धं सम्पादयति तदा साधको योगिराड भूत्वा परम् ज्ञानानन्दे निमग्नो भवति। कथं विचित्र–काय–व्यूहे एषा प्रविधि: अस्थि–मांस–मज्जा–निर्मिते जैवपिण्डेऽऽलोकाधानं करोति मेढ्रनाभयोरमध्ये कन्दस्थानम् यथा गोरक्षशतके–

ऊर्ध्व मेढ्रादधोनाभे: कंदयोनि: खगाण्डवत्।

तत्र नाडय: समुत्पन्ना: सहस्त्राणां द्विसप्तति:।।

याज्ञवल्क्य: –

गुदातु: द्वयंगुलादूर्ध्वं मेढ्रातु द्वयंगुलादध:।

देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानामितीरितम्।।

कन्दस्थानमनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम्।

चतुरंगुलविस्तारमायानं च तथाविधम्।।

अण्डाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभि:।[४८]

कन्दं विक्षोभमानेन सा कुण्डली शक्ति प्रबुद्धा भवति। हठयोगिना हठात् ताम् प्रवोद्धितुं यत् प्रक्रिया आश्रयते तत्—बज्रासने समुपविश्य हस्ताभ्यां चरणौ दृढम् धृत्वा कन्दं प्रपीडयेत्। तदनन्तरं भस्त्राख्यम् कुम्भकं कुर्यात्। घेरण्डसंहितासम्मतः तु साधकः सिद्धासने समुपविश्य नासाभ्यां प्राणमाकृष्य बलात् अपाने योजयेत् तदा गुह्यमाकुञ्चनेन शक्ति सुषुम्नायां परिसंचरति।

गोरक्षमतानुसारेण तु—

साधकः पद्मासने समुपविश्य जालंधरबन्धं निधाय बारं—वारं पूरकं कृत्वा अपानं विक्षोभयेदिति। विक्षोभिते चक्रे कुण्डिलिन्या सह नादतत्त्वं प्रथममुत्पन्नं भवति। इदमेव शिवाश्रयत्वेन शिवतत्त्वमुच्यते। ततो विन्दुतत्त्वमुत्पन्नं भवति।[४९]

मानवशरीरोपरि प्राणायामस्य प्रभावः —

प्राणायामस्य संदर्भे आध्यात्मिक वा शारीरिक दृष्टया पर्यालोचनेन कथितुम् शक्यते यत् प्राणः सा सुसुक्ष्मशक्ति, यस्या विलसनम् जैविक परिक्षेत्रे चेतनत्वं सम्पादयति शारीरिकक्रियावत्वं मनसा नियन्त्रितो भवति। सम्पूर्णशरीरे सुक्ष्मनाडी परिपथानि तत्र सुषुम्ना प्रधानानाडी यस्या मुकुलं शीर्षस्थानं एवञ्च पुच्छास्थ्यां तत्पुच्छिका। यदा चेतनायाः प्रवाहः ततः

ऊर्ध्वं भवति तदा जीव ब्रह्मयो: एकत्वमार्गे यवनिकाया पटाक्षेप: भवति। तच्छक्तिस्थले कुम्भकेन व्यष्टिनिकाय:अतुलितविभुनान्वितो भवति। **''ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्''**[५०] इति सूत्रस्य व्याख्यया स्पष्टो भवति। **''प्रकाशावरणं कर्म संस्कारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते''**।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मला:।

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषा: प्राणस्य निग्रहात्।।

मानवस्य शारीरिकमानसिकञ्च दोषा: प्राणायामेन विनष्टो भवति। मन: सुस्थिरो भवति। कायिकमानसिक परिवर्तनाय प्राणायाम सुप्रविधि:।

सूक्ष्मवायु सेवया च किं न सिध्यति भूतले।

लोपकूपे मनो दद्यात् लयस्थाने मनोरमे।। रुद्रयामल १७/५९

अ. वर्तमानजीवनप्रक्रियासापेक्षे कथितुं शक्यते–

प्राणायाम: सहजविधा या कुशल–प्रशासकस्य कौशलम् शिक्षयति। विचित्र–शारीरिक–सामाज्ये विचित्रा प्रणाली किञ्चित स्खलिते पदच्युति: मृत्यु वा सावधानेन शिवसायुज्यं सम्प्राप्ति: भवति।

आ. आत्मसम्मानस्य पराकाष्ठा–पशोरभावमपधटयति स्वावलम्वनेन

जैवमण्डले। निद्रा–भयालस्य द्वेष–लोभादि भावं विनष्टो भवति। अस्मदचेतन: कृतकर्माशय: प्राणायामाभ्यासात् प्रतिक्षणं क्षीयते। पुरुष: शुद्धसत्वस्वरूपमश्नुते।

इ. इन्द्रियाणां दोषा दह्यन्ते प्राणस्य निग्रहात्। इन्द्रीयतन्तु तत्कोशकीय द्रव्याणि चित्तानुरूपं संघटयन्ति। ते सूक्ष्मग्राही च भवन्ति।

ई. प्राणायामेन मन: स्थैर्यं लभते। यत्र यत्र वायु: तत्र तत्र मन:। कुम्भकाभ्यासेन तद्देशे मनो बध्नाति। धारणा योग्य मन: भवति।

उ. शरीरावयवानि ऊर्जान्वितो भवन्ति। कोशिकाया: ऊर्जा संग्रहणक्षमता विवर्धते।

ऊ. पञ्चप्राणभिज्ञानं भवति।

संदर्भ सूचय:

१. देव्यर्थवशीष (दुर्गासप्तशती)

२. तत्त्ववैशारदी

३. Science and Tantrayoga

४. मानवशरीर का सैर

५. योगवार्तिक

६. पा. योगसूत्र

७. रुद्रयामले

८. योगवार्तिक

९. उपनिषदि

१०. Secrets of Patanjalyoga, page-60

११. तकदीपिकायाम उपनिषदिय

१२. तत्रैव

१३. योगवार्तिक ३/३९

१४. तत्रैव

१५. तत्रैव

१६. तत्रैव्

१७. जीवविज्ञाने (परिसंचरणतन्त्र)

१८. Secrets of Patanjalyoga, page-65

१९. पा. योगसूत्र २/४९

२०. योगवार्तिक २/४९

२१. योगवार्तिक २/५०

२२. योगवार्तिक २/५०

२३. Secrets of Patanjalyoga, page

२४. हठयोगप्रदीपिका प्राणायाम संदर्भे

२५. योगवार्तिक २/४९

२६. हठयोगप्रदीपिका २/१२

२७. योगकर्णिकाया प्राणायाम प्रसंगे

२८. तत्त्ववैशारदीय २/४७

२९. पा. योगसूत्र २/४६

३०. तत्त्ववैशारदीय २/४७

३१. योगवार्तिक २/५०

३२. पा. योगसूत्र २/५०

३३. हठयोगप्रदीपिका २/४९

३४. योगवार्तिक २/२८

३५. हठयोग प्रदीपिका २/५४

३६. हठयोग प्रदीपिका २/५५

३७. योगकर्णिका ७/४०

३८. हठयोग प्रदीपिका २/६०

३९. योगकर्णिका ७/४२

४०. स्वच्छन्दतन्त्रे ४/३७५

४१. योगकर्णिक ७/६०

४२. समाचारपत्रे (जीन कोड के संदर्भ में)

४३. हठप्रदीपिका ३/१२

४४. योगकर्णिका ८/३३

४५. हठयोगस्य ज्योत्स्नाव्याख्या ३/७७

४६. योगकर्णिका ८/१५३

४७. हठयोगप्रदीपिका ३/१०३

४८. तत्रैव

४९. रुद्रयामलतन्त्रे प्रस्तावनायां (कुण्डलिनी विमर्श)

५०. पा. योगसूत्र २/५२

*****

****

***

**

*

दशमोऽध्याय:

रोगनिवारणे उपयोगिनी मुद्रा: बन्धाश्च

योगाभ्यासस्य योगचर्यायाश्च व्यक्ते: मानवस्य सर्वाङ्गीणे विकासे आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकत्रिविध तापनिवारणे शारीरं मानसमित्युभय विधरोगनिवारण उपयोगो वर्णित: परीक्षितश्च तत्र न केवलमासनानामेवापितु प्राणायाममुद्राबन्धादि क्रियाणामपि रोगनिवारण उपयोग योगोपनिषत्स्वन्यान्ययोग ग्रन्थेषु वर्णित उपलभ्यते । यद्यपि प्रबन्धस्य विषयो योगासनान्येव तथापि संक्षेपेणान्यक्रियाणामप्युल्लेखोऽत्र विधीयते । योगस्यैकापि क्रिया सर्वफलदा भवितुमर्हति तदेवोपनिषत्सु विशेषेण योग - चुडामण्यां योगकुण्डल्याम्, अमृतनादोपनिषदि च प्राणायामेनैव सर्वरोगाणां विनाश सम्पाद्यते । तत्रोल्लेख: वर्तते यत् " सर्वे - रोगा: प्राणायामेनैव नश्यन्ति" तत्र हिक्का, कास:, श्वास: शिरोरोगा:, नेत्ररोगा:, कर्णरोगा:, अंगशूलादिवेदना तथा सर्वे वायुविकारा: प्राणायामेन नश्यन्ति तत्र प्राणायामे वायो: नियन्त्रणं विधीयते । अत: नात्रकिमप्याश्चर्यं यत् वायुनियन्त्रणेन वायुविकारा: नश्यन्ति । एतेषु सर्वं स्वाभाविकं प्रतिभाति यत् उज्जायीप्राणायामेन मस्तकस्योष्णता, कण्ठस्थकफ: तथाकेचना-न्यरोगा: निवर्तन्ते, एवमेव शीतली प्राणायामेन गुल्म, प्लीहा, पित्तं, ज्वर: तथा तृषादिविकारा: दूरी भवन्ति । तथा भस्त्रिकया कण्ठदाहो निवर्तते । अतैवैवं वक्तुं शक्यते यत् केवलं प्राणायामाभ्यासेनैव कायाकल्पं विधातुं शक्यते, अन्यासां

क्रियाणान्तु कथैव का ? अतो अत्र रोगनिवारणे उपयोगिन्याः मुद्राः प्रमुखाः बन्धाः कानिचन् सारभूतानि प्रमुखान्यासनानि उल्लिख्यन्ते -

1. <u>खेचरीमुद्राः</u>

जिह्वाया अधस्ताद् यो अवरोधभूतो दौरको भवति तम् शनैः-शनैः छेदनं, चलनं, दोहनमिति त्रिविधक्रियया सर्वथा दूरी कृत्य जिह्वां तालुकुहरे स्थापनं संक्षेपेण खेचरीमुद्रा निगद्यते [1]।

अनया क्रियया मस्तकस्य सहस्रारप्रदेशात् यो अमृतमयस्रावः शरीरस्याधोभागे गच्छति तस्य जिह्वया पानं विधीयते तेन शरीरे रोगाणामाक्रमणं संक्रमणं न जायते तथा वृद्धावस्थापि न समायाति । अतैवास्या क्रियायाः जरानिवर्तकत्वं कान्ति पुष्टिः प्रदत्वं योगशास्त्रे वर्णितम् [2]।

---

1. कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
   भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।।
   छेदन चालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयित्तावत् ।
   सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धाः ।।
   ह. प्र. 3/32, 33

1. क- रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
   विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ।।
ख. न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा न तृषा ।।
   न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।
ग. पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।।
   बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।
घ. चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।।
   तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ।।
ङ. खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ।।
   न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ।।
   ह. प्र. 3/38-42

2. **महामुद्रा:**

सर्वतः प्रथमं मूलबन्धं समासाद्य वामपादस्य पार्ष्णिभागेन सीवनीम् {गुदाण्डकोषमध्ये यो चतुरंगुलस्थानम्} सम्यक् प्रभाव - येत्तथा दक्षिणपादं प्रसार्य पादांगुल्य उभयोः हस्तयोः गृह्णीयात् । पंचवारं यावत् सम्यक् प्रपूरय पूरकं कुर्यात्तथा जालन्धरबन्धमपि विधेयम् तदनन्तरं जालन्धरबन्धं समाप्य दक्षिण नासिकया वायोः रेचनं कुर्यात् । एषा वामांगमुद्रा एवमेव दक्षिणाङ्गमुद्रामपि सम्यक् सम्पादयेत्[1] ।

अस्याः मुद्राया अन्योऽपि विधिरुपलभ्यते तथा च वाम - पादस्य पार्ष्णिभागे सीवन्युपरि सम्यक् दृढतया स्थापयित्वा दक्षिणं पादं प्रसारयेत् । तदनन्तरं शनै- शनैः पूरकं कृत्वा मूलबन्धं जालन्धरञ्च सम्पादयन् दक्षिणपादस्यागुंष्ठं हस्तेन गृहीत्वा मस्तकं

---

1. पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।।
   प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।।
   कंठे बन्धं समारोप्य धारयेद् वायुमूर्ध्वतः ।।
   यथा दण्डहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ।।
   ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ।।
   तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ।।
   ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्ननैव वेगतः ।।
   महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ।।
   ह. प्र. 3/10-13

दक्षिणपादस्य जान्वोपरि स्थापयेत्तथा अस्यामेवावस्थायां यथाशक्तिः कुम्भकं कुर्यात् । तदनन्तरं शनैःशनैः रेचकं कुर्वन् मस्तकं जानुभागतः पृथक् कुर्यात् यथास्थितिञ्च सम्पादयेत् । एवमेव दक्षिणांगेनापि कुर्यात् । अस्यां क्रियायां शनैःशनैः प्राणायामसंख्या वर्धनीया ।

अनया क्रियया मन्दाग्निः, अजीर्ण, उदररोगाः, प्रमेहाः विनश्यन्ति क्षुधावृद्धिश्च जायते कुण्डलिन्यपि जागृति [1]।

3. <u>अश्विनी मुद्राः</u>

सिद्धासने पद्मासने वा स्थित्वा योनिमण्डलस्याश्वसदृशं वारं-वारमाकुंचनमश्विनीमुद्रा कथ्यते ।

अनया मुद्रया प्राणवायोरूत्थानसामर्थ्यं कुण्डलिनी जागरणं विधीयते । तथा अपानवायोर्शुद्धिः वीर्यप्रवाहीस्नायवः नाड्-यश्च दृढाः भवन्ति ।

4. <u>शक्तिचालिनी मुद्रा-</u>

सिद्धासने पद्मासने वा स्थित्वा करतलौ पृथिव्यां स्थापयेत् तदनन्तरं शनै-शनै पृथ्वीतः किञ्चिदुपरि वारं

---

1. क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।।
ह.प्र. 3/17

वारमुत्थाय करतलयो नितम्बभागस्य ताडनं विदध्यात् । तत् पश्चात् मूलबन्धं विधाय वामनासिकया दक्षिणनासिकया वा यतः स्वरस्य प्रवाहो भवेत् तथैव नासिकया पूरकं कृत्वा प्राणवायुम - पानेन योजयेत् जालन्धरबन्धञ्च कृत्वा यथाशक्तिः कुम्भकं कुर्यात् तथा कुम्भकावस्थायामेव अश्विनीमुद्रया गुह्यांगस्य गुह्यप्रदेशस्य वा आकर्षणविकर्षणं कुर्वन् तिष्ठेत् तत्पश्चात् जालन्धरबन्धं निवृत्यो भाभ्यां नासापुटाभ्यां शनैःशनैः वायुं रेचयेत् [1]।

घेरण्डसंहितायां ——————————

— हठयोगप्रदीपिकायाञ्चैतद् मुद्राविधानसमये चतुरंगुलदीर्घ वितस्ति प्रमाण विस्तृतं कोमलं श्वेतं सूक्ष्मवस्त्रखण्डं कटिसूत्रेण कटिप्रदेशे बध्नीयात् तथा समग्रशरीरोपरि भस्मलेपनं कुर्यादित्युक्तम् [2]।

---

1. क- आधार कमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुनारूह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालन मुद्रेयं सर्वशक्ति प्रदायिनी ॥
शि. सं. 4/105

ख. सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ।।
ह. प्र. 3/114

2. ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ।
ह. प्र. 3/113

इयं हि मुद्रा सर्वरोगनाशिनी सर्वतोभावेन स्वास्थ्य - वर्धिनी कुण्डलिनीजागरणकारिणीत्युच्यते [1]।

5. योनिमुद्रा :-

सिद्धासने स्थित्वा समस्तस्य शरीरस्य समसूत्रतां विधाय षण्मुखीं मुद्रां विदध्यात् तथा हस्तांगुष्ठाभ्यामुभौ कर्णकुहरौ तर्जनीभ्यां च नेत्रे, मध्यमाभ्यां च नासापुटौ पिधाय-अनामिके कनिष्ठिके चोभयोरोष्ठयोपार्श्वे संस्थाप्य काकीमुद्रया॥ जिह्वां-काकचञ्चुसदृशमाकारं दत्वा ॥ प्राणवायुं शनै-शनैराकृष्यापानेन सह योजयेत् । प्रणवजपञ्च विदध्यात् तथा प्रणवस्य नादेन कुण्डलिन्या: जागरणम्, षट्चक्रभेदनम् ततश्च सहस्रदलकमले वायु: प्रविशतीति भावयेत् । एतेन योगी अन्तर्मुखी भवति अन्त: ज्योतेश्च साक्षात्कारो लभते । समग्रशरीरे वायो: प्रवेशो जायते ततश्चाभ्यासेन

---

1. क- तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरून्धतीम् ।
 तस्या: संचालनेनैव योगी रोगै: प्रमुच्यते ।।
 येन संचालिता शक्ति: स योगी सिद्धिभाजनम् ।
 किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।।
 ह.प्र. 3/119-120

 ख- शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं य: समाचरेत् ।
 आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ।।
 शि.सं. 4/106

प्राणापानसंयोजनं भवति तथा षट्चक्रभेदनपूर्वकं सहस्रारे प्राणवायोः प्रवेशस्याभ्यासेन नाडीशुद्धि, अंगप्रत्यंगकान्तिः सर्वरोगापसरणं च लभ्यते [1]।

6. <u>योगमुद्रा:-</u>

मूलबन्धं विधाय पद्मासने स्थित्वोभाभ्यां नासापुटाभ्यां पूरकं कृत्वा जालन्धरबन्धं विदध्यात् तत उभौ हस्तौ पृष्ठप्रदेशे नीत्वा वामपाणिना दक्षिणपाणेरुपरि भागं गृहणीयात् दक्षिण पाणिना च वामहस्तं (मणिबन्धं) गृहणीयात् तथा शरीरस्य पूर्वार्ध भागं किन्चिदग्रेसरी कृत्योभाभ्यां पार्ष्णिभ्यामुदरभागं प्रभाव्य भूमौ मस्तकं स्थापयेत्, एतस्यामवस्थायां यथाशक्तिः कुम्भकं कृत्वा पुनः मस्तकं भूमित उत्थाप्य जालन्धरबन्धञ्च समाप्योभाभ्यां नासापुटाभ्यां वायुं रेचयेत् ।

---

1. आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।
   गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रवर्तते ।।
   ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।
   नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ।।
   गुरुहा सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
   एतैः पापैर्न बध्येत् योनिमुद्रानिबन्धनात् ।।
   योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित् ।
   सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कष्ट गतैरपि ।।
   शि. सं. 4/1, 15, 16, 20,

9. विपरीतकरणी मुद्रा - शीर्षासनं कलालासनं वा

सर्वतः पूर्वं भूमौ कोमलं वस्त्रं सम्वेष्ट्य स्थापयेत्तदनन्तरं वेष्टित वस्त्रस्योपरिमस्तकं विधाय हस्ततलौ च मस्तकपार्श्वभागे स्थापयित्वा शरीरस्याधो भागमुपर्याकाश उत्थापयेत् तथा समग्र शरीरमस्यां विपरीतास्थित्यां सरलतया दण्डवत् कृत्वा मूलबन्धं उड्डीयानबन्धञ्च कुर्यात् [1]। एतस्यां मुद्रायामुपरिस्थित-पादाभ्यां पद्मासनमपि विधातुं शक्यते, एतादृशं पद्मासनमूर्ध्व-पद्मासनमित्युच्यते ।

मुद्रायाः प्रारम्भकाले भित्तिसाहाय्येनास्याभ्यासः सुकरः ।

अनया मुद्रया शुक्ररक्षणं, मस्तिष्कबलवत्ता, नेत्रज्योति वर्धनम्, हृदयस्य दृढता, जठराग्निर्वृद्धिः, प्राणगतिस्थिरता जायते ।

---

1. क- भूतले स्वशिरो दत्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।।
शि. सं. 4/69

ख- ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ।।
ह. प्र. 3/79

तथा कोष्ठबद्धता प्रतिश्याय, शिरोवेदना, शिरोरोगाः दूरी भवन्ति कफविकाराश्च निवर्तन्ते तथा रक्तशुद्धिश्च जायते [1]।

10. उन्मनीमुद्रा:-

सुखासने स्थित्वा अर्धोन्मिलितनेत्रयोर्नासाग्रभागे सततं दृष्टिं स्थापयेदिति -"उन्मनी मुद्रा" ।

अस्या विशेषोपयोगो मनस एकाग्रतायै विहीतः ।

प्रायश एताः सर्वाः मुद्राः बिना बन्धेन न साध्यन्ते । बन्धाश्चैतासामंगरूपेण विहीताः, अतः केषाञ्चित् बन्धमुखानां निर्देशोऽत्र विधीयते -

---

1. क- नित्यमभ्याससुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ।।
ह. प्र. 3/80

ख- एतद् यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः ।
मृत्युं जयति योगीशः प्रलयेनापि सीदति ।।
कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात् ।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ।।
शि. सं. 4/70-71

मूलबन्धः विधि-

पार्ष्णिभागलिङ्गरन्ध्रावरोधनं मूलबन्धः । वामपादमूलं पार्ष्णिभागे संपीड्य गुदमाकुञ्चय योनिस्थानं दृढमाकुञ्चनेना - धोगतापानं बलेन शनैः शनैरूपर्याकर्षणं मूलबन्धः कथ्यते । सिद्धा - सनेन समम्ययम् बन्धः सम्यक् सञ्जायते । अन्यैरासनैसह पादमूलम- स्पृशन्नपि मूलबन्धो क्रियते [1]।

उड्डीयान बन्धः

जानू परिनीय पादतलौ परस्परमामेल्ल नाभेरूर्ध्वाधो भागं हठादाकृष्य मेरूदण्डमेवंसंस्थापयेयेनोदरभागे गर्त इव प्रतीयते । उदरमन्त यावदधिकमाकृष्यते तावदेव चारूर्भवति ।

---

1. क- पार्ष्णिभागेन संपीडय योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
   अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबधोऽभिधीयते ।
   हठ. प्र. अ. 3, 61,

   ख- पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ।
   बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत् ।
   कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ।
   शि. सं. 4-64-65

अस्मिन् प्राणा: खगवत् सुषुम्णां प्रत्युड्डीयते अत एवायं बन्ध "उड्डीयान" बन्धोऽभिधीयते इमं पादतलावमेलेनापि कर्तुं शक्यते [1]।

अनेन प्राणशुक्रयोरूर्ध्वगमनं भवति मन्दाग्निर्नश्यति, क्षुधावृद्धि, फुफ्फुसदृढीकरणञ्च भवति ।

---

1. क- बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यत: ।
 तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभि: समुदाहृत: ।

ख- उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगा: ।
 उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ।

ग- उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वञ्च कारयेत् ।
 उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंग केसरी ।

घ- नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नत: ।
 षण्मासनमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशय: ।

 हठ. प्र. 3/55, 56, 57, 59

ङ. नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ।
 उड्डयानबंध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशन: ।

च- उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
 उड्डायानाख्योऽत्र बन्धोऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ।

छ- षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम् ।
 तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धि: प्रजायते ।।

 शि. सं. 4/72, 73, 75

जालन्धरबन्धः

कण्ठमाकुञ्च्य चिबुकं दृढतया कण्ठकूपे एवं स्थापयेत् यद्धृत्चिबुकयोरन्तरं चतुरंगुलं यावत् भवेत् । वक्षः प्रमुखे तानं भवेत् । अयं बन्धः कण्ठस्थानीयनाडीजालं बध्नात्यत एवायं जालन्धर बन्धोऽभिधीयते [1] ।

कण्ठसंकुञ्चनेन " इडा-पिंगलयोः पिधाने प्राणानां सुषुम्नायां प्रवेशो भवति । अनेन कण्ठस्य माधुर्यं रसवंत्वमाकर्ष - कत्वञ्च संजायते ।

---

1. क- कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ।

ख- बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ।

ग- मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डीयानं तु कारयेत् ।
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ।

घ- अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ।

ह.प्र. 3/ 70, 71, 74, 75

ङ.- बद्धागलशिरा जालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ।

शि.सं. 4-60

महाबन्धः

पादं प्रसार्य दक्षिणं पादं वामोरूपरि स्थाप्य गुदयोनिं समाकुञ्च्य अपानमूर्ध्वं कृत्य समानेन संबन्ध्य, प्राणवायुमधोमुखं कुर्यात् । बन्धो यं प्राणापानयोरूर्ध्वगतिहेतोः बुद्धिमते साधकाय कथितोऽस्ति [1]।

अथवा -

वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने स्थाप्य वामोरूपरि दक्षिण पादं नियोज्य, समसूत्रे भूय वामेन पूरकं कृत्वा {अथवा नासाबन्-ध्रानुसारं} जालन्धरबन्धं कुर्यात् ततः मूलद्वारतो वायोरूपर्याकर्षणं

---

1. क- पार्ष्णिवामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
 वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।

ख- पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ।
 निष्पीडय वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत ।

ग- धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
 सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ।

 ह. प्र. 3-19, 20, 21

घ- ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमूरूपरि ।
 गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ।

ङ. - योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ।
 बन्धयोदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ।।

 शि. सं. 4-37, 38, 39,

कृत्वा मूलबन्धं विदध्यात् मनो मध्यनाडी नियोजयेत यथाशक्ति च कुम्भकं कुर्यात् तदनन्तरं पूरकेतरनासिकया शनैःशनैः रेचयेत् इत्थं नासिकाभ्यां अनुलोम विलोमरीत्या समानं प्राणायाममभ्येत् ।

शुक्रशुद्धिः,इडा पिंगला-सुषुम्नाणां सङ्गमः, बलवृद्धिश्च जायते ।

महावेधः

मूलबन्धपूर्वकं कुम्भकं कृत्वा करतलौ भुवि दृढं स्थाप्य हस्ताभ्यामुपर्युत्थाय स्फिचौ शनैःशनैः ताडयेत्, एवञ्च ध्यायेत् यत् प्राणवायु 'इडापिंगलां विहाय कुण्डलिनी जाग्रन सुषुम्नायां प्रविशति । ततो वायुं शनै शनैर्महाबन्धविध्यनुसारं रेचयेत् अथवा [1] -

---

1. क- महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
   वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ।
   ख- समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
   पुटद्वयमतिक्रम्य वायुःस्फुरति मध्यगः ।
   ग- सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै ।
   मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत् ।
   ह. प्र. 3-26, 27, 28,
   घ- अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।
   महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना ।
   स्फिचौ संताडयेदधीमान् वेधोऽयं कीर्तितोमया ।
   ङ.- वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुङ्गवः ।
   गन्थि सुषुम्मणा मार्गेण ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्यसौ ।
   शि. सं. 4-43, 44

मूलबन्धेन सह पद्मासनमधिष्ठाय -प्राणापानौ नाभिस्थाने एकीकृत्य हस्तौ तानेकृत्वा नितम्बैः सम्मिल्य भूमौ संस्थाप्य नितम्बं {रिफ्च} सासनमुत्थाप्योत्थाप्य भूमौ ताडयेत् ।

अनेन कुण्डलिनी जागृताभवति, प्राणाः सुषुम्नायां प्रविशन्ति । महाबन्ध-महामुद्रा-महावेधान त्रीनेव सहैव करणमतिलाभ - प्रदम् । यतोहि बन्ध-मुद्रा आसनैरेव क्रियन्ते अतः मुख्यानां केषाञ्चिदासनानामुल्लेखो नामनिर्देशनपूर्वकमत्र क्रियते । तेषां विधिर्भिश्च "योगासनानां सामान्य परिचयः" "उदररोगनिवर्तकान - यासनानि" नामध्याययोः वर्णितः ।

1.	सिद्धासनम्	2.	गुप्तासनम्
3.	मुक्तासनम्	4.	भद्रासनम्
5.	सिंहासनम्	6.	स्वस्तिकासनम्
7.	पद्मासनम्	8.	कुक्कुटासनम्
9.	पश्चिमत्तानासनम्	10.	मयूरासनम्
11.	समासनम्	12.	उड्डीयानासनम् {उत्थाय}
13.→	उड्डीयानासनम् {उपविश्य}	14.	वज्रासनम्
15.	सर्वाङ्गासनम्	16.	अर्धमत्स्येन्द्रासनम्
18.	हलासनम्	18.	भुजंगासनम्
19.	अर्धशलभासनम्	20.	शलभासनम्
21.	सुप्तवज्रासनम्	22.	धनुरासनम्
23.	मयूरासनम्	24.	मत्स्यासनम्
25.	योगमुद्रा	26.	मध्यमनौलिः
27.	दक्षिणनौलिः	28.	वामनौलिः
29.	शीर्षासनम्	30.	शवासनम्

ही यह स्थिति प्राप्त कर लेता है। योगशिरवोपनिषद् में स्पष्ट रूप से लिखा है "षट्चक्रों का ज्ञान प्राप्त करके साधक प्राण द्वारा सुषुम्ना के भीतर सुखमण्डल में प्रवेश करता है। वहाँ प्रवेश करने के पश्चात् उसे प्राण को ऊर्ध्वगति में नियोजित करना चाहिए। उसे प्राण, बिन्दु तथा चक्रों का क्रमशः अभ्यास चित्त के साथ करना ही अपेक्षित है। इस प्रकार योगी अमृतपान कर समाधि अवस्था की प्राप्ति करता है।"[1]

4.6 मुद्रा एवं बन्ध–विज्ञान

4.6.1 मुद्रा एवं बन्ध–विज्ञान : सामान्य परिचय

'मुद' अर्थात् आनन्दस्वरूप प्रदान करने के कारण इसकी संज्ञा है– 'मुद्रा'। 'अष्टमहासिद्धियों के सौभाग्य को तिरस्कृत करने वाली ऐश्वर्यरूपिणी तथा परमात्म विशर्म के आनन्दोत्कर्ष की परमाह्लादिनी शक्ति की स्वात्मानुभूतिमयी प्रकाशन ही 'मुद्रा' है तथा यही देवताओ की तात्त्विक पूजा है।"[2] अतः नामानुरूप योगियों को परम ऐश्वर्य की प्राप्ति करवाने वाली तथा ब्रह्म को प्रसन्न करने वाली 'मुद्रा' का विशिष्ट ज्ञान प्रत्येक योगी के लिए आवश्यक है। मुद्रा का विधान भारतीय धर्म–साधना की समस्त पद्धतियों में अपेक्षित है। इसीलिए प्रत्येक साधना पद्धति द्वारा धर्म–दृष्टि के अनुसार विभिन्न मुद्राओं का निर्माण होता रहा है, जिससे अनेक दृष्टियों से निर्मित एवं वर्गीकृत किए जाने के कारण ये अनेक प्रकार की दृष्टिगोचर होती हैं। मुख्यतः ये मुद्राएं तन्त्र लोक में तीन प्रकार की कही गई है "मनोजा, वाग्भवा एवं देहोद्भवा– मनोजा मुद्राएं जो

---

1 षट्चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत् सुखमण्डलम्।
प्रविशेद्वायुगाकृष्य तथैबोर्ध्वं नियोजयेत्।
वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चितं चैव समभ्यसेत्।
समाधिनैकेन सममृतं यान्ति योगिनः।। यो० शि० उ०, ७४–७५

2 आनन्दोल्लासश्रीः क्षुल्लकिताष्टमहासिद्धि सौभाग्या।
दृश्यते यत्र दशायां सैव दैवस्य सर्वमुद्राः।। म० मं०, ५१

मानसिक अनुसन्धान से उद्भूत होती है। वाग्भवा मुद्राए, जो मन्त्रों द्वारा उद्भूत होती है तथा देहोद्भवा मुद्राएं जो शरीराङ्गों की विशिष्ट आकृतियों को बनाने से उद्भूत होती है।"[1] इन्हे अङ्गविक्षेपात्मक मुद्राएं कहतें है। इन तीनों वर्गों के अन्तगर्त समस्त मुद्राओं का समावेश हो जाता है।

योग साधना में जिन मुद्राओं का अभ्यास किया जाता है, वे यौगिक मुद्राएं कही जाती है। बन्धों की गणना अधिकाशतः इसी के अन्तर्गत की जाती है। इन मुद्राओं के अभ्यास में विशेष विधि एवं आसन की आवश्यकता होती है। ये मुद्राएं परमात्मा या परा शक्ति का स्वरूप प्रतिबिम्बित करती है तथा देह के द्वारा साधक को आत्म स्वरूप के अनुरूप आनन्द प्रदान वाली कुण्डलिनी जागरण हेतु अत्यावश्यक है। वराहोपनिषद् के अनुसार "इड़ा, पिंगला, के मध्य सुषुन्ना नाड़ी में विशेष रूप से मुद्रा–बन्ध द्वारा वायु को उर्ध्वमुख किया जाता है।"[2] शिव संहिता में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है "सब प्रकार से प्रयत्न करके ब्रह्मरन्ध्र के मुख में सोती हुई कुण्डलिनी को जागृत करने के लिए मुद्रा का अभ्यास अत्याश्वयक है।"[3] "हठयोग प्रदीपिका एवं घेरण्ड संहिता मुद्राओं को दिव्य ऐश्वर्यों का साधन कहते हुए इन्हे सिद्धों को प्रिय, परम गोपनीय तथा देवों के लिए भी अप्राप्य बताया गया है।"[4]

---

1 मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रैयं त्रिविधा स्मृता।। मुद्राः विज्ञान एवं साधना में उदधृत, पृ० स०, ८

2 इडापिङ्गलयोर्मर्ध्य सुषुम्नाडिमण्डले।।
मद्राबन्धविशेषण वायुमूर्ध्व च कारयेत्। वरा० उ०, ५/६७–६८

3 तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।। शि० स०, ४/२३

4 क– आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरूतामपि।। ३/८
ख– घे० स०, ३/४–५

संख्या

योगतत्त्वोपनिषद्[1] में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी मुद्रा, जालन्धर बन्ध उडिडयान बन्ध, मूलबन्ध, वज्रोली, अमरोली, सहजोली एवं विपरीतकरणी इन ग्यारह मुद्राओ का उल्लेख है। योगचूडामण्युपनिषद्[2] में महामुद्रा, नभोमुद्रा खेचरी मुद्रा, बन्धत्रय, योनिमुद्रा, शक्तिचालन वज्रोली एवं षण्मुखी– ध्यानबिन्दूपनिषद[3] में बन्धत्रय, खेचरी, वज्रोली एवं महामुद्रा का, योगकुण्डल्युपनिषद्[4] में शक्तिचालन, एवं खेचरी मुद्रा का, शाण्डिल्योपनिषद्[5] में बन्धत्रय, वैष्णवी तथा खेचरी मुद्रा का, योगशिखोपनिषद्[6] में बन्धनत्रय एवं खेचरी मुद्रा का, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[7] में षण्मुखी मुद्रा का तथा अद्वयतारकोपनिषद्[8] में शाम्भवी मुद्रा का उल्लेख प्राप्त होता है।

हठयोग से सम्बन्धित मुख्य ग्रन्थों में भी इन्हीं मुद्राओं का स्वरूप प्रकट किया गया है। हठयोग प्रदीपिका[9] तथा शिवसंहिता[10]– महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालन्धर, मूल, विपरीतकरणी, उड्डियान, वज्रोली एवं शक्तिचालन– इन दस मुद्राओं को, गोरक्ष पद्धति[11]– महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध एवं मूलबन्ध को तथा

---

1 क– महामुद्रा महाबन्धों महावेछश्त्त
जालन्धरोड्डियाणश्च मूलबन्धस्तथैव च।।
वज्रोली चामरोली च सहजोली त्रिधा मता।। यो० त० उ०, २६–२७
ख– वही, १२२–१२३

2 यो० चू० उ०, ४५,४६–५६, ६३, ६५–७०, ११४–११५

3 ध्या० बि०उ०, ७३–६३

4 यो० कु० उ०, १/७–८, ४२–५३, २ अ०

5 शा० उ०, १/७/११, १४–१७, ३६–४२

6 त्रि० शि० उ०, १/१०४–११२, ५/३८–४५

7 त्रि० ब्रा० उ०, २/३२–४२

8 अ० ता० उ०, १२

9 महामुद्रा, महाबंधो महावेधश्व खेचरी। उडचानं मूलबंधश्व बंधो जालंधराभिः।।
करणी विपरीतताख्या वज्रोली शक्तिचालम्। इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशम्।।
ह० यो० प्र०, ३/६–७

10 शि० सं०, ४/२४–२५

11 महामुद्रांनभोमुदां उड्डीयानं जलंधरम्। मूलबन्धञ्च योवेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः।।
गो० प०, १/४७

घेरण्ड संहिता[1]– उपर्युक्त १० मुद्राओं सहित शक्तिचालन , ताड़ागी, माण्डवी, शाम्भवी, पञ्चधारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी, भुञ्जगिनी, पार्थिव, आम्भसी, आग्नेय, वायवी एवं आकाशी इन २५ मुद्राओं को स्वीकृत करती है। यहां विभिन्न उपनिषदों में वर्णित मुद्राओं की विधि एवं फल का वर्णन किया जा रहा है –

1. **महामुद्रा**

"नाड़ी समूह का शोधन, सूर्य चन्द्र का चालन तथा रस का शोषण करने से ही इसे महामुद्रा कहा गया है।"[2] "वांम पैर की ऐड़ी से योनि स्थान पर दबाव डालते हुए, ठोढ़ी को छाती से लगाकर तथा दायां पैर सीधा फैलाकर, दोनों हाथों से उसे पकड़कर उदर में पूर्ण श्वास भरकर शनैः शनैः निकालना चाहिए। अभ्यास काल में क्रमशः प्रथम बायीं नासिका चन्द्र अंश द्वारा श्वास आकृष्ट कर, रेचन करते हुए तथा पुनः दायीं नासिका 'सूर्य अंश' द्वारा श्वास आकृष्ट कर रेचन का अभ्यास करना उचित है।"[3] इसमें कण्ठ में जालन्धर बन्ध लगाकर वायु को उपर ले जाकर रोकना चाहिए। महामुद्रा के निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर उर्ध्वगति को प्राप्त हो जाती है। इसी कारण विद्वानों ने इसे महामुद्रा की संज्ञा से अभिहीत किया है। "विभिन्न योगशास्त्रों में इस मुद्रा का समान स्वरूप उपलब्ध होता है।"[4]

---

1 घे० स०, ३/६-१००

2 क– शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते।। यो० चू० उ०, ६५
ख– वही, ध्या० बि० उ०, ६१-६२
ग– वही, गो० प०, १/७६

3 वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनि च वामाड्घ्रिणा हस्ताभ्यामनु–धारयन्प्रसरितं पादं तथा। आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचयेत्सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते।। चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रा विसर्जयेत्।।
यो० चू० उ०, ६६-६७

4 क– ध्या० बि० उ०, ६३
ख– शि० सं०, ४/२६-३०

लाभ

महामुद्रा के निरन्तर अभ्यास द्वारा पथ्य–अपथ्य अथवा समस्त प्रकार के नीरस भोजन भी सुपाच्य हो जाता है। अधिक भोजन तथा विष भी ग्रहण कर लेने पर वह अमृत के समान पच जाता है तथा योगी को क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त, गुल्म, अजीर्ण आदि एवं भविष्य में होने वाले सभी रोगों से मुक्ति प्राप्त होती है। यह महासिद्धि प्राप्त करवाने वाली मुद्रा गुप्त रखने योग्य है इसीलिए प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिए।"[1] शिव संहिता में इस मुद्रा के लाभ बताते हुए कहा गया है "इस उपाय से समस्त रोगों का उपशमन होकर जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है। शरीर सुन्दर स्वच्छ भांति से युक्त हो जाता है तथा मृत्यु का नाश होता है। इससे योगी समस्त इच्छित फल तथा इन्द्रिय संयम बनाए रखने की सामर्थ्य भी प्राप्त करता है।"[2]

2. महाबन्ध

योगतत्त्वोपनिषद् में महाबन्ध की विधि का उपरोक्त महामुद्रा की विधि के समान वर्णन उपलब्ध है "वाम पैर की ऐड़ी द्वारा योनिस्थान को दबाये तथा दायें पैर को

ग– ह० यो० प्र०, ३/१०–१३
घ– घे० सं, ३/६–७
ड.– गो० प०, १/५८–५६
च– द०यो०शा०, २६२–२६७

1 क– नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते।।
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रा तु योऽभ्यसेत्।।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नने न देया यस्य कस्यचित्।। यो०चू०उ०, ६८–७०
ख– ध्या० बि० उ०, ६३
ग– गो० प०, १/६०–६२

2 सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम्।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम्।।
वांछितार्थकलं सौख्यमिंद्रियाणाञ्च मारणम्। शि० सं०, ४/३३–३४

फैलाकर उप पैर के अँगूठे को शनैः शनै पूरक, शक्ति–अनुसार कुम्भक एवं पुनः रेचक करना चाहिए।"[1] यहां उपरोक्त महामुद्रा से भिन्न–महाबन्ध की "इस क्रिया का निरन्तर अभ्यास प्रथम बाँये अंग से, उपरान्त दांये अंग से अर्थात् प्रथम बाई एड़ी योनी पर, दायां पैर प्रसारित कर हाथो से पकड़े, इसके पश्चात् दाई एड़ी से योनि को दबाकर, बायां पैर प्रसारित कर हाथों से पकड़ने का निर्देश है। इसे ही महाबन्ध कहा गया है जिसका दोनों विधि से अभ्यास आवश्यक है।"[2]

हठयोग प्रदीपिका में इसका स्वरूप कुछ भिन्न प्रकार से वर्णित है– "वाम पैर की एड़ी को योनि स्थान में लगाकर दायां पैर वाम जंघा पर रखे, तदुपरान्त वायु को पूरित करके ठोढी को हृदय में लगाते हुए योनि को संकुचित कर, मन को नाड़ी के मध्य प्रविष्ट करे। पुनः वायु को यथा शक्ति कुम्भक, ततप्श्चात् शनैः शनै रेचन करे। इस प्रकार बाँये अंग द्वारा अभ्यास करके दाँये अङ्ग द्वारा करना चाहिए।"[3] शिव संहिता[4] महाबन्ध की समान पद्धति का अनुसरण करती है जबकि घेरण्ड संहिता[5] में योगी बायां पैर की एड़ी गुदा मूल पर तथा दक्षिण पैर से यत्नपूर्वक बायी एड़ी को दबाता हुआ समान रूप से क्रिया सम्पन्न करता है।

---

1 पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम्।।
चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः
कुम्भकेन यथाशक्ति धारयित्वा तु रेचयेत्।। यो०त०उ०, ११२–११३

2 वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन ततोऽभ्यसेत्।
प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि नामयेत्।।
अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत्। वही, ११४–११५

3 पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।
पूरयित्वा ततो वायु हृदये चिबुकं दृढम्।
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत्।।
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः।
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत्।। ह०यो०प्र०, ३/१६–२१

4 शि०सं०, ४/३७–३८

5 घे०सं०, ३/१८–१६

हठयोग प्रदीपिका में वर्णित है कि इस महाबन्ध के अभ्यास काल में जालन्धर बन्ध की उपेक्षा राजदन्त स्थित जिह्वा का बन्ध लगाना चाहिए क्योंकि इससे प्राणों की गति ब्रह्मरन्ध्र की ओर हो जाती है[1]

लाभ

"महाबन्ध के अभ्यास से समस्त नाड़ियों की उर्ध्वगति रूक जाती है। ये बन्ध निश्चय से महासिद्धि की प्राप्ति करवाता है। इसे त्रयबन्ध सम्मिलित होने से त्रिवेणी संगम प्राप्त कराने वाला, काल के पाश को छुड़ाने वाला तथा केदार की प्राप्ति कराने वाला कहा गया है।"[2]

3. महावेध

योगतत्त्वोपनिषद् में महाबन्ध की विधि को लक्षित करते हुए कहा गया है– "सिद्ध योगीजन इस महावेध का निरन्तर अभ्यास करते हैं।"[3] इस उपनिषद् में महामुद्रा, महाबन्ध तथा महावेध, इन तीनो की एक ही विधि अर्थात् समान स्वरूप उपलब्ध होता है।

हठयोग प्रदीपिकानुसार "पूर्व वर्णित महाबन्ध की स्थिति में योगी एकाग्र बुद्धि द्वारा पूरक करके कण्ठ मुद्रा से वायु गति रोककर प्राणायाम करे। तदुपरान्त दोनों हथेलियों को भूमि पर लगाकर सम्पूर्ण शरीर निर्देश को तुला के समान दोनों हथेलियों

---

1 मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत्।
राजदंतरस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति।। ह०यो०प्र०, ३/२२

2 अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्व गतिनिरोधकः।
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः।।
कालपाश महाबंधविमोचन विचक्षणः।
त्रिवेणसिङ्गमं धत्ते केदारं प्रापतेन्मनः।। वही, ३/२३-२४

3 अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम्। यो०त०उ०, ११७

पर उठाले और नितम्ब प्रदेश को भूमि पर ताड़न करें। इससे प्राणवायु इड़ा–पिंगला त्यज् कर सुषुम्ना में चलने लगती है।"[1]

घेरण्डसंहिता में इस मुद्रा का उल्लेख अव्यक्त रूप में वर्णित है– इस को अधिक सुस्पष्ट विधि से "प्रथम महाबन्ध मुद्रा का अभ्यास कर उड्डियाणबन्ध करते हुए कुम्भक द्वारा वायु को रोके, यही महावेध कहा जाता है।"[2] शिवसंहिता में "महाबन्ध की स्थिति में अपान एवं प्राण को एकीकृत करके दोनों पार्श्वों को ताड़ित करने का निर्देश है।"[3]

महावेध की महत्ता

"महावेध के बिना मूलबन्ध तथा महाबन्ध भी उसी प्रकार निष्फल है, जिस प्रकार कि पुरूष के बिना स्त्री का रूप, यौवन एवं लावण्य व्यर्थ है।"[4] अतः "महावेध के अभ्यास से रहित महामुद्रा तथा महाबन्ध दोनों व्यर्थ है इसलिए इन तीनों का अभ्यास सावधानीपूर्वक यथाक्रम में करना चाहिए।"[5]

लाभ

"इस महासिद्धिदायक मुद्रा में सोम, सूर्य, अग्नि सम्बन्धी–क्रमश इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना का परस्पर सम्बन्ध होने पर अमृतत्व की प्राप्ति होती है तथा वली, पलित,

---

1 महाबन्धस्थिता योगी कृत्वा पूरकमेकधोः।
वायुनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया।।
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।
पुटद्वयमयिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः।। ह०यो०प्र०, ३/२६-२७

2 महाबन्ध समासाद्य उड्डीयान कुम्भकं चरेत्।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः।। घे०सं०, ३/२२

3 अपनाप्राणयोरैक्यं ऊत्वा त्रिभुवनेश्वरि।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना।
स्फिचौ संताडयेद्धीमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया।। शि०सं०, ४/४३

4 रूपयौवन लांवण्य नारीणां पुरुषं विना।
मूलबन्ध महाबन्धौ महावेध बिना यथा।। घे०सं०, ३/२१

5 महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमांत।। शि०सं०, ४/४७

कम्पनादि दूर होते हैं।"[1] "सिद्धि की कामना करने वाले साधक का कर्त्तव्य है कि वह अपने अभ्यास को प्रयास पूर्वक गोपनीय रखे। यह निश्चित है कि इस मुद्रा को साधारण लोगों के प्रति प्रकट कर जाने पर सिद्धि प्राप्ति नहीं हो सकती।"[2]

4. खेचरी मुद्रा

यह सर्वविदित है कि देह में तालुमूल के समीप एक विवर से चन्द्ररस रूपी अमृत का स्राव होता रहता है जो नाभि प्रदेश अर्थात् जठराग्नि पहुंच कर समाप्त हो जाता है, इसकी धीरे–धीरे समाप्ति वृद्धावस्था तक पर्यन्त तथा पूर्णतया विनष्टि मृत्यु तक पहुंचाती है। "इस अमृत रस को रोकने हेतु जिह्वा को विपरीत कर कपालगुह्या में पहुँचाना तथा ध्यान को भृकुटियों के मध्य बनाए रखना खेचरी मुद्रा कही गई है"[3]

विधि

"सर्वप्रथम साधक को सात दिन पर्यन्त तालुमूल को गुरु के उपदेशानुसार घिस कर उसका मैल दूर करना चाहिए। फिर थूहड़ के पत्ते की तरह तीक्ष्णधारायुक्त किसी पवित्र औजार से जिह्वा मूल को बाल के बराबर गुरु से कटवाए यां स्वयं काटे। कटे हुए स्थान पर हरड़ और सैंधे नमक का चूर्ण लगाया जाए। सात दिन तक पुनः उसी

---

1 ह०यो०प्र०, ३/२८–२६

2 यज्ञात्वा साधनाः सर्वे सिद्धिं सम्यग्लभन्ति वै।।
गोपनीय प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः।
अन्यथा च न सिद्धि : स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः।। शि०सं०, ४/४६–५०

3 क– यो०चू०उ०, ५७
ख– यो०त०उ०, ११७–११८
ग– यो०शि०उ०, ५/४०
घ– शा०उ०, १/७/४२
ङ– ध्या०बि०उ०, ७६–८०
च– ह०यो०प्र०, ३/३२
छ– घे०सं०, ३/२७
ज– गो०प०, १/६३
झ– शि०सं०, ५१–५३

प्रकार काटे। इस तरह निरन्तर छः मास तक अभ्यास करते रहने पर जीभ का तालु के साथ बन्धन कट जाने पर, जिह्वा के अग्र भाग में वस्त्र लपेट कर शनैः शनैः बाहर की ओर को दोहन करना चाहिए। इस प्रकार नियमित अभ्यास द्वारा जिह्वा में निरन्तर वृद्धि होने से, वह बढ़कर बाहर भृकुटियों के बीच, बगल में कर्ण–छिद्रो तक, और बाहर ठोढी तक पहुँचने लगेगी। यह अभ्यास निरन्तर तीन वर्षो तक किए जाने पर जिह्वा बालों, कन्धों तथा नीचे कण्ठकूप तक पहुँचने में समय हो जाती है। पुनः तीन वर्ष के अभ्यास द्वारा यह ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच कर उसे ढक लेती है, इसमें कोई संशय नहीं है कि जिह्वा ग्रीवा के पीछे तथा कण्ठ के अन्त तक पहुँच जाएगी। इस प्रकार जिह्वा धीरे–धीरे ब्रह्मरन्ध्र को भेद देती है।"[1] "खेचरी मुद्रा की समान विधि का वर्णन अन्य ग्रन्थो में भी इस प्रकार उपलब्ध होता है।"[2]

---

1 तालमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित्।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्व विशोधयेत्।।
स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्ण स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्।।
हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत्।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्।।
एवं क्रमेण षाण्मास नित्योद्युक्तः समाचरेत्।
षाण्मासाद्रसनामूलं सिरबन्धं प्रणशीत।।
अथ वागीश्वरधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत्।
शनैरूत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित्।।
पुनः षाण्मासमात्रेण नित्यं संघर्षणान्मुने।
भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि।।
अध्श्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रमचारिता।
पुनः सवंत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया।।
केशान्तमूध्व। क्रमेति तिर्यक्शाखावधिर्मुने।
अधस्तात्कण्ठकूमपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु।।
ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः।
तिर्यक् चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधिः।।
शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभित्। यो०कु०उ०, २/२८–३७

2 क– ह०यो०प्र०, ३/३४–३५
ख– घे०सं०, ३/२५–३२

सिद्धि

"छेदन, चालन एवं दोहन के द्वारा जिह्वा को ज्यादा से ज्यादा नुकीला बनाकर, भ्रकुटि के मध्य में दृष्टि स्थिर करके, कपाल के छिद्र में जब जिह्वा विपरीत होकर गमन करने लगे तभी खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है।"[1] "इस का अभ्यास मेलन के साथ किए जाने पर ही इसकी सिद्धि होती है अर्थात् गुरु के मुख से 'मेलन' मंत्र ग्रहण कर शास्त्रीय परम्परानुसार साधनोंपरान्त सिद्धि की प्राप्ति होती है।"[2] ''इस विद्या के द्वारा योगी आकाश में उड़ने में समर्थ हो जाता है, अतः खेचरी का अभ्यास खेचरी बीज के साथ करना चाहिए। खेचरी के बीज मन्त्र में खेचर का रूप 'ह' कार, आवसथ अर्थात् धारणा का रूप 'ई' कार, अग्नि का रूप 'र' कार और जल का रूप 'अनुस्वार' अर्थात् बिन्दू है। खेचरी योग इससे सिद्ध होता है। सोमांश चन्द्र बीज 'स' कार, इसकी विपरीत गणना करने पर नवें अक्षर 'भ' पुनःचन्द्रबीज 'स' कार, इसकी विपरीत गणना करने पर अष्टम् अक्षर 'म' और इसके पांच अक्षर उल्टा गिनने पर 'प' तथा 'चन्द्रबीज 'स' कार एवं संयुक्त वर्ण युक्त 'क्ष' सबसे अन्तिम अक्षर माना गया है। अतः ह्रीं, भं, सं, मं, पं, सं, क्षं से खेचरी मंत्र निर्मित होता है। गुरु द्वारा विधिवत् उपदेश प्राप्त कर इस मंत्र का जप करने से सभी प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त किया जा सकता है। इस मंत्र के प्रतिदिन द्वादश बार जप करने से देह में स्थित माया का स्वप्न में भी प्रभाव नहीं

---

1 छेदनचालनदोहै– फलां परां जिह्वां कृत्वा दृष्टिं भ्रूमध्ये स्थाप्य
कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते। शा०उ०, १/७/४२–क

2 क– अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिध्यति।
अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम्।। यो०कु०उ०, २/५
ख– यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः।
तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसंततौ।। वही, २/८

पड़ता तथा जो नियमपूर्वक इसका पांच लाख बार जाप करता है, उस साधक की खेचरी स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार छः बीजाक्षरों से करन्यास एवं षड़ांगन्यास द्वारा खेचरी पूर्ण रूप से सिद्ध होती है। यह अभ्यास अत्यन्त सावधानी से धीरे धीरे क्रमशः करना चाहिए। शीघ्रता से किया गया अभ्यास शरीर को हानि पहुँच सकता है।"[1]

लाभ

"खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाने पर अमृत अग्नि के ऊपर गिर कर नष्ट नहीं होता तथा न ही वायु गतिमान होती है। न क्षुधा, न प्यास, न निद्रा तथा न ही आलस्य का उदय होता है और जो योगी यह जानता है उसे मृत्यु का भय नहीं रहता।"[2] "उसे न

---

[1] क– अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत्।
खेचर्या खेचरीं युञ्जन्खेचरीबीजपूरया।।
खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत्।
खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम्।।
आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति।
सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत्।।
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातामक्षरं चन्द्ररूपकम्।
तस्मादप्यष्टमं वर्ण विलोमेन परं मुने।।
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी।
इन्दोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तितः।।
गुरूपदेशलभ्यं च सवयोगप्रसिद्धिदम्।
यत्तस्य देहजा माया निरूद्धकरणाश्रया।।
स्वप्नेऽपि न लभेतस्यनित्यं द्वादशजप्यतः।
य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः।।
तस्य श्री खेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते। यो०कु०उ०, २/१६-२३
ख– तस्याः षड्ङ्ग कुर्वीत तथा षट्स्वरभिन्नया।
कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्धयादिहैतवे।।
शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि।
युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत्।। वही, २/३८-३६

[2] क– खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न पीयुषं पतत्यग्नो न च वायुः प्रधावति।।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नौवालस्यं प्रजायते।
न च मृत्युर्भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।। यो०शि०उ०, ५/४१-४२
ख– ध्या०बि०उ०, ८०
ग– ह०यो०प्र०, ३/३८-४०
घ– घे०सं०, ३/२८

मूर्च्छा आती है, न रोग कष्ट देते हैं और न ही वह कर्मों में लिप्त होता है"[1] "सिर से लेकर पांव पर्यन्त शरीर के समस्त अंग जिनके द्वारा पुष्ट होते हैं, उन सभी शिराओं का मूल बिन्दू खेचरी मुद्रा है तथा जिस साधक ने इस मुद्रा द्वारा जिह्वा से कपाल कुहर को ढक लिया है, उस साधक का रमणी के आलिंगन से भी बिन्दुपात नहीं हो सकता और जब तक बिन्दु शरीर में स्थित है तब तक मृत्यु से कोई भय नही।"[2] घेरण्ड संहिता के अतिरिक्त लाभों की चर्चा करते हुए कहा गया है – "इस मुद्रा में स्थित योगी को न अग्नि भस्म कर सकती है, न वायु शुष्क कर सकती है, न जल आर्द्र कर सकता है तथा न सर्प काट सकता है। इसकी सिद्धि से योगी के शरीर में दिव्य कान्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है तथा कपाल एवं रसना के योग से अनेक रस उत्पन्न होने लगते हैं। नए नए आनन्द की अनुभूति होने लगती है। प्रारम्भ में लवण, क्षार, तिक्त एवं कषाय रस का तथा तत्पश्चात् मक्खन्, घृत, दुग्ध, दधि, तक्र, मधु, द्राक्षा तथा फिर अमृतादि रसों का स्वाद उत्पन्न होता है।"[3]

---

1 क– न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेति खेचरीरम्।
पीऽयते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।। ध्या०बि०उ०, ८१
ख– यो०चू०उ०, ५४

2 क– बिन्दुमूलशरीराणि शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।
भावयन्ती शरीराणि आपादतलमस्तकम्।।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च।।
यावद्विन्दु : स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः। वही, ५६–५८
ख– ह०यो०प्र०, ३/४२–४४

3 नाग्निनादह्यतेयात्रं न शोषयति मारुतः।
न देह क्लेदयन्तयापो दशयेन्न भुजंगमः।।
लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।
कपाल वक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात्।।
नाना रससमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने।
आदौ लवणक्षारं च ततस्तिक्त कषायकम्।।
नवनीतं लवणक्षारं च ततस्तिक्त कषायकम्।।
नवनीतं धृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।
द्राक्षा रसं च पीयूषं जायते रसनोदकम्।। घे०सं०, ३/२६–३०

5. मूल बन्ध

अधिकाशतः सभी योग शास्त्र ग्रन्थबन्धों में से "मूल बन्ध को प्रथम उड्डियान बन्ध को द्वितीय तथा जालन्धर बन्ध को तृतीय स्थान दिया गया है।"[1] इनका क्रमशः विवेचन इस प्रकार है। "एड़ी से गुदा कों अत्यन्त दृढ़ता से दबाकर वायु को ऊपर की ओर बलपूर्वक बारम्बर आकृष्ट किया जाता है ताकि अपान वायु ऊपर आ सके। इस क्रिया को मूलबन्ध कहते हैं।"[2] इस क्रिया के माध्यम से अधोमुखी अपान को, उर्ध्वमुखी बनाने के लिए ऊपर की ओर आकृष्ट किया जाता है जिसका लक्ष्य सुषुम्ना में शक्ति प्रवाहित करना है। अतः मूलबन्ध कुण्डलिनी में पूर्णतया सहायक है। "इस बन्ध का अभ्यास करते हुए नाभिग्रन्थि अर्थात् ब्रह्म ग्रन्थि को दबाना चाहिए ताकि वायु सरलता से सुषुम्ना में प्रविष्ट हो सके।"[3]

लाभ

"मूलबन्ध के अभ्यास से प्राण तथा अपान, नाद तथा बिन्दु एक हो जाते हैं अर्थात् इनकी दूरी समाप्त हो जाती है, जिसके परिणाम स्वरूप योग का अभ्यास करने

---

1 क– प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयतूड़ीडयाणकः।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथायाम्यहम्।। यो०शि०उ०, १/१०३
ख– यो०कु०उ०, १/४१

2 क– गुदं पाष्र्या तुसंपीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।
बारं बारं यथा चोर्ध्वं समायति समीरणः।।
ख– ब्०बि०उ०, ७४
ग– यो०कु०उ०, १/४२
ध– यो०चू०उ०, ४६
ङ– यो०त०उ०, १२०–१२१
च– ह०यो०प्र०, ३/६१–६२
छ– घे०सं०, ३/१४–१५
ज– गो०प०, १/८१
झ– शि०सं०, ४/६४

3 नाभिग्रन्थि मेरूढण्डे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः। घे०सं०, ३/१४

वाला निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त है।"[1] "प्राण अपान की एकता से मलमूत्र कम तथा वृद्ध भी युवा हो जाता है।"[2] "अपान, की उर्ध्वगमन द्वारा जब वह्निमण्डल से योग करता है , उस समय वायु से आहत होकर अग्नि अत्यन्त तीव्र हो जाती है। तत्पश्चात् उष्ण स्वरूप वाले प्राण में अग्नि एवं अपान का संयोग होने पर उत्पन्न प्रभाव से देहजन्य विकार नष्ट हो जाते हैं तथा उस अग्नि से संतप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी जागृत होकर सर्पिणी के समान फुंकारती हुई सीधी हो जाती है।"[3] अतः मूलबन्ध का अभ्यास योगियों को सदैव करते रहना चाहिए। "इस प्रकार मूलबन्ध से प्राप्त होने वाले लाभो की चर्चा विभिन्न ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है।"[4]

6. उड्डियान बन्ध

"उड्डियान बन्ध कुम्भक के अन्त में तथा रेचक के प्रारम्भ में किया जाता है, इसके अभ्यास से प्राण बँध कर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करने लगता है, प्राणों के इसी उड्डीयान के कारण योगी जन इस बन्ध को 'उड्डीयान बन्ध कहतें है। गुरु द्वारा बताए

---

[1] प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धि यच्छतो नात्र संशय।। यो०शि०उ०, १/१०५

[2] अपानप्राणयौरक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोपि सततं मूलबन्धनात्।। यो०चू०उ०, ४७

[3] अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता।।
ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।
तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते।
दण्डाहतभुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्।। यो०कु०उ०, १/४३-४५

[4] क- ह०यो०प्र०, ३/६४-६६
ख- घे०सं०, ३/१५-१७
ग- शि०सं०, ४/३७-३८

जाने पर यह बहुत सरल हो जाता है तथा इसका अभ्यास बिना आलस्य प्रतिदिन करने से वृद्ध भी युवा हो जाता है।"[1]

"नाभि के ऊपर ओर नीचे के पेट के भाग को प्रयत्नपर्वूक पीछे की ओर लगाने से 'उड्डियान बन्ध की क्रिया सम्पन्न होती है।"[2] "जिस प्रकार थके बिना महापक्षी उड़ने की क्रिया करता है, उसी प्रकार पेट की पश्चिम 'ताण' क्रिया के साथ नाभि को ऊपर की ओर खींचना चाहिए।"[3] "इसकी तुलना मृत्यु रूपी हाथो के लिए सिंह के समान की गई है जिससे प्राण सुषुम्ना में उठ जाता है।"[4]

लाभ

"इस बन्ध के छः मास तक निरन्तर अभ्यास द्वारा योगी निश्चित रूप से मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। सभी चिन्हों में से यही बन्ध श्रेष्ठ है जिसके सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक मृत्यु होती है।"[5] "इससे समस्त पेट के विकार शान्त होते हैं। इसीलिए

---

1 क– कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्त्तव्यस्तूड्डियाणकः।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते तथा।।
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।
उड्डियाण तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।।
अभ्यसेत् तदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्। यो०शि०उ०, १/१०६–१०८
ख– यो०कु०उ०, १/४७–४८
ग– ह०यो०प्र०, ३/५५–६६
ध– गो०प०, १/७७

2 नाभोरूर्ध्वमधश्चापि ताणं कुर्यात् प्रयत्नतः।। यो०शि०उ०, १/१०८
क– यो०चू०उ०, ४६
ख– ह०यो०प्र०, ३/५७
ग– घे०स०, ३/८
घ– गो०प०, १/७८
ड.– शि०सं०, ४/७२–७३

3 उड्डियाणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः।।
उड्डियाणं तदेव स्यातत्र बन्धो विधीयते।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूधर्वं कारयेत्।। ध्या०बि०उ०, ७५–७६

4 क– उड्डीयानं ह्यसौ बंधो मृत्युमातङ्गकेसरी।। ह०यो०प्र०, ३/५७
ख– अऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी। बन्धोयेन सुषुम्नायां प्राणस्तुड्डीयतेयतः। यो०त०उ०, ११६

5 क– षण्मासमभ्येन्मृत्यु जयत्वेव न संशयः।।
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।

इसका सदैव अभ्यास आवश्यक है।"[1] इस बन्ध से विष्णु ग्रन्थि पर दवाब पड़ता है जिस कारण उससे सम्बन्धित समस्त कार्य सरलता से सम्पन्न होते हैं। वराहोपनिषद्[2] मे भी इसके लाभों की चर्चा विस्तृत रूप से उपलब्ध होती है।

7. जालन्धर बन्ध

"कण्ठ को सिकोड़ कर दृढ़ता पूर्वक हृदय पर इस प्रकार स्थापित करें कि प्राण वायु अन्दर से बाहर न जा सके। ऐसी क्रिया 'जालन्धर बन्ध' कहलाती है। इसके अभ्यास से ब्रह्मरन्ध्र से स्रावित होने वाला अमृत द्रव शोषित होने लगता है, वह जठराग्नि में पहुँच कर व्यर्थ नष्ट नहीं होता यह क्रिया सदैव पूरक के अन्त में की जाती है ताकि वायु का निरोध हो सके।"[3] इससे प्राण सुषुम्ना की ओर प्रेरित होते हैं। इस बन्ध से रूद्रग्रन्थि पर दवाब पड़ता है तथा सोलह प्रकार के आधारो का बन्ध हो जाता है। वे सोलह आधार है– अगुष्ठ, गुल्फ, जानु, ऊरू, सीवनी, लिङ्ग, नाभि, ग्रीवा, हृदय, कण्ठदेश, लम्बिका, नासिका, भ्रमध्य, मस्तक, मूर्धा तथा ब्रह्मरन्ध्र। इन आधारों का बन्ध अत्यावश्यक है, इनके बिना योगपथ पर सफलता सम्भव नही।

उड्डियाने दृढ़े बंधे मुक्ति स्वाभाविकी भवेत्।। ह०यो०प्र०, ३/५६–६०
ख– यो०शि०उ०, १/११०
ग– गो०प०, १/७८/४

1 तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्त्तव्यं सततं शनैः।। यो०कु०उ०, १/५०

2 वरा०उ०, ५/६–६

3 क– पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बन्धोजालन्धराभिधः।
कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधकः।।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदयेस्थापयेद् दृढ़निश्चयः।
बन्धोजालन्धराख्योऽयमृतव्ययकारकः। यो०शि०उ०, १/१०६–११०
ख– ध्या०बि०उ०, ६६
ग– यो०कु०उ०, ६६
घ– यो०चू०उ०, १/५१
ङ– यो०त०उ०, ११८–११६
च– ह०यो०प्र०, ३/७०
छ– गो०प०, १/८०
ज– शि०सं०, ४/६०

लाभ

शरीर में नीचे की ओर जाने वाले आकाश तथा जलतत्त्व को शिर में ही स्थिर रखता है, ऐसा जालन्धर बन्ध दुख तथा रोगों को नष्ट करता है। इसे करने से अमृत अग्नि में नहीं पड़ता तथा वायु भी स्थिर रहती है।"[1] शिव संहिता में इसके निरन्तर अभ्यास प्राप्त होने वाले लाभ की चर्चा करते हुए कहा गया है कि "यह बन्ध देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। इसके अभ्यास से बुद्धिमान साधक स्वयं अमृतपान में समर्थ हो जाता है तथा वह अमृत प्राप्त कर त्रिलोकी में सुख पूर्वक विचरण करता है। यह बन्ध सिद्धों के लिए सिद्धिदायक है। इस प्रकार नित्य प्रति इसके अभ्यास द्वारा वह इच्छित सिद्धि प्राप्ति सफल हो जाता है।"[2]

त्रयबन्ध अभ्यास

"इन तीनों बन्धों का एक साथ अभ्यास कुण्डलिनी जागरण को सरल बनाता है। इनके लिए मूलबन्ध के द्वारा अधोभाग में गुदा का संकोचन करके, कण्ठ संकोचन द्वारा जालन्धर बन्ध मध्य में उड्डियान बन्ध द्वारा प्राण वायु को खींच कर प्राण को सब ओर से रोकने पर वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके उर्ध्वगामी हो जाता है।"[3]

---

1 क– बध्नाति हि शिरोजायमधोगामिनभोजनम्।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठे दुःखौघनाशनः।।
जालन्धरे ऊते बन्धे कण्ठ सकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति।। यो०चू०उ०, ५०-५१
ख– गो०प०, ७६-८०

2 बन्धो जालंधरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः।।
बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान्।
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये।।
जालंधरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता।। शि०सं०, ६१-६३

3 क– अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने ऊते।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः।। यो०कु०उ०, १/५२

8. विपरीतकरणी मुद्रा

"सिर नीचे तथा पैर ऊपर की ओर करने से इस मुद्रा की स्थिति बनती है। पहले क्षण भर के लिए तथा इसके पश्चात् प्रत्येक दिन एक–एक क्षण अभ्यास बढ़ते रहना चाहिए।"[1] हठयोग प्रदीपिकानुसार "उर्ध्व भाग में नाभि और अधो भाग में तालु की स्थिति होने पर विपरीतकरणी मुद्रा कही जाती है। जिसे गुरु के निर्देश द्वारा ही किया जाना चाहिए।"[2] घेरण्ड संहिता में इस मुद्रा की समान पद्धति की चर्चा करते हुए कहा गया है– "नाभिमूल में सूर्य नाड़ी तथा तालुमूल में चन्द्रनाड़ी का वास है। सहस्रार के अमृतस्राव को सूर्यनाड़ी ग्रहण करती है जिनसे प्राणी की मृत्यु कहीं गई है। यदि उसी स्रावका पान चन्द्रनाड़ी करे तो जीव को मृत्यु का भय नहीं सताता। अतः सूर्यनाड़ी को ऊपर तथा चन्द्र नाड़ी को नीच करना विपरीतकरणी मुद्रा है। इसमें सिर को भूमि पर लगाकर दोनों हाथ टेके और दोनों पांवो को ऊपर उठाकर कुम्भक के द्वारा वायु को रोके।"[3] शिव संहिता[4] भी समान विधि का अनुसरण करती है। "इस मुद्रा के अभ्यास काल में योगी को यथेष्ट भोजन ग्रहण करना चाहिए अन्यथा प्रदीप्त जठराग्नि उसके

ख– ध्या०बि०उ०, १०१
ग– यो०शि०उ०, १/१११
घ– शा०उ०, १/७/१२

1 अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमें दिने।।
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेतु दिनेदिने। यो०त०उ०, १२४–१२५

2 ऊर्ध्व नाभेरधस्तालोरूर्ध्व भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते।। ह०यो०प्र०, ३/७८

3 नाभिमूले वसेत् सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृत ग्रसते मृत्युस्ततो मृत्युवशो नरः।।
उर्ध्व च जायते सूर्यश्चन्द्रं च अध आनयेत्।
विपरीतकरणी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मा समाहितः।
उर्ध्वपादः स्थिरोभूत्वा विपरीतकरी मता। घे०सं०, ३२–३५

4 शि०सं०, ४/६८

शरीर को उसी समय समाप्त कर देती है।"[1]

लाभ

जठराग्नि प्रदीप्त होने के कारण "छः मास में ही साधक के शरीर की झुर्रियां तथा बालों की सफेदी समाप्त हो जाती है। जो योगी प्रतिदिन एक प्रहर तक इस मुद्रा का अभ्यास करता है, वह काल को अपने वश में कर लेता है।"[2]

9. वज्रोली

"शीशे की चौदह अंगुल लम्बी और उपस्थ के छिद्र में प्रविष्ट होने योग्य मोटी सलाई बनवाकर उसे उपस्थ में प्रतिदिन एक–एक अंगुल परिणाम से ऊपर की ओर प्रवेश कराना चाहिए। बारह दिन पर्यन्त लिगेन्द्रिय के पूर्णतया शुद्ध हो जाने पर वायु का ग्रहण तथा त्याग करना चाहिए। अभ्यास में अग्रसर होते हुए क्रमशः जल, दूध, तेल, शहद तथा पारा ग्रहण करना ही अपेक्षित है। इस मुद्रा के सिद्धहस्त होने पर योगी द्वारा रज को आकर्षित करने पर इस मुद्रा की सिद्धि हो जाती है।"[3]

शिव–संहिता में इस मुद्रा के स्वरूप पर प्रकाश डालते कहा गया है "पहले साधक विधि–विधान से प्रयत्न–पूर्वक योनि से रज का उपस्थ नाल में आकर्षण कर अपनी देह में प्रविष्ट करे। इस क्रिया में यदि दैववशात् बिन्दु अपने स्थान से च्युत हो जाय तो उसको योनिमुद्रा के द्वारा निबद्ध कर ऊपर की ओर आकर्षित करें तथा बायें

---

[1] क– आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च।।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात्। यो०त०उ०, १२३–१२४
ख– ह०यो०प्र०, ३/८०–८१

[2] क– वली च पलितं चैव षण्मासाधन्नि दृश्यते।।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्। यो०त०उ०, १२५–१२६
ख– ह०यो०प्र०, ३/८२

[3] ह०यो०प्र०, द्रष्टव्य, पृ०सं०–१३१

भाग में स्थित कर, क्षणभर के लिए लिंग चालन क्रिया को रोक कर पुनः गुरु उपदेशानुसार वह हूँ हुँकार शब्द का उच्चारण करता हुआ चालन क्रिया में प्रवृत्त हो जाय तथा बलपूर्वक अपान वायु का आकुंचन करता हुआ रज का आकर्षण करें यही वज्रांली मुद्रा है।"[1] ध्यानबिन्दूपनिषद् योगचूडामण्युपनिषद् इत्यादि "अग्नितत्त्व में बिन्दुपात को रोकने हेतु योनिमुद्रा द्वारा उसे रोककर उर्ध्वगामी बनाने"[2] की चर्चा उपलब्ध होती है। घेरण्ड संहिता में कहा गया है – "दोनों हाथों को पृथ्वी पर टिकाकर दोनों पैरो एवं मस्तक को आकाश में उठा देना ही वज्रोली मुद्रा कही जाती है।"[3] इस प्रकार मुद्रा का यह स्वरूप वज्रोली मुद्रा से साम्य नहीं रखता।

लाभ

"योगी वज्रोली मुद्रा का नित्य अभ्यास करता शीघ्र सिद्धावस्था को प्राप्त कर सकता है तथा सिद्धि को उसके हस्तगत जानना चाहिए वह भूत, भविष्य का ज्ञाता होकर आकाश मार्ग से गमन करने में समर्थ हो जाता है।"[4]

---

1 आदौ रजः स्त्रियो योन्याः यत्नेन विधिवत्सुधीः।
आकुंचय लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत्।।
स्वकं बिन्दुञ्च सम्बन्ध्य लिंगचालनमाचरेत।
देवाच्चलति चेदूर्ध्वं निबद्धो योनिमुद्रया।।
वाममागेर्पि तद्बिन्दुं नीत्वा लिंग निवरायेत्।
क्षणमात्रं योनितो य पुमांश्चालनमाचरेत्।।
गुरूपदेशतो योगी हुं हुं कारेण योनितः।
अपानवायुमाकुंच्य बलादाकृष्य तद्रणः।। शि०स०, ४/८१–८४

2 क– गलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले।।
व्रजत्यूर्ध्व हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रा। ध्या०बि०उ०, ८५
ख– ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्चहुताशनम्।
व्रजात्यूर्ध्व गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया।। यो०चू०उ०, ५६

3 धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्याम् उर्ध्व क्षितेत्पादयुगंशिरः।
शक्तिप्रबोधाय चिरंजीवनाय वज्रोलिमुद्रां कवयोवदन्ति।। घे०सं०, ३/४५

4 वज्रालीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम्।।
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धि करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम्।। यो०त०उ०, १२६–१२७

"योनि में पतित हुआ बिन्दु भी उक्त मुद्राभ्यास द्वारा आकर्षित करके अपने पूर्वस्थान पर स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार जो योगबिन्दु की रक्षा करता है वह मृत्यु को जीत लेता है।"[1]

9. सहजोली मुद्रा

योगतत्त्वोपनिषद् में इस मुद्रा का केवल नामोल्लेख ही उपलब्ध होता है हठयोग प्रदीपिका में इस संबंध में कहा गया है, " ये दोनों मुद्राएं सहजोली तथा अगरोली वज्रोली मुद्रा के ही दो भाग है। सहजोली मुद्रा में जलाए हुए कुण्डों की सुन्दर भस्म को जल में डालकर, मैथुनान्तर सुखपूर्वक बैठ कर पुरूष तथा स्त्री द्वारा अपने–अपने अङ्गों पर लेप करने का विधान वर्णित है।"[2]

लाभ

"यह क्रिया योगियों द्वारा सदैव श्रद्धा के योग्य तथा शुभकारी योग, भोग एवं मोक्ष प्रदान करने वाली है। यह योग पुण्यवान्, धीर, तत्त्वदर्शी और द्वेष रहित पुरूषों द्वारा ही सिद्ध हस्त होता है।"[3]

---

1 क– नारीभगे पतिद्विन्दुमभ्यासेनोर्ध्वगासरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।।
एवं संहक्षयेद्विदुं मृत्यु जयति योगवित्। ह०यो०प्र०, ३/८१-८८
ख– घे०सं०, ३/४६-४८

2 सहजोलिश्चामामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षित्य दग्धगोमयसंभवम्।।
वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुन्सोः स्वांगलेपनम्। ह०यो०प्र०, ३/६१-६२

3 सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रे सुया योगिभिः सदा।
अयं शुभकरो योगी भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः।।
अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम्।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशीलनाम्।। वही, ३/६३-६४

10. अमरोली मुद्रा

वज्रोली मुद्रा के द्वितीय भेद अमरोली का स्वरूप योगतत्त्वोपनिषद् में इस प्रकार वर्णित है– "जो योगी अमरी अर्थात् स्वाम्बु का प्रतिदिन घ्राणेन्द्रिय के माध्यम से उसका नस्य करता है तथा साथ ही वज्रोली का अभ्यास करता है, तो उसे अमरोली का साधक कहा जाता है।"[1] हठयोग प्रदीपिका का कथन "अधिक पित्त वाली प्रारम्भिक बिन्दुधारा तथा सार अंश से शून्य एवं अन्त की बिन्दुधारा का त्याग करके शीतल मध्य धारा का ही इस मुद्रा में सेवन करना अमरोली कहा जाता है।"[2] शिव संहिता में "लिंगनाल द्वारा रज–बिन्दु के शोषण को अमरोली मुद्रा स्वीकार किया है।"[3]

लाभ

इस अभ्यास से देह–सिद्धि योगसिद्धि एवं मुक्ति या स्वरूपावस्था की प्राप्ति होती है।

11. शाम्भवी मुद्रा

"योगी की अन्तः एवं बाह्य लक्ष्य को देखने की सामर्थ्य से युक्त दृष्टि जब स्थिर हो जाती है, तब वह स्थिति शांभवी मुद्रा कहलाती है।"[4] "यह दृष्टि प्रथम अग्निमण्डल, ऊपर सूर्य मण्डल, उनके मध्य सुधा स्वरूप चन्द्रमण्डल तथा उनके बीच तेजोमय अखण्ड ब्रह्म पर स्थिर होकर शाम्भवी मुद्रा को लक्षित करती है।"[5] हठयोग प्रदीपिकानुसार "अन्तर्लक्ष्य एवं ब्रह्म लक्ष्य विषयों में निमेष एवं उन्मेष दृष्टि रहित चित्त

---

1 अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते।। यो०त०उ०, १२८

2 पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतयान्त्यधारा।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली।। ह०यो०प्र०, ३/९६

3 अमरोलिरियं प्रोक्ता लिंगनालेन शोषयेत्। शि०सं०, ४/९६

4 अन्तर्बाह्यलक्ष्ये द्रष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां सत्यां शांभवी मुद्रा भवति। अ०ता०उ०, १२

5 आदावग्निमण्डलम्। तदुपरि सूर्यमण्डलम्। तन्मध्येसुधाचन्द्रमण्डलम्।
तन्मध्येऽखण्ड ब्रह्मतेजो मण्डलम्। तद्विद्युल्लेखावच्छुक्लभास्वरम्।
तदेव शाम्भवी लक्षणम्।। म०ब्रा०उ०, २/१/५

को आज्ञा चक्र में स्थित करना शाम्भवी मुद्रा कही गई है जो वेद शास्त्रों में छिपी हुई है।"[1] घेरण्ड संहिता में भी "दृष्टि को दोनों भौहों में स्थिर कर एकाग्र मन से चिन्तन करते हुए परमात्मा का दर्शन करने को शाम्भवी मुद्रा स्वीकृत किया गया है।"[2]

सिद्धि

शाम्भवी मुद्रा की सिद्धि भृकुटियों के मध्य ब्रह्म के दर्शन करने की दृष्टि पर निर्भर करती है। दृष्टि के तीन स्वरूप कहे गए हैं– अमावस्या, प्रतिपदा तथा पूर्णिमा। निमीलित दृष्टि अमावस्या स्वरूप है, अर्धनिमीलित दृष्टि प्रतिपदा स्वरूप है तथा पूरी तरह खुली हुई दृष्टि पूर्णिमा है। इसीलिए पूर्णिमा रूप दृष्टि का ही अभ्यास करना चाहिए।"[3] इसका भाव यह है कि पलक बन्द होने पर आलस्य से चित्त का लय अर्धखुले नेत्रों से विक्षेप तथा पूर्ण खूले नेत्रो से चित्त का लय अन्तर्मुखी होता है इसीलिए पूर्णिमा रूप दृष्टि ही श्रेयस्कर है। "इससे सहज ही मन आनन्द में लीन हो जाता है, तब शाम्भवी मुद्रा सिद्ध होती है।"[4]

लाभ

"इसके अभ्यास से मन स्थिर तत्पश्चात् बुद्धि स्थिर हो जाती है।"[5] घेरण्ड संहिता में स्पष्ट लिखा है, "वेद शास्त्रों में शाम्भवी मुद्रा कुलवधु के समान छिपे हुए बताया गया है तथा इसका अभ्यास करने वाला स्वयं आदिनाथ नारायण तथा जगत्स्रष्टा ब्रह्म ही

---

1 अन्तर्लक्ष्यम् बहिर्दृष्टि र्निमषोन्मेषवर्जिता। एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता।।
ह०यो०प्र०, ४/३६

2 नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।
साभवेच्छाम्भवीं मुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।। घे०सं०, ३/६४

3 तद्‌दर्शने तिस्त्रो दृष्टयः अमा प्रतिपत् पूर्णिमा चेति।
निमीलितदर्शनममादृष्टिः। अर्धोन्मीलितं प्रतिपत्।
सर्वोन्मलिनं पूर्णिमा भवति। तासु पूर्णिमाभ्यासः कर्त्तव्यः।। म०ब्रा०उ०, २/१/६

4 एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शाम्भवी भवति। वही, २/१/८

5 तदभ्यासान्मनः स्थैर्यम्। ततो बुद्धिस्थैर्यम्।। वही, ६

है।"[1] हठयोग प्रदीपिका "शाम्भवी मुद्रा द्वारा लित लय का विस्तारपूर्वक वर्णन करती है।[2]

12. षण्मुखी मुद्रा

अंगूठो से दोनों कान, तर्जनी एवं मध्यमा से नेत्र अनामिका एवं कनष्ठिका से नासारन्ध्रों को बन्द करके ध्यान लगाना 'षण्मुखी मुद्रा कहलाता है। इस मुद्रा की त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] दर्शननोपषिद्[4] तथा मण्डलब्राह्मणोंपनिषद्[5] आदि में चर्चा प्राप्त होती है।

लाभ

"इस मुद्रा का अभ्यास करने वाले को कर्म लिप्त नहीं करते। सूर्यास्त के समय कर्म सम्पन्न किए जाते हैं किन्तु चिदादित्य का तो उदय–अस्त होता ही नही; इसीलिए इसे जानने वाले के लिए कोई कर्म शेष नहीं रहते।"[6]

13. शक्तिचालन मुद्रा

महाशक्ति, कुण्डलिनी कही गई है तथा समस्त मुद्राओं का प्रधान लक्ष्य ही महाशक्ति का जागरण अर्थात् सोई हुई शक्ति को जगाना है। उपरोक्त जिन मुद्राओं का वर्णन किया गया है सभी का परिप्रेक्ष्य यही है। योगकुण्डल्युपनिषद् इसकी परिभाषा,

---

1 वेदशास्त्र पुराणानि सामान्य गणिका इव
इयन्तु शाम्भवीमुद्रा गुप्ताकुलवधूरिव।।
स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्।
स च ब्रह्म सृष्टिकारो योमुद्रां वेत्ति शाम्भवीम्।। घे०स०, ३/६४–६६

2 ह०यो०प्र०, ३/३६–३७

3 त्रि०ब्रा०उ०, २/११६

4 दर्श०उ०, ६/३३–३४

5 म०ब्रा०उ०, २/२/२

6 तस्या न कर्मलेप। खेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्तव्यम्।
एवं विर्धाश्चदादित्यस्योदयास्तमयाभावात्सर्वकर्माभावः।। वही, २/२/३

देते हुए कहता है – "योगी, जिस चालन क्रिया के द्वारा महाशक्ति को नीचे से ऊपर दोनों भृकुटियों के मध्य ले जाता है, उसे शक्तिचालन नाम से सम्बोधित करते हुए इसकी विधि का निर्देश किया गया है– "इस क्रिया में सर्वप्रथम इड़ा नाड़ीप्रवाह समय पद्मासन में दृढ़तापूर्वक स्थित होकर दोनों नासिका छिद्रों को अंगुष्ठ तथा तर्जनी अंगुली से पकड़कर निर्भयता पूर्वक दो मुहूर्त तक पहले बायीं फिर दायीं नासिका छिद्र से निरन्तर रेचक तथा पूरक करने के उपरान्त सूर्य नाड़ी अथवा दायीं नासिका छिद्र से रेचक करके कण्ठ संकोचन संहित पेट को ऊपर की ओर खींचें। इससे वायु वक्षस्थल से ऊपर की ओर गमन करेंगा। इसी क्रम से पूरक द्वारा समान क्रिया करनी चाहिए। ऐसा अभ्यास प्राण गति अवरूद्ध कर कुण्डलिनी को सुषुम्ना नाड़ी में अविष्ट करा देता है। इसीलिए नियमित रूप से शब्दमयी सरस्वती चालन अर्थात् शक्तिचालन करना चाहिए।"[1] योगशिखोपनिषद्[2] शक्तिचालन की समान विधि का उल्लेख करता है। अन्तर मात्र इतना है कि यह उपनिषद् वज्रासन में इस प्रक्रिया के सम्पन्न कसे का निर्देश देता है। हठयोग प्रदीपिका में इस मुद्रा की चर्चा इस प्रकार है– "सोती हुई भुजङ्गी की

---

1 यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली।
इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम्।।
अगुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम्।
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनः पुनः।।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयात्त्चालयेत्सुधीः।
उर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम्।।
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः।।
तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठ संकोचने ऊते।
सरस्वत्याश्चालनेन वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत्।।
सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत्।।
तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भा सरस्वतीम्।
यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते।।
गुल्मं जलोदरः प्लीहा ये चान्ये तुन्दमध्यगाः।
सर्वे तु शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम्।। यो०कु०उ०, १/८०, १२-१८

2 यो०शि०उ०, १/८३-८५

पूँछ को पकड़कर प्रबोधन करने से वह शक्ति निद्रा छोड़कर ऊपर उठकर स्थिर हो जाती है। वह फणवती प्रातः काल सायंकाल में आधे प्रहर तक सूर्य से पूरित परिधान से ग्रहण करके नित्य करनी चाहिए। मूल स्थान से चार अंगुल ऊपर विस्तार वाले कोमल श्वेत तथा वेष्टित किये वस्त्र के समान कहा जाता है। वज्रासन में स्थित होकर दोनों पाँवो को एड़ियों के पास से हाथों द्वारा दृढ़ता से धारण कर उस बन्द का प्रपीड़न करें। पुनः नाभिदेश के आकुंचल से वहां स्थित सूर्य के आकुंचन कर लेते कुण्डलिनी का सचांलन होता है। इस प्रकार दो मुहूर्त तक चालन करने से शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है।"[1] घेरण्ड संहिता[2], गोरक्ष पद्धति[3] तथा शिव संहिता[4] समान रूप से इस क्रिया का व्याख्यान भिन्न शब्दों में किया गया है।

लाभ

इस शक्तिचालन मुद्रा से प्राण सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है, उस अरूंधती का, जो सुख से सोती है, नित्य चालन करने से योगी रोगो से मुक्त हो जाता है तथा अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है तथा योगी अनायास ही मृत्यु को अपने वश में

---

1 पुच्छे प्रग्रह्यं भुजंगी सप्तामुद्बोधयेच्च ताम्।
निद्रां विहाय सा शक्तिरुर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्।।
अवस्थित चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रग्रह्य नित्यं परिचालनीया।।
उर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम्।
मृदुलं धाववलं प्रोक्तं वेष्टितांवरलक्षणम्।।
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धान्येद्दृढ़म्।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत्।।– – –
भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडली चालयेत्ततः।– – –
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निभयं चालनादसौ
उर्ध्वमाकृष्यते किचित्सुषुम्नायां समुद्गता।। ह०यो०प्र०, ३/११–११४, ११६–११७

2 घे०स०, ३/४६–५७

3 गो०प०, १/५२

4 शि०सं०, ४/१०५

कर लेता है।"[1] इस प्रकार शक्ति चालन मुद्रा की सिद्धि से फल प्राप्ति की चर्चा विभिन्न योग ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है।[2]

अतः इन यौगिक मुद्राओं के अतिरिक्त उपनिषदों में ज्ञान मुद्रा[3], वैष्णवी मुद्रा[4] चिन्मुद्रा इत्यादि का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[5]

4.6.2 अष्टांग–योग में मुद्रा एवं बन्ध विज्ञान की उपयोगिता

आसन के सन्दर्भ में उपयोगिता

प्रत्येक आसन मुद्रा–बन्ध से युक्त होकर सम्बन्धित लाभ में वृद्धि प्राप्त करता है। मुद्राओं का मुख्य उद्देश्य उर्जा क्षेत्र की संरचना को सन्तुलित करना है। जिस क्षेत्र में ऊर्जा की जितनी आवश्यकता है, मुदाएं उतनी ही शक्ति का वितरण करती है। आसनों द्वारा प्राप्त उर्जा को यदि मुद्राओं के माध्यम से नियन्त्रित न किया जाए तो अधिक उर्जा का विचरण शरीर के उस भाग को हानि पहुँचा सकता है।

प्राणायाम के सन्दर्भ में उपयोगिता

मुद्राएँ प्राणायाम अभ्यास काल में प्राणों के बिखराव पर नियन्त्रण स्थापित करती है जैसे जालन्धर बन्ध कण्ठ से निकलने वाली समस्त नाड़ियों को बांध लेता है जिससे

---

1 तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुधतीम्।
तस्याः सञ्चालनेनैन योगी रोगै : प्रमुच्यते।
योन सञ्चालिता शक्तिः स योगो सिद्धि भाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया।। ह०यो०प्र०, ११६–१२०

2 क– वही, १२१–१२५
ख– घे०स०, ३/५०–६०
ग– गो०प०, ५३–५६
घ– शि०सं०, ४/१०६–१११

3 ना०बि०उ०, ३१

4 क– ब्र०वि०उ०, ५६
ख– शा०उ०, १/७/१४

5 त्रि०ब्रा०उ०, २/६३

प्राणायामाभ्यास से उत्पन्न उर्जा का अधिक भाग केवल मस्तिष्क में न जाकर सम्पूर्ण शरीर में आवश्यकतानुसार वितरित होता है। इसी प्रकार मूल बन्ध तथा उड्डियान बन्ध प्राणों को एक केन्द्र पर संचित कर, उचित दिशा की ओर गतिशील करते हैं। इसीलिए अधिकांश ग्रन्थों में बन्ध सहित प्राणायाम करने का निर्देश प्राप्त होता है।

ये प्राणायाम मुद्राओं के साथ सम्मिलित रूप में कुण्डलिनी जागरण हेतु प्रवृत्त होते हैं। केवल प्राणायाम या केवल मुद्राएं इस शक्ति को जगाने में असमर्थ है इसलिए इन दोनों का साथ–साथ अभ्यास निसंदेह लक्ष्य की प्राप्ति करवाता है उदाहरण के लिए प्राण–निरोध समय योनिमुद्रा द्वारा गुदा भाग का आकुंचन तथा साथ में उड्डियानबन्ध द्वारा नाभिका अकुंचन निश्चित रूप से कुण्डलिनी को जागृत कर सुषुम्ना में प्रवेश करा देती है।

प्रत्याहार तथा धारणा के सन्दर्भ में उपयोगिता

चित्त वृत्तिया स्वभावतः बहिर्मुखी होती है किन्तु प्राण के निरूद्ध होने पर ये वृत्तिया भी अन्तर्मुखी होती जाती है। यहीं पर साधक मुद्राओं के अभ्यास द्वारा चेतना को अन्तर्मुखी बनाकर प्रथम प्रत्याहार तथा पश्चात् धारणा की स्थिति को प्राप्त करता है।

ध्यान तथा समाधि के सन्दर्भ में उपयोगिता

मुद्राओं द्वारा प्राणों के बिखराव को रोकने पर शरीर में स्नायु तथा नाड़ियो को शान्ति प्राप्त होती है तथा समस्त विक्षेप समाप्त हो जाते हैं जिससे एकाग्रता बढ़ती है और ऐसी अवस्था ध्यान के लिए अति उत्तम स्वीकृत की गई है। तब साधक ध्यान के अभ्यास द्वारा समाधि स्थिति तक सरलता से पहुँच सकता है।

4.7 कुण्डलिनी–विज्ञान

4.7.1 कुण्डलिनी–विज्ञान : सामान्य परिचय

'कुण्डलं इव शीलं अस्या' अर्थात् कुण्डल के सदृश प्रकृति वाली 'कुण्डलिनी' कहलाती है। "मृणालसूत्र की तरह सूक्ष्म अष्ट प्रकृति रूपा (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अंहकार युक्त) आठ प्रकार से कुण्डली किए हुए ब्रह्मरन्ध्र अथवा सुषुम्ना के मुख को वायु–चेष्टा, जल तथा अन्न आदि का अवरोध करके अपने मुख से आच्छादित कर सोई रहती है।"[1] "यह तिर्यक स्वरूप वाली सर्प की भाँति लिपटी हुई है।"[2] "इसे कुटिलांगी, भुजंगी, शक्तिरीश्वरी, अरूंधती इत्यादि नामों से सम्बोधित किया जाता है।"[3] जिस प्रकार कुंजी के द्वारा घर के किवाड़ खोले जाते हैं, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष के द्वार को खोलते हैं।"[4]

कुण्डलिनी जागरण विधि

"कुण्डलिनी जागरण अनेक प्रकार से हो सकता है। वे है– 1. जन्म, 2. मंत्र, 3. तपस्या, 4. जड़ी–बूटियां, 5. राजयोग, 6. प्राणायाम, 7. क्रिया–योग, 8. शक्तिपात, 9.

---

[1] क– अष्टप्रकृतिरूपा सा चाष्टधा कुण्डलीऊता।
यथावद्वायुसारं च ज्वलनादि च नित्यशः।।
परितः कन्दपार्श्वे तु निरुध्यैवसदा स्थिता।
मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं तथा।। त्रि०ब्रा०उ०, ६३–६४
ख– दर्श०उ०, ४/११–१२
ग– ध्या०बि०उ०, ४४–४५
घ– यो०कु०उ०, १/८२–८३
ङ– यो०चू०उ०, ३६
च– यो०शि०उ०, ८२
छ– ष०च०नि०, ८/५०–५१

[2] कुण्डलिनी कुटिलाकारा सर्पवद्वेष्टिता भवति।। शा०उ०, १/७/३६–ग

[3] कुटिलांगी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरूंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः।। ह०यो०प्र०, ३/१०४

[4] क– उद्‌घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया गृहम्।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षदारं प्रभेदयेत्।। यो०चू०उ०, ३६
ख– ध्या०बि०उ०, ६७–६८
ग– शा०उ०, १/७/३६–ख
ध– ह०यो०प्र०, ३/१०५

तन्त्र, 10. शरणगति, 11. कर्मयोग, 12. भक्तियोग तथा 13. ज्ञान योग।"[1] अतः शास्त्रों में कुण्डलिनी जागरण की विविध विधियों का उल्लेख प्राप्त होता है परन्तु यहां योगोपनिषदों में वर्णित कुण्डलिनी जागरण हेतु विधियों का उल्लेख किया जा रहा है।

योगकुण्डल्युपनिषद् "मुख्य रूप से कुण्डलिनी जागरण के दो साधन कहते हैं, सरस्वती चालन तथा प्राणनिरोध।"[2]

क. सरस्वती चालन

सरस्वती चालन को ही शक्तिचालिनी क्रिया अथवा मुद्रा कहा गया है। यह शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी को जागृत करने की प्रमुख विधि है जिसका विस्तार पूर्वक वर्णन मुद्रा विज्ञान के अन्तगर्त कर दिया गया है। यहां इतना कहना ही श्रेयस्कर है – यह क्रिया, शक्ति को जागृत करने वाली समस्त मुद्राओं का आधार एवं लक्ष्य है तथा इससे शीघ्र ही शक्ति जागृत होकर सुषुम्ना में प्रवेश करती है।

ख. प्राणनिरोध

कुण्डलिनी जागरण का मुख्य आधार ही 'प्राणनिरोध' है। विधि चाहे किसी भी प्रकार की हो कुण्डलिनी जागरण तभी सम्भव है जब प्राण का स्पन्दन अवरूद्ध होगा। सर्वप्रथम प्राण निरोध हेतु प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है।

प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास द्वारा जब साधक केवल कुम्भक की सिद्धि प्राप्त करता है तब रेचक और पूरक का विलय होकर वायु निरन्तर स्थिर रहने लगता है तब वायु की यही स्थिरता ही प्राण की गति अवरूद्ध कर कुण्डलिनी पर उष्णता द्वारा दवाब

---

1 पूर्ण योग, स्वामी शान्तिधर्मानन्द सरस्वती, पृ०सं०, २२८

2 तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम्।
प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत्।। यो०कु०उ०, १/८

डालती है इसीसे कुण्डलिनी सीधी होकर उर्ध्वगमन करती है। अतः महाशक्ति उत्थापन के लिए प्राणायाम का धैर्य पूर्वक अभ्यास करना अत्यावश्यक है।

प्राणायाम के अतिरिक्त शाण्डिल्योपन्षिद् में प्राण गति अवरूद्ध करने की विभिन्न विधियों को उल्लेख किया गया है–

"1. सांसारिक वृत्तियों के प्रति अनास्था उत्पन्न करने के पश्चात् लम्बे काल तक ध्यान द्वारा एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास होने पर प्राण का स्पन्दन बन्द हो जाता है।

2. बिना श्रम के अधिक देर तक श्वास खींचते हुए पूरक आदि वायु के दृढ़ अभ्यास तथा एकान्त चिन्तन करने से मन की गति पूर्णतया रूक जाती है।

3. ऊँकार के उच्चारण के पश्चात् शब्द तत्त्व की अनुभूति होने से सद्ज्ञान द्वारा सुषुप्ति का रूप जान लेने पर प्राण तत्त्व वश में आ जाता है।"[1]

4. तालु मूल में स्थित रहने वाली ग्रन्थि को जब जिह्वा द्वारा सतर्क पूर्वक दबाया जाता है। तब प्राणवायु के ऊपर छिद्र में आने से प्राण गति अवरूद्ध होती है।

5. तालु से उर्ध्व की ओर बारह अंगुल दूर तक गमन करने वाला प्राण चेष्टा–शून्य हो जाता है, तब अभ्यास मात्र से ही ऊपर के छिद्र द्वारा प्राण का स्पन्दन अवरूद्ध किया जाता है।

---

1 यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोहितात्।।
एकतत्त्वदृढाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते।
पूरकाद्यनिलायामद्दृढाभ्यासादरवेदजात्।।
एकान्तध्यानयोगाच्च मनः स्पन्दो निरुध्यते।
ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्द तत्त्वानुभावानात्।
सुषुप्ते संविदा ज्ञाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते।। शा०उ०, १/७/२६

6. नासिका के अग्रभाग के सामन द्वादश अंगुल की दूरी पर पवित्र आकाश में ज्ञान–दृष्टि के अत्यन्त शान्त हो जाने पर प्राणों की गति रूक जाती है।

7. भौहों के मध्य में तारक ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर शान्ति के मिल जाने से जगत् व्यापर बन्द होने लगते हैं तथा मानसिक संकल्प विराम लेते हैं, तो प्राणगति अवरूद्ध होती है।

8. केवल प्रणव के स्वरूप में ही प्रादुर्भूत जो ज्ञान ज्ञेय रूप मंगलमय बनकर प्रकट होता है तथा जिसमें विकल्प के अंश का स्पर्श भी नहीं रहता, तब प्राण की गति अवरूद्ध हो जाती है।"[1]

9. "चिरकाल तक हृदय प्रदेश में एकान्त आकाश की अनुभूति होने से वासना विहीन मन ध्यान–मग्न होने लगता है। इससे प्राण का स्पन्दन अवरूद्ध हो जाता है।

इस प्रकार क्रमानुसार अन्य अनेक गुरुओं के अमृत वचनो उपदेशों का अनुसरण करके भाँति–भाँति के संकल्पों की कल्पना के माध्यम से प्राण का स्पन्दन अवरूद्ध हो जाता है।"[2]

---

1 तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घण्टिकाम्।
उर्ध्वरन्ध्रं गते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।
प्राणेगलितसंवित्तौ तालूर्ध्वं द्वादशान्तंगे।
अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे।
संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।
भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।
ओमित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं ज्ञेयात्मकं शिवम्।
असंस्पृष्टविकल्पांशं प्राणस्पन्दो निरुध्यते।। शा०उ०, १/७/३०–३४

2 चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने।
अवासनमनोध्यानात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।

ग. हंस मन्त्र द्वारा कुण्डलिनी जागरण

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त हंस मन्त्रोच्चारण द्वारा भी कुण्डलिनी जागरण होता है। हंसोपनिषद् स्पष्ट रूप से "'हं' को बीज तथा 'स' को शक्ति कहता हुआ कुण्डलिनी उत्थापन के माध्यम से सृष्टि की प्रलय प्रक्रिया की ओर सकेंत करता है तथा 'सोऽहम्' को कीलक कह कर कुण्डलिनी की प्रत्यागमन विधि बताता हुआ सृष्टि उत्पति प्रक्रिया की ओर संकेत करता है।"[1]

इनके अतिरिक्त महामुद्रा, इत्यादि, मुद्राएं, जालन्धर आदि त्रयबन्ध कुण्डलिनी जागरण में परम सहायक है। इन सभी की परस्पर सहायता से ही यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है। जैसे महामुद्रा या मूलबन्ध द्वारा गुदा भाग से उड्डियाण बन्ध द्वारा नाभिभाग से महाशक्ति को बार–बार ताड़ित करने पर ही वह उर्ध्वमुखी होती है। इस प्रकार उपर्युक्त समस्त विधियां महाशक्ति उत्थापन के लिए सहायक है।

त्रयग्रन्थि भेदन

उपनिषदों में कुण्डलिनी जागरण प्रक्रिया को त्रय ग्रन्थि भेदन के माध्यम से दर्शाया गया है। उपर्युक्त विधियों के माध्यम से उत्पन्न "अग्नि एवं वायु द्वारा तपाये जाने पर त्रिलोक को मोहित करने वाली जीवनशक्ति अर्थात् कुण्डलिनी जागृत हो जाती है अर्थात् कुण्डलिनी का मुख सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है। सुषुम्ना का आभ्यन्तर आवरण ब्रह्मनाड़ी नाम से सम्बोधित किया जाता हैं इसीलिए सुषुम्ना मुख के इस भेदन को 'ब्रह्मग्रन्थि भेदन' कहते हैं तथा इसे ही कुण्डलिनी जागरण भी कहते हैं।

एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासंकल्पकल्पितैः।
नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुध्यते।। वही, १/७/३५–३६

1 हमिति बीजम्। सं इति शक्तिः। सोऽहमिति कीलकम्।। हं०उ०, १०

इस प्रकार वायु अथवा प्राण से प्रदीप्त अग्नि के द्वारा संतप्त कुण्डलिनी ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करती है। इसके पश्चात् यह शक्ति सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर ऊपर को उठती हुई हृदय कमल के समीप आकर रूक जाती है। निष्ठा पूर्वक साधना में निरन्तर क्रियाशील रहने के कारण अनाहत चक्र भी जागृत हो जाता है। यह हृदय चक्र विष्णु का स्थान माना गया है, अतः इसके खुलने को अथवा जागृत होने को 'विष्णु ग्रन्थि भेदन' कहा जाता है। इसके अन्तर कुण्डलिनी ब्रह्मनाड़ी में ऊपर की ओर जाती हुई आज्ञा एवं विशुद्धि चक्र को पार करती हुई मस्तिष्क में स्थित सहस्रार चक्र पर पहुँचती है। इसको रूद्र का स्थान माना गया है। अतः इसके भेदन को 'रूद्रग्रन्थि भेदन' कहा जाता है। यह ब्रह्मनाड़ी का सबसे ऊपर का स्थान है जहाँ पर पहुँचने का अर्थ है– सर्वसन्देह समाप्ति तथा परब्रह्म की प्राप्ति। इस प्रकार इस स्थिति में समस्त भेद मिट जाते हैं तथा अद्वैत की ही प्रतिष्ठा रह जाती है।"[1] इस प्रक्रिया का उल्लेख अन्य योग शास्त्रों द्वारा भी किया गया है।[2]

त्रयग्रन्थि तथा चक्रों में सम्बन्ध

"ये तीनो ग्रन्थियां ब्रह्म, विष्णु एवं रूद्र– सुषुम्ना नाड़ी से होकर प्राण के मुक्त प्रवाह को अवरूद्ध करती है और चक्रों के जागरण एवं कुण्डलिनी के उत्थान को बाधित करती है। इन तीनों ग्रन्थियों के बिन्दुओं पर सुषुम्ना की जागृति होने पर

---

[1] वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्।
सतंप्त साग्निना जीवा शक्तिस्त्रैलोक्यमोहिंनी।।
प्रविशेच्चन्द्रदण्डे तु सुषुम्नावदनान्तरे।
वायुना वह्निना सार्धं ब्रह्मग्रन्धि भिनत्ति सा।।
विष्णुग्रन्थि ततो भित्त्वा रूद्रग्रन्थौ च तिष्ठति। यो०शि०उ०, १/८३-८७

[2] क– यो०कु०उ०, १/६५-६६
ख– वरा०उ०, ५/६१-६६

ओंकारस्य उच्चारणे यः अन्तिमांशः तस्मिन् शब्दतत्त्वस्य अनुभावनया अर्थात् प्रणवमन्त्रस्य उच्चारणेन तदर्थभावनाया चित्ते लीने सति समस्तजगद्विषयकचेतनायां सुषुप्तायां प्राणानामपि स्पन्दनं निरूध्यते । किन्च जिह्वया तालुमूलगतघण्टिकामतिक्रम्य ऊर्ध्वरन्ध्रे प्रवेशे कृते सति तेनैव मार्गेण प्राणेषु अपि ब्रह्मरन्ध्रं प्रविष्टेषु प्राणानां स्पन्दनं निरूद्धं भवति । उक्तन्च-

"ओंकारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्वानुभावनात् ।
सुषुप्ते संविदा ज्ञाते प्राणस्पन्दो निरूध्यते ।।
तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घण्टिकाम् ।
ऊर्ध्वरन्ध्रगते प्राणे प्राणस्पन्दो निरूध्यते ।।"[1] इति

अभ्यासेन यदा प्राणाः ऊर्ध्वरन्ध्रेण तालुनः उपरि द्वादशारचक्रे स्थिताः भवन्ति तदा प्राणानां गतेर्ज्ञानं लुप्तं भवति । प्राणस्पन्दो निरूध्यते । किन्च नासिकायाः अग्रे द्वादशांगुलपर्यन्ते प्रदेशे चेतनायां लीनायामपि प्राणस्पन्दो निरूध्यते । तथा चोक्तं शाण्डिल्ययोगे-

"प्राणे गलितसंवित्तो तालूर्ध्वं द्वादशान्तगे ।
अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण प्राणस्पन्दो निरूध्यते ।।
द्वादशांगुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलेम्बरे ।
संविद् दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरूध्यते ।। इति ।[2]

भ्रूमध्ये यदा तारकप्रकाशः शान्तो भवति अर्थात् भ्रूमध्ये यदा एकतानेन

---

[1] शा० यो० 68-69

[2] शा० यो० 70-71

ज्योतिषः ध्यानं क्रियते ध्यानेन च ज्योतिरपि अन्तर्हितं भवति तदा चित्तवृत्तेः एकतानरूपेण बन्धे जाते प्राण स्पन्दो पि निरूध्यते । किन्च समस्त विकल्पानामरौः रहितः परम कल्याणमयः ज्ञेयात्मकः यः प्रणवः तस्य ज्ञानस्य उद्भवो यदाभवति तदापि प्राणस्पन्दो निरूध्यते । अस्येदं तात्पर्यं यत् प्रणवपदस्य वाच्यार्थस्य परब्रह्मणः चिन्तने यदा ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपविकल्पाः विलयं यान्ति अर्थात् ज्ञानयोगेन साधकः असम्प्रज्ञातसमाधौ भवति तदा अपि प्राणानां स्पन्दनं निरूध्यते । उक्तन्च शाण्डिल्ययोगशास्त्रे -

"भ्रूमध्ये तारकालोकशान्ते तवन्तमुपागते ।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरूध्यते ।।
ओमित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं ज्ञेयात्मकं शिवम् ।
असंस्पृष्टविकल्पांश प्राणस्पन्दो निरूध्यते ।।[1]" इति ।

चिरकालं यावत् वासनारहितमनसा हृदयाकाशे प्रणवस्य संवेदनायां जातायामपि प्राणस्पन्दो निरूध्यते । य एते क्रमाः प्रोक्ताःतैः अन्यैश्च प्रकारैः विविधसंकल्पैः कल्पितमार्गैः अनेकैः प्रणवादि मन्त्रजपैश्चापि प्राणानां स्पन्दनं निरूध्यते । तथा चोक्तं शाण्डिल्ययोगशास्त्रे-

"चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने ।
अवासनमनो ध्यानात् प्राणस्पन्दो निरूध्यते ।।
एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासंकल्पकल्पितैः ।
नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरूध्यते ।।[2]" इति ।

---

(1) शा० यो० 72-73

(2) शा० यो० 74-75

शाण्डिल्ययोगशास्त्रकारस्य मतेन मूलबन्धेन अपानवायोः आकुन्चनं कृत्वा कुण्डलिन्याः कवारमुद्घाट्य मोक्षद्वारस्य भेदनं कर्तव्यम् । एन मार्गेण प्राणानां गतिः भवितव्या तद्द्वारं मुखेन आच्छाद्य सर्पवत् कुटिलाकारा कुण्डलिनी प्रसुप्ता भवति । येन इयं कुण्डलिनीशक्तिः चालिता स्यात् स तु मुक्तो भवति । इयं कुण्डलिनीशक्तिः जागृता सती कण्ठस्योपरि भागे अर्थात् आज्ञाचक्रे सहस्रारपर्यन्तं यदा प्रविशति तदा योगी मुक्तो भवति । मूढजनानां कुण्डलिनी जागृता न भवति प्रसुप्तैव तिष्ठति । ततश्च ते बद्धा एव भवन्ति न मुक्ताः । अतः इडापिंगलयोः मार्गद्वयं विहाय सुषुम्नामार्गेण प्राणानां गतिः कार्या। तदेव विष्णोः परमं पदम् इत्युक्तं शाण्डिल्ययोगशास्त्रे[1] ।

कुण्डलिनीजागरणाय प्राणायामस्य महत्वपूर्णा भूमिका वर्तते । अतः प्राणायामस्य अभ्यासो योगिना मनोयोगेन कर्तव्यः । मनः अन्यत्र व्यापृतं न स्यात् तथा अभ्यासो विधेयः नान्यथा । उक्तन्च शाण्डिल्ययोगशास्त्रे-

"मरुद्भ्यसनं सर्वं मनो मुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा[2] ।।" इति ।

शाण्डिल्ययोगशास्त्रकारमते खेचरीमुद्रा परमशान्तिप्रदं मुक्तिप्रदन्च ज्ञानं प्रयच्छति । अतः खेचरीमुद्रायाः अभ्यासो विधेयः । तथा चोक्तं शाण्डिल्ययोगे-

"सुषिरो ज्ञानजनकः पन्चस्रोतः समन्वितः ।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा त्वं हि शाण्डिल्यतान् भज[3] ।।" इति ।

---

(1) शा० यो० 76

(2) शा० यो० 77

(3) शा० यो० 79

प्राणवायुः सामान्यरूपेण वामनासिकया दक्षिणनासिकया च चरति । किन्तु योगी प्राणसाधनया अर्थात् प्राणायामेन तं स्थिरी करोति अर्थात् योगिनः केवलकुम्भकः सिद्ध्यति । केवलकुम्भके च सिद्धे खेचरीमुद्रापि सिद्धा इत्यप्यवगन्तव्यम् । तदानीं योगिनः समस्तमपि अज्ञानं नश्यति स संशयरहितश्च भवति । तथा चोक्तं शाण्डिल्ययोगशास्त्रकारेण-

"सव्यदक्षिणनाडीस्थो मध्ये चरति मारुतः ।
तिष्ठतः खेचरीमुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः[1] ।।"इति ।

इडापिंगलयोः अर्थात् वामदक्षिणयोः नासारन्ध्रयोर्मध्ये तालु मूलस्थे छिद्रे यदि प्राणसन्चारौ भवति तदा खेचरीमुद्रा सिद्धेति मन्तव्यम् खेचरीमुद्रायां सत्यम् अर्थात् परम तत्वं प्रतिष्ठितं भवति । अत एव च खेचरीमुद्रायां सिद्धायां परमपदस्य प्राप्तिर्भवति । उक्तन्च शाण्डिल्ययोगे-

"इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ।
तिष्ठन्तो खेचरीमुद्रा सत्यं तत्र प्रतिष्ठितम्[2] ।।"इति ।

चन्द्रसूर्यनाड्योर्मध्ये निरालम्बे आकाशे या मुद्रां साध्यते सैव खेचरीमुद्रा इत्युच्यते । यतोहि मुद्रायामस्यां प्राणो व्योमचक्रे स्थिरो भवति । जिह्वाफलकस्य छेदनेन चालनेन दोहेन च जिह्वां विशिष्टां कृत्वा भ्रूमध्ये दृष्टिं संस्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा यदा विपरीतगा भवति तदा खेचरीमुद्रा जायते । उक्तन्च शाण्डिल्ययोगे-

---

§1§ शा० यो० 80

§2§ शा० यो० 81

"सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बतले पुनः ।

संस्थिता व्योमचक्रे सा मुद्रा नाम्ना च खेचरी[1] ।।" इति ।

खेचरीमुद्राया दशायां जिह्वा चित्तं च खे अर्थात् ब्रह्माकाशे चरति। तेन ऊर्ध्वजिह्वः पुमान् अर्थात् खेचरीसाधको मृतो भवति । तदित्थं शाण्डिल्य-योगशास्त्रकारेण प्राणयामप्रसंगे खेचरीमुद्रायाः महत्वं प्रतिपादितम् ।

प्राणायामप्रसङ्गे महामुद्रा-

प्राणायामप्रसंगे शाण्डिल्ययोगशास्त्र कारेण महा-मुद्रां निरूपयता इदमुक्तम्-

"वामपादेन योनिं संपीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा ।

नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्य उर्ध्वतो वायुं धारयेत् ।।

तेन सर्वक्लेशहानिः ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते ।

क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वगादयो दोषाः नश्यन्ति ।

एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः[2] ।।"इति ।

तदित्थं महामुद्रायाः अभ्यासेन शरीरस्य मनसश्च सर्वे पि क्लेशाः नश्यन्ति । अयमभ्यासः प्राणजयोपायः कथितः । अस्याः मुद्रायाः स्वरूपं निरूपयता शाण्डिल्ययोगशास्त्रकारेण उक्तम्-वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने नि-योज्य दक्षिणचरणं वामोरूपरिसंस्थाप्य वायुमापूर्य हृदये चिबुकं निधाय योनि-माकुन्च्य मनो मध्ये यथाशक्ति धारयित्वा स्वात्मानं भावयेत् । तेनापरोक्ष-सिद्धिः भवति ।।[3]" इति । सुस्थिररूपेण कस्मिंश्चिदपि ध्यानासने उपविश्य

---

[1] शा० यो० 82

[2] शा० यो० 84-85

[3] शा० यो० 86

प्राणवायुमन्तः समाकृष्य अर्थात् पूरके न प्राणायामेन प्राणवायु उदरे स्थिरी कर्तव्यः । किन्च नाभिमध्ये मणिपूरचक्रे नासिकाग्रे पादांगुष्ठे वा मनो धारयेत् प्राणन्च स्थिरी कुर्यात् । इयं क्रिया यदि प्रातः सायंमध्यन्दिने मध्यारात्रौ च अभ्यसेत तदा योगी सर्वक्लान्तिविनिर्मुक्तः सर्वरोगविनिर्मुक्तश्च भवति। तथा चोक्तं शाण्डिल्ययोगशास्त्रे-

"ब्राह्मात् प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम् ।
नाभिमध्ये च नासाग्रे पादांगुष्ठे च यत्नतः ।।
धारयेन्मनसाप्राणं संध्याकालेषु वा सदा ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवेद् योगी गतक्लमः ।।"[1] इति ।

ओष्ठयोः मध्ये जिह्वां प्रणालिकावत् कृत्वा यः साधकः मुखेन पूरकं करोति तस्य साधकस्य शरीरे क्लान्तिः दाहश्च नैव भवतः । रोगाः अपि नश्यन्ति । योगपरम्परायाम् इयं क्रिया शीतलीप्राणायाम इत्युच्यते । विद्याभिलाषि यो ब्राह्मणः शीतलीप्राणायामविधिना प्रातः सायमासत्रयपर्यन्तं पूरकक्रियामभ्यसेत् तस्य कल्याणमयी वाणी साक्षात् सरस्वती जायते अर्थात् तेन झटिति काव्यरचनादिकौशलं प्राप्यते । षण्मासपर्यन्तमभ्यासाच्च सर्वरोगनिवृत्तिर्भवति । तथा चोक्तं शाण्डिल्ययोगशास्त्रे-

"रसनाद्वायुमाकृष्य यः पिबेत् सततं नरः ।
श्रमदाहौ तु न स्यातां नश्यन्तिव्याधयस्तथा ।।
संध्ययोः ब्राह्मणः काले वायुमाकृष्य यः पिबेत् ।
त्रिमासात्तस्य कल्याणी जायते वाक् सरस्वती ।।

---

(1) शा० यो० 87-88

एवं षण्मासादभ्यासात् सर्वरोगनिवृत्तिः[1] ।"इति ।

तदित्थं शाण्डिल्ययोगशास्त्रकारेण प्राणायामे महामुद्रायाः महत्त्वं प्रतिपद्य शीतलीप्राणायामस्य गुणाः प्रोक्ताः ।

शाण्डिल्ययोगशास्त्रवकारेण प्राणसाधनायाः अन्ये पि चत्वारः प्रकाराः निरूपिताः । ते अत्र समासेन निरूप्यन्ते ।

प्राणसाधनायाः प्रथमः प्रकारः - शीतलीप्राणायाम इव जिह्वया पूरकं कृत्वा साधकः यदि जिह्वायाः मूले अर्थात् कण्ठस्थाने चित्तं निरोधयेत् तदा सः अमृतपानं कुर्यात् । अनया साधनया स साधकः सर्वमपि कल्याणं प्राप्नोति । शाण्डिल्ययोगशास्त्रकारेण यद्यपि अस्याः साधनायाः कृते प्रत्यक्षतः समय - निर्देशो न कृतः । किन्तु पूर्ववाक्येषु कृतेन निर्देशेन प्रातः सायं षण्मासपर्यन्त- मस्याः क्रियायाः अभ्यासेन साधनाफलं लभ्येत । तथा चोक्तं शाण्डिल्ययोगे-

"जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत् ।
यः पिबेदमृतं विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ।।"[2] इति ।

प्राणसाधनायाः द्वितीयः प्रकारः- यः साधक इडया अर्थात् वामनासिकारन्ध्रेण पूरकं कृत्वा प्राणं निरूध्य भ्रूमध्ये चित्तं धारयेत् तदा सः साधकः देवानामा- हारममृतं लभते । निरन्तरममृतपानेन च सः व्याधिमुक्तो भवति । उक्तञ्च शाण्डिल्ययोगे-

"आत्मन्यात्मानमिडया धारयित्वा भ्रूवोरन्तरे ।
विभेद्य त्रिदशाहारं व्याधिस्थो पि विमुच्यते[3] ।।"इति ।

---

(1) शा0 यो0 90-92

(2) शा0 यो0 93

(3) शा0 यो0 94

प्राणसाधनायाः तृतीयः प्रकारः- साधकः उभाभ्यामपि नासारन्ध्राभ्यां प्राण-वायुमन्तः आकृष्य अर्थात् पूरयित्वा उभयोः पार्श्वयोः वायुं पूरयित्वा मणि-पुरचक्रे चित्तं धारयेत् । एवं प्रतिदिनम् एकां घटिकां यावत् यः अभ्यासं कुर्यात् स साधकः सर्वैरपि शारिक रोगैः मुक्तो भवति । तथा चोक्तं शाण्डिल्ययोगे-

"नाडीभ्यां वायुमारोप्य नाभौ तुन्दस्य पार्श्वयोः ।

घटिकैकां वहेद् यस्तु व्याधिभिः सः विमुच्यते [1]"।। इति ।

प्राणसाधनायाः चतुर्थःप्रकारः - साधकः यदा पूर्वोक्तविधिना जिह्वया शीतली-प्राणायामेन पूरकं कृत्वा उदरमध्ये वायुं चित्तं च धारयेत् तदा अस्याः क्रियाया अभ्यासेन मासेन एकेन अमृतः स्रोतः प्रकटी भवति । तेन च सर्वे रोगाः नाना-विधाविषप्रभावश्च नश्यन्ति । तथा चोक्तं शाण्डिल्ययोगशास्त्रे-

"मासमेकं त्रिसंध्यं तु जिह्वयारोप्य मारुतम् ।

विभेधत्रिदशाहारं धारयेत् तुन्दमध्यमे ।।

ज्वराः सर्वे पि नश्यन्ति विषानि विविधानि च [2]।।"इति ।

तदित्थं शाण्डिल्ययोगशास्त्रकारेण प्राणसाधनायाः इमे चत्वारः प्रकाराः अपि निर्दिष्टाः । प्राणायामस्य महत्वं प्रतिपादयता पुनरपि शाण्डिल्ययोग-शास्त्रकारेण इदमुद्घोषितं यत् यः साधकः प्राणायामस्य अभ्यासं कुर्वन् प्रतिदिनं मुहूर्तैकपर्यन्तं नासाग्रे चित्तं धारयेत् तस्य साधकस्य जन्मशतार्जितं पापं तत्प्रभावेन नश्यति । अतः प्राणायामस्य अभ्यासेन योगी सम्पूर्ण कर्माशयमतिक्रम्य मुक्तो भवति । उक्तान्च शाण्डिल्ययोगे-

- -

§1§ शा० यो० 95
§2§ शा०यो० 96

"मुहूर्तमपि यो नित्यं नासाग्रे मनसा सह ।

सर्वं तरति पाप्मानं स्वस्य जन्मशतार्जितम् ।।" [1] इति ।

योगचूडामणिग्रन्थे प्राणायामविवेचनम्:- योगचूडामणिकारेण प्राणायामस्य विवेचनं कुर्वता इदमुद्घोषितं यत् प्राणाः यदा गतिशीलाः भवन्तितदा बिन्दुरपि गतिशीलो भवति । प्राणे च निश्चले जाते विन्दुरपि निश्चलो भवति । अनेन प्राणनिरोधेन योगी स्थाणुभावं प्राप्नोति अर्थात् स्थैर्यं लभते । अतः स्थिरतायै प्राणायामस्य अभ्यासः अवश्यं कर्तव्यः । तथा चोक्तं योगचूडामणि कारेण-

"चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत् ।

योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरून्धयेत् ।।" [2] इति ।

यावत् पर्यन्तं शरीरे प्राणाः तिष्ठन्ति तावत्पर्यन्तं जीवो न मोक्षं प्राप्नोति । मृत्युरपि केवलं निष्क्रमणम् अर्थात् शरीरपरिवर्तनमात्रम् । अतः साधकेन प्राणानां निरोधः कर्तव्यः । यद्यपि यावत् पर्यन्तं शरीरे प्राणाः सन्ति तावत्पर्यन्तं मुक्तिर्न भवति किन्तु यावत्पर्यन्तं भ्रुवोर्मध्ये दृष्टिः स्थिराभवति तावत्पर्यन्तं कालभयमपि न संभाव्यते । तथा चोक्तं योग चूडामणौ-

"यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुन्चति ।

मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरून्धयेत् ।।

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुन्चति ।

- -

(1) शा०यो० 97

(2) यो०चू० 89

प्राणायाम में उपयोगी बन्धत्रय

योगासन एवं प्राणायाम द्वारा हमारे शरीर से जिस शक्ति का बहिर्गमन होता है, उसे हम बन्धों के द्वारा रोककर अन्तर्मुखी करते हैं। बन्ध का अर्थ ही है बाँधना, रोकना। ये बन्ध प्राणायाम में अत्यन्त सहायक हैं। बिना बन्धों के प्राणायाम अधूरे हैं। इन बन्धों का क्रमशः वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

जालन्धर बन्ध

पद्मासन या सिद्धासन में सीधे बैठकर श्वास को अन्दर भर लें। दोनों हाथ घुटनों पर टिके हुए हों। अब ठोड़ी को थोड़ा नीचे झुकाते हुए कण्ठकूप में लगाना 'जालन्धर बन्ध' कहलाता है। दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करें। छाती आगे की ओर तनी हुई होगी। यह बन्ध कण्ठस्थान के नाड़ी-जाल को बाँधे रखता है।

लाभ

- कण्ठ मधुर, सुरीला और आकर्षक होता है।
- कण्ठ के संकोच द्वारा इड़ा, पिंगला नाड़ियों के बन्द होने पर प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश होता है।
- गले के सभी रोगों में लाभप्रद है। थायरॉयड, टॉन्सिल आदि रोगों में अभ्यसनीय है।
- विशुद्धि-चक्र की जागृति करता है।

उड्डीयान बन्ध

प्राण जिस क्रिया से उठकर, उत्थित होकर सुषुम्णा में प्रविष्ट हो जाये उसे 'उड्डीयान बन्ध' कहते हैं। खड़े होकर दोनों हाथों को सहज भाव से दोनों घुटनों पर रखिए। श्वास बाहर निकालकर पेट को ढीला छोड़ें। जालन्धर बन्ध लगाते हुए छाती को थोड़ा ऊपर की ओर उठायें। पेट को कमर से लगा दें। यथाशक्ति करने के पश्चात् पुनः श्वास लेकर पूर्ववत् दोहरायें। प्रारम्भ में तीन बार करना पर्याप्त है। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाना चाहिए।

इसी प्रकार पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर भी इस बन्ध को लगायें। (पुस्तक के प्रारम्भ में चित्रः सं० 1 देखें।)

लाभ

- पेट-सम्बन्धी समस्त रोगों को दूर करता है।

❖ प्राणों को जागृत कर मणिपूर चक्र का शोधन करता है।

मूलबन्ध

सिद्धासन या पद्‌मासन में बैठकर बाह्य या आभ्यन्तर कुम्भक करते हुए, गुदाभाग एवं मूत्रेन्द्रिय को ऊपर की ओर आकर्षित करें। इस बन्ध में नाभि के नीचेवाला हिस्सा खिंच जायेगा। यह बन्ध बाह्यकुम्भक के साथ लगाने में सुविधा रहती है। वैसे योगाभ्यासी साधक इसे कई-कई घण्टों तक सहजावस्था में भी लगाये रखते हैं। दीर्घ अभ्यास किसी के सान्निध्य में करना उचित है।

लाभ

❖ इससे अपान का ऊर्ध्वगमन होकर प्राण के साथ एकता होती है। इस प्रकार यह बन्ध मूलाधार चक्र को जागृत करता है और कुण्डलिनी-जागरण में अत्यन्त सहायक है।
❖ कोष्ठबद्धता और बवासीर को दूर करने तथा जठराग्नि को तेज करने के लिए यह बन्ध अति उत्तम है।
❖ वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाता है, साधक को ऊर्ध्वरेता बनाता है। अतः ब्रह्मचर्य के लिए यह बन्ध महत्त्वपूर्ण है।

महाबन्ध

पद्मासन आदि किसी भी एक ध्यानोपयोगी आसन में बैठकर तीनों बन्धों को एक साथ लगाना 'महाबन्ध' कहलाता है। इससे वे सभी लाभ मिल जाते है, जो पूर्वनिर्दिष्ट हैं। कुम्भक में ये तीनों बन्ध लगते हैं।

लाभ

❖ प्राण ऊर्ध्वगामी होता है।
❖ वीर्य की शुद्धि और बल की वृद्धि होती है।
❖ महाबन्ध से इडा, पिंगला और सुषुम्णा का संगम प्राप्त होता है।

प्रागेव का नाम मुद्रा तद्विषये विचारयामः। मुद्रापरिभाषाविषये उच्यते यत् आसनस्य एषा विशेषपरिस्थिति यस्यां प्राणायामः सम्मिलितो भवितुमर्हति नार्हति वा परन्तु या कुण्डलिनीजागरणे सहायकारिणी भवति सा एव परिस्थिति मुद्रा इत्युच्यते[१०७६]। पुनश्च अन्येषां मते तु चित्तप्रकटीकरणकारकः भावविशेषः मुद्रा इत्युच्यते[१०७७]। अन्येषां मते तु आसन-प्राणायाम-बन्ध-इत्येतेषु त्रिषु विशेषतामानीय एकाभ्यासरूपेण प्रयोगकरणमेव मुद्रा[१०७८]।

उपर्युक्तपर्यालोचनया इदं ज्ञायते यत् मुद्रास्ति आसन-प्राणायाम-बन्ध-इति यौगिकक्रियात्रयाणां समाहारः यत्र कदाचित् प्राणायामस्य अन्तर्भावो न भवितुमपि शक्नोति येन चित्तस्य भावस्य प्रकटीकरणमपि भवति तथा यया कुण्डलिनीशक्तेर्जागरणे साहाय्यमुपलभ्यते। यत्किमपि भवतु नाम परन्तु योगसाधनायां स्थिता मुद्राणां भूमिका तु स्वीकरणीया एव।

मुद्राणां संख्याविषये उक्तमस्ति यत् मुद्राणि सन्ति पञ्चविंशतिसंख्यकानि[१०७९]। येषु मुद्रादशकं जरामृत्युनाशकमिति उक्तमस्ति[१०८०]। उपर्युक्तासु पञ्चविंशतिसंख्यकासु दशसंख्यकासु वा मुद्रासु यद्यपि बन्धानामपि अन्तर्भावोऽस्ति तद्विषये अन्यत्र आलोचयामः।

मुद्राः पुनश्च प्राणायामिक-अप्राणायामिकभेदेन भागद्वये विभक्ताः[१०८१]।

प्राणायामिकमुद्रा - आसन-प्राणायामयोः सः विशेषः संयोगः यः कुण्डलिनीजागरणे सहायतां करोति स एव प्राणायामिकमुद्रारूपेण ज्ञायते[१०८२]।

(१) महामुद्रा - प्राणायामिकमुद्रासु महामुद्रा अन्यतमा। एषा मुद्रा शरीरस्य जरा-व्याधिं नाशयित्वा साधकं महासिद्धिं प्रददाति इति अस्याः मुद्रायाः नाम महामुद्रा[१०८३]। महामुद्रायाः लक्षणविषये उक्तमस्ति यत् दृढतापूर्वकतया वामगुल्फेन पायुमूलं पीडयित्वा दक्षिणपादं प्रसार्य दक्षिणपादाङ्गुल्यः हस्तेन धृत्वा कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रूवोर्मध्यं निरीक्षयेत्[१०८४]। परन्तु हठयोगप्रदीपिकायां तु भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षणस्य विषयः न उल्लिखितोऽस्ति तत्स्थाने ऊर्ध्वतः वायुधारणस्य विषयः एव उल्लिखितोऽस्ति। तदनन्तरं पूरितः वायुः शनैः शनैः रेचयेत्। महाक्लेशादीनां मरणादीनां वा नाशकत्वात् विद्वज्जनाः मुद्रामिमां महामुद्रेति वदन्ति[१०८५]।

महामुद्राविधेः वैविध्यता परिलक्ष्यते। यथा मूलबन्धं कृत्वा वामगुल्फेन योनिमण्डलं सम्पीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य प्रसारितदक्षिणपादजानु हस्तद्वयेन धृत्वा हस्तद्वयोपरि नासापुटद्वयेन[१०८६] घर्षणपञ्चकं कृत्वा वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा जालन्धरबन्धं कृत्वा

क्षणानन्तरं जालन्धरबन्धम् उद्घाट्य[१०८७] दक्षिणनासिकया रेचकं कर्त्तव्यम्[१०८८]। तदनन्तरं दक्षिणगुल्फेन योनिमण्डलं सम्पीड्य वामपादं प्रसार्य अन्यत् सर्वं पूर्ववत् कृत्वा दक्षिणनासापुटेन पूरकं कृत्वा कुम्भककरणानन्तरं वामनासापुटेन रेचकं कुर्यात्। अनेन रूपेण दक्षिणनासापुटेन कुम्भकपञ्चकं कुर्यात्। एतदवधेयम् यत् उभयनासापुटाभ्यामेव कुम्भकसंख्या समाना भवेत्[१०८९]। प्रकारान्तरेऽस्मिन् प्रसारितपादाङ्गुल्यः एकेन हस्तेन धृत्वापि मुद्रेयं कर्त्तुं शक्यते येन प्राणायामे सौविध्यं भवेत्[१०९०]। प्रकारोऽयं शिरसा प्रसारितपादस्य जानुं स्पृष्ट्वापि क्रियते[१०९१]।

अन्यप्रकारानुसारेण वामगुल्फं सीवन्यां दृढतापूर्वकतया संयुज्य दक्षिणपादः प्रसारितव्यः। तदनन्तरं शनैः शनैः पूरकेन सह मूलबन्धं जालन्धरबन्धं च कृत्वा दक्षिणपादाङ्गुष्ठं धृत्वा शिरः दक्षिणजानौ रक्षयित्वा स्वशक्त्यनुसारं कुम्भकं कर्त्तव्यम्। कुम्भकसमये पूरितवायुं कोष्ठे शनैः शनैः फुल्लयित्वा एतादृशी भावना कर्त्तव्या यत् प्राणः कुण्डलिनीजागरणं कृत्वा सुषुम्णायां प्रविशन् अस्ति । तदनन्तरं शिरसं शनैः शनैः जानुतः रेचकं कुर्वन् उत्थाप्य यथास्थित्याम् उपविशेत्। अनेनैव रूपेण वामपादं प्रसार्य अपि कुर्यात्। तथा प्राणायामस्य संख्यां समयञ्च वर्द्धयेत्[१०९२]।

अन्यप्रकारानुसारेण दक्षिणगुल्फेन योनिमण्डलं सम्पीड्य किञ्चित् अग्रे नम्रीभूय हस्तद्वयेन प्रसारितवामपादाङ्गुष्ठं धृत्वा सम्पूर्णशरीरं शिथिलीकृत्य दीर्घतया पूरकं कृत्वा शिरः किञ्चित् पृष्ठभागे नम्रीकृत्य कुम्भकं कृत्वा मूलबन्धस्य शाम्भवीमुद्रायाः च अभ्यासं कुर्यात्। स्वचेतनां मानसिकरूपेण मूलाधार-विशुद्धि-आज्ञादिषु चक्रेषु व्यावर्त्त्य स्वसामर्थ्यानुसारं कुम्भककरणानन्तरं शिरः ऋजु कृत्वा मूलबन्धं शाम्भवीमुद्रां च परित्यज्य शनैः शनैः रेचकं कर्त्तव्यम्[१०९३]।

अन्यप्रकारानुसारेण वामगुल्फेन योनिमण्डलं सम्पीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य हस्तद्वयेन प्रसारितदक्षिणपादस्य अङ्गुल्यः धृत्वा चिबुकं कण्ठकूपे संयोजयेत्। तदनन्तरं श्वासं प्रपूर्य कुहुनाडीम् अर्थात् कामनाडीं यावत् शक्यते तावत् आकर्षणं कर्त्तव्यम् तथा निश्वासकाले तदाकर्षणं शिथिलीकर्त्तव्यम्। अनेन रूपेण पञ्चदशबारतः पञ्चविंशतिबारपर्यन्तं कर्त्तव्यम्। तदनन्तरं दक्षिणगुल्फेन योनिमण्डलं सम्पीड्य वामपादं प्रसार्य अपि मुद्रामिमां कूर्यात्[१०९४]।

(२) **महावेधमुद्रा** - पुरुषरहितनारीणां रूपयौवनलावण्यस्य व्यर्थता इव

महावेधमुद्रारहितस्य मूलबन्ध-महाबन्धयोः व्यर्थता कथनमेव[१०९५] महावेधमुद्रायाः महत्त्वं द्योतयति। महावेधमुद्रायाः विधिविषये उच्यते यत् महाबन्धं कृत्वा बुद्धिं स्थिरीकृत्य पूरकं कुर्यात् तथा कण्ठमुद्रया वायोः गतिमवरुद्ध्य प्राणायामं कुर्यात् तदनन्तरं हस्तद्वयं भूमौ रक्षयित्वा नितम्बद्वयं किञ्चिदुपरि उत्थाप्य भूमौ शनैः शनैः ताडयेत् यस्मात् प्राणवायुः इडां पिङ्गलां च परित्यज्य सुषुम्णायां प्रवाहितो भवति[१०९६]। नितम्बद्वयस्य उपरि उत्थापनकार्यं बारं बारं कर्त्तव्यम्। क्रियेयं ताडननाम्नापि ज्ञायते। बारमेकं कुम्भकं कृत्वा अनेकबारं ताडनं कर्त्तुं शक्यते। मुद्रायामस्यां पादद्वयं परिवर्त्त्य अर्थात् वामजङ्घोपरि दक्षिणजङ्घां संस्थाप्य अथवा दक्षिणजङ्घोपरि वामजङ्घां संस्थाप्य अपि कर्त्तुं शक्यते[१०९७]। अस्याः मुद्रायाः यथाशक्ति अभ्यासानन्तरं जालन्धरमुद्रां परित्यज्य नासापुटद्वयेन प्राणवायोः रेचनं कर्त्तव्यम्[१०९८]।

अस्याः मुद्रायाः प्रकारान्तरमपि प्राप्यते यदनुसारेण मूलबन्धेन सह पद्मासने उपविश्य अपानवायुं प्राणवायुञ्च एकत्रीकृत्य हस्तद्वयं नितम्बद्वयस्य समीपे भूमौ संस्थाप्य नितम्बद्वयम् उपरि उत्थाप्य भूमौ बारं बारं ताडनं क्रियते[१०९९]।

अन्यप्रकारानुसारेण पद्मासने अन्यस्मिन् ध्यानात्मकासने वा उपविश्य श्वासं परित्यज्य उदरं यथाशक्तिः वायुशून्यं कृत्वा बहिरेव अवरुद्ध्य शङ्खिनीनाडीम् अर्थात् गुह्यदेशं तथा कुहुनाडीम् अर्थात् जननेन्द्रियं सकृदेव उपरि आकृष्य पञ्च-दशमिनट-इतिसमयपर्यन्तम् अवस्थानं कृत्वा पूनः श्वासः ग्रहीतव्यः तथा तदाकर्षणं शिथिलीकर्त्तव्यम्। अनेन रूपेण मुद्रेयं पञ्च-दशबारतः विंशतिबारपर्यन्तं कर्त्तव्यम्[११००]।

अन्यप्रकारान्तरानुसारेण च महामुद्रानुसारेण अवस्थानं कृत्वा पूर्णतया पूरकं रेचकं च कृत्वा शिरः सम्मुखे नम्रीकृत्य अवस्थानं कुर्यात्। दृष्टिः नासिकाग्रा भवेत्। बन्धत्रयं कृत्वा स्वचेतनां मूलाधार-मणिपुर-विशुद्धिचक्रोपरि व्यावर्त्त्य प्रत्येकस्मिन् चक्रे क्षणपर्यन्तं अवस्थानं कुर्यात्। यथासम्भवं बाह्यकुम्भकावस्थायाम् अवस्थानं कृत्वा स्वचेतनां बारं बारं व्यावर्त्तयेत्। तदनन्तरं क्रमशः उड्डीयानबन्धं मूलबन्धं जालन्धरबन्धं च उन्मील्य शनैः शनैः पूरकं कुर्यात्[११०१]।

(३) **विपरीतकरणीमुद्रा** - यस्यामवस्थायां नाभिस्थितसूर्यः उपरि तथा तालुस्थितचन्द्रः अधोभागे भवति सा एव अवस्था विपरीतकरणीमुद्रा इत्युच्यते[११०२]। विपरीतकरणीमुद्रायाः विधिवषये उच्यते यत् नाभिमूले सूर्यः अर्थात् सूर्यनाडी तिष्ठति

तालुमूले च चन्द्रः अर्थात् चन्द्रनाडी तिष्ठति। अतः चन्द्रनाडीतः क्षरितममृतं सूर्यनाडीः ग्रसते तस्मात् मनुष्यः मृत्युपाशे पतति। अतः शिरः भूमौ संस्थाप्य हस्तद्वयं पृथिव्यां स्थरीकृत्य सूर्यनाडीम् ऊर्ध्वं तथा चन्द्रनाडीम् अधः आनीय ऊर्ध्वपादो भूत्वा स्थिरीभूयात् एषा एवावस्था विपरीतकरणीमुद्रा इत्यनेन नाम्ना ज्ञायते[११०३]। यतो हि शीर्षासनेन[११०४] सह अस्याः मुद्रायाः समानतास्ति अतः अत्र एतद्विषये अधिकं न लिख्यते।

(४) अश्विनीमुद्रा - अश्वेन मलत्यागसमये कृत-आकुञ्चन-प्रसारणवत्करणात् अस्याः मुद्रायाः नाम अश्विनीमुद्रा[११०५]। अश्विनीमुद्रायाः विधिविषये उक्तमस्ति यत् गुदाद्वारस्य आकुञ्चनं-प्रसारणं च पौनःपुन्येन कुर्यात्। एषा एव क्रिया अश्विनीमुद्रा नाम्ना ज्ञायते[११०६]।

अस्याः मुद्रायाः अभ्यासात्पूर्वं शौचादिभ्यः निवृत्तो भूत्वा[११०७] साधकः सिद्धासने पद्मासने[११०८] वा उपविशेत्। तदनन्तरं पूरकं कृत्वा कुम्भककरणानन्तरं जालन्धरबन्धं कृत्वा गुदाद्वारं बारं बारम् आकुञ्चनं प्रसारणञ्च कृत्वा रेचकं कुर्यात्[११०९]।

अस्याः मुद्रायाः अभ्यासविधेः प्रकारान्तराणि सन्ति यथा - एतस्यां मुद्रायां श्वासग्रहणेन सह गुदाभागम् उपरि आकुञ्चयेत् तथा श्वासत्यागेन सह गुदाभागं प्रसारयेत्[१११०]।

अभ्यासे दक्षताप्राप्ते सति गुदाद्वारमाकुञ्च्य पूरकं कुर्यात्। आकुञ्चनं कृत्वा एव यथाशक्तिः अन्तःकुम्भकं कर्त्तव्यम्। तदनन्तरं रेचकं कर्त्तव्यम् तथा रेचकानन्तरं गुदाद्वारं प्रसारयेत्। अनेनैव रूपेण पुनरावृत्तिं कुर्यात्[११११]।

अन्यप्रकारानुसारेण श्वासं परित्यज्य बाह्यकुम्भकं कृत्वा उड्डीयानबन्धं कृत्वा गुदाद्वारमाकुञ्चयेत् प्रसारयेत् च बारं बारं यथासामर्थ्यम्[१११२]। अनेन रूपेण बाह्यकुम्भकेन सह एतस्याः मुद्रायाः अभ्यासकरणेन लाभाधिक्यं समवाप्यते[१११३]। एतस्याः मुद्रायाः अभ्यासः प्रातः काले सन्ध्यायाञ्च न्यूनातिन्यूनं विंशतिबारतः पञ्चविंशतिबारपर्यन्तं कर्त्तव्यः[१११४]।

(५) योनिमुद्रा - अस्यां मुद्रायां योनिभागस्य आकर्षणं क्रियते इति अस्याः मुद्रायाः नाम योनिमुद्रा। मुद्रेयं षण्मुखीमुद्रा नाम्नापि ज्ञायते[१११५]।

अस्याः मुद्रायाः विधिविषये उक्तमस्ति यत् साधकः सिद्धासने उपविश्य कर्णद्वयं चक्षुद्वयं नासिकाद्वयं मुखञ्च क्रमशः अङ्गुष्ठ-तर्जनी-मध्यमा-अनामिकाभिरङ्गुलिभिः आवृत्त्य काकीमुद्रया अर्थात् कांकचञ्चुवत्-आकृतिवत्या जिह्वया प्राणानाकृष्य अपाने योजयेत्। तदनन्तरं क्रमेण षट्चक्राणां ध्यानं कृत्वा 'हुँ' मन्त्रेण 'हंसः' मन्त्रेण वा निद्रितायाः कुण्डलिनीशक्तेः जागरणं कृत्वा जीवात्मासहितकुण्डलिनीं सहस्रदलकमले

नीत्वा 'अहं ब्रह्मास्मि'इति चिन्तयेत्[१११६]।

अङ्गुलीभिः कर्णचक्षुरादीनाम् आवरणात् प्रागेव पूरकं कृत्वा योनिमार्गम् ऊर्ध्वदिशं प्रति संकोचयेत् तथा अङ्गुलीभिः तत्तद् अङ्गानावृत्त्य यथाशक्ति कुम्भकं कृत्वा तदनन्तरम् अङ्गुलीभिः कृतस्यावरणस्य अपनयनं कृत्वा योनिमार्गस्य सङ्कोचनं शिथिलीकुर्यात्[१११७]। योनिमार्गस्य सङ्कोचनशिथिलीकरणानन्तरं नासापुटोपरिस्थितम् अङ्गुलीद्वयम् उत्थाप्य शनैः शनैः नासिकारन्ध्रेण वायुं रेचयेत्[१११८]।

(६) शक्तिचालिनीमुद्रा - योगशास्त्रानुसारेण शक्तिशब्दस्यार्थोऽस्ति कुण्डलिनी। यस्याः मुद्रायाः अभ्यासात् मूलाधारचक्रे सुप्तावस्थायां स्थिता कुण्डलिनी जागृता सम्भूय उपरि गच्छति। सा एव मुद्रा शक्तिचालिनीमुद्रा इत्युच्यते[१११९]। अस्याः विधिविषये उक्तमस्ति यत् नाभिं वस्त्रेण संवेष्ट्य गोपनीयगृहे स्थित्वा एताम् मुद्राम् अभ्यसेत्। उच्यते यत् एकवितस्तिपर्यन्तं दीर्घं तथा चतुरङ्गुलपर्यन्तं विस्तारयुक्तं कोमलं श्वेतवर्णयुक्तं सूक्ष्मवस्त्रं नाभिप्रदेशे रक्षयेत्। तदनन्तरं देहं भस्मना संलिप्य सिद्धासने उपविश्य नासापुटाभ्यां प्राणवायुमाकृष्य अपानवायुना सह मेलयेत्। तदनन्तरम् अश्विनीमुद्रया गुह्यप्रदेशमाकुञ्चयेत्। श्वासं नियम्य कुम्भकं कुर्यात् यस्मात् कुण्डलिनीशक्तिः जागृता सम्भूय ऊर्ध्वमार्गं गच्छति। एतां मुद्रां विना योनिमुद्रायाः सिद्धिर्न भवति। अतः एतां मुद्राम् अभ्यस्य साधकः योनिमुद्रामभ्यसेत्[११२०]।

मुद्रेयं वज्रासने उपविश्य अपि कर्त्तुं शक्यते। यदा पूरकं कृत्वा गुह्यप्रदेशमााकुञ्च्यते तदा कुहुनाडीम् अर्थात् जननेन्द्रियप्रदेशमपि आकुञ्चयितुं शक्यते। अनेन रूपेण किञ्चित् कालपर्यन्तं स्थित्वा शनैः शनैः निश्वस्य आकुञ्चनं शिथिलीकुर्यात्। अनेन रूपेण मुद्रेयं प्रातःकाले सन्ध्यायाञ्च दशबारतः द्वादशबारपर्यन्तं कर्त्तुं शक्यते[११२१]।

मुद्रायाः अस्याः अपरविधिरपि प्राप्यते यस्य पूर्वोक्तविधिना सह किञ्चिदेव पार्थक्यमुपलभ्यते। अपरविध्यनुसारेण सिद्धासने पद्मासने वा उपविश्य हस्तद्वयं भूमौ संस्थाप्य विंशतिबारतः पञ्चविंशतिबारपर्यन्तं शनैः शनैः नितम्बद्वयमुपरि उत्थाप्य भूमौ ताडयेत्। तदनन्तरं मूलबन्धं कृत्वा नासिकाद्वयेन, वामनासापुटेन चलितस्वरेण नासापुटेन वा पूरकं कृत्वा प्राणवायुम् अपानवायुना सह मेलयेत्। तदनन्तरं जालन्धरबन्धं कृत्वा शक्त्यनुसारं कुम्भकं कुर्यात्। कुम्भककरणसमये अश्विनीमुद्रया गुह्यद्वारम् आकर्षयेत् विकर्षयेत् च तदनन्तरं जालन्धरबन्धं परित्यज्य नासापुटद्वयेन कृतपूरकात् नासापुटात्

इतरेण नासापुटेन वा रेचकं कृत्वा निर्विकारतया एकाग्रपूर्वकतया उपविशेत्[११२२]।

(७) **योगमुद्रा** - अस्याः मुद्रायाः अभ्यासात् शरीरः योगसाधनार्थमुपयुक्तो भवतीति अस्याः मुद्रायाः नाम योगमुद्रा[११२३]।

मूलबन्धेन सह पद्मासने[११२४] सुखासने[११२५] वा उपविश्य नासापुटद्वयेन पूरकं कृत्वा जालन्धरबन्धं कृत्वा हस्तद्वयं शरीरस्य पृष्ठाङ्गस्य पश्चात् भागे रक्षयित्वा हस्तद्वयेन परस्परं मणिबन्धे धृत्वा शरीरमग्रे नम्रीकृत्य उदरान्तर्भागे गुल्फद्वयेन भारं दत्वा शिरसा भूमौ स्पृशेत् अनेन रूपेण यथाशक्तिः कुम्भकं कृत्वा तदनन्तरं शिर भूमितः उत्थाप्य जालन्धरबन्धं परित्यज्य नासिकाद्वयेन रेचकं कुर्यात्[११२६]।

अस्याः मुद्रायाः प्रकारान्तरद्वयं समुपलभ्यते। अत्र पद्मासने सुखासने वा उपवेशनानन्तरं हस्तद्वयं पृष्ठभागे रक्षयित्वा हस्तद्वयेन परस्परं मणिबन्धं धृत्वा दीर्घतया श्वासं गृहीत्वा निश्वासं परित्यज्य च शरीरमग्रे नम्रीकृत्य शिरसा भूमि स्पृशेत्। तदनन्तरं श्वासं गृहीत्वा शिर उपरि उत्थापयेत् च। अनेन रूपेण प्रकारान्तरमिदं षड्बारतः दशबारपर्यन्तं कुर्यात्[११२७]।

अस्याः मुद्रायाः अन्यत् प्रकारान्तरमपि समुपलभ्यते तदनुसारेण वज्रासने उपविश्य अङ्गुष्ठद्वयं मुष्टिद्वये अवरुद्ध्य नाभेः पार्श्वभागद्वये संयोजयेत्। तदनन्तरं पूरकं कृत्वा कुम्भकं कृत्वा मूलबन्धं जालन्धरबन्धं च कुर्यात्। तदनन्तरं शनैः शनैः रेचकं कुर्वन् शिरः अग्रे नम्रीकृत्य नासिकाग्रभागेन चिबुकेन च भूमिं स्पृशेत्। क्षणानन्तरं पूरकं कुर्वन् वज्रासने समागच्छेत् इति[११२८]।

अप्राणायामिकमुद्रा - आसनस्य सः विशेषः विधिः यस्मिन् प्राणायामं विना एव दृष्टिरेकत्र स्थिरीक्रियते यस्मात् कुण्डलिन्याः प्रचण्डशक्तेः जागरणाय साहाय्यं प्राप्यते। ताः मुद्राः अप्राणायामिकमुद्रात्वेन ज्ञायन्ते[११२९]।

(१) **नभोमुद्रा** - साधकः यत्र कुत्रापि अवस्थानं कुर्यात् सः सदैव सर्वेष्वेव कार्येषु जिह्वामुपरि व्यावर्त्त्य स्थिरीभूय पवनं सदा धारयेत्। योगिनां रोगनाशिनी एषा मुद्रा नभोमुद्रानाम्ना ज्ञायते[११३०]। मुद्रायामस्यामूर्ध्वदेशे व्यावृत्ता जिह्वा तालं स्पृशेत्[११३१]।

(२) **खेचरीमुद्रा** - उपरि व्यावृत्य विपरीतक्रमेण कपालकुहरे जिह्वायाः प्रवेशं कार्यते तथा दृष्टिः भ्रूवोर्मध्ये स्थाप्यते सा एव मुद्रा खेचरीमुद्रानाम्ना ज्ञायते[११३२]।

केन प्रकारेण नु जिह्वा कपालकुहरे प्रविशति तद्विषये उच्यते यत् सुतीक्ष्णेन स्निग्धेन निर्मलेन च शस्त्रेण जिह्वामूले स्थितायाः नाड्याः रोममात्रं छेदनं कुर्यात् तदनन्तरं चूर्णितसैन्धवपथ्यैः तत् स्थाने प्रघर्षयेत् पुनः सप्तमदिने तत् स्थाने एव रोममात्रं छेदनं कुर्यात्। अनेन प्रकारेण षण्मासपर्यन्तं कृते सति जिह्वामूले स्थितौ शिराबन्धौ च प्रणश्यति । तदनन्तरं तां जिह्वां व्यावृत्त्य नाडीत्रयस्य पथि योजयेत्[११३३]। छिन्नशिराबन्धजिह्वायाः दोहनकर्षण-इति कार्यद्वयं क्रियते। जिह्वां नवनीतमयं कृत्वा दोहयेत्[११३४]। तदनन्तरं लोहनिर्मितयन्त्रेण जिह्वायाः आकर्षणं कुर्यात्[११३५]। अनेन रूपेण नित्यं समभ्यसिते सति जिह्वा लम्बिका सम्भूय मुद्रायाः सिद्धौ साहाय्यं करोति[११३६]।

क्रियेयं योग्यगुरोर्निर्देशने एव कर्त्तव्या अन्यथा वाक्शक्तेः समाप्तिरपि भवितुमर्हति[११३७]। एषा विधिः हठयोगस्य विधिरस्ति। अस्मिन् विधौ प्रारम्भे श्वासः सामान्यः भवेत् परन्तु अभ्यासे वर्धिते सति श्वासः मन्दगतियुक्तो भवेत्[११३८]।

उपर्युक्ता विधिः सर्वेषां कृते नोपयुक्ता। अतः अन्या एका विधिरस्ति यस्याः अभ्यासेन अपि खेचरीसिद्धिः भवति[११३९]। एषा विधिः राजयोगस्य विधिरस्ति। यदनुसारेण मुखं निमील्य जिह्वाग्रभागेन तालुं स्पृशेत्। कार्यमिदं बलपूर्वकतया न कुर्यात् तथा यथासम्भवं जिह्वाग्रं पृष्ठभागे व्यावर्त्तयेत् तथा तालुदेशस्य उपरिभागस्य छिद्रान्तर्भागे प्रवेश्य यथासम्भवम् उपरि गच्छेत्। अनेन सहैव उज्जायीप्राणायामोऽपि कर्त्तु शक्यते[११४०]।

सिंहासनम् शीतलीप्राणायामश्च अस्याः क्रियायाः सहायकोऽस्ति। प्रोटिनरहितखाद्यग्रहणेन अपि शीघ्रतया खेचरीसिद्धिर्भवति[११४१]।

अस्याः मुद्रायाः अभ्यासकाले यदा श्रमोऽनुभूयते तदा जिह्वां पूर्वावस्थायां नयेत्[११४२]।

छेदनकाले प्राप्यते यत् जिह्वानामनेकभेदाः अवलोक्यन्ते। कस्यांश्चिद् जिह्वायां सूत्राकारनाडीस्थाने स्थूलमांसं भवति यस्मात् छेदने कष्टाधिक्यमनुभूयते। कस्यांश्चिच्च नाडी मांसश्च न भवतः अतः तस्याः छेदनावश्यकतापि न भवति। केवलं चालनदोहनाभ्यामेव कार्य चलति[११४३]।

(३) शाम्भवीमुद्रा - नेत्राञ्जनं समालोक्य अर्थात् भ्रूमध्ये दृष्टिं स्थिरीकृत्य आत्मारामम् अर्थात् परमात्मानम् अवलोकयेत्। सर्वतन्त्रेषु गोपितामिमां मुद्रां शाम्भवीमुद्रा-इत्यनेन नाम्नापि ज्ञायते[११४४]।

मुद्रायामस्यां मूलबन्धेन उड्डीयानबन्धेन च सह नासिकाग्रभागे भ्रूमध्ये वा दृष्टिं स्थिरीकृत्य ध्यानं क्रियते[११४५]। ध्यानमेतत् परमात्मनः[११४६] स्वमनोनीतवस्तुनः[११४७] कस्यचित् विन्दूनो[११४८] वा भवितुमर्हति। ध्यानावस्थायाम् अधिकसमयपर्यन्तं स्थातव्यम्[११४९]।

मुद्रायामस्यां हस्तमुद्रा ज्ञानमुद्रा चिन्मुद्रा वा भवेत्। अस्याः मुद्रायाः प्रकारान्तरमस्ति आकाशीमुद्रा[११५०]। मुद्रेयं चलन् उत्तिष्ठन् उपविशन् अपि कर्त्तुं शक्यते[११५१]।

(४) **ज्ञानमुद्रा** - पद्मासने सिद्धासने[११५२] कस्मिंश्चित् ध्यानात्मकासने[११५३]वा उपविश्य मणिबन्धस्य पृष्ठभागं जानुद्वयोपरि रक्षयेत्[११५४]। तदनन्तरं तर्जनी-अङ्गुलीद्वयं व्यावर्त्त्य अङ्गुष्ठद्वयस्य मूलभागे[११५५] अथवा तर्जनी-अङ्गुष्ठानाम् अग्रभागं सम्मेल्य रक्षयेत[११५६]। अन्यअङ्गुलीत्रयं परस्परं दूरीकृत्य प्रसार्य शिथिलीकृत्य रक्षयेत्[११५७]। कुत्रचित् करतलं भूमिं प्रति सम्मुखीकृत्य रक्षयेत्[११५८]इत्युक्तमस्ति। विषयस्तु अनुसन्धेयः। एषा ज्ञानमुद्रा ध्यानमुद्रानाम्नापि ज्ञायते[११५९]।

एतासामतिरिच्य अन्यासामपि मुद्राणां व्यवहारोऽवलोक्यते योगसाधनाक्षेत्रे। परन्तु विस्तृतिभयात् तासां नामोल्लेखः एव क्रियते। ताः यथा - (१) वज्रोलीमुद्रा[११६०] (२) तडागीमुद्रा[११६१] (३) माण्डूकीमुद्रा[११६२] (४) पार्थिवीधारणमुद्रा[११६३] (५)आम्भसीधारणमुद्रा[११६४] (६) वायवीयधारणमुद्रा[११६५] (७) आग्नेयीधारणमुद्रा[११६६] (८) आकाशीधारणमुद्रा[११६७] (९) पाशिनीमुद्रा[११६८] (१०) काकीमुद्रा[११६९] (११) मातङ्गिनीमुद्रा[११७०] (१२) भुजङ्गिनीमुद्रा[११७१] (१३) अमरोलीमुद्रा[११७२] (१४) उन्मनीमुद्रा[११७३] (१५) प्राणमुद्रा[११७४] (१६) अपानमुद्रा[११७५] (१७) अपानवायुमुद्रा[११७६] (१८) सूर्यमुद्रा[११७७] (१९) वरुणमुद्रा[११७८] (२०) लिङ्गमुद्रा[११७९] (२१) धारणाशक्तिमुद्रा[११८०] (२२) ब्रह्ममुद्रा[११८१] (२३) नवमुखीमुद्रा[११८२] (२४) ग्रिभमुद्रा[११८३] (२५) पदमुद्रा[११८४] (२६) स्कन्दमुद्रा[११८५] (२७) अगोचरीमुद्रा[११८६] (२८) भूचरीमुद्रा[११८७] (२९) चाचरीमुद्रा[११८८] (३०) ब्रह्माञ्जलिमुद्रा[११८९] इत्यादयः।

(ख) बन्धः - योगसाधनायां बन्धानामुपयोगिता उल्लेखनीया। बन्धं विना प्राणायामः न कदापि कर्त्तव्यः। यतो हि बन्धराहित्येन कृतेन प्राणायामेन वास्तविकलाभो न अवाप्यते[११९०]।

(१) **मूलबन्धः** - मूलबन्धशब्दस्यार्थोऽस्ति उत्पत्तिस्थलम्। अस्य बन्धस्य अभ्यासात् मूलाधारचक्रस्य अर्थात् उत्पत्तिस्थलस्य ग्रन्थि-स्नायू-इत्यादयः सबलतराः भवन्तीति

अस्य बन्धस्य नाम मूलबन्धः[११९१]। मूलस्थानस्य बन्धनं भवन्तीति बन्धोऽयं मूलबन्धनाम्ना ज्ञायते[११९२]। मूलबन्धस्य लक्षणविषये उच्यते यत् पार्ष्णिभागेन योनिप्रदेशं संपीड्य गुदाभागमाकुञ्चयेत्। तदनन्तरम् अपानवायुम् ऊर्ध्वभागे आकर्षयेत्। अधोगतियुक्तम् अपानवायुम् आकुञ्चनेन बलात् ऊर्ध्वगतिमन्तं करोतीति योगीनः एतं बन्धं मूलबन्धः इति वदन्ति[११९३]। गुदाभागं गुल्फेन संपीड्य वायुम् बलात् बारं बारम् आकुञ्चयेत्। अनेन वायुः सुषुम्णानाड्या ऊर्ध्वभागे प्राप्नोति[११९४]।

मूलबन्धविधिं व्याख्यायन् ऋषिवरः घेरण्डः वदति यत् योनिप्रदेशस्य आकर्षणं वामगुल्फेन भवेत् तदनन्तरं यत्नपूर्वकतया नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे योजयेत् तथा दक्षिणगुल्फेन उपस्थेन्द्रियं दृढतापूर्वकतया बन्धनं कूर्यात्[११९५]।

मूलबन्धस्य अभ्याससमये साधकः सिद्धासने[११९६] पद्मासने अथवा कस्मिंश्चित् ध्यानात्मकासने[११९७] उपविशेत् परन्तु अस्य बन्धस्य अभ्यासार्थं सिद्धासनं सर्वोत्तमम्[११९८]।

अस्य बन्धस्य अभ्यासस्य अनेकाः विधयः समवाप्यन्ते। तेषु प्रथमविधि-अनुसारेण बन्धोऽयं पूरकेण सह गुदादेशमाकृष्य रेचकेन आकुञ्चनं शिथिलीकृत्य अपि कर्त्तुं शक्यते[११९९]।

द्वितीयविधि-अनुसारेण सिद्धासने उपविश्य नेत्रद्वयं निमील्य शरीरं शिथिलीकृत्य दीर्घतया पूरकं कृत्वा अन्तःकुम्भकं कृत्वा जालन्धरबन्धं कृत्वा मूलाधारप्रदेशस्य स्मायूनामाकुञ्चन-प्रसारणक्रियां कुर्वन् तान् उपरि आकर्षयेत्। स्वसामर्थ्यानुसारेण यावत् अन्तःकुम्भकं कर्त्तुं शक्यते तावत् आकुञ्चन-प्रसारणकार्यं कर्त्तव्यम्। तदनन्तरं स्नायून् शिथिलीकृत्य जालन्धरबन्धं परित्यज्य शनैः शनैः रेचकं कर्त्तव्यम्[१२००]।

तृतीयविधि-अनुसारेण साधकः बाह्यकुम्भकं कृत्वा अपि बन्धमिमं कर्त्तुं शक्नोति[१२०१]। एतस्य बन्धस्य बाह्यकुम्भकेन सह करणेन सौविध्यं भवति[१२०२]।

(२) उड्डीयानबन्धः - यतो हि अनेन बन्धेन प्राणवायुः सुषुम्नानाड्याम् उड्डीयते अतः एषः बन्धः उड्डीयानबन्धनाम्ना ज्ञायते[१२०३]। उड्डीयानबन्धस्य विधिविषये उच्यते यत् उदरे नाभेरूर्ध्वभागे तथा पश्चिमतानं कुर्यात्। एषः बन्धः मृत्युरूपिगजस्य कृते सिंहसदृशः बलशाली भवति[१२०४]।

जानुद्वयं व्यावर्त्त्य पादतलं परस्परं संयोज्य नाभेः उपर्यधोभागयोः अष्टाङ्गुलपर्यन्तं भागं बलादाकृष्य मेरुदण्डे अनेन रूपेण योजयितव्यं यत् उदरे गह्वरसदृशाकृतिर्भूयात्। यावत् शक्यते तावत् उदरम् अन्तर्भागे आकर्षणं कुर्यात्। बन्धोऽयं पादतलम् असंयोज्य

अपि कर्त्तुं शक्यते[१२०५]।

बन्धोऽयं पद्मासने सिद्धासने वा उपविश्य अपि कर्त्तुं शक्यते[१२०६]। हस्ततलं जानुद्वये रक्षयितव्यम्। दीर्घतया रेचकं कृत्वा बहिः कुम्भकं कृत्वा जालन्धरबन्धं कर्त्तव्यम्। तदनन्तरम् उदरस्थितान् मांसपेशीन् अधिकतया उपरि अन्तर्भागे च आकुञ्चयेत् तथा यथाशक्ति तस्यामेवावस्थायां स्थित्वा उदरं जालन्धरबन्धं च शिथिलीकृत्य क्षणं विश्रम्य पुनः कुर्यात्[१२०७]। उदराकर्षणकाले वक्षस्थलं किञ्चित् उपरि प्रसारितव्यम्[१२०८]। यथा बन्धोऽयं पद्मासने सिद्धासने वा उपविश्य कर्त्तुं शक्यते तथैव उत्थाय अपि कर्त्तुं शक्यते[१२०९]। यथा -

पादद्वयस्य मध्ये एक'फूट'-इत्यस्य अन्तरालं रक्षयित्वा हस्तद्वयमुपरि कृत्वा श्वासं प्रपूर्य पुनश्च हस्तद्वयम् अधः आनीय जानोः उपरि रक्षयेत् । तदनन्तरं निश्वस्य बहिःकुम्भकं कृत्वा उदरम् अन्तर्भागे आकर्षयेत्। आकर्षणकाले उदरं मेरुदण्डे संलग्नो भवेत्। अनेन रूपेण यथाशक्तिः अवस्थानं कृत्वा उदराकर्षणं परित्यज्य उदरं शिथिलीकुर्यात्। अनेन रूपेण बारचतुष्टयं बारपञ्चकं वा कुर्यात्[१२१०]।

बन्धोऽयं हृदयरोगिणा, उदरव्रणवता तथा गर्भवत्या स्त्रिया न कर्त्तव्यः[१२११]। न केवलमेतदेव अपितु द्वादशवर्षेभ्यः न्यूनायुर्वता बालकेन अथवा अऋतुमत्या बालिकया बन्धोऽयं न कर्त्तव्यः[१२१२]।

(३) जालन्धरबन्धः - जालन्धर-इत्यस्य शब्दस्यार्थोऽस्ति जालसमूहः। यः समस्तनाडीजालं बध्नाति तथा (चन्द्रनाडीतः क्षरितम्)अमृतम् अधोगमनात् रुणद्धि तमेव बन्धं जालन्धरबन्धनाम्ना ज्ञायते[१२१३]। जालन्धरबन्धस्य विधिविषये उच्यते यत् बन्धोऽयं शिराजालं बध्नाति अतः बन्धोऽयं जालन्धरबन्धनाम्ना ज्ञायते[१२१४]।

जालन्धरबन्धस्य विधिविषये प्राप्यते यत् कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्[१२१५]इति। तदुपरि एतस्य बन्धस्य विधिविषये प्राप्यते यत् उत्थाय[१२१६] सुखासने पद्मासने सिद्धासने वा उपविश्य प्राणायामं कुर्वन् पूरककरणानन्तरं रेचककरणानन्तरं वा बन्धोऽयं क्रियते[१२१७]। अर्थात् बन्धोऽयं कुम्भककाले[१२१८] अर्थात् बाह्यकुम्भककाले अन्तःकुम्भककाले च करणीयः। अवस्थायामस्यां हस्तद्वयं जानुद्वयोपरि रक्षयित्वा चिबुकं कण्ठकूपे[१२१९] संयोजयेत्। अवस्थायामस्यां चिबुकहृदययोर्मध्ये अन्तरालं अङ्गुष्ठचतुष्टयस्य[१२२०] अङ्गुष्ठषट्कस्य[१२२१] वा भवेत्। अवस्थायामस्यां वक्षस्थलम्

अग्रभागे किञ्चित् प्रसारितं भवेत्[१२२२]। बन्धोऽयं कण्ठस्थानस्य नाडीजालसमूहं बद्ध्वा रक्षयति[१२२३]। बन्धोऽयं जालन्धरबन्धनाम्ना ज्ञायते।

(४) **महाबन्धः** - बन्धोऽयं बन्धत्रयाणां समन्वयः[१२२४]। बन्धस्यास्य विधिविषये उच्यते यत् वामपादस्य गुल्फेन गुदामूलं निरुद्ध्य तद्गुल्फं यत्नेन दक्षिणपादेन सम्पीड्य शनैः शनैः योनिप्रदेशम् आकुञ्चयेत् चालयेत् च तथा जालन्धरबन्धेन प्राणवायुं धारयेत्। महाबन्धोऽयं सर्वबन्धेषु श्रेष्ठोऽस्ति[१२२५]।

महाबन्धस्य विधिविषये मतवैभिन्न्यमवलोक्यते। तेषु प्रथमविधिअनुसारेण कस्मिंश्चित् ध्यानात्मकासने उपविश्य बन्धत्रयमेकबारमेव क्रियते कुम्भकावस्थायाम्[१२२६]। पूर्णतया रेचकं कृत्वा क्रमशः जालन्धरबन्धम् उड्डीयानबन्धं मूलबन्धं च क्रियते। तदनन्तरं स्वचेतनां मूलाधार-मणिपुर-विशुद्धिचक्रेषु घूर्णयितव्या। यावत् कुम्भकं कर्त्तुं शक्यते तावत्। तदनन्तरं क्रमशः मूलबन्धम् उड्डीयानबन्धं जालन्धरबन्धं च परित्यज्य पूरकः कर्त्तव्यः[१२२७]।

अन्यविधिअनुसारेण वामगुल्फं योनिमण्डले दक्षिणगुल्फं च जननेन्द्रियमूले स्थापयेत्[१२२८]। तदनन्तरं वामनासापुटेन चलितस्वरेणनासापुटेन वा वायुमाकृष्य जालन्धरबन्धं क्रियते। तदनन्तरं मूलद्वारेण वायुम् उपरि आकृष्य मूलबन्धं कूर्यात्। मनः मध्यनाड्यां स्थिरीकृत्य यथाशक्तिः कुम्भकम् कुर्यात्। तदनन्तरं पूरकविपरीतनासिकायाः शनैः शनैः रेचयेत्[१२२९]।

अन्यविधिअनुसारेण योनिमण्डले वामगुल्फं जननेन्द्रियमूले दक्षिणगुल्फं च संस्थाप्य पूरकं कृत्वा जननेन्द्रियप्रदेशमाकुञ्च्य रेचकं कृत्वा तद्प्रदेशं प्रसार्य अपि बन्धोऽयं क्रियते। अनेन रूपेण दशबारतः पञ्चदशबारपर्यन्तं क्रियते। तदनन्तरं विपरीतक्रमेण पादन्यासं विधाय अपि बन्धोऽयं क्रियते[१२३०]।

अन्यविधिअनुसारेण पद्मासने सिद्धासने वा उपविश्य योनिप्रदेशं गुह्यप्रदेशं च आकृष्य अपानवायुम् ऊर्ध्वगामिनं कृत्वा नाभिस्थसमानवायुना सह सम्मेल्य हृदयस्थप्राणवायुम् अधोमुखिनं कृत्वा प्राणापानवायुभ्यां सह नाभिस्थले दृढतया कुम्भकं कुर्यात्[१२३१]।

एतादृशी विधिभिन्नता महाबन्धस्य योगसाधनाक्षेत्रे स्थितां महत्तां द्योतयति।

(ङ) **षट्कर्माणि** - पातञ्जलयोगसूत्रे[१२३२] शौचमस्ति नियमरूपयोगाङ्गान्तर्गतमेकमुपाङ्गम्। शौचं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधम्। यद्यपि बाह्यशौचं

लम्बाग्निनाधृतिमता परिभावितव्यं
संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम् ॥ ९५ ॥
सूर्य्यनाड्या समाकृष्य वायूमभ्यासयोगिनाम् ।
विधिवत् कुम्भकं कृत्वा रेचयेत् शीतरश्मिना ॥ ९६ ॥
उदरे वातदोषघ्नं कण्ठदोषं निहन्ति च ।
मुहुर्मुहुरिदं कार्य्यं सूर्य्यभेदमुदाहृतम् ॥ ९७ ॥
नाडीभ्यां वायुमाकृष्य कुण्डल्यापार्श्वयोर्नरः ।
धारयेदुदरे सोपि रेचयेदिड़या सुधीः ॥ ९८ ॥
कण्ठे कफादि दोषघ्नं शरीराग्निविवर्द्धनम् ।
शिरोजलोदधारा तु गत रोग विनाशनम् ॥ ९९ ॥
गच्छतस्तिष्ठतः कार्य्यं उज्जयाख्यन्तु कुम्भकम् ।
मुखेन वायुं संगृह्य प्राण रन्ध्रे विरेचयेत् ॥ १०० ॥
शीतलीकरणञ्चेदं हन्ति पित्तं तथा ज्वरम् ।
स्तनयो रथ भस्त्रेव लोहकारस्य वेगतः ॥ १०१ ॥
रेचयेत् पूरयेत् वायुमाश्रमं देहगंधिया ।
यदाश्रमोभवेद्देहे तथा सूर्य्येण रेचयेत् ॥ १०२ ॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्नि त्रिवर्द्धनम् ॥ १०३ ॥
कुण्डलीरोधकं वक्रभावघ्नं सुखदं शुभम् ।
ब्रह्मनाड़ीमुखं संस्थ कफाद्यर्गल नाशनम् ॥ १०४ ॥
सम्यक् गात्र समुद्भूत ग्रन्थित्रय विभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्त्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकन्त्विदम् ॥ १०५ ॥
बन्धत्रयमथेदानीं प्रवक्ष्यामि यथार्थवत् ।
नित्यं कृतेन येनासौ वायोर्जय मवाप्नुयात् ॥ १०६ ॥

CC-0 Pt. Chakradhar Joshi and Sons, Dev Prayag. Digitized by eGangotri

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते ।
बन्धत्रयमिदं कार्य्यं वक्ष्यमाणं मया स्फुटम् ॥ १०७ ॥
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीय उड्डियानकः ।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम् ॥ १०८ ॥
गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायु माकुञ्चयेत् बलात् ।
वारम्वारं तथा चोर्द्ध्वं समायाति समीरणः ॥ १०९ ॥
प्राणापानं नादविन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छते नात्र संशयः ॥ ११० ॥
कुम्भकान्ते रेचकान्ते कर्त्तव्यस्तूड्डियानकः ।
बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते ततः ॥ १११ ॥
तस्मादुड्डियानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
उड्डियानस्तु सहजं गुरुणा कथितं मदा ॥ ११२ ॥
अभ्यासेदस्वतन्त्रस्तु वृद्धोपि तरुणायते ।
नाभेरूर्द्ध्व मधश्चापि प्राणं कुर्य्यात् प्रयत्नतः ॥ ११३ ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युञ्जयत्येव न संशयः ।
पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बन्धोजालन्धराभिधः ॥ ११४ ॥
कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधकः ।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया ॥ ११५ ॥
बन्धोजालन्धराख्योयममृताव्ययकारकः ।
अधस्तात् कुञ्चनेनाशु कण्ठ सङ्कोचनेन च ॥ ११६ ॥
मध्यमा भ्रमणेन स्यात् सप्राणो ब्रह्मनाड़िगः ।
वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वातु कुण्डलीम् ॥११७॥
कुर्य्यदानन्तरं भस्त्रीं कुण्डलीमाशु रोधयेत् ।
भिद्यन्तेग्रन्थयोवंशे तप्तलोह शलाकया ॥ ११८ ॥

CC-0 Pt. Chakradhar Joshi and Sons, Dev Prayag. Digitized by eGangotri

तथैव पृष्ठवंशे स्यात् ग्रन्थि भेदस्तु वायुना ।
पिपीलिका यत्र लग्ना कण्डुस्तत्र प्रवर्त्तते ॥ ११९ ॥
सुषुम्नया तथाभ्यासात् सततं वायुना भवेत् ।
रुद्रग्रन्थिं ततोभित्त्वा सैव याति शिवात्मकम् ॥ १२० ॥
चन्द्रसूर्य्यौ समौकृत्वा तयोर्योगः प्रवर्त्तते ।
गुण त्रयादतीतः स्यात् ग्रन्थित्रय विभेदकः ॥ १२१ ॥
शिवशक्ति समायोगात् जायते परमा स्थितिः ।
यथाकरीकरेणैव पानीयं प्रपिवेत्तथा ॥ १२२ ॥
सुषुम्ना वज्रनलिनः परमार्णं ग्रहेत् सदा ।
वज्रदण्डेतु संभूता मनयोस्चैक विंशतिः ॥ १२३ ॥
सुषुम्नायां स्थिताः सर्व्वे सूत्रे मणिगणाइव ।
मोक्षमार्गे प्रसिद्धा सा सुषुम्ना विश्वधारिणी ॥ १२४ ॥
यत्रवै निर्ज्जितः कालश्चन्द्र सूर्य्य निवन्धनात् ।
आपूर्य्य कुम्भितोवायु र्वहि र्नोयाति साधके ॥ १२५ ॥
पुनः पुनस्तद्देतत् पश्चिमद्वार लक्षणम् ।
परितस्तु नवद्वारैरोधत् कुम्भकताङ्गताः ॥ १२६ ॥
प्रविशेत् सर्व्वगात्रेषु वायुः पश्चिम मार्गतः ।
रेचके क्षीणतां याते पूरकं शोषयेत् सदा ॥ १२७ ॥
सएव नाथ सङ्केतं सिद्ध सङ्केत लक्षणः ।
गुरु प्रसादात् मरुदेव साधितः
स्तेनैव चित्तं पवनेन साधितम् ।
सएव योगी स जितेन्द्रियः
सुखी मूढा नजानन्ति कुतर्कवादिनः ॥ १२८ ॥
चित्तं हि नष्टं यदि मारुते स्यां
तत्रप्रतीतोमरुतोपि नाशः

CC-0 Pt. Chakradhar Joshi and Sons, Dev Prayag. Digitized by eGangotri

मत्स्येन्द्रनाथ ने मरण-निर्मुक्ति को योग की मुख्य साधना स्वीकार की है और इसके दर्जनों उपायों का उल्लेख 'कौलज्ञाननिर्णय' में किया गया है।

मृत्युञ्जयत्व की आगमिक एवं यौगिक विधि—

तान्त्रिक योग एवं समस्त आगमिक परम्परा में इस सूत्र को सर्वत्र स्वीकार किया गया है कि—

यत्किंचित् स्रवते चन्द्रादमृतंदिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसतेसूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः।।[1]

अर्थात् सहस्रारस्थ शशाङ्क से जो पीयूष प्रवाहित होता है उसे मूलाधारस्थ सूर्य पी जाता है। यह पिण्ड को प्राप्त नहीं हो पाता। इसी कारण पिण्ड जरा-मरण द्वारा अभिशप्त है। नाभिदेश में जो दहनात्मक सूर्य है वह अमृतात्मा चन्द्रमा से अमृत छीनकर पी जाया करता है—

१. नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः॥

२. वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः।
करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते।
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुख वञ्चनम्॥[2]

३. **पवन के लय से मृत्यु पर विजयः (बन्धन से पवन-विजय)**

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्।
ततो न जायते मृत्युजरारोगादिकं तथा॥ (हठ० ३।७५)

विपरीतकरणी मुद्रा से भानु ऊपर एवं चन्द्रमा नीचे हो जाता है अतः चान्द्र पीयूष सूर्य को नहीं मिल पाता—

'ऊर्ध्वनाभरधस्तालोरुर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥[3]

परिणाम—

'वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालिजित॥ (८२)

४. **वज्रोलीमुद्रा**—बिन्दु रक्षा अमरत्व, वज्रोली मुद्रा भी बिन्दु को क्षरण से अवरुद्ध करके साधक को अमृतत्व प्रदान कराती है। इसके विषय में 'हठयोग प्रदीपिका में ३ वस्तुओं की आवश्यकता बताई गई है—१. वशवर्तिनी नारी, २. क्षीर, ३. साधक का संयत मन वज्रोली मुद्रा के अभ्यास से योगी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है—

---

१. हठयोग प्रदीपिका (३।७१)
२. हठयोग प्रदीपिका (३।७८)
३. हठयोग प्रदीपिका (३।७९)

Scanned by CamScanner

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवन बिन्दु धारणात् ॥[१]
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ?[२]

शुक्र तो चित्तायत्त हुआ करता है और जीवन शुक्रायत्त हुआ करता है—
'चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ (३।९०)

वज्रोली की प्रक्रिया—
'नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

रतिकर्म के समय स्खलित बिन्दु को भी योगी जननेन्द्रिय से ऊपर खींच लेता है और उसे आकर्षित करके ऊपर स्थिर कर लेता है ।

इस साधना में निरत व्यक्ति गृहस्थ होकर भी योगी/योगिनी है—
'पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वजोल्या सापि योगिनी । (हठ० ३।९९)
रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥ (हठ० ३।०२)

बिन्दुरक्षण

- १.नाद की बिन्दु मे परिणति
  तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति (हठ० ३।१००)
- २.देहसिद्धि
- ३.सर्वसिद्धियो
  स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ वज्रोल्याभ्यास योगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः (हठ० ३।१०१)
- ४.परमपद की प्राप्ति
  चन्द्रात्मक बिन्दु का सूर्यात्मक रज के साथ संयोग होने से परमपद की प्राप्ति होती है । (अमृतसिद्धि)

परमपद की प्राप्ति—
बिन्दुश्चन्द्रमयः प्रोक्तो रजः सूर्यमय तथा ।
अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् ॥ (अमृत सिद्धि)

देह सिद्धि—
देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यास योगतः ।
अयं पुण्यकरो योगोभोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥
हठयोग प्रदीपिका (३।१०३)

---

१. हठयोग प्रदीपिका (३।८८)
२. हठयोग प्रदीपिका (३।८९)

Scanned by CamScanner

॥श्रीराघ

पि१

गृहस्थो मिताहारी योगी योगपरायणः॥ अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धि नात्र कार्या विचारणा॥ कंदोर्ध्वं कुंडलीशक्तिरष्टधा कुंडलीकृता॥ बंधनाय च मूढानां योगीनां मोक्षदा सदा॥४४॥ महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयाणं जलंधरं॥ मुलबंधं च यो वेत्ति स योगी सिद्धिभाग्भवेत्॥४५॥ अथ मूलबंधः॥ अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मुत्रपुरीषयोः॥ युवा भवति वृद्धोपि सततं मूलबंधनात्॥४६॥ पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदं॥ अपानमूर्ध्वमाकृष्य मुलबंधो निगद्यते॥४७॥ अथोड्याणं॥ उड्डाणं कुरुते यस्मादविश्रांतो महाखगः॥ उड्डीयाणं तदेव स्यान्मृत्युमातंगकेसरी॥४८॥ उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते॥ उड्डीयाणाख्य बंधोयं यत्र बंधो निगद्यते॥४९॥ अथ जालंधरः॥ बध्नाति हि शिरोजालमधोगामीनभोजलं॥ ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशने॥५०॥ जालंधरो कृते बंधे कंठ

२१

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

संकोचलक्षणो॥ पीयूषं लपतस्य मौनं च वायुः आ
कुप्यति॥ अथ नभो मुद्रा॥ कपालकुहरे जिह्वा प्र
विष्टा विपरीतगा॥ भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भव
ति खेचरी॥ न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृ
षा॥ न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं॥ ८३॥
पीड्यते न च रोकेन कर्मणा न च लिप्यते॥ बध्यो
ते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं॥ ८४॥ चि
त्तं चरति खे यस्मा जिह्वा चरति खगता॥ तेनैव
खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता॥ ८५॥ गुदमे
ल शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः॥ भावयं

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

त्तिशरीराणि आपादतलमस्तकं॥ खेचरी मुद्रयायेन विवरंलंबिकोर्ध्वताः॥ न तस्यक्षरते बिंदुः कामिन्यालिंगितस्यच॥५७॥ यावद्विंदुः स्थितोदेहे तावन्मृत्युभयंकुतः॥ यावद्बध्यानभोमुद्रा तावद्बिंदुर्नगछति॥५८॥ चलितोपियदा बिंदुः संप्राप्तश्चहुताशनं॥ व्रजत्यूर्ध्वंहृतःशक्त्या निबध्योयोनिमुद्रया॥५९॥ सएव द्विविधो बिंदुः पांडुरो लोहितस्मृतः॥ पांडुरंशुक्रमित्याहुर्लोहितंरज उच्यते॥६०॥ विद्रुमद्रवसंकाशं रविस्थाने स्थितंरजः॥ शशिस्थाने भवेद्बिंदुस्तयोरै

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

कथंचदुर्लभं॥८२॥ बिंदुःशिवोरजःशक्तिरिंदुर्बिं
दुरजोरविः॥उभयोःसंगमादेवप्राप्यतेपर
मंपदं॥८३॥वायुनाशक्तिचालेनप्रेरितंचय
दारजः॥यातिबिंदुसदैकत्वंभवेद्दिव्यवपु
स्तदा॥शुक्रंचंद्रेणसंयुक्तंरजःसूर्येणसं
युतं॥द्वयोःसमरसत्वंचयोजानातिसयोग
वान्॥८४॥अथमहामुद्रा॥शोधनंनाडिजा
तस्यचलनंचंद्रसूर्ययोः रसानांशोषणंचैव
मुद्राभिधीयते॥८५॥वक्षोन्यस्तहनुःप्रपी
डयसुचिरंयोनिंचवामांघ्रिणा॥हस्ताभ्याम

॥८॥ ॥८॥

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

तु राधयेत्प्रसारितं पादं तथा दक्षिणं॥ आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा
शनैः रेचयेत्सैषं व्याधिविनाशिनी निमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते॥१७॥
चंद्रांगेन समभ्यस्य सूर्यांगेनैं समभ्यसेत्॥ यावत्तुल्या नवेत्संख्या
ततो मुद्रां विसर्जयेत्॥१८॥ नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीर
साः॥ अपि मुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते॥१९॥ क्षयकुष्ठगु
दावर्तगुल्माजीर्णज्वरव्यथाः॥ रोगादोषाः क्षयं यांति महामु
द्रां च योभ्यसेत्॥२०॥ कथितेयं महामुद्रा महासि[illegible]धिनी
नृणां॥ गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥२१॥ प[illegible]द्मा
समारुह्य समकायशिरोधरः॥ नास्याग्रदृष्टिरेकांते जपेदोंका

इकाई–20 घेरण्ड संहिता में वर्णित मुद्राओं की विधि, लाभ एवं सावधानियाँ

इकाई की संरचना

20.1 प्रस्तावना

घेरण्ड संहिता के तीसरे अध्याय में मुद्राओं का वर्णन किया गया है। घेरण्ड संहिता में 25 मुद्राओं का वर्णन मिलता है जिनमें 16 मुद्राएँ, 4 बन्ध तथा 5 धारणाएँ है। प्रस्तुत इकाई में हम मुद्राओं, बन्धों तथा धारणाओं की महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त करेंगे। महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि मुद्रा बहुमूल्य साधन है जो ब्रह्मद्वार अर्थात् मूलस्थान पर सोती हुई कुण्डलिनी शक्ति का जागरण करके साधक को लक्ष्य तक पहुँचाती है परन्तु मुद्राओं को सोने की पिटारी की तरह गुप्त रखना चाहिए। अतः स्पष्ट होता है कि बन्ध व मुद्राएं हमें बाह्य या भौतिक जगत् से हटाकर अर्न्तजगत् में ले जाती है तथा लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है प्रस्तुत इकाई में आप मुद्राओं, बन्धों तथा धारणों की विधियों का अध्ययन करेंगे।

20.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई से आप–

- मुद्राओं की विधि तथा लाभ का अध्ययन करेंगे।
- मुद्रा व बन्धों की सावधानियों का अध्ययन करेंगे।
- मुद्रा व बन्धों के उद्देश्यों को समझ सकेंगे।
- घेरण्ड संहित में वर्णित विविध मुद्रा व बन्धों का विश्लेषण कर सकेंगे।

20.3 घेरण्ड संहिता में वर्णित मुद्राएँ

घेरण्ड संहिता में 25 मुद्राओं का वर्णन मिलता है। जिनमें 16 मुद्राएँ, 4 बंध तथा 5 धारणाएँ है। घेरण्ड संहिता के तीसरे अध्याय में मुद्राओं का वर्णन किया गया है। मुद्रा का अभ्यास मानसिक स्थिरता प्रदान करता है। योग में मुद्राओं एवं बन्धों का स्थान आसन और प्राणायाम से भी बढ़कर बताया गया है क्योंकि मुद्रा का अभ्यास हमारे प्राणमय कोश और मनोमय कोश को प्रभावित करता है।

> महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
> मूलबन्धो महाबन्धो महाबेधश्च खेचरी।।
> विपरीतकरी योनिर्वज्रोणि शक्तिचालनी।
> ताडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पंचधारणा।।
> अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
> पंचविंशतिमुद्राश्च सिद्धिया इह योगिनाम्।। घे०सं० 3/1 2 3

अर्थात् घेरण्ड मुनि कहते हैं– महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्यिान बंध, जालन्धर बंध, मूलबंध, महाबन्ध, महाबेध मुद्रा, खेचरी मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, योनि मुद्रा, वज्रोणि मुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, तडागी मुद्रा, माण्डुकी मुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवीय धारणा, आकाशी धारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी

और भुजंगिनी इत्यादि 25 मुद्राएँ हैं। इनका अभ्यास करने से योगी को कई प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

20.3.1 महामुद्रा

घेरण्ड मुनि ने महामुद्रा का वर्णन इस प्रकार किया है–

विधि–

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढ़यत्नतः।
याम्यपादं प्रासार्याथ करोपात्तपदाङ्गुलिः।।
कण्ठ संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं निरीक्षयेत।
पूरकैर्वायुं सम्पूर्य महामुद्रा निगद्यते।। घे०सं० 3/29 30

बाँयी एडी से गुदा प्रदेश को दबाये तथा दाहिने पैर को सीधा रखे। गहरी श्वास ले तथा श्वास छोड़ते हुए आगे झुक कर दाहिने पैर के पंजे को दोनों हाथों से पकड़ ले। कण्ठ को संकुचित कर जालन्धर बंध लगाए तथा दोनों आँखों को भूमध्य (शाम्भवी मुद्रा) में केन्द्रित करें। पूरक की गई वायु को यथा सम्भव रोके (अन्तर्कुम्भक)। यह महामुद्रा कहलाती है।

लाभ– वलितं पलितं चैव जरा मृत्युं निवारयेत्।
क्षयकासं उदावर्तप्लीहाजीर्णज्वरं तथा।
नाशयेतत्सर्वरोगांश्च महामुद्राप्रसाधनात्।। घे०सं० 3/31

यह मुद्रा चित्त की चंचलता को समाप्त करती है, मन की एकाग्रता को बढ़ाती है। इस मुद्रा के अभ्यास से बुढ़ापे पर विजय प्राप्त होती है तथा मृत्यु का नाश होता है। चिकित्सा की दृष्टि से देखे तो कहा गया है कि यह मुद्रा यक्ष्मा, कफ तथा श्वास सम्बन्धित रोगों को ठीक करती हैं। साथ ही साथ प्लीहा के रोग, पाचन सम्बन्धी रोग तथा तन्त्रिका तंत्र में संतुलन की प्राप्ति होती है।

सावधानियाँ– मुद्रा हठयोग का उच्च अभ्यास है, इसलिए बिना शरीर शुद्धि के पूर्व इस मुद्रा का अभ्यास नहीं करना चाहिए। उच्च रक्तचाप से पीड़ित रोगियों तथा हृदय रोगियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। इस मुद्रा के अभ्यास को गर्मीयों में नहीं करना चाहिए क्योंकि इसका अभ्यास शरीर के ताप में वृद्धि करता है।

20.3.2 नभो मुद्रा–

विधि– यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा।
उर्ध्वजिहः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा।
नभो मुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी।। घे०सं० 3/32

सभी कार्यों में लगे रहते हुए या कहीं भी स्थिर हुआ योगी इस मुद्रा में जीभ को उल्टा कर ऊपर तालु से सटा दे तथा कुम्भक लगाकर वायु को रोक दे यह नभो मुद्रा कहलाती है।

लाभ–

यह मुद्रा एक प्रकार से खेचरी का सरल अभ्यास है इसलिए इससे खेचरी मुद्रा के लाभ मिलते हैं। कहा गया है कि जो अभ्यासी इसका निरन्तर अभ्यास करते हैं उन्हें किसी भी प्रकार के रोग नहीं होते।

सावधानी–

उच्च रक्तचाप वाले व्यक्ति तथा ह्रदय रोग से पीड़ित रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। जीभ को तालु से लगाते समय सावधानी रखे। बिना गुरू के इसका अभ्यास न करे।

20.3.3 खेचरी मुद्रा विधि

जिह्वाधो नाड़ी संछित्य रसनां चालयेत्सदा।
दोहयेत्रवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत्।।
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।
यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तदा सिध्यति खेचरी।।
रसना तालुमूले तु शनैः शनैः प्रवेशयेत्।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। घे०सं० 3/33 34 35

जिह्वा और जिह्वा मूल को मिलाने वाली नाड़ी का छेदन कर जिह्वा के आगे वाले भाग का निरन्तर चालन करें और मक्खन लगाकर निरन्तर दोहन करें साथ ही साथ लोहे की चिमटी से खीचें। इसका प्रतिदिन अभ्यास करने से जिह्वा बढ़ती है। जिह्वा को इस अभ्यास से इतना लम्बा कर लेना चाहिए कि वह भौहो के मध्य तक पहुँच सके। तत्पश्चात् जिह्वा को तालू मूल में धीरे–धीरे प्रविष्ट करें। जिह्वा को उलटकर कपालरन्ध्र में ले जाना चाहिए। दृष्टि को दोनों भौहों के मध्य भाग में रखे। यह खेचरी मुद्रा कहलाती है।

लाभ–

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते।।
नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारूतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दशेन्न भुजंगमः।।
लावण्यं च भवेद्गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात्।।
नानारससमुद्भूतमानन्दं न दिने दिने।
आदौ च लवणं क्षारं च ततस्तिक्तकषायकम्।।
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम्।। घे०सं० 3/36 37 38 39 40

खेचरी सिद्ध होने पर साधक को मूर्च्छा, क्षुधा, तृष्णा, आलस्य आदि नहीं सताते। उसे रोग, जरा और मृत्यु का भय नहीं रहता। उसका शरीर आग में नहीं जलता और न ही पवन से सूखता है और न ही जल उसके शरीर को भिगो सकता है। उसके शरीर पर सर्प के विष का असर नहीं होता। साधक को निश्छल समाधि सिद्ध हो जाती है। तालू के ऊपर और कपाल कुहर में जो स्वाद ग्रन्थियाँ होती है साधक की उनके कई स्वादों का अनुभव होने लगता है तथा साथ ही साथ कई रस भी उत्पन्न होने लगते हैं। कई नवीन आनन्द की अनुभूति होती है। प्रारम्भ में लवण, क्षार, तिक्त और कषाय रस का अनुभव होता है तथा इसके बाद मक्खन, धृत, दूध, दधि, तक्र, मधु, द्राक्षा और अमृत आदि रसों का स्वाद उत्पन्न होता है।

सावधानी

खेचरी मुद्रा का अभ्यास उच्च तथा जटिल अभ्यास है जिह्वा को तालु को काटते समय सावधानी बरते तथा किसी योग्य गुरू के निर्देशन में ही इसका अभ्यास करे। जिह्वा व्रण तथा मुँह का अन्य किसी रोग में अभ्यास को न करे।

20.3.4 महाबेध मुद्रा

विधि– महाबेध की विशेषता बताते हुए घेरण्ड मुनि कहते हैं कि महाबेध के बिना मूलबंध तथा महाबंध दोनो ही निष्फल है, जिस प्रकार बिना पुरुष के स्त्री का रूप, यौवन और लावण्य व्यर्थ है।

महाबन्धंसमासाद्य कुम्भकं चरेदुड्डीन।
महाबेधः समाख्यातौ योगिनां सिद्धिदायकः।। घे०सं० 3/42

सर्वप्रथम महाबंध का अभ्यास करे तत्पश्चात् उड्डियान बंध कर वायु को कुम्भक द्वारा रोके। यही महाबेध मुद्रा है।

लाभ–

महाबन्धमूलबन्धौ महाबेधसमन्वितौ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः।। घे०सं० 3/43
न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुंगवैः।। घे०सं० 3/44

जो साधक प्रतिदिन महाबेध के साथ महाबंध, मूलबंध का अभ्यास करता है वह सभी योगियों में श्रेष्ठ माना जाता है। उसे वृद्धावस्था नहीं आती, उसे मृत्यु का भय नहीं सताता। साधको को इसका अभ्यास गोपनीय रखना चाहिए।

सावधानी–

इस अभ्यास में तीनों बंधो (मूलबंध, उड्डियानबंध, जालंधर बंध) में निपूणता होनी चाहिए। बिना गुरू के निर्देशन के इसका अभ्यास न करे।

20.3.5 विपरीत करणी मुद्रा

विधि–

घेरण्ड मुनि कहते हैं कि नाभिमूल में सूर्य तथा तालू मूल में चन्द्र स्थित है। चन्द्र द्वारा अमृत का स्त्राव होता है, सूर्य इस अमृत का पान करता है जिससे प्राणी की मृत्यु होती है किन्तु अगर चन्द्र नाडी के अमृतपान करने पर मृत्यु नहीं आती। इसलिए सूर्य को ऊपर और चन्द्र को नीचे कर ले। यही विपरीतयकरणी है–

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः।
उर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता।। घे०सं० 3/47

सिर को भूमि पर रखे तथा दोनों हाथों से कमर को सहारा देकर दोनों पावों को ऊपर उठाएँ तत्पश्चात् कुम्भक द्वारा वायु को रोके, यही विपरीतकरणी मुद्रा है।

लाभ– मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरा मृत्युं च नाशयेत्।
स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति।। घे०सं० 3/48

इस मुद्रा का नित्यप्रति अभ्यास करने से वृद्धावस्था व मृत्यु नहीं आती। इसका अभ्यास करने वाला साधक सब लोकों में सिद्धि प्राप्त करता है तथा प्रलयकाल में भी दुखी नहीं होता है।

सावधानी–

शरीर के स्वस्थ होने पर ही इसका अभ्यास करना चाहिए। उच्च रक्तचाप, हृदय रोग से पीड़ित रोगियों को तथा थायराइड़ वृद्धि पर इसका अभ्यास न करे। मस्तिष्क चक्र के दौरान इसका अभ्यास वर्जित है। प्रारम्भ में इसका अभ्यास गुरू के निर्देशन में ही करे। मोटे व्यक्ति इसका अभ्यास दीवार या किसी अन्य सहारे से करे।

20.3.6 योनि मुद्रा

विधि–

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसामुखम्।
अङ्गुष्ठतर्जनी मध्यानामाद्यैः पिद्धीत वै।।
प्राणमाकृष्य काकीभिरपाने योजयेत्ततः।
षट् चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधीः।।
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिया या भुजंगिनी।
जीवेन सहितां शक्ति समुत्थाप्य पराम्बुजे।।

शक्तिमयो स्वयं भूत्वा परं शिवेन संगमम्।
नानासुखं विहारं च चिन्तयेत्परमं सुखम्।।
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुविभावयेत्।
आनन्दमानसो स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति संभवेत्।। घे०सं० 3/49–53

सर्वप्रथम सिद्धासन में बैठकर दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से आँखों को, मध्यमाओं से नासिका को तथा अनामिका से मुख को बन्द करें। काकी मुद्रा द्वारा प्राण खींचकर अपान में मिला दे। शरीर में स्थित छहः चक्रों पर ध्यान लगाते हुए "हूँ" अथवा "हंस" मन्त्र से कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर उसके साथ ही जीवात्मा को सहस्त्रार चक्र में ले जाए। इसी समय साधक को यह भावना करनी चाहिए कि "मैं शिव के साथ शक्ति सम्पन्न होकर सुखपूर्वक विहार कर रहा हूँ। शिव शक्ति के संगम से ही मैं आनन्दमय स्वयंभू व्रह्म हो गया हूँ।" यही योनिमुद्रा है।

लाभ–

ब्रह्महाभ्रूणहा चैव सुरापी गुरू तल्पगः।
एतैः पोपेर्न लिप्यते योनि मुद्रा निबन्धनात्।।
योनिमुद्रा परागोप्या देवानामपि दुर्लभा।
सकृत्तु लब्धसंसिद्धः समाधिस्थः स एव हि।।
यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रा निबन्धनात्।
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्यादि मुक्तिं समिच्छति।। घे०सं० 3/54 55 56

इस मुद्रा के नियमित अभ्यास से ब्रह्म हत्या, भ्रूण हत्या, सुरापान, गुरुतल्प गमन आदि महापापो से मुक्ति मिलती है। इसके और अधिक लाभों को बताते हुए कहते हैं कि यह मुद्रा परम गोपनीय है इसलिए देवताओं के लिए भी यह दुर्लभ है। इसका नियमित अभ्यास करने वाला साधक समाधि को प्राप्त कर लेता है। संसार के जितने भी पाप है इसके निरन्तर अभ्यास से दूर हो जाता है। जो साधक मोक्ष को प्राप्त करना चाहते है। उनको इस मुद्रा का अभ्यास नित्यप्रति करना चाहिए।

सावधानी–

जो व्यक्ति अन्तर्मुखी हो वो इसका अभ्यास न करे। गृहस्थ आश्रम में रहने वाले सिद्धासन में ज्यादा देर न बैठे। साइटिका से पीड़ित व्यक्ति इसका अभ्यास न करे। जिन व्यक्तियों के कान बहते हो, वो भी इसका अभ्यास न करे।

20.3.7 वज्रोणि मुद्रा–

विधि– धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां उर्ध्वे क्षिपेत्पाद युगंशिरखे।
शक्ति प्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रोणिमुद्रा मुनयोः वदन्ति।।
घे०सं० 3/57

दोनों हथेलियों को भूमि पर रखे तथा दोनों पैरों को एवं सिर को आकाश की तरफ उठा ले। यह मुद्रा, ब्रह्मचर्य आसन की स्थिति जैसी है। योगियों ने इस मुद्रा को शक्ति संचार तथा जीवन प्राप्त कराने वाली कहा है। यही वज्रोणि मुद्रा है।

लाभ–

अयं योगे योग श्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम्।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः।।
एतद्योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद्ध्रुवम्।
सिद्धे विन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले।।
भेगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत्।
तथापि सकला सिद्धिर्भवति तस्य निश्चितम्।। घे०सं० 3/58 59 60

इस मुद्रा के लाभो का वर्णन करते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि यह मुद्रा मुक्ति देने वाली तथा हितकारिणी है। यह मुद्रा श्रेष्ठ है तथा सिद्धि प्रदान करने वाली है। इससे बिन्दु सिद्धि होती है तथा बिन्दु सिद्ध होने पर पृथ्वी के सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। यदि भोग में लिप्त व्यक्ति भी इस मुद्रा का नियमित अभ्यास करे तो उसे भी सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

सावधानी–

जिन व्यक्तियों को भुजाएँ कमजोर हो उनको यह अभ्यास सावधानी से करना चाहिए।

20.3.8 शक्तिचालिनी मुद्रा

विधि– शक्तिचालिनी मुद्रा की विधि बताने से पूर्व महर्षि घेरण्ड कुण्डलिनी शक्ति के विषय में बताते हैं, वह इस शक्ति का वर्णन इसलिए कर रहे हैं क्योंकि इस मुद्रा के अभ्यास से वह गोपनीय शक्ति जो सभी मनुष्यों में सोई हुई है, जाग्रत हो जाती है।

कुण्डलिनी शक्ति जो मूलाधार चक्र में साढे तीन फेरा लगाए हुए सर्प के समान सोई पड़ी है, इस अवस्था में साधक पशु के समान है। इसलिए जब तक यह जाग्रत न हो जाए इसका अभ्यास करते रहना चाहिए। घेरण्ड मुनि कहते हैं कि नाभि को वस्त्र से लपेटे तथा अकेले में ही इसका अभ्यास करे। नग्न रहकर, सबसे सामने इसका अभ्यास बिल्कुल न करे।

विधि–

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम्।।
एवमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत्।

संलिप्य भस्मनागात्रं सिद्धासनमाचरेत्।।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्याप्यपाने योजयेद्बलात्।
तवादाकुंचयेद् गुह्यमश्विनीमुद्रया शनैः।।
यावद्गच्छेत्सुषुम्णायां हठाद्वायुः प्रकाशयेत्।
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी।।
घे०सं० 3/65 66 67 68।।

एक कोमल वस्त्र लेकर जो कि एक बालिस्त लम्बा तथा चार अंगुल चौड़ा हो, नाभि पर लगाकर कटि में बाँधे। समस्त शरीर पर भस्म लगाएँ, सिद्धासन में बैठे तथा प्राण को अपान से मिलाने का प्रयास करें। अश्विनी मुद्रा द्वारा गुदा द्वार को संकुचित रखे, जब तक कि सुषम्ना द्वार से चलती हुई वायु प्रकाशित न हो। इस प्रकार कुम्भक द्वारा सर्प रूपिणी कुण्डलिनी जाग्रत हो ऊर्ध्वगामी हो जाती है।

लाभ–

बद्धश्वासस्ततो भूत्वा चोर्ध्वमार्ग प्रपद्यते।
विना शक्तिचालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति।।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां ततोऽभ्यसेत्।
इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम्।।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत्।
मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी।।
तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः।
नित्यंयोऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद्रोगाणां संक्षयो भवेत्।। घे०सं० 3/69 70 71 72।।

इसके लाभों का वर्णन करते हुए महर्षि कहते हैं कि इसके अभ्यास के बिना योनिमुद्रा सिद्ध नहीं हो सकती। इसका अभ्यास नित्य प्रति करने को कहा है साथ ही इसे गोपनीय रखने को भी कहा गया है। इससे विग्रह–सिद्धि सहित सभी सिद्धियाँ मिलती है और सभी रोगों का भी निवारण होता है।

सावधानी– इस मुद्रा का अभ्यास गोपनीय ढंग से करना चाहिए। खुले बदन में इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। वस्त्र को लपेट कर, एकान्त में बैठ कर शक्तिचालनी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए।

20.3.9 तडागी मुद्रा–

विधि–

उदरंपश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिः।
ताडागी सा परामुद्रा जरा मृत्यु विनाशिनी।। घे०सं० 3/73

सर्वप्रथम पश्चिमोत्तासान में बैठे, पीठ को सीधा रखे। श्वास ले तथा पेट को ऐसे फुलाएँ जैसे उसके अन्दर पानी भरा हुआ हो। श्वास छोड़ते हुए पेट को अन्दर करे।

लाभ–यह एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा है इसका अभ्यास करने से बुढ़ापा नहीं आता तथा मृत्यु का भय भी दूर हो जाता है।

सावधानी–

गर्भवती महिलाएँ, हर्निया या भ्रंश से पीड़ित रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। श्वास लेते तथा छोड़ते हुए सावधानी बरतें।

20.3.10 माण्डूकी मुद्रा

विधि– मुखं संमुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां माण्डूकीं मुद्रिकां विदुः।। घे०सं० 3/74

मुख को बन्द कर जिह्वा को तालु में पूरा घुमाएँ, जिससे जिह्वा के माध्यम से सहस्त्रार चक्र से टपकने वाले सुधा का पान (अमृत) हो सके। यही माण्डूकी मुद्रा है।

लाभ– वलितंपलितं नैव जायते नित्ययौवनम्।
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डूकीम्।। घे०सं० 3/75

इसके अभ्यास से बालों का झड़ना, सफेद होना आदि सभी रोग दूर हो जाते है। इसके अभ्यास से शरीर में झुर्रियाँ नहीं पड़ती तथा युवावस्था बनी रहती है।

सावधानी– कमर, गर्दन को सीधा रखे। मूलाधार चक्र पर उचित दबाव डाले।

20.3.11 शाम्भवी मुद्रा

विधि–

नेत्रान्तरं समालोक्य चात्मारामं निरीक्षयेत्।
सा भवेच्छाम्भवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।। घे०सं० 3/76

दृष्टि को दोनों भौहों के मध्य स्थिर कर, ध्यान को स्वयं पर अर्थात् 'अपनी आत्मा' पर लगाए। यही शाम्भवी मुद्रा की विधि है। घेरण्ड मुनि ने इस मुद्रा को कुलवधू के समान बताया है।

लाभ– स एव ह्यादिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम्।। घे०सं० 3/78

इसका अभ्यास करने वाले साधक स्वयं आदिनाथ नारायण और जगत स्रष्टा ब्रह्मा ही है। अर्थात् इसका अभ्यास करने वाला साधक या पुरुष साक्षात् ब्रह्मरूप ही होता है।

सावधानी– जिन व्यक्तियों की आँखे बहुत अधिक कमजोर हो वो इसका अभ्यास ज्यादा देर तक या सावधानीपूर्वक ही करें। आँखों के किसी भी तरह के ऑपरेशन के बाद इसका अभ्यास न करें।

20.3.12 अश्विनी मुद्रा

विधि– आकुंचयेद् गुदाद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
सा भवेदश्विनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।। घे०सं० 3/82

गुदा द्वार को बार–बार संकुचित और प्रसारित करें। इस प्रक्रिया को बार–बार करना ही अश्विनी मुद्रा है। कहा भी गया है कि इससे कुण्डलिनी शक्ति जो मूलाधार चक्र में सोई हुई है, जाग्रत हो जाती है।

लाभ– आश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत्।। घे०सं० 3/83

इस मुद्रा से गुदा सम्बन्धित सभी रोग नष्ट होते हैं। इसके नियमित अभ्यास से शारीरिक बल बढ़ता है, अकाल मृत्यु भी नहीं होती है।

सावधानी–

जब इस मुद्रा का अभ्यास करे तब ध्यान रखे कि केवल गुदा द्वार का ही संकुचन हो। संकुचन एवं प्रसार लयबद्ध होना चाहिए। गुदा नाल व्रण से पीड़ित व्यक्ति इसका अभ्यास न करे।

20.3.13 पाशिनी मुद्रा

विधि

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढ़बन्धनम्।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी।। घे०सं० 3/84

दोनों पैरों को सिर के पीछे ले जाए तथा दोनों घुटनों को मोड़कर कण्ठ के पीछे ले जाए तथा दोनों पैरों को मिलाकर पाश के समान कठोरता से बाँधे, यही पाशिनी मुद्रा है।

लाभ–

पाशिनी महती मुद्रा वयपुष्टि विधायिनी।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः।। घे०सं० 3/85

पाशिनी मुद्रा के अभ्यास से शक्ति जाग्रत होती है। यह शरीर को बल और पुष्ट करने वाली मुद्रा है। इसके अभ्यास से साधक को सिद्धि प्राप्त होती है।

सावधानी–

जिन व्यक्तियों को हर्निया, स्लिपडिस्क, साइटिका, उच्च रक्तचाप या मेरूदण्ड से सम्बन्धित रोगों में इस मुद्रा का अभ्यास न करें।

20.3.14 काकी मुद्रा

विधि काकचंचुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।
काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोग विनाशिनी।। घे०सं० 3/86

किसी भी सुविधाजनक आसन में बैठे तथा मुख को कौवे की चोंच के समान बनाकर, मुख से वायु का धीरे–धीरे पूरक करें। यही काकी मुद्रा है।

लाभ– काकी मुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।
अस्याः प्रसादमात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत्।। घे०सं० 3/87

यह मुद्रा सभी रोगों का नाश करती है। इस मुद्रा के अभ्यास को गुप्त रखने को कहा है। इस मुद्रा के प्रभाव से साधक सभी बीमारियों से कौवे के समान मुक्त रहता है।

सावधानी– काकी मुद्रा का अभ्यास स्वच्छ वातावरण में ही करे, प्रदूषित वातावरण में न करें क्योंकि इसमें वायु का पान मुख से होता है। अत्यधिक ठण्ड में इसका अभ्यास न करे। विषाद, निम्नरक्तचाप तथा दीर्घकालिक कब्ज से पीड़ित रोगियों को इसका अभ्यास वर्जित है।

20.3.15 मातंगिनी मुद्रा–

विधि–

कण्ठमग्नेजले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्।।
नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः।
मातंगिनी परा मुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी।। घे०सं० 3/88,89

गले तक पानी में स्थिरतापूर्वक बैठिये तत्पश्चात् नाक से पानी खींचकर मुँह से बाहर निकालिए तथा मुँह से जल खींचकर नाक से बाहर छोडिए। इसको बार–बार कीजिए। यही मातंगिनी मुद्रा है।

लाभ– विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः।
कुर्यान्मातंगिनी मुद्रां मातंग इव जायते।।
यत्र यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन साधयेत् मुद्रिकांपराम्।। घे०सं० 3/90,91

इसके लाभों का वर्णन करते हुए महर्षि कहते हैं कि यह एक परम मुद्रा है जिसके अभ्यास से जरा, मृत्यु का हरण होता है। किन्तु इसे एकान्त स्थान में एकाग्र होकर करना चाहिए। इस मुद्रा के सिद्ध होने पर साधक हाथी के समान बलवान एवं शक्तिशाली बनता

है। साथ ही उसे आनन्द की अनुभूति होती है। इस मुद्रा को प्रयत्नपूर्वक सिद्ध करना चाहिए। इसकी सिद्धि थोड़े से अभ्यास से ही हो जाती है।

सावधानी– इस मुद्रा का अभ्यास लोगों, जन–साधारण के बीच में न करे। मन को एकाग्र करके ही इसका अभ्यास करे। नाक में पानी भरते हुए या मुँह में पानी भरते हुए सावधानी रखे।

20.3.16 भुजंगिनी मुद्रा

विधि

वक्त्रं किंचित्सुप्रसार्य चानिलं गलया पिवेत्।

सा भवेद् भुजंगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।। घे०सं० 3/92

किसी भी सुविधाजनक आसन में बैठे। मुख को पूरा खोलकर कण्ठ से वायु का पूरक करें। यही भुजंगिनी मुद्रा कहलाती है।

लाभ–

यावच्च उदरे रोगमजीर्णादि विशेषतः।
तत्सर्वंनाश्येदाशु यत्र मुद्रा भुजंगिनी।। घे०सं० 3/93

इसके अभ्यास सिद्ध होने पर जरा–मृत्यु का नाश होता है। यह उदर को स्वस्थ बनाकर उससे सम्बन्धित सभी रोगों को ठीक करता है। इससे अजीर्ण आदि रोगों में लाभ मिलता है।

सावधानी–इसे प्रदूषित वातावरण में न करें।

बंध

20.3.17 मूलबन्ध

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुंचयेत्ततः।
नाभिग्रन्थि मेरुदण्डे सुधीः संपीड्य यत्नतः।।
मेढ्रं दक्षिणगुल्फेन दृढ़बन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते।। घे०सं० 3/6,7

सर्वप्रथम दण्डासन में बैठे तथा बाएँ पैर को मोड़कर, बाँयी एड़ी को गुदा मार्ग में रख, उसे संकुचित करें और यत्नपूर्वक नाभि ग्रंथी को मेरूदण्ड में लगाकर दबाव बनाएँ। फिर दायी एडी को उपस्थ पर लगाकर उस पर दृढ़तापूर्वक दबाव बनाएँ। यही मूलबंध है।

लाभ–

संसारसागरं तर्तुमभिलषति यः पुमान्।
सुगुप्तो विरलो भूत्वा मुद्रामेतां समभ्यसेत्।।
अभ्यासाद्वन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम्।
साधयेद्यत्नतस्तर्हि मौनी तु विजितालसः।। घे०सं० 3/8, 9

यह मूलबंध बूढापे पर आसानी से विजय प्राप्त करता है। इसके अभ्यास से मरूत् सिद्धि प्राप्त होती है। इसका अभ्यास अगर मौन रखकर व आलस्य से रहित होकर करे तो ज्यादा लाभकारी सिद्ध होगा। इसके अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है।

सावधानी

इसका अभ्यास मौन रहकर करना चाहिए। इसके अभ्यास के दौरान आलस्य नहीं होना चाहिए। कब्ज तथा बवासीर से पीड़ित रोगियों को इसका अभ्यास बड़ी सावधानी से या किसी गुरु के परामर्श के बाद ही करना चाहिए। ऋतुस्त्राव के दौरान इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

20.3.18 जालन्धर बंध मुद्रा

विधि–

कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरेकृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।। घे०सं० 3/10

किसी भी सुविधाजनक, ध्यानात्मक आसन में बैठे तथा कंठ को संकुचित कर ठुड्डी को छाती पर लगाने का प्रयास करें। यही जालन्धर बंध है। इसके अभ्यास से शरीर में स्थित 16 आधारों का नियंत्रण होता है।

लाभ–

जालन्धरमहामुद्रामृत्योश्च क्षयकारिणी।
सिद्धो जालन्धरो बन्धो योगिनां सिद्धिदायकः।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः।। घे०सं० 3/11

यह जालन्धर बंध नामक महामुद्रा मृत्यु का भय दूर कर उसे जीत लेती है। इसका अभ्यास सिद्धियों को प्रदान करने वाला होता है। कहा गया है कि इस बंध का अभ्यास निरन्तर छह माह करने से साधक सिद्ध हो जाता है।

सावधानी–

हृदय रोगो से पीड़ित, उच्च रक्त चाप से पीड़ित, भ्रमि मस्तिष्क से सम्बन्धित किसी सर्जरी वाले रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। सर्वाइकल स्पाडिलाइटिस वाले रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। घबराहट प्रारम्भ होने पर भी बंध को तुरन्त हटा ले और विश्राम करे।

20.3.19 उड्डियान बंध मुद्रा

विधि– उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्व तु कारयेत्।
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी।। घे०सं० 3/12

किसी भी ध्यानात्मक आसन से बैठकर अपने उदर (पेट) को पीठ की तरफ पूरा संकुचित करें। ऐसा करते ही महाखग अर्थात् प्राण ऊपर की तरफ उठता है। यह स्थिति उड्डियान बंध कहलाती है।

लाभ–

समग्राद् बन्धनाद्ध्येतदुड्डीयानं विशिष्यते।

उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।। घे०सं० 3/13

यह मृत्यु रूपी हाथी के सामने शेर (सिंह) के समान प्रकट होता है। अन्य सभी बंधों में यह सर्वश्रेष्ठ है। इसके अभ्यास से साधक को मोक्ष मिल जाता है। इसके अभ्यास से उदर के सभी रोग तथा सम्बन्धित अंग सुदृढ़ बनते हैं।

सावधानी–

वृहदान्त्रशोध, आमाशय या आन्त्रव्रण, हर्निया, उच्च रक्त या हृदय रोग से पीड़ित रोगी इसका अभ्यास न करे। गर्भिणी भी इसका अभ्यास न करें। प्रसव के बाद डॉक्टर की सलाह से ही इसका अभ्यास करें। पेट दर्द की स्थिति में इसका अभ्यास न करे।

20.3.20 महा बंध मुद्रा–

विधि–

वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत्।
दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः।।
शनकैश्चालयेत्पार्ष्णि योनिमाकुंचयेच्छनैः।
जालन्धरे धरेत्प्राणं महाबन्धो निगद्यते।। घे०सं० 3/14 15

बाँये पैर को मोड़कर उसकी एड़ी को गुदा द्वार पर रखे तथा फिर दाये पॉव की एडी से बाँयी एडी पर दबाव बनाए। धीरे–धीरे गुदा प्रदेश का चातन करे तथा उसे धीरे–धीरे ही संकुचित भी करें। साथ ही जालन्धर बंध द्वारा वायु को धारण करे। यह महाबंध है।

लाभ–

महाबन्धः परो बन्धो जरामरण नाशनः।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत्सर्ववांछितम्।। घे०सं० 3/16

महाबंध मुद्रा अन्य सभी मुद्राओं में उत्तम हैं। यह जरा–मृत्यु नाशिनी है। इस बंध के फलस्वरूप साधक की सभी मन की इच्छाएँ पूरी हो जाती है। इसमें तीनों बंध प्रयुक्त होते है इसलिए इसमें तीनों बंधो के लाभ निहीत है।

सावधानी–

उच्चरक्त चाप, हृदय रोग से पीडित, वृहदान्त्रशोध, गर्भिणी, सर्वाइकल स्पॉडिलाइटिस, ऋतुस्त्राव आदि वाले व्यक्ति इसका अभ्यास न करें।

20.3.21 पार्थिवी धारणा मुद्रा

विधि–

यत्तत्वं हरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितं,
वेदास्रं कमलासनेनसहितं कृत्वा हृदिस्थापितम्।
प्राणंत्रय विलीय पंचघटिकाश्चित्तान्वितां धारयेत्।
ऐषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा।। घे०सं० 3/17

घेरण्ड मुनि कहते हैं कि पृथ्वी तत्त्व का वर्ण हरताल के समान पीला रंग है। वह वर्गाकार है और यही ब्रह्म देवता है। उसके सभी छोर समान है। इसको योग की शक्ति द्वारा हृदय में धारण करें और उसके बीज मंत्र 'लं' पर ध्यान लगाए। प्राण का कुम्भक पाँच घड़ी तक करें। यही पार्थिवी धारणा है।

लाभ–

पार्थिवीधारणामुद्रां यः करोति तु नित्यशः।
मृत्युंजयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद्भुवि।। घे०सं० 3/18

इसके अभ्यास से योगी पृथ्वी पर विजय प्राप्त करता है। साथ ही साथ वह मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। वह सिद्ध होकर पृथ्वी में विचरण करता है। वह पृथ्वी तत्त्व के गुणों एवं अवगुणों पर विजय प्राप्त करता है।

सावधानी– इसका अभ्यास बहुत धैर्य तथा धीरे–धीरे करें, किसी भी तरह की जबरदस्ती ठीक नहीं है। अभ्यास में काफी समय लग सकता है इसलिए धैर्य धारण करें।

20.3.22 आम्भसी धारणा मुद्रा–

विधि–

शङ्खेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं।
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणं तत्र विलीय पंच घटिकाश्चित्तान्वितां धारयेत्।
एषा दुःसहतापपापहरिणीस्यादाम्भसी धारणा।। घे०सं० 3/19

शुभ्र वर्ण का जलशंख, चन्द्र या कुन्द के समान है। जल का बीज मंत्र वकार या 'वं' और देवता विष्णु हैं। इस तत्व का हृदय में ध्यान कर मन को एकाग्र कर पाँच घड़ी तक कुम्भक कर प्राण को धारण करें। यही आम्भसी धारण है।

लाभ–

आम्भसीं परमां मुद्रा यो जानाति स योगवित्।
जले च घोरे गंभीरे मरणं तस्यनोभवेत्।।
इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः।
प्रकाशात्सिद्धिहानिःस्यात्सत्यं वच्मि च तत्त्वतः।। घे०सं० 3/20 21

इस धारणा द्वारा मनुष्य के सभी प्रकार के दुःख, ताप तथा सभी पाप खत्म हो जाते हैं। शरीर की अंदर की गर्मी और उत्तेजना आदि समाप्त हो जाती है। क्योंकि जल का गुण शीतलता प्रदान करना होता है। जो साधक इसको सिद्ध कर लेता है उसको पानी में डूबने पर भी किसी भी तरह से हानि नहीं पहुँचती। घेरण्ड मुनि ने श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण मुद्रा की संज्ञा दी है। साथ ही इसके अभ्यास को गोपनीय रखने को कहा है कहते हैं अगर इसका अभ्यास सबके सामने हो तो साधक की सिद्धि नष्ट हो जाती है।

सावधानी– घेरण्ड मुनि ने इस मुद्रा का वर्णन करते हुए ही कहा है कि इस मुद्रा का अभ्यास गोपनीय रूप से करना है किसी के सामने अभ्यास करने से साधक की सिद्धि नष्ट हो जाती है। इसका अभ्यास करने से पूर्व चित्त को शान्त करने का प्रयास करे। इसका अभ्यास किसी भी समय नहीं किया जाता।

20.3.23 आग्नेयी मुद्रा

विधि–

यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं,
तत्त्वं वह्निमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदम्।
प्राणं तत्र विलीय पंचघटिकाश्चित्तान्वितं धारयत्
एषा कालगभीरभीतिहरिणी वैश्वानरी धारणा।। घे०सं० 3/22

अग्नि का स्थान नाभि है। अग्नि का रंग लाल है तथा इसका यंत्र त्रिकोण है। इसका बीज मंत्र 'रं' और देवता रुद्र है। यह अग्नि तत्व तेजपुंज युक्त, दीप्ति युक्त तथा सिद्धिदायक है। इसका अभ्यास मन को एकाग्र कर तथा पाँच घड़ी का कुम्भक धारण कर करें। यह आग्नेयी धारणा कहलाती है।

लाभ–

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ पतितो यदि साधकः।
एतन्मुद्रा प्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक्।। घे०सं० 3/23

इसके लाभों का वर्णन करते हुए महर्षि कहते हैं कि निरन्तर इसका अभ्यास करने वाले साधक को काल का भय आदि नहीं सताता तथा उसे अग्नि से भी कोई हानि नहीं

होती। इसका अभ्यास करने वाला साधक अगर प्रदण्ड अग्नि में भी गिर जाए तो उसे कोई हानि नहीं होगी और साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है।

सावधानी

इसका अभ्यास धैर्य तथा संयम से करे क्योंकि अग्नि से खिलवाड़ करना साधक के लिए ठीक नहीं है।

20.3.24 वायवीय धारणा मुद्रा
विधि

यद्भिन्नांजनपुंजसंनिभमिदं धूम्रावभासं परं,
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता।

प्राणं तत्र विलीय पंचघटिकाश्चिन्तान्वितं धारयेत्।

एषा खे गमनं करोति यामिनां स्याद्वायवी धारणा।।घे०सं० 3/24

वायु का रंग धुएँ के रंग के समान हल्का काला होता है। इसका बीज मंत्र 'यं' या यकार है, इसका तत्व सत्व गुण का है। इसके इष्ट देवता ईश्वर हैं। मन को एकाग्र कर प्राण देवता ईश्वर हैं। मन को एकाग्र कर प्राण वायु को पाँच घड़ी तक कुम्भक कर धारण करें। इसे वायवीय धारणा कहा गया है।

लाभ–

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।
वायुनाभ्रियते नापि खे च गतिप्रदायिनी।।
शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्यकस्यचित्।
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यात्सत्यं वच्मि च चण्ड ते।। घे०सं० 3/25 26

इस अभ्यास से साधक को आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है साथ ही वह मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करता है। वह बुढ़ापे पर भी विजय हासिल करता है। साधक आकाश में उड़ने की सिद्धि प्राप्त कर आकाश में उड़ने लगता है। इससे अन्य सिद्धियाँ भी अपने आप प्राप्त हो जाती है।

सावधानी– इस धारणा के बारे में मूर्ख तथा अभक्त व्यक्ति को न बताएँ। ऐसा करने से सिद्धि नष्ट हो जाती है। इसका अभ्यास को करते हुए धैर्य धारण करें तथा धीरे–धीरे अभ्यास को करे व आगे बढ़ाएँ।

20.3.25 आकाशीय धारणा मुद्रा–

विधि

यत्सिन्द्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमाख्यमुद्भासते,
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम्।
प्राणांस्तत्र विलीय पंचघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेत्,
एषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणा।। घे०सं० 3/27

यह आकाश तत्व को धारण करने की धारणा है, आकाश जिसका रंग समुद्र के नीले रंग जैसा, शुद्ध जल के समान है। आकाश तत्व का बीज मंत्र हकार या 'हं' है। इसके इष्ट देव सदाशिव है। मनु को शान्त एवं एकाग्र कर प्राण वायु को पाँच घड़ी का कुम्भक लगाएँ। यह आकाशी धारणा है।

लाभ– आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति स योगवित्।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति।। घे०सं० 3/28

इसके लाभों को कहते हुए कहा गया है कि यह मोक्ष का द्वार खोलती है। इसका साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। उसे प्रलय आदि आने पर भी किसी भी प्रकार का दुख नहीं होता। वह शुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है।

सावधानी– मन को शान्त तथा निर्मल कर ही इसका अभ्यास करें।

अभ्यास प्रश्न

1.एक शब्द में उत्तर दीजिए–

(क) किस मुद्रा के सिद्ध हो जाने पर साधक मूर्च्छा, तृष्णा, क्षुधा, आलस्य आदि नहीं सताते।

(ख) किस मुद्रा के अभ्यास से ब्रह्म हत्या, भ्रूण हत्या, सुरापन, गुरुतल्प गमन आदि महापापों से मुक्ति मिलती है।

(ग) किस मुद्रा के प्रभाव से साधक सभी बीमारियों से कौवो के समान मुक्त रहता है।

(घ) किस मुद्रा के सिद्ध हो जाने पर साधक हाथी के समान बलवान तथा शक्तिशाली बनता है।

(ङ) गुदा नाल व्रण से पीड़ित व्यक्ति को किस मुद्रा का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

2.बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर दीजिए–

(क) घेरण्ड संहिता के अनुसार बन्धों की संख्या कितनी होती है?

(i) 04 (ii) 05 (iii) 16 (iv) 25

(ख) किस मुद्रा के अभ्यास को निरन्तर छः माह करने से साधक सिद्ध हो जाता है?

(i) मूलबन्ध मुद्रा (ii) जालान्धर बन्ध मुद्रा

इकाई–9 बन्ध एवं मुद्रा का अर्थ, परिभाषा, उद्देश्य एवं महत्व

इकाई की संरचना

9.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई से हम हठयोग के महत्वपूर्ण विविध पक्षों का अध्ययन किया। हठयोग के ग्रन्थ कहते हैं कि मुद्रा बहुमूल्य साधन है जो कुण्डलिनी का जागरण करके साधक को लक्ष्य तक पहुँचाती है इसे सोने की पिटारी की तरह गुप्त रखना चाहिए। वर्तमान में मुद्राओं पर भी शोध अनुसंधान उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। मुद्राओं का सम्बन्ध शारीरिक स्वास्थ्य से है पर इसके सूक्ष्म प्रभाव हमारे मन पर भी पड़ते हैं। मुद्राओं की सिद्धि होने पर साधक कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है।

9.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप–

- मुद्रा का अर्थ व परिभाषाओं का अध्ययन करेंगे।
- मुद्रा व बंध के उद्देश्यों को समझ सकेंगे।
- मुद्रा व बन्ध के महत्व को जान सकेंगे।
- नाद को जान सकेंगे।

9.3 बंध का अर्थ एवं परिभाषा

योगाभ्यास का यह छोटा परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ग है। यह अन्तः शारीरिक प्रक्रिया है। इस अभ्यास के द्वारा व्यक्ति शरीर के विभिन्न अंगों तथा नाडियों को नियंत्रित करने में समर्थ होता है। बन्ध–बन्धने धातु में धञ् प्रत्यय करके बंध शब्द बनता है जिसका अर्थ है बाँधना या नियंत्रित करना। जिस प्रक्रिया द्वारा शरीर के विभिन्न आन्तरिक अवयवों को बांधकर अथवा नियंत्रित करके साधना में प्रवृत्ति होती है। वह क्रिया बंध कहलाती है। बंध का मतलब होता है बंद करना, बांधना, बद्ध करना, जैसे ताला लगा देना। शरीर के विशेष भाग का नाड़ी–स्नायुपेशी जाल आंकुचित किया जाता है। शरीर के भिन्न–भिन्न अंगों को धीरे से, परन्तु शक्तिपूर्वक संकुचित एवं कड़ा किया जाता है। इससे आन्तरिक अंगों की मालिश होती है।

योग के दृष्टिकोण से बंध का प्रयोग प्राणायाम के समय अति आवश्यक है। इसके द्वारा प्राण को नियंत्रित किया जाता है जिससे वह अनिच्छित जगह न जा सके। जहाँ प्राण पहुँचेगा, उसी अंग पर उसका प्रभाव पड़ेगा। अतः बन्ध का प्रयोग करके प्राण को नियंत्रित करके इच्छित स्थान पर उसको ले जाना सम्भव हो जाता है। कहा जा सकता है कि शरीर के अंगो को संकुचित करके प्राण को नियंत्रित करने के लिए वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने की प्रक्रिया का नाम बंध है। जिससे आन्तरिक अंग व स्नायु स्वस्थ तथा क्रियाशील होते हैं। बंध शारीरिक अभ्यास हैं। बंध आध्यात्मिक शक्ति की उत्पत्ति का सूचक है।

9.4 मुद्रा का अर्थ एवं परिभाषाए

हठयोग के ग्रंथो में मुद्रा शब्द हर स्थान पर मिलता है। हठयोग के महत्त्वपूर्ण अभ्यासों में मुद्राओं का अभ्यास महत्वपूर्ण है। सर्वप्रथम मुद्रा का ज्ञान आदि गुरु शिवनी ने अपनी प्रथम शिष्या पार्वती जी को दिया।

'मुद्रा' शब्द का निर्वचन उपादि कोष में इस प्रकार किया गया है–

मोदन्ते हष्यन्ति यया सा मुद्रा यन्त्रिता सुवर्णादि धातुमया वा'

अर्थात् जिसके द्वारा सभी व्यक्ति प्रसन्न होते है। वह मुद्रा है जैसे सुवर्णादि बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त करके व्यक्ति प्रसन्न होता है। 'मुद हर्षे' धातु में 'रक्' प्रत्यय लगाकर मुद्रा शब्द की उत्पत्ति होती है। जिसका अर्थ है प्रसन्नता को प्रदान करने वाली स्थिति।

कोष में मुद्रा शब्द के अनेक अर्थ मिलते है। जैसे मोहर, छाप, मुहरबंद करना, नामांकित अंगूठी, प्रतिभा चिन्ह, पदक, रूपया, रहस्य, अंगो की विशेष स्थिति (हाथ, या मुख की मुद्रा), नृत्य की मुद्रा आदि।

योग के विषय में मुद्रा शब्द को रहस्य तथा अंगों की विशिष्ट स्थिति के अर्थ मे लिया गया है। हठयोग के ग्रन्थों में भी इसकी चर्चा की गई है। यह उच्च अभ्यास है तथा गुरु के निर्देशन में ही इसे करना चाहिए। कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में मुद्राओं का अभ्यास अत्यधिक सहायक है। अतः यह अभ्यास आसनों एवं प्राणायामों के अभ्यास से अधिक शक्तिशाली माना जाता है। यह रहस्यमयी है इसलिए देवताओं के लिए भी दुर्लभ बताई गई है। गोपनीय होने के कारण सार्वजनिक नहीं की जाने वाली है। अतः रहस्य अर्थ उचित है।

आसन व प्राणायाम के साथ बन्धों का प्रयोग करके विशिष्ट स्थिति में बैठकर 'मुद्रा' का अभ्यास किया जाता है। इसलिए इसे अंगों की विशेष स्थिति के रूप में भी लिया जा सकता है। इनमें हाथो तथा मुख की विशेष स्थिति को भी सम्मिलित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ – जानुशिरासन के बैठकर प्राणायाम (कुम्भक) तथा बंधो का प्रयोग करके महामुद्रा का अभ्यास किया जाता है।

'मुद्रा' अत्यन्त बहुमूल्य साधन है जो कुण्डलिनी शक्ति का जागरण करके साधक को लक्ष्य तक पहुँचाती है। अतः 'सुवर्ण या धन या रूपया' का भाव भी इसमें निहित है। इसकी बहुमूल्यता निःसन्देह सिद्ध होती है।

मुद्रा को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि आसन, प्राणायाम की सम्मिलित विशिष्ट स्थिति जिसके द्वारा कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है, मुद्रा कहलाती है।

चित्त को प्रकट करने वाले किसी विशेष भाव को मुद्रा कहते हैं।

उच्च श्रेणी के भारतीय नृत्यों में मुद्रा हाथों की विशेष अवस्था है जो आंतरिक भावों या संवेदनाओं का संकेत करती है। योनिमुद्रा, चिन्मुद्रा आदि अनेक मुद्राएँ हाथ की विशेष

स्थितियाँ है। नृत्य प्रक्रियाओं की भाँति इनका उद्देश्य भी अंतरंग भावों का प्रकटीकरण या साधक के अध्यात्मिक भावों की ओर संकेत करना है।

आसन एवं प्राणायाम की अपेक्षा यह सम्मिलित अभ्यास (मुद्रा) शीघ्र फल प्रदान करता है। मुद्राओं के अभ्यास से साधक सूक्ष्म शरीर या अनैच्छिक शरीरगत प्रक्रियाओं पर और प्राणशक्ति को नियंत्रित कर लेता है। फलस्वरूप उसकी विभिन्न वृत्तियाँ अर्न्तमुखी हो जाती है तथा साधक को साधना में सफलता प्राप्त होती है। साधक अपने प्राणमय कोष और मनोमय कोष को स्वच्छ व निर्मल बना लेता है जिससे चित्त एकाग्र हो जाता है तथा कुण्डलिनी जागरण व समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

9.5 मुद्रा एवं बंध का उद्देश्य

योगशास्त्र में जिन मुद्राओं और बंधो का वर्णन किया गया है। वे तन्त्रिका तंत्र की संवेदनाओं और उत्तेजनाओं को शान्त एवं संयत करने में सहायक सिद्ध होती है। हठयोग में मुद्राओं व बंधो का कार्य साधक को साधना पथ पर अग्रसर करना है जिसके लिए कुण्डलिनी जागरण आवश्यक है। इन मुद्राओं व बंधो के अभ्यास करने से कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है जो हठयोगी की साधना का मुख्य उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त आन्तरिक अवयवों को नियंत्रित करके साधक की अन्तःस्त्रावी गन्थियों तथा प्राणशक्ति को प्रभावित करती है। इनके संतुलित रहने पर शारीरिक व मानसिक सुदृढ़ता प्राप्त होती है। मुद्रा के अभ्यास में 'स्थिरता' की बात घेरण्ड संहिता में कही गई है और कहा गया है कि– "मुद्रया स्थिरता चैव"। स्नायु संस्थान को वशीभूत करके इच्छित ऊर्जा का उत्पादन एवं प्रयोग करके स्थिरता का भाव प्राप्त किया जा सकता है। यह भाव साधक को साधना के पथ पर अग्रसर करता है क्योंकि इससे शारीरिक एवं मानसिक स्थिरता या संतुलन प्राप्त होता है। इससे इन्द्रियों में भी स्थिरता आती है और वह अन्तर्मुखी हो जाती है।

इन मुद्राओं के अभ्यास संतंत्रिका तंत्र के द्वारा मस्तिष्क को भेजे जाने वाले संदेश चेतना को जागृत करने में सफल हो जाते हैं।

बन्ध का प्रयोग तंत्रिकाओं को प्रभावित करता है। गले, उदर अथवा गुदाद्वार पर जो तंत्रिकांए कार्यरत है, उन्हें सक्रिय करके अवरोध उत्पन्न कर दिया जाए तो प्राण के लिए ऊर्ध्व, अधो या मध्य मार्ग बंद हो जायेगे और प्राण का सुषुम्ना में गमन होने लगेगा। इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने तथा प्राण पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

मुद्राएँ व बंध साधक की बाह्यवृति को समाप्त कर अन्तःवृत्ति को जाग्रत करते हैं जिससे वह संसार की ओर से विमुख होकर साधना पथ पर बढ़ता रहे। इनके अभ्यास से वीतराग होकर साधक लक्ष्य प्राप्ति के प्रति सजग हो जाता है। ऐसा एकाग्रचित्त साधक साधकों की श्रेणी में सम्मान का अधिकारी होता है। स्वामी कुवलयानन्द कहते हैं– 'मुद्रा तथा बंध हठयोग की खास विशेषताएँ है। ये अनेक तंत्रिकापेशी, बंध लगाकर किए जाते हैं। इनमें आन्तरिक दबाव से शरीर में बहुत अधिक परिवर्तन होते है। बंध के अभ्यास से विभिन्न अन्तःस्त्रावी ग्रंथियों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। साथ ही साथ कुछ तंत्रिका समूहों को

भी प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। प्राचीन पुस्तकों में यह दावा किया गया है कि इस प्रकार के यौगिक व्यायाम से पेशाब तथा पाखाने की मात्रा कम हो जाती है।

9.6 मुद्रा तथा बंध का महत्त्व

हठयोग के ग्रन्थों में मुद्रा तथा बंध के महत्त्व को बताते हुए कहा है कि मुद्रा का अभ्यास कुण्डलिनी जागरण में अत्यधिक लाभकारी सिद्ध होता है। मुद्राओं का अभ्यास साधक को सूक्ष्म शरीर स्थित प्राण–शक्ति की तरंगों के प्रति जागरूक बनाता है। अभ्यासी इन शक्तियों पर चेतन रूप से नियंत्रण प्राप्त करता है। फलतः व्यक्ति अपने शरीर के किसी अंग में उसका प्रवाह ले जाने या अन्य व्यक्ति के शरीर में उसे पहुँचाने की क्षमता प्राप्त करता है। मुद्राओं के अभ्यास से बाह्य जगत से सम्बन्ध टूट जाता है, इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर प्रत्याहार की स्थित निर्मित करती है। इसलिए ये अभ्यास आध्यात्मिक साधको के लिए अत्यधिक उपयोगी है। चित्त को एकाग्र करने में भी ये अभ्यास समर्थ है। यद्यपि मुद्राओं का प्रथम उद्देश्य आध्यात्मिक है परन्तु जैसा कि हम जानते हैं कि इनसे मानसिक एवं शारीरिक लाभ प्राप्त होते है। इसके साथ–साथ मुद्राओं के चिकित्सकीय लाभ भी हैं।

बंध योग का एक छोटा परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ग है। यह अन्तः शारीरिक प्रक्रिया है, परन्तु अभ्यासी के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त विचारों एवं आत्मिक तरंगों में प्रवेश कर ये चक्रों पर सूक्ष्म प्रभाव डालते हैं। सुषुम्ना नाड़ी में प्राण के स्वतंत्र प्रवाह में अवरोध उत्पन्न करने वाली ब्रह्म ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि तथा रूप ग्रन्थि इसके अभ्यास से खुल जाती है। इस प्रकार आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है।

बंध के अभ्यास वास्तव में स्नायविक अवरोध है, जो शरीर और मस्तिष्क के भीतर जितनी तंत्र–तंत्रिकाए है, उनमें उत्पन्न हो रही संवेदनाओं को अवरुद्ध कर देते हैं और दूसरे प्रकार की संवेदना को जाग्रत करते है। आन्तरिक अंगों में जहाँ पर भी संकुचन या प्रसारण की क्रिया होती है, चाहे गर्दन में हो, चाहे कण्ठ में हो, चाहे जननेन्द्रिय के क्षेत्र में हो या गुदा द्वार के क्षेत्र में हो, वह आन्तरिक अंगों से सम्बन्धित प्रक्रियाओं को बदल देती है, संवेगो को बदल देती है। शरीर को अन्य प्रकार की उत्तेजनात्मक या शान्त अवस्था में ले जाती है, जिसके कारण आन्तरिक स्थिरता का आभास होता है।

बंध का महत्त्व आज चिकित्सा में भी है। योग चिकित्सा में बंधो द्वारा कई बीमारियों को ठीक किया जाता है जैसे मूलबंध के अभ्यास से कब्ज एवं बवासीर ठीक हो जाते हैं। यह बहुमूत्र तथा प्रजनन सम्बन्धी बीमारियों को ठीक करता है। ऐसा अनेको चिकित्सकीय लाभ है जो बंधो के निरंतर अभ्यास से शीघ्र ही ठीक हो जाते हैं।

स्वामी निरंजनानन्द की मान्यता है कि योग शास्त्र में जिन मुद्राओं और बंधो का वर्णन किया गया है। वे तन्त्रिका तंत्र की संवेदनाओं और उत्तेजनाओं को शांत एवं संयत करने में सहायक सिद्ध होती है। कुण्डलिनी योग या क्रिया योग में जिन मुद्राओं का अभ्यास किया जाता है जैसे अश्विनी मुद्रा, वज्रोली मुद्रा, तडागी मुद्रा इत्यादि, उनका प्रभाव प्राणमय कोश पर पड़ता है और वे प्राण के प्रवाह को परिवर्तित करने का प्रयास करती है। उनका प्रभाव मस्तिष्क पर भी पड़ता है और वे चित्त के भीतर भाव विशेष को जाग्रत करने

में सहायक होती है ताकि हम पूर्णता अन्तर्मुखी हो सकें। इनका अभ्यास एकाग्रता प्राप्ति में सहायक होता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि बंध एवं मुद्राएँ हमें ब्राह्म या भौतिक जगत से हटाकर अन्तर्गत में ले जाती है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोश पर विजय प्राप्त करने के बाद ही विज्ञानमय कोश में पहुँचने की स्थिति होती है। आसन, प्राणायाम, मुद्रा बंध के माध्यम से अन्नमय, प्राणमय व मनोमय कोश पर नियंत्रण किया जाना सम्भव है। अतः अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु मुद्राओं का अभ्यास अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

तस्मान् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।

ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।। ह०प्र० 3/4

अर्थात् ब्रह्मद्वार पर सोती हुई कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिए सब प्रयत्न करके मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि मुद्राएँ ही कुण्डलिनी को जगाने के लिए एकमात्र सर्वोत्तम उपाय है। इससे ही मुद्रा के अभ्यास की उपयोगिता सिद्ध होती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

सत्य असत्य बतायें–

1– (क) मुद्रा शब्द की उत्पत्ति मुद् धातु से हुई है।

(ख) मुद्रा से आनन्द की प्राप्ति नहीं होती।

(ग) मुद्राओं के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो सकती है।

(घ) बंध प्राणायाम के अभ्यास में आवश्यक है।

(ङ) नाद के अभ्यास से बाहरी ध्वनि लुप्त हो जाती है।

(च) साधक का मन नाद ध्वनियों में स्थिर भाव होकर आनन्द प्राप्त नहीं करता है।

9.7 सारांश

हठयोग के ग्रन्थों में मुद्रा व बंध की उपयोगिता को स्वीकार किया है। साथ ही नाद की उपयोगिता को भी स्वीकारा है। वास्तव में मुद्रा व बंध हठयोग के अभ्यास में अंतिम पराकाष्ठा को प्राप्त करने में नींव की ईट सिद्ध हो रहे हैं। मुद्रा, बंधों व नाद के अध्ययन से जिज्ञासु पाठक तथा जन सामान्य भी निश्चित हठयोग के अभ्यासों के प्रति रुचि बैठाकर

असीम आनन्द की प्रापित करेंगे और कुण्डलिनी शक्ति का जागरण कर समाधि की प्रापित करेंगे।

9.8 शब्दावली–

कोष	–	खजाना
विशिष्ट	–	विशेष
चित्त	–	मन बुद्धि तथा अहंकार का सम्मलित
अनैच्छिक	–	जो बिना इच्छा के हैं।
प्रवाह	–	गति
ध्वनि	–	आवाज

9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

(क) सत्य
(ख) असत्य
(ग) सत्य
(घ) सत्य
(ङ) असत्य

9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दिगम्बर स्वामी (2001) स्वात्माराम कृत हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम, श्रीमन्माधव, योग मन्दिर समिति, लोनावाला
2. निरंजनानन्द स्वामी (2003) महर्षि घेरण्ड कृत घेरण्ड संहिता योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार
3. सरस्वती स्वामी सत्यानन्द – आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध (2003) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार
4. भारद्वाज डॉ० ईश्वर (2005) सरल योगासन, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

9.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1.मुद्रा व बन्धों से आप क्या समझते हैं? इनके उद्देश्यों की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।
2.मुद्रा व बंधों का अर्थ समझाते हुए इनके महत्व पर भी चर्चा कीजिए।
3.नाद की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

इकाई– 10 निम्नलिखित बन्धों की विधि, लाभ एवं सावधानियाँ – मूल बन्ध, जालन्धर बंध, उड्डयान बंध, महाबंध

इकाई की संरचना

10.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में हम हठयोग के महत्वपूर्ण अभ्यासों बन्धों की जानकारी प्राप्त करेंगे। हठयोग प्रदीपिका में 10 बन्ध व मुद्राओं का वर्णन है लेकिन हम इस इकाई में केवल चार बन्धों का अध्ययन करेंगे। हठयोग के ग्रन्थ कहते हैं कि बन्ध बहुमूल्य साधन है जो साधक को लक्ष्य तक पहुँचाता है। प्राणायाम के अभ्यासों मे जब कुम्भक किया जाता है तो बन्धों का लगना अति आवश्यक है योग के दृष्टिकोण से बन्धों का प्रयोग प्राणायाम के समय अति आवश्यक है।

10.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप–

- बन्धों की विधि व लाभों का जान सकेंगे।
- बन्धों की सावधानियों को भी समझ सकेंगे।
- हठयोग प्रदीपिका में वर्णित विविध चारों बन्धों का विश्लेषण कर सकेंगे।

10.3 हठप्रदीपिका के अनुसार मूल बन्ध प्रकरण

विधि–

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।। ह०प्र० 3/60

एडी से सीवनी नाड़ी, जो कि गुदा द्वार में स्थित है, पर दबाब बनकर उसे संकुचित करे तत्पश्चात् अपान वायु को ऊपर की ओर खींचे। यही मूलबंध है।

लाभ–

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपिसततं मूलबन्धनात्।।
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वहि्नमण्डलम्।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते।
दण्डाहता भुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्।।
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्,
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा।। ह०प्र० 3/64 65 67 68

लगातार प्रतिदिन मूलबंध का अभ्यास करने से अपान और प्राण की एकता होती है, शरीर में मल–मूत्र की कमी आती है। बूढ़ा व्यक्ति भी जवान हो जाता है। शरीर की अग्नि प्रज्जवलित होती है। अग्नि, अपान प्राण को उष्ण बनाती है जिससे प्रभावित होकर सोई हुई

कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है। और ब्रह्मनाड़ी में प्रविष्ट हो जाती है। इसलिए इसका अभ्यास नित्यप्रति आवश्यक है।

सावधानी– एड़ी का दबाव केवल सीवनी पर ही पड़ना चाहिए अन्य किसी स्थान पर नहीं। गृहस्थ व्यक्ति को इसका अभ्यास लम्बे समय तक नहीं करना चाहिए। ऋतुस्त्राव होने पर भी इसका अभ्यास न करे। जिस साधकों में अग्नि तत्त्व की अधिकता हो वो इसका अभ्यास गुरू के निर्देशन में ही करें।

10.4 हठप्रदीपिका के अनुसार जालन्धर बंध प्रकरण

विधि–

कण्ठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः।।

किसी भी सुविधाजनक आसन में बैठे तथा कण्ठ को संकुचित कर ठुड्डी को हृदय (छाती) में दृढ़तापूर्वक लगाए। यह जालन्धर बंध है।

लाभ– बध्नाति हि शिराजालमधोगामिनभोजलम्।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः।।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति।।
कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम्।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम्।। ह०प्र० 3/70 71 72

इसके अभ्यास से जरा–मृत्यु का भय नहीं रहता। यह कण्ठ सम्बन्धी सभी रोगों को दूर करता है। यह सोम रस, जो प्रत्येक क्षण नाभी में भस्म होता है उसे भस्म होने से रोकता है। इससे ही शरीर के सोलह आधारों का नियंत्रण होता है। दूसरे वायु के प्रकोप नहीं होते।

सावधानी– सरवाइकल स्पांडिलाइटिस होने पर इसका अभ्यास न करें।

10.5 हठप्रदीपिका के अनुसार उड्डीयान बंध प्रकरण

विधि–

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।। ह०प्र० 3/54

सुषुम्ना नाड़ी के भीतर जो निरूद्ध प्राण प्रवाहित हो रहा है उसे इस अभ्यास द्वारा ऊपर उठाया जाता है इसलिए साधक इस अभ्यास को उड्डीयान बंध का नाम देते हैं।

आगे के सूत्रों में भी यही व्याख्या देखने को मिलती है।

लाभ– **उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।**
उड्डीयानो ह्यासौ बन्धों मृत्युमातङ्गकेसरी।।
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं यथा।
अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते।।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात् प्रयत्नतः।
षण्माससमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः।।
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डीयाने दृढे बद्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।। ह०प्र० 3/56 57 58 59

इसके लाभों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह बंध मृत्यु रूपी हाथी के सामने सिंह के समान है। यदि कोई वृद्ध व्यक्ति भी इसका अभ्यास गुरु के द्वारा बताई गई विधि से करे तो वह भी युवक के समान हो जाता है। कहा भी गया है कि यदि कोई साधक इसका छह महीने लगातार अभ्यास करें तो वह मृत्यु को जीत लेता है। इस बंध को सभी बंधों में श्रेष्ठ कहा गया है। इसके अभ्यास से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सावधानी–आंतों के रोग, हर्निया और उच्च रक्त चाप से पीडित रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही प्राण को ऊपर खींचे।

10.6 हठप्रदीपिका के अनुसार महाबंध प्रकरण

विधि–

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम्।
निष्पीड्य योनिमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत।।
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत्।। ह०प्र० 3/18 19 20

सर्वप्रथम बांये पैर को मोड़कर उसकी एड़ी को सीवनी पर लगाए तत्पश्चात् दाएँ पैर को बाँयी जंघा पर रखे। धीरे से वायु का पूरक कर अपनी ठुड्डी को छाती से लगाए (जालन्धर बंध) और मूलस्थान (योनि) को संकुचित करे। अपना सारा ध्यान सुषुम्ना पर लगाए। यथाशक्ति कुम्भक् करे तथा धीरे–धीरे वायु का रेचक कर दें। पुनः इसी अभ्यास को पैर बदलकर दोहराए। यह अभ्यास महाबंध कहलाता है।

लाभ–

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः।।

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः।। ह०प्र० 3/22 23

महाबंध सभी महान् सिद्धियों को देने वाला है। यह साधक को मृत्यु के भय से दूर कर शरीर में स्थित तीनो नाडियाँ, इडा, पिंगला, सुषुम्ना का जो संगम स्थान है तथा दोनों भौहो के बीच का स्थान जो शिवस्थान है वहाँ मन को लगाती है अर्थात् यहाँ प्राणिक धाराएँ मिलती है।

सावधानी– सरवाईकल स्पाडिलाइटिस से पीड़ित रोगी, साइटिका या जोड़ो से पीड़ित रोगी इसका अभ्यास न करें। दोनों पैरो को बढ़कर इसका अभ्यास करें, समय सीमा को भी ध्यान में रखे।

अभ्यास प्रश्न–

एक शब्द में उत्तर दीजिए–

(1) (क) हठयोगप्रदीपिका के अनुसार बन्धों की संख्या कितनी है।
(ख) किस बन्ध के सिद्ध हो जाने पर अफन और प्राण की एकता होती है।
(ग) किस बन्ध के सिद्ध हो जाने पर कण्ड सम्बन्धी रोग दूर हो जाते हैं।
(घ) किस बंध के अभ्यास को हर्निया, उच्च रक्त चाप व आँतों के रोग से पीड़ित रोगियों को नहीं करना चाहिए।
(ङ) किस बंध के अभ्यास से सभी महान सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

10.7 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि हठयोग के गन्थों में बन्धों की उपयोगिता को स्वीकार किया है। वास्तव में बन्ध साधक को योग की अन्तिम पराकाष्ठा तक पहुँचानें में सहायक है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति करेंगे।

10.8 शब्दावली

उष्ण – तेज
सिंह – शेर
वृद्ध – बुढ़ा
पूरक – श्वास लेना
कुम्भक – श्वास रोकना, प्राणायाम
रेचक – श्वास छोड़ना

10.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

(क) 04 (ख) मूलबंध (ग) जालन्धर बंध
(घ) उड्डियान बंध (ङ) महाबंध

10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दिगम्बर स्वामी (2001) स्वात्माराम कृत हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम, श्रीमन्माधव, योग मन्दिर समिति, लोनावाला

2. निरंजनानन्द स्वामी (2003) महर्षि घेरण्ड कृत घेरण्ड संहिता योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार

3. सरस्वती स्वामी सत्यानन्द – आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध (2003) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार

3. भारद्वाज डॉ० ईश्वर (2005) सरल योगासन, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

10.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.जालन्धर बंध व उड्डियान बंध की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

2.मूल बन्ध व महाबन्ध की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

इकाई–11 निम्नलिखित मुद्राओं की विधि, लाभ एवं सावधानियाँ – महामुद्रा, महावेध, खेचरी,विपरीत करणी,वज्रोली, शक्तिचालिनी

इकाई की संरचना

11.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में हम हठयोगप्रदीपिका में वर्णित मुद्राओं का अध्ययन करेगे। साधक मुद्राओं को सिद्ध करके ब्रह्मद्वार (मूलस्थान) पर सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है अतः इनका अभ्यास गुप्तनीय बताया है योग के दृष्टिकोण से मुद्राओं का प्रयोग भी प्राणायाम के समय अति आवश्यक है। प्रस्तुत इकाई में आप मुद्रा की विविध अवधारणा का अध्ययन करेंगे।

11.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप–

- मुद्राओं की विविधयाँ तथा लाभों को जान सकोगे।
- मुद्राओं की सावधानियों का भी अध्ययन करेंगे।

11.3 हठप्रदीपिका के अनुसार मुद्रा प्रकरण

हठप्रदीपिका में निम्नांकित मुद्राओं का वर्णन किया गया है।

11.3.1 महामुद्रा

विधि–

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम्।
प्रसारितं पदं कृत्वां कराभ्यां धारयेद्दृढम्।
कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।।
ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्न तु वेगतः।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता।। ह०प्र० 3/9 12

सर्वप्रथम बाये पैर को मोड़कर उसकी एड़ी से सीवनी नाड़ी पर दबाव बनाए तथा दाहिने पैर को सीधा रखकर दोनों हाथों से पकड़े। जालन्धर बंध लगाकर वायु का पान कर, उसका कुम्भक करें। यथासम्भव कुम्भक करने के बाद श्वास को धीरे–धीरे बाहर छोड़े। श्वास को तेजी से न छोड़े। योगियों द्वारा यह महामुद्रा बताई है। इसका अभ्यास पैर बदलकर, समय की समानता रखकर ही करना चाहिए।

लाभ– महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः।।
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति।।
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।

तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।।ह०प्र० 3/13 15 16 17

इसके लाभों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसके अभ्यास से सभी क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश) दूर हो जाते है। मृत्यु का डर भी दूर हो जाता है। इस मुद्रा को योगीजन श्रेष्ठ कहते हैं। साधक के लिए किसी भी तरह का भोजन पथ्य या अपथ्य नहीं रहता। हर वस्तु रसयुक्त हो जाती है। उसकी पाचन शक्ति, क्षमता इतनी बढ़ जाती है कि भयानक से भयानक विष भी पच जाता है। इसका नियमित अभ्यास करने से क्षय (तपेदिक), कुष्ठरोग (चर्मरोग, कोष्ठबद्धता (कब्ज), वायुगोला, अजीर्ण तथा अन्य सभी रोग दूर हो जाते हैं। यह सभी महासिद्धियों को प्रदान करती हूँ, किन्तु इसके अभ्यास को गुप्त रखना चाहिए।

सावधानी– इसका मुद्रा का अभ्यास एकान्त में ही करने का निर्देश दिया है तथा साथ ही इसे गोपनीय रखने को भी कहा है। यह एक उच्च अभ्यास है साधारण जन मानस के लिए इसका अभ्यास उचित नहीं है। उच्च रक्तचाप से पीड़ित रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। हृदय रोगियों को भी इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। कुम्भक यथासम्भव, यथाशक्ति ही करें, जबरदस्ती श्वास को न रोके। पूरक तथा रेचक करते हुए श्वास को धीरे–धीरे ही ले व छोड़े। फेफड़ों पर अत्यधिक दबाव न डाले।

11.3.2 महावेध मुद्रा

इस मुद्रा की विधि बताने से पूर्व इसकी विशेषता तथा महत्व के बारे में बताया गया है कि जिस प्रकार एक सुन्दर स्त्री का यौवन बिना पुरुष के बेकार, निष्फल है उसी प्रकार बिना महावेध के महामुद्रा तथा महाबन्ध दोनों बेकार है।

विधि

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।
वायूना गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया।।
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः।।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत्।। ह०प्र० 3/25 26 27

सर्वप्रथम साधक को दृढ़तापूर्वक महाबन्ध लगाकर मन को शान्त कर एकाग्र करना चाहिए। तत्पश्चात् जालन्धर बंध द्वारा, श्वास को पूरक कर कुम्भक लगाना चाहिए। दोनों हथेलियों को भूमि पर टिका दे (तुलासन की तरह) तथा शरीर का संतुलन बनाते हुए भूमि से नितम्बों को ऊपर उठाकर धीरे–धीरे भूमि पर ताड़न करें। ऐसा करने से वायु दोनों स्वरो, नाड़ियों (इड़ा, पिंगला) को छोड़कर सुषुम्ना में बहने

लगती है। वायु के सुषुम्ना में बहने से अमरत्व की प्राप्ति होती है। मृतावस्था की स्थिति उत्पन्न होने पर कुम्भक को खोल दे तथा वायु का रेचन कर दें (मृतावस्था का अर्थ है जन कुम्भक असहज होने लगें, बैचेनी की स्थिति)।

लाभ– महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः।।
एतत् त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम्।।
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने।
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा।
सम्यक् शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम्।। ह०प्र० 3/ 28 29 30

इसके लाभों के विषय में कहा गया है कि इसके नियमित अभ्यास करने वाले साधक को अनेक महान् सिद्धियाँ प्राप्त होती है। इसके अभ्यास से शरीर में झुर्री पड़ना, बाल का असमय सफेद हो जाना तथा शरीर का कम्पन दूर होते है इसलिए यह बड़ा ही उत्तम अभ्यास है। आगे चर्चा करते हुए कहा गया है कि ये तीनों (महाबन्ध, महामुद्रा, महावेध) उच्च अभ्यास है इसलिए इनकी चर्चा नहीं करनी चाहिए, इन्हें गुप्त ही रखना चाहिए। ये जरा और मृत्यु का नाश करती है, शरीरस्थ जठराग्नि को प्रदीप्त करती है, अणिमा आदि अनेक सिद्धियों को देने वाली है। कहा भी गया है कि जो साधक नित्यप्रति तीन घंटे में आठ बार इनका अभ्यास करता है उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और उसे सभी पुण्य प्राप्त होते हैं। किन्तु प्रारम्भ में इसका अभ्यास कम ही करें और धीरे–धीरे अपनी क्षमता अनुसार अभ्यास को बढ़ाए। इसके अतिरिक्त यह चेतना द्वारा शरीर में स्थित षट्चक्रों को बेधन करती है। इसके द्वारा आत्मा से सम्बन्ध भी स्थापित होता है। उदर सम्बन्धित सभी रोगों को दूर करती है। पूरे शरीर में प्राण के संचार को बढ़ाती है।

सावधानी– महावेध मुद्रा एक उच्च अभ्यास है और इसके अधिकारी भी उच्च कोटि के ही है। इसका अभ्यास एकान्त में गुप्त ही रखना चाहिए। यथासम्भव ही कुम्भक का प्रयास करें, फेफडों पर अतिरिक्त दबाव न डाले। सूत्र में भी कहा गया है कि नित्यप्रति इसका अभ्यास तीन घंटे में आठ बार करें किन्तु प्रारम्भ से ही ऐसा न करे, धीरे–धीरे ही अभ्यास को बढाए। मेरुदण्ड से सम्बन्धित रोगों में इसका अभ्यास वर्जित है। जोड़ों में दर्द होने पर भी इसका अभ्यास न करे। हथेलियों को भूमि पर अच्छी तरह टिकाए।

11.3.3 खेचरी मुद्रा

विधि– कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। ह०प्र० 3/31

सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन् में बैठे तथा जीभ को पलटकर, कपालकुहर के अन्दर लगाना चाहिए और दृष्टि को भूमध्य (दोनों भौहों के मध्य का स्थान) पर लगाना ही खेचरी मुद्रा है। पहले सूत्र में खेचरी मुद्रा की विधि बताने के बाद, आगे के सूत्रों में जीभ को लम्बा कैसे करे यह बताया गया है।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत्।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरी सिद्धिः।।
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्।।
ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्।।
एवं क्रमेण षण्मासं नित्ययुक्तः समाचरेत्।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति।। ह०प्र० 3/32 33 34

जीभ को किस प्रकार लम्बा करे कि वो सीधे कपाल कुहर में प्रवेश करे, इसके निम्नलिखित तरीके बताए गए हैं। काटना, चालन और दोहन इन तीन क्रियाओं द्वारा ही जीभ बढ़ती है, उसे इतना बढ़ाना है कि वह भूमध्य को स्पर्श करे। ऐसा करने से ही खेचरी सिद्ध होती है। थूअर (स्नुही) के धारदार पत्ते को लेकर, स्निग्ध तथा स्वच्छ (कीटानु रहित) शस्त्र लेकर उससे जिह्वा के तालु को बाल बराबर काँटे। कांटने के बाद उस स्थान (जिह्वा तालु) पर सेंधा नमक तथा हरणे का चूर्ण, सात दिन तक लगाए और फिर से बाल बराबर काँटे। इसी विधि को छह महीने लगातार करें, ऐसा करने से जिह्वा कामूल (तालु) का शिराबन्ध हट जाता है। इस प्रकार जिह्वा बढ़ जाती है और आसानी से कपालकुहर में प्रवेश करती है।

लाभ–

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः।।
न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च।।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्।।

ह०प्र० 3/37–49

खेचरी मुद्रा का अभ्यास करने वाला साधक विष, रोग, मृत्यु, बुढ़ापे से कभी पीड़ित नहीं होता। अतः वह इन सब पर विजय स्थापित करता है। आगे कहा गया है कि उसे तन्द्रा, निद्रा, भूख, प्यास, मूर्च्छा आदि भी नहीं सताती है। साधक किसी भी कर्म में आसक्त नहीं रहता उसका चित्त शून्य में विचरण करता है। जो साधक खेचरी मुद्रा को करता है उसका

बिन्दु सून्दर स्त्री के स्पर्श मात्र या आलिंगन से भी स्खलित नहीं होता। इस प्रकार का अभ्यास आधे महीने भर मात्र करने से मृत्यु नहीं आती। तक्षक सर्प जिसको सर्पो में बहुत भयानक सर्प माना गया है। कहा जाता है कि खेचरी सिद्ध होने पर अगर सर्प (तक्षक) साधक को काट ले तो उस भयंकर विष का भी साधक पर कोई असर नहीं होता है। साधक को सभी प्रकार के स्वाद जैसे नमकीन, तीखा, खट्टा, दूध, शहद तथा घी आदि अनुभव होते हैं। साधक के शरीर पर शस्त्र–प्रहार को कोई फर्क नहीं पड़ता, उसे अणिमा आदि अन्य आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

सावधानी– खेचरी मुद्रा का अभ्यास बहुत कठिन माना जाता है इसलिए इसे बिना गुरू के निर्देशन के नहीं करना चाहिए। जिह्वा को काटते वक्त बहुत सावधानी बरतें। पहले धीरे–धीरे ही काटे, कॉंटने के बाद उस पर सेंधा नमक तथा हरड़े के चूर्ण से अच्छी तरह घर्षण करें।

11.3.4 विपरीत करणी मुद्रा–

विधि–

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः।। ह०प्र० 3/77

विपरीतकरणी मुद्रा की विधि बताने से पूर्व सोमरस की चर्चा की गई है तथा उसका महत्व बताया गया है। कहा गया है कि सोममण्डल से जो अमृत का स्त्राव होता है वो नाभि में स्थित सूर्य द्वारा भस्म हो जाता है। ऐसा होने से व्यक्ति को बुढ़ापा आ जाता है। इस प्रक्रिया को रोकने के लिए एक दिव्य क्रिया बताई गई है जिसे गुरु द्वारा ही सीखना चाहिए, यह क्रिया विपरीतकरणी मुद्रा है। इसकी विधि इस प्रकार है–

ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते।। ह०प्र० 3/78

पीठ के ऊपर (बल) लेटकर, दोनों पैरो को धीरे–धीरे उठाए जिससे नाभि ऊपर और तालु नीचे हो जाता है अर्थात् सूर्यमण्डल ऊपर और सोममण्डल नीचे होने की प्रक्रिया ही विपरीतकरणी कहलाती है। इसे केवल गुरु द्वारा ही सीखना चाहिए।

लाभ–

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्।।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित्।। ह०प्र०3/79 81

नित्य प्रति इसका अभ्यास करने वाले साधक की जठराग्नि बढ़ती है। इसके छह माह के अभ्यास से ही शरीर की झुर्री तथा सफेद बाल काले हो जाते हैं। जो साधक प्रतिदिन तीन घंटे तक इसका नियमित अभ्यास करे वह मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। उसे बुढ़ापा भी नहीं सताता।

इसके अतिरिक्त इससे शरीर में प्राण के प्रवाह में संतुलन आता है। मुख्यतः प्राण का प्रवाह मणिपुर चक्र से विशुद्धि चक्र की ओर होता है। इससे शरीर की शुद्धि होती है। जिससे शरीर में किसी भी प्रकार की व्याधी नहीं होती। यह ओज–शक्ति को ऊपर के केन्द्रों में ले जानी की एक महत्वपूर्ण मुद्रा है।

सावधानी–इसका नित्यप्रति अभ्यास करने वाले साधक को अभ्यास काल में पर्याप्त भोजन करना चाहिए क्योंकि इस अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है अगर भोजन कम किया जाए तो वह अग्नि शरीर को जलाने लगती है इसलिए भोजन को सही मात्रा में लेना जरूरी है। इसका अभ्यास धीरे–धीरे बढ़ाएँ।

उच्च रक्त चाप, हृदय की किसी बीमारी से पीडित, थाइराइड ग्रन्थि के बढ जाने पर इसका अभ्यास न करें। ऋतुस्त्राव होने पर भी इसका अभ्यास न करें। मेरूदण्ड से सम्बन्धित रोगों में भी इसका अभ्यास न करे। अत्यधिक स्थूल व्यक्ति को इसका अभ्यास (दीवार) किसी के सहारे से ही करना चाहिए।

11.3.5 वज्रोली

विधि बताने से पूर्व हठयोग प्रदीपिका में इसके महत्व को बताया गया है। योगशास्त्र के नियमों को न मानने वाला साधक यदि इस मुद्रा के विषय में जानता है तो वह योग में सफलता प्राप्त करता है। यहाँ दो दुर्लभ वस्तुओं का वर्णन किया है– सोममण्डल का स्त्राव, स्वाधीनाडी (चित्रा नाड़ी) वज्रोली की विधि बताते हुए कहा है–

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकंचनमभ्यसेत्।
पुरुषोप्यथावा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात्।।
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात्।।
नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।। ह०प्र० 3/84–86

धीरे–धीरे अच्छी तरह से योनिमण्डल को संकुचित करने का अभ्यास करें। ऐसा करने से दोनों ही (पुरुष तथा नारी) वज्रोली का फल प्राप्त करते हैं। इस मुद्रा को करने के लिए सीसे या चाँदी से बनी नली को धीरे–धीरे मूत्र–नलिका (लिंग छिद्र) में प्रवेश कराए। इस नली की लम्बाई 12–14 इंच होनी चाहिए। पहले दिन 1 इंच या 1 अंगुल ही प्रविष्ट कराए, धीरे–धीरे अभ्यास परिपक्व हो जाने पर पूरी नली (12–14 इंच/अंगुल) को लिंग के भीतर डाले, फिर नली से वायु का प्रवेश कराएँ। इससे लिंग शुद्ध हो जाता है। वायु के बाद शुद्ध व थोड़ा उष्ण जल प्रवेश करवाएँ। तत्पश्चात् बिन्दु का आकर्षण करवाएँ। बिन्दु का आकर्षण हो जाने पर वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो जाती है। इसको सिद्ध कर लेने के अनन्तर योनिमण्डल में आकर गिरने वाले बिन्दु को अभ्यास के द्वारा ऊपर उठाए और उस चलायमान बिन्दु को ऊपर

खींच कर सुरक्षित रखें। स्त्रीयोगिनी के लिए भी कहा गया है कि अभ्यास की कुशलता के साथ नारी भी पुरुष के वीर्य का भली प्रकार आकर्षण कर अपने रज का वज्रोली मुद्रा के द्वारा रक्षण करती है तो ऐसी नारी योगिनी प्रशंसनीय है।
वज्रोली मुद्रा के बाद ही दो अन्य मुद्राओं का भी वर्णन किया गया है– सहजोली, अमरोली। सहजोली का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वज्रोली अभ्यास के प्रयोजन से की गई मैथुन प्रक्रिया के अनन्तर गाय के जले हुए गोबर की भस्म को जल में मिलाकर अपने अंग में लगाकर क्रियामुक्त हो विश्राम करने का नाम सहजोली है।

अमरोली का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वज्रोली साधक की पित्त की उत्कटना के कारण शिवाम्बु (स्वमूत्र) की प्रथम धारा तथा मूत्रोत्सर्ग की समाप्ति की धारा को छोड़ कर मध्य की शीतल व पित्त दोष से रहित धारा का पान करना चाहिए। इसी को अमरोली कहा गया है।

लाभ– एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।।
सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत् कालभयं कुतः।।ह०प्र० 3/87 88

वज्रोली मुद्रा का लाभो का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो साधक अपने बिन्दु की रक्षा करता है वह अकाल मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है क्योंकि बिन्दु का क्षरण ही मृत्यु है और अगर बिन्दु की रक्षा करे तो जीवन की प्राप्ति होती है। जो साधक बिन्दु का क्षय होने से उसका बचाव करता है उसके शरीर से सुगन्ध पैदा होती है। उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। इसके अतिरिक्त यह वज्र नामक नाडी को, जो प्रजनन अंगो में प्राण शक्ति का प्रवाह करती है उसको प्रभावित करती है। ब्रह्मचर्य पालन के लिए भी यह बहुत उपयोगी हैं। इससे शरीर पर नियंत्रण स्थापित होता है।

सावधानी– वज्रोली मुद्रा साधारण अभ्यास नहीं है इसलिए इसका अभ्यास धैर्यपूर्वक तथा गुरू के सानिध्य में ही करें।

11.3.6 शक्ति चालिनी मुद्रा– इस मुद्रा की विधि को बताने से पूर्व कुण्डलिनी को कई नामों से सम्बोधित किया गया है जैसे– कुटिलाङ्गी, कुण्डलिनी, भुजङ्गी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरूंधती ये सभी एक ही शब्द के पर्यायवाची हैं– जिसे मार्ग से क्लेश रहित ब्रह्मपद को जाया जाता है। उस मार्ग को मुख से ढककर कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है। कन्द के ऊपरी भाग से सोई हुई यह कुण्डलिनी योगियों के लिए मोक्ष देने वाली होती है किन्तु मूढ़ लोगों के लिए यही बन्धन का कारण है। कुण्डलिनी सर्प के समान टेढ़ी–मेढ़ी आकार वाली बतायी गयी है। शरीर में इसकी उपस्थिति इड़ा व पिंगला के मध्य में मानी गयी है। शक्ति चालन की विधि बताते हुए कहा गया है।

विधि

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम्।

निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्।।
अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्।
प्रपूर्य सूर्यात् परिधानयुक्त्या प्रगृह्यनित्यं परिचालनीया।।
ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम्।।
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम्।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्।।
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्।।
भानोराकुंचनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः।।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित् सुषुम्नायां समुद्गता।। ह०प्र० 3/107–113

अर्थात् उस सोती हुई शक्ति को पूँछ पकड़ कर जगाना चाहिए। ऐसा करने से वह शक्ति निद्रा छोड़कर एकाएक ऊपर की ओर उठती है। मूलाधार में स्थित उस शक्ति को सुबह–शाम तीन घंटे तक सूर्य नाड़ी से वायु का पूरक कर प्रतिदिन करना चाहिए। शरीर के मूलस्थान से एक बिला (9 इंच) ऊँचाई पर तथा चार अंगुल (3 इंच) विस्तार वाला, कोमल, सफेद वस्त्र को कन्द पर लपटे और शक्ति का चालन करे। वज्रासन में बैठकर दोनों हाथों से टखनों को दृढ़ता से पकड़े और उससे कन्द को दबाए। तत्पश्चात् कुण्डलिनी को चलाने की क्रिया करें और भ्रस्त्रिका प्राणायाम करें। इसे करने से वह शक्ति शीध्र ही जागृत हो जाती है। नाभि प्रवेश में स्थित सूर्य–नाड़ी की आकुंचन करें, तब कुण्डलिनी को चलावें। इससे मृत्यु के मुख में गये हुए भी उस साधक को मृत्यु का भय कैसा? अर्थात् उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। ऐसा दो मुहूर्त तक करे जिससे वह शक्ति ऊपर की ओर खिंच जाती है।

लाभ– येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया।।
ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशनः।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः।। ह०प्र० 3/116–117

जो साधक इस शक्ति का चालन करता है, वही योगी सिद्धि प्राप्त करता है। वह साधक अनायास ही वह मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। सदैव ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, पथ्यकारक और परिमित भोजन करने वाले, कुण्डलिनी चालन के अभ्यासी साधक को एक मण्डल (40 दिन) में ही सिद्धि के चिन्ह दिखाई देने लगते हैं। इसके अभ्यास से शरीर में स्थित 72000 नाडियों का शोधन होता है, यह

मूलशोधन का श्रेष्ठ उपाय है। इस मुद्रा में भ्रस्त्रिका प्राणायाम से सभी लाभ मिलते हैं।

सावधानी–

यह मुद्रा अत्यन्त गोपनीय है इसका अभ्यास एकान्त में ही करें। इसका अभ्यास गुरु के निर्देशन में ही करें। जोड़ो में दर्द रहने वाले रोगियों, साइटिका से पीड़ित रोगियों को इसका अभ्यास वर्जित हैं।

अभ्यास प्रश्न

(1) एक शब्द में उत्तर दीजिए–

(क) किस मुद्रा के अभ्यास से पंच क्लेश दूर हो जाते हैं।

(ख) किस मुद्रा के अभ्यास से झुर्री पड़ना, बालों का सफेद हो जाना तथा शरीर का कम्पन दूर हो जाता है।

(ग) किस मुद्रा के सिद्ध हो जाने पर साधक को भूख, प्यास, मूर्च्छा, तन्द्रा व निद्रा नहीं सताती।

(घ) किस मुद्रा के सिद्ध होने पर साधक के अकाल मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

(ङ) किस मुद्रा के अभ्यास में भस्त्रिाका प्राणायाम की क्रिया की जाती है।

11.4 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि हठयोगप्रदीपिका में मुद्राओं की उपयोगिता को स्वीकार किया है। मुद्रा हठयोग की एक महत्वपूर्ण साधन है। मुद्रा के अभ्यास से काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि कषायों की निवृत्ति होकर चित्त में पवित्रता आती है। साधक भाव से रहित होकर सम्पूर्ण सृष्टि में आत्मभाव देखता है तथा धीरे–धीरे साधक चरम लक्ष्य कैवल्य की प्राप्ति मुद्रा के अभ्यास से सहज रूप से करता है।

11.5 शब्दावली–

कुम्भक – श्वास रोकना

विष – जहर

अभिनिवेश – मृत्यु का डर

तन्द्रा – आलस्य

व्याधी – रोग

11.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

(क) महामुद्रा (ख) महावेध मुद्रा (ग) खेचरी मुद्रा,

(घ) वज्ररोली मुद्रा (ङ) शक्ति चालिनी मुद्रा

11.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दिगम्बर स्वामी (2001) स्वात्माराम कृत हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम, श्रीमन्माधव, योग मन्दिर समिति, लोनावाला
2. निरंजनानन्द स्वामी (2003) महर्षि घेरण्ड कृत घेरण्ड संहिता योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार
3. सरस्वती स्वामी सत्यानन्द – आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध (2003) योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार
4. भारद्वाज डॉ० ईश्वर (2005) सरल योगासन, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

11.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. खेचरी व महावेध की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।
2. शक्तिचालिनी मुद्रा व वज्रोली की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।
3. महामुद्रा व विपरीतकरणी मुद्रा की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

1. **अणिमा :** प्राकृतिक नियमों के विपरीत शरीर को परमाणु के तरह सूक्ष्म बनाने की सिद्धि।
2. **महिमा :** आकाश की तरह विशाल शरीर करने की सिद्धि।
3. **गरिमा :** रूई आदि लघुपरिमाण द्रव्य की पर्वत के समान गुरुता।
4. **लघिमा :** पर्वत के समान परिमाण द्रव्य की रूई के समान लघुता।
5. **प्राप्ति :** अभिलषित वस्तु का साधक के पास होना। जैसे- हाथ में चन्द्र का स्पर्श।
6. **प्राकाम्य :** इच्छा का अनभिघात, जब चाहे तब जल के समान पृथ्वी में डूबना और उभरना।
7. **ईशता :** पाँच भौतिक पदार्थों के उत्पाद, पालन एवं विनाश का सामर्थ्य।
8. **वशिता :** भूत एवं भौतिक पदार्थों को वश में रखना।

मुद्राओं का अभ्यास करना सभी देवताओं को भी अत्यन्त प्रिय है। इसके अभ्यास से प्राणायाम, प्रत्याहार आदि अंगों की सिद्धि में सहायता प्राप्त होता है। मुद्राओं की संख्या विभिन्न ग्रंथों में भिन्न-भिन्न स्वीकार की गयी है। घेरण्ड संहिता में 25 मुद्राओं का वर्णन प्राप्त होता है, जबकि हठयोग प्रदीपिका में इनकी संख्या 10 बतायी गयी है। यहाँ हम हठयोग प्रदीपिका में वर्णित 10 मुद्राओं का वर्णन करेंगे।

महामुद्रा, महाबन्धो, महाबेधश्च, खेचरी।
उडयानं मूलबन्धश्च, बंधो, जालन्धराभिधः।।
करणी विपरीताख्या, वज्रोली, शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकम्, जरामरणनाशनम्।।[28]

28. वही, 3/6-7

1. महामुद्रा 2. महाबंध 3. महावेध 4. खेचरी 5. उड्डियान 6. मूलबन्ध 7. जालन्धर बन्ध 8. विपरीतकरणी 9. वज्रोली एवं 10. शक्तिचालन- ये दश मुद्रायें मुख्य कहलाती हैं जिनके निरन्तर अभ्यास से ऊपर वर्णित सिद्धियाँ शीघ्र ही प्राप्त हो जाती हैं। हठयोग प्रदीपिका में इस मुद्रा अभ्यास के ज्ञान को गोपनीय रखने की बात कही गयी है। कहा गया है कि इसे उसी प्रकार गुप्त रखना चाहिए जिस प्रकार कोई गृहस्थ अपने रत्न-आभूषण को पेटी में सबसे छुपा कर रखता है।

भगवान् शिव देवी पार्वती से कहते हैं कि हे देवि! मैंने तुम्हारे समक्ष जिन मुद्राओं का नाम उल्लेख किया है, जिनके जानने मात्र से ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इन मुद्राओं को प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिए अर्थात् किसी को भी अर्थात् जो इसके लायक नहीं हैं उसको प्रदान करने योग्य नहीं है। देवताओं के लिये भी यह दुर्लभ है। ये सभी मुद्रायें योगियों के लिए प्रीतिदायक हैं।[29]

1. महामुद्रा

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीडय दक्षिणम्।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढ़म्।।
कण्ठे बन्धं सामारोप्य धारयेद् वायुमूर्ध्वतः।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।।[30]

साधक अपने बायें पैर की एडी से योनि स्थान को दबाकर, अपने दाहिने पैर को फैलाते हुए तथा दाहिने पैर की एडी का धरती से स्पर्श कराते हुए उसी पैर के अंगूठे के अग्रभाग को दोनों हाथों की तर्जनी अंगुलियों से दृढ़ता से पकड़े, फिर कण्ठ में जालन्धर बंध

29. घेरण्ड संहिता, पृ0 31
30. ह0 प्र0 3/10-11

लगाकर वायु को सुषुम्ना में ग्रहण करे। जिस प्रकार कुण्डली लगाकर बैठा हुआ सर्प, दण्ड का आघात पाकर दण्ड की तरह लम्बा (सीधा) हो जाता है, उसी प्रकार इस क्रिया के अभ्यास से आधारशक्ति कुण्डली भी तत्काल सीधी हो जाती है। तब इडा एवं पिंगला पर आधृत उस कुण्डली की यह स्थिति मरणावस्था कहलाती है, क्योंकि सुषुम्ना में जब प्राणवायु का संचार हो जाता है तब इडा और पिंगा नाड़ियाँ मृत हो जाती हैं।

इस महामुद्रा की विशिष्टता को अभिव्यक्त करते हुए शिवसंहिता में भगवान् शिव ने माता पार्वती से कहा है कि जो मन्द भाग्य वाले साधक होते हैं वो भी इस महामुद्रा के अभ्यास से सिद्धियों को प्राप्त कर सकते हैं। इसके अभ्यास स्वरूप शरीर के अन्तर्गत स्थित समस्त नाड़ियों का समूह स्वतः परिचालित होने लगती है एवं जीवन के लिए संजीवनी स्वरूप शुक्र स्तम्भित होकर जीवन को भी अवस्थित रखता है। इसके प्रभाव से समस्त पापों एवं रोगों का नाश हो जाता है, शरीर कान्तिमान होता है, जरा-मरण का विनाश होता है, मन वान्छित फल एवं आनंद की प्राप्ति होती है तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होता है। इस मुद्राभ्यास के परिणामस्वरूप साधक संसार-समुद्र को पार करने में समर्थ होता है तथा सिद्ध हो जाने पर यह मुद्रा समस्त कामनाओं को प्रदान करने वाली है।[31]

2. महाबन्ध

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।।
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम्।
निष्पीडय वायुमाकुंच्च मनोमध्ये नियोजयेत्।।[32]

31. घे0 सं0, पृ0 33
32. ह0 प्र0 3/19-20

साधक पूर्वोक्त विधि से अपने बायें पैर की एडी को योनिस्थान में स्थापित कर अपने दाहिने पैर को बायें पैर पर रखें। फिर अपने ठोडी को हृदय स्थान पर स्थापित करते हुए प्राणवायु को खींचकर मध्यनाड़ी सुषुम्ना में स्थापित करे। इस प्रकार ऐसे ही कुम्भक प्राणायाम करते हुए अन्त में उस वायु का रेचन करें। आगे इसी क्रिया को दाहिने पैर से शुरु कर दोहरायें।

इस महाबन्ध के निरन्तर अभ्यास से साधक को महासिद्धियों को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करता है। यह साधक के मृत्युपाश को ढीला करने वाला माना गया है। इस मुद्रा के अभ्यास से तीनों नाड़ियों का संगम हो जाता है। अतः यह बंध गंगा, यमुना एवं सरस्वती के संगम वाले तीर्थराज प्रयाग की शोभा प्राप्त करता है तथा यह साधक के मन को शिव स्थान केदार तक पहुँचाने में समर्थ होता है।[33]

3. महावेध

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषः विना।
महामुद्रा-महाबन्धौ निष्फलौ वेध वर्जितौ।।
महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया।।[34]

जिस प्रकार लोक में रूप एवं आभा से सम्पन्न किसी युवति स्त्री का वह मनोहारी रूप एवं लावण्य तब तक व्यर्थ ही माना जाता है जब तक उस स्त्री का कोई पति न हो, वैसे ही महामुद्रा महावेध मुद्रा के बिना ये उपर्युक्त महाबन्ध एवं महामुद्रा भी साधक के लिए निरर्थक ही माने जाते हैं।

33. वही, पृ0 53
34. वही, 3/25-26

सर्वप्रथम महाबंध मुद्रा का साधक एकाग्रचित्त होकर नासिका द्वार से पूरक प्राणायाम कर कण्ठमुद्रा से इस वायु का ऊर्ध्वगमन एवं अधोगमन रोक कर, अपने दोनों हाथों की हथेलियों को समतल धरती पर टिकाकर तथा बायें पैर की एडी को योनि में लगाकर साधक अपने नितम्बों को ऊपर उठा उठाकर बार-बार भूमि पर पटके। इस अभ्यास से साधक की प्राणवायु इडा एवं पिंगला को त्यागकर सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है यही क्रिया 'महावेध' कहलाती है।

योग को जानने वालों में वही योगी सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है, जो महावेध मुद्रा का अनुष्ठान करते हुए महाबन्ध और मूलबन्ध मुद्राओं का भी आचरण प्रतिदिन करें। ऐसा करने वाले योगी साधक को न तो मृत्यु का भय होता है और न ही बुढ़ापा उस पर अपना प्रभाव डाल सकती है। ये तीनों मुद्रायें ही साधकों द्वारा यत्नपूर्वक गोपनीय रखने का उपदेश दिया गया है अर्थात् जो कोई इसका सत्पात्र लगें उसी के समक्ष इसे प्रकाशित करना चाहिए।[35]

4. खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।
छेदन-चालन-दोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत् तावत्।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः।।[36]

जिह्वा के निम्न भाग में अवस्थित नाड़ी का छेदन करते हुए उसके अग्रभाग का प्रतिदिन परिचालन करने के साथ-साथ मक्खन की सहायता से उसका दोहन करते हुये लोहे की चीमटी द्वारा जिह्वा को खींचना चाहिए। इस क्रिया का प्रतिदिन अभ्यास करने से जिह्वा की

35. घे0 सं0, पृ0 39
36. ह0 प्र0 3/32-33

लम्बाई बढ़ती है। यह अभ्यास तब तक करे जब तक जिह्वा इतनी लम्बी हो जाये कि दोनों भौंहों के मध्य भाग को स्पर्श करने लगे, तब उसे धीरे-धीरे तालु के भीतर समाविष्ट करना चाहिए। तालु के मध्य भाग में अवस्थित गड्ढ़े में ले जाकर जिह्वा को ऊपर की ओर उलट कर प्रविष्ट करने के पश्चात् दोनो भौहों के मध्य भाग में अपनी दृष्टि को स्थिर करने की क्रिया ही 'खेचरी' मुद्रा कहलाती है।

जो साधक इस खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते हैं, उनके ऊपर मूर्च्छा, भूख, प्यास तथा आलस्य का कभी कोई प्रभाव नहीं होता, साथ ही उनपर कभी किसी रोग का भी प्रभाव नहीं पड़ता, न ही बुढ़ापा उनको प्रभावित करता है। मृत्यु का भय भी समाप्त हो जाता है तथा साधक देवशरीर तुल्य हो जाता है। उन्हें न तो अग्नि जला सकती है, न वायु उसे सुखाने में समर्थ हो पाती है। न तो जल उनके शरीर को गीला कर पाता है और न ही उन पर सर्प के दंश का कोई असर होता है। उनके शरीर में अलौकिक लावण्य का प्रादुर्भाव हो जाता है और वो निश्चित रूप से समाधि योग को प्राप्त कर लेते हैं।[37]

5. उड्डीयान बन्ध

> **बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।**
> **तस्माद् उड्डीयनाख्योडयं योगिभिः समुदाहतः।।**
> **उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।**
> **उड्डीयानं तदैव स्यात्, तत्र बन्धोऽभिधीयते।।**[38]

नाभि के ऊपर उदरभाग के पीछे की तरफ अर्थात् भीतर की ओर बलपूर्वक खींचने और प्राणवायु को उठाने पर सुषुम्ना में प्राणवायु आकाश मार्ग से जाता है, तब साधक को

37. घे0 सं0, पृ0 40
38. ह0 प्र0 3/55-56

गरुड़ के समान आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसी कारण इसको 'उड्डीयान बन्ध' कहा जाता है। यह बंध मृत्युरूपी गज के लिए सिंह के समान होता है।

जो योगी प्रतिदिन चार बार इस बन्ध का अभ्यास करता है, उनको नाभिशुद्धि एवं मरूत सिद्धि की प्राप्ति होती है। निरन्तर छः मास तक अभ्यास करने से योगी मृत्यु को भी पराजित करने में समर्थ हो जाता है। अतः बुद्धिमान साधक को गुरु से उपदिष्ट होकर अत्यन्त दुर्लभ इस बंध का अभ्यास करना चाहिए।[39]

दत्तात्रेय संहिता में तो यहाँ तक कहा गया है कि इस बन्ध के सतत् अभ्यास से मनुष्य वृद्धत्व से मुक्त होकर पुनः यौवन को प्राप्त कर लेता है-

अभ्यसेद्यस्तु सत्त्वस्थो वृद्धोऽपि तरूणायते।
षण्मासमभ्यसन्मृत्युं जयत्येव न संशयः।।

6. मूलबन्ध

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोडभिधीयते।।[40]

साधक को अपने पैर की एडी से योनि भाग पूर्णतः दबा कर गुदा को संकुचित करके, अपानवायु को ऊपर की ओर खींचे। इसी क्रिया को मूलबंध कहा जाता है।

आशय यह है कि गुदमार्ग को एड़ी से पीड़ित कर सम्यक् प्रकार से नियन्त्रित करते हुए अपान वायु को बलपूर्वक धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने का अभ्यास करने का नाम ही 'मूलबंध' है।

39. घे0 सं0, पृ0 35
40. ह0 प्र0 3/61

अतः जो साधक संसाररूपी प्रकृत सागर को पार करने की कामना रखते हैं, उन्हें एकांत स्थान पर गुप्त रूप से अवस्थित होकर इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इसका अभ्यास करने से निश्चित रूप से अभ्यासी को मरूत् सिद्धि की प्राप्ति होती है; अतएव साधक को आलस्य का त्याग करके मौन भाव से इस मुद्रा की साधना करनी चाहिए।[41]

7. जालन्धरबन्ध

कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोड्शाधारबन्धम्।
जालन्धरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी।।[42]

कण्ठदेश का संकोचन करते हुए ठोढ़ी को हृदय पर स्थापित करना ही 'जालन्धर बन्ध' कहलाता है। इस मुद्रा के अभ्यास के फलस्वरूप सोलह प्रकार के आधारों[43] का बन्धन होता है अर्थात् कण्ठस्थान में अवस्थित जो 16 स्वरों के 16 आधार होते हैं, उनका कण्ठ संकोचन करने के परिणामस्वरूप बन्धन हो जाता है। यह मुद्रा मृत्यु को भी विनष्ट करने वाली होती है।

स्वयं सिद्ध यह जालन्धर बन्ध योगियों के लिए सिद्धि प्रदान करने वाला है, जो ज्ञानी पुरुष छः मास तक निरन्तर इसका अभ्यास करता है, वह अवश्य ही सिद्ध हो जाता है। शिवसंहिता में भी कहा गया है कि जो साधक इस बंध का अभ्यास करके सहस्त्रदल कमल से बहने वाली अमृत को अधोभाग भाग में लाकर स्वयं उसका पान करते हुये अमरत्व का लाभ प्राप्त कर लेता है।[44]

41. घे0 सं0, पृ0 37
42. वही, पृ0 3/12
43. ह0 प्र0, पृ0 66
44. घे0 सं0, पृ0 36

8. विपरीतकरणी मुद्रा

यत् किञ्चित स्त्रवते चन्द्राद अमृतं दिव्यरूपिणः।
तत् सर्व ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः।
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम्।
गुरुपदेशतो ज्ञेयम्, न तु शास्त्रार्थकोटिभिः।।[45]

नाभि स्थान में सूर्य अर्थात् इड़ा नाड़ी और तालुमूल में चन्द्र अर्थात् पिंगला नाड़ी का वास रहता है। इसी कारण सहस्त्रदल से जब पीयूषधारा का क्षरण होता है तो उस अमृतधारा को सूर्य अपना ग्रास बना लेता है, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो जाता है, लेकिन यदि चन्द्रनाड़ी द्वारा उस अमृत को अपना ग्रास बनाया जाय तो मनुष्य पर मृत्यु का आक्रमण कभी नहीं हो सकता। इसलिए इस विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग अनुसार सूर्य नाडीं को ऊर्ध्व भाग में एवं चन्द्रनाड़ी को अधोभाग में स्थापित करना चाहिए। इस मुद्रा को अन्य सभी ग्रंथों में गुप्त ही रखा गया है किसी में इसका प्रकाशन नहीं किया गया है। साधक को चाहिए कि अपने सिर को भूतल पर पूर्ण तरह से स्थापित करते हुये दोनों हाथों से भूमि को पकड़कर सावधानीपूर्वक दोनों पैरों को आकाश में ऊपर उठाते हुए सीधा खड़ा कर स्थिर हो जाये, यही क्रिया 'विपरीतकरणी मुद्रा' कहलाती है।

जो साधक इस मुद्रा का प्रतिदिन अभ्यास करते हैं, वे जरा और मृत्यु को पराजित करने में समर्थ हो जाते हैं अर्थात् अमर हो जाते हैं। ऐसे साधक सभी लोकों में सिद्ध हो जाते हैं और प्रलयकाल में भी उनका विनाश नहीं होता।[46]

45. ह0 प्र0 3/77-78
46. घे0 सं0, पृ0 42

9. वज्रोली मुद्रा

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसञ्चारकारणात्।।[47]

शीशे की बनी हुई लिंग में प्रविष्ट होने योग्य चौदह अंगुल लम्बी नाली बनवाकर उसको लिंग में प्रविष्ट कराने का अभ्यास करे। प्रथम दिन एक अंगुल, दूसरे दिन दो अंगुल, तीसरे दिन तीन अंगुल प्रविष्ट कराये। इसी विधि से क्रमशः वृद्धि करते हुए 12 अंगुल प्रविष्ट करें। इस प्रकार जब 12 अंगुल नाली प्रविष्ट हो जायें तो साधक का लिंगमार्ग शुद्ध होने की स्थिति में आ जाता है। तब उसी प्रकार की एक दूसरी नाली 14 अंगुल की बनवायें जिसका नाली दो अंगुल तेढ़ा हो और जिसका मुख ऊपर की ओर हो। उसे भी 12 अंगुल तक लिंग में प्रविष्ट करें, परन्तु दो अंगुल तेढ़े भाग को बाहर ही रखें। फिर स्वर्णकार की अग्निधमन शलाका के समान उस नाली के बाहर वाले भाग में मुख से फूंक मारे। इस क्रिया से लिंगमार्ग की पूर्ण शुद्धि हो जाती है। फिर उस नाली के माध्यम से लिंग से जलाकर्षण का अभ्यास करें। इस जलाकर्षण की सिद्धि होने पर वह योगी नारी समागम के अनन्तर स्त्रीयोनि में क्षरित शुक्रबिन्दु के आकर्षण का अभ्यास करें। इस शुक्रबिन्दु के ऊर्ध्वाकर्षण की सिद्धि होने पर ही 'वज्रोली मुद्रासिद्धि' मानी जाती है। यह वज्रोली मुद्रा उसी योगी को सिद्ध होती है जिसने खेचरी मुद्रा द्वारा प्राणवायु को अपने वश में कर लिया हो।

कोई नारी भी इस क्रिया को कर सकती है। यदि वो पुरुष का शुक्र अपनी योनि में खींच कर अपने रज को भी वज्रोली क्रिया से संरक्षित करने का अभ्यास कर लेती है तो वह नारी भी विद्वानों द्वारा योगिनी कहलाती है। दृव्यदृष्टि एवं त्रिकालदर्शिनी हो जाती है तथा इस मुद्रा के अभ्यास से वह निश्चित ही आकाशचारिणी भी हो जाती है। अतः यह मुद्रा का

47. ह0 प्र0 3/86

अभ्यास ऐसा पुण्यप्रद प्राप्त कराने वाली है तथा विषयभोग के पूर्ण आनन्द के साथ मुक्ति प्रदान करने वाली भी है।

10. शक्तिचालिनी मुद्रा

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता।।
यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्।।[48]

मूलाधार में स्थित आत्मशक्ति रूपा परा देवता कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन फेरे में लिपटी हुई सर्पिणी के समान शयनावस्था में स्थित रहती हुई जब तक वह कुण्डलिनी शक्ति सोई रहती है, तब तक कितने प्रकार का भी योगाभ्यास करने पर भी जीव में ज्ञान का संचार नहीं हो पाता और वह जीव अज्ञानावृत पशु के समान विचरण करता रहता है।

इसलिए कहा जाता है कि जिस प्रकार ताले से बन्द दरवाजे को खोलने के लिए कुंजी (ताली) की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर साधक ब्रह्मद्वार अथवा मोक्ष द्वार को खोल देता है, जिससे उसके समस्त अज्ञान का नाश होता है और उसमें ज्ञान का संचार होता है।

शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करने के लिए सर्पप्रथम सिद्धासन पर विराजमान होकर नासिका छिद्रों द्वारा प्राणवायु को खींचते हुये बलपूर्वक उसे अपान वायु के साथ संयोजित करने का प्रयास तब तक करें जब तक वह वायु सुषुम्ना नाड़ी के भीतर जाकर प्रकाशित न हो

48. घे0 सं0 3/49-50

जाए तब तक अश्विनी मुद्रा द्वारा धीरे-धीरे गुह्यप्रदेश को सिकोड़ते रहना चाहिए।[49] यहीं क्रिया शक्तिचालिनी मुद्रा कहलाती है।

इस मुद्रा का प्रतिदिन अभ्यास करने से जरा-मरण का नाश हो जाता है। इसलिए सिद्धि की कामना रखने वाले साधक को इसका अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

इस प्रकार भगवान् आदिनाथ शिव ने योगशास्त्र में जो दश मुद्राओं का उपदेश दिया है, उनमें प्रत्येक मुद्रा का अभ्यास समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाली है। अतः योगी को किसी योग्य गुरु के निर्देशन में रहकर समस्त मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए और गुरु आदेशानुसार एकाग्रचित होकर, युक्त आहार विहार करते हुए हठयोग साधना में प्रवृत्त होना चाहिए, तभी साधक अणिमादि अष्टसिद्धियों को प्राप्त कर मृत्यु पर विजय पाने में समर्थ हो पाता है।

प्रत्याहार

यतो यतो मनश्चिरति मनश्चचंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येत वशं नयेत्।।[50]

प्राणी का मन जैसे-जैसे विचरण करता रहता है, वैसे-वैसे ही वह चंचल एवं अस्थिर भी होता जाता है, अतः उन-उन विषयों से मन को नियन्त्रित करते हुए मन को अपने वश में करना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है कि मनुष्य का मन अत्यन्त चंचल एवं अस्थिर रहता है, जबकि योग साधना के लिये मन का वशीकरण अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए सर्वप्रथम साधक को अपने मन की चंचलता को नियन्त्रित करने का उपदेश दिया गया है।

49. वही, 3/54-55
50. घे0 सं0 4/2

भी नहीं। तब महापुरुषने मुझे त्राटक-योगकी शक्तिके सम्बन्धमें उपदेश प्रदान किया। त्राटक- योगका अभ्यास कर सकनेसे हम सहज ही में लोगोंको निद्रित, वशीभूत और इच्छानुसार (मनमाने) काममें लगा सकते हैं।

कुण्डलिनी चैतन्यका कौशल।

कुण्डलिनी तत्त्वमें ही कहा गया है, कि कुण्डलिनी चैतन्य न होनेसे तप-जप और साधन-भजन वृथा है। कुण्डलिनीके अचैतन्य रहनेसे मानवका प्रकृत ज्ञान कभी उदय नहीं हो सकता है। मानव-जीवनका प्रधान काम और योगमें सिद्धि-लाभका उपाय—कुण्डलिनी को चैतन्य करना ही है। जितने प्रकारकी साधनाएँ हैं, सभी कुण्डलिनीको चैतन्य करनेके लिये हैं। सुतरां सबसे पहले यत्नके साथ कुण्डलिनीको जगाना चाहिये। मूलाधार-पद्ममें कुण्डलिनी-शक्ति स्वयम्भू लिङ्गको साढ़े तीन फेरेसे लपेटे साँपके आकारमें नींद ले रही है। जबतक वह देहमें नींद लेती है, तबतक मानव पशुकी तरह अज्ञानमें मग्न रहता है, तबतक कोटि-कोटि योगाभ्याससे भी उसे ज्ञान नहीं मिलता। परंतु जैसे कोई चाभीसे ताला खोलकर दरवाजा खोल देता है,—वैसे ही कुण्डलिनी शक्तिको जगाकर मूर्द्धदेशसे सहस्रार पद्मपर पहुँचा सकनेसे ही ब्रह्मद्वार का भेद होकर ब्रह्मरन्ध्रकी राह खुल जाती है। इसीसे मानवको दिव्य-ज्ञानका लाभ होता है।

बायें पैरको एड़ीसे योनिदेशको मजबूतीसे दबाकर दाहिने पैरको बिलकुल सीधा और सरल भावसे सामने रखकर बैठे, उसके बाद दाहिने पैरको दोनों हाथोंसे जोरसे दबाये रखे एवं कण्ठ (गले) में ठुड्डी लगाकर कुम्भकसे वायु रोके। पीछे प्राणायामकी चालसे धीरे-धीरे उस वायुको निकाल दें। डण्डाहत (डण्डेसे मारा गया) साँप जैसे सरल भाव धारण करता है, वैसे ही इस क्रियाको करने पर कुण्डलिनी-शक्ति ऋजु (सीधा) आकार धारण कर लेती है।

बित्तेके बराबर लम्बे, चार अंगुल चौड़े, कोमल, श्वेतवर्ण सूक्ष्म कपड़ेसे नाभिदेश (तोंदीकी जगह) को लपेटकर कमरके डोरेसे बाँध दे। पीछे भस्म द्वारा देह लेपन करके गोपनीय (छिपे) घरमें सिद्धासन पर बैठे, दोनों नथनेसे प्राण-वायुको आकर्षण करके, बल-पूर्वक अपान वायुमें मिलावें एवं जबतक सुषुम्णा विवरमें (गड्ढेमें) वायु पहुँचकर प्रकाश न पावे, तबतक अश्विनी-मुद्रासे धीरे धीरे गुह्यदेशको सिकोड़े और फैलाये। इसी तरह साँस रोककर कुम्भक योगसे वायु रोध करनेसे कुण्डलिनी-शक्ति जागकर सुषुम्णा पथसे ऊपरकी तरफ चढ़ती है।

इस तरह साधन करनेसे कुण्डलिनीके जागनेपर योनिमुद्रा योगसे उठायी जाती है। मूलाधारसे क्रमानुसार समस्त चक्रोंको भेद करते हुए सहस्र दलको पद्ममें उठा कर परमशिवके साथ संयुक्त करने एवं दोनोंको एक बनानेसे उन दोनोंके संयोगसे निकले हुये सामरस्य-सम्भूत अमृत द्वारा शरीर उमड़ने लगता है। उस समय साधक समस्त जगत्‌को भूल जाता है एवं बाह्य-ज्ञान शून्य होकर

जिस अनिर्वचनीय अपार आनन्दमें डूब जाता है, वह स्वतः अनुभवकी वस्तु है, लिख कर मैं उसे प्रकाश नहीं कर सकता। स्त्री-संसर्गसे शरीर और मनमें जैसा अनिर्देश्य (जो कहा न जा सके) आनन्द अनुभव होता है, उसकी अपेक्षा कोटि-कोटि गुण अधिक आनन्द इसमें प्राप्त होता है। उस अव्यक्त भावको व्यक्त (प्रकाश) करनेकी शक्ति भाषामें नहीं है। *

कुण्डलिनी-शक्ति किस तरह उठायी जाती है, वह केवल मुंहसे बतानेसे नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष दिखाये बिना किसीकी भी समझमें नहीं आ सकती। सुतरां वह गुह्य (गुप्त) विषय अकारण सर्व साधारणके सामने प्रकाशित करना वृथा है। साधकको केवल मात्र कुण्डलिनी शक्तिको चैतन्य करनेके लिये ऊपर कही हुई क्रियाओंका अनुष्ठान करना चाहिये। कुण्डलिनी चैतन्य करनेका और भी एक सहज उपाय है। वह इस प्रकार है :—

सिद्धासनसे बैठ कर हृदयपर मजबूतीसे ठुड्ढी रखे, पीछे दोनों हाथसे मुट्ठी बांधकर दोनों हाथकी कुहनी हृदयपर दृढ़रूपसे रख नाभि देशमें वायु धारण करे एवं गुह्य-देशको अश्विनी मुद्रासे सिकोड़ता और फैलाता रहे। ऐसा नित्य अभ्यास करनेसे भी कुण्डलिनी शीघ्र ही चैतन्य होगी।

---

* कुण्डलिनीको कैसे जगाकर उत्थापन करना होता है, इसकी क्रिया मत्प्रणीत "ज्ञानीगुरु" ग्रन्थमें वर्णन की गई है।

कुण्डलिनीके चैतन्य होकर सुषुम्णा-नाड़ीमें प्रवेश करनेसे साधक स्पष्ट अनुभव कर सकता है। उसी समय पीठकी रीढ़के बीचमें चींटी रेंगने जैसी सरसराहट होने लगती है।

लययोग साधन।

—☆—

जिनके पास समय थोड़ा है एवं जो योगके नियमोंका पालन करनेमें असमर्थ हैं, वे पहले बतायी हुई विधिसे कुण्डलिनीको चैतन्य करके यदि किसी भी प्रकारके आगे बताये लययोगका साधन करेंगे तो अवश्य चित्त लय होगा। विषय बढ़ जानेके डरसे मैं विस्तार-पूर्वक यहाँ न लिख सका। फिर भी जो कई-एक लय-संकेत मैंने लिखे हैं, उनमेंसे किसीकी भी क्रियाका अनुष्ठान करके मनोलय किया जा सकता है। यह बहुत सीधा और थोड़ी मेहनतसे सिद्ध होनेवाला एवं शीघ्र फल देनेवाला साधन है।

(१) मूलाधार-चक्र भगाकृति है; इस चक्रमें स्वयम्भूलिङ्गमें तेजोरुपा कुण्डलिनी-शक्ति साढ़े तीन फेरे लपेटे हुए अधिष्ठिता है। इस ज्योतिर्म्मयी-शाक्तिका जीवरुपमें ध्यान करनेसे चित्त लय होता है एवं मुक्ति मिल जाती है।

(२) स्वाधिष्ठान-चक्रमें प्रवालांकुर जैसे उड्डीयान नामक पीठ (आसन) पर कुण्डलिनी-शक्तिका चिन्तन करनेसे भी मनोलय होगा एवं जगत्‌के आकर्षणकी शक्ति आवेगी।

हठयोगकी मुद्राऐं

आध्यात्मिक दिशा में आगे बढ सके और ध्यान में साधक प्रगति पा सके इसके लिए हठयोग की थोडी सरल मुद्राऐं ध्यान के गहरे अभ्यासी श्री. रमेशजी अग्रवाल के निर्देशन में यहां प्रस्तुत की है ।

इस मुद्रा के अभ्यास से ध्यान के अनुकूल मनोस्थिति निर्माण होकर ध्यान के उच्च स्तर तक पहुँचा जा सकता है ।

इसका संदर्भ और आधार **गोरक्ष पद्धति, शिवसंहिता, धरेण्डसंहिता** और **हठयोग प्रदीपिका** में से लिए गये है ।

इस मुद्रा के करते समय जिस बंध का उल्लेख है इसकी जानकारी इस तरह से है :

१ **उड्डीयान बंध :** श्वसनतंत्र में से पूरा श्वास निकालकर पेट को मेरुदंड की ओर संकोचन करते हुए, श्वास को बाहर ही रोककर उड्डीयान बंध होता है ।

२ **जालंदर बंध :** नाक के द्वारा श्वास भर के, थुड्डी को कोलरबोन के बीच में लगाकर, रोके हुए श्वास को बाहर न निकलने देते हुए, थोडा दबाव दिया जाता है, इस क्रिया को जालंदर बंध या कोकमुद्रा कहते है ।

३ **मूलबंध :** श्वास पूरा बाहर निकालकर गुदा के स्नायु को ऊपर की ओर खींचते हुए मूलबंध होता है । यह सभी मुद्राऐं करते वख्त चित्त को आज्ञाकेन्द्र (दर्शनकेन्द्र) दो भकृटिओं के बीच स्थापित करना है ।

२९.१ महामुद्रा :

बाये पैर के घुटने को मोडकर एडी से योनिमार्ग (शीवनी) पर दबाव देते हुए, दाहिना पैर फैलाकर जमीन से लगाकर रखें । फिर दोनों हाथो से दाहिने पैर की एडी के ऊपर के हिस्से को पकडना है, अगर एडी को न पकड सके तो घुटना और पैर के तलवे के बीच का हिस्सा पकडकर संकल्प से नव द्वार (दो आँख, दो कान, दोनो नासिकाऐं, जालंदर, उड्डीयान और मूलबंध) बंद कर के महामुद्रा बनती है । फिर यही क्रिया दूसरे पैर से करे ।

लाभ :

- सभी नाडियों का संचालन अच्छी तरह से होता है ।
- जठराग्नि प्रज्वलित होकर, पाचनक्रिया व्यवस्थित होती हैं ।
- क्षय और कुष्ठरोग में फायदा होता है ।
- क्लेश और कषाय दूर होकर शरीरकी कान्ति बढती है ।
- इन्द्रियो के माध्यम बंध होने से वृतियाँ शांत होती हैं ।

२९.२ महाबंध मुद्रा :

बाये पैर को घुटने से मोडकर एडी से योनिमार्ग (शीवनी) पर दबाव देते हुए, दाहिना पैर घूटने से मोडकर, बाये पैर के जंघापर रखते हुए, मेरुदंड सीधा रखते हुए, नवद्वार बंध कर के महाबंधमुद्रा बनती है ।

लाभ :

- सभी नाडियों का संचालन ठीक तरह से होता है ।
- प्राणवायु का उर्ध्वगमन होता है ।
- प्राण का प्रवाह (सुषुम्ना) नाडी में शुरू होता है ।

२९.३ महावेद मुद्रा :

पद्मासन कर के, मूलबंध कर के, दोनों हाथ की हथेलियों को जमीन पर थापे के पास रखकर, मेरुदंड सीधा रखते हुए हाथो को सीधा याने कोहनी को बिना मोडे जमीन पर ताड़न करे । ताड़न याने पालथी लगाकर जमीन पर ४-५ बार लगायें यह ताड़न महाबंध मुद्रा में ज्यादा लाभदायक होता है लेकिन इस मुद्रा में मूलबंध नहीं होता है ।

लाभ :

- त्वचा की स्थिति स्थापकता ज्यादा लम्बे अरसे तक रहती है ।
- बाल जल्दी सफेद नहीं होते है ।
- वृध्धावस्था के कंपन से बच सकते है ।

२९.४ खेचरी मुद्रा :

खेचरी मुद्रा वैसे तो बहुत कठिन मुद्रा है पर यहां दी गयी इस मुद्रा से भी कुछ फायदे जरुर होते हैं। इस मुद्रा में जिह्वा को उलट कर कंठ के मूल पर जो घांटी है उसपर लगाकर, दृष्टि को नाक पर आज्ञाचक्र (दर्शनकेन्द्र) पर अपलक रखते हुए खेचरी मुद्रा बनती है। यह मुद्रा करते वख्त उदानमुद्रा और आंतरिक रुप से हम् का मौन उच्चारण करने से ज्यादा लाभ होता है।

लाभ :

- भूख - प्यास पर नियंत्रण होता है।
- मरणतुल्य कष्ट दूर होते है।
- एकाग्रता सघती है।
- निर्विकल्प दशा में लीन हो सकते है।

२९.५ सर्वेन्द्रिय मुद्रा :

पद्मासन, सुखासन या सिध्धासन में बैठकर, दोनो अंगूठे से दोनो कान के द्वार बंध कर के दोनो तर्जनी से दोनो आँखे बंधकर के, दोनों मध्यमा से दोनों नासिकाएँ बंध करके, दोनों अनामिका को होठ के उपर रखते हुए, दोनों कनिष्ठिका को होठ के नीचे सहज दबाव देते हुए, जालंदर, उड्डीयान और मूलबंध करते हुए सर्वेन्द्रिय मुद्रा बनती है।

लाभ :

- इन्द्रियो की वृति शांत होकर, चंचलता दूर होकर, ध्यान में लीन हो सकते है।
- अंतरमुखी बनने से आंतरिक चेतना जागृत होती है।
- ज्योतिकेन्द्र पर बंध आंखो से सफेद रंग का अनुभव होता है।
- आवेश-आवेग शांत होकर, पूर्ण शांति का अनुभव होता है।

मुद्रा

हठयोग-साधना में योग-सिद्धि के जो सात साधन बताये गये हैं उनमें मुद्रा तीसरे स्थान पर है। शरीर की वह विशिष्ट क्रिया जिस से शरीर के किसी अवयव विशेष को स्थिति विशेष में रखा जाता है, **''मुद्रा''** कहलाती है। यह शरीर को स्वस्थ रखने के साथ-साथ आत्मिक बल में भी वृद्धि करती है, जो चित्त को एकाग्र करने तथा कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में भी सहायक है। मुद्राओं के अभ्यास से इन्द्रियाँ बाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छेद कर अर्न्तमुखी होकर प्रत्याहार की स्थिति निर्मित करती है। यद्यपि मुद्राओं का उद्देश्य आध्यात्मिक है तथापि मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इनका उपयोग नकारा नहीं जा सकता। हठयोग के ग्रन्थों में मुद्रा और बन्ध का संयुक्त विवरण एक साथ प्राप्त होता है। बन्ध का शाब्दिक अर्थ है **''बाँधना''** अर्थात् शरीर के अंग विशेष को धीरे-धीरे शक्तिपूर्वक संकुचित कर बांधना ही बन्ध है। यह अन्त: शारीरिक प्रक्रिया है। इसके द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों तथा नाड़ियों को नियंत्रित किया जा सकता है। हठयोग-प्रदीपिका में मुद्राओं का विवरण इस प्रकार मिलता है। यथा-

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्डीयानं मूलबन्धश्च बंधो जालन्धराभिध:।
करणी विपरीताख्या बज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरण-नाशकम्।

अर्थात् महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, व्रजोली, शक्तिचालनी यह दश मुद्रायें जरा-मरण को नष्ट करने वाली बतायी गयी है। इसी प्रकार घेरण्ड-संहिता में मुख्य रूप से पच्चीस मुद्राओं का वर्णन प्राप्त होता है। यथा-

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी।
विपरीतकरिणी योनि वज्रोली शक्तिचालिनी।
तडागीमाण्डवी मुद्रा शाम्भवीपञ्चधारणा।।
आश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पञ्चविंशति मुद्रा:वै सिद्धिदाश्चेहयोगिनाम्।।

अर्थात् महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान-बन्ध, जालन्धर-बन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरिणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालिनी, तड़ागी, माण्डवी, शांभवी, पंचधारणा, अश्विनी, पाशनी, काकी, मातंगी और भुजंगिनी इत्यादि पच्चीस मुद्रायें हैं जो योगियों को सिद्धि प्रदान करने वाली हैं। हठयोग के ग्रन्थों में विभिन्न मुद्राओ एवं बन्धों का विस्तार से वर्णन मिलता है। यहाँ सबसे पहले **''बन्ध''** पर चर्चा करेगें। बन्ध मुख्य रूप से तीन हैं, परन्तु इनके संयुक्त होने पर एक बन्ध और हो जाता है। बन्धों का मुख्य कार्य शक्ति के बाह्य प्रवाह को जो व्यर्थ हो रहा है रोककर सूक्ष्म व महत्त्वपूर्ण केन्द्रों की ओर उन्मुख करना है जिससे सुषुप्त शक्ति-केन्द्र क्रियाशील होकर

व्यक्तित्व के विकास में योगदान दे सकें। विभिन्न बन्ध एवं मुद्रायें इस प्रकार हैं-

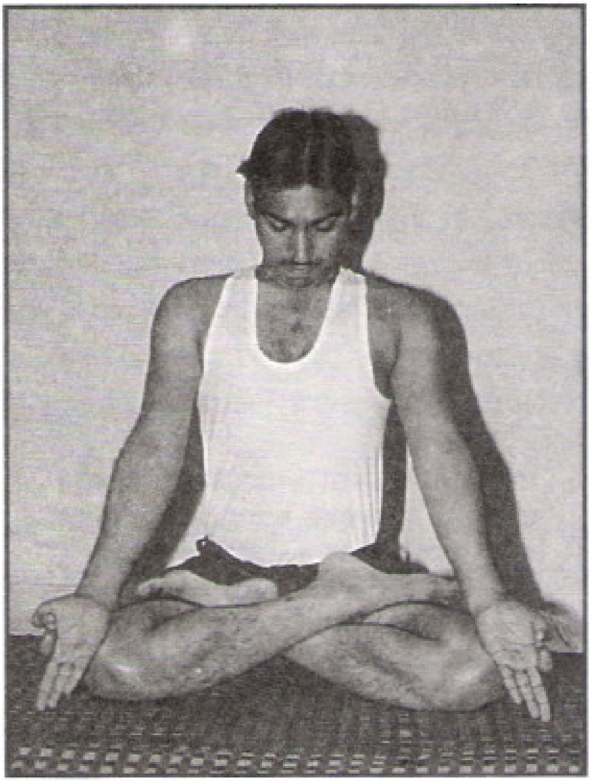

जालन्धर बन्ध

1. जालन्धर बन्ध -

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढ़म्।
बंधो जालंधराख्योयं जरामृत्यु-विनाशकः।

कंठ का संकोच करके हृदय पर ठोड़ी को दृढ़ता से लगावे, यह जरामृत्यु का नाश करने वाला जालन्धर बन्ध है।

विधि – किसी भी ध्यान के आसन में बैठकर दोनों हाथों को घुटनों पर रखें। आँखे बन्द तथा रीढ़ की हड्डी सीधी रहनी चाहिए। गहरी श्वास लेकर कुम्भक करें और कंठ की आन्तरिक मांस-पेशियों को संकोच करेक ठुड्डी को छाती से सटा लेना चाहिए, तथा दोनों कन्धों को कुछ ऊपर उठायें। जब तक आसानी से कुम्भक की स्थिति में रह सकें रहें, तत्पश्चात् हाथों तथा कंधों को शिथिल करके सिर को ऊपर उठाकर सामान्य स्थिति मे आ जायें, धीरे-धीरे लय के साथ श्वास बाहर निकालना चाहिए।

लाभ-
1. यह गले के रोगों का नाश करता है।
2. थॉयरॉयड एवं पैराथायरॉयड ग्रन्थियों को क्रियाशील बनाकर यह हार्मोन्स के स्राव को सन्तुलित करता है जिससे शरीर की चय-अपचय की क्रिया ठीक रहती है और स्फूर्ति, उत्साह एवं युवावस्था बहुत दिनों तक बनी रहती है।
3. यह विशुद्ध चक्र को जागृत करने में सहायक है।

2. मूलबन्ध -

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोमिधीयते।।
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आंकुचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः।

एँड़ी से योनि स्थान (पायु एवं उपस्थ के मध्य भाग) को दबाकर गुदा का आंकुचन-सिकोड़-कर अपानवायु को ऊपर की ओर आकर्षित करें, इसे मूलबन्ध कहते हैं अथवा जिस विधि से अधोगति वाले अपानवायु को बल पूर्वक आकुंचन द्वारा ऊर्ध्वगामी किया जाता है, उसे योगीजन मूलबन्ध कहते हैं।

विधि- सिद्धासन में बैठकर दोनों हाथों को घुटनों पर रखकर मेरुदण्ड को सीधी रखें, आँखे बन्द रहें, मन को मूलाधार चक्र पर केन्द्रित करें, अन्तः कुम्भक अथवा बाह्यकुम्भक करके गुदा का आंकुचन कर इसे अधिक से अधिक ऊपर की ओर खींचे। यथासम्भव कुम्भक की स्थिति में रहकर अभ्यास करें, जब कुम्भक की स्थिति में न रह सकें तब गुदा के आंकुचन को शिथिल कर दें।

लाभ -
1. इससे बड़ी आँत की निष्क्रियता दूर होती है जिससे कब्ज और अपच दूर होता है।
2. इससे मल द्वार के सभी प्रकार के दोष जैसे बबासीर, भगंदर आदि दूर होते हैं।
3. अपान वायु ऊपर खींचने पर जठराग्नि प्रदीप्त होती है जो पाचन शक्ति बढ़ाती है।
4. यह मूलाधार चक्र को जागृत करने में सहायक है।

विशेष – इस क्रिया में जालंधर बन्ध भी किया जा सकता है जो अधिक लाभ पहुँचाता है।

3. उड्डीयानबन्ध-

बद्धोयेन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयानाख्योयं योगिभिः समुदाहृतः।।
उड्डीयानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगाः।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोभिधीयते।।

जिससे बंधा हुआ प्राण ऊर्ध्वमुख होकर सुषुम्णा में होकर पहुँच जाय, उस बन्ध को उड्डीयान कहते हैं। देहावकाश में गतिशील महाखग रूप प्राण जिस बन्ध से सुषुम्णा में उड़ता (गति करता) है उसे उड्डीयानबन्ध कहते हैं।

विधि – किसी भी ध्यान के आसन में बैठकर हथेलियों को घुटनों पर जमायें। रेचक क्रिया से पेट के अन्दर की श्वास पूरी तरह बाहर निकालकर बहिष्कुम्भक करें, पेट की हथेलियों का अधिक से अधिक संकोच करके उन्हें मेरुदण्ड से स्पर्श कराने का प्रयत्न करें। बहिष्कुम्भक की स्थिति में आराम से जितनी देर तक रह सकें रहें। जब श्वास को बाहर न रोक सकें तो उदर पेशियों को सामान्य स्थिति में लायें तथा धीरे-धीरे श्वास लें।

लाभ –
1. यह अजीर्ण को दूर कर, पाचन क्रिया को बढ़ाता है।
2. इससे दूषित वायु का निष्कासन तथा कृमि रोग का नाश होता है।
3. यह यकृत, गुर्दे, आमाशय आदि पाचन शक्ति को प्रभावित करने वाले अंगो को सक्रिय करता है।
4. यह मणिपूर चक्र को जागृत करने में सहायक है।

सावधानी –
1. गर्भवती महिलाओं को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।
2. पेट के अल्सर, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग आदि में भी इसक अभ्यास वर्जित है।

विशेष – उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करने से पूर्व शंख-प्रक्षालन व अग्निसार क्रिया का अभ्यास कर लेना चाहिए जिससे पेट में कब्ज आदि की शिकायत न रहे तथा पेट साफ रहे।

4. **महाबन्ध** – जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध और उड्डियानबन्ध तीनों को क्रमशः संयुक्त रूप से करने पर "महाबन्ध" बनता हैं।

विधि – इस बन्ध के लिये पहले ध्यान के किसी भी आसन में बैठकर जालन्धर बन्ध लगाते हैं। तत्पश्चात् क्रमशः मूलबन्ध उड्डियानबन्ध लगाते हैं। कुम्भक की स्थिति तक इस स्थिति में रहें। अब बन्ध खोलने के लिये सबसे पहले उड्डियान बन्ध को शिथिल करें, फिर मूलबन्ध को और अन्त में जालन्धर बन्ध को, धीरे-धीरे श्वास लीजिए।

लाभः –
1. यह हृदय की धड़कन को नियंत्रित करके, मन को शान्त एवं एकाग्र करता है जिससे शरीर के स्नायु सबल होते हैं।
2. यह प्रजनन अंगो एवं उनसे सम्बन्धित स्नायुओं की अनावश्यक उत्तेजना और शिथिलता को दूर करके स्तम्भन की शक्ति बढ़ाता है।
3. यह आँतों की निष्क्रियता को दूर कर जठराग्नि प्रदीप्त करता है जिससे कब्ज और अपच दूर होता है।
4. यह मन व शरीर को ध्यान के लिये तैयार करता है तथा चक्रों के जागरण में भी सहायक है।

महाबंध

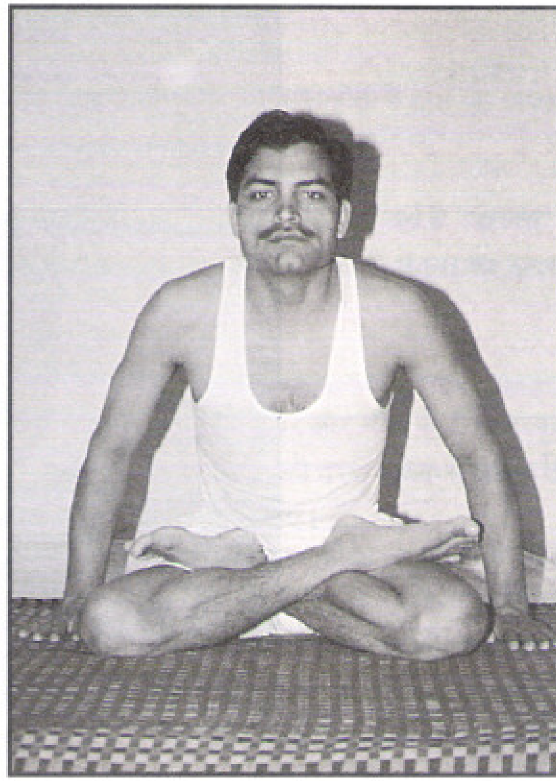

महाबेध

5. **महावेध –**

विधि: – दोनों पैर फैलाकर बैठें। दायें पैर की एँड़ी को पायु और उपस्थ के मध्य सीवनी नाड़ी पर रखकर दबायें तथा सामने झुककर दोनों हाथों से बायें पैर के अंगूठे को पकड़ें। श्वास अन्दर लेकर उसके बाद पूरी तरह श्वास बाहर निकालकर सबसे पहले जालन्धर बन्ध, फिर मूलबन्ध और उसके बाद उड्डीयान बन्ध लगायें। दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर हो। जब तक सम्भव हो इसका अभ्यास करें।

लाभ –

1. यह चित्त को एकाग्र कर, मन को ध्यान हेतु तैयार करता है।
2. यह वात तथा उदर-विकारों में लाभप्रद है।

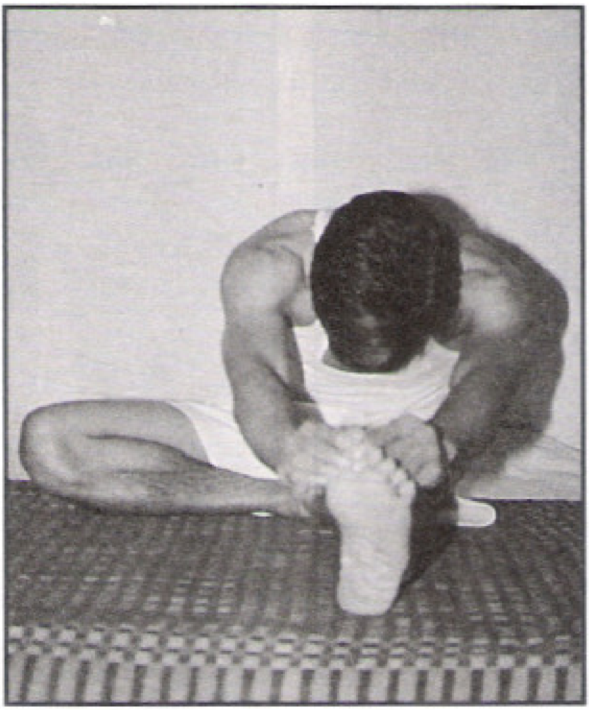

महामुद्रा

6. महामुद्रा -

विधि: - सर्वप्रथम दोनों पैर सामने फैलाकर बैठें। तत्पश्चात् दायें पैर की एड़ी को पायु और उपस्थ के मध्य सीवनी नाड़ी के नीचे रखें। सामने झुककर दोनों हाथों से बायें पैर के अंगूठे को पकड़ें। दीर्घ श्वास लेकर जालन्धर-बन्ध तथा मूलबन्ध लगावें। दृष्टि भ्रूमध्य पर रखें। अन्त: कुम्भक की स्थिति में जब तक सम्भव हो रहें। तत्पश्चात् धीरे से श्वास बाहर निकालें। पैर की स्थिति भी बदलकर इसका अभ्यास किया जा सकता है।

लाभ -
1. यह चित्त को एकाग्र करके, मन को ध्यान के लिये पृष्ठभूमि बनाता है।
2. यह उदर से सम्बन्धित विकार में लाभ पहुँचाता है।
3. यह प्राण-शक्ति का विकास करंके आन्तरिक शक्ति को जागृत करता है।

7. नभोमुद्रा -

विधि: - ध्यान के किसी आसन में बैठकर जिह्वा को तालूमूल में लगायें, उज्जायी प्राणायाम के साथ दृष्टि भ्रूमध्य अथवा आकाश की ओर करें।

लाभ -

1. यह मुद्रा मन को शान्त एवं स्थिर करती है।
2. इस मुद्रा में एक साथ उज्जायी प्राणायाम, शाम्भवी मुद्रा तथा खेचरी मुद्रा का लाभ प्राप्त होता है तथा यह साधक को चेतना की उच्च स्थिति में ले जाने में सहायक है।

8. **खेचरी मुद्रा** - खेचरी शब्द "**खे**" और "**चरी**" दो शब्दों के मेल से बना है जिसमें "**खे**" का अर्थ है "आकाश" तथा "**चरी**" का अर्थ है "भ्रमण" करने वाला। अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल शरीर के बीच मन की चेतना का भ्रमण आकाश में भ्रमण है, इसलिये इसे "खेचरी" मुद्रा कहते हैं।

विधि - खेचरी मुद्रा का अभ्यास दो प्रकार से किया जा सकता है।

1. प्रथम विधि सरल है। इसमें ध्यान के किसी आसन में बैठकर मुंह बन्द रखें तथा ऊपर और नीचे के दाँत परस्पर सटे हों, आंखे बन्द हों। तत्पश्चात् जिह्वा के अग्र भाग को ऊपर उठाते हुये पीछे तालूमूल की तरफ अधिक से अधिक ले जाकर तालुमूल से स्पर्श करवाने का अभ्यास करें। इस क्रिया में श्वास सामान्य रहनी चाहिए।
2. दूसरी विधि कुछ कठिन है। किसी योग्य योगाचार्य के मार्ग-दर्शन में ही इसका अभ्यास किया जा सकता है। इस विधि में जिह्वा को लम्बी करने के लिये इस के छेदन, दोहन और कर्षण की क्रिया की जाती है। छेदन-क्रिया में जिह्वा के निम्न मूल को काटा जाता है। प्रत्येक सप्ताह बाल के बराबर स्फटिक अथवा धारदार शुद्ध वस्तु से काटा जाता है। लगभग ६ माह के अभ्यास में जिह्वा का निम्न-मूल से बन्धन कट जायेगा। इसके बाद जिह्वा के अग्र भाग को वस्त्र से लपेटकर धीरे-धीरे दोहन करें और क्रमश: जिह्वा को नासिका के अग्र भाग तक, फिर नासिका के मध्य भाग तथा फिर भ्रूमध्य तक लम्बी करने का अभ्यास करें इस प्रकार जिह्वा के बढ़ने पर तालुमूल में धीरे-धीरे इसे, प्रविष्ट करवायें। फिर कपाल-रन्ध्र में जिह्वा को ऊपर की ओर उलटी करके ले जाना चाहिए। दृष्टि भ्रूमध्य में रहे।

लाभ -

1. खेचरी का अभ्यास करने वाले साधक को मूर्च्छा, क्षुधा, तृष्णा, आलस्य आदि नहीं सताते हैं।
2. इससे शरीर की अनावश्यक गर्मी दूर होती है और शरीर के तन्तुओं के क्षय होने की गति रूकती है।
3. इस क्रिया के अभ्यास से श्वास-प्रश्वास की गति दीर्घ होती है जिससे मन स्वत: शान्त और स्थिर होता है।

9. **विपरीतकरणी मुद्रा** - यह मुद्रा इस सिद्धान्त पर आधारित है कि प्रत्येक मनुष्य के नाभिमूल में सूर्यनाड़ी और तालुमूल में चन्द्रनाड़ी का स्थान है। सहस्रार से जब चन्द्रामृत का प्रवाह होता है तब सामान्य रूप से नाभि में स्थित सूर्य के तेज से वह नष्ट हो जाता है। यदि सहस्रार से निकलने वाला चन्द्रामृत तालुमूल में सुरक्षित रखा जा सके तो शरीर अमरता को प्राप्त होता है।

विधि- पहले दोनों हाथों को परस्पर बाँध कर सिर को उनके बीच कर भूमि में रखकर शीर्षासन की स्थिति में आ जायें पैर ऊपर की ओर सीधे रहें। फिर कुम्भक के द्वारा वायु को रोकने का अभ्यास करें। प्रारम्भ में कुछ क्षणों के लिये करें, धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ायें।

लाभ– यह–

1. शरीर के ताप को सन्तुलित रखकर सभी प्रकार के आधि–व्याधि का नाश करती है।
2. जठराग्नि प्रदीप्त करती है।
3. स्मरण शक्ति को बढ़ाने में सहायक है।
4. शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने में सहायक है।
5. सुषुम्णा का प्रवाह मस्तिष्क की ओर करती है।

सावधानी– उच्च रक्त चाप तथा, हृदय के रोगी इसका अभ्यास न करें।

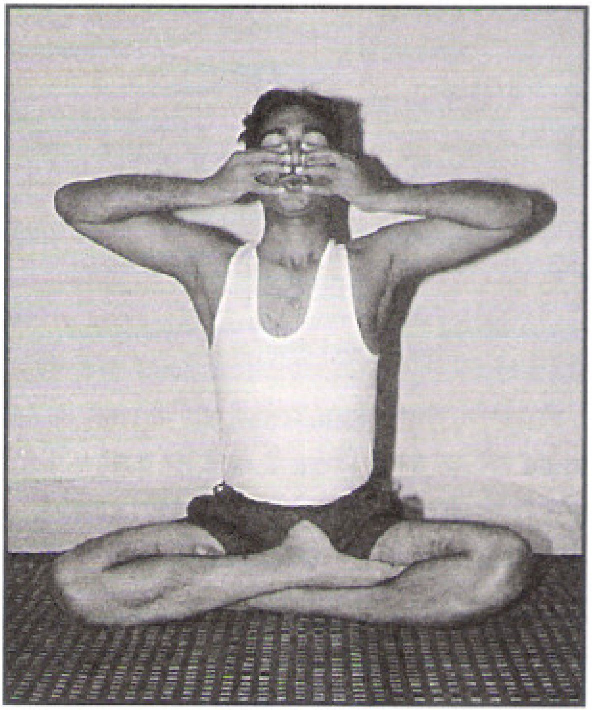

योनि मुद्रा

10. योनिमुद्रा– सिद्धासन अथवा ध्यान के किसी आसन में बैठकर दोनों हाथों के अँगूठे से कानों को, दोनों हाथों की तर्जनी से नेत्रों को, मध्यमा से मुख को और अनामिका से नासिका को बन्द करें। काकी मुद्रा की स्थिति में मुह से प्राण वायु लेकर श्वास को भीतर रोकते हुए बिन्दु चक्र पर मन को एकाग्र करने का प्रयास करें। आराम दायक स्थिति तक श्वास को रोकने के पश्चात् नासिका से अँगुलियों को हटा लें। रेचक क्रिया द्वारा श्वास निकाल लें। अन्य अँगुलियां अपने स्थानों पर यथावत् रहेगीं पुन: श्वास लेकर इसका अभ्यास करें। यही योनिमुद्रा है। चूँकी इस मुद्रा में साधक की स्थिति इन्द्रिय जन्य क्रिया–कलापों से रहित–जिस तरह बच्चा गर्भ अर्थात् योनि मे रहता है उस तरह–होने के कारण इस मुद्रा को योनिमुद्रा कहते हैं।

लाभ-
1. इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर में नाद प्रकट होता है।
2. यह मानसिक तनाव में राहत पहुँचाती है।
3. यह नेत्र, नाक, कान के रोगों में राहत पहुँचाती है।
4. यह चित्त को एकाग्र कर ध्यान के लिये मन को तैयार करती है।

11. वज्रोली-मुद्रा- वज्र नाड़ी जो कि यौन-ग्रन्थि से जुड़ी है से सम्बन्धित मुद्रा होने के कारण इसे वज्रोली मुद्रा कहते है।

विधि- इस मुद्रा का अभ्यास दो तरह से किया जा सकता है-
1. सिद्धासन अथवा वज्रासन में बैठकर दोनों हाथों को घुटनों पर रखें। कुम्भक की स्थिति में निम्न उदर प्रदेश के, पायु और उपस्थ से सम्बन्धित भाग का ऊपर की ओर आकुंचन करें। फिर श्वास छोड़ते हुये निम्न उदर प्रदेश को शिथिल करके बहिष्कुम्भक की स्थिति में भी निम्न उदर प्रदेश का आकुंचन करें। इस क्रिया को कुम्भक की स्थिति में बार-बार दोहरायें।

2. इस विधि का अभ्यास किसी योग्य योगाचार्य के निर्देशन मे ही करना चाहिए। इस क्रिया में मूत्रमार्ग में पहले कैथेटर नं०-4 अथवा 5 को डालकर प्रतिदिन 1 इंच अन्दर की ओर डालें। जब कैथेटर 10-12 इंच अन्दर जाने लगे तो चाँदी अथवा काँच की लगभग 15 इंच वाली नली को मूत्रमार्ग से धीरे-धीरे प्रवेश कराकर अभ्यास करें। जब नली 10-12 इंच अन्दर चली जाय तो नली के मार्ग से जल को ऊपर खींचने का अभ्यास करें। जब यह अभ्यास सध जाय तो दूध से इसका अभ्यास करें। जब दूध से भी अभ्यास सिद्ध हो जाय तब मधु और अन्त में पारद से अभ्यास किया जाता है। जब अभ्यास सिद्ध हो ज़ाय तब बिना नली के भी उपर्युक्त विधि के अनुसार अभ्यास किया जा सकता है।

लाभ
`1. यह ब्रह्मचर्य पालन के लिये उपयोगी क्रिया है।
2. यह पायु और उपस्थ से सम्बन्धित सभी प्रकार के रोगों में लाभ पहुँचाती है।
3. इससे स्नायु नियंत्रण और स्थिरता प्राप्त होती है जिससे ध्यान आदि योग के उच्च साधन के लिये भूमिका तैयार होती है।

सावधानी – सामान्य वज्रोली-मुद्रा में अभ्यास सरल होने के कारण कोई खतरा नहीं है, परन्तु दूसरी विधि योग्य व्यक्ति के निर्देशन में ही करनी चाहिए।

12. शक्तिचालिनी मुद्रा- सिद्धासन में बैठकर दोनों हाथों को दोनों घुटनों के ऊपर रखें। श्वास के द्वारा प्राण वायु अन्दर लें तथा पायु और उपस्थ का, निम्न उदर प्रदेश का ऊपर की ओर आकुंचन करके उड्डीयान बन्ध लगायें। निम्न उदर प्रदेश के आकुंचन और शिथिलन से सुषुम्णा का प्रवाह प्रारम्भ होता है जो कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में सहायक है।

लाभ–
1. यह आन्तरिक शक्ति के जागरण में सहायक है।
2. यह बवासीर, गुदा से सम्बन्धित विकारों में उपयोगी है।

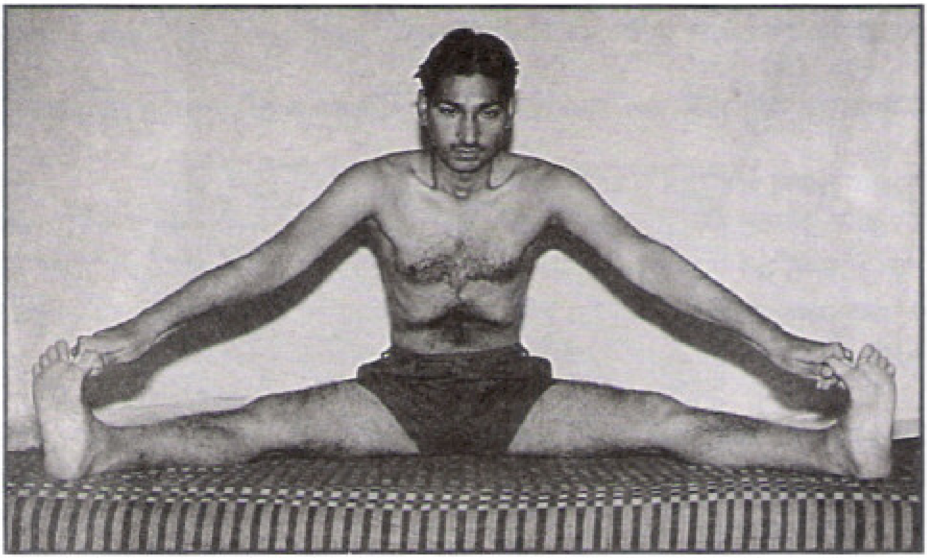

तड़ागीमुद्रा

13. तड़ागीमुद्रा– पश्चिमोत्तान आसन की स्थिति में दोनों पैरों के बीच कुछ दूरी बनाकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगुठों को पकड़ें। दीर्घ पूरक करके पेट की स्नायुओं को बाहर की ओर फैलायें। जब तक सम्भव हो अन्त: कुम्भक लगायें, तदुपरान्त रेचक कीजिये।

लाभ–
1. यह उदर से सम्बन्धित विकारों को दूर करता है और पाचन-शक्ति को बढ़ाती है।
2. यह शरीर की प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाकर, कार्यक्षमता हो बढ़ाने में सहायक है।

14. माण्डूकीमुद्रा– ध्यान के किसी आसन में बैठकर दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखें अथवा चिन्मुद्रा की स्थिति में रखें, मुह को बन्द करें। मुंह को बन्द करके जिह्वा को मुंह के अन्दर चारों ओर घुमाकर चिह्वा को तालूमूल में लगाकर चन्द्रामृत का पान हो रहा है ऐसा आभास करें।

लाभ
1. इससे लार ग्रन्थि सक्रिय होती है जो भोजन के पचाने में सहायक है।
2. यह स्वास्थ्य उत्तम करने का साधन है।
3. इससे चेहरे की झुर्रियाँ दूर होती हैं।

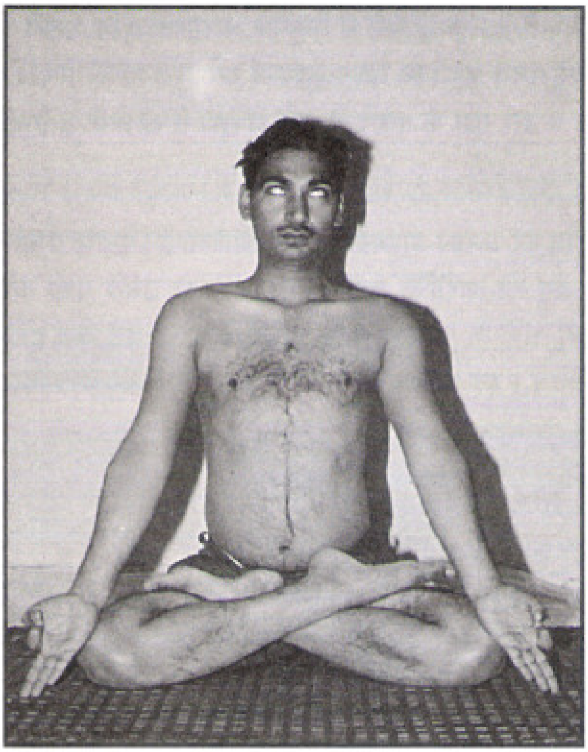

शाम्भवीमुद्रा

15. शाम्भवीमुद्रा- ध्यान के किसी आसन में बैठकर मेरुदण्ड को सीधा करें। दोनों हाथ दोनों घुटनों पर ज्ञानमुद्रा में रहें। श्वास सामान्य रहे। दोनों नेत्रों को दोनो भौहों के मध्य स्थान में स्थिर रखने का अभ्यास करें। पहली बार ही आँखों पर ज्यादा तनाव न दें, धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ायें, आँखें थकने पर बन्द कर दें। फिर अभ्यास करें।

लाभ

1. यह मानसिक तनाव को दूर कर मन को एकाग्र करने में सहायक है
2. यह स्मरण-शक्ति बढ़ाने में सहायक हैं।
3. इससे नेत्रों के विकार दूर होकर, नेत्रों में सम्मोहन की शक्ति प्राप्त होती है।

16. पञ्चधारणामुद्रा - ध्येय विषय पर चित्त की वृत्ति को एकाग्र करना **''धारणा''** कहलाती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंच तत्वों पर धारणा पञ्चधारणा कहलाती है। धारणा अष्टांग योग का छठवां अंग है परन्तु हठयोग में मुद्राओं में ही **''धारणा''** का वर्णन पञ्चधारणा के रूप में प्राप्त होता है। ये पञ्चधारणाएँ इस प्रकार है- पार्थिवी, आम्भसी, आग्नेयी, वायवीय और आकाशी।

1. **पार्थिवीधारणा-** पृथ्वी तत्त्व पर धारणा पार्थिवीधारणा कहलाती है। पृथ्वी के आदि रचयिता ब्रह्मा जी हैं। इस

तत्त्व का स्थान पाँव से जानु पर्यन्त है। पृथ्वी तत्त्व में वायु को आरोपित करके उसमें बीज ''लं'' को युक्त करें और स्वर्ण के समान चतुर्भुज एवं चतुरानन ब्रह्मा का ध्यान हृदय में कर कुम्भक की स्थिति को बढ़ाने का प्रयास करें। दो घंटे पर्यन्त कुम्भक की स्थिति में इस मुद्रा के करने से पार्थिवी मुद्रा सिद्ध होती है तथा साधक पृथ्वी तत्त्व पर विजय प्राप्त करता है।

2. **आम्भसीधारणा-** जलतत्त्व पर धारणा आम्भसी धारणा कहलाती है। इस तत्त्व का स्थान जानु से गुदा स्थान तक माना जाता है। जलतत्त्व में वायु को आरोपित करके बीज ''वं'' को उसमें युक्त करें तथा पीताम्बर एवं कौस्तुभ मालाधारी चर्तुभुज भगवान श्री नारायण का पॉच घड़ी पर्यन्त अर्थात् 2 घंटे तक हृदय में ध्यान करने से आम्भसी धारणा नाम की मुद्रा सिद्ध होती है। इस धारणा की सिद्धि से शरीर में किसी भी प्रकार के विष का प्रभाव नही पड़ता है।

3. **आग्नेयी या वैश्वानरी-धारणा-** अग्नितत्त्व पर धारणा ''**आग्नेयी-धारणा**'' कहलाती है। अग्नि का स्थान नाभि, आकृति त्रिकोण, वर्ण इन्द्रगोप घोड़े के समान लाल और बीज ''रं'' है। इसके देवता त्रिनेत्र भगवान रुद्र हैं। गुदा से हृदय तक अग्नि का स्थान है। अग्नि तत्त्व में वायु को आरोपित कर बीज ''रं'' को उसमें युक्त कर त्रिनेत्र रुद्र का ध्यान पाँच घड़ी अर्थात् २ घंटे तक करने से अग्नि तत्त्व पर साधक विजय प्राप्त करता है। अर्थात् अग्नि से उसे कोई हानि नहीं होती है।

4. **वायवीयधारणा-** वायु तत्व पर धारणा ''वायवीयधारणा'' कहलाती है। वायु का स्थान हृदय से भृकुटियों तक माना गया है। बीज ''यं'', देवता ईश्वर और सत्त्वगुण से युक्त है। योगबल से इसका आविर्भाव होने पर एकाग्र चित्त से कुम्भक द्वारा पाँच घड़ी अर्थात् 2 घंटे तक प्राण-वायु का ध्यान करें। इस मुद्रा के सिद्ध होने पर साधक को वायु गमन की शक्ति प्राप्त होती है और साधक वायु से नहीं मरता।

5. **आकाशीधारणा-** आकाशतत्त्व पर धारणा ''**आकाशीधारणा**'' कहताती है। आकाशतत्त्व का स्थान भृकुटी से मूर्द्धान्त पर्यन्त माना गया है। आकाशतत्त्व में वायु को आरोपित कर बीज ''हं'' को युक्त करके भौहों के मध्य दो घंटा कुम्भक की स्थिति में भगवान शंकर का ध्यान करें। इस मुद्रा के सिद्ध होने पर साधक को आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है।

17. आश्विनी मुद्रा-

आकुञ्चंयेद् गुदाद्वारं प्रसारयेत् पुनः पुनः।
साभवेदाश्विनीमुद्रा शक्तिप्रवोधकारणी।
आश्विनीपरमामुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी।
बलपुष्टिकरीचैव अकालमरणंहरेत्।।

गुदा-द्वार का बार-बार संकोच और प्रसार करें। अश्वों द्वारा ऐसी क्रिया की जाती है इसलिए यह आश्विनीमुद्रा कहलाती है। इससे कुण्डलिनी का जागरण होता है। यह मुद्रा गुह्य रोगों को नष्ट करने वाली, शारीरिक शक्ति को बढ़ाने वाली तथा अकाल मृत्यु को हरण करने वाली है।

विधि- ध्यान के किसी भी आसन अथवा वज्रासन में बैठकर गुदाद्वार की मांस-पेशियों का आकुंचन एवं प्रसारण करें। श्वास समान रहनी चाहिए। ध्यान मूलाधर चक्र पर केन्द्रित करें।

लाभ-

1. यह निम्न उदर प्रदेश से सम्बन्धित सभी विकारों में लाभ पहुँचाती है।
2. यह ब्रह्मचर्य को स्थिर करने में सहायक है।

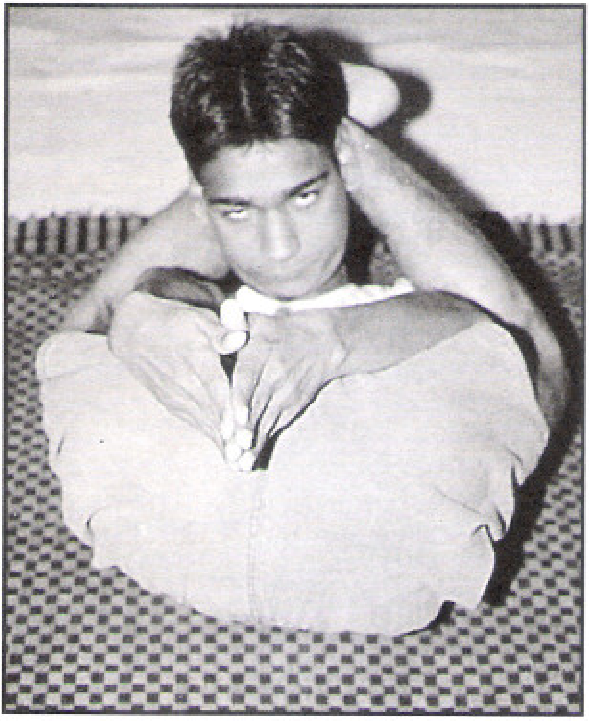

पाशिनीमुद्रा

18 पाशिनीमुद्रा-

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढ़बन्धनम्।
सा एव पाशिनीमुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी।।

दोनों पाँवों को कण्ठ के पीछे की ओर ले जाकर उन्हें परस्पर मिलाकर पाश के समान दृढता से बांध लें। यह शक्ति को जाग्रत करने वाली पाशिनी-मुद्रा है।

लाभ-

1. रक्त चिकार को दूर करने मे सहायक है।
2. मेरुदण्ड को लचीला बनाकर सक्रिय रखती है।
3. मन की एकाग्रता में सहायक है

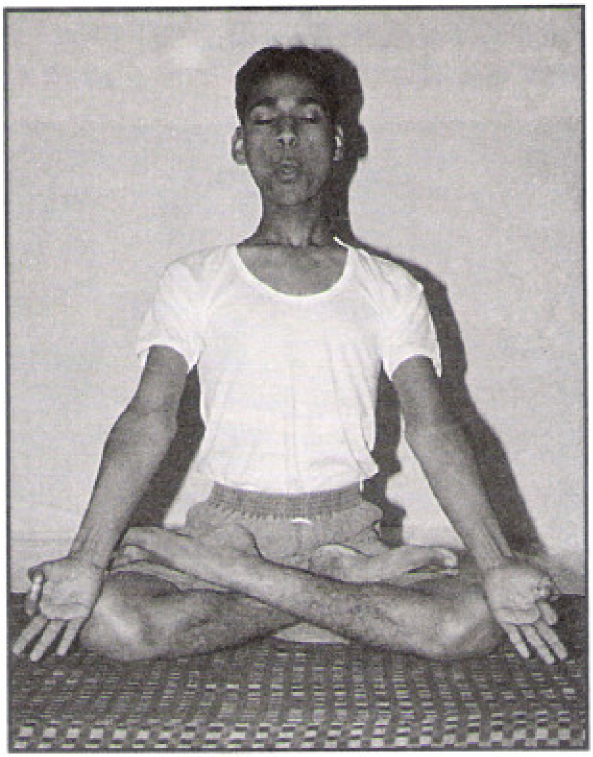

काकीमुद्रा

19 काकीमुद्रा-

काकचञ्चुवदास्येन पिवेद् वायुं शनैः शनैः।
काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोग विनाशिनी।।

मुख को कौवे की चोंच के समान करके उसके द्वारा शनैः शनैः वायु पान करें। यह सभी रोगों को नष्ट करने वाली काकीमुद्रा है।

विधि - ध्यान के किसी आसन अथवा वज्रासन में बैठकर मुंह को कौवे की चोंच की तरह गोल करते हुये मुंह से श्वास लें और धीरे-धीरे नाक से निकालें। दृष्टि नासिकाग्र पर रहे।

लाभ-
1. यह पाचन-शक्ति को बढ़ाने में सहायक है।
2. यह मुंह और गले सम्बन्धित विकारो में लाभ पहुँचाती है।

20. **मातंगिनीमुद्रा** -

विधि - हाथियों की तरह इस मुद्रा में कण्ठ तक जल में खड़े होकर नासिका से जल खींचकर मुख से बाहर निकालें। प्रारम्भ में कठनाई होगी। इसलिये जलनेति का अच्छा अभ्यास होने के बाद ही इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए।

लाभ - मन एवं शरीर को स्वस्थ बनाने में सहायक है।

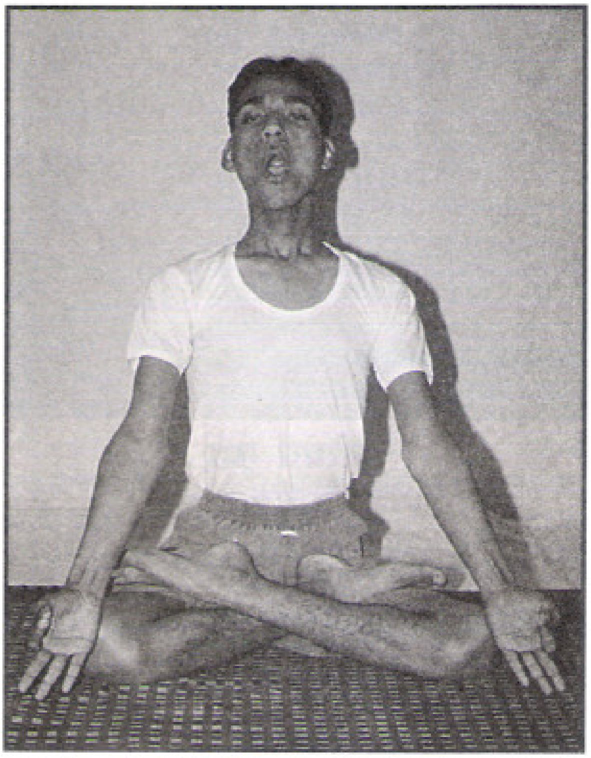

भुजंगिनीमुद्रा

21. **भुजंगिनीमुद्रा** - ध्यान के किसी आसन अथवा वज्रासन में बैठकर मुंह खोलकर सर्प के समान कण्ठ से वायु का पान करें। पेट भर जाने पर डकार के साथ वायु बाहर निकाल दें।

लाभ: -

1. यह सभी प्रकार के उदर रोगों को नष्ट करती है।
2. यह मुंह की लार ग्रन्थियों को सक्रिय बनाती है।

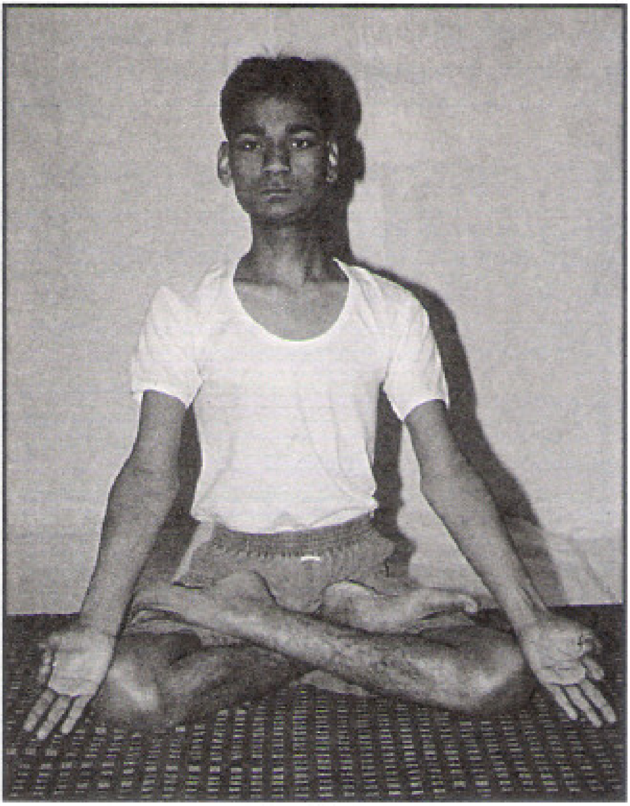

अगोचरी मुद्रा

22. **अगोचरीमुद्रा** -

विधि - ध्यान के किसी भी आसन में बैठकर कुम्भक की स्थिति में दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर केन्द्रित करने की क्रिया अगोचरी मुद्रा है।

लाभ - यह मन की चंचल वृत्तियों को एकाग्र करने में सहायक है।

23. **भूचरीमुद्रा** - ध्यान के किसी आसन में बैठकर नासिका से लगभग 4 अंगुल दूरी पर शून्य आकाश में दृष्टि को केन्द्रित करने का प्रयास करें। यही भूचरीमुद्रा है।

लाभ - यह मन को एकाग्र करती है।

उपर्युक्त विशिष्ट मुद्राओं के अतिरिक्त कुछ हस्त मुद्रायें भी हैं जिनका योग-साधना में अपना विशिष्ट स्थान है। इन मुद्राओं का अभ्यास कहीं भी किसी भी परिस्थिति में करके मनोकायिक दृष्टि से स्वस्थ एवं नीरोग बना जा सकता है। गुरू गोरक्षनाथ जी देह-पिण्ड अर्थात् शरीर के सम्बन्ध में कहते हैं कि **''पिण्ड माहिं ब्रह्माण्ड समाया''** अर्थात् जो कुछ इस ब्रह्माण्ड में है वह इस मानव शरीर में मौजूद हैं। आवश्यकता है उसे यौगिक क्रियाओं द्वारा प्राप्त करने की। यह ब्रह्माण्ड पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश जैसे पंच तत्त्वों के मेल से बना है उसी प्रकार हमारा शरीर भी इन्हीं पंच तत्त्वों के मेल से बना है। शरीर में किसी एक तत्त्व की कमी होने अथवा इसमें असन्तुलन उत्पन्न होने से शरीर रोग ग्रस्त हो जाता है। आजकल तमाम प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों का विकास होने से शरीर में जिस तरह की कमी होती है चिकित्सा से उस तत्त्व की कमी को पूरा किया जाता है, जिससे रोग से मुक्ति मिलती है। लेकिन कभी-कभी रोग की सही पहचान न होने पर गलत चिकित्सा का दुष्परिणाम भी हमें भुगतना पड़ता है। योगिक क्रियाओं के माध्यम से इस प्रकार के दुष्परिणामों से तो बचा ही जा सकता है साथ-साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हम सफलता प्राप्त कर सकते हैं। हमारे हाथ की पांचों अँगुलियाँ पंच तत्त्व की प्रतीक हैं। हमारा अंगुष्ठ अग्नि तत्त्व का, तर्जनी वायु तत्त्व का, मध्यमा-आकाश तत्त्व का, अनामिका-पृथ्वी तत्त्व का तथा कनिष्ठा-जल तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है। इन्हें आपस में किसी विशिष्ट उद्देश्य और रूप से मिलाने पर तत्त्व विशेष की कमी को तो दूर किया ही जा सकता है साथ ही साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सहयोग मिलता है। कुछ उपयोगी हस्त मुद्रायें इस प्रकार हैं-

1. **ज्ञान-मुद्रा** - अंगुष्ठ जो अग्नि तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है और तर्जनी जो वायु तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है इन दोनों के अग्र भागों को मिलाने पर जो मुद्रा बनती है उसे ज्ञान-मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा के अभ्यास में शेष तीनों अंगुलियां सीधी रहें।

लाभ: -
1. इस मुद्रा में अग्नि और वायु तत्त्व के मिलने से शरीर में प्राण शक्ति का संचार होता है तथा तेजस्विता बढ़ती है।
2. इस मुद्रा के अभ्यास से स्मरण शक्ति बढ़ाई जा सकती है।

2. **चिन्मुद्रा** - ध्यान के किसी भी आसन में बैठकर दोनों घुटनों पर दोनों हथेलियों को ऊपर की ओर रखें अथवा नाभि के कुछ नीचे बायें हथेली पर दायीं को रखें। यही चिन्मुद्रा है।

लाभ -
1. यह मन को शान्त और स्थिर रखने में सहायक है।
2. सम्पूर्ण शरीर में प्राण के प्रवाह को बनाने में सहायक है।

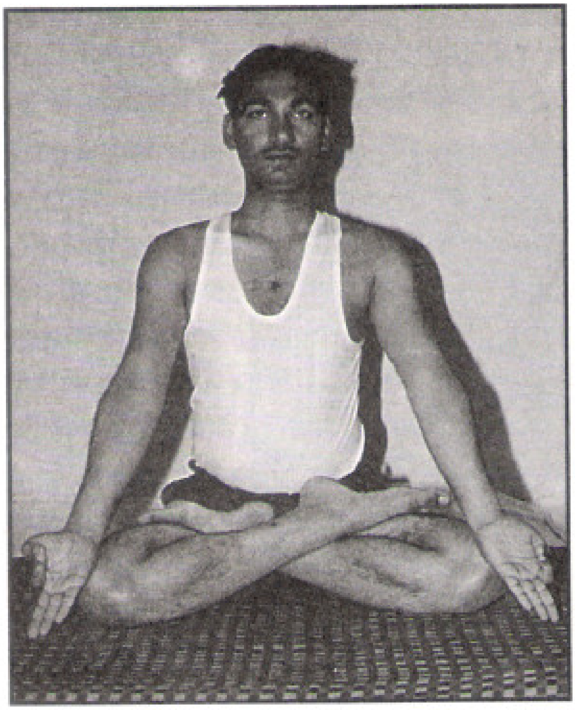

ज्ञानमुद्रा

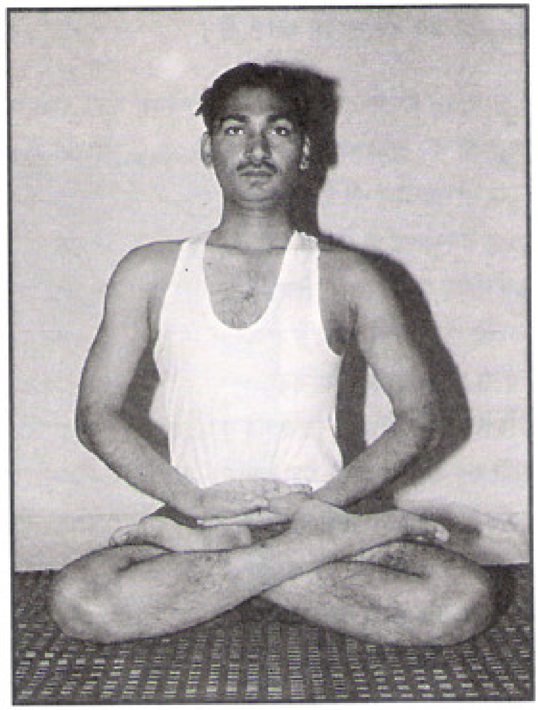

चिन्मुद्रा

3. **वायुमुद्रा** – तर्जनी जो वायु का प्रतिनिधित्व करती है को अंगुष्ठ की जड़ में लगाकर अंगुष्ठ से हल्का दबाव देना चाहिये, शेष अँगुलियाँ सीधी रहें। इस प्रकार जो हस्त मुद्रा बनती है उसे वायुमुद्रा कहते हैं।

लाभ –

1. यह मुद्रा वायु तत्त्व की कमी को दूर करती है।
2. समस्त वायु विकारों जैसे-गठिया, शरीर कम्पन में लाभ पहुंचाती है।

4. **शून्यमुद्रा** – मध्यमा जो आकाश तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है को अंगुष्ठ की गड्डी पर लगाकर अंगुष्ठ से हल्का दबाव डालें, शेष तीनों अंगुलियां सीधी रहें। इस प्रकार जो मुद्रा बनती है उसे शून्य मुद्रा कहते हैं।

लाभ –

1. इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर में आकाश तत्त्व की कमी दूर होती है।
2. कान के रोग जैसे-कान बहना, कम सुनाई देना, दर्द होना आदि विकार दूर होते हैं।

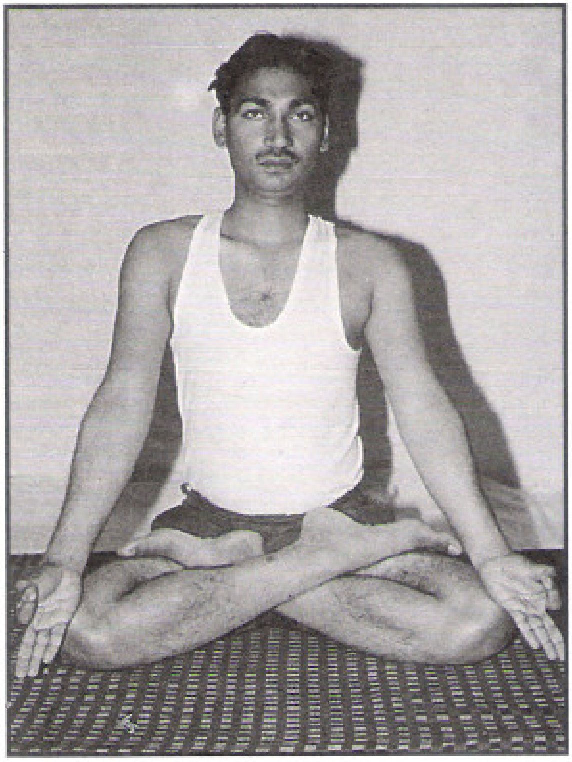

वायुमुद्रा

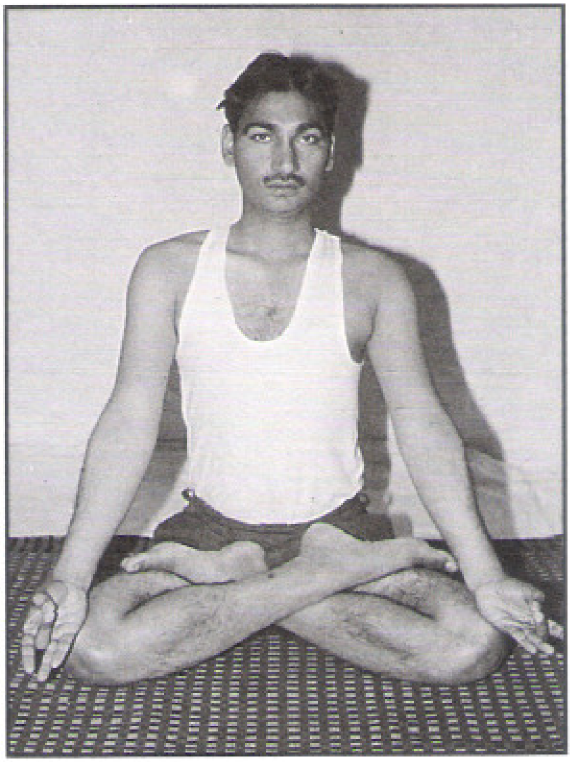

शून्यमुद्रा

5. **पृथ्वी-मुद्रा** – अनामिका जो पृथ्वी तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है को अंगुष्ठ के अग्र भाग से मिलाने पर तथा शेष तीनों अंगुलियों को सीधा रखने से जो हस्त-मुद्रा बनती है उसे पृथ्वी-मुद्रा कहते हैं।

लाभ – इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर में पृथ्वी तत्त्व की कमी दूर होती है, इस मुद्रा के नियमित अभ्यास से शरीर की दुर्बलता व कमजोरी दूर की जा सकती है।

6. **प्राण-मुद्रा** – अंगुष्ठ, अनामिका तथा कनिष्ठा इन तीनों अँगुलियों के अग्रभागों को मिलाने पर जो हस्त-मुद्रा बनती है उसे प्राण-मुद्रा कहते हैं। इस अभ्यास में शेष अँगुलियाँ सीधे रहे।

लाभ – इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर में प्राण तत्त्व की कमी को दूर किया जा सकता है और शरीर की शक्तिहीनता को दूर करके नई शक्ति का संचार किया जा सकता है।

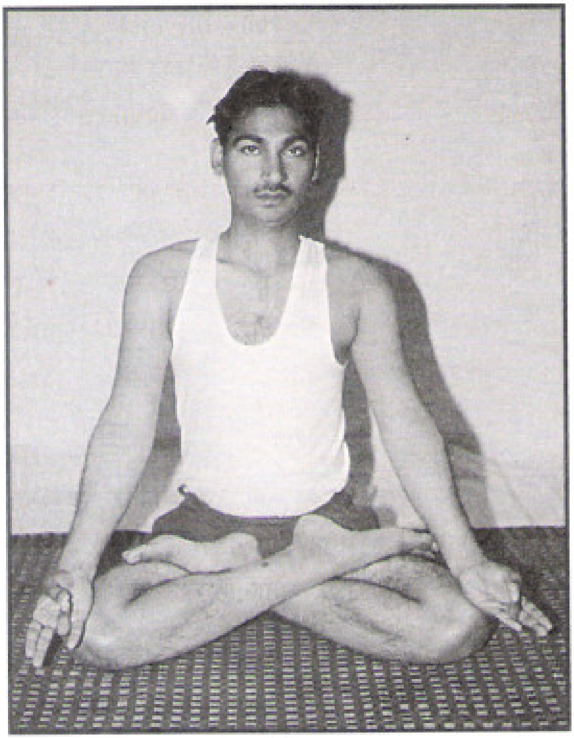

पृथ्वीमुद्रा

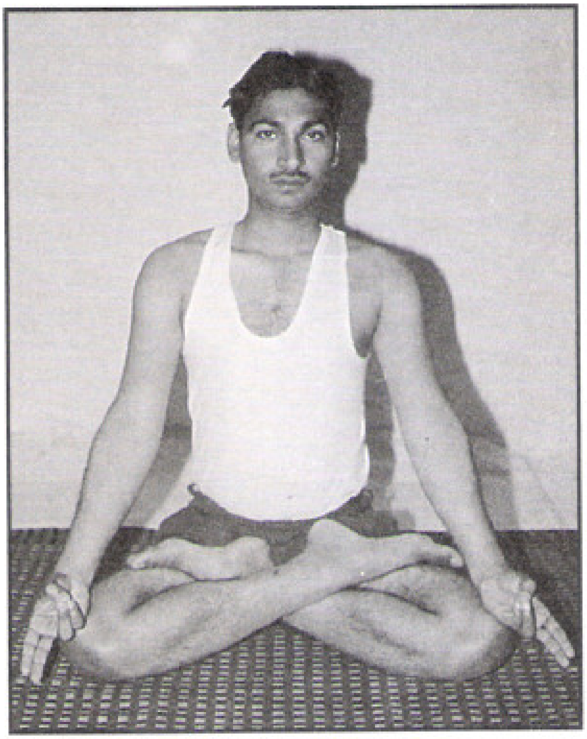

प्राणमुद्रा

7. **अपान-मुद्रा** – अंगुष्ठ के साथ मध्यमा और अनामिका के अग्रभाग को मिलाने पर तथा शेष दोनों अंगुलियों को सीधा रखने पर जो मुद्रा बनती है उसे अपान-मुद्रा कहते हैं।

लाभ – इस मुद्रा के नियमित अभ्यास से शरीर के विजातीय द्रव्य बाहर निकलते हैं और शरीर मल रहित बनता है।

8. **अपानवायु-मुद्रा** – वायु-मुद्रा तथा अपान-मुद्रा के संयुक्त होने से यह मुद्रा बनती है। तर्जनी को अंगुष्ठ की जड़ में लगाकर हल्का दबाव डालें तथा मध्यमा और अनामिका के अग्रभाग को अंगुष्ठ के अग्रभाग से मिलावें। यही अपान-वायु मुद्रा है।

लाभ – दो मुद्राओं के मेल से बनी यह मुद्रा शरीर में स्थिन विभिन्न ग्रन्थियों को जाग्रत करती है। इस मुद्रा का नियमित अभ्यास हृदय रोग से बचाव कर सकता है।

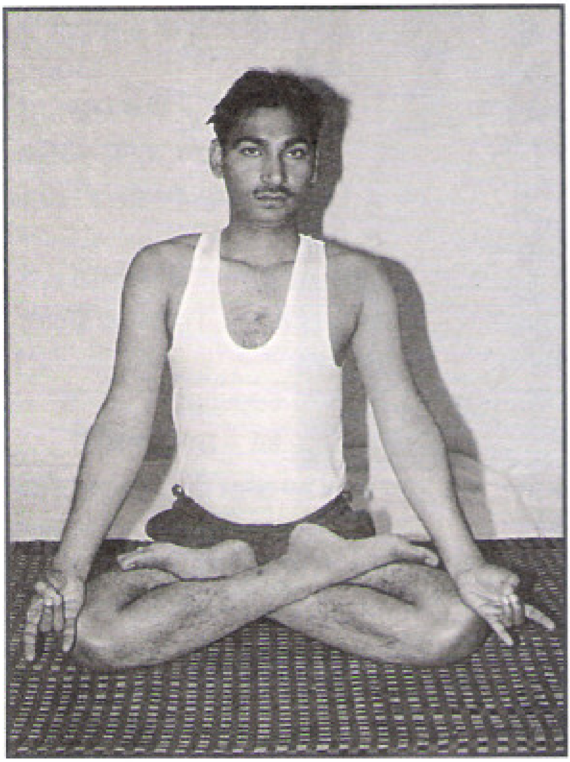

अपानमुद्रा

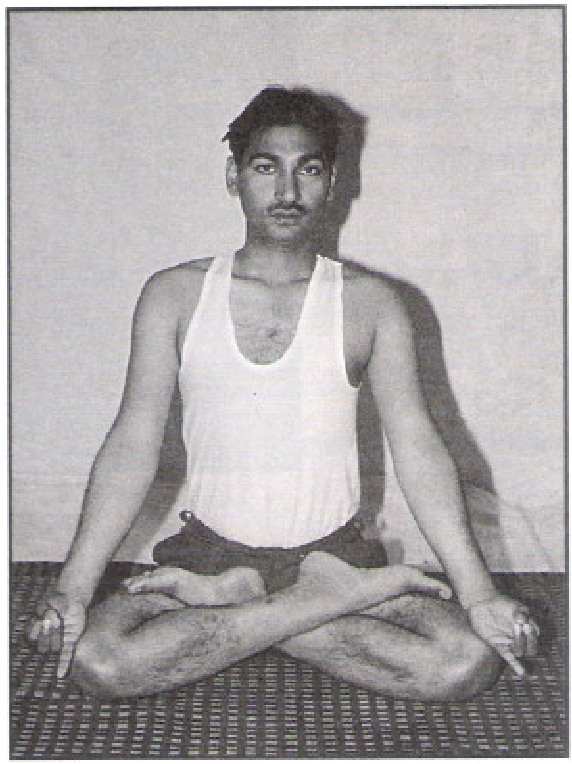

अपानवायु-मुद्रा

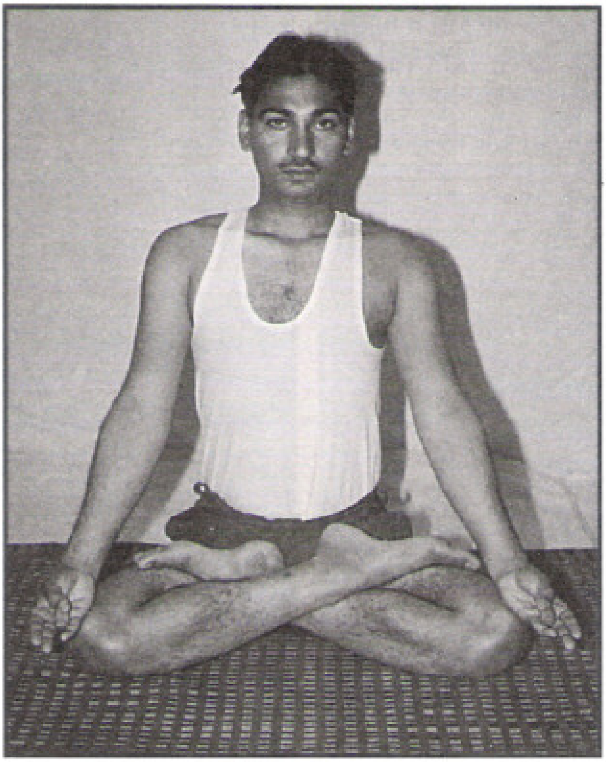

सूर्यमुद्रा

9. **सूर्यमुद्रा** - अनामिका अँगुली को मोड़कर उसके बीच के जोड़ों के ऊपर वाले भाग को अँगूठे से दबायें। अन्य अँगुलियाँ सीधी रहनी चाहिये। यही सूर्यमुद्रा है।

लाभ -

1. यह मन को स्थिर रखने में सहायक है।
2. यह शरीर की स्थूलता को कम करने में सहायक है।

चतुर्थः पटलः

अथ पूरकयोगयोजितान्तः पृषदश्वो निजमूलचक्रदेशे ।
विदधीत बुधः समाहितोऽजोपपदग्रन्थिविभेदने प्रयत्नम् ।।१।।

एवं प्राणायामेन पवनजययोगविशेषांश्चोक्त्वा जितामरतामविकाराणामभ्युदयनिः- श्रेयसप्राप्त्युपायभूतं मन्त्राणां छिन्नादिदोषपरिहारार्थं योनिमुद्राबन्धनप्रकारं वक्तुमुपक्रमते— **अथ पूरकयोग इत्यादिना**। आदौ पूरकादियोगाभ्यासेन निजमूलचक्रदेशे मनः संयोज्य अजोपपदग्रन्थिविभेदने यत्नं प्रकुर्वीत। अजो ब्रह्मा स एव उपपत्तिर्यस्य ग्रन्थिशब्दस्य तेन ब्रह्मग्रन्थिरित्यर्थः। समाहिताभ्यासध्यानः।।१।।

प्रारम्भ में पूरक आदि के क्रम से त्रिविध प्राणायाम करते हुए मन को मूलाधार में नियोजित करके ब्रह्मग्रन्थि के भेदन का प्रयास करना चाहिए।।१।।

विमर्श—पिछले पटल में त्रिविध प्राणायाम का प्रयोगक्रम एवं 'केवलकुम्भक' प्राणायाम की विधि और उसके फलों का निरूपण करने के बाद इस पटल में अभ्युदय एवं निःश्रेयस् के उपायभूत मन्त्रों के छिन्नादि पचासों दोषों के निवारण के लिए योनि-मुद्राबन्धन का निरूपण किया जा रहा है। पूरक आदि से अभिप्राय है—पूरक, कुम्भक एवं रेचक-समन्वित त्रिविध प्राणायाम। 'अजोपपदग्रन्थि' से अभिप्राय है—ब्रह्मग्रन्थि, जो मूलाधार चक्र में है।

शकृत् समुत्सृज्य यथा शनैः स्वं सङ्कोचयेत्कम्बुनि मार्गमर्वा ।
बुधस्तथाधारनियोजितात्मा सङ्कोचयेत्कम्बुनि मार्गमुच्चैः ।।२।।

ग्रन्थिभेदप्रकारमाह—**शकृदिति**। अर्वा अश्वः शकृद्विष्ठां समुत्सृज्य त्यक्त्वा येन प्रकारेण कम्बुनि मार्गं गुदमार्गं सङ्कोचयेत् तेन प्रकारेणाधारचक्रे संयुक्तात्मा पुरुषः स्वीयं कम्बुनि मार्गं सङ्कोचं नयेत्।।२।।

अपने यथासिद्ध योगासन पर सुखपूर्वक बैठा हुआ साधक, जिसने अपने मन को मूलाधार चक्र में नियोजित कर दिया है, अपने गुदामार्ग को सिकोड़कर धीरे-धीरे उसी तरह संकुचित करे, जिस तरह घोड़ा (अर्वा) मलत्याग के बाद अपने गुदामार्ग को संकुचित करता है।।२।।

विदधीत मुहुर्मुहुर्गुरूक्तक्रमतो हुंकृतिमङ्कलग्नपाणिः ।
दृढरुद्धगुदध्वजान्तरालस्थिततेजोमयपुष्कराग्रयोनिः ।।३।।

अथ कम्बुनि मारुतं जितात्मा प्रतिलोमेन शनैः प्रवेशयेत्तम् ।
कमलासनपङ्कजस्य मूलं स्वगुरुप्रोक्तविधानतो दुरापम् ।।४।।

विदधीतेति। मुहुर्मुहुर्वारंवारं गुरूपदिष्टप्रकारेण करकमलद्वयं नाभेरधःस्थिततेजोमयपद्माग्रस्य योनिञ्च यत्नेन निरुध्य गुदलिङ्गमध्यतेजोमयपुष्कराग्रे योनिर्येन निरुद्धमूलाधार इत्यर्थः। अयमर्थः गुदध्वजयोर्मध्ये स्थितं यच्चतुष्पत्रं पद्मं तन्मध्ये त्रिकोणाकारा योनिरिति।

अथेति। कम्बुनि मारुतमपानवायुं देशिकोक्तक्रमेणाकुञ्च्य शनैरुर्ध्वं नीत्वा कमलासनपङ्कजाख्यं सुषुम्नामूलं प्रवेशयेत्।।३-४।।

वह अपनी दोनों हथेलियों को नाभि के ऊपर रखे। गुह्य प्रदेश और लिंगमूल के मध्यवर्ती योनिमण्डल को निरुद्ध करके गुरु-उपदिष्ट विधि से अपान वायु को हुंकार-पूर्वक खींचकर उसे सुषुम्ना में प्रविष्ट कराने का प्रयास करे।।३-४।।

अमुना विधिना मुहुः कृतेन क्रमशः कम्बुनि मारुतस्ततोऽसौ ।
अजपङ्कजमूलदेशमार्गप्रणयी ग्रन्थिविभेदनं करोति ।।५।।

अमुना विधिनेति। एवं मुहुर्मुहुरभ्यासेन अधोवृत्तं निरुध्य तदन्तर्ब्रह्ममार्गः स्थितग्रन्थिभेदनं करोतीत्यर्थः ।।५।।

अपान वायु को खींचकर उसे सुषुम्णा में प्रविष्ट कराने के सतत् प्रयास के फलस्वरूप सुषुम्णा के बन्द द्वार पर वायु का बार-बार आघात होता है। वायु के लगातार आघात के फलस्वरूप सुषुम्णा का द्वार खुल जाता है और तब सुषुम्णा में वायु के प्रवेश से ब्रह्मग्रन्थि का भेदन हो जाता है।।५।।

विमर्श—गुह्य प्रदेश से दो अँगुल ऊपर और लिंगमूल से दो अँगुल नीचे चार अँगुल विस्तृत योनिमण्डल है। इसे कन्द भी कहते हैं। इस योनिमण्डल के ऊपर चार कमलदल वाला मूलाधार चक्र है। इस मूलाधार चक्र में स्वयम्भूलिंग है। स्वयम्भू लिंग के ऊपर ब्रह्मनाडी का मुख है। इस स्वयम्भू लिंग को साढ़े तीन फेरों से लपेट कर कुण्डलिनी शक्ति स्थित है, जिसने सुषुम्णा-विवर को बन्द कर रखा है। हुंकार-पूर्वक अपान वायु को खींचकर उसे सुषुम्णा में प्रविष्ट कराने के लिए बार-बार प्रयास करने से सुषुम्णा के बन्द द्वार पर वायु का लगातार आघात होता है। वायु के बार-बार के आघात से ब्रह्मनाडी का बन्द मुख खुल जाता है और इस तरह ब्रह्मनाडी में स्थित ब्रह्मग्रन्थि का भेदन हो जाता है।

परिहृत्य खगाधिपस्ततोऽसौ सरणिं चन्द्रमसो नभोमणेः ।
कमलं कमलासनस्य पश्चाद्विदधीतोद्र्ध्वमुखं प्रविश्य सम्यक् ।।६।।

परिहृत्येति। अपानश्च ऊर्ध्ववृत्तित्वेन प्राणात्मकत्वात् खगाधिपत्याख्यां लभते। एवमूर्ध्वगमनाय प्रवृत्तोऽपानवायुः सोमसूर्यात्मकेडापिङ्गलामार्गौ परिहृत्य कमलमूलं सुषुम्नामूलम् उपविश्य ऊर्ध्वमुखं करोति।।६।।

चन्द्रमा और सूर्य के गलियारों को छोड़कर अर्थात् इडा और पिंगला को छोड़कर अपान वायु (खगाधिप) का कमलासन (ब्रह्मनाडी) में प्रविष्ट होने का उपक्रम सुषुम्णा के उलटे द्वार को सीधा कर देता है और वह उसमें प्रविष्ट हो जाता है।।६।।

प्रतिभानमथाद्भुतं प्रविष्टे भवनान्तः परमेष्ठिनः खगेशे।
लघुता वपुषो भवत्युदग्रा जठरान्तर्ज्वलनस्य चापि दीप्तिः ।।७।।

प्रतिभानमिति। खगेशेऽपानवायौ ब्रह्मणो भवनाभ्यन्तरं प्रविष्टे सति अद्भुतम् आश्चर्यजनकं प्रतिभानं भवति, वपुषः उदग्रा लघुता भवति।।७।।

जब ब्रह्मनाडी में अपान वायु का प्रवेश हो जाता है (अर्थात् सरलतापूर्वक नियमित रूप से संचार होने लगता है) तब साधक के शरीर में बहुत-से आन्तरिक परिवर्तन होने लगते हैं। उसकी जठराग्नि बलवती हो जाती है और शरीर का भारीपन कम हो जाता है।।७।।

तडित्कोटिप्रख्यं सुरुचिजितकालानलरुचिम्
सहस्रादित्यांशुप्रकरसदृशोद्द्योतकलितम्।
भ्रमन्तं योन्यन्तः स्थुरदरुणबन्धूककुसुम-
प्रभं कामं ध्यायेज्जठरशशभृत्कोटिशिखरम् ।।८।।

तडित्कोटिप्रख्यमिति। कामशरीराग्निं ध्यायेत्। कीदृशं विद्युदग्रतुल्यम्। स्वतेजसा दितिजा कालानलस्य रुचिर्येन तादृशं सहस्रसंख्यादित्यतेजःसमूहतुल्येन उद्योतेन कलितं सम्बद्धं योन्यन्तराधारचक्रस्याभ्यन्तरे भासमानं बन्धूकशब्देन रक्तवर्णाभं शशभृल्लक्षशिशिरम्। एतेन साधकानामानन्दजनकत्वं बोध्यते। **काममिति।** कामशब्दो रहस्यागमे शरीरवैश्वानरे रूढः। एवं तेजोमयं कामं स्वाधारगमनं भावयेत्। तथा चोक्तं रुद्रयामले—

भ्रमं योनिगतं ध्यायेत् कामं बन्धूकसन्निभम्।
ज्वलत्कालानलप्रख्यं तडित्कोटिसमप्रभम् ।।८।। इति।

जब ब्रह्मनाडी में वायु का संचार सुगमता-पूर्वक होने लगे तब बुद्धिमान् साधक को योनिमण्डल के भीतर बन्धूकपुष्प के समान भासमान लाल वर्ण के 'काम' का ध्यान करना चाहिए। काम का अर्थ है—शरीर की अग्नि में व्याप्त ऊष्मा, जो बिजली के समान चमकीली, प्रलयकालीन अग्नि के समान दाहक, सूर्य के समान देदीप्यमान तथा चन्द्रमा के समान आनन्दप्रद है।।८।।

तस्योद्र्ध्वेऽग्निशिखा चिरद्युतिलतापुञ्जप्रभाभास्वरा
सूक्ष्मा ब्रह्मपथान्तराम्बरगता चैतन्यमात्रा कला।

(viii) प्राणायाम में बन्धत्रय की भूमिका—बन्ध का अर्थ है बाँधना, रोकना। बन्ध तीन है-(१) मूलबन्ध (२) जालन्धरबन्ध (३) उडड्डीयानबन्ध।

ये तीनों प्राणायाम में बहुत सहायक हैं। बिना बन्ध के प्राणायाम से पूर्ण लाभ की प्राप्ति नहीं हो सकती। अत: प्राणायाम के पूर्णलाभ के लिए यहाँ इनका वर्णन किया गया है।[2]

(ix) मूलबन्ध-"अध: प्रदेशादाकुञ्चनमिति मूलबन्ध:" अर्थात् अध: प्रदेश (गुदा) का आकुञ्चन करना मूलबन्ध कहलाता है। इस बन्ध में नाभि के नीचे वाला हिस्सा खींच जायेगा।

लाभ—(i) इससे अपान वायु का ऊर्ध्वगमन होकर प्राण के साथ एकता होती है। यह बन्ध मूलाधार चक्र को जागृत करता है और कुण्डलिनी जागरण में अत्यन्त सहायक है।

---

१. सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भका: ॥ हठयोग० २.४४

२. प्राणायाम रहस्य पृष्ठ ४०

(ii) कोष्ठबद्धता और बवासीर को दूर करने तथा जठराग्नि को तेज करने के लिए यह बन्ध अत्युत्तम है।

(iii) वीर्य की ऊर्ध्वगति करता है और ब्रह्मचर्य पालन में बड़ा उपयोगी है।

(x) जालन्धरबन्ध—

'कण्ठाकुञ्चनपूर्वकं चिबुकस्य हृदि स्थापनं जालन्धरबन्ध:'—अर्थात् ठोडी को कण्ठकुञ्चनपूर्वक हृदय के पास स्थापित करना (ठोडी को हृदय के चार अंगुल ऊपर कण्ठकूप में लगाना) 'जालन्धरबन्ध' कहलाता है।

लाभ—

(i) इससे ज्ञानेन्द्रियों को पर्याप्त व्यायाम मिल जाता है।

(ii) कण्ठ मधुर, सुरीला और आकर्षक होता है।

(iii) इससे प्राण का सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश हो जाता है।

(iv) थॉयराइड, टॉन्सिल आदि रोगों में लाभदायक है।

(v) मन में शान्ति, उत्साह और स्फूर्ति का संचार होता है।

(xi) उड्डीयानबन्ध—

"प्रयत्नविशेषेण नाभिप्रदेशशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबन्ध:।" अर्थात् प्रयत्नविशेष के द्वारा नाभिप्रदेश (नाभि के ऊपर और नीचे चार अंगुल उदर) को पीठ की ओर खींचना "उड्डियानबन्ध" कहलाता है। संस्कृत में 'उड्डीयान' का अर्थ होता है 'उड़ना' तथा बन्ध का अर्थ है 'बांधना या नियन्त्रण में करना उड्डीयानबन्ध है। मनुष्य की चित्तवृत्तियों को अधोमुख से ऊर्ध्वमुख करने के लिए उड्डियानबन्ध एक सर्वश्रेष्ठ क्रिया है तथा साथ ही साथ इससे स्वास्थ्य में भी लाभ होता है।'

लाभ—

(i) अपच तथा क्षुधा की कमी दूर होती है।

(ii) पेट के समस्त रोग का शमन होता है।

(iii) उच्च रक्तचाप रोगी, हृदय रोगी और यक्ष्मा रोगी को इसका प्रयोग गुरु की सलाह से करना चाहिए।

(iv) यह प्राणों को जागृत कर मणिपुर चक्र का शोधन करता है।

जब भी आप प्राणायाम करें, आपकी रीढ़ की हड्डी सीधी होनी चाहिए। इसके लिए आप किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठ जाएं। जैसे—सिद्धासन, पद्मासन, सुखासन या वज्रासनादि। बैठकर प्राणायाम करने से मन का निग्रह होता है। प्राणायाम करने से प्राणशक्ति का उत्थान होता है और मेरुदण्ड से जुड़े हुए चक्रों का शोधन होता है। अत: प्राणायाम में सीधा बैठना अति आवश्यक है। चलते-फिरते कभी भी प्राणायाम नहीं करना चाहिए यह गलत प्रक्रिया है।'

Scanned by CamScanner

८. **बन्ध—** हठयोग के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के बन्धों का उल्लेख है। विभिन्न उपनिषदों जैसे योग कुण्डल्युपनिषद्,योग-चूड़ामणि उपनिषद्, योगतत्त्व उपनिषद्, योग शिखोपनिषद् और शाण्डिल्योपनिषद् में भी बन्धों का वर्णन है। इनका मूल उद्देश्य शरीरगत वायु को नियन्त्रित करना है। योग शिखोपनिषद् में इनकी महत्ता इन शब्दों में प्रतिपादित है-**बन्धत्रयमथेदानीं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम्। नित्यं कृतेन तेनासौ वायोर्जयमवाप्नुयात्** (यो०शि० १०१)। पाँच बन्धों में प्राय: तीन बन्ध प्रमुख हैं। ये हैं मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध और जालन्धर बन्ध, इसके अतिरिक्त महाबन्ध और महावेध का भी उल्लेख पाया जाता है। योगतत्त्वोपनिषद् में मूलबन्ध का यह स्वरूप प्रतिपादित है-**पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम्। अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते। प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्** (यो.त. १२०-१२१) अर्थात् लिङ्ग स्थान और मूल (गुदा) के रन्ध्र को बन्द करने एवं अपान वायु का ऊर्ध्वगमन करके प्राण वायु के साथ एकत्व ही मूलबन्ध है। इसमें बाएँ पैर को सीवन (एड़ी को गुदा और लिङ्ग के बीच) में दृढ़तापूर्वक लगाकर और उसे सिकोड़कर अधोगामी अपान वायु का ऊर्ध्वगमन किया जाता है। उससे कुण्डलिनी शक्ति ऊपर की ओर चढ़ती है। **उड्डियान बन्ध** का स्वरूप उपनिषदों में इस प्रकार निरूपित है-**बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यत:। उड्याणाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभि: समुदाहृत:** (यो०त० ११९)। इस बन्ध में दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलुवों को आपस में मिलाकर नाभि से नीचे और आठ अंगुल ऊपर के पेट के हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड में इस प्रकार लगाया जाता है, जिससे पेट में गड्ढा जैसा दीखने लगता है। इससे प्राण, पक्षी की तरह सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है। जिसके कारण ही इसका नाम उड्डियान बन्ध पड़ गया है। जालन्धर बन्ध के सन्दर्भ में योगतत्त्व उपनिषद् कहता है-**कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढया धिया। बन्धो जालन्धराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी** (यो०त० ११८) अर्थात् कण्ठ का आकुञ्चन करके ठोड़ी को कण्ठ कूप में दृढ़तापूर्वक इस प्रकार स्थापित करे कि हृदय से ठोड़ी का अन्तर मात्र चार अंगुल का रह जाय और सीना आगे की ओर तना हुआ हो। कण्ठ क्षेत्र के समस्त नाड़ी जाल को बाँध कर उस प्रदेश की सभी विकृतियों

को दूर करने के कारण ही इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं। जालन्धर बन्ध के सन्दर्भ में विवेक मार्तण्ड में उल्लेख है-**जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे। न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायु: प्रकुप्यति** (वि० मार्त० ६७)।

महाबन्ध प्राय: पूर्वोक्त तीनों बन्धों का सम्मिलित स्वरूप होता है। योग तत्त्व उपनिषद् (११२-११४) में उल्लेख है- **पार्ष्णिंवामस्य पादस्य.....उभयत्रैवमभ्यसेत्**। महावेध में मूलबन्धपूर्वक पद्मासन से बैठकर प्राण और अपान वायु को नाभि प्रदेश पर एक करके, दोनों हाथ तानकर नितम्बों से मिलाते हुए भूमि पर जमाकर नितम्बों को आसन के साथ ही उठाकर बार-बार भूमि पर ताड़ित किया जाता है। इससे प्राण सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर कुण्डलिनी का जागरण होता है।

Scanned by CamScanner

८. **मुद्रा**— योग के अन्तर्गत चित्तशोधन व प्राण के ऊर्ध्वगमन के निमित्त विभिन्न मुद्राएँ प्रतिपादित की गयी हैं- जैसे खेचरी मुद्रा, महामुद्रा, अश्विनीमुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, योनिमुद्रा, योगमुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, तड़ागीमुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, वज्रोली, अमरोली, सहजोली मुद्रा आदि। इनमें कुछ प्रमुख मुद्राएँ इस प्रकार हैं- खेचरी मुद्रा में जीभ को उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट कराकर दृष्टि को भ्रूमध्य में एकाग्र किया जाता है। ध्यान की स्थिरता में इस मुद्रा से बहुत सहायता मिलती है। इसके अभ्यासी को क्षुधा, निद्रा, तृष्णा, मूर्च्छा आदि से त्राण मिलता है। चित्तशून्य (अन्तरिक्ष-खे) में रमण (चर) करने के कारण इसका नाम खेचरी मुद्रा पड़ा है। उपनिषद्कार ने इस मुद्रा के विषय में लिखा है-**अन्तः कपाल कुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत्। भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी** (यो०त० ११७)। इस मुद्रा की सिद्धि के लिए जिह्वा वृद्धि हेतु छेदन, दोहन व चालन आदि कृत्य किये जाते हैं।

महामुद्रा में मूलबन्धपूर्वक वाम पाद की एड़ी से गुदा और उपस्थ के बीच का स्थान (सीवन) दबाते हैं और दक्षिण पाद को फैलाकर उसकी अँगुलियों को दोनों हाथों से पकड़ते हैं। इसके बाद बायें नथुने से पूरक करके जालन्धर बन्ध लगाते हैं, तत्पश्चात् जालन्धर बन्ध खोलकर दाहिने नथुने से रेचक करते हैं। इसी प्रकार दाहिने ओर से भी यही मुद्रा करनी चाहिए। अश्विनी मुद्रा में पद्मासन अथवा सिद्धासन से बैठकर योनि प्रदेश को अश्व (घोड़े) की तरह बारम्बार आकुंचन-प्रकुंचन किया जाता है। इससे प्राण का उत्थान व कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में सहायता मिलती है।

शाम्भवी मुद्रा में मूल और उड्डियानबन्धपूर्वक पद्म अथवा सिद्ध आसन में बैठकर नासाग्र अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान लगाया जाता है। वज्रोली मुद्रा में साधक प्रारम्भ में उपस्थेन्द्रिय द्वारा मूत्र को ऊपर खींचने और पुनर्विसर्जित करने का अभ्यास करता है। बाद में जल, दूध, तेल,घृत, शहद और पारे को भी खींचने और छोड़ने का

अभ्यास बन जाता है। इसका अभ्यास दृढ़ हो जाने पर स्त्री योनि में रेतस् विसर्जित करके उसके रज को ग्रहण किया जाता है; पर इस क्रिया में किसी अनुभवी का मार्गदर्शन अपेक्षित है, अन्यथा शारीरिक हानि के साथ ही आध्यात्मिक पतन की सम्भावना भी रहती है। वज्रोली के सन्दर्भ में योगतत्त्व उपनिषद् में उल्लेख है-**किं नाम वज्रोली ? कांस्यपात्रे गोक्षीरं निक्षिप्य वज्रोलीतुल्य लिङ्गनालेन ग्रसित्वा पुनर्विरेच्य पुनर्ग्रसनादिकमभ्यस्याथ स्त्रीयोनिमण्डले रेतो विसृज्य तच्छोणितेन साकं ग्रसेदिति यत्सैव वज्रोलीत्युच्यते** (यो०त० १२६.१२७)।

अमरोली मुद्रा वज्रोली का ही अगला चरण है। इसमें अमरी (मूत्र) की प्रथम और अन्तिम धारा को छोड़कर, मध्य धारा को हाथ या पात्र में लेकर प्रतिदिन पीकर तथा नस्य (नासिका द्वारा लेकर) करते हुए, वज्रोली क्रिया का अभ्यास किया जाता है। यही अमरोली मुद्रा कहलाती है- **अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने-दिने। वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते** (यो०त० १२८)। सहजोली मुद्रा वह कहलाती है, जिसमें अमरोलीसिद्ध को अमरीपान और नस्य के बिना ही (सहज ही) सिद्धि प्राप्त हो जाती है- **एवममरोलीसिद्धस्यामरीपाननस्यं विना या सिद्धिरुदेति सैव सहजोलीत्युच्यते** (यो०त० १२८ टीका)।

षण्मुखी मुद्रा का प्रयोग योगमार्ग में, मन पर विजय प्राप्त करने, वायु को वश में करने आदि के लिए किया जाता है; जिससे प्राण ऊर्ध्वगामी हो चित्त एकाग्र होता है तथा आनन्दानुभूति होती है। जाबाल दर्शनोपनिषद् में इसका स्वरूप इस प्रकार निरूपित है-**स्वस्तिकासनमास्थाय समाहितमनास्तथा। अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्रणवेन शनैःशनैः। हस्ताभ्यां धारयेत्सम्यक् कर्णादिकरणानि च ....महामुने** (जा०दर्शनो० ६.३२-३५) अर्थात् स्वस्तिक आसन पर बैठकर मन एकाग्र करके अपान वायु को ऊपर चढ़ाकर शनैः-शनैः प्रणव (ओंकार) का जप करते हुए दोनों अँगूठों से कानों को, तर्जनी से नेत्रों को और अन्य अँगुलियों से नासा पुटों को बन्द करके मूर्धा में मन (प्राण) को तब तक धारण करे (ध्यान लगाये), जब तक आनन्द की अनुभूति हो। इस प्रकार प्राण ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर जाता है। यही षण्मुखी मुद्रा है। साधक द्वारा वैष्णवी मुद्रा का प्रयोग मूलाधारादि चार चक्रों में मन को एकाग्र करने के लिए किया जाता है। इसमें मूलाधार, अनाहत, आज्ञा तथा सहस्रार चक्रों में विराजमान क्रमशः विराट् सूत्र, बीज, तुरीय अथवा अन्तर्लक्ष्य में बहिर्दृष्टि रखते हुए (खुले नेत्रों से) अपलक होकर मन को एकाग्र किया जाता है। इस सन्दर्भ में शाण्डिल्य उपनिषद् में उल्लेख है-**मूलाधारानाहताज्ञा सहस्त्रारेषु यथाक्रमं विराट् सूत्रं बीजं तुरीयं वा अन्तर्लक्ष्यं तदेकतानं मनः बहिर्दृष्टिस्तु अन्तर्दृष्टिर्भूत्वा यदा निमेषोन्मेषवर्जिता भवति तदा दृष्टिरियं वैष्णवीमुद्रा भवतीत्यर्थः** (शाण्डिल्यो० १.७. १४ टीका)।

Scanned by CamScanner

महाबन्ध–मूलबन्ध, उड्डियाणबन्ध और जालन्धर-बन्ध—इन तीनों बन्धों के सम्मिलित रूप को महाबन्ध कहा जाता है। (योग.उप. 112-114)

महामुद्रा–चित्तशोधन और प्राणों के ऊर्ध्वगमन के लिए योग में कही गई मुद्राओं में से एक। महामुद्रा वह है, जिसमें मूलबन्धपूर्वक वामपाद की एड़ी से गुदा और उपस्थ के बीच के स्थान अर्थात् सीवन को दबाया जाता है और दक्षिण पाद को फैलाकर उसकी अँगुलियों को दोनों हाथों से पकड़ा जाता है। इसके बाद वाम नासिका से पूरक करके जालन्धरबन्ध लगाया जाता है। बाद में जालन्धरबन्ध खोलकर दक्षिण नासिका से रेचक किया जाता है। इसी प्रकार दाहिनी ओर से भी यही मुद्रा दुहराई जाती है।

महावाक्य–जीव-ब्रह्मैक्य का प्रतिपादन करने वाले वाक्य 'महावाक्य' हैं। ये चार हैं—1. प्रज्ञानं ब्रह्म, 2. अहं ब्रह्मास्मि, 3.तत्त्वमसि और 4. अयमात्मा ब्रह्म।

महावेध–हठयोगान्तर्गत पाँच बन्धों में से एक। महावेध में मूलबन्धपूर्वक पद्मासन में बैठकर प्राण और अपान वायु को नाभिप्रदेश में एक करके दोनों हाथ तानकर नितम्बों पर मिलाते हुए भूमि

Scanned by CamScanner

पर जमाकर नितम्बों को आसन के साथ ही उठाकर बार-बार भूमि पर ताडित किया जाता है। इससे प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करके कुण्डलिनीजागरण होता है।

Scanned by CamScanner

मुदिता–योगशास्त्र में आध्यात्मिक उन्नति के लिए अनेक साधनाएँ हैं। पातंजलयोगदर्शन में मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा के गुणों द्वारा की जाने वाली चित्तशुद्धि की साधना बताई गई है। (पा.यो.सू. 3.33) अर्थात् सुखियों के सम्बन्ध में मैत्री दु:खियों के सम्बन्ध में करुणा, पुण्यात्माओं के सम्बन्ध मुदिता तथा पापात्माओं के सम्बन्ध में उपेक्षा रखने की यह साधना है। यहाँ मुदिता का अर्थ आनन्द होता है।

मुद्रा–योग में चित्तशोधन और प्राण के ऊर्ध्वगमन के लिए अलग-अलग मुद्राएँ प्रतिपादित की गईं हैं; यथा—1. खेचरी मुद्रा, 2. महामुद्रा, 3. अश्विनी मुद्रा, 4. शक्तिचालिनी मुद्रा, 5. योनिमुद्रा, 6. योगमुद्रा, 7. शांभवी मुद्रा, 8. तडागी मुद्रा, 9. विपरीतकरणी मुद्रा, 10. वज्रोली मुद्रा, 11. अमरोली मुद्रा, 12. सहजोली मुद्रा आदि। इनमें कुछ प्रमुख मुद्राएँ निम्नवत् हैं—

खेचरी मुद्रा–जीभ को उलटकर कपालकुहर में जाकर दृष्टि को भ्रमूध्य में एकाग्र किया जाता है। यह मुद्रा ध्यान में बड़ी सहायक है। इसके अभ्यास से भूख-प्यास, निद्रा, तृष्णा, मूर्च्छा आदि से छुटकारा होता है। विशेष अध्ययन के लिए योगतत्त्वोपनिषद् (117) देखें।

महामुद्रा–मूलबन्धपूर्वक वाम पाद की एड़ी को गुदा और उपस्थ के बीच दबाते हैं और दक्षिणपाद को फैलाकर उसकी अँगुलियों को दोनों हाथों से पकड़ते हैं। इसके बाद बायें नथुने से पूरक करके जालन्धर बन्ध लगाते हैं। बाद में जालन्धर बन्ध खोलकर दाहिने नथुने से रेचक करते हैं। इस प्रकार दाहिनी ओर से भी यही मुद्रा करनी चाहिए।

अश्विनी मुद्रा–इसमें पद्मासन या सिंहासन में बैठकर योनिप्रदेश का घोड़े की तरह बार-बार

Scanned by CamScanner

आकुंचन-प्रकुंचन किया जाता है। इससे प्राणोत्थान और कुण्डलिनी की जागृति में सहायता मिलती है।

शांभवी मुद्रा–इसमें मूलबन्ध और उड्डियाण वन्ध पूर्वक पद्म या सिद्ध आसन में वैठकर नासाग्र या भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान लगाया जाता है।

वज्रोली मुद्रा–इसमें साधक प्रारम्भ में उपस्थेन्द्रिय द्वारा मूत्र को ऊपर खींचने और पुनर्विसर्जित करने का अभ्यास करता है। बाद में जल, दूध, तेल, घृत, शहद और पारे को भी खींचने और छोड़ने का अभ्यास वन जाता है। अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर स्त्रीयोनि में रेतस् विसर्जित करके उसके रज को ग्रहण किया जाता है। पर इसमें किसी अनुभवी सिद्ध का मार्गदर्शन अनिवार्य है। अन्यथा हानि और पतन होता है। (देखिए योगतत्त्वोपनिषद्, 126-127)।

अमरोली मुद्रा–यह वज्रोली मुद्रा का अगला चरण है। इसमें अमरी (मूत्र) की आरम्भ की और अन्तिम धारा को छोड़कर मध्य धारा को हाथ या पात्र में लेकर रोज पीकर तथा उसका नस्य (नाक द्वारा ऊपर लेना) करके जो अभ्यास किया जाता है, वही अमरोली मुद्रा होती है। (देखिए—यो.त. 128)।

सहजोली मुद्रा–इसमें अमरोली सिद्ध ने अमरोली पान और नस्य के बिना भी सहज ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। (देखिए यो.त. 128 की ब्रह्मयोगी टीका)

षण्मुखी मुद्रा–इसका उपयोग मनोविजय और प्राणजय के लिए किया जाता है। जाबाल उपनिषद् (6.32-35) में इसका उल्लेख मिलता है। स्वस्तिक आसन में बैठकर मन को एकाग्र करके अपान वायु को ऊपर चढ़ाकर, धीरे-धीरे प्रणवजप करते हुए, दोनों अँगूठों से कानों को, तर्जनियों से नेत्रों को, अन्य अँगुलियों से नासापुटों को बन्द करके मूर्धा में प्राण (मन) का तब तक ध्यान करें, जब तक आनन्द की

Scanned by CamScanner

अनुभूति न हो। इस तरह प्राण ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट हो जाते हैं।

वैष्णवी मुद्रा–मूलाधारादि चक्रों में मन को एकाग्र करने के लिए इस मुद्रा का उपयोग किया जाता है। इसमें मूलाधार, अनाहत, आज्ञा तथा सहस्रार चक्रों में क्रमशः विराजित विराट्, सूत्र, वीज, तुरीय अथवा अन्तर्लक्ष्य में बहिर्दृष्टि (खुले नेत्र) रखते हुए अर्थात् अपलक होकर मन को एकाग्र किया जाता है। (देखिए शाण्डिल्योपनिषद् 1.7.14)

मुहूर्त–रात-दिन का तीसवाँ भाग या बारह क्षण (20 पल या दो दण्ड या दो घड़ी या अड़तालीस मिनट का समय)। किसी शुभ कार्य के लिए फलित ज्योतिष के अनुसार निकाले गये समय को भी मुहूर्त कहा जाता है। शतपथब्राह्मण (10.4.2.18) में कहा है कि प्रजापति ने दिन और रात के पन्द्रह-पन्द्रह भागों को 'लोकम्पृणो' के रूप में देखा। वे देवों के द्वारा रक्षित होते हैं—'मुहुः त्रायते' इसलिए एक दिन में तीस मुहूर्त होते हैं। अतएव उन भागों का नाम मुहूर्त पड़ा।

Scanned by CamScanner

मूलबन्ध–पूर्वोक्त योगशास्त्रीय तीन मुख्य बन्धों में से प्रथम बन्ध। लिंगस्थान और गुदा के रन्ध्र को बन्द करके तथा अपान वायु का ऊर्ध्वगमन करके प्राणवायु को उसके साथ एकत्व करना ही मूलबन्ध है। इसमें बाएँ पैर को सीवन में दृढ़तापूर्वक लगाकर और उसे सिकोड़कर अधोगामी अपानवायु का ऊर्ध्वगमन किया जाता है (यो.त. 120-121)।

Scanned by CamScanner

वह्नियोग–कुण्डलिनी-जागरण के लिए प्रतिपादित अनेक यौगिक प्रक्रियाओं में वह्नियोग या अग्नियोग भी एक अत्यन्त महत्त्व का सोपान है। योगचूडामण्युपनिषत् के अनुसार इस वह्नियोग से सुषुप्त कुण्डलिनी जागत् होती है। वह्नियोग एक प्रकार की प्राणायाम प्रक्रिया है (योगचूडामणि 36.39)। यह मंत्रोक्त वह्नियोग कदाचित् सूर्यभेदी प्राणायाम की प्रक्रिया हो सकती है, क्योंकि इससे सूर्यचक्र का जागरण होकर आन्तरिक अग्नि उत्पन्न होती है। सूर्य-भेदी की भावना भी इसी के समान है। दोनों लगभग एक

Scanned by CamScanner

समान हैं। हठयोगप्रदीपिका (3.116) में भी कुण्डलिनी-साधना में भानु के आकुंचन और अग्नि के वशवर्ती होने की बात कही गई है, अतः दोनों एक ही है, ऐसा मालूम पड़ता है।

Scanned by CamScanner

शक्तिचालिनी मुद्रा–योगशास्त्रीय दस मुद्राओं में से एक। सिद्धासन या पद्मासन में बैठकर दोनों हथेलियाँ जमीन पर जमा दें। बीच-पचीस बार धरती से नितम्बों को उठाकर पृथ्वी पर ताडन करे, बाद में मूलबन्ध लगाकर नासिका के समुचित छिद्र से पूरक करके, प्राण-अपान को संयुक्त करके, जालन्धरबन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिए। कुम्भक काल में अश्विनी मुद्रा करनी चाहिए। बाद में जालन्धरबन्ध खोलकर पूरक से विपरीत नासिका से रेचन करना चाहिए और विकाररहित होकर स्थिर हो जाना चाहिए। तब यह मुद्रा होती है। इसका विशेष वर्णन घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थों में किया गया है। जिज्ञासुओं को उन ग्रन्थों से जान लेना चाहिए। यहाँ विस्तार-भय से इतना ही कहा है।

Scanned by CamScanner

षण्मुखी मुद्रा–मन और वायु पर विजय प्राप्त करने के लिए यह मुद्रा बतलाई गई है। इसमें प्राण ऊर्ध्वगामी और मन एकाग्र होता है। इसमें आनन्दानुभूति होती है (जाबालदर्शनोपनिषत् 6.32-35)। स्वस्तिक आसन लगाकर एकाग्र-चित्त से अपान वायु को ऊपर चढ़ाकर शनैः-शनैः ओंकार का जप करते हुए, दोनों अँगूठों से दोनों कानों को, तर्जनियों से दोनों नेत्रों को और अन्य अँगुलियों से दोनों नासिकाओं को बन्द करके मूर्धा में मन को आनन्द की अनुभूति होने पर्यन्त धारण करना चाहिए। इस तरह प्राण का मन में प्रवेश होता है। यही षण्मुखी मुद्रा है।

Scanned by CamScanner

खगरज्जुवदित्येतद्यो जानाति स योगवित् ।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥61॥
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
शतानि षड्दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः ॥62॥
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥63॥

यह प्राण शरीर के दाँये-बाँये गमन करता रहता है, पर चंचल होने से वह दिखाई नहीं देता। जैसे हाथ से उछाली गई गेंद इधर-उधर चलायमान होती है, उसी प्रकार प्राण और अपान के द्वारा अपनी-अपनी ओर खींचा जाने वाला यह जीव कभी आराम नहीं प्राप्त करता, क्योंकि उसे अपान की ओर से प्राण अपनी ओर खींचता है और प्राण की ओर से अपान अपनी ओर हमेशा खींचता ही रहता है, जिस प्रकार रस्सी से बाँधा गया पक्षी खींच लिया जाता है। इस तत्त्व को जो जानता है उसे योगवित् कहा जा सकता है। हमारा प्राण 'ह'कार जैसे उच्चारण से बाहर निकलता है, और 'स'कार जैसे उच्चारण से फिर वह शरीर में प्रवेश करता है। इस प्रकार यह जीव सदैव 'हंस' 'हंस' का मंत्र जपता ही रहता है और ऐसा जप प्रतिदिन इक्कीस हजार छः सौ की संख्या में होता है। ऐसे जाप को अजपा गायत्री कहा जाता है। ऐसा जाप योगियों के लिए सदा मोक्ष देने वाला होता है।

अस्याः सङ्कल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ॥64॥
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥65॥

इस अजपा गायत्री के संकल्पमात्र से मनुष्य पापों से मुक्त हो जाता है। इसके जैसी कोई विद्या, इसके जैसा कोई जप, इसके जैसा कोई पुण्य, न अभी तक हुआ है, न होगा कि जिस मार्ग पर चलकर निरामय विशुद्ध ब्रह्म को प्राप्त किया जा सके।

मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ॥66॥
सूचीवद् गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ॥67॥
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥68॥

वह्नियोग के द्वारा जाग्रत् की जाने वाली वह परमेश्वरी (कुण्डलिनी शक्ति) उस द्वारमार्ग को अपने मुँह से आच्छादित कर स्थित है (वह सोई हुई अवस्था में है)। वह जब वह्नियोग से जाग्रत् की जाती है, तब मन और प्राणवायु के साथ सुषुम्ना के मार्ग से ऊर्ध्वगमन करती है और जैसे सुई धागे को अपने साथ ले आती है वैसे ही वह शक्ति भी मन और प्राण को अपने साथ लेकर ही ऊपर बढ़ती है। योगीजन मुक्तिद्वार को कुण्डलिनी शक्ति द्वारा उसी प्रकार खोल देते हैं, जैसे चाभी से ताला खोलकर प्रयत्नपूर्वक दरवाजा खोल दिया जाता है।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वाऽथ पद्मासनं,
गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ।

Scanned by CamScanner

वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयन्पूरितं,
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥69॥

अच्छी तरह से पद्मासन लगाकर हाथों को संपुटित करके छाती पर चिबुक (ठोड़ी) को मजबूती से रखकर चित्त में स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। ध्यान करते समय बार-बार नीचे की अपानवायु को ऊपर की ओर लाना चाहिए तथा पूरित वायु को बाहर छोड़ते रहना चाहिए। इस प्रकार करने वाला योगी उस कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव से अतुलनीय बोध प्राप्त कर सकता है।

पद्मासनस्थितो योगी नाडीद्वारेषु पूरयन्।
मारुतं कुम्भयन्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥70॥

पद्मासन में स्थित योगीजन नाड़ियों के द्वारों से प्राण वायु को भीतर लाते हुए पूरक प्राणायाम करता है, फिर वह उस वायु को कुंभक प्राणायाम से रोकता है, वह नि:सन्देह मुक्त हो जाता है।

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमजातेन वारिणा।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरपानरतः सुखी ॥71॥
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥72॥

इस प्राणायाम के परिश्रम से उत्पन्न हुए प्रस्वेद-बिन्दुओं से ही अपने शरीर को मलकर और तीखे, खट्टे एवं नमकीन पदार्थों को छोड़कर, केवल दूध के पान से ही जीने वाला, सुखी, ब्रह्मचारी, मिताहार करने वाला योगपरायण योगीजन एक वर्ष के भीतर ही सिद्धि प्राप्त करता है, इसमें कुछ विचारने की बात नहीं है।

कन्दोर्ध्वकुण्डलीशक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ॥73॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।
पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ॥74॥
अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते।
उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः ॥75॥
उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ॥76॥

कन्द-प्रदेश से ऊपर के भाग में जिसकी कुण्डलिनी शक्ति स्थित है, वह योगी सिद्धि के योग्य है। अर्थात् जिसकी नाडीकन्द के ऊर्ध्व भाग में (सुषुम्ना में) कुण्डलिनी शक्ति हो, वह योगी योगसिद्धि का पात्र बनता है। सतत मूलबन्ध का अभ्यास करने से अपान और प्राण का एकीभाव हो जाता है। मल-मूत्र का क्षय हो जाने से बूढ़ा भी जवान हो जाता है। एड़ी से योनि को दबाकर गुदा को संकुचित करना चाहिए और अपानवायु को ऊपर खींचना चाहिए—इस क्रिया को मूलबन्ध कहा गया है। 'उड्डियाणबन्ध' की विधि में कहा गया है कि जिस प्रकार कोई बड़ा पक्षी बिना थकान के ही उड़ने की क्रिया करता है उसी प्रकार पेट को पीछे की ओर वेग से खींचने (सिकोड़ने) की 'ताण' क्रिया करने के साथ नाभि को ऊपर की ओर खींचना चाहिए (इसको 'उड्डियाणबन्ध' कहा जाता है)।

Scanned by CamScanner

उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम् ॥77॥
ततो जालन्धरो बन्धः कर्मदुःखौघनाशनः।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ॥78॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥79॥
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥80॥

यह पूर्वोक्त 'उड्डियाणबन्ध' मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंह जैसा नाशक होता है। और अन्य एक जो बन्ध है, शिरो(नभो)जात अर्थात् सहस्रारूपी आकाश में विद्यमान तथा नीचे जाने वाले सर्वरोगहर कफ-जल को बाँध देता है (सुखा देता है), उसे 'जालन्धरबन्ध' कहा जाता है। इस बन्ध से कर्मबन्ध और पापजन्य दुःखों का नाश होता है। जालन्धरबन्ध करते समय कण्ठ को सिकोड़ा जाता है, जिससे वायु की गति रुक जाती है और अमृत के अग्नि में गिरने की संभावना नहीं रहती। अब इसके बाद 'खेचरी' मुद्रा' कहते हैं—जीभ को उल्टा कर कपाल के कुहर में प्रविष्ट किया जाता है और अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच स्थिर किया जाता है। इस खेचरी मुद्रा के स्थिर हो जाने से निद्रा एवं भूख-प्यास नहीं सताती है और किसी पीड़ा (रोग) तथा मृत्यु का भी भय नहीं होता।

न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥81॥
बध्यते न च कालेन यस्य मुद्रास्ति खेचरी।
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा भवति खे गता ॥82॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धनमस्कृता।
खेचर्या मुद्रया यस्य विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ॥83॥
बिन्दुः क्षरति नो यस्य कामिन्यालिङ्गितस्य च।
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ॥84॥

इस खेचरी मुद्रा को जो जानता है, वह कभी मूर्च्छित नहीं होता। रोगों से वह पीड़ित नहीं होता है, कर्म से वह लिप्त नहीं होता। जिसको खेचरी मुद्रा सिद्ध है, उसे काल बाँध नहीं सकता। लम्बे अरसे तक उसका चित्त आकाश में विहार कर सकता है, क्योंकि उसकी जीभ अन्तरिक्षगामिनी हो जाती है। इसीलिए तो यह खेचरी मुद्रा सिद्धों के लिए भी वन्दनीय हैं। इस खेचरी मुद्रा के द्वारा जिसने लम्बिका (अन्तर्जिह्वा) से भी आगे के विवर (तालु) को अवरुद्ध कर दिया है, ऐसे मनुष्य का कामिनी के आलिंगन करने पर भी वीर्यबिन्दु स्खलित नहीं होता और जब तक शरीर में वीर्य रहता है तब तक मृत्यु का भय भी कहाँ से हो सकता है ?

यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति।
गलितोऽपि यथा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डले ॥85॥
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।
स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ॥86॥
पाण्डरं शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः।
विद्रुमद्रुमसङ्काशं योनिस्थाने स्थितं रजः ॥87॥

Scanned by CamScanner

शशिस्थाने वसेद्बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ।
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ॥88॥

यह नभोमुद्रा (खेचरी) जहाँ तक बद्ध (चालू) रहती है, वहाँ तक तो वीर्य - बिन्दु का स्खलन नहीं होता, तथापि यदि कहीं वह वीर्य - बिन्दु गिर जाए और योनि में चला जाए, तो हठपूर्वक (बलात्) उसे योनिमण्डल से पुनः शक्ति द्वारा ऊपर खींच लिया जाता है। यह वीर्य - बिन्दु दो प्रकार का होता है—एक पाण्डर (सफेद) रंग का और दूसरा लाल रंग का। पाण्डर (सफेद) वर्ण वाले को 'शुक्र' और लाल रंगवाले को 'महारज' कहा जाता है। मूँगे के सदृश रंगवाला रज योगी के योनिस्थान में रहता है, और शुक्ल (पाण्डर) वर्णवाला वीर्य योगी के चन्द्रस्थान में रहता है। उन दोनों का ऐक्य होना बड़ा दुष्कर है। जो शुक्ल बिन्दु है वह शिव है और जो रज है वह शक्ति है। वीर्य ही चन्द्र है, रज ही सूर्य है।

उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं वपुः ।
वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं खे यथा रजः ॥89॥
रविणैकत्वमायाति भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ।
शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्यसमन्वितम् ॥90॥
द्वयोः समरसीभावं यो जानाति स योगवित् ।

आकाश में शक्ति द्वारा संचालित वायु से प्रेरित रज जिस तरह सूर्य से संयुक्त होकर दिव्य स्वरूप (तेजस्वी रूप) धारण करता है उसी तरह इन दोनों के संयोग से परम देह की प्राप्ति होती है। रवि (रज) के साथ वीर्यबिन्दु का एकत्व होने से तब दिव्य शरीर प्राप्त हो जाता है। पूर्व कथनानुसार शुक्ल वीर्य चन्द्र के साथ संयुक्त है और रज सूर्य के साथ युक्त है—इन दोनों की समरसता के भाव को जो जानता है, वही सही रूप में योगवित् कहा जाता है।

शोधनं मलजालानां घटनं चन्द्रसूर्ययोः ॥91॥
रसानां शोषणं सम्यङ् महामुद्राभिधीयते ॥92॥
वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुषिरं योनेश्च वामाङ्घ्रिणा,
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रविततं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचये-
देषा पातकनाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥93॥

'महामुद्रा' उसे कहा गया है कि जो मल के जालों का शोधन करती हो, जो चन्द्र और सूर्य का मेल करती हो, जो वात, पित्त और कफ का अच्छी तरह से शोषण करती हो। महामुद्रा की विधि इस प्रकार है—वक्षःस्थल को ठोड़ी से दबाकर तथा बाँयी एड़ी से योनि-स्थल को दबाकर, दोनों हाथों से फैलाए गए दाहिने पैर को पकड़कर, और दोनों कोखों को वायु से भरकर कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे साँस को बाहर निकालना चाहिए। योगियों ने इसे 'पातकनाशिनी महामुद्रा' नाम दिया है।

अथात्मनिर्णयं व्याख्यास्ये—हृदि स्थाने अष्टदलपद्मं वर्तते। तन्मध्ये रेखावलयं कृत्वा जीवात्मरूपं ज्योतीरूपमणुमात्रं वर्तते। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं भवति सर्वं जानाति सर्वं करोति सर्वमेतच्चरितमहं कर्ताऽहं भोक्ता सुखी दुःखी काणः खञ्जो बधिरो मूकः कृश स्थूलोऽनेनेन प्रकारेण स्वतन्त्रवादेन वर्तते ॥(93-1)॥

Scanned by CamScanner

ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥5॥
वामाङ्घ्रिमूलकन्दाधो ह्यन्यं तदुपरि क्षिपेत्।
समग्रीवशिरःकायो वज्रासनमितीरितम् ॥6॥
कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्बुधः।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते ॥7॥
तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम्।
प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत् ॥8॥

दोनों उरुओं के ऊपर यदि दोनों (उल्टे-सीधे) पादतल रखे जाएँ, तब सर्व पापों का नाश करने वाला पद्मासन बनता है। गर्दन, मस्तक और शरीर को एक ही सीध में रखकर बाँयें पैर की एड़ी को सीवनी के स्थान में और दायें पैर की एड़ी उसके ऊपर लगाकर उसके ऊपर बैठने से वज्रासन होता है। मुख्यशक्ति कुण्डलिनी ही कही गई है। चालनक्रिया के द्वारा बुद्धिमान इसे नीचे से ऊपर भ्रूकुटियों के मध्य तक ले आता है उसे 'शक्तिचालन' कहा जाता है (वही शक्तिचालिनी मुद्रा है।) कुण्डलिनी जगाने (चलाने) के मुख्यतया दो उपाय (दो साधन) कहे गए हैं—एक है सरस्वतीचालन और दूसरा है अभ्यास के द्वारा प्राण का निरोध करना। इस प्रकार से लिपटी हुई कुण्डलिनी सीधी हो जाती है।

तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते।
अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती ॥9॥
यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली।
इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम् ॥10॥
द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च अम्बरं चतुरङ्गुलम्।
विस्तीर्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः ॥11॥
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम्।
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनः पुनः ॥12॥

उन दोनों में से पहले मैं तुम्हें 'सरस्वतीचालन' के बारे में बताता हूँ। प्राचीन काल के विद्वानों ने उसको अरुंधती का नाम भी दिया है। इसके संचालन से कुण्डलिनी स्वयं ही चलने लगती है जब कि इड़ा नाडी चल रही हो और उस समय पद्मासन लगाकर उस सरस्वती का अच्छी तरह से संचालन किया जाए। फिर उस नाड़ी को बारह अंगुल लम्बे और चार अंगुल चौड़े वस्त्र के टुकड़े से लपेटना चाहिए। ऐसा करने के बाद नासा के दोनों छिद्रों को अँगूठे और तर्जनी के द्वारा दृढ़ता से (जोर से) पकड़कर अपनी इच्छाशक्ति से पहले बाँये और फिर दाहिने नासिकाछिद्र से चार-चार बार रेचक और पूरक करनी चाहिए।

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः।
ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किञ्चित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम् ॥13॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥14॥
तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठसङ्कोचने कृते।
सरस्वत्याश्चालनेन वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत् ॥15॥

Scanned by CamScanner

सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने।
कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत् ॥16॥

इस तरह निर्मल होकर दो मुहूर्तों तक (करीब सवा चार घण्टों तक) इसको चलाते रखना चाहिए और साथ ही कुण्डलिनी में स्थित सुषुम्ना नाड़ी को भी थोड़ा सा ऊपर खींचना चाहिए। इससे सरस्वतीचालन की क्रिया से कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी के मुख में प्रवेश करके ऊपर उठने वाली हो जाती है। इसी के साथ ही साथ प्राण भी अपना स्थान छोड़कर सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है। कण्ठ के संकोचन करने के साथ पेट को ऊपर की ओर खींचकर रखने से इस सरस्वतीचालन के द्वारा वायु ऊर्ध्वगामी होकर छाती के स्थान से भी ऊपर चला जाता है। सरस्वतीचालन करते समय सूर्यनाड़ी (दक्षिण स्वर) के द्वारा रेचक करते हुए कण्ठ का संकोच करने से नीचे रहा हुआ वायु छाती के ऊपर के भाग की ओर चला जाता है।

तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भां सरस्वतीम्।
यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥17॥
गुल्मं जलोदरः प्लीहा ये चान्ये तुन्दमध्यगाः।
सर्वे तु शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम् ॥18॥
प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः।
प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः ॥19॥
स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥20॥

इसलिए शब्दमयी सरस्वती का चालन सदैव करते रहना चाहिए। इसके संचालन करने से योगी रोगों से मुक्त हो जाता है। इस सरस्वतीचालन से गुल्म, जलोदर, प्लीहा और पेट के अन्य जो रोग हैं, वे नष्ट हो ही जाते हैं। अब दूसरे प्राणरोध की बात संक्षेप में कहता हूँ—देह में स्थित वायु को प्राण कहा जाता है। उस वायु का जब आयाम (स्थिरीकरण) किया जाता है, तब उसे कुंभक कहा जाता है। उस कुंभक के दो प्रकार हैं—एक 'सहित' और दूसरा है 'केवल'। जहाँ तक उनमें से 'केवल' की सिद्धि हो जाए वहाँ तक 'सहित' का अभ्यास करते रहना चाहिए।

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका।
भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः ॥21॥
पवित्रे निर्जने देशे शर्करादिविवर्जिते।
धनुः प्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते ॥22॥
पवित्रे नात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे।
बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम् ॥23॥
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः।
यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः ॥24॥

सूर्यभेदन, उज्जायी, शीतली और भस्त्रिका—इन चार भेदों के साथ जो कुंभक किया जाता है, उसे 'सहितकुंभक' कहा जाता है। पवित्र, निर्जन, कंकरादि से रहित एक धनुष जितने नाप वाले किसी घास-फूस ठंड-गर्मी-पानी से रहित प्रदेश में जो बहुत ऊँचा भी न हो और बहुत नीचा भी न हो ऐसे सुखकारी सुखासन पर पद्मासन लगाकर सरस्वती का चालन करना चाहिए। श्वास के द्वारा धीरे-धीरे

Scanned by CamScanner

दाहिनी नासिका से बाहर के वायु को भीतर खींचकर भीतर पूरक करना चाहिए और फिर इडा नाड़ी के द्वारा उसे बाहर निकालना चाहिए।

कपालशोधने वापि रेचयेत्पवनं शनैः।
चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च ॥25॥
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम्।
मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥26॥
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम्।
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥27॥
शीर्षोदितानलहरं गलश्लेष्महरं परम्।
सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम् ॥28॥
नाडीजलोदरं धातुगतदोषविनाशनम्।
गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥29॥

कपालशोधन क्रिया में भी धीरे-धीरे वायु का रेचन करना चाहिए। इस प्रकार करने से चारों तरह के वायुदोष और कृमिदोष दूर हो जाते हैं। इस प्रकार की क्रिया, जो बार-बार की जाती है, उसका नाम ही 'सूर्यभेदन' है। अब मुख को बन्द करके दोनों नासाछिद्रों से वायु को धीरे-धीरे इस प्रकार खींचना चाहिए कि उसके प्रवेश के साथ आवाज निकलती रहे। इस प्रकार हृदय और कण्ठ तक वायु को पहले भरना चाहिए। फिर बाद में पहले की तरह कुंभक करके बाँयें नासिकाछिद्र से रेचन करना चाहिए। इस तरह करने से शिर की गर्मी, गले का कफ आदि दूर हो जाते हैं, जठराग्नि तेज होती है, नाड़ी, जलोदर और धातुरोग भी नष्ट हो जाते हैं, इस कुंभक को उज्जायी कहते हैं। यह 'उज्जायी कुंभक' बैठते-उठते, चलते-फिरते कभी भी किया जा सकता है।

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु।
शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः ॥30॥
गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम्।
विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च ॥31॥

(सूर्यभेदन और उज्जायी का वर्णन करके अब तीसरे शीतली प्राणायाम की बात कहते हैं कि—) शीतली प्राणायाम में जीभ के द्वारा वायु को खींचकर पहले की तरह ही कुंभक करके नासिका से वायु को धीरे-धीरे निकालना चाहिए। इसके करने से प्लीहा, गुल्म, पित्त, ज्वर, तृषा आदि रोगों की शान्ति होती है।

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥32॥
यथा लगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः।
वेगेन पूरयेत् किञ्चिद्धृत्पद्मावधि मारुतम् ॥33॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः।
यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥34॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत् ॥35॥

Scanned by CamScanner

(अब भस्त्रिका प्राणायाम की बात कही जा रही है—) भस्त्रिका प्राणायाम के लिए पद्मासन लगाकर, शरीर को गर्दनसहित सीधा रखकर, सबसे पहले मुँह बन्द करके नासिका के द्वारा वायु को बाहर निकालना चाहिए। फिर उसी तरह तीव्रता से वायु को भीतर खींचना चाहिए। खींचते समय वायु का स्पर्श, कण्ठ-तालु-सिर और हृदय को मालूम पड़ना चाहिए। फिर उसका रेचन करके फिर से पूरक करना चाहिए। इस तरह बार-बार वेगपूर्वक लोहार की धौंकनी की तरह वायु को खींचते-निकालते रहना चाहिए। इस प्रकार शरीर में रहे हुए वायु को सावधानी के साथ चलाते रहना चाहिए। जब थकान लगे, तब दाहिने स्वर से (सूर्य से) वायु को भीतर खींचना (पूरक करना) चाहिए। और पूरक के बाद—

यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु।
धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥36॥
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्।
कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥37॥
कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम्।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥38॥
गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम्।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥39॥

—फिर तर्जनी को छोड़कर अन्य अँगुलियों से नाक को कसकर पकड़कर वायु का कुंभक करना चाहिए और फिर बाँयीं नासा के छिद्र से (इडा से) उसे बाहर निकाल देना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से गले का दाह मिट जाता है, और जठराग्नि तेज हो जाती है। यह (भस्त्रिका) प्राणायाम कुण्डलिनी को जगाने वाला है। यह सुखद, पुण्यशाली और पापनाशक है। सुषुम्ना नाड़ी के मुखपर जो बाधक कफ आदि होते हैं, वे सभी इसके अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं। तीन गुणों से उत्पन्न हुई ग्रन्थियों को वह भिन्न (नष्ट) कर देता है। इसलिए इस भस्त्रिका प्राणायाम का विशेष अभ्यास करना चाहिए।

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते।
बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः ॥40॥
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः।
जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते ॥41॥
अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥42॥

इन चारों भेदों वाले कुम्भक को करते समय निष्पाप योगियों को मूलबन्ध आदि तीन बन्ध भी करने चाहिए। इन तीन बन्धों में प्रथम बन्ध 'मूलबन्ध' है, दूसरा बन्ध, 'उड्डीयाणबन्ध' है और तीसरा 'जालन्धरबन्ध' है। अब उन बन्धों का लक्षण कहा जा रहा है—जिस बन्ध में नीचे की गति वाले अपानवायु को बलपूर्वक ऊपर खींचा जाता है, गुदा को संकोच करके की जाने वाली उस क्रिया को 'मूलबन्ध' कहा जाता है।

अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥43॥

Scanned by CamScanner

ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।
तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा ॥44॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता सम्प्रबुध्यते।
दण्डाहतभुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥45॥

अपानवायु ऊँचे जाकर जब वह्निमण्डल के साथ योग करता है, तब उस वायु से आहत होकर (टकराकर) वह अग्नि बहुत ही तेज बन जाती है। बाद में उष्णस्वरूप वाले प्राण में अग्नि और अपान के मिल जाने पर उसके प्रभाव से देह से उत्पन्न हुए सब विकार जल जाते हैं। बाद में अग्नि के ताप से सोती हुई कुण्डलिनी जाग जाती है और फटकारी हुई नागिन की भाँति फुत्कार करती हुई सीधी हो जाती है।

बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥46॥

उस समय वह अग्नियुक्त (तपी हुई) कुण्डलिनी जैसे गुहा में प्रवेश करती हो, इस तरह सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश कर जाती है। इसलिए इस मूलबन्ध का अभ्यास योगियों को सदैव करते रहना चाहिए।

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥47॥
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥48॥
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्।
पश्चिमं ताणमुदरे धारयेद्धृदये गले ॥49॥
शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्धिं निगच्छन्ति।
तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः ॥50॥

जब कुंभक करके रेचक किया जाता है, उसके पहले उड्डीयाणबन्ध किया जाता है। इसके करने से यह प्राण सुषुम्ना नाड़ी के भीतर ऊपर चढ़ता जाता है। इसलिए योगी लोग इसे 'उड्डीयाणबन्ध' कहते हैं। इसके लिए वज्रासन में बैठकर पैरों पर दोनों हाथों को बलपूर्वक लगाना चाहिए। जहाँ टखना रखा जाता है, उसके नजदीक कन्द को दबाना चाहिए और पेट को ऊपर की ओर खींचते हुए, गले और हृदय को भी तनाव देते हुए खींचना चाहिए। इस प्रकार प्राण धीरे-धीरे पेट की सन्धियों में प्रविष्ट हो जाता है। इससे पेट के सभी विकार दूर हो जाते हैं। इसलिए इस उड्डीयाणबन्ध की क्रिया को भी सतत करते रहना चाहिए।

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः।
कण्ठसङ्कोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ॥51॥
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसङ्कोचने कृते।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥52॥
पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः।
चालनं तु सरस्वत्याः कृत्वा प्राणं निरोधयेत् ॥53॥

Scanned by CamScanner

पूरक के अन्त में वायु को रोकने के लिए गुदा का संकोच करके कण्ठ का संकोच किया जाता है, तब 'जालन्धर' नाम का बन्ध होता है। मूलबन्ध के द्वारा नीचे के गुदा भाग का संकोचन करके कण्ठसंकोचन करना चाहिए, अर्थात् जालन्धरबन्ध करना चाहिए। फिर बीच के भाग में (पेट में) उड्डियाणबन्ध के द्वारा प्राणवायु को खींचना चाहिए। इसी प्रकार से प्राण को सब तरफ से रोकने से वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी होता है। पूर्वोक्त विधि के अनुसार अच्छी तरह से आसन पर बैठकर 'सरस्वतीचालन' के द्वारा भी प्राणों का निरोध करना चाहिए।

प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम्।
प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा ॥54॥
विंशत्यलं तृतीयेऽह्नि पञ्चवृद्ध्या दिनेदिने।
कर्तव्यः कुम्भको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः ॥55॥
दिवा सुप्तिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात्।
बहुसङ्क्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः ॥56॥
विषमासनदोषाच्च प्रयासप्राणचिन्तनात्।
शीघ्रमुत्पद्यते रोगः स्तम्भयेद्यदि संयमी ॥57॥

चारों प्रकार के कुंभक को पहले दिन चार-चार बार किया जाता है। और दूसरे दिन कुंभक को पंद्रह-पंद्रह बार किया जाता है। तीसरे दिन बीस-बीस बार करने का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह तीनों प्रकार के कुम्भकों का प्रतिदिन पाँच-पाँच की संख्या बढ़ाकर अभ्यास करना चाहिए। दिन में सोना, रात को जागना, अति मैथुन करना, मल-मूत्र के वेग को रोकना, ज्यादा चलना, आसनों का योग्य रीति से अभ्यास न करना, प्राणायामक्रिया में बहुत बल लगाना तथा चिन्तित रहना—इन सब दोषों के कारण साधक जल्दी ही रोगी हो जाता है।

योगाभ्यासेन मे रोग उत्पन्न इति कथ्यते।
ततोऽभ्यासं त्यजेदेवं प्रथमं विघ्नमुच्यते ॥58॥
द्वितीयं संशयाख्यं च तृतीयं च प्रमत्तता।
आलस्याख्यं चतुर्थं च निद्रारूपं तु पञ्चमम् ॥59॥
षष्ठं तु विरतिर्भ्रान्तिः सप्तमं परिकीर्तितम्।
विषयं चाष्टमं चैव अनाख्यं नवमं स्मृतम् ॥60॥
अलब्धिर्योगतत्त्वस्य दशमं प्रोच्यते बुधैः।
इत्येतद्विघ्नदशकं विचारेण त्यजेद्बुधः ॥61॥

यदि कोई साधक ऐसा कहे कि—'योगाभ्यास से मुझे रोग उत्पन्न हो गया है' और ऐसा कहकर योग को छोड़ दे, तो वह योग का प्रथम विघ्न कहा जाता है। दूसरा विघ्न संशय नाम का है, तीसरा विघ्न प्रमत्तता है, चौथा विघ्न आलस्य है और पाँचवाँ विघ्न निद्रारूप है, छठा विघ्न साधना में प्रेम न होना है, और सातवाँ विघ्न भ्रान्ति (भ्रम) है, आठवाँ विघ्न विषय में आसक्तिरूप है, नवम विघ्न अनाख्य (अप्रसिद्ध) है और दसवाँ विघ्न योगतत्त्व की अलब्धि (अलाभ) है—ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं। ज्ञानी को चाहिए कि वह विचार के द्वारा योग के इन दशों विघ्नों को वह छोड़ दे।

प्राणाभ्यासस्ततः कार्यो नित्यं सत्त्वस्थया धिया।
सुषुम्ना लीयते चित्तं तथा वायुः प्रधावति ॥62॥

Scanned by CamScanner

शुष्के मले तु योगी च स्याद्गतिश्चलिता ततः ।
अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥63॥
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ।
अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति ॥64॥

इसलिए सत्त्वमयी दृष्टि से सोचते हुए साधक को सदैव प्राणायाम का अभ्यास करते ही रहना चाहिए। इससे सुषुम्ना में चित्त लीन हो जाता है और इससे प्राणों का प्रवाह चलने लगता है। जब मल पूर्णरूप से शुष्क (शोधित) हो जाता है, तभी और जब प्राण प्रवाहित होने लगें तभी योगी को अपान को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए, उसके पहले नहीं। प्राण की ऊर्ध्वगति के लिए गुदा के आकुंचन को ही मूलबन्ध कहा जाता है। इसमें अपान वायु ऊँचे चढ़कर अग्नि के साथ में मिलकर ऊपर की ओर जाता है।

प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम् ।
मिलित्वा कुण्डलीं याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः ॥65॥
तेनाग्निना च सन्तप्ता पवनेनैव चालिता ।
प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्ना वदनान्तरे ॥66॥
ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम् ।
सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत् ॥67॥
विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता ।
ऊर्ध्वं गच्छति यच्चान्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम् ॥68॥

जब वह अग्नि प्राणस्थान में पहुँचती है और प्राण तथा अपान दोनों मिलकर कुण्डलिनी से मिलते हैं, उस समय उसकी गरमी से तप्त होकर तथा वायु के बार-बार के दबाव से कुण्डलिनी सीधी होकर सुषुम्ना के मुँह पर आ जाती है और उसमें प्रवेश करती है। तब वह कुण्डलिनी शक्ति रजोगुणोत्पादित ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करके बिजली की रेखा की भाँति सुषुम्ना के मुख में ऊर्ध्वगमन करती है अर्थात् प्रवेश करती है। और वहाँ से शीघ्र ही हृदयचक्र में स्थित विष्णुग्रन्थि का भेदन करके और भी आगे ऊपर आज्ञाचक्र में रुद्रग्रन्थि तक पहुँच जाती है।

भ्रुवोर्मध्यं तु सम्भिद्य याति शीतांशुमण्डलम् ।
अनाहताख्यं यच्चक्रं दलैः षोडशभिर्युतम् ॥69॥
तत्र शीतांशुसञ्जातं द्रवं शोषयति स्वयम् ।
चलिते प्राणवेगेन रक्तं पित्तं रवेर्ग्रहात् ॥70॥
यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते शुद्धश्लेष्मद्रवात्मकम् ।
तत्र सिक्तं ग्रसत्युष्णं कथं शीतस्वभावकम् ॥71॥
तथैव रभसा शुक्लं चन्द्ररूपं हि तप्यते ।
ऊर्ध्वं प्रवहति क्षुब्धा तदैवं भ्रमतेतराम् ॥72॥

भ्रुकुटियों के बीच आज्ञाचक्र का भेदन करके वह चन्द्रस्थान में पहुँच जाती है, जहाँ पर सोलह दल वाला अनाहतचक्र अवस्थित है। वह कुण्डलिनी शक्ति वहाँ पर चन्द्र से द्रवित होते हुए द्रव-प्रवाही को सुखाकर प्राणवायु के वेग से गतिशील हो जाती है तथा रक्त और पित्त को सूर्य से मिलकर ग्रहण करती है। फिर चन्द्र चक्र में गई हुई वह जहाँ शुद्ध श्लेष्मा द्रवस्वरूप में (प्रवाही रूप में) होता है,

Scanned by CamScanner

वहाँ उस रस पदार्थ को—प्रवाहिता को सोख कर उसे गरम कर देती है, और इस तरह वहाँ शीतलता नहीं रह जाती । उसी तरह तब वह उस शुक्लरूप चन्द्रमा को भी तपा देती है तथा क्षुब्ध होकर ऊपर घूमा करती है ।

तस्यास्वादवशाच्चित्तं बहिष्ठं विषयेषु यत् ।
तदेव परमं भुक्त्वा स्वस्थः स्वात्मरतो युवा ॥73॥
प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली ।
क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते ॥74॥
इत्यधोर्ध्वरजः शुक्लं शिवे तदनु मारुतः ।
प्राणापानौ समौ याति सदा जातौ तथैव च ॥75॥
भूतेऽल्पे चाप्यनल्पे वा वाचके त्वतिवर्धते ।
धावयत्यखिला वाता अग्निमूषाहिरण्यवत् ॥76॥

उस स्थिति में मन को जो अमृतरसास्वाद मिलता है इससे वह मन, जो कि पहले बाह्य विषयों में भोगलीन था, अब अन्तर्मुखी होकर अपने में ही रहने वाले अपने आत्मा में आनन्द का अनुभव करने लगता है । इस तरह यह कुण्डलिनीशक्ति आठ प्रकृतियों में से व्याप्त होती हुई अन्त में शिव से एकाकार होती है और उन्हीं में विलीन हो जाती है । (आठ प्रकृतियाँ—पाँच तत्त्व और मन, बुद्धि, अहंकार हैं) इस प्रकार अधःस्थित रज और ऊर्ध्वस्थित सत्त्व भी वायुवेग से शिव में मिल जाते हैं । और प्राण तथा अपान भी शिव में मिल जाते हैं, क्योंकि उन्हें समान रूप से उत्पन्न होने वाला कहा गया है । जिस प्रकार सोना अग्नि से गल कर चारों तरफ फैल जाता है, ठीक उसी प्रकार यह पाँचभौतिक देह भी तो, भले छोटा हो या बड़ा, परन्तु कुण्डलिनी की गरमी पाकर वह दिव्यशक्ति पूरे शरीर में फैल जाती है ।

आधिभौतिकदेहं तु आधिदैविकविग्रहे ।
देहोऽतिविमलं याति चातिवाहिकतामियात् ॥77॥
जाड्यभावविनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम् ।
तस्यातिवाहिकं मुख्यं सर्वेषां तु मदात्मकम् ॥78॥
जायाभवविनिर्मुक्तिः कालरूपस्य विभ्रमः ।
इति तं स्वरूपा हि मती रज्जुभुजङ्गवत् ॥79॥
मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते ।
रौप्यबुद्धिः शुक्तिकायां स्त्रीपुंसोर्भ्रमतो यथा ॥80॥

इस कुण्डलिनी दिव्यशक्ति के प्रभाव से यह आधिभौतिक देह आधिदैविक देह में रूपान्तरित हो जाता है । यह शरीर अत्यन्त पवित्र होकर सूक्ष्म शरीर की तरह हो जाता है । वह जड़ता के भाव को छोड़कर अत्यन्त चिन्मय स्वरूप हो जाता है । इसके (साधक के) सिवा अन्य शरीर तो (अन्य लोगों के शरीर तो) अज्ञानग्रस्त ही रहते हैं । पर उस साधक को तो अपने 'स्व' की जानकारी हो जाती है । तब वह भवबन्धन (आवागमन) से मुक्त हो जाता है । वह काल के पाश से मुक्त हो जाता है । रस्सी में साँप, सीप में रजत और पुरुष में स्त्री के भ्रम की तरह यह सब कुछ मिथ्या ही उत्पन्न होता है और मिथ्या ही दिखाई देता है ।

Scanned by CamScanner

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि ।
स्वापाव्याकृतयोरैक्यं स्वप्रकाशचिदात्मनोः ॥81॥
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा ।
मूलकन्दं फणाग्रेण दृष्ट्वा कमलकन्दवत् ॥82॥
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता ।
पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः ॥83॥
वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन्कुम्भकाविष्टमानसः ।
वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् ॥84॥

इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड, सूक्ष्म शरीर और सूत्रात्मा के एकाकार होने से अपनी आत्मा और परम चैतन्य की एकता का ज्ञान हो जाता है। कुण्डलिनी शक्ति कमल के नाल की तरह होती है। वह कमलकन्द जैसे ही मूलकन्द को फणा के अग्रभाग से देखकर अपने पुच्छ को मुँह में डालकर सुषुम्ना नाड़ी के द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) को ढँककर सोयी-सी पड़ी हुई है। इसके जागरण के लिए पद्मासन में बैठकर गुदा को ऊपर की ओर खींचकर, कुंभक करके वायु को ऊपर की ओर ले जाकर वायु के आघात से स्वाधिष्ठानचक्र में स्थित अग्नि को प्रज्वलित कर देना चाहिए।

ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट् ।
ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः ॥85॥
रुद्रग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥86॥
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारिणी ॥87॥ इति ।

इति प्रथमोऽध्याय ।

ऐसा करने से अग्नि और वायु के आघात से सोई हुई कुण्डलिनी जाग्रत् होकर ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र इन तीनों ग्रन्थियों का भेदन करके छहों चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार कमल तक पहुँच जाती है, और वहाँ वह शक्ति शिव के साथ आनन्द प्राप्त करती है। यह अवस्था परमानन्द मुक्तिदायक होती है।

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ ।

द्वितीयोऽध्यायः

अथाहं सम्प्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम् ।
यथा विज्ञानवानस्या लोकेऽस्मिन्नजरोऽमरः ॥1॥
मृत्युव्याधिजराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने ।
बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत् ॥2॥
जरामृत्युगदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले ।
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥3॥
तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत् ।
दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोऽपि दुर्लभः ॥4॥

Scanned by CamScanner

मैं अब खेचरी विद्या को कहूँगा। इस विद्या को जानकर मनुष्य अजर और अमर हो सकता है। हे मुनि ! यदि कोई मृत्यु, व्याधि या जरा से पीड़ित मनुष्य हो तो इस विद्या (खेचरी विद्या) को पाकर दृढ़तर बुद्धि से इसका अभ्यास करना चाहिए। जरा, मृत्यु और रोग—इनका नाश करने वाली इस खेचरी विद्या को जो मनुष्य इस भूतल में ग्रन्थों से मर्मसहित जानता है, उसे हे मुनि ! गुरु मानकर उसका आश्रय लेकर यह विद्या सीखनी चाहिए। क्योंकि यह खेचरी विद्या दुर्लभ है और उसका अभ्यास भी दुर्लभ है।

अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिद्ध्यति।
अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम् ॥5॥
अभ्यासं लभते ब्रह्मञ्जन्मजन्मान्तरे क्वचित्।
मेलनं तत्तु जन्मनां शतान्तेऽपि न लभ्यते ॥6॥
अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्भावसाधितम्।
मेलनं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित् ॥7॥
यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः।
तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसन्ततौ ॥8॥

इस खेचरी विद्या का अभ्यास और साधना—दोनों एक साथ सिद्ध नहीं होते। इसका केवल अभ्यास करने वाले लोग सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते। हे ब्रह्मन् ! इस विद्या का अभ्यास तो कहीं जन्मजन्मान्तर से प्राप्त हो सकता है, परन्तु इसकी सिद्धि तो सैंकड़ों जन्मों के बाद भी प्राप्त नहीं होती। जब कोई योगी गुरु के मुख से मेलनमंत्र को प्राप्त कर लेता है तो सभी शास्त्रों में कही गई सभी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है। बहुत जन्मों के बाद अभ्यास भावसहित करके योगी बाद में सिद्धि पाता है।

ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलनं लभते यदा।
तदा शिवत्वमाप्नोति निर्मुक्तः सर्वसंसृतेः ॥9॥
शास्त्रं विनापि सम्बोद्धुं गुरवोऽपि न शक्नुयुः।
तस्मात्सुदुर्लभतरं　लभ्यं　शास्त्रमिदं　मुने ॥10॥
यावन्न लभ्यते शास्त्रं तावद्गां पर्यटेद्यतिः।
यदा संलभ्यते शास्त्रं तदा सिद्धिः करे स्थिता ॥11॥
न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा चैव जगत्त्रये।
तस्मान्मेलनदातारं　शास्त्रदातारमच्युतम् ॥12॥
तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा समाश्रयेत्।
लब्ध्वा शास्त्रमिदं मह्यमन्येषां न प्रकाशयेत् ॥13॥

जब साधक ग्रन्थों से और रहस्यों से युक्त सिद्धि को प्राप्त करता है, तब वह इस सारे संसार से मुक्ति पाकर शिवत्व को प्राप्त करता है। शास्त्रों के बिना तो गुरुजन भी इसका ज्ञान कराने में अशक्त हैं। इसलिए हे मुनि ! शास्त्र तो बहुत ही दुर्लभ माने गए हैं। (शास्त्रों का प्राप्त करना मुश्किल है।) यह शास्त्र जहाँ तक न मिले वहाँ तक साधक को उसे पाने के लिए पृथ्वी पर भटकते रहना चाहिए। और जब शास्त्र मिल गया होता है, तब तो सिद्धि हाथ ही में आ गई है, ऐसा समझ लेना चाहिए। इन तीनों भुवनों में शास्त्रों के बिना तो सिद्धि कहीं भी नहीं देखी गई है। इसलिए सिद्धि देने वाले शास्त्रों

Scanned by CamScanner

को देने वाले गुरु को अच्युत और शिव की प्रतिमूर्ति मानकर उनका आश्रय लेना चाहिए। यह महनीय ज्ञान प्राप्त करके अन्य अनधिकारियों के आगे इसे प्रकाशित नहीं कर देना चाहिए।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता।
यत्रास्ते च गुरुर्ब्रह्मन्दिव्ययोगप्रदायकः ॥14॥
तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम्।
तेनोक्तः सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः ॥15॥
अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत्।
खेचर्या खेचरीं युञ्जन्खेचरीबीजपूरया ॥16॥
खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत्।
खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम् ॥17॥

इसलिए इस विद्या को जानने वाले को प्रयत्नपूर्वक यह ज्ञान गोपनीय रखना चाहिए। और जहाँ पर इस दिव्य ज्ञान को देने वाले गुरु रहते हों, वहाँ जाकर, उनकी दी हुई विद्या को मन में अच्छी तरह से ग्रहण करके (अर्थात् खेचरी का संग्रहण करके) गुरु के द्वारा आदिष्ट किए गए शिष्य को पहले तो अतन्द्रित होकर (आलस्यरहित होकर) अच्छी तरह से अभ्यास करना चाहिए। इस विद्या से योगी खेचरी सिद्धि को प्राप्त करने वाला होता है। इसलिए खेचरी विद्या का अभ्यास खेचरी मंत्र के बीज के साथ करना चाहिए। इस प्रकार से सिद्ध मुनि खेचरों का अर्थात् आकाश में विहार करने वालों का अधिपति होकर आकाश में बसता है। खेचरी के बीजमंत्र में खेचर का बीज 'ह'कार और आवसथ का बीज 'ई'कार, अग्नि का रूप 'र'कार और जल का रूप 'बिन्दु' है। (इन सबका योग 'ह्रीं' होता है।)

आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति।
सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ॥18॥
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम्।
तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेन परं मुने ॥19॥
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी।
इन्द्रोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तितः ॥20॥

इसी बीजमंत्र से खेचरी योग सिद्ध होता है। इसके आगे चन्द्रबीज—स होता है। इसके उल्टे गिनने पर नवम अक्षर पर 'भ' है। पुनः चन्द्रबीज—सकार है। इसके उल्टे गिनने पर आठवाँ अक्षर पर 'म' है। इससे पाँच अक्षर उल्टा गिनने पर 'प' है। पुनः चन्द्रबीज 'स'कार है और संयुक्त वर्ण 'क्ष' सबसे अन्तिम वर्ण है। (इस तरह ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं—ऐसा खेचरी मंत्र होता है।)

गुरूपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम्।
यत्तस्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया ॥21॥
स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य नित्यं द्वादशजप्यतः।
य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः ॥22॥
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते।
नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः ॥23॥
वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः।
एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः ॥24॥

Scanned by CamScanner

गुरु के उपदेश के द्वारा प्राप्त किए गए इन सभी योगों की सिद्धि देने वाले ज्ञान से देह में उत्पन्न हुई यह माया अपने आश्रयरूप कारण के साथ रुक जाती है, उस सिद्ध में वह असर नहीं करती। रोज बारह बार इसका जप करने वाले को यह (पूर्वोक्त) फल मिल जाता है। ऐसे पुरुष को स्वप्न में भी माया नहीं लगती। जो मनुष्य इस मंत्र का नियमपूर्वक पाँच लाख बार जप करता है उसको खेचरी आप ही आप सिद्ध हो जाती है। तथा उसके जीवन की सभी आपदाएँ दूर हो जाती हैं। और उसे देवताओं की प्रसन्नता भी मिलती है। उसके शरीर में पड़ी हुई झुर्रियाँ तथा पलित (सफेद) केश भी समाप्त हो जाते हैं (वह फिर से जवान हो जाता है।) इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिए इस महाविद्या का ठीक तरह से अभ्यास करना चाहिए।

अन्यथा क्लिश्यते ब्रह्मन्न सिद्धिः खेचरीपथे।
यदभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम् ॥25॥
ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां सदा जपेत्।
नान्यथा रहितो ब्रह्मन्न किंचित्सिद्धिभाग्भवेत् ॥26॥
यदिदं लभ्यते शास्त्रं यदा विद्यां समाश्रयेत्।
ततस्तदोदितां सिद्धिमाशु तां लभते मुनिः ॥27॥
तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित्।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ॥28॥

ऐसा नहीं करने पर तो खेचरी की सिद्धि नहीं होती। हे ब्रह्मन्! उल्टे कष्ट ही उठाने पड़ते हैं। ठीक तरह से अभ्यास कर लेने के बाद भी यदि सिद्धि प्राप्त न हो, तो मार्गदर्शक गुरु के द्वारा बताए गए मार्ग का त्याग नहीं करना चाहिए। निरन्तर उसका जाप करते ही रहना चाहिए। हे ब्रह्मन्! योग्य मार्गदर्शक के बिना तो सिद्धि मिलनी असंभव है। सबसे पहले साधक को गुरु के मार्गदर्शन के अनुसार तालु-स्थान के मूल प्रदेश को सात दिनों तक घिसते रहना चाहिए। इससे उसकी सारी मलिनता चली जाएगी।

स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥29॥
हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत्।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥30॥
एवं क्रमेण षाण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत्।
षाण्मासाद्रसनामूलं सिराबन्धं प्रणश्यति ॥31॥

तालुस्थान को घिसने के बाद थूहर के पत्ते जैसी पैनी धारवाले किसी शस्त्र (साधन) से जीभ के मूल को—नीचे के जबड़े से जीभ को जोड़ने वाले तन्तु को बाल (रोम)—के बराबर स्वयं काटना चाहिए या गुरु से कटवाना चाहिए। और उस कटे हुए भाग पर हरड या सैंधा नमक को सात दिन तक बिखेरते रहना चाहिए। इसके बाद फिर से एक बार बाल के परिमाण में (तनिक-सा) काटना चाहिए। इस प्रकार क्रमशः छः महीनों तक प्रयास करने से जीभ का निचले जबड़े से सम्बन्ध कट जाता है।

अथ वागीश्वरीधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत्।
शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित् ॥32॥

Scanned by CamScanner

पुनः षाण्मासमात्रेण नित्यं संघर्षणान्मुने ।
भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि ॥33॥
अधश्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रमचारिता ।
पुनः संवत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया ॥34॥
केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्शाखावधिर्मुने ।
अधस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु ॥35॥
ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः ।
तिर्यक् चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधिः ॥36॥

तब जीभ के आगे वाले भाग में कपड़ा लपेटकर धीरे-धीरे बाहर की ओर उत्कर्षण करना चाहिए। ऐसा नियमित छः मास तक अभ्यास किए जाने पर जीभ बढ़कर भृकुटियों के मध्यभाग तक पहुँच जाएगी, तथा और अधिक अभ्यास किए जाने पर तो वह बगल और कान तक भी पहुँचने लगेगी। बाहर निकलने पर ठोड़ी तक पहुँच जाएगी। इस अभ्यास को लगातार तीन वर्ष तक चालू रखा जाए, तब तो जीभ सिर के बालों तक पहुँचने लगेगी। इस प्रकार और भी अभ्यास किया जाता रहे, तब तो वह बगल में कन्धे तक और नीचे कण्ठकूप तक भी पहुँच जाती है। आगे और ज्यादा तीन वर्षों तक अभ्यास करने से वह गर्दन के पीछे और नीचे कण्ठ के निचले छोर तक पहुँच जाती है। इस प्रकार जीभ ऊपर ब्रह्मरन्ध्र तक जाकर उसे ढँक लेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभित् ।
पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता याऽतिदुर्लभा ॥37॥
तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तया षट्स्वरभिन्नया ।
कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादिहेतवे ॥38॥

इस तरह क्रमानुसार अभ्यास करने पर जीभ ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर जाती है। सभी पूर्व बीजों के साथ यह विद्या बड़ी ही कठिन और दुर्लभ है। पहले कटे हुए छः बीजाक्षरों के साथ करन्यास और षडंगन्यास करने से ही यह विद्या सिद्ध हो सकती है—सिद्धिप्राप्ति के लिए ऐसे न्यास करने चाहिए।

शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि ।
युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत् ॥39॥
तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं मुनिपुङ्गव ।
यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मबिलं व्रजेत् ॥40॥
तदा ब्रह्मार्गलं ब्रह्मन्दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वामात्रंनिवेशयेत् ॥41॥
एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविश्यति ।
ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङ्मथनमाचरेत् ॥42॥

यह अभ्यास बड़ी ही सावधानी रखकर धीरे-धीरे ही नियमानुसार करना चाहिए। जल्दी-जल्दी से किया गया अभ्यास शरीर को नुकसान पहुँचा सकता है। इसलिए इसके अभ्यास में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। अगर बाहर की स्थूल विधि से जीभ ब्रह्मविवर में प्रवेश कर जाती है, तो अँगुली के अग्र भाग से उसे उठाकर—घसीट कर—ब्रह्मरन्ध्र के भीतर रख देना चाहिए। इस प्रकार तीन वर्ष तक

Scanned by CamScanner

अभ्यास करने से जीभ का ब्रह्मद्वार में प्रवेश हो जाता है। और इस तरह ब्रह्मद्वार में जीभ का ठीक तौर से प्रवेश हो जाने के बाद उसका विधिपुर:सर मन्थन करना चाहिए।

मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः।
खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिद्ध्यते मथनं विना ॥43॥
जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत्।
स्वर्णजां रौप्यजां वापि लोहजां वा शलाकिकाम् ॥44॥
नियोज्य नासिकारन्ध्रं दुग्धसिक्तेन तन्तुना।
प्राणान्निरुध्य हृदये सुखमासनमात्मनः ॥45॥
शनैः सुमथनं कुर्याद्भ्रूमध्ये न्यस्तचक्षुषी।
षाण्मासं मथनावस्था भावेनैव प्रजायते ॥46॥

जप और मन्थन—दोनों करने से शीघ्र ही लाभ मिल जाता है। मंथन के लिए सोने, चाँदी या लोहे की सलाई के एक सिरे पर दूध लगाया हुआ तन्तु लगाना चाहिए। फिर उसे नाक में डालकर, सुखासन में बैठकर, प्राण का हृदय में निरोध करके नेत्रों से भौंहों के बीच के भाग में देखते हुए उसी शलाका से मंथन करना चाहिए। इस तरह छः मास तक मंथन का अभ्यास करने से इसका प्रभाव देखने में आता है।

यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्तथा भवेत्।
न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत् ॥47॥
सदा रसनया योगी मार्गं न परिसंक्रमेत्।
एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति ध्रुवा ॥48॥
शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्मविभेदतः।
ब्रह्माण्डोऽयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली ॥49॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

उस समय साधक की अवस्था सोए हुए बालक जैसी होती है। इस मंथनक्रिया को मास में एक बार ही करना चाहिए, हररोज नहीं करनी चाहिए। जीभ को भी ब्रह्मरन्ध्र में बार-बार प्रवेश नहीं करना चाहिए। योगी को बारह वर्ष तक इस प्रकार की साधना करने पर अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होगी। योगी अभ्यास की इस अवस्था में अपने भीतर (अन्तस्) में पूरे विश्व का दर्शन कर लेता है। क्योंकि जीभ से ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाले मार्ग में ही तो पूरे ब्रह्माण्ड की स्थिति है।

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

❋

तृतीयोऽध्यायः

मेलनमन्त्रः ह्रीं भं सं मं पं सं क्षम्। पद्मज उवाच।
अमावास्या च प्रतिपत्पौर्णमासी च शंकर।
अस्याः का वर्ण्यते संज्ञा एतदाख्याहि तत्त्वतः ॥1॥
प्रतिपद्दिनतोऽकाले अमावास्या तथैव च।
पौर्णमास्यां स्थिरीकुर्यात्स च पन्था हि नान्यथा ॥2॥

Scanned by CamScanner

और व्यान—ये पांच प्राणवायु माने गए हैं। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय—ये पाँचों उपप्राणवायु माने गए हैं। शरीर के भीतर हृदय में मुख्य प्राणवायु रहता है, गुदास्थान में अपान, नाभिस्थान में समान, कण्ठ में उदान तथा संपूर्ण शरीर में व्यानवायु अवस्थित रहता है। ये पाँचों प्रधान प्राणवायु शरीर के पांच स्थानों में निवास कर रहे हैं।

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा।
कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥25॥
न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः ॥26॥

ऊर्ध्ववायु में (डकार में) नाग नामक उपप्राण की स्थिति है। आँखों की पलक की झपक में कूर्मवायु की तथा छींकने में कृकर की एवं जम्भाई में देवदत्तवायु की स्थिति रहती है। धनंजय उपप्राण तो शरीर में इस तरह व्याप्त है कि वह मरण के बाद भी शरीर को नहीं छोड़ता है। जीव इन्हीं नाडियों में घूमता रहता है।

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथा चलति कन्दुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥27॥
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति।
वामदक्षिणमार्गाभ्यां चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥28॥
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति ॥29॥
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
ऊर्ध्वाधःसंस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ॥30॥

हाथ से फेंके गए कन्दुक की भाँति जीव प्राण और अपानादि वायुओं से फेंका गया होने से स्थिर नहीं रहता अर्थात् इधर-उधर उछलता रहता है। यह जीव प्राणापान आदि वायुओं के वश में रहकर ऊपर-नीचे आया-जाया करता है। वह दाहिने-बाँयें मार्ग पर भी आवागमन करता रहता है। उसका वह गमनचक्र तीव्रता से चलता है इसलिए वह दिखाई नहीं पड़ता। रस्सी से बाँधा हुआ बाजपक्षी ऊपर उड़ता हुआ भी जैसे खींच लिया जाता है, वैसे ही गुणों से बँधा हुआ यह जीव भी प्राण और अपान वायु के द्वारा खींचा जाता है। प्राणवायु अपानवायु को खींचता है और अपानवायु प्राणवायु को खींचता रहता है। प्राण-अपान की इस क्रिया के द्वारा जीव भी ऊपर-नीचे आया-जाया ही करता रहता है। प्राण और जीव की इस ऊपर-नीचे आने-जाने की क्रिया को जो जानता है, वही योग को सही रूप से जानता है।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥31॥
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥32॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥33॥

Scanned by CamScanner

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥34॥

हमारी साँस 'हकार' से बाहर निकलती है और 'सकार' से भीतर आती है। इस तरह यह जीव सदैव 'हंस हंस' इस तरह हंसमन्त्र का जाप करता ही रहता है। इस तरह दिन-रात मन्त्र का जाप करते रहने से यह जीव प्रतिदिन इक्कीस हजार छः सौ मन्त्र जपता है। यही अजपा गायत्री योगियों के लिए मुक्ति देने वाली है। इसके संकल्प मात्र से सर्वपापों से मुक्ति मिल जाती है। इसके समान कोई विद्या, कोई जप, कोई ज्ञान अभी तक न हुआ है और भविष्य में होगा भी नहीं।

कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥35॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥36॥
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं मनोमयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥37॥
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ॥38॥
उद्घाटयेत्कवाटं तु यथा कुञ्चिकया गृहम् ।
कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥39॥

यह गायत्री कुण्डलिनी से उत्पन्न हुई है, यह प्राणों को धारण करने वाली है, यह प्राणविद्या और महाविद्या है—इस प्रकार जो जान लेता है, वही वेद को सही रूप से जानता है। कुण्डलिनीशक्ति कन्द के ऊर्ध्वभाग में आठ कुण्डलों के आकार में व्याप्त होकर सुषुम्ना नामक ब्रह्मद्वार के मुख को अपने मुख से ढँककर ही रहती है। जिस मनोमय ब्रह्मद्वार – सुषुम्ना में प्रवेश किया जाता है, उसी द्वार को अपने मुख से ढँककर वह परमेश्वरी शक्ति (कुण्डिलिनी) सोई रहती है। वह्नियोग (अग्नियोग) के द्वारा वह जाग्रत् होती है और फिर प्रकाश के रूप में मन और प्राणवायु के साथ सुषुम्ना नाडी के भीतर सुई की तरह ऊपर की ओर गति करती है। जिस तरह चाभी से घर का किवाड़ (ताला) खोला जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा योगीजन मुक्ति का द्वार खोल लेते है।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेष्टितम् ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥40॥

पहले दृढता से पद्मासन लगाकर, हाथों का संपुट करके (ऊपर-नीचे करके) गोदी में रखना चाहिए। बाद में सिर को नीचा करके ठोड़ी को छाती पर लगाना चाहिए। फिर, ब्रह्म में एकाग्रता करनी चाहिए और बार-बार श्वास को भीतर खींचते रहना और बाहर निकालते रहना चाहिए। अर्थात् प्राणवायु को भीतर खींचते रहना चाहिए और अपानवायु को बाहर निकालते रहना चाहिए। इस तरह से प्राणायाम करते रहने से मनुष्य को अतुल शक्ति की अनुभूति होती है।

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥41॥

Scanned by CamScanner

ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥42॥
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुञ्जते शिवसम्प्रीत्या मिताहारी स उच्यते ॥43॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा ॥44॥

इस विधि के अनुसार प्राणायाम के परिशीलन से शरीर में जो पसीना उत्पन्न होगा, उसको शरीर में ही मर्दन कर लेना चाहिए तथा तीखे, खट्टे तथा नमकीन पदार्थों का त्याग करके दूध का ही आहार करना चाहिए। ब्रह्मचारी और मिताहारी वह योगी यदि योगाभ्यास में सदैव तत्पर रहे, तो उसे एक वर्ष में ही योग की सिद्दि मिल जाती है, इसमें किसी शंका का स्थान नहीं है। योग-साधक को स्निग्ध और मधुर पदार्थ ही खाने चाहिए। उसे (कुक्षि का) एक चतुर्थांश भाग खाली रखकर ही खाना चाहिए (ऊनोदरी रहना चाहिए अर्थात् एक द्वितीयांश अन्न, एक चतुर्थांश जल और एक चतुर्थांश खाली— इस तरह भोजन करना चाहिए)। आठ कुण्डलों वाली कुन्द के ऊपर के भाग में जो कुण्डलिनीशक्ति है, वह योगियों के लिए मोक्ष देने वाली है, तथा अज्ञानियों के लिए बन्धनकारक भी कही गई है।

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम् ॥45॥
पार्ष्णिघातेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥46॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥47॥
ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
ओड्डियाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥48॥

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियाणबन्ध, जालन्धरबन्ध और मूलबन्ध को जो जानता है, वह योगी मोक्ष प्राप्त करता है। एड़ी से योनि (सीवनी स्थल) को दबाकर दृढ़ता से उसे संकुचित करके अपानवायु को ऊपर की ओर खींचने की जो क्रिया होती है उसे मूलबन्ध कहा जाता है। मूलबन्ध में इस प्रकार प्राण और अपान को एक में मिलाया जाता है। इससे मल-मूत्र कम हो जाता है और इस मूलबन्ध का अभ्यास करने से बूढ़ा भी जवान हो जाता है। गिद्ध आदि बड़े पक्षी जैसे बिना थके ही आकाश में ऊँचे उड़ते हैं, उसी प्रकार 'उड्डियाणबन्ध' का अभ्यास किया जाता है। वह बन्ध मृत्युरूपी हाथी को पछाड़ने के लिए सिंह के समान होता है। (कहा जाता है कि बड़े पक्षियों को उड़ने से थकान नहीं, अपितु नयी शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार इस उड्डियाणबन्ध के अभ्यास से थकान नहीं, अपितु साधक में नयी शक्ति का संचार होता है)।

उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते ।
ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥49॥
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कष्टदुःखौघनाशनः ॥50॥
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥51॥

Scanned by CamScanner

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥52॥

पेट को नाभि के नीचे सामने खींचने को पश्चिमोत्तान कहा जाता है। और उसी जगह पेट में ही यह उड्डियाणबन्ध भी किया जाता है। जो साधक शरीर में नीचे की ओर बहते हुए खेचरी मुद्रा के द्वारा क्षरित होने वाले आकाशजल को अपने मस्तक में रोकता है, उसकी उस क्रिया को 'जालन्धरबन्ध' कहा जाता है। वह बन्ध कष्टों और दु:खों के समूह को नष्ट कर देता है। इस जालन्धरबन्ध में सामने की ओर मस्तक को झुकाकर, गले से नीचे ठोढ़ी को हृदय से स्पर्श कराना होता है। इससे अमृत वायु की ओर या अग्नि की ओर न जाकर स्थिर रहता है। दृष्टि को दोनों भौहों के बीच स्थिर करके जीभ को गले की ओर पीछे खींचकर गले के मध्य तालु में (कपालकुहर में) प्रवेश कराया जाय, तब वह खेचरी मुद्रा कही जाती है।

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥53॥
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः।
बाध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥54॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे यतः।
तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता ॥55॥
बिन्दुमूलशरीराणि शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।
भावयन्ती शरीराणि आपादतलमस्तकम् ॥56॥

जो साधक खेचरी मुद्रा को जान लेता है और साधना करता है, उसे रोग, भय, भूख, प्यास और मूर्च्छा आदि से छुटकारा मिल जाता है। खेचरी मुद्रा जानने वाले को किसी रोग से कोई पीड़ा नहीं होती और कर्मों में भी वह लिप्त नहीं होता और कोई विघ्न भी उसके पास नहीं फटकता। खेचरी मुद्रा की साधना करने से चित्त और जीभ आकाश में विचरण करते हैं। इसलिए ऐसी खेचरी मुद्रा की सभी सिद्ध लोग वन्दना करते हैं। मस्तक से लेकर चरणों तक के शरीर के सभी अंगों का जिन शिराओं के द्वारा पोषण होता है, उन सभी शिराओं का मूलबिन्दु खेचरी मुद्रा ही है।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥57॥
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥58॥
ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः सम्प्राप्तश्च हुताशनम्।
व्रजत्यूर्ध्वं गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥59॥
स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा।
पाण्डरं शुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ॥60॥

जिस साधक ने खेचरी मुद्रा के द्वारा अपनी जीभ के ऊपर कपालकुहर को आच्छादित कर लिया है, उस साधक का किसी कामिनी के आलिंगन करने पर भी बिन्दुस्खलन नहीं होता। जब तक वह साधक खेचरी मुद्रा को बाँधकर रहता है, तब तक बिन्दुपात नहीं होता। और जब तक बिन्दुपात नहीं होता अर्थात् जब तक बिन्दु शरीर में रहता है, तब तक मृत्यु से क्या भय है ? यदि प्रज्वलित अग्नि

Scanned by CamScanner

में बिन्दुपात हो भी जाए तो उसे योनिमुद्रा के द्वारा बलपूर्वक रोका जा सकता है, और ऊर्ध्वगामी बनाया जा सकता है। वह बिन्दु सफेद और लाल—दो रंग का होता है। श्वेत बिन्दु को शुक्र (वीर्य) नाम दिया गया है और लाल बिन्दु को 'महारज' नाम दिया गया है।

सिन्दूरव्रातसङ्काशं रविस्थानस्थितं रजः।
शशिस्थानस्थितं शुक्लं तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥61॥
बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः।
उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥62॥
वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः।
याति बिन्दुः सदैकत्वं भवेद्दिव्यवपुस्तदा ॥63॥
शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण सङ्गतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥64॥

सिन्दूर के ढेर के समान प्रकाशित रविस्थान में वह रज (महारज) अवस्थित है। तथा चन्द्रस्थान में शुक्ल (शुक्र) स्थित है। शुक्ल और रज का संयोग बड़ा कठिन होता है। बिन्दु ब्रह्मारूप है तथा रज शक्तिस्वरूप है। बिन्दु चन्द्ररूप है और रज सूर्यरूप है। इन दोनों का योग (मिलन) होने से ही परमपद की प्राप्ति होती है। जब वायु से (प्राणायाम से) शक्तिचालिनी मुद्रा के जरिए गतिशील बने हुए 'रज' बिन्दु के साथ एकाकार हो जाता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है। जिस प्रकार रज का संयोग सूर्य में और शुक्ल (शुक्र) का संयोग चन्द्र में होता है, उस विषय को और दोनों के एकाकार होने को जो साधक जानता है, वह योग को जानने वाला है।

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥65॥
वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचये-
त्सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥66॥
चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः।
या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥67॥
नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥68॥

जिस साधना से नाडीसमूह का शोधन किया जा सकता है, जिससे सूर्य-चन्द्र को चलाया जा सकता है तथा जिससे रस का शोषण किया जा सकता है, उस साधना को 'महामुद्रा' कहा जाता है। बाँये पैर से योनिस्थान पर दबाव डालकर ठोढी को छाती पर लगाना चाहिए और फिर दाहिना पैर सीधा फैलाकर दोनों हाथों से अँगुलियों सहित उस दाहिने पैर को पकड़कर दोनों कुक्षियों में अर्थात् पेट में पूरा श्वास भरकर धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए। ऐसी यह महामुद्रा की क्रिया है। यह क्रिया सभी प्रकार की व्याधियों को नष्ट कर देती है। अभ्यास के क्रम में सबसे पहले तो बाँयीं नासिका से (चन्द्र अंश से) श्वास को खींचकर बाद में रेचन करते हुए अभ्यास करना चाहिए। फिर उसी तरह दायीं नासिका से (सूर्य अंश से) श्वास को खींचकर बाद में रेचन का अभ्यास करना चाहिए। इस महामुद्रा

Scanned by CamScanner

के करने से पथ्य या अपथ्य—सभी प्रकार का नीरस भोजन भी सरस हो जाता है। भोजन ज्यादा कर लेने पर या विष खा लेने पर भी वह अमृत के समान पच ही जाता है।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥69॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥70॥
पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥71॥

इस महामुद्रा की साधना करने वाले योगी को इसके प्रभाव से क्षय, कोढ़, भगन्दर, गुल्म, अजीर्ण आदि नहीं होते और भविष्य में भी वह रोगों से मुक्त ही रहता है। यह महामुद्रा साधकों को बड़ी सिद्धियाँ प्रदान करती है। इस मुद्रा को हर किसी को (अनधिकारी) को नहीं बताना चाहिए। इसे प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखना चाहिए। किसी एकान्त स्थल में पद्मासन लगाकर कमर से मस्तक तक शरीर को सीधा रखकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखते हुए अव्यय प्रणवमन्त्र का – ओंकार का जाप करना चाहिए।

ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरञ्जनं निराख्यातमनादिनिधनमेकं तुरीयं यद्भूतं भवद्भविष्यत् परिवर्तमानं सर्वदाऽनवच्छिन्नं परं ब्रह्म। तस्माज्जाता परा शक्तिः स्वयंज्योतिरात्मिका। आत्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। एतेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्रविष्णुब्रह्माणश्चेति। तेषां ब्रह्मविष्णुरुद्राश्चोत्पत्तिस्थितिलयकर्तारः। राजसो ब्रह्मा सात्त्विको विष्णुस्तामसो रुद्र इति एते त्रयो गुणयुक्ताः। ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव। धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्रः प्रथमजा बभूवुः। एतेषां ब्रह्मणो लोका देवतिर्यङ्नरस्थावराश्च जायन्ते। तेषां मनुष्यादीनां पञ्चभूतसमवायः शरीरम्। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिचित्ताहङ्कारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिरित्युच्यते। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्गमेवेत्युच्यते। गुणत्रययुक्तं कारणम्। सर्वेषामेवं त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाश्चेत्यवस्थाश्चतस्रः तासामवस्थानामधिपतयश्चत्वारः पुरुषा विश्वतैजसप्राज्ञात्मानश्चेति।
विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञः सर्वसाक्षीत्यतः परः ॥72॥
प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत्सर्वजीवेषु भोगतः।
अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः ॥73॥
अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयो गुणास्त्रीण्यक्षराणि त्रयः स्वरा एवं प्रणवः प्रकाशते।
अकारो जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्तुषु।
उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुप्तितः ॥74॥

Scanned by CamScanner

मनुष्यो वापि यक्षो वा स्वेच्छयापि क्षणाद्भवेत् ।
सिंहो व्याघ्रो गजो चाश्वः स्वेच्छया बहुतामियात् ॥110॥
यथेष्टमेव वर्तेत यद्वा योगी महेश्वरः ।
अभ्यासभेदतो भेदः फलं तु सममेव हि ॥111॥

योगी अपनी इच्छा से एक क्षण में ही मनुष्य, यक्ष, सिंह, बाघ, हाथी, घोड़ा, आदि अनेक रूपों को धारण कर सकता है। वह अपनी इच्छानुसार व्यवहार कर सकता है। वह योगी महासमर्थ होता है। योगियों में भेद तो अभ्यास के भेद से होता है, पर फल तो समान ही होता है।

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद् दृढम् ॥112॥
चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्तिं धारयित्वा तु रेचयेत् ॥113॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन ततोऽभ्यसेत् ।
प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि नामयेत् ॥114॥ (अयमेव महाबन्धः ।)

अब **महाबन्ध** के विषय में कहा जा रहा है—बाँये पैर की एड़ी के द्वारा पहले योनि स्थान को दबाना चाहिए तथा दाहिने पैर को फैलाना चाहिए। फिर उसको अँगूठे से दोनों हाथों से जोर से पकड़ना चाहिए। इसके बाद ठोड़ी को छाती से लगाना चाहिए। तब फिर वायु को धीरे-धीरे भीतर धारण करके यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिए और बाद में उसे रेचक के द्वारा बाहर निकाल देना चाहिए। इस प्रकार की क्रिया को निरन्तर बाँयें और दायें, पुनः दाँयें और बायें—इस प्रकार अभ्यास करना चाहिए। अर्थात् पहले बाँये पैर की एड़ी से जिस तरह शुरू किया था, उसी तरह दक्षिण पैर की एड़ी से शुरू करके (अदल-बदलकर) अभ्यास करना चाहिए। पहले प्रसारित किए गए पैर को अब पूर्ववत् जंघा पर नवाना चाहिए। (इसे ही महाबन्ध कहा जाता है)।

अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत् ।
महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥115॥
वायुना गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ॥116॥

ऊपर बताए अनुसार यही महाबन्ध कहलाता है। इस बन्ध का दोनों तरीकों से (अदल-बदलकर अर्थात् परिवर्तित क्रम से) अभ्यास किया जा सकता है। जब महाबन्ध में सतत संलग्न वह योगी एकाग्र होकर कण्ठ की मुद्रा के जरिए वायु की गति को आवृत्त करके दोनों नथुनों को संकुचित करके तत्परतापूर्वक वायु को भर लेता है, तब—

अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।
अन्तःकपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत् ॥117॥
भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी ।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढया धिया ॥118॥
बन्धो जालन्धराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥119॥
उड्यानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।

Scanned by CamScanner

—इसी को महाबन्ध कहा जाता है। सिद्ध पुरुष सदैव इसका अभ्यास करते रहते हैं। जीभ को भीतर के कपाल में लौटाकर, दोनों भृकुटियों के बीच दृष्टि रखी जाने पर खेचरी मुद्रा होती है। कण्ठ को संकुचित करके ठोड़ी को मजबूती से जब स्थापित किया जाता है, तब जालन्धरबन्ध होता है। यह बन्ध मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंह समान (कालरूप) है। और जिस बन्ध से प्राण सुषुम्ना से उठ जाता है, उसे योगी लोग उड्डयन (उड्डयाण) नामक बन्ध कहते हैं।

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् दृढम् ॥120॥
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ॥121॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।

एड़ी से योनिस्थान को यत्नपूर्वक दबाकर भीतर की तरफ खींचना चाहिए। इस तरह अपान को ऊँचे उठाकर जो बन्ध किया जाता है, वह योनिबन्ध कहा जाता है। इस योनिबन्ध की क्रिया से प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता स्थापित की जाती है, और यह बन्ध निःसंदिग्ध रूप में योग की सिद्धि प्राप्त कराता है।

करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ॥122॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ॥123॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात्।
अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥124॥
क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने।
वली च पलितं चैव षण्मासार्धन्न दृश्यते ॥125॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालवित्।
वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम् ॥126॥

अब विपरीतकरणी नामक मुद्रा के बारे में कहा जाता है। यह मुद्रा सभी प्रकार की व्याधियों (पीड़ाओं) का नाश करने वाली है। इस 'विपरीतकरणी' मुद्रा का नित्य अभ्यास करने से साधक की जठराग्नि तीव्र हो जाती है फलस्वरूप साधक बहुत अन्न पचाने में समर्थ हो जाता है। इस समय में यदि साधक कम आहार लेगा तो उसकी जठराग्नि उसके शरीर का ही नाश कर देगी। इस मुद्रा के लिए प्रथम दिन एक क्षण के लिए सिर नीचे और दोनों पैर ऊपर की ओर रखने चाहिए। बाद में प्रत्येक दिन एक-एक क्षण इस अभ्यास को बढ़ाते रहना चाहिए। ऐसा करने से छः मास के भीतर ही साधक के शरीर की झुरियाँ, और बालों की सफेदी नष्ट हो जाएगी। जो साधक हर रोज एक प्रहर तक छः महीनों पर्यन्त इस विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास करता है, वह काल को अपने वश में कर लेता है। और जो योगी वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करता है, वह सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।

लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥127॥
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते ॥128॥

Scanned by CamScanner

तततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम् ।
यदा तु राजयोगेन निष्पन्ना योगिभिः क्रियाः ॥129॥
तदा विवेकवैराग्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः ॥130॥

उस वज्रोली मुद्रा के साधक की सिद्धि तो उसके हाथ में ही रहती है। ऐसा योगी भूत और भविष्य को जान लेता है और वह आकाश में विचरण करने वाला हो जाता है। जो योगी अपने मूत्र को हर रोज पीता है और प्रतिदिन उसे सूँघता भी है और साथ-साथ पूर्वोक्त प्रकार से वज्रोली का अभ्यास करता है, उस क्रिया को अमरोली कहा जाता है। अब इसके बाद राजयोग होता है। अर्थात् वह योगी बाद में तुरन्त राजयोग का अधिकारी बनता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं। राजयोग में सम्पन्न हो जाने के बाद उस योगी को फिर हठयोगादि की अन्य विधियाँ करने की आवश्यकता नहीं रहती। तब उस योगी को विवेक और वैराग्य उत्पन्न होता है। ऐसे योगियों में विष्णु नाम के महातपस्वी और महाभूतस्वरूप भगवान् हैं।

तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ।
यः स्तनः पूर्वपीतस्तं निष्पीड्य मुदमश्नुते ॥131॥
यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन् ।
या माता सा पुनर्भार्या या भार्या मातरेव हि ॥132॥
यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता ।
एवं संसारचक्रेण कूपचक्रे घटा इव ॥133॥
भ्रमन्तो योनिजन्मानि श्रुत्वा लोकान्समश्नुते ।
त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्रः सन्ध्यास्त्रयः स्वराः ॥134॥
त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे ।
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेप्यर्धमक्षरम् ॥135॥

यह भगवान् पुरुषोत्तम तत्त्वमार्ग पर चलने वाले के लिए दीपक के समान दिखाई पड़ते हैं। अब यह जीवन विविध योनियों में भटकता हुआ जब मानवयोनि में आता है, तब विचित्र बात यह होती है कि बचपन में जिस स्तन को उसने पीया है, उसी स्तन को वह युवावस्था में दबा करके आनन्द लेता है, और उसने जिस योनि से जन्म लिया था, वैसी ही योनि में बार-बार रमण किया करता है। एक जन्म में जो माता होती है, दूसरे जन्म में वही स्त्री हो जाती है। जो पिता है, वह पुत्र बन जाता है, तथा जो पुत्र होता है वही फिर पिता भी बन जाता है। इसी प्रकार यह संसारचक्र कूपचक्र (रहट) के ही समान है जिसमें प्राणी तरह-तरह की योनियों में गमनागमन किया ही करता है। तीन ही लोक हैं, तीन ही वेद हैं, तीन ही सन्ध्याएँ हैं, तीन ही स्वर हैं, तीन ही अग्नि हैं, तीन गुण कहे गए हैं, तथा तीन अक्षरों में सब कुछ विद्यमान है। अत: इन तीन अक्षरों का और अर्धाक्षर का भी योगी को अध्ययन करना चाहिए।

तेन सर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम् ।
पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम् ॥136॥
तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव कांचनम् ।
हृदि स्थाने स्थितं पद्मं तस्य वक्त्रमधोमुखम् ॥137॥

Scanned by CamScanner

पद्मासन या अन्य कोई मनपसन्द आसन लगाकर, नाक के अग्र भाग में दृष्टि को स्थिर करके हाथों और पैरों को समुचित रखते हुए, चारों ओर से मन का निरोध करके ॐकार का चिन्तन और ध्यान करना चाहिए। जब पहली बार मंत्र का ध्यान किया जाता है, तब शरीर में कँपकँपी पैदा हो जाती है। ध्यान करते समय वह ध्यानी (ज्ञानी) को नवद्वार वाले, एक स्तंभवाले, ब्रह्माशिवादि देवतावाले और तीन स्थूण (खम्भों की नींव) वाले (कर्म) ऐसे इस शरीर के बारे में बुद्धिमान को किसी प्रकार का विचार नहीं करना चाहिए। किरणों की ज्वालाओं से भरा हुआ जो आदित्य (सूर्य) के मंडल का आकार है—

तस्य मध्यगतं वह्निं प्रज्वलेद्दीपवर्तिवत्।
दीपशिखा तु या मात्रा सा मात्रा परमेश्वरे ॥74॥

—उस सूर्यमण्डल में एक वह्निमण्डल है (आदित्यमण्डल के बीच वह्निमण्डल है) और उसके मध्य में दीपशिखा है। उस दीपशिखा की जो मात्रा है, जो उसका स्वरूप है, परमेश्वर में भी वही मात्रा है (कहने का तात्पर्य यह है कि उस दीपशिखा में साधक को परमेश्वर की भावना करनी चाहिए। यहाँ पर परमेश्वर की सूक्ष्मता बताई है और पिण्ड की मूलाधारस्थ दीपशिखा का साम्य बताया है।)

भिन्दन्ति योगिनः सूर्यं योगाभ्यासेन वै पुनः।
द्वितीयं सुषुम्नाद्वारं परिशुभ्रं समर्पितम् ॥75॥
कपालसम्पुटं पीत्वा ततः पश्यति तत्पदम्।
अथ तद् ध्यायते जन्तुरालस्याच्च प्रमादतः ॥76॥
यदि त्रिकालमागच्छेत् स गच्छेत् पुण्यसम्पदम्।
पुण्यमेतत् समासाद्य संक्षिप्य कथितं मया ॥77॥

उस दीपशिखा की कृपा से योगी लोग अपने योगाभ्यास के बल से सूर्यमण्डल को भेद करके उस पद को (परमेश्वर के पद को) प्राप्त करते हैं। यह संन्यासयोगी की बात है। जो केवल योगी होते हैं, वे विशुद्ध दूसरे द्वार को (सुषुम्ना के द्वार को) कुण्डलिनी के द्वारा भेदकर उस मार्ग से वहाँ अवस्थित कपालसम्पुट में (सहस्रार चक्र में) प्रवेश करके वहाँ सूर्य-चन्द्र-अग्नि से उत्पन्न अमृत को पीकर, तब बाद में उस पद को (तुरीय को अथवा तुरीयातीत को) 'वह मैं ही हूँ'—इस प्रकार देखते हैं। ऐसा करने में अशक्त मनुष्य यदि आलस्य से या प्रमाद से अथवा भेदबुद्धि से भी इस ब्रह्म का ध्यान करे, ऐसा ध्यान करने वाला प्राणी (मुनि) हर रोज तीन काल ऐसा ध्यान करता है तो वह इस पुण्य से महेन्द्र आदि के ऐश्वर्य की पुण्यसम्पत्ति को प्राप्त करता है। यह बात मैंने तुम्हें संक्षेप में कही।

लब्धयोगोऽथ बुध्येत प्रसन्नं परमेश्वरम्।
जन्मान्तरसहस्रेषु यदा क्षीणं तु किल्बिषम् ॥78॥
तदा पश्यति योगेन संसारोच्छेदनं महत्।
अधुना संप्रवक्ष्यामि योगाभ्यासस्य लक्षणम् ॥79॥
मरुज्जयो यस्य सिद्धः सेवयेत् तं गुरुं सदा।
गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात् प्राणजयं बुधः ॥80॥

जिस मनुष्य ने (कही जाने वाली विधि के अनुसार—) इस योग की सिद्धि प्राप्त कर ली है, वह प्रसन्न परमेश्वर को जान लेता है। लेकिन वह तो तभी हो सकता है कि जब जन्म-जन्मान्तर के पाप क्षीण हो जाएँ और इस संसार का बिल्कुल विच्छेद ही हो जाए। अस्तु, अब मैं तुम्हें योगाभ्यास का

Scanned by CamScanner

पहले लक्षण बता रहा हूँ। जिस मनुष्य ने पहले अपने आप प्राण जय कर लिया हो, उसे सर्वप्रथम तो गुरु के पास ही जाना चाहिए और उनकी सेवासंगति करनी चाहिए। तब गुरुमुख की कृपा से ही उपदेश लेकर प्राणजय करना चाहिए।

वितस्तिप्रमितं दैर्घ्यं चतुरङ्गुलविस्तृतम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ॥81॥

एक बेत (बारह अंगुल) लम्बा और चार अंगुल चौड़ा कोमल और सफेद ऐसा वस्त्र लेकर सरस्वती नाड़ी के मस्तक को आवेष्टित करके ब्राह्म मुहूर्त में उठकर एक मुहूर्त के समय तक निर्भयता से उसे चलाना चाहिए। (इस मंत्र में वेष्टन वस्त्र का वर्णन ही है, बाकी का अर्थ अध्याहार है।)

निरुध्य मारुतं गाढं शक्तिचालनयुक्तितः।
अष्टधा कुण्डलीभूतामृज्वीं कुर्यात्तु कुण्डलीम् ॥82॥
पायोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत् तदा।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥83॥
एतदेव परं गुह्यं कथितं तु मया तव।
वज्रासनगतो नित्यमूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ॥84॥

उस सरस्वती नाड़ी के चालन के बाद, शक्ति के चालन की युक्ति से वायु का गाढ निरोध करके आठ गोल घुमाव (ऐंठन) करके अवस्थित उस कुण्डलिनी को सीधा करना चाहिए। और फिर गुदा का संकोच करके उस कुण्डली का चालन करना चाहिए अर्थात् उसे हिलाना चाहिए। ऐसा करने वाले साधक को मौत के मुँह में जाकर भी भला भय कहाँ से हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। हे ब्रह्माजी ! यही परम गोपनीय बात मैंने आपको बताई है। ऐसे आकुंचन के बाद वज्रासन में स्थित होकर साधक को इसका प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए।

वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्।
सन्तप्ता साग्निना जीवा शक्तिस्त्रैलोक्यमोहिनी ॥85॥
प्रविशेच्चन्द्रदण्डे तु सुषुम्नावदनान्तरे।
वायुना वह्निना सार्धं ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्ति सा ॥86॥
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्त्वा रुद्रग्रन्थौ च तिष्ठति।
ततस्तु कुम्भकैर्गाढं पूरयित्वा पुनः पुनः ॥87॥

फिर उस आकुंचन से उत्पन्न वायु से अग्नि प्रज्वलित होता है। जो हमेशा ही कुण्डलिनी को जलाता (तपाता) रहता है। तब उस अग्नि से जीव संतप्त हो उठते हैं। इसके बाद वह नाड़ी चन्द्रदण्ड में प्रवेश करती है। और वह (ताप की शान्ति के लिए चन्द्र जैसे शीतल) सुषुम्ना के मुख तक जाती है। वहाँ जाकर वह प्राणवायु के साथ वह्नि से ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करती है। (यह ब्रह्मग्रन्थि मूलाधार के प्रवेश मार्ग में कपाटरूप = अवरोधरूप है) और इसके बाद (अनाहत के कपाटरूप) विष्णुग्रन्थि को भी भेदकर आज्ञा कपाट में रुद्रग्रन्थि में रहती है। इसके बाद इस रुद्रग्रन्थि के भेदन के लिए गाँठरूप से वायु को बार-बार भीतर खींचकर कुंभकों का अभ्यास करना चाहिए।

अथाभ्यसेत् सूर्यभेदमुज्जायीं चापि शीतलीम्।
भस्त्रां च सहितो नाम स्याच्चतुष्टयकुम्भकः ॥88॥

Scanned by CamScanner

बन्धत्रयेण संयुक्तः केवलप्राप्तिकारकः।
अथास्य लक्षणं सम्यक् कथयामि समासतः ॥89॥

अब उन कुम्भकों का भेद बताते हुए प्रथम कुंभकचतुष्टय के बारे में बताते हैं कि कुंभक के चार भेद होते हैं—सूर्य, उज्जायी, शीतला और भस्त्रिक। उन चारों कुम्भकों का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा अभ्यास करने वाला साधक तीनों बन्धों से (मूलबन्ध आदि बन्ध जो पहले कहे जा चुके हैं) युक्त होना चाहिए। ऐसा होने पर ही वह परमपद की प्राप्ति कराने वाला होता है। अब मैं कुम्भक के इन चारों भेदों के लक्षण संक्षेप में और स्पष्टता से बताता हूँ।

एकाकिना समुपगम्य विविक्तदेशं
प्राणादिरूपममृतं परमार्थतत्त्वम्।
लघ्वाशिना धृतिमता परिभावितव्यं
संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम् ॥90॥

(उससे पहले यह सर्वसामान्य लक्षण सुन लो कि—) अकेले ही किसी एकान्त प्रदेश में जाकर मिताहारी तथा धैर्यशील साधक को उस संसाररूपी रोगों को दूर करने वाले औषध के समान प्राणादिरूप अद्वितीय परमार्थ तत्त्व की भावना करनी चाहिए।

सूर्यनाड्या समाकृष्य वायुमभ्यासयोगिना।
विधिवत् कुम्भकं कृत्वा रेचयेच्छीतरश्मिना ॥91॥
उदरे बहुरोगघ्नं क्रिमिदोषं निहन्ति च।
मुहुर्मुहुरिदं　कार्यं　सूर्यभेदमुदाहृतम् ॥92॥

सर्वयोगों के सर्वसामान्य लक्षण को सुनकर अब सूर्यकुम्भक का लक्षण सुनो। उस अभ्यासयोगी को चाहिए कि वह पहले सूर्यनाड़ी के द्वारा वायु को खींचे। (पूरक करे।) बाद में विधिपुर (सर कुंभक) करके चन्द्रनाड़ी से उसका रेचन करे। ऐसा यह सूर्यकुम्भक पेट के बहुत से रोगों को दूर करने वाला होता है। यह कृमि के दोष (रोग) को भी दूर कर देता है। इस कुम्भक को बार-बार करते ही रहना चाहिए। इस प्रकार के कुंभक को सूर्यकुंभक कहा जाता है।

नाडीभ्यां वायुमाकृष्य कुण्डल्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
धारयेदुदरे पश्चाद्रेचयेदिडया सुधीः ॥93॥
कण्ठे कफादिदोषघ्नं शरीराग्निविवर्धनम्।
नाडीजलापहं　धातुगतदोषविनाशनम् ॥94॥

अब उज्जयीकुंभक का लक्षण इस प्रकार है—दोनों सूर्य-चन्द्र नाड़ियों से वायु को भीतर खींचकर कुण्डलिनी के दोनों पार्श्वों में उसको फेंकना चाहिए। और बाद में उस वायु को पेट में रखना चाहिए। फिर इडा नाड़ी के द्वारा बुद्धिमान साधक को रेचन करना चाहिए। यह उज्जयीकुंभक कण्ठ में कफ आदि दोषों को दूर करने वाला होता है। यह शरीर में अग्नि (उष्णता) को बढ़ाने वाला होता है तथा नाड़ी जल को तथा धातुगत दोष आदि का निवारण करने वाला होता है।

गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्।
मुखेन　वायुं　संगृह्य　घ्राणरन्ध्रेण　रेचयेत् ॥95॥

Scanned by CamScanner

शीतलीकरणं चेदं हन्ति पित्तं क्षुधां तृषम् ।
स्तनयोरथ भस्त्रेव लोहकारस्य वेगतः ॥96॥
रेचयेत् पूरयेद्वायुमाश्रमं देहगं धिया ।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत् ॥97॥

यह उपर्युक्त उज्जयीकुम्भक उठते-बैठते भी करते रहना चाहिए। अब शीतलीकुंभक का लक्षण यह है कि मुख से वायु को खींचकर नथुने से उसका रेचन करना चाहिए। इसको शीतलीकरण कहा जाता है। यह कुंभक पित्त का, क्षुधा का और तृषा का नाश कर देता है। (अब भस्त्रिकाकुंभक का लक्षण यह है कि—) जैसे लोहार की कोठ में भस्त्र (धमनी) वेग से चलती है उसी प्रकार दोनों स्तनों में देहस्थित वायु का पूरक और रेचन वेगपूर्वक करना चाहिए। ऐसा श्रमपूर्वक करना चाहिए। ऐसा करने में देह में श्रम होगा तब सूर्यनाड़ी से पूरक करना चाहिए। तथा—

कण्ठसंकोचनं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥98॥
कुण्डलीबोधकं वक्त्रदोषघ्नं शुभदं सुखम् ।
ब्रह्मनाडीमुखान्तःस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥99॥
सम्यग्बन्धसमुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥100॥

—कण्ठ का संकोच करके बाद में चन्द्रनाड़ी से रेचन करना चाहिए। यह भस्त्रिका कुंभक वात, पित्त और कफ को दूर करने वाला है, यह शरीर की उष्णता को बढ़ाने वाला है, यह कुण्डलिनी को जगाने वाला है, मुख के दुर्गन्धादि दोषों को दूर करने वाला है, कल्याणकारी और सुखकारी है। वह ब्रह्मनाड़ी के मुख के आगे इकट्ठे हुए कफ आदि अवरोधों को नाश करने वाला है। सम्यग्बन्ध से उत्पन्न हुए इस भस्त्रिकाकुंभक से तीनों ग्रन्थियों का (ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि का) भी भेदन हो जाता है। यह भस्त्रकुंभक विशेष ध्यान देकर करना चाहिए।

बन्धत्रयमथेदानीं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ।
नित्यं कृतेन तेनासौ वायोर्जयमवाप्नुयात् ॥101॥
चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते ।
बन्धत्रयमिदं कार्यं वक्ष्यमाणं मया हि तत् ॥102॥
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः ।
जालंधरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम् ॥103॥

(अब उन चार कुंभकों के अंगरूप में जो तीन बन्ध हैं, उनके बारे में कहते हैं—) मैं उन तीन बन्धों के लक्षण क्रमशः कहता हूँ—इन बन्धों के सदैव करते रहने से साधक प्राण पर विजय पा लेता है। कुंभक के उपर्युक्त चारों भेदों को करते समय यह बन्धत्रय (तीन बन्ध) करने चाहिए। मैं अभी उनके विषय में कह रहा हूँ। तीन बन्धों में पहले को 'मूलबन्ध' कहते हैं, दूसरे बन्ध को 'उड्डीयाणबन्ध' कहते हैं, और तीसरे बन्ध को 'जालन्धरबन्ध' कहते हैं। अब मैं उनके लक्षण कह रहा हूँ—

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य पायुमाकुञ्चयेद् बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥104॥

Scanned by CamScanner

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥105॥

लिंगस्थान और गुदा के रन्ध्र को एड़ी के द्वारा दबाकर हठपूर्वक वायु को रोकना चाहिए। जिस प्रकार वह वायु ऊपर ही ऊपर आता हो, ऐसा करना चाहिए (ऐसी भावना करनी चाहिए)। प्राण और अपान—दोनों तथा 'नाद-बिन्दू' अर्थात् बुद्धि और मन मूलबन्ध के साथ एकता को प्राप्त कर लें, तब वे योगसिद्धि को प्राप्त करते हैं, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए।

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥106॥
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।
उड्डियाणं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥107॥
अभ्यसेत् तदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि ताणं कुर्यात् प्रयत्नतः ॥108॥

कुंभक के अन्त में और रेचक के प्रारंभ में यह उड्डीयाणबन्ध करना चाहिए। इस बन्ध में सुषुम्णा में प्राण उड्डयन करता है, इसलिए उसे 'उड्डीयाण' ऐसा योगियों के द्वारा नाम दिया गया है। इस उड्डीयाणबन्ध को तो गुरु ने सहज रूप से कह दिया है। साधक को अतन्द्रित रहकर इस बन्ध का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से वृद्ध व्यक्ति भी युवा हो जाता है। इसमें नाभि को ऊपर के भाग में और नीचे के भाग में बलपूर्वक खींचना चाहिए।

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः।
पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालंधराभिधः ॥109॥
कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढमिच्छया ॥110॥
बन्धो जालंधराख्योऽयममृताप्यायकारकः।
अधस्तात् कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ॥111॥

इस उड्डीयाणबन्ध को जो छः मास तक करेगा, वह मृत्यु को जीत लेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। अब पूरक के अन्त में करने लायक बन्ध को 'जालन्धरबन्ध' कहते हैं। यह कंठ का संकोचन करके किया जाता है और वायुमार्ग का निरोध किया जाता है। यह जालन्धरबन्ध अमृत को भर देने वाला है। वह कण्ठ का आकुंचन करके ठोडी को कण्ठकूप में दृढ़तापूर्वक लगाने से होता है।

मध्ये पश्चिमताणेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः।
वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम् ॥112॥
कुर्यादनन्तरं भस्त्रीं कुण्डलीमाशु बोधयेत्।
भिद्यन्ते ग्रन्थयो वंशे तप्तलोहशलाकया ॥113॥
तथैव पृष्ठवंशे स्याद् ग्रन्थिभेदस्तु वायुना।
पिपीलिकायां लग्नायां कण्डूस्तत्र प्रवर्तते ॥114॥

मध्य में पश्चिम की ओर खींचने से वह वायु ब्रह्मनाड़ी में जाता है। अब तीन बन्धों से प्रयुक्त उस योगी को वज्रासन में बैठकर कुण्डली को घुमाकर बाद में उसे जगाना चाहिए। इससे तपे हुए लोहे

Scanned by CamScanner

की सलाई से जैसे बाँस की ग्रन्थियाँ भेदी जाती हैं, वैसे ही वायु से पृष्ठवंश की ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं। और तब जैसे चींटी ने डंक मारा हो इस तरह की खुजली होने लगती है।

सुषुम्नायां तथाभ्यासात् सततं वायुना भवेत्।
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा ततो याति शिवात्मकम् ॥115॥
चन्द्रसूर्यौ समौ कृत्वा तयोर्योगः प्रवर्तते।
गुणत्रयमतीतं स्याद् ग्रन्थित्रयविभेदनात् ॥116॥
शिवशक्तिसमायोगे जायते परमा स्थितिः।
यथा करी करेणैव पानीयं प्रपिबेत् सदा ॥117॥

इस प्रकार सुषुम्ना में अभ्यास करते-करते प्राणवायु से रुद्रग्रन्थि को भेदकर शिवात्मकत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार तीन ग्रन्थियों के भेदन से त्रिगुणों से अतीत हुआ जा सकता है। इसमें सूर्यचन्द्र समान होकर उनका मिलन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ ब्रह्मरन्ध्रगत तुरीय ही शिव है, शक्ति कुण्डलिनी है। उन दोनों के योग से ही परमस्थिति सहज निर्विकल्पावस्था होती है। शिव-शक्ति के योग से परम स्थिति उत्पन्न होती है। अब सुषुम्ना से प्राणोदक पीने की जो बात है, उसका दृष्टान्त दिया जाता है कि जैसे हाथी अपनी सूँड़ से ही पानी पीता है वैसे ही—

सुषुम्नावज्रनालेन पवमानं ग्रसेत् तथा।
वज्रदण्डसमुद्भूता मणयश्चैकविंशतिः ॥118॥
सुषुम्नायां स्थिताः सर्वे सूत्रे मणिगणा इव।
मोक्षमार्गे प्रतिष्ठानात्सुषुम्ना विश्वरूपिणी ॥119॥
यथैव निश्चितः कालश्चन्द्रसूर्यनिबन्धनात्।
आपूर्य कुम्भितो वायुर्बहिर्नो याति साधके ॥120॥
पुनःपुनस्तद्वदेव पश्चिमद्वारलक्षणम्।
पूरितस्तु स तद्द्वारैरीषत्कुम्भकतां गतः ॥121॥
प्रविशेत् सर्वगात्रेषु वायुः पश्चिममार्गतः।
रेचितः क्षीणतां याति पूरितः पोषयेत् ततः ॥122॥

—सुषुम्नारूपी वज्रनाल से सुषुम्ना प्राणरूपी पानी को पीती है। सुषुम्नाश्रित वज्रदण्ड (वीणादण्ड) में इक्कीस मणि (चने जैसे मांसपिण्ड) हैं। वे सूत्र में मणियों के समूह की भाँति सुषुम्ना में अवस्थित हैं। इन मणियों का मोक्षमार्ग में प्रतिष्ठान होने से (मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक प्रतिष्ठित होने से) यह सुषुम्ना विश्वरूपिणी हो जाती है। सूर्य और चन्द्र के निबन्धन से (परिमाण से) जैसे काल का निश्चय (निर्णय) किया जाता है, यह काल सुषुम्ना में विलीन हो जाता है। (सुषुम्ना काल को खा जाती है, क्योंकि) साधक इस सुषुम्ना में वायु को भरता है (पूरक करता है) और वह जब सुषुम्ना में कुंभित हो जाता है, फिर वह वायु बाहर निकलता ही नहीं (कि जिससे श्वासोच्छ्वास के द्वारा कालगणना हो सके)। (यदि प्रमाद से वह कुंभित वायु बाहर निकल भी जाए तो) फिर-फिर से उसी प्रकार सुषुम्ना से प्राण को भरकर (पूरक करके) फिर कुंभक करना चाहिए। इसे 'पश्चिमद्वारलक्षण' कहा गया है। इस प्रकार फिर से पूरित वायु (पश्चिमद्वार से पूरितवायु) प्रारंभ में ईषत्कुंभकता (थोड़ी कुंभकता) को प्राप्त होता है। बाद में वह प्राणवायु पश्चिममार्ग से सभी गात्रों में प्रविष्ट हो जाता है। और यदि काल-कर्म

Scanned by CamScanner

के संयोग से सुषुम्ना के द्वारा रेचित वायु क्षीणता को प्राप्त करे, तो वह पूरित वायु शरीर का पोषण करता है।

यत्रैव जातं सकलेवरं मनस्तत्रैव लीनं कुरुते स योगात्।
स एव मुक्तो निरहंकृतिः सुखी मूढा न जानन्ति हि पिण्डपातिनः ॥123॥
चित्तं विनष्टं यदि भासितं स्यात् तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः।
न चेद्यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः ॥124॥
जम्बुको रुधिरं यद्वद्बलादाकृष्यति स्वयम्।
ब्रह्मनाडी तथा धातून् सन्तताभ्यासयोगतः ॥125॥
अनेनाभ्यासयोगेन नित्यमासनबन्धतः।
चित्तं विलीनतामेति बिन्दुर्नो यात्यधस्तथा ॥126॥

वह योगी का मन जहाँ से (अधिष्ठानरूप ब्रह्म से) इस शरीर के साथ जन्मा है, उसे वहीं (ब्रह्म में ही) अपने योग के द्वारा लीन कर देता है। वही मुक्त है, वही निरहंकारी है, वही सुखी है। यह बात जो नहीं जानते, वे तो मूढ़ ही हैं और शरीरों में (स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूपों में) हो पड़े हुए हैं। जब चित्त अपने अधिष्ठान में लीन हो जाता है, तब प्रतीत होते हुए प्राणवायु का भी विलय हो जाता है। ऐसा यदि नहीं हुआ तो उसके लिए शास्त्र भी व्यर्थ हैं, गुरु भी व्यर्थ है, मोक्ष भी व्यर्थ है। उसको अपने आत्मा की सही प्रतीति नहीं हो सकती। (ऐसे मूढ़ को प्रबोधित करने के लिए आगे कहते हैं कि—) जिस प्रकार सियार बलपूर्वक खींचकर लहू को ले लेता है, उसी तरह सुषुम्ना नाड़ी शरीर के धातुओं को बलपूर्वक खींचकर खा जाती है (बाद में इसीलिए ब्रह्मज्ञान होता है)। सतत अभ्यास से वह ब्रह्मनाड़ी बाहर के पदार्थों अर्थात् उनके प्रबोधक धातुओं को ग्रास कर ही लेती है। आसनबन्ध के साथ इस प्रकार के योग के नित्य अभ्यास से चित्त विलीन हो जाता है और बिन्दु का अधःपात भी नहीं होता।

रेचकं पूरकं मुक्त्वा वायुना स्थीयते स्थिरम्।
नाना नादाः प्रवर्तन्ते संस्रवेच्चन्द्रमण्डलम् ॥127॥
नश्यन्ति क्षुत्पिपासाद्याः सर्वदोषास्ततस्तदा।
स्वरूपे सच्चिदानन्दे स्थितिमाप्नोति केवलम् ॥128॥

जब रेचक और पूरक—दोनों को छोड़कर वायु कुंभक में ही स्थिर हो जाता है, तब तरह-तरह के नाद उत्पन्न होने लगते हैं, एवं चन्द्रमण्डल से स्राव होने लगता है। तब भूख और प्यास नष्ट हो जाती हैं, सभी दोष नष्ट हो जाते हैं। वह योगी तब केवल अपने स्वरूप में ही (सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व में ही) अपनी स्थिति को पा लेता है।

कथितं तु तव प्रीत्या ह्येतदभ्यासलक्षणम्।
मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्तोऽर्भूमिकाः क्रमात् ॥129॥
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥130॥

Scanned by CamScanner

गया है, वह पातालों के नीचे जो कालाग्नि प्रतिष्ठित है, वही मूलाग्नि इस शरीर में भी है। इससे नाद उत्पन्न होता है। शरीर में अवस्थित यह वडवाग्नि अस्थियों के बीच रहकर फैलता है। (अर्थात् कालाग्नि ही नादाधार अग्नि होकर शरीर में रहता है।)

काष्ठपाषाणयोर्वह्निर्ह्यस्थिमध्ये प्रवर्तते।
काष्ठपाषाणजो वह्निः पार्थिवो ग्रहणीगतः ॥31॥
अन्तरिक्षगतो वह्निर्वैद्युतः स्वान्तरात्मकः।
नभःस्थः सूर्यरूपोऽग्निर्नाभिमण्डलमाश्रितः ॥32॥
विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्रवत्यमृतमुन्मुखः।
तालुमूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षत्यधोमुखः ॥33॥
भ्रूमध्यनिलयो बिन्दुः शुद्धस्फटिकसंनिभः।
महाविष्णोश्च देवस्य तत् सूक्ष्मं रूपमुच्यते ॥34॥

काष्ठ और पाषाण से जन्मा हुआ अग्नि अस्थियों में प्रवर्तित होता है। काष्ठ और पाषाण से उत्पन्न वह पार्थिव अग्नि ही ग्रहणीगत (योषागत) स्त्री में स्थित होता है। और जो अन्तरिक्ष में रहने वाला वैद्युत अग्नि है, वही अपने अन्तर का स्वरूप लिए हुए है। आकाश में रहने वाला जो सूर्यरूप अग्नि है, वही नाभिमंडल में स्थित है। यह सूर्य विष बरसाता है, पर उन्मुख (अभिमुख) होकर वह अमृत का स्राव करता है। तालुप्रदेश में रहने वाला चन्द्र नीचे मुख करके सुधा बरसाता है। दोनों भौंहों के बीच में रहने वाला बिन्दु शुद्ध स्फटिक जैसी कान्तिवाला होता है, और वह महाविष्णु देव का रूप समझा जाता है।

एतत् पञ्चाग्निरूपं यो भावयेद् बुद्धिमान् धिया।
तेन भुक्तं च पीतं च हुतमेव न संशयः ॥35॥
सुखसंसेवितं स्वप्नं सुजीर्णमितभोजनम्।
शरीरशुद्धिं कृत्वादौ सुखमासनमास्थितः ॥36॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं रेचपूरककुम्भकैः।
गुदमाकुञ्च्य यत्नेन मूलशक्तिं प्रपूजयेत् ॥37॥

जो बुद्धिमान मनुष्य अपनी बुद्धि से इस पंचाग्निरूप की भावना करता है, उसका खाया-पिया सब हवन किया हुआ ही हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। इस प्रकार जो सुख से निद्रा लेता है, जो पाचक और कम आहार लेता है, ऐसे आहारादि से शरीरशुद्धि करने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह रेचक, पूरक और कुंभक के द्वारा पहले प्राणशक्ति के मार्ग को शुद्ध कर ले और फिर गुदा का संकोच करते हुए प्रयत्नपूर्वक मूलशक्ति को पूजे (जगाए)।

नाभौ लिङ्गस्य मध्ये तु उड्याणाख्यं च बन्धयेत्।
उड्डीय याति तेनैव शक्तितोड्याणपीठकम् ॥38॥
कण्ठं सङ्कोचयेत् किञ्चिद्बन्धो जालन्धरो ह्ययम्।
बन्धयेत् खेचरीमुद्रां दृढचित्तः समाहितः ॥39॥
कपालविवरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥40॥

Scanned by CamScanner

नाभि और लिंग के बीच के प्रदेश में उड्याणबन्ध करना चाहिए। इसी से प्राण उड़कर शक्ति से उड्याणपीठ तक जाता है। जब थोड़ा-सा कण्ठ का संकोच किया जाता है, तब जालन्धरबन्ध बनता है। दृढ मन वाले (स्थिर बुद्धि वाले) साधक को उसके बाद खेचरी मुद्रा करनी चाहिए। इसमें जीभ को उल्टा करके कपाल की गुहा में (कपाल के छिद्र में) उसको प्रवेश कराना चाहिए और दृष्टि दोनों भौहों के बीच स्थिर रखनी चाहिए। इस तरह खेचरी मुद्रा होती है।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥41॥
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते।
न च मृत्युर्भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥42॥

जिसने खेचरी से अपने कण्ठविवर को ऊँचे लम्बी जीभ करके मुद्रित कर दिया है (बन्द कर दिया है), ऐसे उसका अमृत अग्नि में नहीं गिरता (नष्ट नहीं होता) और वायु दौड़ता नहीं है (प्राणवायु असंयत नहीं रहता)। उसे क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, आलस्य आदि कुछ उत्पन्न नहीं होता। जो इस खेचरी मुद्रा को जानता है, उसकी कभी मृत्यु नहीं होती।

ततः पूर्वापरे व्योम्नि द्वादशान्तेऽच्युतात्मके।
उड्याणपीठे निर्द्वन्द्वे निरालम्बे निरञ्जने ॥43॥
ततः पङ्कजमध्यस्थं चन्द्रमण्डलमध्यगम्।
नारायणमनुध्यायेत् स्रवन्तममृतं सदा ॥44॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥45॥

इसके बाद खेचरी मुद्रा के बारह (वर्ष) के अन्त में उड्याण पीठ में, द्वन्द्वरहित, अवलम्बन रहित, अच्युतात्मक—शाश्वत (सहस्राराकाश में) पर और अपर आकाश में, कमल पर विराजमान, चन्द्रमण्डल के मध्य में स्थित, सर्वदा अमृत का स्राव करने वाले नारायण का ही ध्यान करते रहना चाहिए। इससे हृदय की ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं। जब उन परात्पर नारायण का ही दर्शन हो गया तब सभी संशय भी मिट जाएँगे। ऐसे नारायण के साक्षात्कारी के सभी कर्म भी क्षीण हो जाते हैं।

अथ सिद्धिं प्रवक्ष्यामि सुखोपायं सुरेश्वर।
जितेन्द्रियाणां शान्तानां जितश्वासविचेतसाम् ॥46॥
नादे मनोलयं ब्रह्मन् दूरश्रवणकारणम्।
बिन्दौ मनोलयं कृत्वा दूरदर्शनमाप्नुयात् ॥47॥
कालात्मनि मनो लीनं त्रिकालज्ञानकारणम्।
परकायमनोयोगः परकायप्रवेशकृत् ॥48॥
अमृतं चिन्तयेन्मूर्ध्नि क्षुत्तृषाविषशान्तये।
पृथिव्यां धारयेच्चित्तं पातालगमनं भवेत् ॥49॥

अब हे सुरेश्वर ! उन जितेन्द्रिय, शान्त, प्राणों को जीतने वाले और मन को वश में रखने वाले योगियों के सुख के उपाय को और उनकी सिद्धि को मैं तुम्हें कहूँगा। हे ब्रह्माजी ! नाद में जब मन का लय हो जाता है, तब वह दूरश्रवण की सिद्धि का कारण बनता है। इसके बाद बिन्दु में मन का लय

Scanned by CamScanner

करके योगी दूरश्रवण की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। मन जब कालात्मा में लीन हो जाता है, तब वह त्रिकाल ज्ञान का कारण होता है। और अन्य के शरीर में मन का योग करने से वह अन्य के शरीर में प्रवेश (परकायप्रवेश) कर सकता है। भूख, प्यास और विष की शान्ति के लिए मस्तिष्क में अमृत की भावना करनी चाहिए और पृथ्वी में चित्त की धारणा करने से पाताल में गमन हो सकता है।

सलिले धारयेच्चितं नाम्भसा परिभूयते।
अग्नौ संधारयेच्चित्तमग्निना दह्यते न सः ॥50॥
वायौ मनोलयं कुर्यादाकाशगमनं भवेत्।
आकाशे धारयेच्चित्तमणिमादिकमाप्नुयात् ॥51॥
विराड्रूपे मनो युञ्जन् महिमानमवाप्नुयात्।
चतुर्मुखे मनो युञ्जन् जगत्सृष्टिकरो भवेत् ॥52॥

वह यदि जल में चित्त की अवधारणा (लय) करता है, तो जल से कभी पराभव प्राप्त नहीं करता और अगर वह अग्नि में चित्त की अवधारणा (लय) करता है, तो अग्नि से वह कभी जलता नहीं है। यदि वह वायु में चित्त की अवधारणा करता है (लय कर देता है), तो वह आकाश में गमन कर सकता है और यदि वह आकाश में चित्त की अवधारणा करता है, तो उसे अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यदि वह अपने मन को विराट्रूप में जोड़ (एकाकार कर) देता है, तब तो वह महिमा महत्तत्त्व को पाता है और यदि चतुर्मुख ब्रह्मा के साथ अपने चित्त की एकात्मता करता है, तब तो वह सृष्टि का कर्ता ही हो जाता है।

इन्द्ररूपिणमात्मानं भावयन् मर्त्यभोगवान्।
विष्णुरूपे महायोगी पालयेदखिलं जगत् ॥53॥
रुद्ररूपे महायोगी संहरत्येव तेजसा।
नारायणे मनो युञ्जन् नारायणमयो भवेत्।
वासुदेवे मनो युञ्जन् सर्वसिद्धिमवाप्नुयात् ॥54॥
यथा संकल्पयेद्योगी योगयुक्तो जितेन्द्रियः।
तथा तत्तदवाप्नोति भाव एवात्र कारणम् ॥55॥

अपने आपको इन्द्ररूप में भावना करने वाला सभी मर्त्य भोगों का भोगने वाला होता है और अपने को विष्णु के रूप में भावना करने वाला महायोगी बन जाता है और अखिल जगत् का पालन करने वाला बन जाता है। अपने आत्मा की रुद्र रूप में भावना करने वाला महायोगी बनता है और वह अपने तेज से जगत् का संहार करता है। अपने मन को नारायण में जोड़ने वाला नारायणमय ही बनता है। और वासुदेव में मन को जोड़ने वाला सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करता है। योगयुक्त जितेन्द्रिय योगी तो अपने संकल्पों के अनुसार जो-जो भाव जिस-जिस सिद्धि को प्राप्त कराता है उस-उस को प्राप्त कर ही लेता है।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाशिवः।
न गुरोरधिकः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥56॥
दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्।
पूजयेत् परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत् ॥57॥

Scanned by CamScanner

समय, पद्मासन में बैठकर चन्द्रनाड़ी से वायु को भीतर खींचकर अर्थात् पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करके दूसरी पिंगला नाड़ी से रेचक करना चाहिए। फिर पिंगला से पूरक करके इडा से रेचक करना चाहिए। अर्थात् जिस नाड़ी से रेचक करे, उसी नाड़ी से फिर पूरक करके तब कुंभक करना चाहिए)। इस विषय में ये श्लोक हैं—

प्राणं प्रागिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥1॥

पहले इडा नाड़ी से प्राण को भीतर खींचकर (पूरक करके) कुंभक करना चाहिए और दूसरी पिंगला से रेचक करना चाहिए। इस विधि से सूर्यचन्द्र की नाड़ी के द्वारा प्राणायाम का नित्य अभ्यास करने वाले योगियों की सभी नाड़ियाँ तीन महीनों के भीतर शुद्ध हो जाती हैं।

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे तु कुम्भकान्।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥2॥
कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं भवेत् ॥3॥
जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्।
दृढता लघुता चापि तस्य गात्रस्य जायते ॥4॥
अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम्।
ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तावन्नियमग्रहः ॥5॥

प्रात:काल, मध्याह्नकाल और सन्ध्याकाल तथा मध्यरात्रि—इस प्रकार चार बार धीरे-धीरे अस्सी मात्राओं तक कुंभकों का अभ्यास करना चाहिए। हल्के प्राणायाम में पसीना होता है, मध्यम प्राणायाम में कम्पन होता है और उत्तम प्राणायाम में पद्मासन में अवस्थित योगी आसन से उठ जाता है। प्राणायाम के समय परिश्रम के कारण जो पसीना छूटता है उससे शरीर का मर्दन करना चाहिए, क्योंकि उससे अभ्यासी का शरीर मजबूत एवं हल्का हो जाता है। अभ्यास के समय में आरम्भ में दूध-घी वाला भोजन प्रशंसनीय माना गया है। फिर अभ्यास के स्थिर हो जाने पर किसी नियम की कोई आवश्यकता नहीं है।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥6॥
युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं च पूरयेत्।
युक्तंयुक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥7॥
यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥8॥
विधिवत् प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥9॥

Scanned by CamScanner

जैसे सिंह, हाथी और बाघ आदि धीरे-धीरे ही वश में आते हैं, वैसे ही वायु का भी धीरे-धीरे ही सेवन किया जाता है, तभी वह वश में आ सकता है। लेकिन विपरीत नियम से अर्थात् उतावली या विधिक्षति करने पर वही वायु साधक का नाश कर देता है। इसलिए जैसे ठीक बनता हो वैसे ही रेचक करना चाहिए, जैसे ठीक लगता हो वैसे ही पूरक करना चाहिए और जैसा ठीक लगे वैसे ही कुंभक करना चाहिए। ऐसा करने से ही सिद्धि प्राप्त होती है। यथाशक्ति वायु का कुंभक करने से अग्नि प्रज्वलित होती है और नाड़ियाँ शुद्ध हो जाने से नादश्रवण तथा आरोग्य प्राप्त होता है। विधिपुर:सर प्राणायाम करने से नाड़ियों का समूह शुद्ध हो जाता है। ऐसा होने पर सुषुम्णा के मुख का भेदन करके वायु सुखपूर्वक (अनायास ही) उसमें प्रवेश करता है।

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते।
यो मनःसुस्थिरो भावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥10॥
पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालंधराभिधः।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ॥11॥
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥12॥
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयन्।
योगी जराविनिर्मुक्तः षोडशो वयसा भवेत् ॥13॥

वायु जब मध्य में संचरण करता है, तब मन की स्थिरता होती है। और मन की अच्छी तरह से जो स्थिरता होती है, वही 'मनोन्मनी' अवस्था कही जाती है। पूरक के अन्त में 'जालन्धर' नाम का बन्ध करना चाहिए। और कुंभक के अन्त में तथा रेचक के प्रारंभ में 'उड्डियाणक' करना चाहिए। नीचे की ओर मूलरन्ध्र का संकोच करने से कण्ठ का संकोच होता है। और मध्यभाग को पश्चिम की ओर खींचने से प्राणवायु ब्रह्मनाड़ी में गतिशील होता है। अपानवायु को ऊर्ध्व ले जाकर और प्राणवायु को कण्ठ के नीचे ले जाकर योगी जरारहित अर्थात् सोलह साल का-सा तरुण हो जाता है।

सुखासनस्थो दक्षनाड्या बहिस्थं पवनं समाकृष्याकेशमानखाग्रं कुम्भयित्वा सव्यनाड्या रेचयेत्। तेन कपालशोधनं वातनाडीगतसर्वरोगसर्वविनाशनं भवति ॥13-1॥
हृदयादिकण्ठपर्यन्तं सस्वनं नासाभ्यां शनैः पवनमाकृष्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा इडया विरेच्य गच्छंस्तिष्ठन् कुर्यात्। तेन श्लेष्महरं जठराग्निवर्धनं भवति ॥13-2॥

सुखासन पर बैठकर दाहिनी नाड़ी से बाहर की वायु को खींचकर, केश से लेकर नख के अग्रभाग तक उसे रोककर (कुंभक करके) बाँयीं नाड़ी से बाहर निकालना चाहिए अर्थात् रेचक करना चाहिए। ऐसा करने से कपाल की शुद्धि होती है, और वायुनाड़ियों के सभी रोग संपूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। हृदय से लेकर कण्ठ तक आवाज के साथ दोनों नासिकाओं से धीरे-धीरे वायु को खींचकर शक्ति अनुसार कुंभक करके इडा से रेचक करना चाहिए। इस प्रकार उठते-बैठते, चलते-फिरते करते रहना चाहिए। इससे कफ का नाश होता है और जठराग्नि की वृद्धि होती है।

वक्त्रेण सीत्कारपूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्। तेन क्षुत्तृष्णालस्यनिद्रा न जायते ॥13-3॥

Scanned by CamScanner

जिह्वया वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्। तेन गुल्मप्लीहज्वरपित्तक्षुधादीनि नश्यन्ति ॥13-4॥

मुँह से सीत्कारपूर्वक वायु को लेकर यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नासिकाओं से रेचक करना चाहिए। इससे भूख, प्यास, आलस्य और नींद नहीं उत्पन्न होती। जीभ के वायु लेकर यथाशक्ति कुंभक करके दोनों नासिकाओं से रेचक करना चाहिए। इससे गोला, तिल्ली, ज्वर और भूख आदि दोष नष्ट हो जाते हैं।

अथ कुम्भकः। स द्विविधः। सहितः केवलश्चेति। रेचकपूरकयुक्तः सहितः। तद्विवर्जितः केवलः। केवलसिद्धिपर्यन्तं सहितमभ्यसेत्। केवलकुम्भके सिद्धे त्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति। केवलकुम्भ-कात् कुण्डलिनीबोधो जायते ॥13-5॥
ततः कृशवपुः प्रसन्नवदनो निर्मललोचनोऽभिव्यक्तनादो निर्मुक्तरोग-जालो जितबिन्दुः पट्वग्निर्भवति ॥13-6॥

अब कुम्भक के विषय में कहा जा रहा है; वह दो प्रकार है—एक सहित और दूसरा केवल। जो रेचक और पूरक के साथ होता है वह 'सहित' कहलाता है और जो उनसे रहित होता है, वह 'केवल' कहलाता है। इनमें जहाँ तक 'केवल' सिद्ध हो जाए, वहाँ तक 'सहित' का अभ्यास करते रहना चाहिए। जब 'केवल कुम्भक' सिद्ध हो जाता है, तब उस योगी को तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं होता। केवल कुम्भक से कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है। इसके बाद वह योगी पतले शरीरवाला, प्रसन्न मुखवाला, निर्मल नेत्रवाला, नाद को श्रवण करने वाला, सर्वरोगों से रहित, बिन्दु को जीतने वाला और प्रज्वलित जठराग्नि वाला हो जाता है।

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥14॥

जिसका लक्ष्य भीतर ही हो और जिसकी बाहर की दृष्टि निर्निमेष (पलकविहीन) हो और फलस्वरूप जिसका चित्त और वायु विलीन हो गए हों, यह वैष्णवी मुद्रा कहलाती है। सभी तंत्रशास्त्रों में उस मुद्रा को गुप्त और रहस्यमय माना गया है।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा
शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवी ॥15॥
अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पन्दभावोत्तरम्।
ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तु विषयं शाण्डिल्य विद्धीह तत् ॥16॥

अन्तर्लक्ष्य होने के कारण जिसके चित्त और वायु विलीन हो गए हों, वह सदा-सर्वदा का योगी है। अचल (स्थिर) तारक वाली दृष्टि से भले ही वह बाहर और भीतर देखता हो, फिर भी वह अन्य कुछ देखता ही नहीं है। यह स्थिति 'खेचरी मुद्रा' है। वह केवल अपने लक्ष्य में ही एकतान रहता है।

Scanned by CamScanner

इस मुद्रा को मंगलकारक वैष्णवी मुद्रा भी कहा जाता है। इसमें शून्य-अशून्य-रहित तत्त्व परमपद के रूप में प्रकाशित होता है। हे शाण्डिल्य! अधखुले नेत्रवाला, स्थिर मनवाला और नासाग्र में स्थिर दृष्टिवाला योगी निश्चलभाव को प्राप्त करने के बाद चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी का भी विलय करा देता है। उस समय समग्र बाह्य विषयों से रहित ज्योतिरूप देदीप्यमान जो तत्त्व प्रकाशित होता है, वही परमवस्तुरूप उसका विषय होता है ऐसा आपको समझना चाहिए।

तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयन्भ्रुवौ।
पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात् ॥17॥
तस्मात् खेचरीमुद्रामभ्यसेत्। ततो उन्मनी भवति। ततो योगनिद्रा भवति। लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः कालो नास्ति ॥17-1॥

आँख के तारक को ज्योति के साथ जोड़कर, दोनों भौंहों को कुछ ऊपर रखना—यह पहले के अभ्यास का मार्ग है। वह क्षणभर में उन्मनी अवस्था को उत्पन्न कर देता है। इसलिए इस खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इससे उन्मनी दशा प्राप्त होती है। बाद में योगनिद्रा प्राप्त होती है। योगनिद्रा-प्राप्त योगी के लिए कोई काल नहीं होता।

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम्।
मनसा मन आलोक्य शाण्डिल्य त्वं सुखी भव ॥18॥
खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तय ॥19॥

इसलिए हे शाण्डिल्य! शक्ति की मन के बीच स्थापना करके शक्ति को मन के भीतर प्रवाहित करके आप मन से ही मन को देखिए और बाद में सुखी होइए। और आकाश (चिदाकाश) के मध्य में आत्मा की स्थापना कीजिए और आत्मा के बीच चिदाकाश को रखकर, आकाश के सिवा और कुछ है ही नहीं, ऐसा चिन्तन कीजिए।

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका।
सर्वचिन्तां परित्यज्य चिन्मात्रपरमो भव ॥20॥
कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा।
तथा च लीयमानं सन्मनस्तत्त्वे विलीयते ॥21॥
ज्ञेयं सर्वप्रतीतं च तज्ज्ञानं मन उच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ॥22॥
ज्ञेयवस्तुपरित्यागे विलयं याति मानसम्।
मानसे विलयं याते कैवल्यमवशिष्यते ॥23॥

योगी को बाहर की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, इसी प्रकार भीतर के विषय की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार से सभी चिन्ताओं का त्याग करके केवल चैतन्यपरायण ही हो जाइए। जिस प्रकार कर्पूर अग्नि में और लवण (नमक) पानी में विलीन हो जाता है, उसी तरह योगी का मन लीन होते-होते परमतत्त्व में लीन हो जाता है। जानने योग्य सब कुछ जान लिया है, ऐसा जो ज्ञान है, वह मन है। इस प्रकार लीन होता हुआ सब कुछ मनस्तत्व में विलीन हो जाता है। सर्वप्रतीत ज्ञेय है—ऐसा ज्ञान ही मन है, क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय का जब एक ही साथ नाश हो जाता है, तब तो अन्य कोई

Scanned by CamScanner

तालुस्थान के मूल में अवस्थित ग्रन्थि को प्रयत्नपूर्वक जीभ से दबाकर जब प्राणवायु ऊपर के छिद्र में जाता है, तब प्राण की गति रोकी जा सकती है। तालु प्रदेश के ऊर्ध्व भाग की ओर बारह अंगुल दूर तक गमन करने वाला प्राण जब गलित (चेष्टारहित) हो जाता है, तब अभ्यास के द्वारा ऊपर के छिद्र द्वारा प्राणगति रोकी जा सकती है। नाक के आगे बारह अंगुल की दूरी पर, निर्मल आकाश में जब ज्ञानदृष्टि अत्यन्त शान्त हो जाती है, तब प्राण की गति रोकी जा सकती है। भौंहों के मध्य में तारक ब्रह्म के दर्शन से शान्ति होने पर व्यापार बन्द हो जाते हैं और मानसिक संकल्प रुक जाते हैं, तब प्राण की गति अवरुद्ध हो जाती है।

ओमित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं ज्ञेयात्मकं शिवम्।
असंस्पृष्टविकल्पांशं प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥34॥
चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने।
अवासनमनोध्यानात् प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥35॥
एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासंकल्पकल्पितैः।
नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥36॥

केवल ओंकार (प्रणव) के स्वरूप में ही आविर्भूत जो ज्ञान, ज्ञेय और मंगलकारी बनकर जब विकल्प का अंश तक मनुष्य में (साधक में) नहीं रहता, तब प्राण की गति का निरोध होता है। हे मुनि! जब दीर्घकाल तक हृदय में एकान्त आकाश का अनुभव होने से वासनारहित मन ध्यान करता है, तब प्राण की गति रुकती है। इस प्रकार के क्रम से और अन्य अनेक गुरुओं के उपदेशों का अनुसरण करके तरह-तरह के संकल्पों की कल्पनाओं के द्वारा प्राण की गति रुकती है अर्थात् प्राण वश में आ जाते हैं।

आकुञ्चनेन कुण्डलिन्याः कवाटमुद्घाट्य मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥36-1॥
येन मार्गेण गन्तव्यं तद्द्वारं मुखेनाच्छाद्य प्रसुप्ता कुण्डलिनी कुटिलाकारा सर्पवद्वेष्टिता भवति ॥36-2॥
सा शक्तिर्येन चालिता स्यात् स तु मुक्तो भवति। सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेद्योगिनां मुक्तये भवति। बन्धनायाधो मूढानाम् ॥36-3॥
इडादिमार्गद्वयं विहाय सुषुम्नामार्गेणागच्छेत् तद्विष्णोः परमं पदम् ॥36-4॥

कुण्डलिनी का संकोच करके अर्थात् ऊपर की ओर खींचकर, किवाड़ खोलकर साधक को मोक्ष के द्वार का भेदन करना चाहिए (मोक्ष का द्वार खोल देना चाहिए)। गन्तव्य मार्ग का द्वार अपने मुख से ढँककर कुण्डलिनी सोई हुई है। वह टेढ़-मेढ़े आकार की और साँप की तरह लिपट कर वहाँ अवस्थित रहती है। उस कुण्डलिनी शक्ति को जो चलाता है अर्थात् जिसने उसको चालित किया है, वह मुक्त हो जाता है। वह कुण्डलिनी कण्ठ के ऊपर के भाग में यदि सो रही हो, तो वह योगियों को मुक्ति देने वाली होती है। परन्तु, वह यदि कण्ठ के नीचे के भाग में सो रही हो, तो अज्ञानियों के लिए बन्धनकारक होती है। इडा आदि के दोनों मार्गों को छोड़कर सुषुम्ना के मार्ग पर आना चाहिए। क्योंकि वही विष्णु का परमपद है।

Scanned by CamScanner

मरुदभ्यसनं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥37॥
दिवा न पूजयेद्विष्णुं रात्रौ नैव प्रपूजयेत् ।
सततं पूजयेद्विष्णुं दिवारात्रं न पूजयेत् ॥38॥

वायु का सभी तरह का अभ्यास मन के साथ ही होना चाहिए। विद्वान् को उस समय मन की वृत्तियों को अन्यत्र संयुक्त नहीं होने देना चाहिए। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अमुक खास दिवसों में ही विष्णु को नहीं पूजना चाहिए, अथवा अमुक खास रात्रियों में ही विष्णु को नहीं पूजना चाहिए। अपितु विष्णु की पूजा तो करते ही रहना चाहिए। केवल दिन और रात को नहीं पूजना चाहिए।

सुषिरो ज्ञानजनकः पञ्चस्रोतःसमन्वितः ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा त्वं हि शाण्डिल्य तां भज ॥39॥
सव्यदक्षिणनाडीस्थो मध्ये चरति मारुतः ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥40॥
इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ।
तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥41॥
सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बतले पुनः ।
संस्थिता व्योमचक्रे सा मुद्रा नाम्ना च खेचरी ॥42॥

हे शाण्डिल्य! पाँच प्रवाहों वाला यह सुषिर—पाँच इन्द्रियोंरूपी प्रवाह वाला यह हृदयाकाश ज्ञान को उत्पन्न करने वाला है। वहाँ खेचरी मुद्रा रहती है। तुम उसका सेवन (उपासना) करो। बाँई-दाई नाड़ियों के भीतर (उनके मध्य में) रहकर वायु भ्रमण करता रहता है। उस स्थान में खेचरी मुद्रा प्रतिष्ठित है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इड़ा और पिंगला के बीच शून्य भाग है, और वह वायु को निगल जाता है। खेचरी मुद्रा भी वहीं रहती है और वहीं सत्य अवस्थित है। सूर्य-चन्द्र दोनों नाड़ियों के बीच एक निरवलम्ब समतल प्रदेश है, वहाँ (आकाशमण्डल में) खेचरी मुद्रा अवस्थित है।

छेदनचालनदोहैः फलां परां जिह्वां कृत्वा दृष्टिं भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते। जिह्वा चित्तं च खे चरति। तेनोर्ध्वजिह्वः पुमानमृतो भवति ॥42-1॥

छेदन, चालन और दोहन (दुहने की क्रिया) से जीभ को बहुत ही नुकीली बनाकर और दृष्टि को दोनों भौहों के बीच स्थिर करके, जीभ जब उल्टी रीति से गमन (गति) करने लगती है और कपाल के छिद्र में जाती है, तब खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। जीभ और चित्त, ये दोनों कपाल के छिद्ररूप आकाश में घूमते हैं तब ऊर्ध्व की ओर गई हुई जीभवाला साधक अमर हो जाता है।

वामपादमूलेन योनिं संपीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत्। तेन सर्वक्लेशहानिः। ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते। क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वगादिदोषा नश्यन्ति। एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः ॥42-2॥

Scanned by CamScanner

वाँयें पैर के मूल से मूलरन्ध्र को दबाकर और दाहिना पैर फैलाकर उसे दोनों हाथ से पकड़ने के उपरान्त दोनों नासिकाओं में वायु भरकर कण्ठबन्ध (जालन्धरबन्ध) लगाना चाहिए और फिर ऊपर उठे हुए वायु को स्थिर करना चाहिए। इस क्रिया से समस्त क्लेशों का नाश हो जाता है। ऐसा करने से विष भी अमृत की तरह पच जाता है। क्षय, गोला, गुदावर्त, अजीर्ण और चर्मरोग आदि भी इससे नष्ट हो जाते हैं। प्राण को जीतने का यह उपाय सर्वमृत्यु का नाश करने वाला है।

वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणचरणं वामोरूपरि संस्थाप्य वायुमापूर्य हृदये चुबुकं निधाय योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये यथाशक्ति धारयित्वा स्वात्मानं भावयेत्। तेनापरोक्षसिद्धिः ॥42-3॥

बाँयें पैर की एड़ी को पहले गुदास्थान में जोड़े, फिर साधक दाहिना पैर बाँयें पैर पर रखे। बाद में वायु भरकर (अन्दर खींचकर) हृदय पर चिबुक (ठुड्डी) को दबाकर रखे। फिर गुदास्थान को संकुचित करके मन के बीच यथाशक्ति धारण करके अपने आत्मा का ध्यान (चिन्तन) करे। इससे अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि होती है।

बाह्यात् प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम्।
नाभिमध्ये च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नतः ॥43॥
धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु वा सदा।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवेद्योगी गतक्लमः ॥44॥

बाहर से प्राण को भीतर खींचकर उदर में प्रतिष्ठित करे फिर वहाँ से उसको नाभि के बीच, नाक के आगे और पैर के अँगूठे में मन के द्वारा प्रयत्नपूर्वक धारण करना चाहिए। सन्ध्या समय में इस प्रकार जो योगी प्रतिदिन करता रहता है, वह सब रोगों से मुक्त होकर परिश्रमरहित हो जाता है।

नासाग्रे वायुविजयं भवति। नाभिमध्ये सर्वरोगविनाशः। पादाङ्गुष्ठ-धारणाच्छरीरलघुता भवति ॥44-1॥

मन को नासाग्र में रोकने से वायु को रोका जा सकता है। नाभि के बीच रोकने से सभी रोगों का नाश होता है, पैर के अँगूठे पर धारण करने से शरीर में लाघव (हल्कापन) आ जाता है।

रसनाद्वायुमाकृष्य यः पिबेत् सततं नरः।
श्रमदाहौ तु न स्यातां नश्यन्ति व्याधयस्तथा ॥45॥
सन्ध्ययोर्ब्राह्मणः काले वायुमाकृष्य यः पिबेत्।
त्रिमासात् तस्य कल्याणी जायते वाक् सरस्वती ॥46॥
एवं षण्मासाभ्यासात् सर्वरोगनिवृत्तिः।
जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत्।
यः पिबेदमृतं विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ॥47॥

जो साधक जीभ से वायु को खींचकर निरन्तर उसका पान किया करता है, उसे श्रम और दाह नहीं होते और उसके रोग भी नष्ट हो जाते हैं। जो ब्राह्मण दोनों सन्ध्याकाल में वायु को खींचकर पीता रहता है, उसकी वाणी तीन महीनों में कल्याणस्वरूपा सरस्वती हो जाती है। इसी प्रकार छः महीनों तक अभ्यास करने से सभी रोग अवरुद्ध हो जाते हैं। जो विद्वान् जीभ से वायु को लेकर उसे जीभ के मूल में रोकता है, वह अमृत पीता है और सभी प्रकार का कल्याण प्राप्त करता है।

Scanned by CamScanner

बन्ध तथा मुद्राएं

शरीर को पूर्ण रूप से विकार रहित करने के लिए तथा ध्यानात्मक आसनों में बैठने से पूर्व योग साधक के लिए कुछ मुद्राओं का अभ्यास करना व जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है । इसलिए हठयोग में आसनों के साथ - साथ मुद्राओं का भी वर्णन मिलता है । इन मुद्राओं के बारे में विभिन्न मत हैं । स्वात्माराम ने दस बन्ध व मुद्राओं का वर्णन किया है - महामुद्रा , महाबन्ध , महावेध , खेचरी, उड्डियान , मूलबन्ध , जालन्धर बन्ध , विपरीत करणी , वज्रोली , शक्ति चालनी ।[1]

घेरण्ड ने पच्चीस मुद्राओं का वर्णन किया है जो इस प्रकार हैं - महामुद्रा , नभोमुद्रा , उड्डियान , जालन्धर बन्ध , मूलबन्ध , महाबन्ध , महावेध , खेचरी , विपरीतकरणी , वज्रोलि , शक्ति-चालनी , तड़ागी , माण्डवी , शाम्भवी , पञ्चधारणा , अश्विनी , पाशिनी , काकी , मांतगी और भुंजगिनी ।[2] नारायणतीर्थ ने नौ मुद्राओं का वर्णन किया हैं - महामुद्रा , महाबन्ध , खेचरी , शक्ति-

---

1 1 महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्डियानं मूलबन्धस्ततो जालन्धराभिधः ।
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्ति चालनम् ।। ह० प्र० 3.6

2 महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डियानं जलन्धरम् ।
मुलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी ।।
विपरीतकरणी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी ।
तड़ागी , माण्डुकीमुद्रा शाम्भवी पञ्चधारणा ।।
अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी भुंजगिनी ।
पञ्चविंशति मुद्रावै सिद्धिदायनीहठयोगिनाम् ।। घे० सं० 3.1-3

चालनी , मूलबन्ध , उड्डियान बन्ध , जालन्धर बन्ध तथा विपरीत-करणी मुद्रा ।[1] चरणदास ने पाँच मुद्राओं का वर्णन किया है - खेचरी , भूचरी , चाँचरी , अगोचरी , उन्मनी मुद्रा ।[2] इन सभी मुद्राओं में निम्न लिखित मुद्राएं महत्वपूर्ण हैं जो कुण्डलिनी जगाने में सहायक हैं । उनका वर्णन निम्नानुसार है -

1 महामुद्रा : -

[2] बाएँ पाँव की एड़ी से सीवनी नाडी को दबाये तथा दाहिने पाँव को फैला कर उसे दोनों हाथों से दृढ़ता से पकड़ना चाहिए तब जालन्धर बन्ध (जिसका वर्णन आगे किया है) करके वायु ऊपर की ओर ले जाकर कुम्भक करना चाहिए ।

नारायणतीर्थ ने महामुद्रा का वर्णन इस प्रकार किया है । महामुद्रा के अभ्यासी को सर्व प्रथम दोनों टांगों को फैला कर बैठना चाहिए । तदन्तर बाएं पैर को मोड़े और उससे गुदा और मेढ़ू के मध्य भाग में स्थित सीवनी नाड़ी प्रदेश को भलि भांति पीडित करना चाहिए । फैलाए गए दाएं पैर को दोनों हाथों से पकड़े । इसके बाद शरीर के नौ द्वारों को अपने अधीन करके आगे झुकें और ठोडी को हृदय से लगाए ऐसी मुद्रा बन जाने पर प्राण वायु पर नियन्त्रण रखना चाहिए इस प्रकार बाँए पैर से महामुद्रा का अभ्यास करने के पश्चात् पुनः दाँए पैर से इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए ।[3]

2

1 महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
शक्तिचालिनी मूलबन्ध उड्डियानं ततः परम् ॥
जालन्धराभिधेयोयोगो विपरीतकृतिस्तथेति ॥ यो० सि० चं० पृ० 68

2 च० कृ० अ० यो० पृ० 46

3 क पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ ह० प्र० 3.9

ख अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम् । गुरूपदेशतो योनिं गुदमेंढ्र्यान्तरालगाम्
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन तु । नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि
यो० सि० चं० पृ० 70

महामुद्रा के अभ्यास से कुण्डली लगाकर बैठा हुआ सर्प जैसे डण्डे से मारने के पश्चात् दण्ड के आकार का हो जाता है , वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति सहसा सरल हो जाती है और तब दोनों पुटों के आश्रय से प्राण से वियुक्त होने के कारण मरणावस्था जैसी स्थिति हो जाती है । फिर उससे धीरे - धीरे वायु का रेचन किया जाता है , वेग से नहीं । विद्वान इसे ही महामुद्रा कहते हैं ।[1]

जो व्यक्ति महामुद्रा का अभ्यास करता है उसके लिए पथ्य और अपथ्य कुछ भी नहीं रह जाता है । सभी रस नीरस से हो जाते हैं । अधिक भोजन अथवा घोर विष का भोजन भी अमृत के समान पच जाता है । इसके अभ्यास से क्षय , कुष्ठ , गुदावर्त , गुल्म , अजीर्ण इत्यादि रोग नष्ट हो जाते हैं ।

यह महामुद्रा अतिशय सिद्धियाँ प्रदान करने वाली है । इसका प्रयत्न पूर्वक गोपन करना चाहिए । चाहे जिसको इसका उपदेश न देकर केवल उचित अधिकारी को ही इसकी शिक्षा देनी चाहिए ।[2]

---

1 पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्यदक्षिणम् । प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढ.म् ।
कण्ठे बन्धसमारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः । यथा दण्ड हतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥
ऋज्वी भूत्वा तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् । तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया
ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नतु वेगतः । महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुद्धोतमाः ।

ह0 प्र0 3.10 - 13

2 क कथितेयं महामुद्रा महासिद्धि करी नृणाम् ।
गोपीनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ यो0 चूडा0 श्लोक -70

ख नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अति भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥
क्षयकुष्टगुदावर्तगुल्माजीर्ण पुरोगमाः ।
तस्यरोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ वही श्लोक 68 , 69

2 महाबन्ध मुद्रा : -

[4] नारायणतीर्थ के अनुसार सर्वप्रथम साधक दोनों पैरो को फैलाकर एक पैर को (बाएँ पैर को) मोड़. कर सीवनी नाड़.ी पर लगाएँ तथा दाएं पैर को मोड़.कर जंघा पर रखें । तदनन्तर गुदा का आकुञ्चन करके अपान वायु को उर्ध्व मुखी करके समान वायु के साथ मिलाएँ और प्राण को अधोमुखी करना चाहिए ।[1] ऐसा करने से महाबन्ध मुद्रा होती है । स्वात्माराम के अनुसार साधक बाँऐं पैर की एड़.ी को मोड़.कर सीवनी नाड़ी स्थान में लगावें और बांयी जंघा पर दायां पैर रखकर बैठे तथा वायु को पूरित करके ठोड़.ी को हृदय - स्थान में दृढ़.ता से लगावें और गुदा को संकुचित करके मन को नाड़.ी के मध्य सुषुम्ना में लगाना चाहिए । फिर वायु को यथा शक्ति धारण करके धीरे - धीरे रेचन करना चाहिए । इस प्रकार बायें अंग में समान रूप से अभ्यास करके दायें अंग से करना चाहिए ।[2] नारायणतीर्थ और स्वात्माराम दोनों के अनुसार ही यहाँ कण्ठ बन्ध नहीं करना चाहिए ।[3]

महाबन्ध का अभ्यास करने से प्राण तथा अपान वायु उर्ध्वगामी हो जाते हैं , सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं और नाडि.यों का रस समूह ऊपर की ओर प्रवाहित होने लगता है ।[4] महाबन्ध मृत्यु

4

1 योऽस्यां प्रसारितः पादो विनस्य तमुरुपरि । गुदयोनि समाकुञ्चय नीत्वा चापानमूर्ध्वगम् ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् । बन्धदूर्ध्वगत्यर्थमपानप्राणयोः सुधीः ।
कथितोऽयं महाबन्धः । यो० सि० चं पृ० 70

2 पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् । वामोरुपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढ़म् । निष्पीडय योनिमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥
ह० प्र० 3.18 , 19

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः । सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ।वही 3.20

3 ह० प्र० 3.21

4 सर्वसिद्धिप्रदायकः नाड.ीगतद्रसव्यूहर्ध्वं नयति योगिनः । यो० सि० च० पृ० 70

महावेद्य मुद्रा

के भय को दूर करने में समर्थ है तीनों नाडियों ईड.ा , पिड.ला और सुषुम्ना का यहाँ संगम होता है और मन महाकाश (दोनों भौंहों के बीच में जिसे शिव स्थान कहा जाता है) पहुँच जाता है ।[1]

3 महावेध मुद्रा : -

साधक एकाग्रचित होकर पूरक प्राणायाम द्वारा बाह्य वायु को ग्रहण करके मूलबन्ध लगाएँ फिर कुम्भक हेतु जालन्धर बन्ध एवं उड्डियान बन्ध लगाकर उसे रेचक करने तक रोक कर रखें । इस प्रकार महाबन्ध (मूलबन्ध , जालन्धर और उड्डियान बन्ध) द्वारा वायु मध्य मार्ग अर्थात् सुषुम्ना नाड.ी में चलने लगती है । चन्द्रमा , सूर्य तथा अग्नि देवता से अधिष्ठित इड़ा , पिङला और सुषुम्ना ये तीनों नाड़ियाँ इकट्ठी हो जाती हैं उस अवस्था में साधक को पूरित वायु का त्याग करना चाहिए ।[2]

इस महावेध के अभ्यास से साधक को बहुत लाभ की प्राप्ति होती है । इससे झुरियाँ बालपकना तथा कम्पन होना रुक जाता है । इसके अभ्यास से बुढ़ापा , मृत्यु , भय दूर होते हैं तथा जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा अणिमा ,गरिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति होती है । ये तीनों बन्ध गुप्त रखने चाहिए इनका अभ्यास प्रतिदिन तीन बार दो दो घंटे के अन्तर पर करना चाहिए । यह सभी प्रकार के

---

1 कालपाशमहाबन्ध वमोचनविचक्षण: ।
त्रिवेणीसंगमंधत्ते केदारं प्रापयेन्मन: । ह0 प्र0 3.23

2 महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधी: । वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।।
समहस्तो युगो भूमौ स्फिचौ संताऽयेच्छनै: । पुटद्वयमतिक्रम्य वायु: स्फुरति मध्यग: ।।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै । मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ।।
वही 3.25-27

पापों को नष्ट करने वाला है । अच्छे जानकर साधक को भी प्रारम्भ में इसका अभ्यास अल्पमात्रा में करना चाहिए । '

4 खेचरी मुद्रा : -

' जैसा कि इसका नाम है खे = आकाश , चरी = विचरण करना अर्थात् इस मुद्रा का अभ्यास करने से साधक में आकाश में विचरण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है । इस मुद्रा में तीन क्रियाओं द्वारा जिह्वा को लम्बा किया जाता जिससे कि वह उलटकर कपाल कुहर में प्रविष्ट कर सके । और तब दृष्टि भ्रूमध्य लगाने से खेचरी मुद्रा होती है । इन तीन क्रियाओं में जिह्वा का काटना , चालन और दोहन करके जिह्वा को लम्बा किया जाता है

काटना : - थुअर (स्नुही) के पत्ते के समान तीक्ष्ण धारवाले , स्निग्ध तथा निर्मल (गन्दगी रहित) शस्त्र लेकर उसके द्वारा जिह्वा मूल को बाल भर काट दें ।

चालन : - इसके बाद सेन्धा नमक तथा हर्रे के चूर्ण से जिह्वा का घर्षण करना चाहिए सात दिन बाद पुनः बाल भर काटना चाहिए ।

"

1 महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धि प्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥
एतत् त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥
सम्यक् शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथम साधनम् ।

ह० प्र० 3.27-30

[1] दोहन : - दोनों हाथों की दोनों अगुलियों के बीच में लेकर जिह्वा को बार - बार आगे निकालकर बढ़ाने को दोहन की संज्ञा दी है । जैसे गाय का दूध दुहते हैं इसी प्रकार जिह्वा को लम्बा करने के लिए इसका दोहन किया जाता है ।

इसी क्रम से छः मास तक उक्त विधि से प्रतिदिन अभ्यास करने से जिह्वामूल का शिराबन्ध हट जाता है । जिह्वा को उल्टकर कपाल कुहर के अन्दर प्रविष्ट कराना चाहिए यह खेचरी मुद्रा है ।[1]

जो साधक कपाल कुहर में जिह्वा को आधे क्षण मात्र ऊपर लगाकर रखता है , वह साधक विष , रोग , मृत्यु , बुढ़ापा आदि से मुक्त हो जाता है । खेचरी मुद्रा के सिद्धकर लेने पर , रोग , मरण , निद्रा - तन्द्रा , भूख - प्यास आदि द्वन्द नहीं सताते ।[2]

7

1 कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा । भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवन्ति खेचरी ॥
छेदन चालन दोहैः कलां क्रमेण वर्धयेतावत् ।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरी सिद्धिः ॥
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् । समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥
ततः सैन्धव पथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् । पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥
एवं क्रमेण षण्मासंनित्ययुक्तः समाचरेत् । षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ॥
कलां पराङ्मुखी कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् । सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योम चक्रं तदुच्यते ॥
ह0 प्र0 3.31-36

2 रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति । विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥
न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ वही 3.36-40

खेचरी मुद्रा के द्वारा सोम रस का पान का लाभ : -

[8] मेरुदण्ड और मस्तिष्क के बीच में सोम कला पूर्ण विवर है वही नदियों (इड़ा , पिङ्गला आदि) का मुख कहा जाता है । उसे विद्वान लोग आत्मतत्त्व भी कहते हैं । शरीरस्थ सोममण्डल से निकले हुए स्राव का नष्ट होना ही मृत्यु का कारण माना है । अतः उस स्राव का निरोध खेचरी मुद्रा के द्वारा किया जाता है । जिह्वा को कपाल कुहर में प्रविष्ट करा कर , मुख को ऊपर करके पराशक्ति का ध्यान करके , षोडशदल कमल में प्रवाहित प्राण के सहारे अनायास प्राप्त निर्मल धारा रुप तरंग के समान सोम स्राव का जो पान करता है वह कमल तन्तु के समान कोमल शरीर वाला योगी , व्याधि से मुक्त होकर चिरकाल तक जीवित रहता है ।

यदि जिह्वा का अग्र भाग लगातार सोममण्डल से निकले सोम रस का पान करता रहे तो जिह्वा नमकीन खट्टा , दूध , शहद , घी के स्वाद का अनुभव करती है । ऐसे साधक के सभी रोगों तथा बुढ़ापे का अन्त हो जाता है ।उस पर शस्त्र प्रहार का प्रभाव नहीं होता । वह अणिमा वाले आठ सिद्धियों को तथा अमरत्व प्राप्त करता है तथा उसके प्रति सिद्धाङ्गनाएँ आकर्षित होती है । जिस साधक का शरीर प्रतिदिन सोमस्राव से भरा रहता है उसको सर्प के काटने पर विष नहीं चढता । जिह्वा के प्रवेश से उत्पन्न उष्णता के कारण चन्द्र (आज्ञा-चक्र) से जो सार स्रवित होता है उसे नाभिमण्डल में स्थित सूर्य भस्म कर देता है । उसे जिह्वा से पान करने पर साधक का शरीर अमरत्व को प्राप्त होता है ।'

---

8 1 यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरूमूर्धान्तरस्थम् तस्मिंस्तत्त्व प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् चन्द्रात्
सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणाम् तद्बध्नीयात् सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ।
उर्ध्वः षोडशपत्रमध्यगलितं प्राणादवाप्तं हठात् । उर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां
चिन्तयन् उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेत् ।
निर्व्याधिः समृणालकोमल वपुर्योगी चिरं जीवति ।
चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी सक्षारा
कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ॥ क्रमशः . . .

पाँच स्रोतो से युक्त जो विवर है वही ज्ञान का उत्पादक है उसी अज्ञान रहित शून्य में खेचरी मुद्रा विद्यमान रहती है । सृष्टि का मूल बीज प्रणव (ॐकार) ही है । मुद्राओं में खेचरी मुद्रा है , निरालम्ब ही एक परमात्मा है , मनोनमनी अवस्था ही एक अवस्था है ।[1]

[1] ऐसा करने से कुण्डली उस सुषुम्ना के मुख को निश्चित रुपसे छोड. देती है जिससे वह (प्राण) अपने आप सुषुम्ना में चलने लगता है । इस प्रकार सुखपूर्वक सोती हुई अरुन्धती को प्रतिदिन चलाना चाहिए इसके संचालन मात्र से ही योगी रोगों से छुटकारा पा लेता है । कुण्डलिनी के अभ्यास से बहत्तर हजार नाडि.यों का शोधन होता है ।[2] जो साधक शक्ति चालनी मुद्रा का अभ्यास करता है उसकी जठराग्नि प्रदीप्त होती है । वह रोगों से मुक्त रहता है तथा चिरकाल से मूलाधार चक्र में सुप्त कुण्डलिनी शक्ति अपने सर्पाकार रुप को छोड.कर सुषुम्ना नाडी की सहायता से अर्ध्वगामिनी हो जाती है ।[3]

---

9 पिछले फुटनोट का शेष

व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणम् । तस्य स्यादमरत्वम् अष्ठगुणितम् सिद्धाड.गनाकर्षणम्
नित्यं सोमकलापूर्णम् शरीरं यस्य योगिनः । तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥
जिह्वा प्रवेश सम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु । चन्द्रात् स्रवति यः सार सा स्याद् अमरवारुणी ॥
तथा सोमकलापूर्ण देही देहं न मुञ्चति ॥ ह0 प्र0 3.45 - 51

1 सुषिरं ज्ञान जनकं पञ्चस्रोतः समन्वितम् । तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन शून्ये निरञ्जने ॥
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी । एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥
वही 3.52 , 53

2 तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥
तस्मात् सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् । तस्याः संचालनैव योगी रोगैः प्रमुञ्चयते ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने । कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥
ह0 प्र0 3.114 , 115 , 119

3 अग्निवृद्धि र्भवेतस्य रोगाणां च विनाशनम् । विहाय मुद्रां भुजंगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु
तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता । यो0 सि0 च0 पृ0 71

5 उड्डियान बन्ध मुद्रा : -

10 श्वास को बाहर निकाल कर पेट को अन्दर सिकोड़ने को उड्डियान बन्ध कहते हैं । उदर को नाभि के ऊपर , नीचे और पीछे की ओर खींचें ।[1] नाभि के ऊपर और नीचे का भाग यत्नपूर्वक पीठकी ओर खींचने का अभ्यास करने से साधक छः मास में ही मृत्यु को जीत लेता है ।[2] सुषुम्ना के अन्दर निरूद्ध प्राण इसके द्वारा उठाया जाता है, प्राण रुपी महापक्षी निरन्तर उड़ान भरता रहता है । इसलिए इसे उड्डियान नाम से अभिहित किया गया है । सभी बन्धों में उड्डियान बन्ध श्रेष्ठ है । उड्डियान बन्ध का अभ्यास दृढ. हो जाने पर मुक्ति का मार्ग सरल हो जाता है । प्रतिदिन चार बार अभ्यास करने से साधक का नाभि में स्थित नाभिचक्र , सूर्य चक्र शुद्ध हो जाते हैं और चक्र की वायु उसके अधीन हो जाती है ।[3]

नारायणतीर्थ के अनुसार उड्डियान मुद्रा में साधक दोनों हाथों से पैरों को पकड़े । गुल्फ प्रदेश के समीप ला कर उसे पीडि.त करे । ऐसा करने से उड्डियान मुद्रा लगती है ।[4]

10

1 उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् । ह0 प्र0 3.56

2 नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात् प्रयत्नतः । वही 3.58

3 क बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्यो यं योगिभिः समुदाहृतः ॥
उड्डीनं कुरूते यस्मादविश्रान्तं महाखगः । वही 3.54.55

ख सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ।
उड्डियाने दृढ. बद्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ वही 3.57

ग षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ वही 5.58

4 सति वज्रासने पादौकराभ्यां धारयेद्दृढ.म् । गुल्फदेशे समीपे च उदरं तत् प्रपीडयेत् । पश्चिमं तानमुदरं कारयेच्चिबुकं हृदि । शनैः शनैर्यथा प्राणस्तुन्दसिद्धिं न गच्छति ॥
यो0 सि0 च0 पृ0 72

6 जालन्धर बन्ध : -

" कण्ठ का संकोचन करें और छाती पर ठोडी रखें तो जालन्धर बन्ध होता है ।[1] देवताओं को भी दुष्प्राप्य जालन्धर बन्ध के लिए साधक कण्ठ से शिरा जाल को बान्धा कर चिबुक को हृदय प्रदेश पर्यन्त ले जाकर दृढ़. रीति से स्थिर रखें । ऐसा करने से जालन्धर बन्ध सिद्ध होता है ।[2] हठयोग प्रदीपिका में जालन्धर पद का अर्थ करते हुए लिखा है जो शिराओं के समूह रुपी जाल को बांधता है और कपाल छिद्र रुप नभ में स्थित सोम स्राव को नियन्त्रित करता है , उसे जालन्धर बन्ध कहते हैं ।[3] इसका विजयी योगजैश्वर्य प्राप्त करता है ।[4]

जालन्धर बन्ध करने से सोमस्राव जठराग्नि में नहीं गिरता और वायु का प्रकोप नहीं होता । जालन्धर बन्ध को मध्य चक्र कहा गया है इसके द्वारा शरीर के अन्दर के सोलह आधारों का नियन्त्रण होता है ।[5]

घेरण्ड ने भी इसे सोलह प्रकार का आधार बन्ध माना है ।[6]

"

1 कण्ठ संकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदयेन्यसेत् ।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम् ॥ घे० सं 3.12

2 बध्वा गले शिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥ यो० सि० च० पृ० 72

3 बध्नाति हि शिराजालमधोगामिनभोजलम् । ह० प्र० 3.70

4 एतस्याभ्यासतो योगी योग सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ यो० सि० च० पृ० 72

5 जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥ ह० प्र० 3.71 , 72

6 जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धम् । घे० स० 3.12

7 मूलबन्ध : -

[12] इसका स्थान गुदा में है । इसके अभ्यास हेतु गुदा स्थान में बन्ध लगाया जाता है । बाऐं पैर की एड़ी से गुदा द्वार को बन्द करके ऊपर की ओर अंकुचन करना चाहिए । ऐसा करने से सभी वायु का नियन्त्रण हो जाता है और नीचे की वायु ऊपर की ओर जाने लगती है । प्राण - अपान का मिलन सहज में ही हो जाता है । योग में मूलबन्ध का बड़ा महत्व है। इससे जठराग्नि की वृद्धि होती है । रक्त सम्बन्धी विकार दूर हो जाते हैं । [1]

8 भूचरी मुद्रा : -

इस मुद्रा का निवास नासिका में है । प्राण और अपान जो अलग - अलग हैं उन्हें एक करती है प्राण जहाँ है , अपान को उस स्थान पर लाकर उस पर बडी युक्ति से संयम करके ध्यान करें । जब प्राण वायु पर नियन्त्रण हो जाता है तब उसकी चंचलता समाप्त हो जाती है और प्राणवायु उर्ध्व होकर ब्रह्मरन्ध्र की ओर चढ़ने लगता है । इसको इस प्रकार से किया जाता है - पहले मूलबन्ध करें , पैर की एड़ी गुदा भाग में लगा कर सिद्धासन लगावें । इस प्रकार से पवन व मन को अपने वश में करना चाहिए अपानवायु प्राणवायु बन कर ऊपर की ओर चढ़ने लगे तो वह प्राणवायु बन जाती है । [2]

---

12 1 गुदा द्वार बन्धन दे ठानौ । बाये पांव कि एड़ी सेती । मूलद्वार रोकै करि हेती ।
ऊधही कूँ खैंचन कीजै । अरू कबहूं मन ऐसी धरै । आसन पदम करन कू करै ।।
प्राण अपान सहज मिल जावै । जटर अगन बाढै अधिकाय । जो चाहे तो बहुत खाय ।
च0 कृ0 अ0 यो0 प्र0 48

2 दूजी मूद्रा भूचरी , नासा जाको वास । प्राण अपान जुदी जुदी एक करै चरणदास ।।
जितकी तितग्ग्रा प्राण को , वा धरलाय अपान । ताहि मिलावै युक्तिसूं करि करि संयम ध्यान ।।
जब वह जीतै पवनकूं , मन चंचल ठहराय । गगन चढ़न की आश हो , कहै शुकदेव सुनाय ।।
गुदाद्वार बंध दीजिए , एड़ी पाँव लगाय । आसन सिद्ध जु कीजिए , मन पवनावश लाय ।।
अपान वायु जब वशभवै , ऊध खैंच चलाय । सनई सनई जा चढै , प्राण वायु हवै जाय ।।
च0 कृ0 अ0 यो0 पृ0 46

9 चांचरी मुद्रा : -

" चाँचरी मुद्रा का निवास नेत्रों में है । अपनी नासिका के चार अँगुल आगे चित्त को एकाग्र करना चाहिए इससे पाँचों तत्व खुल जाते हैं उनका रहस्य सामने आ जाता है । मन व पवन स्थिर हो जाते हैं । उसके बाद नासाग्र दृष्टि करनी चाहिए । नासाग्र दृष्टि करने से बहुत से आश्चर्यजनक दृश्य सामने आयेगें तथा स्वर्ग की अनुभूति होगी । वहाँ से फिर भ्रूमध्य दृष्टि लगानी चाहिए । यहां पर बड़े नक्षत्र के दर्शन होगें । उगता हुआ सूर्य जैसा दृष्टिगोचर होगा । यहां पर चित्त व चेतन शक्ति दोनों एकाकार हो जाती हैं । तथा लय की उत्पति होती है और दुविधा मिट जाती हैं ।[1]

10 मातङ्गनी मुद्रा : -

इस मुद्रा में जल में कण्ठ पर्यन्त खड़े होकर नासापुटों से जल खींच कर मुख द्वार से बाहर निकालना चाहिए । फिर मुख के द्वारा जल खींच कर नासिका द्वार से निकालें । इसका अभ्यास बार - बार करना चाहिए । यह मातंगिनी नाम की परम मुद्रा है , जिसके सिद्ध होने पर जरा, मृत्यु का भय नहीं रहता । इसे किसी एकान्त स्थान में एकाग्रचित होकर करना चाहिए । इसके सिद्ध होने पर

---

13 1 तीजी मुद्रा चाँचरी , जाको नैनन वास । नासा आगे दृष्टिकूं राखोमन धर आस ॥
अंगुल चार नासिका आगे । चित अस्थिर करि देखन लागे ॥
खुले पाँच तत्व करे जू कोई । मन अरू पवन जहां थिर होई ॥
फिर श्वासु नासा परि आवै । अचल टकटकी तहां लगावै ॥
जहँ बहुतक अचरज दरसावै । विभव स्वर्ग के आगे आवै ॥
जितसूं पलट त्रिकुटी माहीं । ध्यान करै कहुँ अन्त न जाही ॥
दीरघ तारागा परकासै । उदय होय सूरज ज्यों भासे ॥
चित चेतन दोउ मेला करै । लै उपजै अय दुविधा हरै ॥
यहीं चाँचरी मुद्रा जानै । चरणदास यांकू पहिंचानै ॥ च० कृ० अ० यो० पृ० 46

योगी हाथी के समान बलवान हो जाता है और सदा सुखी रहता है । इस मुद्रा को यत्न पूर्वक करना चाहिए ।[1]

11 तड.ागीमुद्रा : -

" यह मुद्रा पश्चिमोतान आसन में बैठ कर की जाती है उदर को तड.ाग के समान स्थित करने से तात्पर्य है उसे जल से परिपूर्ण सरोवर के समान वायु से भरना चाहिए ।[2]

12 माण्डुकी मुद्रा : -

यह मुद्रा करने के लिए मुख को बन्द करके तालु में जिह्वा को घुमाना चाहिए । फिर जिह्वा के द्वारा सहस्रार से टपकते हुए सुधा रस का धीरे - धीरे पान करना चाहिए । यह माण्डुकी मुद्रा कहलाती है । यह सुधा रूपी अमृत साधक के स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकर और बल प्रदान करने वाली है । इसके अभ्यास से साधक के केश सफेद नहीं होते और अत्यन्त लावण्यता की प्राप्ति होती है ।[3]

14

1 कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत् । मुखान्निर्गयेत पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत् ॥
नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः । मातङि्गनी परामुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी ॥
विरले निर्जने देशे स्थित्वा चकाग्रमानसः । कुर्यान्मातङि्गनी मुद्रां मातड्.ग इव जायते ॥
यत्र यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते । तस्मात् सर्वप्रयत्नेनसाधयेत् मुद्रिकांपराम ॥
घे0 सं 3.88 - 91

2 उदरं पश्चिमोतानंकृत्वा तड.ागा कृति । तड.ागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥
वही 3.61

3 मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् । शनैर्ग्रसेदमृतं तन्माण्डूकीं मुद्रिकां विदुः ॥
वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम् । न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम् ॥
वही 3.62 , 63

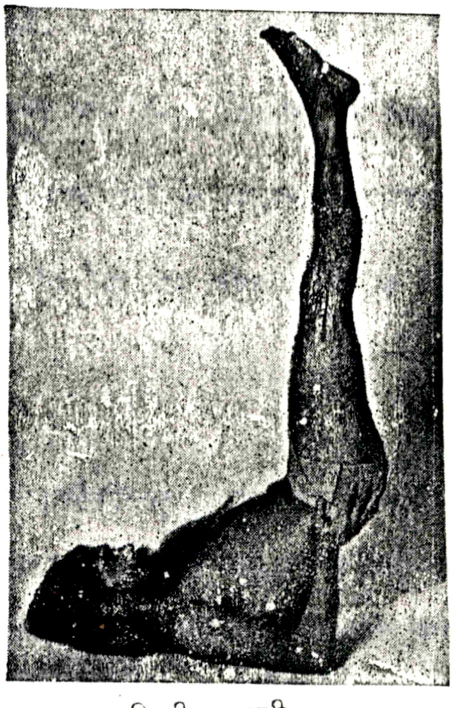

विपरीत करणी

13 शाम्भवीमुद्रा : -

" साधक इसमें दृष्टि को भौंहों के मध्य स्थिर करके एकाग्र मन से चिन्तन करते हुए परमात्मा का दर्शन करे । यह शाम्भवी मुद्रा है । इसे इस प्रकार से गोपनीय रखना चाहिए यथा कुलवधू । इसका अभ्यास करने वाला साधक स्वयं नारायण जगत स्रष्टा ब्रह्मा ही है ।[1] यह अभ्यास मन व प्राण को संयमित करता है । कुछ समय के अभ्यास से ही साधक का मस्तिष्क अध्यात्म चिन्तन में मग्न होने में समर्थ होने लगता है । '

14 विपरीत करणी मुद्रा : -

जिस मुद्रा में पदार्थों की दिशा का व्युत्क्रम किया जाता है उसे विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं । पैर ऊपर और सिर नीचे करने से जब साधक के उर्ध्वभाग में नाभि और अधो भाग में तालु स्थित हो जाता है तो ऊपरी भाग में अग्निरुप सूर्य और नीचे भाग में अमृतरूप चन्द्रमा आ जाते हैं तब विपरीत करणी मुद्रा सिद्ध होती है ।[2] दिव्य रुप सोममण्डल से जो अमृत स्रवित होता है । उस सबको सूर्य ग्रस लेता है और इससे शरीर में बुढ़ापा आ जाता है । नाभि को ऊपर और तालु को नीचे करने से सूर्यमण्डल ऊपर और सोममण्डल नीचे हो जाता है इसलिए इसे विपरीत करणी कहते हैं ।[3]

---

15 1 नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत् । सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता ॥
वेदशास्त्रा पुराणानि सामान्य गणिका इव । इयं तु शाम्भवीमुद्रा गुप्ताकुलवधूरिव ॥
स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम् ।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ती शाम्भवीम् ॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वर ।
शाम्भवीं यो विजानीयात स च ब्रह्म न चान्यथा ॥ घे0 सं 3.64-67

2 उर्ध्वं नाभिरधस्तालुरुर्ध्वभानुरधः शशी । करणी विपरीताख्या सर्व व्याधि विनाशिनी ॥
यो0 सि0 च0 पृ0 72 , ह0 प्र0 3.78

3 यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरुपिणः ।
तत् सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ह0 प्र0 3.76

इसका अभ्यास धीरे -धीरे करना चाहिए । प्रथम दिन एक क्षण तक नीचे की तरफ सिर और ऊपर की ओर पाँव करने चाहिए । इसका दूसरे दिन अभ्यास कुछ बढ़ाना चाहिए ।[1]

[16] इसके अभ्यास से छः महीने बाद ही झुर्री तथा सफेद बाल दिखाई नहीं पड़ते । जो साधक एक पहर तक इसका अभ्यास करता है वह मृत्यु को जीत लेता है ।[2]

15 शक्ति चालिनी मुद्रा : -

मूलाधार चक्र के कमल पर प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को अपान वायु से बार - बार आकृष्ट करें यही शक्ति चालन मुद्रा है ।[3] मूलाधार में जो कुण्डलिनी साढ़े तीन लपेटे लगाए हुए सर्पिणी के रूप में सो रही है । उसके सोते रहने पर योगी पशु (अज्ञानी) अवस्था में रहता है ।[4] कुण्डलिनी सर्प के आकार के सामान टेढ़ी मेढ़ी है । कन्द के ऊपर सोती हुई कुण्डलिनी योगियों के लिए मोक्ष दायिनी और मूढ़ लोगों के लिए बन्धन का कारण बनती है । जिस मार्ग से क्लेश रहित ब्रह्मपद को जाया जाता है उस मार्ग को मुख से ढककर कुण्डलिनी सोई रहती है ।[5]

---

16 1 क अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने ।
क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने-दिने ॥ ह० प्र० 3.80

ख गुरूपदेशतः सम्यङ् नतु शास्त्रार्थ कोटिभिः । वही 3.80

ग वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ॥ वही 3.81

2 नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्नि विवर्धिनी ॥ आहारो बहुलंस्तस्य साधकस्य च ॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥ वही 3.79

3 आधार कमले सुप्तां चालयेत् कुण्डलिम् दृढाम् । अपान वायुनाकृष्य बलादाकृष्य बुद्धिमान
शक्ति चालनमेवं हि प्रत्यहं यः समभ्यसेद् । यो० सि० च० पृ० 71

4 मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता । शयिता भुजगाकारा सार्ध्द त्रिवलयान्विता ॥
घे० सं 3.49

5 कुण्डलीनी कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता । कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्
बन्धनाय च मूढानाम् यस्तां वेत्ति स योगवित् । येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी । ह० प्र० 3.102 - 104

कन्द : -

" मूल स्थान से नौ इंच ऊँचाई वाला तथा चार अंगुल चौड़ाई वाला कोमल तथा सफेद वस्त्र में लिपटे हुए के समान कन्द का लक्षण किया गया है ।[1]

कुण्डलिनी : -

कुटिलाङ्गी , कुण्डलिनी , भुजङ्गी , शक्ति , ईश्वरी , कुण्डली , अरुन्धती आदि कुण्डलिनी के पार्यायवाची है ।[2]

वज्रासन में बैठकर दोनों हाथों से दोनों पाँवों के टखनों को दृढ़ता से पकड़ें और उससे कन्द को जोर से दबाए । कुण्डलिनी चालन करके भस्त्रिका कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिए । मूलाधार में स्थित उस कुण्डलिनी को प्रातः, सायं आधा प्रहर तक सूर्य नाड़ी से पूरक करके युक्तिपूर्वक प्रतिदिन चलाना चाहिए ।[3]

17

1 उर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ॥ ह० प्र० 3.109

2 कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी , भुजङ्गी , शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दा पर्यायवाचकाः । वही 3.100

3 सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढ़म् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।
वज्रासने स्थितौ योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरम् भस्तां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥
अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात् परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥
वही 3.108 , 110 , 111

16 अगोचरी मुद्रा : -

[18] इस मुद्रा का मूल स्थान कानों में है इसके करने से योगी को सुख की प्राप्ति होती है । इस मुद्रा से ज्ञान व स्मृति दोनों एक होकर अदृश्य हो जाते हैं । मन व इन्द्रियाँ स्थिर होकर अनाहत नाद के शब्द में लीन हो जाती हैं ।[1]

17 उन्मनी मुद्रा : -

इस मुद्रा का वास ब्रह्मरन्ध्र में है वहाँ साधक सिद्ध होकर समाधि में मिल जाता है । सभी आशाएं क्षीण हो जाती हैं । वहाँ पर काल का कोई भय नहीं , केवल आनन्दनुभूति ही है । यहाँ पर तीनों गुणों का कोई स्थान नहीं है और न माया का और न क्लेश का । उस स्थान पर जीवात्मा परमात्मा हो जाता है , ध्याता , ध्यान व ध्येय मिलकर एकाकार हो जाते हैं , अन्य कोई क्रिया नहीं रहती है ।[2]

---

18 1 कहुँ अगोचरी चौथी मुद्रा । तामें सुख पावै योगींद्रा ।
यामुद्राका संस्थान बासा । शुकदेव कहैं सुत चरणहि दासा ।।
ज्ञान सुरति दोउ एक ह्वै , पलट अगोचर जाय ।
शब्द अनाहत में रते , मन इन्द्रीथिरपाय ।।
च0 कु0 अ0 यो0 पृ0 46

2 पाँचवी मुद्रा उनमानी , दशवें द्वारे वास ।
सिद्ध समाधि मिलै जहाँ, दग्धहोय सब आस ।।
आनंदहि आनंद जहाँ , तहां न काल कलेश ।
तीनों गुन नहि पाइये , ह्यांनहिं मायालेश ।।
जीवातम परमात्मा , होय जाय वा ठौर ।
ध्याता ध्यानन ध्येय जहँ , तहांन किरिया और ।
वही पृ0 47

18 पाशिनी मुद्रा : -

" दोनों पाँव को कण्ठ के पीछे ले जा कर उन्हें परस्पर मिलाकर पाश के समान दृढ़ता से बाँध लें । यह शक्ति को जागृत करने वाली पाशिनी मुद्रा है । सिद्धि की आकांक्षा वाले योगी को प्रयत्न पूर्वक इसका अभ्यास करना चाहिए ।[1]

19 अश्विनीमुद्रा : -

गुदा द्वार का बार - बार संकोचन और प्रसार करना ही यह अश्विनी मुद्रा कहलाता है । इससे कुण्डलिनी का जागरण होता है । यह मुद्रा गुह्य रोगों को नष्ट करने वाली शारीरिक शक्ति को बढ़ाने वाली , अकाल मृत्यु का हरण करने वाली है ।[2]

20 काकीमुद्रा : -

मुख को कौए की चोंच के समान करने से उसके द्वारा धीरे - धीरे वायु का पान करना चाहिए । यह सभी रोगों को नष्ट करने वाली काकी मुद्रा होती है । इस मुद्रा को सब प्रकार से गुप्त रखना चाहिए । इस मुद्रा के करने से कौए के समान रोग-राहित्य की प्राप्ति होती है ।[3]

---

[10] 1 कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढ़बन्धनम ।
सा एव पाशिनीमुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी ॥
पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टि विधायनी ।
साधिनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः ॥ घे० सं 3.84 , 85

2 आकुंचयेद गुदाद्वारं प्रकाशयेत्पुनः पुनः । सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥
अश्विनी परमामुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी । बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणंहरेत् ॥ वही 3.82, 83

3 काकचञ्चुवदास्येन पिबेद् वायुं शनैः शनैः ।
काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ॥
काकी मुद्रा परमुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता ।
अस्याः प्रसाद मात्रेण न रोगी काकवद् भवेत् ॥ वही 3.86 , 87

21 भुजंगी मुद्रा : -

[20] मुख को फैला कर कण्ठ से वायु का पान करना चाहिए । यह भुजंगिनी मुद्रा कहलाती है । इसके सिद्ध होने पर जरा व मृत्यु का नाश होता है । इससे अजीर्ण आदि सभी रोग नष्ट हो जाते है ।[1] इन मुद्राओं के अभ्यास से शरीर में स्थिरता उत्पन्न होती है तथा कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है ।

20

1 वक्त्रांकिंचित् सुप्रसार्य चानिलं गलयापिबेत् ।
साभवेद् भुजगींमुद्रा जरा मृत्युविनाशिनी ॥
यावच्च उदररोगा अजीर्णादिविशेषतः ।
तत् सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजङ्गिनी ॥ वही 3.82 , 83

यथा—बोझिल पृथिवी तत्त्व के कारण वायु की गति हाथी की तरह मन्द रहती है। जल-तत्त्व प्रवहमाण होने के कारण वायु की गति मकर की तरह, पात्र में भोजन पकते समय वायु की बुद्बुदाहट के समान जठराग्नि के कारण वायु की गति मेढ़े (मेष) की तरह, हृदय में वायु तत्त्व की प्रधानता के कारण वायु की गति हिरण (मृग) की तरह छलाँग मारकर चलने वाली तथा कण्ठ-स्थान में व्योम तत्त्व की विभुता (विशालता) के कारण वायु की गति हाथी की तरह हो जाती है। बालापद्धति के अनुसार चक्रों के देव और देवियाँ कुछ भिन्न हैं—

गणेश्वरो विधिर्विष्णः शिवो जीवो गुरुस्तथा ।
षडेते हंसतामेत्य मूलाधारादिषु स्थिताः ॥

और इनकी शक्तियाँ इस प्रकार हैं—

शक्तिः सिद्धिर्गणेशस्य ब्रह्मणश्च सरस्वती ।
लक्ष्मीनारायणस्यापि पार्वती च पिनाकिनः ॥
अविद्या चैव जीवस्य गुरोर्ज्ञानं परापरम् ।
मोक्षबीजात्मिका विद्या शक्तिश्च परमात्मनः ॥

कंद की अवस्थिति :—

लिङ्ग और गुदा के मध्य मेरुदण्ड का अधःप्रदेश सामान्य रूप से कन्द का स्थान माना गया है। फतेहगढ़ जिले के श्रृङ्गीरामपुर नामक स्थान से श्री भगवती प्रसाद सिंह "डिप्टी कलेक्टर" को प्राप्त[1] एक चित्र में कन्द का स्थान नाभि दिखाया गया है। यहीं पर प्राप्त एक अन्य चित्र में नीचे की ओर सात लोक शेषनाग तथा आदि कूर्म भी चित्रित हैं, जो केवल इसी चित्र की विशेषता है। इस चित्र में "गर्भपुर नामक स्थान के ऊपर कुण्डलिनी की अवस्थिति है। इसके ऊपर हृत्पुण्डरीक है।[2]

एक अन्य पाश्चात्य विचारक के अनुसार महाशक्ति कुण्डलिनी अनाहत चक्र (हृदय) के पास होती है जिसकी रचना पेरिस से प्रकाशित एक पुस्तक Theosophica Practice में उपलब्ध होती है।[3] जर्मन दार्शनिक गिरवनेल के अनुसार मूलाधारादि के सहस्रार तक के चक्रों का सम्बन्ध चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मङ्गल, बृहस्पति तथा शनि से है।

---

१. कल्याण शक्ति अङ्क, पृ० ४५४।
२. वही।
३. वही, पृ० ४५५।

कुण्डलिनी-जागरण के सोपान—

साधना-जगत् में कुण्डलिनी-जागरण के लिये निम्नलिखित सोपान स्वीकार किये गये हैं :—

१. शोधन (षट्कर्म)
२. प्राणायाम और उसके भेदों का अभ्यास।
३. मुद्रा
४. षट्चक्रों की भावनायें—
(क) भस्त्रिका प्राणायाम के दोनों प्रकार—५ से २५ प्राणायाम
(ख) शक्ति चालिनी मुद्रा के दोनों प्रकार—५ से १० प्राणायाम
(ग) ताड़न मुद्रा—४ प्राणायाम में १०१ संख्या (बार)
(घ) परिधान युक्तिचालन—४ प्राणायाम में १०१ संख्या (बार)
(ङ) शेष समय में षट्चक्र-भेदन की मानसिक क्रियायें या संयम
(च) महामुद्रा
(छ) महाबन्ध
(ज) महाबेध उभय प्रकार
(झ) विपरीतकरणी मुद्रा
(ञ) शेष समय में षट्चक्र-भेदन की क्रिया

षट्चक्र-भेदन क्रिया के अन्तर्गत प्रत्येक चक्र के स्थान दल, उनके वर्ण, अक्षर, मन्त्र, तत्त्व, अधिष्ठान, देव-शक्ति, उनके वाहन, बीज मंत्र, लोक, गुण, इन्द्रिय आदि का ध्यान करना चाहिये।

यह अभ्यास नियमित होना चाहिये। साधना में पहले तो शरीर से स्वेद निकलेगा किन्तु बाद में विद्युत् के समान शरीर में चमक उत्पन्न होगी। कुछ दिन के बाद चींटी के चलने के समान प्राण-शक्ति-गमन की अनुभूति होगी। तभी धीरे-धीरे मूलाधार का भेदन और कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन का अनुभव होगा।

शक्ति का जागरण :—

सन्त ज्ञानेश्वर के अनुसार वज्रासन में मूलबन्ध करके (अर्थात् दाहिने पैर की एड़ी से गुदा और शिश्न के बीच चार अङ्गुल की जगह में १½"—१½" ऊपर नीचे छोड़कर बचे हुये ? इंच के स्थान को दबाकर तथा पूरक के साथ-साथ मूलबन्ध करके) पीठ के नीचे के हिस्से को थोड़ा ऊपर की ओर खींचे। यह कार्य सहज भाव से होना चाहिये। इसके बाद जालन्धर तथा उड्डीयानबन्ध लगाना चाहिये। ऐसा करने से अपान वायु ऊपर की ओर उठकर विशालता को प्राप्त

कर रोगों का विनाश करती हैं तथा पृथ्वी और जल के अंश का संयम करती है। वज्रासन की उष्णता कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करती है।

(ज्ञानेश्वरी, अध्याय ६/१९२-२२१ का हिन्दी अनुवाद, पृ० १३४/३६)

सन्त ज्ञानेश्वर कुण्डलिनी-जागरण का प्रतीकात्मक वर्णन करते हुये कहते हैं कि जब कुण्डलिनी जागृत होती है, उस समय वह ऊपर की ओर मुँह फैलाकर बड़े वेग से झटका देती है। लगता है कि बहुत भूखी है तथा कुछ खाने के लिये अधीर हो गई है। इस स्थिति में यह क्षिति और अप् के भाग को चट कर जाती है, यद्यपि अभी वह अपने स्थान से हटती नहीं। अर्थात् वह हथेलियों और पाँव के तालुओं को शोधकर उनका रक्त मांसादि खाकर ऊपर के चक्रों को भेदती है। प्रत्येक अङ्ग के जोड़ तथा नखों के सत्त्व को भी निकाल लेती है। त्वक् के मल को धो-पोछकर स्वच्छ करके उसे अस्थिपंजर से सटाये रहती है। पृथिवी और जल को आत्मसात् करने पर तृप्त होकर सुषुम्णा के समीप शान्त भाव में पड़ी रहती है। इस समय उसके मुंह से निकले हुये (गरल रूप) अमृत का पान कर प्राणवायु जीवित रहता है। यह अमृत उसके मुंह में तब गिरता है जब वह जागती है, जागकर मुंह फैलती है तब ऊपर का चन्द्रामृत सरोवर उलट जाता है। इस समय वह अमृत-रस सर्वाङ्ग में भर जाता है और योगी दिव्य शान्ति को प्राप्त करता है।

कुण्डलिनी जागृत होने पर साधक की पपड़ी सी सूखी त्वचा भूसी की तरह निकल जाती है और साधक की देह-कान्ति केसर के रंग या रत्न रूप बीच की कोपल, सान्ध्यनभलाली, आत्म-चैतन्य-तेज, कनक चम्पा की कला, अमृत के पुतले, कोमलता की बहार, शारदीय पूर्णिमा की आर्द्रता में चन्द्र-बिम्ब की शोभा के समान हो जाती है। यहाँ पर उसे लघिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा क्षिति और जल-तत्त्व के अंशों के विलय के कारण शरीर वायु जैसी हल्की हो जाती है। इस समय साधक को समुद्र पार की वस्तु को देखने, स्वर्ग में होने वाले विचारों के सुनने, चींटी के भी मन की बात जान लेने, पैरों को बिना आर्द्र किये जल के ऊपर चलने जैसी अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इसके बाद जागृत कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी होकर तेज का लय करती है। इस समय देह वायु का रूप बन जाती है। इस समय मनोनिग्रह, प्राण वायु का निरोध तथा ध्यान करने की इच्छा समाप्त हो जाती है। इस समय साधक खेचर की स्थिति में होता है। वह संसार की आँखों से छिप सकता है। इस अवस्था से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इसके बाद वायु तत्व भी ऊपर की ओर आकाश तत्त्व में जाकर विलीन हो जाता है। इस समय कुण्डलिनी का नाम "मारुत" होता है किन्तु शिव के

साथ मिलने के पूर्व तक उसमें शक्तिमत्व रहता ही है। तत्पश्चात् आकाश का आकाश में मिलन होता है। यह "अनिर्वाच्य महासुखै" की अवस्था है। यहाँ पर शब्द और मन की सीमा समाप्त हो जाती है। कुण्डलिनी के जागृत होने पर जीव आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।[1]

इस प्रक्रिया के लिये अश्विनी मुद्रा का अभ्यास आवश्यक है। जिसके द्वारा प्राण वायु और अपान वायु को क्रमशः पूरक तथा सङ्कोचन-शिथिलीकरण क्रिया का अभ्यास करके शोधन लक्ष्य को सम्पन्न किया जाता है।

यहाँ पर "शक्ति चालन" की भी अपरिहार्यता होती है। इस मुद्रा के द्वारा पेड़ू को दाहिने से बायें और बायें से दाहिनी ओर चक्राकार रूप में घुमाया जाता है। योनिमुद्रा के साथ ही शक्ति-सञ्चालन मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। अश्विनी मुद्रा के क्षरा-कन्द स्थान का तब तक सङ्कोचन करते रहना चाहिये जब तक कि प्रायः वायु का सुषुम्णा में प्रवेश न हो जाय ! "हंसः" मन्त्र के द्वारा जागृत कुण्डलिनी "कुम्भक" के द्वारा ऊर्ध्वमुखी होती है। उस समय तक साधक शक्ति और शिव के साथ ऐक्य की अनुभूति करते हुये मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अनुभव करने लगता है।

महाबन्ध के साथ महामुद्रा तथा महाबेध का अभ्यास करना चाहिये। जब कुण्डलिनी जागृत होती है उस समय सुषुम्णा में प्राण का प्रवेश होता है तथा इड़ा और पिङ्गला नाड़ियाँ निर्जीव हो जाती हैं। महाबन्ध आसन की अवस्था में स्थित होकर साधक महाबेध के अभ्यास के समय प्राण-वायु को ऊपर की ओर तथा नीचे की ओर करता रहता है। योगी महाबन्ध की अवस्था में हथेलियों को जमीन पर रखकर अपने चूतड़ से पृथिवी पर थपथपाता है, इस समय प्राण वायु का सुषुम्णा में प्रवेश होने पर इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णा एक साथ हो जाती हैं। उस समय शरीर मृततुल्य हो जाता है।[2]

कुण्डलिनी-जागरण की एक दूसरी प्रक्रिया यह भी है कि योगी वज्रासन साधकर नली (पैर के नीचे वाली गाँठ) के थोड़ा ऊपर होकर कन्द-स्थान को थपथपाये और भस्त्रिका कुम्भक करके पेड़ू का संकोचन करें।[3]

खेचरी मुद्रा वह मुद्रा है जिसके द्वारा जिह्वा को भ्रूमध्य तक लम्बा करके नासारन्ध्रमूल को भीतर से उलटी होकर अवरुद्ध करती है। इस समय मन की

१. ज्ञानेश्वरी, ६/२५३-३२७ का हिन्दी अनुवाद, पृ० १३८-१४३।
२. द सरपेन्ट पावर, पृ० २०६।
३. घेरण्डसंहिता, ३/११४।

एकाग्रता का अभ्यास आज्ञा चक्र में तब तक चलता रहता है जब तक ऊर्ध्व-कुण्डलिनी पथ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर विजय प्राप्त कर सिद्धि नहीं प्रदान करता। सम्प्रति योगी आत्मा से अभिन्न हो जाता है। शाम्भवी मुद्रा मन के द्वारा मन को सदा वृत्तियों से मुक्त रखना चाहिये।

इस प्रसङ्ग में तीनों बन्ध भी आवश्यक है—पूरक के प्रारम्भ में मूलबन्ध, पूरक के अन्त और कुम्भक के प्रारम्भ के साथ जालन्धर-बन्ध तथा कुम्भक के अन्त में और रेचक के प्रारम्भ के साथ उड्डीयानबन्ध का अभ्यास करना चाहिये। मूलबन्ध के द्वारा प्राण और अपान वायु का मिलन होता है, और वायु सुषुम्णा में प्रवेश करती है। तभी अनहद नाद का श्रवण होता है तथा प्राण और अपान वायु अनाहतचक्र के नाद के साथ मिलकर हृदय में प्रवेश करती है और इसके बाद आज्ञा-चक्र में बिन्दु के साथ मिल जाती है।[1]

मूलबन्ध में योनि-स्थान को पैर की एड़ी से दबाया जाता है तथा अश्विनी-मुद्रा के द्वारा अपान वायु को ऊपर खींचा जाता है। ऐसा करने से अपान वायु सुषुम्णा से ऊर्ध्वमुखी होकर प्राणवायु से मिलती है। इस समय नाभि का अधोभाग वह्नि का त्रिकोण मण्डल अपान वायु के द्वारा झकझोरे जाने पर प्रकाशित हो उठता है—

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता॥[2]

इस समय शरीर में उष्णता की अधिकता हो जाती है तथा इस उष्णता का अनुभव करके कुण्डलिनी सुषुप्तावस्था छोड़कर जागृत हो उठती है। तब यह सुषुम्णा में प्रवेश करती है। इस समय जालन्धर-बन्ध करना चाहिए। इससे षोडशदल चक्र बँध जाता है और तालु-गह्वर से अमृत प्रवाह आरम्भ होने लगता है तथा इससे श्वास का सुषुम्णा में लय हो जाता है।[3]

यदि कन्द और कण्ठ स्थान एक साथ ही आकृष्ट (सङ्कुचित) किये जायें तथा प्राण वायु को नीचे की ओर तथा अपान वायु को ऊपर की ओर आकृष्ट किया जाय तो वायु का सुषुम्णा में प्रवेश होता है। महाबन्ध से इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्णा का परस्पर मिलन होता है तथा मन की आज्ञाचक्र में स्थिरता होती है। सिद्धासन में स्थित होकर कन्दस्थान में दबाव डालना चाहिये तथा जालन्धर-बन्ध

१. द सरपेन्ट पावर, पृ० २०९।
२. हठयोग प्रदीपिका, ३/६६।
३. दि सरपेन्ट पावर, पृ० २१०।

साधना चाहिये। जब मन सुषुम्णा में केन्द्रित हो जाय तब वायु को खींचना चाहिये। वायु को अधिक देर तक रोकना चाहिये। इस बन्ध का प्रयोजन है सुषुम्णा के अतिरिक्त सभी नाड़ियों से वायु के ऊर्ध्वगमन को रोकना।[1]

नाड़ी शोधन की उपयोगिता—

नाड़ी-शोधन के बिना शुद्ध प्राणायाम सम्भव नहीं है। यह शोधन समनु (मन्त्रयुक्त) तथा निर्मनु (मन्त्ररहित) भेद से दो प्रकार का होता है। समनु में योगी गुरु द्वारा निर्दिष्ट विधि से गुरुन्यास पद्मासन में स्थित होकर करता है। और यं बीज मन्त्र का ध्यान इड़ा से पूरक के समय १६ बार, कुम्भक में ६४ बार तथा सूर्य नाड़ी से रेचक में ३२ बार ध्यान करना चाहिये। इसके बाद योगी नासाग्र पर दृष्टि स्थिर करके चन्द्रप्रकाश का ध्यान करता है। तथा पूर्वोक्त विधि से इड़ा नाड़ी से रं बीज मन्त्र का १६ की संख्या में पूरक, बीज मन्त्र का ६४ की संख्या में कुम्भक तथा रं बीजमन्त्र का ३२ की संख्या में जप करना चाहिए। कुम्भक के समय योगी को यह अनुभव करना चाहिए कि अमृतरस से सराबोर हो रहा है और उसकी नाड़ी शुद्ध हो रही है। इसके बाद साधक कुशासन या मृगचर्म पर बैठे तथा उत्तर या पूर्वाभिमुख होकर प्राणायाम करे। इसके अभ्यास के लिए उचित स्थान, समय और भोजन का विशेष महत्व रखना चाहिए। स्थान इतनी दूर नहीं होना चाहिए जिससे व्याकुलता उत्पन्न होने लगे। असुरक्षित, शहर, भीड़ पर्यावरण वाला क्षेत्र भी नहीं होना चाहिए जिससे विघ्न आदि की सम्भावना समाप्त रहे। भोजन शाकाहारी तरह का होना चाहिए। न अधिक उष्ण, न अधिक शीत, तीक्ष्ण, अम्ल या कटु ही होना चाहिए। योगी को तीन घण्टे (एक प्रहर) से अधिक बिना भोजन के नहीं रहना चाहिए। भोजन हल्का और पौष्टिक हो। अति भ्रमण, तीव्र व्यायाम, नये साधक के लिए लैङ्गिक सम्बन्ध बिलकुल बचाना चाहिए। उदर अर्ध-आपूरित ही हो। वसन्त या पतझड़ में योग का प्रारम्भ करना चाहिए। "सगर्भ" प्राणायाम में साधक को रजोगुण युक्त अरुणिम अकार मूर्ति, ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिए। इडा से वह १६ बार अकार का जप पूरक के साथ करे। कुम्भक के पहले वह उड्डीयान मुद्रा करे। तत्पश्चात् कुम्भक में सत्वमय विष्णु का तथा "उ" कृष्ण बीजमन्त्र का ६४ बार मनन करके ध्यान करे। इसके बाद तमोमय शिव तथा उनके श्वेत बीज मकार का पिंगला के द्वारा रेचक में ३२ बार जप करके उसी बीज मन्त्र का उसी संख्या के अनुपात में जप करना चाहिए।[2]

---

१. दि सरपैन्ट पावर, पृ० २११।

२. वही, पृ० २१६।

पिण्ड में उस शक्ति का स्थान शास्त्रों द्वारा स्वीकृत मूलाधार चक्र में है। जिस प्रकार पर्वतों और वनों से युक्त इस पृथिवी को अहिनायक धारण करते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण योग तन्त्रों का आधार कुण्डलिनी है।[१] मूलाधारचक्र लिङ्गमूल (अण्डकोश) से नीचे और गुदा द्वार से ऊपर (दोनों के बीच में—ध्वजोऽधो गुदोर्ध्वम्) स्थित है।[२] इसका क्षेत्र ४ अंगुल मान है।[३] यह स्थान कन्द और सुषुम्णा का सन्धि-स्थल है (कन्दसुषुम्णयोः सन्धिस्थानं संलग्नपत्रम्)।[४] कुण्डलिनी कन्द या कन्दयोनि स्थान पर सुषुप्तावस्था में रहती है। सामान्य रूप से यह स्थान लिङ्ग (मेढ्र) से २ अंगुल नीचे तथा गुदा स्थान से २ अङ्गुल ऊपर माना जाता है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार मूलस्थान से एक बलिस्त ऊपर नाभि और लिङ्ग के मध्य चार अंगुल विस्तार वाला वन्द स्थान है। यह स्थान कोमल है, शुभ्र है, मानो किसी वस्त्र से आवृत हो—

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम्॥[५]

गोरक्षशतक के अनुसार मेढ्र से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे के समान कन्द-योनि है। उसी में ७२००० नाड़ियां उत्पन्न होती हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार गुदा से दो अङ्गुल ऊपर तथा लिङ्ग से दो अङ्गुल नीचे मनुष्यों के शरीर के मध्यभाग से नौ अङ्गुल ऊपर और चार अङ्गुल विस्तार वाला अण्डों की आकृति वाला त्वचादिकों से भूषित स्थान ही कन्द है। यह स्थान पशु-पक्षियों में पेट के बीच में होता है। गुदा से २ अङ्गुल ऊपर १ अङ्गुल बीच में उनका मध्य भाग होता है। उससे ९ अङ्गुल कन्द स्थान मिलाकर १२ अङ्गुल प्रमाण वितस्तिमात्र होता है। मूलाधार चक्र के मध्य त्रिकोण के बीच में एक स्वयम्भू लिङ्ग है।[६] इस स्वयम्भूलिङ्ग को कुण्डलिनी साढ़े तीन बार वेष्टित किये हुए है।[७] यह महाशक्ति मृणाल-तन्तु सदृश है और जगत्-मोहिनी के रूप में ब्रह्मद्वार के मुख (सुषुम्णा-द्वार) का अपने ही मुखकमल से संछादन करती हुई अमृत-रस का पान करती रहती है। अमृत के संयोग से उसका मुख मधुर है। अतएव वह शंख-वेष्टनाकार

---

१. हठयोग प्रदीपिका ३/१।
२. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक ४।
३. हठयोग प्रदीपिका, ३।११३।
४. षट्चक्रनिरूपणम् के श्लोक ४ का विवरण।
५. हठयोग प्रदीपिका, ३/११३।
६. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक ९।
७. सौन्दर्यलहरी, श्लोक १०।

सदृश है। वह नूतन विद्युल्लेखा के समान है। वह स्वयम्भू लिङ्ग पर सुषुप्तावस्था में साढ़े तीन वृत्ताकार (कुण्डलाकार) होकर स्थित होने से कुण्डलाकार-स्वरूप वाली है और इसीलिए उसका नाम कुण्डलिनी है।[1]

योगियों के हृदय-कमल में नित्य ही नृत्य करने वाली तथा समस्त जीवों के मूलाधार में विद्युत् के समान आकृति वाली स्फुरण करती हुई शंख के आवर्त के क्रम से यह शक्ति सब को आवृत्त करके अवस्थित है। यह कुण्डली भूत-सर्पों की अङ्गश्री को प्राप्त करने वाली है। यह सब देवों तथा मन्त्रों से पूर्ण शिवा है। यह सब तत्त्वों से परिपूर्ण, साक्षात्, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और व्यापक है। ब्रह्मरूप है। यह समस्त वर्णात्मिका है। यह पर देवता है। यह मन्त्रमय जगत् को प्रसूत करने वाली है।[2]

कुण्डलिनी ८ अङ्गों की अवयवी है—मूलाधारादि-षट्चक्र तथा शक्ति और सदाशिव। कुण्डलिनी सहस्रार में आत्मशक्ति में विलीन हो जाती है। आनन्दलहरी की श्लोक संख्या ३५ की टीका में डिण्डिम ने आठ अवयवों में—मन, व्योम, मरुद्, तेज, अप्, क्षिति, सूर्य तथा चन्द्र को स्वीकार किया है। कुण्डलिनी चूंकि प्राणशक्ति है, इसलिए प्राण के प्रवहमान होने पर वह भी गतिशील हो जाती है। अनेक प्रकार के आसनों, कुम्भकों, बन्ध और मुद्रा आदि साधनों से महाशक्ति कुण्डलिनी के जागृत होने पर प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में लीन हो जाती है। इस अवस्था में कुण्डलिनीशक्ति का ज्ञाता अपने समस्त कर्मों का परित्याग करके स्वयं की तुरीयावस्था को प्राप्त हो जाता है।[3]

कुण्डलिनीशक्ति कन्द के ऊपर के भाग में योगियों के मोक्ष तथा मूर्खों के बन्धन के लिए सो रही है—उसे जानने वाला योगी कहा जाता है। यह सर्पिणी के समान कुटिल आकार वाली है। कुण्डलिनी को गतिशील करने वाला निःसंदिग्ध रूप से मुक्त हो जाता है।[4]

---

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक १०।

२. शारदातिलक, १/५३-५७।

३. हठयोग प्रदीपिका, ४/१०-११.

४. कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनीम्।
बन्धनाय च मूर्खाणां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता।
स शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥

—हठयोगप्रदीपिका ३, १०७, १०८।

मूलाधार में कुण्डलिनी के निवास तथा स्वयम्भू लिङ्ग पर सुषुम्णा के छिद्र को बन्द किये हुए साढ़े तीन बार आवृत्त होकर स्थित रहने की बात प्रायः तन्त्र और हठयोग के सभी ग्रन्थों में समान रूप से पाई जाती है। वह निर्दिष्ट स्थान पर कोटिविद्युत्प्रभा के समान, कोटि सूर्य की आभा के समान तथा शीतलता में कोटि चन्द्रमा के समान स्वीकार की गई है। कमलनाल के तन्तु के समान वह कोमल और शुभ्र भी है।[1] वह आत्मशक्तिरूप, परदेवतारूप है। जब तक वह निद्रित है तब तक जीव पशु (पाश से बद्ध) है। कोटियोग का अभ्यास करने पर भी बिना कुण्डलिनी-गमन-विज्ञान के बोध हो ही नहीं सकता।[2] वही प्राण को धारण करने वाली प्राणविद्या और महाविद्या है। उसे जानने वाला "वेदज्ञ" होता है।[3] ऐसी कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिये जो स्वयम्भूलिङ्ग पर स्थित है, जो श्यामरूपा, सूक्ष्मा, सृष्टिरूपा, सृष्टिस्थितिलयात्मिकारूपा, विश्वातीता, ज्ञान-रूपा, ऊर्ध्वस्वरूपा है।[4] यह ऊँकार रूपा है। यही शरीर के अन्दर ७२००० नाड़ियों का नियमन करती है।

—: ० :—

---

१. मूलाधारे मूलविद्यां विद्युत्कोटिसमप्रभाम्।
सूर्यकोटिप्रतीकाशां चन्द्रकोटिद्रवां प्रिये॥
विसतन्तुस्वरूपां तां विन्दुत्रिवलयां प्रिये।
ऊर्ध्वशक्तिनियतेन सहजेन वरानने॥—ज्ञानार्णव तन्त्र, ३/२,३।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम विसतन्तुनिभा शुभा।
मूलकन्दफणाग्रेण दृष्ट्वा कमलकन्दवत्॥—सौन्दर्यलहरी (आनन्दलहरी, श्लोक ९ की अरुणामोदिनी टीका में उद्धृत)।

२. मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्धत्रिवलयान्विता॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवो पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्॥—घेरण्डसंहिता, ३/४३-४४।

३. कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति॥
कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्रीप्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदविद्॥—गोरक्षपद्धति, १/४६-४७।

४. ध्यायेत्कुण्डलिनीं देवीं स्वयम्भूलिंगसंस्थिताम्।
श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम्॥
विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम्।
ह्रैंकारवर्णसम्भूतां कुण्डली परदेवताम्॥—शाक्तानन्दतरङ्गिणी, २५।

कुण्डलिनी-गमन-विज्ञान

मूलाधारचक्र से सहस्त्रार तक का "कुण्डलिनी-गमन" ही "षट्चक्रभेदन" या "कुण्डलिनी जागरण" के नाम से प्रसिद्ध है। ध्यातव्य है कि महाशक्ति का जागरण साधना के विभिन्न सोपानों के निरन्तर अभ्यास तथा सद्गुरु की कृपा पर अवलम्बित है।[1] कुण्डलिनी-जागरण के लिये अनेक आसनों में से सिद्धासन को सबसे अधिक उपयोगी माना गया है। इसके अतिरिक्त किसी-किसी विशेष चक्र के जागरण में शलभासन, धनुरासन, अर्ध सर्वाङ्ग आसन, सर्वाङ्गासन और शीर्षासन भी उपयोगी और निर्दिष्ट हैं। इसके बाद "शोधन" का प्रकरण महत्वपूर्ण है। इस प्रकरण में षट्कर्मों (पवित्रीकरण), आचमन, शिखा बन्धन, संक्षिप्त प्राणायाम, न्यास, पृथिवी-पूजन के द्वारा शरीर का शुद्धीकरण किया जाता है। इसी सन्दर्भ में यह भी स्पष्ट कर देना अनावश्यक नहीं होगा कि हठयोग के साधक नेति, धौति, वस्ति, नौलि (नेडली), दन्ति, बज्रौली (नाड़ी क्षालनादि)—इन षट्कर्मों को सम्पन्न करके शरीर का शुद्धीकरण तथा हल्कापन करते हैं। शोधन के बाद प्राणायाम का अभ्यास अनिवार्य है। इसका अभ्यास ही जागरण की मुख्य भूमिका का निर्वाह करता है। प्राणायाम के पूरक, कुम्भक और रेचक—ये तीन अवयव हैं। हठयोग की मान्यता के अनुसार "भस्त्रिका कुम्भक" के द्वारा कुण्डलिनी-जागरण किया जाता है।[2] प्राणायाम के प्रसङ्ग में "बन्ध" की भी अपरिहार्यता साधकों ने स्वीकार की है, क्योंकि प्राणायाम के समय ही "बन्ध" किया जाता है। बन्ध के तीन भेद हैं—मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध और जालन्धर बन्ध। बन्ध में अवस्थितिपूर्वक इस प्राणायाम द्वारा प्राणवायु को सुषुम्णा में प्रवेश कराया जाता है। मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध की सहायता से अपान वायु को ऊपर की ओर और प्राण वायु का कण्ठ-स्थान से नीचे की ओर नाभि-स्थान में सङ्गम करते रहने से प्रायः वायु का सुषुम्णा में प्रवेश होता है। विशेषकर यह साधना मणिपूर चक्र को जागृत करती है। सुषुम्णा में वायु के प्रविष्ट होने पर मूलाधार में अग्नि (ऊष्मा) प्रदीप्त होती है और इस उष्णता से सुषुप्त कुण्डलिनी का जागरण होता है। तब वह अपना कुण्डलाकार स्वरूप त्यागकर सीधी होकर सुषुम्णा-मार्ग में प्रविष्ट होती है और षट्चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र (सहस्त्रार) में पहुँच जाती है। इस साधना में विभिन्न प्रकार की मुद्रायें भी उपयोगिनी हैं। इस सन्दर्भ में अश्विनी, शक्तिचालन, योगिनी, काकिनी, खेचरी—मुद्रायें उल्लेखनीय हैं। खेचरी

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ३/२।

२. वही, ३/११५।

७. मूर्च्छा कुम्भक :—

सर्वप्रथम सिद्धासन में बैठना चाहिये । दोनों नासिकारन्ध्रों से गहरा श्वास लेकर कुम्भक करें । पूरक के अन्त में कुम्भक के समय ठोड़ी (चिबुक, दाढ़ी) को गले से नीचे के गड्ढे में टिकाकर "जालन्धर बन्ध" लगाना चाहिये ।[3] इसके बाद दोनों तर्जनी-मध्यमा से आँख की पलकों को कोमलता से बन्द करके दोनों अनामिका से नासिकारन्ध्रों को बन्द करें । पुनः कनिष्ठा से अधर को दबाकर ओष्ठ बन्द करें । श्वास अन्दर रोककर मूलबन्ध और रेचक के अन्त में उड्डीयान बन्ध करें । दम घुटने से पूर्व अंगुलियों को हटाकर दोनों नासिकाओं से श्वास बाहर निकालना चाहिये ।

मूलबन्ध में सिद्धासन लगा रहेगा अर्थात् एड़ी से कन्द स्थान (जननेन्द्रिय मूल और गुदा के बीच) को दबाकर दूसरी एड़ी से लिङ्गमूल को दबाना चाहिये । इसके बाद गुदा का संकुचन करते हुये अपान वायु को ऊपर की ओर आकृष्ट करें[4] तथा साथ ही प्राणवायु को कण्ठ से नाभि की ओर ले जाना चाहिये । पूरक के आरम्भ के साथ-साथ इस क्रिया का भी आरम्भ हो जाना चाहिये । कुम्भक के समय तक नाभि-स्थान में प्राण और अपान वायु का संगम कराना चाहिये । यही मूलबन्ध है । इसके बाद रेचक के समय श्वास निकालने के साथ अपान वायु के विरेचन की स्थिति में गुदा के संकुचन का त्याग या शिथिलीकरण करना चाहिये । उड्डीयान बन्ध कुम्भक के अन्त में रेचक के प्रारम्भ में करना चाहिये । इस समय

---

१. हठयोग प्रदीपिका, २/६३-६६
२. घेरण्डसंहिता, ५/८०-८१ ।
३. हठयोग प्रदीपिका, २/६९ ।
४. वही, ३/६१ ।

नाभि के ऊपरी तथा नीचे के भाग (उदर) को पीठ की ओर इस प्रकार ताने अर्थात् आकर्षण करें कि नाभि के ऊपर नीचे के भाग पीठ से मिल जायें ।[1]

Scanned by CamScanner

सुषुम्णा में सुख पूर्वक वायु का प्रवेश प्राणायाम में "कुम्भक" के द्वारा सम्पन्न होता है। विशेषकर यह अभ्यास आज्ञाचक्र की साधना में अश्विनी मुद्रा तथा मूलाधार की साधना में मण्डूकी क्रिया के द्वारा सफल किया जाता है। अश्विनी मुद्रा तथा मण्डूकी क्रिया का स्पष्ट स्वरूप हम आज्ञाचक्र और मूलाधार चक्र की साधना (जागरण) में बताने का प्रयास करेंगे। सुषुम्णा के मुख का भेदन करके उसमें प्राणवायु का प्रवेश (गमण) कराना कुण्डलिनी-जागरण का पूर्वाभ्यास है। बिना इस अभ्यास के शक्ति का जागरण असम्भव है और यह सुषुम्णा में वायु का प्रवेश भी बिना आज्ञाचक्र और मूलाधारचक्र की साधना के सम्भव नहीं है तथा इस साधना में भी दो क्रियाओं का (अश्विनी और मण्डूकी) पूर्ण अभ्यास अपरिहार्य है। ये सब शक्ति-जागरण की पृष्ठ भूमियाँ हैं। विभिन्न प्रकार के कुम्भक की विधियों को जानने वाले साधक ही सुषुम्णा में वायु के प्रवेश के अभ्यस्त होकर उन्मनी की सिद्धि के लिये अनेक प्रकार के प्राणायाम करते रहते हैं क्योंकि उन्हीं से अद्‌भुत शक्ति की उपलब्धि होती है। सुषुम्णा में वायु का प्रवेश होकर जब वायु ऊर्ध्वगामी होती है, तो आज्ञा से ऊपर विन्दु से भी ऊर्ध्व (अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना के बाद) उन्मना की अवस्थिति होती है। इसके बाद महाबिन्दु की अवस्था होती है।[3] इस प्रकार वायु पर नियन्त्रण करने वाला साधक जितेन्द्रिय, मिताहारी, अल्पनिन्द्रा वाला, तेजस्वी, बलवान और योगविद्या में सिद्ध हो जाता है। वह अकाल मृत्यु

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ४/२८।
२. वही, ४/२०-२१।
३. वरिवस्यारहस्यम्, १/२२-२६।

की भय से मुक्त होकर दीर्घ आयु वाला होता है।[1]

सुषुम्णा में प्राणवायु का प्रवेश हो जाने पर और अन्त:करण के देशकाल-वस्तु-ज्ञान से शून्य ब्रह्म में पहुँच जाने पर योगी प्रारब्ध रहित सभी कर्मों को निर्मूल कर देता है।[2] अति संक्षिप्त में यदि अश्विनी मुद्रा और मण्डूकी क्रिया के विषय में हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सिद्धासन में बैठकर दृष्टि को नासिकाग्र पर ध्यान एकाग्र करके श्वास अन्दर की ओर लेने के साथ जनेन्द्रिय मूल (कन्द) का संकुचन और श्वास के छोड़ने के साथ उस स्थान का शिथिलीकरण किया जाना "अश्विनी मुद्रा" है। यह आज्ञाचक्र की अति संक्षिप्त साधना है। इसके अतिरिक्त वज्रासन में बैठकर अपनी गोद में परस्पर आवद्ध अगुलियों वाली हथेलियों को उत्तान भाव से नाभि के नीचे रख कर कभी बन्द और कभी किंचित् उन्मीलित आखों से नासिकाग्र पर मन को एकाग्र करना "मण्डूकी क्रिया" है। मह मूलाधारचक्र की साधना है।

महाशक्ति-जागरण के प्रसङ्ग में कुण्डलिनी-गमन-विज्ञान के प्रकरण के अन्तर्गत अति संक्षेप में ब्रह्मरन्ध्र में जीव और शिव के ऐक्य-भावना रूप भूत शुद्धि के बाद षट्चक्रों के भेदन के मात्र क्रम पर चर्चा की गयी है।[3] सुषुम्णा-मुख पर कन्द स्थान में या कर्णिका-स्थान में चतुर्दल (मूलाधारस्थ) की अवस्थिति है। चतुर्दल के अन्त में अर्थात् मध्य के त्रिकोण के स्वयम्भू लिङ्ग पर वह महाशक्ति कुण्डलिनी विराजमान है। साधक को उसी का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। यत्नपूर्वक अर्थात् नाना प्रकार की यौगिक क्रियाओं द्वारा उसमें क्षोभन करना चाहिये जिससे वह ऊर्ध्वमुखी हो सके। ऐसा करने वाला सिद्ध रूप हो जाता

Scanned by CamScanner

अश्विनी मुद्रा के द्वारा आज्ञाचक्र का जागरण किया जाता है। हम सबसे पहले अश्विनी मुद्रा को स्पष्ट करेंगे। सिद्धासन में बैठ कर दोनों घुटनों पर दोनों हाथों के अग्रभाग को इस प्रकार रखें जिससे हथेलियां ऊपर की ओर रहे। पुनः तर्जनी उँगली के अग्रभाग को अँगूठे की जड़ के पास रखें, शेष मध्यमा, अनामिका कनिष्ठिका का इन दोनों (अंगूठा और तर्जनी) से अलग तथा परस्पर मिली हुई सीधी रखें। हाथों की अँगुलियों की यह मुद्रा चिन्मुद्रा कहलाती है। सिद्धासन लगाने के लिये यह ध्यातव्य है कि बायें पैर की एड़ी को गुदा द्वार तथा अण्डकोश के बीच में (जननेन्द्रिय के मूल या योनि-स्थान, जिसे कन्द कहते हैं) रखें तथा दूसरी एड़ी दिखाई पड़ने वाले लिङ्गमूल के ऊपर रखें, अर्थात् अपनी दोनों एड़ियों से लिङ्गमूल और अण्डकोश के नीचे के भाग को दवाये रखें। यह पूर्ण सिद्धासन है। यदि पूर्ण-सिद्धासन लगाने में कठिनाई हो तो केवल एक पैर की एड़ी से गुदाद्वार तथा अण्डकोश की नीचे के (दोनों के बीच में) भाग (कन्द) को दवाये रखें तथा दूसरा पैर अपने अनुकूल ढंग से पालथी मार कर रखें। यह

अर्द्ध सिद्धासन होगा। आसन ऐसा हो जिससे शरीर को कष्ट न हो, ऐसा न हो कि ध्यान ध्यातव्य स्थान पर न होकर पैरों के हठात् प्रतिकूल वेदनीय व्यापार पर पड़े। यदि स्त्रियां इस आसन को लगायें तो इसे सिद्धयोनि आसन कहेंगे। इसके बाद चिन्मुद्रा के साथ मेरुदण्ड को सीधा रखें। आंख पर ऐनक नहीं होना चाहिए। सबसे पहले आंखों को बन्द करके हम यह स्मरण करें कि हम अपनी आंखों की पलकों को असहज (अनकान्सेसली) में तो नहीं दवा रहे हैं, क्योंकि कुछ साधना के आकांक्षी ध्यान के समय जोर देकर अपनी पलकों को असहजभाव से दवाते हैं। ऐसा नहीं करना चाहिए। आंखें कोमलता से निमीलित होनी चाहिए।[1]

जब आंखें बन्द रहें तब चाहिये कि उन्हें किसी काल्पनिक स्थान पर केन्द्रित करें। इस ध्यान के लिये दो स्थान प्रमुख माने गये हैं—भ्रूमध्य तथा नासिकाग्र भाग १ इस क्रिया का सम्पादन स्वतः के अनुभव से सम्भव है। इस सम्पूर्ण मुद्रा को अश्विनी मुद्रा कहते हैं।

अश्विनी मुद्रा के बाद साधना का द्वितीय तथा प्रमुख चरण आरम्भ होता है। एड़ी से जो भाग दवाया जाता है, वहां पर शारीरिक संकोच और प्रसार की क्रिया का अभ्यास करना चाहिये। इस क्रिया को इस प्रकार समझा जा सकता है। वीर्य का स्खलन करते समय अन्तिम बूंद का स्खलन जब किया जाता है तो उक्त स्थान का संकोच होता है या मूत्र विसर्जन के समय अन्तिम बूंद को गिराने के लिये जिस स्थान का संकोच करते हैं, यह वही स्थान है और उसका संकोच भी उसी प्रकार करना चाहिये। लैङ्गिक उत्तेजना के समय भी कन्द का संकोच और प्रसार होता है। एड़ी से दवाये गये स्थान कन्द का खिचाव ही "संकोच" तथा खिचाव का त्याग "प्रसार" कहलाता है। संकोच के लिये जोर देने का उपयोग नहीं करना चाहिये। यह क्रिया सहज रूप से की जानी चाहिये, जिससे थोड़ी सी भी संकुचन क्रिया हो सके। इस संकोच और प्रसार के साथ ध्यातव्य बात यह है कि संकोच और प्रसार की क्रिया श्वसन क्रिया के लय के साथ ही करनी चाहिये। श्वसन-क्रिया के लय का तात्पर्य यह है कि जब हम श्वास खींचें, तब कन्द का संकोच और जब प्राण वायु को बाहर निकालें तब कन्द का प्रसार करना चाहिये। इस क्रिया में व्युत्क्रम नहीं होना चाहिये। इस प्रकार श्वास का सम्बन्ध संकोच से तथा प्रच्छ्वास का सम्बन्ध प्रसार से हैं। श्वासोच्छ्वास की स्वाभाविकता के साथ कन्द का संकोच तथा प्रसार करना चाहिये। इसमें किसी भी प्रकार का जोर या दवाव अथवा अस्वाभाविकता नहीं करनी चाहिये। संकोच

---

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनी योग, पृ० ३६।

Scanned by CamScanner

और प्रसार की क्रिया प्रारम्भिक अवस्था में ५० बार करनी चाहिये।[1] मूलाधार के संकोच और प्रसार के विषय में वरावर सतर्कता वनाये रखना है। श्वसन-क्रिया की स्वाभाविक गति ही संकोच-प्रसार क्रिया की गति होनी चाहिये, न कम और न अधिक। यह सब क्रिया अश्विनी मुद्रा द्वारा सम्पन्न होती है। अन्त में एक वात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि इस चक्र की साधना (आंखें वन्द, ध्यान भ्रूमध्य या नासिकाग्र पर, श्वास-प्रच्छ्वास के साथ कन्द का संकोच और प्रसार) के वाद कम से कम १० मिनट तक शरीर को इधर-उधर किसी भी प्रकार हिलाना-डुलाना नहीं चाहिये। यही इस चक्र का साधना पक्ष है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी का जागरण इस श्वास-प्रच्छ्वास के साथ कन्द के संकोच-प्रसार के द्वारा ही सम्भव है। इसलिये इस महाशक्ति को श्वासोच्छ्वास रूप दो क्रिया की आवृति वाली, योगिनी और खेचरी रूप तथा मूलाधार स्थित कहा गया है—

श्वासोच्छ्वासत्वद्व्यावृत्ति द्वादशाङ्गुलरूपिणीम्।
योगिनीं खेचरीं वायुरूपां मूलाम्बुजस्थिताम्॥[2]
तामुपाकुञ्च्य यत्नेन सिद्धरूपी प्रबुद्धयेत्।[3]

म०म० गोपीनाथ कविराज ने इस प्रसार और संकोच को शक्ति की दो अवस्थाएं माना है।[4] प्रसार और संकोच के प्रारम्भ तथा अन्त में साम्यावस्था रहती है, मध्य में इसका वैषम्य रहता है। संकोच शक्ति की पुष्टि, प्रसार शक्ति की क्षीणता के वाद होती है। शक्ति के प्रसार को सृष्टि तथा संकोच को संहार कहा जा सकता है। यही कालचक्र है। इसी पर समग्र विश्व घूम रहा है। यह कालचक्र मध्यस्थ विन्दु की परिक्रमा कर रहा है, जो शिव का प्रतीक है, तथा तटस्थ उदासीन और द्रष्टा है। मूलाधार से लेकर सहस्रार तक अनेक विन्दु और मण्डल की कल्पना की गयी है। षट्चक्रों के संहार क्रम में हम इस पर विचार करेंगे।

(२) मूलाधारचक्र की साधना

आज्ञाचक्र में एक वात और ध्यान रखनी होगी कि साधना प्रारम्भ करते समय विद्युत् प्रकाश वन्द कर देना चाहिये। साधना समाप्त होने पर प्रकाश कर लेना चाहिये। मूलाधारचक्र की साधना में सबसे पहले वज्रासन में बैठना

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० ३६।
२. रुद्रयामल उ० त०, ८/१६।
३. वही, ६०/२८।
४. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग-१, पृ० १०४-१०५।

Scanned by CamScanner

चाहिये। उसके वाद मण्डूकी क्रिया सम्पन्न की जाती है। वज्रासन में साधक दोनों टाँगों को मोड़कर इस प्रकार बैठें, जिससे पैरों की तालुओं पर नितम्ब पड़े। दोनों हाथों की हथेलियाँ घुटनों पर नीचे की ओर मुड़ी न रक्खीं जायँ, अपितु नाभि से थोड़ा नीचे हथेलियाँ ऊपर की ओर और अँगुलियां परस्पर सम्बद्ध (मिली हुई) रहें। दोनों हाथों की कलाई दोनों जँघों पर रहे। यह ध्यान रहे कि मुड़े घुटनों के बीच थोड़ी जगह अवश्य रहे। वैसे तो वज्रासन में दृष्टि सामने की ओर होनी चाहिये। किन्तु इस साधना को प्रारम्भ करते समय आंखें वन्द कर लेनी चाहिये।

अब साधना आरम्भ होती है। बज्रासन में स्थित। आंखे बन्द। बन्द आंखों से ध्यान नासिकाग्र पर इस प्रकार रहे जैसे लगे कि आप खुली आंखों से नासिकाग्र पर देख रहे हैं, किन्तु आँखें बन्द ही रहनी चाहिये। मन की एकाग्रता भी नासिकाग्र पर अवाध तथा अनवरत गति से रहनी चाहिये। इसी समय (बीच में) आंखों को थोड़ा सा खोले और आंख तथा मन की एकाग्रता नासिकाग्र पर ही रहे। आंखें इस प्रकार किंचित् खुली रहें कि नासिकाग्र न दीख पड़े तो कोई बात नहीं। इस प्रक्रिया में नासिका की हड्डी पर दवाव का अनुभव होगा, किन्तु इस दबाव को हमें नासिकाग्र पर ही अनुभव करना चाहिये। पुनः आंखें वन्द ध्यान नासिकाग्र पर। पुनः आंखें किंचित् उन्मीलित, किन्तु वहीं नासाग्र पर। जब आप इस क्रिया में अभ्यस्त हो जायें, तब वार-वार अर्धोन्मीलित तथा पूर्णनिमीलित नेत्रों का तथा मन का ध्यान या एकाग्रता नासिका के अग्रभाग पर ही रखें। यह क्रिया कम से कम १५ मिनट तक प्रारम्भिक अवस्था में की जानी चाहिये। इसके वाद विद्युत्प्रकाश तथा विश्राम।[1]

(३) स्वाधिष्ठानचक्र की साधना

इस चक्र का ध्यान नाभि से नीचे लिङ्गमूल (विकसित अवस्था, जिसे हम पेडू कहते हैं) में हैं। इस चक्र की साधना में[2] सर्वप्रथम सिद्धासन में बैठें। अर्थात् एक एड़ी अण्डकोष के नीचे कन्द पर और दूसरी नाभि के नीचे सीधे बीच में। हथेलियों को ऊपर करके तर्जनी और अँगूठे के अग्रभाव को मिला कर शेष तीनों अँगुलियों को अलग एक साथ सीधी करके दोनों घुटनों पर रखें, आंखें बन्द, स्थिर। नाभि के नीचे एड़ी द्वारा दबाये गये स्थान के दबाव का अनुभव करें। यहीं ध्यान को एकाग्र करना है। प्रकाश बन्द।

---

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनी योग, पृ० ५३-५४।

२. वही, पृ० ६७-७०।

Scanned by CamScanner

साधक अब खेचरी का अभ्यास करें। जिह्वा के अग्रभाग को ऊपर की ओर से मोड़ कर मुँह के अन्दर पीछे की ओर ले जाकर वह तालु-मूल के कोमल भाग का स्पर्श करें। जितनी देर तक यह क्रिया कर सके उतना ही अच्छा होगा। थक जाने पर बीच-बीच में विश्राम कर लेना चाहिये।

भौंह के मध्य भाग को "ख" (आकाश) कहते हैं। वहां जिह्वा के गमन की मुद्रा खेचरी मुद्रा कही जाती है—

चित्तं चरति खेयस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैशा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता॥[1]

कपाल--कुहर में विपरीत की गयी जिह्वा का प्रवेश होने पर तथा दृष्टि भ्रूमध्य में स्थिर रहने पर खेचरी मुद्रा होती है। छेदन, चालन और दोहन आदि कलाओं (क्रियाओं) द्वारा चिह्वा की वृद्धि करके भौंहों के मध्य भाग का जब स्पर्श होने लगे तो खेचरी मुद्रा की सिद्धि माननी चाहिये।[2] जिह्वा मूल के शिरावन्धन को नीचे से काट देने से जिह्वाग्र को पकड़ कर बायें-दायें हिलाने-डुलाने से तथा गोदोहन के समान जिह्वा दोहन करते रहने से जिह्वा की वृद्धि होती है। योग जगत् में यह बात प्रसिद्ध है कि जिह्वा को तालु-रन्ध्र द्वारा ऊपर पहुँचा कर, वहां आधे क्षण भी टिका लेने से योगी विषमता रूप रोग, वृद्धावस्था तथा मृत्यु आदि बन्धन से मुक्त हो जाता है।[3] इस मुद्रा के जानकार साधक रोग, मृत्यु, निद्रा, तन्द्रा, क्षुधा, तृषा और मूर्च्छा से मुक्त हो जाते हैं। वह साधक कर्म से लिप्त तथा काल से बाधित नहीं होता—

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा
न मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रा वेत्ति खेचरीम्॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥[4]

यह बात यथार्थ है कि खेचरी का साधक भूख, प्यास से मुक्त रहता है। इसके प्रमाण हठयोग के साधक हैं, जो ४०-४० दिन तक भूमि के अन्दर समाधिस्थ देखे गये हैं।[5] वे इसी मुद्रा को लगा लेते हैं और अमृत-पान करते रहते हैं। इससे

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ३/४१।
२. वही, ३/३२-३३।
३. वही, ३/३८।
४. वही, ३/३९-४०।
५. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० १११।

Scanned by CamScanner

उनके शरीर में किसी भी प्रकार का चयापचय नहीं होता। यहां तक नाखून और बाल या दाढ़ी जितनी बढ़ी रहेगी, ४० दिन बाद भी उतनी ही रहेगी। उसमें किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होगी। उन्हें श्वसनक्रिया की भी आवश्यकता नहीं होती। साधक को अपेक्षित आक्सीजन तथा भोजन का तत्त्व मिलता रहता है।[1]

खेचरी मुद्रा के विषय में और विस्तार से हम विन्दु-विसर्ग की साधना में वर्णन करेंगे, क्योंकि यहां स्वाधिष्ठानचक्र में खेचरी के साथ वज्रोली क्रिया का भी उपयोग होता है। वज्रोली क्रिया का उपयोग यह है कि खेचरी मुद्रा के प्रभाव से साधक का स्पर्श कामिनी से होने पर भी उसके विन्दु का क्षरण नहीं होता और यदि कामिनी की योनि में साधक का विन्दु चलायमान भी हो जाय तो वह वज्रोली के बन्धन से खिचा हुआ ऊपर की ओर चला जाता है।[2] इसलिये यहां खेचरी के साथ वज्रोली का भी महत्त्व है। जननेन्द्रिय के ऊपर वाले भाग, जहां एड़ी से दवाव डाला जा रहा है, में संकोच करना चाहिये और साथ ही साथ उस स्थान का ध्यान भी। धीरे-धीरे इस ध्यान और संकोच का क्षेत्र विस्तृत करते हुये जननेन्द्रिय, अण्डकोष और अण्डाशय तक रहना चाहिये। मूलाधार का भी क्षेत्र हम ले सकते हैं, किन्तु यह ध्यान रहे कि कन्द स्थान को संकोच-क्रिया से मुक्त रक्खें, क्योंकि वह तो मूलाधारचक्र की साधना का क्षेत्र है। यद्यपि ऐसा करना कठिन है, फिर भी सम्भव है।[3]

उक्त स्थान के संकोच और प्रसार की क्रिया शनैः शनैः की जानी चाहिये। इस स्थान के दवाव पर ध्यान भी निरन्तर बना रहेगा। यह क्रिया कुछ देर तक करें। संकोच-प्रसार में किसी भी प्रकार का हठ नहीं करना चाहिये। सब कुछ स्वेच्छया नियन्त्रित ढंग से धीरे-धीरे करना चाहिये। यद्यपि ऐसा करने में समय लगेगा। इन मांस पेशियों पर नियन्त्रण करने के लिये उड्डीयान बन्ध, शलभासन और धनुरासन का अभ्यास किया जा सकता है।

(४) मणिपूरचक्र की साधना

इस चक्र के साधनात्मक प्रयोग पर चर्चा करने से पूर्व स्वामी सत्यानन्द द्वारा निर्दिष्ट उन तीन साधनाओं पर हम दृष्टिपात करना चाहते हैं जो इस चक्र के जागरण में उपयोगी हैं।[4] हठयोग के अनुसार मणिपूरचक्र के जागरण की

---

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनी योग, पृ० ११२।

२. हठयोग प्रदीपिका, ३/४२-४३।

३. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनी योग, पृ० ६८।

४. वही, पृ० ७६-७८।

Scanned by CamScanner

प्रथम साधना है त्राटक योग, क्योंकि मणिपूरचक्र सीधे आंखों से तथा पैर से सम्बद्ध है और इस चक्र की कर्मेन्द्रिय पाद है, ज्ञानेन्द्रिय चक्षु है तथा तन्मात्रा-रूप है। त्राटक योग की साधना का संक्षिप्त रूप यह है कि भूमि से लगभग १ फुट की ऊँचाई वाली चौकी पर सुखपूर्वक बैठ कर चक्षु की सीध में दो फिट की दूरी पर किसी नीले (शून्य शक्ति वाले) वस्त्र पर या अन्य किसी सूक्ष्म पदार्थ पर दृष्टि को तब तक एकाग्र किये रहें जब तक अश्रुपात न होने लगे। अश्रुपात के बाद पुनः इसी क्रिया का अभ्यास करें। कभी-कभी नासिकाग्र या भ्रूमध्य पर दृष्टि को स्थिर करके भी त्राटक सिद्ध किया जाता है। इस क्रिया में चित्त की स्थिरता बहुत ही आवश्यक है। इसे योगियों ने सुवर्ण पेटी को गुप्त रखने के समान यत्नपूर्वक गोप्य कहा है।[1]

अब हम प्रायोगिक साधना पर चर्चा करेंगे। इस साधना से आज्ञाचक्र का स्थान सक्रिय होता है न कि जागृत। आज्ञाचक का अन्वेषण करने के लिये मूलाधार के संकोच और प्रसार का अभ्यास आवश्यक है। इस साधना के प्रथम चरण में ध्यातव्य तथ्य हैं—मूलाधार स्थान के संकोच और प्रसार के समय आँखें बन्द, चिन्मुद्रा युक्त, मेरुदण्ड सीधा, किसी दूसरे व्यक्ति का स्पर्श नहीं। मन में मूलाधार का चिन्तन। इसके बाद मूलाधार का बार-बार संकोच-प्रसार। यह कार्य श्वासों को लेने और छोड़ने के साथ हो। यह क्रिया कुछ समय तक करें इसके बाद दीर्घ विश्राम।

साधना के द्वितीय चरण में आँखें बंद, सिद्धासन की स्थिति, (Abdomini Viscera) पेडू के नीचे मूत्राशय के मूल में संकोच करें। इसके बाद सम्पूर्ण जननेन्द्रिय, मूत्राशय तथा अण्डकोष तक संकोच का आकर्षण करके शिथिलीकरण (संकोच का त्याग) करें। यह क्रिया कुछ देर करके पुनः दीर्घ विश्राम।

साधना के तृतीय चरण में बहुत ही सावधानी पूर्वक वज्रोली का अभ्यास करें। इसके बाद पुनः जननमूत्राशय (Genito-urinary complex) का संकोचा करें।

चतुर्थ चरण में उसी पूर्व आसन में दृढ़ रह कर मूलाधार तथा कण्ठ से दो शक्तियों (अपान और प्राण वायु) का नाभि की ओर "पूरक" करने के साथ गमन कराना चाहिये। जब यह समझें कि प्राण वायु और अपान वायु का मिलाप नाभि में हो रहा है तब कुम्भक करें और मानसिक रूप से दोनों शक्तियों के मिलन-स्थान पर सावधान रहें। इस प्रकार मूलबन्ध का अभ्यास करें। इसके बाद

---

१. हठयोग प्रदीपिका, २/३१-३२।

रेचक के साथ इस क्रिया का परित्याग करे। नाभि में शक्ति को केन्द्रित करने में कुम्भक को जितना देर तक रोक सकें उतना ही अच्छा है। अब कुछ देर तक आंखें बन्द करके चुपचाप बैठे रहें।

साधना के पांचवें चरण में सिद्धासन बदल कर वज्रासन लगावें। घुटने मुड़े हुये, नितम्ब पैर के तलुवों पर, परस्पर मिली हुई अंगुलियों वाली हथेलियाँ ऊपर की ओर नाभि के नीचे गोद में, आँखें बन्द, शान्त। बन्द आँखों से नासिकाग्र पर ध्यान। नासिकाग्र ध्यान की सावधानी बराबर बनी रहे। बीच में आँखें किंचित् उन्मीलित करें किन्तु ध्यान नासिकाग्र पर ही रहे। पुनः आँखें बन्द, ध्यान वहीं नासिकाग्र पर। कुछ देर तक यह क्रिया करते रहने के बाद दीर्घ विश्राम। साधना समाप्त, आँखें खोलें, पूर्ण आराम करें, पुनः प्रकाश।

(५) अनाहतचक्र की साधना[१] :—

इस चक्र की साधना "सोऽहं साधना" कही जाती है। सुखासन (जिस आसन में सुविधा लगे) बैठें। शरीर पर कोई विशेष नियन्त्रण नहीं, कण्ठ में ध्यान करें। ध्यातव्य है कि कण्ठ में प्राण वायु के विषय में सावधान रहें कि किस प्रकार प्राण वायु कण्ठ से होकर नीचे गहन राज्य में जा रही है।

इसके बाद हृदय आकाश में सावधानी रखें और उसे श्वास के द्वारा भरा जाता हुआ अनुभव करें। श्वसन क्रिया और उसकी अनुभूति ही हार्दाकाश के अनुभव का प्रमुख आधार है। श्वसन क्रिया के लय (गति) के साथ हृदय के संकोच और विस्तार की अनुभूति करें। एक बार हृदय-स्थान का ज्ञान हो जाने पर पुनः उस स्थान का सहज ज्ञान होता रहेगा। बार-बार स्वतः और स्वाभाविक श्वसन क्रिया के लय पर हार्दाकाश के संकोच और विस्तार का अनुभव करना चाहिये। श्वास लम्बी या विशेष प्रकार की न हो। इस अभ्यास में हार्दाकाश की सावधानी महत्त्वपूर्ण है। यदि संकोच-प्रसार की अनुभूति द्वारा हार्दाकाश की सावधानी दृढ़ और स्थिर है तो वहाँ कुछ समय बाद अन्य बहुत सी वस्तुओं का भी अन्तः साक्षात्कार होता है। उस मानस दर्शन के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता है। वह छाया स्वतः अनुभूत होती है। केवल प्रतीक्षारत रहने की आवश्यकता है। वह छाया एक वापी और नील कमल की होती है। यदि हार्दाकाश (हृदय स्थान) के संकोच और प्रसार की अनुभूति हो गयी हो तब तो ठीक है अन्यथा संक्षेप में तीन अवस्थाओं का अभ्यास करना चाहिये। प्रथम-हृदय स्थान में प्राणवायु के भरे जाने की अनुभूति, द्वितीय-श्वसन क्रिया के लय के साथ

---

१. तन्त्र आफ कुण्डलिनीयोग, पृष्ठ ९८-१००।

Scanned by CamScanner

हृदय-स्थान के संकोच-विस्तार की सीधी अनुभूति, तृतीय-वापी में नील कमल की सावधानी।

साधना के अगले चरण में सहज श्वसन-क्रिया के साथ सोऽहं के अजपाजप की अनुभूति करनी चाहिये। श्वास लेते समय सो और छोड़ते समय अहम् का भाव हो। इस अभ्यास के द्वारा यह अजपाजप सहज हो जाना चाहिये। श्वास को या तो नासिकारन्ध्र में या नाभि और कण्ठ के मध्य में अथवा केवल कण्ठ में अथवा सोऽहम् के साथ हृदय-स्थान में अनुभव करना चाहिये। श्वास को नासारन्ध्र, नाभि-कण्ठ के मध्य, और कण्ठ-इन तीन स्थानो में एक साथ या क्रमशः अनुभव करना चाहिये। साधना समाप्त, दीर्घ विराम, पूर्ण आराम।

(६) विशुद्धचक्र की साधना :—

बिन्दु के द्रव पदार्थ का शुद्धीकरण करने वाला यह चक्र है।[1] कण्ठ ही वह स्थान है जहाँ अन्तः और बाह्य दोनों ही विष का शुद्धीकरण होता है यहाँ केवल साधानात्मक प्रक्रिया पर ही विचार करना समीचीन होगा। जालन्धर बन्ध विशुद्धचक्र के जागरण में बहुत उपयोगी है। पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिये। पूरक के अन्त में कुम्भक के समय ठोड़ी (चिबुक या दाढ़ी) को गले के नीचे के गड्ढे में टिकाना चाहिये—

कंठयाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥[2]

नाड़ियों के समूह तथा कपाल-कुहर-रूप नभ के जल को बाँधने के कारण इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं। यह विशुद्धचक्र में वायु को रोक कर बन्धन करता है अतएव उसे मध्यचक्र भी कहा जाता है।[3]

जालन्धर बन्ध के अतिरिक्त विपरीतकरणी मुद्रा भी इस चक्र के जागरण में सहायक सिद्ध होती है।[4] इस मुद्रा का अभ्यास तीनों साधनों द्वारा किया जाता है—अर्धसर्वाङ्गासन, सर्वाङ्गासन, और शीर्षासन। जो क्रिया योगी के नाभि (सूर्य) को ऊर्ध्वभाग में तथा तालु (राशि) को अधोभाग में करे उसे विपरीतकरणी मुद्रा

---

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० १०१।
२. हठयोग प्रदीपिका, ३/७०।
३. वही, ३/७१-७३।
४. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० १०३।

Scanned by CamScanner

कहते हैं।[1] इसके अतिरिक्त अमृत-पान की क्रिया का अभ्यास करना चाहिये, जो विभिन्न मानसिक और शारीरिक मुद्राओं के साथ प्राणायाम से सम्बद्ध है।

अब हम विशेष प्रायोगिक साधना पर चर्चा करेंगे। जिस प्रकार मणिपूर-चक्र के जागरण में अश्विनीमुद्रा (आज्ञाचक्र), वज्रोलीमुद्रा (स्वाधिष्ठान), मण्डूकी (मूलाधार) और नौलि क्रियाओं की सहायता ली जाती है, उसी प्रकार विशुद्धचक्र का जागरण भी आज्ञा से मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर और अनाहत का ध्यान किया जाता है, इसे चक्रावरोहण कहते हैं।

साधना-प्रकाश बन्द। प्रथम चरण में आज्ञाचक्र के ध्यान का अभ्यास—सिद्धासन, चिन्मुद्रा. आँखें बन्द, दृढ़, शान्त, स्थिर, अश्विनी मुद्रा का अभ्यास (श्वसन क्रिया के साथ मूलाधार का संकोच और विस्तार)। जब आज्ञाचक्र का पता चल जाये तब सीधे आज्ञाचक्र पर ध्यान करें, अन्यथा अश्विनीमुद्रा का अभ्यास करें। यह क्रिया प्रारम्भ में चार मिनट तक करें।

साधना के द्वितीय चरण में मूलाधार के ध्यान का अभ्यास-वज्रासन-घुटने हल्के से अलग-अलग आवद्ध अँगुलियों वाली ऊर्ध्वमुखी हथेलियाँ नाभि के नीचे गोद में। बन्द आँखों से नासिकाग्र पर मानसिक एकाग्रता, बीच-बीच में आँखों का किंचिद् उन्मीलन और ध्यान नासिकाग्र भाग पर। इस मण्डूकी क्रिया का तीन मिनट तक अभ्यास करें।

तृतीय चरण में स्वाधिष्ठान के ध्यान का अभ्यास—वज्रोलीमुद्रा का तीन मिनट तक अभ्यास करें।

चतुर्थ चरण में मणिपूरचक्र का अभ्यास करें। इसमें श्वास लेने के साथ (पूरक के समय) मूलाधार से या गुदा-स्थान से अपान वायु को नाभि की ओर तथा कुम्भक के समय दोनों वायु का नाभि-स्थान में मिलाप करके थोड़ी देर रोके रहने का अनुभव करें। रेचक के समय दोनों वायु का विलगाव होना चाहिये। नाभि में शक्ति की एकाग्रता अनुभव करें। यह क्रिया ४ मिनट तक की जानी चाहिये।

साधना के अगले चरण में अनाहतचक्र के लिये ३ ध्यान का अभ्यास करें। प्रथम—हृदय-स्थान को कण्ठ-स्थान से गमनशील प्राणवायु द्वारा भरा जाना, द्वितीय—श्वसन-क्रिया के लय के साथ हृदय के संकोच और प्रसार का अभ्यास,

---

१. हठयोगप्रदीपिका, ३/७९।

Scanned by CamScanner

तृतीय—हृदयाकाश की वापी में नीलकमल का छाया के दर्शन की प्रतीक्षा। यह अभ्यास ४ मिनट तक करें।

इसके बाद प्रत्येक चक्र पर एकाग्र हों। उन चक्रों का ध्यान करते समय यह अनुभव करें कि आप किसी छोटे पुष्प से या अपने अँगूठे से उन चक्र-स्थानों का स्पर्श कर रहे हों। चक्रों के ध्यान का क्रम इस प्रकार हो—

मूलाधार, मणिपूर, स्वाधिष्ठान, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। इसके बाद आज्ञा, विशुद्ध, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान और मूलाधार। यह क्रम चार बार किसी गुरु के निर्देशन में होना चाहिये और उसके बाद स्वतः उसका अभ्यास तीन मिनट तक करें। इस प्रकार इस चक्र की सम्पूर्ण साधना में २१ मिनट लगेंगे। यह समय काफी अभ्यास के बाद नियन्त्रित हो पायेगा। प्रारम्भ में तो आधे घन्टे का समय लग सकता है।

७. विन्दु-विसर्ग की साधना :—

शिर के शिखर भाग में स्थित विन्दु का जो द्रव पदार्थ, नासिका-रन्ध्र से तालुमूल में जिह्वा (खेचरीमुद्रा) के स्पर्श से क्षरणशीलता को प्राप्त होता है, वह विशुद्धचक्र (कण्ठ) में शुद्धीकृत होकर अमृत-रूप धारण करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विशुद्ध और विन्दु-विसर्ग की साधना भी परस्पर सम्बद्ध ही है। विन्दु-विसर्ग का जागरण वज्रोली मुद्रा तथा मूर्च्छा प्राणायाम से सम्बन्ध रखता है।[1] इन दोनों का क्रमशः शलभासन, धनुरासन, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्ध द्वारा अभ्यास करना चाहिये। योनि मुद्रा या शक्तिचालिनी मुद्रा के द्वारा विन्दु का अन्वेषण किया जा सकता है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है। उक्त सभी क्रियाओं पर चर्चा हो चुकी है। मूर्च्छा प्राणायाम के अन्तर्गत कुम्भक के समय दोनों हाथों के अँगूठे को कान में डालकर, दोनों तर्जनी और मध्यमा से आँखों को कोमलता से बन्द करें तथा दोनों अनामिका से नासिका और दोनों कनिष्ठा से अधर को दबावें। तत्पश्चात् स्वतः उद्भूत अनवरत नाद की अनुभूति की जा सकती है। इस नाद-स्थान का अन्वेषण करने से विन्दु-स्थान का ज्ञान होता है, क्योंकि नाद-स्थान ही विन्दु-स्थान है। वज्रोली मुद्रा तथा मूर्च्छा प्राणायाम भी नाद-स्थान के अन्वेषण में सहायक होता है।

इस चक्र के जागरण से सुधा-धारा प्रवाहित होती है। विन्दु से ही मादक स्राव होता है, जो योगियों के लिए अमृत है, जीवन है। इस अमृत का पान करके

---

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० ११५।

Scanned by CamScanner

योगी जन भूख-प्यास से मुक्त हो जाते हैं। अमृत-पान की क्रिया खेचरी मुद्रा द्वारा सम्पन्न की जाती है। खेचरी मुद्रा में जिह्वा पीछे की ओर मुड़कर घाटी में कार्क (ढक्कन) के समान स्थित हो जाती है। इस अभ्यास से विन्दु से प्रवाहित हुई अमृत-बूँदें सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर आक्सीजन, भोज्य तत्त्व, जल तत्त्व प्रदान करती हैं। इस अमृत-बूँद का प्रवाह-मार्ग विन्दु (शिखास्थान) से विशुद्ध (कण्ठ) तक एक विशेष नाड़ी-जाल के माध्यम से जुड़ा है, जो नासिका-रन्ध्र के अन्तःभाग और तालुमूल से लेकर जाता है। सुधा का निर्माण विन्दु-चक्र में और उस अमृत का संग्रह नासारन्ध्र के अन्तःचक्र लालन (तालु) चक्र में होता है।[1] जब खेचरी मुद्रा के द्वारा यह चक्र (लालनचक्र) उत्तेजित किया जाता है, तब योगी अमृत-पान करता है और यही इस चक्र की जागृत अवस्था है।

अब हम इस चक्र के लिये अपेक्षित "सोऽहम्" मन्त्र-साधना पर चर्चा करेगें।। अनाहतचक्र की साधना के कुछ-कुछ समान इस चक्र की भी साधना है। जैसे सुखपूर्वक किसी भी आसन पर बैठना। आँखें बन्द, जिससे किसी भी प्रकार का विघ्न न हो। अजपाजप के लिये अपनी श्वास क्रिया पर ध्यान रखें। यदि मस्तिष्क इधर-उधर भ्रमण करे तो कोई बात नहीं। केवल श्वास लेने और प्रच्छ्वास के निकालने पर सावधानी रखें। निरन्तर यह विचार (ध्यान) रखे रहें। यह क्रिया दो मिनट तक करें।

दूसरे चरण में श्वसन-क्रिया के साथ "सोऽहम्" के नाद पर सावधानी रखें। श्वसन-क्रिया का अनुभव कण्ठ, नासिका या कण्ठ और नाभि के मध्य करें। "सोऽहम्" के अतिरिक्त किसी अन्य मन्त्र का भी सहारा ले सकते हैं, लेकिन ध्यान (एकाग्रता) श्वसन-क्रिया पर ही रहे। हम यह ध्यान रखें कि क्या-क्या घटनायें इस क्रिया में हो रही हैं। इस क्रिया का अभ्यास चार मिनट तक करें।

तीसरे चरण में श्वसन-क्रिया और "सोऽहम्" मन्त्र पर विशेष सावधानी (एकाग्रता) रखनी चाहिये। यह अभ्यास चार मिनट तक करें।

चतुर्थ चरण में अपने को श्वसन-क्रिया और मन्त्र के साथ लीन कर दें। अब श्वसन-प्रक्रिया को विशुद्ध और विन्दु के मध्य ऊपर-नीचे सम्पन्न करें। यह अभ्यास तीन मिनट तक करना चाहिये।

कुण्डलिनी-जागरण का स्वरूप

साधना के पूर्व कथित सोपानों का अभ्यास करने से साधना परिपक्व होने

---

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० ११३।

Scanned by CamScanner

जिस समय कुण्डलिनी-जागरण होता है, उस समय इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में प्रवाहित होने वाला स्रोत सुषुम्णा के मार्ग में सूक्ष्मता को प्राप्त होकर प्रविष्ट होता है। सुषुम्णा, इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों का जो ऊर्ध्व स्थान है, जिसे आज्ञाचक्र कहते हैं, वहाँ पर वह स्रोत पहुँचकर और ऊर्ध्वमुखी होता है। धीरे-धीरे वह स्रोत सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है इस अवस्था में जीव वज्रा और चित्रिणी नाड़ी का भेदन करके अपनी शक्ति को ब्रह्मनाड़ी और आनन्दमय कोश की ओर गतिशील करता है।[४] इड़ा और पिङ्गला नाड़ियो से प्राणवायु को अलग करके सुषुम्णा में प्रवेश कराना ही समाधि-अवस्था की प्राप्ति है। उस समय इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों के मृतप्राय होने पर प्राणवायु सुषुम्णा में प्रवेश करके कुण्डलिनी की सहायता से षट्चक्रों का भेदन करते हुये सहस्रार में विलय को प्राप्त होता है।

Scanned by CamScanner

का मूल कारण है। मानव-देह में सर्वाधिक प्रबल सर्जना-शक्ति कुण्डलिनी है।'

आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत किया जाता है। आसन, प्राणायाम आदि के अभ्यास से प्राण इड़ा और पिंगला नाड़ियों से निकलकर सुषुम्णा नाड़ी में प्रविष्ट होते हैं तब कुण्डलिनी ऊपर की ओर उठती है। ऊर्ध्वगमन करती हुई कुण्डलिनी जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच जाती है, तब साधक शुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है फिर उसके लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है।

कुण्डलिनी को जाग्रत कर उसे सहस्रार चक्र तक पहुँचने के लिए अनेक वर्षों का समय लग जाता है, किन्तु ऐसे भी उदाहरण हैं कि पूर्व जन्म के संस्कारों से अथवा सुयोग्य गुरु की कृपा से अल्पकालीन प्रयास से ही कुण्डलिनी जाग्रत होकर सहस्रार चक्र तक पहुँच जाती है। प्रारम्भ में कुण्डलिनी उठ कर एक निश्चित बिन्दु पर ठहरती है, फिर धीरे धीरे ऊपर की ओर बढ़ती है। जिस चक्र पर कुण्डलिनी पहुँचती है, उस चक्र के अनुसार साधक को विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है। जब कुण्डलिनी सहस्रार चक्र तक पहुँच जाती है तो योगी को उस समय मोक्ष का-सा आनन्द प्राप्त होता है।

आसन, प्राणायाम, बन्ध और मुद्राओं के अभ्यास से प्राण जब सुषुम्णा में प्रवेश करते हैं तो सुषुम्णा काल को निगल जाती है, उस समय न दिन रहता है, न रात। प्राणों को सुषुम्णा में प्रवेश कराने के लिए अनेक उपाय तन्त्र-साधना के अन्तर्गत हैं। अपान वायु को ऊपर की ओर और प्राण वायु को नीचे की ओर खींचने से प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करते हैं।

जालन्धर और मूल बन्ध के द्वारा प्राण जब सुषुम्णा से मिलते हैं तो अग्नि प्रदीप्त हो उठता है। अग्नि की यह उष्णता सोई हुई कुण्डलिनी को जगा देती है, वह आवाज करती हुई कुण्डली त्याग कर सीधी हो

Scanned by CamScanner

जाती है और सुषुम्णा में प्रविष्ट हो जाती है। फिर प्रयास पूर्वक एक के बाद एक चक्र में क्रमशः उसे ले जाया जाता है। इसी को षट्चक्र भेदन कहते हैं।

कुण्डलिनी-जागरण की प्रक्रिया

योग-क्रिया शुद्धि से पूर्व मल शुद्धि की जाती है। कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने के लिए पहले **अश्विनी मुद्रा** का प्रयोग करना चाहिए। गुदा को बार-बार संकुचित और प्रसारित करना **अश्विनी मुद्रा** है। इस मुद्रा का प्रयोग षट् चक्र भेदन में अपान वायु के अवरोध के रूप में किया जाता है।

अश्विनी मुद्रा के बाद **शक्ति चालन** मुद्रा करनी चाहिए। उदर को अन्दर खींच कर दाहने और बाएँ हिलाने से शक्ति **संचालन मुद्रा** बनती है। इस मुद्रा के द्वारा प्राण वायु को सुषुम्णा में प्रविष्ट कराया जाता है। इस मुद्रा के साथ सिद्धासन में बैठ कर पूरक प्राणायाम किया जाता है। और प्राण तथा अपान को मिला दिया जाता है।

शक्ति संचालन मुद्रा के साथ **योनि मुद्रा** की जाती है। योनिमुद्रा सिद्धासन पर बैठ कर की जाती है। दोनों हाथ की दसों अंगुलियों से कान (अँगूठों से), आँखें (तर्जनी अंगुलियों से), नाक के दोनों छिद्र (मध्यमा अंगुलियों से) और मुख (अनामिका और कनिष्ठा अंगुलियों से) बंद कर लिए जाते हैं। इस मुद्रा से कान, आँख, नाक और मुख इन्द्रियों पर बाह्य प्रभाव नहीं पड़ता है। सिद्धासन में बैठने का भी यही तात्पर्य है। इस आसन में बाएँ पैर की एँड़ी से गुदा द्वार को दबाया जाता है और दाहने पैर की एँड़ी बाएँ पैर पर रख कर मूत्रेन्द्रिय को ढाक लिया जाता है। योनि मुद्रा कर के योगी **काकिनी** मुद्रा द्वारा प्राण-वायु को खींचता है और उसे अपानवायु से जोड़ देता है। दोनों ओठों को कौवे की चोंच की तरह सिकोड़ कर साँस अन्दर खींचना काकिनी मुद्रा है।

Scanned by CamScanner

इसके बाद योगी षट्चक्रों का क्रमशः ध्यान करता है और सोऽहं हंसः इस बीज मन्त्र का अजपाजप करते हुए कुण्डलिनी को जाग्रत करता है। कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए **खेचरी मुद्रा** की जाती है, इससे ध्यान परिपक्व होता है। महामुद्रा तथा महावेध का अभ्यास महाबंध के साथ किया जाता है। इसमें साधक बाएँ पैर की एँड़ी को मूलाधार चक्र पर जमा कर दाएँ पैर को सीधा फैला देता है और दोनों हाथों से दाएँ पैर का पंजा पकड़ लेता है। तत्पश्चात् जालन्धर बंध लगा कर फैले हुए पैर के घुटने पर सिर को रख देता है, इससे प्राण सुषुम्णा में प्रवेश कर कुण्डलिनी को जाग्रत करता है।

Scanned by CamScanner

शाम्भवी मुद्रा—मूल बन्ध और उड्डीयान बन्ध के साथ सिद्धासन या पद्मासन से बैठकर नासिका के अग्रभाग अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान जमाना शाम्भवी मुद्रा है। इस मुद्रा से मन सर्वथा वृत्ति शून्य हो जाता है।

५. बन्ध—बन्धों का अन्तर्भाव भी मुद्राओं के अन्तर्गत किया जाता है। बन्धों से प्राणों का निरोध होता है। तीन बन्ध मुख्य है—

मूलबन्ध, उड्डीयान और जालन्धर।

६. मूलबंध—मूल (गुदा) और लिंग स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूल बन्ध है। बाएँ पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्यभाग में दृढ़तापूर्वक जमाकर गुदा को सिकोड़ कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिंग एवं कंद के बीच के भाग को दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपान वायु को धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने को मूलबन्ध कहते हैं। यह बन्ध सिद्धासन के साथ लगाया जाता है। इससे कुंडलिनी उठकर ऊपर की ओर चढ़ने लगती है।

उड्डीयान बंध—दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलुओं को आपस में भिड़ाकर पेट के नाभि के नीचे और ऊपर आठ अंगुल हिस्से को बल-पूर्वक खींच कर मेरुदण्ड (रीढ़) से ऐसा लगादे कि पेट के स्थान पर गड्ढा-सा दिखे। जितना पेट के अन्दर की ओर अधिक खींचा जाएगा उतना ही अच्छा होगा। इस बन्ध से प्राण सुषुम्णा की ओर पक्षी की तरह उड़ने लगता है।

जालंधर बंध—कंठ को सिकोड़ कर ठोडी को दृढ़तापूर्वक कंठ रूप में स्थापित करे हृदय से ठोड़ी का अन्तर केवल चार अंगुल रहे। सीना आगे की ओर तना रहे। यह बन्ध कंठ के नाड़ीजाल को बाँधे रहता है। इस बन्ध से कंठ-स्वर मधुर-आकर्षक बनता है और कंठ के संकुचित हो जाने से इडा-पिंगला नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं तब प्राण सुषुम्ण में प्रवेश करता है।

लगभग सभी आसन और मुद्राएँ मूलबन्ध और उड्डीयान बन्ध के साथ किए जाते हैं।

५. महाबंध—महाबन्ध के द्वारा इडा, पिंगला और सुषुम्णा—इन

Scanned by CamScanner

तीनों नाड़ियों के प्रवाह को एक ही दिशा में परिवर्तित कर अन्य क्रियाओं के साथ मन को आज्ञाचक्र पर स्थिर करना होता है ।

विधि—बाएँ पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्यभाग में जमा कर बायीं जंघा के ऊपर दाहने पैर को रख समसूत्र में हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्र से वायु चल रहा हो, उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगाए । फिर मलद्वार से वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगाए । मन को मध्य नाड़ी में लगाए हुए यथाशक्ति कुम्भक करे । इसके बाद पूरक की विपरीत वाली नासिका से धीरे-धीरे रेचन करे । इस प्रकार दोनों नासिकाओं से अनुलोभ-विलोम रीति से प्राणा-याम करे ।

इस महाबन्ध से प्राण ऊर्ध्वगामी होता है और इड़ा-पिंगला सुषुम्णा का संगम होता है ।

आसन, प्राणायाम, बन्ध और मुद्राओं से कुंडलिनी जाग्रत की जाती है । इनके करने से प्राण इडा और पिंगला से निकलकर सुषुम्णा में प्रविष्ट होता है तब कुंडलिनी ऊर्ध्वगामी होती है ।

Scanned by CamScanner

ओम् कथ्यतेऽसौ महामुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।
यां संप्राप्य मनुष्याश्च भवन्ति सुरपूजिताः ।।१४५ ।।

om kathyate'sau mahāmudrā sarvatantreṣu gopitā |
yāṃ saṃprāpya manuṣyāśca bhavanti surapūjitāḥ ||145||

Om. Now Mahāmudra which is hidden in all Tantras is being described – and through the attainment of which men become worthy of worship even by gods.

जन्मकोटिसहस्रेण कृत्वा सत्कर्मविस्तरम्।
एनां प्राप्य भवाम्भोधि पारं गच्छन्ति योगिनः ।।१४६ ।।

janmakotisahasreṇa kṛtvā satkarmavistaram |
enāṃ prāpya bhavāmbhodhi pāraṃ gacchanti yoginaḥ ||146||

Doing many meritorious (good) deeds in thousands of previous births, the Yogīs cross the sea of birth through the attainment of it (= Mahāmudrā).

योनिं संपीड्य वामेन पादमूलेन यत्नतः।
दक्षिं प्रसारितं पादं कराभ्यां धारयेत् दृढम् ।।१४७ ।।

yoniṃ saṃpīḍya vāmena pādamūlena yatnataḥ |
dakṣiṃ prasāritaṃ pādaṃ karābhyāṃ dhārayet dṛḍham ||147||

Pressing carefully the left heel into the perineum (or vagina), and straightening the right leg, firmly take hold of the outstretched foot with both of the hands.

Scanned by CamScanner

आसने कटिमारोप्य चुबुकं हृदयोपरि।
नव द्वाराणि संयम्य कुक्षिमापूर्य्य वायुना।।१४८।।

āsane katimāropya cubukaṃ hṛdayopari |
nava dvārāṇi saṃyamya kukṣimāpūryya vāyunā ||148||

Keeping the waist in a seat (i.e. sitting somewhere), and keeping the chin on the heart, having control of nine-doors – (or closing those doors) fill properly the abdomen with Vāyu (air). (here 'abdomen' may mean "inside the body".)

चित्तं चतुष्पथे कृत्वा प्रारभेत् प्राणयन्त्रणाम्।
भित्वा चन्द्रार्कयोर्ग्रन्थिं कुर्यात् वायुनिवारणम्।।१४९।।

cittaṃ catuṣpathe kṛtvā prārabhet prāṇayantraṇām |
bhitvā candrārkayorgranthiṃ kuryāt vāyunivāraṇam ||149||

Applying the mind in the cross-way (catuṣpatha) start to restrain the Prāṇavāyu, and the Sun-knot (Sūryagranthi) make the Vāyu restrained.

(Note– Generally Yogīs apply their mind into Bhrūmadhya).

जारणाय कषायस्य मारणं बिन्दुनादयोः।
चालनं सर्वनाडीनामनलस्य प्रदीपनम्।।१५०।।

jāraṇāya kaṣāyasya maraṇaṃ bindunādayoḥ |
cālanaṃ sarvanāḍīnāmanalasya pradīpanam ||150||

For consuming of the Kaṣāyas (sinful and bad qualities like attachment to worldly objects, greed etc.), causing death of Bindu and Nāda, driving all the Nādis, enkindling the fire (of digestion power), all such actions take place through the practice of Mahāmudrā.

Scanned by CamScanner

कायवाक्चित्तयोगेन कायवाक्चित्तसाधनम् ।
भवेदभ्यासतो वश्यं मार्गरूढस्य योगिनः ।।१५१ ।।

kāyavākcittayogena kāyavākcittasāydhanam |
bhavedabhyāsato vaśyaṃ mārgarūḍhasya yoginaḥ ||151||

The accomplishment of Body, Speech and Mind can be done through the Yoga of Kāya, Vāk and Citta, and this will be under control by practice for a Yogī who is in the way of Sādhanā.

अनया मुद्रया सर्वं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
तस्मादेनां प्रयत्नेन महामुद्रां समभ्यसेत् ।।१५२ ।।

anayā mudrayā sarvaṃ jāyate yogino dhruvam |
tasmādenāṃ prayatnena mahāmudrāṃ samabhyaset ||152||

All desirable things can be attained by a Yogī through the practice of this Mudrā. So one should practice carefully this Mahāmudrā regularly.

सर्वेषामेव मुद्राणां महतीयं स्वयंभुवा ।
महामुद्रां च तेनैनां वदन्ति विवुधोत्तमाः ।।१५३ ।।

sarveṣāmeva mudrāṇāṃ mahatīyaṃ svayaṃbhuvā
mahāmudrāṃ ca tenaināṃ vadanti vivudhottamāḥ ||153||

It is the greatest (Mahatī) among all Mudrās. Hence, it is called Mahāmudrā by Svayambhu (Śiva). Hence, great scholars or gods call this Mahāmudrā. (It is designated as Mahāmudrā).

Scanned by CamScanner

अनया वाध्यते मृत्युर्वलिराबध्यते सदा।
चेतसा विधृता येन यन्त्रं तेनैव वर्जितम्।।१५४।।

anayā vādhyate mṛtyurvalirābadhyate sadā |
cetasā vidhṛtā yena yantraṃ tenaiva varjitam ||154||

Death can be prevented by this. Wrinkls (caused by old-age) can always be prevented (or it can prevent one's being subject to forcible death. He who holds it by heart (or Mind) can leave the Yantra. (Yantra = any support or restriction is given up by him only who has taken it through Mind – by regular practice.)

(Note – In sanskrit the word वलि has different meanings.)

अस्माच्च कथितं नामपदानां प्रथमाक्षरैः।
युक्तं च योगयुक्तानां प्रमोदाय च केवलम्।।१५५।।

asmācca kathitaṃ nāmapadānāṃ prathamākṣaraiḥ |
yuktaṃ ca yogayuktānāṃ pramodāya ca kevalam ||155||

Hence it is described by using the first letters of the name words (Mahā and Mudrā) (So that it can be taken by heart). It is reasonable for the Satisfaction of the persons only who are attached to Yoga.

।। इति महामुद्राविवेकः ।।

|| *iti Mahāmudrāvivekaḥ* ||

Here ends an exposition on Mahāmudrāviveka.

***

Scanned by CamScanner

इयं येन महामुद्रा योगिना सिध्यते ध्रुवम् ।
कथ्यतेऽसौ महाबन्धः शरीरे प्राणधारकः ।।१५६ ।।

iyaṃ yena mahāmudrā yoginā sidhyate dhruvam |
kathyate'sau mahābandhaḥ śarīre prāṇadhārakaḥ ||156||

This is Mahāmudrā through which success can be attained certainly by a Yogī. Now Mahābandha is being described which is the holder (or retainer) of PrāṇaVāyu in the body.

बन्धश्च द्विविधो ज्ञेयो यदाबन्धः सदादृतः ।
योनिबन्धो हि देवानां कण्ठबन्धोऽमृतान्धसाम् ।।१५७ ।।

bandhaśca dvividho jñeyo yadābandhaḥ sadādṛtaḥ |
yonibandho hi devānāṃ kaṭhabandho'mṛtāndhasām ||157||

The Bandha is of two kinds when it is always appreciated (esteemed = आदृतः). YoniBandha is for the gods and KaṇṭhaBandha is for the persons whose food is nector. (i.e. – great Yogīs).

(Note – The word Amṛtāndhas generally means a god. But as the Yonibandha is prescribed for gods, here this word (Amṛtāndhas) seems to mean – "great Yogī" who in a way drinks the nector as is described in this book = AmṛtasiddhiYoga).

पुरकं कुम्भकं कृत्वा धृत्वा मुद्रां भयापहाम् ।
बन्धं संयोजयेत् क्षिप्रं देवासुरसुगोपिताम् ।।१५८ ।।

purakaṃ kumbhakaṃ kṛtvā dhṛtvā mudrāṃ bhayāpahām |
bandhaṃ saṃyojayet kṣipraṃ devāsurasugopitām ||158||

Scanned by CamScanner

(Sitting in the pasture of any comfortable Āsana like Siddāsana perform inhaling – (=Pūraka) and then hold the breath (= kumbhaka), and holding a Mudrā which is not dengerous (which removes fear), perform rapidly this Bandha which is made secret by Devas and Asuras.

(Note – Breathing in or inhaling is called Pūraka, and Breathing out or exhaling is called Rechaka, and Holding the breath is called Kumbhaka (i.e. – retaining of breath).

गुदं योनिसमायुक्तमाकुञ्चेत्समकालतः ।
अपानमूर्ध्वगं कृत्वा समानेनैव योजयेत् ।।१५९।।

gudaṃ yonisamāyuktamākuñcetsamakālataḥ |
apānamūrdhvagaṃ kṛtvā samānenaiva yojayet ||159||

At the same time contracting the rectum associated with the perineum / vagina make the Apāna Vāyu moving upward and unite it with the Samāna Vāyu.

(Here the word 'गुदं' is not found in the manuscript. So it is reconstructed).

(Note – Similar description about the Mūlabandha is found in the Haṭhapradīpikā (See 3/61).

Which runs as – पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ।।

But Samāna Vāyu is not mentioned there.

Scanned by CamScanner

बन्धं समारभेद् योगी मध्यमाद्वार पार्श्वतः ।
संरुध्य त्रिपथं यत्नात्कुर्याद्वायोश्चरिंखणम् ।।१६० ।।

bandhaṃ samārabhed yogī madhyamādvāra pārśvataḥ |
saṃrudhya tripathaṃ yatnātkuryādvāyoścariṃkhaṇam ||160||

A Yogī should perform this Bandha by the side of the middle – door (मध्यमाद्वार) enclosing the three ways carefully and then he should keep the Vāyu moving very slowly.

(Note – Here the letter ब in बन्धं is not found in the manuscript. So it is reconstructed).

प्राणे निरुद्धे पायुश्च कृत्वा प्राणमधोमुखम् ।
वाहयेदूर्ध्वमप्यर्धमपानेनैव योगतः ।।१६१ ।।

prāṇe niruddhe pāyuśca kṛtvā prāṇamadhomukham |
vāhayedūrdhvamapyardhamapānenaiva yogataḥ ||161||

When Prāna is restrained and the Anus, making Prāṇa down-faced, and in association of Apāna as other half, make them flowing upwards.

(Note – It is also said in the Haṭhpradīpikā that – प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् । (See 3/64). Success in Yoga is achieved when Prāṇa and Apāna, Nāda and Bindu become one through the practice of mūlabandha. It is also said there – अधोगतिमपानं वै उर्धगं कुरुते वलात् see Haṭhapradīpikā – 3/62).

Scanned by CamScanner

एष योगवरो देहे सिद्धमार्गप्रसाधकः ।
संचिन्त्य प्रत्यहं पुष्टि र्विहायैनं तु नान्यथा ।।१६२ ।।

eṣa yogavaro dehe siddhamārga prasādhakaḥ |
sañcintya pratyahaṃ puṣṭi rvihāyainaṃ tu nānyathā ||162||

This is the great Yoga. In the body it makes one to achieve the way of the Siddhas. It should be thought over daily. There is no way to development except it.

नाड्यः स्रवन्ति याः सर्वा अधोमार्गेण सर्वदा ।
महतानेन बन्धेन विपरीता भवन्ति ताः ।।१६३ ।।

nāḍyaḥ sravanti yāḥ sarvā adhomārgeṇa sarvadā |
mahatānena bandhena viparītā bhavanti tāḥ ||163||

The Nādīs all of which are flowing downwards always through the way down, can be made opposite (= flowing upwards) by the practice of this Bandha.

अधोवाहेन तत्त्वं च शरीराद्बाह्यगामि च ।।
शरीराणि पलायन्ते सुक्षेत्रे स्रोतसो यथा ।।१६४ ।।

adhovāhena ttatvaṃ ca sarīrādbāhyagāmi ca |
śarīrāṇi palāyante sukṣetre srotaso yathā ||164||

Through – flowing downwards the essence of the body goes out (from the body). The bodies run away as like as streams of water go out in an excellent place.

Scanned by CamScanner

यथा बाह्यगतस्सेतुः प्रवाहस्य निरोधकः ।
तथा शरीरगश्चायं ज्ञातव्यो योगिभिः सदा ।।१६५।।

yathā bāhyagatassetuḥ pravāhasya nirodhakaḥ |
tathā śarīragaścāyaṃ jñātavyo yogibhiḥ sadā ||165||

As in the outer world, a dam restrains the stream of water, likewise this Bandha, when performed with the body, stops the flowing out of energy (or तत्त्व). This should be known by Yogīs always.

सर्वेषामेव नाडीनामेष बन्धः प्रकीर्तितः ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन तृष्टाः स्युर्देवता नराः ।।१६६।।

sarveṣāmeva nādīnāmeṣa bandhaḥ prakīrtitaḥ |
bandhasyāsya prasādena tṛṣṭāḥ syurdevatā narāḥ ||166||

This Bandha has been told to be an obstruction (= Bandha = binding) (In the sense that it stops flowing downwards of Nādīs). By the grace of this Bandha gods and human beings become satisfied (pleased).

(Note – सर्वेषां नाडीनां should be सर्वासां नाडीनां or सर्वेषां जनानां नाडीनां).

अयं चतुष्पथो बन्धो मार्गत्रयनिरोधकः ।
एकं विकासयेन्मार्गं येन सिद्धाः सुखंगताः ।।१६७।।

ayaṃ catuṣpatho bandho mārgatrayanirodhakaḥ |
ekaṃ vikāsayenmārgaṃ yena siddhāḥ sukhaṃgatāḥ ||167||

Scanned by CamScanner

This is catuṣpatha Bandha, encloser of three ways (by blocking. Bloom (= reveal or develop) one way. Through this Siddhas go happily.

(Note – It is already said in a previous verse no. 160 that संरुध्य त्रिपथं यत्नात् etc. This is why sometime Mahābandha is called a great lock).

सृष्टिमृत्युपदो मार्गः कथितोऽयमधोगतः।
पापपुण्यस्य कर्त्तारौ द्वावेतौ पार्श्वगामिनौ ।।१६८।।

sṛṣṭimṛtyupado mārgaḥ kathito'yamadhogataḥ |
pāpapuṇyasya karttārau dvāvetau pārśvagāminau ||168||

This is the cause (post) of origin and death. This is told to be the way in the lower region. These two ways which stay alongside – are the doer of sinful and meritorious acts.

कुम्भके सर्वतत्त्वानि निक्षिपेद् दृढबन्धनात्।
उदानमर्गलं कृत्वा प्राणेन सह योगतः ।।१६९ ।।

kumbhake sarvatattvāni nikṣiped dṛḍhabandhanāt |
udānamargalaṃ kṛtvā prāṇena saha yogataḥ ||169||

Throw (or protect) all the tattvas into kumbhaka binding firmly and making Udāna Vāyu a bolt in association with the Prāṇa Vāyu.

बन्धोऽयं सर्वनाडीनां मध्ये गतिनिरोधकः।
एतस्यैव प्रसादेन योगीबोधः प्रसिध्यति ।।१७० ।।

bandho'yaṃ sarvanāḍīnāṃ madhye gatinirodhakaḥ |
etasyaiva prasādena yogībodhaḥ prasidhyati ||170||

Scanned by CamScanner

This Bandha stops movement in all the Nāḍīs. By the grace of this only, one becomes a Yogī and (his) knowledge arises.

अयं च सम्पुटो योगो मूलबन्धोऽप्ययं मतः ।
योगत्रयमनेनैव सिध्यन्ते तस्य तां गतिम् ।।१७१ ।।

ayaṃ ca samputo yogo mūlabandho'pyayaṃ mataḥ |
yogatrayamanenaiva sidhyante tasya tāṃ gatim ||171||

This is called Sampuṭa (a casket in which there are many things combined) Yoga. This is accepted as Mūlabandha also. The purpose of three Yogas can be served by this, because those are also meant for the same goal.

(Note – Mahābandha can include Mūlabandha also. So the author did not deal with Mūlabandha separately. According to the description of Mahābandha as presented here – Mahābandha can be treated as Mūlabandha also. The author frankly said this. Actually here the description is of a combination of Mahābandha and Mūlabandha.)

।। इति महाबन्धविवेकः ।।

|| iti mahābandhavivekaḥ ||

Here ends on exposition on Mahābandhaviveka.

***

Scanned by CamScanner

मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम्।
विशुद्धश्च तथाज्ञाख्यं षट्चक्रश्च विभाव्य च॥
कुण्डलिन्या स्वशक्त्या च सहितं परमेश्वरम्।
सहस्रदलपद्मस्थं हृदये स्वात्मनः प्रभुम्॥
ददर्श द्विभुजं कृष्णं पीतकौशेयवाससम्।
सस्मितं सुन्दरं शुद्धं नवीनजलदप्रभम्॥

—नारदपञ्चरात्रम्, प्रथमरात्र, ३।७०-७२

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा नामक षट्चक्र की हृदय में भावना कर स्वशक्ति और कुण्डलिनी के साथ सहस्रदलपद्मस्थित परमात्मा-प्रभु का ध्यान कर, द्विभुज एवं पीतकौशेयवस्त्र-परिहित, ईषद्-हास्ययुक्त, सुन्दर और विशुद्ध एवं नवीन मेघ के समान प्रभाविशिष्ट श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन करें।

कुण्डलिनी उत्थापन कर ब्रह्मतत्त्व-साधना की बहुविध प्रणालियाँ शास्त्र में उक्त हैं। उनमें सहज, श्रेष्ठ और सुखसाध्य कई प्रणालियाँ नीचे लिखी गई हैं। जिन्हें जो सुविधाजनक होगी, वे उसी प्रणाली का अवलम्बन कर ब्रह्मतत्त्व की साधना करेंगे। विषय एक ही है, किन्तु प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न हैं मात्र।

रसानन्द योग या योनिमुद्रा साधना

योनिमुद्रा का अवलम्बन कर पूर्वोक्त प्रकार से कुण्डलिनीशक्ति को सहस्रार में उत्थापित किया जा सकता है। यथा—

योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुशृङ्गार-रसेनैव विहरेत् परमात्मनि॥

आनन्दमयः संभूय ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत्।
अहं ब्रह्मेति वाद्वैतः समाधिस्तेन जायते॥

—घेरण्डसंहिता, ७।१२-१३

—योनिमुद्रा का अवलम्बन कर साधक उसी परमात्मा में अपने को शक्तिमय सोचे अर्थात् अपने को प्रकृतिरूपा शक्ति एवं परमात्मा को पुरुषरूप शिव चिन्तन करें, ऐसा होने से प्रकृति-पुरुष या शिव-शक्ति का ज्ञान होगा। तब स्त्री-पुरुषवत् अपने साथ परमात्मा का शृङ्गाररसपूर्ण विहार हो रहा है, ऐसा चिन्तन करें। इस प्रकार के सम्भोग से उत्पन्न परमानन्दरस में मग्न होकर परब्रह्म के साथ अभेदरूप में मिल गया हूँ, ऐसा ज्ञान जनमेगा। ऐसा होने से 'मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा अद्वैतज्ञान उत्पन्न होकर परब्रह्म में चित्त लीन हो जायेगा।

पूर्वोक्तरूप में वैष्णव-साधक स्वयं की राधारूप में कल्पना कर परमपुरुष श्रीकृष्ण के साथ रास-रस में मत्त होंगे। योनिमुद्रा का क्रम इस प्रकार है—

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तमाकुञ्च्य प्रवर्तते॥
ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं बन्धूकसन्निभम्।
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटि सुशीतलम्॥
तस्योर्ध्वं तु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला।
तया पिहितात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत्॥
गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिङ्गत्रयक्रमेण वै।
अमृतं तद्विसर्गस्थं परमानन्दलक्षणम्॥
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधारप्रवर्षिणम्।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत् कुलम्।
पुनरेवाकुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा॥

सा च प्राणसमा ख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता।
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिः शिवात्मकः॥
योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः।
तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत्॥

—शिवसंहिता, ४।१-८

पहले पूरकयोगद्वारा स्वीय मूलाधारपद्म में वायु के साथ मन को स्थापित करना होगा। गुह्यद्वार और उपस्थ के मध्यवर्ती स्थान को योनिमण्डल कहते हैं। इसी योनिस्थान को आकुञ्चित कर योनिमुद्रा की साधना में प्रवृत्त हों। इस योनिमण्डल को ब्रह्मयोनि भी कहा जाता है। इस ब्रह्मयोनि के बीच बन्धूकपुष्प-सदृश रक्तवर्ण, कोटिसूर्य के समान तेजोमय एवं कोटिचन्द्र के समान सुशीतल स्थिरतर कन्दर्प नामक वायु है। उसके ऊर्ध्वभाग में वह्निशिखा के समान सूक्ष्म चैतन्यस्वरूपा परमा कला (कुण्डलिनीशक्ति) हैं। साधक इस प्रकार ध्यान कर, फिर आत्मा उस परमा कला कुण्डलिनीशक्ति के द्वारा परिव्याप्त और एकीभूत है, यही चिन्तन करें। तत्पश्चात् साधक कुम्भक-योगप्रभाव से वायु के साथ ये कुण्डलिनीशक्ति (स्वयं) स्वयम्भूलिङ्ग, वाणलिङ्ग, इतरलिङ्ग, इस लिङ्गत्रय का भेदन कर सुषुम्नानाड़ी के रन्ध्र से होकर ब्रह्ममार्ग में गमन कर रही हैं, ऐसा चिन्तन करें। इसरूप में कुण्डलिनीशक्ति अकुल-स्थान (शिरःस्थित अधोमुख सहस्रदल कमलकर्णिका) में उपनीत होकर विसर्गस्थित दिव्य कुलामृत पान करती रहेंगी। यह कुलामृत परमानन्दमय, श्वेत-रक्तवर्ण (सत्त्वरजोमय) और तेजःसम्पन्न है ; इससे दिव्य सुधाधारा वर्षण हो रही है। कुण्डलिनी इस प्रकार दिव्य कुलामृत का पान कर फिर कुलस्थान (मूलाधारपद्मस्थ ब्रह्मयोनिमण्डल) में प्रत्यागमन करेंगी। कुलकुण्डलिनीशक्ति का इस प्रकार गमनागमन प्राणायाममात्रायोग में ही करना होगा। उस मूलाधारपद्म में कुलकुण्डलिनीशक्ति आत्मा की प्राणस्वरूपा होकर रहती हैं। इस प्रकार गमनागमन के बाद फिर वह कुण्डलिनीशक्ति कालाग्न्यादि शिवात्मक

ब्रह्मयोनि में प्रलीन हो रही हैं, यही चिन्तन करो, इसका नाम योनिमुद्रा है। यह सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ है ; इस (योनिमुद्रा) के बन्धमात्र से ही साधक, ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसमें सिद्धिलाभ न कर सकें।

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा पतितो धरणीतले।
उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

—कुलार्णवतन्त्र, ७।१००

योनिमुद्रायोग में इस प्रकार पुनः पुनः कुण्डलिनीशक्ति को कुलामृत पान कराने से साधक का और पुनर्जन्म नहीं होता।

योगिवर गोरक्षनाथ के मत से योनिमुद्रा ऐसी है—

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नासामुखम्।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत्॥
काकीभिः प्राणं संकृष्य अपाने योजयेत्ततः।
षट्चक्राणि क्रमात् ध्यात्वा हुँ-हंसमधुना सुधीः॥
चैतन्यमानयेत् देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे॥
शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परंशिवेन सङ्गमम्।
नानासुखं विहारञ्च चिन्तयेत् परमं सुखम्॥
शिवशक्ति-समायोगादेकान्तं भुवि भावयेत्।
आनन्दश्च स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत्॥
योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा।
सकृत्तु लाभात् संसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि॥

—गोरक्षसंहिता, १।८९-९४

साधक सिद्धासन में उपविष्ट होकर दोनों हाथों के अंगुठों द्वारा कर्णद्वय, तर्जनीद्वय द्वारा चक्षुर्द्वय, मध्यमाद्वय द्वारा नासिकाविवरद्वय एवं अनामिकाद्वय

और कनिष्ठांगुलिद्वय द्वारा मुखविवर रुद्ध कर, काकीमुद्रा द्वारा अर्थात् दोनों होंठों को काकचञ्चु के समान पतला कर प्राणवायु का समाकर्षण कर अपानवायु से युक्त करें। तत्पश्चात् शरीरस्थ षट्चक्र का ध्यान कर "हुँ हंस" इस मन्त्रद्वारा निद्रिता भुजङ्गिनीदेवी को अर्थात् कुलकुण्डलिनी को सचैतन्य कर जीवात्मा के साथ शक्ति को शिरःस्थित सहस्रदलपद्म में उपस्थापित करें। सुधीव्यक्ति स्वयं को शक्तिमय भावना कर उस कमलकर्णिकामध्य परमपुरुष के साथ सम्मिलित होकर स्त्री-पुरुष के समान सङ्गमासक्त हों एवं स्वयं को आनन्दमय और परमसुखी सोचें। इस प्रकार से चिन्तन करते-करते या सोचते-सोचते "मैं ही ब्रह्म हूँ" ऐसा ज्ञान होगा, ऐसा होने से ही योनिमुद्रा सिद्ध होती है। यह योनिमुद्रा अतिशय गोपनीय है, देवगण भी इसे प्राप्त नहीं कर पाते हैं। यह मुद्रा एकबार मात्र करने से ही सम्पूर्ण सिद्धि होती है और समाधिस्थ हुआ जा सकता है।

समाधिभङ्ग होने के बाद योगी फिर अन्तर्बाह्य कोई भ्रान्ति दर्शन नहीं करते, यही यथार्थ ब्रह्मज्ञान है।

यह प्रक्रिया अत्यन्त आनन्दप्रद एवं श्रेष्ठ है। नारीसहवासकाल में शुक्रबहिर्गमन के समय शरीर और मन में जैसा अनिर्देश्य आनन्द का अनुभव और अव्यक्त भाव हुआ करता है, साधक समाधिकाल में तदपेक्षा करोड़ों गुना अधिक आनन्द अनुभव किया करते हैं। शरीर और मन के उस अव्यक्त अपूर्व भाव को व्यक्त करने का साधन नहीं है।

ब्रह्मयोग या भूतशुद्धि साधना

भूतशुद्धियोग में भी कुण्डलिनी उत्थापित हुआ करती हैं। नित्य जपपूजादि में भूतशुद्धि करना एकान्त आवश्यक है। भूतशुद्धि किये बिना किसी भी कार्य में अधिकार प्राप्त नहीं होता है। किन्तु लाख व्यक्तियों में एक व्यक्ति

padmāsanesthitvā samagrīvodaraḥ san mukhaṃ sammīlya vāyurecanaṃ kāryaṃ yathā hṛdayaṃ kaṇṭhe lagnaṃ bhavettathā punaḥ pūrayet yathā kaṇṭhaṃ hṛdayo lagnabhavettathā recayet sasvanaṃ bhastrikā kuṃbhako bhavati // bhṛṅganādasahitaṃ pūrakaṃ kṛtvā bhṛṅganā sahitaṃ recakaṃ kuryāt // bhrāmarī kuṃbhako bhavati // pūrakaḥ kāryāḥ hanūkaṇṭhakūpe sthāpya retaḥ śyābīnduṃ saṃbodhya punaḥ ākṛṣya peśyaṃ saṃ upparecayet sukhapradāmūrcā bhavatiyaṃ mūrcā kuṃbhakaḥ // // canapūraṇe vinākuṃbhakaḥ kevala kuṃbhakaḥ // iti aṣṭakuṃbhakaḥ //

Assuming the posture of Padmāsana with the neck and belly held in a straight line (erect), closing the mouth one should exhale in the way so that the exhalation is felt in the chest and throat, then again inhale with (making) a sound - so that inhalation also be felt in the chest and throat, and then exhale in that way. This is called Bhastrikā. Inhale making a sound like that of a bee (in that way). This is called Bhrāmari Kumbhaka. At first inhale with the chin kept in the Kaṇṭhakupa (Jugular notch). And perform retention of air - and then exhale, in this way a pleasant state of Mūrcchā will be attained (Here the Sanskrit sentence is found corrupted) This is called Mūrcchā Kumbhaka. A Kumbhaka (retention of air) without Recaka ad Pūraka is called Kevalakumbhaka. These are eight Kumbhakas.

९५. आसनषट्कर्माष्टकुंभकैः नाडीनां शुद्धत्वे सति अपानेन वायुमाकृष्य ब्रह्मरंध्रपर्यन्तं नीत्वा कुंभयित्वा अपानेन विरेचनं कर्तव्यम् ऐवमभ्यासपर्यतं कृतं चेत्सर्वं सिध्यति इति शक्तिचालनम् ।।

Scanned by CamScanner

āsanaṣaṭkarmāṣṭakuṃbhakaiḥ nāḍīnāṃ śuddhatve sati apānena vāyukṛrmākṛ ṣya brahmarandhraparyantam nitvā kuṃbhayitvā apānena virecanaṃ kartavyaṃ evamabhyāsa . paryantaṃ kṛtaṃ cetsarvaṃ sidhyati iti śakticalanaṃ //

Thus the 'Nadis' being purified by Āsana, Saṭkarma, and Aṣṭakumbhaka, one should draw air through 'Apāna' and bringing it up to Brahmarandhra, perform Recana (drive out) through that way (= Apāna). In this way if anybody goes to the last end of this (Way of) practice (in the long run) he will achieve absolute success in all actions. This is how to drive Śakti (Śakticālanam).

१६. अथवज्रोलि ।।

मेढ्रद्वारेण वायुमाकृष्य ब्रह्मरंध्रपर्यंतं नयेत् वज्रोलि भवति मतः अतिमृदुला दृढा अमृतालता लिंगछिद्रे शनैः शनैः प्रवेशयेत् दशांगुलपर्यंतं प्रविष्टायां छिद्रे घटिकामुहूर्तयामार्धयाम पर्यंतं पर्यायेण दिने दिने संरक्षयेत् लिंगनाड्यां अतिवेदना भवति वारं वारं भ्रमणं भवति बस्तिप्रदेशे शूलो भवति सः भगवत्संकीर्तनादिना सहेत विघ्नशान्त्यर्थं देवतादि पूजा कर्तव्याः ।।

atha vajroli //
meḍradvāreṇa vāyumākṛṣyah brahmarandhraparyantaṃ nayet vajroli bhavati mataḥ atimṛdutadṛḍhā amṛtā latāliṅga śanaiḥchidre śanaiḥ praveśayet daśāṅgulaparyantaṃ praviṣṭhāyāṃ chidre ghaṭikāmuhūrtayāmārdhayāma paryantaṃ paryāyena dine dine saṃrakṣayet liṅganāḍyām ativedanā bhavati vāraṃ vāraṃ bhramaṇaṃ bhavati bastipradeśe śūlo bhavati saḥ bhagavatsaṅkīrtanādinā saheta vighnaśāntyarthaṃ devatādi pūjā kartavyā //

Scanned by CamScanner

Now Vajroli is described -

Drawing air through the door (= hole or passage) of penis, bring it up to Brahmarandhra, This is called Vajroli. Insert very slowly an Amritālatā - very smooth and soft but strong (and thin) - inside the hole of penis (lingacchidra). And when it enters at a length of ten 'Angulis' leave it (and keep as it is) for a Ghaṭika, (= 24 minutes) or a Muhūrta - (= a moment or 48 minutes) or a Yāma (= 3hours) or half of a Yāma. (gradually increasing the time according to the condition and ability). Repeat this day by day. There will be a severe pain in the Liṅga Nāḍi (Penis). (Due to pain) he may travel to and fro, again and again, A severe pain (Śūla) occurs in his Bastipradesha also. By chanting and singing the names of God - one can bear such pains. Worship of deities should be done to remove the obstacles. (Some say that Amritālatā is Gulancha or like that, some people take it as Guduci)

९७. **जात्यंकुरसदृशः हरितशरः नामलवाला इति महाराष्ट्रादौ प्रसिद्धः ।। तस्यप्रवेशः एकादशद्वादशत्रयोदशविंशतिचतुर्विंशति अंगुलपर्यंतं पर्यायेण दिने दिने अतिसावकाशतया शनैः शनैः प्रवेशयेत् ।। प्रविष्टे सति तदेव । पर्यायेण स्थापयेत् पूर्ववद्वेदनातिशयो भवति आनखशिखापर्यंतम् अतित्रासवज्वरो भवति ।।**

jātyaṅkurasadṛśaḥ haritaśaraḥ nāmalavālā iti māhārāṣṭrādau prasiddhaḥ // tasyapraveśaḥ ekādaśadvādaśatrayodaśaviṃśati caturviṃśati aṅgulaparyantaṃ paryāyeṇa dine dine atisāvakāśatayā śanaiḥ śanaiḥ praveśayet // praviṣṭe sati tadeva paryāyeṇa sthāpayet pūrvavadvedanātiśayo bhavati ānakhaśikhāparyantaṃ atitrāsavajvaro bhavati //

Insert a Haritasara (some kind of thin 'Śara', some kind of green reed, or some kind of grass), which is well known in Maharashtra etc. as Nāmalavālā (This name seems to be obsolete now - it is the word of a

Scanned by CamScanner

regional language used then in Maharashtra). And this 'Śara' is like a 'Jātyankura'. (Sprout of Jāti plant). Insert this 'Śara' (in the hole) at the length of eleven, twelve or thirteen, twenty or twenty-four Angulis (gradually increasing the length according to the condition). Insert it as it can get scope day by day. When entered keep it as it is in the same way as described above. As like as in the previous case, here also severe pain occurs. And a terrible severe fever occurs on all his body-limbs-from nail to hair.

(Note - These are very risky difficult performences - highly dangerous to life. So one should not perform these by reading books only, It is said in the text also that one should perform these being well guided and instructed by a real Guru.)

१८. साधकस्य मरणादि भयमुत्पद्यते ।। साधकस्संरक्षकैः धीर धर्तव्यः ज्वरनिष्पत्तये वस्त्राशोधितभस्मशय्यायां शयेत् धौततंदुलगाढं मुदकं कृत्वा प्रस्थमात्रोदके चंदनं कर्षमात्रं क्षिप्त्वा पलत्रयमिताखंडशर्करां क्षिप्त्वा चुलुकत्रयं पिबेत् ।। दिवसमध्ये द्वित्रिवारं पिबेत् । ।। वारं मूत्रयेत् ज्वरशांत्यर्थं स्त्रियमालिंगयेत् ।। लिंगस्फुरणे सति नालिंगयेत् ।। इत्यादिव्यापारेण लिंगनालं शुद्धं भवति ।।

sādhakasya maranādi bhayamutpadyate // sādhakassaṃrakṣakaiḥ dhīra dhartavyaḥ jvara niṣpattaye vastrāśodhitbhasmaśayyāyāṃ śayet dhautatandulagāḍhaṃ mudakaṃ kṛtvā prastamātrodake candanaṃ karṣamātraṃ kṣiptvā palatrayamitākaṇḍa śarkarāṃ kṣiptvā culukatrayaṃ pibet // divasa madhye dvitrivāraṃ pibet // varaṃ mūtrayet jvara śāntyartham striyamāliṇgayet // lingasphuraṇe sati nālingayet // ityādi vyāpāreṇa linganālaṃ śuddhaṃ bhavati //

Scanned by CamScanner

Great fear from death arises (in the mind of the Sādhaka- performer or devotee). The protectors of the Sādhaka should make him remain cool. To remove (= cool down) the fever lie down on a bed of ashes made refine (covered) by cloth. Wash some Tandula (some kind of rice) with water and collect that water (i.e.- mixed and thick with the fine elements from the rice) and in that water (Quantity of which is one prastha = 32 palas). Throw a small quantity of paste of sandal-wood and three 'pala's (= 4 karashas) of Khaṇḍasarkara (= a kind of sugar) and then drink a small quantity of it (i.e-three culukas = Mouthful of water), two or three times in a day. Urinate again and again. To cool the fever embrace ladies. But if there is much pain in penis - do not embrace.

९९. तदनंतरं ।। ज्योत्यकुंरसदृशखड्गशंबरश्रंगहस्तिदतंरौप्यस्वर्णनिर्मित शलाकाभिः छिद्रमंथनं कार्यम् ।। तदनंतरं ।। देवपथकृत जात्यंकुरसट्टाश तिर्यगग्रतिर्यगूछिद्र नलिकाः अनेकाः कार्याः चतुरंगुलषडंगुलअष्टांगुल चतर्विंशति अगुलपरयंतपरिमिताः कार्याः अनेक सट्टशविसदृश वक्रकुटिल अनेक प्रकारगुरुपदिष्टमार्गेण कर्तव्याः ।।

tadanantaraṃ // jyotyaṃkurasadṛśa khaḍgaśaṃbaraśṛṅgahasti dantaraupyasvarṇanirmita śalākābhiḥ chidramanthanaṃ kāryaṃ // tadanantaraṃ // devapathakṛta jātyaṅkurasadṛśa tiryagagratiyagūchidra nalikāḥ anekāḥ kāryāḥ catuaṅgula ṣaḍangula aṣṭāngula caturviṃśati aṅgula parayantaparimitāḥ kāryāḥ aneka sadṟśavisadṟśa vakrakuṭila aneka prakārā gurupadiṣṭamārgeṇa kartavyāḥ //

After this period - with the sticks (which are similar to jatyankura in shape and size and which are made of खड्ग (of a rhinoceros) or शम्बरश्रृंग (horn of a kind of deer) - or ivory or silver or gold churn the hole (insert and manipulate). Then make a number of Nalikā (small and thin tube), these are also like jatyankura in shape and size, The ends of these Nalikās

Scanned by CamScanner

should be made curved. And the Nalikās should have holes inside them (hidden and curved as the case may be) the Nalikās are of various length of four Aṅguli or Six Aṅguli or eight Aṅguli or even twenty-four Angulis. These should be made of various types - similar-dissimilar-curved or otherwise. All these should be done in the way instructed by a Guru. (not by reading books only).

१००. नलिकालिंगछिद्रेण बस्तौ प्रविश्य मस्तिमाकुंच्य बाह्य वायं गृह्णीयात् त्यजेत् एवं वारं वारं सहस्त्रद्विसहस्त्रत्रिसहस्त्रमभ्यासं कुर्यात् ।। वृषणस्याधः वारं वारं आकुंचयेत् ।। सरटकबेलं भवति ।। सरटकबलं कृत्वा बस्तिप्रदेशमूर्ध्वमाचयेत् पारावतकंटं भवति ।। नाले नलिकां प्रवेश्य वायुं गृहीत्वा स्थापयेत् ।। वायुसंग्रहो भवति ।

nalikā liṅgachidreṇa bastau praviśya mastimakuñcya bāhya vayam gṛhṇīyāt tyajet evaṃ vāraṃ vāraṃ sahasra dvisahasratrisahasramabhyāsaṃ kuryāt // vṛṣaṇasyādhaḥ vāraṃ vāraṃ ākuñcayet // saraṭakabalaṃ bhavati // saraṭaka saraṭakabalaṃ kṛtrā bastipradeśa mūrdhvamācayet parāvatakanṭaṃ bhavati // nāle nalikāṃ praveśya vāyuṃ gṛhītvā sthāpayet // vāyusaṇgrah bhavati //

Insert a Nalikā in the hole of penis up to 'Basti' (make it enter to Basti). And contracting the 'Basti' draw, outer air and then (in that way)drive out the air again. Practice this (drawing and driving out air through Nalikā) for one, two or three thousand times. Contract (and relax) again and again (the part of the body) underneath the scrotum . This is called Saraṭakabela. After performing this contract the Basti area upwards. This is called Pārāvatakanṭa. Inserting the Nalikā in the Nāla (= Liṅganāla = penis) draw air and keep. this is called Vāyusamgraha.

Scanned by CamScanner

१०१. नलिकया उदकग्रहणं कुर्यात् ।। कटंपत्रं पेषयित्वा तन्मध्ये किंचित् हरिद्रां क्षिप्त्वा सद्यः गोधूमं लेशमात्रं सैधवं क्षिपेत् वस्त्रेण संशोध्य तज्जलं जलामुष्णीकृत्य नलिकया ग्राह्य विस्फोटाः पक्वाः भवंति ।। पिचुमंदस्य अतः त्वचामानीय उदकसहितं पेषयित्वा वस्त्रेण संशोध्य एकदिनपर्यंत स्थापयेत् सरसः अतिगंधिर्भवति ।।

nalikayā udakagrahaṇaṃ kuryāt // kaṇṭapatraṃ peṣayitvā tanmadhye kiñcit haridrāṃ kṣiptvā sadyaḥ godhūmaṃ leśamātraṃ saindhavaṃ kṣipet vastreṇasaṃśodhya tajjalaṃ jalāmuṣṇīkṛtya nalikayāgrāhya visphoṭāḥ pakvāḥ bhavanti // pichumandasya ataḥ tvacāmānīya udakasahitaṃ peśayitvā vastreṇa saṃsodhya ekadinaparyantasthāpayet sarasaḥ atigandhirbhavati //

One should take water also through the Nalikā. Grind some Kaṇṭapatra and throw in it a small amount of turmeric and also of fresh wheat and sea-salt (Saindhav Lavana) (a Small amount) Mix it with water. And then sieving that with a piece of cloth warm the water up. With this the wounds created by the Nalikā will come to the final stage and will be cured, Bring some bark of 'Picumanda' (some kind of plant) and mixing it with water grind them. Then sieving those with a piece of cloth and keep for one (whole) day, during whole day. And that will be juicy and highly odorous. (Kaṇṭapatra is also some kind of plant)

(Note - Such work are no doubt dangerous to life. So readers should not practice like this inspired by reading books only. These portions are translated to reveal some historical, sociological and other cultural facts only)

Scanned by CamScanner

१०२. नलिकया ग्राह्यः विस्फोटाः विरेचनं प्राप्नुवंति लाक्षाकषायः ग्राह्यः अंतर्नाडिः शुद्धा भवति ।। मेदिनिपत्राणि पेषयित्वा तन्मध्ये किंचि खदिरं क्षिप्त्वा वस्त्रेणसंशोध्य गृहीत्वा अर्तनाडि दृढा भवति ।। सोनामुखिहरितकिकषायं कृत्वा गह्णियात् अतः नाड्याः मलनिष्कासनं भवति।।

nalikayā grāhyaḥ visphoṭāḥ virecanaṃ prāpnuvanti
lākṣākaṣāyaḥ grāhyaḥ antarnāḍiḥ śuddhā bhavati //
medinipatrāṇi peṣayitvā tanmadhye kiṅci khadiraṃ kṣiptvā
vastreṇa saṃśodhya gṛhītvā artanāḍī dṛḍhā bhavati //
sonāmukhiharitakikaṣāyaṃ kṛtvā gṛhṇīyāt ataḥ nāḍyāḥ
malaniṣkāsanaṃ bhavati //

Take that through the Nakilā - and the wounds will be recovered. Take Lākṣākaṣāya (An Ayurvedic medicine mainly made of an element obtained from a particular tree) to purify the inner Nāḍis. Grind some leaves of Medini tree and throw some Khadira (a substance obtained from a well-known tree) in it. Seiving that by a piece of cloth take that. (In this way) Inner Nadis will be strong. Make some Kaṣāya medicine with 'Sonamukhi Haritaki' (a kind of medicinal fruit, well known in India) and take that. It will evacuate the bowels purifying the Nāḍis.

१०३. जानुभ्यामवनिमवष्टभ्य बाहू परस्परं हृदये बध्वा कटिप्रदेशं रतिसमयवत् विर्यचलनमर्यादिकृतग्रचालायेत् आकागमैथुनं भवति वायुं गृहीत्वा गृहीत्वा नलिकां निष्कासयेत् ।। नलिकानिष्कासनं भवति नलिका अभ्यासानंतरं शलाकया वायुग्राह्यः ।। एतैरभ्यासैरतिकृशं शरीरं भवति ।। शरीरसंरक्षणार्थं यथा जीर्येत् तथा पयःपानं कर्तव्यम् ।।

jānubhyāmavanivaṣṭabhya bāhū parasparaṃ hṛdaye badhvā
kaṭipradeśaṃ ratisamayavat viryacalanamaryādi kṛtagracālayet
ākāśamaithunaṃ bhavati vāyuṃ gṛhitvā grahitvā nalikāṃ

Scanned by CamScanner

niṣkāsayet // nalikā niṣkāsanaṃ bhavati nalikā abhyāsānantaraṃ śalākayā vāyugrāhyaḥ // etairabhyāsairatikṛśaṃ śarīraṃ bhavati // śarīrasaṃrakṣaṇārthaṃ yathā jīryet tathā payaḥ pānaṃ kartavyaṃ //

Holding the ground by knees, keeping two arms jointly on the chest move the hips as like as at the time of sexual intercourse (Next to it there are some words distorted). This is called Ākāśamaithuna. Take air again and again and drive out the Nalikā. This is called Nalikāniṣkāsanam. After completing the practice with Nalikā one should take air by stick. Due to such practices one's body becomes extreamely thin (and weak). To protect the body one should drink milk as much as one can digest.

१०४. नलिकादिंरहितवायुसंचाराय आश्लेषादि अभ्यासः कर्तव्यः ।। विषयासक्तकविना कृतं स्त्रीगुणवर्णनं स्वतः मुखेन कर्तव्यम् ।। स्त्रीगुणवर्णनं भवति ।। वर्णने नस्तेजस्वे जाते स्त्र्यावलोकनं भवति ।। तछितिजे स्त्रीसमीपे स्थातव्यं ।। ततुछी जाते हस्तादि स्पर्शः कर्तव्यः ।। तद्वितयीभूते आलिंगनं कार्यम् ।।

nalikādi rahita vāyusañcārāya āśleṣādi abhyāsaḥ kartavyaḥ // viṣayāsakta kavinākṛtaṃ strīguṇavarṇanaṃ svataḥ mukhena kartavyaṃ // strīguṇavarṇanaṃ bhavati // varṇane nistejasve jāte stryāvalokanaṃ bhavati // tachitije strīsamīpe sthātavyaṃ // tatuchi jāte hastādi sparśaḥ kartavyaḥ // tadvitayībhūte āliṅganaṃ kāryaṃ //

One should practice 'embrace' etc to keep the air passing in the way which is now bereft of Nalikā. Recite with own voice descriptions of the qualities of ladies as done by some poets who are attracted to the objects (or describe after them). This is called Strīguṇavarṇana. With the description if strength is awakened that is called Stryavalokana. (i.e. then

Scanned by CamScanner

he looks at ladies). He should stay near the ladies, and if desire arises he should touch hands etc. if desire arises for the second time he should embrace. (i.e. if the second partner agrees), (There are some words distorted)

१०५. द्वितयीजाते गाढंघर्मेयिथा भवति तथा अश्लेषः कार्यः अश्लेषे व्यर्थे सति आक्रोडस्थाने स्पर्शः कार्यः ।। तद्व्यर्थी भूते ।। प्रवेशः कार्यः ।। स्त्र्यावलोकनादि अभ्यासः ।। कामोद्दिपन पन पर्यतः ।। उद्दित्पे कामे च ।। नलिकादि अभ्यासः कार्यः ।।

dvitayī jāte gāḍhaṃ gharmeyithā bhavati tathā aśleṣaḥ kāryaḥ // aśleṣe vyarthesati ākroḍasthāne sparśaḥ karyaḥ // tadvyarthī bhūte // praveśah kāryaḥ // stryavalokanādi abhyāsaḥ // kāmoddīpana pana paryantah uddipte kāme ca nalikādi abhyāsaḥ kāryaḥ //

When a second partner is gained one should perform 'embrace' deeply and intimately in this state. If the embrace is in vain one should touch on the lap. If it is also in vain then perform 'entrance'. Practice of 'Stryavalokana' etc. (looking at the ladies etc.) is needed until desire arises (=Kāmoddīpanaparyyanta) (कामोद्दीपनपर्यन्तं) (=upto arousal of sex desire). But when desire for sex is awakened practice actions with Nalikā etc.

१०६. नलिकादि अभ्यासेन कामे शांते ।। पुनः आश्लेषादि अभ्यासः आश्लेषादि आभ्यासेन उद्दीप्ते कामे नलिकादि अभ्यासः एवं पुनः पुनः कृते सति मुद्रासिद्धा भविष्यति ईश्वरकृपया अत्यंतकष्टत्वात् बहुद्रव्यसाध्यत्वादिश्वरकृपैकापेक्षिता ।। ऊर्ध्वं बिदुंराकर्षणं कथ्यते ।। हदनसमये हदनं निरुध्य मूत्रोत्सर्गः कार्यः ।। मूत्रणसमये मूत्रं निरुध्य हृदेत् ।।

Scanned by CamScanner

nalikādi abhyāsena kāme śānte // punaḥ āśleṣādi abhyāsaḥ // āśleṣādi ābhyāsena uddīpte kāme nalikādi abhyāsaḥ evaṃ punaḥ punaḥ kṛte sati mudrā siddhā bhaviṣyati īśvarakṛpayā atyantakaṣṭatvāt bahudravyasādhyatvādīśvarakṛpaikāpekṣitā // ūrdhvaṃ bindurākarṣaṇaṃ kathyate // hadana samaye hdanaṃ nīrudhya mūtrotsargaḥ kāryaḥ // mūtraṇasamaye mūtraṃ nirudhya hṛadet //

By practicing such actions with Nalikā etc. when the desire for sex is cooled down, then again practice 'embrace' etc. to awaken the desire for sex, and again to cool down it practice actions with 'Nalikā' etc. In this way do such practices repeatedly - (again and again). In this way by frequently practicing this one can achieve success in this Vajroli mudrā by the grace of God. This is a highly painful difficult performance - and to be done with so many things. So one should depend upon God's grace only. Now how to draw semen upwards is being described. At the time of evacuating bowels stop evacuating and start to urinate. And at the time of urinating stop urinating and evacuate bowels.

१०७. किंचित् किंचित् मूत्रं त्यजेत् ।। किंचित् किंचित् गूथं त्यजेत् ।। स्त्रियमालिंग्य व्युस्थाने सति वायुमाकर्षयेत् ।। अभ्यासे दृढीभूते व्युत्थानं न भवेत् ।। तदा सकामस्त्रिया सह रतिं कुर्यात् बिंदुं न पातयेत् ।। पततंबिंदुं माकर्षयेत् अकर्षणेन यदि नोर्ध्वं गच्छेत् तदा नलिकां प्रवेश्य वायुं गृह्वीयात् ।। पुनः सकामया उन्मत्तया सुरूपया स्त्रिरतिं कुर्यात् बिंदुमुर्ध्वमानयेत् ।। गतमदां स्त्रियं त्यक्त्वा समदां गृहणीयात् ।।

kiñcit kiñcit mūtraṃ tyajet // kiñcit kiñcit gūthaṃ tyajet // striyamāliṅgya vyusthāne sati vāyumākarṣayet // abhyāse dṛḍhībhūte vyuthānaṃ na bhavet // tadā sakāma striyā saha

Scanned by CamScanner

ratiṃ kuryāt binduṃ na pātayet // patataṃ bindummākarṣayet akarṣaṇena yadi nordhvaṃ gacchet tadā nalikāṃ praveśya vāyuṃ gṛhṇīyāt // punaḥ sakāmayā unmattayā surūpayā striratiṃ kuryāt bindumurdhva mānayet // gatamadāṃ strīyaṃ tyaktvā samadāṃ gṛhṇiyāt /

Leave (drive out) urine bit by bit (not continuously). Evacuate the bowels also bit by bit. After embracing a lady is rising (erection or stimulation) takes place then draw air. When the practice will be (successfully) firm, No 'rising' will take place. At that time make sexual intercourse with a woman desirous of it, but do not leave semen. If semen is left, draw it upwards. If it does not go upwards then inserting Nalika draw the air. Again perform intercourse with a beautiful woman being mad with lustful desire, and draw Bindu (semen) upwards. Leaving a passion-less woman take a smart and passionate one.

१०८. स्त्रीषु रतिविषये बलात्कारं न कुर्यात् ।। एवमभ्यासे दृढे जाते षोडशस्त्रीभिः सहरतिंकुर्यात् दिवसे दिवसे ।। एवमभ्यासेन उर्ध्वं बीदुं भवति ।। रजआकर्षणं च भवति ।। स्त्रीविषये वैराग्यं भवति ।। दृढब्रह्मचर्यं भवति ।। अभ्यासकृतवैषम्यनिवृत्तये अमरीं नासारंध्रेण पिबेत् ।। सर्वारोग्यं भवति ।।

strīṣu rativiṣaye balātkāraṃ na kuryāt // evamabhyāse dṛḍhe jāte ṣoḍaśa strībhiḥ saharatiṃ kuryāt divase divase // evamabhyāsena ūrdhvaṃ bindu bhavati // raja ākarṣaṇaṃ ca bhavati // strīviṣaye vairāgyaṃ bhavati // dṛḍha brahmacaryaṃ bhavati // abhyāsakṛtavaiṣamyanivṛttaye amarīṃ nāsārandhreṇa pibet // sarvārogyaṃ bhavati //

Scanned by CamScanner

In respect of sexual intercourse with women (it is to be remembered that) Do not rape anybody by force . In this way when the practice would become firm, one can (get ability of doing) make intercourse with sixteen women (wives) every day. Practicing in this way one becomes Urdhvaretāḥ. And he earns ability to draw Rajas - (blood from female organ). Non attachment (Vairagya) towards ladies also takes place. To remove any disorder due to such practices - drink Amari (some kind of drink) through the hole of nostrils. (Amari seems to be some kind of medical drink or purified water. Haṭhapradīpikā says अमरींयःपिवेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने । वज्रोलिमभ्यसेत् सम्यगमरोलीति कथ्यते ।। III/93.

१०९. अभ्यासमध्ये बिंदुपातस्तु नैवकार्यं यदि जाते घर्मेणसह अगेर्मेर्दितव्यः ।। अभ्यासेन श्रमे सति व्यापारहितौ दंपतिस्यातां ।। एवमभ्यासेन ईश्वर कृपया द्रव्यानुल्पेन अतिधैर्येण साहसकर्माणां गुरुक्तिग्रहणेन सित्धा भविष्यतित्यलं मगंले ।। इति वज्रोलि समाप्ता ।।

abhyāsamadhye bindupātastu naivakāryaṃ yadi jāte gharmeṇa saha agermerditavyaḥ // abhyāsena śrame sati vyāpārarahitau daṃpatisyātāṃ // evamabhyāsena īśvarakṛapayā dravyānulpena atidhairyena sāhasakarmāṇaṃ guruktigrahaṇena sitdhā bhaviṣyatityalaṃ maṅgale // iti vajroli samāptā //

During the practice do not leave Bindu(semen), but if it is left then mixing it with sweat smear the body(with that mixture). If due to practice tiredness occurs then the couple should remain without work. (and take rest). In this way, by practice and God's grace and collection of things with great patience - and following Guru's instructions in performing audacious work one achieves absolute success. Here ends the description about Vajroli.

(Note - It is to be remembered that ultimate goal of Vajroli is to obtain

Scanned by CamScanner

Brahmacarya and to destroy sexual desire. And the performance of Vajroli (as described in this book) is quite in accordance with the definition of Brahmacarya as given here (see para 9.) which highlights two aspects - 1. Bindorapātanam and 2. Raja Ādyākarṣaṇam. So it is not like Epicurean Hedonism.

In the days of Kuraṇṭaka polygamy of a male person was permitted in the society. Hence the author wrote of many wives (= 16). But in modern times it is regarded as illegal and immoral)

११०. एकस्य पादस्य पार्ष्ण्या वृषणस्थाधः योनिरस्ति तां निष्पीड्य अन्यपादं प्रसारितं कृत्वा हनुकंटकूपे निवेश्य कंबुचालनं विना वायुमुर्ध्वमानयेत् एवं पर्यायेण कृत्वा महामुद्रा भवति ।। एकस्य पादस्य पार्ष्णिना योनिं संपीड्य अन्यं पादं इतर ऊरुमुले स्थापयेत् कंबुयोनिं दृढ धृत्वा लिंगोपरि कपालमस्ति कपालोपरि यो चकाशते ननावकाशेन वायुंमूर्ध्वमानयेत् कुंभयेच्च महाबंधा भवति ।।

ekasya pādasya pārṣṇyā vṛṣaṇasyādhaḥ yonirasti tāṃ niṣpīḍya anyapādaṃ prasāritaṃ kṛtvā hanukaṇṭakūpe niveśya kaṃbucālanaṃ vinā vāyumurdhvamānayet evaṃ paryāyeṇa kṛtvā mahāmudrā bhavati // ekasya pādasya pārṣṇinā yoniṃ saṃpīḍya anyaṃ pādaṃ itaraūrumūle sthāpayet kaṃbuyoniṃ dṛḍa dhṛtvā liṅgopari kapālamasti kapolopari yo cakāśate nā nāvakāśena vāyumūrdhvaṃmānayet kuṃbhayecca mahābandhā bhavati //

Underneath the scrotum (वृषण) there is perineum (योनिस्थानम्). Pressing the perineum with the heal of one leg, extend another leg (the remaining one), keep the chin in the 'Kaṇṭhakupa' (juglar notch) and without driving (contracting) the 'Kambu' (for its meaning see Ādhārakambu) bring the air upwards, do like this successively. This is called Mahāmudrā.

Scanned by CamScanner

(Note - In the Haṭhapadīpikā, Mahāmudrā has been desrcribed as follows -

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।। ३/९
And also कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद् वायुमूर्धतः ।।

One thing should be kept in mind that though for the lack of suitable word for Vāyu in Sanskrit, it has been translated with the English word 'air' - but in some yogic and philosophical context even in the Ayurveda the word Vāyu or Vatā has a subtler meaning- referring to a very subtle element. So the word 'air' also should be understood according to the context. For details please vide -Vijñānabhikṣu's, Sāṅkhya-Pravacana-sūtra-bhāṣya).

Fixing the heel of one leg firmly at the perineum, placing another foot of the root on the opposite thigh make firm the area of Kambu and Yoni. There is a Kapāla above the penis (Kapāla - A cover like piece of broken jar) and there is a shining way. Now bring air through that passage upwards and perform Kumbhaka. This is called Mahābandha.

१११. महाबंधे स्थित्वाकंबुयोनिकापालावकाशदृढी निबध्य नाभेः उभयतः स्फिजौ मूर्ध्वमानीय हस्ताभ्यां भूमिमनष्टभ्य केवलनाभिचक्रेण वायुं ग्रहीत्वा उर्ध्वमानयेत् महाबंधो भवति ।। पार्ष्ण्या गुदं बध्वालिंगकपा नाभिः वायुं ग्रहीत्वा प्राणयामं कुर्यात् मुलबंधोभवति ।।

mahābandhes thitvā kaṃbuyonikāpālavakāśadṛḍhī nibadhya nābheḥ ubhnayataḥ sphijau mūrdhvamānīya hastābhyāṃ bhūmimavaṣṭabhya kevalanābhicakrena vāyuṃ gṛhītvā urdhvamānayet mahābandho bhavati // pārṣṇyā gudaṃ badhvāliṅgakapā nābhibhiḥ vāyuṃ gṛhītvā prāṇāyāmaṃ kuryāt mūlabandho bhavati //

Scanned by CamScanner

Assuming the posture of Mahābandha, making firm the Kambu, Yoni and the passage to Kapala, bringing two 'Sphic' upwards on both sides of navel, hold the ground by two hands. Now take 'air' through the wheel of Naval only and bring upwards. This is called Mahābandha (Mahābedha?).

(Note - The word 'air' should be taken in the technical sense as indicated above. The work - 'Sphic' - has been used in Haṭhapradīpika 3/26 roughly meaning the posteriors).

Pressing the anus (or perineum?) with heel, taking air from लिङ्ग, कपाल and नाभि bring upwards. This is called Mūlabandha.

(Note- Haṭhapradīpika says about this

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ।

अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ।। (३/६०))

११२. नाभेरूर्ध्वं हृदयस्याधः योवकाशः तेनावकाशेन वायुं ग्रहीत्वा प्राणायामं कुर्यात् उड्डियानो भवति ।। कंठस्याधः हृदयादूर्ध्वयोवकाशः तेनावकाशेन वायुं ग्रहीत्वा प्राणायामं कुर्यात् जालंधरो भवति ।।

nābherūrdhvaṃ hṛdayasyādhaḥ yovakāśaḥ tenāvakāśena vāyuṃ gṛhītvā prāṇāyāmaṃ kuryāt uḍḍiyāno bhavati // kaṇṭasyādhaḥ hṛdayādūrdhvayovakāśaḥ tenāvakāśena vāyuṃ gṛhitvā prāṇāyāmaṃ kuryāt jālandharo bhavati //

Above the navel, beneath the heart ther is an Avakāśa (space). Receiving 'air' through that Avakāśa perform Prānāyāma. This is called Uḍḍiyāna.

(Note - In this respect Haṭhapradīpika says उदरे पश्चिमं तानं नाभेरुर्ध्वंच कारयेत् । (३/५६)

Beneath the throat, above the heart, there is an Avakāśa (Space).

Scanned by CamScanner

Receiving 'air' through that Avakāśa perform Prāṇāyāma. This is called 'Jālandhara' (In the Haṭhapradīpika also it is said that -

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् (३/६९))

११३. ।। अथ खेचरि ।।

शलाकाभिः नासिकाकर्णनेत्ररंध्राणि संशोध्य खेचर्याख्यं कार्यः। जिह्वारधः सीवनित्रयमस्ति तन्नाशार्थं तछेदनार्थं शस्त्राणि कुर्यात् ।। कृष्णमरीचे शस्त्रं सूर्यशस्त्रं ।। सैधवस्य चंद्र शस्त्रं ।। हरितक्याः धन्वंतरि शस्त्रं ।। शूलाकारं रुद्रशस्त्रं ।। परशाकारं गणपतिशस्त्रं ।। हीरकस्य इद्रं शस्त्रं ।। एलाया ब्रह्मशस्त्रं

// atha khecari //
śalākābhiḥ nāsikākarṇanetrarandhrāṇi saṃśodhya khecaryākhyaṃ kāryaḥ // jihvāradhaḥ sīvani trayamasti tannāśārthaṃ tachedanārthaṃ śastrāṇi kuryāt // kṛṣṇamarīce śastrāṃ sūrya śastram // saidhavasya candraśastram // haritakyāḥ dhanvantari śastraṃ // śūlākāraṃ rudra śastram // paraśākāraṃ gaṇapatiśastraṃ // hīrakasya indraṃ śastraṃ // elāyā brahma śastraṃ //

Now a description on Khechari -

After cleaning the holes of Nose, ears and eyes one should perform khechari. Underneath the tongue there are three - सीवनी . To destroy and to cut those make some weapon. (Here सीवनी referes to the fold of membrane which binds the root of the toingue (vide - H.P. 3/35). vide also Apte's Sanskrit - English Dictionary). Cutting of the Sivanis is needed so that the tongue is gradually lengthened so as to touch the middle of the eyebrows. There are many sorts of weapons. And there are many significant names of them according to various material causes, or somehow associating factors) Weapons of Krisṇamarici is called Sūryaśastra.

Scanned by CamScanner

Weapons of Saindhava is called Candraśastra. Weapon of Haritaki is called Dhanvantari Śastra. The weapon in the shape of an axe is called Gaṇapatiśastra. Weapon of diamond is called Indraśastra, and weapon of Elā is called Brahmāsastra.

(Note - Names are given after the names of many popular deities)

११४. कतर्या छेदने कृते रुधिरबहिः न पतेत् ।। तथा कर्तरि चौरासी शस्त्रं गंधकस्य रसेनकृतं शस्त्रं भवानिशस्त्रं ।। हिंगुलेनवा ।। हरितालेनवा ।। नखकृतंनं नखस्त्रं ।। रोमकृंतनं रोमशस्त्रं ।। चित्रकस्यार्केण कृतं अग्निशस्त्रं ।। सैंधवादिना शस्त्रकरणप्रकारोः सैंधवादिना चूर्णं कर्तव्यं ।। लाक्षाचूर्णामिश्रणेन शकाः कुर्यात् ।।

kataryā chedane kṛte rudhiraṃ bahiḥ na patet // tathā kartari caurāsī śastraṃ gandhakasya rasena kṛtaṃ śastraṃ bhavāni śastraṃ // hiṅgulena vā // haritālena vā // nakhakṛntanaṃ nakhastraṃ // romakṛntanaṃ romaśastraṃ // citrakasyārkeṇakṛtaṃ agniśastraṃ // saindhavādinā śastrakaraṇaprakāroḥ // saindhavādinā cūrṇaṃ kartavyaṃ // lākṣā cūrṇāmiśrnaṇena śakāḥ kuryāt //

If the act of cutting is done with a small sword(or scissors), do not make the blood fall outside. Likewise Kartari is Caurāsi Śastra. When made in association with Gandhakarasa it is called Bhavāni Śastra or with Hiṅgula, or with Haritāla. Cutting by nails is regarded as Nakhastra. For cutting the hair Romaśastra is useful. When made by (or after) Citrakārka the śastra is regarded as Agniśastra. Now how to make the śastra with Sainduava etc. is being described. At first reduce some Saindhava etc. to powder, then mix Lākṣācūrṇa with it. Then make sticks with this material.

(Note - The desctiption of Khechari in Haṭhapradīpikā is more distinct. But 'Saindhavādi' has been mentioned there also which are said to be

Scanned by CamScanner

useful for rubbing on the tongue after cutting. Here in the manuscript the some words are found corrupted).

११५. शलाकाभिः घर्षयेत् स्नुहिपत्रशस्त्रेणापिछिन्नेत् ।। यथातथा जिह्वाबंधः परिहर्तव्यः ।। डिबंधपरिहृते मृदुलवस्त्रगोदुग्धे आदिकृत्य जिह्वाशिरो संवेष्ट्य हस्ताभ्यां धृत्वा बहिराकर्षयेत् ।। आकर्षणे अभ्यासः द्वित्रिसहस्त्रपरियंतः दिने दिने कार्यः ।। चालनं च कार्यः हस्ताभ्यां जिह्वां धृत्वा कृक्वी द्वयपर्यंतपर्यायेण नयनं चालनं गोदोहन समये दुग्धार्थे हस्तद्वयेन यथा गोरतनं दुह्यते तद्वद्दोहनं जिह्वायाः कार्यः विपरीतघर्षणंच कार्यः ।।

śalākābhiḥ gharṣayet stuhipatraśastrenāpichinnet // yathā tatha jihvābandhaḥ parihartavyaḥ // ḍibandhe parihṛte mṛdulavastragodugdhe ādīkṛtya jihvāśiro saṃveṣṭya hastābhyāṃ dhṛtvā bahirākarṣayet // ākarṣaṇe abhyāsaḥ dvitrisahasra pariyantaḥ dine dine kāryah // cālanaṃca kāryaḥ hastābhyāṃ jihvāṃ dhṛtvā kṛkvīdyaparyantaparyāyena nayanaṃ cālanaṃ godehanasamaye dugdhārthe hastadvayena yathā goratanaṃ duhyate tadvaddohanaṃ jihvāyāḥ kāryaḥ viparītagharṣaṇañca kāryaḥ //

Rub with (one of) those sticks which are (smooth and clean and) lubricated like Snuhipatra (the leaf of Milkhedge = emphorbia nerfolia-antiquoram vide - Vaidyakaśabdasindhu). Somehow the bind of the (root of the) tongue should be abandoned (= slightly cut). When that bind is abandoned, then give some milk (on the tongue) - and covering the top portion of the tongue with a soft piece of cloth, holding that by two hands, pull that outwards. To achieve success in practice - do like this two or three thousand times everyday. Driving is also to be done. Holding the

Scanned by CamScanner

Kap̄alakuraṇtaka's Hatħabhȳasa-paddhati

Though the Manuscript Kapālakuraṇṭaka's Haṭhābhyāsa-paddhati is incomplete in itself, it describes the techniques of 112 āsanas and further it classifies the āsanas in six categories on the basis of initial position of the body. Among one of the categories we find the description of āsanas to be performed with the rope (rjvāsanas group). This is earliest traditional reference of the prop to be used while performing āsanas. Such references are not found in traditional Haṭhayogic texts like Haṭhapradīpikā and Gheraṇḍa Saṃhitā. The text prescribes the undertaking of shodhana kriyas after the practice of āsanas. Unlike other Haṭhayogic texts it disuses ten Yamas and Niyamas.

KAIVALYADHAMA

Kaivalyadhama S M Y M Samiti
Swami Kuvalayananda Marg,
Lonavla, District Pune, India
www.kdham.com

KAIVALYADHAM
Kapalakurantakas
MRP:
160
2284

Scanned by CamScanner

मुद्रा साधना—गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि 'शांभवी मुद्रा', अगोचरी मुद्रा, 'विपरीत मुद्रा' एवं 'शक्तिचालिनी मुद्रा' आदि सभी योगोत्कर्ष की सहायिका हैं, किन्तु 'शांभवी मुद्रा' मुद्राओं में सर्वोच्च है।

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'नासिका अग्रे भ्रू मण्डले अहनिस रहिबा थीर'।
'माता गरभि जनम न आयबा, बहुरि न पीयबा खीर'॥

—(गो० ब्रा० पृ० ८३)

(यहाँ 'अगोचरी' एवं 'शांभवी मुद्रा' का वर्णन है।)

इनके अतिरिक्त अन्य साधनायें भी व्यावर्तक बिन्दु के रूप में विद्यमान हैं।

Scanned by CamScanner

'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेन्मरुत्।
हंस हंसेति मंत्रोऽयं सर्वजीवा जपन्तितम्।
गुरुवाक्यात् सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जपः।
सोऽहं सोऽहमिति प्राप्तो मन्त्रयोगः स उच्यते।'

—(यो० बी०)

(५) ग्रन्थि-भेदन—गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि वज्रासन लगाकर यदि कुण्डलिनी का चालन किया जाय तो कुण्डली के जागृत होने से ग्रन्थित्रय का भेदन भी हो जायेगा।

'भिद्यन्ते ग्रन्थयो वंशे तप्त लोह शलाकया।
तथैव पृष्ठवंशे स्याद ग्रंथि भेदस्तु वायुना।।'

(६) प्राण और चित्त का सामरस्य—गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि यदि प्राणवायु को नियन्त्रित कर लिया जाय तो प्राण में चित्त का एवं चित्त में प्राण का लय हो जाता है। इस प्रकार प्राण एवं चित्त में सामरस्य सामरस्य स्थापित हो जाता है—'चित्तं हि नष्टं यदि मारुते स्यात्। तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः।' किन्तु किसी ने यह सामरस्य नहीं किया तो 'न तु तस्य शास्त्रं' 'नात्मप्रतीतिर्नगुरुर्न मोक्षः।।' (योग बीज १३७-१३८)

Scanned by CamScanner

कि 'बिन्दु' शिव हैं और 'रज' शक्ति है। बिन्दु चन्द्र है और रज रवि है—इन दोनों के संगम से 'परमपद' की प्राप्ति होती है—

'बिन्दुः शिवोरजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः।
उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम्।।'

इन दोनों का ऐक्य दुर्लभ है; क्योंकि दोनों के स्थान दूर-दूर हैं—**'रविस्थाने स्थितं रजः।।'**[1] **शशिस्थाने स्थितो बिन्दु स्तयोरैक्यं सुदुर्लभ्।।**[2] **शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संगतम्। तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित।।**[3]

(१८) अजपा गायत्री की साधना—गोरक्षनाथ ने वेदों, पुराणों, उपनिषदों एवं तन्त्र ग्रन्थों से प्रभावित होकर वेदों के 'उद्गीथ' या ओंकार की एवं 'अजपा गायत्री' के रूप में 'सोऽहं' मन्त्र की उपासना करने का उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि इस प्राणधारिणी अजपा गायत्री का जन्म कुण्डलिनी शक्ति से हुआ है और यही **'प्राणविद्या'** एवं **'महाविद्या'** है—

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यास्तां वेत्ति स योगवित्।।[4]

यह **मोक्षदायिनी** एवं **सर्वपापविमोचनी विद्या** है।

जीव **प्राण के रूप** में **'हकार'** की ध्वनि से बाहर जाता है और **'अपान'** के रूप में **'सकार'** की ध्वनि से भीतर आता है और इस प्रकार वह अहर्निश 'हंसः हंसः' मन्त्र का जप करता रहता है। इस मन्त्र को उलटकर 'सोऽहं' मन्त्र का जप करने से जीव की मुक्ति हो जाती है।[5]

(१९) ओंकार की साधना—श्रुतियों एवं तन्त्रग्रन्थों की ओंकारोपासना की नाथपंथ योग में स्वीकृति है। गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि पद्मासन लगाकर, समकाय शिरोधर होकर साधक को एकान्त में, नासाग्र पर दृष्टि केन्द्रित करके ओंकार का जप करना चाहिए।

'नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदाङ्कारमव्ययम्।'[6]

(२०) प्राणापानैक्यस्वरूप प्राण-साधना—गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि जीवों के बंधन का कारण प्राण-अपान एवं इड़ा-पिंगला का परस्पर विरोधी स्वरूप है।

---

१. योगबीज (७४)।
२. तत्रैव (७३)।
३. वि० मा० (८०)।
४. गोरक्ष शतक (४६)।
५. गोरक्ष शतक (४४)।
६. गोरक्ष शतक (८३)।

Scanned by CamScanner

जैसे रज्जु से बँधा हुआ श्येन पक्षी बहेलिये के द्वारा (श्येन के पैर में बँधी रस्सी की सहायता से) आकाश से नीचे खींच लिया जाता है और पुन: आकाश में उड़ने के लिए छोड़ दिया जाता है किन्तु सदैव बन्धनग्रस्त बना रहता है, उसी प्रकार प्राण को अपनी ओर खींचने वाले अपान एवं अपान को अपनी ओर खींचने वाले प्राण द्वारा बँधा हुआ जीव बंधन ग्रस्त होकर प्राण-अपान की रस्सी से सदैव खींचा जाता रहता है—

'रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽध्या कृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते॥'

या यह जीव दोनों ओर के खिलाड़ियों द्वारा पैरों से आद्रत होने वाले गेंद की भाँति प्राण एवं अपान दोनों से अनादिकाल से अहर्निश फेंका जाता रहता है और कभी विश्राम नहीं पाता—

'आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथा चलति कन्दुकः।
प्राणापानसमुत्क्षिप्तस्तथा जीवो न विश्रमेत्॥'[1]

प्राणापान की एकता ही इस बंधन से मुक्ति की साधना है, जो कि **'मूलबंध'** आदि साधनों से निष्पादित की जाती है।

(२१) देह को योगसिद्ध (पक्व) करने की साधना—नाथ योगी **'योगदेह'** या योगाग्नि-परिपक्व देह को ही उचित देह मानते हैं अन्य देह को **'कुदेह'** कहते हैं।

पक्व एवं अपक्व देह में भेद—'अपक्वा योगहीनास्तु पक्वा योगेन देहिनः॥ पक्वोयोगाग्निना देही ह्यजडः शोक वर्जितः[2]॥'

सारे प्राणी शरीर के द्वारा पराजित किये हुए हैं किन्तु योगियों के द्वारा यह सर्वविजयी शरीर को भी पराजित किये रहते हैं—

'शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जिताय।'[3]

ये शरीर विजयी योगी ही नाथपंथी योगी हैं।

(२२) प्राण-साधना द्वारा मोक्षाप्ति—गोरक्षनाथ कहते हैं कि प्राण पर विजय पाने के पूर्व मोक्ष संभव नहीं है। अत: 'मुमुक्षुभिः प्राणजयः कर्तव्यो मोक्षहेतवे।'[4]

(२३) अकेले ज्ञान से मुक्ति असंभव है। अतः योगसमन्वित ज्ञान ही वरेण्य है—गोरक्षनाथ ज्ञानियों के सिद्धान्त का खण्डन करके योग विभूषित ज्ञान को

---

१. *योग मार्तण्ड (२८, २९)।*
२. *योग बीज (३५)।*
३. *योग बीज (४९)।*
४. *योग बीज (८६)।*

Scanned by CamScanner

ही श्रेयस्कर मानते हैं—**'ज्ञान निष्णोविरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः। विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये।'**[१]

(२४) अमृत पान—भास्कर स्रवित अमृत पी जाता है जो कि चन्द्रमा से स्रवित होता रहता है। 'प्रत्याहार' इस अमृत का प्रत्याहरण करके जीव को पिला देता है। (वि० मा० १३३)। इसे ही **'प्रत्याहार'** कहते हैं।

नाथ योगी 'योग देह' के साथ ही साथ अमृतपान की साधना को महत्व देते हैं; क्योंकि ऐसे शरीर को तक्षक के काटने पर भी उस शरीर की मृत्यु नहीं होती। राजदन्त के छिद्र को जिह्वाग्रभाग से आच्छादित करने पर शरीर के सभी शेषद्वार अवरुद्ध हो जाते हैं। अतः योगी अमृत पान कर लेता है अन्यथा सहस्रारस्थ चन्द्र से स्रवित अमृत को कुण्डलिनी पीती रहती है।[२]

(२५) ऊर्ध्वरेतसत्व की साधना—गोरक्षनाथ कहते हैं कि खेचरी मुद्रा-साधन या लम्बिका द्वारा अमृत धारण किये जाने से शरीर के अमृततायित होने पर दो या तीन वर्षों के अभ्यास से योगी का बिन्दु ऊपर चढ़ने लगता है और ऐसे चन्द्रकला अमृत से परिपूर्ण देह का जीवात्मा कभी त्याग नहीं करती।[३]

अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरैः।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतो ह्यणिमादि गुणोदयम्॥[४]

(२६) अमरत्व की साधना—योगी गोरक्षनाथ कहते हैं कि अमृत के झरने से युक्त लम्बिका चन्द्रमण्डल में नासाग्र भाग पर दृष्टि स्थिर करके आत्मध्यान करने से योगी मृत्युञ्जयत्व (अमरत्व) पा लेता है।[५]

(२७) तत्त्वप्रतिष्ठा, सिद्धि एवं मुक्ति की प्राप्ति—वैसे तो नाथ योगी **'परमपद' 'सामरस्य'** एवं **निरुत्थात पद** को ही मुक्ति मानते हैं तथापि वे यह भी कहते हैं कि—

(क) भौंहों के मध्य (आज्ञाचक्र में) नीलवर्ण के परमेश्वर का ध्यान करने से एवं विजित प्राण तथा आत्मवान होने पर योग (परमात्मस्वरूपता) प्राप्त कर लेता है। (वि० मा० १७४)

(ख) ब्रह्मरंध्र महाचक्र सहस्रदल कमल में नासाग्र दृष्टि रखकर आत्माध्यान करने से स्वयं (परमात्मा/आत्मा/तत्त्व) में प्रतिष्ठित हो जाता है। (वि० मा० १७५)

---

१. योग बीज (३२)।

२. विवेक मार्तण्ड।

३. विवेक मार्तण्ड (१४९, १५०, १५१, १५३ आदि।

४. तत्रैव।

५. विवेक मार्तण्ड (१७३)।

Scanned by CamScanner

(ग) योगी निर्मल, गगनाकार, मरीचिजल समआत्मा का ध्यान करने से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। (वि० मा० १७६)

(२८) समाधि की साधना—नाथयोगी का लक्ष्य होता है समाधि की प्राप्ति। समाधि है क्या? गोरक्षनाथ कहते हैं—**(१) यत्समत्वं ह्येरत्र जीवात्म परमात्मनोः। (२) यदा संलीयते जीवोमानसं च विलीयतो तदा समरसत्वं हि... समाधिरभिधीयते। (३) अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवतियोगतः। तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते॥**[1]

(२९) विपरीत करणीमुद्रा का अभ्यास और पीयूष-पान—गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि (१) नाभि देश में **भास्कर** रहता है। (२) तालुमूल में अमृतात्मा **चन्द्रमा** रहता है। (३) चन्द्रमा जब अमृत की वर्षा (ऊपर से) करता है तो नीचे स्थित रवि अपना मुख ऊपर करके उसे पी लेता है। (४) यदि विपरीतकरणी मुद्रा द्वारा नाभि को ऊपर एवं तालु को नीचे करने का अभ्यास किया जाय तो वह सुधा सूर्य को न प्राप्त होकर योगी को प्राप्त हो सकती है। इसके लिए खेचरी मुद्रा भी सहायक है।[2]

काल वञ्चन

(५) अमृतत्व प्राप्त की अन्य विधि—विशुद्ध चक्र में स्थित अमृत का अपानयुक्त प्राण को ऊपर ले जाकर ऊर्ध्वविवर में प्रविष्ट करके यथाक्रम नासा से ऊपर ले जाने से सूर्यद्वारा अमृतपान क्रिया-अवरुद्ध होने से **कालवंचन** होता है।[3] इस स्थिति में—

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
अब्दार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्॥

—अमरत्व

जो योगी नासान्त ऊर्ध्व विवर को, जिह्वा को ऊपर उठाकर बाँध देता है वह अजरामर एवं पंचमुख शिव हो जाता है। अजरामरताप्नोति यथा पंचमुखो हरः।[4]

(३०) योग-मार्ग-साधना द्वारा योगाप्ति विधान— जीवात्मा और परमात्मा को (अष्टांग योग-साधना द्वारा) एकीभूत करना (दोनों का संयोग करना) ही **योग** है जो कि नाथ योगी का भी लक्ष्य है; क्योंकि यही प्राप्य योग लक्ष्य है—**'संयोगं योगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः।'**'[5]

१..विवेक मार्तण्ड (१८६-१८८)।
२. वि० मा० (१३५-१३७)।
३. वि० मा० (१४५)।
४. वि० मा० (१४८)।
५. वि० मा० (९)।

Scanned by CamScanner

(क) इसी प्रकार **प्राणापानैक्य,**

(ख) **'स्वरजो रेतसो'** (रज-रेतस-योग)

(ग) 'सूर्यचन्द्रसोर्योगो' (सूर्य-चन्द्र-योग) एवं

(घ) 'द्वन्द्वजालस्य संयोगो' (छन्दों में ऐक्य)

—ऐक्यस्वरूप योग की प्राप्ति

पाँचवा योग है—जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्य।

(३१) गोरक्ष दर्शन में लक्ष्यभूत पञ्चविध ऐक्यरूप योग

(१) जीवात्मा-परमात्मा का एक्य, (२) रज एवं रेतस का ऐक्य, (३) सूर्य और चन्द्रमा का ऐक्य, (४) प्राण और अपान का ऐक्य एवं (५) अनन्त द्वन्द्व समूहों में ऐक्य।

सारे योगी इसी योग की कामना करते हैं।

—'योगबीज' (८९-९०) में वर्णित योग

Scanned by CamScanner

(४) 'राजयोग'—यश्चित्तवृत्तिरहितः स तु **राजयोगः**।।

—(अमरौघ प्रबोध)

(४५) योगभोगसाहचर्यवाद—गोरक्षनाथ संन्यासियों, अवधूतों के अतिरिक्त गृहस्थों को भी ब्रह्मचारी बनाना चाहते थे; क्योंकि ब्रह्मचर्य के बिना गृहस्थ योगसाधना कैसे करते? इसी उद्देश्य से उन्होंने भोग के साथ योग का समन्वय करने हेतु—**'वज्रोली'**, **'अमरोली'** **'सहजोली'** आदि यौगिक क्रियाओं को भी स्वीकृति दी। वे कहते हैं—

'बजरी करंता अमरी राखै, अमरि करंता वाई।
भोग करंता जो व्यंद राखै, ते गोरख का गुरभाई।।'
'भग मुषि व्यंद अग्नि मुषिपारा। जो राखै सो गुरु हमारा।।'

—(गो० बा० पृ० ४९)

फिर भी—

'व्यंद ही जोग, व्यंद ही भोग, व्यंद ही हरै चौसठि रोग।
या विद का कोई जाणैभेव। सो आपैं करता आपै देव।।

Scanned by CamScanner

नाथ सिद्ध अपनी पूर्णावस्था में **भोग में योग तो स्वीकार** करते हैं किन्तु **भोग से योग** की दृष्टि स्वीकार नहीं करते, तथापि तन्त्र का **योगभोगसाहचर्मवाद** किसी न किसी दृष्टि से स्वीकृत ही है।

'**बिन्दु-साधना**' में '**वज्रोली**', '**अमरोली**' एवं '**सहजोली**' (तान्त्रिक विधान) नाथों ने भी स्वीकार किया है।

जहाँ तक पञ्चतत्त्व **धारणा, षटचक्र** एवं उसकी साधना, **कुण्डलिनी योग**, शिव-शक्ति-सामरस्य, नादोपासना, नादानुसन्धान, शिवशाक्तयोग, वज्रदेहत्व या 'पक्वदेह' प्रणवोपासना, सोऽहंजप, पिण्डब्रह्माण्डैक्यवाद, शक्ति-साधना, कौलाचार, **ग्रन्थित्रय** एवं उसका उद्भेदन, नाड़ीयोग, शब्दब्रह्मवाद और नादात्मक वाक्तत्त्व, निरुत्थान, प्रतीक पद्धति, कुलाकुल योग, पीयूषपान, काल-वञ्चन आदि तत्त्व तन्त्र के अपने ही उपादान हैं, उन्हीं के प्रतिपाद्य विषय है जिन्हें नाथ-पंथ में स्वीकार कर लिया गया है।

Scanned by CamScanner

ब्रिग्स महोदय कहते हैं कि पहाड़ी प्रदेशों में योगी **तान्त्रिक क्रियाओं का अभ्यास** करते है। योगि-सम्प्रदाय में शाक्तों के वाम एवं दक्षिण दोनों मार्गों की उपासना प्रचलित है।

शैव शाक्त योगियों में '**आसन**' '**बंध**' '**मुद्रा**' एवं '**प्राणायाम**' प्रचलित हैं। इनका प्रचलन नाथयोगियों में भी है। तान्त्रिकों के चितासन, मुण्डासन प्रभृति वाममार्गी आसन नाथ योग में सम्मिलित नहीं है।

Scanned by CamScanner

'काल वञ्चन'—कालस्य वञ्चनं सूक्ष्मं
मया ते प्रकटी कृतम्॥ (७/५०)

'अमरता'—

अमृतेश पदं सूक्ष्मं सम्प्राप्यैवामृतीभवेत्।
तदासावमृतीभूय मृत्युजिन्नात्र संशयः॥
(७/५१)

---

१. डॉ० ह० प्र० द्वि० (ना० सं० पृ. ३)।
२. नेत्र तन्त्र।
३. नेत्र तन्त्र।

Scanned by CamScanner

कालजित् सुभगोधीरो, मृत्युस्तं च न बाधते।।

(७/५२)

'अमृत'—

सुषुम्नामृतेनाखिलं परिपूर्णं विभावयेत्।।[१]

'चन्द्रोदये तदा ख्याते, परमामृत मुत्तमम्।।

(७/४३)

'खेचरी मुद्रा'—

खेचरीमुद्रयापूर्य शक्त्यन्तं तत्र सर्वतः।।[२] (७/३७)

Scanned by CamScanner

(५) 'कुण्डलिनी शक्ति'—'ततो वेदनशीला कुण्डलिनी शक्तिरुद्गता।।' (९)

अर्थात् उसके उपरान्त तत्त्वज्ञानस्वरूपिणी जगदीश्वरी कुण्डलिनी (अज्ञों के लिए बंधनप्रदा एवं प्रबुद्धों के लिए मोक्षप्रदा शक्ति) उदित होती है। यह शक्ति चिद्रूपिणी चैतन्यस्वरूपा अनिर्वचनीया, महिमामयी परमेश्वरी माया है। इसे **'महाकुण्डलिनी'** शक्ति समझना चाहिए। इसके द्वारा **'परंशिव'** का दर्शन संभव होता है।

'कौलज्ञान निर्णय' में कहा गया है—

(१) ''कौलमार्गे द्वयो सन्ति कृतका सहजा तथा।
'कुण्डली' कृतका ज्ञेया सहजा समरसे स्थिता।।''

यह कुण्डलिनी शक्ति 'मूलाधार चक्र' के ब्रह्मद्वार को मुख से बन्द करके स्थित हैं।

(२) 'कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः **अष्टधा** कुण्डलीकृता।
ब्रह्मद्वारं मुखं नित्यं मुखेन आच्छाद्य तिष्ठति।।'

—(गोरक्षनाथ योग मार्तण्ड)

(३) प्रस्फुरद भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा।
प्रसुप्ता वायुना सार्धं प्रबोधं यान्ति साग्निना।।

—(गोरक्षनाथ योग मार्तण्ड)

Scanned by CamScanner

प्राणापान योग

योगी गोरक्षनाथ ने कहा कि जप-तप नहीं यथार्थ साधना तो **'प्राणापान योग'** है; क्योंकि इसकी साधना के बिना 'प्राण' एवं 'अपान' की रस्सी से बंधा जीव डोरी से बँधे श्येन की भाँति अनादिकाल से प्राण एवं अपान की रस्साकसी की क्रीड़ा मात्र बनकर एवं इस प्रकार गुलाम बनकर जीता चला आ रहा है—

> **'रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।**
> **गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते।**
> **अपानः कर्षति प्राणं प्राणोपानं च कर्षति।**
> **ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संजोयति योगवित्।।'**[३]

मूलबंध आदि प्राणायामों से प्राणापानैक्य द्वारा ही जीव प्राण-अपान के बंधन

---

१. परशुराम कल्पसूत्र (रामेश्वर कृत वृत्ति)।

२. प० क० सूत्र (वाराही क्रम)।

३. गोरक्षनात : गोरक्षशतक।

Scanned by CamScanner

से मुक्त होकर मुक्ति पा सकता है। अतः प्राण एवं अपान के सामरस्य की साधना करनी चाहिए। श्रीकृष्ण भी इसी ओर संकेत करते हैं—'**प्राणापानगती रुद्ध्वां प्राणायाम परायणाः।**'

Scanned by CamScanner

"इन्द्रीबांध्या जोगी, जती रे न होइबा।
जब लग मनवौ न बाँधा रे लो॥"[१]

सूर्यचन्द्र-साधना—अनाहर्त- साधना नाथ सिद्ध **काणेरी पाव** कहते हैं ऐसी साधना करो कि दिन में चन्द्र एवं रात्रि में सूर्य दिखाई पड़ने लगे और **'गगनमण्डल'** में तूर (तुरही वाद्या=अनाहत नाद) श्रुतिगोचर होने लगे।

"द्यौंसैं चन्दा रातैं सूर, गगन मंडल मैं बाजै तूर।"[२]

शक्ति-शिव योग (कुण्डलिनी की सहस्त्रार-यात्रा)—के सम्बन्ध में नाथ योगी सिद्ध गरीब दास कहते हैं कि—

(१) **'आकाश की मीड़की'** आकाश में **'यन्त्र-वादन'** कर रही है।

(२) **'चन्द्र एवं सूर्य** के मिलने से **'गंगा एवं यमुना'** प्रसन्न होकर गीत गा रही हैं। इसमें **'मीड़की'** कुण्डलिनी है।

यह **यन्त्र-वादन 'शून्य चक्र'** में होने वाली अनाहत नाद की गर्जना है। **'चन्द्र-सूर्य' इड़ा-पिंगला नाड़ियाँ** हैं जिनके मिलने से प्राणवायु इन नाड़ियों का त्याग करके सुषुम्णा में प्रविष्टि करके सहस्त्रार में पहुँच जाती हैं।

Scanned by CamScanner

षट्चक्र-वेधन, प्राणायाम एवं ऊर्ध्व रेतसत्व की साधना

(१) योगी को चाहिए कि वह **प्राण वायु को उलटकर षट्चक्रों का वेधन** करें।

(२) **'तप्त लौह'** (ब्रह्मरन्ध्र) पानी (रेतस्) को सोख ले।

(३) **'चन्द्रमा'** (इड़ा नाड़ी) और 'सूर्य' **(पिंगला नाड़ी)** दोनों को योगी अपने घर (सुषुम्णा नाड़ी) में निमज्जित कर दें। ऐसा योगी अलक्ष्य (ब्रह्म) का पूर्णज्ञाता (विज्ञानी) हो जाता है। —(गो० बा० पृ. ३७)

नाथयोग की साधना के अभ्यासी योगी को–

(१) **ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डलिनी** का प्रवेश करके **'ब्रह्माण्ड' को फोड़ना** चाहिए।

(२) **शून्यं** रूप नगर को लूटना चाहिए।

(३) शरीर रूपी घर को घेरकर पंच देव (५ इन्द्रियों) एवं उनके स्वामी मन **को पकड़ना** चाहिए।[२]

(४) अहंकार को तोड़ना चाहिए।

(५) निराकार आत्मा को प्रस्फुटित करना चाहिए।

(६) इड़ा नाड़ी (गंगा) और पिंगला नाड़ी (यमुना) का पानी सोख लिया जाना चाहिए अर्थात् इन दोनों नाड़ियों का अस्तित्व सुषुम्णा में लयीभूत करना चाहिए।

(७) और **सहस्त्रारस्थ चन्द्रमा** और **मूलाधारावस्थि सूर्य** के पारस्परिक विरोधी भाव को नष्ट कर दो।[३]

---

१. **संन्यासी** सोई करै सर्वनास गगन मंडल महि मांडे आस।
अनहद सूं मन **उनमन** रहै सो संन्यासी अगम की कहै।। —(गो०बा० पृ० ३६)

२. ब्रह्माण्ड कूटिबा, नगर सब लूटिबा, कोई न जाणवा भेवं।
बदंत गोरखनाथ स्थंड दर जब घेरिवा, तब पकड़िबा पंच देवं।। —(गो० बा० पृ. ३९)

३. अहंकार तूटिवा, निराकार फूटिबा, सोखीला गंगजमन का पानी।
चंद सूरज दोऊ सनमुखिराखिला, कहो हो अवधू तहाँ की सहिं नाडी।।
—(गो० बा० पृ. ३९)

Scanned by CamScanner

(८) सिद्ध का संकेत (सांकेतिक उपदेश) यही है कि शून्य स्थान **(सहस्त्रार)** में तुरी **(अनाहत नाद)** बजाओ।

(९) चन्द्र के विरोधी सूर्य को **मीन के मार्ग** पर लगाओ अर्थात् योगयुक्त विधि से **चन्द्रमा के समान** करो, जिससे **अमृत का रसास्वादन** किया जा सके।

(१०) **'मीन मार्ग'**—मछली नदी की धारा के विरुद्ध चला करती है, किन्तु मछली किस मार्ग से गई है पानी के नीचे स्थित उसके मार्ग को कोई नहीं बता सकता। इसी प्रकार योगी को अपने साधना-मार्ग एवं अपनी उपलब्धियों को **गुप्त रखना** चाहिए। इसके फूल कली बन जायेगा—**वृद्ध भी बालक बन जाएगा।**[१]

(११) ब्रह्म के सुगन्ध से सुगन्धित (ब्रह्म की सर्वव्यापकता का अनुभव करने वाले के समक्ष (ज्योतिदर्शन की क्रीड़ा प्रकट हो जाती है।

—(गो० बा० पृ. ४१)

Scanned by CamScanner

(२१) योग साधना

योगिराज गोरक्षनाथ इड़ा और पिंगला की मध्यवर्तिनी (कालभोक्त्री **सुषुम्णा**) में आसन जमाकर बैठने, अनाहत नाद का श्रवण करते हुए **काल पर विजय** प्राप्त करने, '**गगन मण्डल**' ('सहस्रार' में अकेले निवास करने एवं ऊर्ध्वमुखी '**बंकनाल**' (सुषुम्णा नदी) से **अमृत निकालकर** पीने को अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के उपदेश का सार बताते हुए इन सभी उपदेशों में समाहित साधना करना स्वीकार करते हैं।

गंग जमन मधि आसण बालौ। अनहदनाद काल भै टालौ।
गगन मंडन मैं रमूँ अकेला। उरध मुखि बंक नालि अमीरात झेला।।
कथंत गोरखनाथ गुरु उपदेशा।।

—(गो० बा० पृ. १४९)

सारांश—

(१) सुषुम्णा नाड़ी में अविचल स्थिति।
(२) अनाहत नाद का श्रवण।
(३) गगन मंडल (**सहस्रार**) में अकेले निवास।
(४) बंकनाल की सहायता से **अमृतपान**।

इसके अतिरिक्त **गुरु गोरक्षनाथ** ने '**विपरीत करणी**' **मुद्रा** का अभ्यास **करके वायु** को स्थिर करने, वायुस्थैर्य द्वारा **महारस** (अमृत) को सिद्ध करने, **दर्शन (मुद्रा)** धारण करने एवं सेली धारण करने जैसे **यौगिक बाह्याचार्यों का खण्डन (पारमार्थिक दृष्टि** से खण्डन) भी किया है—और कहा है कि हे प्रभु! **क्या मूल वस्तु (योग-साधना** का तात्विक स्वरूप) यही है?

"कांने रातां, डौरौ गाटा किणि मीर मूले?

—(गो० बा०, पृ. १५०)

गोरक्ष दृष्टि में योग-साधना का सार्थक अभ्यास—हाँ **गोरक्षनाथ गंगा-युमना** के कूल (इड़ा-पिंगला) में **प्राणायामरूपी स्नान करके शुद्ध होने** और **मूलाधार को दबाकर** (संकोचन करके) **ध्यान** करने की **यौगिक साधना को सार्थक** मानते हैं—

'गंगा जमुना कूले पैसि करिले असनानं।
चाँपीला मूले अवधू धरीला धियानं।।

—(गो० बा०, पृ. १५०)

इसके अतिरिक्त वे—

(१) मेरुदण्ड को स्थिर करके।
(२) शिव और शक्ति को जोड़ने।

Scanned by CamScanner

(३) सिद्ध योगी की आराधना करने।

(४) **ब्रह्म ग्रन्थि का भेदन** करने।

(५) सुमेरु (मेरु=मेरुदण्ड=सुषुम्णा नाड़ी) के भर जाने पर (**इड़ा-पिंगला के सुषुम्णा में प्रविष्ट** हो जाने पर)।

(६) **सुषुम्णा मार्ग में** (प्राणायाम द्वारा) **श्वास प्रविष्ट** हो जाने पर '**ब्रह्मग्रन्थि' का भेदन** होने पर तथा पाँच तत्त्वों या तन्मात्राओं या ज्ञानेन्द्रियों के चूर्ण हो जाने पर पूर्ण कलाओं वाले **चन्द्रमा को प्रकट** करने की साधना भी साधकों को निष्पादित करने हेतु गुरु गोरक्षनाथ ने उपदेश दिया है। —(गो० बा० पृ. १५०)

(क) बिपरीत करणी करि लै ज्यूँ थिर ह्वै बाई।
(ख) वाई जब थिरि ह्वै महारस सीझै।
(ग) सदा अभ्यास रहै जोगी गंगा जमुन कूले।
(घ) गंगा जमुना कूले पैसि करिले असनानं।
(ङ) चॉपीला मूले अवधू धरीला धियानं।
(च) मेरे डंड थिरि करै स्यौ सक्ती जोड़ै।
(छ) कोई गुरु आराधीला जो ब्रह्म गाँठि छोड़ै।
(ज) छूटै जब ब्रह्म गाँठि भरिये मेर नाला।
सहजैं पाँचै चूरा भया पूरण कला।

(झ) सहस्त्रारस्थ चन्द्र खूँटा है और मूलाधारस्थ सूर्य पाटी है जिस पर धोबी कपड़े धोता है अर्थात् साधक माया-मल प्रक्षालित करता है—

(ञ) चन्दा गोरा खूँटा करिलै, सूरजि करिलै पाटी।
अहनिसि धोबी धोवै त्रिवेणी की घाटी॥

—(गो० बा० पृ० १५१)

Scanned by CamScanner

(२) **'हठ'**=प्राण वायु का विधिपूर्वक संयम एवं निरोध करके किसी चक्र में यथेष्टकाल पर्यन्त प्राण का स्थिरीकरण सुषुम्ना-मार्ग में प्राणवायु का सञ्चरण, कुंभकों, मुद्राओं एवं बन्धों के अभ्यास से **प्राणापान-द्वन्द्व को समाप्त करके** उनमें ऐक्यस्थापन, ऊर्ध्वोन्मुखी **मात्र** वायु द्वारा शरीर में वायु क्रिया का सञ्चालन आदि।

Scanned by CamScanner

जागरण शक्ति-जागरण की ही साधना जिससे कि साधक अनन्तकाल से सोता हुआ भी शक्ति के जागने से स्वयं भी जागकर मुक्त हो जाता है।

कुण्डलिनी और उसकी साधना—सम्पूर्ण नाथ-साहित्य में सर्वत्र (स्वल्पाधिक) कुण्डलिनी की चर्चा आई है तथा किसी-किसी ग्रन्थ में उसकी साधना का सविस्तार वर्णन भी किया गया है।

७२००० नाड़ियों के मूल 'नाड़ी कन्द' के ऊर्ध्व प्रदेश में ब्रह्मद्वार को अवरुद्ध करके और अष्टधा कुण्डलीकृत होकर भगवती कुण्डलिनी स्थित हैं। जिस मार्ग से ऊर्ध्व की ओर गति करते हुए योग साधक के द्वारा ब्रह्मस्थान ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश किया जाता है उस ब्रह्मद्वार को सुप्त कुण्डलिनी अपने मुख से आच्छादित करके सुषुम्णाद्वार पर स्थित है। वह भुजगाकारा कुण्डलिनी शरीर की दृष्टि से अत्यन्त पतली पद्मतन्तु के समान सूक्ष्म है, किन्तु वह पवनाग्नि-संयोग से जाग उठती है—

> **''प्रसुप्ता वायुना सार्धं प्रबोधं यान्ति साग्निना।**
> **प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह।**
> **सूचीव गुणामादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया।।''**

कुण्डलिनी जागरण की पद्धति—योगी साधक को दोनों हाथों को एक-दूसरे से सटाकर (बद्धांजलि) **पद्मासन** में स्थित होकर, वक्षस्थल को चिबुक में लगाकर कुण्डलिनी का ध्यान करके प्राणायाम द्वारा पूरक करके और अपान वायु को रोककर वायु का रेचन करने से यह कुलशक्ति प्रबुद्ध हो जाती है। मूलबंध इस साधना में अत्यन्त उपयोगी है; क्योंकि उससे प्राण-अपान एकीभूत हो जाते हैं, जो कुण्डलिनी-जागरण के लिए आवश्यक है।

योग और उसका स्वरूप : एक तुलनात्मक विवेचना

महर्षि पतञ्जलि का दृष्टि—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'' —(योगसूत्र)

योगिराज गोरक्षनाथ की दृष्टि—गुरु गोरक्षनाथ ने 'योग' को पञ्चधा परिभाषित एवं निरूपित किया है। यह इस प्रकार है।

योग (गोरक्षनाथ जी की दृष्टि)

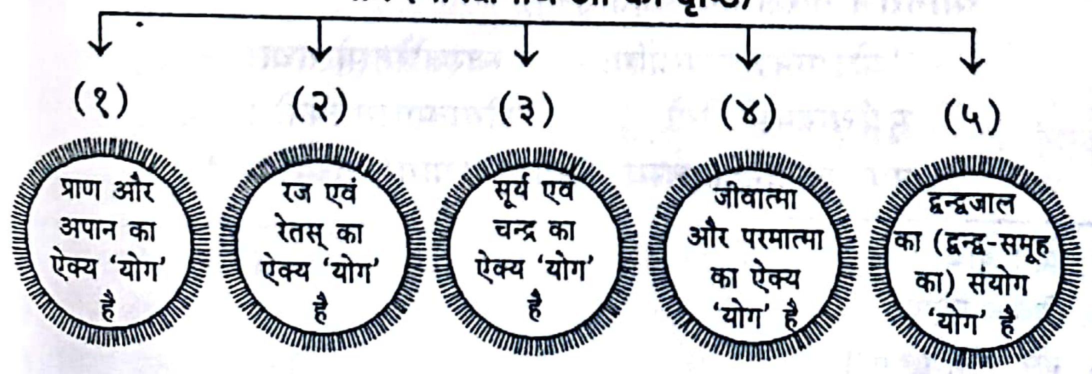

Scanned by CamScanner

(१) प्राण और अपान का ऐक्य '**योग**' है।

(२) रज एवं रेतस् का ऐक्य '**योग**' है।

(३) सूर्य एवं चन्द्र का ऐक्य '**योग**' है।

(४) जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य '**योग**' है।

(५) द्वन्द्वजाल का (द्वन्द्व-समूह का) संयोग '**योग**' है।

योग का स्वरूप

'योऽपानप्राणयोर्योगः स्वरजोरेतसोस्तथा।
एवं तु द्वन्द्वजालस्य.......संयोगो योग उच्यते॥'[१]

(१) '**प्राण**' और '**अपान**' का ऐक्य।

(२) '**रज**' और '**रेतजस**' का ऐक्य।

(३) '**सूर्य**' और '**चन्द्र**' का ऐक्य।

(४) जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य।

(५) समस्त द्वन्द्वों के समूह का ऐक्य।

'योग' और उसके पाँच पक्ष या लक्षण

'योग बीज'—(योगिराज गोरक्षनाथ)

गोरक्षनाथी दर्शन—योगिराज गोरक्षनाथ भक्ति की दृष्टि से योग को दूसरी तरह भी परिभाषित करते हुए कहते हैं कि—'जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को '**योग**' कहते हैं।

''संयोग योगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः॥''[२]
नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः॥

—गोरक्षनाथ (सिद्ध सिद्धान्त पद्धति)

(७) 'प्राण' और 'अपान' का ऐक्य ही योग है

योगिराज गोरक्षनाथ कहते हैं—

''योऽपानप्राणयोर्योगः स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।
एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो 'योग' उच्यते॥''[३]

---

१. योग बीज ८९।

२. विवेक मार्तण्ड (९)।

३. योग बीज (९०)।

योगाग्नि—'प्राण' और **'अपान'** वायुओं की एकता से **'चन्द्र'** और **'सूर्य'** की एकता के परिणामस्वरूप **'योगाग्नि'** प्रज्वलित होती है। साधक को इस **'योगाग्नि'** में (रक्त, मेद, मज्जा, अस्थि, कफ, वात एवं पित्त आदि। **सप्त धातुओं से निर्मित कच्चे शरीर को दग्ध करके परिपक्व बनाकर**) उसे अमर बनाना चाहिए। ऐसा करने से उसके शरीर की समस्त व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं और शरीर को क्षति पहुँचाने वाले छेद, घात आदि समाप्त हो जाते हैं। इस समय मात्र **'परमाकाशस्वरूप सिद्ध शरीर'** ही शेष रह जाता है। **इस शरीर की मृत्यु नहीं** होती। उसका शरीर **दग्ध वस्त्र की भाँति अवशिष्ट रह जाता है।**

गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं—

> **''सप्तधातुमयं देहमग्निना प्रदहेद बुधः।**
> **व्याधयस्तस्य नश्यन्तिच्छेदघातादिका व्यथाः।**
> **तथाऽसौ परमाकाशरूपी देह्यवतिष्ठते।**
> **किं पुनर्बहुनोक्तेन मरणं नास्ति तस्य वै।**
> **देहोऽवदृश्यते लोके दग्धकपटवत्स्वयम्।।''**

इस स्थिति में जिस प्रकार एक रस्सी दूसरी रस्सी से लिपटी रहती है उसी प्रकार **जीव में चित्त और प्राण** लिपटे रहते हैं।

चूँकि मन को विचारों से नहीं मात्र प्राण से नियन्त्रित किया जा सकता है। अत: (मनोमारण) मन का जय केवल प्राण से करना चाहिए।

> **''तस्मात्तस्य जयोपायः प्राण एव हि नान्यथा।।''**[१]
> **''मुमुक्षुभिः प्राणजयः कर्तव्यो मोक्षहेतवे।।''**[२]

ऐसा क्यों? इसलिए कि—'चित्तं प्राणेन सन्नद्धं सर्वजीवेषु संस्थितम्। रज्जौ यद्वत्परीबद्धा रज्वी तद्वदिमे मते।।' —(योग बीज)

(८) रज-रेतस का ऐक्य ही 'योग' है

गुरु गोरक्षनाथ 'रजरेतस के ऐक्य' को भी **'योग'** की संज्ञा देते हैं।

बिन्दु—शरीर का मूल बिन्दु है।[३]

शरीर में आपादमस्तक स्थित शिरायें बिन्दु से ही जीवित हैं।

खेचरी मुद्रा से तो कण्ठ छिद्र की लम्बिका में बिन्दु रुक जाता है। बिन्दु क्षरित नहीं होता।

---

१. यो० बी० (८०)।
२. यो० बी० (८६)।
३. बिन्दु मूलं शरीरं तु।

Scanned by CamScanner

जब तक बिन्दु क्षरित नहीं होता तब तक मृत्यु कहाँ? जब तक नभोमुद्रा (खेचरी) लगी है तब तक बिन्दु का पात कैसे हो सकता है?

वायु के द्वारा शक्ति का चालन करने से जब महारज ऊर्ध्वमुख होकर बिन्दु से मिलकर एक हो जाता है तब शरीर दिव्य हो जाता है—

'याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद् दिव्यं वपुस्तदा।।''

'बिन्दु' शिव है और **'रज' 'शक्ति'** है। **'बिन्दु'** चन्द्रमा है और **'रज'** रवि है। दोनों की एकता से **'परमपद'** की प्राप्ति होती है—

''प्राप्यते परमं पदम्।।''[१]

बिन्दु के दो भेद हैं—

(१) 'पाण्डुर' (२) 'लोहित'।

(क) पाण्डुर वर्ण का बिन्दु=शुक्र है।

(ख) लोहित वर्ण का बिन्दु=महारज है।

यदि बिन्दु अधोगामी होकर नाभि में स्थित अग्निस्थान में गिर भी जाता है, तथापि योनिमुद्रा के द्वारा ऊर्ध्वमुखी किया जा सकता है।

सिन्दूर वर्ण का 'रज' **'रविस्थान'** (नाभि) में एवं शुक्र **'चन्द्रस्थान'** में रहता है।

इन दोनों की एकता दुर्लभ है—**'तयोरैक्यं सुदुर्लभम्।''** (गो० श०)

'शुक्र' चन्द्रमा से संयुक्त है और 'रज' सूर्य से। इन दोनों के सामरस्य का ज्ञाता योग-ज्ञानी है।

निर्विचारत्व का इतना महत्व क्यों?

भेद दृष्टि रखने वाले तान्त्रिक (भेदवादी) तान्त्रिक मनीषी तीन रत्न मानते हैं—

(१) 'शिव' (२) 'शक्ति' (३) 'बिन्दु'।

'बिन्दु'—'बिन्दु' शुद्धतत्त्वात्मक (कार्य रूप शुद्ध) जगत का उपादान है—इसी की अपर संज्ञा **'महामाया'** है। बिन्दु क्षुब्ध होने पर शुद्धदेह, इन्द्रिय भोग एवं

---

१. गोरक्षनाथ कहते हैं—

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः।
उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम्।।''
स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा।
पाण्डुरं शुक्रमित्याहुर्लोहितं तु महारजः।। —गोरक्ष शतक

Scanned by CamScanner

'प्राण' और 'अपान' का ऐक्य ही योग है

गुरु गोरक्षनाथ ने '**प्राण**' और '**अपान**' के ऐक्य को ही '**योग**' कहा है।

'प्राण' एवं 'अपान' का स्वरूप

(वसिष्ठ-भुशुण्ड संवाद के स्वरूप में)

(१) '**इड़ा**' और '**पिङ्गला**' नाम की दो अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ देहरूपी गृह के मध्य **दाहिने एवं बाएँ** भाग में स्थित **कोष्ठ (कुक्षि)** में रहती हैं।

(२) **'इन नाड़ियों का किसी को भान नहीं होता। वे केवल नासापुट में प्राण-सञ्चार द्वारा प्रतीत होती हैं।**

(३) शरीर में यन्त्र की भाँति **तीन कमल के जोड़े हैं। वे अस्थिमांसमय एवं अत्यन्त मृदु हैं।** उनमें ऊपर एवं नीचे दोनों ओर से **नालदण्ड** लगे हुए हैं और वे सम्पुटित होकर एक-दूसरे से मिले हुए सुन्दर दलों से सुशोभित है।

(४) **उन तीन हृदय कमल यन्त्रों में 'प्राण' की समस्त शक्तियाँ ऊपर और नीचे की ओर फैली** हैं यथा चन्द्रबिम्ब से निकली किरणें फैलती हैं।

(५) इन प्राणशक्तियों से ही **शीघ्रगति, आगति, विकर्षण, हरण, विहरण,** उत्पतन एवं **निपतन** की क्रियायें निष्पन्न होती हैं।

(६) '**प्राणतत्त्व**'—'हृदय कमल' में स्थित यही सुस्थित वायु '**प्राण**' के नाम से विख्यात है।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता (९-२२)।

Scanned by CamScanner

(७) इसी 'प्राणतत्त्व' की (क) कोई एक शक्ति—नेत्रों को स्पन्दित करती है (नेत्रों में निमेषोन्मेष क्रिया करती है।)

(ख) उसी की कोई एक शक्ति—स्पर्श को ग्रहण करती है।

(ग) उसी की कोई दूसरी शक्ति—नासिका के द्वारा श्वास उच्छ्वास का निर्वहन करती हैं।

(घ) उसी की कोई अन्य शक्ति—अन्न का परिपाक करती हैं।

(ङ) उसी की कोई अन्य शक्ति—वाक्यों का उच्चारण करती है। शरीर में जो कुछ क्रिया या व्यापार निष्पन्न।

प्राण और अपान का ऐक्य ही योग है

गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि—योगाभ्यासी को पार्ष्णि भाग से मलस्थान का सम्पीडन करके वलपूर्वक वायु का आकुञ्चन करना चाहिए। इस क्रिया से वायु बार-बार ऊपर की ओर उठती है। 'प्राण' एवं अपान' वायु तथा नाद-विन्दु मूल बंध से एकता प्राप्त करके योगसिद्धि प्रदान करते हैं। 'गोरक्षशतक' में गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं—'अपान वायु' को ऊपर की ओर खींचकर (प्राण वायु से मिलाते हुए) पैर की एड़ी से योनिस्थान को दृढ़ता पूर्वक दबाकर मलद्वार को सिकोड़ना चाहिए। यहं 'मूलबन्ध' का अभ्यास है। इससे 'अपान' एवं 'प्राणवायु' का ऐक्य होने से मलमूत्र का क्षय एवं वृद्ध व्यक्ति में भी तारुण्य का उदय होता है।[1]

'विवेकमार्तण्ड' में गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि—'प्राण' एवं 'अपान' विपरीत स्वभाव वाले तत्त्व हैं। गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि 'प्राण' एवं 'अपान' जीव को (गेंद को क्रीड़ा के मैदान में फेंके जाने की क्रिया के समान) ऊपर-नीचे निरन्तर फेंकने वाली श्वासात्मक क्रियायें हैं—जिसके कारण जीव स्थिर नहीं हो पाता—

"आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथा चलति कन्दुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति॥
प्राणापानवशो जीवो ह्यश्चोर्ध्वं च धावति।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते॥"

—(वि० मा०)

'मूलबन्ध' से प्राण एवं अपान में ऐक्य स्थापित होता है।[2]

जिस प्रकार भुजाओं द्वारा ताड़ित होकर कोई गेंद ऊपर की ओर स्वयं उछलता है उसी प्रकार प्राण और अपान द्वारा निरन्तर आक्षिप्त जीव क्षणमात्र भी स्थिर

---

१. गोरक्ष शतक।

२. विवेक मार्तण्ड।

Scanned by CamScanner

नहीं रह पाता। जीवात्मा **'प्राणवायु'** एवं **'अपानवायु'** के वशीभूत होकर **'इड़ा'** **'पिंगला'** (बायें-दायें) नासारन्ध्रों से ऊपर-नीचे चढ़ता-उतरता रहता है और कभी स्थिरता (निश्चलता) नहीं प्राप्त कर पाता।[१]

जिस प्रकार डोरी से परिबद्ध श्येन पक्षी (डोरी ढीली करने पर) ऊपर उड़ने लगता है, किन्तु डोरी खींचने पर ऊपर से नीचे आ जाता है उसी प्रकार सत्व-रज-तम तीनों गुणों से, वासना तथा अविद्या से आबद्ध जीवात्मा **'प्राण'** एवं **'अपान'** नामक वायुयों के द्वारा ऊपर-नीचे खिंचता रहता है। जिस तरह **'अपान'** प्राण को एवं **'प्राण'** अपान को अपनी ओर खींचते रहते हैं, उसी प्रकार ऊपर-नीचे खिंचते **'अपना'** एवं **'प्राण'** दोनों का जो मर्म (निगूढ़ तत्त्व) को जानता है, योगज्ञानी योगी है।

शरीर में स्थित **'प्राणवायु'** और **'अपान वायु'**[२] के निरोध से एकश्वासमय होकर योगी वायु को सुषुम्नाद्वार से मुक्त करके चिदाकाश में उठाये—

'प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निरोधनात्।
एकश्वासमयो भूत्वोद् घाटयेत् गगने गतिम्।।'[३]

योगियाज्ञवल्क्य में भी 'अपान' के निरोध को आवश्यक मानते हुए कहा गया है कि—

'प्राण एवं अपान' का निरोध करके मात्राओं के प्रमाणानुसार ओंकार का जप करते हुए विधिवत प्राणायाम करना चाहिए।

'मात्राप्रमाणयोगेन प्राणापान निरोधयेत्।
ओंकारेण तु कर्तव्यः प्राणायामो यथोदितः।।'

(७) जिस प्रकार यन्त्रचालक कठपुतली से नृत्यादि चेष्टा कराता है, उसी प्रकार प्राण सारे कार्य कराता है।

(८) इसमें **'ऊर्ध्वगमन'** एवं **'अधोगमन'**—ये दो प्रकार के संकेत वाले दो वायु प्रसृत्र होते हैं। वे ही दोनों श्रेष्ठ वायु (१) 'प्राण' एवं (२) 'अपान' कहलाते हैं।

भुशुण्ड जी वसिष्ठ से कहते हैं कि—**''मुने! मैं इन्हीं दोनों श्रेष्ठ वायुओं (प्राण एवं अपान) की गति का सदैव अनुसरण किया करता हूँ।''**

---

१. गो० शतक/विवेक मार्तण्ड।

२. रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्या कृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित्। —विवेक मार्तण्ड (४३-४४)

३. वि० मा० (१०४)।

Scanned by CamScanner

प्राण एवं अपान वायु

(१) 'प्राण' एवं 'अपान' वायुओं में एक उष्ण एवं दूसरी शीतल प्रकृति के हैं।

(२) ये दोनों वायु (प्राण एवं अपान) शरीर में निरन्तर आकाश मार्ग की ओर यात्रा करते रहते हैं।

(३) उन 'प्राण' एवं 'अपान' नामक वायुओं की—जो शरीर में सदैव संचरण करते रहते हैं तथा जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति में सदैव समान रूप है—गति का अनुसरण करते हुए भुशुण्ड जी के दिन सुषुप्ति अवस्था में स्थित मनुष्य की भाँति व्यतीत होते हैं। (ऐसा उन्होंने स्वयं कहा है।)[1]

(४) प्राण और अपान वायु का स्वरूप—प्राण-अपान वायुओं की वाहिका ये नाड़ियाँ एक सहस्त्र अंशों में विभक्त कमलतन्तु के लव मात्र की अपेक्षा भी अत्यन्त दुर्लक्ष्य हैं। अतएव उनमें विद्यमान इन 'प्राण' एवं 'अपान' वायुओं की भी गति अत्यन्त दुर्बोध है।

हृदयादि स्थानों में निरन्तर विचरण करने वाले 'प्राण' एवं 'अपान' वायुओं की गति के तत्त्व को जानकर उसका अनुसरण करने वाला प्रसन्नचित्त पुरुष जन्म-मरण के भव-चक्र से मुक्त हो जाता है। वह पुनः इस संसार में नहीं आता।[2]

प्राण वायु—इस 'प्राण वायु' में स्पन्दन शक्ति की निरन्तर गतिक्रिया रहा करती है। 'प्राण' बाह्य एवं आन्तर सर्वाङ्गों से परिपूर्ण देह में ऊपर के स्थान में—हृदयदेश में निवास किया करता है।

अपान वायु—'अपान वायु' में भी निरन्तर स्पन्दन शक्ति एवं सतत गति रहा करती है। 'अपान वायु' भी बाह्य एवं आन्तर समस्त अंगों से परिपूर्ण शरीर में नीचे के स्थान में नाभिदेश में स्थित रहता है।

(क) 'प्राण' का निरन्तर निवास स्थान—हृदय।

(ख) 'अपान' का निरन्तर निवास स्थान—नाभि।

(क) 'रेचक'—किसी भी प्रयत्न के बिना प्राणों की हृदय कमल कोश से होने वाली स्वाभाविक बहिर्मुखता 'रेचक' क्रिया कहलाती है।

(ख) 'पूरक'—द्वादशांगुल तक बाह्य प्रदेश की ओर नीचे गये प्राणों का लौटकर भीतर प्रवेश करते समय जो शरीर के अंगों के साथ स्पर्श होता है उसे 'पूरक' कहते हैं।

---

१. निर्वाण प्रकरण।

२. निर्वाण प्रकरण।

Scanned by CamScanner

(ग) **'कुम्भक'**—अपान वायु के शान्त हो जाने पर जब तक हृदय में प्राणवायु का अभ्युदय नहीं होता, तब तक वह वायु की 'कुम्भकावस्था' (निश्चल स्थिति) रहती है। यही कहलता है—**''आभ्यन्तर कुम्भक''**

(घ) **'बाह्य कुम्भक'**—मृत्तिका के अन्दर असिद्ध घट की स्थिति के सदृश बाहर नासिका के अग्रभाग से लेकर बराबर सामने द्वादशांगुल पर्यन्त आकाश में जो **'अपान वायु'** की निरन्तर स्थिति रहती है उसे पण्डितगण **'बाह्य कुम्भक'** कहते हैं। अत: **प्राणवायु के अस्तगत** होने पर जब तक **अपान वायु** का उद्गम नहीं होता तब तक एक रूप से स्थित पूर्ण (दूसरा) **''बाह्य कुम्भक''** रहता है—ऐसा विद्वान लोग कहा करते हैं।

प्राणापानाभ्यास का फल

'प्राण' एवं 'अपान' वायु के स्वभावभूत ये जो बाह्य एवं आभ्यन्तर कुंभक आदि प्राणायाम हैं, उनका भी भली प्रकार तत्त्व-रहस्य जानकर निरन्तर उपासना करने वाला पुरुष पुन: इस संसार में उत्पन्न नहीं होता।

वायुओं की स्वाभाविक निरुद्धावस्था

प्राणायाम तत्त्व के रहस्यविद योगी के ये स्वभावत: चंचल ये वायु चलते, बैठते, जागते या सोते—सभी अवस्थाओं में उसकी इच्छा के अनुसार निरुद्ध हो जाते हैं।

प्राणायाम स्मरणपूर्वक निष्पादित क्रियाओं का फल

मनुष्य अपने भीतर बुद्धिपूर्वक सम्यक् प्रकार से इन कुम्भक आदि प्राणायामों का स्मरण करता हुआ जो कुछ करता है या खाता है उनमें वह कर्तृत्व आदि के अभिमान से तनिक भी ग्रस्त नहीं होता।

प्राणायामाभ्यासी का मन विषयाकार वृत्तियों के होने पर भी बाह्य विषयों में रमण नहीं करता।

यदि साधक बैठते, चलते, सोते और जागते सदा सर्वदा पुरुष यदि तत्त्वरहस्य समझकर प्राणायाम का अभ्यास करें तो वे कभी बन्धन को प्राप्त ही न हों।

प्राणापानोपासना

प्राण एवं अपान की उपासना द्वारा प्राप्त यथार्थ ज्ञान से युक्त साधकों का मन, जो मलरूप मोह से रहित एवं स्वस्थ है—अन्त:स्थित परमात्मा में निरन्तर लगा रहता है।

समस्त शास्त्र-विहित कर्मों को करते हुए शुद्ध अन्त:करण निष्कामी ज्ञानी पुरुष प्राणापान की गति को तत्त्वत: जानकर भलीभाँति स्वस्थ हो सच्चिदानन्दघन परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

Scanned by CamScanner

बाह्य कुम्भक

हृदय-कमल से 'प्राण' का अभ्युदय होता है और बाहर द्वादश अंगुल पर्यन्त देश में यह 'प्राण' विलीन होकर रहता है इसी को ही **'बाह्य कुम्भक'** कहते हैं।

आभ्यन्तर कुम्भक

बहिर्वर्ती (बाह्य) बारह अंगुल की चरम सीमा से ही **'अपान'** का उदय होता है और हत्प्रदेश में अवस्थित कमल में उसकी गति अस्त हो जाती है। इसे ही **'आभ्यन्तर कुम्भक'** कहते हैं।

जिस बारह अङ्गुल की चरम सीमा के आकाश-प्रदेश में **प्राण की समाप्ति** हो जाती है उसी आकाश-प्रदेश से यह **'अपान'** उसी के बाद उत्पन्न हो जाता है।

यह **'प्राणवायु'** अग्निशिखा की भाँति **'बाह्य कुंभक'** के सम्मुख होकर प्रवाहित होता है और **'अपान वायु'** की भाँति **हृदयाकाश के समक्ष होकर निम्नवर्ती प्रदेश में प्रवाहित होता है।**

चन्द्रमारूप **'अपानवायु'** शरीर को बाहर से पुष्ट करता है और सूर्यरूप प्राणवायु इस शरीर को भीतर से परिपक्व कर देता है। **'प्राणवायु'** निरन्तर हृदयाकाश को सन्तप्त करके उसके बाद मुखाग्र भाग के आकाश को तपाता है; क्योंकि यह **उत्तम सूर्य** ही है।

'अपानवायुरूप'—यह चन्द्रमा प्रथमत: मुख के अग्रभाग को पुष्ट कर फिर हृदयाकाश का अपने अमृत-प्रवाह से पोषण करता है।

अपानरूप चन्द्रमा की रश्मि का **प्राणरूपी सूर्य** के साथ आभ्यन्तर **कुम्भक** के समय जिस हृदयस्थ ब्रह्म से सम्बन्ध होता है उस ब्रह्मपद को प्राप्त करके पुरुष पुन: शोक नहीं प्राप्त करता।

इसी प्रकार **प्राणरूपी सूर्य की किरण** का **अपानरूपी चन्द्रमा** के साथ **बाह्य कुंभक** के समय जिस बाह्य प्रदेशस्थ ब्रह्म से सम्बन्ध होता है, उस ब्रह्म को प्राप्त करके मनुष्य को पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता।

यथार्थानुभव क्या है? **हृदयाकाश में स्थित प्राणरूप सूर्यदेव** को उदय-अस्त, चन्द्रमा-रश्मि और गमनागमनसहित तत्त्व से अनुभव करता है वही यथार्थानुभव है।

'प्राणवायु' के **विलीन** हो जाने पर और **'अपान वायु'** के उदय के पूर्व **बाह्य कुंभक** का चिरकाल तक अभ्यास करने से योगी विशोक हो जाता है।

'अपान वायु' के विलीन हो जाने पर और **प्राण** वायु के उदय से पूर्व भीतरी कुम्भक का चिर कालपर्यन्त अभ्यास करने से योगी शोकरहित हो जाता है।

Scanned by CamScanner

जिस **हृदयवर्ती ब्रह्म रूप स्थान में से ये 'प्राण' और 'अपान'** दोनों विलीन हो जाते हैं। उस शान्त, आत्मस्वरूप, ब्रह्मरूप पद का अवलम्बन करने से योगी कभी शोक सन्तप्त नहीं होता।

चिन्मय परब्रह्म परमात्मा में '**अपान' के साथ प्राण** का, '**प्राण' के साथ अपान का** तथा उन दोनों के साथ **बाह्याभ्यन्तर देशकाल का विलय** हो जाता है। उसी परब्रह्म पद का दर्शन करना चाहिए।

जिस काल में '**अपान**' के प्राकट्य से पूर्व '**प्राण**' विलीन हुआ रहता है, उस समय किसी प्रकार के यत्न के बिना स्वाभाविक सिद्ध हुए जो **बाह्य कुंभकावस्था** है उसे ही योगी '**परमपद**' कहते हैं। बिना यत्न के सिद्ध अन्तःस्थ कुंभक **ब्रह्मरूप परमपद** है।

जो **प्राण-विलय** का और **अपान-ध्वंस का समीप एवं अन्त में रहकर प्रकाशक** है और जो प्राण तथा अपान के अन्दर रहता है हम उस चेतन परमात्मा की उपासना करते हैं।

परमात्मा में समस्त पदार्थ विद्यमान है, जिससे समस्त जगत उत्पन्न हुआ है, जो **सर्वात्मक, सभी ओर स्थित** एवं **सर्वमय** है हम लोग (भुशुण्ड आदि) उसी चिन्मय परमात्मा की उपासना करते हैं।

भुशुण्ड कहते हैं कि—प्राण और अपान के संयमरूप प्राणायामाभ्यास से प्राप्त परमात्मा के साक्षात् अनुभव से मैं शोकशून्य, आदिकारण परमपद को प्राप्त कर लिया है।

भुशुण्ड जी कहते हैं—जो बीत चुकी एवं जो होने वाली है उसका मैं कभी चिन्तन नहीं करता।

मैं फलाभिषानिर्मुक्त रहकर केवल **सुषुप्ति के समान उपरत बुद्धि** से अनुष्ठान करता रहता हूँ। मैं **प्राणापान के संयोग रूप** कुंभक काल में प्रकाशित परमात्मा का निरन्तर स्मरण करता हुआ अपने आप में नित्य सन्तुष्ट रहता हूँ।

'प्राण' और 'अपान'–(वि० भै०, स्व० तन्त्र आदि की दृष्टि)

(१) ऊपर **हृदय से बाह्य द्वादशान्त** तक जाने वाला वायु '**प्राण**' है।

(२) नीचे **बाह्य द्वादशान्त** से हृदय तक आने वाला जीव नामक **अपान** वायु है। यह प्राणशक्ति का उच्चारण है।

(३) '**प्राणशक्ति**' प्राणापान का निरन्तर उच्चारण करती रहती है अर्थात् '**प्राण**' एवं 'अपान' के रूप में निरन्तर स्पन्दित होती रहती है।

(४) '**स्वच्छन्द तन्त्र**' में '**प्राण**' एवं '**अपान**' को प्राणशक्ति का विसर्ग और आपूरण व्यापार कहा गया है। अतः '**प्राण**' का अर्थ है—श्वास छोड़ना एवं

Scanned by CamScanner

'**अपान**' का अर्थ है, श्वास लेना। पालिबौद्ध वाङ्मय में इनके लिए '**आनापान**' (आश्वास-प्रश्वास) शब्द प्रयुक्त किया गया है। योगभाष्य में '**प्राण**' एवं '**अपान**' को श्वास-प्रश्वास के अर्थ में स्वीकार किया गया है, किन्तु **विज्ञानभैरव** में इससे पृथक् दृष्टि स्वीकृत है।

स्वच्छन्द तन्त्र में कहा गया है—

> **'प्राणापानमयः प्राणो विसर्गापूरणं प्रति।**
> **नित्यमापूरयन्नेव प्राणिनामुरसि स्थितः।**
> **प्राणनं कुरुते यस्मात तस्मात् 'प्राणः' प्रकीर्तितः॥'**[१]

आचार्य बुद्धघोष की दृष्टि—बुद्धघोष कहते हैं कि बालक माता की कुक्षि से जब बाहर आता है, तब सर्वप्रथम भीतर की वायु बाहर आती है और पीछे बाहर की वायु भीतर प्रवेश करती है। इसी के अनुरूप '**आश्वास**' (आन=प्राण) वह वायु है जिसका निःसारण होता है और '**प्रश्वास**' वह वायु है जिसका कि ग्रहण होता है।

विज्ञानभैरव में 'ऊर्ध्वे प्राणः' आदि श्लोकों में प्राणापान का यही अर्थ स्वीकृत किया गया है। वहाँ '**ऊर्ध्व अधः**' का अर्थ 'पहले एवं बाद में' गृहीत है। पहले '**प्राण**' बाहर निकलता है और फिर '**अपान**' भीतर प्रविष्ट होता है। तभी बोध हो पाता है कि शरीर में जीवात्मा स्थित है। '**अपान**' प्रवेश न करने पर शरीर शव मात्र बनकर रह जाएगा। '**अपान**' के कारण ही शरीर में जीवात्मा स्थित है इसीलिए '**अपान**' को जीव कहा गया है। '**स्वच्छन्द तन्त्र**' एवं गीता का 'प्राणपानौ समौ कृत्वा' में भी यही अर्थ स्वीकृत है।

श्रीधरी टीका में श्रीधर ने '**प्राण**' एवं '**अपान** को उच्छ्वास एवं निःश्वास के अर्थ में स्वीकार किया है। शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। कभी-कभी ये शब्द विरोधी अर्थों में भी प्रयुक्त होने लगते हैं।

'प्राण' एवं 'अपान' की श्वास-प्रश्वास के अर्थ में स्वीकृति—हृदयस्थ '**प्राणवायु**' एवं पायुस्थित '**अपानवायु**' के अर्थ के विपरीत है। हाँ इनका प्राणशक्ति की श्वास-प्रश्वास-प्रक्रिया से सम्बन्ध अवश्य है।

प्राणशक्ति की—प्राण, अपान आदि दस वृत्तियाँ इनसे भिन्न हैं। '**विज्ञान भैरव**' में '**प्राण**' एवं '**अपान**' **शक्ति** प्राणशक्ति की विसर्ग (त्याग) एवं आपूरण (ग्रहण) अर्थ में स्वीकृत है।

जब '**प्राण**' एवं '**अपान**' की गति समान हो जाती है, तब मध्य नाड़ी

---

१. स्वच्छन्द तन्त्र (७/२५-२६)।

Scanned by CamScanner

सुषुम्णा के माध्यम से '**द्वादशान्त**' में विलीन हो जाती है और तब **सच्चिदानन्दघनस्वरूप** आत्मज्योति प्रकाशित हो उठती है और साधक स्वात्मस्वरूप में लीन हो जाता है।

प्राण का उदय हृदय स्थित कमलकोश से होता है। यह उदित प्राण नासा-मार्ग से बाहर निकलकर बारह अङ्गुल चलकर अन्त में आकाश में विलीन हो जाता है। यह बाह्याकाश ही योगशास्त्र में '**बाह्य द्वादशान्त**' कहलाता है। प्राण की इस गति को ही '**रेचक**' कहते हैं। '**बाह्य द्वादशान्त**' में ही '**अपान**' का उदय होता है। यही अपान नासामार्ग से चलकर हृदय स्थित कमल कोश में विलीन हो जाता है।

(१) 'अपान' का उदयस्थान—बाह्य द्वादशान्त।

(२) अपान का लयस्थान—हृदय स्थित कमलकोश में क्षण मात्र के लिए विलीन।

(३) प्राण का लय-स्थान—बाह्य द्वादशान्त।

(४) प्राण का उदय स्थान—हृदय।

प्राण-अपान की चतुर्विध गति

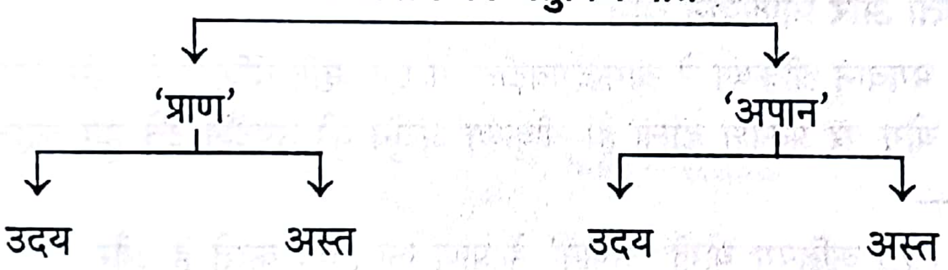

'**प्राण**' और '**अपान**' नामक वायु के आधारभूत स्थान **आन्तर आकाश** (हृदय) एवं '**बाह्य आकाश**' (बाह्य द्वादशान्त) है। ये दोनों अपने स्थान में (एक क्षण के लिए प्रत्यावर्तन के अभाव के कारण) अन्तर्मुखीवृत्ति के हो जाते हैं। इस समय लगता है कि '**प्राण**' एवं '**अपान**' कहीं विलीन हो गये हैं, इसी स्थिति को '**मध्यदशा**' कहा गया है।

प्राण की स्वाभाविक अवस्थायें

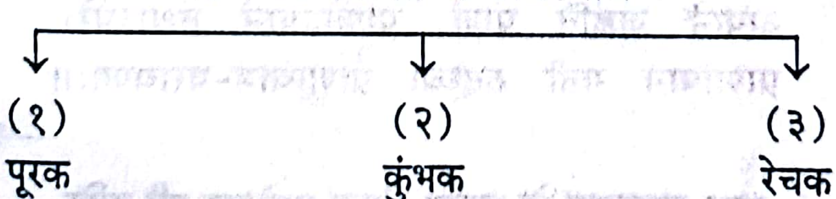

हृदय स्थित कमलकोश—प्राण का उदय।

(नासामार्ग से बाहर निकलकर प्राण का १२ अंगुल आकाश में चलकर जाने के बाद वहीं '**प्राण**' आकाश में लीन हो जाता है। **बाह्याकाश**=प्राण के लय का स्थान='**द्वादशान्त**' (१२ अंगुल पर अन्त का प्रदेश)।

Scanned by CamScanner

बाह्यद्वादशान्त से → अपान का उदय।

अपान—नासिका मार्ग से चलकर यह अपान हृदयकमलकोश में विलीन।

(१) **'प्राण'** बाह्यद्वादशान्त में लीन } दोनों को विलीनावस्था मात्र
(२) **'अपान'** हृदय में विलीन } क्षणमात्र पर्यन्त

(३) **'प्राण'** हृदय से चलकर **बाहर द्वादशान्त** में लीन।

(४) अपान बाहर के **द्वादशान्त से चलकर भीतर हृदयकोश** में लीन।

(११) प्राणापान की गति

(१) सामान्य गति—'प्राण' हृदय से निकलकर सामने बाहरी आकाश में (नासाग्र के आगे) १२ अंगुल तक यात्रा फिर वहीं से लौटकर हृदय में प्रवेश।

(२) प्राणायाम का विधिपूर्वक अभ्यास—प्राण की गति क्रमशः नाभि या मूलाधार से प्रारम्भ होकर नाक से बाहर २४ या ३६ अङ्गुल तक पहुँच जाती है। इसी प्रकार फिर वहाँ से लौटकर नाभि या मूलाधार तक श्वास पहुँच जाती हैं।

भगवद्गीता और प्राणापान योग

भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में एवं ऋषि वशिष्ठ ने 'योग वशिष्ठ' में प्राणापान योग पर प्रकाश डाला है। श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन—

(१) कतिपय योगी 'अपान' में प्राण का हवन करते हैं और

(२) अन्य योगी 'प्राण' में 'अपान' का हवन करते हैं, किन्तु

(३) प्राणायाम परायण एवं योगवित योगी दोनों अभ्यासों का त्याग करके प्राणापान दोनों प्राणों को निरुद्ध कर देते हैं—

(१) अपाने जुह्वति प्राणां : अपान में प्राण का हवन।

(२) प्राणोऽपान तथा परे : प्राण में अपान का हवन।

(३) प्राणापान गतीरुद्ध्वा प्राणायाम परायणः प्राण-अपान दोनों का निरोध।

अपाने जुह्वति प्राणं, प्राणोऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापान गती रुद्ध्वा प्राणायाम-परायणाः॥

—श्रीकृष्ण गीता

नाथ सम्प्रदाय के महान सिद्ध ज्ञानेश्वर की दृष्टि

सन्त एवं महायोगी ज्ञानेश्वर '**भावार्थ दीपिका**' (गीता का भाष्य) में कहते हैं कि—

(१) **'अपान वायु'** मूलबन्ध के द्वारा बन्द कर दी जाती है। वह बाद में पलटती है और संकुचित होते ही तत्काल फूलती है।

Scanned by CamScanner

(२) वह सन्ताप के कारण मतवाली होकर स्वेच्छित स्थानों में गर्जन करती है और रुक-रुककर **'मणिपुर'** (नाभिकमल/तृ० चक्र) से लड़ने लगती है। फिर यह तूफान शान्त होने पर वह समस्त पेट को खोज डालती है और बाल्यकाल के सड़े कीचड़ को बाहर निकाल कर फेंक देती है।

(३) वह केवल भीतर ही घिरी नहीं रहती प्रत्युत् कोष्ठ में भी सञ्चार करती है और कफ-कफ का कोई भी अंश शेष नहीं रहने देती। वह धातु के समुद्रों को उलट देती है।

(४) वह मेदा के पर्वतों को फोड़ डालती है तथा भीतरी अस्थि से मिली मज्जा को भी बाहर निकाल देती है। नाड़ियाँ छुड़ा देती है। वह शरीर अवयवों को शिथिल कर देती है। वह व्याधियाँ भी प्रकट करती हैं, किन्तु उनका विनाश भी करती हैं।

(५) वह जलतत्त्व और पृथ्वीतत्त्व को एक में सानती है।

(६) आसन की उष्णता 'कुण्डलिनी' नामक शक्ति को जागृत करती है।

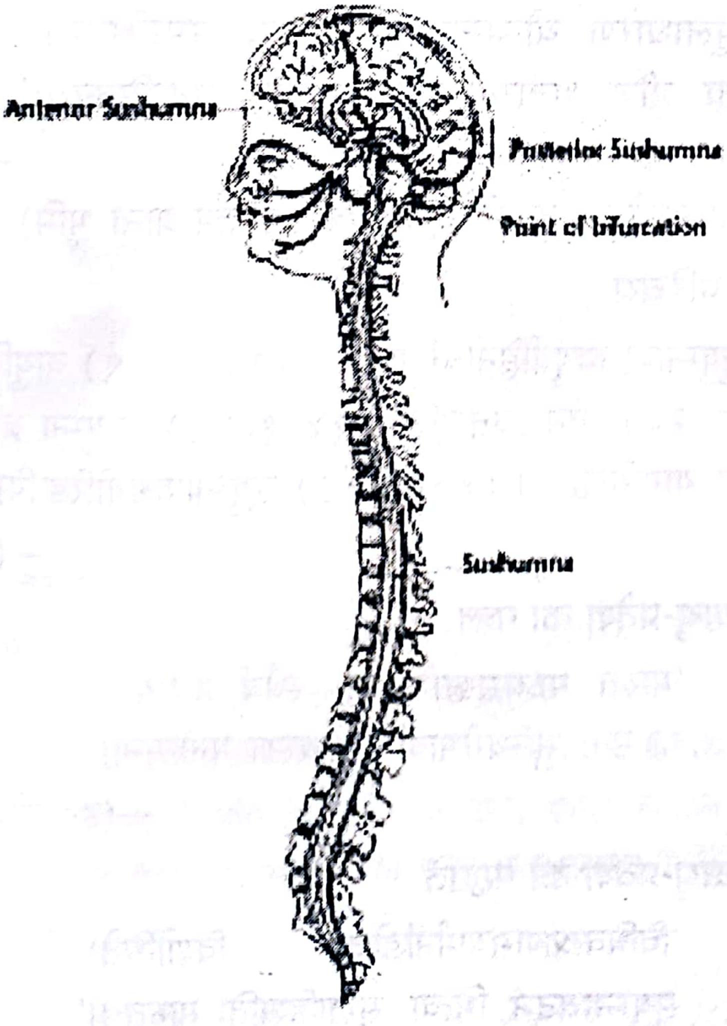

Scanned by CamScanner

(१) सुषुम्णा नाड़ी के पर्याय

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः।
श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्च्येकवाचकाः।।

(१) 'सुषुम्ना' (२) 'शून्य' (३) शून्यपदवी (४) ब्रह्मरन्ध्र (५) महापथ (६) मशान (७) शाम्भवी (८) मध्यमार्ग। —(हठयोग प्रदीपिका)

(२) शिवसंहिताकार की दृष्टि

आज्ञाचक्र के ऊपर तालुमूल में 'सहस्त्रदल कमल' स्थित है। वहीं विवरसहित 'सुषुम्णा' का मूल स्थान है। यह 'सुषुम्णा' तालुमूल में अधोमुखी होकर (नीचे की ओर मुख करके स्थित) हैं। मूलाधार से योनि पर्यन्त समस्त नाड़ियाँ तत्त्वज्ञान की बीज हैं और साथ ही वे ब्रह्ममार्ग (मुक्ति) प्रदायिका हैं—

'अतः ऊर्ध्व तालुमूले सहस्त्रारं सरोरुहम्।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम्।
तालुमूले सुषुम्णा सा अधोवक्त्रा प्रवर्तते।
मूलाधारेण योन्यन्ताः सर्वनाड्यः समाश्रिताः।
ता बीज भूतास्तत्वस्य ब्रह्ममार्ग प्रदायिकाः।।'

—(शिव संहिता)

(सुषुम्णा नाड़ी की उत्पत्ति एवं उसकी अन्तिम प्रान्त भूमि)

(३) सुषुम्ना का परिचय

(१) सुषुम्नाया वायुर्वह्निनोर्ध्वं गच्छति। (१४/२/१९) वायुर्जितः।

(१४/१/२०), तेन चित्तशुद्धिः (१४/१/२१), सुषुम्ना ब्रह्मनाडी (१३/४/१५), सुषुम्ना योगसिद्धिदा।। (१३/१/१८) सुषुम्नापार्श्वयोरिडापिङ्गले (१४/१/२)।

—('शाक्तदर्शनम्')

(४) सुषुम्ना में वायु-प्रवेश का फल

'मारुते मध्यसञ्चारे मनः स्थैर्यं प्रजायते।
यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी।।'

—(ह० यो० प्र० २/४२)

(५) सुषुम्ना में वायु-प्रवेश की पद्धति

'विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाहिशति मारुतः।।'

—(ह० यो० प्र०)

Scanned by CamScanner

(६) सुषुम्णा की स्थिति

तालुमूले च यत् पद्मं सहस्रारं पुरोदितम्।
तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखीं सता।
तस्या मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम्।
ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तमामूलाधारपङ्कजम्।।
तन्त्रान्तरन्ध्रे चिच्छक्तिः सुषुम्णाकुण्डली सदा।
सुषुम्णायां स्थिता नाड़ी **चित्रा** स्यान्मम वल्लभे।
तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादिकल्पना।
मूलपद्मस्थिता योनिर्वामदक्षिणकोणतः।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा योनिमध्यगा।
ब्रह्मरन्ध्रं तुतत्रैवसुषुम्णाधारमण्डले।।''

—शिव संहिता

'मूलबन्ध' और प्राणापानैक्य

'मूलबन्ध' नामक बन्ध निम्नप्रदेश प्रवाहित **'अपान'** वायु को ऊर्ध्वगामी कर देता है। इसके करने से अपान **सुषुम्ना नाड़ी में पहुँच जाता** है। यह बन्ध मूलस्थान का बन्धन करने के कारण मूलबन्ध कहा जाता है—

'अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्' —(ह० यो० प्र० ६२)

मूलाधार को एवं वहाँ की वायु का आकुञ्चन संकोच करने पर मूलबन्ध क्रिया द्वारा **अपान सुषुम्ना में (ऊपर) पहुँच जाता है**—

'ऊर्ध्वगं **सुषुम्ना** या मूर्ध्वगमन शीलं कुरुते।।'[१]

'येन प्रकारेण समीरणो वायुरुर्ध्वं **सुषुम्नाया** उपरि भागे समायाति गच्छति तेन प्रकारेण बलाद्धठा द्वारं द्वारं पुनः पुनः **वायुमपानमां कुंचयेद्** गुदस्याकुञ्चनेनां कर्षयेत्।।'[२]

प्राण एवं अपान का सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश

मूलबन्ध—(१) निम्नदेश प्रवाही **प्राण** एवं **अपान** दोनों वायु **अनाहत** ध्वनि और **बिन्दु** (अनुस्वार) ये दोनों मूलबन्ध से **एकता** प्राप्त कर लेते हैं। **प्राण के साथ अपान एकीभूत** हो जाता है और इस स्थिति में **सुषुम्ना में प्रवष्टि** हो जाता है। फिर यह **नाद** प्रकट करता **है** और फिर नाद के साथ **प्राण-अपान** हृदय के ऊपर जाकर **नाद के ही साथ बिन्दु से ऐक्य** प्राप्त करके **मस्तक** में चले जाते हैं और सिद्धि प्रदान करते हैं—

१. ज्योत्स्ना (ह० यो० प्र० ६२)।

२. ज्योत्स्ना।

Scanned by CamScanner

'प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबंधेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।।'[१]

अर्थात्—(१) मूलबन्धे **कृतेऽपानः** प्राणेन सहैकीभूय **सुषुम्नायां** प्रविशति। (२) ततो **नादाभिव्यक्तिर्भवति** (३) ततो **नादेन सह प्राणापानौ** हृदयोपरि गत्वा **नादस्थ बिन्दुना सहैक्यं** बिन्दुनाऽऽधाय **मूर्ध्नि गच्छतः** ततो योगसिद्धिः।।[२]

(३) अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवाभवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।।

(४) अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदाऽनलशिखादीर्घाजायते वायुनाऽहता।।

'मूलबन्ध' लगाने से (करने से) जब **अधोगामी अपान** ऊर्ध्वगामी होकर **'अग्निमण्डल'** में पहुँच जाता है अर्थात् **नाभि के अधोभाग** में स्थित **त्रिकोण जठराग्नि मण्डल** में प्रविष्ट हो जाता है उस समय **'अपानवायु'** से ताडित (आहत) **जठराग्नि की शिखा दीर्घाकार** हो जाती है (बढ़ जाती है।) याज्ञवल्क्य कहते हैं—

''देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम्।
त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्त्रं चतुष्पदाम्।
मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
तन्मध्ये तु शिखातन्वी सदा तिष्ठति पावके।।''

अर्थात् प्रतप्त स्वर्ण के समान **अग्नि का स्थान** मानव देह के मध्य में **'त्रिकोण'** रूप में एवं पशुओं के शरीर **'चतुष्कोण'** एवं पक्षियों के देह में **गोलाकार** है। अग्नि के मध्य में सदैव सूक्ष्म शिखा रहती है।

इसी अग्नि के अत्यन्त ताप से सन्तप्त (तपायमान) कुण्डलिनी शक्ति दण्ड से आहत सर्पिणी की भाँति प्रबुद्ध हो जाती है और उसके अनन्तर बिल में प्रविष्ट सर्पिणी की भाँति ब्रह्म नाड़ी (सुषुम्ना) के मध्य कुण्डलिनी प्रविष्ट हो जाती है।[३]

'मूलबन्ध' अपान वायु को ऊर्ध्वगामी करने में सहायक है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—

---

१. ह० यो० प्र०।

२. ज्योत्स्ना।

३. तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते।
दण्डाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्।।६८।।
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्।
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा।।६९।। —हठयोग प्रदीपिका

Scanned by CamScanner

'पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्।
अपान मूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते॥'

—(ह० यो० प्र० ३/६१)

'अग्नि' और **'अपान'** ये दोनों अग्नि की दीर्घ शिखा से ऊष्ण होकर ऊर्ध्वगतिस्थ प्राण में पहुँच जाते हैं। उस प्राणवायु के सम्पर्क से शरीर में उत्पन्न जठराग्नि प्रज्वलित हो उठती है अर्थात् **अपानवायु** की ऊर्ध्वगति से प्रदीप्त अग्नि अत्यधिक प्रदीप्त हो जाती है।[१]

(१४) योग का महत्व (गोरक्ष नाथ की दृष्टि)

गुरुगोरक्षनाथ कहते हैं कि जिस प्रकार कल्पतरु की शाखायें पक्षियों के आश्रय स्थान हैं। उसी प्रकार योग का कल्पवृक्ष योगियों एवं साधकों की साधना का आश्रयस्थान है। **वेदरूपी कल्पतरु का फल 'योग'** है। इसका आश्रय ग्रहण करके सत्पुरुषों को इसका सदैव सेवन करना चाहिए; क्योंकि यह संसार के आधिदैहिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक तीनों प्रकार के तापों का ध्वंस करने वाला है।

'शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः।'[२]

गुरु गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि—

(१) योग से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है।

(२) योग से बढ़कर कोई सुख नहीं है।

(३) योग से बढ़कर कोई सूक्ष्मतर नहीं है।

(४) योग से बढ़कर कोई अन्य मार्ग नहीं है।[३]

भगवती (देवी) ने ईश्वर से पूछा ''ज्ञानमार्गी तो **'ज्ञानादेव हि मोक्षं तु'** कहते हैं कि 'मोक्ष' ज्ञान से सिद्ध क्यों नहीं होता और यह योग मात्र ही मोक्षप्रद क्यों है?''

उक्त प्रश्न के उत्तर में ईश्वर कहते हैं—

(१) **'मोक्ष ज्ञान से ही प्राप्त होता है'**—ज्ञानमार्गियों का यह कथन सर्वथा सत्य है।

(२) सभी लोग कहते हैं कि तलवार से विजय प्राप्त होती है, किन्तु क्या बिना युद्ध एवं युद्ध में प्रदर्शित (बिना) पराक्रम के विजय प्राप्त हो सकती है?

(३) **योग-ज्ञान समन्वय**—सारांश यह है कि **योग से रहित ज्ञान मोक्ष प्रदान नहीं कर सकता। साथ ही ज्ञान के बिना योग कभी सिद्ध नहीं हो सकता।**

१. ह० यो० प्र० ३/६७।

२. गो० शतक।

३. यो० बी०।

Scanned by CamScanner

सारांश— (क) योग से रहित ज्ञान।
(ख) ज्ञान से रहित **योग**। (दोनों निष्फल हैं।)

(४) अनेक जन्मजन्मान्तरों की **साधना** के बाद ज्ञान से योग की प्राप्ति होती है।

(५) यह भी सत्य है कि योग की सिद्धि होने पर, एक ही जन्म में ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

(क) अनेक जन्म-जन्मान्तर पर्यन्त प्राप्त ज्ञान ही '**योग**' प्राप्त हो पाता है, किन्तु

(ख) योग सिद्ध होने पर एक जन्म में ही '**ज्ञान**' प्राप्त हो जाता है।

निष्कर्ष—'तस्माद् योगात् परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः।'

अर्थात् मोक्षप्रदमार्गों में मात्र योग मार्ग ही श्रेष्ठतम है।

(क) अनेक जन्मों में प्राप्त ज्ञानों से—'योग' की प्राप्ति।

(ख) योग-साधना से तो—एक ही जन्म में '**ज्ञान**' की प्राप्ति।

(६) ज्ञानी मानता है कि मैं ज्ञान से मुक्त हो गया हूँ, किन्तु क्या यह मनन मात्र से ही तत्क्षण मुक्त हो पाता है? यह कदापि संभव नहीं है।

(७) व्यक्ति सैकड़ों जन्मों में अर्जित ज्ञान के बाद भी मात्र योग द्वारा ही मुक्त हो पाता है।

(८) ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी ज्ञानी को बार-बार जन्म-मरण के बन्धन में बँधा ही रहना पड़ता है, किन्तु योग प्राप्त कर लेने पर उस योगी को जन्म-मृत्यु के बन्धन में नहीं पड़ना होता।[1]

(९) योग से रहित ज्ञान मोक्ष प्रदान नहीं कर सकता।

> **'तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत्।**
> **ज्ञानेनैव बिना योगो न सिद्ध्यति कदाचन॥'**

सारांश यह है कि—मोक्ष प्रदान करने वाले मार्गों में योग से बढ़कर अन्य कोई मार्ग नहीं है।

> **'तस्मात् योगात् परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदा।'**[2]

इसके पीछे तर्क यह है कि—

> **'सर्वेवदन्ति खड्गेन जयो भवति तर्हि कः?**
> **विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात्?'**[3]

---

१. यो० बी०।
२. यो० बी०।
३. यो० बी० ६९।

(१) शक्ति सृष्टि का प्रसार करती है और शिव उसका लय या संहार करते हैं। 'शक्ति' एवं 'शिव' में जो ऐक्यभाव दृढ़कर दे वही '**सिद्धयोगिराज**' है।

(२) '**शक्ति**' प्राण वायु है (श्वास-निःश्वास की प्रसारिका है) और '**शिव**' (आकर्षण करने वाला) **अपान वायु** है। जो इन दोनों में सामरस्य स्थापित कर दे वह कर्ता '**सिद्धयोगिराट्**' है।[१]

---

१. प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेसिद्धयोगिराट्।। —(सि० सि० प० ६३)

Scanned by CamScanner

ग्रन्थित्रय और ग्रन्थित्रय भेदन की साधना

जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

---

१. समाधिपाद (१/१२)।
२. समाधिपाद (१/४०।
३. समाधिपाद (१/१४)।

Scanned by CamScanner

जब ते जीव भयो संसारी।
छूट न ग्रन्थि न भयउ सुखारी।। —तुलसीदास

भस्त्रा एवं 'वज्रासन' द्वारा ग्रन्थि भेद

गोरक्षनाथ कहते हैं कि 'वज्रासन' ग्रन्थि-भेद का कारण है—

'वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्।
भिद्यन्ते ग्रन्थयो वंशे तप्तलोह शलाकया।
तथैव पृष्ठवंशे स्याद ग्रन्थिभेदस्तु वायुना।।'

अर्थात् वज्रासन में स्थित योगी को कुण्डलिनी का चालन करके **भस्त्रा कुंभक प्राणायाम का** अभ्यास करके कुण्डलिनी को जगाना चाहिए। जिस प्रकार तप्त लोहे की शलाका से बाँस की ग्रन्थियों का भेदन होता है उसी प्रकार पृष्ठवंश (मेरुदण्ड) में वायु से ग्रन्थियों का भेदन होता है।

शरीर पर चींटी चढ़ने से जिस प्रकार खुजली हो जाती है उसी प्रकार सुषुम्णा के अभ्यास से वायु द्वारा मेरुदण्ड में खुजली उत्पन्न हो जाती है। उसके अनन्तर **'रुद्रग्रन्थि'** का भेदन करने पर शिवात्मकता की प्राप्ति होती है।

उनका योग चन्द्र एवं सूर्य नाड़ियों की वायु को सम करने पर प्राणापान योग द्वारा सिद्ध होता है और ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र नामक तीनों ग्रन्थियों का भेदन होता है और शिवशक्ति के संयोग से 'परमास्थिति' प्राप्त होती है? **गोरक्षनाथ** कहते हैं—

'पिपीलिका यथा लग्ना कण्डूस्तत्र प्रवर्तते।
सुषुम्णायास्तथाऽभ्यासात सततं वायुना भवेत्।
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा सैवं याति शिवात्मकम्।
चन्द्रसूर्यौ समोकृत्वा तयोर्योगः प्रवर्तते।।'

—(गो० बी०)

योगी मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

ब्रह्मग्रन्थिस्थिताद्येतां त्रीणि एव वरानने।
लीनां वै ब्रह्मखण्डे तु भिन्ननीलाञ्जनप्रभम्।।

—(कौ० ज्ञा० नि०)

× × × × ×

रुद्रग्रन्थि ततो भित्वा सत्वपीठगतोऽनिलः।

—(अमरौघ प्रबोध)

***

Scanned by CamScanner

गोरक्षनाथ की दृष्टि से सर्वोत्तम आसन

(१) स्वस्थासन (सिद्धासन) का स्वरूप

(मलद्वार एवं मेढ़्र के मध्य कुण्डलिनी-शक्ति है। इसे ही '**योनि**' कहा गया है।)

योगी इस योनि स्थान को बाएँ पैर की एड़ी से दबाकर दायें पैर की एड़ी को मेढ़्र पर लगाकर शरीर को सीधा रखते हैं और सभी इन्द्रियों को वश में रखकर **भ्रूमध्य में दृष्टि** स्थिर रखते हैं। यही मोक्षद्वार ख़ोलने वाला आसन '**सिद्धासन**' कहलाता है।

''योनिस्थानैकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्।
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा समं विग्रहम्।

---

१. योग वार्तिक।

Scanned by CamScanner

चान्द्र अमृत और उसका 'प्रत्याहार' से सम्बन्ध

पीयूष-पान

योगी गोरक्षनाथ कहते हैं चान्द्र पीयूष को, **अग्निरूपी** एवं **नाभि-मध्य** के निवासी, दहनात्मक भास्कर के मुख में जाने को रोककर स्वयं पान करना ही 'प्रत्याहार' है। वे कहते हैं—

(१) नाभि के मध्य दहनात्मक भास्कर रहता है।

(२) अमृतात्मा चन्द्रमा तालु के मध्य रहता है।

(३) तालु मूल में, नीचे की ओर करके रहने वाला **चन्द्रमा** जिस अमृत की वर्षा करता है उसे ऊपर की ओर मुख किये हुए **अग्निरूपी सूर्य** (नाभि में रहकर) पी लेता है। योगी विपरीतकरणी मुद्रा लगाकर उस अमृत को पी लेता है।[१]

योगमार्तण्डकार (गोरक्षनाथ) कहते हैं कि—

(१) नाभि में स्थित **अग्निरूपी सूर्य** को ऊपर एवं तालुमूल में स्थित अमृतमय चन्द्रमा को नीचे करना ही विपरीतकरणी (गुरुगम्य) मुद्रा है।

'ऊर्ध्वंनाभिरधस्तालु ऊर्ध्वं भानुरधः शशीकरणं विपरीताख्यं गुरुवाक्येन लभ्यते॥'

(२) एक नारी (चन्द्र-स्रवित पीयूष) रवि की भोग्या है। तीसरा पुरुष (योग-साधक) सूर्य से इस पीयूष को प्रत्याहृत करके जब स्वयं इसका उपभोग कर लेता है। तब वह अजर-अमर हो जाता है।

—(वि० मा० १४)

'एकास्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता सोममण्डलात्।
तृतीयोऽपि पुनस्ताभ्यां स भवेदजरामरः॥'

—(यो० मा०)

अमृत-पान एवं 'प्रत्याहार'

उक्त सन्दर्भ में ही योगिराज गोरक्षनाथ यह भी कहते हैं कि—**अमृत-पान** योगी के लिए आवश्यक है।

अमृत पान

(१) जो योगी ऊपर की ओर मुख करके परमशान्तिमयी **'चित्कला का चिन्तन'** करता हुआ अपनी जिह्वा को कण्ठ-विवर में प्रविष्ट करके हठपूर्वक ऊपर से प्राण से प्राप्त षोडशदल पद्म ('षोडशपद्म') से विगलित विमल 'जिह्वाकुलउत्कल्लोलकला

१. नाभिमध्ये वसत्येषो भास्करो दहनात्मकः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमध्ये तु चन्द्रमा। —(यो० मा० २१)

Scanned by CamScanner

जल' (अमृत) का पान करता है वह निर्मल पद्मतन्तु के समान मृदु शरीर वाला हो जाता है और दीर्घकाल तक जीवित रहता है।

'विवेक मार्तण्ड' एवं 'योगमार्तण्ड' के आलोक में योगी गोरक्षनाथ जी की दृष्टि इस प्रकार है।

(१) कौए की चोंच के समान अपना मुख बनाकर (काक चञ्चुवत मुख बनाकर) **जो योगी** प्राणापान-विधान से शीलत वायु का पान **(अमृतपान)** करता है वह कभी वृद्ध नहीं होता। ('शीतली प्राणायाम' की भी यही विधि है।)

(२) जो योगी जिह्वा के द्वारा **तालुचक्र-प्रवाहित प्राणवायु रूप अमृत** का पान करता है **उसके सभी रोग ६ मासों के भीतर नष्ट** हो जाते हैं।

(३) विशुद्ध परमचक्र में **अमृत** को धारण करके **ऊर्ध्व मार्ग से ऊपर उठते** हुए, सूर्य मुख से अमृतपान वञ्चित करने पर वह अमृत योगी के मुख में पड़ता है।

'विशुद्धे परमे चक्रे धृत्वा सोमकलाजलम्।
उन्मार्गेणकृतं याति वञ्चयित्वा रवेमुखम्।।'

'योगमार्तण्ड' एवं 'गोरक्षपद्धति' (२/४३) के आलोक में गोरक्ष दृष्टि–

(१) कण्ठस्थल के ऊर्ध्व भाग में स्थित निर्मल **चन्द्रकलामृत रूपी जल को रोककर** योगी नासिका के ऊर्ध्व विवर में भरकर समस्त द्वारों को अवरुद्ध करके **गगन (ब्रह्मरन्ध) में प्राणापानयुक्त 'पूरक'** करके, **पैरों को उत्तान** करके पृथ्वी पर **उत्तान लेटकर** उस **अमृत का पान करता है।** ऐसा नित्याभ्यासी योगी सदैव नीरोग एवं स्वस्थ रहता है।

योगमार्तण्ड गोरक्षनाथ कहते हैं—

(१) जो योगी अपनी जिह्वा की ओर ऊपर की ओर स्थित करके **अमृतपान** करता है वह मात्र १५ दिनों में **मृत्युजित** हो जाता है **और मृत्यु को अपने वश में कर** लेता है। (मृत्युञ्जयत्व की सिद्धि)।

(२) योगी जिह्वाग्र के अग्रभाग से राजदन्त से (श्रेष्ठ दाँत से) बिल को आच्छादित करके **टपकते हुए अमृत का पान** करता हुआ **अमृतसिक्त वाणी का** ध्यान करके छः मासों में महान कवि (तत्त्वज्ञानी) हो जाता है।

'गोरक्षपद्धति' के अनुसार—

'बद्धं मूल बिलं येन तेन विघ्नो विदारितः।'

(३) जो योगी मूलद्वार को अवरुद्ध (आबद्ध) कर लेता है वह विघ्नों को नाश कर देता है। पञ्चमुख शिव के समान अजरत्व-अमरत्व प्राप्त कर लेता है।

Scanned by CamScanner

(जब योगी '**मूलबन्ध**' नामक बन्ध लगाकर **अपान वायु** को ऊपर की ओर आकृष्ट करके उसे '**प्राणवायु**' द्वारा **समरस** (एकीकृत) कर देता है। तब उसके साधन-पथ के समस्त प्रत्यवाय नष्ट हो जाते हैं। गुह्यदेश (गुदा) में संकोचन के द्वारा 'मूलबन्ध' की सिद्धि होने पर '**अपानवायु**' ऊपर की ओर आकृष्ट होती है।

अन्त में योगिराज गोरक्षनाथ '**योगमार्तण्ड**' में कहते हैं कि—

(१) '**आसन**' से समायुक्त होकर।

(२) '**प्राणायाम**' परायण होकर।

(३) '**प्रत्याहार**' का अभ्यास करके।

(४) '**धारणा**' का अभ्यास करना चाहिए।[१]

राजदन्त के छिद्र (बिल) को जिह्वाग से आच्छादित करने पर शरीर के समस्त शेष द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं और **अमृत** अन्यत्र नहीं गिरने पाता।[२]

विवेकमार्तण्डकार कहते हैं कि—यदि रस प्रवाह करने वाली जिह्वा अहर्निश निरन्तर 'लम्बिका' के अग्रभाग का स्पर्श करती हुई दुग्धवत एवं मधुर घृत के समान सहस्त्रदलपद्म रूपी चन्द्रमण्डल से प्रवाहित अमृत ('**सोमकला जल**') धारण करती है तो **निखिल व्याधियों का नाश** हो जाता है और साधक **जरा-मरण का अपहरण** कर लेता है। इसके अतिरिक्त योगी **आगम-निगम आदि समस्त शास्त्रों** पर धाराप्रवाह व्याख्यान करने लगता है। वह अणिमा आदि प्राप्त करके अष्टगुणित ऐश्वर्य प्राप्त करके अमर हो जाता है।

'**गोरक्षपद्धति**' (२/४९) के अनुसार—जिस योगी का शरीर अमृत-परिपूर्ण हो जाता है **वह दो-तीन वर्ष** के अभ्यास से ऊर्ध्वरितसत्व (वीर्य की ऊर्ध्वारोहण क्रिया) प्राप्त कर लेता है और वह अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है।

शरीर का अमरत्व और पीयूषपान का सम्बन्ध

'गोरक्षपद्धति' (२/५०) के अनुसार—जिस प्रकार अग्नि ईंधन को जला देती है, दीपक तेलसहित बत्ती को जला देता है, उसी प्रकार **चन्द्रकला के अमृत से** जिस योगी का **शरीर** परिपूर्ण है वह जीवात्मा देही—(योगी का त्याग नहीं करता अर्थात् शरीर कभी नहीं मरता।)

वही यथार्थ योगी है और यथार्थतः जीवित है जो अमृतपान करता है—

"जीवता जोगी अमीरस पीवता अहनिस अखंडित धारं।।"

—(गो० बा०)

---

१. आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन च संयुतः।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणां च समभ्यसेत्।।

२. यो० मा० (१३६)।

Scanned by CamScanner

इसी कारण गोरक्षनाथ **अमृत-पान का उपदेश** देते हुए कहते हैं कि—
'नींझर झरणौ अमीरस पीवणां षटदल वेध्या जाइ।' —(गो० बा०)

योगी मत्स्येन्द्रनाथ भी इसी अह्लादकर, चन्द्रमा से निःसृत और ब्रह्मरन्ध्र से प्रवाहित होने वाले मृत्युजित पीयूष का पान करने का उपदेश देते हैं—

'चन्द्रह्लाद करं दिव्यम् आगच्छन्त रव मध्यतः।
श्रवन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण अचिरान्मृत्युजित्भवेत्।।'

Scanned by CamScanner

(६) लम्बिकाचन्द्रमण्डल में स्रवित् अमृत का ध्यान

'लम्बिका' चन्द्रमण्डल में स्रवित होते हुए पीयूष का ध्यान करने से ध्याता मृत्यु पर विजय पा लेता है—

'स्रवत्पीयूषसम्पूर्णे लम्बिके चन्द्रमण्डले।
नासाग्रेदृष्टिमादोय ध्यात्वा मृत्युं प्रमुञ्चति।।१६४।।'

Scanned by CamScanner

यह ब्रह्मस्थान सृष्टि का भी मूल है—

'ब्रह्मस्थाने स्थितं पद्मं चतुःषष्टिदलान्वितं।
तत्रोत्पादयेत्सृष्टिः दण्डाकाराग्नि तेजसा॥'[१]

(५) अष्ट मुद्रा

घट के भीतर मुद्रायें कौन-कौन मुद्रायें हैं?

(१) **'मूलनी मुद्रा'**—यह इन्द्रिय के मध्य स्थित है। यह काम, तृष्णा लेकर उत्पन्न होती है।

'काम तृष्णा समो कृत्वा मुद्रा तौ भई 'मूलनी'॥'

(२) **'जलश्री मुद्रा'**—नाभि के मध्य स्थित। यह काल एवं क्रोध लेकर उत्पन्न हुई है।

'काल क्रोध समोकृत्वा मुद्रा तौ भई 'जलश्री।'

(३) **'खीरनी मुद्रा'**—स्थान-हृदय के मध्य। यह ज्ञानदीप लेकर उत्पन्न हुई।

'ज्ञानदीप समोकृत्वा मुद्रा तौ भई खीरनी।'

(४) **'खेचरी मुद्रा'—स्थान**—मुख का मध्यस्थान। यह स्वाद-विस्वाद लेकर उत्पन्न हुई।

'स्वाद विस्वाद समोकृत्वा मुद्रा तो भई खेचरी।'

(५) **'भूचरी मुद्रा'**—नासिका के मध्य स्थित। यह गन्ध निबन्ध लेकर उत्पन्न हुई।

'गन्ध–विगन्ध समो कृत्वा मुद्रा तौ भई भूचरी।'

(६) **'चाचरी मुद्रा'**—चक्षु के मध्य चाचरी मुद्रा है। यह दृष्टि-विदृष्टि लेकर उत्पन्न हुई।

(७) **'अगोचरी मुद्रा'**—करण के मध्य उत्पन्न हुई 'करण मध्ये अगोचरी मुद्रा सवद कुसवद ले उतपनी।'

'सबद कुसबद समो कृत्वा मुद्रा तौ भई अगोचरी।'

(८) **'उन्मनी मुद्रा'—स्थान**—ब्रह्माण्ड। यह परम ज्योति लेकर उत्पन्न हुई।

'परम ज्योति समो कृत्वा मुद्रा तौ भई उनमनी।'

'अष्टमुद्रा'—यती अष्ट मुद्रा का जाणै भेव। सो आपै करता आपै देव।

—गोरक्षनाथ

---

१. कुलानन्द तन्त्र (१८)।

Scanned by CamScanner

(११) ग्रन्थित्रय और उनका भेदन

(१) ब्रह्मग्रन्थि–

जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनाई।।

ग्रन्थियाँ तीन हैं—(१) '**ब्रह्म ग्रन्थि**', (२) '**विष्णु ग्रन्थि**', (३) '**रुद्र ग्रन्थि**'।

योगी चाहते हैं कि '**ब्रह्मग्रन्थि**' (चूँकि यह गाँठ है। अतः इस गाँठ को छुड़ाना आवश्यक है) से मुक्ति मिले—

(१) 'कोई गुरु आराधीला जो ब्रह्म गाँठि छोड़ै। (किसी ऐसे गुरु की आराधना करो जो तुम्हारी ब्रह्मग्रन्थि को छुड़ा दे।)

(२) **मेरु** (सुमेरु=सुषुम्णा नाड़ी (नाला) के भर जाने पर **(इड़ा-पिङ्गला के सुषुम्णा में प्रविष्ट हो जाने पर) सुषुम्णा-मार्ग में** (प्राणायाम के द्वारा) श्वास के चले जाने पर '**ब्रह्म ग्रन्थि' छँट जाती है।** इतना ही नहीं, तब पाँचों तत्त्व (या तन्मात्रायें या ज्ञानेन्द्रियाँ) चूर्ण हो जाती हैं। अतः उनका हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ पाता और '**पूर्णकला**' (चन्द्र) प्रकट हो जाता है।

Scanned by CamScanner

चक्र	ग्रंथि/पीठ	देवता अधिष्ठात्री देवी)
'ब्रह्म चक्र' या १. 'मूलाधार चक्र' स्वाधिष्ठान चक्र	(कामरूप पीठ) 'ब्रह्मग्रंथि उड्यान पीठ	महात्रिपुर सुन्दरी
२. 'मणिपूर चक्र'	'विष्णु ग्रन्थि' (विष्णु से अधिष्ठित)	महात्रिपुर सुन्दरी
३. 'आज्ञा चक्र'	जालन्धर पीठ 'रुद्रग्रंथि'	महात्रिपुर सुन्दरी

शरीर में जो ६ चक्र हैं उसमें तीन ग्रन्थियाँ हैं।

Scanned by CamScanner

योगी **मत्स्येन्द्र नाथ** ने भी ग्रन्थियों और उनके भेदन पर प्रकाश डाला है। वे कहते हैं—

> 'अथान्यं संप्रवक्ष्यामि ब्रह्मग्रन्थिविनिर्णयम्।
> तस्मिंस्थाने मनः कृत्वा प्रहरैकेण भाविनि॥' आदि।[1]
> 'ब्रह्मग्रन्थिस्थिताद्ये तां त्रीणि एव वरानने।
> लीनां वै ब्रह्मखण्डे तु भिन्न नीलाञ्जन प्रभम्॥'[2]

कुण्डलिनी की यात्रा

गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं—

(१) वायुना वह्निना सार्धं **ब्रह्मग्रन्थिं** भिनत्ति सा।

(२) **विष्णुग्रन्थि** तत्वोभित्वा **रुद्रग्रन्थौ** च तिष्ठति॥[3]

उपर्युक्त ग्रन्थित्रय का भेदन किए बिना स्वस्वरूप का बोध नहीं होता।

ब्रह्मग्रन्थि और उसका भेदन

'मूलबंध' के द्वारा अपान ऊपर उठकर वह्निमण्डल से मिलता है। इससे ताप बढ़ता है और इस उद्दीप्त ताप से कुण्डलिनी उत्तप्त होकर कुण्डलिनी सोते से जाग उठती है और डण्डे से आहत सर्पिणी के समान फूत्कार करके सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है। सुषुम्ना नाड़ी में विद्युत रेखा के समान दृष्टिगोचर वह कुलशक्ति ऊर्ध्व मुख होकर ऊर्ध्व मार्ग में (सुषुम्ना नाड़ी के भीतर से ऊपर की ओर) चढ़ने लगती है। सुषुम्ना कुण्डलिनी शक्ति का सुषुप्ति का त्याग करके शिवोन्मुख ऊर्ध्वारोहण ही **ब्रह्मग्रन्थि का भेदन** (ब्रह्मग्रन्थि का छूटना) है।

कुण्डलिनी शक्ति की
अनादि काल से → } = **'ब्रह्मग्रन्थि'**
मूलाधार चक्र में प्रगाढ़ सुषुप्ति

सुसुप्ता शक्ति का
सुषुप्ति का त्याग करके शिवोन्मुख
ऊर्ध्वारोहण } → = **'ब्रह्मग्रन्थिभेदन'**

---

१. कौ० ज्ञा० नि० (१४/२५)।

२. तत्रैव (७/१०)।

३. योगबीज।

Scanned by CamScanner

(२) 'विष्णु ग्रन्थि' का भेदन—यही ७ ऊर्ध्वोन्मुख होकर सुषुम्ना मार्ग से ऊपर ऊर्ध्वारोहण करने वाली कुण्डलिनी शक्ति जब **'अनाहत चक्र'** में पहुँचती है तब उस विष्णु धाम में स्थित **'विष्णु ग्रन्थि'** का भेदन होता है।

(३) 'रुद्र ग्रन्थि' का भेदन—जब यही निद्रामुक्त कुण्डलिनी जागृतावस्था में दोनों पूर्वोक्त चक्रों को अतिक्रान्त करके **'आज्ञा चक्र'** में पहुँचती है तब **'रुद्र ग्रन्थि'** का भेदन होता है।

'जब ते जीव भयो संसारी।
छूटि न ग्रन्थि न भयो सुखारी।।'

—(तुलसीदास)

जीव चेतन है और शरीर जड़ है। जड़ शरीर में रहते-रहते और उसका अत्यधिक सन्निकर्ष पाते-पाते चेतन जीव अपने आप को जड़ शरीर मानने लगता है। यही **'अतस्मिंस्तद् बुद्धिः' 'अध्यास'** एवं **'अध्यारोप'** या देहात्मभाव जड़-चेतन **की ग्रन्थि** है। जड़ को (शरीर को) अपना (जीव द्वारा अपना) स्वरूप मानने लगना अर्थात् चेतन (जीव) का अपने को अचेतन (शरीर) मानने लगना ही 'ग्रन्थि' है।

''विष्णु ग्रन्थि''—'विष्णु ग्रन्थि' को माया ही मानना चाहिए। यह **'मणिपूरक-चक्र'** में स्थित है।[१]

'मणिपूरक चक्र' में स्थित यह **'विष्णुग्रन्थि'** अनेक कामनाओं को उत्पन्न करती है। यदि उसे विच्छिन्न कर दिया जाय तो परमानन्द की प्राप्ति होती है।

(शून्य अर्थात् माया को अतिक्रान्त करके उठता हुआ **प्राण वायु** जब नाड़ी **के साथ संघर्षरत** होता है तब उससे **भेरी के समान ध्वनि** उत्पन्न होती है।

'मणिपूर चक्र' को भेदकर चलने पर प्राण वायु की ध्वनि **'मृदङ्ग'** जैसी होती है।

अन्य चक्रों का भेदन करके ऊपर जाता हुआ वायु **'आकाशचक्र'** में आने पर सभी सिद्धियों की प्राप्ति। इसके उपरान्त प्राणवायु **'तालुचक्र'** से चित्त को जीतकर **'तालुचक्र'** का भेदन करता है। **चित्तगत समस्त आनन्द** की प्राप्ति होती है।

इस साधना की समाधि में—

वैष्णव शब्द—प्रणव शब्दायमान होता है। प्रणवध्वनि में चित्त विलीन हो जाता है। साधक अमृतस्वरूप हो जाता है।[२]

(१) प्राण वायु का नाड़ी के साथ संघर्ष—**भेरी की ध्वानि।**

---

१. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद।

२. तत्रैव।

(२) प्राणवायु का मणिपूरक चक्र भेदन—**मृदंग की ध्वनि।**

'**सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद**' (खण्ड-२) में आदि नारायण देवताओं से कहते हैं कि—''पद्मासन आदि किसी उपयोगी आसन पर स्थित योगी का आसन दृढ़ हो जाता है। (२) इसके बाद (आसन के दृढ़ हो जाने पर) '**विष्णु ग्रन्थि**' (जो कि तृतीय चक्र 'मणिपूरक चक्र' में रहकर अनेक कामनाओं का विस्तार करती रहती है और 'माया' का अधिकाधिक विस्तार करती है) को विच्छिन्न करने की साधना करते हुए उसका मूलोच्छेद करने का प्रयास करना चाहिए। विष्णु-ग्रन्थि को विच्छिन्न कर देने से परमानन्द की प्राप्ति होती है। (विष्णु ग्रन्थि का उद्भेद—परमानन्दाविर्भाव) **शून्य (अर्थात् माया) को लाँघकर उठता हुआ प्राण वायु** जब नाड़ी के साथ संघर्षण करता है तब उससे **भेरी के सदृश ध्वनि** श्रुतिगोचर होती है और जब वह तृतीय चक्र (मणिपूरक) को भेदकर आगे चलता है तब प्राण वायु से मर्दल ध्वनि (मृदंग) जैसी ध्वनि श्रुतिगोचर होती है।[१]

योग की साधनात्मक अवस्थायें

'ब्रह्मग्रन्थि' और 'आरंभावस्था'

(१) ब्रह्मग्रन्थि—गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

(१) मेरुदण्ड को स्थिर करो।

(२) शिव और शक्ति को जोड़ो।

(३) किसी सिद्ध योगी की आराधना करो जो तुम्हारी '**ब्रह्मग्रन्थि**' को छुड़ा दे।

(४) सुमेरु (मेरुदण्ड) (सुषुम्णा नाड़ी) के भर जाने पर (**इड़ा-पिंगला** जब सुषुम्णा में समा जाती है; **सुषुम्णा मार्ग** में प्राणायाम के द्वारा श्वास चला जाता है तब '**ब्रह्मग्रन्थि**' छूट जाती है और पाँचों तत्त्व (पंच तन्मात्रायें या ज्ञानेन्द्रियाँ) चूर्ण हो जाते हैं और हमारे ऊपर उनका कोई प्रभाव नहीं रह जाता और साथ ही साथ 'पूर्णकला' (चन्द्रमा) प्रकट हो उठता है।[२]

'**ब्रह्मग्रन्थि का भेदन**'—**नादोपासना** की आरम्भिक अवस्था में सुषुम्ना में प्राण का लय आवश्यक है। सुषुम्ना में प्राण का लय होने से '**ब्रह्मग्रन्थि**' (यह अनाहत चक्र या हृदयाकाश में स्थित है) का भेदन होता है।

---

१. *सौभा० उप०। जब प्राण वायु* '**तालुचक्र**' *से चित्त को जीतकर 'तालु चक्र' का भेदन करता है तब चित्तगत समस्त आनन्द प्राप्त करता है।*

२. मेर डंड थिरि करै स्यौ सक्ती जोड़ै।
कोई गुरु आराधीला जो ब्रह्म गाँठि छोड़ै॥
छूटे जव ब्रह्मगाँठि भरिये मेर नाला।
सहजैं पाँचै चूरा भया पूरण कला॥ —*(गो० बा पृ. १५१)*

Scanned by CamScanner

इसके अन्य लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) 'ब्रह्मग्रन्थि' के भेदन से 'शून्य' (हृदयाकाश) में भूषणों की झंकृति के समतुल्य) अनाहत क्वणक श्रुति गोचर होता है।

(२) इसके द्वारा असामान्य आनन्दाप्ति होती है।

(३) आरंभिक अवस्था में योगी का शरीर दिव्य, लावण्य परिपूर्ण एवं तेजोमय दृष्टिगोचरे होता है।

(४) उसका शरीर दिव्य से सुगन्धित एवं निरोग हो जाता है।

(५) उस योगी के हृदयाकाश में (शून्य में) शुद्ध प्राण वायु का सञ्चार होने लगता है और हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है—

'ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद् वेधादानन्दा....न्यसंभवम्।
विचित्रक्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः॥'

'आरंभावस्था' के योगी के लक्षण

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान।
सम्पूर्णहृदयश्शूर 'आरंभो' योगिनो भवेत्॥[१]

Scanned by CamScanner

ग्रन्थियों की स्थिति (अवस्थान) के विषय में मतभेद–

ग्रन्थियों की स्थिति— (१) पुराणों की दृष्टि,

(२) स्वात्मा राम मुनीन्द्र (हठयोग प्रदीपिका) एवं नाथ पंथी गोरक्षनाथ की दृष्टि—

(१) मार्कण्डेय पुराण में प्रतिपादित दृष्टि

(१) 'मूलाधार चक्र' में स्थित है—(१) **'ब्रह्मग्रन्थि'** (२) **'मणिपुर चक्र'** में स्थित है—'विष्णु ग्रन्थि' (३) **'आज्ञा चक्र'** में स्थित है—'रुद्रग्रन्थि'।

(२) गोरक्षनाथ की दृष्टि

नाथ परम्परा में ग्रन्थियों की स्थिति पृथक् हैं—

(१) **'ब्रह्मग्रन्थि' की स्थिति**—प्राण का सुषुम्ना नाड़ी में लय होने पर ही तीनों **ग्रन्थियों का वेधन और उसका वेधन होता है।**

ब्रह्मग्रन्थि का स्थान—(हृदयाकाशस्थ)

'अनाहत चक्र'

'विष्णु ग्रन्थि' की स्थिति—(कण्ठस्थानस्थ)

Scanned by CamScanner

'विशुद्ध चक्र'

रुद्र ग्रन्थि की स्थिति—भ्रूद्वय मध्य में स्थित।

'आज्ञा चक्र'

(१४) ग्रन्थियों की स्थिति के विषय में मतभेद

(१) योगकुण्डल्योपनिषद की दृष्टि

(क) इसमें कहा गया है कि 'कुण्डलिनी शक्ति' रजोगुण से उत्पन्न **'ब्रह्मग्रन्थि'**— का भेदन करके विद्युत शिखा की भाँति सुषुम्ना नाड़ी के मुख में (ऊर्ध्वगमन करती हुई) प्रवेश करती है।

(ख) वहाँ से शीघ्र ही **'हृदय चक्र'** में स्थित—**'विष्णुग्रन्थि'** का भेदन करती है।

(ग) फिर वह इस चक्र के ऊपर **'आज्ञाचक्र'** में प्रवेश करके **'रुद्रग्रन्थि'** का भेदन करती है।[१]

सारांश—(१) **'ब्रह्मग्रन्थि'**—मूलाधार चक्र में (२) 'विष्णुग्रन्थि' अनाहत चक्र-हृदय चक्र में (३) 'रुद्रग्रन्थि'—'आज्ञा चक्र' में स्थित है।

(२) ब्र० पु० (लिता सह०) की दृष्टि

(१) 'ब्रह्मग्रन्थि'—(१) मूलाधार चक्र (२) 'रुद्रग्रन्थि'—आज्ञाचक्र में, किन्तु (३) **'विष्णु ग्रन्थि'** (अना० चक्र में नहीं) मणिपूर चक्र।

कुण्डलिनी की ऊर्ध्वयात्रा और ग्रन्थि-भेदन—*(यो०कु०उप०)*

(मूलबन्ध के द्वारा अपान, वायु ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि के साथ ऊपर चलती है। जब वह अग्नि प्राण के स्थान में पहुँचती है और **प्राण तथा अपान** दोनों मिलकर कुण्डलिनी से मिलते हैं तब उसकी गर्मी से तप्त होकर एवं वायु के बारम्बार दबाव से कुण्डलिनी सीधी होकर सुषुम्णा के मुख में प्रवेश कर जाती है।)

---

१. प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम्।
मिलित्वा कुण्डलीं याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः।
तेनाग्निना च संतप्ता पवनेनैव चालिता।
प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्ना वदनान्तरे।
'ब्रह्मग्रन्थि' ततो भित्वा रजोगुण समुद्भवम्।
सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत्।
'विष्णु ग्रन्थि' प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता।
ऊर्ध्वं गच्छति यच्चान्ते **'रुद्रग्रन्थि'** तदुद्भवम्।। —(योगकुण्डल्युपनिषद्)

Scanned by CamScanner

इसके उपरान्त कुण्डलिनी शक्ति रजोगुण से उत्पादित **'ब्रह्मग्रन्थि'** का भेदन करके विद्युतशिखावत सुषुम्णा के मुख में ऊर्ध्वगमन करती हुई उसमें प्रवेश करती है और फिर 'हृदय चक्र' में स्थित **'विष्णुग्रन्थि'** का भेदन करके ऊपर आज्ञा-चक्र में 'रुद्रग्रन्थि' का भेदन करती है।

ग्रन्थियाँ और उनका भेदन

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।'

ग्रन्थियाँ कहाँ हैं?—ग्रन्थियाँ सुषुम्ना नाड़ी में हैं—

''सुषुम्नायामेव समुद्भूतं जातं यद् ग्रन्थीनां त्रयं ग्रन्थित्रयं ब्रह्मग्रन्थि—विष्णुग्रन्थि-रुद्रग्रन्थिरूपं''[१] —(ज्योत्स्ना)

(१) भस्त्रिका प्राणायाम—प्र० —इसका भेदन कैसे होता है? उत्तर— भस्त्रा प्राणायाम से—

सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदकम्।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकंत्विदम्।।[२]

(२) कुण्डलिनी जागरण—कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर भी तीनों ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है—

सुप्ता गुरु प्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।।[३]

(३) (ग्रन्थित्रय का भेदन)—नाद की **'आरंभावस्था'**, **'घटावस्था'**, **'परिचयावस्था'** एवं **'निष्पत्यवस्था'** का भेदन करने से **ग्रन्थियों का भी भेदन** हो जाता है।

(१) **नादसाधना की 'आरम्भावस्था'** में सुषुम्ना में प्राण के लय से 'ब्रह्मग्रन्थि' का (जो अनाहत चक्र अर्थात् हृदयाकाश में स्थित है) भेदन होता है। शून्य (हृदयाकाश) में भूषणों की झंकृति के समान अनाहतनादात्मक क्वणक ध्वनि शरीर के भीतर सुनाई देती है। इससे अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है।

(२) नाद-साधना की **द्वितीय अवस्था 'घटावस्था'** में प्राण वायु अपान, नाद और बिन्दु से संयुक्त होकर मध्य (विशुद्ध चक्र=कण्ठस्थान) में प्रविष्ट होती है। यह साधक देवतुल्य हो जाता है। यहाँ (विशुद्ध चक्र में) **'विष्णु ग्रन्थि का भेदन'**

---

१. ब्रह्मानन्द ('ज्योत्स्ना' टीका)।
२. ह० यो० प्र० (२/६७)।
३. ह० यो० प्र० (३/८)।

Scanned by CamScanner

होता है और अतिशून्य (कण्ठ) में परमानन्द या ब्रह्मानन्दसूचक नाद श्रुतिगोचर होता है जो भेरी-ध्वनि के समान होता है।

(३) **परिचयावस्था में**—मर्दल ध्वनि 'आज्ञा चक्र' में श्रुतिगोचर होती है।

नादावस्थायें

(स्वात्माराम मुनीन्द्र/गोरक्षनाथ)

(१)	(२)	(३)	(४)
आरंभावस्था	घटावस्था	परिचयावस्था	निष्पत्यवस्था
'ब्रह्मग्रंथि'	'विष्णुग्रंथि'	मर्दलध्वनि	'रुद्रग्रंथि'
अनाहत चक्र	कण्ठ (विशुद्धचक्र)	समस्त सिद्धियों	'आज्ञा चक्र'
हृदयाकाश	कण्ठस्थान	का आश्रय	

'प्राण' के सुषुम्णा नाड़ी में प्रविष्ट होने पर और 'मन' देशकातीत शून्य (ब्रह्म) में प्रविष्ट हो जाने पर समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं—

सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशत्ति मानसे।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित्।।[१]

चूँकि तीनों ग्रन्थियों का सम्बन्ध तीन प्रकार के कर्मों से होता है। प्राण के सुषुम्णा में प्रविष्ट होने पर एवं मन के ब्रह्म में प्रविष्ट होने पर ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं।

(४) महाशून्य (आज्ञा चक्र में स्थित) **रुद्रग्रन्थि** का भेदन करके जब प्राण **दोनों भौंहों (शर्वपीठ)** के मध्य पहुँचता है तब वही निष्पत्ति अवस्था है।

ग्रन्थि भेदन

''भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।'

(क) 'ब्रह्मग्रन्थि'-भेदन

जगत में एक विराट स्थूल देह है। व्यष्टिदेह इस विराट देह के ऊपर समुद्र की तरङ्गों की भाँति उठती हैं और अपनी क्रीड़ा करके पुनः सामुद्र जल में विलीन हो जाती है। जीव अपनी बुद्धि के दोष से एवं संस्कारों के वशीभूत होकर एक-एक तरंग को अपनी समझकर उससे आबद्ध हो जाते हैं। यह बन्धन मृषा एवं कल्पना-प्रसूत है। इस स्वकल्पित बन्धन को दूर करके, समस्त देहों को आत्मा के देहरूप में उपलब्ध करने से ब्रह्मग्रन्थि का उद्भेदन हो जाता है और यह ग्रन्थि-भेद ही **ब्रह्म 'ग्रन्थि-भेदन' का लक्ष्य** है।

---

१. ह० यो० प्र० (४/१२)।

Scanned by CamScanner

(ख) 'विष्णु-ग्रन्थि'-भेद–

'प्राण', 'मन' एवं 'विज्ञान' से सम्बद्ध कोशों में हम सर्वव्यापी प्राण-मन आदि की सत्ता का विस्मरण करके, एक निर्दिष्ट प्राण-मन में अपनी अहन्ता स्थापित करके, उसके सुख-दुःख से ऐसे आबद्ध हो जाते हैं कि व्यष्टिदेह के सुख के लिए समष्टि प्राणदेह को आघात पहुँचाने में भी नहीं हिचकते।

"समस्त विश्व में सर्वत्र एक ही प्राण की क्रीड़ा चल रही है और सभी का सुख-दुःख एक ही में सम्मिलित है"—इस तत्त्वबोध की अनुभूति कर लेने पर व्यष्टिदेह के सीमाबद्ध सुख-दुःख को समष्टिगत सुख-दुःख में सम्मिलित कर देना प्राण ग्रन्थि या **विष्णु-ग्रन्थि-भेद का मूल उद्देश्य है।**

(ग) 'रुद्र-ग्रन्थि'-भेदन–

आत्मा का धर्म **आनन्द** है, उसे एक सामान्य देह के आनन्द से सीमाबद्ध करके, एक व्यष्टिदेह के आनन्द के लिए जीव समष्टिदेह का आनन्द नष्ट करने में नहीं हिचकता। इस सीमाबद्ध व्यष्टिदेह का बन्धन दूर करके, समष्टिगत आत्मा का स्वरूप प्राप्त करके, समस्त जीवों के हित-साधन एवं आनन्द-विधान में निरत रहना ही **रुद्र-ग्रन्थि-भेदन का लक्ष्य है।**

Scanned by CamScanner

काल वञ्चन—'काल वञ्चन' की साधना और उसके द्वारा मृत्युञ्जयत्व की प्राप्ति नाथ सिद्धों की प्रमुख साधनाओं में से एक है।

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि—

'साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि कालस्य वञ्चनं शुभम्।' —(६/१६)

इसी के उत्तर में मत्स्येन्द्रनाथ ने इसके उपाय (साधना) पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—**'कथयामि न सन्देहो यथा मृत्युर्विनश्यति।'**

'प्रसार्य दन्तुयान्तु यावदब्रह्मविलङ्गतः।
अमृताग्रं रसाग्रेण दह्यमानसुधीरपि।
मासेन जितयेन्मृत्युं सत्यं सत्यं महातपे।'

—(खेचरी मुद्रा आदि का प्रतिपादन)

रसना तालु मूले तु कृत्वा वायुं पिबेच्छनैः।
....................................जरामृत्युर्विनश्यति।।

नाड़ी योग—योग की सारी साधनायें नाड़ी-योग पर आश्रित हैं। (१) 'इड़ा' (२) 'पिंगला' और (३) 'सुषुम्णा'—ये तीन प्रमुख **प्राणवाहिनी नाड़ियाँ** हैं। इनके

Scanned by CamScanner

साधन से भ्रम छूटता है और ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।[१] मेढ्र से ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे की भाँति कन्दयोनि है—

'ऊर्ध्वं मेढ्रदधो नाभिः कन्दयोनिः खगाण्डवत्।
तत्र नाडयः समुत्पन्ना सहस्राणि द्विसप्ततिः॥'

इसी कन्द योनि से ७२,००० नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं। इनमें इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा, वज्रा, शंखिनी, गांधारी, पूषा आदि प्रधान हैं।

Scanned by CamScanner

(१) रुष बिरख गिरि कंदलि बास।
अहनिसि रहिबा जोग अभ्यास।
पलटै काया खण्डै रोग।
चरपट कहै धन धनि जोग।।

एकान्त में वृक्षों के नीचे, कन्दरा या पर्वत पर रहो। निरन्तर योगाभ्यास करो। काया-कल्प करो। रोगों का निवारण करो।

(२) **'मूल द्वार'**—मूलाधार के स्थान पर **'मूलबंध'** लगाकर **वायु को पलट** देना चाहिए और उस ऊर्ध्ववर्ती वायु को सहस्रार में ले जाना चाहिए। इस पद्धति से 'नाद' एवं बिन्दु दोनों स्थिर हो जाते हैं और फिर इस स्थिति में अदृष्ट पुरुष (परमात्मा) का दर्शन प्राप्त होता है—अवधू मूल दु बारै बंद लगाइ। पवन पलटै गगन समाइ। नादा बिंद दोउ असथिर होइ। अदृष्टि पुरिष द्वार दृष्टि जब जोइ।।

—(ना० सि० बा० पृ. ३१)

भोगवाद का खण्डन

नाथ सिद्धों ने भोगवाद का सर्वत्र खण्डन किया है। हाँ उन्होंने गृहस्थों की भोगात्मक प्रवृत्ति या भोगवाद का प्रत्याख्यान न करके उसे दैवी स्वरूप प्रदान करने का सत्प्रयास अवश्य किया है। इस धरातल पर उन्होंने भोग के साथ योग के मणिकांचनात्मक सामरस्य या 'योगभोगसाहचर्यवाद' की अप्रतिम साधना को भी प्रतिष्ठापित किया है और उसका प्रमाण है—'वज्रोली' 'सहजोली' 'अमरोली' आदि की क्रियायें।

ऊर्ध्वरेतसत्व—नाथ सिद्धों के भोग में योग के समर्थन का भी लक्ष्य ब्रह्मचारियों की ऊर्ध्व रेतसत्व-साधना ही है—शारीरिक नारी-संभोग नहीं।

यदि नाथों ने शारीरिक संभोग को मान्यता दी होती तो **जालन्धर** ने राजा गोपीचन्द से अपनी रानियों का, राजपाट का एवं अपने नगर बंगाल का त्याग करने एवं अपनी रानियों को अपनी माता कहकर उनसे भिक्षा माँगने का आदेश क्यों दिया होता और गोपीचन्द की नाथ योगिनी माता ने अपने पुत्र राजा गोपीचन्द को इस दिशा में योग करने हेतु भोगों का त्याग करने एवं गार्हस्थ्य धर्म छोड़कर **अपने गुरु जालंधर पाद** से दीक्षा लेकर एक **वैरागी एकान्तवासी एवं सर्वत्यागी** बनकर योग-साधना करने के लिए बार-बार उत्प्रेरित क्यों किया होता?

गोपीचन्द अपनी पत्नियों से कहते हैं—

'भोग न भावै भामिनी, लागत रोग समान।
जोग तजत ही होत है, उभै लोक अपमान।

मैणावती गोपीचन्द को भोगवाद के विरुद्ध उपदेश देते हुए कहती हैं—

---

१. मत्स्येन्द्रनाथ 'ज्ञानकारिका' (१७)।

Scanned by CamScanner

'जोग न होसी रे पूता भोग न होसी।
नसी कसी जल बिम्ब की काया।।
सति सति भाखंत माता मैंणावंती रे पूता।
भरिम न भूलौ रे माया।।'

मरौगे मरि जाहु गेरे, फिरि होउगे मसांण की दारंजी।
कबहुंक परं तत चीन्है ले रे पूता ज्यूं उतरौ संसार भौ पारं जी।

राज तजेबा रे पूता पाट तजेबा
तजेबा हस्ती घोड़ा।
सति सति भाषंत माता मैणांवंती
कलि मैं जीवन थोड़ा।

पुत्र गोपीचन्द के यह कहने पर कि—

सोला सै राणीं बारा सै कन्या
बंगाल देस बड़ भोगी।
बारह बरस हम कूं राज करण दे माता
पीछै हूँगा जोगी।

माता मैणवती गोपीचन्द से कहती हैं—

आजि आजि करंता पूता काल्हि काल्हि करंता
काया करै कलाल की माठी जी।
सति भाषंत माता मैणावंती रे पूता
यौ तन जलिबलि होइ मसांण की माटी जी।

× × ×

जोग न होसी रे पूता भोग न होसी
नसी कसी जल बिम्ब की काया।
सति सति भाखंत माता मैंणावंती रे पूता।
भरमि न भूलौ रे माया।
फिरि होउगे मसांण की छारं जी।
कबहुंक परं तत चीन्है ले रे पूता
ज्यूं उतरौ संार भौ पारं जी।

माता के उपदेश से राजा गोपीचन्द ने अनन्त भोगों से भरे बंगाल का अपना साम्राज्य, महल, रानियाँ, उनका प्रेम एवं सारे भागों का त्याग कर दिया और सबको छोड़ वनवास ग्रहण कर लिया—

'छाड्या राजपाट परिछाड्या
छाड्या भोग विलासं जी।

Scanned by CamScanner

गोपीचंद धौला घर सबहीं
छाड़ि गह्या बनबासं जी।'[१]

नाथ सिद्ध घोड़ा चौली नाद-बिन्दु के रहस्य को जानकर अगम्य परमपद में गमन करने वाले को देवता कहते हैं—

'नाद बिन्दु का जाणैं भेव।
अगमागम करैते देव।।'[२]

नाथपंथी दृष्टि के कारण नाथयोगी 'बिन्दु' को 'शिव' एवं 'ब्रह्म' कहते हैं और उस **ब्रह्माकारित बिन्दु की साधना एवं सिद्धि को 'ब्रह्मचर्य'** कहते हैं।

स्थूल पार्थिव बिन्दु और ब्रह्मीभूत बिन्दु (अर्थात् गोरक्षोक्त 'ब्रह्म' अर्थात् बिन्दु) में बहुत अन्तर है।

मानव शरीर में स्थित **"पार्थिव बिन्दु"** मलिन, अनेक मलों के पङ्क से पङ्किल, पञ्चभूतों के स्थूलांशों से निर्मित (असाधनोपयोगी बिन्दु) गोरक्षनाथ का **'ब्रह्म' के नाम से कथित बिन्दु नहीं है। गोरक्षनाथ का ब्रह्मनामधारी बिन्दु** तेजोमय, मलशून्य, ऊर्ध्वगामी एवं मोक्ष दिलाने वाला बिन्दु है। इसी विशुद्ध एवं तेजोमय बिन्दु को गोरक्षनाथ ने **'शिव'** भी कहा है। ब्रह्मतेजोमय 'बिन्दु' ही 'शिव' एवं गोरक्षोक्त 'ब्रह्म' (बिन्दु के रूप में कथित ब्रह्म) है।

गोरक्षनाथ कहते हैं कि **"कच्ची काया"** में 'बिन्दु' स्थिर नहीं रह सकता।

नाथ योग में उपयोगी **"सिद्धकाया"** (परिपक्व काया) के लिए काया की **'ब्रह्माग्नि'** में आहुति देना या उसका हवन करना आवश्यक है—

'ब्रह्म अगनि मैं होमैं काया तास महादेव बन्दै पाया'
'नाद-बिंद जाकै घटि जरै, ताकी सेवा पार बती करै।
अरधै जाता उरधै धरै काम दगध जे जोगी करै।।'

सारांश—(१) काया का हवन 'ब्रह्माग्नि' में किया जाय।
(२) काया में **नाद एवं बिन्दु** का जारण किया जाय।
(३) अधोमुखी बिन्दु (रेतस) को ऊर्ध्वगामी बनाया जाय।

महाबिन्दु की साधना—गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि 'बिन्दु-साधना की बात सभी करते हैं, किन्तु बिना **महाबिन्दु की साधना** के बिन्दु-साधना व्यर्थ का श्रम है; क्योंकि इससे स्कन्ध (शरीर) स्थिर नहीं हो पाता—

---

१. ना० सि० बा० (पृ० १५)।
२. ना० सि० बा० (पृ० २२)।

Scanned by CamScanner

'ब्यंद व्यंद सब कोई कहै, महाब्यंद कोइ बिरला लहै।
इह ब्यंद भरोसे लावै बंध। असथिरि होत न देखो कंध।।'

वज्रोली—अत: आवश्यक हो तो बिन्दु-साधना के लिए **'वज्रोली' 'अमरोली'** की साधना भी करणीय है—

'बजरी करतां जे ब्यंद राखै ते गोरख का गुरभाई।।'

ऊर्ध्वरेतसत्व पर विशेष बल

गुरुगोरक्षनाथ कहते हैं—

''मैथुन कै घरि जुरा गरासै अरध-उरध लै जोरं।''

अर्थात् रतिकर्म से जरा, वृद्धावस्था आदि घेर लेते हैं। इसलिए अधोगामी रेतस को ऊर्ध्वावस्था से जोड़ना चाहिए अर्थात् ऊर्ध्वरेता होना चाहिए।

गोरक्षनाथ का ब्रह्मचर्य बिन्दु-रक्षण मात्र नहीं है। गोरक्षनाथ बाह्याचार, बाह्याडम्बर, बाह्यप्रदर्शन, मिथ्या आत्म-विज्ञापन के घोर विरोधी थे। उनका कथन था कि सर्वोच्च कक्षा में पदार्पण करने के लिए निम्न कक्षाओं में प्रवेश आवश्यक है, किन्तु इन निम्न कक्षाओं का सत्य परमसत्य नहीं है अर्थात् यह उच्चतम कक्षा का उच्चतम सत्य नहीं है; क्योंकि 'सत्य' तो सोने के ढक्कन से टका हुआ है। लोग सत्य नहीं चाहते केवल सोना चाहते हैं। अत: वे उसे ही सर्वोच्च मानकर सत्य को खोजना भूलकर सोने के पीछे ही भटकते रहते हैं और उसे पाने पर उसे सर्वोच्च सत्य मान लेते हैं। उपनिषदों में यही बात इन शब्दों में कही गई है—

''हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम मुखम्।।'

गोरक्षनाथ कहते हैं कि—'सिद्धमत' में—

(१) जिस प्रकार मात्र ज्ञान ही नहीं प्रत्युत **योगानुभूतिगर्भित ज्ञान ही** (योग-समवेत ज्ञान ही) **यथार्थ ज्ञान है** उसी प्रकार—

(२) मात्र **बिन्दुरक्षण ही ब्रह्मचर्य नहीं है प्रत्युत् पक्के पात्र (परिपक्व काया=सिद्धकाया) में स्थित** (संरक्षित एवं ऊर्ध्वगामी) **'बिन्दु'** तथा **'ब्रह्माग्नि'** से पोषित बिन्दु को सहस्रार में धारण करना ही **'ब्रह्मचर्य'** है। 'बिन्दु' को ब्रह्मतेज बनाकर—बिन्दु को तेजोरूप में परिणत करके इस तेज को सहस्रारस्थ शिवशक्ति के तेज के साथ **समरसीकरण** करना—ऊर्ध्वरेतसत्व द्वारा बिन्दु को ब्रह्मतेज से एकीकृत करना ही 'ब्रह्मचर्य' है।

'ब्रह्मचर्य' की इसी नव्य परिभाषा के कारण गुरु गोरक्षनाथ ने बिन्दु (वीर्य) को **'ब्रह्म'** कहा है।

Scanned by CamScanner

प्राणापान योग

प्राणापानसमायोगाच्चन्द्रसूर्यैकता भवेत्।
सप्तधातु मयं देहमग्निना प्रदहेद बुधः।।

× × ×

योऽपानप्राणर्योगः स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।
एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो 'योग' उच्यते।।

Scanned by CamScanner

'प्राणापान नादबिन्दुः मूलबन्धेन चैकताम्।'

श्रीकृष्ण कहते हैं—

अपाने जुह्वति प्राणं, प्राणापाने तथा परे।
प्राणापान गतीरुद्ध्वा प्राणायाम परायण॥

—श्रीमद्भगवद्गीता

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलतिं कन्दुकः।
प्राणापानमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति।
प्राणापानवशी जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति।
वामदक्षिणमार्गेण चंचलत्वान्त दृश्यते॥
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याङ्कृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते॥
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति॥

Scanned by CamScanner

५. 'बिन्दु तत्त्व और उसकी साधना

(बिन्दु और ब्रह्मचर्य)

* **'बिन्दु'** ही **'शिव'** और **'शक्ति'** दोनों है।

(बिन्दु की शिवात्मकता एवं शक्त्यात्मकता)

* **'पाण्डुर'** एवं **'लोहित'** वर्ण भले पृथक हों, किन्तु (पाण्डुर एवं लोहित बिन्दु) दोनों हैं तो 'बिन्दु' ही।

* **'बिन्दु'** और **'ब्रह्म'**

(बिन्दु की साधना **'ब्रह्मचर्य'** क्यों कहलाती है?)

'बिन्दु' और रज चिकित्सकों की दृष्टि में भले भौतिक पदार्थ है और उनका अध्यात्म से नहीं है, किन्तु नाथ योगियों ने तो **'बिन्दु' को 'ब्रह्म'** और **'शिव'** कहा।

गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

(१) 'शक्ति' रूपी **रज** है और 'शिव' रूपी बिन्दु है।

(२) रवि की १२ एवं चन्द्र की १६ कलायें हैं।

(३) यदि सूर्य की १६ कलाओं में से ४ निकालकर चन्द्रमा को दे दी जायँ तो संख्या की दृष्टि से दोनों (बिन्दु एवं रज/रवि एवं चन्द्र) बराबर हो जायेंगे।

'बारहकला रवि आछै, सोलह कला चन्द।
चारि कला रवि को जे, ससि घरि जावै।
तौ सिव-सत्ती सभि होवै, अन्त कोई न पावै।'[1]

बिन्दु साधना का मूल लक्ष्य **'ब्रह्मचर्य'** है (न कि वीर्यरक्षा)। **ब्रह्मचर्य है क्या?** उपनिषदों में इसका स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—

(१) कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां परिविवर्जनम्।

(२) **ब्रह्मभावे मनश्चारं 'ब्रह्मचर्य' परन्तप।**

(३) ('ऋतौ भार्या यदा स्वस्य **ब्रह्मचर्यं** तदुच्यते।')[2]

ब्रह्म में **शरीर-ऊर्जा** (शुक्र की तेजोमय ऊर्जा जो ऊर्ध्व रेतसत्व से प्राप्त होती है और प्रकाशपूर्ण होती है) एवं मन के ब्रह्मीभूत होने से उत्पन्न आत्मतेज का सञ्चरण या प्रवाह ही ब्रह्म की चर्या (ब्रह्मचर्य) है।

बिन्दु का स्वरूप एवं उसकी साधना-पद्धति

बिन्दु—''बिन्दुमूलं शरीरं तु'' —(गोरक्षनाथ (गो० श०)

१. गो० बा० (पृ० १००)।

२. जाबालदर्शनोपनिषद (२/१/१४)।

Scanned by CamScanner

शरीर के स्थिरत्व का आधार (मूल) **'बिन्दु'** है। शरीर में शिरायें स्थित हैं— ('बिन्दुमूलं शरीरं तु।)

ये शिरायें 'आपादतलमस्तक' शरीर को जीवित रखती हैं। खेचरी मुद्रा के द्वारा जिह्वाग्र से ऊपर के विवर को साधक ढक लेता है—

(खेचूर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वत:)

लम्बिका के ऊर्ध्व भाग के विवर का आच्छादन

खेचरी मुद्रा के अभ्यासी जब इस मुद्रा के द्वारा 'लम्बिकोर्ध्व' विवर को आच्छादित कर लेते हैं तब कामिनी से आलिंगबद्ध रहने पर भी बिन्दु का क्षरण नहीं होता। अत: बिन्दु के शरीर में स्थिर रहने पर भला मृत्यु का भय कैसा?[१]

जब तक **'नभोमुद्रा'** लगी है तब तक बिन्दु का पतन नहीं हो पाता। यदि चित्त की चंचलता से कभी बिन्दु अधोगामी होकर **नाभि में स्थित अग्निस्थान** में गिर भी जाता है तो **'योनिमुद्रा'** के अभ्यास से शक्ति (प्रबुद्ध कुण्डलिनी शक्ति) के द्वारा वह ऊर्ध्वमुखी हो जाता है।

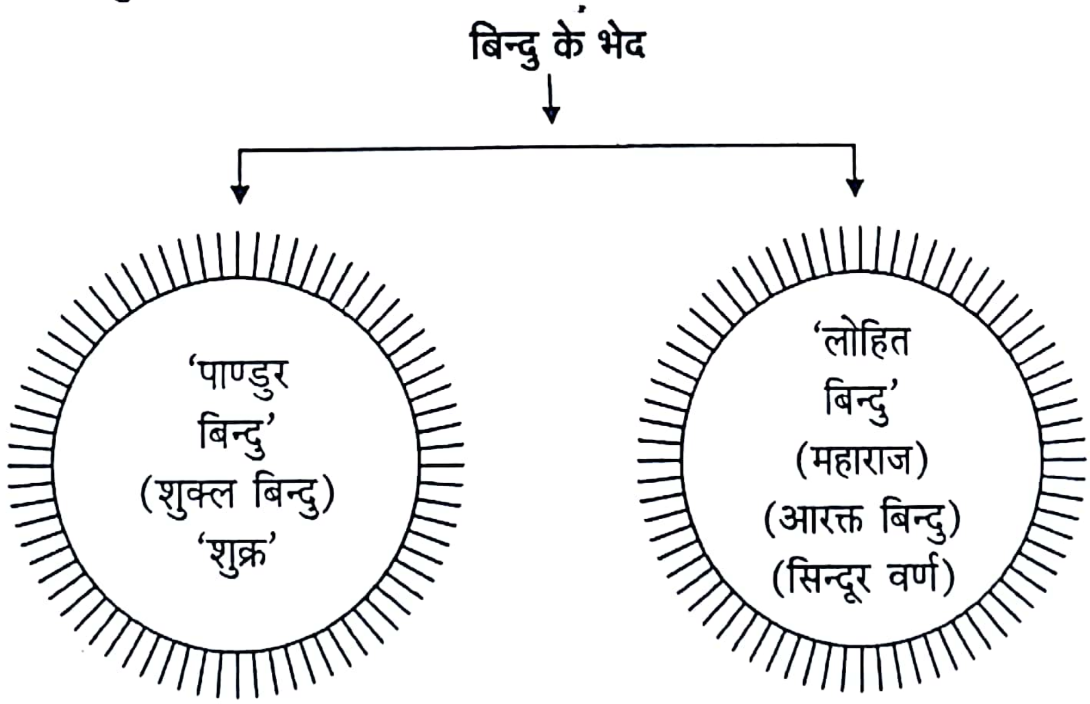

'सततं द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहित स्तथां।' —(योग० मा० ६०)

सिन्दूरवर्णी नारी रज (महारज) **नाभिस्थान** में रहता है और पुरुष का शुक्र **चन्द्रस्थान** में रहता है। इन दोनों की एकता अत्यन्त दुर्लभ है।

---

१. न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्थ च।
यावद् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुत:।। (५८) —(यो० मा०)

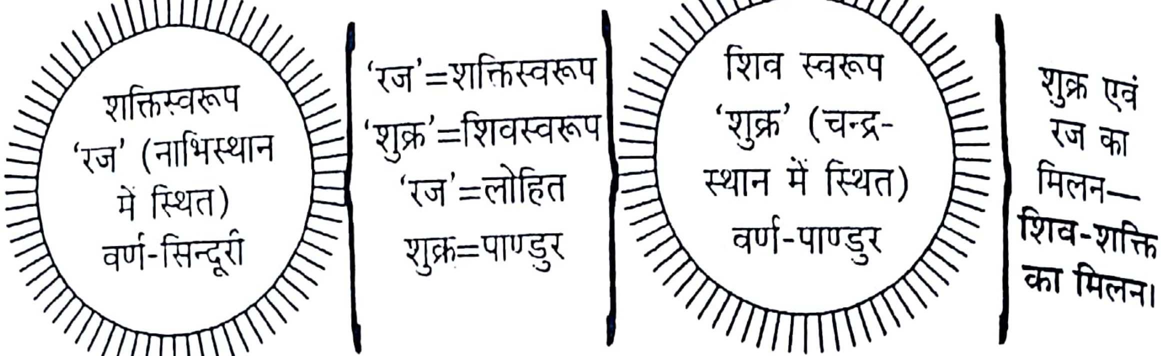

शुक्र-रज का मिलन—इन दोनों के मिलन को योगशास्त्र में दुर्लभ कहा गया है।

इन दोनों के संगम से साधक को परम पद की प्राप्ति होती है। वायु के द्वारा शक्ति का चालन करने से **जब महारज ऊर्ध्वमुख होकर बिन्दु** से मिलकर एक हो जाता है तब **शरीर दिव्य** हो जाता है। **शुक्र चन्द्रमा से एवं रज सूर्य से** संयुक्त है। इन दोनों का सामरस्य (ऐक्य) या **'समरसैकत्व'** दुर्लभ है। इस समरसैकत्व का ज्ञाता साधक योगवित—

('तयो: **समरसैकत्व** यो जानाति स योगवित्।) —(गो० श०)
(याति **बिन्दोः सहैकत्वं** भवेद दिव्यं वपुस्तदा।। —(गो० श०)
(यदा रज: बिन्दो: सहैकत्वं भवेद्दिव्यवपुस्तथा। —(यो० मा०)
(सुप्रभया संगमादेव प्राप्यते ह्यमुत्रपदम्।) —(यो० मा०)

'बिन्दु' और 'रज' का एकत्व–(समरसैकत्व के फल)

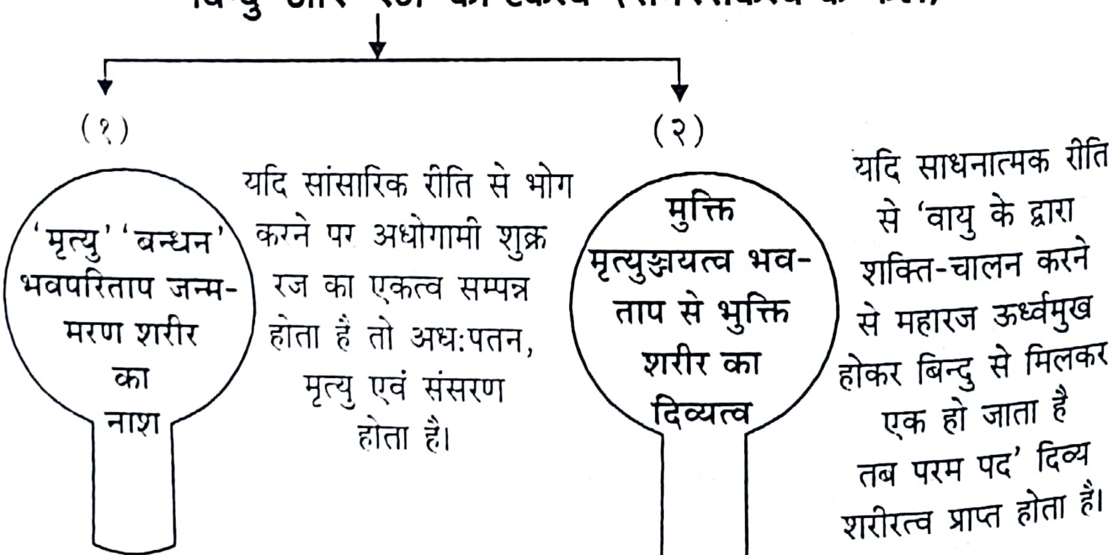

शुक्र एवं रज का समरसैकत्त्व

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु महारजः।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद् दिव्यं वपुस्तदा।।
उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम्।।

—(गोरक्ष शतक)

Scanned by CamScanner

बिन्दु-साधना की विषय में गुरु गोरक्षनाथ की दृष्टि

गुरु गोरक्षनाथ योग-साधना के स्तम्भों में—(१) **'प्राण'** (२) **'मन'** (३) **'नाद'** एवं **'बिन्दु'**—चारों को सर्वाधिक महत्व देते हैं, किन्तु उनके बाह्यवर्ती स्वरूप की बाह्यसाधना के विपरीत उसकी अन्तर-साधना पर बल देते हैं।

बिन्दु-साधना के विषय में उनकी वही अन्तर-साधनात्मक दृष्टि इस प्रकार प्रकट हुई है—

'ब्यंद ब्यंद सब कोई कहै महाब्यंद कोई बिरला लहै।'

उनका कथन है कि **'महाबिन्दु' (ब्रह्म)** की आध्यात्मिक अनुभूति के बिना इस भौतिकबिन्दु की साधना से स्कन्ध (शरीर) कभी स्थिर नहीं होगा—

'इह ब्यंद भरोसे लावै बंध। असथिरि होत न देखो कंध।'

अतः शुक्र-रक्षा के साथ ब्रह्मानुभूति भी आवश्यक है।

'बिन्दु' 'नाद' एवं 'शक्ति' की महिमा एवं उनकी साधना से प्राप्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा अणिमादिक की प्राप्ति (अर्थात् उक्त तीनों तत्त्वों के सांसारिक एवं पारलौकिक प्रयोग से होने वाले द्विपक्षीय फल-पतन एवं उत्थान) को मत्स्येन्द्रनाथ भी मानते थे इसीलिए उन्होंने 'कौलज्ञान निर्णय' (५/३१) में कहा है—

'बिन्दु-नाद तथा शक्तिरेवं ध्यात्वा पृथक् पृथक्।
धर्मार्थौ काममोक्षौ च अणिमादिगुणाष्टकम्।।'

गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि बिन्दु के प्रयोग की दो अवस्थायें हैं—(१) योग (२) भोग।

बिन्दु की योगात्मक अवस्था प्राप्त करने पर—

'या बिंद का कोई जांणै भेव। सो आपै करता आपै देव।'

अर्थात् साधक स्वयं सृष्टिकर्ता एवं देवता बन जाता है।

(१०) 'बिन्दु' का दार्शनिक स्वरूप

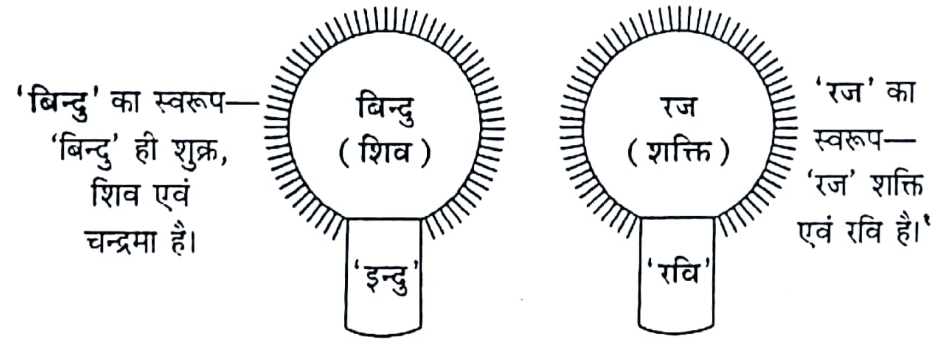

'बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दु रजो रविः।'

१. 'बिन्दु' शिवो 'रजः' शक्तिर्बिन्दुरिन्दुरजो रविः।
उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम्।।
यातिः बिन्दो सहैकत्वं भवेद दिव्यवपुस्तदा।। —गोरक्षनाथ

Scanned by CamScanner

बिन्दु (शिव) एवं रज (शक्ति) का ऐक्य।
चन्द्रमा एवं सूर्य का ऐक्य।। } —(**'परमपद'** की प्राप्ति)

वायु के द्वारा शक्ति का चालन करने से जब महारज ऊर्ध्वमुख होकर बिन्दु से मिलकर एक हो जाता है तब—

(१) परम पद की प्राप्ति एवं

(२) दिव्य देह की प्राप्ति होती है।

(क) याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद **दिव्य**वपुस्तदा।

(ख) उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम्।

समरसैकत्व—'शुक्र' चन्द्रमा से एवं 'रज' 'रवि' से संयुक्त है। इन दोनों का सामरस्य ही **समरसैकत्व** है। इसका ज्ञाता योग का ज्ञानी (**'योगवित्'**) है।

प्रश्न—नाथमत में क्या 'निरुत्थानपद', 'सामरस्य' एवं पिण्डपदसमरसीकरण ही **'योग'** है?

वैष्णवों की भाँति नाथ योगी भी जीवात्मा-परमात्मा की एकता को **'योग'** कहते हैं। —गोरक्षनाथ

'विवेक मार्तण्ड' में कहते हैं—

'संयोगं योगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः।।' (९)

योग का लक्ष्य है—भवताप का शमन

'शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः।' —(वि० मा०)

बिन्दु की साधना–'वज्रोली', 'सहजोली', 'अमरोली'

'बिन्दु' की साधना 'ब्रह्मचर्य' तो है ही, किन्तु **'ऊर्ध्वरेतसत्व'** ही यथार्थ ब्रह्मचर्य है।

बिन्दु-रज की एकता से परमपद की प्राप्ति—'योगमार्तण्ड' में गोरक्षनाथ ने बिन्दु के दो रूपों (१) 'पाण्डुर' (शुक्ल) एवं (२) 'महारज' (सिन्दूरवत आरक्त)।

लोहितस्वरूप रज पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि जब रज एवं बिन्दु दोनों में एकता स्थापित हो जाती है तब शरीर दिव्य हो जाता है। इसमें 'बिन्दु' शिव है और 'रज' शक्ति है।

* सिन्दूर वर्ण का लोहित **'महारज'** नाभि में स्थित है।
* श्वेत वर्ण का शुभ्र चन्द्रमा में स्थित है।
* चन्द्र 'बिन्दु' है और सूर्य 'रज' है।

इन दोनों के संगम से **'परमपद'** की प्राप्ति होती है।

Scanned by CamScanner

'बिन्दुः शिवोरजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दु रजो रविः।
उभयो संगमादेव प्राप्यते परमं पदम्॥'

वज्रोली-सहजोली-अमरोली

इन क्रियाओं से भी 'परमपद' ऊर्ध्वरेतसत्व, यथार्थ ब्रह्मचर्य एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष की उपलब्धि होती है।[१]

(१) **'वज्रोली'**—यह क्रिया गृहस्थों के लिए (ब्रह्मचर्य या बिन्दु रक्षा हेतु) परमोपयोगी है। इसमें नारी-संयोग के समय पुरुष को अपने शुक्र को गिरने से रोकने एवं नारी के रज को अपने जननेन्द्रिय से ऊपर खींचने की क्रिया की जाती है।

(२) **'अमरोली'**—यदि रति क्रिया में दैववश पुरुष का शुक्र नारी के जननेन्द्रिय में गिर भी जाय, तथापि उसे अपने जननेन्द्रिय से ऊपर खींचने का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए 'योनिमुद्रा' का प्रयोग करणीय है। रज-बिन्दु का ऐक्य-साफल्य भी **अमरोली** है। इसमें चन्द्र-सूर्य का मिलन होता है।

देवाच्चलति चेद वेगे मेलनं चन्द्र सूर्ययोः।
अमरोलिरियं प्रोक्ता लिङ्गनालेन शोषयेत्॥

(३) **'सहजोली'**—संक्षेप में कहा जाय तो जले हुए गो के गोबर को जल में मिलाकर भस्म के रूप में मस्तक आदि अंगों में लेप करना सहजोली क्रिया है।

बिन्दु-साधना एवं काय-सिद्धि

नाथ-योग-साधना में 'बिन्दु-साधना' प्रसिद्ध है।

'बजरी करंता अमरी राखै अमरि करंता बाई।
भोग करंता जे व्यंद राखै ते गोरख का गुरु भाई॥ —(गोरक्ष)

नाथ-योग में **'वज्रोली' 'सहजोली' 'अमरोली'** क्रियायें प्रसिद्ध हैं। **'वज्रोली'** के माध्यम से बिन्दु का ऊर्ध्वाकर्षण करके इसे **'सहस्त्रार'** में स्थापित कराने का विधान प्राचीन काल से नाथों सिद्धों आदि में लगातार चलता आ रहा है।

नाथ योगी (१) **'बिन्दु'** (२) **'प्राण'** (३) **'मन'** और (४) **'नाद'** को परस्पर सम्बद्ध मानते हैं। अत: कोई भी साधना क्यों न हो **बिन्दु-साधना** आवश्यक है; क्योंकि **'बिन्दु' शरीर, प्राण, मन** एवं **आध्यात्मिक मार्ग** सभी को प्रभावित करता है। **'बिन्दु' 'प्राण' 'मन'** एवं **'नाद'—ये चारों पिण्ड के परम शक्तिशाली तत्त्व हैं।**

---

१. इस विषय पर लेखक की पुस्तक—'मुद्रा-विज्ञान एवं साधना' (पृ० ८४-८९) (चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन) पढ़िये।

Scanned by CamScanner

"ब्रह्म अग्नि में होमै काया।
तास महादेव बंदे पाया।"
'नाद बिन्दु जाके घट जरै।
ताकी सेवा पारवती करै॥'

कहकर गुरु गोरक्षनाथ ने **'काया'**, **'नाद'** एवं **'बिन्दु'** तीनों के **उज्ज्वलीकरण** एवं **दिव्यीकरण** की ओर संकेतित किया है।

योगी गोरक्षनाथ कहते हैं कि—**'बिन्दु ही योग है'** (अर्थात् बिन्दु की अधोगामी प्रकृति रोककर साधना द्वारा उसका सहस्रारोन्मुख ऊर्ध्वीकरण करना एक उत्कृष्ट योग-साधना है।)

'बिन्दु ही भोग है' अर्थात् बिन्दु की अधोगति या पतन ही बन्धनप्रद भोग है—

'ब्यंद ही जोग व्यंद ही भोग'

'बिन्दु साधना चौंसठों रोगों की दवा है।'

'ब्यंद ही हरै चौसठि रोग।'

जो भी व्यक्ति बिन्दु के अकथ्य रहस्य को जानता है वह स्वयं 'कर्ता' एवं 'देवता' दोनों है—

'या बिंद का कोई जाँणे भेव।
सो आपै करता आपै देव।' —(गो बा०)

गुरु गोरक्षनाथ ने 'वज्रोली' अमरोली (बिन्दु रक्षा की तान्त्रिक क्रियाओं) का परिचय देकर इसे साधना का एक उचित मार्ग स्वीकार किया है।

(११) 'बिन्दु' और उसकी यौगिक साधना

'नाथ-योग' में बिन्दु-साधना नाथ-साधना का मेरुदण्ड है। मूल **'बिन्दु'** तो शिव है और महारज **'शक्ति'** है। बिन्दु और रज (शिव-शक्ति) ही तो मूल पदार्थ हैं।

(१) 'मन' 'वायु' 'बिन्दु' एवं 'नाद' अन्तर्सम्बद्ध हैं—

मनः स्थैर्य स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते॥

—(हठयोग प्र०)

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते।
मनोयत्र विलीयेत् पवनस्तत्र लीयते।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते॥

Scanned by CamScanner

यतो मरुत्तत्र मनः प्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः।

—(ह० यो० प्र०, पृ० १४८)

(२) निम्न तीन साधना-सोपान योग-साधना में अत्यावश्यक है—

(१) सुषुम्णा नाड़ी का भेदन (२) फिर सुषुम्णा नाड़ी में वायु का ऊर्ध्वारोहण और फिर (३) ब्रह्मरन्ध्र में वायु-स्थापन।

ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम्।
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत्।।

—(ह० यो० प्र०, पृ० १४४)

(३) 'बिन्दु-रक्षा' 'बिन्दु-शोधन' 'बिन्दु-ऊर्ध्वीकरण'—ये नाथ पंथ की प्रथम शर्तें हैं। **नाथ सिद्ध चरपट नाथ कहते हैं**—"जो 'साधु' कहलाने पर भी यौनाचार में लिप्त हैं वह 'पशु' है और उसका मुख काला है। ऐसा ढोंगी जो नारी-संभोग भी करता है और ध्यान भी करता है ऐसे ढोंगी में ज्ञानोदय कैसे हो सकता है?

'साधु कहावैं भुगतें भग, ताका काला मुख पीला पग।
कूटै चमड़ी धरैधियान, ता पसुवा मैं कहा गियान?[१]

चरपट नाथ ढोंगी योगियों के **ज्ञान-ध्यान की निन्दा** करते हुए कहते हैं कि—ऐसे **नारी-भोगी** लोगों के ज्ञान-ध्यान का कोई महत्व नहीं है—

"फोकट फाकट कथै गियान, फूटैं चमड़ी धरे धियान।
सिध पुरिस स्यूं करै उपाधि, चरपट कहैं ये कलिजुग का बाद।।"[२]

इसीलिए **सिद्ध चरपट** कहते हैं—

चरपट कहै सुणौ रे अवधू। कांमणि संग न कीजै।।[३]

(क) 'बिन्दु' **शिव** है और **'शक्ति'** महारज है।

(ख) **'बिन्दु'** चन्द्रमा है और **'रज'** सूर्य है।

(१) इन दोनों के संगम से साधक को **'परमपद'** प्राप्त होता है। वायु के द्वारा **शक्ति का चालन** करने से जब **महारज ऊर्ध्वमुख** होकर बिन्दु से मिलकर एक हो जाता है तब शरीर दिव्य हो जाता है।

(२) **'शुक्र'** चन्द्रमा से संयुक्त है। **'रज'** सूर्य से संयुक्त है। जो इन दोनों का सामरस्य (ऐक्य) जानता है वह **'योगवित'** है।

१. ना० सि० बा० (पृ० २८)।
२. तत्रैव (पृ० २८)।
३. क्योंकि—जिंद बिंद नौ नाड़ी सोखै। दिन-दिन काया छीजै।।

Scanned by CamScanner

(क) 'शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजं सूर्येण संगतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित्।।'

—(विवेक मार्तण्ड ८०)

(ख) सिन्दूर द्रवसंकाशं रविस्थाने स्थितं रजः।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्।।

—(विवेक मार्तण्ड ७७)

इन दोनों (रज, बिन्दु या सूर्य, चन्द्र) की एकता दुर्लभ है।

(ग) योऽपानप्राणयोर्योगः स्वरजोरेतसो स्तथा।
सूर्याग्निचन्द्रमसोर्योगो जीवात्म परमात्मनोः।
एवं तु द्वन्द्व जालस्य संयोगो योग उच्यते।

—(योग बीज ८९-९०)

(घ) यदि साधक का शरीर अमृत (शुक्र) से युक्त हो तो दो या तीन वर्षों के अभ्यास से बिन्दु ऊपर चढ़ जाता है और उसे अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं—

'अमृतापूर्ण देहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरैः।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतो ह्यणिमादि गुणोदयम्।।'

—(विवेक मार्तण्ड)

परमपद की प्राप्ति–

बिन्दु शिवो, रजः शक्तिबिन्दुरिन्दु रजो रविः।
उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम्।।

—(विवेक मार्तण्ड ७८)

वायुनाशक्ति चारेण प्रेरितं च यदा रजः।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद दिव्यवपुस्तदा।।

—(विवेक मार्तण्ड ७९)

नाथ सिद्ध गोपीचन्द की दृष्टि–

(१) 'मन चलंता पवन चलै। पवन चलंता बिंद।
बिंद चलंता कंध पड़ै। यूं भाषै गोपीचंद।।'

—(नाथसिद्ध गोपीचन्द)

(२) पवन थिरं तां मन थिर मन थिरं तां व्यंद।
व्यंद थिरंतां कंध थिर यौं भाषंत गोपीचन्द।।

—(नाथसिद्ध गोपीचन्द)

(३) मन राजा मन प्रजा मन सयल का बंध।
मन कूं चीन्हि पारग्रांमी भये राजा गोपीचंद।।

—(नाथसिद्ध गोपीचन्द)

Scanned by CamScanner

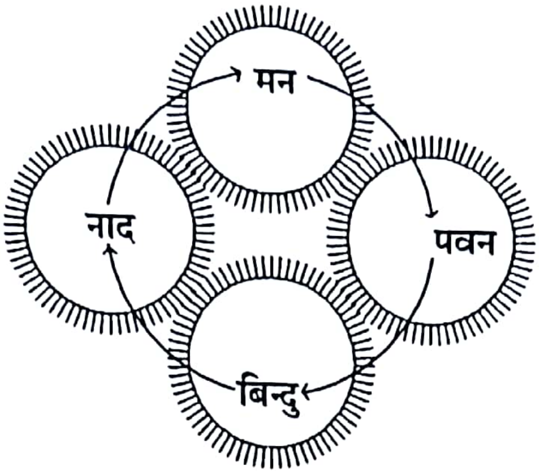

(४) **सतगुर सबद हमारा सिर परि वाद विवाद न कीजै।**
हम जोगी परदेसी भाई भिछ्या होइ त दीजै।

—(नाथसिद्ध गोपीचन्द)

गोपीचन्द का अपनी पत्नियों को माता कहकर उनसे भिक्षा माँगना।

परमात्मा शिव '**नादबिन्दु कलात्मक**' हैं—

''नमः शिवाय गुर वे, नादबिन्दु कलात्मने।
निरञ्जन पदं याति नित्यं यत्र परायणः॥''

—(ह० योग० प्र० ४/१)

बिन्दु-रक्षा—नाथसिद्ध चरपटनाथ कहते हैं कि—

(१) **बुभुक्षा**—(भूख) पर नियन्त्रण स्थापित करो।

(२) **निद्रा** पर नियंत्रण स्थापित करो एवं

(३) '**बिन्दु**' की रक्षा करो। बिन्दु का क्षरण स्वप्न में भी नहीं होना चाहिए—

'मारौ भूषरु साधौ निंद। सुपिनै जाता राखौ बिंद।'

(१) **जरा** को पलटो (युवावस्था में)।

(२) **रोगों** का निवारण करो।

जुरा पलटै षण्डै रोग चरपट कहै धनि यहु जोग।

सिद्धनाथ योगी चरपटनाथ कहते हैं कि—इस शरीर में तीन तत्त्व चञ्चल हैं—(१) मन (२) पवन (३) वायु की धारा। फिर बिन्दु को अध:पतित होने से कैसे रोका जाय?

'मन-चंचल पवन चंचल, चंचल बांई की धारा।
इहि घट मध्ये तीन्यूँ चंचल, क्यूं राखसि झरता ब्यंद का द्वारा?'

—(ना० सि० बा०, ३२)

ब्रह्मचर्य

नाथपंथ की साधना में ब्रह्मचर्य को अत्यधिक महत्व दिया गया है; क्योंकि चाहे शरीर की साधना हो या प्राणों की, चाहे मन की साधना हो या नाद की, किन्तु

Scanned by CamScanner

विन्दु की सुरक्षा के बिना कोई भी साधना सफल नहीं होती। इसीलिए गुरु गोरक्षनाथ **ऊर्ध्वरेतस ब्रह्मचारी** को महत्व देते हैं—

'अरधै जाता उरधै धरै, काम दगध जे जोगी करै।
तजै अत्यंगन काटै माया, ताका बिसनु परवाले पाया।।'[१]

जिसके नाद एवं '**बिन्दु**' जीर्ण होते रहते हैं उसकी सेवा तो भगवती पार्वती भी करती हैं—

'नाद बिंद जाकै घटि जरै, ताकी सेवा पार बती करै।'[२]

गोरक्षनाथ कहते हैं कि मैथुन से जरा का आक्रमण होता है अत: योगी को चाहिए कि वह नीचे गिरते हुए बिन्दु को ऊर्ध्वावस्ता से जोड़े अर्थात् वह ऊर्ध्वरेता बने—

'मैथुन कै घरि जुरा गरासै। अरध-उरध लै जोर।'[३]

नारी पुरुषों के लिए एक चुनौती है; क्योंकि वह पुरुषों को खड़े, बैठे, जागते, सोते तथा समस्त दिशाओं में पराजित करके अपनी प्रभुता स्थापित कर चुकी है और इस अतुल्य विजय के लिए उसने एक भयानक जाल (जननेन्द्रिय का जाल) बिछा रखा है। अत: वह कहती है—

(१) 'ऊभा मारूं, बैठा मारूं, मारूं जागत सूता।
तीनि लोक भग जाल पसास्या कहाँ जाइगौ पूता?'[४]

'**योगी**' तो उसे ही कहा जा सकता है जिसमें निम्न लक्षण हों—

(१) जो मन की रक्षा कर सके।

(२) देशशून्य ब्रह्मरन्ध्र (बिलाइत) में ब्रह्मानुभूतिमय साम्राज्य का उपयोग करें।

(३) कनक-कामिनी का त्याग कर सके।

'कनक कामिनी त्यागे दोइ सो जोगेस्वर निरभै होइ।'[५]

ब्रह्मचारी कौन है?

सर्वतो भरिताकारं निजबोधेन बृंहितम्।
चरते ब्रह्मविद्यस्तु ब्रह्मचारी स कथ्यते।।

—(गोरक्षनाथ) (सि० सि० प०)

---

१. गो० बा० (पृ० ७)।
२. गो० बा० (पृ० ७)।
३. गो० बा० (पृ० १३)।
४. गो० बा० (पृ० ३४)।
५. गो० बा० (पृ० ३५)।

Scanned by CamScanner

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'वज्रयान' की निम्न विशेषताएँ माना—(१) मद्य (२) मन्त्र (३) हठयोग एवं **'स्त्री'**, किन्तु उन्होंने इन तत्त्वों को नाथ-पंथ की विशेषताएँ नहीं कहा। **नाथ पंथ ब्रह्मचर्य पर बल देता है।**

'नाथ' 'पाशुपत सम्प्रदाय' के अनुगामी शैव हैं। वहाँ भी स्वच्छन्द यौनाचार के लिए कोई स्थान नहीं है। योगशास्त्र में आदिकाल से—**वह्नि नारी सेवन, तीर्थयात्रा** आदि को योगियों के लिए निषिद्ध माना गया था—

'वह्नि स्त्री पथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत्।'[१]

गोरक्षनाथ जी भी कहते हैं—

'वर्जयेद्दुर्जन प्रान्तं वह्नि स्त्री पथिसेवनम्।
प्रातः स्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा।।'

अर्थात् दुर्जनों का स्थान, आग, स्त्री, मार्ग-सेवन, प्रातः स्नान, उपवास आदि **कायक्लेशकारी** विधियों को कभी नहीं अपनाना चाहिए।

कोम, क्रोध, मोह का त्याग—**नाथ सिद्धों** ने योग-साधना में **कामोपभोग** एवं **क्रोध** दोनों को हेय माना है। **नाथ योगी गोपीचन्द अपनी पत्नी से भिक्षा माँगते हुए** उन्हें 'माई' शब्द से सम्बोधित करके कहते हैं—

''हम जोगी परदेसी भाई, भिछ्या होत त दीजै।
काम बिसरि अरु क्रोध तजीला, मोह छाड़ि निरदंद।।''
माया ममिता बिना गुर सरनैं, निरभै गोपीचन्द।।[२]

सिद्ध नाथ योगी चरपटनाथ भोगनिरत नाथ योगी को **'पशु'** और **'काले मुँह वाला'** और **मिथ्याज्ञानी** कहते हैं—

'फोकट फाकट कथै गियान, कूटैं चमड़ी धरे धियान।
सिध पुरिस स्यूं करै उपाधि, चरपट कहैं ये कलिजुग का वाद।।'[३]
साधु कहावैं भुगते भग। ताका काला मुख पीला पग।
कूटै चमड़ी धरै धियान। ता पसुवा मैं कहा गियान।।

Scanned by CamScanner

नारी के प्रति वैराग्य और उपेक्षा-भाव (नारी निन्दा)

नारी निन्दा—गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि (१) **नारी का जननांग 'राक्षसी'** हैं। उसने बिना दाँत के ही **समस्त संसार को खा लिया।**

(२) दिन में ये **'बाघिन'** (मादा व्याघ्र) सोयी रहती है, किन्तु रात्रि में यह शरीर का शोषण करती है। विषयभोगी जीव इस तथ्य को नहीं जानता। अतः वह अज्ञानवश उसे (नारी को) घर में रखकर उसका पोषण करता है।

(३) संभोग के कारण लोगों का शरीर दिन-दिन क्षीण होता जा रहा है। **बाघिन उन्हें फाड़-फाड़ कर खाया करती है।**

(३) बाघिन ने काया को जन्म दिया, उसी ने उसका पालन-पोषण किया। यमराज के बगल में वह निरन्तर दहाड़ती रहती है।[1]

गोरीनाथ **नारी को माता की दृष्टि से** भी देखते हैं। इसीलिए कहते हैं—

मातृ भावना–

'सांइ सहेली सुत भरतार सरब सिसरि कौ एकौ द्वार।
पैसता पुरसि निकसता पूता ता कारणि गोरख अवधूता।।

—(पृ० ७६)

श्रुतियों का कथन है कि—

ब्रह्मचर्यः ''ब्रह्मचर्येण देवाः मृत्युमु''

'बिन्दु' की ऊर्ध्वरितसत्वक्रिया द्वारा वह बाष्प बनकर ब्रह्म के स्थान ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाता है।

'ब्रह्मचर्य'—ब्रह्म + चर्य = ब्रह्मचर्य। बिन्दु की **'रक्षा'**, बिन्दु का **'शोधन'** बिन्दु का **'ऊर्ध्वीकरण'** ही यदि वास्तविक 'ब्रह्मचर्य' है तो भी इसकी संज्ञा **'ब्रह्मचर्य'** नहीं **'बिन्दुचर्य'** ही होनी चाहिए। इस बिन्दु-दर्शन को, बिन्दु-प्रतिष्ठा को एवं बिन्दु-

---

१. भग राकसि लो, भग राकसि लो, बिणं दंतां जग खाया लो।
दिन दिन बाघिनी सींया लागी, राति सरीरै सोखै।
विषै लुबधी तत न बूझै, घरि लै बाघनीं पोषै।।
चामैं चाम घसंता लोई, दिन दिन छीजै काया।
आपा परचै गुरु मुखि न चीन्हैं फाड़ि फाड़ि बाघणीं खाया।
बाघनी उपाया, बाघनी निपाया, बाघनी पाली काया।
बाघनी डाकरै जौरियों पाखरै अनभुइ गोरख राया। —गोरखबानी (पृ. १४४)

Scanned by CamScanner

रक्षण आदि को 'बिन्दु' शब्द से न जोड़कर 'ब्रह्म' से क्यों जोड़ा गया? '**बिन्दु**' का '**ब्रह्म**' **से क्या सम्बन्ध है?** यह विवेच्य विषय है।[१]

योग-साधना में '**प्राण**' '**मन**' '**नाद**' आदि का कम महत्व नहीं है, किन्तु उनकी साधनाओं को ब्रह्मचर्य नहीं कहा गया। फिर बिन्दु की साधना को '**ब्रह्मचर्य**' का अभिधान क्यों दिया गया?

'बिन्दु' को '**शिव**' कहा गया और रज को '**शक्ति**'। प्राण आदि को शिव, शक्ति क्यों नहीं कहा गया?

गुरु गोरक्षनाथ आदि नाथ सिद्धों ने शुक्र, वीर्य या 'बिन्दु' को 'ब्रह्म' क्यों कहा? गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

'झरते हुए बिन्दु की जो रक्षा करे उसको 'अवधूत' कहना चाहिए। गुरु गोरक्षनाथ ने इस प्रसंग में निपतित बिन्दु को बिन्दु न कहकर 'ब्रह्म' कहा है—

'ब्रह्म झरंता जे नर राखै सो बोलो अवधूता।'

—(गो० बा० पृ. १४५)

गुरु गोरक्षनाथ ने तो अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को भी ब्रह्मचर्य (एवं नारी-संसर्ग का त्याग करने) का उपदेश करते हुए गुरु **की खोज करने का परामर्श** दिया था—

''गुरु खोजौ गुरदेव गुरुखोजौ बदंत गोरख ऐसा।
मुषते होई तुम्हें बंधनि पड़िया ये जोग है कैसा?''
चाम ही चाम घसंतां गुरदेव दिन दिन छीजै काया।
'दीपक जोति पतंग गुरदेव ऐसी भग की छाया।'

जैसे पतंगे ज्योति के सम्पर्क में आकर नष्ट हो जाते हैं वैसे नारी के जननांग के सम्पर्क में आने पर व्यक्ति नष्ट हो जाता है। नर-नारी के जननांगों के घर्षण से काया नष्ट हो जाती है।

बिन्दु-साधना और खेचरी मुद्रा

'खेचरी' या **'व्योम-चक्र'**

कलां पराङ्मुखी कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा 'व्योमचक्र' तदुच्यते।।३७।।
न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेति खेचरीम।।३९।।

---

१. नाथ-योग में कायासिद्धि, कालवञ्चन, अमृतपान, को अत्यधिक महत्व दिया गया है और इन सबका आधार बिन्दु है जिसे 'ब्रह्म' कहा गया है।

Scanned by CamScanner

पीडयते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेति खेचरीम्।।४०।।
चित्तं चरति खेयस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता।।४१।।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरंलम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्या श्लेषितस्य च।।४२।।
रसनामूर्ध्वगांकृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः।।३८।।

गुरु गोरक्षनाथ की ग्रन्थातरोक्त दृष्टि

गुरु गोरक्षनाथ 'योग मार्तण्ड' में कहते हैं—

'खेचरी' के नामकरण का औचित्य—'ख' में संचरण।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खेगता।
कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।।५३।।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टि र्मुद्रा भवति खेचरी।।५४।।

खेचरी मुद्रा का फल—रोग, क्षुधा, तृषा आदि का अन्त।

'न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रा वेत्ति खेचरीम्।।५५।।
तेनैषा खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता।'
बिन्दुमूलं शरीरं तु शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।।

खेचरी का परिणाम—बिन्दुरक्षा और अमरत्व—

न तस्यक्षरते बिन्दु कामिन्याश्लेषितस्य च।
यावद् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः।।५८।।

योगवित् कौन है? शुक्र-रज के समरसैकत्व का ज्ञाता।

शुक्र चन्द्रेण संयुक्तं रजस्सूर्येण संयुतम्।
द्वयोस्समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित्।।

—गोरक्षनाथ—योग मार्तण्ड

मन का स्वरूप और उसकी साधना

योगी मत्स्येन्द्र नाथ ने मन की तीन अवस्थायें या उसके तीन भेद बताए हैं—

(१) 'सात्विक मन' = धर्मयुक्त मन।
(२) 'राजस मन' = गत्यात्मक, गति-अगति युक्त।
(३) 'तामस मन' = चंचल एवं क्षुद्र।

Scanned by CamScanner

गतिशील एवं कम्पनशील है। इनमें आकर्षण-विकर्षण भी होता रहता है। अत: प्रकाश भी उनके कारण क्षुब्ध रहता है। प्रत्येक परमाणु के कम्पन से जो ध्वनि निकलती है, वह आश्रव्य है। विभिन्न स्तरों पर नाद के तरंगों की लम्बाई भी भिन्न होती है। सृष्टि नाद का मूर्त रूप है।

(२२) अमृत-पान और उसकी साधना-पद्धति

('मृत्योर्मामृतंगमय')

यदि रसप्रवाहिनी **जिह्वा** अहर्निश निरन्तर **लम्बिका** के अग्र भाग को चूमती हुई (स्पर्श करती हुई) दुग्ध सदृश मधुर घी के समान **'सहस्त्रदल पद्म'** रूपी चन्द्र मण्डल से प्रवाहित अमृत (सोमजल) धारण करती है तो समस्त व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं, जरा-मरण भी ध्वस्त हो जाता है, आगम-निगम आदि समस्त शास्त्रों का धारा प्रवाह व्याख्यान होता है, दिव्यांगनायें योगी की ओर सहज ही आकृष्ट होती हैं एवं अणिमादि के अष्ट गुणित ऐश्वर्य सहित अमरत्व प्राप्त होता है।[१]

श्रुतियाँ भी 'असत् से सत्', 'तम से ज्योति' एवं 'मृत्यु से अमृतत्त्व' की ओर जाने का उपदेश देती हैं—

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मामृतं गमय

गोरक्षनाथ कहते हैं कि गगन-मण्डल (चेतना के ऊर्ध्व केन्द्र=आज्ञाचक्र, सहस्रार आदि में नाद स्वत: ध्वनित होता रहता है, किन्तु सहस्रार में एक औंधा कूप है उसमें अमृत का निवास है अर्थात् सहस्रारस्थ चन्द्र में अमृत भरा है। अत: योगी को उस अमृत का पान करना चाहिए—

'गगन मंडल में ऊँधा कूवा तहाँ अमृत का बासा' किन्तु—
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै निगुरा जाइ पियासा'

गोरक्षनाथ कहते हैं कि जब चन्द्र एवं सूर्य के योग से **उन्मनावस्था** आती है तब ब्रह्मरन्ध्र (शून्य मण्डल) में **अमृत का निर्झर झरने** लगता है।

'सुनि मँडल तहाँ नीझर झरिया।
चंद सुरजि ले उनमनि धरिया।।' —(गो० बा०)

''अभरा था थे सूभर भरिया। नीझर झरता रहिया।''

गोरक्ष नाथ उनमन रहने एवं निर्झर का पानी (अमृत) पानी का उपदेश देते हुए कहते हैं—

'उनमनि रहिबा, भेद न कहिबा, पीयबा नीझर पाणी'

१. यो० मा० (१३८-१३९)।

अमृत-पान

गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि आकाशमण्डल (शून्य चक्र) में एक औंधा कूप है। उसी में अमृत रहता है। जो गुरु दीक्षित है, वह तो उसे पी पाता है, किन्तु अन्य प्यासे का प्यासा ही लौट जाता है।

"गगन मँडल मैं ऊँधा कूबा, तहाँ अमृत का बासा।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै, निगुरा जाइ पियासा।।"[१]

'ब्रह्मज्ञानी' का एक लक्षण यह भी है कि वह चान्द्र पीयूष पीता हो—

'अपीव पीवत जे ब्रह्मज्ञानी' —(गो० बा० पृ० ३२)

नाथ सिद्ध चरपट नाथ कहते हैं कि—

(१) ऐसा विषम बंध लगाओ, जिससे कि नीचे स्थित सूर्य एवं ऊपर स्थित चन्द्रमा के पारस्परिक अधोर्ध्वयोग से (चन्द्र-स्रवित) अमृत को सूर्य न पी पाये बल्कि स्वयं साधक पीने लगे—

'बंधसि बंध विषम करि बंध, तलि करि रवि उपरि करे चंद।
रैणि दिवस रस चरपट पीया। खूटै तेल न बूझै दीया।।'[२]

आदि नाथ-गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने सभी ग्रन्थों में अमृतपान करने का उपदेश दिया है।

"चन्द्राह्लाद करं दिव्यम् आगच्छन्तं खमध्यतः।
स्रवन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण अचिरान्मृत्युजिद्भवेत्।।"

इस अमृत-पान से साधक मृत्युञ्जय हो जाता है।[३]

मत्स्येन्द्रनाथ पुनः कहते हैं—

'ध्यात्वा चन्द्रासनस्थञ्च ऊर्ध्वश्चन्द्रेण घट्टितम्।
सीकरैः शीतलैर्दिव्यैः सिंच्यमानमनुस्मरेत्।।'[४]

शरीर का अमृतीकरण

(१) बिन्दुधारा निपातैश्च विप्लवैः पूरितन्तनुः।
निष्क्रान्तं रोमकूपैश्च गोक्षीर हिम सन्निभम्।।
(२) अमृताग्रं रसाग्रेण दह्यमानसुधीरपि।
मासेन जितयेन्मृत्युं सत्यं सत्यं महातपे।।

—(कौ० ज्ञा० नि० ६/१८)

---

१. गो० बा० (पृ० ९)।
२. ना० सि० बा० (पृ० ३२)।
३. कौ० ज्ञाननिर्णय (पटल ५/६)।
४. तत्रैव (५/१२)।

Scanned by CamScanner

(३) अमृत का स्थान—

द्वौ राजदमध्यस्थं बिन्दुरूपं व्यवस्थितम्।
अमृतं तं विजानीयाद्वलीपलितनाशनम्॥

—(कौ० ज्ञा० नि० ६/२३)

(४) अमृत और कुल मार्ग

''अमृतेन विना देवि। अमरत्वं कथं प्रिये। अमृतं कौलसद्भावं।''

अमृत और विष

५ तत्त्वों के संसर्ग में रहने से अमृत ही विष होकर रहता है। जब वह गुरु के वचनों से अमृत बन जाता है तब उनका शिष्य उसका पान करता है।[१]

अवधूत योगी—दत्तात्रेय पंथ के योगी एवं गोरक्ष-पंथ (नाथ पंथ) के योगी भी **'अवधूत'** कहलाते। इन्हें 'कनफटा योगी' भी कहते हैं।

गोरक्षनाथ पूछते हैं कि 'अवधूत' कौन है? जो सारे प्रकृति विकारों का अवधूतनन (त्याग) करके निर्मल हो जाय वही 'अवधूत' है—

'अथ कोऽवधूतयोगिनामेत्यपेक्षायामाह।
सर्वान् प्रकृतिविकारान् बधुनोतीत्यवधूत योगी॥'[२]

जो अविद्या, अस्मिता, रोग-द्वेष, अभिनिवेश स्वरूप पंचक्लेशात्मक जाल के वेग का ध्वंस कर दे और जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति वाली तीनों अवस्थाओं वाले प्रपञ्च से मुक्त हो जाय वही (आत्मस्थ योगी) अवधूत है—

क्लेशपाशतरङ्गाणां कृन्तनेन विमुण्डनम्।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते॥

इसके अतिरिक्त 'जातिस्मर' 'निजस्मर' स्वाङ्गविभूषित योगी भी अवधूत है। इसके अतिरिक्त जो लोकमध्य स्थित होकर भी समस्त भेदभाव विमुक्त—'कलनोज्झित' है वह कौपीन-खर्पर-दैन्य धारण करने वाला भी व्यक्ति अवधूत है।

'परम पद'—निरुत्थान के परम पद तत्काल प्राप्त हो जाता है—

'निमिषात् प्रस्फुटं भाति दुर्लभं परमं पदम्।'

यह भी सत्य है कि जप-तप-यज्ञ तीर्थ से परम पद प्राप्य नहीं है—

'न जपान्न तपोध्यानान्न यज्ञातीर्थ सेवनात्।
नानन्तोपाय यत्नेभ्यः प्राप्यते परमं पदम्॥'

---

१. पंच तत्तविष अमृत बसई। गुरु वचने अमृत भया अँचई॥

२. सि० सि० ४० (६ठवां उप० १)।

Scanned by CamScanner

सूर्यभेद प्राणायाम

पूरयेत् सूर्यनाड्या च यथाशक्ति बहिर्मरुत्॥
धारयेद्बहुयत्नेन कुम्भकेन जालन्धरैः।

—गोरक्षसंहिता, १।२०७-२०८

—पहले सूर्यनाड़ी (पिङ्गलानाड़ी) द्वारा अर्थात् दक्षिण नासिकाद्वारा यथाशक्ति वायु आकर्षण करें, तत्पश्चात् उस आकृष्ट वायु को जालन्धर मुद्रा के द्वारा धारण कर कुम्भक करें।

जालन्धर मुद्रा यथा—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये मारुतं धारयेद्दृढम्।
नाभिस्थाग्नौ कपालस्थसहस्रकमलच्युतम्॥
अमृतं सर्वदास्रावं बिन्दुत्वं याति देहिनाम्।
यथाग्निश्च तदमृतं न पिबेच्च पिबेत् स्वयम्॥

—दत्तात्रेयसंहिता

अर्थात् शिरःस्थित सहस्रदल-कमलच्युत अमृतधारा नाभिस्थित जठरानल में पतित न होने देकर स्वयं पान करने का नाम जालन्धरबन्ध है।

यावत् स्वेदं न केशाग्रात् तावत् कुर्वन्तु कुम्भकम्।

—गोरक्षसंहिता, १।२०८

—जबतक केश के अग्रभाग से घर्म (पसीना) निर्गत न हो, तबतक कुम्भक करते रहें।

सर्वे ते सूर्यसंभिन्ना नाभिमूलात् समुद्धरेत्।
इड़या रेचयेत् पश्चात् धैर्येणाखण्डवेगतः॥

—गोरक्षसंहिता, १।२०९

—इस कुम्भक को करते समय प्राण अपान प्रभृति समस्त वायु को सूर्यनाड़ी अर्थात् पिङ्गलानाड़ी द्वारा भेदन कर समानवायु को नाभिमूल से

उद्धृत करें। बाद में इड़ा अर्थात् वाम नासापथ से धैर्य के साथ क्रमशः सम्पूर्ण वेग के साथ रेचन करें।

पुनः सूर्येण चाकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि।
रेचयित्वा साधयेत्तु क्रमेण च पुनःपुनः॥

—गोरक्षसंहिता, १।२१०

फिर से दक्षिण नासा में पूरक, सुषुम्ना में कुम्भक और वाम नासापथ में रेचन करोगे। इस प्रकार पुनःपुनः करना होता है।

मतान्तर से—

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा मुक्तासनं ततः।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः॥
आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत्।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत् पवनं सुधीः॥*

—घेरण्डसंहिता

Scanned by CamScanner

अलब्ध्वापि फलं सम्यक्पुनर्भूत्वा महाकुले ।
पुनर्वासनयैवायं योगाभ्यासं पुरश्चरन् ॥40॥
अनेकजन्माभ्यासेन वामदेवेन वै पथा ।
सोऽपि मुक्तिं समाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥41॥
द्वाविमावपि पन्थानौ ब्रह्मप्राप्तिकरौ शिवौ ।

इत्थं भूतक्षयान्नित्यं जीवितं भूतधारणम् ।
उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ॥6॥

वायुमण्डल के आघात से इस शरीर में एक रात-दिन के सामान्यतया इक्कीस हजार छः सौ श्वास-प्रश्वास चल रहे हैं। प्राणियों में जब पृथ्वीमंडल (तत्व) कम पड़ जाता है, तो शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, जब जल कम पड़ जाता है, तो क्रमशः केश सफेद हो जाते हैं, जब तेजोभाग कम पड़ जाता है, तो ठीक तरह से भूख नहीं लगती तथा कान्ति नष्ट होती है, जब वायुभाग की कमी पड़ जाती है, तो शरीर में नित्य कँपकँपी होती है। और अकेले जल या अकेले आकाश से कोई जी नहीं सकता। इस प्रकार नित्य ही भूतों का क्षय होता रहता है। इसलिए भूतों को धारण किए रहना (भूत धारण करना) ही जीवन है। इसी कारण से बड़े-बड़े पक्षी अविच्छिन्न रीति से सतत ही उड़ते रहते हैं।

उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ।
उड्डियाणो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥7॥
तस्य मुक्तिस्तनोः कायात्तस्य बन्धो हि दुष्करः ।
अग्नौ तु चालिते कुक्षौ वेदना जायते भृशम् ॥8॥
न कार्या क्षुधितेनापि नापि विण्मूत्रवेगिना ।
हितं मितं च भोक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा ॥9॥
मृदुमध्यममन्त्रेषु क्रमान्मन्त्रं लयं हठम् ।
लयमन्त्रहठा योगा योगो हष्टाङ्गसंयुतः ॥10॥

इसी को उड्डियाणबन्ध कहा जाता है। इस उड्डियाणबन्ध को यदि हमारे शरीर में प्रतिदिन किया जाए, तब मृत्युरूप हाथी का नाश करने में वह केसरी (सिंह) जैसा होता है। शरीर से इसकी मुक्ति भी हो सकती है परन्तु निर्दिष्ट पुरुष के लिए यह उड्डियाणबन्ध दुष्कर है, क्योंकि अग्नि को जब चलायमान किया जाता है, तब पेट में बड़ी वेदना होती है, इसलिए भूखे मनुष्य को और विष्टा-मूत्र के वेग वाले मनुष्य को यह उड्डियाणबन्ध नहीं करना चाहिए। जिसे योगक्रिया करनी हो, उसे हितकारी, थोड़ा-थोड़ा और प्रमाणपुरःसर (प्रमाण के अनुसार) खाना चाहिए। इस प्रकार विविध खाद्यों से क्षुधाशान्ति करके मृदु = लय, मध्यम = हठ और मन्त्र = नादानुसन्धान—इन योगों की साधना करनी चाहिए। इन तीन योगों में प्रथम क्रम लययोग का, द्वितीय मन्त्रयोग का और तीसरा क्रम हठयोग का है। उनमें हठयोग यम आदि आठ अंगों वाला होता है।

Scanned by CamScanner

एवमेतासु नाडीषु धरन्ति दश वायवः ।
एवं नाडीगतिं वायुगतिं ज्ञात्वा विचक्षणः ॥31॥
समग्रीवशिरःकायः संवृतास्यः सुनिश्चलः ।
नासाग्रे चैव हृन्मध्ये बिन्दुमध्ये तुरीयकम् ॥32॥
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः ।
अपानं मुकुलीकृत्य पायुमाकृष्य चोन्मुखम् ॥33॥
प्रणवेन समुत्थाप्य श्रीबीजेन निवर्तयेत् ।
स्वात्मानं च श्रियं ध्यायेदमृतप्लावनं ततः ॥34॥

इस प्रकार इन नाडियों में दश वायु धारण किए जाते हैं। इस तरह नाडीगति और वायुगति को जानकर बुद्धिमान मनुष्य को गर्दन, मस्तक और शरीर को सीधा रखकर, मुँह बन्द करके, एकदम निश्चल होकर बैठना चाहिए और नासिका के अग्रभाग में, हृदय के बीच में और बिन्दु के बीच जो तुरीय पद अवस्थित है, उसे एकदम एकाग्र होकर, दोनों नेत्रों से उससे होता हुआ अमृत का स्रवण देखना चाहिए। फिर बांद में अपानवायु का संकोच करके गुदा को ऊँचे खींचना चाहिए। इस प्रकार प्रणवमंत्र

अयं च सम्पुटो योगो मूलबन्धोऽप्ययं मतः ।
बन्धत्रयमनेनैव सिद्ध्यत्यभ्यासयोगतः ॥45॥
दिवारात्रमविच्छिन्नं यामे यामे यदा यदा ।
अनेनाभ्यासयोगेन वायुरभ्यसितो भवेत् ॥46॥

इस प्रकार चार मार्ग वाला यह बन्ध तीन मार्गों को रोकता है, एवं एक मार्ग को खुला कर देता है, जिससे सिद्ध हुए मनुष्यों ने अच्छी तरह से आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लिया है। प्राण के साथ उदान वायु को ऊर्ध्वगामी करके तुरन्त ही यह नाडियों का बन्ध किया जा सकता है। वह निरोधक है, इसलिए ऊपर ही ऊपर जाता है। यह सम्पुट योग है। इसे 'मूलबन्ध' भी माना गया है। इसका अभ्यास करने से अन्य तीन बन्ध इसी के द्वारा सिद्ध हो जाते हैं। रात-दिन और प्रहर-प्रहर पर जिस समय इसका अभ्यास किया जाता है, उस-उस समय वायु वश में आने लगता है।

वायावभ्यसिते वह्निः प्रत्यहं वर्धते तनौ ।
वह्नौ विवर्धमाने तु सुखमन्नादि जीर्यते ॥47॥
अन्नस्य परिपाकेन रसवृद्धिः प्रजायते ।
रसे वृद्धिं गते नित्यं वर्धन्ते धातवस्तथा ॥48॥
धातूनां वर्धनेनैव प्रबोधो वर्धते तनौ ।
दह्यन्ते सर्वपापानि जन्मकोट्यर्जितानि च ॥49॥
गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम् ।
शिवस्य बिन्दुरूपस्य स्थानं तद्धि प्रकाशकम् ॥50॥

इस प्रकार वायु को वश करने का अभ्यास होने पर शरीर में प्रतिदिन अग्नि बढ़ता रहता है और अग्नि के बढ़ने से अन्न आदि आसानी से पच जाते हैं। अन्न का ठीक तरह से पाचन होने से रस की वृद्धि होती है, और रस की वृद्धि होने से दिन-प्रति-दिन धातु की वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार से धातुओं के बढ़ने से शरीर में ज्ञान बढ़ जाता है, और करोड़ों जन्मों के सभी पाप जल जाते हैं। गुदा और लिंग के बीच में मूलाधार अवस्थित है, उसके तीन कोने हैं और वही स्थान बिन्दुरूप शिव का प्रकाशक स्थान है।

Scanned by CamScanner

कालवञ्चनमेतद्धि सर्वमुख्यं प्रचक्षते ।
मनसा चिन्तितं कार्यं मनसा येन सिद्ध्यति ॥35॥
जलेऽग्निज्वलनाच्छाखापल्लवानि भवन्ति हि ।
नाधन्यं जागतं वाक्यं विपरीता भवत्क्रिया ॥36॥
मार्गे बिन्दुं समावध्य वह्निं प्रज्वाल्य जीवने ।
शोषयित्वा तु सलिलं तेन कायं दृढं भवेत् ॥37॥
गुदयोनिसमायुक्त आकुञ्चत्येककालतः ।
अपानमूर्ध्वगं कृत्वा समानोऽन्ने नियोजयेत् ॥38॥

इसे ही सभी में मुख्य कालवञ्चन कहा जाता है। इसी के द्वारा मन में चिन्तित कार्य मन में ही सिद्ध हो जाता है। "जल स्थान में अग्नि प्रकट करने से भी शाखाएँ और कोंपलें प्रस्फुटित होती हैं—यह जो जगत् का वाक्य है, वह यहाँ अधन्य (अकृतार्थ) नहीं होता (कृतार्थ ही होता है), यहाँ विपरीत क्रिया होती ही है। मार्ग में बिन्दु को बाँधकर, जीवन में अग्नि को प्रज्वलित करके जल को सुखा देना चाहिए, इससे शरीर दृढ़ (मजबूत) बनता है। गुदारूप मूल स्थान में एकाग्र होकर एक ही समय में (उसी समय) अपानवायु का संकोच भी करना चाहिए। और इस तरह उसे ऊर्ध्वगामी बनाकर समान के रूप में जठर के अन्न के साथ जोड़ना चाहिए।

स्वात्मानं च श्रियं ध्यायेदमृतप्लावनं ततः ।
बलं समारभेद्योगं मध्यमद्वारभागतः ॥39॥
भावयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानसुयोगतः ।
एष योगो वरो देहे सिद्धिमार्गप्रकाशकः ॥40॥
यथैवापाङ्गतः सेतुः प्रवाहस्य निरोधकः ।
तथा शरीरगाच्छाया ज्ञातव्या योगिभिः सदा ॥41॥
सर्वासामेव नाडीनामेष बन्धः प्रकीर्तितः ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन स्फुटीभवति देवता ॥42॥

उस समय अपने आत्मा का लक्ष्मी के रूप में ध्यान करना चाहिए। इससे अमृत में तरबतर हुआ जा सकता है। यह योग बलरूप है। इसका बीच के द्वारभाग से आरंभ करना चाहिए। प्राण और अपान का सुयोग करके उसकी ऊर्ध्वगति की भावना करनी चाहिए। यह उत्तम योग है और देह में सिद्धि का मार्ग प्रकट करने वाला है। जैसे बीच में मेंड़ (बाँध) बाँधी हो, तो वह पानी के प्रवाह को रोकती है, वैसे ही योगियों के शरीर की छाया के बारे में समझना चाहिए। इसे 'सर्वनाडीबन्ध' कहा जाता है। इस बन्ध के सिद्ध होने पर आत्मारूप देवता स्फुट हो जाता है।

Scanned by CamScanner

अयं च सम्पुटो योगो मूलबन्धोऽप्ययं मतः ।
बन्धत्रयमनेनैव सिद्ध्यत्यभ्यासयोगतः ॥45॥
दिवारात्रमविच्छिन्नं यामे यामे यदा यदा ।
अनेनाभ्यासयोगेन वायुरभ्यसितो भवेत् ॥46॥

इस प्रकार चार मार्ग वाला यह बन्ध तीन मार्गों को रोकता है, एवं एक मार्ग को खुला कर देता है, जिससे सिद्ध हुए मनुष्यों ने अच्छी तरह से आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लिया है। प्राण के साथ उदान वायु को ऊर्ध्वगामी करके तुरन्त ही यह नाडियों का बन्ध किया जा सकता है। वह निरोधक है, इसलिए ऊपर ही ऊपर जाता है। यह सम्पुट योग है। इसे 'मूलबन्ध' भी माना गया है। इसका अभ्यास करने से अन्य तीन बन्ध इसी के द्वारा सिद्ध हो जाते हैं। रात-दिन और प्रहर-प्रहर पर जिस समय इसका अभ्यास किया जाता है, उस-उस समय वायु वश में आने लगता है।

वायावभ्यसिते वह्निः प्रत्यहं वर्धते तनौ ।
वह्नौ विवर्धमाने तु सुखमन्नादि जीर्यते ॥47॥
अन्नस्य परिपाकेन रसवृद्धिः प्रजायते ।
रसे वृद्धिं गते नित्यं वर्धन्ते धातवस्तथा ॥48॥
धातूनां वर्धनेनैव प्रबोधो वर्धते तनौ ।
दह्यन्ते सर्वपापानि जन्मकोट्यर्जितानि च ॥49॥
गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम् ।
शिवस्य बिन्दुरूपस्य स्थानं तद्धि प्रकाशकम् ॥50॥

इस प्रकार वायु को वश करने का अभ्यास होने पर शरीर में प्रतिदिन अग्नि बढ़ता रहता है और अग्नि के बढ़ने से अन्न आदि आसानी से पच जाते हैं। अन्न का ठीक तरह से पाचन होने से रस की वृद्धि होती है, और रस की वृद्धि होने से दिन-प्रति-दिन धातु की वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार से धातुओं के बढ़ने से शरीर में ज्ञान बढ़ जाता है, और करोड़ों जन्मों के सभी पाप जल जाते हैं। गुदा और लिंग के बीच में मूलाधार अवस्थित है, उसके तीन कोने हैं और वही स्थान बिन्दुरूप शिव का प्रकाशक स्थान है।

यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता ।
यस्मादुत्पद्यते वायुर्यस्माद्वह्निः प्रवर्धते ॥51॥
यस्मादुत्पद्यते बिन्दुर्यस्मान्नादः प्रवर्धते ।
यस्मादुत्पद्यते हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः ॥52॥
मूलाधारादिषट्चक्रं शक्तिस्थानमुदीरितम् ।
कण्ठादुपरि मूर्धान्तं शाम्भवं स्थानमुच्यते ॥53॥
नाडीनामाश्रयः पिण्डो नाड्यः प्राणस्य चाश्रयः ।
जीवस्य निलयः प्राणो जीवो हंसस्य चाश्रयः ॥54॥

वहाँ पर कुण्डलिनी नाम की पराशक्ति का स्थान है। वहाँ से वायु उत्पन्न होता है, और वहीं से अग्नि भी बढ़ती है। वहाँ से बिन्दु उत्पन्न होता है, वहीं से नाद बढ़ता है, वहीं से 'हंस' (सोऽहं मंत्र) भी उत्पन्न होता है, और वहीं से मन उत्पन्न होता है। मूलाधार आदि छः चक्र शक्ति का स्थान कहलाते हैं, और कण्ठ के ऊपर, मस्तक तक 'शांभव स्थान'—आत्मा का स्थान कहा जाता है। यह देह

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ।
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्त्वा रुद्रग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ॥65॥
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा छित्वा मोहमलं तथा ।
अनेकजन्मसंस्कारगुरुदेवप्रसादतः ॥66॥

जिस समय वायु सोम, सूर्य तथा अग्नि के सम्बन्ध से तुरन्त ही दोनों नासापुटों को खींचकर स्फुरित होता है, तब वह अमृत देने वाला होता है, ऐसा समझना चाहिए। मेरु का संचालन करने से मेरु के मध्य में रहते हुए देव चलित होते हैं, और तुरन्त ही प्रथम ग्रन्थि के द्वारा उसका वेध होता है।

Scanned by CamScanner

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ।
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्त्वा रुद्रग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ॥65॥
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा छित्वा मोहमलं तथा ।
अनेकजन्मसंस्कारगुरुदेवप्रसादतः ॥66॥

जिस समय वायु सोम, सूर्य तथा अग्नि के सम्बन्ध से तुरन्त ही दोनों नासापुटों को खींचकर स्फुरित होता है, तब वह अमृत देने वाला होता है, ऐसा समझना चाहिए। मेरु का संचालन करने से मेरु के मध्य में रहते हुए देव चलित होते हैं, और तुरन्त ही प्रथम ग्रन्थि के द्वारा उसका वेध होता है। बाद में ब्रह्मग्रन्थि भेदकर वह योगी विष्णुग्रन्थि को भेदता है। और विष्णुग्रन्थि को भेदकर रुद्रग्रन्थि को भेदता है। रुद्रग्रन्थि को भेदकर अनेक जन्मों के संस्कारों तथा गुरु की कृपा से मोहरूपी मैल को काटकर वह परमपद को प्राप्त हो जाता है।

योगाभ्यासात्ततो वेधो जायते तस्य योगिनः ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्नानाडिमण्डले ॥67॥
मुद्राबन्धविशेषेण वायुमूर्ध्वं च कारयेत् ।
ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घो मोक्षप्रदायकः ॥68॥
आप्यायनः प्लुतो वापि त्रिविधोच्चारणेन तु ।
तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ॥69॥
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ।
ह्रस्वं बिन्दुगतं दैर्घ्यं ब्रह्मरन्ध्रगतं प्लुतम् ।
द्वादशान्तगतं मन्त्रं प्रसादं मन्त्रसिद्धये ॥70॥

इस प्रकार योगाभ्यास करने के बाद, उस योगी को इडा और पिंगला के बीच की सुषुम्ना नाडी के मण्डल में वेध होता है। इसके लिए मुद्रा तथा बन्धों की विशेषता के द्वारा वायु को ऊर्ध्व गतिवाला करना चाहिए। वह वायु ह्रस्व होता है, तो पापों को जलाता है, और दीर्घ होता है तो मोक्षदायक होता है, और प्लुत हो तो पुष्टिकारक होता है। इस प्रकार तीन प्रकार के उच्चारणों से वह युक्त होता है। घण्ट के दीर्घ निनाद जैसा और तेल की धारा की तरह अविच्छिन्न ऐसा प्रणव का जो अग्र भाग है, वह अवर्णनीय है। उसे जो जानता है, वह वेदवेत्ता है। इस प्रणवमंत्र के ह्रस्व भाग को बिन्दु में अवस्थित मानकर तथा दीर्घ भाग को ब्रह्मरन्ध्र में तथा प्लुत भाग को द्वादशार चक्र के अन्त में अवस्थित मानकर ध्यान करना चाहिए, जिससे प्रसादरूप होकर वह मंत्र की सिद्धि के लिए हो।

Scanned by CamScanner

७. मूर्च्छा कुम्भक :—

सर्वप्रथम सिद्धासन में बैठना चाहिये। दोनों नासिकारन्ध्रों से गहरा श्वास लेकर कुम्भक करें। पूरक के अन्त में कुम्भक के समय ठोड़ी (चिबुक, दाढ़ी) को गले से नीचे के गड्ढे में टिकाकर "जालन्धर बन्ध" लगाना चाहिये।[3] इसके बाद दोनों तर्जनी-मध्यमा से आँख की पलकों को कोमलता से बन्द करके दोनों अनामिका से नासिकारन्ध्रों को बन्द करें। पुनः कनिष्ठा से अधर को दबाकर ओष्ठ बन्द करें। श्वास अन्दर रोककर मूलबन्ध और रेचक के अन्त में उड्डीयान बन्ध करें। दम घुटने से पूर्व अंगुलियों को हटाकर दोनों नासिकाओं से श्वास बाहर निकालना चाहिये।

मूलबन्ध में सिद्धासन लगा रहेगा अर्थात् एड़ी से कन्द स्थान (जननेन्द्रिय मूल और गुदा के बीच) को दबाकर दूसरी एड़ी से लिङ्गमूल को दबाना चाहिये। इसके बाद गुदा का संकुचन करते हुये अपान वायु को ऊपर की ओर आकृष्ट करें[4] तथा साथ ही प्राणवायु को कण्ठ से नाभि की ओर ले जाना चाहिये। पूरक के आरम्भ के साथ-साथ इस क्रिया का भी आरम्भ हो जाना चाहिये। कुम्भक के समय तक नाभि-स्थान में प्राण और अपान वायु का संगम कराना चाहिये। यही मूलबन्ध है। इसके बाद रेचक के समय श्वास निकालने के साथ अपान वायु के विरेचन की स्थिति में गुदा के संकुचन का त्याग या शिथिलीकरण करना चाहिये। उड्डीयान बन्ध कुम्भक के अन्त में रेचक के प्रारम्भ में करना चाहिये। इस समय

---

१. हठयोग प्रदीपिका, २/६३-६६

२. घेरण्डसंहिता, ५/८०-८१।

३. हठयोग प्रदीपिका, २/६९।

४. वही, ३/६१।

नाभि के ऊपरी तथा नीचे के भाग (उदर) को पीठ की ओर इस प्रकार ताने अर्थात् आकर्षण करें कि नाभि के ऊपर नीचे के भाग पीठ से मिल जायें।[1]

Scanned by CamScanner

एकस्तंभं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः?"

[३] षट्चक्र

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
आधारचक्र	स्वाधिष्ठानचक्र	नाभिचक्र	अनाहतचक्र	विशुद्धिचक्र	आज्ञाचक्र	सहस्रदलचक्र
४ दल	६ दल	१० दल	१२ दल	१६ दल	२ दल	(ब्रह्मरन्ध्र मे स्थित)

खगाण्डवत कन्दयोनि = नाड़ी मण्डल में ७२००० नाड़ियाँ हैं।

[४] प्रधान नाड़ियाँ

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
'इड़ा' वाम भाग में स्थित	'पिंगला' दक्षिण भाग में स्थित	'सुषुम्णा' मध्यदेश में स्थित	'गांधारी' वामचक्षु में स्थित	'हस्ति' दक्षिणचक्षु में स्थित	'पूषा' दक्षिण कर्ण में स्थित	'यशस्विनी' वामकर्ण में स्थित

(८)	(९)	(१०)
अलम्बुषा (मुख में स्थित)	कुहूनाड़ी (लिङ्ग में स्थित)	शंखिनी नाड़ी (मूलस्थान में स्थित)

ये १० नाड़ियाँ प्राणवाहिनी नाड़ियाँ हैं।

*** इड़ा, पिङ्गला एवं सुषुम्णा नाड़ियाँ ***

'इड़ा पिङ्गला सुषुम्णा च नाड़ी मार्गे समाश्रिताः।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः।'

'इड़ा' का देवता-सोम।। **'पिङ्गला' का देवता**—सूर्य। **'सुषुम्णा' का देवता**—अग्नि।

[५] * प्राण मण्डल और १० प्राण *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)	(९)	(१०)
'प्राण'	'अपान'	'समान'	'उदान'	'व्यान'	'नाग'	'कूर्म'	'कृकर'	'देवदत्त'	'धनञ्जय'
हृदय में स्थित वायु	गुदा में स्थित वायु	नाभि में स्थित वायु	कण्ठ के मध्य स्थित	शरीर में व्याप्त वायु	उद्गिरण में स्थित वायु	उन्मीलन में स्थित वायु	भूख में स्थित वायु	विजृंभण में स्थित वायु	मृत्यु की स्थिति में भी न छोड़ने वाली वायु

[६] *** प्राणापान की क्रीड़ा एवं गेंद रूप जीव ***

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलति कन्दुकः।
प्राणपानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति।

* प्राणापान द्वारा निरन्तर आक्षिप्त जीव क्षण भरके लिये भी स्थिर नहीं हो पाता यथा खेला जाता हुआ कन्दुक।।

[७] *** प्राणापानाकर्षण एवं जीव की दयनीय स्थिति ***

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते।।

प्राण एवं अपान को समरस करना ही योगी की साधना है।

Scanned by CamScanner

* प्राणापान का समरसीकरण *

'अपानः कर्षति प्राणं, प्राणोऽपानं च कर्षति।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित्॥'

योगी का लक्ष्य है ऊपर-नीचे गतिशील प्राणापान को समरस करना। प्राणपान की गति या क्रियायें—

(१) दोनों परस्पर एक-दूसरे को ऊपर नीचे खींचती हैं और उनके साथ जीव भी रातदिन ऊपर-नीचे खिंचता रहता है।

(२) गुणबद्धजीव प्राणापान द्वारा ऊपर-नीचे लगातार उसी प्रकार खिंचता रहता है यथा रस्सी से बँधा श्येन पक्षी।

[८] * **अजपा जप—जीवों की स्वाभाविक मन्त्र-साधना** * इसे ही 'अजपा गायत्री' या 'हंसमंत्र' भी कहते हैं। इस श्वासोच्छ्वासोच्चारित स्वयंसञ्चरित मंत्र में मन को लीन करना ही अजपा जप की साधना है। यह जप अहर्निश (प्रति अहोरात्र में २१ हजार ६०० बार) चलता रहता है। **'हकार'** के साथ श्वास बाहर आती है और **'सकार'** के साथ बाहर जाती है। इस प्रकार अहर्निश "हंसः हंसः" का जप प्रत्येक प्राणी द्वारा निरन्तर किया जाता रहता है—

'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
षट्शतानित्वहो रात्रे सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं **मन्त्रं** जीवो जपति सर्वदा॥'

—(गो० श०)

योगी का लक्ष्य यह है कि वह 'हंसः' अजपा नाम गायत्री मंत्र को उलटकर 'सोऽहं सोऽहं' के रूप में सुने। यही अजपा गायत्री है। अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी। अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥"

अजपा गायत्री की उत्पत्ति कुण्डलिनी से होती है। यह **'प्राणविद्या' 'महाविद्या'** एवं **'गायत्री'** है—

'कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स **योगवित्**॥'

इस प्राणविद्या का सम्यक् ज्ञाता ही **"योगविद्"** कहलाता है।

[९] * **कुण्डलिनी योग और उसकी साधना** *

मनुष्य के **'नाड़ी-केन्द्र'** के ऊर्ध्व में आठ फेंटे लगाकर स्थित, मुख से ब्रह्मद्वार को रोककर अवस्थित तथा स्वयंभूलिंग को वेष्टित करके विद्यमान जो प्रसुप्ता परमेश्वरी **'मूलाधार चक्र'** में विश्राम कर रही है, उसका ही नाम है **'कुण्डलिनी'**। उसे **'वह्नियोग'** से प्रबुद्ध करके सुषुम्णा में स्थित षट्चक्रों एवं ग्रंथित्रय का भेदन कराते हुए साधक का उसे सहस्रारस्थ शिव से मिलाना (सामरस्य कराना) ही **कुण्डलिनी योग की साधना है।** यह **'कुलाकुलयोग'** ही (शिव-शक्ति-सामरस्य ही) **कुण्डलिनी योग की साधना** है। इसी सामरस्य से योगी **'मोक्ष'** पाता है—

'कुण्डलिन्या तथा योगी **मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्**।।' 'शक्तिचालनी**मुद्रा' 'भस्त्रिका-प्राणायाम' 'वज्रासन'** आदि साधन कुलशक्ति के प्रबोधन के प्रधान साधन हैं।

Scanned by CamScanner

[१०] * कुण्डलिनी शक्ति के व्यापार *

कुण्डलिनी की सुषुप्ति ही जीवों का बन्धन है एवं उसको जागृत करके उसको अकुल से मिलाना ही जीवों की भुक्ति है। अतः 'कुण्डलिनी' मूढ़ों के लिए बन्धनकारिणी एवं योगियों के लिए मोक्षदा है—

'कुन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा स्मृता॥'

मुद्राभ्यास—मुक्ति प्राप्त करने के साधनों में **मुद्राभ्यास** भी महत्वपूर्ण है—

'स योगी भुक्तिभाजनम् ॥'

मुख्य मुद्राएँ हैं—**'महामुद्रा' 'नभोमुद्रा' 'उड्डियान' 'जालन्धर'** एवं **'मूलबन्ध'**। **'खेचरी मुद्रा'** का अपना विशिष्ट महत्व है।

[११] **अमृतपान एवं 'खेचरीमुद्रा'**—

'कालवञ्चन', 'अमृतत्व की प्राप्ति', 'पिण्डपदसमरसीकरण', 'निरुत्थान' ही **नाथ-योग के मुख्य लक्ष्य हैं।**

[१२] * **बिन्दु-साधना (बिन्दुयोग)** *—

योगी गोरक्षनाथ कहते हैं कि—'बिन्दुमूलं शरीरं तु शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।'' समस्त शरीर बिन्दु' पर ही तो अवस्थित है, अतः—

'मरणं **बिन्दुपातेन,** जीवनं बिन्दुधारणात् ॥''

बिन्दु के पतन को रोकने के लिए **'खेचरी मुद्रा'** (जिह्वा को उलट कर कण्ठमूल में ले जाना) अत्यन्त सहायक है। **जब तक बिन्दु रक्षित** है मृत्यु संभव नहीं है—

'ब्रह्मचर्येण देवाः मृत्युमुपाघ्नत।' (वेद)
'यावद् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः?'

'खेचरीमुद्रा' 'नभोमुद्रा' एवं 'वज्रोली'—की साधना से बिन्दु का अधःपतन होता ही नहीं। अतः ये साधनायें आवश्यक हैं। बिन्दु का ऊर्ध्वीकरण एवं 'उर्ध्वरितसत्व' ही ब्रह्मचर्य-साधना या **बिन्दु-साधना का प्राथमिक लक्ष्य** है। बिन्दुजय से अमृतत्व एवं अनेक सिद्धियों की प्राप्ति **द्वितीय लक्ष्य** है। ब्रह्मत्व-साक्षात्कार एवं समरसीकरण तथा मोक्षाप्ति **अन्तिम लक्ष्य** है।

'बिन्दु' और उसके भेद—'बिन्दु' के दो भेद हैं—

(१) 'पाण्डुर बिन्दु (शुक्र) (२) 'लोहित बिन्दु' (महाराज)।

(१) शुक्र का स्थान : यह चन्द्रस्थान में स्थित है। 'बिन्दु' **शिव** है। बिन्दु **'चन्द्र'** है।

(२) रज का स्थान : यह नाभि में स्थित 'रज' **शक्ति** है। रज **'रवि'** है।

* इन **दोनों की एकता** अत्यन्त दुर्लभ है। इन दोनों के संगम से **'परमपद'** की प्राप्ति होती है। *

वायु के द्वारा शक्ति का चालन करने से जब महारज ऊर्ध्वमुख होकर एवं बिन्दु से मिलकर एक हो जाता है और तब शरीर दिव्य हो जाता है। बिन्दु-साधना से परमपद की प्राप्ति होती है—'उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ।'

Scanned by CamScanner

* बिन्दु-साधना मोक्ष का साधन है। *

[१३] * ओंकार की साधना *

एकान्त स्थान में सम्यक रीति से **पद्मासनस्थ** होकर, **कण्ठ एवं शिर को समसूत्र में रखकर, नासाग्रभाग** पर **दृष्टि** रखकर **ओंकार का जप** करना चाहिए—

"पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम्।।"

जिसकी मात्राओं में 'भूः', 'भुवः' एवं 'स्वः' तीनों लोक एवं चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि देवता स्थित हैं—वही परम ज्योति ओंकारस्वरूप है। (ओंकार का स्वरूप)

ओंकार का स्वरूप

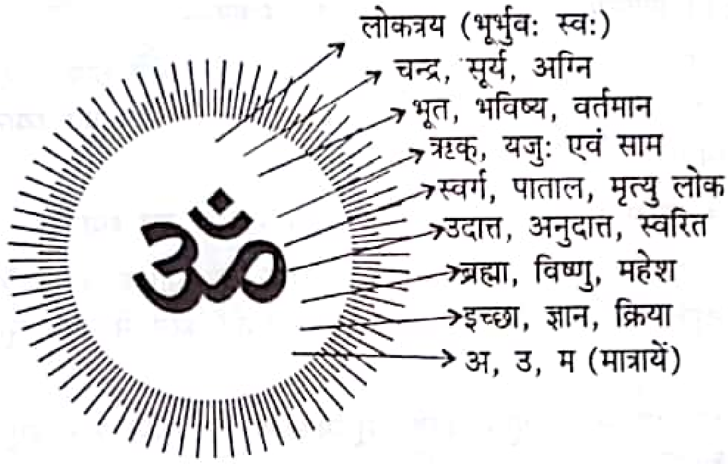

प्रणवाभ्यास की आन्तर साधना—

'(१) **वचसा** तज्जपेद् बीजं' = प्रणव की वाणी-साधना
'(२) **वपुषा** तत्समभ्यसेत्' = शरीर-साधना
'(३) **मनसा** तत्स्मरेन्नित्यं' = मन की साधना
'तत्परं ज्योतिरोमिति।'

'(४) शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत् प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।'

(पवित्रापवित्र सभी स्थितियों में प्रणव का निरन्तर जप करते रहना चाहिए। इससे किसी भी पाप का स्पर्श नहीं होता।)

प्राण का बिन्दु से सम्बंध—

'चले वाते चलोबिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।।'
(वातचांचल्य→बिन्दु चाञ्चल्य।
वातस्थिरता→बिन्दु-स्थिरता
बिन्दु-स्थिरता→वात-स्थिरता

मरुत-स्थैर्य, चित्त-स्थैर्य एवं भ्रूमध्य मेंदृष्टि का स्थैर्य होने पर —मृत्यु का भय कहाँ?—

Scanned by CamScanner

"यावद् बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराभयम्।
यावद् दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः?।।"

प्राणापान की गति—प्राणापान की संचार-मात्रा ३६ अंगुल होती है।
प्राणवायु का संग्रह (प्राणस्थैर्य) आवश्यक है।
प्राणायाम से ही नाड़ी-शोधन होता है।

[१४] प्राणायाम के पूर्व चन्द्रबिम्ब का ध्यान—

'कुंभक' एवं 'रेचक' से युक्त प्राणायाम-साधना और उसके साथ—(१) अमृत स्वरूप (श्वेत वर्ण के) (२) दधि (धवल) (३) दुग्ध (धवल) **का ध्यान** करके प्राणायामाभ्यास करने वाला सदैव सुखी रहता है।

*** नाभि में अग्निपुञ्जवत प्रदीप्त सूर्य मण्डल का ध्यान ***

प्राणायाम-साधना के समय कुम्भक के काल में साधक को नाभिदेश में स्थित अग्निपुञ्ज के समान प्रदीप्त सूर्यमण्डल का ध्यान करने से बहुत सुख प्राप्त होता है।

दाहिने नासारन्ध्र से पूरक करके **'सूर्यमण्डल'** का ध्यान करते हुए कुम्भक करना चाहिए।

सूर्य एवं चन्द्र की विधि से दोनों बिम्बों—का ध्यान करने से **तीन माह के भीतर** नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। **नाड़ी-शोधन के परिणाम—**

(१) नाड़ियों का शोधन (शुद्धीकरण)
(२) प्राणवायु को धारण करने की सामर्थ्य
(३) जठराग्नि की दीप्ति
(४) आरोग्याप्ति
(५) नाद-श्रवण

'सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतः।
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मात्त्रयादूर्ध्वतः।
यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपकम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्।।'

—गोरक्षशतक

'योगबीज' और उसके सिद्धान्त

'योग की परिभाषा क्या है?
गोरक्षनाथ कहते हैं—
(१) **प्राण एवं अपान** का समायोग ही **'योग'** है।

Scanned by CamScanner

प्राणसाधना का महत्त्व—नाथपंथी कहते हैं कि गुरु उसी को बनाना चाहिए जो प्राण पर विजय प्राप्त कर चुका हो—

'मरुज्जयो यस्य सिद्ध्येत् सेवयेत्तं गुरुं सदा।'

कुण्डलिनी-योग—अपनी सुषुप्त शक्ति को जाग्रत किये बिना या पाताल की **'शक्ति'** को स्वर्ग (मुक्ति) लोक के **'शक्तिमान्'** (अकुल) से समरस किये बिना मुक्ति एवं अपने **'स्व' का पूर्ण विकास** संभव नहीं है।

प्राणायाम—कुण्डलिनी-साधना के विधान में गोरक्षनाथ ने प्रथम साधन प्राणायाम को स्वीकार किया है। ('वज्रासन' में बैठकर) एवं बालिस्तभर लम्बे एवं चार अंगुल चौड़े कोमल श्वेत वस्त्र से नाभि को वेष्टित करके **शक्तिचालन युक्ति** से वायु का कुम्भक करना चाहिए।

अष्टकुण्डलकुण्डलित कुण्डलिनी को सीधा करने हेतु **प्राणवायु का आकुञ्चन** करना चाहिए। इसके बाद **कुण्डली का चालन** करना चाहिए।

१५ दिनों तक **'वज्रासन'** से बैठकर **'शक्तिचालिनी मुद्रा'** का अभ्यास करना चाहिए।

---

१. योगबीज (७२)
२. योगबीज (८७)

प्राण-संयमन से वायु तप्त हो उठती है और इस वायु से प्रज्वलित अग्नि कुण्डलिनी को प्रतप्त कर देती है। इससे व्याकुल होकर 'कुण्डलिनी शक्ति' सुषुम्णा के मुख में प्रवेश कर जाती है और वज्रदण्ड में वायु तथा अग्नि के साथ प्रवेश करके 'ब्रह्मग्रंथि' का भेदन करके रुद्रग्रंथि में प्रविष्ट हो जाती है। फिर कुंभक के सिद्ध होने पर (१) सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली एवं भस्त्रिका का अभ्यास करना चाहिए। ये चार प्रकार के कुंभक प्राणायाम हैं। बंधत्रयक से युक्त केवल प्राणायाम से योग साधना सिद्ध हो जाती है।[१]

प्राणायाम के ८ भेद हैं—उनमें (१) सूर्यभेदन (२) उज्जायी (३) शीतलीकरण एवं (४) भस्त्रा प्राणायाम से कुण्डलिनी जाग उठती है।

(१) 'सूर्यभेद'→उदर के वायु विकार का नाश, गले के दोषों का अन्त, शरीर में कान्ति-वृद्धि, अग्नि-वृद्धि, शिर के रोग, जलोदर एवं धातुगत रोग नष्ट हो जाते हैं।

(२) 'उज्जायी'→चलते-फिरते, रुकते उज्जायी का अभ्यास करना चाहिए।

(३) शीतलीकरण→पित्त एवं ज्वर का नाश।

(४) 'भस्त्रा'→वात, पित्त, कफ का नाश। इससे कुण्डलिनी जागृत होती है, वह टेढ़ी से सीधी हो जाती है, ग्रंथि त्रय का भेदन होता है और ब्रह्मनाड़ी के मुख पर कफ रूप अवरोध का नाश होता है।

बंध-साधना—बंधों में (१) मूल बन्ध (२) उड्डियान (३) जालन्धर प्रधान है। उनका अभ्यास करना चाहिए। (१) मूल बन्ध से—प्राण एवं अपान वायु + नाद विन्दु में एकता आती है।

(२) उड्डियान—(कुंभक के आदि एवं रेचक के अन्त में करणीय बंध) सुषुम्णा में बद्धप्राण ऊपर की ओर उड़ता है।—वृद्ध भी तरुण हो जाता है। ६ माह के निरन्तराभ्यास से प्राण का वशीकरण एवं इच्छामृत्यु की प्राप्ति होती है।

Scanned by CamScanner

बंध-साधना—बंधों में (१) मूल बन्ध (२) उड्डियान (३) जालन्धर प्रधान है। उनका अभ्यास करना चाहिए। (१) मूल बन्ध से—प्राण एवं अपान वायु + नाद बिन्दु में एकता आती है।

(२) **उड्डियान**—(कुंभक के आदि एवं रेचक के अन्त में करणीय बंध) सुषुम्णा में बद्धप्राण ऊपर की ओर उड़ता है।—वृद्ध भी तरुण हो जाता है। ६ माह के निरन्तराभ्यास से प्राण का वशीकरण एवं इच्छामृत्यु की प्राप्ति होती है।

(३) **'जालन्धर बंध'**(पूरकान्त में अवश्य करणीय)—वायु मार्ग का निरोध, हृदय में वायु का अवरोध। यह बन्ध **अमृतस्वरूप** है और इससे प्राण **'ब्रह्मनाड़ी'** में प्रविष्ट हो जाता है।

कुण्डली-साधना—प्रथमत: योगी को (१) वज्रासन में बैठना चाहिए। फिर (२) कुण्डलिनी का चालन करना चाहिए। (३) फिर भस्त्रा प्राणायाम द्वारा उसे शीघ्र प्रबोधित करना चाहिए।

---

१. योगबीज (१००)

"वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्।।"

इस साधना से मेरुदण्ड में वायु से, ग्रंथियों का भेदन होता है। इससे मेरुदण्ड में खुजली होती है। यथा चींटी के चढ़ने-सी प्रतीत होती है। उसके बाद **'रुद्रग्रंथि'** का भेदन होता है। अत: शिवात्मकता प्राप्त होती है। अन्त में **शिवशक्ति समागम** से परम स्थिति प्राप्त होती है।

'शिवशक्तिसमायोगाज्जायते परमा स्थिति:।।'

जैसे हाथी सूँड़ से पानी खींचता है, वैसे ही **सुषम्णा नाड़ी पवन को अपने भीतर खींचती है।** मेरुदण्ड में **२१ मणि स्थित हैं। सुषुम्णा मोक्षमार्ग है।** सुषुम्णा में सूर्य-चन्द्र (पिंगला-इड़ा) के निबन्धन से **काल पर भी विजय** प्राप्त हो जाती है। **'पश्चिमद्वार'** (सुषुम्णा) में वायु-प्रवेश करायें। इससे वायु समस्त शरीर में प्रविष्ट हो जाती है। इसमें 'पूरक' 'रेचक' दोनों का अन्त हो जाता है। यही है **'नाथ सङ्केत'** या **'सिद्धसङ्केत'**।

प्राण एवं चित्त का सम्बंध

(१) यदि चित्त प्राण में लयीभूत हुआ तो—
(२) चित्त में प्राण का भी लय हो जाता है।
(३) जिसके प्राण एवं चित्त में सामरस्य स्थापित नहीं हुआ उसका शास्त्र एवं गुरु एवं उसकी आत्मप्रतीति सभी निष्फल हैं—

'चित्तं हि नष्टं यदि मारुते स्यात्,
तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाश:।
न चेदिदं स्यात्र तु तस्य शास्त्रं,
नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्ष:'

उसे 'मोक्ष' भी कभी नहीं प्राप्त हो सकता।

Scanned by CamScanner

प्राण एवं चित्त का सम्बंध

(१) यदि चित्त प्राण में लयीभूत हुआ तो—

(२) चित्त में प्राण का भी लय हो जाता है।

(३) जिसके प्राण एवं चित्त में सामरस्य स्थापित नहीं हुआ उसका शास्त्र एवं गुरु एवं उसकी आत्मप्रतीति सभी निष्फल हैं—

'चित्तं हि नष्टं यदि मारुते स्यात्,
तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाश:।
न चेदिदं स्यान्न तु तस्य शास्त्रं,
नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्ष:'

उसे **'मोक्ष'** भी कभी नहीं प्राप्त हो सकता।

योगाभ्यास और 'ब्रह्मनाड़ी'—

(१) निरन्तर अभ्यासयोग से **'ब्रह्मनाड़ी'** समस्त धातुओं को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

(२) **आसन-बन्ध-अभ्यास योग** से **'चित्त' प्राण में विलीन** हो जाता है। अत: **विन्दु अधोगामी नहीं हो पाता।**

(३) अनेक **नादों की उत्पत्ति होती है।**

(४) भूख, प्यास आदि दोषों का अन्त हो जाता है।

योगी **सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित** हो जाता है।

'काकमत' की सर्वोच्च श्रेष्ठता—गोरक्षनाथ कहते हैं कि 'काकमत' से श्रेष्ठतर कोई नहीं है—

(१) 'तस्मात्**काकमतान्नास्ति** त्वभ्यासारव्य मत: परम्॥'

(२) बिना **कर्म** के योगसिद्धि नहीं प्राप्त होती—

'न कर्मणा विना देवि ! योगसिद्धि: प्रजायते॥'

(३) **लयादि योग**-साधन के बिना भी सिद्धि नहीं मिलती—

(४) पूर्वजन्म-कृत अभ्यास से शीघ्र सिद्धि मिलती है—

'पूर्वजन्मकृताभ्यासात्सत्वरं फलमश्नुते॥'

इसीलिए **'काकमत'** से श्रेष्ठतर कोई मत नहीं है।

योगाभ्यास के फल—

(१) 'आदौ **रोगा: प्रणश्यन्ति**' : रोगों का अन्त।

(२) 'पश्चाज्जाड्यं **शरीरगम्**' : शरीर की जड़ता का अन्त।

(३) 'तत: **समरसो** भूत्वा' : समरसत्व की प्राप्ति।

(४) **'चन्द्रो वर्षत्यनारतम्'** : अमृत-वर्षा।

(५) **'धातुं स्व संग्रसेद** वह्नि: (फिर अग्नि पवन के साथ अपनी धातु को 'पवनेन समन्तत:।' ग्रास बना लेता है।

(६) शरीर में अनेक प्रकार के **नादों का प्रादुर्भाव**

(७) शरीर में **मृदुता** आ जाती है।

(८) पृथ्वी आदि तत्त्वों की **जड़ता को जीतकर** योगी **खेचरत्व** पाकर **ब्रह्माण्ड में स्वच्छन्द विचरण** करता है।

Scanned by CamScanner

'काकमत' की सर्वोच्च श्रेष्ठता—गोरक्षनाथ कहते हैं कि 'काकमत' से श्रेष्ठतर कोई नहीं है—

(१) 'तस्मात्**काकमतान्नास्ति** त्वभ्यासाख्य मत: परम्॥'

(२) बिना **कर्म** के योगसिद्धि नहीं प्राप्त होती—

'न कर्मणा विना देवि ! योगसिद्धि: प्रजायते॥'

(३) **लयादि योग**-साधन के बिना भी सिद्धि नहीं मिलती—

(४) पूर्वजन्म-कृत अभ्यास से शीघ्र सिद्धि मिलती है—

'पूर्वजन्मकृताभ्यासात्सत्वरं फलमश्नुते॥'

इसीलिए **'काकमत'** से श्रेष्ठतर कोई मत नहीं है।

योगाभ्यास के फल—

(१) 'आदौ **रोगा: प्रणश्यन्ति**' : रोगों का अन्त।

(२) 'पश्चाज्जाड्यं **शरीरगम्**' : शरीर की जड़ता का **अन्त**।

(३) 'तत: **समरसो** भूत्वा' : समरसत्व की प्राप्ति।

(४) **'चन्द्रो वर्षत्यनारतम्'** : अमृत-वर्षा।

(५) **'धातुं स्व संग्रसेद** वह्नि: (फिर अग्नि पवन के साथ अपनी धातु को 'पवनेन समन्तत:।' ग्रास बना लेता है।

(६) शरीर में अनेक प्रकार के **नादों का प्रादुर्भाव**

(७) शरीर में **मृदुता** आ जाती है।

(८) पृथ्वी आदि तत्त्वों की **जड़ता को जीतकर** योगी **खेचरत्व** पाकर **ब्रह्माण्ड में स्वच्छन्द विचरण** करता है।

(९) योगी **सर्वज्ञता** प्राप्त कर लेता है।

(१०) कामदेव के समान **रूपवान्** हो जाता है।

(११) पवन के समान **वेगवान्** हो जाता है।

(१२) **लोकत्रय में रमण** करता है।

(१३) **समस्त सिद्धियाँ** प्राप्त हो जाती हैं।

(१४) **अहंकार का** लय हो जाने पर देह में कठिनता नहीं रह जाती और इस स्थिति में—

'सर्वज्ञ: सर्वकर्ता च स्वतंत्रो विश्वरूपवान्।
जीवन्मुक्तो भवेद् योगी स्वेच्छया भुवने भ्रमेत्॥'[1]

---

१. योगबीज (१७०)

(३) **गोरक्षनाथ और योगाङ्ग—**

(क) **'गोरक्ष शतक'** में —षडङ्गयोग का प्रतिपादन।

(ख) **'सिद्धसिद्धान्त संग्रह'** में —अष्टाङ्गयोग का प्रतिपादन।

पायु-उपस्थ के मध्यभाग में स्थित **'त्रिकोणचक्र'** में अवस्थित (अर्थात् **'अग्निचक्र'** में स्थित) जो **'स्वयंभूलिङ्ग'** है उसे **'साढ़े तीन या आठ'** वलयों से लपेट कर सुषुप्ता भगवती कुण्डलिनी शक्ति 'ब्रह्मद्वार' (सुषुम्णा का मुखद्वार) को अवरुद्ध करके अवस्थित है।[1] यही अपने ब्रह्माण्डव्याप्त स्वरूप में **'महाकुण्डलिनी शक्ति'** कहलाती है किन्तु व्यष्टि स्वरूप में **'कुण्डलिनी'**।

इसी कुलशक्ति को उद्बुद्ध करके **शिव से समरस** कराना **योगी का चरमलक्ष्य** है। योगी कुण्डलिनी की चाभी से मोक्षद्वार खोलता है—

'उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्।।'

मानव शरीर में स्थित योगोपयोगी प्रधान तत्त्व

(१)	(२)	(३)	(४)
'प्राण'	'बिन्दु'	'नाद'	'मन'
(वायु)	(शुक्र)	(शिवशक्ति का अन्त-सम्बंध वाक्तत्त्व)	(प्राणारोही तत्त्व)

'प्राण' = 'संवित् प्राक् **प्राणे** परिणता।।' (वाक्तत्त्व)

ये चारों तत्त्व अन्तर्संबंधित हैं अत: उनमें से एक के अस्थिर होने पर अन्य सभी एवं एक के स्थिर होने पर शेष अन्य सभी स्थिर हो जाते हैं। गोरक्षनाथ ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में योग विषयक दूसरी दृष्टि प्रस्तुत की है।

Scanned by CamScanner

कुण्डलिनी योग—परमशिव की शक्ति, मानव पिण्ड के मूलाधार चक्र में, प्राणी के जन्मजन्मान्तर के संचित मलों (आणव कमल, कर्म मल आदि मलों) के भार से आक्रान्त होकर स्थित है। **'नाड़ी-शोधन' 'भस्त्रिका'** (प्राणायाम) **'षट्चक्रभेदन' 'ग्रंथि-उच्छेद' 'नादानुसन्धान' 'प्रणवसाधना' प्राणापानैक्य-योग** आदि साधनों से कुण्डलिनी को 'ब्रह्मनाड़ी' में ले जाकर सारे तत्त्वों, सारी ग्रंथियों एवं सारे चक्रों का

१. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (१) (२) प्रत्य० हृ० (२)
२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् —आचार्य क्षेमराज

वेधन कराते हुए उसका 'सहस्त्रार' में परमशिव से सामरस्य कराना ही शरीर के अमृतीकरण, मोक्ष एवं जीवन्मुक्ति का मार्ग है।

Scanned by CamScanner

कुण्डलिनी के अन्य स्वरूप

(१) भगवती कुण्डलिनी **सर्वतत्त्वान्विता** है।

(२) भगवती का यथार्थ स्वरूप (स्वस्वरूप) ऊर्ध्व में ही विद्यमान है

(३) वह **विमर्शरूपिणी** है।

(४) उसी के द्वारा योगी **स्वस्वरूप (आत्मा) का ज्ञान** प्राप्त करते हैं।

*** मध्यशक्ति-प्रबोधन और परमपद ***

(नाभिदेश में अवस्थित 'मणिपूर चक्र' में विद्यमान कुण्डलिनी **'मध्यशक्ति'** कही जाती है।

(१) मूलाधार चक्रस्थ कुण्डलिनी = 'अध: शक्ति'
(२) मणिपूर चक्रस्थ कुण्डलिनी = 'मध्यशक्ति'
(३) सहस्रदलपद्मस्य कुण्डलिनी = 'ऊर्ध्वशक्ति'

'मध्यशक्ति' को जागृत करने से और 'अध:शक्ति' को ऊपर की ओर आकर्षित करने से एवं 'ऊर्ध्वशक्ति' को ऊप की ओर आकर्षित करने से एवं 'ऊर्ध्वशक्ति' कुण्डलिनी के निपात-संयोजन से **'परमपद'** की प्राप्ति हुआ करती है।[३]

(१) **आधार चक्र (मूलाधार चक्र) की कर्णिका में** त्रिकोणाकार योनि

---

१. 'अप्रबुद्धेतितत्र पिण्डचेतनरूपास्वभावेन नानाचिन्ता व्यापारोद्यमप्रपञ्चरूपा कुटिलस्वभावा कुण्डलिनी ख्याता॥' (सि०सि०प० ४।१४)

२. 'विकाराणां निवारणोद्यमस्वरूपा कुण्डलिन्यूर्ध्व **गामिनीप्रसिद्धा** भवति॥ (सि०सि०प० ४।१४)

३. मध्यशक्ति प्रबोधेन अध:शक्तिनिकुञ्चनात्।
ऊर्ध्व शक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम् ॥६॥

कामगिरि पीठ में **''अध: शक्ति कुण्डलिनी''** रहती है। इस शक्ति को अपानवायु के निकुञ्चन (आकर्षण) से ऊर्ध्वमुखी करके जागृत किया जाता है। सुषुम्णाद्वार को अपावृत करके इसे ऊर्ध्वमार्ग में चढ़ाया जाता है।

(२) **'नाभिचक्र' (मणिपूरक चक्र)** में आठ वलयों वाली इसी कुणलिनी को **'मध्य कुण्डलिनी'** कहा जाता है।

(३) कुण्डलिनी 'बन्धत्रय' के अभ्यास से समुत्थित होती है।

(४) प्राण से अपान का ऐक्य स्थापित होना **'ऊर्ध्वशक्तिपात'** है। षट्चक्रभेदनोपरान्त (एवं ग्रंथित्रयभेदनोपरान्त योगी) **''सहस्रार''** में कुण्डलिनी के साथ पहुँचकर **'परमपद'** प्राप्त करता है।

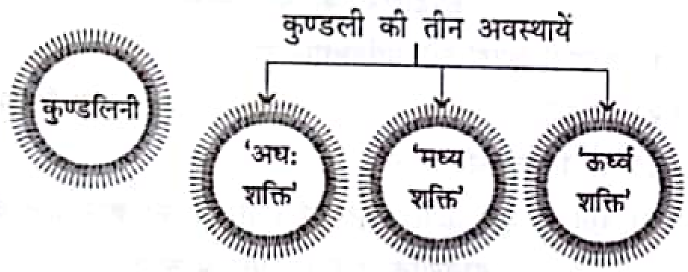

'अध:शक्ति' कुण्डलिनी का स्वरूप—

'अधः शक्ति' कुण्डलिनी का स्वरूप—

(१) कुण्डलिनी का यह स्वरूप बाह्येन्द्रिय व्यापारों से युक्त एवं नाना चिन्ताओं से संयुक्त है—

'बाह्येन्द्रिय व्यापार-नानाचिन्तामया **सैवाधः शक्तिरित्युच्यते।''**

—(सि०सि०प० ४।१८)

(२) 'अतएव योगिनस्तस्या आकुञ्चने रता यस्या आकुञ्चन मूलाधारबन्धनात्सिद्धं स्यात्।'

—(सि०सि०प० ४।१८)

योगी मूलाधार में स्थित इस शक्ति के आकुञ्चन-संकोचन में तत्पर रहते हैं। 'मूलाधार चक्र' के बन्ध के अभ्यास (अपान और प्राण का ऐक्य स्थापित होने पर उड्डियान एवं जालन्धर बन्ध की सिद्धि) से यह शक्ति ऊर्ध्वमुखी होकर जाग जाती है और साधक को परमानन्द की प्राप्ति करा देती है।

(क) **'मूलबन्ध'** (ख) **'उड्डियान बन्ध'** (ग) **'जालन्धर बन्ध'**—बंधत्रय से कुण्डलिनी महाशक्ति 'सहस्रार' में पहुँच जाती है।

(३) जिससे चराचर, स्थावर जंगम एवं चिद्-अचिद् **समस्त जगत की उत्पत्ति**

होती है—वही **'मूलाधार'** है। जिसके संकोच-प्रसरण से कुण्डलिनी का प्रबोधन होने पर ज्ञान की वृद्धि होती है।—यह **मूलाधार ही संवित्प्रसारण भूमि है।**[१]

(४) **मूलशक्ति**—समष्टिरूप सर्वेश्वरी कुण्डलिनी 'महाशक्ति' के व्यापार कार्य से ही (संकोच-प्रसरण से ही) जगत का सृजन एवं संहार होता है। योगी इस मूल शक्ति का ध्यान कर जगत की सृष्टि और संहार कर सकता है। मूलाधार चक्रस्थिता महेश्वरी शक्ति **'मूल शक्ति'** है। यही कारण है कि सारे सिद्ध **मूलाधाररत होते** हैं।[२]

(५) **मध्याशक्ति**—यह कुण्डलिनी चिद्रूप होने से जीवात्मा, का यथार्थ स्वरूप है। अविद्या के कारण संसार-बंधन में एवं विषयादि मृगतृष्णा में आसक्त जीवात्मा को यह **'मध्या शक्ति'** अपने चिद्रूप स्वप्रकाश में धारण करने में समर्थ है। कुण्डलिनी शक्ति— (क) स्थूल (ख) सूक्ष्म दो प्रकार की है।

कुण्डलिनी के दो रूप हैं—

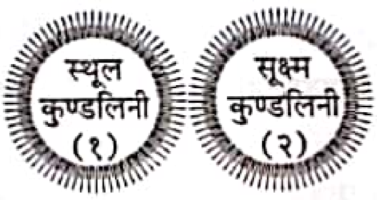

गोरक्षनाथ कहते हैं कि तरङ्गित स्वभाव वाली जो जीवात्मायें व्यर्थ में भटकती रहती हैं वे भी अपने आत्मप्रकाश के मध्य स्वस्वरूप प्राप्त कर सकती हैं, क्योंकि **'मध्या शक्ति' कुण्डलिनी** अपने चिद्रूप स्वप्रकाश में जीवात्मा को धारण करने में समर्थ है।[१]

Scanned by CamScanner

स्थूल-सूक्ष्म कुण्डलिनी—'स्वस्वरूपतया सदा धारयितुं समर्था या सा कुण्डलिनी मध्याशक्तिर्गीयते।''

''**स्थूलसूक्ष्मरूपेण** महासिद्धानां प्रतीयते॥''

[*]यद्यपि मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी योग-सिद्ध पुरुषों के अतिरिक्त संसार में

---

१. 'यस्माच्चराचरं जगदिदं चिदचिदात्मकं प्रभवति तदेव मूलाधारं संवित्प्रसरं प्रसिद्धम्॥' (४।१९)

२. 'सर्वशक्तिप्रसरसंकोचाभ्यां जगत्सृष्टिः संहतिश्च भवत्येव न सन्देहस्तस्मात्सा मूलमित्युच्यते। अतः प्रायेण सर्वे सिद्धा मूलधाररता भवन्ति। (४।२०)॥

३. तरङ्गितस्वभावं जीवात्मानं वृथाभ्रमन्तीमपि स्वप्रकाश मध्ये स्वस्वरूपतया सदा धारयितुं समर्था या सा कुण्डलिनी मध्याशक्तिर्गीयते स्थूलसूक्ष्मरूपेण महासिद्धानां प्रतीयत इति निश्चयः॥—(सि० सि० प० ४।२१)

४. 'स्थूलेति निखिलग्राह्या धारविग्राह्य स्वरूपापि पदार्थन्तरे भ्राम्यमाणा चिद्रूपा या वर्तते सा कुण्डलिनी साकारास्थूलापुनस्त्वियमेव स्वप्रसारचातुर्यतया वर्तमाना योगिनां परमानन्दतया कुण्डलिया निश्चयभूता वर्तते सा सूक्ष्मा निराकारा प्रबुद्धा महासिद्धानां मते प्रसिद्धाः॥ (सि०सि०प०४।२२)

Scanned by CamScanner

भस्तीका भ्रमरीमूर्छा केवलश्चाष्टकुंभकाः ॥

पूरकांते तु कर्तव्यो वंधोजालं धराभिधः ।
कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तुड्डियानकः ॥

अधस्ता कुंचने भाशुकंठसंकोचने कृते ।
मध्यपश्चिमतानेन स्यात् प्राणो मध्यनाडिगः ॥

अपानमूर्द्धमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयेत् ।
योगी जराविमुक्तश्च षोडशाब्द वयो भवेत् ॥

अथासने सुखादेव वध्वावज्रासनं ततः ।
दक्षणाड्यासमाकृख्य वहिस्थापवनं शनैः ॥

आकेशाग्रान्नखाग्रं च शिरोप्यवधिकुंभयेत् ।
कृत्वा वैवामनाड्या च चालयेत् पवनं शनैः ॥

पृ। १६१अ)

कपालशोधनं वात दोषघ्नं कृमिनाशनं ।

पुनः पुनरिदं सूर्य भेदनं समुदाहृतं ॥

मुखं स यस्य नासाभ्यां आकृष्य पवनं शनैः ।
यदा च गति कंठांतं हृत्पद्मवधिशोधनं ॥

पूर्ववत् कुंभयेत् प्राणाद्रेचयेदितया ततः ।
श्लेष्मादोषहरं देह वलदीप्तिविवर्द्धनं ॥

कुंभं कुर्यात् सदा वक्राद् घ्राणे चैव विजृंभितं ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकं ॥

योगी चक्रं समासाद्य सृष्टिसंहारकारकः ।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं तु जायते ॥

भवेश्वछंद देहश्च सर्वोपद्रव वर्जितः ।
अनेन विधिना सत्यं योगींद्रो भुवि मंडले ॥

रसना तालु मूलेन यः प्राणं सततं पिबेत् ।
स भवेत् सर्वसिद्धीनां भाजनं नात्रसंशयः ॥

रसना तालु मूलेन यः प्राणं सततं पिबेत्।

अब्दार्द्धेन भवेत् तस्य सर्वगां सुस्थिरः क्रियां॥

जिह्वाया वायुमाकृष्य पूर्ववत् कुंभसाधनं।

प्राणैस्तु प्रणरंध्राभ्यां रेचयेदनिलं शनैः॥

गुल्म श्लेष्मादयो दोषाः ज्वरपित्तक्षुधा तृषा।

एतानि शीतली नामः कुंभकोयं निहंति च॥

उर्वोरुपारसंस्थाप्य उभे पादतले तथा।

पद्मासनं भवेत् सम्यक् सर्वपापप्रणाशनं॥

सम्यक् पद्मासने वध्वा समगीवोदरः सुधी।

प्। १६१ब्)

मुखं संयस्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन्द रेचयेत्।

अथैव स्वशरीरस्थं चारयेत् पवनं स्थली॥

सुखसंम्यक् प्रयत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ।
यदा गलति हृत्कंठे कपालपवनं ततः ॥

वेगेन पूरयेत् केचिद् हृत्पद्मावधिमारुतं ।
पुन विरेचयेत् तद्वत् पुरयेच्च पुनः पुनः ॥

यथैव लोहकाराणां भस्त्री वेगेन चारयेत् ।
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत् पवनं शनैः ॥

यदाश्रमो भवेन् देहे तदा सूर्येण रेचयेत् ।
अथोदरं भवेत् पूर्णं रेचनैर तथा लघु ॥

धारयेन्नासिका मध्ये अंगुलीभ्यां तथा दृढं ।
कुंभकं पूर्ववत् कृत्वा रेचयेद्धित्रया निल ॥

वातपित्त श्लेष्म हरं शरीराणि विवर्द्धनं ।
कुंडली बोधकः कुंभो रोगघ्नः सुखदः शुभः ॥

ब्रह्मनाडी मुखे संस्थः कपालार्गल नाशनः ।

सम्यग्सस्त्रासमुद्भूतो ग्रंथि त्रय विभेदकः॥

वेगाद्दोषं पूरकं भृंगनादं भृंगी नादं रेचकं मंद

मंदं।

योगींद्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्तै पाताका चिदानन्दमूर्छा॥

पूरकांते वहुतरं वध्वा जालंधरै शनैः।

रेचयेन् मूर्छनास्थोयं मनोमूर्छासुखप्रदः॥

अंतः प्रवर्तिता धार मारुता पूरितोदरः।

साक्षात् पयस्य गाधोपि प्लवतो ब्रह्मपत्रवत्॥

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरक कुंभकैः।

पृ। १६२अ)

सहितः केवलश्चेति कुंभको द्विविधो मतः।

रेचकः पूरक कार्य स वै सहित कुंभकः॥

यावत् केवल सिद्धि स्यात् तावत् सहितमंन्यसेत्।

रेचकं पूरकं मुक्त्वा मुखाद्वायु निरोधनात्॥

प्राणायामोयमित्युक्तः स वै केवल कुंभकः।
केवलकुंभके सिद्धे रेचं पूरक वर्जितं॥

न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु कालेषु विद्यते।
शुद्ध केवल कुंभेन यथेष्टं वायु धारणं॥

राजयोग पदं चैव लभ्यते नात्र संशयः।
हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठ॥

न सिद्ध्यति ततो युग्मनानिष्पत्तेः समभ्यसेत्।
कुंभकः प्राणरेचांते कुर्यात्रित्तं निरामयं॥

एवमभ्यासयोगेन राजयोग पदं व्रजेत्।
कुंभकात् कुण्डली बोधः कुंडलो बोधतो भवेत्॥

अनुर्गता सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते।
वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्न नादस्फुटत्वं नयने च निर्मले॥

आरोग्यतां बिन्दु जयोग्नि दीपनं नाडीषु सिद्धिर्हठसिद्धिलक्षणं।

स शैलवनधात्रीनां यथाधारो हि कुंडली।
सुप्तागुरु प्रसादेन यथा यागर्ति कुंडली॥

तया पद्मानि सर्वाणि भिद्यंते ग्रंथयोपि च।
प्राणस्य शून्य पदवी तदा राजपथायते॥

तथा चित्त निरालंबं तथा कालस्य वंधनं।

प्। १६२ब्)

सुषुम्ना शून्य पदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः।
श्मशानं शांभवी मध्य मार्गश्चेत्येककवाचका॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयतुमीश्वरी।
ब्रह्मद्वारमुखसुप्तं मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥

महामुद्रामहावंधो महावेधंश्च खेचरी।

उड्डियानं मूलबंधः ततोजालंधराभिधः ॥

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्ति चालनं ।

इदं च मुद्रा दशकं धरामरणनाशनं ॥

आदिनाथोदितं सर्वं अष्टैश्वर्य प्रदायकं ।

वल्लभं सर्वसिद्धानां वल्लभं मनुजामपि ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथारत्न करंडकं ।

कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥

वज्रोली रमरोभिश्च सहजालिस्त्रिधा मता ।

एतेषां लक्षणं वक्ष्य कर्तव्यं च विशेषतः ॥

पादमूलन वामेन योनि संपीड्यदक्षिणं ।

पादं प्रसारितं धृत्वा कराभ्यां धारितत्सुखं ॥

कंठे वंधंसमारोप्य धारयेद्वायुमूर्द्धतः ।

यथादंडाहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥

ऋज्वा भूता तथाशक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदस्ति मननावस्था जायते द्विपुटाश्रिता॥

ततः शनैशनैरेव रेचयेन् न तु वेगतः।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रशस्यते॥

महाक्लेशादयो दोषा जायंते मरणादयः।

प्।१६३अ)

महामुद्रा च ते नैव वदंति विवुधोत्तमा।
चंद्रासै च समभ्यस्य सूर्याशे पुनरभ्यसेत्॥

यावत् संख्या भवर्तुल्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्।
नापथ्यं न हि पथ्यं च रसा सर्वेपिरीरसा॥

अपि मुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति।
क्षयं कुष्टं मुदावर्त्तं तुल्याजीर्ण पुरोगमाः॥

दोषाः सर्वक्षयं यांति महामुद्रां तु योभ्यसेत्।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणां ॥

गंभ्यनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।
ष्र्णि भागेन पादस्य योनि स्थानं नियोजयेत्॥

वामोरूपरिसंस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।
पूरयित्वा ततो वायुं हृदयं चिबुकं दृढं ॥

निक्षिप्य योनिमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत्।
धारयित्वा यथाशक्त्या रेचयेदनिलंशनैः ॥

संव्यागवसमभ्यास्य दक्षिणे नरमभ्यसेत्।
मतमेतं तु केषांचित् कंठवंधं विवर्जयेत्॥

शतदंतस्य जिह्वायां वंधः शस्त्रो भवेद्वितः।
अयं किल महावंधः महासिद्धि प्रदायकः॥

महामुद्रा च ते नैव वदंति विवुधोत्तमा।

चंद्रासै च समभ्यस्य सूर्यांशे पुनरभ्यसेत्॥

यावत् संख्या भवर्तुल्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्।
नापथ्यं न हि पथ्यं च रसा सर्वेपिरीरसा॥

पृ। १६३ब्)

अपि मुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति।
क्षयं कुष्टं मुदावर्तं तुल्याजीर्णपुरोगमाः॥

दोषाः सर्वक्षयं यांति महामुद्रां तु योन्यसेत्।
कथिते यं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणां॥

गंभ्यनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।
पार्ष्णि भागेन पादस्य योनि स्थानं नियोजयेत्॥

वामोरूपरिसंस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।
पूरयित्वा ततो वायुं हृदयं चिबुकं दृढं॥

निक्षिप्य योनिमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत्।

धारयित्वा यथाशक्त्या रेचयेदनिलंशनैः ॥

संव्यागवसमभ्यास्य दक्षिणे नरमभ्यसेत् ।
मतमेतस्तु केषांचित् कंठं वंधं विवर्जयेत् ॥

शतदं तस्य जिह्वायां बंधः शस्तो भवेद्वितः ।
अयं किल महावंधः महासिद्धि प्रदायकः ॥

कालपाशमहावंध विमोचन विचक्षणः ।
अयं च सर्वनाडीनामूर्द्ध्वं गति विबोधकः ॥

त्रिवेणी संगमं धर्ते केदारं पापयेत् मनः ।
रूपलावण्य संपन्न यथास्त्री पुरुषं विना ॥

महामुद्रा महावंधौ निःफलौ वेध वर्जितौ ।
महावेधा स्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥

वायी नामति मावृत्त्य निभृतं कंठमुद्रया ।
समहस्ता युगो भूयो स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥

पुट द्वयं समाकृष्य वायुः स्फुरति सत्वरं।

पृ। १६४अ)

सोमसूर्याग्निसंबंधा जायते च मृतोर्जयः।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत्॥

महावेधो यमभ्यासान् महासिद्धि प्रदायकः।
वलीपलितवंधघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः॥

एतत् त्रयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।
वह्निवृद्धि करा चैव मनिमादि गुणप्रदं॥

अष्टधा क्रियते चैकं यामयामे दिने दिने।
सर्वसंचारसंधायी पापौघाभिदुरं सदा॥

सम्यजिज्ञासतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनं।
वह्निस्त्री पठिसेवा नामादौ वर्जनमाचरेत्॥

छेदनचालनदोहैः कला क्रमेण चोद्धयेत् ।

सायावद्भूमध्यं चेति तदा खेचर मुद्रया ॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टो विपरीतगा ।

भ्रूवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥

कलां परां मुखी * भ्यक्षणार्द्धमपि तिष्ठति ।

क्षणेन मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजलादिभिः ॥

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।

न च मूर्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेष्टि खेचरी ॥

वाध्यते न स रोगेन लिप्यते न स कर्मणा ।

बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरी ॥

वित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खेगता ।

ते नैव खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धिर्नमस्कृताः ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरलंबिकोर्द्धतः ।

तस्य न क्षरते विंदुः कामिन्या लिंग तस्य च ॥

प्_। १६४ब्)

चरितोपि यदा बिंदुः संप्राप्तश्चाग्नि मंडलं ।
ब्रह्मत्युर्द्ध्वं हठाछक्त्या निरोधो योगमुद्रया ॥

ऊर्द्ध्वजिह्वा स्थितो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युंजयति योगवत् ॥

नित्य सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य देहिनः ।
तक्षकेनापि दंष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥

गोमांसं भक्षयेन् नित्यं पिबेदमरवारुणीं ।
कुलीनं तमहं विद्या इतरे कुलघातकाः ॥

गोशब्दे नोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसं भक्षणं तच्च महापातकनाशनं ॥

जिह्वा प्रवेशनं भूतं बहुनात्यादितं खलु ।

चंद्रात् स्त्रवति या सम्यक् सास्यादमरवारुणि ॥

मूर्द्धं षोडश पद्मपत्र गलितं प्राणांदवाप्तं हठादूर्द्धास्यो
रसनां विधाय विपरे शक्तिं परां चिंतयेत् ॥
तत्कल्लोलजः लाकुलं सुविमलं धारामृतं यः पिबेत् निर्दोषः समृणाल
कोमल तनुर्योगी विरंजी पति ॥

चुयंति यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पंदिनी स क्षाराकटु *?
दुग्ध सद्दशी सध्वाज्य तुल्यं तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शास्त्रागमोद्गीरणं तस्य स्यादमरत्व
गुष्ठगुणितं सिद्धां गणाकर्षणं ॥

एवं सृष्टिमयं बीज एकामुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥

पृ। १६५अ)

सुचिरं ज्ञानजनकं पंचस्त्रोतः समन्वितः ।
तिष्ठंती खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्यनिरंजने ॥

यप्रालेपं पिहित सुखिलं मेरू मूद्धर्या तथैततस्मिंस्तत्वं प्रवदंति सुधी
चस्तन्मुख निम्नगा चंद्रात्सारस्त्रवति वपुषस्तेन मृत्युन्नराणांत
वह्नीयाद्वरुणममृतं नान्यथा कार्य सिद्धि ॥

इति श्रीवाराहीतंत्रे दक्षिणाम्नायनिर्वाणपदे षड्विंशति पटलः ॥ २६ ॥

भैरव उवाच ॥

पार्ष्णि भागेन संपीड्ये योनिमाकुंचय दृढं ।
अपानमूर्द्धमाकृष्य मूलबंधोयमुच्यते ॥

अधोगतमकारं वै ऊर्द्धगं कुरुते वरात् ।
आकुंच्य तेन तं प्राहु मूलबंध हि योगिनः ॥

गुरुपाष्ण्या तु संपीड्ये वायुमाकुंचयद्बलात् ।
वारं वारं तथा चोर्द्ध समायाति समीर ॥

प्राणादितोदितो बिन्दुः मूलबंधेन चैकतः ।
ततो योगससंसिद्ध्यै प्रमा तत्र न संशयः ॥

अपानप्राणयोरैक्याक्षयो मूत्र पुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धौपि सततं मूलबंधनात्॥

अपाने चोर्द्ध माया ते मध्यतः नाभिमंडले।
तथा नरे शिखा दीर्घा क्रियते वायुनाहता॥

ततो वायु वह्नि योगौ प्राणायाम स उच्यते।
तेनात्यंतः प्रदीप्तस्तु कुतो देहक्षयस्तदा॥

तेन कुंडलिनी सुप्ता संतता संप्रबुद्धयते।

पृ। १६५ब्)

दंडाहताभुजंगीवनिश्वस्य ऋजुनायिका।
विलं प्रतिष्ठाच्च ततो ब्रह्मणाड्यंतरे व्रजेत्॥

तस्मान् नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा।
उर्द्ध स्थितः सुषुम्नायाः प्राणस्तुड्डीयते यतः॥

तस्मात् त्वे उड्डियानाख्या योगिभिः समुदाहृतः।

उडडीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगः॥

उड्डियानं तदेयं स्यात् क्षत्रबंधोभिधीयते।

उड्डियानं तु सहजं गुरुना कथितं सदा॥

अभ्यसे सततं यस्तु वृद्धोपि तरुणो भवेत्।

नाभेरुद्ध्र्व मधश्चापितानं कुर्याच्च यं नतः॥

योगी समभ्यसेत् मृत्युंजयत्येवन्न संशय।

अति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारये दृढं॥

गुल्फदंशसमीपं च कदं तच्च प्रवीच्यते।

पश्चिमतानंमुपरिकारयेद्धृदय गल॥

शनैः शनैर्यथा प्राप्तं तदा गंधिं प्रगछति।

सर्वेषामेव वंधानामुत्तमोहुड्डियानकः॥

उड्डियाने दृढे वंधे मुक्तिः स्वाभविकी भवेत्।

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापये दृढमिछय ॥

वंधोजारं धराख्योयं जरामृत्युविनाशकः ।
वध्नाति हि शिराजालं अधोगानि न भोजनं ॥

ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखाघनाशनः ।
जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥

मंपीयूषंयतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ।

पृ। १६६अ)

संकोचलक्षणे नैव द्वे नाड्या स्तंभयेद् दृढं ।
मध्यं चक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनं ॥

बंधत्रयामिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितं ।
सर्वेषां योगतंत्राणां सधेनं योगिनों बिदुः ॥

अधस्म कुंचरेनाशुकंठसंकोचने कृते ।
मध्यमश्चिमतानेन स्यात् प्राणामध्यनाडिगः ॥

इडा च पिंगला चैव वाहयेत् पश्चिमं पथं।
ब्रह्मस्थानस्थितोरोधः प्रयाति पवनोलयम्॥

ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा।
उद्ध्र्वनाभि * रः स्तालुरुर्द्धभानुरधः शशी॥

करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्नि प्रवर्द्धिनी॥

आहारोवहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य तु।
अल्वाहारो निराहारः क्षुधालस्य वसा भवेत्॥

अद्धाशिरश्चोर्द्धपादौ क्षण स्यात् प्रथमे दिने।
क्षणाच्च किंचिदधिकं अभ्यासे च दिने दिने॥

वलितं परितं चैव षण्मासां तु न दृश्यते।
मासत्रयं तु यो नित्यमभ्यसे स तु कालवित्॥

स्वेच्छाया वर्तमानोपि योगोकैर्नियमर्चिना ।
वज्रोलीय विजानाति स योगी सिद्धिमान् भवेत् ॥

तत्र वस्तु द्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैव द्वितीयं तु नारी च वश वर्तिनी ॥

मेढ्रेन वसनैः सम्यक् कृत्वा कुंचनमभ्यसेत् ।

प् । १६६ब्)

पुरुषो वापि नारी वा वज्रोली सिद्धिमाप्नुयात् ।
प्रयत्नतः शिरो जाले फट्कारः कंचुकं धरे ॥

शनैः शनैः प्रकुर्वंति वायुसंचार कारणात् ।
भार्या भगे पतद्बिंदुरभ्यासेनोर्द्ध्वमाहरेत् ॥

वलितं वलितं विंदुमूर्द्धमाकृष्यरक्षयेत् ।
एवं रक्षति यो बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥

मरणं बिंदुपातेन जीवितं विंदुधारणात् ।

सुगंधिर्योगिनो देहो जायते विंदुधारणात्॥

यावद् विन्दु स्थितो देहे तावन् मृत्यु भयं कुतः।
चित्तायत्तं नृणां शुक्लं शुक्रायत्तं हि जीवितं॥

तस्माच्छुक्रं रजश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः।
बिंदुमध्ये रजोप्येवं बीजं बिंदु च रक्षयेत्॥

मेढ्रेमाकुंचयदूर्द्धं सम्यगभ्यास योगवित्।
अप्रयासः पुण्यवतं धन्यानां तत्वदर्शितं॥

निर्म *? त्सरणा सिद्धयंतन तु मत्सरणालिनां।
सहजोली चामरोली वज्रोल्या एकभेदतः॥

जलेषु भस्मनिःक्षिप्य दग्धमयसमुद्भवं।
वज्रोली मैथुनादूर्द्धं स्त्रीपुंसाः स्वांगलेपनं॥

आसीनयोः सुखेनैव मुक्ताव्यापरयो क्षणं।
सहयोलीरियं प्रोक्ता साध्येया योगिभिः सदा॥

अयं शुभं करो योगो भोगे भुक्तेपि मुक्तिदः।
विहर्ये नित्यं प्रथमावधारां विहाय निःसारतमांत्यधारं॥

पृ। १६७अ)

निषव्यते शीतलमध्यधारां कपालिकैः कुण्ठमतैरमेध्या।
अमरीयो पिबेन् नित्यं नस्यं कुर्याद् दिने दिने॥

वज्रालीमभ्यसेत् सत्वे अमरोलीति कथ्यते।
पुंसो विंदुं समाकुंचे सम्यगभ्यास पाटवान्॥

यदि नारी रजो रक्षेत् संयोगी चासि योगिनी।
तस्मा किंचिद् रजो नाशं न गछति न संशयः॥

तस्या शरीरे नादस्तु बिंदुना शब्द गछति।
स बिंदुतद्रजश्चैव एकीभूतः स्वदेहजैः॥

वज्रोल्याभ्यासयोगेन सर्वसिद्धि प्रजायते।
मेढ्रानाकुंचनादूर्द्धं रजसापि हि योगिनी॥

अतीतो नागतवेत्ति खेचरे च भवेद्ध्रुवं ।
देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्याभ्यास योगतः ॥

तस्मादयं साधकानां भोगमुक्तिविमुक्तिद ।
तस्मात् पुण्यवतामेव योगोयं संप्रसिद्धयति ॥

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिमीश्वरी ।
कुण्डल्यारुंध देवीति शब्दाः पर्याय वाचका ॥

उद्धात यत् कपाटं तु यथाकुंचितया हठात् ।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥

येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयं ।
मुखेनाछाद्यतद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥

कंदोर्ध्वकुण्डली शक्तिरष्टधा कुंतलाकृतिः ।
बंधनाय च मूढानां सदा मोक्षाय योगिनां ॥

अंभोदि शैलद्वीपानां आधारः शेष कुंडली।

पू। १६७ब्)

अशेष योगतंत्रीणांमाधारः कुण्डली तथा।
कुण्डली कुटिलान्य?रासर्पवत्परिकीर्तिता॥

सा शक्तिश्चालिता येन समुक्तो नात्रसंशयः।
गंगायमुनयोर्मध्ये वालरंडातपस्विनी॥

ज्वालात्कारेण गृह्णायातद्विष्णोः परमंष्पदं।
इडाभृंगवती गंगा पिंगला यमुना नदी॥

इडापिंगलयोर्मध्ये वालरंडा सरस्वती।
पुछेत्प्रगृह्य भुजगी सुप्ताशुद्धोधयंवतां॥

निद्रां विहायस्य ऋज्वी ऊर्द्धमूर्तिष्टते हथात्।
अवस्थिता वैव फणावतीतां प्रातश्च सायं प्रहरार्द्धमात्रं॥

प्रसार्य सूर्यात् परिधान मुक्ता प्रगृह्यते तत्परिवालनीया।

वितस्ति प्रमिदं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुली ॥

मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनांवरलक्षणं ।

वज्रासन स्थितो योगी पालयित्वा च कुंडली ॥

कुर्यादनंतरं भस्त्री कुंडलीमाशु बोधयेत् ।

मनोराकुंचने नैव कुंडली चारयेत् तदा ॥

मृत्योर्वक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युर्भयं कुत ।

नासादक्षिणमार्गवा हि पवनात् प्राणाभिदीर्घाकृतौश्चंद्राभः

परिपूरिता मृततनुः प्राग्घंटिकायास्तथा ॥

छिन्नात्कालविशालवह्निवशगाभ्रूरंधनाडीगणां तत्कार्य कुरुते

पुनर्नवतरं चिन्नद्रुम स्कंधवत् ॥

कुंण्डलि चालयित्वाथ कुर्याद्भस्त्री विशेषतः ।

पृ। १३८अ)

एवमभ्यस्यते नित्यं यमिनस्तु कुतोयम ॥

यदाभ्यसेत् सूर्यभेदमुज्ज्वयी वापि शीतली ।
एवमभ्यासयोगेन शमनोयमिना कुतः ॥

मुहूर्त द्वय पर्यंतं निर्भयं वा दिशोदशः ।
ऊर्द्धमाकृष्यते किंचित् सुषुम्नायाः समुद्धृतः ॥

तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायाः समुद्धृता ।
जहाति तस्मात् प्राणोयं सुषुम्ना व्रजनिश्चला ॥

तस्मात् संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरंधती ।
यस्यासंचालयेनाशु योगी रोगात् प्रमुच्यते ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनं ।
किमत्रवहुनोक्तेन कालं व्रजति लीलया ॥

ब्रह्मचर्यरतं स्येवं नित्यं मितमितासिनः ।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धि कुंडल्याभ्यास योगतः ॥

अभ्यासें विस्तृतां चांद्री विभूतां सहमिश्रयेत् ।
तां धारयेदुत्तमांगे दिव्यदृष्टि प्रदायिनी ॥

द्विसप्तति सहस्त्राणां नाडीनामलशोधनं ।
गुडप्रक्षालनीपायः कुण्डलिभ्यास इष्यते ॥

इति द्वादशधा प्रोक्ता आदि नाथेन शंभुना ।
कारणे सर्वसिद्धीनामेकैकापि क्षमेव सा ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापिनु राजते ॥

मारुताभ्यासनं किंचि मानो युक्तं समाचरेत् ।
इतरेत्र न कर्तव्या मनोवृत्ति मनीषिणा ॥

प् । १६८ब्)

विनापि मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनः ।
आसनं प्राणसंयाम मुद्राभि सरला भवेत् ॥

अभ्यासेन हि मुद्राणां तदुतेति समाधिना ।

मुद्राणां चापरा मुद्रा भद्रासिद्धि प्रयछति ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो धत्ते सांप्रदायकं ।

स एव श्री गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥

तस्य वाक्य परो नित्यमथा * स समाहितः ।

अनिमादि गुणैस्वर्य लभते कालपंचकः ॥

नमः शिवाय गुरवे नादविंदु कलात्मने ।

निरंजन पदं यांति यतो योगी परायणः ॥

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधि क्रममुत्तमं ।

मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परं ॥

राजयोगसमाधिश्च उत्मनीव * *? नी ।

अमरौघारयस्तत्र शून्या छून्यं परं पदं ॥

अमनस्कं तथा द्वैतं निरालंबं निरंजनं ।

जीवन्मुक्त * ? क्ति पदं शब्द पर्याय वाचकं ॥

सलिले सैधवं यद्व सम्यं भजति योगतः।
यथात्ममनसौरैक्यं समा *? रभिधीयते ॥

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मा परमात्मना।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिसोभिधीयते ॥

समाधिस्तु तथा ज्ञानं कर्पूरं सलिले यथा।
तथात्ममनसौरैक्यं समाधिः साभिधीयते ॥

राजयोगस्य माहात्म्यं कोटयजानाति तत्वतः।

पृ। १६९अ)

ज्ञानमुक्ति स्थिति सिद्धिः गुरुवाक्य न सिद्ध्यति।
दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभे तत्व दर्शनं ॥

दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणाविना।

यावन्नैव प्रविशंति चरन्मारुतो मध्यमार्गं यावविंदुर्न भवति

दृढः प्राणवातः प्रबुद्धः ॥

यावद्धौन्नः सहज सदृशं जायते नैव चित्तं तावज्ज्ञानं वदति यदिदं

दंभमिथ्या प्रलापः ॥

वायुमार्गेन संचारे सकलं लभते महः ।

तथाष्टगुणमैश्वर्यं सत्यं सत्यं वरानने ॥

विविधे रसनैः कुंभैर्विचित्रकरणैरपि ।

प्रबुद्धायामादि शक्तौ प्राणः शून्य विलीयते ॥

उत्पन्न शक्ति बोधस्य त्यक्त निःशेष कर्मणाः ।

योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रकाशते ॥

सुषुम्ना वाहिनी प्राणे शून्यविंशति मारुतः ।

तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥

अमराय नमस्तुभ्यं सोपि काल त्वयाहतः ।

पतितं पवने यस्य जगदेतच्चराचरं ॥

चित्ते समत्वमापन्ने वायुव्रजति मध्यमे।
तथामरोली वज्रोली सहजोली मतोपि च॥

ज्ञानं कुतो मनसि जीवति देहि यावत् प्राणोपि जीवम * नोस्नि पतेन यावत्
प्राणोसनो द्वयमिदं विलयं * याति मोक्षं स गछति नरो न कथं
चिदन्यत्॥

ज्ञात्वा सुषुम्ना सद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगं।

प्। १६९ब्)

स्थित्वा सदैदवस्थाने प्राणरंध्रं निरोधयेत्॥

सूर्यचंद्रसमाकृत्वा दत्वा कारापि पंजरे।
सुषुम्नां शांभवी शक्ति शेषास्त्वेवं निरर्थकाः॥

वायुः परिचितो यस्मादनिमासहकुंडली।
अथ चिंतांतरेभ्यास प्रत्यासा जीवयोगिना॥

पवंनो वध्यते येन ते नैव वध्यते मनः।

हेतु द्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणे॥

तयार्विनष्ट एकस्मिन् भावनापि विनश्यतः।

तत्रैव लीयते वायुः मनस्तत्रैव लीयते॥

दुग्धांवुधत्संमिलिता वुभौ तौ तुल्य क्रियौ मानसमारुती हि।

यतो मरुन्निंद्य मनः प्रवृत्ति यतो मनस्तत्र मरुन्निवृत्तिः॥

एकस्यन्मसादपरस्य नाश तत्रैव वृत्तेरपस्य वृत्तिः।

अधस्तयोश्चेंद्रिय वर्गवृत्तिः विज्ञातयोर्मोक्ष पदस्य सिद्धिः॥

रसस्य मनसश्चैव चंचरत्वं स्वभावतः।

रसो वद्धो मनोवद्धं किं न सिद्धयति भूतले॥

मूर्छितो हरते व्याधिं मृतो जीवयति स्वयं।

बद्धः खेचरतं धत्ते स जीवशो रसेश्वरः॥

वायुमार्गे च संचारे सफलं लभते महः।

ततोष्टगुणमैश्वर्य सत्यमित्याह शंकरं ॥

मनस्थैर्य स्थितो वायुस्ततो बिंदु स्थिरो भवेत्।
बिंदुस्थैर्यादया सत्ये पिंडस्थैर्य प्रजायते ॥

इंद्रियाणां मनो नाथे मनोनाथश्च मारुतः।

पृ। १७०अ)

मारुतस्य लयोनाथस्तन्नाथं लयमाश्रयेत्।
स्वयमेवामोक्षस्वस्ति वापि मंत्रांतरो मनः ॥

प्राणापानमपानं ताल्लयकाश्चित्त वर्तिते।
प्रनष्टौ छ्वासनिःश्वासः प्रनष्टविषय ग्रहः ॥

निश्चलो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनः।
उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषवेष्टितः ॥

स्वावगम्यो लयः कोपि जायते वापि गोचरः।
यत्र दृष्टि लयस्तत्र भूतेंद्रिय सनातनः ॥

सा शक्तिर्जीवभूतानां दृष्टिर्लक्ष्यलयं गते।
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्या गणिका इव ॥

एकैव शांभवी विद्या गोप्याकुलवधूरिव।
अन्तर्लक्षमनोदृष्टिर्निर्मेषां मेषवर्जिता ॥

एषा तु शांभवी मुद्रा सर्वमंत्रेषु गोपिता।

अनंतर्लक्षविलीन चित्तपवनो योगी यथावर्तते दृष्ट्वा निश्चलतारया वहिरतः
पश्यन्न पश्यन्नपि ॥
मुद्रेयं खेचरी भवति सायुष्म प्रसादान्गुरोः शून्याशून्यविवर्जितं
स्थलति यत्तत्वं पदं शांभवं ॥

ताराज्योतिषु संयोज्यो किंचिदुच्चारयेद्भ्रुवौ।
सूर्यगतस्य मार्गेषु उन्मनी काललक्षणं ॥

केचिदागमयोगेन केचिन्निगमसंकुले।
केचित्तर्केन मुह्यंति नैव जानंति तारकम् ॥

अर्द्धोद्घाटित लोचन स्थिरमनोनाशाग्र दत्वे क्षणश्चंद्रार्कौ च
विलीयतांतर गतौ निक्षिप्य भासांतरे ॥

प्_। १७०ब्)

ज्योतीरूपमशेष वाह्य रहितं देदीप्यमानं परं तत्व पश्चरमंचवस्तु
परमं वाच्यं कमत्राधिकं ॥

वासरे पूजयेल्लिंगं रात्रौ चैव न पूजयेत्_।
सततं पूजयेल्लिन्गं दिवारात्रौ न पूजयेत्_॥

सुखिनं ज्ञानजनकं पंचस्त्रोतः समन्वितं ।
तिछते खेचरी मुद्रा तस्मिन्_शून्यनिरंजने ॥

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये वाहीत मारुतः ।
तिष्ठंते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं न संशयः ॥

सोमसूर्य द्वयोर्मध्ये निरालंबंतथा पुनः ।
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥

सोमयोर्भेदिता धाम साक्षाद् वै शिववल्लभा।
पूजयेदतुलां दिव्या सुषुम्ना दक्षिणे मुखे॥

पुरस्ताच्चैव पूर्यंत निश्चिता खेचरी भवेत्।
अत्यस्ता खेचरी मुद्रा उन्मनी संप्रजायते॥

अभ्यसेत् खेचरी मुद्रा तांवत्स्याद् योग निद्रता।
संप्राप्त योगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन॥

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते॥

चंद्रसूर्य द्वयोर्मध्ये मुद्रां दद्याच्च खेचरी।
निरालम्बे महाशून्य व्योमचक्र व्यवस्थितं॥

निरालंबं मन कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत्।
स वाह्याभ्यंतरं व्योम्नि घटवर्तिष्ठति ध्रुवं॥

प्। १७१अ)

वाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः।
स्वस्थान गछति प्राणः सूर्याग्नि पवने तथा॥

एवमभ्यस्य मानस्य वायुमार्गं सदानिशं।
अभ्यासाज्जायते वायु मनस्तत्र विलीयते॥

अजरत्वं भवेद् देहे आपदतलमस्तके।
सिद्ध्यते च महायोगो महावलपराक्रमः॥

शक्तिमध्ये मनःकृष्य शक्तिर्मनसि मध्यतः।
मनसा मनसा लोक्ये धारयेत् परमं पदं॥

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च स्वं कुरु।
सर्वं मयं च खं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥

अन्तः शून्यो वहिः शून्यो शून्यकुंभ इवाम्वरे।
अंतः पूर्णो वहिः पूर्णः पूर्णकुंभ इवार्णवे॥

वाह्य चिंता न कर्तव्या तथैचांतरचिंतनं ।

सर्वचिंता परित्यार्या न किंचिदपि चिन्तये ॥

ज्ञेयं सर्वमयी तञ्च ज्ञानं मनसि उच्यते ।

ज्ञानं ज्ञेयं मनश्चैव नान्यः पंथो द्वितीयकः ॥

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित् स चराचरं ।

मनसो ह्युन्मनी भावो चैतन्नैवै प्रलभ्यते ॥

ज्ञेयवस्तु परित्यागाद्विरयं याति मानसं ।

मानसो विलये याते कैवल्यमपि कल्पते ॥

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणं ।

अमुनर्वा सनोत्थानाद्धृत्त्यया विश्वविस्मृतः ॥

एवं नानाविधो पायाः सम्यक् स्वानु भवान्विता ।

समाधिमार्गा कथिताः पूर्वाचार्यैं महात्मभिः ॥

प् । १७१ब्)

अशक्यं तत्वबोधीनामूढानामपि सर्मतं।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते॥

श्री आदिनाथेन सपादकोटिलयः प्रकारः कथिता जयंति।
नादानुसंधानकमेव धान्यं मन्यामहेरतनैंसंलयानां॥

श्रवणपुटयनयुगलनासामुखरोधनेनव कर्तव्यं शुद्धसुषुम्नाशरणे
स्फुटे ममलः श्रूयते नादः॥

आरंभश्च घटंश्चैवस्तथा परिचयस्ततः।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्था चतुष्टयं॥

ब्रह्मग्रंथि भवे भिन्ना नादः शून्यसमुद्भवः।
विचित्रं कुणको देहे नाहतः श्रूयते ध्वनि॥

दिव्यगंधा दिव्यचक्षुस्तेजस्वी तु अरोगवान्।
संपूर्ण हृदय शून्य प्रारंभो योगवान् भवेत्॥

द्वितीय भेदयुक्ते तु वायुर्भावति मध्यगः।

हठासनो भवेद् योगी ज्ञानी देवसमस्तथा ॥

विष्णुग्रंथस्तथा भेदा परमानंदसूचकः ।

अति शून्ये विसं मंदो भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥

अथ ग्रंथि त्रयं भित्वा जायते मर्दल ध्वनिं ।

महाशून्य समायाति सर्वसिद्धि समाश्रयः ॥

विना मनस्ततो जित्वा सहजानंदसंभवः ।

दोषद्वखजरामृत्युः क्षुधा निद्रा तृषा तथा ॥

रुद्रग्रंथि ततो भित्वा सर्वपीठगतोनिलः ।

निष्पन्नो वेणवः शब्दो क्वणन्नादो क्वणो भवेत् ॥

एकीभूतं तथा चित्तं राजयोगाभिधानकं ।

पृ। १७२अ)

सृष्टिसंहारकर्तासो योगीश्वर समो भवेत् ।

राजयोगपदं प्रस्तु मुखवायौल्प चेतसां ॥

सद्यः प्रत्यूपसंधायी सेव्यते नादयो लयः।

नादानुसंधानसमाधि भाजां योगीश्वराणां हृदि वद्धमानं॥
आनन्दमेकं वचसामवाच्यं जानातितं श्रीगुरुनाथ एव॥

मुक्तासना स्थितो योगी मुद्रासंधायशांभवी।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतर्गते महत्॥

अभ्यस्य मानो नादोयं वाच्यमा शृणुते ध्वनि।
पश्चाद्विपक्षमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥

श्रुयते प्रथमाभ्यासे नादो नाम विधो महान्।
वर्द्धमाने ततोभ्यासे श्रूयते शूक्ष्मशूक्ष्मतः॥

आदौ जलधिजीमूत भरीनिर्भर निःस्वनः।
मध्यमर्दलशंखे च घंटाकोलाहलस्तथा॥

अन्ये तु किंकिणी वंश वीणाभ्रमरनिःस्वन।

इति नानाविधानादा श्रूयते यत्र मध्यतः ॥

महातिश्रूयमानेपि मेघभेर्यादिक ध्वनैः ।
तत्र शूक्ष्मं नादमेघ परितोपि परामृणेत् ॥

ध्वनि मुत्सृज्य वा शूक्ष्मे शूक्ष्ममुत्सृज्य वायवे ।
श्मशानमपि क्षिप्तं च मनो नेत्र प्रचारयेत् ॥

यत्र कुत्रापि वा नादे गलति प्रथमं मनः ।
तत्रैव निचलो भूत्वा तेन सार्द्धं विलीयते ॥

कोष्ठ प्रवर्तते वह्नि कोष्ठेन सहसाम्यति ।
नादे प्रवर्तते चित्तं नादेन सह लीयते ॥

प्। १७२ब्)

औदासीन्य परो भूत्वा सदाभ्यासेन संशयः ।
उन्मनी कारकं सद्यो नादमेवादधारयेत् ॥

ज्ञातेकाचौपटी वा कुटी वा पथ्याहारोगोपयोचापयो वा भोज्यं भुक्तं

चान्नमाकंदयावा द्रोणी चाप्य चोप भोज्यैव पात्रं ॥

सर्वचिंतां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाश्च सर्वदा ।

नादमेवा न संधत्ते योगसाम्राज्यमिछति ॥

मकरंदामिवं भृंगो गंधनोप्पक्षते यथा ।

नादाशक्तं तथा चित्तं विषया न हि कांक्षति ॥

वद्धं विमुक्तं चावल्यं नादगंधकरीरणात् ।

मनः पारदमाप्नोति निरालंबाख्य खोटनं ॥

वद्धाचेन्नाद गंधेन सद्यः स त्यक्त चापले ।

प्रयाति साश्वताश्चैव व्युपाछ छिन्न इद्रुमा ॥

नादं प्रणत नित्तस्य मंतरंगा भुजंगमः ।

विस्मृत्य विश्वमेकाग्रं कुत्रचित्त हि धावति ॥

मनोन्मर्तगजेंद्रस्य विषयाप्यनुचारिणः ।

लीयमानः समर्थोयं निलादनिशितांकुशं ॥

नादांतरं तु संगस्य चाजिनः परिधावते ।
अंतरंग तुरंगस्य रोगो वा गीयतेपि च ॥

अनाहत ध्वने चेतर्ज्ञेयं यत्सूक्ष्मसूक्ष्मकं ।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदं ॥

भावनाकाशसंकल्पो यावछंदः प्रवर्तते ।
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मानुमीयते ॥

नादः शक्तिरितिख्याता नादनामं सदाशिवं ।

पृ। १७३अ)

नादज्ञानेन नष्टेन तदुन्मन्येव शिष्यते ॥

नादायावन्मनस्तावन्नादांते तु मनोन्मनी ।
स शब्द कथितं व्योम निःशब्दं ब्रह्म कथ्यते ॥

यदा नादानुसंधानात् संक्षीणे वासनोदये ।

निरञ्जने वलीयन्ते निस्वरे मनसारुते ॥

नादकोटि सहस्त्राणि बिन्दुकोटि शतानि च ।

सर्वे तत्र लयं यांति यत्र देवो निरञ्जनं ॥

एवं सृष्टिमयं बीजं एकामुद्रा च खेचरी ।

एको देवी निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥

शंखदुंदुभिनादं च न शृणोति कदाचन ।

काष्ठवर्जायते देव उन्मन्या अवस्था ध्रुवं ॥

सर्वावस्था विनिर्मुक्ता सर्वचिंता विवर्जिताः ।

मृतवत्तिष्ठते योगी समुक्तो नात्रसंशयः ॥

अवध्यः सर्वशास्त्राणांमवध्यः सर्वदेहिनां ।

अग्रा * मंत्रतन्त्राणां योगी युक्तसमाधिना ॥

प्रवेशे निर्गमे चैव दक्षिणे चोर्द्धमध्यमः ।

न पश्यवायुर्वहति समुक्तो नात्रसंशयः ॥

चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत् स्मृति वस्तु च नान्यथा ।
नास्ति मेति न चोदेति यथासौ मुक्त एवसः ॥

सृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं वायु स्थिरोय विना प्रयत्नतः चित्त स्थिरं यस्य विनावलंवनं स एव मुक्तः स गुरुः स सेव्यः ॥

विद्या तीर्थे जगति विवुधा साधवः सत्य तीर्थे गंगातीर्थे मलिन मनसो योगिनो ज्ञान तीर्थे ॥
प्। १७३ब्)
धारातीर्थे धरणि पतनो दानतीर्थेश्च भक्त्याः लज्जातीर्थः कुलयुवतयः पातकं क्षालयंति ॥

इति श्रीवाराहीतंत्रे दक्षिणाम्नायनिर्वाणपदे सप्तविंशतितम पटलः ॥ २७ ॥

भैरव उवाच ॥

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि षोडशमातृकांविका ।
वाराही नीलकाली च कथयामि यथाक्रमं ॥

मन्दाग्नि सन्दीपन पाचनादि संदायि सानन्दकरी सदैव ।अशेषदोषामय शोषणी च हठक्रियामौलिरियं हिलौलि ॥

हठ्क्रिया मंदभूक (कमी भूक) उत्साह पचन व आनंदमय स्थिति नेहमी देते. दोष पूर्णपणे नाहिसे करणे.हठ्क्रिया हि अनुवांशिक रोग नाहीसे करते.

भस्त्रीव लोहकारस्य रेचपूरौ च संभ्रमौ । कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥

कठीण व घट्ट त्वचा रेचाकाने जलद होते कपालभाती कफ दोषासाठी विशेष उपयुक्त आहे.

षटखेकर्मभिर्गतस्थौलय कफदोषमलादिकः । प्राणायामं ततः कुर्यात् अनायासेन सिध्यति ॥

स्थूलता कफ दोष व मल षडकर्मानी जातात. प्राणायाम त्यानंतर केल्यास सहज सिद्ध होतो.

हठयोगे प्रतिपादित सूर्यभेदिताकुम्भकानां स्वरूपं पूर्वमेव । प्राणायाम प्रकरणे प्रतिपादितम् । महामुद्रामहाबन्धो महावेगश्चखेचरी ।ओड्याण पीठबन्धश्च ततो जालंधराभिधा ॥

हठयोग सूर्यभेदन कुंभकाचे पूर्वस्वरूप सांगतो जे प्राणायाम प्रकरणात आहे तसेच महामुद्रा महाबंध महावेगाने खेचरी तसेच उडीयान, पिठ ,जालंधर बंध ह्याचे वर्णन करतो.

करणी विपरीतादि वज्रोली शक्ति चापलम् ।अन्ते सा खेचरी मुद्रा दशमुद्राः प्रकीर्तिताः ॥

करणी,विपरी,वज्रोली शक्ति ह्याची सहजता तसेच खेचरी व दहा मुद्रा ह्यांचे वर्णन करतो.

आदि नाथोदितामुद्राः अष्टैश्वर्यप्रदायकाः । दुर्लभा सर्वसिद्धानां दुर्लभा त्रिदशैरपि ॥

आदिनाथानी सांगितलेल्या मुद्रा आठही योगाचे अंग प्रदान करतात. तसेच दुर्लभ सर्वसिद्धी व दुर्लभ तीस सिद्धी सांगतो.

एककै तासु मुख्या स्यात् महासिद्धिप्रदायिनी । महामुद्रांप्रवच्छ्यामि वसिष्ठेनोक्तमादरात् ॥

प्रत्येकातील मुख्य सिद्धी ते प्रदान करते वसिष्ठांनी युद्धप्रसंगातील महामुद्रा सांगितल्या आहेत.

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्यदक्षिणम् । पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेन्मुखे ।
कण्ठे बंधं समारोप्यपूरयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥

डाव्या पायाचा तळवा डाव्याबाजूने शिवणीवर जोराने दाबावा,जेव्हा पाय पसरलेले असतात हात मुखावर धरावे.कंठात बंध केल्यास वायु थांबतो व ऊर्ध्व होऊन मुर्धेत जातो.

यथादण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते । ऋज्वीभूता तदाशक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तथाष्टौ मणि रणावस्था जायन्ते द्विपुटा स्थिताः ॥

दंडासारखा सर्प दंडाकार होतो शक्ति भितीदायक अशी अशीच अचानक होते. त्यावेळी अष्ट अलंकारातील (योगातील) लढाई स्थिति (अष्टांग योगातील कष्ट) संपून सहस्त्रात कुंडली जाते (कष्ट संपतात)

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।अपि भुक्तं विषंघोरं पीयूषमिवजीर्यते ॥

त्यानंतर पथ्य राहात नाही किवा रस चव रहित होतो खाल्लेले घोर विष (मागील कष्ट) अमृतमय होते.(सुखमय)

क्षयकुष्ठगुदावर्त गुल्मप्लीह पुरोगमाः। तस्य दोषां शमं (क्षय) यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥

महामुद्रेच्या अभ्यासाने क्षय कुष्ठ व आतड्यातील जुने रोग,दोष नाहीसे होतात

कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥ गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित्॥

महामुद्रेबद्दल आता सांगतो जे वार्धक्य व मृत्यू ह्याचा नाश करणारी आहे.गोपनीय प्रयत्नांनी हे कसे होणार नाही? होणारच!

पार्ष्णी पादस्य वामस्य योनि स्थाने नियोजयेत्।वामोरूपरिसंस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥

डाव्या पायाचा तळवा शिवणीजवळ ठेवावा तसेच डावा पाय सुद्धा ठेवावा.

पूरयेन्मुखतो वायुं हृदये चिबुकं दृढम्। निभृत्य योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत्॥

मुखातील वायू हृदयात व हनुवटी घट्ट धरावी.शिवणीजवळ(गुद)आकुंचन ठेऊन मनातसुद्धा ठेवावे.

रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते। अमुंयोनि महाबन्धं सर्वसिद्धि प्रदायकम्॥

हळूहळू (श्र्वास-उश्र्वास) ह्यांनी रेचक करून महाबंध करणे उत्तम. शिवणीजवळचा महाबंध सर्वसिद्धी प्रदान करणारा आहे.

सव्याङ्गे च समभ्यस्य दक्षिणे च समभ्यसेत्।अयं च सर्वनाडीनामूर्ध्वंगति विबोधकः॥

अंग सरळ पण दक्षिणेकडे असल्याप्रमाणे ठेऊन(उजवीकडे वळलेले) सर्व नाड्यांच्या उर्ध्व गतीचा बोध घ्यावा.

त्रिवेणी संगमद्वारा केदारं प्रापयेन्मनः। रूपलावण्यसम्पन्ना यथास्त्री पुरुषं विना॥

त्रिवेणी संगमाने (मूलाधार- तिन्ही नाड्या) केदार (शिव- ब्राह्मण) प्राप्त करून घ्यावे.

महामुद्रो महाबन्धो महावेधं विना तथा। महावेधं प्रवक्ष्यामि यथा तौ सिध्यतस्ततः॥

तेथे (शिवस्थानात) महामुद्रा महाबंध महावेध काही नाही, महावेध मी सिद्धांच्यासाठी येथे सांगतो.

महाबन्धस्थितो योगी धृत्वापूरकमेवधीः। वायुनागतिमाहृत्य निभृतं कण्ठ मुद्रया॥

महाबंधात योग्याने बसून पूरकादि करावेत नागासारखा वायू कंठ मुद्रेत पूर्णपणे राहतो.

समहस्त युगो भूमौ स्फिजासन्ताऽयेच्छनैः। घटि द्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरः॥ सोमसूर्याग्नि संबन्धो जायते चामृतं च वै॥

दोन्ही हात जोडीने जमिनीवर व ढूंगणाकडील भाग नीट लांब केल्यावर (उचलून) ढूंगणाच्या (दोन्हीकडून) बाजूने क्रमश: वायूचे स्फुरण लगेच होते. चंद्र व सूर्य अग्नि यांच्या संबंधापासून अमृत मिळते.

मृतावस्था समुत्पत्तौ ततो वायुं विरेचयेत्।महद्वेधोऽयमभ्यस्तो महासिद्धि प्रदायकः॥

मृतावस्थेत (शवासन) चांगल्या अवस्थेत (उत्तम स्वास्थ्य असेल) तर वायू हळूहळू निघून जातो.अतिशय खोलवर (गाढा अभ्यास) अश्या अभ्यासाने महासिद्धी प्राप्त होतात.

वलीपलितवेगघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः।महामुद्रा त्रयं गुह्यं जरामृत्यु निवारणम्॥

सुरकुत्या व वार्धक्य रहित शरीर साधकास वेगाने प्राप्त होते,महामुद्रेचे तिनही भागांचे रोग व मृत्यू निवारण हेच रहस्य आहे.

वह्नि वृद्धिकरं चैव ह्यणिमादि गुणप्रदम् ।अष्टधादीर्यचैतद्यां यामं यामं दिने दिने ॥ पुण्य चञ्चार सन्दायी पापौघ बिदुरं सदा ॥

जसा जसा अग्नि प्रज्वलित होतो,तसतसे नाड्या गुणरूप होतात.अष्टधाप्रकृतीचा जोर चढत्या क्रमाने दिवसेंदिवस ओसरतो.पुण्याचा संचार वाढून पाप निघून जाते.(नाडीशुद्धी होते)

साम्यक्छिक्षावतामेव प्रथमं स्वल्पसाधने। वह्निस्त्रीपथसेवानामादौवर्जनमाचरेत् ॥

अल्प साधनाने पूर्णपणे अस्थिरता निघून जाते असे म्हणतात. अग्नी प्रज्वलीत ठेवण्यासाठी स्त्रीकडे (स्त्रीपथ) जाणाऱ्या व उपभोग असणाऱ्या गोष्टी वर्जित कराव्यात.

च्छेदन दोहन चालैः कण्ठकाल क्रमेण वर्धयेत् तावत्। भ्रूमध्यं स्पृशति तदा नित्याभ्यासेन खेचरी सिद्धिः ॥

खेचरी साठी लागणाऱ्या (जीभ) छेद घेणे व त्यास वाढवणे ह्यासाठी काळ घालवावा,जेव्हा भृमध्यापर्यंत स्पर्श होईल तोवर (जीभ) नेहमी अभ्यास करावा व खेचरी सिद्धी प्राप्त करावी.

कपाल कुहरे सिद्धिजिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा। भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥

जीभ उलटी करून घशाच्या आत नेणे असा जिव्हेवरील ताबा आणणे व त्यावेळी भृकुटीच्या आत दृष्टिची मुद्रा असणे हीच खेचरी मुद्रा होय.(जिव्हेने नासिकेकडून येणारा वायू रोखणे)

कलां पराङ्खमुखी कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्। सा भवेत्खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥

पराड्मुख कलेने (जिव्हा घशात) करून तिन्हीच्या मार्गात ठेवावी (नाकातुन श्वास बंद) अशा तऱ्हेने खेचरी मुद्रा आकाशचक्रासाठी उत्तम होय.

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणं वा यदि तिष्ठति ।क्षणेन मुच्यते योगी व्याधि मृत्यु जरादिभिः ॥

जीभ जर मागे सोडून मुर्धेकडे केली व काही काळ थांबले तर क्षणात योगी व्याधि,मृत्यू व वार्धक्य ह्यांनी मुक्त होतो.

न रागे मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा। बध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा ॥

त्यानंतर मरण भिती निद्रा भूक संपते काळाचे बंधन संपते व कर्मात बांधला जात नाही.

बाध्यते न स केनापि यस्य मुद्रास्ति खेचरी। चित्तं चरति वै यस्मात् जिह्वा चरति खे गता ॥

खेचरी मुद्रेचे सुद्धा बंधन राहत नाही जेथे जिव्हा जाते तेथेच चित्त राहते.

तेनैर्वा खेचरी नाम मुनिसिद्धैर्नमस्कृता। खेचर्या मुद्रितं येन विवरंलम्बकोर्ध्वतः ॥

त्यानंतर खेचरी मुद्रेचे नाव सुद्धा नाहीसे होते अशा सिद्ध मुनींना नमस्कार असो.खेचरी मुद्रा ही लांब अशा विवरात उर्ध्व होते.

तस्य नक्षरते बिन्दुः कामिन्या श्लेषितस्य च। चलितोऽपि यथाबिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डलम् ॥

कामरूप अश्या बिंदूचा नाश होत नाही,जर बिंदू वेगळा झाला तर योनि मंडलात प्राप्त होतो.

वज्रत्यूर्ध्वं यथाशक्ति निबद्धो योनिमुद्रया ॥ऊर्ध्वजिह्वा स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः। मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥

जरी ऊर्ध्व जाणे कठीण असेल तरी यथाशक्ती योनिमुद्रेने त्यास बांधावे,जिव्हा ऊर्ध्व करून स्थिर व्हावे व अमृतपान करावे.एक महिन्यात मृत्यूवर विजय प्राप्त होतो ह्यात संशय नाही.

नित्यं सोमकलापूर्णं देही देहं न मञ्चु ति। गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥ कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः। गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुके ॥

नित्य अमृतपान करणारा पूर्णचंद्र देहात असतो पण निश्र्चितपणे तो देहरूपाने देही नाही हे विश्र्वासाने सांगू शकतो. गोमांस (सात्विक) नित्य खाणारा व वारा पिणारा कुलीन समजाला जातो.इतर कुलाघातक होत.जिव्हा टाळूत प्रवेश करताच शुभ शब्द जिव्हेने येण्यासाठी अनुकुलता येते

गोमांसभक्षणं तत्तु महापातक नाशनम्। जिह्वा प्रवेशसंभूता वह्निनोत्तापिताखलु ॥

गोमांस भक्षण ह्यासारख्या महापातकाचा नाश सहज होतो जेथे जिव्हा प्रवेश होतो तेथे अग्निपेक्षा वडील(मोठे) कोण आहे.

चन्द्राति स्रवति यः सारस्सस्वेदोमरवारुणी। बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तुडखेढीयते यतः ॥

मृत्यू टाळणाऱ्या अमृताचा थेंब त्या अमृतडोहातून चंद्रबिंदू सारखा वाहतो.सुषुन्मा नाडीच्या बंधामुळे प्राणरूप कुंडली सर्प शिवस्थानाकडे जातो.

तस्या दुड्याणनामायं योगिभिः समुदाहृतः। उड्याणं कुरुते यस्मात् अविश्रान्तो महाखगः ॥

तसेच कुर्म नावाने माहित असलेल्या योगाने, योगी प्राण त्यादिशेने वर नेतात, त्यानंतर नेहमी न थकता पक्ष्याप्रमाणे उड्डाण करतात (नेहमी ऊर्ध्व राहतात.)

उड्याणं च तदेव स्यात् तत्र बन्धो निगद्यते। उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥

म्हणूनच त्यास उड्डाणबंध असे नाव आहे. उदर मागे ताणून (पोट आत घेणे) नाभी ऊर्ध्व करावी.

उडिखेडयाणमिदं बन्धो मृत्युमातङ्ग केसरी। उडिखेडयान्तु सहजा गुरुणा कथितं सदा ॥

हिनांचा शिरोमणी अश्या मृत्यूस मारण्यासाठी उडीयानबंध योग्य आहे अनेक गुरूंनी उडीयानाबद्दल सांगितले आहे.

अभ्यसेदुडिखेडयाणं तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्। नाभेरूर्ध्वमधश्चापि ताणं कुर्यात् प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्नित्यं जयत्येव न संशयः ॥

उडीयानाच्या अभ्यासाने वृद्ध तरुण होतो, नाभी ऊर्ध्व करताना प्रयत्नाने ताण द्यावा,सहामहिने नित्य अभ्यासाने नि:संशय जय होतो.

सति पद्मासने पद्मौ कराभ्यां धारयेदखे दृढम्। गल्फ देशे समीपेऽथ गुदं तत्र प्रपीडयेत् ॥

पद्मासनात पाय व हात दृढ ठेवावेत व शिवणी जवळ जोराने दाब द्यावा.

पश्चिमे ताणमुदरे काययेदखे हृदये गले। शनैश्शनैस्तदा प्राणस्तुन्दस्संधिन्न गच्छति॥

पोट मागे ताणल्यावर जवळजवळ हृदयापर्यंत ओढावे. हळूहळू (शनैशनै) प्राण (श्र्वास) निघून (रेचक क्रिया होते) निश्र्चितपणे जातो.

सर्वेषामेव बन्धानां उमेसा उडिखेडयाण नामकः। उडखेडीयाणकृते बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्॥

सर्व बंधनात उडीयान हा शिवरूप आहे ज्याने मुक्ती मिळणे निसर्गिक आहे.

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेदखे गुदम्।अपानमूर्ध्वमाकृष्यमूलबन्धोऽयमुच्यते।अधो गतिरपानं वैह्यूर्ध्वगं कुरुते बलात्॥आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं च योगिनः। गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेदखे बलात्॥

शिवणीवर दाब देऊन तेथील भाग वर खेचावा,मुलबंधाने हा अपानवायुस ऊर्ध्व करण्यासाठी उत्तम होय.ज्याने खाली जाणारा वायू जोराने वर जातो. म्हणूनच योगीजन मुलबंधात आकुंचन करतात.

वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः। प्राणापानौ नादबिन्दूमूलबंधो न चैकतः॥

असे वारंवर केल्याने दोन्ही वायू एकत्र होतात. प्राण व अपानाचा नादबिंदू मुलबंधाकडे जात नाही

गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्रसंशयः। आपन प्राणयोरैक्यात् क्षयान्मूत्र पुरीषयोः॥

योगाची सिद्धी नि:संशय होते अपान व प्राणाच्या ऐक्यात मलमुत्र खूपच कमी होते.

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात्। अपाने चोर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डले॥ तदानल शिखाशीघ्रं वर्धते वायुना सह॥ ततो यावद्वह्नपानौ प्राणमूर्ध्वस्वरूपकम्॥

नेहमी मुलंबंध करून वृद्ध युवा होतात अपान उर्ध्व होऊन अग्नि मंडलाकडे जातो.तसेच शिखात(मेंदू) वायूची पटकन वाढ होते.तसेच हृदयातील प्राण ऊर्ध्व होतात.

तेनात्यन्तं प्रदीप्तस्य ज्वलनो देहिनस्तथा। तेन कुण्डलिनीसुप्ता सन्तप्ता संप्रबुध्यते।

दण्डाहत भुजंगीष निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥

ज्याच्या (मुलबंधाने) उष्णतेत वाढ होऊन देहातील उष्णता वाढते, ज्याने कुंडलिनी जी सुप्त असते ति जागृत होते व ति दंडासारखी नागीण रागावून भीतीदायक होते.

बिलप्रविष्टेव ततो ब्रह्म नाड्यन्तरं व्रजेत्॥ तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥

अतिशय ताकतीने ति ब्रह्मनाडीत शिरते.त्यामुळे मुलबंध हे जणु नेहमीचे योग्यांचे कर्तव्य होते.

पाताले यद्विययति सुषिरं मेरुमूले तदस्मिन् । तत्तचैतत् प्रवदति सुधीः संमुखं निम्नगानाम्।

चन्द्राधारा स्त्रवति वपुषस्तेन मत्युर्नराणां। संबध्नीयात् सुकरणमृदा नान्यथा काय सिद्धिः॥

मेरुमुलात आलेली पोकळ नाडी जणू पाताळातून दोन्हीच्या मधून आल्यासारखी भासते. ज्यातून चेतना देणारे अमृत खालच्या मुखात येते.

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेदखे दृढमिच्छया। बन्धो जालंधराख्योऽयममृताप्याय कारकः॥

कंठाचे आकुंचन करून हृदयात दृढ इच्छा धरावी. जालंधर बंद हा अमृत प्राप्त करण्यास कारणीभूत आहे.

बध्नाति हि सिरो जालमधोगामी नभोजलम्। ततो जालंधरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः॥

शिरेच्या बंधनाने आकाशातील (अमृत) मधील जाळ्यात (शिरात) जाते. तसेच जालंधर बंध हा कंठातील दु:ख नाहीसे करतो.

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे। न पीयूषः पतत्यग्नौ न च वायुः प्रवाति हि॥

जालंधर बंध कंठाच्या संकोचाचे लक्षण आहे.ज्याने अमृत खाली येते, वायू अप्रवाहित होतो.

कण्ठसंकोचने नैव द्विनाड्यो स्तम्भयेद्खे दृढम्। अयं बन्धो मया प्रोक्तः षोडशाधार बन्धनम्॥

कंठ संकोचाने दोन्ही नाड्या दृढ करण्यास अडचण नाही असा बंध,मी सांगितला,जो सहांच्या आधाराचा(चक्रे) सुद्धा बंध आहे.

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्ध निषेवितम्। सर्वेषां हठ तन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः॥

बंधामधील हा श्रेष्ठ बंध असून महासिद्ध ह्याचा अभ्यास करतात. सर्व हठ योग तंत्रातील साधन असून योगीजन त्याचा वापर करतात.

अधस्यात् कुञ्चने नाशुकण्ठसंकोचने कृते। मध्ये पश्चिमताणने स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥

खाली (मुलात) त्रिकोणात कंठ संकोच नाहीसा होतो व पोट आत घेण्याने प्राण ब्रह्मनाडीत जातो.

मूल स्थानं समाकुञ्च्य चोडिखेडयाणं तु कारयेत्। इडां च पिङ्गलां बध्वा वाहयेत् पश्चिमं पदम्॥

मुलस्थानात आकुंचन करून तु उडीयान(बंध)कर. इडा व पिंगला ह्या बंधाने पश्चिमेकडे वाहतात.

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्। ततो न जायते मृत्युर्जरा रागोदिकं तथा॥

अनेक प्रकारांनी पवनाचा लय करावा ज्याने मृत्यू व रोग होत नाहीत.

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधश्शशी। करिणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥ करिणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी। नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्नि विवर्धिनी। आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य तु॥

ऊर्ध्व जागीच्या साठ्यात असलेल्याचा चंद्राप्रमाणे तेजस्वी प्रकाश आहे,विपरीत (प्रवाहाविरुद्ध) काम गुरूच्या वाक्याने शक्य आहे. ज्याने सर्व व्याधिंचा नाश होतो.नित्य अभ्यासाने जठराग्नीत वाढ होते.बराच आहार साधक पचवू शकतो.

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं दहेत् क्रमात्। अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने॥ वलिश्चपलितश्चैव षण्मासार्ध्वेन दृश्यते॥

अल्पआहार करून जर तु जर हळुहळु देहापासुन वेगळा झालास तर शिर्षासन क्षणात,प्रथम दिवशीच शक्य होईल,सुरकुत्या व वार्धक्य रहित सहामहिन्यात होतो असे दिसेल.

याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित्। स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना॥

ह्या तऱ्हेने तु अभ्यास केल्यानंतर तु काळाला जिंकू शकतोस व स्वेच्छेने वर्तमानात योगाच्या नियमाशिवाय वर्तन करू शकतोस(योगासाठी असलेले नियम बंधन नाहीसे होते)

वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धि भाजनम्। पुच्छं प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेत् सुधीः॥

अश्या तऱ्हेने वज्रोलीला न जाणणारे योगी सिद्धिंची इच्छा करतात. आपल्या शेपटीच्या स्थानापासून ति सर्पिणी सुप्त असते ति तेथून वर जाते व अमृत देते.

निद्रां विहाय सा ऋज्वी ऊर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्। वितस्ति प्रमितं दीर्घं विस्तारं चतुरगुंलम्॥

निद्रेत असलेली ति (कुंडली) भयंकर असून हठयोगात ऊर्ध्व दिशेने उठून उभी राहते.

मृदुलं धवलं दिव्यं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम्। भानोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत् ततः॥

आकाशाला झाकणारे (वेढलेले) ते नाजूक,पांढरे व दिव्य आहे असे म्हणतात,ज्याप्रमाणे कल्पना करावी त्याप्रमाणे कुंडलिनी चालते.

मृत्यु वक्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः। नासादक्षिणमार्गवाहि पवनात् प्राणोऽतिदीर्घाकृतिः
चन्द्राम्भः परिपूरिता मतृ तनुः प्राद्घण्टिकायां सदा। विद्यात्कान्ति विशालवह्नि वशगान् भ्रूरंध्रनाडीगणान्
तंकायं कुरुते सुवर्णरुचिरं पूर्णद्रुमस्कन्धवत्॥

जर मृत्यूलाच वेसण बसते तर मृत्यूभय राहतेच कुठे,नासिकेतून दक्षिण (उजवीकडे) दिशेने वाहणाऱ्या वायूत प्राण दिर्घ होईल.चंद्र आपल्या पूर्ण कलेत जातो व शरीर त्याचप्रमाणे होण्याकडे कायेची वाटचाल होते.(काया तेजस्वी व शितल),ज्ञानरूप व तेजस्वी शरीर,आवाजावर ताबा,भृकुटी नाडी मुळे काया सुवर्णासारखी व किल्ल्यासारखी दिमाखदार दिसते.

कुण्डलीं चालयित्वाथ कुर्यादखे भस्त्रां विशेषतः। एवमभ्यासतो नित्यं यमिनः शक्यते यमः॥

कुंडलिनी चलनासाठी भस्त्रिकेची (प्राणायाम) सुरवात विशेषतः करावी. अश्या रीतीने अभ्यास केल्यास स्वतःचा ताबा मिळवून शक्ति चालविणे शक्य होईल.

तदाभ्यसेत् सूर्यभेदमुज्जीयां शीतलीं तथा। एवमभ्यास युक्तस्य दिव्यकायं भवेद्ध्रुवम्॥

सूर्यभेदनाच्या सुरवातीपासून चंद्रभेदापर्यंत अभ्यास करावा अश्या तऱ्हेने अभ्यास केल्यास दिव्यकाया प्राप्त होते.

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालनादसौ। ऊर्ध्वमाकुंचते किंचित् सुषुम्नां कुण्डलीं गताम्॥

त्या दोन्हीच्या भेदांपर्यंत,बंधनातून मुक्त होण्यासाठी निर्भय व राक्षसी (अतोनात) वाटचाल करावी,त्यानंतर ऊर्ध्वभाग किंचित आक्रसून घ्यावा ज्याने कुंडलिनी सुषुन्मेत जाईल-प्रवेश करेल.

तेन कुण्डलिनी शक्तिः सुषुम्नायाः समुद्धृताः। जठाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्ना व्रजति स्वतः॥

सुषुन्मेत कुंडलिनी शक्ति पूर्णरूप धारण करेल,त्या संगमावर सुषुन्मा प्राणशक्ति पूर्णत: धारण करते.

तस्मात् संचालयेन्नित्यं शंभुगर्भामरुंधतीम्। यस्याः सञ्चालनेनाशु योगीरोगैः प्रमुच्यते॥

त्यानंतर शक्ति(अरुंधती)नित्य संचलित होऊन शंभुस्थानाकडे जाते. अश्या तऱ्हेने शक्ति संचलित झाली तर योगी रोगमुक्त होतो.

येन संचालिताशक्तिः स योगी सिद्धचालनम्। किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया।

जेव्हा शक्ति संचलित होते तेव्हा योगी सिद्धींचा उपयोग करू शकतात,बहुतेक जणांनी,काळावर विजय मिळतो असे म्हंटले आहे.

वज्रोल्यादि त्रयं पूर्वं निन्दन्तं तत्ववादिभिः॥

वज्रोली व त्या सारख्या इतर क्रियांची पूर्वीच्या तत्ववाद्यांनी निंदा केली आहे.

कापालिकमतत्वेन योगसारेण लेखितम्। इति मुद्रा दशप्रोक्ता चादिनाथने शम्भुना।
करणे सर्वसिद्धिः स्यान्नचैकापि क्षयो भवेत्॥ इति।

कापालिक (पंथ) तत्व मानण्यारांनी योगासार लिहिले आहे अशा दहामुद्रा आदिनाथ शंभू (महादेव) ह्यांनी सांगितल्या आहेत. ह्या सर्वसिद्धिंचा उपयोग (दुरुपयोग) केल्यास त्याच जागी त्याच्या अधोगतीस सुरवात होते.

॥ इति यागेसारसंग्रहे हठयोग स्वरूपनिरूपणं नाम दशमोध्यायः॥

अशारीतीने योगसारसंग्रहातील हठयोग स्वरूपनिरुपण नावाचा दहावा अध्याय समाप्त झाला.

राजयोग स्वरूप निरुपण

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विनानिशि। राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते॥

पृथ्वी राजयोगाशिवाय नाही व राजयोगाशिवाय शक्ति नाही. राजयोगाशिवाय मुद्रा नाही व त्याशिवाय स्वछय पांढऱ्या हरणाची प्राप्ति नाही.

न भेदः शिवयोगस्य राजयोगस्य तत्वतः। बहिर्मुद्रांकितं पूर्वं बहिर्योगं च तन्मतम्॥

राजयोगात व शिवयोगात तत्वतः भेद नाही पहिला बाह्यमुद्रा असलेला म्हणून बहियोंग म्हणून मानला जातो.

अंतर्मुखाख्यमपरमन्तर्योगः स एव हि। राजयोगः स कथितस्स एव मुनिपुङ्गव॥ इति॥

अंतर्मुख असलेल्यात परम अंतर्मय योग,असा राजयोग मुख्य मुनींनी सांगितला आहे.

नन्दिकेश्वरतारावलयाम्- बहिर्मुद्रापरिज्ञानाद्योगस्तारक उच्यते॥ अन्तर्मुद्रापरिज्ञानादमनस्क इतीरितः॥

नंदिकेश्र्वर (शिव) ह्याच्या वलयाने युक्त असा बर्हीमुद्रा योग संसारीकाना ज्ञानांसाठी उत्तम आहे.अंतर्मुद्रा असलेला मनाच्या ज्ञानासाठी उत्तम होय.

बहिर्मुद्रापुरा प्रोक्ता चादिनाथेन शम्भुना।अन्तर्मुद्रां प्रवक्ष्यामि योगशांकरवर्तिनीम्॥

पूर्ण बर्हीमुद्रा योग आदिनाथानी सांगितला आहे. अंर्तमुद्रा योगशांकर ह्याने सांगितलेला मी तुला सांगतो.

राजयोगः समाधिश्चोन्मनी च मनोन्मनी। शिवयोगो लयस्तत्वं शून्याशून्यं निरञ्जनम्।
अमनस्कं यथा चैतन्निरालम्बं निरञ्जनम् । जीवन्मुक्तिश्च सहजमित्यदिर्ह्येक वाचकम्॥

हो जाते हैं, उदर मुलायम रहता है।

ये उपरोक्त दशों क्रियाएँ शरीर का शोधन करके, शरीर को प्राणायाम तथा आसन करने के योग्य बना देती हैं; इनके प्रभाव से शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन इतने सध जाते हैं कि इनसे यथायोग्य-साधना कार्य लिया जा सकता है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान की सिद्धि में ये सहायक बनती हैं; इनकी सहायता से समाधि में दीर्घ-काल तक बैठा जा सकता है।

अब **प्राणोत्थान** तथा **कुण्डलिनी-जागरण** में सहायक १५ प्रकार की मुद्राओं का वर्णन करते हैं; इनसे षट्चक्र-विज्ञान में भी सहायता मिलती है।

(१) **महामुद्रा**—टाँगें सामने पसार कर बैठें और बायाँ पैर मोड़कर एड़ी को गुदा और उपस्थ के मध्य 'सीवन' में दृढ़ता से जमा दें; अब आगे झुककर पसारे हुए दक्षिण पैर के पंजे को दोनों हाथों की हथेलियों में जकड़ लें। फिर पूरक विधि से श्वास अन्दर भरकर, मूल तथा जालंधर बन्ध लगाकर यथाशक्ति बैठे रहें। कहीं पर तीनों बन्ध लगाने का विधान भी है। रेचक के समय प्राण को शनैः शनैः बाहर निकालें। इसके पश्चात् दूसरे पार्श्व से—दक्षिण पैर से इसी प्रकार करें और दोनों ओर से ५-६ बार कर लें। घेरण्ड संहिता में इसके ये लाभ लिखे हैं—

क्षयकासं गुदावर्तं प्लीहां जीर्णज्वरं तथा।
नाशयेत् सर्वरोगांश्च महामुद्रानिषेवणात् ॥

—उप० ३, श्लो० ८

महामुद्रा के सेवन से क्षय से उत्पन्न खाँसी, गुदावर्त (गुदा के आस-पास होनेवाले फोड़े), बढ़ी हुई तिल्ली तथा पुराना ज्वर आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। तथा—

क्षय-कुष्ठ-गुदावर्त-गुल्माजीर्ण-पुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।

—गोरक्ष पद्धति

क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त, गुल्म, अजीर्णादि उदर के रोग तथा प्रमेह भी महामुद्रा के अभ्यास से नष्ट हो जाता है; इसके दीर्घकाल के अभ्यास से सुषुम्णा में प्राण का प्रवेश तथा प्राण का ऊर्ध्वगमन और कुण्डलिनी की जागृति होने लगती है।

स्मरण रहे—महामुद्रा में वाम तथा दक्षिण से करनेवाले रेचक-पूरक प्राणा-यामों की संख्या समान हो, न्यूनाधिक न हो।

(२) **महाबन्ध**—वामपाद की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्यभाग 'सीवन' में दृढ़ता से जमा लें और दक्षिणपाद को वाम जंघा पर रख लें; अब पूरक

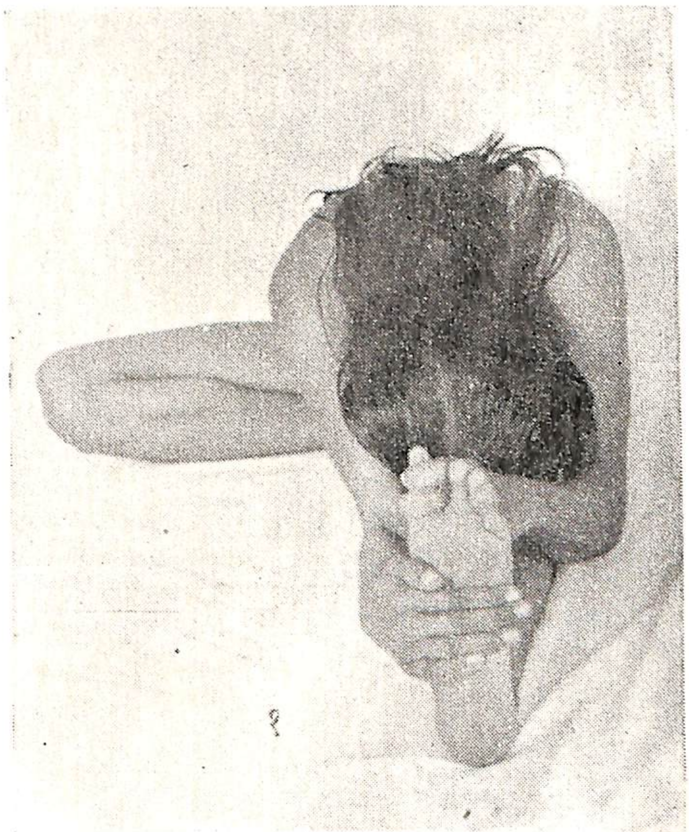

१--महामुद्रा

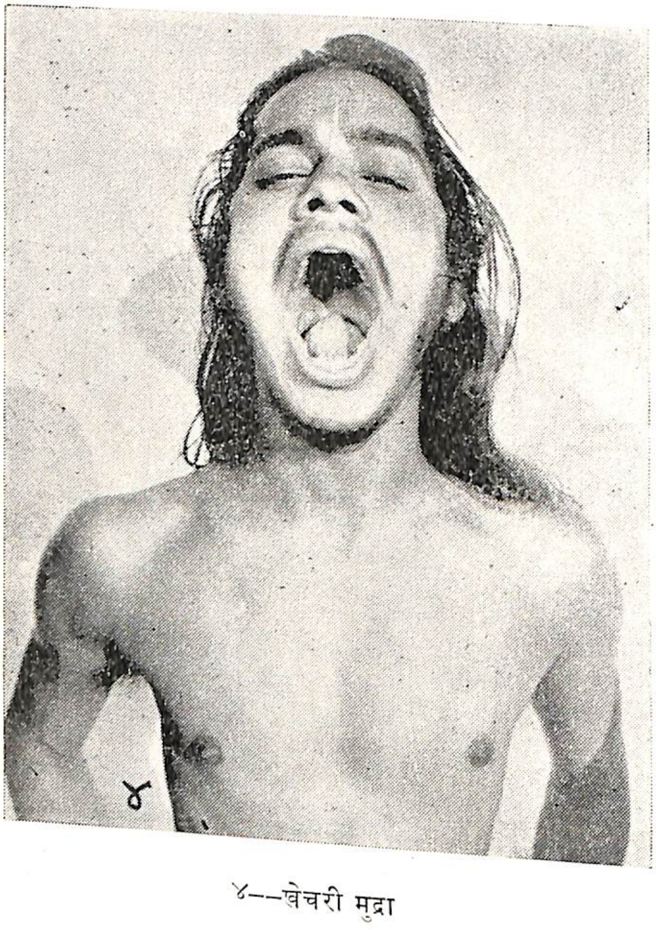

४—खेचरी मुद्रा

करके जालन्धर बन्ध लगा दें। यथाशक्ति कुम्भक रखकर शनैः शनैः रेचक करें। कहीं-कहीं ऐसा संकेत मिलता है कि महाबन्ध को करते समय पार्ष्णि के द्वारा मूल-बन्ध को पुनः-पुनः ताड़न करता रहे, तथा महामुद्रा और महाबन्ध में कुम्भक के समय मन को सुषुम्णा में प्रविष्ट कर देने का विधान भी मिलता है; परन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब साधक को इन दोनों पदार्थों के यथार्थ रूप का साक्षात्कार हो चुका हो। इसमें भी वाम तथा दक्षिण पार्श्व के रेचक-पूरक की संख्या भी समान रखनी चाहिए।

इसके ये लाभ हैं—कुण्डलिनी को यह शीघ्र जागृत कर देती है, प्राण का प्रवेश मूलाधार चक्र में शीघ्र होने लगता है, चक्र भेदन का पथ खुल जाता है। शेष लाभ महामुद्रा के समान हैं।

(३) **महावेध**—महाबन्ध मुद्रा में स्थित होकर पूरक करके कुम्भक कर लें, अब तीनों बन्ध लगाकर, दोनों हथेलियाँ भूमि पर दक्षिण-वाम ओर रखकर, वाम पाद सहित शरीर को इन पर उठा लें; अब एड़ी पर पुनः पुनः सीवन प्रदेश का ताड़न करें। दूसरा प्रकार यह है कि—पद्मासन लगाकर पूरक सहित कुम्भक करके भूमि से उठकर भूमि पर मूलाधार को पुनः पुनः ताड़न करें। क्योंकि पूर्वोक्त महावेध की क्रिया में जब शरीर को हाथों के सहारे उठाया जाता है तब मूलबन्ध स्थिर नहीं रहता, पद्मासन लगाकर करने से यह दोष नहीं आता अतः पद्मासन लगाकर करना ही उत्तम है। इसे भी पैर बदलकर करें; प्राणायामों की संख्या समान रहे।

लाभ ये हैं—

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धि-प्रदायकः।

बलीपलित-वेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः॥ —गोरक्ष सं०, १-४

इसके अभ्यास से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। बुढ़ापे में शरीर पर कहीं झुर्रियाँ नहीं पड़तीं, केश शीघ्र श्वेत नहीं होते, अङ्ग काँपते नहीं, कुबड़ापन नहीं आता, जठराग्नि तीव्र रहती है, प्राण सूक्ष्म होकर सुषुम्णा में गमन करने लगता है, तब इड़ा-पिंगला में प्राण संचार से समाधि भी लग जाती है। शरीर निश्चेष्ट-सा होकर मृतवत् हो जाता है।

(४) **खेचरी मुद्रा**—उत्कट आसन से (शौच-निवृत्ति के समान) बैठकर जीभ को जबड़े से जोड़नेवाले पतले तन्तु की जड़ पर, जीभ उठाकर, धार बनाए सेंधा नमक की डली से रगड़ें तथा नित्य प्रातःकाल ही जीभ को दोनों हाथों के अँगूठे और तर्जनी से दोनों पार्श्वों से, गाय के दोहने के समान ही दोहन कर्म करें। पश्चात् त्रिफले का चूर्ण लगाकर मलते रहें; अथवा कपड़े से भी दोहन किया जाता

है। इसी प्रकार तब तक करते रहें जब तक जीभ निकालकर जिह्वाग्र भाग, नासाग्र को फिर नासिका के मध्य भाग को और अन्त में भ्रूमध्य को स्पर्श न कर लिया करे। फिर यह जिह्वा उलटकर कपाल-कुहर में जाने योग्य बन जाती है। जीभ को लम्बा करने की दूसरी विधि यह है कि—जीभ के निचले पतले तन्तु को, अपने गुरु के सामने अथवा स्वयं दर्पण में देखकर, नहीं तो किसी डाक्टर से थोड़ा-थोड़ा-सा ब्लेड आदि से काटते-कटवाते रहें तथा पूर्वोक्त प्रकार से दोहते रहें। ८-१० बार के छेदन तथा नित्य दोहन से जीभ उक्त रूप में लम्बी हो जाती है। छेदन क्रिया में शीघ्रता न करते हुए, सावधानी बर्तें, एक बार ही अधिक कटने से तोतलापन अथवा गूंगापन भी आ सकता है; एक-एक बाल के समान नित्य या दूसरे-तीसरे दिन करना चाहिए। इस छेदन-दोहन में ६ मास लगते हैं तब यह क्रिया पूर्ण होती है। जीभ दोहन के पश्चात् नित्य पद्मासन आदि सिद्ध किए आसन से भजन से पूर्व बैठकर कण्ठ के अन्दर कपाल को जानेवाले छिद्र में जीभ को उलटकर प्रविष्ट करने का उभय समय यत्न करते रहें। यहाँ जीभ प्रविष्ट हो जाने पर इड़ा-पिंगला-सुषुम्णा के खुले द्वार बन्द हो जाते हैं और कपाल से ब्रह्मरन्ध्र से टपकने वाला मधुर-सा रस (उस समाधि-सी स्थिति में) इस स्थिति में जिह्वाग्र पर टपकता है; हठयोगी इसे अमृतपान करना कहते हैं। इसके लाभों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्॥

अर्थात् खेचरी मुद्रा का साधक सोमपान के अभ्यास से १५ दिन में मृत्यु को वश में करने योग्य बन जाता है; परन्तु यह ठीक है कि इसके अभ्यासी को तन्द्रा-निद्रा-आलस्य, भूख-पिपासा आदि द्वन्द्व अधिक बाधा नहीं देते; मन स्थिर रहता है, गम्भीरता आ जाती है। ध्यान-समाधि के लिए उपयोगी है।

(५) **विपरीतकरणी मुद्रा**—दोनों हथेलियाँ और सिर, भूमि पर बिछाए गद्दे आदि कोमल वस्त्र पर धरकर, पैरों सहित शरीर उठाकर, पादतल आकाश की ओर करके, शिर और हथेलियों पर तोल दें—शरीर सीधा रहे; इस स्थिति में यथाशक्ति रहें।

दूसरी विधि यह है—पीठ के बल भूमि पर लेटकर, कटि को हाथों का सहारा देकर, ग्रीवा तथा कन्धों पर शरीर को थोड़ा तिर्छा रखते हुए खड़ा कर लें (जैसे सर्वाङ्ग आसन में करते हैं); फिर जालन्धर बन्ध लगाकर दृष्टि पैर के अँगूठों पर स्थिर कर दें। प्रथम विधि से यह दूसरी विधि श्रेष्ठ है क्योंकि शिर पर अनावश्यक दबाव नहीं पड़ता है। इसके लाभ इस प्रकार हैं—

५--विपरीतकरणी मुद्रा

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ।।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने ।।

—हठयोग० प्र०, उप० ३, श्लोक ८०, ८१

विपरीतकरणी के नित्याभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है, आहार की मात्रा अधिक बढ़ने लगती है, अतः उचित मात्रा में भोजन करें अन्यथा बढ़ी हुई जठराग्नि देह के रसों और धातुओं का शोषण करने लगती है। नित्य थोड़ा-थोड़ा अभ्यास बढ़ाते जाएँ तब अधिक लाभप्रद होती है; बाल शीघ्र श्वेत नहीं होते, शरीर स्वस्थ रहता है।

(६) **वज्रोली-मुद्रा**--'कैथेटर' नाम की रबड़ की बनी एक विशेष नलिका कैमिस्टों की दूकानों से मिल जाती है, वह ४-५ नम्बर की, १४-१५ अँगुल लम्बी लें और उसके अग्रभाग में ४-६ अँगुल तक बादाम रोगन, घृत वा तिल का तेल लगाकर मूत्रेन्द्रिय के छिद्र में डालकर ऊपर मसाने की ओर प्रविष्ट करें--ले जाएँ; प्रथम दिवस २-३ इंच ही ले जाएँ। अब नित्य एक-दो इंच मसाने की ओर अधिक बढ़ाते चलें; यदि पीड़ा प्रतीत हो तो तुरंत बाहर निकाल लें। इसका अभ्यास हो जाने पर फिर ७-८ नम्बर का कैथेटर लेकर पूर्वोक्त रीति से चढ़ाएँ, अभ्यास हो जाने पर उकड़ूँ बैठकर नौलिक्रिया से अँतड़ियों को उठाकर, मूलाधार को सिकोड़ कर कैथेटर के द्वारा बाहर की वायु का आकर्षण करें (इसे 'फूत्कार' करना कहते हैं)। पश्चात्, इसका भी अभ्यास हो जाने पर १२ अंगुल के कैथेटर से अभ्यास करें और अब जल का पात्र लोटा-गिलास आदि भरकर, कैथेटर जल में डालकर फूत्कार विधि से जल को मसाने की ओर खींचें, यह जल अन्दर पहुँचकर मूत्र को साथ लेकर बाहर निकल आता है। जब रबड़ की इस नलिका से जल का आकर्षण भले प्रकार होने लगे तब लोहे वा चाँदी के कैथेटर से जलाकर्षण का अभ्यास कर लें, इससे सुविधा रहती है। जल के समान दूध, तेल का भी आकर्षण किया जा सकता है; ये द्रव पदार्थ मूत्राशय के सब मूत्र को साथ लेकर बाहर निकल आते हैं। इसे हम 'मूत्राशय' की बस्ति भी कह सकते हैं।

इसके लाभ ये हैं--जब कई दिनों तक समाधि में बैठा जाता है, उससे पूर्व वज्रोलि के द्वारा मूत्राशय को, बस्ति के द्वारा आँतों को, गजकरणी के द्वारा आमाशय-पक्वाशय को धोकर शुद्ध बना लेते हैं; इससे शरीर में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। तथा वज्रोलि करने से मूत्र और वीर्य सम्बन्धी दोष—मूत्रकृच्छ्र,

प्रमेह,स्वप्नदोष आदि नहीं होते। इसके यथार्थ तात्पर्य 'ब्रह्मचर्य रक्षा' को न समझ-कर कई हठयोगियों ने स्त्री-सम्पर्क से बल-पौरुष बढ़ाने के विषय में जो लिखा है वह श्रेय मार्ग के पथिकों के लिए सर्वथा वर्जित, घृणित, निन्दित, अनुचित कर्म है।

(७) **शक्तिचालिनी मुद्रा**--वज्रासन से बैठकर दोनों नथुनों से पूरक करके अन्दर अपान के साथ मिला दें। अब प्रयत्न करें कि अन्दरगत वायु सुषुम्णा के अन्दर प्रवेश करने लगे, उसके लिए अश्विनी-मुद्रा अर्थात् गुदा का संकोच-विकास करें---गुदा को ऊपर खींचें फिर ढीला छोड़ दिया करें। इस क्रिया से प्राण का प्रवेश सुषुम्णा में होने लगता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है। दूसरी विधि यह है--सुखासन से बैठकर हाथों से गुल्फों (गिट्टों) के समीपस्थ भाग को पकड़कर, उदर की ओर खींचें और नाभि से नीचे सीध में, मूत्रेन्द्रिय के मूल में स्थित 'कन्द-स्थल' को पीड़ित करें—दबाएँ। अब शक्तिचालिनी मुद्रा से कुण्डलिनी को जगावें। अब वज्रासन लगाकर 'भस्त्रा' प्राणायाम करें; इससे कुण्डलिनी का ऊर्ध्वगमन होकर मेरुदण्ड के अन्दर सुषुम्णा में चींटियों के रेंगने जैसा सुखद स्पर्श, स्तब्धता, कम्प आदि की प्रतीति होने लगती है।

इसका मुख्य लाभ यही है कि--शीघ्र ही प्राणोत्थान होकर कुण्डलिनी जागृत हो उठती है। जिसके फलस्वरूप चक्र-विज्ञान का मार्ग खुल जाता है; आलस्य-प्रमाद-जड़ता आदि दोष भाग ही जाते हैं।

(८) **योनि-मुद्रा**---सिद्धासन से बैठकर, हाथों के अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से नेत्रों को, मध्यमाओं से दोनों नथुनों को और अनामिका तथा कनिष्ठा से दोनों ओष्ठों को दबा लें; इससे पूर्व 'काकी मुद्रा' द्वारा श्वास को अन्दर खींचकर,उदरगत 'अपान' से मिलाएँ और उक्त रूप से सब द्वार बन्द करके ॐ का मानसिक जप करते हुए ऐसा दृढ़ संकल्प करें कि जागी हुई कुण्डलिनी चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रदल कमल में जा रही है।

इसका लाभ यह होता है कि—प्राण-अपान संयुक्त होकर कुण्डलिनी शक्ति को जगा देते हैं; दिव्य प्रकाश होने लगता है और चक्रदर्शन का उपक्रम बँधने लगता है। अन्त में सफलता, साधक के परिश्रम पर निर्भर करती है।

(९) **उन्मनी-मुद्रा**—पद्मासन पर स्थिरता से बैठकर दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करें; बिना किसी लक्ष्य के नेत्र खुले रहें और ध्यान आज्ञाचक्र में रहे। संकल्प-विकल्पों का अभाव करके स्तब्ध होकर बैठे रहें। ध्यान ब्रह्मरन्ध्र में भी रख सकते हैं।

दूसरी विधि यह है—नेत्र अर्धखुले रखते हुए दृष्टि को नासाग्र पर, अथवा

नासिका से १२ अंगुल की दूरी पर अलक्ष्य रूप में स्थिर कर दें; अब शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन की गति को रोकता हुआ, संकल्प-विकल्प का अभाव करता हुआ योगी अपने स्वरूप में स्थित हो जाय। इस मुद्रा के ये लाभ हैं—

इसके अभ्यास से शरीर की विस्मृति होने लगती है, प्राण-इन्द्रियाँ-मन मूर्च्छित से हो जाते हैं; प्रत्याहार अवस्था होकर बुद्धि स्थिर हो जाती है; तब समाधि होने लगती और ज्ञान-प्रकाश का उदय तथा ऋतम्भरा का आभास होने लगता है।

(१०) **शाम्भवी-मुद्रा**—अपने सिद्ध किए आसन से बैठकर समकाय-ग्रीव हो जाएँ और पलकों को बिना हिलाए, नेत्रों को खोलकर, अलक्ष्य रखकर खुले रखें। ध्यान, हृदय में स्थित लिङ्ग शरीर के पदार्थों में रखें; अथवा सर्वथा लक्ष्य-हीन रखते हुए खुले रखें। त्राटक का जितना अधिक अभ्यास होगा, उतनी ही सफलता इस शाम्भवी मुद्रा के करने में होगी। शाम्भवी मुद्रा की सिद्धि इसी में है कि नेत्र खुले रहने पर भी बाह्य पदार्थों को नहीं देखते, ध्यान शरीर के अन्दर किसी लक्ष्य पर होता है; इससे हृदयस्थ पदार्थों का विज्ञान शीघ्र होने लगता है।

इसकी सिद्धि से उन्मनी मुद्रा के लाभ प्राप्त होते हैं; मन-बुद्धि शान्त होकर, योगी का ध्यान हृदय में प्रविष्ट होने लगता है तथा समाधि-सिद्धि के साथ हृदयगत अन्तःकरण के तत्त्वों का साक्षात्कार सुगम बन जाता है; देह की निश्चेष्टता से उत्पन्न देहाध्यास की स्थिरता से मन स्वयं लीन हो जाता और आनन्द बढ़ने लगता है। नेत्र मूँदकर ध्यान करने की अपेक्षा इस मुद्रा में स्थित होकर ध्यान करने का फल कई गुणा अधिक कहा गया है।

(११) **काकी-मुद्रा**—कटि तथा ग्रीवा को सम रखते हुए सिद्धासन पर बैठकर, ओष्ठों की सहायता से जीभ को काक-चञ्चुवत् बनाकर, इससे पूरक करके आन्तरिक कुम्भक करें; अब हाथ के अँगूठों से दोनों कान, तर्जनियों से दोनों नेत्र, मध्यमा और अनामिका से नासिका के दोनों छिद्र और कनिष्ठिका से मुख बन्द करें और यथाशक्ति कुम्भक रखकर दक्षिण नथुने से शनैः शनैः रेचक करें। इसी प्रकार समस्त क्रिया करके वाम-नथुने से प्रश्वास निकालें। इसे बार-बार करें।

इससे पित्त शान्त होकर अम्लपित्त के विकार नष्ट होते हैं, दिव्य ज्योति की उत्पत्ति तथा बाह्यनेत्र-दृष्टि की वृद्धि भी होती है।

(१२) **अश्विनी-मुद्रा**—सुखासन से बैठकर गुदा को अन्दर की ओर सिकोड़ें फिर बाहर को फैलाएँ—इस प्रकार निरन्तर संकोच-विकास करें। जैसे गौ-भैंस अथा विशेष रूप से अश्व (घोड़ा) मल त्यागते समय गुदा का आकुंचन

श्रौर प्रसारण करता है—इसी प्रकार कई मिनिट तक करें।

इस मुद्रा के अभ्यास से ये लाभ होते हैं—

प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी की जागृति शीघ्र होती है, मूलाधार चक्र की शुद्धि होकर इसके विज्ञान में सुगमता, यहाँ प्रकाश की उत्पत्ति भी शीघ्र होती है।

(१३) **त्रिबन्ध-मुद्रा**—यथाविधि पद्मासन से बैठकर, किंचित् पूरक करके, प्रश्वास को समान-प्राण के साथ मिलाएँ और मूलाधार से अपान को ऊपर उठाकर तीनों बन्धों को लगाते हुए, इस आन्तरिक वायु को सुषुम्णा में प्रविष्ट करने का प्रयत्न करें। इसी अवस्था में रहकर, दोनों हथेलियाँ दोनों पार्श्वों में दाईं-बाईं ओर भूमि पर रखकर, नितम्बों को उठा-उठाकर भूमि पर धीरे-धीरे पटकें—ऐसा कई बार करें। इसमें लगाने वाले बन्ध इस प्रकार लगाए जाते हैं—

(१) जालन्धर बन्ध, कण्ठ को दबाकर ठोड़ी को स्कन्धास्थियों के मध्य-स्थान 'हँसली' अथवा कण्ठ के नीचे स्थित गढ़े 'कण्ठ-कूप' में लगाते हैं जिससे कण्ठ-द्वार प्रायः बन्द-सा हो जाता है।

(२) उड्डियान बन्ध, उदर को सिकोड़कर नाभि को पीछे मेरुदण्ड के साथ लगा देने से बनता है।

(३) मूलबन्ध, गुदा सहित अण्डकोशों को दृढ़ता से ऊपर की ओर आकर्षित करने से लगता है।

ये तीनों बन्ध स्थान-स्थान पर आसन, प्राणायाम और मुद्राओं में प्रयुक्त होते हैं। त्रिबन्ध मुद्रा के लाभ ये हैं—

सुषुम्णा में प्राण शीघ्र प्रवेश करने लगता है, कुण्डलिनी शीघ्र चैतन्य होकर ऊर्ध्व गमन करने लगती है, चक्र भी धीरे-धीरे प्रकाशित होने लगते हैं।

(१४) **मातङ्गिनी-मुद्रा**—जल में खड़े होकर अथवा रहकर ही किसी टूटीवाले कमण्डल या किसी पात्र में जल भरकर, उसे नाक से लगा अन्दर खींचें और मुख से बाहर निकाल दें। पश्चात् मुख में जल भरकर मुख बन्द करके नासिका-छिद्रों से बाहर निकाल दें; मुख को जल से पूर्ण भरकर, प्राण से इसे (जल को) धक्का देकर, पिचकारी के समान दोनों नथुनों से निकाल दें। इस प्रकार कई बार करें। इस मातङ्गी-मुद्रा के ये लाभ हैं—

इससे मस्तिष्क, ब्रह्मरन्ध्र और नेत्रों को तृप्ति मिलती है, तथा इन अङ्गों के रोग—सिर पीड़ा, नेत्र दुखना, गले के अन्दर नज़ला गिरना, जुकाम आदि रोग नहीं होते; शेष लाभ जलनेति के ही समान हैं। शीघ्र केश न पकना, दृष्टि की स्थिरता, मुख पर तेज तथा कान्ति छा जाती है।

(१५) **योग-मुद्रा**—बद्धपद्मासन लगाकर रेचक करके बाह्य कुम्भक कर लें, अब तीनों बन्ध लगाकर, धीरे-धीरे सामने को झुकते हुए मस्तक को पृथिवी से लगा दें, वक्ष-स्थल ज़ितना झुक सके झुकाए रखकर, इसी स्थिति में अधिकाधिक रहें। पूरक करते समय शिर को उठा लें, पुनः रेचक पूर्वक बाह्य कुम्भक करते हुए पूर्व स्थिति में ठहरें—कई बार इसे दोहरा लें। इसके लाभ ये हैं—

शरीर स्वस्थ, प्रसन्न रहता है, नाड़ियों की शुद्धि, प्राणों की शक्ति में वृद्धि होती है, जठराग्नि प्रदीप्त, धारणा, ध्यान समाधि में प्रगति होती है; अन्तःकरण पवित्र बनता है।

हठयोगान्तर्गत षट्कर्म तथा उन मुद्राओं का वर्णन ही हमने किया है जो राजयोग के लिए उपकारी समझी हैं। ये सब बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग योग को शीघ्र सिद्ध कर देते हैं। शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण को ये शुद्ध करके आत्म-दर्शन की योग्यता साधक को प्रदान करते हैं।

अमन्दावर्त वेगेन तुन्दं सव्याजसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेत् तेषां लौलि गौढैः प्रशस्यते॥

मन्दाग्नि सन्दीपन पाचनादि संदायि सानन्दकरी सदैव।

p. 55)

अशेषदोषामय शोषणी च हठक्रियामौलिरियं हिलौलि॥

भस्त्रीव लोहकारस्य रेचपूरौ च संभ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥

षट्कर्मभिर्गतस्थौलय कफदोषमलादिकः।
प्राणायामं ततः कुर्यात् अनायासेन सिध्यति॥

हठयोगे प्रतिपादित सूर्यभेदिताकुम्भकानां स्वरूपं पूर्वमेव प्राणायाम प्रकरणे प्रतिपादितम्। महामुद्रामहाबन्धो महावेगश्च खेचरी।

ओड्याण पीठबन्धश्च ततो जालंधराभिधा॥

करणी विपरीतादि वज्रोली शक्ति चापलम्।
अन्ते सा खेचरी मुद्रा दशमुद्राः प्रकीर्तिताः॥

आदि नाथोदितामुद्राः अष्टैश्वर्यप्रदायकाः।
दुर्लभा सर्वसिद्धानां दुर्लभा त्रिदशैरपि॥

एकैका तासु मुख्या स्यात् महासिद्धिप्रदायिनी।
महामुद्रांप्रवच्छ्यामि वसिष्ठेनोक्तमादरात्॥

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्यदक्षिणम्।

पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेन्मुखे।
कण्ठे बंधं समारोप्यपूरयेद्वायुमूर्ध्वतः॥

यथादण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।
ऋज्वीभूता तदाशक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तथाष्टौ मणि रणावस्था जायन्ते द्विपुटा स्थिताः॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषंघोरं पीयूषमिवजीर्यते॥

क्षयकुष्ठगुदावर्त गुल्मप्लीह पुरोगमाः।
तस्य दोषां शमं (क्षयं) यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥

कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित्॥

पार्ष्णी पादस्य वामस्य योनि स्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरिसंस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥

पूरयेन्मुखतो वायुं हृदये चिबुकं दृढम्।
निभृत्य योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत्॥

रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते।
अमुंयोनि महाबन्धं सर्वसिद्धि प्रदायकम्॥

सव्याङ्गे च समभ्यस्य दक्षिणे च समभ्यसेत्।
अयं च सर्वनाडीनामूर्ध्वंगति विबोधकः॥

त्रिवेणी संगमद्वारा केदारं प्रापयेन्मनः।

रूपलावण्यसम्पन्ना यथास्त्री पुरुषं विना ॥

p. 56)

महामुद्रो महाबन्धो महावेधं विना तथा ।
महावेधं प्रवक्ष्यामि यथा तौ सिध्यतस्ततः ॥

महाबन्धस्थितो योगी धृत्वापूरकमेवधीः ।
वायुनागतिमाहृत्य निभृतं कण्ठ मुद्रया ॥

समहस्त युगो भूमौ स्फिजासन्ताऽयेच्छनैः ।
घटि द्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरः ॥

सोमसूर्याग्नि संबन्धो जायते चामृतं च वै ॥

मृतावस्था समुत्पत्तौ ततो वायुं विरेचयेत् ।
महद्वेधोऽयमभ्यस्तो महासिद्धि प्रदायकः ॥

वलीपलितवेगघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ।
महामुद्रा त्रयं गुह्यं जरामृत्यु निवारणम् ॥

वह्नि वृद्धिकरं चैव ह्यणिमादि गुणप्रदम् ।

अष्टधादीर्यचैतद्यां यामं यामं दिने दिने ॥

पुण्य चञ्चार सन्दायी पापौघ बिदुरं सदा ॥

साम्यक्छिक्षावतामेव प्रथमं स्वल्पसाधने ।

वह्निस्त्रीपथसेवानामादौवर्जनमाचरेत् ॥

च्छेदन दोहन चालैः कण्ठकाल क्रमेण वर्धयेत् तावत् ।

भ्रूमध्यं स्पृशति तदा नित्याभ्यासेन खेचरी सिद्धिः ॥

कपाल कुहरे सिद्धिजिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।

भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥

कलां पराङ्मुखी कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।

सा भवेत्खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणं वा यदि तिष्ठति ।

क्षणेन मुच्यते योगी व्याधि मृत्यु जरादिभिः ॥

न रोग मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।

बध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा ॥

बाध्यते न स केनापि यस्य मुद्रास्ति खेचरी ।
चित्तं चरति वै यस्मात् जिह्वा चरति खे गता ॥

तेनैवा खेचरी नाम मुनिसिद्धैर्नमस्कृता ।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरंलम्बकोर्ध्वतः ॥

तस्य नक्षरते बिन्दुः कामिन्या श्लेषितस्य च ।
चलितोऽपि यथाबिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डलम् ॥

वज्रत्यूर्ध्वं यथाशक्ति निबद्धो योनिमुद्रया ॥
ऊर्ध्वजिह्वा स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥

p. 57)

नित्यं सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।
गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥

कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ।
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुके ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातक नाशनम् ।

जिह्वा प्रवेशसंभूता वह्निनोत्तापिताखलु ॥

चन्द्राति स्त्रवति यः सारस्सस्वेदोमरवारुणी।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तुड्ढीयते यतः॥

तस्या दुड्याणनामायं योगिभिः समुदाहृतः।
उड्याणं कुरुते यस्मात् अविश्रान्तो महाखगः॥

उड्याणं च तदेव स्यात् तत्र बन्धो निगद्यते।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्॥

उड्डियाणमिदं बन्धो मृत्युमातङ्ग केसरी।
उड्डियान्तु सहजा गुरुणा कथितं सदा॥

अभ्यसेदुड्डियाणं तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि ताणं कुर्यात् प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्नित्यं जयत्येव न संशयः॥

सति पद्मासने पद्मौ कराभ्यां धारयेद् दृढम्।
गुल्फ देशे समीपेऽथ गुदं तत्र प्रपीडयेत्॥

पश्चिमे ताणमुदरे काययेद् हृदये गले।
शनैश्शनैस्तदा प्राणस्तुन्दस्संधिन्न गच्छति॥

सर्वेषामेव बन्धानां उमेसा उड्डियाण नामकः।
उड्डीयाणकृते बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्॥

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्।

अपानमूर्ध्वमाकृष्यमूलबन्धोऽयमुच्यते।
अधो गतिरपानं वैह्यूर्ध्वगं कुरुते बलात्॥

आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं च योगिनः।
गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद् बलात्॥

वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः।
प्राणापानौ नादबिन्दूमूलबंधो न चैकतः॥

गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्रसंशयः।
आपन प्राणयोरैक्यात् क्षयान्मूत्र पुरीषयोः॥

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात्।
अपाने चोर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डले॥

p. 58)

तदानल शिखाशीघ्रं वर्धते वायुना सह॥

ततो यावद्वह्नपानौ प्राणमूर्ध्वस्वरूपकम्॥

तेनात्यन्तं प्रदीप्तस्य ज्वलनो देहिनस्तथा।
तेन कुण्डलिनीसुप्ता सन्तप्ता संप्रबुध्यते।
दण्डाहत भुजंगीष निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥

बिलप्रविष्टेव ततो ब्रह्म नाड्यन्तरं व्रजेत्॥
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥

पाताले यद्वियति सुषिरं मेरुमूले तदस्मिन्
तत्त्वचैतत् प्रवदति सुधीः संमुखं निम्नगानाम्।
चन्द्राधारा स्त्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
संबध्नीयात् सुकरणमृदा नान्यथा काय सिद्धिः॥

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढमिच्छया।

बन्धो जालंधराख्योऽयममृताप्याय कारकः॥

बध्नाति हि सिरो जालमधोगामी नभोजलम्।

ततो जालंधरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।

न पीयूषः पतत्यग्नौ न च वायुः प्रवाति हि॥

कण्ठसंकोचने नैव द्विनाड्यो स्तम्भयेद् दृढम्।

अयं बन्धो मया प्रोक्तः षोडशाधार बन्धनम्॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्ध निषेवितम्।

सर्वेषां हठ तन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः॥

अधस्यात् कुञ्चने नाशुकण्ठसंकोचने कृते।

मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥

मूल स्थानं समाकुञ्च्य चोड्डियाणं तु कारयेत्।

इडां च पिङ्गलां बध्वा वाहयेत् पश्चिमं पदम्॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरा रोगादिकं तथा ॥

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधश्शशी ।
करिणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥

करिणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्नि विवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य तु ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं दहेत् क्रमात् ।
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने ॥

p. 59)

वलिश्चपलितश्चैव षण्मासार्ध्वेन दृश्यते ॥

याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ।
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥

वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धि भाजनम् ।

पुच्छं प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेत् सुधीः ॥

निद्रां विहाय सा ॠज्वी ऊर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ।
वितस्ति प्रमितं दीर्घं विस्तारं चतुरंगुलम् ॥

मृदुलं धवलं दिव्यं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ।
भानोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत् ततः ॥

मृत्यु वक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ।

नासादक्षिणमार्गवाहि पवनात् प्राणोऽतिदीर्घाकृतिः
चन्द्राम्भः परिपूरिता मृत तनुः प्राद्घण्टिकायां सदा ।
विद्यात्कान्ति विशालवह्नि वशगान् भ्रूरंध्रनाडीगणान्
तंकायं कुरुते सुवर्णरुचिरं पूर्णद्रुमस्कन्धवत् ॥

कुण्डलीं चालयित्वाथ कुर्याद् भस्त्रां विशेषतः ।
एवमभ्यासतो नित्यं यमिनः शक्यते यमः ॥

तदाभ्यसेत् सूर्यभेदमुज्जीयां शीतलीं तथा ।
एवमभ्यास युक्तस्य दिव्यकायं भवेद्ध्रुवम् ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालनादसौ।

ऊर्ध्वमाकुंचते किंचित् सुषुम्नां कुण्डलीं गताम्॥

तेन कुण्डलिनी शक्तिः सुषुम्नायाः समुद्धृताः।

जठाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्ना व्रजति स्वतः॥

तस्मात् संचालयेन्नित्यं शंभुगर्भामरुंधतीम्।

यस्याः सञ्चालनेनाशु योगीरोगैः प्रमुच्यते॥

येन संचालिताशक्तिः स योगी सिद्धचालनम्।

किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया।

वज्रोल्यादि त्रयं पूर्वं निन्दन्तं तत्ववादिभिः॥

कापालिकमतत्वेन योगसारेण लेखितम्।

इति मुद्रा दशप्रोक्ता चादिनाथेन शम्भुना।

करणे सर्वसिद्धिः स्यान्नच्चैकापि क्षयो भवेत्॥ इति।

॥ इति योगसारसंग्रहे हठयोग स्वरूपनिरूपणं नाम दशमोध्यायः॥

इन नाड़ियों में भी 10 ही प्रमुखरूप से स्मृत हैं। जिनसे प्रेरित होकर अन्य नाड़ियाँ अपनी-अपनी कार्य करती हैं।(323)

32. वीर्यसंरक्षणप्रक्रिया = वीर्यसंरक्षण करने की प्रक्रिया -

नासाभ्यां प्राणमाकृष्य ह्यपाने योजयेद् बलात्।
तावदाकुंचयेद् गुदं शनैरश्विनीमुद्रया ।।324।।

अश्विनीमुद्रा के द्वारा नासिकाओं के भीतर में खींच लिया गया प्राण को बलपूर्वक (प्रयत्नपूर्वक) अपान से मिलाकर यथासम्भव गुदा का आकुंचन (संकोचन) करें।(324)

वीर्यसंरक्षणस्यान्यो विधिः सम्प्राप्यतेऽपि च।
नासामूले च मध्ये च ध्यानाद् बिन्दुः स्थिरो भवेत्।।325।।

वीर्य संरक्षण के अन्य विधियाँ भी प्राप्त हैं। जैसे की नासिका के मूल में अथवा नासिका के मध्य में ध्यान करने से बिन्दु (वीर्य) स्थिर होता है।(325)

गुरूपदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत्।
बिन्दुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायिका।।326।।

गुरु के द्वारा उपदिष्ट मार्ग (साधना) जो व्यक्ति नित्य प्रति आचरण करेगा निश्चितरूप से महासिद्धि (मोक्ष) प्रदायिका बिन्दुसिद्धि को वह प्राप्त करेगा।(326)

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्बुधः।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्ये शक्तिचालनमुच्यते ।।327।।

कुण्डलि ही शक्ति होती है, उसे बुद्धिमान् साधक संचालित करें। स्वस्थान (कुण्डलि का स्थान = मूलाधार) से भौवों के मध्य (भ्रूकुटि) तक संचालन करने का नाम ही शक्तिसंचालन क्रिया है।(327)

तत नाड्यस्तु यावत्यस्तिर्यङ्मध्यमधः स्थिताः ।
समानेन समाकृष्टा एकीभूता भवन्ति ताः।।328।।

इसकी प्रक्रिया बताते हैं - मूलाधार में जितनी नाड़ी हैं- जो टेढ़ी, मध्य में या नीचे स्थित हैं, वे सब प्राणायाम से प्रेरित होकर समान वायु द्वारा समाकृष्ट होके एकीभूत हो जाते हैं।(328)

तासु ये वायवस्तेऽपि प्राणे समरसे श्रिताः ।
सामरस्यात्सुषुम्नाया एकीभूता व्यवस्थिताः।।329।।

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उन नाड़ियों में जो वायु है वे भी समरसभूत (विषमता रहित) शुद्ध (निरुपाधिक) प्राण में एकीभूत होते हैं। तब सामरस्यता के कारण वे नाड़ियाँ सुषुम्ना के साथ एकीभूत होते हैं।(329)

कुम्भकेन ह्यसंरुद्धा विकसन्ति समन्तत ।
सरस्वती तु या नाडी जिह्वान्ते सा प्रसर्पति।।330।।

तत्पश्चात् वे किसी भी प्रकार से संरुद्ध होने के कारण कुम्भक से पूर्णतया विकसित होते हैं और जिह्वा के अन्त (मूल) में स्थित सरस्वती नाड़ी से एकीभूत होने के लिये ऊपर की ओर चलते हैं।(330)

यावद्गच्छेत्सुषुम्नायां सम्यक्तावत्प्रकाशते।
साधने लभते सिद्धिं वायोः सौक्ष्यादददीर्घतः।।331।।

जब तक वे सुषुम्ना में ऊपर की ओर जाते रहते हैं तब तक वे सम्यक् प्रकाशित होते हैं। वायु की सूक्ष्मता के कारण विना लम्बे समय का अभ्यास के ही सिद्धि (लक्ष्य) प्राप्त होगी।(331)

ग्रन्थिपद्मगता नाड्यो देहे याः संव्यवस्थिताः।
रेचकेन समाक्षिप्ता ऊर्ध्वमार्गा भवन्ति ताः।।332।।

देह में विद्यमान प्रत्येक ग्रन्थि (चक्र) के जो नाड़ियाँ व्यवस्थित हैं वे भी रेचक के द्वारा ऊर्ध्व (ऊपर) की ओर नीचे से आते हुये के साथ मिलकर जाने लगते हैं।(332)

मन्त्र आत्मा तथा नाडी चैवं समरसीभवेत्।
रसं रसायनं दिव्यं सिद्धिं दिव्यां लभन्ति ते।।333।।

जब मन्त्र, आत्मा (साधक) और नाड़ी समरसता को प्राप्त होते हैं तब वह साधक रस, दिव्यरसायन और दिव्यसिद्धियों को प्राप्त करता है।(333)

महामुद्रामहाबन्धौ महावेधस्तथाश्विनी।
विपरीतकृतिर्मुद्रा शक्तिसंचालनं तथा।।334।।

इसके प्राप्ति के लिये महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, अश्विनीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा और शक्तिसंचालनी क्रिया का अभ्यास करना होगा।(334)

मुद्रा मन्त्र क्रिया योग महोपकरणेन च।
मन्त्रयोगेन देवेशि शीघ्रं सिद्ध्यति मानवः।।335।।

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

हे देवेशी! मुद्रा, मन्त्र, क्रिया और योग रूपी महान् उपकरण (साधन) के द्वारा ही सिद्धि (लक्ष्य) प्राप्ति होगी। उनमें भी मन्त्र और योग से शीघ्र ही मानव लक्ष्य को प्राप्त करेगा।(335)

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात्।।336।।

महावेध के विना महामुद्रा और महाबन्ध निष्फल (व्यर्थ) होंगे, इसलिये योगी प्रयत्नपूर्वक तीनों को क्रम से करता है।(336)

एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः।।337।।

इन तीनों को प्रतिदिन जो बार बार अभ्यास करता है वह छह महीने के भीतर मृत्यु को जीत लेता है, इसमें कोई संशय नहीं।(337)

एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः।
यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वे सिद्धिं सम्यग्लभन्ति वै।।338।।
गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः।
अन्यथा च न सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः।।339।।

सिद्धि को चाहनेवाले साधकों द्वारा प्रयत्नपूर्वक इन्हें छिपाये रखना है अर्थात् किसी को भी बताना नहीं की आप इनका अभ्यास कर रहे हैं। अन्यथा ये सिद्ध नहीं हो सकते – यह मुद्राओं के विषय में निश्चय है।(339)

बिन्दुस्थिरीकरण का यौगिक उपाय बताकर अब औषधी से बीज सिद्धि के बारे में ग्रन्थान्तर से उद्धृतकर कह रहे हैं। (सिद्धि पाद के अन्त में मुद्रित है मूलग्रन्थ में, तदनुसार हम उसे वहीं पर ग्रहण किये हैं)।

(सूचना :- ग्रन्थान्ते त्रयोविंशतिश्लोकैर्वीर्यसंरक्षणौषधयः प्रोक्ताः, तत्रैव द्रष्टव्याः = ग्रन्थान्त में 23 श्लोकों द्वारा वीर्यसंरक्षणोपयोगी औषधियां कहे गये है, उन्हें वहीं देखें।)

33. महामुद्राकथनम् = महामुद्रा का वर्णन –

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे ।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरा गताः।।340।।

हे मेरे प्रिये! अब मैं इस शास्त्र में महामुद्रा को बताऊँगा। जिसे प्राप्त करके कपिलादि (मुनियों ने) सिद्धों ने सिद्धि प्राप्त की थी।(340)

अपसव्येन सम्पीड्य पादमूलेन सादरम्।

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम्।।341।।
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै।
नव द्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि।।342।।

सावधानी से दाहिने पैर के मूल को अपनी ओर (यानि सीवनी नाड़ी की ओर) मोड़ के गुरु के उपदेशानुसार गुदा और मेढ्र के अन्तराल में स्थित योनि को दबाकर के सामने फैली हुई बायें पैर को दोनों हाथों से पकड़कर पूरे नौ द्वारों को संयमित (बन्द) करके अपने चिबुक (ठुड्डि) को छाती पर झुकाकर रखें। (341-342)

चित्तं चित्तपथे दत्त्वा भेदयेद्वायुचालनम्।
महामुद्रा भवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।343।।

चित्त को चित्तपथ (भ्रूमध्य) में स्थापित कर संचालित वायु का भेदन करें (अर्थात् शरीर से यथासम्भव पूरे वायु बाहर करके कुम्भक करें) और स्थिर रहें। सकल शास्त्रों में सुरक्षित व गोपनीय यह महामुद्रा है।(343)

वामांगेन समभ्यस्य दक्षांगेनाभ्यसेत्पुनः।
प्रणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः।।344।।

बायें पैर से अभ्यास करके अब दाहिने पैर से भी अभ्यास करें। इस प्रकार योगी एकाग्र मनवाला होकर समप्राणायाम करके ही महामुद्रा करें।(344)

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योऽपि सिद्ध्यति।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुधारणम्।।345।।
जीवनन्तु कषायस्य पातकानां विनाशनम्।
कुण्डलीतापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेश्नम् ।।346।।
सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम् ।
वपुषः कान्तिरमला जरामृत्युविनाशनम्।।347।।
वांछितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणां च मारणरम्।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः।।348।।

इस विधि से योगी मन्दभाग्यवाला भी क्यों न हो समस्त नाड़ियों का चालन करने में सिद्ध हो जाता है और बिन्दु रक्षित हो जाता है। इससे अतिरिक्त भी अनेक फल मिलते हैं। जैसे जीवन में कशाय और पातकपापों का नाश होता है, कुण्डलि का तपन, ब्रह्मरन्ध्र में वायु का प्रवेश, सकल रोगों का नाश, जाठराग्नि

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

की वृद्धि, शरीर की निर्मलकान्ति तथा जन्म-मृत्यु के चक्कर का नाश। अभीष्ट फल की प्राप्ति, सौख्य, इन्द्रियों का मारण (वशीकरण) - ये सब फल योगारूढ योगी को प्राप्त होते है।(346-348)

भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा।
तस्माद्यत्नेन कर्तव्यं योगविद्धर्मुमुक्षुभिः ।।349।।

योगाभ्यास करते हुए को अवश्य ये फल मिलेंगे, इस विषय में संशय नहीं करना चाहिये। इसलिये योग को जानने वाले मुमुक्षु लोग यत्नपूर्वक अवश्य अभ्यास करना चाहिये।(349)

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजित।
यां तु प्राप्य भवाम्बोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः।।350।।

हे देवताओं से पूजित! इस मुद्रा को प्रयत्नपूर्वक रक्षा करें। (छिपाये रखें) क्योंकि यह ऐसी चीज है कि इसे प्राप्तकर योगी भवसागर को तर जाता है।(350)

मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता।
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित्।।351।।

यह मुद्रा कामधेनु के समान है क्योंकि यह साधक के सकल कामनाओं को पूरी करनेवाली है। गुप्त तरीके से ही करना चाहिये और जिस किसी को नहीं देना व बताना चाहिये।(351)

34. महाबन्धकथनम् = महाबन्ध का वर्णन -

पूर्ववद्वामपादं वै योनिस्थाने नियोजयेत्।
ततः प्रसारितं पादं विन्यसेत्तमुरूपरि।।352।।

फैलाये गये पैर को जाँघ के ऊपर रख लें (अर्थात् अर्ध सिद्धासन में बैठें), प्राणायाम करके तीनों बन्ध लगायें (जालन्धर, उड्डयान और मूल)।(352)

गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम्।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम्।।353।।

तत्पश्चात् गुदा व योनि का संकोचन करते हुए अपान वायु को ऊपर की ओर खीचें और समान वायु के साथ मिलाकर प्राण को अधोमुख बनाये रखें (अर्थात् जालन्धर और उड्डयान बन्ध को न खोले)।(353)

बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः।।354।।

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जब प्राणायाम के द्वारा ऊर्ध्वगति को रोकता है तब बुद्धिमान् साधक समझें कि 'महाबन्ध' हो रहा है, जो कि सिद्धिमार्ग को प्रशस्त करता है।(354)

नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धनं याति योगिनः।
उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः।।355।।

नाड़ी जाल से रसव्यूह मूर्धा की ओर जाता है, इसलिये योगी का कर्तव्य है कि वह महाबन्ध को दोनों पैरों से एक-एक बार क्रमशः सम्यक् प्रयत्न से करें।(355)

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्नामध्यसंगतः।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपंजरे।।356।।

इस अभ्यास से सुषुम्ना के मध्य में स्थित वायु इस शरीर रूपी पिंजरे में हाडमांस का दृढ़बन्ध के साथ शरीर को पुष्ट भी करेगा।(356)

सम्पूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः।
बन्धनेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम्।।357।।

तृप्तहृदयवाले योगी को उक्त सब फल मिलते हैं और इस महाबन्ध के द्वारा वह योगीन्द्र सकल अभीष्ट को सिद्ध कर लेता है।(357)

35. महावेधकथनम् = महावेध का वर्णन -

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभवनेश्वरि ।
महाबन्धस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना।।358।।

हे त्रिभुवनेश्वरी! प्राण और अपान का ऐक्य करके महाबन्ध में स्थित योगी जालन्धर और उड्डयान बन्ध को खोल कर (मूलबन्ध न खोलें) धीरे-धीरे पेट को वायु से भरें।(358)

स्फिचौ सन्ताडयेद्धीमान्वेधोऽयं कीर्तितो मया।
रुद्रग्रन्थिं च वै विष्णुग्रन्थिं भिनत्ति वै तथा।।359।।

बुद्धिमान् योगी अब दोनों कूल्हों (चूतडों) को ताडित करें (अर्थात् हाथों के बल पर उठायें और जमीन पर पटकें व संकोचन करें)। यह महावेध है, जो मेरे द्वारा कहा गया है।(359)

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुगवः।
ग्रन्थिं सुषुम्नामार्गेण ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्त्यसौ।।360।।

योगिगण इस वेधन के द्वारा वायु का सम्यग्वेधन करके सुषुम्ना मार्ग में चलते हुए ग्रन्थियों का भेदनकरते हुये ब्रह्मग्रन्थि का भी भेदन करेगा।(360)

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम्।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी ।।361।।

जो साधक सुगोपित इस महावेध को सदा अभ्यास करता है वह जरामरणनाशिनी वायुसिद्धि को प्राप्त करेगा।(361)

चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ते वायुताडनात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते।।362।।

वायु का ताडन रूपी महावेध से चक्रों में स्थित देवगण भी थर-थर कांपते हैं और महामाया कुण्डलिनी भी कैलास (सहस्रार) पहुंचकर शिव में विलीन होती है।(362)

36. **विपरीतकरणीमुद्रा** = विपरीतकरणीमुद्रा का वर्णन -

भूतले स्वशिरो दत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम्।
विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।।363।।

जमीन पर सिर रखके आकाश में (ऊपर की ओर) पैरों को उठायें, यह सर्वशास्त्रों में सुरक्षित व कहे गये विपरीतकरणीय मुद्रा है (सर्वांगासन जैसे किया जाता है)।(363)

एतस्याः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः।
मृत्युं जयति योगीशः प्रलये नैव सीदति।।364।।

इस मुद्रा को एक याम (3 घंटे) नित्य जो योगी अभ्यास करता है वह मृत्यु को जीत लेता है और प्रलय में नष्ट नहीं होता है।(364)

कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात्।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः।।365।।

जो इस प्रकार अमृत पान को करता है वह सिद्धों के समता को प्राप्त करता है और जो इस बन्ध (मुद्रा) को करता है वह समस्त लोकों में (लोगों) सभी के द्वारा सेव्य (पूज्य) होता है।(365)

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत्।
उड्ड्यानबन्ध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः।।366।।

नाभि के ऊर्ध्व और अधःभाग को पीठ की ओर खींच के (श्वास को पूर्णतया निकाल कर) स्थिर रहने का नाम उड्डयान बन्ध है, जो समस्त दुःखों का नाशक है।(366)

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वन्तु कारयेत्।
उड्ड्यानाख्योऽत्र बन्धो यो मृत्युमातंगकेसरी।।367।।

उदर में विद्यमान वायु को निकालकर पेट को अन्दर की ओर और नाभि से ऊर्ध्व की ओर खींच के धारण करना उड्डयान नामक बन्ध है, जो मृत्युरूप मातंग (हाथी) को मारनेवाला केसरी (सिंह) है।(367)

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन शुद्धो भवेन्मरुत्।।368।।

जो योगी इसे प्रतिदिन चार बार करता है उसका नाभिस्थान की शुद्धि होती हे, जिससे प्राण भी शुद्ध होत है।(368)

षण्मासमभ्यस्यन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम्।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते।।369।।

योगी 6 मास निरन्तर अभ्यास करेगा तो निश्चित रूप से मृत्यु को जीत लेता है और उसके जाठराग्नि दीप्त होने से शरीर की पुष्टि बढ़ेगी।(369)

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते।
रोगानां संक्षयस्यापि योगिनो भवति ध्रुवम्।।370।।

इससे इस शरीर की सिद्धि अनायास ही हो जाती है और योगी के शरीर में स्थित समस्त रोग निश्चित रूप से नष्ट होते हैं।(370)

गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः।
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम्।।371।।

गुरु से अच्छी तरह से इसको प्राप्त कर बुद्धिमान् योगी निर्जन एवं सुव्यवस्थित देश में इस परमदुर्लभ बन्ध को साधें।(371)

37. शक्तिचालनमुद्रा = शक्तिचालनमुद्रा का विवरण -

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम्।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान्।।372।।

बुद्धिमान् योगी अपान वायु को ऊपर उठाकर मूलाधार में दृढ़तापूर्वक यानी गहरी नींद में सोई जैसी पड़ी हुईकुण्डलिनी को चलायें अर्थात् जगायें।(372)

शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी।
गुप्ताचारेण कर्तव्या मुद्रेयं सुरपूजिते।।373।।

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

यह शक्तिचालनमुद्रा सकल प्रकार की शक्ति प्रदायिका है। हे सुरपूजते! इस मुद्रा को गुप्त रखते हुये अभ्यास करना चाहिये।(373)

वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः।
याति बिन्दुस्तदैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्तदा।।374।।

वायु से प्रेरित धूल जैसे ऊपर उड़ता है ठीक उसी प्रकार शक्तिचालन के द्वारा (वीर्य) बिन्दु ऊपर उठकर (अर्थात् कुण्डलिनीरूपी बिन्दु ऊर्ध्वगति को प्राप्त कर) सहस्रार पहुँचकर चिच्छक्तिरूप शिव से ऐक्यता को प्राप्त करता है जब तब यह शरीर भी दिव्य हो जाता है।(374)

शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत्।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगानां च विनाशनम्।।375।।

उक्त प्रकार से जो नित्य शक्तिचालन का अभ्यास करता है उसके रोगों के नाशपूर्वक आयु की वृद्धि होगी।(375)

विहाय निद्रां भुजंगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु।
तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता।।376।।

निद्रा को त्यागकर सर्पिणीरूपी कुण्डलिनी स्वयं ऊर्ध्व गति को प्राप्त होती है। अतः लक्ष्य प्राप्ति को चाहता हुआ योगी को नित्य अभ्यास करना चाहिये।(376)

यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम्।
येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा।।377।।

जो योगी इस उत्तम साधन शक्तिचालन का सदा अभ्यास करता है उसको शरीर की सिद्धि के साथ साथ अणिमा आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी।(377)

गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिचालनम्।।378।।

लेकिन गुरु से इसकी विधि का उपदेश प्राप्त करके ही करना है, उस विषय को मृत्युभय कैसे? विधिवत् दो मुहूर्त (48 गुणा 2 = 96 मिनट) नित्य शक्तिचालन का अभ्यास करें।(378)

बिन्दुं चन्द्रेण संयुक्तो रजः सूर्येण संगतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित्।।379।।

बिन्दु चन्द्र से संयुक्त होकर और रज सूर्य से संयुक्त होकर, इन दोनों के सामरस्यता के साथ एकत्व को जो योगी जानता है वही योगवित् है।(379)

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम्।।380।।

योगि द्वारा युक्तासन (पहले से सिद्धासन आदि में कम से कम 3 घण्टे निःस्पन्द बैठने का अभ्यास कर लिया हो वह इस अभ्यस्त स्थिर आसन) में बैठकर शक्तिचालन को प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये उसके प्रति सिद्धियाँ दूर नहीं होती।(380)

एतत्समुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति।
एकैकाभ्यासतः सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा।।381।।

यदि मुद्राओं सहित करने में असमर्थ होकर पृथक्-पृथक् अभ्यास करते रहने से लक्ष्य सिद्ध कभी न हुआ है और कभी न होगा। क्योंकि इन सब का साथ-साथ अभ्यास के विना किसी और प्रकार से सिद्ध नहीं होगा।(381)

38. अश्विनीमुद्रा = अश्विनीमुद्रा का विवरण -

मुद्रा या ह्यश्विनी प्रोक्ता तथा या शक्तिचालनी।
समानीय तु पक्षौ द्वावूर्ध्वरेतस्त्वसाधना।।382।।

शक्तिचालिनी मुद्रा जो कही गई उसके साथ जो अश्विनी मुद्रा करना है, उसे ऐसा करना है - शरीर के दोनों भागों को समवस्थित रखें (सुखासन, पद्मासन आदि में बैठें) अब ऊर्ध्वरेतस्व की साधना करनी है।(382)

आकुचयेद् गुदद्वारं प्रकाशयेत्पुनः पुनः।
सा भवेदश्विनीमुद्रा शक्तिबोधनकारिणी।।383।।

बार-बार गुदा सहित उस क्षेत्र के मांसपेशी व नाड़ियों का संकोच करें, पुनः विकसित करें। (ढीला छोड़ें) इसका नाम है अश्विनी मुद्रा, जो शक्ति को जगाने वाली है।(383)

अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी।
बलपुष्टिकरी चैव ह्यकालमरणं हरेत्।।384।।

यह मुद्रा एक श्रेष्ठ मुद्रा है, समस्त (गुप्त) रोगों का नाशक है। बल व पुष्टि प्रदायक और अकालमृत्यु का नाशक है।(384)

मर्मस्थानानि नाडीनां स्थानानि च पृथक्पृथक्।
वायुसंस्थानकर्माणि विदित्वा ध्यानमाचरेत्।।385।।

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इसलिये नाड़ियों के स्थानों को, मर्म स्थानों को और वायु के स्थान व कर्म को जानकर ध्यान करना चाहिये।(385)

पृथिवी लयतां याति जलं तेजोमयं भवेत्।
तेजो वायुस्तथा वायुराकाशं तत्प्रकाशकम्।।386।।

ध्यान में तत्त्वों के लय का चिन्तन करना है - पृथिवी का जल में विलय, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में, क्योंकि पूर्व-पूर्व कार्य है और उत्तरोत्तर कारण है। कार्यो का कारण में लय होना स्वाभाविक है।(386)

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसो मुखम्।
अंगुष्ठातर्जनीमध्यानामिकाभिश्च साधयेत्।।387।।

सिद्धासन में बैठकर कान, आँख, नासिका और मुँह को अंगूठा, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका अंगुलियों से बन्द करें।(387)

प्राणं संस्कृत्य काकाभिः समाने योजयेत्ततः।
षट्चक्राणां क्रमं ध्यात्वा हूँ हंसमनुना सुधीः।।388।।

आयाम (प्राणायाम) के द्वारा (प्रयास विशेष से) प्राण को संस्कारित करके (इड़ा और पिंगला को सम करके) समान वायु के साथ मिलायें, फिर छः चक्रों का क्रम से ध्यान करके 'हूँ' अथवा 'हंस' मंत्र से बुधिमान् साधक।(388)

सु सुम्नामार्गेण बिन्दुस्थाने शिरसि गच्छति।
अश्विनीमुद्रयाऽपि वीर्यस्योर्ध्वीकरणं भवेत्।।
यस्याः स्मरणमात्रेण शिवता जायते नृणाम्।
ज्ञात्वा समस्तं पुरुषो लभेन्मुक्तिं चतुर्विधाम्।।389।।

सुषुम्ना मार्ग से बिन्दु स्थान पर (सिर में) पहुंचें, इस प्रकार की अश्विनी मुद्रा से भी वीर्य को ऊर्ध्वगति प्रदान कर सकते हैं। जिसका स्मरण मात्र से मनुष्यों को शिवता की प्राप्ति होती है, ऐसी अश्विनी मुद्रा को जानकर पुरुष (साधक) चतुर्विध मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।(389)

वाणी चित्रायते तेन वाचः सिद्धिः प्रजायते।
स्थिरवीर्येण सरस्वतीनाडी विकसति तेन वाग्मित्वम्।।
पाण्डित्यं च कवित्वं च शीघ्रं सम्पद्यते नृणाम्।
मन्त्रं जपेत्तथा रीत्या प्राणशक्तिर्विवर्धते।। 390।।

इससे वाणी एक आश्चर्यमय स्थिति को प्राप्त करती है, जिससे वाक्सिद्धि उत्पन्न होगी। क्योंकि स्थिरवीर्य से सरस्वती नाड़ी जाग्रत होती है,

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जिससे वाग्मित्व प्राप्त होता है। पाण्डित्य और कवित्व सिद्धि भी प्राप्त होगी। साथ में मंत्र जप करने से शीघ्र ही प्राणशक्ति की वृद्धि होगी।(390)

39. मूत्रोत्सर्गमुद्रा = मूत्रोत्सर्गमुद्रा का वर्णन –

नासाभ्यां प्राणमाकृष्य ह्यपाने योजयेच्छनैः।
बलादाकुंचयेत्सम्यगश्विनीमुद्रया गुदम् ।।391।।

नासिकाओं से प्राण (वायु) को भीतर खींच कर अपान के साथ धीरे-धीरे मिलायें, तत्पश्चात् अश्विनीमुद्रा से गुदा क्षेत्र का बलपूर्वक संकोच करें।(391)

स्वमुत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना।
स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य तत्पुनः।।392।।

40. कुण्डलिनीजागरणविधिः = कुण्डलिनीजागरण की विधि – [यहां से आगे 101 श्लोक यानि 393 से 493 तक के श्लोक इन्द्रवज्रा छन्द में है। जिसका लक्षण है - ''स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ यगौ गः।'' अर्थात् जिस पद्य के प्रत्येक पाद क्रमशः त (गुरु गुरु लघु), त और य (लघु गुरु लघु) गणों से युक्त होकर अन्त में ग ग यानि दो गुरुवर्ण हो उसे इन्द्रवज्रा छन्द कहते हैं। अत एव प्रत्येक पाद में 11 अक्षर हैं।]

वन्दे गुरूणां चरणारविन्दे सन्दर्शित स्वात्मसुखावबोधे।
जनस्य ये जांगलिकायमाने संसारहलाहलमोहशान्त्यै।।393।।

मैं गुरु के चरणारविन्दों में प्रणाम करता हूँ जो स्वात्मसुख का अवबोध कराये। जंगली मनुष्यों के जैसे जो लोक संसारचक्र में फसे हुये हैं उनमें से जो लोग मोहजाल से निकलकर शान्ति चाहते हैं वे लोग (क्या करे?)।(393)

गुरोः सकाशादधिगत्य दीक्षां स्वसाधनायां प्रविविक्षुरादौ।
ध्यायेद्गुरोः श्रीचरणारविन्दं समर्चयेन्मानसिकोपचारैः ।।394।।

योग्य सद्गुरु के पास जाकर दीक्षा प्राप्त करके अपनी साधना में प्रवेश करने के इच्छुक साधक सबसे पहले गुरु के चरणारविन्दों का ध्यान करें और मानसिक उपचारों से पूजा करें।(394)

गुरुं सहस्रारगतं तमेवं ध्यात्वा तदाज्ञामुपलभ्य पश्चात्।
प्रविश्य यत्नान्मणिपूरचक्रे जपं चरेत्साधक आत्मतन्त्रः।।395।।

सहस्रार में स्थित गुरु का ध्यान करके उनसे आज्ञा प्राप्त कर मणिपूर चक्र में यत्नपूर्वक प्रवेश करके स्वतन्त्र यानि निर्भयता से साधक मन्त्र जपें।(395)

चक्राच्च चक्रान्तरसम्प्रवेशे सार्धं त्रिरावृत्त्य परिक्रमेत्तु तत्।
संचिन्तयन्नुर्ध्वमुखं च चक्रमधोमुखं चापि समन्त्रजापम्।।396।।

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सूर्यभेद प्राणायाम

पूरयेत् सूर्यनाड्या च यथाशक्ति बहिर्मरुत्॥
धारयेद्बहुयत्नेन कुम्भकेन जालन्धरैः।

—गोरक्षसंहिता, १।२०७-२०८

—पहले सूर्यनाड़ी (पिङ्गलानाड़ी) द्वारा अर्थात् दक्षिण नासिकाद्वारा यथाशक्ति वायु आकर्षण करें, तत्पश्चात् उस आकृष्ट वायु को जालन्धर मुद्रा के द्वारा धारण कर कुम्भक करें।

जालन्धर मुद्रा यथा—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये मारुतं धारयेद्दृढम्।
नाभिस्थाग्नौ कपालस्थसहस्रकमलच्युतम्॥
अमृतं सर्वदास्रावं बिन्दुत्वं याति देहिनाम्।
यथाग्निश्च तदमृतं न पिबेच्च पिबेत् स्वयम्॥

—दत्तात्रेयसंहिता

अर्थात् शिरःस्थित सहस्रदल-कमलच्युत अमृतधारा नाभिस्थित जठरानल में पतित न होने देकर स्वयं पान करने का नाम जालन्धरबन्ध है।

यावत् स्वेदं न केशाग्रात् तावत् कुर्वन्तु कुम्भकम्।

—गोरक्षसंहिता, १।२०८

—जबतक केश के अग्रभाग से घर्म (पसीना) निर्गत न हो, तबतक कुम्भक करते रहें।

सर्वे ते सूर्यसंभिन्ना नाभिमूलात् समुद्धरेत्।
इड़या रेचयेत् पश्चात् धैर्येणाखण्डवेगतः॥

—गोरक्षसंहिता, १।२०९

—इस कुम्भक को करते समय प्राण अपान प्रभृति समस्त वायु को सूर्यनाड़ी अर्थात् पिङ्गलानाड़ी द्वारा भेदन कर समानवायु को नाभिमूल से

उद्धृत करें। बाद में इड़ा अर्थात् वाम नासापथ से धैर्य के साथ क्रमशः सम्पूर्ण वेग के साथ रेचन करें।

पुनः सूर्येण चाकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि।
रेचयित्वा साधयेत्तु क्रमेण च पुनःपुनः॥

—गोरक्षसंहिता, १।२१०

फिर से दक्षिण नासा में पूरक, सुषुम्ना में कुम्भक और वाम नासापथ में रेचन करोगे। इस प्रकार पुनःपुनः करना होता है।

मतान्तर से—

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा मुक्तासनं ततः।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः॥
आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत्।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत् पवनं सुधीः॥*

—घेरण्डसंहिता

Scanned by CamScanner

७. मूर्च्छा कुम्भक :—

सर्वप्रथम सिद्धासन में बैठना चाहिये। दोनों नासिकारन्ध्रों से गहरा श्वास लेकर कुम्भक करें। पूरक के अन्त में कुम्भक के समय ठोड़ी (चिबुक, दाढ़ी) को गले से नीचे के गड्ढे में टिकाकर "जालन्धर बन्ध" लगाना चाहिये।[3] इसके बाद दोनों तर्जनी-मध्यमा से आँख की पलकों को कोमलता से बन्द करके दोनों अनामिका से नासिकारन्ध्रों को बन्द करें। पुनः कनिष्ठा से अधर को दबाकर ओष्ठ बन्द करें। श्वास अन्दर रोककर मूलबन्ध और रेचक के अन्त में उड्डीयान बन्ध करें। दम घुटने से पूर्व अंगुलियों को हटाकर दोनों नासिकाओं से श्वास बाहर निकालना चाहिये।

मूलबन्ध में सिद्धासन लगा रहेगा अर्थात् एड़ी से कन्द स्थान (जननेन्द्रिय मूल और गुदा के बीच) को दबाकर दूसरी एड़ी से लिङ्गमूल को दबाना चाहिये। इसके बाद गुदा का संकुचन करते हुये अपान वायु को ऊपर की ओर आकृष्ट करें[4] तथा साथ ही प्राणवायु को कण्ठ से नाभि की ओर ले जाना चाहिये। पूरक के आरम्भ के साथ-साथ इस क्रिया का भी आरम्भ हो जाना चाहिये। कुम्भक के समय तक नाभि-स्थान में प्राण और अपान वायु का संगम कराना चाहिये। यही मूलबन्ध है। इसके बाद रेचक के समय श्वास निकालने के साथ अपान वायु के विरेचन की स्थिति में गुदा के संकुचन का त्याग या शिथिलीकरण करना चाहिये। उड्डीयान बन्ध कुम्भक के अन्त में रेचक के प्रारम्भ में करना चाहिये। इस समय

१. हठयोग प्रदीपिका, २/६३-६६
२. घेरण्डसंहिता, ५/८०-८१।
३. हठयोग प्रदीपिका, २/६६।
४. वही, ३/६१।

नाभि के ऊपरी तथा नीचे के भाग (उदर) को पीठ की ओर इस प्रकार तानें अर्थात् आकर्षण करें कि नाभि के ऊपर नीचे के भाग पीठ से मिल जायें।[1]

८. प्लाविनी कुम्भक :—

पद्मासन में बैठकर उदर को, वायु से भरकर, आपूरित करें (पूरक करें) पुनः रेचक करके श्वास बाहर निकाल कर उदर को अन्दर की ओर करे। बार-बार यही क्रिया करनी चाहिये।[2]

Scanned by CamScanner

॥ इति संप्रदायदीपिकायां तृतीयः पटलः ॥

एवं प्राणायाममुखेन पवनविजयं योगविशेषांश्चोक्त्वा जितमरुतामधिकारिणामभ्युदय निश्रेयस प्राप्त्युपाय भूतं मन्त्राणां छिन्नरोधानि दोषपरिहारार्थं च योनिमुद्रा बन्धनप्रकारं वक्तुमुपक्रमते। अथ पूरकयोग इत्यादिना पूरकादि योगाभ्यासेन स्वान्तं नियमितं स्वाधारे प्राण संभिन्नं मनः संयोज्याग्रजन्ध्याख्य सुषुम्नाख्य विकसने यत्नं कुर्यात्। तदुक्तं रुद्रयामले। नित्य क्लिन्ना प्रकारणे आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे योजयेमरन इति। शकृत्समुत्सृजेति। कम्बुलिमार्गं पायुस्थानम्। अर्वा अश्वः। यथोत्सृष्टमलस्तुरङ्गः शनैः शनैस्वपायुमार्गं सङ्कोचयेत्। तथा स्वाधार नियमितान्तः करणोपानवायुना पायु द्वारमाकृष्याकुञ्चनं प्रबन्धयेत्। यथा पानवायुरवशेनापि बहिर्निर्गच्छति। तथा नियम्य सङ्कोचयेदित्यर्थः। विदधीतेति। तमपान वायुं देशिकदर्शितक्रमेण मुहुर्मुहुं कृति करणेन ऊर्ध्वमुखं कुर्यात्। आधारलक्षणमाह। दृढरुद्धगु * द ध्वजान्तरालेति। गुदमाधारचक्रस्याधो भागः। पायुस्थानम्।

p. 159)

ध्वजं मुष्कमूलं तेजोमयम्। जाढराग्न्याधारम्। पुष्कराश्रयोम्निमत् त्रिकोणम्। अयमर्थः। गुदध्वजोर्मध्ये स्थितं यच्चतुष्पतिं पद्मम्। तन्मध्ये त्रिकोणाकारयोनिरिति। तथा चोक्तम्।

श्री रुद्रयामले। गुदमेढ्रान्तरे योनिरिति। अथ कम्बुलिमारुतमिति। कम्बुलिमारुताख्यमपानवायुं देशिकोपदेशक्रमेणाकुञ्चनेन शनैः शनैरूर्ध्वमुखं नीत्वा कमलासनपङ्कजाख्य सुषुम्नामूलं प्रवेशयेत्। तथा चोक्तं श्रीरुद्रयामले। तामातिञ्च्य प्रबन्धयेदिति। अमुनाविधिनेति। एवं मुहुर्मुहुरभ्यासेन निरुद्धाधो वृत्तिरपानवायुरूर्ध्वगमनाय राज्ञां प्रयाणाय तद्भटैः क्रियमाणाध्वशुद्धिवत्कुण्डलिनी शक्त्यात्मकस्य परमेश्वरस्या कुलाख्य स्वभवनगमनाय सुषुम्नामूलं प्रविश्य तदन्तर्ब्रह्ममार्गस्थितग्रन्थिभेदनं करोतीत्यर्थः परिहृत्य खगाधिप इति। अपानोप्यूर्ध्व वृत्तित्वेन प्राणात्मत्वात् खगाधिपाख्यां लभते। एवमूर्ध्वगमनाय प्रवृत्तोपानवायुः सोमसूर्यात्मकेडा पिङ्गलमार्गौ परिहृत्य कमलासनपङ्कजमूलं सुषुम्नामूलं प्रविश्योर्ध्वमुखी करोति। प्रभानमिति। परमेष्ठिनोगवनं सुषुम्नाकाशः। तटित्कोटि प्रख्यमिति। तटिच्छब्देन महाप्रकाशरूपत्वम्। कालानलशब्देनाखण्डज्ञानस्वरूपत्वम्। सहस्रादित्य

Scanned by CamScanner

(२६) **त्रिबन्धरेचक-प्राणायाम**—अभ्यस्त आसन से बैठें, तत्पश्चात् दाएँ हाथ के अँगूठे से दाएँ नथुने को दबाकर, नाभि से लेकर कण्ठ तक की समस्त वायु को शनैः-शनैः रेचक करें। अब मूलबन्ध, उड्डियान-बन्ध, और जालन्धर-बन्धों को दृढ़ता से लगाकर दोनों हथेलियों को घुटनों पर स्थापित करें, नेत्र-दृष्टि को नासाग्र पर रक्खें।

इसके लाभ हैं—यह प्राणायाम कुण्डलिनी-शक्ति को शीघ्र जाग्रत् करके सुषुम्णा-द्वार को भी खोल देता है। प्राणोत्थान के द्वारा होने वाले प्राण के—चींटियाँ रेंगने जैसे सुखद स्पर्श आदि की प्रतीति होने लगती है। प्राणोत्थान के द्वारा मेरुदण्ड में गमन करता हुआ प्राण, ब्रह्मरन्ध्र में जाकर ठोकर-सी लगाने लगता है। इस स्पर्श से साधक को अधिक आनन्द की अनुभूति होती है।

(२७) **त्रिबन्ध-कुम्भक प्राणायाम**—वज्रासन में सुखपूर्वक बैठकर, प्राण-वायु को जहाँ का तहाँ रोककर, तीनों बन्धों को लगाकर, दृढ़ता से कुम्भक कर लें। यथाशक्ति कुम्भक कर लेने के पश्चात् तीनों बन्ध खोलकर दोनों नथुनों से शनैः-शनैः पूरक कर दें। इसी को बार-बार दोहराएँ; और कुम्भक होने के स्थल में होने वाली गति पर ध्यान रक्खें।

इसके लाभ हैं—इसके अभ्यास से कुम्भक दीर्घ और सूक्ष्म होता है। प्राण की धारणा शक्ति, और ध्यान की स्थिरता बढ़ती है। प्राण के अवरोधित देश का ज्ञान होता है।

Scanned by CamScanner

(२४) **अग्निप्रसारण-प्राणायाम**—सिद्धासन से सम-काय-ग्रीव होकर बैठें, दोनों हथेलियों को घुटनों पर रखकर दोनों नथुनों से उदर की वायु को नाभि से धक्का देकर, पेट को पिचकाते हुए शीघ्रता से रेचक करें; इसी प्रकार तुरन्त पूरक कर लें। पुनः-पुनः शीघ्रता से पूरक-रेचक करते हुए, पेट को फुलाते और पिचकाते हुए दोनों नथुनों का प्रयोग करते हुए इस विधि को न्यून से न्यून ५०-६० बार करें।

इसका विशेष लाभ है—पाचन शक्ति की वृद्धि होकर मन्दाग्नि का दूर हो जाना। बढ़े हुए पेट की चर्बी घट जाने से नौलि उठने लगती है तब उदर स्वतः पिचक जाता है। पेट को घटाने और नौलि-उत्थान के लिए यह प्राणायाम सर्व-श्रेष्ठ है।

Scanned by CamScanner

द्वारा मूलाधारसे लेकर ब... ...है।

...विन्दुके

...है। यह नाद अत्यन्त शुक्ल वर्णवाला है। नाद वायु...
महानाद शक्तिरूप है।

सहस्रार :—

शङ्खिनी नाड़ीके शिखर स्थित तथा विसर्गके नीचे प्रकाशरूप शून्य प्रदेशमें पूर्णचन्द्रकार सहस्र दल पद्म स्थित है। यह अधोमुख है। इसके एक हजार दल हैं। दल अतिशुभ्र हैं। इन दलोंपर 'अ'से लेकर 'क्ष' तक—ये पचास अक्षर विराजमान हैं। अक्षर शुभ्र हैं। इस पद्मका केशरपुञ्ज प्रातःकालीन सूर्यके समान रक्त वर्णवाला है।

सहस्रदल पद्मकी कर्णिकाके मध्यमें कलङ्करहित एक पूर्ण चन्द्रमण्डल है। उस चन्द्रमण्डलके मध्यमें विद्युत्के समान रूपवाला एक त्रिकोण है। उस त्रिकोणके मध्यमें चन्द्रकी अमा नामकी षोलहवीं कला स्थित है। यह रक्त वर्णवाली है, अधोमुखी है। कमलनालके मध्यमें स्थित तन्तुके सौवें भागके समान है इसका शरीर।

इसी अमा कलाके मध्यमें निर्वाण कला विद्यमान है। यह बारहों सूर्योंके समान प्रकाशवाली है। इसका शरीर केशके अग्रभागके हजारवें भागके समान है। अर्थात् यह अत्यन्त सूक्ष्म है। यह अर्धचन्द्राकार विग्रहवाली है।

इसी निर्वाण कलाके मध्यदेशमें निर्वाणशक्ति विराजमान है। यह करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशवाली है। इसका शरीर केशके अग्रभागके करोडवें भागके समान है। अर्थात् यह अत्यन्त सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है। यह ब्रह्मकी शक्ति माया है। इसीके मध्यमें शून्य है अर्थात् परंविन्दुरूप शून्य है। इस परंविन्दुरूप शून्यमें परमशिवकी स्थिति है। अर्थात् परंबिन्दुरूप शून्यमें परम शिवका साक्षात्कार होता है। इसी परमशिवके पद—स्थानको स्वामीष्ट देवताका स्थान साम्प्रदायिक लोग मानते हैं। शिव, शक्ति, हंस, विष्णु, ब्रह्म आदि नामसे यही स्थान प्रसिद्ध है।

Scanned by CamScanner

तत्पश्चात् योगी महाकुण्डलिनीको जिस प्रकारसे सहस्रारमें स्थित परमशिवमें ले गया था उसी प्रकार पुनः उसे मूलाधारमें ले आवे ...

... आदि पूर्णामृतरससे आप्लावित रहते हैं। इस प्रकार ...जीवन्मुक्त विचरण करता रहे।

योगके द्वारा प्राणत्याग करनेकी विधि—

जब योगीको स्वेच्छापूर्वक योगके द्वारा प्राणत्याग करना है अर्थात् प्रारब्ध कर्मके क्षय हो जाने पर देहत्याग करना हो तो उसे आज्ञा चक्रमें प्राणत्याग करनेके लिए निर्देश दिया गया है—

जब योगीको यह विदित हो जाय कि प्रारब्ध कर्मकी समाप्ति हो रही है अर्थात् प्राणवियोगका काल आ गया है तब वह 'मैं ब्रह्ममें लीन हो रहा हूँ' इस प्रकार आनन्दित मनसे योगासनमें बैठ जाय। तत्पश्चात् कुम्भकके द्वारा वायुको रुद्ध कर हृदयमें रहनेवाली जीवात्माको मूलाधारमें ले आवे। तब गुदाका आकुञ्चन कर यथोक्त विधानसे कुण्डलिनीको जागृत कर मूलादिसे ब्रह्मरन्ध्रके अन्त तक विद्युदाकार आनन्दस्वरूप कुण्डलिनीमय सूत्ररूपी नादका ध्यान करके प्राणरूपी श्वास परमात्मक हंसको उस नादमें विलीन करके जीवके साथ चक्रभेदके क्रमसे आज्ञा चक्रमें लाकर उस आज्ञा चक्रमें स्थित कुण्डलिनीमें स्थूल-सूक्ष्मके क्रमसे पृथिवी आदि प्रपञ्च समुदायको विलीन करके उस कुण्डलिनीको पुनः जीवात्माके साथ उसमें स्थित शिवशक्तिमय बिन्दुके साथ अभेदभावको प्राप्त कराकर स्थित रहे। उसके बाद ब्रह्मरन्ध्रके भेदसे देहका त्यागकर ब्रह्ममें लीन हो जाय।

योगके द्वारा प्राणत्याग करनेका फल :—

जब योगी योगके द्वारा प्राणत्याग करता है तब वह ब्रह्मको प्राप्त करता है जो कि पर है। अर्थात् सबसे परे, जिसके परे कोई नहीं अर्थात् परंब्रह्म है; जिसका

कभी भी ध्वंस नहीं होता है अतः वह नित्य है; जो अजन्मा है; तथा सबका कारण है; एवं जिसकी श्रुतियोंके द्वारा प्रतिपादित ज्ञानके द्वारा अनुभूति होती है। उसी परब्रह्मको जो प्राप्त कर लेता है अर्थात् जो ब्रह्म हो जाता है, वह उपर्युक्त लक्षणोंसे लक्षित समग्र फलको प्राप्त करता है।

इस प्रकारसे शास्त्रोंके अनुसार हमने षट्चक्र आदिका विवेचन किया है। ...के लिए अनुभवी गुरुका आश्रय ...

विश... विचार है। पाठक व ... प्रयाससे यथाशीघ्र कार्य पूर्ण होनेकी आशा रखता हूँ। इति शिवम्।

दीपावली
वि० सं० २०४५
वाराणसी

—प्रह्लाद

Scanned by CamScanner

जालन्धरोड्ड्याणसुमूलबन्धान् जल्पन्ति कण्ठोदरपायुमूले।

बन्धत्रयेऽस्मिन् परिचीयमाने बन्धः कुतो दारुणकालपाशात्।।447।।

जो व्यक्ति जालन्धर, उड्डयान और मूल – इन तीनों बन्धों को क्रमश कण्ठ, उदर और पायुमूल में लगाने की कला से सुपरिचित हो गया है वह दारुण कालपाश रूपी बन्धन में कैसे रह सकता है।(447)

ओड्ड्याणजालन्धरमूलबन्धैरुन्निद्रितायां सुरनायिकायाम्।

प्रत्यङ्मुखात्सम्प्रविशन्सुषुम्नां गमागमौ मुंचति गन्धवाहः।।448।।

जालन्धर, ओड्डयाण, मूल –इन तीन बन्धों से जिसने जगा लिया है सुरनायिका कुण्डलिनी को और उन्मुख कर उसको सुषुम्ना में प्रवेश कराये हुये योगी का प्राण गमागम से मुक्त हो जाता है।(448)

उत्थापिताधारहुताशनोत्थैराकुंचनैः   शश्वदपानवायोः।

सन्तापिता चन्द्रमसं पतन्तीं पीयूषधारां पिबतीह धन्यः।।449।।

उत्थापित मूलाधार रूपी अग्नि से निष्पन्न आकुंचनों के द्वारा अपान वायु को नित्य ही सन्तापित किये जाने पर (ललना चक्र से टपकती हुई) अमृतधारा को पीकर साधक धन्य होता है।(449)

बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां विवर्जिता रेचकपूरकाभ्याम्।

विशोषयन्ती विषमप्रवाहं विद्यां भजे केवलकुम्भरूपाम्।।450।।

बन्धत्रय के अभ्यास की परिपक्वावस्था से उत्पन्न तथा रेचक और पूरक से रहित जो विशप्रवाह को सुखाती रहती है कुण्डलिनी उस साधक का जो केवलकुम्भकरूपा विद्या को भजता है।(450)

Scanned by CamScanner

सूर्यभेद प्राणायाम

पूरयेत् सूर्यनाड्या च यथाशक्ति बहिर्मरुत्॥
धारयेद्बहुयत्नेन कुम्भकेन जालन्धरैः।

—गोरक्षसंहिता, १।२०७-२०८

—पहले सूर्यनाड़ी (पिङ्गलानाड़ी) द्वारा अर्थात् दक्षिण नासिकाद्वारा यथाशक्ति वायु आकर्षण करें, तत्पश्चात् उस आकृष्ट वायु को जालन्धर मुद्रा के द्वारा धारण कर कुम्भक करें।

जालन्धर मुद्रा यथा—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये मारुतं धारयेद्दृढम्।
नाभिस्थाग्नौ कपालस्थसहस्रकमलच्युतम्॥
अमृतं सर्वदास्रावं विन्दुत्वं याति देहिनाम्।
यथाग्निश्च तदमृतं न पिबेच्च पिबेत् स्वयम्॥

—दत्तात्रेयसंहिता

अर्थात् शिरःस्थित सहस्रदल-कमलच्युत अमृतधारा नाभिस्थित जठरानल में पतित न होने देकर स्वयं पान करने का नाम जालन्धरबन्ध है।

यावत् स्वेदं न केशाग्रात् तावत् कुर्वन्तु कुम्भकम्।

—गोरक्षसंहिता, १।२०८

—जबतक केश के अग्रभाग से घर्म (पसीना) निर्गत न हो, तबतक कुम्भक करते रहें।

सर्वे ते सूर्यसंभिन्ना नाभिमूलात् समुद्धरेत्।
इड़या रेचयेत् पश्चात् धैर्येणाखण्डवेगतः॥

—गोरक्षसंहिता, १।२०९

—इस कुम्भक को करते समय प्राण अपान प्रभृति समस्त वायु को सूर्यनाड़ी अर्थात् पिङ्गलानाड़ी द्वारा भेदन कर समानवायु को नाभिमूल से

उद्धृत करें। बाद में इड़ा अर्थात् वाम नासापथ से धैर्य के साथ क्रमशः सम्पूर्ण वेग के साथ रेचन करें।

पुनः सूर्येण चाकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि।
रेचयित्वा साधयेत्तु क्रमेण च पुनःपुनः॥

—गोरक्षसंहिता, १।२१०

फिर से दक्षिण नासा में पूरक, सुषुम्ना में कुम्भक और वाम नासापथ में रेचन करोगे। इस प्रकार पुनःपुनः करना होता है।

मतान्तर से—

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा मुक्तासनं ततः।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः॥
आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत्।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत् पवनं सुधीः॥*

—घेरण्डसंहिता

Scanned by CamScanner

७. मूर्च्छा कुम्भक :—

सर्वप्रथम सिद्धासन में बैठना चाहिये। दोनों नासिकारन्ध्रों से गहरा श्वास लेकर कुम्भक करें। पूरक के अन्त में कुम्भक के समय ठोड़ी (चिबुक, दाढ़ी) को गले से नीचे के गड्ढे में टिकाकर "जालन्धर बन्ध" लगाना चाहिये।[3] इसके बाद दोनों तर्जनी-मध्यमा से आँख की पलकों को कोमलता से बन्द करके दोनों अनामिका से नासिकारन्ध्रों को बन्द करें। पुनः कनिष्ठा से अधर को दबाकर ओष्ठ बन्द करें। श्वास अन्दर रोककर मूलबन्ध और रेचक के अन्त में उड्डीयान बन्ध करें। दम घुटने से पूर्व अंगुलियों को हटाकर दोनों नासिकाओं से श्वास बाहर निकालना चाहिये।

मूलबन्ध में सिद्धासन लगा रहेगा अर्थात् एड़ी से कन्द स्थान (जननेन्द्रिय मूल और गुदा के बीच) को दबाकर दूसरी एड़ी से लिङ्गमूल को दबाना चाहिये। इसके बाद गुदा का संकुचन करते हुये अपान वायु को ऊपर की ओर आकृष्ट करें[4] तथा साथ ही प्राणवायु को कण्ठ से नाभि की ओर ले जाना चाहिये। पूरक के आरम्भ के साथ-साथ इस क्रिया का भी आरम्भ हो जाना चाहिये। कुम्भक के समय तक नाभि-स्थान में प्राण और अपान वायु का संगम कराना चाहिये। यही मूलबन्ध है। इसके बाद रेचक के समय श्वास निकालने के साथ अपान वायु के विरेचन की स्थिति में गुदा के संकुचन का त्याग या शिथिलीकरण करना चाहिये। उड्डीयान बन्ध कुम्भक के अन्त में रेचक के प्रारम्भ में करना चाहिये। इस समय

---

१. हठयोग प्रदीपिका, २/६३-६६

२. घेरण्डसंहिता, ५/८०-८१।

३. हठयोग प्रदीपिका, २/६९।

४. वही, ३/६१।

नाभि के ऊपरी तथा नीचे के भाग (उदर) को पीठ की ओर इस प्रकार तानें अर्थात् आकर्षण करें कि नाभि के ऊपर नीचे के भाग पीठ से मिल जायें।[1]

८. प्लाविनी कुम्भक :—

पद्मासन में बैठकर उदर को, वायु से भरकर, आपूरित करें (पूरक करें) पुनः रेचक करके श्वास बाहर निकाल कर उदर को अन्दर की ओर करें। बार-बार यही क्रिया करनी चाहिये।[2]

Scanned by CamScanner

॥ इति संप्रदायदीपिकायां तृतीयः पटलः ॥

एवं प्राणायाममुखेन पवनविजयं योगविशेषांश्चोक्त्वा जितमरुतामधिकारिणामभ्युदय निश्रेयस प्राप्त्युपाय भूतं मन्त्राणां छिन्नरोधानि दोषपरिहारार्थं च योनिमुद्रा बन्धनप्रकारं वक्तुमुपक्रमते। अथ पूरकयोग इत्यादिना पूरकादि योगाभ्यासेन स्वान्तं नियमितं स्वाधारे प्राण संभिन्नं मनः संयोज्याग्रजन्ध्याख्य सुषुम्नाख्य विकसने यत्नं कुर्यात्। तदुक्तं रुद्रयामले। नित्य क्लिन्ना प्रकारणे आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे योजयेमरन इति। शकृत्समुत्सृजेति। कम्बुलिमार्गं पायुस्थानम्। अर्वा अश्वः। यथोत्सृष्टमलस्तुरङ्गः शनैः शनैस्वपायुमार्गं सङ्कोचयेत्। तथा स्वाधार नियमितान्तः करणोपानवायुना पायु द्वारमाकृष्याकुञ्चनं प्रबन्धयेत्। यथा पानवायुरवशेनापि बहिर्निर्गच्छति। तथा नियम्य सङ्कोचयेदित्यर्थः। विदधीतेति। तमपान वायुं देशिकदर्शितक्रमेण मुहुर्मुहुं कृति करणेन ऊर्ध्वमुखं कुर्यात्। आधारलक्षणमाह। दृढरुद्धगु * द ध्वजान्तरालेति। गुदमाधारचक्रस्याधो भागः। पायुस्थानम्।

p. 159)

ध्वजं मुष्कमूलं तेजोमयम्। जाढराग्न्याधारम्। पुष्कराश्रयोग्निमत् त्रिकोणम्। अयमर्थः। गुदध्वजोर्मध्ये स्थितं यच्चतुष्पतिं पद्मम्। तन्मध्ये त्रिकोणाकारयोनिरिति। तथा चोक्तम्।

श्री रुद्रयामले। गुदमेढ्रान्तरे योनिरिति। अथ कम्बुलिमारुतमिति। कम्बुलिमारुताख्यमपानवायुं देशिकोपदेशक्रमेणाकुञ्चनेन शनैः शनैरूर्ध्वमुखं नीत्वा कमलासनपङ्कजाख्य सुषुम्नामूलं प्रवेशयेत्। तथा चोक्तं श्रीरुद्रयामले। तामातिञ्च्य प्रबन्धयेदिति। अमुनाविधिनेति। एवं मुहुर्मुहुरभ्यासेन निरुद्धाधो वृत्तिरपानवायुरूर्ध्वगमनाय राज्ञां प्रयाणाय तद्भटैः क्रियमाणाध्वशुद्धिवत्कुण्डलिनी शक्त्यात्मकस्य परमेश्वरस्या कुलाख्य स्वभवनगमनाय सुषुम्नामूलं प्रविश्य तदन्तर्ब्रह्ममार्गस्थितग्रन्धिभेदनं करोतीत्यर्थः परिहृत्य खगाधिप इति। अपानोप्यूर्ध्व वृत्तित्वेन प्राणात्मत्वात् खगाधिपाख्यां लभते। एवमूर्ध्वगमनाय प्रवृत्तोपानवायुः सोमसूर्यात्मकेडा पिङ्गलमार्गौ परिहृत्य कमलासनपङ्कजमूलं सुषुम्नामूलं प्रविश्योर्ध्वमुखी करोति। प्रभानमिति। परमेष्ठिनोगवनं सुषुम्नाकाशः। तटित्कोटि प्रख्यमिति। तटिच्छब्देन महाप्रकाशरूपत्वम्। कालानलशब्देनाखण्डज्ञानस्वरूपत्वम्। सहस्रादित्य

Scanned by CamScanner

(२६) **त्रिबन्धरेचक-प्राणायाम**—अभ्यस्त आसन से बैठें, तत्पश्चात् दाएँ हाथ के अँगूठे से दाएँ नथुने को दबाकर, नाभि से लेकर कण्ठ तक की समस्त वायु को शनैः-शनैः रेचक करें। अब मूलबन्ध, उड्डियान-बन्ध, और जालन्धर-बन्धों को दृढ़ता से लगाकर दोनों हथेलियों को घुटनों पर स्थापित करें, नेत्र-दृष्टि को नासाग्र पर रक्खें।

इसके लाभ हैं—यह प्राणायाम कुण्डलिनी-शक्ति को शीघ्र जाग्रत् करके सुषुम्णा-द्वार को भी खोल देता है। प्राणोत्थान के द्वारा होने वाले प्राण के—चींटियाँ रेंगने जैसे सुखद स्पर्श आदि की प्रतीति होने लगती है। प्राणोत्थान के द्वारा मेरुदण्ड में गमन करता हुआ प्राण, ब्रह्मरन्ध्र में जाकर ठोकर-सी लगाने लगता है। इस स्पर्श से साधक को अधिक आनन्द की अनुभूति होती है।

(२७) **त्रिबन्ध-कुम्भक प्राणायाम**—वज्रासन में सुखपूर्वक बैठकर, प्राण-वायु को जहाँ का तहाँ रोककर, तीनों बन्धों को लगाकर, दृढ़ता से कुम्भक कर लें। यथाशक्ति कुम्भक कर लेने के पश्चात् तीनों बन्ध खोलकर दोनों नथुनों से शनैः-शनैः पूरक कर दें। इसी को बार-बार दोहराएँ; और कुम्भक होने के स्थल में होने वाली गति पर ध्यान रक्खें।

इसके लाभ हैं—इसके अभ्यास से कुम्भक दीर्घ और सूक्ष्म होता है। प्राण की धारणा शक्ति, और ध्यान की स्थिरता बढ़ती है। प्राण के अवरोधित देश का ज्ञान होता है।

Scanned by CamScanner

(२४) **अग्निप्रसारण-प्राणायाम**—सिद्धासन से सम-काय-ग्रीव होकर बैठें, दोनों हथेलियों को घुटनों पर रखकर दोनों नथुनों से उदर की वायु को नाभि से धक्का देकर, पेट को पिचकाते हुए शीघ्रता से रेचक करें; इसी प्रकार तुरन्त पूरक कर लें। पुनः-पुनः शीघ्रता से पूरक-रेचक करते हुए, पेट को फुलाते और पिचकाते हुए दोनों नथुनों का प्रयोग करते हुए इस विधि को न्यून से न्यून ५०-६० वार करें।

इसका विशेष लाभ है—पाचन शक्ति की वृद्धि होकर मन्दाग्नि का दूर हो जाना। बढ़े हुए पेट की चर्बी घट जाने से नौलि उठने लगती है तब उदर स्वतः पिचक जाता है। पेट को घटाने और नौलि-उत्थान के लिए यह प्राणायाम सर्वश्रेष्ठ है।

Scanned by CamScanner

द्वारा मूलाधारसे लेकर ब... ...है।

...बिन्दुके ...है। यह नाद अत्यन्त शुक्ल वर्णवाला है। नाद वायु... महानाद शक्तिरूप है।

सहस्रार :—

शङ्खिनी नाड़ीके शिखर स्थित तथा विसर्गके नीचे प्रकाशरूप शून्य प्रदेशमें पूर्णचन्द्रकार सहस्र दल पद्म स्थित है। यह अधोमुख है। इसके एक हजार दल हैं। दल अतिशुभ्र हैं। इन दलोंपर 'अ'से लेकर 'क्ष' तक–ये पचास अक्षर विराजमान हैं। अक्षर शुभ्र हैं। इस पद्मका केशरपुञ्ज प्रातःकालीन सूर्यके समान रक्त वर्णवाला है।

सहस्रदल पद्मकी कर्णिकाके मध्यमें कलङ्करहित एक पूर्ण चन्द्रमण्डल है। उस चन्द्रमण्डलके मध्यमें विद्युत्के समान रूपवाला एक त्रिकोण है। उस त्रिकोणके मध्यमें चन्द्रकी अमा नामकी षोलहवीं कला स्थित है। यह रक्त वर्णवाली है, अधोमुखी है। कमलनालके मध्यमें स्थित तन्तुके सौवें भागके समान है इसका शरीर।

इसी अमा कलाके मध्यमें निर्वाण कला विद्यमान है। यह बारहों सूर्योंके समान प्रकाशवाली है। इसका शरीर केशके अग्रभागके हजारवें भागके समान है। अर्थात् यह अत्यन्त सूक्ष्म है। यह अर्धचन्द्राकार विग्रहवाली है।

इसी निर्वाण कलाके मध्यदेशमें निर्वाणशक्ति विराजमान है। यह करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशवाली है। इसका शरीर केशके अग्रभागके करोड़वें भागके समान है। अर्थात् यह अत्यन्त सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है। यह ब्रह्मकी शक्ति माया है। इसीके मध्यमें शून्य है अर्थात् परंविन्दुरूप शून्य है। इस परंविन्दुरूप शून्यमें परमशिवकी स्थिति है। अर्थात् परंबिन्दुरूप शून्यमें परम शिवका साक्षात्कार होता है। इसी परमशिवके पद—स्थानको स्वामीष्ट देवताका स्थान साम्प्रदायिक लोग मानते हैं। शिव, शक्ति, हंस, विष्णु, ब्रह्म आदि नामसे यही स्थान प्रसिद्ध है।

Scanned by CamScanner

तत्पश्चात् योगी महाकुण्डलिनीको जिस प्रकारसे सहस्रारमें स्थित परमशिवमें ले गया था उसी प्रकार पुनः उसे मूलाधारमें ले आवे

[illegible]

[illegible] आदि पूर्णामृतरससे आप्लावित रहते हैं। इस प्रका[illegible] [illegible]वन्मुक्त विचरण करता रहे।

योगके द्वारा प्राणत्याग करनेकी विधि—

जब योगीको स्वेच्छापूर्वक योगके द्वारा प्राणत्याग करना है अर्थात् प्रारब्ध कर्मके क्षय हो जाने पर देहत्याग करना हो तो उसे आज्ञा चक्रमें प्राणत्याग करनेके लिए निर्देश दिया गया है—

जब योगीको यह विदित हो जाय कि प्रारब्ध कर्मकी समाप्ति हो रही है अर्थात् प्राणवियोगका काल आ गया है तब वह 'मैं ब्रह्ममें लीन हो रहा हूँ' इस प्रकार आनन्दित मनसे योगासनमें बैठ जाय। तत्पश्चात् कुम्भकके द्वारा वायुको रुद्ध कर हृदयमें रहनेवाली जीवात्माको मूलाधारमें ले आवे। तब गुदाका आकुञ्चन कर यथोक्त विधानसे कुण्डलिनीको जागृत कर मूलादिसे ब्रह्मरन्ध्रके अन्त तक विद्युदाकार आनन्दस्वरूप कुण्डलिनीमय सूत्ररूपी नादका ध्यान करके प्राणरूपी श्वास परमात्मक हंसको उस नादमें विलीन करके जीवके साथ चक्रभेदके क्रमसे आज्ञा चक्रमें लाकर उस आज्ञा चक्रमें स्थित कुण्डलिनीमें स्थूल-सूक्ष्मके क्रमसे पृथिवी आदि प्रपञ्च समुदायको विलीन करके उस कुण्डलिनीको पुनः जीवात्माके साथ उसमें स्थित शिवशक्तिमय बिन्दुके साथ अभेदभावको प्राप्त कराकर स्थित रहे। उसके बाद ब्रह्मरन्ध्रके भेदसे देहका त्यागकर ब्रह्ममें लीन हो जाय।

योगके द्वारा प्राणत्याग करनेका फल :—

जब योगी योगके द्वारा प्राणत्याग करता है तब वह ब्रह्मको प्राप्त करता है जो कि पर है। अर्थात् सबसे परे, जिसके परे कोई नहीं अर्थात् परंब्रह्म है; जिसका

कभी भी ध्वंस नहीं होता है अतः वह नित्य है; जो अजन्मा है; तथा सबका कारण है; एवं जिसकी श्रुतियोंके द्वारा प्रतिपादित ज्ञानके द्वारा अनुभूति होती है। उसी परब्रह्मको जो प्राप्त कर लेता है अर्थात् जो ब्रह्म हो जाता है, वह उपर्युक्त लक्षणोंसे लक्षित समग्र फलको प्राप्त करता है।

इस प्रकारसे शास्त्रोंके अनुसार हमने षट्चक्र आदिका विवेचन किया है। [illegible]के लिए अनुभवी गुरुका आश्रय [illegible]

विश[illegible]

विचार है। पाठक व [illegible] प्रयाससे यथाशीघ्र कार्य पूर्ण होनेकी आशा रखता हूँ। इति शिवम्।

दीपावली
वि० सं० २०४५
वाराणसी

—प्रह्लाद

Scanned by CamScanner

जालन्धरोड्ड्याणसुमूलबन्धान् जल्पन्ति कण्ठोदरपायुमूले।

बन्धत्रयेऽस्मिन् परिचीयमाने बन्धः कुतो दारुणकालपाशात्।।447।।

जो व्यक्ति जालन्धर, उड्डयान और मूल – इन तीनों बन्धों को क्रमश कण्ठ, उदर और पायुमूल में लगाने की कला से सुपरिचित हो गया है वह दारुण कालपाश रूपी बन्धन में कैसे रह सकता है।(447)

ओड्ड्याणजालन्धरमूलबन्धैरुन्निद्रितायां सुरनायिकायाम्।

प्रत्यङ्मुखात्सम्प्रविशन्सुषुम्नां गमागमौ मुंचति गन्धवाहः।।448।।

जालन्धर, ओड्डयाण, मूल –इन तीन बन्धों से जिसने जगा लिया है सुरनायिका कुण्डलिनी को और उन्मुख कर उसको सुषुम्ना में प्रवेश कराये हुये योगी का प्राण गमागम से मुक्त हो जाता है।(448)

उत्थापिताधारहुताशनोत्थैराकुंचनैः शश्वदपानवायोः।

सन्तापिता चन्द्रमसं पतन्तीं पीयूषधारां पिबतीह धन्यः।।449।।

उत्थापित मूलाधार रूपी अग्नि से निष्पन्न आकुंचनों के द्वारा अपान वायु को नित्य ही सन्तापित किये जाने पर (ललना चक्र से टपकती हुई) अमृतधारा को पीकर साधक धन्य होता है।(449)

बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां विवर्जिता रेचकपूरकाभ्याम्।

विशोषयन्ती विषमप्रवाहं विद्यां भजे केवलकुम्भरूपाम्।।450।।

बन्धत्रय के अभ्यास की परिपक्वावस्था से उत्पन्न तथा रेचक और पूरक से रहित जो विशप्रवाह को सुखाती रहती है कुण्डलिनी उस साधक का जो केवलकुम्भकरूपा विद्या को भजता है।(450)

Scanned by CamScanner

अष्टमप्रकरणम्

हूङ्कारेणैव देवीं यमनियमसमभ्यासशीलः सुशीलो
ज्ञात्वा श्रीनाथवक्त्रात् क्रममिति च महामोक्षवर्त्मप्रकाशम् ।
ब्रह्मद्वारस्य मध्ये विरचयति स तां शुद्धबुद्धिस्वभावो
भित्वा तल्लिङ्गरूपं पवनदहनयोराक्रमेणैव गुप्तम् ॥ ५० ॥

भाष्य—यम-नियम के अभ्यास से जो साधक शील स्वभाव हो गया है और जिसने गुरुमुख से महामोक्ष पथ के क्रम का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह साधक केवल हूंकार से ही देवी कुण्डलिनी को जाग्रत कर लेता है। वह स्वयंभूलिङ्ग का छेदन या भेदन करके देता है जो अभी तक वन्द था। इस कारण अभीतक दिखलाई नहीं पड़ता था, किन्तु अग्नि और वायु के दवाव से उनको ब्रह्मद्वार पर पहुँचा देता है।

साधक किस प्रकार के स्वभाव का हो? उसकी शुद्ध बुद्धि हो। सुप्त कुण्डलिनी कैसे जाग्रत होती है? पवनदहनयोरिति—पवन के योग से दहन में तीव्रता आ जाती है तथा इससे उसकी गति ऊर्ध्वगामी होती है अर्थात् जाग्रत होने पर सर्प आकृति होकर ऊर्ध्व गति में। कहा गया है—

'मूलाधारे स्मरेद्दिव्यं त्रिकोणं तेजसां निधिम्।
तस्याग्निरेखामानीय अध ऊर्ध्वंव्यवस्थिताम् ॥'

ऊर्ध्वाम्नाय के अनुसार—

'प्रज्वलद्भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा।
सर्वेषां जननी प्रोक्ता सूर्यकोटिसमप्रभा ॥
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसामन्धता हृता।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥
उद्घाटयेत् कवाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥'

व्याख्या—सहस्रार के वर्णन के साथ चक्रों का वर्णन समाप्त हो गया। अब यहाँ पर कुण्डलिनी के मिलन का प्रसंग प्रारम्भ होता है। इसको आरम्भ करने से पूर्व इस तथ्य की चर्चा आती है कि कुण्डलिनी को किस प्रक्रिया से जाग्रत किया जाय। इस विषय में सर्वमान्य निर्णय यही है कि कुण्डलिनी को जाग्रत करने की प्रक्रिया का ज्ञान... गुरु से ही प्राप्त करना चाहिए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रस्तुत श्लोक का भाव यह है कि जिस साधक ने योगाभ्यास में दक्षता प्राप्त कर ली है, उसे अपने गुरु से ही इस प्रक्रिया की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इस प्रक्रिया में वक्ष या हृदय का संकुचन तथा अग्नि और वायु की शक्ति आदि से कुण्डलिनी का जागरण करना सम्मिलित है। अपने गुरु से इस प्रक्रिया का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही साधक कुण्डलिनी को जागृत करता है। वह अग्नि और वायु तथा कूर्च मंत्र 'हूं हंसः' के जाप से कुण्डलिनी को जागृत करने का उपक्रम करता है। इससे स्वयंभूलिङ्ग का भेदन हो जाता है तथा कुण्डलिनी ब्रह्मद्वार पर पहुँच जाती है अथवा उसका प्रवेश चित्रिणी नाड़ी के मुख के मध्य में हो जाता है।

हूङ्कारेण—आगमकल्पद्रुम का कथन है—'ततो हंसमुपस्मृत्य शनैराकुञ्च-येद् गुदम्।' मानसिक रूप से हंसमंत्र का जाप करके गुदा का संकुचन धीरे से करे। यह संकुचन अश्विनी मुद्रा में किया जाय। ललितारहस्य के ग्रन्थकार का कथन है कि कुण्डलिनी को गतिशील बनाने के लिए मंत्र 'हूं हंसः' का जाप आवश्यक है। इस विषय में यह माना गया है कि मंत्र के जाप के बाद गुदा का संकुचन करना चाहिए। इससे यह आभास मिलता है कि जीवात्माको जिसका स्थान हृद् देश में है तथा जो दीपशिखा के आकार में है, हृद् देश से मूलाधार में लाया जाय और जीवात्मा भी कुण्डलिनी के साथ ही साथ जाये। आगमकल्पद्रुम का यह भी कथन है—'आरोप्यारोप्य शक्ति कमलजनिलया-दात्मना साधकेन्द्रः।' अर्थात् 'साधक को चाहिए कि शक्ति को बार-बार आत्मा के सहित ब्रह्मस्थान से उठाये···।' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुण्डलिनी का चालन आत्मा या जीवात्मा के साथ ही होना चाहिए।

कालीकुलामृत का कथन है—

'हृदयाद्धंसमनुना नीत्वा जीवं मुखाम्बुजे।
हूङ्कारेण समुत्थाय कुण्डलीं परदेवताम्॥'

हृदय से जीवात्मा को हंसः मन्त्र से मूलाधार में लाकर तथा परम देवता कुण्डलिनी को हूंकार से जागृत करे।

कङ्कालमालिनीतन्त्र में उल्लेख है—

'आकृष्य प्रणवेनैव जीवात्मानं नगेन्द्रजे।
कुण्डलिन्या सह प्राणं गन्धमादाय साधकः।
सोऽहं तु मनुना देवि! स्वाधिष्ठाने प्रवेशयेत्॥'

'हे पर्वतराज की पुत्री! जीवात्मा को प्रणव के द्वारा लाकर साधक को प्राण और गन्ध को सोऽहं मंत्र के द्वारा कुण्डलिनी सहित गतिशील बनाये अर्थात् जागृत करे तथा देवी का स्वाधिष्ठान में प्रवेश कराये।'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सुधीजनों को उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जीवात्मा से हृदय से प्रणव या हंस मंत्र के द्वारा मूलाधार में लाया जाता है। केवल कूर्च बीजमंत्र से कुण्डलिनी को जागृत किया जाय।

शिवतन्त्र का कथन है—

'अकुलेश्वरदेवस्य सम्बन्धः प्रथमः स्थितः।
रूपातीतः परो बिन्दुः शक्त्या वेष्टितभास्वरः।
अतो नादो विरोधी च अर्द्धचन्द्रसमुत्क्रमात् ॥
एतत् तु पञ्चमं प्रोक्तं ज्ञानरत्नं महोदयम्।
तत्रैतद् दक्षिणं षट्क्रमाज्ञापूर्वं कुलोद्भवम् ॥'

सुशीलः—वह साधक जो नियमित रूप से योगाभ्यास करता है और इस प्रकार उसने अपने को प्रशिक्षित कर लिया है; ऐसे ही साधकों की संज्ञा सुधी भी बतलायी गयी है।

यमनियमसमभ्यासशीलः—यह ध्यान देने की बात है कि केवल यम-नियम के अभ्यास से ही प्रारम्भिक योग की प्रक्रियाओं में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती, वरन् साधक को योग में विघ्न उत्पन्न करने वाले काम और क्रोध का भी शमन करना चाहिए। अंग योग भी आवश्यक है। इस विषय में गौतमीयतन्त्र में उल्लेख है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचञ्चेति यमा दश ॥
जपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च तपो हुतम्।
दशैते नियमाः प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ॥'

'योगशास्त्र के विद्वानों ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, धृति, मिताहार तथा शौच को 'यम' कहा है तथा जप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देवताओं का पूजन, सिद्धान्त अथवा वेद-श्रवण, तप, ह्रीं और मति—ये दस नियम बतलाये हैं।

साधक को अभ्यास के द्वारा लोभ, क्रोध, मोह, अहंकार आदि वृत्तियों का शमन करना चाहिए। क्योंकि ये वृत्तियाँ योग में बाधक मानी गई हैं। उसे अपने में ऐसी वृत्तियों को विकसित करना चाहिए, जिनसे आन्तर् वायु पर नियंत्रण होकर मानसिक दृढ़ता और एकाग्रता आये। इसी दृष्टिकोण से ग्रन्थकार ने ५४वें श्लोक में कहा है—'योगीयमाद्यैर्युतः।' राग और मोह आदि से जिसका मन उद्वेलित होता है, उनके लिए यम-नियम का अनुशीलन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अनिवार्यतः आवश्यक है। यह बात दूसरी है कि कुछ लोग जन्म-जन्मान्तर के शुभकर्मों के फलस्वरूप तथा स्वभावतः काम-क्रोधादि वृत्तियों से रहित होते हैं तो वे बिना प्रारम्भिक तैयारियों के योगाभ्यास में सक्षम हो जाते हैं।

श्रीनाथवक्त्रादिति––गुरु के उपदेश के बिना क्रम-ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। अतः ठीक ही कहा गया है—'गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः।' अर्थात् गुरु के उपदेश के विना ज्ञान नहीं मिलता, भले ही करोड़ों शास्त्रों का अध्ययन कर लिया जाय।

क्रमः—विधिवत्। किस क्रिया के बाद कौन-सी क्रिया की जाय।

महामोक्षवर्त्मप्रकाशमिति––इसका तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा चित्रिणी नाड़ी के मध्य छिद्र में प्रवेश होता है। इसका प्रकाश प्रस्फोटन के फलस्वरूप ही होता है। इसी को क्रम भी बतलाया गया है।

सः––वह व्यक्ति जिसने योगाभ्यास के द्वारा अपने को अधिकारी बना लिया है।

शुद्धबुद्धिस्वभावः––शुद्धबुद्धि का तात्पर्य ब्रह्म से है। वह व्यक्ति जिसका स्वभाव ब्रह्म में लीन हो गया है। इसका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—वह व्यक्ति जिसका भाव शुद्धबुद्धि के फलस्वरूप स्व अर्थात् आत्मा में लीन है। शंकर ने 'स्वभाव' के स्थान पर 'प्रभाव' पाठ माना है, जिससे इसका अर्थ होगा—वह व्यक्ति जो बुद्धि की शुद्धता से शक्तिमान है।

सुगुप्तम्—यह शब्द या तो लिङ्ग के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है अथवा स्थान के क्रिया-विशेषण रूप में। पहिली दशा में अर्थ होगा कि मुख बन्द है, अतः दिखलाई नहीं देता, सुगुप्त है। दूसरी दशा में अर्थ होगा अप्रकाशित।

कुण्डलिनी का उत्थापन (जागरण) किस प्रकार किया जाय, इस सन्दर्भ में आगमकल्पद्रुम की पाँचवी शाखा में उल्लेख है—

'पद्मासने निवेश्याङ्के ततः पाणिद्वयं न्यसेत्।
तो हंसमुपस्मृत्य शनैः सङ्कोचयेद् गुदम्॥
वायुमुत्तोलयेत् तेन वर्त्मना स पुनः पुनः।
उत्तोल्य भेदयेच्चक्रं तस्याऽनुष्ठानमुच्यते॥
मूलाधारसरोजे तु त्रिकोणमतिसुन्दरम्।
कामो भवति तन्मध्ये बालार्ककोटिसन्निभम्।
तदूर्ध्वे कुण्डलीशक्ति स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिनीम्॥'

'साधक पद्मासन में बैठे और अपने दोनों हाथों को गोद में एक-दूसरे पर रखे। इसके पश्चात् हंसः मन्त्र का मानसिक जाप करे और गुदा का धीरे-धीरे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

संकुचन करे। वायु को धीरे-धीरे 'तेन व्रतमान' अर्थात् उसी मार्ग से जिससे कुण्डलिनी को जाना है, ऊर्ध्व की ओर ले जाये। वह निरन्तर बार-बार ऐसा करता रहे। इस प्रकार उसे ऊर्ध्व कर चक्र का भेदन करने दे। अब इसकी प्रक्रिया बतलायी जाती है—'मूलाधार कमल में एक अति सुन्दर त्रिकोण है। इसके मध्य काम है। इसका तात्पर्य कामवायु से है। इसकी प्रभा करोड़ों नवोदित बालसूर्यों की प्रभा के सदृश है। कामवायु के ऊपर तथा स्वयम्भू लिङ्ग को घेरे हुए कुण्डलिनी शक्ति है।' कामाग्नि के उत्तेजन कूर्च मन्त्र के जाप के फलस्वरूप उसमें अर्थात् कुण्डलिनी में परमहंस से मिलन की तीव्रता आयेगी।

भूतशुद्धितन्त्र का कथन है—

'हृदिस्थां कुञ्चिकां कृत्वा गत्वा तदुदरे शिवे।
कण्ठाद्यं समनुप्राप्य द्वारं कुञ्चिकया हठात्॥
उद्घाटच परमेशानि पवनेन प्रदीपयेत्।
हुताशनप्रतप्तां तु तापेन भृशमूर्ध्वताम्॥
प्रसुप्तां नागिनीं लिङ्गे योनिवक्त्रे प्रबोधयेत्।
ततः प्रचालयेद् वायुं यावन्नाडचन्तरेषु च॥
गुरूपदिष्टमार्गेण सकृदा कुम्भकेन वै।
आक्रम्यैवं ततो जीवं सुगुप्तेन पथा भृशम्॥
ऊर्ध्वोच्छ्वासैरूर्ध्वमुखान् कारयेत् पङ्कजान् शिवे।
प्रबोधयन् शनैर्भानुं मेरुश्रृङ्गं नयेत् सुधीः॥'

'हे शिव! साधक अपनी छाती (हृदय) का भी संकुचन करे और अपनी श्वास को भी वहीं रोके रहे। इससे श्वास की ऊर्ध्व गति नहीं होने पायेगी। उसे कण्ठ के आधार पर भी नियंत्रण रखना चाहिए। शरीर के अन्य अवयवों पर भी नियंत्रण रखा जाय और इस स्थिति में सहसा कपाट को उसी प्रकार खोल दे जैसे चाबी से-ताले को एकदम खोल दिया जाता है। हे परमेश्वरी! इससे कामाग्नि पवन के वेग के कारण और प्रज्वलित होगी। इससे नागिन (कुण्डलिनी) जो मूलाधार में लिङ्ग पर प्रसुप्त है, जागृत की जाय। अग्नि की दाह के कारण लिङ्ग में ही योनिमुख पर ही जागृत किया जाय तथा अग्नि-दाह के परिणामस्वरूप उसे आधिकारिक रूप से ऊपर जाने अर्थात् आरोह के लिए विवश किया जाय। अर्थात् मूलाधार स्थित त्रिकोण जो मूलाधार में स्वयम्भू लिङ्ग को आच्छादित किये है, उसके ऊर्ध्व की ओर।'

'कुम्भक के नियमानुसार वायु को नाड़ी में बढ़ाया जाय। इसके लिए गुरु ने जिस क्रिया का निर्देश किया है, उसे कार्यान्वित किया जाय। जीव को भी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अनुशासित और नियंत्रित कर इस गुह्य पथ से ही ले जाया जाय। श्वास ऊर्ध्व-गति में रहे, जिससे समस्त कमल, जो अधोमुखी थे, ऊर्ध्वमुखी हो जायेंगे। कुण्डलिनी के पूर्णतया जाग्रत हो जाने पर सुधी जनों को चाहिए कि वे उसे भानु (सूर्य) तक ले जायें, जो सहस्रार के शिखर मेरु पर है।'

अब संक्षेप में सकल वचनों का पर्यालोचन कर प्रक्रिया बतलाई जा रही है—योगी को चाहिए कि विहित आसन मुद्रा में बैठे। अपने दोनों हाथों को एक-दूसरे पर अपने अङ्क में इस प्रकार रखे कि दोनों हाथों की हथेलियाँ एक-दूसरे पर रहें—बायें हाथ की हथेली नीचे और दाहिने हाथ की ऊपर। इसके बाद शरीर के अन्तर्भाग में वायु को पूर्णतया भर ले तथा चित को खेचरी मुद्रा में दृढ़ करे। शरीर में जो वायु भरी है, उसे कुम्भक द्वारा रोके रहे। कुम्भक प्राणायाम में श्वास को रोके रखा जाता है। इसके पश्चात् हृदय का संकुचन करे। ऐसा करने से श्वास की ऊर्ध्व गति रुक जायेगी। इसके पश्चात् जब उसे यह अनुभव हो कि पेट से लेकर तालु तक की वायुनाड़ियों के मार्ग से नीचे की ओर बढ़ रही है तो उसे गुदा का संकोचन करना चाहिए। अपान को भी रोका जाय। इसके पश्चात् फिर वायु की गति ऊपर की ओर की जाय और इसे 'काम' को देना चाहिए, जो त्रिकोण के अन्दर मूलाधार कमल की कर्णिकाओं में है। वायु को दक्षिण से वाम की ओर घुमाया जाय (वामव्रतेन), यहाँ पर जालंधरबन्ध उपयोगी है। इस क्रिया से कामाग्नि दीप्त होती है तथा कुण्डलिनी उत्तप्त होती है। इसके बाद स्वयम्भूलिङ्ग के मुख का भेदन 'हूं' बीज मन्त्र के द्वारा किया जाय तथा कुण्डलिनी को 'हूं' मन्त्र के द्वारा चेतन कर चित्रिणी नाड़ी के मुख के मध्य में परमशिव के साथ सामरस्य के लिए प्रविष्ट कराया जाय।

साधारणतया सामरस्य शब्द का प्रयोग भौतिक जगत् में मैथुन-क्रिया के लिए किया जाता है।

कुण्डलिनीयोगप्रकारः

भित्त्वा लिङ्गत्रयं तत्परमरसशिवे सूक्ष्मधाम्नि प्रदीपे
सा देवी शुद्धसत्त्वा तडिदिव विलसत् तन्तुरूपस्वरूपा।
ब्रह्माख्यायाः शिरायाः सकलसरसिजं प्राप्य देदीप्यते तन्-
मोक्षाख्यानन्दरूपं घटयति सहसा सूक्ष्मतालक्षणेन ॥ ५१ ॥

भाष्य—वे देवी उन लिङ्गों—स्वयम्भू, बाण और इतर का भेदन कर सकल पद्मों को प्राप्त कर, जिन्हें ब्रह्मनाड़ी कहा जाता है, परम प्रभा से पूर्ण देदीप्यमान रहती हैं। इसके अनन्तर वे कमल के तन्तु से भी सूक्ष्म आकार और अत्यन्त प्रभावान् रूप में शिव-सदृश अचिरद्युति युक्त परमानन्द रस में

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कुण्डलिनीके उत्थापनका प्रकार

**हूङ्कारेणैव देवीं यम-नियम-समभ्यास-शीलः सुशीलो
ज्ञात्वा श्रीनाथवक्त्रात् क्रममिति च महामोक्षवर्त्मप्रकाशम् ।**

अर्थात् कर्मयोगी जन इसे अनिर्वचनीय मोक्षरूप आत्मसाक्षात्कारका स्थान मानते हैं। 'सकृतिनः'का अर्थ है अच्छे कर्म करनेवाले। अच्छे कर्मका अर्थ है निष्काम कर्म। निष्काम कर्म करनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। सकाम कर्मसे तो तत्तल्लोकोंको प्राप्त कर सकते हैं, जहाँसे कि पुण्य क्षीण होने पर पुनः वापस आना पड़ता है। किन्तु जब मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है तो आवागमनचक्र समाप्त हो जाता है। जन्म-मरणरूपी बन्धनसे छुटकारा ही मोक्ष है। मोक्ष कर्मयोगी ही प्राप्त कर सकता है। सर्वकर्मफलार्पण ईश्वरमें करना ही कर्मयोग है। इस कर्मयोगसे कर्मयोगी आत्म-साक्षात्कार होना स्वीकार करते हैं। आत्मसाक्षात्कार होना ही मोक्ष है। इसी नित्यानन्दपदको कर्मयोगी आत्मसाक्षात्कारस्थान मानते हैं। अब सम्प्रदायानुसार कुछ विचार करते हैं—(१) यहाँपर गहराईसे विचार करनेपर यह निष्कर्ष निकलता है कि 'शिवपद' शब्दसे 'शैव' जन इस नित्यानन्द नामक पदको शिवपद कहते हैं। इनके अनुसार 'अमल' शब्दसे कार्मिक-आणव-मायिक मलसे रहित अर्थ लेना होगा। शैवागममें मलके नामसे आणव-मायिक-कार्मिक जाने जाते हैं। (२) 'योगिगम्यम्' शब्दसे योग सम्प्रदायका ग्रहण होता है। योगदर्शनके अनुसार योगी योगके द्वारा कैवल्यकी प्राप्ति करता है। 'शुद्धबोधस्वरूपम्' शब्दसे इस नित्यानन्द पदको कैवल्य स्वरूप माना गया है। (३) भौतिक वस्तुमें सुख खोजनेवाले सांसारिक जनोंके लिए यह नित्यानन्द पद 'सकलसुखमयम्' शब्दसे समस्त सुखका धाम बताया गया है। (४) वेदान्तियोंके द्वारा स्पष्ट रूपसे यह नित्यानन्द पद 'ब्रह्माभिधानम्' शब्दसे ब्रह्मपदके रूपसे जाना गया है। (५) 'वैष्णवम्' शब्दसे इस नित्यानन्द पदको विष्णुपद कहा गया है। वैष्णव सम्प्रदायका यह मत है। (६) 'हंसाख्यम्' शब्दसे 'हंसः' मन्त्रके उपासकोंने इस नित्यानन्द पदको हंसपद माना है। 'हंसः' पदकी व्याख्यासे यह कहा गया है कि ब्रह्म-विष्णु-शिवशक्ति स्वरूप है 'हंसः' मन्त्र। और भी हंसको प्रकृति-पुरुषात्मक कहनेसे यह सांख्यमत सिद्ध होता है। 'प्रपञ्च-सार'में कहा गया है कि—'पुं-प्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत्' हंसः पुरुष-प्रकृतिरूप है और यह जगत् भी हंस रूप है। (७) 'सुकृतिनः' शब्दसे कर्ममार्गियोंका निर्देश किया गया है। और भी सुकृतका अर्थ धर्म या पुण्य होनेसे मीमांसा-मत भी यहाँपर सिद्ध होता है। इस प्रकार यहाँपर विभिन्न मतोंका एकत्र समावेश किया गया है॥ ४९॥

यम-नियम आदिका समुचित अभ्यास करनेवाला, सुशील, शुद्धबुद्धि स्वभाव-वाला वह योगी महामोक्षमार्गका प्रकाश एवं क्रमका श्रीगुरुजीके मुखसे ज्ञान करके

ब्रह्मद्वारस्य मध्ये विरचयति स तां शुद्ध-बुद्धि-स्वभावो
भित्त्वा तल्लिङ्गरूपं पवनदहनयोराक्रमेणैव गुप्तम् ॥ ५० ॥

वायु एवं अग्निके आक्रमणसे ही हूङ्कारके द्वारा उस गुप्त लिङ्गरूपका भेदन करके उस कुण्डलिनी देवीको ब्रह्मद्वारके मध्यमें स्थापन करता है।

विमर्श—प्रस्तुत श्लोकमें कुण्डलिनीको जागृत करनेके लिए विधि बतायी गयी है। **यमनियमसमभ्यासशील**:—कुण्डलिनी जागरणके लिए अधिकारी कौन है इस पर विचार करते हुए सर्वप्रथम कहते हैं कि वही व्यक्ति कुण्डलिनीको जागृत कर सकता है जिसने यम-नियम आदिका सम्यक् रूपसे अभ्यास किया हो। यहाँपर यम एवं नियम शब्दोंसे केवल इन दोनोंका ग्रहण नहीं होता; अपितु आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधिका भी ग्रहण होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच नियम हैं। पद्मासन, वीरासन आदि अनेक आसन हैं। इन आसनोंमें जो कुण्डलिनी जागरणके लिए विशेष उपयोगी है उसका अभ्यास अधिक करना चाहिए। प्राणायामके चार प्रकार हैं। पूरक, रेचक, कुम्भक—विशेषतः ये तीन प्राणायाम स्पष्ट रूपसे जाने जाते हैं, किन्तु चौथा प्रकारका एक प्राणायाम भी है जो पातञ्जल योगदर्शनमें स्पष्ट तथा विवेचित है। चित्तका किसी स्थान विशेष-पर एकाग्र करना धारणा कही जाती है। उस स्थानपर चित्तका स्थिर हो जाना ध्यान कहलाता है जिस स्थानपर उसे स्थिर किया गया हो। वह ध्यान जब ध्येयके स्वरूप मात्रका प्रकाशक होते हुए अपने स्वरूपसे शून्य-सा हो जाता है, तब वह समाधि कहलाता है। यमादिके विशेष ज्ञानके लिए पातञ्जल योगदर्शनका अवलोकन करें। उपर्युक्त यमादिका सम्यक् रूपसे अभ्यास करना चाहिए। इस जन्ममें यदि जन्मसे ही व्यक्ति यमादिसे युक्त है तो समझें कि उसने जन्मान्तरमें यमादिका अभ्यास किया है। अतः वह कुण्डलिनीयोगका अधिकारी है। **सुशीलः**—उपर्युक्त यमादिका अभ्यास करनेवाला योगी सुशील हो ही जाता है। **शुद्धबुद्धिस्वभावः**—शुद्धबुद्धि-स्वभाववाला होना अधिकारी पुरुषके लिए आवश्यक है। 'बुद्धि' शब्द अन्तःकरण-का उपलक्षण है, अतः इस प्रकारसे कह सकते हैं कि विशुद्ध अन्तःकरणात्मक स्वभाव-वाला योगी अधिकारी है। 'स्वभाव' अर्थात् अपने आत्मामें भाव जिसका है, किस प्रकारसे ? शुद्धबुद्ध्या अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणके द्वारा। और भी शुद्धबुद्धिका अर्थ ब्रह्म किया जाता है तो ब्रह्ममें जिसका स्वभाव अर्थात् आत्मभाव है—ऐसा भी माना जा सकता है। निष्कर्ष रूपसे हम यही कह सकते हैं कि जिस विशुद्ध अन्तःकरणवाले योगीका ब्राह्मात्मैक्य भावमें अवस्थान होता है वही शुद्धबुद्धि स्वभाववाला योगी कुण्डलिनी जागरणके लिए अधिकारी है। **महामोक्षवर्त्मप्रकाशम्**—कुण्डलिनी ब्रह्म

नाड़ीके मार्गसे होकर ब्रह्म पर्यन्त पहुँचती है। जब ब्रह्ममें पहुँच जाती तब योगीको मोक्ष प्राप्त होता है, जिससे उसका पुनर्जन्म नहीं होता है। अतः इसे महामोक्ष कहा गया है। ब्रह्म नाड़ीके मध्यमें विद्यमान मार्ग ही महामोक्ष-मार्ग है। इसी मार्गका ज्ञान जब तक न हो तब तक कुण्डलिनीको ब्रह्मपर्यन्त नहीं पहुँचा सकते हैं। अतः महामोक्ष-मार्गका ज्ञान अत्यावश्यक है। **क्रममिति च**—केवल महामोक्ष-मार्गका ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे ही कुण्डलिनी ब्रह्म तक नहीं पहुँच जाती। इसके लिए षट्चक्रका क्रम एवं जिस क्रमसे कुण्डलिनीका जागरण होगा उस क्रमका ज्ञान अत्यावश्यक है। जैसे–पहले प्राणायाम किया जाय या नहीं? जीवात्माको कब, कहाँ लाया जाय? इत्यादि। **श्रीनाथवक्त्रात्**—बिना गुरुके ज्ञान प्राप्त नहीं होते हैं। गुरु भी स्वयं अनुभवी होना चाहिए। केवल शास्त्रोंसे जानकारी प्राप्त कर अभ्यास करनेसे हानि होगी। अभ्यास किस प्रकारसे करना चाहिए, किस प्रकारका अभ्यास सुगम है उसका गुरु ही निर्णय कर सकता है। जिसने स्वयं कुण्डलिनीको जागृत किया है वही वास्तविक गुरु हो सकता है। जागरण करते समय नाना प्रकारके विघ्न आते हैं। उन्हें अनुभवी व्यक्ति ही दूर कर सकता है या करा सकता है। अतः गुरुकी अत्यन्त आवश्यकता है। जहाँ तक, योगके अभ्यासमें शास्त्रज्ञान मात्रसे साधक कभी भी सफल नहीं हो सकता है। अतः यहाँपर निर्देश दिया गया है कि अनुभवी गुरुसे ही जानकारी प्राप्त करके योगभ्यासमें प्रवेश करे। **पवन-दहनयोराक्रमेणैव गुप्तं तल्लिङ्गरूपं भित्त्वा**—मूलाधारके निरूपणके समयमें बताया जा चुका है कि मूलाधारमें स्वयम्भू लिङ्ग विराजमान है। वह स्वयम्भू लिङ्ग अत्यन्त गुप्त है। अर्थात् वह अत्यन्त सूक्ष्म है। उस स्वयम्भू लिङ्गके ऊपर साढे-तीन वलयाकारमें कुण्डलिनी लपेटी हुई है। उस स्वयम्भू लिङ्गके छिद्रको उसने अपने मुँहसे आच्छादित कर रक्खी है जिससे वह निरन्तर सहस्रारसे क्षरित अमृतका पान करती रहती है। उसी स्वयम्भू लिङ्गके छिद्रसे होकर उसके मूलसे ब्रह्म नाड़ी सहस्रार पर्यन्त गयी है। इसी ब्रह्म नाड़ीके मार्गमें कुण्डलिनीको प्रवेश करना है। कुण्डलिनी इस प्रकार चिपकी हुई है कि उसे रँचमात्र भी हटाना मुसकिल है। अतः जब अग्नि—तेजके द्वारा लिङ्गको गरम कर दिया जाता है तथा वायु द्वारा उसे आन्दोलित कर दिया जाता है तब कहीं वह उस स्वयम्भू लिङ्गके छिद्रमें प्रवेश कर पाती है। अतः बार-बार आग और वायु दोनोंके सम्मिलित आक्रमण किया जाता है। **हूङ्कारेणैव**–इसी प्रकार आक्रमण मात्रसे काम नहीं चलता है। उसे बार-बार झटका भी लगाना चाहिए। अतः 'हूं' 'हूं' करना—यह झटका लगाना है। 'हूं' यह कूर्चबीज कहलाता है। इसे कुण्डलिनी जागरण करनेका मन्त्र कहा गया है। इसका विशेष विवेचन हम भूमिकामें करेंगे। **ब्रह्मद्वारस्य मध्ये विरचयति**—उपर्युक्त प्रकारसे 'हूं' करते हुए पवन तथा

कुण्डलिनी-योगका प्रकार

भित्त्वा लिङ्गत्रयं तत् परमरसशिवे सूक्ष्मधाम्नि प्रदीपे
सा देवी शुद्धसत्त्वा तडिदिव विलसत्तन्तुरूपस्वरूपा।
ब्रह्माख्यायाः शिरायाः सकलसरसिजं प्राप्य देदीप्यते तन्-
मोक्षाख्यानन्दरूपं घटयति सहसा सूक्ष्मतालक्षणेन ॥ ५१ ॥

दहन दोनोंके सम्मिलित आक्रमणसे उस कुण्डलिनीको स्वयम्भू लिङ्गके छिद्रमें प्रविष्ट कराया जाता है। तब उसका भेदन करके उसके मूलमें स्थित ब्रह्म नाड़ीके छिद्रमें उसे पुनः प्रविष्ट कराया जाता है। इस प्रकारसे मूलाधारका भेदन होकर द्वितीय चक्रका पुनः क्रमसे भेदन किया जाता है ।। ५० ।।

शुद्ध स्वभाववाली, विजलीके समान प्रकाशरूपी तन्तुरूप स्वरूदवाली वह कुण्डलिनी तीनों लिङ्गोंका भेदन कर ब्रह्म नाड़ीके द्वारा समस्त कमलोंको प्राप्त कर, सूक्ष्म धाममें स्थित प्रदीपके समान परमानन्दस्वरूप शिवमें देदीप्यमान होती है तथा शीघ्र ही सूक्ष्मभावसे उस नित्यानन्दरूप मुक्तिको प्राप्त कराती है।

विमर्श—प्रस्तुत श्लोकमें कुण्डलिनी योगके प्रकारका वर्णन किया गया है। **शुद्धसत्त्वा**—कुण्डलिनी जब जागृत हो जाती है तब वह शुद्ध स्वभाववाली बन जाती है। शुद्धसत्त्व हुए बिना कुण्डलिनी जागृत नहीं हो सकती है। जब योगी यमादिके अभ्याससे सत्त्वयुक्त हो जाता है तभी यह कुण्डलिनी जागृत होती है। उसमें भी जब वह जागृत होती है तब पूर्णरूपसे शुद्धसत्त्व स्वभाववाली हो जाती है। वही शुद्धसत्त्व स्वभाववाली कुण्डलिनी ही मोक्षदायिका है। **तडिदिव विलसत्तन्तुरूप-स्वरूपा**—जब यह कुण्डलिनी जागृत हो जाती है तव यह विजलीके समान अत्यन्त तेजोमयी बन जाती है। वही तेजोमयी कुण्डलिनी तन्तुके समान रूपवाली बन जाती है अर्थात् यह तन्तुके समान प्रकाशरूपी रेखा-सी बन जाती है। **तत् लिङ्गत्रयं भित्त्वा**—पहले ही चक्रोंके निरूपणोंमें बताया गया है कि मूलाधार चक्रमें स्वयम्भू लिङ्ग, अनाहतमें बाण लिङ्ग तथा आज्ञा चक्रमें इतर लिङ्ग विद्यमान है। कुण्डलिनी जब जागृत होकर ऊर्ध्वमुखी बन जाती है तब क्रमसे उपर्युक्त तीनों लिङ्गोंका भेदन कर सहस्रारमें पहुँच जाती है। पहले भी हमने बताया है कि कुण्डलिनीकी वाणी चार तरहकी होती है अर्थात् यह चार प्रकारके भावसे लिङ्गोंको मोहित कर युक्त हो जाती है। जैसे कि--मूलाधार चक्रमें कुण्डलिनी स्वयम्भू लिङ्गके समीपमें वैखरी भावसे उसे मोहितकर, इस प्रकार हृदयस्थ अनाहत चक्रमें मध्यमा भावसे बाण लिङ्ग-को तथा भ्रूमध्यस्थ आज्ञा चक्रमें इतर लिङ्गको पश्यन्ती भावसे मोहितकर सहस्रारस्थ परंबिन्दुके समीपमें पराभावको प्राप्त करती है। वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा--ये चार शब्दको उपन्न करनेवाली शक्तियाँ कुण्डलिनीके अभेदरूपा हैं।

हूङ्कारेणैव देवीं यमनियमसमभ्यासशीलः सुशीलो
ज्ञात्वा श्रीनाथवक्त्रात् क्रममिति च महामो-
क्षवर्त्मप्रकाशम् ।
ब्रह्मद्वारस्य मध्ये विरचयति स तां शुद्धबुद्धिस्वभावो
भित्त्वा तल्लिङ्गरूपं पवनदहनयोराक्रमेणैव गुप्तम् ॥५०॥

अथेदानीं सहस्रदलपर्य्यन्तं चक्रं निरूप्य तत्र कुण्डलिनीयोगं कथयिष्य-न्नादौ कुण्डलिन्युत्थापनप्रकारमाह हूङ्कारेणेति । अस्यायमर्थः । स योगित्वेन प्रसिद्धो जनः गुरुवक्त्रात् क्रमं ज्ञात्वा येन क्रमेण प्रकारेण हृदाद्याकुञ्चनादि-पवनदहनयोराक्रमणं कुण्डलिन्युत्थापनादिकं भवति तत्प्रकारक्रमं श्रीनाथस्य

---

(५०) हूङ्कारेणेति । इदानीं भूतशुद्धिः कथ्यते । तां देवीं कुण्डलिनीं यमनियमसमभ्यासशीलः स जनः श्रीनाथवक्त्रात् गुरुमुखात् महामोक्षपथप्रकाशं क्रमञ्च ज्ञात्वा हूङ्कारेण तत् स्वयम्भूलिङ्गं भित्त्वा ब्रह्मद्वारस्य मध्ये विरचयति । जनः कीदृशः ? शोभनं शीलं यस्य स तथा । शुद्धबुद्धेर्हेतुः प्रभावो यस्य स तथा । नन्वत्र सुप्तां तां कीदृक्प्रकारेणाक्रम्य नयति ? इत्याह पवनदहनयोरिति तयोराक्रमणेन अर्थात् पवनयोगेन दहनस्य ऊर्द्ध्वगतिस्ततः प्रबुद्धा सर्पाकृतिः सा ऊर्द्ध्वगतिर्भवत्येव ।

तथाच—

मूलाधारे स्मरेद्दिव्यं त्रिकोणं तेजसो निधिम् ।
तस्याग्निरेखामानीय अध ऊर्द्ध्वव्यवस्थिताम् ॥

इत्यूर्द्ध्वाम्नायवचनात् ।

प्रज्वलद्भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
सर्व्वेषां जननी प्रोक्ता सूर्य्यकोटिसमप्रभा ।
प्रबुध्य वह्नियोगेन मनसामन्धता हता ।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्यूर्द्ध्वं सुषुम्णया ।
उद्घाटयेत् कवाटन्तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥

इति गोरक्षसंहितोक्तत्वाच्च ॥ [एतन्मते "शुद्धबुद्धिप्रभावः" इति पाठः] ।

गुरोर्व्वक्त्रात् ज्ञात्वा पवनदहनयोराक्रमेण हूमिति कूर्च्चबीजोच्चारणेन च कुण्डलिनीमुत्थाप्य तल्लिङ्गरूपं भित्त्वा स्वयम्भुलिङ्गच्छिद्रं प्रस्फोटयित्वा तां देवीं कुण्डलिनीं ब्रह्मद्वारस्य मध्ये चित्रिणीनाड़ीमुखमध्ये विरचयति प्रापयतीत्यर्थः। हूङ्कारेणेति ।

ततो हंसमुपस्मृत्य शनैराकुञ्चयेद् गुदम् ।

इत्याद्यागमकल्पद्रुमवचने हंसमन्त्रस्योच्चारणेन कुण्डलिनीचालनविधानात् । "हूं हंस इति मन्त्रः कुण्डलिनीचालने विनियुक्त" इति ललितारहस्यकारः । किन्तु हंसस्मरणपूर्व्वकतदाकुञ्चनविधानात् हंस इति मनुमनुस्मृत्य जीवात्मानं हृदयस्थं दीपकलिकाकारं मूलाधारमानीय तेन सार्द्धं कुण्डलिनीं चालयेदित्यभिप्रायः ।

अतएवागमकल्पद्रुमे—

आरोप्यारोप्य शक्तिं कमलजनिलयादात्मना साधकेन्द्रः ।

इति परवचने आत्मना जीवात्मना सार्द्धं चालनमुक्तम् ।

कालीकुलामृतेऽपि—

हृदयाद्धंसमनुना नीत्वा जीवं मुखाम्बुजे ।
हूङ्कारेण समुत्थाप्य कुण्डलीं परदेवताम् ॥ इति ॥

कङ्कालमालिनीतन्त्रे—

आकृष्य प्रणवेणैव जीवात्मानं नगेन्द्रजे ।
कुण्डलिन्या सह प्राणं गन्धमादाय साधकः ।
सोऽहन्तु मनुना देवीं स्वाधिष्ठाने प्रवेशयेत् ॥ इति ॥

ततश्च हंसेन प्रणवेन वा हृदयाज्जीवं मूलाधारमानीय केवलकूर्च्चबीजेन कुण्डलिनीमुत्थापयेत् इति सुधीभिर्भाव्यम् ।

स जनः कीदृशः ? यमनियमसमभ्यासशीलः यमनियम इति योगप्रतिबन्धककामक्रोधादिनाशकतदनुकूलशरीरान्तर्वायुरेचनमनःस्थैर्य्यादिसाधकाङ्गयोग - प्रदर्शकं । तैरेव प्रकृतयोगनिष्पत्तेः न तु केवलयमनियममात्रेण । अतएव ग्रन्थकृता चतुःपञ्चाशच्छलोके 'योगी यमाद्यैर्युत' इत्यत्र यमाद्यैरिति बहुवचनान्तत्वेन प्रयुक्तम् । अयन्तु यमाद्यभ्यासः कामाद्याकुलितचित्तानामेव । यदि तु जन्मान्तरीयादृष्टवशात् स्वभावतो वा क्रोधकामादिरहितः तदा तद्योगाभ्यासं विनापि प्रकृतयोगे शक्तो भवतीति बोध्यम् ।

सुशील इति यतः यमाद्यभ्यासशीलः अतएव सुशील इति । श्रीनाथवक्त्रादिति । गुरूपदेशं विना क्रमज्ञानं न भवतीति भावः ।

अतएवोक्तम्—

गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ इति ॥

क्रमं विशेषयति महामोक्षवर्त्मप्रकाशमिति । मोक्षवर्त्म चित्रिणीनाड़ीमध्यच्छिद्ररूपवर्त्म तस्य प्रकाशः प्रस्फोटनं येन क्रमेणेत्यर्थः । शुद्धबुद्धिस्वभाव इति शुद्धबुद्धौ ब्रह्मणि स्वभावो यस्य अथवा शुद्धबुद्ध्या स्वस्मिन् आत्मनि भावो यस्येत्यर्थः । सुगुप्तं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । अथवा तल्लिङ्गरूपं सुगुप्तं मुद्रितमुखत्वेनाव्यक्तम् अप्रकाशितमुखमिति यावत् । अथात्र कुण्डलिन्युत्थापनप्रकारं विशेषेणाह ।

आगमकल्पद्रुमपञ्चमशाखायाम्—

पद्मासने निवेश्याङ्के ततः पाणिद्वयं न्यसेत् ।
ततो हंसमुपस्मृत्य शनैः सङ्कोचयेद्गुदम् ॥
वायुमुत्तोलयेत्तेन वर्त्मना स पुनः पुनः ।
उत्तोल्य भेदयेच्चक्रं तस्यानुष्ठानमुच्यते ॥
मूलाधारसरोजे तु त्रिकोणमतिसुन्दरम् ।

कामो भवति तन्मध्ये बालार्ककोटिसन्निभम् ।
तदूर्द्ध्वे कुण्डलीशक्तिं स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिनीम् ॥

तथा—

कामाग्निना कूर्च्चयोगात् परं हंसाभिलाषिणीम् ॥ इति ॥

तथा भूतशुद्धौ—

हृदिस्थां कुञ्चिकां कृत्वा गत्वा तदुदरे शिवे ।
कण्ठाद्यं समनुप्राप्य द्वारं कुञ्चिकया हठात् ॥
उद्घाट्य परमेशानि पवनेन प्रदीपयेत् ।
हुताशनप्रतप्तां तु तापेन भृशमूर्द्धताम् ॥
प्रसुप्तां नागिनीं लिङ्गे योनिवक्त्रे प्रबोधयेत् ।
ततः प्रचालयेद्वायुं यावन्नाड्यन्तरेषु च ॥
गुरुदिष्टेन मार्गेण सकृद्वा कुम्भकेन वै ।
आक्रम्यैवं ततो जीवं सुगुप्तेन पथा भृशम् ॥
ऊर्द्ध्वोच्छ्वासैरूर्द्ध्वमुखान् कारयेत् पङ्कजान् शिवे ।
प्रबोधयन् शनैर्भानुं मेरुशृङ्गं नयेत् सुधीः ॥ इति ॥

तदयं सकलवचनपर्य्यालोचनसिद्धः क्रमोऽवधीयताम् । योगी जनः विहितासने उपविश्य स्वाङ्के उत्तानौ करौ कृत्वा खेचरीमुद्रया स्थिरचित्तः सन् देहान्तर्वायुमापूर्य्य कुम्भकं कृत्वा हृदयमाकुञ्चयेत् । तेन ऊर्द्ध्वोच्छ्वासोत्सरण-निवृत्तिः । ततो देहान्तरस्थवायोरुदरकण्ठादिव्यापकतया नाडीच्छिद्रप्रस्फोटने-नाधोगमनमनुभूय गुदमाकुञ्च्यापानं संरुध्य वायुमुत्तोल्य मूलाधारकमलकर्णि-कान्तस्त्रिकोणस्थकामं वाममावर्त्तयेत् । तेनोद्दीप्तेन तत्र स्थितेन कामाग्निनोत्तप्तां कुण्डलिनीं हूङ्कारेण चेतयित्वा परमशिवसामरस्याभिलाषिणीं तां स्वयम्भूलिङ्गमुखं स्फोटयित्वा तच्छिद्रेण चित्रिणीनाडीमुखमध्यं प्रापयेदिति समुदितार्थः ॥५०॥

अनुभव होने लगे तब भविष्यत् में शीघ्र ही सिद्धिलाभ होगा, ऐसा अनुमान लगाना योग्य है ॥ ७८ ॥

इति योगप्रदीपिकायामार्यभाषाभाष्यसमन्वितायां द्वितीयोपदेशः ।

अथ तृतीयोपदेशः (३)

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥१॥

योगाभ्यास में कुण्डली की जागृति अनिवार्य है इस विषय को प्रदर्शित करते हैं। जिस प्रकार से समस्त पर्वत, वन तथा भूमि का आधार भगवान् शेष है उसी प्रकार से समस्त योगतंत्रों का आधार कुण्डली है। क्योंकि कुण्डलीबोध के बिना प्राणगति सुषुम्ना मार्ग से नहीं हो सकती, तथा चित्त और प्राण की एकता के बिना धारणा, ध्यानादि न हो सकेंगे। अतः योग में कुण्डली आवश्यक है ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥२॥
प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥३॥
सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः ।
श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥४॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥५॥

गुरु की कृपा एवं पथप्रदर्शन से तथा ब्रह्मचर्य-तप-श्रद्धा पूर्वक योगसाधनानुष्ठान से जब किसी उत्तम साधक की सुषुम्ना मार्ग पर सुप्त कुण्डली सुषुम्ना द्वार को त्याग देती है तब सुषुम्ना नाडी द्वार से प्राण गति करने लगता है। उस उत्तम नाडी सुषुम्ना में प्राण की धारा बहने से मूलधारा आदि समस्त चक्रों का तथा तत्त्वज्ञान में जो अज्ञानरूप गांठें हैं उनका भी भेदन होने लगता है ॥ २ ॥

सुषुम्ना मार्ग से प्राणगमन होने पर प्राणसञ्चारार्थ सुषुम्ना द्वार सड़क के समान निर्बाध हो जाता है। उस अवस्था में चित्त विषयों से पराङ्मुख होकर शान्त धारावाही बन जाता है तथा प्राणों पर अधिकार होने से मृत्युभय नष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥

समस्त नाडियों में उत्तम नाडी जो सुषुम्ना है उसके निम्न सात शब्द पर्यायवाचक हैं सुषुम्ना[1], शून्यपदवी[2], ब्रह्मरन्ध्र[3], महापथ[4], श्मशान[5], शाम्भवी[6], मध्यमार्ग[7] ॥ ४ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्योंकि सुषुम्ना मार्ग को कुण्डलिनी ने रोका हुआ है अतः प्राणवायु का गमनागमन सुषुम्ना नाडी से नहीं होता। सुषुम्ना द्वार पर सोई हुई कुण्डली को जगाने के लिए निम्नाङ्कित दश मुद्राओं का अभ्यास उपकारक है ॥ ५ ॥

दश मुद्राओं के नाम

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ॥६॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥७॥

महामुद्रा[1], महाबन्ध[2], महावेध[3]; खेचरी[4], उड्यानबन्ध[5], मूलबन्ध[6], जालन्धरबन्ध[7], विपरीतकरणी[8], वज्रोली[9], शक्तिचालन[10] ये दश मुद्रायें हैं। इनके विधि पूर्वक अभ्यास से जरा और मृत्यु का विनाश हो जाता है। अर्थात् वृद्धावस्था का आक्रमण शीघ्र नहीं होता है ॥ ६–७ ॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥८॥
गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥९॥

मुद्राभ्यास द्वारा आदिनाथ-प्रोक्त उत्तम, अणिमा[1], महिमा[2], गरिमा[3], लघिमा[4], प्राप्ति[5], प्राकाम्य[6], ईशता[7], वशिता[8] इन अष्ट ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। सर्व साधारण के लिए अलभ्य ये मुद्राएँ सभी सिद्धों की प्रिय रही हैं ॥८॥

जिस प्रकार हीरे आदि रत्नों से परिपूरित भाण्ड को गुप्त रखा जाता है, उसी प्रकार से इन मुद्राओं को गुप्त रखना योग्य है। वस्तुतस्तु इस श्लोक में जो उपमा दी है वह सर्वथा विद्वानों की दृष्टि में अनुपयुक्त है। क्योंकि आर्षपरम्परा में समस्त विद्याओं की सुरक्षा निन्दक, दुष्ट, साधनहीन, आचार्य द्रोही, अब्रह्मचारी, प्रमादी को विद्योपदेश न करने तथा सदाचारी, गुरुनिष्ठ, ब्रह्मचारी, प्रमादहीन साधन परायण योग्य शिष्य को विद्योपदेश करने में ही समझी जाती थी। (भगवान् यास्काचार्य ने भी इस बात को निरुक्तशास्त्र (२।१) में इसी प्रकार से स्पष्ट किया है)। इसलिए यहाँ पर "कुलस्त्री-सुरत" यह दृष्टान्त अश्लील होने से परिहेय है यहाँ केवल अधिकारी को उपदेश करने तथा अनधिकारी को न बताने में ही गोपनीयता का तात्पर्य है ॥ ९ ॥

---

१. परमाणु समान सूक्ष्मता २. महान स्थूलता ३. पर्वत समान भारी होना ४. रुई समान हल्का ५. दूर वस्तु पर पहुँचना ६. सब इच्छा पूरी होनी ७. उत्पत्ति पालन संहार शक्ति ८. सबको अपने अधीन करने की शक्ति।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

महामुद्रा (१)

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढ़म् ॥१०॥
कण्ठे वन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥११॥
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥१२॥
ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥१३॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥१४॥
चन्द्राङ्गे च समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत् सङ्ख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१५॥
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ॥१६॥
क्षयकुष्ठगुदावर्त्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥१७॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥१८॥

अव दशम श्लोक से अष्टादश श्लोक पर्यन्त नव श्लोकों में महामुद्रा की विधि तथा उसके लाभ वताये जायेंगे—वामचरण को मूलेन्द्रिय तथा गुदा के मध्य भाग में दृढ़ता से संस्थापित करके दक्षिण चरण को अपने आगे की ओर भूमि पर दंडाकार में सीधा फैलावे तथा अपने दोनों हाथों की अङ्गुलियों द्वारा प्रसारित चरण के अङ्गुष्ठ को दृढ़ता से पकड़े ॥ १० ॥

वायु को उदर में भर कर—जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध को लगा कर मनोबल-पूर्वक मूलाधार से वायु को ऊपर उठावे । इस प्रकार से अभ्यास करने पर कुण्डली शक्ति सुषुम्ना द्वार को त्याग कर दण्ड से पीटे हुए सर्प के तुल्य दण्डाकार में सरल हो जाती है ॥ ११ ॥

जव कुण्डली शक्ति शीघ्र ही दण्डाकार में सीधी हो जाती है तब वायु की गति सुषुम्ना मार्ग से होने लगती है तथा इडा और पिङ्गला नाडियों से प्राणगति अवरुद्ध हो जाती है ॥ १२ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उदर गत वायु को यथाशक्ति कुम्भक करने के उपरान्त शनैः शनैः रेचक करे वेग से रेचक न करे। क्योंकि इस मुद्रा के अभ्यास से महान् लाभ प्राप्त होता है अतः इसको विद्वानों ने महामुद्रा नाम से कहा है ॥ १३ ॥

इस महामुद्रा को आदिनाथ आदि महासिद्धों ने उपयोगी बताया है। क्योंकि इसके अभ्यास से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये महाक्लेश तथा शोकादि दोष क्षीण होने लगते हैं। अतः वुद्धिमानों में श्रेष्ठ अनुभवियों ने इसे महामुद्रा नाम से कहा है ॥ १४ ॥

"जितने समय तक वाम चरण को सीवनी भाग में लगा कर दक्षिण चरण को दण्डाकार में फैलाकर उसके अङ्गुष्ठ को दोनों हाथों की अङ्गुलियों से पकड़ कर" इस अवस्था में रहे उतनी ही देर पैर को बदल कर भी रहे। जब दोनों पैरों की संख्या समान हो जाये तब महामुद्रा को बन्द कर देना उचित है ॥ १५ ॥

महामुद्रा के लाभ—इसके अभ्यास करने से जब योगी अभ्यस्त हो जाता है; तब उसके लिए पथ्यहीन भोजन भी पथ्यवत् ही होता है तथा रस हीन आहार भी पचने लगता है, यदि किसी कारण से विष तुल्य कुत्सितान्न भी खाया गया, तो वह भी अमृत रूप में परिवर्तित हो जाता है ॥ १६ ॥

इसके अभ्यासी को क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त्त, गुल्म, मन्दाग्नि, ज्वर आदि अनेक दोष कष्ट नहीं देते, प्रत्युत ये रोग क्षीण हो जाते हैं ॥ १७ ॥

उपर्युक्त जो अनेक उत्तम-गुणवती, पुरुषों को महासिद्धिप्रदा, महामुद्रा को कहा गया इसकी विधि को अनधिकारी अतत्पर पुरुष के लिए कभी न कहे जिससे इसकी रक्षा हो सके ॥ १८ ॥

महाबन्धः (२)

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥१९॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम्।
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२०॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥२१॥
मतमत्र तु केषाञ्चित् कण्ठबन्धं विवर्जयेत्।
राजदन्तस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥२२॥
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥२३॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥२४॥
रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥२५॥

अब महाबन्ध का स्वरूप बताते हैं—वामचरण की एड़ी को लिङ्गेन्द्रिय और गुदेन्द्रिय के मध्य में जो सीवनी भाग है वहाँ पर लगा कर दक्षिण चरण को वामजङ्घा पर दृढ़ता से रखे ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् बाहर से वायु को उदर में परिपूर्ण करके जालन्धरबन्ध को उत्तम प्रकार से लगावे । मूलबन्ध और उड्डियान बन्ध से नाभिस्थ वायु को ऊपर की ओर आकर्षण करते हुए मन को सुषुम्ना नाडी में लगावे ॥ २० ॥

उपर्युक्त उदरस्थ वायु को यथाशक्ति कुम्भक द्वारा अन्दर धारण करके पश्चात् शनैः शनैः रेचक करे । तदनन्तर दक्षिण चरण की एड़ी को सीवनी भाग में लगा कर वामचरण को दक्षिण जङ्घा पर संस्थापित करके इस मुद्रा का अभ्यास करे ॥ २१ ॥

कुछ आचार्यों के मत में इस महाबन्ध के अभ्यासार्थ जालन्धरबन्ध को इसलिए नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि जालन्धरबन्ध की अपेक्षा दाढों के मध्य में स्थित जो जिह्वा है, उसका बन्ध ही उत्तम है ॥ २२ ॥

उपर्युक्त जिह्वाबन्ध से समस्त नाड़ियों के प्राणकी गति ब्रह्मरन्ध्र की ओर हो जाती है । अतः जालन्धरबन्ध की अपेक्षा जिह्वाबन्ध ही उत्तम है ।

महाबन्ध के लाभ—यह महाबन्ध, प्राणजय चित्तैकाग्रता आदि सिद्धियों को देता है । मृत्युबन्धन को काटने में इस मुद्राभ्यास से सहायता मिलती है एवं इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना इन तीन नाड़ियों का जो सङ्गम स्थान भ्रुकुटि है वहाँ पर मन स्थित होने लगता है ॥ २३–२४ ॥

जिस प्रकार से रूपलावण्यवती स्त्री को पुरुष की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार से महामुद्रा और महाबन्ध को महावेध की अपेक्षा है । अर्थात् महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध इन तीनों ही का अभ्यास करना लाभकारी हैं ॥ २५ ॥

महावेधः (३)

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥२६॥
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥२७॥
सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥२८॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥२९॥
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥३०॥
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यसम्भारसन्धायि पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक् शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥३१॥

अब यहाँ पर महावेध मुद्रा विधि को कहा जाता है। एकाग्रचित्त होकर उपर्युक्त महाबन्ध की स्थिति में रहते हुए पूरक करे। और जालन्धरबन्ध सहित यथाशक्ति कुम्भक करता हुआ अपने दोनों हाथों को भूमि पर लगावे। तथा समस्त शरीर के भार को हाथों पर तोल कर शनैः शनैः भूमि पर ताड़न करे। ऐसी विधि से ताड़न करे जिससे आसन बँधा रहे और एक साथ ही चूतड़ उठें और भूमि पर गिरें।

इस प्रकार के ताड़न द्वारा इडा और पिङ्गला नाड़ियों में बहने वाली वायु रुक जाती है और सुषुम्नामार्ग से प्राणवायु गति करने लगती है ॥ २६–२७ ॥

वायु के सुषुम्नामार्गवाही होने पर इडा और पिङ्गला नाडी प्राणसञ्चार हीन होने से मृतवत् होकर सुषुम्ना नाडी के साथ एकता कर लेती हैं। उस समय निश्चित ही चित्त समाहित होकर मुक्ति साधनों में तत्पर हो जाता है। पूर्वोक्त कुम्भक को यथाशक्ति धारण करके पश्चात् शनैः शनैः रेचक करे ॥ २८ ॥

महावेध के लाभ—इस महावेध के अभ्यासी को वृद्धावस्था शीघ्र प्राप्त नहीं होती, केश शीघ्र श्वेत नहीं होते तथा शरीर में झुर्रियाँ और कम्पन का अभाव होता है। वृद्धावस्था को नष्ट करने की भावना से उत्तम साधकों को इसका अभ्यास करना योग्य है ॥ २९ ॥

उपर्युक्त महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध इन तीनों के अभ्यास से मृत्यु का शीघ्र आक्रमण नहीं होता तथा जठराग्नि की वृद्धि होकर अणिमादि[1] सिद्धि लाभ होता है। इन तीनों मुद्राओं को अनधिकारी से गुप्त रखना योग्य है ॥ ३० ॥

महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध इन तीनों मुद्राओं का अभ्यास प्रत्येक दिन प्रत्येक प्रहर में अष्ट प्रकार से किया जाता है। इनके नित्य अभ्यास से चित्तगत काम, क्रोध आदि विकारों का विनाश होता है, एवं एकाग्रता, नीरोगता, धैर्य आदि उत्तम गुणों की उपलब्धि होती है। सभ्य पुरुषों को इसका अभ्यास मात्रा में बढ़ाना चाहिए। मर्यादा हीन अभ्यास से हानि की सम्भावना है ॥ ३१ ॥

---

१. देखें पृ० ३४।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

खेचरीमुद्रा (४)

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥
छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३३ ॥
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥
ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥
एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबन्धः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥
कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत् खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥
न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ३९ ॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ४० ॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥ ४२ ॥
चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डलम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ४३ ॥
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥
नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥
इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ४६ ॥
गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥
जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात् स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पन्दिनी,
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं,
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥ ५० ॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिपरां चिन्तयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥ ५१ ॥

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात् सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥ ५२ ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरञ्जने ॥ ५३ ॥
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥ ५४ ॥

अब यहाँ से खेचरी मुद्रा के विषय में कहा जायेगा । कपाल में जो छिद्र है, उसमें जिह्वा को उलट कर लगाने तथा भृकुटि में दृष्टि को स्थिर करने पर खेचरी मुद्रा हो जाती है ॥ ३२ ॥

खेचरी मुद्रा को सिद्ध करने के लिए जिह्वा को आगे कही गयी छेदन, चालन, और दोहन क्रियाओं से भ्रूकुटि पर्यन्त लम्बी किया जाता है । जिह्वा के मूलतन्तुओं को छेदन करने तथा (अंगुष्ठ और तर्जनी अंगुली से जिह्वा को वाम और दक्षिण ओर को हिलाना चालन कहलाता है) एवं गोदोहन के समान अंगुष्ठ और तर्जनी से जिह्वा को दोहन करके ही खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है ॥ ३३ ॥

स्नुही (सेहुंड) के पत्ते के तुल्य अतीव तीक्ष्ण निर्मल तथा चिकना शल्यकर्म में उपयोगी शस्त्र को उत्तम प्रकार से ग्रहण करके जिह्वा के मूल की रोमपरिमाण में छेदन करे ॥ ३४ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उपर्युक्त जिह्वा-छेदन के उपरान्त पिसे हुए सैंधवनमक तथा पिसी हुई हरड़ को सायं प्रातः प्रतिदिन कटे हुए भाग पर उत्तम प्रकार से मलता रहे। सात दिन के पश्चात् आठवें दिन उसी प्रकार से पूर्व कटे हुये भाग के आगे रोम मात्र और छेदन करे। सैंधवनमक (कत्था) तथा हरड़ के चूर्ण से कटे भाग को घर्षण करना अधिक उपयोगी है।

"हरड़ और सैंधव (कत्था) के चूर्ण से सायं प्रातः घर्षण, एवं सात दिन के अनन्तर पुनः जिह्वा को रोममात्र काटना" यह क्रिया निरन्तर छः मास पर्यन्त करनी चाहिए। इस प्रकार छः मास होने पर जिह्वा को कपाल छिद्र तक पहुँचने में जो आवरण है उसका विनाश हो जाता है और जिह्वा अनायास कपाल मध्य छिद्र में पहुँच जाती है॥३६॥

उपर्युक्त क्रिया से जब जिह्वा भ्रूकुटी तक पहुँचने लगे तब जिह्वा को लौटा कर, इडा पिङ्गला और सुषुम्ना इन तीन नाडियों का जो सङ्गमस्थान है उसे कपाल छिद्र में लगावे। यही खेचरी मुद्रा है। इसी का नाम व्योमचक्र भी है॥ ३७॥

खेचरीमुद्रा के लाभ—जिह्वा को लौटाकर जो योगी कपाल मध्य छिद्र में लगाकर अर्ध क्षण भी स्थित रहता है, वह सर्प वृश्चिक आदि के विषों से तथा शीघ्र जरा और मृत्यु के आक्रमण से सुरक्षित रहता है॥ ३८॥

खेचरी मुद्राभ्यासी को रोग, मृत्यु, निद्रा, आलस्य, भूख, प्यास, मूर्च्छा शीघ्र नहीं सताते हैं। अर्थात् इसके अभ्यास से तितिक्षा बढती है। रोगों के आक्रमण से मुक्त होकर कर्मबन्धन का क्षय तथा दीर्घायुष्य लाभ होता है॥ ३९॥ ४०॥

क्योंकि इस मुद्रा में चित्त भ्रूकुटिरूप आकाश में स्थित हो जाता है एवं कपाल मध्य-छिद्र रूप आकाश में जिह्वा विचरती है अतः सिद्धों ने खेचरी मुद्रा नाम से कहा है जिस योगी ने तालु के ऊपर कपाल छिद्र को खेचरी मुद्रा के अभ्यास से आच्छादित कर लिया है, उसका वीर्य मस्तिष्क में स्थिति पाकर काम विकार के उद्बोध के कारणों से भी पतित नहीं होता। चलायमान वीर्य भी यदि योनिमण्डल में आ जाता है, तो उस वीर्य को भी लिङ्गेन्द्रिय के ऊर्ध्व आकर्षण द्वारा युक्तिपूर्वक प्रयत्न करके ऊपर स्थित करना योग्य है वीर्य को ऊपर उठाने में मूलबन्ध, और उड्डियानबन्ध की सहायता लेनी हितकर है। यदि बाह्य प्राणायाम के साथ मूलबन्ध और उड्डियानबन्ध को सिद्ध कर लिया जाये तो वीर्य सुरक्षा में पर्याप्त लाभ होता है॥ ४१॥ ४२॥ ४३॥

इस खेचरी मुद्राभ्यास से वीर्यरक्षा में सहायता होती है। वीर्यरूप सोमरस को पीने वाला (रक्षा करने वाला) ब्रह्मचारी योगी मृत्यु के आक्रमण से सुरक्षित रहता है। ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत (अथर्व० ११।५।१९) अर्थात् ब्रह्मचर्य तप से देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है। इस अथर्ववेद के अनुसार हमने इस प्रकरण में "सोम-पान" इस शब्द से सुरक्षा का भाव लगाया है तालुभाग से टपकने वाले रस का वीर्य ही कारण होता है। अतः यही भाव उचित प्रतीत होता है॥ ४४॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जिस योगी ने इस खेचरी मुद्रा से अपने वीर्य की सुरक्षा से स्वशरीर को पुष्ट कर लिया है, वह सर्पादि विषैले जन्तुओं के काटने पर भी विषाक्रान्त नहीं होगा। जिस प्रकार से अग्नि काष्ठों को तथा दीपक तेल और वत्ती को नहीं त्यागते उसी प्रकार से ब्रह्मचर्ययुक्त शरीरको आत्मा नहीं त्यागता ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

जो योगी आगे कहे जाने वाले प्रकार से अमरवाणी गोमांस (गो शब्द का अर्थ यहाँ जिह्वा है मांस शब्द का अर्थ यहाँ पर ब्रह्मचर्य के प्रभाव से उत्पन्न चित्त प्रसादक रस है) का सेवन नित्य करता है, उसको मैं उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ मानता हूं। इसके अतिरिक्त अन्य मनुष्य कुल घातक ही है। भावार्थ यह है कि मनुष्य जन्म पाकर जो पुरुष अमर तत्त्व के लिए योगाभ्यास करके ब्रह्मचर्य की रक्षा करता है वही पुरुष कुलीन है। जो केवल शिश्नोदर परायण है वह अकुलीन ही है ॥ ४७ ॥

यहाँ 'गो' शब्द का अर्थ है जिह्वा। वीर्य सुरक्षा होने पर तालु भाग से वचने वाला रस विशेष शान्ति कारण होने से सोमरस नाम से कहा जाता है। ब्रह्मचर्य सुरक्षा में यह मुद्रा साधन होने से तथा वीर्य रक्षा साध्य होने से 'साधन, और साध्य में अभेद मान कर' यहाँ पर रस शब्द को तदुत्पादक शुक्रार्थक मानना योग्य है। तव जिह्वा को तालु में लगाने पर जो वीर्यसंरक्षण होगा, वही गोमांस सेवन होगा। यह ब्रह्मचर्य सुरक्षा ही अनेक महापातकों को नष्ट करती है ॥ ४८ ॥

जिह्वा को तालुभाग में लगाने पर तथा मन को भृकुटी में स्थिर करने पर प्राणवायु सुषुम्ना मार्ग से चल कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होने लगेगी। वायु सुषुम्ना मार्ग से वहने पर वीर्य भी मस्तिष्क की ओर गति करने लगेगा तव ऊपर मस्तिष्क में स्थित चन्द्रवत् शीतल वीर्य के प्रभाव से जो ब्रह्म को प्राप्त करने में आनन्द होगा उसे अमरवारुणी कहेंगे ॥ ४९ ॥

जब कपालछिद्र में अभ्यास करने पर जिह्वा द्वारा, लवण, कटु, अम्ल, दुग्ध, मधु, घृत के तुल्य रसों का आस्वादन होने लगे तव अनेक रोगों का क्षय, वृद्धत्व नाश, शस्त्र प्रहारकाल में रक्षा, अणिमा आदि अष्ट ऐश्वर्य लाभ, सिद्धों का साक्षात्कार ये लाभ होने लगते हैं ॥ ५० ॥

रसना को कपालगत छिद्र में संस्थापित करके विपरीतकरणी मुद्रा में (सर्वाङ्गासन में) स्थित होकर प्राणायामादि साधन पूर्वक सोलह कमल पत्र वाले विशुद्ध चक्र में प्रतीत विमल मूर्धन्य सोमरस को ब्रह्मशक्ति का चिन्तन करता हुआ जो योगी पान करेगा वह कमल डण्ठलवत् कोमलकाय होकर स्वास्थ्य सहित दीर्घायु होगा ॥ ५१ ॥

मेरुवत् उच्च सुषुम्ना नाडी से प्राण गति होने पर खेचरी मुद्रा से जव ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु के साथ वीर्य ऊर्ध्व गमन करने लगता है। तव सुषुम्ना मार्ग से गयी प्राणवायु तथा वीर्य की स्थिति ब्रह्मरन्ध्र में होने लगती है। प्राणवायु और वीर्य के ब्रह्मरन्ध्र में

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्थित होने पर चित्त भी स्वतः वही एकाग्र हो जाता है। क्योंकि प्राणवायु चित्त और शुक्र का जहाँ ऐक्य होगा वहीं पर प्रभु चिन्तन तथा आत्म-चिन्तन होगा। तभी दीर्घायुष्य लाभ भी होता है। यही मार्ग है मृत्यु वन्धन से निर्मुक्त होने के लिय चित्त, प्राणवायु और वीर्य की एकता द्वारा ही कालपाश को काटा जा सकता है अन्यथा कोई मार्ग मृत्यु से छूटने का नहीं है।

वस्तुतः मुद्राओं के अभ्यास से चित्त की विक्षिप्तता का विनाश होता है। मृत्यु का भय तो परवैराग्य से उत्पन्न असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा ही समाप्त हो सकता है। आत्मा और चित्त को जब तक विवेक से अलग अलग अनुभव न कर लिया जाये तब तक मृत्यु बन्धन इन खेचरी आदि साधनों से नहीं कट सकता है। यहाँ ग्रन्थकार अर्थवाद को लेकर खेचरी मुद्रा के लाभ बताने में अतिशय कर गये हैं। इसका तात्पर्य साधकों में उत्सुकता उत्पन्न करना है ॥ ५२ ॥

खेचरी मुद्रा से कपालगत छिद्र का अवरोध होकर इडा आदि पञ्च नाडियों से युक्त स्रोत का बहाव मूर्धाभिमुख होने से तत्त्व प्राप्ति में सहायता होती है ॥ ५३ ॥

जिस प्रकार से सृष्टिरूप कार्य का कारण मूल प्रकृति, तथा देवों में परमात्मा देव है एवं प्रत्याहारात्मक अवस्थाओं में मनोन्मनी अवस्था श्रेष्ठ है उसी प्रकार सम्पूर्ण मुद्राओं में खेचरी मुद्रा उत्तम है ॥५४॥

उड्डीयानबन्धः (५)

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ५७ ॥
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं यदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

अब उड्डीयानबन्ध के विषय में कहा जाता है क्योंकि इस बन्धसे प्राणवायु सुषुम्ना नाडी मार्ग से प्रविष्ट होकर ब्रह्मरन्ध्र की ओर उड़ने लगती है, अत एव योगियों ने इस

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वन्ध का नाम उड्डीयानवन्ध रख दिया। प्राण रूप पक्षी जिस वन्ध द्वारा निरन्तर सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्ररूप आकाश की ओर उड़ने लगते हैं, उस अन्वर्थक उड्डीयान-वन्ध का स्वरूप आगे कहा जाता है ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

रेचक करके नाभिस्थल के ऊपर तथा नीचे के भाग को इस प्रकार से खींचे जिससे नाभि का ऊपरवाला भाग, तथा नाभि का नीचे वाला भाग ऊपर अंदर की ओर आकर्षित होकर पृष्ठ भागस्थ मेरुदण्ड से अच्छी प्रकार संलग्न करे। यह बन्ध उड्डीयान संज्ञक है। इसका अभ्यास रेचक करके (प्राण वायु को नासिका पुटों से बाहर निकाल कर) किया जाता है। विना उदरस्थ वायु के बाहर निकले यह बन्ध नहीं लगेगा। क्योंकि इसके अभ्यास द्वारा वीर्य का ऊर्ध्वगमन होने लगता है अतः यह मृत्यु वन्धन को शीघ्र ही नहीं आने देता। वृद्ध पुरुष भी यदि गुरूपदिष्ट मार्ग से युक्ताहार विहार पूर्वक इस उड्डीयानवन्ध का निरन्तर सेवन करेगा तो वह भी तरुण के समान हो जायेगा। अर्थात् वृद्धावस्था की झुर्रियाँ, शारीरिक निर्वलता आदि लक्षण इस वन्ध के अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं। उपर्युक्त प्रकार से नाभि के ऊपरी भाग को तथा निम्नभाग को रेचक करके, ऊपर की ओर आकर्षण करते हुए पृष्ठभागस्थ मेरुदण्ड से संलग्न करता है वह निश्चित ही छः मास के अभ्यास द्वारा मृत्यु लक्षणों का नाशक है ॥ ५७-५९ ॥

वीर्यपतन, मन्दाग्नि, उदर विकार आदि दोषों से निर्मुक्त कराने वाला यह उड्डीयान वन्ध सम्पूर्ण वन्धों में प्रधान है। अतः योगानुष्ठान में सहायक वीर्य सुरक्षा आदि उत्तम गुणों को प्राप्त करने के लिए इसका अभ्यास उचित है ॥ ६० ॥

मूलबन्धः (६)

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥ ६२ ॥
गुदं पार्ष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात्।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ ६४ ॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ६५ ॥
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहृता ॥ ६६ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८ ॥
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्त्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ६९ ॥

यहाँ पर मूलवन्थ को वताते हैं—दोनों पादों की किसी भी एड़ी को गुदेन्द्रिय और लिङ्गेन्द्रिय के मध्य भाग सीवनी में संस्थापित करके गुदा से अपान वायु को ऊपर की ओर सङ्कोच करे । ऊपर को उठावे । यह क्रिया मूलवन्ध नाम से कही जाती है ॥६१॥

मूलाधार में स्थित अपान वायु को गुदा के संकोच से मानसिक वल लगाकर ऊपर की ओर उठाया जाता है । गुदा के सङ्कोच से अपान वायु सुषुम्नानाडी द्वारा ब्रह्मरन्ध्र की ओर उठने लगती है । क्योंकि इस वन्ध के अभ्यास से लिङ्गेन्द्रिय और गुदेन्द्रिय मूलस्थान वन्ध जाते है अतः इसका अन्वर्थक नाम मूलवन्ध है ॥ ६२ ॥

प्रकारान्तर से पुनः मूलवन्ध को स्पष्ट करते हैं—किसी एक चरण की एड़ी को गुदा और उपस्थ भाग के मध्य में उत्तम प्रकार से सुस्थित करके पुनः पुनः वल पूर्वक अपान वायु को ऐंसे ढंग से ऊपर की ओर उठावे जिससे वह वायु सुपुम्ना द्वारा ऊर्ध्व-गामी होवे ॥ ६३ ॥

मूलबन्ध के लाभः—मूलवन्ध के युक्ताभ्यास से प्राण और अपान की एकता हो जाती है । प्राण और अपान की एकता द्वारा नाद स्फुटन तथा वीर्य का ऊर्ध्वगमन होता हैं । जो योगसिद्धि में उपकारक है ॥ ६४ ॥ और

अपान और प्राण की एकता होती है तथा शरीर में बढ़े हुए मल और मूत्र की अल्पता होकर वृद्धावस्था की झुर्रियाँ निर्वलता आदि लक्षण क्षीण हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

मूलवन्ध के अभ्यास से जव अपान वायु ऊर्ध्वगमन करने लगती है तव प्राण वायु के साथ अपान वायु का घर्पण होने से उदर में जठराग्नि उद्दीप्त होती है । जो मन्दाग्नि तथा अन्य उदरगत विकारों को भस्मसात् कर देती हैं । अपान और प्राण के घर्पण द्वारा जो विद्युत् जठराग्नि रूप से उत्पन्न होती है, वह शरीर की निस्तेजस्ता को क्रान्ति में परिर्वात्तित कर देती है ॥ ६६–६७ ॥

और उस प्राण और अपान के घर्षण से उत्पन्न अग्नि प्रभाव द्वारा कुण्डली शक्ति सुषुम्नाद्वार को त्याग कर जाग जाती है । जिस प्रकार से दण्डताडिता सर्पिणी मरणान्त में सरल हो जाती है उसी प्रकार से सुषुम्नाद्वार पर सुप्ता कुण्डली शक्ति उस अग्नि से सीधी हो जाती है ॥ ६८ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तदनन्तर विल में प्रविष्ट सर्पिणीवत् कुण्डली शक्ति सुषुम्ना नाडी में प्रविष्ट हो जाती है। क्योंकि मूलवन्ध के अभ्यास से कुण्डली शक्ति जागरित होती है, अतः योगियों को मूलवन्धका अभ्यास हर समय करना योग्य है ॥ ६९ ॥

जालन्धरबन्धः (७)

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
वन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥
वध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम्।
हतो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥
जालन्धरे कृते वन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥
कण्ठसङ्कोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम्।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं पोडशाधारबन्धनम् ॥ ७३ ॥
मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत्।
इडां च पिङ्गलां वध्वा वाहयेत् पश्चिमे पथि ॥ ७४ ॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम्।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥
वन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम्।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥

यहाँ से जालन्धर वन्ध को बताते हैं—हृदय से ऊपर चार अङ्गुल अन्तर पर ठोडी को संस्थापित करे तथा कण्ठ को सङ्कुचित करके ठोडी को नमन पूर्वक ऐसे ढंग से रखे जिससे हृदय समीप छाती और हनु में चार अङ्गुल का अन्तर रहे। यह जालन्धर वन्ध कहलाता है। इसके अभ्यास से वृद्धावस्था एवं मृत्यु का आक्रमण शीघ्र नहीं होता ॥ ७० ॥

क्योंकि इसके अभ्यास से नाडी समूह रूप जाल का एवं नीचे गमन करनेवाले कपाल छिद्ररूप नभ से निकलने वाले जल का वाध हो जाता है, अतः इस वन्ध का अन्वर्थक नाम जालन्धर वन्ध है। यह वन्ध कण्ठ सम्वन्धित रोगों का क्षय करता है ॥ ७१ ॥

जालन्धर वन्ध के लाभ—कण्ठसङ्कोच स्वरूप, जालन्धर बन्ध के करने पर तालु से वहने वाला अमृत तुल्य रज जठराग्नि में नहीं गिरता तथा वातकुपित दोष भी नहीं होते ॥ ७२ ॥

दृढ़ता से कण्ठ के सङ्कोच द्वारा ही इडा और पिङ्गला नाडियों को यह वन्ध रोकता है। इस वन्ध से इडा और पिङ्गलारूप नाडियों में वायु सञ्चार बन्द हो जाता है। यह

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कण्ठस्थ मध्यचक्र = (विशुद्धचक्र को यहाँ मध्यचक्र कहा है। इसे सोलह पंखड़ी वाले कमलवत् (तान्त्रिक ग्रन्थों में) माना जाता है। तथा प्रत्येक पंखड़ी पर एक एक अक्षर भी माना गया है। इस वन्ध से षोडश पंखड़ी आधार वाला जो विशुद्ध चक्र है वह अवरुद्ध हो जाता है ॥ ७३ ॥

मध्य चक्र के १६ आधार—१. अंगुष्ठ, २. गुल्फ, ३. जाल ४. ऊरु ५. सीवनी ६. लिंग ७. नाभि ८. हृदय ९. ग्रीवा १०. कण्ठदेश ११. लंबिका १२. नासिका १३. भ्रुमध्य १४. मस्तक १५. मूर्द्धा १६. ब्रह्मरंध्र। अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीविनी लिंगनाभयः। हृद्ग्रीवा कंठदेशश्च लंविकानासिका तथा। भ्रुमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकम्। एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः।

मूत्रेन्द्रिय तथा गुदेन्द्रिय को ऊपर की ओर सङ्कोच करके मूलवन्ध नाभिमण्डल को पृष्ठभागस्थ मेरुदण्ड से लगा कर उड्डीयान वन्ध एवं कण्ठसंकोच करते हुए हनु को हृदय समीप वक्षःस्थल पर संस्थापित करके इडा और पिङ्गला को बाँधने से जालन्धर वन्ध को नित्य करके प्राणवायु को सुषुम्ना मार्ग द्वारा पश्चिम मार्ग से चलावे ॥ ७४ ॥

इन तीनों वन्धों का युक्ति पूर्वक अभ्यास करने से प्राणवायु की गति सुषुम्ना मार्ग से होने लगती है और नित्य प्रति के अभ्यास बढाने पर ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु स्थित होकर चित्त की एकाग्रता बढ़ती है। चित्त एकाग्र होने पर वृद्धावस्था के कम्पन, झुरियाँ आदि लक्षण नष्ट होकर दीर्घायुष्य लाभ होता है। उपर्युक्त तीनों वन्धों का सेवन गुणप्रद होने से अनेक उत्तम सिद्धों ने किया है। उत्तम अनुभवी योगियों का कथन है कि ये तीन वन्ध सम्पूर्ण योगाङ्गों में उपकारक हैं ॥ ७५–७६ ॥

विपरीतकरणी मुद्रा (८)

यत्किञ्चित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ७७ ॥
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥
ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ॥ ८० ॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्।
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने ॥ ८१ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ।। ८२।

वज्रोलीमुद्रा (९)

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ।। ८३ ।।
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्त्तिनी ।। ८४ ।।
मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ।। ८५ ।।

अब विपरीतकरणी मुद्रा को कहा जाता है—उत्तमरूप अमररस चन्द्र सदृश आह्लादक वीर्यसंजात, मूर्धन्य, सोमरस साधारण अवस्था में नीचे को गिरता रहता है। जिसे नाभि में विद्यमान अग्निरूप सूर्य ही ग्रसता रहता है, इसलिए शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त करता है। जिस मुद्रा के अभ्यास से वह मूर्धन्य रस नीचे न गिरे वह विपरीतकरणी मुद्रा है। उस उत्तम रस को सूर्य से सुरक्षित रखने के लिए गुरु द्वारा मार्ग प्राप्त करके उत्तम साधन विपरीतकरणी मुद्रा को जाने ।। ७७–७८ ।।

इस मुद्रा को केवल पुस्तकों में अवलोकन मात्र से न करके योग्य गुरु के उपदेश को पाकर ही करे। जिस प्रकार से सर्वाङ्गासन में ग्रीवा और दोनों कन्धों पर समस्त शरीर का भार तुला रहता है, उसी प्रकार से शरीर के भार को ग्रीवा और दोनों कन्धों पर तोल कर नाभि से पाद पर्यन्त शरीर को ऊपर की ओर उठावे। ऐसी अवस्था में होने पर तालु में स्थित चन्द्र नीचे हो जाता है तथा नाभिस्थित अग्निरूप सूर्य ऊपर की ओर हो जाता है ! इसे विपरीतकरणी मुद्रा कहते ।। ७९ ।।

इस विपरीतकरणी मुद्राभ्यास से जठराग्नि की वृद्धि होती है; इसलिए इसके अभ्यासी का पर्याप्त आहार का प्रबन्ध होना योग्य है। क्योंकि यदि विपरीकरणी मुद्रा के अभ्यासी का अल्पाहार हुआ तो जठराग्नि शीघ्र ही रस, रक्त, आदि धातुओं को जला देगी। अतएव अभ्यासी आहार की मात्रा सुपर्याप्त करे। और अभ्यास शनैः शनैः अल्प मात्रा में बढ़ावे। प्रथम दिन केवल क्षणभर ही इसका अभ्यास कर एक क्षण से कुछ अधिक मात्रा में बढ़ाता रहे। जो अभ्यासी इस मुद्रा को प्रतिदिन एक प्रहर तक करेगा वह मृत्यु के बन्धन को काट सकता है। अपने आप ही स्वशरीर को त्यागने में सामर्थ्य पा सकता है। क्रम से प्रतिदिन १५ मिनट के अभ्यास से छः मास के पश्चात् झुर्रियाँ तथा केशों की श्वेतता नष्ट हो जाती है ।। ८०–८२ ।।

मूलबंध द्वारा लिंग इंद्रिय को अंदर से ऊपर खेंचे: वह पुरुष वा स्त्री वज्रोली सिद्धि प्राप्त करेगा ।। ८५ ।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यत्नतःशस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥
नारी भगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥
एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ८८ ॥
सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्।
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे तावत् कालभयं कुतः॥ ८९ ॥
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः॥ ९० ॥

कैथीटार द्वारा वायु का संचार अंदर फूत्कार गुरूपदेश अनुसार करे ॥ ८६ ॥

उपर्युक्त दश मुद्राओं में वज्रोली मुद्रा का नवम स्थान है। यह मुद्रा वीर्य को ऊपर आकर्षणार्थ की जाती है। यहाँ पर ग्रन्थकार ने जो भोग को योग के साथ दिखाया है यह ठीक नहीं ग्रन्थकार का व्यामोह है। भोग और योग ये दोनों शब्द सर्वथा परस्पर विरोधार्थक हैं। क्योकि योग में भोग और भोग में योग बाधक है। "ब्रह्मचर्य रक्षा विना योग की सिद्धि तीनों कालों में असम्भव है" पतञ्जलि आदि महर्षियों ने जो योग में यम और नियम को योग की आधार शिला माना है, वही मार्ग श्रेयस्कर है। हम यहाँ वज्रोली, अमरोली तथा सहजोलि इन तीनों विषयों को योग में प्रतिबन्धक मान श्लोकार्थ भाषा में नहीं दिखा रहे हैं।

वीर्य सुरक्षा करने में तीन बन्ध ही उपकारक हो सकते हैं। देखो भूमिका।

अपना चला हुआ बिंदु ऊपर खेंच के उसकी रक्षा करे।

क्योंकि वीर्य की सुरक्षा से जीवन तथा विनाश से मृत्यु होती है, अतः योगी मृत्युञ्जय के उत्कृष्ट साधन वीर्यसुरक्षा में सदा प्रयास करता रहे। वीर्य सुरक्षा से योगी का शरीर सुगन्धमय हो जाता है। जब तक ब्रह्मचर्य के सुपरिपालन से शरीर में वीर्य सुरक्षित रहता है तब तक असामयिक मृत्यु नहीं होती, दीर्घायुष्य प्राप्त होता है।

क्योंकि मनुष्यों के चित्त की पवित्रता से वीर्य रक्षा तथा वीर्य की सुरक्षा से चित्त स्वच्छ बनता है, अतः योगाभ्यासी को महान् प्रयत्न से मन तथा वीर्य की सुरक्षा करनी चाहिये ॥ ८७-९० ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदु च रक्षयेत्।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥
सहजोलिश्चामरोलिवज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३ ॥
सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगभुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ९४ ॥
अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥ ९५ ॥

अथ अमरोली

पितोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा ।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ॥९६॥
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥
अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥
पुंसो बिन्दुं समाकुंञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ ९९ ॥
तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥ १०० ॥
स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ १०१ ॥
रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ १०२ ॥
देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ १०३ ॥

शक्तिचालनमुद्रा (१०)

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ १०४ ॥
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ १०५ ॥
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६ ॥
कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ १०७ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्त्तिता ।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०८ ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०९ ॥
इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥ ११० ॥
पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥१११ ॥
अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात् परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥११२॥
ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ॥ ११३ ॥
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ११४ ॥
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५ ॥
भानोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत् ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ११६ ॥
मुहूर्त्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित् सुषुम्नायां समुद्गता ॥ ११७ ॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥ ११८॥
तस्मात् सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९ ॥
येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२० ॥
ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः ॥ १२१ ॥
कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२ ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥ १२३ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri
LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ।। १२४ ।।
अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ।। १२५ ।।
राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ।। १२६ ।।
मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्त्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ।। १२७ ।।
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ।। १२८ ।।
उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम् ।
स एव श्री गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ।। १२९ ।।
तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादि गुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम् ।। १३० ।।

इति श्री स्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां
मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ।। ३ ।।

१. अब शक्तिचालन मुद्रा को कहा जाता है। शक्तिचालन मुद्रा के द्वारा जिस कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है उस कुण्डली के पर्याय वाचक शब्दों को बताते हैं। कुटिलाङ्गी[1], कुण्डलिनी[2], भुजङ्गी[3], शक्ति[4], ईश्वरी[5], कुण्डली और अरुन्धती ये सात शब्द पर्याय वाचक हैं ।। १०४ ।।

२. जिस प्रकार से मनुष्य कपाट के अवरोधक ताले को ताली से खोलता है, उसी प्रकार से मोक्ष द्वार के प्रतिबन्धक सुषुम्ना मार्ग को योगी कुण्डली से उद्घाटित करता है ।। १०५ ।।

३. जिस उत्तम सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मनिष्ठ योगी श्रेष्ठ तत्त्व ब्रह्म के अधिकारी होते हैं, उस सुषुम्ना द्वार को कुण्डलिनी अपना शयनागार बनाये हुए है। सुषुम्ना नाडी के द्वार पर ३½ बल वाली कुण्डलिनी सोई पड़ी है, उस मार्ग को आगे कहे शक्तिचालन मुद्रा साधन से निर्विघ्न करे ।। १०६ ।।

४. नाभि के नीचे और लिङ्गेन्द्रिय के ऊपर कन्द का स्थान माना जाता है। उस स्थान पर कुण्डली सुषुम्ना द्वार को अवरुद्ध करके सोई हुई हैं जो विवेकी योगी सुषुम्ना द्वार में सुप्त कुण्डली को जगा लेता है, वह मुक्ति भाजन हो जाता है। अविवेकी उसके अज्ञान से बन्धन को काटने में अशक्त रहता है। इस कुण्डलिनी को जो जानता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हैं वह योग में अधिकारी समझा जाता है जो इसको जानता और करता है वह योग-वित् है ॥ १०७ ॥

५. उस कुण्डली की आकृति अनुभवियों ने सर्प की आकृति के समान कही है। जिस साधक ने इस कुण्डलिनी को जागरित कर लिया है वह निश्चित मोक्षाधिकारी हो जाता है ॥ १०८ ॥

६. इडा और पिङ्गला नाडियों के मध्य में सुषुम्ना द्वार को रोक कर कुण्डलिनी शक्ति सोई पड़ी है। प्रयत्न द्वारा जो अभ्यासी उसे जगा लेता है, वह सर्व व्यापक स्वरूप परमात्मा को पा सकता है ॥ १०८ ॥

७. (यहाँ गङ्गा शब्द से इडा नाडी तथा यमुना शब्द से पिङ्गला नाडी का ग्रहण होता है)। इन इडा और पिङ्गला नामक नाड़ियों के मध्य में कुण्डली शक्ति है। उसे बालरण्डा भी कहते हैं ॥ ११० ॥

८. उस योगोपयोगिनी कुण्डली की पुच्छ को ग्रहण करके निद्रा से जगावे। जब शक्ति चालन मुद्रा आदि के अभ्यास द्वारा सुप्ता कुण्डली निद्रा त्याग देती है। तब वह सुषुम्ना के मार्ग द्वारा ऊपर उठने लगती है ।। १११ ।।

९. उस सर्पाकार कन्दस्थ कुण्डली को प्रातः सूर्योदय होने पर तथा सायं सूर्यास्त होने पर नित्य लगभग १॥ डेढ घण्टा परिधान युक्ति करके चलावे ॥ ११२ ॥

१०. मूलेन्द्रिय और नाभि के मध्य में चार अङ्गुल परिमाण में कोमल, श्वेत लपेटे हुए वस्त्र के तुल्य कन्दस्थान को कहा जाता है ॥ ११३ ॥

११. वज्रासन स्थित होकर गुल्फ = टखनों के समीपस्थ चरणों को एक एक हाथ से उत्तम प्रकार पकड़े, तत्पश्चात् दोनों हाथों से दोनों चरणों को कुछ उठाकर कन्द-स्थान को ताडित करे = दबावे ॥ ११४ ॥

१२. वज्रासन में सावधानता से स्थित होकर पूर्व प्रकार से कन्दस्थान को पैरों से चलावे। तदनन्तर उसी आसन में भस्त्रा कुम्भक प्राणायाम करके, कुण्ड़लिनी शक्ति को शीघ्र जगावे। इस प्रकार से कन्दस्थान का ताड़न करके भस्त्रा कुम्भक प्राणायाम के करने से कुण्डली शीघ्र ही जागरित होती है ।। ११५ ॥

१३. तदुपरान्त नाभिमण्डल का आकुञ्चन करके कुण्डली को चलावे। ऐसे पुनः पुनः करने पर अभ्यासी का कालभय भी निवृत्त हो जाता है ॥ ११६ ॥

१४. इस प्रकार से दो मुहूर्त्त (४ घड़ी) पर्यन्त निर्भय होकर शक्तिचालन मुद्रा द्वारा अभ्यास करने पर कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना नाडी में प्रविष्ट होकर कुछ ऊर्ध्व भाग में चली जाती है ॥ ११७ ॥

१५. जब कुण्डली उपर्युक्त अभ्यास द्वारा सुषुम्ना नाडी में प्रविष्ट हो जाती है तब सुषुम्ना मार्ग के अवरोधक के हट जाने पर स्वतः प्राणवायु सुषुम्ना नाडी में गमनागमन करने लगती है ॥ ११८ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इससे सुख से सोई शक्ति को नित्य चलाना चाहिए।

१६. क्योंकि शक्तिचालन मुद्रा द्वारा कुण्डली जाग जाती है अतः कुण्डलिनी को जगाने के लिए पूर्वोक्त साधनों का अभ्यास श्रद्धा और उत्साह से नित्य करे। शक्ति-चालन मुद्रा के अभ्यास से कास श्वास जरा आदि रोग पलायित हो जाते हैं॥ ११९॥

१७. अपने नित्य अभ्यास द्वारा जिस साधक ने इस कुण्डलिनी शक्ति को प्रबुद्ध कर लिया है वह योगी उत्तम विद्या राजयोग को सिद्ध कर सकता है। अभिनिवेश क्लेश (मृत्यु के भय को) पार कर लेता है॥ १२०॥

१८. ब्रह्मचर्य परायण, युक्ताहार-विहार योगी को शक्तिचालन के अभ्यास से चालिस दिन के पश्चात् सिद्धि मिल जाती है॥ १२१॥

१९. कुण्डली को चला कर विशेष रूप से भस्त्रा कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करने पर शीघ्र ही योगी अपने शरीर त्याग में स्वाधीन हो जाता है॥ १२२॥

२०. बहत्तर सहस्र नाड़ियों के मल शोधन में शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास अत्यन्त उपकारक है। अतः इसका अभ्यास अवश्यमेव करे॥ १२३॥

२१. सिद्धासन आदि आसनों तथा नाडी शोधन भस्त्रिका आदि प्राणायामों एवं महामुद्रा आदि मुद्राओं को दृढ़ता से अभ्यास करने पर योगियों की सुषुम्ना नाडी प्राण-वायु को गमनागमन करने में, योग्य हो जाती है॥ १२४॥

२२. समाहितचित्त होकर ध्यानादि साधना में आलस्यहीन श्रद्धालु योगाभ्यासी शीघ्र ही मनोन्मनी अथवा शाम्भवी अवस्था को उपलब्ध कर लेता है। जो आगे श्रेष्ठ विद्या राजयोग में उपकारक हैं॥ १२५॥

२३. जिस प्रकार उत्तम शस्य शालिनी पृथिवी क्षेष्ठ राजा के विना तथा मङ्गल शनि आदि अनेक नक्षत्रवती रात्रि चन्द्रमा, के विना सुशोभित नहीं होती उसी प्रकार से ये उपर्युक्त और मुद्रायें अनेक रोगों में विचित्र लाभकारिणी होने पर भी राजयोग के विना सुशोभित नहीं होती हैं॥ १२६॥

२४. प्राणायाम आदि सम्पूर्ण विधि को समाहित चित्त होकर ही करना हितकर है। बुद्धिमान् योगी का परम कर्तव्य है कि वह अभ्यास काल में मनोवृत्ति को अन्यत्र न ले जावें॥ १२७॥

२५. इस प्रकार से भगवान् आदिनाथ द्वारा प्रोक्त दश मुद्राएँ कही जा चुकी है। इन उपर्युक्त दश मुद्राओं में प्रत्येक मुद्रा योगसिद्धि को देने में समर्थ है॥ १२८॥

३६. जो सज्जन पुरुष, परम्परा से समागत मुद्राओं का योग्य जितेन्द्रिय तत्परायण अधिकारी को उपदेश दे वही ऐश्वर्य सम्पन्न गुरुपदवाच्य है॥ १२९॥

२७. जो अभ्यासी, सत्यवादी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, गुरु के कथनानुसार श्रद्धालु होकर मुद्रा आदि में समाहित होगा वह अणिमादि ऐश्वर्य के साथ स्वशरीर त्याग में स्वाधीनता लाभ करेगा॥ १३०॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

त्रिकालदर्शी बन जाता है ॥ १५६-१५७ ॥

अथ समाधिः—

यदेतद् ध्यानमाख्यातं तच्चेत् परिणमत्यपि ।
चैतन्यानन्दरूपेण सा समाधिरुदीरिता ॥ १५८ ॥

अब समाधि के विषय में कहते हैं—अभी जिस ध्यान को हमने कहा है, वह यदि चैतन्यानन्द रूप से परिणामी हो जावे तो उसे 'समाधि' कहते हैं ॥ १५८ ॥

अथ जाग्रदाद्यवस्थाः—

बुद्धिपूर्वं तु यद् ज्ञानं बहिर्विषयसेवितम् ।
प्रत्यक्षमविरुद्धं च तज्जागरितमुच्यते ॥ १५९ ॥
अर्थाभावे तु यज्ज्ञानं प्रत्यक्षमिव दृश्यते ।
गन्धर्वनगराकारं स्वप्नं तदुपलक्षयेद् ॥ १६० ॥
जाग्रत्स्वप्नावुभावेतौ नित्यं यत्र प्रतिष्ठितौ ।
उत्पत्तिः प्रलयश्चैव सौषुप्तमवधारयेत् ॥ १६१ ॥
स्वप्नाभावो विनिद्रा च द्वयं यत्र न विद्यते ।
तत्तुरीयमिति प्रोक्तमुत्पत्तिलयवर्जितम् ॥ १६२ ॥

अब जाग्रदवस्था के विषय में कहते हैं—बुद्धिपूर्वक जिसका ज्ञान बाह्य विषयों में प्रत्यक्ष रूप से आसक्त है और अविरुद्ध है तो उसे 'जाग्रत् अवस्था' कहा जाता है। वस्तु रूप अर्थ के न रहने पर भी जो ज्ञान गन्धर्व नगर के समान झूठा होने पर भी प्रत्यक्ष दिखलाई पड़े उसे 'स्वप्न' कहा जाता है। जिसमें जाग्रत् और स्वप्न—ये दोनों नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं। जिसमें उत्पत्ति और प्रलय दोनों ही होते रहते हैं, उसे 'सुषुप्ति' कहा जाता है। जिसमें स्वप्नाभाव तथा जाग्रत् दोनों ही दिखाई न पड़े उसे 'तुरीयावस्था' कहते हैं। उसमें न उत्पत्ति दिखाई पड़ती है और न प्रलय ही। यहाँ तक अवस्था के विषय में कहा गया ॥ १५९-१६२ ॥

अथ शुद्धिकर्माणि

अथ देहं स्थिरीकर्तुं योगिनां सिद्धिमिच्छताम् ।
कथ्यन्ते शुद्धिकर्माणि यैः सिद्धिं प्रापुरुत्तमाः ॥ १६३ ॥
महामुद्रां नभोमुद्रामुड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं स्थिरं दण्डं तद्वच्च शक्तिचालनम् ॥ १६४ ॥
चिबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद् वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेत् ।
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन चाभ्यसेत् ॥ १६५ ॥ इति ।

अब सिद्धि की इच्छा रखने वाले योगीजनों के शरीर की स्थिरता के लिये शुद्ध कर्मों को कहता हूँ। जिससे श्रेष्ठ महात्माओं ने उत्तम सिद्धि प्राप्त की है। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान बन्ध, जलन्धर बन्ध, मूल बन्ध, स्थिर दण्ड, उसी प्रकार स्थिर चालन—ये उपाय हैं। चिबुक को हृदय से सदा लगा देवे। फिर वायु से उसे पूर्ण करे। फिर अपनी शक्ति के अनुसार कुम्भक से उसे रोके और फिर उसका विरेचन करे। इस प्राणायाम की क्रिया में बायें नासा पुट से वायु ऊपर खींचे और दाहिने से बाहर करे। अथवा दाहिने नासा पुट से वायु खींचे और बायें से बाहर करे। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करे ॥ १६३-१६५॥

अन्यच्च—

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि वसिष्ठेनोदितां पुरा ।

महामुद्राविधानम्

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ॥ १६६ ॥
पादं प्रसारितं कृत्वा स्वराभ्यां पूरयेन्मुखम् ।
कण्ठे बन्धं समारोप्य पूरयेद् वायुमूर्ध्वतः ॥ १६७ ॥
यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ।
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ॥ १६८ ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटीस्थिता ।
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥ १६९ ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ।
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्मप्लीहपुरोगमाः ॥ १७० ॥
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।
कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ १७१ ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ।

और भी बतलाया गया है—अब मैं पूर्वकाल में वशिष्ठ द्वारा कही गई महामुद्रा को कहता हूँ—बायें पैर के मूल से दाहिनी ओर की योनि को पीड़ित कर दूसरा पैर फैला देवे, फिर दोनों स्वरों से मुख को पूर्ण करे और कण्ठ में बाँध कर, रोक कर, ऊपर से वायु खीचकर, उस बन्ध को पूर्ण करे। जिस प्रकार डण्डे से आहत साँप दण्डाकार हो जाता है, उसी प्रकार कुण्डली शक्ति सहसा सीधी हो जाती है। उस समय उसके दोनों पुट पूँछ और मुख अलग-अलग होकर स्थित हो जाते हैं और वह 'मरणावस्था' को प्राप्त हो जाती है। उस समय योगी को पथ्यापथ्य का विचार नहीं रहता। सभी नीरस पदार्थ उसे सरस लगते हैं। यहाँ तक कि विष भी खा लेने पर अमृत के समान जीर्ण हो जाता है। उस समय उस योगी के क्षय, कोढ़, उदावर्त्त, गुल्म, प्लीहादि समस्त

दोष नष्ट हो जाते हैं । इस महामुद्रा का अभ्यास करने वाले योगी की ऐसी दशा होती है । हमने जरा-मृत्यु का विनाश करने वाली इस 'महामुद्रा' को कहा । इसे प्रयत्नपूर्वक साधक गुप्त रखे; जिस किसी को कदापि न देवे ॥ १६६-१७२ ॥

अथास्याङ्गभूतो महाबन्धः—

पार्ष्णिर्वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरुपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं पुनः ॥ १७२ ॥
पूरयेन्मुखतो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निभृत्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ १७३ ॥
रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते ।
अयं योगी महाबन्धः सर्वसिद्धिप्रदायकः ॥ १७४ ॥

अब इसके अङ्गभूत अन्य महाबन्धों को कहते हैं—बायें पैर की पार्ष्णि योनि स्थान पर स्थापित करे । पुनः दाहिना पैर बायें पैर के ऊरु पर स्थापित करे । फिर ठुड्डी को हृदय में दृढ़तापूर्वक सटा कर उसमें मुख से वायु पूर्ण करे । फिर योनि को सिकोड़ कर मन को मध्य भाग में स्थापित करे । फिर धीरे-धीरे उस वायु का रेचन करे । इस योग को 'महाबन्ध' कहा जाता है; जो सभी सिद्धियाँ प्रदान करता है ॥ १७२-१७४ ॥

सव्याङ्गे च समभ्यस्य दक्षिणाङ्गे समभ्यसेत् ।
अयं च सर्वनाडीनां गतिमूर्ध्वां विबोधकः ॥ १७५ ॥
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेत् पुनः ।
रूपलावण्यसम्पूर्णा यथा स्त्री पुरुषं विना ॥ १७६ ॥
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।

बायें भाग में इसका अभ्यास कर पुनः दक्षिण भाग में भी इसका अभ्यास करे। यह 'महाबन्ध' योग समस्त नाडियों की गति को ऊर्ध्व की ओर पहुँचाने वाला है । यह योग त्रिवेणी के सङ्गम को धारण करता है और पुनः इसे ऊपर उठाकर केदारेश्वर में पहुँचा देता है । जिस प्रकार रूप लावण्य से सम्पन्न स्त्री पुरुष के बिना निष्फल है; उसी प्रकार महामुद्रा और महाबन्ध दोनों ही वेधरहित होने के कारण निष्फल जानना चाहिये ॥ १७५-१७७ ॥

वायूनां गतिमाकृष्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।
अष्टधा क्रियते चैतद् यामे यामे दिने दिने ॥ १७७ ॥
पुण्यसङ्घातसन्धायी पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक् श्रद्धावतामेव सुखं प्रथमसाधने ॥ १७८ ॥
वह्निस्त्रीपथसेवानामादौ वर्जनमादिशेत् ।

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेत् शनैः ॥ १७९ ॥
अयमेव महावेधः सिद्धिदोऽभ्यासतो भवेत् ।
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥ १८० ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ।

कण्ठ की मुद्रा से जो वायु का आकर्षण आठ-आठ बार प्रत्येक याम और प्रत्येक दिन निरन्तर करता है; वह पुण्य समूहों का धारण करता है तथा पाप समूहों का भेदन करने वाला योगी होता है । इसका सुख प्रथम साधन में श्रद्धावानों को ही प्राप्त होता है । योगी वह्नि, स्त्री तथा रास्ते की सेवा, योगाभ्यास में प्रथम ही वर्जित करे । दोनों हाथों को समतल बनाकर, दोनों स्फिचों (नितम्ब चूतड़) को पृथ्वी पर ताडन धीरे-धीरे करे । यही 'महावेध' है जो अभ्यास करने से सिद्धिप्रद हो जाता है । यह महाबन्ध, महामुद्रा तथा वेध—ये तीनों ही जरा-मृत्यु का विनाश करने वाले हैं । यह जठराग्नि को प्रदीप्त करते हैं तथा अणिमादि सिद्धियों के गुणों को भी प्रदान करते हैं ॥ १७७-१८१ ॥

अथ नभोमुद्रा—

अन्तःकपालकुहरे जिह्वामाकुञ्च्य धारयेत् ।
भ्रूमध्यदृष्टिरमृतं पिबेत् खेचरिमुद्रया ॥ १८१ ॥

अब नभोमुद्रा कहते हैं—कपाल कुहर के भीतर जिह्वा को संकुचित कर धारण करे । फिर दोनों भ्रू के मध्य में दृष्टि स्थापित कर 'खेचरी मुद्रा' से अमृतपान करे ॥ १८१ ॥

दत्तात्रेयस्तु—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ १८२ ॥

दत्तात्रेयतन्त्र के अनुसार बतलाया गया है—कपाल कुहर में विपरीत रीति से जिह्वा प्रविष्ट करे और दृष्टि को दोनों भ्रुवों के मध्य में स्थापित करे । तब 'खेचरी मुद्रा' बन जाती हे ॥ १८२ ॥

न रोगी मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ १८३ ॥
पीड्यते न च रोगाद्यैर्लिप्यते न च कर्मणा ।
वध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ १८४ ॥
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समतायास्तु जिह्वाया रोममात्रं समुच्छिदेत् ॥ १८५ ॥

रोममात्रस्य भेदेन विलम्बेन हि लम्बिका ।
हृदयं ग्रन्थकाराणामाकूतं भणितं मया ॥ १८६ ॥

ऐसे योगी को रोग नहीं होता, मरण नहीं होता, निद्रा, क्षुधा और प्यास नहीं लगती । किं बहुना; उसे मूर्च्छा नहीं होती जो इस खेचरी मुद्रा को जान लेता है । रोगादि उसे पीड़ित नहीं करते, कर्म उसे लिप्त नहीं करता और काल उसका वध नहीं कर सकता जो खेचर मुद्रा को जानता है । अत्यन्त तीक्ष्ण, चिकना, निर्मल, स्नुही पत्र के समान पतला शस्त्र हो, उससे समान रूप वाली (समतल) जिह्वा पर उत्पन्न समस्त रोम का उच्छेद करे । उस रोम मात्र के भेदन से लम्बिका (=जिह्वा) के विलम्बन से ग्रन्थकारों का हृदय आकूत (?) हो जाता है; यह मैंने लम्बिका के विषय में कहा ॥ १८३-१८६ ॥

खेचरीपटले तु विशेषः—

छेदनचालनदोहैः कलाक्रमेण वर्धयेत् तावत् ।
सा याति यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदानीं हि खेचरीसिद्धिः ॥ १८७ ॥
छेदनस्य प्रकारोक्तेरभावान्मूढता यतः ।
साधारणोक्तिदुर्बोधान् नाङ्गीकार्यमिदं मतम् ॥ १८८ ॥
गुरुदर्शितमार्गेण सङ्केतः कथ्यते मया ।
सङ्केतशृङ्खलाभावे खेचरी तु कथं भवेत् ॥ १८९ ॥

अब खेचरी पटल में विशेष कहते हैं—जिह्वा को छेदन, चालन और दोहन करते रहने से उसे तब तक बढ़ावे, जब तक वह दोनों भ्रुवों के मध्य में जाकर उसका स्पर्श न करे; यही 'खेचरी सिद्धि' कही जाती है । जिह्वा का च्छेदन असम्भव है । अत: उसका अभाव होने के कारण जिह्वा छेदनोक्ति मूर्खता की उक्ति है । अतः इस मत को अङ्गीकार नहीं करना चाहिये । यह साधारणोक्ति दुर्बोध होने के कारण कही गई है । अब आपको गुरु दर्शित मार्ग से मैं सङ्कतों को बतलाता हूँ । यदि सङ्केत रूप शृङ्खला न हो, तब खेचरी की सिद्धि भला किस प्रकार हो सकती है?॥ १८७-१८९ ॥

सर्पाकारं सवलयं शृङ्खलाद्वयसंमितम् ।
स खर्परं षड्वितस्तेर्दैर्घ्यं सङ्केतलक्षणम् ॥ १९० ॥
शृङ्खलाद्वितयनिर्मितां वरां सर्पवद्वलयखर्परान्विताम् ।
विंशदङ्गुलमितां सुदीर्घिकां लम्बिकोत्पादकारिणीं विदुः॥ १९१ ॥

सर्पाकार जो वलय के सहित हो, जो दो शृङ्खला से युक्त हो, वह खर्पर से संयुक्त हों, जिसकी लम्बाई छह वित्ते की हो, ऐसा सङ्केत का लक्षण है । दो शृङ्खला में बनाई गई, साँप के समान वलय और खर्पर से युक्त हो, जिसकी

लम्बाई २० अङ्गुल हो, चौड़ाई अत्यन्त सुन्दर हो, जो लम्बिका उत्पन्न करने में समर्थ हो, ऐसी शृङ्खला होनी चाहिये ॥ १९०-१९१ ॥

शृङ्खलायाश्च वलये जिह्वां तत्र प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे पश्चाज्जिह्वां चैव प्रवेशयेत् ॥१९२॥ इति ।

उस शृङ्खला के वलय में जिह्वा को प्रविष्ट करे । इसके पश्चात् उस शृङ्खला के द्वारा जिह्वा को कपाल कुहर में प्रविष्ट करावे ॥ १९२ ॥

अथ जालन्धरबन्धः—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं सुधाव्ययनिवारणः ॥ १९३ ॥

अब जालन्धर बन्ध कहते हैं—कण्ठ को हृदय तक संकुचित कर, उसमें चिबुक (ठुड्डी) दृढ़तापूर्वक स्थापित करे । यह जालन्धर बन्ध कहा जाता है; जिससे अमृत का व्यय होना रुक जाता है ॥ १९३ ॥

नाभिस्थोऽग्निः कपालस्थसहस्रकमलच्युतम् ।
अमृतं सर्वदा सर्वं पिबन् ज्वलति देहिनाम् ॥ १९४ ॥

नाभि में रहने वाली अग्नि, कपालस्थ सहस्रकमल से गिरने वाले अमृत को पीते हुये, समस्त प्राणियों के शरीर में जलती रहती है ॥ १९४ ॥

यथा सोऽग्निस्तदमृतं न पिबेत् तद् व्यधात् स्वयम् ।
यान्ति दक्षिणमार्गेण एवमभ्यसता सदा ॥ १९५ ॥
अमृतीकुरुते देहं जरामृत्युं विनाशयेत् ।
बध्नाति हि शिराजालं नाधो याति नभोजलम् ॥ १९६ ॥

अतः जिस प्रकार वह नाभिस्थ अग्नि उस अमृत का पान न कर सके, उसका एक मात्र यही उपाय है । इस प्रकार अभ्यास करने से समस्त नाडियाँ दक्षिण मार्ग से जाने लगती हैं । तब वह अमृत व्यय न होने के कारण समस्त देह को अमृत बना देता है और जरा-मृत्यु को विनष्ट कर देता है । समस्त नाडियों में ऊपर से गिरता हुआ वह अमृत प्रवाह रुक जाता है और नीचे जाने नहीं पाता ॥ १९५-१९६ ॥

ततो जालन्धरो बन्धः कृतो दुःखौघनाशनः ।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥१९७॥ इति ।

वह नाडी जाल को बाँध देता है । इसलिये वह जालन्धर बन्ध कहा जाता है । जो समस्त दुःख समूहों को नष्ट करने वाला है । कण्ठ सङ्कोच लक्षण

जालन्धर बन्ध के करने से अमृत 'नाभिस्थ अग्नि' में न जाकर जलने से बच जाता है और वायु का प्रकोप भी नहीं होता ॥ १९७ ॥

अथ उड्डीयानबन्धः—

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत्।
उड्डीयानं तु सहजं कथितं गुरुणा सदा ॥ १९८ ॥
अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्।
इडां च पिङ्गलां बध्वा वाहयेत् पश्चिमां पथम् ॥ १९९ ॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥२००॥ इति।

अब उड्डीयान बन्ध के विषय में कहते हैं—मूलस्थान को आकुञ्चित कर 'उड्डीयान बन्ध' करना चाहिये। उड्डीयान सहज है। ऐसा हमारे गुरु जी का कहना है जो सर्वदा इसका अभ्यास करता है वह वृद्ध होते हुये भी युवावस्था सम्पन्न हो जाता है। इडा और पिङ्गला को बाँधकर पश्चिम नासा पुट से वायु निकाले। इस विधान से वायु लय हो जाता है। ऐसा करने से जरा-मृत्यु नहीं होती और न रोगादि होते हैं ॥ १९८-२०० ॥

अन्यत्रापि—

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि पानं कुर्यात् प्रयत्नतः।
षणमासाभ्यासतो मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥२०१॥ इति।

अन्यत्र भी बतलाया गया है—साधक प्रयत्नपूर्वक प्राणवायु को नाभि के ऊपर और नीचे करे। छह मास के अभ्यास से निःसन्देह साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥ २०१ ॥

अथ मूलबन्धः—

मूलबन्धं तु यो नित्यमभ्यसेत् स हि योगवित्।
पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥ २०२ ॥
अधोगतिमनेनैव चोर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥ २०३ ॥
गुदं पार्ष्ण्या च सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ २०४ ॥

अब मूलबन्ध कहते हैं—जो नित्य 'मूलबन्ध' का अभ्यास करता है वही योगवेत्ता योगी है। योनि को पार्ष्णि भाग से दबाकर गुदास्थान को सिकोड़े

(संकुचित करे), अपान कों ऊपर ले जावे, इसे 'मूलबन्ध' कहा जाता है । साधक इस आकुञ्चन विधान से नीचे जाने वाले अपान को बलात् ऊर्ध्वगति बनाता है, इसलिये इसे मूलबन्ध कहते हैं । गुदा स्थान को पार्ष्णि से दबा कर वायु को बलात् आकुञ्चित करे । इस क्रिया को बारम्बार इस प्रकार करे जिससे वायु ऊपर की ओर गतिमान् होवे ॥ २०२-२०४ ॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गते योगस्य संसिद्धिं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ २०५ ॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ २०६ ॥
अपाने चोर्ध्वगं याते प्रयाते वह्निमण्डले ।
यथानले शिखादीप्तं वह्निना प्रेरितं तथा ॥ २०७ ॥
यातायातौ वह्न्यपानौ प्राणमूलस्वरूपकौ ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ २०८ ॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यति ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋतुतां व्रजेत् ॥ २०९ ॥
विलं प्रविष्टे च ततो ब्रह्मनाड्यन्तरे व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्त्तव्यो योगिभिः सदा ॥२१०॥ इति ।

मूलबन्ध के द्वारा प्राण, अपान, नाद एवं बिन्दु के एक करने से योग संसिद्धि हो जाती है; इसमें संशय नहीं । मूलबन्ध से प्राण, अपान की एकता और मूत्र पुरीष का क्षय होता है । मूलबन्ध करने से वृद्ध पुरुष भी युवावस्था सम्पन्न हो जाता है । अपान ऊपर की ओर उठते हुये जब वह्निमण्डल में पहुँच जाता है । तब जिस प्रकार अग्नि में दीप्त ज्वाला उठती है, उसी प्रकार वह्नि से प्रेरित वह अपान भी ज्वाला युक्त हो जाता है । प्राण स्वरूप और मूल स्वरूप जब अग्नि और अपान यातायात करते हैं, तब शरीर में रहने वाली जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है । उस ज्वाला से सन्तप्त होने के कारण सुप्त कुण्डलिनी जाग जाती है । जिस प्रकार दण्ड से आहत होने पर सर्पिणी क्रुद्ध हो जाती है और क्रोध से भयङ्कर श्वास लेती है, वैसे ही कुण्डलिनी निश्वास लेती हुई ऋतुमती (कामार्त्त!) हो जाती है । फिर बिल में प्रवेश करते हुये ब्रह्मनाडी तक पहुँच जाती है । इस कारण योगिजनों को निरन्तर ही 'मूलबन्ध' का अभ्यास करते रहना चाहिये ॥ २०५-२१० ॥

अथ दण्डधारणम्—

पृष्ठबन्धं दृढं कुर्यादनम्रं स्थिरसञ्चयम् ।
दण्डधारणमेतद्धि योगिनां परमं मतम् ॥ २११ ॥

अर्थाभावे तु यज्ज्ञानं प्रत्यक्षमिव दृश्यते ।
गन्धर्वनगराकारं स्वप्नं तदुपलक्षयेद् ॥४७१३॥

जाग्रत्स्वप्नावुभावेतौ नित्यं यत्र प्रतिष्ठितौ ।
उत्पत्तिः प्रलयश्चैव सौषुप्तमवधारयेत् ॥४७१४॥

स्वप्नाभावो विनिद्रा च द्वयं यत्र न विद्यते ।
तत्तुरीयमिति प्रोक्तमुत्पत्तिलयवर्जितम् ॥४७१५॥

इत्यवस्थाः ।

अथ देहं स्थिरीकर्तुं योगिनां सिद्धिमिच्छताम् ।
कथ्यन्ते शुद्धिकर्माणि यैः सिद्धिं प्रापुरुत्तमाः ॥४७१६॥

महामुद्रां नभोमुद्रामुड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं स्थिरं दण्डं तद्वच्च शक्तिचालनम् ॥४७१७॥

चिबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद् वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेत् ।
वामांगेन समभ्यस्य दक्षिणांगेन चाभ्यसेत् ॥४७१८॥ इति ।

अन्यच्च–

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि वसिष्ठेनोदितां पुरा ।
पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ॥४७१९॥

पादं प्रसारितं कृत्वा स्वराभ्यां पूरयेन्मुखम् ।
कण्ठे बन्धं समारोप्य पूरयेद् वायुमूर्ध्वतः ॥४७२०॥

यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ।
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ॥४७२१॥

तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटीस्थिता ।
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥४७२२॥

अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ।
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्मप्लीहपुरोगमाः ॥४७२३॥

तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।
कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥४७२४॥

गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ।

अथास्यांगभूतो महाबन्धः–

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं पुनः ॥४७२५॥

पूरयेन्मुखतो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निभृत्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥४७२६॥

रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते ।
अयं योगी महाबन्धं सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥४७२७॥

सव्याङ्गे च समभ्यस्य दक्षिणाङ्गे समभ्यसेत् ।
अयं च सर्वनाडीनां गतिमूर्ध्वां विबोधकः ॥४७२८॥

त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेत् पुनः ।
रूपलावण्यसम्पूर्णा यथा स्त्री पुरुषं विना ॥४७२९॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।
वायूनां गतिमाकृष्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।
अष्टधा क्रियते चैतद् यामे यामे दिने दिने ॥४७३०॥

पुण्यसंघातसन्धायी पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक् श्रद्धावतामेव सुखं प्रथमसाधने ॥४७३१॥

वह्निस्त्रीपथसेवानामादौ वर्जनमादिशेत् ।
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेत् शनैः ॥४७३२॥

अयमेव महावेधः सिद्धिदोऽभ्यासतो भवेत् ।
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥४७३३॥

वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ।

अथ नभोमुद्रा–

अन्तःकपालकुहरे जिह्वामाकुञ्च्य धारयेत् ।
भ्रूमध्यदृष्टिरमृतं पिबेत् खेचरिमुद्रया ॥४७३४॥

दत्तात्रेयस्तु–

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टि र्मुद्रा भवति खेचरी ॥४७३५॥

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४७३६॥

पीड्यते न च रोगाद्यै र्लिप्यते न च कर्मणा ।
बध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४७३७॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समतायास्तु जिह्वाया रोममात्रं समुच्छिदेत् ॥४७३८॥

रोममात्रस्य भेदेन विलम्बेन हि लम्बिका ।
हृदयं ग्रन्थकाराणामाकूतं भणितं मया ॥४७३९॥

खेचरीपटले तु विशेषः–

छेदनचालनदोहैः कलाक्रमेण वर्धयेत् तावत् ।
सा याति यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदानीं हि खेचरीसिद्धिः ॥४७४०॥

छेदनस्य प्रकारोक्तेरभावान्मूढता यतः ।
साधारणोक्तिदुर्बोधात् नाङ्गीकार्यमिदं मतम् ॥४७४१॥

गुरुदर्शितमार्गेण संकेतः कथ्यते मया ।
संकेतशृङ्खलाभावे खेचरी तु कथं भवेत् ॥४७४२॥

सर्पाकारं सवलयं शृङ्खलाद्वयसंमितम् ।
स खर्परं षड्वितस्ते र्दैर्घ्यं संकेतलक्षणम् ॥४७४३॥

शृङ्खलाद्वितयनिर्मितां वरां सर्पवद्वलयखर्परान्विताम् ।
विंशदंगुलमितां सुदीर्घिकां लम्बिकोत्पादकारिणीं विदुः ॥४७४४॥

शृङ्खलायाश्च वलये जिह्वां तत्र प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे पश्चाज्जिह्वां चैव प्रवेशयेत् ॥४७४५॥ इति ।

अथ जालन्धरबन्धः–

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं सुधाव्ययनिवारणः ॥४७४६॥

नाभिस्थोऽग्निः कपालस्थसहस्रकमलच्युतम् ।
अमृतं सर्वदा सर्वं पिबन् ज्वलति देहिनाम् ॥४७४७॥

यथा सोऽग्निस्तदमृतं न पिबेत् तद् व्यधात् स्वयम् ।
यान्ति दक्षिणमार्गेण एवमभ्यसता सदा ॥४७४८॥

अमृतीकुरुते देहं जरामृत्युं विनाशयेत् ।
बध्नाति हि शिराजालं नाधो याति नभोजलम् ॥४७४९॥

ततो जालन्धरो बन्धः कृतो दुःखौघनाशनः ।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥४७५०॥ इति ।

अथ उड्डीयानबन्धः–

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ।
उड्डीयानं तु सहजं कथितं गुरुणा सदा ॥४७५१॥

अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ।
इडां च पिङ्गलां बध्वा वाहयेत् पश्चिमां पथम् ॥४७५२॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥४७५३॥ इति ।

अन्यत्रापि–

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि पानं कुर्यात् प्रयत्नतः ।
षण्मासाभ्यासतो मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥४७५४॥ इति ।

अथ मूलबन्धः–

मूलबन्धं तु यो नित्यमभ्यसेत् स हि योगवित् ।
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद् गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥४७५५॥

अधोगतिमनेनैव चोर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥४७५६॥

गुदं पार्ष्ण्या च सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥४७५७॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गते योगस्य संसिद्धिं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥४७५८॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥४७५९॥
अपाने चोर्ध्वगं याते प्रयाते वह्निमण्डले ।
यथानले शिखादीप्तं वह्निना प्रेरितं तथा ॥४७६०॥
यातायातौ वह्न्यपानौ प्राणमूलस्वरूपकौ ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥४७६१॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यति ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋतुतां व्रजेत् ॥४७६२॥
विलं प्रविष्टे च ततो ब्रह्मनाड्यन्तरे व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥४७६३॥ इति ।

अथ दण्डधारणम्–

पृष्ठवन्धं दृढं कुर्यादनस्रं स्थिरसंचयम् ।
दण्डधारणमेतद्धि योगिनां परमं मतम् ॥४७६५॥

इति प्रथमो हठयोगः ।

अथ मार्कण्डेयादिसाधितो द्वितीयो हठयोगः–

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं व्यासकोटिभिः ।
ममेति मूलं दुःखस्य निर्ममेति सुखस्य च ॥४७६५॥
निर्ममत्वं विरागाय वैराग्याद् योगसन्ततिः ।
योगाच्च जायते ज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिः प्रजायते ॥४७६६॥
उपभोगेन पुण्यानां प्राकृतानां तथांहसाम् ।
कर्तव्यमिति नित्यानामकामकरणात्तथा ॥४५६७॥
असञ्चयादपूर्वस्य क्षयात्पूर्वार्जितस्य च ।
कर्मणो बन्धमाप्नोति शारीरं न पुनः पुनः ॥४७६८॥
अथेह कथ्यतेऽस्माभिः कर्मणां येन बन्धनम् ।
छिद्यते सदुपायेन श्रुत्वा तत्र प्रवर्तताम् ॥४७६९॥

मुद्रा तथा बन्ध :-

यौगिक दृष्टि से मुद्राओं का विशेष महत्व होता है, क्योंकि योगीजनों ने इन्हें प्राणायाम और योगासनों से भी अधिक महत्व दिया है। योगासनों से शरीर का अस्थि-समूह दृढ़ होता है, जबकि मुद्राओं की गोपनीय क्रिया कुण्डलिनी शक्ति को उदबुद्ध करने और चक्रवेध के लिए उपयोगी होती है। मुद्राओं का उपयोग द्वयर्थक माना जाता है, एक तो स्वास्थ्यवर्धन की दृष्टि से और दूसरा मानसिक बल की दृष्टि से, मुद्राएँ उस क्रिया का भी ज्ञान कराती हैं, जो कि मानव शरीर के स्वयं कार्य करनेवाले यंत्रों और स्नायुओं से सम्बन्धित हैं। "योग में कौशलपूर्ण स्थूल शरीर प्रधान क्रिया को मुद्रा कहते हैं।" लय योग सिद्धि के लिए आठ मुद्राओं का विधान लय योग के आचार्यों ने किया है। प्रत्याहार सिद्धि के लिए शाम्भवी मुद्रा, धारणा सिद्धि के लिए पञ्च धारणा की पञ्चमुद्रा और ध्यान सिद्धि के लिए शक्ति-चालिना और योनिमुद्रा, यह हठयोग संहिता में निर्दिष्ट है। हठयोग के आचार्यों ने पचीस प्रकार की मुद्राएँ हठयोग-सिद्धि के लिए बतलाई हैं।

> महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
> मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी ।।
> विपरीतकरिणी योनि बज्रोली शक्तिचालिनी।
> तडागीमाण्डवीमुद्रा शाम्भवीपञ्चधारणा ।।
> आश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
> पञ्चविंशति मुद्रावै सिद्धिदाश्चेहयोगिनाम् ।।[1]

घेरण्ड संहिता के तृतीयोपदेश में इन पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है, यहाँ अति संक्षेप में इन पर प्रकाश डाला जा रहा है -

---

1 घेरण्ड संहिता, तृतीयोपदेश, 3/1-3.

महामुद्रा :- बायीं एड़ी से गुद प्रदेश को दबाये और दायें पाँव को फैलाकर उसकी अँगुलियों को हाथ से पकड़े और कण्ठ को सकोड़कर भौंहों के मध्य में दृष्टि लगाये रहे। यह महामुद्रा कहलाती है।

नभोमुद्रा :- सभी कार्यों में स्थिर हुआ योगी अर्ध्व जिह्व होकर कुम्भक के द्वारा वायु को रोक ले, यह नभोमुद्रा योगी के सभी रोगों को नष्ट करने वाली है।

उड्डीयान बन्ध :- नाभि के ऊपर के भाग और पश्चिम द्वार को उदर के समभाव में सकोड़े, इसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं। यह मृत्युरूपी गज के लिए सिंह के समान है। सभी बन्धों में उड्डीयानबन्ध प्रमुख है। इसके अभ्यास से सहज ही मोक्ष मिल जाता है।

जालन्धर बन्ध :- कण्ठ का संकोच करे और हृदय पर ठोड़ी को रखे तो जालन्धर बन्ध होता है। इससे सोलह प्रकार का आधार बन्ध हो जाता है। यह जालन्धर नाम की महामुद्रा मृत्यु को भी नष्ट कर देती है। यह जालन्धर सिद्ध होने पर योगियों को सिद्धि प्रदान करता है तथा इसका छ: महीने अभ्यास करने से ही योगी अवश्य ही सिद्ध हो जाता है।

मूलबन्ध :- बाँयीं एड़ी से गुह्य प्रदेश को संकुचित करे और प्रयत्नपूर्वक मेरुदण्ड में नाभिग्रन्थि को लगाकर दबाये और दाँयीं एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबा ले, यह मूलबन्ध है। इससे वृद्धावस्था नष्ट होती है। संसारसागर से पार होने के लिए जनहीन स्थान {जंगल आदि} में छिपकर इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से मरुत्सिद्धि अवश्य होती है। इसलिए मौन एवं निरालस्य रहकर प्रयत्नपूर्वक इसका अभ्यास करना चाहिए।

महाबन्ध :- बाएँ पाँव की एड़ी से पायुमूल को निरुद्ध करके दाँयें पाँव से प्रयत्नपूर्वक बाँयीं एड़ी को दबाये और शनै: शनै: गुह्य देश का चालन

करे और फिर शनै: शनै: ही संकुचित करे तथा जालन्धरबन्ध से प्राणवायु को धारण करे, इसे महाबन्ध कहते हैं। यह महाबन्ध सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ तथा जरा-मरण नाशक है। इस बन्ध के प्रसाद से सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

महाबेध :- महाबेध के बिना मूलबन्ध और महाबन्ध भी उसी प्रकार निष्फल है, जिस प्रकार किसी पुरुष के बिना स्त्री का रूप, यौवन, लावण्य व्यर्थ है। प्रथम महाबन्ध मुद्रा का अभ्यास कर उड्डीयान बन्ध करते हुए कुम्भक द्वारा वायु को रोके । यही महाबेध कहा गया है। नित्य प्रति महाबेध के साथ महाबन्ध, मूलबन्ध करनेवाले योगी सब योगियोंमें श्रेष्ठ माने जाते हैं। उन्हें वृद्धावस्था नहीं घेरती और न मृत्यु का भय ही होता है। योग के साधकों को इसे गुप्त रखना चाहिए।

खेचरी मुद्रा :- जिह्वा और जिह्वा मूल को मिलाने वाली जो नाड़ी जिह्वा के नीचे है, उसको छेदकर जिह्वा के अग्रभाग का निरन्तर चालन करे तथा मक्खन लगाकर दोहन करता हुआ लोहे की चिमटी से खींचे। नित्य प्रति इसका अभ्यास करने से जिह्वा बढ़ जाती है। उसे इतना बढ़ा लेना चाहिए कि वह भौंहों के मध्य तक पहुँच सके। इसप्रकार क्रमश: तालुमूल में धीरे-धीरे प्रविष्ट करे। कपाल-रन्ध्र में जिह्वा को उपर की ओर उलटी करके ले जाना चाहिए। उस समय दोनों भौंहों के मध्य भाग में दृष्टि रखे। इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं।

विपरीतकरिणी मुद्रा :- नाभि-मूल में सूर्यनाड़ी और तालुमूल में चन्द्रनाड़ी है। सहस्रार में अमृतधारा का प्रवाह रहता है। सूर्यनाड़ी के अमृत के पीने से प्राणी की मृत्यु होती है, परन्तु चन्द्रनाड़ी का अमृतपान करने पर मृत्यु का भय नहीं रहता। अतएव सूर्यनाड़ी को उपर और चन्द्रनाड़ी को नीचे कर लें। यह विपरीतकारिणी मुद्रा सब प्रकार से गोपनीय है। शिर को भूमि में लगाकर दोनों हाथ टेके और दोनों पावों को उपर उठाकर कुम्भक

के द्वारा वायु को रोके, यही विपरीतकरिणी मुद्रा है। इसका नित्य अभ्यास करने से वृद्धावस्था और मृत्यु नष्ट होती है, और इसका अभ्यास करनेवाला सब लोकों में सिद्धिसम्पन्न एवं प्रलय में भी दु:खित नहीं होता।

योनिमुद्रा :- सिद्धासन लगाकर बैठे और दोनों हाथ के अँगूठों से कानों को, दोनों हाथों की तर्जनियों से नेत्रों को, मध्यमा से मुख को और अनामिका से नासिका को रोके। काकी मुद्रा द्वारा प्राण को खींचकर अपान से मिला दे और शरीरस्थ षट्चक्र का ध्यान करता हुआ "हूँ" अथवा "हंस" मंत्रों से कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर उसके साथ ही जीवात्मा को सहस्रार में ले जाय। उस समय यह एक भावना करनी चाहिए कि "मैं शिव के साथ शक्ति-सम्पन्न होकर सुखपूर्वक विहार कर रहा हूँ। शिवशक्ति के सङ्गम से ही मैं आनन्दमय स्वयंभू ब्रह्म हो गया हूँ। यह योनिमुद्रा है। इसके साधना से ब्रह्महत्या, भ्रूण हत्या, सुरापान, गुरुतल्पगमन आदि पापों से मुक्ति मिल जाती है। संसार के सभी महापाप, उपपाप आदि इस योनिमुद्रा के अभ्यास से मिट जाते हैं।

बज्रोली मुद्रा :- दोनों हाथों को दृढ़तापूर्वक धरती पर टेके और दोनों पाँव तथा शिर को आकाश में उठा दे। ज्ञानियों ने इसे शक्ति-संचार करनेवाली और जीवन प्राप्त करानेवाली बज्रोली मुद्रा कहा है। यह योगमुद्रा योगियों के लिए मुक्ति देनेवाली हितकारिणी; सिद्धिदायिनी तथा श्रेष्ठ है। इसके प्रसाद से विन्दु सिद्धि होने के कारण साधक उर्ध्वरेतस्तत्व में समर्थ होता है, और जबविन्दुपात पर विजय प्राप्त कर ली जाती है, तब पृथ्वी पर कौन सा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। यदि भोगी पुरुष भी इस मुद्रा का साधन करे तो उन्हें भी सभी सिद्धियाँ सिद्ध हो सकती हैं।

शक्तिचालिनी मुद्रा :- मूलाधार में जो कुण्डलिनी साढ़े तीन

आवृत्ति लगाये हुए सर्पिणी के रूप में सो रही है। उसके सोते रहने पर योगी पशु{अज्ञानी} की अवस्था में रहता है। इसलिए जब तक ज्ञान उत्पन्न न हो तब तक अभ्यास करते रहना चाहिए। जिस प्रकार कुंजी से ताला खोलने पर ही किवाड़ खुलता है, वैसे ही कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर ही ब्रह्मरन्ध्र खुल सकता है, नाभि को वस्त्र से लपेटकर एकान्त में इसका अभ्यास करे। नग्न रहकर बाहर इस मुद्रा का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

<u>ताड़ागी मुद्रा</u> :- पश्चिमोत्तान आसन लगाकर बैठे और उदर को तड़ाग के समान स्थित करे। यह मुद्रा जरा-मरण को नष्ट करनेवाली है।

<u>माण्डुकी मुद्रा</u> :- मुख को बन्द करके तालु में जिह्वा को घुमाना चाहिए और सहस्रार से टपकते हुए सुधा रस का धीरे-धीरे पान करना चाहिए, यह माण्डुकी मुद्रा कहलाती है। इसके अभ्यास से बली, पलित, रोग शरीर पर झुर्रियाँ पड़ना और बालों का श्वेत होना दूर हो जाता है तथा स्थायी यौवन की प्राप्ति होती है।

<u>शाम्भवी मुद्रा</u> :- दृष्टि को दोनों भौंहों में स्थिर कर एकाग्र मन से चिन्तन करता हुआ परमात्मा का दर्शन करे, यह शाम्भवी मुद्रा कहलाती है। इसे सब प्रकार से गोपनीय रखना चाहिए। वेदशास्त्र तथा पुराणों में शाम्भवी मुद्रा कुलवधू के समान छिपी हुई है।

<u>पञ्चधारण मुद्रा</u> :- इसके द्वारा साधक की गति मन के समान हो जाती है और खेचरत्व की प्राप्ति होती है। पञ्चधारण मुद्रा सिद्ध होने पर ऐसा कौन सा कार्य है जो कि सिद्ध न हो सके। इन पंचधारणाओं के सिद्ध होने पर मनुष्य शरीर से ही स्वर्ग में जाना-आना हो सकता है।

<u>पार्थिवीधारणा</u> :- पृथिवी तत्त्व का वर्ण हरेताल के समान बीज "लं"

चोकोर आकार और ब्रह्म देवता हैं। इसको योग बल से प्रकट कर हृदय में धारण करे तथा पाँच घड़ी पर्यन्त प्राण का निरोध {कुम्भक} करे। यह पार्थिवी मुद्रा अथवा अधोधारणा मुद्रा कहलाती है। इसका साधक मृत्युंजय और सिद्ध होकर पृथिवी पर विचरण करता है।

आम्भसीधारणा :- शंख, चन्द्र या कुन्द के समान शुभ्र वर्ण का जल होता है। इसका बीज वकार, देवता विष्णु हैं। योगबल से हृदय में इसे प्रकट करे और एकाग्र चित्त से पाँच घड़ी तक कुम्भक द्वारा प्राण को धारण करे। यह आम्भसी धारणा नामक मुद्रा है। इसके अभ्यास से दुःसह ताप और पाप नष्ट हो जाता है तथा जल-तत्त्व जय होता है।

आग्नेयीधारणा :- अग्नि नाभि में रहता है, इसका वर्ण इन्द्रगोप कीट के समान लाल है। इसका बीज रकार, आकृति त्रिकोण और देवता रुद्र हैं। यह अग्नितत्त्व में तेजपुंज युक्त दीप्तियुक्त और सिद्धिदायक है। इसे योग-बल से आविर्भूत कर एकाग्र चित्त से पाँच घड़ी कुम्भक द्वारा प्राणधारण करे। इसके अभ्यास से काल का भय नहीं रहता।

वायवीयधारणा :- वायु का वर्ण अंजन और धुएँ के समान काला है। इसका बीज यकार और देवता ईश्वर है। यह तत्त्व सत्त्वगुण वाला है। योगबल से इसका आविर्भाव होने पर एकाग्रचित्त से कुम्भक द्वारा पाँच घड़ी तक प्राणवायु को धारण करे । इसके सिद्ध होने पर साधक को आकाशगमन की शक्ति प्राप्त होती है और वायु से मृत्यु नहीं हो सकती । यह मुद्रा जरा-मृत्यु को नष्ट करती है।

आकाशी धारणा :- आकाश तत्त्व का वर्ण समुद्र के शुद्ध जल के समान है। इसके देवता सदाशिव और बीज हकार है। प्राणवायु को रोककर पाँच घड़ी तक कुम्भक करने से यह नभोधारणा मुद्रा सिद्ध होती है और यह मोक्ष-द्वार के

किवाड़ खोल देती है।

अश्विनी मुद्रा :- गुदा-द्वार का बार-बारसंकोच और प्रसार करे। यह अश्विनी मुद्रा कहलाती है। इससे कुण्डलिनी का जागरण होता है। यह मुद्रा गुह्यरोगों को नष्ट करनेवाली, शारीरिक शक्ति को बढ़ानेवाली, अकाल मृत्यु का हरण करनेवाली है।

पाशिनी मुद्रा :- दोनों पाँवों को कण्ठ के पीछे की ओर लेजाकर उन्हें परस्पर मिलाकर पाश के समान दृढ़ता से बाँध ले। यह शक्ति को जाग्रत करनेवाली पाशिनी मुद्रा है। यह बल को देनेवाली है।

काकीमुद्रा :- मुख को कौए की चोंच के समान करके उसके द्वारा शनैः शनैः वायुपान करे। यह मुद्रा सभी रोगों को नष्ट करनेवाली होती है।

मातंगिनी[1] मुद्रा :- जल में कण्ठपर्यन्त खड़े होकर नासिका से जल खींचकर मुख द्वार से बाहर निकालना चाहिए। फिर मुख के द्वारा जल खींच-कर नासिका द्वारा निकाले, इसका अभ्यास बार-बार करना चाहिए। परम मुद्रा है, इसके सिद्ध होने पर जरा-मरण का भय नहीं रहता तथा योगी हाथी के समान बलवान हो जाता है।

भुजंगिनी[2] मुद्रा :- इससे अजीर्णादि सभी उदर रोग नष्ट हो जाते हैं। मुख को सर्प के समान फैलाकर वायु का पान करना चाहिए।

---

1 स्कन्दपुराण, पूर्वार्द्ध, काशी खण्ड, चतुर्थ अ0 41/41-42,

2 वही, 41/44,

मुद्रा का महत्त्व :-

कुण्डलिनी जागरण की यह महत्वपूर्ण प्रक्रियाएँ मानव को बहुत ऊँचा उठा देती हैं। इनके फल के विषय में विभिन्न यौगिक ग्रन्थों तथा पुराणों में विशद विवेचन किया गया है। कुछ मुद्राओं के द्वारा तो मृत्यु पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है तथा इनके अभ्यास से नाना प्रकार के रोगों से भी छुटकारा मिल जाता है।

नहि पथ्यमपथ्यंवारसा: सर्वेऽपि नीरसा: ।
अपि घोरंविषंपीतंपीयूषमिव जीर्यति ।।
क्षयकुण्ठगुदावर्तगुल्माजीर्ण पुरोगमा:।
तस्य दोषा: क्षयं यांति महामुद्रां च योऽभ्यसेत्।।[1]

स्कन्दपुराण[2] में ही लिखा गया है कि जो खेचरी मुद्रा को जानता है, उसे शर लगने पर पीड़ा नहीं होती, कर्मों का फल भोगना नहीं पड़ता तथा वह काल के द्वारा भी बाँधा नहीं जा सकता। खेचरी मुद्रा के द्वारा मृत्यु पर भी विजय प्राप्त किया जा सकता है -

यावद्बिन्दु:स्थितोदेहे तावन्मृत्युभयंकुत: ।
यावद्बद्धानभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति।।[3]

इस अत्यन्त गोपनीय एवं देवदुर्लभ पटल को भक्तिहीन शठ को कभी न बतावें और प्रयत्नपूर्वक रक्षा करना चाहिए। यदि बताना हो तो किसी सरल, शान्त, गुरुभक्त अधिकारी पुरुष को ही यह भोग और मोक्षदायक मुद्रापटल

---

1 स्कन्दपुराण, पूर्वार्द्ध काशी खण्ड, चतुर्थ अ० 41/41-42,

2 वही, 41/44,

3 वही, 41/46,

बताना चाहिए। इस सर्वरोगनाशक पटल का नित्य अभ्यास करनेवाले साधक के लिए जठराग्नि प्रदीप्त करने वाला और जरा-मरण नाशक सिद्ध होगा। उसे अग्नि, जल, वायु आदि से किसी प्रकार का भय नहीं रहेगा। श्वास, प्लीहा, श्लेष्मा, आदि बीस प्रकार के रोग इन मुद्राओं के अभ्यास से अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं। इन मुद्राओं के समान सिद्धिदायक कोई अन्य साधन इस पृथ्वी मण्डल पर नहीं है।[1]

षट्कर्म :-

योगाभ्यास में षट्कर्म का विशेष महत्व होता है। षट्कर्मों के अभ्यास के द्वारा शरीर योगाभ्यास के योग्य हो जाता है। इनको करने से कफादि दोषों से छुटकारा मिल जाता है तथा प्राणायाम का अभ्यास करने में भी सरलता होती है। षट् क्रियाओं को करने से नाड़ीशोधन तो होता ही है, साथ ही साथ मानवशरीर विभिन्न विकारों से मुक्त हो जाता है। कुछ विचारकों का ऐसा मत है कि प्राणायाम के द्वारा ही नाड़ीशोधन का कार्य सम्पादित हो जाता है, इसलिए इस कार्य के सम्पादन के लिए शिवसंहिता तथा याज्ञवल्क्यादिकों के द्वारा प्रतिपादित धौत्यादि षट्कर्म सम्मत नहीं है। किन्तु उन विचारकों का मत उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि जिन पुरुषों को कफ, वात, पित्त की अधिकता से शरीर में स्थूलता (मोटापन) हो, उनको यह क्रिया करना परमावश्यक है और जिनका शरीर कृश (पतला) और वातादिक की अधिकता से युक्त न हो, उनको थोड़े समय तक षट्कर्म का अभ्यास करना चाहिए। षट्कर्मों के विषय में घेरण्डसंहिता में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। धौती, वस्ति, नेति, नौलिकी, त्राटक और कपाल भाति, ये छः कर्म योगी को अवश्य करना चाहिए:-

(1) धौति कर्म :- धौति कर्म चार प्रकार का होता है - अन्तर्धौति,

---

1 द्रष्टव्य - घेरण्ड संहिता, तृतीयोपदेश, 3/94-100.

पूरकान्ते कर्तव्यं पानं जालन्धराभिधम्।

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड़डियानक:।।

अथ आकुञ्चनेनैव कण्ठसङ्कोचने कृते।

मध्यपश्चिमतानेन प्राण: स्यान्मध्यनाभित:।।

अपानपूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधोनयेत।

योगी जराविमुक्त: सन षोडशाब्दवयोलभेत।।

भगवतगीतायाम्—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणे प्राणं तथापरे।

प्राणापान गति रुद्धवा प्राणायामपरायण:।।

उपरोक्तसंदर्भावलोकनेन सुस्पष्टो भवति यत् जैवजगति प्राणापानगत्यानुकुलं परिवर्तनं संभवति। तदवरुधे: गति: निराकुलो भूत्वा जीव: परमं पदमश्नुते तदैव शिव भावे भारतीय—वाङमये सुशोभते।

प्राणायामङ्गभूता मुद्रा—

प्राणसंधानस्य पूर्वं मुद्राया: ज्ञानमावश्यकम् वर्तते। तद्रहस्यं मुद्रायामेव

निहितोऽस्ति इति योगतन्त्रवाङ्गमये सर्वत्रैव ध्वनितो भवति। तन्त्रेषु मुद्राया: क्रियाशक्तिरूपत्वमुक्तम् **''मन्त्रो वै ज्ञानशक्तिश्च मुद्राचैव क्रियात्मिका''**[४०]। बाह्ययाभ्यन्तरभेदेन द्विविधा मुद्रा भवति। कररचनारूपा बाह्या:, आभ्यन्तरा तु बन्धरूपा। स्वच्छन्दतन्त्रे मुद्राणां त्रैविध्यमुक्तम् परञ्च तन्त्रालोके तु–करजा–कायिकी–विलापा–मानसी इति चतस्त्रो मुद्रा: कथिता। अत्र संस्थानविशेषानुसरणरूपा बन्धरूपा: मुद्रा: यत् हठयोग प्रदीपिकायाम् वर्णित: सन्ति तदैव प्राणसंधानाय उपयुक्ते सति उल्लेखयामि। यथा–

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।

उड्यान मूलबंधश्च बंधोजलंधराभिध:।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्ति चालनम्।

इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्।। ३/६०, ६१

अथ महामुद्रा–

पादमूलेन वामेन योनि संपीड्य दक्षिणम्।

प्रसारितं पदं कृत्वा धराभ्याम धारयेददृढ़म्।।

कण्ठे बंध समारोप्य धारयेत् वायुमूर्ध्वत:।

यथा दण्डहत: सर्पोदंडाकार: प्रजायते।। ह. प्र. ३/१०,११

अर्थात् वामपादमूलेन गुदलिङ्गयो: मध्यभागं संपीडय वा सम्यक् प्रकारेण संयोज्य दक्षिणपादं भूमौ प्रसार्य तर्जनीभ्यां पादांगुष्ठं दृढं धारयेत। जालंधरबंध चिबुकं कण्ठकुपे निधाय ऊर्ध्वत: वायुं धारयेत्। यथा शक्ति—कुम्भकानन्तरं शनै: शनै: रेचनं कुर्यात् एवं प्रकारेण वामाङ्गे सम्यग् अभ्यस्य दक्षपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य वामपादं भूमौ प्रसार्य तदङ्गुष्ठं गृहीत्वा पूर्ववदभ्यासं कुर्यादिति। महामुद्राभ्यासेन प्राणा: अवक्रा: भवन्ति। साधकस्य पाचन तन्त्र: प्रवलो भवति। पथ्यमपथ्यं वा कटु—अम्ल विषाक्तमपि जीर्यति।

एवञ्च हठप्रदीपिकायाम्—

क्षय कुष्ठगुदावर्त गुल्माजीर्ण पुरोगमा:।

तस्य दोषा: क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत।। ह. प्र ३/१७

अथ महाबन्ध: —

पार्ष्णिवामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत।

वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।।

पूरयित्वां ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढ़म्।

निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत।।

अर्थात् वामपादस्य पार्ष्णि गुदमेढ्रयोरन्तराले नियोज्य दक्षिणपादं वामजंघोपरि संस्थाप्य पूरकं विधातव्यम् **''हृदये चिबुकं दृढं निष्पीड्य''** जालन्धरबन्धं कृत्वा सप्रयत्नेन वायुमाकुंच्य ततो मनोनियोजयेत। यथा शक्ति कुम्भयित्वा शनैः शनैः रेचरं कर्तव्यम् एवं प्रकारेण वामाङ्गे समभ्यस्य पुनः दक्षांगेऽभ्यसेत्। एतदभ्यासेन सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिं निरुध्यते। **''त्रिवेणीसङ्गमंधत्ते केदारं प्रापयेन्मनः''**[४१] एतदभ्यासं विना योगिनः **''रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना''** ईव भवति। केचित तु कण्ठसंकोचस्यस्थाने राजदन्तोपरि जिह्वायाः स्थापनं उत्तमोत्तमं स्वीकुर्वन्ति।

अथमहावेधः –

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।

वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया।।

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताऽयेच्छनैः।

पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः।। ह. प्र ३/२६,२७

महाबंधमुद्रायामुपविश्य एकाग्रचिन्मानसे पूरकं कर्तव्यम्, जालंधरमुद्रया वायुगतिमावृत्य कुम्भकं कृत्वा शनैः शनैः उत्प्लावनं कर्तव्यम्। महाबेधाभ्यसतो प्राणः सुषुम्ना मध्ये संचरति। अभ्यासी कदापि

जरापिडितो न भवति। एतन्त्रयोबन्धा अति गुह्य अर्थात् सावधानपूर्वको विधातव्यम्। प्रथमे स्वल्पं एवञ्च दिने–दिने वृद्धिं कर्तव्यम्। अनेन साधको अणिमादि युक्तो भवति।

अथ खेचरीमुद्रा–

खेचरीमुद्रा एव अमृतबन्धनीव्योमचक्र–तिमिरहननी आदि रूपेण तन्त्रगन्थेषु निरूपितास्ति।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।

भ्रूवोरन्तरगता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। ह. प्र. ३/३२

आवेष्ठित जिह्वा कपालकुहरे प्रविश्य दृष्टिभ्रूमध्ये संस्थापनं एव खेचरी मुद्रायाः रहस्यम्। भारतीयवाङ्मये अमरत्वेच्छनसंदर्भे सोमपानस्य परिचर्या श्रूयते। आध्यात्मिकरीत्या एतदैवाभिप्रायः खेचरीमुद्रायाः वर्तते। **मूर्ध्निविवरसंरोधनेन मूर्धातः स्रावित प्रकिण्वशरीरे न प्रविशन्ति ते ऊर्ध्वे अर्थात् कपाले एवोपचितो भवति।** साम्प्रतम् **''अनुवांशिक कुट''**[४२] अध्ययनरतावैज्ञानिकाः जीनस्य प्रकिण्वसंरचना परिवर्तनेन कायिकसमस्यायाः समाधानं कुर्वन्ति। अत्रमनोविश्लेषणात्मकरीत्या सर्वसम्मतो अभिप्रायः यत् मानसिक वृत्या शारीरिक क्रियाकलापाः अनुशेरन्ते। अस्मत् सर्वाणि व्यवहाराणि परिष्कृतो भविष्यन्ति यदि मस्तिष्कस्रावं नियन्त्रितो भवेत

अर्थात् भय–ईर्ष्या–द्वेषादि वृत्तय: मानवान् न बाधिष्यन्ति यदि मूर्धास्रवित प्रकिण्व मूर्धापरिक्षेत्रे एवोपचितो भवेत। एतत्तु आंशिकप्रकार्याणि योगिन: तु स्वाधिष्ठानमक्षुणं कर्तुं ज्ञानजनकं एतन्मुद्राया: प्रयोगं कुर्वन्ति। तान्त्रिकग्रन्थेषु वा हठयोगेऽपि एतदाध्यात्मप्रसाद: विपुलो वर्तते।

''एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी'' ह. प्र. ३/५४

अथ उड्डीयानबन्ध: –

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यत:।

तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभि: समुदाहृत:।।

अर्थात् शरीराकाशे महाखग: प्राण: येन बन्धेन सुषुम्नायां संचरति तदुड्डीयानबन्ध:। तत्तु

उदरे पश्चिमं तान नाभेरुर्ध्वं च कारयेत्।

उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी।।

मृत्युमातंगकेसरी अर्थात् शरीरे सतत्प्रवाही प्राणशक्ति यदा विद्युदाकर्षपरिपथे संचरति तदा शरीरावयवानि विश्रामावस्थायां ऊर्जान्वितो भवति। द्रष्टाभावान्वितो वृत्तय: सापेक्षत्वं भजते एवं प्रकारेण प्रशिक्षित: ग्रन्थय: व्यष्टे: परिक्षेत्रं परिवर्धयन्ति। अत: सुकांक्षिनर: नाभेरधोभागं

पश्चाकर्षणं कृत्वा पृष्टसंलग्नं कुर्यात् एवं ऊर्ध्वमधोभागयोः तान रूपेऽवस्थाप्य उड्डीयानमुद्रा अवलम्वत।

अथमूलबन्धः –

मूलाधारो बन्ध्यते येन मुद्र्या तन्मूलबन्धः।

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।

अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।। ह. प्र. ३/६१

पाष्र्यां गुदमेढ्रयोमध्ये नियोजनेन एवञ्च गुदसंकोचनेन च अपानवायुः ऊर्ध्वं सुषुम्नायां संचरति। मानवशरीरे त्रिकोणे स्थित जठराग्नि प्रदीप्तो भवति। प्राणापानमेक्यं भूत्वा नादं वर्धयति। अर्थात् अनाहतमण्डलमुत्क्रमयति, नादविन्दुसंयुक्तो भवति। मनसि शिव भावं विराजते।

अथजालन्धरबन्धः –

शरीरे शिरायाः वा धमन्याः यत् व्यूहः सन्ति तदस्मिन् बन्धे नियन्त्रितो भवन्ति।

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम।

बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्यु विनाशकः।।

जालन्धरबन्धेन कपालकुहरस्य अमृतस्रावं प्रतिबन्धितो भवति। **''न पीयुषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति''**[४३]। कण्ठस्थाने स्थितं विशुद्धाख्यचक्रं षोडशचक्रेषु मध्यचक्रमाधार रूपेण निरूपितोऽस्ति। ग्रहयामले कथितमस्ति यत्—

अमृतं कुरुते देहं जालन्धरमतोऽभ्यसेत।

रूपलावण्य संयुक्तौ देहीनः सुदीर्धजीविभवेत।

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम्।

ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा।।[४४]

अथ विपरीतकरणीमुद्रा—

दिव्यमुत्कृष्टस्वरूपाकांक्षिणः सदैव विपरीतकरणीमुद्रायाः अभ्यासेन ओजस्वीनः भवन्ति मुद्रायाः संदर्भे गोरक्षादिहठयोगिनां सम्प्रत्ययानि तु एवमस्ति यथा—

नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः।

अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमा।।

वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः।

करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते।।[४५]

सुदीर्घप्रयासेन दिव्याकांक्षिणः ऋषयः अन्वेषितः यत् पिण्डः प्रकर्षितसूर्यातपेन जरायुतो भवति।

तमपवारयितुम् ते निदानरूपेण विपरीतकरणीमुद्रां निरूपयन्ति।

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरुर्ध्वं भानुरधः शशी।

करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते।।

शीर्षासनरूपेण पूर्वं वर्णितमधः शिरश्चोर्ध्व पादौ येन शारीरिक प्रवाहो विपरीतो भवति। अतएव प्रथमे दिने क्षणमात्रं कारयेत एवञ्च दिने–दिने किञ्चिदधिकमभ्यसेत्। अनेन जठराग्नि विवर्धते। अतएव सन्तुलिताहारं पर्याप्त–रूपेण भक्षनीयम्। अन्यथा अतिचयोपचयात् शरीरक्षीणो भविष्यति। मुद्रायाः परिणाम संदर्भे उक्तमस्ति। यत्

वलितं पलितं चैव षण्मासाद्धि विनाशयेत्।

मासमात्रं तु यो नित्यमभ्यसेच्च स चार्कजित।।[४६] मुद्रासाधनम्– १५३

अथवज्रोलीमुद्रा–

वज्रोली–अमरोली–सहजोली मुद्राविशेष: कुत्रचित वज्राणी–अमरोणी–सयोनिश्च नाम्ना निरूपितासन्ति। एतन्मुद्रया अधोभागे गतं विन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाकृष्यते। शक्त्याकर्षणी एषामुद्रा प्रभावेन अभ्यासिन: शक्तिपातमवरुध्येत। ग्रहयामले यथा–

एवन्तु रक्षयन विन्दुं मृत्युं जयति योगवान।

मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दु धारणात्।। मुद्रासाधनम्– १६८

मोक्षस्य सहचरी माययासर्वप्राणिन: विमोह्यन्ते। अज्ञानात् ते स्वरूपमभिज्ञातुम् असमर्था: भवन्ति। एवञ्च प्रतिक्षणमधोक्षरन्ति तानपवारयितुं वज्रोली मुद्रा कापालिके मते प्रशस्तोऽस्ति।

नारीभगे पतद्विन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत।

चलितं च निजं विन्दुमुर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत।।

गुदमेढ़योराकुञ्चनप्रविध्या स्खलितं विन्दुं स्व स्थाने आकर्षणाभ्यासेन वज्रोली मुद्रा सिद्धि भवति।

मेहनेन शनै: सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत्।

पुरुषोऽप्यथवानारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात्।। ह. प्र. ३५

एतदभ्यासेन वीर्यवान मानवा: अलौकिक सम्पत्या अन्वितो भवन्ति। तच्छारीरिक व्यापार: अक्षुणो भवति। ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे गुरुत्वाकर्षणं भवति। देशकालसीमापि अतिक्राम्यते।

सुगन्धो योगिनो देहे जायते विन्दुधारणात्।

यावद्विन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः।।

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायतं च जीवितम्।

तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः।।

भोगेऽपि योगस्य सुसिद्धि: हेतो यतिवरान्वेषितो एषामुद्रा पुण्यवति, तत्त्वदर्शिन: रीत्याविशेषेण सहजोल्यमरोली इति कथयन्ति। गुरुकृपया विषयविचित्राकांक्षिणां सुसिद्धि: भवति। यथा—

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः।

अयं पुण्यकरो योगो भोगे मुक्तेऽपि मुक्तिदः।।[८७]

अथशक्तिचालनम्—

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी।

कुंडल्यरुन्धती चैते शब्दा: पर्यायवाचका:।।

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।

मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।।

मूलाधारे सा भगवती विराजते। यदा सा प्रबुध्य शिरोमण्डले सहस्रदलपङ्कजे सम्बन्धं सम्पादयति तदा साधको योगिराड भूत्वा परम् ज्ञानानन्दे निमग्नो भवति। कथं विचित्र–काय–व्यूहे एषा प्रविधि: अस्थि–मांस–मज्जा–निर्मिते जैवपिण्डेऽऽलोकाधानं करोति मेढ्रनाभयोरमध्ये कन्दस्थानम् यथा गोरक्षशतके–

ऊर्ध्व मेढ्रादधोनाभे: कंदयोनि: खगाण्डवत्।

तत्र नाडय: समुत्पन्ना: सहस्त्राणां द्विसप्तति:।।

याज्ञवल्क्य: –

गुदातु: द्वयंगुलादूर्ध्वं मेढ्रातु द्वयंगुलादध:।

देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानामितीरितम्।।

कन्दस्थानमनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम्।

चतुरंगुलविस्तारमायानं च तथाविधम्।।

अण्डाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभि:।[४८]

कन्दं विक्षोभमानेन सा कुण्डली शक्ति प्रबुद्धा भवति। हठयोगिना हठात् ताम् प्रवोद्धितुं यत् प्रक्रिया आश्रयते तत्—बज्रासने समुपविश्य हस्ताभ्यां चरणौ दृढम् धृत्वा कन्दं प्रपीडयेत्। तदनन्तरं भस्त्राख्यम् कुम्भकं कुर्यात्। घेरण्डसंहितासम्मत: तु साधक: सिद्धासने समुपविश्य नासाभ्यां प्राणमाकृष्य बलात् अपाने योजयेत् तदा गुह्यमाकुञ्चनेन शक्ति सुषुम्नायां परिसंचरति।

गोरक्षमतानुसारेण तु—

साधक: पद्मासने समुपविश्य जालंधरबन्धं निधाय बारं—वारं पूरकं कृत्वा अपानं विक्षोभयेदिति। विक्षोभिते चक्रे कुण्डिलिन्या सह नादतत्त्वं प्रथममुत्पन्नं भवति। इदमेव शिवाश्रयत्वेन शिवतत्त्वमुच्यते। ततो विन्दुतत्त्वमुत्पन्नं भवति।[४९]

मानवशरीरोपरि प्राणायामस्य प्रभाव: —

प्राणायामस्य संदर्भे आध्यात्मिक वा शारीरिक दृष्टया पर्यालोचनेन कथितुम् शक्यते यत् प्राण: सा सुसुक्ष्मशक्ति, यस्या विलसनम् जैविक परिक्षेत्रे चेतनत्वं सम्पादयति। शारीरिकक्रियावत्वं मनसा नियन्त्रितो भवति। सम्पूर्णशरीरे सुक्ष्मनाडी परिपथानि तत्र सुषुम्ना प्रधानानाडी यस्या मुकुलं शीर्षस्थानं एवञ्च पुच्छास्थ्यां तत्पुच्छिका। यदा चेतनाया: प्रवाह: तत:

दुग्धाहारोऽत्र विशेषतः समनुज्यते । यो योगी ब्रह्मचर्यं पालयन् मिताहारं कुर्वन् योगसाधनं कुरुते; सः इहैकस्मिन् वर्षे सिद्धिं प्राप्तुं शक्यते । तत्र संदेह-लेशोऽपि नास्ति मिताहारिणः स्वरूपमेतदस्ति । यत् सः स्निग्धं, मधुरं च भुंजीत । स्वोदरस्य चतुर्थांशः रिक्तः स्यात् । ईश्वरं ध्यात्वा च भोजनं कुर्यात् । स एव मिताहारी प्रोच्यते । कमलस्योर्ध्वभागे या द्व्यष्टकुण्डलो-पेता कुण्डलिनीशक्तिर्वर्तते, सा मूढानाकृते बन्धनस्वरूपा वर्तते । योगिनस्तु सा सर्वदैव मोक्षप्रदायिनी भवति । यो योगी महामुद्रानभोमुद्राउड्डियान-बन्धजालन्धरबन्धमूलबन्धं सम्यग्वेत्ति स खलु मुक्तिभाजनम्भवति ।[1]

योगचूडामण्युपनिषदि षट्चत्वारिंशत्तममन्त्रतः समारभ्य पंचाशत्तमं[2] मन्त्रं यावन्मूलबन्धजालन्धरबन्धयोः वर्णनं वर्तते; तद्वेत्थम्:-

पार्ष्णिना योनिस्थानं सुदृढतया संकोच्यापानवायुमूर्ध्वमाकर्षयेत् स्थितिरियं मूलबन्धनाम्ना व्यवह्रियते । एतेन प्राणापानावेकतामृच्छतः मलमूत्रयोश्च ह्रासः सम्पद्यते । यः पुमान् सर्वदैव मूलबन्धमभ्यसते सः वृद्धावस्थाया-मपि युवा भवति । यथा महापक्षी विश्रान्तये उड्डयनाकृते तथैवात्रोड्डियाना-भ्यासः मृत्युहस्तिने सिंहमिव भवति । उदरतः नाभेरधस्तात् समाकर्षणं

---

1. अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा ।
   कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥41॥
   ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ।
   अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥42॥
   सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।
   भुंजते शिव संप्रीत्या मिताहारी स उच्यते ॥43॥
   कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
   बन्धनाय मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा ॥44॥
   महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जालन्धरम् ।
   मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम् ॥45॥

   ।योगचूडामण्युपनिषद् मन्त्र 41–45।

2. पार्ष्णिघातेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्दृढम् ।
   अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥46॥

पश्चिमतानमप्युच्यते । उड्डियानबन्धोऽप्युदरे भवति; तत्रैव पश्चिमोत्तानं विधीयते । शीर्षः सहस्रारान्तं गततत्त्वं शिरस्थे स्थिरी-कुरुते ।
एतावता: जालन्धरबन्धो सर्वविध दुःखविनाशको भवति ।

योगचूडामण्युपनिषदोक्तपंचाशत्तममन्त्रतः समारभ्य षष्टितमं[1] मन्त्रं यावज्जालन्धरबन्धपूर्वकं खेचरीमुद्रा प्रतिपादिताऽस्ति सा चेत्थम्:-

जालन्धरबन्धकरणे यत् कण्ठसंकोचनं विधीयते । तस्मादमृतं वह्नौ नैव पतति वायुश्च नैव धावति । रसना परावृत्य कपालकुहरे नासिकामूलदेशे भ्रुवोर्मध्ये स्थिरीकुर्यात् तर्हि खेचरीमुद्रा सम्पद्यते । एतस्याः साधकेन रोगाः विनश्यन्ति क्षुत्पिपासे नैव बाधेते, मृत्युर्न भवति खेचरी-मुद्रां जानन् योगी न कदाचिदपि मूर्च्छति न कर्मभिर्न लिप्तो भवति न च

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥47॥
ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
ओड्डियाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥48॥
उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते ।
ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥49॥
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥50॥
।योगचूडामण्युपनिषद् मन्त्र 46-50।

1. जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठदुःखौघनाशने ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥51॥
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥52॥

दशोत्तरशततममन्त्रतः समारभ्य योगचूडामण्युपनिषदि द्वादशोत्तरशततमं मन्त्रं [1] यावत् प्रत्याहारः, धारणा, ध्यानम् समाधिश्चेति निर्दिष्टाः सन्ति । लिखितमस्ति यत्:-

धारणया मनसि धैर्यमायाति । समाधिना चाद्भुतं चैतन्यं प्राप्यते । इत्थं शुभाशुभ कर्मणा पाशतोमोक्षं प्राप्नोति । प्राणायामस्य द्वादश-वारं यावत् अभ्यसनेन प्रत्याहारः सम्पद्यते । द्वादश प्रत्याहारं यावत् अभ्यसनेन च शुभाधारणा समुत्पद्यते । द्वादश धारणाभिः ध्यानं निष्पद्यते । द्वादश-ध्यानैश्च समाधिः सम्पद्यते । इत्थमिह सुसंक्षिप्तरूपेण प्रत्याहार धारणाध्यानसमाधयः प्रतिपादिताः सन्तीति शम् ।

योगकुण्डल्युपनिषदि प्रथममन्त्रतः समारभ्याष्टादशं मन्त्रं [2] यावत् क्रमशः शक्तिचालनं निर्दिष्टमस्ति । तदित्थम्:-

चित्तस्यास्थिरतायाः द्वौ हेतू वर्तेते । प्रथमो हेतुः वासनोन्मुखतात्मको वर्तते । द्वितीयोहेतुश्च प्राणस्पन्दात्मको विद्यते । एतयोरेकस्य विनाशे संकृते द्वितीयोऽपि स्वयमेव विनश्यति । अतएवोपनिषदि निर्दिश्यति यदिह साधकः

---

1. आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
 विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुंचति ॥110॥
 धारणाभिर्मनोधैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम् ।
 समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वाकर्मशुभाशुभम् ॥111॥
 प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
 प्रत्याहार द्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥112॥
 ।योगचूडामण्युपनिषद् मन्त्र ।10-112।

2. हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः ।
 तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः ॥1॥
 तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा ।
 मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः ॥2॥
 एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम् ।
 सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ॥3॥

सर्वप्रथम ~~सर्वप्रथमं~~ प्राणवायुं जयेत्; तदर्थं च मिताहारं विदध्यात्; आसनानि साधयेत्, शक्तिचालनंचापि कुर्यात् । स्निग्धाः मधुराश्च पदार्थाः स्वाहारे गृहीतव्याः । उदरस्य चतुर्थांशं रिक्तं रक्षेत् । एतादृशोवृत्तिरेवात्र शास्त्रे मिताहारत्वेन व्यवह्रियते आसनेषु पद्मासनं वज्रासनंचत्युभेऽपि प्रधानत्वे वर्तेते । उभयोरूर्वोर्ध्वस्थापनेन पादतलयोः करणेन-पद्मासनं सम्पद्यते । पद्मासनमिदं सर्वथा सर्वपापविनाशकं प्रोच्यते । वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने निदध्यात् दक्षिणपादपार्ष्णिं च तदुपरि विन्यसेत्, ग्रीवां शिरश्चेति सर्वथा ऋजु रक्षेत् इत्थमिदं वज्रासनं सम्पद्यते । कुण्डलिन्येव मुख्यशक्तिर्वर्तते । शनैः साधकः तां चालयित्वा मुक्तये यतेत्; इत्थमाचरणेन अस्य शक्तिचालनं सम्पद्यते । कुण्डलिन्याः चालनस्य द्वे साधने वर्तेते । सरस्वत्याः चालनं प्राणनिरोधश्चेति । अभ्यासेन समावृता कुण्डलिनी ऋजुः सम्पद्यते । प्राचीनाः सरस्वतीं, अरुन्धतीति नाम्ना व्यवहरन्ति । अस्याः सरस्वत्याः नाड्याः चालनेन कुण्डलिनी स्वयमेव चलति । एतदर्थं श्वासः

भुज्यते शिव संप्रीत्यै मिताहारः स प्रोच्यते ।
आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा ॥4॥

ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वं पापप्रणाशनम् ॥5॥

वामाङ्घ्रिमूलं कन्दाधः अन्यं तदुपरि क्षिपेत्।
समग्रीवशिरः कायो वज्रासनमितीरितम् ॥6॥

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्बुधः ।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते ॥7॥

तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम् ।
प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत् ॥8॥

तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते ।
अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती ॥9॥

यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली ।
इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम् ॥10॥

द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च अम्बरं चतुरङ्गुलम् ।
विस्तीर्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः ॥11॥

अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ।
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनः पुनः ॥12॥

यदा वामनाड्या प्रवहति तदा पद्मासनं साधयेत् । तदानीं द्वादशाङ्गुलदाय-लम्बमानं, चतुरङ्गुलं यावदायतमाकाशमण्डलमस्ति, तेन कुण्डलिनीं वेष्टयेत्; तदानीं नासिकापुटद्वयीं वामदक्षिणेन तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यां दार्ढ्येन गृह्णीयात् । तदनन्तरं भूयोभूयः रेचकपूरकौ कुर्यात् । सहैव नाभिकमावलया वामदक्षिणयोः पार्श्वयोः भूयोभूयः चालयेत् । इत्थं मुहूर्तद्वयीं यावत् सरस्वतीं चालयेत्; तदनन्तरं सुषुम्नानाडीं किंचिदूर्ध्वमाकर्षयेत् । सा नाडी कुण्डलिन्याःसमीप एव वर्तते । इत्थमभ्यसनेन कुण्डलिनी निद्रपिता नाडी सुषुम्नायाः मुखमारोहति । उदरमूर्ध्वमाकृष्य कण्ठं संकोच्य सरस्वत्याश्चालनेन वायुः, वक्षस्थलादूर्ध्वं गच्छति । यदा सरस्वतीं चालयति तदानीमेव सूर्यनाड्या वायुं रेचयेत्, कण्ठंच संकोचयेदिति कृतेसतिवायुः स्वयमेव वक्षःस्थलतः ह्यूर्ध्वं गच्छति । इत्थं शब्दगर्भां सरस्वतीं निरन्तरेण चालयेत् । सरस्वत्याः चालनेन योगी सर्वविधेभ्योरोगेभ्योमुक्तो भवति । गुल्मजलोदर-प्लीहा-प्रभृतयः सर्वेऽप्युदररोगाः शक्तिचालनेन सर्वथा सुनिश्चितरूपेण विनश्यन्तीति निश्चयम् ।

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः ।
ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्नां कुण्डलीगता ॥3॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत् ।
जहाति तस्मात्प्राणो यं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥4॥
तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठसंकोचने कृते ।
सरस्वत्याश्चालनेन वक्षः स्यादूर्ध्वगो मरुत् ॥5॥
सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने ।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षः स्यादूर्ध्वगो ॥6॥
तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भां सरस्वतीम् ।
यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥7॥
गुल्मं जलोदरप्लीहो ये चान्ये तुन्दमध्यगाः ।
सर्वे ते शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम् ॥8॥

।योगकुण्डल्युपनिषद् मन्त्र 1-8।

योगकुण्डल्युपनिषदि द्विचत्वारिंशत्तममन्त्रतः समारभ्य षट्चत्वारिंशत्तमं[1] मन्त्रं यावन्मूलबन्धः प्रतिपादितोऽस्ति । स चेत्थम्:-

अधोगतिमन्तमपानवायुं शक्तिपूर्वकं गुदायाः समाकुंचनेनोर्ध्वनयनेन च मूलबन्धः सम्पद्यते । अपानवायुरूर्ध्वं गत्वा वह्निमण्डलेन संयुक्तो भवति । तदा तत्प्रभावतो ज्वलनशीलता सम्यक्रूपेणवर्धते तज्जन्यतापया संतप्तीभूय प्रसुप्ताकुण्डलिनी जागर्ति । तदानीं सा दण्डहतः सर्पिणीमिव स्वदेहं निश्वसन्ती ऋजुर्जायते । तदानीं यथा सर्पिणी ऋजु भूत्वा बिले प्रविशति; तथैव कुण्डलिनी चापि ऋजु भूत्वा सुषुम्नायां प्रविशति । अतएव योगिनाङ्कृते मूलबन्धस्य परमम्महत्त्वम्वर्तते । अस्याभ्यासश्च तैः सर्वदैव कर्तव्यः ।

योगकुण्डल्युपनिषदि सप्तचत्वारिंशत्तममन्त्रतः समारभ्य पंचाशत्तमं मन्त्रं[2] यावदुड्डियानबन्धः प्रतिपादितोऽस्ति । तद्यथा:-

कुम्भकान्तरं रेचकात्प्रागुड्डियानबन्धो विधेयः । येन प्राणवायुः सुषुम्नायामुड्डीयते तस्माद्धेतोरिदं योगिभिर्बन्धमेनं उड्डियानबन्धमेव

---

1. अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
   आकुंचनेन तं प्राहु मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥42॥
   अपाने चोर्ध्वगे याते सम्प्राप्ते वह्निमण्डले ।
   ततो नलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥43॥
   ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
   तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा ॥44॥
   तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते ।
   दण्डाहतभुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥45॥
   बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
   तस्मान्नित्यं मूलबन्धो कर्तव्यो योगिभि सदा ॥46॥
   ।योगकुण्डल्युपनिषद् अ० । मन्त्र 42-46।
2. कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ।
   बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डियते यतः ॥47॥

व्यवहरन्ति । एतदर्थं वज्रासने समुपविश्य पादौ हस्ताभ्यां दृढादृढं गृहीत्वा यत्र गुल्फं निधीयते, तत्र कन्दस्थानं प्रपीडितव्यमुदरं चोर्ध्वमा-कर्षितव्यम् । हृदयं ग्रीवायामपि शनैः कर्षयेत् । अनेन विधिना प्राणाः क्रमशोऽत्र स्वोदरसंधिषु प्रविशन्ति । उदरस्थान् सर्वान् दोषांश्च दूरी-कुर्वन्ति । अतएवोड्डियाणबन्धाभ्यास सदैव सर्वथा कर्तव्यो भवतीति शम् ।

योगकुण्डल्युपनिषदि प्रथमाध्याये ह्येकपंचाशत्तममन्त्रतः समारभ्य सार्धद्विपंचाशत्तमं मन्त्रं यावज्जालन्धरबन्धः प्रतिपादितोऽस्ति । सार्धद्विपंचा-शत्तममन्त्रतः समारभ्य पंचपंचाशत्तमं मन्त्रं [1] यावच्च पूर्वोक्तस्य कुम्भकचतुष्ट-यस्य समाचरणविधिः बन्धत्रयस्य चास्यावश्यकता प्रतिपादिताऽस्ति । तत्सर्वमित्थम्:-

जालन्धरबन्धे वायुनिरोधाय कण्ठसंकोचनं विधीयते । बन्धोऽयं पूरकप्राणायामानन्तरं कर्तव्यो भवति । अधोवायुः मूलबन्धेन गुदामाकुंच्येद्-र्ध्वतश्च जालन्धरबन्धेन कण्ठं संकोचयेत् । मध्ये च पश्चिमोत्तानेनोड्डियाणबन्धेन प्राणानाकर्षयेत् । इत्थं सर्वतः समवरुद्धः प्राणवायुःसुषुम्नायामारोहति ।

तस्मादुड्डियाणाख्यो यं योगिभिः समुदाहृतः ।
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥48॥
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।
पश्चिमतानमुदरे धारयेद्धृदये गले ॥49॥
शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसंधिं निगच्छति ।
तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः ॥50॥

।योगकुण्डल्युपनिषद् अ० । मन्त्र 47-50।

1. पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ॥51॥
अधस्तात्कुंचनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥52॥

पूर्वनिर्देशानुसारं सम्यक्प्रकारेण पद्मासने समुपविश्य सरस्वतीं चालयेत्, प्राणोच्चनिरोधयेत् । प्रथमेदिवसे चत्वारोऽपि कुम्भकप्राणायामाः प्रत्येकशः दशवारं समभ्यसेत् । द्वितीयेऽह्नि प्रत्येकशः तान् कुम्भकान् पंचदशवारं विदध्यात् । तृतीयेऽह्नि प्रत्येकशः विंशतिवारमभ्यसेत् इत्थमेव प्रतिदिनं प्रत्येकशः पंचसंख्यापरिवृद्धिपूर्वकं कुम्भकचतुष्टयी समभ्यस्तव्या । एतेन सहैव मूलबन्धः, उड्डियानबन्धः जालन्धरबन्धश्चेति बन्धत्रयी नियमेनापि समभ्यसेत् ।

योगकुण्डल्युपनिषदि षट्पंचाशत्तममन्त्रतः समारभ्याष्टपंचाशत्तमं मन्त्रं[1] यावद् योगविघ्नाः प्रतिपादिताः सन्तीति निर्दिश्यते ।

दिवास्वापः, रात्रौजागरणम्, अतिमैथुनं, बहुविकल्पेन गमनागमने, मलमूत्रयोः, प्रायशः सदैव निरोधनम् आसनवैषम्यप्रभृतयः दोषाः शीघ्रमेव रोगानुत्पादयन्ति । योगाभ्यासिनस्तदैतः प्राणेनतैव विचारणीयं, यद् रोगास्तावद् योगाभ्यासं त्यागेनैव प्रादुर्भवन्तीति सहसा कदाचिदपि योगाभ्यासो नैव त्याज्यः । अतोऽत्र योगाभ्यासं समारभ्य तत्परित्यागः प्रथमो विघ्नो

पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः ।
चालनं तु सरस्वत्याः कृत्वा प्राणं निरोधयेत् ॥53॥
प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम् ।
प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा ॥54॥
विंशत्यलं तृतीयेऽह्नि पंचवृद्ध्या दिने-दिने ।
कर्तव्यः कुम्भको नित्यः बन्धत्रयसमन्वितः ॥55॥

।योगकुण्डल्युपनिषद् अ० । मन्त्र 51-55।

1. दिवासुप्तिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात् ।
बहुसंक्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः ॥56॥
विषमाशनदोषाच्च प्रयासप्राणचिन्तनात्
शीघ्रमुत्पद्यते रोगः स्तम्भयेद्विसंयमी ॥57॥
योगाभ्यासेन मे रोगः उत्पन्न इति कथ्यते ।
ततोऽभ्यासं त्यजेदेवं प्रथमं विघ्नमुच्यते ॥58॥

भवति । द्वितीयोविघ्नश्च योगाभ्यास-दारम्भादेव ये रोगाः प्रादुर्भूताभवन्ति संशयः सम्पद्यते । प्रमादस्तृतीयो विघ्नो भवति, आलस्यं चतुर्थो विघ्नः सकृत्निकरूपेण निद्राख्यं पंचमो विघ्नः । योगेन्द्रि-विषयानुरागा भावाविरता विरतिः षष्ठो विघ्नः सम्पद्यते ।[1] [2] अनाख्य-मिति नवमो विघ्नः, योगतत्त्वस्यानुपलब्धिश्च दशमो विघ्नो भवतीति बुद्धिमता साधकेन बुद्धिपूर्वं सर्वेऽप्येते विघ्नाः त्यक्तव्याः । सर्वविघ्नत्याग-पूर्वकं योगाभ्यासो विधेयः । तदैव योगसिद्धि समधिगन्तुं शक्नोति सः ।

[1] भ्रान्त्युत्पत्तिः सप्तमो विघ्नोभवति। शब्दस्पर्श-
[2] रूपरसगन्धात्मको विषयोऽष्टमो विघ्नः।

योगकुण्डल्युपनिषदि प्राणापानयोः समारम्भैकौशलं वर्णितं यत्र[1] मूलबन्धपूर्वकमभ्यासस्तत्र प्रतिपादितमस्ति । तद्यथाः-

प्राणायामाभ्यासः सततमभ्यासद्वारा विधिनियमपूर्वकेण कर्तव्यः एवं प्राणायामाभ्यासेन चित्तं सुषुम्नायां लयमेति प्राणवायुश्च तत्र संचरेत् । यदा मनोलयो जायते प्राणवायुश्च तदा सम्यक्पूरककुम्भकाभ्यासात्सुदृढतमो विधेयः । तदर्थं गुदायाः समाकुंचनं विधीयते क्रियेयं मूलबन्धत्वेन व्यवह्रियते । अपानवायुरूर्ध्वं गत्वाऽग्निना सह संयुज्य ततोऽप्यूर्ध्वं गच्छति । यदा चायमग्निः प्राणस्थाने

द्वितीयं संशयाख्यं च तृतीयं च प्रमत्तता ।
आलस्याख्यं चतुर्थं च निद्राख्यं तु पंचमम् ॥59॥
षष्ठं तु विरतिर्भ्रान्तिः सप्तमं परिकीर्तितम् ।
विषयं चाष्टमं चैव अनाख्यं नवमं स्मृतम् ॥60॥
अलब्धिर्योग तत्त्वस्य दशमं प्रोच्यते बुधैः ।
इत्येतद्विघ्नदशकं विचारेण त्यजेद्बुधः ॥61॥

॥योगकुण्डल्युपनिषद् अ० । मन्त्र 56-61॥

1. प्राणाभ्यासस्ततः कार्यो नित्यं सत्त्वस्थया धिया ।
सुषुम्ना लीयते चित्तं न च वायुः प्रधावति ॥62॥
शुष्के मले तु योगी च स्याद्गतिश्चालिता ततः ॥
अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥63॥
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ।
अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति ॥64॥

प्राणवायुना सह मिश्रितो भवति, तदा सोमावपि कुण्डलिनी प्राप्नुतः । तदुष्णया प्रतप्ता वायुना चालिता च कुण्डलिनी प्रबुद्धा सुषुम्नायाश्च मुखे प्रविशति । रजोगुणसमुत्पन्नं ब्रह्मग्रन्थिं भित्त्वेयं कुण्डलिनीशक्तिः सुषुम्नायां विद्युल्लेखा इव शीघ्रमारोहति । शीघ्रमेव च हृदयेस्थितां विष्णुग्रन्थिं प्राप्नोति । तदनन्तरं तदूर्ध्वभागस्थं प्राप्नोति तत्र च तत्रैव रुद्रग्रन्थिमपि गच्छति । इतः परमियं कुण्डलिनीशक्तिः भ्रूमध्यं भेदयतीति चन्द्रस्थानं प्राप्नोति । तत्रैव चन्द्रस्थाने षोडशदलमनाहतचक्रं विद्यते ।

योगकुण्डल्युपनिषदि प्रथमाध्याये सप्तषष्टितममन्त्रतः समारभ्याष्टा-शीतितमंमन्त्रं यावत् कुण्डलिन्या शक्तेः प्रभावस्य वर्णनं वर्तते । तथाहि:-

अत्रेयं वह्निमतः समुत्पन्नं द्रव्यं शोषयते सूर्यश्च प्राणवायोः वेगेन रक्तं पित्तं च गृह्णाति । द्रुतं चन्द्रमण्डले गत्वा तत्रस्थं शुक्लधातुं शोषयते । तच्चन्द्रमण्डलसंयोगेनशीतलीकुरुते । इत्थंचन्द्रमसः शुक्लस्वरूपं प्रतप्तीकुरुते रक्तं च गृह्णाति

प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम् ।
मिलित्वा कुण्डलीं याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः ॥65॥
तेनाग्निना च संतप्ता पवनेनैव चालिता ।
प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्नां वदनान्तरे ॥66॥
ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम् ।
सुषुम्ना वदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत् ॥67॥
विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता ।
ऊर्ध्वं गच्छति यच्चास्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम् ॥68॥
भ्रुवोर्मध्यं तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम् ।
अनाहताख्यं यच्चक्रं दलैः षोडशभिर्युतम् ॥69॥

।योगकुण्डल्युपनिषद् अ0 । मन्त्र 62-69।

समूर्ध्वरोहते । एतस्याः प्रभावतः वर्धितं पूर्वं बाह्यपदार्थेषु संलग्नमभवति तद्वर्धितं परमार्थसंलग्नमात्मानन्दस्योपभोगं कुरुते । इत्थं कुण्डलिन्यष्टविधां-प्रकृतिमतिक्रम्य शिवेन सह मिलति, तेनैव सह सर्वदात्म्यमधिगच्छति । एतस्याऽधो: भागस्य रजः समूर्ध्वभागस्य शुक्लस्य मिलित्वा शिवेलयमधिगच्छतः प्राणापानौ वापि तत्रैव लीयेते । यतः तौः समानरूपेण समुत्पद्येते भौतिकशरीरं हृदयं भवेत्सुखदा परं तस्मिन्ननुपमता सुखमधिक रूपेण भवत्येव । तदा सोऽनुपमता तत्र सम्पूर्णे शरीरे तथा प्रसरति; यथाऽऽलोकमाणमधिगत्य सुवर्णं प्रसरति । एतस्याः प्रभावतो ह्याधिभौतिकं शरीरमाधिदैविकं सम्पद्यते सुनिर्मलं यत् सूक्ष्मशरीरमिव जायते । सञ्जातं चिन्मय विमलं चित्स्वरूपं सम्पद्यते यच्चिदानन्दात्मकं शरीरादपि जडतायुक्तान्येव भवन्ति । एतादृशः साधकः सर्वतासमयतः कालत्रयतश्च सर्वदा

---

1. तत्र शीतांशुसंजातं द्रवं शोषयति स्वयम् ।
 वसिते प्राणयोगेन रक्तं पित्तं रविग्रहात् ॥70॥
 यातेऽनूर्ध्वं यत्रास्ते शुक्लेऽमृतात्मकम् ।
 तत्र मिश्रं प्रशस्तरूपं रूपं शीतस्वभावकम् ॥71॥
 तत्रैव रसता शुक्लं चन्द्ररूपं हि लभ्यते ।
 ऊर्ध्वं प्रवहति सुधया तदैवं स्रवतेतराम् ॥72॥
 तस्यास्वादवशाद्वर्धितं वशिष्टं विषयेषु यत् ।
 तदेव परम सुखदा स्वस्वस्यात्मरतोद्भवा ॥73॥
 प्रकृत्यष्टरूपं च त्यागं गच्छति कुण्डली ।
 क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते ॥74॥
 इत्यधोर्ध्वरजः शुक्ले शिवे तदनु मारुतः ।
 प्राणापानौ समौ याति सह जातौ तथैव च ॥75॥
 भूते लये च मनो लये वा साधके त्वतिवर्धते ।
 सावयव्यखिला जाता अग्निभूता हिरण्यवत् ॥76॥
 आधिभौतिकदेहं तु आधिदैविकविग्रहे ।
 देहो निर्मलं याति चातिवाहिकताभिधात् ॥77॥
 आध्यात्मविधिविद्युतममलं चिन्मयात्मकम् ।
 तस्यातिवाहिकं रूपं सर्वेषां तु मयात्मकम् ॥78॥
 जायाभवविधिविघ्नितः कालत्रयस्य विभ्रमः ।
 इति तं स्वस्वरूपा हि सती रज्जुभुजङ्गवत् ॥79॥

युक्तो भवति । सोऽयं स्त्रीयं वस्तुस्वरूपं परिचिनोति यथा रज्जुः सर्पभिन्ना भवति शुक्तिकायांच रजतभ्रमो भवति; स्त्रियां पुरुष भ्रमो वा जायते तथैव स्वीयं शरीरसम्बन्धित्वं सर्वं सम्यग्जानाति यदिदं शरीरं मिथ्याभूतमेवास्ति ।

योगकुण्डल्युपनिषदि प्रथमाऽध्याये एकाशीतितममन्त्रतः आरभ्य पञ्चाशीतितमंमन्त्रं[1] यावत् कुण्डलिन्याः शक्तेः मोक्षदायकत्वं प्रतिपादितमस्ति । तच्चेत्थम्:-

स्वात्मावबोधेन पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं जायते । लिङ्गदेहस्य सूत्रात्मनश्चैकतापूर्वकं स्वात्मनः स्वयं प्रकाशात्मनः, चैतन्यस्य चैक्यभावो जायते । कुण्डलिनीशक्तिः पद्मतन्तुरिव भवति कमलकन्दमिव च मूलकन्दं फणाग्रेण समवलोक्य स्वपुच्छं मुखे कृत्वा ब्रह्मरन्ध्रस्य मुखं पिधाय स्वपिति । तदा[2] साधकः पद्मासने समुपविश्य गुदाकुञ्चयेत् कुम्भकप्राणायामेन वायुमूर्ध्वगं कुर्यात् । इत्थं वायुवेगेन स्वाधिष्ठानचक्रस्थाग्निं साधकः प्रज्वलयेत् ; तदनन्तरं ब्रह्मग्रन्थिं, विष्णुग्रन्थिं, रुद्रग्रन्थिं षट्चक्रं च भेदयन्ती सहस्रदलकमलं प्राप्नोति । तत्रैव शिवेन सह सम्भूय समधिकमानन्द-

---

मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते ।
रौप्यबुद्धिः शुक्तिकायां स्त्रीपुंसोर्भ्रमतो यथा ॥80॥
(योगकुण्डल्युपनिषद् अ0 । मन्त्र 70-80)

1. पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि ।
स्वापाव्याकृतयोरैक्यं स्वप्रकाशचिदात्मनोः ॥81॥
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा ।
मूलकन्दं फणाग्रेण दृष्ट्वा कमलकन्दवत् ॥82॥
मुखे ना पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता ।
पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः ॥83॥
वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन् कुम्भकाविष्टमानसः ।
वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् ॥84॥
ज्वलनाघातपवना घातोरुन्निद्रितोऽहिराट् ।
ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः ॥85॥

सद्योदयमभिगच्छति । इयमेव स्थितिः परमावस्था मोक्षप्राप्तिश्च वर्तते । इत्थमिह कुण्डलिनी शक्तिसमुद्बोधस्य पूर्णविकासरूपेण मोक्षप्राप्तिः कर्तुं शक्नोति प्रतिपादितमभवतीति तत् ।

योगकुण्डल्युपनिषदि द्वितीयाध्याये प्रथम मन्त्रतः समारभ्य षोडशं मन्त्रं यावत् खेचरी सिद्धिः प्रतिपादिताऽस्ति तद्यथाः-

अतः परं खेचरीविद्यायाः सम्बन्धे प्रोच्यते । खेचरी मुद्रयैव मुद्रावस्थायाः मृत्योश्च मुक्तो भवति जरामृत्युरोगैः समाधीयमानानां जनानामत्र प्रविधिरूपेण खेचरीमुद्रायाःसमभ्यासो विधेयतामेति । यः महापुरुषः ग्रन्थेभ्योऽर्थेभ्यो व्याख्यानरूपैतां खेचरीं विद्यां सम्यग्जानाति तमेव महापुरुषं सर्वतोभावेन गुरुं मत्वा तमेव समाश्रयेत् । खेचरीमुद्रायाश्च विद्यां तस्मात् समधिगच्छेत् । खेचरीविद्यायाः स्वरूपमतिकठिनं वर्तते । तस्याः समभ्यासश्च ततोऽपि कठिनतमो भवति । अस्याभ्यासो योगश्चेत्तु-

---

ऊर्ध्वं च शिरसैव कलादि मिलितमद् ।
 सहस्रकमले चापि शिवेन सह मोदते ।
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणा ॥86॥ इति ।

॥योगकुण्डल्युपनिषद् अ0 । मन्त्र 81-86॥

1. अथाहं संप्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिताम् ।
 यथा विज्ञानवानस्य लोकेऽस्मिन्नजरामरः ॥1॥
 मृत्युव्याधिजराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने ।
 बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत् ॥2॥
 जरामृत्युगदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले ।
 ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥3॥
 तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत् ।
 दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोऽपि दुर्लभः ॥4॥
 अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिध्यति ।
 अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम् ॥5॥

अयमपि सदैव सदाचरणेनापि सिद्धिः समष्टिमनुष्ठैव भव्या; परमभ्यासस्तु कस्मिंश्चिज्जन्मन्येव प्राप्यते । योगस्याभ्यासः जन्मस्वपि नैव प्राप्यते । बहुभिर्जन्मभिः यावद् कृताभ्यासो योगी कस्मिंश्चिज्जन्मनि मेलकमिच्छ-मिच्छति । यदा साधको गुरुमुखतः मेलकमन्त्रं प्राप्नोति; तदैव सः शास्त्रानुकूलां सिद्धिमपि प्राप्नोति । यदा च साधकः गुरुकृपया सम्यगवबोधेन मेलकं प्राप्नोति तथापि सः संसाराद् विमुच्य शिवत्वं प्राप्नोति । शास्त्रज्ञानमपि परमावश्यक-मस्ति; यतस्तद् विना गुरुणापि यथार्थबोधं कारयितुं नैव प्रभवति । अतएव शास्त्रज्ञानप्राप्तेरपि परमं महत्त्वमस्ति । यावद् शास्त्रार्थबोधो नैव भवेत्ताव-त्पर्यन्तं पर्यटनमेव यत्नशीलस्य यदा शास्त्रस्य सम्यगवबोधो भविष्यति । तदानीं हस्तस्थामिव सिद्धिं समधिगमिष्यते । शास्त्रज्ञानं विना त्रिष्वपि लोकेषु कुत्रचिदपि सिद्धिः न दृग्गोचरीभवति । अतएव योगिनः शास्त्रस्याभ्यासतत्पर-

---

अभ्यासं लभते पूर्वं जन्मजन्मान्तरे क्वचित् ।
मेलकं जन्मनां तत्तु शास्त्रेऽपि न लभ्यते ॥6॥
अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्भावभावितः ।
मेलकं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित् ॥7॥
यदा तु मेलकं योगी लभते गुरुवक्त्रतः ।
तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसन्ततौ ॥8॥
प्रत्यक्षार्थतश्चैव मेलकं लभते यदा ।
तदा शिवत्वमाप्नोति विमुक्तः सर्वसंवृते ॥9॥
शास्त्रं विना पि सम्बोद्धुं गुरवोऽपि न शक्नुयुः ।
तस्मात्सुदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं गुह ॥10॥
यावन्न लभ्यते शास्त्रं तावद्गुर्वी पर्यटेन्मतिः ।
यदा सल्लभ्यते शास्त्रं तदा सिद्धिरुपस्थिता ॥11॥
न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा नैव जगत्त्रये ।
तस्मान्मेलकदातारं शास्त्रदातारमच्युतम् ॥12॥
अभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा समाश्रयेत् ।
लब्ध्वा शास्त्रमिदं गुह्यमन्येषां न प्रकाशयेत् ॥13॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता ।
यत्रास्ते च गुरुर्ज्ञानाद्दिव्ययोगप्रदायकः ॥14॥

स्येति गुरुः साक्षाद्भगवत्स्वरूप एव भवतीति मत्वा सादरं
समाराधनीयः सहस्रेष्वेतच्छास्त्रमविदित्वा कस्यचिच्छिष्यस्यैव
प्रष्टव्यम् । अतएव खेचरीविद्याशास्त्रं सर्वदा गुरुमुखपूर्वकं बोधनीयम् ।
यत्र गुरुशिष्यत्वस्य सिद्धयोगस्य सतत गुरुः वसति; तत्र गत्वा तद्भाषितां
शिक्षां खेचरीविद्या गृहीतव्या, तदनन्तरं सम्यगुपास्यनीया च ।
खेचरीविद्यायाः प्रभावेण योगी खेचरीसिद्धिं प्राप्नोतीति खेचरीविद्यायाः
सहस्रारस्थानतः कुण्डलिनी ध्यानतश्च ब्रह्मसाक्षात्कृते परमं महत्त्वपूर्णं
भवतीति खेचरीसिद्धये खेचरीविद्या गुरुणैव समुपास्यनीया भवतीति प्रतिपादितं
भवति ।

द्वितीयाध्याये

योगकुण्डल्युपनिषदि षोडशमन्त्रयोरन्तरालतः समारभ्य षड्विंशतितमं
मन्त्रं¹ यावत्खेचरीबीजं तन्महत्त्वञ्च प्रतिपादितमस्ति तद्यथा:-

बीजसंहितां खेचरीविद्यां तद्बीजं साधयेत् साधकः खेचराधीश्वरत्वमधि-
गत्य तेषु वस्तुमर्हति । खेचरप्रतीको हकारः, आवसथस्य प्रतीकोऽग्नि ईकारः

तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम् ।
तेनोक्त सम्यगभ्यासं कुर्यादतन्द्रितः ॥5॥
अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत् ।
(योगकुण्डल्युपनिषद् अ० 2 मन्त्र 1-5½)

1. खेचर्या खेचरीं युञ्जन् खेचरीबीजपूरया ॥6॥
खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत् ।
खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम् ॥7॥
आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति
सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ॥8॥
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम् ।
तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेन परं मुने ॥9॥
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी ।
इन्दोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तितः ॥20॥
गुरूपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम् ।
यत्तस्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया ॥21॥

अग्नेः प्रतीकः रकारः जलस्य प्रतीकं वकारश्च वर्तते एतेषां योगेन
ह्रीं भवति । अयमेव खेचर्याः बीजमन्त्रोऽस्ति । ह्रीमितिमन्त्रेणैव खेचरी-
योगः सिध्यति । सोमांशः सकारोऽस्ति, तस्य प्रतिलोमक्रमेण नवमाक्षरो
भकारो भवति, पुनः चन्द्रमसः बीजाक्षरश्च सकारोऽस्ति । विलोमक्रमेण
तस्मादष्टमाक्षरः मकारो भवति । विलोमक्रमेण मकारात् पंचमाक्षरः
भकारो भवति । चन्द्रमसः बीजभूतश्च सकारो वर्तते । खेचर्याः खकारश्चा-
न्तिमो वर्णो भवति । इत्थमिह ह्रीं, सं, फं, सं, मं, खेचर्याः बीजमन्त्रो
प्रकटीभवति । इयं खेचरीमुद्रा सर्वसिद्धि-सिद्धिदा भवति । अयं मन्त्रः गुरूपदेशत
एव सिध्यति । यो नियमतः मन्त्रमिमं द्वादशवारं प्रत्यहं जपति तदन्तःकरणे
स्थिता देहसम्बन्धिनी माया नैव व्याप्नोति । यश्च भावपूर्वकं मन्त्रस्यास्य
पंचलक्षवारं जपं करिष्यति; सः खेचरीसिद्धिं स्वयमेव प्राप्स्यति । तस्य
सर्वेऽपि विघ्नाः दूरीभविष्यन्ति देवानां प्रसन्नता च तदुपरि संपत्स्यते ।
खेचर्याः शरीरस्य वल्लयश्चापि दूरी भवन्ति इमां महाविद्यां सम्यगवबोध्य

स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य नित्यं द्वादशजप्यतः ।
य इमां लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः ॥22॥
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते ।
नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः ॥23॥

समभ्यसेत् । यदि पूर्णज्ञानं विना सम्यगाचरेत्; तर्हि खेचरी विधि-पूर्वकमभ्यासेनापि यदि सिद्धिर्नाधिगच्छेत्; तदापि गुरूपदिष्टविधिना मन्त्रं सर्वदैव जपेत् । मन्त्रं विना खेचरी सिद्धिः सामान्यतः प्राप्तुं नैव शक्यते । अतएवैतस्यै सद्गुरुः नूनमेव समाश्रयणीयः ।

जाबालदर्शनोपनिषदि चतुर्थखण्डे सप्तदशतम मन्त्रतः समारभ्य त्रिषष्टितमं मन्त्रं यावज्जीवब्रह्मणो परम्परया ह्यभेदात्मिका स्थितिः प्रतिपादिताऽस्ति । यथैतद्यथा:-

कल्याणस्वरूपी परमात्मा शरीरेऽस्मिन् राजतेतराम् यो मूढः तं परमात्मानं नैव जानाति । स एव तीर्थेषु, दानेषु, जपेषु, यज्ञेषु, काष्ठेषु, पाषाणेषु च परमात्मानमन्विष्यते । स्वान्तःस्थितं परमात्मानं निराकृत्य, योऽयं जीवात्मा केवलं बाह्यस्वरूपेण निर्मितां प्रतिमां सेवते; स तु स्वहस्तस्थितमन्नं परित्यज्य स्वकूर्परमेव लेढुमीहते ।

वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः ।
एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः ॥24॥
अन्यथा क्लिश्यते ब्रह्मन्न सिद्धि खेचरीपथे ।
यदभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम् ॥25॥
ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां सदा जपेत् ।
नान्यथा रहितो ब्रह्मन्न किंचित्सिद्धिभाग्भवेत् ॥26॥

॥योगकुण्डल्युपनिषद् अ० 2 मन्त्र 16-26॥

1. तीर्थे दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा ।
शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते ॥57॥
अन्तःस्थं मां परित्यज्य बहिष्ठं यस्तु सेवते ।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिहेत्कूर्परमात्मनः ॥58॥
शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः ।
अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ॥59॥
अपूर्वमपरं ब्रह्म स्वात्मानं सत्यमद्वयम् ।
प्रज्ञानघनमानन्दं यः पश्यति स पश्यति ॥60॥
नाडीपुंजं सदा सारं नरभावं महामुने ।
समुत्सृज्यात्मनात्मानमहमित्येव धारय ॥ 61॥

योगिनस्तु परमात्मानं स्वात्मन्येव साक्षात्कुर्वन्ति, न कदाचिदपि प्रतिमासु । प्रतिमास्त्वे तदर्थमेव कल्प्यन्ते । यदिहाज्ञानिनामपि हृदयेषु भगवन्तम्प्रति भावना जागृयात् प्रतिमामाध्यमेन च प्रतिमोत्पभाव माध्यमेन च भगवति पूर्णतः विश्वस्ताः स्युः । यस्य भिन्नानि कारणानि कार्याणि वा नैव सन्ति यः प्रज्ञानघनस्वरूपः सर्वथा द्वितीयः सत्यस्वरूपश्चास्ति । यश्च तदानन्दमयं परमात्मस्वरूपं ब्रह्म स्वात्मन्येव साक्षात्कुरुते । स एवात्र वस्तुस्वरूपस्य साक्षात्कर्त्ता प्रोच्यते । इदं मनुष्यशरीरं नाडीनां विशिष्ट-विन्यासमात्रमस्ति । इदं कदाचिदपि आत्मत्वं भवितुन्नार्हति । एतत्प्रतिभोऽय-मात्मभावो भवति; स सर्वथा त्याज्यः । तदनन्तरमेवाहमेव परमात्मास्मीति स्वानुभूतिः भवितुमीति । योऽयमस्मिन् शरीरे निवसन्नप्येतस्माच्छरीरात् सर्वथा पृथग्वर्तते । स एव व्यापकः आत्मा सर्वेषामपि स्वामी वरीवर्त्ति । यः तदानन्दस्वरूपमक्षरं ब्रह्म याथात्म्येन जानाति; स कदाचिदपि शोकाकुलो नैव भवति, शोकस्य लेशोऽपि तत्र नोत्पद्यते । यदा भेदोत्पादकमज्ञानं ज्ञानवशात् विनश्यति; तदा न कश्चिदप्यात्मनि ब्रह्मणि च मिथ्यारूपेणैव विद्यमानमपि भेदभावविहिष्यते । इत्थमिह तत्त्वज्ञानेन जीवात्मपरमात्मनोरैक्यमनुभवगम्यं भवतीति प्रतिपादितमस्ति ।

अशरीरं शरीरेषु महान्तं विभुमीश्वरम् ।
आनन्दमक्षरं साक्षान्मत्वा धीरो न शोचति ॥62॥
विभेदजनके ज्ञाने नष्टे ज्ञानबलान्मुने ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं किं करिष्यति ॥63॥

(जाबालदर्शनोपनिषद् खण्ड 4 मन्त्र 57-63)

जाबालदर्शनोपनिषदि पंचमे खण्डे [1] नाडीशुद्धिप्रतिपादनपूर्वकं जीवन्मुक्तावस्था चापि प्रतिपादिता वर्तते । तत्सर्वं निम्नाङ्कितरूपेण वर्तते ।

भगवता दत्तात्रेयेण नाडीशुद्धिं प्रतिपादयता प्राबोधि यदिह शास्त्राणि स्वविवेकेन कर्मणां विधिं प्रतिपादयन्ति । तान्येव कर्माणि तत्परतया कुर्यात् । सर्वाः कामनाः सर्वेषामपि कर्मणां फलानि च सर्वथा परित्यजेत् । न कि च किमप्याकांक्षेत । अष्टाङ्गयोगं संसेवयन् मनः शान्त्येत् सत्यं च परिपालयेत् । ज्ञानिभ्यः महात्मभ्यस्तेषां सेवायां गत्वा जिज्ञासापूर्वकं तत्त्वज्ञानमधिगच्छेत्; स्वात्मचिन्तनपरश्च भूयात् । पर्वताग्रे, नदीतटे, शान्ते सुखैकान्तस्थे वने, बिल्ववृक्षस्य वेदीयसि कस्मिंश्चित् सुपवित्रे सुरम्ये प्रदेशे शुभमाश्रमं निर्माय तत्र मनसो ह्यैकाग्र्यं सम्पादयेत् । स्वासनं पूर्वाभिमुखमुत्तराभिमुखम् वा निदध्यात् । ग्रीवां मस्तकं देहं च समभावेन स्थिरीकृत्य मुखं पिधाय सर्वथा निश्चलभावेन समुपविशेत् । नासिकाग्रे चन्द्रमण्डलं स्थितमस्तीति भावयेत् । तत्र च प्रणवबिन्दौ तुरीयस्य ब्रह्मणो सुतस्त्रोतः प्रवहन् वर्तते तदेव प्रत्यक्षी कुर्यात् । तदनन्तरमिडया नाड्या प्राणवायुमन्तःकृत्वा स्वोदरं प्रपूर्य देहस्थितमग्निं ध्यायेत् । इत्थं भावयेद्यदिह समाकृष्टस्य वायोः सम्पर्केणाग्निः स्वज्वालाभिः सह प्रदीप्तो भवतीति । तदनन्तरं प्रणवबिन्दुं नाड्या प्राणवायुं शनैः शनैः बहिष्कुर्यात् । तदुपरान्तं पिङ्गलया प्राणवायुं

---

1. सम्यक्कथय मे ब्रह्मनाडीशुद्धिं समासतः ।
यथा शुद्ध्या सदा ध्यायंजीवन्मुक्तो भवाम्यहम् ॥1॥
सांकृते शृणु वक्ष्यामि नाडीशुद्धिं समासतः ।
विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसङ्कल्पवर्जितः ॥2॥
यमाद्यष्टांगसंयुक्तः शान्तः सत्यपरायणः ।
स्वात्मन्यवस्थितः सम्यग्ज्ञानिभिश्च सुशिक्षितः ॥3॥
पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले वनेऽथवा ।
मनोरमे शुचौ देशे मठं कृत्वा समाहितः ॥4॥
आरभ्य चासनं पश्चात्प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ।
समग्रीवशिरःकायः संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥5॥

समाकृष्य शरीरे पूरयेत् । अग्निबीजं विचिन्त्येडयानाडया बहिष्कुर्यात् । इत्थं क्रियामेनां त्रीणि दिनानि यावत् चतुर्दिनानि यावद्वा नैरन्तर्येण कुर्यात्; अथवा प्रत्यहं त्रिषु सन्ध्याकालेषु क्रियामेनां वारत्रयं चतुर्वारं षड्वारं वा कुर्यात् । अनया क्रियया नाडीशुद्धिः सम्पद्यते । नाडीशुद्धौ कानिचिल्लक्षणानि प्रत्यक्षीभवन्ति; तानिचेत्थम् शरीरे स्फूर्तिः प्रत्येष्यते, जठराग्निः प्रदीप्तो भविष्यति, अनाहतनादस्य च लक्षणानि प्रकटी भविष्यन्ति । तदानीं ज्ञातव्यं यदिह सिद्धिः त्वरितमेव भविष्यतीति । यावदेतानि लक्षणानि नैवभासन्ते तावन्नैरन्तर्येणाभ्यासो विधेयः । येनोद्देश्यस्यपूर्णता सर्वथा सम्भवेत् । यदि इत्थं कर्तुन्नैव प्रभवति, तर्हि स्वात्मशुद्धयेसदनुष्ठानं विदध्यात् । अयमात्मा सदैव शुद्धोऽस्ति स्वयंप्रकाशस्वरूपः सुखस्वरूपश्च वर्तते । अस्मिन् मलिनता देहाज्ञानपारवश्यादेव समारोप्यते । आत्मा शुद्धित्यमेव शुद्धस्वरूपो भवति योऽत्रपुरुषो ज्ञानस्वरूपं मलं ज्ञानस्वरूपेण जलेन प्रक्षालयति; स एव पुरुषः परमशुद्धो भवति । यः ज्ञानोपेक्षां कृत्वा लौकिक कर्मसु समासक्तोभवति सः पुरुषः शुद्धोनैव भवति । इत्थमिह नाडीशुद्धिपूर्वकं स्वात्मनः शुद्धतायाः परिचयः प्रदत्तोऽस्तीति शम् ।

नासाग्रे शशभृद्बिम्बे बिन्दुमध्ये तुरीयकम् ।
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः ॥6॥
इडया प्राणमाकृष्य पूरयेदोदरे स्थितम् ।
ततोऽग्निं देहमध्यस्थं ध्यायञ्ज्वालावलीयुतम् ॥7॥
बिन्दुनादसमायुक्तमग्निबीजं विचिन्तयेत् ।
पश्चाद्विरेचयेत्सम्यक् प्राणं पिङ्गलया बुधः ॥8॥
पुनः पिङ्गलयापूर्य वह्निबीजमनुस्मरेत् ।
पुनर्विरेचयेद्धीमानिडयैव शनैः शनैः ॥9॥
त्रिचतुर्वासरं वाथ त्रिचतुर्वारमेव च ।
षट्कृत्वा विरेचेन्नित्यं रहस्येवं त्रिसंधिषु ॥10॥
नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक्चिह्नोपलक्षितः ।
शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जाठरवर्तिनः ॥11॥

शांडिल्योपनिषदि प्रथमाध्यायस्य सप्तमे खण्डे चतुर्दशे प्रघंट्टके[1] कुण्डलिन्याः जागृति प्रक्रिया प्रतिपादितास्ति । सा चेत्थम्‌ः-

सुखासने सुपविश्य दक्षनाड्या वायुमाकृष्य केशेभ्यः समारभ्य पादनखान् यावत् कुम्भीकृत्य वामनाड्या रेचयेदित्थं कपालशुद्धिः भवति । वायोः संरोधेन सर्वे रोगाः पूर्णतो विनश्यन्ति । हृदयतः कण्ठं यावच्छब्दं कुर्वन् नासिकापुटाभ्यां शनैः शनैः पवनमाकृष्य स्वशक्तिमनुसृत्य कुम्भकं विधाय इडया रेचयेत् । इत्थं गतौ स्थितौ च कुर्वतः श्लेष्मरोगाः विनश्यन्ति जठराग्निश्च वर्धते । मुखेन सीत्कुर्वन् गुल्मप्लीहाज्वरपित्तक्षुधाप्रभृतयः रोगाः विनश्यन्ति । कुम्भकः द्विविधो भवति सहितो केवलश्च । तत्ररेचकपूरकोपेतः सहितः प्रोच्यते तद्विहितश्च केवलः । यावत्केवलकुम्भको नैव सिध्यति तावन् सहितः समभ्यसनीयः । यदा केवलकुम्भकसिध्यति तदा योगिने त्रिष्वपि लोकेषु किंचिदपि दुर्लभम् नैव भवति । केवलकुम्भकसिद्धयैव कुण्डलिनी जागर्ति । योगी कृशकायः, प्रसन्नवदनः, निर्मलाक्षः, नादश्रोता, सर्वरोगशून्या, जित-बिन्दुकः प्रज्वलितजठराग्निकश्च भवति । एतदेव वैशिष्ट्यंकुण्डलिनिशक्तेः जागृतौ समुपलभ्यते ।

नादाभिव्यक्तिरित्येतच्चिन्हं तत्सिद्धिसूचकम् ।
 यावदेतानि संपश्येत्तावदेवं समाचरेत् ॥2॥
अथवैतत्परित्यज्य स्वात्मशुद्धिं समाचरेत् ।
 आत्मशुद्धः सदा नित्यः सुखरूप स्वयंप्रभः ॥3॥
अज्ञानान्मलिनो भाति ज्ञानाच्छुद्धोभवत्ययम् ।
 अज्ञानमलपङ्कयः क्षालयेज्ज्ञानतोयतः ।
स एव सर्वदा शुद्धो नान्यः कर्मरतो हि सः ॥4॥

(जाबालदर्शनोपनिषद् खण्ड 5 मन्त्र 1-14)

1. सुखासनस्थो दक्षनाड्या बहिस्थं पवनं समाकृष्याकेशनखाग्रं कुम्भयित्वा सव्यनाड्या रेचयेत् । तेनकपालशोधनं वातनाडीगतसर्वरोगविनाशनम्भवति ॥ हृदयादिकण्ठपर्यन्तं सस्वनं नासाभ्यां शनैः पवनमाकृष्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा । इडया विरेच्य गच्छस्तिष्ठन् कुर्यात् । तेन श्लेष्महरं जाठराग्निवर्धनं भवति ॥ वक्त्रेणसीत्कारपूर्वंवायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत् । तेन क्षुत्तृष्णाऽऽलस्यनिद्रा न जायन्ते । जिह्वया वायुं समाकृष्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत् । तेन गुल्मप्लीहाज्वरपित्तक्षुधादि नश्यति ॥

शाण्डिल्योपनिषदि प्रथमाध्याये सप्तमखण्डस्य षड्विंशतितम-मन्त्रतः समारभ्य त्रिंशत्तमं मन्त्रं¹ यावद् प्राणगतिनिरोधप्रक्रिया निर्दिष्टास्ति । सा चेत्थम्:-

यथा सूर्यव्यवहारस्य गतिशान्तौ जगद् व्यवहृतिश्चापि शाम्यते; तथैव शास्त्राभ्यासतः, सत्सङ्गतश्च, वैराग्याभ्यासयोगेन जगदिदं भ्रमेति प्रथमं जगत्कर्मसु सर्वथानास्थामावहेद् । तदनन्तरं सुदीर्घकालं यावद् ह्येकान्ते ध्यानं एकतत्त्वाभ्यासं च दृढमभ्यसेद् । तेन प्राणगतिः समवरुध्यते प्राणवायुः विजीयते । विनैव श्रमं पूरकादीनां दृढाभ्यासेन सर्वथैकान्तध्यानयोगेन च मनसो गतिः समवरुध्यते । इत्थं मनो वशीभवति ओङ्कारस्योच्चारणान्ते शब्दतत्त्वानुभूतेश्च ज्ञानेन सुषुप्तिस्वरूपं सम्बुध्यते । तदा प्राणगतिः समवरुद्धा भवति प्राणश्च विजीयते । यदा तालुमूलस्थग्रन्थिः सावधानतया रसनया पीड्यते; तदा प्राणवायुरूर्ध्वच्छिद्रं गच्छति; प्राणगतिश्च समवरुध्यते । इत्थं च जितप्राणो योगी भवतीति शम् ।

कुम्भकः सः द्विविधः सहितः केवलश्चेति । रेचकपूरकयुक्तः सहितः तद्विवर्जितः केवलः । केवलसिद्धिपर्यन्तं सहितमभ्यसेत् । केवलकुम्भके सिद्धे त्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति । केवलकुम्भकात् कुण्डलिनीबोधो जायते । ततः कृशवपुः प्रसन्नवदनो निर्मललोचनो भिव्यक्तनादो निर्मुक्तरोगजालो जित बिन्दुः पट्वग्निर्भवति अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टि निमेषोन्मेषवर्जिता । एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।।।।4।। ।शाण्डिल्योपनिषद् खण्ड 7 मन्त्र ।4।

1. सूर्यालोकपरिस्पन्द शान्तौ व्यवहृतिर्यथा ।
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः ।।26।।
अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वं संसारवृत्तिषु ।
यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोचितात् ।।27।।
एकतत्त्वदृढाभ्यासात् प्राणस्पन्दो निरुध्यते ।
पूरकाद्यनिलायामदृढाभ्यासात्खेदजात् ।।28।।
एकान्तध्यानयोगाच्च मनः स्पन्दो निरुध्यते ।
ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात् ।
सुषुप्ते संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ।।29।।
तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वया क्रम्य घण्टिकाम् ।।×०।।
ऊर्ध्वरन्ध्रं गते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ।।30।।
।शाण्डिल्योपनिषद् खण्ड 7 मन्त्र 25-30।

159

शाण्डिल्योपनिषदि प्रथमाध्याये सप्तमे खण्डे पंचदश मन्त्रतः समारभ्य विंशतितमं मन्त्रं यावद्खेचरी मुद्रा प्रतिपादितास्ति । सा चेत्थम्:-

अन्तर्लक्ष्यत्वाद् यस्य योगिनश्चित्तं वायुश्चेत्युभेविलीयेते स योगी सर्वदा निश्चलतारकदृष्ट्या बाह्येऽनीक्षमाणोऽपि न किंचिदपि पश्यति; स्थितिरियं खेचरी मुद्रा निगद्यते । इयं मुद्रा केवलं लक्ष्ये ह्येकताबतां मंगलदायकतांचावहतीति वैष्णवीमुद्रा चापि निगद्यते । तत्र शून्यत्वाशून्यत्व रहितानि तत्त्वानि परम-पदत्वेन प्रकाशन्ते । अर्धनिमीलिताक्षः स्थिरमनाः नासाग्रे स्थिरदृष्टिः योगी इडापिङ्गलयोः निश्चलभावापन्नत्यनन्तरं ज्योतिस्वरूपं निखिलबाह्यविषयरहितं परमद्युतिमद्दीप्तिमद् वा यद् परमतत्त्वं भवति तदेव प्रकाशते । तदेव च परमंतत्त्वं परमवस्तुस्वरूपं सत्तद्विषयतामेति । नेत्रतारकाद् ज्योतिषा संयोज्य भ्रुवौ च किंचिदुच्चैः समारक्षते स्थितिरियमेव पूर्वाभ्यासवन्तोभवति । एतेन क्षणमात्रेणैवो-न्मन्यवस्था प्राप्यते । अतएव खेचरीमुद्राभ्यासेनोन्मन्यवस्थायापन्नमतौ योग-निद्रा समधिगम्यते । योगनिद्राधिकारी योगी कालवशो नैवभवति; अतोऽत्रशक्ति-मध्ये मनः स्थाप्य शक्तिंच मनसिकृत्य मनसा मनः सम्पश्यन् सुखी भवति । इत्थमेव ह्याकाशे ह्यात्मानं संस्थाप्य स्वात्मनि चाकाशं तदनन्तरं सर्वमप्याकाशमयं चिन्तयेद् ।

---

1. अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते ।
   दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ।।
   मुद्रेय खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिव ।
   शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवी ।।।5।।
   अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमनाः नासाग्रदत्तेक्षणश्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पन्द-न्दभावोत्तरम् ।
   ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं देदीप्यमानं परं ।
   तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तुविषयं शाण्डिल्यविद्धीहतद् ।।।6।।
   तारं ज्योतिषी संयोज्य किंचिदुन्नमय भ्रुवौ ।
   पूर्वाभ्यास मार्गोऽयमुन्मनी कारकः क्षणात् ।
   तस्मात् खेचरीमुद्रामभ्यसेत् । ततोन्मनी भवति । ततो योगनिद्रा भवति ।
   लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः कालो नास्ति ।।।7।।
   शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं च मनमध्यगाम् ।
   मनसा मन आलोक्य शाण्डिल्य त्वं सुखी भव ।।।8।।
   खमध्ये कुरु आत्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
   सर्वं च ख मयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तय ।।।9।।

आत्मातिरिक्तं किंचिदपि नैव भवतीति बाह्यचिन्ता परित्यागश्चैव विधेयः अतः चिन्तापरित्यागः सर्वचिन्तापरित्यागश्च स्वात्माश्रयः प्रोच्यते । इत्थमियं खेचरीमुद्रा सिध्यतीति खेचरीमुद्रेयं संसाधनीया भवतीति शम् ।

षड्त्रिंशत्तममन्त्रतः समारभ्य चत्वारिंशत्तमं मन्त्रं[1] यावत् शाण्डिल्योपनिषदि खेचरीमुद्रा प्रतिपादितास्ति सा चेत्थम्:-

गुरूणामुपदेशाननुसृत्य नैकविधसङ्कल्पकल्पनया प्राणगतिः समवरुध्यते । कुण्डलिनीं संकोच्य कपाटं समुद्घाट्य मोक्षद्वारस्य विमोचनं येन मार्गेण कर्त्तव्यं भवति तन्मुखं पिधाय कुण्डलिनी स्वपिति सा तिर्यगाकाराः सर्पिणीमिव समावर्तते । एवां कुण्डलिनीशक्तिं चंचलाङ्कुरुते सोऽत्रसर्वथामुक्तो भवति । सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे स्वपिति, तदा योगिभ्यो मुक्तिदायिनी भवति; परं कण्ठान्नीचैः स्वपिति तदा ज्ञानिभ्यो बन्धकर्त्री सम्पद्यते । इडापिङ्गलयोः पन्थानौ विहाय सुषुम्नामार्गेण समायाति यतस्तद्विष्णोः परमंपदमस्ति । वायोरभ्यासः मनसा सह भवति । अस्मिन्नवसरे मनुष्येण स्वमनोवृत्तिः ह्यन्यत्र नैव विनियोक्तव्या । तथ्यमेतदस्ति यदि शुक्ले दिने विष्णुः पूजनीयः कृष्णरात्रौ च विष्णुः नैव पूजनीयः । परं सर्वदैव विष्णुः पूजनीयः, न केवलं दिनौ रात्रावथवा । पञ्चेन्द्रिय प्रवाहमयं

बाह्यचिन्ता न कर्त्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका ।
सर्वचिन्तां परित्यज्य चिन्मात्र परमो भव ॥20॥
।शाण्डिल्योपनिषद् खण्ड 7 मन्त्र 15-20।

1. एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासङ्कल्पकल्पितैः ।
नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥36॥
आकुंचनेन कुण्डलिन्याः कपाटमुद्घाट्य मोक्षद्वारं विभेदयेत् ।
येन मार्गेण गन्तव्यं तद्द्वारं मुखेनाच्छाद्य प्रसुप्ता कुण्डलिनी कुटिलाकारा सर्पवद्वेष्टिता भवति । सा शक्तिर्येन चालिता स्यात् स तु मुक्तो भवति । कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेद्योगिनां मुक्तये भवति । बन्धनायाधो मूढानाम् । इडादिमार्गद्वयं विहाय सुषुम्नामार्गेण गच्छेत्तद्विष्णोः परमं पदम् । मरुदभ्यसनं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्त्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणः ॥37॥

हृदयस्थमवकाशयुक्तं स्थानं ज्ञानोत्पादकमस्ति तत्रैव खेचरी मुद्रा भवति । वामतः दक्षिणनाड्यां स्थित्वा तदनन्तरं वायुः मध्ये भ्रमति तस्मिन् स्थाने निवगानस्य नूनमेव खेचरीमुद्रा सिध्यतीति निश्चितम् ।

शाण्डिल्योपनिषदः सप्तमखण्डस्य द्वयेकचत्वारिंशत्तममन्त्रतः समारभ्य द्वयेकपंचाशत्तमं मन्त्रं [1] यावद्द्विपंचाशद् प्रघट्टकं यावच्च खेचरी-मुद्रापूर्वकं नैकधा योगसाधनेन नैकधा सिद्धयो भवन्ति; ताः समुपवर्ण्यन्ते । तद्यथाः-

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं स्थानं वर्तते । तद्वायुं ग्रसते खेचरीमुद्रा चापि तत्रैवभवति; तत्रैव च सत्यं तिष्ठते चन्द्रसूर्यनाड्योरन्तराले निरालम्बन-स्थलमस्ति, तत्रैव व्योमाकाशमण्डले खेचरीमुद्रा सम्पद्यते । छेदनचालनदोहनैः रसनां तीक्ष्णीकृत्य भ्रूमध्ये दृष्टिं संरुध्य कपालछिद्रे रसनां परावृत्य प्रवेशयेत् । तदानीं खेचरीमुद्रा सम्पद्यते । रसना चित्तं च कपालकुहरे भ्रमतस्तदानीं स योगी मृत्युंजयो भवति । वामपादमूलेन मूलरन्ध्रं पिधाय दक्षिणपादं प्रसार्योभाभ्यां हस्ताभ्यां ग्रहण-नासिका पुटाभ्यां वायुं पूरयित्वा कण्ठबन्धस्योर्ध्वीकरणेनोर्ध्वगस्य वायोः निरोधनेनेति क्रियाभिः सर्वक्लेशाः सर्वथा विनश्यन्ति । एतादृश साधको यदि

दिवा न पूजयेद्विष्णुं रात्रौ नैव पूजयेत् । सततं पूजयेद्विष्णुं दिवारात्रं न पूजयेत् ॥38॥
सुषिरो ज्ञानः जनकः पंचस्रोतसमन्वितः । तिष्ठते खेचरीमुद्रा त्वं हि शाण्डिल्य तां भज ॥39॥
सव्य दक्षिण नाडीस्थो मध्ये चरति मारुतः ।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥40॥
।शाण्डिल्योपनिषद् अ0 । खण्ड 7 मन्त्र 36-40।

1. इडापिङ्गलयोर्मध्ये निरालम्बतले पुनः ।
तिष्ठन्ती खेचरीमुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥1॥
सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बतले पुनः ।
संस्थिता व्योमचक्रे सा मुद्रा नाम च खेचरी ॥27॥
छेदनचालनदोहैः कलां परां जिह्वां कृत्वा दृष्टिं भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वां विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरीमुद्रा जायते । जिह्वां चित्तं च खे चरति । तेनोर्ध्वजिह्वः पुमानमृतोभवति ॥43॥ वामपादमूलेन योनिं संपीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत् तेन सर्वक्लेशहानिः ततः पीयूषमिव

विषमप्यत्ति । तदानीं तदपि सुधामृतमिव जीर्यते । क्षय-गुल्म-गुदावर्त-प्रभृतयो: रोगा: सर्वे चर्मरोगाश्च विनश्यन्ति । प्राणजयस्यायमुपाय: सर्वविधस्य मृत्यो:नाशको भवति । वेद्वामपादपार्ष्णिं गुदास्थानेन सह संयोज्य दक्षिणपादं वामपादोपरि न्यसेत्; तदनन्तरं वायुं प्रपूर्य चिबुकं हृदयकंच संकोच्य गुदास्थानंचापिसंकोच्य यावच्छक्यं स्वात्मतत्त्वं चिन्तयेत् । एतत्कृते ह्यपरोक्षसिद्धिर्भवति । बाह्यं वायुमाकृष्य स्वोदरे प्रपूरयेत् । ततश्च नाभौ नासिकाग्रे पादांगुष्ठे मनसा यत्नपूर्वकं धारयेदित्थं प्रत्यहं सन्ध्योपासनवेलायां सर्वदैव यो योगी कुरुते स: सर्वरोगविमुक्त: श्रान्तिरहितश्च संजायते । नासाग्रे पुन: स्थिरीकरणेन वायु: जेतुं शक्यते । नाभौ निरोधेन सर्वरोगा: विनश्यन्ति । पादांगुष्ठे धारणेन शरीरे लघुता समनुभूयते । य: पुरुष: रसनया वायुमाकृष्य नैरन्तर्येण पिबति स श्रमदाहशून्य: सन् सर्वथा स्वस्थो भवति । तस्य सर्वे रोगा: विनश्यन्ति । यो ब्राह्मण: सन्ध्ययोरुभयोश्चापिवायुमाकृष्यमाचामते तस्य वाक् मासत्रयाभ्यन्तरे कल्याण-स्वरूपिणी सरस्वती सम्पद्यते इत्थं षड्मासान् यावदभ्यसनेन सर्वेरोगा: विनश्यन्ति । यो विद्वान् जिह्वया वायुमाकृष्य जिह्वामूले तं स्थिरीकुरुते सोऽमृतं पिबति; तस्य च सर्वथा कल्याणं भवति । इडया नाड्या भ्रुवोर्मध्ये स्वात्मनि स्वात्मनो धारणेन मनुष्य: देवानामाहुतिम्भिनत्ति । यदि पूर्वं रुग्णो भवति तथापि तदनन्तरं स्वस्था भवति । इडापिङ्गलाभ्यां वायुन्नीत्वा समाकृष्योदरस्योभयो: पार्श्वयो: घटिकां यावत् चालयते स: सर्वथा रोग-मुक्तो भवति मासं यावच्चत्रिष्वपि कालेषु जिह्वया वायुमाकृष्य स्वोदराभ्यन्तरे स्थिरीकुरुते सोऽपि देवाहारं भिनत्ति ।

विषं जीर्यति । क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वचादि दोषा नश्यन्ति । एष प्राणजयोपाय: सर्वमृत्युपघातक: । वामपादपार्ष्णिं योनि-स्थाने नियोज्य दक्षिणचरणं वामोरूपरि संस्थाप्य वायुमापूर्य हृदये चिबुकं निधाय योनिमाकुंच्य मनोमध्ये यथाशक्ति धारयित्वा स्वात्मानं भावयेत् । तेनापरोक्षसिद्धि: ॥45॥

नाड्याद् प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम् ।
नाभिमध्ये नासाग्रे पादांगुष्ठे च यत्नतः ॥46॥
धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु वा सदा ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवेद्योगी गतक्लमः ॥47॥
नासाग्रे वायुविजयं भवति । नाभिमध्ये सर्वरोगविनाशः ॥48॥
पादाङ्गुष्ठधारणाच्छरीरलघुता भवति ॥49॥
रसनाद्वायुमाकृष्य यः पिबेत्सततं नरः ।
श्रमदाहौ तु न स्यातां नश्यन्तिव्याधयस्तथा ॥50॥
ज्वराः सर्वे विनश्यन्ति विषाणि विविधानि च ।
मुहूर्तमपि यो नित्यं नासाग्रे मनसा सह ॥51॥
सर्वं तरति पाप्मानं तस्य जन्मशतार्जितम् ॥52॥

।शाण्डिल्योपनिषद् अ0 । खण्ड 7 मन्त्र 41-52।

आती है। एक ही आसन से शनैः शनैः अधिक समय तक बैठने का अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिए। पैर आदि किसी अंग में एक आसन में बैठे रहने से यदि दर्द मालूम हो तो उस अंग पर नरम कपड़ा रखकर बैठना चाहिए। यदि अधिक पीड़ा हो तो रतनजोत के तेल की मालिश कर सकते हैं। एक आसन से जब ३ घंटा ३६ मिनट तक बिना हिले-डुलें बैठा जा सके, तब उस आसन की सिद्धि समझना चाहिए। आरम्भ में बीच में दो-एक बार आसन को बदल सकते हैं। आसन को दृढ़ करने का सरल उपाय यह है कि जब बैठने का अवसर मिले तो उसी एक आसन से बैठने का यत्न करे। जो अभ्यासी स्थूल अथवा विकारी शरीर होने के कारण उपर्युक्त आसनों से न बैठ सके, वे अर्द्धपद्म, अर्द्धसिद्धि अथवा किसी सुख आसन से तथा दीवार का सहारा ले सकते हैं पर मेरु-दण्ड को सीधा तथा कमर, गर्दन, सिर को सम रेखा में रखना अति आवश्यक है। प्रथम तीन-अर्थात् स्वस्तिक सिद्ध और सम आसनों में हाथों को उलटा करके घुटनों पर रखकर तर्जनी अथवा अँगूठे के पास की अंगुली तथा अँगूठे को एक दूसरे ओर फेरकर दांनों के सिरे आपस में मिलाने और शेष अंगुलियों को सीधा फैलाकर रखने को ज्ञानमुद्रा कहते हैं अन्य तीन अर्थात् बद्धपद्म तथा वीरासन में दोनों हाथों को उठाकर सीने से लगाए रखना हितकर है। सब आसनों में बायाँ हाथ एड़ियों के ऊपर सीधा रखकर उसी प्रकार दायाँ हाथ उसके ऊपर रखकर अथवा जिसमें सुगमता प्रतीत हो उस विधि से हाथों को रखकर बैठ सकते हैं। मुख को पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर करके बैठना चाहिए।

अभ्यास पर बैठने से तीन घंटे पूर्व कुछ न खाय। बैठने के लिए एक चौकी होनी चाहिए, जो अधिक न ऊँची हो न अधिक नीची हो। चौकी के ऊपर कुशासन, उसके ऊपर ऊन का आसन, उसके ऊपर रेशम या (उसके अभाव में) सूत का वस्त्र होना चाहिए। अहिंसा में निष्ठा रखने वाले अभ्यासियों को किसी प्रकार के चर्म का आसन के रूप में प्रयोग न करना चाहिए। देश, काल और परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए किसी किसी स्मृति में मृगचर्म की व्यवस्था दी गयी है, किन्तु वर्तमान समय में उत्तम से उत्तम ऊनी आसन सुगमता से प्राप्त हो सकते हैं और निरपराधी पशुओं की हिंसा अधिकतर चर्मप्राप्ति के लिए ही की जाती है।

अभ्यास ऐसी कोठरी या कमरे में करना चाहिए जो शुद्ध, शान्त, एकान्त और निर्विघ्न हो। हर प्रकार के शोरगुल, मच्छर, पिस्सू और

शीत आदि से रहित हो। अभ्यास से पहले अथवा पीछे हवन अथवा घी के साथ धूप-दीप आदि सुगन्धित वस्तुओं को जलाकर उसको सुगन्धित रखना चाहिए। नदी तट अथवा पाँच हजार फीट से अधिक ऊँचाई वाले पहाड़ी वाले स्थानों का वायुमंडल शुद्ध और भजन के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होता है, गरम मैदान वाले स्थानों में शरद् और वसन्त ऋतु में भजन अच्छा हो सकता है। पहाड़ों में अथवा जमीन में खुदी हुई गुफा समाधि लगाने के लिए अति उत्तम है किन्तु उसमें शीत किंचित् मात्र भी न होने पावे और शुद्ध हो। योगाभ्यास में खान-पान संयम रखना अति आवश्यक है और शरीर तथा नाड़ी शोधन से शीघ्र सफलता प्राप्त होती है जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन विशेष विचार में कर दिया गया है। यहाँ शरीर के शुद्ध सात्विक शुद्ध स्वस्थ नीरोग आसन को दृढ़ और ध्यान को स्थिर करने तथा कुण्डलिनी को जागृत करने वाले कुछ उपयोगी बन्ध मुद्राएँ और आसन बतलाये देते हैं—

१. मूल-बन्ध—मूल गुदा एवं लिंग स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूल-बन्ध है। वाम पाद की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्य भाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़ कर योनि स्थान अर्थात् गुदा और लिंग एवं कन्द के बीच के भाग को दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपान-वायु को बल के साथ धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने को मूलबन्ध कहते हैं। सिद्धासन के साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनों के साथ एड़ी को सीवनी पर बिना लगाए हुए भी बन्ध लगाया जा सकता है।

फल—इससे अपानवायु का उर्ध्व गमन होकर प्राण के साथ एकता होती है। **कुण्डलिनी शक्ति सीधी** होकर ऊपर की ओर चढ़ती है। कोष्ठ-बद्ध दूर करने, जठराग्नि को प्रदीप्त करने और वीर्य का उर्ध्व-रेता बनाने में यह बन्ध अति उत्तम है। साधकों को न केवल भजन के अवसर पर किन्तु हर समय-मूल बन्ध को लगाए रखने का अभ्यास करना चाहिए।

२. उड्डीयान बन्ध—दोनों जानुओं को मोड़ कर पैरों के तालुओं को परस्पर भिड़ाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) से ऐसा लगा दें, जिससे कि पेट के स्थान पर गड्ढा सा दीखने लगे। जितना पेट को अंदर की ओर अधिक खींचा जायगा उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षी के

सदृश सुषुम्णा की ओर उड़ने लगता है, इसलिए इस बन्ध का नाम उड्डीयान रखा गया है। यह बन्ध पैरों के तालुओं को बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है।

फल—प्राण और वीर्य का ऊपर की ओर दौड़ना, मन्दाग्नि का नाश, क्षुधा की वृद्धि, जठराग्नि का प्रदीप्त और फेफड़े का शक्तिशाली होना।

३. जालन्धर-बन्ध—कण्ठ को सिकोड़कर ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक कंठकूप में इस प्रकार स्थापित करें कि हृदय से ठोड़ी का अन्तर केवल चार अंगुल का रहे, सीना आगे की ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठस्थान के नाड़ी जाल के समूह को बाँध रखता है इसलिए इसका नाम जालन्धर बन्ध है।

फल—कण्ठ का सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कण्ठ के सङ्कोच द्वारा इड़ा, पिङ्गला नाड़ियों के बंद होने पर प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश करना।

लगभग सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्ध के साथ किये जाते हैं। राजयोग में, ध्यानावस्था में जालन्धर-बन्ध लगाने की बहुत कम आवश्यकता होती है।

४. महाबन्ध—पहली विधि—बायें पैर की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्य भाग में जमाकर बायीं जङ्घा के ऊपर दाहिने पैर को रख, समसूत्र में हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्र से वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे। फिर मूलद्वार से वायु को ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगावे। मन को मध्य नाड़ी में लगाये हुए यथा-शक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् पूरक के विपरीत वाली नासिका से धीरे-धीरे रेचन करें। इस प्रकार दोनों से अनुलोम-विलोम-रीति से समान प्राणायाम करें।

दूसरी विधि—पद्म अथवा सिद्धासन से बैठे, योनि और गुह्यप्रदेश सिकोड़, अपानवायु को ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान वायु के साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायु को अधोमुख करके प्राण और अपान-वायुओं के साथ नाभिस्थल पर दृढ़ रूप से कुम्भक करें।

फल—प्राण का ऊर्ध्वगामी होना, वीर्य की शुद्धि, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णा का सङ्गम प्राप्त होना, बल की वृद्धि इत्यादि।

५. महावेध-पहली विधि—महाबन्ध की प्रथम विधि के अनुसार मूलबन्ध के पूर्व कुम्भक करके, दोनों हाथों की हथेली भूमि में दृढ़ स्थिर

करके, हाथों के बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों (चूतड़) को शनैः शनैः ताड़ना देवे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इड़ा, पिङ्गला को छोड़कर कुण्डलिनी शक्ति को जगाता हुआ सुषुम्णा में प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायु को शनैः शनैः महाबन्ध की विधि के अनुसार रेचन करें।

दूसरी विधि—मूलबन्ध के साथ पद्मासन से बैठे, अपान और प्राणवायु को नाभि स्थान पर एक (मिला) करके दोनों हाथों को तानकर नितम्बों (चूतड़ों) से मिलते हुए भूमि पर जमाकर नितम्बों (चूतड़ों) को आसन-सहित उठा-उठाकर भूमि पर ताड़ित करते रहें।

फल—कुण्डलिनी शक्ति का जाग्रत् होना, प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश करना। महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा–तीनों को मिलाकर करना अधिक फलदायक है।

मुद्रा

१. खेचरी मुद्रा—जीभ को ऊपर की ओर उल्टी ले जाकर तालु कुहर (जीभ के ऊपर तालु के बीच का गड्ढ़ा) में लगाए रखने का नाम खेचरी मुद्रा है।

इसके निमित्त जिह्वा को बढ़ाने के तीन साधन किए जाते हैं—छेदन, चालन और दोहन।

पहिला साधन– छेदन-जीभ के नीचे के भाग में सूताकार वाली एक नाड़ी नीचे वाली दाँतों की जड़ के साथ जीभ को खींचे रखती है। इसलिए जीभ को ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ी के दाँतों के निकट वाले एक ही स्थान पर स्फटिक (बिल्लौर) का धार वाला टुकड़ा प्रति दिन प्रातः काल चार-पाँच बार फेरते रहें। कुछ दिनों तक ऐसा करने के पश्चात् वह नाड़ी उस स्थान में पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थान को जिह्वा मूल तक काटते चले जायँ। स्फटिक फेरने के पश्चात् माजूफल का कपड़छान चूर्ण (टेरिन एसिड) जीभ के ऊपर नीचे तथा दाँतों पर मलें और उन सब स्थानों से दूषित पानी निकलने दें। माजूफल चूर्ण के अभाव में अकरकरा, नून, हरितकी और कत्थे का चूर्ण छेदन किए हुए स्थान पर लगावें। यह छेदन विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकार की हानि पहुँचने की सम्भावना नहीं है। यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदन का कार्य किसी धातु, तीक्ष्ण यंत्र से प्रति आठवें दिन उस सिरा को

बाल के बराबर छेदकर घाव पर कत्था और हरड़ का चूर्ण लगा कर करते हैं। इसके छेदन के लिए नाखून काटने वाला जैसा एक तीक्ष्ण यंत्र और खाल छीलने के लिए एक दूसरे यंत्र की आवश्यकता होती है जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ी के सम्पूर्ण अंश के एक साथ कट जाने से वाक् तथा आस्वादन शक्ति के नष्ट हो जाने का भय रहता है।

इसलिए इसे किसी अभिज्ञ पुरुष की सहायता से न करना चाहिए। छेदन की आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और (यह) नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लम्बी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदन की अधिक आवश्यकता नहीं है।

दूसरा और तीसरा साधन—चालन व दोहन—अँगूठे और तर्जनी अँगुली से अथवा बारीक वस्त्र से जीभ को पकड़ कर चारों तरफ उलट फेर कर हिलाने और खींचने को चालन कहते हैं। **मक्खन अथवा घी** लगा कर दोनों हाथों की अंगुलियों से जीभ को गाय के थन दोहन जैसे पुनः पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करने की क्रिया का नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहने से अंतिम अवस्था में जीभ इतनी लम्बी हो जाती है कि नासिका के ऊपर भ्रू-मध्य तक पहुँच जाय। इस मुद्रा का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यान की अवस्था परिपक्व करने में बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वा के भी नाना प्रकार के भेद देखने में आए हैं। किसी की जिह्वा में सूताकार नाड़ी के स्थान में मोटा मांस होता है, जिसके काटने में अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वा में न नाड़ी होती है न मांस। उसमें छेदन की आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिए।

२. महामुद्रा—प्रथम विधि मूलबन्ध लगाकर बायें पैर की एड़ी से सीवन (गुदा और अण्डकोश के मध्य का चार अंगुल स्थान) को दबाएँ और दाहिने पैर को फैलाकर उसकी अंगुलियों को दोनों हाथों से पकड़ें। पाँच घर्षण करके बायीं नासिका से पूरक करे और जालन्धरबंध लगाये। फिर जालन्धरबंध खोलकर दाहिनी नासिका से रेचक करें। यह वामांग की मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दक्षिणांग में इस मुद्रा को करना चाहिए।

दूसरी विधि—बायें पैर की एड़ी को सीवन (गुदा और उपस्थ के मध्य के चार अंगुल भाग) में बल पूर्वक जमाकर दायें पैर को लम्बा

फैलावें। फिर शनैः शनैः पूरक के साथ मूल तथा जालन्धरबंध लगाते हुए दायें पैर का अंगुठा पकड़ कर मस्तक को दायें पैर के घुटने पर जमा कर यथा शक्ति कुम्भक करें। कुम्भक के समय पूरक की हुई वायु को कोष्ठ में शनैः शनैः फुलावें और ऐसी भावना करें की प्राण कुण्डलिनी को जाग्रत करके सुषुम्णा में प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तक को घुटने से शनैः शनैः रेचक करते हुए उठकर यथा स्थिति में बैठ जायँ इसी प्रकार दूसरे अंग से करना चाहिए। **प्राणायाम** की संख्या एवं समय बढ़ाता रहे।

फल—मंदाग्नि, अजीर्ण आदि उदर के रोगों तथा प्रमेह का नाश, क्षुधा की वृद्धि और कुण्डलिनी का जाग्रत होना।

३. अश्विनी मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ कर योनि-मंडल को अश्व के सदृश पुनः पुनः सिकोड़ना **अश्विनी मुद्रा** कहलाती है।

फल—यह मुद्रा प्राण के उत्थान और कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत करने में सहायक होती है। अपानवायु को शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओं को मजबूत करती है।

४. शक्तिचालिनी मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ कर हाथों की हथेलियाँ पृथिवी पर जमा दें। बीस-पच्चीस बार शनैः शनैः दोनों नितम्बों को पृथ्वी से उठा-उठा कर ताड़न करे। कुम्भक के समय अश्विनी मुद्रा करे अर्थात् गुह्य प्रदेश का आकर्षण, विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालन्धरबन्ध खोल कर यदि दोनों नासिका पुट से पूरक किया हो तो दोनों से अथवा पूरक से विपरीत नासिका पुट से रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रता पूर्वक बैठ जाय।

घेरण्डसंहिता में इस मुद्रा को करते समय वालिस्त भर चौड़ा, चार अंगुल लम्बा, कोमल, श्वेत, और सूक्ष्म वस्त्र नाभि पर कटिसूत्र से बाँध कर सारे शरीर पर भस्म मल कर करना बतलाया है।

फल—सर्व रोग नाशक और स्वास्थ्य वर्धक होने के अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने में अत्यंत सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करें।

५. योनि मुद्रा—सिद्धासन से बैठ समसूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अंगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, दोनों मध्यमाओं से नाक के छिद्रों को बंद करके और दोनों अनामिका

एवं कनिष्ठिकाओं को दोनों ओठों के पास रख कर काकी मुद्रा द्वारा अर्थात् जिह्वा को कौवे की चोंच के सदृश बना कर उसके द्वारा प्राण वायु को खींच कर अधोगति अपानवायु के साथ मिलावें। तत्पश्चात् ओम् का जाप करता हुआ ऐसी भावना करें कि उसकी ध्वनि के साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनी को जाग्रत करके षटचक्रों का भेदन करते हुए सहस्र दल कमल में जा रही है। इससे अन्तरज्योति का साक्षात्कार होता है।

६. योग मुद्रा—मूलबंध के साथ पद्मासन से बैठ कर प्रथम दोनों नासिका पुटों से पूरक करके जालन्धरबन्ध लगावे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जा कर बायें हाथ की और दायें हाथ से बायें हाथ की कलाई को पकड़े, शरीर को आगे झुका कर पेट के अन्दर एड़ियों को दबाये हुए सिर को जमीन पर लगा दें। इस प्रकार यथा शक्ति कुम्भक करने के पश्चात् सिर को जमीन से उठा कर जालन्धरबंध खोल कर दोनों नासिकाओं से रेचन करें।

फल—पेट के रोगों को दूर करने और कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने में सहायक होती है।

७. शाम्भवी मुद्रा—मूल और उड्डीयानबंध के साथ-साथ सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ कर नासिका के अग्रभाग अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर करके ध्यान जमाना साम्भवी मुद्रा कहलाती है।

८. तडागी मुद्रा—तडाग (तालाब) के सदृश कोष्ठ को वायु से भरने को तडागी मुद्रा कहते हैं। शवासन से चित्त लेट कर जिस नासिका का स्वर चल रहा हो उससे पूरक करके तालाब के समान पेट को फैला कर वायु से भर ले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायु को पेट में इस प्रकार हिलावें जिस प्रकार तालाब का जल हिलता है। कुम्भक के पश्चात् सावधानी से वायु को शनैः शनैः रेचन कर दें इससे पेट के सर्व रोग समूल नाश होते हैं।

९. विपरीतकर्णी मुद्रा = शीर्षासन = कपालासन—पहिले जमीन पर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रख कर उस पर अपने मस्तक को रखे। फिर दोनों हाथों के तलों को मस्तक के पीछे लगा कर शरीर को उल्टा ऊपर उठा कर सीधा खड़ा कर दें। थोड़े ही प्रयत्न से मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासन के साथ भी की जा सकती है।

इसको ऊर्ध्वपद्मासन कहते हैं। आरम्भ में इसको दीवार के सहारे करने में आसानी होगी।

फल—वीर्य की रक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्नि का बलवान होना। प्राण की गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिर-दर्द आदि का दूर होना, रक्त शुद्ध होना और कफ के विकार का दूर होना।

१०. वज्रोली मुद्रा—मलत्याग के समय कई बार मूत्र को बलपूर्वक ऊपर की ओर आकर्षित करे। ऐसा करते समय इस बात को ध्यान से देदें कि मूत्र धारा कितने नीचे से आकर्षित हो कर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरन्तर अभ्यास से जब मूलधार दस-बारह अंगुल नीचे से आकर्षित हो कर खींची जा सके और उतारने में कुछ शक्ति लगाना पड़े तो समझना चाहिए कि वज्रोली क्रिया सिद्ध हो गयी है। तत्पश्चात् क्रमशः जल, दूध, तेल अथवा घी, शहद अथवा अन्त में पारा खींचने का अभ्यास करे।

दूसरी विधि—एक चौदह अंगुल रबर की मूत्र निष्कासन (कैथिटॅर् नलिका जो कि अंग्रेजी दवाखानों में मिल सकती है) पानी में उबाल कर लिङ्ग-छिन्द्र में प्रवेश करने का अभ्यास करें। यह अभ्यास एक अंगुल से प्रारम्भ करके क्रमशः एक-एक अंगुल बढ़ाता जाय। जब बारह अंगुल प्रविष्ट होने लगे तो चौदह अंगुल लम्बी और लिंग के छिद्र के अनुसार चौड़ी जस्ते की सलाई जो दो अंगुल मुड़ी हुई ऊपर को मुँह-वाली हो जिससे कि लिङ्गेन्द्रिय में प्रविष्ट कर सके उपयुक्त रबर कैथिटॅर् की रीति से लिङ्ग छिद्र में प्रवेश करने का अभ्यास करे। जब बारह अंगुल तक प्रविष्ट होने लगे, तब चौदह अंगुल लम्बो लिङ्गछिद्र के अनुसार चौड़ी अन्दर से पोली एक चाँदी की सलाई बनावें, जो दो अंगुल टेढ़ी और ऊर्ध्वमुखी हो। इस टेढ़े भाग को लिंग छिद्र में प्रविष्ट कर दो अंगुल बाहर रहने दें, फिर सुनार की धमनी के सदृश धमनी से उस पर सलाई में लगातार फूत्कार करे। इस प्रकार लिङ्ग मार्ग का अच्छी तरह शुद्ध हो जाने पर वायु को खींचने और छोड़ने का अभ्यास करे, इस अभ्यास के सिद्ध हो जाने पर लिंग छिद्र से उपर्युक्त रीति से जल, तेल, दूध, शहद और पारे के खींचने का क्रमशः अभ्यास करे।

फल—लिंगेन्द्रिय के छिद्र की शुद्धि और अपानवायु पर पूर्णतया अधिकार प्राप्त हो जाता है, पथरी को तोड़ कर निकालने में सहायता मिलती

है। इस मुद्रा का फल हठयोग में अलौकिक सिद्धियाँ वतलाई गयी हैं परन्तु जरा सी असावधानी होने पर इन्द्रिय छिद्र में विकार होने से भयंकर शारीरिक रोग उत्पन्न होने तथा स्त्री के रज खींचने की चेष्टा में ऊँचे से ऊँचे अभ्यासी के लिए भी आध्यात्मिक पतन होने की अधिक सम्भावना है। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण दृष्टिगोचर हुए हैं। इन मुद्राओं आदि को किसी अनुभवी की सहायता से करना चाहिए अन्यथा लाभ के स्थान में हानि पहुँचने की अधिक सम्भावना है।

चित लेटकर करने के आसन

१. पादाङ्गुष्ठ-नासाग्र-स्पर्शासन—पृथ्वी पर समसूत्र में पीठ के वल सीधा लेट जाय। दृष्टि को नासाग्र में जमाकर दायें पैर के अँगूठे को पकड़ कर नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करे, इसी प्रकार पुनः पुनः करे, मस्तक, बायाँ पैर और नितम्ब पृथ्वी पर जमे रहें। इसी प्रकार दायें पैर को फैलाकर बायें पैर के अँगूठे को नासिका के अग्रभाग से स्पर्श करे। फिर दोनों पैरों के अँगूठों को दोनों हाथों से पकड़कर नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करे। कई दिन के अभ्यास के पश्चात् अँगूठा नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करने लगेगा।

फल—कमर का दर्द, घुटने की पीड़ा, कंद-स्थान की शुद्धि एवं उदर सम्वन्धी सर्वरोगों का नाश करता है। यह आसन स्त्रियों के लिए भी लाभदायक है।

२. पश्चिमोत्तानआसन—दोनों पाँवों को उड्डीयान और मूल बन्ध के साथ लम्बा सीधा फैलावे। दोनों हाथों की अँगुलियों से दोनों पैरों की अँगुलियों को खींचकर शरीर को झुका कर, माथे को घुटने पर टिका दे, यथाशक्ति वहीं पर टिकाए रहें। प्रारम्भ में दस-बीस बार शनैः शनैः रेचक करते हुए मस्तक को घुटने पर ले जायँ और इसी प्रकार रेचक करते हुए ऊपर उठते चले जायँ।

फल—पाचनशक्ति का बढ़ना, कोष्ठबद्धता दूर करना, सब स्नायु कमर तथा पेट की नश-नाड़ियों को शुद्ध एवं निर्मल करना, बढ़ते हुए पेट को पचकाना इत्यादि।

इस आसन को कम से कम दश मिनट तक करते रहने से उचित लाभ प्रतीत होगा।

स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार कुण्डलिनी का स्थान मूलाधार के ऊपर पेडू के पास ...

... है। इस ग्रंथि का भेदन ...

... पीड़ा तथा अन्य उपसर्ग भी सम्भव हैं।"

इन पंक्तियों से सुषुम्णा नाड़ी को खोलना ही योग साधना का प्रमुख महत्व है। प्राणायाम के द्वारा वायु खींचकर शरीर के ऊर्ध्वभाग को सिकोड़े और वायु को नीचे की ओर धकेले। नीचे की ओर (अपान वायु) जाती हुई वायु को भी अधोभागों को भी सिकोड़कर रोके रहे। इस प्रकार वायु को मूलाधार की ओर केन्द्रित करे, इस प्रकार की क्रिया से प्राण और अपान वायु के संघर्ष से, दबाव से जो ताप उत्पन्न होगा उससे प्रसुप्त कुण्डलिनी के आवेष्टन ढीले पड़ जायेंगे और वह सक्रिय तथा जागृत हो उठेगी तथा सुषुम्णा का मुख खुल जायगा और सुषुम्णा के माध्यम से चित्रिणी नाड़ी के सहारे कुण्डलिनी ऊपर को गतिमान होकर ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचेगी। यह साधना अत्यन्त दुष्कर है, सहसा इसमें सफलता मिलना सम्भव नहीं है। इस क्रिया में प्राण वायु को इड़ा, पिंगला नाड़ियों से हटाकर सुषुम्णा नाड़ी के माध्यम से (जो मेरुदण्ड में है) ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना होता है। इस क्रिया में 'जलंधर' और 'मूलबन्ध' आसनों का प्रयोग होता है। तात्पर्य यह है कि प्राण और अपान वायु के मिलने से जो आन्तरिक ताप बनता है उससे ठीक ऐसी स्थिति बनती है जैसे कि खाली नली में नीचे ऊपर दोनों ओर से पम्प किया जाय और मध्यस्थ वायु को निकलने न दिया जाय, यह वायु गरम होकर कहीं भी बाहर निकलने का प्रयास करेगी और पम्प में कोई छोटा सा छिद्र होगा तो उसी पर दबाव पड़ेगा। इसी प्रकार प्राण व

अपान वायु रोकने से कुण्डलिनी पर दबाव पड़ने से उसके बन्धन ढीले पड़कर सुषुम्णा का द्वार खुल सकेगा।

अथवा ऐसा समझें कि जिस प्रकार रक्तचाप मापक यंत्र की पेटी हाथ में बांधकर गुब्बारे से पम्प करने पर यंत्र का ...

... है।

षटचक्र

मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक षट् (६) चक्र हैं जो एक बन्द कमल पुष्प के आकार के हैं। कुण्डलिनी जागृत होने पर जब सुषुम्णा द्वारा प्राणवायु ऊपर को गतिमान होता है तो उसे क्रमश: इन ६ चक्रों का भेदन करना होता है—

(१) मूलाधार में मूलाधार चक्र—मेरुदण्ड में सबसे नीचे स्थित पृथ्वीतत्व से सम्बन्धित है।

(२) लिंगमूल में स्वाधिष्ठान चक्र—जल तत्व से सम्बन्धित है।

(३) नाभि में मणिपूरक चक्र—यह प्रकाश और तेज का प्रतीक है।

(४) हृदय में अनाहत चक्र—यह वायु तत्व का प्रतीक है।

(५) कण्ठ में विशुद्ध चक्र या शून्य चक्र—आकाश तत्व का प्रतीक है।

(६) भौंहों के मध्य आज्ञा चक्र—यह मन का प्रतीक है।

इन षटचक्रों के बाद अन्त में हजार पंखुड़ियों वाला 'सहस्रार चक्र'

Scanned by CamScanner

स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार कुण्डलिनी का स्थान [illegible] के ऊपर पेडू के पास [illegible]

[illegible] है। इस ग्रंथि का भेदन [illegible]

[illegible] पीड़ा तथा अन्य उपसर्ग भी सम्भव हैं।"

इन पंक्तियों से सुषुम्णा नाड़ी को खोलना ही योग साधना का प्रमुख लक्ष्य है। प्राणायाम के द्वारा वायु खींचकर शरीर के ऊर्ध्वभाग को सिकोड़े और वायु को नीचे की ओर धकेले। नीचे की ओर (अपान वायु) जाती हुई वायु को भी अधोभागों को भी सिकोड़कर रोके रहे। इस प्रकार वायु को मूलाधार की ओर केन्द्रित करे, इस प्रकार की क्रिया से प्राण और अपान वायु के संघर्ष से, दबाव से जो ताप उत्पन्न होगा उससे प्रसुप्त कुण्डलिनी के आवेष्टन ढीले पड़ जायेंगे और वह सक्रिय तथा जागृत हो उठेगी तथा सुषुम्णा का मुख खुल जायगा और सुषुम्णा के माध्यम से चित्रिणी नाड़ी के सहारे कुण्डलिनी ऊपर को गतिमान होकर ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुंचेगी। यह साधना अत्यन्त दुष्कर है, सहसा इसमें सफलता मिलना सम्भव नहीं है। इस क्रिया में प्राण वायु को इड़ा, पिंगला नाड़ियों से हटाकर सुषुम्णा नाड़ी के माध्यम से (जो मेरुदण्ड में है) ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना होता है। इस क्रिया में 'जलंधर' और 'मूलबन्ध' आसनों का प्रयोग होता है। तात्पर्य यह है कि प्राण और अपान वायु के मिलने से जो आन्तरिक ताप बनता है उससे ठीक ऐसी स्थिति बनती है जैसे कि खाली नली में नीचे ऊपर दोनों ओर से पम्प किया जाय और मध्यस्थ वायु को निकलने न दिया जाय, वह वायु गरम होकर कहीं भी बाहर निकलने का प्रयास करेगी और पम्प में कोई छोटा सा छिद्र होगा तो उसी पर दबाव पड़ेगा। इसी प्रकार प्राण व

अपान वायु रोकने से कुण्डलिनी पर दबाव पड़ने से उसके बन्धन ढीले पड़कर सुषुम्णा का द्वार खुल सकेगा।

अथवा ऐसा समझें कि जिस प्रकार रक्तचाप मापक यंत्र की पेटी हाथ में बांधकर गुब्बारे से पम्प करने पर यंत्र का [illegible]

[illegible] किया जाता [illegible]

[illegible] है।

षटचक्र

मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक षट् (६) चक्र हैं जो एक बन्द कमल पुष्प के आकार के हैं। कुण्डलिनी जागृत होने पर जब सुषुम्णा द्वारा प्राणवायु ऊपर को गतिमान होता है तो उसे क्रमश: इन ६ चक्रों का भेदन करना होता है—

(१) मूलाधार में मूलाधार चक्र—मेरुदण्ड में सबसे नीचे स्थित पृथ्वीतत्व से सम्बन्धित है।

(२) लिंगमूल में स्वाधिष्ठान चक्र—जल तत्व से सम्बन्धित है।

(३) नाभि में मणिपूरक चक्र—यह प्रकाश और तेज का प्रतीक है।

(४) हृदय में अनाहत चक्र—यह वायु तत्व का प्रतीक है।

(५) कण्ठ में विशुद्ध चक्र या शून्य चक्र—आकाश तत्व का प्रतीक है।

(६) भौंहों के मध्य आज्ञा चक्र—यह मन का प्रतीक है।

इन षटचक्रों के बाद अन्त में हजार पंखुड़ियों वाला 'सहस्त्रार चक्र'

Scanned by CamScanner

नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं त्वत्साधनं तत्त्वपदस्य ज्ञाने।
भवत्प्रसादात्पवनेन साकं विलीयते विष्णुपदे मनो मे।।446।।

उस नाद के अनुसन्धान रूप साधन को मैं नमस्कार करता हूँ क्योंकि मैं तत्त्वपद का साधन आप ही को जानता हूँ। पवन (प्राण) सहित आपकी कृपा से मेरा मन विष्णुपद में विलीन होगा।(446)

जालन्धरोड्ड्याणसुमूलबन्धान् जल्पन्ति कण्ठोदरपायुमूले।
बन्धत्रयेऽस्मिन् परिचीयमाने बन्धः कुतो दारुणकालपाशात्।।447।।

जो व्यक्ति जालन्धर, उड्डयान और मूल – इन तीनों बन्धों को क्रमश कण्ठ, उदर और पायुमूल में लगाने की कला से सुपरिचित हो गया है वह दारुण कालपाश रूपी बन्धन में कैसे रह सकता है।(447)

ओड्ड्याणजालन्धरमूलबन्धैरुन्निद्रितायां सुरनायिकायाम्।
प्रत्यङ्मुखात्सम्प्रविशन्सुषुम्नां गमागमौ मुंचति गन्धवाहः।।448।।

जालन्धर, ओड्डयाण, मूल –इन तीन बन्धों से जिसने जगा लिया है सुरनायिका कुण्डलिनी को और उन्मुख कर उसको सुषुम्ना में प्रवेश कराये हुये योगी का प्राण गमागम से मुक्त हो जाता है।(448)

उत्थापिताधारहुताशनोत्थैराकुंचनैः शश्वदपानवायोः।
सन्तापिता चन्द्रमसं पतन्तीं पीयूषधारां पिबतीह धन्यः।।449।।

उत्थापित मूलाधार रूपी अग्नि से निष्पन्न आकुंचनों के द्वारा अपान वायु को नित्य ही सन्तापित किये जाने पर (ललना चक्र से टपकती हुई) अमृतधारा को पीकर साधक धन्य होता है।(449)

बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां विवर्जिता रेचकपूरकाभ्याम्।
विशोषयन्ती विषमप्रवाहं विद्यां भजे केवलकुम्भरूपाम्।।450।।

बन्धत्रय के अभ्यास की परिपक्वावस्था से उत्पन्न तथा रेचक और पूरक से रहित जो विशप्रवाह को सुखाती रहती है कुण्डलिनी उस साधक का जो केवलकुम्भकरूपा विद्या को भजता है।(450)

अनाहते चेतनसाधनैरभ्यासशूरैरनुभूयमाना ।
संस्तम्भितश्वासमनःप्रचारा सा जृम्भते केवलकुम्भकश्रीः।।451।।

चेतन की सावधानता (संयम) से साधक श्रेष्ठों के द्वारा बताये गये साधना से श्वास के प्रचलन रहित स्थिति में वह केवल कुम्भक रूपी ऐश्वर्य से युक्त होकर 'अनाहत' नाद का अनुभव करता है।(451)

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

Scanned by CamScanner

29. नादबिन्दुयोगलक्षणम् = नाद और बिन्दु के योग का लक्षण -

मणिपूरस्य पद्मस्य कर्णिकायां महारजः।
ताम्रवर्णं च भवति पूरकेण तदुन्नतम्॥222॥
कुण्डलीसहयोगेन कृत्वा पश्चात्सहस्रके।
पद्मेऽथ कर्णिकायां वै शुद्धस्फटिककान्तिना॥223॥
कोटिसूर्यप्रतीकाशतेजोरूपेण बिन्दुना।
मेलयेदेष वै नादबिन्दुयोग इतीरितः॥224॥

मणिपूर में नाद और सहस्रार में बिन्दु रहता है। इन दोनों के योग (मिलन) करने की विधि मणिपूर चक्र में ताम्रवर्ण का महारज (नाद) को पूरक के द्वारा कुण्डलिनीशक्ति का सहयोग से ऊर्ध्वगति प्रदान करके सहस्रार चक्र के कर्णिका में विद्यमान शुद्ध स्फटिक के कान्ति जैसे एवं कोटिसूर्य का तेजोमय प्रकाश सदृश विद्यामन बिन्दु के साथ मिलायें। यही नाद-बिन्दु का योग है। (222-224)

योगिनः साधना सूक्ष्माऽपीयमेवास्ति वर्णिता।
वीर्यमास्ते प्राणशक्तिस्तन्नाशे ह्रसतीह सा।।225।।

यह साधना अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी योगियों केलये ही वर्णित है, क्योंकि वीर्य ही प्राणशक्ति है, उसके नाश होने से साधना से साधक नीचे गिरता ही है।(225)

CC-0. Shri Satyam Sadhana Kutir, Rishikesh. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

30. महारजोवीर्ययोगलक्षणम् = महारज और वीर्य के योग का लक्षण -

अपानशक्तेरुत्थानादुदानाग्नेश्च योगतः।
वीर्यस्य प्राणशक्तिस्तु प्रभवत्यूर्ध्वगामिनी।।226।।

अपानशक्ति को ऊपर की ओर उठाने से उदराग्नि का योग से वीर्य के साथ प्राणशक्ति ऊर्ध्वगामी होती है।(226)

न वै स्खलति तद्वीर्यं योगिनस्तादृशस्य च।
उदानवेगस्य बलात्स्वप्नदोषादिषु स्रुतम्।।227।।

इस प्रकार का योगी के वीर्य का स्खलन कभी नहीं होगा। उदानवायु का वेग के बलपर ही स्वप्नदोष आदि में वीर्य स्खलित होता है।(227)

वीर्यं तदुष्णता शक्त्या योनिस्थानस्थितेन वै।
रुधिरेण सम्मिलति प्राणवेगश्च तद्बलात्।।228।।

वीर्य, उसकी गर्मी और योनिस्थान में स्थित शक्ति - ये तीनों जब खून के साथ मिल जाते हैं तब प्राण का वेग के सहयोग से वीर्य-स्खलन होता है।(228)

सुषुम्नायामूर्ध्वगतिं क्रियते क्रिययाऽनया।
महारजोवीर्ययोगो यतिभिः कथितो मुदा।।229।।

उक्त क्रिया से जब वीर्य का सुषुम्ना में ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है तो उसको योगियों ने 'महास्वोवीर्ययोग' कहा है।(229)

Scanned by CamScanner

ब्रह्माण्डभाण्डस्थितम्—यह अमृत का गुणवाचक विशेषण है। ब्रह्माण्ड का आधारपात्र या भाण्ड जिस पर ब्रह्माण्ड आधारित है, कुण्डलिनी है। कुण्डलिनी ही भाण्ड है, क्योंकि वही सर्व की योनि है।

गोरक्षसंहिता में इसे स्पष्ट किया गया है—

'प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता हता।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया॥
स्वपन्ती भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा।
उद्घाटयेत् कवाटं तु यथा कुञ्चिकया दृढम्।
कुण्डलिन्या तथा योगी ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत्॥
कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानञ्च तच्चेतसि।
वारं-वारमपानमूर्ध्वमनिशं प्रोत्सारयन् पूरयन्
प्राणं मुञ्चति मोक्षमेति शनकैः शक्तिप्रभावाद् यतः॥'

Scanned by CamScanner

जब शिष्य योगीगुरुके पास जाता है तब गुरु शिष्यको यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदिका अभ्यास कराते हैं। इन सबसे शिष्य जब अभ्यस्त हो जाता है तथा उसके अन्तःकरण शुद्ध हो जाते हैं एवं चित्तकी एकाग्रता हो जाती है तब गुरु उसे कुण्डलिनी योग अर्थात् षट्चक्र भेदका ज्ञान प्रदान करते हैं। शिष्य उसे अच्छी तरहसे समझ ले तब गुरुके द्वारा बताये गये आसनमें बैठकर कुण्डलिनी जागरण करे। विनिर्दिष्ट आसनपर बैठकर प्राणवायु अथवा श्वासका कुम्भककर 'हंसः' मन्त्रका 'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकार मानसिक चिन्तन करते हुए हृदयसे जीवात्माको मूलाधारमें ले जायें, जहांपर कुण्डलिनी सोयी हुई है। उसके बाद धीरे-धीरे गुदाका सङ्कोचन कर, अपान वायुका निरोध करे। वायुका उत्तोलनकर मूलाधार कमलकी कर्णिकाके मध्यवर्ती त्रिकोणस्थ कामको वायें तरफसे घुमावे। उसके उद्दीप्त होनेपर उसमें स्थित कामाग्निसे उत्तप्त हुई कुण्डलिनीका हुङ्कारके द्वारा जागरण करे। यह हूंकार कूर्चबीज है। जब तक कुण्डलिनी उत्तप्त नहीं होती, उसका जागरण नहीं होता है। जब कामवायुको आन्दोलित किया जाता है तब उसमेंसे तेज उत्पन्न होता है। इसप्रकारसे गरमीवायुके कारण कुण्डलिनी उत्तप्त हो जाती है, तब हूंकार करना चाहिए। जब हूंकार करेंगे तब कुण्डलिनीको झटका लगेगी। इस प्रकारसे तेज झटका लगने पर जिस स्वयम्भू लिङ्गके छिद्रको अपने मुखसे आच्छादित कर रक्खी थी उसी छिद्रमें वह प्रवेश कर जाती है एवं स्वयम्भू लिङ्गके मूलसे निकली ब्रह्म नाड़ीके मुखमें प्रवेश कर जाती है। उस कुण्डलिनीका अनुसरण जीवात्मा भी करती है। जब यह कुण्डलिनी ब्रह्म नाड़ीमें प्रवेश करती है तब इस चित्रिणी नाड़ी अर्थात् ब्रह्म नाड़ीसे गुंथे

हुए कमलोंको प्राप्त कर यह हजारों सूर्योंके समान प्रकाशमान्, करोडों चन्द्रमाओंके समान शीतल बन जाती है। सारे कमल भी प्रकाशित हो जाते हैं।

इस प्रकारसे लयक्रमसे वह कुण्डलिनी तीनों लिङ्गोंका भेदन कर सहस्रारमें पहुँच जाती है। लयक्रम एवं सृष्टिक्रमका आगे कथन किया जायेगा।

सर्व प्रथम जब कुण्डलिनी मूलाधार पद्ममें स्थित रहती है तब उसका वैखरी भाव होता है। जब स्वयम्भू लिङ्गका भेदन करती है और अनाहत पद्ममें पहुँच जाती है तब उसे मध्यमा भाव प्राप्त होता है। उस मध्यमा भावसे अनाहत पद्ममें स्थित बाण लिङ्गका भेदन कर जब आज्ञा पद्ममें पहुँच जाती है तब उसे पश्यन्ती भाव प्राप्त होता है। पश्यन्ती भावसे आज्ञा पद्ममें स्थित इतर लिङ्गका भेदन कर जब सहस्रारमें स्थित परब्रह्मके पास पहुँच जाती है तब उसे पराभाव प्राप्त होता है। तब हंस रूप जीवात्मा परम हंस रूप परमात्मभावको प्राप्त करता है। कुण्डलिनी भी चैतन्यस्वरूपा बन कर उस चैतन्य स्वरूप ब्रह्ममें एकाकार हो जाती है। यही कुण्डलिनीयोग है। इस अवस्थामें विशुद्ध सत्त्वरूपा कुण्डलिनी महाकुण्डलिनी कहलाती है। जब तक सहस्रारमें स्थित परब्रह्ममें एकाकार नहीं होती है तब तक वह कुलकुण्डलिनी कहलाती है। महाकुण्डलिनी ही नित्यानन्द रूप मुक्तिको प्राप्त कराती है। हृदयस्थानसे अब 'मैं ब्रह्म हूँ' इस भावनासे आयी जीवात्मा यहांपर ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाती है। यही मोक्ष-प्राप्ति है।

Scanned by CamScanner

गौतमीये—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य्यं दयार्ज्जवम् ।
क्षमा धृतिर्म्मिताहारः शौचञ्चेति यमा दश ॥
जपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणञ्चैव ह्रीर्म्मतिश्च तपो हुतम् ।
दशैते नियमाः प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ॥ इति ॥

तथाच एतद्द्वयाभ्यासशीलः श्रीनाथवक्त्रात् गुरुवक्त्रात् मोक्षवर्त्मप्रकाशं क्रमं ज्ञात्वा हुङ्कारेण मूलाधारस्थितवह्निपवनयोराक्रमेण तप्तां कुण्डलिनीं कृत्वा ब्रह्मद्वारस्य मध्ये तां रचयति ।

रुद्रयामले—

हुङ्कारेण समुत्थाप्य शक्तिं स्वाधारसंस्थिताम् ।

ततः सा प्रबोधिता तल्लिङ्गत्रयं स्वयम्भूबाणेतरलिङ्गत्रयं भित्त्वा भेदं कृत्वा तच्छिद्रेण ब्रह्माख्याया इति ल्यब्लोपे पञ्चमी ब्रह्मनाडीमारुह्य सकलसदनं प्राप्य परमरसयुक्तशिवे परमशिवे प्रदीपाभे देदीप्यते । ततः सा शुद्धस्वभावा सूक्ष्मतालक्षणेन तडि़दिव लसत्तन्तुरूपा तन्मोक्षानन्दं घटयति । नयवशात् नीतिवशात् । समाधौ यतो योगीशः तां कुलकुण्डलिनीं जीवात्मना सार्द्धं मोक्षधाम्नि परमशिवे सच्चिदानन्दरूपे भगवतीं चैतन्यरूपां ध्यायेत् ।

तन्त्रान्तरे—

ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुश्चिन्तातत्त्वेन निश्चला ।
एतद्ध्यानमिह प्रोक्तं सगुणं निर्गुणं द्विधा ।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं तथा ॥

अन्यत्रापि—

मज्जीवब्रह्मणोरैक्यं सोऽहमस्मीति[1] वेदनम् ।
तन्निर्गुणमिदम् । इत्यादि ।

[1] "हंस्यादिति" इति पाठान्तरम् ।

Scanned by CamScanner

ततो लाक्षाभं रक्तवर्णं परमामृतं कुण्डलिनी पीत्वा पूर्णानन्दमहोदयात् परशिवात् शिवसकाशात् प्राक्पादितोन्मन्यादिसृष्टिमार्गेण कुलपथात् कुलपथमारुह्य ब्रह्मारुह्य मूलाधारे स्वस्थाने प्रविशेत् । ततो योगी तद्दिव्यामृतधारया योगपरम्पराप्तया ब्रह्माण्डस्थितं शरीरस्थं दैवतं डाकिन्यादिकं तर्पयेत् प्रीणयेत् । श्रीनाथवक्त्रादिति यदुक्तं तत् गोरक्षसंहितादौ स्पष्टीकृतम् ।

यथा—प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता हुता ।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्यूर्द्ध्वं सुषुम्णया ॥
ज्वलन्ती भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
उद्घाटयेत् कवाटञ्च यथा कुञ्चिकया दृढम् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥
कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानञ्च तच्चेतसि ।
वारंवारमपानमूर्द्ध्वमनिशं प्रोत्सारयन् पूरयन्
प्राणं मुञ्चति मोक्षमेति शनकैः शक्तिप्रभावात् यतः ॥

कुञ्चिकया कुलुपकारीत्याख्यया ।

निर्व्वाणपद्धत्यामपि—

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे योजयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रबोधयेत् ॥
श्रमद्योनिगतं ध्यायेत् कामं बन्धूकसन्निभम् ।
ज्वलत्कालानलप्रख्यं तडित्कोटिसमप्रभम् ॥
तदूर्द्ध्वं तु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला ।
तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥
गच्छन्ती ब्रह्ममार्गेण लिङ्गभेदक्रमेण तु ।
अमृतं यद्विसर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ॥
द्रुतरक्तं सतेजाढ्यं धारापातप्रवर्षणम् ।
पीत्वा कुलामृतरसं पुनरेव कुलं विशेत् ॥

Scanned by CamScanner

सा च प्राणः समाख्यातस्तन्त्रेऽस्मिन् परमेश्वरि ।
एवमभ्यस्यमानस्य अहर्निशनिबन्धनात् ।
चतुर्व्विधा तु या सृष्टिरस्यां योनौ प्रजायते ॥
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवान्तिकम् ।
योनिमुद्रा परा सा तु बन्धस्तस्याः प्रकीर्त्तितः ॥

चतुर्व्विधेति नैयायिकमते पुरुषात् । सांख्यमते प्रकृतिपुरुषाभ्याम् । पातञ्जलमते प्रकृतितः । मीमांसामते अदृष्टात् सृष्टिः । तत्र योगो द्विविधः ।

यथा शारदायाम्—

पिण्डं भवेत् कुण्डलिनी शिवात्मा पदञ्च हंसः सकलान्तरात्मा ।
रूपं भवेत् बिन्दुरमन्दकान्तिरतीतरूपं शिवसामरस्यम् ॥
पिण्डादियोगं शिवसामरस्यात् सबीजयोगं प्रवदन्ति सन्तः ।
शिवे लयं नित्यगुणाभियुक्ते निर्बीजयोगं फलमव्यपेक्षम् ॥ इति ॥

तथान्यत्र—

दिक्कालादिविवर्ज्जिते परशिवे चैतन्यमात्रात्मके । इत्यादि ।

स्वच्छन्दसंग्रहेऽपि—

पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्त्तितः ।
रूपं बिन्दुरिति ख्यातं रूपातीतस्तु चिन्मयः ॥

तत्रान्तरेऽपि—

पिण्डे युक्ताः पदे युक्ता रूपे युक्ताः षडानन ।
रूपातीते तु ये युक्तास्ते मुक्ता नात्र संशयः ॥

मतभेदे अनेकानि पद्मान्याह स्वच्छन्दसंग्रहे—

अधश्चोर्द्ध्वं सुषुम्णायाः सहस्रदलसंयुतम् ।
रक्तं श्वेतञ्च साहस्रदलस्थं शक्तिसंयुतम् ॥
ऊर्द्ध्वाधो मुखमूलन्तु कर्णिकाकेशरान्वितम् ।
शक्तिरूपं महादेवि कुलाकुलमयं शुभम् ॥

Scanned by CamScanner

'सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रंथयोऽपि च ।।'[२]

आधारशक्तिरूपा कुण्डलिनी के ऋज्वीभूता होने पर इड़ा एवं पिङ्गला की मृत्यु हो जाती है क्योंकि कुण्डली के जागृत होने पर सुषुम्ना नाड़ी में प्राण प्रवेश कर जाता है—'ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डलीसहसा भवेत् । तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुराश्रया ।।'[३] मूलबंध लगाने से अधोगामी अपान ऊर्ध्वगामी होकर अग्निमण्डल में पहुँच जाता है, (नाभि के अधोभाग में स्थित त्रिकोण जठराग्नि में प्रविष्ट होने पर), अपानवायु से ताड़ित जठराग्नि शिखा दीर्घ हो जाती है और अग्नि एवं अपान अग्नि की दीर्घशिखा से ऊष्ण होकर ऊर्ध्वगति प्राण में प्रवेश कर जाते हैं । अपान की ऊर्ध्वगति से दीप्त अग्नि और प्रदीप्त हो उठती है । उसके ताप से कुण्डलिनी प्रतप्त होने से जाग उठती है और ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश कर जाती है—'तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते । दण्डाहता भुजङ्गीतनिश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् । बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।।'[४]

जिस प्रकार कुञ्जी से किवाड़ खुलता है उसी प्रकार कुण्डली के उद्बोधन रूप चाभी से मोक्षद्वार का कपाट भी खुल जाता है—'उद्‌धाटयेत् कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् । कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ।।''[५] जिस मार्ग के द्वारा प्राणी ब्रह्मस्थान में प्रवेश करता है उस ब्रह्मद्वार को कुण्डलिनी अपने मुख से ढके हुए हैं ।[६] कन्द के ऊर्ध्व भाग में स्थित कुण्डलिनी जीवों को बंधन में डालने के लिए सोई पड़ी रहती है किन्तु वही योगियों को मोक्ष दिलाने हेतु जाग उठती है—'कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।।'[७] इसको चलाने पर यह जाग उठती है और योगी मुक्त हो जाता है—'कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता । सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ।।'[८] चूँकि यह ब्रह्मद्वार को मुख से ढके है—'येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् । मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी'—अतः उसे जगाना आवश्यक है जिससे कि वह ब्रह्मद्वार पर सोना छोड़कर ब्रह्मद्वार के मार्ग ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश कर जाय । इस सर्पिणी को जगाने हेतु इसकी पूँछ पकड़कर इसे जगाना चाहिए—'पुच्छे प्रगृह्य भुजङ्गी सुप्तामुद्बोधयेच्चताम् ।'[९] निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ।।' इसको जगाने के लिए योगी को चाहिए कि वज्रासन लगाकर एवं शक्तिचालनी मुद्रा साधकर फिर भस्त्रिका प्राणायाम करे । नाभिदेश में स्थित सूर्य का आकुंचन करे (नाभि के आकुंचन द्वारा) फिर सूर्य के आकुंचन से कुण्डली शक्ति का चालन करे। दो मुहूर्त (चार घड़ी) तक निर्भय रहकर चालन करने से सुषुम्णागत यह कुण्डलिनी थोड़ा बहुत जाग जाती है । और परिणामवस्वरूप वह सुषुम्णा-मुख का

१. त्रिपुरासार समुच्चय २-९. हठयोगप्रदीपिका

त्याग कर देती है और प्राणवायु अपने आप सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है ।[१] जो योगी शक्ति को चलायमान कर लेता है वह भाग्यशील, सिद्ध एवं काल-जयी हो जाता है । कुण्डली को चलाकर भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए—'कुण्डली' चालयित्वा तु भस्त्र कुर्याद्विशेषतः ।' अपने शरीर में स्थित बहत्तर हजार नाड़ियों के मल-शोधन एवं उनके प्रक्षालन का अमोध उपाय मात्र यही कुण्डलिनीयोग है[२]—'द्वासप्ततिसहस्राणां नाड़ीनां मलशोधने । कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसना-दृते ।।'' मल को शक्ति (कुण्डलिनी) के मध्य एवं शक्ति को मन के मध्य लाकर कुण्डली का उद्बोधन करना चाहिए—'शक्ति मध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्य-गाम' क्योंकि इससे परमपद की प्राप्ति होती है—'मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ।।''[३]

इसके कुटिला, कुटिलोगी, कुण्डली, शक्ति आदि अनेक नाम हैं—कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गीशक्तिरीश्वरी । कुण्डल्यसन्धती चैते शब्दाः पर्याय वाचकाः ।।[४] रुद्रयामल में इसके एक हजार नाम उल्लिखित है ।

Scanned by CamScanner

अभासभेदतो भेदः फल तु सममेव हि ।
महामुद्रां प्रवक्ष्यामि भैरवेणोक्तमादरात् ॥ १२० ॥

पार्ष्णिवामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १२१ ॥

चिबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेत् वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेत् ।
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन चाभ्यसेत् ॥ १२२ ॥

प्रसारितस्तु यः पादस्तमुरूपरि विन्यसेत् ।
अयमेव महाबन्धो मुद्रावच्चामुमभ्यसेत् ॥ १२३ ॥

महाबन्धस्थितो योगी स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः ।
अयमेव महाबन्धः सिद्धैः अभ्यस्यते नरैः ॥ १२४ ॥

अन्तः कपालकुहरे जिह्वां व्यावर्त्य बन्धयेत् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिः अप्येषा मुद्रा भवति खेचरी ॥ १२५ ॥

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया ।
जलन्धरो बन्ध एष अमृतद्रवपालकः ॥ १२६ ॥

नाभिस्थोऽग्निः कपालस्थसहस्रकमलच्युतम् ।
अमृतं सर्वदा तावदन्तर्ज्वलति देहिनाम् ॥ १२७ ॥

यथा चाग्निस्तदमृतं न पिबेत्तु पिबेत्स्वयम् ।
याति पश्चिममार्गेणैवमभ्यासतः सदा ।

Scanned by CamScanner

नाभिस्थोऽग्निः कपालस्थसहस्रकमलच्युतम् ।
अमृतं सर्वदा तावदन्तर्ज्वलति देहिनाम् ॥ १२७॥

यथा चाग्निस्तदमृतं न पिबेत्तु पिबेत्स्वयम् ।
याति पश्चिममार्गेणैवमभ्यासतः सदा ।
अमृतं कुरुते देहं जलन्धरमतोऽभ्यसेत् ॥ १२८॥

उड्याणं तु सहजं गुणौघात्कथितं सदा ।
अभ्यसेदस्ततन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ॥ १२९॥

नाभेः ऊर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयेदेव न संशयः ॥ १३०॥

मूलबन्धं तु यो नित्यमभ्यसेत्स च योगवित् ।
गुदे पार्ष्णिं तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ १३१॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ १३२॥

करणं विपरिताख्यं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निः विवर्द्धते ॥ १३३॥

आहारो बहुलः तस्य सम्पाद्यः सांकृते ध्रुवम् ।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निः दाहं करोति वै ।
ऊर्ध्वं भानुरधश्चन्द्रस्तद्यथा श्रृणु सांकृते ॥ १३४॥

अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ।
क्षणात्तु किंचिदधिकमभ्यसेन दिने दिने ॥ १३५॥

वलिश्च पलितश्चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु ओगवित् ॥ १३६॥

वज्रोलिं कथयिष्यामि गोपितं सर्वयोगिभिः ।
अतीवैतद्रहस्यं तु न देयं यस्य कस्यचित् ।
स्वप्राणैस्तु समो यो स्यात्तसमै च कथयेद्ध्रुवम् ॥ १३७॥

स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि योगोक्तनियमैः विना ।
वज्रोलिं यो विजानति स योगी सिद्धिभाजनः ॥ १३८॥

Scanned by CamScanner

तत्र वस्तु द्वयं वक्ष्ये दुर्लभं येन केनचित् ।
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिकरं स्मृतम् ॥ १३९॥

क्षीरमाङ्गिरसं चेति द्वयोराद्यं तु लभते ।
द्वितीयं दुर्लभं पुंसां स्त्रीभ्यः साध्यमुपायतः ।
योगाभ्यासरता स्त्री च पुंसा यत्नेन साधयेत् ॥ १४०॥

पुमान् स्त्री वा यदन्योन्यं स्त्रीपुंस्त्वानपेक्षया ।
स्वप्रयोजनमात्रैकसाधनात्सिद्धिमाप्नुयात् ॥ १४१॥

चलितो यदि बिन्दुः तमुर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ।
एवं च रक्षितो बिन्दुः मृतुं जयति तत्त्वतः ॥ १४२॥

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणत् ।
बिन्दुरक्षाप्रसादेन सर्वँ सिध्यति योगिनः ॥ १४३॥

अमरोलिस्तद्यथा स्यात्सहजोलिस्ततो यथा ।
तदभ्यासक्रमः शस्यः सिद्धानां सम्प्रदायतः ॥ १४४॥

एतैः सैः वैस्तु कथितैरभ्यसेत् कालत्नालतः ।
ततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम् ।
न दिङ्मात्रेण सिद्धिः स्यादभ्यसेनैव जायते ॥ १४५॥

Scanned by CamScanner

अंगुलपर बाहर प्राणका अस्त होता है वहींसे प्राणके अस्तके पीछे अपानका उदय होता है। प्राणकी गति अग्निशिखाकी नाईं हृदयसे ऊपरकी ओर बाहरको है, और अपानकी गति जलकी नाईं हृदय आकाशकी ओर बाहर से भीतरको नीचेकी ओर है। अपान रूपी चन्द्रमाकी कला जब और जहाँ प्राण रूपी सूर्य द्वारा ग्रस्त हो जाती है (अर्थात् जब और जहाँ अपान और प्राण एक होते है) उस स्थानको प्राप्त करके फिर शोक नही होता (अर्थात् उस समयही निस्पन्द अवस्थाका अनुभव होता है जो कि आत्माकी अवस्था है)। इसी प्रकार जब प्राणकी कलाको अपान ग्रस्त कर लेता है (अर्थात् जहाँ और जब प्राण और अपान एक हो जाते हैं और स्पन्दन नहीं होता) उस स्थानको प्राप्त करके फिर जन्म नहीं होता। भीतर और बाहर रहनेवाली वायु ही प्राण और अपान का, जो कि शरीर को पुष्ट करते है, रूप धारण करती है। जब बाहर (१२ अगुल पर) प्राण तो शान्त हो जाए और अपान का उदय न हो, तब ध्यान लगाने पर शोक नहीं होता। इसी प्रकार हृदयके भीतर जब अपान शान्त हो जाए और प्राणका उदय अभी न हुआ हो, उस समय ध्यान लगाने से पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि वही आत्मा का आधार है। वह ऐसा स्थान है जिसमे प्राण और अपान, उदय और अस्त, सूर्य और चन्द्रमा, दोनो का समागम होता है। हृदय मे अपान के अस्त होने पर प्राण का उदय होता है और बाहर प्राण का अस्त होने पर अपान का उदय होता है। इन दोनो उदय और अस्त के बीच की अवस्था, जिसमे प्राण और अपान दोनो ही की गति का अनुभव नहीं होता, आत्मा की निजी अवस्था है। उसमे स्थित होना ही योगी का ध्येय है। उसमे तब नित्य स्थिति होती है जब कि प्राण की गति का बिलकुल निरोध हो जाए।

Scanned by CamScanner

जो सबसे उत्तम प्राणायाम है और जिसको ज्ञानी लोग सोते जागते करते रहते है उसको अपने कल्याण के लिए सुनो। हृदय कमल के कोश से (फेफड़ो से) प्राण के बाहर निकलने का नाम रेचक है। बाहर बारह अगुल से प्राणो के भीतर के अङ्गो मे लाने का नाम पूरक है। बाहर से अपान के अन्दर आजाने पर उसके द्वारा भीतर के अङ्गो को यत्न से भरने का नाम भी पूरक है। हृदय मे आकर जब अपान अस्त हो जाए और वहाँ से प्राणका उदय न हो, तो वह अवस्था कुम्भक कहलाती है। योगी लोगो को उसका अनुभव होता है। रेचक कुम्भक और पूरक भी तीन प्रकार के हैं। वे स्वाभाविक है और सदा होते रहते हैं, उनको करने के लिये विशेष यत्न की आवश्यकता नहीं

Scanned by CamScanner

है। बुद्धिमानो ने जिस प्रकार उनका वर्णन किया है वह सुनो। जो वायु बारह अंगुल बाहर से उदय होती है उसके वहीं पर (बाह्य) पूरक आदि प्राणायाम होते है। नाक से बाहर बारह अंगुलकी दूरी पर, मिट्टी मे अप्रकटित घड़े की नाई, जब वायु आकाश मे स्थित रहती है तो उसे बाह्य कुभंक कहते है। बाहर की ओर जानेवाली वायु के नाककी फुङ्गल तक जानेको योग जागनेवाले लोग प्रथम बाह्य पूरक कहते हैं, और नाक की फुङ्गल से बाहर बारह अगुल तक प्राण के जाने को धीर लोग दूसरा बाह्य पूरक कहते है। प्राण के बाहर जाकर अस्त हो जाने पर जब तक कि वहाँ से अपान का उदय नहीं होता उस पूर्ण और सम अवस्था को बाह्य कुंभक कहते है। अपान के उदय होने से पूर्व जो उसकी अन्दरकी ओर जाने की प्रवृत्ति होने लगती है उस मुक्तिदायक प्राणायाम को बाह्य रेचक कहते है। बारह अङ्गुल बाहर से उठकर अपान का आकार-मय होना दूसरा पूरक कहलाता है। इन बाहरी और भीतरी प्राणों के स्वभावो, कुभक आदि को जानकर योगी दूसरा जन्म नहीं लेता। चलते, ठहरते, सोते, जागते, इन प्राणायामो को करते रहने से स्वाभाविक चञ्चल वृत्तिवाले प्राण भी वश मे आ जाते है। इन प्राणायामो को करता रहता हुआ पुरुष बुद्धिको इनमे लगाकर जो चाहे करे और खाये पिये, उसको कर्तृत्वका स्पर्श नहीं होता। इस अभ्यास मे खूब लग कर, बाहर से मनको रोक कर, कुछ दिन मे मनुष्य केवल पदको प्राप्त कर लेता है। इनका अभ्यास करने पर मनको बाहर के विषयो मे आनन्द नहीं आता, जैसे ब्राह्मण को कुत्ते के मांस मे (खाल मे) मजा नहीं आता। जब प्राण बाहर आकर अस्त हो जाए और अपानका उदय होने को हो (हुआ न हो), उस बाह्य कुभकका अवलम्बन करके योगी शोक से रहित हो जाता है। जब हृदय मे अपान का अस्त हो जाए और प्राण का उदय न हुआ हो, उस भीतरी कुभक का अवलंबन करके भी योगी शोक से पार हो जाता है। प्राण को निकाल कर अपान को ग्रहण न करके जो शुद्ध (बाह्य) कुम्भक होता है उसका अभ्यास करके योगी को परिताप नहीं होता। अपान को भीतर लेकर प्राण को बाहर न निकाल कर जो भीतरी कुभक होता है उसका अभ्यास करने से मनुष्य का पुनर्जन्म नही होता। प्राण और अपान दोनो ही जब भीतर लीन हो जाएँ, उस अवस्था का अभ्यास करके आत्मा के शान्त हो जाने पर शोक नहीं होता। प्राण को भक्षण करने को जब

Scanned by CamScanner

अपान उद्यत होता है उस कल्पना रहित काल का ध्यान करने से फिर शोक नहीं होता। इसी प्रकार अपान को भक्षण करने को जब प्राण उद्यत होता है उस देश और काल का ध्यान करके शोक नहीं होता। जब और जहाँ बाहर और भीतर प्राण और अपान एक दूसरे को निगल जाते है और क्षण भर के लिये प्राण वायु की गति रुक जाती है, प्राण और अपान दोनो का अभाव हो जाता है, उस बिना किसी यत्न किये सिद्ध अवस्था को बाहर और भीतर का कुम्भक कहते है; उस अवस्था मे ही आत्मा के शुद्ध रूप का भान होता है। उसमे स्थिर होकर शोक नहीं होता।

Scanned by CamScanner

कमल दल सा लगता है ॥२०-२१॥

सेकेन विकसत्पत्रं सकलाकाशचारिणा ।
चलन्ति तस्य पत्राणि मृदु व्याप्तानि वायुना ॥२६

चलत्सु तेषु पत्रेषु स मरुत् परिवर्धते ।
वाताहृते लतापत्रजाले वह्निरिवाऽभितः ॥२७

वृद्धिं नीतः स नाडीषु कृत्वा स्थानमनेकधा ।
ऊर्ध्वाधोवर्तमानासु देहेऽस्मिन् प्रसरत्यथ ॥२८

प्राणापानसमानाद्यैस्ततः स हृदयानिलः ।
सङ्केतैः प्रोच्यते तज्ज्ञैर्विचित्राचारचेष्टितैः ॥२९

यान्त्यायान्ति विकर्षन्ति हरन्ति विहरन्ति च ।
उत्पन्ति पतन्त्याशु ता एता। प्राणशक्तयः ॥३०

स एष हृत्पद्मगतः प्राण इत्युच्यते बुधैः ।
अस्य काचिन्मुने शक्तिः प्रस्पन्दयति लोचने ॥३१

काचित्स्पर्शमुपादत्ते काचिद्वहति नासया ।
काचिदन्नं जरयति काचिद्वक्ति वचांसि च ॥३२

नासिका के अग्रभाग से पाँव पर्यन्त समस्त देहाकाश में संचरणशील अपान वायु द्वारा सिंच कर उसके पत्र विकसित हो रहे हैं ॥२६॥ हृदय-पत्र के संकुचित विकसित होने पर वन में लता, पत्रादि को व्याप्त करने वाले वायु के समान ही देहस्थ वायु वर्द्धित होता है ॥२७॥ वह वृद्धि को को प्राप्त हुआ वायु हृदय दि को आश्रयण बनाकर ऊपर नीचे

अवस्थित नाड़ियों में प्रविष्ट होकर शरीर में संचरण करता है ॥२८॥ उस वायु की उन्हीं चेष्टाओं के कारण विद्वज्जन उसे प्राण, अपान, समान आदि नामों से कहते हैं ॥२६॥ वही प्राण-शक्तियाँ द्रुत गति से चलतीं, आतीं, विकर्षण-हरण करतीं, विहार, उत्पतन और पतन आदि का निर्वहन करती हैं (अर्थात् वे प्राणशक्तियाँ ही अन्न-रस आदि की गति का संचालन करने वाली है) ॥३०॥ हे मुने ! विद्वानों ने हृदय कमल में अवस्थित शक्ति को प्राण कहा है, इसी को कोई शक्ति लोचनों में स्पन्दन करतीं है ॥३१॥ प्राण की ही कोई एक शक्ति स्पर्श ग्रहण करती, कोई नासिका से श्वास लेती, कोई अन्न का परिपाक करती और कोई बोलती है ॥३२॥

Scanned by CamScanner

तत्रोर्ध्वाधो द्विसङ्केतौ प्रसृतावनिलौ मुने ।
प्राणापानाविति ख्यातौ प्रकटौ द्वौ वरानिलौ ॥३३
शरीरपुरपालस्य मनसो रथचक्रयोः ।
अहङ्कारनृपस्याऽस्य प्रशस्येष्टतुरङ्गयोः ॥३४
तयोर्ममाऽनुसरतः प्राणापानाभिधानयोः ।
गतिं शरीरमरुतोराशरीरमरुद्धयोः ॥३५
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु सदैव समरूपयोः ।
सुषुप्तसंस्थितस्येव ब्रह्मन् गच्छन्ति वासराः ॥३६
अविरतगतयोर्गतिं विदित्वा

हृदि मरुतोरनुसृत्य चोदितां ताम् ।

न पुनरिह हि जायते महात्मन्

मुदितमनाः पुरुषः प्रणष्टपाशः ॥३७

शरीर में ऊर्ध्व गमन और अधोगमन करने वाले जो दो श्रेष्ठ वायु स्थित हैं वे प्राण और अपान नाम से प्रकट एवं प्रसिद्ध हैं ॥३३॥ देह रूपी पुरी का रक्षक जो मन है, उसके रथ के यह दोनों चक्र हैं और अहंकार रूपी जो राजा है, उसके यह दोनों सुन्दर और इच्छानुसार चलने वाले अश्व हैं ॥३४॥ हे ब्रह्मन् ! उन शरीरगत जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति में सदा समान रहने वाले और अधिक अभ्यास के कारण

अवरोध को प्राप्त न होने वाले प्राण और अपान वायुओं की गति का अनुसरण करते हुए मेरे दिवस, सुषुप्ति में अवस्थित (समाधि-रत) के समान व्यतीत हो रहे हैं ॥३५-३६॥ हे महात्मन् ! हृदयादि में संचरणशील प्राणापान वायुओं की गति को जान कर मुदित मन हुआ जीव भव-पाश से मुक्त होकर पुनः उत्पन्न नहीं होता अर्थात् जन्म-मरण के फन्दे से छूट जाता है ॥३७॥

Scanned by CamScanner

२०–प्राणायाम द्वारा मोक्ष-प्राप्ति

इत्थं स कथयन् पक्षी पृष्टस्तत्र पुनर्मया ।
कीदृशी प्राणवातस्य गतिरित्येव राघव ॥१
जानन्नपि मुने सर्वं किं मां पृच्छसि लीलया ।
यथापृष्टमहं वच्मि शृणु तत्राऽपि मद्वच : ॥२
प्राणोऽयमनिशं ब्रह्मन् स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे प्राणोऽयमुपरि स्थितः ॥३
अपानोऽप्यनिशं ब्रह्मन् स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे त्वपानोऽयमवाक्स्थितः ॥४
जाग्रतः स्वपतश्चैव प्राणायामोऽयमुत्तमः ।
प्रवर्तते यतस्तज्ज्ञ तत्तावच्छ्रेयसे शृणु ॥५
बाह्योन्मुखत्वं प्राणानां यद्धृदम्बुजकोटरात् ।
स्वरसेनाऽस्तयत्नानां तं धीरा रेचकं विदुः ॥६
द्वादशांगुलपर्यन्तं बाह्यमाक्रमतामधः ।
प्राणानामंगसंस्पर्शो यः स पूरक उच्यते ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राघव ! उस पक्षी के उक्त प्रकार से कहते हुए ही मैंने उससे पुनः पूछा कि हे वायसराज ! प्राणवायु की गति कैसी है ? ॥१॥ काक बोला—हे सर्वज्ञानी मुने ! आप लीलावश ही यह पूछ रहे हैं, परन्तु मैं उस सबका उत्तर दूँगा, आप मेरे वचनों को सुनिये ॥२॥ हे ब्रह्मन् ! यह प्राणशक्ति निरन्तर गति और स्पन्दन वाली है और बाहरी भीतरी सभी अवयवों में ऊपर की ओर स्थित

Scanned by CamScanner

रहती है ॥३॥ हे ब्रह्मन् ! अपान शक्ति भी सदा स्पन्दनशील और गति-मती रहती है। यह शरीर के बाहर भीतर रहती हुई नीचे की ओर गमन करती है ॥४॥ जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति से युक्त प्राणियों के लिए प्राणायाम श्रेष्ठ साधन है, उसे आप श्रवण करिये ॥५॥ बिना प्रयास ही हृदयपद्मकोश से उपलब्ध, प्राणों की बहिर्मुखता का जो अभ्यास है, उसे ज्ञानीजन रेचक कहते हैं ॥६॥ बाह्य प्रदेश में बारह अंगुल पर्यन्त अधोगमन करने वाले प्राणियों के साथ अंगों का स्पर्श पूरक कहा जाता है ॥७॥

अपानेऽस्तं गते प्राणो यावन्नाऽभ्युदितो हृदि ।
तावत् सा कुम्भकावस्था योगिभिर्याऽनुभूयते ॥८
रेचकः कुम्भकश्चैव पूरकश्च त्रिधा स्थितः ।
अपानस्योदयस्थाने द्वादशान्तादधो बहिः ॥९
बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैतान् कुम्भकादीननारतम् ।
प्राणापानस्वभावांस्तान् बुद्ध्वा भूयो न जायते ॥१०
अष्टावेते महाबुद्धे रात्रिदिवमनुस्मृताः ।
स्वभावा देहवायूनां कथिता मुक्तिदा मया ॥११
गच्छतस्तिष्ठतो वाऽपि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
एते निरोधमायान्ति प्रकृत्त्वाऽतिचलानिलाः ॥१२
अव्यग्रमस्मिन् व्यापारे बाह्यं परिजहन्मनः ।
दिनैः कतिपयैरेव पदमाप्नोति केवलम् ॥१३
सर्वारम्भान्सदा स्वच्छः कुर्वन्वाऽपि बुधो जनः ।
प्राणापानगतिं प्राप्य सुस्वस्थः सुखमेधते ॥१४

अपान वायु का शमन होने पर प्राणवायु जब तक हृदय में अभ्युदय को प्राप्त नहीं होता, उस अवस्था को कुम्भक कहते हैं, इस अवस्था का योगियों को पूर्ण अनुभव होता है ॥८॥ नासिका के अग्रभाग से बारह अंगुल पर्यन्त, अपानवायु के उत्पत्ति-स्थान में तीन अवस्था वाला प्राणायाम-रेचक, कुम्भक और पूरक होता है ॥९॥ प्राणापान वायुओं के स्वभाव वाले बाह्याभ्यन्तर जो कुम्भक आदि प्राणायाम हैं, उनका

Scanned by CamScanner

ज्ञान होने पर जीव इस जगत में पुनः उत्पन्न नहीं होता, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं ॥१०॥ हे महामते ! देहवायु के स्वभाव वाले यह प्राणायाम आठ प्रकार के हैं, जो इनका रात दिन स्मरण करता है, उसे वह मुक्ति-दायक हो जाते हैं ॥११॥ चलते, ठहरते, जागते या सोते हुए भी अभ्यास करने पर अत्यन्त चंचल वायु गतिहीन भी हो जाते हैं ॥१२॥ प्राण के चिन्तन रूपी अभ्यास में लगा हुआ एवं बाह्य-विषयों से वितरित हुआ मन कुछ ही दिनों में उस केवल पद को प्राप्त कर लेता है ॥१३॥ सभी कर्मों में अनुष्ठित निर्मल चित्त वाला ज्ञानी पुरुष प्राण और अपान की गति जानकर ही स्वस्थ सुख में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥१४॥

सोदयास्तमयं सेन्दुं सरश्मिं सगमागमम् ।
हृदये भास्करं देवं यः पश्यति स पश्यति ॥१५
अस्तं गतवति प्राणे त्वपानेऽभ्युदयोन्मुखे ।
बहिः कुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते ॥१६
अपानेऽस्त गते प्राणे किञ्चिदभ्युदयोन्मुखे ।
अन्तःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते ॥१७
पुष्पस्यास्तरिवाऽऽमोदः प्राणस्याऽन्तरवस्थितम् ।
न सप्रमाणं न वाऽप्रान चिदात्मानमुपास्महे ॥१८
जलस्याऽन्तरिवाऽऽस्वादमपानस्याऽन्तरस्थितम् ।
न सप्राणं न वाऽप्राणं चिदात्मानमुपास्महे ॥१९
प्राणक्षयस्योपान्तस्थनरानक्षयकोटिगम् ।
अपानप्राणयोर्मध्यं चिदात्मानमुपास्महे ॥२०
यदखिलकलनाकलङ्कहीन
परिवलितं च सदा कलागणेन ।
स्वनुभवविभवं पदं तदग्र्यं
सकलसुरप्रणतं परं प्रपद्ये ॥२१

उदय और अस्त वाला, चन्द्रमा, रश्मि और गमन-आगमन से युक्त हृदयाकाश में अवस्थित प्राणरूप सूर्य के जो दर्शन करता है, यथार्थ में वही दर्शन करता है ॥१५॥ प्राणवायु जब अस्त हो जाता और अपान

Scanned by CamScanner

का उदय होता है तब बहिर्कुम्भक का चिर-अभ्यास करने से संसार रूपी शोक की प्राप्ति नहीं होती ॥१६॥ और अपान वायु के अस्त होने तथा प्राणवायु से किंचित उदय होने पर आन्तरिक कुम्भक के चिर-अभ्यास से भी भवरूपी इस शोक में नहीं पड़ना होता ॥१७॥ पुष्प के भीतर स्थित सुगन्धि के समान प्राण में अवस्थित तथा प्राण-अपान दोनों से रहित जो चिदात्मा है, हम उसकी उपासना करते हैं ।१८। जल में स्थित द्रवता के समान, अपान में अवस्थित प्राणापान से रहित चिदात्मा की हम उपासना करते हैं ।१९। प्राण और अपान के क्षय का समीप और अन्त में प्रकाशक तथा प्राणापान दोनों में स्थित जो चिदात्मा है, हम उसके उपासक हैं ।२०। जो सम्पूर्ण कल्पना कलंकों से रहित है, जो कलाओं से सदैव परिपूर्ण रहता है और जो अपने अनुभव रूपी वैभव से सम्पन्न है, उस सुर वन्दित परम पद की हम उपासना करते हैं ।२१।

Scanned by CamScanner

I) प्राणविद्या :—

सर्वदुःखक्षयकरी सर्वसौभाग्यवर्धिनी । (६।२४।१८)
कारणं जीवितस्येह प्राणचिन्ता समाश्रिता ॥ (६।२४।१९)
इडा च पिङ्गला चास्य देहस्य मुनिनायक ।
सुस्थिते कोमले मध्ये पार्श्वकोष्ठे निमीलिते ॥ (६।२४।२०)
पद्मयुग्मत्रयं यन्त्रमस्थिमांसमयं मृदु ।
ऊर्ध्वाधोनालमन्योन्यमिलत्कोमलसद्दलम् ॥ (६।२४।२१)
सेकेन विकसत्पत्रं सकलाकाशचारिणा ।
चलन्ति तस्य पत्राणि मृदु व्याप्तानि वायुना ॥ (६।२४।२२)
चलत्सु तेषु पत्रेषु स मरुत्परिवर्धते ।
वाताहते लतापत्रजाले बर्हिरिवाभित ॥ (६।२४।२३)
वृद्धिं नीत स नाडीषु कृत्वा स्थानमनेकधा ।
ऊर्ध्वाधोवर्तमानासु देहेऽस्मिन्प्रसरत्यथ ॥ (६।२४।२४)
प्राणापानसमानाद्यै स्तत. स हृदयानिल ।
संकेतैः प्रोच्यते तज्ज्ञैर्विचित्राकारचेष्टितै ॥ (६।२४।२५)
हृत्पद्मयन्त्रत्रितये समस्ता प्राणशक्तय ।
ऊर्ध्वाध प्रसृता देहे चन्द्रबिम्बादिवांशव ॥ (६।२४।२६)
यान्त्यायान्ति विकर्षन्ति हरन्ति विहरन्ति च ।
उत्पतन्ति पतन्त्याशु ता एता प्राणशक्तय ॥ (६।२४।२७)
स एष हृत्पद्मगत प्राण इत्युच्यते बुधै ।
अस्य काचिन्मुने शक्ति. प्रस्पन्दयति लोचने ॥ (६।२४।२८)
काचित्स्पर्शमुपादत्ते काचिद्वहति नासया ।
काचिदन्नं जरयति काचिद्वक्ति वचांसि च ॥ (६।२४।२९)
बहुनात्र किमुक्तेन सर्वमेव शरीरके ।
करोति भगवान्वायुर्यन्त्रेहामिव यान्त्रिक ॥ (६।२४।३०)
तत्रोर्ध्वाधो द्विसंकेतौ प्रसृतावनिलौ मुने ।
प्राणापानाविति ख्यातौ प्रकटौ द्वौ वरानिलौ ॥ (६।२४।३१)

Scanned by CamScanner

सहस्रविनिकृत्ताङ्काद्बिसतन्तुलवादपि
दुर्लक्ष्या विद्यमानापि गति सूक्ष्मतराऽनयो ॥ (६।२४।३७)
प्राणोऽयमनिशं ब्रह्मन्स्पन्दशक्ति सदागति ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे प्राणोऽयमुपरि स्थित ॥ (६।२५।३)
अपानोऽप्ययनिशं ब्रह्मन्स्पन्दशक्ति. सदागति ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे त्वपानोऽयमवाक्स्थित· ॥ (६।२५।४)
प्राणापानगतिं प्राप्य सुस्वस्थ सुखमेधते ।
प्राणस्याभ्युदयो ब्रह्मन्पद्मपत्रादूध्र्वदि स्थितात् ॥ (६।२५।२९)
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते प्राणोऽस्तं यात्यय बहिः ।
अपानस्योदयो बाह्याद्द्वादशान्तान्महामुने ॥ (६।२५।३०)
अस्तङ्गतिरथाम्भोजमध्ये हृदयसंस्थिते ।
प्राणो यत्र समायाति द्वादशान्ते नभ.पदे ॥ (६।२५।३१)
पदात्तस्मादपानोऽयं खादेति समनन्तरम् ।
बाह्याकाशोन्मुखो प्राणो वहत्यग्निशिखा यथा ॥ (६।२५।३२)
हृदाकाशोन्मुखोऽपानो निम्ने वहति वारिवत् ॥ (६।२५।३३)
अपानशशिनोऽन्तस्था कला प्राणविवस्वता ॥ (६।२५।३६)
यत्र ग्रस्ता तदासाद्य पदं भूयो न शोच्यते ।
प्राणार्कस्य तथाऽन्तस्था यत्रापानसितांशुना ॥ (६।२५।३७)
ग्रस्ता तत्पदमासाद्य न भूयो जन्मभाङ्नर· ।
प्राण एवार्कतां याति सबाह्याभ्यन्तरेऽम्बरे ॥ (६।२५।३८)
आप्यायनकरीं पश्चाच्छक्तितामधितिष्ठति ।
प्राण एवेन्दुतां त्यक्त्वा शरीराप्यायकारणीम् ॥ (६।२५।३९)
क्षणादायाति सूर्यत्वं सशोषणकरं पदम् ।
अर्कता सम्परित्यज्य न यावच्चन्द्रता गत ॥ (६।२५।४०)
प्राणस्तावद्विचार्यान्तेऽदेशकाले न शोच्यते ।
हृदि चन्द्रार्कयोर्ज्ञात्वा नित्यमस्तमयोदयम् ॥ (६।२५।४१)
आत्मनो निजमाधारं न भूयो जायते मन ।
सोदयास्तमयं सेन्दुं सरश्मि सगमागमम् ॥ (६।२५।४२)
अपानेऽस्तङ्गते प्राण समुदेति हृदम्बुजात् ॥ (६।२५।४७)
प्राणे त्वस्तङ्गते बाह्यादपान प्रोदित क्षणात् ॥ (६।२५।४८)

Scanned by CamScanner

स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार कुण्डलिनी का स्थान ... के ऊपर पेड़ू के पास ...

... है। इस ग्रंथि का भेदन ...
... पीड़ा तथा अन्य उपसर्ग भी सम्भव है।"

इन पंक्तियों से सुषुम्णा नाड़ी को खोलना ही योग साधना का प्रमुख ध्येय है। प्राणायाम के द्वारा वायु खींचकर शरीर के ऊर्ध्वभाग को सिकोड़े और वायु को नीचे की ओर धकेले। नीचे की ओर (अपान वायु) जाती हुई वायु को भी अधोभागों को भी सिकोड़कर रोके रहे। इस प्रकार वायु को मूलाधार की ओर केन्द्रित करे, इस प्रकार की क्रिया से प्राण और अपान वायु के संघर्ष से, दबाव से जो ताप उत्पन्न होगा उससे प्रसुप्त कुण्डलिनी के आवेष्टन ढीले पड़ जायेंगे और वह सक्रिय तथा जागृत हो उठेगी तथा सुषुम्णा का मुख खुल जायगा और सुषुम्णा के माध्यम से चित्रिणी नाड़ी के सहारे कुण्डलिनी ऊपर को गतिमान होकर ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचेगी। यह साधना अत्यन्त दुष्कर है, सहसा इसमें सफलता मिलना सम्भव नहीं है। इस क्रिया में प्राण वायु को इडा, पिंगला नाड़ियों से हटाकर सुषुम्णा नाड़ी के माध्यम से (जो मेरुदण्ड में है) ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना होता है। इस क्रिया में 'जलंधर' और 'मूलबन्ध' आसनों का प्रयोग होता है। तात्पर्य यह है कि प्राण और अपान वायु के मिलने से जो आन्तरिक ताप बनता है उससे ठीक ऐसी स्थिति बनती है जैसे कि खाली नली में नीचे ऊपर दोनों ओर से पम्प किया जाय और मध्यस्थ वायु को निकलने न दिया जाय, वह वायु गरम होकर कहीं भी बाहर निकलने का प्रयास करेगी और पम्प में कोई छोटा सा छिद्र होगा तो उसी पर दबाव पड़ेगा। इसी प्रकार प्राण व

अपान वायु रोकने से कुण्डलिनी पर दबाव पड़ने से उसके बन्धन ढीले पड़कर सुषुम्णा का द्वार खुल सकेगा।

अथवा ऐसा समझें कि जिस प्रकार रक्तचाप मापक यंत्र की पेटी हाथ में बांधकर गुब्बारे से पम्प करने पर यंत्र का ...
... किया जाता ...
... है।

षटचक्र

मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक षट् (६) चक्र हैं जो एक बन्द कमल पुष्प के आकार के हैं। कुण्डलिनी जागृत होने पर जब सुषुम्णा द्वारा प्राणवायु ऊपर को गतिमान होता है तो उसे क्रमश: इन ६ चक्रों का भेदन करना होता है—

(१) मूलाधार में मूलाधार चक्र—मेरुदण्ड में सबसे नीचे स्थित पृथ्वीतत्व से सम्बन्धित है।

(२) लिंगमूल में स्वाधिष्ठान चक्र—जल तत्व से सम्बन्धित है।

(३) नाभि में मणिपूरक चक्र—यह प्रकाश और तेज का प्रतीक है।

(४) हृदय में अनाहत चक्र—यह वायु तत्व का प्रतीक है।

(५) कण्ठ में विशुद्ध चक्र या शून्य चक्र—आकाश तत्व का प्रतीक है।

(६) भौंहों के मध्य आज्ञा चक्र—यह मन का प्रतीक है।

इन षटचक्रों के बाद अन्त में हजार पंखुड़ियों वाला 'सहस्त्रार चक्र'

Scanned by CamScanner

गुफा में बैठना—साधारण मनुष्य अधिक समय गुफा में बैठना ही समाधि मानते हैं।

गुफा में बैठने की पहली विधि—इसमें एक लम्बे समय तक खान-पान तथा अन्य सब शारीरिक क्रियाओं को छोड़ देने का अभ्यास है। गुफा में जाने से कई दिन पूर्व वस्ती-धौती आदि यौगिक क्रियाओं द्वारा शरीर शोधन और दुग्ध तथा बादाम का छोंका आदि सूक्ष्म तथा अल्प आहार लेना होता है। गुफा में जाने वाले दिन वस्ती, धौती, नेती आदि क्रियाओं तथा कैथेटॅर् से शरीर-शोधन करना चाहिए। गुफा में नमी (शीलन) लेश मात्र भी न हो। पक्की होनी चाहिए। कई दिन पूर्व तैयार करा ली जानी चाहिए जिससे उसकी शीलन सब निकल जाय। वायु प्रवेश के लिए एक जालीदार खिड़की होनी चाहिए। दो एक अनुभवी

देख भाल करते रहें, जिससे किसी दुर्घटना की उपस्थित होने पर उसका प्रतिकार किया जा सके। युवक और पुष्ट शरीर वाले ही अपनी शक्ति से कम समय के लिए बैठने की चेष्टा करें। इसके लिए शीतकाल उपयोगी समय है।

गुफा में बैठने की दूसरी विधि—इसमें पहली बतलायी गयी बातों के अतिरिक्त किसी विशेष क्रिया से प्राण की बाह्यगति को रोककर एक ही आसन से निश्चित समय तक बैठना होता है। इसमें खेचरी मुद्रा अधिक उपयोगी होती है। बाह्य प्राण की गति के अभाव में प्राणों की केवल आन्तरिक क्रिया होती रहती है। इसलिए बाहर की हवा की आवश्यकता नहीं रहती। इसमें गुफा को बिल्कुल बन्द कर दिया जाता है। इसमें बेहोशी जैसी अवस्था रहती है। इसलिए श्रोत्र और नासिकादि के छिद्रों को विशेष रीति से बंद कर दिया जाता है, जिससे कोई जीव-जन्तु प्रवेश न कर सकें। शरीर में दीमक न लगने पावे, इसलिए गुफा में राख डाल दी जाय अथवा अन्य किसी तरह से इसका उपचार करना चाहिए। इस क्रिया में पहली विधि की अपेक्षा अधिक शारीरिक बल और देख-भाल की आवश्यकता है। कुछ अनुभवियों को पहले ही से सब बातें समझाकर नियुक्त कर देना चाहिए। अपनी सामार्थ्य से कम समय के लिए बैठना चाहिए तथा गुफा में कोई ऐसी बिजली की घण्टी आदि होनी चाहिए कि जिससे दुर्घटना के समय में सूचना दी जा सके।

Scanned by CamScanner

वास्तविक समाधि तो तीव्र वैराग्य होने पर ध्यान द्वारा वृत्तियों के निरोधपूर्वक होती है जैसा कि योगदर्शन में वतलाया गया है। उपर्युक्त दोनों प्रकार से गुफा में वैठना न तो वास्तविक समाधि ही है और न आध्यात्मिकता से कोई विशेष सम्वन्ध ही है, पहली विधि में अति कठिन शारीरिक तप है और दूसरी विधि में उससे भी भयंकर प्राण-सम्वन्धी तप और उसकी विशेष क्रियाओं का अभ्यास है। यदि इन दोनों प्रकार की क्रियाओं में कार्य-कुशल साधक जनसमूह में प्रतिष्ठा, मान और धन प्राप्ति की अभिलाषा की उपेक्षा करके वैराग्य और ध्यान द्वारा वृत्ति निरोध की ओर प्रवृत्त हो तो वहुत शीघ्र आत्मोन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो सकते हैं। इस प्रकार की समाधि का सबसे कठिन और आश्चर्य जनक प्रदर्शन महाराजा रणजीतसिंह जी के समय में एक प्रमुख हठयोगी हरीदास ने किया था। वह प्राणों की वाह्य गति को किसी विशेष क्रिया द्वारा अन्तर्मुखी करके खेचरी मुद्रा लगाकर एक विशेष आसन से वैठ गया।

उसने नाक और कानों के छिद्रों को मोम तथा अन्य कोई औषधियों द्वारा वंद कर दिया। एक लोहे के वक्स में रखकर ताला लगा कर उसको भूमि खुदवा कर गड़वा दिया गया। तदुपरान्त उस भूमि पर चने वुन दिये गये। छः मास पश्चात् भूमि को खोदकर पेटी में से उसे निकाला गया और उसकी वतलायी हुई विधि के अनुसार होश में लाया गया। इतना सव कुछ होते हुए भी कहते हैं कि उसमें वैराग्य तथा ध्यान द्वारा वृत्ति निरोध के अभ्यास की कमी थी, जिसके फलस्वरूप (वहुत सम्भव है वज्रोली क्रिया की सिद्धि की चेष्टा में) एक क्वाँरी लड़की को भगाकर ले जाने के प्रयत्न में उसकी सारी प्रतिष्ठा और मान पर पानी फिर गया। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के योग के नाम पर प्रदर्शन आरम्भ में जनसमूह में योगशब्द के प्रति अगाध श्रद्धा और अन्ध विश्वास उत्पन्न कर देते हैं, किन्तु उनके प्रदर्शकों की सांसारिक और स्वार्थमय चेष्टाएँ अन्त में उससे कहीं अधिक योग के सम्वन्ध में अश्रद्धा की उत्पादक हो जाती है। **जैसे आज कल के नये धर्मों के लोग करते हैं?** आसन, मुद्राएँ आदि सभी यौगिक क्रियाओं का हमने वर्णन कर दिया है। इनमें से जो जिसके अभ्यास में सहायक हों, उनको ग्रहण करना चाहिये। (किन्तु मुख्यध्येय आत्मोन्नति को छोड़कर केवल इन शारीरिक क्रियाओं और खान-पान के चिन्तन में लगा रहना अहितकर है।)

Scanned by CamScanner

कुण्डलिनी जाग्रत् करने के उपाय—विशेषतया कुण्डलिनी शक्ति तो शरीर के शुद्ध और सूक्ष्म होने पर सात्त्विक विचार शुद्ध, अन्तःकरण, ईश्वर की भक्ति और परिपक्व वैराग्य की अवस्था में एकाग्रता अर्थात् निश्चल ध्यान से जाग्रत् होती है। जहाँ कहीं अकस्मात् किसी मनुष्य में अलौकिक शक्ति, अद्भुत चमत्कार तथा असाधारण ज्ञान का विकास देखने में आवे तो समझना चाहिए कि पूर्व जन्म के किन्हीं सात्त्विक संस्कारों के उदय होने अथवा हृदय पर सात्त्विक प्रभाव डालने वाली

अन्य किसी घटना से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होकर सुषुम्णा के मुख में चली गयी है।

जिस प्रकार पृथ्वी में लगे हुए नल द्वारा पानी ऊपर जाने के लिए केवल नल के ऊपर लगी हुई मशीन को चलाने से नलों में पानी ऊपर आना स्वयं शुरू हो जाता है, इसी प्रकार से योग दर्शन के साधन पाद में चतुर्थ प्राणायाम की पाँचवीं विधि द्वारा कुण्डलिनि शक्ति को चेतन करके सुषुम्णा में लाने का यत्न किया जाता है।

निम्नलिखित प्राणायाम तथा मुद्राएं कुण्डलिनीशक्ति को चेतन करने में सहायक हो सकती है।

१. भस्त्रिका, कपाल-भाति, सूर्यभेदी प्राणायाम, इत्यादि चतुर्थ प्राणायाम।

२. महाबन्ध, महावेध, महामुद्रा, खेचरी मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, अश्विनीमुद्रा, योनि मुद्रा, शक्ति चालिनी मुद्रा इत्यादि।

किन्तु ये सब बाह्य साधन हैं, जो कुण्डलिनी को चेतन करने में सहायक होते हैं। उसके मुख का सुषुम्णा प्रवेश केवल ध्यान की परिपक्व अवस्था में हो सकता है। विना ध्यान के केवल वाह्य साधनों से कुण्डलिनी शक्ति को क्षोभ पहुँचाने से अधिक से अधिक मूर्छा जैसी अवस्था प्राप्त हो सकती है। जो सुषुप्ति तथा वेहोशी से तो ऊँची है, किन्तु वास्तविक स्वरूपावस्थिति नहीं है और न उसमें सूक्ष्म जगत् ही का कुछ अनुभव हो सकता है। कुण्डलिनी जाग्रत् करने का सबसे उत्तम उपाय तो मूलाधार से लेकर सहस्रार तक सब चक्रों का भेदन करना है। विशेष विधि क्रियात्मक होने के कारण लेखबद्ध नहीं किया जा सकता। किसी अनुभवी निःस्वार्थ पथ दर्शक से ही सीखनी चाहिये। उसकी सामान्य विधि निम्न प्रकार है—

Scanned by CamScanner

'भस्त्रिका' प्राणायाम

इस प्राणायाम में श्वास प्रश्वास की क्रिया लोहार की (धौंकनो) भाँथी के अनुसार जल्दी-जल्दो होती है, अतः इसका नाम 'भस्त्रिका' रखा गया है। यह अभ्यास कठिन है अतः जन सामान्य के लिए तव तक वर्जित है जब तक किसी योग्य गुरु का निर्देश प्राप्त न हो।

विधि—किसी भी आसन में वैठें, रीढ़ की हड्डी को सीधा रखें। मुँह पूरब या उत्तर दिशा की ओर रहना चाहिए।

जो नासा छिद्र खुला हो, उससे अथवा बायें नासा छिद्र से २० बार जल्दी-जल्दी श्वास लें और छोड़ें। अंतिम वार गहरी श्वास लेकर दोनों

नासा-छिद्रों को बन्द कर 'मूलवन्ध' तथा 'जालन्धर-वन्ध' लगायें। फिर एक बन्ध को छोड़ते हुए दोनों नासिका-छिद्रों से श्वास छोड़ दें।

जल्दी-जल्दी श्वास लेते तथा छोड़ते समय नासा-छिद्र फैलने अथवा सिकुड़ने नहीं चाहिये। कुम्भक से ठीक पहले का 'पूरक' तथा वाद में किया गया 'रेचक' पर्याप्त गहरा होना चाहिए, शेष हल्के रहें। चेहरा सौम्य बना रहे तथा श्वास-प्रश्वास के प्रवाह में किसी प्रकार की रुकावट न आये।

लाभ—पूर्व वर्णित 'नाड़ी-शोधन' प्राणायाम के बाद यदि यह भस्त्रिका प्राणायाम किया जाय तो शरीर एकदम हल्का हो जाता है और वह पृथ्वी से ऊपर ऊठता हुआ प्रतीत होता है, श्रेष्ठ योगी जन इस अभ्यास द्वारा अपने विचलित वीर्य को पुनः वाष्प में परिवर्तित कर लेते हैं। इस क्रिया से शरीर की ऊष्मा में वृद्धि होती है तथा नाक और छाती की बीमारी दूर होती है।

निर्देश—इस प्राणायाम के अभ्यास काल में भोजन में मक्खन, घी तथा दूध की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए। गर्मी के दिनों में यह प्राणायाम नहीं करना चाहिये। यदि श्वास में रुकावट हो तो नमक मिश्रित जल से 'जल नेति' करनो चाहिए। यदि अभ्यास के समय भीतर से पसीना निकले, आँखों के आगे अन्धेरा छाने लगे अथवा चक्कर आ उठे तो अभ्यास को रोक देना चाहिए और किसी अच्छे योगी-गुरु से निर्देश प्राप्त करना चाहिये।

Scanned by CamScanner

बन्ध और मुद्राएँ

'बंध' शब्द का अर्थ है—बाँधना अथवा कड़ा करना तथा 'मुद्रा' का आध्यात्मिक अर्थ है—सम्मिलन। हठयोग की क्रियाओं में इन दोनों का मुख्य स्थान है। शरीर में जिन षटचक्रों की स्थिति मानी गई है उन्हें खोलने तथा सुप्त-कुण्डलिनी शक्ति को जगाने की ये गुप्त विधियाँ हैं। अतः यौगिक क्रियाओं में इन्हें 'आसन' तथा 'प्राणायाम' से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

मनुष्य शरीर में गुदा के पास ही मूलाधार चक्र है जिसमें कुण्डलिनी शक्ति सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। यह कुण्डलिनी ही गुप्त शक्तियों का केन्द्र है तथा इसके जग जाने पर जीवात्मा परमात्मा से सम्मिलित हो जाता है। कुण्डलिनी शक्ति को जगाने का वर्णन इसी पुस्तक के अन्य प्रकरण में किया गया है यहाँ केवल इतना ही समझ लेना चाहिए कि मुद्रा तथा बन्धों के अभ्यास से अचेतन-इच्छा शक्ति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा ज्ञान प्राप्त हो जाने पर उस शक्ति को अपने अथवा अन्य शरीरों में भी प्रविष्ट कराया जा सकता है।

अनेक प्रकार से योगासनों तथा अभ्यासों में भी 'वन्ध' लगाने की आवश्यकता पड़ती है। अतः पहले यहाँ पर बन्ध का, तदुपरान्त मुद्राओं का, उल्लेख किया जायगा।

अग्निसार-क्रिया

अग्निसार-क्रिया की विधि निम्नानुसार है—

वज्रासन में बैठ कर अथवा खड़े होकर, दोनों हथेलियों को घुटनों पर जमा लें। फिर भीतर श्वास खींचने के बाद उसे पूर्णतः बाहर निकाल दें तथा बहिर्कुम्भक करके अर्थात् श्वास को बाहर ही रोक कर 'जालन्धर-बन्ध' लगायें। अब पेट को यथा साध्य भीतर की ओर दबा कर रीढ़ की हड्डी से चिपका देने का प्रयत्न करें, फिर बाहर की ओर धकेलें। इस प्रकार पेट को फैलाने तथा सिकोड़ने की क्रिया एक मिनट में १५ बार की गति से बारम्बार दोहराएँ। अन्त में बन्ध छोड़कर स्वाभाविक श्वास लें। इस क्रिया को अनेक बार दोहराना चाहिए।

Scanned by CamScanner

सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने 'ज्ञानेश्वरी' नामक अपने गीता भाष्य में छठें अध्याय का रहस्य समझाते हुए कहा है।

कुण्डलिनी के जागरण की स्थिति का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर जी कहते हैं 'कुण्डलिनी जब जागती है, तब बड़े वेग के साथ झटका देकर ऊपर की ओर अपना मुँह फैलाती है। तब ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह बहुत दिन की भूखी हो और अब जागने पर खाने के लिए अधीर हो उठी हो। वह अपने स्थान से नहीं हटती, परन्तु शरीर में पृथ्वी तथा जल के जो भाग हैं, उन सबको चट कर जाती है, उदाहरणार्थ हथेलियों तथा पाँव तलों का शोधन कर उनका रक्त मांसादि खाकर, ऊपर के भागों को भेदती है तथा अंग प्रत्यंग की संधियों को छान डालती है। नखों की सत्त भी निकाल देती है। त्वचा को धोकर तथा पोंछ कर स्वच्छ करती तथा उसे अस्थि-पञ्जर से सटाए रखती है। पृथ्वी तथा जल—इन दो भूतों को खा चुकने पर वह पूर्णतया तृप्त होती है और तब शान्त होकर सुषुम्ना के समीप रहती है। तब तृप्तिजन्य समाधान प्राप्त होने से उसके मुख से जो गरल निकलता है, उसी गरल रूप अमृत को पाकर प्राणवायु जीता है।

कुण्डलिनी के सुषुम्ना में प्रवेश करने पर ऊपर की ओर जो चन्द्रामृत का सरोवर है, वह धीरे-धीरे उलट जाता है और वह चन्द्रामृत कुण्डलिनी के मुख में गिरता है। कुण्डलिनी द्वारा वह रस सर्वाङ्ग में भर जाता है तथा प्राण वायु जहाँ का तहाँ स्थिर हो जाता है उस समय शरीर पर त्वचा की जो सूखी पपड़ी-सी रहती है वह भूसे की तरह निकल जाती है। तब शरीर की कान्ति केशर रंग की अथवा रत्नरूप बीज के कोपल-सी दीखती है और ऐसा लगता है, जैसे सायंकाल के आकाश से लाल रंग की लाली निकल कर, उससे वह शरीर बनाया गया हो, जब कुण्डलिनी चन्द्रामृत पान करती है, तब ऐसी देह में कान्ति होती है कि यमराज भी काँपते हैं। उस योगी की देह के प्रत्येक अंग नया और कान्तिमय बन जाता है। उसे लघिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। पृथ्वी और जल का अंश न रहने से योगी का शरीर वायु जैसा हल्का हो जाता है, वह

सागर पार की बातें जानने, वस्तु पहचानने, स्वर्ग में होने वाले विचारों, चींटी के मन की बात जान लेने में भी समर्थ हो जाता है, पाँवों को बिना भिंगोये जल पर चल सकता है। ऐसी उसे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

Scanned by CamScanner

कुण्डलिनी को जगाना

उपयुक्त विवरण से पाठकों को कुण्डलिनी की स्थिति, स्वरूप तथा उनमें महत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो चुका है।

षट्चक्रों में गुदा तथा लिंग के मध्यभाग में जो 'कन्द' स्थान है, कुण्डलिनी की अवस्थिति उसी में मानी गई है। वहाँ पर वह समस्त नाड़ियों को वेष्टित करती हुई, साढ़े तीन आँटें देकर, अपनी पूँछ मुँह में लिए, सुषुम्णा नाड़ी के छिद्र का अवरोध करती हुई, सर्प की भाँति निद्रावस्था में अवस्थान करती है। जब यह जग जाती है तब षट्चक्र में स्थित पद्म तथा ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है। इस कुण्डलिनी को जगाने के लिये प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध आदि के अभ्यास किये जाते हैं। बन्ध-त्रययुक्त प्राणायाम, मुद्रा तथा भावनाओं द्वारा धीरे-धीरे कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है।

कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के अनेक उपाय 'पातञ्जलि योग दर्शन' तथा तन्त्र-ग्रन्थों में वर्णित है परन्तु उनमें प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को चैतन्य करके 'सुषुम्ना' में लाने का उपाय सुख साध्य है। यहाँ कुण्डलिनी जागरण की कुछ विधियों का उल्लेख किया जा रहा है।

विधि–१—सिद्धासन में बैठकर बाँयें पाँव की एड़ी को गुदा तथा जननेन्द्रिय के बीच सीवन से सटाते हुए इस प्रकार लगायें कि उसका तला सीधे दाँयें पाँव की जंघा का स्पर्श करे। इसी प्रकार दाँयें पाँव की एड़ी को शिश्नेन्द्रिय की जड़ के ऊपरी भाग में दृढ़ता पूर्वक इस प्रकार लगायें कि उसका तला बाँयें पाँव की जंघा का स्पर्श करें। फिर बाँयें पाँव के अंगूठे तथा तर्जनी को दाँयीं जाँघ तथा पिण्डली के मध्य में ले लें। सम्पूर्ण शरीर का भार एड़ी तथा सीवन के मध्य भाग की नस पर ही तुला रहना चाहिए।

अब दायें हाथ के अँगूठे से दाँये नासा छिद्र (नथुने) को दबा कर नाभि से लेकर कण्ठ तक की सम्पूर्ण वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाल दें।

Scanned by CamScanner

इस प्रकार समस्त वायु का 'रेचन' करके श्वास को भीतर लेकर अर्थात् 'पूरक' करके बारम्बार पूर्वोक्त प्रकार से 'रेचन' करें। 'रेचन' के समय मूलबन्ध, उड्डियान तथा जालन्धर बन्धों को दृढ़ता से लगा कर, दोनों हथेलियों को दोनों घुटनों पर स्थापित कर, अपनी दृष्टि नाक के अग्रभाग पर स्थिर रखनी चाहिए।

इस प्रकार से नित्य नियमित रूप से अभ्यास करते रहने से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् हो कर सुषुम्णा के द्वार को खोल देती है। तब प्राण का ऊर्द्धगमन होने लगता है तथा चींटी के रेंगने जैसा सुख अनुभव होने लगता है। ब्रह्मरन्ध्र में प्राण के प्रवेश करते ही अपरिमित आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

विधि–२—पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध आसन लगाकर बैठें। फिर दोनों नासा छिद्रों द्वारा नाभिपर्यन्त यथा शक्ति अधिकाधिक वायु को भरें तदुपरान्त जालन्धर-बन्ध लगाकर 'अन्तः कुम्भक' करें साथ ही मूलबन्ध द्वारा मूलाधार से अपानवायु का उत्थान करके, नाभि में प्राण के मिला देने की पूर्ण भावना करें। ऐसा करते समय उड्डीयान-बन्ध लगा लेना भी अधिक अच्छा रहता है। कुम्भक के समय तीनों प्रकार के बन्ध लगे रहने चाहिए।

उक्त विधि से सामर्थ्यानुसार एक निश्चित अवधि का कुम्भक करके, 'रेचक' करें तथा वायु को बाहर छोड़ दें।

प्राणायाम की इस विधि से भी प्राणोत्थान की क्रिया शीघ्र होने लगती है।

Scanned by CamScanner

9) **भस्त्रिका** कुम्भक से 'शरीराग्निविवर्धनम्' अर्थात् पाचकाग्नि का दीपन होता है।

10) ह.यो.प्र में मुद्राओं के वर्णन के अन्तर्गत महामुद्रा के अभ्यासी साधक के द्वारा किसी भी प्रकार का ग्रहण किया गया रसयुक्त आहार, पथ्यापथ्य इ. जीर्ण हो जाने की बात कही गई है। यहाँ तक की वह साधक विषसम्पृक्त आहार करे या अमृतसंयुक्त–उसको ये दोनों ही प्रकार के आहार खा लेने पर वे जीर्ण हो
जाते है। इसका वर्णन निम्नानुसार किया गया है :–

"न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति" ।। 41 ।।

इसी प्रकार गुल्मरोग एवं अजीर्ण (मन्दाग्नि) आदि रोगों के महामुद्रा के अभ्यास से क्षीण होने की बात की कही गई है।

CC-0. Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

11) **महामुद्रा,** महाकाल व महावेध मुद्राओं का अभ्यास 'वन्हिवृद्धिकरं' (अग्निवर्धक) निर्देशित किया गया है ।

12) **मूलबन्ध** से पाचकाग्नि में दीप्ति :–

'तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा' ।। 42 ।।

ह.यो.प्र. में मूलबन्ध के वर्णन में दर्शाया गया है कि इससे देहस्थ (उदरस्थ) अग्नि भी अत्यन्त प्रदीप्त (पाचनशक्तियुक्त) हो जाती है।

13) **विपरीतकरणी मुद्रा** का नित्य अभ्यास साधक की पाचकाग्नि को बढ़ाने वाला निर्देशित किया गया है :–

"नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी" ।। 43 ।।

इस प्रकार यौगिक प्रक्रियाएँ आहार को अनेकानेक रूप में प्रभावित करती हैं।

Scanned by CamScanner

"स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार कुण्डलिनी [illegible] ऊपर पेड़ू के पास [illegible] [illegible] इस प्राण का भेदन [illegible] पीड़ा तथा अन्य उपसर्ग भी सम्भव हैं।"

इन ग्रंथियों से सुषुम्ना नाड़ी को खोलना ही योग साधना का प्रमुख लक्ष्य है। प्राणायाम के द्वारा वायु खींचकर शरीर के ऊर्ध्वभाग को सिकोड़े और वायु को नीचे की ओर धकेले। नीचे की ओर (अपान वायु) जाती हुई वायु को भी अधोभागों को भी सिकोड़कर रोके रहे। इस प्रकार वायु को मूलाधार की ओर केन्द्रित करे, इस प्रकार की क्रिया से प्राण और अपान वायु के संघर्ष से, दबाव से जो ताप उत्पन्न होगा उससे प्रसुप्त कुण्डलिनी के आवेष्टन ढीले पड़ जायेंगे और वह सक्रिय तथा जागृत हो उठेगी तथा सुषुम्ना का मुख खुल जायगा और सुषुम्ना के माध्यम से चित्रिणी नाड़ी के सहारे कुण्डलिनी ऊपर को गतिमान होकर ब्रह्मरन्ध्र में आ पहुँचेगी। यह साधना अत्यन्त दुष्कर है, सहसा इसमें सफलता मिलना सम्भव नहीं है। इस क्रिया में प्राण वायु को इडा, पिंगला नाड़ियों से हटाकर सुषुम्ना नाड़ी के माध्यम से (जो मेरुदण्ड में है) ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना होता है। इस क्रिया में 'जलंधर' और 'मूलबन्ध' आसनों का प्रयोग होता है। तात्पर्य यह है कि प्राण और अपान वायु के मिलने से जो आन्तरिक दाब बनता है उससे ठीक ऐसी स्थिति बनती है जैसे कि खाली नली में नीचे ऊपर दोनों ओर से पम्प किया जाय और मध्यस्थ वायु को निकलने न दिया जाय, वह वायु गरम होकर कहीं भी बाहर निकलने का प्रयास करेगी और पम्प में कोई छोटा सा छिद्र होगा तो उसी पर दबाव पड़ेगा। इसी प्रकार प्राण व

अपान वायु रोकने से कुण्डलिनी पर दबाव पड़ने से उसके बन्धन ढीले पड़कर सुषुम्ना का द्वार खुल सकेगा।

अथवा ऐसा समझें कि जिस प्रकार रक्तचाप मापक यंत्र की पेटी हाथ में बाँधकर गुब्बारे से पम्प करने पर यंत्र का [illegible] [illegible] [illegible] है।

षटचक्र

मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक षट् (६) चक्र हैं जो एक बन्द कमल पुष्प के आकार के हैं। कुण्डलिनी जागृत होने पर जब सुषुम्ना द्वारा प्राणवायु ऊपर को गतिमान होता है तो उसे क्रमशः इन ६ चक्रों का भेदन करना होता है—

(१) मूलाधार में मूलाधार चक्र—मेरुदण्ड में सबसे नीचे स्थित पृथ्वीतत्त्व से सम्बन्धित है।

(२) लिंगमूल में स्वाधिष्ठान चक्र—जल तत्त्व से सम्बन्धित है।

(३) नाभि में मणिपूरक चक्र—यह प्रकाश और तेज का प्रतीक है।

(४) हृदय में अनाहत चक्र—यह वायु तत्त्व का प्रतीक है।

(५) कण्ठ में विशुद्ध चक्र या शून्य चक्र—आकाश तत्त्व का प्रतीक है।

(६) भौंहों के मध्य आज्ञा चक्र—यह मन का प्रतीक है।

इन षटचक्रों के बाद अन्त में हजार पंखुड़ियों वाला 'सहस्रार चक्र'

Scanned by CamScanner

स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार कुण्डलिनी का स्थान मूलाधार के ऊपर पेडू के पास ...

... है। इस ग्रंथि का भेदन ...

... पीड़ा तथा अन्य उपसर्ग भी सम्भव हैं।"

इन पंक्तियों से सुषुम्णा नाड़ी को खोलना ही योग साधना का प्रमुख महत्व है। प्राणायाम के द्वारा वायु खींचकर शरीर के ऊर्ध्वभाग को सिकोड़े और वायु को नीचे की ओर धकेले। नीचे की ओर (अपान वायु) जाती हुई वायु को भी अधोभागों को भी सिकोड़कर रोके रहे। इस प्रकार वायु को मूलाधार की ओर केन्द्रित करे, इस प्रकार की क्रिया से प्राण और अपान वायु के संघर्ष से, दबाव से जो ताप उत्पन्न होगा उनसे प्रसुप्त कुण्डलिनी के आवेष्टन ढीले पड़ जायेंगे और वह सक्रिय तथा जागृत हो उठेगी तथा सुषुम्णा का मुख खुल जायगा और सुषुम्णा के माध्यम से चित्रिणी नाड़ी के सहारे कुण्डलिनी ऊपर को गतिमान होकर ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचेगी। यह साधना अत्यन्त दुष्कर है, सहसा इसमें सफलता मिलना सम्भव नहीं है। इस क्रिया में प्राण वायु को इड़ा, पिंगला नाड़ियों से हटाकर सुषुम्णा नाड़ी के माध्यम से (जो मेरुदण्ड में है) ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना होता है। इस क्रिया में 'जलंधर' और 'मूलबन्ध' आसनों का प्रयोग होता है। तात्पर्य यह है कि प्राण और अपान वायु के मिलने से जो आन्तरिक ताप बनता है उससे ठीक ऐसी स्थिति बनती है जैसे कि खाली नली में नीचे ऊपर दोनों ओर से पम्प किया जाय और मध्यस्थ वायु को निकलने न दिया जाय, यह वायु गरम होकर कहीं भी बाहर निकलने का प्रयास करेगी और पम्प में कोई छोटा सा छिद्र होगा तो उसी पर दबाव पड़ेगा। इसी प्रकार प्राण व

अपान वायु रोकने से कुण्डलिनी पर दबाव पड़ने से उसके बन्धन ढीले पड़कर सुषुम्णा का द्वार खुल सकेगा।

अथवा ऐसा समझें कि जिस प्रकार रक्तचाप मापक यंत्र की पेटी हाथ में बाँधकर गुब्बारे से पम्प करने पर यंत्र का ...

... किया जाता ...

... है।

षटचक्र

मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक षट् (६) चक्र हैं जो एक बन्द कमल पुष्प के आकार के हैं। कुण्डलिनी जागृत होने पर जब सुषुम्णा द्वारा प्राणवायु ऊपर को गतिमान होता है तो उसे क्रमश: इन ६ चक्रों का भेदन करना होता है—

(१) मूलाधार में मूलाधार चक्र—मेरुदण्ड में सबसे नीचे स्थित पृथ्वीतत्व से सम्बन्धित है।

(२) लिंगमूल में स्वाधिष्ठान चक्र—जल तत्व से सम्बन्धित है।

(३) नाभि में मणिपूरक चक्र—यह प्रकाश और तेज का प्रतीक है।

(४) हृदय में अनाहत चक्र—यह वायु तत्व का प्रतीक है।

(५) कण्ठ में विशुद्ध चक्र या शून्य चक्र—आकाश तत्व का प्रतीक है।

(६) भौंहों के मध्य आज्ञा चक्र—यह मन का प्रतीक है।

इन षटचक्रों के बाद अन्त में हजार पंखुड़ियों वाला 'सहस्त्रार चक्र'

Scanned by CamScanner

स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार कुण्डलिनी का स्थान ... के ऊपर पेडू के पास ...

... है। इस ग्रंथि का भेदन ...

... पीड़ा तथा अन्य उपसर्ग भी सम्भव हैं।"

इन पंक्तियों से सुषुम्णा नाड़ी को खोलना ही योग साधना का प्रमुख लक्ष्य है। प्राणायाम के द्वारा वायु खींचकर शरीर के ऊर्ध्वभाग को सिकोड़े और वायु को नीचे की ओर धकेले। नीचे की ओर (अपान वायु) जाती हुई वायु को भी अधोभागों को भी सिकोड़कर रोके रहे। इस प्रकार वायु को मूलाधार की ओर केन्द्रित करे, इस प्रकार की क्रिया से प्राण और अपान वायु के संघर्ष से, दवाब से जो ताप उत्पन्न होगा उससे प्रसुप्त कुण्डलिनी के आवेष्टन ढीले पड़ जायेंगे और वह सक्रिय तथा जागृत हो उठेगी तथा सुषुम्णा का मुख खुल जायगा और सुषुम्णा के माध्यम से चित्रिणी नाड़ी के सहारे कुण्डलिनी ऊपर को गतिमान होकर ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचेगी। यह साधना अत्यन्त दुष्कर है, सहसा इसमें सफलता मिलना सम्भव नहीं है। इस क्रिया में प्राण वायु को इडा, पिंगला नाड़ियों से हटाकर सुषुम्णा नाड़ी के माध्यम से (जो मेरुदण्ड में है) ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना होता है। इस क्रिया में 'जलंधर' और 'मूलबन्ध' आसनों का प्रयोग होता है। तात्पर्य यह है कि प्राण और अपान वायु के मिलने से जो आन्तरिक ताप बनता है उससे ठीक ऐसी स्थिति बनती है जैसे कि खाली नली में नीचे ऊपर दोनों ओर से पम्प किया जाय और मध्यस्थ वायु को निकलने न दिया जाय, यह वायु गरम होकर कहीं भी बाहर निकलने का प्रयास करेगी और पम्प में कोई छोटा सा छिद्र होगा तो उसी पर दबाव पड़ेगा। इसी प्रकार प्राण व

अपान वायु रोकने से कुण्डलिनी पर दबाव पड़ने से उसके बन्धन ढीले पड़कर सुषुम्णा का द्वार खुल सकेगा।

अथवा ऐसा समझें कि जिस प्रकार रक्तचाप मापक यंत्र की पेटी हाथ में बांधकर गुब्बारे से पम्प करने पर यंत्र का ...

... किया जाता ...

... है।

षटचक्र

मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक षट् (६) चक्र हैं जो एक बन्द कमल पुष्प के आकार के हैं। कुण्डलिनी जागृत होने पर जब सुषुम्णा द्वारा प्राणवायु ऊपर को गतिमान होता है तो उसे क्रमश: इन ६ चक्रों का भेदन करना होता है—

(१) मूलाधार में मूलाधार चक्र—मेरुदण्ड में सबसे नीचे स्थित पृथ्वीतत्व से सम्बन्धित है।

(२) लिंगमूल में स्वाधिष्ठान चक्र—जल तत्व से सम्बन्धित है।

(३) नाभि में मणिपूरक चक्र—यह प्रकाश और तेज का प्रतीक है।

(४) हृदय में अनाहत चक्र—यह वायु तत्व का प्रतीक है।

(५) कण्ठ में विशुद्ध चक्र या शून्य चक्र—आकाश तत्व का प्रतीक है।

(६) भौंहों के मध्य आज्ञा चक्र—यह मन का प्रतीक है।

इन षटचक्रों के बाद अन्त में हजार पंखुड़ियों वाला 'सहस्त्रार चक्र'

Scanned by CamScanner

द्रुतं(त)रक्तं स(सु)तेजाख्यं(ढ्यं) धारापातप्रवर्षिणम् ।

पीत्वा कुलामृतं दिव्यमिति[1] तच्चाकुलं सदा ॥(१.१६-१७)

[2]सृष्टिस्वभावत्वाद्विसर्ग इति कथितम् । ततोऽभि[3]सृज्यमानमिच्छादिमातृका-[4]न्तकुलचक्रमयशक्तिकदम्बकं[5] प्रतार(य)ते । [6]उक्तं च **श्रीकुलमूलावतारे**—

इच्छा तत्रा(त्र) क्रियाख्याता कुण्डली मातृका तदा ।
ततः सर्वं समुत्पन्नं तस्माद् बहुविधं कुलम् ॥इति ॥१० ॥

अकुलं[7] विसर्गाख्यं मन्त्रविशेषमुपदिश्य योन्याख्यं कुलस्वरूपं [8]व्यावर्णयति —

पूर्वं या सूचिता मुद्रा गुह्याख्याऽमृतरूपिणी ।
बन्धं तस्याः प्रवक्ष्यामि संवित्तिं लभते यया[9] ॥११ ॥

इति । पूर्वं लिङ्गत्रयवि[10]वरणप्रकरणे "पश्चिमाभिमुखम्" (१.५) इत्यादिना प्रथमलिङ्गाधारत्वेन गुह्याख्या योन्याख्या **या[11]** सा **मुद्रा सूचिता**, सकल-मातृका[12]चक्रप्रसवित्री समस्तमन्त्रबलभूता प्राणस्वरूपा[13] घोषमयी, **तस्या** [14]**बन्धनम**प्रमादमनुसन्धानलाभं **वक्ष्यामि**। येन सारस्वतयोगभूतेन[15] परसंवित्तिलाभो भवतीति यावत् ॥११ ॥

अथ बन्धप्रकारमाह —

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे योजयेन्मनः ।

---

१. 'व्यं पुनरेव विशेत् कुलम् । पुनरेवाकुलं गच्छेत्' इति तत्रत्यः पाठः । २. 'सृष्टि . . . . त्वाद्वि' इत्यस्य स्थाने 'सृष्टिं च भादत्वाद्वि' इति–म. । ३. ऽभिविसृ–म. । ४. न्तमय-कुल–म. । ५. कः प्रदायत–त्रि. । ६. 'उक्तं . . . . कुलम्' नास्ति–त्रि. । ७. 'कुलं . . . . मन्त्र' इत्यस्य स्थाने 'कुलमत्र' इति–त्रि. । ८. वर्णयति–त्रि. । ९. यथा–त्रि. । १०. 'विवरण' नास्ति–त्रि. । ११. 'या सा' नास्ति–त्रि. । १२. 'चक्र' नास्ति–त्रि. । १३. स्वरूप–त्रि. । १४. बन्धमप्राणमनु–म. । १५. भूतो रसवित्ति–त्रि. ।

इति । प्रथमं तावत् **पूरकयोगं**[1] कृत्वा **स्वाधारे मनो योजयेत्** । अनन्तरं[2] च स्वाधारमाह । उक्तं[3] च **निश्वासकारिकायाम्** —

यद्वैन्दौ(द्विन्द्वा)दौ भवेद्बीजमेको योनिः क्षस्य(रा)न्तकः ।
आभ्यामुभयसंयोगात् सम्बन्धं वेदमक्षरम् ॥इति[3] ॥११ $\frac{1}{2}$ ॥

[1]गुदमेढ्रान्तरे योनिस्[4]तामाकुञ्च्य प्र[5]बन्धयेत् ॥१२ ॥

इति । **तां[6] प्रबन्धयेत्** । किं कृत्वेति ? **आकुञ्च्य**, योनेराधारभूतं स्थानं बलादूर्ध्वमाकृष्येति यावत्[8] । उक्तं च **श्रीमतोत्तरे**—"स्फुरन् वाधारकुञ्चनामि च" । **अस्मिंस्तन्त्रे** आधारं गुदमित्युक्तमिति[8] । तदुक्तं **रत्नाख्ये[9] श्रीमते** पिण्डयोगप्रकरणे — "गुदामाकृष्य[10] कर्तव्या" इति ॥१२ ॥

तस्मिन् स्वाधार[11]योगेन मनसा किं भावनीयमित्याह—

भ्रमद्योनिगतं ध्यात्वा कामं बन्धूकसन्निभम् ।
ज्वलत्कालानलप्रख्यं तटित्कोटिसमप्रभम् ॥१३ ॥

इति । **भ्रमत्** स्पन्दमानम् । **कामशब्दो रहस्यागमेषु** देहाभ्यन्तरगते[12] जातवेदसि निरूढः[13] । तच्च कामतत्त्वसंज्ञितं व्याकरिष्यमाणं चक्रस्वरूपम् ॥१३ ॥

स्वाधारगतमेवंविधतेजोविशेषं[14] भावयित्वा तस्य[15] शिखया सहितमात्मानमपि भावयेदित्याह —

---

१. पूरकं–त्रि.। २. तच्च–त्रि.। ३. 'उक्तं .... इति' नास्ति–त्रि.। ४. योनिस्थानमा–म.। ५. 'प्र' नास्ति–म.। ६. 'तां .... येत्' नास्ति–त्रि.। ७. वायु–त्रि.। ८. 'यावत् .. .. त्युक्तमिति' नास्ति–त्रि.। ९. 'रत्नाख्ये श्रीमते' नास्ति–त्रि.। १०. गुदमाक्रम्य प्रवर्तयिता–म.। ११. धारे योजितस्य मनः–त्रि.। १२. 'न्तरगते' इत्यस्य स्थाने 'न्तरे' इत्येव–त्रि.। १३. निगूढः–त्रि.। १४. 'मेवं .... विशेषं' इत्यस्य स्थाने 'मेवम्, तैर्विशेषैः' इति–त्रि.। १५. तस्याः –त्रि.।

1. cf. (... 147)

तस्योर्ध्वे तु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला ।
तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥१४॥

तस्य जातवेदस ऊर्ध्वं तदीया **शिखा** चैतन्यमयी **कला**, तदवयवभूता या शिखा, **तया सहितं** तदेकतामापन्नमात्मानं च भावयेदित्यर्थः ॥१४॥

[१]एवं भावयित्वा किमन्यद् भावनीयमित्याह —

गच्छन्ती[२] ब्रह्ममार्गेण लिङ्गभेदक्रमेण तु[३] ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥१५॥
अमृतं यद्विसर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ।
[४]द्रुतरक्तं सुतेजाढ्यं धारापातप्रवर्षिणम् ॥१६॥
पीत्वाऽ[५]कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत् कुलम् ।
पुनरेवाकुलं गच्छेत्

इति । **ग[६]च्छन्तीति** प्रथमार्थे द्वितीयेयम् । **ब्रह्ममार्गेणेत्या[७]धारादि-**विशुद्ध्यन्तस्थानानुपूर्वे(र्वी) कथ्यते । [८]उक्तं च **निगूढे श्रीमते** —

पातालाख्यं तु यद्वक्त्रमधोमार्गावलम्बनम् ।
जगत्सृष्टिनिमित्तार्थं शक्तित्वे परिकल्पितम् ॥

एवं शक्तिरधोभागे ऊर्ध्वभागं(गे) शिवं विदुः ।
ध्यात्वा मु(उ)भयवर्गे तु संस्थितं सिद्धिपञ्चकम् ॥

सद्यो वाममघोरं च पुरुषेशानमेव च ।
विशुद्धं पश्चिमं ज्ञेयमुत्तरं च अनामयम् ॥

---

१. भावभावयित्वा मन्वद्–म.। २. न्ति (न्तं)–म.। ३. तम्–त्रि.। ४. कृत–त्रि.। ५. परा–त्रि.। ६. च्छन्त–म.। ७. 'आधारा .... थ्यते' इत्यस्य स्थाने 'मध्यन्तस्थानानुपूर्वी कल्प्यते' इति–त्रि.। 'उक्तं .... इति' नास्ति–त्रि.।

दक्षिणं तु मणिर्नाम स्वाधिष्ठानं तु पूर्वकम् ।
कूर्मरूपमधोवक्त्रमाज्ञा चैशानविग्रहम् ॥इति ।

लिङ्गानि पूर्वोक्तानि स्वयम्भू[1]प्रभृतीनि । एवमात्[2]मा सना[3]दा सा शिखा लिङ्गा[4]नि क्रमेण भित्वा ब्रह्ममार्गेणोर्ध्वं याता **सूर्यकोटिभास्वरं चन्द्रकोटिसुशीतलं** च [5]त्रिकोणान्तवि(विं)सर्गमध्यस्थितपरमानन्द[6]मूर्तिलक्षणं **द्रव**द्[7]रूपमरुणं **तेजस्वि** रक्तबिन्दुधारापातप्रवर्षस्वभावम् **अकु**[8]**लं** परव्योमसं[9]भवतया **दिव्यममृतं पीत्वाऽऽ**[10]**चूं**ष्य, **पुनरेव** तेन मार्गेणाधोमुखी **कुलाख्यं** योन्याधारं **विशेत्** । प्रविश्य च सा **पुनरे**[11]**वोर्ध्वमुखेन मार्गेण विसर्गस्थमकुलं** विशेत् ॥१५-१६ $\frac{१}{२}$ ॥

मात्रायोगेन नान्यथा ॥१७ ॥

इति । **मात्रेति** बिन्दुनादशक्त्याख्यं क्रमादाज्ञास्थानललाटमध्य-तदुप[12]रिभागस्थानं पीठत्रयम[13]भिसन्दधाति । तदुक्तम् — “बिन्दुर्नादस्तथा शक्ति-र्मात्रात्रयमुदाहृतम्” इति । तेनायमर्थः — यथोक्तप्रकारेणोर्ध्वं यान्ती सा शिखा परलिङ्गस्थानान्नासामूलादूर्ध्वं बिन्दुनादशक्तिसंज्ञेन पीठत्रयेण युज्यमाना तच्च क्रमाद् भिन्दती अकुलं विशेत् । निविश्य च पुनस्तेनैव मार्गेणाधोमुखं व्रजन्ती योन्याधारं विशेदित्यर्थः । [14]अतो न ब्रह्ममार्ग[15]स्थानेन लिङ्गभेदमात्रपर्य-[16]वसायिनीत्यवसेयम् । अत्र विशेदित्येतावन्मात्रेऽभिहितेऽपि [17]तामेवंविधां शिखां भावयेदिति तात्पर्यार्थोऽवगन्तव्यः ॥१७ ॥

सा च [18]प्राणः समाख्याता तन्त्रेऽस्मिन् परमेश्वरी(रि) ।
उद्घातः प्रोच्यते [19]सोऽपि प्राणान्तं स्पृशते यदा ॥१८ ॥

१. प्रकृतिनी(तीनि)–म. । २. मात्म–त्रि. । ३. नाथा–त्रि. । ४. ङ्गादि–त्रि. । ५. पूर्वोदित–त्रि. । ६. 'मूर्ति' नास्ति–त्रि. । ७. कूपमकुलं–त्रि. । ८. अकुल–म. । ९. सकल–त्रि. । १०. ऽऽप्लुत्य पुनरेवं मार्गेणा–त्रि. । ११. रेव तेन मार्गेणोर्ध्वमुखी–म. । १२. रिस्थानस्य पीठ–म. । १३. भिदधाति–त्रि. । १४. अनेन–म. । १५. र्गयान–त्रि. । १६. यीत्य[व]सेयम्–त्रि. । १७. तामेव शिखां–त्रि. । १८. प्राणसमा–त्रि. । १९. सो हि प्राणान्त्यः–त्रि. ।

इति[१]। सेति शिखां परामृशति। सा[२] अस्मिं**स्तन्त्रे प्राण**[३] इति समाख्याता। अत्र हेतु**रुद्घात** इति। ऊर्ध्वं घात उद्घातो ग्रन्थिभेदः[४], तत्कारणत्वात् शिखैवोद्घातशब्देनोच्यते। **प्राणान्त**[:][५] क्षकारः। अनेन तत्स्थानभूतं[६] संवर्तमण्ड लं विसर्गाख्यमभिप्रैति। तेनायमर्थः— सा शिखा यदा योन्याधारात् प्राणान्तं विसर्गस्थानं विशति, तदा ग्रन्थिच्छेदविधायिनी[ति] कृत्वा यत उद्घात इति कथ्यते, अतोऽस्मिं**स्तन्त्रे** प्राणा(ण) इति समाख्याता। प्राणोऽप्यूर्ध्वविसर्गात्मतया उद्घातरूपं ग्रन्थिच्छेदं विधातुं प्रभवति[७]। तदुक्तं **श्रीविज्ञानभट्टारकेण**[८] — "ऊर्ध्वं प्राणे(णो) ह्यधो[९] जीवो विसर्गात्मा **परोच्यते**[१०]" **(वि. भै., २४) इति।** उभयविसर्गबन्धनस्वभावं[११] योनिमुद्राबन्धाभिधेयं **महायोगं कालतन्त्रेऽपि कथयति**[1] —

> प्राणेन[१२] प्रेर्यमाणेन अपानः पीड्यते यदा ।
> गत्वा चोर्ध्व(र्ध्वं)[१३] निवर्तेत(तै)[त]दुद्घातलक्षणम् ॥इति।

उक्तं[१४] च **श्रीमद्भगवद्गीतासु** —

> अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
> प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥
> अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।इति।
>
> (भ. गी. ४.२९-३०)

उक्तं **चोपनिषत्सु**—"वाचि [हि] प्राणं जुहुमः प्राणे [वा] वाचम्" (ऐ. उ. २.६.३) इति। एवं गत्यागती[१५] वितन्वाना शिखैवेति कथयति **रत्नाख्ये श्रीमते**[१६] —

---

१. इति नेति–म.। २. 'सा' नास्ति–म.। ३. प्राणा–म.। ४. भेदतत्त्वारित्वात्–म.। ५. अन्तः–त्रि.। ६. तत्तत्स्थानभूत–म.। ७. न प्रभ–म.। ८. 'श्री ....केण' नास्ति–त्रि.। ९. ऊर्ध्वप्राणाभिधो–त्रि.। १०. परोच्चरेत्–वि. भै.। ११. बन्धनभावं–त्रि.। १२. प्राणे तु प्रेत्यमाणत्वादपानः–म., प्राणेनोच्चार्यमाणेन-मु.। १३. चोर्ध्वस्थमित्येतदु–त्रि.। १४. 'उक्तं ....वाचम् इति' नास्ति–त्रि.। १५. गत्वा गतिवितन्या नाना शिखैवेति कथितम्–म.। १६. 'श्रीमते' नास्ति–त्रि.।

1 सार्धत्रिशतिकालोत्तरवृत्तौ (पृ. ३०-३१) रामकण्ठेन त्रयोदशशतिक(कालोत्तर) वचनत्वेन स्मृतोऽयं श्लोकः।

तन्मध्ये कुण्डली देवी शिवेन सहिता प्रिये ।

स्थानानि भेद्य गच्छन्ती[1] पिबन्ती[2] लम्बिकामृतम् ॥इति ।

एवं [3]गत्यागतिविमर्शिनो योगिनो द[ा]हनप्लावनाभ्यास इति मन्तव्यम्[4] ॥१८ ॥

एवमभ्यसमानस्य अहन्यहनि निश्चयात् ।
जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यन्ते भवबन्धनात् ॥१९ ॥

इति । [5]अनेन योनिमुद्राबन्धनस्य फलातिशयं दर्शयति ॥१९ ॥

चतुर्विधा तु या सृष्टिर्यस्यां योनौ[6] प्रवर्तते ।
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवान्तकम् ॥२० ॥
योनिमुद्रा परा या तु बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः[7] ।

इति । [8]चतुर्विधा तु या जगत्सृष्टिर्यस्यां योनिभूताया(यां) प्रवर्तते, **काला-ग्न्यादिशिवान्तं** च तत्त्वजातं यस्यां लिख्यते, सा **योनिमुद्रा परा** निरतिशयो-त्कर्षयुक्ता, **तस्या बन्धस्तत्त्वेन** कथितम्(तः) ॥२०-२० $\frac{१}{२}$ ॥

मुद्राया बन्धमात्रेण किं न साधयते भुवि ॥२१ ॥

[9]इति । बन्धन्यै(स्यै)व प्रशंसनीय[त्व]म् ॥२१ ॥

अन्यथा जपते[10] मन्त्रमन्यथा कुरुते तु यः ।
नासौ सिद्ध्यति देवोऽपि[11] सत्यं सत्यं पुनः पुनः ॥२२ ॥

इति । यो मन्त्रजातं बन्धं विना जपति, [12]आकर्षणादिक्रियाकलापं बन्धं विना करोति, स न सिद्ध्यति, न फलेन युज्यत [13]इत्यर्थः ॥२२ ॥

---

१. न्ति–म.। २. न्ति लम्बि–म.। ३. गत्वा गतिविमर्शो–म.। ४. व्यः–म.। ५. 'अनेन .... दर्शयति' नास्ति–त्रि.। ६. योनिः –त्रि.। ७. तम्–त्रि.। ८. 'चतुर्वि ... . कथितम्' नास्ति–त्रि.। ९. 'इति' नास्ति–त्रि.। १०. कुरुते–म.। ११. देवेशि–म.। १२. 'आकर्ष .... करोति' नास्ति–त्रि.। १३. 'इत्यर्थः' नास्ति–त्रि.।

हैं ओर कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है।

वैद्यसुन्दरदेव के अनुसार वायु को वायु के निकट संबंध रखने वाले बुद्धि में आरोपित करके रोकना चाहिए। उसका ध्यान लगाना चाहिए। सदा चक्री अप्रबुद्ध नाभि में हमेशा कुण्डलिनी को निविष्ट करना चाहिए। द्वार को बंध मुख से मध्यम अन्य अपने भोग के द्वारा नाड़ियों को अग्र भाग से रोककर भली-भंति मार्ग का ध्यान करे। वायु से अग्नि चित्त को रोक करके पुच्छ भुजंगी को प्रसुप्त अवस्था में जागृत करना चाहिए अस्त वेला में निद्रा को सरल उपाय से छोड़कर दृढ़ता से वेग के सहित स्थिर रहें। वस्तुतः यह फणावती प्रातः सांय,अर्द्ध प्रहर मात्र में भरके सूर्य से ढके हुए विचलित होने से रोक करके प्राण के रोकने से पहले यह मुक्ता, ऋजु सरल, कुण्डलि संदीपन, चालन, मुक्त यह बीच के मार्ग से हिलने से आसन को छोड़ने पर या कमलासन मे, या वज्री आसन, में धारण करना चाहिए। चलता हुआ अपान वायु को ऊपर शीघ्र ही रोकके वेग के साथ नाभि को हृदय में रोकना चाहिए। ऐसा चिन्तन मुनि का कथन है। प्राणायाम यथोक्त विधि को प्राप्त स्थित होकर पद्मासन के अनुरूप अग्र भाग में अपान वायु की अन्दर गति करके विविध स्थिति को उर्ध्व काम हुतासन के द्वारा सरल जो अन्य रोकने का मार्ग है हाथ से अन्य पैरों की ऊपर जाने वाली नाड़ी कुण्डलि को बार-बार अपान वायु को ऊपर स्थित करके जड़ में हठयोग से युक्त करके अग्नि और चरण को उस वमन से दीप्त अग्नि के द्वारा ताडीत करना चाहिए शक्ति को अत्यधिक हिलाकर भली-भांति बार बार घुटनों में दोनों हाथों को रखकरके सूर्य को जानने वाला निकुंभ का अचारण करें। धनंजय के द्वारा शयिता, तप्त नीचे ऊपर तथा मुख के द्वारा सूर्य उसका मार्ग अन्य जठराग्नि के द्वारा चारों तरफ से घिरे हुए, आत्मा में निद्रित, आगत, मुद्रित, स्वातन, शोभ्यान से अलग होकर फैला देता है, स्फुर्ज से फणारोशन

कहलाता है। कन्धों के हिलने से कुछ समय दोनों चलने से अस्त व्यस्त उपर नीचे वायु से युक्त अग्नि के द्वारा प्रतिदिन सांय काल को पहले नष्ट करके अभ्यास करके भुजा के द्वारा स्थापित तनुरहस्य चान्द्रीसुधा श्रोतता को प्राप्त करता है। बाहर भौ रन्ध्र नाड़ी लय कहलाती है। पहले कुंडलिनी को चलाकरके अनुकरण को विधि पूर्वक योगी सदा चलने पर क्षुब्ध हृदय में भस्त्रि न्याय से तप्तता को प्राप्त करता है। पद्मासन में स्थित होकर पहले सूर्य नाड़ी से कुम्भ को भरकर लम्बे अपान वायु को ऊपर को खींचने से शक्ति के अनुसार आधारित नाभि स्थित अपने चरणों को हिला करके भस्त्रि का अभ्यास करने से प्रतिदिन चलता रहे। इसका ज्ञान होना ही भुजंगी कहलाता है। चलने के क्षुब्ध रूके हुए वायु वेग के साथ प्रदीप्त अग्र भाग में योग से प्रतप्त छिद्र को भुजंगी शीघ्र ही ऊर्ध्व गति को प्राप्त करता है। ग्रन्थियों का भेदन करके वायु और मन के द्वारा श्मसान में चार अंगुल परमित वेश्टन विस्तार से सूर्य 12 अंगुल दीर्घता को प्राप्त अंगुष्ट से उत्पन्न स्थान पर रोक कर वहां दाए और बाएं रूप में चालित करके कुण्डलिनी को दृढ़ करें सूर्य भेदन का स्मरण होनेप र उस पर विजय प्राप्त करने वाली शीतली का अभ्यास करे इस प्रकार अभ्यासी श्रम से विचलित नहीं होता । यही भस्त्रा कहलातीहै। दो मुहूर्त तिरछा चलने पर भुजंगी युक्त सूर्य कुंभ में अकिंत दीर्घता को प्राप्त इसको ऊपर को खींचे कुछ मुख को सुषुम्ना में स्थित कुण्डलिनी में उसको जागृत न करें। सुषुम्ना के अग्र भाग में यह प्राण छोड़ देता है। ब्रह्म रन्ध्र को प्राप्त होता है और शम्भु गर्भ को चालित करके नाड़ी को जिस चालन के योग्य उसे किया गया है । इस प्रकार दूसरे ग्रन्थों में दो साधन बताए गए मुख्य सरस्वती के चलने में प्राण संरोधन नाभि में ऋजु रूप को प्राप्त होता है । कुण्डलिनी उन दोनों के प्रारम्भ में सरस्वती के चलने का अभ्यास करना चाहिए। पहले विद्वानों ने अरुन्धती को ही सरस्वती कहा

है। सरस्वती के संचालन से कुण्डलिनी स्वयं चलती है। इडा नाडी में चलाकर बद्ध पद्मासन में दृढ़ हो जाती है ।12 अंगुल लम्बा ओर 4 अंगुल चौड़ा विस्तार के द्वारा उस नाड़ी को स्थिर करना चाहिए ऐसा विद्वानों ने कहा है । अंगुष्ट और तर्जनी से उस को हाथों में नहीं खींचना चाहिए। दृढ़ता से अपनी शक्ति के अनुसार बाएं दक्षिण भाग में चलानी चाहिए दो मुहुर्त पर्यन्त निर्भय होकर चलती हुई प्रारम्भ में सुषम्ना नाड़ी को कुछ ऊपर को खीचें वह कुण्डली व्रता कहलाती है। तब कुण्डलिनी उस सुषुम्ना के अग्र भाग को निश्चित ही छोड़ देती है। तब उसमें यह प्राण सुषुम्ना को प्राप्त करता है। स्वत: उदर में वायु को भरकर कण्ठ को संकुचित करने पर सरसता से चलाए नित्य शक्ति गर्भ सरस्वती कहलाती है। इसके संचालन से योगी मुक्ति को प्राप्त होता है। गुल्म ,जलोदर जो मध्य में विचरण करने वाले हैं वे सभी शक्ति के चलने पर रोगों को निश्चय ही नष्ट कर लेते हें। ऐसा योग दर्शन में कहा गया है । व्रजासन में स्थित योगी कुण्डलिनी को चलाकर उसके बाद भस्त्रि कुण्डलिनी को शीघ्र ही जागृत करना चाहिए। जिस प्रकार ग्रन्थियों का बांस में तप्त लोह शृखा के द्वारा भेदन किया जाता है उसी प्रकार पृष्ट बांस से ग्रन्थि भेदन होना चाहिए। कीडी जिस प्रकार से कम्पन्न को प्राप्त होती हुई कार्य में प्रवृत्त होती है उसी प्रकार सुषुम्ना नाडी में अभ्यास निरंतर वायु को स्थिर करना चाहिए उसके बाद रूद्र ग्रंथि का भेदन करके वह शिवांतिकता को प्राप्त करता है। चन्द्र और सूर्य को समान अवस्था में करके उन दोनों की गति होती हे। तीनों गुणों से युक्त ग्रंथियों का भेदन करने वाला शिवशक्ति योग परम स्थिति को प्राप्त करता है जैसे हाथी सुण्ड के द्वारा जल को पीता है वैसे सुषुम्ना चक्र वायु को सदा ग्रसित कर लेता है। वज्र दण्ड में उत्पन्न 21 मणियां के समान सुषुम्णा नाडी स्थित सभी सूत्र मणी के रूप क ो धारण कर लते हैं। साधक पहले वायु को भरकर

पुन: पुन वही पश्चिम द्वार के लक्षण को प्राप्त करता है। भरा हुआ नो द्वारों के द्वारा कुछ कुंभकता को प्राप्त सारे शरीर में वायु पश्चिम गति को प्राप्त करती है। रेचक क्षीणता को प्राप्त होता है तब पूरक सुख जाता है ।[26]

जब प्राण वायु को धारण करे ब्रह्म रन्ध्र के अन्दर निरंतर योगी कहलाने वाले मंगलकारी केवलाख्य को प्राप्त यह कुंभक सुने हुए वेद मार्ग को प्राप्त कहलाता है। तब सुषुम्नान्त को धारण करने वाला वायु शून्य प्रबोध में स्वयं विष विशेधोग्युरगी को काट लेता है। परा सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। विविध प्रकार के आसनों के द्वारा बहु कुंभों के द्वारा अत्यधिक चित्रकारी के द्वारा एक ही कुण्डली का ज्ञान वायु चित्त को विजय करने का कारण कहा गया है। रेचक कुंभक को छोड़कर जो कुंभक के द्वारा स्थिति कही गई है यह केवल कुंभक इस यम के पालन करने वालों को विस्तृत रूप से प्राप्त होती है । सब कुछ इस संसार में है । तीनों लोकों में नहीं है जो दुर्लभ है उसकी शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होती है। वह राजयोग यत्न के बिना सिद्ध कर लेता है। मन का वेग मन पर विजय प्राप्त करना लाभ, हानि, नाश , नाद, श्रुति आठ प्रकार की सिद्धि वायु का लय केवल कुंभक में होना चाहिए। हठ प्रदीपिका में शक्ति केवल कुंभक के द्वारा इच्छानुसार वायु को धारण करने में राजयोग पद को वह प्राप्त कर लेता है । इसमें कोई संदेह नहीं । कुंभी से प्राण चलता है। चित्त निराश्रय को प्राप्त होता है। इस प्रकार अभ्यास योग के द्वारा राजयोग को प्राप्त करना चाहिए। पुन: आश्रय रहित , कुंभक से कुण्डली का ज्ञान कुण्डली ज्ञान से अनर्गला और सुषुम्ना और हठ सिद्धि उत्पन्न होती है। इस प्रकार कुंभक प्राणायाम से ज्ञान की जागृति सुषुम्ना अनर्गला की बाधक रहितता

26.ह. त. कौ. (पत्र संख्या-88-90), 7/3/1-37

होतीहै। उससे योगी सिद्धि होती है इस प्रकार प्रनष्टोच्छवासनिश्वास , विषय, ज्वर, निश्चेष्ट, निर्विकार, लीनता को योगी जीत लेता है और शिव संहिता में कहे गए जब पूर्ण सभी रूका वायु हो तब बंध त्याग के द्वारा कुण्डली के मुख रन्ध्र से बाहर होना चाहिए। सुषुम्रा से हमेशा यह प्राण धारण किया जाना चाहिए। वायु ही प्राण है । जब अंत में सुषुम्रा नाडी से धारण करे सुनिष्पति दशा मुनि की हर समय प्रकट होती है राजयोग अग्नि को सूर्य से बेधित परमात्मा को प्रकट कर लेता है जैसे वार्तिकाकार आचार्य भी प्रसन्नता के साथ प्राण में सुषुम्रा को प्राप्त करने पर नादोन्त से 8 प्रकार का घण्टा दुन्दुभी शंखादि वीणा वेणु आदि ताल के समान ब्रह्म नाड़ी को प्राप्त होने पर प्राणों के ज्ञान में प्रकाश के होने पर निष्पत्ति दिशा और राजयोग प्राप्त होता है वहीं सुन्दरदेव विरचति हठ तत्त्व कौमुदी में शक्तिचालन प्रकार केवल कुंभक विवेचन संपन्न होता है ।[27]

हठतत्त्वकौमुदीकार सुन्दरदवे ने उपर्युक्त प्रसिद्ध कुंभकों के अतिरिक्त कुछ अन्य विशिष्ट कुंभकों का विवेचन भी किया है।

सुन्दरदेव प्लावनी कुंभक ग्रंथ के अंत में विशेष रूप से प्रसंग के अभ्यास के लिए कुछ उपयुक्त कुंभक कहते हैं-[28]

1. उत्कर्ष कुंभक

संकर्षक, रोधबल तक प्रयत्नपूर्वक नासिका के मूल तक करना चाहिए। उसके आगे रेचक कुंभक को पूरा करने पर उत्कर्ष कुंभक कहा जाता है ।

27.ह. त. कौ. (पत्र संख्या-90-01), 7/3/49-54

28. ह. त. कौ. (पत्र संख्या-25), 1/10/21

वा सदा। 14। सर्वरोग विनिर्मुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः नासाग्रधारणं गार्गि वायोविजय कारणं ।15। सर्वरोगविनाशः स्यान्नाभिमध्य च धारणात् इति शरीरं लघुतां याति पादांगुष्ठषुधारणात् ।16। जिव्हायां वायु मानीया जिव्हामूलं निरोधयेत् यः पिळेदऽमृतं विद्वान्सकलं भद्रमश्नुते ।17। इति तथा च त्रिपुरासार समुच्चये राजदंत युगुंलांतूमस्पृशन्सं न्निसधाय रसनांतदंतिके काकचंचुपुटमारूतं पिवेत्प्राण संयमनमेतदुत्तमं ।18। द्विक चंचु समीरणं शनै र्धयतः संपरिक्तस्य संततं श्रमदाहमरोदरांमयज्वरगुल्मा प्रशमं प्रयांति च । 19। जिव्हा कृत्वाऽनाकुलस्तालुमूले दंतैदंतान गाढमापिऽयित्वामंद मंदं या पिवेद्रंधवाहं सौधैः पूरैक साक मंतस्तवद्धि । 20। षड्भि र्मासैरंतरौगैरशेषैः पापाऽयेतो मुच्यते साधकेन्द्रः अष्टादेकाद्विस्रसां मृत्युद्गतीजित्वा भूमौ दीर्घकालं जीवेत् ।21। वर्षत्रयाभ्यासवशादती तमनागतं वेत्यऽसि नील केशः विषं न देहे क्रमते तदीये दष्टे पि घौरे रपि पन्नगेंद्रैः ।22। न कृत्रिमैः स्थावरजंगमैर्वाविषैः किमन्यैरपि कालकूटैः गुणाष्टकं कालवशादयेत्यै महीतले क्रीडंति भैरवोवा ।23। या मुंडाधारदंडांतरविवर गताहारनीहार गौरी सौधीधारानभोभोरुहकुरुर विधोः संस्रवंती वहंती तस्यावनाख्यनाडयाः खगमुदरदरीमध्यगंयोंविद ध्यात्तस्य ब्रह्मांडमांडे प्रलयममं घनं स्याद्धनं मृत्यु मृत्योरिति सुंदरदेव विरचिताया हठ तत्त्व कौमुद्यां क्लेशघ्नवायु साधन निशेयणोद्योतः ।12।

अथयोगां मुद्रादीनीं हठोपकारकत्वं निरुपयते जालंधरोड्डीयन मूलकानां वेधस्यवंधस्य च मुद्रिकायाः श्री शक्ति चालनस्य तथैव साक्षाद्हठोपकारत्वमुदीरितंज्ञै ।1। चकारात् वेचर्या अपिपीठानि कुंभाविविधा अनंता यमादि तद्वत्करणानि युक्तयः कर्माऽष्टक चेत्यऽखिला

हठक्रियाः श्री राजयोगस्य यदासये स्मृताः। 2। समाधेस्तु यमादीनां साक्षात्प्रोक्तो पयोगिता पारंपर्येण च हठाङ्गत्वं मुद्राष्टकर्मणां । 3। ईश्वराराधनं कर्मयोगाङ्गमीरितः समाधेस्तु प्रधानांगं क्लेश पापनिरासनात् । 4। बिनानकर्माश्रयणं सुसिद्धिः प्रजायते क्वापि सुसाधकस्यहि वित्स्वर्गभोगौ सुकृतेनहीनैर्न लभ्यते साधनमभ्यसेदऽतः। 5। अतो भक्तियोगो मुख्यं राजयोगांगं भवितुमर्हति समावर्जितश्चेश्वरः प्रेमभक्तयाह्यभि ध्यानमात्रेण चै मुंमुक्षुं समाधिं समापादयेन्निर्विकल्पं ततो भक्तिमीशे विदध्यान्मुमुक्ष्युः । 6। चित्तं वशेयस्य समाधिरेवं तस्योपदिष्टो नतु यस्य चित्तंवशेस्ति तस्यापि समाधि सिद्धै सम्यक् क्रियायोग इहोपदिष्टः । 7। <u>इति हठ तत्त्वकौमुद्यां हठांगोपकार विवेचनोद्योतः</u> । 13।

अथ मुद्राः तल्लक्षणं तु मुद्रणात्प्रोक्तायद्वयापार नियोजिताः तव्यापारस्य तन्नाम्ना योगसिद्धे र्हितादश । 1। अथ विपरीत करणी ऊर्ध्वंसोमकला जलं सुविमलं कंठस्यलादूर्ध्वतो वासांते सुषिरेनयेच्च गगन द्वारं ततः सर्वतः ऊर्ध्वास्यो भुवि संनिपत्य नितरामुत्तानपादः पिवेदेवं यः कुरुते जितेंद्रिय जनो नैवास्ति तस्य क्षयः । 2। ऊर्ध्वपादोह्यधोमस्तकः स्यात्क्षणं वासरेयादिमे ऽभ्यास वृह्धयेत् एवमस्यौभ्यासतौ याममात्रं सदा मृत्यु जित्साज्जाराजिच्चापरामसतः तूलस्य पिंडं प्रविधाय दक्षनासापुटांतेऽर्कमुख निरुद्धं भवेतश्चान यथोक्तमनायामं भजेज्ज्ञः प्रहरत्रय हि। 3। नित्याभ्यासादस्य हि जठराऽग्निर्वृद्धिमायाति आहायामर्थः शिरोभूमावारोप्यप्रहरत्रायोस्थितोशकस्यात्समासत्रयसमाप्तौ कालजिद्भवतीति तृतीय श्लोकेन संबंधः आहारोऽतस्तस्मै संपाद्यः साधकाय भूरिज्ञैः । 4। वलितं पलितं चैवषरा मासान्नैवदृश्यते याम मात्रं

च यो नित्यंमभ्यसेत्स तुकालजित् ।5।

इति विपरीतकरणी अथलंविका विधिः तल्लक्षणं तु तालमूल गता यत्नाजिव्ह्या क्रम्य घंटिकां ऊर्ध्वं रंध्रगते वातेप्राणस्यंदो निरुध्यते इति ।6। तत्करण प्रक्रिया यथा स्नुही यत्र प्रख्यं निशि तमति सुस्निग्धममलं शुभं शस्त्रंते । न प्रथममिह च्छिंद्यात्कचमितं व्रणं सद्यः पथ्या पटुवररवोघर्षित ततलं चरेदेवं ससाऽहनि पुनरपि छेदनविधि ।7। एवं क्रमेण कलयेछण्मांसनित्यमुद्युक्तः षण्मासा द्रसनातलमूलशिरावंध एतिलयं ।8। अथ जिह्वा धाम शिरोवस्त्रेणा वेष्टवा मंतंतत् आकर्षयेत् प्रतिदिनं षण्मासं कर्षणं प्राग्वत् ।9। चालनदोहनम् नुदिनमुपाचरे छेदनं तु अहतृतीयेऽहिऽस्यां तुनात्र सर्वं कार्यं संदोहनं च वामधुना ।10। एवं कृतेथ रसना प्रयाऽत्यनुभ्रूतलांत विलंतिर्यक् कर्णामूर्ध्वगता ।11। रौप्यस्वर्णाऽधोऽन्यतम शलाकिकांनांसिकारंध्रेन तंतुना सह नियोज्य संरुध्य मानसे प्राणान् ।12। सुदृढसनो परिगतोमथनं शनकै स्तुतः कुर्यात् भ्रूमध्येन्यस्य दृशौ दृढ़चित्त मुनेस्तदा सुषुप्ति सुखं ।13। न सदामंथनमुदितं मासे मासे तदाचेद्योगी एवं द्वादशवर्षैः संसिद्धिं खेचरी याति ।14। हठ प्रदीपिका मतेतु छेदनचालनदाहैः क्रमेण जिह्वा प्रवर्धयेत्तावत् सायावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरी सिद्धिरीति ।15। भ्रूमध्येदेशे चणकांकुर प्रभं यद्राजदं तो परि च त्रिकूटं नियोज्य चित्तं खलु तत्र जिह्वायांमृतं स्त्रवत्याति सदिव्य देह ।16। यदा भ्रू विले संनिवेश्य स्वजिव्हां विलोमं गताऽभ्यंतरे स्थाप्यदृष्टि स्वलक्ष्यं स्थिरं भावयन्यातिशून्यं तदा खेचरी स्यान्मुनेऽसिद्ध मुद्रा ।17। रसनयोर्ध्वगयाक्षवमास्थितो यदि मुनिः परिरुद्धमनोनिलः सकलरोग गणात्परिमुच्यते प्रबल मृत्यु जरादि भिरुग्जितः ।18। रसनयोर्ध्वगया विवरं भुवोवयसि यः सति मुद्रयति

ध्रुवक्षरति तस्य न विंदुलवोप्य ऽहो युवतिभिः स्वभुजाकलितस्य च । 19। कपालकुहरे कलांपरिनिवर्त्त्य सोमाऽमृतं सदा पिवति य सवै जयति यक्ष मेषोऽअमरः सदंदु गलिताऽअमृताऽशन सुपूर्ण कायो हियः सतक्षककुदं शजगरल मन्वत्स्तौति तत् ।20। मूर्ध्वं २ षोडश यत्र पद्म गलितं प्राणादवाहठाद्दूर्ध्वां स्थो रसनां नियम्य कुहरे शक्ति परं, चितंयत उत्कल्लोल कलां जलं सुविमलं धाराऽमृत य पिवेन्निदोर्षः स मृणालकोमल वपुर्योगी चिंरजीवति ।21।

चुंवंती यदि लंविकाऽग्रमनिकालं जिव्हा रसस्यंदिनी सक्षारा कटु काऽमल दुग्धा सदृशां मध्वाज्य तुल्या तथा व्याधीनां हरणजरातकरणंशास्वा मोद्गीरणं तस्यस्याद मरत्वमष्ट गुणवत्सिंद्धांऽगना कर्षणं ।22। पाताले यद्वि ततं सुषिरं मेरु मूले तदस्मिन् तद्वच्चै तत्पप्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानां चंद्रातुसारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां तं वध्नीयात्सुकरण मृदांनान्यथा काय सिद्धिः ।23॥ चितं विचरति गगने जिव्ह्यायस्मा चरति खे याता तेनैषा कथिताज्ञौ र्मुद्रा भद्राति खेचरी नाम्नी ।24। विधायपूर्वं दृढ़मूलवंधं प्राणं ततः साधुनिरुध्य कुंभंतः जालंधरे संविहितेनुयोगी चरेद्रसज्ञां लघु लंविकोपरि ।25। न मूर्च्छातृषा नैव निद्रा न रोगा न मृत्युर्नतस्योद्भवंति भवेत्काय सिद्धिस्त तथा कल्प मायुर्मुनिः सेवते खेचरी योगविधः ।26। वाह्याभ्यन्तर भेदाम्यां खेचरी द्विविधा मता लंविकाधा खेचरत्व मनसोऽत्येत्यऽनेक धा ।27। वंद्धं मूल विलंयेन तेनविघ्नोनिवारितः अजरामरतां याति यथापंचमुखोहरः मूल विलं ब्रह्म रंध्रं वद्धं जिव्हया पिहितं तेन योगिना उपद्रवो नाशिनः सयोगीः अजरामरगुणवान् शंभुर्यथा तथा ज्ञेयः अमृतपूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवतत्सरात् ऊर्ध्वं प्रवर्ततेरेतो ह्यणि मादिगुणोदयः ऊर्ध्वं रेता भवति

अणिमादिनां सिद्धि नां उदय: प्रवर्तते । 5 । इति सुंदरदेवविरचितायां हठ तत्त्व कौमुद्यां विपरीत करणी खेचरी साधनोद्योत: । 14 ।

अथमूलवंध: अधोगाम्यऽपानं तमापीडय या रस्मी गुदां कुंचनैरुर्ध्वामाकर्षयेज्ज्ञ: अपानं यथोर्ध्वप्रयात्येष शश्वद् हठेन विधेयं तथा मूल वंधोयमुक्त: । 1 । अथवा भगाऽपानमध्ये विनाऽल्पऽस्थि देशस्तमापीडये त्पास्मिंनभागेनभूरी अपनां गुदां कुंचनेनोर्ध्वं मुच्चै: क्रियाच्छश्वदेवं क्रते मूलबंधे । 2 । एक्येऽपानप्राणयो र्मूत्रगथ क्षैणाद वृद्ध: स्याद्‌द्वयस्थोहि मूलात् ऊर्ध्वं यातेऽपान वायौ यदाऽग्रे स्थानं दीर्घास्याच्छिखावायुसंगात् । 3 । ततोवन्हय: ऽपानौहयदि प्राणमुष्णततो ते दीप्त-स्तदौ देहगोऽग्नि: घटाख्यास्थितौ तेन सुप्ताभितप्ता भवेदासमं तावक्रमेणैव शक्ति । 4 । परिचये मरुतो मनस: स्थितौ सगितिं दंडदृतेव भुजंगभी शयन्मुत्सृजति सुधिता रुषा कवलयत्यऽध राऽनिल मूर्ध्वगं । 5 ।

विलं प्रविष्टेव वने ऋजुत्वं व्रजे त्सुषुम्णां इरणोवात: अनुगोयस्या सा अग्रे शक्ति: पश्चाद्वायुस्तेन योगिसिद्धि तस्मान्मूल वंध: सदायं योगिभिरवश्यं प्रथमं विधेय इति योगिर्भि रेष नित्यं श्री मूलवंधोऽभ्यसनीय आदरात् ।6 । प्रसादेन वंधस्य मूलाभिधस्य सरोजासने संस्थितो भूजयेन धरित्रीं समुत्सृज्य कौतूहलेन क्रमात्साधकरस्याज्जितस्पर्शन: खे । 7 । प्राणाऽपानौ नादविंदूमूलवंधेन चैकतां गत्वां योगस्यस संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशय: । 8 । इति मूलवंध: अथोड्डीयानोवंध स्तत्रविधेयोदृढं सुधिया । 9 । नाभेरूर्ध्वमंधस्त्रातानं कुर्यात्प्रयत्नेन उडयानं वंध एष: समस्त दु:खाऽद्यनाशनो यमिनां ।10 । तानं पश्चिम उदरे नाभेरूर्ध्वं भजेन्मतिमान् उभानवंध एषोमृत्युस्तंवेरमैकपंचास्य: । 11 । वज्रासनेकर युगेन निगृह्य पादौगुल्फ प्रदेशनिकटे किल तत्रकंदंद्राक् पीडयेदुचिरपश्चिमतानमेतं

तुदेहदाचिक्कु मादिवियुज्यधीरः । 12 । एवं कृते अनुशनकैः परिरुद्धवायुः कंदस्य संधिमधिगच्छति साधकस्य उडयानवंधदृढ साधनतः समीरः सिद्धोभवत्पतितरां तनुतेऽवृद्धिं ।13 । येनोड्डीयानेन वंधेन वायु प्रोडीयास्तेन ब्रह्मानाडया यतोऽसौ उड्डीयानाख्यः स्मृतो वंधं आर्यः सेव्यस्तस्माद्योगिभिः सिद्धसेव्यः ।14। अविश्रांतं प्राणवायुः सदैव यस्मादुडानदृढं संविधत्ते उड्ीयानं स्यात् ततस्तत्र वंधं धीरोनित्यं साधकः संविधंत्तां ।15। आधारकुंचनेन प्रथममनु तथोडयानवंधेन चैडांनाडीवै पिंगलाख्यां पवन गतिपदां साधुवध्वां समीर योगीन्द्रो वाह्येत्पश्चिमपथ ममनाः कर्मणापात्त्यऽलौल्यं वायुस्ते नाडस्य सिद्धिः सकलगद जयो जायते चाऽमरत्वं । 16 । प्रत्त्यहं पश्चतुर्वारमुडायनं च समभ्यसेत् तस्यनाभेसाधनेन सिद्धो भवति मारुतः । 17। रोगक्षयोऽग्निवृद्धिश्चस्थिरता विग्रहस्य च अनेनोऽयानवंधेन साधकस्य भवेद् ध्रुव । 18। इति उड्डीयानवंधः अथ जालंधरवंधः पीयूषावरणेतिस्रो विपरीतकृतिस्तथा खेचरी । 19 । जालवंध श्चेत्यादिनाथेन चोदिताः खेचरी चित्त पीयूष प्रवाह परिवंधनी जालंधरोऽमृतमरुत्प्रवाह परिरोधकः । 20। आकुंच्यकंठं हृदयेनिदध्यात् किंचित्सुजालंधरवंध एषः अयंकरोत्यऽव्ययमर्क वक्र पतत्सुधा या वपुषोऽमरत्वं । 21। वध्नाति वैकंठशिरासमूलां नाऽधस्ततो यातिनभः स्रवज्जालं जालंधरस्तेन कृतः सुसिद्धैः स्यात्कंठदुःखौघविनाशहेतुः । 22। नृणां कंठसंकोचनेनैव नाडयावुभेस्तं भये तेनमध्यस्थ चक्रं इदं षोडशाधारनामोक्तमाशुगतेः स्तंभिवायोः सुधाः पानमग्नौ ।23।

अमृतमहिमगु:ह्यमेषनाभिस्थितदहन: प्रपिवज्वलत्यऽजस्त्रं निटिलकमलतश्च्युतं तदऽग्नि र्नपिवति यातिच वंध एव धत्ते ।24।इदं वंध त्रयं श्रेष्ठं मज्जयसुसिद्धिं सर्वेषां योगतंत्राणां साधनं योगिनोविदु: ।25। इति जालंधर वंध: अथस्नात्कुंच नेनैव कंठसंकोचनेन च मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मरंध्रग: प्राण: प्राणवायु: ब्रह्मरंध्रग: सुषुम्ना पथचारी स्यात् मध्यगो भवेत्मूल स्थानं समाकुंच्य उड्डीयानं तु कारयेत् इडांच पिंगलां बध्वा वाह्येत् पश्चिमापथं मूल स्थानं मार्ग संकोचनं विधाय उडड्डीयानमुदरसंकोचनं तत: इडांपिंगलांवध्वा कंठसंकोचनेन पश्चिमं पथं पृष्ट वंश मार्ग पवनं वाह्येत्कुर्यात् पृष्ठं वंशं स्थिरं कुर्यादनस्त्रं स्थिर संचयं दंडधारणमेतद्धि समोर्ध्वं वायु माहरेत् ।26। इति दंडधारणं अथ महामुद्रा: घटनं शशि सूर्ययो: करोति परिशुद्धिं तनुते वपु:शिराणां विदधाति विशोषणं रसानां नरिमुद्राधि गतामहापाद्या ।27। वक्षोन्यस्त हनु प्रपीडयसुदृढं योनि स्ववामांऽघ्रिणा धृत्वा पाणि युगेन संप्रसरितपादं ततो दक्षिण आपूर्यत्वसनेन कुक्षि युगुलं वध्वाशनै रेचयेद्देषा व्याधि विनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ।28। द्वाराणि सर्वाणि नियम्य सम्यक् चित्तं निजं चित्तपथे विधाय गाढं चिवुकं हृदि खे समारभेद् वायुनिरोधमस्यां ।29। मरणसदृश भावं प्राप्यशक्स्तिदानीं सरलगति मुपाते वाऽहिराट्दंड योगात् जयमनिल च पानां चाल नाडिकानं सृजति हरतिमृत्यु सेविताऽसौ सुमुद्रा: ।30। चंद्रांऽगेभ्यस्य सम्यग्दशशत किरणांऽगेऽभ्यसेत् तुल्यसंख्यायावत् स्यात्तावदेनां पुनरिह कथितं नास्ति पथ्यं कुपत्यं अस्या अग्नेरसा ये जगति गत रसा: कालकूटं सुधा स्यान्मुद्राऽसौ कामधेनु: सकलगदहरी सर्वसिद्धिप्रदा च ।31। नाडि चालविंदुधारणं पाप नाशनं रोग शोषणं शक्ति तापनं ब्रह्मरंध्रेके वायु दापनं मुद्रिकाचरेत ।32। योगाऽयनारूढामुने: करोति सदासदऽभ्यास परस्य मुद्रा अभीप्सितार्थं वलमिंद्रियाणां जयं विधत्तेऽमरतां

वसौ ।33। क्षय कुष्ट गुदावर्त्तगुल्मप्लीह पुरोगमा: तस्यदोषा: क्षयं यान्ति महामुद्रांचयोभजेत् ।34। इति महामुद्रा अथमहावंध: धृत्वा वामांऽध्रिपार्ष्णि गुदंभग विषयांऽतेऽनुवध्वा समीरं मंदं सरेच्य सव्येऽवयव इति विधायानुदक्ष्येऽभ्यसेत्तत् वामेऽनस्जंऽघ्रिमऽन्यं चरणमभिविधायाऽनुसंपूर्य वायुंन्यक्चित्तेऽपान मूर्ध्वं भगमनु कलयेद्राजदंते च जिव्हा ।35।

महाबंध प्रोक्तो यमकुटिलबंधै कदलन लथानाडीनां द्रागुपरिगति बोध प्रजक: मनोवेणी संगनयति किल केदारमपिशंख्य ऽपान प्राणै क्यान्मुनय उपयांत्यऽस्य भजनात् ।36। अथनाडिचालाद्रसौधं समस्तं नय त्युत्तमागादऽध: सौधमुच्चै: सदाऽभ्यासत: शांभवीमध्यग: स्यान् मरुत्पुष्टिरंगैऽस्थि दार्घमुनेश्च ।37। बंधेनाडनेन योगींद्र: साधयेत्सर्वमीप्सितं अपान प्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेष्वपि ।38। इति महावंध: अथमहावेध: रूपलावण्य संपूर्णायथास्त्रीपुरुषं विना महामुद्रा महावंधो महावेधंविना तथा ।39। महावेध संस्थो मुनि: पूर्यवायुगतिं चाऽस्यरुध्वाऽनुजालंधरेण स्फिजौ ताडयेत्स्थाप्यहस्तौ समानौ शनैर्भूतले नासिकां सन्निरुध्य ।40। कृते संस्फुरत्येवमेव समीरोहृदंतमतस्तेनसंधानमेषां भवेदऽर्कचन्द्रा ऽनलानां सुसिद्धै स्पृशेज्जिव्ह्या राजदंतोर्ध्वरंध्रं ।41। यदोत्पन्नाऽवस्था मरण सदृशाऽत्राऽनुपवनं विमुंचेदऽभ्यस्तोविधि वदिवंध: सुफलद: महावेध: सेव्य सकल पलितस्त्रोवलित जिच्चलत्यंऽत: शक्ति भृंशत्रवन संताऽन इह ।42। भ्रुवोरंतर्दृष्टिं सुदृढमनुवध्वनति विभृयात्महामुद्रा वै त्रितयमिति गुह्यमृतिहरं जराजन्मोच्छेदिज्वलन परिवृद्धिं वितनुते चतुर्द्विगुण्येनाच्ऽहनि सततमेत्तत्तमेतत्परिभजेत् ।43। समीचीन शिक्षावत्ता मेवमुक्तं पुरा साधने साधकानां सदऽल्पं मृगीदृध्युताशाऽध्वं सं सेवनानां विधेयं तथा दौदृढं वर्जनज्ञै: ।44। अनेन वेधेन समीरेण संविध्यसमडमुनियुगवाग्प्र: ग्रंथीन् मिनसाशुमहापथेन सब्रह्मरंध्रेननुयोगिराज: ।45। महामुद्रात्रयमिदं शक्ति

वोध करं परं नाडी गताऽखिलमलशोषणं कायसिद्धि कृतार्थ इति महावेधः महापदा घां प्रथमं विधाय मुद्रां महावंधमथोसमभ्यसेत्॥ 46॥ हठान्महावेधमनुप्रकुर्या-च्छक्तिप्रवालोऽभ्यसन क्रमोऽन्वयं ।47। मूलस्थानं पूर्वमाकुंच्य सम्यगुड्डीयानं कारयेत्साधकोऽनु नाड्यावध्वा वाहयेत्पश्चिमेऽनुमार्गेवायुं साधयेत्क्रर्मणैवं ।48। इति मुद्रानवकमिदं शक्ति चालं प्रसुप्तशक्ति बोधकृतेः सेव्यमनेन सुवुद्ध यदा तदा ग्रंथिपद्माभिच्छक्ति ।49। इति सुंदर देव विरचितायां हठ तत्त्व कौमुद्यां वंधत्रय मुद्रात्रय विवेचनोद्योतः ॥15॥

अथ तत्र विंदुवर्णनं ।तद्यथा तदुक्तं योगचंद्रिकायां विंदुः शिवोरजः शक्तिर्विंदुरिद्रहरजो रविः उभयोः संगमादेव प्राप्तव्यं परमंपदं वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं चं यदा रजः याति विंदोः सहैकहंमवे दिव्यवपुस्तथा संगमात् मिलनात् परमं पदं ब्रह्मस्थानं योगिभिर्लब्धव्यं तदभ्यासार्थं वज्रोल्यादि त्रयं स्वेच्छया वर्तमानोपि योगोदितैः सद्विधानै विना साधकः साऽबलः मुच्यतेऽसौ सुव्रजोलिकाऽभ्यासतः सर्वसिध्यास्पदं याति भूमंडले ।1।वज्रोल्याः प्रथमाभ्यास प्रकारो यथा योगचंद्रिकायां अपानमार्गतः सम्यगूर्ध्वं कुंचनमभ्यसेत् पुरुषो वापि नारीवा वज्रोलीसिद्धि भाजनं अपान मार्गतो गुददेशेन ऊर्ध्वं उपरि कुंचने संकोचनमूर्ध्व माकर्षणंवाअभ्यसेते इति ॥2॥ अथ प्रकारांतेरण वज्रोल्या प्रथमाभ्यासः सयथा प्राक् शनै र्मेहनेनोर्ध्वमाकुंचनं सुंदरीवाभ्यसेत् पुरुषः भाति वज्रोलिका सिद्धिमत्युत्तमां कायासिद्धेः प्रसूर्विंदुसिद्धिर्यथा ।3। शलाकया धातु गणांतरोत्थया कनीनिकातः परिसूक्ष्मयाऽल्पकं रंध्रं स्वलिंगस्य शनैः प्रवेशानाऽभ्यास क्रमाद्वायुगति क्षमः चरेत् अपानमाकुंच्यततोऽवलेनोर्ध्वदुग्धहरेत् ।4। इति विंदुजयेविधिः क्रमेण हठ योगाय रूपदिष्ट उक्तः मरणंस्यति योगसिद्धि भावस्यात्किलं विंदौ परिरक्षितेन किंकिं ।5। तथाचोक्तं ग्रन्थांतरे वलितं तु स्वकं विंदुमूर्ध्वमाकुच्यरक्षयेत् सुगंधो योगिनां देहो

जायते विदुंधारणादिति अथवज्रोलीअथहिकुसुमिताया पुष्पमूर्ध्वं स्वमूर्ध्निकेमत उपरि: कुर्यात्कुं चिताल्लिंगनालात् निज उपगत विंदु संनिवध्या-नुकुर्यात्सुरतरस निमग्रोलिंगसंचालनानि ।6। विंदु: पांडुररासचंद्र उदित: सूर्यो भवेदार्त्तवं सिंदूर प्रतिमं रवे: पदमतं शुक्रं शशिश स्थानेकै रोक्यं साधुऽनयो: स्ववर्ष्मणिनृणां नोजायतेऽतोमृतिरन्योन्यं नृवधूरतेऽनिलमहिम्नाक्यंद्वयोर्वर्ष्मणि ।7। अभ्यासपाठवतया विदधाति योगविदेवं नुरुर्ध्व परिकर्षणत: सुविंदु यद्यार्त्तवं स्वमभिरक्ष्यति योगिनी सा वज्रोलिकेत्यऽखिल सिद्धिपदं प्रयाति ।8। शक्ति रजो विंदु: रज्यं महेशोद्वयोगात्परिलभ्यतेऽखिल्यं वीर्यंनिजं स्त्र्यार्त्तवमेतयो स्तनावैक्यं हिवज्रोल्युदितासुसिद्धिदा: ।9।

सहजोली त्वऽमरोली वज्रोल्याभेदतो भवत: विंदुदेहे विमृयाधेन चकेन प्रकारेण ।10। वज्रोलीमिथनोत्तरं नर वधू: यो स्वांगसंलेपनात्संदग्ध द्गणेस्तय्यांऽवुवृत या भूत्याक्षणं संस्थिति: सैषोक्ता सहजोलिका सुरनुतै: श्री आदिनाथै: शुभा वज्रोलीति नृणां तनोति नियतं भोगोऽतिभुक्तेऽमृतं ।11। इति वज्रोली सहजोल्यौ अथाऽमरोली पित्तोल्वणंत्वान्प्रथमांच धारां विहाय निसारतयां ऽत्या धारां निषेव्यते शीतल मध्यधारा कापालिकै: खंडमतेऽमरोली ।12। इत्यमरोली आकृष्योर्ध्वं मूत्रमऽल्पाऽल्पकं तद्वारं वारं संसृजे त्मूत्रणायं आकृष्योर्ध्वं वायुनायोहठेननित्यं धत्ते विंदु सिद्धि सयाति ।13। इति षण्मासाभ्यासनाद्रुरु णोक्तपथेन संततं योगीशांतिर्गत: सभोगेनतस्य विंदु: क्षयं व्रजति ।14। इति सुन्दर देव विरचितायां हठ तत्त्व कौमुद्यां वज्रोल्यादि त्रयसाधनोद्योत: ॥16॥

अथ विंदुजयमहात्म्यं म् । य: सर्वतत्वाधिष एषदेवो भवोऽव्ययों विंदुमयो जंतुषु स पौरुष स्त्रैण इति द्विद्योक्तो रज: स्त्रिय: पौरुष मेष बीजं ।1। स्वर्गप्रदो मोक्ष करश्च विंदुधर्म प्रदोऽधर्मकरस्तथैव सूक्ष्मस्वरूपेण वसंति तत्र

वृंदारकास्तत्तवमिदं सुविंदुः ।2। वायुनापतिति विंदुरमंदोविंदु साधनमिहास्ति नचान्यत् यां दशां व्रजति वायु शांतस्तां दशां कलयते किल विन्दुः ।3। यथैषा साध्यते मरुत् तथैति विंदुसाधनं विलीन एष सिद्धिदः सुमूर्च्छितो रुजायहः ।4। यथा यथा विंदुदशा भवेत्तनौ तथा तथाचित्त दशाभ्युदेति यदा समीर चलएष बिंदुस्तदाविलोलोमनुजस्य दुष्ट ।5। नादश्च विंदुश्च मनस्त्रयाणां स्यादेकं संधान मिहाऽश्रमेण संसाधिते व वर्ष्मणिमारुतेऽमीः सिध्यंति सर्वे शुभसिद्धिभाजः ।6। वायुर्यदाऽसौ म्रियते यदैव विंदुश्च चित्तं म्रियते तदानीं तत्त्वानि विंदोस्तु चरंति वायु संचारतो वातलये म्रियंते ।7। मोह प्रमाद महिमा स पवित्र कायो दुर्दोष धातु गददुःख सहस्र खिन्न दिव्योभवेदऽमरएष सुरत्नविंदौसिद्धेत सिध्यति नुकिं भुवि यस्यतस्य ।8। विकृत रस विकारोद्भूत धातूत्थविंदुःस्खलति विकृति मेति द्राच्छचेतः प्रयागेऽवगुणमभिजित्वभूयस्याद्राटो ब्रह्मनाडी प्रपिवति तनु सिध्यै स्यातदैवेष धातून्। 9। तदोर्ध्वं रेता विजितैंद्रियोमुनिर्धातून्सुषुम्णो परिकर्षयेध दास्तःखोटवक्ष्यैतु तदैव वायु विंदु तदाखेचरसिद्धिं भाङमुनिः ।10।

सुरूपलावण्य बलाति वज्रशरीरता विग्रहसंपदेषासौभाग्यमंगेमृदुतेति सर्वमभ्यासिनो विंदुजयस्यरूपं ।11। वज्रोली सहजोलिकादि सकलं विंदोर्जयार्थं हठे संप्रोक्त कपिलादि सिद्धनिवहैः सद्ब्रह्मचर्यादि च ओजोवीर्यमनः प्रसादविचलत्वाद्यं समाधिर्मुनेर्विद्वायत मदोलयेऽस्य कलुषे चित्तेन सिद्धिर्हठात् । 12। विंदोसंजयतोमुनेस्थिरःसुखास्यादासने संस्थिति धैर्योत्साह वलान्यऽभीहिः तमितं सत्वाऽशनं सेविनः अभ्यासाच्छुचिरुत्तरोत्तर मसौ दीप्तेऽनले कुंभकादुधात्वं ऽवुयत्नक्षयेकनक वद्विदेहां सिद्धि प्रदः ।13। पृष्टवंशदृढदंडधारणंनो विना भवति विंदुसाधनं प्राणरोधनमपानकर्षणं नीच ऊर्ध्व मखिलं भवकार्यं ।14। पंचभूतकरणौध संयमात्मध्य नाडि पथगौ मरुदः ग्रीष्वोजसा सह तथा सुषुम्णया ऽभ्यासतस्तनुमलान्वि

कर्षतः । 15। रुधकोरुधिरमंगजं यथाकर्षयदिति सदाम्यसनेन धातुसंघममुना सनस्थितिः शांभवीस्युपरिमान सविंदु । 16। तदारेचकं पूरक संविधाय विश्नादाः प्रवर्ततं उच्चैः।17। स्नवच्चं द्रविंवं तदाऽस्नक्षुधातृण्मुक्ति स्यात्स्वरूपे यऽदिदाहकमथ्यगणोक्त मंत्रं । 18। यत्सात्विके तरमधीकृदऽधप्रद यत् तत्सर्वममिग्निवलर्धी हरमर्त्ति बीज भ्यांससिद्धिस्युधातुजविंदु वीजं । 19। अभेदोपचारान्मुनेःकार्य हेत्वोरऽपथ्यं विहारऽशनं सात्विकाऽन्यत् तमोदुःख कृद्धा तुकृद्विंदुकृतं पितमग्नि द्विरुददरभगसुसंस्थानप्रभेदाद्विधास्ति भ्रममद परिमोहक्षुत्प्रदं शुद्ध सिद्धाज्शेस्विकृदऽमलसत्वोद्योत कं योगदं तत् । 20। प्रकाशकं सत्व युजा सुपितं प्रसाद कृद्वैमनसः सुखावहं श्री कुंडलीवोध निदान काम वत्स्वात्मकं ह्यतनु वायुसिद्धिभुः। २१। नसात्विकेष्ट प्रमिताऽशनं देहेऽत्र । 21। सद्धातुचयः सुविंदु भूः चित्तेन सद्विंदु मृते प्रसादः सद्ब्रह्मचर्यं च मनः स्थिति विना । 22। जीवनं प्रोच्यतेविंदुयोगे नृणातथायायान्मृति जीवितं तत्स्थितौ विंदुना जायते विंदुरेषो मनोऽधीन एतज्जयश्चित्तवृत्तेर्हि सः । 23। ऊर्ध्वं रेतः प्रभावेन सनकाधामहर्षयः खंडयित्वा कालदंडं यथेच्छंविहरंति ते । 24। इति सुंदर देवविरचितायां हठ तत्त्व कौमुद्यां विंदुजय माहात्म्यं निरूपणोद्योतः ॥ 17 ॥

शिव उवाच विद्यां चखेचरी देवि प्रवक्ष्ये योग सिद्धिदां न तया रहितोयोगी खेचरी सिद्धि भाग्भवेत् । 25।

खेचर्या खेचरी युंजन्खेचरीवीजपूर्वया खेचरावसथ वान्हमं वा मंडलभूषितं व्याख्यातं खेचरीबीज तेन योगः प्रसिध्यति । 26। सोमेशास्त्रवमं वर्णा विलोमेनाऽपरं प्रिये तथातत्पंचमं देवि तदादिरपि पंचमः इन्द्रोपि विन्दु सं भिन्नं कूटोयं परिकीर्तितः । गुरुपदोशाल्लभयं च सर्व लोक प्रसिद्धिदं । 27। यत्तस्यदे वतामाया विरुपकरणाश्रया स्वन्येपि न भवेत्तस्य नित्यं द्वादश जाप्यतः । 28। य इमां

पंचलक्ष्याणि जपेदपि सुयंत्रितः तस्यश्रीखेचरी सिद्धिः स्वयमेव प्रवर्त्तते । 29 । नश्यंति सर्वविघ्नानि प्रसीदंति च देवताः वलीयलितनाशश्च भविष्यति न संशयः । 30। प्रस्तारः ह्वेव्युं खेचर्यै नमः ओं अस्य श्री खेचरी मंत्रस्य भगवानादिनाथो ऋषिः खेचर सिद्धिप्रदाखेचरी देवता ओंह्वीव्युं वीजं नमः शक्तिः ममयोगसिद्धयर्थे जपे विनियोगः ऊं ह्रां अंगुष्ठाभ्यां हृदयायनमः ऊं ह्रीं तर्जनीभ्यां शिरसे स्वाहा ऊं ह्रं मध्यमाभ्यां शिखायै वषट् ऊं ह्रैं अनामिकाभ्यां कवचायहुं ऊं ह्रौं कनिष्टिकाभ्यां नेत्रत्रयाय वौषट् ऊं ह्रः करतल पृष्टाभ्यां अस्त्राय फट् अथ ध्यानं मूलादि ब्रह्मरंध्रांतं वि संतं तु तनीयसीं उद्यत्सूर्यप्रभाजाल विद्युत्कोटिसमप्रभां । 31 । चंद्रकोटिं प्रभाद्रावत्रैलोक्यैक प्रभामयी अशेषजगदुत्पत्ति स्थिति संहार कारिणी ध्यायेयथा मनोदेविनिश्चलं जायते ततः सहजानंदसंदोहमंदिरं भवतिक्षणात् । 32 । मनोनिश्चल तां प्राप्तं शिवशक्ति प्रभावतः समाधिर्जायते तत्र संज्ञाद्वय विजृंभितः । 33 । शांभवेनच वेधेन सुखी भूयान्निरंतरं इति ध्यात्वा जपेत् एवं लब्ध्वामहाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः अन्यथा क्लिश्यतेदेवि नसिद्धिः खेचरीपदे: । 34 । अथाभ्यास विधौ विद्यांनलभेद्यः सुधामर्यी न तस्यमेलका दौ चलब्ध्वा विद्यां समुज्जयते । 35 । अनयारहितो देवि नक्वचित् सिद्धि भाग्भवेत् यदिदं लभ्यतेशास्त्रं तदाविद्यां समाश्रयेत् । 36 । ततस्तत्रोदितां सिद्धिमाशुतां लभतेप्रिये इति । इति खेचरीयवलात्खेचरी विद्या अथवा त्रिपुरां वालां योग सिद्धये । 37 । तदुक्तं शिव संहितायां अधुना संप्रवक्षामि मंत्र साधन मुत्तमंऐहिकामुष्मिकसुखयेन स्यादविरोधतः । 38 । यस्मिन्मंत्रवरे ज्ञाते योगसिद्धि भवेत्खलु योगिनः साधकेंद्रस्य सर्वैश्वर्यसुखं भवेत् । 39 ।

मूला धारेस्ति यत्पद्मं चतुर्दल समन्वितं तन्मध्ये वाग्भवं बीजं प्रस्फुरत तडित्प्रभं हृदये काम राजंतु वंधूक कुसुमप्रभं अज्ञारविंदेशक्तयाख्यं चंद्रकोटि समप्रभं

बीजत्रयमिदंगोप्यं भुक्तिमुक्ति फलप्रदं एतन्मांगुरोर्लब्ध्वा न द्रंतं न विलंग्तिं अक्षराक्षर संज्ञानं निःसंदिग्धमनाजयेत् ।40। नव्याहतश्चैकचित्तः शास्त्रोक्तविर्धिनासुधीः देव्या स्तुपुरुतो लक्षहुत्वा लक्ष ।41। त्रयं जपेत् करवीर प्रसूनं तु गुडक्षीराज्य संयुतं कुंडेयोन्याकृतौधीमानुयांतेजुहुयंच्छुचिः ।42। अनुष्ठाने कृते धीमान्पूर्वा सेवाकृता भवेत् ततोददाति वैकामान्देवी विश्वेशिखी ।43। जपेष्टा दशभिर्लक्ष्यैर्देहेनानेन साधकः उतिष्टेन्मेदिनीं त्यक्तवा दिव्यदेहस्तु जायते ।44। भ्रमते स्वेच्छयालोके छिद्रां पश्यति मेदिनी कोट्येकयामहायोगी लीयते परमेपदे ।45। साधकस्तु भवेद्योगी त्रैलोक्यख्याति दुर्लभ इति इति त्रिपुरभैर विविद्या कालीं जपेज्जीव शक्तिं मोहिनी मूलपंकजे सुप्ता वा कुडली ध्यायन्साधक स्यात्सयोगिराह तद्यथा वैश्वानरस्थ शिवंकलिता सदैवशक्तिः शशांकपरिभूषितमूलर्धभागश्यामा तमोगुणजनिर्जऽशावपीठातृट्वित् क्रियापरमदैवत मस्तुभूत्यै सैषा कुंडली जीवशक्तिरात्म्रः सर्वतत्त्वा त्मिकाक्लेशकर्मरूपा जाग्रद्दशा कालीति इति हठतत्त्व कौमुद्यां मंत्रं साधनोद्योतः ॥18॥

वीभत्सोग्रपुरीषपूप रुधिरामेध्या मगंध्यु ल्वणे ध्यायातालगभीरनारक गणेध्याकल्पमर्ति पुनः नानाऽसस्रुसुतीक्ष्णशस्त्रसिक्तो वोग्राच पीडाजुषो जीवावासनाया वियोन्यऽकभुजः स्यु कर्मनाशावधिः अज्ञानोपहता अलीकविषयो पाद्यौनिमग्राश्चयेमेवेचित्त सुतादिचेतिविहिता त्मज्ञानलक्ष्याधिया नानायोनिषु संभ्रमंति विधुरा जीवा असत्कर्मिणो न जानंति न यावदात्मसुपदं तत्तवं परं योगतः१यमनियममुखाः समस्तधर्माद रितहरा अपि नात्मतत्त्वदाः स्वंसुरविर्धिपददा यथां शपुण्यावधि निरपायि सुखं बिना न योगात् ॥ 2॥। तथाचोक्तममनस्के महाविष्नुर्महेशानः प्रलये भ्वपि योगिनः भुजंते परमानंदभृशुद्धादिमहात्मवदिति । ॥3॥ विस्तरस्तुमत्कृत भवार्त मनोविभ्रांतौ वैराग्य सम्राज्ये च द्रष्टव्यः इति सुंदर विरचितायां हठतत्त्व कौमुद्यां कुंडली

कुं भके निसर्गनवनाऽयंटनं ९ साधकस्य मिताशिनः ।7।

मूलाधारस्थिताशक्तिश्चित्तवात निरोधत जागर्ति चालेन सम्यग्विधिना चालिता तदा । 8। युग्मं घटिकैक मिताशक्ति चालनो त्रयानाभुवि ९ निसर्गकुंभस्थेनोच्चैर्घदीदशः १० सुधीमता ।9। तावत्कालं चालनेन सदोर्ध्वं मरुतोरगी याति पश्चिममार्गेन मनोवाताऽग्नि योगतः ।10। युग्मं योगस्त्वऽसंन्मानस वृत्तिरोध आयामतः प्राणनिरोधनेनहि निरुद्धमंतः स्थिरमऽस्तदोषमभ्यासदैर्ध्या क्रम तु प्रवासनं यदा तदैश ।11। प्रणिधान लुब्धमऽपास्त कर्मो दधतेऽत्र संवित् शुच्याऽनयाऽतीत विदा सुषुम्णास्ये सूत्र सूच्योरिव वायुयोगः । 12। युग्मं यावन्नमध्येविलयं प्रयाति प्राणोमनोन्निश्चलततां न याति चिन्हानि न स्युर्हठयोगभाजः सिद्देश्चिरं संयमिनः कदापि । 13। यः तादात्म्यमाप्तां स्थिति शक्तित्त्वे हृदे कतारि १ स्थिरमस्तदोषयदैववायुर्विजितः सुषुम्णास्येशक्ति योगः सुविदद्गमश्च । 14। प्रत्याहारत्प्राग् जिताः क्षे हटांऽगैर्नित्यं चालाऽभ्यासवृद्धां भुंजंगी उत्कर्षा यामेन संचालिताऽसौ प्रत्याहारांऽते व्रजेत्मध्य मार्गे । 15। अत्रशक्ति वोध केवल कुंभकावधि परिचयाऽवस्था शक्ति वोधोत्तरं निष्पत्तिदशाराजठयोगोऽसौमुनेर्भवति विनायासात्मस्वरूपलयसमाधिर्धारणा ध्यानसमाध्यंऽग त्रयवान् क्रमेणाभ्यासशीत्स्य इति सुन्दरदेव विरचितायां हठ तत्वकौमुद्यां परिचयावस्था विवेचनोद्योतः ॥ 1 ॥

अथशक्तिचालन अथ परिचयका काले कुंडलीयजिताऽग्रेरऽखण्डसमयवनमभ्यां चालिता भूरितऽस्र प्रविशति कपिलांगी शांभवीं मारुतोऽयं क्रमतउपरिभिंदन्याति चक्राणिमंदं । 1 । कंदोर्ध्वं भुजगी महापथ मुखद्वारं समच्छाधतत्तसवास्थै नाभिविधायदीर्घशयनं यातास्ति मूलांऽवुजं तद् द्वारं प्रविभेदयेद् हटहटादुद्धटयेत्कुं चिकायोगेनैव यथा कपाटमचलं स्याच्छक्तियोगोन्विह ।2। अधोमुखी भजंगमीभवं प्रदर्शयेन्नृणां समाधिउन्मुखी कृताचरेत् स्वरूपदर्शनं ।3। प्राणायामाच्छक्तिवोधोयदैव सर्वानिष्पन्नाः क्रिया साधकस्य

तस्याऽवस्था सैवनिष्पत्ति नाम्नीसिद्धि स्थानं संयमः स्यात्तदार्यः । 4। आयामदीर्घाऽभ्यसनेन सत्वधिया सुषुम्णामतमाविधाय चित्तं समीरस्तमनुप्रधावत्यऽविस्खलद्याद्या:परिशुष्क दोषे । 5। स्थितिं विनिर्मिद्य जवादऽपानोयदोर्ध्व मायाति समश्चरन्मुनेः प्रत्यङमुखप्राण युगऽग्निरेषआदीप्यनांगी परितापयेत्त त्तदा ।6। संचालिता प्राण समीरणेनाऽपानेन लोलादहनेन तमानिगृह्यपुच्छे परिवोधिताऽसौतूर्णं निशेत्मध्य यथास्यां मध्यं ।7। मतांतरेतु अधोगतिं स्वामऽपहाय तूर्णं भूत्वोर्ध्वगोंऽपान उपैति वन्हिना प्राणस्य संस्थानमऽपान वन्हिप्राणामिलित्वा भजगींप्रयांत्यऽरं ।8। एतन्मते तु मित्वा ह्मगंथि मादो रजोऽकं वेगेनौच्चेः सत्वराऽहं धती सा ब्रह्मछिद्रस्था व्रजंत्यूर्ध्वमुमुच्चैविष्नु ग्रंथि सत्वजं याति चित्तं ।9। ग्रंथि स्ववेगेन विभिध विस्नोर्महीयसोर्ध्वं च ततोऽभिगच्छति ग्रंथि र्महेशस्य चकास्ति यत्र भ्रूमंडलं यातितो ग्लु मंडलं ।10।

दलैर्वृतं षोडशभिः सुचक्रमना हताख्यं किलतत्र चंद्रजं द्रावं सदा शोषयते भुजंगी श्लेष्यात्मकं चाऽर्कजमस्रपित्तजं ।11। प्राणस्यवेगच्चलितौसिताऽरूणौ वशमनोत्वेन विकारहेतू संशोषणाच्चाऽनुतदेवशक्तेः स्वच्छभवेत् सिंधु जलं यथा तथा । 12। पीतद्रावासापरावृत्या पश्चात् स्वरस्थानं द्रागेति जीवने सार्धं प्राणाऽपानौमुक्तधस्र स्यक्ष्ययात्मभावौ नित्यं स्तस्तदाऽस त्सत्सदनौ । 13। समरसमथचिंतत्यक्तदुर्वासनांऽकं भवतिय जठराऽग्नि वर्धतेऽलं तदानीं दहति निखिल मंतर्भौतिकं द्रावयित्वा तनुरऽमृत रसात्क्तास्याज्जरामृत्युहीना । 14। प्राणाऽभ्यासक्र इति जडे भौतिके दिव्यरूपं सत्वं तेजः प्रतिदिनमलं सद्विवे केन शुद्धं वृद्धिं याति द्रुत मथ तदा धारणा सर्वसिद्धि पात्रं योगी हिमकर इवा पूर्णसद्विक्रमेण । 15 । बोधे भुजंग्याहत सर्वक्रर्मणः समाध्यऽवस्था स्वयमेव जायतें महापथे प्राण उपैति लीनतां मनोऽस्त कमऽिस्थ तदान मृत्युः । 16। काल विधतः किल पुष्पवंतौ नं त्तं दिनाख्यं यमिनः सुषुम्णा कालस्य भोक्त्री सहज स्तदात्म्यं कुंभो भवेत्केवलनामकश्च ।17।

प्राणेसुषुम्णा वदनं प्रविष्टे शमं प्रयाते मनसीत चापलेतदाऽनरो ली मुनिनायकस्य वज्रोलिका सिध्यति दीर्घ जीवितं ।18। चित्तस्थैर्येप्रारुत ऽसुस्थिरः स्यात्तस्माद्बिंदु संस्थिरो योगिनोऽगेंविं स्थैये स्यादयासत्यमोजः पिंडस्थैर्यं काय संपद्बलं च ।19। महामुद्रया पंचवंधात्सुपीठै विधायाऽभ्यसेत्युत्यहं शक्तिचालं पुरासाधकोऽभ्यास उत्कर्ष कुंभोरगी चालनेस्तो यथोक्तो घटोते । 20। उत्कर्षमारंभदशा प्रवेश धर्मादिसिध्यंगक जन्मने भजेत् कुंभाऽयमिद्रंऽर्क भवं कफाऽस्मपितात्मकं द्रावमलं वहिश्चरेत् । 21। नाडी विशुद्धौ श्रमजः प्रधर्मः पुराऽननाडयंऽतरजीर्णदुर्मलः उभौप्रयातोऽनुविशुद्ध वर्ष्मण्यांरभघर्मोऽर्कशशीमल द्रवः ॥ 22 ॥ विकारिचंद्रोष्ण गुह्यघर्म रूप द्रावे गतेभ्वऽग्निं जलात्मवीर्ये क्षीणे ऽल्पवीर्योत्मवर्हेदुख्योः संग्यऽस्त वीर्येहृदतोऽगकंप ।23। यथा यथाभ्वऽग्नि जलात्म वीर्यशोषस्तनौ कुंभहविभुजामुनेः तथा वहिर्दग्ध कपालदशयं विसार मंगलंयुराजतेदिवि ।24। एतन्मूलं योगविजें स्पष्टं इति सुंदरदेव विरचितयां हठ कौमुद्यां शक्ति चाल विवेचनोद्योतः ॥ 2 ॥

अथ शक्ति चालन प्रकारः नाडी शोधन सर्वलक्षणयुतस्त्वारंभ मासेवयेद्यावन्मूत्र विडन्यतासनसमुत्थानांऽकिसिध्यनिलः वर्षं वाऽनलं यथोक्तं क्रियात्। 1। तद्यथा पुराऽनिलं वायु सखेन साकंधियाससमारोप्यनिरोध्येत्तं ध्याये त्सदा चक्रिण म प्रबुद्धं नाभौ सदा कुंडलिनं निविष्टं । 2। द्वारं संमावेष्टा मुखेन मध्यमऽन्याः स्वभोगेनेशिरा श्चानाभिजाः स्वपुच्छमास्थेन निगृह्य सम्यक् पंथानमीऽयं मरुदःग्निचेतसां ।3। निगृह्यपुच्छभुजगीं प्रसुप्तांमुद्बोध येदऽरूस्तभयोवलातां विहाय निद्रांसरलोर्ध्वमेयाहठात् समुत्तिष्टत आत्तवेगा ।4। परिस्थितस्ये ह फणावती सा प्रातस्तु सायं प्रहराऽर्ध मात्रं प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्ता प्रगृह्यनिर्यात्परिचालनीया ।5।

प्राणस्यसंरोधनतः पुरासौ मुक्ताऽऋजुत्कत्सरलाऽस्तिकुंडली संदीपन चालन मुक्त मस्याश्चलत्य सौ मध्य ।6। पथस्यचालनात् त्यक्तासने वा कमलासने वा वज्रासने वा विदधीत चालनं अपानमूर्ध्वं प्रसभं निगृह्य स्वणेन गेननागींहृदि

चिंतयन् मुनि: । 7 । प्राणायाम यथोक्त विध्युपगत: स्थित्वाऽनुपद्मासनेह्यऽग्रवाहम-ऽपानमंतरगतिं कृत्वा विभिद्य स्थिति ऊर्ध्व कामहुताशनेन सरलां योन्यास्यरोधाऽर्दनै र्वामांऽघ्रेर्दप्पार्स्णिनाऽपरपदारूध्वाशिरा: कुंडली ॥ 8 । बांर बारमऽपानकोर्ध्व कलनैर्मूलेन हठादायुंज्याऽग्नि पदं च तद्गमनतो दीप्ताऽनले नाहतां कुर्याच्छक्ति व्रतीव दोलनतयासम्यङ्मुहुर्त्तद्वयं जान्वो पाणि युगं निधाय रविणं ज्ञ: पूर्य निकुं भं चरेत । । 9 । क्षुध्वा सेति धनंजयने शयिता तप्ताऽद्य रुर्ध्वं तथौस्त्रेनाऽर्काऽध्वगतेरणस्य जटरोत्थेद्वाऽग्निना सर्वत: प्लुष्टेवात्मनि निद्रितागतमलेंऽतर्मुद्रितं स्वाननं शांभव्या न न त: पृथग्वितनुते स्फुर्जत्फणारोषणं । 10। कद्यांदोलनतो मुहूर्त्त युगलं संचालनेनाकुलोर्ध्वाऽध सपवनाऽनलै: प्रतिदिनं सायं प्रागेत्यऽर्दितता अभ्यासेद्बहुना शतापिततनूर्हाज्यानचांद्री सुधा श्रांतौ याति वहिस्तदामृतिगुणभ्रूरंध्र नाडी लय: । 11 । चालयित्वापुरा कुंडली भस्त्रिकां चानुकुर्याद्विषेण योगी सदा चालने क्षुब्धहृद्भस्त्रि तप्ताऽति सांऽसत्रिवाकृष्टि दुर्वाग्भिहतिष्ठते । 12 । स्थित्वा पद्मासने प्राक्रवि धमनिकया कुंभमापूर्य दीर्घं चापानं वायुमूर्ध्वं मुहूरति चलत: संनिधायाऽनु शक्ति आधारे वाथ नाभौ विहितनिजपदां चालयित्वाऽनुभस्त्रीं कुर्वादऽभ्यासतोऽस्य प्रतिदिनम:चलायाति बोधं भुजंगी । 13 । संचालन क्षुभित रुद्ध समीर वेग संग प्रदीप्त शिखि योगत उत्प्रतप्ता छिद्रं विहाय भुजगी द्रुत मूर्ध्वयेति ग्रंथीन्विमिद्य मरुता मनसा श्मशाने । 14। तुर्यांऽगुल ४ प्रमितवेष्टन सप्तमस्या विस्तारतोरवि १२ मितांगुलदैर्ध्यमानं अंगुष्टतजंनियुगेपरिगृह्य तत्र सव्यपस्वय म: सकृत्परिचालयेतां । 15 । चालयित्वा दृढं कुंडलीं यश्चरेत्सूर्य भेदे स्मृतोज्जयिकायां च वाशीतलीमभ्य सेदेवमभ्यासिनो न श्रमश्चालनेनाऽस्ति भस्त्र्यां मृति: । 16 । मुहूर्तद्वयं चालयेन्निर्भये न भुजंगीमिमां सूर्य कुंभेऽतिदीर्घ तदैषोर्ध्वमाकर्ष येत्किंचिदास्यं सुषुम्णागता कुंडलीनेनतस्या: । 17 । सुषुम्णाया मुखमेषो जहाति तस्मात्प्राणो व्रजति ब्रह्मरंध्रं नित्यं तस्माच्चालयेच्छंभुगर्भां नागींयस्याश्चालना द्योग्य ऽरुक्स्यात् । 18 ।

तथा चोक्तं ग्रंथांतरे तत्साधनंद्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनं प्राणसंरोधनं नाभ्यामृज्वी भवति कुंडली । 19। तयोरादोसरस्वत्यांश्चालनं कथयाभ्यतः अरूंधत्येवकथिता पुरा विद्भिः सरस्वती । 20। अस्याः संचालननैव स्वयंचलति कुंडली इडायां चालयित्वातु वद्धेपद्मासने दृढे । 21। द्वादशांगुलदैर्ध्यंतु अवरं चतुरंगुलं विस्तारेतेनतां नाडीं वेष्टयित्वा तु त्सुधीः । 22।

अंगुष्टतर्जनीभ्यां तां हस्ते नाकर्षयेदृढं स्वशक्तयाचालयेद्वामे दक्षिणे च पुनः पुनः । 23। मुहूर्त्तद्वयं पर्यंतं निर्भयश्चालनादिमां ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्णा कुंडलीवृता । 24। तदाकुंडलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवं जहाति तस्मात्प्राणोयं सुषुम्णाव्रजति स्वतः । 25। तुंदेतु पवनं पूर्य कंठसंकोचनेकृते सरसं चालयेन्नित्यं शक्ति गर्भं सरस्वतीं । 26। अस्या संचालननैव योगी गैः प्रमुच्यते गुल्मं जलोदरं स्त्रीहं येवाऽन्ये तुदमध्यगाः । 27। ते सर्वेशक्ति चालने रोगानश्यंति निश्चयादिति तथा चोक्तं योगवीजे वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा तु कुंडली कुर्यादनंतरं भस्त्रीं कुंडलीमाशुबोधयेत् । 28। भिद्यंते ग्रंथयोवंशे तप्तेलोहशलाकयाः तथैव पृष्ट वंशोस्याद्ग्रंथिभेदास्तु वायुना । 29। पिपीलिका यथालग्ना कंपस्तत्र प्रवर्त्तते सुषुम्णायां तथाऽभ्यासात्सततं वायुनाभवेत् । 30। रुद्रंग्रंथिं ततोभित्वा सैव याति शिवांतिकं चंद्रसूर्यो समौकृत्वा तर्योगः प्रवर्त्तते । 31। गुणत्रयादतीतः स्याद्ग्रंथित्रयविभेदकः शिवशक्तिसमायोगाज्जायतेपरमास्थितिः । 32। यथा करीकरेणैव पीनीयं प्रपिवेत्तथा सुषुम्णाचक्रनिरलयं पवनं ग्रसेत्सदा । 33। वज्रदंडेसमुद्भूता मणयश्चैकविंशतिः सुषुम्णायांस्थिताः सर्वे सूत्रे मणिंगणाइव । 34। आपूर्यपूरितो वायुर्वादितो याति साधकः पुनः पुनस्तदेवहि पश्चिमद्वारलक्षणं । 35। पूरितस्तु न वद्वारै रीषत्कुंभकतांगतः प्रविशेत्सर्वगात्रेषु वायुः पश्चिम मार्गतः । 36। रेचकक्षीणतां याति पूरकं शोषयेत्तदा सरोनाथ संकेत इति। 37। श्रमजातजलेनसार्धं मंगं भसिनाऽभिविमर्दयेत्तदंते मितभुक्च वशी स्वरूपं निष्टोहित भुक् सिद्धिमुपैति मंडलेन । 38। आशक्तिबोधं

शुभवंधमुद्रादिवत् सदैवाऽभ्यसनीय मादरात् उत्कर्षकायामकराजदंऽगं शक्ति प्रवोधीति घटं त आश्रितं । 39। अविद्या प्रसुप्ता घटांतं भुजंगी प्रबुद्धा दृढं चालनैश्चाऽनुमाया मुनेर्दिव्यदवप्पुद्गल ज्ञानकर्त्री भवेच्छुद्ध सत्त्वात्मविज्ज्ञस्तदासौ । 40। मंतातरे पद्मासने प्राक् परिचालयित्वैऽयां निरुध्युशुगमऽर्क नाडयां मुहूर्त्त युग्मं परिचालयेज्ज्ञः संवेष्टागनाडीं परिकर्षयन दृढमिति ।41। योगचंद्रिकायां तु भानोराकुंचनं कुर्यातु कुंडलीबोधयेततु मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः भानोराकुंचनं पिंगलायाकर्षणं कुर्यात् योगी ततः भान्वाकुंचना त्कुंडलीबोधयेत् अयमर्थः सूर्यनाडयाकर्षणेन वन्हेः प्राचुर्यं तस्माज्ज्वलन तेजसा अपान । 42। वाव्याकर्षणेन वा कुंडल्या वोधोभवति तस्यशक्ति चालनकृताभ्यास तस्यमृत्यु भयं कुतः मूलस्थानं प्राक् स प्राकृष्य सम्यगुड्डी यानं कारयेन्निर्भयेनकुंभघन्वाऽनेन वै कर्मणा ज्ञो वायु मार्गे पश्चिमे वाह्येत्स्वं ।43। इति मुद्रादशकमिदं प्रोक्तं श्री आदि नाथेन एकैकाकरणोऽस्मिन्क्षमैवमुद्रासु सिद्धये यमिनां योगचंद्रिकायां अभ्यासनिः सृता चांद्री कलां नित्यं समाश्रयेत् धारणा मुत्तमां चैव दिव्यदृष्टि ।

प्रदायिकां योगी चांद्री कलां चंद्रनाडी नित्यं समाश्रयेत् सेवेत् किंविशिष्टां अभ्यासनिःसृतां अभ्यासेनकृतवश्यां पुनः उत्तमां धोरणां नभो धारणां समश्रयेत् सर्वासां मध्य अयमर्थः ।44। चंद्रनाडी सेवने अमृतावाप्तिः नभोधारणया योगसिद्धिः खेचरी मुद्रियासिद्धिः सर्वासांमुद्राणांमध्ये इति मारुताऽभ्यसनमेतदऽशेषं चित्त वृत्ति जयतप्रविधयं नेतरमनआदरणीयं स्वस्वरूपलयमत्करणीयं ।45। यथा चोक्तं केरलतंत्रे मनोजाये महेशनिसर्वं जयति लीलयेरति अरालाचलामध्यमानाडिकाऽसौदृढाऽभ्यासतोयोयोगिनामासनै स्यात् दृढ प्राणसंरोध मुद्रासुवंधैरऽवक्रा भवेन्युंजुमार्गा भुलंग्याः ।46। मुक्षोपदेशं किलसांप्रदायिकं दत्ते गुर्यः स शिव स ईश्वरः तद्वाक्य निष्टो नियतं समभ्यसेत्समाहितो यः

सुसिद्धिभाजनं ।47। इति कुंडली चालन प्रकार: अष्टधाकृतिकावेष्टन वद्धा नाडिका अनिल आसुनिवद्ध: पूरिता सु कुहराद्वहिरास्थंवंध मोचनतराति भुजंग्या: ।48। यदा प्राणवायुवहेदूव्रह्मरंध्रांतरे संततं स्यात्तदा योगभाज: शुभ केवलाख्यस्तरा कुंभकोऽयं श्रुतोक्ताऽध्वना यामज: सयमोऽस्य ।49। यदासुषुम्णांत वहि वायु: शून्यं विशेद्योग्युरगी प्रबोधे स्वयं तदाऽयंनिज कर्मपाशान् छिनत्यऽवाप्रोति पराश्चसिद्धि ।50। आसनैश्चविविर्धैवहुकुंभै भूरिचित्रकरणैरथकितै:एक एव किल कुंडलिवोधो वायु चित्तजय कारण मुक्तं ।51। मुक्तवारेचककुंभकौ निशिदिवा या कुंभकने स्थिति प्रोक्त केवलकुंभकाऽस्य यमिन: स्यादुरुमेवांछितं सर्वं किंचिदिहास्ति न त्रिभुवने यद्दुर्लभं तस्य तच्छीघ्रं याति सराजयोग पदवीं यत्नं विना साधयेत् ।52। मनोजवत्वं च मनोजयं च पालित्यहानिवेलितस्य नाश: नादश्रुतिश्चाष्टविधस्य सिद्धि र्वायोर्लय: केवलकुंभके स्यात् हठ प्रदीपिकायां शक्ति केवल कुंभेन यथेष्टं वायुधारणे राजयोग पदं चैवलभते नात्र संशय: कुंभित प्राणरेच्चंते कुर्याच्चितं निराश्रयं एवमऽभ्यासयोगेन ।53। राजयोग लभेत्पुन: निराश्रयं सकल्परहितं कुंभकात्कुंडली वोध: कुंडलीवोधतो भवेत् अनर्गला सुषुम्णा च हठसिद्धि: प्रजायत इति कुंभक प्राणायामात् वोधो जागरणं सुषुम्णा अनर्गला वाधक रहिता भवति ततो योग सिद्धि र्भवति इति प्रनष्टोच्छ्वास नि:श्वास: प्रध्वस्तविषय ज्वर: निश्चेष्टो निर्विकारश्चलयो जयति योगिना ।54। तथा चोक्तं शिवसंहितायां यदापूर्णासु सर्वासु संनिरुद्धोऽनिलस्तदा वंधंत्यागेन कुंडल्या मुखं रंध्राद्वहिर्भवेत् सुषुम्णांत: सदैवायं वहेत्प्राण: समीरण इति प्राणोयदांत: प्रवहेत्सुषुम्णा नाडया: सुनिष्पत्ति दशा मुने: सवदाभवेद्भाति च राजयोगोऽग्निंद्वर्कविदंयप्रमात्ममानं तथोक्तं वार्तिकाचार्यै मपि सोल्लासे प्राणे सुषुम्णां संप्राप्ते नादोंत: श्रूयतेऽष्टधाघंटा दुंदुभिशखाऽधिवीणां वेण्वादि तालवत् तनूनपाततडितारतारेशतपनोपमं ब्रह्मनाडीगते प्राणे विदुंरूपं प्रकाशत: इति निष्पत्ति दशाराजयोगश्च भवति तदैव तदुक्तं योगदीपिकायां इति सुंदरदेव विरचितायां

हठतत्त्वकौमुद्यां शक्तिचालन प्रकार केवलकुंभक विवेचनो द्योतः ॥ 3 ॥

अथशक्ति चालयांऽग मुत्कर्ष प्राणयामः आयामः शुद्धमनोऽण्वऽलोलं प्राणेजितेतिष्टति चित्परात्मनि उत्कर्षकायाम उपैति वायुः स कुंभितोमध्यपथेऽयमुद्गतिः। 1।अंडादऽधः सीवनिकां सुसूक्ष्मां वामने गुल्फेन निपीडयेत्तां निक्षिप्य गुल्फोपरिदंक्षगुल्फं वध्वोरुजंद्यांऽतरसंध्यऽभ्रुकं । 2। समस्थिरंविष्टरके समः स्थिर मासीतपश्यनिजदक्षगुल्फं सुरक्तकिंजल्क विराजितेचतुः पत्रे स्मरत्रोमहृदि मूलवक्रे ।3। मनोलयो भावदतीवतस्मिन् तावत्समीरं मनसानिरोध येत् अनेन योगेन जितोत्त्वपानो व्रजेत्तदाग्रेः पदमूर्ध्ववाद् । 4। अस्त्यागने येमंडले वै त्रिकोणे रक्तः त्रादेः पाचकौदेहपाना अग्निः सार्धं वन्हिनाऽनेन वायुं ध्यायनृतारं धारयेतत्र मदं ।5। यावत्सभ्यवस्याज्जयोऽपानवायोस्तावज्जातेऽग्रेर्जय सम्यगूर्ध्वं तस्मादग्रेर्मंडलाकंदनाभेर्न्यक स्वाधिष्टानादग्धः स्थानकेऽमू।6। प्राणापानौ मंदमारोप्य सार्धं वायोर्मि त्रेणाऽग्निना नाभिदेशं पश्येद्दृष्टया संस्मरन् तारमंतस्तस्मिंत्वायुं रोधयेद्वल्लयांतं ।7। ततोऽग्निनावोधमुपैति कुंडली स्वं नाभिरंध्रात्फणमाशुकंद शक्तिः प्रबुद्धेयमपाकरोति तेनश्मशानोऽग्नि विलंद्रुतं तत् । 8। फुल्लभवेतत्रशनैः समीरं संपूरयेन्मध्यपथे सपावकं आमूर्घ्न उद्गीथ मनुस्मरन ज्ञः संधारयेन्मारुतमग्निनासह । 9। महापथछिद्रसमूर्ध्निपूरिते सवन्हिनागंधवहेन विग्रहेआत्मतदादृश्यते एष मूर्धनि यांवरेदीधितिमिः प्रभाकरः ।10। उत्कर्षकायाम उदारधीमिः प्रातः प्रदोषे चनिशीथ एषः मुहूर्त्तमात्रं सुसमाहितैः स्वेनाडी विशुद्धौ प्रथमं विधेयः अनेननित्याऽभ्याससितेन । 11। वायुहितोभ्वेत्पथ्यमिताऽशनस्य भवंतिदेहे हठसिद्धि चिन्हान्यादौक्रमाद्वायुजयाऽग्ररूपं । 12। अभ्यस्यमानोऽयमतीवदीर्घमारंभ उच्चैः किल साधकाय ददाति वायोर्जया सिद्धिमग्न्यां स्वेद प्रकंपासनखोत्थिताद्यां । 13। यदाशरीरे पवनः सुसिद्ध स्तदा मुनेर्ज्ञान मुदेति दिव्यं ज्ञानाभवेद्वद्धि गुणोऽस्य सिद्धिरऽदूरतोऽसौहितदर्घिलंभे ।14।

सुसिद्धिरूपोजितवायुरात्मिनां यदा सुषुम्णां तरसंगतोऽयं तदाचिदानंदमयं मनोऽदोनभोयमं सुस्थिरमेक रूपं ।15।यदा सदानंदमयं मनोऽदो विवर्जितं क्लेश गणैश्च वाह्यैः संसारदुःखानि विहाय योगी तदासमाधि विशते निसर्गं ।16। सिद्धं तदाचितमध्यास्तदुःखमेतद्यदायत्कुरुते सुयोगी सर्वं क्षणातद्भवति ध्रुवोस्य सुसिद्धकायस्य सुसिद्धिलक्ष्य ।17। दूरेक्षण श्रवणमन्य पुरप्रवेशं व्यूहादिकं च वपुषो भवति क्षेणने चेतः समीर वपुषां च यदा त्रयाणां सिद्धिस्तदा समुनिराट् पर सिद्धि पात्रं ।18। जीवन्मुक्ति पदंगतोभुविमहासिद्धस्तदा स मुनिराट् परसिद्धिपात्रं जीवन्मुक्तिपदं गतो भुवि महासिद्ध स्तदाऽसौ मुनिर्गछेन्मोक्ष पदं यदैव सहजः स्याद्राजयोगः स्वयं सर्वज्ञः खलुधर्म मेद्यमऽनघं प्राप्तः समाधिं परं योगींद्रस्तु तदाऽणिमादियदभागव्याहताज्ञेऽमरः ।19।एवंच वर्ष सहस्राणि लक्षाणि च शतानि च पर्वताग्रे गुहा वावीसः सानंदः सिद्ध योगिनः ।20। आरंभउत्कर्षक कुंभमेवमभ्यस्यतोऽल्पंवशक्षुध मूत्रणं अब्देऽथ षण्मासि भवेततोऽनुगतंव्यम तृत्रयोतोन वाहने ।21।

घटांतमारंभतआत्रिवर्षेपथ्येनकुंभाऽभ्यसने विधेयं न योगिना मूत्रविऽल्पतायां गंतव्यमीषत्किलवाहनादौ ।22। अथ परिचयकालेवोधनी यामवीर्याज्जितकरनवसाऽसौ योग संसाधकेन ।23। तथा चोक्तं योगयाज्ञवल्क्ये वोधंगते चक्रिणिनाभिमध्ये प्राणस्तु संभूय कलेवरेऽस्मिन्चरंति सर्व सहवन्हिनैव यथा पतेतंतु गति स्तथैव ।24।भित्वैवंचक्रिणः स्थानं सदा ध्यान परायणः ततो नयेदऽपानं तु नाभेरूर्ध्वं मनुस्मरन् ॥25॥ वार्युर्यदा वायुसखेन सार्धं नाभित्वऽति क्रम्यं ततः शरीरे रोगाः प्रणश्यंति वलाभिवृद्धिः कांतिःस्तदानी भवति प्रकृष्टा ।26। ब्रह्मरंध्रमुखमत्रवायवः पावकेन सह यांति खमध्ये केनचेदिह वदामितवाऽहं वीक्षणाद्वदिसुदीय शिखायाः ।27। निरोधितः स्याद्वदितेन वायुर्मध्ये दावायुसखेनसार्धं सहस्रपत्रस्यमुखं प्रविश्य कुर्यात्पुनस्तूर्ध्वमुखंद्विजेंद्रे ।28। प्रबुद्धहृदयांऽभोजे

गार्ग्य:स्मिन्ब्रह्मणपुरे वालार्क श्रेणी वयोत्रिविरराज समीरण: ।29। हृन्मध्यात्तु सुषुम्णा यां संस्थितोद्गतभुक्तदासजलांवुदमाला सुविधुल्लेखेव राजते ।30। प्रबुद्ध हृत्य प्रसुसंस्थितेऽग्नौ प्राणेचतस्मिन्विनिवेशते च चिन्हानि वाह्यानि तथा तराणि दीपादि दृश्यानि भवंति तस्य ।31। वायु मुत्रयन एव सवन्हिव्याहरन्प्रणवमऽत्र सविंदं वाल चंद्रसदृशेतुललाटे वालचंद्रम:वलोकय वुध्या ।32। सवन्हिवायुमारोप्यभ्रुवो र्मध्येधियातदा ध्यायेदऽनन्यधी: पश्चांदंतरात्मानमात्मनि।33। मनोलयं यदायाति भ्रूमध्ये योगतो नृणां जिव्हामूलेऽमृतस्रावोभ्रूमध्येवात्मदर्शनं ।34। कंपनं च तथा मूर्घ्नि मनसैवात्मदर्शनं देवोद्यानानि रम्याणि नक्षत्राणी च चंद्रमा: ।35। ऋषय: सिद्धगंधर्वा: प्रकाशं यांति योगिनां भ्रुवोंऽतरे विष्णुपदे निविष्ट जीवे च तस्मिन्नऽमृते च संस्थे तस्मिन्सदा याति मनोलयं चेन्मुक्ते: समीपं तदिदं जुवंति ।37। समीरणे विस्नुपदेनिविष्टे विशुद्ध वुद्धे तव चात्म निष्ठे आनंदमत्य:द्भुतमस्तिसत्यं त्वं गार्गिपश्याद्यविशुद्ध वुद्धया।38। एवं समभ्यस्य सुर्घकालं यमादिभिर्युक्त तनुर्मिताशी आत्मानमासाद्य गुहां प्रविष्टंमुक्तिं व्रज ब्रह्म पुनस्त्वमिति ।39। इत्युत्कर्षप्राणायाम: सामान्यभूलिंगजये सुयोगिनआरंभगत्यां मरुतोजये प्राक् लघुत्वमंगेशुभवर्ण गंधौ विट्श्लेष्ण मूत्रेथस्वऽणुता सुकांति ।40। सामान्यवोर्लिगजये मुने: स्यादारंभपाके सलिलेष्वऽमज्जनं पंकेष्वऽसंग: किलकंटकाऽग्रेक्षुतृट्सहिस्नुत्वमऽपान संजये ।41। सामान्यतोऽग्रेविर्जयेमुने: स्यादारंमध्येऽग्रिवशत्वमुच्चै: सौदर्यमऽग्रेर्भृशदीप्तिमेधे समान वायोर्विजयेऽग्न्यऽदाह: ।42। तथा च मानसोल्लासे वव्ह: त्रपान भोक्तज्वमानयाऽग्निसहिस्नुता दर्शनं श्रवणं दूरातृतीयं योगलक्षणमिति ।43।

खगस्य सामान्य जये मुने: स्यादारंभकेदार्दरिकं घटेकयो: द्रुमोत्प्लुति: स्यादऽनुशक्ति वोधे तुर्यारभेदे खचरत्वसिद्धि: ।44। तथाचोक्तं मानसोल्लासे चित्ते निश्चलतां याते प्राणेमध्ये लयं गतेचिन्हान्यितानि जायंते पंचभूतजयात्पृथगिति ।45।

योगभास्करे यावदतः स्फुरन्नादो यावच्चितं विलीयते तावदुत्पन्न योगीस्यात् तत आरुढ योगवानिति ।46। तथा च मानसोल्लासो प्राणे सुषुम्णा संप्राप्ते नादांऽतः श्रूयतेऽष्टधेति सामान्य आरंभनाद अद्यास्थितेर्भिदाऽपान चलाऽग्नि योगजः अनहतः यस्तु महापथातः प्राणाग्निनौर्ध्वं रसधातुकर्षणे ।47 अभ्यास आकृष्ट पर्यऽम्लं मरुद्धदासुषुम्णास्यत आंगिधातून ऊर्ध्वसमाकर्षति रूंधको यथाऽस्त्रंचित्र एषः सततदाविरास्ते ।48। अभ्यासयोगेन जितासनेन लैन्यमनोयाति न विंदुरेत्य ऽधः कुंभंविद्यायाति चिरंस्थिरो स्वभवंति नीदा विविधाहृदंतरे ।49। संस्त्रवद्धिभगुमंडलं तदाक्षुतृडादि परिनश्यंति दोषैः स्व स्वरूप उपयाति केवलां संस्थितिं मुनिवरोगत शोकः ।50। तथा चोक्तं योग संग्रेह दुर्धात्वंऽवुपहानाशेनदानद्यश्पुष्यके शोषयेत्सततं योगी तदा वज्रतनुर्भवेदिति ।51। स्याच्चित कंपाघटिकादशोन्मिते ।१० निसर्ग कुंभे धटिकाद्वयं मुनेः यदाभिलैन्यं प्रति याति मानसं प्रकंपतेऽदोस्यतदांऽतरे मुनेः ।52। सद्यवप्रबुद्ध क्षुमितोरगी रूट फुत्कार भीतं भवृट्श्मशानं भव प्रलब्धं तनुवीक्ष्य चित्तं प्राक्कंपते यानमिवांऽधकूपे।53। निरालंवमतच्छमशानेंऽस्त दोषं चिराशनुचिंतयेत् अग्नि स्फलिंगदशितुर्य ४ घटीमितायां भूमौमुनिः सहज सिद्ध सुकंभके ऽत्र रुद्ध प्रमाण ११ घटिके हृदि भू रतें जो विदू प्रपश्यंतिमहापथआत्तघौ ।56। नादोत्पत्ति ररोगता च जठराग्नेर्दीपनं प्रोत्कटं देहे विंदुजयः शिरा शुभ विशुद्धि श्चेत्यतुक्तं हि यत् अभ्यासस्य फलं समस्तमखिलं निर्वीजशून्याऽवधि ज्ञात्वाऽभ्यास मयास्यकार्धमपरं प्राणाऽवरोध चरेत् ।57। तथा चोक्तं मुत्तरगीतायां गछंस्ष्टिन्सदाकालं वायुस्वीकरण परं सर्वकालप्रयोगेण सह सायुर्भवेन्नर इति ।58। तथा च योग तत्त्व प्रकाशे रेचकादित्रयाऽभ्यासो नाडीशोधन पूर्वकं स्वस्वोत्क्रमणपर्यंत प्रोक्तो योगानुमार्गण इति।59। इति सुंदरदेव विरचितायां हठ तत्त्व कौमुद्यामुत्कर्षणप्राणायामादि विवेचनोद्योतः ॥4॥ समाप्तोयं वहिरंगसाधनो पंचम ।५।

ऊकारं तैजसात्मानंमकारे य विलाययेत् मकारं कारणं प्राज्ञंचिदात्मनिविलाययेत् ।20। चिदात्माऽहंनित्यं शुद्ध बुद्ध मुक्तः सदाद्वयः कर्मक्लेशाशयोन्मुक्तो वासुदेवोऽहमोमिति ।21। ज्ञात्वाविवेचिकंक्षितंतत्साक्षीणि विलाययेत् तदात्म निविलीनं चेत्तचिंत्तनविचालयेत् ।22। एवं समाहितोयोगीश्रद्धा भक्ति समन्वितः जितेंद्रियोजित क्राोधो ध्यान पाकाऽण्वऽनेहसि ।23।

असंप्रज्ञात कलप्राांरभे प्रणव वसं संयमात् प्रोक्तोकाराऽनपुसंधान लयलैन्ये न चात्मनि ।24। चिदात्मानं तदापश्येदन्म न्यामाश्रितोमुनिरिति । इति सुंदरदेवविरचितायां हठ तत्त्वकौमुद्यांकर्षप्राणायाम् विवेचनोद्योतः ॥ ।1।

अथ उक्रांतिप्राणायाम तदुक्तं सिद्धांत शेखरेशरीरं स्वेछयात्मक्तुं इछेद्योगीयदा तदा वीरासन समासीनः पूरयेदिउपाऽनिलं ।1। उत्कर्ष क्रमयोगेने सुषुम्णारंध्र मध्यगं स्वदेह व्यापकं प्राणमात्मानं चोपसंव्रतं सेंद्रियं ।2। समनंस्कं च हृदि संयम्य निश्चलं कपालं रध्रं निर्भिद्यद्वादशांते परे पदे ।3। शिवेनियोजयेज्जोवं प्रज्ञया प्राणवंस्मरन् एवं सं त्यज्य देहोपंन पुनर्मव भाग्भवेत् ।4। उत्क्रांति संज्ञ इत्युक्तः स्वछयादेहमोक्षणे इति गीतायां सर्वद्वाराणि संयम्य मनोहृदि निरुध्य च मूध्न्यांछायात्मनः प्राणमास्थितो योग धारणां ।5। ओंमित्येकाक्षरं ब्रह्मव्याहरन्मामनुस्मरन् यः प्रयातित्यजन्हे हंसयाति पर मां गतिमित्ति ।6। अतौ च शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तात्यां मूर्धानमथिनिः सृतकैका तयोर्ध्वमापन्न मृतत्वमेतिविश्वगत्याउत्क्रमणे भंवतीति। 7। योगिन ऐच्छिक देहन्यांगे खेचरीपटलाऽदुत्क्रांति प्राणायामो यथायदा तु योगिनो बुद्धिस्त्यक्तुं देहमिमंभवेत् तदास्थित रासनोभूत्वा मूलाछकितं समुज्वलां ।8। कोटि सूर्य प्रतीकाशां भावयेच्चिर मात्मनि आयादतल पर्यतं प्रसृतं जीवमात्मनः संहृत्य कर्म योगेन मूलाधर पदं नयेत् तत्र कुंडलिनीशक्ति रावर्त्ताऽल संन्निभां ।10। जीवानिलं चेंद्रियाणि ग्रसंतीं चिंतयेद्धिया

संप्राप्य कुंभकाऽवस्थां तऽिछलयं भासुरां । 11 । मूलाद्वितीयं देवेशिस्वाधिष्टानपदं नयेत् तत्रस्थं जीवभखिलंग्रसंत चित्त येद्वती। 12। तडित्कोटि प्रतीकाशं तस्या दुतीर्य सत्वरं मणिपूरय वं प्राप्य तत्रपूर्व वदा चरेत। 13। समुन्नीय पुनरतस्माद नाहन यदं नयेत् तत्रस्त्रि त्वाक्षणंदविग्रंसतीपूर्ववत्स्मरेत्। 14। उन्नीयतुपुनः उन्नीयतुपुनः यग्रेषोऽशारे निवेशयते् तत्रापिचिंतये छेयि पूर्ववद्योग मार्ग वित् । 15। तस्मादुन्नीय भ्रूमध्यं नीत्वा जीवं ग्रसेत्पुनः ग्रस्तजीवं महाशक्तिः कोटिसूर्य समंप्रभं । 16। मनसा सह वागीतिभित्वा ब्रह्मार्गलं क्षणात् पराऽमृत महोभोधौ विश्रामं सम्य गाचरेत् । 17। तत्रस्थं परमं देवि शिवेपरमकारणं शक्तया सहस्रमायोज्यतयो रैक्यं विभावयेत् । 18। ततः परम संतुष्टो ब्रह्मस्थानं गतं शिवं शक्त्या संयोज्य निभिध व्योम ब्रह्मशिलां विशेत् । 19। व्योमतत्वं महाव्योम्नि वायुतत्त्वं महानिले तेज तत्वं महातेजस्यऽह्यत्वं जलमंडले । 20। धरातत्त्वं भागे निरालं वेमनः परं व्योमादि गुणतत्त्वेषु स्वंद्रियाणिनि वेशयेत् ॥ 21 ॥ एवं सांसारिकं न्यत्क्वा परतत्वाऽवलं वकः अदृष्ट पंच भूताद्यै र्भित्वा सूर्यस्य मंडलं । 22। परतत्वोपदेशां ते शिवेलीनः प्रजायते नकल्पको कोटि साहस्त्रैः पुनरावर्तनं भवेत् । 23।

अनुग्रहाय लोकानांपदिदेहंनसं त्यजेत् प्रलायंते तनुत्यत्क्वा स्वात्मन्येवा वतिष्टते इति। 24। ग्रंथांतरे ज्ञात्वा कालं मुनिः स्वीयं लयस्थान समाश्रितः युंजीत योगं कालोऽस्यनि फलोजायते यथा। 25। वद्धसिद्धासनो देहं पूरयेत्प्राण वायुना कृत्वादंऽस्थिरं वुध्य दशद्वाराणि रोधयेत् । 26। वध्वा च खेचरी मुद्रां ग्रीवायां च जलंधरं अपाने मूलवंधं च उड्डियानं तथोदरे । 27। उस्याप्य भुजंगी शक्तिं मूलाधारां वुजस्थितांसुषुण्मांतर्ग तां पंच चक्राणां भेदिनी शिवा । 28। जीवं हृदा श्रयंनीत्वापांती बुद्धिमनोयुतां सहस्त्रदलमध्यस्थ शिवेलीनां सुधामये । 29। ततः सुधाकरोद्भूतम मृतेतेन मूलतः सिचंती सकलं देहं प्लावयंती विचिंतयेत् । 30। तयासार्धं ततो योगी शिवेनैकात्मतां व्रजेत् परानंदमयो भूत्वाचिद्वतीमपि संत्यजेत्।॥ 31 ॥ ततो लक्ष्य

मना भासमऽहं भावविवर्जित सर्वांग कल्पजाहीनं कथं कालोनिहंतितं ।32। स एवकालः सशिवः ससर्वंनापि किंचन कः केनहन्यते तत्रम्रियते नापि कश्चना ।33। ततो व्यतीते समये कालस्य भ्रांति रूपिणः योगी सुप्तोत्थित इव प्रतिवोधो प्रवोधितः ।34। एवोंसिद्धो भवेद्योगी वंचयित्वा विधानतः कालं कलित संसारं पौरूषेणाद्भुतेन हि ।35। ततः त्रिभुवने योगी विचरत्येकएवसः पश्यन्संसार वैचित्र्यं स्वेछया निरंकृतिरिति ।36। इति गोविंद देव सुत सुंदरदेव विरचितायां हठ तत्वकौमुद्यां मुक्रांतिप्राणायाम निरूपनोद्योतः। ॥ 2 ॥ **इति काल वंचने योग निष्पत्ति प्रणवोल्लासः सप्तम ॥ 7 ॥**

अथ नादानुसंधान समाधिमेकं मुन्यामहेमुख्यत मंलपानां ।1। सरेचपूरै रनिलस्य कुंभै सर्वासुनाडीषु विशोधितासु अनाहताख्यो वहुभिः प्रकारैरतः प्रवर्त्तेन्य दानिमादुः ।2। तथाचोक्तं हठयोगे संवद्धासनमेढ्रमध्रि युगलं कर्णाक्षिनासापुटद्वाराण्यं गुलिभिर्नियम्यापवम वक्रेण वापूरितं धृत्वा वक्षसि वन्ह्यपान सहितं मूघ्रस्थितं धारयेदवं यानि विषतत्त्व समातं योगीश्वरस्तन्मयः ।3। गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुन्पद्यतेमहान् घंटादीना प्रबाधानांतदासिद्धिरदूरत इति।4। तथा चत्रिपुरासारे समुच्चये अथपार्स्मि निरुद्धकं वुनिर्नाध्वज मूलस्थिति ।5। स्वयपादापार्स्मिः ऋजुकायशिरोधरोयतात्माविधयेभ्यो विनिवर्त्तितेंद्रियाश्वः काकीचंव ऽग्रत्लष्टैर्मुहुरूदरदरीं पूरयित्वा समीरैरं गुष्टाभ्यामुभायां श्रुति पुट विवरेत तर्जनीभ्यां च नैत्रद्धे नासारंध्रे निरूध्यस्थिर विमल मतिर्मध्यमाभ्याम था स्मं त्वन्याभि र्नातिगाढं कमलज निलये स्थापायन्मानसं स्वं ।6। यथाशक्तयाऽभ्यासं प्रति दिवसमेवं विदधतः सुषुण्मां तश्चायं प्रसरति शनै र्देहपवनः तदानादोनै जोभवति सहजा नंद ननः क्रमाद्वीणा वादि प्रहृत मुदु वीणारवसनः ।7।

किंचिच्चिंतयेद्योगीह्यौदासीन्य परोभवेत् न किंचिच्चिं त्तनादेव स्वयं तत्वं प्रकाशते । 22 । स्वयं प्रकाशिते यातत्त्वे तत्क्षणातन्मयो भवेत् मनोदशामिदं सर्वे यत्किंचित्सचराचंर । 23 । मनसस्तून्मनीभावोद्वैताऽभावं प्रचक्षते सदाजाग्रदवस्थायां सुप्तवधोव तिष्टते । 24 । निः श्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एवसः निद्रादौ जागरस्यां ते योभावस्तूपजायते । 25 । तं भावं भावयन्योगी निश्चितं मुक्त एव सः यथा सुप्तोत्थितः कश्चिदद्विषयान्प्रतिपद्यते । 26 ।

जागर्त्यैवततोयोगी योग निद्रा क्षयातथेति योगवीजे ईश्वर ङसकारेण वहिर्याति हकारेण विशेत्पुनः हंसहंसेति मंत्रोयं सर्वे जीवाजयंति वै। 27 । गुरुवाक्यात्सुषुम्णा यां विपरीता भवेजयः सोहं सोहमिति प्राप्त मंत्र योगस्तदोच्य ते । 28 । प्रतीतिर्मंत्रयोगाच्च जायते पश्चिमेपथि हकारेण तु सूर्योसौटकारेणन्दुरुच्यते । 29 । हठेन ग्रस्यतेजाग्रं सर्व दोष समुद्भवं क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदाभवेत् । 30 । तदैक्यसाधिते देविचित्तं याति विलीनतां पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदयेसति । 31 । लयी संप्राप्यते सौख्यं स्वात्मानं परमंपदं अनिमादि पदं प्राप्तो राजतेराजयोगतः । 32 । प्राणाऽपान समायोगे ज्ञेयं योगचतुष्टयं संक्षेपात्कथितं विविनान्यथा शिवभाषिततः मिति । 33 । हठ प्रदीपिकायां सर्वेहठ लयोपाया राजयोगाय । 34 । केवलं राजयोग समारूढः पुरुषः कालवंचकः अस्तु वामास्तु वा मुक्ति स्तत्रैवाखंडितं तं महतलयाऽमृतमयं सौख्यं राजयोगादवाप्यत इति। 35 । इति सुंदरदेवविरचितायां हठ तत्त्व कौमुद्यां राजयोग निरुपणोद्योतः ॥1 ॥

अथैवंयोगारूढेन कालवचनार्थं स्व समुपस्थित कालज्ञानार्थं कालज्ञानं संपादनीयं तत्कालज्ञानसमासः कथ्यते तथा चोक्तं मार्कंडयेपुराणे अरिष्टानि महाराजन् मृणऽवस्थामितानि ते येषामालोकनात्मृत्युं निजं जानाति योगवित् ।1 ।यस्य वै मुक्त

मात्रस्य हृदयं वाधते क्षुधा जायते दंतघर्षश्च स गतासुरसंशयं ।2। ऊर्ध्वा च दृष्टिनं च संप्रतिष्ठिता त्यक्तापुनः से पर्वर्तमानामुखस्थघोष्याशिशिरा च नाभिः संशसति पुंसा मपरं शरीरं ।3। स्ववस्त्र ममंल शुक्ल रक्तं पश्यत्यथा सितं यः पुमान्मृत्युमासन्नं तस्यापि हिविनिर्दिशेत् ।4। अरश्मि विंवं सूर्य वा वन्हिचैवांशुमालिनं दृष्टवैकादशमासांस्तु नरोवर्षं स जीवति ।5। वमेन्मूत्रं पुरीषं चयः स्वर्णं रजितं यथा प्रत्यक्ष मथवारस्वप्ने जीवितदशमासिक मिति।6। तथा चस्कंद पुराने वामनासा पुटेयस्य वार्युर्वाति दिवानिशं अखंडमेकं तस्यार्यु र्नश्यतब्दत्रैयैणहि अहोरात्रं त्रहोरात्रं रविर्वहति संततं आद्येकवर्षे तस्येह जीविताविधि रूच्यते।8। वहेन्नासापुटे युगेदशाहानि निरंतरं वायुश्चेत्प्रति संकांति तदाजीवेद्वतुत्रयं ।9। नासा वर्तमद्वयं हित्वा मासरिश्वा मुखद्धमन् शंसेत्तस्माद्धिया चार्वाक् प्रयाणं तस्य खाध्वनिः ।10। सूर्यसप्तम राशिस्थे जन्मर्क्षेच विनाशाकरे पौष्णः सकालोनेष्टव्यो यदा याम्ये रविर्वहेत् ।11। अकस्मात्त्स्य तत्काले मृत्युः संन्निहितो भवेवेचिंतनीय, प्रयत्नेन सकालोमृत्युभीरूणा ।12। अकस्माद्वीक्ष्यते यस्तु पुरुषं कृष्णापिंगल तस्मिन्नेवक्षणे यपं संजीवेद्वत्सरद्वयं ।13। यस्यवीर्यं मलं मूत्रं क्षतं मूत्रं मलंतुवा इहै कराचेत्यततेवर्षेतस्यापुरीरितं ।14। इंदु वृंदानिभं व्योम्नि नागवृदं निरीक्ष्यते इतस्तत् प्रचलितं षण्मासतुजीवति ।15। छाया प्रकंपते यस्येदेह वंधेपि निश्चलेकृतांत दूतावध्नंति चतुर्थे मासितं नरं ।16।

मतिभ्रश्येच्चलेद्वाणीधनुरैंद्रनिरीक्षयते। रात्रौ चंद्रद्वयं चैव दिवाच द्वौ द्विवाकरौ ।17। दिवासतारका चंद्रं रात्रौ व्योम वितारकं युग पच्चन्चतुर्दिक्षुशाक्रं कोदडमंडलम ।18। भूधरे भूधराग्रेवा गंधर्व नगरालयं दिवापिशाच नृत्यं च ह्यते पंच त्वहेतवः।19। सर्वेष्वेतेषुचिन्हेषु यद्येकमपि तीक्ष्यते तदामासावधिं मृत्युप्रतीदोतनवाधिकं इति ।20। अथछाया पुरुष लक्षणं एकांतेविजने विधायातरणिं पृष्टि स्थिरोऽलं निजां छायां कंठतरे ततोंवरतटं वीक्षेत् शुंभं ततः नूनं पश्यति दैशिको

मनुजये नाष्टोत्तरोयद्दतं कर्पूरप्रवरावदातवपुसं नानीकृतिं सुंदरं ।21।
मृत्युर्गुल्फपदोदरप्रतिहतौवर्षं तदर्धद्वयं नष्टेदक्ष करेस्व वंधुमरणं वामेऽगनाद्यमृति जंघोनं न वकंधरो न मुरगाहानि ।22। ध्रुवं दक्षदोर्मूर्धभ्यांमऽशिरा तु मास मरणं छायाविलोपेक्षणात् इत्यांनीलेमासषट्केन मृत्यु : कृदमेपीतेन्नासरोगौ भवेतां उद्यागः स्यादूरिवर्णस्वरूपे छायार्यु सोलक्षणं प्रोक्तमेतत्तु ।23। मंत्रस्तु ओं ह्रीं परब्रह्मणे नमः इति छाया पुरुषलक्षणं हठ विद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता भवेद्वीर्यवती गुप्ता निवीर्या तु प्रकाशितेति ।24। विस्तरस्तु मत्कृतयोगहृदयेद्रये द्रष्टव्य इति दिक् सुंदरस्यकृतिः सैषा हठह्यतत्त्व कौमुदी श्री नृसिंहात्मादिनाथ प्रीत्यै भूयाद्धठप्रसूः

।25। इतिश्री काश्यप गोत्र प्रवित्रदेक्यं शावतसकाशिरस्य द्विजवर विश्वनाथदेवात्मजगोविंददेवसुत सुंदरदेव वैद्य विरचितायां हठ हृतत्त्व कौमुद्यां कालवंचनोद्योतः इति राजयोगोल्लास नवम ९ समाप्तोयं हठहृत्तत्त्वकौमुदीं शुभं श्री संवत् 1946 ॥ ० ॥

*** प्रकाश ***

सूर्यस्य कलास्तपिन्यादयो द्वादश ककारादिभिर्द्वादशभिरानुलोम्येन भकारादिभिः प्रातिलोम्येन द्वादशभिश्च युक्ताः । चन्द्रस्य कलाः षोडशामृतादयः षोडशभिः स्वरैर्युक्ताः। अग्नेः कला दश धूम्रार्चिरादयो यकारादिभिर्दशभिर्वर्णैर्युक्ताः । एवं पञ्चाशद्भिरक्षरैरभिन्ना कुलकुण्डलिनी बिसतन्तुतनीयसी तडित्कोटिप्रख्या । मूलाधारस्थपद्मशृङ्गाटात् मूलाधारस्य कर्णिकायां विद्यमानाच्छृङ्गाटात् त्रिकोणादुपरि सार्वत्रिवलयाकारेणाधोमुखी समुपविष्टा योगमर्यादया योगिभिरूर्ध्वमुखतयोत्थाप्यते । सा मूलाधारानाहताज्ञाचक्रेषु विद्यमानानि वह्निसूर्यसोममण्डलानि भिनत्ति । १०३-१०४ ॥

'द्वादशान्तं ललाटोर्ध्वं कपालोर्ध्वावसानकम् ।
द्व्यङ्गुलोर्ध्वं शिरोदेशं परं व्योम प्रकीर्तितम् ॥

इत्युक्तलक्षणे व्योमनि विद्यमानस्य चिच्छशिमण्डलस्याधोमुखसहस्रारकर्णिकारूपस्य मध्ये स्थितया अकुलकुण्डलिन्या सङ्गम्य ततोऽमृतपूरं स्रावयित्वा डाकिन्यादिमण्डलान्याप्लावयन्ती स्वयमपि तत्पानेन मत्ता भूत्वा पुनस्तेनैव सुषुम्नामार्गेण परावृत्य स्वस्थाने सुख स्वपिति । सर्वमेतद्योगिनामनुभवगम्यम् । योगशास्त्रमर्यादाज्ञानमात्रवतां तु परोक्षज्ञानगोचरो गुरुमुखादेव विविच्य बोद्धव्यमिति नेह विविच्यते ॥ १०५-१०६ ॥

*** सरोजिनी ***

कुण्डलिनी वर्णात्मिका है अतः अकारादि-क्षकारान्त समस्त वर्ण कुण्डलिनी ही हैं—'अकारादिक्षकारान्त स्वयं परमकुण्डली ।' 'वर्णरूपमयी देवी कुण्डली परदेवता ।'[१] जिस प्रकार समस्त पर्वतालंकृत वनभूमि का आश्रय शेषनाग है उसी प्रकार समस्त योग-तंत्रों का आधार कुण्डली है—''सशैलवनधात्रीणां यथाऽधारोऽहिनायकः । सर्वेषां योग-तंत्राणां तथाऽधारोहि कुण्डली ॥''[२]

कुण्डलिनी पृथ्वी मण्डलस्थ मूलाधार में स्थित है और वह साढ़े तीन वलयों से वलयित है । वह करोड़ों सूर्यो के समान प्रकाशवाली एवं करोड़ों चन्द्रों के समान सुशीतल, स्वयंभूलिङ्ग वेष्टित । निराकार, परब्रह्ममयी, ज्ञानानन्द मुदितमानसा, महायोगस्वरूपा, पद्मवनसमुद्भवा, प्रणवाकारा, शब्दविभागमयी एवं तत्त्वस्वरूपा । परावाक्रूपा अचिन्त्य शक्ति है ।

''पृथ्वीमण्डलात् सार्द्धत्रिवलयान्वितां रवि कोटिसमप्रभां, चन्द्रकोटिसुशीलतां स्वयंभूलिङ्गवेष्टितां निराकारस्वरूपां परब्रह्ममयी' कुण्डलिनीं ज्ञानानन्दमुदितमानसां, महायोगस्वरूपां पुरतः स्वयंभूकनक वर्णशीर्षतः पद्मवनसमुद्भवां बहुतरप्रणवानामेककृतशब्दविभागमयीं तत्त्वस्वरूपाम्''[३]—'त्रिपुरासमुच्चय' में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—''शक्तिः कुण्डलिनीति या निगदिता आईमसंज्ञा । जगन्निर्माणे सततोद्यता प्रविलसत्सौदामिनीसन्निभा । शङ्खावर्तनिभां प्रसुप्तभुजगाकारां जगन्मोहिनीम् ।

---

१. कामधेनु तन्त्र २. हठयोगप्रदीपिका

३. ताराहस्य—ब्रह्मानन्दगिरि

तन्मध्ये परिभावयेद्विषलतान्तूपमेया कृतिम् ॥''[१]

जब कुण्डलिनी जागती है तब समस्त चक्रों एवं ग्रंथियाँ भेदन हो जाता है—

'सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रंथयोऽपि च ॥'[२]

आधारशक्तिरूपा कुण्डलिनी के ऋज्वीभूता होने पर इड़ा एवं पिङ्गला की मृत्यु हो जाती है क्योंकि कुण्डली के जागृत होने पर सुषुम्ना नाड़ी में प्राण प्रवेश कर जाता है—'ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डलीसहसा भवेत् । तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुराश्रया ॥'[३] मूलबंध लगाने से अधोगामी अपान ऊर्ध्वगामी होकर अग्निमण्डल में पहुँच जाता है, (नाभि के अधोभाग में स्थित त्रिकोण जठराग्नि में प्रविष्ट होने पर), अपानवायु से ताड़ित जठराग्नि शिखा दीर्घ हो जाती है और अग्नि एवं अपान अग्नि की दीर्घशिखा से ऊष्ण होकर ऊर्ध्वगति प्राण में प्रवेश कर जाते हैं । अपान की ऊर्ध्वगति से दीप्त अग्नि और प्रदीप्त हो उठती है । उसके ताप से कुण्डलिनी प्रतप्त होने से जाग उठती है और ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश कर जाती है—'तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते । दण्डाहता भुजङ्गीतनिश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् । बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ॥'[४]

जिस प्रकार कुञ्जी से किवाड़ खुलता है उसी प्रकार कुण्डली के उद्बोधन रूप चाभी से मोक्षद्वार का कपाट भी खुल जाता है—'उद्धाटयेत् कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् । कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥''[५] जिस मार्ग के द्वारा प्राणी ब्रह्मस्थान में प्रवेश करता है उस ब्रह्मद्वार को कुण्डलिनी अपने मुख से ढके हुए हैं ।[६] कन्द के ऊर्ध्व भाग में स्थित कुण्डलिनी जीवों को बंधन में डालने के लिए सोई पड़ी रहती है किन्तु वही योगियों को मोक्ष दिलाने हेतु जाग उठती है—'कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥'[७] इसको चलाने पर यह जाग उठती है और योगी मुक्त हो जाता है—'कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता । सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥'[८] चूँकि यह ब्रह्मद्वार को मुख से ढके है—'येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् । मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी'—अतः उसे जगाना आवश्यक है जिससे कि वह ब्रह्मद्वार पर सोना छोड़कर ब्रह्मद्वार के मार्ग ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश कर जाय । इस सर्पिणी को जगाने हेतु इसकी पूँछ पकड़कर इसे जगाना चाहिए—'पुच्छे प्रगृह्य भुजङ्गी सुप्तामुद्बोधयेच्चताम् ।'[९] निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥' इसको जगाने के लिए योगी को चाहिए कि वज्रासन लगाकर एवं शक्तिचालनी मुद्रा साधकर फिर भस्त्रिका प्राणायाम करे । नाभिदेश में स्थित सूर्य का आकुंचन करे (नाभि के आकुंचन द्वारा) फिर सूर्य के आकुंचन से कुण्डली शक्ति का चालन करे। दो मुहूर्त (चार घड़ी) तक निर्भय रहकर चालन करने से सुषुम्णागत यह कुण्डलिनी थोड़ा बहुत जाग जाती है । और परिणामवस्वरूप वह सुषुम्णा-मुख का

---

१. त्रिपुरासार समुच्चय   २-९. हठयोगप्रदीपिका

त्याग कर देती है और प्राणवायु अपने आप सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है ।[१] जो योगी शक्ति को चलायमान कर लेता है वह भाग्यशील, सिद्ध एवं काल-जयी हो जाता है । कुण्डली को चलाकर भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए—'कुण्डली' चालयित्वा तु भस्त्र कुर्याद्विशेषतः ।' अपने शरीर में स्थित बहत्तर हजार नाड़ियों के मल-शोधन एवं उनके प्रक्षालन का अमोध उपाय मात्र यही कुण्डलिनीयोग है[२]—'द्वासप्ततिसहस्त्राणां नाड़ीनां मलशोधने । कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसना-दृते ।।'' मल को शक्ति (कुण्डलिनी) के मध्य एवं शक्ति को मन के मध्य लाकर कुण्डली का उद्‌बोधन करना चाहिए—'शक्ति मध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्य-गाम' क्योंकि इससे परमपद की प्राप्ति होती है—'मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ।।''[३]

इसके कुटिला, कुटिलोगी, कुण्डली, शक्ति आदि अनेक नाम हैं—कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गीशक्तिरीश्वरी । कुण्डल्यसन्धती चैते शब्दाः पर्याय वाचकाः ।।[४] रुद्रयामल में इसके एक हजार नाम उल्लिखित है ।

कुण्डलिनी की स्थिति एवं उसका स्वस्वरूप—मूलाधार में स्थित स्वयंभूलिङ्ग के ऊर्ध्व में कमल के सूक्ष्म तन्तु के समान अत्यन्त तनुकलेवरा जगन्मोहिनी, ब्रह्मद्वार के मधुर मुख को अपने मुख से आच्छादित करती हुई, शंङ्खा के वेष्टनाकार के समान, नव्य विद्युन्माला के समान, सार्द्ध त्रिवलया, भुजङ्गी के समान यह कुण्डलिनी स्वयंभूलिङ्ग के ऊपर सोई हुई, मतवाले भ्रमरों की पंक्ति की मधुरध्वनि के समान कोमल काव्य-बंध एवं उनके भेदातिभेद क्रम से मधुर गुंजार करती हुई, श्वासोच्छ्वासरूपी वायु से जीव को धारण करती हुई 'कुलकुण्डलिनी' उद्दीप्त तेजोमय त्रिवली के रूप में मूलाधार कमल की कर्णिका के गह्वर में विलास करती है ।[५] उस कुण्डलिनी में नादरूपा श्रीपरमेश्वरी परशक्ति शोभायमान है जो कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अतिकुशल एवं नित्यानंद ब्रह्म से क्रमशः क्षरित अमृतप्रवाह का ग्रहण करती है । इसके प्रकाश से ब्रह्माण्ड से लेकर पिण्ड तक सकल जगत् प्रकाशित है तथा इससे ज्ञान का उदय होता है ।[६] मूलाधार चक्र के गह्वर में विलास करने वाली, कोटि सूर्यों के समान प्रकाशवाली यह कुण्डलिनी अपना ध्यान करने वाले योगी को वाणी का अधिपति एवं सर्वविद्या विनोदी बना देता है ।[७] 'परबिन्दु' के भिद्यमान होने पर अव्यक्तात्मा 'ख' आविर्भूत हुआ । उसे प्राप्त करके देह के भीतर कुण्डलीरूप में वर्णों का उदय (गद्य-पद्य आदि भेदों में) हुआ ।[८] यह कुण्डलिनी शक्ति 'सृष्टिरूपा' (सृष्टिस्तु कुण्डलीख्याता) 'सृष्टिस्थिति लयात्मिका' 'विश्वातीता' ज्ञान रूपा है ।[९] वह झिल्ली की भाँति अव्यक्त एवं मधुर सङ्गीत के साथ कूजन करती है ।[१०] कुण्डलिनी हंस (आत्मा, परमात्मा) को अपने में धारण

१-४. हठयोगप्रदीपिका ५-७. षट्‌चक्रनिरूपण

८. शारदातिलक

९. 'श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थिति लयात्मिकाम् विश्वातीतां ज्ञानरूपां ।।''

१०. ''झिल्लीवाऽव्यक्तमधुराकूजन्ती सततोत्थिता ।।''

करके स्थित है ।[१] कुण्डली के मध्य 'परमाकला' स्थित है ।[२] इसी के भीतर—परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी वाणियाँ स्थित हैं । वह 'नित्यानन्द परम्परातिविगलत् पीयूषधारा' को धारण करने वाली है ।[३]

'शाक्तानन्द तरंगिणी' में इसे 'शिवोदितानादशक्ति' कहा गया है ।[४] यह 'परमा' (अघटनघटन परीयसी माया) 'कला' (नादशक्तिरूपा) है—'सर्पाकारा कुण्डलिनी या देवी परमाकला'[५] यह 'गुणयुक्ता चन्द्र सूर्याग्निरूपिणी' है ।[६] मूलाधार में स्थित स्थित यह सत्ता एक 'शक्ति' है और भुजगाकारा है ।[७] जीवात्मा इसी कुण्डलिनी शक्ति के मध्य निवास करता है ।[८] इस शक्ति का निवास पाताल लोक में है ।[९] इसके पति शिव का निवास ब्रह्माण्ड में है ।[१०] यह 'महामाया' है ।[११] यह ५० वर्णों वाली वर्णमाला के रूप में स्थित है ।[१२] यह एक कामिनी है जो कि महापत्रात्मक सहस्रार के बीजकोष या शिवालय में जाकर एवं शिव को देखकर एवं मालाकार बनकर शिवलिङ्ग को अपने अकारादिक्षकरान्त वर्णमाला रूप अक्षमाला से परिवेष्टित किये रहती है ।[१३] यह अन्तर्माला ही महामाला है जो कि ५० वर्णों से निर्मित है ।[१४] यही सहस्रार महापद्म में 'महाकुण्डलिनी' कही जाती है ।[१५]

यह विद्युल्लता के आकार की, सोते हुए सर्प की आकृतिवाली, सार्द्धत्रिवलयों से अलंकृत, शिव को आवेष्टित करके स्थित 'परमेश्वरी' कुण्डली 'परदेवता' है ।[१६]

---

१. "विभर्ति कुण्डलीशक्तिरात्मानं हंसमाश्रिता ।।"

२. "तन्मध्ये परमाकलाऽतिकुशला सूक्ष्माति सूक्ष्मा परा ।"

३. षट्चक्र निरूपणम्

४. "नादशक्तिरूपा कुण्डलिन्यभेदशरीरिणी ।।"

५. मातृकाभेद तन्त्र

६. मातृकाभेद तन्त्र—"गुणयुक्ता कुण्डलिनी चन्द्रसूर्याग्निरूपिणी ।"

७. मातृकाभेद तन्त्र—"मूलाधारेतु या शक्तिर्भुजगाकार रूपिणी ।"

८. मातृकाभेद तन्त्र—"जीवात्मा परमेशानि तन्मध्ये वर्तते सदा ।"

९. ज्ञानसंकलिनी तन्त्र—"पाताले वसते शक्तिः ब्रह्माण्डे वसते शिवः ।"

१०. ज्ञानसंकलिनी तन्त्र—"ब्रह्माण्डे वसते शिवः ।"

११. तोडल तन्त्र—"सार्धत्रिवलयाकार पाताल तल वासिनी ।"

१२. तोडल तन्त्र—"मूलचक्राच्छिरोऽन्ता च सुषुम्ना परिकीर्तिता । तदगर्भस्था च या शक्तिः सा देवी कुण्डरूपिका । सां सदा कुण्डलिनी देवी पंचाशद्वर्णभूषिता ।"

१३. तोडल तन्त्र—"सहस्रारं तु सम्प्राप्य शिवं दृष्ट्वा तु कामिनी । मालाकारेण तल्लिंगं संवेष्ट्य कुण्डली सदा ।"

१४. तोडल तन्त्र—"अन्तर्माला महामाला पंचादशद्वर्णरूपिणी ।"

१५. तोडल तन्त्र—"सहस्रारे महापद्मे विश्वरूपः परः शिवः । महाकुण्डलिनी तत्र स्थिता नित्या सुरेश्वरि ।"

१६. शाक्तानन्द तरंगिणी—'तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली पर देवता । प्रसुप्तभुजगाकारा सार्द्धत्रिवलायान्विता ।'

सहस्त्रार में शिव 'शून्य' रूप एवं कोटि विद्युत्समा कुण्डलिनी इन्दुरूपा है और 'परमकुण्डली' कही जाती है ।[1]

यह नादरूपा, योनिरूपा एवं सनातनी शक्ति है ।[2] यह हुङ्कार शब्द से उत्पन्न होती है ।[3] 'परदेवता', 'कुण्डली', 'महादेवी' के नाम वाली यह 'रूपवती' देवी अपने मुखारविन्द के परिमल से शिव को प्रसन्न कर देती है एवं शिव के ऊपर निवास करती हुई क्षणभर के लिए उन्हीं सदाशिव के साथ रमण करती है जिससे कि उसी क्षण लाक्षारस के समान रङ्ग वाला अमृत क्षरित होता है । वह शिव के ऊपर लेटकर उनके मुख का चुम्बन भी लेती है । जो लाक्षारस क्षरित होता है उसी अमृत से परदेवता एक षटचक्रों के देवों को सन्तृप्त करना चाहिए । पिण्ड ही कुण्डलिनी है । स्वयंभूलिङ्ग के साथ रमण करने वाली इस कुल शक्ति को मूलाधार से सहस्त्रार में लाना चाहिए और वहाँ उसे शंभु के साथ एकीकृत (अभिन्न) रूप में देखकर एवं पीनोन्नत पयोधरा, षोडशवर्षीया, नवयुवती, सर्वाभरणभूषिता, पूर्णचन्द्रनिभा, नानारत्नयुता, नूपुर शोभिता, कन्दर्पकोटिलावण्या, रक्तकङ्कणमण्डिता, किंकिणी-शोभिता, मधुर-हासिनी कामिनी के रूप में कल्पित करना चाहिए ।[4]

स्वायंभुवलिङ्ग के मध्य में अग्निरूप महान तेज स्थित है । वायुयोग के संपर्क से यही अग्नि ब्रह्माण्ड में प्रज्वलित होती है । इसलिए वह कुण्डलिनी देवी इस छिद्र को संछादित करके स्थित है—'लिङ्गच्छिद्रं समाकृष्य संस्थिता कुण्डली कथं? (तोडल०) 'पृथ्वीचक्रस्य मध्ये तु स्वयंभूलिङ्गमद्भुतं । सार्द्धत्रिवलयाकार कुण्डल्या वेष्टितं सदा । लिङ्गच्छिद्रं स्ववक्त्रेण कुण्डल्याच्छाद्य संस्थिता ।।'' (तो० तं०) शक्ति के पाँच रूप हैं—१. निजा २. परा ३. अपरा ४. सूक्ष्मा ५. कुण्डली। 'निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डलीतासु पंचधाशक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे ।। (सि०सि०सं०) कुण्डलिनी 'प्रकृति' है—'प्रकृतिः कुण्डलिनीनित्यालिङ्गमाश्रिता संस्थिता' कुण्डलिनी 'चित्कला' है—'तमो रजस्सत्वसाम्यावस्थेयं चित्कलास्मृता' । कुण्डलिनी की तीन अवस्थायें है—१. 'कुमारी' २. 'योषित' ३. 'पतिव्रता' ।।

'द्वादश-षोडश-दशभिस्तपन-शशि-दहन कलाभिः'

सूर्य की बारह, चन्द्रमा की सोलह एवं अग्नि की दस कलाओं द्वारा ।। सूर्य

---

१. कुब्जिका तन्त्र—'शून्य रूपं शिवं साक्षादिन्दुं परम कुण्डलीम् ।'

२. यामल—'नादरूपेण सा देवी योनिरूपा सनातनी ।'

३. गंधर्वमालिका—'हुंकार वर्ण संभूता कुण्डली परदेवता ।'

४. शाक्तानन्द तरंगिणी—''ध्यायेत कुण्डलिनी तत्र इष्टदेवस्वरूपिणीम् । सदा षोडशवर्षीयां पीनोन्नतपयोधराम् । नवयौवन सम्पन्नां सर्वाभरणभूषिताम् । मुखारबिन्दगंधेन मोदितं परमं शिवम् । प्रबोध्य परमेशानि पत्रोपरि वसेत् प्रिये ।। शिवस्य मुखपद्म पद्मं हि चुचुम्बे कुण्डली शिवे । अमृतं जायते देवि तत्क्षणात् परमेश्वरि ।। तद्भवामृतं देवि ! लाक्षारसमोपमम् ।।''

6. भस्त्रिका कुम्भक :–

भस्त्रिका प्राणायाम सम्पूर्ण शरीर में गरमाहट पैदा कर देता है लेकिन इसका अभ्यास धीरे-धीरे करना चाहिए। किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठकर पहले एक-एक नासा से करना चाहिए। शरीर की प्रकृति को समक्ष रखकर या तो दाहिनी नासा से प्रारम्भ करें या बाईं नासा से। पूरक, कुम्भक व रेचक की मात्रा का ध्यान व पालन करना आवश्यक है। शरीर सधा हुआ हो व सिर, ग्रीवा, पेट व मेरुदण्ड एक सीध में रहे। भक्तिसागर में कहा गया है–

> ग्रीवा पेट बराबर राखै। आगै सुनु शुकदेवा भाखै।
> मुख मूँदै रेचक नासातूं। पूरक चपल करै श्वासातूं।।
> रेचकपूरक ऐसे कीजै। बारम्बार तजै अरु लीजै।
> जैसे खाल लुहार जु भरै। रेचक पूरक आतुर करै।।[2]

लोहार की धौंकनी की तरह पहिले वामनासा से पूरक-रेचक बार-बार करना चाहिए फिर कुम्भक व रेचन दक्षिण नासिका से करना चाहिए। इसका अभ्यास नासा से करना चाहिए। तदुपरान्त नासा-रन्ध्र बदल कर करना आवश्यक है। अन्त में दोनों नासाओं से

---

1. भ.सा. (शीतली) 4
2. भ. सा. 4 (भस्त्रिका)

एक साथ करने से सिद्धि प्राप्त होने लगती है। पूरक-रेचक व कुम्भक की मात्रा का पालन करना आवश्यक है। लोहार की धौंकनी की तरह श्वास लेना व छोड़ना दूसरे ग्रन्थों में भी उपलब्ध है–

> भस्त्रिका लौहाकाराणां यथा-क्रमेण सम्भ्रमेत्।
> तथावायुं च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः।
> एवं विंशतिवारं च कृत्वा कुर्याच्च कुम्भकम्।
> तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तं च यथाविधि।[1]

वायु वेगपूर्वक लेनी व छोड़नी चाहिए जिससे कण्ठ, तालु, कपाल और हृदय में उसका स्पर्श अनुभव हो। बीस बार पूरक रेचक के पश्चात् कुम्भक लगाना चाहिए। बीस की पूरक अस्सी में कुम्भक व चालीस में रेचक करना चाहिए। भस्त्रिका प्राणायाम किसी सद्गुरु के निर्देश में ही प्रारम्भ करना श्रेयस्कर है।

हठयोगप्रदीपिका में विधि तो यही है लेकिन वहाँ शब्द करते हुए पूरक-रेचक करना भी कहा गया है।

लाभ– अब कहूँ कुम्भक भस्त्रिका, पित कफ वायु नशावै।
> अगिनि बढ़ै अभ्याससों, तीनोंगाठी खुलि जावै।।[2]

भस्त्रिका कुम्भक से वात, पित्त, कफ के दोष समाप्त हो जाते हैं तथा पाचन-शक्ति बढ़कर शरीर की तीनों गाँठें खुल जाती हैं। तीनों गाठों का तात्पर्य स्वामी स्वात्माराम ने शायद कण्ठद्वार, नाभिद्वार व मूलद्वार की सहज कार्य क्षमता से लिया गया है। इसे सभी पापों अर्थात् दुःखों को हरने वाला कहा गया है–

> ऊर्वोपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा।
> पद्मासन भवेदेतत् सर्वपापप्रणाशनम्।।।।[3]

इससे कुण्डलिनी जागरण शीघ्र हो जाता है व चक्रभेदन भी। इससे तीनों ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है। ब्रह्मनाड़ी के छेद में अपना मुख अड़ा कर बैठी हुई है कुण्डलिनी व

---

1. घे. सं. 5.74
2. भ. सा. 4.96
3. योग. कु.उ. 1.5

नाभि के स्थान पर लपेटे लगाकर बैठी है तथा गुदा के ऊपर सुषुप्त पड़ी है, जो भस्त्रिका के द्वारा उत्पन्न ऊष्म कम्पन से कंपित होकर ऊर्ध्व मार्ग की ओर जाने का प्रयास करती है।

> ब्रह्म नाड़िकाके छिद्रमाहीं। रोंकि रहे मुखदै रहि ढाहीं।
> साथ लपेटै नाभी वाहीं। दृढ है बैठी सरकै नाहीं।[1]

आलस्य, निद्रा मोटापा तो समूल मिट जाते हैं। पेट के विकार शान्त हो जाते हैं। इससे कण्ठरोग समाप्त होते हैं।

Scanned by CamScanner

12 सिद्धासन

इस आसन की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार यमों में मिताहार और नियमों में अहिंसा का स्थान है वैसे ही समस्त आसनों में सिद्धासन मुख्य है। गुदा तथा लिंगेन्द्रिय के मध्य भाग में एक चरण की एड़ी को दृढ़तापूर्वक लगाकर, दूसरे पैर की एड़ी को लिंगेन्द्रिय के ऊपर दृढ़ता से रखकर, ठोड़ी को हृदय के उपरी भाग पर अच्छी प्रकार स्थापित कर उपरान्त

---

56. ह. प्र. 1/51
57. शिवस्वरोदय- 219
58. योगतत्त्वोपनिषद्-55
59. ह.त.कौ. (प.सं. 17-18), 1/7/26

Scanned by CamScanner

इन्द्रियों को वश में करके, भ्रूमध्य भाग को एक टक दृष्टि से देखें। मोक्ष द्वार का भेदन करने वाला यह सिद्धासन कहा गया है। इस आसन को कुछ विद्वान् लोग सिंहासन, अन्य वज्रासन, कुछ मुक्तासन और काई इसे गुप्तासन के नाम से पुकारते हैं।[60]

यदि कोई योगी केवल इसी आसन का अभ्यास करता है तो उसके शरीर की 72 हजार नाड़ियों का मूल दूर हो जाता है।[61] हठयोग के ग्रन्थों में ऐसा माना गया है कि हमारे शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ विद्यमान हैं।[62]

इसके निरंतर अभ्यास से उन्मनी कलास्वयमेव जागृत हो जाती है और तीनों बन्ध (मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध और उड्डीयान बन्ध) स्वयं ही लग जाते हैं। यह आसन समस्त आसनों में मुख्य माना जाता है। इस आसन के सिद्ध होने के पश्चात् अन्य किसी भी आसन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस आसन को सावधानीपूर्वक करने से प्राणवायु केवल कुम्भक में बन्ध जाता है ।[63]

---

60. (क) हठ. त. कौ. (प.सं. 18), 1/7/27
    (ख) ह. प्र. 1/37-39
61. ह. प्र. 1/40-41
62. (क) शिवस्वरोदय-32
    (ख) ध्यानबिन्दूपनिषद्-51
63. (क) ह. त. कौ.(प.सं.18-19), 1/7,29,31-32
    (ख) ह. प्र. 1/43

Scanned by CamScanner

सिद्धासन के लाभ

इस आसन पर बैठने पर सुषुम्ना नाड़ी स्वभावत: सीधी रहती है और प्राणापान की क्रिया नियमित हो जाती है एवं नाड़ी-मल का शोधन होता है। प्राणतत्त्व सहज ही उर्ध्वगति को प्राप्त होने लगता है, जिससे मन के निरोध में सफलता मिली है।

इस आसन के करने से दिमाग स्थिर बनता है, पाचन शक्ति तेज होती है और स्मरण शक्ति बढ़ती है । इस आसन से फुफ्फुस और हृदय के बलवान बनाते हुए स्वयं श्वासोच्छ्वास की क्रिया दीर्घ होने लगती है तथा आन्त्रगति भी वृद्धि को प्राप्त होती है। कास, श्वास, जुकाम, हृदयरोग, प्लीहा वृद्धि जनित ज्वर, जीर्ण ज्वर, अजीर्ण, अतिसार, प्रवाहिका (पेचिस), स्वप्रदोष, शुक्रनिर्बलता, बहुमूत्र, मूत्रकृच्छ्र आदि रोग नष्टहो जाते हैं। संन्यासियों और त्यागियों के लिए यह आसन बहुत ही कल्याण कारक है। अत: यह आसन जगत के आसनों का सम्राट माना गया है।

13. पश्चिमातानासन

अथ पश्चिमतानं प्रसार्य पादौ भुविदंडरूपौ दोर्भ्यां यदाऽग्रद्वितयं, गृहीत्वा जानूपरिन्यसललाटदेशो भवेदिंद पश्चिमतानबंध॥

अर्थात् दोनों पैरों को भूमि पर दण्ड की भांति सामने फैलाकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठों को भली प्रकार से पकड़कर, घुटनों पर मस्तक लगा कर रखना ही पश्चिमातानासन कहलाता है। [63 अ]

63.अ (क) हठ. त. कौ.,(प.सं. 18),1/7/36

(ख) ह. प्र. -1/31

Scanned by CamScanner

इसी भाव को त्रिशिखिब्राहमणोपनिषद् में इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि दोनों पैरोंको जमीन पर फैलाकर दोनों हाथों से पैर के अंगुठों को पकड़कर सिर को घुटनों पर लगाकर रखना ही पश्चिमातानासन कहलाता है ।[64]

यह आसन पूर्वोक्त आसनों में अग्रगण्य माना गया है क्योंकि इससे साधक का प्राणवायु मेरुदण्ड स्थित, सुषुम्नावाही हो जाता है। इसके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त , उतर पतला और शरीर रोग रहित होता है।[65] प्राणवायु से तात्पर्य मुख्य वायु से है क्योंकि मुख्य वायुओं की संख्या पांच मानी गई है[66] और इन मुख्य वायुओं में प्राणवायु को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

यह आसन समस्त शरीर के लिए ही उपयोगी माना गया है क्योंकि इससे सम्पूर्ण शरीर के सभी अंग प्रभावित होते हैं। स्वयं हठयोगप्रदीपिकांकार ने इसके महत्त्व को दर्शाया है कि इसके अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्नावाही हो जाता है। सुषुम्नावाही से अभिप्राय समाधि की प्रथम अवस्था अगर मान लिया जाये तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी । यह आसन जितना उदर के लिए लाभकारी माना गया है उतना ही मेरुदण्ड के लिए भी। इस आसन के सिद्ध होने पर शरीर की दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है तथा शरीर से भीनी-भीनी सुगन्ध का आविर्भाव होता है। इस आसन को यथाशक्ति पूर्वक लगाना ही श्रेयस्कर माना गया है ।

---

64. त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद्, 50-51

65. ह.प्र.1/31

66. प्राणापान: समानश्च उदानो व्यान एव च। शिवस्वरोदय- 42

Scanned by CamScanner

हितानिवुध्या यथा क्रमं योगविदास्वसिधौ ।7।इति हठ सर्व स्व कौमुद्यां षट् चक्र क्रम कथनोद्योत: ॥ 12॥

अथ जितमरुतामविकाशाणाम् भुदयनि:श्रेय: प्राशुयामभृतायोनि मुद्रानिरूप्यते तथा चोक्तं त्रिपुरासार समुच्चये, अथलिंगस्थानं योगीलिंग स्थाने कामं ध्यायेत् तदित्कोटिप्रख्यं ख रूचि जितकालाऽनल रूचिं सहस्रादित्यां ऽशु प्रकर सदृश्शोद्योत कलितं भ्रमंतं योन्यंऽतत्स्फुरदऽरूण वंधक कुसुमप्रभंकामं ध्यायेज्जरट शशभृत्कोटि शिशिवं ।1। कामं शरीराऽग्नि तस्योर्ध्वं तुशिखा चिरद्युतितापुंजप्रभाभासुरासूक्ष्माब्रह्मपथांत रांतरगता चैतन्यमात्राकलाएकीभूतमनतरं

Scanned by CamScanner

सहतया ध्याये धिया निचलं स्वात्मानंतमिवातदीयनिभया ।11।

हंसस्वरूपं बुधः ।3। चिद्रयाकलाकुंडलीनापूर्वोक्त शिखामध्यगांध्यायेत् अंतर्व्याप्णास्थितां ध्यायेदित्यर्थः शक्तिः कुंडलिनो निभानिगदिता अहिससंज्ञा जगन्निर्माणे सततोध्यात प्रविलसत्सौदामिनी संनिभा शंखावर्त्त निभां प्रसुप्रभुजगाकायं जगन्मोहिनीं तन्मध्ये परिभाव येद्विलसत तंवयमेयाकृतिं ।3। हंकारेणगुरुपदिष्ट विधिना प्रोक्ता प्रसुष्पांततः कृत्यानां कलया तया परमया चिद्रूपया संगतं मायां कुंडलिनी समाहितमना सतमुच्चरेत्कौलकी शक्तिं ब्रह्ममहापथीन्न सहितामांधारतः ।4। स्वात्मना मित्वालिंगत्रय मथवुधो ब्रह्मनाडया सहोर्ध्वं गंछंत्तीनां द्रुहिण निलयात्प्रापयेदात्मशक्तिं व्योमांभोज प्रणयि परमानंदकंदं विसर्ग स्थानं चंद्रोपरिपरिगलदक्त पीयूष धारं ।5। पीत्वाकुलामृतरसं पुनरवर्दिव्यं मध्यं विशदयंघनस्य समाहितात्मापायात्कुलादऽकुल मेवपुनश्च मात्रायोगेनदे शशिकवर प्रतिप्रादितेन ।6। मध्यं मूलाधारः विंदुनादः शक्तयो मात्रात्रयमुच्यते सा शक्तिकिल सकल शरीरिजीवभूताप्राणोऽसौवितिनिग दिता ऽत्रतत्रं मुख्यैः उद्वातः सतु परिपठ्यते मुर्नीद्रैः प्राणो प्राणप्राणवायुः स्पृशति यदाक्रमेण नीता ।7। असौ कुंडली अमुंस्काधारस्थं प्रतिदिवसमभ्यासनिरतः करोतिश्रधावान्सततमवधूताऽखीलमलः समुक्तो दुःखौद्यैरपमत जय क्लेश भरणे-गुण ग्रामोयेतिः सुंदर विरचित इव चिरंजीवति । 8। चतुर्विधा या गदितेह सृष्टिः प्रवर्तते या सकलापि यस्यां प्रलीयते चापि जगत्समग्रं कालाग्निरूद्रादि सदाशिवांतं ।9। सेयमयोक्ताखलुयोनिमुद्रावंधस्तु-देवैरपिदुर्लभोऽस्याःअनेन वंधेननासाध्यते यन्नास्त्येलतत्साधक पुंगवस्य ।10। पूर्वोक्त ध्यानाविशेष एव मुद्रागुरुतलानिषेषनं च यानं द्विजद्वत्यामधुनः सुवर्ण चौर्य अमुनाविलयं प्रयाति सम्यक् सकृदप्याचरि तेन वंधनेन ।11। सतुमंत्रिवर स एव योगी गुणसिधेः पदभाःस्थितः स एव अमुना चरतीह वंध नयः सततं

Scanned by CamScanner

स्वोचितधर्मकर्मनिष्टः ॥ 12 ॥ अमुनाभवति हृदेव भाजां सतताऽभ्यासकृतेन वंधनेन न जये पितृएज वैजयंति न च मृत्युः प्रतिपादिताचमीतिः ।13 । एतस्यवहिबंधनस्य मनुजः प्राप्रोति सम्यक् कृतादभ्यास दणिमा मादिसिध मतुलां संवित्तिमप्यूर्जितां योगंचा प्रतिमं जयं चमरुतः कारलस्यस्वांवंचनं तद्विष्तोः परं पदं पर परं पश्यंति तत्सुरय इति । 14 । इति हठ सर्वस्व कौमुद्यां योग मुद्रा निरुपणोद्योतः ॥ 14 ॥

Scanned by CamScanner

प्रवेश लटमुखा ति चाऽभ्यासत उद्भवेद्दठात् ।74। प्राणायामे पूरकस्याऽवसाने कर्त्तव्याज्ञैः साधुजालं धराख्यः कुंभस्यांऽतै रेचकस्यादि भागे उडडीयान मूलवंधः सपूर्वं ।75। आकुंचने अधोविहितेऽनुकंठसंकोचनात्पश्चिम तानतोऽस्यप्राणः सुषुम्णां तरगः सुकुंभाऽभ्यासान्मुनेः स्यादऽजराऽमत्वे ।76। आपूर्यपूराराऽभ्यसनेनयोगिनासमं यदास्थीयत एवदीर्घं स्थैर्यं तदा कुडलिनी मयात्यऽअलं तथा शरीरस्य सुपीनभावः। 77। पूरा पूर्णातंरा विस्मृतइह हि यदा विस्मृतं प्राणामुच्चैः सोढुं संनीयते वै सममंमति विदुषाहंत कर्मक्रम स्तु आदायोर्ध्वं भुजंगी तनुकलित लतातुल्य नाडीः समस्ताः शारीरं प्लावयेद्दैप्रभवति खरचत्वं तदारेचदैर्ध्यात् ।78।

Scanned by CamScanner

हठयोगकी मुद्राऐं

आध्यात्मिक दिशा में आगे बढ सके और ध्यान में साधक प्रगति पा सके इसके लिए हठयोग की थोडी सरल मुद्राऐं ध्यान के गहरे अभ्यासी श्री. रमेशजी अग्रवाल के निर्देशन में यहां प्रस्तुत की है ।

इस मुद्रा के अभ्यास से ध्यान के अनुकूल मनोस्थिति निर्माण होकर ध्यान के उच्च स्तर तक पहुँचा जा सकता है ।

इसका संदर्भ और आधार **गोरक्ष पद्धति, शिवसंहिता, घरेण्डसंहिता** और **हठयोग प्रदीपिका** में से लिए गये है ।

इस मुद्रा के करते समय जिस बंध का उल्लेख है इसकी जानकारी इस तरह से है :

१ **उड्डीयान बंध :** श्वसनतंत्र में से पूरा श्वास निकालकर पेट को मेरुदंड की ओर संकोचन करते हुए, श्वास को बाहर ही रोककर उड्डीयान बंध होता है ।

२ **जालंदर बंध :** नाक के द्वारा श्वास भर के, थुड्डी को कोलरबोन के बीच में लगाकर, रोके हुए श्वास को बाहर न निकलने देते हुए, थोडा दबाव दिया जाता है, इस क्रिया को जालंदर बंध या कोकमुद्रा कहते है ।

३ **मूलबंध :** श्वास पूरा बाहर निकालकर गुदा के स्नायु को ऊपर की ओर खींचते हुए मूलबंध होता है । यह सभी मुद्राऐं करते वख्त चित्त को आज्ञाकेन्द्र (दर्शनकेन्द्र) दो भकृटिओं के बीच स्थापित करना है ।

२९.१ महामुद्रा :

बाये पैर के घुटने को मोडकर एडी से योनिमार्ग (शीवनी) पर दबाव देते हुए, दाहिना पैर फैलाकर जमीन से लगाकर रखें । फिर दोनों हाथो से दाहिने पैर की एडी के ऊपर के हिस्से को पकडना है, अगर एडी को न पकड सके तो घुटना और पैर के तलवे के बीच का हिस्सा पकडकर संकल्प से नव द्वार (दो आँख, दो कान, दोनो नासिकाऐं, जालंदर, उड्डीयान और मूलबंध) बंद कर के महामुद्रा बनती है । फिर यही क्रिया दूसरे पैर से करे ।

Scanned by CamScanner

लाभ :

- सभी नाडियों का संचालन अच्छी तरह से होता है ।
- जठराग्नि प्रज्वलित होकर, पाचनक्रिया व्यवस्थित होती हैं ।
- क्षय और कुष्ठरोग में फायदा होता है ।
- क्लेश और कषाय दूर होकर शरीरकी कान्ति बढती है ।
- इन्द्रियो के माध्यम बंध होने से वृतियाँ शांत होती हैं ।

२९.२ महाबंध मुद्रा :

बाये पैर को घुटने से मोडकर एडी से योनिमार्ग (शीवनी) पर दबाव देते हुए, दाहिना पैर घूटने से मोडकर, बाये पैर के जंघापर रखते हुए, मेरुदंड सीधा रखते हुए, नवद्वार बंध कर के महाबंधमुद्रा बनती है ।

लाभ :

- सभी नाडियों का संचालन ठीक तरह से होता है ।
- प्राणवायु का उर्ध्वगमन होता है ।
- प्राण का प्रवाह (सुषुम्ना) नाडी में शुरू होता है ।

२९.३ महावेद मुद्रा :

पद्मासन कर के, मूलबंध कर के, दोनों हाथ की हथेलियों को जमीन पर थापे के पास रखकर, मेरुदंड सीधा रखते हुए हाथो को सीधा याने कोहनी को बिना मोडे जमीन पर ताड़न करे । ताड़न याने पालथी लगाकर जमीन पर ४-५ बार लगायें यह ताड़न महाबंध मुद्रा में ज्यादा लाभदायक होता है लेकिन इस मुद्रा में मूलबंध नहीं होता है ।

लाभ :

- त्वचा की स्थिति स्थापकता ज्यादा लम्बे अरसे तक रहती है ।
- बाल जल्दी सफेद नहीं होते है ।
- वृध्धावस्था के कंपन से बच सकते है ।

Scanned by CamScanner

२९.४ खेचरी मुद्रा :

खेचरी मुद्रा वैसे तो बहुत कठिन मुद्रा है पर यहां दी गयी इस मुद्रा से भी कुछ फायदे जरुर होते हैं । इस मुद्रा में जिह्वा को उलट कर कंठ के मूल पर जो घांटी है उसपर लगाकर, दृष्टि को नाक पर आज्ञाचक्र (दर्शनकेन्द्र) पर अपलक रखते हुए खेचरी मुद्रा बनती है । यह मुद्रा करते वख्त उदानमुद्रा और आंतरिक रुप से हम् का मौन उच्चारण करने से ज्यादा लाभ होता है ।

लाभ :

- भूख - प्यास पर नियंत्रण होता है ।
- मरणतुल्य कष्ट दूर होते है ।
- एकाग्रता सधती है ।
- निर्विकल्प दशा में लीन हो सकते है ।

२९.५ सर्वेन्द्रिय मुद्रा :

पद्मासन, सुखासन या सिध्धासन में बैठकर, दोनो अंगूठे से दोनो कान के द्वार बंध कर के दोनो तर्जनी से दोनो आँखे बंधकर के, दोनों मध्यमा से दोनों नासिकाएँ बंध करके, दोनों अनामिका को होठ के उपर रखते हुए, दोनों कनिष्ठिका को होठ के नीचे सहज दबाव देते हुए, जालंदर, उड्डीयान और मूलबंध करते हुए सर्वेन्द्रिय मुद्रा बनती है ।

लाभ :

- इन्द्रियो की वृति शांत होकर, चंचलता दूर होकर, ध्यान में लीन हो सकते है ।
- अंतरमुखी बनने से आंतरिक चेतना जागृत होती है ।
- ज्योतिकेन्द्र पर बंध आंखो से सफेद रंग का अनुभव होता है ।
- आवेश-आवेग शांत होकर, पूर्ण शांति का अनुभव होता है ।

Scanned by CamScanner

23. षट्चक्रनिरूपण के प्रथम प्रकरण में उसकी विधि इस प्रकार वर्णित है— यम और नियम के नित्य-नियमित आदरपूर्वक निरन्तर अभ्यास में लगा योगी गुरुमुख से मूलाधार से सहस्त्रार पर्यन्त कुण्डलिनी शक्ति के उत्थापन क्रम को ठीक से समझ लेने के उपरान्त पवन और दहन के आक्रमण से प्राप्त कुण्डलिनी शक्ति को, जो कि स्वयंभू लिंग को वेष्टित कर सार्धत्रिवलयाकार में अवस्थित है, हूंकार बीज का उच्चारण करते हुए जगाता है और स्वयंभू लिंग के छिद्र से निकाल कर उसे ब्रह्मद्वार तक पहुँचा देता है। क्रुद्ध कुण्डलिनी शक्ति पहले मूलाधार स्थित स्वयंभू लिंग का, तब अनाहतचक्र स्थित बाण लिंग का और अन्त में आज्ञाचक्र स्थित इतर लिंग का भेदन करती हुई ब्रह्मनाडी की सहायता से सहस्त्रदल चक्र में प्रविष्ट होकर परमानन्दमय शिवपद में प्रतिष्ठित हो जाती है। योगी अपने जीवभाव के साथ इस कुण्डलिनी को मूलाधार से उठाकर सहस्त्रार चक्र तक ले जाता है और वहाँ उसको परबिन्दु स्थान में स्थित शिव (परलिंग) के साथ समरस कर देता है। समरसभावापन्न यह कुण्डलिनी शक्ति सहस्त्रार चक्र में लाक्षा के वर्ण के समान परमामृत का पान कर तृप्त हो जाती है और इस परमानन्द की अनुभूति को मन में संजोये यह पुनः मूलाधार चक्र में लौट आती है। यही है कुण्डलिनी योग की पूरी प्रक्रिया। इसके सिद्ध हो जाने पर योगी जीवभाव से मुक्त हो शिवभावापन्न (जीवन्मुक्त) हो जाता है।

Scanned by CamScanner

Tibetan yogis

HH Dilgo Khyentse

9

(viii) प्राणायाम में बन्धत्रय की भूमिका—बन्ध का अर्थ है बाँधना, रोकना। बन्ध तीन है-(१) मूलबन्ध (२) जालन्धरबन्ध (३) उड्डीयानबन्ध।

ये तीनों प्राणायाम में बहुत सहायक हैं। बिना बन्ध के प्राणायाम से पूर्ण लाभ की प्राप्ति नहीं हो सकती। अत: प्राणायाम के पूर्णलाभ के लिए यहाँ इनका वर्णन किया गया है।[2]

(ix) मूलबन्ध-''अध: प्रदेशादाकुञ्चनमिति मूलबन्ध:'' अर्थात् अध: प्रदेश (गुदा) का आकुञ्चन करना मूलबन्ध कहलाता है। इस बन्ध में नाभि के नीचे वाला हिस्सा खींच जायेगा।

लाभ—(i) इससे अपान वायु का ऊर्ध्वगमन होकर प्राण के साथ एकता होती है। यह बन्ध मूलाधार चक्र को जागृत करता है और कुण्डलिनी जागरण में अत्यन्त सहायक है।

१. सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भका: ॥ हठयोग० २.४४

२. प्राणायाम रहस्य पृष्ठ ४०

(ii) कोष्ठबद्धता और बवासीर को दूर करने तथा जठराग्नि को तेज करने के लिए यह बन्ध अत्युत्तम है।

(iii) वीर्य की ऊर्ध्वगति करता है और ब्रह्मचर्य पालन में बड़ा उपयोगी है।

(x) जालन्धरबन्ध—

'कण्ठाकुञ्चनपूर्वकं चिबुकस्य हृदि स्थापनं जालन्धरबन्ध:'—अर्थात् ठोडी को कण्ठकुञ्चनपूर्वक हृदय के पास स्थापित करना (ठोडी को हृदय के चार अंगुल ऊपर कण्ठकूप में लगाना) 'जालन्धरबन्ध' कहलाता है।

लाभ—

(i) इससे ज्ञानेन्द्रियों को पर्याप्त व्यायाम मिल जाता है।

(ii) कण्ठ मधुर, सुरीला और आकर्षक होता है।

(iii) इससे प्राण का सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश हो जाता है।

(iv) थॉयराइड, टॉन्सिल आदि रोगों में लाभदायक है।

(v) मन में शान्ति, उत्साह और स्फूर्ति का संचार होता है।

(xi) उड्डीयानबन्ध—

''प्रयत्नविशेषेण नाभिप्रदेशशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबन्ध:।'' अर्थात् प्रयत्नविशेष के द्वारा नाभिप्रदेश (नाभि के ऊपर और नीचे चार अंगुल उदर) को पीठ की ओर खींचना ''उड्डियानबन्ध'' कहलाता है। संस्कृत में 'उड्डीयान' का अर्थ होता है 'उड़ना' तथा बन्ध का अर्थ है 'बांधना या नियन्त्रण में करना उड्डीयानबन्ध है। मनुष्य की चित्तवृत्तियों को अधोमुख से ऊर्ध्वमुख करने के लिए उड्डियानबन्ध एक सर्वश्रेष्ठ क्रिया है तथा साथ ही साथ इससे स्वास्थ्य में भी लाभ होता है।'

लाभ—

(i) अपच तथा क्षुधा की कमी दूर होती है।

(ii) पेट के समस्त रोग का शमन होता है।

(iii) उच्च रक्तचाप रोगी, हृदय रोगी और यक्ष्मा रोगी को इसका प्रयोग गुरु की सलाह से करना चाहिए।

(iv) यह प्राणों को जागृत कर मणिपुर चक्र का शोधन करता है।

जब भी आप प्राणायाम करें, आपकी रीढ़ की हड्डी सीधी होनी चाहिए। इसके लिए आप किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठ जाएं। जैसे—सिद्धासन, पद्मासन, सुखासन या वज्रासनादि। बैठकर प्राणायाम करने से मन का निग्रह होता है। प्राणायाम करने से प्राणशक्ति का उत्थान होता है और मेरुदण्ड से जुड़े हुए चक्रों का शोधन होता है। अत: प्राणायाम में सीधा बैठना अति आवश्यक है। चलते-फिरते कभी भी प्राणायाम नहीं करना चाहिए यह गलत प्रक्रिया है।[1]

भस्त्रिकासहितकुम्भकः:- कमलासने उपविश्य भस्त्रिकाकुम्भकप्राणायामः क्रियते । अत्र उदरं ग्रीवाञ्च सरलीकृत्य मुखविवरं दृढतया मुद्रितं क्रियते । सर्वप्रथमं हृदये स्थितं कण्ठ प्रदेशे च स्थितं वायुं रेचयेत्, तदनन्तरं मस्तकपर्यन्तं हृदयपर्यन्तञ्च वायुं पूरयेत् । इयं रेचकक्रिया पूरकक्रिया च लोहकाराणां भस्त्रा इव अविरलं कर्तव्या भवति । अतएव अस्य कुम्भकस्य नाम भस्त्रिका वर्तते । तथा चोक्तं योगसिद्धान्तचन्द्रिकायाम्-

"आसनन्तु ततो बद्ध्वा सम्यक्कमलसंज्ञकम् ।
यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते "[2] ।।

आचार्यनारायणतीर्थेन भस्त्रिकाकुम्भकस्य द्वितीयो पि प्रकारः वर्णितो-अस्ति । तदनुसारेण यावत् पर्यन्तं शरीरे क्लान्तिः नानुभूयते तावत् पर्यन्तम् अस्मिन् कुम्भके सूर्य-नाड्यावायुमापूरयेत् तदनु उदरे आपूरितं वायुं वामनासिका विवरणमंगुष्ठेन अनामिकया कनिष्ठया च निपीड्य कुम्भकेन स्तम्भयेत् । ततश्च स्तम्भितं वायु विधिवद् रेचयेत् । अस्याः प्रक्रियायाः भूयो भूयः अभ्यासेन भस्त्रिकाकुम्भकः सिद्ध्यति । तथा चोक्तमाचार्यनारायण तीर्थेन-

- -

§1§ यो०सि०चं० पृ०-92

§2§ यो०सि०चं० पृ०-93

"यथोदरं भवेत् पूरणं पवनेन तथा लघु ।
धारयेन नासिकां मध्ये तर्जनीभ्यां विना दृढम्"।।
कुम्भकं पूर्ववत् कृत्वा रेचयेद् ईडया ततः"[1] ।।

उज्जायीकुम्भकेन प्रायेण कफविकारो दूरी भवति । शीतलीकुम्भकेन सीतकारीकुम्भकेन च प्रायशः पित्तविकारो दूरी भवति किन्तु भस्त्रिका-कुम्भकेन वातपित्तकफस्यधातुत्रयजनिताः रोगाः दूरी भवन्ति इति अस्य कुम्भकस्य वैशिष्ट्यं किन्च मूलाधारचक्रे प्रसुप्तायाः कुण्डलिन्याः उद्बोधनं भस्त्रिकाकुम्भकस्य मुख्यं प्रयोजनं वर्तते ।

भ्रामरीसहितकुम्भकः, भ्रामरीकुम्भके प्राणायामे सर्वप्रथमं उभाभ्यां नासापराभ्यां

भस्त्रिकाप्राणायामः- भस्त्रिकाप्राणायामः भस्त्राप्राणायाम इत्यपि उच्यते। कैश्चिदयं कपालभातीप्राणायाम इत्यपि कथ्यते । प्राणायामसाधनाक्रमे अनेनैव प्राणायामेन प्रतिदिनं प्राणायामसाधना प्रारभ्यते । यद्यपि हठयोग प्रदीपिका मयं प्राणायामः कुम्भकप्रकारे पठितः तथापि अस्मिन् प्राणायामे कुम्भकक्रिया नैव क्रियते । अस्य प्राणायामस्य भेदद्वयं भवति । एकस्मिन् एकेन नासारन्ध्रेण वायुः पूर्यते रेच्यते च । अपरस्मिन् नासारन्ध्राभ्यां युगपत् पूरकः रेचकश्च क्रियेते । अस्मिन् प्राणायामे अत्यन्तं वेगेन प्राणवायोः पूरकः कुम्भकश्च क्रियेते। यथा लौहकारस्य भस्त्रिकातः वायुः अत्यन्तं वेगेन निस्सरति प्रविशति च तथैव करणात् अयं प्राणायामः भस्त्रिकाप्राणायाम इत्युच्यते ।

भस्त्रिकाप्राणायामस्य लाभः- अस्य प्राणायामस्य अभ्यासेन शारीरिक अध्यात्मिकश्च लाभो भवति । अस्य अभ्यासेन श्वासप्रश्वासयोः प्रणाली पूर्णतया शुद्धा परिष्कृता च भवति । तेन साधकस्य शरीरं पूर्णतया स्वस्थं भवति । वात पित्तकफजाः विकाराः नश्यन्ति । जठराग्निं विवर्धते । साधकः कान्तिमान भवति । सुषुम्नायाः अग्रभागे विद्यमाने कफादिमले दूरी भूते सति प्राणः सुषुम्नां प्रविशति । इयमेवावस्था कुण्डलिनीजागरणावस्था इत्युच्यते ।

भ्रामरीप्राणायामः- प्राणायामसाधनाक्रमे साधकः आनन्दानुभूत्यै पूरकं रेचकं च कृत्वा नासिकया भृंगध्वनिमुत्पादयति । पूरककाले अयं ध्वनिः तीव्रो भवति, रेचककाले च मन्दः । अयं मन्दध्वनिः भृंगीध्वनिसदृश इति कृत्वा अयं प्राणायामो भ्रामरीप्राणायाम इत्युच्यते ।

घेरण्डसंहितायां[1] भ्रामरी प्राणायामस्य स्थाने भ्रामरीसिद्धेः वर्णनं लभ्यते ।

---

[1] घे० सं० 5/77-81

संज्ञक बन्ध है। यह बन्ध नाड़ियों के समूह को तथा कपालकुहुर रूप नभ के जल को बाँधता है, इसलिए जालन्धर बन्ध कहलाता है यह कंठ के रोग दुःखों का नाश करने वाला है लक्षण जिसका कण्ठ का संकोच है, उस जालन्धर बन्ध के करने से अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और न वायु का ही प्रकोप होता है। यह बन्ध दृढ़तापूर्वक कण्ठ का संकोच करने से दोनों नाड़ियों का स्तम्भन करने वाला है। इसे सोलह आधारों का बन्धन कर्त्ता मध्य चक्र जानना चाहिए ।।७०—७३।।

व्याख्या—इस बन्ध को जरामृत्यु का नाशक इसलिए माना है कि [illegible] होकर उदरस्थ [illegible] नष्ट [illegible] जाता है। यह बन्ध उस अमृत को [illegible] रोकता है। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

> पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः।
> कण्ठ संकोच रूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधकः ।।
> अधस्तात्कुंचने नाशु कण्ठ संकोचने कृते।
> मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ।।

अर्थात्—पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिए। इसमें कण्ठ के संकोच द्वारा वायु का निरोध किया जाता है। अधोभाग में मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन करे और ऊपर से जालन्धर बन्ध द्वारा कंठ का संकोच तथा मध्य में उड्डियान बन्धद्वारा प्राणको खींचे तो प्राण ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में चढ़ने लगता है।

इस प्रकार कण्ठ का संकोच करने इड़ा और पिंगला दोनों [illegible] स्तंभन स्वतः हो जाता है। कण्ठ में सोलह दल का [illegible] रोक कर [illegible] से इस बन्ध [illegible]

[ह [illegible]

[illegible] तु कार[illegible]
च पिं[illegible] पश्चिमे [illegible]
अनेनैव वि[illegible] प्र[illegible]लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरा[illegible]दकं तथा
बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम्।
सर्वेषां [illegible]णां साधनं योगिनो विदुः ।।७६।।

[illegible] ल स्थान को [illegible] प्रकार संकोच करके उड्डिय[illegible], जिससे [illegible] पिंगला का स्तंभन होकर प्राण [illegible] इस विधान से ही प्राण का लय [illegible] मृत्यु आदि नहीं होते। यह तीन बन्ध श्रेष्ठ हैं, महासिद्ध[illegible] रा इनका सेवन किया जाता है। हठयोग के सब साधन[illegible] इसकी उपयोगिता को योगी पुरुष जानते हैं ।।७४—७६।।

हैं, फल दोनों के समान हैं।

259-261. O Samkriti! I told you the ashtanga-yoga, the yoga which has eight parts in it i.e. Yama, Niyama, Asana, Pranayama, Pratyahara, Dharana, Dhyana, and Samadhi, the **Ashtanga yoga** was investigated and taught first time by Kavi **Shukracharya**. Now I will teach you the way of yoga which was accepted by Siddhas like **Kapila** etc. The difference of the two is only in the way of practice, the result of the two is the same.

262. महामुद्रां प्रवक्ष्यामि भैरवेणोक्तमादरात्।
263. पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।[1]
264. प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद् दृढम्।[2]
265. चिबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद् वायुना पुनः।[3]
266. कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेद्।[4]
267. वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन चाभ्यसेत्।[5]

262-267. इसके अनन्तर मैं **महामुद्रा** का कथन करूँगा, जिसका उपदेश भैरव ने अत्यन्त आदरपूर्वक किया था। महामुद्रा करने के लिए बायें पैर की एड़ी को योनि स्थान पर रखते हुए दक्षिण पैर को फैलाकर दोनों हाथों से पकड़ें और ठुड्ढी को हृदय से लगाकर वायु अन्दर खीचें तथा यथाशक्ति कुम्भक करके प्राणों का रेचन करें। इस प्रकार बायें अंग (पैर) से अभ्यास करके दाहिने पैर से उतने ही काल तक अभ्यास करें।

[नोट—चिबुक को हृदय पर लगाना जालन्धर बन्द कहलाता है, यह बन्ध कुम्भक के समय पूरक के बाद लगाया जाता है, अतः यहाँ बायां पैर फैलाकर दाहिने नासारन्ध्र से पूरक करके जालन्धर बन्ध करते हुए हाथों से पैर के तलवे को पकड़ना और कुम्भक करना यह क्रम विवक्षित है।]

1-5. वही 1.112-114 ।

Scanned by CamScanner

263. Now I will teach you Mahamudra which was taught by Bhairava with great regard to it.

Mahamudra :

263-267. While performaing the Mahamudra the heel of the left foot should be put at the base of the vagina, stretching the right leg at the length, it should be held firmly by both hands, the chin should be put at the place of heart (chest), inhaling the breath, Kumbhaka should be performed for as much time as he can. There after he should exhale the breath. After exercising it by left side, it should be practised by right side too.

268. प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि विन्यसेत्।[6]
269. अयमेव महाबन्धो मुद्रावच्चामुमभ्यसेत्।[7]

268-269. जो पैर फैलाया हुआ है, उसकी जंघा पर दूसरे पैर को रखे यह **महाबन्ध** कहलाता है। **महामुद्रा** के समान ही इसका भी अभ्यास करे।

Mahabandha:

09:19

Sahaj_Yog_of_Sant_Ka...

कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के अनेक उपाय 'पातञ्जलि योग दर्शन' तथा तन्त्र-ग्रन्थों में वर्णित है परन्तु उनमें प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को चैतन्य करके 'सुषुम्ना' में लाने का उपाय सुख साध्य है। यहाँ कुण्डलिनी जागरण की कुछ विधियों का उल्लेख किया जा रहा है।

विधि–१—सिद्धासन में बैठकर बाँयें पाँव की एड़ी को गुदा तथा जननेन्द्रिय के बीच सीवन से सटाते हुए इस प्रकार लगायें कि उसका तला सीधे दाँयें पाँव की जंघा का स्पर्श करे। इसी प्रकार दाँयें पाँव की एड़ी को शिश्नेन्द्रिय की जड़ के ऊपरी भाग में दृढ़ता पूर्वक इस प्रकार लगायें कि उसका तला बाँयें पाँव की जंघा का स्पर्श करें। फिर बाँयें पाँव के अंगूठे तथा तर्जनी को दाँयीं जाँघ तथा पिण्डली के मध्य में ले लें। सम्पूर्ण शरीर का भार एड़ी तथा सीवन के मध्य भाग की नस पर ही तुला रहना चाहिए।

अब दायें हाथ के अँगूठे से दाँये नासा छिद्र (नथुने) को दवा कर नाभि से लेकर कण्ठ तक की सम्पूर्ण वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाल दें।

इस प्रकार समस्त वायु का 'रेचन' करके श्वास को भीतर लेकर अर्थात् 'पूरक' करके बारम्बार पूर्वोक्त प्रकार से 'रेचन' करें। 'रेचन' के समय मूलबन्ध, उड्डियान तथा जालन्धर बन्धों को दृढ़ता से लगा कर, दोनों हथेलियों को दोनों घुटनों पर स्थापित कर, अपनी दृष्टि नाक के अग्रभाग पर स्थिर रखनी चाहिए।

इस प्रकार से नित्य नियमित रूप से अभ्यास करते रहने से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् हो कर सुषुम्णा के द्वार को खोल देती है। तब प्राण का ऊर्ध्वगमन होने लगता है तथा चींटी के रेंगने जैसा सुख अनुभव होने लगता है। ब्रह्मरन्ध्र में प्राण के प्रवेश करते ही अपरिमित आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

विधि–२—पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध आसन लगाकर बैठें। फिर दोनों नासा छिद्रों द्वारा नाभिपर्यन्त यथा शक्ति अधिकाधिक वायु को भरें तदुपरान्त जालन्धर-बन्ध लगाकर 'अन्तः कुम्भक' करें साथ ही मूलबन्ध द्वारा मूलाधार से अपानवायु का उत्थान करके, नाभि में प्राण के मिला देने की पूर्ण भावना करें। ऐसा करते समय उड्डीयान-बन्ध लगा लेना भी अधिक अच्छा रहता है। कुम्भक के समय तीनों प्रकार के बन्ध लगे रहने चाहिए।

237/308

उक्त विधि से सामर्थ्यानुसार एक निश्चित अवधि का कुम्भक करके, 'रेचक' करें तथा वायु को बाहर छोड़ दें।

प्राणायाम की इस विधि से भी प्राणोत्थान की क्रिया शीघ्र होने लगती है।

दीर्घ श्वास-प्रश्वास प्राणायाम

समकाय ग्रीवा होकर बैठे, हाथों की हथेलियाँ घुटनों पर हों, किसी भी नासिका को किसी अँगुली से बन्द नहीं करना है। दोनों नासिकाओं से तीव्र गति से लम्बे-लम्बे श्वास भीतर खींचे अर्थात् पूरक करें। खींचे हुए श्वास को भीतर रोकना नहीं है। खींचने के तुरन्त बाद उसे वेग से ही बाहर निकालना है, रेचक करना है, इस पूरक रेचक को बल से शीघ्रतापूर्वक करना है। १ से आरम्भ करें और धीरे-धीरे उसे बढ़ाते

शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष वास्तव में क्या है ?

स्वामी लक्ष्मण जू महाराज

आन्तरिक चन्द्रमा अपान-वायु बन कर 'बाह्य-द्वादशान्त' से भीतर की ओर संचार करते-करते पंद्रह तुटि रूपी शुक्लपक्ष के पंद्रह दिनों का उल्लङ्घन करता। फिर हृदयाकाश में स्थित और तुट्यर्धांश से सीमित 'अन्तर्द्वादशान्त' पर बाह्य-चन्द्रमा की नाईं परिपूर्णकला से संयुक्त हो कर आन्तरिक पूर्णिमा के अमृत का आस्वाद लेता है। इसी तरह परिपूर्णता को प्राप्त हुआ भी चन्द्रमा प्राण-रूप बन कर 'अन्तर्द्वादशान्त' से प्रसारित होते हुए पंद्रह तुटि-रूपी कृष्णपक्ष में क्रम से क्षीण होता है और क्षीण होकर 'बाह्यद्वादशान्त' में स्थित तुट्यर्धांश रूपी आन्तरिक अमावस्या पर अमाकला का आस्वाद लेता है। इसी प्रकार आन्तरिक पूर्णिमा तथा आन्तरिक अमावस्या का आस्वाद लेते हुए योगी-जन वास्तविक गृहपति बन कर सदा 'आत्मयाग' का अनुभव किया करते हैं।

प्राण और अपान के, हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक, चलने में ३६ अंगुलों के समान समय लगता है। सवा दो अंगुलों के समान समय को तुटि कहते हैं। हृदयाकाश और बाह्य-द्वादशान्त पर अर्थात् संधियों पर स्वाभाविक रूप से ज़रा ठहरने में आधी आधी तुटि लगती है। इस प्रकार प्राणापान को हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक संचार करने में पंद्रह तुटियों का समय लगता है और यही पंद्रह तुटियां पक्ष के पंद्रह दिनों के समान मानी गई हैं। प्राण के हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक चलने के समय (अर्थात् पंद्रह तुटियों) को कृष्णपक्ष के पंद्रह दिनों के समान और अपान के बाह्य-द्वादशान्त से हृदयाकाश तक पहुँचने के समय (अर्थात् पंद्रह तुटियों) को शुक्ल-पक्ष के पंद्रह दिनों के समान माना गया है।

06:23

Yogasan_of_Swami_S...

कन्दपीड़ासन
(पृष्ठ ५४)

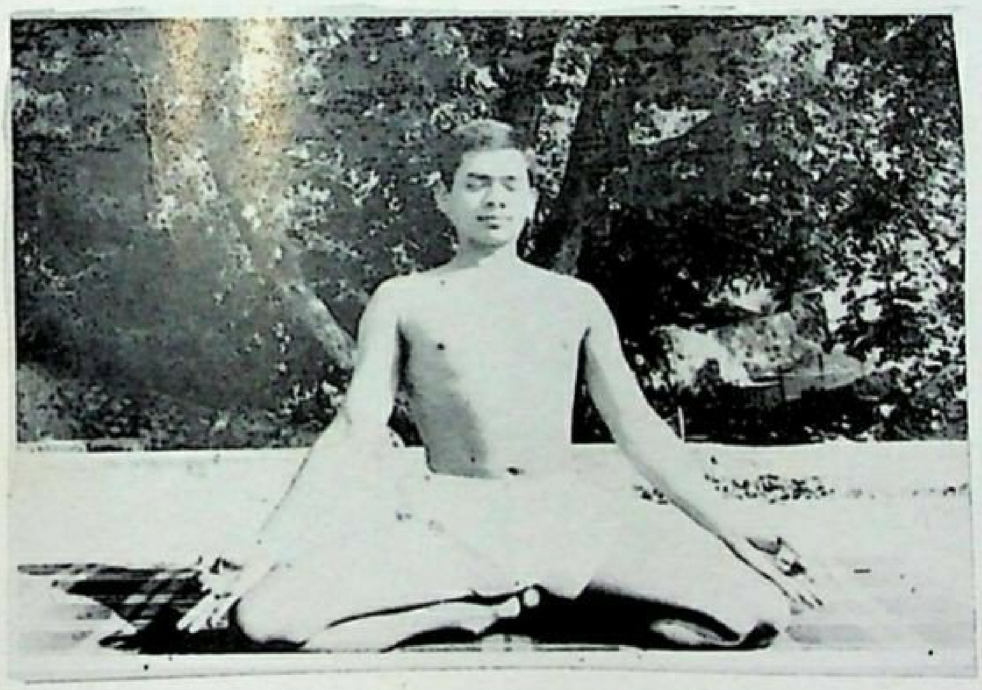

कन्दपीड़ासन (दूसरा प्रकार)

22:52

Sahaj_Yog_of_Sant_Ka...

बतलाया है।

(५) **भस्त्रिका कुम्भक—भस्त्रिका** प्राणायाम कई प्रकार से किया जाता है। इसके मुख्य चार भेद हैं—मध्यम भस्त्रिका, वाम भस्त्रिका, दक्षिण भस्त्रिका और अनुलोम-विलोम भस्त्रिका।

(क) **मध्यम भस्त्रिका**—जैसे लुहार की धौंकनी से वायु भरी जाती है, इसी प्रकार दोनों नासिकापुट से वायु को आवाज के साथ धीमे-धीमे लंबा, दीर्घ और वेग पूर्वक मूलाधार तक पूरक करें। बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दोनों नासिका पुट से रेचक करे। इस प्रकार बिना आभ्यन्तर और बाह्य कुम्भक के आठ वार पूरक-रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथा शक्ति कुम्भक करके दशवीं बार उसी प्रकार धीमे-धीमे दोनों नासिकापुट से रेचक करें। यह प्राणायाम हुआ। इस प्रकार तीन प्राणायाम करें।

(ख) **वाम भस्त्रिका**—दक्षिण नासिका पुट को बंद करके उपर्युक्त रीति से वाम नासिकापुट से मूलाधार तक आठ बार पूरक, रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथा शक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् उपर्युक्त विधि के अनुसार दक्षिण नासिका पुट से रेचक करे। यह एक प्राणायाम हुआ।

(ग) **दक्षिण भस्त्रिका**—वाम नासिकापुट बन्द करके दक्षिण नासिकापुट से आठ बार बिना आभ्यन्तर और बाह्य कुम्भक के उपर्युक्त विधि के अनुसार पूरक रेचक करने के पश्चात् नवीं बार पूरक करके यथा शक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् वाम नासिकापुट से रेचक करे। यह एक प्राणायाम हुआ।

वाम भस्त्रिका और दक्षिण भस्त्रिका को मिलाकर करने की विधि—

पहले वाम भस्त्रिका का एक प्राणायाम करे, फिर दक्षिण भस्त्रिका का एक प्राणायाम, तत्पश्चात् वाम भस्त्रिका का एक प्रणायाम। इस प्रकार इन तीन प्राणाणायों में दो बार वाम भस्त्रिका और एक बार दक्षिण भस्त्रिका होगा।

(घ) **अनुलोम-विलोम भस्त्रिका**—जैसे लोहार की धौंकनी से वायु भरी जाती है इसी प्रकार बायें नासिकापुट से वायु को ध्वनि के साथ धीमे-धीमे लम्बा, दीर्घ और वेग पूर्वक मूलाधार तक पूरक करे, बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दक्षिण नासिकापुट से रेचक करे। ये चार प्राणायाम हुए। इस प्रकार आठ बार बिना कुम्भक किये केवल पूरक रेचक करते हुए नवीं बार वाम नासिकापुट से पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् दशवीं बार दक्षिण नासिका पुट से रेचक करे। यह दश प्राणायाम का पहला प्राणायाम हुआ। अब दक्षिण नासिकापुट से आरम्भ करके नवीं बार कुम्भक के पश्चात् दशवीं बार वाम नासिकापुट से रेचक करे। यह दूसरा प्राणायाम हुआ। अब पहले प्राणायाम की भाँति तीसरा प्राणायाम करें।

इन विधियों में पूरक की समाप्ति पर मूलाधार चक्रपर एक क्षण (कुछ देर) ध्यान के पश्चात् रेचक करें। इसी प्रकार रेचक की समा[illegible] पर नासिका के अग्रभाग पर कुछ देर (एक क्षण) ध्यान के पश्चात् पूरक करें। कुम्भक के समय नाभि स्थान मणिपुर चक्रपर ध्यान लगावें।

15:54

- क़ब्ज़ दूर करता है।
- यह आसन विषय-कषायों को जीतना सिखाता है।
- गुदों को शक्ति प्रदान करता है।

सावधानियाँ : स्लिप डिस्क व साइटिका से पीड़ित रोगी इस आसन को न करें।

कंदपीड़ासन/कंदासन

शाब्दिक अर्थ: कंद का अर्थ मूलग्रंथि, जड़ या गाँठ।

हठयोग प्रदीपिका के तृतीय अध्याय में लिखा है कि कुंडलिनी कद पर शयन करती है। यह योगियों, महात्माओं को मोक्ष और भोगियों को बंधन दिलाती है।

विधि : अपने आसन में प्रसन्नतापूर्वक बैठें। पैरों को सामने सीधा फैला लें। घुटने मोड़ते हुए जाँघों को चौड़ा करें और एड़ियाँ को आमने-सामने आपस में मिला लें (यह लगभग बध्द कोणासन के समान हो जाता है)। दाहिने पैर के पंजे को दाहिनी हथेली से और बाएँ पैर के पंजे को बाई हथेली से पकड़ें। अब हाथों से पैर के पंजों को ऊपर धड़ की तरफ़ खींचें। टखनों को उल्टा करें। पंजे पकड़कर घुटने व जाँघों को खींचें एवं नाभि व सीने से एड़ियों और पैरों के बाह्य भाग को चिपका लें। प्रथम अभ्यासी पैरों को पकड़े रखें एवं अभ्यास हो जाने पर हाथों को घुटनों पर रखें।

श्वासक्रम/समय: अंतिम स्थिति में श्वास सामान्य रखें एवं अनुकूलतानुसार करें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र या मणिपूरक चक्र पर।

लाभ : काम-वासना को नियंत्रित करता है। बिंदु (ऊर्जा) ऊर्ध्वमुखी करता है। नाभि के नीचे की प्रत्येक माँसपेशी को व्यायाम मिलता है। नितम्ब, घुटने, टखने की संधियों को लचीला बनाता है। जिससे कड़ापन दूर होता है। मन की चंचलता का शमन करता है।

सावधानियाँ:
- चूँकि यह उच्च अभ्यास का आसन है, इसलिए विशेष सावधानी रखें।
- जिनके घुटने के जोड़ों में लोच और मजबूती हो, वे ही इस आसन को करें।

नाभि पीड़ासन

15:56

मूलबंधासन

शाब्दिक अर्थ : मूल का अर्थ जड़ या उद्गम स्थान और बंध का अर्थ बंधन या कड़ी।

विधि : प्रसन्नतापूर्वक अपने आसन पर सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठें। दोनों घुटनों को मोड़ते हुए पैर के तलवों को आपस में मिलाएँ। यह स्थिति बद्ध कोणासन की स्थित हो जाएगी। अब लिंग स्थान और गुदा-द्वार (सीवनी नाड़ी) के मध्य एड़ियों को रखकर बैठ जाएँ जिससे एड़ियों का दबाव मूलाधार पर पड़े। इसका अच्छे से अभ्यास हो जाने पर एड़ियों के स्थान पर पंजे के अँगूठे को रखने का अभ्यास कर सकते हैं।

श्वासक्रम/समय : श्वसन क्रिया गहरी हो। इसे आधे से एक मिनट तक करें।

ध्यान : मूलाधार चक्र से ऊर्जा ऊर्ध्वमुखी हो रही है, ऐसा ध्यान करें।

लाभ:
- आध्यात्मिकता की तरफ़ साधक का मन लगता है। ऊर्जा ऊर्ध्वमुखी होती है।
- जनन संस्थान और शिश्न ग्रंथियों को लाभ मिलता है।
- काम-वासना का शमन होता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों के लिए यह उत्तम आसन है।
- मानसिक शांति प्रदान कर नकारात्मक विचारों का नाश करता है।

सावधानी :
- अधिकतम प्रभाव घुटनों पर पड़ता है। जिनके घुटनों के जोड़ों में दर्द या किसी प्रकार की तीव्र वेदना हो, वे न करें।
- तीव्र कमर दर्द वाले भी न करें।

नोट : कुछ योग शिक्षक इस आसन को गोरक्षासन भी कहते हैं।

वृश्चिकासन

Shubhagodya Stuti - Shyam...

[illegible] है।

(१०) जब कोई योगी समाहित चित्त होकर चन्द्रस्थान में चन्द्रमा को एवं सूर्य स्थान में सूर्य को वायु के द्वारा निरुद्ध करने में समर्थ हो पाता है। तब

(क) चन्द्रमा अमृत-क्षरण करने में असमर्थ हो जाता है तथा

(ख) सूर्य अमृत-पान करने में असमर्थ हो जाता है।

(ग) ऐसा होने पर वायु से उत्प्रेरित **स्वाधिष्ठानाग्नि के द्वारा** आधार चक्रस्थ अमृत कुण्ड शुष्क हो जाता है।

(घ) अमृत कुण्ड (मूलाधारस्थ अमृत कुण्ड) के शुष्क हो जाने पर कुण्डलिनी विराहार होने के कारण सोते से जाग उठती है और सर्प की भाँति फूत्कार करती हुई **तीनों ग्रंथियों** (ब्रह्मग्रंथि। विष्णु ग्रंथि एवं रुद्र ग्रंथि) का भेदन करती हुई एवं इसी क्रम में षट् चक्रों का भेदन करती हुई **'सहस्रदल कमल' के मध्य** अवस्थित चन्द्रमण्डल को डसती है।

(ङ) चन्द्रमण्डल के डसे जाने के कारण वह **पीयूष धर चन्द्रमा** से क्षरित पीयूष धारा 'आज्ञाचक्र' में स्थित **'चन्द्रमण्डल'** को अपने पीयूष बिन्दुओं से आप्लावित कर देती है।

(च) उन क्षरित पीयूष-बिन्दुओं से सारा शरीर ही अमृतात्मक (अमृत-प्लावित) हो उठता है।

[illegible] कलायें हैं। ये 'आज्ञाचक्र' के ऊपर अवस्थित १५ कलायें ही १५ नित्यायें हैं जो कि [illegible] आविर्भूत होती हैं।

(ज) ये ही १५ कलायें या १५ नित्यायें कण्ठस्थ 'विशुद्ध चक्र के १६ दलों में अवस्थित हैं।

(झ) **सहस्रादल कमल'** के मध्य में एक चन्द्रमण्डल अवस्थित है उसे ही **'बैन्दव स्थान'** कहते हैं।

(ञ) इस **बैन्दव स्थान'** की कला का नाम है—

'चितकला' 'बैन्दव कला'। यह कला चिन्मयी एवं आनन्दरूपा है और 'आत्मा' कही जाती है। उसे ही 'त्रिपुरसुन्दरी' कहते हैं।

(११) **'अङ्ग नित्या'**—१५ कलायें हैं १५ नित्यायें हैं १५ तिथियाँ हैं। (अङ्गनित्या) = १५ कलाएँ, १५ नित्यायें, १५ तिथियाँ)

'अङ्गिनित्या' 'अङ्गिनित्या' तो केवल एक है और वह है **'षोडशी'**।

बिम्ब सदैव एक रस, एक समान एवं एकरूप रहा करता है उसमें परिवर्तन (परिवर्धन एवं परिक्षरण, उदय एवं अस्त, क्षीणता एवं वृद्धि आदि) नहीं हुआ करते।

(१८) प्रत्येक कला १६वीं कला (षोडशी) का [illegible]

17:24
hathayogapradipikaya_saha...

कुण्डलिनीशक्तेः स्वरूपविमर्शः

प्राणायामैः कुण्डलिनीप्रबोधो भवति। सा सुषुम्णाद्वारं स्वमुखे निधाय कन्दस्योपरि तिष्ठति। ये योगिनः कन्दस्योदूर्ध्वं प्रसुप्ता कुण्डलिनीशक्तिं प्रबोधयन्ति। त एव मोक्षं लभन्ते। ये च मूढा नोत्थापयन्ति तां ते वन्धे पतन्ति। ये तामुद्बोधयितुं युक्तिं जानन्ति त एव यथार्थं योगविदः सन्ति –

कन्दोर्ध्वं कुण्डलिनीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानं यस्तां वेत्ति स योगविद्॥

सुषुम्णामावेष्ट्य स्वपुच्छं चास्येन सम्यक् निगृह्य नाभेरधोभागे कुण्डलिनी सर्वदा तिष्ठति। अतः पुरुषस्य प्राणः सुषुम्णायां प्रवेष्टुं न शक्नोति, प्राणं ब्रह्मरन्ध्रे नेतुकामः साधको युक्तिभिस्तत्र प्राणं सम्यक् निरूप्य ततः तस्या चालनमत्यावश्यकम्। तथाचोक्तं याज्ञवल्क्यशिक्षायाम् –

शिरां [illegible]
स्वपुच्छमास्येन निगृह्य सम्यक्।
नाभौ सदा तिष्ठति कुण्डली सा
धिया समाधाय निबोधयेत्ताम्॥[1]

अस्या उत्थानं तु उड्डीयान-जालन्धर-मूलबन्धपूर्वकं प्राणायामेन भवति। उड्डीयानमूलबल्धराभ्यामपानवायोरूर्ध्वमाकर्षणं भवति। जालन्धरबन्धेन च प्राणावायोरध आकर्षणं भवति। प्राणापानयोरैक्येन जठरानलमत्यन्तं प्रदीप्तं भवति। तद्रुष्णतया व्याकुला कुण्डलिनी सरला सती सुषुम्णामुखं प्रविश्य यथा दण्डेनाभि-

---

[1] याज्ञवल्क्यशिक्षा 19

INTERNET ARCHIVE 25

सुषुम्ना नाड़ी का द्वार अवरुद्ध किये होती है। प्राणायाम क्रिया के द्वारा यह अवरोध हटाकर सुषुम्ना को गतिशील बनाना होता है।

> इडानाड़ी स्थिता वामे पिंगला दक्षिणा मता।
> तयोर्मध्यगता नाड़ी सुषुम्ना वंशमाश्रिता: ।।
> (मेरुदण्डे स्थिता)

दूसरे शब्दों में शिव (ब्रह्म या परमात्मा) का स्थान ब्रह्मरन्ध्र में है और शक्ति (कुण्डलिनी) का स्थान मूलाधार मे है। शिव और शक्ति का मिलन अर्थात् कुण्डलिनी को जागृत कर सुषुम्णा नाड़ी द्वारा उसे ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना ही कुण्डलिनी जागृत करना और समाधि प्राप्त करना है।

स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार कुण्डलिनी का स्थान "गुदाद्वार के ऊपर पेड़ू के पास एक त्रिकोणाकार ततुजाल (मूलाधार चक्र) तीन ग्रंथियों का है, इन ग्रंथियों से सुषुम्णा नाड़ी अवरुद्ध रहती है। इस ग्रंथि का भेदन कठिन है और इस क्रिया मे अत्यन्त पीड़ा तथा अन्य उपसर्ग भी सम्भव है।"

इन ग्रंथियों से सुषुम्णा नाड़ी को खोलना ही योग साधना का प्रमुख लक्ष्य है। प्राणायाम के द्वारा वायु खींचकर शरीर के ऊर्ध्वभाग को सिकोड़े और वायु को नीचे की ओर धकेले। नीचे की ओर (अपान वायु) जाती हुई वायु को भी अधोभागों को भी सिकोड़कर रोके रहे। इस प्रकार वायु को मूलाधार की ओर केन्द्रित करे, इस प्रकार की क्रिया से प्राण और अपान वायु के संघर्ष से, दबाव से जो ताप उत्पन्न होगा उससे प्रसुप्त कुण्डलिनी के आवेष्टन ढीले पड़ जायेंगे और वह सक्रिय तथा जागृत हो उठेगी तथा सुषुम्णा का मुख खुल जायेगा और सुषुम्णा के माध्यम से चित्रिणी नाड़ी के सहारे कुण्डलिनी ऊपर को गतिमान होकर ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुंचेगी। यह साधना अत्यन्त दुष्कर है, सहसा इसमें सफलता मिलना सम्भव नहीं है। इस क्रिया में प्राण वायु को इडा, पिंगला नाड़ियों से हटाकर सुषुम्णा नाड़ी के माध्यम से (जो मेरुदण्ड में है) ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना होता है। इस क्रिया में 'जलंधर' और 'मूलबन्ध' आसनों का प्रयोग होता है। तात्पर्य यह है कि प्राण और अपान वायु के मिलने से जो आन्तरिक ताप बनता है उससे ठीक ऐसी स्थिति बनती है जैसे कि खाली नली में नीचे ऊपर दोनों ओर से बन्द किया जाय और मध्यस्थ वायु को निकलने न दिया जाय, वह वायु गरम होकर कहीं भी बाहर निकलने का प्रयास करेगी और बन्द में कोई छोटा सा छिद्र होगा तो उसी पर दबाव पड़ेगा। इसी प्रकार प्राण व

Mantra Shastra Sadhana Aur Sidhiyaan
Rakesh sanatani
27.12.21 at 11:34

17:36

लाभ

1. कपालभाती के अभ्यास से मस्तिष्क के अग्रिम भाग का शोधन होता है।
2. मन को विश्राम मिलता है।
3. शरीर तथा मन को अतिरिक्त ऊर्जा प्राप्त होती है।
4. यदि मस्तिष्क में कोई रक्त अवरोध होता है तो वह दूर हो जाता है।
5. ध्यान की शक्ति बढ़ जाती है।

(3) भस्त्रिका प्राणायाम

इस प्राणायाम के अभ्यास से शरीर को अधिकाधिक प्राणवायु प्राप्त होती है किसी सुखकारी आसन में बैठकर सिर तथा मेरूदण्ड को सीधा करके आंखे बंद करते हैं तथा कुछ समय के लिए विश्राम करते हैं। फिर दाहिने नासिका छिद्र को दाहिने हाथ के अंगूठे से बंद करते हैं और बाये छिद्र से 20 बार गहरी श्वास लेते तथा निकालते हैं। अन्त में पूरी शक्ति से श्वास खींचते हैं तथा बायां नासिका छिद्र तीसरी अंगुली से बंद कर लेते हैं। फिर तीनों बंध जालंधर उड्डियान तथा मूलबंध लगाते हैं। जब तक सम्भव होता है, श्वास रोकते है, अर्थात् कुम्भक करते हैं। फिर बंध खोलते है। तत्पश्चात् श्वास बाहर निकालते है। यही क्रिया दूसरे नासिका छिद्र से करते हैं। यह एक होता है। कम से कम 5 अभ्यास करना चाहिए।[62]

61 विश्वनाथन, योग विज्ञान, अन्नामलाई बिपिन, पृ0 सं0 18
62 वही, पृ0 सं0 19

लाभ

1. इस प्राणायाम से इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाड़ियाँ होती हैं।
2. फेफड़ों की सफाई होती है।
3. कंठ की सफाई होती है, तथा कफ निकल जाता है।
4. मन को शान्ति मिलती है।
5. स्नायु संस्थान को अतिरिक्त ऊर्जा मिलती है।
6. यह दमा तथा क्षयरोग में औषधि का काम करता है।

4. उज्जायी प्राणायाम

प्राणायाम की स्थिति में बैठकर चेहरे को थोड़ा नीचे की ओर झुकाते हैं। फिर जीभ को तालू की ओर अंदर मोडते हैं। श्वास लेने की गति धीमी रखते हैं तथा श्वास में छोटे बच्चों के कोमल खर्राटे की सी आवाज आती है। ऐसा

4. शक्तिचालिनी मुद्रा-

सिद्धासने पद्मासने वा स्थित्वा करतलौ पृथिव्यां स्थापयेत् तदनन्तरं शनै-शनै पृथ्वीतः किञ्चिदुपरि वारं

---

1. क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।।
ह.प्र. 3/17

वारमुत्थाय करतलयो नितम्बभागस्य ताडनं विदध्यात् । तत् पश्चात् मूलबन्धं विधाय वामनासिकया दक्षिणनासिकया वा यतः स्वरस्य प्रवाहो भवेत् तथैव नासिकया पूरकं कृत्वा प्राणवायुम - पानेन योजयेत् जालन्धरबन्धञ्च कृत्वा यथाशक्तिः कुम्भकं कुर्यात् तथा कुम्भकावस्थायामेव अश्विनीमुद्रया गुह्यांगस्य गुह्यप्रदेशस्य वा आकर्षणविकर्षणं कुर्वन् तिष्ठेत् तत्पश्चात् जालन्धरबन्धं निवृत्यो भाभ्यां नासापुटाभ्यां शनैःशनैः वायुं रेचयेत् [1]।

घेरण्डसंहितायां—

—हठयोगप्रदीपिकायाञ्चैतद् मुद्राविधानसमये चतुरंगुलदीर्घ वितस्ति प्रमाण विस्तृतं कोमलं श्वेतं सूक्ष्मवस्त्रखण्डं कटिसूत्रेण कटिप्रदेशे बध्नीयात् तथा समग्रशरीरोपरि भस्मलेपनं कुर्यादित्युक्तम् [2]।

---

1. क- आधार कमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुनारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालन मुद्रेयं सर्वशक्ति प्रदायिनी ॥
शि. सं. 4/105

ख. सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ।।
ह. प्र. 3/114

2. ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम्

20:59
Shri Tantraloka Hindi Transl...

विषय आ गये हैं। प्रत्येक खण्ड के अनुसार वे श्लोक संख्या के साथ क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. प्रथम भाग आ०—१. विज्ञान भेद श्लोक सं० ३३३, २. अनुपाय विज्ञान [५०] और ३. शाम्भवोपाय [२९३]

२. द्वितीय भाग—४. शाक्तोपाय [२७८], ५. आणवोपाय [१५८]
६. कालतत्त्व [२५१], ७. चक्रोदय [७१]

३. तृतीय भाग—८. देशाध्वा [४५२], ९. तत्त्व स्वरूप [३१४]

४. चतुर्थ भाग—१०. तत्त्वभेद [३०९], ११. कलाध्वा [११८]
१२. अध्वोपाय [२६], १३. शक्तिपात [३६१]

५. पञ्चम भाग—१४. दीक्षा [४६], १५. समयदीक्षा [६१३]

६. छठाँ भाग—१६. प्रमेय [३११], १७. नर-शक्ति-शिव सन्दर्भ में जननादिसमन्विता विक्षिप्त दीक्षा [ः२२]
१८. संक्षिप्त दीक्षा [११], १९. सद्यः उत्क्रान्ति [५६]
२०. तुला दीक्षा [१५], २१. परोक्ष दीक्षा [२१]
२२. लिङ्गोद्धार [४८], २३. अभिषेक [१०३]
२४. अन्त्येष्टि दीक्षा [२४], २५. श्राद्ध [२९]
२६. शेषवृत्ति [स्थण्डिलयाग ७६] २७. लिङ्गार्चा [५९]

७. सातवाँ भाग—२८. पर्वपवित्रकादिविधि [४३४],
२९. रहस्य विधि [२९१]

८. आठवाँ भाग—३०. मन्त्र विद्या [१२३], ३१. मण्डल सद्भाव [१६३]
३२. मुद्रा [६७], ३३. एकीकार [३२]
३४. स्वस्वरूपप्रवेश [४], ३५. शास्त्रमेलन [४४]
३६. आयातिक्रम [१६], ३७. शास्त्र प्रयोजन एवम् स्वात्मेतिवृत्त [८५]

इसके अतिरिक्त इस भाग में, जयरथकृत 'तन्त्रोच्चय' नामक लघुकाय ग्रन्थ और अभिनवविरचित एवं प्राप्त बारह स्तोत्र भी अर्थ सहित मुद्रित हैं। इससे इस भाग की उपयोगिता और बढ़ गयी है।

इस तरह आठ भागों में ३७ आह्निकों के ३७ प्रमुख विषयों और असंख्य अवान्तर विषयों को ५०८७ श्लोकों के माध्यम से शास्त्रकार ने व्यक्त किया है। इस पर भाषाभाष्य का यह सारस्वत महाप्रयास इसमें रूपायित है। पाँच हजार पृष्ठों में प्रकाशित यह आगमोपनिषद् संस्कृत वाङ्मय का विश्वकोश है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस महान् आकर ग्रन्थ का स्वाध्याय करने वाला, अवश्य शैवमहाभाव के ध्रुव धाम में अधिष्ठित हो जाता है यह ध्रुव सत्य है।

व्याख्या—योगी को किसी अन्य उपाय से सिद्धि न मिलने की दशा में उसे पूरक प्राणायाम के अन्त में जालन्धर बन्ध (इसे आसन प्रकरण में कहा जा चुका है) की क्रिया का अवलम्बन करना उचित है। कुम्भक प्राणायाम के शेषावसान में तथा रेचक प्राणायाम की प्रारम्भिक अवस्था में

उड्डीयान बन्ध (इसे भी आसन प्रकरण में कहा गया है) करने से अवश्य ही सफलता मिलती है ॥४५॥

अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥४६॥

श्लोकार्थ—कंठप्रदेश को संकुचित करने तथा नीचे के प्रवेश से आकुंचन होने पर मध्यभाग में पश्चिमतान से प्राणवायु ब्रह्मनाड़ी में प्रवेशित हो जाता है ॥४६॥

व्याख्या—जालन्धरबन्ध करने के पश्चात् तत्काल ही उड्डीयान बन्ध करने से प्राण ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है। यहाँ ध्यातव्य बात यह है कि यदि गुरुमुख से जिह्वाबन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लिया गया हो तो जिह्वाबन्ध करने के पश्चात् जालन्धर बन्ध के द्वारा प्राणायाम की सिद्धि मिल जाती है। इसके अनन्तर मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध आदि करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि मूलबन्ध की क्रिया उचित रीति से निष्पन्न हो जाय तो धातुवर्धन, मलशोधन तथा क्षुधाग्नि का दीपन होता है, किन्तु इसकी विपरीतावस्था में धातुक्षीणता, अग्निमांद्य तथा बकरी के मल (लेंड़ी, गाँठदार मल) के समान मल निकलता है ॥४६॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत्।
योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्दवयो भवेत् ॥४७॥

श्लोकार्थ—अधोवायु को ऊपर की ओर उत्थित कर प्राणवायु को कंठनली से नीचे ले जायँ। ऐसा करने पर योगी वृद्धत्व से रहित होकर षोडशवर्षीय अवस्था वाला बन जाता है ॥४७॥

व्याख्या—अधोवायु को उत्थित कर कंठप्रदेश के बीच में प्राणवायु को स्थापित कर देने वाला योगी वृद्धावस्था से रहित हो जाता है और वह षोडशवर्षीय दिखाई पड़ने लगता है। जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध कर लेने पर उड्डीयान बन्ध स्वयं ही हो जाता है ॥४७॥

Add a review

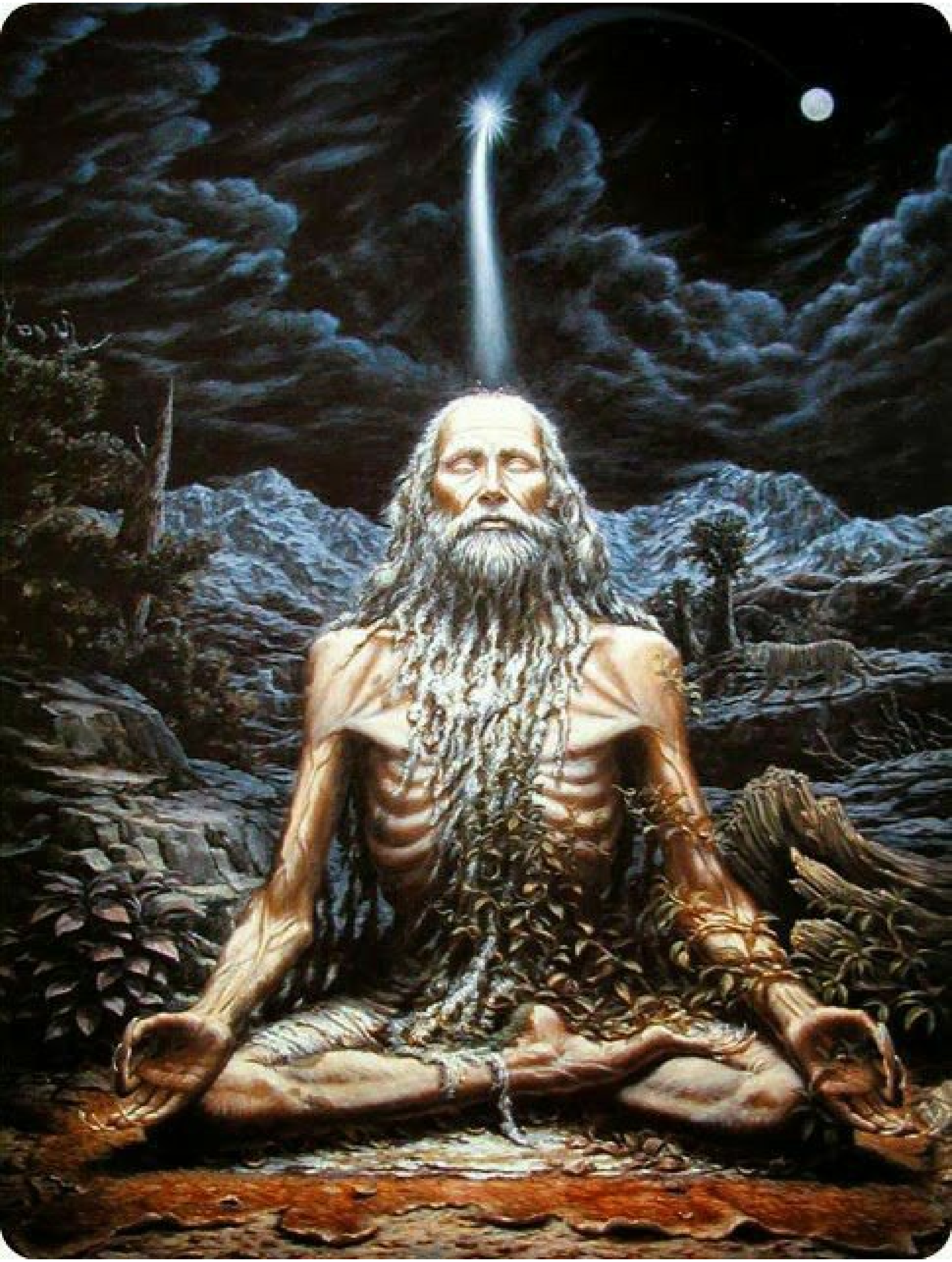

कुण्डलिनी जागरणम् -:

योगी मते साधारण मानवस्य कुण्डलिनी प्राय: सुप्ता एव वर्तते । अनेनैव कारणेन स अज्ञानी एवं अल्पज्ञ अल्प शक्तिमान् अस्ति ।

कुण्डलिनी जागरणं कृत्वा इमां सहस्त्रारे स्थाप्य मनुष्य: सर्वदा सर्वथा भव बन्धनात् मुच्यते ।

विधि:-

योगशास्त्रे कुण्डलिनी जागरणाय विविधानाम् प्रक्रियाणां उपदेश: विद्यते । विधिपूर्वकेण प्राणायामाभ्यासेन यदा अपानवायु: अधर्वगत्य वन्हि स्थानं प्राप्नोति तदा तस्य प्रभावेन अग्ने: तीव्रत्वम् वर्धते । अनेन अग्निना संतप्य सुप्ता कुण्डलिनी जागरिता भवति । तथा च दण्ड प्रहारवत्य: सर्पिणीवत् फूत्कारं कृत्वति सरला भवति । तदा सा सर्पिणी बिल प्रवेशवत् सुषुम्नाया: अभ्यन्तरे प्रयाति अनेन प्रकारेण सुषुम्नाया: मुखं अनावृतम् भवति । अयं क्रमात् ब्रह्म विष्णु, रूद्र ग्रन्थिनाम भेत्ता भवति ।

उपाया:

1. हठयोगान्तर्गते सर्वप्रथमं नाडी शोधनाभ्यास: भस्त्रिका तथा शक्तिचालनी मुद्रा कुण्डलिनी जागरणाय विशेषमहत्वं धत्ते । हठयोगस्य आसाम् क्रियाणाम उद्देश्य: मूलाधार चक्रे प्राणाधात करणं भवति तदुष्णेन तदुष्णताया: कुण्डलिनी कुण्डलाकृतिम् विहाय ऋजुरूपेण स्थिता भवति । तदा फूंकार कृत्वति सति सुषुम्नाविवेर प्रविशति ।

2. ## राजयोगद्वारेण -

राजयोगपद्धतौ साधक: सर्वप्रथमं मूलाधारादिषु चित्तं एकाग्रं कुर्वन् तस्य चक्रस्य अधिष्ठातृदेवं ध्यायति । तस्य संकल्पेन अथवा अनुग्रहेण महा - शक्ति:जागर्ति । ध्यानेन सहैव अजपा विधिना मूलाधारात् सहस्त्रार पर्यन्तम् प्राणगति:चालयन्ति । येन मूलाधारे घर्षणं भवति तदा सा जागृत उर्ध्वगामिनी भवति । मूलाधारे चित्तैकाग्रे सति प्राणा एकत्र भवन्ति । फलत: कुण्डलिनी जागरणं भवति ।

मुद्रा

१ *खेचरी मुद्रा*—जीभको ऊपरकी ओर उलटी ले जाकर तालु-कुहर (जीभके ऊपर तालुके बीचका गढ़ा) में लगाये रखनेका नाम खेचरी मुद्रा है। इसके निमित्त जिह्वाको बढ़ानेके तीन साधन किये जाते हैं—छेदन, चालन और दोहन।

पहिला साधन—छेदन—जीभके नीचेके भागमें सूताकारवाली एक नाड़ी नीचेवाले दाँतोंकी जड़के साथ जीभको खींचे रखती है। इसलिये जीभको ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ीके दाँतोंके निकटवाले एक ही स्थानपर स्फटिक (बिल्लौर) का धारवाला टुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पाँच बार फेरते रहें। कुछ दिनोंतक ऐसा करनेके पश्चात् वह नाड़ी उस स्थानमें पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थानको जिह्वामूलतक काटते चले जायँ। स्फटिक फेरनेके पश्चात् माजूफलका कपड़छान चूर्ण (Tarin acid टेरिन ऐसिड) जीभके ऊपर-नीचे तथा दाँतोंपर मलें और उन सब स्थानोंसे दूषित पानी निकलने दें। माजूफल-चूर्णके अभावमें अकरकरा, नून, हरीतकी और कत्थेका चूर्ण छेदन किये हुए स्थानपर लगावें। यह छेदन-विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकारकी हानि

पहुँचनेकी सम्भावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदनका कार्य किसी धातुके तीक्ष्ण यन्त्रसे प्रति आठवें दिन उस शिराको बालके बराबर छेदकर घावपर कत्था और हरड़का चूर्ण लगाकर करते हैं। इसके छेदनके लिये नाखून काटनेवाला-जैसा एक तीक्ष्ण यन्त्र और खाल छीलनेके लिये एक दूसरे यन्त्रकी आवश्यकता होती है, जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ीके सम्पूर्ण अंशके एक साथ कट जानेसे वाक् तथा आस्वादन-शक्तिके नष्ट हो जानेका भय रहता है। इसलिये इसे किसी अभिज्ञ पुरुषकी सहायतासे करना चाहिये। छेदनकी आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और यह नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लम्बी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदनकी अधिक आवश्यकता नहीं है।

दूसरा एवं तीसरा साधन—चालन व दोहन—अँगूठे और तर्जनी अँगुलीसे अथवा बारीक वस्त्रसे जीभको पकड़कर चारों तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खींचनेको चालन कहते हैं। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे जीभका गायके स्तनदोहन-जैसे पुनः-पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करनेकी क्रियाका नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे अन्तिम अवस्थामें जीभ इतनी लम्बी हो सकती है कि नासिकाके ऊपर भ्रूमध्यतक पहुँच जाय। इस मुद्राका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यानकी अवस्था परिपक्व करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वाओंके भी नाना प्रकारके भेद देखनेमें आये हैं। किसी जिह्वामें सूताकार नाड़ीके स्थानमें मोटा मांस होता है, जिसके काटनेमें अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वामें न यह नाड़ी होती है, न मांस। उसमें छेदनकी आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिये।

२ *महामुद्रा*—मूलबन्ध लगाकर बायें पैरकी एड़ीसे सीवन (गुदा और अण्डकोषके मध्यका चार अंगुल स्थान) दबाये और दाहिने पैरको फैलाकर उसकी अँगुलियोंको दोनों हाथोंसे पकड़े। पाँच घर्षण करके बायीं नासिकासे पूरक करे और जालन्धर-बन्ध लगाये। फिर जालन्धर-बन्ध खोलकर दाहिनी नासिकासे रेचक करे। यह वामाङ्गकी मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दक्षिणाङ्गमें इस मुद्राको करना चाहिये।

दूसरी विधि—बायें पैरकी एड़ीको सीवन (गुदा और उपस्थके मध्यके चार अंगुल भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैरको लंबा फैलावे। फिर शनैः-शनैः पूरकके साथ मूल तथा जालन्धर-बन्ध लगाते हुए दायें पैरका अँगूठा पकड़कर मस्तकको दायें पैरके घुटनेपर जमाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय पूरक की हुई वायुको कोष्ठमें शनैः-शनैः फुलावे और ऐसी भावना करे कि प्राण कुण्डलिनीको जाग्रत् करके सुषुम्णामें प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तकको घुटनेसे शनैः-शनैः रेचक करते हुए उठाकर यथास्थितिमें बैठ जाय। इसी प्रकार दूसरे अङ्गसे करना चाहिये। प्राणायामकी संख्या एवं समय बढ़ाता रहे।

फल—मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि उदरके रोगों तथा प्रमेहका नाश, क्षुधाकी वृद्धि और कुण्डलिनीका जाग्रत् होना।

३ *अश्विनी मुद्रा*—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर योनिमण्डलको अश्वके सदृश पुनः-पुनः सिकोड़ना अश्विनी मुद्रा कहलाती है।

फल—यह मुद्रा प्राणके उत्थान और कुण्डलिनी शक्तिके जाग्रत् करनेमें सहायक होती है।

सूक्ष्म, सात्त्विक, शुद्ध, स्वस्थ, नीरोग, आसनको दृढ़ और ध्यानको स्थिर करने तथा कुण्डलिनीको जाग्रत् करनेवाले कुछ उपयोगी बन्ध-मुद्राएँ और आसन बतलाये देते हैं—

१ मूल-बन्ध—मूल गुदा एवं लिङ्ग-स्थानके रन्ध्रको बंद करनेका नाम मूल-बन्ध है। वाम पादकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ़ लगाकर गुदाको सिकोड़कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिङ्ग एवं कन्दके बीचके भागको दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपानवायुको बलके साथ धीरे-धीरे ऊपरकी ओर खींचनेको मूल-बन्ध कहते हैं। सिद्धासनके साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनोंके साथ एड़ीको सीवनीपर बिना लगाये हुए भी मूल-बन्ध लगाया जा सकता है।

फल—इससे अपानवायुका ऊर्ध्व-गमन होकर प्राणके साथ एकता होती है। कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपरकी ओर चढ़ती है। कोष्ठबद्ध दूर करने, जठराग्निको प्रदीप्त करने और वीर्यको ऊर्ध्वरेतस् बनानेमें यह बन्ध अति उत्तम है। साधकोंको न केवल भजनके अवसरपर किंतु हर समय मूलबन्धको लगाये रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

२ उड्डीयान-बन्ध—दोनों जानुओंको मोड़कर पैरोंके तलुओंको परस्पर भिड़ाकर पेटके नाभिसे नीचे और ऊपरके आठ अंगुल हिस्सेको बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़की हड्डीसे) ऐसा लगा दे जिससे कि पेटके स्थानपर गड्ढा-सा दीखने लगे। जितना पेटको अंदरकी ओर अधिक खींचा जायगा उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षीके सदृश सुषुम्णाकी ओर उड़ने लगता है, इसलिये इस बन्धका नाम उड्डीयान रखा गया है। यह बन्ध पैरोंके तलुओंको बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है।

फल—प्राण और वीर्यका ऊपरकी ओर दौड़ना, मन्दाग्निका नाश, क्षुधाकी वृद्धि, जठराग्निका प्रदीप्त और फेफड़ेका शक्तिशाली होना।

३ जालन्धर-बन्ध—कण्ठको सिकोड़कर ठोडीको दृढ़तापूर्वक कण्ठकूपमें इस प्रकार स्थापित करे कि हृदयसे ठोडीका अन्तर केवल चार अंगुलका रहे, सीना आगेकी ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठस्थानके नाडी-जालके समूहको बाँधे रखता है, इसलिये इसका नाम जालन्धर-बन्ध रखा गया है।

फल—कण्ठका सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कण्ठके सङ्कोचनद्वारा इड़ा, पिङ्गला नाड़ियोंके बंद होनेपर प्राणका सुषुम्णामें प्रवेश करना।

लगभग सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्धके साथ किये जाते हैं।

राजयोगमें ध्यानावस्थामें जालन्धर-बन्ध लगानेकी बहुत कम आवश्यकता होती है।

४ महाबन्ध—पहली विधि—बायें पैरकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें जमाकर बायीं जङ्घाके ऊपर दाहिने पैरको रख, समसूत्रमें हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्रसे वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे। फिर मूलद्वारसे वायुका ऊपरकी ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगावे। मनको मध्य नाड़ीमें लगाये हुए यथाशक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् पूरकके विपरीतवाली नासिकासे धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार दोनों नासिकासे अनुलोम-विलोम-रीतिसे समान प्राणायाम करे।

दूसरी विधि—पद्म अथवा सिद्धासनसे बैठ, योनि और गुह्यप्रदेश सिकोड़, अपानवायुको ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान-वायुके साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायुको अधोमुख करके प्राण और अपानवायुओंके साथ नाभिस्थलपर दृढ़रूपसे कुम्भक करे।

फल—प्राणका ऊर्ध्वगामी होना, वीर्यकी शुद्धि, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णाका सङ्गम प्राप्त होना, बलकी वृद्धि इत्यादि।

५ महावेध—पहली विधि—महाबन्धकी प्रथम विधिके अनुसार मूलबन्धपूर्वक कुम्भक करके, दोनों हाथोंकी हथेली भूमिमें दृढ़ स्थिर करके, हाथोंके बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों (चूतड़) को शनैः-शनैः ताड़ना देवे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इड़ा, पिङ्गलाको छोड़कर कुण्डलिनी शक्तिको जगाता हुआ सुषुम्णामें प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायुको शनैः-शनैः महाबन्धकी विधिके अनुसार रेचन करे।

दूसरी विधि—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठे, अपान और प्राणवायुको नाभिस्थानपर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथोंको तानकर नितम्बों (चूतड़ों) से मिलते हुए भूमिपर जमाकर नितम्ब (चूतड़) को आसनसहित उठा-उठाकर भूमिपर ताड़ित करते रहें।

फल—कुण्डलिनी शक्तिका जाग्रत् होना, प्राणका सुषुम्णामें प्रवेश करना। महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा—तीनोंको मिलाकर करना अधिक फलदायक है।

मुद्रा

अपानवायुको शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओंको मजबूत करती है।

४ शक्तिचालिनी मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर हाथोंकी हथेलियाँ पृथ्वीपर जमा दे। बीस-पचीस बार शनैः-शनैः दोनों नितम्बोंको पृथ्वीसे उठा-उठाकर ताड़न करे। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओंसे अथवा वामसे अथवा जो स्वर चल रहा हो उस नासिकासे पूरक करके प्राणवायुको अपानवायुसे संयुक्त करके जालन्धर-बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय अश्विनीमुद्रा करे अर्थात् गुह्यप्रदेशका आकर्षण-विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर यदि दोनों नासिकापुटसे पूरक किया हो तो दोनोंसे अथवा पूरकसे विपरीत नासिकापुटसे रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रतापूर्वक बैठ जाय।

घेरण्डसंहितामें इस मुद्राको करते समय बालिश्त-भर चौड़ा, चार अंगुल लम्बा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभिपर कटिसूत्रसे बाँधकर सारे शरीरपर भस्म मलकर करना बतलाया है।

फल—सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्द्धक होनेके अतिरिक्त कुण्डिलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें अत्यन्त सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करें।

५ योनिमुद्रा—सिद्धासनसे बैठ सम-सूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे दोनों नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे नाकके छिद्रोंको बंद करके और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठकाओंको दोनों ओठोंके पास रखकर काकीमुद्राद्वारा अर्थात् जिह्वाको कौएकी चोंचके सदृश बनाकर उसके द्वारा प्राणवायुको खींचकर अधोगत अपानवायुके साथ मिलावे। तत्पश्चात् ओ३म्का जाप करता हुआ ऐसी भावना करे कि उसकी ध्वनिके साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनीको जाग्रत् करके षट्चक्रोंका भेदन करते हुए सहस्रदल-कमलमें जा रही है। इससे अन्तर्ज्योतिका साक्षात्कार होता है।

६ योगमुद्रा—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठकर प्रथम दोनों नासिकापुटोंसे पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे, तत्पश्चात् दोनों हाथोंको पीठके पीछे ले जाकर बायें हाथसे दायें हाथकी और दायें हाथसे बायें हाथकी कलाईको पकड़े, शरीरको आगे झुकाकर पेटके अंदर एड़ियोंको दबाते हुए सिरको जमीनपर लगा दे। इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करनेके पश्चात् सिरको जमीनसे उठाकर जालन्धर-बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओंसे रेचन करे।

फल—पेटके रोगोंको दूर करने और कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें सहायक होती है।

७ शाम्भवी मुद्रा—मूल और उड्डीयान-बन्धके साथ सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर नासिकाके अग्रभाग अथवा भ्रूमध्यमें दृष्टिको स्थिर करके ध्यान जमाना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है।

८ तड़ागी मुद्रा—तड़ाग (तालाब) के सदृश कोष्ठको वायुसे भरनेको तड़ागी मुद्रा कहते हैं। शवासनसे चित्त लेटकर जिस नासिकाका स्वर चल रहा हो उससे पूरक करके तालाबके समान पेटको फैलाकर वायुसे भर ले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायुको पेटमें इस प्रकार हिलावे जिस प्रकार तालाबका जल हिलता है। कुम्भकके पश्चात् सावधानीसे वायुको शनैः-शनैः रेचन कर दे, इससे पेटके सर्वरोग समूल नाश होते हैं।

९ विपरीतकरणी मुद्रा—शीर्षासन=कपालासन—पहिले जमीनपर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उसपर अपने मस्तकको रखे। फिर दोनों हाथोंके तलोंको मस्तकके पीछे लगाकर शरीरको उलटा

ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे। थोड़े ही प्रयत्नसे मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासनके साथ भी की जा सकती है। इसको ऊर्ध्व-पद्मासन कहते हैं। आरम्भमें इसको दीवारके सहारे करनेमें आसानी होगी।

फल—वीर्यरक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्निका बलवान् होना, प्राणकी गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिरदर्द आदिका दूर होना, रक्तका शुद्ध होना और कफके विकारका दूर होना।

१० वज्रोली मुद्रा—मूत्रत्यागके समय कई बार मूत्रको बलपूर्वक ऊपरकी ओर आकर्षित करे। ऐसा

के जानने वाले श्रीगुरू रामजी मुनिश्वर लोगों ने सुषुम्ना का पूर्वमार्ग कहा है। और कोई–कोई इसे बंकनाल मार्ग भी कहते है। इस मार्ग से अन्तकाल में प्राणों को

छोडने से योगी लोग जन्म मरण से, संसार बन्धनों से मुक्त हो जाते है।

अब श्रीगुरू रामकृपा से सुषुम्ना का जवन दुसरा मार्ग है। तवन को पश्चिम मार्ग कहते है। तिसको खोलने की विधि निरूपण करते है। जिस करके मेरूदंडमें प्राण प्रवेश होते हुए ब्रह्मरंध्र में जाकर लीन होते है।

अब पूर्वोक्त रीतिसे थोडा भस्रिका करके प्राणवायु को एक नासापुटसे रेचन करो और तिसको बाहर ही रोक करके जल्दी से उड्डियान बन्ध करो। अब उड्डियान बंध करने के साथ नाभी को ऐसा जोर से पीछे को तानों, जिसमें नाभी और मेरूदंड एक हो जावें। फिर जल्दी से बाहर के प्राण को पूरक करके कुम्भक करो और तिस काल में मन से भी चिंतवन करो की यह प्राण मेंरूदंड में चढ रहा है। कुछ दिन तक ऐसा ही अभ्यास करते रहने से योगी के प्राण मेरूदंड में गमन कर जाते है। जैसे की बाहर के छिद्र में वायु प्रवेश करती है। फिर दिन–दिन क्रम पूर्वक अभ्यास करने से मेरूदंड में मार्ग की गांठों की ग्रंथीयों के समुह को साफ करता हुआ प्राण उपर को गमन करता है। फिर

दिन–दिन क्रम से अभ्यास करने से योगी के मेरूदंड में मार्ग की सब गांठों को साफ करता हुआ उपर–उपर को गमन कर रहे है। जिस काल में चींटी के चालसे शरीर पर चढने से स्पर्श मालूम हो तब जानना की उपर को चढ रहा है। जिस काल में मेरूदंड में प्राण ब्रह्मरंध्र में पहूँच जावे तो फिर आप निरन्तर अभ्यास के बल से तिसको तहाँपर पूर्ण करो और अभ्यास करने में आलस मत करो।

श्रीगुरू रामकृपा से आज्ञानुसार अभ्यास को खुब सावधानी से अधिक–अधिक बढाते जावो। अब

...की योग्यता कुशल नहीं।

ताते उसे जगाने की सर्व प्रकार से युक्ति श्रीराम कृपा से निरूपण करता हूँ। प्रथम तो मूलबन्ध दूसरा उड्डियान बन्ध, तीसरा जालंधर बन्ध। यह तीन प्रकार के बन्ध ब्रह्मकुंडलिनी को जगाने में हेतु है। सिद्धासन पर बैठकर के आधार चक्र को आकुंचन करके जोर से अपान वायु को उपर की तरफ खेंचे। इसको मूलबन्ध कहते है। पेट की नाभी को बार–बार पीठ की तरफ को जोर से तानने से जालंधर बन्ध होता है।

ये तीन प्रकार के बनध योगाभ्यास में योग्य श्री संत गुरूजनों ने निरूपण किया है और कुंडलिको शीघ्र ही जगाकर प्राणों को ब्रह्मरंध्र में पहुंचाती है। अब इन बन्धों को भलिप्रकारसे जानने से ताके पिछे तुम कुंडलिनी को जागृत करो। जिसके जगाने से षट्चक्रों का तथा मेरूदंड की सर्व गांठी का बन्धन कट जाता है।

Scan

अब पहले के रित से थोडासा भस्रिका करके प्राणवायु को रेचन करो और उड्डियान करने के मोकामें जोर से अपान वायु को उपर की तरफ खिंचो। और तुरन्त ही बाहिरवाले प्राण को पूरक कर लो और अपनी शक्तिनुसार रोक, कुम्भक करके फिर रेचन कर दो। इसी तरह से चतुर पुरूष ने सिद्धासन पर बैठकर सायंकाल और प्रातःकाल में बराबर क्रम से वाम नासापुट और दक्षिण नासापुटसे चार घटिका तक साधक पुरूष को नित्य अभ्यास करना चाहिए। ये अब उड्डियान बन्ध को करने से मूलबन्ध स्वतः आप ही हो जाता है। क्योंकि जैसे मूलबन्ध से अपान का उपर को आकर्षण होता है तैसे ही उड्डियान बन्ध में नाभी के तरफ तानने में अपान का आकर्षण होता है। सो जिससे अपान वायु उपर को प्राण के घर में जाता है और फिर प्राण का पूरक करके कुम्भक करने से प्राण वायु नीचे को अपान के घर में जाता है। इसी प्रकार से प्राण और अपान दोनों के रगडने से शरीर के मध्य रहनेवाली अग्नी की वृद्धि होती है। और तवने अग्नी के तापसे और प्राणों के रगडने से जैसे दंड लगाने से सर्पिणी अपनी कुंडल छोडकर सीधी हो जाती है। तैसे जागी भई कुंडली

Scan

स्फुरन्नपि कस्तूरिकाकणवत् तत्रापि तावत्यंशे संकुचिताशेषविश्वात्मतया भाति । तदभिप्रायेणैव च विततविततमूर्तिवैचित्र्यात्मा पूर्वं षड्विधाध्वविभागः प्राणस्थित

जब चित्प्रकाश ही गौण हो जाता है और शून्य ही प्रधान बन जाता है । तब वही शक्ति माया कहलाती है । यह विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल के साथ ही इनके प्रमेयों के संकोच-प्रपञ्चों की प्रदर्शिका कहलाती है । इसके द्वारा जिस संकोच का प्रदर्शन किया जाता है, वही शून्य प्रमाताओं में निमग्न विमर्श शक्ति मानी जाती है । यह शक्ति जब व्यक्तिरिक्त मेय भाव के ग्रहण में उन्मुख होती है, उसी समय यह प्राण रूप से स्फुरित होती है । यद्यपि यह शून्य प्रमाताओं में निहित और व्यतिरिक्त मेय भावों की ओर ग्रहणार्थ उन्मुख होती है तभी प्राण रूप से स्फुरित हो पाती है । यह रहस्य है ।

प्राण रूप से स्फुरित इस विमर्श शक्ति में कस्तूरी के गन्धकणों के समान उसी प्राण रूप विमशर्शि में संकुचित संपूर्ण विश्व के रूप में आभासित होती है । यही संवित् शक्ति का संकोच है । प्राण के प्राणांश में संकुचित विश्व रूप में भासित होती है । इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि, यह वितत वितत रूपों में व्यक्त विचित्रताओं से भरा छः अध्वाविभाग इसी प्राण में अवस्थित है ।

एक ही प्राणोच्चार में नालिका के माध्यम से ६० वर्षों का समय व्यतीत हो जाता है । यह विषय इसी ग्रन्थ के एकादश पटल में विस्तार पूर्वक वर्णित है । वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, मनुष्य के आयुष्य काल से लेकर अनाश्रित पर्यन्त इस विश्व की आयु का परिमाण क्या है ? इसमें विविध वैचित्र्य का कैसा चमत्कार भरा हुआ है ।

इत्युक्तम् । इह चैकत्रैव प्राणोच्चारे नालिकातः प्रभृति षष्ट्यब्दोदयान्तम्, एकादशपटले च मानुषायुष्कालात्प्रभृति अनाश्रितान्तस्य विश्वस्य च आयुष्परिमाणमतिविततवितत क्रियाशक्तिवैचित्र्यात्मकमस्ति-इति प्रतिपादयिष्यते । यद्यपि च प्राणभूमिकायामिवात्यन्तसंकुचितशरीराद्यात्मतायामपि परमेश्वरः पूर्णषट्त्रिंशत्तत्त्वस्फाररूप एव यथाप्रतिपादितम्, तथापि 'प्राक् संवित्प्राणे परिणता' इति नीत्या प्राणरूपः परस्याः शक्तेरन्तरङ्गमधिष्ठानम्, तदवरोहक्रमेण भूतभावशरीरावतरणादिति समग्रप्राणप्रसरभित्तिभूतमध्यमप्राणभूमिकाध्यारोहक्रमेणैव परशक्तिपदानुप्रवेशावष्टम्भपूर्वमेव स्वच्छन्दभैरवता अवाप्यते महायोगिभिः । मितयोगिभिश्च तत्तदान्तरकालांशविश्रान्तिपूर्वं विधिमनुतिष्ठद्भिः सा सिद्धिरविघ्नेनासाद्यते । अत एव प्रतिपादितप्रतिपादयिष्यमाणैतच्छास्त्रनिर्दिष्टः संहितान्तरनिर्दिष्टोऽपि वा सर्व

यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि, जिस तरह प्राण भूमिका में परमेश्वर स्फुरित है, उसी तरह अत्यन्त संकुचित शरीरादि भूमिका में भी पूर्ण ३६ तत्त्वों के स्फार में व्याप्त पूर्ण परमेश्वर भरित है । जब आगम कहता है कि, 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' तो उसका तात्पर्य यही होता है कि, प्राण रूप जो पराशक्ति का ही अन्तरङ्ग अधिष्ठान है, वह अवरोध के क्रम से भूतभाव से भावित शरीर में उसी पराशक्ति के प्रभाव से अवतरित है ।

समग्र प्राणप्रसर की भित्ति मध्यम प्राण है । यहाँ से योगी अध्यारोहण

स्फुरन्नपि कस्तूरिकाकणवत् तत्रापि तावत्यंशे संकुचिताशेषविश्वात्मतया भाति । तदभिप्रायेणैव च विततविततमूर्तिवैचित्र्यात्मा पूर्वं षड्विधाध्वविभागः प्राणस्थित

जब चित्प्रकाश ही गौण हो जाता है और शून्य ही प्रधान बन जाता है । तब वही शक्ति माया कहलाती है । यह विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल के साथ ही इनके प्रमेयों के संकोच-प्रपञ्चों की प्रदर्शिका कहलाती है । इसके द्वारा जिस संकोच का प्रदर्शन किया जाता है, वही शून्य प्रमाताओं में निमग्न विमर्श शक्ति मानी जाती है । यह शक्ति जब व्यक्तिरिक्त मेय भाव के ग्रहण में उन्मुख होती है, उसी समय यह प्राण रूप से स्फुरित होती है । यद्यपि यह शून्य प्रमाताओं में निहित और व्यतिरिक्त मेय भावों की ओर ग्रहणार्थ उन्मुख होती है तभी प्राण रूप से स्फुरित हो पाती है । यह रहस्य है ।

प्राण रूप से स्फुरित इस विमर्श शक्ति में कस्तूरी के गन्धकणों के समान उसी प्राण रूप विमशर्शि में संकुचित संपूर्ण विश्व के रूप में आभासित होती है । यही संवित् शक्ति का संकोच है । प्राण के प्राणांश में संकुचित विश्व रूप में भासित होती है । इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि, यह वितत वितत रूपों में व्यक्त विचित्रताओं से भरा छः अध्वाविभाग इसी प्राण में अवस्थित है ।

एक ही प्राणोच्चार में नालिका के माध्यम से ६० वर्षों का समय व्यतीत हो जाता है । यह विषय इसी ग्रन्थ के एकादश पटल में विस्तार पूर्वक वर्णित है । वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, मनुष्य के आयुष्य काल से लेकर अनाश्रित पर्यन्त इस विश्व की आयु का परिमाण क्या है ? इसमें विविध वैचित्र्य का कैसा चमत्कार भरा हुआ है ।

इत्युक्तम् । इह चैकत्रैव प्राणोच्चारे नालिकातः प्रभृति षष्ट्यब्दोदयान्तम्, एकादश-पटले च मानुषायुष्कालात्प्रभृति अनाश्रितान्तस्य विश्वस्य च आयुष्परिमाणमति-विततवितत क्रियाशक्तिवैचित्र्यात्मकमस्ति-इति प्रतिपादयिष्यते । यद्यपि च प्राण-भूमिकायामिवात्यन्तसंकुचितशरीराद्यात्मतायामपि परमेश्वरः पूर्णषट्त्रिंशत्तत्त्वस्फार-रूप एव यथाप्रतिपादितम्, तथापि 'प्राक् संवित्प्राणे परिणता' इति नीत्या प्राण-रूपः परस्याः शक्तेरन्तरङ्गमधिष्ठानम्, तदवरोहक्रमेण भूतभावशरीरावतरणादिति समग्रप्राणप्रसरभित्तिभूतमध्यमप्राणभूमिकाध्यारोहक्रमेणैव परशक्तिपदानुप्रवेशावष्टम्भ-पूर्वमेव स्वच्छन्दभैरवता अवाप्यते महायोगिभिः । मितयोगिभिश्च तत्तदान्तर-कालांशविश्रान्तिपूर्वं विधिमनुतिष्ठद्भिः सा सिद्धिरविघ्नेनासाद्यते । अत एव प्रतिपादितप्रतिपादयिष्यमाणैतच्छास्त्रनिर्दिष्टः संहितान्तरनिर्दिष्टोऽपि वा सर्व

यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि, जिस तरह प्राण भूमिका में परमेश्वर स्फुरित है, उसी तरह अत्यन्त संकुचित शरीरादि भूमिका में भी पूर्ण ३६ तत्त्वों के स्फार में व्याप्त पूर्ण परमेश्वर भरित है । जब आगम कहता है कि, 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' तो उसका तात्पर्य यही होता है कि, प्राण रूप जो परा-शक्ति का ही अन्तरङ्ग अधिष्ठान है, वह अवरोध के क्रम से भूतभाव से भावित शरीर में उसी पराशक्ति के प्रभाव से अवतरित है ।

समग्र प्राणप्रसर की भित्ति मध्यम प्राण है । यहाँ से योगी अध्यारोहण

उड्डीयान बन्ध–

117. वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रीं कुण्डलीमाशु बोधयेत्।।[1]

साधक योगी को चाहिए कि वह वज्रासन जिसे सिद्धासन[2] भी कहते हैं,में बैठकर प्राणायाम क्रिया का अभ्यास प्रारम्भ करे। इसमें सर्वप्रथम कुण्डली संचालन अर्थात् न्योली क्रिया, करे उसके अनन्तर तीनों बन्धों के साथ सूर्यभेद उज्जायी शीतली कुम्भक प्राणायाम करके भस्त्री प्राणायाम करे और इस प्रकार कुण्डलिनी का जागरण करने का प्रयत्न करे, ऐसा करने से कुण्डलिनी जागृत हो जाती है और प्राण ब्रह्मग्रन्थि का भेदन कर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाते हैं। (इस श्लोक में दो बार कुण्डली शब्द का प्रयोग दो भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है, प्रथम कुण्डली शब्द से कुण्डली चालन शब्द) से न्योली (नलों को उठाकर) चलाना अर्थ समझना चाहिए और द्वितीय कुण्डली शब्द से 'कुण्डलिनी', अर्थ लेना चाहिए। ये दोनों भिन्न अर्थ ही यहां प्रसंग के अनुकूल हैं।

The Sadhak should practice pranayam, while sitting in the posture of vajrasana i.e. siddhasana. First of all he should practise the operation of kundali called Neoli kriya. There after he should do pranayam suryabheda Ujjai and sheetali kumbhak pranayam with three bandhs and thus endeavour to awaken his kundalini. The kundalini is awakened by this process and pierces into Brahman-granthi, or sushumna nadi. In this sloka, the term kundalini has been used twice. The connotation of the first term is to operate neoli (to raise the testicles) and the connotation of the other term Kundi is the kundalini. Both these different connotations are within the context.

118. भिद्यन्ते ग्रन्थ श्चास्य तदा लोहशलाकया।
तथैव पृष्ठवंशे स्यात् ग्रन्थिभेदस्तु वा पुनः।[3]

1. तुलनीय यो.शि. 1.112-12
2. वज्रासन या सिद्धासन की जानकारी के लिए 'राजयोग साधना और सिद्धान्त' ग्रन्थ देखें।
3. तुलनीय यो.शि. 1.113-14

फिर मुख बन्द करके कुम्भक करे। फिर शनैः शनैः नासिका के छिद्रों से वायु का रेचन करे। इस कुम्भक करने वाले को गुल्म और प्लीहा अर्थात् तापतिली और पित्त ज्वारादिक रोग नहीं होते हैं। यह मुद्रा भोजन या जल की इच्छा को बढ़ाने वाली है और सर्प के विष की अथवा अन्य विष अर्थात् जहर की शान्ति करने वाली है।

५ भस्त्रिका कुम्भक

भस्त्रिका नाम धौंकनी का है। इसका विधान यह है कि सतर (सीधा) बैठकर दोनों हाथ दोनों जंघाओं के ऊपर रखे और मुख अर्थात् होठों को ऐसा मिलावे कि जिससे हवा होठों में होकर न निकले; फिर नासिका के दोनों छिद्रों से पूरक करे, फिर रेचन करे, इसी प्रकार बारम्बार रेचन और पूरक शीघ्रता के साथ करे, और बीच में दम न लेने पावे। जैसे लुहार लोहे को गरम करता है, और जब लोहा ताव पर आता है उस वक्त अग्नि को इस कदर धोंकता है, कि बीच में दम न ले। वैसे ही जब तक शरीर में परिश्रम होकर थकावट न मालूम हो तब तक पूरक रेचन करे। जब थक जावे तब सूर्यस्वर से पूरक करे फिर कुम्भक करके बन्धपूर्वक चन्द्रनाड़ी से रेचन करे। परन्तु इस जगह कुम्भक करते समय जीमने (दक्षिण) हाथ के अंगूठे से सीधा नासिका का दक्षिण छिद्र बन्द करे, और अनामिका और कनिष्ठिका अंगुली से नासिका का वाम छिद्र बन्द करे। कुम्भक पूर्ण होने के बाद चन्द्रस्वर से रेचन करे, फिर चन्द्रस्वर से ही रेचन और पूरक बारम्बार करे। पिछली रीति के अनुसार पूरक रेचन करते करते थकने लगे तो डाबे (वाम) स्वर से पूरक करे और अना-

मिका और कनिष्ठिका अंगुली से शीघ्र ही बन्द कर ले। कुम्भक पूर्ण होने के पीछे बन्धकपूर्वक अंगूठा हटाकर जीमणे (दक्षिण) स्वर से रेचन करे। फिर उस जीमणी (दक्षिण) नासिका से बारम्बार पहली तरह से रेचन-पूरक करे। जब थकने लगे तब पूरक करे, अंगूठे से छिद्र को बन्द कर ले, और ऊपर लिखी रीति से फिर रेचन करे। इस रीति से इस कुम्भक का वर्णन किया है।

इसका गुण यह है कि वात, पित्त, कफ इन तीनों प्रकार के रोगों को दूर करे और तीनों को समान रखे, और जठराग्नि को दीप्त करे, कुंडली नाड़ी सोती हुई को शीघ्र ही जगा दे। जो पुरुष इसको बारम्बार करेगा, उसको नाना प्रकार की सिद्धियां, और शीघ्रता से प्राणायाम की सिद्धि होगी। शरीर में जो अपानादि वायु है उनको बाहर फेंकना उसका नाम रेचक हैं, और भीतर को ले जाना उसका नाम पूरक है। और यथाशक्ति जो प्राणों को रोकना उसका नाम कुम्भक है।

इन कुम्भकों के करने से कुण्डली जो आधारशक्ति है वह जागृत होती है।

६ भ्रामरी कुम्भक

इस भ्रामरी कुम्भक का विधान यह है कि (भ्रमरी) चौइन्द्री (चतुरिन्द्रिय) होती है। वह तेइन्द्रिय लट को लाकर अपने घर में बन्द कर शब्द सुनाती है। इह शब्द के सुनने से वह लट भ्रमरी हो जाती है, ऐसा श्री आनन्दघनजी महाराज कहते हैं। वे इक्कीसवें श्रीनमिनाथ भगवान् के स्तवन की सातवीं गाथा में लिखते हैं कि—

> "जिन स्वरूप थई जिन आराधे, वैसे ही जिनवर होवे रे।
> भृंगी इलिका ने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे ॥७॥"

जैसा उस भ्रमरी का शब्द है, वैसे ही ...

जल की इच्छा को बढ़ाने वाली है और सर्प के विष की अथवा अन्य विष अर्थात् जहर की शान्ति करने वाली है ।

५ भस्त्रिका कुम्भक

भस्त्रिका नाम धौंकनी का है । इसका विधान यह है कि सतर (सीधा) बैठकर दोनों हाथ दोनों जंघाओं के ऊपर रखे और मुख अर्थात् होठों को ऐसा मिलावे कि जिससे हवा होठों में होकर न निकले; फिर नासिका के दोनों छिद्रों से पूरक करे, फिर रेचन करे, इसी प्रकार बारम्बार रेचन और पूरक शीघ्रता के साथ करे, और बीच में दम न लेने पावे । जैसे लुहार लोहे को गरम करता है, और जब लोहा ताव पर आता है उस वक्त अग्नि को इस कदर धोंकता है, कि बीच में दम न ले । वैसे ही जब तक शरीर में परिश्रम होकर थकावट न मालूम हो तब तक पूरक रेचन करे । जब थक जावे तब सूर्यस्वर से पूरक करे फिर कुम्भक करके बन्धपूर्वक चन्द्रनाड़ी से रेचन करे । परन्तु इस जगह कुम्भक करते समय जीमने (दक्षिण) हाथ के अंगूठे से सीधा नासिका का दक्षिण छिद्र बन्द करे, और अनामिका और कनिष्ठिका अंगुली से नासिका का वाम छिद्र बन्द करे । कुम्भक पूर्ण होने के बाद चन्द्रस्वर से रेचन करे, फिर चन्द्रस्वर से ही रेचन और पूरक बारम्बार करे । पिछली रीति के अनुसार पूरक रेचन करते करते थकने लगे तो डाबे (वाम) स्वर से पूरक करे और अना-

मिका और कनिष्ठिका अंगुली से शीघ्र ही बन्द कर ले । कुम्भक पूर्ण होने के पीछे बन्धकपूर्वक अंगूठा हटाकर जीमणे (दक्षिण) स्वर से रेचन करे । फिर उस जीमणी (दक्षिण) नासिका से बारम्बार पहली तरह से रेचन-पूरक करे । जब थकने लगे तब पूरक करे, अंगूठे से छिद्र को बन्द कर ले, और ऊपर लिखी रीति से फिर रेचन करे । इस रीति से इस कुम्भक का वर्णन किया है ।

इसका गुण यह है कि वात, पित्त, कफ इन तीनों प्रकार के रोगों को दूर करे और तीनों को समान रखे, और जठराग्नि को दीप्त करे, कुंडली नाड़ी सोती हुई को शीघ्र ही जगा दे । जो पुरुष इसको बारम्बार करेगा, उसको नाना प्रकार की सिद्धियां, और शीघ्रता से प्राणायाम की सिद्धि होगी । शरीर में जो अपानादि वायु है उनको बाहर फेंकना उसका नाम रेचक हैं, और भीतर को ले जाना उसका नाम पूरक है। और यथाशक्ति जो प्राणों को रोकना उसका नाम कुम्भक है ।

इन कुम्भकों के करने से कुण्डली जो आधारशक्ति है वह जागृत होती है ।

६ भ्रामरी कुम्भक

इस भ्रामरी कुम्भक का विधान यह है कि (भ्रमरी) चौइन्द्री (चतुरिन्द्रिय) होती है । वह तेइन्द्रिय लट को लाकर अपने घर में बन्द कर शब्द सुनाती है । इह शब्द के सुनने से वह लट भ्रमरी हो जाती है, ऐसा श्री आनन्दघनजी महाराज कहते हैं । वे इक्कीसवें श्रीनमिनाथ भगवान् के स्तवन की सातवीं गाथा में लिखते हैं कि—

"जिन स्वरूप थई जिन आराधे, वैसे ही जिनवर होवे रे ।
भृंगी इलिका ने [illegible]गी जग जोवे रे ।।७।।"

जैसा उस भ्रमरी का शब्द है, वैसे ही शब्द-सहित पूरक करे, फिर कुंभक

टिप्पणी—"उज्जायी प्राणायाम' सर्वोत्तम माना गया है। इससे शरीर के ताप का शमन होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, हृदय तथा फेफड़ों के विकार दूर होते हैं। बाह्य तथा आभ्यन्तरिक शुद्धि होकर स्नायु-मंडल अधिक क्रिया-शील बनता है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुष्ट होते हैं। उत्साह, स्फूर्ति, क्षमता तथा जीवनी-शक्ति की वृद्धि होती है। शरीर सुन्दर तथा स्वस्थ बना रहता है।

विशेष—इस प्राणायाम के लिए प्रचुर मात्रा में शुद्ध वायु का होना अति आवश्यक है। अतः उसी स्थान पर करना चाहिए जहाँ शुद्ध जल, वायु उपलब्ध हो।

'भस्त्रिका' प्राणायाम

इस प्राणायाम में श्वास प्रश्वास की क्रिया लोहार की (धौंकनो) भाँथी के अनुसार जल्दी-जल्दो होती है, अतः इसका नाम 'भस्त्रिका' रखा गया है। यह अभ्यास कठिन है अतः जन सामान्य के लिए तव तक वर्जित है जब तक किसी योग्य गुरु का निर्देश प्राप्त न हो।

विधि—किसी भी आसन में वैठें, रीढ़ की हड्डी को सीधा रखें। मुँह पूरब या उत्तर दिशा की ओर रहना चाहिए।

जो नासा छिद्र खुला हो, उससे अथवा बायें नासा छिद्र से २० बार जल्दी-जल्दी श्वास लें और छोड़ें। अंतिम बार गहरी श्वास लेकर दोनों

नासा-छिद्रों को बन्द कर 'मूलबन्ध' तथा 'जालन्धर-बन्ध' लगायें। फिर एक बन्ध को छोड़ते हुए दोनों नासिका-छिद्रों से श्वास छोड़ दें।

जल्दी-जल्दी श्वास लेते तथा छोड़ते समय नासा-छिद्र फैलने अथवा सिकुड़ने नहीं चाहिये। कुम्भक से ठीक पहले का 'पूरक' तथा बाद में किया गया 'रेचक' पर्याप्त गहरा होना चाहिए, शेष हल्के रहें। चेहरा सौम्य बना रहे तथा श्वास-प्रश्वास के प्रवाह में किसी प्रकार की रुकावट न आये।

लाभ—पूर्व वर्णित 'नाड़ी-शोधन' प्राणायाम के बाद यदि यह भस्त्रिका प्राणायाम किया जाय तो शरीर एकदम हल्का हो जाता है और वह पृथ्वी से ऊपर ऊठता हुआ प्रतीत होता है, श्रेष्ठ योगी जन इस अभ्यास द्वारा अपने विचलित वीर्य को पुनः वाष्प में परिवर्तित कर लेते हैं। इस क्रिया से शरीर की ऊष्मा में वृद्धि होती है तथा नाक और छाती की बीमारी दूर होती है।

निर्देश—इस प्राणायाम के अभ्यास काल में भोजन में मक्खन, घी तथा दूध की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए। गर्मी के दिनों में यह प्राणायाम नहीं करना चाहिये। यदि श्वास में रुकावट हो तो नमक मिश्रित जल से 'जल नेति' करनो चाहिए। यदि अभ्यास के समय भीतर से पसीना निकले, आँखों के आगे अन्धेरा छाने लगे अथवा चक्कर आ उठे तो अभ्यास को रोक देना चाहिए और किसी अच्छे योगी-गुरु से निर्देश प्राप्त करना चाहिये।

'सूर्य-भेदन' प्राणायाम

इस प्राणायाम के द्वारा मणिपूरक चक्र स्थिति सूर्य सहस्र चक्र तक जा पहुँचता है अतः इसे 'सूर्य-भेदन', 'सूर्य-भेदी' अथवा 'सूर्य-भेद' कहते हैं। यह भी सर्व साधारण के लिए न होकर हठ योगियों के लिए ही है अतः इसे गुरु सामीप्य एवं गुरु निर्देशन के बिना करना वर्जित है।

विधि—किसी भी आसन में सुख पूर्वक बैठ कर रीढ़ को एकदम सीधा रखते हुए, आँखें ध्यान मुद्रा से बन्द कर लें। तत्पश्चात् दाँयें नासा छिद्र (सूर्य) से गहरी श्वास (पूरक) लें, फिर, 'कुम्भक' के साथ 'मूल-बन्ध' एवं जालन्धर-बन्ध लगायें। अन्त में दाँयें नासा छिद्र से ही धीरे-धीरे 'रेचक' करें अर्थात् श्वास बाहर निकालें।

उक्त प्रक्रिया को बिना किसी अनुपात के तीन बार दुहरायें। धीरे धीरे 'कुम्भक' का समय इतना अधिक बढ़ा लेना चाहिए कि शरीर पर

५. बन्ध—बन्धों का अन्तर्भाव भी मुद्राओं के अन्तर्गत किया जाता है। बन्धों से प्राणों का निरोध होता है। तीन बन्ध मुख्य है—

मूलबन्ध, उड्डीयान और जालन्धर।

६. **मूलबंध**—मूल (गुदा) और लिंग स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूल बन्ध है। बाएँ पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्यभाग में दृढ़तापूर्वक जमाकर गुदा को सिकोड़ कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिंग एवं कंद के बीच के भाग को दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपान वायु को धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने को मूलबन्ध कहते हैं। यह बन्ध सिद्धासन के साथ लगाया जाता है। इससे कुंडलिनी उठकर ऊपर की ओर चढ़ने लगती है।

उड्डीयान बंध—दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलुओं को आपस में भिड़ाकर पेट के नाभि के नीचे और ऊपर आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींच कर मेरुदण्ड (रीढ़) से ऐसा लगादे कि पेट के स्थान पर गड्ढा-सा दिखे। जितना पेट के अन्दर की ओर अधिक खींचा जाएगा उतना ही अच्छा होगा। इस बन्ध से प्राण सुषुम्णा की ओर पक्षी की तरह उड़ने लगता है।

जालंधर बंध—कंठ को सिकोड़ कर ठोडी को दृढ़तापूर्वक कंठ रूप में स्थापित करे हृदय से ठोड़ी का अन्तर केवल चार अंगुल रहे। सीना आगे की ओर तना रहे। यह बन्ध कंठ के नाड़ीजाल को बांधे रहता है। इस बन्ध से कंठ-स्वर मधुर-आकर्षक बनता है और कंठ के संकुचित हो जाने से इडा-पिंगला नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं तब प्राण सुषुम्ण में प्रवेश करता है।

लगभग सभी आसन और मुद्राएँ मूलबन्ध और उड्डीयान बन्ध के साथ किए जाते हैं।

५. महाबंध—महाबन्ध के द्वारा इडा, पिंगला और सुषुम्णा—इन

तीनों नाड़ियों के प्रवाह को एक ही दिशा में परिवर्तित कर अन्य क्रियाओं के साथ मन को आज्ञाचक्र पर स्थिर करना होता है।

विधि—बाएँ पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्यभाग में जमा कर बायीं जंघा के ऊपर दाहने पैर को रख समसूत्र में हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्र से वायु चल रहा हो, उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगाए। फिर मलद्वार से वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगाए। मन को मध्य नाड़ी में लगाए हुए यथाशक्ति कुम्भक करे। इसके बाद पूरक की विपरीत वाली नासिका से धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार दोनों नासिकाओं से अनुलोभ-विलोम रीति से प्राणायाम करे।

इस महाबन्ध से प्राण ऊर्ध्वगामी होता है और इडा-पिंगला सुषुम्णा का संगम होता है।

आसन, प्राणायाम, बन्ध और मुद्राओं से कुंडलिनी जाग्रत की जाती है। इनके करने से प्राण इडा और पिंगला से निकलकर सुषुम्णा में प्रविष्ट होता है तब कुंडलिनी ऊर्ध्वगामी होती है।

प्राप्त होता है। इति।

इसका अभ्यास, जैसे अग्नि के लगने से घाँस जलकर खाँक या भस्म हो जाती है वैसे ही दीर्घ काल तक अभ्यास करने से साधक के दुर्गुण भस्म हो जाते है। इति।

अब श्रीगुरू राम! इच्छा से भस्त्रिका, प्राणायाम की रितिका निरूपण कहते है। सो जवन है तवन ऐसा है की पहले वामनासापुटसे प्राण को रेचन करें और उसिसे तुरन्त जल्दी से पी जाना और फिर तिसको जल्दी से नासापुटसे रेचक कर देना। तथा फिर उसी पुटसे पी कर वाम नासा पुटसे रेचन कर दो। और फिर वाम पुटसे पी करके दाहिने नाकसे रेचन कर दो। इसीप्रकार से जैसी लोहार की धोकनी चलती है तैसे

ही चतुर पुरूष शीघ्र–शीघ्र दोनों नासापुटसे बारी–बारी थोडी देर तक रेचक और पूरक करें। पीछे सम्पूर्ण पेटके प्राणवायु को वाम नासापुटसे रेचन कर दो। और किंचित काल तिसको बाहर रोककर फिर उसी वामनासापुटसे पूरक कर लो और तीस पूरक किये हुए प्राण को धिरज से अपनी शक्तिनुसार कुम्भक करके और पीछे धीरे दाहिने नासापुटसे रेचन कर दो। इसी प्रकार से एक प्राणायाम करके फिर दूसरी बार पहिले के नाई–नाई थोडी देर भस्त्रिका करके दाहिने नासिका से प्राण को रेचन करो और किंचित काल तिस को बाहर रोककर फिर दाहिने नासापुटसे पूरक कर लो और यथाशक्ति पेट में कुम्भक करके फिर वामनासापुटसे शनैः शनैः रेचन कर दो। इसी प्रकार से मुक्ति के साथ वामनासापुटसे और दाहिने नासापुटसे बराबर क्रम करके प्राणायाम का अभ्यास करों। अथवा पहला प्राणायाम वामनासापुटसे करो और दूसरा दाहिने से करों।

उपर लिखे अनुसार बराबर से करो। इसी प्राणायाम को भस्त्रिका अपितु कुम्भक कहते है। इसी के अभ्यास करने से बहुत जल्दी से प्राण का जय होता

ये तीन प्रकार के बनध योगाभ्यास में योग्य श्री संत गुरूजनों ने निरूपण किया है और कुंडलिको शीघ्र ही जगाकर प्राणों को ब्रह्मरंध्र में पहुंचाती है। अब इन बन्धों को भलिप्रकारसे जानने से ताके पिछे तुम कुंडलिनी को जागृत करो। जिसके जगाने से षट्चक्रों का तथा मेरूदंड की सर्व गांठी का बन्धन कट जाता है।

अब पहले के रित से थोडासा भस्रिका करके प्राणवायु को रेचन करो और उड्डियान करने के मोकामें जोर से अपान वायु को उपर की तरफ खिंचो। और तुरन्त ही बाहिरवाले प्राण को पूरक कर लो और अपनी शक्तिनुसार रोक, कुम्भक करके फिर रेचन कर दो। इसी तरह से चतुर पुरूष ने सिद्धासन पर बैठकर सायंकाल और प्रातःकाल में बराबर क्रम से वाम नासापुट और दक्षिण नासापुटसे चार घटिका तक साधक पुरूष को नित्य अभ्यास करना चाहिए। ये अब उड्डियान बन्ध को करने से मूलबन्ध स्वतः आप ही हो जाता है। क्योंकि जैसे मूलबन्ध से अपान का उपर को आकर्षण होता है तैसे ही उड्डियान बन्ध में नाभी के तरफ तानने में अपान का आकर्षण होता है। सो जिससे अपान वायु उपर को प्राण के घर में जाता है और फिर प्राण का पूरक करके कुम्भक करने से प्राण वायु नीचे को अपान के घर में जाता है। इसी प्रकार से प्राण और अपान दोनों के रगडने से शरीर के मध्य रहनेवाली अग्नी की वृद्धि होती है। और तवने अग्नी के तापसे और प्राणों के रगडने से जैसे दंड लगाने से सर्पिणी अपनी कुंडल छोडकर सीधी हो जाती है। तैसे जागी भई कुंडली

शक्ति अपने निद्रा को छोडकर सीधी होकर ब्रह्मरंध्र के मार्ग को छोड देती है। और तिस काल में सुषुम्ना के

छोडने से योगी लोग जन्म मरण से, संसार बन्धनों से मुक्त हो जाते है।

अब श्रीगुरू रामकृपा से सुषुम्ना का जवन दुसरा मार्ग है। तवन को पश्चिम मार्ग कहते है। तिसको खोलने की विधि निरूपण करते है। जिस करके मेरूदंडमें प्राण प्रवेश होते हुए ब्रह्मरंध्र में जाकर लीन होते है।

अब पूर्वोक्त रीतिसे थोडा भस्त्रिका करके प्राणवायु को एक नासापुटसे रेचन करो और तिसको बाहर ही रोक करके जल्दी से उड्डियान बन्ध करो। अब उड्डियान बंध करने के साथ नाभी को ऐसा जोर से पीछे को तानों, जिसमें नाभी और मेरूदंड एक हो जावें। फिर जल्दी से बाहर के प्राण को पूरक करके कुम्भक करो और तिस काल में मन से भी चिंतवन करो की यह प्राण मेंरूदंड में चढ रहा है। कुछ दिन तक ऐसा ही अभ्यास करते रहने से योगी के प्राण मेरूदंड में गमन कर जाते है। जैसे की बाहर के छिद्र में वायु प्रवेश करती है। फिर दिन–दिन क्रम पूर्वक अभ्यास करने से मेरूदंड में मार्ग की गांठों की ग्रंथीयों के समुह को साफ करता हुआ प्राण उपर को गमन करता है। फिर

दिन–दिन क्रम से अभ्यास करने से योगी के मेरूदंड के मार्ग की सब गाँठो को साफ करता हुआ उपर–उपर को गमन कर रहे है। जिस काल में चींटी के चालसे शरीर पर चढने से स्पर्श मालूम हो तब जानना की उपर को चढ रहा है। जिस काल में मेरूदंड में प्राण ब्रह्मरंध्र में पहूँच जावे तो फिर आप निरन्तर अभ्यास के बल से तिसको तहाँपर पूर्ण करो और अभ्यास करने में आलस मत करो।

श्रीगुरू रामकृपा से आज्ञानुसार अभ्यास को खुब सावधानी से अधिक–अधिक बढाते जावो। अब तिस काल मे भस्त्रिका त्याग करके केवल कुम्भक ही करो। जिस करके अधिक–अधिक प्राणों को पश्चिम मार्ग में सरलता से गमन होवे। अब युक्ति के साथ अभ्यास के अधिक बढाने से और अत्यन्त अल्पाहार

इसी प्रकार समस्त क्रिया करके वाम-नथुने से प्रश्वास निकालें। इसे बार-बार करें।

इससे पित्त शान्त होकर ग्रम्लपित्त के विकार नष्ट होते हैं, दिव्य ज्योति की उत्पत्ति तथा बाह्यनेत्र-दृष्टि की वृद्धि भी होती है।

(१२) **ग्रश्विनी-मुद्रा**—सुखासन से बैठकर गुदा को ग्रन्दर की ग्रोर सिकोड़ें फिर बाहर को फैलाएँ—इस प्रकार निरन्तर संकोच-विकास करें। जैसे गौ-भैंस ग्रथा विशेष रूप से ग्रश्व (घोड़ा) मल त्यागते समय गुदा का ग्राकुंचन

ग्रौर प्रसारण करता है—इसी प्रकार कई मिनिट तक करें।

इस मुद्रा के ग्रभ्यास से ये लाभ होते हैं—

प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी की जागृति शीघ्र होती है, मूलाधार चक्र की शुद्धि होकर इसके विज्ञान में सुगमता, यहाँ प्रकाश की उत्पत्ति भी शीघ्र होती है।

(१३) **त्रिबन्ध-मुद्रा**—यथाविधि पद्मासन से बैठकर, किंचित् पूरक करके, प्रश्वास को समान-प्राण के साथ मिलाएँ ग्रौर मूलाधार से ग्रपान को ऊपर उठाकर तीनों बन्धों को लगाते हुए, इस ग्रान्तरिक वायु को सुषुम्णा में प्रविष्ट करने का प्रयत्न करें। इसी ग्रवस्था में रहकर, दोनों हथेलियाँ दोनों पार्श्वों में दाईं-बाईं ग्रोर भूमि पर रखकर, नितम्बों को उठा-उठाकर भूमि पर धीरे-धीरे पटकें—ऐसा कई बार करें। इसमें लगाने वाले बन्ध इस प्रकार लगाए जाते हैं—

(१) जालन्धर बन्ध, कण्ठ को दबाकर ठोड़ी को स्कन्धास्थियों के मध्यस्थान 'हँसली' ग्रथवा कण्ठ के नीचे स्थित गढ़े 'कण्ठ-कूप' में लगाते हैं जिससे कण्ठद्वार प्रायः बन्द-सा हो जाता है।

(२) उड्डियान बन्ध, उदर को सिकोड़कर नाभि को पीछे मेरुदण्ड के साथ लगा देने से बनता है।

(३) मूलबन्ध, गुदा सहित ग्रण्डकोशों को दृढ़ता से ऊपर की ग्रोर ग्राकर्षित करने से लगता है।

ये तीनों बन्ध स्थान-स्थान पर ग्रासन, प्राणायाम ग्रौर मुद्राग्रों में प्रयुक्त होते हैं। त्रिबन्ध मुद्रा के लाभ ये हैं—

सुषुम्णा में प्राण शीघ्र प्रवेश करने लगता है, कुण्डलिनी शीघ्र चैतन्य होकर ऊर्ध्व गमन करने लगती है, चक्र भी धीरे-धीरे प्रकाशित होने लगते हैं।

(१४) **मातङ्गिनी-मुद्रा**—जल में खड़े होकर ग्रथवा रहकर ही किसी टूटीवाले कमण्डल या किसी पात्र में जल भरकर, उसे नाक से लगा ग्रन्दर खींचें ग्रौर मुख से बाहर निकाल दें। पश्चात् मुख में जल भरकर मुख बन्द करके नासिका-छिद्रों से बाहर निकाल दें; मुख को जल से पूर्ण भरकर, प्राण से इसे (जल को) धक्का देकर, पिचकारी के समान दोनों नथुनों से निकाल दें। इस प्रकार कई बार करें। इस मातङ्गी-मुद्रा के ये लाभ हैं—

इससे मस्तिष्क, ब्रह्मरन्ध्र ग्रौर नेत्रों को तृप्ति मिलती है, तथा इन ग्रङ्गों के रोग—सिर पीड़ा, नेत्र दुखना, गले के ग्रन्दर नज़ला गिरना, जुकाम ग्रादि रोग नहीं होते; शेष लाभ जलनेति के ही समान हैं। शीघ्र केश न पकना, दृष्टि की स्थिरता, मुख पर तेज तथा कान्ति छा जाती है।

करना बतलाया है ।

५ *भस्त्रिका-कुम्भक*—भस्त्रिका प्राणायाम कई प्रकारसे किया जाता है । इसके मुख्य चार भेद हैं—मध्यमभस्त्रिका, वामभस्त्रिका, दक्षिणभस्त्रिका और अनुलोम विलोमभस्त्रिका ।

(क) *मध्यम भस्त्रिका*—जैसे लुहारकी धौकनीसे वायु भरी जाती है, इसी प्रकार दोनों नासिका-पुटसे वायुको आवाजके साथ धीमे-धीमे लंबा, दीर्घ और वेगपूर्वक मूलाधारतक पूरक करे । बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दोनो नासिकापुटसे रेचक करे । इस प्रकार बिना आभ्यन्तर और बाह्य कुम्भकके आठ बार पूरक-रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करके दसवीं बार उसी प्रकार धीमे-धीमे दोनो नासिकापुटसे रेचक करे । यह एक प्राणायाम हुआ । इस प्रकार तीन प्राणायाम करे ।

(ख) *वामभस्त्रिका*—दक्षिण नासिकापुटको बंद करके उपर्युक्त रीतिसे वाम नासिकापुटसे मूलाधारतक आठ बार पूरक, रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे । तत्पश्चात् उपर्युक्त विधि अनुसार दक्षिण नासिकापुटसे धीमे-धीमे रेचक कर दे । यह एक प्राणायाम हुआ ।

(ग) *दक्षिणभस्त्रिका*—वाम नासिकापुट बंद करके दक्षिण नासिकापुटसे आठ बार बिना आभ्यन्तर और बाह्य कुम्भकके उपर्युक्त विधि-अनुसार पूरक-रेचक करनेके पश्चात् नवीं बार पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे । तत्पश्चात् वाम नासिकापुटसे रेचक करे । यह एक प्राणायाम हुआ ।

वामभस्त्रिका और दक्षिणभस्त्रिकाको मिलाकर करनेकी विधि—पहिले वामभस्त्रिकाका एक प्राणा-याम करे, फिर दक्षिणभस्त्रिकाका एक प्राणायाम, तत्पश्चात् वामभस्त्रिकाका एक प्राणायाम । इस प्रकार इन तीन प्राणायामोमें दो बार वामभस्त्रिका और एक बार दक्षिणभस्त्रिका होगा ।

(घ) *अनुलोम-विलोमभस्त्रिका*—जैसे लोहारकी धौकनीसे वायु भरी जाती है इसी प्रकार बायें नासिकापुटसे वायुको आवाजके साथ धीमे-धीमे लंबा, दीर्घ और वेगपूर्वक मूलाधारतक पूरक करे । बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दक्षिण नासिकापुटसे रेचक करे । बिना बाह्य कुम्भकके उसी नासिका-पुटसे पूरक करके फिर बाये नासिकापुटसे विधि-अनुसार रेचक करे । ये चार प्राणायाम हुए । इस प्रकार आठ बार बिना कुम्भक किये केवल पूरक, रेचक करते हुए नवीं बार वाम नासिकापुटसे पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे । तत्पश्चात् दसवीं बार दक्षिण नासिकापुटसे रेचक करे । यह दस प्राणायाम-का पहला प्राणायाम हुआ । अब दक्षिण नासिकापुटसे आरम्भ करके नवीं बार कुम्भकके पश्चात् दसवीं

बार वाम नासिकापुटसे रेचक करें । यह दूसरा प्राणायाम हुआ । अब पहले प्राणायामकी भाँति तीसरा प्राणायाम करें ।

इन विधियोंमें पूरककी समाप्तिपर मूलाधार चक्रपर एक सेकंड (कुछ देर) ध्यानके पश्चात् रेचक करे । इसी प्रकार रेचककी समाप्तिपर नासिकाके अग्रभागपर कुछ देर (एक सेकंड) ध्यानके पश्चात् पूरक करें । कुम्भकके समय नाभि-स्थान मणिपुर-चक्रपर ध्यान लगावे । यह प्राणायाम तीन बार ही करे । अर्थात् तीनसे अधिक बार कुम्भक बढानेका यत्न न करें । किंतु तीनो प्राणायामोंकी संख्या दससे ऊपर शनैः-शनैः यथाशक्ति चार-चार बढ़ाते हुए १४, १८, २२ इत्यादि करते हुए चले जायँ । पूरक, रेचक और कुम्भकका समय भी यथाशक्ति बढाते जायँ । अभ्यासीगण यदि चाहें और उनके पास समय अधिक हो तो तीन प्राणायामको बढाकर सात ग्यारह इत्यादि कर सकते हैं अर्थात् चार-चार बढ़ा सकते हैं।

इस प्राणायामसे त्रिधातु-विकृतिसे उत्पन्न हुए सब रोग नष्ट हो जाते हैं, आरोग्यता बढ़ती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है । गर्मी, सर्दी सब ऋतुओंमें किया जा सकता है । कुम्भक बढाने, मनके स्थिर करने और कुण्डलिनी जाग्रत् करनेमें अति उपयोगी है । अभ्यासीगण ध्यान करनेसे पूर्व इसे अवश्य करे।

भस्त्रिकामें रेचक, पूरक अधिक लाभदायक होते हैं, इसलिये इनकी सख्या अधिक और कुम्भककी कम बतलायी गयी है । अभ्यासीगण यदि चाहें तो आभ्यन्तर कुम्भकके पश्चात् रेचक करनेके बाद बाह्य कुम्भक भी कर सकते हैं । बाह्य कुम्भकका समय आभ्यन्तर कुम्भकके समयसे आधा अथवा बराबर रख सकते हैं ।

(१) बलहीन अशक्त साधकोंको साधारण वेगपूर्वक, (२) स्वस्थ, शक्तिशाली साधकोंको लंबा, दीर्घ वेगपूर्वक और (३) अभ्यस्त साधकोको अतिवेगपूर्वक पूरक-रेचक करना चाहिये ।

रेचकमें पूरकसे अधिक समय देना चाहिये । इसलिये पूरक और कुम्भकमें उतना ही समय देना चाहिये जिससे रेचक करनेके लिये काफी दम बना रहे ।

निम्नलिखित दो प्राणायामोको भस्त्रिकाके अन्तर्गत समझना चाहिये—

(क) अन्तर्गमन प्राणायाम—सिद्धासनसे बैठकर वाम नासिकापुटसे रेचक करते हुए पूरे उड्डीयानके साथ वाम घुटनेपर सिरको टेक देना तत्पश्चात् पूरक करते हुए सीधा हो जाना । इस प्रकार रेचक, पूरक करते हुए दसवीं बार पूरक करके जालन्धरबन्धके साथ सिरको घुटनेपर रखकर यथाशक्ति कुम्भक करना, तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर सीधे हो जाना । फिर रेचक करके तीनों बन्धोंके साथ

संग्राम—बाह्य और भीतर के वायु की टक्कर, बाहर निकलते हुये वायु को वहीं रोक देना और भीतर जानेवाले के बाहिर रोक देना।

CC-0. Swami Atmanand Giri (Prabhuji) Veda Nidhi Varanasi. Digitzed by eGangotri

प्राणायाम सहायक बन्धों के नाम

प्राणायाम के सहायक तीन बन्ध हैं १ मूलबंध, २ उड्डियान बंध और ३ रा जालंधरबंध। इन तीनों बन्धों की सहायता से प्राणायाम की क्रिया सहज रीति से साध्य होती है। बन्धों के लगाने की विधि तथा लाभ निम्न प्रकार देखिये:—

(१) मूल बन्ध—पूरक करने के समय करना चाहिये। गुदा और शिश्न के बीच में जो चार अंगुल का स्थान है। उस स्थान में एड़ी का दबाव रखकर गुदा का आकुञ्चन करके अपान वायु को ऊपर खींचने से मूलबन्ध सिद्ध होता है। इससे अपान का प्राण से संयोग होता है, मलमूत्र अल्प होता है। और वीर्य का रक्षण होता है। इसलिये इसका अभ्यास करनेवाला पुरुष वृद्ध अवस्था में भी तरुण दिखाई देता है।

(२) उड्डियान बन्ध—यह बन्ध रेचक के समय करना होता है। संपूर्ण पेट को अन्दर खींचना और उसको जहां तक हो सके वहां तक पीठ की तर्फ ले जाने से यह बन्ध सिद्ध होता है। यह सुगम है तथा बड़ा लाभदायी है। क्षुधा प्रदीप्त होने से यह मृत्यु को दूर करनेवाला है।

(३) जालन्धर बन्ध—कंठ को सिकोड़ कर हनुको कंठ मूल में हृदय के ऊपर लगाने से यह बन्ध सिद्ध होता है। इसी को कंठ बन्ध भी कहते हैं। इसका छः मासतक योग्य रीति से अनुष्ठान करने से सिद्धि प्राप्त होती है।

पूरक के समय मूलबन्ध करने से अपान की ऊर्ध्वगति होती है, कुम्भक के समय जालन्धर बन्ध करने से प्राण की निम्न गति होती। इसप्रकार अपान और प्राण का मध्य में संयोग

CC-0. Swami Atmanand Giri (Prabhuji) Veda Nidhi Varanasi. Digitzed by eGangotri

होकर उष्णता बढ़ती है, जठराग्नि प्रदीप्त होता है। इस उष्णता के बढ़ जाने से कुण्डलिनी की जागृति होती है। वह शक्ति जागृति होने के पश्चात् सुषुम्ना नाडी के द्वारा ऊपर चढ़ने लगती है। और सहस्रार चक्र में पहुंच कर शिव के साथ संयुक्त होती है। यही स्वानन्द साम्राज्य है। प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से इसकी सिद्धी होती है।

प्राणायाम की सच्ची विधि

यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण रेचयेत् ॥ ३५ ॥
यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु ।
धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ ३६ ॥
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयाऽनिलम् ।
कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ३७ ॥
कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम् ।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ३८ ॥
गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥ ३९ ॥

अब भस्त्रिका प्राणायाम को बतलाते है कि पद्मासन लगाकर, गर्दन और देह को सीधा रखते हुये, मुख को बन्द करके वायु को सावधानीपूर्वक नासिका से रेचन करे। फिर वायु को वेगपूर्वक शब्द करते हुये ऐसे खीचे कि कण्ठ, तालु, कपाल तथा हृदय को उसका स्पर्श जान पड़े। फिर उसे बाहर निकालकर पुनः पूरक करे, इस प्रकार वायु को बार-बार वेगपूर्वक इस प्रकार खीचे और भरे जैसे लुहार की भाथी चलती है। इसी विधि से शरीर स्थिति वायु को सँभालकर चलावे। जब श्रम जान पड़े तब सूर्य नाड़ी से पूरक करे और तर्जनी के अतिरिक्त चारों अंगुलियों से नासिका को मध्य से दृढ़तापूर्वक पकड़ कर कुम्भक करे तथा फिर बाँयी नाक से रेचक करदे। यह अभ्यास कण्ठ की जलन को मिटाता है और शरीर की अग्नि को बढ़ाता है, कुण्डली को जगाता है, पुण्यकारी, पाप नाशक

शुभ और सुखदायक है। ब्रह्मनाड़ी (सुषुम्ना) के मुख पर जो कफ आदि रहता है उसको नष्ट करने वाला है। यह सत् आदि तीनों गुणों से उत्पन्न तीनों ग्रन्थियों का भेदन करने वाला है। इसलिये इस भस्त्रिका नामक प्राणायाम का विशेष रूप से अभ्यास करना चाहिये ॥ ३२-३९ ॥

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते ।
बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः ॥ ४० ॥
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः ।
जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते ॥ ४१ ॥
अध
आ

भवति' ततोयोगनिद्रा भवति (शां० उ०) अर्थात् उससे उन्मनी दशा प्राप्त होती है और उससे योगनिद्रा होती है।

मूलबंध वर्णन

पार्ष्णिभागेन संपीडच योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ।।६१।।
अधोर्गातमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आंकुचनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः ।।६२।।

टीका – एड़ी से योनि स्थान को दबाकर गुदा का संकोच करे और अपान वायु का ऊपर की ओर आकर्षित करे, इसे मूलबन्ध कहते हैं। जो अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी करता है, उसे योगीजन मूलबन्ध कहते हैं।।६१—६२।।

व्याख्या –योनि स्थान का अभिप्राय है गुदा और लिंग के मध्य भाग से। उस स्थान को एड़ी से भले प्रकार पीड़ित करके गुदा को सकोड़े और अपान वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करे। यह क्रिया कुण्डलिनी जागरण में अत्यन्त सहायक होती है। इसके विषय में कहा है—

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ।।
अपाने चोर्ध्वगे याते सम्प्राप्ते वह्नि मण्डले।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ।।

अर्थात्—अधोगति वाले अपान को शक्तिपूर्वक गुदा के आकुंचन द्वारा ऊपर ले जाने से मूलबन्ध होता है। अपान ऊपर जाकर वह्निमण्डल से मिलता है तो वायु के प्रभाव से अग्नि की अत्यधिक तीव्रता होती है। इत्यादि से कुण्डलिनी जागरण की विधि कही है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीडच वायुमाकुंचयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ।।६३।।

टीका—एड़ी से गुदा का भले प्रकार संपीडन करके बलपूर्वक वायु को बार-बार इस प्रकार आकर्षित करे कि जिससे वह सुषुम्ना के ऊपरी भाग में जा पहुँचे ।।६३।।

6:57 PM 4G 31

3. Clapping thrice is also called one Matra.

However, Skandapurana (quoted by Brahmananda in Jyotsna on HP II / 12) reminds us that producing sound through fingers or clapping or moving palm on the knee should neither be very fast nor too slow. Such a calculation is not easy to follow while practicing Pranayama.

Modern concept of Matra:

Modern concept of time unit is comparatively easy to follow. If one matra is transformed as one second, it becomes easy to calculate for the practitioner. In this way:

Lowest type of Pranayama will take 12 + 48+ 24 = 84 seconds x 2 = 168 seconds for one round of NS Pranayama.
Intermediary Pranayama can be completed in 16 + 64 + 32 = 112 seconds x2 = 224 seconds for one round of NS Pranayama.
The best Pranayama consists in 20 + 80 + 40 = 140 seconds x 2 = 280 Seconds of NS Pranayama

The calculation has been doubled in order to find out total matra required for one round of nadishodhana Pranayama.
One must not forget that these stages are obtained very slowly, gradually and with proper training. HYP clearly warns a practitioner of pranayama that just as wild animal like elephant, lion or tiger are tamed slowly , similarly repiration should be brought under control otherwise it will harm the practitioner (HYP II / 15).

Constant Contact
Try It Free

6:43 AM 4G 70

Discover Updates Search Recent More

6:43 AM 4G 70

Discover Updates Search Recent More

कुम्भक तथा बाहर निकालना पूरक प्राणायाम कहलाता है।

इनका अभ्यास किसी जानने वाले की सहायता से ही करें। इनके अभ्यास से प्राण अपान दोनों की गति रुक कर मन और इन्द्रियां अपने वश में आ जाते हैं। शरीर के समस्त दोष प्राणायामाग्नि से भस्म हो जाते हैं।

बन्ध

सिद्धासनादि मूलबन्ध सहित करने पर ही पूरा लाभ देते हैं। इस लिये तीनों बन्धों का भी किञ्चित् ज्ञान करना आवश्यक है।

मूलबन्ध

नाभी से नीचे के भाग को ऊपर आकर्षित करना मूलबन्ध कहलाता है। इसके अभ्यास से वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है।

उड्डीयान बन्ध

खड़े होकर या बैठे ही प्राण को बाहर निकाल पेट का संकोचन करें यहां तक कि पेट रीढ की हड्डी से लग जाय। जब अधिक समय तक न रुक सकें तब श्वास लेकर पुनः निकाल दें और पूर्वानुसार बन्ध लगायें। अनेक बार इसका अभ्यास करें। इसके अभ्यास से कब्ज दूर हो जठराग्नि प्रदीप्त होती है। वीर्य रक्षा में भी सहायक है।

जालन्धर बन्ध

ठुड्डी को छाती से लगा दें। पीठ सीधी रहे। इसे ही जालन्धर बन्ध कहते हैं। पूरक प्राणायाम करने के बाद इस बन्ध का लगाना उचित है। इससे प्राण की गति मस्तिष्क की ओर नहीं होने पाती। इसके अभाव में प्राण के मस्तिष्क की ओर जाने से मूर्छा आने की सम्भावना रहती है। सर्वाङ्गासन में यह बन्ध स्वतः ही लग जाता है।

शरीर को स्वस्थ रखने के लिये उपरि पहले लिखे गये आसन पर्याप्त हैं। इनके सतत अभ्यासी को कोई व्याधि नहीं सताती। लेकिन जो व्यक्ति शक्ति बढ़ाने के इच्छुक हैं या शक्ति के चमत्कार दिखलाना चाहते हैं उनके लिये उपासना पर्याप्त नहीं है। उन्हें दण्ड बैठक, कुश्ती मुग्दर घुमाना, दौड़ना, तैरना, पैरेलल बार, हारिजन्टल बार और मलखम्भ इत्यादि व्यायामों का अभ्यास नियमपूर्वक करना आवश्यक है। साथ ही वीर भावना और आपत्ति में परम सहायक

6:43 AM 4G 70

Discover Updates Search Recent More

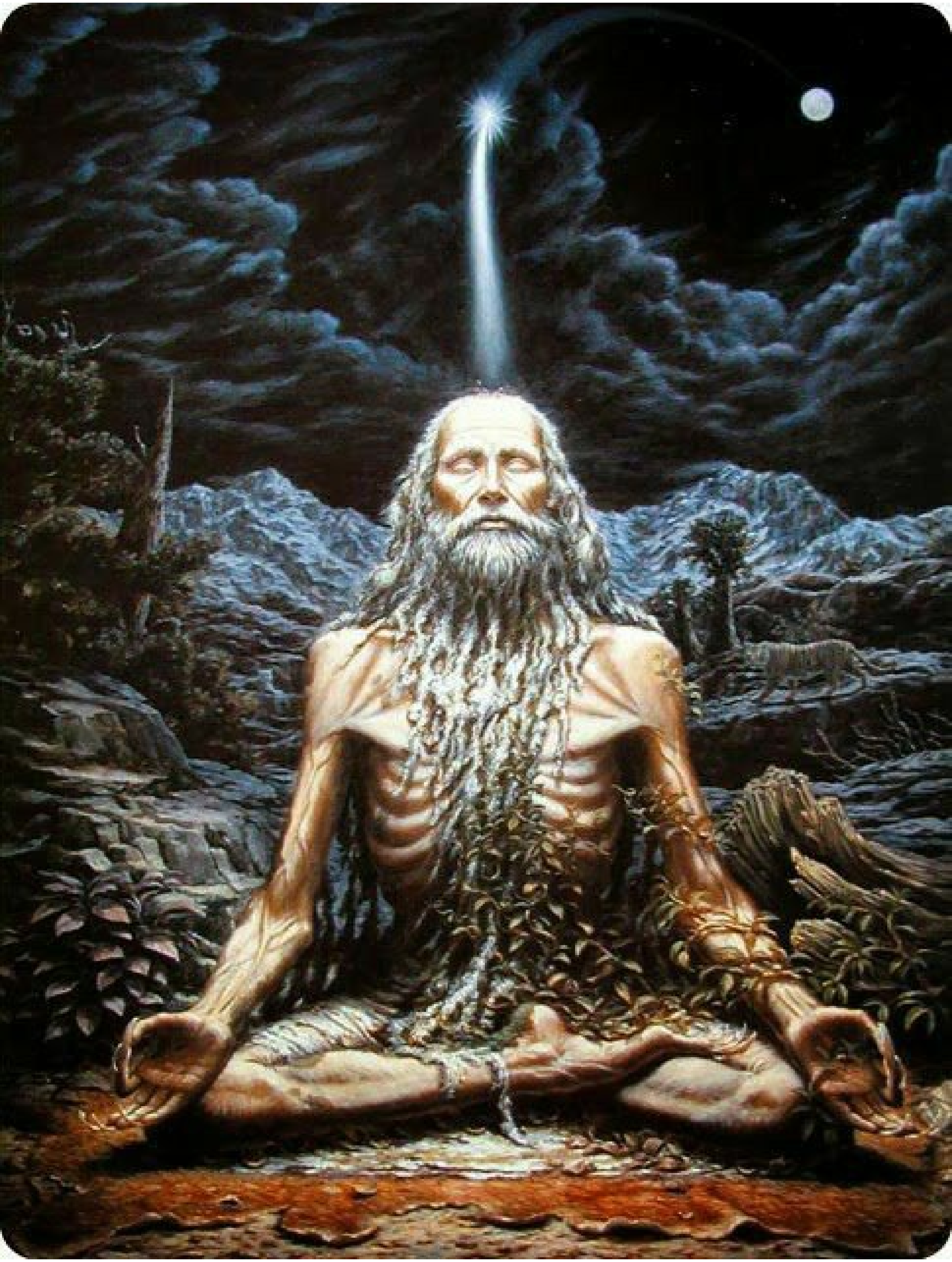

04:51
2_5465342001509566419

that the primary purpose of this pose is to bring your attention inward, enhancing the communication between the mind and the body.

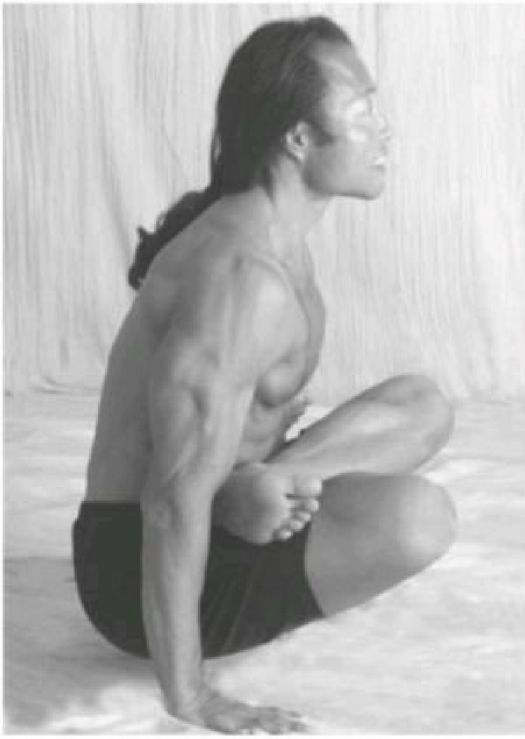

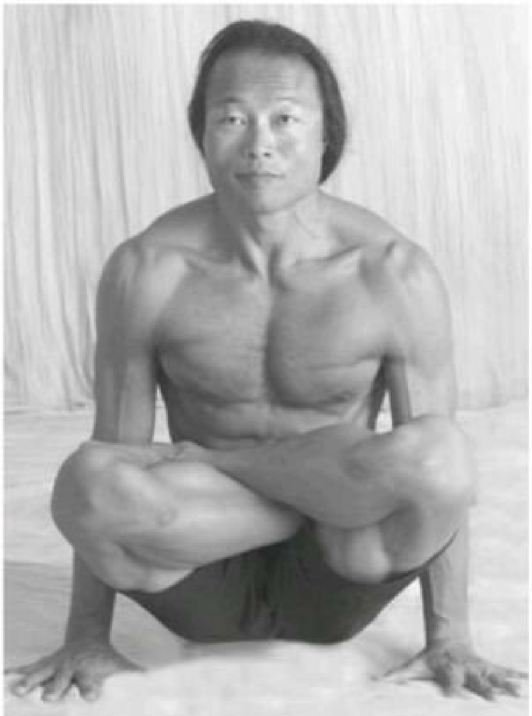

04:51
2_5465342001509566419

consciously release further into the pose, having the intention to relax with each exhalation. Hold this position, breathing deeply for several moments, then slowly release.

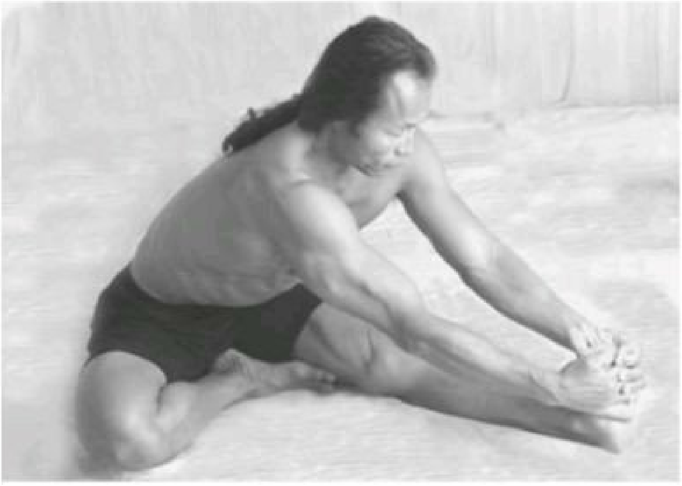

Repeat the pose with your left knee bent, flexing forward to grasp your right ankle or foot. Again, find your point of resistance, then introduce the intention to surrender, using your breath to release more deeply into the pose. Listen to the information your body is sending to you.

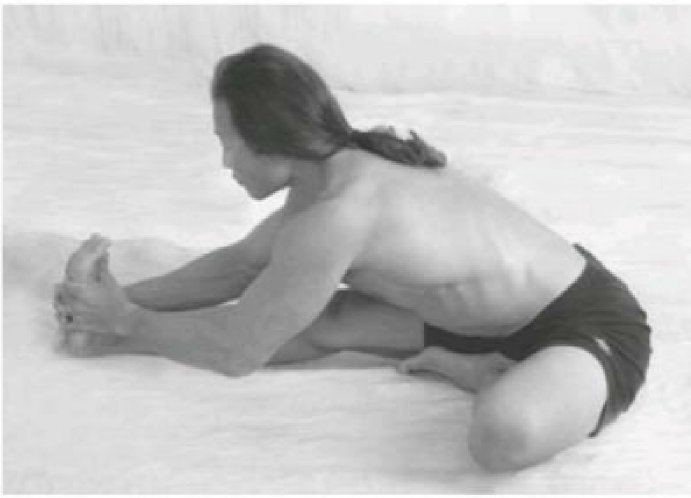

08:14

The Serpent Power : Arthur Av...

INTERNET ARCHIVE

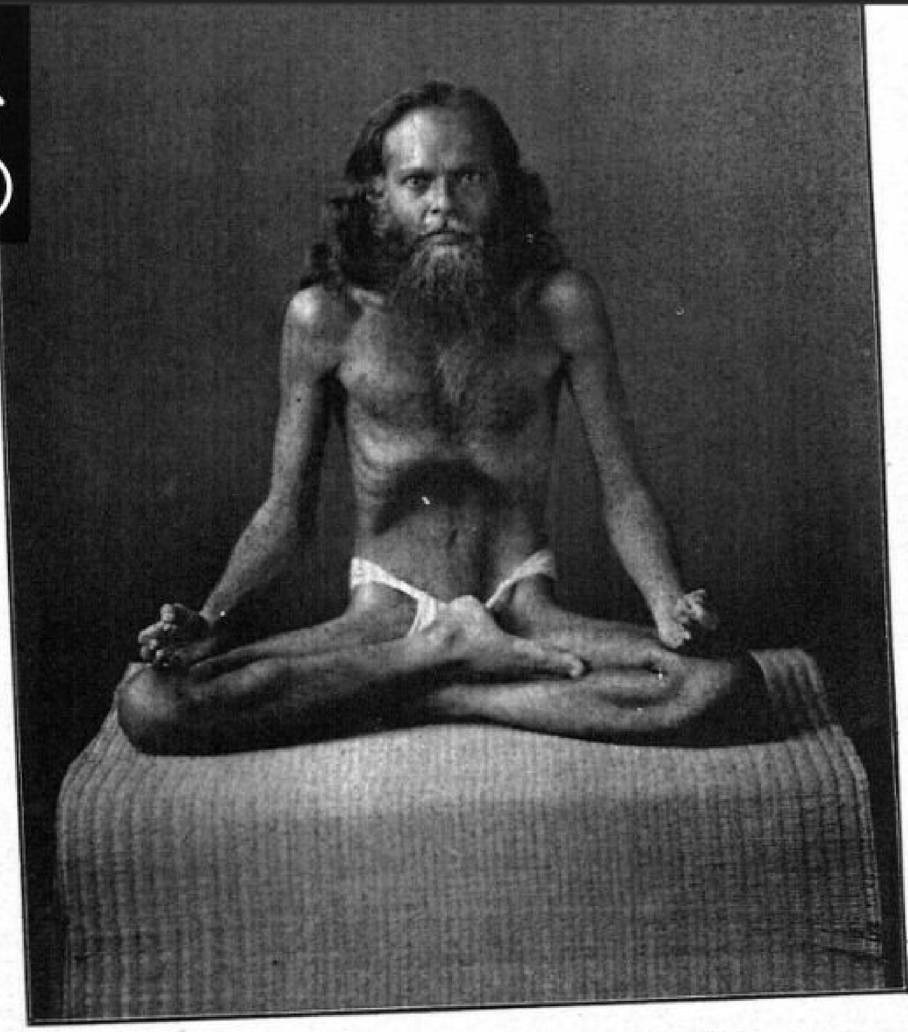

PLATE XIV. MŪLABANDHA IN SIDDHĀSANA
(*Vide* p. 214)

To face p. 136.

(504 of 740)

Favorite Share Flag

The Serpent Power

by Arthur Avalon (aka John George Woodroffe)

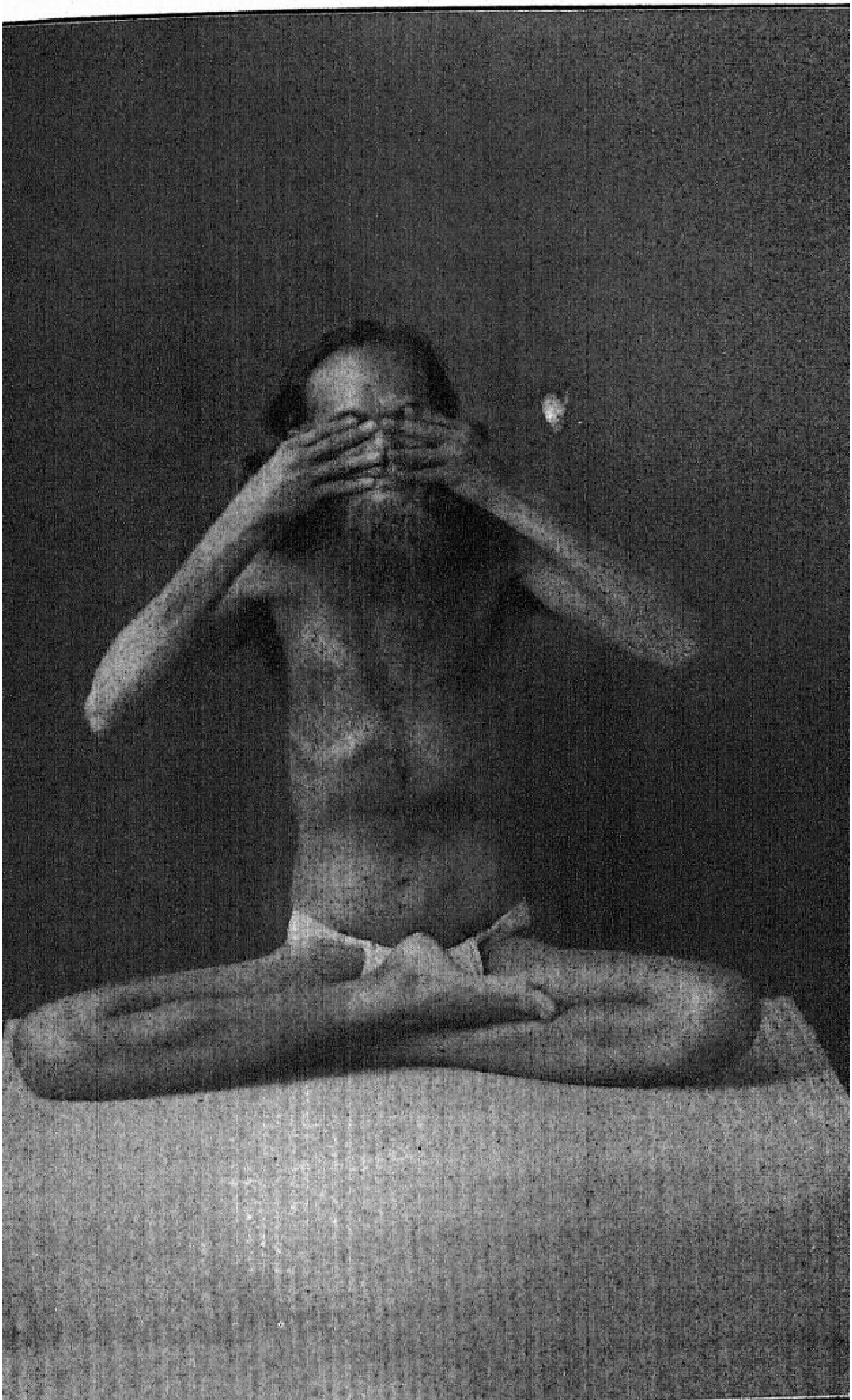

PLATE XV. YONI MUDRĀ IN SIDDHĀSANA
(*Vide* p. 209)

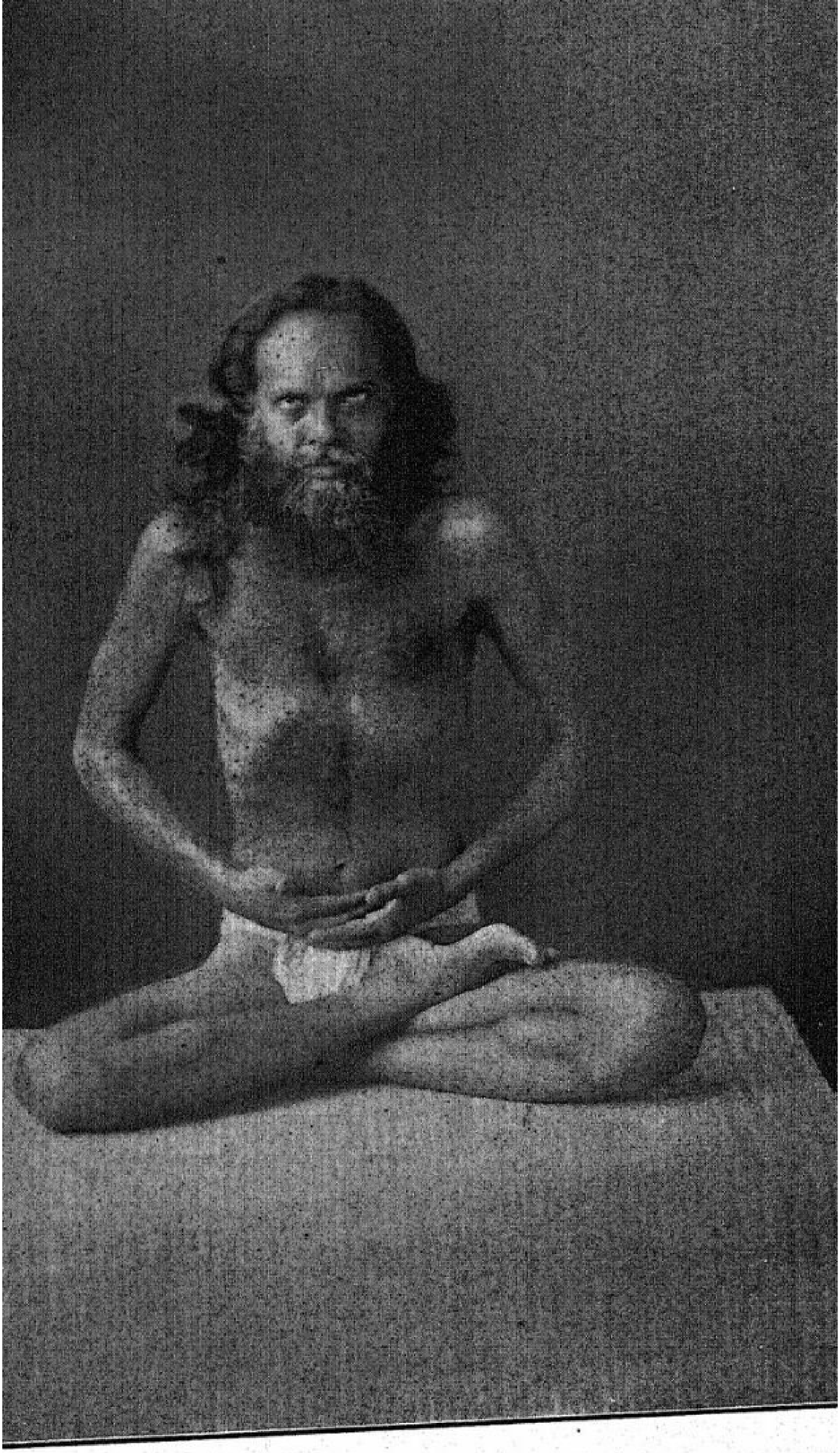

PLATE XIII. MAHĀBANDHA

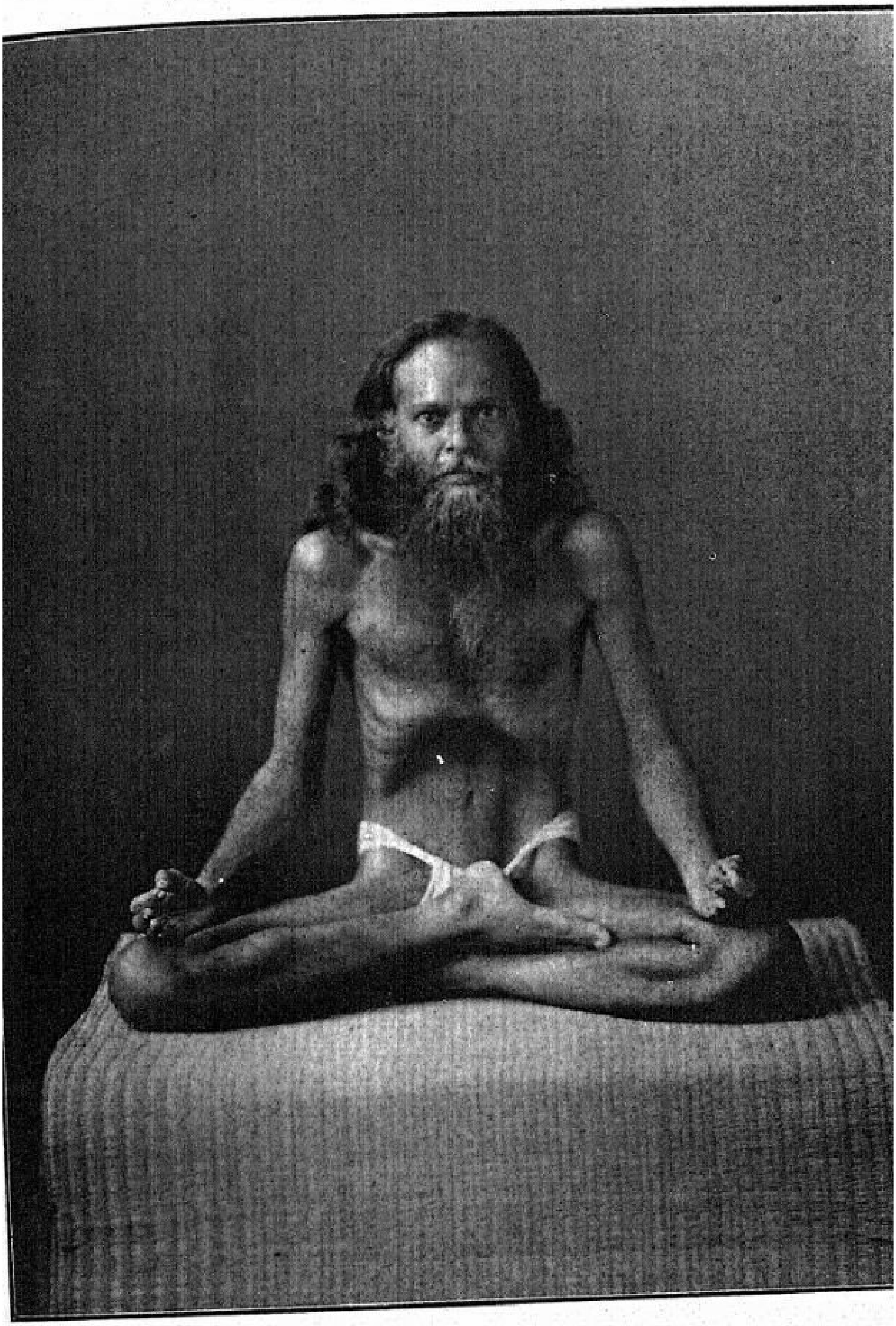

PLATE XIV. MŪLABANDHA IN SIDDHĀSANA
(*Vide* p. 214)

To face p. 136.

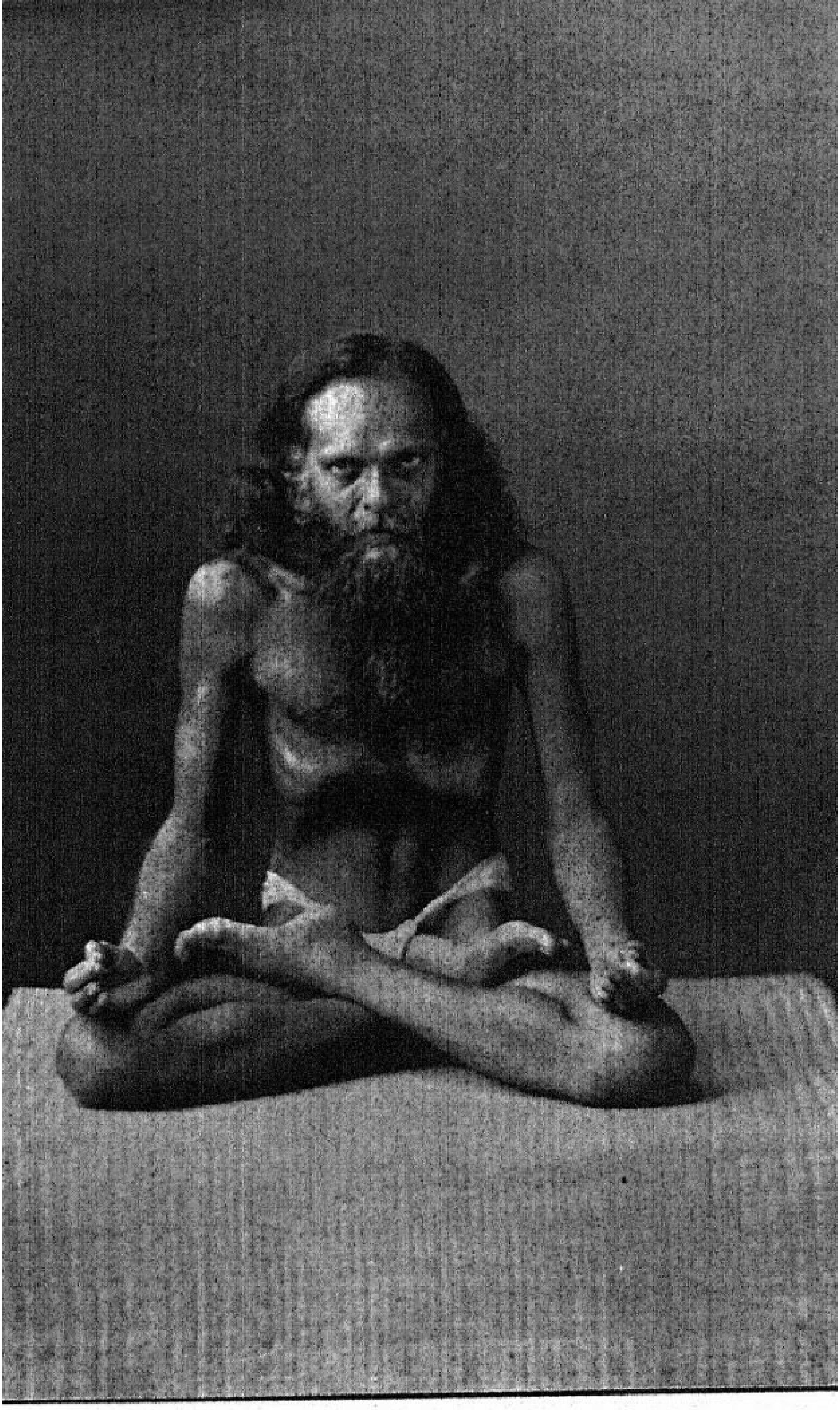

PLATE X. PADMĀSANA WITH LAULIKĪ
(*Vide* p. 205)

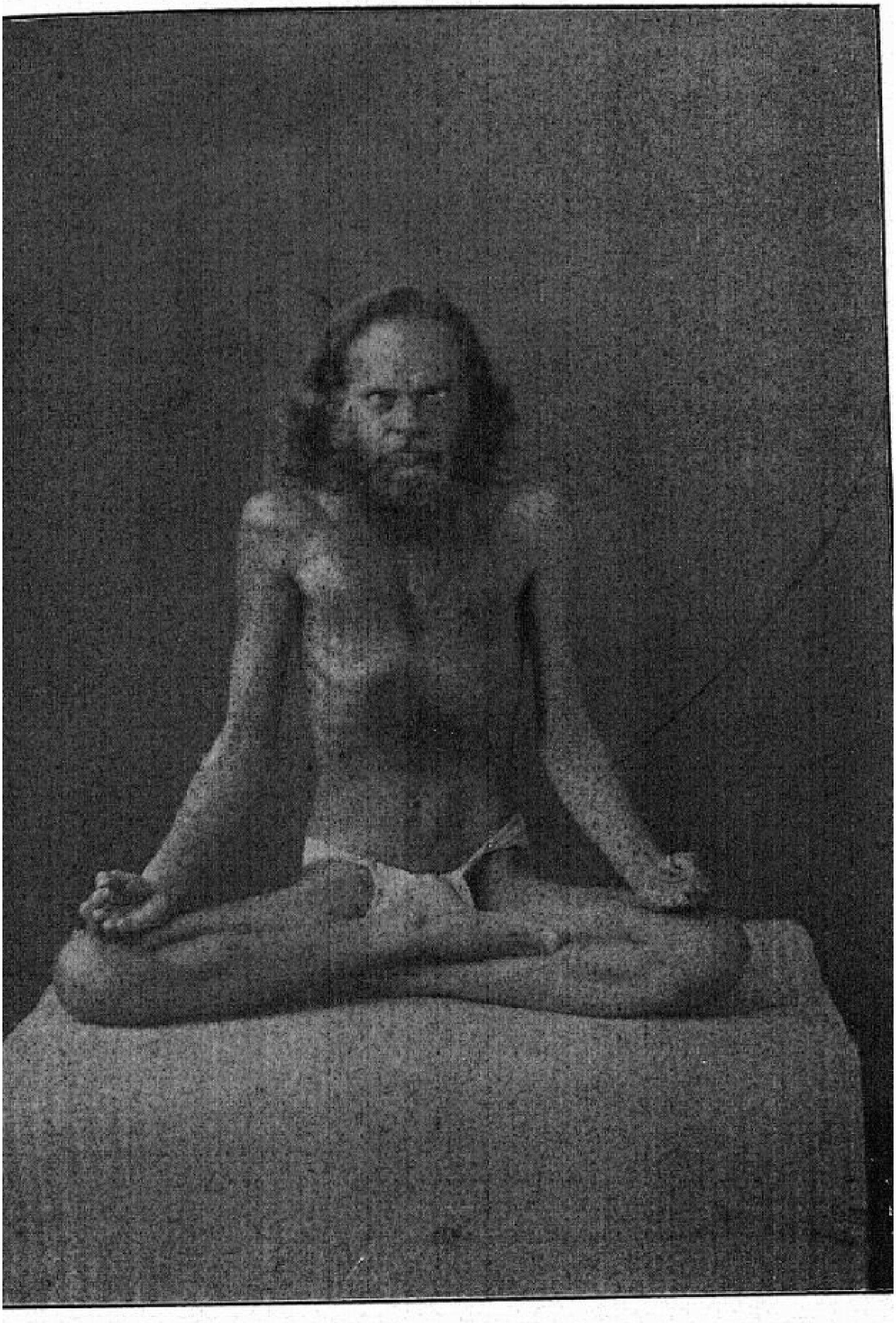

PLATE XII. UDDIYĀNA BANDHA IN SIDDHĀSANA—2ND STAGE
(*Vide* pp. 208 and 212)

ce p. 120.

10:26

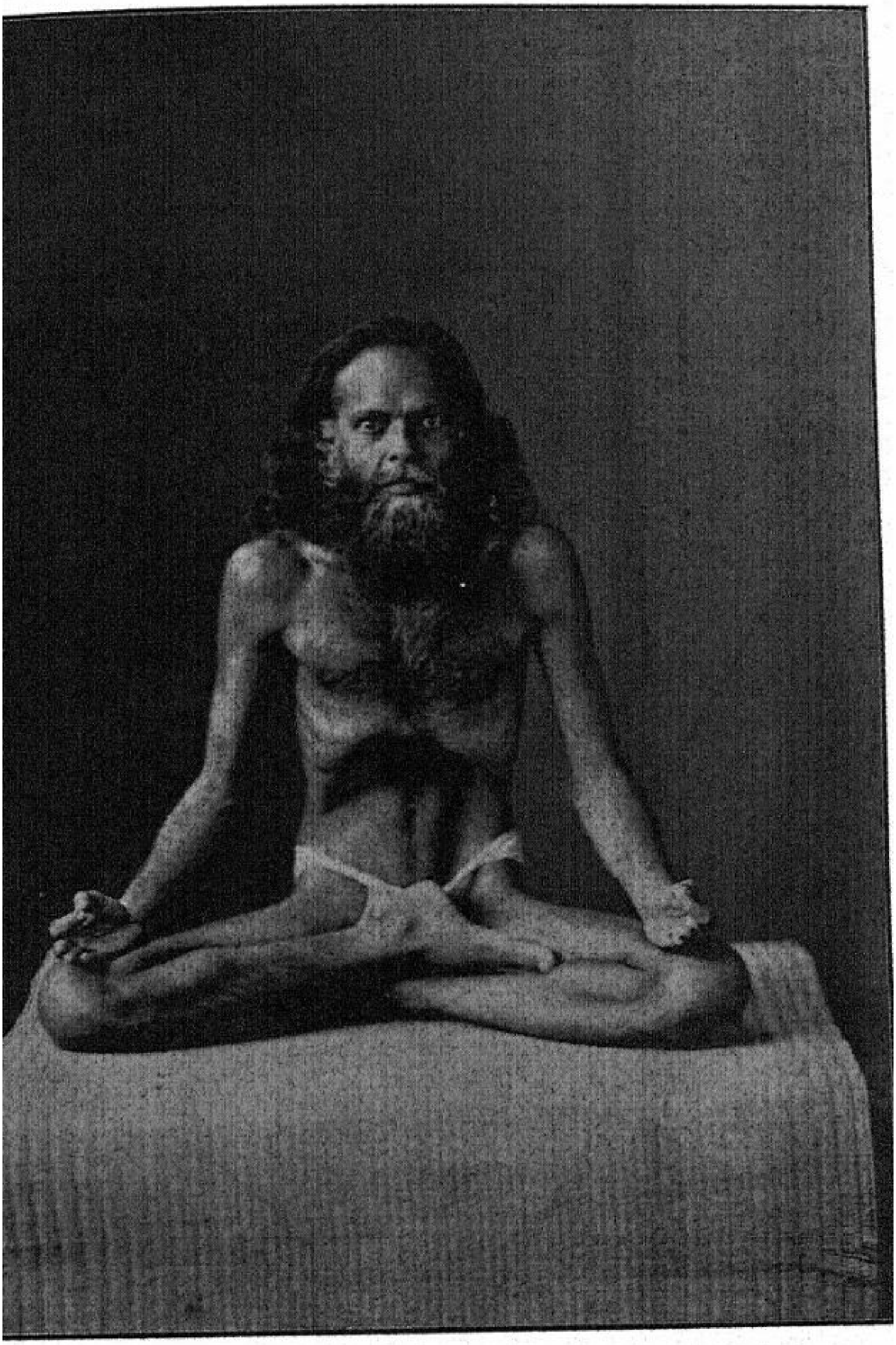

PLATE XI. UDDIYĀNA BANDHA IN SIDDHASANA—1ST STAGE

(*Vide* pp. 208 and 212)

p. 112.

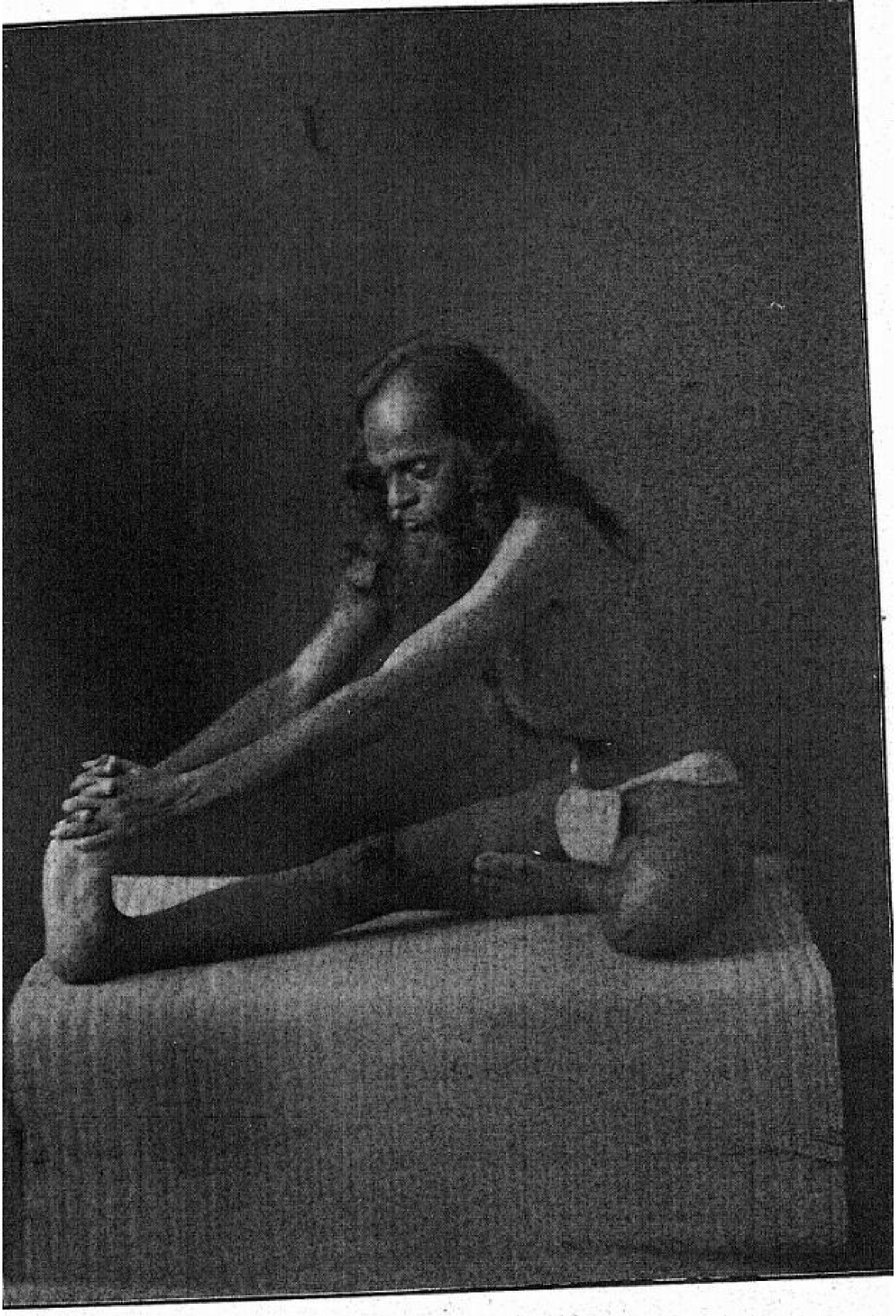

PLATE XVI. MAHĀMUDRĀ
(*Vide* pp. 211 and 214)

o face p. 152.

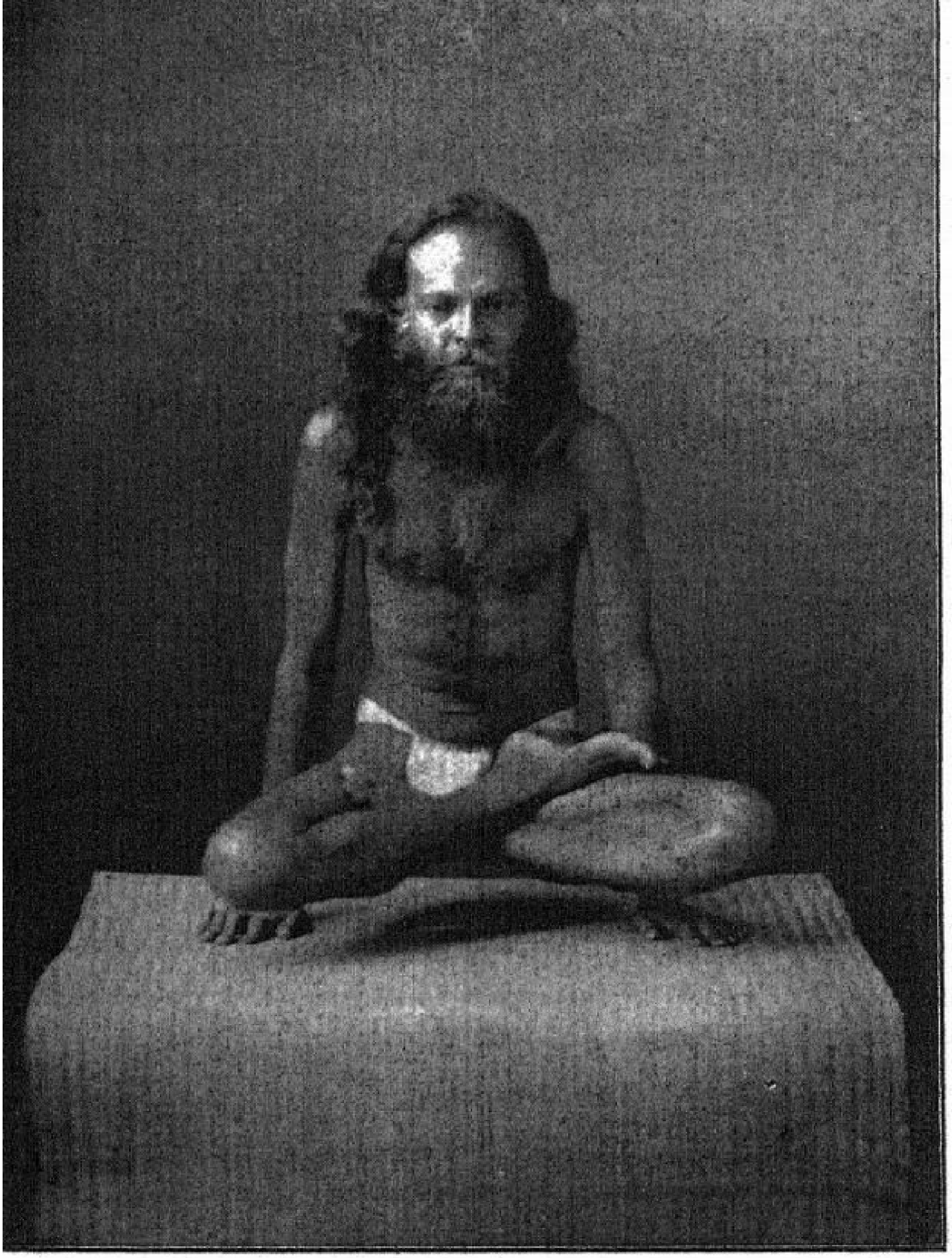

PLATE IX. MAHĀBEDHA ACCORDING TO HATHAYOGAPRADĪPIKĀ AND YĀMALA

face p. 96.

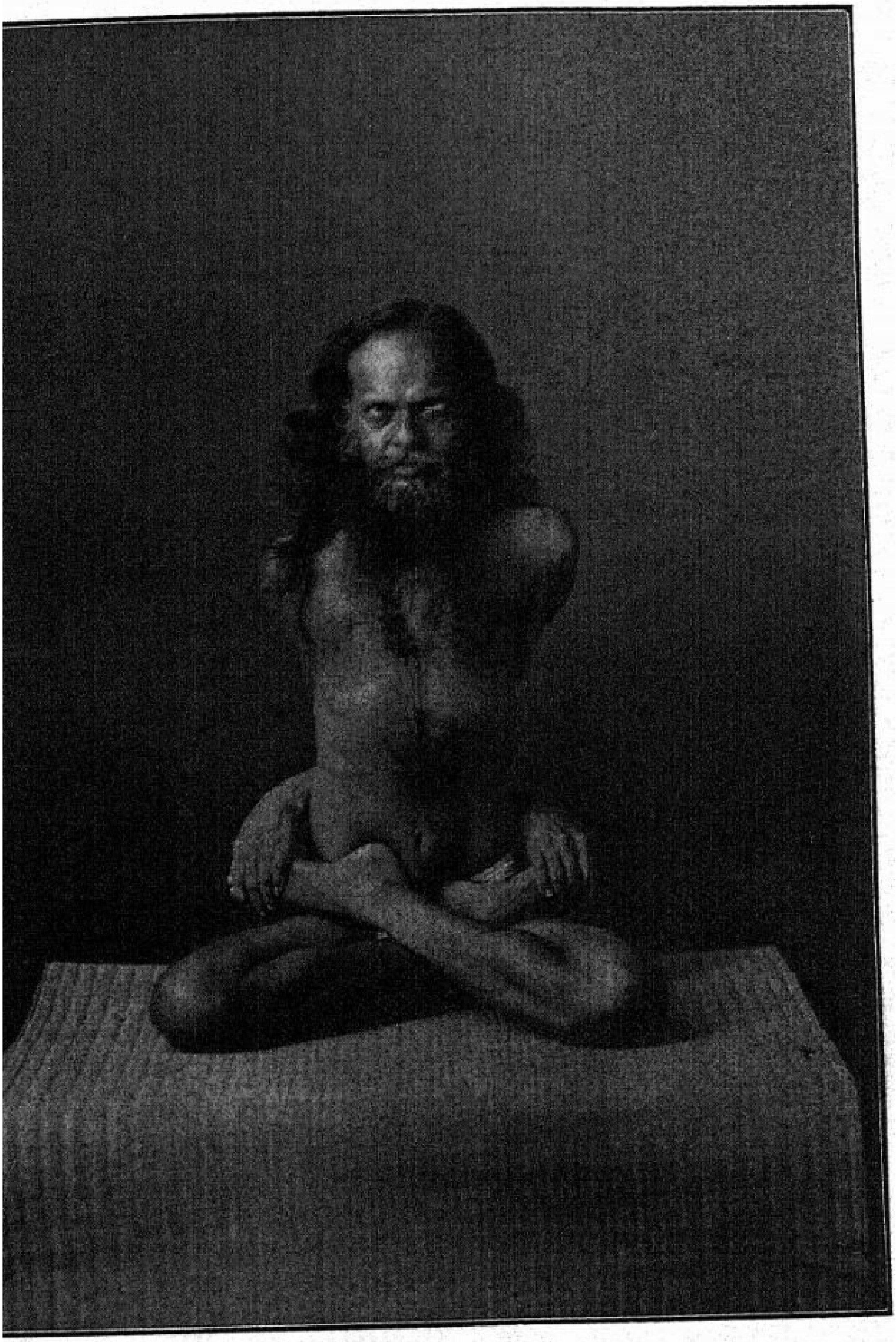

PLATE XVII. BADDHA-PADMĀSANA

p. 160.

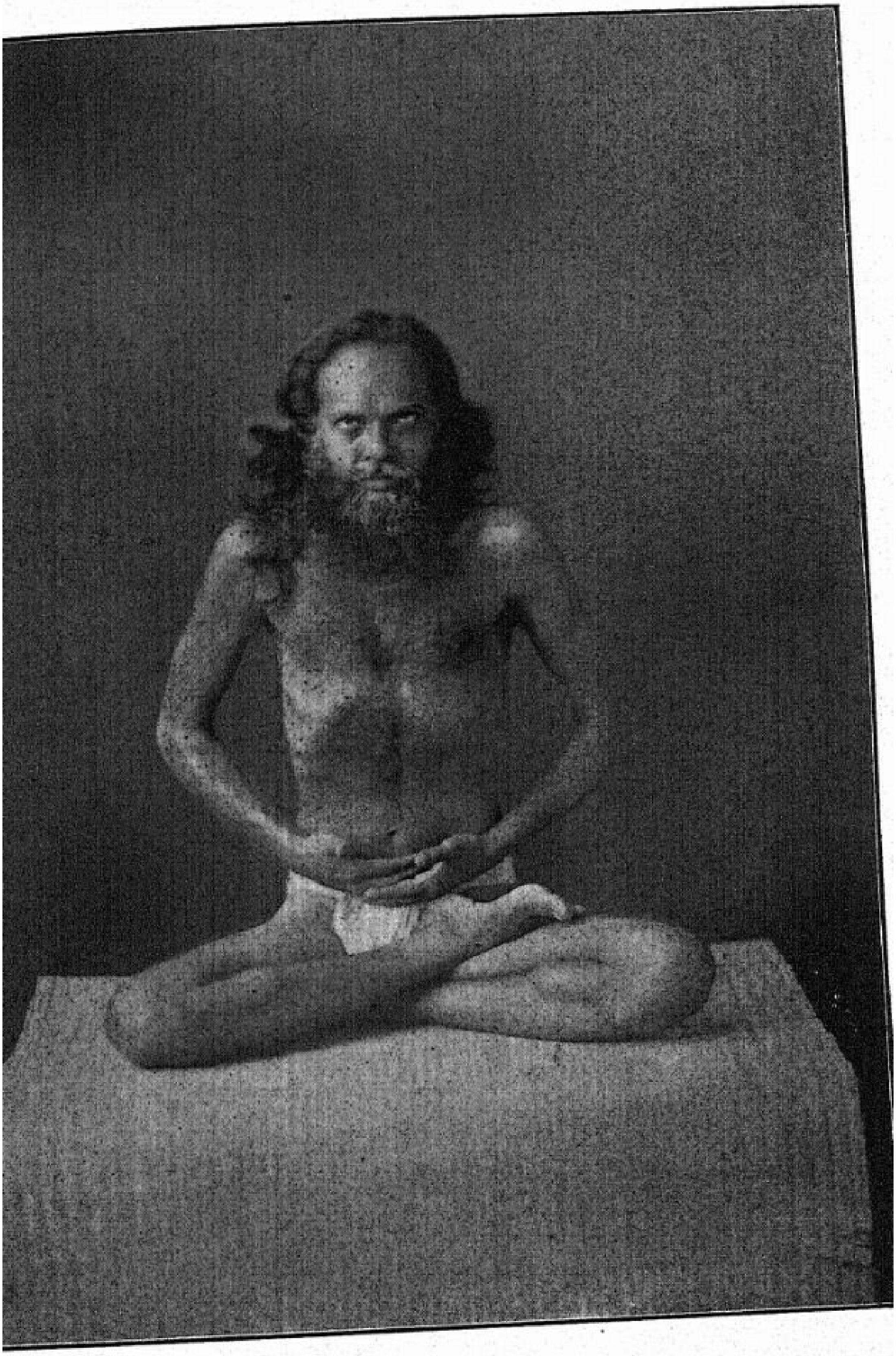

Plate XIII. MAHĀBANDHA

p. 128.

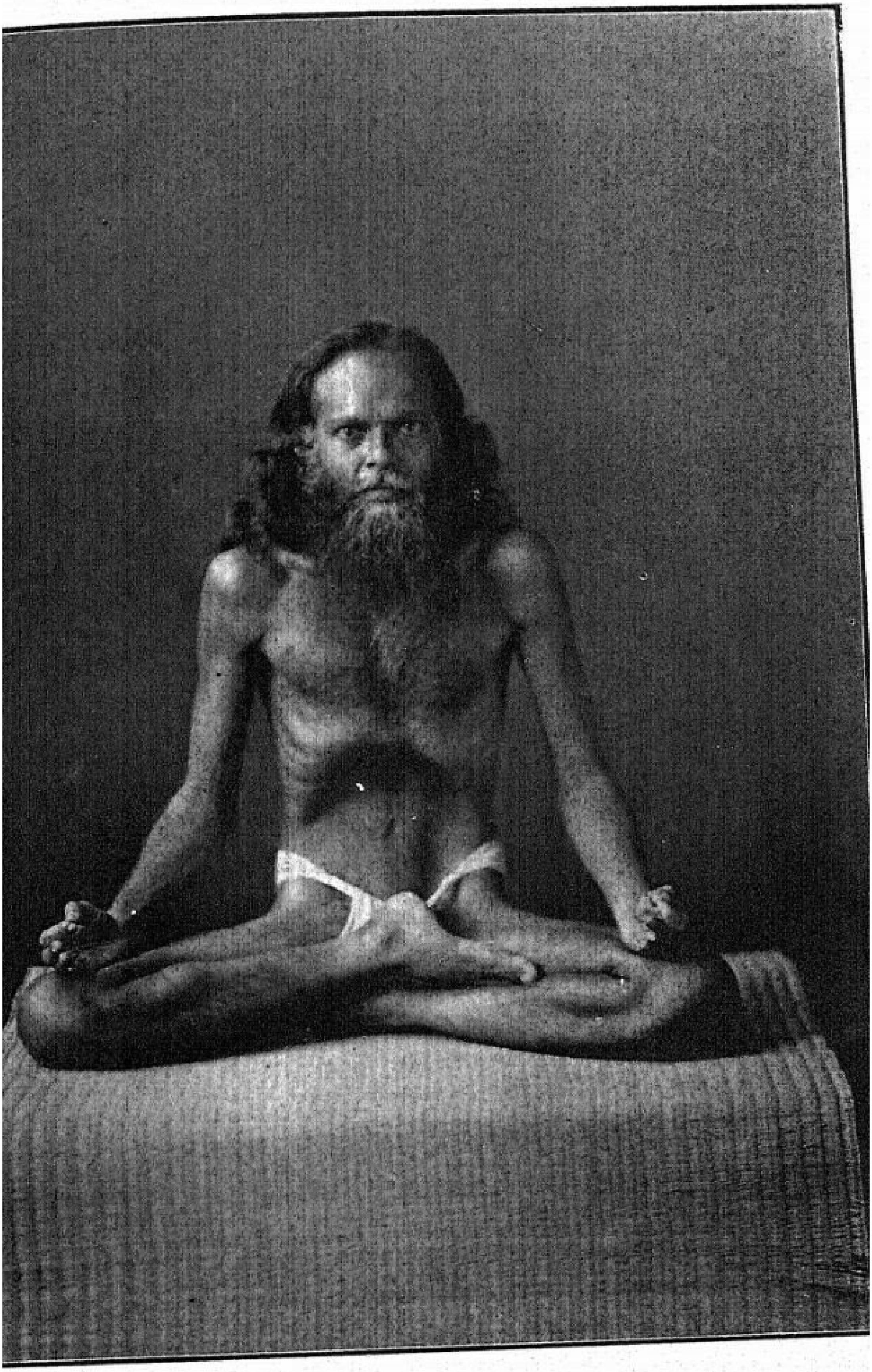

PLATE XIV. MŪLABANDHA IN SIDDHĀSANA

(*Vide* p. 214)

p. 136.

॥ सप्तमः पटलः॥

श्री देव्युवाच

आसां मन्त्रोदयं दिव्यं कथय स्व प्रसादतः।
येन विज्ञानमात्रेण मन्दपुण्योऽपि सिद्ध्यते॥१॥

एतच्छ्रुत्वा तु वैष्णव्यं देवदेवेन शूलिनः।
विहस्य सुचिरं कालं प्राश्यपञ्चामृतं चरुम्॥२॥

सन्दष्टोष्ठ पुटं नाथं प्राह गद्गदया गिरा।

श्री भैरव उवाच

शृणुत्वं खेचरी ज्ञानं स्वपिण्डे खगतिप्रदम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं सर्वकामविभूतिदम्॥४॥

शान्तौघरूपकं दिव्यं मन्त्रोद्धारं तु कौलिकम्।
द्विधाभेदेन वक्ष्यामि कर्णान्ते खटिकागमे॥५॥

शून्यं शून्यसमायुक्तं वह्निसम्पुटमध्यगम्।
मायानादकलोपेतं ना रुद्रो लभते स्फुटम्॥६॥

कामसम्पुटमध्यस्थं कामारिङ्कामसंस्थितम्।
नादबिन्दुकलोपेतं लभते योगिनी सुतम्॥७॥

सर्वगाद्यं पुनर्भद्रे सर्वगं बिन्दुभूषितम्।
षष्ठस्वरसमारूढं जीवं चन्द्रार्कभूषितम्॥८॥

एतत्पञ्चाक्षरं मन्त्रं स्वपिण्डे भोगमोक्षदम्।
प्रेतनाथस्य कथितं हृदयं सर्वकामदम्॥९॥

अधुना क्षेत्रपालानां सपत्नीकं शृणु प्रिये।
सप्तादशाक्षरं पूर्वं तृतयं तु चतुष्फलम्।।१०।।

चतुर्थं कथितं बीजं रक्षां तदनन्तरम्।
कामराजपराबीजमेतदष्टाक्षरान्तिमम्।।११।।

चणा - - क्षेत्रपालानां सपत्नीकां प्रकीर्तितम्।
सामान्यं हृदयं वीक्ष्य - - - रिक्षनन्तरम्।।१२।।

शक्तिबीजं शिवं शान्तं तृतीयं पारमेश्वरम्।
अनेनार्चयते दिव्यं गुरुपर्वक्रमान्तिमम्।।१३।।

तृतीयं भोगमन्त्राद्यं रावं रेफविवर्जितम्।
पायहा पञ्चमी बीजं एतत्पञ्चाक्षरान्तिमम्।।१४।।

धर्माधर्मक्षयकरं श्रीमन्त्रानक्षमान्वयम्।
अनेनार्चयते दिव्यं सिद्धचक्रं सदोदितम्।।१५।।

सर्वाधिकारफलदं शापानुग्रहसिद्धिदम्।
भोगहस्ते मयाख्यातं दिव्यरूपमकीलितम्।।१६।।

अथान्यं तु चतुष्पीठं चतुष्पीठसमन्वितम्।
सप्ताक्षरं महादीप्तं सुसिद्धं सर्वसिद्धिदम्।।१७।।

ह्रीं हुँ क्रीं तृतीयं पूर्वं निष्फलं निष्फलात्मकम्।
सर्वगं पूर्व सम्भिन्नं जीवसृष्टिसमन्वितम्।।१८।।

एषोसौ कौलिकं गुह्यं मन्त्रराजात्मतो लभेत्।
हृदयं सर्वपीठानां योगिनीनां महोदयम्।।१९।।

अधुना शक्ति सङ्घट्टं तृतीयं परमेश्वरम्।
परा च अपरा चैव तृतीया तु परापरा।।२०।।

अपरे संस्थिता ह्येव इत्याद्या सर्वदेहिनः।
आसां मन्त्रोदयं वक्ष्ये स्वपिण्डे भोगमोक्षदा॥२१॥

शिव शक्तिमयं युग्मं पराबीजं सदारुणम्।
एतत् त्रिरक्षरं मन्त्रं परादेव्या प्रकाशितम्॥२२॥

ज्ञानविज्ञानफलदमपरा च मतश्शृणु।
तदेवाद्यं परं युग्मं पराख्यं वरुणोर्ज्जितम्॥२३॥

सर्वगो दीपितं कृत्वा अपरा तृतयोदितम्।
सर्वस्वहृदयान्तस्थं - - - - - - - - - - ॥२४॥

- - - - - - ष्टस्तु मदिरानन्दनन्दितः।
- - - - - - - - - - - भैरवं वपुम्॥२६॥

प्रस्तरे भूतलं - - - - - - - - - - - - - ॥२७॥

- - स्व स्वभाव स्वरूपेण शिवं भु - - - ॥२८॥

- - - न्यसेत्पुष्पं ध्यात्वां प्रेतं जगद् गुरुम्।
- - - - - - - - - - - - - सर्वकारणम्॥२९॥

पूजयित्वा ततः पश्चात् स्वे स्वे मन्त्रेण सुव्रते।
अर्चयेत् क्षेत्रपालेशं ततो धूपं सुकल्पयेत्॥३०॥

ततो वै स्थापयेल्लिंग गन्धधूपाद्यनुक्रमैः।
दधिक्षीराज्यमधुकै द्र्राक्षश्चेक्षुरमासवः॥३१॥

सुरादि सोत्तमैर्द्रव्यैर्दध्यमासादिनुक्रमैः।
पश्चाद्वेषोत्तमं दिव्यं महास्नानं प्रकल्पयेत्॥३२॥

मणिरत्नमये पात्रे सौवर्णे राजतेऽपि वा।
कास्ये चैवात्र सङ्घट्टे तदाभावास्तु बिल्वजे॥३३॥

मध्यवृत्तिपदोद्भूतं गृहीत्वा स्वकुलामृतम्।
कर्पूरागुरुसंयुक्ते मृगजामलयान्वितम्॥३४॥

मूलमन्त्रेति सत्कृत्वा मुनिसङ्ख्या विधानवित्।
अयमेवाथोऽयस्कान्ते पात्रान्ते लिङ्गमुत्तमम्॥३५॥

स्नात्वा चैवोपविष्टे वै लिङ्गावित्सङ्ख्यया शुभम्।
धर्माधर्मक्षये प्रोक्ते विशुद्धे विशुवे परे॥३६॥

चिच्चितान्तरसंल्लीने ध्यात्वा सङ्घट्टभैरवम्।
युक्ति युक्तं पिवेन्मद्यं पिङ्गलं निर्मलं रसम्॥३७॥

तत्क्षणाद् भवती वीरो वलीपलित वर्जितः।
- - - - - - - मपरे नित्यं द्वितीयमिव भैरवः॥३८॥

एवं स्नानविधिङ्कृत्वा कर्णिकान्ते जगद्गुरुम्।
मुनिसङ्ख्यार्चयेद्देवं पराशक्तिसमन्वितम्॥३९॥

अष्टत्रिंशाक्षरं घोरं काली सप्तादशाक्षरा।
पूजामन्त्रेण वो पश्चात् त्र्यक्षरे सर्वकामदे॥४०॥

भूतसङ्ख्यार्चयेद्देवं द्विधाशाक्ति स्त्रिधाशिवम्।
पश्चात्क्रमेऽर्चयेत्सर्वा गुरुसिद्धादिपीठगाः॥४१॥

तृसङ्घट्टं ततः पद्मं द्वादशारं ततोर्चयेत्।
षट्कोणं परमं धाम सर्वशक्त्यालयोद्भवम्॥४२॥

गृह्य पुष्पाञ्जलिं पश्चाज्जातंत्यक्त्वा तु भूतले।
विद्यायुग्मं ततः पूज्यं त्रिवर्णेशं सकृत् सकृत्॥४३॥

ततो वै समयाख्या तु भोगमोक्षार्थकामदा।
पञ्चषड्भिस्तु कोटीनां विद्यां समयमुत्तमाम्॥४४॥

या स्मृता राजराजेशी पञ्चशार्णा पराकला।
मूलमुख्यतरा दीप्ता धर्माधर्मक्षयङ्करी॥४५॥

यत्रोत्पन्नास्तु ते मन्त्रा अघोराद्यादिनुक्रमा।
सप्तादशाक्षराद्यादि मूलमुख्यतरान्तिमा॥४६॥

राजराजेश्वरादिव्या तया विद्याजगाम्बिके।
त्रिरावृत्तं प्रयोगेण नित्यमेवं प्रपूजयेत्॥४७॥

यया पूजित मात्रा वै सकृत्स्मृत्वा वानधे।
अनेन शरीरेण सायोज्यत्वं प्रयच्छति॥४८॥

पश्चात्प्रकल्पये धूपं पञ्चब्रह्मनवात्मकम्।
ततश्चाष्टाङ्गविधिना दण्डपातं प्रदक्षिणम्॥४९॥

कृत्वा दिव्या महाराणि कर्मणा मनसागिरा।
निवेदयेत्परे तत्त्वे पुष्पहस्तं प्रकल्पयेत्॥५०॥

धर्माधर्मं च - - पुण्यपापं शुभाशुभम्।
कामक्रोधमलं लोभं शब्द स्पर्श रसं तथा[क]॥५१॥

ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वर श्च सदाशिवः।
एतत् सर्वमशेषेण नानावृत्यौघमण्डलम्॥५२॥

पञ्चाभूतात्मकं पिण्डं तत्त्व षट्त्रिंशबृंहितम्।
चतुर्विंशपदोपेतं षड्ध्वनिलयं परम्॥५३॥

षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्षं व्योमपञ्चकम्।
आब्रह्मभुवनं सर्वं स्वकुलं कौलिकं पशुम्॥५४॥

निवेदयेत्परे ब्रह्मे भैरवोत्सङ्गबृंहिते।
स्वदेहोत्कर्तनं कृत्वा ज्वलयेत् - - - ॥५५॥

क. खण्डितोऽत्र पाठः।

होम एतत्समाख्यातं यन्त्रस्याप्यायनं महत्।
एतद्वै त्रिविधं का - - - - - ट्कायिक वाचिकम्।।५६।।

कृत्वा पूर्वेनयेत्पश्चात् महापशूपहारकम्।
सर्वाङ्गलक्षणोपेतं प्रत्यग्रं तु नरेश्वरम्।।५७।।

स्वसातं सुमहानन्दं बद्धनेत्रपदं शुभान्।
तदनाप्तमशेषं व अजं वा महिषं वृषम्।।५८।।

मीनं चाथ वरारोहे यत्किञ्चिज्जीवरूपिणम्।
सुशुष्कं चैव सुस्नातं सुरोमं शृंङ्गिणं शुभम्।।५९।।

सर्वलक्षणसम्पूर्णं अक्षताङ्गमरोगिणम्।
ह्रीं क्षां क्षं तृतीये नेन आकर्णान्तावलोकयेत्।।६०।।

ततो नेत्रपटोद्धाट्य कुलाचारसमन्वितैः।
अर्घपुष्पासवोपेते शिरः पृष्ठे कटिस्थले।।६१।।

प्रेक्षयित्वा प्रधानेन दिव्येन वेघ रूपकैः।
यावन्न चालयेद्देहं तावन्न पशुपातयेत्।।६२।।

ह्रीं धूंक्षः तृतये नैव वीरकर्म समार्चयेत्।
- - - - - - - - - - कामविभूतिदम्।।६३।।

यदादौ चालयेद् वक्त्रं पश्चाद् देहं वरानने।
अशुभं ते तु विज्ञेयं दुःख शोकामयप्रदम्।।६४।।

यदादौ धुनते वक्त्रं पश्चाद्देहं पुनश्शिरम्।
सिद्धिदं तत्र विज्ञेयं सप्तदेहविलम्बितम्।।६५।।

प्रवृष्टिं तु यदा मुञ्चे पुरीषाण्डानि शोभने।
समैर्वित्तागमैविन्द्या द्विषमं ज्ञानसिद्धिदम्।।६६।।

पुरीषं तु यदा मुञ्चेत् गृहीत्वा वीर वन्दिते।
स्वकुलामृतसंयुक्तं मातृभृङ्गिरजान्वितम्॥६७॥

कुहा कुष्ठसमोपेतं मुनिसंख्याभिमन्त्रितम्॥६८॥

सप्तादशाक्षरा विद्या नस्ये पाने पिवेद् गुदः।
आपादतलमुण्डान्तं सर्वाङ्गेषु समालभेत्॥६९॥

चतुष्षष्ठिविधैर्घोरैः कालकूटादिनुक्रमात्।
नाभिभूयति सो भद्रे शस्त्रास्त्रै तु स बाध्यति॥७०॥

स्तम्भयेत्सर्वसैन्यानि मन्त्रं देवासुरोपमः।
दिक्पूर्वोभिमुखे भूत्वा यदा यासौ धुनतेऽनघे॥७१॥

तदा अक्षागमं विन्द्याद दिव्यस्त्रीप्रियसंगमम्।
स्थानलाभं शरीरस्य वज्रकायवलं भवेत्॥७२॥

आग्नेया तु भवं घोरे वह्नि सञ्जाननं भवेत्।
दुर्भिक्षं राष्ट्र संपातं राजा चैव विनश्यति॥७३॥

याम्यायां मरणं घोरं कष्टारं - - - भा।
अतिवृष्टिरनावृष्टिः भवते वाम सुव्रते॥७४॥

मन्त्रहस्ताद्भवेत् - - - - - भूहानिर्वियोगम्॥७५॥

कटुबन्धुर्जनैस्सार्धं दुष्ट शत्रुभयं भवेत्।
सुभिक्षं वारुणे भागे सर्व सत्त्वसुसिद्धिदम्॥७६॥

- - - गास्साधकेन्द्रस्य सर्वभूताश्चराचराः।
वायव्यां विधुसंपातं विद्वेषोच्चाटमारणम्॥७७॥

वज्रपाताशिरभयं मरणेचार्थनाशनम्।
यत्किञ्चिदशुभं भद्रे तत्सर्वं वायवीदिशम्॥७८॥

उत्तरे ज्ञान सिद्धिः स्याद्वश्याकर्षणमारणम्।
प्रसादं सर्वदेवीनां सिद्धिं चैव मनेप्सितम्।।७९।।

अधमां मध्यमां कामां कौबेर्यां धुनते यदा।
ईशान्यभिमुखो भूत्वा यदासौ धुनते पशुम्।।८०।।

।। इति महाकौलागमे पातालपिङ्गलान्तरखण्डविनिर्गते श्री वृद्धस्वच्छन्द-
कौलाभिधाने व्याधिभक्षभैरवे सप्तमः पटलः।।

॥ अष्टमः पटलः॥

श्री देव्युवाच

आसां मन्त्रोदयं दिव्यं कथय स्वप्रसादतः।
येन विज्ञातमात्रेण मन्दपुण्योऽपि सिद्ध्यते॥१॥

एतच्छ्रुत्वा तु वैष्णवं देवदेवेन शूलिना।
विहस्य सुचिरं कालं प्राश्य पञ्चामृतं चरुम्॥२॥

सन्दष्टोष्ठपुटं नाथ प्राह गद्गदयागिरा[1]॥३॥

खेचरीज्ञानविधानम्

श्री भैरव उवाच

शृणुत्वं खेचरीज्ञानं स्वपिण्डे खगतिप्रदम्।
भुक्तिमुक्ति प्रदातारं सर्वकामविभूतिदम्[2]॥४॥

मन्त्रोद्धारक्रमः

शान्तौघरूपकं दिव्यं मन्त्रोद्धारं तु कौलिकम्।
द्विधाभेदेन वक्ष्यामि कर्णान्ते खेटिकागमे॥५॥

शून्यं शून्यसमायुक्तं वह्निसम्पुटमध्यगम्।
मायानादकलोपेतं नारुद्रो लभते स्फुटम्॥६॥

कामसम्पुटमध्यस्थं कामारिङ्कामसंस्थितम्।
नादविन्दुकलोपेतं लभते योगिनी सुतम्॥७॥

प्रेतनाथमन्त्रोद्धारः

सर्वगाद्यं पुनर्भद्रे सर्वगं विन्दुभूषितम्।
षष्ठस्वरसमारूढं जीवं चन्द्रार्कभूषितम्॥८॥

---

१. गम्भीरयागिरा. ख.।

२. पंक्तिनीस्ति, ख.।

॥ एकादशः पटलः॥

श्री देव्युवाच

सूचिता ते महामुद्रा मोदिता सर्वकामदा।
कथय स्व प्रसादेन देव चन्द्रार्धशेखर॥१॥

महामुद्रोपदेशः

श्री भैरव उवाच

अकथ्या सा महामुद्रा योगिनीनां महोदया।
गोपिता सर्वकौलेषु मतयामलतन्त्रकैः॥२॥

कुलगर्भैश्च विविधैर्न ज्ञाता केनचित् स्फुटा।
भोगहस्ते मयाख्याता मन्त्रगर्भा पराकला॥३॥

अस्मिन्कौलागमे दिव्ये मुद्राद्या पारमेश्वरी।
सस्फुरन्ती महादिव्या योगिनीनां सुसिद्धिदा॥४॥

स्थूला[१] विश्वतनुर्देवी सूक्ष्मा चिन्मा(त्र) धर्मिणी।
परा नित्योदितानन्ता ब्रह्मसत्तास्वरूपिणी॥५॥

खभूपातालदिग्व्योमव्यापिनी सर्वतोमुखी।
एषा सा परमा मुद्रा कौलिकी भोगमोक्षदा॥६॥

भोगहस्तेति विख्याता स्वच्छन्देस्मिन् द्वितीयके।
संस्थिता सम्प्रवक्ष्यामि शृणुत्वं वीरवन्दिते॥७॥

जीवसम्पुटमध्योत्था मन्त्रगर्भा[२]पराकला।
सर्पवत् कुटिलाकारा भूरिकालानलोपमा॥८॥

---

१. मूला, क.।

२. मन्त्रयन्त्र०, ख.।

भित्वाषडध्वनिलयं च क्रान्तं षोडशादिकम्।
तत्क्षणाज्जायते तीव्रं रोमाञ्चमघनाशनम्।।९।।

ईषत्कुलामृतोपेतं महावामामृतोत्तमम्।
किञ्चित्सुरासवोपेतमेकं वीरमथापि वा।।१०।।

गृहीत्वा व्योमदेशे तु त्रिधामेनान्तरोदितम्।
मन्त्रयुग्मं तु वै कृत्वा चिद्व्योमस्थं परे पदे।।११।।

स्फूर्जद्रेणुरिवाकारं चलत्कल्लोलपाण्डुरम्।
मध्यदृष्टिनिरोधेन व्योमातीतं विराजते।।१२।।

तृप्यन्ति योगिनीं सोमां सिद्धां मात्रांश्चराचराम्।
सहजां पीठजां दिव्यां कुलकौलसमुद्भवाम्।।१३।।

खेचरीं भूचरीं सर्वां गोचराद्यादि दिक्चरीम्।
द्वादशक्रमभेदेन चतुष्षष्टिमनामयाम्।।१४।।

सप्तादशपदोद्भूतां दिव्यदिव्यां चराचराम्।[1]
अदृष्टविग्रहा शान्ता व्यक्ताव्यक्तपदोद्भवा।।१५।।

सानन्तादि शिवान्तान्ते याः स्थिताः दिव्यमातरः।
सर्वास्ता नन्दिता यान्ति सर्वसत्त्वाश्चराचराः।।१६।।

पानमुद्रा प्रभावेण नित्यतृप्ता मदान्विताः।
भवन्ति साधकेन्द्राणां खेचराद्यानि साष्टधा।।१७।।

प्रयच्छन्त्येप्सितान्कामान्नधमान्मध्यमोत्तमान्।
अन्यथा तर्पणं तासां महाकल्पायुतैरपि।।१८।।

दत्वा महासवं पूर्णं समुद्रेणैव जायते।
इति सत्यं परं भद्रे महामुद्रा प्रभावतः।।१९।।

---

१. श्लोक १३-१५ क. द्वितीया स्थाने प्रथमाविभक्ति-ज्ञेया।

तृप्तास्सिद्धिं साधयन्ति साधकैर्मानसेप्सिताम्।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा सर्वज्ञत्वफलप्रदा॥२०॥

शिवसद्भावजननी परब्रह्मस्वरूपिणी।
भैरवेण समायुक्ता भैरवी सर्वबृंहिता॥२१॥

जीवसम्पुटमध्यस्था चन्द्रार्काग्निकलान्तगा।
सरहस्या मया ख्याता स्वपिण्डे भोगमोक्षदा॥२२॥

अनया सहिता वीराः कुलकौलसमुपासकाः।
नित्यं कौलक्रमैर्भक्ता पशवस्ते प्रकीर्तिताः॥२३॥

न सिद्ध्यन्ति न मुञ्चन्ति शिरश्छिन्नास्तु ते जनाः।
यस्याङ्गैः पतते पानं महामुद्राविमूर्च्छितम्॥२४॥

धर्माधर्मक्षयं गत्वा छिन्नमूल इव द्रुमः।
संविद्धः पतते भूमौ सत्यं नास्त्यत्र संशयः॥२५॥

पशूनां गोपयेद्य[1]त्तन्मुद्रैषा पारमेश्वरी।
गोपनात्सिद्ध्यतेत्याशु अगोप्यानरकं व्रजेत्॥२६॥

॥ इति श्री महाकौलागमेवृद्धस्वच्छन्दे एकादशः पटलः॥

---

१. यत्नान्मुद्रैषा, ख.।

नौलि-कर्म—

विधि—नौलि-कर्म उदर से किया जाता है। इसमें साधक को घुटने के बल झुककर उदरवर्ती नाड़ियों को जलभंवर (आवर्त) के समान अत्यन्त वेगपूर्वक दक्षिण तथा वाम पार्श्वों में क्रमशः घुमाना पड़ता है।[1]

फल—यह क्रिया मन्दाग्नि को प्रदीप्त करती है। अन्नादि को अच्छी प्रकार से पचाती है और साधक को सदा प्रसन्नचित्त रखती है। यह उदर-सम्बन्धी रोग, उदर की स्थूलता, आतों का विकार, कब्ज, उदरपीड़ा आदि की अचूक औषधि है। धौती आदि क्रियाओं में यह मूर्द्धन्य है; क्योंकि अन्य कतिपय क्रियाओं में इसका उपयोग होता है।[2]

कपालभाति-कर्म—

विधि—कपालभाति-क्रिया रेचक तथा पूरक प्राणायाम के समीप की है। इसमें यथेष्ट आसन लगाकर अभ्यासी लोहकार की धौंकनी के समान अत्यन्त शीघ्रता से रेचक तथा पूरक प्राणायाम करता है। इसमें एक नासिका-रन्ध्र से वायु को भीतर खींचकर दूसरे नासिका-विवर से उसे तुरन्त निकालने का विधान है।[3]

फल—कपालभाति-कर्म के अभ्यासी को कफ से उत्पन्न होने वाले विकार व्यथित नहीं करते हैं।[4] यह प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी-जागरण में सहायक होता है।

मुद्राएँ—

मुद्रा की संख्या—आचार्य **नारायणतीर्थ** के अनुसार मुद्राएँ नौ हैं—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, शक्तिचालन, मूलबन्ध, उड्डीयान, जालन्धरबन्घ तथा विपरीतकरणी।

महामुद्रा—

विधि—अभ्यासी सर्वप्रथम दोनों टाँगे फैलाकर बैठे। तदनन्तर वाम (बाएँ) पाद को मोड़े। इस मुड़े हुए बाएँ पैर से गुदा और मेढ्र के मध्य भाग में स्थित सीवनी को भली-भाँति पीड़ित करे अर्थात् दबाए। प्रसारित दाएँ (दक्षिण) पैर को दोनों हाथों से पकड़े। तदनन्तर शरीर के नौ द्वारों (छिद्रों) को अपने अधीन करके आगे झुके और चिबुक (ठोड़ी) को हृदयप्रदेश से लगाए (स्पर्श कराए)। इस प्रकार की मुद्रा (आकृति) बन

---

[1] आनन्दा (अमंदा)-वर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्ययोः।
नलांशो (नतांसो) भ्रामयेदेषा नौली योगे प्रचक्षते॥
—यो० सि० चं० पृ० ६९।

[2] मन्दाग्निसन्दीपनपाचकाग्निसन्धायि (पि)-कानन्दकरी तथैव।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रिया मौलिनीयं हि नौली॥
—यो० सि० चं० पृ० ६९।

[3] भस्त्रेव लोहकाराणां रेचपूरौ ससंभ्रमौ। —यो० सि० चं० पृ० ६९।

[4] कपालभाती विख्याता कफदोषप्रदाहिनी॥ —यो० सि० चं० पृ० ६९।

जाने के पश्चात् प्राणवायु पर नियन्त्रण रखा जाता है। इस प्रकार बाएँ पैर से महा-मुद्रा का अभ्यास करके पुनः दक्षिण (दाएँ) पैर से यह मुद्रा की जाती है।[१]

फल—गुरु द्वारा उपदिष्ट महामुद्रा का स्थिर चित्त से अभ्यास करने से साधारण योगी भी सिद्ध पुरुष बन जाता है। इसका पौनःपुन्येन अभ्यास करने से जठराग्नि प्रज्वलित होती है और शरीर के समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं। महामुद्रा की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इससे बिन्दु स्थिर होता है और कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत् होकर सुषुम्ना नाड़ी के सहारे ऊपर की ओर उठती हुई ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट होती है। इस प्रकार प्राणोत्थान और कुण्डलिनी-जागरण में इसका विशेष उपयोग है।

महाबन्ध-मुद्रा—

विधि—सर्वप्रथम साधक दोनों पैरों को विस्तीर्ण कर एक पैर (दक्षिण चरण) को दूसरे (वाम) पैर के उरुप्रदेश पर स्थिर करे। तदनन्तर गुदा एवं योनि का आकुञ्चन करके (सिकोड़कर) अपानवायु को ऊर्ध्वमुखी करके समानवायु के साथ मिलाए और प्राण को अधोमुखी करे।[२] ऐसा करने से महाबन्ध-मुद्रा सिद्ध होती है।

फल—इस प्रकार का अभ्यास करने से प्राण तथा अपानवायु ऊर्ध्वगामी हो जाते हैं। अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और नाड़ियों का रससमूह ऊपर की ओर प्रवाहित होने लगता है।[३]

महावेध-मुद्रा—

विधि—महावेध-मुद्रा सिद्ध करने के लिए सर्वप्रथम महाबन्ध-मुद्रा लगायी जाती है। इस प्रकार महाबन्ध-मुद्रा में स्थित साधक योगशास्त्रोक्त विधि से पूरक-प्राणायाम द्वारा बाह्य-वायु का पूरण करके प्राणादि वायुओं की ऊर्ध्व-अधःप्रदेश प्रवहणशीलता को कण्ठ-मुद्रा के द्वारा (कुम्भक-प्राणायाम के द्वारा) निरुद्ध करे। तदनन्तर भूमि पर स्थापित हथेलियों के आश्रय से वाम पाद के सहित स्फिच (नितम्ब) को ऊपर की ओर उठाकर दूसरे

---

१ अपसव्येन संपीडच पादमूलेन सादरम्।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्चान्तरालगाम्॥
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन तु।
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि॥
······वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाऽभ्यसेत् पुनः।—यो० सि० चं० पृ० ६९-७०।

२ योऽस्यां (ततः) प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि।
गुदयोनी समाकुञ्च्य नीत्वा चापानमूर्ध्वगम्॥
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम्।
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थमपानप्राणयोः सुधीः॥
कथितोऽयं महाबन्धः·········—यो० सि० चं० पृ० ७०।

३ ············सर्वसिद्धिप्रदायकः।
नाडीगलद्रसव्यूहमूर्ध्वं नयति योगिनः।—यो० सि० चं० पृ० ७०।

चरण से उसे (नितम्ब) ताड़ित करे। इस प्रकार वाम पाद से स्फिच को पीड़ित करने पर प्राणवायु इडा तथा पिंगला नाड़ियों में प्रवाहित होना छोड़कर केवल सुषुम्ना नाड़ी में ही प्रवाहित होने लगता है। फलस्वरूप चन्द्रमा, सूर्य तथा अग्निदेवता से अधिष्ठित इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना—ये तीन नाड़ियाँ एकत्रित हो जाती हैं। अर्थात् तीनों नाड़ियों का वायु एक हो जाता है। किन्तु इडा और पिंगला नाड़ियों को त्यागकर जब प्राणवायु केवल सुषुम्ना नाड़ी में प्रवाहित होता है तब मृतावस्था सी उत्पन्न होने लगती है। क्योंकि इडा और पिंगला नाड़ियों में वायु का जो संचरण है, वही जीवन है। अतः ऐसी दशा आते ही साधक पूरितवायु का रेचन (त्याग) करे। महावेध-मुद्रा साधने की यही प्रक्रिया है।[1]

फल—महावेध-मुद्रा के अभ्यास से आयु की वृद्धि होती है। अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वृद्धावस्था में शरीर झुरियों से आक्रान्त नहीं होता है। केश शीघ्र श्वेत नहीं होते और अभ्यासी का देह शीघ्र दुर्बल होकर काँपने नहीं लगता है।[2]

खेचरी-मुद्रा—

विधि—खेचरी-मुद्रा में छेदन, चालन और दोहन—इन तीन क्रियाओं द्वारा जिह्वा को इतना लम्बा किया जाता है कि पश्चिम की ओर प्रत्यावर्तित करने पर वह नाड़ियों के मार्ग—(कपाल के मध्य भाग में स्थित छिद्र)—को स्पर्श कर सके और आगे की ओर से भ्रुकुटियों के मध्यभाग को स्पर्श करने में समर्थ हो सके। जिह्वा को लम्बा करने की प्रथम विधि (छेदन) में जिह्वा के निचले तथा पतले तन्तू को थोड़ा-थोड़ा प्रतिदिन काटा जाता है। इसमें शीघ्रता करना अनुचित है, अन्यथा गूंगा होने की सम्भावना रहती है। चालन-क्रिया में हाथ के अँगूठे और तर्जनी अंगुली से जिह्वा को पकड़कर दाईं-बाईं ओर घुमाया जाता है और दोहन क्रिया में दोनों हाथों के अँगूठे और तर्जनी से गाय के थन के समान जीभ के दोनों पार्श्वों को दोहना पड़ता है अर्थात् जिह्वा को धीरे-धीरे खींचना पड़ता है। स्कन्दपुराण में खेचरी-मुद्रा सिद्ध करने का यही प्रकार बतलाया गया है।[3]

---

[1] महावेधं (महाबन्धं) स्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधा।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया॥
समहस्तयुगो भूमौ स्थितौ संताडयेच्छनैः।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः॥
सोमसूर्याग्निसन्धानं जायते ······—यो० सि० चं० पृ० ७०।

[2] ············चामृतायते—यो० सि० चं० पृ० ७०।
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः॥—यो० सि० चं० पृ० ७०-७१।

[3] कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निगद्यते॥—स्कन्दपुराण, यो० सि० चं० पृ० ७१।

फल—जो साधक खेचरी-मुद्रा के द्वारा लम्बी हुई जिह्वा को तालु के ऊपरी भाग में स्थित छिद्र से क्षण भर का स्पर्श कराने में समर्थ होता है, वह वात-पित्त-कफ धातुओं की विषमतारूप व्याधि, प्राण और देह के वियोगरूप मरण और वृद्धावस्था की जीर्णता से दूर रहता है और सर्प, विच्छू आदि की विषमयी भेदन-क्रिया उस पर प्रभाव नहीं डालती। खेचरी-मुद्रा से तालु (लम्बिका) के ऊपरी छिद्र को आवृत कर लेने पर कामिनी के स्पर्श आदि से साधक का बिन्दु (वीर्य) क्षरित नहीं होता अर्थात् बिन्दु अपने मस्तिष्क स्थान से नहीं गिरता है और यदि चलायमान हुआ बिन्दु योनिपर्यन्त पहुँच भी जाय तो भी योनि-मुद्रा (वज्रोली-मुद्रा) से नियन्त्रित बिन्दु आकर्षण-शक्ति से ऊपर की ओर खिंचा हुआ होकर सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से ऊर्ध्वगामी हो जाता है।[1]

शक्तिचालन मुद्रा—

विधि—अभ्यासी मूलाधार-चक्र के कमल पर सुप्त कुण्डलिनी-शक्ति को अपानवायु से भूयोभूयः आकृष्ट करे। यही शक्तिचालन मुद्रा है।[2]

फल—जो साधक प्रतिदिन शक्तिचालन-मुद्रा का अभ्यास करता है, उसकी जठराग्नि प्रदीप्त होती है वह रोग से मुक्त रहता है तथा चिरकाल से मूलाधार-चक्र में सुप्त उसकी कुण्डलिनी-शक्ति अपने सर्पाकार रूप को छोड़कर सुषुम्ना-नाड़ी की सहायता से ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है।[3] अतः अणिमादि सिद्धियों के अभिलाषी को शक्तिचालन-मुद्रा का सर्वदा प्रयास करते रहना चाहिए।

मूलबन्ध-मुद्रा—

विधि—साधक गुदामार्ग को सङ्कुचित करके पादमूल (एड़ी) से उसे ताड़ित करे। तदनन्तर अपानवायु की अधोगमनशीलता को बलपूर्वक रोककर उसे ऊर्ध्वमुखी बनाए, जिससे अपानवायु का प्राणवायु के साथ संयोग हो सके। ऐसा करने से मूलबन्ध-मुद्रा सिद्ध होती है।[4]

फल—यह बन्ध जरा-मरण का नाशक है अर्थात् इसके अभ्यास से साधक स्वस्थ एवं दीर्घायु प्राप्त करता है। यह जठराग्नि को प्रदीप्त करके अपच के कारण सम्भाव्यमान रोगों को शक्ति नहीं पकड़ने देता है।

---

[1] रसं समूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति।
विषयै (विषै) र्मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः॥
खेचर्य्या मुद्रितं येन विवरे लम्बिकोर्ध्वतः।
……… ………निरुद्धो योनिमुद्रया॥—यो० सि० चं० पृ० ७१।

[2] आधारकमले…… ……समभ्यसेत्—यो० सि० चं० पृ० ७१।

[3] विहाय मुद्रां भुजगीं स्वयमूर्ध्वं भवेत् खलु—यो० सि० चं० पृ० ७१।

[4] पादमूलेन संपीडच गुदमार्गं सुयन्त्रितम्।
बलादपानमाकृष्य बलादूर्ध्वं समभ्यसेत्॥—यो० सि० चं० पृ० ७१-७२।

उड्डीयान-मुद्रा--

विधि—वज्रासन लगाकर साधक दोनों हाथों से दोनों पैरों को पकड़े। गुल्फ प्रदेश के समीप उदर को लाकर उसे पीड़ित करे। ऐसा करने से उड्डीयान-मुद्रा लगती है।[१]

फल—इसका छः माहपर्यन्त निरन्तर अभ्यास करने से साधक मृत्युंजयी हो जाता है। प्रतिदिन चार बार अभ्यास करने से नाभिप्रदेश में स्थित साधक का नाभि-चक्र शुद्ध हो जाता है। फलतः चक्र का वायु-तत्त्व उसके अधीन हो जाता है।

जालन्धर-बन्ध—

विधि—देवताओं से भी दुष्प्राप्य जालन्धर-बन्ध के लिए साधक कण्ठ से शिराजाल (नाड़ि-समूह) को बाँधकर अर्थात् कण्ठ के छिद्र को संकुचित करके चिबुक को हृदय प्रदेशपर्यन्त ले जाकर दृढ़रीति से स्थिर रखे। ऐसा करने से जालन्धर-बन्ध सिद्ध होता है।[२] हठयोगप्रदीपिका में 'जालन्धर'—पद का अर्थ करते हुए लिखा है—जो शिराओं (नाड़ियों) के समूहरूप जाल को बाँधता है और कपाल के छिद्ररूप नभ में स्थित जल को नियन्त्रित रखता है, उसे जालन्धरबन्ध कहते हैं; क्योंकि जाल नाम समुदाय एवं जलसमूह का है।

फल—जालन्धर-बन्ध का विजयी योगज-ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

विपरीतकरणी-मुद्रा--

विधि—नाम से ही प्रतीत होता है, जिसमें पदार्थों की दिशा का व्युत्क्रम (स्थानान्तरण) किया जाता है, उसे विपरीतकरणी-मुद्रा कहते हैं। विपरीतकरणी-मुद्रा सिद्ध करने का प्रकार यह है—ऊपर पैर और नीचे सिर करने से जब साधक के ऊर्ध्व भाग में नाभि और अधोभाग में तालु स्थिर हो जाता है और ऊपर के भाग में अग्निरूप सूर्य और अधोभाग में अमृतरूप चन्द्रमा आ जाते हैं, तब विपरीतकरणी-मुद्रा सिद्ध होती है।[३]

फल—इस मुद्रा का फल समस्त रोगों का समूलोन्मूलन करना है।

इस प्रकार शरीर के बाह्य एवं आन्तरिक अङ्गों को शुद्ध एवं परिपुष्ट रखने के लिए कर्मयोग का अनुशीलन अत्यावश्यक है। इससे धारणा के साक्षात् अङ्ग प्राणायाम को सिद्ध करके साधक उसे राजयोग-प्राप्ति का साधन बना सकता है।

कर्मयोग के प्रसङ्ग में नारायणतीर्थ की देन—पातञ्जल-योगसूत्र के व्याख्याग्रन्थों में कर्मयोग की चर्चा नहीं मिलती है। शास्त्रों के गम्भीर अध्येता एवं योगसिद्ध आचार्य **नारायणतीर्थ** ने अष्टाङ्गयोग के प्रसङ्ग में कर्मयोग की उपयोगिता युक्तिपूर्वक बतलाते हुए

---

१ सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम्।
गुल्फदेशसमीपे च उदरं तत् प्रपीडयेत्॥ —यो० सि० चं० पृ० ७२।

२ बद्ध्वा गले शिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्।
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः॥ —यो० सि० चं० पृ० ७२।

३ ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्ध्वभानुरधःशशी।
करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी॥—यो० सि० चं० पृ० ७२।

मङ्गलश्लोकस्य विषयविचारणा

ग्रन्थोऽयं स्रग्धरा-छन्दसि शोभमानेन मङ्गलश्लोकेन, ततः अनुष्टुप्छन्दसि विद्यमानेन गुरुवन्दनेन प्रारभते । यथा –

नाभौ चन्द्रारविन्दं तदुपरि विवरं मण्डलं चण्डरश्मेः

संसारस्यैकसारां त्रिभुवनजननीं धर्मकर्मोदयाय ।

---

[१२] *अ.को.* १.५.६ - मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयो निःश्रेयसामृतम्।

Scanned by CamScanner

तस्या मध्ये त्रिमार्गे [त्रितयतनु]धरां [छिन्नमस्तां] प्रशस्तां

वन्दे ज्ञानस्वरूपां मरणभयहरां योगिनीं योगमुद्राम् ॥[१३] १॥

श्रीमद्गोरक्षनाथाय नमस्सन्तापहारिणे ।

गुरवे सार्थभावाय सिद्धवर्त्मनि गच्छताम् ॥ ॥२॥ इति

मङ्गलश्लोके कृतिकारेण योगमुद्रा प्रकीर्त्यते । मणिपूरकचक्रोपरि सूर्यमण्डलं वर्तते[१४] । तन्मध्ये त्रितयरूपिणी कुण्डलिनीशक्तिधारिणी, छिन्नमस्तरूपिणी, यशस्विनी, संसारकारणभूता त्रिभुवनजननी, ज्ञानस्वरूपिणी, जरामरणभयहारिणी, योगिनी योगमुद्रा वर्तते। सा योगमुद्रा धर्मान्वितकर्मणां फलप्राप्त्यै प्रणम्यते सिद्धपुरुषेण। 'योगमुद्रा' इत्याख्यया योगस्य मुद्राः समग्राः प्रकीर्त्यन्ते, न तु आधुनिककाले अभ्यस्यमाना प्रक्रिया । अधो दत्तं चित्रम् आधुनिककाले 'योगमुद्रा' नाम्ना अभ्यस्यमानां प्रक्रियां प्रदर्शयति ।

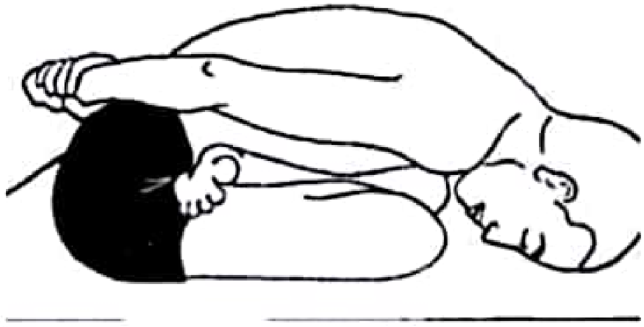

किन्तु नेयं प्रक्रिया उपलक्ष्यते मङ्गलश्लोके कृतिकारेण । *कालिकापुराणे* (६६.९८-९) पञ्चपञ्चाशन्मुद्राः विवृताः वर्तन्ते । ताः सर्वाः आराधनकाले प्रदर्शनीयानि चिह्नानि। तासु योगमुद्रापि अन्तर्भाविता । यथा –

---

[१३] अयं योगमुद्रास्तवः तन्त्रसारादुदीर्य प्रकाश्यते *शब्दकल्पद्रुमेण* (पृ.४९३-९४) । यथा -

नाभौ शुद्धारविन्दं तदुपरि कमलं मण्डलं चण्ड- रश्मेः संसारस्यैकसारां त्रिभुवनजननीं धर्म्म- कामोदयाढ्याम् ।

तस्मिन् मध्ये त्रिकोणे त्रितयतनुधरां छिन्नमस्तां प्रशस्तां तां वन्दे ज्ञानरूपां निखिलभयहरां योगिनीं योगमुद्राम् ॥ इति छिन्नमस्ताप्रकरणम् । इति तन्त्रसारः ॥

[१४] अयमंशः चतुर्थाध्याये विमृश्यते ।

Scanned by CamScanner

ऊर्ध्वं संयोजयेन्नाभौ तस्योपरि तथाञ्जलिः।

योगमुद्रा समाख्याता योगिनां तत्त्वदायिनी।।

सर्वेषामपि देवानां पूजने चिन्तने तथा।

योगमुद्रा समाख्याता तुष्टप्रीतिकरो सदा।। इति ।

किन्तु इयं देवताराधनपुरःसरा योगमुद्रापि कृतिकारेण नोपलक्षिता इति सुज्ञेयम् ।योगमुद्राणां प्रभावः कृतिकारोक्तस्थाने मणिपूरचक्रोपरिस्थिते सूर्यमण्डले भवेदिति मङ्गलश्लोकात् संवेद्यते । योगमुद्राभ्यासेन कुण्डलिनीशक्तिजागरणं सुकरं जायते इति हेतोः योगमुद्रा मङ्गलश्लोके प्रस्तूयते।

कुण्डलिनी-जागरणाय मुद्राभ्यासः आचरणीयः इति मुद्रामहत्त्वं प्रकीर्तयति *हठयोगप्रदीपिका* । जरामरणनाशाय, आदिगुरुणा शिवेन बोधितम् अष्टसिद्धिप्रदायकं देवैरपि अवाप्तुं दुर्लभं मुद्रादशकं समुपस्थीयते अनेन ग्रन्थेन[१५] । तद्यथा -

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।

उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ॥

करणी वपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।

इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ इति ।

इदं मुद्रादशकं हि योगमुद्रा नाम्ना विरूपाक्षेण संबोध्यते तथा वन्द्यते च ।

[१५] *ह.यो.प्र* ३. ६,७

Scanned by CamScanner

गुणप्रादुर्भावात् जायते इति विश्लेष्यते (४-७), तथा रजस्तमसोः विनाशेन सत्त्वगुणः उत्पादनीयः, ततः हि निर्मलं ज्ञानं सञ्जायते इति बोध्यते (८,९)।

११. महामुद्राविवेकः

एकादशश्लोकात्मकः अयं विवेकः । सर्वतन्त्रेषु गोपिता इति सङ्कीर्त्यते महामुद्रा (१,२) तथा महामुद्राभ्यासक्रमः उपस्थाप्यते (३-५) । महामुद्रायाः प्रयोजनानि उद्दीप्य मुद्रेयं बहुधा सङ्कीर्त्यते (६-११)।

१२. महाबन्धविवेकः

अस्मिन् विवेके त्रयोदशश्लोकाः सन्ति । योनिबन्धः कर्णबन्धः इति द्विविधो बन्धः उपस्थाप्यते (२)। यद्यपि तयोः वर्णनं न दीयते तथापि महाबन्धस्य अभ्यासप्रक्रिया प्रदीयते (३-६)। महाबन्धाभ्यासात् सूक्ष्मशरीरे जायमानानि परिवर्तनानि प्रकट्य (८-१०), अयं बन्धः मार्गत्रयनिरोधकः इति हेतुना चतुष्पथो बन्धः[४१] इति नाम्ना आख्यायते (१२) । एवमनया प्रक्रियया सञ्जातप्राणयोगादयं बन्धः 'संपुटयोगः' इति अभिधया सङ्कीर्त्यते (१६) [४४]।

१३. प्रथमावस्थाविवेकः

अस्मिन् विवेके पञ्चदशश्लोकाः सन्ति । प्रथमावस्थायां कृत्याकृत्यान् वेदयति कृतिकारः। सज्जनसमन्वितं सुभिक्षं क्षेत्रम् अभ्यासाय विचेतव्यम् । अग्निकलापयस्स्सेवाः परित्यज्य प्राणपीडां विना अभ्यासः अनुष्ठातव्यः इति प्रदीपयति इयं कृतिः (१-६) । योगशिक्षावता आहारचिन्तनं

---

[४१] *अमृतसिद्धियोग*-समं *वराहोपनिषदा* (५.४२,४३) चतुष्पथबन्धः 'संपुटयोगः' इति नाम्ना व्याह्रियते । अयमंशःपञ्चमाध्याये विशदीक्रियते ।

[४४] अयमंशः पञ्चमाध्याये सविस्तरं विमृश्यते ।

Scanned by CamScanner

४.१.६.अ. प्राणापानौ

यद्यपि असङ्ख्याः वायवः सन्ति[७२] देहे तथापि प्रमुखौ सृष्टिकर्तारौ तु चन्द्रसूर्यमयौ प्राणापानौ एव इति कृतिरियम् उद्बोधयति[७३] । यथा –

---

[६७] सामान्यवायुविवेकः १६

[६८] तत्रैव १८

[६९] तत्रैव ७, ८

[७०] तत्रैव ९

[७१] तत्रैव १५

[७२] तत्रैव १०

[७३] तत्रैव ११-२

Scanned by CamScanner

प्राणश्चन्द्रमयो ज्ञेयोऽपानस्सूर्यमयस्तथा ।

उभौ शरीरनेतारौ यातायातप्रकारकौ ॥

सृष्टिसंहारकर्तारौ सुखदुःखप्रदायिनौ ।

एताभ्यां भूतवृद्धिञ्च भूतानाञ्च क्षयं तथा ॥ इति ।

तयोः सङ्गतिरेव योगः[९४] इति परिभाष्यते कृतिकारेण। चित्तवृत्तिनिरोधो हि योगः इति पतञ्जलिना सूत्रितम्[९५]। किन्तु प्राणापानयोः तथा जीवात्मापरमात्मनोः योगः एव योगविज्ञानस्य लक्षणमति बोधयति *हठरत्नावली*[९६]। यथा –

अपानप्राणयोश्चापि जीवात्मपरमात्मनोः ।

योगश्चायं हि योगार्थं केचिदाचक्षते बुधाः ॥ इति ।

इमौ प्राणापानौ सुखदुःखप्रदायिनौ भूतवृद्धिं भूतक्षयञ्च कारयतः[९७] इति विरूपाक्षस्य मतं समं वेदयति *शिवसंहितापि*[९८] यत्र च प्राणापानौ श्रेष्ठकर्तारौ इति उल्लेखो वर्तते।

यथा –

अत्रापि वायवः पञ्च मुख्याः स्युर्दशतः पुनः ।

तत्रापि श्रेष्ठकर्तारौ प्राणापानौ मयोदितौ ॥ इति ।

---

[९४] सामान्यवायुविवेकः १३ - अनयोस्सङ्गतिर्योगः सदाभ्यासो मुमुक्षुभिः ।

एतद्द्वारेण धीराणां सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥

[९५] *यो.सू.* १.२ - योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

[९६] *ह.र.* १.६

[९७] सामान्यवायुविवेकः १२

[९८] *शि.स.* ३.६

Scanned by CamScanner

कुण्डलिनी-जागरण के सोपान—

साधना-जगत् में कुण्डलिनी-जागरण के लिये निम्नलिखित सोपान स्वीकार किये गये हैं :—

१. शोधन (षट्कर्म)
२. प्राणायाम और उसके भेदों का अभ्यास।
३. मुद्रा
४. षट्चक्रों की भावनायें—
  (क) भस्त्रिका प्राणायाम के दोनों प्रकार—५ से २५ प्राणायाम
  (ख) शक्ति चालिनी मुद्रा के दोनों प्रकार—५ से १० प्राणायाम
  (ग) ताड़न मुद्रा—४ प्राणायाम में १०१ संख्या (वार)
  (घ) परिधान युक्तिचालन—४ प्राणायाम में १०१ संख्या (वार)
  (ङ) शेष समय में षट्चक्र-भेदन की मानसिक क्रियायें या संयम
  (च) महामुद्रा
  (छ) महाबन्ध
  (ज) महावेध उभय प्रकार
  (झ) विपरीतकरणी मुद्रा
  (ञ) शेष समय में षट्चक्र-भेदन की क्रिया

षट्चक्र-भेदन क्रिया के अन्तर्गत प्रत्येक चक्र के स्थान दल, उनके वर्ण, अक्षर, मन्त्र, तत्त्व, अधिष्ठान, देव-शक्ति, उनके वाहन, बीज मंत्र, लोक, गुण, इन्द्रिय आदि का ध्यान करना चाहिये।

यह अभ्यास नियमित होना चाहिये। साधना में पहले तो शरीर से स्वेद निकलेगा किन्तु बाद में विद्युत् के समान शरीर में चमक उत्पन्न होगी। कुछ दिन के बाद चींटी के चलने के समान प्राण-शक्ति-गमन की अनुभूति होगी। तभी धीरे-धीरे मूलाधार का भेदन और कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन का अनुभव होगा।

Scanned by CamScanner

15:54

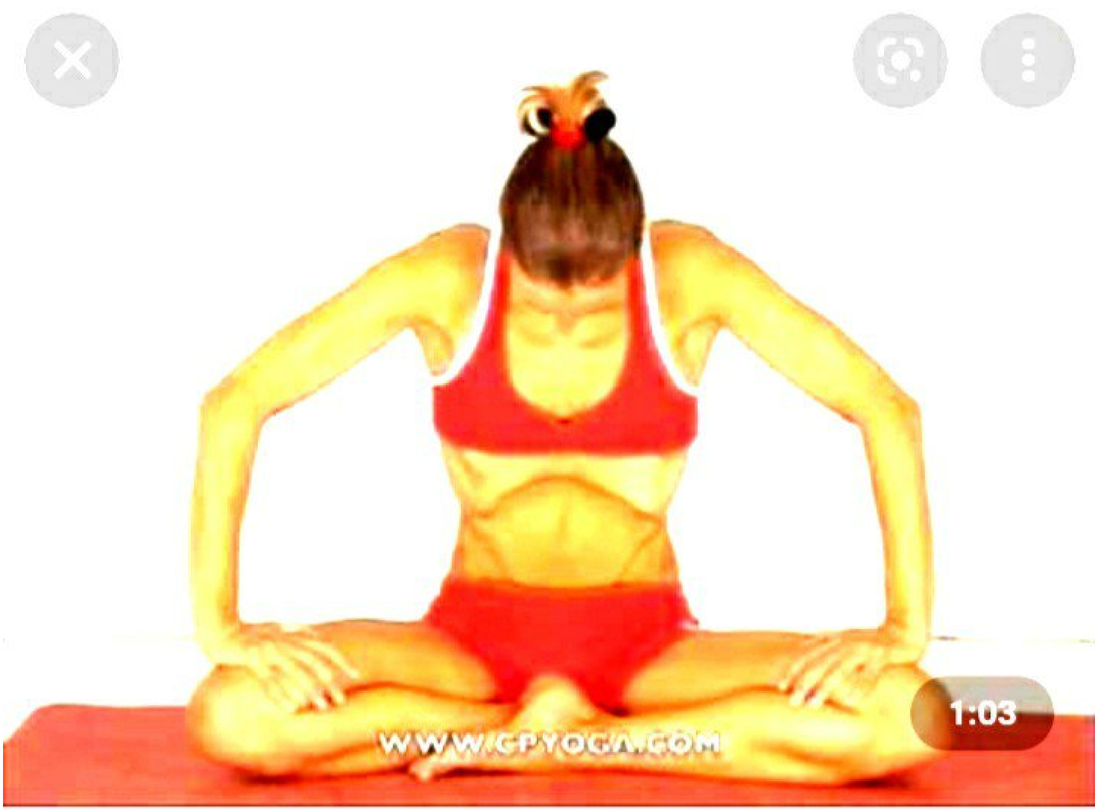

YouTube

#YogaKriyas - Shakti Chalana Mudra

Watch

Uploaded by: CPYOGA Lisboa, 27 Nov 2008
113K Views · 490 Likes

Shakti Chalana Mudra

Images may be subject to copyright. **Learn more**

Related images

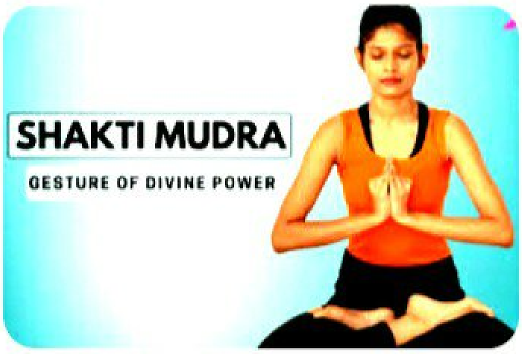

Shakti Mudra: How to Do, Benefits &
Fitsri

Shakti Chalini Mudra – Yogawiki
Yogawiki - Yoga Vidya

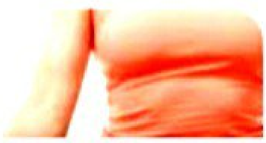

Discover Search Collections

योगमुद्रा.

२९ अथ महामुद्राविधिः ।

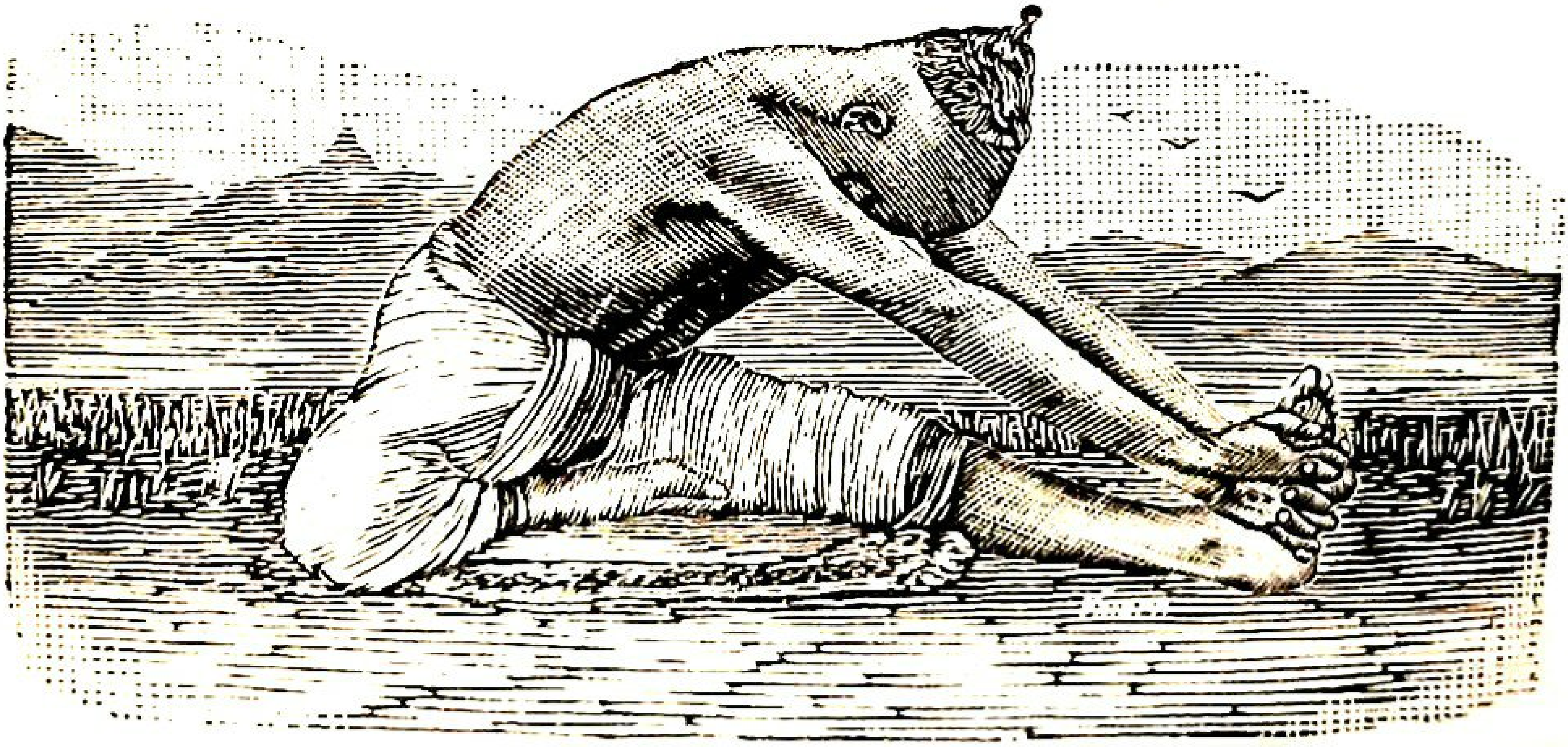

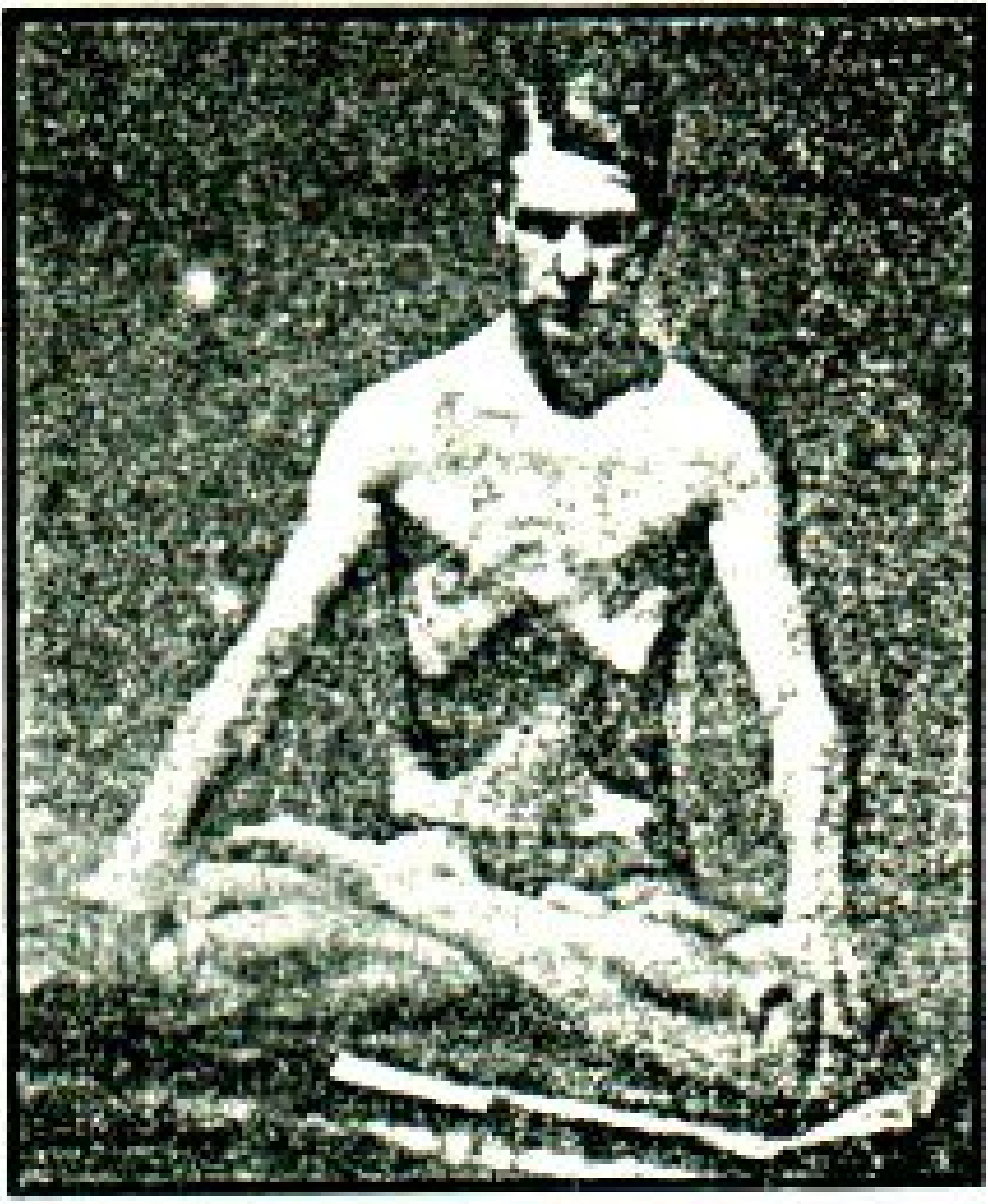

42. UDDIYANA BANDHA

Maha Mudra

Maha Mudra

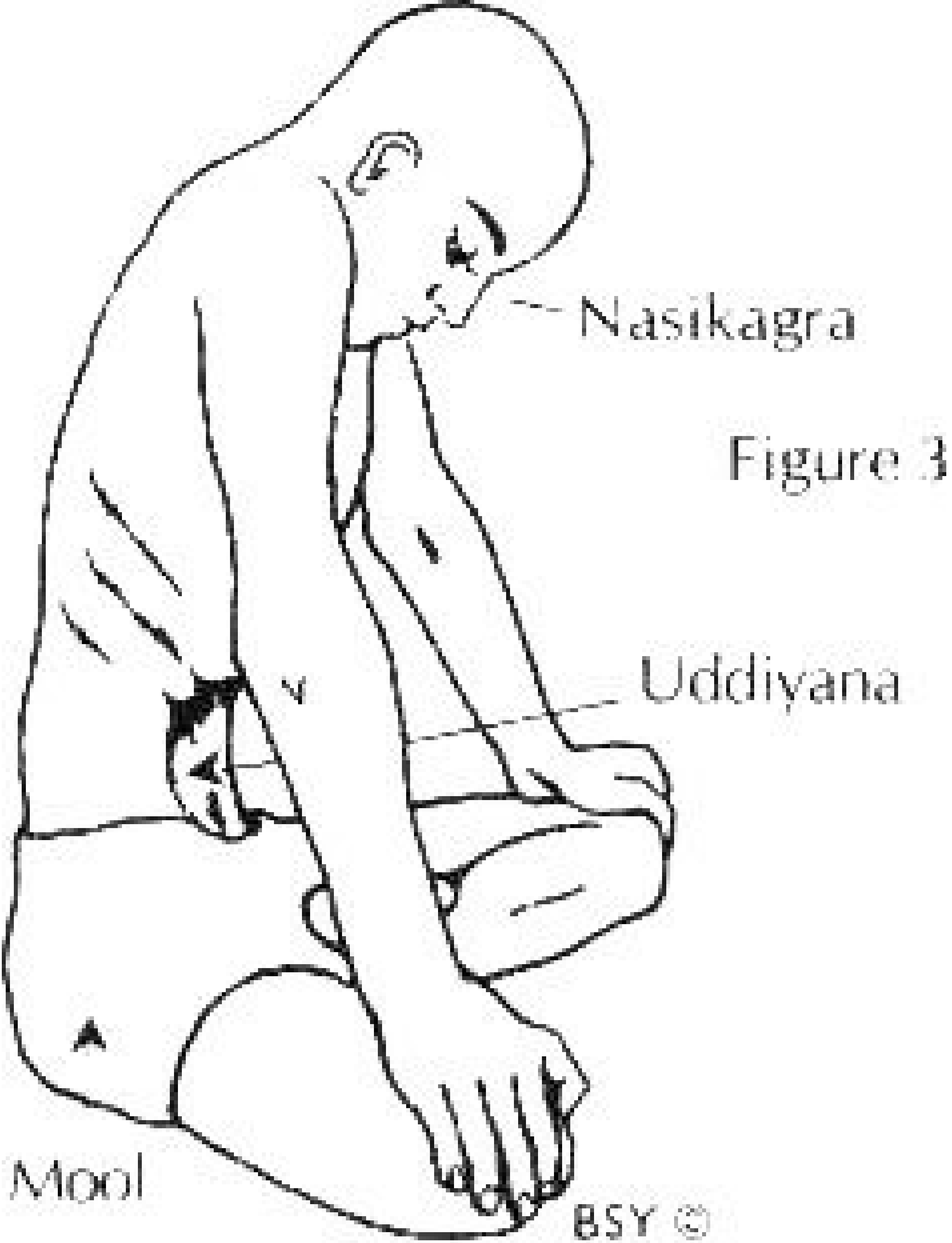

Retention

चक्र– मणिपुर एवं स्वाधिष्ठान चक्र **तत्त्व**– अग्नि एवं जल तत्त्व **ग्रन्थि**– प्रजनन ग्रन्थि **केन्द्र**– शक्ति एवं स्वास्थ्य केन्द्र **विशेष प्रभावित अंग**– प्रजनन अंग, मल-मूत्र अंग, मेरूदण्ड, गुर्दे आदि।

• एक्युप्रेशर के आधार पर इसमें साइनस, मस्तिष्क, पिच्युटरी ग्रंथि एवं पिनियिल ग्रन्थि के पोइन्ट भी दबते हैं। जिससे सर्दी-जुकाम, सिरदर्द, नजला, खाँसी, कफ जैसे रोगों का शमन होता है और ग्रन्थियों के स्राव नियंत्रित होकर शारीरिक शक्तियों का विकास करते हैं।

• हिन्दू धर्म में इस मुद्रा का प्रयोग जाप, अनुष्ठान एवं यज्ञ आदि के वक्त भी किया जाता है।

31. अपान वायु मुद्रा

अपान मुद्रा एवं वायु मुद्रा के संयोग से निर्मित मुद्रा को अपान वायु मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा में अपान मुद्रा और वायु मुद्रा का सम्मिश्रण है।

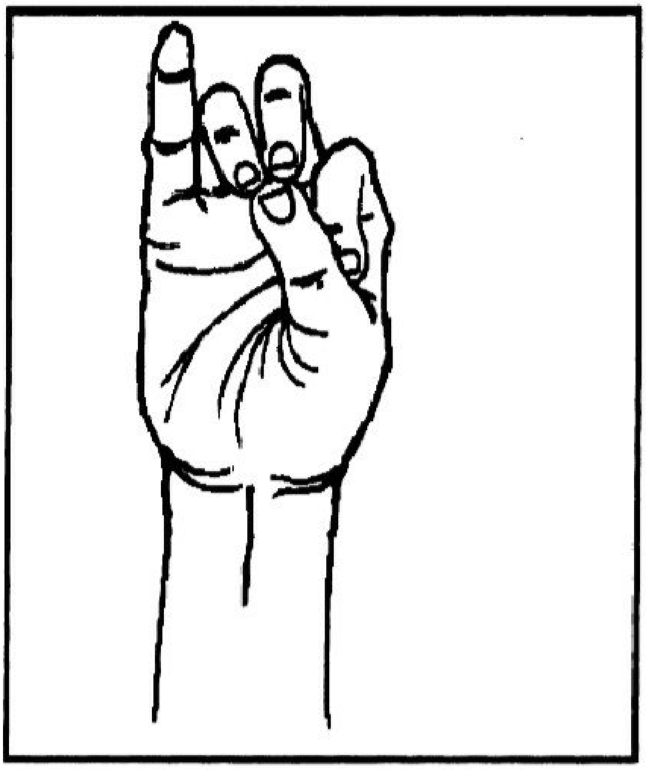

अपान वायु मुद्रा

यहाँ सहज प्रश्न उठता है कि अपान मुद्रा भी शरीरस्थ पाँच वायुओं में से वायु का एक प्रकार है तथा वायु मुद्रा में निहित वायु शब्द भी वायु अर्थ को द्योतित करता है तब दोनों वायु भिन्न-भिन्न हैं या एकरूप? इस समाधान के लिए दोनों मुद्राओं का अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होता है कि अपान वायु शरीर के मूलाधार चक्र (मल-मूत्र द्वार का मध्य भाग) और स्वाधिष्ठान चक्र (मेरूदण्ड के अन्तिम छोर) पर स्थिर रहता है जबकि सामान्य वायु श्वास-प्रश्वास के द्वारा गृहीत-विसर्जित की जाती है। इस तरह दोनों वायुओं में स्वरूप भेद है। अपान वायु मुद्रा मृत संजीवनी मुद्रा के नाम से भी जानी जाती है। यह यौगिक

अंग– मल-मूत्र अंग, प्रजनन अंग, गुर्दे, हृदय, फेफड़े, भुजाएँ, रक्त संचार प्रणाली।

• प्राण मुद्रा में पृथ्वी, जल और अग्नि इन तीनों तत्त्वों का एक साथ संयोजन होता है। इससे शरीर तन्त्र में रासायनिक परिवर्तन तथा शरीर के समस्त अवरोध दूर होते हैं।

• एक्यूप्रेशर के अनुसार इस मुद्रा में सायनस के कुछ बिन्दुओं पर दबाव पड़ने से सिर दर्द, सर्दी जुकाम, कफ, खांसी आदि के प्रकोप शान्त होते हैं। प्राणवायु मुख्य रूप से नासिका में, मुख में, हृदय में और नाभि के मध्यभाग में होती है।

27. अपान मुद्रा

हमारे समग्र शरीर में मुख्य रूप से प्राणवायु स्थित है। यह प्राण वायु शरीर के विभिन्न अवयवों एवं स्थानों पर भिन्न-भिन्न कार्य करती है इस दृष्टि से इस वायु के पृथक्-पृथक् नाम दे दिये गये हैं जैसे– प्राण, अपान, उदान, समान आदि। पूर्वकथित पंच वायु तत्त्व पाँच केन्द्रों में अलग-अलग कार्य करता है।

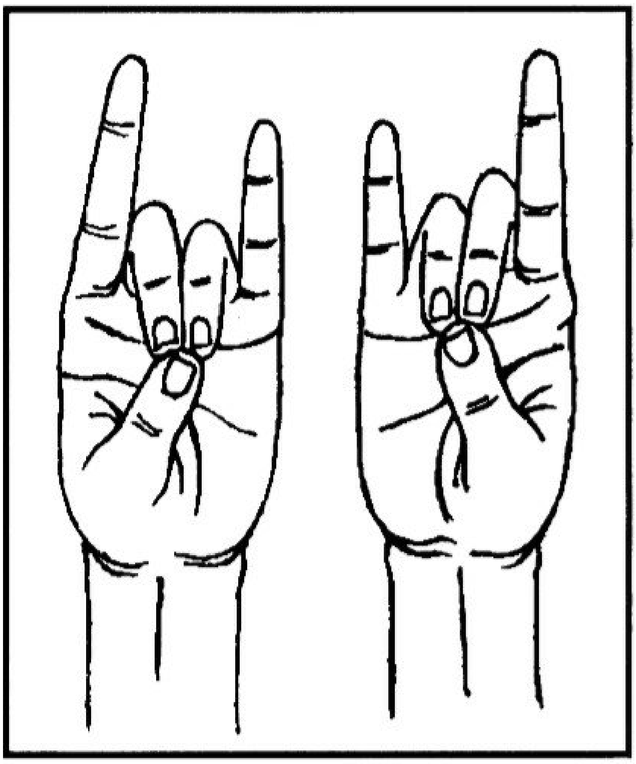

अपान मुद्रा

प्राण का मुख्य स्थान हृदय (आनन्द केन्द्र) है। प्राण नाभि से लेकर कंठ पर्यन्त प्रसरित है। प्राण का मुख्य कार्य श्वास-प्रश्वास करना, खाया हुआ भोजन पचाना, भोजन के रस को अलग-अलग इकाईयों में विभक्त करना, भोजन से रस बनाना, रस से अन्य धातुओं का निर्माण करना है।

अपान वायु का स्थान गुदा एवं गुदा का ऊपरी भाग है। ये स्थान स्वास्थ्य केन्द्र और शक्ति केन्द्र कहलाते हैं। योग ग्रन्थों में इन्हें स्वाधिष्ठान चक्र और मूलाधार चक्र कहा जाता है। अपान शक्ति मलद्वार के भीतर मूत्रेन्द्रिय तक फैली

पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत् ।

योगासनं भवेदेतद् योगिनां योगसाधने ।। [३०९]

प्राणायामादीनाम् अभ्यासाय स्थिरतया सुखेन अधिककालम् उपवेष्टुम् आसनानि - सिद्धासनम्, पद्मासनम्, स्वस्तिकासनम्, भद्रासनम् .... ।

आसनानामभ्यासस्य अनन्तरं शवासनम् करणीयम् । एतस्य अभ्यासेन शरीरं मनः च विश्रान्तिं प्राप्नुवन्ति ।

6.3 मुद्रा

देहे स्थिरीकृतां प्राणशक्तिं निर्दिष्टस्थलेषु विनिवेश्य ततः च्युतः यथा न स्यात् तथा कीलनम् उद्दिष्टानाम् अग्रिमक्रियाणां निमित्तं तस्य उपयोगश्च मुद्रा इति निर्दिश्यते । शाम्भवी मुद्रा, खेचरी मुद्रा , वज्रोळी, अमरोळी इत्यादीः मुद्राः विव्रीतवान् अस्ति आदिनाथः । हठयोगे घेरण्डेन पञ्चविंशतिमुद्राणां वर्णनं क्रियते ।

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।

मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी

विपरीतकरी योनि वज्रोली शक्तिचालिनी।

ताडागीमाण्डूकीमुद्रा शाम्भवीपञ्चधारणा

आश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।

---

३०९ घेरण्डसंहिता २.३८

पञ्चविंशति मुद्रा वै सिद्धिदाश्चेह योगिनाम् ।।[310]

मुद्राणां फलविवेचनम्-

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव संनिधौ।
येनविज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ।।
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित्।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरुतामपि ।।[311]

महामुद्राकथनम्-

वामगुल्फस्योपरि पायुमूलं स्थापयित्वा दक्षिणपादं प्रसार्य करेण पदाङ्गुलं धृत्वा कण्ठसंकोचनञ्च कृत्वा भ्रुवोः मध्ये निरीक्षणं कुर्यात् । स्थैर्ये सति या स्थितिः जाते सैव विद्वद्भिः महामुद्रा कथिता ।

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करेधृत पदांगुलः ।।
कण्ठ संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ।[312]

महामुद्राफलकथनम्-

क्षयकांस गुदावर्तं प्लीहाजीर्णज्वरं तथा।

---

३१० घेरण्डसंहिता ३.१-३

३११ घेरण्डसंहिता ३.४-५

३१२ घेरण्डसंहिता ३.६-७

नाशयेत्सर्वरागांश्च महामुद्रा च साधनात्[३१३]

नभोमुद्राकथनम्-

यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा।

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत् पवनं सदा।

नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥[३१४]

साधकाः यत्र कुत्रापि अवस्थानं कुर्यात् सः सदैव सर्वेष्वेव कर्येषु जिह्वामुपरि व्यावर्त्य स्थिरीभूय पवनं सदा धारयेत् । योगिनां रोगविनाशिनी एष मुद्रा नभोमुद्रानाम्ना ज्ञायते ।

उड्डीयानबन्धः-

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।

उड्डानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।।

उड्डीयानं त्वसो बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ।[३१५]

उड्डीयानबन्धस्य फलकथनम्-

समग्राद् बन्धनाद्ध्येतदुड्डीयानं विशिष्यते।

उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ।।[३१६]

---

३१३ घेरण्डसंहिता ३.८

३१४ घेरण्डसंहिता ३.९-१०

३१५ घेरण्डसंहिता ३.१०

३१६ घेरण्डसंहिता ३.११

यतोहि अनेन बन्धेन प्राणवायुः सुषुम्नानाड्यां उड्डीयते अतः एषः बन्धः उड्डीयानबन्धनाम्ना ज्ञायते । उड्डीयानबन्धस्य विधिविषये उच्यते यत्- उदरे नाभेरूर्ध्वभागे पश्चिमोत्तानं कुर्यात् । एषः बन्धः मृत्युरूपी गजस्य कृते सिंह सदृशः बलशाली भवेत् ।

जालन्धरबन्धकथनम्-

कण्ठं संकुच्य चिबुकस्य हृदयोपरि अवस्थानमेव जालन्धरबन्धनाम्ना व्यवह्रियते । अयमेव षोडशाधारबन्धनस्य कारणम् ।

कण्ठ संकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।

जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।

जालन्धरं महामुद्रामृत्योश्च क्षयकारिणी ।

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम् ।

षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः ।।[३१७]

मूलबन्धकथनम्-

पार्ष्णिना वामपादेन योनिस्थानस्य आकुञ्चनम् क्रियते तथा उर्ध्वरेता इव वायुमुपरि नयति साधकः ।

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः।

नाभिग्रंथिमेरुदण्डे संपीड्य यत्नतः सुधीः।

मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत्।

---

३१७ घेरण्डसंहिता ३.१२-१३

जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते[318]

मूलबन्धस्य फलकथनम्-

संसार समुद्रं तर्तुमभिलषति यः पुमान् ।

विजनेषु गुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत् ।।

अभ्यासाद् बन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम्।

साधयेद्यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः ।। [319]

महाबन्धकथनम्-

वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत् ।

दक्षापादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः ।।

शनैः शनैश्चालयेत् पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छनैः।

जालन्धरे धारयेत्प्राणं महाबन्धो निगद्यते ।।[320]

महाबन्धस्य फलकथनम्-

महाबन्धः परोबन्धो जरामरणनाशनः।

प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम् ।।[321]

बन्धोऽयं बन्धत्रयाणां समन्वयः। बन्धस्यास्य विधिविषये उच्यते यत्- वामपदस्य गुल्फेन गुदामूलं निरूध्य तद् गुल्फं यत्नेन दक्षिणपादेन संपीड्य शन्नैः शन्नैः योनिप्रदेशं

---

३१८ घेरण्डसंहिता ३.१४-१५

३१९ घेरण्डसंहिता३.१६-१७

३२० घेरण्डसंहिता३.१८-१९

३२१ घेरण्डसंहिता ३.२०-२१

आकुञ्चयेत् चालयेच्च तथा जलन्धरबन्धेन प्राणवायुं धारयेत् । महाबन्धोऽयं सर्वबन्धेषु श्रेष्ठोऽस्ति ।

महावेधकथनम्-

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।

मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा ।।

महाबन्धं समासाद्य उड्डीनकुम्भकं चरेत् ।

महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ।।[322]

महावेधस्य फलकथनम्-

महाबन्धमूलबन्धौ महावेधसमन्वितौ ।

प्रत्यहं कुरुतेयस्तु स योगीयोगवित्तमः ।।

न च मृत्युभयं तस्य न जरा तस्य विद्यते।

गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुंगवैः ।।[323]

पुरूषरहितनारीणां रुप-यौवन-लावण्यस्य व्यर्थता एव महावेधमुद्रापरहितस्य मूलबन्ध-महाबन्धयोः व्यर्थता कथनमेव महावेधमुद्रायाः महत्त्वं द्योतयति ।

खेचरीमुद्राकथनम्-

जिह्वाधोनाडीं संछिन्नां रसनां चालयेत् सदा।

दोहयेन्नवनीतेन लोहयन्त्रेण कर्षयेत्

एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिकादीर्घतां व्रजेत्।

---

३२२ घेरण्डसंहिता ३.२२-२३

३२३ घेरण्डसंहिता ३.२४-२५

यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी

रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत्।

कपालकुहरेजिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।

भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी ।।[३२४]

खेचरीमुद्राफलकथनम्-

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।

न च रोगो जरामृत्यु र्देवदेहः स जायते ।।

नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः।

न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः ।।

लावण्यं च भवेद्गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।

कपाल वक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात्

नाना रससमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने।

आदौ लवणक्षारं च ततस्तिक्त कषायकम्

नवनीतं धृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।

द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम्।।[३२५]

उपरि व्यावृत्य विपरितक्रमेण कपालकुहरे जिह्वायाः प्रवेशं कार्यते तथा दृष्टिः भ्रुवो मध्ये स्थापयते सा एव मुद्रा खेचरीमुद्रानाम्ना ज्ञायते । जिह्वां नवनीतमयं कृत्वा दोहयेत् । तदनन्तरं लौहनिर्मितयन्त्रेण जिह्वाया आकर्षणं कुर्यात् ।

---

३२४ घेरण्डसंहिता ३.२६-२९

३२५ घेरण्डसंहिता ३.३०-३४

विपरीतकरणीमुद्राकथनम्-

नाभिमूलेवसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।

अमृतं ग्रसते मृत्युस्ततो मृत्युवशो नरः ।।

ऊर्ध्वं च योजयेत् सूर्यश्चन्द्रं च अध आनयेत्।

विपरीतकरीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।।

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मो समाहितः।

ऊर्ध्वं पादः स्थिरोभूत्वा विपरीतकरीमता ।।[३२६]

विपरीतकरणीमुद्राफलकथनम्-

मुद्रेयं साधिता नित्यं जरा मृत्युं च नाशयेत्।

स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ।।[३२७]

यस्यामवस्थायां नाभिस्थित सूर्योपरि तथा तालुस्थितचन्द्रः अधोभागे भवति सा एव अवस्था विपरीतकरणीमुद्रेत्युच्यते । यत् नाभिमूले सूर्य अर्थात् सूर्यनाडी तिष्ठति तालुमूले च चन्द्र अर्थात् चन्द्रनाडी तिष्ठति । अतः चन्द्रनाडीतः क्षरितममृतं सूर्यनाडीः ग्रसते तस्मात् मनुष्यः मृत्युपाशे पतति । अतः शिवः भूमौ संस्थाप्य हस्तद्वयं पृथिव्यां स्थिरिकृत्य सूर्यनाडीं ऊर्ध्वं तथा चन्द्रनाडीं अधानीय ऊर्ध्वपादौ भूत्वा स्थिरी भूयात् एषा एवावस्था विपरीतकरणीमुद्रा इत्यनेन अभिधीयते ।

योनिमुद्राकथनम्-

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्न सोमुखम्।

---

३२६ घेरण्डसंहिता ३.३५-३९

३२७ घेरण्डसंहिता ३.४०

अंगुष्ठ तर्जनी मध्यानामाभिश्चैव साधयेत्

काकीभिः प्राणं संकृष्य अपाने योजयेत् ततः।

षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हूं हंसमनुना सुधीः

चैतन्यमानयेद् देवीं निद्रितां यां भुजङ्गिनीम्।

जीवेन सहितांशक्तिं समुत्थाप्यकराम्बुजे

शक्तिमयः स्वयंभूत्वा परशिवेन संगमम्।

नाना सुखं विहारं च चिन्तयेत् परमं सुखम्

शिवशक्तिसमायोगादेकान्ते भुवि भावयेत्।

आनन्दमानसो भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत् ।।

ब्रह्महा भ्रूणहा चैव सुरापीगुरुतल्पगः।

एतैः पापैर्निलिप्येत योनिमुद्रानिबन्धात् ।।

यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च।।

तानि सर्वाणि नश्यन्ति योगनिमुद्रानिबन्धात् ।

तस्मादभ्यासनं कुर्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति ।।[३२८]

यत्साधकः सिद्धासने उपविश्य कर्णद्वयं चक्षुद्वयं नासिकाद्वयं मुखञ्च क्रमशः अङ्गुष्ठ-तर्जनी-मध्यमा-अनामिकाभिः अङ्गुलिभिः आवृत्य काकीमुद्रया तथा काकचञ्चुवत् आकृत्यवत्या जिह्वया प्राणानाकृष्य अपाने योजयेत् तदनन्तरं क्रमेण षड्चक्राणां ध्यानं कृत्वा **हुं** मन्त्रेण **हंसः** मन्त्रेण वा निद्रितायाः कुण्डलिनीशक्तेः जागरणं कृत्वा **अहं ब्रह्मास्मि** इति चिन्तयेत् ।

---

३२८ घेरण्डसंहिता ३.४१-४७

वज्रोलीमुद्राकथनम्-

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्याम् ऊर्ध्वं क्षिवेत्पादयुगंशिरः खे।

शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रोलिमुद्रां कलयो वदन्ति

अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारकम्।

अयंहितप्रदोयोगो योगिनां सिद्धिदायकः ।।

एतद्योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद्ध्रुवम्।

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यतिभूतले

भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत्।

तथापि सकला सिद्धिस्तस्य भवति निश्चितम्[३२९]

शक्तिचालनीमुद्राकथनम्-

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।

शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।

ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्

उद्घाट्येत् कपाटञ्च यथा कुञ्चिकया हठात्।

कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत्

नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिस्थितः।

गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्ति चालनमभ्यसेत्

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलम्।

---

३२९ घेरण्डसंहिता ३.४८-५१

मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बर लक्षणम्

एवम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेणयोजयेत्।

भस्मनागात्रसंलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत्

नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपानेयोजयेतवलात्।

तावदाकुञ्चयेत् गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया

यावद्गच्छेत् सुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेत् हठात्।

तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी

बद्धश्वासस्ततोभूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते।

शक्तोर्विनाचालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति

आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत्।

इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम्।

गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत्।

मुद्रेयं परमागोप्याजरामरणनाशिनी

तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः।

नित्यं योऽभ्यसेतेयोगी सिद्धिस्तस्य करेस्थिता।

तस्यविग्रहसिद्धिः स्याद् रोगाणां संक्षयो भवेत् [३३०]

यस्याः मुद्रायाः अभ्यासात् मूलाधाराचक्रे सुप्तावस्थायां स्थिता कुण्डलिनी जागृता संभूय उपरि गच्छति सा एव मुद्रा शक्तिचालनीमुद्रा उत्युच्यते। अस्याः विधिविषये उक्तमस्ति यत्- नाभिं वस्त्रेण संवेष्ट्य गोपनीयगृहे स्थित्वा एतां मुद्रामभ्यसयेत् । उच्यते यत्

---

३३० घेरण्डसंहिता ३.५२-६४

एकवितस्तिपर्यन्तं दीर्घं तथा चतुरङ्गुलपर्यन्तं विस्तारयुक्तं कोमलं श्वेतवर्णयुक्तं सूक्ष्मवस्त्रं नाभिप्रदेशे रक्षयेत् । तदनन्तरं देहं भस्मना संलिप्य सिद्धासने उपविश्य नासापुटाभ्यां प्राणवायुमाकृष्य अपानवायुना सह मेलयेत् । तदनन्तरं अश्विनीमुद्रया गुह्यप्रदेशमाकुञ्चयेत् । श्वासं नियम्य कुम्भकं कुर्यात् यस्मात् कुण्डलिनीशक्तिः जागृता संभूय ऊर्ध्वमार्गं गच्छति । एतां मुद्रां विना योनिमुद्रायाः सिद्धिर्न भवति ।

ताडागीमुद्राकथनम्-

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिम्।

ताडागी सा परामुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी[३३१]

माण्डूकीमुद्राकथनम्-

मुखं संमुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्।

शनैर्ग्रसेदमृतं तां माण्डूकीं मुद्रिकां विदुः

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम्।

न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम्[३३२]

शाम्भवीमुद्राकथनम्-

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।

साभवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता

अथ शाम्भवीमुद्रायाः फलकथनम्।

वेदशास्त्र पुराणानि सामान्य गणिका इव।

---

३३१ घेरण्डसंहिता ३.६५

३३२ घेरण्डसंहिता ३.६६-६७

इयन्तु शाम्भवीमुद्रा गुप्ताकुलवधूरिव

स एव आदिनाथश्च न च नारायणः स्वयम्।

स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम्

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः।

शाम्भवी यो विजानाति स च ब्रह्म न चान्यथा [३३३]

नेत्राञ्जनं समालोक्य अर्थात् भ्रूमध्ये दृष्टिं स्थिरीकृत्य आत्मारामं अर्थात् परमात्मानं अवलोकयेत् । सर्वतन्त्रेषु गोपितेऽयं मुद्रा शाम्भवीमुद्रा इत्यनेन नाम्नाऽपि ज्ञायते ।

पञ्चधारणामुद्राकथनम्-

अस्मिन् पञ्चभूतानामुपरि स्थिरीकरणं विधीयते । अनेनैव खेचरत्वं परकायप्रवेशश्च इत्यादयः सिद्धयः जायन्ते ।

कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम्।

धारणानि समासाद्य किं न सिध्यति भूतले

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषुगमनागमम्।

मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा [३३४]

पार्थिवीधारणामुद्राकथनम्-

यत्तत्वं हरितालदेश रचितं भौमं लकालान्वितं,

वेदास्तंकमलासनेनसहितम्कृत्वादिस्थापिनम्।

प्राणांस्तत्रविलीय पंचघटिकां चिन्तान्वितां

---

३३३ घेरण्डसंहिता ३.६८-७३

३३४ घेरण्डसंहिता ३.७४-७५

धारयेदेषास्तम्भकरीं सदाक्षितिजयं कुर्यादधोधारणाम्

पार्थिवीधारणामुद्रां यः करोति हि नित्यशः।

मृत्युञ्जयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद्भुवि ।।[३३५]

आम्भसीधारणामुद्राकथनम्-

शंखेन्दु प्रतिमं च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं।

तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।।

प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितां ।

धारयेदेषा दुःसहतापपापाहरणी स्यादाम्भसी धारणा ।।[३३६]

आम्भसीमुद्रायाः फलकथनम्-

आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित्।

जले च गंभीरे घोरे मरणं तस्य न भवेत्

इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः।

प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च तत्त्वतः [३३७]

आग्नेयीधारणामुद्राकथनम्-

तन्नाभिस्थितमन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं ।

तत्त्वं वह्निमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेणयत्सिद्धिदम् ।।

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ पतितो यदि साधकः।

---

३३५ घेरण्डसंहिता ३.७६-७८

३३६ घेरण्डसंहिता ३.७९-८०

३३७ घेरण्डसंहिता ३.८१-८२

एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक् ।। [338]

वायवीयधारणामुद्राकथनम्-

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं धूम्रावभासं

परे तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता।

प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितां

धारयेदेषा खे गमनं करोति यामिनां स्याद्वायवी धारणा [339]

वायवीयधारणामुद्राफलकथनम्-

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।

वायुना म्रियते नापि खे च गतिप्रदायिनी ।।

शठायभक्तिहीनाय न देया यस्य कस्यचित् ।

दत्तेचसिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च चण्डते ।।

अकाशीधारणा यत्सिद्धौवर शुद्धवारिसदृशं-

व्योम परं भासितं तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम्।

प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेदेषा

मोक्षकावाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणम् [340]

अथाकाशीधारणामुद्रायाः फलकथनम्।

आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति स च योगवित्।

---

३३८ घेरण्डसंहिता ३.८३-८४

३३९ घेरण्डसंहिता ३.८५-८६

३४० घेरण्डसंहिता ३.८७-९०

न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति

अश्विनीमुद्राकथनम्-

आकुञ्चयेद्गुदद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।

सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी [३४१]

अश्विनीमुद्रायाः फलकथनम्

अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी।

बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत्[३४२]

अश्वेन मनत्यागसमये कृत् आकुञ्चन-प्रसारणवत् करणात् अस्याः मुद्रायाः नाम अश्विनीमुद्रा । अश्विनीमुद्रायाः विधिविषये उक्तमस्ति यत्- गुदाद्वारस्य आकुढ्चनं प्रसारणञ्च पौनः पुन्येन कुर्यात् । एषा एव क्रिया अश्विनीमुद्रानाम्ना ज्ञायते ।

पाशिनीमुद्राकथनम्-

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद्दृढबन्धनम्।

सा एव पाशिनी मुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी

पाशिनीमुद्रायाः फलकथनम्-

पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी।

साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकाङ्क्षिभिः[३४३]

काकीमुद्राकथनम्-

३४१ घेरण्डसंहिता ३.९१-९३

३४२ घेरण्डसंहिता ३.९४

३४३ घेरण्डसंहिता ३.९५-९६

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।

काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ।। [३४४]

काकीमुद्रायाः फलकथनम्

काकीमुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।

अस्याः प्रसादमात्रेण न रोगी काकवद् भवेत् [३४५]

मातङ्गिनीमुद्राकथनम्-

कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।

मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्

नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः।

मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी [३४६]

मातङ्गिनीमुद्राफलकथनम्-

विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः।

कुर्यान्मातङ्गिनीं मुद्रां मातङ्ग इव जायते

यत्र यत्र स्थितोयोगी सुखमत्यन्तमश्नुते।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साधयेन्मुद्रिकां पराम् [३४७]

---

३४४ घेरण्डसंहिता ३.९७

३४५ घेरण्डसंहिता ३.९८

३४६ घेरण्डसंहिता ३.९९-१००

३४७ घेरण्डसंहिता ३.१०१-१०२

भुजङ्गिनीमुद्राकथनम्-

वक्त्रं किञ्चित् सुप्रसार्य चानिलं गलया पिबेत्।

सा भवेद् भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।।[३४८]

भुजङ्गिनीमुद्रायाः फलकथनम्

यावच्च उदरे रोगा अजीर्णादि विशेषतः।

तत् सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजङ्गिनी ।।[३४९]

पुण्यशाली, आत्मसंयमी शिष्यः योग्यगुरोः मार्गदर्शनेन एतासां सदुपयोगं कृत्वा धन्यतां प्राप्तुम् अर्हति । एतासु महत्त्वपूर्णा अस्ति शक्तिचालिनी मुद्रा । अस्माकं शरीरस्य मेरुदण्डे नाडीजालानां मध्ये अतिसूक्ष्माणि षट् चक्राणि सन्ति । अधः विद्यमाने मूलाधारचक्रे कुण्डलिनीनामिका काचित् सुप्ता शक्तिः निगूहिता अस्ति । हठयोगी शक्तिचालिनीनामकेन विशेषाभ्यासेन सुप्तशक्तिं जागरयति । सुषुम्नाद्वारा शक्तिम् उत्सञ्चारयति । तस्मात् देहस्य अन्तःकरणे अद्भुताः सूक्ष्माः क्रियाः प्रचलन्ति । ततः अलौकिकाः दिव्यानुभवाः शक्तयश्च तेन प्राप्यन्ते ।

6.4 प्रत्याहारः

इन्द्रियाणां विषयादिषु निवर्तनम् ,मनसः नियमनं कृत्वा पुरस्कारे तिरस्कारे च, सुगन्धे दुर्गन्धे च, सर्वेषु रसेषु च समा स्थितिः जायते। प्रात्याहारे सिद्धेभूते सति इन्द्रियाणि साधकानुकारकाणि भवन्ति । बाह्यविषयेभ्य समागत्य भगवद् प्रीतौ संलग्नानि भवन्ति ।

---

३४८ घेरण्डसंहिता ३.१०३

३४९ घेरण्डसंहिता ३.१०४

कपालभाति कर्म :-

लुहार की धौंकनी की तरह साधक एक नथूने से साँस ले, दूसरे से छोड़े, पुनः उससे लेकर दूसरी से छोड़ता जाए । इससे कफ विकार दूर होता है और मस्तिष्क शान्त और शीतल रहता है ।[57]

यह षट्कर्म समस्त साधकों के लिए उपयोगी नहीं है, क्योंकि इनमें हानि का भय रहता है तथा इनके साधनें के लिएसमय भी अधिक लगता है । ये कर्म केवल बाह्य शरीर के उपकरणों को शुद्ध करते हैं । शरीर त्रिस्थूणा माना गया है । वात पित कफ इन तीन तत्वों रज तम सत के स्थानापन्नों के द्वारा बना भवन है । इनकी तुल्यता जिस साधक से ही अपनी नाड़ीशुद्धि कर सकता है । उसे इन प्रपंचों में अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहिए । जिनके शरीरों में इन तीनों की असमता है । उन साधकों को अवश्य ही षट्कर्म में जाना पड़ता है । कुछ भी हो साधक का लक्ष्य तो दोषों को मारकर अपने शरीर को योग योग्य बनाना होता है । वह चाहे षट्कर्मों से बने अथवा प्राणायाम से ।

मुद्रा :-

योग साधना में तन्त्रशास्त्र भी अत्यधिक सहायक होते हैं । इसीलिए कलियुगी सिद्ध गोरक्षनाथ जी भी अपने "गोरक्षसंहिता" नामक ग्रन्थ के योगखण्ड के अन्तर्गत मुद्राओं को योगी के लिए मोक्ष देने वाला बतलाते हैं । उनके मत में महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान

---

57. हठयोगप्रदीपिका 2.25

जालन्धर और मूलबन्ध नामक पाँच विद्याएँ मानी गई है[58] । जब की बहुत्र ग्रन्थों में अन्त के तीनों को अलग बन्ध विधा में माना है ।

मुद्रा शब्द मुद् मोदे धातु से या रा आदाने धातु से बना है, क्योंकि "मुदं राति-ददाति इति मुद्रा निर्वचन बनता है । इसका अर्थ होता है खुश होकर उस कर्म में रमण करना । तभी तो इन मुद्राओं के प्रदर्शन से मन्त्र देवता प्रसन्न हो जाते हैं[59] । इसीलिए इन मुद्राओं को पूजा, जप, ध्यान, काम्यकर्म, स्नान, आवाहन, शंख प्रतिष्ठा, रक्षा नैवेद्य निवेदन और उस स्थान में जहाँ विशेष देवता का विशेष कला से कोई काम हो रहा हो दिखलाना अत्यावश्यक है । वे अपने-अपने देवता को [illegible] अपनी-अपनी रूचि के अनुसार प्रिय है[60] । उनमें से षडंग मुद्रा तो सभी देवता के लिए समान है । बाकि विष्णु को 21 मुद्रा शिव को दस मुद्रा, सूर्य को एक, गणेश को सात, दुर्गा को आठ, त्रिपुरा को दस, गायत्री को चौबिस मुद्राएँ मन्त्रमहार्णव में देवताओं को प्रसन्न करने वाली कहा गया है । शारदा तिलक में इन मुद्राओं से सब देवताओं के प्रसन्न होने की बात कही गई है[61] । अतः सब कर्मों में मुद्रा के सेवन द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता है ।

---

58. गो०सं०या०ख० ।.56 महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धञ्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभोजनः ।।

59. मन्त्रमहार्णव पृ० 23, याभिर्विरचिताभिश्च मोदन्ते मन्त्रदेवताः ।

60 वही, पृ० 23, 1-3

61. शारदातिलक ।3.106 याभिर्विरचिताभिस्तु मोदन्ते सर्वदेवताः ।

इसलिए घेरण्ड,शिव तथा दत्तात्रेय आदि संहिताओं में इन मुद्राओं का विशेष वर्णन है तथा योग्य गुरु से उन्हें सीखने का निर्देश दिया गया है । घेरण्ड में 25 मुद्राएं गिनाई हैं । जैसे महामुद्रा,नभोमुद्रा,महाबन्ध,महावेध,खेचरी,विपरीतकरणी,योनि,वज्रोली,शक्तिचालनी ताड़गी,मांडवी,शाम्भवी,अधोधारणा,अभ्यासोधारणा,वैश्वानरोधारणा,वायवीधारणा, नभोधारणाअश्विनि,पाशिनि काकी मातंगी,भुजंगिनि,मूलबन्ध,उड्डीयानबन्ध तथा जालन्धर-बन्ध ।

शिवसंहिता में इनकी संख्या दस बतलाई गई है-महामुद्रा,महाबन्ध, महाभेद,विपरीतकरणी,वज्रोली,शक्तिचालनी,खेचरी,मूलबन्ध,उड्डीयानबन्ध और जालन्धर-बन्ध[62] । इन्हीं दस को हठ्योगदीपिका में भी माना है[63] ।

इनके इलावा योगविज्ञान में योनि,शाम्भवी,भूचरी,चाचरी, ज्ञानमुद्रा, तथा षड्मुखी आदि का भी वर्णन किया गया है । इन सब का आधार कुण्डलिनी शक्ति है । उसके जागरण के लिए मन की एकाग्रता अपेक्षित होती है । उस एकाग्रता के लिए मुद्राएं अत्यन्त उपयोगी मानी गई है । अतः "गोरक्षसंहिता" में सभी मुद्रओं का संक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है ।

1• महामुद्रा :-

इसमें बांए पैर की एड़ी को सीवनी के ऊपर रख दें । दाहिने

62•शिवसंहिता,4•24•24

63•हठ्योग प्रदीपिका 3•6-7

पाँव को लम्बा पसार करके दोनों हाथों से उसे पकड़ लें । तब अपने सिर को जानु पर लगा लें । इसके बाद उड्डीयान बन्ध लगाकर नवद्वारों को बन्द करके,पूरक प्राणायाम करके,जालन्धर बन्ध लगाकर,धीरे-धीरे रेचन करें । इसके बाद दूसरी एड़ी से ऐसा ही कार्य करें । इस तरह से महामुद्रा नामक कर्म होता है । जिससे अनेक रोग नष्ट होते हैं,आयु बढ़ती है,मनवांछित फल भी मिलता है । ये फल तभी मिलेगा जब साधक इस प्रक्रिया में कुम्भक की साधना करे ।[63]

2.नभोमुद्रा :-

इस मुद्रा का नाम खेचरी मुद्रा भी है । जीभ को उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट कराके भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर करें । जब यह कपाल कुहर में ठीक रूप से प्रविष्ट हो जाएगी तो नमकीन मिर्च खट्टा मीठा आदि का स्वाद आने लगेगा । अगर जीभ तालु के शिवलिंग में स्पर्श न कर सके तो किसी साधन से जीभ के निचले हिस्से को काट लें और प्रातःकाल जिह्वा का दोहन करके उसे खींचकर लम्बा कर लें । इसी प्रक्रिया से पिण्ड सहस्रार से बहने वाला अमृत लेकर साधक को रस सिद्ध होकर वज्र देह की प्राप्ति होगी । सहस्रार के बिन्दु की प्राप्ति से सात धातुओं का अन्तिम तत्व वीर्य या सात सूक्ष्म यन्त्रों से मथन होने के बाद अन्तिम धातु सूक्ष्मातिसूक्ष्म वीर्य भी शरीर से स्त्री आदि के आलिंगन पर स्खलित नहीं होगा ।[64]

63.गो०सं०यो०ख० 1.57-61,हठयोगप्रदीपिका 3.10-18,शाण्डिल्योपनिषद् ।

64.गो०सं०यो०ख० 1.62-68

3•उड्डीयानबन्ध :–

इस बन्ध में कुण्डलिनी के बीच में रहने वाला प्राण रूपी पक्षी उड़ता हुआ सुषुम्ना नाड़ी से ब्रह्मरन्ध्र की तरफ उड़ता जाता है । अत: इसका नाम अन्वर्थक है । यह नाभि के नीचे खींचकर पेट को पीठ तरफ बढ़ाकर किया जाता है ।[65] रेचक करके नाभि स्थान के नीचे और ऊपर के भाग को ऐसे खींचे ताकि वे ~~जिससे~~ पीठ के साथ जाकर मिल जाएं ।

4•जालन्धरबन्ध :–

कण्ठ को संकुचित करके वायु को रोकना ही जालन्धरबन्ध कहलाता है । इससे चन्द्रामृत गिरकर नाभि में प्रज्वलित होने वाली अग्नि में पड़ने से बच जाता है । इसमें अपनी ठोडी को संकुचित करके छाती को उपरले हिस्से पर लगाना चाहिए और कुम्भक करके आज्ञा चक्र में दृष्टिपात रखना चाहिए । योग तत्व उपनिषद् में इसका वर्णन करते हुए कहा है कि "कण्ठ को सिकोड़कर दृढ़ता पूर्वक छाती पर रखने से यह बन्ध बनता है । जो कि मृत्युरूपी हाथी के लिए शेर के समान है ।[66]

5•मूलबन्ध :–

अपने पैर की एड़ी कौसीवनी भाग पर रखकर, मूलाधार की वायु के द्वारा ऊपर खींचकर प्राण और अपान को इकट्ठा कर लें । गुह्य द्वार को सिकोड़ लें । यही मूलबन्ध कहलाता है । योग तत्वोपनिषद् में इसका नाम योनिबन्ध रखा है ।

65•यो०सं० यो०खं० 1•76–77, योगतत्वोपनिषद्, हठयोग प्रदीपिका 3•55•60

66• वही, 1•78–79

शिवसंहिता में भी इसका वर्णन इसी रूप में आया है । इसमें प्राण और अपान की एकता को बतलाया गया है ।[67]

शरीर में इन प्रक्रियाओं को करने से कुण्डलिनी रूपी देवी प्राणदेवताओं शिवरूप ब्रह्मतत्व सभी प्रसन्न हो जाते हैं । इसीलिए इनका सब कर्मों में करना अनिवार्य रूप में दर्शाया गया है ।

धारणा :-

षडंग योग में धारणा का चौथा स्थान है । यह उसी को सिद्ध हो सकती है,जिसने आसन प्राणायाम और प्रत्याहार को सिद्ध कर लिया हो । तभी तो गोरक्षनाथ ने कहा है कि "आसन से युक्त,प्राणायाम सहित प्रत्याहार सम्पन्न धारणा का अभ्यास करना चाहिए ।[68] हृदय में पृथिवी जल तेज वायु आकाश को पृथक्पृथक् धारणा करनी चाहिए । यमादि के द्वारा चंचल मन की धारणा ही संसार सागर से पार लगाने वाली है ।[69] इस प्रकार चित की निश्चलता ही धारणा है । योग तत्वोपनिषद् में कहा है कि "जिसका चित वायु के साथ सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है । उसे पंचभूतों की धारणा हो जाती है । जैसे "भूमिरूपो नलो वायुराकाशश्चेति पंचक: । येषु पंचसु देवानां धारणा पंचधोच्यते" अर्थात् उस योगी को भूमि जल, अग्नि,वायु और आकाश के सब देवताओं को

67.गो०सं० 1.80-91,शि०सं० 4.64-65

68.वही,गो०खं० 2.52

69. „मनसो धारणं युक्तस्य च यमादिभि: ।
(त्रिशिखब्राह्मण)चित्तस्य निश्चलोभावो धारणा धारणं विदु: ।

बन्ध विवेचन

जहां दृढ़ता के लिए आसन किए जाते हैं वहां स्थैर्य के लिए बंध एवं मुद्राएं की जाती हैं। वैद्य सुन्दरदेव ने अपने ग्रंथ 'हठतत्त्वकौमुदी' में बन्धों का वर्णन करते हुए मूलबन्ध, उड्डीयान बंध और जालन्धर बन्ध के साथ महाबन्ध, महामुद्रा और महाबेध बंध त्रय का वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

1. मूल बन्ध

गुदा एवं लिंग स्थान के रन्ध्र को बन्ध करने का नाम मूलबन्ध है। बाएं पैर की एड्डी को गुदा और अण्डकोष के मध्य भाग में दृढ़तापूर्वक लगाकर गुदा को सिकोड़कर नीचे की ओर बहने वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊपर की ओर खींचने को मूलबंध कहते हैं। सिद्धासन के साथ यह बंध अच्छा लगता है। अन्य आसनों के साथ एड़ी को सीवनी पर बिना लगाये हुए भी मूलबंध लगाया जा सकता है। [73]

एड़ी से योनि स्थान दबाकर गुदा को संकुचित करते हुए वायु को ऊपर की ओर खींचे। अधोगति वाले अपान को उर्ध्वगामी करने के ढंग को योगी लोग मूलबंध कहते हैं। [74]

लाभ

इससे अपान वायु का उर्ध्वगमन होकर प्राण के साथ एकता होती है। कुण्डलिनी शक्ति जागृत (सीधी) होकर उर्ध्वगामी होती है। कोष्ठबद्ध दूर

---

73. हठ त. कौ. (प.सं.32), 1/15/1-2

74. ह.यो.प्र. 3.60-64, घे.सं 3.14-17

करने, जठराग्नि को पद्रीप्त करने और वीर्य को ऊर्ध्वरेतस् बनाने में यह बन्ध अति उत्तम है। साधको को न केवल भजन के अवसर पर किन्तु हर समय मूलबंध को लगाये रखने का अभ्यास करना चाहिए। इससे मलमूत्र अल्प हो जाते हैं। बवासीर, कब्ज आदि गुदा के रोग नष्ट हो जाते हैं। वृद्ध भी युवा जैसा प्रतीत होता है।

2. उड्डीयान बन्ध

दोनों घुटनों (जानुओं) को मोड़कर नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड से लगा दें, जिससे कि पेट के स्थान पर गड्ढा सा दीखने लगे । इस क्रिया से प्राण पक्षी के सदृश सुषुम्ना में उड़ने लगता है, इसलिए यह बंध उड्डीयान कहलाता है। इससे पैरों के तलवों के बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है।[75]

जिस बन्ध द्वारा बन्धा हुआ प्राण सुषुम्ना में जा सके, उसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं। इस मुद्रा में नासारन्ध्र से वायु का रेचक करने के बाद पेट की रीढ़ की हड्डी के साथ चिपका लिया जाता है। यह खड़े होकर व बैठकर दोनों प्रकार से किया जाता है।[76]

लाभ

यह कुण्डलिनी जागरण में सहायक है। वीर्य और प्राण की उर्ध्वगति से साधक तेजस्वी, कान्तिमान हो जाता है। जठराग्नि प्रदीप्त होकर क्षुधा की वृद्धि करता है। उदर रोग नष्ट होते हैं । फेफड़े पुष्ट होते हैं । इससे गैस

---

75. हठ त. कौ. (प. सं. 33), 1/15/10-11

76. ह. यो. प्र. 3, 54-59

दूर होती है, पेट की मालिश होती है और पेट पतला पड़ जाता है। छः मास तक लगातार अभ्यास करने से मृत्यु को जीता जा सकता है। इससे बल ताजगी आदि उत्पन्न होते हैं।[77]

3. जालन्धरबन्ध

सिद्धासन में बैठकर कण्ठ को सिकोड़कर ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक कण्ठकूप में इस प्रकार स्थापित करें कि हृदय से ठोड़ी का अन्तर केवल चार अंगुल का रहे, सीना आगे की ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठ-कूप के नाड़ी जाल को बांधे रखता है, इसलिए इसका नाम जालंधर बन्ध है।[78]

स्वांस का पूरक करके कण्ठ को संकुचित कर हृदय पर ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक लगाने को जालन्धर बन्ध कहते हैं।[79]

यह बन्ध कपालकुहुर रूपी नभ के जल को सूर्य नाड़ी में भस्म न होने से बंधता है, इसलिए भी इसका नाम जालन्धर बन्ध है। एक अन्य मतानुसार जालंधर ऋषि इस प्रकार बैठते थे, अतः उनके नाम पर ही इसका यह नाम पड़ा।[80]

लाभ

यह जालंधर जरामृत्य का नाशक है, महासिद्धियों को देने वाला है । इससे बुढ़ापा, भय आदि दूर होते हैं। आवाज में माधुर्यएवं सुरीलापन आता

---

77. घे. सं. 3.9-11
78. हठ. त. कौ. (प. सं. 33), 1/15/21-22
79. योगरश्मि, पृ. 181
80. ह. यो. प्र. 3.69-75, घे. सं. 3. 70-76

है। जालंधर बन्ध कर लेने पर ऊपर से गिरने वाला अमृत अग्नि में नहीं गिरता और वायु कुपित नहीं होता। इस जालंधर बन्ध के कर लेने पर दो नाड़ियों (इड़ा, पिंगला) का स्तम्भन स्वाभाविक हो जाता है। षोडसाधार को बन्धन करने वाला इसको मध्य चक्र कहा गया है।[81]

मुद्राविवेचन

योगसिद्धि के लिए साधक को स्थैर्य प्राप्ति के लिए मुद्राओं का ज्ञान होना अनिवार्य है। अतः घेरण्ड संहिता में महर्षि घेरण्ड द्वारा 25 मुद्राओं का वर्णन किया गया है- महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालन्धर बंध, मूलबंध, महाबंध, महावेध, खेचरी, विपरीत करणी, योनी, वज्रोली, शक्तिचालिनी, तड़ागी, माण्डूकी, शाम्भवी, पंचधारणा, पार्थिवी, अभ्यासी, आग्नेयी, वायवी, आकाशी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगिनी और भुंजगिनी । (घे.सं. 3.1-3)

जबकि योग स्वात्माराम ने अपने ग्रन्थ हठयोग प्रदीपिका में 10 मुद्राओं का ही वर्णन किया है। इसी प्रकार श्री सुन्दर देव जी ने भी अपने ग्रन्थ में निम्नलिखित 10 मुद्राओं का विस्तार से वर्णन किया है- महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान बंध, मूलबंध, जालंधर बंध, विपरीतकरणी वज्रोली (सहजोली, आमरोली) तथा शक्तिचालन मुद्रा।

1. महामुद्रा

अपने पांव को आगे की ओर फैलाकर बैठें। बायें पैर को मोड़कर ऐड़ी सीवनी के स्थान पर लगा दें फिर झुककर अपने दोनों हाथों की अंगुलियों से दायें अंगूठे को पकड़ लें। बायीं नासिका से पूरक करें और जालंधर बंध

---

81. घे. सं. 3.70-76

लगाएं। फिर बन्ध खोलकर दायीं नासिका से श्वास बाहर निकाल दें । दूसरी तरफ से भी ऐसा ही करें। [82]

दूसरी विधि

बायें पैर की एड़ी को सीवन (गुदा और उपस्थ के मध्य के चार अंगुल-भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैर को लम्बा फैलावें, फिर शनैः-शनैः पूरक के साथ मूल तथा जालंधर बंध लगाते हुए दायें पैर का अंगूठा पकड़कर मस्तक को दायें पैर के घुटने पर लाकर यथाशक्ति कुम्भक करें। कुम्भक के समय पूरक की हुई वायु को कोष्ठ में शनैः-शनैः फुलावें और ऐसी भावना करे कि प्राण कुण्डलिनी को जागृत करके सुषम्णा में प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तक को घुटने से शनैः शनैः रेचक करते हुए उठाकर यथास्थिति में बैठ जाये। इसी प्रकार दूसरे अंग से करना चाहिए। प्राणायाम की संख्या एवं समय बढ़ाता रहे। [83]

हठयोग प्रदीपिकाकार के अनुसार इस महामुद्रा में दायें पैर को फैलाकर फिर बायें पैर से योनिस्थान को दबायें, फैलाये हुए पैर के अंगूठे को पकड़े, तत्पश्चात् नाक से वायु का पूरक कर जालंधर बंध लगाये तब आज्ञाचक्र का ध्यान करें, कुछ समय के बाद वायु का रेचक नाक से करें। [84]

लाभ

इससे प्राण वायु का सुषुम्ना में प्रवेश होता है जिससे कुण्डलिनी जागृत होती है। यह महाक्लेश आदि को नष्ट करती है। [85] यह क्षय, नजला,

---

82. हठ त. कौ. (प. सं. 34), 1/15/28

83. पा.यो.प्र. साधन पाद, पृ. 435-36

84. ह. यो. प्र. 3.10-12

85. घे. सं. 3.21-28

जुकाम, कास-श्वांस, प्लीहा की गड़बड़ियां, गैस रोग, बदहजमी आदि रोगों को दूर करती है। कुष्ट रोग का भी निवारण करती है। कुण्डलिनी को जगाती है। मन्दाग्नि, प्रमेह तथा उदर के रोगों को नष्ट करती है।

2. महाबन्ध मुद्रा

पहली विधि

बायें पैर की एड़ी को गुदा और उपस्थ के मध्य भाग में जमाकर बायीं जंघा के ऊपर दाहिने पैर को रखें। पूरक करके जालंधर बन्ध लगाएं। यथा शक्ति फिर मूल द्वार से वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबंध लगावें। मन को मध्य नाड़ी मेंलगाए हुए यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् पूरक के विपरीत वाली नासिका से धीरे-धीरे रेचन करें। इस प्रकार दोनों नासिका से अनुलोम-विलोम रीति समान प्राणायाम करें।

दूसरी विधि

पद्म अथवा सिद्धासन से बैठ ,योनि, और गुह्य प्रदेश सिकोड़, अपान वायु को ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान-वायु के साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायु को अधोमुख करके प्राण और अपानवायुओं के साथ नाभिस्थल पर दृढरूप से कुम्भक करें। [86]

स्वात्माराम जी के अनुसार बायीं एड़ी को योनिस्थानमें लगाकर बायीं जांघ पर दायां पांव रखें, फिर वायु का पूरक करके जालंधर बंध लगायें और मूलबंध भी लगायें (इनमें तीनों बन्ध लगते हैं) तत्पश्चात मन्द-मन्द रेचक करें। इसे दोनों अंग से (दक्षिण तथा वाम) करें। [87]

---

86. पा.यो.प्र. साधनपाद,पृ. 434

87. ह. यो. प्र. 3.18-23, घे. सं. 3.18-20

लाभ

यह कुण्डलिनी का जागरण करती है। प्राणोत्थान द्वारा चक्र भेदन से सरल हो जाता है। कफ संबंधी विकार और उदर रोग नष्ट होते हैं। प्राण का ऊर्ध्वगामी होना-वीर्य की शुद्धि, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना का संगम प्राप्त होना, बल की वृद्धि आदि है। [88] इससे बवासीर,तिल्ली की वृद्धि तथा कब्ज दूर होती है। महाबन्ध से शिव में चित्त का लय होता है और इससे काल के बंधन से मुक्ति मिलती है। त्रिवेणी संगम की प्राप्ति होती है। (जालंधर, उड्डीयान व मूलबंध त्रिवेणी हैं) तथा देह कम्पन आदि भी नष्ट होते हैं। [89]

महावेध मुद्रा

महावेध की दो विधियों में पहली विधि इस प्रकार है- महाबंध की प्रथम विधि के अनुसार मूल बंध पूर्वक कुंभक करके दोनों हाथों की हथेली भूमि में दृढ स्थिर करके, हाथों के बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों को शनैः शनैः ताड़ना दे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इडा, पिंगला को छोड़कर कुण्डलिनी-शक्ति को जगाता हुआ सुषुम्ना में प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायु को शनैःशनैः महाबंध की विधि के अनुसार रेचक करें।

दूसरी विधि

मूलबंध के साथ पद्मासान से बैठे, अपान और प्राण वायु को नाभिस्थान पर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथों को तानकर नितम्बों से मिलाते हुए भूमि पर जमाकर नितम्ब को आसन सहित उठा-उठा कर भूमि पर ताड़ित करते रहें। [90]

---

88. ह. त. कौ. ,1/15/48 (पत्र सं. 20)

89. घे. सं. 3.18-20

90. पा.यो.प्र. साधनपाद, पृ. 434

घेरण्ड ऋषि के अनुसार- वाम एड़ी को योनि स्थान में लगाकर दायां पाव काया के साथ रखें । फिर वायु खींचकर नितम्बों को हाथों का सहारा देकर ऊपर उठकार मन्द-मन्द ताड़ना करने से वायु इड़ा, पिंगला को छोड़कर सुषुम्ना में प्रवेश करती है। [91]

लाभ

इससे वृद्धावस्था दूर होती है। शरीर का कम्पन तथा चमड़ी सिकुड़ना आदि ठीक हो जाता है। यह कुण्डलिनी जागरण में सहायक है। प्राण सुषुम्ना में प्रवेश हो जाते हैं। महाबंध, महावेध और महामुद्रा- तीनों को मिलाकर करना अधिक फलदायक है। उदर रोगों में लाभप्रद है। [92]

4. विपरीतकरणी मुद्रा -शीर्षासन-कपालासन

विधि

जैसा कि नाम से ही पता चलता है कि इसमें देह की स्थिति को विपरीत किया जाता है। कुछ विद्वान शीर्षासन को भी विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। इसमें पीठ के बल लेटकर फिर सांस लेते हुए पैरों को धीरे-धीरे ऊपर उठाते हैं। फिर पैरों को इतना ऊपर उठाते हैं कि सीधे होकर वह आंखों के ऊपर आ जायें हाथों की हथेलियों से पीठ को सहारा देते हैं, इसे विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। यह भी चन्द्र नाड़ी से टपकने वाले रस की रक्षा करता है, उसे सूर्य नाड़ी में भस्म नहीं होने देता। इसमें चन्द्र नाड़ी नीचे और सूर्य ऊपर रहती है। [93]

---

91. ह.यो.प्र. 3.24-29, घे. सं. 3.21-24
92. हठ त. कौ. (प.सं. -35), 1/15/46
93. हठ यो.प्र., 3.33-36, घे. सं. 3.79-80

वैद्य सुन्दरदेव के अनुसार- पृथ्वी पर गोल लपेटा हुआ वस्त्र रख उस पर अपने मस्तक को टिका दें। दोनों हाथों के तलवों को मस्तक के पीछे लगाकर पैरों को ऊंचा उठाते हुए सीधा तान दें। इसपर पद्मासन भी किया जा सकता है। मूल और उड्डीयान बंध स्वत: लग जाते हैं। इसे ही विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। [94]

लाभ

इसके छः मास के अभ्यास से चेहरे की झुरियां नष्ट होती हैं। सफेद बाल भी नहीं रहते और साधक मृत्यु को भी जीत लेता है। इससे जठराग्नि बहुत तेज होती है। जितना भी खाओ सब हजम हो जाता है। अल्पाहार से इसमें हानि होती है। यह मस्तिष्क, कर्ण नेत्र रोगों को दूर करती है। रक्त शुद्ध होता है तथा कफ संबंधी विकार जुकाम आदि दूर होते हैं। ब्रह्मचर्य की रक्षा में सहायक है। [95]

खेचरी मुद्रा

खेचरी का अर्थ है- आकाश में भ्रमण करना। इसमें दोहन, चालन, छेदन ये तीन क्रियायें होती हैं। पहले जीभ को तर्जनी और अंगूठे से बाहर की ओर खींचकर लम्बा किया जाता है। जिस प्रकार गाय-भैंस आदि को दोहते हैं, उसी प्रकार जीभ को बाहर निकाल कर ऊपर नीचे घुमाया जाता है। फिर जीभ के मूल भाग में एक नस होती है। जिसे एक बाल तुल्य काट दिया जाता है। तत्पश्चात् सैंधा नमक व चूर्ण आदि से प्रतिदिन मलते हैं। इस प्रकार

---

94. हठ त. कौ. (प.सं.-30),1/14/3-4

95. पा.यो.प्र. साधन पाद, पृ. 437

पहले दिन एक बाल तुल्य काटते हैं, शनैःशनैः इतनी लम्बी कर ली जाती है जिससे वह गले के अन्दर से भौं के बीच तक पहुंच जाये। यह व्योम-चक्र भी कहलाती है। [96]

गोरख संहिता के अनुसार- जीभ को उल्टी लौटाकर कपाल कुहर में प्रविष्ट करें तथा अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करें- यही खेचरी मुद्रा है। यह चालन व दोहन से सिद्ध हो जाती है। बारीक वस्त्र से जीभ को पकड़ कर इसे चारों और उल्टफेर कर हिलाना और खींचना चालन कहलाता है। घी लगाकर दोनों हाथों की अंगुलियों से जीह्वा का पुनः पुनः खीचने का नाम दोहन है। निरंतर अभ्यास से यह जीभ इतनी लम्बी हो जाती है कि नासिका के ऊपर भ्रूमध्य तक पहुंच जाये । [97]

पातंजलयोग प्रदीप के अनुसार- जीभ को ऊपर की ओर उलटी ले जाकर तालु-कुंहर (जीभ के ऊपर तालु के बीच का गढ़ा) में लगाये रखने का नाम खेचरी मुद्रा है। इसके निमित्त जिह्वा को बढ़ाने के तीन साधन किए जाते हैं- छेदन चालन और दोहन।

पहला साधन

छेदन-जीभ के नीचे भाग में सूताकारवाली एक नाड़ी नीचे वाले दांतों की जड़ के साथ जीभ को खींचे रखती है। इसलिए जीभ को ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ी के दांतों के निकट वाले एक ही स्थान पर स्फटिक (बिल्लौर) का धार वाला टुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पांच बार फेरते रहें। कुछ दिनों तक ऐसा करने के पश्चात् वह नाड़ी उस स्थान में पूर्ण

---

96. ह.यो.प्र. 3.32-40, घे. सं. 3.21-28
97. गोरख संहिता, 2.44

कट जाएगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर- ऊपर एक-एक स्थान को जिह्वा मूल तक काटते चले जायें। स्फटिक फेरने के पश्चात् माजूफल का कपड़ा छान चूर्ण (टेरिन एसिड) जीभ के ऊपर-नीचे तथा दांतों पर मलें और उन सब स्थानों से दूषित पानी निकलने दें। माजूफल चूर्ण के अभाव में अकरकरा, नमक, हरीतकी और कत्थे का चूर्ण छेदन किये हुए स्थान पर लगावे । यह छेदन-विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकार की हानि पहुंचने की संभावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदन का कार्य किसी धातु के तीक्ष्ण यंत्र से प्रति आठवें दिन उस शिरा कोबाल के बराबर छेदकर घाव पर कत्था और ह रड़ का चूर्ण लगाकर करते हैं। इसके छेदने के लिए नाखून काटने वाला- जैसा एक तीक्ष्ण यंत्र और खाल छीलने के लिए एक दूसरे यंत्र की आवश्यकता होती है, जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ी के सम्पूर्ण अंश के एक साथ वाक् तथा आस्वादन-शक्ति नष्ट हो जाने का भय रहता है। इसलिए इसेकिसी सुभिज्ञ पुरुष की सहायता से करना चाहिए। छेदन की आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और यह नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लम्बी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदन की अधिक आवश्यकता नहीं । [98]

दूसरा एवं तीसरा साधन-चालन व दोहन

अंगूठे और तर्जनी अंगुली से अथवा बारीक वस्त्र से जीभ को पकड़कर चारों तरफ उल्ट-फेरकर हिलाने और खींचने को चालन कहते हैं। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथों की अंगुलियों से जीभ का गाय के स्तनदोहन-जैसे पुनः-पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करने की क्रिया का नाम दोहन है।

---

98. पा.यो. प्र. साधन पाद, पृ. 435

निरंतर अभ्यास करते रहने से अन्तिम अवस्था में जीभ इतनी लम्बी हो सकती है कि नासिका के ऊपर भ्रूमध्य तक पहुंच जाय। इस मुद्रा का बड़ा महत्त्व बताया गया है, इससे ध्यान की अवस्था परिपक्व करने में बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वाओं के भी नाना प्रकार के भेद देखने में आये हैं। किसी जिह्वा में सूताकार नाड़ी के स्थान में मोटा मांस होता है, जिसके काटने में अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वा में न यह नाड़ी होती है, न मांस। उसमें छेदन की आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिए।[99]

लाभ

ऊर्ध्व जिह्वा स्थिरीकृत्य सोमपानं करोति यः।

मासार्ध्देन सन्देहोमृत्युं जयति योगवित्।[100]

जीभ को ऊर्ध्व स्थिर करके अमृत का पान करने वाला योगी 15 दिनों में मौत को जीत लेता है। खेचरी मुद्रा सिद्ध होने पर व्यक्ति को भूख-प्यास, रोग निद्रा, तन्द्रा, आदि नहीं सताते हैं, वह काल को भी जीत लेता है। ऐसा व्यक्ति इच्छानुसार देह त्याग सकता है। चन्द्र नाड़ी से टपकने वाले रस को सूर्य नाड़ी में भस्म होने से बचाता है। जहर का कोई असर नहीं होता सभी पदार्थ अमृत तुल्य लगते हैं। अष्टसिद्धियां- अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशिता प्राप्त होती है।[101]

---

99. हठ. त. कौ. (प. सं. 31), 1/14/11

100. गोरख संहिता, 2.44

101. घे. सं. 3.21-28

6. शक्ति-चालिनी-मुद्रा

विधि

सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर हाथों की हथेलियां पृथ्वी पर जमा दें। बीस-पच्चीस बार शनैःशनैः दानों नितम्बों को पृथ्वी से उठा उठा कर ताड़न करें। तत्पश्चात मूलबंध लगाकर दोनों नासिकाओं से अथवा वाम्से जो स्वर चल रहा है उस नासिका से पूरक करके प्राणवायु को अपानवायु से संयुक्त करके जालंधर-बंध लगाकर यथाशक्ति कुंभक करें। कुंभक के समय अश्विनीमुद्रा करें अर्थात् गुह्य प्रदेश का आकर्षण -विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालंधर-बंध खोलकर यदि दोनों नासिका पुट से पूरक किया हो तो दोनों से अथवा पूरक से विपरीत नासिकापुट से रेचक करें और निर्विकार होकर एकाग्रता पूर्वक बैठ जाएं ।[102]

घेरण्ड संहिता में इस मुद्रा को करते समय बालिश्त-भर चौड़ा, चार अंगुल लम्बा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभि पर कटिसूत्र से बांधकर सारे शरीर पर भस्म मलकर करना बतलाया है।[103]

आचार्य भगवान् देव ने योग चमत्कार में इस मुद्रा को करते समय सिद्धासन में बैठकर दोनों नासिका रन्ध्र से श्वास भरे और इसको मूलाधार में ले जाकर अपान से युक्त कर दें। अश्विनी मुद्रा करते हुए ऐसा अनुभव करें, मानों प्राण सुषुम्ना में प्रवेश कर रहे हों। यह श्वास क्रिया करने से पूर्व सिद्धासन लगाकर हथेलियों को भूमि पर जमा दें। पन्द्रह-बीस बार धीरे धीरे दोनों नितम्बों

---

102. पा.यो. प्र. साधनपाद, पृ. 436

103. घे. सं. पृ.1

को पृथ्वी से उठा-उठा कर ताड़न करें, फिर प्राणायाम करते हुए शांत होकर बैठ जाएं। [104]

लाभ

सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्द्धक होने के अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने में अत्यन्त सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करे। मूलाधार चक्र के अन्दर दर्शन होने की संभावना रहती है। सुस्ती, जड़ता दूर होती है।

7.योग मुद्रा

विधि

पद्मासन में बैठकर मूलबंध लगा लें । दोनों नासा छिद्रों से श्वास भीतर लेते हुए ज़ालंधर बन्ध लगाएं दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाएं। एक दूसरे हाथ की कलाई पकड़ लें। पेट में एड़ियों को सटा लें। शरीर को आगे झुकाकर मस्तक को भूमि पर लगा दें।

लाभ

कुण्डलिनी शक्ति जागरण में सहायक है। समस्त उदर विकारों को दूर करती है। [105]

8. वज्रोली मुद्रा

वज्रोली और शक्ति चालिनी मुद्राओं की विधि व अभ्यास उच्च गुरु के निर्देश में ही करनी चाहिए।

---

104. यो. च., पृ. 192-193

105. ह. त. कौ. पृ. 152, पा.यो.प्र. साधन पाद. पृ. 437

विधि

एक चौदह अंगुल रबड़ का केथिटर लेकर गर्म पानी में साफ कर घी लगा लें। फिर इसे लिंग छिद्र में प्रवेश करने का अभ्यास करें । यह अभ्यास धीरे- धीरे बढ़ाएं । जब वह बारह अंगुल जाने लगे, तब चौदह अंगुल लम्बी जस्त की सलाई लिंग के छिद्र के अनुसार चौड़ा हो, तैयार करें। यह दो अंगुल मुड़ी हुई ऊपर की ओर मुंह वाली हो। इसे लिंग छिद्र में प्रवेश करने का अभ्यास करें। जब अभ्यास हो जाए, तब चांदी की भीतर से पोली वैसी ही सलाई बनाकर लिंग छिद्र में प्रविष्ट करें। जब पूरा अभ्यास हो जाए, तब जल के एक पात्र में इसका एक सिरा डालकर पानी को अन्दर खींचे। जल के बाद दूध, तेल, शहद आदि का अभ्यास किया जा सकता है। नौली क्रिया करें। मूत्र के साथ ही जल, तेल आदि बाहर आ जाएंगे। प्रारम्भ में कई बार दर्द होता है, सावधानी रखें।

दूसरी विधि

मूत्र त्याग के समय कई बार मूत्र को बलपूर्वक ऊपर की ओर आकर्षित करें। ऐसा करते समय इस बात को ध्यान से देखें कि मूत्रधारा कितने नीचे से आकर्षित होकर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरंतर अभ्यास से जब मूत्रधार दस-बारहअंगुल नीचे से आकर्षित होकर खींची जा सके और उतारने में कुछ शक्ति लगाना पड़े तो समझना चाहिए कि वज्रोली क्रिया सिद्ध हो गई है। तत्पश्चात् क्रमशः जल, दूध, तेल अथवा घी, शहद और अंत में पारा खींचने का अभ्यास करें। [106]

---

106. पा. यो. प्र. साधन पाद, पृ. 437

लाभ

यह मूत्रवस्ति क्रिया है । समाधि में आने से पूर्व इस क्रिया का प्रयोग आवश्यक है। यह समस्त मूत्राश्य, गुर्दे के विकारों, पथरी आदि रोगों का निराकरण करती है। प्रमेह रोग, स्वप्न दोष, आदि दूर होते हैं। इस क्रिया का मुख्य उद्देश्य ब्रह्मचर्य पालन है और कोई निकृष्ट भाव न समझ लें। [107]

इस मुद्रा का फल हठयोग के शास्त्र में अलौकिक सिद्धियां बतलाई गई हैं, परन्तु जरा सी असावधानी होने पर इन्द्रिय, छिद्र विकार होने से भयंकर शारीरिक रोग उत्पन्न होने तथा स्त्री के रज खींचने की चेष्टा में ऊंचे-से-ऊंचे अभ्यासी के लिए भी आध्यात्मिक पतन होने की अधिक संभावना है। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण दृष्टिगोचर हुए हैं। इन मुद्राओं आदि को किसी अनुभवी की सहायता से करना चाहिए अन्यथा लाभ के स्थान में हानि पहुंचने की अधिक संभावना है।

9. सहजोली और आमरोली

वज्रोली मुद्रा के भेद विशेष ही सहजोली और आमरोली हैं, क्योंकि तीनों का फल एक है। उन दोनों में सहजोली मुद्रा का वर्णन करते हैं कि:- व्रजोली मुद्रा की सिद्धि के लिए किये हुए मैथुन के अनंतर आनंद से बैठे हुए स्त्री और पुरुष उत्साह से रति व्यापार को त्यागकर दग्ध गोमयों (उपलों) की सुन्दर भस्म बनाकर उसको जल में डालकर उस भस्म को मिश्रित करके अपने मस्तक, शिर, नेत्र, हृदय, स्कन्ध, भुजा आदि अंगों पर लेपन करें। इसी भस्म लेपन रूप क्रिया को मत्स्येन्द्र आदि योगीजनों ने सहजोलिमुद्रा कहा है और

---

107. हठ त. कौ. (प. सं. -36), 1/15/9

यह योगीजनों को सदैव श्रद्धा करने योग्य है। [108]

लाभ

यह सहजोलि नामक का योग शुभकारी है और भोग से युक्त भी यह योग (उपाय)मोक्ष का दाता है। [109]

अमरोली

कापालिक मत में अर्थात खंडकापलिक मत में अमरोली नाम की मुद्रा प्रसिद्ध है। जो पुरुष शिवांबुरूप अमरी को नासिका से नित्य पीता है और मैथुन से प्रतिदिन वज्रोली का भली प्रकार अभ्यास करता है उस मुद्रा को कापालिक अमरोली कहते हैं।

लाभ

अमरोली मुद्रा के अभ्यास से निकली हुई जो चन्द्रमा की सुधा (अमृत) है उसको भस्म में मिला कर शिर, कपाल, नेत्र, स्कंध, कंठ-हृदय, भुजा आदि उत्तम अंगों में धारण करें तो मनुष्य दिव्य दृष्टि को प्राप्त हो जाता है अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूर) के जो पदार्थ, उनको देखने योग्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है। [110]

अत: हठतत्त्वकौमुदी में सुन्दरदेव ने मुद्रा और बन्धों का विस्तार से वर्णन किया है। ये सब मुद्राएं प्राणवायु और मन को स्थिर करने में परम सहायक होती हैं।

---

108. हठ त. कौ. (प.सं. -37),1/15/10-11

109. ह.यो.प्र. उपदेश: 3.92-94,पृ. 122

110. हठ त. कौ. ,1/15/12-13, ह. यो. प्र. 3.97-98

प्रमुखयौगिकदशमुद्राणां प्रयोगात्मकमध्ययनम्

A Practical Study on Primary Yogic Ten Mudras

नवदेहलीस्थकेन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य **विद्यावारिधिः (Ph.D.)** इत्युपाधये
विश्वविद्यालयानुदानायोगस्य 2009/2016 इत्यधिनियमानुसारं प्रस्तुतः

शोधप्रबन्धः

(सत्रम् – 2016-2021)

पञ्जीयनसङ्ख्या – वि॰वा॰/7166/16
अनुक्रमाङ्कः – 61

मार्गदर्शकः

प्रो॰ एस्॰सुब्रह्मण्यशर्म्मा
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
नवदेहली - 110058

गवेषकः

मणिकान्ततिवारी
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
नवदेहली - 110058

साङ्ख्ययोगविभागः

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः

(भारतसर्वकारस्य मानवसंसाधनविकासमन्त्रालयाधीनः)

56 – 57, सांस्थानिकक्षेत्रम्,

जनकपुरी, नवदेहली – 110058

2021

प्रो॰ एस्॰ सुब्रह्मण्य शर्मा
कुलसचिवः
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
जनकपुरी, नवदेहली

Prof. S. Subrahmanya Sarma
Registrar
Central Sanskrit University,
Janakpuri, New Delhi

प्रमाण-पत्रम्

आयुष्मता **'मणिकान्ततिवारी'** इत्याख्येन शोधच्छात्रेण नवदेहलीस्थकेन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य 'विद्यावारिधिः' (Ph.D.) इत्युपाधये **'प्रमुखयौगिकदशमुद्राणां प्रयोगात्मकमध्ययनम्'** इति विषयमधिकृत्य मदीयनिर्देशने विविधग्रन्थानुशीलनपुरस्सरं युक्तिप्रमाणपूर्वकं च सपरिश्रमं प्रणीतोऽयं शोधप्रबन्धः मौलिककृतिरिति प्रमाणीक्रियते।

अहमस्मै विद्यावारिधिः (Ph.D.) इत्युपाधये शोधप्रबन्धमेनं प्रस्तोतुमनुमतिं सम्प्रददे।

शोधनिर्देशकः
प्रो. एस्॰ सुब्रह्मण्य शर्मा
कुलसचिवः
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
जनकपुरी, नवदेहली।

प्रतिज्ञापत्रम्

भारतसर्वकारस्य शिक्षामन्त्रालयाधीनस्य नवदेहलीस्थितकेन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य सांख्ययोगविभागे कुलसचिव प्रो० एस्० सुब्रह्मण्यशर्ममहाभागानां निर्देशने प्रमुखयौगिकदशमुद्राः विषयीकृत्य मया **मणिकान्ततिवारी** इत्याख्येन "विद्यावारिधि (Ph.D.)" इत्युपाधये नियमितशोधच्छात्रत्वेन प्रयोगात्मकदृष्ट्या मौलिकमध्ययनं कृतम्। तस्य च *"प्रमुखयौगिकदशमुद्राणां प्रयोगात्मकमध्ययनमि"ति* शीर्षकाङ्कितेऽस्मिन् शोधप्रबन्धे प्रस्तुतिः कृता । ममैतत् शोधकार्यं विश्वविद्यालयानुदानायोगस्य २००९/२०१६ संवत्सरयोः अधिनियममनुसृत्य प्रवृत्तं वर्तते । अयं शोधप्रबन्धः इतः प्राक् क्वापि कस्मैचिदुपाधये न प्रस्तुतः । मदीयशोधकार्यसम्पूर्तौ अयमिदानीं केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य **'विद्यावारिधि (Ph.D.)'** इत्युपाधये ऐदम्प्राथम्येन प्रस्तूयते इत्यहं प्रतिजाने।

दिनाङ्कः –

स्थानम् – नवदेहली

इत्थम्

(मणिकान्ततिवारी)
गवेषकः
साङ्ख्ययोगविभागः
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
नवदेहली।

कार्त्तज्ञज्ञप्तिः

'प्रमुखयौगिकदशमुद्राणां प्रयोगात्मकमध्ययनम्' इति शीर्षकमाश्रित्य केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य साङ्ख्ययोगविभागे शोधकार्य्यं कुर्वता मया नैकेषां गुरूणां ग्रन्थानां पत्रपत्रिकानां सङ्गणकीयोपकरणानां मित्राणाञ्च आशीर्वादाः सहयोगाश्च दिवानिशं लब्धाः। तेषु सर्वेषु प्रथमतः मम योगदीक्षागुरूणां स्वामिबुद्धपुरीमहाराजानां प्रायः सर्वत्रैव गुप्तविद्यांशोद्घाटनाय प्राप्तनिर्देशनं मनसि निधाय तेषां कृते कार्त्तज्ञपुरस्सरं भावाञ्जलिं प्रणिवेद्य शोधमार्गनिर्देशकानां मान्यानां प्रो०एस्०सुब्रह्मण्यशर्म्मवर्य्याणां निर्देशनं शिक्षणं प्रशिक्षणं वात्सल्यञ्च स्मारं स्मारं तेभ्यः गुरुपुङ्गवेभ्यः कार्त्तज्ञपुरस्सरं श्रद्धाकुसुमाञ्जलिं समर्पये। प्रबन्धप्रबन्धने नैकेषां प्राचीनानामर्वाचीनानाञ्च ग्रन्थकृतां ग्रन्थाः टीकाः टिप्पण्यः शोधलेखाश्च समाश्रिताः, तेभ्यश्च शोधप्रबन्धोपयोगिन्यः सामग्र्यः सङ्कलिताः विमृष्टाश्च, तेभ्यः सर्वेभ्य एव पण्डितवर्य्येभ्यः कार्त्तज्ञं वितन्य स्वस्य पितरौ भगिनीं मित्राणि चेत्यस्मिन्नवसरे तेषां कृतं सहयोगं ध्यायं ध्यायं तेभ्यः सर्वेभ्यः एव यथायोग्यं प्रणामाञ्जलिं साधुवादांश्च वितन्वे।

अथ च 'पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दन्ते यस्य लीलया' तादृशीं लीलाकरीम् आराध्यां जगदम्बिकां प्रबन्धार्पणकाले बारम्बारं तस्याः कृतं स्मरामि यतः मादृशेन साधारण्येन अपि छात्त्रेण विद्यावारिधये समुपयोग्यशोधप्रबन्धो ग्रन्थितः।

'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः' इति रीत्या जायमानानि स्खलनानि सुधियः उपेक्ष्य मां क्षंस्यन्ते।

विषयानुक्रमणिका

प्रथमोऽध्यायः – योगसामान्यनिदर्शनम्

सम्पूर्णब्रह्माण्डीयान्ताखण्डचेतनया सह सम्बन्धसंस्थापनाय सर्वेषु मार्गेषु योगस्य महत्त्वप्रतिपादनपूर्वकं प्रयोगप्रधानयोगानुष्ठाने मुद्राणां वर्चस्वमिति सिद्धये चेतिहासनिलये नैकदृष्ट्या योगस्य विविधायामे प्रवेशार्थमत्र विविधग्रन्थानुशीलनरीत्या योगतत्त्वं प्रदर्श्य मुद्रासु विशिष्टगतिर्विवर्द्धनायाधिकारिदेशकालपरिस्थितिगुरुमहत्त्वानाञ्च स्वरूपम् औचित्यञ्च विस्तीर्य योगस्य प्रयोगपक्षे प्रवेशायायमध्यायो निगद्यते।

योगस्येतिहासः - मानवजीवनस्य सर्वशास्त्रानुमोदितमुख्यलक्ष्यविषयस्त्वेक एव स त्वाऽत्मदर्शनं स्वस्वरूपानुसंधानं वेति। एतस्यैवापराभिधानम् मोक्षप्राप्तिः, त्रिविधदुःखनिवृत्तिः, अज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्चेत्यादयः। एतादृशोद्देशप्राप्तिर्निमित्ताय विभिन्न-मार्गाणामुपस्थापनं भवति। तेषु मार्गेषु "योग" इत्यभिधानकमार्गस्य प्रायो वैदिककालादारभ्याधुनिककालपर्यन्तं प्रतिस्तरेषु प्रासंगिकता दरीदृश्यते। महाभारतयुगे योगशब्दप्रयोगो विभिन्नार्थेषु जायते स्म, किन्तु तदर्थप्रतिपादकधात्वर्थस्तु संयोगो मेलनञ्चास्ति। अर्थेऽस्मिन् प्रयुक्तधातुः युजिर् योगे इति। कठोपनिषदि योगशब्दस्य प्रयोगः इन्द्रियाणां वशीकरणम् इत्यस्मिन्नर्थेऽभूत्। गीतायामपि योगशब्दप्रयोगोऽर्थान्तरेषु प्राप्यते, तथापि सकलार्थसम्बन्धः मेलनार्थेनैवाऽस्ति। स्वायम्भुवमनुनाऽपि योगपदवाच्यं वशीकरणमिति कृतम्, युज् संयमने इत्यस्मात् धातुग्रहणात्। पालिभाषायामपि योगशब्दो मेलनम्, वशीकरणम्, प्रयत्नञ्चेत्येतेष्वर्थेषु प्रयुज्यते। यथा – पुब्ब योगे, चित्तस्य निग्गान्हे योगो करणीयो इत्यादिवचनेषु स्पष्टीभवति। मेदिनीकोशानुसारं योगशब्दप्रयोगोऽर्थान्तरेषु प्राप्यते –

योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ सङ्गतिव्यानयुक्तिषु।

वपुः स्थैर्य्ये प्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे[1]॥

अर्थात् अपूर्वार्थसम्प्राप्तौ, सङ्गत्याम्, ध्याने, युक्तौ, शरीरस्थिरतायाम्, प्रयोगे, विष्कम्भे, भेषजे चेत्यादिष्वर्थेषु योगशब्दः प्रयुज्यते। जीवात्मपरमात्मनोः संयोगोऽपि योगशब्देनाभिधीयते। एनं जीवात्मपरमात्मनोः समवस्थाजन्यः समाधिः इत्याख्यायते। यथा –

'समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः[2]॥

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः'[3]॥

समाध्यर्थकयुज्धातोः "योजनं योगः" इत्याकारकविग्रहे "भावे" सूत्रेण भावार्थक-'घञ्'प्रत्यये कृते यो योगश्शब्दो निष्पद्यते स अङ्गी अर्थात् फलरूपकोऽसंप्रज्ञातसमाधिवाचकः, तथैव युज्धातोः'युज्यते चित्तमनेनेति योगः' इत्यस्मिन्विग्रहे 'करणाधिकरणयोश्च' सूत्रेण करणार्थकघञ्प्रत्यये कृते यो योगश्शब्दो निष्पद्यते स त्वङ्गं साधनरूपात्मकसंप्रज्ञातसमाधिवाचकश्चेति। योगदर्शनस्य प्रथमसूत्रव्याख्यानावसरे व्यासभाष्ये "योगः समाधिः स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः[4]" अतो योगसमाधिश्चेकार्थत्वात्योगार्थः समाधिरेव इति स्पष्टम्। योगे चिन्तनप्रधानदार्शनिकदृष्ट्या तथा च देहादारभ्य चित्तस्य निरोधावस्थितिः पर्यन्तं क्रियात्मकरीत्या द्वौ पक्षौ स्तः। अनयोः पक्षयोः क्रियात्मकपक्षस्य प्राबल्यमनुभवात्सिद्धमिति। अष्टांगयोगे यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-धारणाध्यानसमाधीनां गणना पातञ्जलयोगदर्शने सम्प्राप्यते[5]। चित्तवृत्तिनिरोधात्मक-योगस्यैतान्यष्टावङ्गानि।

---

[1]गान्तवर्गे श्लो॰ सं॰ 18

[2]श्रीयो॰श्लो॰सं॰ पूर्वार्ध 10 -2

[3]श्रीयो॰श्लो॰सं॰ उत्तरार्ध 2 -44

[4]व्या॰भा॰ पृ॰ सं॰ 2

[5]यो॰द॰ सू॰ सं॰ 2.29

योगस्यादिस्रोतो ज्ञानाय साधनद्वयं वर्त्तते प्रथमस्तु प्राचीनपुरातत्त्वानामवशेषाः, अपरन्तु साहित्यम्। सिन्धुघाटीकालीनसभ्यतायाः प्राप्तपुरातत्त्वानामवशेषैः तात्कालिकभारते योगविद्यायाः प्रचलनमासीदित्यात्मकं प्रमाणं प्राप्यते। एतावतेव प्राचीनसूत्रसाहित्येषु लोकप्रियोपदेशात्मकपौराणिकसाहित्येष्वपि च योगस्य स्वरूपविस्तारगहनत्वविषये च वर्णनं प्राप्यते। विंशतिश्शताब्द्याःप्रारम्भे प्रागैतिहासिकयुगानामवशेषाः न्यूनमात्रायां प्राप्ताः परञ्च मोहनजोदडोहडप्पास्थानयोरन्वेषणेन एकस्याः विपुलसमृद्धसम्पन्ननागरिकसभ्यतायाः ज्ञानमभवत्।

सिन्धुनद्याः क्षेत्रे एतस्याः सभ्यतायाः विस्तारेणास्या अभिधानन्तुसिन्धुघाटीय-सभ्यताऽभवत्। मोहनजोदडोहडप्पास्थानयोश्चप्राप्तभग्नावशेषेषु किञ्चद्वस्तु एतादृशं वर्त्तते, येनाधारेण ज्ञातुं शक्नुमो वयं यत् तस्मिन्कालेऽपि योगविद्यायाः प्रसार आसीत्। तस्य कालस्य प्राप्तवस्तुषु मुद्राः, धातुप्रस्तरमृत्तिकाभिर्निर्मितमूर्त्तयश्चोपर्यङ्कितालेखाः मुख्यरूपेण योगशास्त्रीयविभिन्नमुद्राणां सूचकाः सन्ति। प्रस्तरनिर्मितमूर्त्तिषुकटिप्रदेशस्याधो भागस्य नाशो दृश्यते। एतेषु मूर्तेषु मनुष्याः कटिवस्त्रयुक्ताः दृश्यन्ते। एतत्सु मूर्तिषु नेत्राण्यर्धोन्मीलितानि शाम्भवीमुद्रायास्स्थितध्यानावस्थितानि प्रदर्शितानि सन्ति। विभिन्नमुद्रणेषु त्रिमुखनग्ननरस्य चतुष्पीठे पद्मासनावस्थितस्थितिः प्राप्यते। मूर्तिखण्डेषु विभिन्नमुद्राणामासनानाञ्च यथा – योनिमुद्राशाम्भवीमुद्रानभोमुद्रापद्मासनादीनाञ्च स्पष्टदर्शनं भवति। जोनमार्सलमहोदयानुसारेण इयं प्राचीनयोगिजनानां मुद्रास्थितिर्वर्त्तते। मूर्तिष्वङ्किताकृतिविषये मतैक्यन्नास्ति। केचन विद्वांसः पशुपतिशिवस्याऽकृतिं मन्यन्ते केचन त्वादिनाथस्य ऋषभदेवस्येति। विभिन्न-मुद्रणेऽङ्किताकृतिः यदि आदिशिवस्य वर्त्तते तर्हि सर्वातिप्राचीनधर्मरूपे शैवधर्मस्याथवा योगतन्त्रस्य स्थितिर्मन्येत। वैदिककालिकविभिन्नसाहित्येऽपि यथा वेदस्य ज्ञान-खण्डीयोपनिषदि, आदिकाव्ये, विभिन्नशिवोक्ततन्त्रशास्त्रे च योगस्य स्पष्टोल्लेखः प्राप्यते। उपनिषत्सु तु काश्चिद् पूर्णरूपेण योगशास्त्राश्रितानि सन्ति, यथा योगकुण्डल्युपनिषद्,

योगतारकोपनिषद्, श्वेताश्वेतरोपनिषदिति। आनुषङ्गिकरूपेण तु प्रायः सर्वत्रैवास्य वर्णनं प्राप्यते। अतो निष्कर्षरूपेण वक्तुं शक्यते यत् वैदिककालादेव योगस्य विद्यमानत्वात् वेदवदेव योगोऽपि अनादिरिति।

भारतीयास्तिकदर्शनेषु योगदर्शनमप्यन्तर्भवति। योगदर्शनं साङ्ख्यदर्शनस्याऽनुपूरकं शास्त्रमिति शास्त्रज्ञानां चिन्तनं वर्त्तते। अर्थात् साङ्ख्यदर्शनेन लक्ष्यसिद्ध्यर्थं ये सैद्धान्तिकपक्षाः विमृश्यन्ते, तेषामेव योगदर्शने व्यावहारिकतामादाय विभिन्नसाधनैः प्रयत्नयुक्ताचरणैःप्राप्यते। अत एव योगदर्शनं साङ्ख्यदर्शनस्याऽनुपूरकम् इति वचने नास्ति कश्चित् संशयलेशः। उभयत्र दर्शनेषु वर्णनशैल्यामेव भेदो दरीदृश्यते अर्थात् साङ्ख्ये सैद्धान्तिकवर्णनशैली, योगे च व्यावहारिकशैली, न तु तत्त्वेषु कश्चिद्भेदः।

योगस्य सामान्यार्थः- निखिलचित्तवृत्तीनां मनोव्यापाराणां निरोधनमिति। तदेवोक्तं शेषनागावतारैः भगवत्पतञ्जलिपादैः योगशास्त्रे- योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः[6] इति। मनुष्याणां समस्तव्यवहाराः चक्षुश्श्रोत्रघ्राणरसनत्वग्रूपज्ञानेन्द्रियपञ्चकैः पाणिपादपायूपस्थवाग्रूप-कर्म्मेन्द्रियपञ्चकैः सम्पाद्यन्ते। मानवाचरणस्य साधनत्वादेतानि दश इन्द्रियाणि करणत्वमाप्नुवन्ति। एतेषां सम्बन्धः शरीरस्य बाह्यक्रियया सत्त्वात् बाह्यकरणानीति व्यवहारो दृश्यते। तथा च मनुष्यः स्वान्तव्यवहाराय मनोबुद्ध्यहङ्कारान् साधनत्रयानुपयुङ्क्ते। अत्रोक्तबाह्यान्तःकरणेषु मनः प्रामुख्यं भजते। एतन्मनः एव बाह्यकरणानां प्रेरकमेवञ्चेन्द्रियाणां सर्वारपि क्रियाः मनोऽधीनाः भवन्ति। मनः स्वस्याऽपि निग्रहं करोति, बुद्ध्यहङ्कारयोः अपि, अनेन उपर्य्युक्तकरणद्वयेषु मनः प्रधानं वरीवर्त्ति। योगदर्शने मनः चित्तमित्याख्यायते, अस्य व्यापाराः चित्तवृत्तय इति। सम्पूर्णचित्तवृत्तीनां निग्रहः एकाग्रावस्थितमनसा विधीयते। अर्थात् मनसः एकाग्रत्वे सति इन्द्रियाणां समेऽपि व्यवहाराः अवरुद्ध्यन्त इति। एतदेव चित्तवृत्तिनिरोधः स एव योग इति कथ्यते। तदेवोच्यते बुधैः मनोविविधविषयेषु अप्रवृत्त्या,

---

[6]यो॰सू॰ 1/2

तस्य शान्तव्यवस्थितनिश्चलैकाग्रस्थितिप्राप्तिरेव योगः, अर्थात् शान्ताद्यवस्थाप्राप्तेः या प्रक्रिया युज्यते स एव योग इति। यदा मानवस्य शारीरिकमानसिकात्मिकस्थिति अनियन्त्रिता जायते तदा स्वात्मानं दुःखी अशान्तश्चानुभूय चिन्तायुक्तो भवति। अनेनैव प्रकारेण पदार्थः भावविशेषो वा प्रतिकूलो दृश्यते तदा मनःस्थिति अव्यवस्थीयते, तथा च अशान्तायते। अशान्तमन एव दुःखस्य रोगस्य वा कारणम्। तस्मान्मनसश्शान्तये य उपायः कल्पितः स एव योगः। यदा मनसः अशान्तत्वमपगच्छति तदा मनसि समता समुत्पद्यते, स एव योगो नाम्नाऽभिधीयते। तदेवोक्तं गीतायाम् भगवद्भिः – समत्वं योग उच्यते[7] इति।

एवं सकलमानसव्यापाराणां निरोधो योगः, यत्र च चित्तवृत्तीनां निरोधोपायाः वर्णिताः तत् योगशास्त्रम्। चित्तवृत्तिभिरेव संसारे कर्म्मबन्धनं जायते, कर्म्मबन्धनैरेव प्राणिशरीरनिष्ठजीवात्मा संसारस्य चतुरशीतिलक्षसङ्ख्यात्मकयोनिषु परिभ्रम्य नानाक्लेशान् सहते। संसारगतदुःखभागयं जीवात्मा तावन्न मुक्तो भवति यावत्पर्य्यन्तं साधनापन्थानं प्रविश्य, चित्तमेकाग्रीकृत्य, तस्य निखिलान्तोबाह्यप्रवृत्तीन् निरुध्य, तेषु स्वत्वं न निर्वर्त्तयति। मानवस्य चित्तवृत्तिकारणेनैव अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः इति पञ्च क्लेशा[8] उत्पद्यन्ते। एतेषां पञ्च क्लेशानां शमनाय, व्यावहारिकसाधनापथप्रदर्शनाय च योगदर्शनं प्रवर्त्तते। चित्तवृत्तीनां निरोधेन क्लेशोपशमनात् जीवात्मपरमात्मनोः योगो भवति।

योगशास्त्रकारानुसारम् – मानवीयप्रकृत्या भिन्नतत्त्वैः नियन्त्रणद्वारा पूर्णतां प्राप्तये विहितविधिपूर्वकप्रयत्न एव योग उच्यते। चेतनेच्छाशक्तियुक्तमवगमशक्तियुक्तं मनः नियन्त्रणमतीवावश्यकम्। योगशास्त्रे पतञ्जलिना तादृशोऽभ्यासा उक्ताः यैश्शारीरिकविकृतीनां चिकित्सा, शरीरस्य मालिन्यनिवारणम्, अपि च एतेषामभ्यासेन शक्तेराधिक्यम्, यौवनाधिक्यम्, स्वास्थ्याधिक्यञ्च सम्प्राप्य तदनन्तरमेतदुपयोग आध्यात्मिकविकासाय

---

[7]भगवद्गीता - 2.48

[8]यो॰ द॰ सू॰ सं॰ 2.3

करणीयः, तेन मानवजीवनस्य परमलक्ष्यं कैवल्यं प्राप्तुं शक्नुयाम। न च पातञ्जलेः मुख्यलक्ष्यमाध्यात्मिकप्रतिपादनम्, अपितु व्यावहारिकरीत्यासंयमजीवनेन मोक्षप्राप्ति-विधानज्ञापनमेव।

योगेन जीवः चैतन्यस्योत्तमपदवीं प्राप्नोति, तेन मानसोपकरणप्राशस्त्यमवलम्ब्य जीवसाध्यसामान्यावधिमप्यतिक्रमितुं सहते। योगशास्त्रेण भारतीयपारम्परिकाधारभूतविचाराः अर्थात् भौतिकजगदपेक्षया आत्मिकस्य श्रेष्ठता, मौनसाधना, एकान्तसेवनम्, ध्यानम्, समाधिः, अपि च बाह्यावस्थां प्रति औदासीन्यमित्यादीनां स्पष्टतयावगमनात् आधुनिकविचारधारायाः तुच्छता परिलक्ष्यते। तथा च निःसङ्कोचरूपेण वक्तुं पारयामो यत् येषां मनोवृत्तिः कृत्रिमबाह्यवस्त्वाडम्बरेणातिक्रान्ता, रसाभावरूपकठोरपरिश्रमिका, भौतिकलिप्सायुक्ता, इन्द्रियजन्योत्तेजनकरणकात्मयथार्थानुभवविरक्ता च वर्त्तते, तादृश्याः वृत्तेः पूताय योगसाधनातीवावश्यकी।

एवंरूपेण पातञ्जलयोगदर्शनस्य धारणाऽस्ति यत् मानवः तज्जीवनस्य समस्तकल्पनातीतनिधिभिः सम्पन्नः, येन किमपि पातुं समर्थो भवति। दर्शनमिदं जीवं गाम्भीर्यक्रियास्तरप्राप्तिपथं बोधयति। योगः शरीररस्य मनस आत्मनश्च शुचितामाधाय ब्रह्मानन्दमयस्वरूपस्य साक्षात्कारार्थं सिद्धतामादधाति।

संसारस्य निखिलशुभाशुभकर्म्मणि प्रवृत्तेः मूलकारणं मनः एवाऽस्ति। चञ्चलात्मकं मन इति तर्कशास्त्रवचनेन मनुष्यस्य मनसः चाञ्चल्यं स्वतः सिद्धमेव। मनसश्चाञ्चल्यादेव दृढव्रतीनां, महातपस्विनां, योगिनां, सन्यासिनाञ्च व्रततपस्साधनायोगादयोऽपि भ्रष्टीभवन्ति। यो मनुष्यः वश्यमनस्को भवति, स एव साधनायां पूर्णतामवाप्य लक्ष्यसिद्धौ सफलीभवति। मनः, तस्य व्यापाराणां निरोध अत्यन्तावश्यकः। एकाग्रतयाऽभ्यासनैरन्तर्य्येण च तद्वृत्यवरुध्य मनो वशं कर्त्तुं शक्यते। पूर्णरूपेण एकाग्रतया मनो वशीकृत्य नित्यस्थिरतां प्राप्नोति, तदानीं प्रमाणजन्यानुभवविरुद्धसत्यस्य साक्षात्कारो जायते, अलौकिकस्य सत्यस्यैहिक-

सत्यानुभवविरुद्धः स्वाभाविक एव। नानासाधनविशेषैः उपायैश्च चित्तवृत्तिनिरोधमूलकैः आत्मसाक्षात्कारो नाम पारमार्थिकसत्यानुभव एव भगवत्पतञ्जलिना योग इति व्यवह्रियते। योगः सामान्यतया द्विविधः – सम्प्रज्ञातयोगः, असम्प्रज्ञातयोगश्च। तत्रापि आद्यः सम्प्रज्ञातयोगो द्विविधः सविकल्पकः निर्विकल्पकश्च। एवम् अन्तिमासम्प्रज्ञातयोगस्तु निर्बीजसमाधिः (धर्म्ममेधसमाधिः) इति कथ्यते। असौ निर्बीजसमाधिरेव योगस्य परमं लक्ष्यम्, एतेनैव आत्मनः स्वरूपप्रतिष्ठापनं नाम कैवल्यं भवति। केचित् विद्वान्सो योगस्य सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदेन द्वैविध्यममन्यमानाः त्रैविध्यं स्वीकुर्वन्ति, तन्मते तु सविकल्पकयोगः, निर्विकल्पकयोगः, निर्बीजयोगश्चेति। अनेन मतान्तरेण योगस्य मौलिकता न नश्यते।

योगतत्त्वोपनिषदि योगश्चतुर्विध इति उक्तः– मन्त्रयोगः, लययोगः, हठयोगः, राजयोगश्च। महर्षिपतञ्जलिना प्रतिपादितयोगोऽन्तिमः राजयोगः, यतो हि मनसः चाञ्चल्यं दूरीकृत्य समाध्यवस्थायाः प्राप्तुं सहायकप्रक्रियायाः विशदप्रतिपादनं करोति। हठयोग-प्रतिपादितसिद्धान्तानुसारं हठयोगः कायिकक्रियासु आधिपत्यसम्पादको वरीवर्त्ति। देहवशीकरणं पातञ्जलयोगस्यैकदेशः एव। एवंप्रकारेण अद्यत्वे प्रसिद्धयोगः वस्तुतः हठयोगराजयोगयोः मिश्रितस्वरूपरेवास्ति। योगदर्शननाम्ना ख्यातिलब्धे दर्शनशास्त्रे प्रचलितो योगोऽपि हठयोगराजयोगयोर्मिश्रितस्वरूपः, यस्मिन् मनश्शरीरयोः समस्तक्रियाणां निरोधनं विधाय जीवात्मनो मुक्तिः एव प्रधानप्रतिपाद्यो वर्त्तते।

मन्त्रयोगस्तु विश्वासचिकित्साऽधृतोऽस्ति। प्राचीनभारते अनेकस्थानेषु मन्त्रादिना समस्तकार्य्यसिद्ध्यर्थं दीर्घकालपर्य्यन्तमुपायाः बोभूयेरन्। एवं भारते मन्त्रादिप्रयोगो दीर्घकालिक आसीत्। वर्त्तमाने ईसाईविचारकाः मन्त्रविधिप्रयोगः स्वमतपरिणामः इति वदन्ति। तन्न, एकधर्मावलम्बिविश्वासचिकित्सेति वक्तुं न पारयामः। एम॰ क्युईमहोदयाः प्राचीनचिकित्सां स्मारयन्ति। विश्वासद्वारा चिकित्साकरणं प्रकृतिव्यवस्थायां हस्तक्षेपो नास्ति।

स्नायुजालसम्बद्धरोगः, इच्छाऽऽघातजन्यरोगः, मानसिकाऽऽघातजन्यरोगश्चेत् एव मन्त्रैः चिकित्सा सम्भवा।

ईश्वरनिष्ठास्थया तन्निष्ठविश्वासेनैव कतिपयैः आचार्य्यैः योगः सेश्वरसाङ्ख्य इति नाम्नाऽपि व्यवह्रियते। किन्तु ईश्वरस्य प्राप्तिः योगस्य चरमं लक्ष्यं नास्ति, अपितु अलौकिकस्वात्मानुभवः योऽसम्प्रज्ञातसमाधेः परिणामः तथा च योऽनिर्वचनीयाऽखण्डा-नन्दरूपोऽस्ति। योगः प्राणेषु ईश्वरस्य धारणा असम्प्रज्ञातसमाधिपर्य्यन्तं गमनसाधनमात्रमस्ति। योगस्येश्वरः निर्विकारः परमात्मा वर्त्तते, न तु जगतः स्रष्टा नियन्ता वा। अनेनैव परमात्मना सह जीवात्मनः संयोग एव योगो वर्त्तते। एवञ्च सांसारिकवियोगनामकः प्रकृतिपुरुषवियोगो योग इति कथ्यते। अनेन प्रकारेण योगस्याऽऽधारोऽनुभवः, योगस्य सम्बन्धः आन्तर्जगता सहाऽस्ति, न तु बाह्यसंसारेण। काँश्चन शारीरिकक्रियाः अवश्यं बाह्यसंसारस्य द्योतकाः, किन्तु एताः योगस्य प्रथमसोपानः एव। अत एताः योगस्य मूलाधाराः न सन्ति।

योगशास्त्रस्योच्चतमोद्देश्यः मोक्षप्राप्तिरेवाऽस्ति। तथा च तदुद्देश्यप्राप्त्यर्थं शास्त्रेऽस्मिन् विविधसाधनानां साङ्गोपाङ्गविवेचनं प्रस्तुतम्, येन मनुष्योऽज्ञानावरणं भङ्क्त्वा स्वात्मप्रकाशेनाऽऽलोकितो भवति। तदैव सः स्वात्मानमनुभूय परमात्मनः साक्षात्कारे समर्थो जायते।

योगपरम्परा, तद्भेदाः अष्टाङ्गानि च – अस्माकं संस्कृत्याः, सभ्यतायाः, सकलविद्यानाञ्च स्रोतांसि वेदाः इति मन्यन्ते धीमद्भिः। वेदाः अस्माकं निखिलशास्त्रविद्यानामुद्गमस्थानिकाः प्राचीनतमग्रन्थाः सन्ति। एतेषामीश्वरकृतत्वादपौरुषेयाः ऐश्वर्य्यज्ञानपरिपूर्णाश्च सन्ति। योगविद्यायाः बीजमपि वेदे विद्यमानत्वात् योगपरम्परायाः अपि आदिमस्रोतः वेद एव भवति। प्राचीनकालादेव ऋषिभिः महर्षिभिः योगविद्याभ्यासः परमतत्त्वस्य साक्षात्काराय, आत्मकल्याणाय, मोक्षप्राप्तये च क्रियते स्म। अत एव वक्तुं पारयामो वयं यत् योगपरम्पराऽपि तावती प्राक्तना वर्त्तते यावान् सृष्टिः, तद्विकासक्रमश्चेति नात्यत्राऽतिशयोक्तिः। योगशब्दप्रयोगः

वैदिकमन्त्रेषु, शतपथब्राह्मणे उपनिषत्सु च दरीदृश्यते। महाभारतस्य मोक्षधर्म्मप्रकरणे साङ्ख्ययोगयोः विशदी चर्चा प्रवर्त्तते।

यदि यस्य कस्याऽपि ज्ञानस्य मूलतत्त्वं वेदाः स्युः, तर्हि तत्परवर्त्तिग्रन्थेषु उपनिषदादिषु च तज्ज्ञानस्य तद्विद्यायाः वा विकासः पर्य्याप्तरूपेण प्राप्यते। अत एव अस्याः विद्यायाः मूलस्रोतः उपनिषदेवेति भ्रमात्मकज्ञानं भवति। योगविद्याविषयेऽपि एष भ्रमप्रतीतिर्वर्त्तते। उपनिषत्सु योगविद्यायाः विस्तरात् ताः एव मूलभूतत्वेन प्रसिद्धिं प्राप्ताः। यद्यपि अष्टाधिकशतसङ्ख्यात्मिका एव औपनिषत्परम्परेति श्रूयते, किन्तु अद्यत्वे द्विशताधिकोपनिषदः प्राप्यन्ते। अतः विवादविषयोऽयं परित्याज्य एतदेवोच्यते यत् अक्षयज्ञानराशिरूपोपनिषत्सु योगस्य विवेचनं व्यापकतया शुश्रूयत इति। तत्रापि प्राधान्येन ऋग्वेदस्य कौषीतकिब्राह्मणे, नादबिन्दौ च, शुक्लयजुर्वेदस्य बृहदारण्यके, हंसे, त्रिशिखिब्राह्मणे, मण्डलब्राह्मणे, अद्वयतारके च, कृष्णयजुर्वेदस्य कठतैत्तिरीय-कैवल्यश्वेताश्वतराऽमृतबिन्द्वमृतनादक्षुरिकातेजोबिन्दुध्यानबिन्दुब्रह्मविद्यायोगतत्त्वयोगशिक्षा-योगकुण्डलिनीवराहेषु च, सामवेदस्य छान्दोग्यमैत्रायणीमैत्रेयीयोगचूड़ामणिजाबालदर्शनेषु च, अथर्ववेदस्य मुण्डकशाण्डिल्यपाशुपतब्रह्ममहावाक्योपनिषत्सु योगविषयकविचाराः तद्विवेचना च प्रस्तूयते, यो गाम्भीर्य्यमननपरिणामस्वरूपोऽस्ति। अन्यास्वपि उपनिषत्सु योगचर्चा प्रसङ्गानुसारं दृश्यते एव। उपनिषदामुत्तरवर्त्तिग्रन्थेषु साहित्येषु च विस्तारेण अल्पेन वा योगसम्बद्धविचाराः समुपलभ्यन्ते। क्रमेऽस्मिन् दर्शनशास्त्रोद्भवः सञ्जातः, तत्र आत्मा, तद्विषयकविचाराः विवेचिताः, तेन योगस्य वैशद्यं सञ्जातम्। एवञ्च योगविद्या स्वातन्त्र्येण दर्शनरूपेण दृष्टिपथमागतम्, तथा च षट्सु दर्शनेषु प्रमुखस्थानं प्राप्तम्। योगस्य दर्शनरूपेणप्राप्तोपलब्धेः श्रेयो भगवत्पतञ्जलिपादाः एवलभन्ते। एतैः योगदर्शनसिद्धान्तानां क्रियात्मकरूपं प्रदाय मनुष्यजीवनाय अत्यन्तोपयोगित्वमेषां साधितम्।

दर्शनेऽस्मिनध्यात्मविद्या तर्कप्रमाणैः परिमापिता नास्ति, अपितु व्यावहारिकत्वप्रदर्शनेनाऽस्य मानवमात्रस्य अपरिहार्य्याङ्गत्वेन प्रतिष्ठापितम्। अन्ये दार्शनिकास्तु याकोबीवर्य्याः योगस्य स्वतन्त्रशास्त्रत्वमङ्गीकुर्वन्ति। तत्त्रैव फ्राऊवालनरमहोदयाः याकोबीवर्य्याणामवधारणा षड्दर्शनाधारीभूता उत्तरवर्त्तिनी इति वदन्ति। एवमेते साङ्ख्ययोगौ एकदर्शनस्यैव भागद्वयमिति स्वीकुर्वन्ति। एतेषां मते योगो दार्शनिकविद्या एव नास्ति, अपितु कैवल्यप्राप्तये सर्वजनोपयोगी मार्गः सुलभश्चास्ति। तथा च वृषगणाः साङ्ख्यसिद्धान्तस्य प्रमुखव्याख्यातारः सन्ति, तथैव पतञ्जलिरपि साङ्ख्यस्यैव प्रायोगिकस्वरूपस्य योगदर्शनस्य व्याख्यातेति मन्यते।

योगशास्त्रे दर्शनानतरवत् मतभेदाः न सन्ति। अनेन शास्त्रान्तरैः स्वलक्ष्यानुसारं योगविद्या स्वीक्रियते, तत्त्रापि योगस्य मोक्ष एव परमलक्ष्यमिति प्रसिद्धम्। धर्म्मशास्त्रेष्वपि योगदर्शनमिदं प्रमुखस्थानं लभते। धर्म्माचार्य्यैः योगविद्याम् आत्मसात्कृत्य स्वाचरणेन सामान्यजनान् अपि तदाचरणाय प्रेरयन्ति। अनेन योगदर्शनस्य सिद्धान्ताः सामान्यजनेषु व्यावहारिकरूपेण प्रतिष्ठापिताः योगिभिः। योगदर्शने साङ्ख्यतत्त्वानि अक्षरशो न स्वीक्रियन्ते, अपि च साङख्येतरदर्शनानामपि प्रभावो दरीदृश्यते।

जैनदर्शनेन योगविद्यायाः विधीन् संस्कृत्य परिष्कृत्य चात्मसादकारि। नैकेषु विषयेषु जैनधर्म्मयोगविद्ययोः समत्वं दृश्यते। तस्मादेव जैनधर्म्मानुयायिनः तीर्थङ्कराः योगमुद्रां सन्धृत्य योगिनः बभूवुः। साधनायाम् आचरणशैथिल्यं वारणाय साधनाध्यानौ परिष्कृत्य काठिन्यमादधन्तः, तेन कैवल्यमार्गं प्रशस्तीकृतवन्तः। तेनैव प्रकारेण बौद्धैरपि भिक्षूणामाचारणाय योगविधयोनिवार्य्याङ्गत्वेन स्वीकृताः। एतदतिरिच्य अन्यैः साधुसन्यासिभिपरि योगविद्या एव स्वलक्ष्यं प्रापि। एवं रूपेण योगक्षेत्रमतिविस्तृतं वर्त्तते। अद्यत्वेऽपि मानवो जातिदेशधर्म्मादिबन्धनानि मुक्त्वा योगोन्मुखाः भवन्ति। प्राचीनकाले योगविद्यां साधनत्वेन स्वीकृत्य तेन आत्मकालुष्यमपाकृत्य निर्मलतां सम्पादयन्ति स्म। किन्तु आधुनिकयुगे तु योगो नामशारीरिकमानसिकस्वास्थ्यरक्षकः चिन्तामुक्तकः भौतिकसाधनोप-

लब्धक इति मन्यन्ते। एवं कालप्रभावात् मोक्षसाधनत्वरूपेणाग्राह्य देहस्वास्थ्यबाह्यप्रदर्शनाय प्रसिद्धिङ्गतः।

तथा च औपनिषदीयकाले योगस्वरूपं तदुत्तरवर्त्तिकाले न दृश्यते, कालेन परिवर्त्तनं सञ्जातम्। एवं पुराकालाद्भिन्नो योग अधुना कतिपय आसनरूपेणैवाधृतो वरीवर्त्ति। केचन पाश्चात्यविद्वान्सः अष्टाङ्गयोगविधयः न चित्तवृत्तिनिरोधाय, अपितु पुरुषस्य स्वस्वरूपावस्थानबोधायेति वदन्ति। अष्टाङ्गविधिभिः विवेक उत्पद्यते, तत्स्वरूपस्तु पुरुष-प्रकृतयोर्भिन्नत्वमिति। एतदेव कैवल्यमस्ति। अष्टाङ्गविधिः ज्ञानात्मिकोऽस्ति, चित्तवृत्तिनिरोधस्य ज्ञानात्मिकाभावात् न योगविधिः सः। वस्तुतस्तु उभावपि कैवल्यं चित्तवृत्तिनिरोधश्च योगस्याऽभिन्नाङ्गान्येव।

योगस्य भेदाः – उपनिषदि योगस्य चर्चा वैशद्येन संश्रूयते। योगाध्ययनेन ज्ञायते यत् योग-प्रतिपादकोपनिषत्सु ध्यानाभ्यासज्ञानकर्म्मक्रियामन्त्रलयहठराजयोगाः भेदत्वेन स्वीक्रियन्ते। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषदि योगो मोक्षोपलब्धिसाधन इति प्रतिपाद्य ज्ञानकर्म्मयोगभेदेन द्वैविध्यमस्य निरूपितम्। तथा च – ज्ञानयोगः कर्म्मयोग इति योगो द्विधा मतः[9]॥

अत्र कर्म्मयोगाय क्रियायोगशब्दः प्रयुक्तः। एवञ्च वराहोपनिषदि मन्त्रलयहठयोगभेदेन योगस्य त्रैविध्यमुल्लिख्यते। उपनिषदन्तरेषु पूर्वोक्तभेदत्रयेण सह राजयोगमपि परिगण्य चातुर्विध्यमाचख्यन्ते। तदेवोच्यते-

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः[10]॥
मन्त्रो हठो लयो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महयोगोऽभिधीयते[11]॥

---

[9]त्रि॰ब्रा॰उ॰ 23
[10]यो॰त॰उ॰ 19
[11]यो॰शि॰उ॰ 1/129 -130

योगराजं प्रवक्ष्यामि योगिनां योगसिद्धये।

मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा॥

योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्वदर्शिभिः[12]।

चतुष्टयात्मकयोगस्य 'प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयमि'[13]ति प्राणापानसमायोग इति लक्षणं विहितम्। अन्यत्र शास्त्रान्तरेषु ध्यान-आसन-समाधि-प्राणायामाश्चतुष्टयाः योगाङ्गात्वेन स्वीकृताः –

आसनं प्राणसंरोधो ध्यानञ्चैव समाधिकः।

एतच्चतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम्[14]॥

अर्थात् सर्वैः ध्यानासनसमाधिप्राणायामाश्चतुर्विधयोगभेदानां मन्त्रलयहठराज-योगानामङ्गरूपेणाङ्गीकृताः। उपर्य्युक्तचतुष्टयानामपि योगानां संक्षिप्तपरिचयोऽधः प्रस्तूयते।

मन्त्रयोगः– मन्त्रयोगे ब्रह्मविष्णुशिवदेवतानां मन्त्रैः जाप्यं जाप्यं वत्सराजर्षिवद् सिद्धिं प्राप्नुवन्ति, तदेवोक्तम् –

ब्रह्मविष्णुशिवादीनां मन्त्रं जाप्यं विशरदैः।

साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा[15]॥

साधकानां मन्त्रजपेन सिद्धिप्राप्तिः कथं भवतीत्युच्यते –

मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशात् तु यो जपेत्।

क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्॥

अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः[16]।

---

[12]यो॰रा॰उ॰ 1 -2
[13]यो॰शि॰उ॰ 138
[14]यो॰रा॰उ॰ 23
[15]यो॰रा॰उ॰ 3
[16]यो॰त॰उ॰ 21 -22

यस्साधको मातृकाद्युक्तमन्त्रैः द्वादशवर्षपर्य्यन्तं जपादिकं विधाति स क्रमशोऽणिमादि-सिद्धिविषयकज्ञानं प्राप्नोति। अनेन मन्त्रयोगेन अल्पधीमन्तोऽपि योगिनो भवन्ति। मन्त्रयोगे सामान्यजनाः नैरन्तर्य्यश्वासनिःश्वासेन मन्त्रं कथं जप्यते इत्युच्यते –

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते॥
गुरुवाक्यात्सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः।
सोऽहं सोऽहमिति यः स्यान्मन्त्रयोगः स उच्यते[17]॥

अर्थात् मनुष्यस्य श्वासो हकारेण निर्गच्छति, सकारेण पुनः प्रविशति। एवं सर्वैः श्वासोच्छ्वासरूपेण हंस हंस इति मन्त्रजपः क्रियते। अत्र गुरुवाक्यप्रभावात् सुषुम्नायां तद्व्यत्यासेन सोऽहम्, सोऽहम् इति मन्त्रं जप्यते, स एव मन्त्रयोगोऽभिधीयते। एवञ्च इष्टदेवतायाः मन्त्रजपनमेव मन्त्रयोगः। पुराकाले सम्भवतः मन्त्रयोगसाधकः अधमसाधकत्वेन गण्यते स्म।

लययोगः – नवचक्रेषु संलग्नो भूत्वा सिद्धिप्राप्तिरेव लययोगो वर्त्तते। शास्त्रेषु लयोयोगस्वरूपमित्थं प्रतिपादितम्-

कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसञ्ज्ञितः।
नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः[18]॥

अर्थात् कृष्णद्वैपायनादिमहात्मभिः नवचक्रेषु लयम्प्राप्य योगसिद्धिकरणमेव लययोग उच्यते। केषुचन शास्त्रेषु लययोगः चित्तलय इति सञ्ज्ञायते –

क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत्।
तदैक्ये साधिते ब्रह्मन् ! चित्तं याति विलीनताम्॥

---

[17]यो॰शि॰उ॰ 1/ 130 -132
[18]यो॰रा॰उ॰ 4 -5

पवनः स्थैर्य्यमायाति लययोगोदये सति।

लयात्सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दं परं पदम्[19]॥

यदा जीवात्मपरमात्मनोः ऐक्यं भवति, तदा चित्तं लीनतां प्राप्नोति। लययोगोत्पन्ने सति वायुः स्थिरतां याति। तेन लयप्राप्तित्वेन स्वात्मानन्दरूपसौख्यं परमं पदञ्च प्राप्यते। एवञ्च लययोग आत्मपरमात्मनोः ऐक्यप्रक्रियाऽस्ति। योगेऽस्मिन् चित्तं स्वयं विलीय तन्मयि भवति। अस्याभ्यासात् अलौकिकस्वात्मानन्दोऽनुभूयते, तल्लोकोत्तरवर्णनातीतो भवति।

हठयोगः – हठशब्दघटकहकारः सूर्य्यवाचकः, हठशब्दघटकठकारः चन्द्रवाचकः, एतद्द्वयोः ऐक्यमेव हठयोगः, तदेवोच्यते –

हकारेण तु सूर्य्यः स्यात् ठकारेणन्दुरुच्यते।

सूर्य्यचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते॥

हठेन गृह्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम्[20]।

अर्थात् हकारवाच्यसूर्य्यठकारवाच्यचन्द्रमसोः ऐक्यं हठ इति कथ्यते। अस्माद्धठात् सर्वदोषोत्पादिका जड़ताऽपि विनश्यति।

हठयोगेन शरीरस्थमलानि दूरीभवन्ति, तस्मात् देहशुद्धिर्जायते। हठयोगेन पूतशरीर एव राजयोगाय उपयुक्तो भवति। योगेनानेन विवेकमार्गः प्रशस्यते।

योगतत्त्वोपनिषदनुसारं हठयोगस्य विंशतिसङ्ख्यात्मकाङ्गानि भवन्ति। तत्र प्रथमाष्टाङ्गानि तु– यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इति प्रसिद्धाष्टाङ्गान्येव। अन्यानि द्वादश महामुद्रा-महाबन्ध-महावेध-खेचरी-जालन्धरबन्ध-उड्डियाबन्ध-मूलबन्ध-दीर्घप्रणवसन्धान-सिद्धान्तश्रवण-वज्रोली-अमरोली-सहजोलीत्याख्यात्मकानि सन्ति। एतेषां विशत्यङ्गानामभ्यासाद्धठयोगसिद्धिर्भवति।

---

[19]यो०शि०उ०ल 134-135

[20]यो०शि०उ० 1/ 133 -134

राजयोगः – सम्पूर्णयोगस्याधारत्वेनाऽधृतयोगः राजयोगः। योगशास्त्रोक्तप्रत्याहारतः समाधिपर्य्यन्तं चत्वारि अङ्गानि राजयोगेऽन्तर्भवन्ति। अष्टाङ्गेषु अन्तर्भूतयमनियमौ तु सर्वसाधारणाय व्यवहार्य्याविव। तत्र नित्यं आसनप्राणायामभ्यासेन शारीरिकस्वास्थ्यं संवर्ध्यते। ज्ञानविवेकसाधनाकर्म्मबन्धनेभ्यः मुक्तये, कैवल्याय च प्रत्याहारध्यानधारणासमाधय उपयोगिनः, एतेषामभ्यास एव राजयोग उच्यते।

उपनिषदि रजसः रेतसश्च योग एव राजयोगः, रेतसिति शिववाचकः, रजसिति च शक्तिवाचकः शब्दः तथा च शक्तिशिवयोः योगो राजयोग इत्यभिधीयते। तदेवोक्तम् –

रजसो रेतसो योगात् राजयोग इति स्मृतः।

अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः[21]॥

रजसो रेतसो योगात् शक्तिशिवयोगाद् राजयोगः[22]॥

हठयोगस्य उक्तविंशत्यङ्गानामभ्यासं विना राजयोगो न सिद्ध्यति। राजयोगसिद्धौ सत्यां योगिनः विवेकवैराग्यमुत्पन्ने सति परमपुरुषोत्तमविष्णुः साक्षात्क्रियते।

योगस्याष्टाङ्गानि – योगस्याऽष्टाङ्गत्वेन प्रसिद्धानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-धारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि[23] इति। एतेषामष्टाङ्गत्वादेव योगदर्शनम् अष्टाङ्गयोग इत्यप्यभिधीयते। एतेषामाचरणात् को वा लाभ इति जिज्ञासायां पतञ्जलिनोक्तम् –

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः[24]॥ इति॥

एतेषामभ्यासेन चित्तमलमपगम्य निर्मलायते। स योगी आत्मस्वरूपं बुद्धीन्द्रियाहङ्कारेभ्यः पृथक्त्वेन प्रत्यक्षीकरोति। उक्ताष्टाङ्गानि मानवजीवनस्य शुद्धी-करणायातीवावश्यकानि। प्रवर्त्तमानयुगेऽस्मिन् स्वार्थपरिग्रहदुराचारप्रवृत्तिवशात् मानव-

---

[21]यो०शि०उ० 1/134
[22]ब्र०यो०व्या० पृ० सं०- 134
[23]यो०द० 2/29
[24]यो०द०2/28

जीवनस्य आस्थायाम्, नैतिकमूल्येषु, उत्तमादर्शेषु च ह्रासत्वं समागतम्। तस्मात् मानवः यथार्थान्मुक्तः सन् कृत्रिमताडम्बरभौतिकतोन्मुखो भवति। तेन प्राचीनसंस्कृतेः सभ्यतायाश्च मूल्येष्वल्पताऽऽगता। योगाभ्यासेनाऽन्तःकरणशक्तीनां प्रवर्धनाद्विचारहीनत्वं दूरीभवति। तस्मात् मनुष्यजीवनं सरलं सात्विकञ्च सञ्जायते।

अष्टाङ्गघटकाद्यद्वयं यमनियमौ मनुष्यस्य नैतिकविकासाय उपयुज्येते। उभयोः सम्बन्धः मानवाऽन्तःकरणेन वर्त्तते। एताभ्याम् अन्तःशुद्धिर्जायते, तेन सात्विकभावोत्पन्नत्वात् मानवस्य आत्मिकशक्तेः विकासः सम्भवति। आत्मिकशक्तिवर्धनात् भौतिकजगत् हेयमिति मत्वा तत्तद्विषयेषु निवृत्तमानसः स्वात्मानुभवे केन्द्रीभवति। यमैः अहिंसासत्याऽस्तेय-ब्रह्मचर्य्याऽपरिग्रहाभ्यासैः दुर्वृत्तिं त्यजति। एवञ्च नियमैः शौचसन्तोषतपः-स्वाध्ययेश्वरप्रणिधानमाध्यमैः स्वान्तःकरणविकारानपाकृत्य ऋजुत्वं भजते।

आसनप्राणायामेत्यङ्गद्वयेन मनुष्यस्य शारीरिकक्रियाः नियन्त्रयति। उभाभ्यां मानवशरीरः स्वस्थः रोगमुक्तो भवति, विकारयुक्तशरीरोऽपि एतयोरभ्यासात् स्वस्थतां प्राप्नोति। आसनान्यत्र विशेषेण नानाङ्गविहितभिन्नक्रियारूपाणि। प्राणायामोऽस्तु दीर्घश्वासग्रहणतदवरोधनप्रक्रियेति। योगस्य प्रत्याहाराङ्गेन इन्द्रियाणां बाह्यप्रवृत्तिः नियम्यते। प्राणायामेन मन इन्द्रियाणि संशुद्ध्य, प्रत्याहारेण च इन्द्रियाणां बाह्यप्रवृत्तिम् अन्तःसम्पाद्यते। साधनासिद्धये प्रत्याहारः प्रमुखसाधनं वर्त्तते। यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारा इति पञ्चाङ्गानि बहिरङ्गसाधनानीत्युच्यन्ते। एतेषां साधनायाः बाह्यस्वरूपेणैव सम्बन्धत्वात्। धारणाध्यानसमाधयस्तु साधनायाः अन्तर्भूतसाधनानि। अत्र धारणा नाम मनस एकदेशावच्छिन्ने स्थिरीकरणमिति। एतदेव चित्तस्य देशबन्ध इत्यपि सञ्ज्ञायते। यदा चित्तं ध्यायं ध्यायं ध्येयाकारे परिणतिं प्राप्य स्वस्वरूपाभावे सति पृथगनुभूतिविरक्तं सन् ध्यानमेव समाधिरूपेण परिणमति। यस्मात् जीवात्मपरमात्मनोः संयोगात् अक्षयपदं मोक्षं प्राप्नोति।

योगवैविध्यम्

शिवसंहिता	मन्त्रहठलयराजयोगाश्चतुर्विधः।
हठयोगप्रदीपिका	हठराजलयनादयोगाश्चतुर्विधः।
घेरण्डसंहिता	हठध्याननादरसलयभक्तिराजयोगाः सप्तविधः।
योगदर्शनम्	योगः = समाधिः, समाधिस्तु सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातरूपो द्विविधः।
हठरत्नावली	मन्त्रलयराजहठयोगाश्चतुर्विधः।
प्रचलितपद्धतयः	ज्ञानभक्तिकर्मतन्त्रमन्त्रहठक्रियाष्टाङ्गयोगाः अष्टविधः।

1.1 मुद्राणामितिहासः

योगस्य प्रायोगिकक्रमे प्रयोगप्रधानयोगग्रन्थेषु षट्कर्माणां आसनप्राणायाम-मुद्राणाञ्चोल्लेखाः मिलन्ति। षट्कर्मभिः कफपित्तवातेत्याकारकत्रिविधदोषाणां शमनं शरीरसंशोधनञ्च भवति। आसनेन दृढताऽऽयाति, प्राणायामेन सम्पूर्णशरीरस्थधातूनां शोधनमन्तरायाणां नाशनञ्च भवति। आसनेन सह प्राणिकविधिसंयोजनार्थं मुद्राणां प्रयोगो भवति। मुदं राति ददातीति मुद्रा इति व्युत्पत्तिः। अर्थात् यस्तु मूलस्वरूपं वर्तते सर्वेषां प्राणिनां तस्य स्पष्टरूपेणानुभवनमेव एतासां मुद्राणां मुख्यार्थः। यतोहि निरोधावस्थितचित्तस्य मूलार्थस्त्वयमेवास्ति यत् योऽस्मि तस्यैवापरोक्षानुभूतिरिति।

मुद् मोदे तु रा दाने जीवात्मनापरमात्मनोः।
उभयोरैक्यसंवित्तिर्मुद्रेति परिकीर्तिता[25]॥

उभयोर्जीवात्मापरमात्मनोः ऐक्यसंवित्तिरखण्डज्ञानेऽवस्थितेः द्योतिका मुद्रेति। मुद्राया अभ्यासविषयकस्वरूपतायामधिकारिजनानाम् अत्यन्तमहत्त्वमस्ति। परमलक्ष्यप्राप्तये साधन-चतुष्टयसम्पन्न एवाधिकारी। योगाभ्यासस्यात्यन्तावश्यकानि यानि साधनानि सन्ति तस्मिन् विषये योगरसायनग्रन्थे स्वामिब्रह्मानन्दैरुक्तम् यत् –

प्रथमं विषयत्यागो, द्वितीयमनुकूलता।
तृतीयं गुरुसंयोगश्चतुर्थं चेशचिन्तनम्॥

एतेषां चतुर्णां समायोजनमेव पर्याप्तमस्ति योगसिद्धय इति। मुद्राणां प्राधान्यं वर्तते यौगिकक्रियायाम्। यतोहि अत्र मुख्यरूपेण बहिर्विधिनाऽन्तरङ्गेण सह सम्बध्यते। अनादिकालतः सर्वैस्साधकैः यन्त्रतन्त्रमन्त्रादिविभिन्नमार्गेषु मुद्रायास्साहाय्यमधिकृत्येव स्वस्वरूपानुसंधानरूपा लक्ष्यप्राप्तिःक्रियते। कारणमस्ति– स्थूलबहिःपक्षस्य अन्तर-

---

[25] सि. प. पृ.स. 89

ङ्गसूक्ष्मपक्षेण सह मुद्राणामभावे सम्बन्धस्थापनमसम्भवमिति। हठयोगप्रदीपिकायां मुद्रावर्णनक्रमे प्रारम्भे एव नियोगरूपेणोद्घोषः प्राप्यते यत् –

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्[26]॥

तस्मात् ब्रह्मद्वारमुखे सुप्ताम् ईश्वरीम् प्रबोधयितुं सर्वप्रयत्नेन मुद्राभ्यासं समाचरेत् इत्यन्वयः। अस्तु, शक्तिजागरणात्पूर्वं किमपि न भवितुं शक्यते, यतोहि शक्त्याः स्थूलस्वरुपं रजःशुक्रयोः स्त्रीपुंसोर्देहे स्पष्टरूपेण परिलक्ष्यते। अस्यां मैथुन्यां सृष्ट्यां सर्वेषां जीवानामुत्पत्तिमूले उभयोः तत्त्वयोः विशिष्टसंयोगस्तु प्रथमहेतुः। स्पष्टत्त्वान्न विवेच्यते। योग अर्थात् समाधिः, इत्यस्य सम्प्रज्ञातावस्थाया अपि प्राप्तिस्तु मानवशरीरस्थसारतत्त्वस्य औजोरुपेणोर्ध्वगमनादेव सम्भवति। प्रायस्सर्वेषां जनानां मध्ये शरीरस्थमूलतत्त्वस्य किञ्चिद्रूपेणोर्ध्वगमनन्तु अस्त्येव, एतस्माद् प्रभावादेव शारीरिकमानसिकाऽऽत्मिकस्तरीय-कार्याणां सम्पादनं भवति। परन्तु अदृष्टपरमतत्त्वस्यापरोक्षानुभूत्यर्थं भोगद्वाराणाम् अधस्थेन्द्रियाणां मुख्यतः परिबन्धनं तथा च योगद्वारस्य सुषुम्नामार्गस्योद्घाटनमत्यन्तमपेक्ष्यते। सुषुम्नायाः पर्यायोऽस्ति मध्यमार्गः। मध्ये एव प्रचलतीति मध्यमार्गः। पूर्वमध्यमार्गः पश्चिममध्यमार्गश्च द्वौ मार्गौ स्तः। पूर्वमध्यमार्गे गुदाद्वार-सींवनीनाडी-उपस्थ-नाभि-हृदय-कण्ठ-भ्रूमध्य-सहस्रदलपद्मानाञ्च समावेशो भवति। शरीरस्य पृष्ठभागस्याभिधानं पश्चिममध्यमार्ग इति। मुख्यतः अग्रनम्रीप्रधानासनादिक्रियासु पश्चमार्गे वायुगतिः, पश्चनम्रीप्रधानासनादिक्रियासु पूर्वमार्गे वायुगतिश्च भवति। सुषुम्नामार्गस्योद्घाटनं विना शक्त्याः पूर्णरूपेणोर्ध्वगमनन्न सम्भवति। अतो यदि तु शिवशक्तिसम्मेलनाय, शिवस्तु उर्ध्वमधश्च शक्तिः, तयोर्मेलनाज्जीवस्य मुक्तिः मोक्षाय वा सन्नद्धः तर्हि योगमार्गे मुद्राणामभ्यासाद् नान्योऽस्ति मार्गः। विभिन्नमुद्राणां विभिन्नयौगिकग्रन्थेषु न्यूनाधिक्यरूपेण वर्णनं प्राप्यते। यथा – गोरक्षसंहिताग्रन्थे

[26] ह०प्र० 3 -5

पञ्चमुद्राणामेव वर्णनं मिलति – मूलबन्धमुद्रा, उड्डीयानमुद्रा, जालंधरबन्धमुद्रा, महामुद्रा, खेचरीमुद्रा च। यथा शिवसंहितायां तथैव हठयोगप्रदीपिकायामपि दशमुद्राणां वर्णनं वर्तते यथा–

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा।
उड्डयानं चैव वज्रोली दशमं शक्तिचालनम्।
इदं हिमुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम्॥[27]

अपि च - महामुद्रा महाबन्धोमहावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्[28]॥

घेरण्डसंहितायां हठयोगप्रदीपिकायाःवर्णितदशमुद्राभिस्सह पञ्चदशान्यमुद्राणामपि वर्णनं प्राप्यते। यथा

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालनी।
ताडागी माण्डुकीमुद्रा शाम्भवी पञ्चधारणा॥
आश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी।
पञ्चविंशति मुद्राणि सिद्धदानीह योगिनाम्॥[29]

---

[27]शि॰सं॰ 4(24 -25)
[28]शि॰सं॰3(6 -7)
[29]घे॰सं॰ 3(1 -2 -3)

अन्याः संक्षोभणी-द्रावणी-आकर्षणी-वशी-उन्माद-महांकुशमुद्राणाञ्चापि निर्देशास्तु प्राप्यन्ते। क्वचित्तु खेचरी-भूचरी-अगोचरी-चाचरी-उन्मनीत्यादि नाम्नाऽपि मुद्राणां कथनं प्राप्यते। एतासां सर्वासां मुद्राणां न्यूनाधिक्यरूपेण हठयोगप्रदीपिकायां वर्णितमुद्रास्वन्तर्भावं प्रदर्शयामि। यतोहि सर्वेषु क्रियारूपेषु प्रयोगकाले केन्द्रपरिवर्तनादेव विभिन्नरूपेषु मुद्रायाः स्वरूपाण्यनुभूयन्ते। मुख्यतस्तु दशमुद्रास्वेव सम्पूर्णोद्देश्यप्राप्तिस्सामर्थ्यमस्त्येव, उक्तञ्च - इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तममिति[30]। अन्यासां मुद्राणां कथनन्तु विभिन्नमार्गनिदर्शन-मात्रमिति।

प्रयोजनं विना मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते इति धियाऽऽदौ मुद्राणां प्रयोजनंकिमिति विमृशयते। जानीमो वयं प्रयोजनविषये, एतस्याधारस्तु सदैव विभिन्नस्तरेषु विभिन्नः परिलक्ष्यते। तथैवात्रापि मुद्राणां प्रयोजने स्तरानुसारमेव भेदो वर्त्तते। मुख्यतस्तु एतासां मुद्राणामुद्देश्यमस्ति स्वात्मदर्शनम्, परन्त्विदमुद्देश्यन्तु सर्वोपरीति। शारीरिकमानसिकाऽऽत्मिकस्तरेषु च भिन्नरूपैः, भिन्नविधिभिः, अधिकारिभेदैः चोद्देश्यविषयकभेदाः दरीदृश्यन्ते। अतः सामान्यरीत्या एतासां मुद्राणां प्रयोजनानि त्रिषु स्तरेषु विभज्यन्ते। शारीरिकस्तरे रोगादिदोषशमनाय, तेज आदिवर्धनाय च। यथा – श्वेताश्वतरोपनिषदि वर्तते -

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं, वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवञ्च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं, योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥[31]

मानसिकस्तरे मानसिकक्लेशमोहादिनाशाय, एकाग्रतादिगुणपोषणाय च। मद्यादिमादकपदार्थानां त्याग अत्यन्तसहयोगकारीति। आत्मिकस्तरे स्वात्मज्ञानाय, दिव्यदेहप्राप्तये च। श्वेताश्वतरोपनिषदि वर्तते यत् -

---

[30]शि०सं० 4(25 -उत्तरार्धः)
[31]श्वेता०उ० 2 -13

पृथ्व्यप्तेजो निखिले समुत्थिते, पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः, प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥[32]

सम्पूर्णसाधनाक्रमे त्रयाणां स्तराणामुदयस्तु शारीरिकमानसिकाऽऽत्मिकक्रमेणैव भवति। शरीरस्तरे शरीरस्थविकारादिदोषाणामग्निवर्द्धनात् शमनञ्जायते। खेचरीत्यादि-मुद्राणामभ्यासाधिक्याद् शरीरस्य सामान्यसंरचनायामपि परिवर्तनं भवति। एतस्य कारणमस्ति - प्राणाऽपानसमायोगेन शक्तिजागरणाद् कफादिनाऽवरूद्धमार्गाणामुद्घाटनेन शरीरस्थविभिन्न-ग्रन्थीनां विभेदनं भवति, तेन विभेदनेन सामान्यमनुष्यादुत्कृष्टसाधके देहविषयकविशिष्टभेदोऽपि परिलक्ष्यते, यथा कण्ठप्रसारणमित्यादि। अन्तःकरणे तु एतासां मुद्राणां साक्षात्फलं वर्तते – एकाग्रत्वम्, नवनवोन्मेषत्वम्, विनयत्वमित्यादयः। अत्र तु कारणं वर्तते यत् – मुद्राणामभ्यासेन प्रतिक्षणमानन्दस्यानुभूतिर्भवति। साधकस्स्वयमेव बाह्यक्रियातो निवृत्तिं प्रगृह्य स्वसाधनायामेव रमते। यदाकदा यदि तु कोऽपि व्यापारो बहिर्जनैः सह क्रियते तदा तस्य साधकस्य व्यवहारे प्रतिव्यवहाराश्रयोऽन्यो जनः भेदमनुभवति। यः कोऽपि अन्तर्जगति प्रविशति तस्य चिन्तने, कार्यनिष्पादने, वाग्व्यापारे च सामान्यरीत्या सर्वैः भेदाः दृश्यन्ते। सर्वसामर्थ्येन सह सम्बन्धस्थापनेन केन शक्तिर्नानुभूयते? अस्तु, चिन्तनस्य विभिन्नक्रमस्योद्घाटने, प्रतिभाप्रापणे, काव्यगद्यादिनवचिन्तनेन सह संयोज्यलेखने, अन्यादधिकशारीरिकमानसिककार्यकरणे, अल्पकाले एव अवधारणे, बहुरीत्या एकस्यैव कार्यस्यविभिन्नरूपेण सम्पादने, अल्पाहारेणाप्यधिकश्रमायशक्तिप्रापणे, स्वान्तरिकशक्त्याऽन्येषाञ्जनानां वदनात्पूर्वमेवाशय-ज्ञाने, अन्तर्मुखिजीवनयापनादुत्पन्नसामर्थ्याद् सदैव संतुष्टिभावापन्नत्वप्रापणे लौकिकव्यवहारे च मुद्राणां साक्षाद् महत्त्वमस्त्येवेति। प्रत्येकं जनो निश्चिततयैव स्तरविशेषे अभावमनुभवति। तत्र कारणं वर्तते– स्वज्ञानाभावः। मुद्राणामभ्यासेन प्रतिसाधकं जीवने आन्तरिकसामर्थ्य-

[32]श्वेता०उ०2 -12

स्योदयेन स्वविषयकयथार्थज्ञानप्राप्तये जिज्ञासा, जगद्विषयकास्थैर्यं प्रति उदासीनता च स्वयमेवोत्पद्यते। साक्षाद् फलमस्ति तासां मुद्राणां रोगविषये -

- अनिद्रा
- मलग्रहः
- श्वसनरोगः
- मधुमेहः
- कफपित्तवायुसम्बन्धिरोगाश्चेत्यादयः।

बाल्यकालतो मुद्राणामभ्यासेन बालकस्य शारीरिकमानसिकविकासे अन्याद-धिकोत्कृष्टस्सुव्यवस्थितश्च विकासो दृश्यते। कारणं वर्तत अत्र – आसां मुद्राणामभ्यासेन अन्तस्स्राविग्रन्थिभ्य उचितस्रावेण शरीरस्य समुचितविकासः, चित्तैकाग्रत्वात् व्यवस्थितमानसिकविकासश्चात्मिकस्तरेऽपि गतिः प्राप्यते निश्चितमिति। मानवशरीरस्य वैशिष्ट्यमेवेदं वर्तते यत् अस्मिन्नेव देहे जीवो विकसितान्तःकरणत्वात् नवीनभौतिकसाधनानां संरचनां, अदृष्टतत्त्वानां विस्तृतविवेचनां, धर्मार्थकाममोक्षात्मकपुरूषार्थचतुष्टयस्य परिपालनं कृत्वायौगिकविधिना पञ्चतत्त्वेष्वपि विजयं प्राप्तुं च शक्यन्ते। एतेषां प्रकृष्टकार्याणां सम्पादने मुद्राणामत्यन्तसहयोगो वर्तत्ते। मुद्राणामभावे साधकः स्वमूलतत्त्वस्याऽपरोक्षानुभूतिपूर्वकं प्राप्तिं कर्तुं न शक्यते। यतोहि मुद्रायामेव बहिःपक्षस्यान्तरङ्गेण सह सम्बन्धं कर्तुं सामर्थ्यं वर्तत्ते। अतो निष्कर्षरूपेणेदं कथयितुं शक्यते यत् मुद्राणामभ्यासस्तु शारीरिकमानसिकाऽऽत्मिकस्तरेषु द्वन्दानां शमने, नवोन्मेषणे, समाजे व्यवहारिकव्यवस्थासंस्थापने चाद्वितीयो वर्तत्ते। आधुनिकसमाजे प्रायः सर्वेषां जनानां जीवने विभिन्नस्तरेष्वभावानुभूतिरस्त्येव, तस्य निराकरणाय समाजस्य वरिष्ठवर्गीयजनाः यथा – वैज्ञानिकाः, दार्शनिकाः, चिकित्सकाः, समाजसेवकादयश्च प्रयत्नशीलाः सन्ति। समाजे शारीरिकमानसिकात्मिकस्तरेषु विद्यमानदोषाणां शमनाय, सुखानुभूतिः प्राप्तये च भौतिकदृष्ट्या विभिन्नोपकरणानां

प्रस्तुतिर्वर्त्तते। परन्तु सर्वाणि साधनानि निश्चितस्तरपर्यन्तमेव सुखदायकानि सन्ति। काऽपि भौतिकरीतिः इत्थन्नास्ति यत् या पूर्णरूपेणैकान्तिकाऽत्यन्तिकतया निश्चितरूपेण, सार्वकालिकमुक्त्या दुःखनिवृत्तिङ्कर्तुं शक्नोति। सांख्यकारिकायाः प्रथमकारिकायामेव प्रयोजनरूपेण पूर्वोक्तभावः श्रीमदीश्वरकृष्णेन कथितो यत् –

दुःखत्रयाऽभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्ताऽत्यन्ततोऽभावात्॥

संसारे क्षणिकं सुखं बहुलन्दुःखञ्च, परञ्चास्य सततानुभूतिर्न भवति, कारणन्त्वत्र अन्तःकरणे व्याप्तमनेकजन्मनां विपाकत्वेन बुद्धावस्थितमानन्दाश्रयरूपकं इदञ्जगद् इत्यात्मिकानुभूतिःमायाप्रभावाच्चेति। निष्कामसेवा-ईशोपासना-गुर्वाज्ञापालनैरन्तःकरणस्य शोधनं भवति, तर्हि श्रवण-मनन-निदिध्यासनैः स्वात्मदर्शनं भवति। अस्तु, सर्वे स्वस्वस्तरानुसारमेव दुःखनिवृत्तये प्रयत्नशीलाः सन्ति। ये श्रेष्ठजागरूकाः सन्ति ते यमं[33] नियमञ्च[34] परिपालयन्ति। परञ्चायन्तु सर्वोपरि मार्गः। अत्र तु केचन धीरवीराः एव प्रवर्तन्ते सामान्यास्तु लोक एव रमन्ते। पूर्वोक्तश्रेष्ठमार्गे लक्ष्यप्राप्तये मुद्राणां प्रयोगस्तु सिद्ध एव, परञ्च किं मुद्राणां सामान्यलौकिकजीवनेऽपि लाभोऽस्ति ? ओम्, अस्त्येव। मुद्राणां प्रयोगेनाधोलिखितसमस्यायाः समाधाने साक्षात्सहायता भवति, ते सन्ति -

1. अशान्तचित्तस्य समस्याऽस्मिन्समाजे प्रायः सर्वत्र एव दरीदृश्यते, एतस्याः निराकरणाय मुद्राणां प्रयोगस्तु लाभदायी।
2. मादकतादिदोषाणां त्यागेऽनिद्राऽवसादादिमानसिकदोषेऽपि मुद्राणामौचित्यम्।
3. शरीरस्थकफपित्तवायुभिश्च ये दोषाः भवन्ति तेषां शमनेऽपि मुद्रा समर्था।
4. अजीर्णाद्युदरविकारे, निम्नरक्तचापेऽपि च मुद्राणां लाभः।

---

[33]अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः, यो॰द॰ साधनपादे सू.30
[34]शौचसंतौषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः, यो॰द॰ साधनपादे सू. 32

5. एकाग्रत्वन्नवनवोन्मेषत्वादिप्राप्तयेऽपि एतासां प्रयोगः।

6. शक्तिजागरणे तु साक्षात्प्रयोगोऽस्त्येव, इत्यादयश्च।

अतः पूर्वोक्तसामान्यलाभप्राप्तये समेषां जनानां कृते मुद्राणां साक्षात्प्रयोगो लाभश्चेति सिद्धम्।

1.1.1अष्टाङ्गयोगेमुद्राणांसमावेशनम्

मानवजीवनस्य माहात्म्यं न केवलमन्तःकरणविस्तारत्वादेव, अपितु देहसंरचनापि तत्र मुख्यहेतुः। केवलं मानवशरीरे एव प्राणानां, चक्राणां तथान्यविभिन्नयौगिककेन्द्राणामित्थं नैसर्गिकस्थितिर्वर्तते, यैः माध्यमैः मानवाः महामानवाः भवितुं शक्नुवन्ति। शरीरस्थ-विभिन्नप्राणानां निश्चितचक्रेण सह विशिष्टसम्बन्धः, यथा तु मूलाधारेणापानस्येत्यादि। विशिष्टत्वादत्र परस्परं संशोधनसामर्थ्यं ज्ञेयम्। इदमेव कारणं वर्तते निश्चितचक्रमभिलक्ष्य मन्त्रजापेन प्राणानां प्रवाहे प्रमन्दताऽयाति। तथैव प्राणायामेन चक्राणां संशोधनं भवति। यथा प्राणचक्राणां परस्परं सम्बन्धः तथैव मुद्राप्युभयेन सह सम्बध्यते, यतोहि मुद्राणां प्रादुर्भाव आसनप्राणायामयोर्मध्ये तथा च बहिरङ्गप्रत्याहारधारणाद्यऽन्तरङ्गयोर्मध्ये व्यवस्था-सम्पादनाय भवति। प्रथमचरणे आसनप्राणायामयोर्मध्ये मुद्राणां प्रयोगः साधकप्रयासेन सम्भवति यथा तु घेरण्यसंहितायां आसनानन्तरं एतासां वर्णनं वर्तते। एतासामभावे स्थिरता लाभो नैव सम्भवम्। मुद्रया स्थिरता चैव[35]। परञ्चाग्रिमस्तरे एतासां मुद्राणामाविर्भावो भवति। सहजतायाः महत्त्वं प्रदर्शनाय हठयोगप्रदीपिकायां मुद्राणां वर्णनं प्राणायामानन्तरं प्राप्यते। प्रयोगकाले प्राणायामस्य केवलकुम्भकावस्थायां चित्तव्यापाराभावाद् प्रत्याहारस्यान्तर्भावो ज्ञेयः। हठयोगप्रदीपिकायां त्रिविधप्राणायामस्य एवं द्विविधकुम्भकस्य वर्णनं प्राप्यते। आचार्यैः तत्र कथितम्-

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकः।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः॥[36]

वायोः नासारन्ध्रेण देहे अपकर्षणं पूरकशब्देन, तस्य स्थिरता कुम्भकशब्देन एवञ्च निष्क्रान्तिः रेचकशब्देन ज्ञेयम्। रेचकपूरकसंयुक्तः सहितकुम्भकः, रेचकपूरकरहितः

---

[35]घे॰सं॰1 -10

[36]ह॰प्र॰ श्लो॰स॰ 79

केवलकुम्भकश्च बोध्यः। अत्र जिज्ञास्यते सर्वैः रेचकपूरकराहित्यं कथं सम्भविष्यति, यतोहि रेचकानन्तरं किञ्चित्कालाय बहिर्कुम्भकः तथैव पूरकानन्तरं किञ्चित्कालाय अन्तःकुम्भकस्तु वयं कुर्मः। परञ्च केवलकुम्भके न रेचको न पूरकः। यदा प्राणवायुः यथास्थितिः सहसा पूरकरेचकं विना केवलमवरुद्ध्यते तदा केवलकुम्भकः सञ्जायते। प्रायोगिकपरिपेक्षेणोक्तकेवलकुम्भकीय सिद्धान्तस्योद्घाटनं स्पष्टावबोधाय नितान्तावश्यको वर्तते, परञ्च एतत्पूर्वं प्राणविषयकसामान्यावधारणायाः ज्ञानमपि आवश्यकं वर्तते। अतः एतदर्थं सर्वप्रथमं वायोः देहाद्बहिर्गमनविषयकघेरण्डाचार्योक्तवचनानि सङ्क्षेपेण प्रस्तूयते – कर्मसम्पादकदेहे वायुस्थितिः षण्णवत्युङ्गुलिर्भवति, एतद् द्विगुणं देहाद्बहिर्गतः स्वाभाविको वर्त्तते। गायने प्राणानां बहिर्गतिः षोडशाङ्गुलिः, भोजने विंशतिः, मार्गे सामान्यगमनकाले चतुर्विंशतिः, निद्रायां त्रिंशदङ्गुलिः, मैथुने षट्त्रिंशच्च व्यायामे तु ततोऽप्यधिकं भवति। वस्तुतः प्राणेषु प्रमन्दत्वेनायुः प्रवर्द्धते। प्राणान् अत्यधिकबहिर्गमनात् आयुः क्षीयते। परञ्च वैशिष्ट्यं तु केवलकुम्भकावस्थायां वर्त्तते यतो हि प्राणापानयोः सम्मेलनेन समानसञ्ज्ञकनाभिस्थप्राणस्य विभेदनत्वात् प्राणस्य देहे स्थितिः सम्पद्यते। अनेन मृत्योः अपि अतिक्रमणं जायते। तदेव समानभिद्यत्वे सति वायुना घटस्यार्थात् देहस्य सम्बन्धस्सम्पद्यते। इत एव केवलकुम्भकस्य मार्गे योगी आरूढो भवति। यौगिकक्रियया सह अजपानुष्ठानेन केवलकुम्भके गतिः विवर्द्धते। अजपानुष्ठानेनैव घेरण्डोक्तकेवलकुम्भके प्रवेशो दरीदृश्यते। प्रथमे दिने नासाभ्यां वायुमाकृष्य सोऽहम् इत्यात्मकमन्त्रस्य एकादिचतुःषष्टिपर्यन्तम् अर्थात् षोडशमात्रापूरकं कृत्वा चतुःषष्टिपर्यन्तम् अन्तःकुम्भकं कृत्वा अन्ते द्वात्रिंशत् रेचयेदित्यात्मकः प्राणायामो विधेयः।[37]तथैव हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशे-

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत्। रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद् वायुधारणम्[38]॥

---

[37]घे०सं० पञ्चमोपदेशः 85 तः 88, घे०सं०पञ्चमोपदेशः 91

[38]ह०प्र० श्लो०स० 72

सहितकुम्भकस्याभ्यास एव केवलकुम्भके परिवर्तते। यथा तु पूर्वे कथितं, रेचकपूरकसंयुक्तः सहितकुम्भकेति। घेरण्यसंहितायां पञ्चमोपदेशे नाडीशुद्धिकथनोपक्रमे समन्त्रप्रक्रियायाम् –

चन्द्रेण पूरयेद्वायुं बीजं षोडशकैः सुधीः।
चतुःषष्ट्या मात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत्।
द्वात्रिंशन्मात्रया वायुं सूर्यनाड्या च रेचयेत्[39]॥

अस्तु, अत्रोद्देश्यता वर्तते संख्यायाः प्रदर्शने। पूरके षोडशमात्रा 16 निमेषा अन्तः कुम्भके चतुःषष्टिमात्रा 64 निमेषाः रेचके द्वात्रिंशत्मात्रा 32 निमेषाः। इयं तु उत्तमा विधिः। मध्यमस्तरे पूरके अष्टमात्रा 8 निमेषाः कुम्भके द्वात्रिंशत्मात्रा 32 निमेषाः रेचके षोडशमात्रा 16 निमेषाः इति ज्ञेयाभ्यसेच्च। प्रारम्भिकस्तरे पूरके चतुर्मात्रया 04 निमेषाःकुम्भके षोडशमात्रया 16 निमेषाःरेचके अष्टमात्रया 08 निमेषाः अभ्यासं प्रारम्भेत्। आवश्यकतानुसारं एतदपि न्यूनं कर्तुं शक्यते। यथा पू. 02, कु. 08, रे. 16 इति। एतदभ्यासपूर्वं भस्त्रिकाप्राणायामस्याभ्यासोऽवश्यः करणीयः। शनैः शनैः अभ्यासं वर्धेत्। मात्राविषये योगरसायनग्रन्थे स्वामिब्रह्मानन्दाचार्यैः कथितम्–

एकादिगणनां कुर्यान्न द्रुतं न विलम्बितम्।
मनसा कुम्भकाले तु मात्रास्ताः परिकीर्तिताः[40]॥

पूर्वोक्तमात्राविषये मतैक्यं नास्ति यथा तु मार्कण्डेयपुराणे योगाध्याये प्राणायामवर्णने -

प्रथमं साधनं कुर्यात्प्राणायामस्य योगवित्।
प्राणापाननिरोधस्तु प्राणायाम उदाहृतः॥
लघुमध्योत्तरीयाख्यः प्राणायामस्त्रिधोदितः।

---

[39]घे०सं०पञ्चमोपदेशः 39
[40]यो०रसा० 71

तस्य प्रमाणं वक्ष्यामि तदलर्क श्रृणुष्व मे॥

लघुर्द्वादशमात्रास्तु द्विगुणः स तु मध्यमः।

त्रिगुणाभिस्तु मात्राभिरुत्तमः परिकीर्त्तितः[41]॥

अत्र लघुस्तरे पूरके 12 मात्रा, कुम्भके 48 मात्रा, रेचके 24 मात्रा, मध्यमस्तरे पूरके 24 मात्रा, कुम्भके 96 मात्रा, रेचके 48 मात्रा, उत्तमस्तरे पूरके 36 मात्रा, कुम्भके 144 मात्रा, रेचके 72 मात्रा च ज्ञेया। घेरण्यसंहितायां सहितनिगर्भप्राणायामोल्लेखक्रमे–

उत्तमा विंशति मात्रा, षोडशी मध्यमा तथा।

अधमा द्वादशी मात्रा प्राणायामास्त्रिधामताः[42]॥

पूरककुम्भकरेचकक्रमेण 20/80/40 इति उत्तमा, 16/64/32 इति मध्यमा, 12/48/24 इति अधमा ज्ञेया। अस्तु, संख्याविषयकविभिन्नत्वादत्र अधिकारिभेदाः, पारम्परिक-प्रक्रियाभेदाः, अनुभवभेदाश्च ज्ञेयाः। पूर्वोक्तसम्पूर्णविवेचनेनेदं तु स्पष्टो वर्तते यत् प्राणानां प्रमन्दतायामेव प्राणायामलक्ष्यप्राप्तिर्निहितेति। अनुपातेऽपि 1-4-2 क्रमो वर्तते एव। उक्तप्रयोगेनेत्थं किं भवति यत् यस्य प्रभावात् स्वयमेव केवलकुम्भकस्य स्थितिः सञ्जायते इति जिज्ञासा पूर्ववदेव? सरलतया संज्ञानाय त्वेत्थं कथयितुं शक्यते यत् शरीरशोधनानन्तरं प्राणापानयोर्मध्ये विभाजकानां समानप्राणाणां विभिन्नभ्रामर्यादियौगिकक्रियावशात् विभेदेन एकत्वं सञ्जायते, तस्यामवस्थायां इडापिंगलामार्गमभित्यज्य प्राणाः सुषुम्नामार्गे प्रविशन्ति प्रचलन्ति च। इदमेव मुख्यकारणं वर्त्तते केवलकुम्भकस्य। वैशिष्ट्यं प्रस्तूयते, मध्यमकुम्भके कनिष्ठकुम्भकस्य उद्घातद्वयं तथा च उत्तमकुम्भके कनिष्ठकुम्भकस्य उद्घातत्रयं भवति। अर्थात् 24 मात्रायाः मध्यमकुम्भके पूरकद्वयं रेचकद्वयञ्च न स्त अपितु मात्रैकैव पूरकरेचकेण कार्यसम्पन्नेति। तथैवोत्तमविषयेऽपि ज्ञेयम्। शनैः शनैः प्राणायामस्य अभ्यासप्रभावात् स्वयमेव

[41]मा॰पु॰ योगाध्यायः 12 -14
[42]घे॰सं॰45

कुम्भककालोऽपि अभिवर्धते। यदा द्वादशप्राणायामकाले केवलैकैव पूरकरेचको भवति तदा तस्या अवस्थायाः संज्ञा प्रत्याहारेति। अर्थात् एकैव कुम्भको दीर्घकालपर्यन्तं भवति, फलतः मध्ये एकादशपूरकरेचकाः न भवन्ति अपितु मात्रैकैव पूरकरेचको वर्तते। अवस्थेयं केवलकुम्भकेति। निरूत्तरतन्त्रे प्राणायामादारभ्य समाधिपर्यन्तं विवेचनं प्राप्यते, तत्र शास्त्रकारैः कथितम्-

प्राणायामो द्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः।
प्रत्याहारो द्विषट्केन जायते धारणा शुभा॥
धारणाद्वादशप्रोक्तं ध्यानं ध्यानविशारदैः।
ध्यानं द्वादशकैरेव समाधिरभिधीयते॥
यत् समाधौ परं ज्योतिरन्तरं विश्वतो मुखम्[43]॥

प्रस्तुतश्लोकैः ज्ञायते यत् द्वादशप्राणायामेन प्रत्याहारो, द्वादशप्रत्याहारेण धारणा, द्वादशधारणया ध्यानं, द्वादशध्यानेन समाधिश्च भवति। द्वादशप्राणायामे केवलैकैव पूरकरेचको वर्तते अत्र कुम्भकावधिः अष्टतो दशमिनटपर्यन्तं भवति। अत्र तु स्पष्टरूपेणेदं ज्ञेयम् विना वैराग्यमुमुक्षाभ्यां प्रस्तुतप्रयासो मात्रशारीरिकश्रमोदम्भरोगमृत्युहेतवेति। अग्रे द्वादश-प्रत्याहाराणामेका धारणा भवति। तस्यां धारणायां एकैव कुम्भके 144 प्राणायामाणां क्षमता भवति। अर्थात् अस्यामवस्थायां केवलैकैव पूरकरेचको भवति शेष 143 पूरकरेचकाभावो ज्ञेयः। अत्र कुम्भकावधिः होराद्वयं भवति। एतावदेव कुम्भकसामर्थ्यं वर्धमान् ध्यानसमाधिपर्यन्तं भवति। ध्याने 24 होरा, समाधौ द्वादशदिनपर्यन्तं कुम्भको भवति।

अस्यैव सिद्धान्तस्य संकेतरुपेण योगसूत्रकारैः स्वयमेव प्राणायामवर्णने कृतम्। आचार्यैः तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः[44] इत्यात्मकं सूत्रन्निगदितम्।

---

[43]नि०त० 48 -49
[44]यो०द० 2.49

सत्यासने श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायाम इत्यर्थः। प्राणायामस्य पापक्षयात्मकावान्तरफलप्रतिपादानन्तरं मनसः स्थैर्यत्वमित्यात्मकमुख्यफलं प्रतिपादक-सूत्रस्यावतरणं योगसूत्रकारैः कृतम् – धारणासु च योग्यता मनसः[45]। अयं प्राणायामः मनः स्थित्वा धारणाविषयकसामर्थ्यवान् करोति। द्वादशप्रत्याहाराणामेका धारणा भवति। प्रत्याहारेऽपि किं भवति इत्यपि विचारणीयम्। स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरुपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः[46]। इन्द्रियव्यापारः चित्तव्यापाराधीनः, यदा प्राणायामानुष्ठानेन चित्तव्यापारोऽव-रुद्ध्यते तदा स्वयमेव इन्द्रियव्यापारोऽपि नश्यते। अस्यैव भावस्य प्रस्थापनं प्रत्याहारसूत्रस्य व्यासभाष्ये आचार्यैः कृतम् – स्वविषयसंप्रयोगाभावे चित्तस्वरुपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तवत् निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते। अस्तु, विना खेचर्यादिमुद्रासहयोगेन केवलकुम्भकस्य प्रथमचरणेऽपि प्रवेष्टुं न शक्यते, केवलकुम्भकस्याभावे अन्तरङ्गे प्रवेशोऽसंभवेति। अतः कथयितुं शक्यते यत् मुद्रास्तथैव सन्ति यथा सरणि, यावत्पर्यन्तं दिव्यदेहात्मिका छदिर्न प्राप्यते तावत्पर्यन्तं मुद्राणामाश्रयोऽपेक्षते। प्राणायामानन्तरं मुद्राणां कथनं प्रायोगिकसैद्धान्तिकयोगग्रन्थयोर्मध्ये मतैक्यं सूच्यत इति।

---

[45]यो॰द॰ 2.53

[46]यो॰द॰.54

1.1.2 अधिकारिवर्णनम्

प्रायस्सर्वत्रैव निश्चितलक्ष्यप्राप्तये निश्चितगुणसमवायानामुपस्थिति-रत्यन्तमपेक्ष्यते। निश्चितगुणसमवायानामुपस्थितिर्वर्तते यस्मिन् सोऽधिकारी, निश्चितगुणसमवायवानधिकारीति। यस्मिन् गुणाः न सन्ति परञ्च सगुणानिच्छति तस्यापि ग्रहणं गुणसमवाये ज्ञेयः, यतोहिप्रेच्छाऽपि गुण एवेति। विभिन्नक्षेत्रेषु विभिन्नगुणानां न्यूनाधिक्यरूपेण महत्त्वं वर्तते। यथा श्रमिककार्ये देहव्यापाराधिक्यत्त्वात् शारीरिकसामर्थ्यस्याधिक्येन वैचारिककार्यन्यूनत्वाद् बौद्धिकसामर्थ्यन्यूनेनापि कार्यं प्रचलति। परञ्चापरपक्षे शास्त्राभ्यासे श्रमिकाद्विपरीतेन तर्कप्रधानप्रवृत्तिना निष्कर्षप्राप्तिस्सम्भवति। अस्तु, क्षेत्रभेदेनाधिकारीय गुणेष्वपि भेदाः भवन्ति। बहुवारं तु दृश्यते लक्ष्यैकत्वेऽपि मार्गविभेदत्वाद् गुणेष्वान्तर्यम्। यथा श्रीपुष्पदन्तविरचितशिवमहिम्नस्त्रोत्रे लक्ष्यैकत्वविषये प्राप्यते –

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति, प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नानापथजुषां, नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव[47]॥

अतः पथभेदेनापि अवलम्बकेषु गुणान्तर्यं ज्ञेयम्। संस्काररुचिपरिस्थित्यादिप्रभावादियं स्थितिर्जायते। अस्तु, योगक्षेत्रे ये के गुणाः साधनानि च सन्ति येषामभावे लक्ष्यप्राप्तिर्नैव सम्भवम्। विभिन्नाचार्याणां मतानि प्रस्तूयन्ते –

योगदर्शने अष्टाङ्गयोगप्रदर्शनक्रमे प्रारम्भिकाङ्गद्वयस्य यमनियमस्योल्लेखनं योगविषयकाधिकारजागरणार्थमेव वर्तते। अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः[48]। पञ्चप्रकारकेषु यमेषु अहिंसा नाम सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। सत्यं यथार्थवाङ्मनसे। स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्। तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति। ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्य उपस्थस्य संयमः। विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणम-

---

[47]श्रीपुष्पदन्तविरचिते शि०स्त्रो० –श्लो०स० 7

[48]यो०द० – साधनपादे सू.स० 30

परिग्रह इत्येते यमाः। शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः[49]। तत्र शौचं मृज्जालादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यान्तरे चित्तमलानामाक्षालनम्। संतोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। तपो द्वन्द्वसहनम्। स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्। योगरसायनग्रन्थे स्वामिब्रह्मानन्दैरुक्तम्-

प्रथमं विषयत्यागो, द्वितीयमनकूलता।

तृतीयं गुरुसंयोगश्चतुर्थं चेशचिन्तनम्[50]॥

सर्वप्रथमन्तु विषयत्याग अर्थात् शमदमपरिपालनम्। शमो नाम मनोनिग्रहः, दमो नामेन्द्रियनिग्रहणम्। शमदमपरिपालने हेतुर्वर्तते बहिर्मुखी चेतनाया अन्तर्मुखीकरणम्। द्वितीयं वर्तते योगविषयकानुकूल्यम्। अत्रानुकूल्येन सर्वतोभावेन योगविषयकानि नेतिधौत्यादि साधनानि, दुग्धघृतादि भोज्यानि, शुद्धवातावरणस्थानादीनि च गृहीतानि सन्ति। तृतीयं वर्तते गुरुसंयोगः, अत्र गुरुशब्देन सिद्धपरम्परया दीक्षितो वेदान्तयोगतन्त्रमार्गत्रयैकीकृत्य स्वस्वरुपानुसंधाने कृतभूरिपरिश्रमेणात्मतत्त्वविज्ञो ज्ञेयः। गुरुविषयेऽत्यन्तप्रसिद्धोऽयं श्लोकः –

सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं,

सत्त्वस्थं सत्यवाचं समयनियतया साधुवृत्त्या समेतम्।

दम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगणं दीर्घबन्धुं दयालुं,

स्खालित्ये शासितारं स्वपरहितपरं देशिकं भुष्णुरीप्सेत्[51]॥

चतुर्थमीशचिन्तनम्- यथा तु योगदर्शने ईश्वरप्रणिधानाद्वा इति सूत्ररूपे ईशचिन्तनं प्रदर्शितम्सूत्रकारैः महर्षिपतञ्जलिभिः। अस्यैव व्यासभाष्ये प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतरः समाधिलाभः

---

[49]यो॰द॰ – साधनपादे सू.स॰ 32

[50]यो॰रसा॰ – श्लोक स. 13

[51]वेदान्तदेशिकः

समाधिफलञ्च भवतीति। कोऽयमीश्वरो नामेति- क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः[52]। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्[53]। पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्[54]। तस्य वाचकः प्रणवः[55]। तज्जपस्तदर्थभावनम्[56]। ततःप्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च[57] ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति। शिवसंहितायां पञ्चमपटले चतुर्विधसाधकानां वर्णनं सम्प्राप्यते। यथा तु-

चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रकाः।

अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लङ्घनक्षमः[58]॥

1. मृदुसाधकलक्षणम् – मन्दोत्साही, सम्मूढः, रोगग्रस्तः, गुरुदूषकः, लोभी, पापमतिः, बह्वाशी, वनिताश्रयः, चपलः, कातरः, पराधीनः, अतिनिष्ठुरः, मन्दाचारः, मन्दवीर्यकः मानवो मृदुसाधको भवति। प्रस्तुतमृदुसाधकलक्षणक्रमे तमोगुणविशिष्टकिञ्चिद्रजोगुणान्वितानां जनानां कथनं वर्तते। प्रायोस्मिन्युगे प्रस्तुतगुणान्वितानां बाहुल्यं परिदृश्यते। कारणन्त्वत्र प्रारब्धपुरस्सरमाधुनिकाहारव्यवहारविचारादिक्रमे भौतिकभावानां बाहुल्यं मन्ये।

द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धिरेतस्य यत्नतः परम्।

मन्त्रयोगाधिकारी स ज्ञातव्यो गुरुणा ध्रुवम्[59]॥

इत्याकारकसाधकान्सिद्धिः गुरुनियोगे द्वादशाब्दप्रयत्नपुरस्सरमभ्यासात्भवति। अत्र प्रस्तुतकाले न्यूनाधिक्यं गुरुकृपाप्रारब्धादिप्रभावात्भवितुं शक्यते। चतुर्विधयोगे मन्त्रयोगसंज्ञके

---

[52]यो.सू. 1 -24
[53]यो.सू. 1 -25
[54]यो.सू. 1 -26
[55]यो.सू. 1 -27
[56]यो.सू. 1 -28
[57]यो.सू. 1 -29
[58]शि॰सं॰ पञ्चमपटलस्य श्लो. स॰ 15
[59]शि॰सं॰पञ्चमपटलस्यश्लो. स॰ 16 -18

गुरूकृपावशादेतस्याधिकारत्वं ज्ञेयमिति। मन्त्रयोगे परम्परया दीक्षितो गुरुणा संप्राप्तमन्त्रस्य श्वासप्रश्वासचक्रावलोकनमन्त्रश्रवणपूर्वकं विधिः संज्ञेया। अस्तु, चतुर्विधयोगो वर्तते -

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः।

चतुर्थो राजयोगः स्यात्स द्विधाभावविवर्जितः[60]॥

मन्त्रहठलयराजेत्यात्मको योगश्चतुर्विधः। राजयोग एव लक्ष्यमस्मिन्नेव योगस्य पूर्णत्वं द्वैताभावत्वं संप्राप्यते। सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यात्मकानुभूतिः संजायते।

2. मध्यमसाधकलक्षणम् – समबुद्धिः, क्षमायुक्तः, पुण्याकाङ्क्षी, प्रियम्वदः, सर्वकार्येषु सामान्यो मध्यमसाधको भवति। [61]प्रस्तुतमध्यमसाधकलक्षणक्रमे रजोविशिष्ट-किञ्चिद्सत्त्वगुणान्वितानां वर्णनं वर्तते। जपाद्यभ्यासप्रभावादेव मृदुसाधकानां स्तरोत्थानादयं मध्यमस्तरः संजायते। प्रायः साधकान्पूर्वजन्मनि सुकृतानां प्रभावाद् स्वभाविकोऽयं स्तरः संप्राप्यते। एषां स्तरीकानां कृते लययोगस्योपदेशो गुरुभिः दीयते। लययोगेन प्रतिप्रसवो मुख्यार्थः, परञ्चात्र निश्चितकेन्द्रमधिकृत्य मनःप्राणानां लयो ज्ञेयः। अन्तःकरणशुद्धिरभावे लययोगस्य परिकल्पनाऽप्यसम्भवम्। मन्त्रहठलययोगेषु कदाचिदपीत्थन्नास्ति यत् एते सर्वे पृथकाः, अपि तु एते सर्वे राजयोगसिद्ध्यर्थं प्रतिस्तरे सहायकाः। यदि तु साधको मध्यमस्तरीयो लययोगाधिकारी वर्तते तर्ह्यपि मन्त्रयोगस्य तस्मिन्जीवने महत्त्वमस्त्येवापितु पूर्वादधिकं महत्त्वं वर्तते। लययोगस्य साधनाक्रमे लयप्राप्त्यर्थं हठविशिष्टमन्त्रयोगस्य प्रयोगोऽपेक्ष्यते। हठाभावे प्राणानां स्थैर्यत्वं एवञ्च मन्त्राभावे चित्तस्यशुद्धिः संभवन्नास्ति, तथा हठमन्त्रे विना लयप्राप्तिरसंभवेति।

3. अधिमात्रसाधकलक्षणम्–स्थिरबुद्धिः, लययुक्तः, स्वाधीनः, वीर्ययुक्तः, दयायुक्तः, क्षमावान्, सत्यवान्, शूरः, वयस्थः, श्रद्धावान्, गुरूपदाब्जपूजकः, योगाभ्यासरतश्च

[60]शि॰सं॰पञ्चमपटलस्य श्लो. स॰ 14
[61]शि॰सं॰ पञ्चमपटलस्य श्लो. स॰ 19

अधिमात्रसाधको भवति। अधिमात्रसाधकलक्षणक्रमे जपाधिक्यत्वाद् लयविषयिका बुद्धिः परिपूर्यते। अस्मिन् स्तरे साधकेरजोविशिष्टसत्त्वाधिक्यं परिदृश्यते। बुद्धेः स्थैर्यत्वं वर्धनत्वात् लयः सञ्जायते। गुरोः निर्देशे योगाभ्यासाचरणात्वात् साधके मन्त्रलयपूर्वकः साङ्गहठयोगविषयिका योग्यता सञ्जायते।

एतस्य सिद्धिः षड्वर्षे भवेदभ्यासयोगतः।
एतस्मै दीयते धीरो हठयोगश्च साङ्गतः[62]॥

इत्याकारकसाधकान् सिद्धिः षड्वर्षकीय नैर्न्तर्यगुर्वाज्ञापूर्वकाभ्यासेन भवति। एषां साधकानां कृते गुरुभिः साङ्गहठयोगो दीयते। अत्राङ्गेन सप्तसाधनानां ग्रहणमपेक्ष्यते। तान्यङ्गानि सन्ति षट्कर्माणि, आसनानि,मुद्राः, प्रत्याहाराः, प्राणायामाः, ध्यानम्, समाधिः।

षट्कर्मणा शोधनञ्च आसनेन भवेद्दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
प्राणायामाल्लाघवञ्च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
समाधिना च निर्लिप्तं मुक्तिरेव न संशयः[63]॥

4. अधिमात्रतमसाधकलक्षणम्– महावीर्यान्वितः, उत्साही, मनोज्ञः, शौर्यवान्, शास्त्रज्ञः, अभ्यासशीलः, मोहरहितः, निराकुल, नवयौवनसम्पन्नः, मिताहारी, जितेन्द्रियः, निर्भयः, शुचियुक्तः, दक्षः, दाता सर्वजनाश्रयः, स्थितप्रज्ञः, क्षमाशीलः, सुशीलः, धर्मचारी, गुप्तचेष्टः, प्रियंवदः, शास्त्रे विश्वाससम्पन्नः, देवतागुरुपूजकः, जनसङ्गविरक्तः, महाव्याधिरहितः, अधिमात्रव्रतज्ञः, सर्वयोगसाधको अधिमात्रसाधको भवति।[64] प्रस्तुताधिमात्रतमसाधक-लक्षणक्रमे सत्त्वविशिष्टकिञ्चिद्रजोगुणान्वितानां जनानांवर्णनं वर्तते। प्रोक्तगुणधारिसाधके अन्तर्मुखताये पर्याप्तकारणानि भवन्ति। एतस्य साधकः सर्वविधयोगस्याधिकारी भवति।

---

[62]शि०सं० पञ्चमपटलस्य श्लो. स०20 -22
[63]घे०सं० प्रथमोपदेशे श्लो. स० 10 -11
[64]शि०सं० पञ्चमपटलस्य श्लो. स०23 -27

गुरुकृपाप्रभावादस्य लक्ष्यप्राप्तिः त्रिषु सम्वत्सरेषु भवत्येव यदि काले न्यूनाधिक्यं भवति तर्हि त्वत्र प्रारब्धादिपूर्वोक्तहेतुः मन्येत्। हठयोगप्रदीपिकायां षट्सन्मित्राणि वर्णितानि सन्ति। तानि मित्राणि गुणरूपे वर्तते यस्मिन् स अधिकारीति। आचार्यैरुक्तं यथा-

उत्साहात् साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्चनिश्चयात्।
जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति[65]॥

उत्साहः, साहसम्, धैर्यम्, तत्त्वज्ञानम्, निश्चयः, जनसंगपरित्यागः एतेः गुणाः वर्तन्ते यस्मिन् स योगस्योत्तमोधिकारीति।

प्रस्तुतसर्वेषामाचार्याणां मतैक्यकेन्द्ररूपे योगदर्शनोक्त यमनियमावेव सम्प्राप्येते। स्वस्वरूपानुसंधानेत्यात्मकं लक्ष्यमभिधेय यमनियमयोः परिपालनेन स्वयमेव विभिन्नगुणानामत्पत्तिः जायते। अतो निष्कर्षरूपेणायं कथयितुं शक्यते यत् योगस्याधिकारि-विशेषो वर्तते सैव यो मात्रमोक्षमभिलक्ष्य यमनियमौ परिपाल्येतेइत्यलम्।

अधिकारिस्वरूपम्

शिवसंहिता	मृदुसाधकः, मध्यमसाधकः, अधिमात्रसाधकः, अधिमात्रतमसाधकश्च
योगदर्शनम्	उच्चमध्यमाधमकोटयः
हठयोगप्रदीपिका	दशविधयमनियमसम्पन्नः
वेदान्तः	साधनचतुष्टयसम्पन्नः

[65]ह०प्र० प्रथमोपदेशे श्लो. सं. 16

1.2देशकालपरिस्थितीनां वर्णनम्

कस्यापि लक्ष्यप्राप्त्यर्थं निश्चितगुणसमवायैः सह देशकालपरिस्थितीनामपि विशिष्टमहत्त्वं वर्तते। पूर्वापूर्वसम्पूर्णप्रकरणे सदेदं स्मरेत् यत् योगस्योद्देश्यमात्मज्ञानं वर्तते। य इत्यात्मकं लक्ष्यमभिलक्ष्य कृत्संकल्पाः सन्ति तेषां कृते एवाचार्यैः वर्णनं कृतम्। उद्देश्यभेदेन प्रस्तुतप्रक्रमेऽपि भेदः भवितुं शक्नोति। अस्तु, अत्र देशकालपरिस्थितिविषयकवैशिष्ट्ये कारणं वर्तते प्राकृतिकसहयोगस्य प्राप्तिरिति। प्राकृतिकसहयोगेनाभिप्रायो वर्तते- पूर्वाचार्यैः स्वानुभवेन सदेशकालश्च निर्देष्टितो यो योगसिद्ध्यर्थं सहजैव सहायको वर्तते। यत्राल्पाभ्यासोऽपि तीव्रफलदायकः। यत्राभ्यासप्रारम्भेन विघ्नानामप्राप्ति अथवा न्यूनविघ्नाः प्राप्यन्ते उत् विघ्नशमने आनुकुल्यं भवति। योगक्षेत्रे विशिष्टरुपेण श्रीघेरण्यसंहितायां हठयोगप्रदीपिकायाञ्च योगोपयोगी स्थानकालपरिस्थितिविषये वर्णनं प्राप्यते। यथा तु श्रीघेरण्यसंहितायां प्राणायामनिरूपणक्रमे पञ्चमोपदेशे आचार्यैःकथितः –

आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथापरम्।
नाडीशुद्धिं ततः पश्चात् प्राणायामं च साधयेत्[66]॥

प्रथमं स्थानं लभ्येत्, तदनन्तरं योगप्रारम्भानुकूलितकालस्य प्रतिक्षा करणीया, प्रतिक्षाकाले सूक्ष्मव्यायामशास्त्रचिन्तनादि कर्तुं शक्यते। ततः परं मिताहारमाचरणीयम्। मिताहारस्य पालनं प्रारम्भतः आचरणेऽपि न कोऽपि दोषः, अपितु करणीयमेव, तर्हि कथं स्थानकालानन्तरं मिताहारस्य वर्णनं कृतम्? अत्र नाडीशुद्धौ मिताहारस्यप्रामुख्यं तथा च प्रारम्भिककाले मिताहारभङ्गेऽपि न क्षतिरिति सूचितम्। मिताहारानन्तरं नाडीशुद्धिं ततः परं प्राणायामं साधेयम्।

---

[66]शि०सं० पञ्चमपटलस्य श्लो. स०2

स्थाननिर्णयः- दूरदेशे, आरण्ये, राजधान्यां, जनसमूहे च योगारम्भं न कुर्वीत, यदि करोति तर्हि योगे सिद्धिं नार्हति। सम्प्रति हेतुपूर्वकं निषेधपक्षस्य विस्तारं क्रियते - अविश्वाशत्वाद् दूरदेशे न, अर्थात् यस्मिन्देशे कोऽपि भय अविश्वासो वा नास्ति स योगानुकूलिको देशः। दूरदेशे एतस्याभावो भवति। अतः त्याज्यः। अत्र सदेदं स्मरेत् एते नियमाः प्रारम्भिकसाधकानां कृते सन्ति। ये क्षुधापिपासाविमुक्ताः सन्ति ते यत्र निवसन्ति तदेवोचितं स्थानमिति। अस्तु, अरण्येवन्यजीवेभ्यः प्राणरक्षाविषयकोऽभावो भवति। अत अत्रापि योगस्यारम्भो न कुर्वीत। राजधान्यां जनान्तिके च सार्वजनिकत्वादर्थाद् योगविषयकगोपनीयतायारभावत्वादत्रापि न करणीयः। योगक्षेत्रे गुप्तता अनिवार्या। यथा योगाचार्यैरुक्तम्-

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता।

भवेद् वीर्यवती गुप्ता निर्वीया तु प्रकाशिता[67]॥

अथाखिलविद्यापेक्षया हठविद्याया अतिगोप्यत्वमाह – सिद्धिमणिमाद्यैश्वर्यमिच्छता यद्वा कैवल्यसिद्धिं वाञ्छता योगिना हठयोगविद्या परमगोपनीयाऽस्ति। यतो हि गुप्ता हठयोगविद्याऽप्रतिहतैश्वर्यजननसमर्था स्यात्। अर्थात् कैवल्यजननसमर्था कैवल्यसिद्धि-जननसमर्था वा स्यात्[68]। अत्र गोपनीयतायाः मुख्यार्थ अधिकारिजनानां कृते विद्यायाः संरक्षणं वर्तते। अन्यानां कृते व्यर्थत्वादुतस्वाहङ्कारेत्यात्मकदोषसम्वर्धनत्वाद् न प्रदर्शनीया। अस्तु, योगस्थानानि कानिसन्ति यत्राभ्यासेन योगे सिध्दिस्सम्भवति। एतदर्थं पूर्वक्रमिकाग्रिमश्लोकत्रये आचार्यैरुक्तम्। सुदेशे अर्थात् स्वच्छाभयभावयुक्तक्षेत्रे, धार्मिकस्थाने, योगानुकूलभोज्य-सम्पन्नक्षेत्रे शान्तैकान्ते एकं प्राचीरैः परिवेष्टीतं, कीटवर्जितं, नात्युच्चं नातिनिम्नं, गोमयलिप्तं च कुटीरं कृत्वा, यस्मिन्कुटीरे एव वापीकूपतडागो भवेत् अर्थात् जलविषयकोऽभावो न्यूनता

---

[67]ह॰प्र॰प्रथमोपदेशे श्लो. सं. 11

[68]ब्रह्मानन्दविरचितायाम् ज्यो॰टी॰ पृ. स॰ 11

वा न भवेदित्याकारकगुप्तस्थाने योगाभ्यासं प्राणायामं समभ्यसेत्[69]। हठयोग-प्रदीपिकायामाचार्यैः स्थानविषये निगदितम् –

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरूपद्रवे।

धनुःप्रमाणपर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते॥

एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना॥

हठाभ्यासयोग्यं देशं निरूप्यते - राज्ञः कर्म भावो वा राज्यं तच्छोभनं यस्मिन्स सुराज्यस्तस्मिन्सुराज्ये, धर्मवति प्रदेशे, सुभिक्ष इत्यनेनानायासेन आहारादिलाभः सूचितः, निरूपद्रवे चौरव्याघ्राद्युपद्रवरहिते, धनुषः प्रमाणं धनुः प्रमाणं चतुर्हस्तमात्रं तत्पर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते अर्थात् यत्रासनं ततश्चतुर्हस्तमात्रे शिलाग्निजलानि न स्युरित्यर्थः। जनसमागमाभावात्कलहाद्यभावत्वात् एकान्ते विजने, जनसंमर्दे तु कलहादिकं स्यादेव। तदुक्तं भागवते –

वासे बहूनां कलहो भवेद्वातभवेद्वार्ता द्वयोरपि,

तादृशे मठिकामध्ये च हठभ्यासार्थं वसेत्[70]।

मठं कीदृग्भवेत् इति जिज्ञासायामाह-

अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं,

सम्यग्गोमयसांद्रलिप्तममलं निशेषजंतूज्झितम्।

बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितम्,

प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासासिभिः॥

अल्पद्वारम्, गवाक्षादिः निम्नप्रदेशे मूषकादिबिलरहितञ्च स्थानम्, अत्युच्चे आरोहणे श्रमत्वात्, अतिनीचेऽवरोहणे श्रमत्वात् समतलप्रदेशः, समीचीनतया गोपुरीषलिप्तं मलरहितं

---

[69]घे०सं० पञ्चमोपदेशस्य श्लो० स०3 -7

[70]ब्रह्मानन्दविरचितायाम् ज्यो०टी० पृ. स० 12

स्थानम्, निखिलमशकादिजन्तुभिः त्यक्तं स्थानम्,मठाबहिः प्रदेशे मण्डपवेदिकूपरमणीयम्, सम्यग्भित्तियुक्तञ्च मठरूपात्मकं स्थानं सिद्धहठयोगाभ्यासिभिः सेवनीयम्। नान्दिकेश्वरपुराणेऽपि एवमेव मठलक्षणं दृश्यते[71]-

एवं विधे मठे स्थित्वा सर्वचिन्ताविवर्जितः।

गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव सदाभ्यसेत्[72]॥

ब्रह्मपुराणे[73] योगोपकारकस्थानविषयकवर्णनं प्राप्यते। योगी विजने आश्रमे निश्शब्दगुहायां भयशून्यपर्वते जनाभावभवने शुचौ रम्ये च देवालये रात्रौ प्रथमप्रहरे, अन्तिमप्रहरे च योगाभ्यासार्थं निर्दिशति।

मठलक्षणमुक्त्वा मठे यत्कर्तव्यमप्याह – पूर्वोक्तलक्षणयुक्ते मठे स्थित्वा अशेषचिन्तारहितः गुरुणोपदिष्टमार्गेण नित्यं योगमेवाभ्यसेत्। तदुक्तं योगबीजे –

मरुज्जयो यस्य सिद्धस्तं सेवेत गुरुं सदा।

गुरुवक्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणाजयं बुधः॥[74]

कालनिर्णयः - अस्मिन्प्रकरणे योगारम्भार्थमुत्कृष्टकालस्य वर्णनं क्रियते -योगप्रारम्भे कालनिषेधविषयकवर्णनं प्राप्यते - हेमन्ते मार्गपौषयोः, शिशिरे माघफाल्गुनयोः,ग्रीष्मे ज्येष्ठाषाढयोः, वर्षायां श्रावणभाद्रयोश्च योगारम्भं न करणीयम्। यदि कोऽपि पूर्वोक्तकाले योगारम्भं करोति तर्हि योगः स्वयमेव वातपित्तादिविकारकारको भविष्यति। निषेधकालवर्णनानन्तरं योगप्रारम्भार्थं श्रेयस्करकालं लिख्यते –वसन्ते चैत्रवैशाखयोः, शरदि आश्विनकार्तिकयोश्च योगस्यारम्भं समाचरेत्। अस्मिन् काले योगारम्भे सति लक्ष्यसिद्धिर्जायते। तथा च निश्चितमेव कफपित्तादिविकाराणामभावत्वं सन्दृश्यते। सम्प्रति, उपयुक्तकालमुक्त्वा

---

[71]ब्रह्मानन्दविरचितायाम् ज्यो॰टी॰ पृ. स॰14

[72]प्रथमोपदेशे ह॰प्र॰श्लो. स॰12 -14

[73]ब्र॰पु॰, 235/13 - 16

[74]ब्रह्मानन्दविरचितायाम् ज्यो॰टी॰ पृ. स॰16

ऋतुः तदनुभवश्च वर्ण्येते -चैत्रात् फाल्गुनपर्य्यन्तम्, माघमासाच्च फाल्गुनपर्य्यन्तमिति मतद्वयेऽपि प्रतिद्विमासम् एकः ऋतुः तिष्ठति, किन्तु एकस्य ऋतोः अनुभवस्तु चतुर्मासेषु भवति। वसन्तर्तुः चैत्रवैशाखयोः भवति, तस्य अनुभवस्तु माघमासतः वैशाखपर्यन्तं जायते। ग्रीष्मर्तुः ज्येष्ठाषाढयोः सम्पद्यते, अनुभवश्चैत्रतः आषाढपर्यन्तं भवति। वर्षर्तुः श्रावणभाद्रपदयोः भवति, अनुभूतिस्तु आषाढतः आश्विनपर्यन्तं परिदृश्यते। शरदर्तुः आश्विनकार्त्तिकयोः भवति, तथा च भाद्रपदात् मार्गशीर्षपर्यन्तमनुभूयते। हेमन्तर्तुः मार्गशीर्षपौषयोः भवति, अनुभूतिस्तुकार्त्तिकतः माघपर्यन्तं जायते। शिशिरर्तुः माघफाल्गुनयोः भवति, मार्गशीर्षतः फाल्गुनपर्यन्तमनुभूयते। अपि च वसन्ते शरदि वा योगारम्भं कुर्यात्। उक्तकाले प्रारम्भत्वाद् अनायासेन योगः सिद्धो भवेदिति आचार्यैः कथ्यते –

वसन्तो वापि शरदि योगारम्भं समाचरेत्।

तदा योगो भवेत् सिद्धो विनायासेन कथ्यते[75]॥

दैनिकाभ्यासीयकालविचारः- योगस्य श्रेष्ठमासम् ऋतुञ्च विवेच्याऽधुना अभ्यासकालो वक्ष्यते - प्रातःकाले सूर्योदये षड्वादने, मध्याह्ने द्वादशवादने, सूर्यास्ते गोधूलिवेलायां पुनः षड्वादने, अर्द्धरात्रौ द्वादशवादने षड्होरान्तरालिककालभागेषु चतुर्वारं प्राणायामान् अभ्यसेत्। यदि उक्तविधिना मासद्वयम् अव्यवधानेन प्रतिदिनम् अभ्यसेद्, तर्हि निश्चितमेवाऽविलम्बेन कफपित्तादिमलाबद्धस्नायुनां शुद्धिर्जायते। योगीनां यदा नाडीशुद्धिः भवति तदेव दोषनाशत्वात् योगस्यारम्भः सम्भविष्यति। [76]

[75]घे.सं. पृ. स. 56 -58
[76]शि.सं. पृ. स. 33

हठयोगारम्भकालनिर्णयः

क्र०स०	मासनाम	आङ्गलमासनाम	ऋतुर्नाम	योग्यायोग्यविचारः
1	वैशाखः	अप्रैल – मई	ग्रीष्मः Summer	अयोग्यः
2	ज्येष्ठः	मई – जून		
3	आषाढः	जून – जुलाई	वर्षा Monsoon	अयोग्यः
4	श्रावणः	जुलाई – अगस्त		
5	भाद्रपदः	अगस्त – सितम्बर	शरदः Autumn	योग्यः
6	आश्विनः	सितम्बर – अक्टूबर		
7	कार्त्तिकः	अक्टूबर – नवम्बर	हेमन्तः Late autumn	अयोग्यः
8	मार्गशीर्षः	नवम्बर – दिसम्बर		
9	पौषः	दिसम्बर – जनवरी	शिशिरः Winter	अयोग्यः
10	माघः	जनवरी – फरवरी		
11	फाल्गुनः	फरवरी – मार्च	वसन्तः Spring	योग्यः
12	चैत्रः	मार्च – अप्रैल		

मिताहारवर्णनम् - योगलक्ष्यप्राप्तौ भोजनविधानमिताहारस्य विशिष्टमहत्त्वं वर्तते। हठयोगशास्त्रेषु मिताहारस्य प्रायः सर्वत्रैव वर्णनं दरीदृश्यते। मुख्यावलम्बकरूपेषुमिताहारस्य निरूपणं वर्तते। अस्य हेतुः शरीरस्थचरमनिर्मितसारतत्वस्य निर्माणप्रक्रियायामत्यन्त-सूक्ष्मपरिवर्तनं वर्तते। यथाविधभोजनस्याशनं भवति तथाविधसारतत्त्वस्य निर्मितिरिति स्पष्टमेवास्ति। तस्य भोजनस्य प्रकृतिः भक्षके समायाति। अत्र भोजनमात्रायारपि योगदृष्ट्या

वैशिष्ट्यं वर्तते। एतस्यौचित्यमस्ति योगनियमपालने सहयोगः। यदि भोजनाधिक्यं भविष्यति तर्हि सम्पूर्णदिवसे निर्धारितविविधप्राणायामादिक्रियायां प्रवृत्तिर्नैव सम्भविष्यति। योगस्यानुष्ठाने व्यवधानं भविष्यति। ब्रह्मचर्येऽपि मिताहारस्य साक्षाद्महत्त्वं वर्तते। इदमेव कारणं वर्तते हठयोगप्रदीपिकायांमुख्यसाधनरूपे मिताहारवर्णनम्, यथा –

यमेष्विव मिताहारमहिंसांनियमेष्विव[77]॥

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः।

अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्रकार्या विचारणा [78]॥

मिताहारस्य स्वरूपम्– उदरस्यार्धांशो भोजनेन, शेषार्धांशस्यार्धं जलेन, चतुर्थांशो वायुसंचरणाय भोजनजलादिना न पूर्येत्। ईश्वरस्य प्रसादरूपे सुस्निग्धमधुराहारः ग्रहणीयः[79]। कटुः कारवेल्ल इत्यादि, अम्लं चिंचाफलादि, तीक्ष्णं मरीचादि, लवणम्, उष्णं गुडादि, हरीतशाकम्, काञ्जिकम्, तिलसर्षपादि तैलम्, मद्यम्, मत्स्याजादिमांसम्, दधि, तक्रम्, कुलत्था, बदरिफलम्, हिंगुः, लशुनम्, पलाण्डुगृञ्जनमादकद्रव्यमाषान्नादिकं अपथ्यमिति[80]। योगिपथ्यन्तु गोधूमशालियवषाष्टिकश्यामाकनीवारादि, दुग्धमाज्यम्, शर्करा नवनीतम्, सितामधुनि, शण्ठी, पटोलफलम्, पञ्चशाकं जीवन्तीवास्तुमूल्याक्षी मेघनादपुनर्नवेति, मुद्गा द्विदलविशेषा, शुद्धजलञ्च सन्ति[81]। उपर्युक्ताऽऽहारनियमानां पालनं प्रारम्भिकसाधकानां कृते एवास्ति यतोहि यदा योगाग्निर्जायते तदा सर्वप्रकारकविषादीनामपि दहनं सम्भवति तर्हि अन्नेन किम्?

ब्रह्मपुराणे बलप्राप्तये कीदृशं भोजनं करणीयमेतस्य विस्तृतवर्णनं सन्दृश्यते। साधकैः हीङ्गुलकेसरौदनस्निग्धपदार्थानाञ्च सेवनं वर्जितं वर्त्तते। चिरकालपर्यन्तं दिवसे एकवारमेव

---

[77]ह० प्र० श्लो० सं० 1.38, पृ० सं० 27

[78]ह० प्र० श्लो० सं० 1.47 पृ० सं० 34

[79]सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः। भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते॥ ह० प्र० पृ० सं० 35

[80]ह०प्र० श्लो० सं० 51

[81]ह०प्र० श्लो० सं० 62

रुक्षयवभक्षणेन बलप्राप्तिविषयकप्रकरणं मिलति। दुग्धमिश्रितजलपानेन, नैकवर्षपर्यन्तं गुहायां निवासेन, मासपर्यन्तमखण्डोपासनेन च योगी बली भवति[82]। वस्तुतः योगसाधनाप्रभावेन अल्पाहारग्रहणेनाऽपि शरीरस्थसारतत्त्वस्योर्ध्वगमनत्त्वात् खेचर्यादिविधिना अमृतपाने योगी बलवान् भवति।

आहारप्रकारः

ग्रन्थनाम	पथ्याहारः	अपथ्याहारः
हठयोगप्रदीपिका	सुस्निग्ध-मधुर-शिवसम्प्रीत्यै मिताहाराः।	कटु-अम्ल-तीक्ष्ण-लवण-उष्ण-हरितशाक-सौवीर-तैल-तिल-सर्षप-मद्य-मत्स्य-अजादिमांस-दधि-तक्र-कुलत्थ-ककौल-पिण्याक-हीङ्गुल-शुनादयः।
हठरत्नावली	गोधूम-तण्डुल-यव-दुग्ध-घृत-माण्ड-नवनीत-शक्कर-मधु-पटोल-पञ्चशाक-मुद्ग-वर्षाजलञ्च।	तक्र-दधि-कोद्र-लशुन-कुलत्थ-तीक्ष्ण-लवण-उष्ण-हरितशाक-सर्षप-मद्य-मांसादयः।
घेरण्डसंहिता	शाल्यन्न-यवपिण्ड-गोधूम-माश-चणक-पटोल-पनस-कक्कोल-शुकाशक-द्राढिक-कर्कट-रम्भा-डुम्बर-कण्टकण्टक-अमरम्भ-बालरम्भ-रम्भादण्ड-मूलक-वार्ताकी-बालशाक-कालशाक-पटोल-पत्र-शुद्धसुमधुस्निग्धसुरसउदरार्धविवर्जित-मिताहाराः।	कटु-अम्ल-लवण-तिक्त-भृष्ट-दधि-तक्र-शाकोत्ट-मद्य-ताल-कुलत्थ-मसूर-पाण्डु-कुष्माण्ड-शाकदण्ड-तुम्बि-कोल-कपित्थ-कण्टबिल्ब-पलाश-कदम्ब-जम्बीर-निम्ब-लकुच-लशुन-कामरङ्ग-प्रियाल-हीङ्गु-शाल्मली-केमुक-नवनीत-घृत-क्षीर-गुड-रम्भा-नारिकेल-दाडिम-द्राक्ष-नवनी-धात्री-अम्लरसाश्च।
शिवसंहिता	घृत-क्षीर-मिष्ठान्न-चूर्णवर्जितताम्बूल-कर्पूराणि च।	आम्ल-रुक्ष-तीक्ष्ण-लवण-सार्षप-कटवश्च।

[82]ब्र०पु०, 239 / 43 - 44

1.2.1 गुरुमहत्त्वम्

अध्यात्मजगति गुरुशिष्यसम्बन्धः एव सर्वोपरि वर्तते। गुरुशिष्यसाधुसम्बन्धेन विना पारमार्थिकमार्गे गतिः नैव सम्भाव्यते। लौकिकदृष्ट्यापि भारतीयसमाजे सामान्यतया जीवनस्य प्रारम्भकर्त्री माता एवादिगुरुः, तदनन्तरमन्याः आचार्याः ये किमपि शिक्षयन्ति तेऽपि गुरवः भवन्ति। यद्यपि सामान्यजीवने प्रस्तुतस्वरूपविषये कापि समस्या नानुभवति, परन्तु यदाऽऽध्यात्मिकजीवने कस्त्वम्, कोऽहम्, कुत आयात इत्यात्मकाः प्रश्नाः मनसि उत्पद्यन्ते, तदा जिज्ञासावशाद् स्वस्तरादपि च प्राप्तसाधुवद्दृष्टजनानामनुकरणमस्माभिः आरभ्यते। अत्र तेषां जनानां कृते मया न निगद्यते येषां मनसि आध्यात्मिकभावान् प्रति कोऽपि आदरो नैवास्ति, ये केवलं पदधनमानप्राप्तये गुरुं प्रति व्रजन्ति। तैः ज्ञेयं यत् यावल्लक्ष्ये उदातत्वं नास्ति तावत् कथमुत्कृष्टस्य प्राप्तिस्सम्भविष्यति? अतः श्रेष्ठलक्ष्यं विधेयम्। अस्तु, उत्कृष्टान्तरिक-लक्ष्यप्राप्तये गुरुतत्त्वज्ञानमावश्यकम् वर्तते अतः शास्त्रतर्करीत्या गुरुतत्त्वं निरुप्यते- ये शिष्यधनमपहृत्य भोगेषूपरमन्ति ते गुरवः, न, ते तु भोगिनः एव। ये धनमानलोकाचार्ये रतास्सन्ति ते गुरवः, न, ते तु सामान्यमनुष्याः एव। ये काव्यकलाविशारदाश्शास्त्रविज्ञाश्च ते गुरवः, न, ते त्वपि विद्वान्सः एव। ये शास्त्रविज्ञाः, धनमानाद्विरक्ताः, आध्यात्मजिज्ञासवश्च ते गुरवः, न, ते तु सुसाधकाः एव। के तर्हि गुरवः? ये ऊर्ध्वरेतसाः, ब्रह्मनिष्ठाः, अध्यात्मतत्त्वविज्ञाः, मानापमानयोस्समाः, करुणादिदिव्यगुणयुक्ताः, कामादिदोषरहिताः, योगतन्त्रमन्त्रादिविभिन्नमार्गविज्ञाश्च ते गुरवःतदैवोच्यते–

सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं,
सत्त्वस्थं सत्यवाचं समयनियतया साधुवृत्त्या समेतम्।
दम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगणं दीर्घबन्धुं दयालुं,
स्खालित्ये शासितारं स्वपरहितपरं देशिकं भुष्णुरीप्सेत्[83]॥

[83]आचार्यवेदान्तदेशिकः

अर्थात् सत्सम्प्रदायस्थम्, स्थिरबुद्धित्वम्, श्रोत्रियत्वम्, ब्रह्मनिष्ठत्वम्, सात्त्विकाचरणत्वम्, सत्ववक्तृत्वम्, शास्त्रसम्मतकार्यकरणत्वम्, दम्भादिदोषरहितत्वम्, मनसेन्द्रियनिग्रहत्वम्, सौहार्दम्, कारुण्यम्, दुष्टाचरणस्यानुशास्तृत्वम्, प्राणिमात्रहितरतञ्च गुणयुक्तः गुरुः सदा पूज्यो भवति। गीतायां[84] स्थितप्रज्ञरूपे गुरुस्वरूपस्य वर्णनं प्राप्यते यत् सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति, आत्मनि एव आत्मना तुष्टः, दुःखेषु अनुद्विग्नः सुखेषु च आसक्तिरहितः रागभयक्रोधमुक्तः, सर्वावस्थायां शुभाशुभं प्रति नाभिनन्दति, नाद्वष्टि सः स्थितप्रज्ञ इति उच्यते। तथा च सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पिण्डपदयोः समरसताप्रकरणे गुरुमहत्त्वविषये प्राप्यते- परमपदमिति स्वसंवेद्यम् अत्यन्ताभासाभासकमयम् इति। उक्तञ्च तत्त्वसंहितायामपि आत्मैव गुरु इति प्रतिपादनक्रमे आचार्यैः साधकानां कृते तुरीयातीतं ब्रह्मस्वरूपर्यन्तं मनोबुद्धिवागादीनां प्रवृत्तिसामर्थ्याभावत्वात् स्वसंवेद्यमेव परमं पदमिति द्योतितम्। अत एव नानाविधविचारचातुर्यचर्चाविस्मयाङ्गत्वाद् गुरुचरणकृपातत्त्वमात्रेण निरूपाधिकत्त्वेन निर्णेतुं शक्यत्वात् स्वसंवेद्यमेव परमं पदम् प्रसिद्धमिति सिद्धान्तः।

गुरुः योगक्षेत्रे सत्पथप्रदर्शको भवति। गुरुशक्तिपातात् तत्क्षणादेव स्वसंवेद्यसाक्षात्कार आत्मपरोक्षानुभूतिः समुत्पद्यते। ततो गुरुरेवात्र कारणमुच्यते। तस्माद्गुरुकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतया च महासिद्धयोगिभिः स्वकीयं पिण्डं निरुत्थानानुभवनेन समरसं क्रियते इति सिद्धान्तः[85]। गुरुकृपाप्रसादादेव परमपदप्राप्तिरिति सिद्धान्तो दरीदृश्यते यथा–गुरुदृक्पातनात्प्रायो दृढानां सत्यवादिनां सा स्थितिर्जायते॥

कथनाच्छक्तिपाताद्वा यद्वा पादावलोकनात्।
प्रसादात् स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम्॥

---

[84]भ.गी.अ., श्लो. स. 2 -55 -57
[85]सि.प. पृ.स. 62 -64

अर्थात् क्वचित् गुरोः दर्शनात्, वदनात्, पादावलोकनात्, क्वचित्तु गुरोः सन्तुष्टत्वाच्च शिष्यः शक्तिपातरीत्या परमपदमवाप्यते। अत एव शिवेनोक्तम्-

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकम्।
शिवशासनतः शिवशासनतःशिवशासनतःशिवशासनतः॥

सद्गुरोर्लक्षणम्– वाङ्मात्रेण, दृक्पातमात्रेण, सम्यगवलोकनेन वा तत्क्षणान्मुहुर्विश्रान्तियुक्तं करोतीति यः स सद्गुरुर्भवति। नो चेन्निजविश्रान्तिं विना पिण्डपदयोः व्यष्टिसमष्ट्योः समरसकरणं न भवतीति सिद्धान्तः। तस्मान्निजविश्रान्तिकारकः सद्गुरुरभिधीयते, नान्यः। करुणारूपीखड्गेन शिष्यस्य पाशाष्टकं घृणाशङ्कादिकं छिनत्ति, तेन शिष्यः दोषाणां नाशेनकृत्स्नानन्दं लभते। ईदृशानन्दजनको गुरु एव सद्गुरुरिति कथ्यते। अत्र पाशाष्टकाणि सन्ति -

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्त्तिताः॥[86]

गुरुशब्दव्युत्पत्तिः - 'गृणाति' अर्थात्सम्यक् चैतन्यविश्रान्तिमुपदिशति। विश्रान्तिशब्देन आत्मज्ञानं ग्राह्यम्, तेन परात्परं परमपदं प्रस्फुटति, तस्मात् तत्क्षणे एव स्वस्य साक्षात्कारो जायते। त्याज्यगुरुः कः? इति प्रश्ने सति आह[87]- ज्ञानहीनः, मिथ्यावादी, विडम्बकः, स्वात्मज्ञानानभिज्ञश्च गुरुः त्याज्यः। यथा शिलां तर्त्तुमसमर्थत्वात् अन्यान् अपि निमज्जति। अतः यः स्वयं पारं याति सः एव अन्यानपि निस्तारयति। भवसागरतितीर्षुः सद्गुरोर्वक्त्रात् प्राप्तयथार्थज्ञानं विना स्वस्वरूपानुसन्धाने साफल्यं नार्हति। गुरुं विना बहुशास्त्रकोटिभिः यथार्थतत्त्वज्ञानाय कृतः प्रयत्नः व्यर्थो भवति। आत्मज्ञानं तर्कशब्दविज्ञानात्, आचारात्, वेदपाठनात्, वेदान्तश्रवणात्, तत्त्वमसीति वाक्यबोधात्, हंसोच्चारणात्, जीवब्रह्मैक्यज्ञानात्,

[86]कुलार्णवतन्त्रे त्रयोदशोल्लासे- श्लो॰ सं॰- 90
[87]सि.प.पृ.स. 70 -71, 77 -80

ध्यानात्, जपात् वा न प्राप्यते। वस्तुतः पूर्वोक्तवर्णितसिद्धान्तामाचरणे अन्तःकरणशुद्धिः सम्पद्यते। इमानि कर्माणि आत्मज्ञानार्थं प्रथमसोपानरूपेण स्वीक्रियन्ते, ततः गुरुः पावनान्तःकरणे गुरुमन्त्रात्मकं शक्तिबीजं वपति। सद्गुरोः करुणां विनाअखिलाः दुर्गमाः सिद्धय असाध्याः, अत एव सर्वं विहाय गुरुः अवश्यं शुश्रूषव्यः।

योगसिद्धौ गुरुमहत्ता – गुरुमुखात् प्राप्तविद्या वीर्यवती भवति, तदभावे तु निष्क्रिया, फलहीना, दुःखदा च जायते। ये गुरुं सन्तुष्य यत्नेन विद्यामुपासते, तस्याः विद्यायाः फलमविलम्बेन प्राप्यते। यतो हि आध्यात्मिकक्षेत्रे गुरुरेव मातृपितृदेवरूपेण आमनन्ति। गुरोरनुग्रहादेव निर्मलान्तःकरणवन्तः परमलक्ष्यं प्राप्नुवन्ति। अत एव मनसा वचसा कर्मणा पूर्णरूपेण गुरुः सेवनीयः। सम्प्रति गुरुपूजाविधिः कथ्यते – गुरोः प्रदक्षिणात्रयं कृत्वा वामहस्तेन दक्षिणपादम्, दक्षिणहस्तेन वामपादं संस्पृश्य अष्टाङ्गेन नमस्कारः कुर्यात्। श्रद्धावन्तः सिद्धिमाप्नुवन्ति, न तु गुरुविहीनाः। अपि च लोकसङ्गयुक्तः, अविश्वासिनः, गुरुपूजाविहीनः, बहुगुरूपासकाः, मिथ्यावादिनः, निष्ठुरभाषिणः, गुरुरुष्टजनाः कदापि सिद्धिं नार्हति। गुरुवक्त्रसमुद्भवयोगतन्त्रादिविद्यायां सन्देहस्य लेशोऽपि स्थितिर्न सम्भवति। शब्दज्ञानात्प्रक्रियायां भेदत्वं वर्तते, तस्य भेदस्य निवृत्तिर्गुरुकृपां विना सम्भवन्नास्ति। गुरुशक्तिः कीदृशी वर्तते? गुरुशक्तिस्साक्षात्परमेश्वरी-शक्तिरेवास्ति। तस्य प्राप्तिरपि नैकजन्मनां पुण्यानां प्रभावादेव भवति। आदिशङ्कराचार्यैरुक्तम्-

> दुर्लभं त्रयमेवेतद्देवानामनुग्रहम्।
>
> मनुष्यत्वं मुमुक्षत्वं महापुरुषसंश्रयः[88]॥

यथा तु मुण्डकोपनिषद्यपि –स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति, नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरतिशोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति[89]।

---

[88]वि.चू. श्लो.स. 3
[89]मु.उ. म.स. 9

इदृशी साक्षाद्ब्रह्मणश्शक्तिः अधिकारिगुणानामाधिक्ये एव प्राप्यते। कस्तर्हि अधिकारी? साधनचतुष्टय सम्पन्नोऽधिकारी। यमनियमपरिपालकोऽधिकारी। एका शङ्कात्र समुद्भवति– गुरुप्राप्तये सन्नद्धेयमुतान्तःकरणशुद्धिविषयककार्याणां कृते प्रयतितव्यम्?

योग्यतानुसारमेव मार्गदर्शकानां प्राप्तिरिश्वरेच्छानुसारं स्वयमेव भवति। अत्र विशिष्टप्रयत्नस्य महत्त्वं नास्ति, यतोह्यधिकारात् पूर्वं ज्ञानप्राप्तेऽपि तस्य संरक्षणं समुचितरीत्या नैव सम्पद्यते, गुरोपदिष्टभावानामवबोधनमपि नैव जायते। अवबोधनेऽपि तज्ज्ञानं प्रयोगकरणाय न भवति। अतोधिकारिगुणानां प्राप्तये, शास्त्राध्ययनपूर्वकमुपासनादिकार्ये च कालव्यय एव श्रेयस्करः। तपोयज्ञदानादिनाऽन्तःकरणं प्रशुद्ध्यति। अन्तःकरणशुद्धत्वे सति विवेकवैराग्यादिदिव्यगुणानामुत्पतिर्जायते। तस्मादधिकारत्वं लभते। यत्राध्यात्मिकाधिकारत्वं वर्तते तत्र गुरुप्राप्तिस्सुनिश्चितम्। गुरोः महत्त्वं प्रदर्शयन् आदिशङ्कराचार्यैरुक्तम् यत् यस्य मौनत्वेऽपि, दर्शनेनैव सर्वविधाध्यात्मिकसंशयाः छिद्यन्तेऽसौ गुरुरिति –

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः[90]॥

*****

[90]द.मू.स्तो. श्लो.स. 12

द्वितीयोऽध्यायः – प्रधानदशमुद्राणां तत्त्वनिर्णयः

योगसाधनायां मुद्राणामौचित्यप्रदर्शनं तदेव सम्भाव्यते यदा प्रक्रियापक्षस्यादुष्ट-स्वरूपज्ञानं भवेत्। यथार्थस्वरूपबोधाय नैकाधुनिकाचार्याणां योगानुसन्धातॄणां साधकानाञ्च विचारान् प्रगृह्य शास्त्रसम्मतरीत्या प्रधानदशमुद्राणां स्वरूपमौचित्यावबोधाय विभिन्नयोगसम्प्रदायेषु प्राप्तप्रक्रियाणाञ्च वक्ष्यमाणाध्याये प्रदर्शनं क्रियते। प्रमुखसाधन-भूतज्ञानविवर्द्धनाय मुद्राभिस्सह चक्रकेन्द्रप्राणानां विशिष्टसम्बन्धोल्लेखपूर्वकं ब्रह्मचर्यस्य योगसाधनायां कीदृशं महत्त्वमिति प्रतिपादनानायमध्यायो विरच्यते।

2.1 प्रमुखदशमुद्राणां स्वरूपनिदर्शनम्

विभिन्नमुद्राणां विभिन्नयौगिकग्रन्थेषु न्यूनाधिक्यरूपेण वर्णनं प्राप्यते। यथा – गोरक्षसंहिताग्रन्थे पञ्चमुद्राणामेव वर्णनं मिलति – मूलबन्धमुद्रा, उड्डीयानमुद्रा, जालंधरबन्धमुद्रा, महामुद्रा, खेचरीमुद्रा च।शिवसंहितायां तथैव हठयोगप्रदीपिकायामपि दशमुद्राणां वर्णनं वर्तते यथा –

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा।
उड्डयानं चैव वज्रोली दशमं शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम्[1] ॥

अपि च -

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्[2] ॥

---

[1]ह. प्र. 3.6-7
[2]शि.सं. 4.24-25

घेरण्डसंहितायां हठयोगप्रदीपिकायाःवर्णितदशमुद्राभिस्सह पञ्चदशान्यमुद्राणामपि वर्णनं प्राप्यते। यथा -

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालनी।
ताडागी माण्डुकीमुद्रा शाम्भवी पञ्चधारणा ॥
आश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी।
पञ्चविंशति मुद्राणि सिद्धदानीह योगिनाम्[3] ॥

अन्याः संक्षोभणी-द्रावणी-आकर्षणी-वशी-उन्माद-महांकुशमुद्राणाञ्चापि निर्देशास्तु प्राप्यन्ते। क्वचित्तु खेचरी-भूचरी-अगोचरी-चाचरी-उन्मनीत्यादि नाम्नाऽपि मुद्राणां कथनं प्राप्यते। एतासां सर्वासां मुद्राणां न्यूनाधिक्यरूपेण हठयोगप्रदीपिकायां वर्णितमुद्रास्वन्तर्भावो भवति। यतोहि सर्वेषु क्रियारूपेषु प्रयोगकाले केन्द्रपरिवर्तनादेव विभिन्नरूपेषु मुद्रायाः स्वरूपाण्यनुभूयन्ते। मुख्यतस्तु दशमुद्रास्वेव सम्पूर्णोद्देश्यप्राप्तिस्सामर्थ्यमस्त्येव[4]अन्यासां मुद्राणां कथनन्तु विभिन्नमार्गनिदर्शनमात्रमिति।

---

[3]घे.सं. 3.1-3

[4]इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम्

2.1.1 महामुद्रा

हठयोगप्रदीपिकायां महामुद्राविषये आचार्यैरुक्तम्-

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम्।

प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥

वामपादपार्ष्णिना गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य प्रसारितदक्षिणपादाङ्गुष्ठमाकुञ्चिततर्जनीभ्यां दृढं धारयेद् ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।

यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥

1. महामुद्रा

कण्ठे जालन्धरबन्धं कृत्वा पवनं सुषुम्नायां धारयेत्। अनेन मूलबन्धः सूचितः। यथा दण्डहतः सर्पो वक्राकारं त्यक्त्वा सरलः दण्डाकार इवाकारो यस्य स तादृशो भवति तथैव कुण्डलिनीशक्तिरपि प्रकर्षेण जायते। तथा कुण्डल्याधारशक्तिः शीघ्रमेव सरला भवेत्। कुण्डलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे इडापिङ्गलयोः प्राणवियोगात् मरणावस्था जायते।[5] तदनन्तरं शनैः शनैरेव वायुं रेचयेत् वेगान्न। वेगतो रेचने बलहानिप्रसंगात्। इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रकर्षेण दर्शिता। महामुद्राया अन्वर्थतामाह महान्तश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशा अविद्यास्मितरागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च ते आदयो येषां ते शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयन्ते। मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयन्ते नश्यन्ति। तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा

[5] ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥

विबुधास्तेषूत्तमा महामुद्रां वदन्ति। महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्यत्पत्तेरित्यर्थः[6]। वामाङ्गे सम्यगभ्यस्य दक्षाङ्गे वामाङ्गतुल्या कुम्भकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत्। संख्यासाम्यानन्तरं महामुद्रां विसर्जयेत्। वामांगेऽभ्यासे पूरितो वायुर्वामाङ्गे तिष्ठति। दक्षाङ्गेभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षाङ्गे तिष्ठति। यस्मान्महामुद्राभ्यासिनः पथ्यापथ्यविचारो नास्ति। तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कटूवम्लादयो जीर्यते। नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यन्ति। घोरमिति। भुक्तमन्नं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति। किमुतान्यदिति भावः। यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य राजरोगः, कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगविशेषः। अजीर्ण भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं प्राप्नुवन्ति।एषा महामुद्रा नराणामणिमादयस्तासां कर्त्री अतः प्रयत्नेन गोपनार्ह यस्यकस्यचिदनधिकारिणो न दातुं योग्या[7]।घेरण्डसंहितायां[8] शिवसंहिताया[9]ञ्च प्रक्रियायां पूर्ववत्तुल्यत्वं दृश्यते। प्रक्रियादशायां यद् वैशिष्ट्यं वर्तते तस्योद्घाटनमपि अस्य शोधकार्यस्य लक्ष्यं वर्तते अतः प्रकाश्यते।

प्रक्रियावैशिष्ट्यम्– जानीमो वयं आसनप्राणायामैस्सह बन्धत्रयाणां समन्वयाद्या स्थितिः सञ्जायते तस्यैव नाम मुद्रेति। अत्रापि अस्यैव नियमस्य प्रयोगः प्रस्तूयते। सामान्यतया यद्

---

[6]ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिताः।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥

[7]ह.प्र. 3.15-18

[8]पायुमूलं वामगुल्फे सम्पीड्य दृढयत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदाङ्गुलः ॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥ घे. सं. 3.6-7

[9]अपसव्येन सम्पीड्य पादमूलेन सादरम्।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै।
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥ शि. सं. 4.27-28

क्रियास्वरुपं हठयोगप्रदीपिकादिग्रन्थे आचार्यैरुक्तप्रक्रियायामेको विषयः संयोजनीयः। यदा पादप्रसारणानन्तरं पादांगुष्ठस्य दृढधारणं भवति तस्मिन्नेव समये पश्चिममार्गे प्राणानां प्रवाहो भवेदेतदर्थम् उज्यायीप्राणायाममभ्यासेत्।पूरकं कृत्वा उड्ड्यानबन्धनीयम्। मूलबन्धनं तु पूर्वे अस्त्येव तस्य दृढतायां काऽपि न्यूनता न भवेदिति मुख्यम्। अन्ते जालन्धरबन्धनीयम्। सम्पूर्णक्रियायां नेत्रोद्धाटनं न भवेत्। प्रक्रियाविसर्जने प्रथमं तावत् प्राणरेचनेन सह जालन्धरबन्धः त्यजनीयः तदनन्तरं उड्ड्यानबन्ध अन्ते मूलबन्धः। नेत्ररसनयोः स्थैर्यमत्यन्तमपेक्ष्यते। कपालकुहरे जिह्वाप्रविष्टा विपरीतमेति जिह्वायाः स्थितिः खेचरीमुद्रा अनया सह भ्रूवोरन्तरगता दृष्टिरेति नेत्रस्थितिः शाम्भवीमुद्रा द्वयोः योगादेव महामुद्रायाः पूर्णस्थितिः सञ्जायते।

2.1.2 महाबन्धः

हठयोगप्रदीपिकायामाह-

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम्।
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत्[10] ॥

2. महाबन्धः

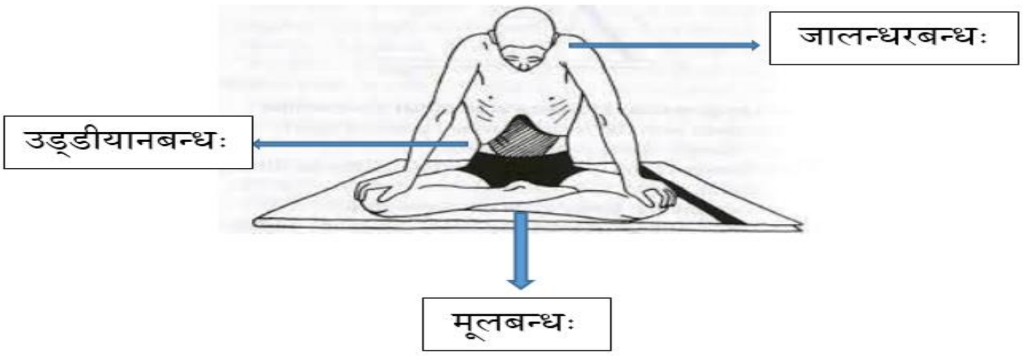

वामचरणस्य पार्ष्णिं गुदमेढ्रयोरन्तराले योजयेत्। वामोरूपरि दक्षिणपादं सम्यक् स्थापयित्वा , तदनन्तरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं गाढं संस्थाप्य अर्थात् जालन्धरबन्धं संकृत्य गुदमेढ्रयोरन्तरालमाकुञ्च्य मूलबन्धं कृत्वा च मनः मध्यनाड्यां सुषुम्नायां प्रवर्तयेत्। यथाशक्ति कुम्भयित्वा मन्दं मन्दं वायुं रेचयेत्। वामाङ्गे सम्यगावर्त्य दक्षिणाङ्गे पुनर्यावत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत्।

---

[10] ह.प्र 3.19-21

इदं केषाञ्चित्त्वाचार्याणां मतं यदत्रजालन्धरबन्धे कण्ठसंकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत्। दन्तानां राजानो राजदन्ता, राजदन्तेषु तिष्ठतीति राजदन्तस्था, राजदन्तस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धस्तदुपरिभागस्य संबन्धः प्रशस्तः। कण्ठाकुञ्चनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति भावः। अयं तु राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्त्र संख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वं गतिस्तस्याः प्रतिबन्धकः। एतेन बध्नाति हि क्षिराजालम् इति जालन्धरोक्तं फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम्। अयमुक्तः खलु महासिद्धीः प्रकर्षेण ददाति। मृत्युपाशविमोचनेऽपि प्रवीणः। तिसृणां नदीनां वेणीसमुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं विधत्ते। केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यं तं स्वान्तं प्रापयेत्[11]।

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना।

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलो वेधवर्जितौ[12] ॥

रूपं सौन्दर्यं चक्षुः प्रियो गुणो लावण्यं कान्तिविशेषः। तदुक्तम् मुक्ताफलेषु छायास्तरलत्वमिवान्तरम्।प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते इति। ताभ्यां सम्पन्ना विशिष्टा स्त्री युवति पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबन्धश्च तौ महावेधेन विनापि वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः।

---

[11]मतमत्र तु केषाञ्चित्कण्ठबन्धं विवर्जयेत्।
राजदन्तस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिरोधकः।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥
कालपाशमहाबन्ध विमोचन विचक्षणः।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ ह.प्र 3.22-24

[12]ह.प. 3.25

2.1.3 महावेधमुद्रा

स्वात्माचार्या हठयोगप्रदीपिकायां महावेधस्वरूपमाह –

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।

वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सताडयेच्छनैः।

पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः[13] ॥

3. महावेधः

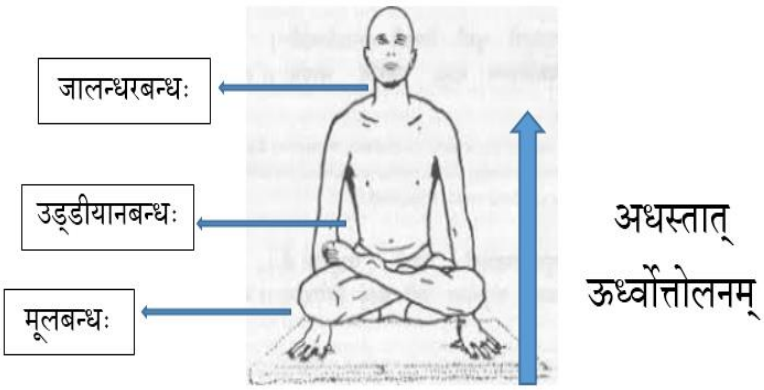

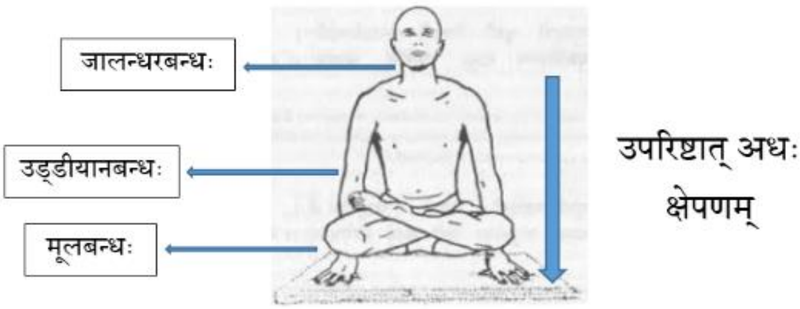

विशेषः – पद्मासनं सन्धृत्य त्रिबन्धं विधाय भूमिसंलग्नहस्ताभ्यां भूमेः किञ्चिदधोभागमुत्थाय च शनैः शनैः उत्तोलनप्रक्षेपणरीत्या सन्ताडयेत्।

[13]ह. प्र. 3.26-27

महाबन्धमुद्रायां स्थितो महाबन्धस्थितएकाग्राधीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा जालन्धरमुद्रया प्राणादीनां गतिमूर्ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथावृत्य निरुध्य कुम्भयित्वा भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलम्बनेन योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किञ्चिदुत्थापितौ शनैः सम्यक् ताडयेत्। भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिङ्गलयायुग्मगतिक्रम्योल्लंघ्य सुषुम्नामध्ये वायुः स्फुरति।

सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै।
मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत् ॥
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने।
पुण्यसम्भारसन्धायि पापौघभिदुरं सदा ॥
सम्यक् शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम्[14] ॥

सोमश्च सूर्याश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दस्तदधिष्ठिता नाड्य इडापिङ्गलासुषुम्ना ग्राह्यास्तेषां सम्बन्धः। तद्वायुसम्बन्धात्तेषां सम्बन्धः। अमृताय मोक्षाय जायते।इडापिङ्गलयोः प्राणसञ्चाराभावात् प्राणवियुक्तस्यावस्था समुत्पन्ना भवति। तदनन्तरं नासिकापुटाभ्यां वायुं शनैस्त्यजेत्। महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम्। यस्मात्वार्धकं प्राणदेहवियोगश्च तयोर्विशेषेण नाशनं जाठरस्य दीप्तिकरं कर्तृं अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम्।एतत्त्रयं प्रतिदिनम् प्रतिप्रहरं अष्टवारं कुर्यात्। कीदृशं पुण्यस्य संभारः समूहस्य संधायि पुनः कीदृशं पापानामोघः पूरः समूह इति यावत्। तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाभ्यस्तं तदैव पापनाशनम्। सम्यक् साम्प्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा। एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्तरीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम्।

---

[14]ह०प्र०, 3.28-31

2.1.4 खेचरीमुद्रा

सम्पूर्णहठयौगिकसाधनाक्रमे पूर्णतां प्राप्तये खेचरीमुद्रायाः महत्त्वं सर्वासु योगपरम्परासु मुक्तकण्ठेनाभिमतं दरीदृश्यते। पिण्डस्थशक्तिस्वरूपस्य ब्रह्माण्डपर्यन्तविस्तारायान्न-निद्रादिव्यवधानानान्निराकरणं खेचरीं विना न सम्भाव्यते इति सर्वेषां योगग्रन्थानां निष्कर्षवचनम्। अत्र विचारणीयं वर्त्तते कारणं किमस्त्यन्नादीनां परित्यागे उत उल्लङ्घने ? सामान्यरूपे तु वयं जानीमो यदन्नेन शरीरस्य पोषणं भवति। चतुर्विधगृहीतान्नेन[15] निष्कर्षरूपे वीर्यरजोनिष्पत्तिः सञ्जायते। अस्य निष्कर्षतत्त्वस्य प्रयोगो जीवनयापने सृष्टिवर्द्धने च सामान्यतया दृश्यते। इयं तु लौकिकी रीति, परञ्च योगमार्गे आध्यात्मिकजगति वा सारतत्त्वस्य संरक्षणम् उत अभिवर्द्धनं न केवलं जीवनयापनाय सृष्टिवर्द्धनाय एव विधीयते अपितु लौकिकजगतः पाराय, स्वमूलस्वरूपस्यापरोक्षानुभूतिप्राप्तये, स्थूलशरीरस्य कारणभूतानां पञ्चतत्त्वानां जयाय, सर्वं खल्विदं[16]ब्रह्मेत्यात्मकानुभूतिप्राप्तये च भवति।

प्रत्येकं मनुष्याणामिदं लक्ष्यं वर्त्तते यद् भक्तियोगादिना येन केनापि माध्यमेन स्वमूलस्वरूपं[17] प्रत्यक्षात्मकमनुभवेत्। योगमार्गे खेचरीमुद्रां विना विभिन्नक्रियापक्षाणां पूर्णत्वन्न भजते। अत्रैकं विशिष्टकारणं वर्त्तते – प्रत्येकं क्रियायाः स्वरूपमेवेत्थमस्ति यदि बहिर्गमनस्य निरोधनं तथा चान्तरिकमार्गस्योद्घाटनं न भविष्यति तावत् पर्यन्तं केवला श्रमरूपा एव सकला क्रिया। खेचरीमुद्रायामिदमेव स्वरूपमनुभवति, प्रथमस्तु प्रक्रियापक्षस्योद्घाटनं क्रियते – चालनदोहनादिना जिह्वायां कठोरत्वं लम्बायमानत्वञ्च समायाति। अन्ते मुखनासिकासमाहारकूपे अङ्गुष्ठमाध्यमेन विशिष्टगुप्तरीत्या क्रियाद्वारा तस्य मार्गस्य विस्तारो जायते। अत्र विशिष्टगुप्तरीतिशब्देन गुरुमुखाद् ग्राह्यमिति ज्ञेयम्। नित्याभ्यासेन गुरुनिर्देशेन च प्रारब्धप्रभावादल्पकाले दीर्घकाले वा जिह्वायाः प्रवेशनं मुखनासिकासमाहारकूपे भवति।

---

[15]भ. गी., पञ्चदशाऽध्याये, श्लो. सं. 14, पृ. 237

[16]छान्द.उ., तृतीयाध्याये, ख. सं. 14, पृ. 45

[17]वि. चू., श्लो. सं. 32, पृ. 13

इयमेव प्रक्रिया सर्वसामान्ये खेचरीमुद्राशब्देन व्यवह्रियते। परञ्चात्र बहवः पक्षास्सन्ति यस्योद्घाटनन्नास्ति।

यदि तु खेचरीविद्याया अवतरणमपेक्ष्यते तर्हि अनया पूर्वोक्तप्रक्रियया सह विभिन्नपक्षान् समायोज्येत। प्रथमस्तु वर्त्तते गुर्वाज्ञापालनम्, एतेन चित्तं पुनाति , चित्तशुद्धिप्रभावात् प्राणानामन्तर्मुखता स्वभाविकी सिद्धा। आज्ञापालननियमस्य योगसिद्धिपर्यन्तं महत्त्वं वर्त्तते। एतस्याभावे योगमार्गे कुत्रापि पतितुं शक्यते। विषयाकर्षणं, मायाप्रभावश्च दुस्तरौ स्तः। गुरुकृपा एवात्रावलम्बनमिति। योगशास्त्रेषु गुरुविषयकनिष्कर्षरूपे प्रचलितवचनं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकमिति[18] सर्वेषु योगसम्प्रदायेष्वङ्गीकृतम्। अस्तु, खेचरीप्रक्रियायाः क्रमिकस्पष्टविवेचनं सिद्धगुरूपरम्परातिरिक्तन्नैवावगन्तुं शक्यते। यथा तु दृश्यामहे यद् योगशास्त्रे सर्वत्र गुप्ततायाः महत्त्वं[19] विलसति। यदि कोऽप्यनधिकार्यस्याः विद्यायाः प्रयोगपक्षे प्रवेष्टुमिच्छति तर्हि तस्य शरीरं मानसिकस्तरं वा विकर्तुं शक्यते। जिह्वाया लम्बायमानत्वं कठोरत्वञ्चापेक्ष्येते अपितु एताभ्यां सहितं चित्तस्याप्यन्तर्मुखतायाः अपरिहार्यमहत्वं शास्त्रे निर्दिष्टम्। अत्र चित्तस्य साक्षात्प्राणैः सह सम्बन्धात्स्वयमेव प्राणानाम् अन्तर्मुखत्वन्मन्वे। यदि कोऽपि शारीरिकश्रमतया जिह्वायाः मुखनासिकसमाहारकूपे प्रवेष्टुमर्हति तदपि सामान्यरूपेण किञ्चिदभ्यासप्रभावात् सामान्यचित्तस्थैर्यादधिकं किमपि न भविष्यति। अत्र लक्ष्यविषयकस्पष्टताभावे किमपि न भाव्यते।

विशिष्टप्राणिकक्रियया सह सूर्याग्निसम्बद्धक्रियानुष्ठानमपेक्ष्यते। सूर्यसम्बद्धक्रियायां विशेषरूपेणात्र सिद्धामृतसूर्यक्रियायोगस्य[20] वर्णनमपेक्ष्यते। अस्या सम्पूर्णप्रक्रियायाः ज्ञानं तु शब्दसुरतसङ्गमाश्रमे[21] आगत्य व्यवस्थितरीत्या ज्ञातुं पार्यते। परञ्चात्र सामान्यतया प्रक्रियायाः दिग्दर्शनं दरीदृश्यते – सूर्योदयात् सूर्यास्तात् च अर्धहोरा पूर्वमेव सूर्याभिमुखीभूय

[18]सि. सि. प., पञ्चमोपदेशे, श्लो. सं.66, पृ. 78
[19]ह.प्र., प्रथमोपदेशे, श्लो. सं. 11, पृ. 11
[20]स्वामिबुद्धपुरिमहाराजेन प्रचारितक्रियाविशेषः
[21]www.shabadsuratsangam.org

सामान्यासने प्रस्थाप्य मुख्यरूपेण नमनादिमुद्राभिः सह अनुद्घाटितनेत्रेण सूर्यगायत्रीमन्त्रोच्चारणं[22] करणीयम्, अस्या सम्पूर्णप्रक्रियाया पूर्णविवेचनं सिद्धामृतसूर्यक्रियायोगनामकपुस्तके[23] वर्त्तते ततः जानीयुः। अस्या क्रियाया अनुष्ठानेन किं भवति ? शरीरस्याग्निकेन्द्ररूपे मणिपूरचक्रस्य नाभिस्थानस्य वा ज्ञानं वर्त्तते। शरीरस्थनाभिचक्रस्याग्निः पाचनादेः, रक्तशोधने, विभिन्नान्तःस्राविग्रन्थिनां प्रक्रियायाञ्च सहायको विधीयते। अखिलजीवस्य जीवनेऽग्ने औचित्यं शारीरिकप्रक्रियायां महत्त्वपूर्णं वर्त्तते तद्वदेव ब्रह्माण्डे स्थितसूर्यस्य इमां पृथिवीं प्रति विशेषयोगदानं दृश्यते इति मन्यावहे। यदि सूर्यस्याभावो भविष्यति तर्हि धरायां जीवनस्य स्थितिर्न घटयते, यतोह्यन्नादिजीवन-रक्षकपदार्थानामभावो भविष्यति। स्पष्टत्वात् न विवेच्यते। योगसाधनायां शरीरस्थाग्नेः वर्द्धनमेव प्रारम्भिकलक्ष्यमस्ति। यदा देहाग्निरभिवर्द्धते तर्हि स्वयमेव विभिन्नकफ-पित्तादिदोषानांदहनम्, सारतत्त्वस्योर्ध्वगमनं, प्रत्येकं जीवं प्रति कारूणिकवृत्तिश्चोत्पद्यते इति योगसाधकानामनुभवात्सिद्धम्।

शरीरस्य दोषानां शमनेन मानसिकस्तरेऽपि विशिष्टगतिः सञ्जायते, आत्मिकशोधनेन सर्वविधात्मिकं प्रति क्रियाशीलत्वं विन्दते। अस्तु, विशुद्धक्रियादृष्ट्या योगाग्नेर्जागरणमपि अनया एव जायते। यतो हि योगाग्निर्जागरणस्य यत् स्वरूपं शास्त्रे निर्दिष्टं तस्यैव खेचरीमुद्राया फलश्रुतौ[24] वर्णनमवाप्यते। यदि देहाग्निजागरणं संवर्द्धनं वृणीते तर्हि क्रियादिना सह सूर्यसाधनायाः विशिष्टविधिनाऽग्निक्रियायाश्चानुष्ठानं परमसहायको भविष्यति इति मन्ये। अग्निक्रियायाः सम्पूर्णज्ञानं तु अग्निक्रियायोगनामकपुस्तके[25] वर्त्तते तत एवाप्तं पार्यते, परञ्चात्र सामान्यतया किञ्चिद् निर्दिष्ट्यते। प्रचण्डबहिरग्निना सह विशेषनेत्रहस्तमुद्राद्वारासम्बन्धस्थापनं

---

[22]सू. उ., पृ. 442

[23]सिद्धामृत सूर्य क्रियायोग, स्वामी प्रिन्टर्ज, लुधियाना- 141001

[24]ह.प., तृतीयोपदेशे, श्लो. सं. 39-40

[25]पुस्तक महल, संस्करण मई 2011

मन्त्रोच्चारणरीत्या प्राणानाम् अग्न्यात्मकशक्त्याकर्षणञ्चेत्येवास्ति अग्निक्रियायोगः। अत्रापि बहिरग्निना सह सम्बद्ध्य साधकाः स्वान्तराग्नेः योगाग्नेः जागरणं विधीयन्ते। अस्तु, अत्र निष्कर्षरूपेणायं स्मरेत्, यदा शरीरे अग्निजागरणं जायते तदा शरीरस्थप्राणिकप्रक्रियायामपि विशिष्टपरिवर्त्तनं जागर्ति। शरीरे हृदि प्राणस्य, गुदे अपानस्य, समानस्य नाभिमण्डले, उदानस्य कण्ठे, व्यानस्य सर्वशरीरे च स्थितिर्वर्त्तते[26]। यदाग्निजागरणं भवति तदा प्राणापानयोः भेदकवद् भिद्यते। इत्थमपि वक्तुं शक्यते अग्निजागरणस्य पूर्णस्थितिः समानभेदेनैव सम्भविष्यति। यदा समानभेदत्वात् प्राणापानयोः गतिवैरुध्यं विनश्यति तदा स्वयमेव प्राणा इडापिङ्गलामार्गौ परित्यज्य सुषुम्नायां प्रविशन्ति। इयमेवास्ति स्थितिः, यस्यां साधकस्स्वयमेव अभावयोगे प्रविशति।

यदि साधकस्य लक्ष्यं महायोगो वर्त्तते तर्हि तस्यामवस्थायां गतिकारिकेयं खेचरीमुद्रा। यतोहि इतः पूर्वं साधकस्य विशिष्टगतिर्मुद्राणामभावे नैव सम्भाव्यते। इत्थमेव नास्ति यत् पूर्वोक्तावस्थापूर्वं मुद्राणां प्रयोग एव नास्ति। यथा तु प्रारम्भे एव कथितं मया, मुद्राणां प्रयोगस्थितिः द्विविधाऽस्ति। प्रथमा साधककृत्क्रियास्थितिस्तथा चान्या स्वयमेव प्रादुर्भावक्रियास्थितिः, यदा साधकैः प्रारम्भे क्रियाणां प्रयोगो विधीयते तदा लक्ष्यं वर्त्तते अग्निजागरणमिश्वरप्रणिधानं[27] वा। यदा मुद्रादिक्रियानुष्ठानप्रभावाद्देहाग्निः सञ्जायते, तदा मुद्राणामवतरणन्नैसर्गिकं भवति। अर्थात् प्रारम्भे या अनुष्ठीयन्ते साधकै अग्रे ता क्रिया अनायासेन सम्पाद्यन्ते। तस्य साधकस्य सामान्यावस्थायामपि खेचरीशाम्भव्यादि-मुद्राणामाचरणं श्वासप्रश्वासवद् विधीयते। तस्य सामान्यप्रक्रियायामपि लक्ष्यमन्तस्तिष्ठति। बहिःकार्यसम्पादनेऽपि तस्य सर्ववृत्तयः आभ्यन्तरत्वं कल्पते।

---

[26]शि, सं., तृतीयपटले, श्लो. सं., 7, पृ. 30

[27]यो.द., स. प., सू. सं. 23, पृ. 25

खेचरीमुद्राणां प्रारम्भोऽपि सहजावस्थायामेव वृणीते। कारणं वर्त्ततेऽत्र जिह्वायां लम्बायमानत्वं तदेव समायाति यदा प्राणानामूर्ध्वगमनं विधीयते। एतत्पूर्वं तु केवलं मुखनासिकासंयोगक्षेत्रपर्यन्तमेव जिह्वा गम्यते। कपालकुहरं तु ततः पूर्वं वर्त्तते। परञ्चेत्थमेवनास्ति यत् मुखनासिकासंयोगक्षेत्रे प्रविष्टजिह्वायाः किमपि महत्त्वमेव न। इयं प्रारम्भिकी प्रक्रिया वर्त्तते, एतदनन्तरमेवान्यस्थितिर्भाव्यते। प्रायः सर्वेषु योगशास्त्रेषु खेचरीमुद्रायाः गुप्तरीत्या वर्णनं दृश्यते, परञ्च हठयोगप्रदीपिकायाम् अस्याःकिञ्चित्स्पष्टरीत्या वर्णनं प्राप्यते। तत्र प्रक्रियापक्षे निगदितम् –

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तगता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥[28]

4. खेचरी

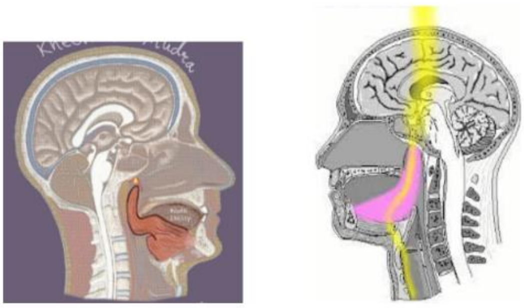

कपालकुहरे जिह्वाप्रविष्टा विपरीतगा

भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिः

[28]ह.प., तृतीयाध्याये, श्लो. सं. 32, पृ. 96

अस्मिन्श्लोके जिह्वया सह नेत्रस्थितेः महत्त्वं व्यक्तम्। जिह्वया सह नेत्रसंयोजनेनात्र खेचर्य्या सह शाम्भव्याः[29] सम्बन्धो जानीयुः। अत्र शाम्भवीमुद्रायाः संयोग एव खेचरीमुद्रायाः जागरणे हेतु वर्त्तते इत्थं एव नास्ति अपितु उभे परस्परे स्वसम्पूर्णे हेतू वर्त्तेते। अद्यत्वे अस्मिन्विषये भ्रमाधिक्यमस्ति। केचन सन्ति ये चिन्तयन्ति यत् विपरीतगा शब्दत्वात् अनुजिह्वं गमनमेव खेचरीमुद्रा, ते नेत्राभिमर्दनात् दृष्टज्योतिरेव शाम्भवीति मन्यन्ते। अत्र गुरूपरम्परायाः अभाव एव कारणं मन्ये। खेचरीमुद्रायाः प्रारम्भिकप्रक्रियामेवात्यन्तगहनत्वं दृश्यते किमन्यत्। ये गुर्वाज्ञापालनेऽसमर्थाः सन्ति ते तु प्रारम्भिकप्रक्रियायामेव शिथिलन्ति, ये दृढनिश्चयाः, श्रद्धावन्तश्च सन्ति ते एव प्राप्यन्ते इयं प्रक्रिया। छेदनप्रक्रियायाः[30] वर्णनं सर्वेषां कृते न दृश्यते। यतोहि योगपरम्परायां ये साधकाः स्थूलजिह्वावन्तो दृश्यन्ते तान् प्रति एव गुरुवर्या इमान् छेदनादिविषयकनियमान् निर्दिश्यन्ते। अन्यान् प्रति केवलं चालनदोहनमेव पर्याप्तं मन्यन्ते। अत्र कारणं वर्त्तते छेदनात् जिह्वायां काठिन्यं न सम्भविष्यति। ततः कुहरे जिह्वायाः दृढस्थितिः कथं भविष्यति ? अस्मिन् प्रक्रियाक्रमे क्रमशः प्राप्तमहामुद्रात्रिबन्धादीनामपि[31] विशिष्टमहत्त्वं वर्त्तते। मुद्राः क्रमशोऽभ्यासेनाप्यायन्ते। प्रारम्भे सति यदि साधको नित्यं क्रमप्रक्रियाया अनुष्ठानं विधीयते तर्हि निश्चितमेव प्रक्रियायां सारल्यं भविष्यति। खेचरीमुद्रायाः प्रारम्भिकचरणेऽप्यर्धाधिकहोरापर्यन्तं कुहरे जिह्वास्थापनेन विभिन्नरसानामनुभवनं, निद्रादेः अल्पतायामपि किञ्चिद्विश्रामादेव पूर्णप्रस्फुरणञ्च जायते। यदि कोऽपि साधकविशेषः गुर्वाज्ञारीत्येयमनुष्ठीयते तर्हि किमन्यत्। अस्याः फलश्रुतिक्रमे रोगनिद्राक्षुधातृषा-मुर्च्छामृत्यवश्चेति स्थितीनां अतिक्रमणो व्यक्तः[32]।

[29]ह.प., तृतीयाध्याये, श्लो. सं. 36, पृ. 165
[30]ह.प., तृतीयाध्याये, श्लो. सं. 33-35, पृ. 96-97
[31]ह.प., तृतीयाध्याये, श्लो. सं. 6-7, पृ. 85
[32]घे. सं., तृतीयाध्याये, श्लो. सं. 28-30, पृ. 36

प्राणानामूर्ध्वगमनाद् जिह्वायाः कुहरे प्रवेशात् च बिन्दुतत्त्वस्य क्षरणमधोमुखी[33] न भवति। बिन्दो ऊर्ध्वगमनमेव कारणं वर्त्तते विषादेः अप्रभावस्य। अत्र आधुनिकशारीरिकविज्ञानरीत्याऽपि विचारणीयम् - ते कथयन्ति शरीरे वीर्यस्योर्ध्वगमनाय काऽपि स्थितिर्नास्ति। ते चिन्तयन्ति यद्यथा द्रव्यरूपे वीर्यस्य बहिर्दर्शनं भवति तद्वदेव तस्य द्रव्यरूपे एवोर्ध्वगमनमपि भविष्यति, परञ्चेत्थं नास्ति। यथा रसादिधातवः परिशोध्यन्ते, रसो रक्ते, रक्तं मेदे इत्यादि प्रतिक्रमे परिवर्त्तन्ते तथैव वीर्यः ओजोरूपे परिवर्त्तते। अस्य वीर्यस्य ओजोरूपे परिवर्त्तनाय एव योगसाधनायां योगाग्नेर्वैशिष्ट्यं विलसितम्। योगाग्निना एव वीर्यरोजसि परिवर्त्तते। अस्य ओजसः सामान्यतया प्रतिशरीरमूर्ध्वगमनं वर्त्तत्येव परञ्चाल्पतया एव। काव्यादे उदये, शारीरिकश्रमे, विभिन्नक्रियाक्रमे च अस्माद् ओजसः एव शक्तिः (ऊर्जा) सञ्जायते। प्रतिशरीरमस्यां स्थितौ भेदो दृश्यते इयं प्रक्रिया वर्त्तते मुख्यकारणं प्रतिशरीरं कार्यभिन्नस्य। अस्य ओजसो घनीभूतस्वरूपमेवामृतमिति।यथा अत्युष्णजलात् वाष्पः, वाष्पस्य शैत्यतात् शुद्धजलं प्राप्नोति, तथैवात्रापि अग्निसंयोगात् वीर्यात् ओजस उत्पत्तिः, पुनः सहस्रारतः चन्द्रमण्डलादमृतरूपे[34] वर्षति। तस्य योगिनः सम्पूर्णशरीरमेवामृतकुण्डे परिवर्त्तते तेन प्रभावेन तस्य नाशो न जायते[35]। कूर्मपुराणे –

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा।
ये युञ्जते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ॥[36]

अन्यास्तु सर्वे कुलघातकाः जन्मनो वैयर्थ्याद्[37]। यथा सर्वेषां बीजानां मुख्यः ऊँकारो वर्त्तते, यथा सर्वासु अवस्थासु मनोन्मनी मुख्या, यथा निरालम्बकः परमात्मा सर्वेषां देवानां प्रमुखः तथैव सर्वासु मुद्रासु एका मुख्यमुद्रा खेचरीति[38]।

---

[33]ह.प., तृतीयाध्याये, श्लो. सं. 42, पृ. 100
[34]ह.प., तृतीयाध्याये, श्लो. सं. 49, पृ. 102
[35]ह.प., तृतीयाध्याये, श्लो. सं. 45, पृ. 101
[36]ह.प., तृतीयाध्याये, ज्योत्स्ना टीका, श्लो. सं.47, पृ. 102
[37]ह.प., तृतीयाध्याये, श्लो. सं. 47, पृ. 101
[38]ह.प., तृतीयाध्याये, श्लो. सं.54, पृ. 106

पूर्वोक्तखेचर्याः सरलसामान्यप्रतिपादनेन जिज्ञासुजनानां कृते शास्त्रोक्तप्रायोगिकरीत्या विषयः प्रत्यपादि। खेचरीविद्यामन्त्रीय सप्तसप्तकीयस्वरसाधनायाः वर्णनं भिन्नप्रयोग-परिमार्गत्वादवारि। गुरुमार्गनिर्देशे गुप्तप्रयोगपक्षाणामनुशीलनमकारि, अत एवेतदर्थमेव शास्त्रीयशब्दज्ञानेऽपि गुरुमार्गानुसरणायाभिप्रेरि। मुखनासिकायोगकूपे जिह्वायाः प्रवेशनं साधनायाः प्रारम्भेति प्रयोगप्रधानयोगानुशीलकैश्शास्त्रैश्चामानि।

2.1.5 उड्डीयानबन्धमुद्रा

सुषुम्नामार्गे प्राणानां प्रवेशाय विभिन्नमुद्रादिक्रिया अनुष्ठीयन्ते।तासु सर्वासु मुद्रासु त्रिबन्धस्यापरिहार्यप्रयोगो वर्त्तते। तेषु त्रिबन्धेषु प्रथमक्रमरूपे उड्डीयानबन्धस्य हठयोगप्रदीपिकायां वर्णनं वर्त्तते।

बद्धो येन सुषम्नायां प्राणस्तूदीयते यतः[39]।

तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥

अर्थात् येन बन्धेन निरुद्धः प्राणः सुषुम्नायाम् उड्डीयते तस्मात् कारणात् मत्स्येन्द्रादियोगिभि उड्डीयानमाख्येति। सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन प्राण इत्युड्डीयानम्। उत्पूर्वात् डीङ विहायसा गतौ इत्यस्मात्करणे ल्युट्।

5. उड्डीयानबन्धः –

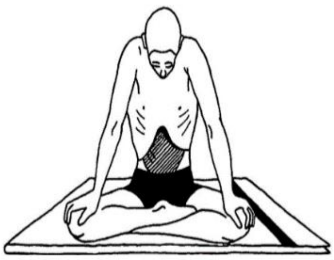

प्रयोगप्रक्रिया – शौचादिक्रियानिवृत्तिपूर्वकं नित्यम् आसनानन्तरम् अभ्यासी प्राणानां प्रवाहे न्यूनत्वं प्राप्य शान्तस्थिते इदं बन्धमनुष्ठीयात्। पूर्णरूपेण बहिर्कुम्भके सम्पूर्णमुदरं पश्चिमभागे आकर्षेते[40]। अत्र अधिकाधिकम् आकर्षणावस्थायां प्रस्थाप्य शनैः शनैः श्वासं पूरयेत्। अन्ते अन्तकुम्भकमाचरेत्। अस्मिन्नभ्यासे शरीरे योगाग्निः प्रवर्द्धते[41]। अग्निप्रवर्द्धनेन[42] शरीरस्थ-

[39]ह०प्र० – 3/55

[40]ह०प्र० – 3/57

[41]शि०सं० – 4/75

[42]शि०सं० – 4/76

विभिन्नकफादिसम्बन्धविकाराणां शमनं जायते। शरीरस्य संरचनायाः कफपित्तवायु इति त्रयाणां विशिष्टसङ्गठनं विशेषतया दृश्यते। शरीरे प्रायः त्रयेष्वेषु एकस्य प्राधान्यं प्रतिशरीरं विभिन्नं कल्पते। यस्मिन् शरीरे कफमभिवर्द्धते तस्य शरीरं स्थूलं अतिपित्रे कृशत्वं वायव्ये समत्वञ्च दरीदृश्यते। परश्चेत्थमेव नास्ति यत् प्रतिशरीरं पूर्वोक्तगुणेषु कदापि परिवर्तनं न जायते। योगाभ्यासक्रमे अग्नेः वर्द्धनेन शरीरे विभिन्नस्तरे परिवर्त्तनं सञ्जायते। तस्य वाचि आमूलं परिवर्त्तते। शरीरे विभिन्नपरिवर्त्तने मुख्यो हेतुः शरीरस्य सारतत्त्वस्य विभिन्नक्रमे परिवर्त्तनं वर्त्तेते। यथा यदि साधको ज्ञानमार्गेऽत्यधिको रमते क्रियापक्षे सामान्यरुचिवान् तर्हि तस्मिन् शरीरे रसतत्त्वे विशिष्टक्रियाशीलत्वेन शुष्कत्वं परिदृश्यते। तस्मिन् शरीरे कृशत्वं सामान्यतया न दृश्यते। अत्र वातयुक्तपुरुषस्याधिकः प्रवृत्तिः कल्पते। अस्तु, उड्डीयान-बन्धस्याधिकोऽभ्यासफलरूपे शरीरे योगाग्निजागरणं शास्त्रे निगदितम्। सामान्यतया इदं ज्ञेयं यत् भवति किं योगाग्निप्रवर्द्धनप्रक्रियायाम् यदा साधको वायोः रेचनं करोति तेन सह पश्चिमं प्रति उदराकर्षणं विधीयते। तर्हि स्वतो मूलबन्ध अर्थात् अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते इति सम्पद्यते[43]। एतेन शरीरे नाभिमण्डले व्याप्तसमानवायोः विभेदनं प्रारभ्यते। अपानस्योर्ध्वगमनं तथा हृदि व्याप्तप्राणस्योधोगमनं भवति। प्राणापानयोर्मेलनमेवाग्निवर्द्धनस्य हेतुः।

केवलोड्डीयानस्यैवाभ्यासात् सम्पूर्णविधेः पूर्णत्वं न सम्भवति।उड्डीयानं प्रति मूलबन्धः यः तु स्वाभाविक एव, जलन्धस्यापि अप्रयोगोऽपेक्ष्यते। मूलबन्धविशिष्टोड्डीयानेन गुदस्थापानस्य सनाभिस्थेन सम्पर्को विधीयते परञ्च विना जलन्धरं प्राणस्याधोगतिर्न भवति। यदि प्राणस्य निम्नगतिर्न भविष्यति तर्हि प्राणापानयोर्मलनन्न सम्भविष्यति। प्रक्रियायाः पूर्वत्वं कथं स्याद् ? अतः त्रयाणां बन्धानाम् एककालाक्रमावच्छिन्नाभ्यासेन लक्ष्यप्राप्तिः सुनिश्चीयते। त्रयाणां बन्धानां तु महत्त्वम् ईदृशं वर्त्तते यत् एतेषु अभावेषु काऽपि मुद्रा न पूर्णयति। यदि

[43]ह०प्र० – 3/61

कोऽपि साधक आसने मुद्रायाः जागरणमिच्छति तर्हि योगपरम्परायाम् एकं विधानं वर्त्तते – तत्र निदेशको गुरुः साधकं प्रति कथयति प्रति आसनं त्रिबन्धविशिष्टाभ्यासनेन मुद्राता सम्प्राप्यते। प्रायो योगोपनिषदां त्रयाणां बन्धानां वर्णनं प्राप्यते एव[44]। सम्पूर्णयौगिकक्रियायाः यदि कोऽपि केन्द्रबिन्दुः वर्त्तते तदस्ति बन्धत्रयाभ्यासेति।

[44]योगकुण्डल्युपनिषत्योगशिखोपनिषत्योगतत्त्वोपनिषत् योगराज्ञोपनिषदादिषु विशेषतः परिदृश्यः।

2.1.6 मूलबन्धमुद्रा

6. मूलबन्धः

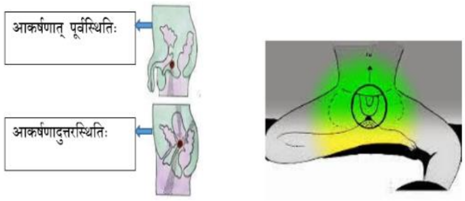

यथा वयं सर्वे अस्मिन् विषये सामान्यतया जानीमो यत् गुदाया अपकर्षणमिति मूलबन्धनं प्रयोगदृष्ट्यानुभवेऽपि एतस्याः स्थितेः स्वरूपं दृश्यते। परञ्च सैद्धान्तिकरूपे तत्र अपानमूर्धमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते इति वचनं सम्प्राप्यते[45]। अत्र विशिष्टं कारणं गुदायाम् अपानस्य स्थानत्वात्[46] सर्वे गुदाया आकर्षणमिति मूलबन्धनं मन्यन्ते।सामान्यरूपेणात्र चिकित्साशास्त्रत्वात् संविज्ञे यत् पाचनादिकार्यं यत्तु उदरे समानप्राणप्रभावात् सम्पद्यते, तस्यापशिष्टमलमूत्रादिशेषपदार्थानां बहिर्गमनम् अपानप्रभावात् सम्भाव्यते। योगस्य प्रायः सकलसाधनाविषयिकाक्रियायां त्रिबन्धस्य विशिष्टमहत्त्वं शास्त्रे वर्णितम्। त्रिबन्धेषु जालन्धर-उड्डियानमूलबन्धनानि शास्त्रे निगदितानि[47]। अस्य त्रिबन्धस्याधारबन्धरूपे मूलबन्धस्य परिगणनं दृश्यते। मानवजीवनस्य व्यवस्थितजीवनयापने स्वास्थ्यं प्रमुखं भजते। धनमानादिसंयुक्तेऽपि रुग्णशरीरस्य क्लेशमिच्छति, कोऽपि न।

शारीरिकस्वास्थ्यसम्प्राप्तये यदि कोऽपि नियोजितविधिना निबन्धस्याभ्यासं समाचरेत्। तस्मिन् शरीरे रोगस्थितेः न्यूनत्वमुत् अभावत्वं संद्रक्ष्यते। सर्वप्रथमं तु मूलबन्धस्य प्रयोगः प्रस्तूयते। सामान्यरूपेण मूलबन्धस्याशयोऽस्ति मूलस्य बन्धनम् अर्थात् वामपार्ष्णिना लिङ्गगुदयोर्मध्ये सञ्चार्यमाणेः सिवनीनाडे अभिभावनं कुर्यात्[48]। तदनन्तरं प्राणविधिना

---

[45]ह०ठ० – 3/61

[46]शि०सं० – 3/07

[47]योगशिखोपनिषद् 101-103

[48]ह०प्र० – 3/61,62

ध्यानमूर्ध्वचक्रे नियोज्य लिङ्गगुदयोर्मध्यस्थानस्य ध्यानसामर्थ्यातपकर्षणमाचरेत्। यदि तु मात्रं गुदायारपकर्षणं विधीयते। तर्हि दीर्घकालिकमूलबन्धस्यानुपालने गतिर्न सम्भविष्यति। अस्तु, प्राणानां विशेषतया अपानप्राणस्य ऊर्ध्वाकर्षणं कथं भवति इति मुख्यः प्रश्नः – अत्र संयमस्य प्राधान्यं वर्त्तते। संयमाद् अधरिन्द्रियाणां संयमो ज्ञेयः। संयमेन इन्द्रियद्वाराणां सङ्कोचनं स्वयमेव दृश्यते। एतस्य प्रभावस्य फलं वर्त्तते चित्तस्य बहिर्विषयान् प्रति रुचिरभावः। यदा स्वाभाविकतया सङ्कोचनं वर्त्ततेऽथेन्द्रिये तर्हि ध्यानविधिना तस्य गुदमेढ्रयोर्मध्यस्थानस्या-पकर्षणं सम्भवति। अभ्यासाधिक्यत्वात् स्वयमेवोड्ड्यादिबन्धनप्रभावेन शक्तेः जागरणं सम्पद्यते[49]। शक्तिजागरणाद् अपानस्योर्ध्वगमनं सम्भवति। इत्थमपि कथयितुं शक्यते यत् शक्तिजागरणस्यापरं नाम अपानोर्ध्वगमनं सम्पूर्णप्रक्रियायाः स्थितिः प्रस्तूयते। सर्वप्रथमं तु अग्निवर्द्धनम् अपेक्ष्यते। अग्निसार[50]नौलिका[51]दिमाध्यमेनाऽस्मिन् कार्ये प्रमुखं साहाय्यं दृश्यते। अग्रिमक्रमे योगाग्निप्रभावात् शरीरे विशिष्टक्रियाशीलत्वं सञ्जायते। शरीरस्थविभिन्ननाडीनां मलनाशनं जागर्त्ति। अत्रैव प्रथमं हठयोगलक्षणानां दर्शनं जायते[52]। योगाग्नेः जागरणस्य हेतुरत्र प्राणापानयोर्घर्षणं वर्त्तते। समानभेदनप्रभावाद् अपानस्य स्वभाविकीप्रक्रियायां भेदत्वं समायाति। तस्य भेदस्य फलं वर्त्तते अपानस्योर्ध्वगमनमिति। एतत्पूर्वम् अपानस्योर्ध्वगमनं सायासो भवति। अभ्यासाधिक्यत्वदा अनायासो भजति। अत्र एका मुख्यक्रिया वर्त्तते तस्या अपि वर्णनमपेक्ष्यते। वस्तुतः सर्वासु मुद्रासु त्रिबन्धानाम् उपयोगोऽपहार्य एव। तथापि यदि प्रत्यासनं त्रिबन्धेन सह विधीयन्ते तर्हि सर्वेषाम् आसनानामपि आसनत्वं मुद्रायते। अत्र कारणं वर्त्तते मुद्राणां स्थितेः। प्रारम्भे एव निगदितं यत् मुद्राया औचित्यं बाह्यतोऽन्ते अन्तरङ्गे वा प्रवेशे साधनरूपे वर्त्तते। यदि आसनैः सह मुद्रायाः साधनभूतत्रिबन्धानां समायोऽज्यन्ते तर्हि मुख्यत्रिग्रन्थिनां भेदेन शीघ्रं साफल्यं सम्भविष्यति। यौगिकगुरूपरम्परायाम् अस्य गुप्तरहस्यस्य

[49]ह०प्र० – 3/60

[50]घे०स० – 1/19

[51]ह०प्र० – 2/34

[52]ह०प्र० – 2/78

वर्णनं श्रुतम्। प्रायः सर्वेषां हठयौगिकग्रन्थानां मुद्राविषयकचिन्तनक्रमे त्रिबन्धस्य महत्त्वं विशेषेणाभिव्यक्तम् इति संदृश्यते। प्राणापानयोरैक्यं मूत्रपुरीषयोः न्यूनत्वे कारणमिति शास्त्रे निगदितम्[53]। मूलबन्धेन शक्तिजागरणं[54] यद् दृश्यते तत्र हेतुः वर्त्तते शरीरस्थप्राणापानयोरैक्यं, ऐक्यं तदेव सञ्जायते यदा समानस्य विभेदनं भवेत्। समानजयात् ज्वलनम् इति योगदर्शने[55] अग्निजागरणे मूलबन्धस्य विशिष्टप्रभावो मन्ये। शक्तिसञ्चयनेऽपि मूलबन्धनमेवाश्रयः।

[53]ह०प्र० – 3/65

[54]ह०प्र० – 3/68-69

[55]यो०द० – 3/40

2.1.7 जालन्धरबन्धमुद्रा

7. जालन्धरबन्धः

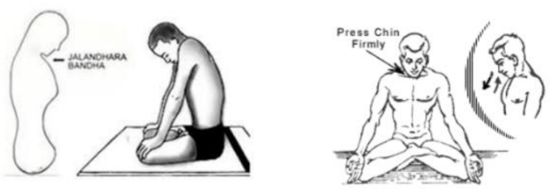

मानवशरीरस्य भागद्वयं सामान्येन शास्त्रेऽभिहितम्। प्रथमो भागः शिरतः कण्ठपर्यन्तं द्वितीयस्य कण्ठादधस्सकलम्। जीवनस्य नियन्त्रणतन्त्रस्थानम् तन्त्रतन्त्रिकेति मस्तिष्के प्रसिद्धम् अन्यनियमानुपालकानां स्थानं सम्पूर्णशरीरमेवेति। योगे शिरात् कण्ठपर्यन्तस्य कृते ब्रह्माण्डशब्दोऽभिहितः शेषस्य कृते पिण्डेति। ब्रह्माण्डपिण्डयोर्मेलनं त्रिग्रन्थिभिः परिरक्षितम्। जीवब्रह्मैकस्थितिसम्प्राप्त्ये योगे त्रिग्रन्थिनां भेदनमभिव्यक्तम्[56]। भेदनं तदेव सम्भविष्यति यदा प्राणापानयोर्मेलनं भवेत्। प्राणापानयोर्मेलनं तदेव सम्भाव्यते यदा समानस्य भेदनं भवेत्। समानस्य तदेव सम्भाव्यते यदा समानस्य भेदनं भवेत्। समानस्य खण्डनं तदेव सम्भाव्यते यदा शरीरे जठराग्निवर्द्धनपुरस्सरं प्राणानामुत चित्तस्यान्तरमुखत्वं भवेत्। सर्वासां यौगिकक्रियाणां मूलोद्देश्यस्तु पूर्वोक्तप्रक्रिया एवास्ति। अस्तु, त्रिबन्धेषु जालन्धरबन्धेन पिण्ड-ब्रह्माण्डयोस्सन्धिस्थले प्राणानां विशेषप्रभावो सञ्जायते। अत्र विशेषप्रभावेन उदानप्राणाः ये तु कण्ठदेशे[57] तैः हृदयस्थप्राणानामभिमर्दय्यते। अस्य अभिमर्दनेन प्राणाः समानं विभज्य अपानेन सह यस्तु मूलबन्धप्रभावेन अधात् ऊर्ध्वं प्रति गमने नियोजितः तेन अपानेन सह प्राणाः सम्मिलन्ति। उदरे उड्डियानबन्धप्रभावेन समानप्राणान् मर्दनं सिद्धमेवास्ति। अस्तु, प्रक्रिया तु स्पष्टमेव वर्त्तते, परञ्च किं कारणं वर्त्तते यत् शास्त्रोक्तफलश्रुतीनां यथार्थत्वं न संदृश्यते। अत्र

---

[56]योगसन्यासोपनिषद् - 116

[57]शि॰सं॰श्लो॰ सं॰ 3/07

मुख्यरूपेण शरीरस्थमलव्याप्तनाडिनां तथा लक्ष्यविषयकोनुदात्तत्वं मन्ये। यदा तु लक्ष्यं वर्त्तते मात्रशरीरिकमानसिकस्वास्थ्यलाभः तर्हि कथं दिव्यदेहविषयकमहालक्ष्यस्य प्राप्तिः सम्भाव्यते।

जालन्धरबन्धे सामान्येन वयं जानीमो यत् चिबुकस्य वक्षे अभिभावनम्। परन्तु यदि चिबुकस्य कण्ठकूपे स्थितिः सञ्जायते तदेवाधिको लाभो भविष्यति इति अनुभवेन ज्ञेयम्। अत्र वैशिष्ट्यं वर्त्तते खेचरीमुद्रायाः।खेचरीप्रभावेन स्वाभाविकतया एव जालन्धरस्य लाभः शास्त्रेऽभिहितः[58]।कारणं वर्त्तते यत् खेचरीमनुष्ठीयमानेऽपि ब्रह्माण्डस्थसोमतत्त्वं नाभिमण्डले सूर्यमण्डले नो क्षरति[59]। जालन्धरेणाऽपि इत्थमेव दरीदृश्यते। सोमस्य सूर्यकुण्डे क्षरणादेव जरामरणादि सम्भवति इति शास्त्रमतम्[60]। अत्र आवश्यकोऽस्ति मुद्रायाः समायोजनम्। यदापि साधकोऽनुष्ठीयते योगं तर्हि विभिन्नासनादिषु त्रिबन्धानामनुपालनं प्राणापानयोर्मेलने सारल्यं सम्प्रदीयते। त्रयाणाम् अभावे यौगिकक्रियायाः पूर्णप्रभावो न सम्भविष्यति इति निश्चितम्[61]। एतस्य एव समर्थनं प्रायः सर्वस्याम् उपनिषद्यभिव्यक्तम्। इदमेव कारणं वर्त्तते प्रायः सर्वत्रैव यौगिकक्रियाव्याख्यानावसरे अन्यान् विहायेऽपि त्रिबन्धानां वर्णने किमपि न्यूनत्वं न दृश्यते।

यौगिकक्रियायाः साफल्यं तु अत्रैव निहितं यत् प्राणापानयोर्मेलनं भवेत्। अस्यां प्रक्रियायां त्रिबन्धस्य विशिष्टयोगदानं भवति। योगस्य प्रयोगपक्षे प्राणानां यदभिरञ्जनं अपेक्ष्यते तस्य प्राप्तिक्रमे बन्धत्रयस्य माहात्म्यं सर्वशास्त्रे स्वीकृतम्। अत्र त्रिबन्धस्य प्रक्रियायां कस्य कदा प्रथमत्वेन गण्यते इति मुख्यप्रश्नः। अस्तु यदा भस्त्रिका अनुष्ठीयते पूर्वे तर्हि सामान्यतया मूलबन्धं पूर्वत एव अपेक्ष्यते। एतदनन्तरम् अन्तःकुम्भकं कृत्वा उड्डीयानसमर्प्य अन्ते जालन्धरेण कण्ठं बध्येत्। उपरितः प्राणानामधं प्रति अधोतोऽपानमुपरि प्रति मानसिकधारणायाः प्रारम्भे कुर्यात्। अत्र मनसा सह प्राणानाम् एकत्वं स्वाभाविकतयानुभूयते इति अनुभवः। अभ्यासक्रमे इत्थमनुभवति यत् काऽपि शक्तिः अधस्तादुपरिं प्रति समायाति।

[58] ह०प्र० – 3/22
[59] ह०प्र० – 3/72
[60] ह०प्र० – 3/77
[61] ह०प्र० – 3/76

तस्याः अभिमर्दनम् अभिभावनं वा समाचरेदिति गुप्तपक्षोऽस्ति अस्या त्रिबन्धप्रक्रियायाः। सर्वेषां बन्धानां प्रामुख्यं निर्वहति जालन्धरबन्धः। प्रामुख्ये हेतु एकैव संदृश्यते यत् अस्य प्रभावाभावे हृदि प्राणानाम् अधोगमनं न सम्भाव्यते। मानवदेहस्य पिण्डब्रह्माण्डयोर्मेलनम् एतस्य महत्त्वं वर्त्तते[62]। सामान्येन वयम् एकरूपेण अस्य स्वरूपं सञ्जानीमः परञ्च यथा अग्रनम्रीविधिनाजालन्धरो मन्यते तथैव स्वाङ्गासनादिक्रमे पश्चनम्रीरूपेऽपि एतस्यैव बोधोऽभिजायते। अस्तु, निष्कर्षेणायं प्रस्तौतुं शक्यते यदि कोऽपि शरीरस्य सर्वेषां धातूनां शोधनमपेक्ष्यते तर्हि जालन्धरेण सहितम् उड्डियानं मूलबन्धश्चानुष्ठीयात्।

[62]ह०प्र० – 3/70-71, घे०सं० – 3/12-13

2.1.8 विपरीतकरणी मुद्रा

शरीररचनायां शशिस्थानम् ऊर्ध्वे सहस्रारे तालुस्थाने वा भानोः स्थानमधो नाभिमण्डले इति योगशास्त्रस्याभिमतम्। विपरीतकरणीतिमुद्राविवेचनक्रमे हठयोग प्रदीपिकायामूर्ध्वन्नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधश्शशीति क्रियास्वरूपं वर्णितम्। तथा चोर्ध्वाधःस्थितयोश्चन्द्रसूर्ययोरधरूर्ध्वकरणेनान्वर्थार्गुरोर्वाक्येनैव लभ्यते इति संकेतितम्[63]। शिवसंहितायां भूतले स्वशिरो दत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयमिति कथितम्[64]। अतः सम्प्रदायभेदेन प्रस्तुतक्रियायाः प्रयोगस्वरूपे भेदो दरीदृश्यते।केचन सर्वाङ्गासनमित्यर्थङ्कुर्वन्ति केचन शीर्षासनमिति मन्वन्ते। परञ्चान्तरिकपक्षे मतैक्यं संदृश्यते।अस्यां मुद्रायां शीर्षासनं सर्वाङ्गासनं वा पुरस्सरं त्रिबन्धं प्रकल्प्य खेचरीमाचर्य्य च प्राणान् विशिष्टत्वेन नियोजयन्ति सर्वे। शीर्षासनं सर्वाङ्गासनं वा नात्यन्तं क्लिष्टं परञ्चास्या मुद्राया आचरणं त्रिबन्धखेचर्यादिप्रभावाज्जटिलायते। अत्र पूर्वोक्तसर्वासां मुद्राणामनुष्ठानान्तरमेव प्रयासो लाभप्रदोन्यथा देहक्लेशकरी एव इति मन्ये। यदा शिरोऽधः क्रियते तर्हि नैसर्गिकप्राणगतिः रक्तप्रभावाच्छिरं प्रति प्रवर्तते। अल्पकाले एव प्राणस्पन्दनत्वादभ्यास अभ्यासात्विरमति। विपरीतकरणीमुद्रार्थं शीर्षासने सर्वाङ्गासने वा खेचरीपुरस्सरं मूलबन्धमुड्डियानबन्ध-जालन्धरबन्धस्य सहाचरणेन शरीरे असहनीयस्पन्दनानि सञ्जायन्ते तस्मात्प्रभावादल्पकाले स्थितिनिर्मितेः प्रागेव क्रिया सम्पद्यते। अस्तु, अत्र कारणं किं वर्त्तते शरीरस्यासहनीयस्थितैः प्रवेशस्येति मुख्या जिज्ञासा।

अत्रेदं सञ्ज्ञेयं यत् शरीरस्य भौगोलिकपक्षे प्राणानां प्रभावाद् सहस्रापक्षतरूर्ध्वतोऽधो रक्तप्रवाहो भवति। इति सामान्यनियमः। अस्यां क्रियायां वयं विशिष्टरीत्या शरीरस्य स्वाभाविकप्रक्रियायां परिवर्त्तनं विधीयते। तस्य प्रभावो भवति शरीरस्य समानप्राणशीघ्रमेव

[63] ह०प्र० – 3/79

[64] शि० सं० 4/69

विभज्यते। शरीरस्थनाभिमण्डले व्याप्तसमानसञ्ज्ञकप्राणानां विभेदनमेव यौगिकसाधनानां प्रारम्भिकप्रभावो वर्त्तते। अस्या अनुष्ठाने शीघ्रतायाः किमपि महत्त्वं नास्ति, प्रारम्भे क्षणमात्रमपि अनुष्ठानं नास्ति, प्रारम्भे क्षणमात्रमपि अनुष्ठानं नास्ति व्यर्थं[65] परञ्च यदि नित्याभ्यासेनास्यां दृढं समायाति तर्हि तं किमपि नास्ति दुर्लभम्[66], गुरुकृपां विना अस्याः यथार्थस्वरूपप्राप्तिः न सम्भाव्यते। अतो यत्नतोऽस्या अनुष्ठानं कुर्यात् गुरुमार्गदर्शने एव। अस्यां क्रियायाम् एका विशिष्टा स्थितिः योगपरम्परायां प्रचलिता अस्ति तस्याः प्रदर्शनमपेक्ष्यते।

विभिन्नयौगिकक्रियायां यथा सर्वाङ्गासने, कर्णपीडासने च प्रायः प्रारम्भिकरूपेऽस्य पक्षस्यानुशासनं दृश्यते। उभयोरासनयोरभ्यासक्रमे त्रिबन्धस्याभ्यासं समाचरेत्। तत्र यदि खेचरी सम्भवति तर्हि सुमङ्गलम् अन्यथा तु तालुं प्रति जिह्वामोट्य सामान्येन दीर्घश्वासनं समाचरेत्। इत्यनेन शीर्षासने स्थितिविषयकसामर्थ्यं भविष्यति। अस्तु सामान्याभ्यासेनाऽपि जठराग्निः प्रवर्द्धते अस्याः क्रियाया अनुष्ठानेन। शक्तिविशिष्टतादिनामधिकप्रयोगेनस्नायौ अशुष्कत्वम्, प्राणेषु बलत्वम् एवं चैतन्यतायाः प्राचुर्यत्वं सम्भविष्यति।

8. विपरीतकरणीमुद्रा

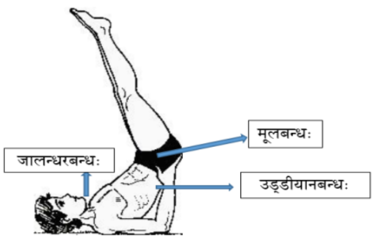

---

[65] ह०प्र० – 3/82

[66] ह०प्र० – 3/82 उत्तरार्द्धम्

2.1.9 वज्रोलीमुद्रा

मानवजीवनस्य विभिन्नोनुद्घाटितपक्षाणामुद्घाटनं दर्शनशास्त्रस्य प्रामुख्यवैशिष्ट्येषु एकं मन्ये। भारतीयदर्शनं जीवनस्य दृष्टादृष्टपक्षेषु अपरार्कतुल्यं तमहारकं दृश्यते। अस्यैव विशिष्टव्यवस्थायाः एकं चैतन्यपञ्जयोगशास्त्रं तत्त्वप्रमाणादिविमर्शेण बौद्धिकस्पष्टतया सह[67] अष्टाङ्गयोगात्मकप्रयोगपक्षं प्रति अभिप्रेरयति। विषयगतबौद्धिकस्पष्टताऽपि प्रयोगविधाया अभावे नास्ति पूर्णम्। अतः श्वासप्रश्वासवत् मीमांसाप्रयोगयोरेकीकरणं मानवचेतनायाः विकासे अपरिहार्यरिति मन्ये।

योगतन्त्रादिशास्त्रेषु अनधिकारिजनैः विद्यायाः दुरूपयोगो न भवेत् एतदर्थं प्रायस्सर्वत्र कूटशब्दानां[68], गुरोपदिष्टमार्गेणेदं करणीयमिति नियमानां निर्देशाः दृश्यन्ते। एते निर्देशाः साधनायां गोपनीयतायाः साधनामार्गस्थानागतविभिन्नक्लेशानाञ्च सङ्केतकाः सन्ति। योगशास्त्रस्य प्रायोगिकग्रन्थेषु महती प्रसिद्धा हठयोगप्रदीपिका प्रायः सर्वेषां योगमार्गिकानां कृते गुरोपदिष्टमार्गेस्य लिखितस्वरूपं मन्ये। ब्रह्मानन्दादिविभिन्नैराचार्यैः जिज्ञासूनां कृते ज्योस्नाख्यादिटीका कृता। निश्चितयैव ताः टीकाः लाभप्रदाः सन्ति। अस्तु, योगसाधनायां ब्रह्मचर्यमहाव्रतम्। एतस्याभावे साधकाः दिग्भ्रमायन्ते। वज्रोलीमुद्रायाः यथार्थस्वरूपं सञ्ज्ञानायायमत्यन्तावश्यको यद् मुद्राप्रकरणिककूटशब्दानां सञ्जानीयात्। सामान्यतया बिन्द्वार्धः पुरुषशरीरस्थनिष्कर्षधातुरिति प्राप्यते, तद्वदेव रजःशब्देन नारीशरीरस्थसारतत्त्वमभिधेयम्। परन्तु विशेषार्थपक्षे मानवदेहस्तु स्वयमेव तात्त्विकवैशिष्ट्य-प्रभावाद् चन्द्रसूर्ययोः इडापिङ्गलयोः, शीतोष्णयोः परस्परसर्वाथाभिन्नयोः युगलीकृत्य स्वरूपो वर्त्तते। प्रति शरीरं स्त्रीपुंसोः तत्त्वयोः युक्तं वर्त्तते। सर्वेषां मानवदेहिकानां नैसर्गिकेदं वैशिष्ट्यं यद् ते सर्वे पृष्ठास्थितो ऋजवः विचारविमर्शशीलाः वाक्युक्ताश्च सन्ति। अस्तु,

---

[67]पा०यो०द०, सा०पा० – सू०स० – 29, पृ०स० - 63

[68]ह०प्र०, उ०स० – 2, श्लो०स० – 24, पृ०स० - 53

वीर्यचन्द्रेडाशीतामृतसोमादिशब्दैः सहस्रस्थचन्द्रमण्डलमभिधेयम्[69]। तथैव रजोरक्तसूर्य-पिङ्गलोष्णतैजसादिना मणिपुरस्थनाभिमण्डलमभिज्ञेयम्[70]। प्रस्तुतद्वयोर्मण्डलयोः स्थितिः स्वाभाविकतयैव प्रतिमानवदेहं भवति। अनयोः द्वयोः विशिष्टतया समायोजनमेव हठयोगशब्देनाभिधीयते[71]। सम्प्रति, अत्र अस्याः वज्रोलीमुद्रायाः समाजे प्रचलितभ्रमपूर्णस्वरूपस्य वर्णनं सहेतुः प्रस्तूयते – आधुनिकसमाजे विषयस्याधारतथ्यान् प्राप्त्ये शीघ्रतायाः, स्वयं गुरुविषयकभावनायाः तथा च धनमानादिप्राप्तये योगशास्त्रोक्तगुप्तविद्यानां भ्रमयुक्तप्रचारो दरीदृश्यते। आहारनिद्राभयमैथुनानि एतानि सर्वाणि कार्याणि पशुभिः समानानि[72]। वज्रोलीमुद्रामिथ्याप्रचारे मैथुनविशिष्टभावानाम् आधिक्यं दृश्यते। स्त्रीपुंसोः परस्परयोः सम्भोगेन योनिमुद्रादिभ्यां प्रतिपक्षकाणां सारतत्त्वस्य वीर्यरजो आकर्षणम् आधुनिकसमाजे वज्रोलीमुद्राशब्देनाभिधीयते। इत्यन्तं चिन्तनीयम्। ते निश्चितैव मूढाः सन्ति ये यौगिकक्रियानाम्नि सम्भोगसुखेन तृप्यन्ते। ते इत्थमपि न चिन्तयन्ति यत् यस्यां शास्त्रपरम्परायां ब्रह्मचर्यस्य पालनाय सर्वे जपतपाद्यनुष्ठीयन्ते, विविधभोजनादिनियमान् परिपाल्यन्ते, स्त्रीसंसर्गनिषेधार्थं प्रायः सर्वेषु स्मृतिशास्त्रेषु एकान्तवासस्त्रीभिः सह निन्दितः निषेधितश्च। अस्य मिथ्याप्रचारस्य विकृतपरिणामोऽपि प्रायः सर्वेषाम् एतस्याः अनुष्ठीयकानामनुभवे सन्दृश्यते। शारीरिकशक्तिक्रमे न्यूनत्वमादिस्थितिः सञ्जायते। धृतिबलवाक्शुद्धभावानामभावत्वं जायते। अस्तु, अत्र एकः प्रश्नोऽस्ति, यदि परस्परयोः सारतत्त्वयोराकर्षणं क्रियते तर्हि भवति किम्? सर्वप्रथमन्तु इति ज्ञेयं यत् सारतत्त्वस्य केन्द्रतो निसरितबिन्दोः पुनः आकर्षणं नास्ति सामान्यम्, प्रायः तस्य तत्त्वस्य स्खलनन्तु निश्चितमेव। यदि नौल्यादिप्रभावाद् यथा जलवायुवस्तिक्रमेजलवायवो अपकर्षणं जायते तद्वदेव क्रियते चेत्

---

[69]शि०सं०, द्वि०प०, श्लो०स० – 7 – 9, पृ०स० - 20
[70]शि०सं०, द्वि०प०, श्लो०स० – 10, पृ०स० - 20
[71]सि०सि०प०, उ०स० – 1, श्लो०स० – 69, पृ०स० - 29
[72]सू०सं०, तृ०अ०, श्लो०स० – 11, पृ०स० - 14

तर्ह्यपि यथा गुदाद्वारतोपकृष्टानां क्षयेन सह जलतत्त्वं बहिः समायाति, तथैव म्रेढ्रतोऽऽकृष्टरजोवीर्यादितत्त्वानां बहिस्स्खलनं निश्चितमेव। यतो हि शारीरिकसंरचना एवमित्थमस्ति यत् मूत्रवाहिनीकया किमपि तत्त्वं मूत्रकोषे समायाति चेत् तस्य मूत्रेण सह बहिर्गमनं भविष्यत्येव इति निश्चितमसन्दिग्धम्। अस्तु, पूर्वोक्तसम्पूर्णवर्णनेनेदं स्पष्टं जातं यद् प्रदर्शितप्रक्रियानुष्ठानेन शक्तिक्षयादधिकमन्यं किमपि न सम्भवति।

अत्र निषिद्धमार्गे ते एव प्रविशन्ति ये न तु सद्गुरुमुखाद् शास्त्रं प्राप्तं नैव यथार्थक्रियापक्षेव ये स्वमनसा शास्त्रार्स्थं कुर्वन्ति, ते पण्डितमन्याः स्वयन्तु भ्रष्टियन्ते अन्यान् सरलान् अपि भ्रष्टयन्ति। वाममार्गो पञ्चमकाराणां यथार्थस्वरूपमपि रूद्रयामलतन्त्रे शिवपार्वतिसंवादरूपे प्रसिद्धं तस्याध्ययनं ततः करणीयम्[73]।

सम्प्रति अस्य भ्रमकारकपक्षस्य हेतुभूतानां निराकरणपुरस्सरं वर्णनं क्रियते – हठयोगप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशे विपरीतकरणीमुद्राया अनन्तरं वज्रोलीमुद्रा प्रतिपादिता। यत्र प्रथमश्लोके 'योगोक्तैर्नियमैर्विना[74]' इति प्रयोगो दृश्यते। तस्यार्थः प्रायः 'ब्रह्मचर्यादिभिर्विना[75]' इति पूर्वाचार्यैः कृतः। इदमेवास्ति प्रथमसोपानं भोगपक्षे प्रवेशस्य। मूलरूपेण ये केऽपि योगमार्गविज्ञाः सन्ति ते जानन्ति यद् योगपूर्णतां, शक्तिजागरणम् ऊर्ध्वगमनं वा विना ब्रह्मचर्येण न सम्भाव्यते।

इत्येवं कारणं वर्त्तते ब्रह्मचर्यन्तु महाव्रतम्। यस्य भग्नं योगसाधनायाः तिरस्कारः मन्यन्ते आचार्याः। दिव्यदेहात्मकमहाल्लक्ष्यस्य प्राप्तये राजयोगसिद्धये ब्रह्मचर्यानुष्ठानमपरिहार्यरिति निष्कर्षः।

---

[73]रु०त०, ज्ञानमार्गोक्तपञ्चमकारस्तोत्रम्, पृ०स० - 87

[74]ह०प्र०, उ०स० – 3, श्लो०स० – 86, पृ०स० - 117

[75]ह०प्र०, उ०स० – 3, श्लो०स० – 86, पृ०स० – 117, ज्योत्सासंस्कृतटीका

पूर्वोक्त 'योगोक्तैर्नियमैर्विना'पदस्यार्थं वेत्तुं ग्रन्थस्य प्रारम्भे व्यक्तदशनियमाः[76] पुनः सन्दर्शनीयाः। मुद्राणामनुष्ठियात् क्रमेण[77]। दशमुद्रासु वज्रोलीमुद्राष्ठतमे स्थले वर्णिता। एतत्पूर्वं महामुद्रामहाबन्धमहावेधखेचरीत्रिबन्धविपरीतकरणीयादिदिव्यमुद्राणामनुष्ठाता खलु तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनादिसामान्यनियमान् उच्चस्तरे प्रवेशाद् बाह्यदृष्टितो गृहित-अनुष्ठानविध्यात्मनियमैर्विनाऽपि सहजावस्थात्मकमहालक्ष्यं प्रति प्रवर्त्तते। सामान्येनाऽपि योगबन्धकेषु नियमग्रहं[78] गण्यन्ते आचार्याः। तत्रास्यार्थः स्नानादि प्रातस्स्नानादीति कृतराचार्यैः।

अस्मिन्नेव क्रमे –

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी[79]॥

अत्र क्षीरस्यार्थः चन्द्रमण्डलाद् स्रवितसोमसलिलं तथा च नारीतः साधनायाः उच्चावस्थायां सबीजसमाधिक्रमे दिव्याङ्गनानां ग्रहणमपेक्ष्येते। महर्षिविश्वामित्रमेनकयोः प्रसङ्गे सबीजसमाधिनः तथा च महामुनिशुकदेवरम्भायोः प्रसङ्गः महामुनेः निर्विकारचित्ते कस्यचिद् प्रकारस्य विकारोत्पन्ने असमर्थत्वाद् निर्बीजसमाधिनोऽनुपमोदाहरणं मन्यते[80]।

तन्त्रयोगशास्त्रोक्तप्रच्छिन्नरहस्यानां व्याकरणेनोद्धाटका अपूर्णाचार्याः समाजे विचित्रस्थितिरुत्पादिताः, यस्य बौद्धिकतया विभेदनं तद्वदेव यथा कल्पनायां सरिततरणम्। आचार्याणां पक्षद्वयं सन्दृश्यते – एकस्तु पूर्णाचार्यः, अपरस्तु अपूर्णः। पूर्णाः ते सन्ति ये गुरुमुखाद् शास्त्रं सम्प्राप्य, सद्गुरोः मार्गदर्शने योगोनुष्ठीयन्ते स्म प्राणोत्थानपूर्वकसमाधिपर्यन्तम्। अन्यास्तु ते ये व्याकरणादिना योगतन्त्रोक्तश्लोकानां ममोद्धाटने रताः सन्ति स्म।

---

[76]ह०प्र०, उ०स० – 3, श्लो०स० – प्रक्षिप्तत्वात् - 2, पृ०स० - 17
[77]ह०प्र०, उ०स० – 3, श्लो०स० – 6 - 7, पृ०स० - 85
[78]ह०प्र०, उ०स० – 1, श्लो०स० – 15, पृ०स० - 16
[79]ह०प्र०, उ०स० – 3, श्लो०स० – 84, पृ०स० - 118
[80]ह०प्र०, योगाचार्यस्वामीकृपाल्वानन्दः, पृ०स० - 172

प्रवृत्तिमार्गसम्पोषकवद् भोगयोगयोः सुगमत्वं प्रतिपादितं योगतन्त्रैः। ते अनुभवपरिपाकाः सन्ति। सामान्येन ते किञ्चिद् प्राणोत्थानान्ते धनमानादिषु वैराग्यमुमुक्षायाः तीव्रताभावाद् रतितवन्तः। योगयुक्त्याभावाद् स्त्रीयुक्तवज्रोलीमुद्रायाः प्रचलनं वामपन्थे आचार्यैरनुष्ठितम्।

स्वामिकृपाल्वानन्दैः हठयोगप्रदीपिकायाः व्याख्याने एतानाचार्यान् प्रति निगदितं यत् 'ते इदं न जानन्ति स्म यद् सहजयोगस्य यस्साधकः स्त्रीमवलम्बयते तस्य सहजखेचरी न सिद्ध्यति। विना सहजखेचरीं योगी नोर्ध्वरेतसाः भवितुमर्हति। ये इदमपि न जानन्ति स्म भोगासनाद् योगासनं सर्वथा भिन्नं भवन्ति[81]।' भोगासनानि अपानोर्ध्वगमने बाधकाः सन्ति। बिन्द्वोः स्थैर्यं एतैस्सहासम्भाव्यते। सम्पूर्णपूर्वोक्तेनायं स्पष्टो जातो यत्समाजे व्याप्तवज्रोलीमुद्रा एका भ्रमरूपा पथभ्रष्टकारिकाः, एतदन्यं किमपि नास्ति तस्याः फलम्। मूलरूपेण वज्रोलीमुद्रायाः तात्पर्यम् अधोगामी अपानवायोः योगयुक्त्या ऊर्ध्वगमनमेव।

सत्प्रयोगो तदेव सम्भाव्यते यदा वैज्ञानिकतया पूर्णप्रयोगोद्देश्यकं व्याख्यानं भवेत्। यदा लिखिततथ्यानां यथार्थोपदेशनं नो भविष्यति तर्हि कथं प्रयोगः साफल्यते। अस्तु, लिङ्गस्थमूत्रमार्गस्य शोधनं फुत्कारैः शास्त्रे निगदितम्। जलतैलादिनामपकर्षणमपि क्रियते। इयमेका सामान्या प्रक्रिया। यथा वस्तिना उदरस्थदीर्घान्तस्य शोधनं विधीयते। अग्रिमक्रमे श्लोके व्यक्ते नारी भगे इत्यादिके शब्दविन्यासे अर्थविषयको भ्रमः सञ्जायते[82]। अत्र नारीशब्देन तात्पर्यं 'नाडी' एवञ्चभगशब्देन सीवनी सञ्ज्ञेया[83]। सीवनीनाडी अर्थात् वीर्यस्य बहिरागमनस्य मार्गः। सीवनीनाडीस्थसारतत्त्वस्य त्रिबन्धावस्थिते सति खेचर्यादिना मुद्राभिः सह योगाद् प्राणान् ऊर्ध्वमाकृष्येत्। अयमपि प्रारम्भिकः पक्षः। अस्याचरणं साधकानाम् अग्रिमसाधनाक्रमे सहायको वर्त्तते। मूलरूपे शरीरस्थचन्द्रमण्डलाद् स्रवितसोमसलिलं

---

[81]ह०प्र०, योगाचार्यस्वामीकृपाल्वानन्दः, पृ०स० - 173

[82]ह०प्र०, उ०स० – 3, श्लो०स० – 87, पृ०स० - 120

[83]ह०प्र०, योगाचार्यस्वामीकृपाल्वानन्दः, पृ०स० - 180

खेचर्यादिविशिष्टमुद्राभिः सह नाभिस्थाग्निकुण्डे क्षरणात् संरक्षयेत्। विपरीतकरण्यामिदं स्पष्टव्यक्तम्। अस्तु, अग्रिमश्लोके शरीरस्थचन्द्रमण्डलावस्थितबिन्दोः संरक्षणं जीवनं तथा च तस्य क्षयः मृत्व्वेति कथितम्[84]। अत्र स्पष्टतयेदं सञ्ज्ञेयं यद् सारतत्त्वस्योजोरूपे ऊर्ध्वगमनं पवनजयादेव सम्भाव्यते। विना पवनजयेन शक्तेः नाभिकुण्डे पतनं नोऽवरूध्यते। एतस्याभावे यया कयापि रीत्या सारतत्त्वस्य प्राणवासनायोः प्रभावेण क्षयेति निश्चितः[85]। योगचूडामण्योपनिषदि शरीरस्थबिन्दुरजोः सङ्गमः परमपदस्य मार्गो निगदितः[86]। सम्पूर्णप्रकरणे शुक्रक्षयस्य निन्दा निगदिता। परञ्च तदापि जनाः कथं कुमार्गायन्ते इति चिन्तनीयः प्रश्नः। चित्ते विषयवासनायाः सञ्चाराभावे पुरुषस्थसारतत्त्वस्य क्षरणं न जायते। वासनाप्राणयोः किमप्येकं निरोधेन चित्ते स्थैर्यं सञ्जायते।

सहजोलीमुद्रायाः वर्णने सामान्यार्थे इत्थमनुभवति यत् रत्यन्तरं गोमयभस्मेनाङ्गाभिमर्दनं कुर्यात् परञ्च तत्रेत्थं सञ्ज्ञेयं यद् रतिक्रीडा अर्थात् प्राणापानयोः सङ्घर्षणम्, तदनन्तरं सोममण्डलाद् स्रवितामृतपानमिति गो अर्थात् खेचरीमुद्रया पिबेत् इति विशेषार्थः। ओजोरूपे शक्तिः अग्निप्रभावाद् ऊर्ध्वं गत्वा चन्द्रमण्डलाद् समाहननेन शीतलं भूत्वा द्रव्यरूपे स्रवति। तस्यामृतस्य भस्मीकरणं तदेव सञ्जायते यदा जिह्वातः किञ्चितमृतं नाभिकुण्डे पतेत् यत्तु स्वाभाविकी प्रक्रिया एव। अग्निमयावस्थितकुण्डेऽमृतस्यावतरणं साधकस्य शरीरं दिव्यतामुपेति अमरोलिसहजोल्योः उभयोः वज्रोलीमुद्रायाः सहायिके क्रिये स्तः।

यस्याः प्रारम्भिकोऽभ्यासस्तु सम्भाव्यते परञ्च पूर्णता तु सतताभ्यासेश्वरप्रणिधानाधिनञ्चेति[87] मन्ये।

---

[84]ह०प्र०, उ०स० – 3, श्लो०स० – 88, पृ०स० - 120
[85]ह०प्र०, उ०स० – 4, श्लो०स० – 22, पृ०स० - 159
[86]योगचूडामण्युपनिषद्, श्लो०स० – 61 – 62, पृ०स० - 121
[87]प्रह्लादजानी, Hindi.webduniya.com

अमरोल्यां 'नस्यं' पदस्यार्थः – चन्द्रमण्डले ध्यानावस्थिते सति प्राणान् खेचर्या संयुक्तं भूत्वा ऊर्ध्वाकर्षणमाचरेत्। यत्तु नास्ति अत्यन्तं सरलम्। अस्यां वायुनेतिः सहायिका वर्त्तते। आधुनिकयुगेऽपि अस्याः क्रियायाः समुपासकाः सन्ति। प्रह्लाद् जानी 'चुनरी वाले बाबा'[88] गुजरातप्रदेशे अस्याः क्रियायाः प्रभावाद् नैकवर्षतो अन्नजलादिभिर्विनापि स्वस्थः वर्त्तते। नैकचिकित्सकीयपरीक्षणेनेदं प्रमाणितं यद् तेषां शरीरे निर्मितमूत्रस्यादृष्टशक्त्यावशोषणं सञ्जायते। चिकित्साविज्ञानं तु आश्चर्यान्वितं परञ्च योगशास्त्रस्यास्मिन् विषये स्पष्टमतं तत्तु अमरोलिसहजोलीविशिष्टवज्रोलीप्रक्रियायाः प्रभावेति। मूलरूपेणात्रामरोलिक्रियायाः प्रभावो मन्ये। शरीरस्थचन्द्रसूर्ययोः मन्थनेनैव इदं शरीरं योगाग्निमयं सञ्जायते।

रामालिङ्गममहावतारबाबादि एतस्य ज्वलन्तोदाहरणानि सन्ति। अतः वक्तुं पार्यते यदिदं शरीरमनन्तसम्भावितपक्षाणां प्रयोगालयेति । प्राणानां बहिर्गमनं विभिन्नरीत्यान्तरमुखत्वं सम्प्राप्य नवसम्भावितपक्षाणां विचित्ररूपान् व्यापकत्वेन प्रभावितुमर्हति।

वज्रोलीक्रियायां प्राणानां स्वाभाविकक्रमभङ्गे सति प्राणापानयोः संयोजनेन समानप्राणस्य विभेदनेन च नवीनशक्तिसञ्चाराद् स्वयमेव बहिः साधनान्नादिभिर्विनाऽपि मानवशरीरं शक्तिसम्पन्नं भवितुमर्हति। साधनाक्रमं प्रारम्भिकस्तरे अमरोल्याः प्रारम्भिकसाधनविधया संयोज्य प्राणेषु विशेषक्रियाशीलतया समानभेदनस्याभ्यासे योग्यगुरुणा मार्गः सञ्ज्ञेयः।

मूत्रत्यागे मूत्रस्यान्तरिकगतिं विभेद्य ध्यानेन गतिविरामोऽवश्यमेव प्रारम्भिकस्तरीयामरोल्याः साङ्केतिकरूपं मन्ये। अन्यान् पक्षान् ज्ञानं गुर्वाधीनम्।

निष्कर्षः – पूर्वोक्तसम्पूर्णविवेचनस्य निष्कर्षो वर्त्तते यत् ब्रह्मचर्यव्रतमनुष्ठीयैवापानप्राणस्योर्ध्व-गमनं भविष्यति, संयमेन चित्ते विद्यमानाः वासना अपक्षीयते। वैराग्यमाश्रित्य गुर्वाज्ञां सम्पाल्य,

---

[88]यो॰द॰, स॰पा॰, सू॰स॰ – 1, पृ॰स॰ - 19

दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारपूर्वकं क्रिया सेवनीया। श्रुतं दृष्टं वा क्रियामनुपालनं विना गुरुणा कष्टकारी एव।

9. घेरण्डसंहितानुसारिवज्रोलीमुद्रा

विशेषः – घेरण्डसंहितां व्यतिरिच्य अन्यत्र योगपरम्परायां त्रिबन्धसहितः प्रदर्शितविधिः प्राप्यते।

2.1.10 शक्तिचालनमुद्रा

विविधशक्तिजागरणविधौ शक्तिचालननाम्नीयं मुद्रा योगशास्त्रीयप्रयोगपक्षस्य न तु केवलाऽत्यन्तागुप्ता मुद्रा अपितु खलु निवृतिमार्गमभिलक्ष्य साधकानां कृते योगसिद्धिदा मन्ये। शक्तिशब्देन वीर्यरजसोरभिग्रहणञ्चालनेन तयोरूर्ध्वगमनमभिजानीयात्। योगशास्त्रीयप्रयोग-पक्षस्याधारङ्कुण्डलिनीशक्तिजागरणमिति विद्वद्भिरभ्यासिभिः शास्त्रैश्चाङ्गीकृतम्।

अभ्यासिनः त्वरित् शक्तिजागरणप्रक्रियायामस्याः मुद्रायाः गुरुनिर्देशे परिपालनं विशिष्टप्रभावशालि मन्यन्ते। प्रयाशोऽस्याः मुद्रायाः सैद्धान्तिकप्रक्रियापक्षस्य स्पष्टविवेचनं नो दृश्यते। अनेनैव शक्तिचालनमुद्रायाः गोप्यत्वं वैशिष्ट्यञ्च परिलक्ष्यते। अस्तु का नाम कुण्डलिनी? मूलाधारस्थितशक्तिविशिष्टा । सर्वेषां जनानां शरीरे उत् बहिरपि शक्तिकेन्द्रस्य स्थितिः वर्त्तते। महाविद्यायारुपासनाविधौ श्रीयन्त्रस्य यत् स्वरूपं वयं दृश्यामहे तत्र विभिन्नक्रमिकचक्राणां स्थितिस्सन्दृश्यते। तत्रैव भूपुरे चतुष्कोणात्मकशक्तिपिण्डस्य स्वरूपमवलोक्यते। यथा बहिः श्रीयन्त्रस्य स्थितिः तथैव 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' इत्यनेन सिद्धान्तेन परिपुष्टपक्षदृष्ट्या शिवलिङ्गरूपेदं शरीरमभिकल्प्य शिवशक्त्योरभेदत्वात् शिवलिङ्गात्मके शरीरे श्रीयन्त्रशक्त्याः स्वरूपमभिकल्पनीयात्। यथा सूक्ष्मात्स्थूलं सञ्जायते, एतद्विपरीतमेव प्रतिप्रसवो भवति तथैवात्रापि शरीरस्थश्रीयन्त्रात्मकशक्तिपिण्डे महाबिन्दुतो बिन्दुत्रिकोणाष्टकोणान्तर्दशारबहिर्दशाश्चतुर्दशाराष्टदलषोडशदलभूपुरपर्यन्तमावरणानां स्थितिः सञ्जायते। उत्तमाः साधकाः स्वशरीरे एव श्रीयन्त्रं निधाय साधनामनुष्ठीयन्ते। अत्र यथा शरीरस्थानैः सह चक्राणां सम्बन्धानि सन्ति तथैव शरीरस्थानचक्राभ्यां सह श्रीयन्त्रस्थस्थानां मन्त्राणाञ्च विशिष्टसम्बन्धः शास्त्रे निर्दिष्टो वर्त्तते। चित्रमङ्कनीयम्

अत्र मूलाधारे अष्टदलसर्वसङ्क्षोभणचक्रस्य 'ऐं क्लीं सौः' इति मन्त्रस्य त्रिपुरसुन्दरीं सम्पूजनाय शास्त्रे वर्णनं प्राप्यते। एतदनन्तरं षोडशदलभूपुरस्य अधोदेशात्यधोदशयोर्वर्णनं दृश्यते। अत्र वैशिष्ट्यं वर्त्तते यत् कारणदेहात् सूक्ष्मस्याभिप्रेरणं, सूक्ष्मदेहाद्

स्थूलाभिप्रेरणञ्चादर्शनीयात्। उत्पत्तिक्रमे महाबिन्दौ साधकदेहे अनुद्भूतावस्थितानि बिन्दुतो भूपुरपर्यन्तं दशावरणानि महाबिन्दुतरेव क्रमेणोद्भूता भवन्ति। संहारक्रमे साधकशरीरे एव विपरीतरीत्या भूपुरतो महाबिन्दुपर्यन्तम् उत्तरोत्तरसूक्ष्ममण्डलेषु लीयन्ते। शाक्ततन्त्राश्रितानेन वर्णनेन मूलाधारतोऽपि अग्रे अधोदेशात्यधोदशयोर्ज्ञानं भवति। योगस्योपकारकरूपेणेदं तन्त्रशास्त्रमिति सर्वे स्वीक्रियन्ते। यथात्र वयं दृश्यामहे सम्पूर्णक्रमिकस्वरूपन्तद्वेवयोगशास्त्रेऽपि सङ्कल्पेम।

योगसाधनायां साधकदेहेऽपि परस्परविभिन्नाः स्थितयः सन्दृश्यन्ते। सर्वेषां साधकानां साधनाप्रक्रियायां वैविध्यं भवति। केचन तु ज्ञानावलम्बत्वात् कारणशरीरात् सूक्ष्मं प्रति अभिचरन्ति, केचन क्रियाप्रभावाद् सूक्ष्माद् स्थूलं प्रति विलसन्ति। अत्रेदं ज्ञेयं यत् साधनायाः प्रारम्भस्तु कारणशरीरात् किञ्चिदभिप्रेरणत्वात् सूक्ष्मस्तरे एव प्रारभ्यते। इत्थमपि भवितुं शक्यते यद् सूक्ष्मस्तरीयक्रियाप्रभावात् साधकः स्वस्थूलदेहे विचित्रमनुभवेत्। अत्र गुरुकृपां विना साधकस्य प्रायो गतिरनुरुध्यते। मूलतोऽयं योगस्य प्रारम्भोऽपि नास्ति। इयं स्थितिः सामान्यतया प्राणानामभिरञ्जनं मात्रमेव बुध्येत्।

पूर्वे वर्णितमुद्राणामनुष्ठीयमाने सति शक्तिः जागर्ति, तर्हि शक्तिचालनमुद्रायारनुष्ठानस्योद्देश्यं किमिति मुख्यः प्रश्नः? अत्र जानीमो वयं यद् साधनाया आरम्भस्तु प्रति साधकं शरीरे नैकरीत्या सम्पद्यते, यथा तु पूर्वे निर्दिष्टमेव। तदापि खलु सामान्यतया शक्तिजागरणन्नातिसरलम्, अत्र विभिन्नस्तरीयभौतिकमानसिकात्मिकस्थितीनां महत्त्वं वर्त्तते। शक्तिजागरणे प्राणानामूर्ध्वगमनं तदेव सम्भाव्यते यदा साधकानां पूर्वोक्तस्थितित्रये सर्वमनुकूलयेत्। अर्थात् भौतिकस्तरे मानसिकात्मिकस्थितिप्रभावात् शोधनं, नैरोग्यमादि भवेयुः। ब्रह्माण्डव्याप्तसिद्धान् गुरुकृपाश्च वर्षेताम्। यावत्पर्यन्तमियं स्थितिः न साधके उत्पद्यते तावत्पर्यन्तं तु विभिन्नयौगिकपक्षीयक्रियाणामनुष्ठानमपरिहार्यमिति मन्ये। अत एव शक्तिचालनात्परं पूर्वोक्तमुद्राणां परिपालनं शक्तिचालने सहायको दृश्यते। परञ्च

इत्थनास्ति यत् पूर्वोक्तानां मुद्राणामभ्यासेनैव शक्तिर्जागृयात्। प्रचण्डरूपेणाधस्सुप्तकुण्डलिनीं प्रबोधायास्याः शक्तिचालनमुद्रायाः गुप्तरीत्या वर्णनं प्राप्यते। अत्रैका शङ्का इयमपि भवितुं शक्यते यत् यदि अनया एव शक्तिर्जागर्ति तर्हि कथन्न एतस्यारेवानुष्ठीयात्? अन्याः किं प्रयोजनम्? यथा भित्तिमूलं विना भित्तेः निर्मितिर्नैव शोभ्यते अस्थिरत्वात् तद्वेवात्रापि पूर्वोक्तानां मुद्राणामभावे शक्तिजागरणविषयकतीव्रतायाः सहनं नैव सम्भाव्यते। यतो हि शक्तिजागरणे सम्पूर्णदेहेऽसह्य पीडा स्पन्दनानि वा सम्पद्यन्ते। तस्यां स्थितौ आत्मिकमानसिकशरीरिके स्तरत्रये पूर्वोक्तमुद्राणामभ्यासादुत्पन्नसामर्थ्यमेव साधकं त्रायते।

आधुनिकसमाजे प्रायः प्रारम्भिकप्राणोत्थानं कुण्डलिनीजागरणमभिकल्प्य मानसिकस्तरे तुष्यन्ते, देहे रोगास्सन्ति, मनसि रागद्वेषादि सन्ति तदपि ते मन्यन्ते मम शक्तिस्तु प्रबोधिता। ते इत्थमपि नावगम्यन्ते यस्याः जागरणं सर्वान् क्लेशान् दहति, यस्मात् प्रभावात् सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः भवन्ति, यस्या अनन्तरं महायोगस्सम्पद्यते, तस्याः कृपावर्षां प्राप्य दैहिकमानसिकादेर्दोषान् किं न नंस्यन्ते। यथा प्रसवान्ते नारी भारमुक्तिमनुभवति तथैव शक्तिजागरणे परोक्षानुभूतिर्जायते। अत्र शङ्कास्थलमेव नास्ति।

सम्प्रति मया शक्तिचालनस्य स्वरूपं प्रस्तूयते। अत्रेदं बुद्धौ निधाय पठनीयं यद् प्रायः सर्वेषु सम्प्रदायेषु प्रक्रियायाः बहिः प्रकल्पे भेदौ दरीदृश्यते। तत्र गुरूपरम्परा मुख्यहेतुरिति मन्ये।

सर्वप्रथमन्तु शक्तिचालनस्य वास्तविकस्थितिः काऽस्ति? मया पूर्वे एव कथितं यत् सारतत्त्वस्य ऊर्ध्वगमनमेव शक्तिचालनेनावबोध्यम्। यदा वीर्यग्रन्थिरजोग्रन्थिश्च बहिःस्रावस्वरूपकत्वं परित्यज्यान्तःस्रावी भवतः तदेव ऊर्ध्वगमनं प्रचलति। अत्र प्राणानां स्थितिरपि परिवर्त्तते। अपानं पूर्वमार्गमभित्यज्य पश्चिममार्गे परिवहति। अत्र भस्त्रिकाप्राणायामस्य वैशिष्ट्यं सर्वेषु सम्प्रदायेषु एकस्मिन् रूपे एव परिलक्ष्यते।

हठयोगप्रदीपिकायां शक्तिचालनमुद्रावर्णनक्रमे आचार्यैरुक्तं यत् –

प्रपूर्वं सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया।[89]

अत्र परिधानयुक्त्या पदस्य व्याख्या कृपाल्वानन्दाचार्यैं एकान्तं कृतम्। सूर्याकुञ्चनेनात्र नाभौ सूर्यस्य आकुञ्चनं मूलबन्धवज्रोल्युड्डियानपश्चिमोत्तानासनपूर्वकं भवितुं शक्यते। अयं प्रयोगोत्यन्तो भयजनकः प्रतीयते, यतो हि अस्यां प्रयोगावस्थायां मृत्योरूपस्थितिर्नैरन्त्यं प्रचलति। तथापि योगयुक्त्या योगगुरुमार्गदर्शनावलम्बनेन साधकोऽस्याः क्रियायाः निर्भयतापूर्वकं सार्धहोरापर्यन्तम् अभ्यस्यति।

शरीरस्थसारतत्त्वस्योर्ध्वगमनमेव शास्त्रे कुण्डलिनीशब्देन व्यवह्रियते। तस्याः शक्तेः जागरणाय यो मार्गः सर्वेषां शास्त्राणामाधारो वर्त्तते तस्याः जागरणे विचित्रस्वरूपाणां प्रयोगपक्षे दर्शनं भवति। यथा वयं जानीम इदं शरीरं बहुविचित्रतथ्यान् स्वकीये अन्तर्भूय सर्वेषां जनानां कृते विस्मयकारकं वर्त्तते। अस्मिन् शरीरे सम्पूर्णब्रह्माण्डस्य स्थितिः आचार्यैः मन्यते। तैः मुक्तस्वरैः स्वीक्रियन्ते यत् इदं शरीरं सम्पूर्णब्रह्माण्डस्य रहस्यज्ञाने प्रमुखं सोपानम्। ये अत्र अन्वेषयन्ते ते स्वाभाविकतया एव सर्वेषां रहस्यानां ज्ञानं हस्तामलकवत् प्राप्यन्ते। सम्प्रति हठयोगप्रदीपिकादृष्ट्या शक्तिचालनमुद्रायाः प्रयोगस्वरूपं निगद्यते। शरीरे कन्दस्य स्थानं वर्त्तते, कन्देनात्र केन्द्रविशेषः सञ्ज्ञेयः। तस्य केन्द्रस्याडोलनेन शक्तेः स्पन्दनानि परिवर्द्धन्ते। तस्य कन्दस्य स्थानविषये गोरक्षनाथाः स्वकीये शास्त्रे सङ्केतं कृतवन्तः। गोरक्षशतके ऊर्ध्वं मेढ्रदधो नाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत्। अर्थात् लिङ्गादुपरि तथा च नाभेरधः वितानानामण्डसदृशकन्दस्य स्थितिः वर्त्तते। ततः नाडयः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः। याज्ञवल्क्यः – गुदात्तु द्वयङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्वयङ्गुलादधः अर्थात् गुदास्थानात् द्वयङ्गुलमूर्ध्वं तथा च मेढ्रात् लिङ्गात् द्वयङ्गुलादधः कन्दयोनेः स्थानं वर्त्तते।

उपर्युक्तपक्षद्वयस्य निष्कर्षराचार्यैः निर्देशितो तदस्ति, मूलस्थानादूर्ध्वं चतुरङ्गुलं दीर्घं, मृदुलं, शुभ्रं वेष्टितम् अर्थात् वेष्टनाकारीकृतं यदम्बरं वस्त्रं तस्य कन्दस्य स्वरूपं ज्ञेयम्।

---

[89] ह०प्र०, श्लो०स० - 112, पृ० 195

कन्दस्य स्थानज्ञानानन्तरं सम्प्रति अग्रमिकक्रिया प्रस्तूयते। वज्रासनेऽवस्थिते सति कराभ्यां पादौ दृढं धारयेत्। गुल्फदेशसमीपे च कन्दं वर्त्तते तं पीडयेत्। अत्र वज्रासनेन सिद्धासनस्य ग्रहणं करणीयमन्यथा सम्पीडनं नैव सम्भविष्यति। यौगिकोपनिषत्सु वज्रासनशब्देन सिद्धासनस्य वर्णनं प्राप्यते। गुप्ताय आचार्यैरत्र वज्रासनशब्दात्मकं कूटं प्रस्तुतमिति मन्ये।

सम्पीडनानन्तरं कुण्डलीं चालयेत्। अत्र प्रक्रियास्पष्टत्वं वर्त्तते। अत्र आचार्यैः कीदृशं चालनं करणीयमिति न व्यक्तः। अस्तु, प्राचीनयोगपरम्परायाम् एतस्य गुप्तस्थलस्य विस्तृतवर्णनं प्राप्यते। पूर्वापरसंयोजनाय तस्याः प्रक्रियायाः वर्णनं क्रियते। अस्मिन् स्थले यद् साधको व्यवस्थितपूर्वोक्तनवमुद्राणामनुपालनपूर्वकं समायाति तर्हि तस्मिन् देहे स्वयमेव विशिष्टस्पन्दनत्वात् वक्ष्यमाणाल्पप्रयासेनापि विचित्ररञ्जनं सम्पद्यते। यदा अनुष्ठाता सिद्धासनं समाचर्य कराभ्यां पादौ धारयते तस्मिन् समये त्रिबन्धपूर्वकं कुम्भकम् आचरति। तेन एव स्वयमेव शरीरस्थप्राणेषु विचित्रकम्पनातिरेकत्वं संवर्द्धते। अस्मिन् स्थले अल्पप्रयासेनैव शरीरे दादुरवृत्तिः जागर्ति। अत्र मूर्च्छा स्थितिरपि जायते। गुरुकृपाप्रभावात् साधकस्य अस्यां स्थितौ दृढत्वं भवति। कुम्भकस्य पूर्णता केवलकुम्भके वर्त्तते, तस्मिन् प्रवेशाय इतो मार्गो योगाचार्यैः मन्यते। सम्प्रति ग्रन्थस्थसाङ्केतिकपक्षस्य योगपरम्परायां प्राप्तरीतिद्वारा वर्णनानन्तरं पुनो ग्रन्थस्थशब्दान् व्याख्यामि।

कुर्यादनन्तरं भस्त्राम् अर्थात् त्रिबन्धात्मकस्थितौ कुम्भकाचारणान्तरे सति भस्त्रिका-प्राणायाममाचरेत्। अत्र स्पष्टतया ज्ञेयं यद् भस्त्रिकाया अनुष्ठानम् अत्र केवलकुम्भके प्रवेशाय एवास्ति। यतो हि केवलकुम्भकेन एव वक्ष्यमाणफलश्रुत्याः प्राप्तिः सम्भवति।

भानोराकुञ्चनं कुर्यात् इत्यनेन सङ्केतविधिना सम्प्रति आचार्यैः त्रिबन्धीयोड्डीयानबन्धस्य वर्णनं क्रियते।दीर्घकालनैरन्तर्याभ्यासाद् साधकस्य प्राणाः पश्चिममार्गे विलीयन्ते। प्राणानां पश्चिममार्गे विलयनम् अर्थात् श्वासप्रश्वासयोर्गतिर्विच्छेदस्य

स्थितिः सम्पद्यते। सुषुम्नायां सञ्चरन् वायुः सामान्यतया अभावयोगे प्रवेशस्य अथवा आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातसमाधेः एव पक्षोऽस्ति। ईदृशं विरलाः सन्ति ये यथार्थस्वरूपम् अनुभवन्ति। अस्यां स्थितौ योगी सर्वान् द्वन्द्वान् अतिक्रम्यते। तस्य कृते मुत्युभयो नैव इति शास्त्रवचनम्। पूर्वोक्तविधौ परम्पराभेदेन न्यूनाधिक्यमपि दृश्यते। केचन कुम्भकान्ते भस्त्रिकां योजयन्ते केचन तु पूर्वे एव। परञ्च अत्र प्रक्रियाभेदेऽपि मया एकरूपत्वं मन्ये। यतो हि अनवरतमुहूर्तद्वयपर्यन्तम् आचरणनिर्देशेन स्वयमेव उभे मते एकीयेते।

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने एतस्या मुद्राया अप्रतिहतगतिर्वर्त्तते। सुषुम्नानाड्या अपरनाम मध्यमानाडी अपि अस्ति। मुद्राणामभ्यासेन तस्यां प्राणगतिः सम्भवति। अत्र सर्वासु हठविशिष्टक्रियासु मनोयोगस्य प्राबल्यं वर्त्तते। यतो हि प्राणमनस्सम्बन्धमेव विशेषमस्ति। प्राणान् अवरोध्यर्थं मनोयोगम् अत्यन्तमपेक्ष्यते। यथा शास्त्रनिर्देशोऽपि प्राप्यते –

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते॥[90]

राजयोगेन वृत्त्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्तीति ज्ञेयम्। राजयोगं विना पृथ्वी अर्थात् स्थिरत्वं नैव शोभते। अर्थात् अहं ब्रह्मेति धारावाहिकनिर्विकल्पवृत्तिं विना आसनादिद्वारा प्राप्तस्थिरत्वमपि नैव विशेषः। निशाशब्देनात्र कुम्भकं ज्ञेयम्। यथा निशायाम् अन्धकरत्वात् दर्शनशून्यत्वमुत्पद्यते तद्वदेव कुम्भकेनापि वृत्तिशून्यत्वमुत्पद्यते परञ्च विना ब्रह्मीभावं कृत्वा इयं वृत्तिशून्यत्वमपि नैव शोभते। तथैव विचित्रबहुप्रकारिकमुद्राणां आचरणमपि वेदान्तनिष्कर्षं विना व्यर्थमेव। अतः सर्वासु स्थितिसु अहं ब्रह्मास्मीति भावस्यापरिहार्यमहत्त्वम्।

---

[90] ह०प्र० 3-126

अनेन भावेन युक्तसाधकस्य देहाश्रितासनमुद्रादिक्रमेऽपि देहाद्भिन्ना स्थितिः सदैव सम्पद्यते। तस्य भावस्य एव प्रभावो भवति प्राणानां सम्बन्धितानुष्ठानानामुष्ठीयमाने सति मनः प्राणेभ्यरुर्ध्वमानन्दविशिष्टकोशे प्रवेशस्य। अत्रावस्थितो योगी सर्वान् द्वन्द्वानतिक्रम्यते। इत एव मृत्युञ्जयी देहस्य अवधारणा साफल्यते।

मनोयोगस्य योगरेव सर्वसिद्धिप्रदायकः। अनेन विना चित्तवृत्तिनिरोधात्मक-परमलक्ष्यस्य प्राप्तिर्नैव सम्भाव्यते।

2.2 मुद्राणां चक्र-केन्द्र-प्राणैस्सह सम्बन्धोल्लेखः

मानवशरीरे विभिन्नसूक्ष्मस्तरीयतथ्याः योगतन्त्रसम्बद्धानेकाचार्यैः नैकरीत्या वर्णिताः। तेषु वर्णितविषयेषु प्रायः सर्वे आचार्याः शरीरे चक्राणां स्थितिः स्वीकृता। अत्र केचन षट् चक्राः, केचन सप्तचक्रा अभिव्यक्ताः। उपनिषदि नवचक्राणां वर्णनं प्राप्यते। श्रीगोरक्षनाथैरपि नवचक्राणां पक्षस्य समर्थनं कृतम्। अस्तु, अत्र मतभेदस्य स्थितिर्नास्ति अपितु व्याख्याक्रमस्य वैविध्यं मन्ये। ये षट् चक्राः कथयन्ति ते सहस्रारस्यान्तर्भावम् आज्ञाचक्रे कुर्वन्ति। ये सप्तेति निर्देश्यन्ति ते मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपुर-अनाहत-विशुद्धि-आज्ञाचक्रपुरस्सरं सहस्रारमपि पृथकतया गण्यन्ते। नाथसम्प्रदाये तालुचक्रस्याकाशचक्रस्य च विशिष्टग्रहणात्वात् नवचक्राणां स्थितिः वर्त्तते। स्थानबोधेन विषयस्पष्टत्वं भविष्यति। अतः सारणी प्रस्तूयते।

चक्राणां स्थानादिसम्बन्धः

चक्रनाम	स्थानम्	देवता/शक्तिः	बीजम्	वर्णम्
1. मूलाधारम्	गुदाक्षेत्रम्/ पृथिवीतत्त्वम्	गणेशः/डाकिनी	लं	चतुर्दलं, रक्तवर्णम्, स्वर्णाभम्। चतुर्दले वं, शं, षं, सं वर्णाः सन्ति।
2. स्वाधिष्ठानम्	लिङ्गक्षेत्रम्/ जलतत्त्वम्	वरुणः/नारायणः/ राकिनीशक्तियुक्तः	वं	षड्दलं, अरुणवर्णं, वं, भं, मं, यं, रं, लं षड्दले वर्णाः सन्ति।
3. मणिपुरम्	नाभिक्षेत्रम्/ अग्नितत्त्वम्	वह्निः/महाकालः/ लाकिनीशक्तियुक्तः	रं	दशदलं, नीलवर्णं, दशदले डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं वर्णाः सन्ति।
4. अनाहतचक्रम्	हृदयम्/ वायुतत्त्वम्	वायुः/ईशानमहादेवः/काकिनीक्तियुक्तः	यं	द्वादशदलं, सिन्दूरीवर्णम्, कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं एते वर्णयुक्तं दलम्।
5. विशुद्धिचक्रम्	कण्ठम्/ आकाशतत्त्वम्	हरगौरी,चन्द्रमण्डलात् स्रवितसोमपानी साकिनीशक्तिः	हं	षोडशदलं, षोडशस्वरयुक्तम्।
6. आज्ञाचक्रम्	भ्रूवोर्मध्ये/ शून्यतत्त्वम्	महाकालः/ सिद्धलिङ्गहा-किनीशक्तियुक्तः	ॐ	शुक्लवर्णं, द्विदलं, हं, क्षं वर्णौ।
7. सहस्रारचक्रम्	शिरस्योर्ध्व-भागम्	अर्धचन्द्रं बिन्दुनादं युक्तः सदाशिवः	सौं	सहस्रदलाधोमुखी पंकजम्/वायुलयस्थानम्।

विभिन्नग्रन्थे न्यूनाधिक्यरूपे वर्णनं प्राप्यते। योगसम्प्रदाये तालुचक्रम् इति खेचरीमुद्राक्रमे समायाति। ततोऽग्रे आकाशचक्रं वर्त्तते यतः सोमपतनं सम्पद्यते। एतेषां चक्राणां स्थितिः सूक्ष्मा अस्ति, परञ्च स्थानप्रभावात् स्थूलस्तरेऽपि एतेषां चक्राणां साधके अनुभूतिः जायते। तेषां चक्राणां शाक्तसम्प्रदाये अत्यन्तविस्तृतस्वरूपं प्राप्यते। श्रीयन्त्रीयसाधनायां वैशिष्ट्यं खलु दर्शनीयम्। केन्द्रशब्देन शरीरस्थविभिन्नशक्तिस्थलानां ग्रहणं करणीयम्। अर्थात् मानवदेहे विभिन्नप्रकारकशक्तिकेन्द्रान् प्रयोगप्रधानयोगसम्प्रदाये प्रचलनमस्ति। वस्तुतः सम्पूर्णशरीरे प्रतिसन्धिस्थलम् एव शक्तिकन्द्रमिति योगिजनाः वदन्ति। परञ्च तदपि मुख्यतया शरीरे अग्निसोमात्मकं जगत् दृष्ट्या केन्द्रद्वयं मुख्यत्वं भजते। नाभिकेन्द्राग्निरूपकः, आज्ञाचक्रं सोमकेन्द्रश्च। अयं प्रायः सर्वेषां यौगिकक्रियायां सामान्यनियमः। यस्मिन् क्रियास्वरूपे नाभिक्षेत्रस्याभिदमनं भवति तस्मिन् पक्षे सोमक्षेत्रस्य ध्यानमुत केन्द्रिकरणं कर्त्तव्यम्। यस्मिन् पक्षे देहे प्राणस्यापाने सम्मेलनं भवति तर्हि नाभिकेन्द्रस्य केन्द्रिकरणं कर्त्तव्यम्। अत्र ध्यातव्यं यत् यदि देहे अग्निवर्द्धनात्मकक्रियाणाम् आचरणं प्रचलन् अस्ति तर्हि सोमतत्त्वस्य रञ्जनम् अग्निवर्द्धने सहायको भविष्यति। प्रारम्भिकसाधनायां सर्वेषां कृते नाभिकेन्द्राभिजागरणम् अत्यन्तमपेक्ष्यते यतो हि अग्निवर्द्धनाभावे सोमस्य प्रचण्डस्रवणं न सम्भवति। अस्तु, सम्प्रति केन्द्राणां प्राणैः सह विशिष्टसम्बन्धोल्लेखः क्रियते। अत्र ध्यातव्यं यत् केन्द्रशब्देन शक्तिविशिष्टपक्षेण सह मूलाधारादिचक्राणाम् एकरूपत्वं वर्त्तते। यतो हि नाममात्रवैविध्यात् अत्र भेदो दृश्यते मूलतस्तु केन्द्रचक्रययोः नास्ति भिन्नत्वम्।

सम्प्रति प्राणाः प्रदर्शयन्ते– पञ्चप्राणाः, पञ्चोपप्राणाः। उपप्राणानां पञ्चप्राणे एवान्तर्भाव इति प्रसिद्धः। अत्र ममोद्देश्यं वर्त्तते कीदृशः पूर्वोक्तचक्रकेन्द्रप्राणानां परस्परव्यवस्थितसामञ्जस्य पुरस्सरं मुद्राभिः सह सम्बन्धः? गुदलिंगयोर्मूलाधार-स्वाधिष्ठानयोरपानप्राणाः, नाभौ मणिपुरे समानप्राणाः, हृदि अनाहतचक्रे प्राणाः सन्ति।

कण्ठदेशे विशुद्धिचक्रे उदानप्राणाः, आकाशतत्त्वप्रधानत्वात् आज्ञाचक्रसहस्रारयोरपि उदानप्राणानाम् एव प्राबल्यम्। व्यानप्राणास्तु सम्पूर्णदेहे वर्त्तन्ते।

अपानाः प्रायोऽधोगामी सन्ति समानप्राणप्रभावात्। प्राणाः हृदयतो नाभिक्षेत्रस्योर्ध्वमण्डलपर्यन्तं प्रवहन्ति। उदानप्राणाः कण्ठतः सहस्रारपर्यन्तं विचरन्ति। व्यवस्थासम्पादकाः व्यानप्राणाः सम्पूर्णदेहे सन्तुलनं विधीयन्ते।

सम्प्रति कीदृशम् एते प्राणाः मुद्राभिस्सह सम्बद्ध्यते तल्लिख्यते –

1. मूलबन्धस्य साक्षात्सम्बन्धो मूलाधारस्वाधिष्ठानचक्राभ्याम् अपानप्राणैः सह च वर्त्तते।
2. उड्यानबन्धस्य साक्षात्सम्बन्धो मणिपुर-अनाहतचक्राभ्यां समानप्राणैः सह च वर्त्तते।
3. जालन्धरबन्धस्य साक्षात्सम्बन्धो विशुद्धिचक्रेण उदानप्राणैः सह वर्त्तते।

पूर्वोक्तविवेचनेनेदं स्पष्टं वर्त्तते यत् कथं त्रिबन्धेन युक्तम् आसनं मुद्रायते। यतो हि त्रिबन्धाणां साक्षाद् विशिष्टसम्बन्धः शरीरस्थप्रतिस्तरीयचक्र-केन्द्र-प्राणैः सह वर्त्तन्ते। ये अभ्यासिनः मुद्राणां स्वीयेऽवतरणमिष्यन्ते तेषां कृते एतत्त्रयाणां समायोजिताभ्यास एव मार्गः।

4. खेचरीमुद्रायाः साक्षात्सम्बन्धः विशुद्धिचक्रेण उदानप्राणैः सह चास्ति।
5. महामुद्रामहाबन्धमहावेधानां साक्षात्सम्बन्धो मूलाधारेण सह वर्त्तते। परम्परया स्वाधिष्ठानमणिपुरसमानप्राणैः सहापि वर्त्तते।

विपरीतकरणीवज्रोलीशक्तिचालनमुद्राणां साक्षात्सम्बन्धः मूलाधारस्वाधिष्ठान-मणिपुरैः सह वर्त्तते।

पूर्वोक्तसम्पूर्णे विवेचने विभिन्नाभ्यासीवर्याणां मार्गदर्शनं गृहीतम्। पंजाबराज्यीय मम गुरुवर्याःस्वामिबुद्धपुरिमहाभागाः मुख्यत्वं भजन्ते। स्वामिवर्याः योगक्षेत्रीयादर्शाः सन्ति। विगतनैकवर्षतो भोजननादिस्थूलशक्तिस्पन्दनानामवहेलनं कृत्वा हिमालयक्षेत्रे दिव्यदेहात्मक-महालक्ष्यप्राप्तये साधनायां निरताः सन्ति।

अस्तु, वस्तुतः सर्वासां मुद्राणां परस्परविशिष्टसम्बन्धो वर्त्तते। यदा साधकः त्रिबन्धपुरस्सरं कामपि क्रियाम् आचरति तर्हि शरीरस्थप्रतिप्राणान् चक्रान् नैसर्गिकैव स्पन्दनाधिक्यत्वात् अभिरञ्जनं सम्पद्यते। यदि खेचरीमुद्रायामवस्थिते सति ध्यानरीत्या अपानस्य ऊर्ध्वाकर्षणं तथा च प्राणस्याधोगमनं विधीयते, तर्हि अस्यां स्थितौ समानप्राणस्य भेदनविषयकक्रियाधिक्यत्वात् दीर्घाभ्यासानन्तरं विशिष्टाग्निः जाग्रति। तद्वदेव विपरीतकरणीस्थितौ त्रिबन्धस्याचरणमपि शरीरे प्राणानां शून्यत्वं प्रदीयते। अस्मिन् क्रमे वैराग्यमुमुक्षायाः सर्वाधिकमहत्त्वं वर्त्तते। यतो हि वैराग्यमुमुक्षां विना देहविषयकबोधस्य लयं न सम्पद्यते। देहबोधविद्यमाने सति चित्ते स्थैर्यं न जायते। प्राणमनसोः सघनसम्बन्धत्वात् मुद्राणां यथार्थस्थितौ प्रवेशोऽपि न भवति। अस्मिन् क्रमे गुरुकृपायाः विशेषमहत्त्वं वर्त्तते। गुरुप्रदत्तमन्त्रस्याचरणेन साधकस्य चित्ते वैराग्यभावानां जागरणं सम्पद्यते। अनेन स्वाभाविकतया साधकस्य स्वान्तो लोके प्रवेशो जायते।

मुद्राणामाचरणे इदमपि ध्यातव्यं वर्त्तते यत् यदि केवलं नित्यक्रमतया मुद्राणामाचरणं व्यवह्रियते तर्हि स्वयमेव कालक्रमप्रभावाद् अभ्यासाधिक्यत्वाच्च शरीरस्थसम्पूर्णप्राणादि-केन्द्राणामनुभवात्मकज्ञानम् उत्पद्यते। तर्हि यथार्थपक्षस्य ज्ञानं जायते। एतत्पूर्वं तु सर्वं केवलं श्रुतं पठितं वा ज्ञानं वर्त्तते।

निष्कर्षदृष्ट्या इदं कथने नातिशयोक्तिः यत् सर्वेषां चक्राणां केन्द्राणां प्राणानाञ्च परस्परसम्बन्धपुरस्सरं सम्यक् ज्ञानाय मुद्राणामाचरणं विशिष्टसम्बन्धत्वात् विशिष्यते। शरीरस्थदुरूहप्राञ्जलज्ञानाय मुद्राणाम् आश्रयश्श्रेष्ठ इत्यलम्।

2.3 ब्रह्मचर्यस्य महती साधना

जीवनयापनाय यस्या ऊर्जायाः परमावश्यकताऽनुभूयते,येन शक्तिपुञ्जेन विना कार्यसम्पादनस्य सामर्थ्यं नैव दृश्यते। यया ऊर्जया मनोबुद्ध्यहङ्कारप्राणादयः क्रियमाणाः सन्ति सा ऊर्जा एव ब्रह्मेति मन्ये। यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे सिद्धान्तदृष्ट्या अस्मिन् देहे सर्वेषां ब्रह्माण्डव्याप्ततत्त्वानां सङ्केतसूत्राणि विद्यन्ते। तेषां सङ्केतसूत्राणामनुशीलनं मानवजीवनस्य विभिन्नभौगोलिकादिप्रश्नानां शमनेन सह अतिमानवीयपक्षाणामपि सङ्केतान् दातुं शक्यते। तासां परमशक्तिरूपाणामनुशीलनमाचरणं ब्रह्मचर्यस्य मुख्यार्थेति सिद्धान्तः। ब्रह्मचर्यस्य यत्स्वरूपं सामान्यतया लोके व्यवह्रियते तत्तु प्रक्रियापक्षः। अर्थात् आदिशक्त्याः नैसर्गिककृपाप्रसादात् यत्शक्तिर्देहे सकलकार्यसम्पादनाय विन्दते, तया सह सम्पर्कसाधनाय शरीरस्थोर्जाकेन्द्राणाम् अभिजागरणमपेक्षितं वर्त्तते। अभिजागरणाय शरीरस्थसारतत्त्वस्य सञ्चयनमेव मार्गेति सर्वेषां प्रयोगप्रधानयोगग्रन्थानामभिमतम्। यदा शरीरे शुक्रग्रन्थीनाम-भिवर्द्धनं द्रवरूपात्मकं देहे जायते तदा तस्य सारतत्त्वस्य बहिस्स्खलनं भवितुं शक्यते। अत्र पूर्वसंस्काराचारादिप्रभावाद् तस्य बहिरागमनं अथवा ऊर्ध्वगमनं भवति। यदि कामकेलिविचारा मनसि पूर्वजन्मकृत्संस्कारान् प्रेरय अधोमुखिभावानां सरे अवतारयन्ति तर्हि निश्चिततया जञ्जालजालरूपात्मकसंसारे परिबद्ध्यते जीवैः। इयं स्थितिः प्रायः सर्वेषां जनानाम् अस्त्येव परञ्चेतद्भिन्नोऽपि मार्गो योगशास्त्रे प्रसिद्धः। तदस्ति ब्रह्मचर्यस्य मार्ग। ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। अत्रैका समस्या दृश्यते। शरीरस्थसारतत्त्वस्य स्खलनमनेच्छयापि भवति इति प्रायः स्वप्नगतदृश्यानां प्रभावाद् यत्तु पूर्वसंस्कारस्मृत्या-दिवशाद् जायते तस्मिन्विषये किं करणीयम्?

एतदर्थं ब्रह्मचर्यमार्गोक्तशक्तिस्पन्दनानामुर्ध्वगमनं प्रयोगप्रधानयोगदृष्ट्या कथं भविष्यतीति जानीयात्। सर्वप्रथमस्त्वयं ज्ञेयो यद् कथं द्रवरूपात्मकसारतत्त्वस्य ऊर्ध्वगमनं सम्भाव्यते? यतो हि शारीरिकसंरचनायान्तु नाडीनां तद्वत्स्थितिर्नास्ति यद्वदपेक्षितं वर्त्तते

द्रवस्योर्ध्वगमनाय। अत्र अन्नात् रसः रसात्रक्तमित्यादेः क्रमिकपरिवर्त्तनस्य स्थितेर्ज्ञानं स्मरेत्। अन्नस्यान्यतमः परिणामो वीर्यो रजो वाऽवशिष्ये। वीर्यरजसोरपि ओजोरूपे योगाग्निप्रभावाद् परिवर्त्तनं भवति। प्रायः सर्वेषु देहेषु एतस्य किञ्चिदोजोरूपे परिवर्त्तनं भवत्येव। यस्मात्प्रभावाद् जीवनयापनसम्बन्धित-कार्याणां सम्पादनं सम्भवति। बौद्धिककार्याधिक्ये एतस्य विशिष्टमहत्त्वं वर्त्तते। सूक्ष्मविवेचनसामर्थ्येऽपि एतस्यैव महिमा वर्त्तते। नवीनपन्थानामुद्घाटनेऽपि अदृष्टरीत्या सारतत्त्वस्यैव योगदानं वर्त्तते। अस्तु, योगाग्नेः प्रभावात् एतस्यौजोरूपे परिवर्त्तनं जायते। इदमेवास्ति सूक्ष्मशरीरस्य स्थूलशरीरमध्ये सोपानम्। इत एव मार्गोऽवधीयते स्थूलाद् सूक्ष्मे प्रवेशस्य। योगमार्गे इतरेव सूक्ष्मलोकेषु प्रवेशनस्य स्थितिः सञ्जायते। अतः ब्रह्मचर्यस्य सैद्धान्तिकस्वरूपमूर्ध्वगमनम् ऊर्ध्वलोकेषु गमनं वा कर्त्तुं शक्यते। अस्मिन्नन्यतमे निष्कर्षे वीर्ये विशिष्टपरिस्थितिं सम्प्राप्य निजवद्मानवनिर्माणसामर्थ्यं वर्त्तते। इति मैथुनीसृष्टिः स्पष्टत्वात् न विवेच्यते। अत्र जीवनस्रोतस्य मूलं दृश्यते। यस्मिन् देहे एतस्याधिक्यं वर्त्तते तस्य सर्वेषां कार्याणां सम्पादनं सामान्यात्विशिष्टं भवति। जनानां जीवने जीवनीशक्त्याः महत्त्वं प्रायः सर्वेषां विज्ञानाध्यात्मविशिष्टग्रन्थानामभिमतमस्ति। योगशास्त्रे एतस्य महत्त्वं तद्वदस्ति यद्वद् दीपज्वलने स्नेहस्य (तैलस्य)। यदा साधकः षट् कर्मणा शरीरस्य शोधनं विधीयते तत आरभ्य समाधिपर्यन्तम् एतस्यौचित्यं सर्वेषु योगसम्प्रदायेषु दरीदृश्यते। यथा ईन्धनं विना यानस्याभिगमनन्नैव सम्भवति तद्वदेव योगेऽपि विना जीवनीशक्त्याः प्राचूर्यं गतिर्नास्ति इति निष्कर्षः। इदमेव कारणं वर्त्तते यत् प्रायः सर्वेषां योगायुर्वेदादिग्रन्थानाम् एकस्वरेणाभिमतं ब्रह्मचर्येण जीवनमिति।

योगशास्त्रे ब्रह्मचर्यस्य प्रामुख्यं महाव्रतरूपे सम्प्राप्यते। ब्रह्मचर्यस्य सैद्धानतिकमहत्त्वं प्रतिपादनक्रमे योगदर्शने ब्रह्मचर्येण वीर्यलाभो निर्देशितः। वीर्यादत्र सामर्थ्यं शक्तिः, प्रतिभा, ईन्धनमित्यादयः सञ्जानीयुः। एतस्य प्रभावेन साधके अपूर्वशक्तिः समुदीयते। इतः मार्गो वर्त्तते

अन्नजलादे अभावेऽपि शरीरस्य कार्यसम्पादने सामर्थ्यस्य। सम्प्रति योगशास्त्रोक्तब्रह्मचर्यस्य विशिष्टसाधनायाः प्रयोगात्मकरीत्या विवेचनं प्रस्तूयते।

योगसाधनायामप्रतिहतगतिराप्तये एका साधनापद्धतिः प्रचलिता वर्त्तते। प्रायः सर्वेषु योगसम्प्रदायेषु वक्ष्यमाणसाधनास्वरूपस्य किञ्चिद् रूपवैचित्रत्वेन प्रचलनमस्ति। ब्रह्मचर्यस्य प्रयोगात्मकपक्षस्य भागत्रयं कर्त्तव्यम्।

अत्र प्रथमस्तावत् ते सन्ति यैः विना अन्तकरणस्थपूर्वसंस्काराणाम् अवरोधनन्नैव सम्भाव्यते। द्वितीयस्ते सन्ति ये सद्भावान् उत्प्रेरयन्ति। तृतीयस्ते सन्ति ये पूर्वोक्तद्वयानामनु-पालनेन फलरूपे तु प्राप्यन्ते परञ्चेतोऽग्रेऽपि योगाङ्गानुष्ठाने निर्विकल्पसमाधिपर्यन्तं गतिप्राप्त्यर्थं गुरुनिर्दिष्टमार्गाणामीश्वरीयेच्छानुरूपतोऽनुगमनं भवति। क्रमशो विस्तारः प्रस्तूयते–

1. विषयाणां ग्रहणं मनः पुरस्सरम् इन्द्रियैः सह सञ्जायते। येषां ग्रहणमिन्द्रियैस्सह भवति तेषां विषयाणां संस्काररूपेऽन्तःकरणे प्रबलप्रभावो जायते। एतस्य निष्कर्षः स्मृतिः। अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। स्मृत्या उदयेन जीवस्य तद्विषयकः पौनः पुन्येन प्रवृत्तिः स्वाभाविका एव। आहारनिद्राभयमैथुनप्रवृत्तिवान् स्वाभाविको जीवः। अत्रापि आनन्दकेन्द्ररूपे प्रसिद्धः स्वाधिष्ठानचक्रस्थोपस्थः। आनन्दप्राप्तिदृष्ट्या अस्मिन् विषये जीवानां पूर्वजन्म-कृत्संस्कारप्रभावादपि प्रवृत्तिः बहुतरा दृश्यते। अत्राप्रवृत्तिर्विधानाय केचन नियमाः सन्ति। कामे यानि प्रवृत्तिकारककार्याणि सन्ति तद्विषयकदृढतया निषेधानि विधातव्यानि। अर्थात् कामोत्तेजकदृश्यानि, चलचित्राणि वा नैव द्रष्टव्याणि कामोद्दिपकगीतानि नैव श्रोतव्यानि, स्त्रीसङ्गदुस्सङ्गमूढसङ्गो दुरितकारकाणि दूराद् त्यक्तानि उत्तेजकाहारपलाण्डुलशुनादेः ग्रहणं नैव कर्त्तव्यम्। वातदोषकारकाणि राजमाषमकोयाद्यपि परित्यजानि। एतानि सर्वाणि निषेधवाक्यानि प्रारम्भतो चरमलक्ष्यप्राप्तिपर्यन्तमाचरितव्यानि। एतेषां निर्देशानामनुपालनेन ब्राह्यशौचपरिपालने विशिष्टसहयोगोभिजायते। तैः प्रभावैः साधकस्य अन्तःकरणे शौचत्वं सन्दृश्यते। मानवेषु मानसिकभावानामाधिक्यवशाद् स्वाभाविकैव चिन्तनप्राचूर्यं दरीदृश्यते।

निषेधपुरस्सरं शास्त्रोक्तानुगमनयोग्यवचनामनुकरणाय द्वितीयविभेदे व्यवहाररीत्या सैद्धान्तिक-स्वरूपं प्रस्तूयते।

भक्तिभावापन्नोत्कृष्टव्यवहारविशिष्टशास्त्रचर्चानुचरन् सद्कर्मणा अन्तःकरणशोधनं विधाय गुरुवचनानुकूलमतिवन्तं भूत्वा सदैव सेवाधर्मं स्वीकुर्वन् यैः पूर्वोक्तनिषेधात्मक-वचनान्यनुचर्यन्ते ते खलु ब्रह्मचर्यात्मकमहल्लक्ष्यस्यानुगन्तुमर्हन्ति। अस्मिन् प्रकरणे विरागमुमुक्षत्वविशिष्टजीवात्मनो गतिरेव सम्भवेति। अन्यान् तु प्रथमचरणात्मक-निषेधविधानमार्गस्यैवानुगमनं ध्येयम्। यदि प्रथमचरणनिषेधप्रसङ्गस्योपहासक्रमे प्रवृत्तिवान् कोऽपि जायते तर्हि निष्ठाभावप्रभाववद् द्वितीयचरणे गतिस्थैर्यं समागमिष्यति इति अनुभाविकाः। अन्तःकरणस्य शुद्धये सत्कर्मणां महत्त्वमेतद्भिन्नं कर्मणां गतिरेव नास्ति। विशुद्धान्तःकरणेन साधके स्वयमेव शुद्धबुद्धिवशाद् विवेकप्राबल्यत्वात् भ्रमबोधो नश्यति। अतो निषेधपुरस्सरं प्रवृत्तेर्महत्वमिति निष्कर्षः। सम्प्रति किं करणीयमिति मुख्यप्रश्नः? यथा तु पूर्वोक्तं दिव्यदेहपर्यन्तमहल्लक्ष्यं मनसि निधाय गुर्वाज्ञानुकूलितमतिवन्तं प्रभूय, शीतवीर्याहारं प्रगृह्य, षट्कसम्पत्तिनियमान् परिपाल्य, शास्त्रचर्चां निमज्य, सेवाधर्मे संलग्नीभूयश्च दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितेन साधकैः तृतीयचरणीयगुणाः समुदीयन्ते। अत्र लक्ष्यस्य आहारस्य, उत्साहस्य प्राधान्यं मन्ये। लक्ष्यस्पष्टत्वन्तु दीर्घकालाभ्यासादेव जायते परञ्च शास्त्रगुरोर्वचनेश्रद्धाप्रभावात् साधके लक्ष्यं यत्तु सम्प्रति कल्पना एव दृश्यते तद्विषयकोत्साहं प्रवर्द्धते। आहारे शीतवीर्यतत्त्वानामुत सूक्ष्माहाराणां महत्त्वं वर्त्तते। यत्किमपि वयं खादामः तस्मिन् भोजने प्रोटीनविटामिन्सादि भवन्ति। इति आधुनिकाः। प्राचीनास्तु भोजनस्य प्रकृतिं विधीयन्ते। तेषां मते यद्भोजनं गृह्यते तस्मिन् भोजने भोजनप्रकृतिवशाद् भागद्वयं दृश्यते। शीतप्रकृतिरुष्णप्रकृतिश्च। शीतप्रकृतिविशिष्टाहारग्रहणेनान्तिमसारतत्त्वस्य निर्मितिरपि शीतं भवति। शीतप्रकृतिविशिष्टाहारनिर्मितसारतत्त्वस्य स्वप्नदोषादिमाध्यमेन क्षयविषयसम्भावनायाः न्यूनत्वं भवति। एतदन्यं वर्त्तन्ते ऊष्णप्रकृतिविशिष्टाहाराणि। एतेषां

भोजनानां तात्त्विकस्वरूपे रजोगुणाधिक्यं भवति। यस्मात्प्रभावात् शरीरे शोधनदृष्ट्या तु एतस्य महत्त्वं वर्त्तते। परञ्चैतस्याधिक्ये क्रियाशीलतत्वे सति सारतत्त्वस्य स्थैर्यं वासनादिप्रभावात् न सञ्जायते। रजोगुणस्य महत्त्वमस्त्येव परञ्च सत्त्वविशिष्टत्वं लक्ष्यमिति। यतो हि सत्त्वाधिक्ये सति साधके स्वयथार्थोपलब्धिः सम्भवति अतः तमोगुणतः रजोगुणविशिष्टेऽपि लक्ष्यप्राप्तौ नैव सहायकरिति निष्कर्षः। साधनाक्रमे प्रारम्भिकस्तरे सत्त्वविशिष्टाहाराणां महत्त्वं वर्त्तते अग्रिमक्रमे तु यदपि गृह्णाति तत्सर्वमीश्वरीकृपाप्रसादादूर्ध्वगमनाच्च लक्ष्यप्राप्तौ अनुकूलयति। एतस्य नियमस्य तावत्पर्यन्तमेव महत्त्वं वर्त्तते यावत्पर्यन्तं देहे ऊर्ध्वगमनं नैव प्रारभ्यते। ऊर्ध्वगमनारभ्ये सति यदपि गृह्णाति तत्सर्वं योगाग्नेः प्रभावादूर्ध्वमेव समायाति। लक्ष्यस्य स्पष्टत्वं साधके विवेकविशिष्टवैराग्यस्य हेतुः वर्त्तते। कालक्रमेण गुर्वीश्वराभ्यासादिप्रभावात् लक्ष्यस्पष्टत्वं जायते। अतो लक्ष्यस्पष्टाय गुर्वीश्वराभ्यासाहारादिशरणं भवेयुः। ब्रह्मचर्यस्य साधनायां कानिचन कर्त्तव्यानि तानि अभ्यसितव्यानि। यथा महाबन्धमहामुद्रादिना सह मूत्रसङ्कोचनविधाया अभ्यासः सिद्धपरम्परायां दीक्षापद्धतौ प्रचलति। योनिमुद्राभस्त्रिकोज्याय्यश्वनीमुद्रादि-नामभ्यासोऽपि शरीरस्थसारतत्त्वस्योर्ध्वगमने सहायकेति।

सम्प्रति पूर्वोक्तनिषेधप्रवृत्त्युभयात्मकपक्षाणां परिपालनेन साधके यानि विशिष्टलक्षणानि समुदीतानि भवन्ति तानि सर्वाणि लक्षणानि पुरस्सरं ब्रह्मचर्यसाधनायाम् अग्रिमक्रमस्योपक्रमफलादिसहितं प्रस्तूयते। पूर्वोक्तोभयनियमान् परिपालने साधकस्य शरीरे बहुविधात्मकं प्रतिस्तरीयं परिवर्त्तनं दरीदृश्यते। सरलतया अवगमनाय भागत्रयं विभज्यते। शारीरिकमानसिकात्मिकश्चेति त्रयो भेदाः।

शारीरिकस्तरम् – पूर्वोक्तनियमानुपालनेन साधके ब्रह्मचर्याद् विशिष्टगन्धस्योदयो जायते। शरीरे मलन्यूनत्वात् ओजोऽभिजायते। तस्मिन् देहे रोगादेः स्थितिर्नैव सम्पद्यते। अन्यादधिकं कार्यं कर्तुं समर्थः। अन्नजलादिना विनाऽपि कार्यं कुर्वन् अपि सहजं भूत्वा कालं यापयति। तस्मिन् देहे प्राणानां विशिष्टक्रियावशात् कण्ठादेर्ग्रन्थिभेदनस्य प्रक्रिया नैसर्गिकी दृश्यते।

देहाग्निवर्द्धनात् शरीरस्य सारतत्त्वस्योर्ध्वगमनं स्पन्दरूपे ओजो रूपे वा नैरन्त्यं प्रचलति। तस्य श्वासप्रश्वासस्थितेरपि स्वरूपं सामान्यात्विशिष्टो भवति। शरीरे स्थैर्यत्वं समायाति। अत्रासनाभ्यासाधिक्ये यत् स्थैर्यं दृश्यते ततोधिकं भिन्नञ्चाथवा ब्रह्मचर्यविशिष्टासनाभ्यासाद् यद् दीर्घकालिकस्थैर्यत्वं सञ्जायते तस्या अवस्थायाः समुदयो दृश्यते। महल्लक्ष्यं मनसि निधाय यः साधको दीर्घकालिकसाधनाक्रमेऽवतरति तस्य शरीराकृत्यामपि वैशिष्ट्यं जायते। तस्य देहस्य लोमानि यानि उपरित अधं प्रति सामान्यतया भवन्ति तानि ऊर्ध्वगमनप्रभावात् अधस्तोर्ध्वं प्रति प्रयाति। ऊर्ध्वगमनात् तस्य वाचापि परिवर्त्तते। तस्यां वाचां लयत्वमुदेति। दूरदर्शनं, दूरश्रवणं, दूरगन्धनञ्च साधके जागर्ति। त्रयमेकं संयमेत्यात्मकस्थितेरूदयोऽपि इति एव सम्पद्यते। शरीरे वज्रत्वं समुदेति। विभूतिपादीयदैवीयगुणानामुदये ब्रह्मचर्यविशिष्ट-स्थितेरपरिहार्यहेतुः वर्त्तते। ब्रह्मचर्येण विना वेदस्य तत्त्वज्ञानं नैव सम्भवति।

मानसिकस्तरम् – मानवीयदिव्यगुणानाम् समुदये महल्लक्ष्यविशिष्टब्रह्मचर्यस्यातीव महत्त्वं वर्त्तते। करुणात्यागतितिक्षाधर्मनिष्ठापरकल्याणाय स्वदानमेत्यादि पारलौकिकगुणानामुदयेन सामान्यजीवे ब्रह्माण्डव्याप्तादिशक्तेः साक्षादवतरणं सम्पद्यते। ब्रह्मचर्यविशिष्टजीवे मानसिक-सामर्थ्याधिक्यं जागर्ति। ओजोवर्द्धनेन तस्मिन् चिन्तने सामान्यादधिकं प्रकृष्टं गहनञ्च चिन्तनं दृश्यते। सर्वेषु सनातनीयसम्प्रदायेषु आदिपुरुषविरचितप्रस्थानत्रयमुपरि भाष्यस्य वैशिष्टमस्यैव ब्रह्मचर्यस्य सामर्थ्यमिति मन्ये। दुरूहग्रन्थादिनिर्माणे सारतत्त्वस्य ऊर्ध्वगमनाधिक्यमेव हेतुः। योगपरम्परायां विभिन्नमुद्राणमभ्यासे प्रक्रियावैशिष्ट्यमुत्पद्यते तत्रापि सूक्ष्मस्तरीयतरङ्गानां कारणत्वं मन्यन्ते सुधयः। सूक्ष्मस्तरीयतरङ्गादत्रोर्ध्वगमितसारतत्त्वमिति ज्ञेयम्। मानसिक-तरङ्गानां मूलत्वं ब्रह्माणडव्याप्तेश्वरीयशक्तिरेवास्ति तया सह सम्बन्धस्थापनेन साधके यत् व्यष्टिविशिष्टान्तःकरणं वर्त्तते तस्यान्तःकरणस्य समष्टिस्वरूपे लयत्वं सम्पद्यते। अर्थात् सारतत्वविशिष्टजीवस्य कुण्ठितव्यवहारं व्यपोहति ईश्वरीयशक्तिना सम्बन्धत्वात्। अत्र स्पष्टतयेदं ज्ञेयं यद् ईश्वरीयशक्तिना सम्बन्धस्थापनं तदेव सम्भाव्यते यदा ऊर्ध्वगमनं सञ्जायते।

अत्रैव नैकसिद्धिरवतरन्ति साधके। सिद्धिनामतिक्रमेण विविधविधोल्लासादि-दिव्यगुणामुदयो जायते। सर्वविधपरिस्थितौ समत्त्वं समुदेति। स्वमूलस्वरूपे सम्बन्धोऽभिजायते। अन्तःकरणे शौचत्वे सति पूर्वोक्तसर्वेषां वैशिष्ट्यानां साधके स्थितिः सम्पद्यते। सम्प्रति आत्मिकस्तरीयस्थितेः विवेचनं विविच्यते।

आत्मिकस्तरम् – अस्यामवस्थायां साधके सर्वेषु जीवेषु व्याप्तात्मना सह एकत्वं समुदीयते। एकत्वेन तस्य साधकस्य सर्वत्रव्याप्तादिशक्त्यारनुभवनं ज्ञेयम्। परमकारुणिकावस्थायाः जागरणमस्यामवस्थायामेव भवति। सर्वेषु गुणदोषेषु समत्वं व्यवहरन् सदैव आनन्द-कन्दात्मकस्वकीयाखण्डानन्दे रमति। सर्वेषु परिस्थितिकेषु सततं शान्तं भूत्वा ब्रह्माण्डव्याप्तेश्वरीयसत्तया सह संयोज्येश्वरीययोजनायां सहयुञ्जते। तस्य साधकस्य अन्यजीवेभ्यः मुक्तिमार्गे प्रेरणादितरं किमपि कार्यं नैवावशिष्यते। सूक्ष्मस्तरीयस्पन्दनाधिक्येन तस्य सम्पर्के समागतजीवेऽपि अनायासेनैवाध्यात्मिकभावानामभिवर्द्धनं दृश्यते। अस्यामवस्थायामवस्थिते साधकस्य सान्निध्यमेव शक्तिपातो वर्षति। तस्य देहस्य स्पर्शेऽपि विभिन्नस्तरीयसङ्कल्पविकल्पात्मकवृत्तीनां क्षयो दृश्यते। अस्यामवस्थायामवस्थितस्योपाधि गुरुरिति। एतस्य सान्निध्यमेव यथार्थः सत्सङ्गोभिजानीयात्।

पूर्वोक्तसम्पूर्णविवचनस्य निष्कर्षविषये इदं वक्तुं पार्यते यत् मानवीयसारतत्त्वस्य सञ्चयनेन नवीनसम्भावनाद्वारोद्घाटनं सम्भाव्यते। शरीरस्थसारतत्त्वस्य प्रयोगेन ब्रह्माण्ड-व्याप्तशक्तिना सह सम्बन्धस्थापनविषयकमार्गस्यान्वेषणं सन्दृश्यते। यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे इति प्रसिद्धनियमस्य सङ्केतनं पूर्वोक्तं प्रति प्रेरयति। योगसाधनायां विशेषगतिप्राप्तये ब्रह्मचर्यस्यावलम्बनं विना मार्गान्य एव नास्ति इत्यलम्।

*****

तृतीयोऽध्यायः- विभिन्नाचार्याणांमुद्राविषयकसामान्यनिदर्शनम्

प्रयोगप्रधानयोगशास्त्रेषु मुद्राविषयकवैविध्यं प्राप्यते। स्वकीयचेतनायाः सम्पूर्णविस्ताराय सर्वे आचार्याः योगस्यावलम्बनं स्वीकुर्वन्ति, एतदर्थं न्यूनाधिक्यरूपे मुद्राणामपि दिग्दर्शनं प्राप्यते एव। घेरण्डगोरक्षसंहितादृष्ट्या मुद्राणां स्वरूपनिदर्शनमेवञ्च विभिन्नोपनिषदि अपि मुद्राणां सङ्ख्यास्वरूपवैशिष्ट्यं प्रदर्श्य, क्वचिदभिधानविषयवैविध्यो-पस्थापनपूर्वकं कीदृशो दशमुद्रासु अन्यासां मुद्राणामन्तर्भावो भवतीति शास्त्रतर्कसम्मतप्रमाणैः प्रस्तुताध्याये प्रस्तूयते।

3.1 पूर्वोक्तदशमुद्रातिरिक्तमुद्राणां सामान्यनिदर्शनम्

द्वितीयाध्याये याः दशमुद्राः वर्णिताः ताः सर्वाः हठयोगप्रदीपिकायां शिवसंहितायाञ्च प्रदर्शिताः सन्ति। परम्पराभेदेन कालक्रमेण वा दशमुद्रासु न्यूनाधिक्यं विहितम्। योगाभ्यासे ये आचार्याः कृतभूरिपरिश्रमा आसन् ते स्वानुभवैः पूर्वोक्तदशमुद्रातिरिक्तान्यमुद्राणामपि प्रदर्शनं स्वशास्त्रे ग्रन्थे वा कृतवन्तः। वस्तुतोऽत्र मुद्राविषयकमतवैविध्यं मतैक्याभावस्य हेतुर्नास्ति अपितु साधनाक्रमे क्रमिकपरिवर्त्तनस्य प्रोल्लेखनं मात्रमस्ति। यदा साधकाः साधनामनुष्ठीयन्ते तर्हि सर्वे स्वानुष्ठाने वैविध्यमनुभवन्ति। एकस्तु कवर्गचवर्गटवर्गादिरीत्या सङ्क्षिप्तरीत्या भावान् प्रस्तौति। ये विज्ञाः सन्ति ते कुचुटुपु इत्यादिभिपरि सर्वे वर्णान् ज्ञायन्ते ये प्रारम्भिकाः सन्ति ते क्, ख्, गादिस्पष्टप्रतिपत्तिरीत्यावबोधयन्ति। अत्र किमपि मतविभिन्नत्वन्नास्ति अपितु सङ्क्षिप्तपक्षस्यैव विस्तारो दृश्यते।

मुद्रायाः औचित्यं आसनतः प्राणायामे तथा च प्राणायामतो प्रत्याहारे प्रवेशाय वर्त्तते। साधनाया अग्रिमक्रमे साधका आसनानाम् अनुष्ठाने त्रिबन्धमनुष्ठीय आसनेऽपि मुद्राणां प्रयोगो विधीयन्ते। ते सर्वे स्वस्वयोगपरम्परामनुष्ठीयन्ते। अत्र मुख्यत्वं वर्त्तते लक्ष्यस्य। ये यं लक्ष्यं मनसि निधाय अभ्यस्यन्ते ते तं लक्ष्यं प्राप्स्यन्ते। यदा गुरुः स्वशिष्यान् शिक्षयति तर्हि

योग्यतानुसारं छात्रान् विभिन्नस्तरीयकक्षायां विभज्य शनैः शनैः विषयान् प्रस्तौति। प्रस्तुतिः सदैव योग्यतानुरूपमेव शोभते। यदि अध्येता प्रारम्भिकोऽस्ति तर्हि शनैः शनैः प्रति विषयान् उद्घाटय शिक्षयति। यदि माध्यमिको तर्हि मुख्यविषयान् वैशिष्ट्येन प्रस्तौति। यदि श्रेष्ठोऽस्ति तर्हि विशिष्टजिज्ञासाप्राप्तौ सति विषयान् उद्घाटयति।तद्वदेव योगशास्त्रस्य प्रस्तुतिक्रमे सञ्ज्ञेयम्।

प्रायः सर्वे ग्रन्थाः गुरुशिष्यप्रश्नोत्तरविधानात्मकाः सन्ति। केचन सङ्ग्रहग्रन्थाः सन्ति। ये प्रश्नोत्तरविधानात्मकाः सन्ति तेषु ग्रन्थेषु विषयस्योद्घाटनं प्रश्नकर्तुः जिज्ञासास्तरानुसारमेव ग्रन्थे प्राप्यते। ये सङ्ग्रहग्रन्थाः सन्ति तेषु केवलं विषयौचित्यप्रस्तुतिपुरस्सरमेव तथ्यान् सङ्ग्रहीताः न तु तत्र विविधक्रमिकजिज्ञासाशामकविषयान् तद्वत् प्रस्तुताः यद्वत् परम्परायां प्राप्यते। वक्ष्यमाणतृतीयाध्यायस्याग्रिमबिन्दुषु घेरण्डसंहितायाः गोरक्षसंहितायाः तथा च विभिन्नोपनिषदि व्यक्तमुद्राणां वर्णनं करिष्ये।

प्रसिद्धप्रक्रियाग्रन्थेषु प्राप्तमुद्राः

हठयोगप्रदीपिका	**घेरण्डसंहिता**	**गोरक्षसंहिता**	**शिवसंहिता**
महामुद्रा	महामुद्रा, नभोमुद्रा	महामुद्रा	महामुद्रा
महाबन्धः	त्रिबन्धः, महाबन्धः	नभोमुद्रा	महाबन्धः
महावेधः	महावेधः, खेचरी	उड्डीयानबन्धः	महावेधः
खेचरी	विपरीतकरी, योनिमुद्रा	जालन्धरबन्धः	खेचरी
उड्यानबन्धः	वज्रोली, शक्तिचालनी	मूलबन्धः	उड्यानबन्धः
मूलबन्धः	तडागी, माण्डुकी		मूलबन्धः
जालन्धरबन्धः	शाम्भवी, पञ्चधारणा		जालन्धरबन्धः
विपरीतकरणी	अश्विनी, पाशिनी		विपरीतकरणी
वज्रोली	काकी, मातङ्गी		वज्रोली
शक्तिचालनी	भुजङ्गिनी		शक्तिचालनी

3.1.1 घेरण्डसंहितायां वर्णितपञ्चविंशतिमुद्राणां वर्णनम्

घेरण्डसंहितायाः प्रारम्भो घेरण्डकुट्टिरे समागतचण्डकपालिकस्य प्रश्नैः दृश्यते। अयमेको गुरुशिष्यप्रश्नोत्तरोपहितो ग्रन्थः। अत्र तृतीयोपदेशे मुद्राणां वर्णनं प्राप्यते। आचार्यैः सर्वविधसिद्धिप्रदायिकाक्रियाः मुद्रा इति मन्यन्ते। ते कथयन्ति यदि एतासां मुद्राणां विशिष्टप्रयोगात्मरीत्या केऽपि अनुष्ठीयन्ते तर्हि निश्चितमेव तेषाम् अनुष्ठीयमानसाधकानां सर्वविधिसिद्धिः हस्तामलकवद् भविष्यति। प्रारम्भे एव एतासां मुद्राणामाचरणे काठिन्याद् अनधिकारिभ्यो विद्यासंरक्षणाय वा गोपनीया मुद्रा इति निर्देशिताः। अत्र पञ्चविंशति मुद्राः सन्ति[1]। क्रमशो व्याख्यायते-

1. महामुद्रा

महामुद्राविधिः[2] - वामगुल्फेन पायुमूलं दृढयत्नतः सम्पीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य करे पादाङ्गुलो धार्यते, जलन्धरबन्धं विधीय भ्रूवोर्मध्ये नेत्रे संस्थीय च या स्थितिः जायते तस्या सञ्ज्ञा योगसूरिभिः महामुद्रेति मन्यन्ते।

महामुद्राफलम्[3] - एतस्याः दीर्घकालिकाभ्यासेन क्षयकासं, गुदावर्त्तं, प्लीहाजीर्णज्वरेण सहान्यरोगाश्च नश्यन्ति।

वैशिष्ट्यम् - नेत्रयोः स्थितिरत्र प्रक्रियायाः वैशिष्ट्यम्।

2. नभोमुद्रा

नभोमुद्राविधिः - यस्मिन् कस्मिन्नपि कार्ये योगी संलग्नेऽपि जिह्वां ऊर्ध्वं कृत्वा यदि कुम्भकमाचरति तर्हि यत्स्थितिर्भवति तस्याः नाम नभोमुद्रा इति।

तत्फलम् - योगिनां रोगनाशिनी इति श्लोकांशेन वयं ज्ञातुं शक्यामहे यद् इत्यनयाऽपि रोगनिवारकविशिष्टगुणानामुदयो भवति।

---

[1] घे०सं० तृ० उ० 1-3
[2] घे०सं० तृ० उ० 6-7
[3] घे०सं० तृ० उ० 8

वैशिष्ट्यम् - खेचरीमुद्राया अभ्यासक्रमे इयं मुद्रा सहायिका। त्रिबन्धस्य प्रयोगोऽपि योगपरम्परायां प्राप्यते।

3. उड्डीयानबन्धः

उड्डीयानबन्धविधिः - बहिः कुम्भके सति उदरं पश्चिमे तानं कृत्वा नाभिम् ऊर्ध्वञ्च कारयेत्। इयं स्थितिरुड्डीयानबन्धशब्देन शास्त्रेऽभिहितम्।

तत्फलम् - अनेन अविश्रान्तो मनः प्राणात्मको महाखगः शून्यमण्डले उड्डीयते। गजरूपमृत्यवे इयं मुद्रा केसरीसदृशा इति आचार्याः मन्यन्ते। मूलबन्धजालन्धरबन्धाभ्यामयं विशिष्यते। योगाग्निरभिवर्द्धनात् अनेन स्वाभाविकी मुक्तिः भवति।

वैशिष्ट्यम् - अनया सह नैसर्गिको मूलबन्धः सम्पद्यते।

4. जालन्धरबन्धः

विधिः - कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्। इदं जालन्धरबन्धोऽभिधीयते। अनेन षोडशाधारबन्धनं जायते।

तत्फलम् - योगसिद्धौ अस्य षण्मासिकोऽभ्यास एव पर्याप्तः। मृत्यो अतिक्रमणे अयं बन्धो विशेषः।

वैशिष्ट्यम् - खेचरीमुद्रया अस्य औचित्यविस्तारो दृश्यते। प्राणापानयोर्मध्ये समानाभिधेयकव्यवधानस्य नाशनेऽयमत्यन्तो लाभकारी।

5. मूलबन्धविधिः

विधिः - वामपादस्य पार्ष्णिना योनिस्थानं (गुह्यस्थानं) आकुञ्चयेत्। तदनन्तरं नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे सम्पीड्य अर्थात् उड्डीयानं समाचरणीयम्। दक्षिणपादं मेढ्रे समारोपनीयम् इति मूलबन्धस्थितिः।

तत्फलम् - मरूत्सिद्धौ अस्य बन्धस्याभ्यासो विशेषः।

वैशिष्ट्यम् - सिद्धासनस्य स्थितिर्विशेषोऽयं प्रस्तुतमूलबन्धस्य स्वरूपः।

6. महाबन्धः

विधिः - सुधीः वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोध्य दक्षिणपादेन तद्गुल्फं सम्पीड्य च शनैः शनैः पार्ष्णिं चालयेत् योनिस्थानम् आकुञ्चयेत्। जालन्धरबन्धात् प्राणं धारयेत् इति महाबन्धो ज्ञेयः।

तत्फलम् - जरामरणनाशकोऽयम् अभ्यासः, एतेन सर्ववाञ्छितं फलं प्राप्तुं शक्यते इति घेरण्डऋषिभिर्मतम्।

वैशिष्ट्यम् - प्रस्तुतप्रक्रियायाम् अश्वनिमुद्रायाः प्रभावो वर्त्तते। अनेन सह त्रिबन्धस्यापि उपयोगो व्यवह्तितव्यः।

7. महावेधः

विधिः - महाबन्धं समासाद्य उड्डानकुम्भकं कुर्यात्। इयं स्थितिः महावेधमुद्रा नाम्ना प्रसिद्धा।

तत्फलम् - महामुद्रामहाबन्धयोः सिद्धिः महावेधेन सम्भाव्यते। योगवेतां कृतेऽपि एतस्याः विशिष्टमहत्त्वं घेरण्डाचार्यैः निगदितम्।

वैशिष्ट्यम् - हठयोगप्रदीपिकातो भिन्नोऽयमभ्यासः परम्पराभेदात्।

8. खेचरीमुद्रा

विधिः - रसनां तालुमध्ये शनैः शनैः प्रवेशयेत्। यदा जिह्वा विपरीतगा कपालकुहरे प्रविष्टति, भ्रूवोर्मध्ये दृष्टिर्गच्छति तदा खेचरी मुद्रा सम्पद्यते।

तत्फलम् - मूर्च्छाक्षुधातृष्णाऽलस्यरोगजराश्च नैव प्रजायन्ते। देवदेहोऽभिजायते। दिव्यदेहत्वात् न तु अग्निना दह्यते गात्रं न वायुना शोषयति। नापः क्लेदयन्ति, न भुजङ्गमः दंशयितुं शक्यते। लावण्यं देहेऽभिजायते, समाधिस्थितिस्तु वै ध्रुवम्। कपालवक्त्रसंयोगात् रसना विभिन्नरसमाप्नुयात्। नाना सरसमुद्भूतमानन्दप्राप्तिः प्रतिदिनं भवति। आदौ लवणरसं, क्षारं

तदनन्तरं तिक्तं कषायकञ्च रसं रसनया आस्वाद्यते। नवनीतं घृतं क्षीरं दधि-तक्र-मधुनि च मध्यमक्रमे प्राप्यन्ते। अन्ते द्राक्षारसं पीयूषञ्च जायते।

वैशिष्ट्यम् - अत्र जिह्वाधो नाडीं सञ्छिन्न्य रसनां सदा चालनीयम्। नवनीतेन दोहनीयम्, लौहयन्त्रेण कर्षणीयम् इति निर्देशितम् आचार्यैः।

9. विपरीतकरणीमुद्रा

विधिः - भूमौ शिरः संस्थाय करयुग्मं व्यवस्थितः। ऊर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा या स्थितिः जायते सा विपरीतकरणी मुद्रा। शीर्षासनस्य स्थितिर्विशेषः।

तत्फलम् - नित्यमभ्यसेत् मुद्रेयं, एतस्याः प्रभावाद् जरामृत्युश्च न जायते।

वैशिष्ट्यम् - देहे सूर्यस्य स्थितिः नाभौ, चन्द्रस्य स्थितिः तालुमूले सहस्रारे वा। चन्द्रमण्डलाद् स्रवितामृतं नाभौ सूर्यो ग्रसते। अतो जीवो मृत्युवशी। एतस्याः खेचरीत्रिबन्धविशिष्टाभ्यासेन अमृतस्य क्षरणं नाभौ न विधीयते। विशिष्टा चर्चा द्वितीयाध्याये पूर्वे एव कृता मया तत्र द्रष्टव्या।

10. योनिमुद्रा

विधिः - सिद्धासनं समासाद्य कर्णनेत्रघ्राणमुखानि क्रमशोऽङ्गुष्ठतर्जनीमध्यमादिभिः पिदधानं कृत्वा काकीमुद्रया काकचञ्चुवदास्येन वायुं शनैः शनैः पिबेदिति काकीमुद्रा। अनया प्राणान् सङ्कृष्य ततोऽपानेन सह योजयेत्। मूलाधारतः सहस्रारपर्यन्तं चक्रं ध्यात्वा हुं, हंसेति बीजमन्त्रेण भुजङ्गिनीं कुण्डलिनीं चैतन्यमानयेत्।

तत्फलम् - शिवशक्तिसंयोगात् सर्वेषां पापानां क्षयो भवति। जीवब्रह्मैक्यात् अहं ब्रह्मेति अनुभवात्मकपक्षस्य जागरणं भवति। इतः सर्वं खल्विदं ब्रह्मविषयकाद्वैतसिद्धान्तस्य प्रस्थापनं सम्पद्यते।

वैशिष्ट्यम् - प्रस्तुतप्रक्रियायां योगपरम्पराविभिन्नत्त्वाद् बहवो भेदाः दृश्यन्ते। श्यामाचरणलाहिडीमहाशयानां परम्परायाम् अत्र उज्जयीविधिना प्रत्येकं चक्रं ओङ्कारेण सह

अवलोकनीयमिति शिक्षयति। स्वामिबुद्धपुरिपरम्परायां उज्जयीपुरसरं त्रिबन्धखेचरी चापि योजनीया।

11. वज्रोलीमुद्रा

विधिः - करतलान् धरामवष्टभ्य पादयुगं शिरश्च खे क्षिपेत्। इति वज्रोणीमुद्रा।

तत्फलम् - शक्तिजागरणाय बिन्दुसिद्धये मुक्तये च एतस्या अपूर्वयोगदानमिति आचार्यैः मन्यते।

वैशिष्ट्यम् - हठयोगप्रदीपिकायां वर्णितवज्रोलीमुद्रातो भिन्नेयं मुद्राप्रक्रिया। अत्र हस्ताश्रितसम्पूर्णदेहस्य पादयुगं शीर्षासनवत् कृत्वा शिरस्यापि ऊर्ध्वतोलनं करणीयम्। आधुनिकैः Hand Stand रूपे एतस्या ग्रहणं क्रियते। अत्र वर्णितफलश्रुतिपक्षस्य साम्यं शिवसंहितया हठयोगप्रदीपिकया च सह दृश्यते।

12. शक्तिचालनीमुद्रा

विधिः - गोपनीयगृहे नग्नं भूत्वा नाभिं संवेष्ट्य गात्रं संलिप्य भस्मना सिद्धासनं समाचरेत् तदनन्तरं नासाभ्यां प्राणमाकृष्य समानस्य विभेदनपूर्वकम् अर्थात् त्रिबद्धपूर्वकं प्राणान् अपानेन सह योजयेत्। अग्रिमक्रमे मूलबन्धं विहाय तस्मिन् स्थाने अश्विनिम् आचरेत्। प्राणान् कुम्भकं कृत्वा कुम्भयेत्।

तत्फलम् - कुण्डलीं प्रबोधिका जरामरणनाशिनी, रोगनाशिनी च इयं मुद्रा।

वैशिष्ट्यम् - अत्र भस्मशब्देन पक्षद्वयमपेक्षते। प्रथमस्तु सामान्यतया वैराग्यसूचकलौकिकभस्मस्य ग्रहणं करणीयम्। अन्यः खेचरीमुद्राप्रभावाद् स्रवितामृतेन आन्तरिकगात्रस्य संलेपनमपि महायोगपरम्परायां प्रचलितं तद् ग्राह्यम्।

13. ताडागीमुद्रा

विधिः - पश्चिमोत्ताने उड्डियानबन्धनमिति ताडागीमुद्रा।

तत्फलम् - जरामुत्यु विनाशिनीयं मुद्रा।

वैशिष्ट्यम् - इयं मुद्रा क्रमिकरूपेण महामुद्रां प्रति प्रेरयति।

14. माण्डूकीमुद्रा

विधिः - समुद्रितमुखे खेचरीमुद्रायां स्थितौ कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशान्तरे सति जिह्वामूलं प्रचालयेत्। एतस्या अपरनाम मन्थनक्रिया इति योगपरम्परायां प्रसिद्धाऽत्यन्तगुप्ता च। अनया अमृतपानं सञ्जायते।

तत्फलम् - नित्याभ्यासाद् वलितं पलितं नैव भवति, नित्ययौवनं जायते।

वैशिष्ट्यम् - खेचरीमुद्रायां स्थिते सति इमं मुद्रामभ्यसितुं शक्यते। जिह्वामूलस्य चालनं तदेव सम्भाव्यते यदा कपालकुहरे उत् मुखनासिकासमाहारकूपे जिह्वा प्रविष्टो भवेत्।

15. शाम्भवीमुद्रा

विधिः - बहिर्दृष्टिर्विधानेऽपि अन्ते स्वात्मारामस्वरूपे एवं स्थिरो भवेत्। अर्थात् दर्शनसामर्थ्यविशिष्टेन्द्रियस्य बहिस्सम्बन्धो नैव कर्त्तव्यः। यस्य प्रभावात् मनो बुद्ध्यहङ्कारादि चैतन्यवदनुभूयते तान् मनोबुद्ध्यहङ्कारान् सर्वान् विहाय केवलम् आत्मचैतन्यपुञ्जेन सह सम्बद्ध्येत्।

तत्फलम् - स्वमूलस्वरूपस्य यथार्थानुभूतिः जायते।

वैशिष्ट्यम् - खेचरीविशिष्टशाम्भवीमनुष्ठीय योगपरम्परायां पूर्वोक्तफलपक्षस्य प्राप्तिः योगस्य प्रयोगपक्षस्यानुष्ठाताजनैः मन्यते। मूलरूपतः शाम्भवीमुद्रायारुदयः मनोलयाय राजयोगपक्षे स्वयमेव भवति।

अग्रे पञ्चधारणाः सन्ति - याः मुख्यरूपेण पञ्चतत्त्वेन सह सम्बद्ध्यन्ते। प्रतिधारणं मूलतया तत्त्ववर्णबीजमन्त्रदेवताभिः सह युज्यते। सम्प्रति तासां पञ्च धारणामुद्राणां क्रमशः प्रस्तूयते।

16. पार्थिवीधारणमुद्रा

विधिः - पृथ्वीतत्त्वे हरितालवर्णसदृशं लकारबीजमन्त्रयुक्तं, कमलासनेऽवस्थितब्रह्मदेवतां हृदि ध्येयम्। ध्यानप्रक्रियायां पञ्चघाटीपर्यन्तं प्राणान् विलीय योऽवस्थीयते स योगी पृथ्वीतत्त्वं जयति। एतस्या मूलचक्रं मूलाधारोऽभिधेयम्।

तत्फलम् - मृत्युञ्जयत्वमर्हति, सिद्धो भवति पार्थिवीधारणामुद्राप्रभावाद्।

वैशिष्ट्यम् - शाम्भवीमुद्रया यदा साधकः स्वमूलेनाभिसम्बद्ध्यते तर्हि एतस्याः शाम्भवीमुद्रायाः विस्तारे एव पञ्चविधधारणानामुदयो भवति। पार्थिवीधारणामुद्राया उदयः सर्वासां मुद्राणामाविर्भावात् सम्पद्यते। आसनतः प्राणायामे प्रवेशाय मुद्राणामनुष्ठीयते साधकैः परञ्च प्राणायामतः धारणायां प्रवेशाय मुद्राणां नैसर्गिकाविर्भावोऽपेक्षितो वर्त्तते। यतो हि एतत्पूर्वं पञ्चघटिकापर्यन्तं प्राणानां विलयनं नैव सम्भाव्यते। पृथ्वीतत्वजयेनात्र साधकस्य पृथिव्यां लयत्वं, पृथ्वीवत् दृढत्वं, पार्थिवगुणवैशिष्ट्यत्वञ्च ज्ञेयम्।

17. आम्भसीधारणामुद्रा

विधिः - जलतत्त्वे शङ्खेन्दुकुन्दपुष्पवर्णवत् धवलत्वममृताभिधेयकवकारबीजमन्त्रविशिष्ट-विष्णुदेवतां ध्यायेत्। अत्र यो योगी पञ्चघटिकापर्यन्तं प्राणान् विलीयावस्थीयते स जलतत्वं जयति। एतस्य जलतत्त्वस्य मूलचक्रं स्वाधिष्ठानं वर्त्तते।

तत्फलम् - सैव योगवित्तमो जायते। जलतत्त्वजयात् जले नो म्रियते।

वैशिष्ट्यम् - अत्र जलतत्त्वजयत्वेन जलीयद्रवशैत्यादिसकलगुणेषु आधिपत्यं जले जलसादृश्यत्वञ्च ज्ञेयम्।

18. आग्नेयीधारणमुद्रा

विधिः - अग्नितत्त्वे यत्तु नाभौ तत्र इन्द्रगोपकीटसदृशत्रिकोणात्मकरक्तवर्णविशिष्टरुद्रदेवतां ध्यायेत्। अत्र यो योगी पञ्चघटिकापर्यन्तं प्राणान् विलीयावस्थीयते सोऽग्नितत्त्वं जयति। एतस्य तत्त्वस्य चक्रं स्थानं मणिपूरं नाभौ वर्त्तते।

तत्फलम् - अग्नितत्त्वजयाद् अग्नौ न मुत्युभाक्।

वैशिष्ट्यम् - अग्नितत्त्वजयशब्दात् अत्र अग्निविशिष्टदेहो ज्ञेयः। तस्मिन् देहे अग्नौ च न कोऽपि भेदः। अग्नेः बीजमन्त्रं रं वर्त्तते।

19. वायवीधारणमुद्रा

विधिः - वायुतत्त्वे धूम्रवर्णसदृशयकारबीजमन्त्रविशिष्टेश्वरदेवतां ध्यायेत्। पूर्ववत् पञ्चघटिका-पर्यन्तप्राणान् विलीयावस्थीयते स अनुष्ठाता वायुतत्त्वं जयति। एतस्य वायुतत्त्वस्य स्थानं हृदयत आकण्ठपर्यन्तं भवति।

तत्फलम् - जरामृत्युविनाशिनीयं मुद्रा, खे गतिप्रदायिका, वायुजयत्वाद् वायुना नो म्रियते।

वैशिष्ट्यम् - वायुजयेन वायुवद्देहोभिजायते। शस्त्रादिना तस्य भेदनं न सम्भाव्यते।

20. आकाशीधारणमुद्रा

विधिः - आकाशतत्त्वे सिन्धुजलसदृशव्योमवद्विस्तृतहकारबीजमन्त्रविशिष्टशिवं ध्यायेत्। पूर्ववत् पञ्चघटिकापर्यन्तप्राणान् विलयेनानुष्ठाता आकाशतत्त्वं जयति। एतस्य आकाश-तत्त्वस्य स्थानसहस्रारे आज्ञाचक्रतः सहस्रारपर्यन्तं वर्त्तते।

तत्फलम् - मोक्षद्वारभेदनकरीयं मुद्रा, एतस्याः कृपावशाद् प्रलयेऽपि नो म्रियते योगी।

वैशिष्ट्यम् - दिव्यदेहप्राप्तये पूर्वोक्तपञ्चविधात्मकधारणानामुदयोऽत्यन्तम् अपेक्षितं वर्त्तते। एतासां पञ्चानामभावे दिव्यदेहात्मकपरमलक्ष्यस्य प्राप्तिर्नैव सम्भवति। पञ्चानामुद्राणां स्थितिः शाम्भवीमुद्रायां ज्ञेयम्।

21. अश्विनीमुद्रा

विधिः - गुदाद्वारस्याकुञ्चनप्रसारणात्मकक्रियाविशेषोऽश्विनीमुद्रानाम्ना लोके शास्त्रे च प्रसिद्धा अस्ति।

तत्फलम् - कुण्डलिनीशक्तिजागरणायेयं मुद्रा प्रभावकारिणी। गुदारोगनाशिका, बलपुष्टिकरी, अकालमरणहारिणी चेयं मुद्रेति।

वैशिष्ट्यम् - एतस्याः मुद्रायाः योगपरम्परासु विभिन्नसाधनास्वरूपे अपूर्वयोगदानं वर्त्तते। मूलबन्धे एतस्याः मुद्रायाः क्रमिकानुगमनं वर्त्तते। मूलबन्धस्य यथार्थस्थितिप्राप्तये अश्विनीमुद्राया विशेषमहत्त्वं वर्त्तते।

22. पाशिनीमुद्रा

विधिः - कण्ठपृष्ठे पाशवद् पादौ क्षिपेद् इति पाशिनीमुद्रा। अत्रापि बन्धत्रयाणां महत्त्वं वरीवर्त्ति।

तत्फलम् - इयं बलपुष्टिविधायिनी मुद्रा।

वैशिष्ट्यम् - अनया मुद्रया साधके गर्भासनस्य सर्वविधलाभोऽभिजायते। एतस्याः मुद्राया उदयः साधनाक्रमे तदा भवति यदा आसनेषु मुद्रायाः जागरणं सम्पद्यते। पंजाबक्षेत्रीय-किलारायपुरस्थहरिराश्रमीय-साधनापरम्परायां त्रिबन्धविशिष्टासनाचरणे तस्मिन्नासने मुद्रात्वं कल्पते।

23. काकीमुद्रा

विधिः - काकचञ्चुवदास्येन वायुं शनैः शनैः पिबेदिति काकीमुद्रा।

तत्फलम् - इयं मुद्रा सर्वरोगविनाशिनी वर्त्तते। यथा काको न रोगी भवति तद्वत् एव एतस्या अनुष्ठातापि न रुजति।

वैशिष्ट्यम् - खेचरीमुद्रायाम् एतस्या मुद्रायाः क्रमिकप्रभावो भवितुं शक्यते इति योगाचार्याः मन्यन्ते।

24. मातङ्गिनीमुद्रा

विधिः - कण्ठमग्ने जाले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहत्य मुखान्निर्गमयेत्, तदनन्तरं पुनर्वक्त्रेण जलमाहृत्य नासाभ्यां रेचयेत्।

तत्फलम् - इयं मुद्रा जरामरणनाशिनी, मातङ्गवत् बलपुष्टिदायिनी आनन्दकरी चास्ति।

वैशिष्ट्यम् - यथा मातङ्गो जलमाहृत्य पूर्णवेगेन बहिः क्षिपति तद्वदेव अत्रापि कर्त्तव्यः। नास्ति इयं सामान्यमुद्रा। अस्या अभ्यासक्रमे ध्यानस्य कण्ठादूर्ध्वभागीयसहजभावस्य चात्यन्तं महत्त्वं वर्त्तते। दीर्घाभ्यासेनेयं मुद्रा सम्पद्यते।

25. भुजङ्गिनीमुद्रा

विधिः - वक्त्रं किञ्चित् सुप्रसार्य गलया भुजङ्गवत् वायुं पिबेत् इति भुजङ्गिनीमुद्रा घेरण्डसंहितायां प्रसिद्धा।

तत्फलम् - उदरीयाजीर्णादिरोगाणां शमने इयं मुद्रा विशेषप्रभावकारीति आचार्याः शास्त्रे निगदितवन्तः।

वैशिष्ट्यम् - इत्यनया वायुभक्षणं सम्पद्यते। एतस्याः प्रभावात् साधकः दीर्घकालिकानाहारेऽपि भुजङ्गवत् जीवनं यापितुं शक्यते।

पूर्वोक्तसर्वासां मुद्राणां फलश्रुतिलेखनक्रमे आचार्यैः कथितं यद् इमे मुद्राः सर्वरोगविनाशिकाः, सर्वसिद्धिकराः, योगाग्निप्रदीप्तिकाः, दिव्यदेहदायिकाश्च सन्ति। अन्तिमे श्लोके आचार्याः कथितवन्तः -

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्डते।
नास्ति मुद्रासनं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले॥[4]

---

[4]घे॰सं॰ तृ॰ उ॰2, स॰ 100, पृ॰स॰ 52

3.1.2 गोरक्षसंहितायां वर्णितपञ्चमुद्राणां वर्णनम्

गुरुमुखश्रुतयोगविद्यानां सर्वजनकल्याणाय नाथसम्प्रदायस्य नितरां प्रसिद्धाचार्यश्रीगोरक्षनाथैः सङ्क्षिप्तविधिना गोरक्षसंहितेति नाम्ना लोके प्रसारिता। अद्यत्वे योगप्रक्रियापक्षाभ्यासिनां वृन्दे अत्यन्तसमादृतभावेनोक्तग्रन्थस्य प्रचलनं दृश्यते। विविध-प्रकारिकसन्देहस्थानविशिष्टयौगिकप्रक्रियायाः प्रस्तुतग्रन्थे येन विधिना सङ्क्षिप्तदृष्ट्या विवेचनं प्राप्यते तद्वदन्यत्र नो दृश्यते। गोरक्षसंहिता शब्देनैव गोरक्षकृत् उत् गोरक्षसम्मतभावानां सङ्ग्रहणमवबोध्यते। अर्थात् यथा विधिः गोरक्षैरभ्यसितस्तस्यैवात्र सङ्ग्रहरूपेणाचार्यैः अस्मत्कृते प्रस्तुत्य योगशास्त्रपरम्परा संवर्धिता।

प्रस्तुतग्रन्थे द्विशतश्लोकानां सङ्ग्रहणमुत परम्परातः प्राप्तयोगप्रक्रियायाः सङ्कलनं वर्त्तते। यमनियमव्यतिरिक्तयोगदर्शनोक्तानि सर्वाणि अङ्गानि अत्रापि आचार्यैः स्वीकृतानि[5]। अजपागायत्रीप्रक्रियावर्णनान्तरं शक्तिचालनप्रक्रियायाः गुप्तरीत्या परञ्च परम्परातो योगदीक्षितानांकृते स्पष्टरीत्या प्रदर्शिता[6]। या कुण्डली नित्यं ब्रह्मद्वारमुखं स्वमुखेनाच्छाद्य तिष्ठति सैव शक्तिचालनविधिना जागर्ति। अस्मिन्प्रकरणे एव 'प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरुता सह' इत्यांशे बुद्धियोगशब्दार्थस्य व्यङ्ग्यार्थं बहिर्योगेति ध्यानबिन्दूपनिषदि सम्प्राप्यते। अथवा इत्थमपि कथयितुं शक्यते यत्तत्र 'बुद्धियोगेन' शब्देनाचार्यैः यद्भावः कथितः तस्यैव भावस्य स्पष्टप्रतिपादनायौपनिषदि ऋषये 'बहिर्योगेन' शब्देन व्यवहितः।प्रसङ्गप्रभावादपि बहिर्योगस्य स्पष्टत्वं सन्दृश्यते। योगाग्निसन्दीप्ताय योगकुण्डल्युपनिषदि मार्गद्वयमुत साधनद्वयं प्राप्यते - सरस्वतीचालानं प्राणनिरोधनञ्च। इडापिङ्गलयोर्मध्ये सरस्वतीशब्देन सुषुम्नायाः ग्रहणं योगपरम्परायां प्रायस्सर्वत्रैव दरीदृश्यते। तस्या एव चालनं कुम्भकादिविभिन्नविधिना सम्भवति। प्राणनिरोधनशब्देन मूलतः कुम्भकातिरेकत्वमभिधेयम्। प्रस्तुतद्वयोः मार्गयोः

---

[5]गो०सं०, श्लो०सं० – 6, पृ०स० - 15
[6]गो०सं०, श्लो०सं० – 48, पृ०स० - 45

मिश्रीकरणमेव योगकुण्डल्युपनिषदि व्यक्तमार्गस्य निष्कर्षपक्षेति। शक्तिचालनशब्देनात्रापि हठयोगप्रदीपिकायां वर्णितविधायाः ग्रहणं ज्ञेयम् अर्थात्शरीरस्थसारतत्त्वस्याग्निसन्दीपत्वात् मनप्राणविशिष्टोर्ध्वगमनमिति। अस्मिन् क्रमे पश्चिममार्गस्योद्घाटनमत्यन्तमावश्यक्यं वर्त्तते। यथा -'नाकृतं मोक्षमार्गं स्यात् प्रसिद्धं पश्चिमं विना'[7] इति वचनप्रमाणात्।

पश्चिममार्गस्योद्घाटनेन चित्तसहितं वायुः सुषुम्नां प्रविशति। इत एव पञ्चमहाभूतानां जयत्वं सम्पद्यते। पञ्चविधधारणानामुद्घाटनमपि इत एव जायते।

शक्तिचालिनीमुद्रायाः वर्णनं प्रायो हठयोगशास्त्रेषु सर्वत्रैव दृश्यते, तथापि घेरण्यसंहितायां प्राणचालिनीनाम्ना एतस्या विशिष्टवर्णनं प्राप्यते। इयं तु तत्रैव द्रष्टव्यमिति। गोरक्षसंहितायां शक्तिचालिनीमुद्रायाः[8] यद् वर्णनं प्राप्यते तत्र मूलतः पक्षत्रयं दृश्यते। आसने पद्मासनस्य, बन्धे त्रयाणां बन्धानां तथा च प्राणायामे उज्जयीविशिष्टकिञ्चिद्भस्त्रिकायाः। पद्मासने सम्पुटितौ करौ दृढतरं कृत्वा वक्षसि गाढं चिबुकं सन्निधाय मनसि ज्योतिस्वरूपब्रह्मणः ध्यानमाचरेत्। साम्प्रतम्, उज्ज्ययिविशिष्टकिञ्चिद्भस्त्रिकाविधिना प्राणापानयोर्मेलनं सम्पादनाय त्रिबन्धस्य विशिष्टरीत्याचारणं विधीय गुरुमार्गदर्शने दीर्घकालिकाभ्यासो विधेयः। अस्तु एतदतिरिक्तं स्पष्टरीत्या पञ्चमुद्राणाम् आचार्यैः वर्णनं कृतम् -

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धञ्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः[9]॥

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्धः, जालन्धरबन्धः, मूलबन्धश्चेति पञ्चमुद्रा गोरक्षसंहितायां वर्णिता। शक्तिचालिनीमुद्रानन्तरवर्णिते तासां मुद्राणां लक्ष्यं मुक्तिभाजनत्वं विषयकप्रचण्डवेगेति योगपरम्परायां श्रुतम्। सर्वा मुद्रा मध्ये गोरक्षसंहिताकारैः एतासां पञ्चानां

[7]यो॰शि॰ श्लो॰सं॰ – 155, पृ॰स॰ - 12
[8]गो॰सं॰, श्लो॰सं॰ – 51, पृ॰स॰ - 50
[9]गो॰सं॰, श्लो॰सं॰ – 56, पृ॰स॰ - 55

मुद्राणां मुख्यत्वं भजते। अनेकेषु विद्वत्सु महामुद्रानभोमुद्रा एव प्रामुख्यं भजते। नभोमुद्रा खेचरीमुद्रायाः एव अपराभिधानं वर्त्तते। परञ्च खेचरी नाम लोकेऽधिकं प्रचलितं वर्त्तते। घेरण्यसंहितायाम् अनयोर्द्वयोः पृथग्रूपेण वर्णनं प्राप्यते। तत्र कथं सङ्गतिः भवति इति घेरण्यसंहिताक्रमे प्रस्तुतं तत्रैव द्रष्टव्यम्। क्रमिकोऽभ्यासेति सङ्केतः।

बन्धत्रयाणामनन्तरभाजनमपि मुद्रासु भवति इति गोरक्षसम्मतम्। सम्प्रति क्रमशो ग्रन्थस्थपञ्चमुद्राणां स्वरूपफलवैशिष्ट्यञ्च प्रस्तूयते।

1. महामुद्रा- वामाङ्घिणा योनिं सम्पीड्य, जालन्धरं विधीय, दक्षिणपादं प्रसार्य प्रसारितपादं हस्तेनाभिधार्य पूरकं विधीय, उदरम् आपूर्य कुम्भकमाचरेत्। यथाशक्ति कुम्भकं विधीय शनैः शनैः रेचयेत्। प्रारम्भो वामनाडीविशिष्टचन्द्राङ्गेन कर्त्तव्यः। तदनन्तरं सूर्यनाडीतः समाधेयः। समसङ्ख्या प्राप्ते सति मुद्रां विसर्जयेत्।

फलम्- जठराग्निसन्दीपनत्वात् सर्वविधिरसान् पच्यते क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगदाः इयं मुद्रा। सर्वविधरोगान् विनश्य महाक्लेशादयो दोषान् अपि विनश्यति।

वैशिष्ट्यम्- अत्र वायुना उदरमापूर्य कुम्भकविधानक्रमे मूलबन्धविशिष्टोड्डीयानस्य महत्त्वं योगपरम्परायां प्रायः सर्वत्रैव प्राप्यते। अतः एतयोरभ्यासेऽपि संविधेयः[10]।

2. नभोमुद्रा (खेचरीमुद्रा) - कपालकुहरे विपरीतगा जिह्वा प्रविशति, दृष्टिः भ्रुवोरन्तर्गता भवति इयं स्थितिः साङ्केतिकरूपेणात्र खेचरीमुद्रायाः वर्त्तते।

फलम्- द्वन्द्वानां शमनं भवति, कर्मणा न लिप्यते। शरीरस्थबिन्दुः यस्तु मूलं वर्त्तते प्रत्येकं जीवस्य। तस्य स्थैर्यम् अनया मुद्रया सम्पद्यते। बिन्दुविशिष्टस्य नाशो नेति इति फलश्रुतिः।

---

[10]गो॰सं॰, श्लो॰सं॰ – 47 - 51, पृ॰स॰ – 56 - 58

वैशिष्ट्यम्- प्रस्तुतप्रकरणे एव योनिमुद्राया अपि वर्णनं प्राप्यते। घेरण्यसंहिताप्रकरणे या स्थितिः वर्णिता योनिमुद्रायाः तस्या एवात्र ग्रहणं ज्ञेयम्। अत्रैव शरीरस्थरजःशुक्रयोः प्रत्येकं शरीरं का स्थितिः वर्त्तते तस्यापि वर्णनं प्राप्यते।

सिन्दूरद्रवसङ्काशं नाभिस्थाने स्थितं रजः।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्॥[11]

शरीरस्थरजश्शुक्रयोः ऐक्यमेव हठयोगविज्ञानस्य उत्कर्षेति। अस्यां प्रक्रियायां खेचरीमुद्रायाः विशिष्टयोगो वर्त्तते। अनया विना पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं नैव सम्पद्यते।

3. उड्डीयानबन्धः[12]- श्वासं विरेच्य उदरं पश्चिमे तानम् इति उड्डीयानबन्धः।

फलम्- प्राणरूपी महाखगम् अनया बन्धविशिष्टमुद्रया विश्रमति। अनया मृत्युपर्यन्तं सर्वविधक्लेशं विनश्यति।

वैशिष्ट्यम्- एतस्याभ्यासेन स्वाभाविकतया मूलबन्धः सम्पद्यते। अत्रैव उड्डीयानबन्धस्य स्थानवर्णितमस्ति - उदरस्य पश्चिमे एवञ्च नाभेरर्धः एतस्य बन्धस्य दिव्यस्थानं वर्त्तते।

4. जालन्धरबन्धः[13]- हृदये चिबुकं सम्प्राप्य कण्ठसङ्कोचनमेव जालन्धरबन्धेति। अनेन बन्धेन शिरोजालं बध्नाति, अस्मात् प्रभावात् चन्द्रमण्डलात् स्रवितामृततत्त्वस्य नाभौ अग्निकुण्डे पतनं न भवति।

फलम् - वायुः न प्रकुप्यति।

5. मूलबन्धः[14]- पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य गुदं योनिमाकुञ्चयेत् अपानमूर्ध्वमाकृष्य इयं स्थितिः मूलबन्धेति।

---

[11]गो०सं०, श्लो०सं० – 62 - 74, पृ०स० – 59 - 64
[12]गो०सं०, श्लो०सं० – 76 - 77, पृ०स० - 66
[13]गो०सं०, श्लो०सं० – 78 - 79, पृ०स० - 67
[14]गो०सं०, श्लो०सं० – 80 - 81, पृ०स० - 68

फलम्- अपानप्राणयोः ऐक्यात् मूत्रपुरीषयोः क्षयो जायते। अग्निर्जागरणात् वृद्धोऽपि अस्मात् बन्धप्रभावात् तरुणायते।

वैशिष्ट्यम्- पूर्वोक्तानां पञ्चानां मुद्राणां परस्परं संयोजनम् अन्यानाम् अर्थात् अन्यहठयोगशास्त्रे प्रसिद्धमुद्राणां स्वाभाविकोदये हेतुः इति योगसाधकैः।

प्रस्तुतग्रन्थे द्वितीयशतकेऽपि काश्चन मुद्राः प्राप्यन्ते यथा विपरीतकरिणीकाकी-पञ्चविधधारणादि। हठयोगप्रदीपिकाघेरण्डसंहिताशिवसंहितासु प्राप्तस्वरूपैकरूपत्वात् न विस्तार्यते इत्यलम्॥

3.1.3 विभिन्नोपनिषदि वर्णितमुद्राणां स्वरूपनिदर्शनम्

वैदिकमार्गीयाखण्डानन्दपरब्रह्मस्वरूपज्ञाने मार्गद्वयं मुख्यत्वं भजते कर्ममार्गः ज्ञान-मार्गश्च। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः', 'कुर्वन्नेह कर्माणि॰' इत्यादिमन्त्रैः कर्ममार्गस्य यथार्थत्वं प्रतिपाद्य ज्ञानमार्गस्थसारतत्त्वस्याहं ब्रह्मास्मि इत्यादिना जीव एव ब्रह्म प्रतिपादने निरताः वेदपुरुषाः। सर्वकालिकसर्वनियन्तृखण्डाखण्डशुद्धब्रह्मस्वरूपस्य प्राप्तिक्रमे नैकमार्गाः स्वकीयवैदिकाचार्यैः प्रदर्शिताः। तस्मिन् मार्गविभागस्य सर्वाधिकप्रसिद्धभक्त्यादि-विभागेषु योगमार्गस्य साङ्ख्येन युगपत् वर्णनदृष्ट्या नैकोपनिषदां ज्ञानात्मकानुसन्धानेन सह प्रयोगात्मकपक्षाणाम् अपि अत्यन्तविस्तृतवर्णनं प्राप्यते।

ज्ञानात्मकयोगशास्त्रीयोपनिषत्सु नारदपरिव्राजकसंन्यासब्रह्मविद्यासीतामैत्रायणीकृष्ण-यजुर्वेदीयामृतनादयुक्तिकात्मबोधनारायणाथर्वशिरजाबालपरमहंसपरिव्राजकशारीरकसुबालस्कन्दात्मगर्भोपनिषत्सञ्ज्ञका अत्यन्तप्रसिद्धाः सन्ति।

प्रयोगप्रधानयोगशास्त्रीयोपनिषत्सु ब्रह्मबिन्दुमहोपनिषत्तेजोबिन्दुवराहध्यानबिन्दुनाद-बिन्दुयोगकुण्डलमण्डलब्राह्मणक्षुरिकयोगशिखायोगतत्त्वयोगराजोपनिषत्सञ्ज्ञकाः
योगसाधकेषु प्रसिद्धाः सन्ति।

अस्मिन् प्रकरणे एतेषामुपनिषदां प्रयोगदृष्ट्या प्राप्तज्ञानस्य प्रयोगात्मकरीत्या एव वर्णनमभिमतम्। इमं भावं मनसि निधाय प्रस्तूयते -

वराहोपनिषद्- मुक्तिकोपनिषदनुसारं वराहोपनिषद् कृष्णयजुर्वेदेन सम्बद्धाऽस्ति। ऋभुसञ्ज्ञकब्रह्मविद्याविषयकपरमजिज्ञासुवर्यैः यदा द्वादशदैववर्षपर्यन्तं तपितं तर्हि ऋभोः तपश्चर्यातः प्रसन्नो भगवन् वराहरूपे ऋषिवर्यान् उपकृतवान्। वराहभगवतो विशिष्टवचनानां प्रथमोऽध्याये तथा च निदाघजिज्ञासोः जीवन्मुक्तस्य लक्षणविषयको योगविद्याविषयकश्च प्रश्नस्योत्तरः आचार्यैः ऋभुवर्यैः चतुर्थपञ्चमाध्याययोः प्रदत्तः। मुख्यतया वराहभगवतः सम्बन्धत्वात् वराहोपनिषद् इति सञ्ज्ञा प्रसिद्धा।

पञ्चमाध्याये निदाघः ऋभुं प्रति योगाभ्यासविधिविषयकजिज्ञासा कृता। तदुत्तरे आचार्यः ऋभुः सर्वप्रथमं शरीरं पञ्चतत्त्वात्मकमिति निर्दिश्य प्रतितत्त्वं न्यूनत्त्वे सति किं भवति इति निगदितवन्तः। एकस्मिन् अहोरात्रे एकविंशतिसहस्राधिकषट्शतानिश्वासप्रश्वासानि इति निर्देशितवन्तः। योगसाधनाया अव्यवस्थितक्रमनिर्देशे आचार्यैः सर्वप्रथमम् उड्डीयानबन्धस्य महिमा वर्णिता। कदा एतस्य बन्धस्याचरणं मा कर्त्तव्यमित्यनेन सह ‘हितं मितञ्च भौक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा’ इत्यात्मकं निर्देशनं कृतम्।

अस्मिन्नैव क्रमे चत्वारिंशच्छलोके तथा च पञ्चचत्वांरिच्छलोके मूलबन्धस्याभ्यास-विषयकसङ्केतः कृतः। परञ्च, मूलबन्धद्वारापानवायोः ऊर्ध्वगमनं भवति अत्र उदानवायोः वर्णनं प्राप्यते। सम्भवतोऽपानस्य स्थाने उदानलेखनं पाण्डुलिपेः त्रुटिः भवेत्। यस्य शुद्धिं विना एव मोतीलालबनारसीदास दिल्ली, एवञ्च गुरुकृपा आश्रम सुन्दरा आणन्दानां संस्करणेषु उपेक्षापूर्वकं मुद्रितमिति मन्ये। अस्तु, सम्प्रति प्राप्तमुद्राणां वर्णनं क्रियते।

1. उड्डियानबन्धः- एतस्मिन् बन्धे केवलं विषयस्य महिमामण्डनमेव दृश्यते। प्रक्रियायाः वर्णनं नास्ति, परञ्च कदा करणीयम् इति निर्दिष्टम् -

तस्य मुक्तिस्तनोः कायात्तस्य बन्धो हि दुष्करः।
अग्नौ तु चालिते कुक्षौ वेदना जायते भृशम्॥

अर्थात् अनेन बन्धेन वायोः शरीरे विस्तारो न्यूनत्वेन सम्पद्यते अतोऽयं दुष्करः। अनेन अग्निचालनं भवति अतः पाचनक्रियासम्पद्यमाने सति अर्थात् भोजनान्ते इदं नाचरणीयम् अन्यथा उदरे तीव्रपीडा भविष्यति।

अत्यधिकबुभुक्षितेऽपि एवञ्च विण्मूत्रवेगसम्पन्नेऽपि अयं नाचरणीयः। हितं मितञ्च भोक्तव्यं स्तोकं स्तोकम् अनेकधा इति विशेषनियमः[15]।

[15] व०उ० – अ०स० – 5, श्लो०स० – 8-9

2. मूलबन्धः- अस्मिन् वर्णने आचार्याः प्रक्रियावर्णनं निगद्यते। ते कथयन्ति यत् - अपानं मुकुलीकृत्य गुदाम् ऊर्ध्वम् आकर्षयेत्। प्रणवेन कुण्डलिनीं समुत्थाप्य पुनः ओङ्कारेण विसर्जयेत्[16]। अस्मिन्नैव क्रमे गुप्तरीत्या आर्यैर्वज्रोलीविपरीतकरणीखेचरीमुद्राणां सङ्केतानि क्रियन्ते। यथा - मार्गे बिन्दुं समाबध्य अर्थात् वज्रोलीविपरीतकरणीरीत्या वीर्यं स्थैर्य, 'वह्निं प्रज्वाल्य जीवने' अर्थात् अन्तः शरीरे उड्डीयानक्रियया योगाग्निं संवर्द्ध्य, 'शोषयित्वा तु सलिलम्' अर्थात् खेचरीजालन्धरबन्धाभ्याम् ऊर्ध्वतो द्रवितामृतम् ऊर्ध्वे एव शोषयेत्। अनेन पूर्वोक्तसम्पूर्णविवेचनस्य प्रयोगेन कायं दृढं भवेत्।

गुदयोनिसमायुक्ते आकुञ्चत्येककालतः।
अपानमूर्ध्वगं कृत्वा समानोऽन्ने नियोजयेत्॥

अर्थात् मूलबन्धं कृत्वा यदा अपानमूर्ध्वगो भवति तर्हि जालन्धरोड्डीयानाभ्याम् अपानस्य समाने मेलनं कर्त्तव्यम्[17]। अनेन सर्वनाडीनां निरोधनं भवति। एतस्य एवापरनाम सम्पुटो योगेति। एतेन बन्धत्रयः सिद्ध्यते। अस्य निरन्तराभ्यासेन वायोः सिद्धिः भवति।

3. जालन्धरबन्धः- एतस्य बन्धस्य वर्णनं दार्शनिकदृष्ट्या प्राप्यते। निरन्तरात्मचिन्तनमेवात्र कण्ठमुद्रया प्रदर्शितम्[18]।

4. महावेधमुद्रा- वायों गतिमवरुद्ध्य अन्तः कुम्भकं कृत्वा समहस्तयुगं भूमौ पादयुगमपि समंकृत्वा च चतुष्पीठम् अर्थात् मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपुर-अनाहतचक्ररूपीपीठानां स्थानं यत्र अर्थात् मेरुदण्डे वाय्वाघातेन क्रियाशीलनत्वं सम्पादयेत्[19]।

ध्यानबिन्दूपनिषद्- कृष्णयजुर्वेदीयध्यानबिन्दूपनिषदि व्यापकतया योगशास्त्रोक्तमुद्राणां क्वचित्स्पष्टं क्वचित्सङ्केतरीत्या बन्धत्रयेण सह खेचरीवज्रोलीमहामुद्राणां वर्णनं प्राप्यते। एतत् षडात्मकमुद्राणां क्रमशः स्वरूपं विवेच्यते।

---

[16] व०उ० – अ०स० – 5, श्लो०स० – 33
[17] व०उ० – अ०स० – 5, श्लो०स० – 38
[18] व०उ० – अ०स० – 5, श्लो०स० –- 62 - 61
[19] व०उ० – अ०स० – 5, श्लो०स० – 61 - 62

1. मूलबन्धः- पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिं समाकुञ्च्य गुदं सङ्कोचयेत् इति स्थूलपक्षः। इदानीम् अपानमूर्ध्वम् आकृष्येति मनोयोगात्मकपक्षः। उभयात्मकपक्षस्य संयोजनं मूलबन्धशब्देन व्यवह्रियते।

फलश्रुतिः- नित्यं मूलबन्धाभ्यासेन प्राणापानयोरैक्यत्वात् मूत्रपुरीषयोः क्षयो जायते। अस्मात् प्रभावात् वृद्धोऽपि तरुणायते[20]।

इदं वर्णनं हठयोगप्रदीपिकायामपि ईदृशमेव प्राप्यते[21]।

2. उड्डीयानबन्धः- अक्षरशो वर्णनं हठयोगप्रदीपिकायामपि मिलति।

उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः।
उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते॥
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्।
उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी[22]॥

3. जालन्धरबन्धः- इदमपि हठयोगप्रदीपिकायामपि शब्दशः प्राप्यते[23]।

4. खेचरीमुद्रा- एतस्या अपि वर्णनं हठयोगप्रदीपिकायां शब्दशो द्रष्टव्यः[24]।

5. योनिमुद्रा[25] - एतस्याः एवापरनाम वज्रोलीमुद्रा वर्त्तते। अस्मिन् प्रकरणे शरीरस्थ-सारतत्त्वस्य माहात्म्यप्रदर्शनपूर्वकम् एकस्मिन् देहे एव वीर्यरजसोःस्थितिरभिव्यक्ताः। अत्र वीर्यस्य सम्बन्धश्चन्द्रेण सह यस्तु सहस्रारे शिवरूपे वर्त्तते इति प्रदर्शितः। रजोविषये अत्र लोहितात्मको महारज इति वचनं प्राप्यते। रक्तवर्णात्मकोऽयं महारजः प्रतिशरीरं वर्त्तते। शक्तिजागरणात् सूर्यतत्त्वविशिष्टोऽयं महारजः चन्द्रतत्त्वे विलीयते। अत्रैको विचित्रकूटश्लोकस्य उत् प्रश्नात्मकश्लोकस्यापि प्राप्तिः भवति।

---

[20]ध्या०उ० श्लो०स० – 74 - 75
[21]ह०प्र०उ०सं० – 3, श्लो०स० – 61, 65
[22]ध्या०उ० श्लो०स० – 76 - 77
[23]ध्या०उ० श्लो०स० – 78 - 79
[24]ध्या०उ० श्लो०स० – 80 - 85
[25]ध्या०उ० श्लो०स० – 87 - 91

शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्यसमन्वितम्।

द्वयोः समरसीभावं यो जानाति स योगवित्॥

यः सूर्यचन्द्रात्मकवीर्यरजसोः समरसीभावप्रक्रिया जानाति स एव योगवित्। निश्चितमेव एतस्याः ज्ञाता दुर्लभः।

6. महामुद्रा- यया मुद्रया समस्तमलानां शोधनं भवति, चन्द्रसूर्ययोः मिलनं भवति एवञ्च सर्वेषां रसानां सम्यक्तया शोषणं भवति सा महामुद्रेति[26]। फलश्रुतिप्रस्तुत्यनन्तरं प्रक्रियायाः वर्णनं प्राप्यते - हनुः वक्षोन्यस्त सम्पीड्य, वामाङ्घ्रिणा योनेः सुषिरं निपीड्य, दक्षिणपादं यं प्रविततं वर्त्तते तं हस्ताभ्यामनुधारयन्, कुक्षियुगलं श्वसनेन आपूर्य, शिरेण जानुं संस्पर्श्य च शनैः रेचनं कुर्यात्। एषा पातकनाशिनीमहामुद्रायाः प्रयोगपक्षेति।

पूर्वोक्तविवेचनेनेदं स्पष्टं यत् हठयोगप्रदीपिकायां प्रायः प्राप्तश्लोकानामुपनिषदत्सु दर्शनं शब्दशो भवति। अतः हठयोगप्रदीपिका एका सङ्ग्रहग्रन्थरूपे दर्शनीया। एवञ्च अत्र प्राप्तयोनिमुद्राविषयकवर्णनेन लोके व्याप्तवज्रोलीनामकभ्रमात्मकस्त्रीपुंसोः सम्भोगरूपक-मुद्रायाः खण्डनं सिद्ध्यति।

नादबिन्दूपनिषद्- प्रस्तुतोपनिषदि अनाहतनादानुसन्धानमिति विषयमधिकृत्य वर्णनं प्राप्यते। यथा तु योगशास्त्रे नादविषयकमाहात्म्यं प्रायः सर्वे एव जानन्ति यत् सदाशिवोक्तानि सपादलक्षचित्तलयावस्था-समाधायकानि उपासनानि लोके सन्ति। तथापि तेषु सर्वेष्वपि लयेषु श्रुतिमिलितानाहतनादानुसारेण तदन्ते सन्धीयमानचित्तसमाधिरूपं लयमेव वयं (शङ्कराचार्याः) मान्यतमं मन्यामहे।

सदाशिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके।

नादानुसन्धानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्[27]॥

---

[26]ध्या०उ० श्लो०स० – 91 - 92

[27]यो०त०, श्लो०स० - 2

अत एतदात्मकचित्तलयावस्थासमाधायकपरमलक्ष्यसाधनभूतस्यात्यन्तरहस्यपूर्णवर्णने अस्याम् उपनिषदि वैष्णवी सञ्ज्ञाविशिष्टमुद्रायाः साङ्केतिकवर्णनं प्राप्यते।

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा[28]॥

एतस्य प्राप्तवर्णनस्य स्पष्टतायै हठयोगप्रदीपिकायाम् एकः श्लोकः प्राप्यते। इदं वर्णनमपि नादानुसन्धानपक्षस्य प्रक्रियारूपकविभागे मिलति। तदपि दर्शनीयम् -

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यात्स्थिरपदं वज्रेत्[29]॥

अर्थात् मननशीलो योगी हस्ताङ्गुष्ठाभ्यां श्रोत्रे विधाय अर्थात् हस्ताङ्गुष्ठौ श्रोत्रविवरयोः कृत्वा यम् अनाहतध्वनिम् आकर्णयति एवञ्च तस्मिन् ध्वनौ चित्तं स्थिरीकुर्यात्। स्थिरं पदं व्रजेत् अर्थात् तुर्याख्यं गच्छेत्।

प्रस्ततोपनिषदि अपि फलश्रुतिरूपे इदमेव भावं प्राप्यते -

अभ्यस्यमानो नादोऽयं ब्रह्म आवृणुते ध्वनिः।
पक्षाद् विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत्[30]॥

अतो निष्कर्षदृष्ट्या इदं वक्तुं शक्यते यत् नादानुसन्धानाय यत्किमपि मुद्रादृष्ट्या मुख्यं वर्त्तते तस्मिन् वैष्णवीमुद्रायाः विशिष्टमाहात्म्यं वर्त्तते। एतस्या अभावे नादश्रवणप्रक्रियायाः पूर्णत्वं न भवति। इदमपि सञ्ज्ञेयं यत् नादश्रवणायान्तःकरणस्य शौचत्वम्, अनेन सहैव प्राणायामस्यात्यन्तावश्यकता भवति। वैष्णवीमुद्रायाः प्रयोगः प्रारम्भिकस्तरे एव भवति। नादस्योत्तमस्तरे केवलं चित्तस्थैर्यमेव पर्याप्तमित्यलम्।

---

[28]ना०बि०उ०, श्लो०स० - 31
[29]ह०प्र०, उ०सं० – 4, श्लो०स० - 82
[30]ना०बि०उ०, श्लो०स० - 32

मण्डलब्राह्मणोपनिषद्- आत्मतत्त्वोपदेशाभिलाषीं महामुनियाज्ञवल्क्यं प्रति भगवानादित्यः यद् किमपि कथितं तत् सर्वं प्रस्तुतोपनिषदि निगदितं वर्त्तते। पञ्चब्राह्मणात्मिकेयम् उपनिषद् अत्यन्त एव सरलरीत्या योगशास्त्रोक्तगुप्तमुद्राणां वर्णनं प्रस्तौति। प्रथममण्डले शाम्भवीमुद्रायाः वर्णनं दर्शनीयम् -

1. शाम्भवीमुद्रा- लक्ष्येऽन्तर्बाह्यदृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां चेयं शाम्भवीमुद्रा भवति। सर्वतन्त्रेषु गोप्या महाविद्या भवति। यज्ज्ञानेन संसारनिवृत्तिः। तत्पूजनं मोक्षफलदम्[31]। स्पष्टत्वाच्च न विवेच्यते। अन्तर्लक्ष्ये कस्य ध्यानं कुर्यात् अथवा साधकस्य ध्यानाश्रयः को भवेत् इत्यात्मकप्रश्नस्योत्तरे बहूनि मतानि सन्ति। यथा - प्रथममतानुसारम् अन्तर्लक्ष्यं जलज्योतिः स्वरूपं भवति। अन्तर्ब्राह्मेन्द्रियैरदृश्यत्वात् महर्षिवेद्यम्। जलज्योतिरन्तर्लक्ष्यं सहस्रारे कर्त्तव्यम्। केचन मन्यन्ते आचार्याः यद् बुद्धौ सर्वाङ्गसुन्दरपुरुषरूपं ध्यातव्यम्। अन्ये च शीर्षान्तर्गतमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रमुमासहायं नीलकण्ठं भगवान्नीलकण्ठशिवं यस्तु प्रशान्तोऽस्ति तमाराध्येत्। अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तर्लक्ष्यम् इति अन्ये।

सर्वेषु मतेषु आत्मभूतब्रह्मणो ध्यानमेवेष्टम्[32]।

2. खेचरीमुद्रा[33] - ज्योतिर्दर्शनरूपात्मकप्रस्तुतमुद्रायात्र वर्णनं प्राप्यते। तालुमूले गाढतमदर्शने नित्याभ्यासाद् मण्डलाकारं ज्योतिर्दृश्यते। तज्ज्योतिरेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म वर्त्तते। सहजानन्दे मनो लीयते यदा तदा शान्तो भवति सासांरिकव्यक्तिः। इयमेव खेचरीमुद्रा इति। खेचरीसिद्धिचिह्नानि अपि अत्र प्राप्यन्ते - तानि अपि द्रष्टव्यानि।

सर्वप्रथमं तारकवज्ज्योतिः दृश्यते। तदन्तरं वज्रदर्पणम्, पूर्णचन्द्रमण्डलम्, नवरत्नप्रभामण्डलम्, मध्याह्नार्कमण्डलम् एवञ्चान्ते वह्निशिखामण्डलं दृश्यते[34]।

---

[31]म०ब्र०उ० – ब्रा०सं० 1 – गद्यस० - 21
[32]म०ब्र०उ० – ब्रा०सं० 1 – गद्यस० - 22
[33]म०ब्र०उ० – ब्रा०सं० 2 – गद्यस० - 6
[34]म०ब्र०उ० – ब्रा०सं० 2 – गद्यस० - 7

3. षण्मुखीमुद्रा[35] - यदा साधकः प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा कुम्भकं समार्च्य नासाग्रदर्शनदृढ-भावनया द्विकराङ्गुलिभिः षण्मुखीकरणेन प्रणवध्वनिं निशम्य मनस्तत्र लीनं करोति तदा अस्य लयप्रभावात् तस्य साधकस्य कर्मणा लेपनं न सम्भवति। सर्वेषां कर्मणां सम्बन्धः सूर्योदयेन अस्तेन च भवति। इत्यात्मकसाधकस्य कृते चिद्रूपकसूर्यस्य कदापि उदयास्तगमनं भवति एव न। इत्येव कारणं वर्त्तते यत् योगिनां कृते सर्वेषां कर्मणामभावत्वं भवति।

एतत्त्रयमुद्राणां प्रस्तुतवर्णननिश्चितमेवान्तर्लक्ष्यमधिकृत्य चित्तशुद्धिपूर्वकसङ्कल्प-शून्यत्वेऽवस्थिते सति स्वयमेव प्रयोगप्रधानयोगपक्षस्याविर्भावो भवति। इयं स्थितिः प्राणायमतः प्रत्याहारे प्रवेशाय मुद्राणामौचित्यसूचिका वर्त्तते।

योगकुण्डल्युपनिषद्- अस्यामुपनिषदि योगस्यात्यन्तविस्तृतं गहनञ्च वर्णनं दृश्यते। अत्र शक्तिचालने क्रियाद्वयस्य[36] प्रतिपादनं मिलति। सरस्वतीसञ्चालनं प्राणनिरोधनञ्चेति अत्र सरस्वतीशब्देन अरुन्धतीनाड्याः ग्रहणमपेक्षितम्। यथा तु पूर्वतः शक्तिचालनशब्देन कुण्डलिनीजागरणमुत् ऊर्ध्वगमनमभिलक्षितं वर्त्तते। तस्यैवात्रापि ग्रहणं करणीयम्। सम्प्रति सरस्वत्याः सञ्चालनम् इत्यनेन किं ग्रहणीयम्, कथमियं क्रिया सम्पद्यते तल्लिख्यते -

1. सरस्वतीचालनम्- सरस्वतीनाड्याः ज्ञाने एतस्याः क्रियायाः मुख्यार्थं निहितम्। सरस्वतीनाड्याः स्थानविषयकवर्णनं वराहोपनिषदि पञ्चमाध्याये प्राप्यते।

'सुषुम्ना पश्चिमे चारे स्थिता नाडी सरस्वती'[37]अर्थात् सुषुम्नानाड्याः पश्चिमे पृष्टे सरस्वतीसञ्ज्ञकनाड्याः स्थानं वर्त्तते। स्थानज्ञानानन्तरं प्राप्तक्रियायाः वर्णनं क्रियते -

द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यञ्च अम्बरं चतुरङ्गलम्।
विस्तीर्णं तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः॥
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद् दृढम्।
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनः पुनः॥[38]

---

[35]म०ब्रा०उ० – ब्रा०सं० 2 – गद्यस० - 9
[36]यो०कु०उ० – अ०स० – 1, श्लो०स० - 8
[37]व०उ० – अ०स० – 5, श्लो०स० - 25
[38]यो०कु०उ० – अ०स० – 1, श्लो०स० – 11 - 12

यस्मिन् समये प्राणवायुः वामे वहति तस्मिन् समये पद्मासनं बद्ध्वा द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं तथा च चतुरङ्गुलविस्तृतमम्बरं नाभौ स्थले परिवेष्ट्य हस्ताभ्याम् अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां लिङ्गतः किञ्चितूर्ध्वं नाभितः किञ्चिदधो दृढतया धारयेत्। अग्रिमस्थितिरत्यन्तगोपनीयं वर्त्तते एवञ्च परम्पराभेदेन विविधपूर्णमपि दृश्यते। केचनात्र 'वामे दक्षिणेन' इत्यनेन इडापिङ्गलयोः ग्रहणं कुर्वन्ति। केचन सरस्वतीनाड्याः स्थानं जिह्वायां विचिन्त्य जिह्वायारेव वामे दक्षिणे स्वशक्त्या चालनमेव सरस्वतीचालनं मन्यन्ते।

परञ्च पूर्वोक्तप्रथमद्वयश्लोकेन सह एतस्य श्लोकांशस्य पूर्वापरविशिष्टार्थ-समायोजनायात्र घेरण्डसंहितायां वर्णितपक्षस्य ग्रहणं करणीयम्। तत्र प्राप्यते -

'नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेत् बलात्'[39]

अतोऽत्र 'वामे दक्षिणेन' प्राणानां नासाभ्यां युगपत् ग्रहणं समुचितम्। यदि तु क्रमिकरीत्या प्राणानां ग्रहणं मन्यते तर्हि 'बलाद्' पदस्य यस्तु घेरण्डसंहितायां दृश्यते, तेन सह व्यवस्थितसम्बन्धो नैव सम्भविष्यति। यतो हि बलात् पदेन अत्र त्रिबन्धस्य योगमपेक्षितम्।

मुहूर्त्तद्वयपर्यन्तं निर्भयात् प्रक्रियानुपालनेन सुषुम्नायां प्राणानां प्रवेशो भवति। अस्मिन् प्रकरणे सुषुम्नायां कुण्डल्यारपकर्षणस्यापि वर्णनं प्राप्यते। एतस्य एव सङ्केतो घेरण्डाचार्या अपि कृतवन्तः[40]। अश्विनीमुद्रया एतस्यापकर्षणस्य कार्यं नियोजितं दृश्यते।

अग्रिमवर्णने त्रिबन्धस्य दर्शनं दृश्यते। त्रिबन्धैः प्राणापानयोरैक्यं सम्पद्यते। सरस्वतीसञ्चालने वायोः रेचनं सूर्यनाडीतः करणीयम्। जालन्धरबन्धस्यौचित्यं सम्पादनाय 'कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत्'[41] इति वचनम् उपनिषदि प्राप्यते।

एतस्याः मुद्राया अभ्यासेन शरीरस्तरे गुल्मरोगः, जलोदरः प्लीहा इत्यादयरुदरसम्बद्धरोगाः विनिश्यन्ति[42]। अस्मिन्नैव क्रमे बन्धत्रयाणां स्वरूपं प्राप्यते -

---

[39]घे०सं०, तृ०उ०, श्लो०स० - 45
[40]घे०सं०, तृ०उ०, श्लो०स० – 55 - 56
[41]यो०कु०उ० – अ०स० – 1, श्लो०स० – 16
[42]यो०कु०उ० – अ०स० – 1, श्लो०स० – 18

2. मूलबन्धः- मलमूत्रमार्गयोराकुञ्चनं कृत्वा अधोगामी अपानस्य ऊर्ध्वाकर्षणम् एव मूलबन्धशब्देन व्यवह्रियते। यदा अपानवयूर्ध्वगामी भूत्वा वह्निमण्डलपर्यन्तं व्याप्यते तर्हि वायोः आहतत्वात् दीर्घाग्निशिखा प्रदीप्यते। तया दीप्ताग्निशिखया दह्यमानप्राणाः उष्णस्वरूपमयाः भवन्ति। अनेन देहस्थाग्निः प्रदीप्यते।

प्राणसन्तप्तानन्तरोष्णत्वे सति उष्णप्रभावात् कुण्डलिनी अपि सन्तप्तय सम्प्रबुध्यते। अतः कुण्डलिनीजागरणाय योगिभिः सदा मूलबन्धः कर्त्तव्यः।

3. उड्डीयाणबन्धः- सामान्यतया उड्डीयान इति नकारान्तशब्दस्य प्राप्तिर्भवति परञ्चात्र णकारान्तो दृश्यते।

प्रक्रिया- वज्रासने स्थिते सति (अत्र वज्रासनेन सिद्धासनस्य ग्रहणं करणीयम्) कराभ्यां पादौ दृढं धारयेत्। गुल्फदेशसमीपे यद् कन्दं वर्त्तते तं प्रपीडयेत्। अत्र कन्देन पूर्वोक्तविभिन्नप्रकरणे कन्दस्य एव ग्रहणं करणीयम्। उदरे पश्चिमं तानं नाभेरुर्ध्वं कारयेत् इत्यादि अन्यत्सर्वं तु सामान्यमेव वर्त्तते[43]। उड्डियानविषयैकं कूटम् अपि प्राप्यते।

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्त्तव्यस्तूड्डियाणकः।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः॥[44]

कस्मिन्नपि प्राणायामे कुम्भकान्ते अर्थात् अन्तःकुम्भकान्ते तथा च रेचकस्य आदौ उड्डियानस्य प्रबन्धो विधेयः। अनेन प्राणाः सुषुम्नायां प्रविशन्ति।

4. जालन्धरबन्धः- पूरकान्ते कण्ठसङ्कोचरूपकवायुमार्गनिरोधकः जालन्धराभिधः कर्त्तव्यः[45]।

त्रयाणां समन्विताभ्यासे उज्जायीभस्त्रादिप्राणायामस्य व्यवस्थिताभ्यासपूर्वकं प्रतिदिनं कुम्भकस्य सङ्ख्यायां वर्द्धनं कारयेत्।

[43]यो॰कु॰उ॰ – अ॰स॰ – 1, श्लो॰स॰ – 48 - 49
[44]यो॰कु॰उ॰ – अ॰स॰ – 1, श्लो॰स॰ – 47
[45]यो॰कु॰उ॰ – अ॰स॰ – 1, श्लो॰स॰ – 51

5. खेचरीविद्या - प्रस्तुतोपनिषदि द्वितीयाध्याये खेचरीसञ्ज्ञिकाविद्यायाः वर्णनं वर्त्तते। सम्प्रति तस्याः परमगुप्तखेचरीविद्यायाः साङ्गोपाङ्गं स्वरूपं विलिख्यते - सर्वप्रथमन्तु दृढबुद्ध्या खेचरीं ज्ञातुं प्रवर्तेत्। ज्ञानस्याश्रयाः सन्ति अर्थात् यैः माध्यमैः ज्ञातुं शक्यते - ग्रन्थाः, गुरवः, अभ्यासश्चेति। ज्ञाता अर्थात् अभ्यासपूर्वकानुभवात्मकः साधकः जरामृत्युगदघ्नो भवति। प्रारम्भिकाणां कृते इत्यात्मकविज्ञगुरुं प्राप्य तस्मिन् शरणे स्वां समर्प्य तस्मिन् आज्ञायां खेचरीं जानीयात्। अस्यां साधनायाम् अभ्यासपक्षस्य यावत् महत्त्वं वर्त्तते तावत् एव गुरुमुखतः प्राप्तमेलनस्यापि वर्त्तते। अभ्यासस्य प्राप्तिः तु जन्मजन्मान्तरे भवितुं शक्यते परञ्च मेलनस्य प्राप्तिः शतजन्मनि अपि न लभ्यते। बहुजन्मान्ते अभ्यासं कृत्वा ईश्वरकृपावशात् कस्मिन् जन्मनि मेलनं प्राप्यते। गुरुमुखरीत्या गृहीतशास्त्रस्य विशिष्टार्थं ग्रहणेन साधको विमुच्यते बन्धनात्। शास्त्रस्य अस्मिन् प्रकरणे अर्थमस्ति विशिष्टरहस्यम्। यं विना गुरुरपि गुरुपदं नार्हति।

खेचरीबीजेन सहितं खेचरीमन्त्रं जपति एवञ्च अनेन सहैव खेचरीनामक-यौगिकक्रियायाः अभ्यासं करोति, स खेचराधिपतिः भूत्वा खेचरेषु अर्थात् खम् आकाशः शरीरस्थविशुद्धिचक्राद्दूर्ध्वं य आकाशस्तस्मिन् आकाशे चरति अर्थात् वसति।

(क)**खेचरीबीजं** प्रस्तूयते - इदमपि कूटरीत्या एव प्राप्यते -

खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम्।

आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिद्ध्यति॥

खेचराणां वासः आकाशः तस्य वाचको हकारो वर्त्तते, वह्निरर्थात् अग्निः तस्य वाचको रकारः, अम्बुवाचकरीकारः एवञ्च मण्डलम् अर्थात् अनुस्वारो भवति। तर्हि सर्वेषां वाचकानां संयोजनं ह् + र् + ई + म् = ह्रीं भवति। इति खेचरीबीजं शास्त्रे प्रसिद्धम्।

एतद्वदेव अग्रिमश्लोकेषु अपि पूर्वोक्तरीत्या बीजानां वर्णनं प्राप्यते। परम्परायाम् एतेषां बीजानां शरीरस्थकेन्द्रैः सह संयोज्य प्राणरीत्या साधना भवति। पञ्च लक्षं जपेत् यदि तर्हि

तस्य साधकस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव भवति।[46] बीजमन्त्रस्य प्राप्तिः गुरुमुखात् प्राप्तेऽपि यदि न जपति तर्हि एतस्य विपरीतपरिणामोऽपि भवति। इदमपि मुख्यकारणं वर्त्तते गुरुपरम्परायामपि सुसाधकानां कृते अपि इयं मुद्रा मन्त्रपूर्वकं न सुलभम्।

इयं प्रक्रिया अर्थात् खेचरीबीजमन्त्रपूर्वकसम्पूर्णमन्त्रस्य प्राप्तिरेव शास्त्रशब्देन व्यवह्रियते। शास्त्रपूर्वकाभ्यासमाचरेत् अनेन शीघ्रतया सिद्धिः भवति।

(ख) खेचरीसाधनाक्रमः- आत्मज्ञसाधको गुरोपदिष्टरीत्या सप्त वासरे तालुमूलं समुत्कृष्य तालुमूलस्य सर्वं मलं विशोधयेत्। स्नुहिपत्रादिना रसनामूलं समुच्छिनेत्। समुच्छेदनप्रक्रिया परम्परायां सर्वेषां कृते नास्ति। चालनदोहनरीत्या जिह्वायां दीर्घत्वं सम्पादयेत्। वर्षत्रये जिह्वा शनैः शनैः कपालकुहरे प्रविश्य वज्रकपाटं ब्रह्मरन्ध्रं परिभिद्यते। इयं सर्वा प्रक्रिया अत्यन्तशनैः शनैः योग्यगुरुमार्गदर्शने आचरेत् अन्यथा हानिरपि भवितुं शक्यते।

सम्प्रति योगशास्त्रस्य परमगोप्यमन्थनक्रियायाः वर्णनं क्रियते। मन्थनक्रियायाः सर्वे अधिकारिणो न भवन्ति। इयं विद्या अत्यन्तदुर्लभा गोप्या अमोघा एवञ्च अनुचितरीत्याभ्यासे सति प्राणहारी अपि वर्त्तते।

विवेकवैराग्यपुरस्सरं यस्य जिह्वा ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तप्रविष्टा, यस्मिन् जीवने योगात्परं किमपि नास्ति स एव अधिकारी।

खेचर्यां तीव्रसिद्धिः प्राप्त्यर्थं जपं मन्थनञ्च उभे आचरणीयतव्ये[47]। मंथनविधौ अत्यन्तगुप्तरीत्याचार्याः सङ्केतितो यत् स्वर्णजां रोप्यजां लौहजां वा शलाकिकां नासिकारन्ध्रं नियोज्य अथवा दुग्धसिक्तेन तन्तुना अपि कर्त्तुं शक्यते। प्राणान्निरुध्य हृदये, सुखासनेऽवस्थिते सति भ्रूमध्ये नेत्रस्थैर्यं कृत्वा, शनैः शनैः मथनमाचरेत्[48]। प्रस्तुतप्रक्रियात्यन्तगुप्तरीत्याचार्याः मथनविधायाः वर्णनं कृतम्।

---

[46]पूर्ववत् श्लो०स० - 22
[47]पूर्ववत् श्लो०स० – 43 – 44 उत्तरार्द्धपर्यन्तम्
[48]पूर्ववत् श्लो०स० – 44 – 46 पूर्वार्द्धपर्यन्तम्

वैशिष्ट्यं प्रस्तूयते - योगपरम्परायां यदा साधकस्य जिह्वा अत्यन्तसहजरीत्या मुखनासिकासंयोजनक्षेत्रविशेषे सहजतया प्रवेशने साफल्यमर्हति तर्हि एतस्य मथनपक्षस्य प्रयोगो विधीयते। अस्मिन् प्रचण्डक्रियापक्षे सर्वेषां साधकानां योग्यता नास्ति, अतः सामान्यतया न प्रवर्तेत्। अत्र विशेषविधिना स्वर्णमयमुत् रजतमयं शलाकां नासिकामार्गेण क्वचित् यतः जिह्वा प्रविशति ततः, जिह्वायामावृत्त्य मस्तिष्के प्रविश्य प्राणान्निरोध्य मन्थनं प्रचलति। मासे एकवारमपि एतस्याचरणं पर्याप्तं वर्त्तते। एतस्य प्रभावोअत्यन्तदारुणो वर्त्तते। मूर्च्छा तु सामान्यं वर्त्तते, अपितु कदाचित् स्पन्दनाधिक्यत्वात् प्रक्रियायां प्रारम्भिकप्रवेशोऽपि न जायते। अनवधानस्यात्र स्थानमेव नास्ति। मृत्युरपि भवितुं शक्यते। इदमेव कारणं वर्त्तते एतस्य गुप्तस्वरूपस्य। शास्त्रेऽपि निर्देशः प्राप्यते -

न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत्।

सदा रसनया योगी मार्गं न परिसङ्क्रमेत्॥[49]

यावत् पर्यन्तं प्राणामूर्ध्वगमनं नैव सम्पद्यते तावत् पर्यन्तं एतस्याभ्यासः अत्यन्तं दारुणं मन्ये। अस्माकं योगपरम्परायाम् अस्यां प्रक्रियायां प्रवेशाय वायुनेतिः वायुधौतिश्च अत्यन्तप्रसिद्धे स्तः। एतस्याः वर्णनं चतुर्थाध्याये मुद्राणां सहायकाऽवयवा इत्यात्मके प्रकरणे षट्कर्माणि इति उपप्रकरणे क्रियते तत्रैव दर्शनीयम्। खेचरीमन्त्रस्य यथार्थस्वरूपं योगपरम्परायां गुरुमुखादेव प्राप्तव्यं सामान्यतया मेलनमनु 'ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं'[50] इत्यात्मकमन्त्रस्य प्रस्तुतोपनिषदि तृतीयाध्याये प्राप्यते।

सम्पूर्णखेचरीमुद्राप्राप्ते अपि द्वादशवर्षस्य कालोऽभ्यासे व्ययति। ये क्षणिकाभ्यासिनः सन्ति तेषां कृते किं कथनीयम्।

---

[49]पूर्ववत् श्लो॰स॰ – 47

[50]पूर्ववत् अ॰स॰ – 3

योगशिखोपनिषद्- ज्ञानयोगयोः संयुक्ताभ्यासेन मोक्षस्य प्राप्तिर्विधायिका इयमुपनिषद् सम्पूर्णयोगसम्प्रदायेषु अत्यन्तमादरमर्हति। ब्रह्माशिवयोः प्रश्नोत्तरात्मकसंवादः एतस्याः स्वरूपम्। अस्यां मानवजीवनस्य परमलक्ष्यप्राप्तये योगः कथं विशिष्यते इति विवेचितं वर्त्तते। सर्वविधक्लेशानां केवलं ज्ञानवैराग्यरीत्या शमने आत्यान्तिकनिवृत्त्याभावोऽत्र वर्णितं दृश्यते - यथा -

पिपीलिका यदा लग्ना देहे ध्यानाद्विमुच्यते।

असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहान्ते वा कथं सुखी॥[51]

देहान्ते किं भवेज्जन्म तन्न जानन्ति मानवाः।

तस्माज्ज्ञानञ्च वैराग्यं जीवस्य केवलं श्रमः॥[52]

इत्यादितर्कैः योगस्याचरणे प्रवृत्तिः सम्पाद्यते।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः।

योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥[53]

योगशास्त्रमहत्त्वं प्रतिपादने शिवोच्यते -

ज्ञानेनैव विना योगो न सिध्यति कदाचन।
जन्मान्तरैश्च विविधैः योगो ज्ञानेन लभ्यते॥
ज्ञानं तु जन्मनैकेन योगादेव प्रजायते।
तस्मात् योगात्परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः॥[54]

अस्तु, सम्प्रति प्रस्तुतोपनिषदि वर्णितमुद्रा विवेच्यते। अस्यामुपनिषदि अपि शक्तिचालनमुद्रायाः वर्णनं प्राप्यते -

[51]यो॰शि॰उ॰, अ॰स॰ – श्लो॰स॰ - 33
[52]यो॰शि॰उ॰, अ॰स॰ – श्लो॰स॰ - 32
[53]यो॰शि॰उ॰, अ॰स॰ – श्लो॰स॰ - 13
[54]यो॰शि॰उ॰, अ॰स॰ – श्लो॰स॰ – 52 - 53

1. शक्तिचालनमुद्रा- अस्यामुपनिषदि एतस्याः मुद्रायाः पूर्णक्रमिकवर्णनं न प्राप्यते। यथा अत्र वस्त्रविवेचनं दृश्यते[55]। परञ्च वस्त्रस्य प्रयोगप्रक्रिया नैवोक्तम्। वज्रासनेऽवस्थिते सति[56] एतस्या अष्टवारमभ्यासविषयकवर्णनं प्राप्यते परञ्चात्र स्पष्टतया त्रिबन्धस्य विवेचनं न दृश्यते।

अस्यां मुद्रायां सूर्यभेदोज्जायीशीतलीभस्त्राख्यप्राणायामानाम् विवेचनान्तरं त्रिबन्धस्य स्वरूपमपि सम्प्राप्यते। इदमपि कारणं वर्त्तते यत् योग्याचार्यैः प्रक्रियास्वरूपं ज्ञात्वा आचरणीयम् अन्यथा क्लेशो भविष्यति। बन्धत्रयाणां व्यवस्थिताभ्यासं विना कुम्भकस्योक्तसूर्यभेदादिक्रियां गतिर्नैव जायते। अतो बन्धत्रयाभ्यासपूर्वकमेवेतस्या आचरणमभ्यासो वा करणीयः। सम्प्रति बन्धत्रयं विवेच्यते -

2. मूलबन्धः[57] - 'पाष्ण्या गुदं सम्पीड्य पायुमाकुञ्चयेद् बलाद्' इति बारम्बारं करणीयम्। अनेन बन्धेनाधोगामी अपानसञ्ज्ञकवायुरूर्ध्वं गम्यते। प्राणापानौ नादबिन्दू चैकतां मूलबन्धेन भवति।

3. उड्डीयानबन्धः[58] - नाभेरूर्ध्वमधश्चापि प्रयत्नतः त्राणं कुर्यात्। कुम्भकान्ते रेचकादौ उड्डियानमाचरणीयम्। अस्मात् प्रभावात् प्राणाः सुषुम्नां प्रविश्यन्ते।

4. जालन्धरबन्धः[59] - कण्ठमाकुञ्चय हृदये स्थापये दृढमिच्छया। पूरकान्तेऽपि एतस्याचरणं करणीयम्। त्रयाणां संयुक्ताभ्यासेन प्राणाः ब्रह्मनाड्यां गच्छन्ति।

5. षण्मुखीमुद्रा- एतस्याः प्रक्रियास्वरूपं न प्राप्यतेऽत्र, केवलं सङ्केतेन नादश्रवणाय एतस्याः प्रयोगविषयकविचाराः प्राप्यन्ते[60]। विद्याप्रकाशनविषये गुरोरवलम्बनमभिव्यक्तम्। नादानुसन्धानमेव खेचरीसिद्धौ हेतुरिति निष्कर्षोऽपि अत्रैव दृश्यते। सर्वेषां कृते योगविद्यायाः कथनमाचरेत् अन्यथा विद्याया लोपो भविष्यति।

---

[55]यो॰शि॰उ॰, अ॰स॰ – श्लो॰स॰ - 81
[56]यो॰शि॰उ॰, अ॰स॰ – श्लो॰स॰ - 84
[57]यो॰शि॰उ॰, अ॰स॰ – श्लो॰स॰ – 104 - 105
[58]यो॰शि॰उ॰, अ॰स॰ – श्लो॰स॰ – 106 - 108
[59]यो॰शि॰उ॰, अ॰स॰ – श्लो॰स॰ – 109 - 111
[60]यो॰शि॰उ॰, अ॰स॰ – 2, श्लो॰स॰ - 13

निष्कर्षदृष्ट्या अस्यामुपनिषदि प्रक्रियापक्षस्य तद्वद् वर्णनं न प्राप्यते यद्वद् योगकुण्डल्युपनिषदि परिदृश्यते। अस्यामुपनिषदि योगमाहात्म्यं, ज्ञानयोगयोः तुलना, नादानुसन्धानस्य सङ्केतादि च मुख्यतया प्राप्यन्ते।

योगतत्त्वोपनिषद्- मुक्तिकोपनिषद्दृष्ट्या इयमुपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीयो वर्त्तते। इयमुनिषद् विष्णुब्रह्मण्योः संवादरूपे निबद्धिताऽस्ति। अस्यां प्रश्नकर्त्ता ब्रह्मा एवञ्चोत्तरदाता विष्णुरिति। ग्रन्थकारानुसारं विष्णुः महातेजस्वी महायोगी चास्ति। तत्त्वज्ञानाय प्रदीपतुल्यत्वात् पुरुषोत्तमशब्देन सम्बोध्यते।

अस्यामुपनिषदि महामुद्रामहाबन्धमहावेधखेचरीजालन्धरोड्डीयानमूलबन्धयोनिबन्ध-वज्रोलीसहजोल्यमरोलीमुद्राणां क्वचित्सङ्केतमात्रं क्वचित्विवेचनपूर्वकं वर्णनं प्राप्यते।[61]

1. महामुद्रा[62]- वामपादस्य पार्ष्णिं योनिस्थाने नियोजयित्वे सति, दक्षिणपादं प्रसार्य हस्ताभ्यां दृढतया धारयेत्। जालन्धरबन्धं विधीय वायोः पूरकं कुर्यात् तदनन्तरं यथाशक्ति प्राणान् धारयित्वा रेचयेत् इति महामुद्रास्वरूपम्। वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन ततोऽभ्यसेत्।

2. महाबन्धमुद्रा[63] - अत्र मुद्राविषयेऽस्पष्टत्वं दृश्यते। यतो हि अत्र केवलं प्रसारितपादस्य अन्यपादोपरि न्यसनं कथितम्। न तु त्रिबन्धस्य कथनं वर्त्तते नैव कुम्भकादिप्रक्रियायाः। गुरुपरम्परातः प्राप्तव्यत्वात् सङ्केतरीत्या वर्णनम् आचार्याः कृतवन्त इति मन्ये।

3. महावेधमुद्रा[64] - अत्र षण्मुखिमुद्रायां वायोः गतिमावृत्य यस्थितिः सम्पद्यते तस्या एव सञ्ज्ञा महावेध इति कथिता।

अस्मिन् प्रकरणे कर्णमुद्रा शब्दस्य प्रयोगो वर्त्तते। पुटद्वयं समाक्रम्यत्वात् वायुः सत्त्वरमूर्ध्वं प्रति स्फुरति।

---

[61]यो॰त॰उ॰, श्लो॰स॰ 26 - 27
[62]यो॰त॰उ॰, श्लो॰स॰ 112 - 113
[63]यो॰त॰उ॰, श्लो॰स॰ 114
[64]यो॰त॰उ॰, श्लो॰स॰ 115 - 116

4. खेचरीमुद्रा[65] - कपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य प्रवेशयेत्। अनया सह भ्रूमध्ये दृष्टिरपि योजनीया। इत्यात्मिका स्थितिः खेचरीशब्देनात्राभिहिता।

5. जालन्धरबन्धः[66] - कण्ठमाकुञ्च्य हृदये दृढया स्थापयेत् इति जालन्धरबन्धो भवति।

6. उड्डीयानबन्धः[67] - अत्र प्रक्रियायाः वर्णनं नोपलभ्यते।

7. मूलबन्धः[68] - योनिं पार्ष्णिभागेन सम्पीड्याकुञ्चयेत्। अनया अपानमूर्ध्वगो भवति। एतस्यापरनाम योनिबन्धोऽपि वर्त्तते।

8. विपरीतकरणीमुद्रा[69] - अत्रास्याः स्पष्टवर्णनं नोपलभ्यते। सङ्केतरीत्या केवलं फलश्रुतिपूर्वकं वर्णनं वर्त्तते। 'अधःशिरश्चोर्ध्वपादः' इत्यात्मकशीर्षासनस्य स्वरूपस्य दर्शनं भवति। हठयोगप्रदीपिकायां प्राप्तफलश्रुतीनामत्रापि उद्घोषो वर्ण्यते।

एतद्भिन्नसर्वेषामुद्रास्वरूपाणां केवलं साङ्केतिकोद्घोषः प्राप्यते। यथा - वज्रोलीविषयेऽत्र केवलं 'स योगी सिद्धिभाजनम्' इत्यात्मकं वर्णनं मिलति। नस्यक्रियापूर्वकं प्रतिदिनम् अमरीपानेन एवञ्च अनेन सह वज्रोलीमपि अभ्यसेन यत्स्थितिरुत्पद्यते सा अमरोलीति भवति।[70]

पूर्वोक्तसम्पूर्णविवेचनस्य निष्कर्षः, केवलं तेषां कृते एव इदं मुद्राविषयकवर्णनं लाभदायकं वर्त्तते ये पूर्वतः एव गुरुपरम्परादीक्षिताः सन्ति। अन्यानां कृते अत्र जालमात्रं वर्त्तते इति मन्ये।

[65]यो०त०उ०, श्लो०स० 117 – 118 पूर्वार्द्धम्

[66]यो०त०उ०, श्लो०स० 118 उत्तरार्द्धम् – 119 पूर्वार्द्धम्

[67]यो०त०उ०, श्लो०स० 119 उत्तरार्द्धम् – 120 पूर्वार्द्धम्

[68]यो०त०उ०, श्लो०स० 120 - 121

[69]यो०त०उ०, श्लो०स० 122 - 126

[70]यो०त०उ०, श्लो०स० 126 - 129

3.2 अभिधानविषयकभेदोल्लेखः

अस्मिन् प्रकरणे एकैव क्रियायाः सञ्ज्ञाविषयको यद्भेदो दृश्यते, तेषां वर्णनं करिष्ये। अत्र इदमपि अवधेयं यत् यौगिकमुद्राणां नामभेदोल्लेखविषयस्य प्रयोजनं यथार्थवस्तूपलब्धये केवलं सञ्ज्ञाविषयकव्यवधानं भ्रमस्य हेतुः मा भवेत्। अनेन सह इदमपि ज्ञेयं यत् यत्किमपि सञ्ज्ञाविषयकभेदो दृश्यते, तस्मिन् विषये किं कारणं वर्त्तते? किमर्थमाचार्याः नामविषयकपरिवर्त्तनं प्रति प्रवर्तन्ते? किं केवलं मुद्राविषयक एव सदृशं नामभेदाः सन्ति उत अन्यपक्षेऽपि एतादृशं शास्त्रे प्राप्यते?

अस्तु, पूर्वोक्तसर्वेषां प्रश्नानां क्रमशः तर्कसङ्गतोत्तरं दीयते। अस्मिन् प्रकरणे योगपरम्परायां प्राप्तमतानि एव प्रमाणानि सन्ति, क्वचित् बुद्धिपूर्वकारिभावोऽपि हेतुः।

सर्वप्रथमन्तु किं कारणं वर्त्तते नामभेदोल्लेखस्य? एतस्य प्रश्नस्योत्तरमपि प्रश्नगर्भेऽस्ति। यथा केचन शिवभक्ताः सन्ति ते शिवपरकनाविषये स्वाभाविकरुचिवन्तः भवन्ति, ये वैष्णवाः सन्ति ते विष्णुपरकनामे स्वाभाविकरुचिवन्तः भवन्ति। अनया दृष्ट्या परम्पराभेद एव मुख्यहेतुः वर्त्तते नामविषयकभेदस्य। यथा नादबिन्दूपनिषदि नादश्रवणक्रमे एका विशिष्टमुद्राभिव्यक्ता, सा 'वैष्णवी'[71] सञ्ज्ञकमुद्रा वर्त्तते। तस्या एव प्रक्रियायाः वर्णनं हठयोगप्रदीपिकायां विना नाम्ना प्राप्यते[72]। क्वचित् इयमेव षण्मुखीमुद्रानामतः प्राप्यते। सर्वेषु स्थितिविशेषेषु हस्ताभ्यां कर्णयोः उत मुखनासिकाकर्णनेत्रयोः पिधानमेव सम्पद्यते। अत इत्थं वक्तुं शक्यते यत् परम्पराभेदतरेका एव मुद्रा अत्यन्तन्यूनपरिवर्त्तनेन सह अथवा क्वचित् तु पूर्णरूपेण एकवद् भूत्वा प्राप्यते। नामविषयकपरिवर्त्तने प्रवृत्तिः हेतुः स्वस्वगुरुपरम्परातः प्राप्तदीक्षा एव वर्त्तते। यथा वयं जानीमो योगस्याचरणं गुरुं विना न पार्यते, पुस्तकस्थविद्यायाः प्रयोगपक्षे तद्वद् सहयोगो न भवति यद्वद् आचार्यवचनानि सन्ति। अतो गुरुपरम्परा एवाचार्याणां कृते नामविषयकभेदस्य कारणं वर्त्तते।

[71]ना॰बि॰उ॰, श्लो॰स॰ - 31
[72]ह॰प्र॰, उ॰स॰ – 4, श्लो॰स॰ - 82

इदं नामविषयपरिवर्त्तनं मुद्राविषये एव न दृश्यते, अपितु आसनानां पक्षे, प्राणायामसञ्ज्ञाक्रमेऽपि प्राप्यते। यथा - योगकुण्डल्युपनिषदि ‘वज्रासन’शब्देन सिद्धासनस्य वर्णनं प्राप्यते[73]। भस्त्रिकाप्राणायामस्य नाम क्वचित् भस्त्रा, भस्त्री च प्राप्येते[74]। मूलबन्धस्य सञ्ज्ञा योनिबन्धः प्राप्यते[75]।अतः परम्पराभेदात् नामविषयकभेदानां दर्शनेन भ्रमितो न भवेत्। गुरुचरणचञ्चरीको भूत्वा सर्वेषां प्रश्नानामुत्तरं प्राप्नुयात्।

अभिधानविषयकवैविध्यम्

मुद्रानाम	उपनिषद्	संहितात्रयम्	अन्यः
1. महामुद्रा			
2. महाबन्धमुद्रा			
3. महावेधमुद्रा			
4. खेचरीमुद्रा			नभोमुद्रा (गो०सं०) नभश्चडी (शि०सू०)
5. उड्ड्यानबन्धमुद्रा	उड्डियाणबन्धः (व०उ०) उड्डीयाणबन्धः (यो०कु०उ०)	उड्यानबन्धः, उड्डीयानबन्धः (ह०प्र०)	
6. मूलबन्धमुद्रा	योनिबन्धः (यो०त०उ०)		
7. जालन्धरमुद्रा		जलन्धरबन्धः (घे०सं०)	जलन्धरबन्धः (गो०सं०)
8. विपरीतकरणीमुद्रा		विपरीतकृतिः (शि०सं०) विपरीतकरी (घे०सं०)	
9. वज्रोलीमुद्रा	योनिमुद्रा (ध्या०बि०उ०)	वज्रोणीमुद्रा (घे०सं०)	
10. शक्तिचालनमुद्रा	सरस्वतीचालनम् (यो०कु०उ०)	शक्तिचालनीमुद्रा (शि०सं०)	

[73]यो०कु०उ०, अ०स० – 1, श्लो०स० – 5 - 6
[74]यो०कु०उ०, अ०स० – 1, श्लो०स० – 12, 33
[75]यो०त०उ०, श्लो०स० – 120 – 121

3.3 दशमुद्रासु अन्यासां मुद्राणामन्तर्भावः

प्रस्तुतप्रकरणे सर्वप्रथमन्तु योगशास्त्रे केवलं दशमुद्राणां प्रामुख्यं वर्त्तते इति ज्ञेयम्। यथा हठयोगप्रदीपिकायां शिवसंहितायाञ्च एतद्विषयकप्रमाणं प्राप्येते।

हठयोगप्रदीपिकानुसारम्[76] -

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्॥

शिवसंहितायाम्[77] -

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्था॥
उड्ड्यानं चैव वज्रोली दशमं शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम्॥

यथा बहुषु आसनेषु आसनचतुष्टयं प्रामुख्यं भजते, स्थैर्यं दृढताञ्च प्रदानत्वात्। तद्वदेव बहुमुद्रासु केवला दशमुद्रा एवं प्रामुख्यं भजन्ते, आसनतः प्राणायामे प्रवेशात् प्राणायामतः प्रत्याहारे नैसर्गिको गतिसम्पादनत्वाच्च।

घेरण्डसंहितायां वर्णितपञ्चविंशतिमुद्राणामपि अन्तर्भावः पूर्वोक्तदशमुद्रासु सम्पद्यते। तस्यान्तर्भावस्य प्रक्रिया प्रस्तूयते -

---

[76] ह०प्र०, उ०स० – 3, श्लो०स० – 6 - 7
[77] शि०सं०, प०स० – 4, श्लो०स० – 24 - 25

घेरण्डसंहितायाम्-

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खचरी॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालनी।
तडागी माण्डुकीमुद्रा शाम्भवी पञ्चधारणा॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजाङ्गिनी।
पञ्चविंशति मुद्राणि सिद्धदानीह योगिनाम्॥[78]

विषयस्य स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थम् एका सारिणी विरच्यते। तत्र एतस्य विषयस्य क्रमिकस्वरूपोद्घाटनं भविष्यति। कारणस्य विवेचनं सारण्यान्ते करिष्ये।

दशमुद्रास्वन्तर्भावितमुद्राः

प्रमुखदशमुद्राभिधानम्	अन्तर्भावितमुद्राभिधानम्
1. महामुद्रा	
2. महाबन्धमुद्रा	
3. महावेधमुद्रा	
4. खेचरीमुद्रा	नभोमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, शाम्भवीमुद्रायां पञ्चविधधारणानाम्, काकीमुद्रा, माण्डुकीमुद्रा षण्मुखिमुद्रायां योनिमुद्रा, योनिमुद्रायाः त्रिबन्धविशिष्टखेचरीमुद्रायां लयो भवति।
5. उड्ड्यानबन्धः	तडागीमुद्रा
6. मूलबन्धः	अश्विनीमुद्रा
7. जालन्धरबन्धः	पाशिनीमुद्रा, भुजङ्गिनीमुद्रा
8. विपरीतकरणीमुद्रा	
9. वज्रोलीमुद्रा	ध्यानबिन्दूपनिषदि प्राप्तयोनिमुद्रा
10. शक्तिचालनम्	

पूर्वोक्तसारण्यां केन विधिनान्तर्भावो विहितः इति प्रस्तौमि-

[78]घे॰सं॰, उ॰स॰ – 3, श्लो॰स॰ – 1 - 3

खेचरीमुद्रा - सर्वप्रथममिदं ज्ञेयं यत् मुख्यमुद्राप्राप्तये यासां क्रियाणां सहयोगमपेक्षितं भवति तासां क्रियाः अपि मुद्राशब्देनाभिहितम्। यथा - खेचरीमुद्रा मुख्यमुद्रा वर्त्तते, तां प्राप्तये नभोमुद्रायाः, काकीमुद्रायाश्च क्रमिकप्रयोगो भवति। स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं नभोमुद्रायाः, काकीमुद्रायाश्च स्वरूपं प्रस्तूयते -

(क)नभोमुद्रा-

यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा।

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत् पवनं सदा॥

नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी॥[79]

यस्मिन् कस्मिन्नपि कार्ये संलग्नेऽपि ऊर्ध्वजिह्वो भूत्वा, कुम्भकसमार्च्य योगी यत्स्थितिः प्राप्यते उत यस्यां स्थितौ स्थीयते सा नभोमुद्रा भवति।

अत्र जिह्वायारूर्ध्वत्वं खेचरीरूपकपरमलक्ष्यं प्रति साधकानां हृदि प्रेरणा वर्द्धते। नित्यनिरन्तरं जिह्वायाः ऊर्ध्वत्वं प्रति सतर्कता साधकस्य खेचरीमुद्रायाः प्रारम्भिके उत उच्चस्तरे दीर्घकालपर्यन्तमवस्थीयमाने परमसहायिका भवति।

(ख) काकीमुद्रा-

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।

काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी॥[80]

जिह्वायाः विशिष्टाकृतिः यथा वायुपाने प्रकृष्टा भवति तथैव जिह्वायामुत्पन्नक्रियाशीलत्वं सूक्ष्मरीत्या कपालकुहरे विद्यमानसंवेदनानां न्यूनीकरणे तथा च जिह्वायाः लम्बायमानत्वे अपि सहायिकेयं काकीमुद्रा। इदमेव कारणं वर्त्तते पूर्वोक्तद्वयानां मुद्राणां खेचरीमुद्रायाम् अन्तर्भावविधाने।

---

[79]तत्रैव, श्लो०स० 9

[80]तत्रैव, श्लो०स० 86

'भ्रूवोरन्तर्गता दृष्टिः' इत्यात्मकखेचरीमुद्राप्रकरणे प्राप्तश्लोकांशे शाम्भवीमुद्रायाः स्वरूपदर्शनत्वात्[81] शाम्भवीमुद्रायाः लयोऽपि खेचर्यां विधीयते।षण्मुखीमुद्रायाः[82] लयः योनिमुद्रायां[83] भवति, एवञ्च योनिमुद्राया अन्तर्भावः त्रिबन्धविशिष्टखेचरीमुद्रायां योगिभिः मन्यन्ते। अत्र वर्णितयोनिमुद्रायां घेरण्डसंहितायां वर्णितप्रक्रियायाः ग्रहणं करणीयम्।

ध्यानबिन्दूपनिषदि प्राप्तयोनिमुद्रायाः[84] सम्बन्धोवज्रोलीमुद्रया सह वर्त्तते। माण्डुकीमुद्रायामपि[85] जिह्वामूलस्य चालनं भवति, इयन्तु साक्षात् खेचरीमुद्रया सह सम्बद्ध्यते। सम्प्रति उड्ड्यानबन्धेऽन्तर्भावितमुद्रायाः तर्कपूर्वकस्वरूपं प्रस्तूयते -

'उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वञ्च कारयेत्' इति हठयोगप्रदीपिकायां वर्णितोड्ड्यानबन्धस्य स्वरूपम्। 'उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिम्' इति तडागीमुद्रा। उभयोः प्रक्रियासाम्यत्वात् मुख्योड्ड्यानमुद्रायां तडागीमुद्रा लीयते। महाबन्धमुद्राया-मश्विनीमुद्राया अपानवायोः ऊर्ध्वापकर्षणत्वात् लयो जानीयात्।

जालन्धरबन्धे पाशिनीभुजङ्गिनीमुद्रयोरन्तर्भावो भवति उदानप्राणकेन्द्रत्वात्। पाशिनीमुद्रायां 'कण्ठपृष्ठे पाशवत् पादौ क्षिपेत्'[86] इत्यात्मकस्थितौ जालन्धरबन्धस्यैव दृढत्वं सम्पद्यते।

वक्त्रं प्रसार्य वायुपानं गलया अर्थात् कण्ठेन यस्या मुद्राया भवति सा मुद्रा भुजङ्गिनी[87]। अत्रापि कण्ठकेन्द्रत्वात् उदानवायोः मुख्यत्वं वर्त्तते। अत्र प्राणकेन्द्रसाम्यत्वात् इयमपि जालन्धरे लीयते।

---

[81]घे०सं०, उ०स० – 3, श्लो०स० - 64
[82]यो०शि०उ०, अ०स० – 2, श्लो०स० - 13
[83]घे०सं०, उ०स० – 3, श्लो०स० – 37 - 38
[84]ध्या०उ०, श्लो०सं० – 87 - 91
[85]घे०सं०, उ०स० – 3, श्लो०स० - 62
[86]घे०सं०, उ०स० – 3, श्लो०स० - 84
[87]घे०सं०, उ०स० – 3, श्लो०स० - 92

वज्रोलीमुद्रायां ध्यानबिन्दूपनिषदि प्राप्तयोनिमुद्रायाः प्रक्रियासाम्यत्वात् लयो जायते। वज्रोल्यामेव सहजोल्यमरोल्योरपि क्रमिकक्रियावशात् लयः सम्पद्यते। वज्रोलीप्रकरणेऽयं विषयः प्रतिपादितः तत्रैव द्रष्टव्यः।

शक्तिचालनीमुद्रायां[88] सरस्वतीचालनमुद्रायाः प्रक्रियासाम्यत्वात् लयो ज्ञेयः। योगकुण्डल्युपनिषदि सरस्वतीचालनस्य विस्तृतवर्णनं कृतम्, पुनरोक्तिभयान्न विवेच्यते।

उपनिषदि प्राप्तमुद्राः

क्र०स०	उपनिषदः	मुद्राः
1	वराहोपनिषद्	उड्डियाणबन्धः, मूलबन्धः, जालन्धरबन्धः, महावेधमुद्रा। (4)
2	योगतत्त्वोपनिषद्	महामुद्रा, महाबन्धः, महावेधः, खेचरीमुद्रा, जालन्धरबन्धः, उड्डीयानबन्धः, मूलबन्धः (योनिबन्धः), वज्रोली, सहजोली, अमरोली, विपरीतकरणी। (11)
3	ध्यानबिन्दूपनिषद्	उड्डीयानबन्धः, मूलबन्धः, जालन्धरबन्धः, खेचरी, वज्रोली (योनिमुद्रा), महामुद्रा। (6)
4	नादबिन्दूपनिषद्	वैष्णवीमुद्रा। (1)
5	योगशिखोपनिषद्	शक्तिचालनमुद्रा, मूलबन्धः, उड्डीयानबन्धः, जालन्धरबन्धः, षण्मुखीमुद्रा। (5)
6	मण्डलब्राह्मणोपनिषद्	शाम्भवी, खेचरी, षण्मुखी। (3)
7	योगकुण्डल्युपनिषद्	शक्तिचालनमुद्रा, मूलबन्धः, उड्डीयानबन्धः, जालन्धरबन्धः, खेचरीविद्या। (5)

*****

[88]यो०कु०उ०, अ०स० – 1, श्लो०स० – 11 - 12

चतुर्थोऽध्यायः - मुद्राणां प्रभावस्तदुद्देश्यावयवाश्च

मुद्राभिः परमलक्ष्यप्राप्तिक्रमे शारीरिकरोगाणां शमनं नैसर्गिकमेवास्ति, परञ्च तदपि केषुचित् रोगेषु एतासां वैशिष्ट्यं प्रारम्भिकस्तरतः एव दरीदृश्यते। तद्विषयोपस्थापनपूर्वकम् एतासां मुद्राणामुद्देश्यक्रमं विधाय च सहायकावयवानां विषये मुख्यतः षट्कर्मविषये गुप्ताद्भूत-पूर्ववायुनेत्यादिक्रियाणां प्रक्रियास्वरूपविवर्द्धनाय वक्ष्यमाणाध्याये क्रमिकचरणानामनुपालनं प्रकल्प्यायमध्यायो विस्तार्यते।

4.1 विभिन्नरोगेषु मुद्राणां प्रभावः

शारीरिकरोगाणां निवारणे योगायुर्वेदयोस्समन्वय: पुराकालतरेवातीवप्रासङ्गिको वरीवर्त्ति। स्थूलदेहे रोगाणामागमनं सूक्ष्मस्तरीयवेगादेव सम्पद्यते। जीवनयापनीयस्वाभाविक-स्थितिविशेषेऽवरोधनं यत्तु त्रिविधदोषाज्जायते तस्यैव सञ्ज्ञा रोगेति। त्रिविधगुणादत्र कफपित्तवातेति ज्ञेयम्। यावत्पर्य्यन्तम् एते समावस्थायां यस्मिन्देहे सन्ति तावत्पर्य्यन्तं स देहवान् स्वस्थशब्देन व्यवह्रियते। यदा एतेषु वैषम्यं समायाति तर्हि सरुग्णेति मन्यन्ते। दिनचर्या-ऋतुचर्यासंयमेनैः रोगाणां देहे आगमनमवरोधितुं शक्यते इति आयुर्वेदः। निरोगस्योद्देश्यं देहव्याप्तशक्त्याः ब्रह्माण्डव्याप्तशक्तिना सहाखण्डसम्बन्धस्थापनं वर्त्तते। अतो रोगाणां निदानक्रमे आयुर्वेदोक्तप्रक्रियापुरस्सरं विभिन्नमुद्रादिना सह शरीरस्थकफपित्तवातादिरोग-मूलानां निदानं प्रचक्षते। योगशास्त्रे रोगाणां शमनाय विविधासनप्राणायामषट्कर्ममुद्रादय आचार्यैरभिव्यक्तः। षट्कर्मणा शरीरस्य शोधनं जायते। इयन्तु सामान्यरीतिर्वर्त्तते कफपित्तवातशमनाय। कानिचन योगशास्त्राणि षट् कर्माणि विनापि आसने उत् प्राणायामे प्रवेशस्य निर्देशो दीयन्ते। तैः कथ्यन्ते यद् यथा अग्निना धातोः दोषान् दहति तथैवासनविशिष्टप्राणायामोऽपि देहदोषान् विनश्यति। आचार्यवचनप्रमाणादस्मिन्विषये

सन्देहावसानं नैव मन्ये। अत्र आसनानामभ्यासने साधके स्थैर्यं समायाति। प्राणायामाद् शरीरस्थस्नायुषु व्याप्तमलानां दहनं दृश्यते तस्माद् प्रभावात् शरीरे सूक्ष्मत्त्वं समायाति।

प्रस्तुतप्रकरणे रोगाणां शमने योगशास्त्रोक्तमुद्रा कीदृश्यः प्रभावकारिण्यः सन्ति? तासां मुद्राणामनुष्ठानेन कथं रोगोपशमनं जायते अत्र प्रक्रिया वैशिष्ट्यं किमिति विवेच्यते।

सर्वप्रथमन्तु मुद्राविषये इदं ज्ञेयं यद् मुद्राणामुदय आसनप्राणायामयोस्सहयोगेन भवति। अर्थात् यदा साधक आसने त्रिबन्धपुरस्सरं प्राणायामो विधीयते तर्हि या स्थितिः सञ्जायते सा एव मुद्रा। अतः का मुद्रेति प्रश्नस्योत्तरे प्राणायामविशिष्टासनम् इति वक्तुं शक्यते। द्वितीयाऽध्याये मुद्राणां प्रयोगात्मकस्वरूपं निगदितम् तत एवावधेयम्। अत्र गुप्तपक्षाणां यत्तु मुख्यतया रोगेण सम्बद्धाः सन्ति तेषामेव विवेचनं करिष्ये। अस्तु, मुद्रानुष्ठानेन साधकस्य देहे योगाग्निः प्रज्वलति, महामुद्राऽनुष्ठाने प्राणानां स्थितित्रयं दृश्यते। पूरकरेचककुम्भकोड्डियान-विशिष्टक्रियाणामभ्यासेन प्रचण्डाग्निवर्द्धनात् साधकस्य पीवरदेहस्य मलशोधनं भवति। तेन प्रभावेण शरीरं कृशायते। स्थूलात्कृशत्वं प्रति गम्यमाने शरीरे व्याप्तस्नायुतां कफपित्तवात-त्रिविधात्मकदोषाणामपि शमनं जायते।

4.1.1 अनिद्रा

अनिद्रायाः मुख्यकारणं वर्त्तते सङ्कल्पविकल्पाधिक्यम्। सङ्कल्पविकल्पनियन्त्रणे प्राणानां विशिष्टसहयोगो वर्त्तते। प्राणैः सह मनसः तथा मनसा प्राणानामनादिसम्बन्धः। प्राणनियन्त्रणेन मनसि स्थैर्यं समायाति। मुद्राणाभ्यासे मुख्यतया त्रिबन्धपुरस्सरं महाबन्ध-महामुद्रा-महावेधानामभ्यासेन मानसिकवैकलव्यमवरुद्धति। अनिद्रा कदापि एकाकी न भवति। एनया सह ऊर्जाभावत्वम्, शैथिल्यम्, ध्यानास्थैर्यञ्च समायाति। मनःस्थितिविषये योगवसिष्ठे आचार्यैरुक्तम् – क्षणमानन्दितामेति क्षणमेति विषादितम्।

क्षणं सौम्यत्वमायाति सर्वस्मिन्नटन्मनः॥ यो०व०

अनिद्रायाः स्तरद्वयम् आधुनिकैः मन्यते। प्राथमिकस्तरे निद्रायारभावत्त्वं भवति परञ्च निद्रेतरा कापि समस्यानाऽनुभूयते। द्वितीयस्तरे अनिद्रया सह बहवो रोगा अपि जायन्ते। एतेषु रोगेषु हृदि ज्वलनम्, अवसादः, श्वसनरोगाश्च मुख्याः सन्ति। चिन्ताधिक्येऽपि निद्राया अवसानो दृश्यते। इयं स्थितिरपि अनिद्राकारकेति तदा भवति यदा समस्यानिदानेऽपि निद्रा नायाति। आधुनिकैः मन्यते यत् यदि सप्ताहे 7-8 होरापर्यन्तं न शेते तर्हि चिकित्सकं प्रति गच्छेत्।

आधुनिकसमाजे कार्यनिर्वहने सति स्वान्तरमुखभावानामभावत्वेन जनैः जीवनस्य दृश्यमानं स्वरूपं प्रति तद्वत् व्यवह्रियते यथा तैः विना तस्य कार्यस्य पूर्णत्वं न सम्भविष्यति। तेषां चिन्तने आत्मकेन्द्रितविचाराणां बाहुल्यं भवति। मुख्यतया एतादृशं चिन्तनन्तु केवलं द्वन्द्वमेव। द्वन्द्वमेव दुःखम्। यथार्थतो दूरायते विचारकः। जीवनस्य यथार्थपक्षो यथा सृष्टिरस्ति तथैव दर्शनम्। परन्तु वयं कल्पनाप्रधानाः स्मोऽयमेव दुःखहेतुः। भयशङ्काचिन्तादेरुत्पत्तिः प्रायः कल्पनया भवति। योगशास्त्रे यथार्थदर्शनाय बहवो मार्गाः निदर्शिताः। अष्टाङ्गयोगस्य प्रथमद्वयमङ्गं जीवनयापनाय एवास्ति। अनिद्रानाशनाय यमोक्तव्यवहाराणामनुकरणं श्रमसाध्यमुद्रामार्गात् सुकरो दृश्यते। तथापि मुद्राः पुरस्सरं यमोक्तविधानानामनुष्ठानमेव श्रेष्ठतरम्।

4.1.2 मलग्रहः

अद्यत्वे आहारविहारव्यवहारचिन्तनादिक्रमे विभिन्नवैचित्र्यात् देहेषु बहवो रोगारुत्पद्यन्ते। ऊर्जाप्राप्तये वयं समेऽपि आहारस्य पाचने निर्भराः सन्ति। यथा भोजनं भुञ्जामहे तद्वदेव तस्याहारस्य प्रभावो जायते। आहरस्य पाचने कानिचन कारणानि सन्ति यथा – पक्तुं योग्य आहारो भवेत्, जठराग्निदीप्तो भवेत्, निद्रयेत् च। परञ्च वयं दृश्यामहे यत् पूर्वोक्तानां कारणानां विद्यमानेऽपि उदरशुद्धिः नो जायते। देहे अन्नाद् रसः, रसात् रक्तादेः निर्मितिः तु भवति तदपि उदरो न शुद्ध्यति। यदा मलनिग्रहो वर्द्धते तर्हि मनोबुद्धिःपुरस्सरं देहेऽपि विभिन्नरोगाः जायन्ते। अजीर्णदुर्नामको भगन्दरो विबन्धादयश्चेति सर्वप्रथमं रोगस्य स्वरूपं व्याचक्षते –

गृहीतान्नस्य पचनान्तरं मलत्यागविषयिकक्रियासम्पादने काठिन्यमभावत्त्वं वा मलग्रहमजीर्णशब्देन वा चिकित्सकैः व्यवह्रियते।

मलग्रहकारणानि –

1. भोजनेऽपर्य्याप्तमात्रायां तन्तुगुणविशिष्टाहारसेवनेन
2. अपर्याप्तमात्रायां दैनिकतरलपेयसेवनेन
3. अपर्याप्तव्यायामेन
4. पीडानाशकाङ्ग्लटीकासेवनेन
5. दीर्घकालिकस्वास्थ्यरोगेन
6. गर्भावस्थायां प्रसवे च
7. अन्त्ररोगादयेऽपि च।

सम्बद्धरोगाः –

1. मलग्रहात् मूत्राशयतो मूत्रस्खलनं भवितुं शक्यते।

2. मलापूरितान्त्रे अत्यधिकदाम्यमाने मलद्वारतो रक्तस्रावो भवितुं शक्यते। एतस्य एव सञ्ज्ञा दुर्नामकं (बवासीर) वर्त्तते। क्षुधाजागरणेऽपि न्यूनत्वं दृश्यते।

3. मानसिकस्तरे – कर्कशस्वभावः आलस्यं, वैमनस्यं, स्थैर्यञ्चादयो जायन्ते।

मलग्रहविषयकायुर्वेदीयविचाराः– उदररोगकारणविषये योगतरङ्गिणीकारैः कथ्यन्ते यत् सञ्चितवातादिदोषाः जलवाहिनीः स्नायून् अवरुद्ध्य प्राणान् जठराग्निम् अपानवायुञ्च सन्दुष्य जनेषु उदररोगान् जनयन्ति[1]। सर्वेषां कृते केचन मार्गाः समुचिताः – इत्यस्मिन्विषये आदिश्यन्ते तैः यत् – भोजने रक्तशालिः, यवाः, मुद्गाश्च ग्रहीतव्याः एतेन सह विरेचनस्य आस्थापनस्य बस्तिकर्मानुष्ठीयमानैरुदररोगाः विनश्यन्ते[2]। दुग्धे गोमूत्रे वा अण्डजतैलं मेलयित्वा पिबेच्चेत् उदररोगो विनश्यति। कफपित्तवातदृष्ट्यापि सर्वेषां कृते पृथग्मार्गोऽपि निर्दिश्यन्ते आचार्यैः – वातोदरी पिप्पलीलवणान्वितं तैलं पिबेत्, पित्तोदरी शर्करामरिचोपेतं तक्रं पिबेत् कफोदरी यवानीसैन्धवाजजीव्योषयुक्तं तक्रं पिबेच्च[3]। अस्तु, आयुर्वेदे बहवो मार्गाः प्रदर्शिताः उदररोगनिवारणाय परञ्च कथं पूर्वोक्तेन सह यौगिकमुद्राणाम् अनुष्ठानं रोगीणां कृते लाभप्रदं भविष्यति इति मनसि निधाय शास्त्रपक्षान् प्रस्तूयते।

मलग्रहे मुद्राणां प्रभावः– आयुर्वेदशास्त्रानुसारं अस्माभिर्ज्ञायते यद् मलग्रहस्थितिः कथं सम्पद्यते। सञ्चितवातपित्तकफवैकल्येन सर्वा प्राणाः, जठराग्निः, अपानवायुश्च मुख्यतया सन्दूष्यते। तदेव उदररोगो जायते। प्रयोगप्रधानयोगक्रियानुष्ठानक्रमे अस्माभिः मुख्यता शरीरस्थाग्निकेन्द्रं जागर्यते। अग्निकेन्द्ररूपे नाभिस्थानं मणिपुरं वा प्रसिद्धमिति। यौगिकक्रिया

[1]यो॰त॰ श्लो॰स॰ - 1
[2]यो॰त॰ श्लो॰स॰ – 2
[3]यो॰त॰ श्लो॰स॰ – 4 - 5

अभ्यासे त्रिबन्धस्य मुख्यप्रभावः स्थानत्रये एव भवति। अपानविशिष्टगुदलिङ्गपुरस्सरं समानप्राणेभ्यः प्रसिद्धे नाभिमण्डले कण्ठावरोधनप्रभावाद् हृदि च। यदा साधकैः दृढनिश्चयेन अभ्यस्यन्ते मुद्राः, मुद्रायामपि महामुद्रामहाबन्धबेधत्रिबन्धश्च तर्हि देहे प्राणापानयोरवरोधक-समानस्य विभेदनत्वात् अग्निरुत्पद्यते। स्वयमेव देहस्थबहवो रोगा अभ्यासाधिक्यात् विनश्यन्ते। यथा तु महामुद्रादिफलश्रुतेः गुल्मरोगाजीर्णादिः विनाशोऽव्यक्तेति।

4.1.3 श्वसनरोगः

वर्त्तमाने सम्पूर्णविश्वः भौतिकवादप्रगतिं प्रति अग्रसरति परञ्च इयं प्रगतिः प्रदूषणात्मकोभिशापस्योत्पत्तेरपि मुख्यहेतुः वर्त्तते। महानगरेषु वर्द्धमानानि यन्त्रागाराणि मोटरवाहनानि च कार्यसुकरे यथा सहायकानि सन्ति तद्वदेव एतेभ्यो निस्सरितप्रदूषितवायुः श्वसनतन्त्रार्थं विभिन्नरोगानावाहयन्ति। धूम्रपानादि अपि हेतुः। श्वसनतन्त्रीयरोगेषु फुस्फुसीयरोग-पुरस्सरं श्वासनलिकाया रोगा अपि समायान्ति। अस्मिन्क्रमे कफदोषजन्यरतामान्यकासरोगतः जीवाणुजन्यनिमोनियापर्यन्तघातकरोगाः परिगण्यन्ते।

श्वसनरोगेषु मुद्राणां प्रभाव इति विषयो न सर्वेषु श्वसनरोगेषु प्रभावशाली। मुद्राभ्यासे देहाग्निरभिवर्द्धनात् शरीरस्थकफपित्तवायोः सम्बद्धविकारास्तु नश्यन्ते परञ्च यस्यां स्थितौ श्वसनमार्गे शोधोऽभिजायते तस्मिन् समये कोऽपि अभ्यासो नोचित इति सर्वेषु योगाभ्यासकेषु प्रसिद्धपक्षः। परञ्चेतद्भिन्नमपि विचारो दृश्यते। केचन साधका इत्थं मन्यन्ते यद् यदि रोगोदयपूर्वमेव मुद्राणामभ्यासो व्यवह्रियते तर्हि श्वसनरोगस्य स्थितिर्नैव सम्भाव्यते। श्वसनरोगेषु कासक्षवधुतमकश्वासप्रलापज्वराश्च गृह्यन्ते सामान्यतया चिकित्सकैः। यदि खेचरीवि-शिष्टायुर्वैदिकीयचिकित्साया अनुष्ठानं विधीयते रोगी तर्हि निश्चितया एव अल्पचिकित्सयापि पूर्णलाभो भविष्यति। अत्र खेचरीशब्दतो न्यूनातिन्यूनं मुखनासिकासमाहारकूपे जिह्वायाः प्रवेशनं विदितम्। यदि इत्थन्नास्ति तर्हि शोधादेः निवारणे आयुर्वेदिकीयविधानस्यानुगमनं श्रेयस्करो, न तु क्रियानुष्ठानस्येति।

श्वयथुविषये आयुर्वेदे यद्विचारः प्राप्यते निष्कर्षेण तत्प्रस्तूयते – रक्तपित्तकफाद्वायुः शिराः प्रापय्य बाह्यगाः नवधा शोधं करोति। विषजन्यत्वात् अभिघाताच्च। वातशोधः, पित्तशोधः, कफशोधः, वातपित्तशोधः, वातकफशोधः, कफपित्तशोधः, संनिपातेति नवधा

शोधाः[4]। विविधकाथद्वारा चिकित्सकस्य मार्गनिर्देशने विविधमात्रायाम् औषधिग्रहणेन शोधरोगश्शाम्यते। कासरोगस्य हेतुविषये शास्त्रे आचार्यैर्निगदितं यदा प्राणो यत्तु हृदयस्थो भवति कण्ठस्थरुदानेन सह ऊर्ध्वमुपसर्पति तर्हि कण्ठहृन्नाभिहर्षणः कासो तदा सञ्जायते[5]। अत्र प्राणोदानयोरभिक्रमेण कासस्थितिः सम्पद्यते। यदि रोगोदयात्पूर्वं त्रिबन्धस्य खेचरीपुरस्सरम् अभ्यासो विधीयते तर्हि निश्चितया इदं वक्तुं शक्यते श्वसनरोगस्य प्रचण्डप्रभावो नैव भविष्यति।

[4]यो०तरङ्गिणी – पृ०स० 225, श्लो०स० - 1
[5]यो०तरङ्गिणी – पृ०स० 163, श्लो०स० - 10

4.1.4 रक्तचापः

रक्तस्नायुषु प्रवाहमानरक्तेन रक्तस्नायुपटले यत् अभिभवनं भवति तत्सञ्ज्ञा रक्तचापेति। धमनी सा नालिका वर्त्तते यत् हृदयस्योर्ध्वाधात्मकविशिष्टक्रियया रक्तं शरीरं प्रति उत्तकम् इन्द्रियपर्यन्तञ्च नयति। हृदयो रक्तं धमनीसु प्रवर्त्य रक्तप्रवाहो विनिमयति। कस्यचित् व्यक्तेः रक्तचापरुभयात्मको भवति इति सिस्टोलिकरक्तचापः / डायास्टोलिकरक्तचापो नाम्नाभिधीयते।

रक्तचापमापकयन्त्रेण स्फाइगनोमैनोमीटरेण यदा रक्तचापो माप्यते तर्हि सामान्यतया स्वस्थव्यक्तेः रक्तचापपरिमाणरूर्ध्वसङ्ख्यके 10 तः 120 मिलिमीटरो भवति। इयम् ऊर्ध्वसङ्ख्या एव सिस्टोलिकरक्तचापशब्देन व्यवह्रियते। मापक्रमे एव अधस्सङ्ख्या सामान्यतया 60 तः 80 मिलिमीटरो भवति इति अधः सङ्ख्या डायास्टोलिकरक्तचाप-शब्देनाभिधीयते। आधुनिकचिकित्सानिर्देशत्वेन सामान्यो रक्तचापो 120/80 मिलिमीटरेति भवितुमर्हति। निर्धारितरक्तचापविषयकसङ्ख्यायां न्यूनाधिक्येऽपि अपवादरूपे रक्तचापीय-रोगस्य स्थितिर्नोपद्यते इति चिकित्साक्रमे चिकित्सकैः निष्कर्षः प्राप्तः। परञ्च एतद्भिन्नं रोगरूपे रक्तचापपरिगणना कथं भवति इति प्रस्तूयते। रक्तचापस्य रोगात्मकस्थितिपरिकल्पनाय रोगलक्षणानां महत्त्वं सर्वे स्वीक्रियन्ते।

यदा धमनीसु शीरासु च रक्तप्रवाहो न्यूनयति तर्हि रक्तप्रवाहन्यूनत्वात् मस्तिष्कहृदययकृत्सु च ऑक्सिजनापूर्त्तिः नो जायते तस्मात् कारणात् वमनत्वं, चैतन्यशून्यत्वञ्च समायाति। अत्यधिकरक्तचापन्यूनत्वेन मस्तिष्कहृदययकृतेः त्रयमवरोधितुं शक्यते।

एतद्भिन्नमुच्चरक्तचापे धमनीसु रक्तप्रवाहो स्थायीत्वेन प्रवर्द्धते। अत्यधिकभावनात्मकावेशेन रक्तप्रवाहे गतिमानत्वं सन्दृश्यते यदि तु इयम् अस्थायी वर्त्तते तर्हि

तु कापि समस्या नास्ति परञ्चेयं स्थितिः विभिन्नकारणवशात् स्थैर्ये प्रकल्पते तर्हि हृदययकृत्नेत्रमस्तिष्कीयरोगाणां स्थितिर्भवितुं शक्यते।

उच्चरक्तचापे विभ्रान्तत्वं, शिरोवेदना, श्वसने पीडा, अनिद्रा, अल्पश्रमेऽपि तमकश्वासः, नासिकातः रक्तपतनञ्चेत्यादीनि लक्षणानि भवन्ति।

उच्चरक्तचापस्य कारणानि विलिख्यन्ते –

1. चिन्ता, क्रोधः, ईर्ष्या, भयादिमानसिकविकाराः

2. अत्यधिकोऽऽहारादपि भवितुं शक्यते

3. अत्यधिको घृततैलशर्करामांसमद्यादेः सेवनेन

4. भोजने श्लाटुफलानि शदरादि न ग्रहणेऽपि

5. व्यायामाभावात्

6. उदरमूत्रसम्बद्धरोगप्रभावाच्च।

मुद्राणां प्रभावः– निम्नरक्तचापस्य निदाने महामुद्रायाः, त्रिबन्धस्य चाभ्यासः विशेषो लाभकारी वर्त्तते। यतो हि शरीरे प्राणानां साक्षात् सम्बन्धो वर्त्तते रक्तप्रवाहेन सह। यदा पूर्वोक्तानामभ्यासो विधीयते तर्हि शरीरे प्राणिकक्रियाशीलत्वेन स्वयमेव रक्तचापोऽभिवर्द्धते। रक्तचापोऽभिवर्द्धनेन सह मनःस्थैर्यम् अपि जायते। मनःस्थैर्यस्य साक्षात् सम्बन्धोऽस्ति उच्चरक्तचापेन सह। मानसिकविकाराणां शाम्येन तथा च मुद्राप्रभावादुत्पन्नजठराग्निविवर्द्धनेन सह विविधाहारस्य पूर्णपाचनं भवति। शरीरे सर्वविधनियन्त्रणं प्रजायते। अत इदं वक्तुं शक्यते यत् उभयविधरक्तचापे मुद्राणामभ्यासो विशेषः प्रभावशाली। निम्नरक्तचापे तु साक्षादेव एतासां मुद्राणां प्रभावत्त्वं दृश्यते। उच्चरक्तचापे परम्परया महत्त्वं वर्त्तते इत्यलम्।

4.1.5 कफपित्तवायुसम्बद्धरोगाः

शरीरस्य रचनायाम् एतेषां त्रयाणां मुख्यत्वम् आयुर्वेदेन कल्प्यते। शरीरे रोगाणां स्थितिः[6] कफपित्तवातेषु न्यूनाधिक्ये सति वयं जानीमः। विभिन्नरोगाणां शमनम् एतेषु त्रयेषु उत्पन्नाव्यवस्था निदाने भवितुं शक्यते इति प्रायः सर्वेषु आयुर्वेदाचार्येषु प्रसिद्धसिद्धान्तः[7]। त्रयाणां साम्यावस्था सर्वेषु स्वस्थकेषु प्राप्यते, वैषम्येण रोगाणां स्थितिः सञ्जायते। अत्र वातपित्तकफकोपकारकायुर्वेदानुसारं प्रस्तूयते।

वातकोपकारणम्–रुक्षैःतिक्तैः कषायैः कटुरसानां सेवनैः च मलमूत्रादिनां वेगधारणैः व्यायामैः व्यवायैः, प्रतरणैः, बलवता सह युद्धैः, जागरणैः, श्यामनीवारकंगुप्रभृतिभिरशनैः, प्रयोदैः, वर्षायाञ्च देहे मारुतस्य प्रकोपो जायते[8]।

कुपितपातलक्षणम्– देहे विविधस्थले न्यूनाधिक्यपीडा भवति, शरीरं कृशायते, जठराग्निविषमत्वात् क्षुधा क्वचिद् वर्द्धते क्वचिद् विनश्यति इत्यादि[9]।

कुपितवाते मुद्राणां प्रभावः– महामुद्रामहाबन्धमहावेधानां नित्याभ्यासेन साधके देहस्थमलानां क्षयत्वात् योगाग्निः प्रदीप्यते। त्रिबन्धस्य वैशिष्ट्यमेवेत्थमस्ति यद् कोऽपि सामान्यतयापि एतस्याभ्यासो विधीयते तस्मिन् शरीरे मणिपूरचक्रे विशिष्टक्रियाशीलत्वात् प्राणापानयोः घर्षणत्वाच्च समानविभेदेन प्रचण्डाग्निरुत्पद्यते। तस्माद् प्रभावात् अधःकेन्द्रियमलत्यागविभागतः त्रिविधदोषाणां विरेचनं जायते। शरीरे स्वाभाविकतया एव क्रान्तिः समुदीयते। एतेषां लाभानां वर्णनं फलश्रुतौ सम्प्राप्यते। अभ्यासाद् एव विश्वासो निश्चीयते।

---

[6]यो॰तरङ्गिणी – पृ॰स॰ 3, श्लो॰स॰ - 3
[7]यो॰तरङ्गिणी – पृ॰स॰ 5, श्लो॰स॰ - 32
[8]यो॰तरङ्गिणी – पृ॰स॰ 7, श्लो॰स॰ - 7
[9]यो॰तरङ्गिणी – पृ॰स॰ 8, श्लो॰स॰ – 48-90

पितकोपकारणम्– कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणाधिक्यमशनैः, क्रोधाचरणैः, अत्यधिक-कोपवासैः, तपसा, स्त्रीसङ्गैश्च तिलातसीदधिसुरासुक्तारनालादिभिः अत्यधिकसेवनैः, भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि, ग्रीष्मे, मध्याह्ने अर्धरात्रे च प्राणिनां देहे पित्तप्रकोपो भवति[10]।

कुपितपित्तलक्षणम्– भ्रमेण, मदेन, मुखशोषणेन, स्वेदसन्तापमुर्च्छया च मुखनयननखत्व-ङ्मूत्रविट्पीतत्वेन, प्रलापमतिसारेण च अरुचिज्वरतृषाधिक्येन शिशिरतेच्छया चापि अस्माभिः ज्ञातुं शक्यते यत् पूर्वोक्तलक्षणविशिष्टदेहे पित्तरोगस्य स्थितिः कीदृशी वर्त्तते[11]।

कफकोपकारणम्–गुरुमधुरातिशीतदधिदुग्धनवान्नपयस्तिलविकृतीक्षुभक्षणातिदिवाशयनैः, समविषमाशनाध्यशनपायसपिष्टकृतैरपि च कफः कुप्यति। चैत्रवैशाखयोः प्रातःकाले च कफदोषस्य प्रकोपं प्रभवति[12]।

कुपितकफलक्षणम्– आयुर्वेदे बहूनि लक्षणानि कथितानि सन्ति, अत्र सामान्यतया प्रमुखकारणानि निगद्यन्ते मया। सामान्यतया यदा शरीरे स्थूलत्वं समायाति इदं मुख्यं लक्षणं वर्त्तते कफवर्द्धनस्य। प्रारम्भे इयं स्थितिः नातिकष्टकारी परञ्च कालक्रमेणाङ्गेषु गौरवत्वं सञ्जायते। अत्र मूलरूपेण जठराग्नेः मन्दत्वं हेतुः। हृदये उत्क्लेशः, मुखात् प्रसेकः, आलस्यम्, आस्ये मधुरत्वं, कण्डूयत्वं, नेत्रयोः पाण्डुत्वं, अतिरोमहर्षत्वमाद्यनैकानि लक्षणानि शास्त्रे निगदितानि सन्ति[13]। सम्प्रति, कफपित्तवातसम्बद्धरोगेषु मुद्राणां प्रभावः कथं कार्यं करोति इति प्रस्तूयते।

कफपित्तवातसम्बद्धरोगेषु मुद्राणां प्रभावः -सर्वासां मुद्राणाम् अभ्यासक्रमे प्रारम्भिकदैहिकप्रभावः एकरूपको दृश्यते। मुद्राणां क्रमिकाभ्यासे प्रारम्भकाले देहे जठराग्निः प्रदीप्यते। देहाग्निः प्रभावात् अभ्यासिजने स्वयमेव त्रिविधदोषाः शम्यन्ते। अयम् अग्नि अग्रिमक्रमे योगाग्नेः परिवर्त्तते। हठयोगानुष्ठाने प्रारम्भिकलक्षणदृष्ट्या यत् विवरणं प्राप्यते

---

[10]यो॰तरङ्गिणी – पृ॰स॰ 7, श्लो॰स॰ - 44
[11]यो॰तरङ्गिणी – पृ॰स॰ 8, श्लो॰स॰ - 51
[12]यो॰तरङ्गिणी – पृ॰स॰ 7, श्लो॰स॰ - 45
[13]यो॰तरङ्गिणी – पृ॰स॰ 8, श्लो॰स॰ – 52-53

तस्मिन् विवरणे शरीरे कृशत्वं, मुखे प्रसन्नतादिलक्षणानि व्यक्तानि सन्ति। अस्मिन् लक्षणे एव शरीरसम्बद्धरोगाणां पूर्णशमनं निष्कर्षरूपेण अभिलक्ष्यते। यतो हि अग्निसोमात्मकमियं सम्पूर्णसृष्टिः तद्वदेवेदं शरीरमपि वर्त्तते। यदा देहे अग्नित्वं वर्द्धते तदा स्वयमेव शरीरे मेदपित्त-वायुसम्बद्धरोगाणां शमनं सम्पद्यते। मुद्राणाम् अभ्यासेन यथा शरीरे अग्निः प्रभवति तद्वदेव खेचरीविपरीतकरणीजालन्धरादिना सोमतत्वं व्यवस्थीयते। अतोऽग्निसोमात्मकव्यवस्था-सम्पादकत्वं मुद्रासु सिद्धयति।

4.2 मुद्राणां मुख्योद्देश्यानि

'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' याज्ञवल्क्यस्मृतिवचनानुसारं समेषां जनानां परमो धर्मो योगेन आत्मदर्शनम् इति निश्चितमेव वर्त्तते। योगस्याङ्गभूतत्वात् मुद्राणामपि मुख्योद्देश्यम् आत्मदर्शनमेवास्ति। तदपि योगस्याङ्गभूतप्रयोगपक्षीयमुद्राया एको विशिष्टक्रमो वर्त्तते। अस्मिन् क्रमे मुद्राभिः सर्वप्रथमः प्राणायामे प्रवेशो दीयन्ते। अत्र प्राणायामशब्देन केवलकुम्भको ज्ञेयः। यतो हि योगदर्शने प्राप्तप्राणायामस्य लक्षणं श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदत्वं प्रदर्शयते। योगतारावल्यां बहुविशिष्टवर्णनं प्राप्यते –

तत्र त्रिबन्धाभ्यासपूर्णे सति प्राणाः इडापिङ्गलयोः मार्गम् अभित्यज्य सुषुम्नायां प्रविशन्ति[14]। रेचकपूरकादिप्राणायामैः जालन्धरादित्रयबन्धैश्च केवलकुम्भकप्राणायामे गतिः सम्पद्यते[15]। तस्य केवलकुम्भकस्य प्रशस्तिं भणति –

बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां विवर्जितां रेचकपूरकाभ्याम्।
विशोषयन्तीं विषयप्रवाहं विद्यां भजे केवलकुम्भकरूपाम्॥

हठयोगेषु सहस्राधिकप्रकाराः कुम्भकाः प्रसिद्धाः सन्ति, ते केवलं रूढा एव, न त्वन्वर्थाः। किन्तु यस्मिन् उत्तमे कुम्भके प्राकृतवैकृताभिधाने चित्तचलनहेतुभूते रेचकपूरके प्राणवायोः नैव सम्भवतः, स एव शुद्धः कुम्भक इति राजयोगिभिः समाचर्यते। पातञ्जलयोगसूत्रे व्यक्तप्राणायामफलश्रुतौ यत् प्रकाशावरणं क्षीयते इत्यात्मकवचनप्रवचनं प्राप्यते तस्याः सिद्धिः केवलकुम्भकैरेव सम्पद्यते।

अनेन च केवलकुम्भकेन नीरजस्कतया निश्चलीकृतस्य मनसः सोमसूर्याग्नि-मण्डलाधिष्ठाने त्रिकूटाभिधाने चिदाकाशे संस्तम्भने कृते सति, प्राणानिलोऽयं इडापिङ्गलाख्ये सूर्यचन्द्रनाड्यौ परित्यज्य झटिति विष्णुपदे एव विलीनो भवति[16]।

---

[14]यो०ता०, श्लो०स० - 6
[15]यो०ता०, श्लो०स० - 7
[16]तत्रैव, श्लो०स० - 11 - 12

पूर्वोक्तसम्पूर्णव्यक्तस्थितौ प्रवेशाय मुद्राणां प्रामुख्यं भजते। अस्मिन् क्रमे एव 'नादानुसन्धानम्' समायाति। यत्र प्रवेशायापि मुद्राणां विशेषयोगदानं वर्त्तते। वस्तुतः देहाग्निरभिवर्द्धनत्वात् चित्तशुद्धितश्च शरीरे अनाहतो नादोऽभिजायते। तस्य नादानुसन्धानस्य सम्पूर्णप्रक्रिया अग्रिमप्रकरणेषु व्याख्यायिष्यते। सम्प्रति तु केवलं मुद्राणां लक्ष्याभिव्यक्तकरणमेव प्रयोजनम्।

मुद्राणां परमप्रयोगात्मकप्रयोजनं दिव्यदेहस्य प्राप्तिर्वर्त्तते। मुद्राणां केवलकुम्भक-नादानुसन्धानरीत्या यत् विचित्रस्वरूपमुत्पद्यते तस्य एव परिणामं वर्त्तते दिव्यदेहम्। बहुषु रसायनप्रधानग्रन्थेषु दिव्यदेहाय पारदवायोः वर्णनं प्राप्यते। जीवनमुक्तये सशरीरमुक्तिमवाप्तये दिव्यदेहस्थितिः योगशास्त्रस्य सर्वोत्कर्षपक्षः। एतदर्थं विभिन्नैः आचार्यैः नैकरीत्या दिव्यदेहात्मकलक्ष्यं सङ्केतितम्।

4.2.1 प्राणायामः

प्राणानाम् आयाम इति प्राणायामः। अर्थात् श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। मुख्यरूपेण केवलकुम्भक एव प्राणायामशब्दस्य मुख्यार्थः। केवलकुम्भकात्मकपरमलक्ष्ये प्रवेशाय मुद्राणां परमावदानं वर्त्तते। अनया विना आसनतः प्राणायामे प्रवेशो नैव सम्भाव्यते। प्राणस्य प्रसिद्धमार्गद्वये इडापिङ्गलेऽभित्यज्य सिद्धानां निवासे सुषुम्नायां प्राणस्य प्रवेशनं केवलकुम्भकेन एव सम्भाव्यते। केवलकुम्भकस्य प्राप्तिः मुद्राधीनम्। अतः प्राणायामविषयकशुद्धस्वरूपप्राप्तये मुद्राणामनुष्ठानमपेक्षितम्। सामान्यतया प्रायः सर्वेषु हठयोगग्रन्थेषु प्राणायामस्य नैकाः भेदाः प्राप्यन्ते। यथा –

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भकाः॥[17]

वस्तुतोऽस्मिन्प्राणायामविषयकक्रमे संहितादयः सर्वे कुम्भकाः केवलीसञ्ज्ञकपरमयथार्थप्राणायामे प्रवेशस्य मार्गाः सन्ति। अयमेकः क्रमो वर्त्तते। क्रमपूर्वकमुद्राभिः सहानुष्ठानेन केवलकुम्भकरूपी परमप्राणायामस्य प्राप्तिर्जायते।

अस्तु, योगशास्त्रस्य तुरीयमङ्गं प्राणायामोऽस्ति। यमनियमौ सुष्ठु परिपाल्य, आसनानां नैरन्तर्य्येणाभ्यासं विधाय, इन्द्रियाणां बाह्यप्रवृत्तिं, मनसश्चाञ्चल्यञ्च विरुध्य शान्तिचिन्तकः सुपथ्याहाराभ्वहृत्य कृताभ्यासी गुरोः सविधिं प्राप्य प्राणायामान् अभ्यसिति। प्राणायामाः केवलं योगिनां कृते एव नापितु सामान्यजनेभ्योऽपि महन्तरुपयोगिनः सन्ति। योगिद्वाराभ्यसितप्राणायामैः साधनापथः प्रशस्तो भवति। सामान्यजनाभ्यसितप्राणायामैः दैहिकमानसशोधनं, दीर्घायुश्च जायते।

प्राणायाम एका वैज्ञानिकप्रक्रिया वर्त्तते, येन मानवजीवन आध्यात्ममार्गात् शाश्वतसुखं प्रति गच्छति। आयुर्वेददृष्ट्याऽपि प्रक्रियैषा अतीवमहत्त्वपूर्णाऽस्ति। यतो हि आयुर्वेदस्य

[17]गो॰सं॰ 195

प्रयोजनं स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं, एवञ्चच्छरीरगतविकारोपशनम्। प्राणायामाभ्यासेनाऽपि स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं, विकारोपशनञ्चैव भवति। प्राणायामद्वारा दोषाणां समस्थितिः, धातुमलानां समक्रिया, जठराग्नेः दीप्तिः, इन्द्रियविकाराणां निवृत्तिः, मनोगतदोषाणामुपशमनम्, मानसचाञ्चल्यनिरोधनम्, आत्मनैर्मल्यञ्च जायते। उक्तसर्वेऽपि आयुर्वेदस्य लक्ष्याः सन्ति, तल्लक्ष्यसाधनं प्राणायामश्च। प्राणायामस्य मुख्योद्देश्यं आध्यात्मिकसाधनामार्गस्य प्राशस्त्य-सम्पादनमेव, तथापि शारीरिकमानसिकस्वास्थ्यमनायासेन प्राप्यते। एवञ्चायुर्वेददृष्ट्यापि प्राणायामः मनुष्याणाम् उपकारकोऽस्ति।

भारतीयसंस्कृतिधर्म्मशास्त्रानुसारं संसारेऽस्मिन् प्रत्येकं प्राणिद्वारा विहितशुभाशुभ-कर्म्माधृत्यैवायुर्नियम्यते। किन्तु प्राणायामरूपवैज्ञानिकप्रक्रियायाः सातत्येन पूर्वनिर्धारित-श्वासोच्छ्वासगतिनियम्येन दीर्घायुः जायते। वस्तुतः श्वासोच्छ्वासनियन्त्रणमेव दीर्घायुषः स्वस्थजीवनस्य चाधारः।

प्राणायामलक्षणम्, तत्परिभाषा च –

श्वासोच्छ्वासो मनुष्यस्य स्वाभाविकप्रक्रिया वर्त्तते। यदि प्रक्रियायामस्यामवरोधे सति प्राणान्तो भवति, किन्तु प्राणायामपद्धत्त्या अर्थात् प्रयत्नाभ्यासाभ्याम् अवरोधरूपप्राणायामेन निरोधे सति दीर्घायुः प्राप्नोति। तदेवोक्तं योगदर्शने –

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः[18]॥ इति॥

अर्थात् आसनसिद्ध्या अनन्तरं श्वासप्रश्वासयोः गतिरोधनमेव प्राणायामः। शरीरघटकनसा गृहीतवायुः श्वास इति कथ्यते, तत एव निर्गतवायुः प्रश्वासरुच्छ्वासो वाभिधीयते। श्रीब्रह्मानन्दानुसारं प्राणवायोः निरोधनमेव प्राणायाम इत्याख्ययते। तथा चोक्तम् –

प्राणस्य शरीरान्तः सञ्चारि यो आयमनं निरोधनमायामः प्राणायामः॥ इति॥

---

[18]यो॰द॰ 2/49

पण्डितगोरक्षनाथवर्य्यैः प्राणायामलक्षणमेवमकारि –

'प्राणः स्वदेहजीवायुरायामरतन्निरोधनम्' इति॥ अर्थात् स्वदेहजीवनाधाराः प्राणाः सन्ति, तन्निरोधनमायामः, अपि चायाम एव प्राणायाम इत्युच्यते।

सर्वेषु शास्त्रेषु प्राणशब्दो वाच्यान्तरेषु प्रयुज्यते। योगसूत्रे भगवत्पतञ्जलिपादैः श्वासार्थे प्राणशब्दः प्रयुक्तः, तदेव प्रसिद्धोऽपि वर्त्तते। प्राणायामो नाम 'प्राणानाम् आयामः' अर्थात् निर्गतवायोः कश्चित्कालार्थं बहिरवरोधने वृद्धिरिति। केचन विद्वान्सस्तु 'प्राणानां विरामो' नाम श्वासस्य यथास्थानमवरोधनमेव प्राणायाम इति स्वीकुर्वन्ति।

प्राणायामरेकः प्रक्रियाविशेषः, यस्मिन् प्राणानामवरोधनपूर्वकं बाह्याभ्यन्तरदैहिकमानसक्रियाः नियन्त्रयते।'सर्वा ही चेष्टा वातेन' इत्यभियुक्त्यनुसारं शरीरस्य सर्वा अपि बाह्याभ्यन्तरक्रियाः वातेनैव नियम्यन्ते।

प्राणायामे प्राणवैशिष्ट्यम् –

पूर्वप्रतिपाद्यतत्त्वेषु अस्माभिरज्ञायत यत् प्राणायामाधारा प्राणा एव सन्ति। यतो हि प्राणायामद्वारा प्राणानामवरोधनपूर्वकमेव शारीरिकमानसिकचेष्टाणां नियन्त्रणं क्रियते। अत आदौ प्राणवाच्यः क इति विमर्ष्टव्यः। योगशास्त्रे शरीरव्याप्यवायुरेव प्राणाः। सामान्यतया वामदक्षिणनासिकाभ्यां श्वासोच्छवासक्रिया भवति। अत्र दक्षिणनसा जायमानप्राणप्रवाहः 'सूर्य्यनाड़ी', वामनसा जायमानप्राणप्रवाहः 'चन्द्रनाड़ी' इत्यभिधीयते। उभाभ्याञ्च जायमान-प्राणप्रवाहः 'सुषुम्नानाड़ी' इत्युच्यते।

शरीरव्याप्तवायुः प्राणापानसमानोदानव्यानरूपेण पञ्चधा विभज्यते शास्त्रकारैः, तत्र –

1. प्राणः – हृदयदेशस्थो वायुः, मानवजीवनस्याधारः।
2. अपानः – उदरात् अधोदेशस्थो वायुः।
3. समानः – उदरदेशस्थो वायुः।
4. उदानः – कण्ठप्रदेशस्थो वायुः।
5. व्यानः – सर्वशरीरव्यापी वायुः।

आयुर्वेदमतेऽपि शरीरव्याप्तवायोः महद्वैशिष्ट्यं वर्त्तते। तत्राऽपि पञ्च भेदा एव विगणिताः। तथा चायुर्वेदे एतेषां भिन्नकर्म्मस्थान्युक्तानि। तदेव महर्षिचरकैरेवं कथ्यते –

'वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्त्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीर-धातुव्यूहकरः, सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवर्त्तको वाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्त्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः'[19]॥इति॥

अर्थात् वायुः शरीरतदवयवानां धारकः, प्राणापानोदानसमानव्यानात्मक-शारीरिकचेष्टाणां प्रवर्त्तकः, मनोनियन्त्रकः, तत्प्रेरकः, सर्वेन्द्रियस्वस्वविषयप्रवर्त्तकः, इन्द्रियार्थविषयाणामिन्द्रियं प्रति नायकः, शरीरस्य समस्तधातूनां व्यूहको नाम स्वस्थाने नियतमात्रे स्थायकः, शरीरस्य सन्धायकोऽर्थात् गर्भावस्थायाम् अस्थिमज्जानां स्वस्थानस्थापकः, वाण्याः प्रचोदकः, स्पर्शशब्दप्रकृतिस्थानिकः, श्रोत्रत्वन्मूलकः, हर्षोत्साहयोनिकः, जठराग्निप्रदीपकः, विकृतदोषपावकः, शरीरात् स्वेदमूत्रपुरीषादिमल-निष्कासकः, स्थूलाणुस्रोतोभेदकः, गर्भाकृतिकारकश्चाऽस्ति। अनेन प्राकृतः अकुपितो वायुः जीवननिर्वाहको वर्त्तते।

अथर्ववेदे वायुरेव प्राण इति स्वीकृतः –

प्राणमाहुर्मातरश्विनं वातो ह प्राण उच्यते।

प्राणे हि भूतभाव्यञ्च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ इति॥

प्राण: मातरिश्वेति कथ्यते, वायुरेव प्राणः। भूतभविष्यवर्त्तमानाः सर्वेऽपि प्राणाधृता एव। शरीरे प्राणमहत्त्वमुपनिषद्येवमुक्तम् –

---

[19]च०सं० 12/7

यावदस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः [20]॥ इति॥

अर्थात् यावत् शरीरे प्राणावस्थितिः तावदेव स चेतनोऽस्ति। वायुसञ्चारविषये उक्तम्–

येन जीवति जीवोऽयं निर्जीवो यं विना भवेत्।

स प्राण इति विख्यातो वायुः क्षेत्रचरः परः[21]॥ इति॥

प्राणी येन सजीवः, तद्विना निर्जीवो भवति स एव प्राणरुच्यते। शरीरे विचरणवायुषु प्राणवायुः सर्वश्रेष्ठोऽस्ति। प्राणमाहात्म्यं तैत्तिरीयोपनिषद्यपि प्राप्यते –

'प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, प्राणेन जातानि जीवन्ति, प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'[22]॥इति॥ अर्थात् प्राणेभ्यो जीवारुत्पद्यन्ते, जीवन्ति, प्राणेष्वेव विलीयन्ते च। अपि च –

प्राणं देवा अनुप्रणन्ति मनुष्याः पशवश्च ये।

प्राणो हि भूतानामायुः तस्मात्सर्वायुषमुच्यते॥ इति॥

प्राणेभ्यः एव देवाः, मनुष्याः, पशुपक्षिणश्च जीवन्ति। प्राण एव प्राणिनां जीवनमस्ति। अत एव 'सर्वायुष' अर्थात् आयुःप्रदायकः इत्युच्यते। तथा च –

सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये ब्रह्मोपासते।

प्राणो हि भूतानामायुः तस्मात्सर्वायुषमुच्यते॥ इति॥

यः प्राणान् ब्रह्मणः इव स्तौति, सः पूर्णायुः प्राप्नोति। प्राणाः एव प्राणिनां जीवनम्, तस्मादेव सर्वायुष इति कथ्यते।प्रदर्शितोद्धरणैः स्पष्टं जातं यत् मानवस्य जीवनाधारः प्राण एव। प्राणो नाम शरीरस्थवायुरेवाऽस्ति। अत एव योगशास्त्रे प्राणायामेषु वायोः निरोधः निर्दिश्यते –

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत्[23]॥ इति॥

---

[20] कौ०उ० 3/2
[21]शार्ङ्गधरपद्धत्याम् – श्लो० स० 47, पृ० स० 47
[22]तै०उ० भृगुवल्ली, अनुवाक स० 3
[23]ह०प्र० 2/3

शरीरे वाय्वस्थानमेव जीवनम्, शरीराद्बहिः वायुगमनमेव मरणम्। अतो तद्वायोः निरोध आवश्यकः। तत्त्रैवाग्रे उच्यते –

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।

योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्[24]॥ इति॥

वायोः प्रवाहादेव मनोऽपि चञ्चलायते। वायोः चलनाभावे सति मनोऽपि निश्चलं भवति। तथा च निश्चलमनोयुक्तयोगी स्थाणुत्वं प्राप्नोति। अतो वायोरवरोध आवश्यकः। प्राणायामवाच्यं स्पष्टीकरोति आचार्य्यब्रह्मानन्दः –

'प्राणस्य शरीरान्तः सञ्चारिवायोरायमनं निरोधनमायामः'॥ इति॥

अर्थात् शरीरव्याप्यसञ्चरितवायोः निरोध एव प्राणायाम इति कथ्यते। अत्र प्राणो नाम जीवनमेव, तदेवोच्यते –

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्।

वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्त्तितः॥

वायुरेव महाभूतं वदन्तु निखिला जनाः।

आयुरेवैष भूतानामिति मन्यामहे वयम्॥ इति॥

पञ्चमहाभूतेषु वायोः प्राधान्यं वर्त्तते, तेनैव सर्वे प्राणिनः जीवन्ति। रामायणेऽपि तन्महत्त्वं प्रतिपादितम्-

शरीरं हि विना वायुः समतां याति दारुभिः।

वायुः प्राणः सुखं वायुर्वायुः सर्वमिदं जगत्॥ इति॥

वायुं विना शरीरश्चेतनारहितो भवति। अत एव वायुरेव शरीराधारः, स्वास्थ्यस्थानिकश्चाऽस्ति। विश्वरूपोऽपि वायुरेव वर्त्तते। एतैः प्रमाणैः स्पष्टीभवति यत् शरीरे

[24] ह०प्र० 2/2

प्राणस्थितिः वायुं विना न भवितुमर्हति। प्राणवायोः निरोधः प्राणायामः, प्राणायामस्याधारः वायुरेवास्ति।

प्राणायामत्रैविध्यम् –

परिणामदृष्ट्या हठयोगे प्राणायामस्य त्रैविध्यं निरूपितम्, ते च कनिष्ठप्राणायामः, मध्यमप्राणायामः, उत्तमप्राणायामश्च। एते लक्षणपुरस्सरं प्रतिपादिताः हठयोगे –

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे।

उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत्[25]॥ इति॥

प्राणायामानन्तरं स्वेद आयाति चेत् स कनिष्ठः प्राणायाम इति बुद्ध्यति। मध्यमप्राणायामे कम्पनं भवति। तथा च उत्तमप्राणायामे योगिनः प्राणवायुः ब्रह्मरन्ध्रं प्राप्नोति। कनिष्ठादिप्राणायामानां लक्षणानि लिङ्गपुराणे एवं निर्दिष्टानि –

प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतम्।

नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्घाता ईरितः॥

मध्यमस्तु यस्त्रिरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः।

मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते॥

प्रस्वेदकम्पनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम्।

आनन्दो जायते चात्र निद्रा धूमस्तथैव च॥

रोमाञ्चो ध्वनिसंविज्ञिरङ्गमोटनकम्पनम्।

श्रमणस्वेदजल्पाद्यं संविन्मूर्छा जयेद्यदा॥

तदुत्तम इति प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः।

अर्थात् प्राणायामः द्वादशप्रमाणको भवति।लघुस्तरे पूरके 12 मात्रा, कुम्भके 48 मात्रा, रेचके 24 मात्रा, मध्यमस्तरे पूरके 24 मात्रा, कुम्भके 96 मात्रा, रेचके 48 मात्रा, उत्तमस्तरे

[25] ह०प्र० 2/12

पूरके 36 मात्रा, कुम्भके 144 मात्रा, रेचके 72 मात्रा च ज्ञेया।अस्मिन् एव सन्दर्भे गोरक्षाचार्य्यैरपि उक्तप्राणायानां प्रमाणाणि द्वादश, चतुर्विंशति, षट्त्रिंशति मात्रात्मकानीति प्रतिपादितानि –

अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे त्रिगुणाः स्मृताः।
उत्तमे त्रिगुणाः मात्रा प्राणायामे द्विजोत्तमैः॥ इति॥

अत्र प्राणायामविषयकचर्चायाम् उद्धातो, मात्रा च पौनःपुन्येन श्रूयते। अत आदौ तयोश्शब्दयोः वाच्यज्ञानमावश्यकम्। उद्धातस्तु –

प्राणेनोत्सर्पमाणेनापानः पीडयते यदा।
गत्वा चोर्ध्वं निवर्त्तेत एतदुद्धातलक्षणम्॥ इति॥

ऊर्ध्वगतप्राणैः अपानवायोः तोदने सति ऊर्ध्वगतप्राणवायोः पुनरावर्त्तनम् एव उद्धात इति शास्त्रकारैः स्वीकृतः। मात्राविषये तु याज्ञवल्यकथनं प्रसिद्ध्यति, यत् –

अङ्गुष्ठाङ्गुलिमोक्षं त्रिभिर्जानुपरिमार्जनम्।
तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रा संज्ञा प्रचक्षते॥

अपि च,

जानुप्रदक्षिणी कुर्य्यान्न द्रुतं न विलम्बितम्।
प्रदद्याच्छोटिकां यावतावन्मात्रेति गीयते॥

तथा च स्कन्दपुराणे प्राप्यते –

एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निगद्यते॥ इति॥

अस्य योगचिन्तामणिव्याख्यायां विचारणायामुक्तम् –‘निद्रावशंगतस्य पुंसो यावत् कालेनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति च तावत्कालः प्राणायामस्य मात्रेत्युच्यते’ इति। अर्थात् निद्रावस्थायां मानवस्य यः श्वासोच्छवासकालस्तावन् कालरेव मात्रेति नाम्ना प्राणायामे कथ्यते।

प्राणायामस्य भेदाः –

हठयोगे स्वात्मारामसूरिभिः त्रिविधात्मकप्राणायामनिरूपितम्, उच्यते च –

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रोचकपूरककुम्भकैः।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः॥ इति॥

रेचकपूरककुम्भकभेदेन प्राणायामस्त्रिविधः। तत्रापि पुनः कुम्भको द्विविधः –

1. पूरकरेचकयुक्त:
2. शुद्धः कुम्भकश्च।

योगदर्शनेऽपि मुख्यतः प्राणायामस्य त्रिविधतैव प्रतिपाद्यते – बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः[26]। सूत्रेऽस्मिन् बाह्य-वृत्त्याभ्यन्तवृत्तिस्तम्भवृत्तिरूपेण त्रयाणामेव वर्णनं प्राप्नोति, किन्तु तत्रैवाग्रे तुरीयप्राणायमोऽपि दृश्यते। अनायाससाध्यः राजयोगस्य प्राणायामः, अस्मिन् प्राणानामवरोधनं स्वभावत एव भवति। क्रमशरेते विमृश्यन्ते –

1. बाह्यवृत्तिः – यो वायुः नासिकाभ्यां निर्गच्छति, तं वायुं सुखेन बहिर्निरोधनमेव बाह्यवृत्तिरित्यभिधीयते। बहिर्निरोधनकाले वायोरवस्थितिः कुत्र ?, स्वाभाविकप्राणगतिः कियती ? इत्यपि चिन्तनीयम्। हठयोगे बाह्यवृत्तिप्राणायामः 'रेचक'नाम्ना प्रसिद्धो वर्त्तते। याज्ञवल्क्येन रेचकप्राणायमस्य लक्षणमेवं कृतम् –'बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः' इति। अपि च लक्षणानन्तरमपि दृश्यते शास्त्रेषु –

निष्क्रम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन।
निरुध्य संतिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महानिरोधः॥ इति॥

अस्य प्राणायामस्य नैरन्तर्य्याभ्यासेन प्राणाः सूक्ष्मत्वमापन्नाः सुदीर्घकालाय अनायासेन बहिः तिष्ठन्ति।

---

[26]यो०द० 2/50

2.आभ्यन्तरवृत्तिः – नासिकाभ्यां वायुं गृहीत्वा अन्तरेव यथासुखमवरोधनमाभ्यन्तरवृत्ति इति कथ्यते। अवरोधनकाले प्राणा अन्तर्वृत्तौ कुक्ष तिष्ठन्तीति चिन्तनमपि स्यात्। हठयोगे असौ पूरकप्राणायाम इत्याख्यायते। याज्ञवल्क्यदृष्ट्या पूरकलक्षणन्तु –'बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः' इति। अपि च –

बाह्ये स्थितं प्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात्।

नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः॥ इति॥

कतिपय आचार्य्यैस्तु पूर्णरूपेण अन्तः प्राणानामवरोधनम् अन्तःकुम्भक इत्युच्यते।

3. स्तम्भवृत्तिः –अनायासेनार्थात् प्रयत्नाभावेन बहिर्भूतानां प्राणानां तत्त्रैवावरोधनम्, अन्तर्भूतानाञ्च अन्तरेव स्तम्भनमेव स्तम्भवृत्तिर्भवति। अमुमेव हठयोगे कुम्भकप्राणायाम इति वदन्त्याचार्य्याः। याज्ञवल्क्याचार्य्याः कुम्भकं प्रतिपादयन्ति –'सम्पूर्य्य कुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत्' इति। पातञ्जलयोगसूत्रव्याख्याकारैः केवलकुम्भक इति सञ्ज्ञयाऽप्यसौ आचख्यते। केवलकुम्भकः लक्षणं हठयोगप्रदीपिकाव्याख्याम् –

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत्।

रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्॥

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः[27]। इति।

उपर्य्युक्तत्रयाणामपि अभ्यासानन्तरं चतुर्थप्राणायामः स्वतःसिद्ध्यति। तुरीयप्राणायम-विषये भगवद्पादैरुक्तम् – बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः[28]॥ बाह्यविषयाभ्यान्तरविषयाणां परित्यागेन चतुर्थात्मकः प्राणायामः स्वतःसिद्ध्यति इति।

[27]ह०प्र० 2/72-73
[28]यो०द० 2/51

हठयोगदृशा प्राणायामभेदाः –

हठयोगदृष्ट्या प्राणायामभेदाः रेखाचित्रमाध्यमेन प्रदर्श्यन्ते –

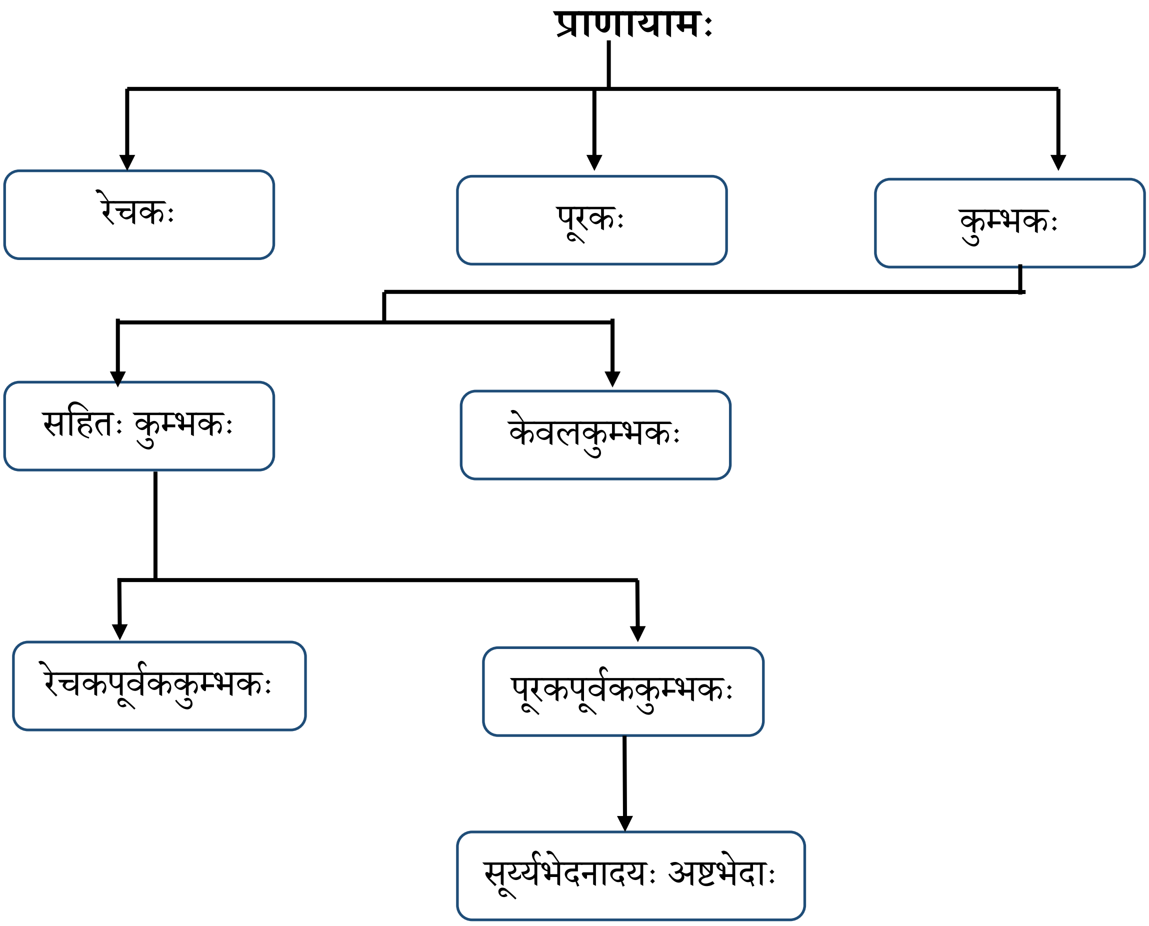

श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रवर्य्यैः कुम्भकप्राणायामस्याऽष्टौ भेदाः हठप्रदीपिकायां प्रदर्शिताः –

सूर्य्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।

भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः[29]॥ इति॥

कुम्भकप्राणायामस्य अष्टौ भेदास्तु –

1. सूर्य्यभेदनप्राणायामः। 2. उज्जायीप्राणायामः।
3. सीत्कारीप्राणायामः। 4. शीतलीप्राणायामः।
5. भस्त्रिकाप्राणायामः। 6. भ्रामरीप्राणायामः।
7. मूर्च्छाप्राणायामः। 8. प्लाविनीप्राणायामः।

---

[29]ह०प्र० 2 /44

एतेषां क्रमशः विधयः, तल्लाभाश्च अधः प्रस्तूयन्ते –

1. सूर्य्यभेदनप्राणायामः–

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः।

दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थपवनं शनैः॥

आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत्।

ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः॥

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत्।

पुनः पुनरिदं कार्य्यं सूर्य्यभेदनमुत्तमम्[30]॥ इति॥

विधिः – सुखासने उपविश्य दक्षिणनसा बहिःस्थवायुं शनैः शनैः सङ्गृह्य, तं केशादारभ्य नखाग्रपर्य्यन्तं यथासुखं निरुध्य, पुनः वामनसा बहिः क्षेपयेत्।

लाभाः – अनेन शिरसो ग्रीवायाश्च समस्तविकाराः दूरीभवन्ति, मानसिकविकृतयश्च। अस्याभ्यासेन वायुजन्यदोषाः शमन्ति। अपि च उदरगतकृमिदोषाणां शमनं, तद्गतानलस्य दीप्तिश्च जायते।

2. उज्जयीप्राणायामः–

मुखं संयम्य नाड़ीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः।

यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम्॥

पूर्ववत् कुम्भयेत् प्राणं रेचयेदीडया ततः।

श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम्॥

नाड़ीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम्।

गच्छता तिष्ठता कार्य्यमुज्जय्याख्यं तु कुम्भकम्[31]॥ इति॥

---

[30]ह०प्र० 2/48-50

[31]ह०प्र० 2/51-53

विधिः – सुखासनमादाय मुखं संयम्य वामदक्षिणनासिकाभ्यां वायुं शनैः शनैराकृष्य, तत्काले वायुना संश्लेषात् कण्ठात् हृदयपर्य्यन्तं ध्वनिः स्यात्। तदनन्तरं वायुमवरुद्ध्य वामनसा रेचयेत्।

लाभाः – अनेन कण्ठगतसमस्तदोषा अपगच्छन्ति। अपि च जठराग्निः वर्धते, नाडीस्थदोषाः शमन्ति, जलोदरधातुगतविकाराश्च नश्यन्ति च।

3. सीत्कारीप्राणायामः –

सीत्कारं कुर्य्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम्।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः॥
योगिनीचक्रसामान्यः सृष्टिसंहारकारकः।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते॥
भवेत्सत्त्वञ्च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः।
अनेन विधिना सत्यं योगीन्द्रो भूमिमण्डले[32]॥ इति॥

विधिः – मुखे जिह्वया सीत्कारेण वायुं पूरयेत्, तदनन्तरं नसा च रेचयेत्।

लाभाः – अस्याभ्यासेन स्वस्थः, सुन्दरः, योगिनीचक्रसेवकः, सृष्टिकारकः, संहारकारकश्च जायते। एवञ्च अस्याभ्यासी क्षुधापीड़ितः, तृषातुदितः, निद्रावशीभूतः, आलसी च न भवति। अनेन शरीरे सत्त्वगुणं, बलञ्च वर्धते।

4. शीतलीप्राणायामः–

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकसाधनम्।
शनकैः घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः॥
गुल्मप्लीहादिकान् रोगान् ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम्।
विषाणि शीतली नाम कुम्भिकेयं निहन्ति हि[33]॥ इति॥

---

[32]ह०प्र० 2/54-56
[33]ह०प्र० 2/57-58

विधिः – सुखासने आरुढ्य ओष्ठाभ्यां बहिर्निष्कास्य गोलाकाररूपजिह्वया वायुं सङ्गृह्य, केशादारभ्य नखाग्रपर्य्यन्तं यथाशक्ति संस्तम्भ्य नासिकाभ्यां त्यजेत्।

लाभः – गुल्मप्लीहादिजन्यरोगाः, ज्वरपित्तविकारक्षुधातृषाश्च नश्यन्ते।

5. भस्त्रिकाप्राणायामः–

यथैव लौहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया।
यदा श्रयो भवेद्देहे तदा सूर्य्येण पूरयेत्॥
यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु।
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम्॥
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदीडयानिलम्।
वातपित्तश्लेष्माहरं शरीराग्निविवर्धनम्॥
कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम्।[34] इति॥

विधिः – पद्मासने उपविश्य नसा वायुं रेचयेत्। रेचनेन कण्ठात् कपालपर्य्यन्तं ध्वनिरुत्पद्येत। तत्पश्चात् वेगात् हृदयपर्य्यन्तं वायुं गृह्णीयात्, पुनः पूर्ववत् ध्वनिना रेचयेत्। एवमभ्यासात् श्रयश्चेदङ्गुष्ठानामिकाकनिष्ठिकाभिः नासिके अवरुद्ध्य वायुं स्तम्भयेत्।

लाभः – असौ प्राणायामः वातपित्तकफशमकः, जठराग्निप्रदीपकः, शीघ्रतया कुण्डलिनी-प्रबोधकः, सुखकारकः, हितकारकः, सुषुम्नानाड्याः अग्रभागनिष्ठकफनाशकः, शरीरगत-सुषुम्नानिष्ठत्रिग्रन्थिभेदकश्चाऽस्ति।

[34] ह०प्र० 2/60-67

6. भ्रामरीप्राणायामः –

वेगाद् घोषं पूरकं भृङ्गनादं रेचकं मन्दमन्दम्।

योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानन्दलीला[35]॥ इति॥

विधिः – सुखासनमादाय वेगात् वायुं नादेन पूरयेत्, अनन्तरं शनैः शनैः भ्रमरनादवत् बहिर्निष्कासयेच्च।

लाभः – अनेन मस्तिष्के नैर्मल्यम्, मानसिकदोषाणां निरसनम्, ध्वन्युच्चारणसम्बद्धदोषाणाम् अपगमनञ्च भवति।

7. मूर्च्छाप्राणायामः–

पूरकान्ते गाढ़तरं बद्ध्वा जालन्धरं शनैः।

रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनो मूर्च्छा सुखप्रदा[36]॥ इति॥

विधिः – पूरकप्राणायामान्ते दृढ़तया जालन्धरबन्धं कृत्वा शनैः शनैः प्राणवायुं रेचयेत्।

लाभः – असौ मनोमूर्च्छाकारको वर्त्तते। अनेन मनसः चाञ्चल्यं निर्गच्छति, एकाग्रता चोत्पद्यते।

8. प्लाविनीप्राणायामः–

अन्तः प्रवर्त्तितोदारमारुतापूरितोदरः।

पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मत्रवत्॥

विधिः – पद्मासने उपविश्य अत्यधिकं वायुम् उदरे पूरयेत्। तदनन्तरं शनैः शनैः वायुं रेचयेत्।

लाभः – अस्याभ्यासात् उदरगतरोगाः समस्ताः नश्यन्ति। पाचनक्रिया सुष्ठु प्रचलति।

एते सर्वेऽपि सहितकेवलावयवपूरकपूर्वककुम्भकस्य भेदाः सन्ति।

---

[35]ह०प्र० 2/68

[36]ह०प्र० 2/69

केवलकुम्भकम्–

कुम्भके केवले सिद्धे रेचकपूरकवर्जिते।
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते॥
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात्।
राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः॥
कुम्भात् कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत्।
अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते[37]॥ इति॥

अर्थात् यस्यामवस्थायां श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदः सम्पद्यते। पूर्णरूपेण सुषुम्णायां प्राणाः प्रचलन्ति, तदा एतस्य प्राणायामस्य यथार्थस्थितिः दरीदृश्यते। वस्तुतेयं स्थितिः योगस्य चरमोत्कर्षो वर्त्तते। अस्यामवस्थिते सति योगी न केवलं मुद्रादिविभिन्नप्रयोगप्रधानयोगपक्षे वैशिष्ट्यं लभते अपितु प्राणलयत्वात् नादानुसन्धानुरीत्या दिव्यदेहं प्रति गच्छति। एतस्य प्राणायामस्य या स्थितिः शास्त्रेषु प्राप्यते तस्याः परिकल्पना योगक्षेत्रे विशिष्टगतिं सम्प्राप्तिं विना कोऽपि अवबोधितुं न शक्यते। वस्तुतोऽस्यां स्थितौ प्रवेशार्थं योगशास्त्रोक्तसर्वासां क्रियाणामाचरणमवश्यं विधेयम्। योगतारावलीग्रन्थे शङ्कराचार्याः विविधरीत्या केवलकुम्भरूपां स्थितिविशेषामर्चितवन्तः।[38]

[37]ह०प्र० 2/73-75
[38]यो०त०, श्लो०स० - 8

4.2.2नादानुसन्धानम्

'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' इत्यात्मकप्रसिद्धवैदिकसिद्धान्तेन वयं सर्वे जानन्त्येव यत् मानवपिण्डे एव ब्रह्माण्डान्वेषणस्य मुख्यसंकेताः तिरोहिताः सन्ति। यथा सर्वेस्मिन् शास्त्रे निश्चितसिद्धान्तस्य वर्णनं दरीदृश्यते तथैव योगशास्त्रे मुख्यलक्ष्यविषयस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः प्राप्यते। एतस्याद्वितीयलक्ष्यस्य प्राप्त्ये योगस्य प्रयोगप्रधानयौगिकग्रन्थेषु नादानुसंधानगुप्तसोपानस्य संक्षिप्तरीत्या एव वर्णनं मिलति। लययोगरूपे आधुनिकसमाजे अस्य प्रचारोऽपि वर्तते। परञ्च यथार्थस्वरूपस्याभावो दरीदृश्यते। नादानाम् अनुसंधानम् नादानुसंधानम्। नादानां उदयस्तु प्रायः पदार्थद्वये संघर्षणादेव जायते। तत्र स्थूलत्वमेव कारणम्। परञ्च यस्य नादानुसंधानस्यात्र वर्णनं प्रस्तूयते तत्तु किञ्चिदपरमेव। शरीरस्थ विकाराणां षड्कर्मासनादिमाध्यमेन यदा शुद्धिः समायाति, तदा प्राणेषु विशेषक्रिया प्रभवति। तत्प्रभावादेव य वायुगतित उत् निश्चितचक्राणां संप्रकाशत्वाद् य ध्वनिर्विशेषोऽनुभूयते तस्याभिधानं नादानुसंधानमिति। अत्र संघर्षणाभावत्वादनाहतस्थितिर्वर्तते। यत्क्रियाद्य-नुष्ठाने ध्वनि-र्विशेषोऽनुभवति तत्तु न्यूनकालिक एव परञ्च शरीरशुद्धिप्रभावात् यद् मनोगतिरन्तर्मुखी भवति तस्य प्रभावादुदितस्सूक्ष्मध्वनिर्विशेषः न आहत इति अनाहतस्तन्नादस्संजायते। इयं प्रक्रिया लययोगेन योगशास्त्रे प्रसिद्धेति। अत्र प्रक्रियादशायां बहवः पक्षाः सन्ति। सामान्यतया मुद्राणामभ्यासक्रमे प्रायः समेषां क्रियापक्षाणामन्तर्भावो भवति। यथा महाबन्धाद्यभ्यासक्रमे त्रिबन्धस्थितेर्खेचर्यादिना संयोज्य यद् स्थितिः संजायते तस्य प्रभावाद् शरीरमनःप्राणानामेक-रूपत्वादभ्यासाधिक्ये सति विशिष्टस्थितिवशाद् देहे कम्पनादि समुदेति। प्रारम्भिके तु कम्पनादीनां प्रभवः प्राणिकक्रियाफलस्वरूपमेव भवति, परन्तु दीर्घकालिकाभ्यासेन कम्पनानां घनीभूत्त्वमेव ध्वनेः नादस्य हेतुर्वर्त्तते। अग्रिमक्रमे अस्मिन्घनीभूतध्वनिविशेषे ऊर्ध्वगमनादत्या-धिकक्रियाशीलत्वं समायाति, तदा तस्य नादस्य अमृतरूपे परिवर्तनमेव नादबिन्दुः अर्थात् चन्द्रमण्डलादमृतवर्षणं जायते। वीर्यरजसयोः सूर्यचन्द्रयोर्वा अतिसूक्ष्मस्तरे यत् संघर्षणमथवा

अग्निना प्राणेषु यत् वैशिष्ट्यमुत्पद्यते तत्प्रभावाद् नादानां घनीभूतत्वं बिन्दुरूपेण सहस्त्रारतो वर्षति, तस्यैव नाम नादबिन्दुरिति। प्राणेषु संघर्षणेनात्र प्राणापानयोः परस्परं विरुद्धगतिः ज्ञेयः। समानो यस्तु नाभौ वर्त्तते तस्य भेदनमिति प्राणापानयोः परस्परं विरुद्धत्वम्। शरीरस्थ प्रतिधातून् प्रशुद्धिरप्यत्र स्वभाविकं सिद्धम्।

द्वितीयक्रियापक्षे – नासिकायां प्राणानां विशेषरेचनरीत्या वंशीध्वनिः कल्पते। अस्मिन्क्रमेऽपि ध्वनिविवर्धनात् प्राणानां लयः गुरूमुखात् श्रुतं मया। योगशास्त्रे बहवस्सिद्धान्ता इत्थं सन्ति येषां गुप्तोल्लेखाः एव सम्प्राप्यन्ते। गुरूपरम्परा एवात्राश्रयः। मानवजीवनस्य प्रबलभौतिकपक्षेषु गमनं शरीरस्थगुप्तविधिनां गोपकेति मन्ये। यदि सद्संगत्यादिना केऽपि चित्तस्य नैराश्यभावानां भेदनं कर्तुं शक्यन्ते ते एवास्य महाल्लक्ष्यस्य प्राप्तिक्रमे किञ्चिदवप्राप्यन्ते। नादानुसंधानप्रक्रियायां चित्तस्य प्राबल्यमस्ति। एतदर्थं यस्य चित्ते विषयभोगानां आकर्षणाभावत्वं उत् न्यूनत्वं वर्तते तस्यैवात्र सहजगतिः भवितुं शक्यते। जीवब्रह्मण्योर्भेदस्तु उपाधिवशाद् एव, योगाभ्यासेन तस्योपाधिपक्षस्याभावत्वं सम्भाव्यते। तदा स्वभावादेकत्वमभेदत्वं वा संजायते। मनोलयसाधनेषु सर्वोत्तमसाधनरूपे नादानुसंधानमाचार्य-शंकरैस्स्वीकृतम्। यथाह-

सदाशिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ते लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्॥[39]

अर्थात् सोऽयं परमानन्दः, गुरोपदिष्टोपनिष्करानुगमनं विना प्रणवनादस्यान्ते अतिसूक्ष्मे वाङ्नासातीते मनसो लयं नैव सम्भवति। लयाधिदेवतया भगवता सदाशिवेनैवोपदिष्टानि उपासनादीनि लोके सपादलक्षप्रकाराणि सन्ति। अथापि तेषु सर्वेष्वपि लयेषु श्रुतिसम्मतानाहतनादानुसारेण तदन्ते सन्धीयमानचित्तसमाधिरूपं लयमेव वयं मान्यतमं मन्यामहे॥

[39]यो.ता. श्लो. सं. 2

सरेचपूरैरनिलस्य कुम्भैः सर्वासु नाडीषु विशोधितासु।

अनाहताख्यो बहुभिः प्रकारैः अन्तः प्रवर्तेत सदा निनादः॥[40]

यस्य नादस्य निरन्तरानुसन्धानेनान्ते ज्योतिःस्वरूपस्यानुभवो जायते। तद्विषयिकी योग्यता प्राप्तिक्रमे प्रारम्भे साधको गुरुपदिष्टविधिना कुम्भकप्राणायामेन पञ्चकोटिसंख्यकज-पानुष्ठानेन चाचारसहितस्थूलसूक्ष्मदेहस्य शुद्धिं प्राप्य नादानुसंधानस्य योग्यता सम्प्राप्नोति। अशुद्धदेहे अशुद्धशब्द एव ध्वनिर्भवति , परन्तु जपैः शुद्धान्तःकरणेन समुद्रमेघादिध्वनि-गम्भीरस्य वीणावेणुमृदङ्गशंखदुन्दुभ्यादिबहुप्रकारानाहताख्यो महाप्रणव-नादस्य च श्रवणं भवति। अस्य महाप्रणवनादस्यानुभवानन्तरं परमपदमाप्नोति।

सम्प्रति हठयोगप्रदीपिकायां प्राप्तनादविषयकसैधान्तिकपक्षस्य वर्णनं प्रस्तूयते।

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्।

शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममतः श्रूयते नादः॥[41]

उभौ कर्णौ अङ्गुष्ठाभ्यां चाक्षुषीतर्जनीभ्याम्, तथान्याभ्यां नासापुटौ मुखमपि च निरोधनं कराङ्गुलिभिः कार्यम्। शुद्धाप्राणायामैः या सुषुम्नापद्धति तस्यां स्फुटं व्यक्तं श्रूयते।

नादस्य चतस्रोऽवस्थाः भवन्ति –आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था निष्पत्यावस्था च।

1.आरम्भावस्था– प्राणायामाभ्यासेन अनाहतचक्रं यदा भिद्यते तर्हि आनन्दजनकः शून्याकाशे नानाविधभूषणनिनादस्य श्रवणं जायते।

तत्फलम्– हृदाकाशे नादारम्भे सति योगी दिव्यरूपलावण्यबलसम्पन्नः, प्रतापवान्, उत्तमगन्धयुक्तो रोगरहितश्च भवति।

---

[40]यो.ता. श्लो. सं. 3

[41]ह०प्र०, उ०स० – 4, श्लो०स० - 68

2. घटावस्था– यदा वायुः आत्मना सहापानं नादबिन्दू चैकीकृत्य कण्ठस्थाने सम्पद्यते, तर्हि योगी दृढासनः पूर्वापेक्षया कुशलबुद्धिमान्, रूपलावण्याधिक्यात् देवतुल्यो भवति। ईश्वरोक्तराजयोगे – प्राणापानौ नादबिन्दू जीवात्मपरमात्मनोः। मिलित्वा घटते यस्मात्तस्मात् स घट उच्यते।

तत्फलम्– कण्ठग्रन्थिः यस्याअपरनाम विष्णुग्रन्थिः वर्त्तते। तस्याः भिद्यत्वे सति यत्परमानन्दो जायते तस्य परमानन्दस्य सूचको भेरीनादश्च तस्मिन् काले भवति[42]।

3. परिचयावस्था[43] - भ्रुकुटिमध्ये यत्महाशून्याकाशो वर्त्तते, तत्र कुम्भकप्राणायामेन मर्दलवाद्यविशेषस्य ध्वनिः समुत्पद्यते। तस्मिन् महाशून्याकाशे संयमाद् सर्वसिद्धिः अणिमादयो जायन्ते।

तत्फलम्– नादविषयान्तःकरणवृत्तिजन्यं सुखं जित्वा स्वाभाविकात्मसुखमुत्पद्यते। अनेन सुखेन वातपित्तकफजन्यदोषाः, वृद्धावस्थाः, आध्यात्मिकदुःखजराव्याधिक्षुधानिदारहितो योगी भवति। आज्ञाचक्रस्थरुद्रग्रन्थिविभेदनत्वात् स शर्वसञ्ज्ञकपीठं प्राप्यते।

4. निष्पत्यावस्था[44] - प्राणानां ब्रह्मरन्ध्रे प्रवेशात् वेणुवत् वीणावत् वा शब्दो जायते। अस्यामवस्थायां चित्तैकीभूय अर्थात् विषयविषयिणोरभेदं भूत्वा राजयोगं सम्पद्यते। असौ नादानुसन्धानपरो योगी सृष्टिसंहारकर्त्तृवत् भवति। अर्थात् ईश्वरसमो जायते।

नादानुसन्धानप्रशंसायां वचनं प्राप्यते यत् – मुक्तिः भवेत् न वा, परञ्च यत्सुखमस्यां प्रक्रियायां वर्त्तते तस्य कथनं हि किम्? अनेन अखण्डसुखोपलब्धिर्जायते, लयं प्राप्यते। इदं सर्वं राजयोगेनैव सम्पद्यते। ये राजयोगं विना हठयोगमभ्यस्यन्ते ते केवलं श्रमरेव क्रियन्ते। हठयोगस्य सम्पूर्णता राजयोगरीत्या एव प्राप्तुं शक्यते। विना गुरुकृपया एतस्य प्राप्तिर्न जायते। अतो निष्ठापूर्वकं गुरुस्सेवनीयः।

---

[42]तत्रैव, श्लो॰स॰ - 73
[43]तत्रैव, श्लो॰स॰ – 74 - 75
[44]तत्रैव, श्लो॰स॰ – 76 - 78

नादानुसन्धानम्

क्र०स०	अवस्था	चक्रम्	ग्रन्थिः	लाभः
1	आरम्भावस्था	अनाहतचक्रम्	ब्रह्मग्रन्थिः	● अनाहतनानाभूषणानां ध्वनिश्रवणम् ● लावण्यरूपबलसम्पन्नदेहप्राप्तिः ● तेजस्विदिव्यगन्धारोग्यप्राप्तिः
2	घटावस्था	विशुद्धिचक्रम्	विष्णुग्रन्थिः	● भेरीनादानुभूतिः ● विशुद्धिचक्रे वायोः प्रवेशः ● दृढासनत्त्वाज्ज्ञानत्वदेवतुल्यत्वप्राप्तिः
3	परिचयावस्था	आज्ञाचक्रम्	रुद्रग्रन्थिः	● मर्दलवाद्यविशेषध्वनिश्रवणम् ● अणिमादिसिद्धीनां प्राप्तिः ● सहजानन्दावस्थोत्पत्तिः ● दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राराहित्यम्
4	निष्पत्त्यवस्था	ब्रह्मरन्ध्रचक्रम्		● वेणुध्वनिश्रवणम् ● विषयविषयिणोरभेदः ● ईश्वरतुल्यत्वम् ● राजयोगोदयः

4.2.3 दिव्यदेहस्य प्राप्तिः

योगतन्त्रपरम्परायां सशरीरमुक्तिः प्रमुखं वर्त्तते। 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' इत्यात्मकप्रसिद्धसिद्धान्ते सम्पूर्णयोगसाधनायाः सङ्केतानि निहितानि सन्ति। यत्किमपि अस्माभिः विषयेण सह संयोज्याऽनुभूयते तत्सर्वमन्तःकरणीयावधारणानां फलं वर्त्तते। अर्थात् वयं सर्वे स्वकीयान्तःकरणप्रवृत्तिदृष्ट्या एव विषयस्यार्थं गृह्यामहे। इदमेव कारणं वर्त्तते निश्चितविषयं प्रति उचितानुचितभावानामुत्पत्तौ। योगतन्त्रयोः मोक्षस्वरूपमेव स्वात्मविस्तारो वर्त्तते। वस्तुतरिदं लक्ष्यमद्वैतसिद्धान्ताभिप्रेरितम्। यतो हि यत्किमपि अस्माभिर्ज्ञायते तत्सर्वं तस्य चैतन्यस्य एव विस्तारः।

अस्तु, रसेश्वरदर्शने पिण्डस्थैर्यं प्रति वर्णनं प्राप्यते। यथा प्रारम्भे एव –'माहेश्वराः परमेश्वरतादात्म्यवादिनोऽपि पिण्डस्थैर्य्ये सर्वाभिमता जीवन्मुक्तिः'[45]।

तथैव देहविद्यमाने सति मुक्तिविषयकपिण्डस्थिरतायाः किं हेतुः? इति प्रश्ने –

षड्दर्शने मुक्तिस्तु दर्शिता पिण्डपातने।
करामलकवत्सापि प्रत्यक्षा नोपलभ्यते।
तस्मात्तं रक्षयेत्पिण्डं रसश्चैव रसायनैरिति॥[46]

पूर्वोक्तसम्पूर्णप्रमाणैः देहविद्यमाने सति मुक्तिःकथं सम्भविष्यति इति सङ्केतरीत्या विदितम्।

पिण्डस्थैर्यं किं वर्त्तते? पिण्डस्थैर्येण पञ्चतत्त्वविशिष्टदेहस्य शुद्धिपूर्वकं मृत्युमतिक्रम्य स्थैर्यं ज्ञेयम्। इदं योगतन्त्रयोः चरमोत्कर्षः।

अत्र एका जिज्ञासा भवति, यदा सम्पूर्णविश्वमेव नश्वरं तर्हि कथमिदं शरीरं स्थैर्यं भवितुं शक्यते? एतस्य नश्वरदेहस्य स्थिरताविषये किमर्थं प्रयतनीयम्?

---

[45]स०द०सं, र०द० - 1
[46]तत्रैव, 4

अस्याः जिज्ञासायाः माध्वचार्यैः स्वयमेवोत्तरं प्रदीयते – ननु विनश्वरतया दृश्यमानस्य देहस्य कथं नित्यत्वमनुमीयते इति चैन्मैवं मंस्थाः षाट्कौशिकस्य शरीरस्यानित्यत्वे रसाभ्रमक-पदाभिलप्यहरगौरीसृष्टिजातस्य नित्यत्वोपपत्तेः। तथा च रसहृदये –

ये चात्यक्तशरीरा हरगौरीसृष्टिजान्तरं प्राप्ताः।

वन्द्यास्ते रससिद्धा मन्त्रगणः किङ्करो येषामिति॥

तस्माज्जीवनमुक्तिं समीहमानेन योगिना प्रथमं दिव्यतनुर्विधेया।[47]

सर्वमनित्यमभिज्ञेय मुक्तये यतनीयम्। मुक्तिः ज्ञानाद् भवति, ज्ञानमभ्यासेन सम्पद्यते एवञ्च देहस्थिरभावेन अभ्याससङ्ग्रहोभिजायते। अतः देहस्थैर्यं प्रति यतनीयम्।

वस्तुतः भारतीयपरम्परायां 'दिव्यदेहम्', अकालपुरुषः, मृत्युञ्जयशरीरादिशब्दानां प्रायः सर्वत्रैव गौणरीत्या क्वचित् योगतन्त्रयोः स्पष्टरीत्या वर्णनं प्राप्यते। वैदिकपरम्परायां विभिन्नोपनिषदि योगाग्निमयं शरीरमित्यात्मकं वर्णनं दृश्यते। यथा श्वेताश्वेतोपनिषदि –

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः, प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।

अर्थात् यो योगाग्निमयं शरीरं प्राप्यते स न रुजति, न वार्द्धते न म्रियते। एभ्यरुपरि भूत्वा ब्रह्मज्योतितोऽवतरितप्रकाशधारायाम् अस्तित्वपूर्वकं विचरति। आधुनिकयुगे इयं वार्त्ताऽसम्भवानुभूयते यत् कस्मिन् देहे रोगवार्द्धक्ययोः प्रभावो न भवेत्। पुराणादिषु नैकानि प्रसङ्गानि प्राप्यन्ते यस्मिन् सिद्धदेहवन्तो नैका महापुरुषाः अभवन्। परञ्च कलियुगे यदा पृथ्वीमण्डले शरीरे जडतत्त्वयोः पृथ्वीजलयोः प्रधानता दरीदृश्यते तर्हि रोगवार्द्धक्यमृत्योः क्वचिद् प्रभावो न भवेत् इत्थं न सम्भाव्यते। यथा गङ्गायाम् अशुद्धजलप्रपातेन गङ्गापि प्रदूषयति। तद्वदेव सहस्रारतः मूलाधारपर्यन्तं सुषुम्नायाम् अत्यधिकप्राणविस्तारेऽपि कलियुगीवायुमण्डलीयप्रभावात् शरीरे जडतत्त्वानामावरणं न विनश्यति। एतस्मात् कारणात् महायोगिनिः शरीरमपि सामान्यदर्शने वृद्धोऽनुभविष्यति।

[47]तत्रैव, र०द० - 6

दिव्यदेहे अग्निवायुतत्त्वयोः प्रधानता– दिव्यदेहे सामान्यदर्शने सर्वेषां जनानां तुल्या स्थूलाकृतिः क्वचिद् भूत्वापि तस्मिन् शरीरे स्थूलत्वं नैव सम्पद्यते। तस्मिन् शरीरे पृथ्वीजलतत्त्वयोः स्थाने अग्निवायुतत्त्वयोः प्रधानत्वं भवति। युगप्रभावात् दिव्यदेहेऽपि यथा सर्पे केचुली सञ्जायते तद्वदेव स्थूलतत्त्वयोः आवरणं सम्पद्यते। सर्पवत् एव मृत्योरवसरे आवरणात्मकस्थूलशरीरं त्यक्त्वा स्वकीयनित्यामराजरदेहे स्थिरो भवति। भारतदेशे बहूनि उदाहरणानि सन्ति यानि प्रमाणयन्ति यत् देहे त्यागेऽपि पुनरागत्य स्वकीयशिष्यानुपक्रियन्ते[48]।

अस्तित्वबोधे जागृताय कस्यचिदाकारस्यावश्यकता– वेदान्ताध्येतारो मन्यन्ते यत् अस्य नश्वरदेहस्य स्थितायाः काऽवश्यकता? प्रारब्धकर्म भोगाय देहस्य यदावश्यकता वर्त्तते तद् कालक्रमेण स्वयमेव सम्पद्यते। आधुनिकशरीरस्य पूर्णरूपेण रूपान्तरणमुत जरामृत्योरतिक्रमणं न सम्भाव्यते।

उत्कृष्टमहापुरुषाणां कृतेऽपि मृत्युजरयोः विभेदनं पूर्णतया सम्भवं नास्ति। शङ्काचार्यादिमहापुरुषाणां कृतेऽपि मृत्युजरयोः आत्यान्तिकनिवृत्तिः नाभवत्। स्थूलशरीरस्य नाशो भवति स्म। अन्तोगत्वा दिव्यदेहमपि महाप्रलये विलीयते। परञ्च शुद्धचैतन्यतत्त्वे विकारो नैव सम्भाव्यते। वस्तुतः परब्रह्मणरेव नित्यमेकरसता वर्त्तते तर्हि केवलं तस्मिन् परब्रह्मणि स्थितये किमर्थं न यतनीयम्। अत्यन्तकठिनदुर्लभदिव्यदेहाय प्रयत्नस्य किमौचित्यम्?

दुर्लभदिव्यदेहस्यौचित्त्यम् - एतस्योत्तरपक्षे योगाचार्यैः मन्यन्ते यत् स्वकीयास्तित्वे बोधपूर्वकविद्यमानाय एकं विशिष्टं देहम् अत्यन्तमावश्यकं वर्त्तते। उदाहरणे स्पष्टीक्रियते – यथा एकस्य बिन्दोः सागरे लये सति तस्य बिन्दोरस्तित्वमपि लीयते। परञ्च सागरः पूर्ववदेव वर्त्तते। तस्य सागरस्य स्थितौ किमपि परिवर्त्तनं न भवति। अस्मिन् क्रमे नैवास्ति वैशिष्ट्यम्। वैशिष्ट्यं

[48]चिंगार तो ब्रह्मज्योति, पृ०स० - 852

तदेव सम्भविष्यति यदा बिन्दौ स्वकीयास्तित्वबोधपूर्वकसागरे वसेत्। तस्य बिन्द्वहम् इत्यात्मको बोधो विनश्येत् परञ्च सम्प्रति अहं सारगोऽस्मि इति बोधः पूर्णरूपेण भवेत्।

यथा कबीरवाण्यामपि इदमुदाहरणं प्राप्यते –

बूंद समाई समुद्र में जानत है सब कोई,

समुद्र समावे बून्द में बूझे विरला कोई॥

वस्तुतो यदि बिन्दोरस्तित्वमेव न भविष्यति तर्हि कथं बिन्दुः कथयिष्यति यत् अहं समुद्रोऽस्मि। यतो हि बिन्दुलये एवञ्च लयस्य पूर्वेऽपि समुद्रस्तु पूर्ववत् एव भवति, वैशिष्ट्यन्तु तदेव वर्त्तते यदा बिन्दुरनुभवेत् यदहं समुद्रोऽस्मि। इदमेव साधनारहस्यो यत् एकस्मिन् बिन्दौ अपि सम्पूर्णसमुद्रो विलीयते।

अयमात्मा ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यादिवेदवचनै अनुभूतिविषयप्राधान्यं परिदृश्यते। अर्थात् यथा किमपि अनुभवप्राप्तये देहविशिष्टान्तःकरण-स्यावश्यकता भवति, विना शरीरं कोऽपि साधकोऽनुष्ठानादिकार्यं नैव कर्त्तुं शक्यते। तद्वदेव विना देहाश्रयं गृहीत्वा कथं कोऽपि स्वकीयास्तित्वबोधेऽवस्थितुं शक्यते? अतः साधना-सम्पादनायाथवा अनुभवप्राप्तये स्थूलसूक्ष्मो वा कस्यापि देहस्यावश्यकताऽस्त्येवेति सिद्धम्।

एतद्वदेव अहं सर्वव्यापी ब्रह्मास्मि इति बोधप्राप्तये तस्य कृते स्वकीयास्तित्वबोधेऽपि जागृतिरपेक्षिता मन्ये। एतदर्थं क्विचित्प्रकारस्याधारस्यावश्यकता भवति। स्थूलसूक्ष्मकारण-शरीरत्रये पूर्णरूपेणेदं कार्यं नास्ति सम्भवम्, किञ्चिदज्ञानावरणत्वात्। अत एव इत्यात्मकं देहमभिलषितं यत् नश्वरदेहाद्भिन्नमेवञ्च ब्रह्मज्योतिना सह सम्बद्धमपि भवेत्। अस्यैव अस्तित्वबोधपरकसम्पूर्णकार्यसम्पादनविधानाय गुरुनानकैः अकालशरीरं (अकालकाया) शक्तिशरीरमभिधानितम्।

ब्रह्मज्योतिस्वरूपस्याकारः– इयमेका अखण्डालौकिकचैतन्यगतिशीलप्रकाशपुञ्जाधारा वर्त्तते। इदमखण्डालौकिकचैतन्यपुञ्जधारास्वकीयान्तर्गते ईदृशी गतिशीला वर्त्तते, यया

शक्तिशाल्यनन्तचेतनाया अस्तित्वं समुत्पद्यते।अस्याम् अस्तित्वचेतनाधारायाम् ईदृशमनुभवति यत् इयममृतेन परिपूर्णा वर्त्तते। इयमेव ब्रह्मज्योतिः। इत्यात्मकं वर्णनं चिङ्गारतो ब्रह्मज्योतिः ग्रन्थे प्राप्यते।

अस्या परमचेतनाया अत्यन्तव्यापकस्वरूपमेव सर्वेषु वैश्विकतत्त्वेषु परिदृश्यते। एतस्या अभिकथनं वचसा नैव भवितुं शक्यते। वाणी केवलं सङ्केतरीत्या एव इमं प्रति प्रेरयति। अत्यन्तावधानेनेदमपि बोध्यते यत् इयमेव शक्तिधारा नैककारणसूक्ष्मकेन्द्राणां भिद्यत्वे सति सर्वाधः पृथ्वीमण्डले समायाति। एवञ्चानया शक्तिधारया येनकेन प्रकारेण सर्वे जीवा अभिसम्बद्धा सन्ति। परञ्च विभिन्नमण्डलादधस्समागमनत्वेनेयं धारात्यन्त मन्दायते, क्वचित् तु एतस्याः मन्दता इयती प्रमन्दायते यत् स्वयमेव अन्धकारे परिवर्त्तते। क्वचिद् तु केवलमन्धकारदर्शनयोग्यमेव प्रकाशोऽवशिष्यते। पाषाणपशुपक्षिविपुलतमोगुणविशिष्टयोनयः एतस्याः उदाहरणानि सन्ति।

दिव्यशक्त्या सह सम्बन्धस्थापनाय जीवन्मुक्तमहापुरुषाणामवश्यकता पृथ्वीमण्डलेऽपि क्विचित्स्थले ब्रह्मज्योतेरद्यावतरितप्रकाशधारा एकं शरीरमधिकृत्य सम्पूर्णपृथ्वीमण्डलमभिप्रकाशयति। शक्तिकेन्द्रतोऽवतरितो ब्रह्मज्योतिः नैकेषु मण्डलेषु परिगम्य पृथ्वीमण्डलं सर्वत्र एकरूपेणैव प्रकाशयति। वस्तुतरेतस्या प्रकाशधाराया आदिकेन्द्रोऽत्यन्तमूर्ध्वं वर्त्तते तदापि केचन शक्तिकेन्द्राः पृथ्वीमण्डलेऽपि सन्ति यैः सह ब्रह्मज्योतिः सम्बद्ध्यते। एते एव जीवन्मुक्तपुरुषाः सन्ति।

ईश्वरीशक्तिः स्वयमेवावतरिता भूत्वा साधकैः सह नैव सम्बद्ध्यते, अपितु स्वयमेव साधकाः स्तरोत्थानरीत्या तया सह सम्बद्ध्यन्ते। परञ्च जीवन्मुक्तमहापुरुषस्य शरीरेण कोऽपि साधकोऽवतरितशक्तिना सह स्थूलदेहेऽहि विद्यमाने सति मार्गं प्राप्तुं शक्यते। इत्येवमस्ति महापुरुषाणां दिव्यदेहसाधनायां प्राधान्यम्।

अकालकाया –ब्रह्मज्योतिः येन केन्द्रबिन्दुद्वारा जीवन्मुक्तपुरुषाणां पार्थिवशरीराणि अभिसम्बद्ध्यन्ते सा एवाकालकाया। अस्यामकालकायां स्थितौ भूत्वा योगी अहं ब्रह्मास्मि इति अनुभूयते। ब्रह्माविष्णुमहेशानां शरीराणि अपि ईदृशानि सन्ति यानि ब्रह्मज्योतिः केन्द्रबिन्दवो भूत्वा ब्राह्मणरेकरसत्वं व्यवहरन्ति। परञ्च पृथ्वीमण्डले ब्रह्मधारां प्रवाहिताय जीवन्मुक्ता परमावश्यका सन्ति। जीवन्मुक्ता एव गुरवो भवन्ति।

यावच्छुद्धदेहवन्तोमहात्मनो भविष्यन्ति तावदधिकं ब्रह्मज्योतेः प्रकाशः प्रसरति। यावदधिकं प्रकाशः प्रसरति तावदधिकम् अहं ब्रह्मास्मि इति अनुभूत्यात्मकसिद्धान्तोऽपि व्याप्यते।

यद्यपि स दिव्ययोगी स्थूलशरीरं परित्यजेत् उत मुक्तिशिखरे स्थितौ भूत्वा स्थूलशरीरमपि अकालकायायां विलीयेत्, अन्तकाले किमपि नावशिष्येत्, तदपि तस्याकालकायायां ब्रह्मलोकतः पृथ्वीलोकपर्यन्तं सर्वेषु स्तरेषु मण्डलेषु वा अहमेव सर्वमस्मि इत्यात्मकपरिव्यापकानुभूतिरूपीचेतनाऽवशिष्यते इति निश्चितम्। इयं विशेषता देवशरीरेषु न सम्भाव्यते यतो हि तेषां देवानामस्तित्वकेन्द्रः केवलमुपरिलोके एव वर्त्तते अधो नास्ति। ब्रह्मज्योतेः विस्तारस्तु ऊर्ध्वादूर्ध्वमधादधः सर्वत्रैव वर्त्तते। परञ्चायं विस्ताररूर्ध्वे अनावर्णितो वर्त्तते एवञ्चाधः क्रमशो विभिन्नाज्ञानवरणैर्युक्तो दृश्यते। महापुरुषेषु स्तरानुसारम् ऊर्ध्वादधः पर्यन्तम् इदमज्ञानवरणं न्यूनातिन्यूनं परिदृश्यते। इत्यात्मकव्यापकानुभूतिप्राप्तये दिव्यदेहस्य परमावश्यकता वर्त्तते।

मुद्राणां परमप्रयोजनम् - सर्वासां मुद्राणां परमप्रयोजनमिदं दिव्यदेहमेवास्ति। एतदर्थमेव प्रस्तुतप्रकरणे मुद्राणामौचित्यप्रदर्शनाद्भिन्नं दिव्यदेहप्राप्तिविषयकयोगपरम्परासु व्याप्तविभिन्न-योगिकक्रियाणां साङ्केतिकरीत्या वर्णनं क्रियते। विशेषज्ञानायाचरणाय च योग्यगुरुं प्रति गमनीयम्।

1. त्रिबन्धाभ्यासो विधेयः।

2. वायुनेति वायुधौतिश्च अत्यन्तावश्यके क्रिये स्तः।[49]

3. स्थूलाहारं न्यूनीकृत्य सूर्याग्निक्रियाद्वारा सूक्ष्माहारो विधेयः।

4. विवेकवैराग्यषट्सम्पत्तिमुमुक्षया युक्तो भवेत्।

5. गुरुमार्गनिर्देशे वसेत्।

एतद्वर्णनं पूर्वं जीवन्मुक्तमहापुरुषस्य स्थितिः कीदृशी भवति इति शास्त्ररीत्या प्रस्तूयते। जीवन्मुक्तमहापुरुषः ब्रह्माण्डातीतपरमज्योतिना संयुक्तेऽपि शरीरे स्थितौ भूत्वा सर्वां क्रियां सम्पादयित्वा सर्वेषु शरीरेषु सर्वत्र परमज्योतिदर्शनं विधीयते। तस्मिन् दृष्टौ सर्वप्रकारिक-बहिरान्तरिकभेदाः नावशिष्यते।

न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः।

प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते॥[50]

अर्थात् जीवब्रह्मणोरेवञ्च ब्रह्मसृष्ट्योः भेदो यस्मिन् प्रज्ञया न समायाति सः जीवन्मुक्तः। सम्पूर्णसंसारमेव मे स्वरूपम्, इत्यात्मकानुभूतौ यस्य स्थितिः वर्त्तते, सः सम्पूर्णसंसारमीश्वरस्य क्रीडास्थलं मन्यते। सदैव ईश्वरेण पूर्णयुक्तो भवति। इत्यात्मको महापुरुषो जीवन्मुक्तो वर्त्तते।

पूर्वोक्तसम्पूर्णवर्णनं चिंगार तो ब्रह्मज्योतीति ग्रन्थतोभिप्रेरितं वर्त्तते। एतस्य ग्रन्थस्य रचयिता महायोगी स्वामिबुद्धपुरिवर्याः सन्ति। अयं दिव्ययोगी सम्प्रति अपि पाण्डुकेश्वरस्थले सशरीरं निवसति। विशेषजिज्ञासूनां कृते सदैव प्रस्तुतोऽयं महायोगी। तां प्रणतिपूर्वकं विरम्यते।

---

[49] 4.3.1 षट् कर्माणि द्रष्टव्याणि।

[50] आध्यात्मोपनिषद्

4.3 मुद्राणां सहायकावयवाः

मुद्राणां सुव्यवस्थितप्रासादे प्रवेशाय शरीरस्य स्थूलसूक्ष्मस्तरयोः समुचित-प्रक्रियापरिपालनेन सौविध्यं भवति। अस्यैव समुचितप्रक्रियापक्षस्य सञ्ज्ञा सहायकाऽवयवेति वर्त्तते। अस्यां दीर्घकालिकप्रक्रियायां मुद्रायां सहजप्रवेशाय षट् कर्माणि, आसनानि च प्रायः सर्वेषु योगसम्प्रदायेषु स्वीकृतानि सन्ति।

वस्तुतः शरीरशुद्धिः इत्यात्मकमहाकार्यस्य सम्पादनं षट्कर्मणा सम्पद्यते, एवञ्चासनेन शरीरे दृढत्वं समायाति। योगस्य प्रयोगपक्षे प्रारम्भे सति पक्षद्वयाणां दर्शनं दृश्यते। प्राणायामैरेव सर्वे मलाः प्रशुष्यन्ति, अतोऽन्यकर्मण आवश्यकता नास्ति इत्यपि याज्ञवल्क्यादीनामाचार्याणां मतं प्राप्यते।[51]

परन्तु अद्यत्वे भौतिकवादप्राबल्यत्वात् शरीरे स्थौल्यकफपित्तादीनां प्रभावो दृश्यते, एतदर्थं स्थूलादिदोषानामुपशमनपूर्वकमेव योगस्यान्यप्राणायामादिषु अवयवेषु प्रवेशनं समुचितं मन्ये।

षट्कर्मासनानि समाचरणेन वस्तुतो योगे प्रवेशाय अत्यन्तदृढाधारो निर्मीयते। एभिः साधकस्य परमलक्ष्यप्राप्तये अपूर्वसहयोगो जायते। परमलक्ष्यप्राप्तिक्रमे योगरीत्या आसनतः प्राणायामे प्रवेशाय एवञ्च प्राणायामतः प्रत्याहारे प्रवेशाय मुद्राणां परमौचित्यमिति पूर्ववर्णितप्रकरणेषु स्पष्टं कृतम्।

सम्प्रति, अस्मिनुपप्रकरणे मुद्राणां प्रासादे प्रवेशाय कथं षट्कर्मासनानि सहायकानि सन्तीति विवेच्यविषयः।

षट्कर्मणा देहशुद्धिः भवति, देहशोधनेन मुद्राणां विभिन्नोपक्रमे प्रवेशाय सुकरत्वं सम्पद्यते। वस्तुतः प्रचलितषट्कर्मणा तावत्प्रभावो नास्ति यावत्सिद्धपरम्परायां प्राप्तकर्मणा

---

[51] ह०प्र०, उ०स० – 2, श्लो०स० - 37

मुद्राणां प्रवेशने दरीदृश्यते। लौकिकषट्कर्मणा सामान्यतया सर्वेषु योगग्रन्थेषु प्राप्तषट्कर्मस्वरूपेणाधारो निर्मीयते, यैः प्रभावैः साधकः सिद्धपरम्परायां प्राप्तप्रक्रियां प्रविशति।

अस्मिन् कथनेऽपि काऽपि अतिशयोक्तिः न भविष्यति यत् सिद्धपरम्परायां प्राप्तविशिष्टरीतेः परिपालनेन मुद्रासु नैसर्गिकः प्रवेशः सम्भवति। अत्र नैसर्गिकशब्देन मुद्राविषयकविभिन्नाकृत्यादिकप्रपञ्चनिर्माणं विनाऽपि मुद्रायां गतिरवबोध्यम्।

एतासां क्रियापक्षीयप्रक्रियायां प्राप्तिः योगपरम्परायामेव सम्भवति, परन्तु आधुनिकयुगे बहवः सिद्धपरम्परायाः साधकाः सन्ति ये सर्वेषां कृते लोककल्याणाय एतादृशाः क्रियाः प्रस्तूयन्ते। गुप्ता तु वीर्यवती विद्या निर्वीया तु प्रकाशिता इत्यात्मकनिर्देशप्राप्तेऽपि गुरुजनैः लोककल्याणानाम्नि सिद्धक्रियाणां प्रदर्शनं इदमेव सूच्यते यत् ये अनधिकारिणः सन्ति ते क्रियापक्षस्य आंशिकानुकरणं कर्त्तुं शक्यन्ते। परञ्च यथार्थपक्षे तु तदेव प्रवेशो विधीयते यदा यमनियमविवेकवैराग्यमुमुक्षाभावानां समुदायो भवेत्। इत्यात्मकभावं मनसि निधायायं शोधकर्त्ताऽपि सामान्यरीत्या लोकप्रचलितषट्कर्माणां प्रदर्शनं कृत्वा मुख्यतया सिद्धपरम्परायां व्यक्तदिव्यकर्माणां प्रदर्शनं विधास्यते।

4.3.1 षट् कर्माणि

अस्मिन् प्रकरणे प्रमुखप्रयोगात्मकयोगग्रन्थेषु प्राप्तषट्कर्मणां सामान्यविधिना विषयं प्रस्तुत्य विशेषरीत्या योगपरम्परायां प्राप्तषट्कर्मणः स्वरूपप्रदर्शनमेव प्रमुखलक्ष्यं वर्त्तते। यतो हि षट्कर्मणां सामान्यस्वरूपाणां प्रचलनं लोके प्रायः सर्वत्र एव दरीदृश्यते। क्वचित्त्रुटिरपि अनुभूयते परञ्चाभ्यासाधिक्ये सति तस्याः क्षयं स्वयमेव कालक्रमेण जायते। अतोऽयं चिन्तायाः विषयो नास्ति।

अत्र तु मुख्यप्रश्नो वर्त्तते मुद्रायां षट् कर्माणि कथं सहायकानि भवन्ति, कथं मुद्रायाः मुख्यलक्ष्यप्राप्तिक्रमे एतानि सहायकानि भविष्यति? अस्तु सम्प्रति मुद्रायां षट् कर्माणि कीदृशानि सहायकानि भवन्ति इत्यात्मकभावं मनसि निधाय स्वकीयं विचारं प्रमाणैः सह प्रस्तौमि।

षट्कर्मणां सामान्यस्वरूपम् – हठयोगप्रदीपिकाघेरण्डसंहिताभ्यां दृष्ट्या षट्कर्मणां स्वरूपं प्रस्तूयते –

हठयोगप्रदीपिकायाम् –

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते।।[52]

1. धौतिकर्म – चतुरङ्गुलविस्तरितं पञ्चदशहस्तदीर्घञ्च वस्त्रम्, किञ्चिदुष्णजले सिक्तं कृत्वा गुरूपदिष्टमार्गेण किञ्चित्किञ्चिद्ग्रसेत्। द्वितीये दिने हस्तद्वयं तृतीये दिने हस्तत्रयं वस्त्रम् एवं दिनवृद्ध्या हस्तमात्रमधिकं ग्रसेत्। एतदनन्तरं दन्तमध्ये संलग्नं कृत्वा नौलिकर्मणोदरस्थवस्त्रं सम्यक् सव्यापसव्यं चालयित्वा शनैः शनैः तद्वस्त्रमुद्गिरेत्।

तत्फलम् – कासः, श्वासः, प्लीहः, कुष्ठञ्च रोगाः, विंशतिः कफरोगाश्च अनेन कर्मणा विनश्यते।[53]

[52]ह०प्र०, उ०स० – 2, श्लो०स० - 22
[53]ह०प्र०, उ०स० – 2, श्लो०स० – 24 - 25

घेरण्डसंहितायां धौतिकर्म चतुर्धा प्राप्यते – अन्तर्धौतिः, दन्तधौतिः, हृद्धौतिः, मूलशोधनञ्चेति।

(क) अन्तर्धौतिः अपि चतुर्विधा वर्त्तते – वातसारः, वारिसारः, अग्निसारः, बहिष्कृतञ्चेति।सामान्यरीत्या स्वरूपफलञ्च प्रस्तूयते –

1. वातसारः – काकचञ्चूवदास्येन शनैः शनैः वायुं पिबेत्। कुम्भकं कृत्वा, नौल्यादिरीत्या उदरे वायोः चालनं कर्त्तव्यम्, तत्पश्चात् शनैः शनैः मुखात् रेचयेत्।

तत्फलम् – जठराग्निः प्रवर्द्धते, देहनिर्मलं करोति, सर्वरोगाः क्षीयन्ते।

2.वारिसारः – लोके इयं क्रिया शङ्खप्रक्षालननाम्नापि प्रसिद्धा वर्त्तते। आकण्ठं जलं पीत्वा, ताडासन-तिर्यक्ताडासन-कटिचक्रासन-तिर्यक्भुजङ्गासनोदराकर्षणासनानि समभ्यस्य अधो-मार्गतो जलस्य रेचनं कुर्यात्।

तत्फलम् – शरीरं शोधयति, जठराग्निः प्रवर्द्धते, रक्तशोधने सहायिकेयं क्रिया, श्वसनमधुमेहान्त्रशिरोवेदनामुखनासिकाकण्ठजिह्वादन्तरोगेषु अपि लाभकारी।

3.अग्निसारः –नाभिं मेरुपृष्ठे शतवारं कारयेत्। इयं क्रिया रेचनावस्थायां समभ्यसेत्।

तत्फलम् – जठराग्निः वर्द्धते, देवदेहप्राप्तयेऽपि इयं मुद्रा विशिष्टा वर्त्तते।

4.बहिष्कृतान्तः – काकमुद्रायां वायुं पात्वा अर्धप्रहरपर्यन्तम् उदरे धारयित्वा मलद्वारतो रेचयेत्। इयं क्रिया सर्वसामान्यानां कृते नास्ति सम्भवम्।

तत्फलम् – पूर्वोक्तानि सर्वाणि फलानि सम्प्रायते। बहिष्कृतान्तधौतिवर्णनक्रमे प्रक्षालनरीतेरपि वर्णनं प्राप्यते। प्रक्षालनविधिः– नाभिमग्नो जले स्थितो भूत्वा शक्तिनाडीं गुदामार्गतो निष्कास्य कराभ्यां मलविसर्जनपर्यन्तं नाडीं क्षालयेत्। प्रक्षाल्य नाडीं पुनः गुदामार्गतो वेशयेत्। अर्द्धप्रहरपर्यन्तं यावत् धारणाशक्तिः न सिद्ध्यति तावत् इयं क्रिया नैव सिद्ध्यति।

वैशिष्ट्यम्– दिव्यदेहप्राप्तये इयं क्रिया विशिष्टा वर्त्तते।

(ख) दन्तधौतिः –दन्तमूलम्, जिह्वामूलम्, कर्णरन्ध्रयोः द्वयोः कपालरन्ध्रञ्च पञ्चविधात्मकेयं दन्तधौतिः भवति। इदं विषयः प्रायः सर्वत्रैव प्राप्यते अतः साङ्केतिकरीत्या एव प्रस्तूयते।

(ग) हृद्धौतिः – दण्डवमनवासेत्यात्मकत्रिविधरीत्या हृद्धौतिः भवति।

(घ) मूलशोधनम् – हर्द्रादण्डेन उत मध्यमाङ्गुलिना गुह्यस्थानं पुनःपुनः वारिणा यत्नेन क्षालयेत्।

(2) बस्तिकर्म –बस्तिकर्मणः प्रकारद्वयं शास्त्रेषु प्राप्यते जलस्थलभेदेन।

(क) जलबस्तिविधिः – हठयोगप्रदीपिकानुगतनाभिपरिमाणे जले गुदे वंशनालं गृहीत्वा उत्कटासनेऽवस्थिते सति वंशनालद्वारा जलम् आकुञ्चयेत्। नौलिकर्मणा चालयित्वा जलस्य रेचनं कर्त्तव्यम्।

तत्फलम् – गुल्मप्लीहजलोदरवातपित्तकफोद्भवाः रोगा अनया विनश्यन्ति।

घेरण्डसंहितायाम् – द्विविधात्मकं बस्तिकर्म जलशुष्कञ्च। जलबस्तिकर्म तु हठयोगप्रदीपिकावत् एव वर्त्तते।

(ख)स्थलबस्तिविधिः –भूमौ पश्चिमोत्तानेऽवस्थिते सति अश्विनीमुद्रया शनैः शनैः पायुम् आकुञ्चयेत् प्रसारयेच्च।

तत्फलम् – प्रमेहम्, उदावर्त्तम्, क्रूरवायुञ्च निवारयेत्। रूपलावण्यमभिवर्द्धते इति जलबस्तिफलम्। आमवातं काष्ठदोशश्च स्थलबस्तिफलम्।

(3) नेतिः – यावता सूत्रेण सम्यक् नेतिकर्म भवेत्तावद्ग्राह्यं सूत्रं सुस्निग्धं कृत्वा नासानाले प्रवेशयेत्। मुखात् निर्गमयेत् सूत्रं शनैः शनैः चालयेत् इति नेतिकर्म।

तत्फलम् – कपालनासिके च शोधिका, दिव्यदृष्टिप्रदायिनी स्कन्धसन्धिक्षेत्रस्योपरिभागस्य रोगसमूहान् विनिश्यति।

घेरण्डसंहितायाम् –प्रयोगपक्षस्तु पूर्ववत् एव।

तत्फलम् – खेचरीसिद्धौ सहायिका, कफदोषनासिका च।

नेतिकर्मान्ते घेरण्डे लौलिकीकर्म (नौलिकर्म) प्राप्यते एवञ्च हठोयोगप्रदीपिकायां त्राटकं प्राप्यते। हठयोगरीत्या वर्ण्यते।

(4) त्राटकम् –एकाग्रचित्तो भूत्वा सूक्ष्मलक्ष्यमश्रूणा पतनपर्यन्तं पश्येत् इति त्राटककर्म।

तत्फलम् – नेत्ररोगाणां शमनं भवति, तन्द्रादीनां नाशनं भवति।

घेरण्डसंहितायाम् – प्रयोगपक्षस्तु एतद्ववेदव वर्त्तते।

तत्फलम् – शाम्भवीसिद्धौ सहायिका, नेत्ररोगनाशिका, दिव्यदृष्टिदायिका चेयं क्रिया।

(5) नौलिः – नतौ स्कन्धौ अमन्दावर्तवेगेन उदरं दक्षिणवामभागयोः भ्रामयेत् इति सामान्यतया नौलिकर्म भवति।

तत्फलम् – मन्दाग्निः विनश्यति, जठराग्निः वर्द्धते। त्रिदोषनाशिनी, हठक्रियायां सर्वोपरि इयं क्रिया।

घेरण्डसंहितायाम् – प्रयोगस्तु एतद्वत् एव फलञ्च।

(6) कपालभातिकर्म – लोहकारस्य भस्त्राग्नेर्धमनसाधनीभूतं चर्म तद्वतसम्भ्रमेणामन्दौ रेचनपूरकौ इति कपालभातिकर्म।

तत्फलम् – कफदोषविशोषणीयं क्रिया।

घेरण्डसंहितायाम् –त्रिविधात्मिका कपालभातिः – वातक्रमः, व्युत्क्रमः, शीत्क्रमश्चेति।

1. वातक्रमः –इडया पूरयेद्वायुं पिङ्गलया शनैः शनैः रेचयेत्। पुनः पिङ्गलया पूरयेत् वायुं इडया रेचयेत्। पूरकरेचनकर्म अत्यन्तशनैः शनैः कर्त्तव्यम्। लोके अनुलोम-विलोमाख्या प्रसिद्धा।

तत्फलम् –कफदोषं निवारयति।

2. व्युत्क्रमः –नासाभ्यां जलमाकृष्य वक्त्रेण रेचयेत्, पुनः मुखात् जलमाकृष्य नासाभ्यां रेचयेत्।

तत्फलम् –श्लेष्मदोषं निवार्यते।

3. शीत्क्रमः –वक्त्रेण शीत्कृत्य जलं पात्वा नासानालैः विरेचयेत्।

तत्फलम् –वार्द्धक्यम्, ज्वरः, कषदोषश्च नैव जायते।

घेरण्डसंहितानुसारिषट्कर्माणि

1	**धौतिः**	अन्तर्धौतिः – 1. वातसारः 2. वासिसारः 3. अग्निसारः 4. बहिष्कृतः	दन्तधौतिः – 1. दन्तमूलम् 2. जिह्वाशोधनम् 3. कर्णधौतिः 4. कपालरन्ध्रधौतिः	हृद्धौतिः– 1. दण्डधौतिः 2. वमनधौतिः 3. वासधौतिः	मूलशोधनम् (गणेशक्रिया)
2	**बस्तिः**	जलबस्तिः	स्थलबस्तिः	वायुबस्तिः	
3	**नेतिः**	सूत्रनेतिः			
4	**नौलिः**	वामनौलिः	दक्षिणनौलिः	मध्यनौलिः	
5	**त्राटकम्**				
6	**कपालभांतिः**	वातक्रमकपालभांतिः	व्युत्क्रमकपालभांतिः	शीतक्रमकपालभांतिः	

सिद्धगणसेवितवायुनेतिः[54]

वर्त्तमानयुगे योगबहिरङ्गानाम् आसनप्राणायामषट्कर्माणां प्रचाराधिक्यो वर्त्तते। परञ्च नित्यं योगस्य बहिरङ्गस्यानुष्ठानरतवन्तोऽपि योगान्तरङ्गे धारणाध्यानसमाधिषु न युज्यन्ते। एतेन स्पष्टमेव यत् खलु आसनप्राणायामषट्कर्माचरणे त्रुटिरुत साधनायां न्यूनत्वं वर्त्तते। आसननाम्नि व्यायामस्य प्राबल्यम्, प्राणायामस्थाने अर्धपूरकरेचकयोः दर्शनम्, षट्कर्मणां प्रचाराधिक्यं तद्वत् नास्ति यद्वत् आसनप्राणायमौ स्तः, परञ्च स्थितिः एतस्यापि आसनप्राणायामवत् एव दृश्यते। मुद्राणां नाम्नि तु अत्यन्तहासपूर्णप्रक्रमोऽवलोक्यते।

अस्मिन्नुपप्रकरणे दुर्लभसाधनानां रहस्योद्घाटनं सिद्धान्तानां चर्चा ममोद्देश्यं नास्ति, परञ्च केवलं सङ्केतरीत्या इदं स्पष्टं कर्त्तुमिच्छामि यत् योगस्यान्तरङ्गे धारणाध्यानसमाधौ प्रवेशाय सैद्धान्तिकसाधनानां साङ्गोपाङ्गाभ्यासं विना तज्जनितसिद्धिपक्षे काल्पनिकमार्गे

[54]कु०अ०शि०, त्रि०पत्रिका, पृ०स० – 8, अप्रैल - 2020

नैव गन्तव्यम्। वस्तुतः साधनानां पूर्णत्वं तु साधनाभ्यासबले एव सम्भाव्यते, इयमेका दीर्घकालिकप्रक्रियाऽपि भवितुं शक्यते परञ्च साधनायाः रहस्यादीनां किञ्चिदवबोधेन व्यर्थस्य भ्रमात्मकपरिगमनादवरक्षितुं शक्यते।

सर्वेषां योगानुष्ठानानां परमोद्देश्यं तु स्वात्मसाक्षात्कार एव वर्त्तते। योगैश्वर्याणां स्थितिः समाधिः साधनानां प्रकाश एव न तु साध्यमवबोध्यम्। यावत् पर्यन्तं मनःप्राणयोः बहिर्मुखत्वं वर्त्तते तावत्पर्यन्तं सुषुम्नायां प्राणानां गतिः नैव सम्भाव्यते। यस्मिन् हृदि मृत्युञ्जयपर्यन्तं व्यापकलक्ष्यं नास्ति तेषां कृते वक्ष्यमाणसाधनायाः किमौचित्यम्? वस्तुतः लक्ष्योदात्तत्वेन साधके साधनायां क्रमिकतया प्राप्तविचित्रानुभूतिना प्रसादविषादभावत्वात् विरतिः नैव जायते। दीर्घकालिकनैरन्तर्याभ्यासेनैवान्तःकरणस्य शुद्धिः विधीयते।

सम्प्रति दिव्यवायुनेति वायुधौतिविशिष्टनौलिक्रिया च विवृणुते। वायुनेतिः चरणत्रये निरूप्यते।

प्रथमचरणम्– प्रारम्भिकाभ्यासे त्रिचतुस्सूत्राणि स्वीकर्त्तुं शक्यते। कालानन्तरेण 10 - 15 सूत्राणि अपि ग्रहीतुं शक्यन्ते। सूत्राणां दीर्घत्वं प्रारम्भे 3 – 4 हस्तपर्यन्तम् एवञ्च अभ्यासाधिक्ये 6–7 हस्तुपर्यन्तमपि समुचितं भविष्यति। अस्यां नेतिक्रियायां सूत्रमपि विशेषमस्ति। सामान्यस्निग्धं ग्रन्थरहितञ्च सूत्रमेवात्र प्रयोगितव्यम्।

अस्यां प्रयोगप्रक्रियायां सूत्रं ऊष्णजले उत ऋत्वनुसारं सामान्यजले सुसिक्तं कृत्वा, सूत्रस्य एकं भागम् अङ्गुलिना तस्मिन् नासिकाछिद्रे प्रवेशितव्यं यस्मिन् प्राणगतिस्तीव्रा वर्त्तते। उदाहरणे वामछिद्रो गृह्यते। तर्हि, दक्षिणछिद्रं पिधाय वामछिद्रतः तीव्रपूरकं करणीयम्। अनेन वाममार्गतः सूत्रं मुखे समागमिष्यति, अभ्यासेनैवेयं क्रिया सम्पद्यते। हस्तद्वयपर्यन्तं सूत्रं मुखात् बहिःकरणाय तेन मार्गतोऽर्थात् वामार्गतः एव नैकवारं पूरयेत्। यदा इयं सम्पद्यते तर्हि मुखात्बहिरागमितसूत्रस्य प्रारम्भभागं दक्षिणहस्तेन एवञ्च वामहस्तेन नासिकाछिद्रस्थ-सूत्रस्यारम्भभागं ग्रहणीयम्।

सम्प्रति, दक्षिणनासाछिद्रमवरुद्धमुखात् पूरकं विधेयं, सूत्रं मुखे समागमिष्यति। तर्हि, वामनासाछिद्रतः रेचनीयम्, सूत्रं वामतो निस्सरति। एवं विधिना मुखनासिकयोः समागमितसूत्रयोः प्रारम्भिकभागयोः हस्ताभ्यां धारयित्वा पूरकरेचकद्वारा नैकधाः मुखात् नासिकायाम्, नासिकातः मुखे च चालयेत्।

2. एतस्या एव सम्पूर्णक्रियायाः आचरणं वामनासिकावरुद्ध्य दक्षिणनासाछिद्रतो मुखतश्च करणीयम्।

3. सम्प्रति दक्षिणनासाछिद्रतः पूरकं कृत्वा सूत्रं मुखे प्रेषणीयम्। इदानीम्, मुखाद्बहिर्न कृत्वा, दक्षिणमवरुद्ध्य वामनासाछिद्रतो वेगपूर्वकं रेचयेत्। अभ्यासाधिक्ये सति सूत्रमारम्भभागो वामनासाछिद्रतो बहिस्समागमिष्यति। यदा द्वाभ्यां नासाछिद्राभ्यां सूत्रस्य प्रारम्भिकभागौ बहिरागमिष्यतः तर्हि हस्तद्वयेन सूत्रभागौ धारयित्वा वामेन पूरयेत्, तदा सूत्रं दक्षिणे आगमिष्यति। सम्प्रति दक्षिणेन रेचयेत् तदा सूत्रं दक्षिणतो बहिरागमिष्यति। एवं रीत्या दक्षिणतो वामे, वामतो दक्षिणे च प्राणविधिना नैकवारं सूत्रं चालयेत्।

4. क्वचिदभ्यासानन्तरं द्वयोः छिद्रयोः प्राणपूरकरेचनदृष्ट्या पूर्णोद्घाटनमनुभूयते। तदा द्वाभ्यां छिद्राभ्याम् एकैव एकस्मिन् काले एव पूरयेत्। अनया पूरकक्रियया सूत्रं मुखे समागमिष्यति। कण्ठाद्ध्वनिः पूरकं रेचयित्वा मुखाद्बहिः करणीयम्। पुनः मुखात् पूरयित्वा नासाभ्यां रेचनीयम्। इयं क्रियासकृत्करणीया। द्वाभ्यां पूरयित्वा क्वचिदेकनासामार्गतोऽपि बारम्बारं रेचनं कर्त्तुं शक्यते। प्रारम्भे पूर्वोक्तसकलक्रियायाः आचरणं नैव सम्भाव्यते। नियमिताभ्यासेनैव एतासां सर्वासां क्रियाणामाचरणं साफल्यते। केवलं पुस्तकपठनपूर्वकमाचरणेन अत्यन्तं काठिन्यम् अनुभविष्याति अतो योग्यमार्गदर्शने एव क्रिया करणीया।

द्वितीयचरणम्– अत्र तस्यैव साधकस्य गतिः यः खेचरीमपि अभ्यस्यते। मुखनासिकासंयोगक्षेत्रे सहजरीत्या जिह्वां प्रवेश्य, ऊर्ध्वराजदन्तादधोराजदन्तान् सम्पीड्य

प्रथमचरणीयासकला क्रिया करणीया। केवलं मुखे सूत्राकर्षणस्य क्रियाः न भविष्यति जिह्वायाः मुखनासिकासंयोगक्षेत्रे विद्यमानत्वात्।

तृतीयचरणम् – दृष्टिसंयोजनरीत्या प्रथमद्वितीयचरणयोः क्रियाणामाचरणं विधेयम्। अर्थात् भ्रूवोर्मध्ये दृष्टिं संस्थाप्य, सूत्रस्यारम्भभागे विना ग्रीवाभ्रमणेन दर्शनं दृढयेत्। सम्प्रति पूरकरीत्या सूत्राकर्षणे सति नेत्रेऽपि सूत्रेण सह अन्तः आकर्षयेत्। रेचने सति सूत्रेण सहैव नेत्रयोः बहिर्विकासो विधेयः। इयं क्रिया नैकधा कुर्यात्।

इयं क्रिया वायुवेगेन, कण्ठतः नासाछिद्रपर्यन्तं मन्द्राच्च सप्तकवत् स्वरपूरयित्वा करणीया। एवञ्चोड्डीयानमूलबन्धश्चाचरेत्। तृतीयचरणस्य क्रियारत्यन्तोन्नत-स्तरीयाः सन्ति। एतासाम् आचरणं स एव कर्त्तुं शक्यते, यस्य लक्ष्यं मनःप्राणेन्द्रियाणि अन्तर्मुखत्वम् ऊर्ध्वगतिप्रदानं वा वर्त्तते। गम्भीरसाधको यदि एताः मुद्राः सश्रद्धया नियमिततयाभ्यस्यति, तथा च एताभिः सह जपध्यानात्मचिन्तनैः मनःपरमलक्ष्ये संयोज्यने तत्परो भवति, तर्हि देवदुर्लभखेचरीशाम्भवीशक्तिचालन्यादिमुद्राणां प्रादुर्भावोऽपि सहजमेव सम्भविष्यति। देवदुर्लभसप्तसप्तकीयस्वरसाधनायामपि नैसर्गिकगतिः सम्पद्यते। तदाल्पमार्गदर्शनेनाऽपि आन्तरपथं प्रकाशयति।

प्रस्तुतक्रियायाः वैशिष्ट्यम् –प्राणमनसोः बहिर्मुखिधाराः स्थूलतः सूक्ष्मं प्रति विस्तार्यते। प्रस्तुतनेतिरीत्या प्राणापानयोराकर्षणनिकर्षणात्मकः प्राणायाम एव विधीयते। वस्तुतः सामान्यप्राणायामः इयं क्रियात्यधिकप्रभावी वर्त्तते। यतो हि प्राणायामस्य क्रमे वायुविकिरणं प्रायः सर्वदिशायां सम्पद्यते, परञ्चात्र सूत्रमाध्यमेन क्रियासम्पादनेन वायुधारा बध्नाति। वायुधाराऽविकरणेन पूरकरेचकरीत्या यावत्पर्यन्तं सूत्रं गतिः करोति तावत्पर्यन्तं वायुरपि गतिः करोति। यथा यन्त्राश्रितजलस्य प्रक्षेपणं बहुदूरं सम्भाव्यते, तद्वदेवात्रापि सूत्राश्रितक्रिया सम्पादनेन वायोः गतिः भ्रूमध्यं प्रति तीव्रतया सम्भवति। वायोः विजयेन योगी सर्वं जेतुं कर्तुं शक्यते। इयं क्रिया योगपरम्परायां महाश्रद्धया पूज्यते। इयं क्रिया लौकिकनेतिक्रियायारेव

व्यापकस्वरूपं वर्त्तते। अनया योगसाधनायामप्रतिहतगतिः जागर्ति। अभ्यासेनैव एतस्याः प्रभावं ज्ञातुं शक्यते। लौकिकनेतिक्रियायाः प्रभावः स्थूलस्तरे एवाधिको दृश्यते, इयं त्रुटिः पूर्णा नास्ति अपितु वायुनेतिक्रियायामेव एका सहायिका इति मन्ये।

वायुधौतिः

लौकिकवस्त्रधौतिक्रियास्वरूपे अस्माभिः वस्त्रं ग्रस्यते। परञ्चात्र वायुधौतिक्रियां वायुनेतिवद् वायुरीत्या सूत्राणां समूहस्य ग्रसनं क्रियते।

प्रक्रियास्वरूपम् – वायुनेतिवदेव सूत्रं निर्मीयात्रापि वायुनेतिद्वारा नासामार्गद्वयमुद्घाट्य सम्प्रति किञ्चद्विशिष्टप्रयोगः योजनीयः। यदा वायुनेतिना नासामार्गद्वयं पूर्णरूपेण क्रियाशीलत्वमुपेति तर्हि ग्रीवां किञ्चित्पृष्ठं कृत्वा, ऊर्ध्वहस्तेन सूत्रस्यारम्भभागं गृह्यात्। सूत्रस्य द्वितीयप्रारम्भभागस्तु नासाछिद्रतो बहिर्वर्तत्येव। इदानीम्, कण्ठं सङ्कल्पपूर्वकपूर्णमुद्घाट्य कण्ठध्वनिना सह पूरयेत्, सूत्रं कण्ठे समागमिष्यति। यदा प्रायः सम्पूर्णमेव सूत्रं मुखे आयाति तर्हि किञ्चित् सूत्रं मुखेऽवशिष्य, ग्रीवाम् अग्रे नतीकृत्य बलपूर्वकं नासाछिद्रतः सूत्रस्य द्वितीयारम्भभागस्य बहिर्निष्कासनं कुर्यात्। बारम्बारमित्थमेव चालयेत्। इयमेव वायुधौतिक्रिया विभिन्नसिद्धिसम्प्रदायेषु प्रसिद्धा। अनया धौतिविषयकप्राप्तयोगग्रन्थेषु फलश्रुतिः तु सिद्धयते एव तया सह योगमुद्रायाः आविर्भावेऽपि इयं क्रिया विशिष्टा मन्ये। शरीरे अत्यधिकप्राणिकक्रियाप्रभावात् स्वयमेव प्राणेषु स्थैर्यम्, मनोनिग्रहञ्च सम्पद्यते।

विभिन्नयोगिकमुद्रायाः यथा खेचरीविपरीतकरणीशक्तिचालन्यादीनां जागरणं सम्पद्यते। त्रिबन्धस्यात्रापि विशिष्टप्रयोजनं वर्त्तते। योग्यगुरुनिर्देशे एककर्त्तव्या अन्यथा दारुणदुःखदायी अपि भवितुं शक्यते।

महानौलिकर्म

लौकिकनौलिकर्मवत् एव अत्रापि सव्यापसव्ये आनन्दावर्त्तवेगेन तुन्दं चालयेत् परञ्चात्र लौकिकक्रियायं किञ्चिद् संयोजनीयम्।

प्रक्रियास्वरूपम् – सामान्यनौलिकर्मणि समागत्य एतस्य किञ्चिदभ्यासानन्तरे सम्प्रति कण्ठतो वायोः पूरकं कुर्यात्। प्रयासः करणीयः यत् सम्पूर्णनौलिस्थितिक्रमे काऽपि च्युतिः न भवेत्। इयं क्रिया नातिसामान्या। अपितु बारम्बारमभ्यासे सति अत्र स्थितिः नातिसरला। परञ्च कालक्रमेणाभ्यासाधिक्ये सति यथा रेचके नौलिः सम्पद्यते तद्वदेव पूरकेऽपि सम्भविष्यति। एतदर्थं सामान्यनौलिक्रमेऽवस्थिते सति, खेचरीं समाचर्य कण्ठतोऽत्यन्तमन्दवेगेन किञ्चिद् वायुं पूरयेत्। शनैः शनैः कालक्रमेणेयं क्रिया सम्पद्यते।

(2) श्वासपूरके यथाऽभ्यसिताः तद्वदेव श्वासरेचकेऽपि प्रयासः करणीयः। खेचरीशाम्भवे विना इयं नैव सम्भाव्यते इति योगगुरुवर्याणामभिमतम्।

(3) आन्तरकुम्भकेऽपि एतस्यारभ्यासः प्राप्यते। अस्यां महानौलिक्रियायां खेचरीशाम्भवीबन्धत्रयनेतिधौत्यादिसर्वाः क्रियाः विलीयते। एकस्यारभ्यासेन सर्वा क्रिया सम्पद्यते। इत्थमपि वक्तुं शक्यते, इयं क्रिया तदेव सम्भाव्यते यदान्याः सर्वक्रियाः साधके सहजेन प्रारभ्यते। एतासु साधनासु मन्त्रश्वासयोगत्वात् शरीररूपीब्रह्माण्डस्य प्रतिस्तरं प्रवेशो विधीयते। अभ्यासादेव प्रभावं ज्ञातुं शक्यते। तदेवोच्यते –

> क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत्।
> न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते॥
> न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा।
> क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः॥[55]

---

[55] ह॰प्र॰, उ॰स॰ – 1, श्लो॰स॰ – 65 - 66

षट् कर्माणि

क्र०स०	हठरत्नावली	हठयोगप्रदीपिका	सिद्धजनसेवितदिव्यक्रिया
1	चक्री	धौतिः	वायुनेतिः
2	नौलिः	वस्तिः	वायुधौतिः
3	धौतिः	नेतिः	महानौलिः
4	नेतिः	नौलिः	
5	वस्तिः	त्राटकः	
6	गजकरणी	कपालभांतिः	
7	त्राटकः		
8	कपालभांतिः		

4.3.2 आसनम्

(क) आसनवैशिष्ट्यम् –

स्वस्थशरीरे एव स्वस्थमनः स्वस्थात्मा च निवसति। शरीरस्वास्थ्येनैव पुरुषार्थचतुष्टयेषु मनुष्यः प्रवर्त्तते। स्वस्थशरीरमाध्यमेनैव ईश्वराराधना भौतिककर्म्मसम्पादनञ्च भवति। स्वस्थशरीरस्य परिचायकाः – शरीरपुष्टिः, अवयवदार्ढ्यम्, जठराग्निप्रदीप्तता, मनसः इन्द्रियाणाञ्च प्रसन्नता, शरीरस्वास्थ्यञ्च सन्ति। भगवत्पतञ्जलिना तृतीययोगाङ्गत्वेन आसनानि गृह्यन्ते। किन्तु कैश्चन आचार्य्यैः आसनं प्रथमाङ्गमिति स्वीक्रियते, उच्यते च –

आसनं प्राणसंयामः प्रत्याहारोऽथ धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्[56]॥ इति॥

हठयोगेऽप्यासनं प्रथमाङ्गत्वेन प्रकीर्त्तितम् –

हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते।
कुर्य्यात्तदासनं स्थैर्य्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम्[57]॥ इति॥

एवञ्च हठयोगाभ्यासक्रमेऽप्यासनं प्रथमतया गण्यते –

आसनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यकरणं तथा।
अथ नादानुसन्धानमभ्यासानुक्रमो हठे[58]॥ इति॥

अर्थात् हठयोगे आसनानि, नानाविधं कुम्भकम्, महामुद्रादीनि च विधाय नादानुसन्धानं करणीयम्। उपनिषत्सु पञ्चदशाङ्गयोगे आसनं सप्तमं स्थानं लभते, अष्टाङ्गयोगे तु तृतीयम्। एतैः प्रमाणैः आसनानामुपयोगिता तत्माहात्म्यञ्च स्पष्टीभवति। हठयोगे आसनानां आदौ ग्रहणात् योगसाधनार्थमेतेषामभ्यासोऽतीवावश्यकरिति सिद्ध्यति।

---

[56]गो॰श॰ श्लो॰ सं॰ 4
[57]ह॰प्र॰ श्लो॰ सं॰ 1/17
[58]ह॰प्र॰श्लो॰ सं॰ 1/56

(ख) किं नाम आसनम् ? –

आसनं नाम उपवेशनम्। लोके गोलाकारवस्त्रम्, चतुर्भुजाकारवस्त्रञ्चापि आसनमिति व्यवहृयते। तथा च आसन्दिकामपि आसनमिति कथ्यते लौकिकैः। तस्माल्लोके उपवेशनाधारसाधनस्य आसनमिति सञ्ज्ञाऽस्ति। शास्त्रे तु शरीरतदवयवविशेषस्थितिः आसनमित्यभिधीयते। श्वेताश्वतरोपनिषदि '--------न्नतं स्थाप्य समं शरीरम्'[59] इत्यादिषु योगासनोल्लेखः उपलभ्यते। मण्डलब्राह्मणोपनिषदि आसनानि निरूप्यन्ते –

'सुखासनवृत्तिश्चिरवासश्चैवमासननियमो भवति'[60]॥ इति॥

तथा च

सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुखविनाशनम्[61]॥ इति॥

तस्मात् सुखपूर्वकं परब्रह्मणः ध्याने नैरन्तर्य्येणोपवेशनमेव आसनमिति निष्क्रियते। तदेवोच्यते योगसूत्रेऽपि –'स्थिरसुखमासनम्'[62] इति।

(ग) आसनप्रकाराः –

आसनानां सङ्ख्या तद्भेदानां विषये उपनिषत्सु मतभैन्यं दरीदृश्यते। तेषां नामोल्लेखपुरस्सरमधो निर्दिश्यते –

- योगचूड़ामण्युपनिषदि[63]– सिद्धासनम्, कमलासनञ्च।
- योगकुण्डल्युपनिषदि[64]– पद्मासनम्, वज्रासनञ्च।
- अमृतनादोपनिषदि[65]– पद्मासनम्, स्वस्तिकासनम्, भद्रकासनञ्च।

---

[59]श्वे॰उ॰ 2/8
[60]म॰ब्रा॰उ॰ 1/1/5
[61]ते॰बि॰उ॰
[62]यो॰सू॰ 2/46
[63]यो॰चू॰उ॰ 3
[64]यो॰कु॰उ॰ 1/4
[65]अ॰ना॰उ॰ 18

- ध्यानबिन्दूपनिषदि[66], योगतत्त्वोपनिषदि[67]– सिद्धासनम्, पद्मासनम्, सिंहासनम्, भद्रासनञ्च।
- शाण्डिल्योपनिषदि[68]– स्वस्तिकासनम्, गोमुखासनम्, पद्मासनम्, वीरासनम्, सिंहासनम्, भद्रासनम्, मुक्तासनम्, मयूरासनञ्च। तस्मिन् उपनिषदि[69] अग्रे नवमासनमप्युल्लिख्यते – सिद्धासनमिति।
- दर्शनोपनिषदि[70]– स्वस्तिकासनम्, गोमुखासनम्, पद्मासनम्, वीरासनम्, सिंहासनम्, भद्रासनम्, मुक्तासनम्, सुखासनञ्च।
- वराहोपनिषदि[71]– चक्रासनम्, पद्मासनम्, कूर्मासनम्, मयूरासनम्, कुक्कुटासनम्, वीरासनम्, स्वस्तिकासनम्, भद्रासनम्, सिंहासनम्, मुक्तासनम्, गोमुखासनञ्च।
- त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषदि[72] - चक्रासनम्, पद्मासनम्, कूर्मासनम्, मयूरासनम्, कुक्कुटासनम्, वीरासनम्, स्वस्तिकासनम्, भद्रासनम्, सिंहासनम्, मुक्तासनम्, गोमुखासनम्, योगासनम्, बद्धपद्मासनम्, उत्तानकूर्मासनम्, मयूरासनम्, धनुरासनम्, पश्चिमोत्तानासनञ्च।

शास्त्रेषु उपलब्धप्रमुखाणां चतुरशीतिसङ्ख्यात्मकानाम् (84) आसनानां नामानि लिख्यते, तानि यथा –

---

[66]ध्या॰बि॰उ॰ 43
[67]यो॰त॰उ॰ 29
[68]शाण्डि॰उ॰ 1/1/3
[69]शाण्डि॰उ॰ 1/3-13
[70]द॰उ॰ तृतीयखण्डारम्भे
[71]व॰उ॰ 5/15-17
[72]त्रि॰ब्रा॰उ॰ 2/34-52

चतुरशीतिः आसनानि

1. पद्मासनम्	2. सिद्धासनम्	3. स्वस्तिकासनम्
4. सुखासनम्	5. वीरासनम्	6. भद्रासनम्
7. वज्रासनम्	8. नौकासनम्	9. शवासनम्
10. अद्धासनम्	11. ज्येष्टिकासनम्	12. मकरासनम्
13. सिद्धायोन्यासनम्	14. उत्कटासनम्	15. शशाङ्कासनम्
16. मार्जार्यासनम्	17. मृगासनम्	18. प्रणामासनम्
19. सूर्य्यनमस्कारासनम्	20. उष्ट्रासनम्	21. सुमेर्वासनम्
22. व्याघ्रासनम्	23. नाभ्यासनम्	24. कटिचक्रासनम्
25. ताड़ासनम्	26. लोलासनम्	27. मेरुपृष्ठासनम्
28. उत्तानासनम्	29. कोणासनम्	30. दोलासनम्
31. मत्स्यासनम्	32. पवनमुक्तासनम्	33. हृदयस्तम्भासनम्
34. कुक्कुटासनम्	35. तोलाङ्गुलासनम्	36. भुजङ्गासनम्
37. शलभासनम्	38. धनुरासनम्	39. ग्रीवासनम्
40. कन्धरासनम्	41. सेत्वासनम्	42. शीर्षपादासनम्
43. अर्धचन्द्रासनम्	44. पृष्ठासनम्	45. गोमुखासनम्
46. मेरुवक्रासनम्	47. शीर्षासनम्	48. कपाल्यासनम्
49. सर्वाङ्गासनम्	50. गरुड़ासनम्	51. वकासनम्
52. पर्वतासनम्	53. मेरुदण्डासनम्	54. वशिष्ठासनम्
55. नटवरासनम्	56. नटराजासनम्	57. पूर्णमत्स्येन्द्रासनम्
58. कूर्मासनम्	59. धनुराकर्षणासनम्	60. वृश्चिकासनम्
61. मयूरासनम्	62. हनुमानासनम्	63. ब्रह्मचर्य्यासनम्
64. मूलबन्धासनम्	65. गोरक्षासनम्	66. अष्टवक्रासनम्
67. हलासनम्	68. योगमुद्रासनम्	69. खगासनम्
70. ध्रुवासनम्	71. तुलासनम्	72. मण्डूकासनम्
73. शुतुरमुर्गासनम्	74. हंसासनम्	75. हस्तपादगुप्तासनम्
76. जानुशिरासनम्	77. पादतलसंयुक्तमूर्द्धास्पर्शासनम्	78. योगासनम्
79. लतासनम्	80. कन्दपीड़ासनम्	81. नाभिपीड़ासनम्
82. समकोणासनम्	83. द्विकोणासनम्	84. त्रिकोणासनम्

उपर्य्युक्तासनानां संस्थानावयवग्रन्थीनाञ्च सम्बन्धवशादपि गणः क्रियते। यथा –

(घ) संस्थानसम्बद्धासनानि –

1. श्वसनसंस्थानम् –एकनासिकाघर्षणम्, कपालभातिप्राणायामः, पद्मासनम्, स्वस्तिकासनम्, सिद्धासनम्, मत्स्यासनम्, भुङ्गासनञ्च।

2.रुधिराभिसरणसंस्थानम् –शीर्षासनम्, सर्वाङ्गासनम्, मत्स्यासनम्, उत्तानपादासनञ्च।

3.पाचनसंस्थानम् –उत्तानपादासनम्, सर्वाङ्गासनम्, हलासनम्, मत्स्यासनम्, पश्चिमोत्तानासनम्, भुङ्गासनम्, शलभासनम्, मत्स्येन्द्रासनम्, शीर्षासनञ्च।

4.मांससंस्थानम् –शीर्षासनम्, सर्वाङ्गासनम्, हलासनम्, कर्णपीडनासनम्, मत्स्येन्द्रासनम्, पश्चिमोत्तानासनम्, योगमुद्रासनम्, भुङ्गासनम्, प्राणायामश्च।

5.स्नायुसंस्थानम् –सूर्य्यनमस्कारासनम्, उत्तानपादासनम्, वज्रासनम्, लोलासनम्, शक्त्यासनम्, कुक्कुटासनम्, धनुरासनञ्च।

(ङ) अन्तःस्राविग्रन्थिसम्बद्धासनानि –

1. पीनियल – शीर्षासनम्।

2. पिट्युटरी – शीर्षासनम्।

3. थायराइड – सर्वाङ्गासनम्, हलासनञ्च।

4. यकृत् – मत्स्येन्द्रासनम् (दक्षिणभागं प्रति)।

5. प्लीहा – उड्डियानबन्धः, नौलीक्रिया च।

6. क्लोम – मत्स्येन्दासनम् (वामभागं प्रति)।

7. एड्रीनाल – मयूरासनम्।

8. वृक्कः – भुजङ्गासनम्।

9. अण्डकोषः – सिद्धासनम्, पद्मासनम्, वज्रासनम्, सुप्तवज्रासनम्, शीर्षासनञ्च।

(च) अवयवसम्बद्धासनानि –

1. उदरजठरयकृतप्लीहामाशयाः - उत्तानपादासनम्, सर्वाङ्गासनम्, हलासनम्, मत्स्यासनम्, पश्चिमोत्तानासनम्, भुङ्गासनम्, शलभासनम्, मत्स्येन्द्रासनम्, शीर्षासनञ्च।

2. हृदयः – शीर्षासनम्, सर्वाङ्गासनम्, शवासनम्, प्राणायामश्च।

3. फुफ्फुस - एकनासिकाघर्षणम्, कपालभातिप्राणायामः, पद्मासनम्, स्वस्तिकासनम्, सिद्धासनम्, मत्स्यासनम्, भुङ्गासनञ्च।

4. मस्तिष्कम् – शीर्षासनम्, सर्वाङ्गासनम्, मत्स्यासनम्, पद्मासनम्, योगमुद्रासनम्, प्राणायामश्च।

5. चक्षुः – शीर्षासनम्, मत्स्यासनम्, सूत्रनेतिः, जलनेतिः, त्राटककर्म्म च।

6. दन्तकर्णनासिकाः – नेतिः, मत्स्यासनम्, श्वसनक्रिया, सिंहासनञ्च।

(छ) विभिन्नरोगोपयुक्तासनानि –

1. मन्दाग्निः – उत्तानापादासनम्, सर्वाङ्गासनम्, हलासनम्, पश्चिमोत्तानासनम्, शीर्षासनम्, धनुरासनञ्च।

2. विबन्धः – उत्तानापादासनम्, सर्वाङ्गासनम्, हलासनम्, पश्चिमोत्तानासनम्, भुजङ्गासनम्, धनुरासनम्, मयूरासनम्, शीर्षासनञ्च।

3. अजीर्णम् – उत्तानपादासनम्, पवनमुक्तासनम्, सर्वाङ्गासनम्, हलासनम्, पश्चिमोत्तानासनम्, धनुरासनम्, सुप्तवज्रासनम्, शीर्षासनञ्च।

4. जठराग्निः – सर्वाङ्गासनम्, शीर्षासनम्, भुजङ्गासनम्, मत्स्यासनम्, वज्रासनम्, सुप्तवज्रासनम्, मयूरासनम्, मत्स्येन्द्रासनञ्च।

5. उदरसम्बद्धरोगाः – उत्तानपादासनम्, पवनमुक्तासनम्, वज्रासनम्, योगमुद्रासनम्, भुङ्गासनम्, मत्स्यासनञ्च।

6. वातविकृतिः – पवनमुक्तासनम्, जानुशिरासनम्, खगासनम्, योगमुद्रासनम्, वज्रासनञ्च।

7. **अर्शः** – उत्तानपादासनम्, सर्वाङ्गासनम्, मयूरासनम्, शीर्षासनम्, यानासनञ्च।

8. **स्वप्नदोषः** – पादाङ्गुष्ठासनम्, गोरक्षासनम्, लोलासनम्, कन्दपीड़ासनम्, शीर्षासनम्, वज्रासनम्, सुप्तवज्रासनम्, सर्वाङ्गासनञ्च।

9. **आन्त्रपुच्छशोथः** – उत्तानपादासनम्, सर्वाङ्गासनम्, शीर्षासनञ्च।

10. **श्लेष्मविकारः** – मत्स्यासनम्, सर्वाङ्गासनम्, हलासनम्, कपालभातिप्राणायामः, उड्डियानबन्धः, गजकरणीक्रिया च।

11. **फुफ्फुसविकृतिः** – वज्रासनम्, मत्स्यासनम्, सर्वाङ्गासनञ्च।

12. **श्वासरोगः (दमा)** – एकनासिकाघर्षणम्, मत्स्यासनम्, सर्वाङ्गासनम्, सुप्तवज्रासनम्, भुजङ्गासनम्, शीर्षासनम्, उड्डियानबन्धः, गजकरणीक्रिया, धौतिश्च।

13. **कुष्ठरोगः** – धौतिः, गजकरणी, शीर्षासनम्, महामुद्रा च।

14. **आन्त्रच्युतिः** – शीर्षासनम्, सर्वाङ्गासनम्, कपालभातिप्राणायामश्च।

15. **रक्तविकारः, त्वग्रोगश्च** – गजकरणीक्रिया, सर्वाङ्गासनम्, कपालभातिप्राणायामश्च।

16. **आमवातविकारः** – सर्वाङ्गासनम्, पवनमुक्तासनम्, पद्मासनम्, मत्स्यासनम्, उष्ट्रासनम्, वज्रासनम्, गुप्तवज्रासनम्, पश्चिमोत्तानासनञ्च।

17. **रजोविकृतिः** – भुजङ्गासनम्, शलभासनम्, मत्स्यासनम्, सर्वाङ्गासनम्, पश्चिमोत्तानासनञ्च (गर्भावस्थायाम्, ऋतुकाले च आसनाभ्यासः वर्जितः)।

18. **अनिद्रा, अपस्मारश्च** – शीर्षासनम्, सर्वाङ्गासनम्, मत्स्यासनम्, पश्चिमोत्तानासनम्, उत्तानपादासनम्, पवनमुक्तासनम्, हलासनम्, भुजङ्गासनम्, शलभासनम्, मयूरासनञ्च।

19. **मधुमेहः** – सर्वाङ्गासनम्, मयूरासनम्, नौकासनम्, वज्रासनम्, भुजङ्गासनम्, हलासनम्, पश्चिमोत्तानासनम्, शीर्षासनम्, उड्डियानबन्धश्च।

20. **वीर्य्यदोषः** – सर्वाङ्गासनम्, वज्रासनम्, योगमुद्रा च।

21. **मस्तिष्कसम्बद्धरोगाः** – सर्वाङ्गासनम्, शीर्षासनम्, चन्द्रासनञ्च।

22. कण्ठसम्बद्धरोगाः – गुप्तवज्रासनम्, भुजङ्गासनम्, चन्द्रासनञ्च।

23. चक्षुःसम्बद्धरोगाः – सर्वाङ्गासनम्, शीर्षासनम्, भुजङ्गासनञ्च।

24.नाभिविकृतिः – धनुरासनम्, नाभ्यासनम्, भुजङ्गासनञ्च।

25.गर्भाशयविकृतिः – उत्तानपादासनम्, भुजङ्गासनम्, सर्वाङ्गासनम्, ताड़ासनम्, चन्द्रनमस्कारासनञ्च।

26.कटिशूलः – हलासनम्, चक्रासनम्, धनुरासनम्, भुजङ्गासनञ्च।

27.यकृद्विकृतिः – लतासनम्, सर्वाङ्गासनम्, जानुशिरासनम्, यानासनम्, नमस्कारासनञ्च।

28.भगन्दरादिविकाराः – उत्तानपादासनम्, सर्वाङ्गासनम्, जानुशिरासनम्, यानासनम्, नमस्कारासनञ्च।

29.रोगसामान्योपकारकासनानि – पद्मासनम्, शीर्षासनम्, सर्वाङ्गासनम्, पश्चिमोत्ताना-सनञ्च।

30. स्वास्थ्यवर्धकासनानि – पद्मासनम्, शीर्षासनम्, सर्वाङ्गासनम्, पश्चिमोत्तासनञ्च।

31.यौवनरक्षकासनानि – सर्वाङ्गासनम्, शीर्षासनम्, भुजङ्गासनम्, पश्चिमोत्तासनम्, मत्स्यासनञ्च।

32.मेधाशक्तिवर्धकासनानि – सर्वाङ्गासनम्, शीर्षासनम्, मत्स्यासनम्, पद्मासनम्, प्राणायामः, ध्यानञ्च।

33.ज्ञानतन्तुवर्धकासनानि – सर्वाङ्गासनम्, शीर्षासनम्, भुजङ्गासनम्, शलभासनम्, धनुरासनञ्च।

34.शिथिलीकरणासनम् – शवासनम्।

(ज) त्रिदोषसम्बद्धासनानि –

योगशास्त्रानुसारं शरीरे त्रिदोषाणां वातपित्तकफानां महत्त्वपूर्णस्थानं वरीवर्त्ति। त्रिदोषाः एव सम्पूर्णशरीरस्य हेतवः, शरीरे जायमानक्रियाणामाधाराश्च सन्ति। यदा एते दोषाः समवस्थां प्राप्नुवन्ति तदा स्वस्थो मनुष्यो भवति। एवञ्च एतेषां वैषम्ये व्याधियुक्तो भवति। योगासनैः त्रिदोषाः अपि प्रभाविताः भवन्ति। तत्तद्दोषप्रकृतिकाय उपकारकाणि आसनान्युल्लिख्यन्ते –

1. **वातप्रकृतिकः** – पवनमुक्तासनम्, वीरासनम्, वज्रासनम्, अर्धमत्स्येन्द्रासनम्, पूर्णमत्स्येन्द्रासनम्, धनुरासनम्, बस्तिक्रिया, उड्डियानबन्धः, नौलीक्रिया च।

2. **पित्तप्रकृतिकः** –भुजङ्गासनम्, अर्धशलभासनम्, शलभासनम्, उड्डियानबन्धश्च।

3. **कफप्रकृतिकः** –कपालभातिप्राणायामः, उड्डियानबन्धः, उत्तानपादासनम्, सर्वाङ्गासनम्, मत्स्यासनम्, शीर्षासनम्, पश्चिमोत्तानासनम्, गजकरणीक्रिया च।

आसनसङ्ख्या

1.	**हठयोगप्रदीपिका**	15
2.	**घेरण्डसंहिता**	32
3.	**शिवसंहिता**	4
4.	**हठरत्नावली**	84

*****

पञ्चमोऽध्यायः – साम्प्रदायिकमुद्रास्वरूपौचित्त्यञ्च

विविधसम्प्रदायेषु हस्ताश्रितमुद्राणामीश्वरपूजनोद्देश्याय नैकाः मुद्राः सम्प्रदायवैविध्यत्वात् विभिन्नप्रक्रमतया प्राप्यन्ते। योगशास्त्रे हस्ताभ्यामङ्गुलीषु विभिन्नतत्त्वानां स्थितिः आचार्यैः स्वीकृताः, इमं विधिमनुसृत्य शरीरस्थप्राणानां कथं विविधैः तत्त्वैः सह सम्बन्धो वर्त्तते इति विवेचनाय योगपरम्परातः सम्बद्धशैवशाक्तवैष्णवपरम्परासु प्राप्तनैकमुद्राणां स्वरूपप्रदर्शनपूर्वकं सामान्यमानवजीवने एतासां मुद्राणां शारीरिक-मानसिकात्मिकस्तरेषु प्रभावो विधानायायमध्यायो विरच्यते।

5.1 विभिन्नसम्प्रदायेषु मुद्राणां स्वरूपम्

मानवजीवनरचनाक्रमेषु विभिन्नतत्त्वप्राणयोरपूर्वयोगदानं वर्त्तते। पूर्वोक्तप्रकरणेषु अस्माभिरज्ञायत यत् कथं मुद्राः प्राणतत्त्वाभ्यां युक्ताः भूत्वा अस्माकं परमलक्ष्यप्राप्तये सहायिकाः भवन्ति। प्रस्तुतप्रकरणस्यौचित्यं वर्त्तते व्यापकदृष्ट्या विभिन्नसम्प्रदायेषु मुद्रा-विषयकवैविध्यज्ञानम्।

मुद्रेति विषयमधिकृत्य नैकाः सङ्ग्रहग्रन्थाः प्रचलिताः सन्ति। यथा – मुद्रारहस्यम्, मुद्राविमर्शः, बृहदतान्त्रिकमुद्राविज्ञान, मुद्राविज्ञान इत्यादयः। तेषु ग्रन्थेषु व्यापकदृष्ट्या विभिन्नसम्प्रदायेषु प्राप्तमुद्राणां सचित्रवर्णनं प्राप्यते। वस्तुतः मुद्राणां यौगिकदृष्ट्या वर्णनमेव ममोद्देश्यम्, परञ्चात्र सम्प्रदायेषु हस्तमुद्राणामाधिक्यं दृश्यते। हस्तमुद्राणां प्रदर्शनं विभिन्नपूजानुष्ठानादिक्रमे अस्माकं स्वाभाविकदिनचर्यायामपि भवति। सन्ध्योपनायां चतुर्विंश-तिजपमुद्राणाम् अस्माभिः नित्यमेव प्रयोगं व्यवह्रियते।[1] जपान्तेऽपि अष्टविधात्मकमुद्राणां प्रयोगो भवति।

सुरभिर्ज्ञानवैराग्ये योनिः शङ्खोऽथ पङ्कजम्।
लिङ्गनिर्वाणमुद्राश्च जपान्तेऽष्टौ प्रदर्शयेत्॥

[1]दे०भा० – 11 / 17 / 99 - 101

षडङ्गन्यासक्रमेऽपि हस्तमुद्राभिरङ्गस्पर्शनं विधीयते। वस्तुतो मुद्राणामस्माकं जीवने नैसर्गिकाध्यात्मिकशक्तिप्राप्तये अलौकिकावदानं वर्त्तते। शैवशाक्तवैष्णवसम्प्रदायेषु प्रधानतया विश्वव्याप्तालौकिकशक्तिना सह सम्बन्धसंस्थापनाय नैकरीत्या यौगिकहस्ताश्रितं वा मुद्राणामौचित्यं वर्त्तते। योगतन्त्रप्रधानग्रन्थेषु पूर्वोक्तप्रयोगप्रधानयोगदृष्ट्या मुद्राणां वर्णनेन सह साङ्केतिकरीत्या हस्ताङ्गुल्यैरपि नैकमुद्राणां वर्णनं प्राप्यते। इत्थमपि कथने काऽपि अतिशयोक्तिः न भविष्यति यत् हस्ताश्रितमुद्राणां बाहुल्यं वर्त्तते। वस्तुतो हस्ताश्रितमुद्राणामाविर्भावो तावत्कालतो मन्यन्ते विद्वद्भिः यस्मिन् समये वाचिकभावविनिमयस्योत्पत्तिरपि नासीत्। अङ्गिकविधिना स्वकीयभावानां प्रदर्शनं निश्चितमेव प्राचीनं वर्त्तते।

शैव उत शाक्तसम्प्रदायतो मुद्राणां विभिन्नसम्प्रदायेषु विस्तारो नैकैराचार्यैः स्वीकृतः। तन्त्रसारादिविभिन्नप्रसिद्धशैवग्रन्थेषु व्यापकदृष्ट्या मुद्राणां वर्णनं प्राप्यते एव। सम्प्रति, योगरीत्या कथं मुद्राः परस्पराङ्गुलिस्पर्शनेनापि विभिन्नतत्त्वप्राणेषु प्रभावं सम्पादयन्ति? कथं प्रत्यङ्गुलं निश्चिततत्त्वानां प्रभावो वर्त्तते? पञ्चतत्त्वानां कथं निश्चितप्राणवायुना सह सम्बद्धो वर्त्तते इत्यादिप्रश्नानां वैज्ञानिकरीत्या उत्तराणि प्रस्तूयन्ते।

सर्वप्रथमम् अस्माभिरिदं ज्ञेयं यत्प्रत्यङ्गुलिं कानि तत्त्वानि सन्ति –पञ्चतत्त्वानां प्रतीकरूपाङ्गुल्यः – हस्तानां प्रत्यङ्गुलि पञ्चतत्त्वानि सङ्केतयन्ति। तर्जनी वायुतत्त्वस्य, मध्यमा अग्नेः, अनामिका जलस्य, कनिष्ठा पृथिव्याः, अङ्गुष्ठः आकाशतत्त्वस्य च प्रतिनिधयः सन्ति। सम्प्रति तत्त्वैः सह प्राणानां सम्बन्धो वर्ण्यते –शरीरे पञ्चप्राणानां निश्चितस्थलं वर्त्तते। हृदि प्राणाः सन्ति, गुदे अपानो वर्त्तते, समानो नाभिमण्डले, उदानः कण्ठदेशे, व्यानः सर्वशरीरे च वर्त्तते। आयुर्वेदे प्राणानां निश्चितकार्यमपि प्राप्यते।

1. अपानः – अपनयति प्रकर्षेण मलं निस्सारयति अपकर्षति च शक्तिमिति अपानः।

2. समानः – रसं समं नयति सम्यक् प्रकारेण नयतीति समानः।

3. प्राणः – प्रकर्षेण अन्नं नयति, बलं ददाति आकर्षति च शक्तिं स प्राणः।

4. उदानः – उन्नयति यः उद् आनयति वा तदुदानः।

5. व्यानः – व्याप्नोति शरीरे यः स व्यानः।

स्पष्टत्वात् न विवेच्यते। अपानप्राणस्य सम्बन्धः शरीरस्थगुदालिङ्गाभ्यां सह वर्त्तते। अर्थात् कनिष्ठानामिकाभ्यां सम्बन्धितमुद्रया शरीरस्थापाने प्रभावो विधीयते।

समानप्राणस्य शरीरे नाभिमण्डले प्रभावो वर्त्तते। अर्थात् मध्यमा सम्बन्धितमुद्रया शरीरस्थसमानेऽभिक्रिया भवति। प्राणाः हृदि वर्त्तन्ते तर्हि तर्जनीसम्बद्धमुद्रया हृन्मण्डले प्रभावो भवति। उदानसम्बद्धाङ्गुष्ठेन कण्ठदेशतो मूर्धापर्यन्तं प्रभावो भवति।

एकया सारणीरीत्या इदं सर्वं स्पष्टं क्रियते –

हस्ताङ्गुलिषु तत्त्वप्राणानां स्थितिः

क्र०स०	**पञ्चतत्त्वानि**	**पञ्चप्राणाः**	**पञ्चाङ्गुल्यः**
1.	पृथ्वी	अपानः	कनिष्ठिका
2.	जलम्	अपानः	अनामिका
3.	अग्निः	समानः	मध्यमा
4.	वायुः	प्राणः	तर्जनी
5.	आकाशः	उदानः	अङ्गुष्ठः
व्यानस्तु सर्वशरीरगः			

पूर्वोक्तसम्पूर्णविवेचनेनेदं स्पष्टमस्ति कथं हस्तमुद्रापि शरीरस्थविभिन्नकेन्दैः सह सम्बद्ध्यते। इयमेका सामान्यप्रस्तुतिः वर्त्तते यया अस्माभिः ज्ञातुं शक्यते कथं शरीरस्थचेतनायाः वैश्विकव्यापकचेतनया सह सम्बन्धस्थापनाय नैकासु परम्परासु मुद्राभिः विविधगुप्तसिद्धान्तस्य प्रचलनमासीत्। सामान्यतया हस्तमुद्राभिः निश्चिताकृतिं विरच्य स्थिरमनसा देवं प्रति स्वसमर्पणं विधीयते। हस्तमुद्रयापि प्राणानां प्रमन्दत्वं सम्पद्यते। प्राणप्रमन्देन मनोगतिरपि अवरुद्ध्यते। प्राणमनोगतिरुद्धेन नैसर्गिकरीत्या योगे प्रवेशो भवति। अस्तु, सम्प्रति शैवशाक्तवैष्णवपरम्परासु प्राप्तमुद्राणां साङ्केतिकवर्णनं विधीयते।

5.1.1 शैवसम्प्रदाये मुद्राणां स्वरूपम्

योगशास्त्रोक्तविभिन्नमुद्राणां विशिष्टवर्णनं शैवसम्प्रदायेऽपि सन्दृश्यते। शिवसंहितायां प्रमुखदशमुद्राणां विस्तृतवर्णनं प्राप्यते। वस्तुतः शिवशाक्तोभययोः सम्प्रदाययोः योगशास्त्रीयमुद्राणां प्रक्रियादशायां बाहुल्यं वर्त्तते। परञ्च कालक्रमेण सम्प्रति शैवसम्प्रदायेऽपि हस्तमुद्राणां प्रयोगाधिक्यं विलोक्य अस्मिन्नध्याये तासां वर्णनं क्रियते। शैवसम्प्रदाये प्रायो दशमुद्राः प्राप्यन्ते – लिङ्गमुद्रा, योनिमुद्रा, त्रिशूलमुद्रा, अक्षमालामुद्रा, वरमुद्रा, अभयमुद्रा, मृगीमुद्रा, खट्वाङ्गमुद्रा, कपालमुद्रा, डमरुमुद्रा च। तदेवोक्तम् –

काममुद्रा पराख्याता शिवस्य दशमुद्रिका।
लिङ्गयोनित्रिशूलाक्षमालेष्टाभिर्मृगाह्वया॥
खट्वाङ्गञ्च कपालाख्या डमरुः शिवतोषिका।
महादेवप्रियाणाञ्च कथ्यन्ते लक्षणान्यय॥[2]

कपालमुद्रायाः कापालिकी मुद्रेति डमरुमुद्रायाश्च डमरुकमुद्रेति नामान्तरं वर्त्तते। एतासां शैवमुद्राणां काममुद्रेत्यभिधीयते।

1. लिङ्गमुद्रा –दक्षिककराङ्गुष्ठमुत्थाय वामाङ्गुष्ठेन बन्धयेत्, ततः करयोरङ्गुलीः अन्योन्यमनुस्यूतीकृत्य बन्धयेत्। तदा लिङ्गवत् आकृतिः प्रादुर्भूयते, अतो लिङ्गमुद्रेति अन्वर्थसञ्ज्ञाभिधानमस्मदृषिभिः प्रकल्पितम्। तदेव दृश्यतेऽत्रापि –

उच्छितं दक्षिणाङ्गुष्ठं वामाङ्गुष्ठेन बन्धयेत्।
वामाङ्गुली दक्षिमाभिरङ्गुलीभिश्च बन्धयेत्॥
लिङ्गमुद्रायमाख्याता शिवसान्निध्यकारिणी॥[3]

---

[2]बृ०ता०मु०म०, पृ०स० - 39
[3]बृ०ता०मु०म०, पृ०स० - 40

2. योनिमुद्रा –करद्वयस्य कनिष्ठे परस्परं बद्ध्वा, उभयहस्तस्य तर्जन्यनामिकानामपि अन्योन्यमन्वयित्वा मध्यमाङ्गुलीभ्यां सह अनामिके संश्लिष्य, मध्यमाङ्गुल्यौ विस्तारयेत्। अन्ते च अङ्गुष्ठद्वयं परस्परं न्यसेत्। एवं योनिरूपेयं मुद्रा योनिनाम्ना प्रसिद्ध्यते। अस्यैव प्रकारान्तमपि वर्त्तते महायोनिमुद्रेति। उच्यते च –

मिथः कनिष्ठिके बध्वा तर्जनीभ्यामनामिके।

अनामिकोर्ध्वसंश्लिष्टे दीर्घमध्यमयोरथ॥

अङ्गुष्ठागुद्वयं न्यसेद्योनिमुद्रेयमीरिता॥[4]

3. त्रिशूलमुद्रा – अङ्गुष्ठेन कनिष्ठां बद्ध्वा शेषाङ्गुलित्रयम् सम्यक् प्रसारयेत्। इत्थं त्रिशूलवदाकृतिः निर्मीयते, अतः त्रिशूलमुद्रेति विचक्षते। एतदेव शास्त्रे श्रूयते, यत् –

अङ्गुष्ठेन कनिष्ठान्तु बद्ध्वा शिष्टाङ्गुलित्रयम्।

प्रसारयेत्त्रिशूलाख्या मुद्रैषा परिकीर्त्तिता॥[5]

4. खट्वाङ्गमुद्रा – दक्षिणहस्तस्य पञ्चाङ्गुल्यः संयुज्य प्रसारयेत्। एषा खट्वाङ्गस्वरूपा मुद्रा शिवप्रियाऽपि वर्त्तते। तदेव प्रोक्तम् –

पञ्चाङ्गुल्यो दक्षिणास्तु मिलिता द्वयूर्द्ध्वमूर्द्धता।

खट्वाङ्गमुद्रा विख्याता शिवस्यातिप्रिया मता॥

5. डमरुमुद्रा – दक्षिणकरस्य मुष्टिमीषच्छिथिलं बद्ध्वा मध्यमाङ्गुलिमुत्थापयेत्। तदनु दक्षिणकर्णपर्यन्तमुत्थाय तत्र शनैः शनैः प्रचालयेत्।

मुष्टिञ्च शिथिलां बद्ध्वा ईषदुच्छितिमध्यमाम्।

दक्षिणातूर्द्ध्वमुत्तोल्य कर्णदेशे प्रचालयेत्॥

एषा मुद्रा डमरुका सर्वविघ्नविनाशिनी॥[6]

---

[4]बृ०ता०मु०म०, पृ०स० - 41

[5]बृ०ता०मु०म०, पृ०स० - 42

[6]बृ०ता०मु०म०, पृ०स० - 49

5.1.2 शाक्तसम्प्रदाये मुद्राणां स्वरूपम्

शरीरस्थकुण्डलिनीशक्तिजागरणायशाक्तग्रन्थेषु यौगिकमुद्राणां क्वचित्साङ्केतिक-रूपेण क्वचित्स्पष्टतया वर्णनं दरीदृश्यते। देवीभागवतेऽपि विभिन्नप्रकरणेषु यौगिकमुद्राणां नामोल्लेखनपूर्वकयोगानु-ष्ठानस्योद्धरणानि प्राप्यन्ते। परन्तु अत्रापि हस्तमुद्रारेव प्राधान्येन व्याचक्षन्ते। तथा चशाक्तसम्प्रदाये शक्तिस्वरूपायाः भगवत्याः प्रायः प्रत्यवतारं मुद्राणां भेदाः दृश्यन्ते, यथा दुर्गायाः मुद्रासु – पाश-अङ्कुश-वर-अभय-खड्ग-चर्म-धनुः-शर-मुशल-दुर्गेतिभेदात् दश मुद्राः प्रसिद्धाः। एवं भगवत्याः लक्ष्मीमुद्रा, महासरस्वत्याश्च अक्ष-वीणा-व्याख्यान-पुस्तक-वरमुद्राः ख्यातिं प्राप्नुवन्ति। अस्मिन्नेव क्रमे त्रिपुरासुन्दरी-मुद्रारूपेण सर्वसङ्क्षोभिणी-सर्वविद्राविणी-सर्वाकर्षिणी-सर्ववशङ्करी-उन्मादिनी-सर्वमहाङ्कुशा-खेचरी-बीज-प्रथमयोनि-त्रिखण्डामुद्राश्चेति सन्ति। अन्यासां देवीनां महयोनि-मुण्ड-भूतिनी-धूमिनी-लोलिहेति मुद्राः प्राप्यन्ते। गायत्र्यादेव्यास्तु चतुर्विंशति मुद्राः भवन्ति, ताश्च सुमुख-सम्पुट-वितत-विस्तृत-द्विमुख-त्रिमुख-चतुर्मुख-पञ्चमुख-षण्मुख-अधोमुख-व्यापकाञ्जलिक-शकट-यमपाश-ग्रथित-सम्मुखोन्मुख-प्रलम्ब-मुष्टिक-मत्स्य-कूर्म-वराहक-सिंहाक्रान्त-महाक्रान्त-मुद्गर-पल्लवमुद्राः। अत्र पञ्च प्रसिद्धमुद्राः विवृणुते –

1. सर्वसङ्क्षोभिणीमुद्रा – मध्यमाङ्गुल्यौ मध्ये मेलयित्वा, अङ्गुष्ठकनिष्ठाङ्गुल्यः सम्मेल्य, तर्जनीमुत्थाय, अनामिकाञ्च मध्यमोपरि संस्थापयेत्। अस्या एव क्षोभमुद्रा, सर्वसङ्क्षोभकारिणीमुद्रेति च अनर्थान्तरं वर्त्तते। तदेवोक्तम् –

मध्यमां मध्यमे कृत्वा कनिष्ठाङ्गुष्ठरोधिते।
तर्जन्यौ दण्डवत्कृत्वा मध्यमोपर्यनामिके॥
क्षोभाभिधाना मुद्रेयं सर्वसङ्क्षोभकारिणी॥[7]

[7]बृ॰ता॰मु॰म॰, पृ॰स॰ - 71

2. सर्वाकर्षिणीमुद्रा – तर्जनीमध्यमानामिकाकनिष्ठाङ्गुल्यः समे कृत्वा मध्यमाङ्गुल्यौ अङ्गुशाकारं कृत्वा, अङ्गुष्ठं कनिष्ठानामिकाभ्यां सह संयुज्य मुद्रेयं धारयेत्। अनया त्रिलोकाराकृष्यन्ते, तस्मात् आकर्षणरूपधर्म्मवत्त्वात् आकर्षिणीमुद्रेति प्रख्यायते।तदेवोक्तं शास्त्रेषु –

मध्यमातर्जनीभ्याञ्च कनिष्ठानामिके समे।

अङ्कुशाकाररूपाभ्यां मध्यमे परमेश्वरीम्॥

अङ्गुष्ठन्तु नियुञ्जीत कनिष्ठानामिकोपरि।

इयमाकर्षिणीमुद्रा त्रैलोक्याकर्षणे क्षमा॥[8]

3. सर्ववशङ्करीमुद्रा –हस्तद्वयं मेलयित्वा, परिवर्त्तनक्रमेण सम्पुटीकृत्य, ततः तर्जनीमङ्कुशाकारे संस्थाप्य, मध्यमाकनिष्ठानामिकाश्चापि तथैव संयुज्य अङ्गुष्ठाग्रभागतः सर्वाः बन्धयेत्। मुद्रेयं सर्ववश्यकरीत्यपि नाम्ना प्रसिद्ध्यति। उक्तञ्च –

पुटाकारौ करौ कृत्वा तर्जन्यावंकुशाकृती।

परिवर्त्तक्रमेणैव मध्यमे तदधोगते॥

क्रमेण देवि तनैव कनिष्ठानामिकादयः।

संयोज्यानिविद्राः सर्वाः अङ्गुष्ठावग्रदेशतः॥

मुद्रेयं परमेशानिसर्ववश्यकरी मता॥[9]

4. खेचरीमुद्रा – वामकरं दक्षिणे, दक्षिणकरञ्च वामे कृत्वा कनिष्ठानामिका-मध्यमातर्जन्यङ्गुल्यः क्रमेण संयोजयेत्।

एषैव सर्वोत्तममुद्रा वर्त्तते। श्रूयते च –

---

[8]बृ॰ता॰मु॰म॰, पृ॰स॰ - 73

[9]बृ॰ता॰मु॰म॰, पृ॰स॰ - 74

सव्यं दक्षिणहस्ते तु सव्यं हस्ते तु दक्षिणम्।

बाहुं कृत्वा महादेवि हस्तौ सम्परिवर्त्तयेत्॥

कनिष्ठानामिके देवि युक्ता तेन क्रमेण च।

तर्जनीभ्यां समाक्रान्ते सर्वोर्ध्वमणि मध्यमे॥

अङ्गुष्ठौ च महादेवि सरलावपि कारयते।

इयं सा खेचरीमद्रा मुद्रा सर्वोत्तमोत्तमा॥[10]

5. प्रथमयोनिमुद्रा –मध्यमाङ्गुल्यौ कुटिलीकृत्य तर्जन्युपरि स्थापयेत्, एवम् अनामिकां मध्यमोपरि, कनिष्ठिकामपि अनामिकायारुपरि स्थापयेत्। सर्वाः एकत्रीकृत्य अङ्गुष्ठे पीडयेत्। शास्त्रेष्वुपलभ्यते च –

मध्यमे कुटिले कृत्वा तर्जन्युपरि संस्थिते।

अनामिका मध्यगते तथैव हि कनिष्ठिके॥

सर्वा एकत्र संयोज्य अङ्गुष्ठपरिपीडिता।

एषा तु प्रथमामुद्रा योनिमुद्रेति सञ्ज्ञिता॥[11]

---

[10]बृ०ता०मु०म०, पृ०स० - 77

[11]बृ०ता०मु०म०, पृ०स० - 79

5.1.3 वैष्णवसम्प्रदाये मुद्राणां स्वरूपम्

अस्मिन् सम्प्रदाये योगानुष्ठानं प्राप्यते, परञ्च प्रायोगिकमुद्राणां प्रायो वर्णनाभाव एव अस्ति। हस्तमुद्राणान्तु वैपुल्येन दर्शनं भवति। अत्रवैष्णवसम्प्रदाये प्राय एकोनविंशतिमुद्राः प्रसिद्धाः सन्ति –

एकोनविंशतिर्मुद्रा विष्णोरुक्ता मनीषिभिः।
शङ्खचक्रगदापद्मवेणुश्रीवत्सकौस्तुभाः॥
वनमाला तथा ज्ञानमुद्रा बिल्वाह्वया तथा।
गरुडाख्या परामुद्रा विष्णोः सन्तोषदायकाः॥
नारसिंही च वाराही हयाग्रैवी धनुस्तथा।
बाणमुद्रा ततः परशुजगन्मोहिनिका च सा॥[12]

तथा च शङ्खमुद्रा, चक्रमुद्रा, गदामुद्रा, पद्ममुद्रा, वेणुमुद्रा, श्रीवत्समुद्रा, कौस्तुभमुद्रा, वनमालामुद्रा, ज्ञानमुद्रा, बिल्वमुद्रा, गरुडमुद्रा, नारसिंहीमुद्रा, वाराहीमुद्रा, हयग्रैवीमुद्रा, धनुर्मुद्रा, बाणमुद्रा, परशुमुद्रा, जगन्मोहिनीमुद्रा, काममुद्रा चेति विख्यायन्ते। अत्र जगन्मोहिन्यारपरनाम त्रैलोक्यमोहिनीमुद्रेति वर्त्तते, एवञ्च परामुद्राया अनर्थान्तरमेव काममुद्रेति। ग्रन्थान्तरेषु घण्टामुद्राऽपि वैष्णवमुद्राणामन्तर्भूयते। अत्राहं मुख्यानां पञ्चमुद्राणामेव विशदं वर्णनं प्रस्तौमि।

1. शङ्खमुद्रा – दक्षिणहस्तस्य मुष्ट्यां वामाङ्गुष्ठं संस्थाप्य ऊर्ध्वीकृत्य दक्षिणहस्तस्य अङ्गुष्ठं प्रसारयेत्। ततो वामहस्तस्य शिष्टारङ्गुल्यः प्रसार्य्य दक्षिणाङ्गुष्ठं स्पृशेत्। एवं कृते सति शङ्खाकृतिं हस्तयोः दृश्यते। तदेवोक्तम् –

[12] बृ॰ता॰मु॰म॰, पृ॰स॰ - 17

वामाङ्गुष्ठं तु सङ्ग्राह्य दक्षिणेन तु मुष्टिना।

कृत्वोत्तानां ततो मुष्टिमङ्गुष्ठं तु प्रसारयेत्॥

वामाङ्गुल्यस्तथाश्लिष्टाः संयुक्ताः स्युः प्रसारिताः।

दक्षिणाङ्गुष्ठसंस्पृष्टा मुद्रैया शङ्खं मुद्रिका॥[13]

2. चक्रमुद्रा – हस्तद्वयं सम्मुखीकृत्य नताङ्गुलीभिः सह कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ स्पृशेताम्, तदा चक्राकाराकृतिः प्रादुर्भवति, तदर्थं चक्रमुद्रेत्यभिधीयते। एतत्स्वरूपमेवोक्तम् –

हस्तौ च सम्मुखी कृत्वासन्नतप्रोथिताङ्गुली।

तलान्तर्मिलिताङ्गुष्ठौ सुभग्नौ सुप्रसारितौ।

कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ लग्नौ मुद्रैषा चक्रसञ्ज्ञिका॥[14]

3. गदामुद्रा – हस्तद्वयमपि अभिमुखीकृत्य अङ्गुलीः परस्परान्वयित्वा, हस्तद्वयोः अङ्गुष्ठौ हस्तमध्ये संयुज्य प्रसारयेत्। तथा च गदाकृतित्वात् गदामुद्रेत्यभिधीयते। उक्तञ्च –

अन्योन्याभिमुखौ हस्तौ कृत्वा तु ग्रथिताङ्गुलीः।

अङ्गुष्ठमध्यमे भूयः संलग्ने सम्प्रसारिते॥

गदामुद्रेयं मुदिता विष्णोः सन्तोषवर्द्धिनी॥[15]

4. पद्ममुद्रा – हस्तद्वयमभिमुखीकृत्य अङ्गुलीः पृथक् पृथक् ऊध्वमुखीकृत्य प्रसारयेत्, पुन अङ्गुष्ठयोः तलान्तं संयुज्य पद्माकृतिं कुर्यात्। पद्मस्वरूपकारणात् पद्ममुद्रेति कथ्यते। इत्थञ्च प्राप्यते –

हस्तौ तु सम्मुखौ कृत्वा संहतप्रोन्नताङ्गुलीः।
तलान्तर्मिलिताङ्गुष्ठौ कृत्वैष्णपद्ममुद्रिका॥[16]

---

[13]बृ॰ता॰मु॰म॰, पृ॰स॰ - 18

[14]बृ॰ता॰मु॰म॰, पृ॰स॰ - 19

[15]बृ॰ता॰मु॰म॰, पृ॰स॰ - 20

[16]बृ॰ता॰मु॰म॰, पृ॰स॰ - 21

5. वेणुमुद्रा –वामहस्ताङ्गुष्ठम् ओष्ठे संस्थाप्य तत्कनिष्ठया दक्षिणकराङ्गुष्ठं स्पृशेत्, एवञ्च कनिष्ठा प्रसार्य्य, उभयहस्तयोः तर्जनीमध्यमानामिकाङ्गुलीः किञ्चित् सङ्कोच्य मन्दं मन्दञ्चालयेत्। एषा विष्णुप्रिया मुद्रा अस्ति, अतो गोप्याऽपि वर्त्तते। अस्या एव मुद्राया अपरं नाम वंशीमुद्रेति वर्त्तते। तदेव विवृणुते श्लोकेऽस्मिन्–

ओष्ठे वामकराङ्गुष्ठे लग्नस्तस्य कनिष्ठिके।
दक्षिणाङ्गुष्ठसंसर्गात्तत्कनिष्ठा प्रसारिता॥
तर्जनी मध्यमानामाः किञ्चित्सङ्कोच्य चालिताः।
वेणुमुद्रा भवेदेषा सुगुप्ता प्रेयसी हरेः॥[17]

मुद्रासारणी

क्र०स०	**शिवमुद्राः**	लिङ्ग-योनि-त्रिशूल-अक्षमाला-वर-अभय-मृगी-खट्वाङ्ग-कपाल-डमरुमुद्राश्च।
1.	**विष्णुमुद्राः**	शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-वेणु-श्रीवत्स-कौस्तुभ-वनमाला-ज्ञान-बिल्व-गरुड-नारसिंही-वाराही-हयग्रैवी-धनुष्-बाण-परशु-जगन्मोहिनी-काममुद्राश्च।
2.	**दुर्गामुद्राः**	पाश-अङ्कुश-वर-अभय-खड्ग-चर्म-धनुः-शर-मुशल-दुर्गामुद्राश्च।
3.	**भगवतीमुद्राः**	लक्ष्मीमुद्रा
4.	**महासरस्वतीमुद्राः**	अक्ष-वीणा-व्याख्यान-पुस्तक-वरमुद्राश्च।
5.	**त्रिपुरासुन्दरीमुद्राः**	सर्वसङ्क्षोभिणी-सर्वविद्राविणी-सर्वाकर्षिणी-सर्ववशङ्करी-उन्मादिनी-सर्वमहाङ्कुशा-खेचरी-बीज-प्रथमयोनि-त्रिखण्डामुद्राश्च।
6.	**गायत्रीमुद्राः**	सुमुख-सम्पुट-वितत-विस्तृत-द्विमुख-त्रिमुख-चतुर्मुख-पञ्चमुख-षण्मुख-अधोमुख-व्यापकाञ्जलिक-शकट-यमपाश-ग्रथित-सम्मुखोन्मुख-प्रलम्ब-मुष्टिक-मत्स्य-कूर्म-वराहक-सिंहाक्रान्त-महाक्रान्त-मुद्गर-पल्लवमुद्राश्च।
7.	**अन्यदेवीमुद्राः**	महयोनि-मुण्ड-भूतिनी-धूमिनी-लोलिहेति मुद्राश्च।

[17]बृ०ता०मु०म०, पृ०स० - 22

5.2 सामान्यमानवजीवने मुद्राणामौचित्यप्रदर्शनम्

मानवजीवनमत्यन्तविशिष्टं वर्त्तते। अस्मिन् जीवने जीवात्मनः परमात्मना सह अपरोक्षानुभूतिपूर्वकमैक्यं प्राप्तुं शक्यन्ते। अन्तःकरणस्य व्यवस्थितविकासस्थितिरस्मिन् जीवने एव सम्पद्यते। प्राणानां भौतिकाध्यात्मिकदृष्ट्या अद्भुतविस्तारोऽत्रैव दृश्यते। मानवजीवने एव भुक्तिमुक्तिकयोः स्थितिः सम्पद्यते। अस्मिन्नैव बहिर्विकासस्योदात्तत्वम् एवञ्च अन्तर्विकासस्य पूर्णत्वं सम्भाव्यते। मनोबुद्धिविशिष्टदिव्यभावानां लौकिकपारलौकिकदृष्ट्या प्रकृष्टत्वमत्रैव सञ्जायते। ज्ञानवैराग्यादिदिव्यगुणानुधानेन अस्मिन् जीवने एव दृष्टजगतः पारं गन्तुं सामर्थ्यमुत्पद्यते। प्रायः सर्वेषां सनातनपरम्पराविशिष्टग्रन्थानामयमुद्घोषो वर्त्तते यत् मानवजीवनमत्यन्तदुर्लभं मोक्षकपाटोद्घोटनायापूर्वसाधनञ्च।

अयन्तु परमो धर्मो यत्योगेनात्मदर्शनमिति स्मृतिवचनप्रमाणत्वात्मानवजीवने योगस्य महत्त्वं परिलक्ष्यते। परमधर्मप्राप्तये नैकाः योगशास्त्रीयग्रन्थाः योगाचार्यपरम्पराश्च हिरण्यगर्भतः प्रारम्भादद्यावधिपर्यन्तं वर्द्धमानाः सन्ति। सर्वासु योगपरम्परासु आचार्या एकस्वरेण योगशास्त्रोक्तमुद्राविषकात्यन्तगहनदिव्यमार्गं प्रति गमनाय स्वसाधकाननुमोदयन्ति।

शैवशाक्तवैष्णवबौद्धजैनादिषु योगपरम्परासु मुद्राविषयकव्यापकसाहित्यं परिदृश्यते। सर्वे आचार्याः मुद्राणां प्रयोगेन स्वात्मशुद्धिविषयकाप्रतिहतभावानामनवच्छिन्नप्रेरणायाः उदये विचित्राद्भूतशक्तिमनुभूयन्ते। प्रस्तुतप्रकरणे सर्वेषु मानवजीवनेषु मुद्रा कथं प्रभावं दातुं शक्यते, केन विधिना शारीरिकमानसिकात्मिकस्तरेषु मुद्राया अवलम्बनं साफल्यमर्हतीति विशिष्टलोकोपयोगिप्रश्नानामत्र शास्त्रीयवैज्ञानिकप्रमाणरीत्या प्रदर्शनं विधीयते। सर्वप्रथमं शारीरिकस्तरमधिकृत्य प्रमुखदशमुद्रापरिप्रेक्ष्ये विचार्यते-

5.2.1 शारीरिकस्तरे मुद्राणामौचित्यम्

मानवशरीरमत्यन्तमद्भुतं वर्त्तते। अस्मिन् शरीरे भौतिकविकासं प्रति यथा गतिः दृश्यते तद्वद् एव अदृश्यान्तरिकमनोबुद्ध्यविद्यापारगमनाय सामर्थ्यमपि वर्त्तते। मनः प्राणानामव्यक्तवस्थावशाद् शरीरे बहुरोगाः समायान्ति। तेषां रोगाणां शमनं योगायुर्वेदरीत्या सर्वासु लौकिकपरम्परासु दरीदृश्यते अनादिकालतः। रोगादिशमनाय, तेज आदिदिव्य-गुणवर्धनाय च योगशास्त्रे मुद्राणां प्रयोगः प्राप्यते। सम्प्रति, क्रमशः प्रमुखदशमुद्राद्वारा रोगनाशनं शास्त्रप्रमाणरीत्या सारिण्यां प्रस्तूयते –

शारीरिकरोगोपशमने मुद्राणां प्रभावः

मुद्राभिधानम्	निश्चितमुद्राप्रयोगद्वारा शारीरिकरोगाणामुपशमनम्
1. महामुद्रा	सर्वविधान्नं पच्यते, क्षयरोगः, कुष्ठगुदावर्तगुल्माः, अजीर्णरोगाश्च नश्यन्ते।(ह०प्र०)महामुद्रायाः साधनेन क्षयकासं, गुदावर्त्तं, प्लीहाजीर्णज्वरं, सर्वरोगांश्च नाशयेत्।(घे०सं०)
2. महाबन्धमुद्रा	शरीरपुष्टिः देहास्थिपञ्जरे दृढत्वं सम्पद्यते (शि०सं०)
3. महावेधमुद्रा	जरया चर्मसङ्कोचः, जरसा केशेषु शौक्ल्यं, कम्पश्च एतान् हन्तीति (ह०प्र०)
4. खेचरीमुद्रा	सर्वरोगो नश्यते (ह०प्र०), दिव्यदेहः स जायते (घे०सं०)
5. उड्डीयानबन्धः	वृद्धोऽपि तरुणायते (ह०प्र०), रोगाणां सङ्क्षयः (शि०सं०)
6. मूलबन्धः	युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् (ह०प्र०), जठराग्निः प्रदीप्यते (ह०प्र०), जराविनाशिनी (घे०सं०)
7. जालन्धरबन्धः	कण्ठदुःखौघनाशनः (ह०प्र०)
8. विपरीतकरणीमुद्रा	जठराग्निविवर्धिनी, वलितं पलितञ्च नश्येते (ह०प्र०)
9. वज्रोली	बिन्दुसिद्धिर्भवेत् (शि०सं०)
10. शक्तिचालनमुद्रा	तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते, द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम्भवति। (ह०प्र०), आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणाञ्च विनाशनम् (शि०सं०)

5.2.2 मानसिकस्तरे मुद्राणामौचित्यम्

प्रस्तुतप्रकरणे मनोयोगस्य विस्तारो विलिख्यते। मनस्स्थितिः कस्मिन्नपि कार्यसम्पादने प्रामुख्यं भजते। प्रायः सर्वेषु भारतीयपाश्चात्यदर्शनेषु मनोविषयकविचाराः दरीदृश्यन्ते। भारतीयदर्शने मनःपृथक्त्वेन गृह्यते, परञ्च पाश्चात्याः मनो देहाश्रितमेव मन्यन्ते। ते वदन्ति – शरीरक्रियाप्रभावाद् मनोऽपि चरति। मनस्स्वातन्त्रता नैवास्ति। ते मनोविज्ञाने मनो मस्तिष्कस्य क्रिया अथवा कार्यं स्वीकुर्वन्ति, क्रियातिरिक्तं मनसः सत्ता नैवाङ्गिक्रियते। तेषां मते मानसिकारोग्यताप्राप्तये मनोरञ्जनमेव परमसाधनम्।

अस्माकं परम्परायाम् अनतःकरणचतुष्टये मनसः ग्रहणं दृश्यते। मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि अन्तःकरणचतुष्टयशब्देन व्यवह्रियते। मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकं वर्त्तते। ज्ञानक्रियोभयात्मककेन्द्रिययोः मनः परिगण्यते। अस्मदीयपरम्परायां प्राणनियन्त्रणेन मनो नियन्त्रयते इति सिद्धान्तः प्रसिद्धः। प्राणनियन्त्रणकार्ये योगशास्त्रोक्तमुद्राणां विशिष्टस्थानं वर्त्तते। शारीरिकरोगशमनपूर्वकमनसोरपि एतासां मुद्राणां प्रभावो वर्त्तते। तत्र मुख्यकारणं वर्त्तते प्राणगतिर्न्यूनत्वम्। एतासां मुद्राणां कथं मानसिकस्तरे प्रभावो वर्त्तते तस्यैव सारण्यां क्रमशो दशमुद्राणां प्रभावो विलिख्यते –

मुद्राणां मानसिकस्तरीयप्रभावः

मुद्रानाम	मानसिकस्तरीयप्रभावः
1. महामुद्रा	महाक्लेशा अर्थात् अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः, शोकमोहादिदोषाश्च क्षीयन्ते, इयं महासिद्धिकरा (ह०प्र०), वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम्, वाञ्छितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणं सम्पद्यते (शि०सं०)
2. महाबन्धमुद्रा	महासिद्धिप्रदायिका (ह०प्र०), सिद्धिमार्गप्रदायिका, आनन्दप्रदायिका, सर्वार्थसाधिका च भवति। (शि०सं०) साधयेत् सर्ववाञ्छितम् ।(घे०सं०)
3. महावेधमुद्रा	अभ्यासी मृत्योः न बिभेति (घे०सं०), महासिद्धिदायिका, अणिमादिगुणप्रदायिका चास्ति।(ह०प्र०)
4. खेचरीमुद्रा	अस्यारभ्यासेन योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः विषैः मुच्यते, तं रोगो मरणं तन्द्रा निद्राक्षुधा तृषा मूर्च्छा चन बाधन्ते, कर्मणा न लिप्यते,इन्द्रियजिच्च भवति।(ह०प्र०) सिद्धीनां जननी ह्येषा, स्वस्थचित्तत्वात् ह्यतन्द्रितो भूत्वा पापमहार्णवं तरति,(शि०सं०) समाधिर्जायते ध्रुवम् (घे०सं०)
5. उड्डीयानबन्धः	सिद्धो भवेन्मरुत् (शि०सं०)
6. मूलबन्धः	योगस्य संसिद्धिर्जायते। (ह०प्र०)
7. जालन्धरबन्धः	प्राणवायुः पश्चिमे पथि वाहयेत् (ह०प्र०), पियूषपानाय बन्धोऽयमाचरणीयः, सिद्धानां सिद्धिदायकोऽस्ति। (शि०सं०, घे०सं०)
8. विपरीतकरणीमुद्रा	प्रलये नापि सीदति (शि०सं०, घे०सं०), अभ्यासेनास्याः सिद्धतां याति (शि०सं०)
9. वज्रोलिमुद्रा	कुण्डलिनीं प्रबोध्य, चिरायुः प्रदाय, सर्वं सिद्धिपूर्वकं मुक्तिं विदधाति।(घे०सं०), अयं शुभकरो योगः, सकलसिद्धिपूर्वकं दिव्यदृष्टिः प्रजायते, अतीतानागतज्ञानाय दिव्यदेहप्राप्तये इयं पुण्यकरी मुद्रा सर्वत्र प्रसिद्धा।(ह०प्र०)बिन्दुसिद्धिपूर्वकमियं मुद्रा क्षिप्रं योगो सिद्ध्यति। अनया निखिला सिद्धिः प्राप्यते।(शि०सं०)
10. शक्तिचालनमुद्रा	सर्वशक्तिप्रदायिनी, अणिमादिगुणप्रदायिका (शि०सं०), अनया कुण्डलिनीशक्तिर्जागर्त्ति, प्राणायामसिद्धिर्जायते, मृत्युभयञ्च व्यपहरति(ह०प्र०)

पूर्वोक्तसारण्यां स्पष्टमस्ति यते मुद्राप्रभावात् कथं दिव्याणिमादिसिद्धयः प्रजायन्ते। प्रारम्भिकस्तरे एवाद्भूतस्मरणशक्तिः, प्रज्ञान्नवोन्मेषः, मनः स्थैर्यम्, विषयस्य मर्मोद्घाटनसामर्थ्यञ्च स्वाभाविकमेवोत्पद्यन्ते।

अनिद्रावसादविशादादिमानसिकदोषानामुपशमने मुद्राणां विशिष्टप्रभावो दरीदृश्यते। आधुनिकयोगे पूर्वोक्तमानसिकसमस्यानां निदाने व्यापकस्तरे योगस्य प्रयोगो वरीवर्त्ति। प्राणायामासनयोर्व्यवस्थितानुपालनेन यत् साफल्यं मानसिकक्लेशे दृश्यते तत्सर्वं मुद्राणामनुपालनेन अस्माभिः प्राप्तुं शक्यते।

शारीरिकमानसिकस्तरे मुद्राणां प्रभावो विवेच्य सम्प्रति आत्मिकस्तरे कीदृशाः मुद्राः लाभप्रदाः सन्ति इति विवेच्यते।

5.2.3 आत्मिकस्तरे मुद्राणामौचित्यम्

वेदान्तयोगशास्त्रयोः परमचरमोत्कर्षस्वरूपं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'तिसर्वत्रशब्दान्तरेण प्राप्यते। सर्वेषां दृष्टादृष्टाध्यात्मिकप्रयत्नानां निष्कर्षोऽन्तःकरणशुद्धिः स्वात्मदर्शनञ्चेति। यतोहि मूलरूपेण सर्वमेकाशेषतत्त्वस्यैव विस्तारो वर्त्तते। सर्वेषां द्वन्द्वानामनुभवन-मन्तःकरणविशिष्टचैतन्यस्यार्थात् जीवात्मनो विषयो न तु शुद्धबुद्धचैतन्यस्य। चैतन्यमिति किम्? चैतन्यमात्मा इति शिवसूत्रम्[18]। चेतयते इति चेतनः सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्रः तस्य भावचैतन्यम्। सर्वज्ञानक्रियासम्बन्धमयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यम् उच्यते, एतदेव आत्मा, न पुनः शरीरप्राणबुद्धिशून्यानि लौककाद्यभ्युपगतानि[19]। शरीरे आत्मबुद्धिः, आत्मनि च शरीरबुद्धिः, इदमध्यासात्मकं ज्ञानं बन्धः संसारकारणम्। वस्तुतः शुद्धाहं भावस्य विस्तार एव मोक्षः, यतो हि यत्किमपि अनुभूयते तत्सर्वं मूलरूपतः चैतन्यस्यैव विस्तारः, एकैवात्मनो विस्तार अन्तःकरणवैविध्यात् नैकाः दृश्यन्ते। अस्मिन् परमलक्ष्यविषये योगशास्त्रीयमुद्राः कथं प्रवर्त्तन्ते? कथं मुद्राणामभ्यासो देहात्मबुद्धिनिरसने प्रभावी वर्त्तते? कथं कैवल्यप्राप्तिपुरस्सरं सम्पूर्णनश्वदेहमपि अत्यन्तानन्तचैतन्यरूपे परिवर्त्तते? उक्तप्रश्नात्मकभावापन्नो भूत्वा सामान्यमानवजीवने कियत् प्रकारकाः मार्गाः भवन्ति यानवलम्ब्य स्वविषयक-यथार्थत्वमनुभवितुं शक्यते, इममधिकृत्य योगशास्त्ररीत्यात्मिकस्तरे मुद्राणां प्रभावो विलिख्यते–

पूर्वोक्तानुसन्धानितसिद्धान्तानामाडोलनेन मुद्राणां सर्वविधकल्याणे विशिष्टप्रभावो वर्त्तते इति सिद्ध एव। आत्मिकस्तरे कथं मुद्राः प्रवर्त्तन्ते इति समुपस्थितो मुख्यप्रश्नः?

अत्रात्मिकस्तरेण स्वस्वरूपस्य विस्तार इति मुख्याशयः। स्वस्वरूपविस्तारे शारीरिक-मानसिकदोषाणां निरसनं प्रारम्भिकसोपानम्। पूर्वे एव स्पष्टितम्। वस्तुतः आवरणक्षयेन

[18]शि॰सू॰, उ॰स॰ – 1, सू॰स॰ - 1
[19]शि॰सू॰ वृ॰टी॰, सू॰स॰ - 1

यथावरणाधीनवस्तूपलब्धिः स्वयमेव सम्पद्यते तद्वदेव शारीरिकमानसिकसीमानां क्षरणेन स्वयमेवात्मिकस्तरीयविस्तारः प्रपद्यते। मुद्राणां पारम्परिकाभ्यासेन यदा साधके देहमनोबुद्ध्यहङ्कारात्मकावरणानि लीयन्ते तर्हि स्वाभाविकचैतन्य-तत्त्वोपलब्धिः सम्पद्यते। प्राणमनसो विशिष्टपरस्पराश्रयभावस्य अनुभवपूर्वकं नियन्त्रणमुत तयोः सीमाभेदन-मात्मिकस्तरे प्रवेशस्य प्रथमचरणं वर्त्तते। इतः प्रारभ्यते अन्तर्जगति गतिः। इयमेव सुषुम्नायां प्रवेशः, एतद्भिन्नं सर्वं कार्यम् एतदर्थमेवास्ति।देहात्मबुद्धिनिरसने मुद्राणां प्रभावस्य हेतुः प्राणमनोबुद्धिमध्येऽत्यन्तसूक्ष्मसम्बन्धस्य निरसनं वर्त्तते। यदा प्राणविशिष्टमनोबुद्धितत्त्वानां भेदनं प्रारभ्यते तदा स्वयमेव पुण्यपापादिद्वन्द्वानां क्षयो जायते। भेदत्वात् कर्मफलं नोत्पद्यते, कर्मफलराहित्यत्वात् चैतन्यभावोपलब्धिः आविर्भूयते। सम्प्रति सारण्याम् आत्मिकस्तरीयोत्थानस्य प्रमाणं प्रस्तूयते –

मुद्राणामात्मिकस्तरीयप्रभावः

मुद्रानाम	आत्मिकप्रभावाः
1. महामुद्रा	मरणादीनां क्षयः(ह०प्र०), जरामृत्यवोः विनाशनञ्च जायते।(शि०सं०)
2. महाबन्धमुद्रा	
3. महावेधमुद्रा	जरामृत्युविनाशनम् (ह०प्र०), वायुसिद्धिः, जरामरणनाशनम्, मृत्युञ्जयित्वञ्च जायन्ते (शि०सं०)। मृत्योः भयोऽपि नश्यते (घे०सं०)।
4. खेचरीमुद्रा	व्याधिमृत्युजरादिभिः विषैश्च मुच्यते, कर्मणा न लिप्यते, मृत्युं जयति, अमरत्वं प्राप्नोति, सुषिरं ज्ञानञ्च जायते (ह०प्र०)।
5. उड्डीयानबन्धः	मृत्युञ्जयति (ह०प्र०, शि०सं०), मुक्तिञ्च प्राप्नोति (ह०प्र०, घे०सं०)।
6. मूलबन्धः	योगस्य संसिद्धिः, कुण्डलिन्याः जागरणम् (ह०प्र०), जरामरणनाशनम् (शि०सं०), संसारसागरतरणम् (शि०सं०, घे०सं०)
7. जालन्धरबन्धः	जरामृत्यू नश्यतः (ह०प्र०), पीयूषपानं करोति, अमरत्वं प्राप्य मोदते (शि०सं०), मुत्युक्षयो जायते च (घे०सं०)।
8. विपरीतकरणीमुद्रा	अस्याः नित्याभ्यासेन कालजिद्भवति, मृत्युञ्जयति (शि०सं०, घे०सं०), न जरायते च (घे०सं०)
9. वज्रोलिमुद्रा	सिद्धिं भजते, भोगयुक्तोऽपि मुक्तिं प्राप्नोति, दिव्यदृष्टिर्जायते (ह०प्र०), संसारध्वान्तं नशति, दिव्यदेहं प्राप्नोति (शि०सं०)। मुक्तिकारिका, सर्वसिद्धिदा चाऽस्ति (घे०सं०)।
10. शक्तिचालनमुद्रा	मोक्षद्वारभेदिका, कुण्डलिनीबोधिका, मुत्युभयापहारिका, कालजिच्चाऽस्ति (ह०प्र०)।

पूर्वोक्तसम्पूर्णप्रामाणिकविवेचनेनायं स्पष्टो दरीदृश्यते यत्, इदं शरीरमपि दिव्यं भवितुमर्हति। दिव्यता मानवजीवनस्य चरमोत्कर्षेति मन्ये। दिव्यदेहप्रकरणे दिव्यदेहस्य स्वरूपम्, औचित्यादिं वैशिष्ट्येन प्रदर्शितम्। तत्रैवायं विषयो द्रष्टव्यः। आत्मिकोत्थानस्यादर्शाः भारते बहवः साधवः सन्ति तेषामनुगमनमेव 'महाजनो येन गताः सपन्थः' इत्यादिवचनस्य सार्थक्यम्। सर्वेषां कृते सदैवानुपालितव्यः।

*****

षष्ठोऽध्यायः– मुद्राविषयकभ्रमनिरसनम्, फलश्रुतियथार्थत्वञ्च

लोके धनमानप्राप्तये सिद्धैः सेवितमुद्राणामत्यन्तहासपूर्णं स्वरूपं प्रायः सर्वत्रैव परिदृश्यते। अबोधजनैः भ्रमपूर्णमुद्रास्वरूपे कालव्ययेन योगेऽश्रद्धावर्द्धनत्वात् समाजे निकृष्ट-मानसिकानां प्राबल्यमनुभूयते। क्वचित्तु खेचरीवज्रोलीशाम्भवीमुद्रानाम्नि सरलजिज्ञासूनां कुमार्गाभिगमनमपि हृदयं विदीर्यते। एतदर्थं शङ्कासमाधानरीत्या भ्रमान् निरस्यते। अनेन सह लोके शास्त्रोक्तफलश्रुतीनां विषयेऽपि अश्रद्धा परिदृश्यते, शास्त्रे श्रद्धाविधानाय अस्मिन्नाध्याये फलश्रुतेः यथार्थत्वप्रतिपादनञ्च विधीयते।

6.1 मुद्राविषयकभ्रमाणामुद्घाटनम्, शमनञ्च

प्रायो विभिन्नयौगिकसम्प्रदायेषु देशकालपरिस्थितिवशादुत्पन्नप्रयोगप्रक्रियायां परिवर्त्तनेन तथा च केवलमन्धानुकरणेन विभिन्नप्रकारकवाचिकमानसिकभ्रमाणामुत्पत्तिर-भवत्। विवेकवैराग्यशून्यत्वात् केवलक्रियाया अनुष्ठीयमानेनाहम्भावः समापोषयत्, तर्हि यथा विपरीतमार्गे गमनेन गन्तव्यप्राप्तौ विलम्बाधिक्यो जायते, तथैव योगमार्गेऽहम्भावपूर्वक-कृत्कार्य्येणान्तःकरणमलीनत्वात् स्वरूपोपलब्धिरपि न दृश्यते। अत एव सर्वेषु योगग्रन्थेषु गुरुचरणचञ्चरीको भूत्वा योगमाचरेत् इति सिद्धान्तः प्राप्यते।

वस्तुतः क्रियायाः दृश्यस्वरूपादधिकान्तरिकस्वरूपस्य प्रामुख्यं वर्त्तते। केवलक्रिया-चरणेन यदि शास्त्रोक्तफलश्रुतेः प्राप्तिर्जायते तर्हि सर्वे एव मुक्तो भूत्वा आनन्दयिष्यन्ते, परञ्चेत्थं न दृश्यते। अपितु दीर्घकालाभ्यासेऽपि स्वस्वरूपोपलब्धिर्नैव जायते बहुकारणत्वात्।

देहमेकमनुसन्धानक्षेत्रमस्ति, निखिलसंसारे सर्वे जीवाः स्वस्वरीत्यानन्दप्राप्तये नैकविधिना शरीराश्रित्य क्रियाः विधीयन्ते। ये सूक्ष्ममेधावन्तः सन्ति ते शरीराद्भिन्नमनो-बुद्धिमधिकृत्य प्रयत्यन्ते। ते एतच्छ्रेष्ठतराः सन्ति ते शरीराद्भिन्नमनोबुद्धिप्राणान् प्रति प्रयोगरीत्या युज्यन्ते। इतो योगस्य मार्गं प्रति यथार्थभावानां स्थितिरुत्पद्यते। एतत्पूर्वं सर्वे

श्रेष्ठतराणां जीवानां मर्कटवत् अनुगमनं कुर्वन्ति। इदं मर्कटवदनुकरणमेव प्रारम्भिकभ्रमाणां हेतुः वर्त्तते। तस्य क्रमिकस्वरूपं विलिख्यते –

(1) प्रारम्भे विवेकवैराग्यविरहेऽपि योगस्याङ्गविशेषासनादिपक्षाणामनुष्ठातॄणां केवलं शारीरिस्वास्थ्यादिप्राप्तये यदनुगमनं वयं विधेमः, कालक्रमेणायमभ्यासरेतद्विषयक-कल्पनामुत्प्रेरयति, अनया कल्पनयास्माभिः विना गुरुशास्त्रादिभिः यत्किमपि वक्तुमिष्यन्ते तत्प्रचारयन्ते। इतो भ्रमस्य प्रारम्भो जायते।

(2) धनमानादिप्राप्तयेऽपि मृदुतर्करहितमेधावन्तेषु स्वकल्पितज्ञानानि भ्रमाश्च प्रचारयन्ते निकृष्टैः। आधुनिकयुगे पूर्वोक्तपक्षद्वयानां प्राबल्यं दृश्यते।

(3) सम्प्रति तानधिकृत्य भ्रमविस्तारपक्षस्य हेतुः प्रस्तूयते ये हृदयश्रेष्ठाः सन्ति, परञ्च तेऽपि भ्रमविस्तारे मुख्यतया परम्परया वा कारणं भवन्ति। उदाहरणेन विचाराः प्रस्तूयन्ते – यथा एकस्साधको नितान्तशान्तैकान्तनिर्जनस्थले स्वसाधनायां निरतः, भोजनादि-सामान्यावश्यकतापूर्त्तये भीक्षादिग्रहणाय कदाचित् ग्रामे समायाति। एकद्वयगृहादन्नं गृहीत्वा पुनः स्वस्थलं प्रत्येति। कालक्रमेण तस्य कीर्त्तिः विस्तर्यते। अस्मिन् कीर्त्तिविस्तारे तस्य साधकस्य कस्या अपि इच्छानेच्छायाः प्रश्नो नैवास्ति, केवलं तस्य विरक्तिभावस्य प्रभावात् तस्मिन् विषये नैकाः अवधारणाः समुत्पद्यन्ते, केचन तं योगी कथयन्ति, केचन तान्त्रिकः, अन्ये मान्त्रिकादयः मन्यन्ते। सम्प्रति केचन बुद्धिवन्तो धनमानादिप्राप्तये तस्य नाम अधिकृत्य दानादिग्रहणं प्रारभ्यन्ते। तस्मिन् नाम्नि स्वेच्छया योगतन्त्रमन्त्रादिं प्रति इतस्ततोऽधीतविषये कञ्चित्कल्पनां संयोज्य समाजे भ्रमाधिक्यं विस्तार्यन्ते। क्वचित्साधका अपि जिज्ञासूनां समाधाने साङ्केतिकोत्तरद्वारा कल्पनां वैविध्यन्ते। जिज्ञासवोऽपि स्वमेधया विषयमधिगम्य स्वदृष्ट्या नैकविधिना समाजे प्रचार्यन्ते। अस्तु, पूर्वोक्तसर्वेषां भ्रमविस्तारकमार्गाणां निष्कर्षो योगपरम्पराशून्यत्वम्, अज्ञानम्, गुरुशास्त्रवैमुख्यञ्च हेतवः सन्ति। सम्प्रति मुख्यतयाधोक्त-मुद्रात्रयाणां विषये लोके व्याप्तभ्रमस्य स्थितिं सम्प्रस्तुत्य तेषां भ्रमाणां निरसनमपि प्रस्तूयते।

6.1.1 खेचरीमुद्रा

अत्र केवलं भ्रमोद्घाटनं शमनञ्च प्रस्तौमि, ये प्रक्रियादिं ज्ञातुमिच्छन्ति ते कृपया पूर्वोक्ताध्यायान् पश्येयुः।

(1) केषुचित् सम्प्रदायेषु जिह्वायाः तालुस्पर्शमेव खेचरीशब्देनाभिधीयते। अत्र योगपरम्परायाः शास्त्रानुशीलनस्य चाभावो हेतुः मन्ये।

(2) क्वचित् सम्प्रदायस्यारम्भे खेचरीमुद्रायाः प्रायोगिकपक्षस्य यथार्थरूपमासीत्। परञ्च कालक्रमेण योग्याधिकार्यभावात् मुद्रायाः साङ्केतिकचालनदोहनात्मकप्रयोगपक्ष एव प्राप्यते। अत्रापि गुरुग्रन्थयोः प्रकृष्टसंयोगो नैव दृश्यते।

(3) क्वचिदाधुनिकाभ्यासिषु जिह्वायाः मुखनासिकासंयोगक्षेत्रे प्रवेशनमेव खेचरीमुद्रायाः पूर्णत्वं भजते। अत्र विवेकवैराग्यशून्यत्वं गुरुशास्त्रयोः राजयोगविषयकसिद्धान्तस्य अनया सह समायोजनशून्यत्वञ्च हेतुः दृश्यते।

(4) क्वचिज्जिह्वायाः मुखनासिकसंयोगक्षेत्रे प्रवेशोऽपि अस्ति, गुरुशास्त्रयोः प्राप्तिरपि अस्ति, तदपि अधिकारिगुणानामभावत्वात् गतिर्न दृश्यते। अत्र लोकादेरेषणा गतिः बाध्यते। लक्ष्यविषयकास्पष्टतापि परमहेतुः।

(5) क्वचित् इदं मतमपि श्रूयते यत्जिह्वायाः कुहरे प्रवेशने यत् किमपि कटुतिक्तकषायादिरसानां प्राप्तिः भवति, तस्य निष्ठीवनं कर्त्तव्यम्। अयं रसः मस्तिष्कस्य निकृष्टतरलतत्त्वानि सन्ति, एतस्य ग्रहणेन शरीरे बहवः रोगाः समुत्पद्यन्ते। इत्थं ते एव कथयन्ति ये पूर्णरूपतो योगशास्त्रेण विमुखाः सन्ति। निश्चितमेवात्र योगशास्त्रीयप्रारम्भिकावधारणानामपि विरहत्वं वर्त्तते, तर्हि गुरुशास्त्रादीनां तु कथनं हि किम्?

(6) केचन सन्ति ये अल्पप्रयासेनैव मुखनासिकासंयोगक्षेत्रे जिह्वां प्रवेशयन्ति, तेऽपि लक्ष्याभावात् पूर्वसंस्कारवशात् लोके भ्रमन्ते।

अत एव पूर्वोक्तसर्वेषां मतानामवलोकनेन कोऽपि ज्ञातुं शक्यते यत् किं कारणं वर्त्तते योगशास्त्रोक्तमुद्राद्यनुष्ठानेऽपि प्रगतिशून्यस्य। वस्तुतो वयं सत्यमार्गे विद्यामहे इति ज्ञानाय स्वस्यानुशीलनं निरन्तरमेव कर्त्तव्यम्।

कानिचन लक्षणानि सन्ति योगमार्गस्य प्रगतेः –

1. गुरुवेदान्तवाक्ययोर्विश्वासः।
2. सेवादानादिकार्ये निस्वार्थेच्छायाः प्रवृत्त्याधिक्यम्।
3. योगशास्त्रोक्तमुद्राणां फलश्रुतौ व्यक्तदिव्यदेहपर्यन्तं महालक्ष्यावधारणा।
4. वेदान्तशास्त्रोक्तसाधनचतुष्टये उत योगशास्त्रोक्तयमनियमादिपालने कालो व्ययति।
5. द्वन्द्वानां विषये चित्ते समत्वमभ्यस्यति।
6. मैत्रीकरणामुदितोपेक्षाविधिभिः सदैवानन्दमनुभवति।
7. लोके यत्किमपि कार्यं करोति तस्मिन् कार्येऽपि मुख्यलक्ष्यं न व्यपोहति।
8. लौकिकधनमानादिप्राप्तये योगानुष्ठानार्थकसमयस्य प्रयोगो न विधीयते।
9. सेवादिकार्यसम्पादनाय कश्चिद् नियमोऽपि विभज्यते।
10. सर्वासु परिस्थितिषु केवलमीश्वरमवलम्ब्यते।

मनोबुद्धिपरिवर्त्तनेन प्राणेषु अन्तर्मुखता सम्पद्यते। उक्तलक्षणानि विना मुद्रायां गतिर्न भवति।

6.1.2 वज्रोलीमुद्रा

इयं मुद्रा सर्वाधिकभ्रमकारिणी अनुभूयते। वस्तुतः शिवप्रियेयं मुद्रात्यन्तरहस्यपूर्णा वर्त्तते। शरीरस्थसूर्यचन्द्रयोः परस्परमेलनमेव एतस्याः यथार्थफलं वर्त्तते। अत्यन्तगुप्तरीत्या शास्त्रेऽभिव्यक्तत्वात् सर्वेषां कृते दुर्बोधेयं मुद्रा। अद्यत्वे योगतन्त्रयोः भोगदृष्ट्या प्रयोगस्य बाहुल्यं दृश्यते। जनाः मूलसिद्धान्तपक्षं विस्मृत्य केवलं देहात्मकबुद्धिवशात् यौवनसुखमेवानन्देति स्वीकृत्य सर्वविधिना तदर्थमेव प्रत्येति।

प्रस्तुतप्रकरणे कथमियं मुद्रा लोके विकृतरूपे प्राप्यते? भ्रमाणां कारणं शमनञ्चोद्देश्य केवलं निष्कर्षः प्रस्तूयते। प्रक्रियाज्ञानाय पूर्वोक्तप्रकरणीयवर्णनं पश्येयुः।

1. केषुचित् सम्प्रदायेषु दीर्घकालिकमैथुनमेव वज्रोलीशब्देनाभिधीयते। प्रायः वाममार्गीयतन्त्रिकाः इत्थं मन्यन्ते। अत्र योगपरम्परायाः शास्त्रानुशीलनस्य चाभावो दृश्यते। ते भोगिनः सन्ति।

2. केचन गृहस्थिनः सन्ति ते शिवसंहितायां 'मुक्तो भवति गार्हस्थो वज्रोल्यभ्यासयोगतः' इति वर्णितवचनत्वात् सुरतविशिष्टप्रक्रियायां संलिप्य बहुरोगवन्तो भवन्ति। अत्रापि गुरुग्रन्थयोरभावो दृश्यते।

3. केचन पाश्चात्याः भोगमानसिकतापूर्वकयोगाश्रित्य मैथुने एव लिप्यन्ते। ते तु सामान्यतयाऽपि योगसिद्धान्तान् न जानन्ति।

4. अन्ये साधकाः फलश्रुतिवशात् सिद्धिप्राप्त्यर्थं दुर्भाग्यवशात् मैथुनसागरे निपतन्ति। ते योगस्यादिसिद्धान्तब्रह्मचर्यावधारणां विस्मृत्य केवलं लिखितवचनानुपालने, विना योग्यगुरुं प्रवृत्त्यत्वाद् स्खलन्ति।

5. पूर्ववासनावशात् केचन प्रारम्भिकसाधका अपि पूर्वोक्तभ्रमे निमज्जत्वात् पुनः योगमार्गे तद्वद्गतिः न प्राप्नुवन्ति यद्ववत् पूर्वे आसीत्।

अतः पूर्वोक्तसमेषां मतानामनुशीलनेन अस्माभिर्ज्ञायते यत् भ्रमस्य मुख्यकारणं यथार्थमार्गदर्शनाभावत्वम्, लक्ष्यविषयकास्पष्टत्वम्, योगमार्गीयाधिकारिभावाभावत्वञ्च अस्ति। वस्तुतो यथार्थवज्रोलीमुद्रायाः प्रादुर्भावः तदा भवति यदा साधके वज्रोलीतः पूर्वमन्यदुक्तमुद्राणां सम्यगाचरणं भवेत्।

6.1.3 शाम्भवीमुद्रा

इयं मुद्रात्यन्तविशिष्टा देहात्मबोधनाशिका शिवप्रिया च वर्त्तते। खेचरीमुद्रायाः पूर्णोपलब्धये एतस्याः विशिष्टयोगदानं वर्त्तते। खेचरीमुद्रायाः पूर्णोपलब्धये एतस्याः विशिष्टयोगदानं वर्त्तते। अनया विना न खेचरी सिद्ध्यति नैव राजयोगे प्रवेशस्य मार्गोऽभिजायते। अन्तर्लक्ष्यत्वे सति बहिर्दर्शनमनया एव सम्पद्यते। लोके धनमान्यादिप्राप्तये बहवः मिथ्याचारिणः सन्ति ये स्वान् शाम्भवी सिद्धाः मन्यन्ते। लोके मिथ्याचाररीत्या स्वकीयः प्रचारो विधीयन्ते। ते योगतत्त्वविशारदाः सन्ति इत्थं मिथ्याभिचरन्ति। भारतीययोगसाहित्ये बहवो योगाचार्याः सन्ति ये सर्वविधयोगतत्त्वविशारदेऽपि प्रचारं प्रसारञ्च त्यक्त्वा केवलं योगाचरणे एव रता आसन्। अद्यत्वे तेषां योगपरम्पराप्राप्तसाधकानां भौतिक-वादिमानसिकताधिक्यत्वात् सामान्यतया दर्शनमपि दुर्लभमेवास्ति।

नादानुसन्धानक्रमे चतुर्थाध्याये एतस्याः मुद्रायाः पूर्णप्रक्रियास्वरूपं विलिखितं तत्रैव दर्शनीयम्। अत्र लोके व्याप्तभ्रमाणां निरसनपूर्वकं वर्णनमुद्देश्यकप्रवृत्तिः वर्त्तते। साङ्केतिकरीत्या एतस्याः मुद्रायाः निष्कर्षोऽयं वर्त्तते यत् यथा बहिर्जगतः परिदृश्यते परञ्चान्तिकजगति किमपि न दृश्यते। तस्य बहिरान्तिकसंसारे केवलं मूलतत्त्वस्यैव दर्शनम् एतस्याः मुख्यार्थः। अस्तु, भ्रमाणां प्रदर्शनं क्रियते –

1. नेत्रे किञ्चिदूर्ध्वं कृत्वा, केवलं धनमानादिभौतिकलक्ष्यप्राप्तये मिथ्याचरणदृष्ट्या लोके कीर्त्तिविस्ताराय केचन लम्पटारेतस्याः नामोच्चारणपूर्वकस्वकीयेच्छया एतस्याः क्रियायाः व्याख्यायन्ते। ते मन्यन्ते यत् नोत्रोर्ध्वकरणेन इयं क्रिया सम्पद्यते। ते स्वकीयभक्तानपि एतस्या दीक्षा दीयन्ते। अत्र मुख्यतया गुरुशास्त्रयोरभावत्वमनुभवामि।

2. केचन नेत्रयोः किञ्चिदभिमर्दनं कृत्वा नैसर्गिकविचित्रक्षणिकप्रकाशदर्शनमेव शाम्भवीशब्देनाभिधीयन्ते। ते मूढास्सन्ति, विपरीतमार्गगमनत्वात् नेत्रयोः स्वाभाविक-सामर्थ्यमपि जहति।

3. अन्ये केवलं नेत्रयोः भ्रूमध्ये संस्थाप्य राजयोगाचरणाभावत्वात् यथार्थत्वं नोपलभ्यन्ते। ते न ज्ञाने कथं क्रियायाः सम्पूर्त्तये केवलं देहाश्रितविधामेवानुसरन्ति। अत्यन्तदुर्भाग्यं मन्ये यत् श्रेष्ठगुरूणां प्राप्तौ अपि स्वकीयाधिकारिभावानामभावत्वात् यथार्थपक्षं न दृश्यते।

परञ्च यथा 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्या ततः सत्यं समीहते' कालानन्तरेण एते सर्वे यथार्थपक्षे एव समायान्ति। स्वस्वरूपानुसन्धानमीयदपि सरलं नास्ति यथा पुस्तके प्राप्यते।

उपर्युक्तप्रकरणत्रयेषु भ्रमाणां हेतवः स्वकीयपरमलक्ष्यविषयकास्पष्टत्वमदृढत्वं योग्यगुरुपरम्पराभावत्वमनाधिकारिभावाश्च सन्ति। एतेषां भ्रमाणां निरसनस्य मार्गो वर्त्तते योगमार्गस्य प्रगतये व्यक्तदिव्यलक्षणानामाचरणम्।

'ईश्वरप्रणिधानात्', 'अभ्यासवैरागाभ्यां तन्निरोधः', 'तस्य वाचकः प्रणवः', 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इत्यादैः श्रेष्ठमार्गैः स्वकीयान्तःकरणं शोधयेत्। अन्तःकरणशुद्धौ सति स्वयमेव यौगिकमुद्राणामाविर्भावः सम्पद्यते।

6.2 फलश्रुतेः यथार्थत्वप्रतिपादनम्

अस्मिन् प्रकरणे शास्त्रेषु प्राप्तविविधप्रकारकमुद्राविषयकार्थवादस्य तर्कसङ्गत-विश्लेषणमधिकृत्य प्रमाणिकतथ्यान् सोदाहरणपुरस्सरं प्रस्तूयते। सर्वप्रथममस्माभिर्ज्ञेयं यत् फलश्रुतीनाम् उत्पत्तिः कथं जायते? फलश्रुतेः प्रामाणिकतायाः मूल्याङ्कनार्थं कषपट्टिकाः काः सन्ति? फलश्रुतौ व्यक्तविषयस्य सिद्धिः कदा कान् सम्पद्यते? यतो हि एतान् प्रश्नान् विना विचार्य न विस्तृयन्ते। विचारविस्ताराभावात् कदापि शुद्धपक्षः नोत्पद्यते।

अधुना पूर्वोक्तप्रश्नान् विस्तृयन्ते –

फलश्रुतीनामुत्पत्तिः – फलानां श्रुति इति फलश्रुतिः। अर्थात् निश्चितस्तोत्रमन्त्रतन्त्र-मुद्रादीनाममुष्ठीयमाने यत्परिणामो भविष्यति तस्य परिणामस्याख्या फलश्रुतिः। फलश्रुतेः परम्पराऽनादि वर्त्तते। वेदेषु प्राप्तश्रीसूक्तादिमान्त्रिकक्रमेऽपि निश्चितानुष्ठानप्रक्रियायाः ऋषिभिरनुमोदितफलश्रुतीनां प्राप्तिर्भवति। तन्त्रयोगायुर्वेदेषु अपि निश्चितस्तोत्रमन्त्रयौगिक-मुद्रासनादिवर्णने ग्रन्थकर्त्तृकाचार्यैः अनुमोदितविविधफलश्रुतीनां दर्शनं प्राप्यते। स्पष्टत्वात् न विवेच्यते।

वस्तुतः सम्पूर्णभारतीयसंस्कृतवाङ्मये प्रायोऽनुसन्धानिकनिष्कर्षस्याभिव्यक्तिर्वर्त्तते। सम्पूर्णसंस्कृतजगति यत्किमपि अस्माभिः फलश्रुतिरूपे प्राप्यते तत्सर्वम् ऋषिभिरनुभूततत्त्वं वर्त्तते। ऋषिपदप्राप्तये केचन नियमाः सन्ति। यथा अहिंसासत्यास्तेयापरिग्रहपालनपूर्वकं यदा साधकस्य जीवने ईश्वरातिरिक्तं किमपि साध्यं नावशिष्यते, यदा ईश्वरीयेच्छासम्पादनाय एव किमपि कार्यं विधीयते। यदा तस्मिन् जीवने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भावनाया एव प्राबल्यं सम्पद्यते। यदा कामादिदोषानां विषये तस्य प्रवृत्तिर्नैव भवति, तदा तस्मिन् जीवने नैसर्गिकसामर्थ्यस्योत्पत्तिर्जायते। त्रिकालज्ञता, समता, ईश्वरेण सहावच्छिन्नैक्यता आदि दिव्यगुणाः जायन्ते। अस्यामवस्थायां परमयोगी ऋषिशब्देन व्यवह्रियते।

एतत्प्रकारकविशिष्टगुणयुक्तपरमयोगिन अनुभवे यदा निश्चितमन्त्रतन्त्रयज्ञयोग-मुद्रादीनामनुष्ठाने कालक्रमेण निश्चितविशिष्टप्रकारकपरिणामस्योत्पत्तिः सम्पद्यते, तदा तस्यानुभूतपक्षस्य क्वचित् प्रक्रियापूर्वकं क्वचित्केवलं सङ्केतरीत्या प्रदर्शनं क्रियते। तस्य प्रदर्शितनिष्कर्षतत्त्वस्याख्या फलश्रुतिः भवति। इयं फलश्रुतिः प्रायः सर्वेषु आस्तिकदर्शनेषु आप्तप्रमाणरीत्या स्वीकृता वर्त्तते। विभिन्नदर्शनेषु आप्तप्रमाणसिद्धये नैकानि प्रमाणानि प्रदत्तानि सन्ति इदं तत्रैव द्रष्टव्यम्।

कालक्रमेण यथा श्रेष्ठवस्तुनाम्नि निकृष्टमपि विक्रियते, तद्वदेव केचन दुष्टाः स्वमत्या धनमानभयादिकारणात् शास्त्रेषु बहुतथ्यान् समावेशितवन्तः। एतस्मात् कारणादपि एकैव ग्रन्थस्य बहुपाठभेदाः प्राप्यन्ते।फलश्रुतिविषयेऽपि इयं समस्या दृश्यते। एतस्याः समस्यायाः निराकरणं वर्त्तते सर्वाधिकप्राचीनपाठस्य चयनम्। अस्मिन् शुभकर्मणि बहुशास्त्रवेत्तारः संलग्नाः सन्ति। तैः बहुकार्यं सम्पन्नं बहुकार्यमद्यापि अवशिष्यते। अतः पूर्वोक्त-सम्पूर्णविवेचनास्माभिर्ज्ञायते यत् फलश्रुतीनां मुख्योत्पत्तिरनुसन्धातॄणाम् ऋषीणां कृपादृष्ट्या भवति। अस्तु, सम्प्रति फलश्रुतेः प्रमाणिकतायाः मूल्याङ्कनं केन विधिना विधीयताम्? मूल्याङ्कनकषपट्टिका का?

फलश्रुतीनां स्वरूपं यथाविधास्माभिर्दृश्यते तत्र ऋषिवर्याणामनैककालिकानवरत-तपश्चर्यायाः योगदानं वर्त्तते। निश्चितलक्ष्यप्राप्तये निश्चितगुणसमवायानामाकाङ्क्षा भवति। तद्वदेवात्रापि अवबोध्यम्। यथा तन्त्रमन्त्रयोगायुर्वेदव्याकरणसाहित्यज्योतिषस्मृतिपुराणादीनि नैकानि शास्त्राणि सन्ति। तेषां शास्त्राणामध्येत्रे निश्चितगुणानाम् आवश्यकता भवति। तान् विना कार्यं नोत्पद्यते। तथैवात्रापि निश्चितफलश्रुतौ व्यक्तविषयस्य प्राप्तये निश्चितदेशकालाधिकारि-जनानामावश्यकता भवति। ये निश्चितगुणयुक्ताः भवन्ति, ऋषिकथितरीत्या-नुष्ठीयन्ते ते निश्चितलक्ष्यमाप्नुवन्ति। अत्र कालविषये न्यूनाधिक्यं भवितुं शक्यते। यतो हि कस्यामपि प्रक्रियायामनुष्ठानक्रमे पूर्वजन्मनः संस्काराणाम् अशेषानामपि प्रभावो भवति। अतः

शुद्धान्तःकरणवन्तः शीघ्रमेव सिद्धिमाप्नुवन्ति, दुरितक्षयं विना काऽपि साधना न सिद्ध्यति, परञ्च ऋषिकथितप्रक्रियायाः पूर्णसजगतयाऽनुष्ठीयमानेन निश्चितमेव न्यूनाधिक्यकाले सिद्धिः भवति। अत एव अत्र कषपट्टिका वर्त्तते फलश्रुतेः केवलशुद्धान्तःकरणतयाक्षरशः शास्त्रगुरुनिर्देशे सन्देहं विना पूर्णश्रद्धयानुष्ठानम्। यदि योगमन्त्रतन्त्रविषयकानुष्ठानं वर्त्तते तर्हि अधोलिखितानि कानिचन लक्षणानि समुदीयन्ते अनुष्ठाने। इयमेव कषपट्टिकाः सन्ति।

1. प्रारम्भे अन्तरायाणामुत्पत्तिः निश्चितैव भविष्यति[1]।

2. विषयाकर्षणस्य स्थितिः सम्पद्यते।

3. चित्तैकाग्रतापि जायते।

4. निद्रायामपि तस्याः क्रियाया उत मन्त्रस्यानुभवनं भविष्यति।

5. क्रियानुष्ठाने एवानन्दोपजायते।

6. अनुष्ठाने आनन्दत्वात् फलविषयकवाञ्छापि विलीयते।

7. सर्वेषां जनानां कृते स्वाभाविकवात्सल्यं सम्पद्यते।

8. इच्छाभावत्वं जायते।

पूर्वोक्तैतासां कषपट्टिकानां दर्शनं सत्त्वविशिष्टानुष्ठाने साधके भविष्यति। अन्यसाधनायै भिन्नकषपट्टिकाः भवति, भिन्नपरम्परायामेयं ज्ञातुं शक्यते।अस्तु, सम्प्रति फलश्रुतौ सिद्धिः कदा एवञ्च केन सम्पद्यते इति फलश्रुतिमालायामन्तिमप्रश्नस्योत्तरं विलिख्यते –

फलश्रुतौ प्राप्तानेकप्रकारकसिद्धीनां सिद्धे नैकानि कारणानि भवन्ति, तानि सर्वाणि पूर्वोक्तानि एव। सम्प्रति सिद्धिः कदा सम्प्राप्यते इति प्रश्नः। योगदर्शने एकं सूत्रं प्राप्यते यत् 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः' इदमेव सिद्धिमार्गः। सर्वेषां कृते गुणाधिकारिभेदेन सिद्धिविषयकभेदो जायते। अतः साधकस्य दायित्वं वर्त्तते केलनमनुष्ठाने रतिः। एतद्भिन्नं सर्वं विस्मर्तव्यम् इति केचन भक्तिमार्गीयाचार्याणां मतम्। अन्ये मन्यन्ते यत् लक्ष्यं मनसि निधाय

---

[1]यो०द०, स०पा०, सू०स० – 30 - 31

गुरुशास्त्रोक्तरीत्या अनुष्ठाने रतिपूर्वकं मध्ये कषपट्टिकया यथार्थमार्गे अस्मि न वेति परीक्ष्य केवलं निष्ठापूर्वकमनुष्ठानमेव सेवनीयम्। उभयोर्मतयोरनुष्ठानरतिरेव सिद्धान्तः।

अस्तु, केन सिद्धिः प्राप्यते इति जिज्ञासायाम् आचार्या अधिकारिभावान् स्मरन्ति। प्रथमाध्याये अधिकारिवर्णने विस्तारतया अधिकारिविषयकशास्त्रीयवचनानि सम्प्रस्तुतानि, तत्रैव द्रष्टव्यानि। अधिकारिजनानाम् एव सिद्धिः सम्पद्यते। साधनचतुष्टयसम्पन्न एव प्रमाता। अथवा यमनियमयुक्तः प्रमाता इति अधिकारिप्रकरणस्य निष्कर्षः। सम्प्रति प्रमुखदशमुद्राणां फलश्रुतिपरकमात्रमेव वर्णनं प्रस्तूयते, पूर्वप्रकरणे सविस्तारतयाभिव्यक्तत्वात्।

महामुद्राप्रकरणे जठराग्निप्रदीप्तत्वात् अभ्यासाधिक्ये सति सर्वविधिरसानां पाचनं सम्भाव्यते, परञ्च कथमियं मुद्रा महाक्लेशादयोऽपि विनश्यते। इयं जिज्ञासा प्रायः सर्वेषु जनेषु परिदृश्यते।वस्तुतो मुद्राया अभ्यासक्रमे बहूनि स्तराणि भवन्ति, प्राथमिकस्तरे यदा साधकः मुद्रामभ्यस्यति तर्हि क्रमिकरूपे तस्मिन् शरीरे प्राणापानयोर्मध्ये घर्षणत्वात् ऊष्माभिर्वर्द्धते। प्रायः आधुनिकाभ्यासिजना अस्मिन् स्तरे एव अवरुद्ध्यन्ते। अनया ऊष्मया सामान्यतया उदरशुद्धिः, प्रगाढनिद्रादयः सम्पद्यन्ते। पदार्थवादीनां कृते तु इयं स्थितिरेव पर्याप्तम्। ते सामान्यरीत्या महालक्ष्यं विना अत्रैवानन्दन्ति।

अग्रिमक्रमे एददुत्कृष्टजनाः सन्ति ते कश्चिद्विशेषः काचिद्विशेषेच्छया क्रियामनुष्ठीयन्ते। ते पूर्वोक्तफल-पुरस्सरं देहे स्वेददादुरवृत्तिपर्यन्तं फलं प्राप्नुवन्ति। ते मनःप्राणयोः स्थैर्यतः किञ्चिदधिकं यथा ध्याने दीर्घकालिकस्थित्यादयः सम्पद्यन्ते। परञ्च फलश्रुतौ तु एतदग्रमिकस्तरीयवर्णनं वर्त्तते। महाक्लेशादीनां निवृत्तिः तदेव सम्भवति यदा मुद्राणां साधके आविर्भावः सञ्जायते। अनुष्ठानक्रमे यदा साधकः स्वयमेवानुष्ठीयते तर्हि तस्मिन् शरीरे मनसि प्राणेषु बुद्धौ च महाक्लेशादिनिवृत्तिपरकस्थितिः जायते। पृष्ठभूमौ यदा शक्तेः कुण्डलिन्याः जागरणं भवति तर्हि परम्परया अनया मुद्रया महाक्लेशादयो निवर्त्तन्ते।

यथाऽस्मिन् प्रकरणेऽस्माभिर्जानीतो यत्कथं मुद्रायाअलौकिकफलश्रुतिः स्वकीययथार्थत्वं सम्पद्यते यद्वदेव आगामीमुद्राविषयेऽपि अभिजानीयात्।

शारीरिकस्तरीयमुद्राप्रभावविषयकफलश्रुतेः जागरणम् अर्धमासेऽपि दृश्यते। मानसिकस्तरीयप्रभावविषयकफलश्रुतेः दर्शनं पूर्वसंस्कारदृष्ट्या न्यूनाधिक्यसमये सम्पद्यते। मृत्युञ्जयत्वम्, दिव्यदेहत्वम्, वायौ उत गगने चरत्वमादयरलौकिकसिद्धीनां प्राप्तिः बहुकालव्यये ईश्वरीययोजनानुसारम् एव जायते। परञ्च फलश्रुतौ व्यक्तपदार्थानां प्राप्तिः खलु जायते एव। अनादिकालतो बहवस्साधका अभवन् य इत्यात्मकलक्ष्यमवाप्नुवन्। विषयविस्तारभयात् केवलं सङ्केतरीत्या इङ्गितमिच्छामि यत् भारतीयसंस्कृतसाहित्ये उत भारतवर्षे नैकाः साधकारित्यात्मकं लक्ष्यं प्राप्तम्। श्रीतैलङ्गस्वामिमहावतारबाबा-मिलरेपामारपास्वामिमेवापुरिरमालिङ्गमादायः नैकाः दिव्यदेहप्राप्ताः साधवः आधुनिका-नुसन्धातॄणां कृते गहनशोधविषयः सन्ति। हठयोगप्रदीपिकायामपि[2] बहुदिव्यदेहप्राप्तयोगिनां नामकीर्त्तनं प्राप्यते। अयं खलु अत्यन्तज्वलन्तविषयो यत् कथं ते दिव्यदेहपर्यन्त-विशिष्टमहनीयस्थितिः सम्प्राप्ता।

*****

[2] ह०प्र०, उ०स०, श्लो०स० – 5 - 9

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. गोरक्षसंहिता - श्रीगोरक्षनाथः – गोरक्षनाथमन्दिरः, गो. – 1980 ई०

2. गोरक्षशतकम्- गोरक्षनाथः- कैवल्यधामः, स्वामिकुवल्यानन्दमार्गः,लोनावाला- 2013 ई०

3. घेरण्डसंहिता(हि.व्याख्या)- श्री घेरण्डः, डाँ.राघवेन्द्रशर्मराघवः,चौ.सं.प्र० दिल्ली-2009 ई०

4. चिंगार तो ब्रह्मज्योति–स्वामी बुद्धपुरी जी, शब्द सूरत संगम आश्रम, पंजाब, प्रथम, 2001 ई०

5. तन्त्रालोकः – अभिनवगुप्तः – चौ. विद्याभवन वा.-1998 ई०

6. दक्षिणामूत्तिस्तोत्रम्- श्रीशंकराचार्यः, चौखम्बाविद्याभवनम् वा.- 2005ई.

7. देवीभागवतम्- महर्षिवेदव्यासः, गीताप्रेस, गोरखपुरम्, 1994 ई०

8. पातञ्जलयोगदर्शन – पतञ्जलिः- चौ.सं. प्रकाशनम् वा. - 1989 ई०

9. बृहत्तान्त्रिकमुद्रामहाविज्ञान- राजेशदीक्षितः- दीपपब्लिकेशन आगरा

10.याज्ञवल्क्यस्मृतिः – महर्षियाज्ञवल्क्यः-गंगासहायरायः, चौखम्बा विद्याभवन वा.- 2013 ई०

11.योगकल्पद्रुमः - स्वामिब्रह्मानन्दः - पांडुरंग जाव प्रेस मुम्बई

12.योगतरङ्गिणी – मल्लभट्टवैद्यराजः- श्रीदत्तराममाथुरः चौखम्बा विद्याभवन वा.- 2003ई.

13.योगतारावली - भगद्पादश्रीशंकराचार्यः - वाराणसेय सं. सं. वा. - 1982 ई.

14.योगरत्नावली - ठक्कनझा - गंगानाथझापरिसरः प्रयागः - 1989 ई.

15.योगरसायनम् - स्वामिब्रह्मानन्दः - पांडुरंग जाव प्रेस मुम्बई

16.योगाङ्कः (कल्याण- विशेषाङ्कः)- गीताप्रेस, गोरखपुरम्, 1980 ई०

17.योग उपनिषत् संग्रह (प्रथमभागः) – अनन्तभारती,चौखम्बा ओ०, दिल्ली, प्रथमम्, 2015

18.विज्ञान भैरवः(सं.टीका), श्रीक्षेमराजाचार्यः, शिवोपाध्यायः - चौ.सं प्र०, वा. 2011ई.

19.शिवसंहिता(हि.व्याख्या) - डाँ.राघवेन्द्रशर्मराघवः - चौ.सं.प्रतिष्ठानम् दिल्ली– 2011ई.

20.शाक्तोपनिषदः - महादेवशास्त्री - ओरियन्टलबुकसेन्टर दि. - 2008 ई.

21.शैवोपनिषदः - महादेवशास्त्री - ओरियन्टलबुकसेन्टर दि. - 2008 ई.

22.श्रीमद्भगवद्गीता – गीताप्रेस, गोरखपुरम्- 1997 ई॰

23. श्रीयोगयाज्ञवल्क्य- याज्ञवल्क्यः- टी॰के॰ देशिकाचारः-कृष्णामाचार्ययोगमन्दिरम् -2015 ई॰

24.सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः-गोरक्षनाथः,स्वामीद्वारिकादासशास्त्री,चौखम्बाविद्याभवनम् वा.2006ई॰

25.हठयोगप्रदीपिका - स्वात्मारामः - गोरक्षनाथमन्दिरः गोरखपुरम्, 1980 ई॰

26.शिवसूत्रम्,– अखण्डानन्दसागरमहाराजः, माधवानन्द आश्रमः, गुजरात, प्रथमम्, 1984 ई॰

27.विवेकचूडामणिः – आदिशङ्कराचार्यः – गीता प्रेस, गोरखपुरम्, 1980 ई॰

28.रुद्रयामलतन्त्रम्- रूद्रदेवत्रिपाठी- रञ्जन पब्लिकेशन्स दरियागंज, नई दिल्ली 2005 ई॰

29.निरुत्तरतन्त्रम्- पं॰ रामदत्तशुक्लः (सम्पादकः)- कल्याणमन्दिरप्रकाशन, प्रयाग 1979 ई॰

30.सर्वदर्शनसङ्ग्रहः- माधवाचार्यः- उमाशंकरशर्मा- चौखम्बा विद्याभवन वा.- 2010ई॰

31.सूक्तावलीसंहिता- गुरुप्रसादजी(संकलनकर्ता)- हिन्दी पुस्तकालयः, मथुरा,1935ई॰

32.शिवमहिम्नःस्तोत्रम्- पुष्पदन्तः,मधुसूदनसरस्वती,चौखम्बाविद्याभवनम् वा.- 1964 ई॰

33.अमरकोशः- अमरसिंहः – हरगोविन्दशास्त्री- चौखम्बा विद्याभवनम् वा.- 1977ई॰

34.मार्कण्डेयपुराणम् - श्रीरामशर्मा आचार्यः(सम्पादकः)- संस्कृति संस्थानम्, बरेली

सहायकग्रन्थसूची

1. भारतीय संस्कृति एवं साधना- प. गोपीनाथः,चौखम्बाविद्याभवनम्, वाराणसी, पुनर्मुद्रितम्, 1989 ई०
2. मुद्राविज्ञान- केशवदेवः, आचार्य श्रीएण्टरप्राइजेज दिल्ली, पुनर्मुद्रितम्, 2000 ई०
3. शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी- प. गोपीनाथकविराजः, विश्वविद्यालयप्रकाशनम्, वाराणसी, पुनर्मुद्रितम्, 1989 ई०
4. शैवदर्शन की साधना पद्धति- अविनाशनाथ त्रिपाठी, काशीहिन्दुविश्वविद्यालयः, वाराणसी, 1989 ई०
5. 108 उपनिषद् साधना खण्ड- रामशर्माचार्यः, शांतिकुंजः, हरिद्वारः, 2005 ई०
6. बृहत् तान्त्रिक मुद्रा महत्त्व- राजेशदीक्षितः, दीपपब्लिकेशन, आगरा, 2010 ई०
7. मुद्रा विज्ञान एवं साधना-श्यामाकान्तद्विवेदी,चौखम्बासुरभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी, 2005 ई०
8. अष्टांग योग एक परिशीलन- जयकृष्णा,काशीहिन्दुविश्वविद्यालयः, वाराणसी,1992 ई०
9. कबीर ग्रन्थावली- कबीर, श्यामसुन्दरदासः, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयागः, पुनर्मुद्रितम्, 1994 ई०
10. नादयोग लययोग और मन्त्रयोग- गुप्तावतारबाबाश्री, परावाणी प्रेस, इलाहाबाद,1988 ई०
11. शिवमहिम्नःस्तोत्रम्- पुष्पदन्तः, गीताप्रेस, गोरखपुरम्, पुनर्मुद्रितम्, 1994 ई०
12. योग उनिषद् सङ्ग्रह, स्वामी अनन्तभारती, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली, प्रथमम्, 2015 ई०

13. बहिरङ्ग योग-राजयोगाचार्यः, योगनिकेतनट्रस्ट, गङ्गोत्री, प्रथमम्, 1961ई०

14. श्रीयोगवासिष्ठमहारामायणम्-वाल्मीकिः, श्रीज्ञानसागरयन्त्रालयः, 1983ई०

15. योग चिकित्सा संदर्शिका - कामाख्या कुमारः, श्रीवेदमाता गायत्री ट्रस्ट, हरिद्वारः, पञ्चमम्, 2011ई०

16. योगसूत्रम्, योगप्रदीपिकाटीका- प०बलदेवमिश्रः, प० श्रीढुण्ढिराजशास्त्री, चौखम्बासंस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1987 ई०

17. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली- श्रीविश्वनाथभट्टाचार्यः, प० श्रीढुण्ढिराजशास्त्री, चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्, दिल्ली, द्वितीयम्, 2003ई०

18. प्रौढनिबन्धसौरभम्- आचार्यविश्वनाथमिश्रः, राष्ट्रियसंस्कृतसाहित्यकेन्द्रम्, जयपुरम् , प्रथमम्, 2003ई०

19. अमरकोषः- श्रीभानुदीक्षितः, चौखम्बासंस्कृतसंस्थान, वाराणसी, 2006ई०

20. पाणिनीयधातुपाठः-पाणिनिः, डा०नरेशझा, चौखम्बासुरभारतीप्रकाशन, वाराणसी, पुनर्मुद्रितम्, 2008ई०

21. वाचस्पत्यम्- श्रीतारानाथतर्कवाचस्पतीभट्टाचार्यः, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1983ई०

22. साङ्ख्यकारिका- श्रीश्वरकृष्णः, गुजरात प्रिंटिंग प्रेस, 1987ई०

23. शब्दकल्पद्रुम- स्याराजाश्रीराधाकान्तदेवबाहादुरः, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1988ई०

24. साङ्ख्यकारिका-श्रीश्वरकृष्णः, सुबोध प्रकाश प्रेस, मुम्बई, 1887ई०

25. तर्कसङ्ग्रहः- अन्नम्भट्टः, डा० ए० वि० नागसम्पिगे, पूर्णप्रज्ञसंशोधनमन्दिरम्, बैङ्गलूरु, प्रथमम्, 2012ई०

26. वेदान्तपरिभाषा, श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रः, प० श्रीत्र्यम्बकरामशास्त्री, चौखम्बासंस्कृतसीरीज आफीस, वाराणसी, सप्तमम्, 2010ई०

27. धातुपाठः- श्रीपाणिनीमुनिः, मन्त्रीरामलालकपूरट्रस्ट, सोनीपत, षष्ठम्, 2001ई०

28. पाणिनीयः अष्टाध्यायीसूत्रपाठः- श्रीपाणिनीमुनिः, श्री प० ब्रह्मदत्तजिज्ञासुः, मन्त्रीरामलालकपूरट्रस्ट, सोनीपत, सप्तदशम्, 2005ई०

29. सानुवाद योगदर्शन- श्रीपतञ्जलिः, श्रीस्वामी अभयानन्द सरस्वती, योगमण्डल, वाराणसी, द्वितीयम्, 1993 ई०

30. तत्त्वचिन्तामणिः- श्रीगङ्गेशोपाध्यायः, श्रीमदुमेशमिश्रः, मिथिलाविद्यापीठः, प्रथमम्, 1957 ई०

31. तर्कसङ्ग्रहः- पं०श्रीआनन्दझा, कामेश्वरसिंहदरभंगा संस्कृत विश्वविद्याल, दरभङ्गा, 1984 ई०

32. वेदान्तसारः- श्रीसदानन्दः, श्रीपाण्डुरङ्गजवाजी, निर्णयसागरप्रेस, मुम्बई, पञ्चमम्, 1934 ई०

33. सिद्धान्तकौमुदी तत्त्वबोधिनीसमाख्यव्याख्यासंवलिता- श्रीभट्टोजिदीक्षित, चौखम्बा-संस्कृतप्रतिष्ठानम्, दिल्ली, पुनर्मुद्रितम्, 2010 ई०

34. चरकसंहिता- चरकः, मोतीलालबनारसीदास, लाहौर, द्वितीय, 1944 ई०

35. तन्त्रसारः- अभिनवगुप्तः, चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्, दिल्ली,1998 ई०

36. मुद्राविज्ञान, केशवदेवाचार्यः, आचार्यश्री एण्टरप्राइजेज, दिल्ली, 2000 ई०

37. महानिर्वाणतन्त्रः- भगवान्शिवः, खेमराश्रीकृष्णदासमार्ग, मुम्बई

38. रुद्रयामलः- रूद्रदेवत्रिपाठी, रञ्जनपब्लिकेशन्स दरियागंज, दिल्ली, 2005 ई०

39. मुद्राविमर्शः- डॉं प्रकाशपाण्डेयःसं० कर्ता, जी० सी० त्रिपाठी, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, दिल्ली, 1990ई०

40. तन्त्रालोकः- अभिनवगुप्तः,चौखम्बाविद्याभवन, वाराणसी, 1998 ई०

41. तर्कभाषा- बदरीनाथशुक्लः, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम, 1968 ई०

42. अग्निपुराणम्- वेदव्यासः, गीताप्रेस,गोरखपुरम्

43. विवेकानन्द संचयन- स्वामिविवेकानन्दः, भारतीभाषाप्रकाशनम्, दिल्ली, 1999 ई०

44. याज्ञवल्क्यस्मृतिः, महर्षियाज्ञवल्क्यः, गंगासहायरायः, चौखम्बाविद्याभवन, वाराणसी, 2013 ई०

45. कुलार्णवतन्त्रम्- तारानाथः, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1965 ई०

46. नारदीयसंहिता- राघवप्रसादचौधरी, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, तिरुपतिः, 2002 ई०

47. त्रिपुरारहस्यम्- मुकुन्दलालशास्त्री, चौखम्बाविद्याभवन, वाराणसी, प्रथम, 1998 ई०

48. भगवद्गीता- वेदव्यासः, गीताप्रेस,गोरखपुरम्, 2002 ई०

49. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्- शंकराचार्यः, चण्डीप्रसादशुक्लः, श्रीकृष्णपन्तः, अच्युतग्रन्थमालाकार्यालयः, काशी, पञ्चम, 1956 ई०

50. Maha Yoga- WHO, Sri Ramanasramam, Tiruvannamalai, Tenth, 2002

51. Tantra Yoga-Nik Douglas, MushiramManoharlal, New Delhi, First, 1971

52. The Yoga Upanishads-T.R. SrinivasaAyyangar, G. SrinivasaMurti, The Adyar Library, Madras, Second, 1952

सहायकपत्रपत्रिकासूची

1. कुण्ड अग्नि शिखा- त्रैमासिकी-(अप्रैल-जून), स्वामिबुद्धपुरी, शब्दसुरतिसंगमः आश्रमः , मलके, मोगा, पंजाबः -2020 ई०
2. सुश्री- त्रैमासिकी- (जुलाई-सितम्बर), विवेकान्दसाहुः, वागीश्वरीसंस्कृत-महावि., बालेश्वरः, ओडिशा, 2006 ई ०
3. संस्कृतप्रतिभा- त्रैमासिकी- (जनवरी-मार्च), साहित्य अकादमी, नवदेहली, 2010 ई०
4. स्वरमंगला- त्रैमासिकी- (अप्रैल-जून),राजस्थानसंस्कृत अकादमी, जयपुरम्, 2015 ई०
5. भारतीयविद्या- त्रैमासिकी (अक्टूबर-दिसम्बर), भारतीयविद्याभवनम्, मुम्बई, 2018 ई०
6. योगसंदेश- मासिकपत्रिका- मई- स्वामिरामदेवः, पतञ्जलियोगपीठम्, हरिद्वारम्, 2011 ई०

संस्कृत- ई- पत्रिकासूची

1. संस्कृत सर्जना – http://sanskritsarjana.in/
2. प्राचीप्रज्ञा –https://sites.google.com/site/praachiprajnaa/home
3. जाह्नवी – http://jahnavisanskritejournal.in/
4. प्रत्नकीर्ति – http://pratnakirti.com/index.html
5. निकषा – http://sangamanee.com/Nikasha.htm
6. सृजन वाणी –http://srijanvani.com/

सहायक-एपसूची

1. Sanskrit-Hindi Dictionary
2. Sanskrit Dictionary
3. संस्कृत हिंदी शब्द कोष Hindi Sanskrit Dictionary
4. DhaatuRoopmala
5. Shabdroopmala
6. Sanskrit-English Dictionary
7. Panini Ashtadhyayi
8. Amarkosh
9. Sanskrit AshtadhyayiSutrani
10. SiddhantaKaumudi
11. Kridantsadhika
12. वैदिक साहित्य

अन्तर्जालसङ्केतसूची

- www.shabadsuratsangam.org
- http://bksiyengar.com
- https://www.artofliving.org/in-en
- www.lifemission.org
- www.yogadhama.com
- http://www.dlshq.org/
- Sanskritdocuments.org
- www.universityofpatanjali.com

दशमहामुद्राः

1. महामुद्रा

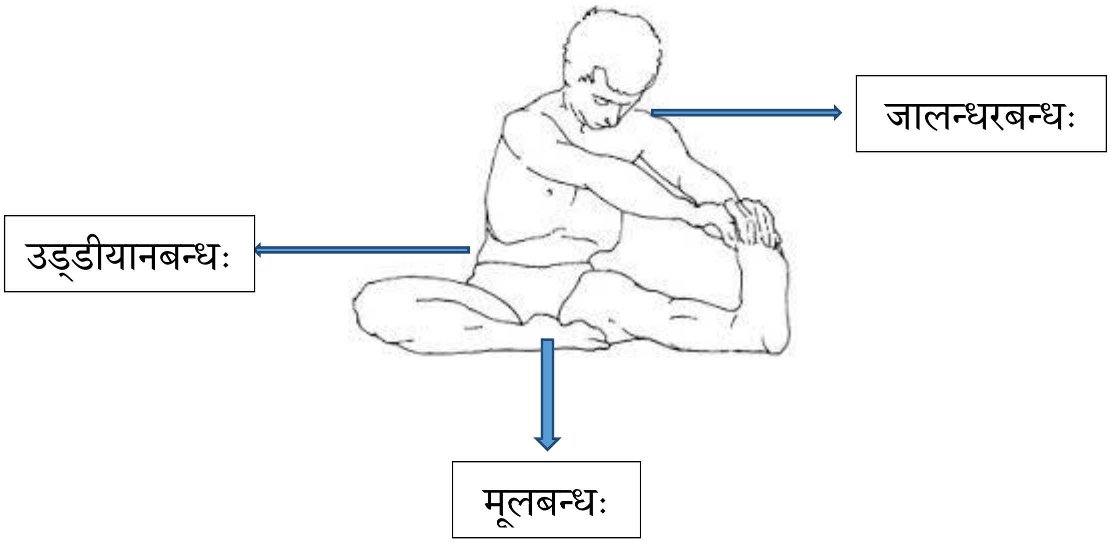

2. महाबन्धः

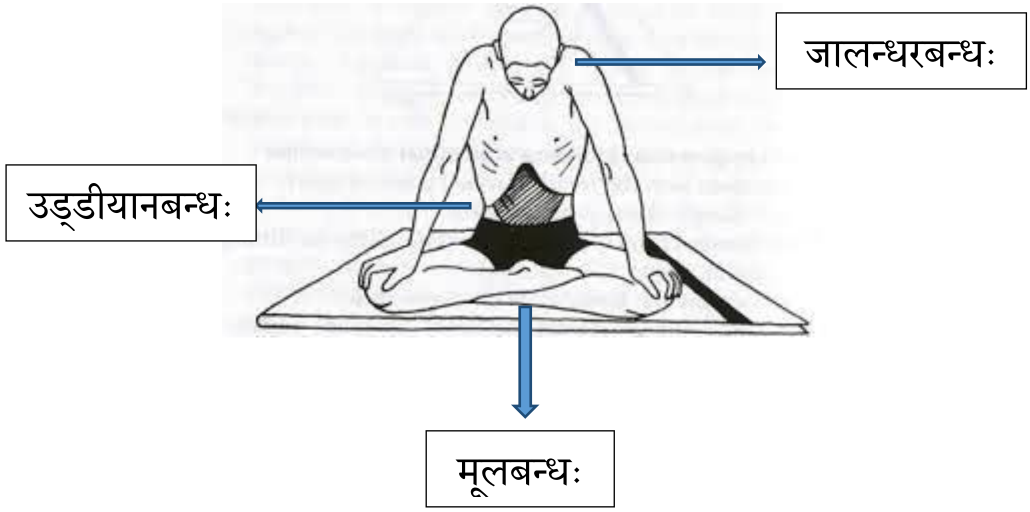

3. महावेधः

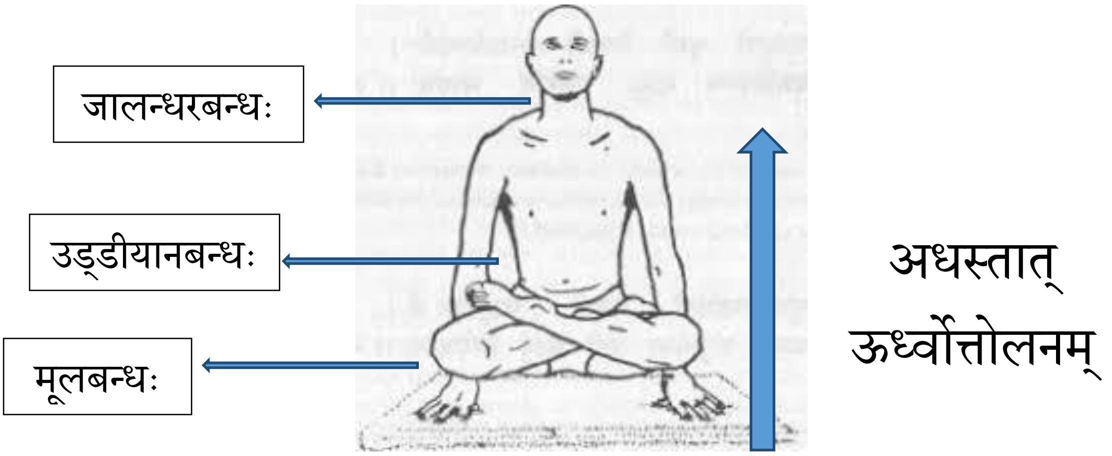
जालन्धरबन्धः
उड्डीयानबन्धः
मूलबन्धः
अधस्तात्
ऊर्ध्वोत्तोलनम्

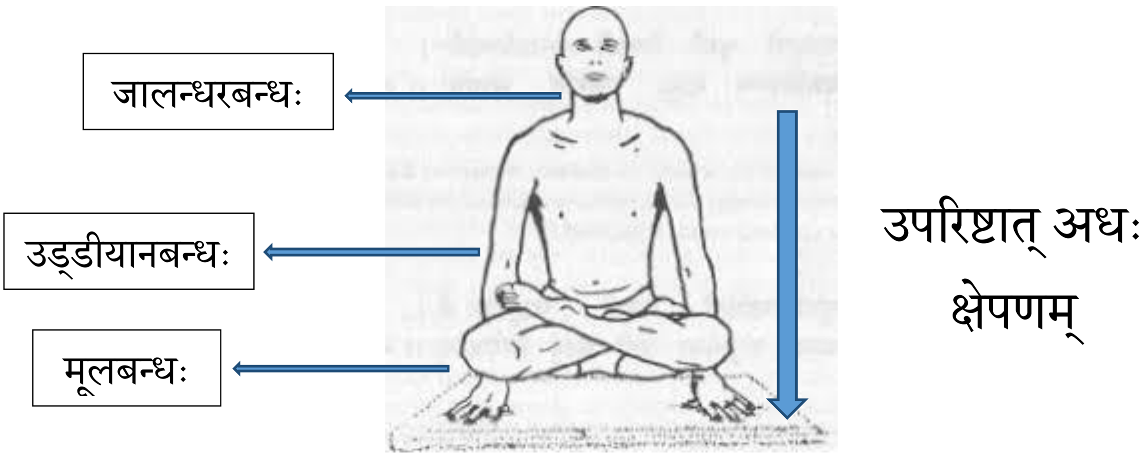
जालन्धरबन्धः
उड्डीयानबन्धः
मूलबन्धः
उपरिष्टात् अधः
क्षेपणम्

विशेषः –पद्मासनं सन्धृत्यत्रिबन्धं विधाय भूमिसंलग्नहस्ताभ्यां भूमेः किञ्चिदधोभागमुत्थाय च शनैः शनैः उत्तोलनप्रक्षेपणरीत्या सन्ताडयेत्।

4. खेचरी

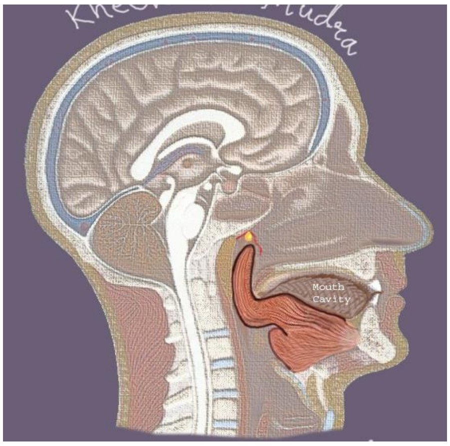

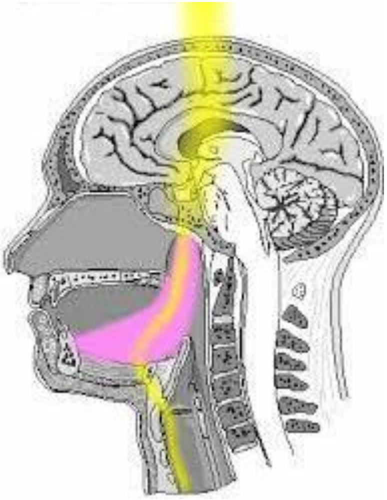

कपालकुहरे जिह्वाप्रविष्टा विपरीतगा

भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिः

5. उड्डीयानबन्धः–

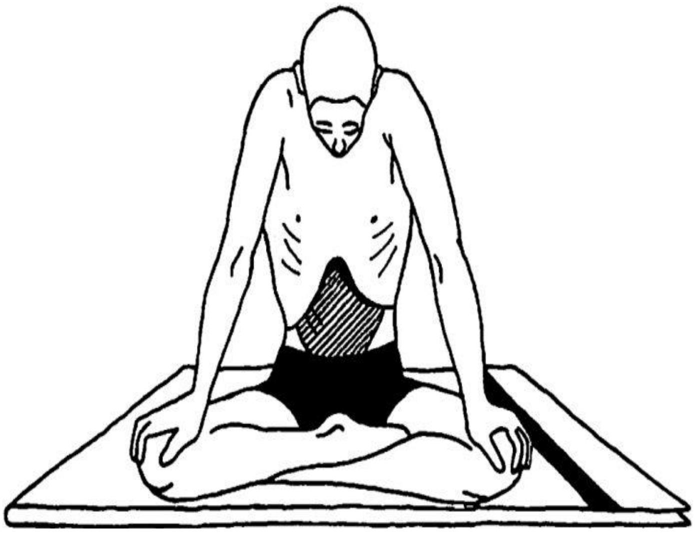

6. मूलबन्धः

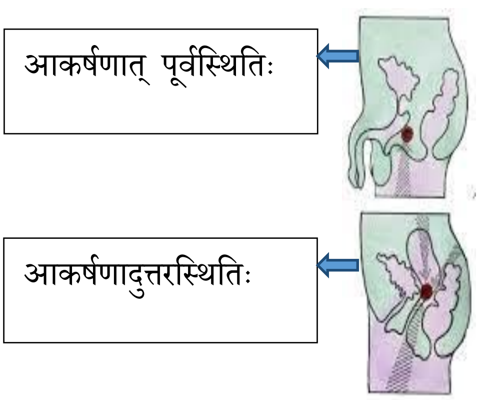

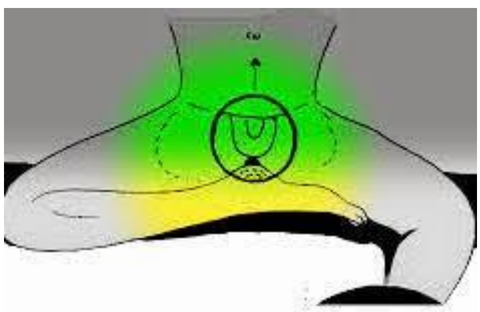

7. जालन्धरबन्धः

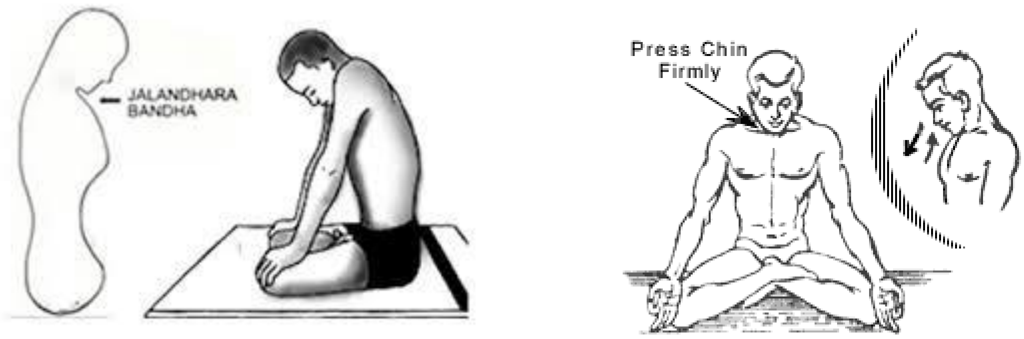

8. विपरीतकरणीमुद्रा

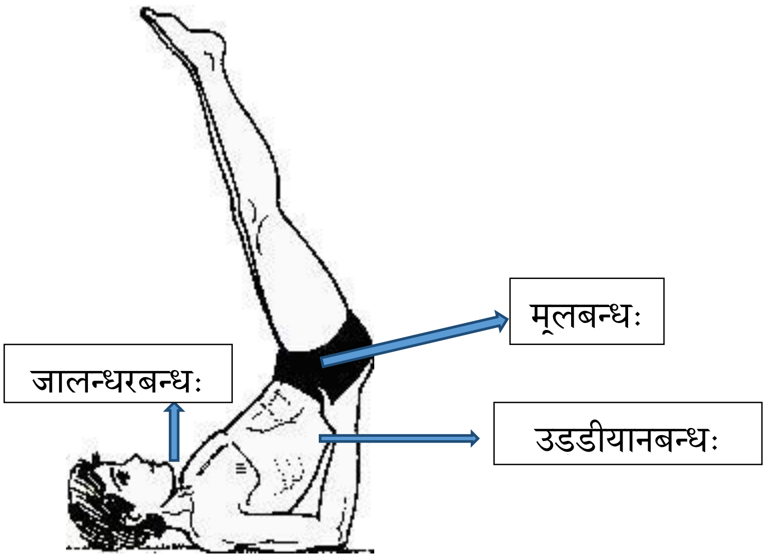

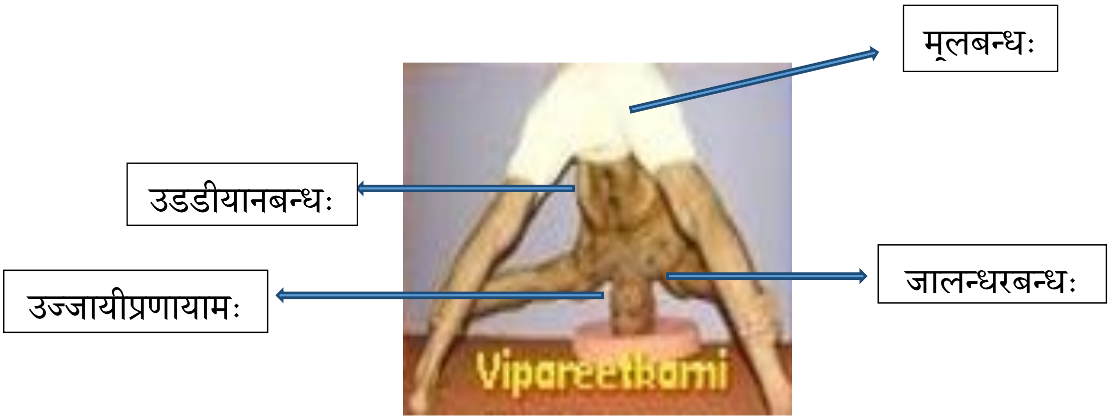

9. घेरण्डसंहितानुसारिवज्रोलीमुद्रा

विशेषः–घेरण्डसंहितां व्यतिरिच्य अन्यत्र योगपरम्परायां त्रिबन्धसहितः प्रदर्शितविधिः प्राप्यते।

त्रिबन्धः

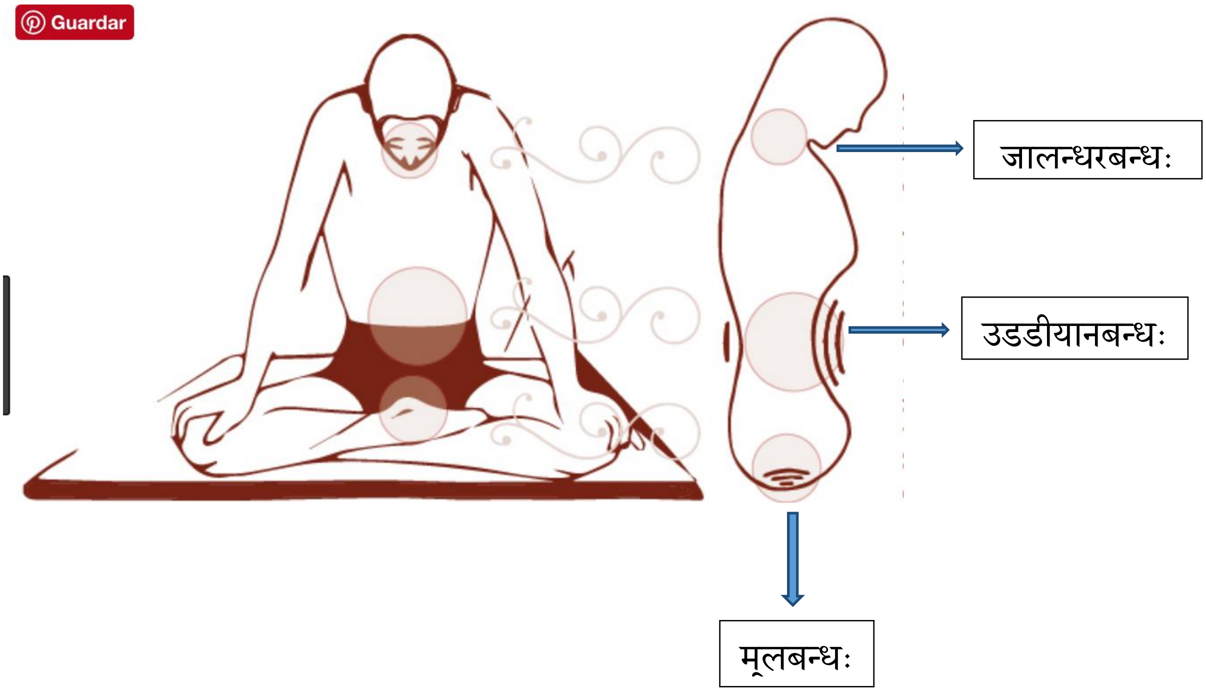

षट् कर्म्माणि

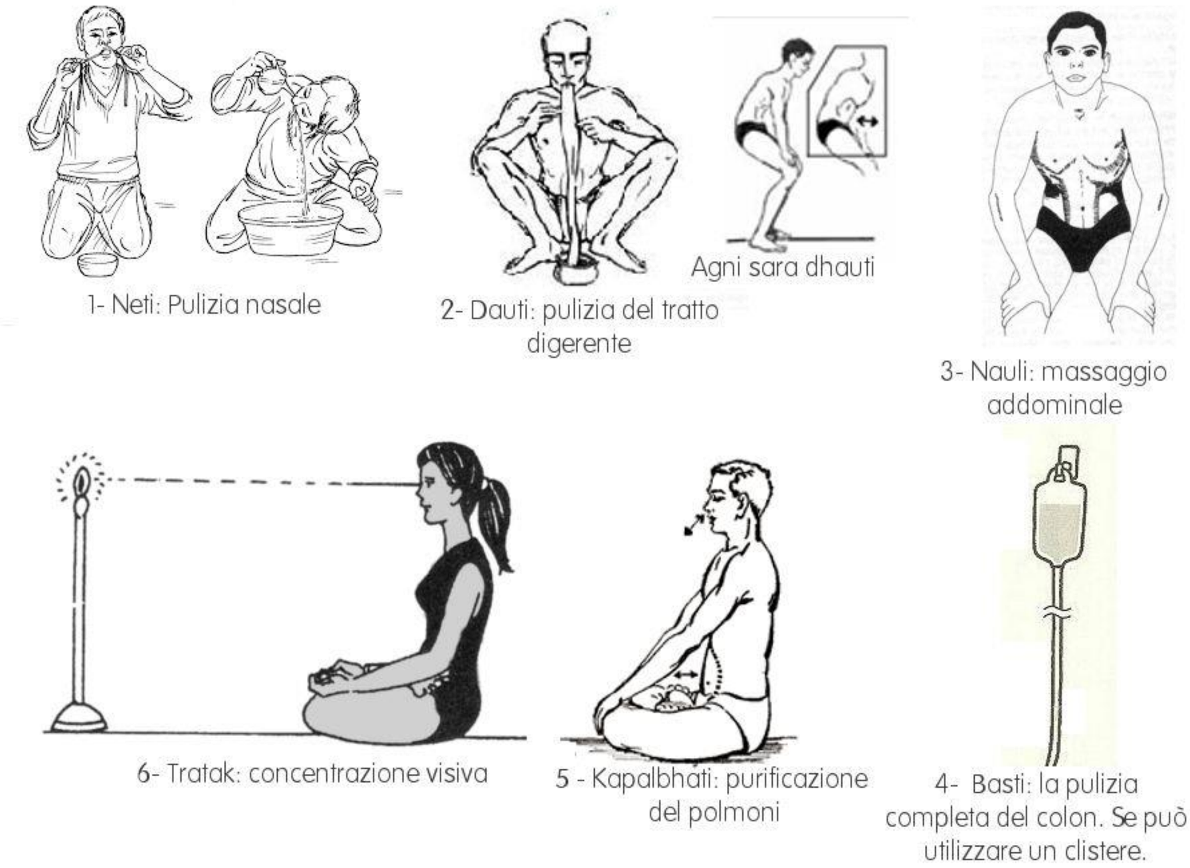
1- Neti: Pulizia nasale
2- Dauti: pulizia del tratto digerente
Agni sara dhauti
3- Nauli: massaggio addominale
6- Tratak: concentrazione visiva
5 - Kapalbhati: purificazione del polmoni
4- Basti: la pulizia completa del colon. Se può utilizzare un clistere.

1. धौतिः

2. नेतिः

वस्त्रनेतिः

रबडनेतिः

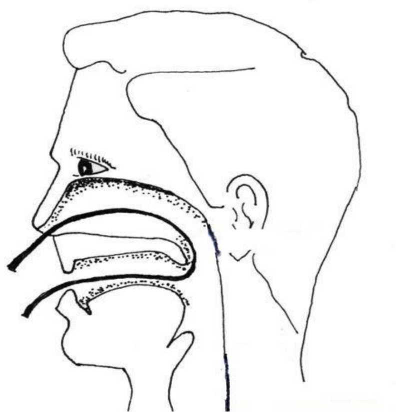

4. त्राटकम्

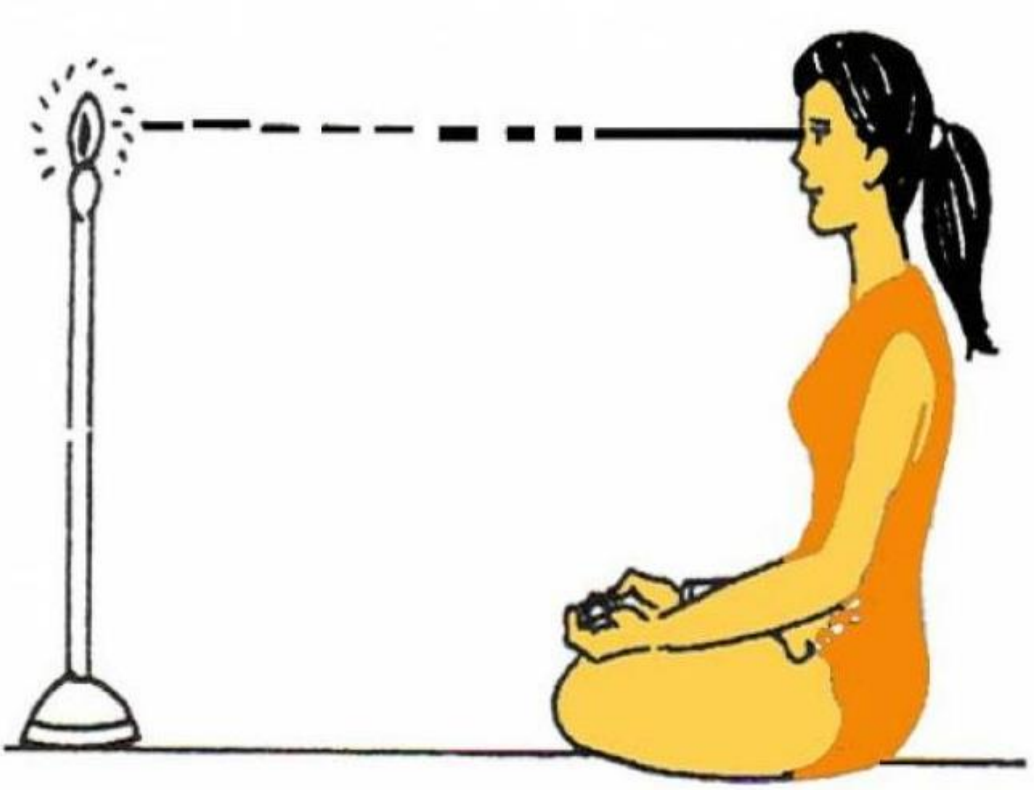

5. नौलिः

उड्डीयानपूर्वकनौलिः

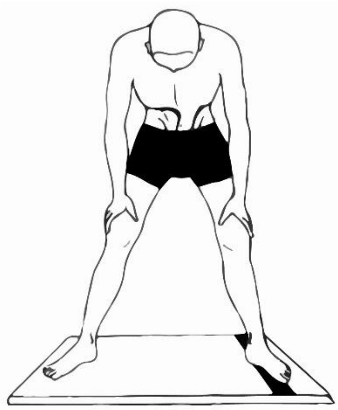

वामनौलिः

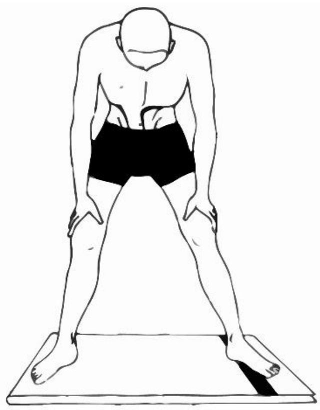

दक्षिणनौलिः

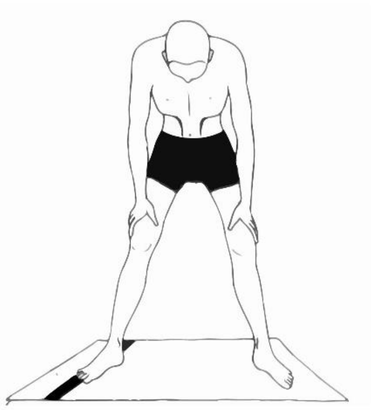

मध्यनौलिः

6. कपालभांतिः

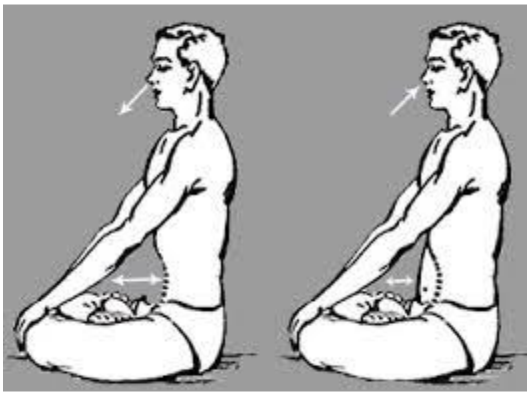

हस्तमुद्राणां चित्राणि

शैवसम्प्रदाये प्रसिद्धाः पञ्च हस्तमुद्राः

1. लिङ्गमुद्रा –

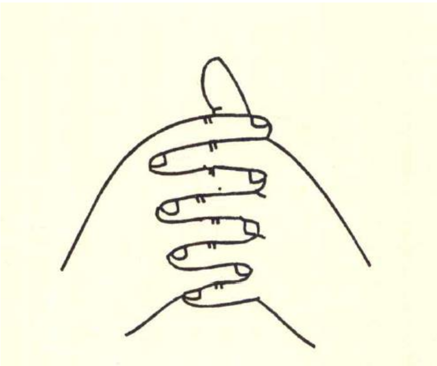

2. योनिमुद्रा –

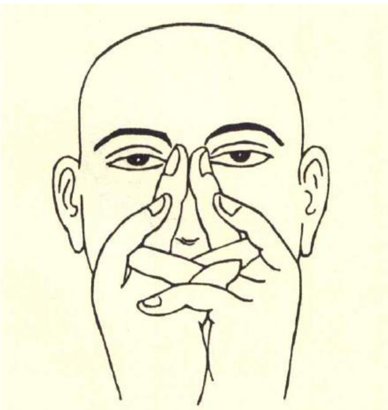

3. त्रिशूलमुद्रा –

4. खट्वाङ्गमुद्रा –

5. डमरुमुद्रा –

शाक्तसम्प्रदाये प्रसिद्धाः पञ्च हस्तमुद्राः

1. सर्वसङ्क्षोभिणीमुद्रा –

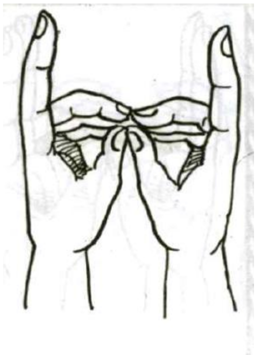

2. सर्वाकर्षिणीमुद्रा –

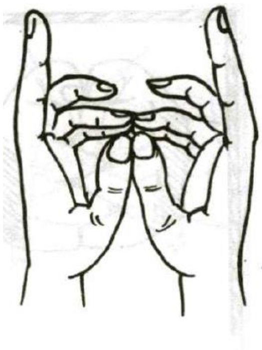

3. सर्ववशङ्करीमुद्रा –

4. खेचरीमुद्रा –

5. प्रथमयोनिमुद्रा –

वैष्णवसम्प्रदाये प्रसिद्धाः पञ्च हस्तमुद्राः

1. शङ्खमुद्रा –

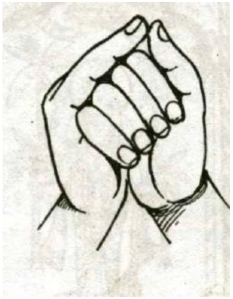

2. चक्रमुद्रा –

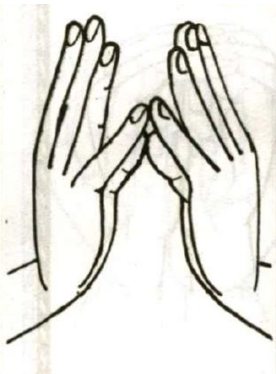

3. गदामुद्रा –

4. पद्ममुद्रा –

5. वेणुमुद्रा –

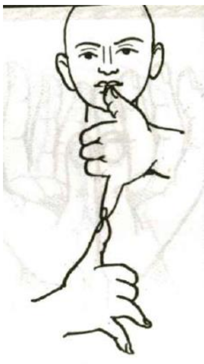

*****

उपसंहारः

प्रथमाध्यायसारांशः

योगसामान्यनिदर्शनमिति प्रथमाध्याये योगशास्त्रस्य ऐतिहासिकपक्षाणां विवेचनं विभिन्नदृष्ट्या प्रस्तुतम्। तथा च मुद्रायाः प्राचीनत्वं साहित्यं प्राचीनपुरातत्त्वावशेषाश्चेति मार्गद्वयमनुसृत्य वेदवदेव स्थापितम्। प्राणायामतः प्रत्याहारे प्रवेशाय प्रायोगिकदृष्टया मुद्राणां प्रयोगो नितान्तावश्यको वर्तते तद्वदेव सैद्धान्तिकग्रन्थेऽपि प्राणायामलक्षणोपस्थापनक्रमे आचार्यै यद् सूत्रं व्याख्यानञ्च प्रस्तुतं तदपि विशिष्टस्थितेः वर्णनं वर्तते यस्य प्राप्तिर्मुद्राः विना न सम्भाव्यते, इमाम् रीतिमनुसृत्य अष्टाङ्गयोगे मुद्राणां समावेशनमिति प्रकरणे प्रायोगिकसैद्धान्तिकग्रन्थयोर्मध्ये मतैक्यं प्रस्तुतम्। अधिकारिवर्णने यमनियम-सम्पन्नोऽधिकारीति निष्कर्षः प्रतिपादितः। देशकालपरिस्थितीनां वर्णने शुद्धशान्तैकान्तस्थाने गुरुशास्त्रनिर्दिष्टरीत्या निवासः प्रतिपादितः। कालनिर्णये शरद्वसन्तयोर्ग्रहणं योगप्रारम्भाय समुचितम् अत्रैव मिताहारो वर्णितः। अध्यायान्ते गुरुमहत्त्वविषये निष्कर्षरुपे ये ऊर्ध्वरेतसाः, ब्रह्मनिष्ठाः, अध्यात्मतत्त्वविज्ञाः, मानापमानयोस्समाः, करुणादिदिव्यगुणयुक्ताः, कामादिदोषरहिताः, योगतन्त्रमन्त्रादिविभिन्नमार्गविज्ञाश्च ते गुरवेति निर्दिष्टम्। एवञ्चात्रैव गुरुप्राप्तिः विषये प्रयत्नादधिकोऽधिकारित्वस्य महत्त्वं प्रतिपादितम्।

द्वितीयाध्यायसारांशः

प्रधानमुद्राणां तत्त्वनिर्णय इति द्वितीयाध्याये सर्वासां मुद्राणां यथार्थस्वरूपसम्पादनाय कीदृशं परस्परं विभिन्नमुद्राणां प्रयोगकाले एकस्यां मुद्रायामौचित्यं वर्त्तते इति प्रायः सर्वासु मुद्रासु वर्णनक्रमे उपस्थापितम्, यथा – महामुद्रायाः पूर्णानुष्ठानं तदैव सम्भाव्यते यदा खेचरीशाम्भव्योश्चैकस्मिन् काले एवानुष्ठानं विधीयते। एवं विधिना सर्वेषु मुद्रावर्णनेषु प्रक्रियावैशिष्ट्यमिति उपशीर्षकेण विभिन्नसम्प्रदायेषु प्राप्तगुप्तप्रक्रियाया अपि वर्णनं विहितम्। वज्रोलिखेचरीविपरीतकरणीमुद्राणां लोके व्याप्तदृष्टप्रक्रियाप्रदर्शनपूर्वकं यथार्थशास्त्रीयाचार्य-

सम्मतानां विचाराणामपि साङ्गोपाङ्गवर्णनमुपस्थापितम्। चक्रकेन्द्रप्राणैस्सह मुद्राणां सम्बन्धोल्लेखने शरीरस्थविभिन्नचक्रकेन्द्रप्राणानां मुद्राभिः सह प्रायोगिकरीत्या सम्बन्धोपस्थापितः। अत्रैव कथमासने मुद्राणां स्थितिः सम्भाव्यते त्रिबन्धानुष्ठानेनेत्यपि विहितम्। अस्मिन्नैव प्रकरणे वैराग्यमुमुक्षायाः सर्वाधिकमहत्त्वं प्रतिपादितमुभौ विना देहबोधस्य लयं न सम्पद्यते। गुरुप्रदत्तमन्त्रानुष्ठानस्य प्रभावादेव वैराग्यजागरणं सम्भाव्यते। अभ्यासमहत्त्वं विवृतम्। प्रकरणान्ते मुद्रासु विशिष्टगतिप्राप्तये ब्रह्मचर्यस्यात्यन्तावश्यकता वर्त्तते अनेन विना कापि मुद्रा न सिद्ध्यति। ब्रह्मचर्यस्य शारीरिकमानसिकात्मिकस्तरेषु कः प्रभावो वर्त्तते इति प्रयोगप्रधानतार्किकरीत्या प्रदर्शित इत्यलम्।

तृतीयाध्यायसारांशः

विभिन्नाचार्याणां मुद्राविषयकसामान्यनिदर्शनमिति तृतीयाध्याये प्रधानदश-मुद्रातिरिक्तनैकमुद्राणां प्राप्तवर्णने देशकालपरिस्थितिवशादुत्पन्नवैविध्यं प्रदर्श्य घेरण्डसंहितायां प्राप्तपञ्चविंशतिमुद्राणां ग्रन्थे वर्णितस्वरूपेण सह योगसम्प्रदायेषु दृष्टमुद्राविषयकवैशिष्ट्यमपि प्रदर्शितम्। गोरक्षसंहितायां वर्णितपञ्चमुद्राणां वर्णनमपि स्वरूपफलवैशिष्ट्यप्रदर्शनपूर्वकं सम्पादितम्। वैदिकवाङ्मये मुख्यतया विभिन्नोपनिषदि ज्ञानप्रधानयोगशास्त्रीयोपनिषदां प्रयोगप्रधानयोगशास्त्रीयोपनिषदाञ्च विभेदनं प्रदर्श्य प्रयोगप्रधानोपनिषदि व्यक्तविभिन्नमुद्राणां स्वरूपफलवैशिष्ट्याणि प्रदर्शितानि। अस्मिन्नैव क्रमे विभिन्नग्रन्थेषु प्राप्तप्रक्रियासाम्यत्वेऽपि विविधनाम्ना प्रदर्शितमुद्राणामभिधानविषयकभेदोल्लेखनं सारिणीपूर्वकमभिव्यक्तम्। तत्रा-भिधानविषयकभेदस्य हेतुः परम्परास्थानभाषाश्च सन्ति इत्यपि वर्णितम्। विभिन्नसम्प्रदायेषु मुख्यक्रियायाः सहायकक्रियामपि मुद्राशब्देन सङ्केतित इति प्राप्यते। अतः मुख्यक्रियासु सहायकक्रियाणामन्तर्भावत्वं प्रदर्श्य शिवोक्तदशमुद्राणामेव प्राधान्यमिति प्रस्थापितम्।

चतुर्थाध्यायसारांशः

मुद्राणां प्रभावस्तदुद्देश्यावयवाश्चेति चतुर्थाध्याये शारीरिकमानसिकस्तरयोः विभिन्नमुद्राणां विभिन्नरोगेषु प्रभावप्रतिपादनक्रमे आयुर्वेदोक्तरोगविषयककारणमभिव्यक्तय कीदृशाः मुद्राः विभिन्नरोगेषु प्रभावयन्ति इति कारणपुरस्सरमभिव्यक्तम्। वस्तुतो देहाग्नि-विवर्द्धनत्वात् शरीरस्थविभिन्नकफपित्तवातसम्बद्धसर्वे रोगाः स्वयमेव नश्यन्ति। योगाग्नि-जागरणमेव रोगाणां शमने मुख्यत्वं भजते। अस्मिन्नैव क्रमे मुद्राणां मुख्योद्देश्यं दिव्यदेह-प्राप्तिरिति व्यक्तात् पूर्वं मुद्रायाः क्रमिकौचित्यं प्रदर्शितम्। कथं मुद्रा प्रयोजनवती वर्त्तते आसनतः प्राणायामे प्रवेशाय इत्यपि शास्त्रतर्कसम्मतरीत्या व्यक्तम्। नादानुसन्धाने प्रवेशाय उत लक्ष्यप्राप्तये मुद्राणामौचित्यं केन विधिना प्राबल्यमर्हति? शाम्भवीमुद्राया अत्र व्यवस्थितस्वरूपमुद्घाटितम्। मुख्यलक्ष्यविषयकयथार्थपक्षस्यापि अत्यन्तविस्तृतवर्णनं सम्पादितम्। स्वकीयात्मबोधे सततजागरणाय विशिष्टदेहस्य परमप्रयोजनं कारणस्वरूपपुरस्सरं वर्णितम्। चेतनायाः समग्रविस्ताराय दिव्यदेहं प्रमुखं वर्त्तत इति शास्त्रतर्कसम्मतरीत्या-भिव्यक्तम्। मुद्राणां सहायकावयवाख्योपप्रकरणे षट्कर्माणि सन्दर्भे दिव्यजनसेवित-वायुनेतिवायुधौतिमहानौलिकर्मणां योगपरम्परायां प्राप्तगुप्तक्रियाणाञ्च विस्तृतवर्णनं कृतम्। अनेन सह सामान्यरीत्या लोके व्यक्तासनानि अपि सारिणीद्वारा प्रदर्शितानि इत्यलम्।

पञ्चमाध्यायसारांशः

साम्प्रदायिकमुद्रास्वरूपौचित्यञ्चेति पञ्चमाध्याये विभिन्नसम्प्रदायेषु प्राप्तमुद्राणां स्वरूपमिति उपप्रकरणे मुख्यतया शैवशाक्तवैष्णवसम्प्रदायेषु व्यक्तहस्ताश्रितमुख्यमुद्राणां सविस्तारतया अन्याः नामोल्लेखपूर्वकं प्रदर्शिताः। वस्तुतः हस्ताङ्गुलीषु विभिन्नतत्त्वानां स्थितिः वर्त्तते इति योगतन्त्राश्रितग्रन्थेऽभिव्यक्तं परिदृश्यते। नैकतत्त्वैः सह प्राणानां सम्बन्धो वर्त्तते। अतः तत्त्वप्राणानामदृश्यः परञ्च विशिष्टसम्बन्धेति विस्तारतया प्रदर्श्य सर्वासु हस्ताश्रितमुद्रासु अपि योगाश्रितमुद्रावत् प्रभावो भवितुं शक्यते इति सम्भावना प्रदर्शिता।

अस्मिन्नैव क्रमे सामान्यमानवजीवने मद्राः कीदृश्यः प्रभावकारिण्यः भवन्ति इति लोकोपयोगिपक्षस्य विभिन्नशारीरिकमानसिकात्मिकस्तरेषु विभज्य सम्यक्तया तर्कपूर्वकञ्च प्रतिपादितम्। अत्रैव मानवजीवनस्य परमौचित्यप्रदर्शनपूर्वकं सर्वेषां कृते मुद्राणामाचरणं कियन्महत्त्वपूर्णं वर्त्तते इत्यपि शास्त्रतर्कसम्मतरीत्या प्रदर्शितम्।

षष्ठाध्यायसारांशः

मुद्राविषयकभ्रमनिरसनम्, फलश्रुतियथार्थत्वञ्चेति षष्ठाध्याये लोके मुद्राविषयक-व्याप्तभ्रमाणां निस्तारतया सविस्तारं प्रदर्श्य शास्त्ररीत्या एवञ्च योगसम्प्रदायेषु प्राप्तभ्रमनाशक-तर्करीत्या शमनं सम्पादितम्। अत्र मुख्यतया खेचरीवज्रोलिशाम्भवीमुद्राविषयकभ्रमान् लोके एतद्विषयकभ्रमाधिक्यात् एवोपस्थापितम्। शास्त्रगुरुवाक्येषु विश्वासात्मकप्रसिद्ध-सनातनपरम्परासूत्रस्य लोके अनादरं दृष्ट्वा शास्त्रोक्तफलश्रुतेरुत्पत्तिः सकारणं विचार्य कथं कस्मात् कारणात् फलश्रुतौ उक्तपक्षाणामनुभूतिर्नैव जायते? इत्यस्मिन् विषये हेतुरूपे अधिकारिविषयकप्रबलतर्कान् प्रस्तुत्य शास्त्रवचनानामप्रतिहतप्रामाणिकता प्रदर्शिता। शास्त्राचार्याणाञ्च वचनानि एव सर्वोपरि सन्ति इति प्रस्थापितम् इत्यलम्।

*****

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम्।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशनम्।।[25]

योगी अपने दोनों एड़ियों को सीवनी के पास दोनों अण्डकोषों के नीचे स्थापित करें, परन्तु इसमें सिंहासन के विपरीत क्रम में रखना चाहिए अर्थात् सीवनी के बांयें भाग में बांया एड़ी तथा दक्षिण भाग में दक्षिण एड़ी को रखना चाहिए और अपने पैरों का उभय पार्श्वभाग मुट्ठी बंधे हुए हाथों से दृढ़ता के साथ स्थिरतापूर्वक पकड़ कर आसन लगावे। यही क्रिया भद्रासन कहलाती है। यह आसन भी शारीरिक रोगों के नाश में अतिशय ही सहायक होती है।

अतः चौरासी आसनों में इन चार आसनों को मुख्य माना गया है। यह सभी आसनों में श्रेष्ठ कहलाते हैं, परन्तु इनमें भी सुखपूर्वक उपवेशन के लिए साधक हो सिद्धासन का ही उपयोग करना चाहिए, क्योंकि सिद्धासन को सर्वोत्तम माना गया है।

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं, भद्रं चेति चतुष्टयम्।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे, तिष्ठेत् सिद्धासने सदा।।[26]

मुद्रा

आदिनाथोदितं दिव्यम् अष्टैश्वर्यप्रदायकम्।
वल्लभं सर्वसिद्धीनां दुर्लभं मरूतामपि।।[27]

आदिनाथ शिव द्वारा उपदिष्ट मुद्रा ज्ञान समस्त आठ सिद्धियों को प्रदान करने वाली और सभी सिद्धों के लिए अत्यन्त प्रिय है। इनके निरन्तर अभ्यास से जो ऐश्वर्य अथवा सिद्धियों को प्राप्ति होती है, वो इस प्रकार है-

25. वही, 1/53-54
26. वही, 1/34
27. वही, 3/8

1. **अणिमा :** प्राकृतिक नियमों के विपरीत शरीर को परमाणु के तरह सूक्ष्म बनाने की सिद्धि।

2. **महिमा :** आकाश की तरह विशाल शरीर करने की सिद्धि।

3. **गरिमा :** रूई आदि लघुपरिमाण द्रव्य की पर्वत के समान गुरुता।

4. **लघिमा :** पर्वत के समान परिमाण द्रव्य की रूई के समान लघुता।

5. **प्राप्ति :** अभिलषित वस्तु का साधक के पास होना। जैसे- हाथ में चन्द्र का स्पर्श।

6. **प्राकाम्य :** इच्छा का अनभिघात, जब चाहे तब जल के समान पृथ्वी में डूबना और उभरना।

7. **ईशता :** पाँच भौतिक पदार्थों के उत्पाद, पालन एवं विनाश का सामर्थ्य।

8. **वशिता :** भूत एवं भौतिक पदार्थों को वश में रखना।

मुद्राओं का अभ्यास करना सभी देवताओं को भी अत्यन्त प्रिय है। इसके अभ्यास से प्राणायाम, प्रत्याहार आदि अंगों की सिद्धि में सहायता प्राप्त होता है। मुद्राओं की संख्या विभिन्न ग्रंथों में भिन्न-भिन्न स्वीकार की गयी है। घेरण्ड संहिता में 25 मुद्राओं का वर्णन प्राप्त होता है, जबकि हठयोग प्रदीपिका में इनकी संख्या 10 बतायी गयी है। यहाँ हम हठयोग प्रदीपिका में वर्णित 10 मुद्राओं का वर्णन करेंगे।

महामुद्रा, महाबन्धो, महाबेधश्च, खेचरी।
उडयानं मूलबन्धश्च, बंधो, जालन्धराभिधः।।
करणी विपरीताख्या, वज्रोली, शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकम्, जरामरणनाशनम्।।[28]

28. वही, 3/6-7

1. महामुद्रा 2. महाबंध 3. महावेध 4. खेचरी 5. उड्डियान 6. मूलबन्ध 7. जालन्धर बन्ध 8. विपरीतकरणी 9. वज्रोली एवं 10. शक्तिचालन- ये दश मुद्रायें मुख्य कहलाती हैं जिनके निरन्तर अभ्यास से ऊपर वर्णित सिद्धियाँ शीघ्र ही प्राप्त हो जाती हैं। हठयोग प्रदीपिका में इस मुद्रा अभ्यास के ज्ञान को गोपनीय रखने की बात कही गयी है। कहा गया है कि इसे उसी प्रकार गुप्त रखना चाहिए जिस प्रकार कोई गृहस्थ अपने रत्न-आभूषण को पेटी में सबसे छुपा कर रखता है।

भगवान् शिव देवी पार्वती से कहते हैं कि हे देवि! मैंने तुम्हारे समक्ष जिन मुद्राओं का नाम उल्लेख किया है, जिनके जानने मात्र से ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इन मुद्राओं को प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिए अर्थात् किसी को भी अर्थात् जो इसके लायक नहीं हैं उसको प्रदान करने योग्य नहीं है। देवताओं के लिये भी यह दुर्लभ है। ये सभी मुद्रायें योगियों के लिए प्रीतिदायक हैं।[29]

1. महामुद्रा

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीडय दक्षिणम्।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढ़म्।।
कण्ठे बन्धं सामारोप्य धारयेद् वायुमूर्ध्वतः।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।।[30]

साधक अपने बायें पैर की एडी से योनि स्थान को दबाकर, अपने दाहिने पैर को फैलाते हुए तथा दाहिने पैर की एडी का धरती से स्पर्श कराते हुए उसी पैर के अंगूठे के अग्रभाग को दोनों हाथों की तर्जनी अंगुलियों से दृढ़ता से पकड़े, फिर कण्ठ में जालन्धर बंध

29. घेरण्ड संहिता, पृ0 31
30. ह0 प्र0 3/10-11

लगाकर वायु को सुषुम्ना में ग्रहण करे। जिस प्रकार कुण्डली लगाकर बैठा हुआ सर्प, दण्ड का आघात पाकर दण्ड की तरह लम्बा (सीधा) हो जाता है, उसी प्रकार इस क्रिया के अभ्यास से आधारशक्ति कुण्डली भी तत्काल सीधी हो जाती है। तब इडा एवं पिंगला पर आधृत उस कुण्डली की यह स्थिति मरणावस्था कहलाती है, क्योंकि सुषुम्ना में जब प्राणवायु का संचार हो जाता है तब इडा और पिंगा नाड़ियाँ मृत हो जाती हैं।

इस महामुद्रा की विशिष्टता को अभिव्यक्त करते हुए शिवसंहिता में भगवान् शिव ने माता पार्वती से कहा है कि जो मन्द भाग्य वाले साधक होते हैं वो भी इस महामुद्रा के अभ्यास से सिद्धियों को प्राप्त कर सकते हैं। इसके अभ्यास स्वरूप शरीर के अन्तर्गत स्थित समस्त नाड़ियों का समूह स्वतः परिचालित होने लगती है एवं जीवन के लिए संजीवनी स्वरूप शुक्र स्तम्भित होकर जीवन को भी अवस्थित रखता है। इसके प्रभाव से समस्त पापों एवं रोगों का नाश हो जाता है, शरीर कान्तिमान होता है, जरा-मरण का विनाश होता है, मन वान्छित फल एवं आनंद की प्राप्ति होती है तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होता है। इस मुद्राभ्यास के परिणामस्वरूप साधक संसार-समुद्र को पार करने में समर्थ होता है तथा सिद्ध हो जाने पर यह मुद्रा समस्त कामनाओं को प्रदान करने वाली है।[31]

2. महाबन्ध

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।।
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम्।
निष्पीडय वायुमाकुंच्च मनोमध्ये नियोजयेत्।।[32]

31. घे0 सं0, पृ0 33
32. ह0 प्र0 3/19-20

साधक पूर्वोक्त विधि से अपने बायें पैर की एडी को योनिस्थान में स्थापित कर अपने दाहिने पैर को बायें पैर पर रखें। फिर अपने ठोडी को हृदय स्थान पर स्थापित करते हुए प्राणवायु को खींचकर मध्यनाड़ी सुषुम्ना में स्थापित करे। इस प्रकार ऐसे ही कुम्भक प्राणायाम करते हुए अन्त में उस वायु का रेचन करें। आगे इसी क्रिया को दाहिने पैर से शुरु कर दोहरायें।

इस महाबन्ध के निरन्तर अभ्यास से साधक को महासिद्धियों को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करता है। यह साधक के मृत्युपाश को ढीला करने वाला माना गया है। इस मुद्रा के अभ्यास से तीनों नाड़ियों का संगम हो जाता है। अतः यह बंध गंगा, यमुना एवं सरस्वती के संगम वाले तीर्थराज प्रयाग की शोभा प्राप्त करता है तथा यह साधक के मन को शिव स्थान केदार तक पहुँचाने में समर्थ होता है।[33]

3. महावेध

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषः विना।
महामुद्रा-महाबन्धौ निष्फलौ वेध वर्जितौ।।
महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया।।[34]

जिस प्रकार लोक में रूप एवं आभा से सम्पन्न किसी युवति स्त्री का वह मनोहारी रूप एवं लावण्य तब तक व्यर्थ ही माना जाता है जब तक उस स्त्री का कोई पति न हो, वैसे ही महामुद्रा महावेध मुद्रा के बिना ये उपर्युक्त महाबन्ध एवं महामुद्रा भी साधक के लिए निरर्थक ही माने जाते हैं।

33. वही, पृ0 53
34. वही, 3/25-26

सर्वप्रथम महाबंध मुद्रा का साधक एकाग्रचित्त होकर नासिका द्वार से पूरक प्राणायाम कर कण्ठमुद्रा से इस वायु का ऊर्ध्वगमन एवं अधोगमन रोक कर, अपने दोनों हाथों की हथेलियों को समतल धरती पर टिकाकर तथा बायें पैर की एडी को योनि में लगाकर साधक अपने नितम्बों को ऊपर उठा उठाकर बार-बार भूमि पर पटके। इस अभ्यास से साधक की प्राणवायु इडा एवं पिंगला को त्यागकर सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है यही क्रिया 'महावेध' कहलाती है।

योग को जानने वालों में वही योगी सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है, जो महावेध मुद्रा का अनुष्ठान करते हुए महाबन्ध और मूलबन्ध मुद्राओं का भी आचरण प्रतिदिन करें। ऐसा करने वाले योगी साधक को न तो मृत्यु का भय होता है और न ही बुढ़ापा उस पर अपना प्रभाव डाल सकती है। ये तीनों मुद्रायें ही साधकों द्वारा यत्नपूर्वक गोपनीय रखने का उपदेश दिया गया है अर्थात् जो कोई इसका सत्पात्र लगें उसी के समक्ष इसे प्रकाशित करना चाहिए।[35]

4. खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।
छेदन-चालन-दोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत् तावत्।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः।।[36]

जिह्वा के निम्न भाग में अवस्थित नाड़ी का छेदन करते हुए उसके अग्रभाग का प्रतिदिन परिचालन करने के साथ-साथ मक्खन की सहायता से उसका दोहन करते हुये लोहे की चीमटी द्वारा जिह्वा को खींचना चाहिए। इस क्रिया का प्रतिदिन अभ्यास करने से जिह्वा की

35. घे0 सं0, पृ0 39
36. ह0 प्र0 3/32-33

लम्बाई बढ़ती है। यह अभ्यास तब तक करे जब तक जिह्वा इतनी लम्बी हो जाये कि दोनों भौंहों के मध्य भाग को स्पर्श करने लगे, तब उसे धीरे-धीरे तालु के भीतर समाविष्ट करना चाहिए। तालु के मध्य भाग में अवस्थित गड्ढ़े में ले जाकर जिह्वा को ऊपर की ओर उलट कर प्रविष्ट करने के पश्चात् दोनो भौहों के मध्य भाग में अपनी दृष्टि को स्थिर करने की क्रिया ही 'खेचरी' मुद्रा कहलाती है।

जो साधक इस खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते हैं, उनके ऊपर मूर्च्छा, भूख, प्यास तथा आलस्य का कभी कोई प्रभाव नहीं होता, साथ ही उनपर कभी किसी रोग का भी प्रभाव नहीं पड़ता, न ही बुढ़ापा उनको प्रभावित करता है। मृत्यु का भय भी समाप्त हो जाता है तथा साधक देवशरीर तुल्य हो जाता है। उन्हें न तो अग्नि जला सकती है, न वायु उसे सुखाने में समर्थ हो पाती है। न तो जल उनके शरीर को गीला कर पाता है और न ही उन पर सर्प के दंश का कोई असर होता है। उनके शरीर में अलौकिक लावण्य का प्रादुर्भाव हो जाता है और वो निश्चित रूप से समाधि योग को प्राप्त कर लेते हैं।[37]

5. उड्डीयान बन्ध

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्माद् उड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहतः।।
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदैव स्यात्, तत्र बन्धोऽभिधीयते।।[38]

नाभि के ऊपर उदरभाग के पीछे की तरफ अर्थात् भीतर की ओर बलपूर्वक खींचने और प्राणवायु को उठाने पर सुषुम्ना में प्राणवायु आकाश मार्ग से जाता है, तब साधक को

37. घे0 सं0, पृ0 40
38. ह0 प्र0 3/55-56

गरुड़ के समान आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसी कारण इसको 'उड्डीयान बन्ध' कहा जाता है। यह बंध मृत्युरूपी गज के लिए सिंह के समान होता है।

जो योगी प्रतिदिन चार बार इस बन्ध का अभ्यास करता है, उनको नाभिशुद्धि एवं मरूत सिद्धि की प्राप्ति होती है। निरन्तर छः मास तक अभ्यास करने से योगी मृत्यु को भी पराजित करने में समर्थ हो जाता है। अतः बुद्धिमान साधक को गुरु से उपदिष्ट होकर अत्यन्त दुर्लभ इस बंध का अभ्यास करना चाहिए।[39]

दत्तात्रेय संहिता में तो यहाँ तक कहा गया है कि इस बन्ध के सतत् अभ्यास से मनुष्य वृद्धत्व से मुक्त होकर पुनः यौवन को प्राप्त कर लेता है-

अभ्यसेद्यस्तु सत्त्वस्थो वृद्धोऽपि तरूणायते।
षण्मासमभ्यसन्मृत्युं जयत्येव न संशयः।।

6. मूलबन्ध

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोडभिधीयते।।[40]

साधक को अपने पैर की एडी से योनि भाग पूर्णतः दबा कर गुदा को संकुचित करके, अपानवायु को ऊपर की ओर खींचे। इसी क्रिया को मूलबंध कहा जाता है।

आशय यह है कि गुदमार्ग को एड़ी से पीड़ित कर सम्यक् प्रकार से नियन्त्रित करते हुए अपान वायु को बलपूर्वक धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने का अभ्यास करने का नाम ही 'मूलबंध' है।

39. घे0 सं0, पृ0 35
40. ह0 प्र0 3/61

अतः जो साधक संसाररूपी प्रकृत सागर को पार करने की कामना रखते हैं, उन्हें एकांत स्थान पर गुप्त रूप से अवस्थित होकर इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इसका अभ्यास करने से निश्चित रूप से अभ्यासी को मरूत् सिद्धि की प्राप्ति होती है; अतएव साधक को आलस्य का त्याग करके मौन भाव से इस मुद्रा की साधना करनी चाहिए।[41]

7. जालन्धरबन्ध

कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोड्शाधारबन्धम्।
जालन्धरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी।।[42]

कण्ठदेश का संकोचन करते हुए ठोढ़ी को हृदय पर स्थापित करना ही 'जालन्धर बन्ध' कहलाता है। इस मुद्रा के अभ्यास के फलस्वरूप सोलह प्रकार के आधारों[43] का बन्धन होता है अर्थात् कण्ठस्थान में अवस्थित जो 16 स्वरों के 16 आधार होते हैं, उनका कण्ठ संकोचन करने के परिणामस्वरूप बन्धन हो जाता है। यह मुद्रा मृत्यु को भी विनष्ट करने वाली होती है।

स्वयं सिद्ध यह जालन्धर बन्ध योगियों के लिए सिद्धि प्रदान करने वाला है, जो ज्ञानी पुरुष छः मास तक निरन्तर इसका अभ्यास करता है, वह अवश्य ही सिद्ध हो जाता है। शिवसंहिता में भी कहा गया है कि जो साधक इस बंध का अभ्यास करके सहस्त्रदल कमल से बहने वाली अमृत को अधोभाग भाग में लाकर स्वयं उसका पान करते हुये अमरत्व का लाभ प्राप्त कर लेता है।[44]

41. घे0 सं0, पृ0 37
42. वही, पृ0 3/12
43. ह0 प्र0, पृ0 66
44. घे0 सं0, पृ0 36

8. विपरीतकरणी मुद्रा

यत् किञ्चित स्त्रवते चन्द्राद अमृतं दिव्यरूपिणः।
तत् सर्व ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः।
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम्।
गुरुपदेशतो ज्ञेयम्, न तु शास्त्रार्थकोटिभिः।।[45]

नाभि स्थान में सूर्य अर्थात् इड़ा नाड़ी और तालुमूल में चन्द्र अर्थात् पिंगला नाड़ी का वास रहता है। इसी कारण सहस्त्रदल से जब पीयूषधारा का क्षरण होता है तो उस अमृतधारा को सूर्य अपना ग्रास बना लेता है, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो जाता है, लेकिन यदि चन्द्रनाड़ी द्वारा उस अमृत को अपना ग्रास बनाया जाय तो मनुष्य पर मृत्यु का आक्रमण कभी नहीं हो सकता। इसलिए इस विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग अनुसार सूर्य नाडीं को ऊर्ध्व भाग में एवं चन्द्रनाड़ी को अधोभाग में स्थापित करना चाहिए। इस मुद्रा को अन्य सभी ग्रंथों में गुप्त ही रखा गया है किसी में इसका प्रकाशन नहीं किया गया है। साधक को चाहिए कि अपने सिर को भूतल पर पूर्ण तरह से स्थापित करते हुये दोनों हाथों से भूमि को पकड़कर सावधानीपूर्वक दोनों पैरों को आकाश में ऊपर उठाते हुए सीधा खड़ा कर स्थिर हो जाये, यही क्रिया 'विपरीतकरणी मुद्रा' कहलाती है।

जो साधक इस मुद्रा का प्रतिदिन अभ्यास करते हैं, वे जरा और मृत्यु को पराजित करने में समर्थ हो जाते हैं अर्थात् अमर हो जाते हैं। ऐसे साधक सभी लोकों में सिद्ध हो जाते हैं और प्रलयकाल में भी उनका विनाश नहीं होता।[46]

---

45. ह0 प्र0 3/77-78
46. घे0 सं0, पृ0 42

9. वज्रोली मुद्रा

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसञ्चारकारणात्।।[47]

शीशे की बनी हुई लिंग में प्रविष्ट होने योग्य चौदह अंगुल लम्बी नाली बनवाकर उसको लिंग में प्रविष्ट कराने का अभ्यास करे। प्रथम दिन एक अंगुल, दूसरे दिन दो अंगुल, तीसरे दिन तीन अंगुल प्रविष्ट कराये। इसी विधि से क्रमशः वृद्धि करते हुए 12 अंगुल प्रविष्ट करें। इस प्रकार जब 12 अंगुल नाली प्रविष्ट हो जायें तो साधक का लिंगमार्ग शुद्ध होने की स्थिति में आ जाता है। तब उसी प्रकार की एक दूसरी नाली 14 अंगुल की बनवायें जिसका नाली दो अंगुल तेढ़ा हो और जिसका मुख ऊपर की ओर हो। उसे भी 12 अंगुल तक लिंग में प्रविष्ट करें, परन्तु दो अंगुल तेढ़े भाग को बाहर ही रखें। फिर स्वर्णकार की अग्निधमन शलाका के समान उस नाली के बाहर वाले भाग में मुख से फूंक मारे। इस क्रिया से लिंगमार्ग की पूर्ण शुद्धि हो जाती है। फिर उस नाली के माध्यम से लिंग से जलाकर्षण का अभ्यास करें। इस जलाकर्षण की सिद्धि होने पर वह योगी नारी समागम के अनन्तर स्त्रीयोनि में क्षरित शुक्रबिन्दु के आकर्षण का अभ्यास करें। इस शुक्रबिन्दु के ऊर्ध्वाकर्षण की सिद्धि होने पर ही 'वज्रोली मुद्रासिद्धि' मानी जाती है। यह वज्रोली मुद्रा उसी योगी को सिद्ध होती है जिसने खेचरी मुद्रा द्वारा प्राणवायु को अपने वश में कर लिया हो।

कोई नारी भी इस क्रिया को कर सकती है। यदि वो पुरुष का शुक्र अपनी योनि में खींच कर अपने रज को भी वज्रोली क्रिया से संरक्षित करने का अभ्यास कर लेती है तो वह नारी भी विद्वानों द्वारा योगिनी कहलाती है। दृव्यदृष्टि एवं त्रिकालदर्शिनी हो जाती है तथा इस मुद्रा के अभ्यास से वह निश्चित ही आकाशचारिणी भी हो जाती है। अतः यह मुद्रा का

47. ह० प्र० 3/86

अभ्यास ऐसा पुण्यप्रद प्राप्त कराने वाली है तथा विषयभोग के पूर्ण आनन्द के साथ मुक्ति प्रदान करने वाली भी है।

10. शक्तिचालिनी मुद्रा

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता।।
यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्।।[48]

मूलाधार में स्थित आत्मशक्ति रूपा परा देवता कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन फेरे में लिपटी हुई सर्पिणी के समान शयनावस्था में स्थित रहती हुई जब तक वह कुण्डलिनी शक्ति सोई रहती है, तब तक कितने प्रकार का भी योगाभ्यास करने पर भी जीव में ज्ञान का संचार नहीं हो पाता और वह जीव अज्ञानावृत पशु के समान विचरण करता रहता है।

इसलिए कहा जाता है कि जिस प्रकार ताले से बन्द दरवाजे को खोलने के लिए कुंजी (ताली) की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर साधक ब्रह्मद्वार अथवा मोक्ष द्वार को खोल देता है, जिससे उसके समस्त अज्ञान का नाश होता है और उसमें ज्ञान का संचार होता है।

शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करने के लिए सर्पप्रथम सिद्धासन पर विराजमान होकर नासिका छिद्रों द्वारा प्राणवायु को खींचते हुये बलपूर्वक उसे अपान वायु के साथ संयोजित करने का प्रयास तब तक करें जब तक वह वायु सुषुम्ना नाड़ी के भीतर जाकर प्रकाशित न हो

---

48. घे0 सं0 3/49-50

जाए तब तक अश्विनी मुद्रा द्वारा धीरे-धीरे गुह्यप्रदेश को सिकोड़ते रहना चाहिए।[49] यहीं क्रिया शक्तिचालिनी मुद्रा कहलाती है।

इस मुद्रा का प्रतिदिन अभ्यास करने से जरा-मरण का नाश हो जाता है। इसलिए सिद्धि की कामना रखने वाले साधक को इसका अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

इस प्रकार भगवान् आदिनाथ शिव ने योगशास्त्र में जो दश मुद्राओं का उपदेश दिया है, उनमें प्रत्येक मुद्रा का अभ्यास समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाली है। अतः योगी को किसी योग्य गुरु के निर्देशन में रहकर समस्त मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए और गुरु आदेशानुसार एकाग्रचित होकर, युक्त आहार विहार करते हुए हठयोग साधना में प्रवृत्त होना चाहिए, तभी साधक अणिमादि अष्टसिद्धियों को प्राप्त कर मृत्यु पर विजय पाने में समर्थ हो पाता है।

प्रत्याहार

यतो यतो मनश्चिरति मनश्चचंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येत वशं नयेत्।।[50]

प्राणी का मन जैसे-जैसे विचरण करता रहता है, वैसे-वैसे ही वह चंचल एवं अस्थिर भी होता जाता है, अतः उन-उन विषयों से मन को नियन्त्रित करते हुए मन को अपने वश में करना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है कि मनुष्य का मन अत्यन्त चंचल एवं अस्थिर रहता है, जबकि योग साधना के लिये मन का वशीकरण अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए सर्वप्रथम साधक को अपने मन की चंचलता को नियन्त्रित करने का उपदेश दिया गया है।

49. वही, 3/54-55
50. घे0 सं0 4/2

हठ योग की साधना का मुख्य लक्ष्य शक्ति रूप कुण्डलिनी को जाग्रत कर षट्चक्र भेदन द्वारा सहस्त्रार चक्र में शिव के साथ कुण्डलिनी शक्ति के योग पूर्वक कैवल्य की प्राप्ति है। यद्यपि कुण्डलिनी शक्ति अपने मूल रूप में चेतन है तथापि प्रबुद्ध न होने की अवस्था तक जीव को सांसारिक द्वन्द्वों से भ्रमित करने के कारण बन्धकारिणी है तथा जाग्रतावस्था में शिव के स्वरूप का ज्ञान कराकर योगियों को मोक्ष प्रदान कराने वाली है।[250] इसी प्रकार घेरण्ड संहिता में भी उल्लिखित है कि जब तक देह में कुण्डलिनी शक्ति निद्रित है, तब तक जीवात्मा पशु के समान (अज्ञानी) है। भले ही करोड़ प्रकार की योग साधना क्यों न की जाए। ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।[251] अतः ब्रह्मद्वारमुख पर सोई हुई कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।[252]

कुण्डलिनी स्वरूप :-

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[253], दर्शनोपनिषद्[254] तथा शाण्डिल्योपनिषद्[255] के अनुसार नाभि स्थल से दो अंगुल नीचे अष्ट प्रकृति (पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार) से युक्त वह कुण्डलिनी शक्ति निवास करती है अर्थात् आठ कुण्डल बनाकर कन्द को घेरे हुए हैं और वायु तथा अन्न-जल के संचार को रोकती रहती है। यह कन्द को चारों ओर से घेरे हुए ब्रह्मरन्ध्र के मुख को अपने मुख से ढकी रहती

---

250. कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानां यस्ता वेत्ति स योगक्ति।। गोरक्ष शतक - 56
251. यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवो पशुर्यथा।
ज्ञानं न ज्ञायते तावन् कोटि योगं समभ्यसेत।। - घेर. सं. 3/50
252. तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वार मुखे सुप्तां मुद्राभ्यांस समाचरेत्।। ह. यो. 3/5
253. प्राणाधिरूढश्चरति जीवस्तेन विना न हि।
तस्योर्ध्वे कुण्डली स्थानं नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः।।
अष्टप्रकृतिरूपा सा चाष्टधा कुण्डलीकृता।
यथावद्वायुसंचारं च जलान्नादि च नित्यशः।।
परितः कन्दपार्श्वे तु निरूध्यैव सदा स्थिता।
मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं तथा।।
योगकालेन मारुता साग्निना बोधिता सती।
स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा मोहज्जवला।। त्रिशिखि. मन्त्र. 62-65
254. दर्शनो. - 4/11-13
255. शाण्डि. - 1/4/8

है। योगाभ्यास द्वारा यह कुण्डलिनी शक्ति पवन द्वारा जाग्रत होकर अग्नि के समान हृदयाकाश में नाग रूप से अत्यन्त उज्ज्वल स्फुरित होती है।

योगकुण्डल्योपनिषद्[256], ध्यानबिन्दूपनिषद्[257] तथा योगशिखोपनिषद्[258] के अनुसार सत्त्वमयी बुद्धि से प्राणायाम का अभ्यास करते हुए चित्त सुषुम्ना में संलग्न रहता है और उसमें (सुषुम्ना) प्राणवायु दौड़ता है। जब मलशोधन हो जाए और प्राण चलने लगे तब प्रयत्नपूर्वक अपान की गति ऊर्ध्वगति करते हुए (गुदा आंकुचन द्वारा) अपान ऊपर आकर अग्नि के साथ संयुक्त होता है और ऊपर चढ़ता है। जब वह अग्नि प्राण स्थान में पहुँच कर प्राणवायु से मिलकर सोती हुई कुण्डलिनी को प्राप्त होती है तो उसकी उष्णता से तप्त होकर तथा वायु से चालित होकर कुण्डलिनी सीधी हो जाती है और सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है।

तीनों ग्रन्थियों (ब्रह्म, विष्णु तथा रुद्र) का भेदन करते हुए कुण्डलिनी का सहस्रार गमन :-

योग कुण्डल्योपनिषद्[259] तथा योगशिखोपनिषद्[260] के अनुसार रजोगुण से उत्पन्न ब्रह्मग्रन्थि को भेदकर यह कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के भीतर विद्युत रेखा के समान चढ़ती है। शीघ्र ही यह हृदय स्थित विष्णु ग्रन्थि को प्राप्त होती हुई और भी ऊपर (आज्ञा चक्र) जाती है और रुद्र ग्रन्थि को प्राप्त होती है। यहाँ से वह भौहों के

---

256. प्राणाभ्यासततः कार्यो नित्यं सत्त्वास्थया धिया। सुषुम्ना लीयते चित्तं न च वायुः प्रधावति।।
शुष्के भले तु योगी च स्याद् गतिश्चालिता ततः। अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूल बन्धोऽयमुच्यते। अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति।।
प्राण स्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम्। मिलित्वा कुण्डली याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः।।
तेनाग्निना च संतप्ता पवनेनैव चालिता। प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्नावदनान्तरे।। योग कुण्ड. - 1/62-66

257. ध्यान. 70-73

258. यो. शिखो. 5/36-37

259. ब्रह्मग्रन्थिं ततोभित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम्। सुषुम्नावदने शीघ्र विद्युल्लेखेत संस्फुरेत्।।
विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता। ऊर्ध्वं गच्छति यच्चास्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम्।
भ्रुवोर्मध्यं तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम्। अनाहताख्यं यच्चक्रं दलैः षोडशभिर्युतम्।।
तत्र शीतांशुसंजातं द्रव शोषयति स्वयम्। चलिते प्राणवेगेन रक्तं पित्तं रविर्ग्रहात्।।।
यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते शुद्धश्लेष्मद्रवात्मकम्। तत्र सिक्तं ग्रसत्युष्णं कथं शीतस्वभावकम्।।
तथैव रभसा शुक्लं चन्द्र रूपं हि तप्यते। ऊर्ध्वं प्रवहति क्षुब्धा तदैवं स्त्रवतेतराम्।।
तस्यास्वादवशाच्चित्तं बहिष्ठं विषमेषु यत्। तदेव परमं भुक्त्वा स्वस्थस्यात्मरतो युवा।।
प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली। क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते।।
इत्यधोर्ध्वरजः शुक्ले शिवे तदनु मारुतः। प्राणापानौ समौ याति सह जातौ तथैवच।
- योग कुण्ड. 1/67-75

मध्य स्थान को भेदती हुई चन्द्र मण्डल में पहुँचती है, जहाँ सोलह पंखुड़ियों वाला अनाहत चक्र है। यहाँ चन्द्रमा से उत्पन्न द्रव को सोख लेती है तथा प्राण वायु के वेग से रक्त और पित्त को सूर्य ग्रहण कर लेता है। यह चन्द्र मण्डल में जाकर वहाँ के द्रव पदार्थ को शोषण कर लेती है और उसे उष्ण कर देती है। (तब वहाँ शीतलता नहीं रह पाती) वह चन्द्रमा के शुक्ल रूप को तप्त कर देती है और क्षुब्ध होती हुई ऊपर चढ़ती है। इसके प्रभाव से जो चित्त पहले बाहरी पदार्थों में संलग्न था वह अब अमृतत्व का पान कर आत्मानन्द का उपभोग करने लगता है। इस प्रकार अष्ट प्रकृति से युक्त कुण्डलिनी शिव के साथ मिल जाती है और उसी में लीन हो जाती है। इसका अध ोभाग रज और ऊपर का शुक्ल मिलकर शिव में लीन हो जाते हैं और प्राण तथा अपान भी उसी में लीन हो जाते हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपरक, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा चक्रों से (सुषुम्ना ग्रन्थियों से) अग्नि नाड़ी सुषुम्ना, गर्भ में स्थित ब्रह्मनाड़ी में प्रवाहमान जागृत, ऊर्ध्वगामिनी कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा पारगमन (भेदन) की क्रिया इस अंग में सम्पन्न होती है।[261]

ध्यान बिन्दूपनिषद्[262] तथा योगचूड़ामण्युपनिषद्[263] में भी कुण्डलिनी जाग्रत होने से मोक्ष द्वार खुल जाते हैं। जिस ब्रह्मद्वार से निष्पाप होकर जाना पड़ता है, उसी द्वार को मुख से ढककर यह परमेश्वरी शक्ति सोई हुई है। वह्नियोग से जागृत होकर मन और प्राण सहित वह 'सुषुम्ना' में होकर सुई के समान ऊपर की ओर चलती है। सर्वप्रथम हाथों को सम्पुटित करके दृढतापूर्वक पद्मासन लगाकर, ठोड़ी से वक्षस्थल को दबाकर, ब्रह्म का चित्त में ध्यान करते हुए अपान वायु को बारम्बार ऊपर की ओर चलाता हुआ एवं खींची हुई प्राण वायु को नीचे

260. योगशिखो. - 1/82-87 तथा 1/112-117
261. योगः सिद्धान्त एवं साधना। पृ. 17
262. येनमार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह।।
सूचिवङ्गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया।
उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्।।
कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वाथ पद्मासनं
गांढ वक्षसि संनिधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेतसि।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयन् पूरितं
मुञ्चन् प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्ति प्रभावान्नरः।। - ध्यान. 65-69
263. योग चूड़ा - 36-40

ले जाते हुए साधक कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव को अनुभव करता है। जो योगी पद्मासन पर स्थित होकर नाड़ियों में वायु को भरकर कुम्भक द्वारा रोकता है वह निःसन्देह मुक्ति प्राप्त करता है। हठ योग में भी कुण्डलिनी जागृत करने की विधि उपरोक्त उपनिषदों के समान बताई है।[264] वह्नि योग में श्रम होने से जो पसीना निकले उसको शरीर में ही मर्दन करना चाहिए। ऐसे योगी को कटु, खट्टे, नमकीन पदार्थों का त्याग करके दूध का आहार लेना चाहिए। मिताहारी, योग-पारायण, ब्रह्मचारी एक वर्ष में ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। आठ कुण्डलों से युक्त कुण्डलिनी मूढ़ जनों के लिए बन्धन रूप और ज्ञानियों के लिए मोक्ष प्रदायिका है।[265] जिसकी कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो गई है वह मृत्यु के देवता से भी भयभीत नहीं होता।[266]

संक्षेप रूप में कहा जा सकता है कि 72,000 नाड़ियों की शुद्धि मात्र कुण्डलिनी के अभ्यास से ही हो सकती है।

---

264. हठ योग प्र. - 3/107-111

265. अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रम संजात वारिणा। कट्वम्ललवणत्यागी क्षीर भोजनमाचरेत्।।
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः। अब्दादूर्ध्वं भवेत् सिद्धो नात्र कार्या विचारणा।।
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशावशोषितः। भुञ्जते शिव संप्रीत्या मिताहारी स उच्यते।।
कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः। बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा।।
- योग चूड़ा - 41-44

266. कुंडली चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः।।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः।। ह. यो. प्र. 3/115

पद्मासनमें बैठकर दोनों करोंको जानु और उरुके बीचमेंसे पृथिवीपर स्थापन करके उसीपर कोणियोंके द्वारा ऊँचा होकर स्थिर रहनेसे कुक्कुटासन होता है।

कूर्मासन--गुल्फौ च वृषणस्याऽधो व्युत्क्रमेण समाहितौ।
ऋजुकायशिरोग्रीवं कूर्मासनमितीरितम् ॥

वृषणके नीचे गुल्फद्वयको विपरीत भावसे स्थापन करके मस्तक, ग्रीवा और शरीरको ऋजु भावसे रखनेपर कूर्मासन होता है।

मकरासन--अधस्तु शेते हृदयं निधाय
भूमौ च पादौ च प्रसार्यमाणौ।
शिरश्च धृत्वा करदण्डयुग्मे
देहाग्निकारं मकरासनं स्यात् ॥

अधोमुख होकर पृथिवीपर वक्षःस्थल स्थापनकर शयन करके पादद्वय विस्तार करते हुए करदण्डयुगलके बीचमें मस्तकको रखनेसे मकरासन होता है। इससे देहाग्नि बढ़ती है।

योगासन--उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकम् ॥
पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत्।
योगासनं भवेदेतद्योगिनां योगसाधने ॥

चरणद्वयको उत्तान करके जानुद्वयके ऊपर स्थापन करते हुए करद्वयको उत्तान भावसे आसनपर रखकर पूरक द्वारा वायु आकर्षणपूर्वक नासाग्र अवलोकन करनेसे योगासन हुआ करता है, जो योगियोंके योगसाधनमें परमोपकारी है।

योगिराज महर्षि पतञ्जलिने स्थिरसुख उत्पन्नकारी शारीरिक क्रियाको आसन करके वर्णन किया है। अतः आसन द्वारा शरीरकी दृढ़ता स्थायी होने पर तब उक्त आसनोंमें शरीरको रखनेसे स्थिर सुख उत्पन्न होकर चित्तवृत्तिनिरोधमें सहायता मिलती है। यही हठयोगके आसनोंकी असाधारण उपकारिता है।

हठयोगके तृतीय अङ्गका नाम मुद्रा है। इसके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है—

प्राणायामस्तथा प्रत्याहारा धारणध्यानके।
समाधिः साधनाङ्गानामेषां सिद्धौ हि या हिता ॥
साहाय्यमादधातीह सुकौशलभरा क्रिया।
मुद्रा सा प्रोच्यते धीरैर्योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
सहायिका भवेन्मुद्रा सर्वाङ्गानां हि काचन।
काचिच्च तत्तदङ्गानामुपकारं करोति वै ॥

CC-0. Bharat Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी ।
ताड़ागी चैव माण्डूकी शाम्भवी पञ्चधारणा ॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी ।
पञ्चविंशतिमुद्राः स्युः सिद्धिदा योगिनां सदा ॥

जिन क्रियाओंके द्वारा प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूपी साधनाङ्गोंकी सिद्धिमें सहायता प्राप्त होती है ऐसी सुकौशलपूर्ण क्रियाओंको मुद्रा कहते हैं। कोई मुद्रा इन सब अङ्गोंकी सहायता करती है और कोई-कोई इनमेंसे विशेष अङ्गोंकी सहायता करती है। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानमुद्रा, जलन्धर-बन्धमुद्रा, मूलबन्धमुद्रा, महाबन्धमुद्रा, महावेधमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, योनिमुद्रा, वज्रोलीमुद्रा, शक्तिचालिनीमुद्रा, ताड़ागीमुद्रा, माण्डूकीमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, पञ्चधारणामुद्रा, अश्विनीमुद्रा, पाशिनीमुद्रा, काकीमुद्रा, मातङ्गीमुद्रा और भुजङ्गिनी-मुद्रा, ये पचीस मुद्राएँ हैं; इनके साधनसे योगियोंको योगसिद्धि प्राप्त होती है। अब इन पचीसोंमेंसे कुछ-कुछ प्रधान मुद्राओंका वर्णन किया जाता है।

महामुद्रा—पायुमूले वामगुल्फं सम्पीड्य च यथाक्रमम् ।
दक्षपादं प्रसार्याऽथ करधार्यपदांगुली ॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं निरीक्षयेत् ।
ततः शनैः शनैरेवं रेचयेत्तं न वेगतः ॥
अनुसृत्य गुरोर्वाक्यं जानुस्थापितमस्तकः ।
वामेन दक्षिणेनापि कृत्वोभाभ्यां पुनस्तथा ॥
नाशयेत्सर्वरोगांश्च महामुद्राखुसाधनात् ।
सिद्धिदा योगमार्गस्य वदन्तीह पुराविदः ॥

वामगुल्फको पायुमूलमें लगाकर और दक्षिणपादको दण्डवत् फैलाकर दोनों हाथोंसे पादांगुलि धारणकर कुम्भक करके कण्ठ सङ्कोच करते हुए भ्रूमध्यका दर्शन करे और तदनन्तर धीरे-धीरे वायुका रेचन करे। गुरुवाक्यानुसार जानुमें मस्तक रखकर दक्षिण गुल्फ और वामपादके द्वारा पूर्ववत् करे और पश्चात् दोनों पादको दण्डवत् फैलाकर ऐसा ही करे। इस प्रकार करनेसे महामुद्राका साधन होता है जो सर्वरोगनाशक तथा योगमार्गमें सिद्धिप्रद है।

उड्डीयानबन्ध—उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्द्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ॥

CC-0. Bharat Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेशरी ॥

उदरको पश्चिमतानयुक्त करके नाभिको आकुञ्चित करनेसे उड्डीयानबन्ध होता है। गगनचारी पक्षियोंकी मुद्रापर उड्डीयानबन्धकी क्रिया बताई गई है। यह बन्ध, मृत्युरूपी मातङ्गके लिये सिंहरूप है।

जालन्धरबन्ध—कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम् ॥

कण्ठदेशको संकुचित करके हृदयपर चिबुक स्थापन करनेसे जालन्धरबन्ध होता है। इसके द्वारा और सोलह प्रकारके बन्धोंमें सहायता मिलती है।

मूलबन्ध—पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः।
नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ॥

वामगुल्फको गुह्यदेशमें और दक्षिणगुल्फको लिङ्गमूलपर दृढ़बन्धके साथ रखकर नाभिग्रन्थिको संकुचित करते हुए मेरुदण्डमें दबाकर गुह्य और लिङ्गमूलको आकुञ्चन करनेसे मूलबन्ध मुद्राका साधन होता है। यह मुद्रा जरानाशिनी, वायु-सिद्धिदायिनी तथा मुक्तिदात्री है।

महाबन्ध—वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत्।
दक्षपादेन तद्गुल्फं सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ॥
शनैः सञ्चालयेत्पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छनैः।
जालन्धरे धृतप्राणो महाबन्धो निगद्यते ॥

वामगुल्फके द्वारा पायुमूलको निरुद्ध करके, दक्षिणगुल्फके द्वारा यत्नपूर्वक वामगुल्फको दबाकर जालन्धरबन्धके द्वारा प्राणवायुको धारण करके शनैः शनैः गुह्यदेशको सञ्चालन और लिङ्गको आकुञ्चित करनेसे महाबन्धमुद्राका साधन होता है। यह मुद्रा जरामरणनाशिनी तथा सर्वकामनासाधयित्री है।

खेचरीमुद्रा—जिह्वाध नाडीं संछिन्ना रसनां चालयेत्सदा।
दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत् ॥
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।
यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये यदा भवति खेचरी ॥
रसनां तालुमध्ये तु शनैरेव प्रवेशयेत्।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥

CC-0. Bharat Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।
मुद्रामिमां साधयितुं जिह्वानियमनं पुरः॥
प्रधानं तद्धि भवति जिह्वायाश्छेदनं विना।
जिह्वाचालनतालव्यक्रिययाऽपि च सिध्यति॥
प्रच्छन्नेनं क्रिया बोध्या तन्त्रशास्त्रेषु नित्यशः॥

जिह्वाके नीचेकी नाड़ीको छेदन करके जिह्वाकी चालना करना चाहिये और नवनीतके द्वारा दोहन और लौहयन्त्रके द्वारा आकर्षण करना चाहिये। इस प्रकार नित्य अभ्यास करनेसे जिह्वा लम्बी हो जायगी और भ्रूद्वयके बीच तक चली जायगी। उस समय जिह्वाको धीरे-धीरे तालुके बीचमें प्रवेश कराकर वहाँपर कपालकुहरमें विपरीत भावसे स्थापन करके भ्रूमध्यमें दृष्टिस्थापन करनेसे खेचरी मुद्राका साधन होता है। खेचरी मुद्राके साधनके लिये जिह्वाको नियमित करना प्रथम और प्रधान कार्य है सो आवश्यक होनेपर बिना छेदनके भी हो सकता है। यह कार्य जिह्वा-चालनरूप तालव्य क्रियासे भी हो सकता है। तालव्य क्रिया अति गुप्त और केवल योगिराज गुरुदेवके मुखसे ही सीखने योग्य है। योगशास्त्रमें खेचरी मुद्राके अपूर्व फल वर्णित किये गये हैं, यथा—खेचरी साधनसे मूर्छा, क्षुधा, तृष्णा, आलस्य, मृत्युभय आदि दूर होकर योगीको दिव्यदेह प्राप्त होता है। खेचरी मुद्राके साधकको अग्नि दग्ध नहीं कर सकती है, वायु शुष्क नहीं कर सकता है, जल गला नहीं सकता है और सर्प दंशन नहीं कर सकता है। खेचरी मुद्रासे देह अपूर्व लावण्ययुक्त हो जाती है और इसकी सिद्धिसे समाधिकी सिद्धि हुआ करती है। कपाल और मुखके सम्मेलन-से रसनामें अद्भुत रसोंकी उत्पत्ति होती है जिसको खेचरीसाधक अनुभव कर सकते हैं। उनकी जिह्वामें यथाक्रम लवण, क्षार, तिक्त, कषाय, नवनीत, घृत, क्षीर, दधि, तक्र, द्राक्षा और अमृत रसका आस्वादन होता है जिससे क्षुधानाश और अपूर्व आनन्दकी प्राप्ति होती है।

विपरीतकरणीमुद्रा—नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः॥
निपुणं चन्द्रनाड्या वै पीयते यदि सा सुधा।
कर्हिचिन्नहि तस्याऽस्ति भीतिर्मृत्योर्हि योगिनः॥
ऊर्द्ध्वं च योजयेत्सूर्यं चन्द्रश्चाऽधः समानयेत्।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः।
ऊर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता॥

नाभिमूलमें सूर्यनाड़ी और तालुमूलमें चन्द्रनाड़ी विद्यमान है। सहस्रदल

CC-0. Bharat Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

कमलसे जो पीयूषधारा निकलती है उसे सूर्यनाड़ी ग्रास कर लेती है इसलिये जीव मृत्युमुखमें पतित होता है। यदि सुकौशलपूर्ण क्रिया द्वारा चन्द्रनाड़ीसे वह अमृत पान किया जाय तो कदापि मृत्युका भय योगीको नहीं हो सकता है। इसलिये विपरीत-करणीमुद्राके द्वारा योगीको उचित है कि सूर्यनाड़ीको उद्र्ध्वमें और चन्द्रनाड़ीको अधोभागमें लावे। यह मुद्रा बहुत गुप्त है। मस्तकको पृथिवीपर स्थापन करके करद्वयका आधार करते हुए पदयुगलको ऊद्र्ध्वदिशामें उठाकर कुम्भक द्वारा वायु-निरोध करने से विपरीतकरणीमुद्रा हुआ करती है।

योनिमुद्रा—सिद्धासनं समासाद्य कर्णाक्षिनासिकामुखम्।
अङ्गुष्ठतर्ज्जनीमध्याऽनामिकाभिश्च धारयेत्॥
काक्या प्राणं समाकृष्य अपाने योजयेत्ततः।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंस मनुना सुधीः॥
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य शिरोऽम्बुजे॥
स्वयं शक्तिमयो भूत्वा शिवेन योजयेत् स्वकम्।
नाना सुखं विहारं च चिन्तयेत्परमं सुखम्॥
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुवि भावयेत्।
आनन्दमानसो भूत्वा अहं ब्रह्मेति चिन्तयेत्॥

सिद्धासनमें उपवेशन करके कर्णद्वय वृद्धाङ्गुष्ठद्वय द्वारा, नेत्रयुगल तर्जनीद्वय द्वारा, नासिकाद्वय मध्यमाद्वय द्वारा और मुख अनामिकाद्वय द्वारा निरुद्ध करके काकी मुद्रा द्वारा प्राणवायु आकर्षणपूर्वक अपान वायुके साथ मिलाते हुए शरीरस्थ षट्चक्रोंमें मन ले जाकर 'हुँ' और 'हंस' इन दोनों मन्त्रोंके जप द्वारा देवी-कुलकुण्डलिनीको जगाते हुए जीवात्माके साथ मिलाकर उनको सहस्रदल कमलमें ले जाकर जब साधक ऐसा ध्यान करे, कि मैं शक्तिमय होकर सहस्रारस्थित शिवके साथ मिलित हो परमानन्दमें विहार कर रहा हूँ, शिवशक्ति-संयोगसे मैं अद्वितीय आनदरूप ब्रह्म हूँ, तब योनिमुद्राका साधन होता है। यह मुद्रा अति गोपनीय है और इसके साधनसे सकल महापाप भी नष्ट होकर योगीको समाधिकी प्राप्ति होती है।

शक्तिचालिनीमुद्रा—मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाऽऽकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगविधेरपि॥
उद्घाटयेत्कपाटं च यथा कुञ्चिकया हठात्।

CC-0. Bharat Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥
नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः ।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥
वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ॥
एवमम्बरयोगं च कटिसूत्रेण कल्पयेत् ॥
भस्मना गात्रमालिप्य सिद्धासनमथाचरेत् ।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद्बलात् ॥
तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया ।
यावद्वायुः सुषुम्नायां न प्रकाशमवाप्नुयात् ॥
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी ।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ॥
योनिमुद्रा न सिध्येद्वै शक्तिचालनमन्तरा ।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत् ॥

परमदेवता कुलकुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन फेर लगाकर भुजङ्गाकृति हो मूलाधार पद्ममें स्थित है। वह शक्ति जब तक निद्रिता रहती है, तब तक कोटि-कोटि योगक्रिया करनेसे भी जीवको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती और वह पशुवत् अज्ञानी रहता है। जिस प्रकार कुञ्चिका द्वारा द्वार उद्घाटन किया जाता है, उसी प्रकार कुलकुण्डलिनी शक्तिके जगानेसे ब्रह्मद्वार अपने आप ही खुल जाता है और इस प्रकारसे जीवको ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। वस्त्र द्वारा नाभिदेशको वेष्टनपूर्वक गोपनीय गृहमें आसनस्थित होकर शक्तिचालिनी मुद्राका अभ्यास करना उचित है, परन्तु नग्नावस्थामें रहकर खुले हुए स्थानमें कदापि यह साधन न किया जाय। वितस्तिपरिमित लम्बे और चार अंगुल चौड़े सुकोमल, धवल और सूक्ष्म वस्त्र द्वारा नाभिको वेष्टन करके उस वस्त्रको कटि-सूत्र द्वारा सम्बद्ध किया जाय। तत्पश्चात् भस्म द्वारा समस्त शरीर लेपनपूर्वक सिद्धासनपर बैठकर प्राणवायुको नासिका द्वारा आकर्षण करके बलपूर्वक अपानवायुके साथ संयुक्त किया जाय और जब तक वायु सुषुम्ना नाड़ीके भीतर जाकर प्रकाशित न हो, तबतक अश्विनी मुद्रा द्वारा शनैः शनैः गुह्य-देशको आकुञ्चित करना उचित है। इस प्रकारसे निःश्वास रोध करके कुम्भक द्वारा वायुनिरोध करनेसे भुजङ्गाकारा कुण्डलिनी शक्ति जाग्रता होकर ऊपरकी ओर चलने लगती है और पीछे सहस्रदल कमलमें पहुँचकर शिवसंयोगिनी हो जाती है। शक्तिचालिनी मुद्राके बिना योनिमुद्रामें पूर्ण सिद्धि नहीं होती है।

CC-0. Bharat Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

इस कारण आगे इस मुद्राका अभ्यास करके तत्पश्चात् योनिमुद्रा अभ्यास करने योग्य है। जो योगी प्रतिदिन इस मुद्राका अभ्यास करते हैं, अष्टसिद्धियाँ उनके करतलगत हो जाती हैं और उनको विग्रहसिद्धिकी प्राप्ति होकर उनके सब रोगोंकी शान्ति हो जाती है।

ताड़ागी मुद्रा—उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा चैव तड़ागवत्।
तड़ागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥

पश्चिमोत्तान आसनपर बैठकर उदरको तड़ागाकृति करके कुम्भक करनेसे ताड़ागी मुद्रा हुआ करती है। यह एक प्रधान मुद्रा है, जिसके द्वारा जरा और मृत्यु नष्ट होती है।

शाम्भवी मुद्रा—नेत्रान्तरं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥

भ्रूद्वयके मध्यस्थानमें दृष्टि रखकर एकान्तमना हो परमात्माके निरीक्षण करनेसे शाम्भवी मुद्रा होती है, जो सब शास्त्रमें गुप्त है। इसके साधनसे शिवभावप्राप्ति होती है।

पञ्चधारणा मुद्रा—कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम्।
धारणां वै समासाद्य किन्न सिध्यति भूतले॥
अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम्।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा॥

शाम्भवी मुद्राके वर्णनके बाद पञ्चधारणा मुद्रा कही जाती है। धारणा-सिद्धि होनेसे संसारमें क्या नहीं सिद्ध होता है? इससे नरदेहमें ही स्वर्गमें गमनागमन, मनोगति और खेचरत्व प्राप्त होता है।

पार्थिवीधारणामुद्रा—यत्तत्त्वं हरितालवर्णसदृशं भौमं लकाराऽन्वितम्,
वेदास्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थायि तत्।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणाम्॥

पृथिवी तत्त्वका वर्ण हरितालकी नाईं, इसका बीज लकार, आकृति चतुष्कोणविशिष्ट और देवता ब्रह्मा है। योगप्रभावसे इस पृथिवी तत्त्वको हृदयके बीच में प्रकाशित करके चित्तके साथ प्राणवायुको आकर्षणपूर्वक पाँच घण्टे तक धारण करनेसे पृथिवीधारणा हुआ करती है, जिसका दूसरा नाम अधोधारणा है। इसके अभ्याससे योगी पृथिवीको जय कर सकता है।

आम्भसीधारणामुद्रा—शङ्खेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं,
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।

CC-0. Bharat Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारये-
देषा दुःसहपापतापहरणी स्यादाम्भसी धारणा ॥
आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित् ।
गम्भीरेऽपि जले घोरे मरणं तस्य नो भवेत् ॥

जलतत्त्वका वर्ण शंख, शशी और कुन्दवत् धवल है। इसकी आकृति चन्द्रवत्, बीज वकार और देवता विष्णु हैं। योगप्रभावसे हृदयके बीचमें जलतत्त्वका उदय करके चित्तके साथ प्राणवायुको आकर्षण करके पाँच घण्टे तक कुम्भक करनेसे आम्भसीधारणा होता है। इस मुद्राके अभ्याससे कठिन पाप और ताप दूर होता है। आम्भसीमुद्राके ज्ञाता योगी गम्भीर जलमें पतित होनेपर भी नहीं डूबते।

आग्नेयीधारणामुद्रा—यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणाऽन्वितं,
तत्त्वं तैजसमाप्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदम् ।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा कालगभीरभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा ॥
प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ संपतेद्यदि साधकः ।
एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक् ॥

नाभिस्थल अग्नितत्त्वका स्थान है, इसका वर्ण इन्द्रगोप कीटकी नाईं, बीज रकार, आकृति त्रिकोण और देवता रुद्र हैं। यह तत्त्व तेजःपुञ्ज दीप्तिमान् और सिद्धिदायक है। योगाभ्यास द्वारा अग्नितत्त्वका उदय करके एकाग्रचित्त हो पाँच घण्टे तक कुम्भक द्वारा प्राणवायुको धारण करनेसे आग्नेयीधारणा हुआ करती है। इसके अभ्याससे संसारभय दूर होता है और यदि साधक प्रदीप्त वह्निके बीचमें पतित हो, तो भी इस मुद्राके प्रभावसे उसको कदापि मृत्यु ग्रास नहीं कर सकती।

वायवीधारणामुद्रा—यद्भिन्नाऽञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं धूम्राऽवभासं परं,
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥
इयं तु धारणामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।
वायुना म्रियते नाऽपि खे गतेश्च प्रदायिनी ॥

वायुतत्त्वका वर्ण मर्दित अञ्जनकी नाईं और धूम्रकी नाईं कृष्णवर्ण, बीज यकार और देवता ईश्वर हैं। यह तत्त्व सत्त्वगुणमय है। योगाभ्यास द्वारा इस तत्त्वका उदय करके एकाग्रचित्त हो कुम्भक द्वारा पाँच घण्टे तक प्राणवायुको धारण करनेसे वायवीधारणा सिद्ध होती है। इस मुद्राके साधनसे जरामृत्यु नाश होता

CC-0. Bharat Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

है, इसमें सिद्धिप्राप्त साधक वायुसे कदापि मृत्युको प्राप्त नहीं होते हैं और उनमें आकाशमार्गमें विचरण करनेकी शक्ति हो जाती है।

आकाशीधारणामुद्रा—यत्सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्यौमं परं भासितं,
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकाराऽन्वितम्।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणाम्॥
आकाशीधारणामुद्रां यो वेत्ति स च योगवित्।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलयेऽपि न सीदति॥

आकाशतत्त्वका वर्ण विशुद्ध सागर वारिकी नाईं, बीज हकार और देवता सदाशिव हैं। योगसाधन द्वारा इस तत्त्वको उदित करके एकाग्रचित्त हो प्राणवायु आकर्षणपूर्वक पाँच घण्टे तक कुम्भक करनेसे आकाशधारणाकी सिद्धि होती है। यह धारणा मुक्तिद्वारका उद्घाटन करती है। इसको जो जानते हैं, वे ही परम योगवेत्ता हैं, उनको मृत्यु कदापि ग्रास नहीं करती है और प्रलयकालमें भी वे जीवित रह सकते हैं।

अश्विनीमुद्रा—आकुञ्चयेद् गुदद्वारं भूयोभूयः प्रकाशयेत्।
सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिबोधनकारिणी॥

गुह्यद्वारको पुनः पुनः आकुञ्चन और प्रसारण करनेसे अश्विनी मुद्राका साधन होता है, जो शक्तिबोधनकारिणी है। इस मुद्राके द्वारा सर्वरोग नाश, बल और पुष्टि तथा अकाल मृत्युनाश होता है।

काकीमुद्रा—काकचञ्चुवदास्येन पिवेद्वायुं शनैः शनैः।
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी॥

काकचञ्चुवत् मुँह करके धीरे-धीरे वायुपान करनेसे काकीमुद्रा होती है जो समस्त रोगोंको नष्ट करती है।

मातङ्गिनीमुद्रा—कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्त्रेण चाऽहरेत्॥
नासाभ्यां रेचयेत्पश्चात्कुर्यादेवं पुनः पुनः।
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥

आकण्ठ जलमें अवस्थित होकर दोनों नाकसे जल उठाकर मुखसे निकाल देवे और पुनः मुखसे जल लेकर नाकसे रेचन करे, इस प्रकार पुनः पुनः करने पर मातङ्गिनीमुद्राका साधन होता है, जो जरा और मृत्युकी नाशकारिणी है।

भुजङ्गिनीमुद्रा—वक्त्रं किञ्चित्सुप्रसार्याऽनिलं कण्ठेन यत्पिवेत्।
सा भवेद् भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥

CC-0. Bharat Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

मुखको किञ्चित् फैलाकर कण्ठके द्वारा वायुपान करनेसे भुजङ्गिनी मुद्राका साधन होता है जो जरा और मृत्यु का नाश करनेवाली है।

पंचविंश मुद्राओंमेंसे कुछ मुद्राओंका वर्णन किया गया। अन्यान्य मुद्राएँ यथा—वज्रोली, अमरोली, सहजोली आदिका लक्षण योगिराज गुरुदेवसे ज्ञातव्य है।

मुद्राओंके साधन द्वारा योगमार्गमें अग्रसर होनेवाले साधकोंको अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। मुद्राओंके द्वारा प्राणायाम सिद्धिकी सहायता, प्रत्याहारमें सहायता, धारणामें सहायता और बिन्दुध्यानमें सहायता इस प्रकारसे अनेक क्रियाओंमें सहायता प्राप्त होती है। प्रथमतः प्राणायामकी सिद्धिमें मुद्राएँ विशेषरूपसे सहायक होती हैं और प्रत्याहार उत्पन्न करके धारणामें विशेष सहायक होती हैं। इसी कारण मुद्रा द्वारा स्थिरता उत्पन्न होती है ऐसा कहा गया है।

हठयोगके चतुर्थ अङ्गका नाम प्रत्याहार है। षट् कर्म, आसन तथा मुद्राके साधनोंमें सिद्धि प्राप्त करके गुरुआज्ञानुसार साधक प्रत्याहारका साधन करेंगे, जिसके फलसे शीघ्र ही प्रकृतिजय तथा कामादि रिपुओंका नाश हो जायगा।

श्रीभगवान्ने गीताजीमें लिखा है—

> यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
> ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

चञ्चल मन जहाँ जहाँ पर भागने लगता है उन सभी स्थानोंसे मनको हटाकर आत्मामें ही संयत करे। यही प्रत्याहारकी क्रिया है। तदनुसार हठयोग शास्त्रमें लिखा है—

> यत्र यत्र गता दृष्टिर्मनस्तत्र प्रगच्छति।
> ततः प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
> शीतं वापि तथा चोष्णं यन्मनः स्पर्शयोगतः।
> तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
> सुगन्धे वापि दुर्गन्धे घ्राणेषु जायते मनः।
> तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
> मधुराम्लकतिक्तादि रसं याति यदा मनः।
> तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

जहाँ जहाँपर दृष्टि जाती है, वहाँ मन भी जाता है। इसलिये प्रत्याहार द्वारा मनको वहाँसे हटाकर आत्मामें वशीभूत करे। शीत हो या उष्ण मन स्पर्शयोगसे विषयमें सम्बद्ध होता है, इसलिये मनको विषयसे हटाकर आत्मामें संयत करे। सुगन्ध हो अथवा दुर्गन्ध मन घ्राणेन्द्रियके योगसे विषयमें बद्ध हो जाता है, इसलिये मनको विषयसे हटाकर आत्मामें एकाग्र करे। मधुर, अम्ल, तिक्त आदि रसोंमें

CC-0. Bharat Mahamandal Collection. Digitized by eGangotri

महादेवी की नीराजना करने के अनन्तर साधकों को चाहिए कि वे देवता को चक्रमुद्रा दिखायें।

बायें हाथ की वृद्धा अंगुली के गर्भ में कनिष्ठा एवं दक्षिणवर्ती हाथ की कनिष्ठा के गर्भ में जोड़कर फिर वाम एवं दक्षिण अंगुष्ठों का संयोग करने से चक्रमुद्रा बनती है।

साधक को चाहिये कि वह इष्टदेवी को दुग्ध, दधि, पायस, मोदक, चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय, भक्ष्य एवं भोज्य आदि पदार्थ समर्पित करके तथा चुल्लूक देकर प्राणमुद्रा का प्रदर्शन करे।[1]

प्राणमुद्रा— वृद्धा, अनामा और कनिष्ठा के संयोग से प्राणमुद्रा बनती है।
अपान मुद्रा— वृद्धा, मध्यमा एवं तर्जनी से अपान मुद्रा बनती है।
व्यान मुद्रा— वृद्धा, अनामा और मध्यमा से व्यान मुद्रा बनती है।
उदान मुद्रा— कनिष्ठा से रहित समस्त अंगुलियों से उदान मुद्रा बनती है।
समान मुद्रा— सम्पूर्ण अंगुलियों के संयोग से समान मुद्रा बनती है।

प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा कहकर मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिये।

यह भी शास्त्र-विधान है कि अग्नि में देवी को समाविष्ट समझकर संहारमुद्रा द्वारा 'देवीं अग्नये स्वाहा' मन्त्र से तीन आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिये। इसी प्रकार गणदेवताओं को संहारमुद्रा से लाकर उनका पूजन करना चाहिये।

कुम्भमुद्रा लगाकर सुगन्धित जल को लेकर मूलमन्त्रपूर्वक 'अमुकं देवतां अभिषिञ्चामि' कहने के अन्त में हृदय मन्त्र लगाकर अपने सिर में समन्त्र की भावना करनी चाहिये।

साधना में योनिमुद्रा का सर्वातिशायी महत्त्व है। सृष्टि चार प्रकार की है। यह जिसकी योनि से उत्पन्न होती है, उसी में लय हो जाती है। यही योनिमुद्रा है। इसके बन्धन से सभी मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं।[2]

'शाक्तानन्दतरङ्गिणी' के अनुसार वामांगुष्ठ एवं अनामिका को युक्त करके जिस तत्त्वमुद्रा की रचना होती है, उसके द्वारा देवता के मुख में मूल मन्त्र से तीन बार तर्पण करना चाहिये। इससे द्रव्य अमृत के तुल्य हो जाता है।

मुद्रा-प्रदर्शन के साथ-साथ शरीरांग भी निर्धारित हैं; यथा—

गोरक्षनाथोपदिष्ट अष्ट मुद्रायें

गोरक्षनाथ जी ने अपनी 'अष्टमुद्रा' नामक पुस्तक में आठ मुद्राओं का उल्लेख किया है, जो निम्नांकित हैं—

---

१. कौलावलीनिर्णय। २. कौलावलीनिर्णय।

१. मूलनी	३. खीरनी	५. भूचरी	७. अगोचरी
२. जलश्री	४. खेचरी	६. चाचरी	८. उनमनी

मुद्राओं का स्वरूप—

१. मूलनी मुद्रा— अवधी यंद्रीमध्ये मूलनी मुद्रा।
काम तृष्णा ले उतपनीं काम।।

२. जलश्री मुद्रा— कामतृष्णासमो कृत्वा मुद्रा तौ भई मूलनी।
नाभी मधे जलश्री मुद्रा काल क्रोध ले उतपनी।।

३. खीरनी मुद्रा— काल क्रोध समो कृतवा मुद्रा तौ भई जलश्री।
हृदा मध्ये खीरनी मुद्रा ज्ञान दीप ले उतपनी।।

४. खेचरी मुद्रा— ज्ञानदीप समो कृतवा मुद्रा तौ भई खीरनी।
मुख मध्ये खेचरी मुद्रा स्वादबिस्वाद ले उतपनी।।

५. भूचरी मुद्रा— स्वाद विस्वाद समो कृतवा मुद्रा तो भई खेचरी।
नासिका मध्ये भूचरी मुद्रा गंध निबंध ले उतपनी।।

६. चाचरी मुद्रा— गंध विगंध समो कृतवा मुद्रा तौ भई भूचरी।
चखिमध्ये चाचरी मुद्रा दिष्टि-विदिष्टि हो उतपनी।।

७. अगोचरी मुद्रा— दिष्टि विदिष्टि समो कृतवा मुद्रा तौ भई चाचरी।
करण मध्ये अगोचरी मुद्रा सबद कुसबद ले उतपनी।।

८. उनमनी मुद्रा— सबद कुसबद समो कृतवा मुद्रा तौ भई अगोचरी।
ब्रह्माण्ड असथानि उनमनी मुद्रा परम जाति लै उतपनी।।

परम जोति समो कृतवा मुद्रा तौ भई उनमनी।
सुंनि मँडल तहाँ नीझर झरिया।
चंद सुरजि ले उनमनि धरिया।।

(चन्द्रमा और सूर्य के योग से जब उन्मनावस्था आती है, तब ब्रह्मरन्ध्र (शून्यमण्डल) में अमृत का निर्झर झरने लगता है।)

उनमनि रहिबा भेद न कहिबा पीयवा नींझर पाणी।
लंका छाडि पलंका जाइबा तब गुरमुख लेबा वाणी।।

असाध साधंत गगन गाजंत उनमनी लागत ताली।
उलटंत पवनं पलटंत वाणी अजीव पीवत जे ब्रह्मज्ञानी।।

अनहद सूं मन उनमन रहै, सो सन्यासी अगम की कहै।
बदंत गोरख रुति ते सूरिवां उनमनि मन मैं वास।।

उनमनि डांडी मन तराजू पवन कीया गदियाना।
मन पवन दो काय सुपारी उनमनी तिलक सिंदूरं।।

नासिका अग्रे भ्रूमण्डले अहनिस रहिवा थीरं।
माता गरभि जनम न आयबा बहुरि न पीयवा खीरं।।

नासा अग्र निजु ज्यौ बाई। इड़ा प्यंगुला मधि समाई।। (गो० बा०)

वज्रोली-अमरोली मुद्रा—

बजरी करंता असरी राखै अमरि करंता बाई।
भोग करंता जे व्यंद राखै ते गोरख का गुरभाई।।

खेचरी मुद्रा— मुख मध्ये खेचरी मुद्रा स्वाद विस्वाद ले उतपनी।।

भूचरी मुद्रा— नासिका मध्ये भूचरी मुद्रा गंध निबंध ले उतपनी।।

चाचरी मुद्रा— चखि मध्ये चाचरी मुद्रा दिष्टि विदिष्टि ले उतपनी।

आचार्य रामानन्द कहते हैं—

चाचरी भूचरी खेचरी अगोचरी उन्मुनी पाँच मुद्रा साधत सिद्ध राजा।।

उन्मनी मुद्रा— गोरक्षनाथ ने 'अमनस्क योग' में इसे अमनस्क कहा है—

तत्त्वस्य सम्मुखे जाते अमनस्कं प्रजायते।।

अमृतोद्दीपनी विद्या निरपाया निरञ्जना।
अमनस्का कला कापि जयत्यानन्ददायिनी।।

मत्स्येन्द्रनाथ—

१. (कौणसो पाती किहि विधि रहै)
पाँचों पाती उनमनि रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै।
२. (तामैं निहचल कैसे रहे)
तामहिं निहचल उनमन रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै।
३. रूप अरूप मन उनमनि रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै।
४. सिव सकती ले उनमन रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै।
५. सदा चेतनि मन उनमत रहै। सतगुर होइ सु बूंझां कहै।
६. गगन अस्थाने मन उनमन रहै। ऐसा बिचारि मछिन्द्र कहै।

गोरखनाथ—

१. अहनिसि मन लै उनमन रहै। गम की छाँड़ि अगम की कहै।।
२. मन पवना लै उनमनि धरिवा ते जोगी ततसारं।
३. यहु मन लै जे उनमन रहै।
तौ तीनि लोक की बातां कहै।

४. अवधू दम कौं गहिबा उनमनि रहिवा ज्यूं बाजवा अनहदतूरं।
५. छठैं छमासि काया पलटिबा तब उनमुनि जोग अपारं।
६. सुंनि मंडल तहाँ नीझर झरिया चंद सुरजि ले उनमनि धरिया।
७. उनमनि रहिबा भेद न कहिबा पीयबा नींझर पांणी।
८. असाध साधंत गगन गाजंत उनमनी लागंत ताली।
९. अनहद सूं मन उनमन रहै। सो सन्यासी अगम की कहै।
१०. बदंत गोरख सति ते सूरिबां उनमनि मन मैं बास।
११. उनमन जोगी दसवैं द्वार। नाद व्यंद ले धूँधूँकार।
१२. परचय जोगी उनमन खेला। अहनिसि रंछया करै देवता स्यूं मेला।

आचार्य रामानन्द—

१. उनमुनी दिष्टि सो भाव देखै।
२. उनमनी भरे जदद मसाल।
३. चाचरी भूचरी खेचरी अगोचरी उन्मुनी।
पाँच मुद्रा साधते सिद्ध राजा। (रामरक्षा)[1]

उन्मनी मुद्रा की प्रक्रिया— योगीश्वर गोरक्षनाथ उन्मनीकारक विधि के विधान का प्रस्तुतीकरण इस प्रकार करते हैं कि तारों (आँख की पुतलियों) को ज्योति में लगाकर भौंहों को कुछ ऊर्ध्व करना चाहिये (ऊपर चढ़ा लेना चाहिये)। यह पूर्वयोग (तारक योग) का योग-मार्ग (पद्धति) क्षण भर में उन्मनीभाव उत्पन्न कर देता है—

तारे ज्योतींषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयन् भ्रुवौ।
पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्।।[2]

समस्त चिन्ताओं से मुक्त होकर तथा सुरम्य प्रदेश में समासीन होकर योग का अभ्यास करना चाहिये। सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर, एकान्त स्थान में स्थिर होकर, समान आसन में समासीन होकर, पीछे की ओर कुछ झुककर अर्थात् तनकर, स्थिरांग होकर, सुखपूर्वक बैठकर एवं एक हाथ तक दृष्टि को स्थिर करके योग का अभ्यास करना चाहिये। इस विधि से योगाभ्यास करने से मन सुस्थिर हो जाता है और क्रमशः वायु, वाणी, देह एवं दृष्टि में स्थैर्य आ जाता है। जिसको अमनस्क योग की प्राप्ति हो रही हो और जो सब ओर से उदासीन हो, ऐसे योगी के शरीर में मृदुता एवं लघुता आ जाती है।[3]

---

१. विशेष ध्यातव्य— उन्मनी मुद्रा का उल्लेख हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता एवं शिव-संहिता में नहीं है।
२. अमनस्कयोग।
३. अमनस्कयोग।

दृश्य के विना ही जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाय, विना किसी प्रकार के प्रयत्न के जिसकी वायु स्थिर हो जाय एवं विना किसी अवलम्बन के जिसका चित्त स्थिर हो जाय; वही योगी है। वही गुरु होने के योग्य है और वही सेव्य है—

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बनं स एव योगी स गुरुः स सेव्यः।।[१]

सुखासन पर समासीन होकर परतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये। साधक को अभ्यास द्वारा परतत्त्व को प्रकाशित करना चाहिये। ये भूतात्मक जगत्, ये पञ्चभूत, यह पञ्चभूतात्मक शरीर आदि सभी वितथ हैं; अतः 'ये हैं ही नहीं'— ऐसी भावना करनी चाहिए।

सब प्रकार की चिन्ताओं से रहित होकर मन से किसी का भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। जो योगी ऐसा करता है, ऐसे योगी के बाहर एवं भीतर तत्त्व (उसके सम्मुख) उपस्थित हो जाता है अर्थात् उसे बाहर एवं भीतर सर्वत्र तत्त्व स्फुरित रूप में दृष्टिगोचर या अनुभूत होता है। तत्त्व के सम्मुख होने पर अमनस्क योग हो जाता है। अमनस्क योग की प्राप्ति होने पर चित्त आदि का सम्यक् लय हो जाता है—

(क) न किञ्चिन्मनसा ध्यायेत्सर्वचिन्ताविवर्जितः।
स बाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्वसम्मुखः।।

(ख) तत्त्वस्य सम्मुखे जाते अमनस्कः प्रजायते।
अमनस्केऽपि सञ्जाते चित्तादिविलयो भवेत्।।[२]

हठयोगप्रदीपिका में भी कहा गया है—

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तनम्।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।[३]

चित्त आदि का विलय हो जाने पर पवन (वायु) का लय हो जाता है। मन और पवन का विलय हो जाने पर इन्द्रियार्थों (पञ्च महाविषयों) का त्याग हो जाता है। इन्द्रियार्थों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) का त्याग हो जाने पर योगी को बाह्य ज्ञान नहीं रह जाता। बाह्य ज्ञान के विनष्ट होने पर वैषम्य के अभाव के कारण सर्वसाम्य हो जाता है। सर्वसाम्य होने पर साधक व्यापारशून्य हो जाता है और परब्रह्म में समाविष्ट योगी लयीभूत हो जाता है।[४]

अन्तर्मुद्रा और उन्मनी— योगिराज गोरक्षनाथ ने अमनस्क योग को अन्तर्मुद्रात्मक कहा है और इसे ही यथार्थ योग कहा है—

मुद्राद्वय— गोरक्षनाथ के अनुसार मुद्रायें दो प्रकार की हैं—

---

१. अमनस्कयोग।
२. अमनस्क योग।
३. स्वात्माराम मुनीन्द्र।
४. अमनस्क योग।

बहिर्मुद्रा (बहिर्योग) एवं अन्तर्मुद्रा (अन्तर्योग)।

पूर्वयोग या तारक योग बाह्य मुद्रा से मुक्त होने के कारण बहिर्योग है और अमनस्क योग (उन्मनी योग) अन्तर्मुद्रात्मक होने के कारक यथार्थ योग है।[१]

अमनस्क और राजयोग— गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि अमनस्क योग (उन्मनी मुद्रा से प्राप्य योग की उन्मनावस्था) ही राजयोग है—

राजयोगः स कथितः स एव मुनिपुङ्गव।
राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।।[२]

अन्तर्योग और बहिर्योग में से अन्तर्योग अमनस्क योग है। अन्तर्योगात्मक अमनस्क योग में चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक्, सोम १० इन्द्रियों और प्राणों का ज्योतिर्मण्डल में हवन करते हैं।

(क) होता = चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक्, सोम।
(ख) हव्य = (हवन-सामग्री) = २० इन्द्रियाँ।
(ग) होमकुण्ड = ज्योतिर्मण्डल।[३]

इस अमनस्क (उन्मनी भाव) की साधना हेतु पवित्र, निर्जन एवं मनोहर प्रदेश, समान आसन, कुछ तन कर बैठने की स्थिति, सुखासन, समस्त अंगों की यथास्थान स्थापना, सुस्थिर चित्तता, निश्चलता, एक हाथ आगे तक दृष्टि-स्थापन, पैर के नख से शिखापर्यन्त समस्त अंगों का शैथिल्य, आन्तर-बाह्य समस्त चिन्ताओं का त्याग, औदासीन्य, आनन्द-पूर्वक सन्तुष्टि के साथ अभ्यास, वाणी, मन एवं शरीर के क्षोभ का परित्याग तथा शिला की भाँति शरीर की सुस्थिरता (निश्चलता) होनी चाहिये।[४]

जब जहाँ पर जिस प्रकार मन स्थिर हो तब वहाँ उसी प्रकार उसको रहने देना चाहिये। उसे वहाँ से कभी नहीं हटाना चाहिये।[५]

ऐसा साधक न सोता है और न जागता है। वे स्वप्न-जागरण-विहीन होते हैं; क्योंकि स्वप्न चिदंशरहित होता है और जागरण में विषयग्रह का प्राधान्य होता है—

स्वप्ने चिदंशशून्यत्वं जागरे विषयग्रहः।
स्वप्नजागरणातीतमतस्तत्त्वं विदुर्बुधाः।।

दृष्टि जहाँ-कहीं संलग्न होती है, वहीं पर स्थिर होकर धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है। चारो ओर फैलाई हुई दृष्टि जब धीरे-धीरे प्रत्याहृत होकर पुनरावर्तित होती है, तब साधक परतत्त्व को स्वयं अपने में देखता है। जैसे सोकर उठा हुआ कोई पुरुष रसादि विषयों

---

१. अमनस्क योग (उत्तरार्ध)।
२. अमनस्क योग।
३. अमनस्क योग।
४. अमनस्क योग (५०-५७)।
५. अमनस्क योग।

का अनुभव करता है, वैसे ही योगनिद्रा के समय योगी जागता ही रहता है, इसीलिए वह 'योगी' कहलाता है—

> यथा सुप्तोत्थितः कश्चिद् विषयान् प्रतिपद्यते।
> जागर्त्येव ततो योगी योगनिद्राक्षणे तथा।।[१]

जाग्रत-स्वप्न के मध्य की स्थिति ही उन्मनी है—

> निद्राजाग्रन्मध्यभागे संविद्भेदान्तरे तथा।
> मध्ये संविद्वेद्ययोश्च सूक्ष्मबुद्ध्याऽभिलक्षय।।
>
> एतत्पदं निजं रूपं यत् प्राप्य न विमुह्यति।
> एतदज्ञानमात्रेण प्रवृत्तं जगदीदृशम्।।

मन जहाँ स्थिर होता है, वहीं नष्ट हो जाता है—

> स्थिरीभूता च यत्रैव विनश्यति शनैः शनैः।

मन के स्थिर होने पर न तो कोई विधि है और न ही कोई क्रम है—

> सदाभ्यासे स्थिरीभूते न विधिर्नैव च क्रमः।

स्थिरीकरण के लिए चिन्तन का त्याग अपरिहार्यतः आवश्यक है; क्योंकि तभी तत्त्व प्रकाशित हो पाता है; अन्यथा नहीं—

> न किञ्चिच्चिन्तयेद् योगी औदासीन्यपरो भवेत्।
> न किञ्चिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।।

इस साधना में थोड़ा-सा भी प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिये, संकल्प-कामना नहीं होनी चाहिये एवं अहं-त्वं का बोध भी नहीं होना चाहिये; क्योंकि—

> यावत्प्रयत्नलेशोऽस्ति यावत्सङ्कल्पकामना।
> अहं त्वमिति सम्प्राप्तिस्तावत्तत्त्वस्य का कथा।।

न रोका गया मन अपनी इच्छा पूरी करके अपने-आप शान्त हो जाता है तथा प्रयत्न-पूर्वक निवारित करने पर भी कभी निवृत्त नहीं होता। मन जब तक तत्त्व प्राप्त नहीं करता, तब तक इधर-उधर भागता रहता है—

> दुर्निवार्यं मनस्तद्वद्यावत्तत्त्वं न बिन्दति।

मनोवृत्ति आत्मा में सदा सुस्थिर रहती है—

> सदाभ्यासान्मनोवृत्तिस्तदात्मनि।

जो कुछ भी चराचर जगत् है, वह सब मन से दृश्य है। मन का उन्मनीभाव होने पर अद्वैत हो जाता है—

---

१. अमनस्क योग।

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत् किञ्चित्सचराचरम्।
मनसोऽप्युन्मनीभावेऽद्वैतभावः प्रकल्पते।।[१]

योगी को न तो दिन में जागना चाहिये और न ही रात्रि में सोना चाहिये; प्रत्युत उसे तो नित्य रात्रि एवं दिन में सहज तत्त्व में सोना चाहिये—

न दिवा जागरितव्यं स्वपितव्यं नैव रात्रिभागेऽपि।
रात्रावह्नि च सहजे स्वपितव्यं योगिना नित्यम्।।

अमनस्कस्वरूप सहजतत्त्व में स्थित पुरुष के विषय में दिन और रात्रि शब्द हैं ही नहीं; क्योंकि वे जागरण-शयन-वर्जित तथा चिन्मात्रानन्दावस्थित रहते हैं।

ओंकारादि विभिन्न करणों से प्राण का संयोजन, हृदयकमल में ज्योतिश्चिन्तन एवं महाशून्यालम्बन (चित्त का निरालम्बन)— इन सबका मनविभ्रम-निराकरणार्थ अवाच्य अमनस्क का सेवन करना चाहिये—

अवाच्यमेकममनस्कत्वं बुधैः सेव्यताम्।[२]

उन्मनी तो भगवती की पवित्र आख्या भी है—

सर्वयन्त्रात्मिका सर्वतन्त्ररूपा मनोन्मनी।[३]

भ्रूमध्य से अष्टम स्थान ब्रह्मरन्ध्र है और उसके नीचे मनोन्मनी उन्मनी है—

भ्रूमध्यादष्टमं स्थानं ब्रह्मरन्ध्रादधस्तनं मनोन्मनीम्।

उन्मनी का जन्म— सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी।[४] स्वच्छन्दतन्त्र में उसका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

या शक्तिः कारणत्वेन तदूर्ध्वं चोन्मनी स्मृता।
नात्र कालकलामानं न तत्त्वं न च देवता।।

सुनिर्वाणं पदं शुद्धं रुद्रवर्णं तदुच्यते।
शिवशक्तिरिति ख्याता निर्विकल्पा निरञ्जना।।

त्रिपुरोपनिषद् में कहा गया है कि उन्मनीभाव परमपद है—

निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम्।।

उन्मनी मुद्रा— योगशास्त्र में उन्मनी एक मुद्रा भी है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

नेत्रत्रयोन्मेषनिमेषमुक्ते वायुर्यया वर्णितरेचपूरः।
मनश्च सङ्कल्पविकल्पशून्यं मनोन्मनी सा मयि सन्निधत्ताम्।।

बृहन्नारदीय पुराण में कहा गया है—

---

१. अमनस्क योग।
२. अमनस्क योग।
३. ललितासहस्रनाम।
४. सौभाग्यभास्कर।

ध्यानध्यातृध्येयभावो यदा पश्यति निर्भरम्।
तदोन्मनत्वं भवति ज्ञानामृतनिषेवणात्।।

उन्मनी अद्वैतभाव की स्थिति है; क्योंकि—

मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते।।[१]

उन्मनी नमस्कार्य है; इसीलिए हठयोगप्रदीपिकाकार कहते हैं—

मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने।।

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि तत्त्व (चित्त) ही बीज है (क्योंकि चित्त ही उन्मनी-रूप अंकुर है)। प्राणापान की एकता रूप हठयोग उसका क्षेत्र है। औदासीन्य जल है। उसी से उन्मनी कल्पलतिका का जन्म होता है—

तत्त्वं बीजं हठ: क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभि:।
उन्मनीकल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते।।[२]

मन-उन्मन लययोग सन्तों में पर्याप्त रूप में मिलता है। मन को उन्मनरूपी परमात्मा में लीन करने से मन निर्मल हो जाता है, सन्त कवि दादूदयाल कहते हैं कि जैसे मैले मन को शुद्ध मन से धोकर स्वच्छ किया जाता है, उसी प्रकार इस मन को उन्मनी में लीन करके पूर्ण निर्मल करना चाहिये। उन्मनी ध्यान एवं उन्मनी मुद्रा— दोनों ही उन्मन योग के लिए आवश्यक हैं। दादूदयाल कहते हैं कि वैरागी योगी सदैव उन्मनी ध्यान में ही लीन रहता है— 'जुगिया बैरागी बाबा रहै अकेला उन्मनी लागा।' मन को अन्तर्मुखी करने पर ही उन्मनी ध्यान लगता है। कबीर कहते हैं कि लोग परमात्मा को बाहर ढूँढ़ने में सारा जीवन नष्ट कर देते हैं; किन्तु उन्मनी ध्यान से उसकी प्राप्ति शरीर के भीतर ही हो सकती है। उन्मन ध्यान ही क्रमश: धीरे-धीरे उन्मन समाधि में परिणत हो जाता है। कबीर कहते हैं कि उन्मनी ध्यान में संलग्न रहने से मन थक गया है। सहज समाधि लग गई है। किसी बात का वर्णन नहीं किया जा सकता। उन्मन ध्यान घर के भीतर ही है— 'बाहर खोजत जनम गँवाया। उन्मन ध्यान घट भीतर पाया।'

उन्मनी ध्यान का साफल्य केवल उन्मनि मुद्रा पर ही आश्रित है। मन का अन्तर्मुखी-करण ही उन्मनी मुद्रा है। कबीर कहते हैं कि साधक को चाहिये कि मन को अन्तर्मुखी करके उन्मनी मुद्रा लगाये। उन्मनी मुद्रा में उन्मन ध्यान करने से मन शून्य में प्रविष्ट हो जाता है। यही 'मन उन्मन लय योग' है। यही 'मन शून्य लय योग' है।

मन-उन्मन योग में मन का परिष्करण आवश्यक है। उन्मनी मुद्रा में मन को अन्तर्मुखी करना होता है। ज्ञान एवं सदाचार के विना मन अन्तर्मुखी हो ही नहीं सकता। मन ज्ञान एवं सदाचार से शुद्ध होने पर उन्मनी ध्यान में लीन हो जाता है। कबीर कहते है कि

---

१. हठयोगप्रदीपिका। २. हठयोगप्रदीपिका।

साधक उन्मनी समाधि में लीन होकर गगन में रसास्वादन किया करते हैं। मन को ब्रह्म-रन्ध्र में केन्द्रित करना मनशून्य योग है। सन्तों की दृष्टि में शून्य में ध्यान का केन्द्रीयकरण ही उन्मनी मुद्रा है।

सन्तों ने भी अगोचरी, भूचरी, चाचरी, खेचरी, शाम्भवी एवं उन्मनी मुद्राओं का उल्लेख किया है। सन्तों के मत में (यथा— सन्त यारी के मत में)—

१. त्रिकुटी में दामिनी जैसी ज्योति पर मन का केन्द्रीयकरण 'चाचरी' मुद्रा है।
२. मस्तक में ज्योति का दर्शन करना 'भूचरी' मुद्रा है।
३. गगनगुफा या ब्रह्मरन्ध्र में ज्योति-ध्यान 'खेचरी' मुद्रा है।
४. शून्य में ध्यान का केन्द्रीयकरण 'उन्मनी' मुद्रा है।

तान्त्रिकों में कुण्डलिनी साधना के अतिरिक्त मुद्रा-साधना भी प्रचलित रही है।[१] कुण्डलिनी को जागृत करने के लिए योगी को सबसे पहले दस मुद्राओं की साधना करनी पड़ती है।

कबीर कहते हैं— 'उन्मुनि रहै ब्रह्म को चीन्है परम तत्त्व को ध्यावै।' 'उन्मनि रहनी' का समस्त विवरण इस प्रकार है—

सन्तो सहज समाधि भली।
आँख न मूँदूँ, कान न रुँधूँ काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मै हँस हँस देखूँ सुन्दर रूप निहारूँ।
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन जो कुछ करूँ सो पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखूँ भाव मिटाऊँ दूजा।
जहँ जहँ जाउँ सोई परिकरमा जो कुछ करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ सो तब करूँ दण्डवत पूजूँ और न देवा।।[२]

उन्मनी मुद्रा, आज्ञा चक्र एवं ध्यान— शिवसंहिता में ११ मुद्राओं का वर्णन किया गया है। इसमें योनिमुद्रा, महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालन्धर, मूलबन्ध, विपरीत-करिणी, उड्डीयानबन्ध, वज्रोली एवं शक्तिचालन का एवं घेरण्डसंहिता में वज्राणी, माण्डवी, ताडागी, शाम्भवी, योनि आदि का वर्णन तो है; किन्तु इन दोनों में उन्मनी मुद्रा का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। हठयोगप्रदीपिका में उन्मनी का उल्लेख निम्न रूपों में किया गया है[३]—

---

१. प्रिंसपल्स आफ तन्त्राज।
२. कहे कबीर यह उन्मुनि रहनी सो परगट कर गाई।
३. हठयोगप्रदीपिका में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन इन १० मुद्राओं का उल्लेख तो है, किन्तु इसमें उन्मनी मुद्रा का उल्लेख नहीं किया गया है।

(क) अवस्था के रूप में मनोन्मनी—

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी।। (३.५४)

(ख) राजयोग, समाधि, अमनस्क, सहजा, लय एवं अद्वैत के अर्थ में—

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्या शून्यं परं पदम्।।

अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः।। (४.३-४)

(ग) सुषुम्णा में प्राणसञ्चार की अवस्था के रूप में—

सुषुम्नावाहिनि प्राणो सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी।। (४.२०)

(घ) उन्मनी मुद्रा के रूप में (किन्तु १० मुद्राओं में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है)—

१. तारे ज्योतींषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयेद् भ्रुवौ।
पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात्।।

२. केचिदागमजालेन केचिन्निगमसङ्कुलैः।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम्।।

(तारकं = उक्तोन्मन्येव तरणोपायः)

नेत्रों की कनीनिकारूप तारा को ज्योति में (तारों को नासिका के अग्र भाग में) लगाने से उत्पन्न प्रकाशमान तेज में लगाकर भृकुटियों को थोड़ा ऊपर करने से अन्तर्लक्ष्म बहिर्दृष्टि-रूप योग में मन का संयोग उन्मनीकारक अवस्था उत्पन्न करता है। उन्मनीकारक = उन्मन्य-वस्थाकारक।

उन्मनी के विना कोई संसार-सागर से तारने वाला नहीं है— 'उन्मन्येव तरणोपायः' (ज्योत्स्ना)।

(ङ) खेचरी की परिपक्वावस्था के रूप में—

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत्।
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी सम्प्रजायते।। (४.४७)

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते।। (४.४८)

(च) अद्वैतावस्था के रूप में—

मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते।। (४.६१)

(छ) उन्मनी अवस्था प्राप्त करने हेतु भ्रूध्यान आवश्यक है—

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम सम्मतम्।। (४.८०)

(ज) चित्त (तत्त्व) बीज है। ह + ठ = खेत है। औदासीन्य = जल है। उन्मनी कल्पलतिका है। उन्मनी = असम्प्रज्ञात समाधि।

(क) शाम्भवी मुद्रा का उपयोग— दक्षिण कान से नादश्रवण (४.६७)।

(ख) पराङ्गमुखी मुद्रा का उपयोग— स्फुट, अमल नाद को सुषुम्णा में सुनना (४.६८)।

उन्मनी अवस्था एवं उसमें स्थित योगी के लक्षण

हठयोगप्रदीपिका में उन्मनी अवस्था में स्थित योगी के निम्न लक्षण दिये गये हैं—

१. शंख, दुन्दुभी आदि की गम्भीर ध्वनियों को भी उन्मन योगी सुन नहीं पाता तथा उसका शरीर काष्ठ के साथ संवेदनहीन एवं स्थिर या निश्चल हो जाता है—

काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम्।। (४.१०६)

२. वह समस्त अवस्थाओं से विनिर्मुक्त, सर्वचिन्तातीत तथा मृतक के समान संवेदन-हीन एवं निश्चल हो जाता है।[1]

३. वह काल, कर्म एवं अन्य यन्त्र-मन्त्र के प्रयोगों से अप्रभावित हो जाता है।

४. ऐसा योगी समाधिस्थ होने पर गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द को, अपने को, दूसरे को नहीं जानता।

५. वह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, स्मृति, उदय एवं अस्त से परे है।[2]

६. वह शीत, ऊष्ण, सुख, दुःख, मान, अपमान किसी की भी संवेदना नहीं रखता।

७. वह जागृतावस्था में भी सुषुप्तवत् रहता है। वह उच्छ्वास-निश्वास से रहित एवं मुक्त होता है।

८. वह समस्त शस्त्रों से अवध्य होता है। वह समस्त प्राणियों द्वारा अशक्य (अग्राह्य) होता है। सभी मन्त्रों एवं यन्त्रों की पकड़ से पर होता है।[3]

क्रममुद्रा

क्रमसूत्रों में लिखा गया है कि अन्तःस्वरूप क्रममुद्रा के द्वारा बहिर्मुख होने पर भी साधक समाधिस्थ ही रहता है। वहाँ पहले बाह्य से अन्तः में प्रवेश होता है तथा आभ्यन्तर से बाह्य स्वरूप में भी प्रवेश समाधिबल से सम्पन्न होता है। इस प्रकार यह मुद्राक्रम बाह्य एवं आभ्यन्तर से संयुक्त होता है—

'क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः। तत्रादौ बाह्यात् अन्तःप्रवेशः आभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेशवशात् जायते इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रमः।'[4]

१-३. हठयोगप्रदीपिका। ४. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में उद्धृत।

आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हौं हंसः अमुकि देव्याः प्राणा इह प्राणाः आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हौं हंसः अमुकि देव्याः जीव इह स्थितः। आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हौं हसः अमुकि देव्याः सर्वेन्द्रियाणि वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्र-घ्राणप्राणा इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा।

देवी के वाम या दक्षिण भाग में प्राणादि ग्रासमुद्राओं का प्रदर्शन किया जाना चाहिए—

प्राण मुद्रा— दाहिने हाथ की उँगलियों को कुछ वक्राकार करके उनके अग्रभाग को एक-दूसरे से संलग्न करे।

अपान मुद्रा— तर्जनी एवं मध्यमा तथा अंगुष्ठ को संयुक्त करे।

व्यान मुद्रा— मध्यमा, अनामिका एवं अंगुष्ठ को संलग्न करे।

उदान मुद्रा— कनिष्ठा को छोड़कर शेष चार उँगलियों को संलग्न करे।

समान मुद्रा— अंगुष्ठादि को छोड़कर शेष चार उँगलियों को संलग्न करे।[१]

शाम्भवी मुद्रा और उसका विशेष महत्त्व

घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका, अमनस्क योग आदि योग के तान्त्रिक एवं नाथपन्थी अनेक ग्रन्थों में शाम्भवी मुद्रा को कुलवधू की भाँति सम्माननीय एवं उसकी तुलना में वेदों एवं शास्त्रों को घृणित वेश्याओं की भाँति लज्जास्पद कहा गया है—

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
एकैव शाम्भवी विद्या गुप्ता कूलवधूरिव।।

इसे समस्त शास्त्रों में गुप्त कहा जाता है—

एषा हि शाम्भवी मुद्रा सर्वशास्त्रेषु गोपिता।।

शाम्भवी मुद्रा केवल मुद्रामात्र नहीं है; प्रत्युत यह शक्ति है। शाम्भवी मुद्रा आदि शक्ति 'उमा' है। गोरक्षनाथ कहते हैं—

आदिशक्तिरुमा चैषा मत्तो जन्मवती पुरा।

यह भगवतीस्वरूपा तो है ही; साथ ही साक्षात् भगवान् शिव से उत्पन्न भी हुई है—

मत्तो जन्मवती पुरा।

यह वह रहस्यमयी एवं गोपनीय से भी गोपनीय विद्या है, जिसे किसी सामान्य व्यक्ति को दिया भी नहीं जा सकता। इसे केवल अधिकारी व्यक्ति ही प्राप्त करने का अधिकारी है; अन्य नहीं—

गुह्यात् गुह्यतरा विद्या न देया यस्य कस्यचित्।

इस शाम्भवी मुद्रा का ज्ञान जिस किसी भी अञ्चल या देश में विद्यमान है, वह देश भी धन्य एवं पुण्यशाली है—

१. शाक्तानन्दतरङ्गिणी। २-३. अमनस्कयोग।

एतज्ज्ञानं वसेद् यत्र स देशः पुण्यभाजनम्।

उस प्रदेश के दर्शन एवं स्पर्श से व्यक्ति २१ पुश्तों सहित मुक्ति प्राप्त कर लेता है—

दर्शनात् स्पर्शनात्तस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः।
जना मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः।।[१]

शाम्भवी मुद्रा और आज्ञाचक्र का महत्त्व

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आज्ञा चक्र के महत्त्व का विश्लेषण—

१. स्नायु-विज्ञानियों के परीक्षणों से ये तथ्य सामने आये हैं कि आज्ञाचक्र के स्थान में 'आप्टिक चि आज्मा' के समीप की कोशिकाओं से निरन्तर एलेक्ट्रो मैग्नेटिक तरंगें निकलती रहती हैं। इनकी क्षमता एक्सरे एवं लेसर आदि किरणों से भी अधिक मानी जाती है। वे संकल्प से परिचालित एवं नियन्त्रित होती हैं। वे कठोर से कठोर अवरोधों को पार करके सुनिर्दिष्ट स्थानों में जा सकती हैं। आज्ञाचक्र की सूक्ष्म विद्युत् तरंगों द्वारा परोक्ष जगत् का साक्षात्कार भी हुआ करता है।

२. इस चक्र में स्थित विद्युत् तरंगें केवल परोक्ष जगत् का साक्षात्कार ही नहीं करातीं; प्रत्युत इनकी सहायता से किसी भी व्यक्ति की मनःस्थिति— भावना, कल्पना, इच्छा, आकांक्षा आदि के विषय में यथार्थ अनुमान भी लगाया जा सकता है।

३. अपनी ही नहीं; प्रत्युत इस तृतीय नेत्र की सहायता से दूसरों की अभिरुचि को भी परिवर्तित किया जा सकता है।

४. इस आज्ञाचक्रस्थ तृतीय नेत्र के द्वारा अदृश्य सहायकों (Invisible helpers) भूत, प्रेत एवं पितरों से भी सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है।

५. मनोविज्ञान के प्रयोगों ने सिद्ध किया है कि यह वह केन्द्र है, जिसके द्वारा दिव्य दर्शन, दिव्य श्रवण, दूरदर्शन, भूत-भविष्य का ज्ञान, पूर्वाभास, दूरानुभूति, विचार-सम्प्रेषण जैसे कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं।

६. इस केन्द्र से निःसृत सूक्ष्म भाव-तरंगों द्वारा सम्मोहन जैसे कार्य भी सम्पन्न किये जा सकते हैं।

७. ध्यानयोगी यह मानते हैं कि इसी स्थान पर ध्यान केन्द्रित करने से आत्म-साक्षात्कार, ईश्वरानुभूति एवं आदान-प्रदान आदि कार्य भी सम्पन्न किये जा सकते हैं। इसके माध्यम से सामान्य व्यक्ति भी (इस केन्द्र को जागृत करके) परमसत्ता के साथ एकाकार हो सकता है।

८. नये विकासवादी वैज्ञानिक कहते हैं कि प्राचीन काल में मस्तिष्क के मध्य

---

१. अमनस्कयोग।

दोनों भौंहों के मध्य एक तृतीय नेत्र था; किन्तु बाद में वह ग्रन्थि के रूप में रूपान्तरित हो गया। पीनियल ग्रन्थि तृतीय नेत्र का ही परिवर्तित स्वरूप है। यह ग्रन्थि अपने अन्दर अनन्त रहस्यों को छिपाये हुये है। एक या दो मिलीग्राम की यह विलक्षण रचना शरीर के विकास एवं उसकी हलचलों में बहुत बड़ी भूमिका निभाती है।

९. ध्यानयोग की क्रिया में विभिन्न ध्यानकेन्द्रों को जागृत करने के लिए भी इस केन्द्र पर ध्यान एकाग्र किया जाता है।

१०. यदि केन्द्र असन्तुलित हो जाय तो असमय शारीरिक प्रौढ़ता का आना, जननांगों का शीघ्रता से बढ़ना, ग्रन्थि के हारमोनों के विकास में अवरोध आना, शरीर-मस्तिष्क का विकास बन्द हो जाना आदि अनेक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं।

११. वैज्ञानिक शोध ने यह भी सिद्ध किया है कि जीव-जन्तु इस तृतीय नेत्र का उपयोग (अपने दैनिक कार्यों में) उसी प्रकार करते हैं, जैसे सामान्य मनुष्य अपनी दो आँखों का उपयोग करते हैं। वे समय, दिशा, मौसम एवं प्रकृति की अन्य घटनाओं का भी अनुमान इसी केन्द्र से करते हैं।

१२. ठण्ढे रक्त वाले प्राणियों में इस केन्द्र की कोशिकायें थर्मोस्टेट का काम करती हैं और शरीर का तापक्रम सन्तुलित रखने हेतु (जैसे कि गर्मी में ठण्ढे एवं ठण्ढ़क में गर्म स्थानों में जाकर तापक्रम नियन्त्रण में रख़ने हेतु) भी इसी केन्द्र से निर्देश प्राप्त होते हैं।

१३. पश्चिमी जर्मनी के वैज्ञानिक शोध सिद्ध करते हैं कि यह केन्द्र (तृतीय चक्षु) कुतुबनुमा का भी कार्य निष्पादित करता है। पशु-पक्षी इसी कुतुबनुमा द्वारा दिशा का अनुमान लगाते हैं। पृथ्वी-चुम्बकत्व एवं जैव चुम्बकत्व— दोनों के तरंगों की गति समान है। इसी के द्वारा साइबेरिया के आव्रजक पक्षी आस्ट्रेलिया आकर पुन: साइबेरिया लौट जाते हैं। मानव में यह अंग निरर्थक हो गया है; किन्तु योग से इसे जागृत करके इसकी विलक्षण क्षमताओं को प्राप्त किया जा सकता है।

कवि गेटे को इस केन्द्र की शक्ति जाग्रत हो गई तो उन्होंने देखा कि मेरे स्थान वाइम्नर से हजारों मील सुदूर सिसली में एक भयानक भूकम्प आया है। उसने इस बात को अपने मित्रों को बताया। किसी ने विश्वास तो नहीं किया; किन्तु समाचारपत्रों से पता चला कि घटना सही थी।

नैन्सी नामक अंग्रेज महिला ने जिन्ना की पारसी पत्नी द्वारा आत्महत्या कर लेने एवं पूर्वी पाकिस्तान के टूट कर पृथक् होने की जो भविष्यवाणी की थी, उस पर किसी ने विश्वास तो नहीं किया; किन्तु बाद में वह घटना घटी।

१४. आज्ञाचक्रगत शाम्भवी मुद्रा लगाने या भ्रूमध्य में ध्यान लगाने से पूर्वजन्मों

में किये गये कर्मों का भी स्मरण हो जाता है—

ध्यानयोगनिरतस्य जायते पूर्वजन्मकृतकर्मणां स्मृतिः।[१]

१५. आज्ञाचक्रवर्तिनी शाम्भवी मुद्रा या भ्रूमध्य ध्यान से दूरदर्शन एवं दूरश्रवण नामक सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती है—

क्षेत्रबिन्दुनिलये च दूरतो दर्शनश्रवणयोः समर्थता।[२]

१६. शाम्भवी मुद्रागत इस ध्यान द्वारा प्रतिमा में स्थित देवी-देवता से वार्तालाप भी होता है—

इह सन्निहितस्वचित्तवृतिः प्रतिमायाः प्रतिजल्पनं करोति।

१७. भ्रूद्वय के मध्य में निरालम्बा मुद्रा लगाने पर योगी स्वर्ग एवं नक्षत्रसमूह को देखता है और साथ ही वह विष्णु के पद्माकाश को भी देखता है—

निरालम्बां मुद्रां निजगुरुमुखेनैव विदितामिह
स्थाने कृत्वा स्थिरनिशितधीः साधकवरः।
सदाभ्यासोऽश्वस्यत्यमरनिलयानन्तरखिला-
नुडुश्रेणीं विष्णोरपि पदमुडूनामपि पतिम्।।[३]

१८. यहाँ ध्यान लगाने वाला योगी समस्त देववन्दित ब्रह्मा एवं विष्णु को, प्रेताधिप, वारिप, देवाधिप, देवनिकाय, सूर्य, वह्नि, पवन, तार्क्ष्य, यक्षेश्वर, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध-समूह, यक्ष, राक्षस, अनेक भव्याकृतियाँ, दिव्य दृश्य, कान्तिकलाकलापकलित विद्याधर, मातृका, राक्षस, उत्तुंग तरंग वाली तथा जलमयी कल्लोलिनी (स्वर्ग गंगा), स्वर्ण पर्वत, उत्तुंग पीवरपयोधरभार से नम्र (झुकी हुई) अप्सराओं का समूह, पर्वत, विभिन्न दिशायें, कुरंगादि शोभित रमणीय अरण्य, जलहस्ती, राजहंस, वकपंक्ति, नवीन मेघ, विद्युत्, महान् सुख एवं परमेश्वर आदि सभी को देखता है— 'स्थानेऽस्मिन् परमेश एष भगवान् व्यक्तो भवत्यव्ययः' और वह योगी वेदान्तवेद्य पुराणपुरुष में लयीभूत हो जाता है—

दीव्यन्तं परमं पुराणपुरुषं वेदान्तवेद्यं कविम्।
विश्वाद्यं प्रविशन्ति सन्ततमहानन्दैककन्दं विभुम्।।[४]

१९. इस परम तेजस्वरूप आज्ञाचक्र को देखने पर परमोत्कृष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः।[५]

२०. इस स्थान का ध्यान करने से पूर्व जन्म के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं—

पूर्वजन्मकृतं कर्म विनश्येदविरोधतः।

---

१. त्रिपुरासारसमुच्चय (नागभट्ट)।
२. त्रिपुरासारसमुच्चय।
३. त्रिपुरासारसमुच्चय।
४. त्रिपुरासारसमुच्चय।
५. शिवसंहिता।

यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा एवं किन्नर आदि उसके वशीभूत होकर उसके चरणों की सेवा करते हैं।

यक्षराक्षसगन्धर्वा अप्सरोरगकिन्नरा:।
सेवन्ते चरणं तस्य सर्वे तस्य वशानुगा:।।

जो इस पद्म का स्मरण करता हुआ प्राणत्याग करता है, वह परमात्मा में विलीन हो जाता है—

त्यजेत् प्राणं स धर्मात्मा परमात्मनि लीयते।

शिवसंहिता में शाम्भवी मुद्रा का सर्वाधिक महत्त्वांकन करते हुए उसे कुलवधू एवं उनकी तुलना में वेदों, शास्त्रों एवं पुराणों को वेश्या कहा गया है—

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव।।[१]

शाण्डिल्योपनिषद् (१.४८) में कहा गया है कि इड़ा नाड़ी से वायु को आकृष्ट करके भ्रूमध्य में धारण करने पर जो अमृत-क्षरण होता है, उसका पान करके साधक रोगनिवृत्त हो जाता है—

आत्मन्यात्मानमिडया धारयित्वा भ्रुवोन्तरे।
विभेद्य त्रिदशाहारं व्याधिस्थोऽपि विमुच्यते।।

आसन एवं प्राणायाम के अभ्यास में आज्ञाचक्र की साधना

आसन एवं प्राणायाम के अभ्यास में भी आज्ञाचक्र की साधना का विधान है। गोरक्ष-पद्धति (१.११) में कहा गया है कि सिद्धासन में भ्रूमध्य दृष्टि रखकर साधना करनी चाहिये। सिद्धासन में भ्रूमध्य में दृष्टि रखकर ही जप करने का विधान किया गया है—

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम्।
भ्रूमध्ये दृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत्।।

भ्रूमध्य का स्थान सोम (इड़ा), सूर्य (पिंगला) एवं अग्नि (कुण्डलिनी) का संगम है; इसीलिये इसे त्रिकूट पर्वत भी कहा गया है।

वाराहोपनिषद् (५.६३) के अनुसार जब नासापुटद्वय से समाकृष्ट वायु को सोम-सूर्याग्नि-सम्बन्ध से कुण्डल्यग्नि आज्ञाचक्र में ग्रस लेती है, तब प्राणादि के लय हो जाने पर जो स्फूर्ति प्राप्त होती है, वह अमृतप्रदा होती है—

पुटद्वयं समाकृष्य वायुः स्फुरति सत्वरम्।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धात् जानीयादमृताय वै।।

ध्यानबिन्दूपनिषद् (३८.४०) में कहा गया है कि भ्रूमध्य ब्रह्मोपलब्धि का मूल

---

१. शिवसंहिता (३.६०)।

स्थान होने के कारण ब्रह्मायतन एवं अमृतस्थान है। इसीलिये उसमें यहीं पर प्राणालय का विधान किया गया है।

यहाँ कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य पद्मनाल की सहायता से धीरे-धीरे जल पीने के लिए ऊर्ध्वाकर्षण करता है, उसी प्रकार योगी मूलाधार में अपान के साथ ऐक्य-भावापन्न वायु को ऊर्ध्वमुखी बनाकर सुषुम्णा मार्ग से अनाहतपाथोज से होकर भ्रूमध्य में ले जाय एवं वहीं उसे लयीभूत कर दे—

यथैवोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः।
तथैवोत्कर्षयेद् वायुं योगी योगपथे स्थितः।।

अर्धमात्रात्मकं कृत्वा कोशमूलं तु पङ्कजम्।
कर्षयेन्नालमात्रेण भ्रुवोर्मध्ये लयं नयेत्।।

भ्रूमध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः।
जानीयादमृतस्थानं तद् ब्रह्मायतनं महत्।।

योगकुण्डल्योपनिषद् (३.७-८) में कहा गया है कि बैन्दवस्थान में केवल कुम्भक के द्वारा प्राणरोध किया जाना चाहिये।

शाण्डिल्योपनिषद् (१.७.३४) में कहा गया है कि तारकयोग के अभ्यास से भ्रूमध्य में तारक ज्योति के दर्शन होने पर चित्तवृत्ति के शान्त हो जाने पर प्राणस्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।

घेरण्डसंहिता (५.८२) में कहा गया है कि कुम्भक प्राणायाम के अभ्यास में मन को भ्रूमध्य में केन्द्रित करने से मन मूर्च्छित होकर वृत्तिशून्य हो जाता है। इसे मनोमूर्च्छा कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है और यह योगियों को भी आनन्द प्रदान करता है—

सुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरे।
सन्त्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छा सुखप्रदा।।

आज्ञाचक्र को खेचरगति, अमृतक्षरण, प्राण एवं मन का निरोध, मन का केन्द्र, ॐकार का स्थान, दिव्यदृष्टि एवं सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति का केन्द्र होने के कारण योगशास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इसके अनेक साधना-केन्द्र हैं—

१. नाभि एवं उसके नीचे के केन्द्र— ऐन्द्रिय बोध एवं शारीर चेतना के केन्द्र।

२. हृदयस्थ अनाहत चक्र— भावप्रधान साधना के लिये उपयुक्त केन्द्र।

३. अनाहत एवं आज्ञाचक्र— चेतना के ऊर्ध्वारोहण हेतु हृदय एवं उसके ऊर्ध्ववर्ती केन्द्रों का अभ्यास किया जाता है।

४. धारणा, ध्यान, मनोलय, ॐकारोपासना हेतु ज्ञानमार्गियों का यही साधनाकेन्द्र है।

जब कुण्डलिनी शक्ति भ्रूमध्य में प्रवेश कर जाती है तब तालुचक्रस्थित चन्द्रमा

से अमृतक्षरण होता है, जिनका पान खेचरी मुद्रा द्वारा किया जाता है।

भैरवी तन्त्र में कहा गया है कि योगी पद्मासन लगाकर बैठे, नेत्रों को यत्किञ्चित् संकुचित करके भौंहों को भी थोड़ा सिकोड़े, दृष्टि एवं मन को भ्रूमध्य में स्थिर करे, मूलाधारस्थ कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्णा मार्ग से भ्रूमध्य में लाकर वहाँ समासीन देवता (अर्धनारी-नटेश्वर) के साथ युक्त कर दे, वाम नासा के मार्ग से शनैः-शनैः वायु को आकर्षित करके भ्रूमध्य में धारण करे और फिर दक्षिणवर्ती नासिका के मार्ग से रेचन क्रिया करे। यही अन्तर्याग है—

> वामेनानिलमाकृष्य किञ्चिदाकुञ्चयेद् भ्रुवम्।
> रेचयेद् भानुमार्गेण जिह्वां तालुगतां चरेत्।।
> शक्तिं शिवपदे योज्य किञ्चिदाकुञ्चितेक्षणम्।
> अन्तर्यागमिदं देवि! कथितं गुरुभिः क्रमात्।।

योगशिखोपनिषद् (५.५५) में कहा गया है कि जितेन्द्रिय योगयुक्त योगी आकाश (भ्रूमध्य से मूर्धापर्यन्त) में चित्त को धारण करने से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है।

दर्शनोपनिषद् (७.१०-१२) एवं शाण्डिल्योपनिषद् (१.८.२) में कहा गया है कि वायु-धारणात्मक प्रत्याहार-साधना में भ्रूमध्य भी वायु-धारण करने का एक केन्द्र है। प्रत्याहार के इस विधान में— स्वस्तिकासन में निश्चल भाव से समासीन होना, दोनों नासापुटों द्वारा वायु को आकर्षित करना, शरीर को आपादमस्तक वायु से परिपूरित करना, फिर आरोहावरोह क्रम से वायु को धारण करना पड़ता है।

५. आरोहक्रम में दोनों पैर, मूलाधार, नाभिकन्द, हृदय, कण्ठमूल, तालु, भ्रूमध्य, ललाट एवं मूर्धा में वायु धारण की जाती है।

५. अवरोहक्रम में मूर्धा, ललाट, भ्रूमध्य आदि से नीचे आते हुये पादद्वय में आकर वायु-धारण समाप्त की जाती है।

योगतत्त्वोपनिषद् (९८.१०२) में कहा गया है कि भ्रूमध्य से ऊर्ध्वप्रदेश में आकाश तत्त्व की धारणा की जाती है।

●

मुद्रातत्त्व एवं साधना

मुद्रा

स्वरोदय शास्त्र में मुद्राप्रयोग का भी विधान है। इसमें सर्पमुद्रा का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

आदौ तु क्रियते मुद्रा पश्चात् युद्धं समाचरेत्।
सर्पमुद्रा कृता येन तस्य सिद्धिर्न संशयः।।

इस प्रकार शिवस्वरोदय में युद्ध के पहले मुद्रा-ग्रहण का विधान किया गया है।

कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है कि चूँकि यह साधनात्मिका क्रिया देवताओं को आह्लादित करती है और उनके मन को द्रवित करने की क्षमता रखती है; इसीलिए इसे मुद्रा कहा जाता है और इसे अवश्य प्रदर्शित करना चाहिए—

मुदं कुर्वन्ति देवानां मनांसि द्रावयन्ति च।
तस्मान्मुद्रा इति ख्याता दर्शितव्या कुलेश्वरि।।

ऋजुविमर्शिनी-टीका में शिवानन्द ने मन्त्र एवं मुद्रा को ज्ञान एवं क्रिया से सम्बद्ध माना है। वे कहते हैं— 'मन्त्रमुद्राशब्देन ज्ञानक्रिये लिलक्षयिषिते।'

सुभगोदयवासना (३५) में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है—

ज्ञानक्रियासतत्त्वेन मन्त्रमुद्राक्रमेण तु।

शिवानन्द कहते हैं कि मन्त्र एवं मुद्रा ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति के रूपान्तर हैं। स्वच्छन्दतन्त्र (४.३७५) में इसी तत्त्व की सुस्पष्ट रूप में पुष्टि भी की गई है—

मन्त्रो वै ज्ञानशक्तिश्च मुद्रा चैव क्रियात्मिका।

नेत्रतन्त्र में भी आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति के साधनत्रय में मुद्रा को भी एक साधन माना गया है। ये साधनत्रय हैं— मन्त्र, ध्यान एवं मुद्रा।

शिवस्वरोदय में अरुन्धती, ध्रुव, विष्णुपद तथा मातृमण्डल आदि का भी वर्णन किया गया है; जिनका सम्बन्ध मुद्रा एवं धारणा से है; यथा—

अरुन्धती = जिह्वा का अग्र भाग। ध्रुव = नासिकाग्रभाग (अगोचरी मुद्रा)। विष्णुपद = भृकुटिद्वय। तारा = चक्षुपुत्रिका (मातृमण्डल)।

अरुन्धती भवेज्जिह्वा ध्रुवो नासाग्रमेव च।
भ्रुवो विष्णुपदं ज्ञेयं तारकं मातृमण्डलम्।।

शिवस्वरोदय में षण्मुखी मुद्रा का भी विधान किया गया है।

शिवानन्द 'मुद्रा' शब्द की व्याख्या करते हुए इसको इस प्रकार पारिभाषित करते हैं कि ये ग्रहादि के दुष्परिणामों से रक्षा करती हैं और पापसमूह को विगलित करती हैं, द्रावण करती हैं; अत: 'मुद्रा' कहलाती हैं— मुद्रा नाम काश्चन शक्तय:। उक्तं च—

मोचयन्ति ग्रहादिभ्य: पाशौघं द्रावयन्ति च।
मोचनं द्रावणं यस्मान्मुद्रास्ता: शक्तयो मता:।।[1]

मोचन एवं द्रावण नामक व्यापारों से युक्त क्रिया ही मुद्रा है।

आचार्य शिवानन्द की दृष्टि— मन्त्रादि की साधना के काल में उँगलियों का विशिष्ट सन्निवेशमात्र ही मुद्रा नहीं है, प्रत्युत इन मुद्राओं के प्रदर्शन से इन मुद्राओं से सम्बद्ध शक्तियों का जो आविर्भाव होता है, वह भी 'मुद्रा' पद के अर्थ में सन्निविष्ट है।

तन्त्रालोक (३२.१-२) में श्रीदेवीयामल के प्रमाण के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि मुद्राओं में परमात्मा या परा शक्ति का परस्वरूप प्रतिबिम्बित रहता है। चूँकि मुद्रा देह के माध्यम से साधक को आत्मा के स्वस्वरूपरूप 'मुदा' प्रदान करती है; अत: इसे 'मुद्रा' कहा जाता है—

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम्।

मुद्रा के कार्य— मुद्रा के तीन कार्य होते हैं—

१. नाड़ियों का शोधन।

२. चन्द्रमा एवं सूर्य (अपान एवं प्राण) का चालन।

३. रसना का शोषण (सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान)।

शोधनं नाड़िजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययो:।
रसनाशोषणं कुर्यान्महामुद्राऽभिधीयते।।[2]

'शिवसंहिता' में कहा गया है कि मुद्रा बन्धन का अभ्यासारम्भ करने के पूर्व आधार-पद्म में मन को वायु के साथ लगाना एवं भरना चाहिए—

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मन:।

मुद्रासाधन का फल— जो मुद्रासाधन करते हैं; उन्हें निम्न फल प्राप्त होता है—

१. वृद्धावस्था नहीं आती।

२. मृत्यु का भय जाता रहता है।

३. अग्नि, जल एवं पर्वत का भी भय नहीं रहता।

तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम्।।

---

१. नित्याषोडशिकार्णव। २. विवेकमार्तण्ड।

मुद्रा-साधक को निम्न लाभ भी होते हैं—

कासः श्वासः प्लीहकुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः।।

अर्थात् मुद्रा-साधकों को कास रोग, श्वास रोग, प्लीहा रोग, कुष्ठ रोग एवं श्लेष्मा रोग नहीं होते।

मुद्रायें सभी सिद्धों को अत्यन्त प्रिय रही हैं और ये जरा-मरण की नाशिका हैं—

वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम्।

घेरण्ड ऋषि तो कहते हैं कि पृथ्वीमण्डल में मुद्रा के समान सिद्धिप्रद और कोई नहीं है—

नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले।

किन्तु मुद्रा प्राप्त करने के अधिकारी सभी लोग नहीं हुआ करते। इसके अधिकारी तो केवल निम्न अधिकार प्राप्त व्यक्ति ही होते हैं—

१. ऋजुप्रकृति
२. शान्तचित्त
३. गुरुभक्त
४. कुलीन

ऋजवे शान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम्।।

शिवसंहिता में इसे गोपनीय, योगसिद्धिकर और सिद्धों का परम दुर्लभ योग कहा गया है—

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम्।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम्।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता।।

योगिनीहृदय (१.५७) में कहा गया है कि भगवती संवित् शक्ति ही क्रियाशक्ति के स्वरूप में जगत् का मोदन एवं द्रावण नामक द्विविध व्यापार निष्पादित करती हुई 'मुद्रा' कहलाती हैं—

क्रियाशक्तिस्तु विश्वस्य मोदनाद् द्रावणात्तथा।
मुद्राख्या सा यदा संविदम्बिका त्रिकलामयी।।

द्रावण = द्रावणं नाम तदेकरसीभावः। दीपिकाकार कहते हैं—

यदा विमर्शशक्तिः विश्वरूपेण विहर्तुमिच्छति तदा क्रियाशक्तिर्भूत्वा स्वविकारभूतस्य विश्वस्य परचिदानन्दलक्षणेन मोदनेन तदैकरस्यलक्षणेन द्रावणेन च मुद्राख्यामापन्नेत्यर्थः।

भाव यह है कि विमर्शशक्ति ही क्रियाशक्ति का स्वरूप धारण करके परचिदानन्दात्मक आनन्द के द्वारा तथा ऐकरस्यस्वरूप द्रावण के द्वारा 'मुद्रा' नामक आख्या ग्रहण कर लेती है।

द्रावण क्या है? तदैकरस्यं द्रावणम् (सेतुबन्ध में उद्धृत)।

आचार्य विद्यानन्द ने अर्थरत्नावली में मुद्रा के दो भेद किए हैं— बाह्य, कररचनास्वरूपा एवं आन्तर, बन्धस्वरूपा।

'खेचरी' भी एक मुद्रा है। शिवानन्द ने उसके तीन भेद उद्घाटित किए हैं—

उँगलियों के सन्निवेश या विरचनाविशेष द्वारा सुनिर्मित, बोधगगनचारिता एवं संस्थान-विशेषानुसरणरूपा।

स्वच्छन्दागम में तो सभी मुद्राओं के तीन स्वरूप स्वीकार किये गए हैं। आचार्य क्षेम-राज भी इसी की पुष्टि में कहते हैं—

मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता।।

तन्त्रालोक में मुद्रा को चतुर्विध घोषित किया गया है। जयरथ ने इसकी व्याख्या के प्रसंग में कहा है—

अङ्गुलिन्यासभेदेन करजा बहुमार्गगा।
सर्वावस्थास्वेकरूपा वृत्तिर्मुद्रा च कायिकी।।

मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलापाख्या प्रकीर्त्तिता।
ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी परिकीर्तिता।।

मुद्राओं के जो दो भेद हैं; उनमें उंगलियों के सन्निवेशविशेष से निर्मित मुद्राओं का अनेक नामों, अनेक प्रकारों, अनेक स्व-स्वरूपों एवं अनेक शास्त्रों में सविस्तार वर्णन किया गया है। इनमें बन्धस्वरूपा या संस्थान-विशेष का अनुसरण करने वाली ये क्रियायें मुद्रा एवं बन्ध दोनों नामों से हठयोगप्रदीपिका आदि अनेक योगग्रन्थों में सविस्तार वर्णित हैं।

खेचरी आदि मुद्राओं का सविस्तार विवेचन त्रिकदर्शन में भी प्राप्त होता है। मालिनी-विजयोत्तरतन्त्र (सप्तमोऽधिकार) में कहा गया है कि मुद्रायें शिव-शक्ति के स्वरूपान्तर हैं—

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि मुद्राख्याः शिवशक्तयः।

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में ही मुद्राओं के भेद एवं उनके नाम भी कहे गये हैं।

मुद्रासम्बन्धिनी दार्शनिक दृष्टि— तान्त्रिक दर्शनों के अनुसार शिव की शक्ति ही शारीर-चेष्टाओं के रूप में प्रकट होती है। अतएव मुद्रा शिव-शक्ति की आख्या है। अभिनव-गुप्तपाद ने तन्त्रालोक में मुद्रा के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया है; यथा— मनोजा मुद्रा (गुरुमुख-श्रव्य), वाग्भवा मुद्रा, मन्त्रजा मुद्रा। देह के विक्षेप से मुद्रा के अनेक भेद हो जाते हैं।

देवाख्ययामल में मुद्रा को विम्ब (चैतन्य) का प्रतिविम्ब माना गया है। जब शरीर में श्रम की स्फुरणा होती है तब शरीर में कुछ विचित्र परिवर्तन होते हैं और ये परिवर्तन

ही मुद्रायें हैं। अतः मुद्रा से विम्ब का उदय हो सकता है—

१. मुद्राबिम्बोदयो नाम्ना। (तन्त्रालोक आ०-३२)

२. प्रतिबिम्बोदयो मुद्रा। (तन्त्रालोक)

३. बिम्बात्समुदयो यस्या इत्युक्ता प्रतिविम्बिता।
विम्बस्य यस्या उदय इत्युक्ता तदुपायता।। (तन्त्रालोक)

मुद्रा ब्रह्म को जानने का साधन है।

मुद्रा की दूसरी व्याख्या यह है कि मुद्रा वह पद्धति है, जिससे देवता भी द्रवित हो उठते हैं। देवता मुद्राप्रदर्शन से प्रसन्न हो उठते हैं। यह अशेष पाशों से मोचन (मुक्ति) कराती है; इसलिए भी यह मुद्रा है—

१. इत्याशयेन मुद्रा मोचयते पाशजालतोऽशेषात्।
कार्याय यान्पुर्यष्टकसंस्कारान्द्रावयेत्तथा।। (तन्त्रालोक)

२. यह स्वरूपोद्धाटन कराती है, स्वरूपलाभ कराती है; इसलिए भी मुद्रा कहलाती है—

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम्।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता।।

(मु = स्वरूपलाभ। द = शरीर द्वारा। राति = प्रदान करता है। मोदयति इति मुद्रा। द्रावयति इति मुद्रा।)[1] मुद्राओं में मुख्य मुद्रा खेचरी मुद्रा है। त्रिशूलिनी, क्रोधना, भैरवी, महाप्रेता, ज्वालिनी, करिङ्कणी, क्षोभिणी, ध्रुवा, योगमुद्रा एवं लेलिहानिका आदि अनेक मुद्रायें हैं। शरीर की दृष्टि से देखें तो काममुद्रा, करमुद्रा, वाक् मुद्रा एवं चित्तमुद्रा आदि अनेक मुद्रायें हैं। वाणीमुद्रा मन्त्रोच्चारण से सम्बन्ध रखती है। चितमुद्रा का अर्थ अन्तः-करण में प्रवेश है। करमुद्रा अङ्गुलियों की विविधात्मक न्यासपद्धति है। काममुद्रा शरीर को एक स्थिति में स्थापित करने की प्रक्रिया है।

मुद्रा में मानसिक स्थिति— योगी मूलाधार से शक्ति को उद्रिक्त करके नाभिदेश में मन को निविष्ट करता है। उसे चाहिए कि वह वहीं पर मन को बार-बार अवरुद्ध करके इड़ा एवं पिंगला की वायु को मध्य मार्ग में समाविष्ट करे। बिन्दु, नाद एवं ब्रह्मरन्ध्र नामक तीनों आकाशों तक प्राण को ले जाकर कुम्भक के द्वारा प्राण को रोककर पुनः शक्ति (व्यापिनी की पूर्व स्थिति), व्यापिनी एवं समना— इन तीन आकाशों को अतिक्रान्त करके उन्मना-वस्था की दिशा में अग्रपद होना चाहिए और अन्ततः परम शिव में लयीभूत हो जाना चाहिए।[2]

द्वितीय पद्धति यह है कि नाद, बिन्दु, वायु एवं ब्रह्मरन्ध्र की क्रमिक स्थिति में आरोहण करना चाहिए। मूलाधार चक्र से नाद, बिन्दु एवं शक्ति— इन तीनों आकाशों में मन को

१. अभिनवगुप्तपाद : तन्त्रालोक।

२. यही गगनचारित्व एवं परमव्योम की स्थिति है।

सन्निविष्ट करके और पुन: इनका वेधन करके शिवत्व की सम्प्राप्ति करनी चाहिए—

ध्वनिज्योतिर्मरुद्युक्तं चित्तं विश्रम्य चोपरि।
अनेनाभ्यायोगेन शिवं भित्वा परं व्रजेत्।।[१]

त्रिशूलिनी मुद्रा— दोनों हाथों को कण्ठ के नीचे स्थापित करके वाम चरण को दक्षिण चरण पर स्थापित करना चाहिए। कनिष्ठिका एवं मध्यमा से नासिका के छिद्रों को विदीर्ण करना चाहिए और अनामिका तथा तर्जनी से भ्रूभंग को कुञ्चित करना चाहिए तथा मन्त्र पढ़ते हुए जिह्वा का चालन्न करते हुए 'हा हा हा हा' करना चाहिए।

यदि ब्रह्मरन्ध्र में इस त्रिशूल मुद्रा का प्रयोग किया जाय तो योगी पृथ्वी छोड़ देता है और रस में सम्मिलित रस की भाँति शिव में लीन हो जाता है।

खेचरी मुद्रा निष्कला मुद्रा है। अनेक मुद्रायें इसी के विभिन्न प्रकार हैं। आवेशरहित मुद्रा यथार्थ मुद्रा नहीं है। देह का विकार भी मुद्रा नहीं है। निष्कलावस्था में स्थित योगी खेचरी मुद्रा में स्थित रहता है।

स्वरोदय शास्त्र और मुद्रा

'शिवस्वरोदय' स्वरोदयशास्त्र का ग्रन्थ है। उसमें अनेक मुद्राओं के ग्रहण करने का विधान किया गया है। उसमें षण्मुखी मुद्रा की पद्धति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मुख, नासिका, नेत्र, कान को अपनी अंगुलियों से बन्द करके सक्रिय तत्त्व के प्रति जागरूकता उत्पन्न करनी अर्थात् तत्त्वों को उदित करना ही षण्मुखी मुद्रा कहलाता है—

मुखनासाक्षिकर्णान्तानङ्गुलीभिर्निरोधयेत् ।
तत्त्वोदयमिति ज्ञेयं षण्मुखीकरणं प्रियम्।।[२]

शिवस्वरोदयोक्त मुद्रायें हैं— सर्पमुद्रा (२३९), षण्मुखी मुद्रा (३८२), अगोचरी आदि एवं धारणायें हैं— अरुन्धती, ध्रुव, विष्णुपद, मातृमण्डल आदि।

इसमें कहा गया है कि सर्वप्रथम मुद्रा का ग्रहण करना चाहिए- 'आदौ तु क्रियते मुद्रा'। इसे युद्ध करने के पूर्व धारण करना अनिवार्यवत् माना गया है; क्योंकि कहा भी गया है—

आदौ तु क्रियते मुद्रा पश्चाद्युद्धं समाचरेत्।।

तान्त्रिक बौद्धसाधना और मुद्रा

तान्त्रिक बौद्ध जिसे 'मुद्रा' कहते हैं, वह शक्ति का ही बाह्य रूप या उसकी बाह्याभिव्यक्ति है। इसके चार प्रकार हैं— कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा एवं समयमुद्रा।

गुरु-दीक्षा लेने के बाद साधक को साधना हेतु प्रज्ञा ग्रहण करनी पड़ती है। प्रज्ञा ही

---

१. तन्त्रालोक। २. शिवस्वरोदय (३८२)।

मुद्रा या नायिका है। यह विवाह जैसी क्रिया है। इसके पश्चात् अभिषेक की क्रिया सम्पन्न की जाती है। फिर साधक एवं मुद्रा दोनों मण्डल में प्रविष्ट होते हैं और योगक्रिया निष्पन्न की जाती है।

कर्ममुद्रा— यह एक प्रारम्भिक क्रिया है। कर्म पद काय, वाक् एवं चित्त की चिन्तादि रूप क्रिया है। इस मुद्रा के अन्तर्गत क्षण के चार भेद एवं आनन्द की चार श्रेणियाँ अन्तर्भुक्त हैं। उन चार क्षणों के नाम हैं— विचित्र, विपाक, विलक्षण और विमर्द।

धर्ममुद्रा— यह धर्मधातुस्वरूप है। यह सहजस्वभाव है और प्रवाह की दृष्टि से नित्य है। इस मुद्रा में अज्ञान एवं भ्रान्ति पूर्णतया निवृत्त हो जाती है। मध्य नाड़ी = सुषुम्णा नाड़ी = ब्रह्मनाड़ी ही ज्ञान एवं योग का मार्ग है। आगमिक बौद्ध दर्शन इड़ा-पिंगला को 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय' कहकर इसी सुषुम्णा नाड़ी को 'अवधूती' कहता है और इसका ही नामान्तर है—धर्ममुद्रा। प्रज्ञा और उपाय की सूचक नाड़ियों को बौद्ध 'ललना' एवं 'रसना' कहते थे। तथता के अवतरण का यह उत्कृष्ट मार्ग है। यही 'मध्यमा प्रतिपत्' भी है। इसके अभ्यास से निरोध का साक्षात्कार होता है। इस मार्ग में ग्राह्य एवं ग्राहक विकल्प निवृत्त हो जाते हैं।

महामुद्रा— महामुद्रा तृतीय मुद्रा है। यह निःस्वभाव है। यहाँ आवरणों के सारे प्रकार नष्ट हो जाते हैं। यह नभवत् स्वच्छ एवं समस्त सम्पत्तियों का निधान है। यह निर्वाणस्वरूप है। इस अप्रतिष्ठित मानस की अवस्था में अकल्पित संकल्पों का उन्मेष होता है। यह 'अस्मृत्य मनसिकार' नाम वाली पूर्ण निरालम्बावस्था है।

समयमुद्रा— यह तान्त्रिक बौद्ध में चतुर्थ मुद्रा के रूप में स्वीकृत है। यह अचिन्त्य-स्वरूपा मुद्रा है। इस अवस्थाविशेष में विश्वकल्याणार्थ स्वच्छ 'सम्भोग काय' एवं 'निर्माण काय' स्वरूप वाला होकर 'वज्रधर' स्फुरित होता है। तिब्बती बौद्ध इस विश्वकल्याणकारी स्वरूप को 'हेरुक' कहते हैं। समयमुद्रा महामुद्रा का फल है।

योगी गोरक्षनाथ ने भी गोरखबानी (२७५) में अनेक मुद्राओं का उल्लेख किया है; जो कि तत्कालीन योगि-सम्प्रदाय में प्रचलित थीं—

नासिका अग्रे भ्रूमण्डले अहनिस रहिबा थीरं।
माता गरभि जनम न आयबा, बहुरि न पीयवा खीरं।।

'दर्शन' कानों की मुद्रा है। गोरक्षनाथ कहते हैं—

दरसण माई दरसण बाप दससण माहीं आपै आप।
या दरसण का कोई जाणै भेव सो आपै करता आपै देव।।

मुद्राभ्यास का उद्देश्य

योगियों का कथन है कि अनादि सुषुप्ता कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के लिए

मुद्राभ्यास करना चाहिए—

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।

मुद्रासाधना का महत्त्व

ऋषि घेरण्ड कहते हैं कि मुद्रायें इतनी मूल्यवान हैं कि इनकी साधना से समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यह ज्ञान परम गुह्य ज्ञान है; अतः इसका उपदेश भी सभी को करना निषिद्ध है। ये मुद्रायें योगियों को परम प्रिय हैं और देवताओं के लिए दुर्लभ हैं—

मुद्राणां पटलं देवि! कथितं तव सन्निधौ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते।।

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित्।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरुतामपि।।

ग्रन्थान्तर में भी इसी की पुष्टि की गई है—

मुद्राणां दशकं रूपं ह्येतद्व्याधिविनाशकम्।
देवेशि! कथितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।।

वल्लभं योगिनामेतद् दुर्लभं मरुतामपि।
गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा।।

सारांश यह कि मुद्रायें व्याधियों को विनष्ट करती हैं और दिव्य ऐश्वर्यों (अणिमा। लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्ति, ईशित्व, वशित्व, प्राकाम्य आदि) को प्राप्त कराती हैं। ये परम गोपनीय हैं और देवों को भी अप्राप्य हैं।

मुद्राभ्यास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय दर्शनशास्त्रों में सांख्यदर्शन प्राचीनतम दर्शन है, जो कि बुद्ध के आविर्भाव से भी पूर्व था। कपिल इसी सांख्य दर्शन के उद्भावक थे। स्वयं कपिल ऋषि भी मुद्राओं का अभ्यास किया करते थे—

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन् मम वल्लभे।
यां प्राप्य सिद्धा सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः।।

मुद्राओं के प्रकार

हठयोगप्रदीपिका में मुद्राओं के निम्नांकित प्रकार बताए गए हैं—

१. महामुद्रा	३. महावेध	५. उड्यान	८. विपरीतकरणी	९. वज्रोली
२. महाबन्ध	४. खेचरी	६. मूलबन्ध	७. जालन्धरबन्ध	१०. शक्तिचालन

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्।।

घेरण्डसंहिता में मुद्राओं के २५ प्रकार बताए गए है; जो निम्नांकित हैं—

१ महामुद्रा	६. महावेध	११. माण्डवी	१६. काकी
२. नभोमुद्रा	७. खेचरी	१२. शाम्भवी	१७. योनि
३. उड्डीयान	८. विरीतकरणी	१३. पञ्चधारणा	१८. मातंगी
४. जालन्धर	९. शक्तिचालिनी	१४. अश्विनी	१९. वज्राली
५. मूलबन्ध	१०. ताड़ागी	१५. पाशिनी	२०. भुजङ्गिनी

इन उल्लिखित मुद्राओं की संख्या तो २० ही है; फिर भी मुद्राओं की संख्या २५ ही कही गई है—

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी।।

विपरीतकरिणी योनि वज्राली शक्तिचालिनी।
ताडागी माण्डवी मुद्रा शाम्भवी पञ्चधारणा।।

अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी।
पञ्चविंशति मुद्रा वै सिद्धिदाश्चेह योगिनाम्।।

मुद्रा की संख्या २५ कहने का कारण यह है कि पञ्चधारणा नामक मुद्रा के ५ भेद हैं; अतः मुद्राओं की कुल संख्या २५ हो जाती है। पञ्चधारणारूप मुद्रा के पाँच भेद हैं— पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, वैश्वानरी धारणा, वायवी धारणा एवं नभो धारणा।

शिवसंहिता में मुद्राओं के मात्र १० भेद बताए गए हैं; जो महामुद्रा, महाबन्ध, महा-वेध, खेचरी, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरिणी, उड्डियानबन्ध, वज्रोली एवं शक्ति-चालन के नाम से जाने जाते हैं।

हठयोगप्रदीपिका में वर्णित १० मुद्राओं की ही शिवसंहिता में भी यथावत् स्वीकृति है।

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में मुद्राओं के २६ प्रकार बताए गए हैं।

गोरक्षनाथ ने गोरखबानी में मुद्रा का प्रतीकात्मक अर्थ भी ग्रहण किया है। वे कहते हैं कि मैंने चन्द्र एवं सूर्य (इड़ा-पिंगला) नाड़ियों को मूँद लिया अर्थात् सुषुम्णा का मार्ग खोल दिया। यही मेरी मुद्रा है— 'चन्द्र-सूर नीं मुद्रा कीन्हीं' (गो० बा०-११०)।

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के अनुसार मुद्राओं का नाम और उनका स्वरूप निम्नानुसार है—

त्रिशूलं च तथा पद्मं शक्तिश्चक्रं सवज्रकम्।
दण्डदंष्ट्रे महाप्रेता महामुद्रा खगेश्वरी।।

महोदया कराला च खट्वाङ्गं सकपालकम्।
हलं पाशाङ्कुशं घण्टा मुद्गरस्त्रिशिखोऽपरः।।

आवाहस्थापनीरोधा द्रव्यदा नतिरेव च।
अमिता योगमुद्रेति विज्ञेया वीरवन्दिते।।

इनमें त्रिशूल एवं पद्ममुद्रा का स्वरूप इस प्रकार है—

त्रिशूलमुद्रा— तर्जनीमध्यमानामा दक्षिणास्यप्रसारिताः।
कनिष्ठाङ्गुष्ठकाक्रान्तास्त्रिशूलं परिकीर्तितम्।।

पद्ममुद्रा— पद्माकारौ करौ कृत्वा पद्ममुद्रां प्रदर्शयेत्।

शक्तिमुद्रा— सम्मुखौ प्रसृतौ कृत्वा करावन्तरिताङ्गुली।
प्रसृते मध्यमे लग्ने कौमार्यः शक्तिरिष्यते।।

वज्रमुद्रा— कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ श्लिष्टौ शेषाः स्युर्मणिबन्धगाः।
वज्रमुद्रेति विख्याता चैन्द्री सन्तोषकारिका।

दण्डमुद्रा— ऊर्ध्वप्रसारितो मुष्टिर्दक्षिणोऽङ्गुष्ठगर्भगः।
दण्डमुद्रेति विख्याता वैवस्वतकुलप्रिया।।

दंष्ट्रामुद्रा— वामतो वक्रगां कुर्याद्वाममुष्टेः कनिष्ठिकाम्।
दंष्ट्रेयं कीर्तिता देवि! चामुण्डा कुलनन्दिनी।।

इन मुद्राओं के प्रदर्शन या प्रयोग से मान्त्रिक की रक्षा होती है और उसे मन्त्रसिद्धि प्राप्त होती है।

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि मुद्राख्याः शिवशक्तयः।
याभिः संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात्।।[1]

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में २६ प्रकार की मुद्राओं का उल्लेख करते हुए उनके स्वरूप की व्याख्या की गई है। वे निम्नांकित हैं—

१. त्रिशूल	७. दंष्ट्रा	१२. कराला	१७. अंकुश	२२. रोधा
२. पद्म	८. महाप्रेत	१३. खट्वांग	१८. घण्टा	२३. द्रव्यदा
३. शक्ति	९. महामुद्रा	१४. कपाल	१९. त्रिशिख मुद्गर	२४. नति
४. चक्र	१०. खगेश्वरी	१५. हल	२०. आवाह	२५. अमृता
५. वज्र	११. महोदया	१६. पाश	२१. स्थापिनी	२६. योगमुद्रा
६. दण्ड				

१. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र।

तन्त्रालोक (३२.५-६) में करंकिणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहानिका आदि मुद्राओं को खेचरी का विस्तार कहा गया है।

१. करङ्किणी : ज्ञानसिद्धों की मुद्रा
२. क्रोधिनी : मन्त्रसिद्धों की मुद्रा
३. भैरवी : मेलापसिद्धों की मुद्रा
४. लेलिहाना : शाक्तसिद्धों की मुद्रा
५. खेचरी : शाम्भवसिद्धों की मुद्रा

→ विज्ञानभैरव, क्रमदर्शन, चिद्गगनचन्द्रिका, महार्थमञ्जरी आदि ग्रन्थों में उल्लिखित।

मुद्रा के १० या २५ भेद

शिवसंहिता/हठयोग प्रदीपिका में प्रतिपादित १० मुद्रायें

महामुद्रा महाबन्ध महावेध खेचरी जालन्धर
मूल विपरीतकरणी उड्डियान वज्रोली शक्तिचालन

गोरक्षशतक के अनुसार ५ मुद्रायें

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डियानमुद्रा जालधरबन्ध मूलबन्ध

घेरण्ड ऋषि के अनुसार २५ मुद्रायें

महा नभो उड्डियान जालन्धर मूलबन्ध महावेध खेचरी विपरीतकरणी योनि
वज्राली शक्तिचालिनी ताड़ागी माण्डवी शाम्भवी पञ्चधारणा अश्विनी पाशिनी काकी
मातङ्गी भुञ्जगिनी पार्थिवी आम्भसी आग्नेयी वायवी आकाशी

गोरक्षनाथ के योगबीज की दृष्टि— वायु को वश में करने वाले श्रेष्ठतम बन्ध तीन हैं— मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध एवं जालन्धरबन्ध।

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीय उड्डियानक:।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम्।।

योगबीज में उड्डियान, जालन्धर आदि को मुद्रा के रूप में नहीं; प्रत्युत बन्ध के रूप में निरूपित किया गया है।

गोरक्षशतक में गोरक्ष-दृष्टि— 'गोरक्षशतक' में गोरक्षनाथ ने मुक्तिदा मुद्राओं में केवल ५ मुद्राओं का नामोल्लेख किया है और उन्हें योगबीज की भाँति बन्ध नहीं; प्रत्युत 'मुद्रा' कहा है। वे इसी तारतम्य में खेचरी मुद्रा के स्वरूप की भी विवेचना कर गए हैं; किन्तु नभोमुद्रा के रूप में—

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डियानं जलन्धरम्।
मूलबन्धञ्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्।।

इसके बहुत आगे ६४ वें श्लोक में खेचरी मुद्रा का उल्लेख किया गया है और महामुद्रा का स्वरूप— विवेचन करने के बाद ही खेचरी मुद्रा का स्वरूप-निर्वचन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इसका विवेचन अगली छब्बीस अर्धालियों में विस्तार-पूर्वक किया गया है। यथा—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैव खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता।।

इसी तारतम्य में गोरक्षनाथ ने नभोमुद्रा का भी नामोल्लेख किया है—

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य सरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च।।

यावद् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुत।
यावद् बद्धा नभोमुद्रा तावद् बिन्दुर्न गच्छति।।

पाशुपत शास्त्र में कायिकी मुद्रा प्रतिपादित हुई है। इस तथ्य को व्याख्याकार जयरथ ने उद्धृत किया है। आचार्य महेश्वानन्द महार्थमञ्जरी की ५१वीं गाथा में मुद्रा की विवेचना करते हुए कहते हैं कि परमात्मा की स्वात्मविमर्शस्वरूपिणी शक्ति ही मुद्रात्मिका है। जिस अवस्था में [illegible] योग-प्रचलित अष्ट महासिद्धियों के सौभाग्य को तिरस्कृत करने वाले ऐश्वर्यस्वरूप पर[illegible]-विमर्श के आनन्द के उत्कर्ष की परमाह्लादिनी शक्ति व्यक्त होती है या स्वानुभूति के रूप में अभिव्यक्त होती है, वही परमात्मा की पूजा मुद्रा है—

आशान्दुल्लाससिरी छुल्लइददृमहसिद्धिसोहम्गा।
दीसइ जत्थ दसाए सोच्चिअ देवस्स सव्वमुद्दाओ।।

(आनन्दोल्लासश्रीः क्षुल्लकिताष्टमहासिद्धिसौभाग्या।
दृश्यते यत्र दशायां सैव देवस्य सर्वमुद्रा।।)

महेश्वरानन्द परिमल में मुद्रातत्त्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं— 'यस्यामवस्थायां देवस्य क्रीडाविजिगीषाद्यनेकप्रकारस्वातन्त्र्यसारत्वात् पूज्यपूजकत्वोभयस्वभावसामरस्यशालिनः परमेश्वरस्य स्वविश्रान्तिलक्षणमानन्दं प्रति य उल्लासः तथा परामृश्यमानतया स्फुरत्ता तस्याः श्रीः तद्वदुपर्युपर्यनुस्यूतिलक्षणा प्ररूढिर्दृश्यते निर्विवादमपरोक्षीक्रियते, सैव सर्वा करङ्किण्यादयः संक्षोभिण्यादयोऽन्यथा वा प्रसिद्धास्तास्ता मुद्रा इत्यवगन्तव्यम्।'

सारांश यह कि परमेश्वर की स्वविश्रान्तिस्वरूप आनन्द के प्रति जो उल्लास है और परामृश्यमान स्वरूप में जो स्फुरत्ता है, उसकी 'श्री' की अपरोक्षानुभूति ही मुद्रा है; जो कि बाह्य रूप में बाह्य मुद्रा के रूप में भी प्रदर्शित की जाती है। अणिमा, गरिमा, महिमा,

प्रकाम्य, ईशित्व, वशित्व, प्राप्ति एवं कामावसायित्व के रूप में जो अष्ट सिद्धियाँ हैं, वे भी इसी 'श्री' एवं परमाह्लादिनी विमर्शशक्ति (आनन्द शक्ति) की अभिव्यक्तियाँ हैं और यही आनन्द शक्ति पूजानुगत मुद्रा का यथार्थ स्वरूप है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य का मत— तन्त्रालोक में अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं—

मुद्राप्रदर्शनं पश्चात्कायेन मनसा गिरा। (१५.२५९)

जयरथ इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि भैरव के साक्षात्कार हेतु मुद्राओं का प्रदर्शन आवश्यक है। भगवान् शिव देवी पार्वती से कह रहे हैं कि हे महादेवी! भैरव की इन मुद्राओं का प्रदर्शन भी इस अवसर पर आवश्यक है। आवाहन, पूजन तथा विसर्जन की मुद्रायें पृथक्-पृथक् होती हैं। ये उन्हीं अवसरों पर यथानुरूप प्रदर्शित भी की जाती हैं—

एता मुद्रा महादेवि! भैरवस्य प्रदर्शयेत्।
आवाहने पूजनान्ते तथा चैव विसर्जने।।

'ननु एवं स्वात्मनि भैरवीभाव: कृतो भैरवस्य सन्निधिनिमित्तमवश्यप्रदर्शनीया मुद्रा:' (जयरथ : विवेक)।

इन मुद्राओं का प्रदर्शन आवाहन, पूजा के अन्त में तथा विसर्जन के समय करना चाहिए।

मुद्राओं का प्रदर्शन केवल शरीर से ही नहीं; प्रत्युत तीन प्रकार से करना चाहिए; वे इस प्रकार हैं— कायिक, मानसिक एवं वाणीगत।

मुद्राप्रदर्शनं पश्चात्कायेन मनसा गिरा। (अभिनव०)

मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता।।

(क) मनोजा मुद्रायें— मन से उत्पन्न (मानसिक अनुसन्धान से उद्भूत) ही मनोजा मुद्रायें कहलाती हैं।

(ख) वाग्भवा मुद्रायें— गुरुमुख में स्थित और वाणी के माध्यम से व्यक्त होने वाली मुद्रायें वाग्भवा मुद्रायें कहलाती हैं। वाग्भवा मुद्रायें मन्त्रसम्भवा भी मानी जाती हैं।

(ग) देहोद्भवा मुद्रायें— ये आंगिक होती हैं। ये उँगलियों के विक्षेप से उद्भूत होती हैं। इन आंगिक एवं विक्षेपमयी आकृतियों से शाक्तस्पन्द में विशेषोल्लास उदित होता है। इस प्रकार मनोजा, वाग्भवा एवं देहोद्भवा— तीन प्रकार की मुद्रायें होती हैं।

मुद्राओं का आदर्श स्वरूप

मुद्रानामक पूजा-व्यापार शिव-शक्तिरूप ही है— 'मुद्राख्य: शिवशक्तय:' मुद्राओं का प्रदर्शन शरीर, मन एवं वाणी— तीनों से करना चाहिए। इन मुद्राओं को मन से

निष्पादित करने का भी शास्त्रों में विधान है। मुद्राओं को शिव एवं शक्ति का स्वस्वरूप मानकर ही उनका मन में भक्तिपूर्वक स्मरण करना चाहिए।

बौद्धों की तान्त्रिक साधनाओं में भी मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है।

बौद्धतन्त्रों की मुद्रायें

बौद्ध तान्त्रिक साधना में मुद्रा का अर्थ नारी से सम्बद्ध है। अभिषेक में भी नारियों का होना अनिवार्य माना जाता है। ये नारियाँ मुद्रा कही जाती हैं। मुद्रा (नारी शक्ति) द्वारा साधक अपने भीतर निहित शक्तियों को जाग्रत किया करता है। यहाँ साधक परम-तत्त्व शिव एवं मुद्रा (नारी) शक्ति तत्त्व का प्रतीक है। मुद्राओं को विद्या भी कहा गया है। इन विद्याओं (मुद्राओं) के निम्न प्रकार हैं—

१. भागिनेया
२. दुहित्री
३. भगिनी
४. जननी
५. भार्या की जननी
६. मातुल की पत्नी
७. पितृव्य पत्नी
८. पिता की भगिनी
९. स्वमातृ भगिनी
१०. स्वभार्या

अन्य दस विद्यायें निम्नवत् हैं—

१. शूद्री
२. क्षत्रिणी
३. ब्राह्मणी
४. वेश्या
५. डोम्बी
६. कैवर्ती
७. नटी
८. रजकी
९. चर्मकारी
१०. चाण्डाली

साधक को इन १० विद्याओं को गुरु को समर्पित करने का तान्त्रिक विधान है। गुरु तारा, पाण्डरा, मामकी, लोचना, स्पर्शवज्रा, रसवज्रा, रूपवज्रा, गन्धवज्रा आदि देवियों की भी शिष्यों से पूजा कराता है तथा गुरु साधक को उसकी अपनी पत्नी के साथ या चाण्डाली आदि अन्य मुद्राओं के साथ साधना करने का आदेश देता है।

इन मुद्राओं के प्रतीकार्थ भी हैं। ये १० मुद्रायें ही १० साधना भूमियों की भी प्रतीक हैं, जो निम्नांकित हैं—

१. प्रमुदिता
२. विमला
३. प्रभाकरी
४. अर्चिष्मती
५. सुदुर्जया
६. अभिमुखी
७. दुरङ्गका
८. अचला
९. धर्मामेध्या

नारी को प्रज्ञापारमिता का स्वरूप माना गया है।[1]

अद्वयवज्र 'अद्वयवज्रसंग्रह' में कहते हैं कि गुह्य क्रिया (रति कर्म) से प्रज्ञा एवं उपाय दीप्त हो उठते हैं— प्रज्ञोपायगुह्याभ्यां दीप्यत।

सेकोद्देश्य टीका में मुद्रा को मांसल नारी के रूप में स्वीकार करके कलशाभिषेक,

---

१. सेकोद्देश्य टीका।

गुह्याभिषेक एवं प्रज्ञाभिषेक का विधान किया गया है और कहा गया है कि 'तत्स्तुष्टो गुरुर्लोकसंवृत्या स्वनस्पर्शनं कारयति, स्वमुद्रायास्तेन कलषाभिषेक: स एव। ततो गुह्य-पूजा कृत्वा शिष्यामृतं ददाति, मुद्रारविन्दं चालोकयति तेन गुह्याभिषेको भवति।।'

मुद्रा, आनन्द और क्षण

तन्त्रशास्त्र में चार मुद्रायें मानी गई हैं— कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा एवं समयमुद्रा।

कर्ममुद्रा— इसमें आदि अभिषेक की क्रियायें एवं विधि-निषेध तथा कर्म-विपाक, वैचित्र्य एवं वैविध्य सभी अन्तर्भुक्त हैं।

ये मुद्रायें शारीरिक चेष्टाओं की अपेक्षा पित्त की आन्तरिक भूमियाँ अधिक हैं।

अद्वयवज्रसंग्रह में कहा गया है— 'कर्ममुद्रा-कर्म या काय वाक् चित्त चिन्ता तत्प्रधाना मुद्रा कल्पनास्वरूपा तस्यां कर्म्ममुद्रायां आनन्दा जायन्ते।

धर्ममुद्रा— निष्प्रपञ्चा, निर्विकल्पा, अकृत्रिमा, उत्पादरहिता, करुणास्वभावा, परमा-नन्दैकसुन्दरोपायभूता। यह है— 'निस्तरङ्गशून्यता करुणाभिन्ना।'

महामुद्रा— अविकल्पितसङ्कल्प अप्रतिष्ठित मानस।
अस्मृत्य मनसिकार निरालम्ब नमोऽस्तु ते।।

इसमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय आदि की त्रिपुटी नष्ट हो जाती है, अत: यह निर्वाणस्वरूपिणी है।

समयमुद्रा— समयमुद्रा सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने की अवस्था है। इस अवस्था में मन्त्र, जप, तप, होम, मण्डल आदि के सारे विधान निरर्थक एवं अप्रयोज्य माने जाते हैं—

न मन्त्रजापो न तपो न होमो न माण्डलेयं न च मण्डलं च।
स मन्त्रजाप: स तप: स होम: तन्माण्डलेयं न च मण्डलं च।।

धर्ममुद्रा में ज्ञान-प्राधान्य रहता है; अत: उसमें वैलक्षण्य एवं स्थैर्य दोनों रहते हैं। महामुद्रावस्था में संसार के समस्त पदार्थ अप्रतिष्ठ हो जाते हैं और शुद्धाद्वैत ज्ञान का उन्मेष होता है। विना महामुद्रा के कर्ममुद्रा निष्कल रहती है। अन्तत: समयमुद्रा या सहजमुद्रावस्था काम्य रहती है। इसमें योगी स्वरूपावस्थान प्राप्त कर लेता है।

शृणु देवि! प्रवक्ष्यामि मुद्रा: सर्वार्थसिद्धिदा:।
याभिर्विरचिताभिस्तु सम्मुखा त्रिपुरा भवेत्।। (३.२)

शिवानन्द ने ऋजुविमर्शिनी में मुद्रा की व्याख्या में दो परिभाषायें प्रस्तुत की हैं—

मोचयन्ति ग्रहादिभ्य: पाशौघं द्रावयन्ति च।
मोचनं द्रावणं यस्मान्मुद्रास्ता: शक्तयो मता:।। (सेकोद्देश)

द्रावणात् पाशजालस्य तत्परस्य च मोचनात्।
मुद्रापीठमिति प्रोक्तं कामरूपं नमाम्यहम्।। (सं० प०)

शिवानन्द कहते हैं कि मुद्रायें तो अनिर्वचनीय आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं— 'मुद्रा नाम काश्चन शक्तयः।'

त्रिखण्डा मुद्रा त्रिपुरा के आह्वान हेतु प्रसुक्त होती है। प्रथम मुद्रा सर्वसंक्षोभकारिणी कहलाती है। मुद्रायें निम्नांकित हैं—

प्रथमा मुद्रा : सर्वसंक्षोभकारिणी मुद्रा
द्वितीया मुद्रा : सर्वविद्राविणी मुद्रा
तृतीया मुद्रा : त्रैलोक्याकर्षिणी मुद्रा
चतुर्थी मुद्रा : सर्वावेशकरी मुद्रा
पञ्चमी मुद्रा : उन्मादिनी मुद्रा
षष्ठी मुद्रा : महांकुशाख्या मुद्रा
सप्तमी मुद्रा : खेचरी मुद्रा[1]
अष्टमी मुद्रा : बीज मुद्रा
नवमी मुद्रा : योनि मुद्रा

(सर्वावेशकरी मुद्रा —) अंगुलिविरचनात्मा | बोधगगनचारिता कलात्मा | उद्योगात्मा | संस्थानविशेषानुसरणरूपा

खेचरी मुद्रा

१. चिबुकं योजयित्वा तु षोडशस्वरमण्डले।
चन्द्रसूर्यनिरोधेन मूलशक्तिनिकुञ्चनात्।
रसनामन्तरा कृत्वा अनच्के धारयेन्मनः।
एष सा खेचरी ध्याता उन्मनात्वं प्रयच्छति।।

२. चिबुककण्ठसमायोगात् प्रविकास्य शिरोऽम्बुजम्।
चन्द्रसूर्यनिरोधेन मूलशक्तिं निकुञ्च्य च।।

रौद्रीं कुचिकयोद्घाट्य द्विरष्टकमलोदरे।
रसनामन्तरा कृत्वा नासाग्रे रोपयेद् दृशम्।।

यवमात्रत्रिकोणं तु मीलनोन्मीलनात्मकम्।
लिहन् स्वरसनाग्रेण पिबन्नमरवारुणीम्।।

सदा समरसीभूतं मनः शून्ये निवेशयेत्।
एषा सा खेचरी मुद्रा उन्मनात्वप्रदायिनी।[2]

श्रीतन्त्रसद्भाव में इसका स्वरूप इस प्रकार विवेचित किया गया है—

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत्।
दण्डाकारं तु तत्तावन्नयेद् यावत् कखत्रयम्।।

निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत त्रयेण तु।
एतां बद्ध्वा महायोगी खे गतिं प्रतिपद्यते।।

---

१. नित्याषोडशिकारणवि। २. ज्ञानार्णव तन्त्र।

मुद्रा, आनन्द एवं क्षण का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार है—

क्षण	आनन्द	मुद्रा
१. विचित्र	आनन्द	कर्ममुद्रा
२. विपाक	परमानन्द	धर्ममुद्रा
३. विलक्षण	सहजानन्द	महामुद्रा
४. विमर्द	विरमानन्द	समयमुद्रा

चार प्रकार के ही क्षण हैं, जहाँ आनन्दों का उद्भव होता है। विकल्प ही क्षोभ उत्पन्न करते हैं। विकल्पों का कारण है— मन। मन के कार्यों की समाप्ति की अवस्था है— अमनस्कारावस्था। यह अवस्था परमोच्च आनन्द, परमोच्च मुद्रा एवं परमोच्च क्षण की अवस्था होती है।

नारोपा का मत— नारोपा की 'सेकोद्देश' टीका में उपर्युक्त आनन्दों के १६ भेद किये गए हैं और ४-४ आनन्दों की एक श्रेणी निर्मित की गई है। सेकोद्देश टीका में जो आनन्द-क्रम दिया गया है, वह 'अद्वयवज्रसंग्रह' के आनन्दतन्त्र क्रम से भिन्न है। 'हेवज्र-तन्त्र' में सहजानन्द के लिए बोधिचित् (शुक्र) के प्रवाह को रोकना आवश्यक माना गया है। 'गुह्याभिषेक' एवं 'प्रज्ञाभिषेक' में भी यह विधान स्वीकृत है। स्खलन मृत्यु है—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

यामुनाचार्य का मत— आचार्य श्री यामुनाचार्य ने आगम प्रामाण्य में छः मुद्राओं का वर्णन किया है— कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म, और यज्ञोपवीत।

कपालमुद्रा, खट्वाङ्ग मुद्रा, उपमुद्रायें पाशुपत मत में स्वीकृत हैं।

पाञ्चरात्र का मत— पाञ्चरात्र आदि वैष्णवागमों में शंख एवं चक्र आदि को गर्म करके शरीर पर उनके चिह्न बनाना भी 'मुद्रा' कहा गया है। पाशुपतागम में शरीर पर धारण किए गए अनेक द्रव्यों को भी मुद्रा कहा गया है।

अभिनवगुप्तपाद ने तन्त्रालोक (आ०-२९) में मुद्राओं के प्रयोग को उचित माना है तथा पाञ्चरात्रागम, पाशुपतागम में निर्दिष्ट मुद्राओं (बाह्य मुद्राओं) को भी सार्थक स्वीकार किया है एवं रहस्यप्रधान तन्त्रों के अनुवर्ती साधकों के लिए रहस्यात्मक मुद्राओं को (मुद्राओं के प्रतीकार्थों एवं रहस्यार्थों को) उपादेय माना है।

नेत्रतन्त्र का मत— नेत्रतन्त्र (२१.८०) में स्वात्माभिव्यक्ति के लिए तीन साधनों का निर्देश किया गया है— मन्त्र, ध्यान एवं मुद्रा।

अद्वैतप्रधान तन्त्रों में सभी कुछ आत्मस्वरूप माना जाता है। अतः इस दृष्टि से मुद्रा को भी परसंवित् का ही एक स्वरूप स्वीकार्य किया जाता है।

नित्याषोडशिकार्णव— नित्याषोडशिकार्णव (पटल-३.२८) में कहा गया है कि त्रिपुरासम्बन्धी मुद्राओं की यह महत्ता है कि उनके प्रदर्शन से स्वयं भगवती त्रिपुरा प्रकट हो जाती हैं। पूजाकाल में ही इन मुद्राओं का प्रयोग किया जाना चाहिए—

एता मुद्रा महेशानि! त्रिपुराया मयोदिताः।
पूजाकाले प्रयोक्तव्या यथानुक्रमयोगतः।।

योनिमुद्रा सर्वोच्च मुद्रा है और अन्य सभी मुद्रायें इसी के रूपान्तर हैं—

एका चैव महामुद्रा योनिमुद्रात्वमागता।
तया विभक्त आत्मा तु संक्षोभादिप्रभेदतः।।

१. सर्वसंक्षोभिणी : द्राम् (द्रां)
२. सर्वविद्राविणी : द्रीम् (द्रीं)
३. सर्वाकर्षिणी : क्लीम् (क्लीं)
४. सर्वावेशकारिणी : ब्लूम् (ब्लूं)
५. सर्वोन्मादिनी : सः
६. सर्वाङ्कुशा : क्रोम् (क्रों)
७. खेचरी : ह् स् क्रोम्
८. बीजमुद्रा : हसौ
९. योनिमुद्रा : ऐं

→ ये नवों मुद्रायें नवों चक्रों में बीज के उच्चारण के साथ प्रदर्शित की जानी चाहिए। नवों मुद्राओं के बीज अर्थरत्नावली में इसी प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं।

इन समस्त मुद्राओं में प्रथमा मुद्रा सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा एवं अन्तिम मुद्रा योनिमुद्रा है।

बाह्यपूजा में सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा प्रथम मुद्रा है। योनिमुद्रा बन्ध के मन्त्रगत समस्त दोषों के निराकरणार्थ तन्त्रों में कहा गया है—

यद्यदुच्चरते मन्त्री मन्त्रवर्णं शुभाशुभम्।
तत्तत्सिद्ध्यति देवेशि! योनिमुद्रा निबन्धनात्।।

योनिमुद्रा की ही भाँति खेचरी मुद्रा की भी महत्ता है। शैव-शाक्त-बौद्ध-कौलिक तन्त्र-ग्रन्थों में मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन— पञ्च पदार्थों को बाह्योपासना में स्वीकार किया गया है और उनकी भी आख्या मुद्रा है। आन्तरी 'मुद्रा' क्या है? ये निम्नांकित हैं—

कुलयोगिन उद्रिक्त भैरवीयरसासवात्।
घूर्णमानस्य यः कश्चित् कोऽप्युदेति यथा तथा।।

शरीरगः समावेशो मोदनद्रावणात्मकः।
सा स्वीकृत जगन्मुद्रा मुद्रा नैरुत्तरे मते।।[१]

●

१. मालिनीविजयवार्तिक।

८ *वज्रासन*—दोनों जङ्घाओंको वज्रके समान करके दोनों पाँवोंके तलवोंको गुदाके दोनों ओर पार्श्वभागमें लगाकर घुटनेके बल बैठ जाय। जिससे कि घुटनेसे निचले भागसे पाँवकी अङ्गुलियोंका भाग भूमिको स्पर्श करे।

९ *सरलासन*—मूलबन्ध लगाकर बायें पैरको इस प्रकार भूमिपर फैलाकर रखें कि एड़ी इन्द्रियसे मिली रहें। और दाहिने पैरको बायें पैरसे मिला हुआ इस प्रकार फैलावें कि बायें पैरकी अंगुलियाँ दाहिने पैरकी पिण्डलीसे मिली रहें। इससे सुगमतासे लम्बे समयतक बैठा जा सकता है और पैरोंमें किसी प्रकारका दर्द नहीं होता है।

आसनके समय गर्दन, सिर और कमरको सीधे एक रेखामें रखना चाहिये और मूलबन्धके साथ अर्थात् गुदा और उपस्थको अंदरकी ओर खींचकर बैठना चाहिये।

खेचरी मुद्राके साथ अर्थात् जिह्वाको ऊपरकी ओर ले जाकर—तालुसे लगाकर बैठनेसे ध्यान अच्छा लगता है और आसनमें दृढ़ता आती है। एक ही आसनसे शनैः-शनैः अधिक समय बैठनेका अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिये। पैर आदि किसी अङ्गमें एक आसनसे बैठे रहनेमें यदि दर्द मालूम हो तो उस अङ्गपर नरम कपड़ा रखकर बैठना चाहिये। यदि अधिक पीड़ा हो तो रतनजोतके तेलकी मालिश कर सकते हैं। एक आसनसे जप ३ घंटे ३६ मिनटतक बिना हिले-डुले सुखपूर्वक बैठा जा सके, तब उस आसनकी सिद्धि समझनी चाहिये। आरम्भमें बीचमें दो-एक बार आसनको बदल सकते हैं। आसनको दृढ़ करनेका सरल उपाय यह है कि जब बैठनेका अवसर मिले उसी एक आसनसे बैठनेका यत्न करे। जो अभ्यासी स्थूल अथवा विकारी शरीर होनेके कारण उपर्युक्त आसनोंसे न बैठ सकें, वे अर्द्धपद्म, अर्द्धसिद्ध अथवा किसी सुखासनसे तथा दीवारका सहारा लेकर बैठ सकते हैं; पर मेरुदण्डको सीधा तथा कमर, गर्दन और सिरको समरेखामें रखना अति आवश्यक है। प्रथम तीन—अर्थात् स्वस्तिक, सिद्ध और सम आसनोंमें हाथोंको उलटा करके घुटनोंपर रखना अथवा ज्ञानमुद्रासे बैठना लाभदायक है। दोनों हाथोंकी कलाईको घुटनोंपर रखकर तर्जनी अर्थात् अँगूठेके पासकी अँगुली तथा अँगूठेको एक-दूसरेकी ओर फेरकर दोनोंके सिरे आपसमें मिलाने और शेष अङ्गुलियोंको सीधा फैलाकर रखनेको ज्ञानमुद्रा कहते हैं। अन्य तीन अर्थात् पद्म, बद्धपद्म तथा वीरासनमें दोनों हाथोंको उठाकर सीनेसे लगाये रखना हितकर है। सब आसनोंमें बायाँ हाथ एड़ियोंके ऊपर सीधा रखकर उसी प्रकार दायाँ हाथ उसके ऊपर रखकर अथवा जिसमें सुगमता प्रतीत हो उस विधिसे हाथोंको रखकर बैठ सकते हैं। मुखको पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी ओर करके बैठना चाहिये।

अभ्यासपर बैठनेसे तीन घंटे पूर्व कुछ न खायँ। बैठनेके लिये एक चौकी होनी चाहिये, जो न अधिक ऊँची हो और न अधिक नीची हो। चौकीके ऊपर कुशासन, उसके ऊपर ऊनका आसन, उसके ऊपर रेशम या (उसके अभावमें) सूतका वस्त्र होना चाहिये। अहिंसामें निष्ठा रखनेवाले अभ्यासियोंको किसी प्रकारके चर्मको आसनके रूपमें प्रयोग न करना चाहिये। देश-काल और परिस्थितिको दृष्टिमें रखते हुए किसी-किसी स्मृतिमें मृगचर्मकी व्यवस्था दी गयी है; किंतु वर्तमान समयमें उत्तम-से-उत्तम ऊनी आसन सुगमतासे प्राप्त हो सकते हैं और निरपराधी पशुओंकी हिंसा अधिकतर चर्मप्राप्तिके उद्देश्यसे ही की जाती है।

विशेष वक्तव्य— ॥ सूत्र ४६ ॥ अभ्यास ऐसी कोठरी या कमरेमें करना चाहिये, जो शुद्ध, शान्त, एकान्त और निर्विघ्न हो। हर प्रकारके शोरगुल, मच्छर, पिस्सू और पील आदिसे रहित हो। अभ्याससे पहले अथवा पीछे हवन अथवा घृतके साथ धूप-दीप आदि सुगन्धित वस्तुओंके जलानेसे उसको सुगन्धित रखना चाहिये। नदीतट अथवा पाँच हजार फीटसे अधिक ऊँचाईवाले पहाड़ी स्थानोंका वायुमण्डल शुद्ध और भजनके लिये अधिक उपयोगी होता है। गरम मैदानवाले स्थानोंमें शरद् और वसन्त ऋतुमें भजन अच्छा हो सकता है। पहाड़ोंमें अथवा जमीनमें खुदी हुई गुफा समाधि लगानेके लिये अति उत्तम है; किंतु उसमें सील किंचिन्मात्र भी न होने पावे और शुद्ध हो। योगाभ्यासमें खान-पानमें संयम रखना अति आवश्यक है और शरीर तथा नाड़ीशोधनसे शीघ्र सफलता प्राप्त होती है, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन इस पादके प्रथम तथा ३२ वें सूत्रके विशेष विचारमें कर दिया गया है। यहाँ शरीरके सूक्ष्म; सात्त्विक, शुद्ध, स्वस्थ, नीरोग, आसनको दृढ़ और ध्यानको स्थिर करने तथा कुण्डलिनीको जाग्रत् करनेवाले कुछ उपयोगी बन्ध-मुद्राएँ और आसन बतलाये देते हैं—

१ मूल-बन्ध—मूल गुदा एवं लिङ्ग-स्थानके रन्ध्रको बंद करनेका नाम मूल-बन्ध है। वाम पादकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ़ लगाकर गुदाको सिकोड़कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिङ्ग एवं कन्दके बीचके भागको दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपानवायुको बलके साथ धीरे-धीरे ऊपरकी ओर खींचनेको मूल-बन्ध कहते हैं। सिद्धासनके साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनोंके साथ एड़ीको सीवनीपर बिना लगाये हुए भी मूल-बन्ध लगाया जा सकता है।

फल—इससे अपानवायुका ऊर्ध्व-गमन होकर प्राणके साथ एकता होती है। कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपरकी ओर चढ़ती है। कोष्ठबद्ध दूर करने, जठराग्निको प्रदीप्त करने और वीर्यको ऊर्ध्वरेतस् बनानेमें यह बन्ध अति उत्तम है। साधकोंको न केवल भजनके अवसरपर किंतु हर समय मूलबन्धको लगाये रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

२ उड्डीयान-बन्ध—दोनों जानुओंको मोड़कर पैरोंके तलुओंको परस्पर भिड़ाकर पेटके नाभिसे नीचे और ऊपरके आठ अंगुल हिस्सेको बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़की हड्डीसे) ऐसा लगा दे जिससे कि पेटके स्थानपर गड्ढा-सा दीखने लगे। जितना पेटको अंदरकी ओर अधिक खींचा जायगा उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षीके सदृश सुषुम्णाकी ओर उड़ने लगता है, इसलिये इस बन्धका नाम उड्डीयान रखा गया है। यह बन्ध पैरोंके तलुओंको बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है।

फल—प्राण और वीर्यका ऊपरकी ओर दौड़ना, मन्दाग्निका नाश, क्षुधाकी वृद्धि, जठराग्निका प्रदीप्त और फेफड़ेका शक्तिशाली होना।

३ जालन्धर-बन्ध—कण्ठको सिकोड़कर ठोडीको दृढ़तापूर्वक कण्ठकूपमें इस प्रकार स्थापित करे कि हृदयसे ठोडीका अन्तर केवल चार अंगुलका रहे, सीना आगेकी ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठस्थानके नाडी-जालके समूहको बाँधे रखता है, इसलिये इसका नाम जालन्धर-बन्ध रखा गया है।

फल—कण्ठका सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कण्ठके सङ्कोचनद्वारा इड़ा, पिङ्गला नाड़ियोंके बंद होनेपर प्राणका सुषुम्णामें प्रवेश करना।

लगभग सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्धके साथ किये जाते हैं।

राजयोगमें ध्यानावस्थामें जालन्धर-बन्ध लगानेकी बहुत कम आवश्यकता होती है।

४ महाबन्ध—पहली विधि—बायें पैरकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें जमाकर बायीं जङ्घाके ऊपर दाहिने पैरको रख, समसूत्रमें हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्रसे वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे। फिर मूलद्वारसे वायुका ऊपरकी ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगावे। मनको मध्य नाड़ीमें लगाये हुए यथाशक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् पूरकके विपरीतवाली नासिकासे धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार दोनों नासिकासे अनुलोम-विलोम-रीतिसे समान प्राणायाम करे।

दूसरी विधि—पद्म अथवा सिद्धासनसे बैठ, योनि और गुह्यप्रदेश सिकोड़, अपानवायुको ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान-वायुके साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायुको अधोमुख करके प्राण और अपानवायुओंके साथ नाभिस्थलपर दृढ़रूपसे कुम्भक करे।

फल—प्राणका ऊर्ध्वगामी होना, वीर्यकी शुद्धि, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णाका सङ्गम प्राप्त होना, बलकी वृद्धि इत्यादि।

५ महावेध—पहली विधि—महाबन्धकी प्रथम विधिके अनुसार मूलबन्धपूर्वक कुम्भक करके, दोनों हाथोंकी हथेली भूमिमें दृढ़ स्थिर करके, हाथोंके बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों (चूतड़) को शनैः-शनैः ताड़ना देवे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इड़ा, पिङ्गलाको छोड़कर कुण्डलिनी शक्तिको जगाता हुआ सुषुम्णामें प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायुको शनैः-शनैः महाबन्धकी विधिके अनुसार रेचन करे।

दूसरी विधि—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठे, अपान और प्राणवायुको नाभिस्थानपर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथोंको तानकर नितम्बों (चूतड़ों) से मिलते हुए भूमिपर जमाकर नितम्ब (चूतड़) को आसनसहित उठा-उठाकर भूमिपर ताड़ित करते रहें।

फल—कुण्डलिनी शक्तिका जाग्रत् होना, प्राणका सुषुम्णामें प्रवेश करना। महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा—तीनोंको मिलाकर करना अधिक फलदायक है।

मुद्रा

१ खेचरी मुद्रा—जीभको ऊपरकी ओर उलटी ले जाकर तालु-कुहर (जीभके ऊपर तालुके बीचका गढ़ा) में लगाये रखनेका नाम खेचरी मुद्रा है। इसके निमित्त जिह्वाको बढ़ानेके तीन साधन किये जाते हैं—छेदन, चालन और दोहन।

पहिला साधन—छेदन—जीभके नीचेके भागमें सूताकारवाली एक नाड़ी नीचेवाले दाँतोंकी जड़के साथ जीभको खींचे रखती है। इसलिये जीभको ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ीके दाँतोंके निकटवाले एक ही स्थानपर स्फटिक (बिल्लौर) का धारवाला टुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पाँच बार फेरते रहें। कुछ दिनोंतक ऐसा करनेके पश्चात् वह नाड़ी उस स्थानमें पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थानको जिह्वामूलतक काटते चले जायँ। स्फटिक फेरनेके पश्चात् माजूफलका कपड़छान चूर्ण (Tarin acid टेरिन ऐसिड) जीभके ऊपर-नीचे तथा दाँतोंपर मलें और उन सब स्थानोंसे दूषित पानी निकलने दें। माजूफल-चूर्णके अभावमें अकरकरा, नून, हरीतकी और कत्थेका चूर्ण छेदन किये हुए स्थानपर लगावें। यह छेदन-विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकारकी हानि

पहुँचनेकी सम्भावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदनका कार्य किसी धातुके तीक्ष्ण यन्त्रसे प्रति आठवें दिन उस शिराको बालके बराबर छेदकर घावपर कत्था और हरड़का चूर्ण लगाकर करते हैं। इसके छेदनके लिये नाखून काटनेवाला-जैसा एक तीक्ष्ण यन्त्र और खाल छीलनेके लिये एक दूसरे यन्त्रकी आवश्यकता होती है, जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ीके सम्पूर्ण अंशके एक साथ कट जानेसे वाक् तथा आस्वादन-शक्तिके नष्ट हो जानेका भय रहता है। इसलिये इसे किसी अभिज्ञ पुरुषकी सहायतासे करना चाहिये। छेदनकी आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और यह नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लम्बी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदनकी अधिक आवश्यकता नहीं है।

दूसरा एवं तीसरा साधन—चालन व दोहन—अँगूठे और तर्जनी अँगुलीसे अथवा बारीक वस्त्रसे जीभको पकड़कर चारों तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खींचनेको चालन कहते हैं। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे जीभका गायके स्तनदोहन-जैसे पुनः-पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करनेकी क्रियाका नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे अन्तिम अवस्थामें जीभ इतनी लम्बी हो सकती है कि नासिकाके ऊपर भ्रूमध्यतक पहुँच जाय। इस मुद्राका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यानकी अवस्था परिपक्व करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वाओंके भी नाना प्रकारके भेद देखनेमें आये हैं। किसी जिह्वामें सूतकार नाड़ीके स्थानमें मोटा मांस होता है, जिसके काटनेमें अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वामें न यह नाड़ी होती है, न मांस। उसमें छेदनकी आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिये।

२ *महामुद्रा*—मूलबन्ध लगाकर बायें पैरकी एड़ीसे सीवन (गुदा और अण्डकोषके मध्यका चार अंगुल स्थान) दबाये और दाहिने पैरको फैलाकर उसकी अँगुलियोंको दोनों हाथोंसे पकड़े। पाँच घर्षण करके बायीं नासिकासे पूरक करे और जालन्धर-बन्ध लगाये। फिर जालन्धर-बन्ध खोलकर दाहिनी नासिकासे रेचक करे। यह वामाङ्गकी मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दक्षिणाङ्गमें इस मुद्राको करना चाहिये।

दूसरी विधि—बायें पैरकी एड़ीको सीवन (गुदा और उपस्थके मध्यके चार अंगुल भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैरको लंबा फैलावे। फिर शनैः-शनैः पूरकके साथ मूल तथा जालन्धर-बन्ध लगाते हुए दायें पैरका अँगूठा पकड़कर मस्तकको दायें पैरके घुटनेपर जमाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय पूरक की हुई वायुको कोष्ठमें शनैः-शनैः फुलावे और ऐसी भावना करे कि प्राण कुण्डलिनीको जाग्रत् करके सुषुम्णामें प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तकको घुटनेसे शनैः-शनैः रेचक करते हुए उठाकर यथास्थितिमें बैठ जाय। इसी प्रकार दूसरे अङ्गसे करना चाहिये। प्राणायामकी संख्या एवं समय बढ़ाता रहे।

फल—मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि उदरके रोगों तथा प्रमेहका नाश, क्षुधाकी वृद्धि और कुण्डिलिनीका जाग्रत् होना।

३ *अश्विनी मुद्रा*—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर योनिमण्डलको अश्वके सदृश पुनः-पुनः सिकोड़ना अश्विनी मुद्रा कहलाती है।

फल—यह मुद्रा प्राणके उत्थान और कुण्डलिनी शक्तिके जाग्रत् करनेमें सहायक होती है।

अपानवायुको शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओंको मजबूत करती है।

४ *शक्तिचालिनी मुद्रा*—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर हाथोंकी हथेलियाँ पृथ्वीपर जमा दे। बीस-पचीस बार शनैः-शनैः दोनों नितम्बोंको पृथ्वीसे उठा-उठाकर ताड़न करे। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओंसे अथवा वामसे अथवा जो स्वर चल रहा हो उस नासिकासे पूरक करके प्राणवायुको अपानवायुसे संयुक्त करके जालन्धर-बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय अश्विनीमुद्रा करे अर्थात् गुह्यप्रदेशका आकर्षण-विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर यदि दोनों नासिकापुटसे पूरक किया हो तो दोनोंसे अथवा पूरकसे विपरीत नासिकापुटसे रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रतापूर्वक बैठ जाय।

घेरण्डसंहितामें इस मुद्राको करते समय बालिश्त-भर चौड़ा, चार अंगुल लम्बा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभिपर कटिसूत्रसे बाँधकर सारे शरीरपर भस्म मलकर करना बतलाया है।

फल—सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्द्धक होनेके अतिरिक्त कुण्डिलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें अत्यन्त सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करें।

५ *योनिमुद्रा*—सिद्धासनसे बैठ सम-सूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे दोनों नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे नाकके छिद्रोंको बंद करके और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठकाओंको दोनों ओठोंके पास रखकर काकीमुद्राद्वारा अर्थात् जिह्वाको कौएकी चोंचके सदृश बनाकर उसके द्वारा प्राणवायुको खींचकर अधोगत अपानवायुके साथ मिलावे। तत्पश्चात् ओ३म्‌का जाप करता हुआ ऐसी भावना करे कि उसकी ध्वनिके साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनीको जाग्रत् करके षट्चक्रोंका भेदन करते हुए सहस्रदल-कमलमें जा रही है। इससे अन्तर्ज्योतिका साक्षात्कार होता है।

६ *योगमुद्रा*—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठकर प्रथम दोनों नासिकापुटोंसे पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे, तत्पश्चात् दोनों हाथोंको पीठके पीछे ले जाकर बायें हाथसे दायें हाथकी और दायें हाथसे बायें हाथकी कलाईको पकड़े, शरीरको आगे झुकाकर पेटके अंदर एड़ियोंको दबाते हुए सिरको जमीनपर लगा दे। इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करनेके पश्चात् सिरको जमीनसे उठाकर जालन्धर-बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओंसे रेचन करे।

फल—पेटके रोगोंको दूर करने और कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें सहायक होती है।

७ *शाम्भवी मुद्रा*—मूल और उड्डीयान-बन्धके साथ सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर नासिकाके अग्रभाग अथवा भ्रूमध्यमें दृष्टिको स्थिर करके ध्यान जमाना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है।

८ *तड़ागी मुद्रा*—तड़ाग (तालाब) के सदृश कोष्ठको वायुसे भरनेको तड़ागी मुद्रा कहते हैं। शवासनसे चित्त लेटकर जिस नासिकाका स्वर चल रहा हो उससे पूरक करके तालाबके समान पेटको फैलाकर वायुसे भर ले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायुको पेटमें इस प्रकार हिलावे जिस प्रकार तालाबका जल हिलता है। कुम्भकके पश्चात् सावधानीसे वायुको शनैः-शनैः रेचन कर दे, इससे पेटके सर्वरोग समूल नाश होते हैं।

९ *विपरीतकरणी मुद्रा*—शीर्षासन=कपालासन—पहिले जमीनपर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उसपर अपने मस्तकको रखे। फिर दोनों हाथोंके तलोंको मस्तकके पीछे लगाकर शरीरको उलटा

ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे। थोड़े ही प्रयत्नसे मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासनके साथ भी की जा सकती है। इसको ऊर्ध्व-पद्मासन कहते हैं। आरम्भमें इसको दीवारके सहारे करनेमें आसानी होगी।

फल—वीर्यरक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्निका बलवान् होना, प्राणकी गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिरदर्द आदिका दूर होना, रक्तका शुद्ध होना और कफके विकारका दूर होना।

१० वज्रोली मुद्रा—मूत्रत्यागके समय कई बार मूत्रको बलपूर्वक ऊपरकी ओर आकर्षित करे। ऐसा करते समय इस बातको ध्यानसे देखे कि मूत्रधारा कितने नीचेसे आकर्षित होकर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरन्तर अभ्याससे जब मूत्रधार दस-बारह अंगुल नीचेसे आकर्षित होकर खींची जा सके और उतारनेमें कुछ शक्ति लगाना पड़े तो समझना चाहिये कि वज्रोली क्रिया सिद्ध हो गयी है। तत्पश्चात् क्रमशः जल, दूध, तेल अथवा घी, शहद और अन्तमें पारा खींचनेका अभ्यास करे।

दूसरी विधि—एक चौदह अंगुल रबरका कैथीटर (जो कि अंग्रेजी दवाखानोंमें मिल सकता है) पानीमें उबालकर लिङ्ग-छिद्रमें प्रवेश करनेका अभ्यास करे। यह अभ्यास एक अंगुलसे प्रारम्भ करके क्रमशः एक-एक अंगुल बढ़ाता जाय। जब बारह अंगुल प्रविष्ट होने लगे तो चौदह अंगुल लम्बी और लिङ्गके छिद्र-अनुसार चौड़ी जस्तेकी सलाई जो दो अंगुल मुड़ी हुई ऊपरको मुँहवाली हो जिससे कि लिङ्गेन्द्रियमें प्रविष्ट कर सके उपर्युक्त रबरके कैथीटरकी रीतिसे लिङ्ग-छिद्रमें प्रवेश करनेका अभ्यास करे। जब बारह अंगुलतक प्रविष्ट होने लगे, तब चौदह अंगुल लम्बी लिङ्गके छिद्र-अनुसार चौड़ी अंदरसे पोली एक चाँदीकी सलाई बनवावे, जो दो अंगुल टेढ़ी और ऊर्ध्वमुखी हो। इस टेढ़े भागको लिङ्ग-छिद्रमें प्रविष्ट करके दो अंगुल बाहर रहने दे, फिर सुनारकी धमनीके सदृश धमनीसे उस सलाईमें लगातार फूत्कार करे। इस प्रकार लिङ्गमार्गकी अच्छी प्रकार शुद्धि हो जानेपर वायुको खींचने और छोड़नेका अभ्यास करे, इस अभ्यासके सिद्ध हो जानेपर लिङ्ग-छिद्रसे उपर्युक्त रीतिसे जल, तेल, दुध, शहद और पारेके खींचनेका क्रमशः अभ्यास करे। कैथीटर और यन्त्र इन्द्रीके छिद्र और उसके आकारके अनुसार होने चाहिये।

फल—लिङ्गेन्द्रियके छिद्रकी शुद्धि और अपानवायुपर पूर्णतया अधिकार प्राप्त हो जाता है, पथरीको तोड़कर निकालनेमें सहायता मिलती है।

इस मुद्राका फल हठयोगके शास्त्रमें अलौकिक सिद्धियाँ बतलायी गयी हैं; परंतु जरा-सी असावधानी होनेपर इन्द्रिय-छिद्रमें विकार होनेसे भयङ्कर शारीरिक रोग उत्पन्न होने तथा स्त्रीके रज खींचनेकी चेष्टामें ऊँचे-से-ऊँचे अभ्यासीके लिये भी आध्यात्मिक पतन होनेकी अधिक सम्भावना है। इस प्रकारके बहुत-से उदाहरण दृष्टिगोचर हुए हैं। इन मुद्राओं आदिको किसी अनुभवीकी सहायतासे करना चाहिये अन्यथा लाभके स्थानमें हानि पहुँचनेकी अधिक सम्भावना है।

११ उन्मुनि मुद्रा—किसी सुख-आसनसे बैठकर आधी खुली हुई और आधी बंद आँखोंसे नासिकाके अग्रभागपर टकटकी लगाकर देखते रहना यह उन्मुनि मुद्रा कहलाती है। इससे मन एकाग्र होता है।

काकी और भुजङ्गी मुद्राका वर्णन पचासवें सूत्रके विशेष वक्तव्यमें किया जायगा।

चित लेटकर करनेके आसन

१ पादाङ्गुष्ठ-नासाग्र-स्पर्शासन—पृथिवीपर समसूत्रमें पीठके बल सीधा लेट जाय। दृष्टिको नासाग्रमें

तथा गायत्री आदि मन्त्रोंका या तेज, बल, शक्ति देने… मन्त्रोंका यथाशक्ति स्मरण करना चाहिये। एक आ… बाद उसका प्रतियोगी आसन भी करना चाहिये… पश्चिमोत्तान-आसनका प्रतियोगी भुजंगासन औ… न है। हस्तपादासनका प्रतियोगी चक्रासन है… नका अभ्यास आवश्यक है। सूर्यनमस्कारको … सनोंके अभ्यासके पूर्व कर लेना लाभकारी है…

प्राणायामका अभ्यास शरीरस्थ स… निराकरण कर प्राणमयकोष एवं सूक्ष्म शरीरको … पुष्ट बनाता है। नाडी-शोधनका अभ्यास करने… ही कुम्भक प्राणायामोंका अभ्यास करना चाहिये… यामके सभी अभ्यास युक्तिपूर्वक शनैः-शनैः ही … चाहिये तथा भस्त्रिका प्राणायामको छोड़कर सभी … यामोंमें रेचक एवं पूरक, दोनोंकी क्रियाएँ बहुत धीरे… रनी चाहिये। प्रत्येक कुम्भककी अपनी-अपनी दो… विशेष शक्ति है। अतः प्रवृद्ध दोषका विचार करके … नके दोषनाशक कुम्भकका अभ्यास करना चाहिये… भेद प्राणायाम पित्तवर्धक, जरादोषनाशक, वातहर, क… एवं कृमिदोषको नष्ट करनेवाला है। उज्जायी कफ… वायु, अजीर्ण, जलोदर, आमवात, क्षय, कास, ज… प्लीहाको नष्ट करता है। स्वास्थ्य एवं पुष्टिकी … लिये उज्जायी

…श्वास रोग-शमन हेतिक चलाया जाता है। इस …-परिवर्तनसे प्रवृद्ध दोषका संशमन हो जाता है। स्वरयोगकी जानकारीके लिये 'शिवस्वरोदय' एवं 'स्वर-चिन्तामणि' नामक ग्रन्थोंका अवलोकन करना चाहिये।

मुद्राओंके अभ्यासमें महामुद्रा, खेचरी, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध एवं विपरीतकरणी मुख्य हैं। महामुद्रा क्षय, कुष्ठ, आवर्त, गुल्म, अजीर्ण आदि रोगों एवं सभी दोषोंको नष्ट करती है। इसके अभ्याससे पाचन-शक्तिकी प्रचण्ड वृद्धि होकर विषको भी पचानेकी क्षमता प्राप्त होती है। महामुद्राके साथ महाबन्ध एवं महावेधका भी अभ्यास किया जाता है। इन तीनोंके अभ्याससे वृद्धत्व दूर होता है एवं अनेक शारीरिक सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है। खेचरी मुद्राके अभ्याससे शरीरमें अमृतत्व धर्मकी वृद्धि होती है। सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है। शरीरकी सोमकलाका विकास होता है तथा देह-क्षयकी प्रक्रिया रुक जाती है। उड्डीयानका अभ्यास उदर एवं नाभिसे नीचे स्थित अङ्गोंके रोगोंको दूर कर पुरुषत्वकी अभिवृद्धि करता है। जननाङ्ग एवं प्रजननाङ्गके रोगोंसे पीडित नर-नारियोंको उड्डीयानबन्धका विशेष अभ्यास करना चाहिये। जालन्धरबन्धसे कण्ठ-रोगों एवं शिरोरोगोंका नाश होता है तथा मूलबन्धका अभ्यास गुदा एवं जननेन्द्रियपर, प्राण एवं अपानपर नियन्त्रण प्रदान करता

है। उड्डीयान एवं जालन्धरबन्धका अभ्यास तो प्राणायामके समय ही किया जाता है, परंतु मूलबन्धका अभ्यास सतत करना चाहिये। विपरीतकरणी मुद्राका ठीक-ठीक अभ्यास वलीपलितको दूर कर युवावस्था प्रदान करता है।

पूर्वोक्त मुद्राओंके अतिरिक्त घेरण्डसंहिताप्रोक्त कुछ अन्य मुद्राओंका अभ्यास भी रोगनाश, वलीपलितविनाश एवं स्वास्थ्य-लाभके लिये उपयोगी है। इनमेंसे नभोमुद्रा एवं माण्डूकीमुद्रा तालुस्थित अमृतपानमें सहायक होनेके कारण सभी रोगोंका नाश करनेवाली है। आश्विनी मुद्रा गुह्यरोगोंका नाश करनेवाली, अकालमृत्युको दूर करनेवाली तथा बल एवं पुष्टि प्रदान करनेवाली है। पाशिनी मुद्रासे बल एवं पुष्टिकी प्राप्ति होती है। तड़ागी मुद्रा एवं भुजंगिनी मुद्रा—ये दोनों ही उदरके अजीर्णादि रोगोंको नष्टकर दीर्घ जीवन प्रदान करती हैं।

रोगोंको दूर करनेमें ध्यान अथवा चिन्तनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ध्यानसे शरीर, प्राण, मन, हृदय एवं बुद्धिमें शान्ति, पवित्रता एवं निर्मलता आती है। 'सदा प्राणिमात्रके …याणका विचार करनेसे एवं सभी सुखी हों, नीरोग हों … प्रकारकी भावनाओंकी तरङ्गें … प्राप्ति होता … वह वैसा बन जाता है। 'मैं नीरोग हूँ, स्वस्थ हूँ'—ऐसा चिन्तन निरन्तर दृढ़तापूर्वक करते रहनेसे आरोग्य बना रहता है। इसे आत्मसम्मोहन 'ऑटो सजेशन' की विधि कहते हैं। इसी

प्र… संकल्पशक्तिके द्वारा अपने या दूसरेके रोगोंको भी … जाता है। रोगनिवारणके लिये प्रमुख बात यह है कि … पर उसका चिन्तन ही न करे, उसकी परवाह ही न … का चिन्तन करनेसे रोग बद्धमूल हो जाता है एवं … मनोबल दुर्बल हो जाता है। मानसिक रोगोंका … क एवं प्रज्ञाबलसे निवारण करना चाहिये एवं शारी… का औषधोंसे। इन रोगोंके उन्मूलनमें यौगिक स… अद्भुत योगदान रहा है।

शारी… मानसिक रोगोंसे मुक्ति चाहनेवालोंको योग-क्रिया… भ्यास करनेके साथ-साथ रोगोत्पादक सभी मूल … त्याग करना चाहिये तथा अपने लिये अनुकूल … त्साशास्त्रद्वारा निर्दिष्ट सात्त्विक पथ्य, सदाचार ए… का सेवन करना चाहिये। यथासम्भव अनिष्ट-चि… चना चाहिये तथा चित्तको राग-द्वेष-मोहादि … र करना चाहिये। सम्पूर्ण दुःखोंका मूल कारण … नित अज्ञान, लोभ, क्रोध तथा मोह है। त्रिगु… तथा अज्ञानके बन्धनसे मुक्त होनेका … य योग है तथा योग-बलसे भी बड़ी शक्ति है … की अनुग्रह-शक्ति।

अतएव अहंता-ममताका त्याग करके भगवच्चरणोंका एकमात्र आश्रय लेकर योगसाधना करनेसे शारीरिक व्याधिके साथ-साथ त्रिविध ताप एवं भवव्याधि भी कट जाती है और ऐसा साधक पूर्णतम आनन्दको प्राप्त करनेमें सर्वथा समर्थ हो जाता है।

Scanned by CamScanner

रोग-निवारणके लिये स्वर-योगका आश्रय भी लिया जाता है। नीरोगताके लिये भोजन सदा दायाँ स्वर (श्वास) चलनेपर करना चाहिये। वाम स्वर शीतल एवं दक्षिणस्वर उष्ण माना जाता है। इसके अनुसार ही वात एवं कफ-प्रधान रोगोंमें दक्षिण नासिकासे श्वासको चलाया जाता है एवं पित्तप्रधान रोगमें वाम स्वरसे श्वासको चलाया जाता है। सामान्य नियम यह है कि रोगके प्रारम्भकालमें जिस नासिकासे श्वास चल रहा होता है, उसे बंद करके दूसरी नासिकासे श्वास रोग-शमन होनेतक चलाया जाता है। इस स्वर-परिवर्तनसे प्रवृद्ध दोषका संशमन हो जाता है। स्वरयोगकी जानकारीके लिये 'शिवस्वरोदय' एवं 'स्वर-चिन्तामणि' नामक ग्रन्थोंका अवलोकन करना चाहिये।

Scanned by CamScanner

१ बन्धोंका प्रयोग—स्थिरासनमें खेचरी मुद्राके साथ नेत्रोंको बंद करके प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। सिर, गर्दन और मेरुदण्ड सीधे रहें; झुके न रहें। शरीरको तानकर नहीं रखना चाहिये, बल्कि ढीला छोड़ देना चाहिये। मूलबन्ध आरम्भसे अन्ततक तीनों प्राणायामोंमें लगा रहना चाहिये। उड्डीयानको भी लगाये रखनेका प्रयत्न करें। रेचकमें पूरा उड्डीयान करके पेटको पीठसे मिला देना चाहिये। पूरक और कुम्भकके समय पेटकी नाड़ियोंको फुलाकर आगेकी ओर नहीं बढ़ाना चाहिये, वरं सिकोड़कर ही रखना चाहिये। पूरक करके कुम्भकके समय जालन्धर-बन्ध लगाकर वायुको अंदर रोकना होता है। कुम्भककी समाप्तिपर जालन्धर-बन्ध खोलकर रेचक किया जाता है। जालन्धर-बन्ध यद्यपि बहुत लाभदायक है तथापि तनिक-सी असावधानी होनेपर इसमें हानि पहुँचनेकी भी सम्भावना रहती है तथा इसके द्वारा गर्दन झुकानेकी आदत भी कई अभ्यासियोंको पड़ जाती है, इसलिये राजयोगके अभ्यासियोंके लिये अधिक हितकर नहीं है। बिना जालन्धर-बन्ध लगाये दोनों नासिकापुटको अंगुलियोंसे बंद करके अथवा इसके बिना भी कुम्भक किया जाता है।

Scanned by CamScanner

है—मध्यम-भस्त्रिका, वाम-भस्त्रिका, दक्षिण-भस्त्रिका और अनुलोम-विलोम-भस्त्रिका।

(क) मध्यम-भस्त्रिका—जैसे लुहारकी धौंकनीसे वायु भरी जाती है, इसी प्रकार दोनों नासिकापुटसे वायुको आवाजके साथ धीमे-धीमे लम्बा, दीर्घ और वेगपूर्वक मूलाधारतक पूरक करे। बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दोनों नासिकापुटसे रेचक करे। इस प्रकार बिना आभ्यन्तर और बाह्य कुम्भकके आठ बार पूरक-रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करके दसवीं बार उसी प्रकार धीमे-धीमे दोनों नासिकापुटसे रेचक करे। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार तीन प्राणायाम करे।

(ख) वाम-भस्त्रिका—दक्षिण नासिकापुटको बंद करके उपर्युक्त रीतिसे वाम नासिकापुटसे मूलाधारतक आठ बार पूरक, रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् उपर्युक्त विधि-अनुसार दक्षिण नासिकापुटसे धीमे-धीमे रेचक कर दे। यह एक प्राणायाम हुआ।

(ग) दक्षिण-भस्त्रिका—वाम नासिकापुट बंद करके दक्षिण नासिकापुटसे आठ बार बिना आभ्यन्तर और बाह्य कुम्भकके उपर्युक्त विधि-अनुसार पूरक-रेचक करनेके पश्चात् नवीं बार पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् वाम नासिकापुटसे रेचक करे। यह एक प्राणायाम हुआ।

वाम-भस्त्रिका और दक्षिण-भस्त्रिकाको मिलाकर करनेकी विधि—पहिले वाम-भस्त्रिकाका एक प्राणायाम करे, फिर दक्षिण-भस्त्रिकाका एक प्राणायाम, तत्पश्चात् वाम-भस्त्रिकाका एक प्राणायाम। इस प्रकार इन तीन प्राणायामोंमें दो बार वाम-भस्त्रिका और एक बार दक्षिण-भस्त्रिका होगा।

(घ) अनुलोम-विलोम-भस्त्रिका—जैसे लोहारकी धौंकनीसे वायु भरी जाती है इसी प्रकार बायें नासिकापुटसे वायुको आवाजके साथ धीमे-धीमे लम्बा, दीर्घ और वेगपूर्वक मूलाधारतक पूरक करें। बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दक्षिण नासिकापुटसे रेचक करें। बिना बाह्य कुम्भकके उसी नासिकापुटसे पूरक करके फिर बायें नासिकापुटसे विधि-अनुसार रेचक करें। ये चार प्राणायाम हुए। इस प्रकार आठ

बार बिना कुम्भक किये केवल पूरक, रेचक करते हुए नवीं बार वाम नासिकापुटसे पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् दसवीं बार दक्षिण नासिकापुटसे रेचक करें। यह दस प्राणायामका पहला प्राणायाम हुआ। अब दक्षिण नासिकापुटसे आरम्भ करके नवीं बार कुम्भकके पश्चात् दसवीं बार वाम नासिकापुटसे रेचक करें। यह दूसरा प्राणायाम हुआ। अब पहले प्राणायामकी भाँति तीसरा प्राणायाम करें।

इन विधियोंमें पूरककी समाप्तिपर मूलाधार चक्रपर एक सेकंड (कुछ देर) ध्यानके पश्चात् रेचक करें। इसी प्रकार रेचककी समाप्तिपर नासिकाके अग्रभागपर कुछ देर (एक सेकंड) ध्यानके पश्चात् पूरक करें। कुम्भकके समय नाभि-स्थान मणिपूरक-चक्रपर ध्यान लगावें। यह प्राणायाम तीन बार ही करें। अर्थात् तीनसे अधिक बार कुम्भक बढ़ानेका यत्न न करें। किंतु तीनों प्राणायामोंकी संख्या दससे ऊपर शनैः-शनैः यथाशक्ति चार-चार बढ़ाते हुए १४, १८, २२ इत्यादि करते हुए चले जायँ। पूरक, रेचक और कुम्भकका समय भी यथाशक्ति बढ़ाते जायँ। अभ्यासीगण यदि चाहें और उनके पास समय अधिक हो तो तीन प्राणायामको बढ़ाकर सात, ग्यारह इत्यादि कर सकते हैं अर्थात् चार-चार बढ़ा सकते हैं।

इस प्राणायामसे त्रिधातु-विकृतिसे उत्पन्न हुए सब रोग नष्ट हो जाते हैं, आरोग्यता बढ़ती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। गर्मी, सर्दी सब ऋतुओंमें किया जा सकता है। कुम्भक बढ़ाने, मनके स्थिर करने और कुण्डलिनी जाग्रत् करनेमें अति उपयोगी है। अभ्यासीगण ध्यान करनेसे पूर्व इसे अवश्य करें।

भस्त्रिकामें रेचक, पूरक अधिक लाभदायक होते हैं, इसलिये इनकी संख्या अधिक और कुम्भककी कम बतलायी गयी है। अभ्यासीगण यदि चाहें तो आभ्यन्तर कुम्भकके पश्चात् रेचक करनेके बाद बाह्य कुम्भक भी कर सकते हैं। बाह्य कुम्भकका समय आभ्यन्तर कुम्भकके समयसे आधा अथवा बराबर रख सकते हैं।

(१) बलहीन अशक्त साधकोंको साधारण वेगपूर्वक, (२) स्वस्थ, शक्तिशाली साधकोंको लम्बा, दीर्घ वेगपूर्वक और (३) अभ्यस्त साधकोंको अतिवेगपूर्वक पूरक-रेचक करना चाहिये।

रेचकमें पूरकसे अधिक समय देना चाहिये। इसलिये पूरक और कुम्भकमें उतना ही समय देना चाहिये जिससे रेचक करनेके लिये काफी दम बना रहे।

निम्नलिखित दो प्राणायामोंको भस्त्रिकाके अन्तर्गत समझना चाहिये—

(क) अन्तर्गमन प्राणायाम— सिद्धासनसे बैठकर वाम नासिकापुटसे रेचक करते हुए पूरे उड्डीयानके साथ वाम घुटनेपर सिरको टेक देना तत्पश्चात् पूरक करते हुए सीधा हो जाना। इस प्रकार रेचक, पूरक करते हुए दसवीं बार पूरक करके जालन्धरबन्धके साथ सिरको घुटनेपर रखकर यथाशक्ति कुम्भक करना, तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर सीधे हो जाना। फिर रेचक करके तीनों बन्धोंके साथ सिरको घुटनेपर रखकर यथाशक्ति बाह्य कुम्भक करना। इसी प्रकार दक्षिणकी ओर करें।

(ख) सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर वाम नासिकापुटसे पूरक करें, फिर जालन्धर-बन्ध लगाकर दोनों हाथोंकी अङ्गुलियोंको आपसमें साँठकर उनको उलटा करके सिरको दबाते हुए यथाशक्ति कुम्भक करें और ऐसी भावना करें कि प्राण ब्रह्मरन्ध्रमें चढ़ रहा है। तत्पश्चात् दोनों हाथोंको सिरपरसे हटाकर और जालन्धर-बन्ध खोलकर दक्षिण नासिकापुटसे रेचक करें। इसी प्रकार कई बार करें।

Scanned by CamScanner

स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार कुण्डलिनी का स्थान मूलाधार के ऊपर पेडू के पास ... इस भाग का भेदन ... पीड़ा तथा अन्य उपसर्ग भी सम्भव है।"

इन पंक्तियों से सुषुम्ना नाड़ी को खोलना ही योग साधना का प्रमुख महत्व है। प्राणायाम के द्वारा वायु खींचकर शरीर के ऊर्ध्वभाग को सिकोड़े और वायु को नीचे की ओर धकेले। नीचे की ओर (अपान वायु) जाती हुई वायु को भी अधोभागों को भी सिकोड़कर रोके रहे। इस प्रकार वायु को मूलाधार की ओर केन्द्रित करे, इस प्रकार की क्रिया से प्राण और अपान वायु के संघर्ष से, दबाव से जो ताप उत्पन्न होगा उससे प्रसुप्त कुण्डलिनी के आवेष्टन ढीले पड़ जायेंगे और वह सक्रिय तथा जागृत हो उठेगी तथा सुषुम्ना का मुख खुल जायगा और सुषुम्ना के माध्यम से चित्रिणी नाड़ी के सहारे कुण्डलिनी ऊपर को गतिमान होकर ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचेगी। यह साधना अत्यन्त दुष्कर है, सहसा इसमें सफलता मिलना सम्भव नहीं है। इस क्रिया में प्राण वायु को इड़ा, पिंगला नाड़ियों से हटाकर सुषुम्ना नाड़ी के माध्यम से (जो मेरुदण्ड में है) ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना होता है। इस क्रिया में 'जलंधर' और 'मूलबन्ध' आसनों का प्रयोग होता है। तात्पर्य यह है कि प्राण और अपान वायु के मिलने से जो आन्तरिक ताप बनता है उससे ठीक ऐसी स्थिति बनती है जैसे कि खाली नली में नीचे ऊपर दोनों ओर से पम्प किया जाय और मध्यस्थ वायु को निकलने न दिया जाय, यह वायु गरम होकर कहीं भी बाहर निकलने का प्रयास करेगी और पम्प में कोई छोटा सा छिद्र होगा तो उसी पर दबाव पड़ेगा। इसी प्रकार प्राण व

अपान वायु रोकने से कुण्डलिनी पर दबाव पड़ने से उसके बन्धन ढीले पड़कर सुषुम्ना का द्वार खुल सकेगा।

अथवा ऐसा समझें कि जिस प्रकार रक्तचाप मापक यंत्र की पेटी हाथ में बांधकर गुब्बारे से पम्प करने पर यंत्र का ... किया जाता ... है।

षटचक्र

मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक षट् (६) चक्र हैं जो एक बन्द कमल पुष्प के आकार के हैं। कुण्डलिनी जागृत होने पर जब सुषुम्ना द्वारा प्राणवायु ऊपर को गतिमान होता है तो उसे क्रमश: इन ६ चक्रों का भेदन करना होता है—

(१) मूलाधार में मूलाधार चक्र—मेरुदण्ड में सबसे नीचे स्थित पृथ्वीतत्त्व से सम्बन्धित है।
(२) लिंगमूल में स्वाधिष्ठान चक्र—जल तत्त्व से सम्बन्धित है।
(३) नाभि में मणिपूरक चक्र—यह प्रकाश और तेज का प्रतीक है।
(४) हृदय में अनाहत चक्र—यह वायु तत्त्व का प्रतीक है।
(५) कण्ठ में विशुद्ध चक्र या शून्य चक्र—आकाश तत्त्व का प्रतीक है।
(६) भौंहों के मध्य आज्ञा चक्र—यह मन का प्रतीक है।

इन षटचक्रों के बाद अन्त में हजार पंखुड़ियों वाला 'सहस्रार चक्र'

Scanned by CamScanner

शारीरिकरोगोपशमने मुद्राणां प्रभावः

मुद्राभिधानम्	निश्चितमुद्राप्रयोगद्वारा शारीरिकरोगाणामुपशमनम्
1. महामुद्रा	सर्वविधान्नं पच्यते, क्षयरोगः, कुष्ठगुदावर्तगुल्माः, अजीर्णरोगाश्च नश्यन्ते।(ह०प्र०)महामुद्रायाः साधनेन क्षयकासं, गुदावर्त्तं, प्लीहाजीर्णज्वरं, सर्वरोगांश्च नाशयेत्।(घे०सं०)
2. महाबन्धमुद्रा	शरीरपुष्टिः देहास्थिपञ्जरे दृढत्वं सम्पद्यते (शि०सं०)
3. महावेधमुद्रा	जरया चर्मसङ्कोचः, जरसा केशेषु शौक्ल्यं, कम्पश्च एतान् हन्तीति (ह०प्र०)
4. खेचरीमुद्रा	सर्वरोगो नश्यते (ह०प्र०), दिव्यदेहः स जायते (घे०सं०)
5. उड्डीयानबन्धः	वृद्धोऽपि तरुणायते (ह०प्र०), रोगाणां सङ्क्षयः (शि०सं०)
6. मूलबन्धः	युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् (ह०प्र०), जठराग्निः प्रदीप्यते (ह०प्र०), जराविनाशिनी (घे०सं०)
7. जालन्धरबन्धः	कण्ठदुःखौघनाशनः (ह०प्र०)
8. विपरीतकरणीमुद्रा	जठराग्निविवर्धिनी, वलितं पलितञ्च नश्येते (ह०प्र०)
9. वज्रोली	बिन्दुसिद्धिर्भवेत् (शि०सं०)
10. शक्तिचालनमुद्रा	तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते, द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम्भवति। (ह०प्र०), आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणाञ्च विनाशनम् (शि०सं०)

Scanned by CamScanner

दशमुद्रास्वन्तर्भावितमुद्राः

प्रमुखदशमुद्राभिधानम्	अन्तर्भावितमुद्राभिधानम्
1. महामुद्रा	
2. महाबन्धमुद्रा	
3. महावेधमुद्रा	
4. खेचरीमुद्रा	नभोमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, शाम्भवीमुद्रायां पञ्चविधधारणानाम्, काकीमुद्रा, माण्डुकीमुद्रा षण्मुखिमुद्रायां योनिमुद्रा, योनिमुद्रायाः त्रिबन्धविशिष्टखेचरीमुद्रायां लयो भवति।
5. उड्ड्यानबन्धः	तडागीमुद्रा
6. मूलबन्धः	अश्विनीमुद्रा
7. जालन्धरबन्धः	पाशिनीमुद्रा, भुजङ्गिनीमुद्रा
8. विपरीतकरणीमुद्रा	
9. वज्रोलीमुद्रा	ध्यानबिन्दूपनिषदि प्राप्तयोनिमुद्रा
10. शक्तिचालनम्	

Scanned by CamScanner

(१५) कुण्डलिनी और ग्रन्थियाँ

(१) '**कुण्डलिनी और ब्रह्मग्रन्थि**—कुण्डलिनी का ऊर्ध्वारोहण **ब्रह्मग्रन्थि-उद्भेद** का साधन है। प्रक्रिया सिद्धासन से बैठकर (बाएँ टखने से गुदाद्वार को बन्द करके) पूरक क्रिया करनी चाहिए। इससे **मूलाधार में वायु** इकट्ठी हो जाती है, फिर अपनी शक्ति के द्वारा की गई आकुञ्चन क्रिया द्वारा मूलाधार चक्र से उस वायु को उठाना चाहिंए। फिर **प्राण एवं अपान** में स्थापित करना चाहिए। प्राण एवं अपान (विरुद्ध गति वाले वायु) के साम्यभाव प्राप्त होने पर मूलाधार स्थित त्रिकोण में जो अग्नि रहती है उसे उठाकर '**प्राण**' एवं '**अपान**' के साथ मिलाते ही कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है। कुण्डलिनी के जाग्रत होने के बाद उस कुण्डलिनी से '**ब्रह्मग्रन्थि**' खोलनी चाहिए। जब तक ब्रह्मग्रन्थि नहीं खुलती तब तक षट्चक्रों के पहले चक्र मूलाधार में अर्थात् चतुर्दल में प्रवेश करने की सामर्थ्य ही नहीं उत्पन्न होती।

Scanned by CamScanner

कुण्डलिनी-जागरण के सोपान—

साधना-जगत् में कुण्डलिनी-जागरण के लिये निम्नलिखित सोपान स्वीकार किये गये हैं :—

१. शोधन (षट्कर्म)
२. प्राणायाम और उसके भेदों का अभ्यास।
३. मुद्रा
४. षट्चक्रों की भावनायें—
   (क) भस्त्रिका प्राणायाम के दोनों प्रकार—५ से २५ प्राणायाम
   (ख) शक्ति चालिनी मुद्रा के दोनों प्रकार—५ से १० प्राणायाम
   (ग) ताड़न मुद्रा—४ प्राणायाम में १०१ संख्या (वार)
   (घ) परिधान युक्तिचालन—४ प्राणायाम में १०१ संख्या (वार)
   (ङ) शेष समय में षट्चक्र-भेदन की मानसिक क्रियायें या संयम
   (च) महामुद्रा
   (छ) महाबन्ध
   (ज) महावेध उभय प्रकार
   (झ) विपरीतकरणी मुद्रा
   (ञ) शेष समय में षट्चक्र-भेदन की क्रिया

षट्चक्र-भेदन क्रिया के अन्तर्गत प्रत्येक चक्र के स्थान दल, उनके वर्ण, अक्षर, मन्त्र, तत्त्व, अधिष्ठान, देव-शक्ति, उनके वाहन, बीज मंत्र, लोक, गुण, इन्द्रिय आदि का ध्यान करना चाहिये।

यह अभ्यास नियमित होना चाहिये। साधना में पहले तो शरीर से स्वेद निकलेगा किन्तु बाद में विद्युत् के समान शरीर में चमक उत्पन्न होगी। कुछ दिन के बाद चींटी के चलने के समान प्राण-शक्ति-गमन की अनुभूति होगी। तभी धीरे-धीरे मूलाधार का भेदन और कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन का अनुभव होगा।

Scanned by CamScanner

स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार कुण्डलिनी का स्थान ... के ऊपर पेडू के पास ...

... है । इस ग्रंथ का भेदन ...

... पीड़ा तथा अन्य उपसर्ग भी सम्भव है ।"

इन पंक्तियों से सुषुम्णा नाड़ी को खोलना ही योग साधना का प्रमुख महत्व है । प्राणायाम के द्वारा वायु खींचकर शरीर के ऊर्ध्वभाग को सिकोड़े और वायु को नीचे की ओर धकेले । नीचे की ओर (अपान वायु) जाती हुई वायु को भी अधोभागों को भी सिकोड़कर रोके रहे । इस प्रकार वायु को मूलाधार की ओर केन्द्रित करे, इस प्रकार की क्रिया से प्राण और अपान वायु के संघर्ष से, दबाव से जो ताप उत्पन्न होगा उससे प्रसुप्त कुण्डलिनी के आवेष्टन ढीले पड़ जायेंगे और यह सक्रिय तथा जागृत हो उठेगी तथा सुषुम्णा का मुख खुल जायगा और सुषुम्णा के माध्यम से चित्रिणी नाड़ी के सहारे कुण्डलिनी ऊपर को गतिमान होकर ब्रह्मरन्ध्र में आ पहुँचेगी । यह साधना अत्यन्त दुष्कर है, सहसा इसमें सफलता मिलना सम्भव नहीं है । इस क्रिया में प्राण वायु को इडा, पिंगला नाड़ियों से हटाकर सुषुम्णा नाड़ी के माध्यम से (जो मेरुदण्ड में है) ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना होता है । इस क्रिया में 'जलंधर' और 'मूलबन्ध' आसनों का प्रयोग होता है । तात्पर्य यह है कि प्राण और अपान वायु के मिलने से जो आन्तरिक ताप बनता है उससे ठीक ऐसी स्थिति बनती है जैसे कि खाली नली में नीचे ऊपर दोनों ओर से पम्प किया जाय और मध्यस्थ वायु को निकलने न दिया जाय, वह वायु गरम होकर कहीं भी बाहर निकलने का प्रयास करेगी और पम्प में कोई छोटा सा छिद्र होगा तो उसी पर दबाव पड़ेगा । इसी प्रकार प्राण व

अपान वायु रोकने से कुण्डलिनी पर दबाव पड़ने से उसके बन्धन ढीले पड़कर सुषुम्णा का द्वार खुल सकेगा ।

अथवा ऐसा समझें कि जिस प्रकार रक्तचाप मापक यंत्र की पेटी हाथ में बांधकर गुब्बारे से पम्प करने पर यंत्र का ...

... दिखा ...

... है ।

षटचक्र

मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक षट् (६) चक्र हैं जो एक बन्द कमल पुष्प के आकार के हैं । कुण्डलिनी जागृत होने पर जब सुषुम्णा द्वारा प्राणवायु ऊपर को गतिमान होता है तो उसे क्रमशः इन ६ चक्रों का भेदन करना होता है—

(१) मूलाधार में मूलाधार चक्र—मेरुदण्ड में सबसे नीचे स्थित पृथ्वीतत्व से सम्बन्धित है ।

(२) लिंगमूल में स्वाधिष्ठान चक्र—जल तत्व से सम्बन्धित है ।

(३) नाभि में मणिपूरक चक्र—यह प्रकाश और तेज का प्रतीक है ।

(४) हृदय में अनाहत चक्र—यह वायु तत्व का प्रतीक है ।

(५) कण्ठ में विशुद्ध चक्र या शून्य चक्र—आकाश तत्व का प्रतीक है ।

(६) भौंहों के मध्य आज्ञा चक्र—यह मन का प्रतीक है ।

इन षटचक्रों के बाद अन्त में हजार पखुड़ियों वाला 'सहस्रार चक्र'

Scanned by CamScanner

ही यहाँ प्रवृत्ति हो सकती है। स्वतन्त्र, आनन्दघन यह स्वात्मस्वरूप ही काल से लेकर प्रमाण पर्यन्त ऊपर बताये गये सभी तत्त्वों को स्वरूप प्रदान करने वाला है। मैं इस स्वात्मस्वरूप से भिन्न नहीं हूँ और इस अहमात्मक स्वात्मस्वरूप में ही यह सारा विश्व प्रतिबिम्बित हो रहा है। इस तरह की प्रत्यभिज्ञा के जाग्रत् होने पर साधक नित्योदित पारमेश्वर स्वरूप में समाविष्ट[1] हो जाता है। इसके लिये मन्त्र, पूजा, ध्यान, चर्या आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

इस प्रकरण का उपसंहार अभिनवगुप्त ने इस श्लोक के साथ किया है—

> उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद् घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः ।
> विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात् ॥

इसकी व्याख्या हम पृ० १३५ पर कर चुके हैं।

श्लो० १२०-१२१ की व्याख्या में मालिनीविजय प्रभृति ग्रन्थों के प्रमाण पर इस अनुपाय प्रक्रिया का विशद विवेचन किया गया है। स्वच्छन्दतन्त्र, संकेतपद्धति, तन्त्रालोक, महार्थमंजरी प्रभृति अनेक ग्रन्थों में इसका प्रतिपादन किया गया है। आगे हम यह सिद्ध करने का प्रयास करेंगे कि उपक्रम, उपसंहार प्रभृति षड्विध लिंग की मीमांसक पद्धति से इस शास्त्र का विनियोग अनुपाय प्रक्रिया के प्रतिपादन में ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह अनुपाय प्रक्रिया सहज योग से भिन्न नहीं है।

अभिनवगुप्त प्रभृति ने इन उपायों का जिस तरह का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उन्होंने आणव उपाय में क्रम और कुल दर्शन से भिन्न समस्त तान्त्रिक और यौगिक विधियों का समावेश किया है। शाक्त उपाय के रूप में क्रमदर्शन की, शाम्भव उपाय के रूप में उन्होंने कुलदर्शन की व्याख्या की है और प्रत्यभिज्ञा दर्शन को अनुपाय प्रक्रिया माना है।

हमने ऊपर बताया था कि यहाँ प्रदर्शित सभी धारणाओं का उक्त उपाय-चतुष्टय में समावेश किया जा सकता है, किन्तु इस ग्रन्थ में अन्य अनेक योग-विधियों का भी समावेश है। उपर्युक्त प्रतिपादन से हमारी यह बात पुष्ट हो जाती है। अब हम विज्ञानभैरव में वर्णित धारणाओं के प्रमुख विषयों का यहाँ वर्णन करना चाहते हैं। सबसे पहले हम प्राणशक्ति को लेते हैं।

प्राणशक्ति या प्राणकुण्डलिनी

अनच्क पद की और आणव उपाय की व्याख्या के प्रसंग में प्राणशक्ति के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। इसको कुण्डलिनी इसलिये कहते हैं कि मूलाधार स्थित कुण्डलिनी की तरह इसकी भी आकृति कुटिल होती है। जिस प्राण वायु का अपान अनुवर्तन करता है, उसकी गति

---

१. धारणा संख्या ४१,९७-९९,१०९ देखिये।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

हकार की लिखावट की तरह टेढ़ी-मेढ़ी होती है ।अतः प्राणशक्ति अपनी इच्छा से ही प्राण के अनुरूप कुटिल (घुमावदार) आकृति धारण कर लेती है । प्राणशक्ति की यह वक्रता (कुटिलता= घुमावदार आकृति) परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का ही खेल है। प्राणशक्ति का एक लपेटा वाम नाडी इडा में और दूसरा लपेटा दक्षिण नाडी पिंगला में रहता है । इस तरह से उसके दो वलय (घेरे) बनते हैं । सुषुम्णा नाम की मध्य नाडी सार्ध कहलाती है । इस प्रकार यह प्राण-शक्ति भी सर्धत्रिवलया है । वस्तुतः मूलाधार स्थित कुण्डलिनी में भी प्राणशक्ति का ही निवास है, किन्तु हृदय में उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति होने से ब्राह्मणवशिष्ठ न्याय से उसका यहाँ पृथक् उल्लेख कर दिया गया है । इसका प्रयोजन अजपा (हंस गायत्री) जप को सम्पन्न करना है । इस विषय पर ग्रन्थ में विशेष कर १५१ वें श्लोक की व्याख्या में पर्याप्त लिखा जा चुका है ।

भर-पेट भोजन-पानी पाने से मोटी अकल के आरामतलबी आदमी का शरीर ही नहीं, प्राणशक्ति भी मोटी हो जाती है । बाद में सद्गुरु का उपदेश पाकर जब वह योगाभ्यास में लग जाता है, कुम्भक प्रभृति प्राणायामों का अभ्यास करता है, तो धीरे-धीरे उसके शरीर के मोटापे के साथ ही प्राणशक्ति भी कृश होती जाती है, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हो जाती है। श्रोत्र, चक्षु, नासिका, मुख, गुह्य, उपस्थ प्रभृति प्राण और अपान आदि वायुओं के निकलने के मार्गों को रोक देने पर वायु की गति ऊपर की ओर उठने लगती है । मूलाधार में अथवा हृदय में विद्यमान प्राणशक्ति यौगिक पद्धति के अनुसार सुषुम्णा मार्ग से अथवा मध्यदशा के विकास के कारण द्वादशान्त तक जाते-जाते अत्यन्त सूक्ष्म होकर अन्त में प्रकाश में विलीन हो जाती है । आधार से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त क्रमशः धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठ रही इस प्राणशक्ति के द्वादशान्त में प्रविष्ट हो जाने पर स्वात्मस्वरूप का अनुभव होने लगता है । योगशास्त्र की परिभाषा में इसको[1] पिपीलस्पर्श वेला कहा जाता है, जिसमें कि प्राण के ऊपर उठते समय जन्माग्र से लेकर मूल, कन्द प्रभृति स्थानों का स्पर्श होने पर उसी तरह की अनुभूति होती है, जैसी कि देह पर चींटी के चलने से होती है । इसी अवस्था में योगी इसकी परीक्षा कर पाते हैं कि प्राण आज अमुक स्थान से चलकर अमुक स्थान तक उठा । इस स्थिति तक पहुँच जाने पर योगी का चित्त परम आनन्द से भर जाता है और वह इसी अन्तर्मुख वृत्ति में रम जाता है ।

सुषुम्णा (मध्यधाम)

मध्यनाडी सुषुम्णा[2] की अभी चर्चा आई है । इसी को शून्यातिशून्य पदवी और

---

१. धारणा संख्या ४३ देखिये ।

२. तन्त्रालोक (५।१२१) में आणव उपाय के प्रसंग में लिंग पद की व्याख्या की गई है । इसकी व्याख्या करते हुए जयरथ ने एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसके अनुसार उपस्थ को सौषुम्न पद माना गया है—

आनन्दस्यन्दि यद् गीतं सर्वप्रसवकारणम् ।
उपस्थाख्येयमेतत्तु सौषुम्नं रूपमुच्यते ॥

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

मध्यधाम कहा जाता है । वस्तुतः मध्यधाम सुषुम्णा को शून्य और शिवतत्त्व को शून्यातिशून्य कहते हैं । मध्यधाम या मध्यदशा को शून्यस्वभाव इसलिये कहा जाता है कि यहाँ ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय प्रभृति त्रिपुटियों की कोई सत्ता नहीं बची रहती । मध्यधाम के लिए शून्यातिशून्य शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है । इसका मुख्य प्रयोग शिवतत्त्व और उसकी अभिव्यक्ति के स्थान द्वादशान्त के लिए ही किया जाता है । सुषुम्णा नामक मध्यनाडी शून्यातिशून्य धाम द्वादशान्त में जाकर लीन हो जाती है, अतः इसको भी शून्यातिशून्य धाम कह दिया जाता है । इस शून्यातिशून्य स्वभाव मध्यधाम में विश्रान्ति ही योगी के लिए उपेय (प्राप्तव्य) है ।

हृदय के मध्य में इसका निवास है । यह कमलनाल में विद्यमान अत्यन्त सूक्ष्म तन्तुओं के समान कृश आकार वाली है । इस मध्यनाडी के भीतर चिदाकाशरूप शून्य का निवास है । उससे प्राणशक्ति निकलती है । साधक जब मध्यनाडी की सहायता से चिदाकाश में प्रविष्ट होता है, तब सोम और सूर्य अर्थात् अपान और प्राण अथवा मन और प्राण सुषुम्णा में अपने आप विलीन हो जाते हैं । प्राण और अपान के मध्यवर्ती धाम सुषुम्णा (मध्यनाडी) में जिसका आन्तर और बाह्य इन्द्रियचक्र (मन और उससे नियन्त्रित चक्षुरादि इन्द्रियाँ) लीन हो जाता है और जो ऊर्ध्व स्थान और अधर स्थान में विद्यमान पद्मों के संपुट के मध्य में भावना के बल से प्रविष्ट हो गया है, अर्थात् ऊर्ध्वगत प्रमाणरूपी पद्म और अधःस्थित प्रमेय रूपी पद्म के मध्य में चिन्मात्र प्रमाता के अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और इसीलिए चिन्मात्रता के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु में जिसका चित्त संलग्न नहीं है, वह योगी स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । यहाँ प्रमेय रूप संसार का निमेष और उन्मेष व्यापार पद्मदल के संकोच और विकास के तुल्य है । इसीलिये इसकी पद्मसंपुट से तुलना की गई है ।

मध्यविकास

प्राण और अपान के आधारभूत स्थान आन्तर आकाश हृदय और बाह्य आकाश द्वादशान्त में प्रत्यावृत्ति के अभाव में एक क्षण के लिये उसकी वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है । तब ऐसी प्रतीति होती है कि मानों प्राण और अपान कहीं विलीन हो गये हैं । इस स्थिति को मध्यदशा के नाम से जाना जाता है । इस मध्यदशा का जब विकास किया जाता है, तब धीरे-धीरे उसकी भेद-दृष्टि (दूसरे से अपने को अलग समझने का स्वभाव) घटती जाती है और उसकी बाह्य और आन्तर इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं । क्रमशः उसका प्राणचार (प्राण और अपान की गति) मध्यनाड़ी सुषुम्णा में लीन हो जाता है और तब परा शक्ति भैरवी से अभिन्न रूप में विद्यमान भगवान् भैरव का स्वरूप प्रकाशित हो उठता है । हृदय, कण्ठ, तालु, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त में प्राण की गति रहती है और हृदय-कमल, मुख का संकोच-विकास तथा द्वादशान्त—ये अपान की गति के स्थान हैं । इनमें एक क्षण के लिए प्राण के अस्त हो जाने पर और अपान का उदय न होने पर बिना प्रयत्न के बाह्य कुम्भक की प्राप्ति होती है । इसी तरह से एक क्षण के लिए अपान के अस्त हो जाने पर और

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

प्राण का उदय न होने पर बिना प्रयत्न के अन्तः कुम्भक की प्राप्ति होती है। यह मध्यदशा ही परम पद कहलाती है। प्राण-अपान की इस मध्यदशा को योगी ही जान सकते हैं। एक तुटि, लव अथवा क्षण के लिये भी अन्तर्मुख हो जाने पर योगी में इस मध्यदशा का विकास हो जाता है और तब प्राण और अपान की पुनः प्रत्यावृत्ति नहीं होती, अर्थात् वह मुक्त हो जाता है। यह प्राणात्मक और अपानात्मक शक्ति हृदय से द्वादशान्त तक न तो जायगी और न द्वादशान्त से हृदय की ओर वापस ही लौटेगी, जब कि मध्यनाडी का धाम (स्थान) विकल्प हानि रूप उपाय से विकसित कर दिया जाय। प्राण और अपान की गति के शान्त हो जाने से, हृदय और द्वादशान्त में प्राण और अपान की अस्पन्द अवस्था में स्थिति हो जाने से [1]मध्यदशा का विकास होने पर साधक अपने भैरवीय स्वरूप को पहचान लेता है। वह साक्षात् भैरव हो जाता है। ६७वें श्लोक की व्याख्या में इस विषय को अधिक विस्तार से समझाया है। प्रत्यभिज्ञाहृदय के १८वें सूत्र में विकल्पक्षय प्रभृति मध्यविकास के उपाय बताये गये हैं। स्पन्दकारिका में उन्मेष दशा के नाम से इसका वर्णन किया गया है। ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर इसकी व्याख्या हो चुकी है।

द्वादश आधार

तन्त्रशास्त्र में ऋ ॠ ऌ ॡ ये चार स्वर षण्ढ (नपुंसक) कहे गये हैं, अतः ध्यान आदि में इनका उपयोग नहीं किया जाता। सोलह स्वरों में से इन चार षण्ढ स्वरों को निकाल देने पर इनकी संख्या १२ रह जाती है। इन बारह स्वरों की जन्माग्र, मूल, कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, [2]ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति और व्यापिनी—इन बारह चक्रों या आधारों में भावना करनी चाहिये। इन्हीं बारह स्थानों में अन्य धारणाओं का भी विधान है। किन्तु इनके नामों में अन्तर मिलता है। जैसे कि पृ० ३७ पर जन्माग्र और मूल शब्द के स्थान पर गुदाधार और जन्म ये नाम मिलते हैं, किन्तु पृ० ७२ पर जन्माग्र, मूल, कन्द यही क्रम स्वीकृत है। पृ० ३३ पर हृदय से या जन्माधार से द्वादशान्त पर्यन्त प्राणशक्ति की गति मानी गई है, पृ० ३३ पर ही कन्द से ब्रह्मरन्ध्र तक, पृ० ३५ पर जन्माग्र से द्वादशान्त तक और पृ० ७२ पर आधार से द्वादशान्त तक प्राण की गति मानी गई है। इनमें जन्माग्र और जन्म तथा मूल और गुदाधार शब्द पर्यायवाची हैं। नेत्रतन्त्र (७।१-५) की व्याख्या में क्षेमराज ने अंगुष्ठ,

---

१. मध्यमधाम (सुषुम्णा) में मध्यदशा के विकास के लिये १२, २५-२७ संख्या की धारणाएँ देखनी चाहिये। मध्यदशा का विकास अन्य स्थितियों में भी होता है। इसके लिये ३७-३८, ५१, ७८, १०० धारणाएँ देखिये।

२. प्रस्तुत ग्रन्थ में द्वादश आधारों में ब्रह्मरन्ध्र को दसवाँ स्थान दिया गया है और द्वादशान्त की स्थिति इन सबके ऊपर है। व्याख्या में पृ० ३६ और ४५ पर ब्रह्मरन्ध्र पद को द्वादशान्त का पर्यायवाची मान लिया गया है। इसकी संगति सम्प्रदाय भेद से बैठाई जा सकती है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

गुल्फ, जानु, मेढ्र, पायु, कन्द, [1]नाडि, जठर, हृदय, कूर्मनाडी, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त ये सोलह आधार गिनाये हैं। इनके अनुसार जन्माग्र या जन्म मेढ्र का तथा मूल या गुदाधार पायु का पर्यायवाची है। योगिनीहृदय के टीकाकार अमृतानन्द (पृ० ५९) और भास्करराय ने कन्द को सुषुम्णा नाडी का मूल स्थान और उसमें रहने वाली कुण्डलिनी शक्ति का पर्यायवाची माना है। ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर यहाँ शक्ति और व्यापिनी का स्थान माना गया है। योगिनीहृदय (१।२५-३४) में अकुल, विष, वह्नि, शक्ति, नाभि, अनाहत (हृदय), विशुद्धि, लम्बिकाग्र, भ्रूमध्य (आज्ञा) के ऊपर ललाट में क्रमशः एक दूसरे के ऊपर बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना की स्थिति मानी गई है। शिवोपाध्याय ने इस विषय को अधिक स्पष्ट किया है। प्रणव की बारह कलाओं की स्थिति बताते हुए वे कहते हैं कि अकार की नाभि में, उकार की हृदय में, मकार की मुख में, बिन्दु की भ्रूमध्य में, अर्धचन्द्र की ललाट में, निरोधिनी की ललाट के ऊर्ध्व भाग में, नाद को शिर में, नादान्त की ब्रह्मरन्ध्र में, शक्ति की त्वक् में, व्यापिनी की शिखा के मूल में, समना की शिखा में और उन्मना की स्थिति शिखा के अन्तिम भाग में है। शिवोपाध्याय ने यहाँ (पृ० ३७) सोलह भूमियों का उल्लेख किया है। ऊपर गिनाये गये सोलह आधारों से इनकी कोई संगति नहीं बैठती। कुलागम संमत सोलह आधारों की चर्चा ६७वें श्लोक में आई है। इनका विस्तृत वर्णन भी नेत्रतन्त्र (७।१-५) की क्षेमराज कृत व्याख्या में मिलता है। नामों में भिन्नता होते हुए भी इनका क्रम योगिनीहृदय से मिलता है। अधिक जानकारी के लिये इस विषय को वहीं देखना चाहिये।

द्वादशान्त

प्राण और अपान की गति की जिस स्थान पर उत्पत्ति होती है अथवा जहाँ जाकर रुक जाती है, उसको हृदय और द्वादशान्त कहते हैं। बाह्य और आन्तर शिव द्वादशान्त और शक्ति द्वादशान्त के भेद से द्वादशान्त की स्थिति मानी गई है। कभी-कभी शून्यातिशून्य मध्यधाम, अर्थात् सुषुम्णा नाडी को भी द्वादशान्त कहा जाता है। जैसा कि ४९वें श्लोक की व्याख्या में किया गया है। तन्त्रालोक (५।७१) की टीका में [2]सभी नाडियों के अग्र भाग में

१. नाडि के स्थान पर नाभि शब्द अधिक संगत प्रतीत होता है। अथवा नाभि सभी नाडियों का केन्द्र स्थल है, अतः इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये यहाँ नाभि को नाडि शब्द से अभिहित किया गया है।

२. "सर्वनाडीनामग्रगोचरे प्रधाने पार्यन्तिके वा विषये द्वादशान्ते।" द्वादशान्त पद की व्याख्या करते हुए शिवोपाध्याय कहते हैं—"सर्वतो रोमकूपान्तरेष्वपि चैतन्यदेवस्य प्रवेशेन शरीरे द्वादशान्तो योऽस्ति" (पृ० ४३) इसके अनुसार शरीर के प्रत्येक रोमकूप में द्वादशान्त की स्थिति मानी गई है। यहाँ द्वादशान्त पद का प्रयोग लाक्षणिक है। जैसे मुख्य द्वादशान्त की स्थिति द्वादश आधारों के अन्त में है, इसी तरह सभी नाडियों के अन्त (रोमकूप) में भी प्राणशक्ति की स्थिति है। अतः यहाँ विद्यमान प्राणशक्ति को भी द्वादशान्त कह दिया जाय तो कोई अनौचित्य नहीं है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

द्वादशान्त की स्थिति मानी गई है। [1]हकार की उत्पत्ति हृदय में और सकार की उत्पत्ति द्वादशान्त में मानी जाती है।

हृदय स्थित कमलकोश में प्राण का उदय होता है। नासिका मार्ग से बाहर निकल कर यह बारह अंगुल चल कर अन्त में आकाश में विलीन हो जाता है। इसी लिये बाह्य आकाश योगशास्त्र में द्वादशान्त के नाम से प्रसिद्ध है। द्विषट्कान्त, मुष्टित्रयान्त या शिखान्त शब्द द्वादशान्त के पर्यायवाची हैं। नेत्रतन्त्र (८।४१) की टीका में क्षेमराज ने तथा तन्त्रालोक (५।८९-९१) की टीका में जयरथ ने द्वादशान्त पद का अर्थ ऊर्ध्व द्वादशान्त किया है, जिसकी कि स्थिति शिखा के अन्त में है। इसमें उन्मना शक्ति का निवास है। इस प्रकार इस शास्त्र में द्वादशान्त की स्थिति ब्रह्मरन्ध से पृथक् मानी गई है। इसको द्वादशान्त इस लिये कहते हैं कि द्वादश आधारों के अन्त में इसकी स्थिति है।

निर्विकल्प योगी द्वादशान्त के भी ऊपर स्थित परमाकाश में जब पहुँच जाता है, तो सर्वात्मता का विकास हो जाता है, वह अनुत्तर शून्य में लीन हो जाता है। योगिनीहृदय (१।२७, ३४) में इसको महाबिन्दु कहा गया है। वहां आज्ञाचक्र तक की स्थिति को सकल, उन्मना पर्यन्त स्थिति को सकल-निष्कल और महाबिन्दु को निष्कल माना गया है। इस निष्कल स्वरूप में भगवती त्रिपुरसुन्दरी निवास करती है। यही वह शक्ति तत्त्व है, जिसकी कि सहायता के बिना शिव निष्प्राण (शव) रहता है। इसी निष्कल स्वरूप को प्रस्तुत ग्रन्थ में पराशक्ति और शिव का मुख कहा गया है। इस निष्कल (परा) शक्ति की सहायता से ही शिव स्वरूप की अभिव्यक्ति हो सकती है।

प्राण और अपान

ऊपर हृदय से बाह्य द्वादशान्त तक जाने वाला प्राण और नीचे बाह्य द्वादशान्त से हृदय तक आने वाला जीव नामक अपान, यह प्राणशक्ति का उच्चारण है। प्राणशक्ति इनका निरन्तर उच्चारण करती रहती है, अर्थात् प्राण और अपान के रूप में स्पन्दित होती रहती है। स्वच्छन्दतन्त्र[2] में प्राण और अपान को प्राणशक्ति का विसर्ग और आपूरण व्यापार बताया गया है। तदनुसार प्राण का अर्थ है श्वास छोड़ना और अपान का अर्थ है श्वास लेना। पालि बौद्ध वाङ्मय में इनके लिये आनापान (आश्वास-प्रश्वास) शब्द प्रयुक्त है। किन्तु वहां इनके

---

१. "हकारस्तु स्मृतः प्राणः स्वप्रवृत्तो हलाकृतिः" (४।२५७) स्वच्छन्दतन्त्र के इस वचन में स्वाभाविक रूप से निरन्तर नदन करने वाले हलाकृति प्राण को ही हकार कहा गया है। अनच्क हकार की आकृति वाले प्राण का यह नदन व्यापार ही हंसोच्चार कहलाता है। इसी को अनाहत ध्वनि अथवा नादभट्टारक भी कहा जाता है। यही हृदय का स्वाभाविक स्पन्दन व्यापार है। ५७ वीं धारणा में इसी का वर्णन किया गया है।

२. प्राणापानमयः प्राणो विसर्गापूरणं प्रति।
नित्यमापूरयन्नेव प्राणिनामुरसि स्थितः॥
प्राणनं कुरुते यस्मात् तस्मात् प्राणः प्रकीर्तितः। (७।२५-२६)

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

अर्थ के विषय में विवाद है, जिसको कि चर्चा पृ० २९-३० की टिप्पणी में की गई है। योगभाष्य में वायु के आचमन (ग्रहण) को श्वास और निःसारण को प्रश्वास बताया गया है। विज्ञान-भैरव में प्राण और अपान शब्द का योगभाष्य संमत (श्वास-प्रश्वास) अर्थ करने से भ्रम हो सकता है।

आचार्य बुद्धघोष का कहना है कि बालक माता की कोख से बाहर आता है तो पहले भीतर की हवा बाहर जाती है और पीछे बाहर की हवा भीतर प्रवेश करती है इसके अनुसार आश्वास (आन = प्राण) वह वायु है, जिसका कि निःसारण होता है और प्रश्वास वह वायु है, जिसका कि ग्रहण होता है। विज्ञानभैरव के 'ऊर्ध्वे प्राणः' प्रभृति श्लोक में प्राण और अपान शब्द का यही अर्थ स्वीकृत है। ऊर्ध्व और अधः शब्द का अर्थ पहले और बाद में किया जाना चाहिये। पहले प्राण बाहर निकलता है और बाद में अपान का प्रवेश होता है। अपान को जीव इसलिये कहा जाता है कि प्राण के बाहर निकलने के बाद अपान जब शरीर में पुनः प्रविष्ट होता है, तभी वह बोध हो सकता है कि शरीर में जीवात्मा विद्यमान है। अपान के प्रवेश न करने पर शरीर शव कहा जायगा। अपान के कारण ही शरीर में जीवात्मा की स्थिति बनी रहती है, अतः स्वाभाविक है कि अपान को जीव के नाम से जाना जाय।

ऊपर उद्धृत स्वच्छन्दतन्त्र भी इसी स्थिति को मान्यता देता है। "प्राणापानौ समौ कृत्वा" इस गीता वचन में भी यही अर्थ स्वीकृत है। इसका उल्लेख हम पृ० ९२ की टिप्पणी में कर चुके हैं। श्रीधरी टीका में प्राण और अपान के लिये उच्छ्वास और निश्वास शब्द प्रयुक्त हैं। लोक व्यवहार में संकेत (शक्ति=समय) के अनुसार शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। कभी-कभी ये परस्पर विरोधी अर्थों में भी प्रयुक्त होने लगते हैं। जैसा कि प्राण और अपान और उनके पर्यायवाची श्वास-प्रश्वास शब्दों के सम्बन्ध में यहाँ देखा जाता है। इन शब्दों का हृदय स्थित प्राण वायु और पायु स्थित अपान वायु से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु प्राणशक्ति की श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया से इनका सम्बन्ध है। [1]प्राणशक्ति की प्राण,

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार ने 'प्राणापानमयः प्राणः' (३।२।१९) इत्यादि में प्राण प्रभृति पाँच वायुओं का वर्णन करते हुए प्राण वायु को प्राणापानमय माना है। वस्तुतः यहाँ पर प्राण वायु के लिये प्राण शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है, क्योंकि प्राण वायु की स्थिति केवल प्राणापानमय प्राण में है, जब कि प्राणशक्ति की स्थिति पूरे शरीर में है। अथवा सामान्य स्पन्द को प्राणशक्ति का तथा प्राणापान को प्राण वायु का व्यापार मानना उचित होगा। प्राण वायु में भी प्राणशक्ति का आरोप इस लिये किया जा सकता है कि प्राणा-पान व्यापार के चलते रहने पर ही सामान्य स्पन्द भी चलता रहता है। किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिये कि प्राणापान व्यापार के आरम्भ होने से पहले और अन्त में भी मुख्य स्पन्द की ही स्थिति रहती है। स्पन्दनिर्णय (पृ० ४०-४१) में बताया गया है कि विज्ञानभैरव के ७०, ९९, और ११६ संख्या के श्लोकों में स्पन्द तत्त्व सम्बन्धी धारणाएं वर्णित हैं।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

अपान प्रभृति पाँच या दस वृत्तियाँ इनसे भिन्न हैं। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में ऊपर उद्धृत प्रमाणों के अनुसार प्राण और अपान शब्दों का संबन्ध प्राणशक्ति की विसर्ग (त्याग) और आपूरण (ग्रहण) क्रियाओं से ही मानना चाहिये।

पृ० ९२ पर बताया गया है कि प्राण की उच्छ्वास दशा में स्वाभाविक रूप से हं का तथा निश्वास दशा में सः का उच्चारण होता है। इस बात को पुष्ट करने के लिये 'सकारेण बहिर्याति' प्रभृति विज्ञानभैरव के श्लोक को उद्धृत किया गया है। तदनुसार यह प्राण सकार के साथ बाहर निकलता है और हकार के साथ अपान पुनः प्रविष्ट होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि हंसगायत्री में विद्यमान सकार प्राण और प्रकाश (सूर्य अथवा दिन) का प्रतिनिधित्व करता है तथा हकार जीव (अपान) तथा क्षपा (रात्रि) का, तो स्वच्छन्दतन्त्र में प्रतिपादित इस स्थिति से संगति कैसे बैठेगी कि प्राण निरन्तर अनाहतनाद रूप अनच्क हकार का उच्चारण (हंसोच्चार) करता रहता है। शक्तिसंगम तन्त्र में "हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः" (१ ३.७८) ऐसा पाठ है। इसका उत्तर ८० वें श्लोक की व्याख्या में दे दिया गया है कि खेचरी मुद्रा की साधना में जिह्वा के तालु प्रदेश में रहने से सकार का बहिर्गमन नहीं होने पाता, अर्थात् सकार का उच्चारण नहीं हो सकता। अतः उस अवस्था में केवल स्वर रहित हकार का उच्चारण होता है। इसका अभिप्राय यह है कि नादात्मक अनच्क हकार का उच्चारण प्राणशक्ति का व्यापार है। इसको स्वच्छन्दतन्त्र में हंसोच्चार कहा गया है। हंसगायत्री के अंगभूत सकार और हकार का उच्चारण प्राण वायु की प्राण और अपान शक्तियों का व्यापार है। प्राण के बाहर निकलते समय ही सकार का उच्चारण होता है। इस व्याख्या के अनुसार शक्तिसंगम के वचन की कोई संगति नहीं बैठती। किन्तु १५१ वें श्लोक की व्याख्या में बताया गया है कि मध्यनाडी सुषुम्णा के सहारे प्राण जब हृदयाकाश से ऊपर की ओर चढ़ता है, तब 'हं' वर्ण की उत्पत्ति होती है और जब वह द्वादशान्त से उतरता है, तो उसकी अपान दशा में 'सः' वर्ण उत्पन्न होता है। इस कथन की पृष्ठभूमि में शक्तिसंगम के वचन की संगति इस प्रकार बैठाई जा सकती है कि प्राण हकार के उच्चारण के साथ हृदय से बाहर निकल कर द्वादशान्त में प्रविष्ट होता है और अपान सकार के उच्चारण के साथ पुनः हृदय में प्रविष्ट होता है। हंसगायत्री का आध्यात्मिक स्वरूप भी यही है। इसका विवेचन यहाँ अनेक श्लोकों की व्याख्या में विशेष कर १५१ वें श्लोक की व्याख्या में किया जा चुका है।

१५२ वें श्लोक में सकार और हकार के संमिलन से महानन्द की उत्पत्ति की बात कही गई है। इसका अभिप्राय यह है कि उक्त प्रक्रिया के अभ्यास से "प्राणापानौ समौ कृत्वा" इस भगवद्गीता के वचन के अनुसार प्राण और अपान की गति जब समान हो जाती है, मध्यनाडी सुषुम्णा के माध्यम से द्वादशान्त में विलीन हो जाती है, तो सच्चिदानन्दघन स्वात्मज्योति प्रकाशित हो उठती है। साधक स्वात्मस्वरूप में लीन हो जाता है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

प्राणायाम

प्राण की पूरक, कुम्भक और रेचक अवस्थाएँ स्वाभाविक रूप से बिना प्रयत्न के निरन्तर गतिशील रहती हैं। हृदय स्थित कमलकोश में प्राण का उदय होता है। नासिका मार्ग से बाहर निकल कर यह बारह अंगुल चलकर अन्त में आकाश में विलीन हो जाता है। यह बाह्य आकाश योगशास्त्र में बाह्य द्वादशान्त के नाम से प्रसिद्ध है। प्राण की इस स्वाभाविक गति को रेचक कहते हैं। बाह्य द्वादशान्त में अपान का उदय होता है और नासिका मार्ग से ही चलकर यह हृदय स्थित कमलकोश में विलीन हो जाता है। अपान की यह स्वाभाविक आन्तर गति पूरक कही जाती है। प्राण द्वादशान्त में और अपान हृदय में क्षण मात्र के लिये विलीन हो जाता है। यही प्राण की कुंभक अवस्था है। बाहर और भीतर दोनों स्थलों में निष्पन्न होने से इसके बाह्य और आन्तर ये दो भेद होते हैं। इस तरह से प्राणशक्ति की ये चार क्रियाएँ बिना प्रयत्न के निरन्तर गतिशील हैं। अर्थात् प्राण और अपान की यह चतुर्विध गति पुरुष के प्रयत्न के बिना निरन्तर स्वाभाविक रूप से चलती रहती है। पुरुष जब अपने विशेष प्रयत्न से मध्यदशा के विकास के लिये क्रमशः अथवा एकाएक इसकी गति को रोकता है, इस पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना चाहता है, तो प्राण और अपान की गति की यह अवरोध प्रक्रिया योगशास्त्र में प्राणायाम के नाम से जानी जाती है। २५, ६६ और ८८ वें श्लोक की व्याख्या में प्राणायाम के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है।

सहज योग में प्राणायाम के इस आयास साध्य अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती। वहाँ तो श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया के माध्यम से निरन्तर चल रहे प्राण के आयाम (विस्तार) का केवल सूक्ष्म निरीक्षण किया जाता है। जैसा कि २५वें श्लोक की व्याख्या में बताया गया है।

क्षोभ

मन की चंचलता को क्षोभ कहते हैं। ७३वें श्लोक में मन की किसी भी आह्लादात्मक स्थिति में धारणा के अभ्यास की विधि बताई गई है। शर्त यह है कि यह आह्लादात्मक स्थिति क्षोभ से न पैदा हुई हो। शिवोपाध्याय (पृ० ६३) ने क्षोभ दशा का विस्तार से वर्णन किया है। इस स्थिति को हेय माना गया है। स्पन्दकारिका में कहा गया है कि क्षोभ दशा का विराम हो जाने पर ही परम पद की प्राप्ति होती है। काम, क्रोध आदि से उत्पन्न होने वाले सभी आवेग क्षोभ कहलाते हैं। इनके शान्त होने पर ही निर्विकल्प स्वात्मस्वरूप प्रकाशित होता है। क्षोभ की उत्पत्ति विकल्प दशा में ही होती है। विकल्प व्यापार के शोधन के प्रसंग में प्रशस्तिभूतिपाद ने कहा है कि इस संसार में अपनी सुन्दर, लुभावनी आकृति के कारण मन को आह्लादित कर देने वाले जो भी पदार्थ दिखाई पड़ते हैं, उन सब में मेरा अपना ही स्वरूप तो प्रकाशित हो रहा है, वह सब मैं ही तो हूँ, इस तरह से अपनी स्थिति को पुष्ट करना ही सज्जनों का पुनीत कर्तव्य है। सभी पदार्थों में इस तरह से स्वात्मस्वरूप की भावना से मन का क्षोभ (चंचलता) शान्त हो जाता है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

तत्काल परम आनन्द का उदय होने से वह निर्विकल्प दशा में आरूढ़ हो जाता है, जिससे कि उसका पर भैरव स्वरूप प्रकट होने लगता है। तन्त्रालोक के पूर्वोक्त "शाक्ते क्षोभे०" (५।७१) इत्यादि श्लोक में 'अग्रगोचर' पद की व्याख्या करते हुए जयरथ ने इस श्लोक को उद्धृत किया है ॥६५॥

[धारणा–४३]

सर्वस्रोतोनि[१]बन्धेन प्राणशक्त्योर्ध्वया शनैः।
पिपी[२]लस्पर्शवेलायां प्रथते परमं सुखम् ॥६६॥

सर्वस्रोतोनिबन्धेन श्रोत्रचक्षुर्नासामुखगुह्योपस्थरन्ध्रनिरोधेन, ऊर्ध्वया प्राणशक्त्या, [1]आधाराद् द्वादशान्तं यावदूर्ध्वं क्रमेण वहन्त्या प्राणशक्त्या, द्वादशान्ते आत्मविषयानुभवसमये, पिपीलस्पर्शवेलायां पिपीलिकाया इव शनैश्चरतः प्राणस्य यः स्पर्शो जन्माग्रादिसकाशान्मूलकन्दादिस्थानस्पर्शस्तद्वेलायाम्, अस्यां हि वेलायां योगिनः परीक्षन्ते—अमुतः स्थानादुत्थाय अद्य अदः स्थानं प्राणः प्राप्त इति, परमं सुखं प्रथते योगिनः परानन्दावाप्तिर्भवति, अन्तर्मुखारामो भवतीत्यर्थः ॥६६॥

श्रोत्र, चक्षु, नासिका, मुख, गुह्य, उपस्थ प्रभृति प्राण और अपान आदि वायुओं के निकलने के मार्गों को रोक देने पर वायु की गति ऊपर उठने लगती है। आधार से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त क्रमशः धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठ रही इस प्राण-शक्ति के द्वादशान्त में प्रविष्ट हो जाने पर स्वात्मस्वरूप का अनुभव होने लगता है। योगशास्त्र की परिभाषा में इसको पिपीलस्पर्शवेला कहा जाता है, जिसमें कि प्राण के ऊपर उठते समय जन्माग्र से लेकर मूल, कन्द प्रभृति स्थानों का स्पर्श होने पर उसी तरह की अनुभूति होती है, जैसी कि देह पर चींटी के चलने से होती है। इसी अवस्था में योगी इसकी परीक्षा कर पाते हैं कि प्राण आज अमुक स्थान से चलकर अमुक स्थान तक उठा। इस स्थिति तक पहुँच जाने पर योगी का चित्त परम आनन्द से भर जाता है और वह इसी अन्तर्मुख वृत्ति में रम जाता है।

भगवान् पतंजलि ने योग की इस प्रक्रिया का वर्णन 'श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' और 'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः' (२।४९–५०) इन दो सूत्रों में किया है। इनका अभिप्राय यह है कि प्राण और अपान वायु के धर्म श्वास और प्रश्वास पुरुष के प्रयत्न के बिना निरन्तर स्वाभाविक रूप से गतिशील बने रहते हैं। पुरुष जब अपने विशेष प्रयत्न से क्रमशः अथवा एकाएक इनकी गति को रोकता है, तो प्राण और अपान की गति की यह अवरोध प्रक्रिया योगशास्त्र में प्राणायाम के नाम से जानी जाती है। यह प्राणायाम पूरक, रेचक और कुम्भक के भेद से तीन तरह का होता है।

---

१. °रोधे° –ख०। २. °लिकास्पर्शमात्रात्–खटी०।

1. आधार से द्वादशान्त पर्यन्त स्थानों का वर्णन २८ से ३० संख्या के श्लोकों की व्याख्या के प्रसंग में किया जा चुका है। उपोद्घात में भी इस विषय पर विचार किया जायगा। वहीं जन्माग्र, आधार आदि शब्दों की भी स्पष्ट व्याख्या की जायगी।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

शिवोपाध्याय ने यहां अपनी व्याख्या में बताया है कि प्राण की बाह्य गति का निरोधक होने से बाह्य वृत्ति वाला प्राणायाम पूरक, प्राण की अन्दर की गति का निरोधक होने से आन्तर वृत्ति वाला प्राणायाम रेचक कहलाता है। आगे वे लिखते हैं कि कुछ लोग [1]बाह्य शब्द से रेचक और आन्तर शब्द से पूरक प्राणायाम का ग्रहण करते हैं। ऐसा लिखते हुए वे इस द्वितीय मत के प्रति अपनी अरुचि प्रकट करते हैं। किन्तु भाष्यकार व्यास, वाचस्पति मिश्र, भोजदेव प्रभृति व्याख्याकारों ने द्वितीय मत को ही स्वीकार किया है। प्राण और अपान की बाह्य और आन्तर गति का एक साथ निरोध कर देने पर स्तम्भ वृत्ति वाला कुम्भक प्राणायाम संपन्न होता है। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने प्रस्तुत सूत्र के व्यासभाष्य की टीका करते हुए लिखा है— जहां श्वास और प्रश्वास दोनों का, एक साथ ही रोक देने के कारण, अभाव हो जाता है, अर्थात् इस अवरोधक प्रयत्न के कारण फिर वह न तो सांस भरने में ही समर्थ होता है और न सांस छोड़ने में ही, किन्तु जैसे तपे हुए पत्थर पर पानी पड़ने से वह वहीं सूख जाता है, उसी तरह से श्वास-प्रश्वास के रूप में पवन का प्रवहमान यह प्रवाह भी बलवान् अवरोधक प्रयत्न से अवरुद्ध होकर शरीर में ही सूक्ष्म रूप से विलीन हो जाता है। उस समय पूरकता के अभाव में यह पूरक और रेचकता के अभाव में रेचक भी नहीं कहला सकता।

यह तीनों प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या से परीक्षित होकर 'दीर्घसूक्ष्म' नाम से अभिहित होता है। अर्थात् जैसे भली भाँति दबाई गई रुई की गाँठ छोटी सी दिखाई पड़ती है, किन्तु उसमें से निकाल कर रुई को फैला देने पर वह बहुत जगह घेरती है, उसी तरह से प्राण भी दुर्लक्ष्य होने से यद्यपि अत्यन्त सूक्ष्म रहता है, किन्तु देश, काल और संख्या के अनुसार क्रमशः प्राणायाम का अभ्यास बढ़ाने से वह अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। फैलाई हुई रुई को जैसे फिर गाँठ में बाँध देने पर वह थोड़ा ही स्थान घेरती है, उसी तरह से प्राणायाम के अभ्यास से उस प्राण को पुनः सूक्ष्म किया जा सकता है। उक्त तीनों प्रकार के प्राणायामों में देश, काल और संख्या की अधिकता और अल्पता के आधार पर प्राण दीर्घ और सूक्ष्म रूप में परिणत होता रहता है। अतः प्राणायाम की यह विधि 'दीर्घ-सूक्ष्म' कही जाती है।

देश-परीक्षा की विधि यह है—हृदय से निकल कर श्वास नाक के सामने बारह अंगुल तक जाकर समाप्त हो जाता है। वहीं से लौट कर यह पुनः हृदय में प्रवेश करता है। यह प्राण और अपान की स्वाभाविक गति है। प्राणायाम का विधिपूर्वक अभ्यास करने से प्राण की यह गति क्रमशः नाभि अथवा मूलाधार से निकलने लगती है और नाक से बाहर २४ अंगुल तक अथवा ३६ अंगुल तक पहुँच जाती है। इसी तरह से वहाँ से पुनः लौटकर वह नाभि अथवा मूलाधार तक पहुँचती है। इनमें से नासिका के बाहर प्राण की गति कहाँ तक पहुँची, इसकी परीक्षा किसी निवात (पवन रहित) स्थान में तिनके में रुई लपेट कर की

---

1. जैसा कि पृ० २९-३० की टिप्पणी में लिखा गया है, इस विषय पर उपोद्घात में विचार किया जायगा। पृ० २९-३० की टिप्पणी में पालि-साहित्य में उपलब्ध इस तरह के परस्पर विरोधी विचारों का उल्लेख किया गया है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

जा सकती है। निवात स्थान में रुई में अपने आप स्पन्दन नहीं होगा। इसको नासिका के सामने रखने पर प्राण की गति जितनी दूर तक पहुँचेगी, उतनी दूर तक रुई में स्पन्दन का अनुभव होगा। इस तरह से अभ्यास के द्वारा प्राण की गति में कितना विस्तार हुआ, इस बात का सहज में अनुमान हो जायगा। इसी तरह से भीतर प्राण की गति का कहाँ तक विस्तार हुआ, इसका अनुमान प्राण की भीतर की शरीर पर चींटी के चलने सरीखी गति के स्पर्श से किया जा सकता है। प्राण की गति के विस्तार की ही भाँति उसके संकोच की भी परीक्षा इसी विधि से की जा सकती है।

काल-परीक्षा इस तरह से सम्पन्न होती है—पलक झपने में जितना समय लगता है, उसका चतुर्थ भाग क्षण कहलाता है। निमेष आदि क्रियाओं से परिच्छिन्न होने से, नापे जाने के कारण, काल परिमित हो जाता है। वाचस्पति मिश्र ने मात्रा की परिभाषा यह की है कि अपने घुटनों को हाथ से तीन बार छूकर चुटकी बजाने में जितना समय लगता है, उसको मात्रा[1] कहा जाता है। इस तरह की ३६ मात्राओं का पहला उद्घात मृदु कहलाता है। इसको दुगुना कर देने पर दूसरा उद्घात मध्य तथा तिगुना कर देने पर तृतीय उद्घात तीव्र कहलाता है। नाभि के मूल से उठकर बाहर की ओर जाने वाली वायु का शिर पर आघात उद्घात के नाम से जाना जाता है।

प्रणव के जप की आवृत्ति के द्वारा अथवा श्वास की गति के प्रवेश की गणना करके संख्या-परीक्षा की जाती है।

यद्यपि कुम्भक प्राणायाम में देश की व्याप्ति नहीं बन सकती, तो भी वहाँ काल और संख्या की व्याप्ति तो जानी ही जा सकती है। इस तरह से देश, काल और संख्या के अनुसार प्रतिदिन प्राणायाम का अभ्यास बढ़ाने पर दिन, पक्ष और मास के क्रम से देश और काल की व्याप्ति के बढ़ने पर वह बढ़ता जाता है, अतः यह दीर्घ है। इसका अनुभव निपुणता से अभ्यास करने पर ही हो सकता है, अतः यह सूक्ष्म भी है। प्राण जब सूक्ष्म हो जाता तो उससे मन शान्त हो जाता है, मन की शान्ति से अन्त में प्राण भी शान्त हो जाता है और प्राण के शान्त हो जाने पर सारे विकल्पों का नाश हो जाता है। इस तरह से यह योग-दशा अतीव कष्ट-साध्य है। किन्तु इससे योगी को निर्विकल्प दशा की प्राप्ति होती है, अतः इसका अभ्यास योगी के लिये अतीव आवश्यक है।

इसी बात को प्रस्तुत श्लोक के उत्तर भाग में समझाया गया है कि प्राण की गति भीतर की ओर होने पर शरीर पर चींटी के चलने के जैसे स्पर्श की जो अनुभूति होती

1. मात्रा और उद्घात की यह परिभाषा व्यास-भाष्य की वाचस्पति मिश्र कृत तत्त्ववैशारदी टीका में मिलती है। वहाँ की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—"स्वजानुमण्डलं पाणिना त्रिः परामृश्य छोटिकावच्छिन्नः कालो मात्रा। ताभिः षट्त्रिंशता मात्राभिः परिमितः प्रथम उद्घातो मृदुः। स एव द्विगुणीकृतो द्वितीयो मध्यमः। स एव त्रिगुणीकृतस्तृतीयस्तीव्रः" (२।५०)। इसका हिन्दी अनुवाद ऊपर टीका में कर दिया गया है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

है, उसमें देश, काल और संख्या की परीक्षा करने पर योगी के चित्त में अन्त में परम आनन्द की अभिव्यक्ति हो उठती है ।।६६।।

[धारणा–४४]

[1]वह्नेर्विषस्य मध्ये तु चित्तं सुखमयं क्षिपेत् ।
केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्देन युज्यते ।।६७।।

अनुप्रवेशक्रमेण संकोचभूमिः वह्निः, नासापुटोर्ध्वस्पन्दनक्रमोन्मिषत्सूक्ष्मप्राणशक्त्या भ्रूभेदनक्रमासादितोर्ध्वकुण्डलिनीपदे तद्विश्रान्तिरूपसंकोचस्थानं विषस्थानं प्रसरयुक्त्या विकासपदम् । अनयोर्वह्निविषयोर्मध्ये मध्यनाड्यां सृष्टिग्रन्थिभूतायाम्, सुखमयम् आनन्दमयं चित्तं मनः, भावनया क्षिपेत् चिन्तयेत् । वायुनिर्गमप्रवेशधारणां विहाय मध्यभूते उन्मेषभट्टारके तन्निर्गमप्रवेशकारणे तद्द्वयैक्यानुसन्धात्रात्मके तद्धारणया आनन्दमयं चित्तं क्षिपेत् । कीदृशम् ? केवलम् आरोहावरोहविषयसंबन्धरहितं वायुपूर्णं च मध्यनाडीस्थिताक्रमोच्चारानच्ककलात्मकप्राणशक्तिभरितं च । वह्नेः प्राणस्य, विषस्य अपानस्य च मध्ये वायुपूर्णं प्राणायामसहितं केवलं प्राणायामवर्जितमपि च सुखमयं चित्तं क्षिपेदिति सरलार्थः । ततः स्मरानन्देन कामानन्देन युज्यते, स्मरानन्दमयो भवेदित्यर्थः । सर्वविषयविस्मारकारणत्वात् कामानन्दस्य आनन्दान्तरेभ्यः परत्वम् ।

यद्वा वह्निः मेढ्रादूर्ध्वं नाभ्यधोऽङ्गुलानां चतुष्टयेऽग्निर्नाम पवनाधारः षोडशपवनाधारमध्ये गणितः । विषनामा पवनाधारो मेढ्रमध्ये ज्ञेयः । तयोः पवनाधारयोर्मध्ये सुखमयचित्तनिक्षेपणम् । ततः कामानन्दावाप्तिः । षोडशाधारास्तु कुलाम्नाये कथिताः ।

अथवा वह्निविषशब्दयोर्लोकप्रसिद्ध एवार्थो ग्राह्यः । तेन वह्नौ वा विषे च कठिनतरे सुखभावनयैव चित्तं क्षिपेत् । 'स्मरानन्दे न युज्यते' इति च्छेदे कामानन्दे सर्वविषयविस्मारके न युज्यते नैव संलग्नो भवति । यस्माद् दुःखे वह्निविषादौ सुखसंधारणमेव परमार्थ इति परमार्थविदः । स्त्रीसंगेन विना स्त्रिया य आनन्दानुभवः स एव परमार्थ इति कथ्यत इति तात्पर्यार्थः ।।६७।।

प्राण की श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया में जब वायु ऊर्ध्व-मुख अधः सहस्रार कमल में प्रविष्ट हो जाता है, तब जीव की असीम शक्ति संकुचित हो जाती है । शक्ति के इसी संकोच स्थान को योगशास्त्र में वह्नि के नाम से जाना जाता है । यही पवन जब नासिका मार्ग से न निकल कर ऊपर के सहस्रार कमल की ओर बढ़ता हुआ सूक्ष्म प्राणशक्ति के रूप में विशुद्धि चक्र (भ्रूस्थान) का भेदन कर ऊर्ध्व कुण्डलिनी, अर्थात् ऊपर के अधोमुख सहस्रार कमल में प्रविष्ट हो जाता है और वहाँ विश्राम करता है, तो उसकी शक्ति का विकास होने लगता है ।

---

१. न–ख० ।

1. यह श्लोक प्रत्यभिज्ञाहृदय (पृ० ८७) में मिलता है ।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

यह विकास पद (स्थान) योगशास्त्र में 'विष' नाम से जाना जाता है। यद्यपि प्रारंभ में जीव की शक्ति यहाँ संकुचित अवस्था में ही रहती है, किन्तु योगाभ्यास से उसका विस्तार किया जा सकता है, अतः इसको विकास पद (स्थान) कहा जाता है। ऊर्ध्व कुण्डलिनी में शक्ति का विकास होने पर षष्ठ वक्त्र, गुह्य स्थान, आधार प्रदेश आदि के नाम से जानी जाने वाली, अधः स्थान में स्थित, प्रसुप्त कुण्डलिनी में भी प्राणशक्ति का विकास कर शक्ति का प्रसार, शक्ति का विस्तार किया जा सकता है। इस अवस्था में अधः कुण्डलिनी के मूल, अग्र और मध्य भाग में प्राणशक्ति के स्पर्श की स्पष्ट अनुभूति होने लगती है। इन वह्नि[1] और विष स्थानों के बीच में सृष्टि ग्रन्थिभूत मध्य नाडी में भावना के द्वारा आनन्द से ओत-प्रोत मन को स्थिर कर दे। वायु की श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया से, प्राण-अपान की गति में नियोजित धारणा से, मन को हटा कर इन दोनों के बीच में विद्यमान उन्मेष दशा में, जिससे कि प्राण की ऊर्ध्व कुण्डलिनी की ओर गति होती है, जो श्वास-प्रश्वास, प्राण-अपान की गति की भी कारण स्वरूप है[2] और जहाँ इनकी एकता का अनुसन्धान किया जा सकता है, धारणा का अभ्यास करते हुए साधक अपने आनन्द से परिपूर्ण चित्त को नियोजित कर दे, भले ही वह चित्त प्राण वायु के आरोह और अवरोह व्यापार से रहित होने से अकेला हो अथवा वायु से परिपूर्ण हो, अर्थात् मध्य नाडी में स्थित बिना क्रम के स्वाभाविक रूप से उच्चरित होने वाली अनच्क कला स्वरूप (अजपा गायत्री) प्राणशक्ति से भरा हो। इस तरह के अभ्यास से योगी कामानन्द से परिपूर्ण हो जाता है, अर्थात् अपने परम आनन्दमय स्वरूप का अनुभव करने लगता है। कामानन्द अन्य सभी लौकिक विषयों के आनन्द को दबा देता है, अन्य सभी आनन्दों की अपेक्षा उसकी इस उत्कृष्टता के आधार पर ही यहाँ उसको उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

इस मानव पिण्ड (शरीर) में पवन के ठहराव के १६ स्थान हैं। योगशास्त्र में इनको आधार कहा जाता है। इनमें से लिंग के ऊपर नाभि से चार अंगुल नीचे अग्नि नाम का स्थान है। विष नाम का आधार लिंग के मध्य में माना जाता है। शरीरवर्ती पवन के इन दोनों आधारों के बीच में आनन्दमय चित्त की बार-बार भावना करनी चाहिये, चाहे वह चित्त प्राणायाम से नियन्त्रित हो अथवा न हो। उक्त भावना के अभ्यास से वह कामानन्द से परिपूर्ण हो जाता है। यहां इस भावना के अभ्यास की कामानन्द से तुलना इसलिये की गई है कि जैसे अन्य सभी विषयों से उत्पन्न होने वाले आनन्द की अपेक्षा कामानन्द सर्वोत्कृष्ट है, उसी

---

1. वह्नि और विष नामक स्थानों का तथा उनके बीच में विद्यमान सृष्टि ग्रन्थिभूत मध्यनाडी का विवेचन उपोद्घात में किया जायगा। कुलागम-संमत सोलह आधारों का वर्णन भी वहीं देखना चाहिये।
2. प्राण और अपान व्यापार से भिन्न, श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया से अलग, स्वाभाविक रूप से निरन्तर चल रहे प्राण (हृदय) के स्पन्दन व्यापार का यहां उल्लेख है। इस पर भी उपोद्घात में विचार किया जायगा।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

तरह से इस भावना का अभ्यास करने वाला योगी भी सर्वोत्कृष्ट परम आनन्द से सराबोर हो जाता है।

अथवा वह्नि और विष शब्दों के लोक-प्रसिद्ध अर्थ को स्वीकार करके भी इसकी व्याख्या की जा सकती है। अर्थात् अग्नि और विष जैसे कष्टदायक पदार्थों में भी ये सब सुखमय ही हैं, इस तरह की भावना करे। इस धारणा के अभ्यास से साधक अन्य सभी विषयों को दबा देने वाले कामानन्द से कभी अभिभूत नहीं होता। 'कामानन्दे न युज्यते' ऐसा पदच्छेद करने पर यह अर्थ निकलता है। व्यक्ति जब कामाकुल हो जाता है, तो उस समय वह सब कुछ भूल जाता है। उक्त धारणा के अभ्यास से साधक इस अवांछनीय स्थिति से उबर जाता है। सदा दुःखमय प्रतीत होने वाले अग्नि, विष आदि में भी यदि सुख की भावना, सुख की अनुभूति होने लगे, यही तो प्राणी की यथार्थ स्थिति है। बिना [1]स्त्रीसंग के भी योगी के चित्त में स्त्रीसंग के सदृश उत्कृष्ट आनन्द की अनुभूति निरन्तर होने लगे, यही वास्तव में प्राणी की परम आनन्दमय परमार्थ स्थिति मानी जाती है ॥६७॥

[धारणा-४५]

[2]शक्तिसङ्गमसं[1]क्षुब्धशक्त्यावेशावसानि[2]कम् ।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते ॥६८॥

शक्तिसङ्गमः स्त्रीसङ्गः, तेन संक्षुब्धः सम्प्रवृत्तः, शक्त्यावेश आनन्दशक्ति-समावेशः, तदावसानिकं तत्पार्यन्तिकम्, स्त्रीसङ्गानन्दाविर्भूतानन्दशक्तिसमावेशान्त इति यावत्। यद् घण्टयनुरणनरूपं ब्रह्मतत्त्वस्य सुखं परब्रह्मानन्दः, त्यक्तस्त्रीपुरुषद्वैतपर्या-लोचनं स्वात्ममात्रनिष्ठम्, तत् सुखं स्वकमेव स्वाक्यम्, स्वार्थे घञ्, आत्मन एव संबन्धि, न अन्यत आयातमुच्यते। स्त्रीसङ्गस्तु अभिव्यक्तिकारणमेव, यतः स्वक एव स आनन्दः। ततश्च स्त्रीसङ्गेन य आनन्दोऽनुभूयते, तामेव स्त्रियं ध्यात्वा आनन्दमयो भवे-दिति भावः। विश्वस्फुरणशक्तिसङ्गमसंक्षुब्धा या चिच्छक्तिस्तस्या य आवेश इति केचित् ॥६८॥

शक्ति-संगम अर्थात् स्त्री के सहवास से संक्षुब्ध हुई, उत्तेजित हुई, आनन्द शक्ति की समावेश-दशा की समाप्ति के समय घनघनाहट की सी अनुभूति होती है। स्त्री के सहवास से अभिव्यक्त इस सुखमय स्थिति को ब्रह्मानन्द सहोदर माना जाता है। उस समय स्त्री और पुरुष का द्वैतभाव छूट जाता है और स्वात्मनिष्ठ परमानन्द केवल बच रहता है। इस अवस्था

---

१. °क्षोभ°-परा०। २. °न°-परा०।

1. अगले श्लोक में इस विषय का स्पष्ट विश्लेषण किया गया है।

2. यह और इसके आगे का श्लोक परात्रिंशिका व्याख्या (पृ० ५१), शिवसूत्रविमर्शिनी (पृ० ६३), महार्थमंजरीपरिमल (पृ० १४६-१४७) और तन्त्रालोक की विवेक टीका (भा० ३, आ० ५, पृ० ३७८) में उद्धृत है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

बन्धः

योगसाधनायां बन्धानामुपयोगिता उल्लेखनीया। बन्धं विना प्राणायामः न कदापि कर्त्तव्यः। यतो हि बन्धराहित्येन कृतेन प्राणायामेन वास्तविकलाभो न अवाप्यते।

(१.) मूलबन्धः – मूलबन्धशब्दस्यार्थोऽस्ति उत्पत्तिस्थलम्।

अस्य बन्धस्य अभ्यासात् मूलाधारचक्रस्य अर्थात् उत्पत्तिस्थलस्य ग्रन्थि-स्नायु-इत्यादयाः सबलतराः भवन्तीति अस्य बन्धस्य नाम मूलबन्धः। मूलस्थानस्य बन्धनं भवतीति बन्धोऽयं मूलबन्धनाम्ना ज्ञायते। मूलबन्धस्य लक्षणविषये उच्यते यत् पार्ष्णिभागेन योनिप्रदेशं संपीड्य गुदाभागमाकुञ्चयेत्। तदनन्तरम् अपानवायुम् ऊर्ध्वभागे आकर्षयेत्। अधोगतियुक्तम् अपानवायुम् आकुञ्चनेन बलात् ऊर्ध्वगतिमन्तं करोति इति योगीन एतं बन्धं मूलबन्ध इति वदन्ति। गुदाभागं गुल्केन संपीड्य वायुं बलात् बारं बारम् आकुञ्चयेत्। अनेन वायुः सुषुम्णानाड्या ऊर्ध्वभागे प्राप्नोति।

मूलबन्धविधिं व्याख्यायन् ऋषिवरः घेरण्डः वदति यत् योनिप्रदेशस्य आकर्षणं वामगुल्केन भवेत् तदनन्तरं यत्नपूर्वकतया नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे योजयेत् तथा दक्षिणगुल्केन उपस्थेन्द्रियं दृढतापूर्वकतया बन्धनं कुर्यात्।

मूलबन्धस्य अभ्याससमये साधकः सिद्धासने पद्मासने अथवा कस्मिंश्चित् ध्यानात्मकासने उपविशेत् परन्तु अस्य बन्धस्य अभ्यासार्थं सिद्धासनं सर्वोत्तम्।

Scanned with CamScanner

(i) अस्य बन्धस्य अभ्यासस्य अनेके विधयः समवाप्यन्ते। तेषु प्रथमविधि-अनुसारेण बन्धोऽयं पूरकेण सह गुदादेशमाकृष्य रेचकेन आकुञ्चनं शिथिलीकृत्य अपि कर्त्तुं शक्यते।

(ii) द्वितीयविधि- अनुसारेण सिद्धासने उपविश्य नेत्रद्वयं निमील्य शरीरं शिथिलीकृत्य दीर्घतया पूरकं कृत्वा अन्तःकुम्भकं कृत्वा जालन्धरबन्धं कृत्वा मूलाधारप्रदेशस्य स्नायुनामाकुञ्चन-प्रसारणक्रियां कुर्वन् तान् उपरि आकर्षयेत्। स्वसामर्थ्यानुसारेण यावत् अन्तःकुम्भकं कर्त्तुं शक्यते तावत् आकुञ्चन-प्रसारणकार्यं कर्त्तव्यम्। तदनन्तरं स्नायुन् शिथिलीकृत्य जालन्धरबन्धं परित्यज्य शनैः शनैः रेचकः कर्त्तव्य।

(iii) तृतीयविधि- अनुसारेण साधकः बाह्यकुम्भकं कृत्वा अपि बन्धमिमं कर्त्तुं शक्नोति। एतस्य बन्धस्य बाह्यकुम्भकेन सह करणेन सौविध्यं भवति।

उड्डीयानबन्धः

(2.) उड्डीयानबन्धः - यतो ही अनेन बन्धेन प्राणवायुः सुषुम्ना-नाड्याम् उड्डीयते अत एषः बन्धः उड्डीयानबन्धनाम्ना ज्ञायते। उड्डीयानबन्धस्य विधिविषये उच्यते यत् उदरे नाभे-रूर्ध्वभागे पश्चिमतानं कुर्यात्। एषः बन्धः मृत्युरूपिगजस्य कृते सिंहसदृशः बलशाली भवति।

जानुद्वयं व्यावर्त्य पादतलं परस्परं संयोज्य नाभे उपर्यधोभागयो अष्टाङ्गुलपर्यन्तं भागं बलादाकृष्य मेरुदण्डे अनेन रूपेण योजि योजयितव्यं यत् उदरे गह्वरसदृशाकृतिः

Scanned with CamScanner

भूयात्। यावत् शक्यते तावत् उदरम् अन्तर्भागे आकर्षणं कुर्यात्। बन्धोऽयं पादतलम् असंयोज्य अपि कर्तुं शक्यते।

बन्धोऽयं पद्मासने सिद्धासने वा उपविश्य अपि कर्तुं शक्यते। हस्ततलं जानुद्वये रक्षितव्यम्। दीर्घतया रेचकं कृत्वा बहिः कुम्भकं कृत्वा जालन्धरबन्धः कर्त्तव्यः। तदनन्तरम् उदरस्थितान् मांसपेशीन् अधिकतया उपरि अन्तर्भागे च आकुञ्चयेत् तथा यथाशक्ति तस्यामेवावस्थायां स्थित्वा उदरं जालन्धरबन्धं च शिथिलीकृत्य क्षणं विश्राम्य पुनः कुर्यात्। उदराकर्षणकाले वक्षस्थलं किञ्चित् उपरि प्रसारितव्यम्। यथा बन्धोऽयं पद्मासने सिद्धासने वा उपविश्य कर्तुं शक्यते तथैव उत्थाय अपि कर्तुं शक्यते।

पादद्वयस्य मध्ये एक 'फुट' इत्यस्य अन्तरालं रक्षयित्वा हस्तद्वयमुपरि कृत्वा श्वासं प्रपूर्य पुनश्च हस्तद्वयम् अध आनीय जानो उपरि रक्षयेत्। तदनन्तरं निश्वस्य बहिः-कुम्भकं कृत्वा उदरम् अन्तर्भागे आकर्षयेत्। आकर्षणकाले उदरं मेरुदण्डे संलग्नो भवेत्। अनेन रूपेण यथाशक्ति अवस्थानं कृत्वा उदराकर्षणं परित्यज्य उदरं शिथिलीकुर्यात्। अनेन रूपेण वारचतुष्टयं वारपञ्चकं वा कुर्यात्।

बन्धोऽयं हृदयरोगिणा, उदरव्रणवता तथा गर्भवत्या स्त्रिया न कर्त्तव्यः। न केवलमेतदेव अपितु द्वादशवर्षेभ्यः न्यूनायुर्वता बालकेन अथवा अऋतुमत्या बालिकया बन्धोऽयं न कर्त्तव्यः।

जालन्धरबन्धः

(३.) जालन्धरबन्धः – जालन्धर-इन्यस्य शब्दस्यार्थोऽस्ति जाल-समूहः। यः समस्तनाडीजालं बध्नाति तथा (चन्द्रनाडीतः क्षरितम्) अमृतम् अधोगमनात् रुणद्धि स एव बन्धः जालन्धरबन्धनाम्ना ज्ञायते। जालन्धरबन्धस्य विधिविषये उच्यते यत् बन्धोऽयं शिराजालं बध्नाति अतः बन्धोऽयं जालन्धर-बन्धनाम्ना ज्ञायते।

जालन्धरबन्धस्य विधिविषये प्राप्यते यत् कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत् इति। तदुपरि एतस्य बन्धस्य विधिविषये प्राप्यते यत् उत्थाय सुखासने, पद्मासने सिद्धासने वा उपविश्य प्राणायामं कुर्वन् पूरककरणानन्तरं रेचककरणानन्तरं वा बन्धोऽयं क्रियते। अर्थात् बन्धोऽयं कुम्भककाले अर्थात् बाह्यकुम्भककाले अन्तःकुम्भककाले च करणीयः। अवस्थायामस्यां हस्तद्वयं जानुद्वयोपरि रक्षयित्वा चिबुकं कण्ठकूपे संयोजयेत्। अवस्थायामस्यां चिबुकहृदययोर्मध्ये अन्तरालं अङ्गुष्ठचतुष्टस्य अङ्गुष्ठषट्कस्य वा भवेत्। अवस्थायामस्यां वक्षस्थलम् अग्रभागे किञ्चित् प्रसारितं भवेत्। बन्धोऽयं कण्ठस्थानस्य नाडीजालसमूहं बद्ध्वा रक्षयति। बन्धोऽयं जालन्धरबन्धनाम्ना ज्ञायते।

महाबन्धः

(४.) महाबन्धः – बन्धोऽयं बन्धत्रयाणां समन्वयः। बन्धस्यास्य विधिविषये उच्यते यत् वामपादस्य गुल्फेन गुदामूलं निरुद्ध्य तद्गुल्फं यत्नेन दक्षिणपादेन सम्पीड्य शनैः शनैः

योनिप्रदेशम् आकुञ्चयेत् चालयेत् च तथा जालन्धरबन्धेन प्राणवायुं धारयेत्। महाबन्धोऽयं सर्वबन्धेषु श्रेष्ठोऽस्ति।

महाबन्धस्य विधिविषये मतवैभिन्न्यमवलोक्यते। तेषु प्रथमविधि अनुसारेण कस्मिंश्चित् ध्यानात्मकासने उपविश्य बन्धत्रयमेकबारमेव क्रियते कुम्भकावस्थायाम्। पूर्णतया रेचकं कृत्वा क्रमशः जालन्धरबन्धः, उड्डीयानबन्धः मूलबन्धं च क्रियते। तदनन्तरं स्वचेतना मूलाधार-मणिपुर-विशुद्धिचक्रेषु घुर्णयित्वा यावत् कुम्भकं शक्यते तावत्। तदनन्तरं क्रमशः मूलबन्धम्- उड्डीयानबन्धं जालन्धरबन्धं च परित्यज्य पूरकं कर्त्तव्यः।

अन्यविधि अनुसारेण वामगुल्कं योनिमण्डले दक्षिणगुल्कं च जननेन्द्रियमूले स्थापयेत्। तदनन्तरं वामनासापुटेन चलित-स्वरेणनासापुटेन वा वायुमाकृष्य जालन्धरबन्धः क्रियते। तदनन्तरं मूलद्वारेण वायुम् उपरि आकृष्य मूलबन्धं कुर्यात्। मनः मध्यनाड्यां स्थिरीकृत्य यथाशक्तिः कुम्भकम् कुर्यात्। तदनन्तरं पूरकविपरीतनासिकायाः शनैः शनैः रेचयेत्।

इति

Scanned with CamScanner

गया है कि 'रूपं रूपं मघवान् बोभवीति रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। महाप्रकाश एव देवता, नान्यः कश्चित्'।

हृदय का स्फुरणस्वभाव ही देवता है— 'भावभेदस्य प्रकाशैकात्म्यपारिशेष्यात्सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य एक एव हृदयस्फुरणस्वभावो देवतात्वेनाराध्यः। भावानां बाहुल्योपपादनद्वारा देवतात्वमुन्मीलितम्'।

प्रत्यभिज्ञा में भी गया गया है कि 'चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः'। निष्कर्ष यह कि 'स्वात्मैव देवता इति निर्बन्धः' (परिमल)।

देवता मन्त्राङ्ग भी है। मन्त्र के नव तत्त्व बताये गये हैं, उनमें देवता भी एक है। कामधेनुतन्त्र के अनुसार देवतत्त्व, प्राणतत्त्व, बिन्दुतत्त्व, ज्ञानतत्त्व, शक्तितत्त्व, योनितत्त्व आदि नव तत्त्व की गये हैं।

शाक्तपरम्परा में देवी एवं श्रीसम्प्रदाय में भगवती त्रिपुरसुन्दरी ही देवता हैं तथा ललिता परदेवता हैं; जैसा कि ललितासहस्रनाम में कहा भी गया है— 'रात्रौ यश्चक्रराज-स्थाम-र्चयेत् परदेवताम्'।

यह ललितास्वरूपा देवता कोई अन्य नहीं, प्रत्युत साधक की स्वयं की आत्मा-मात्र ही है— 'स्वात्मैव ललिता प्रोक्ता मनोज्ञा विश्वविग्रहा'। अपनी आत्मा ही भगवती ललिता हैं। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' कहकर साधक को स्वयं देवता बनकर देवता की उपासना करने का विधान किया गया है; अतः शाक्तसाधना में देवोपासना अद्वैतोपासना ही है।

शाक्तानन्दतरङ्गिणी में कहा गया है कि साधक को ब्राह्म मुहूर्त्त-वेला में उठकर प्रातःकृत्य से निवृत्त होकर भगवती के साथ परम गुरु शिव का ध्यान करना चाहिये। फिर पञ्चभूतमय तत्त्वों द्वारा स्वेष्ट देवता की पूजा करनी चाहिये। फिर गुरु की पूजा करके गुरुमन्त्र का जप करना चाहिये। फिर वाग्भवबीज 'ॐ ऐं' (या अन्य में 'क्लीं') का जप करना चाहिये—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय चिन्तयेद्गुरुदैवतम्।
स्वमूर्द्धनि सहस्रारे शिवाख्यपरबिन्दुके।।

अर्थात् रात्रि के दो दण्ड शेष रह जाने पर ब्राह्म मुहूर्त्त में अपनी मूर्द्धा में शिव-बिन्दु सहस्रार में भगवती पराम्बा एवं भगवान् परम शिवरूप परम गुरु का ध्यान करना चाहिये। 'श्यामारहस्य' में कहा गया है कि पूजाविधान में मानसिक गन्ध-पुष्पादि समर्पित करते हुये ही वाग्भवमन्त्र का जप करना चाहिये— 'मनसा गन्धपुष्पाद्यैः सम्पूज्य वाग्भवं जपेत्'। इष्टदेव की स्तुति करनी चाहिये और 'तेजोरूपं समर्प्याथ स्तवेन तोषयेद् गुरुम्'।

नादबिन्दुयुक्त, अकथादि रेखा वाले, अलक्ष त्रय कोण वाले, सहस्रार महापद्म में स्थित, सृष्टि-स्थिति-लयात्मक परबिन्दु एवं उसकी परमा शक्ति (सार्धत्रिवलयाकारा, कोटिविद्युत्समप्रभा, परम कुण्डली) की पूजा करनी चाहिये, जो कि योनिरूपा, सनातनी

एवं नादात्मिका है— 'नादरूपेण सा देवी योनिरूपा सनातनी'। सहस्रार ही 'शिवपुर' है; अत: वहीं कल्पद्रुमाच्छादित रत्नवेदिका पर नानारत्नोपशोभित पर्यङ्क पर शब्दब्रह्मशरीरी सदाशिव एवं शक्ति की पूजा करनी चाहिये; किन्तु देवता को शब्दस्वरूप में कल्पित करना चाहिये— 'पद्ममध्ये स्थितं देवं निरीहं शब्दरूपवत्'; क्योंकि 'पादयोर्नूपुरं रम्यं शब्दब्रह्ममयं वपु:' कहा गया है। यहीं श्यामा कुण्डलिनी का भी ध्यान करना चाहिये; जैसा कि कहा भी गया है—

ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं स्वयम्भूलिङ्गसंस्थिताम्।
श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम्।
विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्वरूपिणीम्।।

जैसे ही वह शिव का मुखपद्म चूमती है और क्षण भर भी रमण करती है, वैसे ही लाक्षा रस की भाँति अमृत का स्राव होने लगता है। इसी अमृत से षट्चक्र के समस्त देवताओं की तृप्तिरूप पूजा करनी चाहिये और परदेवता का भी तर्पण करना चाहिये—

अमृतं जायते देवि ! तत्क्षणात्परमेश्वरि।
तदुद्भवामृतं देवि ! लाक्षारससमोपमम्।।

तेनामृतेन देवेशि ! तर्पयेत् परदेवताम्।
षट्चक्रदेवतास्तत्र सन्तर्प्याऽमृतधारया।।

तत्पश्चात् देवी को पुन: मूलाधार चक्र में लाना चाहिये और इसी देवी के आवागमनरूपी इसी यात्रा द्वारा मनोलय करना चाहिये— यातायातक्रमेणैव तत्र कुर्यान्मनोलयम्'।

मूलाधार में कुण्डली का प्रत्यावर्तन करने के बाद उसे सहस्रार में लाना चाहिये तथा शक्ति-शक्तिमान के सामरस्य का चिन्तन करना चाहिये—

रमित्वा शम्भुना सार्धं कुण्डली परदेवता।
मूलाधारान्महेशानि ! सहस्रारे समानयेत्।।

शम्भुगतां परां शक्तिमेकीभावं विचिन्तयेत्।
ध्यायेत् कुण्डलिनीं तत्र इष्टदेवस्वरूपिणीम्।।

भगवती को मूलाधार से स्वाधिष्ठान, स्वाधिष्ठान से मणिपूर, मणिपूर से अनाहत, अनाहत से आज्ञाचक्र, आज्ञाचक्र से बिन्दु, अर्धेन्दु आदि के यात्रापथ से सहस्रार में लाना चाहिये तथा उन जगन्मयी भुजङ्गरूपिणी देवी पराकुण्डलिनी का षट्चक्रों में ध्यान करना चाहिये। इससे ध्याता साक्षात् ब्रह्ममय हो जाता है; जैसा कि कहा भी है—

षट्चक्रे परमेशानि ! ध्यात्वा जगन्मयीं शिवाम्।
भुजङ्गरूपिणीं देवीं नित्यां कुण्डलिनीं पराम्।।

विषतन्तुमयीं देवीं साक्षादमृतरूपिणीम्।
अव्यक्तरूपिणीं दिव्यां ध्यानगम्यां वरानने।।

गया है। इस सम्बन्ध में सूत्र में उल्लिखित कई पारिभाषिक शब्दों पर यथासम्भव प्रकाश डालना आवश्यक हैं—

सोमसूर्य—भट्टकल्लट ने अपनी वृत्ति में इन दो शब्दों को, व्याख्या करने के विना, अस्पष्ट रूप में ही छोड़ रखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने जान-बूझ कर ही ऐसा किया होगा। आगमशास्त्रों में भिन्न भिन्न प्रकार की धारणाओं के आधार पर इस शब्द-युग्म के भिन्न भिन्न अर्थ लगाये गये हैं। कहीं इनसे प्रमेयपद और प्रमाणपद का, कहीं प्राण और अपान का अथवा कहीं शिवकला और जीवकला का अर्थ लिया गया है। शायद भट्टकल्लट ने भी इसी बात को दृष्टि में रखकर, इस शब्द-युग्म को किसी निश्चित अर्थ की परिधि में बांधने के बिना साधकों की रुचि पर ही छोड़ दिया है।

आध्यात्मिक विषयों की चर्चा करते समय अत्यन्त सावधानी से काम लेना आवश्यक है अतः केवल इतना कहा जा सकता है कि प्रस्तुत सूत्र में पूर्व प्रकरण के आधार पर इन दो शब्दों से [1]मनस् एवं प्राण ये ही दो अभिप्राय लेना युक्तिसंगत है। कारण यह कि पूर्ववर्ती सूत्रों में इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है कि सामान्य स्पन्द-शक्ति एक ओर से ज्ञानरूपता के द्वारा गुणत्रय पर आधारित अन्तःकरण की वृत्तियों (जिनको साधारण रूप में मनस् या चित्त कहते हैं) और दूसरी ओर क्रियारूपता के द्वारा पांच स्थूल प्राणों के रूप में, पाञ्चभौतिक काया में व्याप्त होकर रहती है। कहना न होगा कि अपान स्वयं भी पांच प्रकार के स्थूल प्राणों में ही अन्तर्भूत हो जाता है। फलतः योगी के लिए, प्राण के साथ मनस् का भी चिदाकाश में लयीकरण परम आवश्यक है। श्रीयुत क्षेमराज ने अपनी व्याख्या में इस शब्द-युग्म का अर्थ [2]प्राण एवं अपान ही लगाया है।

सुषुम्ना मार्ग—आगम शास्त्रों में सुषुम्ना नाडी का प्रधान नाम 'मध्यनाडी' रखा गया है। भट्टकल्लट ने भी अपनी वृत्ति में इसी नाम से इसका उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त इसको 'ब्रह्मनाडी' भी कहते हैं।

इस नाडी को 'मध्य' कहे जाने के दो कारण हैं। एक यह कि मूलरूप में यह नाडी स्वतः संवित्-रूपा ही है और संवित् ही प्रत्येक जड़ अथवा चेतन पदार्थ का 'मध्य' अर्थात् [3]अन्तरतम जीवन है। प्रत्येक प्राणी के शरीर में यही नाडी जीवनी शक्ति का मूलस्रोत है। पहले भी कहा गया है कि संवित् भगवती ही अवरोह-

---

१. चन्द्रसूर्यौ मनःप्राणौ द्वावपि ॥ (स्प० का० वि०, ७६ पृष्ठ)

२. चन्द्रसूर्यौ अपानः प्राणश्चोभावपि ॥ (स्प० वि०, ४२ पृष्ठ)

३. सर्वान्तरतमत्वेन वर्तमानत्वात्‌ ...... संविदेव भगवती मध्यम् ॥ (प्र० हृ०, १७)

क्रम में सूक्ष्म [१]प्राणना का रूप धारण करके, क्रमशः उत्तरोत्तर स्थूलता को प्राप्त होती हुई, समूचे अस्थिमेदोमय स्थूल शरीर का और, उसमें फैली हुई असंख्य शिराओं के जाल का रूप धारण कर लेती है। [२]स्वयं इन असंख्य नाडियों के जाल के ठीक मध्य में ब्रह्मरन्ध्र से लेकर मूलाधार तक प्रधान प्राणशक्तिरूपा सुषुम्नानाडी के रूप में अवस्थित रहती है। शिराजाल के ठीक मध्य में इसका अवस्थित रहना ही दूसरा कारण है जिसके लिये इसको 'मध्य' की संज्ञा दी गयी है। शिराजाल के [३]मध्य में यह ठीक उसी प्रकार ऊपर से नीचे तक अवस्थित रहती है जिस प्रकार पलाश के पत्ते के ठीक बीचोंबीच एक प्रधान शिरा ऊपर से नीचे तक अवस्थित रहती है।

मध्यनाडी के आकार-प्रकार के विषय में अनुभवी व्यक्तियों का कथन है कि यह नाडी [४]मृणाल के तन्तु के समान अत्यन्त सूक्ष्म है। इसके अन्तराल में [५]शून्य अवकाश की वर्तमानता है और उसी को सूत्रकार ने 'महान-व्योम' की संज्ञा के द्वारा अभिव्यक्त किया है। यह अन्तरालवर्ती अवकाश अपरिमित चैतन्यरूप होने के कारण 'चिदाकाश' कहलाता है। इसी महान व्योम से [६]प्राणशक्ति का निकास होता रहता है और प्राणशक्ति पर ही विश्व के सारे चेतन पदार्थों का जीवन निर्भर रहता है। फलतः मध्यनाडी ही शरीर की वह प्रधान नाडी है जहाँ से शरीर के रोम रोम को चेतना वितीर्ण होती है; [७]जहाँ से सारी मानसिक वृत्तियाँ उदित होती हैं और जिसमें अन्ततोगत्वा लय भी होती हैं।

साधारण जीवभाव की अवस्था में किसी भी जीवधारी को इस नाडी की वर्तमानता अथवा इसकी मौलिक स्पन्दना का आभास नहीं मिल सकता है। केवल योगीजनों को ही प्राणाभ्यास की प्रक्रिया के द्वारा इसके महत्व की अनुभूति हो जाती है।

ऊर्ध्व मार्ग—साधारण रूप में इस शब्द का अर्थ उत्कृष्ट-मार्ग है और आगम-शास्त्रों में उत्कृष्ट मार्ग से उदान वायु के मध्यनाडी रूप मार्ग का अभिप्राय लिया

१. सा तु मायादशायां......प्राणशक्तिभूमिं स्वीकृत्य, अवरोहक्रमेण बुद्धिदेहादि-भुवम् अधिशयाना नाडीसहस्रसरणिम् अनुसृता। (प्र० हृ०, १७)
२. तत्रापि च पलाशपर्णमध्यशाखान्यायेन आब्रह्मरन्ध्राद् अधोवक्त्रपर्यन्तं प्राण-शक्तिमध्यनाडीरूपतया प्राधान्येन स्थिता। (तदेव)
३. मध्यनाडी मध्यसंस्था। (वि० भै०, ३५)
४. सूक्ष्मत्वात् मृणालसूत्रतुल्यरूपया। (तदेव)
५. मध्यनाड्यामन्तश्चिदात्मकं शून्यमेवास्ति। (तदेव)
६. तस्मात् (शून्यात्) प्राणशक्तिर्निःसरति। (तदेव)
७. तत एव सर्ववृत्तीनामुदयात् तत्रैव च विश्रामात्। (प्र० हृ०, १७)

जाता है । साधारण जीवधारियों में, प्राण एवं अपान की प्रवहमानता का मार्ग, मध्यनाडी के बायें और दायें पार्श्वों में अवस्थित दो अन्य नाडियाँ हैं । इस अवस्था में प्राणापान की प्रवहमानता के लिये सुषुम्ना का मार्ग बिल्कुल बन्द रहता है । योग की प्रक्रिया के द्वारा प्राण एवं अपान का छेदन करने से अर्थात् दोनों के वहिर्मुखीन संचार को रोक कर दोनों को हृत्-मंडल में ही अवस्थित करने से, ये उदानवायु का रूप धारण करके, सुषुम्नामार्ग अर्थात् ऊर्ध्वमार्ग से [२]ऊर्ध्वसंचार करने लगते हैं । प्राणापान के ऊर्ध्वसंचार की अवस्था पर पहुँचे हुये योगी के अन्तस् में विद्यमान भेद-भावना स्वयं ही पिघल कर अभेद-भावना के रूप में उदित हो जाती है क्योंकि प्राणापान का ऊर्ध्वसंचार तुर्यारूप शाक्तभूमिका का समावेश हो जाने पर ही होने लगता है ।

सूत्र २५ में मूढ़ और प्रबुद्ध व्यक्तियों की समाधिकालीन अनुभूति के अन्तर को स्पष्ट किया गया है । इस सम्बन्ध में पहले ही सूत्र १२ से सूत्र २० तक के विवरणों में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है अतः यहां पर फिर से उन्हीं बातों को दोहराना पिष्टपेषण ही होगा ।। २३, २४, २५ ।।

इति श्रीकल्लटाचार्यविरचितायां स्पन्दकारिकवृत्तौ 'स्वरूपस्पन्दः'
नामा प्रथमो निःष्यन्दः ।। १ ।।

श्रीकल्लटाचार्य के द्वारा विरचित स्पन्दकारिका वृत्ति का 'स्वरूपस्पन्द'
नामक पहला निःष्यन्द समाप्त हुआ ।। १ ।।

---

२. द्रष्टव्य, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (३.२.१९.२०)

IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882
INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)
An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

योग उपनिषदो में बंध एवं उनकी वैज्ञानिक विवेचना

नेहा रानी सैनी [1], रुद्रदीप गौतम [2] , धवल प्रजापति [3]
[1] शोधकर्ता, देव संस्कृति विश्वविद्यालय
[2] स्नात्कोत्तर, देव संस्कृति विश्वविद्यालय
[3] स्नात्कोत्तर, देव संस्कृति विश्वविद्यालय

सारांश:-

योग की प्राचीन परंपरा में बंधो की बड़ी महत्ता हैं। यौगिक मुद्राओं के नाम से अनेकानेक वर्णंनो में बंधों की सम्मिलिता उनकी महत्ता की ओर दर्शाती है, परंतु बंधों का सीधा वर्णन ना होने के कारण उनकी उपयोगिता के विषय में स्पष्टता प्राप्त नहीं होती। कई अध्ययनों से जाना गया है कि बंधों का विशिष्ट प्रयोग कुंडलिनी जागरण में किया जाता है। इसके अतिरिक्त भी प्राणों को विशिष्ट प्रकार से उपयोग में लेने के लिए एवं ग्रंथि भेदन में भी बंधों का प्रयोग किया जाता है परंतु इसकी भी वैज्ञानिक आधार पर व्याख्या कम ही देखने को मिलती है। इस अध्ययन में हमने बंध एवं उनकी उपयोगिता एवं उनके वैज्ञानिक आधारों को समझने का प्रयत्न किया ताकि भविष्य में यह वैज्ञानिक व्याख्या अन्य चिकित्सीय शोध कार्यों में उपयोगी हो सके ।

कुंजी शब्द:-

बंध, कुंडलिनी, विद्युत, प्राण, तंत्रिका आवेग, ग्रंथि

परिचय:-

योग भारत की प्राचीन परंपरा है, जो कि सदियों पुरानी है। भारतीय ग्रंथों जैसे वेद, उपनिषद इत्यादि योग को कहीं ना कहीं अनेकानेक प्रकार से कहते आये हैं। यौगिक विषयों में पतंजलि योग दर्शन अधिक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। यों तो योग के कई मार्ग है जैसे मंत्रयोग, राजयोग, लययोग आदि परंतु पतंजलि योग दर्शन में योग को सूत्र बद्ध तरीके से महर्षि पतंजलि ने प्रस्तुत किया एवं अष्टांग योग को साधन रूप बताया। योगसूत्र की भांति ही योग उपनिषद भी योग विषय के प्रमाणिक ग्रंथ है। शोधों के अनुसार योग उपनिषदों की संख्या 20 बताई जाती है। योग उपनिषदों में मुख्य रूप से योग के प्रकार, आसन, प्राणायाम नाद, कुंडलिनी आदि के विषय का वर्णन मिलता है।(1) योग उपनिषदों का समय

पता लगा पाना वास्तव में मुश्किल है परंतु मैं Mahony के अनुसार योग उपनिषदों का समय 100 B.C. से 1100 A.D. के बीच में रहा होगा ।[2] Gavin Flood के अनुसार योग उपनिषदों का समय 100 B.CE. से 300 C.E. के मध्य रहा होगा। [3] Jams Mallinson के अनुसार 18 वीं शताब्दी में हठयोग के उदय के बाद योग उपनिषदों में पुन: परिवर्तन किया गया एवं उसमें नाथ संप्रदाय की विचारधारा को शामिल किया गया। [4] जनसामान्य में अपनी सरलता के कारण हठयोग का प्रचलन अधिक रहा। हठयोग के मुख्य अंगो में आसन, प्राणायाम, मुद्रा बंध, नादानुसंधान, ध्यान, समाधि इत्यादि विषय सम्मिलित हैं।इसी क्रम में योग उपनिषदों एवं अन्य हठ योगिक ग्रंथों में मुद्राओं का विशेष महत्व रहा है। संभवतया: अन्नमय कोश के ऊपर प्राणमय एवं मनोमय कोश पर कार्य करने एवं प्रभाव डालने की क्षमता मुद्रा एवं बंधों को विशिष्ट बनाती है। योग चूड़ामणि उपनिषद में कहा गया है कि [5] -

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलंधरम्।।
मूलबंध च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्।।

योगिक बंध: एक सामान्य परिचय -

'बंध' शब्द का अर्थ संस्कृत शब्दकोष में है- बांधना, बंधन डालना, पाशश्रृंखला पकड़ना, बंदी बनाना, कैद करना, निवेश करना, रोकना, निग्रह करना, मूंदना, अवरुद्ध करना, घनीभूत होना, ताला लगाना।

सामान्य क्रम में बंध का अर्थ 'नदी पर बांध बनाना, सेतु बनाने या सागर पर पुल बनाने के भाव से लिया जा सकता है। बंध की व्याख्या भवसागर या संसारिक अस्तित्व को पार करने, ज्ञान सिंधु के दूसरे तट पर पहुंचने, मुक्ति के साधन एवं स्वस्फूर्त रचनात्मकता के रूप में भी की जा सकती है। [6] बंधों का मूल उद्देश्य प्राणों को शरीर के विशेष हिस्सों में बांधकर, उसके प्रवाह को सुषुम्ना नाड़ी की ओर करना व कुंडलिनी जागरण में सहायता करना है। [7] स्वामी स्वात्माराम ने कुंभक की अवधि में बंधों को अनिवार्य माना है बिना बंध के कुंभक का अभ्यास होना ही नहीं चाहिए। इसी के लिए स्वात्माराम ने हठप्रदीपिका में कहा है [8]-

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिध:।।
कुंभकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानक:।।

अर्थात पूरक के अंत में जालंधर नामक बंध करना चाहिए और कुंभक के अंत में तथा रेचक के आरंभ में उड्डियान नामक बंध को करना चाहिए।

बंध का अर्थ होता है बांधना, संकोच करना या रोकना अर्थात् इस क्रिया द्वारा शरीर के किसी अंग विशेष को बांधकर वहां से आने जाने वाले संवेदनाओं को रोककर, लक्ष्य विशेष की और भेजना 'बंध' है। बंध शारीरिक अभ्यास है परंतु अभ्यासी के संपूर्ण शरीर में व्याप्त विचारों एवं आत्मिक तरंगों में प्रवेश कर ये चक्रों पर सूक्ष्म प्रभाव डालते हैं। सुषम्रा नाड़ी में प्राण के स्वतंत्र प्रवाह में अवरोध उत्पन्न करने वाली ब्रह्म ग्रंथि, विष्णुग्रंथि तथा रुद्र ग्रंथि इस अभ्यास से खुल जाती है। इस प्रकार बंधों से आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है। बंधों से आंतरिक अंगों की मालिश होती है तथा रक्त का जमाव

दूर होता है। यह अंग विशेष से संबंधित नाड़ियों के कार्यों को नियमित करता है। परिणामत: शारीरिक कार्य एवं स्वास्थ्य की उन्नति होती है। [9]

बंधो का वर्गीकरण -

सामान्यतया यौगिक ग्रंथों में योग के तीन बंधों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य बंध महाबंध जो कि उपरोक्त तीनों के संयोजन द्वारा लगाया जाता है।बंधों का उल्लेख करते हुए योगकुंडल्योपनिषदों में कहा है [10] -

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिध:।।
जालंधरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते ।।

इस प्रकार सामान्यतया बंधों के तीन प्रकार हैं -

१. मूलबंध
२. उड्डीयान बन्ध
३. जालन्धर बंध

परंतु कहीं-कहीं जैसे कि शिव संहिता, घेरण्ड संहिता, हठप्रदीपिका आदि में उल्लेखित मुद्राओं के साथ बंधों का वर्णन भी मिलता है, जिसमें चार बंधों की बात कही गई है। शिव संहिता के श्लोक के अनुसार बंध इस प्रकार है -

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतस्तथा।।
उड्डानं चैव वज्रोली दशगं शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम्।।
(शिव संहिता ४.२४-२५)

10 प्रकार की योग मुद्राएं इस प्रकार कही गई है महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, जालंधर, मूलबंध, विपरीतकरणी, उड्डीयान बंध, वज्रोली, और शक्तिचालिनी । [11]

मूलबंध : -

योग बंधों में प्रथम प्रकार का बंध है। मूलाधार के शक्ति केंद्र पर दबाव डालने के कारण अथवा मूलाधार क्षेत्र में प्रभाव डालने के कारण इसे मूलबंध कहा गया। मूल शब्द का अर्थ है- तल, नीचे की ओर रहने वाला आधारभूत या आखिरी प्रदेश। बंद याने बांधना अर्थात नीचे की ओर रहने वाले आधारभूत प्रदेश को बांधे रखना।

"अध: प्रदेशादाकुंचन मिती मूलबंध:।।"

अर्थात, अध: प्रदेश (गुदा) का आकुंचन करना मूलबंध कहलाता है। [12]

मूलबंध को करने की विधि-

योग चूड़ामणि उपनिषद के अनुसार-

"पार्ष्णिघातेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम्।।

अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते।। "

अर्थात्, एडी से दबाव डालकर योनि (सीवन) स्थान को को पीड़ित करते हुए दृढ़तापूर्वक संकुचित करें, अपान वायु को पर को ऊपर ओर खींचने की इस प्रक्रिया को मूलबंध कहा जाता है। (13)

ध्यानबिंदु उपनिषद् के अनुसार-

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।।

अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोड्मुच्यते।।

अर्थात्, एड़ी भाग से योनि स्थान को दबाकर मलद्वार को संकुचित करें और अपान वायु को उर्ध्व की ओर खींचे इस क्रिया को मूलबंध कहा गया है।(14)

योगकुंडल्योपनिषद के अनुसार-

अधोगतिमपानं वै उर्ध्वगं कुरुते बलात्।।

आकुञ्चनेन तो प्राहुर्मूलबन्धोड्मुच्यते।।

अर्थात्, शरीर के अधोभाग में विचरण करने वाले अपान वायु को गुदा को संकुचित करके बलपूर्वक ऊपर उठाने की प्रक्रिया को मूलबंध कहते हैं। (15)

योगतत्वोपनिषद् के अनुसार-

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोड्मुच्यते।।

प्राणापानो नादबिंदू मूलबन्धेन चेकताम् ।।

अर्थात्, एडी से योनि स्थान को ठीक प्रकार से दबाकर अंदर की ओर खींचे और इस प्रकार अपान को उर्ध्व की ओर उठाएं यह योनि बंध कहलाता है। इस क्रिया द्वारा प्राण, अपान, नाद और बिंदु में मूलबंध के द्वारा एकता प्राप्त होती है। (16)

मूलबंध से संबंधित मांसपेशियां-

जैसा कि सभी विधियों में बताया गया है मूलबंध गुदाद्वार का संकोचन करके किया जाता है अतः इसमें वे मांसपेशियां कार्य करती है जो गुदा को ऊपर की ओर उठाने मैं सहयोगी हो। इस में काम आने वाली मांसपेशी का नाम Pubococcygeal muscles हैं। (17)

मूलबंध से होने वाले लाभ-

1.अपान वायु ऊर्ध्वगमन करके जब वह्निमण्डल से योग करता है , उस समय वायु से आहत होकर अग्नि बहुत तेज हो जाती है । तत्पश्चात् उष्ण स्वरूप वाले प्राण में अग्नि और अपान के मिल जाने पर , उसके प्रभाव से देहजन्य विकार जल जाते हैं । (इसके बाद) उस अग्नि से तप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत होकर प्रताड़ित की हुई सर्पिणी के समान फुंकारती हुई सीधी हो जाती है । उस समय यह अग्नि (कुण्डलिनी) विवर में प्रवेश करने की तरह सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश कर जाती है , इसलिए इस मूलबन्ध का अभ्यास योगियों को सदैव करते रहना चाहिए । (18)

2.इस प्रकार (मूलबंध के द्वारा) प्राण और अपान को एक में मिलाया जाता है. इससे मल - मूत्र कम हो जाता है । इस प्रकार मूलबन्ध का अभ्यास करने से वृद्ध भी युवा हो जाता है । (19)

3. सतत मूलबन्ध का अभ्यास करने से अपान और प्राण में एकीकरण होता है, मल - मूत्र के क्षीण हो जाने पर बूढ़ा व्यक्ति भी जवान हो जाता है। (20)

4.प्राण, अपान, नाद और बिंदु में मूलबंध के द्वारा एकता प्राप्त होती है। (21)

उड्डीयान बन्ध-

' उड्ड ' का अर्थ- ऊपर उठना या उठाना । ' यान ' का अर्थ वाहन या जिस पर सवारी किया जाए

' बंध ' का अर्थ शरीर के किसी विशिष्ट अंग का संकोचन ।

अर्थात् इसमें किए जाने वाले योगाभ्यास उदर प्रदेश के संकोचन द्वारा प्राण शक्ति (Special Force) को ऊपर (सुषुम्ना मार्ग में) उठाने में सहायता करते हैं । (22)

उड्डीयान बन्ध करने की विधि-

ध्यानबिंदु उपनिषद के अनुसार-

उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः ॥

उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते । उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ॥

उड्डियाणोड्प्ययं बन्धो मृत्युमातड्.गकेसरी। बन्धाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम् ।

अर्थात्, जिस प्रकार बिना थका महा पक्षी उड़ने की क्रिया करता है , उसी प्रकार पेट की पश्चिम 'ताण' क्रिया (पेट को पीछे की और सिकोड़ने) के साथ नाभि को ऊपर की ओर खींचना चाहिए।

उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते । ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥

अर्थात्, पेट को नाभि के नीचे तानना अर्थात् खींचना पश्चिमोत्तान कहलाता है । वहीं पेट में यह उड्डियान बंध भी किया जाता है । (23)

योगकुंडल्योपनिषद् के अनुसार-

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः । बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूडीयते यतः । तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः । सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् । गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् । पश्चिमं ताणमुदरे धारयेद्धृदये गले ।

शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्धिं निगच्छति । तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः।

अर्थात्, कुम्भक करके जब रेचक करते हैं , उससे पहले उड्डियान बन्ध किया जाता है , जिसके करने से यह प्राण सुषुम्ना नाड़ी के भीतर ऊर्ध्वगमन करता है इसीलिए योगीजनों द्वारा यह ' उड्डीयाण ' कहलाता है। इसके लिए वज्रासन में बैठकर पैरों पर दोनों हाथों को दृढ़ता पूर्वक रखे । जहाँ गुल्फ (टखना) रखा जाता उसके समीपस्थ कन्द को दबाते हुए , पेट को ऊपर की ओर खींचते हुए , गला एवं हृदय को भी तनाव देते हुए खींचना चाहिए , इस प्रकार प्राण धीरे - धीरे पेट की सन्धियों में प्रवेश कर जाता है , इससे पेट के समस्त विकार दूर हो जाते हैं । इसलिए क्रिया को निरन्तर करते रहना चाहिए । [24]

योगतत्वोपनिषद् के अनुसार-

बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते। उड्यानाख्यो हि बन्धोऽयं

जिस बंध के माध्यम सेप्राण सुषुम्ना में उठ जाता है । उसे योगी लोग उड्डियान बंध कहते हैं।[25]

उड्डीयान बंध में संबंधित मांसपेशियां-[26]

उड्डीयान बंध को करने के लिए अपने उदर को पीछे की ओर खींचना होता है अपने उदर की मांसपेशियों को पीछे की ओर खींचने के लिए निम्न मांसपेशियों का प्रयोग होता है-

1.psoas minor

2.psoas major

3.iliacus muscle

उड्डीयान बन्ध से होने वाले लाभ-

1.यह उड्डीयान बंध मृत्यु के निमित्त उसी तरह है जैसे गजराज के लिए सिंह निमित्त बनता है। [27]

2.महापक्षी (गिद्ध आदि) जिस प्रकार विश्राम के लिए (आकाश में अत्यधिक ऊँचे) उड़ते हैं , उसी तरह उड्डियान बन्ध का अभ्यास मृत्यु रूपी हाथी को पछाड़ने के लिए सिंह के समान है । (बड़े पक्षियों को एक विशेष प्रकार से उड़ने में विश्राम प्राप्त होता है , जिससे उन्हें शक्ति प्राप्त हो जाती है) [28]

3. इससे प्राण धीरे-धीरे पेट की संधि में प्रवेश करता है, इससे पेट के समस्त विकार दूर हो जाते हैं इसके अतिरिक्त इसके करने से प्राण सुषुम्ना नाड़ी के भीतर उर्ध्व गमन करता है। [29]

4. षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः अर्थात् छः माह में मृत्यु को जीत लेता है , इसमें संशय नहीं [30]

5. समग्राद् बंधनाद्धयतदुड्डीयानं विशिष्यते । अर्थात्, सभी बंधों में उड्डियान बंध श्रेष्ठ है। [31]

जालंधर बंध-

योग परम्परा में जालंधर नाम का उद्गम इस प्रकार माना गया है ।

' जालं ' का अर्थ मस्तिष्क और ग्रीवागत नाड़ियों का समूह

' धर ' का अर्थ ऊपरी खिंचाव ।

(इसका अर्थ हुआ ; मस्तिष्क और ग्रीवागत नाड़ी समूह का ऊपरी खिंचाव तथा बंध का अर्थ , बाँध देना) (32)

जालंधर बंध करने की विधि-

योगतत्वोपनिषद् के अनुसार-

बन्धो जालंधराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी।

अर्थात्, कण्ठ को संकुचित करके (ठोड़ी को) दृढ़तापूर्वक वक्ष पर स्थापित करना ही जालन्धर बन्ध कहलाता है । जो मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान होता है।(33)

योगकुंडल्योपनिषद के अनुसार-

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः, कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ॥

अर्थात् , पूरक के अन्त में वायु को रोकने के लिए कंठ संकोचन क्रिया करते हैं जिसे जालंधर बंध कहते हैं।(34)

योगचूड़ामणि उपनिषद के अनुसार-

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।।

अर्थात्, जालंधर बंध में सामने की ओर सिर झुकाकर गले से नीचे ठोड़ी को हृदय से स्पर्श कराना होता हैं।(35)

ध्यानबिंदु उपनिषद् के अनुसार-

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।।

अर्थात्, जालंधर बंध करते समय कंठ को सिकोड़ा जाता है एवं ठुड्डी को हृदय से लगाया जाता है।(36)

जालंधर बंध में संबंधित मांसपेशियां-

जैसा की विधि में जाना गया जालंधर बंध लगाते समय हमें अपनी ठुड्डी को हृदय प्रदेश पर लगाना होता है, इस क्रिया को करने के लिए हमें अपने सिर को नीचे की ओर झुकाना होता है परंतु साथ में हमें अपनी छाती को भी ऊपर की ओर उठाना होता है। इन दोनों क्रियाओं में जिसमें हमें अपनी रिब केज को ऊपर उठाना होता है और गर्दन को नीचे झुकाना होता उसमें निम्न मांसपेशियां उपयोग में आती है (37)-

1.Splenius capitis

2.Splenius cervicis

3.Upper trapezius

4.Suboccipitals

5.Pectoralis minor

6.Sternocleidomastoids

7.Anterior scalenes

8.Erector spinae

9.Rectus abdominis

जालंधर बंध से होने वाले लाभ-

1.जालंधर बंध से वायु की गति रुक जाती है और अमृत के अग्नि में गिरने की संभावना नहीं रहती। (38)

2.जो शरीर में नीचे की ओर प्रवाहमान आकाश जल को शिरोभाग में रोककर रखता है, उसे जालंधर बंध कहते हैं यह दुखों और कष्टों का नाश कर देता है। इससे अमृत ना तो अग्नि की ओर गिरता है और ना हीना वायु की ओर गमन करता है,स्थिर हो जाता है। (39)

3."बन्धो जालंधराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी" अर्थात्, कण्ठ को संकुचित करके (ठोड़ी को) दृढ़तापूर्वक वक्ष पर स्थापित करना ही जालन्धर बन्ध कहलाता है । जो मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान है।(40)

4. "जरामृत्यु विनाशकः"

अर्थात्, यह बुढ़ापा और मृत्यु को दूर करता है । (41)

5."कण्ठदुःखौघनाशन :"

अर्थात्, इससे गले की समस्त बीमारियाँ दूर हो जाती हैं । (ह.प्र .3 / 71) (42)

6."न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति" अर्थात्, इससे सोमस्राव जठराग्नि में नहीं गिरता है और वायु का भी प्रकोप नहीं होता है । (43)

7."षोडशाधारबंधनम् "

अर्थात्, इससे सोलह आधारों का नियन्त्रण हो जाता है । (ह.प्र .3 / 71,घे.सं. 3/10) (44)

8."जालन्धरमहामुद्रामृत्योश्च क्षयकारिणी ।" अर्थात्, जालन्धर बंध नाम की महामुद्रा मृत्यु को भी जीत लेती है । (घे.सं. 3/11) (45)

9."अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् । ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥"

अर्थात्, इस क्रिया से प्राण लय (ब्रह्मरन्ध्र) को प्राप्त होता है । तब इससे मृत्यु , बुढ़ापा आदि रोग नहीं होते हैं । (46)

महाबंध मुद्रा-

योगियों द्वारा वर्णित 10 मुद्राओं में महाबंध मुद्रा द्वितीय मुद्रा है इसके विषय में घेरण्ड संहिता में लिखा गया हैं-

महाबन्धः परो बन्धो जरामरण नाशनः।।

अर्थात यह महाबंध सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ तथा जरा-मरण नाशक है।(47)

महाबंध मुद्रा करने की विधि-

बाएं पांव की एड़ी से पायुमूल को निरुद्ध करके दाएं पांव से प्रयत्नपूर्वक बाई एडी को दबाएं और धीरे-धीरे गुह्यदेश का चालन करें और फिर शनै: शनै: ही संकुचित करें तथा जालंधर बंध द्वारा प्राणवायु को धारण करें इसे महाबंध कहते हैं।

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढ़म्।। निष्पीड्य योनिमाकुच्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ।।

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः । सव्याड़्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ।। मतमत्र तु केषाञ्चित् कण्ठबन्धं विवर्जयेत् । राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धः शस्तो भवेदिति।।

अर्थात्, बाएं पांव की एड़ी को सिवनी प्रदेश में लगाये और दायें पांव को बाएं पैर की गंगा जंघा पर रखें, इसके बाद पूरक करके चिबुक को हृदय प्रदेश से लगाकर योनि स्थान का आकुंचन करें अर्थात जालंधर एवं मूल दोनों बंध लगाए एवं साथ ही मन को सुष्मुना में लगाएं। यथाशक्ति कुंभक करने के बाद वायु को बाहर निकाल कर इसी अभ्यास को दाई ओर से करें।

मतांतर के कारण कुछ लोगों का मत है कि जालंधर बंध ना लगाकर जीह्वा को दांतो के आगे लगाना चाहिए। (48)

महाबंध के लाभ-

1.यह बंध सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ तथा जरा मरण नाशक हैं इस बंध के प्रसाद से सभी इच्छाएं पूर्ण होती है।

2. महाबंध के प्रयोग से सभी नाड़ियों में प्राण की गति रुक जाती है और महान् सिद्धियों की प्राप्ति होती है।

3. यह मुद्रा मृत्यु रूपी पाश के महाबंधन से मुक्ति दिलाती है एवं तीनों नदियों के संगम प्रयाग को धारण करती है और भृकुटियों के मध्य अर्थात् आज्ञा चक्र पर अवस्थित भगवान शिव के स्थान केदारधाम को भी प्राप्त करवाती है।

बंधों का वास्तविक स्वरूप-

योग में विभिन्न प्रकार की क्रियाएं आत्मोन्नति के लिए दी गई है बंध भी उनमें से एक हैं। बंधों का प्रयोग प्राणायाम के लिए किया जाता है इसके अतिरिक्त कई आसनों में भी बंधों का प्रयोग किया जाता है। बंध का सामान्य अर्थ है बांधना परंतु यहां किसको बांधने की बात हो रही है इसे स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता हैं। योग में प्राण को सर्वाधिक महत्व दिया गया है इसके अतिरिक्त प्राण एवं अपान की एकता को ही योग की संज्ञा दी गई है।(49) प्राण की हि साधनाएं योग में व अन्य प्रकार की आध्यात्मिक गतिविधियों में की जाती है। प्राण को सामान्यत: 2 रूपों में जाना जाता है-

१. प्राणवायु

२. प्राण ऊर्जा

प्राणवायु शरीर में स्थित 10 प्रकार की 5 मुख्य व 5 उपमुख्य वायु है, जिसकी गति के द्वारा शरीर में विभिन्न जैविक क्रियाओं का नियमन होता है। इसके अतिरिक्त प्राण ऊर्जा को जीवन ऊर्जा भी कहा जाता है, इसी के कारण मनुष्यों में जीवन स्थित है। प्राण ऊर्जा ही शरीर में प्राण वायु का नियमन करती है। सभी यौगिक गतिविधियां शरीर में स्थित प्राण ऊर्जा को बढ़ाकर उसकी सहायता से आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए होती हैं। श्वास प्रश्वास के माध्यम से प्राण को शरीर के भीतर और बाहर लिया जाता है परंतु प्राण को शरीर में थामे रखना अधिक आवश्यक होता है, इसी कारण सभी योगियों ने कुंभक को अधिक महत्वता दी है। शरीर के भीतर प्राणों को किसी विशेष स्थान पर बांधने के लिए बंधों का प्रयोग किया जाता है।इस प्रकार से प्राणों को रोकने के कारण अर्थात कुंभक की क्षमता बढ़ाने के कारण बंधों का विशेष महत्व रहा है एवं यही बंधों कवास वास्तविक कार्य व स्वरूप है।

बंधों की वैज्ञानिकता:-

जैसा कि हम जानते हैं कि बंधों का मुख्य कार्य शरीर में प्राण के प्रवाह को रोकना अर्थात् प्राण को धारण करना है। प्राणवायु वास्तव में शरीर में कार्य करने वाले वायु है। वायु एक तरल पदार्थ होने के कारण दाब डालना इसका एक मुख्य गुण है। शरीर के विभिन्न हिस्सों पर वायु दाब डालती है जिसके कारण कई प्रकार की गतियां संभव हो पाती है जैसा कि हम जानते हैं भौतिक विज्ञान के नियमों के अनुसार [50]:-

दाब = बल / क्षेत्रफल

अर्थात किसी का क्षेत्रफल पर लगने वाले बल को दाब कहते हैं। इस प्रकार से विभिन्न प्रकार की वायु जिन्हें प्राण वायु कहा जाता है शरीर में विभिन्न स्थानों पर दाब बनाती है जिससे एक बल की उत्पत्ति होती है जो शरीर में हो सकने वाले कार्यों के नियमन में सहयोगी होती है।

यह बल सिर्फ मांसपेशी बल्कि रूप में कार्य नहीं करता यह बल तंत्रिका आवेग के रूप में कार्य करता है एवं इस बल के मानदंड के अनुसार शरीर में न्यूरॉन्स विद्युत को उत्पन्न करते हैं। ओम के नियम के अनुसार [51] :-

$V = IR$

अर्थात विभांतर वह बल है जो कि किसी धनात्मक आवेश को विद्युत क्षेत्र में एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में लगाया गया है यही बल प्राण वायु द्वारा लगाए गए दाब से उत्पन्न हुआ था। इसी बल की मात्रा पर शरीर में हो सकने वाली विद्युत धारा का मान निर्भर करता है। जितना अधिक दाब होगा उतनी अधिक विद्युत धारा शरीर में प्रवाहित होगी। इसलिए बंध का प्रयोग करने से शरीर में कुंभक और कुंभक के माध्यम से शरीर में दबाव को बढ़ाया जाता है।

अधिक मात्रा में जब विद्युत धारा उत्पन्न होती है तो विद्युत चुंबकीय स्वप्रेरण के कारण विद्युत क्षेत्र के चारों ओर एक चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है यह चुंबकीय क्षेत्र एक विशिष्ट प्रकार का बल है जो जीवन को चलाने के अतिरिक्त अनेक कई कार्यों में भी सहयोगी है इसी विद्युत चुंबकीय क्षेत्र को प्राण कहा जाता है। चुंबकीय क्षेत्र सृष्टि के प्रारंभ में सृष्टि की उत्पत्ति का कारण बना था एवं इसके अतिरिक्त भी धरती के चारों ओर स्थित चुंबकीय क्षेत्र धरती पर जीवन की संभावना का कारण है। इसी प्रकार मनुष्य के चारों ओर स्थित यह विद्युत चुंबकीय क्षेत्र मनुष्य के जीवन की उत्पत्ति का कारण रहा है।

बंध एवं कुंडलिनी जागरण:-

हठयोग का प्रमुख उद्देश्य शरीर में नीचले चक्रों में सोई हुई कुंडलीनी को जगा कर उसे सहस्त्रार तक पहुंचाना है। कुंडलिनी का सहस्त्रार में स्थित शिव से मिलन होने पर साधक को परम समाधि की स्थिति प्राप्त होती हैं। इसी स्थिति को मुक्ति कहा जाता है, क्योंकि साधक प्रकृति की स्थिति को जानकर उसके नियमों से मुक्त हो जाता है। हठयोग के लगभग सभी ग्रंथों में कुंडलिनी जागरण के लिए बंधों की विशेष महत्ता बताई है उड्डीयान बंध के लिए तो विशेष प्रकार से कहा गया है कि इसके प्रयोग द्वारा कुंडलिनी अथवा प्राण सुष्मुना मार्ग में प्रविष्ट होता है। इसके अतिरिक्त भी मूलबंध की व्याख्या में कहा गया है कि मूलबंध के प्रयोग से मूलाधार पर सोई हुई कुंडलिनी जाग जाती है एवं सुष्मुना मार्ग में प्रविष्ट हो जाती है।

मूलबंध के प्रयोग से ऊर्जा ब्रह्म ग्रंथि को भेदती हुई ऊपर उठती है एवं उड्डीयान बंध के प्रयोग से ऊर्जा विष्णु ग्रंथि का आवेदन करती है। अंत में जालंधर बंध के प्रयोग से ऊर्जा रूद्र ग्रंथि का भेदन कर आज्ञा चक्र में प्रवेश करती है जहां उसे आत्म स्वरूप के दर्शन होते हैं। वास्तव में बंधों के प्रयोग से एक विशिष्ट प्रकार का दबाव शरीर में उत्पन्न होता है जो कि विद्युत शक्ति को ऊपर की ओर प्रेरित करता है। मस्तिष्क की ओर विद्युत चुंबकीय क्षेत्र के बढ़ने पर एक विशिष्ट स्थिति प्राप्त होती है जिसको समाधि कहा जाता है क्योंकि मस्तिष्क की ऊर्जाएं उस स्थिति में अधिक होती है।

निष्कर्ष:-हठयोग में बतलाए गए बंध वास्तव में प्राणों को विशिष्ट स्थिति में बांधने के लिए प्रयोग में लिए जाते हैं। मुद्रा प्राणों को एक निश्चित स्थिति में लाने के कारण बंधों से समानता रखती है, इसलिए हठयोग में बंध एवं मुद्राओं का वर्णन एक साथ किया गया है। बंध शरीर में एक विशिष्ट प्रकार के दबाव को उत्पन्न करते हैं जिससे शरीर के विद्युत चुंबकीय क्षेत्र प्रभावित होते हैं। यह विद्युत चुंबकीय क्षेत्र कई विशिष्ट प्रतिभाओं एवं मानसिक शक्तियों को जाग्रत करने में अपनी विशिष्ट भूमिका निभा सकते हैं। इसके अतिरिक्त भी कैंसर जैसे उपचारों में भी बंधों की महत्ती भूमिका हो सकती है।

महाबंध या त्रिबंध क्या है? कैसे किया जाता है? और इसके लाभ व सावधानियां क्या है.?

सिद्धासन में बैठकर पहले जालंधर बंद फिर उड्डीयान बंद और फिर मूलबंध लगाने को त्रिबंध कहते हैं।

सिद्धासन

बाये पांव की एड़ी को सिवनी (गुदा और लिंग के बीच में चार अंगुल का गैप होत हैं उसको सिवनी नाड़ी बोलते हैं) में लगाएं तथा दाएं पांव को लिंग के ऊपर रखे हैं ऐसा करने से सिद्धासन लगता है। 8400000 आसनों में सिद्धासन सर्वश्रेष्ठ आसन है।

सिद्धासन मे त्रिबंध का अभ्यास करने से विशेष लाभ होता है।

मूलबंध

सिद्धासन में बैठकर, अपने गुदा को एड़ी से दबाकर योनि को बारंबार संकुचित करके अपान वायु को ऊपर खींच कर रखना, मूलबंध कहलाता है। ऐसा करने से अपान वायु ऊपर की तरफ चढ़ता है।

हमारे नाभी मंडल से नीचे की तरफ अपान वायु होता है और नाभी मंडल से ऊपर प्राणवायु होता है अपान और प्राण का मिलन ही योग का अंतिम लक्ष्य कहा जा सकता है। मूलबंध से अपान वायु ऊपर की तरफ चढ़ता है और जालंधर बंध से प्राणवायु नीचे की तरफ प्रभावित होता है जहां दोनों का मिलन होता है कुंडलिनी जागृत हो जाती है।

उड्डीयान बंद

उड्डीयान बंध नाभि के ऊपर और नीचे वाले हिस्से को पीछे की तरफ खींचने से लगता है। सभी बंधो में उड्डीयान श्रेष्ठ है।

मूलबंध और उड्डीयान बंद एक साथ लगाने से मूलाधार चक्र और स्वाधिष्ठान चक्र अति शीघ्र जागृत हो जाते हैं और प्राणवायु मस्तिष्क की तरफ उठती है जिससे साधक मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।

जालंधर बंध

कंठ को संकुचित कर हृदय में चिबुक (थोड़ी) को दृढ़ता पूर्वक लगावे यह जालंधर नामक बंद बुढ़ापा और मृत्यु को दूर करता है।

कन्ठ संबंधी रोग समूह को नष्ट करने वाला यह जालंधर बंद नाडी समूह को बांधता है और सहस्रार चक्र से गिरने वाले अमृत को नाभि में गिरकर भस्मा नहीं होने देता।

इन तीनों बंदों का एक साथ लगाना, पहले जालंधर बंध फिर उड्डीयान फिर मूलबंध को ही त्रिबंध कहा गया है।

सर्वप्रथम अपना संपूर्ण स्वास निकालकर जालंधर बंध लगाएं और उसके बाद उड्डीयान बंध लगाएं और उसके बाद मूलबंध लगाकर स्थिर हो जाएं यही त्रिबंध है। इसको महाबंध भी बोला जाता है। वापस आने के लिए पहले मूलबंध खोलें उड्डीयान खोलें और अंत में जालंधर बंध खोलें।

Scanned by CamScanner

उड्डीयान खोलें और अंत में जालंधर बंध खोलें।

त्रिबंध लगाने से शरीर के समूल पाप और रोग नष्ट हो जाते हैं व्यक्ति बुढ़ापे पर विजय प्राप्त कर निरोगी जीवन जीता है।

आप इसका अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाएं और कुछ सेकंड से लेकर के कुछ मिनट और घंटों तक इसका अभ्यास कर सकते हैं जितना देर ज्यादा अभ्यास करेंगे उतना लाभ आपको होगा। जबरदस्ती अभ्यास नहीं करना है। सहजता से जितना हो उतना अभ्यास करना है।

आप एक-एक बंध का अभ्यास भी अलग-अलग कर सकते हैं उसका भी आपको लाभ होगा।

Scanned by CamScanner

Anjali Dimri

Apne tribandh ka jo sequence bataya hai wo hi kyun Zaroori hai means upar se neche lagana hai aur neeche se upar kholna hai

1 yr Report

Kailash Babu yoga

Anjali Dimri प्रथम बात तो यही है कि ग्रंथों में यही वर्णित है।

जालंधर बंध के बाद उड्डियान और उड्डियान के बाद मूलबंध लगाने से ये सहज और अनायास ही लग जाते है, छोड़ने में भी सुविधा होती है। जब हम उड्डियान लगाते हैं तो मूलबंध अपने आप ही लगने लगता है...

बाकी जब अभ्यास करते हैं तो अपने से ही महसूस होने लगता है...

1 yr Report

Scanned by CamScanner

मुद्राणां मानसिकस्तरीयप्रभावः

मुद्रानाम	मानसिकस्तरीयप्रभावः
1. महामुद्रा	महाक्लेशा अर्थात् अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः, शोकमोहादिदोषाश्च क्षीयन्ते, इयं महासिद्धिकरा (ह०प्र०), वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम्, वाञ्छितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणं सम्पद्यते (शि०सं०)
2. महाबन्धमुद्रा	महासिद्धिप्रदायिका (ह०प्र०), सिद्धिमार्गप्रदायिका, आनन्दप्रदायिका, सर्वार्थसाधिका च भवति। (शि०सं०) साधयेत् सर्ववाञ्छितम् ।(घे०सं०)
3. महावेधमुद्रा	अभ्यासी मृत्योः न बिभेति (घे०सं०), महासिद्धिदायिका, अणिमादिगुणप्रदायिका चास्ति।(ह०प्र०)
4. खेचरीमुद्रा	अस्यारभ्यासेन योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः विषैः मुच्यते, तं रोगो मरणं तन्द्रा निद्राक्षुधा तृषा मूर्च्छा चन बाधन्ते, कर्मणा न लिप्यते,इन्द्रियजिच्च भवति।(ह०प्र०) सिद्धीनां जननी ह्येषा, स्वस्थचित्तत्वात् ह्यतन्द्रितो भूत्वा पापमहार्णवं तरति,(शि०सं०) समाधिर्जायते ध्रुवम् (घे०सं०)
5. उड्डीयानबन्धः	सिद्धो भवेन्मरुत् (शि०सं०)
6. मूलबन्धः	योगस्य संसिद्धिर्जायते। (ह०प्र०)
7. जालन्धरबन्धः	प्राणवायुः पश्चिमे पथि वाहयेत् (ह०प्र०), पियूषपानाय बन्धोऽयमाचरणीयः, सिद्धानां सिद्धिदायकोऽस्ति। (शि०सं०, घे०सं०)
8. विपरीतकरणीमुद्रा	प्रलये नापि सीदति (शि०सं०, घे०सं०), अभ्यासेनास्याः सिद्धतां याति (शि०सं०)
9. वज्रोलिमुद्रा	कुण्डलिनीं प्रबोध्य, चिरायुः प्रदाय, सर्वं सिद्धिपूर्वकं मुक्तिं विदधाति।(घे०सं०), अयं शुभकरो योगः, सकलसिद्धिपूर्वकं दिव्यदृष्टिः प्रजायते, अतीतानागतज्ञानाय दिव्यदेहप्राप्तये इयं पुण्यकरी मुद्रा सर्वत्र प्रसिद्धा।(ह०प्र०)बिन्दुसिद्धिपूर्वकमियं मुद्रा क्षिप्रं योगो सिद्ध्यति। अनया निखिला सिद्धिः प्राप्यते।(शि०सं०)
10. शक्तिचालनमुद्रा	सर्वशक्तिप्रदायिनी, अणिमादिगुणप्रदायिका (शि०सं०), अनया कुण्डलिनीशक्तिर्जागर्त्ति, प्राणायामसिद्धिर्जायते, मृत्युभयञ्च व्यपहरति(ह०प्र०)

Scanned by CamScanner

मुद्राणामात्मिकस्तरीयप्रभावः

मुद्रानाम	आत्मिकप्रभावाः
1. महामुद्रा	मरणादीनां क्षयः(ह०प्र०), जरामृत्यवोः विनाशनञ्च जायते।(शि०सं०)
2. महाबन्धमुद्रा	
3. महावेधमुद्रा	जरामृत्युविनाशनम् (ह०प्र०), वायुसिद्धिः, जरामरणनाशनम्, मृत्युञ्जयित्वञ्च जायन्ते (शि०सं०)। मृत्योः भयोऽपि नश्यते (घे०सं०)।
4. खेचरीमुद्रा	व्याधिमृत्युजरादिभिः विषैश्च मुच्यते, कर्मणा न लिप्यते, मृत्युं जयति, अमरत्वं प्राप्नोति, सुषिरं ज्ञानञ्च जायते (ह०प्र०)।
5. उड्डीयानबन्धः	मृत्युञ्जयति (ह०प्र०, शि०सं०), मुक्तिञ्च प्राप्नोति (ह०प्र०, घे०सं०)।
6. मूलबन्धः	योगस्य संसिद्धिः, कुण्डलिन्याः जागरणम् (ह०प्र०), जरामरणनाशनम् (शि०सं०), संसारसागरतरणम् (शि०सं०, घे०सं०)
7. जालन्धरबन्धः	जरामृत्यू नश्यतः (ह०प्र०), पीयूषपानं करोति, अमरत्वं प्राप्य मोदते (शि०सं०), मृत्युक्षयो जायते च (घे०सं०)।
8. विपरीतकरणीमुद्रा	अस्याः नित्याभ्यासेन कालजिद्भवति, मृत्युञ्जयति (शि०सं०, घे०सं०), न जरायते च (घे०सं०)
9. वज्रोलिमुद्रा	सिद्धिं भजते, भोगयुक्तोऽपि मुक्तिं प्राप्नोति, दिव्यदृष्टिर्जायते (ह०प्र०), संसारध्वान्तं नशति, दिव्यदेहं प्राप्नोति (शि०सं०)। मुक्तिकारिका, सर्वसिद्धिदा चाऽस्ति (घे०सं०)।
10. शक्तिचालनमुद्रा	मोक्षद्वारभेदिका, कुण्डलिनीबोधिका, मृत्युभयापहारिका, कालजिच्चाऽस्ति (ह०प्र०)।

Scanned by CamScanner

शारीरिकरोगोपशमने मुद्राणां प्रभावः

मुद्राभिधानम्	निश्चितमुद्राप्रयोगद्वारा शारीरिकरोगाणामुपशमनम्
1. महामुद्रा	सर्वविधान्नं पच्यते, क्षयरोगः, कुष्ठगुदावर्तगुल्माः, अजीर्णरोगाश्च नश्यन्ते।(ह०प्र०)महामुद्रायाः साधनेन क्षयकासं, गुदावर्त्तं, प्लीहाजीर्णज्वरं, सर्वरोगांश्च नाशयेत्।(घे०सं०)
2. महाबन्धमुद्रा	शरीरपुष्टिः देहास्थिपञ्जरे दृढत्वं सम्पद्यते (शि०सं०)
3. महावेधमुद्रा	जरया चर्मसङ्कोचः, जरसा केशेषु शौक्ल्यं, कम्पश्च एतान् हन्तीति (ह०प्र०)
4. खेचरीमुद्रा	सर्वरोगो नश्यते (ह०प्र०), दिव्यदेहः स जायते (घे०सं०)
5. उड्डीयानबन्धः	वृद्धोऽपि तरुणायते (ह०प्र०), रोगाणां सङ्क्षयः (शि०सं०)
6. मूलबन्धः	युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् (ह०प्र०), जठराग्निः प्रदीप्यते (ह०प्र०), जराविनाशिनी (घे०सं०)
7. जालन्धरबन्धः	कण्ठदुःखौघनाशनः (ह०प्र०)
8. विपरीतकरणीमुद्रा	जठराग्निविवर्धिनी, वलितं पलितञ्च नश्येते (ह०प्र०)
9. वज्रोली	बिन्दुसिद्धिर्भवेत् (शि०सं०)
10. शक्तिचालनमुद्रा	तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते, द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम्भवति। (ह०प्र०), आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणाञ्च विनाशनम् (शि०सं०)

Scanned by CamScanner

उपनिषदि प्राप्तमुद्राः

क्र०स०	उपनिषदः	मुद्राः
1	वराहोपनिषद्	उड्डियाणबन्धः, मूलबन्धः, जालन्धरबन्धः, महावेधमुद्रा। (4)
2	योगतत्त्वोपनिषद्	महामुद्रा, महाबन्धः, महावेधः, खेचरीमुद्रा, जालन्धरबन्धः, उड्डीयानबन्धः, मूलबन्धः (योनिबन्धः), वज्रोली, सहजोली, अमरोली, विपरीतकरणी। (11)
3	ध्यानबिन्दूपनिषद्	उड्डीयानबन्धः, मूलबन्धः, जालन्धरबन्धः, खेचरी, वज्रोली (योनिमुद्रा), महामुद्रा। (6)
4	नादबिन्दूपनिषद्	वैष्णवीमुद्रा। (1)
5	योगशिखोपनिषद्	शक्तिचालनमुद्रा, मूलबन्धः, उड्डीयानबन्धः, जालन्धरबन्धः, षण्मुखीमुद्रा। (5)
6	मण्डलब्राह्मणोपनिषद्	शाम्भवी, खेचरी, षण्मुखी। (3)
7	योगकुण्डल्युपनिषद्	शक्तिचालनमुद्रा, मूलबन्धः, उड्डीयानबन्धः, जालन्धरबन्धः, खेचरीविद्या। (5)

Scanned by CamScanner

दशमुद्रास्वन्तर्भावितमुद्राः

प्रमुखदशमुद्राभिधानम्	अन्तर्भावितमुद्राभिधानम्
1. महामुद्रा	
2. महाबन्धमुद्रा	
3. महावेधमुद्रा	
4. खेचरीमुद्रा	नभोमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, शाम्भवीमुद्रायां पञ्चविधधारणानाम्, काकीमुद्रा, माण्डुकीमुद्रा षण्मुखिमुद्रायां योनिमुद्रा, योनिमुद्रायाः त्रिबन्धविशिष्टखेचरीमुद्रायां लयो भवति।
5. उड्ड्यानबन्धः	तडागीमुद्रा
6. मूलबन्धः	अश्विनीमुद्रा
7. जालन्धरबन्धः	पाशिनीमुद्रा, भुजङ्गिनीमुद्रा
8. विपरीतकरणीमुद्रा	
9. वज्रोलीमुद्रा	ध्यानबिन्दूपनिषदि प्राप्तयोनिमुद्रा
10. शक्तिचालनम्	

Scanned by CamScanner

अभिधानविषयकवैविध्यम्

मुद्रानाम	उपनिषद्	संहितात्रयम्	अन्यः
1. महामुद्रा			
2. महाबन्धमुद्रा			
3. महावेधमुद्रा			
4. खेचरीमुद्रा			नभोमुद्रा (गो॰सं॰) नभश्चडी (शि॰सू॰)
5. उड्ड्यानबन्धमुद्रा	उड्डियाणबन्धः (व॰उ॰) उड्डीयाणबन्धः (यो॰कु॰उ॰)	उड्यानबन्धः, उड्डीयानबन्धः (ह॰प्र॰)	
6. मूलबन्धमुद्रा	योनिबन्धः (यो॰त॰उ॰)		
7. जालन्धरमुद्रा		जलन्धरबन्धः (घे॰सं॰)	जलन्धरबन्धः (गो॰सं॰)
8. विपरीतकरणीमुद्रा		विपरीतकृतिः (शि॰सं॰) विपरीतकरी (घे॰सं॰)	
9. वज्रोलीमुद्रा	योनिमुद्रा (ध्या॰बि॰उ॰)	वज्रोणीमुद्रा (घे॰सं॰)	
10. शक्तिचालनमुद्रा	सरस्वतीचालनम् (यो॰कु॰उ॰)	शक्तिचालनीमुद्रा (शि॰सं॰)	

Scanned by CamScanner

प्रसिद्धप्रक्रियाग्रन्थेषु प्राप्तमुद्राः

हठयोगप्रदीपिका	घेरण्डसंहिता	गोरक्षसंहिता	शिवसंहिता
महामुद्रा	महामुद्रा, नभोमुद्रा	महामुद्रा	महामुद्रा
महाबन्धः	त्रिबन्धः, महाबन्धः	नभोमुद्रा	महाबन्धः
महावेधः	महावेधः, खेचरी	उड्डीयानबन्धः	महावेधः
खेचरी	विपरीतकरी, योनिमुद्रा	जालन्धरबन्धः	खेचरी
उड्यानबन्धः	वज्रोली, शक्तिचालनी	मूलबन्धः	उड्यानबन्धः
मूलबन्धः	तडागी, माण्डुकी		मूलबन्धः
जालन्धरबन्धः	शाम्भवी, पञ्चधारणा		जालन्धरबन्धः
विपरीतकरणी	अश्विनी, पाशिनी		विपरीतकरणी
वज्रोली	काकी, मातङ्गी		वज्रोली
शक्तिचालनी	भुजङ्गिनी		शक्तिचालनी

Scanned by CamScanner

अथ भुजंगीकरणं[1]

कंठेन पूरयेद्वायुं रेचयेत्कंठनालतः ।
भुजंगीकरणं चेति कुंभको नवमः स्मृतः ॥३२॥

Bhujangikarana :

32. Inhale the air through the throat and exhale through the throat passage, this is called the ninth Kumbhaka named Bhujangikarana.

महामुद्रा महाबंधो महावेधस्तृतीयकः ।

उड्डियाणं मूलबन्धो बन्धो जालन्धराभिधः ॥३३॥

करणी विपरीताख्या वज्रोलीशक्तिचालनं ।
संति या[2] खेचरीमुद्रा दशमुद्राः प्रकीर्तिताः ॥३४।

33. & 34. Mahamudra, Mahabandha, Mahavedha, Uddiyana, Mulabandha, & Jalandhara Bandha, Viparitakarani, Vajroli, Sakticalana and Khechari Mudra-these are the ten Mudras mentioned by yogis.

आदिनाथोदिता मुद्राः अष्टैश्वर्यप्रदायिकाः ।

वल्लभाः सर्वसिद्धानां दुर्लभास्त्रिदशामपि ॥३५॥

35. Mudras declared by Adinatha bestow the eight supernatural powers. These are the favourite of all siddhas and are difficult to practise even for gods.

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ।
एकैका तासु मुख्या स्यान्महासिद्धि प्रदायिनी ॥३६॥

1. भुजङ्गी – त.
2. सांप्रदायी – ब.

36. In this way ten Mudras are given by Adinatha the Lord Sambhunatha. Each one among them is important and brings about great siddhis.

अथ महामुद्रा

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि वशिष्ठेनोक्तमादरात्[1] ॥३७॥

Mahamudra :

37. Most respectfully I am now describing Mahamudra as told by Vasistha.

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणं ।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखे ॥३८॥

38. Pressing the perineum with the left heel and after extending the legs inhale the air through the mouth.

कठे बंधं समारोप्य पूरयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्डाकृतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥३९॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ।
तथा सा मरणावस्था जायते द्विपुटी स्थिता ॥४०॥

39. & 40. (Then after) performing the bandha (lock) at the throat (i.e. Jalandhara) Vayu should be held up as a result of which Kundalini soon becomes straight just as a snake hit by a rod becomes straight. Then is brought about the cessation of activity which has to do with the two Nadis (Ida & Pingala).

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥४१॥

1. विशिष्टेनो – का.

41. For him (then) there is no food enjoined or forbidden, all that is tasteless becomes enjoyable (to him) and even the deadliest poison gets digested as if it were nectar.

क्षयकुष्ठ उदावर्त गुल्म प्लीह पुरोगमा: ।
तस्य दोषा: क्षयं यान्ति महामुद्रां तु यो न्यसेत ।।४२।।

42. All diseases like consumption, skin diseases, constipation glandular enlargement, spleen disorders and others are destroyed in those (yogis) who practise Mahamudra.

कथितेयं महामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ।।४३।।

43. Thus has been explained Mahamudra which removes the possibility of old age and death. It is to be scrupulously kept secret and should not be imparted to one and all.

अथ महाबन्धः

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूप रिसंस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।
पूरयेन्मुखतो वायुं हृदयं चिबुकं दृढम् ।।४४।।
निभृत्य योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ।
रेचयेच्च शनैरेवं महाबंधोऽयमुच्यते ।।४५।।

Mahabandha :

44. & 45. Fixing the left heel at the perineum, placing the right foot on the left thigh, inhaling air through mouth and then pressing the chin firmly on the chest (by Jalandhara Bandha) and contracting the pelvic floor (by Mulabandha) the mind should be fixed on the central Nadi (Susumna).

अथ योगी महाबंधं सर्वसिद्धिप्रदायकं
सव्यांगे[1] च समभ्यस्य दक्षिणांगे समभ्यसेत् ॥४६॥

46. This Mahabandha bestows all kinds of siddhis to yogis. After practising from the left side the sadhaka should practise from the right side.

अयं च सर्व नाडीनामूर्ध्वगतिविबोधकः ।
त्रिवेणी संगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥४७॥

47. This Mahabandha promotes the upward movement of Prana in all the Nadis. This brings about the confluence of the three currents (flowing in the three Nadis-Ida, Pingala [and Susumna) and takes the mind to Kedara (the space inside between the eyebrows) which is the Sivasthana.

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रा महाबन्धो निष्फलौ वेधवर्जितौ[2] ॥४८॥

48. Just as the beauty and charm of a wife serve no purpose in the absence of the husband similarly Mahamudra and Mahabandha unaccompanied with Vedha (Mahavedha) are futile.

अथ महावेधः

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमाकृष्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥४९॥

1. सर्वांगे च - तं.
2. दर्जितो- का.ब

Mahavedha :

49. Settled in Mahabandha the yogi with the concentrated mind, after performing Puraka (inhalation), should reverse the respiratory function and stop it (exhalation) by adopting the Kanthamudra (i. e. Jalandhara Bandha).

अष्टधा क्रियते चैतत् यामे यामे दिने दिने ।
पुण्य संघात संधायी पापौघभिदुरं सदा ॥५०॥

50. It is practised eight times, every three hours every day. It invariably confers (upon the yogi) the entire group of virtues and destroys the collection of vices.

सम्यक् श्रद्धावतामेव सुखं प्रथमसाधने ।
वह्निस्त्री पथसेवानामादौ वर्जनमादिशेत् ॥५१॥

51. It is an easy practice of primary importance for those who have absolute faith in it Basking near fire, company of woman and long journey are to be avoided in the beginning.

समहस्तयुगौ भूमौ स्फिजौ संताडयेच्छनैः ।
अयमेव महावेधः सिद्धिदोऽभ्यासदो भवेत् ॥५२॥

52. Balancing on the two palms placed on (level) ground in the sitting position, one should softly strike the ground with posteriors. This is called Mahavedha which bestows siddhi after practice.

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनं ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादि गुणप्रदं ॥५३॥

53. This triad (of Mudras) is to be kept secret. It destroys (delays) old age and death, increases the gastric fire and bestows Siddhis (supernatural powers) like Aṇima (becoming extremely smalls and others.

अथ उड्डीयाणबन्धो निरूप्यते

बध्द्वा[1] येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
उड्याणं कुरुते यस्मात् अविश्रान्तो महाखगः ॥५४॥

Now Uddiyanabandha is described :

54. Through which the Prana is confined to the Susumna and from which it rises, and by dint of which the great bird (Prana) flies incessantly (through the Susumna) is Uddiyana.

उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं च धारयेत् ।
उड्डीयाणो ह्ययं बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥५५॥

55. Abdomen should be pulled above back and below the navel region. This is Uddiyana bandha, a lion to the elephant named death.
NOTE : The word cha in the text indicates pulling back above as well as below.

गुरुणा सहजं प्रोक्तं वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ॥५६॥

56. Gurus have said it very easily that even an old person becomes young (if he practises Uddiyana).

बाह्योड्याणं च कुरुते बाह्यालंकारवर्द्धनं ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्यं जयत्येव न संशयः ५७॥

57. Bahyoddyana is to be practised for the development of outer orientation. By practising this for six months, one verily conquers (premature) death.

---

1. बंधो – ब.

अथ मूलबंध:

पार्ष्णिभागेन[1] संपीडच योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।

अपानवृत्तिमाकृष्य मूलबन्धोऽयमिष्यते ॥५८॥

Mulabandha

58. Pressing the perineum with the heel and raising the Apana the anus is to be contracted. This is known as Mulabandha.

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।

आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धों हि योगिनः ॥५९॥

59. By contraction (of anus) the Apana vayu, of which the natural course is downwards, is forcefully (though cautiously) directed upwards. The Yogis proclaim this action to be Mulabandha.

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकतां ।

ततो योगस्य संसिद्धिं यच्छतां नात्र संशयः ॥६०॥

60. Prana and Apana, Nada and Bindu having attained union through Mulabandha, the yogi attains perfection in Yoga. There is no doubt about it.

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्र पुरीषयोः ।

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥६१॥

61. Urine and ordure diminish because of the union of Apana and Prana. By constant practice of Mulabandha even old persons become young.

---

1. गुदं पार्ष्णिं च संपीड्य वायुमाचलयेथ् बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥

अपाने चोर्ध्वगं जाते प्रयाते वह्निमंडले ।
तथानलशिखादीप्ता वायुना प्रेरिता यथा ॥६२॥

62. When the Apana rises up and reaches the sphere of the fire (the navel region) the flames of the fire blaze fanned by the Vayu.

दडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ।
बिलं प्रविश्य तत्रैव भुजंगी नान्तरं व्रजेत् ॥६३॥

63. Just as a she serpent (straightens up) with a hiss when beaten by a stick, such a she serpent (Kundalini) entering into the hole (Susumna) does not move anywhere.

अथ जालंधरः

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेद् दृढमिच्छया[1] ।
बन्धो जालन्धरस्त्वेष विद्यते येन मारुतः[2] ॥६४॥
कंठसंकोचनेनैव द्विनाडयां भवति ध्रुवं ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां कर्तव्यं च मुहुर्मुहुः ॥६५॥

Jalandhara Bandha :

64. & 65. Contracting the throat (the chin) should be placed on the chest with firm will. This is called Jalandhara Bandha, through which Maruta, due to contraction of the throat verily flows in two Nadis (Ida and Pingala). Among all the yogic practices this should be practised off and on.

---

1. च्चिबुकं – ब.
2. जरामृत्युविनाशकः – ब.

अथ विपरीतकरणी

यत्किञ्चित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिण: ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन बंधं जरायुतं ॥६६॥

Viparita Karani :

66. All the nectar that flows from the splendid moon (in the throat) is swolled up by the sun (at the navel) and it is for this reason that the body gets old.

तत्रास्ति दिव्यं करणं सूर्यस्य मुखबंधनं ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्ध कोटिभि: ॥६७॥

67. There is a superb practice which binds (of nectar) the mouth of the sun in the navel. It can only be known from the instructions of a Guru-not from millions of discussions.

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरध: शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ।।६८।

68. The practice in which the navel is above and the palate below, the sun above and the moon below is known as Viparitakarani (topsy turvy pose). It can only be learnt from the words uttered by a Guru.

करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ।।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्नि प्रवर्द्धिनी ।।६९।

69. This Viparitakarani destroys all sorts of diseases. It increases the gastric heat of a regular practitioner.

1. पिडं जरायुतस् – का. पिंडविनाशि – ब.

आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ।
अल्पाहारो यदि भवेत् अग्निर्देहं दहेत् क्षणात् ।७०।।

70. One who practises it (daily) should procure (and) eat ample food. If he eats insufficient food, the increasing fire soon consumes his body.

अधः शिरा ऊर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने
क्षणाच्चेत्किंचिदधिकं अभ्यसेच्च दिने दिने ।।७१।।

71. On the first day one should remain for a very short time with one's head below and feet above. The duration of this practice should be increased day by day.

वली च पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं[1] तु यो नित्यं अभ्यसेत्स तु कालजित् ।।७२।।

72. Wrinkles and grey hair disappear after six months (of practice). One who practises it regularly for three hours a day overcomes (premature) death.

स्वस्थो[2] यो वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
करणी विपरीताख्या श्रीनिवासेन लक्षिता ।।७३।।

73. For one who is healthy without following the instructions laid down in the Yoga Sastra (for him) Srinivasa has described the (Mudra) named Viparita Karani.

1. मासत्रयतु – ब.
2. स्वच्छन्दो – का.

अथ वज्रोलिः सम्प्रदायानुरोधेन लक्ष्यते

वज्रोलीं कथयिष्यामि गोपितां सर्वयोगिभिः ।
अती तद्रहस्यं[1] हि न देया यस्य कस्यचित् ॥७४॥

Vajroli :

According to the tradition it is being defined

74. Now I will say about Vajroli which is kept secret by all Yogis. The secret process of this should not be revealed to an unsuitable person.

स्वप्राणैस्तु समो यस्मात् तस्यैव कथयेद्ध्रुवं ।

पुत्रस्यापि न दातव्या गुरुशिष्यक्रमं विना ॥७५॥

75. Whom the person (Guru) feels like his own Prana, verily it should be told to him. It should not be given even to one's own son without the Guru and Sisya tradition.

कुंडलीबोधनं सम्यक् नाडीनां परिशोधनं ।
अपानप्राणयोरैक्यं कार्यं वज्रोलिकर्मणा ॥७६॥

76. Arousal of kundalı; purification of all Nadis and balancing of Apana and Prana is being done through Vajroli (Mudra).

अभ्यासस्य क्रमं वक्ष्ये सम्प्रदायानुसारतः ।
कामिनी वा नरो वाथ[2] वज्रोलीं बुद्धिमान्नयेत् ॥७७॥

---

1. अतोनत – का.
2. पुरूषो – ब.

77. I am speaking of the process of practice according to the tradition. Men or women should understand it with great intellect.

वचनम्

पूत्कारोचितलिंगरन्ध्राग्रे बहिःस्थाप्यमेकं लिंगरन्ध्रमध्य-
स्थाप्यमानमपरं मिलित्वा नालीद्वय निरूपणमादौ क्रियते।
तयोर्मध्यपूत्कारोचितं[1] नालस्वरूपं प्रदर्श्यते।

Prose :

One tube which can be blown through should be kept in front of urethra and another should be inserted in the urethra and (the ends of both) should be joined in the beginning of practice.

In the middle the characteristics of the tube which can be blown are told (shown). Now the description of the tube is being told which is to be blown between them.

कांचनस्य च रौप्यस्य ताम्रस्याप्यथ वायसः।
नालीं कुर्यात्प्रयत्नेन पूत्कारकरणोचिताम् ॥७८॥

78. It can be of gold, silver, copper, or of iron. A tube should be made with effort which can be blown.

विंशत्यंगुलदीर्घमानरुचिरं त्वादौ सुवृत्तात्पगं
पूत्कारोचितकोलरूपसदृशं नालं हठाभ्यासिभिः ॥
प्रोक्तं तादृशमेव लिंगविवरे यत्नेन संस्थापयेत्
पूत्कारं तदनन्तरं प्रकुरुते वायुर्यथा संचरेत् ॥७९॥

1. आदौक्रिया – का.

79. It should be twenty cubits long and fine and in the beginning it should be round and small. This which is like Kola tube can be blown easily for the Hatha practitioners. That tube should be inserted in the urethra with effort. Then it should be blown so that air can pass easily.

हठप्रदीपिकाकारस्तु

यत्नतः शरनालेन पूत्कारं वज्रकंधरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥८०॥

According to the author of Hathapradipika :

80. One should with effort blow into the urethra through a prescribed tube. This is to be done again and again for passing **air.**

(Reference here is to a performance which is a cleansing process like other kriyas of Hatha Yoga. The object of this performance seems to be removing any irritant which may lurk in the urethra and act as constant sexual excitant).

वचनम्

हठप्रदीपिककारोक्तमतं [1]हठयोगाभ्यासेऽज्ञानविलसितमित्युपेक्षणीयम् ।

Prose :

The above view is founded on the ignorance of the practice of Hatha of the author of Hathapradipika and therefore it is to be rejected.

1. ज्ञानते लसितामित्युपेक्षणीयम् – का.

यदि स्याच्छरनालं हि भृशं वायुर्न सञ्चरेत् ।
वायु संचारणेत्याज्ये शरं नालोदितं[1] मतम् ॥८१॥

81. If that tube is made up of green grass, then the passing of the air will not take place sufficiently. If passing of air is not important then, the tube of green grass can be used.

वचनम्

लिंगरन्ध्रमध्यस्थापनीय नालस्वरूपं लिंगरन्ध्रविस्तारार्थं निरूप्यते ।

Prose ;

Now the definition of the tube which is to be placed in the middle of the urethra to enlarge the hole of the urethra, is described.

जतुवत्कनकं नागं नागं ताम्रातिनिर्मलं ।
नालद्रव्यमिदं प्रोक्तं श्रीनिवासेन योगिना ॥८२॥

82. Lac like gold, pure copper, lead the material to be used for the tube as described by Srinivasa yogi.

निर्मितं त्रिपलैर्नागै द्वादशांगुल दीर्घितं ।
छत्राकारं प्रकुर्वीत नालं स्निग्धं सितं मृदु ॥८३॥

83. That tube should be of three palas weight and twelve cubits long. That tube should be made umbrella like and it should be smooth, bright and soft.

Note : Pala is a particular unit of weight usually used by goldsmiths, which is equal to four Karsas.

1. नालादितं - का.

नियोज्य[1] लिंगरन्ध्रे च निर्भीतः स्थापयेत्क्षणम् ।
लिंगस्थैर्यं लिंगदार्ढ्यं बहुवीर्य विबधनम् ॥८४॥

84. One should insert that tube for a moment in urethra without fear. This will give stability and strongness of penis as well as it will increase the semen.

नालं कांचननिर्मितं मृदुतरं सांगं च नागैः कृतं
छत्राकारमतः[2] पलत्रययुत दैर्घ्यं वितस्तेर्मितं ।
नालं तादृशमेव लिंगविवरे यत्नेन संस्थापये-
द्विस्तारात् तदनन्तरं दृढतरं लिंगं ततो जायते ॥८५॥

85. A tube, made of gold, very soft, appearing like an umbrella and of three Palas weight, and one Vitasti in length- this particular type of tube should be inserted in the urethra with effort to enlarge (the hole of penis); in this way the penis will becomc more strong.

वायुसंचारणे जाते ऊर्ध्वमाकृष्यते बलात्[3] ।
नारीं रम्यामधःस्थाप्य रहस्ये तु दिगम्बरां ॥८६॥
स्वयं[4] दिगम्बरो भूत्वा उत्तानायास्तथोपरि ।
शयित्वा कुंभकं कुर्यात् किंचिन्नारी स्वयं च हि ॥८७॥

86. & 87. After passing the air one should withdraw it with effort. By keeping in a seeret place a beautiful lady below in supine position and naked, and by making oneself naked, one should lie on her and both should practise little Kumbhaka.

---

1. नियोग्यं – तं.
2. सर्पाकारमतः – का. ब.
3. चलात् – का.
4. मुखदं – का.

अन्योन्यं गाढमालिंग्य योनौ लिंगं निरोपयेत् ।
मिथस्त्वधरपानं च कुर्याद्गलरवादिकं[1] ॥८८॥

88. By embracing each other deeply, one should insert his penis in the vagina. Then both should kiss each other (drink the lips) and also they should make little sounds.

विलिखेच्च नखेनैव घातयेत्स्वेदसंभवं ।
नार्या भगात् पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वं माहरेत् ॥८९॥

89. They should scratch each other by nails and strike till sweat comes out. Then the Bindu coming out from the female organ of the lady should be drawn up (through penis) by constant practice.

चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ।
एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥९०॥

90. Then if the Bindu has started secretion from male organ that should be saved by withdrawing it up ward; and in this way by saving his own Bindu (semen), the Yogi conquers the death.

मरणं बिन्दुपातेन जीवितं बिन्दुधारणात् ।
चित्तायत्तं भवेन्नृणां[2] शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥९१॥

91. Death is coming due to fall of Bindu. By saving this Bindu one can get longevity. This can be controlled by controlling one's own Chitta (mind) because semen is the life force.

तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ।
एवं यो भजते नारीं तामेव मनसा रमेत् ॥९२॥

---

1. गरगरापिकम् – का.
2. मनोनृणां – का.

92. Therefore, semen as well a Chitta shouid be preserved with effort The person should love mentally that lady only, with whom he practises Vajroli.

सिन्दूरसदृशं योनौ स्त्रीणामास्थायिकं रजः ।
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं रजो बिंदु च रक्षयेत् ॥९३॥

93. In the reproductive organ of females like red lead 'Rajas' (menstrual discharge) is permanent; the 'rajas' should also be saved during the period like the Bindu is to be saved.

ऋतुकाले यथा शुक्लं निर्दोषं योनिसंगतं ।
तथा तन्मारुतेनैव स्त्रीरेतेनैकतामियात् ॥९४॥

94. At the time favourable for conception, when the pure semen enters the Yoni, the woman (ovum) unites with the semen due to the wind.

आयुः कर्म च वित्तं च विद्यां चैव चतुष्टयं[1] ।
आधानकाले लिखति गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥९५॥

95. Span of life, Karma, wealth and education-these four are written (fixed) at the time of conception itself, when a baby is in the womb.

यावद्यावदयं देहो ध्रियते गर्भशायिनः ।
तावत्तावदभिव्यक्तिः लिंगस्यास्य प्रजायते ॥९६॥

96. Whenever the gene in the womb takes the shape of a body, since that time only its distinguishing marks come out.

1. निधनमेवच – का. ब.

आयुष्यं वर्धते नित्यं यदि बिन्दुः स्थिरो भवेत् ।
उत्पत्ति स्थिति संहारे बिन्दुरेको हि कारणम् ॥९७॥

97. The life-span of the person increases if the semen becomes stable (controlled). This semen is the only reason for creation, sustenance and destruction.

ततो भवेद्राजयोगी नान्तरा भवति ध्रुवम् ।
न चिन्मात्रेण सिद्धिः स्यादभ्यासात्पवनः स्वनैः ॥९८॥

98. Through this only a person can become a Rajayogi and by no other means. It is certain. The Siddhi can not be achieved very soon. It is possible only after constant practice of air.

अभ्यासस्य क्रमं वक्ष्ये नारीणां च शनैः शनैः ॥९९॥

99. Now the process of this practice for ladies is being described gradually.

लिंगं कराभ्यां आकुञ्च्य मणिचान्तः प्रवेशयेत् ।
यावन्मणिप्रवेशःस्यात् तावदभ्यासमाचरेत् ॥१००॥

100. By holding the penis with the hands, the upper part of this (glans penis) should be inserted in the female genital organ. Till the upper part of the penis is inside, the ladies should practise this (Vajroli).

ततः परं समर्थःस्यादूर्ध्वं आकुञ्चयेद्रजः ।
तस्याः शरीरे नादस्तु बिन्दुतामेव गच्छति ॥१०१॥

101. After that she should withdraw up the Rajas if possible. The Nada in her body moves like Bindu (for ladies).

सबिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीकृत्य स्वदेहजौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन योगसिद्धिः करे स्थिता ॥१०९॥

102. That Bindu and Rajas produced in the body, should be mixed through the Vajroli practice of yoga; then the success in yoga is at hand.

अज्ञात योगशास्त्रेण वज्रोलीं स्त्री तु नाभ्यसेत् ।
अयं योगः पुण्यवतां धन्यानां तत्त्वशालिनां ॥१०३॥

103. The lady who does not know the science of yoga, should not practice Vajroli. This yoga is successful to the courageous and the pious yogis who have an insight into reality.

निर्भत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनां ।
सर्वेषामेव योगानां अयं योगः शुभंकरः ॥१०४॥

104. Success in yoga can be achieved only by those who are in no way selfish. It can not be achieved by self seeking (ones). This yoga is auspicious among all the yogas.

तस्मादयं वरिष्ठोऽसौ भुक्ति मुक्ति फलप्रदः ।
सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ॥१०५॥

105. So this great yoga offers pleasure and liberation. By preserving the Bindu, the body of a yogi becomes fragrant.

अथ सहजोली

सहजोली चामरोली वज्रोल्या एव भेदतः ।
जले सुभस्म निक्षिप्ज दग्धगोमयसंभवम् ।
वज्रोली मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोश्चांगलेपनं ॥१०६॥

आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणम् ।
सहजोलीरियं प्रोक्ता श्रद्धया योगिभिस्तथा ॥१०७॥

Sahajoli :

106. & 107. Sahajoli and Amaroli are nothing more than two variants of Vajroli. One (the yogi or yogini as the case may be) should, after mixing the two juices by performing Vajroli, forthwith besmear his or her body with the ashes of burnt cowdung mixed with water and sit in a stare of bliss unmindful of all worldly behaviour during that pace of time. Yogis should have an unfailing faith in Sahajoli as described above.

अथामरोली

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमं[1] च धारां
विहाय निःसारयतां तु धारणं[2] ।
निषिंचते[3] शीतलमध्यधारां
कापालिकैः खंडमतैकमय्यां ॥१०८॥

Amaroli :

108. The first flow of the urine should be left out because of Pitta and the last flow should be left because there is no essence. The intermediate flow should be taken and used. This is the opinion of Kapalika tradition,

---

1. चित्तील्वण – का.
2. धारां – का. ब,
3. मुनिसिच्यते – का.

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने ।

वज्रोलीमभ्यसेदेवममरोलीति कथ्यते ॥१०९॥

109. If while practising Vajroli one absorbs the nectar through the nasal region (also) regularly everyday that should be called Amaroli.

अथ शक्तिचालनं

पुच्छं प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेदभीः ।

निद्रां विहाय सा ऋज्वी ऊर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥११०॥

Shaktichalana :

110. One (the yogi) who desires to awaken the sleeping Bhujagi, should catch her by the tail. Then the Shakti will be aroused straight from sleep and will rise upward with force.

द्वादशांगुलिदैर्घ्यं च अन्तरं च षडङ्गुलम् ।

विस्तारितेन तां जिह्वां वेष्टयित्वा ततः सुधीः ॥१११॥

111. Twelve cubits in length and six cubits in width is this (Kundalini) due to its enlarged size, the wise cover it by tongue.

वितस्ति प्रमितं दीर्घं विस्तारे च षडंगुलम् ।

हठज्ञैर्मृदुलं प्रोक्तं वेष्टनांबरलक्षणम् ॥११२॥

112. This is said to be about 12 inches in length and six cubits in width, and said to be soft and looking like a garment.

अंगुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्ध्रुवम् ।

स्वशक्त्या चालयेद्वामे दाक्षणे च पुनः पुनः ॥११३॥

113. With the help of thumb and forefinger one should catch hold of it certainly, it should be rotated from left to right repeatedly.

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विभीतश्चालयेदसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्य तौ किंचित्सुषुम्ना कुंडलीगता ।
षण्मासाच्चालनेनैव शक्तिःस्यादूर्ध्वगाभवेत् ॥११४॥

114. By being fearlessly moved for about two Muhurtas the Kundalini goes a short way into Susumna and is (then) drawn upwards.

सूर्येण पूरयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालनम् ।
शब्दगर्भाचालनेन[1] योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥११५॥

115. Inhale through right nostril and move it through Sarasvati (Susumna) Nadi. By making internal sound, the yogi is freed from diseases.

येन संचारिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनः ।
किमत्र बहुनोक्तेन मृत्युं जयति लीलया ॥११६॥

116. The yogi who has moved the Sakti deserves every success. What more need be said ? He easily conquers death.

सशैलवनधात्रीणां यथाधारः सुराचलः ।
अशेषयोगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥११७॥

117. Just as the lord of the serpents is the support of the earth with its mountains and forests, the Kundali verily is the support of all the practices of yoga.

1. सद्गर्भ – ब.

फणी कुंडलिनी नागी चक्री वक्री सरस्वती ।
ललना[1] रसना क्षेत्र ललाटि शक्ति शंकिणी ।
रुजी[2] भुजंगी शेषा च कुंडली सर्पिणी मणि: ।।
आधारशक्ति: कुंडली[3] कराली प्राणवाहिनी ।
अष्टावक्रा षडाधारा व्यापिनी कळनोधरा ।
कुंतीत्येवं च विख्याता: शब्दा: पर्यायवाचका: ।।११८।।
इति शक्तिचालनं ।।

118. Phani. Kundalini, Nagi, Chakri, Sarasvati, Lalana, Rasana Ksetra, Lalati, Sakti, Samkini, Raji, Bhujangi, Sesa, Kundali, Sarpini, Mani, Adhara Sakti, Kundali Karali, Pranavahini, Astavakra, Sadadhara, Vyapini Kalanodhara Kunti-these are synonyms for Kundalini.
This ends Saktichalana.

अथ खेचरी महामुद्रा दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते ।।

खेचरी चान्तिमा मुद्रा अचिरात् ब्रह्मरन्ध्रगा ।
सुषुम्ना गम्यतामूर्ध्वा लम्बिकावाचक: स्मृता: ।।११९।।

Now (is described) Khecharimahamudra

119. The last Mudra named Khechari in which the tongue very soon reaches the Brahmarandhra and touches Susumna.

न क्रमेण विना शास्त्रं नैव शास्त्रं विना क्रम: ।
शास्त्र क्रमयुतं ज्ञात्वा वर्ण्यते श्रीमतां भुवि ।।१२०।।

---

1. दलना – तं.
2. रजो – तं.
3. कुटिला – का. व.

120. No science is valid without a proper process and vice versa. Therefore after knowing the science with proper process, Srinivasa Bhatta describes it for the worldly people.

जिह्वाकृतिनिभं शस्त्रमाहोस्विच्छेदने क्षमः ।

स्नुहीपत्रनिभं चाल्यं शस्त्रं कुर्याद्विचक्षणः ॥१२१॥

121. A weapon shaped like tongue which is able to cut from the root, the wise should prepare this of the leaf of milkhedge.
NOTE : Scientific name of this Plant is Euphorbia Neri........

जिह्वाधो ग्रन्थिमालोक्य तिलमात्रं समुच्छिनेत् ।

इडायाः पिंगलायाश्च सुषुम्नायाश्च मध्यतः ॥१२२॥

122. After seeing well the knot below the tongue, one should cut it to hair's breath, in the middle of Ida, Pingala and Susumna.

प्रज्ञावतांगुलिं दत्वा ग्रंथे मध्यं समुच्छिनेत् ।

द्विनिष्कं[1] निष्कपादार्थं पथ्यासागरसैन्धवान् ॥१२३॥

123. By putting the thumb and forefingers inside, one should cut in the middle, and powder Pathya and salt & rock salt.

चूर्णयित्वा तु ये चूर्ण तेव चूर्णेन घर्षयेत् ।

पूर्वोक्तेन प्रकारेण शक्तिचालनमाचरेत् ॥१२४॥

124. After making powder of those materials, one should rub on it and through that powder one should practise Saktichalana as told earlier.

---

1. शास्त्रमारे ...स्विच्छेदनेक्षमं – तं.
2. विनिष्क – व.

गोदोहनं यथा तद्वत् जिह्वादोहनमाचरेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते तिलमात्रं समुच्छिनेत् ॥१२५॥

125. Tongue should be milked like milking of the cow. After seven days one should again cut to a hair's breadth.

छेदनादिक्रमेणैव[1] यावद्भ्रूमध्यभाग्भवेत् ।
तावच्छनैः[2] प्रकर्तव्यं श्रीनिवासस्य भाषणम् ॥१२६॥

126. One should do process of cutting etc., very slowly, till it touches the middle of the eyebrows. This is told by Srinivasa.

अत्रायं हठयोग सम्प्रदायः

शिशुर्लंबिकायोगे[3] नातीतं नागतं जानाति
गर्भनिःसरणाद् भूमिपाते लंबिकायोग जिह्वाबंधः ॥
पातिनी भवति लंबिका प्रतिबिंबकत्वेत जिह्वायाः ॥

Here Hathayoga tradition :

One who is doing this yoga of tongue (Lambika yoga) knows the past and future. From coming out of the womb to falling down on the earth, one should practise this lambika yoga and tongue lock. One has to do with Lambika which is reflected on the nature of the tongue.

1. च्छेदनादि – का. व. जो.
2. तावच्छनौ – का.
3. शिशुंलंबिका – का.

अत्र ग्रन्थः

सूक्ष्मरूपतया सर्वेषां नराणां प्रत्यक्षतयाद्यापि दृश्यते ।

तत्रैव लंबिका प्रतिबंधक सूक्ष्मग्रन्थिभेदनं कार्यमिति मम प्रतिभाति ।

Here the text says :

Whatever is visible in all the persons in very minute form that very nought of Lambika is to be removed as, it seems to me.

परमेश्वर प्रोक्त खेचरीनाम[1] पटले तु ॥

स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्ध निर्मलम् ।

समतायास्तु जिह्वा रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥१२७॥

Parameaswara as told in khecharipatala :

127. With a sharp, clean and lubricated weapon, resembling the leaf of milkhedge one should cut the (frenum) to a hair's breadth.

रोममात्रभेदेन न विलम्बेन हि लंबिका ।

हृदयग्रन्थकारणमत्कृतं भणितं मया ॥१२८॥

128. Due to the hair breadth cutting of Lambika (tongue) it soon becomes the cause for removing the nought residing in the region of heart. This is told by me.

दत्तात्रेयस्तु कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा ।

भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥१२९॥

---

1. खेचरीदलेतु – का.
2. फणितं – तं.

129. Reversing the tongue and inserting it into the (Nasopharyngeal) cavity in the skull and turning the eyes upwards the middle of the eyebrows is (called) Khechari Mudra. This has been said by Dattatreya also.

पीडयते न च योगेन लिप्यते न च कर्मणा ।

बध्यते न च कालेन यो मुद्रा वेत्ति खेचरीं ॥१३०॥

130. He who has succeeded in Khecharimudra doesnot suffer from disease, he is not bound by the print of his Karma not is he subject to (the cycle of) death (and birth).

हठप्रदीपिकाकारोऽपि

छेदनचालनदोहैः कला क्रमेण वर्धयेत्तावत्

सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरी सिद्धिः ।

छेदनस्य प्रकारोत्केरभावान्मूढता यतः ।

साधारकृणोक्तदुर्बोधात् नांगीकार्यं मिदंमतम् ॥१३१॥

Hathapradipka :

131. Success is attained in Khechari when by cutting and moving (in all directions) and milking, the tougue is gradually lengthened so as to touch the middle of the eyebrows.

This opionion should not be accepted as the process of cutting is not clear, and difficult for the understanding of the simple man.

गुरुर्दर्शितमार्गेण संकेतः कथ्यते मया ।

संकेत श्रृंखलाभावे खेचरी तु कथं भवेत् ॥१३२॥

132. According to the ways shown by Gurus, I am describing little points here without the continuity of the points, how this Khechari can be achieved?

सर्पाकारं सवलयं शृंखलाद्वय संमितं ।
सकूर्परं[2] षड्वितस्तिदैर्ध्य संकेतलक्षणम् ॥१३३॥

313. Shaped like a snake or in the form of armlet these are advised, where one can sit with the help of two elbows; this (place) should be four and half feet long.

NOTE : This is perhaps the description of the position of the body and place.

शृंखलायाश्च वलये जिह्वां तत्र प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे यस्तु ततो जिह्वां प्रवेशयेत् ॥१३४॥

134. In the armlet like fetter the tongue should be inserted. Then only the tongue should be inserted in Nasopharyngeal cavity.

यथा भवेत्सुषुम्नागो तथा भवति खेचरी ।
खेचर्या मुद्रणे जाते देही देहं न मुञ्चति ॥१३५॥

135. When the tongue becomes able to enter Susumna, then it is called Khechari. After mastering this the spirit does not leave the body.

कामं त्यक्ता तु कल्पान्ते ब्रह्मस्थानं व्रजत्यसौ ।
प्राणे सुषुम्नां संप्राप्ते नादस्तु श्रूयतेष्टधा ॥१३६॥

136. At the end of Kalpa, after abodoning all the desires, the soul goes to the abode of Brahma. And when Prana goes to Susumna, eight types of sounds (Nada) are heard.

---

1. सखपिरं – का.
2. शृंखलाद्वितयनिर्मितांबरां सर्पवद्वलयखर्परान्वितां ।
विंशदंगुलमितां सुदीर्घिका लंबिकोत्पातकारिणीं विदुः ॥

घंटा दुंदभिशंखाभिः वीणावेण्वग्नितालवत् ।
तनून पात्र विस्तार तारेशपवनोपमम् ।।१३७।।

137. Sound resembling that of a bell, trumpet, conch, Vina. flute, small bell, sound of very delicate pot, sound of best string and like air (blowing instrument).

वासुक्याद्यैश्च नागैश्च तक्षकेनाथ वा पुनः ।
दंष्टस्य योगिनो देहे न विषं कर्तुमर्हति ।।२३८।।

138. Even if bitten by Nagas like Vasuki etc. or by great Taksaka himself, the poison can not harm the body of a yogi.

उत्कल्लोलकलाभृतं[1] च विमलं धारामृतं यः पिबेत्
निर्दोषो हि मृणालकोमलवपुर्योगी चिरंजी वति ।।
सेवंते यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी ।
सक्षाराकटुतिक्तदुग्ध सदृशं मध्वाज्यतुल्याथवा ।।१३९।।

139. Imbibing the surging streams of nectar (literally pure water from the moon in the throat) one lives long in a body soft like a lotue fibre and is free from all diseases. If the tip of the tongue constantly touches (the roof of the nasopharyngeal cavity) and takes on it the constant flow of the stream of the juice which tastes, saltish pungent, chilly, like milk, honey or like ghee.

अशेषाणां च नाडीनां जिह्वाग्रे रन्ध्रमागतः ।
विद्यते येन मार्गेण तेन चांद्री कला व्रजेत् ।।१४०।।

140. Among all the Nadis, tongue enters the cavity, through which passage the nectar of moon passes.

---

1. उत्कंलोक – तं.

कन्यावादबिलावादरसवादस्तु सिद्धयः ।
योगिनां संप्रवर्तन्ते तेषां वज्रोली खेचरी ।।१४१।।

141. Kanyavada, Bilavada and Rasavada is for Siddhas. For yogis there is Vajroli and Khechari.

त्रिकुंड सुचिहठा चैव गोवीठं शिखरं तथा ।
त्रिशंखि वज्रिमोंकारी मूर्ध्वानालं भ्रुवोर्मुखे ।।१४२।।

142. The passage between the two eyebrows is called Trikunda, Suchihatha, Govitha, Shikhara, Trishankhi Vajri and Onkari.

पिंगला दुंभिनी सूर्या यमिनाक्षरा तथा ।
कालाग्निरुद्री चण्डी च ते स्युः पिंगलनामकाः ।।१४३।।

143. Pingala is called-Pingala, Dumbhini, Surya, Yamina, Aksara, Kalagni, Rudri, and Chandi.

इडा चन्द्रा शशी वाली गंगा वामस्तु बोधिता ।
इडायाः वाचकाः शब्दाः पर्यायेण प्रकीर्तिताः [1] ।।१४४।।

144. Ida, Chandra, Sasi, Vali Ganga, Vama all are synonymous words for Ida.

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशोऽपि तालुनि ।
गोमाँसभक्षणं तत्तु महापातक नाशनम् ।।१४५।।

145. By the term 'GO' is meant tongue (and) its entry into the Talu (roof of the nasophryangeal cavity) is Gomansa Bhaksana which expiates the greatest of sins.

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीं ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ।।१४६।।

---

1. इडाचन्दासितीवाली गंगा वामस्तु वोघता – ब.

146. One should always eat Gomamsa and drink Amarvaruni. Him I consider to be worthy of his family ; the rest are a disgrace for their family.

जिह्वाप्रवेशनं भूत वह्निनोद्दापिता खलु ।
चंद्रात्स्रवति यस्सारः सा स्यादमरवारुणी ।।१४७।।

इति खेचरी मुद्रा

147. Amarvaruni is the stream of nectar which is caused to flow from the moon (in the throat) by the heat that is produced by the insertion the of tongue (into the nasopharyngeal cavity). This is Khecharimudra.

बज्रोली वर .... दश महामुद्रान्वितैः कुम्भकैः
युक्तिः केवलकुंभकेण महता क्षेमंकरेणाधिकं ।
ख्याते रम्यसुवर्णराजकथिते रत्नावली नामके
ग्रन्थेऽस्मिन्नुपदेश एष विहितारंभो द्वितीयो गतः ।।१४८।।

148. Ten Mahamudras including great Vajroli,Kumbhaka including great Kevala Kumbhaka which bestows great welfare, are described in the second chapter of this famous book named Ratnavali told by Suvarna Raja.

इति श्रीनिवासयोगीन्द्र विरचितायां
हठरत्नावल्यां द्वितीयोपदेशः [1]

Here ends the second chapter of Hatha Ratnavali written by Srinivasa Yogindra.

1. इति हठरत्नवल्यां द्वितीय उपदेश – ब. क.

त्याभ्यासस्य योगो युक्तिस्तेन 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इति कोशः। राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ–अब हठयोगके अभ्याससे राजयोगप्राप्तिका प्रकार कहते हैं कि, कुम्भक-प्राणायामसे प्राणका रोध करनेके अंत (मध्य) में अन्तःकरणको निराश्रय करदे अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधिके होनेपर ब्रह्माकार स्थितिके अनन्तर वैराग्यसे चित्तका लय करदे इस पूर्वोक्त रीतिसे किये अभ्यासके योगसे राजयोग पदको प्राप्त होताहै यहां योगपद इस कोशके अनुसार युक्तिका बोधकहै ॥ ७७ ॥

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ॥
अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ७८

इति हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

हठसिद्धिज्ञापकमाह–वपुःकृशत्वमिति ॥ वपुषो देहस्य कृशत्वं कार्श्यं वदने मुखे प्रसन्नता प्रसादो नादस्य ध्वनेः स्फुटत्वं प्राकट्यं नयने नेत्रे सुष्ठु निर्मले अरोगस्य भावोऽरोगता आरोग्यं बिंदोर्धातोर्जयः क्षयाभावरूपः अग्नेरौदर्यस्य दीपनं दीप्तिर्नाडीनां विशेषेण शुद्धिर्मलापगमः एतद्धठस्य हठाभ्याससिद्धेर्भाविन्या लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ज्योत्स्नाभिधायां ब्रह्मानंदकृतायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

भाषार्थ–अब हठयोगसिद्धिके लक्षणोंको कहते हैं कि देहकी कृशता मुखमें प्रसन्नता नादकी प्रकटता और दोनों नेत्रोंकी निर्मलता रोगका अभाव बिन्दुका जय अर्थात् नाडियोंमें मलका अभाव ये हठयोगसिद्धिके लक्षण हैं अर्थात् ये चिह्न होयँ तो यह जानना कि, इसको हठयोगकी सिद्धि होजायगी ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठयोगप्रदीपिकायां पण्डितमिहिरचन्द्रकृतभाषाविवृत्तिसहितायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोपदेशः ३.

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ॥
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ १ ॥

अथ कुंडल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह–सशैलेति ॥ शैलाश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्तासाम्।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

धात्र्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्भेदमादाय बहुवचनम् । अहीनां सर्पाणां नायको नेताहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत् । सर्वेषां योगस्य तंत्राणि योगतंत्राणि योगोपायास्तेषां कुंडल्याधारशक्तिराश्रयः । कुंडलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

भाषार्थ- अब इसके अनंतर कुण्डली सर्व योगोंका आश्रय है इसका वर्णन करतेहैं कि, जैसे संपूर्ण पर्वत वनोंसहित जितनी भूमि हैं उनका आश्रय (आधार) जैसे सर्पोंका नायक शेष है तिसी प्रकार योगके समस्त उपायोंका आधार भी कुण्डली है क्योंकि कुंडलीके बोध विना योगके संपूर्ण उपाय व्यर्थ हैं यद्यपि भूमि एकहै--तथापि देशभेदसे भूमिके भेदको मानकर बहुवचन (धात्रीणाम्) यहां दियाहै ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ॥
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोऽपि च ॥ २ ॥

कुंडलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्याम्-सुप्तेति ॥ सुप्ता कुंडली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यंते भिन्नानि भवंति । ग्रंथयोऽपि च ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथयो भिद्यंते भेदं आप्नुवंतीत्यन्वयः ॥ २ ॥

भाषार्थ--अब कुण्डलीके बोधका दो श्लोकोंसे फल कहते हैं जब गुरुकी प्रसन्नतासे सोती हुई कुण्डली जागती है तब संपूर्ण पद्म अर्थात् हृदयके षट्चक्र भिन्न होजाते हैं अर्थात् खिल जाते हैं और ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथि रुद्रग्रंथिरूप तीनों ग्रंथि भी खुल जाती हैं२

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ॥
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३ ॥

प्राणस्येति ॥ तदा शून्यपदवी सुषुम्ना प्राणस्य वायो राज्ञां पंथा राजपथं राजपथमिवाचरति राजपथायते राजमार्गायते । सुखेन गमनसंभवात् । तदा चित्तमालंबनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालंबं निर्विषयं भवति । तदा कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

भाषार्थ--और तिसीप्रकार प्राणकी शून्यपदवी (सुषुम्ना) राजपथ (सडक) के समान होजाती है अर्थात् प्राण उसमेंको सुखसे गमन करने लगताहै--और उसीसमय चित्तभी निरालंब होजाताहै अर्थात्--विषयोंका अनुरागी नहीं रहता और उसीसमय कालका वंचन होताहै अर्थात् मृत्युका भय दूर होजाताहै ॥ ३ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ॥
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ॥
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥

सुषुम्नापर्यायानाह-सुषुम्नेति ॥ इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः । पर्याया इत्यर्थः स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ तस्मादिति ॥ यस्मात्कुंडलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुंडलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥ ४ ॥ ५ ॥

भाषार्थ-अब सुषुम्नानाडीके पर्यायोंको कहते हैं कि, सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरंध्र, महापथ, श्मशान, शांभवी; मध्यमार्ग ये संपूर्ण शब्द एक अर्थके वाचक हैं अर्थात् इन सबका सुषुम्ना नाडी अर्थ है जिससे कुण्डलीके बोधसेही षट्चक्र भेद आदि होते हैं इससे संपूर्ण प्रयत्नसे सच्चिदानंदरूप ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय जो सुषुम्ना उसके अग्रभागमें सुषुम्नाके द्वारको ढककर सोतीहुई जो ईश्वरी (कुण्डली) है उसका प्रबोध (जगाना) करनेके लिये मुद्राओंका अभ्यास करै अर्थात् महामुद्रा आदिको करै ॥ ४ ॥ ५ ॥

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वाज्रोली शक्तिचालनम् ॥
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥

मुद्रा उद्दिशति-महामुद्रेत्यादिना सार्धेन ॥ सार्धार्थः स्पष्टः ॥ मुद्राफलमाह सार्द्धद्वाभ्याम्-इदमिति ॥ इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

भाषार्थ-महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उड्यान. मूलबंध, जालंधरबंध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन ये पूर्वोक्त दशमुद्रा जरा और मरणको नष्ट करती हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ॥
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

आदिनाथेति ॥ आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितम्। दिवि भवं दिव्यमुत्तमम्। अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिमामहिमागरिमालघिमाप्राप्तिप्राकाम्येशतावशिताख्यानि। तत्राणिमासंकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता १। महिना प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः २। गरिमा लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः ३। लघिमा गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः ४। प्राप्तिः सर्वभावसान्निध्यम्। यथा भूमिस्थ एवांगुल्यग्रेण स्पृशति चंद्रमसम् ५। प्राकाम्यमिच्छानभिघातः। यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च ६। ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् ७। वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणम् ८। तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

भाषार्थ–और आदिनाथने कहे जो उत्तम आठ ऐश्वर्य उनको भलीप्रकार देती हैं और संपूर्ण जो कपिल आदि सिद्ध हैं उनको प्रिय है और देवताओंकोभी दुर्लभ हैं वे आठ ऐश्वर्य ये हैं कि--अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशता, वशिता उनमें अणिमा वह सिद्धि होतीहै कि; योगीके संकल्पमात्रसे प्रकृतिके दूर होनेपर परमाणुके समान सूक्ष्म देह होजाय उसे अणिमा १ कहते हैं और प्रकृतिके आपूरकरके अर्थात् अपने देहमें भरके आकाशके समान महान् स्थूल होजानेको महिमा २ सिद्धि कहते हैं। और तूल (रुई) आदि लघुपदार्थकोभी पर्वत आदिके समान जो गुरु (भारी) होजाना है उसे गरिमा ३ कहते हैं और अत्यंत गुरु (पर्वत आदि) का जो तूल आदिके समान लघु (हलका) होना है उसे लघिमा ४ कहते हैं और संपूर्ण पदार्थोंके जो समीप पहुँचना जैसे कि भूमिपर स्थित योगी अंगुलिके अग्रसे चंद्रमाका स्पर्श करले इसे प्राप्ति ५ कहते हैं और इच्छाका अनभिघात अर्थात् जलके समान भूमिमें प्रविष्ट होजाय और निकस आवै इसको प्राकाम्य ६ कहते हैं। पांचों महाभूत और उनसे उत्पन्न भौतिकपदार्थ इनकी उत्पत्ति और प्रलय और पालनके सामर्थ्यको ईशता सिद्धि ७ कहते हैं और भूत भौतिक पदार्थोंको अपने अधीन करनेको वशिता ८ सिद्धि कहते हैं ये आठों सिद्धि पूर्वोक्त दशों मुद्राओंके करनेसे होती हैं॥ ८ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ॥
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥

गोपनीयमिति ॥ प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयम्। गोपनीयत्वे दृष्टांतमाह-यथेति ॥ रत्नानां हीरकादीनां करंडकं रत्नकरंडकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत्। कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वक्तव्यं नैव वाच्यं किमुतान्यस्य। तत्र दृष्टांतः। कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा तद्वत् ॥ ९ ॥

भाषार्थ-ये पूर्वोक्त दशों मुद्रा इसप्रकार प्रयत्नसे गुप्त करने योग्य हैं जैसे हीरा आदिरत्नोंका करंड (पेटारी) गुप्त करने योग्य होतीहै और किसी मनुष्यको वा ब्रह्माको भी इसप्रकार नहीं कहनी. अन्यकी तो कौन कथा है जैसे कुलीनस्त्रीके सुरत (संगम) को किसीको नहीं कहते हैं ॥ ९ ॥

अथ महामुद्रा।

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ॥
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १० ॥

दशविधमुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह-पादमूलेनेति ॥ वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपादपार्ष्णिनेत्यर्थः। योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्याकुंचितवामपादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः। दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वांगुलिकं दंडवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायादाकुंचिताभ्यां तर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदंगुष्ठप्रदेशे गृह्णीयात् ॥ १० ॥

भाषार्थ--अब दसोंमुद्राओंमें प्रथम जो महामुद्रा उसका वर्णन करते हैं कि, वामपादके मूल (तल) से अर्थात् पार्ष्णिसे योनिस्थानको अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागको भलीप्रकार पीडित (दवाना) करके और दक्षिणपादको प्रसारित (फैलाना) करके अर्थात् दक्षिणपादकी पार्ष्णि (ऐड) को भूमिसे मिलाकर और उसकी अंगुलियोंको ऊपरको करके और उस दक्षिणपादको मुकडीहुई दोनों हाथोंकी तर्जनीओंसे दृढरीतिसे (खूब) अंगूठेके स्थानमें धारण करै अर्थात् जोरसे पकडले ॥ १० ॥

कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कंठ इति ॥ कंठे कंठदेशे बंधनं सम्यगारोप्य कृत्वा । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः । वायुं पवनमूर्ध्वत उपरि सुषुम्नायां धारयेत् । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु योनिसंपीडनेन जिह्वाबंधनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः। यथा दंडेन हतस्ताडितो दंडहतः सर्पः कुंडली दंडाकारः दंडस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः । वक्राकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः । प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

भाषार्थ--और कंठके प्रदेशमें भलीप्रकार जालंधरनामके बंधको करके वायुको ऊर्ध्वदेश (सुषुम्ना) मेंही धारण करै अर्थात् मूलबंध करे और सांप्रदायिक अर्थात् संप्रदायके ज्ञाता तो यह कहते हैं कि, वह मूलबंध तो योनिका संपीडन और जिह्वाके बंधनसे चरितार्थ है अर्थात् पृथक् मूलबंध करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा करनेसे जैसे दंडसे हताहुआ सर्प (कुण्डली) दंडके समान आकारवाला होजाताहै अर्थात् वक्रताको त्यागकर भलीप्रकार सरल होजाताहै ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥

ऋज्वीभूतेति ॥ तथा कुंडल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत् । तदा सेति । द्वे पुटे इडापिंगले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते । कुंडलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२ ॥

भाषार्थ–तिसीप्रकार आधार शक्ति रूप जो कुंडली है वह शीघ्रही ऋज्वीभूत (सरल) होजाती है और उस समय इडा और पिंगलारूप जो दोनों पुट हैं वे आश्रय जिसके-ऐसी वह मरणकी अवस्था होजाती है अर्थात् कुंडलीका बोध होनेपर सुषुम्नानाडीमें प्राणका प्रवेश होजाता है इससे इडा और पिंगला दोनोंका प्राणवियोग (मरण) होजाताहै ॥ १२ ॥

ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १३ ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तत इति ॥ इयमिति ॥ ततस्तदनंतरं शनैःशनैरेव रेचयेत् । वायुमिति संबध्यते वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत् । वेगतो रेचने बलहानिप्रसंगात् । खल्विति वाक्यालंकारे । इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता । महामुद्राया अन्वर्थतामाह-महांतश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशाः अविद्यास्मितरागद्वेषाभिनिवेशाः पंच त आदयो येषां ते शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयंते । मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयंते नश्यंति । यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदंति । महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

भाषार्थ-तिससे शनैः २ प्राणवायुका रेचन करै :वेगसे न करै क्योंकि वेगसे रेचन करनेमें बलकी हानि होती है तिससेही देवताओंमें उत्तम इसको महामुद्रा कहते हैं और वह महामुद्रा आदिनाथ आदिमहासिद्धोंने भलीप्रकार दिखाई है। अब महामुद्राके अन्वर्थनामका वर्णन करते हैं कि, अविद्या, स्मित, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पांचों महाक्लेश और मरण आदि दुःख इस मुद्राके करनेसे क्षीण (नष्ट) होजातेहैं तिससेही देवताओंमें श्रेष्ठ इसको महामुद्रा कहते हैं अर्थात् महाक्लेशोंके नष्ट करनेसेही इसका देवताओंने महामुद्रा नाम रक्खा है ॥ १३ ॥ १४ ॥

चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५ ॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह-चंद्रांग इति ॥ चंद्रेण चंद्रनाड्योपलक्षितमंगं चंद्रागं तस्मिन् चंद्रांगे वामांगे । तुशब्दः पादपूरणे । सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिंगलयोपलक्षितमंगं सूर्यांगं तस्मिन् सूर्यांगे दक्षांगे पुनर्वामांगाभ्यासानंतरं यावद्यावत्कालपर्यंतं तुल्या वामांगे कुंभकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत् । ततः संख्यासाम्यानंतरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत् । अत्रायं क्रमः । आकुंचितवामपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो वामांगेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामांगे तिष्ठति । आकुंचितदक्षपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो दक्षांगेऽभ्यासः अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षांगे तिष्ठति ॥ १५ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भाषार्थ—अब महामुद्राके अभ्यासका क्रम कहते हैं कि—चंद्रनाडी (इडा) से उपलक्षित (ज्ञात) जो अंग उसे चंद्रांग कहते हैं अर्थात् वाम अंगकेविषे भलीप्रकार अभ्यास करके सूर्य नाडी (पिंगला) से उपलक्षित जो दक्षिण अंग उसके विषे अभ्यास करै और जबतक कुंभक प्राणायामोंके अभ्यासकी संख्या समान (तुल्य) हो तबतक भलीप्रकार अभ्यास करै फिर संख्याओंकी समानताके अनंतर महामुद्राका विसर्जन करदे, यहां यह क्रम जानना कि, संकुचित किये वामपादकी पार्ष्णिको योनि-स्थानमें युक्त (मिला) करके प्रसारित (पसारे) दक्षिण पादके अँगूठेको आकुंचित (सुकडी) तर्जनीयोंसे ग्रहण करके जो अभ्यास उसे वामांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया (भराहुआ) वायु वामांगमें टिकता है और आकुंचित किये दक्षिणपादकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें संयुक्त करके और प्रसारित (फैलाये) किये वामपादके अँगूठेको आकुंचित कीहुई दोनों हाथोंकी तर्जनियोंसे ग्रहण करके जो अभ्यास उसे दक्षांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया वायु दक्षिण अंगमें टिकता है ॥ १५ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ १६ ॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः—न हीति ॥ हि यस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्य-ध्याहारः । पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्यविचारो नास्तीत्यर्थः । तस्मा-त्सर्वे भुक्ता रसाः कट्वम्लादयो जीर्यंते इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः । नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यन्ति । घोरमिति । दुर्जरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति । किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—अब तीन श्लोकोंसे महामुद्राके गुणोंको कहते हैं कि, जिससे महामुद्रा अभ्यास करनेवाले योगीको पथ्य और अपथ्यका विचार नहीं है तिससे नीरस (बिगडे हुये) भी संपूर्ण भक्षण किये कटु अम्ल आदि रस जीर्ण हो (पच) जाते हैं और भक्षण किया विषके समान घोर अन्नभी अमृतके समान जीर्ण होजाताहै अर्थात् पचनेके अयोग्यभी पचजाता है तो योग्य क्यों न पचेगा ? ॥ १६ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७ ॥

क्षयेति ॥ यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः, कुष्ठगुदावर्त-गुल्मा रोगविशेषाः । अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यांति प्राप्नुवंति ॥ १७ ॥

भाषार्थ–जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करताहै, क्षय, गुदावर्त गुल्मरूप रोग विशेष अजीर्ण अर्थात् भोजन किये अन्नका अपरिपाक ये हैं मुख्य जिनमें ऐसे महोदर, ज्वर आदि दोष उसके क्षय हो जातेहैं अर्थात् नहीं रहते हैं ॥ १७ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ १८ ॥

महामुद्रामुपसंहरंस्तस्या गोप्यत्वमाह–कथितेति ॥ इयमेषा महामुद्रा कथितोक्ता । मयेति शेषः । कीदृशी नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम् । प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा यस्यकस्यचिद्यस्यकस्याप्यनधिकारिणोऽसंबंधस्य । सामान्ये षष्ठी । न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

भाषार्थ–अब महामुद्राको समाप्त करते हुए उसको गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, यह पूर्वोक्त जो महामुद्रा वर्णन की है वह मनुष्योंको महासिद्धिकी करनेवाली है और बडे यत्नसे गुप्त करने योग्य है और जिस किसी अनधिकारी पुरुषको न देनी ॥ १८ ॥

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥

महाबंधमाह–पार्ष्णिमिति ॥ वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्ष्णिं गुल्फयोरधोभागम् 'तद्ग्रंथी घुटिके गुल्फौ पुमान्पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः । योनिस्थाने गुदमेढ्रयोरंतराले नियोजयेन्नितरां योजयेत् । वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा । तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

भाषार्थ–अब महाबंधका वर्णन करते हैं कि, वामचरणकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागमें लगावे और वामजंघा ऊपर दक्षिण पादको रखकर बैठे ॥ १९ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥ २० ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पूरयित्वेति ॥ ततस्तदनंतरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरबंधः प्रोक्तः । योनिं गुदमेढ्रयोरंतरालमाकुंच्य । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु जिह्वाबंधेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः । मनः स्वांतं मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत ॥ २० ॥

भाषार्थ–इसपूर्वोक्त आसन बांधनेके अनंतर वायुको पूरण करके और हृदयमें दृढतासे (खूव) चुबुक (ठोढी) को अर्थात् इस जालंधर बंधको करके और योनि (गुदा लिंगकेमध्य) को संकुचित करके अर्थात् मूलवंधको करके परन्तु यह मूलवंध जिह्वाके बंधनसेही सिद्ध है इससे करने योग्य नहीं है फिर मनको मध्य नाडीकेविषे प्रविष्ट करै ॥ २० ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदानिलं शनैः ॥
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

धारयित्वेति ॥ शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा शनैर्मंदं मंदमनिलं वायुं रेचयेत् । सव्यांगे वामांगे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षांगे दक्षिणांगे पुनर्यावत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

भाषार्थ--फिर वायुको यथाशक्ति धारण करके अर्थात् कुंभक प्राणायामको करके शनैः २ वायुका रेचन करै. इसप्रकार वाम अंगमें भलीप्रकार अभ्यास करके दक्षिण अंगमें फिर अभ्यास करै और वह अभ्यास तवतक करै जवतक वामांग अभ्यासकी जो संख्या उसकी तुल्यताहो ॥ २१

मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥
राजदंतस्थजिह्वाया बंधः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥

अथ जालंधरबंधे कंठसंकोचस्यानुपयोगमाह–मतमिति ॥ केषांचिस्वाचार्याणामिदं मतम् । किं तदित्याह । अत्र जालंधरबंधे कंठस्य बंधनं बंधः संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः यतो दंतानां राजानो राजदंता राजदंतेषु तिष्ठतीति राजदंतस्था राजदन्तस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तदुपरिभागस्य संबंधः शस्तः । कंठाकुंचनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः ॥ २२ ॥

भाषार्थ–अब जालंधरबंधमें कंठके संकोचका अनुपयोग वर्णन करते हैं कि, किन्हीं १ आचार्योंका यह मत है कि, इस जालंधरबंधमें कंठका जो बंधन (संकोच) उसको

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विशेषकर वर्जदे. क्योंकि राजदंतों (दाढ) के ऊपर स्थित जो जिह्वा उसका बंधही जालंधर बंधमें प्रशस्त होताहै अर्थात् कंठ संकोचकी अपेक्षा वह उत्तम होताहै ॥२२॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्द्धं गतिनिरोधकः ॥
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥

अयं त्विति ॥ अयं तु राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वं गतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबंधकः । एतेन 'बध्नाति हि शिराजालम्'इति जालंधरोक्तं फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम् । महाबंधस्य फलमाह-अयं खल्विति ॥ अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण ददातीति तथा ॥ २३ ॥

भाषार्थ-यह राजदंतोंमें स्थित जिह्वाका बंध, बहत्तर सहस्र ७२००० सुषुम्नासे भिन्न नाडियोंकी जो ऊर्ध्वगति अर्थात् नाडियोंमें जो प्राणवायुका ऊर्द्धगमन उसका प्रतिबंधक है इससे यह सूचित किया कि, नाडियोंके जालको जो बंधन करै उसे जालंधरबंध कहतेहैं यह जालंधर बंधका फल इससेही सिद्ध है । अब महाबंधके फलको कहते है कि, यह महाबंध निश्चयसे महासिद्धियोंको भलीप्रकार देताहै ॥ २३ ॥

कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥

कालेति ॥ कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबंधो बंधनं तस्य विशेषेण मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणीसमुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदार-शब्दवाच्यं तं मनः स्वांतं प्रापयेत् । 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ-और मृत्युके पाशका जो महाबंधन उसके छुटानेमें विशेषकर प्रवीण है और तीन नदियोंका संगम जो प्रयाग है उसको करताहै और मनको भ्रुकुटियोंके मध्यमें जो शिवजीका स्थानरूप केदार है उसमें प्राप्त करताहै अर्थात् पहुँचता है ॥२४॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥
महामुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह-रूपेति ॥ रूपं सौंदर्यं चक्षुः

LIBRARY
Jangamwadi Math, VARANASI,
Acc. No. 2256-1156 1390
CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रियो गुणो लावण्यं कांतिविशेषः । तदुक्तम् 'मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरम् । प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते' इति । ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युक्ती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबंधश्च तौ महावेधेन । 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्यः' इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य लोपः। वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—अब महावेधके कहनेकेलिये प्रथम उसकी उत्तमताको कहते हैं कि, रूप (सुंदरता) और इसवचनमें कहेहुए लावण्यको मोतियोंमें छाया (प्रतिबिंबकी) तरलताके समान स्त्रीके अंगोंमें अंतर जो प्रतीत होताहै वह यहां लावण्य कहाता है. इन दोनों पूर्वोक्त रूप और लावण्यसे युक्त स्त्री, पुरुषके विना निष्फल है. तिसीप्रकार महामुद्रा और वंध ये दोनों मी महावेधके विना निष्फल हैं. इस श्लोकमें वेधपदसे महावेधलेते हैं, क्योंकि इस भाष्यकारके वचनसे प्रत्ययके विनाभी पूर्व और उत्तरपदका लोप कहना । महच्छब्दका लोप होताहै ॥ २५ ॥

अथ महावेधः ।

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥ २६ ॥

महावेधमाह—महावेधेति ॥ महाबंधे महाबंधमुद्रायां स्थितो महाबंधस्थितः । एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा कंठे मुद्रा कंठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिमूर्ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथावृत्य निरुध्य कुंभकं कृत्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

भाषार्थ—अब महावेधका वर्णन करते हैं कि, महाबंधमुद्रामें स्थित अर्थात् करताहुआ योगी एकाग्रबुद्धिसे पूरक प्राणायामको करके अर्थात् योगमार्गसे नासिकाके पुटोंसे वायुका ग्रहण करके कंठमुद्रा (जालंधर मुद्रा) से प्राणआदि वायुओंको जो ऊर्ध्व अधोगतिरूप गमन है उसको निश्चल रीतिसे रोककर अर्थात् कुंभकप्राणायामको करके २६॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥

समहस्तेति ॥ भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं हस्तयुगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्फिचौ कटिप्रोथौ । 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथौ' इत्यमरः । भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलंबनेन योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मंदं संताडयेत्सम्यक् ताडयेत् । भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिंगलयोर्युग्ममतिक्रम्योल्लंघ्य मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

भाषार्थ—भूमिपर लगाहैं तल जिनका ऐसे सरल हाथोंको अपने जो स्फिच (चूतड) हैं उनको भूमिपर लगेहुए हाथोंके आश्रय और योनिस्थानमें लगीहुई पार्ष्णि जिसकी ऐसे वामपादसहित पूर्वोक्त स्फिचोंको भूमिसे ऊपर किंचित् उठाकर शनैः २ भलीप्रकार ताडै, इस प्रकार करनेसे इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंका उलंघन (छोड) करके सुषुम्नाके मध्यमें वायु चलने लगताहै अर्थात् सुषुम्नामें प्राणवायुकी गति होजाती है ॥ २७ ॥

सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ॥
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८ ॥

सोमेति ॥ सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडापिंगलासुषुम्ना ग्राह्यास्तेषां संबंधः । तद्वायुसंबंधात्तेषां संबंधः । अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिंगलयोः प्राणसंचाराभावात् । ततस्तदनंतरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥२८॥

भाषार्थ—फिर चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि अर्थात् ये तीनों देवता हैं क्रमसे अधिष्ठाता जिनके ऐसी इडा पिंगला सुषुम्ना नाडियोंका संबंध मोक्षका हेतु निश्चयसे होजाताहै अर्थात् तीनों नाडियोंका वायु एक हो जाताहै तब इडा और पिंगलाके मध्यमें प्राणसंचारके अभावसे मरण अवस्था उत्पन्न होजाती है, क्योंकि, इडा पिंगलामें जो प्राणोंका संचार उसका नामही जीवन है, फिर मरण अवस्थाकी उत्पत्तिके अनंतर वायुको विरेचन करदे अर्थात् नासिकाके पुटोंमेंसे शनैः २ त्यागदे ॥ २८ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥

महावेध इति ॥ अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनःपुनरावर्तनान्महासिद्ध्योऽणिमाद्यास्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्धकः । वली जरया चर्मसंकोचः

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः कंपस्तान् हंतीति वलीपलितवेपघ्नः। अत एव साधकेष्वभ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्यत इत्यर्थः॥२९॥

भाषार्थ—यह महावेध अभ्यास करनेसे अणिमा आदि महासिद्धियोंको भलीप्रकार देताहै और वली अर्थात् वृद्ध अवस्थासे चर्मका संकोच और पलित अर्थात् वृद्धतासे केशोंकी शुक्लता और देहका कंपना इनको नष्टकरता है इसीसे साधकों (अभ्यासी) में जो उत्तम हैं वे इस महावेधका अभ्यासरूप सेवन करते हैं॥ २९ ॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह--एतदिति ॥ एतत्त्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम् । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि हि यस्माज्जरा वार्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम् । चकार आरोग्यबिंदुजयादिसमुच्चयार्थः एवशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—अब महामुद्रा आदि पूर्वोक्त तीनोंको अत्यंत गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, ये तीनों मुद्रा अत्यंत गुप्त करने योग्य हैं और जोरा और मृत्युको विशेषकर नष्ट करती हैं और जठराग्निको बढाती हैं और अणिमा आदि सिद्धियोंको देती हैं अर्थात् अणिमा आदि गुणोंको भलीप्रकार उत्पन्न करती हैं और चकारके पढनेसे आरोग्य और बिंदुका जय समझना और इस श्लोकमें एव पद निश्चयका बोधक है ॥ ३० ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथैतत्त्रयस्य पृथक्साधनविशेषमाह—अष्टधेति ॥ दिने दिने प्रतिदिनम् । यामे यामे प्रहरे प्रहरे पौनःपुन्ये द्विर्वचनम् । अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते। चशब्दोऽवधारणे । एतत्त्रयमित्यत्रापि संबध्यते । कीदृशं पुण्यस्य संभारः समूहस्तस्य संधायि पुनः कीदृशं पापानामोघः पूरः समूह इति यावत् । तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाभ्यस्तं तदैव पापनाशनम्॥ सम्यक् सांप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा । एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्तरीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम् ॥ ३१ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भाषार्थ—अब इन तीनोंके पृथक् २ साधन विशेषको कहते हैं कि, प्रहर २ में और दिन २ में वारंवार आठप्रकारसे ये तीनों मुद्रा की जाती हैं. यहां भी एव शब्द निश्चयका वाची है और ये तीनों मुद्रा पुण्यके समूहको करती हैं और पापोंका जो समूह है उसको छेदन सदैव करती हैं और भलीप्रकार गुरुकी है शिक्षा जिनको ऐसे पुरुषोंको पूर्वोक्त आठप्रकारका जो प्रहर २ और दिन २ में साधन है वह अल्प २ (थोडा २) ही करना योग्य है अधिक २ नहीं ॥ ३१ ॥

अथ खेचरी।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह—कपालेति ॥ कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात् । भ्रुवोरंतर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात् । सा खेचरी मुद्रा भवति । कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरंतर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—अब खेचरीमुद्राके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम खेचरीके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, कपालके मध्यमें जो छिद्र है उसमें विपरीत (उलटी) हुई जिह्वा तो प्रविष्ट होजाय और भ्रुकुटियोंके मध्यमें दृष्टिका प्रवेश होजाय तो वह खेचरीमुद्रा होतीहै अर्थात् कपालके छिद्रमें जिह्वाके प्रवेश पूर्वक जो भ्रुकुटियोंके मध्यका दर्शन उसे खेचरीमुद्रा कहतेहैं ॥ ३२ ॥

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३३ ॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह—छेदनेति ॥ छेदनं अनुपदमेव वक्ष्यमाणम् । चालनं हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनं, दोहः करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनं तैः कलां जिह्वा तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् । तावत् कियत् । यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—अब खेचरीमुद्राकी सिद्धिके लक्षणका वर्णन करते हैं कि, छेदन जिसका आगे शीघ्रही वर्णन करेंगे और चालन अर्थात् हाथके अँगूठे और तर्जनीसे जिह्वाको पकडकर वाम और दक्षिणरूपसे परिवर्तन (हलाना) और पूर्वोक्त अँगूठे और तर्ज-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नीसे गोदोहनके समान जिह्वाका दोहन इन तीनोंसे कला (जिह्वा) को तबतक बढावै जबतक वह कला भृकुटियोंके मध्यका स्पर्श करै फिर स्पर्श होनेपर खेचरी मुद्राकी सिद्धिको जानै ॥ ३३ ॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥

तत्साधनमाह–स्नुहीति ॥ स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रेण सदृशं स्नुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानंतरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगुच्छिनेच्छिद्यात् । रसनामूलशिरामिति कर्माध्याहारः । 'भिश्रेथाप्यथ सीहुंडो वज्रस्नुक् स्त्री स्नुही गुडा' इत्यमरः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–अब खेचरीकी सिद्धिके साधनोंका वर्णन करतेहैं कि, स्नुही (सेहुंड) के पत्तेके समान जो अत्यंत तीक्ष्ण शस्त्र है चिकने और निर्मल उस शस्त्रको ग्रहण करके उससे जिह्वाके मूलकी नाडीको रोममात्र छेदन करदे ॥ ३४ ॥

ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ॥
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

तत इति॥ततश्छेदनानंतरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षयेच्छिन्नं शिराप्रदेशम् । सप्तदिनपर्यंतं छेदनं सैंधवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयम् । योगाभ्यासिनो लवणनिषेधात्खदिरपथ्याचूर्णं गृह्णंति मूले सैंधवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण । सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् । ये. प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वच्छेदनापेक्षयाधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ--और छेदनके अनंतर चूर्ण किये (पीसे हुये सैंधव (लवण) और हरडेसे जिह्वाके मूलको भलीप्रकार घिसे सातदिनतक प्रतिदिन छेदन और घिसनेको पूर्वोक्तप्रकारसे प्रातःकाल और सायंकालको करै और योगके अभ्यासीको लवणका निषेध है इससे यहां खदिर (कत्था) और पथ्याका चूर्ण लेना योगियोंको कहाहै और मूलग्रंथमें तो सैंधवका कथन हठयोगके अभ्याससे पूर्व खेचरीकी सिद्धिके अभिप्रायसे है

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

फिर सातदिनके बीतनेपर आठवेंदिन रोममात्रका छेदन करै अर्थात् प्रथमछेदनसे अधिक रोममात्रका छेदन करै ॥ ३५ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

एवमिति ॥ एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तदिनपर्यंतं तावदेव सायं-प्रातश्छेदनं घर्षणं च । अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यंतं नित्ययुक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः । षण्मासादनंतरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या शिरा कपालकुहररसनासंयोगे प्रतिबंधिकाभूता नाडी तया बंधो बंधनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

भाषार्थ–इसप्रकार क्रमसे प्रथम रोममात्रका छेदन और उसकाही सातदिनपर्यंत सायंकाल प्रातःकालके समय घर्षणको प्रतिदिन युक्तहुआ छः मासपर्यंत करै और आठवेंदिन पूर्व किये छेदनसे अधिक रोममात्रका छेदन करके पूर्वोक्त घर्षणको करता रहै इसरीतिसे छः मासके अनंतर जिह्वाके मूलभागमें जो शिराबंध है अर्थात् जिससे जिह्वा कपाल छिद्रमें नहीं पहुँच सकती वह बंधन है वह भलीप्रकार नष्ट होजाता है ॥ ३६ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह–कलामिति ॥ कलां जिह्वां पराङ्मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पंथाः त्रिपथस्तस्मिंस्त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्संयोजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते । व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

भावार्थ–अब छेदन आदिसे जिह्वाको वृद्धि होनेपर करने योग्य कर्मको कहते हैं कि, जिह्वाको पराङ्मुख करके अर्थात् पश्चिमको लौटाकर तीनों नाडियोंका मार्ग जो कपालका छिद्र है उसमें संयुक्त करदे वही खेचरी मुद्रा होतीहै और उसको ही व्योमचक्र कहतेहैं ॥ ३७ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ खेचरीगुणाः॥ रसनामिति॥ ऊर्ध्वं तालूपरि विवरं गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते । व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते । 'उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दो व्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते' इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–अब खेचरीके गुणोंका वर्णन करतेहैं कि, जिह्वाको तालुके ऊपरले छिद्रमें करके जो योगी क्षणार्धभी टिकताहै अर्थात् एक घटिकामात्र भी स्थित रहताहै (यहां क्षण पदसे इसवचनके अनुसार मुहूर्तका ग्रहण है) वह योगी धातुओंकी विषमतारूप व्याधि और मृत्यु अर्थात् प्राण और देहका वियोग और वृद्ध अवस्था आदिकोंसे और सर्प बिच्छू आदिके विषोंसे विशेषकर छूट जाताहै ॥ ३८ ॥

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ३९ ॥

न रोग इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तंद्रा तामसांतःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न क्षुधा न तृषा पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाभिभूतावस्थाविषेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–जो योगी खेचरीमुद्राको जानताहैं उसको रोग, मरण और अंतःकरणकी तमोगुणी वृत्तिरूप तंद्रा और निद्रा क्षुधा तृषा और चित्तकी तमोगुणीअवस्थारूप मूर्च्छा ये सब नहीं होते हैं ॥ ३९ ॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ४० ॥

पीड्यत इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न पीड्यते ॥ ४० ॥

भाषार्थ–जो खेचरीको जानता है वह रोगसे पीडित नहीं होताहै और न कर्मसे लिप्त होताहै और न कालसे बाधा जाताहै ॥ ४० ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चित्तमिति ॥ यस्माद्धेतोश्चित्तमंतःकरणं खे भ्रुवोरंतरवकाशे चरति जिह्वा खे तत्रैव गता सती चरति । तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययम् । सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता । खे भ्रुवोरंतर्व्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता । उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥ ४१ ॥

भाषार्थ--जिससे चित्त (अंतःकरण) भ्रुकुटियोंके मध्यरूप आकाशमें विचरताहै और जिह्वाभी भ्रुकुटियोंके मध्यमेंही जाकर विचरती है तिसीसे सिद्धों (कपिल आदि) की निरूपण कीहुई यह मुद्रा खेचरी इस नामसे प्रसिद्ध है भ्रुकुटियोंके मध्यरूप आकाशमें जिसमुद्राके करनेसे जिह्वा विचरै उसे खेचरी कहतेहैं इस व्युत्पत्तिसे सिद्धोंने यह अन्वर्थमुद्रा वर्णन की है. इन पूर्वोक्त तीनों श्लोकोंमें व्याधिआदिकी जो पुनरुक्ति है वह इसलिये दूषित नहीं है कि, ये तीनों श्लोक संगृहीत (किसीके रचेहुए) हैं अर्थात् मूलके नहीं हैं ॥ ४१ ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥४२॥

खेचर्येति ॥ येन योगिना खेचर्या मुद्रया लंबिकाया ऊर्ध्वमिति लंबिकोर्ध्वतः । सार्वविभक्तिकस्तसिः । लंबिका तालु तस्या ऊर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम् । कामिन्या युवत्याः श्लेषितस्यालिंगितस्यापि । च शब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिंदुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ--जिस योगीने खेचरीमुद्रासे लंबिका (तालु) के ऊपरका छिद्र ढकलिया है कामिनीके स्पर्श करनेपरभी उस योगीका बिंदु (वीर्य) क्षरित (पतता) नहीं होता अर्थात् अपने मस्तकरूप स्थानसे नहीं गिरता है ॥ ४२ ॥

चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् ॥
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ४३ ॥

चलित इति ॥ चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिंदुर्यदा यस्मिन् काले योनिमंडलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुंचनरूपया । एतेन वज्रोलीमुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याकर्षणशक्त्या हृतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति । सुषुम्नामार्गेण बिंदुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भाषार्थ--और चलायमानहुआभी बिंदु जिससमय योनिके मंडलमें प्राप्त होजाताहै तौभी लिंगके संकोचनरूप योनिमुद्रासे अर्थात् वज्रोलीसे निरंतर बँधाहुआ बिंदु आकर्षणशक्तिसे खिंचा हुआ सुषुम्ना नाडीके मार्गसे ऊर्ध्व (बिंदुके स्थानमें) को चलाजाता है ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वजिह्व इति ॥ ऊर्ध्वालंबिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लंबिकोर्ध्वविवरगलितचंद्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभिभवति । न संदेहः। निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—तालुके ऊपरके छिद्रके उन्मुख है जिह्वा जिसकी ऐसा जो योगी वह सोमपान करताहै अर्थात् ऊर्ध्व छिद्रमेंसे गिरतेहुए चंद्रामृतको पीताहै योगका ज्ञाता वह एकही मासार्द्धसे अर्थात् पक्षभरसे मृत्युको जीतताहै इसमें सन्देह नहीं है अर्थात् यह निश्चित है ॥ ४४ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ॥
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥

नित्यमिति ॥ यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृतपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

भाषार्थ--जिस योगीका शरीर नित्य (सदैव) चंद्रकलारूप अमृतसे पूर्ण रहताहै तक्षक सर्पसे डसेहुयेभी उसके शरीरमें विष नहीं फैलता अर्थात् सर्पका विष नहीं चढता ॥ ४५ ॥

इंधनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्ति च दीपकः ॥
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥ ४६ ॥

इंधनानीति ॥ यथा वह्निः इंधनानि काष्ठादीनि न मुंचति दीपको दीपः तैलवर्तिं च तैलयुक्तां वर्त्तिं न मुंचति । तथा सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतपूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुंचति न त्यजति ॥ ४६ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भाषार्थ-जैसे अग्नि काष्ठआदि इंधनोंको और दीपक तैल और बत्तीको नहीं त्यागतेहैं अर्थात् उनके विना नहीं रहतेहैं तैसेही देही (जीवात्मा) सोमकलासे पूर्ण देहको नहीं त्यागताहै अर्थात् सोमकलासे पूर्ण देह सदैव बना रहताहै ॥ ४६ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥

कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

गोमांसमिति ॥ गोमांसं पारिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगिनम् । अहमिति ग्रंथकारोक्तिः। कुले जातः कुलीनः तं सत्कुलोत्पन्नं मन्ये । तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते-'कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् । जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥ दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् । भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥' ब्रह्मांडपुराणे । 'गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च । ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥' राजयोगे वामदेवं प्रति शिववाक्यम्-'राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः । तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम् । दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः । अज्ञा मुक्तिपदं यांति किं पुनस्तत्परायणाः ॥ अंतर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः । त्वया मयाप्यसौ वंद्यः शेषैर्वंद्यस्तु किं पुनः॥' इति । कूर्मपुराणे-'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा । ये युंजंते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ॥' इति । इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-जो योगी प्रतिदिन गोमांस (जो आगे कहेंगे) को भक्षण करताहै और प्रतिदिन अमरवारुणी (जो आगे कहेंगे) को पीताहै उसकोही हम श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न मानतेहैं अन्य सब मनुष्य कुलघातक (नाशक) हैं क्योंकि श्रेष्ठकुलमें उनका जन्म निरर्थक है सोई ब्रह्मवैवर्त्तमें कहाहै कि, योगीके माता पिता कृतार्थ हैं और उसके देश और कुलको धन्य है जहां योगवान् पैदा होताहै और योगीको दिया दान अक्षय होताहै पुरुष और प्रकृतिका विवेकी योगीजन दर्शन, भाषण स्पर्श करनेसे मनुष्योंके कोटियों जन्मोंके पापोंसे पवित्र करतेहैं । ब्रह्माण्डपुराणमें लिखाहै कि, सहस्र गृहस्थी और सौ वानप्रस्थ और सहस्र ब्रह्मचारियोंसे योगाभ्यासी अधिक होताहै और राजयोगके विषयमें वामदेवके प्रति शिवजीका वाक्य है कि, राजयोगके यथार्थ माहात्म्यको कौन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जान सकताहै ? राजयोगका ज्ञानी जहां वसताहै वह देश पुण्यात्मा है इसके दर्शन और पूजनसे इक्कीस कुल सहित मूर्ख भी मुक्तिके पदको प्राप्त होतेहैं, योगमें तत्पर तो क्यों न होंगे जो अंतर्योग और बहिर्योगको विशेषकर जानताहै वह मुझे और तुझेभी नमस्कार करने योग्य है और शेषमनुष्योंको वंदना करने योग्य तो क्यों न होगा। कूर्मपुराणमें लिखाहै कि, एकसमय वा द्विकालमें वा त्रिकालमें वा नित्य जो महायोगका अभ्यास करते हैं वे महेश्वर (शिव) जानने। इन वचनोंसे योग सर्वोत्तम है ॥ ४७ ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥

गोमांसशब्दार्थमाह–गोशब्देनेति ॥ गोशब्देन गोइत्याकारकेण शब्देन गोपदेनेत्यर्थः । जिह्वा रसनोदिता कथिता । तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपोर्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ–अब गोमांस शब्दके अर्थको कहते हैं कि, गोपदसे जिह्वा कही जातीहै और तालुके समीप जो ऊर्द्ध्वछिद्र उसमें जो जिह्वाका प्रवेश उसको गोमांसभक्षण कहते हैं–वह गोमांसभक्षण महापातकोंका नाश करनेवाला है ॥ ४८ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ॥
चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह–जिह्वेति ॥ जिह्वायाः प्रवेशो लंबिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते । यः सारः चंद्राद्भ्रुवोरंतर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ–अब अमरवारुणी शब्दके अर्थको कहते हैं कि, तालुके ऊर्ध्व छिद्रमें जिह्वाके प्रवेशसे उत्पन्न हुई जो वह्नि (ऊष्मा) उससे उत्पन्न हुआ जो सार चंद्रमासे झरताहै अर्थात् भ्रुकुटियोंके मध्यमें वामभागमें स्थित चंद्रमासे बिंदुरूप सार गिरताहै उसको अमरवारुणी कहते हैं ॥ ४९ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चुम्बंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पंदिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥ ५० ॥

चुंबंतीति ॥ यदि लंबिकाग्रं लंबिकोर्ध्वविवरं चुंबंती स्पृशन्ती । अनिशं निरंतरम् । अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्पंदः स्पंदनं प्रस्रवणमस्यामस्तीति रसस्पंदिनी यस्य जिह्वा । क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा कटुकं मरिचादि आम्लं चिंचाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना । मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा तथाशब्दः समुच्चये। एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वात्स्निग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्पंदने तथात्वमुक्तम्। तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अंतःकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वाभिमुखागमनं तस्योदीरणं निवारणम् । अष्टौ गुणा अणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्वममरभावः । सिद्धानामंगनाः सिद्धांगनाः सिद्धाश्चता अंगनाश्चेति वा तासामाकर्षणमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ५० ॥

भाषार्थ-यदि रस (सोमकलाका अमृत) का स्यंदन (झरना) करनेवाली और लवणके रसके समान और मरीच आदि कटु और इमली आदि अम्ल और दूध इनके सदृश और मधु (सहत) और घृत इनकी तुल्य इन सब विशेषणोंसे रसमें अनेक रस और मधुरता और स्निग्धता (चिकनाई) कही उस रसके झरनेवाली जिह्वाकोभी वैसीही कही समझना अर्थात् पूर्वोक्तप्रकारकी जिह्वा तालुके ऊपर वर्तमानछिद्रका वारंवार चुंबन (स्पर्श) करे तो उस मनुष्यकी व्याधियोंका हरण और वृद्ध अवस्थाका अंत करना और सन्मुख आये शस्त्रका निवारण और अणिमा आदि आठ सिद्धि हैं जिसमें ऐसा अमरत्व (देवत्व) और सिद्धोंकी अंगनाओंका वा सिद्धरूप अंगनाओंका आकर्षण (बुलाना) उसको ये फल होते हैं ॥ ५० ॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन् ॥
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥ ५१ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूर्ध्न इति ॥ रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य । ऊर्ध्वमुत्तानमास्यं यस्य सः । ऊर्ध्वास्य इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता । परां शक्तिं कुंडलिनीं चिंतयन्ध्यायन्सन् प्राणान्साधनभूतान् । षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं कंठस्थाने वर्तमानं तस्मिन्गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरंगं च तत्कलाजलं सोमकलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता विविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान् धारयति । हठाद्धठयोगात् । प्राणात्साधनभूतादवाप्तमिति वा योजना । प्राणैरिति क्वचित्पाठः ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—जो योगी, जिह्वाको कपालके छिद्रमें लगाकर और ऊपरको मुख करके इससे विपरीत करणी सूचित की--और परमशक्ति जो कुंडलिनी उसका ध्यान करताहुआ प्राणवायुके साधन और हठयोगसे प्राप्त और षोडश हैं पत्र जिसके ऐसे पद्ममें मस्तकसे पतित और निर्मल और धारारूप और ऊपरको हैं तरंग जिसकी ऐसे चंद्रकलाके जलको पीताहै व्याधिसे रहित और मृणाल (बिस) के समान कोमल है वपु (देह) जिसका ऐसा वह योगी चिरकालतक जीता है ॥ ५१ ॥

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥ ५२ ॥

यत्प्रालेयमिति ॥ मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्ना मेरुस्तस्य मूर्धोपरिभागस्तस्यांतरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धांतरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरं तस्मिन्विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः । तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः। आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्वमित्युक्तम् । निम्नगानां गंगायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्यानामिडापिंगलासुषुम्नागांधारीप्रभृतीनां तत्तस्मिन्विवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चंद्रात्सोमाद्वपुषः

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चंद्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति । अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात् । सुकरणे बद्धे चंद्रसारस्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः अन्यथा सुकरणबंधनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात् ॥ ५२ ॥

भाषार्थ-मेरुके समान सबसे ऊँची जो सुषुम्ना नाडी उसके मूर्द्धा (ऊपरके भाग) के मध्यमें टिकाहुआ जो प्रालेय अर्थात् सोमकलाका जल है और जिसमें वह जल स्थित है ऐसा विवर (छिद्र) है उस विवरमें रजोगुण तमोगुणसे नहीं हुआ है तिरस्कार जिसका ऐसी बुद्धिवाले मनुष्य आत्मतत्त्वको कहते हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि, सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है--क्योंकि आत्मा विभु (व्यापक) है और खेचरीमुद्रामें उस विवरमें आत्मा प्रगट होताहै इससे उसमें तत्त्व है यह कहना ठीक है—और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा आदि शब्दोंका अर्थ जो इडा, पिंगला सुषुम्ना, गांधारी आदि नाडी हैं उनके मुखभी उसी छिद्रके समीपमें हैं और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरताहै उससेही मनुष्योंकी मृत्यु होतीहै तिससे शोभन करणरूप खेचरीमुद्राको बांधे (करै) क्योंकि खेचरीमुद्राके करनेसे चंद्रमाके सारके न झरनेसे मृत्यु न होगी और अन्यथा अर्थात् खेचरीमुद्राके न करनेसे देहका जो रूप, लावण्य, बल वज्रके समान संहनन (दृढता) रूपसिद्धि न होगी । भावार्थ यह है कि, जो सोमकलाका जल सुषुम्नाके मध्यमें स्थित है वह जल जिस छिद्रमें है उस छिद्रमेंही बुद्धिमान् मनुष्य परमात्माको कहतेहैं और उसी छिद्रके समीप इडा पिंगला आदि नाडियोंका मुख है और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरताहै उससे मनुष्योंकी मृत्यु होतीहै तिससे खेचरी मुद्राको करै क्योंकि न करनेसे देहकी सिद्धि नहीं होसकती अर्थात् पुष्ट न होगा ॥ ९२ ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितम् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरंजने ॥ ५३ ॥

सुषिरमिति ॥ पंच यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैः समन्वितं सम्यगनुगतम् ॥ "सप्तस्रोतःसमन्वितम्" इति क्वचित्पाठः । ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽजनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्तन्निरंजनं तस्मिन्निरंजने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् ॥ ९३ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भाषार्थ–इडा आदि नाडियोंके जो पांच स्रोत (प्रवाह) हैं उनसे युक्त जो सुषिर (छिद्र) है वह ज्ञानका उत्पादक है अर्थात् आत्माके प्रत्यक्षका जनक है–शोक मोह आदिसे रहित रूप निरंजन और शून्यरूप जो है उसके विषे खेचरीमुद्रा स्थिर होतीहै अर्थात् खेचरीमुद्राकी महिमासे उस छिद्रमें मनके प्रवेशसे आत्मज्ञान होताहै ॥ ९३ ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ॥
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥ ५४ ॥

एकमिति ॥ सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यम् । तदुक्तं मांडूक्योपनिषदि 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' इति । खेचरी मुद्रा एका मुख्या । निरालंब आलंबनशून्य. एको मुख्यो देवः । आलंबनपरित्यागेनात्मनः स्वरूपावस्थानात् । उन्मन्यवस्थैका मुख्या । एकेमुख्यान्यकेवलाः' इत्यमर । बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ–सृष्टिरूप जो प्रणव (ॐ) नामका बीज हैं वह मुख्य है सोई मांडूक्य उपनिषद्में कहा है कि, यह सम्पूर्ण जगत् ॐ इस अक्षररूप है–और खेचरीमुद्राभी एक (मुख्य) है और निरालंब अर्थात् आलंबनशून्य देव परमात्मा भी एकही है–और मनोन्मनी अवस्था भी एकही है । यहां एकशब्द इस अमरके अनुसार मुख्यका बोधक है अर्थात् बीज आदिमें जैसे प्रणव मुख्य है ऐसेही मुद्राओंमें खेचरीभी मुख्य है ॥ ९४ ॥

अथोड्डीयानबन्धः ।

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥

उड्डीयानबंधं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह–बद्ध इति ॥ यतो यस्माद्धेतोर्येन बंधेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्नायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्नां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बंधो योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिरुड्डीयनमाख्याभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्युत्पत्त्योदाहृतः कथितः । सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम् । उत्पूर्वात् 'डीङ्–विहायसा गतौ' इत्यस्मात्करणे ल्युट् ॥ ९५ ॥

भाषार्थ–अब उड्डीयानबंधको कहनेके अभिलाषी आचार्य प्रथम उड्डीयान शब्दके अर्थको कहते हैं कि, जिस बंधसे बँधाहुआ प्राण मध्य नाडीरूप सुषुम्नाके विषे उडजाय अर्थात् आकाशमेंसे सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाय तिसकारणसे यह बंध मत्स्येंद्र आदि योगियोंने उड्डीयान नामका कहा है अर्थात् सुषुम्नामें जिससे प्राण उडे इस व्युत्पत्तिसे इसका उड्डीयान नाम रक्खा है ॥ ९५ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगाः॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते॥ ५६॥

उड्डीनमिति॥ महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः। सर्वदा देहावकाशे गतिमत्त्वात्। यस्याद्बंधादविश्रांतं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते। सुषुम्नायामित्यध्याहार्यम्। तदेव बंधविशेषमुड्डीयानमुड्डीयाननामकं स्यात्। तत्र तस्मिन्विषये बंधोऽभिधीयते बंधस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः॥ ५६॥

भाषार्थ-सदैव देहके अवकाशमें गति है जिसकी ऐसा महाखगरूप प्राण जिस बंधसे निरंतर उड्डीन (पक्षीके समान गति) को सुषुम्नामें करताहै, वही बंध उड्डीयान नामका होताहै उसमें मैं बंधके स्वरूपको कहताहूं॥ ५६॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्॥
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी॥ ५७॥

उड्डीयानबंधमाह-उदर इति॥ उदरे तुंदे नाभेरूर्ध्वं चकारादधः उपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसंलग्नौ स्यातां तथा तानंताननं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात्। णिजर्थोऽविवक्षितः। असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्तानरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बंधः। कीदृशः मृत्युरेव मातंगो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः॥ ५७

भाषार्थ-उदर (पेटके तुंद) में नाभिके ऊपर और नीचे पश्चिम तान करै अर्थात् नाभिके ऊपरके और निचले भागको इसप्रकार तान (आकर्षण) करै जैसे वे दोनों भाग पृष्ठमें लगजांय यह नाभिके ऊर्ध्व अधोभागका तान उड्डीयान नामका बंध होताहै और यह बंध मृत्युरूप हस्तीको केसरी है अर्थात् नाशक है॥ ५७॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते॥ ५८॥

उड्डीयानं त्विति॥ गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिर्गमनम्। सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात्। यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरंतरमभ्यसेत्। उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते। स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते॥ ५८॥

भाषार्थ-हितके उपदेष्टा गुरुने उड्डीयान सदैव स्वाभाविक कहाहै अर्थात् प्राणका बहिर्गमन स्वभावसे सबको होताहै परन्तु जो पुरुष इसका निरंतर अभ्यास करताहै वृद्धभी वह तरुण (युवा) के समान आचरण करताहै॥ ५८॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥

नाभेरिति ॥ नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूपमुक्तम् । अथ तत्प्रशंसा । षण्मासं षण्मासपर्यंतम् उड्डीयानमित्यध्याहारः । अभ्यसेत्पुनःपुनरनुतिष्ठेत्स मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—नाभिके ऊपर और नीचे भलीप्रकार यत्नसे तान करै अर्थात् यत्न विशेषसे पश्चिमतान करै और षण्मास (छःमास) पर्यंत इस उड्डीयानबंधका वारंवार अभ्यास करै तो मृत्युको जीतताहै इसमें संशय नहीं है ॥ ५९ ॥

सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥

उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां बंधानां मध्ये उड्डीयानकः उड्डीयानबंध एव । स्वार्थे कप्रत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्मादुड्डीयाने बंधे दृढे सति स्वाभाविकी भावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत्। उड्डीयानबंधे कृते विहंगमगत्या सुषुम्नायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात्। 'समाधौ मोक्षमाप्नोति' इति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

भाषार्थ—संपूर्ण बंधोंके मध्यमें उड्डीयान बंध उत्तम है, क्योंकि उड्डीयान बंधके दृढ होनेपर स्वाभाविकी मुक्ति होती है अर्थात् उड्डीयान बंधके करानेसे पक्षीके समान गतिसे सुषुम्नाविषे प्राण मस्तकमें चलाजाताहै उस समाधिमें इस वाक्यके अनुसार अनायाससे मुक्ति होजाती है ॥ ६० ॥

अथ मूलबंधः ।

पार्ष्णिभागेन संपीडय योनिमाकुंचयेद्गुदम् ॥

अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

मूलबंधमाह—पार्ष्णिभागेनेति॥ पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधः प्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुंचयेत्संकोचयेत्। अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबंधोऽभिधीयते कथ्यते । पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुंचनं मूलबंध इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भाषार्थ-अब मूलबंधमुद्राका वर्णन करतेहैं कि, पार्ष्णिके भाग (गुल्फोंका अधः-प्रदेश) से योनिस्थानको अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागको भलीप्रकार पीडित (दबा) करके गुदाका संकोच करै और अपान वायुका ऊपरको आकर्षण करै यह मूलबंध होताहै ऐसा योगशास्त्रको जाननेवाले आचार्य कहतेहैं ॥ ६१ ॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः ॥ ६२ ॥

अधोगतिमिति ॥ यः अधोगतिम् अधोऽर्वाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुंचनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्नायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबंधं मूलस्य मूलस्थानस्य बंधनं मूलबन्धस्तं मूलबंधमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबंधशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बंधनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ-जो बंध अधः (नीचेको) गति है जिसकी ऐसे अपान वायुको बलसे ऊर्ध्वगामी करता है अर्थात् जिसके करनेसे अपान सुषुम्नामें पहुँच जाता है योगके अभ्यासी उस बंधको मूलबंध कहते हैं अर्थात् मूलस्थानका जिससे बंधन हो वह मूलबंध अन्वर्थनामसे कहाताहै इस श्लोकसे मूलबंध शब्दका अर्थ कहा और पिछले श्लोकसे बंधनका प्रकार कहाहै इससे पुनरुक्तिदोष नहीं है ॥ ६२ ॥

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीडय वायुमाकुंचयेद्बलात् ॥
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबंधमाह--गुदमिति ॥ पार्ष्ण्योर्गुल्फयोरधोभागेन गुदं वायुं संपीडच सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारंवारं पुनःपुनर्वायुमपानमाकुंचयेद्गुदस्याकुंचनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबंध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ-अब योगबीजमें कहीहुई रीतिसे मूलबंधको कहतेहैं कि, पार्ष्णिसे गुदाको भलीप्रकार पीडित करके वायुको बलसे इसप्रकार वारंवार आकर्षण करै जैसे वो सुषुम्नाके ऊपरले भागमें पहुंचजाय यह मूलबंध कहाताहै इस श्लोकमें तु यह शब्द पिछले मूलबंधसे विशेष जतानेके लिये है ॥ ६३ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ ६४ ॥

अथ मूलबंधगुणानाह—प्राणापानाविति ॥ प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वाधोगती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः बिंदुरनुस्वारस्तौ मूलबंधेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसंसिद्धिं यच्छतो ददतः । अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न । संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः । मूलबंधे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिंदुना सहैक्यं बिंदुनाधाय मूर्ध्नि गच्छतः, ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—अब मूलबंधके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, नीचेको है गति जिनकी ऐसे प्राण और अपान दोनों वायु और अनाहत (स्वाभाविक) ध्वनि और बिंदु (अनुस्वार) ये दोनों मूलबंधसे एकताको प्राप्त होकर योगाभ्यासीको योगकी सिद्धिको भलीप्रकार देते हैं इसमें संशय नहीं है. तात्पर्य यह है कि, मूलबंधके करनेसे अपान प्राणके संग एकताको प्राप्त होकर सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै फिर नादकी प्रकटता होतीहै फिर नादके संग प्राण अपान हृदयके ऊपर जाकर और नादके संग बिंदुकी एकताको करके मस्तकमें चले जाते हैं फिर योगसिद्धि होजाती है ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥ ६५ ॥

अपानप्राणयोरिति ॥ सततं मूलबंधनान्मूलबंधमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—निरंतर मूलबंधमुद्राके करनेसे अपान और प्राणकी एकता और देहमें संचितहुये मूत्र और मलका क्षय होताहै तिससे वृद्धभी मनुष्य युवा होजाताहै ॥ ६५ ॥

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥ ६६ ॥

अपान इति । मूलबंधनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तस्मिन्तादृशे सति वह्निमंडलं वह्नेर्मण्डलं त्रिकोणं नाभेर-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

धोभागेऽस्ति। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन--'देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभम्। त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम्॥ मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते। तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके॥' इति। तदा तस्मिन्काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते। 'वर्धते' इति क्वचित्पाठः॥ ६६॥

भाषार्थ--मूलबंधकरनेसे अधोगामी अपान जब ऊर्ध्वगामी होकर अग्निमंडलमें पहुँच जाताहै अर्थात् नाभिके अधोभागमें वर्तमान त्रिकोण जठराग्निके मंडलमें प्रविष्ट होजाता है उससमय अपानवायुसे ताडित की हुई जो जठराग्निकी शिखा है वह दीर्घ होजातीहै अर्थात् बढजातीहै सो याज्ञवल्क्यने कहाहै कि, तपाये हुये सुवर्णके समान अग्निका स्थान मनुष्योंके देहके मध्यमें त्रिकोण और पशुओंके देहमें चतुष्कोण है और पक्षियोंके देहमें गोल है यह आपके प्रति मैं सत्य कहताहूँ और अग्निके मध्यमें सदैव सूक्ष्म शिखा टिकतीहै॥ ६६॥

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्॥
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा॥ ६७॥

तत इति॥ ततस्तदनंतरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ। उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातौ गच्छतः। ततोऽनलशिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपकादिति वा योजना। तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यंतमधिकं दीप्तो भवति। तथेति पादपूरणे। अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राणसंगत्याऽत्यंतं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः॥ ६७॥

भाषार्थ--फिर अग्नि और अपान ये दोनों अग्निकी दीर्घ शिखासे उष्णरूप हुये ऊर्ध्वगति प्राणमें पहुँच जातेहैं तिस प्राणवायुके समागमसे देहमें उत्पन्नहुई जठराग्नि अत्यंत प्रज्वलित होजाती है अर्थात् अपानकी ऊर्ध्वगतिसे दीप्तहुई अग्नि अत्यंत प्रदीप्त होजातीहै॥ ६७॥

तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते॥
दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥ ६८॥

तेनेति॥ तेन ज्वलनस्यात्यंतं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुंडलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति। दंडेनाहता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दंडाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निश्वस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—तिस अग्निके अत्यंत दीपनसे भलीप्रकार तपायमान हुई कुंडलिनी शक्ति इसप्रकार भलीप्रकारसे प्रबुद्ध होजातीहै और कोमल होजाती है जैसे दंडसे हतीहुई सर्पिणी कोमल होजातीहै ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत् ॥
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ६९ ॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ ततो ऋजुताप्राप्त्यनंतरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अंतरं मध्यं गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबंधो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः६९॥

भाषार्थ—उसके अनंतर बिलमें प्रविष्ट सर्पिणीके समान ब्रह्मनाडी (सुषुम्ना) के मध्यमें कुंडलिनी प्रविष्ट होजाती है तिससे योगाभ्यासियोंको मूलबंध प्रतिदिन करने योग्यहै ॥ ६९ ॥

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ॥
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

जालंधरबंधमाह—कंठमिति ॥ कंठे गले बिलमाकुंच्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरंगुलांतरितप्रदेशे चिबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात् । अयं कंठाकुंचनपूर्वकं चतुरंगुलांतरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चिबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्यायत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बंधः । कीदृशः ? जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीति विनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

भाषार्थ—अब जालंधरबंधको कहते हैं कि, कंठके बिलका संकोच करके वक्षःस्थलके समीपरूप हृदयमें चार अंगुलके अंतरपर चिबुक (ठोडी) को दृढरीतिसे स्थापन करै, कंठके आकुंचनपूर्वक चार अंगुलके अंतरपर हृदयके समीपमें नीचेको नमनपूर्वक चिबुकका स्थापनरूप यह जालंधर नामका बंध कहाहै और यह बंध जरा और मृत्युका विनाशक है ॥ ७० ॥

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ॥
ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जालंधरपदस्यार्थमाह-बध्नातीति ॥ हि यस्माच्छिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति । अधो गंतुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति । ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बंधः जालं दशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । कीदृशः कंठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

भाषार्थ-अब जालंधरपदके अर्थको कहतेहैं कि, जिससे यह बंध शिरा-(नाडी) ओंके समूहरूप जालको बाँधताहै और कपालके छिद्ररूप नभका जो जल है उसका प्रतिबंध करताहै तिससे यह जालंधर नामका अन्वर्थ बंध जालंधरबंध कहाताहै क्योंकि जाल नाम समुदाय और जलोंके समूहको कहतेहैं और यह जालंधरबंध कंठमें जो दुःखोंका समूह है उसका नाशक है ॥ ७१ ॥

जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥

जालंधरगुणानाह-जालंधर इति ॥ कंठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोच आकुंचनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कंठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बंधे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति । वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यंतरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

भाषार्थ-अब जालंधरबंधके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, कंठका संकोच है स्वरूप जिसका ऐसे जालंधरबंधके करनेपर पूर्वोक्त अमृत जठराग्निमें नहीं पडताहै और वायुका भी कोप नहीं होता अर्थात् अन्य नाडियोंमें वायुका गमन नहीं होताहै ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेदृढम् ॥
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् ॥ ७३ ॥

कंठसंकोचनेनेति । दृढं गाढं कंठसंकोचनेनैव कंठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिंगले स्तंभयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कंठस्थाने स्थितं विशुद्धाख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयम् । कीदृशं षोडशाधारबंधनं षोडशसंख्याका ये आधारा अंगुष्ठाधारादिब्रह्मरंध्रांतास्तेषां बंधनं बंधनकारकम् । 'अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिंगनाभयः । हृद्ग्रीवा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा ॥ भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ॥' तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धांतादवगंतव्यः ॥ ७३ ॥

भाषार्थ--यह जालंधरबंध दृढतासे कंठके संकोच करनेसेही इडा पिंगलारूप दोनों नाडियोंका स्तंभन करताहै और कंठस्थानमें स्थित इन सोलह आधारोंका बंधन करनेवाला मध्य चक्र (विशुद्धनाम) जानना । अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, ऊरु, सीविनी, लिंग, नाभि, हृदय, ग्रीवा. कंठदेश, लंबिका, नासिका, भ्रुकुटियोंका मध्य, मस्तक, मूर्द्धा, ब्रह्मरंध्र योगियोंमें श्रेष्ठोंने ये सोलह आधार कहे हैं इन आधारोंमें धारणाका फल विषशे तो गोरक्षसिद्धांत ग्रंथसे जानना ॥ ७३ ॥

मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् ॥
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ७४ ॥

उक्तस्य बंधत्रयस्योपयोगमाह--मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानमाधारभूतआधारस्थानं समाकुंच्य सम्यगाकुंच्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बंधं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । इडां पिंगलां गंगां यमुनां च बद्ध्वा । जालंधरबंधेनेत्यर्थः । कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेत्' इत्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्नामार्गे वाहयेद्गमयेत्प्राणमिति शेषः ॥ ७४ ॥

भाषार्थ--अब पूर्वोक्त तीनों बंधोंके उपयोगका वर्णन करते हैं कि मूलस्थानको अर्थात् आधारभूत आधारस्थानका भलीप्रकार संकोच करके नाभिके पश्चिमतानरूप उड्डीयानबंधको करै और जालंधरबंधसे अर्थात् कंठके संकोचसेही इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंको स्तंभन करै फिर प्राणको पश्चिममार्गमें (सुषुम्नामें) प्राप्त करै ॥७४॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ॥
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

अनेनेति ॥ अनेनैवोक्तेनैव विधानेन पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति । गत्यभावपूर्वकं रंध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयान्मृत्युजरारोगादिकम् । तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततंद्रालस्यादि ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

भाषार्थ--इस पूर्वोक्त विधानसेही प्राण लय (स्थिरता) को प्राप्त हो जाता है, गमनकी निवृत्ति होनेपर ब्रह्मरंध्रमें स्थितिही प्राणका लय होताहै उस प्राणके लयसे मृत्यु, जरा, रोग और आदिपदसे वलीपलित, तंद्रा, आलस्य आदि नहीं होतेहैं ॥ ७५ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम्॥
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः॥ ७६॥

बंधत्रयमिति॥ इदं पूर्वोक्तं बंधत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबंधेऽतिप्रशस्तं महासिद्धैर्मत्स्येंद्रादिभिश्चकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिः सेवितं सर्वेषां हठतंत्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानंति॥ ७६॥

भाषार्थ--ये पूर्वोक्त तीनों बंध श्रेष्ठ हैं अर्थात् षोडशाधार बंधमें अत्यंत उत्तम हैं और मत्स्येंद्र आदि योगिजन और वसिष्ठ आदि मुनियोंके सेवित हैं और संपूर्ण जो हठयोगके उपाय हैं उनका साधन हैं यह बात गोरक्ष आदि योगीजन जानतेहैं॥७६॥

यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः॥
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः॥ ७७॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्घातत्वेन पिंडस्य जराकरणं तावदाह-यत्किंचिदिति॥ दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्माद्दिव्यरूपिणश्चंद्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यत्किंचिद्यत्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति तत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति। तदुक्तं गोरक्षनाथेन-'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः। अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमाः॥ वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः। करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते॥' इति। तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रसनेन पिंडो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति॥ ७७॥

भाषार्थ--अब विपरीत करणीके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम उसके उपोद्घातरूप होनेसे पिंडके जराकरणका वर्णन करतेहैं कि, दिव्य (सर्वोत्तम) सुधामय है रूप जिसमें ऐसे तालुके मूलमें स्थित चंद्रमासे जो कुछ अमृत झरताहै उस संपूर्ण अमृतको नाभिमें स्थित अग्निरूप सूर्य ग्रस लेताहै सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि, नाभिके देशमें अग्निरूप सूर्य स्थित है और तालुके मूलमें अमृतरूप चंद्रमा स्थित है अधोमुख होकर चन्द्रमा जिस अमृतको वर्षताहै और ऊर्ध्वमुख होकर सूर्य उस अमृतको ग्रस लेताहै उसमें वह करण (मुद्रा) करना चाहिये जिससे अमृतकी नष्टता न हो अर्थात् पुष्टि रहै फिर सूर्यके किये उस अमृतके ग्रसनेसे पिंड (देह) वृद्ध अवस्थासे युक्त होजाताहै॥ ७७॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् ॥
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥

तत्रेति ॥ तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वंचयतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति तद्गुरूपदेशतः गुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यम् । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥७८॥

भाषार्थ—उस अमृतकी रक्षा करनेमें जिसे सूर्यके मुखकी वंचना होय ऐसा आगे कहनेयोग्य मुद्रारूप करण है और वह करण गुरुके उपदेशसे जानने योग्य है और कोटियों शास्त्रोंके अर्थसे जाननेको शक्य नहीं है ॥ ७८ ॥

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ॥
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥

विपरीतकरणीमाह—ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधः अधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यमृतात्मा चंद्रो भवति । प्रथमांतपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधः शशी भवति । यदातदापदयोरध्याहारेणान्वयः । इयं विपरीताख्या विपरीतनाम्निका करणी । ऊर्ध्वाधः स्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणेनान्वर्थागुरुवाक्येन गुरोर्वाक्येनैव लभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥ ७९ ॥

भाषार्थ—अब विपरीतकरणीमुद्राके स्वरूपका वर्णन करतेहैं कि ऊपरके भागमें है नाभि जिसके और अधोभागमें है तालु जिसके ऐसा जो योगी उसके ऊपरके भागमें तो अग्निरूप सूर्य होजाय और अधोभागमें अमृतरूप चंद्रमा होजाय और जब 'ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुः' यह प्रथमांत पाठ है तब यदा तदा पदोंके अध्याहारसे इसप्रकार अन्वय करना कि, जब ऊपरके भागमें नाभि और नीचेके भागमें तालु जिसके ऐसा योगी होजाय तब ऊपर सूर्य और नीचे चंद्रमा होजातेहैं यह विपरीत (उलटी) नामकी करणी ऊपर और नीचे स्थित जो चंद्रमा सूर्य हैं उनके नीचे ऊपर क्रमसे करनेसे अन्वर्थ है अर्थात् विपरीतकरणीका अर्थ तभी घटसकताहै जब पूर्वोक्त मुद्रा कीजाय और यह विपरीतकरणी गुरुके वाक्यसे मिल सक्तीहै अन्यथा नहीं ॥ ७९ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ॥
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ ८० ॥

नित्यमिति ॥ नित्यं प्रतिदिनमभ्यासोऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्यावहितस्य जठराग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणम् ॥ तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनं बहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । च पादपूरणे ॥ ८० ॥

भाषार्थ-प्रतिदिनके अभ्यासमें युक्त जो योगी है उसकी जठराग्निको यह विपरीतकरणी बढातीहै और इसीसे उस विपरीतकरणीके अभ्यासी योगीको यथेच्छ अधिक भोजन संपादन करनेयोग्य है अर्थात् अल्पभोजन न करै ॥ ८० ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ८१ ॥

अल्पाहार इति ॥ यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्दहेत्। शीघ्रं दहेदित्यर्थः। ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणक्रियामाह-अधःशिरा इति । अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यंताभ्यां बाहुभ्यां स्कंधाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यंतरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

भाषार्थ-क्योंकि, यदि विपरीतकरणीका अभ्यासी योगी अल्पाहारी हो अर्थात् अल्पभोजन कियाजाताहै तो जठराग्नि उसी क्षणमात्रमें देहको भस्म करदेतीहै । अब ऊपर नीचे स्थित चन्द्रमा सूर्यके नीचे ऊपर करनेकी क्रियाको कहतेहैं कि, प्रथम दिनमें क्षणभर नीचेको शिर करै अर्थात् भुजा दोनों स्कंध गल और शिर पृष्ठभाग (पीठ) से भूमिका स्पर्श करके नीचे शिर किये स्थित हो और ऊपरको पाद करै अर्थात् प्रारंभके दिन क्षणमात्र इसप्रकार स्थित रहै ॥ ८१ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्द्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ८२ ॥

क्षणादिति ॥ दिनेदिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणम्

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

एकदिनवृद्ध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात् ॥ विपरीतकरणीगुणानाह—वलितमिति ॥ वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च, षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्वमुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते । साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः । यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत् । एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्वमपि सूचितम् । तदुक्तं विष्णुधर्मे—'स्वदेहारंभकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः । यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम्' ॥ इति । विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम्—"यथा प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः । अत एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यत" इति । भागवतेऽप्युक्तम्—'देहं जह्यात्समाधिना' इति ॥ ८२ ॥

भाषार्थ—फिर प्रतिदिन क्षणसे कुछ २ अधिक अभ्यास करै अर्थात् दो क्षण, तीन क्षण, काल एक २ दिनकी वृद्धिसे अभ्यासको बढाता रहै. अब विपरीतकरणीके गुणोंको कहते हैं कि, पूर्वोक्त प्रकारके करनेसे वलीपलित छः मासके अनंतर नहीं दीखतेहैं अर्थात् यौवन अवस्था होजाती है और जो साधक प्रतिदिन, प्रहरमात्र अभ्यास करताहै वह मृत्युको जीतताहै. इससे यहभी सूचित किया कि, योग प्रारब्धकर्मकाभी प्रतिबंधक है सोई विष्णुधर्ममें कहा है कि, अपने देहके आरंभककर्मकाभी नाशक जो योग है हे पृथ्वीपाल ! उस योगको तू सुन और विद्यारण्यने जीवन्मुक्तिग्रंथमें यह कहा है कि, तत्त्वज्ञानसे प्रारब्धकर्म जैसे प्रबल है ऐसेही प्रारब्धकर्मसे योगाभ्यास प्रबल है इसीसेउद्दालक, वीतहव्य आदि योगियोंने अपनी इच्छासे देहका त्याग किया. भागवतमेंभी लिखा है कि, समाधिसे देहको त्यागै ॥ ८२ ॥

अथ वज्रोली ।

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ८३ ॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह—स्वेच्छयेति ॥ योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भाषार्थ—वज्रोलीमुद्राकी प्रवृत्तिको उत्पन्न करनेके लिये प्रथम वज्रोलीके फलका वर्णन करते हैं कि, जो योगाभ्यासी वज्रोलीमुद्राको अपने अनुभवसे जानता है वह योगी योगशास्त्रमें कहेहुये नियमोंके विना अपनी इच्छाके अनुसार व्यवहार करताहुआभी अणिमा आदि सिद्धियोंका भोक्ता है अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि नियमोंके विनाभी उसको सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ८३ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह—तत्रेति ॥ तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं वस्तुद्वयं वक्ष्ये कथयिष्ये। कीदृशं वस्तुद्वयं यस्यकस्यचित् यस्यकस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा। 'दुःस्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशात् ॥ किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह—क्षीरमिति। एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानंतरमिंद्रियनैर्बल्यात्तद्बलार्थं क्षीरपानं युक्तम्। केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः। तस्यांतर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तम्। द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

भाषार्थ—अब वज्रोलीमुद्राके साधक दो वस्तुओंका वर्णन करते हैं कि, उस वज्रोलीकी सिद्धिमें जिसकिसी निर्धन पुरुषको दुर्लभ जो दो वस्तु हैं उनको मैं कहताहूँ उन दोनोंमें एक दूध है और दूसरी वशवर्तिनी नारी है अर्थात् मैथुनके अनंतर निर्बल हुई इंद्रियोंकी प्रबलताके लिये दूधका पान योग्य है और कोई यह कहते हैं कि, अभ्यासकालमें आकर्षणके लिये दूधका पान उत्तम है सो ठीक नहीं, क्योंकि अंतगर्त हुए दूधका आकर्षण नहीं हो सकता है ॥ ८४ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ॥
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह—मेहनेनेति ॥ मेहनेन स्त्रीसंगानंतरं बिंदोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथवा नार्यपि योषिदपि शनैर्मंदं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुंचनमूर्ध्वमुपर्याकुंचनं मेढ्राकुंचनेन बिंदोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुयात्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

भाषार्थ—अब वज्रोलीमुद्राके प्रकारका वर्णन करते हैं कि, पुरुष अथवा स्त्री मेहन (बिंदुका झरना) से शनैः २ भलीप्रकार यत्नसे ऊपरको आकुंचध (संकोच) का

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अभ्यास करे अर्थात् लिंग इंद्रियके आकुंचनसे बिंदुके ऊपर खींचनेका अभ्यास करे तो वज्रोलीमुद्रा सिद्धिको प्राप्त होती है ॥ ८५ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ॥
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वांगप्रक्रियामाह—यत्नत इति ॥ शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मंदंमंदं यथाग्नेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेढ्रविवरे, वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुनः पुनः कुर्वीत ॥ अथ वज्रोलीसाधनप्रक्रिया । सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशांगुलमात्रां शलाकां कारयित्वा मेढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकांगुलमात्रां शलाकां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यंगुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यंगुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशांगुलमात्रप्रवेशे मेढ्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशांगुलमात्रां द्व्यंगुलमात्रवक्रामूर्ध्वमुखां कारयित्वा तां द्वादशांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यंगुलमात्रं बहिः स्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनीभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेढ्रप्रवेशितद्वादशांगुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यंगुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति । ततो जलस्य मेढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत् जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिंदोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसेत् । बिंद्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः । इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्य खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यक् भवति ॥ ८६ ॥

भाषार्थ—अब वज्रोली मुद्राकी पूर्वाङ्ग क्रियाका वर्णन करतेहैं कि, सीसे आदिकी उत्तमनालीसे शनैः २ इसप्रकार लिंगके छिद्रमें वायुके संचार (भलीप्रकार प्रवेश) के लिये यत्नसे फूत्कारको करै, जैसे अग्निके प्रज्वलनार्थ फूत्कारको करते हैं । अब वज्रोलीकी साधनप्रक्रियाको कहते हैं कि, सीसेसे बनीहुई लिंगमें प्रवेशके योग्य चौदह अंगुलकी शलाई बनवाकर उसके लिंगमें प्रवेशका अभ्यास करै । पहिले दिन एक अंगुलमात्र प्रवेश करै दूसरे दिन दो अंगुल मात्र और तीसरे दिन तीन अंगुलमात्र प्रवेश करै इसप्रकार क्रमसे वृद्धि करनेपर बारह अंगुल शलाकाके प्रवेश होनेके अनंतर लिंगका मार्ग शुद्ध होजाताहै फिर उसीप्रकारकी और चौदह अंगुलकी ऐसी शलाई बनवावे जो दो अंगुल टेढी हो और ऊर्ध्वमुखी हो उसकोभी बारह अंगुल भर लिंगके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

छिद्रमें प्रवेश करै, टेढा और ऊर्ध्वमुख जो दो अंगुल मात्र है उसको बाहर रक्खे फिर सुनारके अग्निधमनेके नालकी सदृश नालको लेकर उस नालके अग्रभागको लिंगमें प्रवेश किये बारह अंगुलके नालका टेढा और ऊर्ध्वमुख दो अंगुल है उसके मध्यमें प्रवेश करके फूत्कार करै तिससे भलीप्रकार लिंगके मार्गकी शुद्धि होतीहै फिर लिंगसे जलके आकर्षणका अभ्यास करै जलके आकर्षणकी सिद्धि होनेपर पूर्वोक्तश्लोकमें कही हुई रीतिके अनुसार बिंदुके ऊपरको आकर्षणका अभ्यास करै बिंदुके ऊर्ध्व आकर्षणकी सिद्धि होनेपर वज्रोलीमुद्राकी सिद्धि होतीहै यह मुद्रा उस योगीको ही सिद्ध होतीहै जिसने प्राणवायुको जीत लियाहै अन्यको नहीं होती है और खेचरीमुद्रा और प्राणका जय होनेपर तो भलीप्रकार सिद्ध होतीहै। भावार्थ यह है कि, लिंगके छिद्रमें वायुके संचार करनेके लिये उत्तमनालसे शनैः २ यत्नपूर्वक फूत्कारको करै ॥ ८६ ॥

नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ॥
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

एवं वज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह–नारीभग इति ॥ नारीभगे स्त्रीयोनौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिंदुश्च पतद्बिंदुस्तं पतद्बिंदुं रतिकाले पतंतं बिंदुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत्। पतनात्पूर्वमेव। यदि पतनात्पूर्वं बिंदोराकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदित्याह–चलितं चेति। चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिंदुं चकारात्तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत् ॥ ८७ ॥

भाषार्थ–अब वज्रोलीमुद्राकी सिद्धिके अनंतरका जो साधन हैं उसका वर्णन करते हैं कि, नारीके भग (योनि) में पडते हुये बिंदु (वीर्य) का अभ्याससे ऊपरको आकर्षण करै अर्थात् पडनेसे पूर्वही ऊपरको खींचले यदि पतनसे पूर्व बिंदुका आकर्षण न होसकै तो पतितहुये बिंदुका आकर्षण करै कि चलितहुआ अपना बिंदु और चकारसे स्त्रीका रज इनकी ऊपरको आकर्षण करके रक्षा करै अर्थात् मस्तकरूप जो वीर्यका स्थान है उसमें स्थापन करै ॥ ८७ ॥

एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥
मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥ ८८ ॥

वज्रोलीगुणानाह–एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या बिंदुं यः संरक्षयेत् सम्यक् रक्षयेत् स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं जयत्यभिभवति। यतो बिंदोः शुक्रस्य

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पातेन पतनेन मरणं भवति। बिंदोर्धारणं बिंदुधारणं तस्माद्बिंदुधारणाज्जीवनं भवति। तस्माद्बिंदुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

भाषार्थ--अब वज्रोलीके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, इसप्रकार जो योगी बिंदुकी भलीप्रकार रक्षा करताहै योगका ज्ञाता वह योगी मृत्युको जीतताहै क्योंकि, बिंदुके पडनेसे मरण और बिंदुकी रक्षासे जीवन होताहै तिससे बिंदुकी रक्षा करै ॥ ८८ ॥

सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ॥
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ८९ ॥

सुगंध इति ॥ योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे बिंदोः शुक्रस्य धारणं तस्मात्सुगंधः शोभनो गंधो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद्बिंदुः स्थिरस्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

भाषार्थ–वज्रोलीके अभ्यासकर्ता योगीके देहमें बिंदुके धारण करनेसे सुगंध होजातीहै और देहमें जबतक बिंदु स्थिर है तबतक कालका भय कहां अर्थात् कालका भय नहीं रहताहै ॥ ८९ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

चित्तायत्तमिति ॥ हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनं जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणं शुक्राधीनं तस्माच्छुक्रं बिंदुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं रक्षणीयमित्यर्थः । एवश्चन्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

भाषार्थ–जिंससे मनुष्योंका शुक्र (वीर्य) चित्तके आधीन है अर्थात् चित्तके चलायमान होनेपर चलायमान और चित्तके स्थिर होनेपर स्थिर होजाताहै इससे चित्तके वशीभूत है और मनुष्योंका जीवन शुक्रके आधीन है अर्थात् शुक्रकी स्थिरतासे जीवन और शुक्रकी नष्टतासे मरण होताहै इससे जीवन शुक्रके आधीन है तिससे शुक्र (बिंदु) और मनकी भली प्रकार यत्नसे रक्षा करै ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदुं च रक्षयेत् ॥
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥

ऋतुमत्या इति । एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं बिंदुं च रक्षयेत्। पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति-मेढ्रेणेति । अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेढ्रेण गुह्येंद्रियेण, सम्यग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् । रजो बिंदुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः क्षिप्तः ९१

भाषार्थ-ऋतु हुआ है जिसके ऐसी स्त्रीके रज (वीर्य) की और अपने बिंदुकीभी इसी पूर्वोक्त अभ्याससे रक्षा करै अर्थात् ऋतुस्नानके अनंतर रज और वीर्य दोनोंकी रक्षा करै । पूर्वोक्त अभ्यासकोही दिखातेहैं कि, वज्रोलीके अभ्यासरूप योगका ज्ञाता योगी लिंग इंद्रियसे रज और बिंदुका भलीप्रकार ऊपरको आकर्षण करै (खींचे) यह श्लोक क्षेपक है अर्थात् मूलका नहीं है ॥ ९१ ॥

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ॥
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह-सहजोलिश्चेति ॥ वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च । तत्र हेतुः-एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः । एकशब्दाद्भावप्रधानात्पंचम्यास्तसिः । सहजोलिमाह-जल इति । गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वेत्युत्तरश्लोकेनान्वेति ॥९२॥

भाषार्थ--अब सहजोली और अमरोली मुद्राओंका वर्णन करतेहैं कि, वज्रोलीमुद्राके भेदविशेषही सहजोली और अमरोली हैं, क्योंकि तीनोंका फल एक है उन दोनोंमें सहजोलीमुद्राका वर्णन करतेहैं कि, दग्ध किये हुये गोमयोंका जो सुंदर भस्म है उसको जलमें डालकर अर्थात् जलमिश्रित उस भस्मको करै ॥ ९२ ॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम् ॥
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३ ॥

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनंतरं सुखेनैवानंदेनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं शोभनान्यंगानि स्वांगानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कंधभुजादीनि तेषु लेपनम् ॥ ९३ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भाषार्थ-वज्रोलीमुद्राकी सिद्धिके लिये कियेहुये मैथुनके अनंतर आनंदसे बैठेहुये और उत्साहसे त्याग दियाहै रतिका व्यापार जिन्होंने ऐसे स्त्री और पुरुष दोनों पूर्वोक्त भस्मको अपने मस्तक, शिर, नेत्र, हृदय, स्कंध, भुजा आदि अंगोंपर लेपन करैं ॥९३॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥

अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ९४ ॥

सहजोलिरिति ॥ इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिः। कीदृशी सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या। अयं सहजोल्याख्यो योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः । 'योग संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु ' इत्यभिधानात् । कीदृशो योगः भोगेन युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

भाषार्थ-यह पूर्वोक्त भस्मलेपनरूप क्रिया मत्स्येंद्र आदि योगीजनोंने सहजोलिमुद्रा कहा है और यह योगीजनोंको सदैव श्रद्धा करने योग्य है, यह सहजोलि नामका योग (उपाय) शुभकारी जानना और भोगसे युक्त भी यह योग मोक्षका दाताहै ॥ ९४ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥

निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥ ९५ ॥

अयं योग इति ॥ अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवंतः सुकृतिनस्तेषां पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यंतीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां मत्सरान्निष्क्रान्ता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेषरहितानाम् । 'मत्सरोऽन्यगुणद्वेषः' इत्यमरः । तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत् । मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत् ॥ ९५ ॥

भाषार्थ-और यह सहजोलिरूप योग पुण्यवान् और धीर और तत्त्व (ब्रह्म) के जो द्रष्टा हैं और अन्यके गुणोंमें द्वेषरहित (निर्मत्सर) हैं ऐसे पुरुषोंकोही सिद्ध होताहै और जो मत्सरी हैं अन्यके गुणोंमें द्वेष (वैर) के कर्ता हैं उनको सिद्ध नहीं होताहै ॥९५॥

अथामरोली ।

पित्तोल्वलत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा ॥ निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ॥ ९६ ॥

अमरोलीमाह-पित्तोल्वणत्वादिति ॥ पित्तेनोल्वणोत्कटा पित्तोल्वण

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तस्या भावः पित्तोल्वणत्वं तस्मात्। यथा प्रथमा पूर्वा याऽम्बुनः शिवांबुनो धारा तां विहाय शिवांबुनिर्गमनसमये किंचित्पूर्वां धारां त्यक्त्वा। निर्गतः सारो यस्याः सा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निःसारत्वेनांत्यधारा अन्त्या चरमा या धारा तां विहाय किंचिदंत्यां धारां त्यक्त्वा। शीतला पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते। खंडो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खंडमतस्तस्मिन् खंडमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापालिके खण्ड कापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः। अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥ ९६ ॥

भाषार्थ—अत्र अमरोलीमुद्राका वर्णन करतेहैं कि, पित्त है उल्वण (अधिक) जिसमें ऐसी जो प्रथम शिवांबु (बिंदु) की धारा है उसको और नहीं है सार अंश जिसमें ऐसी जो अन्त्यधारा है उसको छोडकर अर्थात् पहली और पिछली धारोंको किंचित् २ त्यागकर पित्त आदि दोष और सारतासे रहित शीतल मध्य धाराका जिस रीतिसे नित्य सेवन (पान) क्रियाजाय वह क्रिया योगविशेष जो खंड उसके माननेवाले कापालिक मतमें अर्थात् खंडकापालिक मतमें अमरोली नामकी मुद्रा प्रसिद्ध है ॥ ९६ ॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने ॥
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥

अमरीमिति ॥ अमरीं शिवांबु यः पुमान् नित्यं पिबेत्। नस्यं कुर्वन् श्वासेनामर्या घ्राणांतर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिनेदिने प्रतिदिनं वज्रोलीं 'मेहनेन शनैः' इति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीति कथ्यते। कापालिकैरिति शेषः। अमरीपातामरीनस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ९७

भाषार्थ—जो पुरुष शिवांबुरूप अमरीको नासिकासे नित्य पीताहै अर्थात् नासिकाके छिद्रद्वारा अमरीको अंतर्गत करताहै और मैथुनसे प्रतिदित वज्रोलीका भलीप्रकार अभ्यास करताहै उस मुद्राको कापालिक अमरोली कहतेहैं अर्थात् नासिकाके छिद्रसे पान की अमरी वज्रोलीके अनंतर अमरोली कहातीहैं ॥ ९७ ॥

अभ्यासान्निःसृतां चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥

अभ्यासादिति ॥ अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चांद्रीं चंद्रस्येयं चांद्री तां चांद्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयोजयेत्। उत्तमांगेषु शिरःकपालनेत्रस्कंधकण्ठहृदयभुजादिषु धारयेत्।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भस्ममिश्रितां चांद्रीमिति शेषः । दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते । अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवांबुकल्पादवगंतव्याः ॥ ९८ ॥

भाषार्थ–अमरोलीमुद्राके अभ्याससे निकसी जो चंद्रमाकी सुधा (अमृत) है उसको विभूति (भस्म) के संग मिलाकर शिर, कपाल, नेत्र, स्कंध, कंठ, हृदय, भुजा आदि उत्तम अंगोंमें धारण करै तो मनुष्य दिव्यदृष्टि होजाता है अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूर) के जो पदार्थ उनके देखनेयोग्य दृष्टि होजातीहै और अमरीसेवनके विशेष भेद तो शिवांबुकल्पग्रंथसे जानने ॥ ९८ ॥

पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ ९९ ॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह–पुंसो बिंदुमिति ॥ सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य बिंदुं वीर्यं समाकुंच्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत् । सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया 'पुंसो बिंदुसमायुक्तम्' इति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम् ॥ ९९ ॥

भाषार्थ--पुरुषको वज्रोलीके साधनको कहकर नारीकी वज्रोलीके साधनको वर्णन करतेहैं कि, भलीप्रकारसे कियेहुये अभ्यासकी चतुरतासे पुरुषके बिंदुका भलीप्रकार आकर्षण करके यदि नारी वज्रोलीमुद्रासे अपने रजकी रक्षा करै तो वह भी योगिनी जाननी (पुंसो बिंदुं समायुक्तं) यह पाठ होय तो यह अर्थ समझना कि, पुरुषके बिंदुसे युक्त अपने रजकी रक्षा करै तो वह नारी योगिनी होती है ॥ ९९ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ॥
तस्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥ १०० ॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह–तस्या इति ॥ तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र संशयो न संदेहो न । तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि बिंदुभावं गच्छति । बिंदुना सहैकीभवतीत्यर्थः । अमृतसिद्धौ–'बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम् । अनयोर्बाह्ययोगेन सृष्टिः संजायते नाम् ॥ यदाभ्यंतरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते । बिंदुश्चंद्रमयः प्रोक्तो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रजः सूर्यमयं तथा ॥ अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिंदुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा ॥ तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठंते सूक्ष्मरूपतः' इति ॥ १०० ॥

भाषार्थ–अब नारीकी कीहुई वज्रोलीके फलको कहतेहैं कि, वज्रोलीके अभ्यास करनेमें शीलवती उस नारीका किंचित् भी रज नष्ट नहीं होताहै अर्थात् अपने स्थानसे पतित नहीं होता इसमें संशय नहीं है और उस नारीके शरीरमें नादभी बिंदुरूपको प्राप्त होजाताहै अर्थात् मूलाधारसे उठाहुआ नाद हृदयके ऊपर बिंदुके संग एक होजाताहै अमृतसिद्धिग्रंथमें लिखाहै कि पुरुषके वीर्यको वीज और नारीके वीर्यको रज कहतेहैं इन दोनोंका देहसे बाहर योग होनेसे मनुष्योंके संतान होतीहै यदि दोनोंका भीतरही योग होजाय तो वह योगी कहा जाताहै उन दोनोंमें बिंदु चंद्रमय है और रज सूर्यमय है इन दोनोंके संगमसे परम पद होताहै और यह बिंदु स्वर्ग, मोक्ष, धर्म और अधर्मका दाताहै उस बिंदुके मध्यमें सूक्ष्मरूपसे संपूर्ण देवता टिकतेहैं ॥ १०० ॥

स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ॥
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ १०१ ॥

स बिंदुरिति ॥ स पुंसो बिंदुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहं गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥ १०१ ॥

भाषार्थ–पुरुषका वह बिंदु और नारीका वह रज दोनों एक होकर वज्रोलीमुद्राके अभ्यासयोगसे यदि अपने देहहीमें स्थित रहजायँ तो संपूर्ण सिद्धियोंको देतेहैं ॥ १०१॥

रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥ १०२ ॥

रक्षेदिति ॥ या नार्याकुंचनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरिस्थाने नीत्वा रजो रक्षेत् । हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्यं च वस्तु वेत्ति जानाति । ध्रुवमिति निश्चितम् । खेंऽतरिक्षे चरतीति खेचर्यंतरिक्षचरी भवेत् ॥ १०२ ॥

भाषार्थ–जो नारी अपनी योनिके संकोचसे रजको ऊर्ध्वस्थानमें लेजाकर रजकी रक्षा करै वह योगिनी होतीहै और भूत, भविष्यत्, वर्तमान वस्तुको जान सकतीहै और यह निश्चित है कि वह खेचरी होती है अर्थात् उसको आकाशमें गमन करनेका सामर्थ्य होजाताहै ॥ १०२ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥ १०३ ॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभते । अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः । कीदृशो योगः भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ १०३ ॥

भाषार्थ—और वज्रोलीके अभ्यासयोगसे रूप, लावण्य, वज्रोलीकी तुल्यतारूप देहकी सिद्धिको प्राप्त होताहै और यह वज्रोलीके अभ्यासका योग पुण्यका उत्पादक है और भोगोंके भोगनेपरभी मुक्तिको देताहै ॥ १०३ ॥

अथ शक्तिचालनम् ।

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ॥
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ १०४ ॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्घाततया कुंडलीपर्यायान् तथा मोक्षद्वारविभेदनादिकं चाह सप्तभिः—कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १, कुंडलिनी २, भुजंगी ३, शक्तिः ४, ईश्वरी ५, कुण्डली ६, अरुंधती ७, चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः ॥ १०४ ॥

भाषार्थ—शक्तिचालनमुद्रा कहनेके अभिलाषी आचार्य कुंडलिनीके पर्याय और कुंडलिनीसे मोक्षद्वारविभेदन (खोलना) आदिका वर्णन करतेहैं कि, कुटिलांगी १, कुंडलिनी २, भुजंगी ३, शक्ति ४, ईश्वरी ५, कुंडली ६, अरुंधती ७, ये सात शब्द पर्यायवाचक हैं अर्थात् सातोंका एकही अर्थ है ॥ १०४ ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ १०५ ॥

उद्घाटयेदिति ॥ यथा येन प्रकारेण पुमान् कुंचिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्बलात्कपाटमररमुद्घाटयेदुत्सारयेत् । हठादिति देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र संबध्यते । तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुंडलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्नामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत् । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥ १०५ ॥

भाषार्थ—जैसे पुरुष कपाटों (किवाँड) के अर्गल (ताला) आदिको

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हठ (बल) से कुंचिका (ताली) से उद्घाटन करता है, तिसीप्रकार योगीभी हठयोगके अभ्याससे कुंडलिनीमुद्राकेद्वारा अर्थात् मोक्षके दाता सुषुम्नाके मार्गको भेदन करताहै क्योंकि श्रुतिमें लिखाहै कि, सुषुम्ना मार्गसे ऊपर (ब्रह्मलोक) को जाताहुआ मोक्षको प्राप्त होताहै ॥ १०५ ॥

येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६ ॥

येनेति ॥ आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरंध्रम् । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । येन मार्गेण सुषुम्नामार्गेण गंतव्यं गमनार्हमस्ति तद्द्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुद्ध्वा परमेश्वरी कुंडलिनी प्रसुप्ता निद्रितास्ति ॥ १०६ ॥

भाषार्थ-रोगसे उत्पन्न हुआ दुःखरूप आमय जिसमें नहीं है ऐसा ब्रह्मस्थान जिसमार्गसे जाने योग्य होताहै अर्थात् जिसमार्गसे ब्रह्मस्थानको जातेहैं क्योंकि श्रुतिमें लिखाहै कि, उस सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है उस सुषुम्ना मार्गके द्वारको मुखसे आच्छादन करके अर्थात् रोककर परमेश्वरी (कुंडलिनी) सोतीहै ॥ १०६ ॥

कंदोर्ध्वं कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ १०७ ॥

कंदोर्ध्वमिति ॥ कुंडली शक्तिः कंदोर्ध्वं कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता मूढानां बंधनाय सुप्ता । योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवंति । मूढास्तदज्ञानाद्बद्धास्तिष्ठंतीति भावः । तां कुंडलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतंत्राणां कुंडल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ १०७ ॥

भाषार्थ-कंदके ऊपरभागमें सोतीहुई कुंडलिनी योगीजनोंके मोक्षार्थ होतीहै और वह पूर्वोक्त कुंडलिनी मूढोंके बंधनार्थ होती है अर्थात् योगीजन कुंडलिनीको चलाकर मुक्त होजातेहैं और उसके अज्ञानी मूढ बंधनमें पडे रहतेहैं उस कुंडलिनीको जो जानताहै वही योगका ज्ञाता है क्योंकि संपूर्ण योगके तंत्र कुंडलिनीके अधीन हैं ॥ १०७ ॥

कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०८ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कुंडलीति॥ कुंडली शक्तिः सर्पवद्भुजगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुंडली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबंधान्निवृत्तः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः।'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः॥१०८॥

भाषार्थ-योगीजनोंने जो सूर्यके समान कुटिल है आकार जिसका ऐसी कहीहै वह कुंडली शक्ति जिसने चलादी है अर्थात् मूलाधारसे ऊपर पहुँचादी है वह मुक्त है अर्थात् बंधनसे निवृत्त है इसमें संशय नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति है कि, उस सुषुम्नासे ऊपरको जाताहुआ योगी मोक्षको प्राप्त होताहै ॥ १०८ ॥

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीम् ॥
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०९ ॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्गंगायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गंगायमुने इडापिंगले तयोर्मध्ये सुषुम्नामार्गे तपस्विनीं निरशनस्थितेः। बालरंडां बालरंडाशब्दवाच्यां कुंडलीं बलात्कारेण हठेन गृह्णीयात् । तत्तस्या गंगायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम् ॥ १०९ ॥

भाषार्थ-गंगा यमुना हैं आधार जिनके वा गंगा यमुनारूप जो इडा पिंगला नाडी हैं उनके मध्यमें अर्थात् सुषुम्नाके मार्गमें तपस्विनी अर्थात् भोजनरहित बालरंडा हैं उसको बलात्कार (हठयोग) से ग्रहण करै वह उस कुंडलीका जो बलात्कारसे ग्रहण है वही व्यापकरूप बिष्णुके परमपदका प्रापक है ॥ १०९ ॥

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥ ११० ॥

गंगायमुनादिपदार्थमाह-इडेति ॥ इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गंगा गंगापदवाच्या, पिंगला, दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या नदी । इडापिंगलयोर्मध्ये मध्यगता या कुण्डली सा बालरंडा बालरंडाशब्दवाच्या ॥ ११० ॥

भाषार्थ-अब गंगा यमुना आदि पदार्थोंका वर्णन करतेहैं कि, इडा अर्थात् वामनिःश्वासकी नाडी भगवती गंगा कहातीहै और पिंगलाके अर्थात् दक्षिणनिःश्वासकी नाडी यमुना नदी कहातीहै और इडा और पिंगला मध्यमें वर्तमान जो कुंडली है वह बालरंडा कहातीहै ॥ ११० ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ॥
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ १११ ॥

शक्तिचालनमाह-पुच्छे इति ॥ सुप्तां निद्रितां भुजंगीं तां कुंडलिनीं पुच्छे प्रगृहीत्वोद्बोधयेत्प्रबोधयेत्सा, शक्तिः कुंडली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वं तिष्ठत इत्यन्वयः। एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगंतव्यम् ॥ १११ ॥

भाषार्थ-अब शक्तिचालनमुद्राका वर्णन करतेहैं कि सोतीहुई भुजगी (कुंडली) के पुच्छको ग्रहण करके उसभुजगीका प्रबोधन करे (जगावे) तो वह कुंडली निद्राको त्यागकर हठसे ऊपरको स्थित होजातीहै इसका रहस्य (गुप्तक्रिया) तो गुरुमुखसे जानने योग्य है ॥ १११ ॥

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ॥
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ११२

अवस्थिता इति ॥ अवस्थितावाक् स्थिता मूलाधारस्थिता फणावतीं भुजंगी सा कुंडलिनी सूर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्द्धमेव प्रहरार्धमात्रं मुहूर्तद्वयमात्रं परिचालनीया परितश्चालयितुं योग्या । परिधानयुक्तिर्देशिकाद्बोध्या ॥ ११२ ॥

भाषार्थ-नीचे मूलाधारमें स्थित वह फणावती कुंडलिनी सूर्यसे पूरण करनेके अनंतर परिधानमें जो युक्ति है उससे ग्रहण करके सायंकाल और प्रातःकालके समय प्रतिदिन आधे प्रहर पर्यंत चारों तर्फ चालन करने योग्यहै परिधानकी युक्ति गुरुमुखसे जाननी चाहिये ॥ ११२ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ ११३ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाह-ऊर्ध्वमिति ॥ मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरिनाभिमेढ्रयोर्मध्ये। एतेन कंदस्य स्थानमुक्तम्। तथा चोक्तं गोरक्षशतके-"ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत्। तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः" इति। याज्ञवल्क्यः-"गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri.

देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानामितीरितम् ॥ कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलम् । चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम् ॥ अंडाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः । चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगम्" इति । गुदाद्व्यंगुलोपर्येकांगुलं मध्यं तस्मान्नवांगुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशांगुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम् । चतुर्णामंगुलीनां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलप्रमाणं विस्तारम् । विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणम् । चतुरंगुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदंबरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम् । कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ ११३ ॥

भाषार्थ–कंदके पीडनेसे शक्तिचालनके कथनाभिलाषी आचार्य प्रथम कंदके स्थान और स्वरूपका वर्णन करतेहैं कि, मूलस्थानसे वितस्तिभर ऊपर अर्थात् नाभिस्थल और लिंगके मध्यमें इसवर्णनसे कंदका स्थान कहा सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि 'लिंगसे ऊपर और नाभिसे नीचे पक्षियोंके अंडेके समान कंदकी योनि है उसमें बहत्तर सहस्र नाडी उत्पन्नहुई हैं. याज्ञवल्क्यने कहाहै कि, गुदासे दो अंगुल ऊपर लिंगसे दो अंगुल नीचे मनुष्योंके देह (तनु) का मध्य कहा है मनुष्योंका कंदस्थान देहके मध्यसे नौअंगुल ऊपर चार अंगुल चौडा और चार अंगुल लंबाहै और त्वचा आदिसे अंडाकारके समान शोभित है और चतुष्पद और तिरछी योनियोंके और पक्षियोंके तुंद मध्यमें होताहै अर्थात् गुदाके दो अंगुलोंसे ऊपर एक अंगुलका मध्य और उससे नौ अंगुल कंदस्थान हुआ. ये सब मिलकर बारह अंगुलका प्रमाण जिसका ऐसा वितस्तिमात्र हुआ और वह कंदस्थान चार अंगुल और कोमल और धवल और वेष्टित किये (लपेटे) वस्त्रके समान है रूप जिसका ऐसा योगीजनोंने कहाहै । भावार्थ यह है कि, मूलस्थानसे ऊपर वितस्तिमात्र चार अंगुलभर कोमल शुक्ल लपेटे हुये वस्त्रके समान कंदस्थान योगीजनोंने कहाहै ॥ ११३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ११४ ॥

सतीति ॥ वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रन्थी तयोर्देशौ प्रदेशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ' इत्यमरः । पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात् । चकाराद्धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत् । गुल्फा-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

[stamp]

ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥ ११४ ॥

भाषार्थ-वज्रासन करनेके अनंतर हाथोंसे गुल्फोंके समीपके स्थानमें दोनों चरणोंको दृढतासे धारण करै अर्थात् गुल्फोंके कुछेक ऊपरके भागमें चरणोंको हाथोंसे खूब पकडे और हाथोंसे पकडे हुये पादोंसे कंदके स्थानमें कंदको पीडित करै अर्थात् गुल्फसे ऊपर पादोंको हाथोंसे पकडकर नाभिके अधोभागमें कंदको पीडित करै (दावै) ॥ ११४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ॥
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५ ॥

वज्रासन इति ॥ वज्रासने स्थितो योगी कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां कृत्वेत्यर्थः । अनंतरं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात्। एवंरीत्या कुंडलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात् । वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥ ११५ ॥

भाषार्थ-वज्रासनमें स्थित (बैठाहुआ) योगी कुंडलीको चलाकर अर्थात् शक्तिचालन मुद्राको करके उसके अनंतर अर्थात् शक्तिचालनके पीछे भस्त्रानामके कुंभक प्राणायामको करै-इसरीतिसे कुंडलीका शीघ्र प्रबोधन कर यद्यपि वज्रासनमें शक्तिका चालन पहिले कह आयेहैं फिर जो वज्रासनका कथन है वह इसनियमके लिये है कि, शक्तिचालनके अनंतर भस्त्रामें वज्रासनही करना, अन्य नहीं ॥ ११५ ॥

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः ॥
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ११६ ॥

भानोरिति ॥ भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुंचनं कुर्यात् । नाभेराकुंचनेनैव तस्याकुंचनं भवति । ततो भानोराकुंचनात्कुंडलीं शक्तिं चालयेत् । एवं यः करोति मृत्योर्वक्त्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ११६ ॥

भाषार्थ-नाभिदेशमें स्थित सूर्यका आकुंचन करै और वह सूर्यका आकुंचन नाभिके आकुंचनसेही होताहै, फिर सूर्यके आकुंचनसे कुंडली शक्तिका चालन करै. जो योगी इसप्रकारकी क्रियाको करताहै मृत्युके मुखमें गये हुयेभी उसयोगीको कालका भय किसप्रकार हो सकताहै ? अर्थात् मृत्युका भय नहीं रहता ॥ ११६ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ ११७ ॥

मुहूर्तद्वयमिति ॥ मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यंतं तदवधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

भाषार्थ–दो मुहूर्त अर्थात् चार घडीपर्यंत निर्भय (अवश्य) चलायमान करनेसे सुषुम्नामें प्राप्त हुई यह शक्ति (कुंडली) किंचित् (कुछ) ऊपरको खिंच जातीहै॥११७॥

तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् ॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥११८॥

तेनेति ॥ तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुंडली तस्याः प्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेशमार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति । तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतः स्वयमेव सुषुम्नां व्रजति गच्छति । सुषुम्नामुखात्प्रागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

भाषार्थ–तिस ऊपरको आकर्षण करनेसे उस प्रसिद्ध सुषुम्नाके मुख अर्थात् प्रवेशके मार्गको निश्चयसे त्याग देतीहै तिसमार्गके त्यागसे प्राणवायु स्वतः (स्वयं) ही सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै क्योंकि, कुंडलिनी तो सुषुम्नाके मुखपरसे पहिलेही चली गई, अवरोधके अभाव होनेसे प्राणका स्वयंही प्रवेश होजाताहै ॥ ११८ ॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९ ॥

तस्मादिति ॥ यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणः सुषुम्नां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ११९ ॥

भाषार्थ–जिससे शक्तिके चालनसे प्राण सुषुम्नामें प्राप्त होताहै तिससे सुखसे सोईहुई अरुंधती (कुंडलिनी) को नित्य भलीप्रकार चलायमान करै क्योंकि तिसशक्तिके चलायमान करनेसेही रोगी कास श्वास जरा आदि रोगोंसे निवृत्त होजाताहै ॥ ११९ ॥

येन संचालिता शक्तिः सः योगी सिद्धिभाजनम् ॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२० ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति । अत्रास्मिन्नर्थे बहूक्तेन बहुप्रशंसनेन किं, न किमपीत्यर्थः । कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ १२० ॥

भाषार्थ-जिसयोगीने शक्ति चलायमान करली है वह योगी अणिमा आदि सिद्धियोंका पात्र होजाताहै और इसमें अधिक कहनेसे क्या है कालकोभी लीलासे अर्थात् अनायाससे जीत लेताहै ॥ १२० ॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥ १२१ ॥

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनंतरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ॥ "नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चंद्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकायास्ततः । छित्त्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं द्रुमं स्कंधवत् ॥" ॥ १२१ ॥

भाषार्थ-श्रोत्र आदि इंद्रियोंसहित लिंगके संयममें तत्पर जो योगी है और नित्य हितकारी प्रमित अर्थात् चतुर्थांशसे न्यून भोजन करताहै शक्तिचालनके अभ्यासी उस योगीको मंडल (४० दिन) के अनन्तर प्राणायामकी सिद्धिको देखतेहैं सोई कहा है कि, नासिकाके दक्षिणमार्गमें वहनेवाले पवनसे अत्यंत बढाया और घंटिका (कंठ) से पूर्व चंद्रमाके समान-अमृत है शरीर जिसका ऐसा प्राण जिसके अनंतर विशाल-काल और अग्नि ये वशमें हुई उसकुंडलीके अभ्यासशील योगीकी कायाको भ्रूकुटीके छिद्रमें वर्तमान नाडीमें पहुँचकर और कायाका छेदन करके इस प्रकार पुनः अत्यंत नवीन करताहै जैसे छेदन करनेसे वृक्षका स्कंध (डाला) नवीन होजाता है ॥ १२१॥

कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२ ॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा । अथानंतरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात् । नित्यं प्रतिदिनम् । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यसतो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ १२२ ॥

भाषार्थ-कुंडलीको चलायमान करके उसके अनंतरही विशेषकर भस्त्रानामके कुंभकप्राणायामको करै. इसप्रकार प्रतिदिन अभ्यास करताहुआ जो यमी (योगी) है उसको यमका भय कहां रहताहै, क्योंकि योगीके देहका त्याग अपने अधीन होताहै ॥ १२२ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ॥
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥ १२३ ॥

द्वासप्ततीति ॥ द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुण्डल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः । न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ १२३ ॥

भाषार्थ-बहत्तर सहस्र नाडियोंकी मलशुद्धिके करनेमें शक्तिचालनके विना प्रक्षालन (धोना) का अन्य कौन उपाय है अर्थात् कोई नहीं है. शक्तिचालनमुद्राके करनेसेही संपूर्ण नाडियोंके मलकी शुद्धि होती है ॥ १२३ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ॥
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२४ ॥

इयं त्विति ॥ इयं मध्यमा नाडी सुषुम्ना योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ १२४ ॥

भाषार्थ-यह सुषुम्नारूप मध्यमनाडी योगियोंके दृढअभ्याससे स्वस्तिक आदि आसन प्राणायाम और महामुद्रा इनके करनेसे सरल होजाती है ॥ १२४ ॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ॥
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ १२५ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वांतःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषाम् । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथवा परान्या उन्मन्यादिका भद्रां शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ १२५ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भाषार्थ-अन्यविषयोंसे वृत्तिके रोकनेसे चित्तकी एकाग्रतारूप समाधिमें मनको धारणामें स्थित करके अभ्यास करनेमें जो निद्रा और आलस्यसे रहित हैं उनको शांभवी मुद्रा वा अन्यउन्मनी आदि मुद्रा शोभन योगसिद्धिको देती हैं इससे यह कहा कि, हठयोग राजयोगका उपकारक है ॥ १२९ ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ॥
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ १२६ ॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह-राजयोगमिति॥वृत्त्यंतरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः। 'हठं विना राजयोगः' इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणः राजयोगादासनं लक्ष्यते। राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धिरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः राजयोगं विना निशेव निशा कुंभको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात्।निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुंभको लक्ष्यते। राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्रापि विविधापि विलक्षणापि वा न राजते न शोभते। पक्षांतरे। राज्ञो नृपस्य योगोराजयोगो राजसंबंधस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते। 'शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात्'। राजा चन्द्रः। 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' इति श्रुतेः। तस्य योगं संबंधं विना निशा रात्रिर्न राजते । राजयोगं विना नृपसंबंधं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः । विचित्रापि । पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि । निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि । मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्रापि न राजते ॥ १२६ ॥

भाषार्थ-अब राजयोगके विना आसन आदिकी निष्फलताको उपचारसे वर्णन करते हैं कि, अन्यवृत्तियोंको रोककर आत्मविषयक जो धारावाहिक निर्विकल्प मनकी वृत्ति उसे राजयोग कहते हैं और वह राजयोग-'हठके विना राजयोग वृथा है' इस वचनमें सूचित कर आये हैं उस राजयोगके वा उसके साधनोंके विना पृथ्वी (स्थिरता) शोभित नहीं होतीहै यहां पृथ्वीशब्दसे स्थिरता और राजयोगपदसे आसन लेना अर्थात् राजयोगके विना परमपुरुषार्थ (मोक्ष) रूप मोक्ष नहीं होसकता. यह हेतु आगेभी सम्पूर्ण वाक्योंमें समझना और राजयोगके विना निशा शोभित नहीं होती अर्थात् निशाके समान कुंभकप्राणायाम शोभित नहीं होता है, क्योंकि जैसे निशामें राजपुरुषोंका संचार नहीं होताहै इसीप्रकार कुंभकमें प्राणोंका संचार नहीं होताहै इससे निशापदसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कुंभक लेते हैं और राजयोगके विना विचित्र भी मुद्रा अर्थात् अनेक प्रकारकी वा विलक्षण महामुद्रा आदि मुद्रा शोभित नहीं होतीहै पक्षांतरमें इस श्लोकका यह अर्थ है कि, राजाके संबन्ध विना रत्न आदिके उत्पन्न करनेवालीभी पृथ्वीकी शोभा नहीं है क्योंकि राजाकी शिक्षाके विना नानाउपद्रव भूमिमें होते हैं और राजा (चन्द्रमा) के सम्बन्ध विना ग्रहनक्षत्रोंसे विचित्रभी निशाकी शोभा नहीं होती हैं इस श्रुतिसे यहां राजपदसे चन्द्रमा लेते हैं कि, 'सोम हम ब्राह्मणोंका राजाहै' और राजाके योगविना मुद्राकी शोभा नहीं अर्थात् रेखा आदिसे विचित्रभी मुद्रा राजाके हाथसे किये हुये चिह्नविशेषरूप राजसम्बन्धके विना ग्रहण करने योग्य नहीं होती है ॥ १२६ ॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ॥
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ १२७ ॥

मारुतस्येति ॥ मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुंभकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत् । मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ १२७ ॥

भाषार्थ–प्राणवायुकी जो कुंभकमुद्रा आदि संपूर्ण विधि है उसका मनसे युक्त होकर (मन लगाकर) भलीप्रकार अभ्यास करे और प्राणवायुकी विधिसे अन्य जो विषय उनमें मनकी प्रवृत्तिको न करै ॥ १२७ ॥

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ॥
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ १२८ ॥

मुद्रा उपसंहरति ॥ इतीति ॥ आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः। तासु मुद्रासु मध्ये एकैकापि प्रत्येकमपि या काचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्यणिमादिप्रदात्री वा ॥ १२८ ॥

भाषार्थ–अत्र मुद्राओंकी समाप्तिका वर्णन करते हैं कि, आदिनाथ, (महादेव) ने ये दश मुद्रा कही हैं उन मुद्राओंमें एक २ भी मुद्रा (प्रत्येक) अर्थात् जो कोई मुद्रा योगीजनोंको अणिमा आदि महासिद्धियोंकी प्रदायिनी(देनेवाली)है॥ १२८॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ॥
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ १२९ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति-उपदेशमिति ॥ यः पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरंपरारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति। स एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः। स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः। ईश्वराभिन्न एव स इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

भाषार्थ--सांप्रदायिक (योगियों गुरुपरम्परासे चले आये) महामुद्रा आदिके उपदेशको जो पुरुष देताहै वही श्रीमान् गुरु अर्थात् सब गुरुओंमें श्रेष्ठहै और वही स्वामी अर्थात् प्रभुहै और वही साक्षात् परमेश्वरस्वरूप है ॥ १२९ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ॥
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥ १३० ॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

तस्येति॥तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुंभकाद्यनुष्ठानविषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान्। आदरश्च विहिततपःकरणं भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्धं साकं कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—तिन मुद्राओंके उपदेशकर्ता गुरुके वाक्यमें अर्थात् आसन कुंभक आदिके अनुष्ठान विषयकी और युक्ताहार विहारकी चेष्टा आदि विषयोंकी आज्ञामें तत्पर (आदरवान्) और शास्त्रोक्त तप करनेरूप उस आदरके अनंतर बारंबार महामुद्रा आदिके अभ्यासमें सावधान होकर मनुष्य अणिमा आदि सिद्धियों सहित कालके वंचनको प्राप्त होता है अर्थात् उसको सिद्धि और कालसे निर्भयता ये दोनों प्राप्त होते हैं ॥ १३० ॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां पं० मिहरचंद्रकृतभाषाविवृतिसहितायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः समाप्तः ॥ ३ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ चतुर्थोपदेशः ४.

नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने ॥
निरंजनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥ १ ॥

प्रथमद्वितीयतृतीयोपदेशोक्तानामासनकुंभकमुद्राणां फलभूतं राजयोगं विवक्षुः स्वात्मारामः श्रेयांसि बहुविघ्नानीति तत्र विघ्नबाहुल्यस्य संभवात्तन्निवृत्तये शिवाभिन्नगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरति ॥ नम इति ॥ शिवाय सुखरूपायेश्वराभिन्नाय वा । तदुक्तम् । 'नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे' इति । गुरवे देशिकाय यद्वा गुरवे सर्वांतर्यामितया निखिलोपदेष्ट्रे शिवायेश्वराय । तथा च पातंजलसूत्रम्–'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'. । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । कीदृशाय शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने कांस्यघंटानिर्ह्रादवदनुरणनं नादः । बिंदुरनुस्वारोत्तरभावी ध्वनिः । कला नादैकदेशस्ता आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा तस्मै । नादबिंदुकलात्मना वर्तमानायेत्यर्थः । तत्र नादबिंदुकलात्मनि शिवे गुरौ नित्यं प्रतिदिनं परायणोऽवहितः पुमान् । एतेन नादानुसंधानपरायण इत्युक्तं पूर्वपादेन गुरुशिवयोरभेदश्च सूचितः । अंजनं मायोपाधिस्तद्रहितं निरंजनं शुद्धं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं ब्रह्म याति प्राप्नोति । तथा च वक्ष्यति–'नादानुसंधानसमाधिभाजम्' इत्यादिना ॥ १ ॥

भाषार्थ–प्रथम, द्वितीय, तृतीय उपदेशोंमें कहे जो आसन कुंभक मुद्रा हैं उनका फलरूप जो राजयोग है उसके कथनका अभिलाषी स्वात्माराम ग्रंथकार 'श्रेयकर्मोंमें बहुत विघ्न हुआ करतेहैं' इस न्यायसे अनेक विघ्नोंका संभव होसकताहै उन विघ्नोंकी निवृत्तिके लिये शिवरूप गुरुके नमस्कारात्मक मंगलको करतेहैं कि, शिवरूप अर्थात् सुखरूप वा ईश्वररूप सोई कहाहै कि, हे नाथ ! हे भगवन् ! शिवरूप गुरु जो आप हैं उनको नमस्कारहै गुरुको अथवा सबके उपदेशक अंतर्यामिरूपसे शिवरूपसे ईश्वरको। सोई पातंजलसूत्रमें कहाहै कि, कालसे अवच्छेदके न होनेसे वह ईश्वर पहिले सब आचार्योंकाभी गुरु है उस गुरु वा ईश्वरको नमस्कार है. जो गुरु नादबिंदुकलारूप है कांसीके घंटाके समान जो अनुरणन अर्थात् शब्द उसको नाद कहतेहैं और अनुस्वारके अनंतर जो ध्वनि होतीहै उसको बिंदु कहते हैं और नादके एकदेशको कला कहते हैं ये तीनों जिस गुरु वा ईश्वरके रूप हैं अर्थात् जो नाद बिंदु कलारूपसे वर्तमान हैं और 'जिस जिस नाद बिंदु कलारूप शिवरूप गुरुमें प्रतिदिन परायण (सावधान)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मनुष्य' इस कथनसे नादके अनुसंधानमें परायण और पूर्व पादसे शिव और गुरुका भेद सूचित किया उस मायोपाधिरूप अंजनसे रहित शुद्ध ब्रह्मपदको प्राप्त होताहै जिसको योगीजन प्राप्त होते हैं उसको पद कहते हैं सोई कहेंगे नादका जो अनुसंधानी और जो समाधिका ज्ञाता है वह योगी है--भावार्थ यह है कि, शिवरूप और नाद बिंदुकला जिसकी आत्मा है ऐसे उस गुरुको नमस्कार है जिसमें प्रतिदिन तत्पर मनुष्य शुद्धरूप ब्रह्मपदको प्राप्त होताहै ॥ १ ॥

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ॥
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं परम् ॥ २ ॥

समाधिक्रमं प्रतिजानीते-अथेति ॥ अथासनकुंभकमुद्राकथनानंतरमिदानीमस्मिन्नवसरे समाधिक्रमं प्रत्याहारादिरूपं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण विविच्य वक्ष्यामीत्यन्वयः। कीदृशं समाधिक्रमम्। उत्तमं श्रीआदिनाथोक्तसंपादनकोटिसमाधिप्रकारेषूत्कृष्टम्। पुनः कीदृशं मृत्युं कालं हंति निवारयतीति मृत्युघ्नं स्वेच्छया देहत्यागजनकं तत्त्वज्ञानोदयमनोनाशवासनाक्षयैः सुखस्य जीवन्मुक्तिसुखस्योपायम्। प्राप्तिसाधनं पुनः कीदृशं परं ब्रह्मानंदकरं प्रारब्धकर्मक्षये सति जीवब्रह्मणोरभेदे नात्यंतिकब्रह्मानंदप्राप्तिरूपविदेहमुक्तिकरम्। तत्र निरोधः समाधिना चित्तस्य ससंस्काराशेषवृत्तिनिरोधे शांतघोरमूढावस्थानिवृत्तौ 'जीवन्नेवेह विद्वान् हर्षशोकाभ्यां विमुच्यते' इत्यादिश्रुत्युक्तनिर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवति। परममुक्तिस्तु प्राप्तभोगांतेंऽतःकरणगुणानां प्रतिप्रसवेनौपाधिकरूपात्यंतिकनिवृत्तावात्यंतिकं स्वरूपावस्थानं प्रतिप्रसवसिद्धम्। व्युत्थाननिरोधसमाधिसंस्कारा मनसि लीयंते। मनोऽस्मितायामस्मिता महति महान् प्रधान इति चित्तगुणानां प्रतिप्रसवः प्रतिसर्गः स्वकारणे लयः। ननु जीवन्मुक्तस्य व्युत्थाने ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिव्यवहारदर्शनाच्चित्तादिभिरौपाधिकभावजननादम्लेन दुग्धस्येव स्वरूपच्युतिः स्यादिति चेन्न। संप्रज्ञातसमाधावनुभूतात्मसंस्कारस्य तात्त्विकत्वनिश्चयात्। अतात्त्विकान्यथाभावस्याविकारित्वाप्रयोजकत्वात्। अम्लेन दुग्धस्य दधिभावस्तु तात्त्विक इति। दृष्टांतवैषम्याच्च पुरुषस्य त्वंतःकरणोपाधिकोऽहं ब्राह्मण इत्यादिव्यवहारः स्फटिकस्य जपाकुसुमसन्निधानोपाधिरूपक एव न तात्त्विकः जपाकुसुमापगमे स्फटिकस्य स्वस्वरूपस्थितिवदंतःकरणस्य सकलवृत्तिनिरोधे स्वरूपावस्थितिरच्युतैव पुरुषस्य ॥ २ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भावार्थ–अब आचार्य समाधिका जो क्रम उसके वर्णनको प्रतिज्ञा करते हैं कि, इसके अनंतर अर्थात् आसन कुंभकमुद्रा वर्णन करनेके अनंतर इदानीं (इस अवसरमें) प्रत्याहार आदिरूप उस समाधिके क्रमको प्रकर्षतासे (पृथक्) कहता हूं जो समाधिका क्रम आदिनाथकी कहीहुई संपादन कोटिरूप समाधियोंके प्रकारों (भेदों) में उत्तम है और जो मृत्युका निवारणकर्ता है अर्थात् अपनी इच्छासे देहके त्यागका जनक है और जो उत्पत्ति, मनका नाश, वासनाका क्षय इन तीनोंके होनेपर जीवन्मुक्तिरूप सुखका उपाय (साधन) है और जो परमब्रह्मानंदका कर्ता है अर्थात् प्रारब्ध कर्मका क्षय होनेपर जीव ब्रह्मको अभेदका ज्ञान होनेसे आत्यंतिक ब्रह्मानंदकी प्राप्तिरूप जो मुक्ति उसको करताहै । यहां प्रथम समाधिसे चित्तका निरोध होताहै और संस्कारसहित संपूर्णवृत्तियोंका निरोध होनेपर शांत घोर मूढ अवस्थाओंकी निवृत्ति होतसंते इत्यादि श्रुतियोंमें कहीहुई कि, 'जीवताहुआही ज्ञानी हर्षशोकसे छूटजाता है' निर्विकार स्वरूपमें स्थितिरूप जीवन्मुक्ति होजातीहै और परममुक्ति तो यह है कि, प्राप्त हुये भोगके अन्तमें अन्तःकरणके गुणोंका प्रतिप्रसव होनेसे औपाधिकरूपकी अत्यन्त निवृत्ति होनेपर आत्यंतिक स्वरूपमें अवस्थान प्रतिप्रसवसे सिद्ध है और व्युत्थान निरोध समाधि संस्कार ये सब मनमें लीन होजाते हैं और मन अस्मितामें अस्मिता महान्में महान् प्रधानमें लीन होजाताहै. इसप्रकार चित्तके गुणोंका प्रतिप्रसव अर्थात् अपने २ कारणमें लयरूप प्रतिसर्ग होता है, कदाचित् कोई शंका करै कि, समाधिसे व्युत्थान (उठना) के समय मैं ब्राह्मण हूँ मैं मनुष्य हूँ इत्यादि व्यवहारके देखनेसे चित्त आदिसे औपाधिक भावके पैदाहोनेसे अम्लसे दूधके समान अपने ब्रह्मस्वरूपसे च्युति (पतन) होजायगा–सो ठीक नहीं है क्योंकि संप्रज्ञात समाधिमें अनुभूत (ज्ञात) जो आत्मसंस्कार उसके तात्त्विकत्व (यथार्थता) का निश्चय होजाताहै और अतात्त्विक जो अन्यथाभाव है वह अधिकारित्वका प्रयोजक नहीं होताहै–अम्लसे जो दूधका दधिभाव है वह तात्त्विक है इससे दृष्टांतभी विषम है–मनुष्यको तो अन्तःकरणरूप उपाधिसे मैं ब्राह्मण हूं इत्यादि व्यवहार होताहै–और वह स्फटिकको जपाकुसुमकी संनिधानरूप उपाधिके समानही है तात्त्विक नहीं है–जपाकुसुमके हटानेपर स्फटिककी अपने स्वरूपमें स्थितिके समान अन्तःकरणकी सम्पूर्ण वृत्तियोंके निरोध होनेपर अपने स्वरूपमें स्थिति नष्ट नहीं होतीहै अर्थात् जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें मनुष्य ब्रह्मरूपमें स्थित रहताहै–भावार्थ यह है कि, इसके अनन्तर उत्तम मृत्युके नाशक–सुखका उपाय और परम ब्रह्मानंदका जनक जो समाधिका क्रम उसको मैं अब वर्णन करताहूँ ॥ २ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ॥
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ३ ॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरंजनम् ॥
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

समाधिपर्यायान् विशेषेणाह–राजयोग इत्यादिना श्लोकद्वयेन ॥ स्पष्टम् ॥ ३ ॥ ४ ॥

भाषार्थ–अब समाधिके पर्यायोंका वर्णन करते हैं कि, राजयोग–समाधि–उन्मनी–मनोन्मनी–अमरत्व–लय–तत्त्व– शून्याशून्यपरंपद–अमनस्क–अद्वैत–निरालंब–निरंजन–जीवन्मुक्ति--सहजा--तुर्या--ये सब एक समाधिकेही वाचक हैं–इन सब भेदोंका आगे वर्णन करेंगे ॥ ३ ॥ ४ ॥

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ॥
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ ५ ॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ॥
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥ ६ ॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ॥
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ७ ॥

त्रिभिः समाधिमाह–सलिल इति॥यदेति॥तत्सममिति॥ यद्वद्यथा सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं सलिले जले योगतः संयोगात्साम्यं सलिलसाम्यं सलिलैक्यत्वं भजति प्राप्नोति तथा तद्वदात्मा च मनश्चात्ममनसी तयोरात्ममनसोरैक्यमेकाकारता। आत्मनि धारितं मन आत्माकारं सदात्मसाम्यं भजति तादृशमात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते समाधिशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

भाषार्थ–जिसप्रकार सिंधुदेशमें उत्पन्न हुआ लवण जलकेविषे संयोगसे साम्यको भजता है अर्थात् जलका संयोग होनेसे जलके संग एकताको प्राप्त होजाताहै तिसीप्रकारसे जो आत्मा और मनकी एकता है अर्थात् आत्मामें धारण किया हुआ मन आत्माकार होनेसे आत्मरूपको प्राप्त होजाताहै उसी आत्मा मनकी एकताको समाधि कहते हैं जब प्राण भलीप्रकार क्षीण होजाता है और मनकाभी लय होजाताहै उस

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

समयमें हुई जो समरसता उसकोभी समाधि कहते हैं और जीवात्मा और परमात्मा इन दोनोंकी एकतारूपकोही समता कहतेहैं और उससमय नष्ट हुये हैं संपूर्ण संकल्प जिसमैं उसको समाधि कहतेहैं ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ॥
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ८ ॥

अथ राजयोगप्रशंसा–राजयोगस्येति ॥ राजयोगस्यानंतरमेवोक्तस्य माहात्म्यं प्रभावं तत्त्वतो वस्तुतः को वा जानाति ? न कोऽपि जानातीत्यर्थः । तत्त्वतो वक्तुमशक्यत्वेऽप्येकदेशेन राजयोगप्रभावमाह–ज्ञानं स्वस्वरूपापरोक्षानुभवः मुक्तिर्विदेहमुक्तिः स्थितिर्निर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिः सिद्धिरणिमादिर्गुरुवाक्येन गुरुवचसा लभ्यते । राजयोगादिति शेषः ॥ ८ ॥

भाषार्थ–अब राजयोगकी प्रशंसीका वर्णन करतेहैं कि, इसके अनंतर कहे हुये राजयोगके माहात्म्यको यथार्थरूपसे कौन जानता है अर्थात् कोई भी नहीं जानता है तत्त्वसे कहनेके अयोग्य भी एकदेशरूपसे राजयोगके प्रभावको वर्णन करतेहैं कि, ज्ञान अर्थात् अपने आत्मस्वरूपका अपरोक्ष अनुभव और विदेहमुक्ति और निर्विकारस्वरूपमें अवस्थितिरूप जीवन्मुक्ति और अणिमाआदि सिद्धि ये सब गुरुके वाक्यसे प्राप्त हुये राजयोगकेद्वारा प्राप्त होतेहैं ॥ ८ ॥

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ॥
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ ९ ॥

दुर्लभ इति ॥ विशेषेण सिन्वंत्यवबध्नंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषया ऐहिका दारादय आमुष्मिकाः सुधादयस्तेषां त्यागो भोगेच्छाभावो दुर्लभः । तत्त्वदर्शनमात्मापरोक्षानुभवः दुर्लभं सहजावस्था तुर्यावस्था सद्गुरोः 'दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यम्' इति वक्ष्यमाणलक्षणस्य करुणां दयां विनेति सर्वत्र संबध्यते । दुर्लभा लब्धुमशक्या; 'दुः स्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशः । गुरुकृपया तु सर्वं सुलभमिति भावः ॥ ९ ॥

भाषार्थ–अपने प्रमाता (भोक्ता) को जो अपने संगसे विशेष करके बांधे उन्हें विषय कहते हैं और वे विषय इसलोकके स्त्री आदि और परलोकके अमृत आदि होते हैं उन विषयोंका त्याग दुर्लभ है और आत्माके अपरोक्षानुभवरूप तत्त्वका दर्शन दुर्लभ है–और सहजावस्था (तुरीया अवस्था) दुर्लभ है अर्थात् ये पूर्वोक्त तीनों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सद्गुरुकी दयाके विना दुर्लभ हैं और गुरुकी दयासे तो संपूर्ण सुलभ है और सद्गुरुका स्वरूप यह कहेंगे कि, 'देखनेयोग्य पदार्थके विनाही जिसकी दृष्टि स्थिर हो' वह सद्गुरु होता है ॥ ९ ॥

विविधैरासनैः कुंभैर्विचित्रैः करणैरपि ॥
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥ १० ॥

विविधैरिति ॥ विविधैरनेकविधैरासनैर्मत्स्येंद्रादिपीठैर्विचित्रैर्नानाविधैः कुम्भकैः। विचित्रैरिति काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र संबध्यते। विचित्रैरनेकप्रकारकैः करणैर्हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकैर्महामुद्रादिभिर्महाशक्तौ कुंडलिन्यां प्रबुद्धायां गतनिद्रायां सत्यां प्राणो वायुः शून्ये ब्रह्मरंध्रे प्रलीयते लयं प्राप्नोति। व्यापाराभावः प्राणस्य प्रलयः ॥ १० ॥

भाषार्थ-अनेक प्रकारके मत्स्येंद्र आदि आसन और विचित्र २ कुंभक प्राणायाम और विचित्र अर्थात् अनेक प्रकारके हठसिद्धिमें कहे हुये महामुद्रा आदि इनसे जब महाशक्ति (कुंडलिनी) प्रबुद्ध होजाती है अर्थात् निद्राको त्याग देती है तब प्राणवायु शून्य (ब्रह्मरंध्र) में लय होजाता है-और व्यापारके अभावकोही प्राणका लय कहते हैं ॥ १० ॥

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ॥
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ ११ ॥

उत्पन्नेति ॥ उत्पन्नो जातः शक्तिबोधः कुण्डलीबोधो यस्य तस्य त्यक्तानि परिहृतानि निःशेषाणि समग्राणि कर्माणि येन तस्य योगिनः। आसनेन कायिकव्यापारे त्यक्ते प्राणेंद्रियेषु व्यापारस्तिष्ठति। प्रत्याहारधारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधिभिर्मानसिकव्यापारे त्यक्ते बुद्धौ व्यापारस्तिष्ठति 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेरपरिणामी शुद्धः पुरुषः सत्त्वगुणात्मिका परिणामिनी बुद्धिरिति ॥ ११ ॥

भाषार्थ-उत्पन्न हुआ है कुंडलिनीरूप शक्तिका बोध जिसको और त्याग दिये हैं संपूर्ण कर्म जिसने ऐसे योगीको स्वयंही सहजावस्था होजाती है-क्योंकि आसन बांधनेसे देहके व्यापारका त्याग होनेपर प्राण और इंद्रियोंमें व्यापार बना रहता है और प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-संप्रज्ञातसमाधि इनसे मानसिक व्यापारके त्याग होनेपर बुद्धिमें व्यापार टिकता है, क्योंकि इस श्रुतिमें असंग यह पुरुष है यह कहा है इससे पुरुष

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अपरिणामी और शुद्ध है और सत्त्वगुणरूप बुद्धि परिणामवाली है और उत्तमवैराग्यसे वा दीर्घकालतक संप्रज्ञात समाधिके अभ्याससे बुद्धिके व्यापार कभी त्याग होनेपर निर्विकारस्वरूपमें स्थिति होजाती है वही सहजावस्था, तुर्यावस्था, जीवन्मुक्ति अन्यप्रयत्नके विनाही होजाती है क्योंकि इस श्रुतिमें लिखा है कि, जिससे त्यागता है उसकोभी त्यागकर बुद्धिसे संगरहित होजाय ॥ ११ ॥

सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ॥
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥ १२ ॥

परवैराग्येण दीर्घकालसंप्रज्ञाताभ्यासेनैव वा बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकारस्वरूपावस्थितिर्भवति सैव सहजावस्था तुर्यावस्था जीवन्मुक्तिः स्वयमेव प्रयत्नांतरं विनैव प्रजायते प्रादुर्भवति । 'येन त्यजसि तत्त्यजेति निःसंगः प्रज्ञया भवेत्' इति च श्रुतेः ॥ सुषुम्नेति । प्राणे वायौ सुषुम्नावाहिनि मध्यनाडीप्रवाहिनि सति मानसेऽतःकरणे शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदहीने ब्रह्मणि विशति सति तदा तस्मिन् काले योगविच्चित्तवृत्तिनिरोधज्ञः सर्वाणि कर्माणि सप्रारब्धानि निर्मूलानि करोति निर्मूलयति निर्मूलशब्दात् 'तत्करोति' इति णिच् ॥ १२ ॥

भाषार्थ–प्राणवायु जब सुषुम्नामें बहने लगता है और मन, देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे शून्यब्रह्ममें प्रविष्ट होजाता है उस समय चित्तवृत्तिके निरोधका ज्ञाता योगी प्रारब्धसहित संपूर्णकर्मोंको निर्मूल (नष्ट) करदेता है ॥ १२ ॥

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः ॥
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥ १३ ॥

समाध्यभ्यासेन प्रारब्धकर्मणोऽप्यभिभवाज्जितकालं योगिनं नमस्करोति–अमरायेति ॥ न म्रियत इत्यमरः । तस्मा अमराय चिरंजीविने तुभ्यं योगिने नमः।सोऽपि दुर्वारोऽपि कालो मृत्युस्त्वया योगिना जितोऽभिभूतः। इदं वाक्यं नमस्करणे हेतुः । स कः यस्य कालस्य वदने मुखे एतद्दृश्यमानं चराचरं स्थावरजंगमं जगत्संसारः पतितः सोऽपि जगद्भक्षकोऽपीत्यर्थः॥१३॥

भाषार्थ–समाधिके अभ्याससे प्रारब्धकर्मकाभी तिरस्कार हो जाता है इससे जिसने कालकोभी जीत लिया है उस योगीको सब नमस्कार करते हैं कि, तिस अमर (चिरजीवी) आपको नमस्कार है. जिसने दुःखसे निवारण करने योग्यभी वह काल (मृत्यु) जीत लिया जिस कालके मुखमें यह स्थावर जंगमरूप चराचर जगत् पतित है ॥ १३ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ॥
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥ १४ ॥

पूर्वोक्तममरोल्यादिकं समाधिसिद्धावेव सिद्ध्यतीति समाधिनिरूपणानंतरं समाधिसिद्धौ तत्सिद्धिरित्याह--चित्त इति ॥ चित्तेंतः--करणे समत्वं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहत्वं आपन्ने प्राप्ते सति वायौ प्राणे मध्यमे सुषुम्नायां व्रजति सतीति चित्तसमत्वे हेतुः । तदा तस्मिन् काले अमरोली वज्रोली सहजोली च पूर्वोक्ताः प्रजायंते नाजितप्राणस्य न चाजितचित्तस्य सिद्ध्यंतीति भावः ॥ १४ ॥

भाषार्थ--पूर्वोक्त अमरोली आदि मुद्रा समाधिके सिद्ध होनेपरही सिद्ध हो जाती हैं इससे समाधिनिरूपणके अनंतर समाधिके सिद्ध होनेपर उनकीभी सिद्धिका वर्णन करते हैं, कि, जब अंत:करणरूप चित्त ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारवृत्ति प्रवाहको प्राप्त होजाता है अर्थात् ब्रह्माकार होजाता है और प्राणवायु सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाता है अर्थात् इसप्रकार चित्तकी समता होनेपर उसकालमें अमरोली, वज्रोली, सहजोली ये पूर्वोक्त मुद्रा भलीप्रकार होजाती हैं और जिसने प्राण और चित्तको नहीं जीता उसको सिद्ध नहीं होती हैं ॥ १४ ॥

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह ताव-
त्प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ॥
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥ १५ ॥

हठाभ्यासं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीत्याह--ज्ञानमिति ॥ यावत्प्राणो जीवति । अपिशब्दादिंद्रियाणि जीवंति न तु म्रियंते । यावन्मनो न म्रियते किंतु जीवत्येव । इडापिंगलाभ्यां वहनं प्राणस्य जीवनं स्वस्वविषयग्रहणमिंद्रियाणां जीवनं नानाविषयाकारवृत्त्युत्पादनं मनसो जीवनं तत्तद्भावतत्तन्मरणमत्र विवक्षितम् । ननु स्वरूपतस्तेषां नाशस्तावन्मनस्यंतःकरणे ज्ञानमात्मापरोक्षानुभवः कुतः संभवति न । कर्तापि प्राणेंद्रियमनोवृत्तीनां ज्ञानप्रतिबंधकत्वादिति भावः। प्राणो मनः इदं द्वयं यो योगी विलयं नाशं नयेत्स मोक्षमात्यंतिकस्वरूपावस्थानलक्षणं गच्छति प्राप्नोति । ब्रह्मरंध्रे निर्व्यापारस्थितिः प्राणस्य लयः । ध्येयाकारावेशात् । विषयांतरे-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नाधारेण मनसो लयोऽन्यः । अलीनप्राणोऽलीनमनाश्च कथंचिदुपायशतेनापि न मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः । तदुक्तं योगबीजे–'नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः । तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव हि' इति। नानामार्गैः सुखदुःखप्रायं कैवल्यं परमं पदं 'सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितम्' इति च । सिद्धमार्गो योगमार्गः । एतेन योगं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीति सिद्धम् । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु चेदं प्रसिद्धम् । तथाहि अथ 'तद्दर्शनाभ्युपायो योग' इति तद्दर्शनमात्मदर्शनम् । 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' इति । 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेद' इति 'यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥ तां योगमिति मन्यंते स्थिरामिंद्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति' इति । 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दयोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युंजीतेति त्रिरुन्नतः स्थाप्य समशरीरः हृदींद्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ब्रह्माह्वयेन प्रतरेत विद्वान् स्रोता ँसि सर्वाणि भयावहानि' इति । 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' इत्याद्याः श्रुतयः ॥ यतिधर्मप्रकरणे मनुः–'भतभाव्यानवेक्षेत योगेन परमात्मनः । देहद्वयं विहायाशु मुक्तो भवति बंधनात् ॥' याज्ञवल्क्यस्मृतौ–'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥' महर्षिमातंगः–'अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तमः। योगाभ्यासरतः शांतः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥' ब्राह्मणक्षत्त्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम् । शांतये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ॥' दक्षस्मृतौ व्यतिरेकमुखेनोक्तम्–'स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा । अयोगी नैव जानाति जात्यंधो हि यथा घटम्' इत्याद्याः स्मृतयः ॥ महाभारते योगमार्गे व्यासः–'अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकांक्षिणी । तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ यदि वा सर्वधर्मज्ञो यदि वाप्यकृती पुमान् । यदि वा धार्मिकः श्रेष्ठो यदि वा पापकृत्तमः ॥ यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लैब्यधारकः । नरः सेव्यं महादुःखं जरामरणसागरम् ॥ अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥' इति ॥ भगवद्गीतायाम्–'युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः। शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ यत्सांख्यैः प्राप्यते

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्थानम्' इत्यादि च ॥ आदित्यपुराणे--'योगात्संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता ॥' स्कंदपुराणे--'आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि । स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्ध्यति ॥' कूर्मपुराणे शिववाक्यम्--'अतः परं प्रवक्ष्यामि योगं परमदुर्लभम् । येनात्मानं प्रपश्यंति भानुमंतमिवेश्वरम् । योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरम् ॥ प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ॥' गरुडपुराणे--'तथा यतेत मतिमान्यथा स्यान्निर्वृतिः परा । योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केनचित् ॥ भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम् । परावरप्रसक्ता धीर्यस्य निर्वेदसंभवा ॥ स च योगाग्निना दग्धसमस्तक्लेशसंचयः । निर्वाणं परमं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ संप्राप्तयोगसिद्धिस्तु पूर्णो यस्त्वात्मदर्शनात् । न किंचिद्दृश्यते कार्यं तेनैव सकलं कृतम् ॥ आत्मारामः सदा पूर्णः सुखमात्यंतिकं गतः । अतस्तस्यापि निर्वेदः परानंदमयस्य च ॥ तपसा भावितात्मानो योगिनः संयतेंद्रियाः । प्रतरंति महात्मानो योगेनैव महार्णवम् ॥' विष्णुधर्मेषु--'यच्छ्रेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम् । अपि कीटपतंगानां तन्नः श्रेयः परं वद ॥ इत्युक्तः कपिलः पूर्वं देवैर्देवर्षिभिस्तथा । योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्तवान् पुरा ॥' वासिष्ठे--'दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका । योगगारुडमंत्रेण पावनेनोपशाम्यति ॥' ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरप्यपरोक्षप्रमाणं भवतीति किमर्थमतिश्रमसाध्ये योगे प्रयासः कार्यः । न च वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वे प्रमाणासंभव इति वाच्यम् । तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानमपरोक्षम् । अपरोक्षविषयकत्वात् । चाक्षुषघटादिप्रत्यक्षवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात् । न च विषयगतापरोक्षत्वस्य नीरूपत्वाद्धेतुत्वसिद्धिरिति वाच्यम् । अज्ञानविषयाचित्ततत्तादात्म्यापन्नत्वान्यतररूपस्य तस्य सुनिरूपत्वात् । यथा हि घटादौ चक्षुःसन्निकर्षेणांतःकरणवृत्तिदशायां तदधिष्ठानचैतन्याज्ञाननिवृत्तौ तच्चैतन्यस्याज्ञानविषयता तद्घटस्याज्ञानविषयचैतन्यतादात्म्यापन्नत्वं चापरोक्षत्वम् । तथा तत्त्वमस्यादिवाक्येन शुद्धचैतन्याकारांतःकरणवृत्त्युत्थापने सति तदज्ञानस्य निवृत्तत्वेनैव तत्त्वस्याज्ञानविषयत्वाच्चैतन्यस्यापरोक्षत्वमिति न हेत्वसिद्धिः । न चाप्रयोजकत्वं ज्ञानगम्यस्यापरोक्षत्वं प्रत्यक्षपरोक्षविषयकत्वेन प्रयोजकत्वात् । नत्विन्द्रियजन्यत्वं मनस इंद्रियत्वाभावेन सुखादिपरत्वे व्यभिचारात् । अथवाभिव्यक्तचैतन्याभिन्नतया भासमानत्वं विषयस्यापरोक्षत्वम् । अभिव्यक्तत्वं च निवृत्त्यावर-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

णकत्वं परोक्षवृत्तिस्थले वावरणनिवृत्त्यभावान्नातिव्याप्तिः । सर्पादिभ्रमजनकदोषवतस्तु नायं सर्पः किंतु रज्जुरिति वाक्येन जायमाना वृत्तिस्तु नावरणं निवर्तयतीति तत्र परोक्ष एव विषयः । वेदांतवाक्यजन्यं च ज्ञानमावरणनिवर्तकत्वादपरोक्षमेव तन्मननादेः पूर्वमुत्पन्नम् । ज्ञाननिवर्तकप्रमाणासंभावनादिदोषसामान्याभावविशिष्टस्यैव तस्याज्ञाननिवर्तकत्वात् । किंच 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुतिप्रतिपन्नमुपनिषन्मात्रागम्यत्वं योगगम्यत्वेनोपपन्नं स्यात् । तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यादेवापरोक्षमिति चेन्न । अनुमानस्याप्रयोजकत्वात् । न च प्रत्यक्षं प्रति निरुक्ताक्षसामान्यं प्रतींद्रियत्वेन कारणतया तज्जन्यत्वस्यैव प्रयोजकत्वान्नित्यानित्यसाधारणप्रत्यक्षत्वे तु न किंचित्प्रयोजकत्वमिति । तन्मते तु प्रत्यक्षविशेषे इंद्रियं कारणं तद्विशेषे च शब्दविशेष इत्येवं कार्यकारणभावद्वयं स्यात् । न च मनसोऽनिंद्रियत्वं मनस इंद्रियत्वे बाधकाभावादिंद्रियाणां मनो नाथ इति मनुष्यमिवोद्दिश्य मनुष्याणामयं राजेत्यादिवदिंद्रियेष्वेव किंचिदुत्कर्षं ब्रवीति । न तु तस्याप्यनिंद्रियत्वं तत्त्वं च षट्त्वखंडोपाधिविशेष एव । अत एव 'कर्मेंद्रियं तु पाय्वादि मनोनेत्रादि धींद्रियम्' इति 'प्रत्यक्षं स्यादैंद्रियकमप्रत्यक्षमतींद्रियम्' इति च शक्तिप्रमाणभूतकोशेऽपींद्रियाप्रमाणकज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं वदन् मनस इंद्रियत्वज्ञापकत्वं संगच्छते । 'इंद्रियाणि दशैकं च' इति गीतावचनं मनस इंद्रियत्वे प्रमाणम् । किंच तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं शाब्दम् । शब्दजन्यत्वाद् 'यजेत' इत्यादिवाक्यजन्यज्ञानवदित्यनेनापरोक्षविरोधिशाब्दत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्षः । न चेदमप्रयोजकम् । शाब्दं प्रत्येव शब्दस्य जनकत्वेन लाघवमूलकानुकूलतर्कात् । त्वन्मते तु शब्दादपि प्रत्यक्षस्वीकारेण कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवम् । अपि च मननानिदिध्यासनाभ्यां पूर्वमप्युत्पन्नम् । तव मते परोक्षमपि नाज्ञाननिवर्तकमित्यज्ञाननिवृत्तिं प्रति बाधज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमिति गौरवम् । मम तु समाध्यभ्यासपरिपाकेनासंभावनादिसकलमलरहितेनांतःकरणेनात्मनि दृष्टे सति दर्शनमात्रादेवाज्ञाने निवृत्ते न कश्चिद्गौरवावकाशः । 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः । यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ' इत्यारभ्याज्ञाननिवृत्त्यर्थकेन 'मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' इत्यंतेन कठवल्लीस्थमृत्यूपदेशेन संमतोऽयमर्थ इति न कश्चिदत्र विवादः इति । यदि तु मननादेः

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पूर्वमुत्पन्नं ज्ञानं परोक्षमेवेति न प्रतिबद्धत्वकृतगौरवमिति मतमाद्रियते तदपि श्रवणादिभिर्मनःसंस्कारे सिद्धेऽव्यवहितोत्तरमात्मदर्शनसंभवात्तदुत्तरं वाक्यस्मरणादिकल्पनं महद्गौरवापादकमेव। ननु न वयं केवलेन तर्केण शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वं वदामः किंतु श्रुत्यापि। तथाहि—'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुत्या चौपनिषदत्वं पुरुषस्य नोपनिषज्जन्यबुद्धिविषयत्वमात्रं प्रत्यक्षादिगम्येऽप्यौपनिषदत्वे व्यवहारापत्तेः। यथा हि द्वादशकपालेऽष्टानां कपालानां सत्त्वेऽपि द्वादशकपालसंस्कृतेनाष्टाकपालादिव्यवहारः। यथा द्विपुत्रादावेकपुत्रादिव्यवहारस्तथात्रापि। नान्यत्र तथा व्यवहार इति। उपनिषन्मात्रगम्यत्वमेव प्रत्ययार्थः। तच्च मनोगम्यत्वेऽनुपपन्नमिति चेन्न। नहि प्रत्ययेनोपनिषद्भिन्नं सर्वं कारणत्वेन व्यावर्त्यते। शब्दापरोक्षवादिना त्वयाप्यात्मपरोक्षे मनआदीनां करणत्वस्यांगीकारात्। किंतु पुराणादिशब्दांतरमेव 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इति स्मरणात्स चार्थो ममापि संमत इति न किंचिदेतत्। प्रमाणांतरव्यावृत्तौ तात्पर्यकल्पनं चात्मपरोक्षे शब्दस्य प्रमाणत्वे सिद्ध एव वक्तुमुचितम्। शब्दांतरव्यावृत्तितात्पर्यं तु श्रुत्यादिसंमतत्वात्कल्पयितुमुचितमेव। एवं स्थिते 'मनसैवानुद्रष्टव्यं मनसैवेदमाप्तव्यम्' इत्यादिश्रुतयोऽप्यांजस्येन प्रतिपादिता भवेयुः। यत्तु कैश्चिदुक्तम्। दर्शनवृत्तिं प्रति मनोमात्रस्योपादानत्वपरायत्ताः श्रुतयो न विरुध्यंत इति तदतीव विचारासहम्। यतः प्रमाणाकांक्षायां प्रवृत्तास्ताः कथमुपादानपरा भवेयुः। 'कामः संकल्पो विचिकित्सा' इत्यादिश्रुत्या सावधारणया सर्वासां वृत्तीनां मनोमात्रोपादानकत्वे बोधिते आकांक्षाभावेनोपादानतात्पर्यकत्वेन वर्णयितुं कथं शक्येरन्। पूर्वं द्वितीयवल्यां प्रणवस्य ब्रह्मबोधकत्वेनोक्तेस्तस्याप्यपरोक्षहेतुत्वमिति शंकां निवारयितुं 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादिसावधारणवाक्यानीत्येव वर्णयितुं शक्यानि स्युरित्यलमतिवाग्जालेन। वस्तुतस्तु योगिनां समाधौ दूरविप्रकृष्टपदार्थज्ञानं सर्वशास्त्रप्रसिद्धं न परोक्षम्। तदानीं परोक्षसामग्र्यभावात्। नापि स्मरणम्। तेषां पूर्वविशिष्यानुभवात्। नापि सुखादिज्ञानवत्साक्षिरूपम्। अपसिद्धांतात् नाप्यप्रमाणकं प्रमासामान्ये करणनियमात्। नापि चक्षुरादिजन्यम्। तेषामसन्निकर्षात्। तस्मान्मानसिकी प्रमैव सा वाच्येति मनस इन्द्रियत्वं प्रमाणत्वं च दूरमपह्नवमेवेति। येऽपि योगश्रुत्योः समुच्चयं कल्पयंति तेषामपि पूर्वोक्तदूषणगणस्तदवस्थ एव। तस्माद्योगजन्यसंस्का-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रसचिवमनोमात्रगम्य आत्मेति सिद्धम् । न च कामिनीं भावयतो व्यवहितकामिनीसाक्षात्कारस्येव भावनाजन्यत्वेनात्मसाक्षात्कारस्याप्रमात्वप्रसंगः । अबाधितविषयत्वात् दोषजन्यत्वाभावाच्च । कामिनीसाक्षात्कारस्य तु बाधितविषयत्वाद्दोषजन्यत्वाच्चाप्रामाण्यं न । भावनाजन्यत्वात् । न च भावनासमाधेर्ज्ञापकत्वे प्रमाणांतरापातः । तस्या मनःसहकारित्वात्प्रमाणनिरूपणानिपुणैर्नैयायिकादिभिरपि योगजप्रत्यक्षस्यालौकिकप्रत्यक्षेऽंतर्भावः कृतः । योगजालौकिकसन्निकर्षेण योगिनो व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मार्थमात्मानमपि यथार्थं पश्यंति । तथा च पातंजले सूत्रे-"ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात्" तत्र समाधौ या प्रज्ञास्याः श्रुतं श्रवणं शाब्दबोधः। अनुमननमनुमानं यौक्तिकज्ञानं तद्रूपप्रज्ञाभ्यामन्यविषया । कुतः । विशेषार्थत्वात् । विशेषो निर्विकल्पोऽर्थो विषयो यस्याः सा तथा तस्या भावस्तथात्वं तस्माच्छब्दस्यापदार्थतावच्छेदकपुरस्कारेणैवानुमानस्य व्यापकत्वावच्छेदकपुरस्कारेणैव धीजनकत्वनियमेन तद्ग्रहणे योग्यविशेष्यमात्रपरत्वादित्यर्थः । अत्र बादरायणकृतं भाष्यम्-श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयं नह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं कस्मान्नहि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इत्यारभ्य समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव सविशेषो भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वेति ॥ योगबीजे-'ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेंद्रियः । विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥' किंच-'तदेव सक्तः सह कर्मणेति लिंगं मनो यत्र निषिक्तमस्य' इति श्रुतेः। 'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इति स्मृतेश्च देहावसानसमये यत्र रागाद्युद्बुद्धो भवति तामेव योनिं जीवः प्राप्नोतीति योगहीनस्य जन्मांतरं स्यादेव मरणसमये समुद्भूतवैक्लव्यस्यायोगिना वारयितुमशक्यत्वात् । तदुक्तं योगबीजे-'देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् । तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम् ॥ देहांते किं भवेज्जन्म तन्न जानंति मानवाः। तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्च केवलं श्रमः ॥ पिपीलिका यदा लग्ना देहे ज्ञानाद्विमुच्यते । असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहांते वा कथं सुखी ॥' इति । योगिनां तु योगबलेनांतकालेऽप्यात्मभावनया मोक्ष एवेति न स्याज्जन्मांतरम् । तदुक्तं भगवता-'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।' इत्यादिना । 'शतं चैका हृदयस्य नाड्यः' इत्यादि श्रुतेश्च । न च तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वे तद्विचारस्य वैयर्थ्यमेवेति

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शंक्यम् । वाक्यविचारजन्यज्ञानस्य योगद्वाराऽपरोक्षज्ञानसाधनत्वात् । अत्र च योगबीजे गौरीश्वरसंवादो महानस्ति ततः किंचिल्लिख्यते । देव्युवाच ॥ ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी । गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे ॥ ईश्वर उवाच ॥ देहांते ज्ञानिना पुण्यात्पापात्फलमवाप्यते । यादृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत् ॥ पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम् । ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ॥ ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ॥ देव्युवाच ॥ ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदंति ज्ञानिनः सदा । न कथं सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत् ॥ ईश्वर उवाच ॥ ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि तेषां वाक्यं तु नान्यथा । सर्वे वदंति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम् ॥ विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् । तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ॥' इत्यादि । ननु जनकादीनां योगमंतरेणाप्यप्रतिबद्धज्ञानमोक्षयोः श्रवणात्कथं योगादेवाप्रतिबद्धज्ञानं मोक्षश्चेति चेत् । उच्यते । तेषां पूर्वजन्मानुष्ठितयोगजसंस्काराज्ज्ञानप्राप्तिरिति पुराणादौ श्रूयते । तथाहि—'जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः । क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः ॥ संप्राप्ताः परमां सिद्धिं पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः । धर्मव्याधादयः सप्त शूद्राः पैलवकादयः ॥ मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शांडिली च तपस्विनी । एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता अपि ॥ ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः ॥' इति । किंच । पूर्वजन्मानुष्ठितयोगाभ्यासपुण्यतारतम्येन केचिद्ब्रह्मत्वं केचिद्ब्रह्मपुत्रत्वं केचिद्देवर्षित्वं केचिद्ब्रह्मर्षित्वं केचिन्मुनित्वं केचिद्भक्तत्वं च प्राप्ताः संति । तत्रोपदेशमंतरेणैवात्मसाक्षात्कारवंतो भवेयुः । तथाहि—हिरण्यगर्भवसिष्ठनारदसनत्कुमारवामदेवशुकादयो जन्मसिद्धा इत्येव पुराणादिषु श्रूयते । यत्तु ब्राह्मण एव मोक्षाधिकारीति श्रूयते पुराणादौ तदयोगिपरम् । तदुक्तं गरुडपुराणे—"योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मांतरादृतः । योगस्य प्राप्तये तेषां शूद्रवैश्यादिकक्रमः ॥ स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात् । ततश्च क्षत्रियो विप्रः कृपाहीनस्ततो भवेत् ॥ अनूचानः स्मृतो यज्वा कर्मन्यासी ततः परम् । ततो ज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेत् ॥' इति । शूद्रवैश्यादिक्रमाद्योगी भूत्वा मुक्तिं लभेदित्यर्थः । इत्थं च योगे सर्वाधिकारश्रवणाद्योगोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन सर्व एव मुच्यंत इति सिद्धम् । योगिनस्तु भ्रष्टस्यापि न शूद्रादिक्रमः । 'शुचीनां

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ अथवा योगिनामेव' इत्यादि भगवद्वचनादित्यलम् ॥ १९ ॥

भाषार्थ--अब हठाभ्यासके विना ज्ञान और मोक्ष सिद्ध नहीं होते इसका वर्णन करते हैं कि, जबतक प्राण और इंद्रिय जीवते हैं और मनभी नहीं मरता है अर्थात् जीवता है इडा और पिंगलामें प्राणके बहनेको प्राणका जीवन और अपने २ विषयोंका ग्रहण करना इंद्रियोंका जीवन और नाना प्रकारके विषयोंको उत्पन्न करना मनका जीवन कहाताहै--और तिस २ भावको प्राप्त हो जानाही यहां तिस २ का मरण विवक्षित है कुछ स्वरूपसे इनका नाश विवक्षित नहीं है--तबतक मनरूप अंतःकरणमें अपरोक्षानुभवरूप ज्ञान कैसे हो सकता है अर्थात् कदाचित्भी नहीं हो सकताहै. क्योंकि प्राण, इंद्रिय, मन इनकी जो वृत्ति हैं वे ज्ञानकी प्रतिबंधक होती हैं--और जो योगी प्राण और मन इन दोनोंका विशेषकर लय करदेता है वह योगी आत्यंतिक स्वरूपमें स्थितिरूप मोक्षको प्राप्त होताहै--और ब्रह्मरंध्रमें जो विना व्यापार प्राणकी स्थिति वही प्राणका लय कहाता है और ब्रह्मसे भिन्न विषयोंमें व्यापाररहित होनाही मनका लय कहाता है और जो अन्य है अर्थात् जिसके प्राण और मनका लय नहीं हुआहै वह योगी सैकडों उपायोंसेभी किसीप्रकार मोक्षको प्राप्त नहीं होताहै सोई योगबीजमें कहाहै कि, नानाप्रकारके विचारोंसे तो मन साध्य नहीं होताहै तिससे तिस मनका जयही प्राणका जय है अनेकप्रकारके मार्गोंसे बहुधा जिसमें सुख दुःख है वह जन्म होताहै और योगमार्गसे कैवल्य (मोक्ष) रूप परमपद मिलताहै अन्यथा नहीं मिलताहै यह शिवजीका कथन है इससे यह सिद्धभया कि, योगके विना ज्ञान और मोक्ष सिद्ध नहीं होते हैं और श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदिकोंमें भी यही प्रसिद्ध है कि इसके अनंतर आत्मदर्शनका उपाय योग है और अध्यात्मयोगकी प्राप्तिसे देवको मानकर धीरमनुष्य हर्ष और शोकको त्यागताहै और श्रद्धा भक्ति ध्यान योगसे आत्माको जानता भया--और जब मनसहित पांचों ज्ञान इंद्रिय विषयोंसे रहित टिकती हैं और बुद्धि भी चेष्टा न करती हो उसको परमगति योगीजन कहते हैं--और उस स्थिर इंद्रियोंकी धारणाकोही योग मानते हैं और उससमय योगी अप्रमत्त होजाताहै और जीव दयावान् आत्मतत्व (आत्मज्ञान) से योगी ब्रह्मतत्त्वको देखताहै तब अज और नित्य जो संपूर्णतत्त्वोंसे विशुद्ध देव है उसको जानकर संपूर्णबंधनोंसे छुटता है ब्रह्मरूप तेज तुझ आत्माकी ओंकाररूपसे उपासना करै--और तिन उन्नत (सीधे) और सम शरीरको स्थापन करके और मन सहित इंद्रियोंको हृदयमें प्रविष्ट करके ब्रह्मनामसे भयके दाता संपूर्ण स्रोतोंको विद्वान् योगी तरै--ओंकाररूपसे आत्माका ध्यान करो--और

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यतिधर्म प्रकरणमें मनुने लिखाहै कि, परमात्माके योगसे भूत और भावी पदार्थोंको देखै तो स्थूल सूक्ष्मरूप दोनों देहोंको शीघ्र त्यागकर बंधनसे छुट जाताहै--याज्ञवल्क्यस्मृतिमें लिखाहै कि, यज्ञ, आचार, इंद्रियोंका दमन, अहिंसा, दान, स्वाध्याय, कर्म--इनका यही परमधर्म है कि, योगसे आत्माको देखना--मातंगमहर्षिका वाक्य है ब्राह्मण अग्निष्टोम आदि संपूर्ण यज्ञोंको छोडकर योगाभ्यासमें तत्पर हुआ शांत होकर परब्रह्मको प्राप्त होताहै । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री और शूद्र इनके लिये पवित्रकर्मोंकी शांति और मुक्तिके अर्थ योगसे अन्य कोई वस्तु नहीं है--दक्षस्मृतिमें निषेधमुखसे कहाहै कि, स्वसंवेद्य (स्वयं जानाजाय) जो वह ब्रह्म उसको योगीसे भिन्न इस प्रकार नहीं जानते हैं जैसे कुमारी (कन्या) स्त्रीके सुखको और जन्मांध घटको नहीं जानताहै--इत्यादि स्मृतियोंमें और महाभारतमें भी योगमार्गमें व्यासने कहाहै कि, वर्णावकृष्ट (पतित) वा धर्मकांक्षिणी नारी हो वे दोनों भी इस मार्गसे परमगतिको प्राप्त होते हैं संपूर्णधर्मोंका ज्ञाता हो वा अकृती (पुण्यहीन) हो धार्मिक हो वा अत्यंत पापी हो पुरुष हो वा नपुंसक हो ऐसा मनुष्यभी जरामरणसमुद्रके महादुःखके सेवनके जाननेका अभिलाषी शब्दब्रह्मका अवलंबन करताहै भगवद्गीतामें भी लिखा है कि, वशीभूत है मन जिसके ऐसा मनुष्य सदा इसप्रकार आत्मयोगको करता हुआ मेरेमें स्थितिरूप और मोक्ष है परम जिसमें ऐसे शान्तिरूप स्थानको प्राप्त होताहै जो स्थान सांख्योंको प्राप्त होताहै उसीमें योगीभी जाते हैं--आदित्यपुराणमें लिखाहै, कि योगसे ज्ञानहोताहै और मेरेमें एक रस चित्त रखनेको योग कहते हैं। स्कंदपुराणमें लिखा है कि, आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है वह आत्मज्ञान योगके विना नहीं हो सकता और वह योग चिरकालके अभ्याससेही सिद्ध होताहै--कूर्मपुराणमें शिवजीका वाक्य है कि, इससे आगे परमदुर्लभ योगको कहताहूँ जिससे सूर्यके समान ईश्वर आत्माको योगी देखते हैं योगरूप अग्नि शीघ्रही संपूर्ण पापके पंजरको दग्ध करती है और प्रसन्न ज्ञान होताहै और ज्ञानसे मोक्ष होजाताहै--गरुडपुराणमें कहा है कि, बुद्धिमान् मनुष्य तिसप्रकार यत्नकरै जैसे परमसुखहो और वह सुख योगसे मिलताहै अन्य किसीसे नहीं--संसारके तापोंसे तपायमान मनुष्योंके लिये योग परम औषध है जिसकी निर्वेद (वैराग्य) से उत्पन्न हुई बुद्धि परअवरमें प्रसक्त है योगरूप अग्निसे दग्धहुये हैं समस्त क्लेशसंचय जिसके ऐसा वह परमनिर्वाणपदको सदैव प्राप्त होताहै इसमें संशय नहीं है--प्राप्त हुईही है योगसिद्धि जिसको उसको और आत्माके दर्शनसे पूर्ण जो है उसको कुछभी कर्तव्य नहीं देखते उसने सब कर लिया--आत्माराम और सदा पूर्णरूप और आत्यंतिक सुखको प्राप्त है इससे परमानंदरूप उसको निर्वेद (सुख) हो जाताहै--तपसे जानाहै आत्मा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जिन्होंने और वशमें हैं इन्द्रियें जिनके ऐसे महात्मा योगीजन योगसेही महासमुद्र (जगत्) को तर जातेहैं—और विष्णुधर्मोंमें लिखाहै कि, जो सब भूतोंका श्रेय है और स्त्रियोंका और कीट पतंगोंका भी उपकार है उस परमश्रेयको हमारे प्रति कहो. इस प्रकार देव और देवर्षियोंने कहाहै जिनको ऐसे कपिलमुनि पहिले समयमें योगकोही श्रेय कहते भये—वासिष्ठमें लिखा है कि, हे राम ! संसारके विषका जो वेग उसकी विसूचिका दुःसह है वह योगरूप और पवित्र गारुडमंत्रसेही शांत होती है कदाचित् कोई शंकाकरै कि तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे भी अपरोक्ष प्रमाण (ज्ञान) होताहै तो किसलिये अत्यंतश्रमसे साध्ययोगमें प्रयास करते हो—कदाचित् कहो कि वाक्यसे जन्य ज्ञानके अपरोक्ष होनेमें प्रमाणका असंभव है सो नहीं—क्योंकि, तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अपरोक्ष है—अपरोक्ष विषयक होनेसे—चक्षुसे हुये घट आदिके प्रत्यक्षकी तुल्य यह अनुमान प्रमाण है। कदाचित् कहो कि, विषयकी अपरोक्षताके नीरूप (रूपहीन) होनेसे हेतुकी असिद्धि है सो ठीक नहीं. क्योंकि अज्ञानका विषय चित्त, और चित्तके संग तादात्म्यरूपको प्राप्तत्व, ये दोनोंहैं रूप जिसके ऐसी जो विषयकी अपरोक्षता वह भलीप्रकार निरूपण करने योग्य है जैसे घट आदिमें जब चक्षुकी संनिकर्ष दशामें उसके अधिष्ठानरूप चैतन्यकी अज्ञाननिवृत्तिके होनेपर उसका चैतन्य अज्ञानका विषय होना, और उस घटका अज्ञान विषय चैतन्यके संग तादात्म्यकी प्राप्ति होना, ये दोनों अपरोक्ष हैं—तिसीप्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे शुद्ध चैतन्याकार वृत्तिके होनेपर उसके अज्ञानकी निवृत्ति होनेसेही तत्त्व अज्ञानका विषय नहीं रहा इससे चैतन्य अपरोक्ष है इससे हेतुकी असिद्धि नहीं है--कदाचित् कहो कि, हेतु अप्रयोजक है अर्थात् अपने साध्यको सिद्ध नहीं करसकता, अपरोक्षता ज्ञानसे होती है इससे प्रत्यक्ष जो परोक्ष उसका विषयक होनेसे हेतु प्रयोजक है कुछ इंद्रियजन्यही अपरोक्ष नहीं होता, क्योंकि मन इंद्रिय नहीं है उसकोभी सुख आदिकी विषयकता होनेसे व्यभिचार होजायगा अथवा अभिव्यक्त (प्रकट) चैतन्यके अभिन्नरूपसे जो भासमान होना वही विषयकी अपरोक्षताहै और आवरणकी निवृत्ति होनेकोभी अभिव्यक्त कहतेहैं--और परोक्ष वृत्तिके स्थलमें आवरण निवृत्तिका अभाव है इससे वहां अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं है--जो मनुष्य रज्जु आदिमें सर्प आदि भ्रमके उत्पादक दोषवाला है उसको जो यह सर्प नहीं किंतु रज्जु है इस वाक्यसे उत्पन्न हुई जो वृत्ति वह आवरणको निवृत्त नहीं करती है इससे वहां परोक्षही विषय है और वेदांतके वाक्योंसे जो ज्ञान उत्पन्न होताहै आवरणका निवर्तक होनेसे वह अपरोक्षही है, क्योंकि वह मनन आदिसे पूर्व उत्पन्न हुआहै और ज्ञाननिवर्तक प्रमाणकी असंभावना

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आदि संपूर्ण दोषोंके अभाव विशिष्टही उस वेदांतवाक्योंसे जन्यज्ञानको अज्ञानकी निवर्तकताहै और उस उपनिषदोंसे प्रतिपादन किये पुरुषको पूछताहूँ इस श्रुतिसे प्रतिपन्न (सिद्ध) उपनिषद मात्रसे जो जाना जाताहै वह योगसेही जानाजायगा तिससे तत्त्वमसि आदि वाक्यसेही अपरोक्षज्ञान होताहै--सो ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान अप्रयोजक है. क्योंकि प्रत्यक्षके प्रति और पूर्वोक्त अक्ष (इन्द्रिय) सामान्यके प्रति इंद्रियरूपसे कारणताहै इससे इंद्रियसे जन्यत्वही प्रयोजक है और नित्य अनित्य साधारण प्रत्यक्षमें तो कुछ प्रयोजक नहीं होताहै और उनके मतमें तो किसी प्रत्यक्षमें इंद्रिय कारण हैं और किसी प्रत्यक्षमें शब्दविशेष कारण है इसप्रकार दो कार्य कारणभाव होजायँगे अर्थात् एक कार्यके दो कारण मानने पडेंगे—कदाचित् कहो कि मन इंद्रिय नहीं है सो भी नहीं क्योंकि, मन इंद्रियोंका नाथ है यह वचन मनुष्यके समान उद्देश करके मनुष्योंका यह राजाहै इसके समान मनुष्योंमें ही कुछ उत्कर्षको कहताहै कुछ मनको इंद्रियभिन्न नहीं कहताहै और तत्त्व तो यह है कि, मन इंद्रियोंमें एक अखंडोपाधिरूपही है इसीसे पायु (गुदा) आदि कर्मेंद्रिय और मन नेत्र आदि ज्ञानेंद्रिय हैं और जो प्रत्यक्षहो वह ऐंद्रियक और जो अप्रत्यक्ष हो वह अतींद्रिय कहाताहै इन शक्तिके निर्णायक कोशोंमें इंद्रियाप्रमाणक ज्ञानको अप्रत्यक्ष कहते हुये मनको इंद्रिय होना प्रतीत कराते हैं और दश और एक इंद्रिय है यह गीता वचनभी मनके इंद्रिय होनेमें प्रमाण है और तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे पैदा हुआ ज्ञान—शब्दसे उत्पन्न है, शब्दसे उत्पन्न होनेसे,--यज्ञ करै इत्यादि वाक्योंसे उत्पन्न ज्ञानके समान--इस अप्रत्यक्ष विरोधि शब्दजन्यके साधक अनुमानसे सत्प्रतिपक्षभी है विरोधि पदार्थके साधक हेतुको सत्प्रतिपक्ष कहतेहैं-कदाचित् कहो कि, यह अनुमान अप्रयोजक है सोभी नहीं क्योंकि शब्दजन्य ज्ञानकाही शब्द जनक होताहै यह लाघवमूलक अनुकूल तर्क इस अनुमानमेंहै तेरे मतमें तो शब्दसेभी प्रत्यक्षके स्वीकार करनेसे दो कार्य कारण भाव होजायँगे इससे गौरवहै--और मनन, निदिध्यासनसे पहिले भी उत्पन्न है और तेरे मतमें परोक्षभी उक्तज्ञान अज्ञानका निवर्तक नहीं होगा इससे अज्ञाननिवृत्तिके प्रति बाधज्ञानरूपसेही हेतु मानना पडेगा यह भी गौरव है. मेरे मतमें तो समाधिका जो अभ्यास उसके परिपाकसे असंभावना आदि संपूर्ण मलोंसे रहित अर्थात् अंत:करणसे आत्माके देखनेपर और दर्शनमात्रसेही अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है इससे कोई भी गौरवका अवकाश नहीं है--और संपूर्ण भूतोंमें यह गुप्त आत्मा प्रकाशित नहीं होता है, परन्तु सूक्ष्मदर्शी मनुष्य इस आत्माको सूक्ष्म और मुख्य जो बुद्धि उससे देखते हैं--धीर मनुष्य वाणी और मनको रोकै इन वचनोंसे लेकर अज्ञानकी निवृत्ति है अर्थ जिसका ऐसे इस

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कठवल्लीके मृत्युके मुखसे छुटताहै मृत्युके उपदेशकोभी यह बात संमत है इससे इसमें कोई विवाद नहीं है--और यदि मनन आदिसे पूर्व उत्पन्न हुआ ज्ञान परोक्षही है इससे प्रतिबंधका किया गौरव नहीं है इस मतको मानोंगे तो तब भी श्रवण आदिसे मनका संस्कार सिद्ध होनेपर उसके अनंतर कालहीमें आत्माका दर्शन संभवहै इससे उसके अनन्तर वाक्योंके स्मरण आदिको कल्पना करनेमें भी महान् गौरवहै-- कदाचित् शंका करो कि हम केवल तर्कसे शब्दजन्य ज्ञानको अपरोक्ष नहीं कहतेहैं किंतु श्रुति भी कहती है सोई दिखातेहैं कि, उस उपनिषदोंसे कहे हुये पुरुषको मैं पूछता हूँ इस श्रुतिसे जो पुरुषको औपनिषदरूप कहाहै वह कुछ उपनिषदोंसे उत्पन्न जो बुद्धि उसकी विषयमात्र नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदिसे जानने योग्यमें औपनिषद् यह व्यवहार होजायगा जैसे बारह कपालोंमें आठ कपालोंके होनेपरभी द्वादश कपालोंमें संस्कार किये पदार्थमें आठ कपालोंमें संस्कृत यह व्यवहार नहीं होताहै और जैसे द्विपुत्र मनुष्यमें एकपुत्र व्यवहार नहीं होताहै तैसेही यहां भी समझना और अन्यत्र तैसा व्यवहार नहीं होताहै इससे उपनिषदमात्रसे जानने योग्यही यहां प्रत्ययका अर्थ है और मनसे जानने योग्य आत्माको मानोंगे तो वह सिद्ध नहीं होगा यह शका भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्ययसे, उपनिषदसे भिन्न जो सबकारण हैं उनकी निवृत्ति (निषेध) नहीं होती है, क्योंकि शब्दके अपरोक्षवादी अपने भी आत्माके परोक्षज्ञानमें मन आदि करण माने हैं किन्तु प्रत्ययसे पुराण आदि जो अन्य शब्द हैं उनकीही व्यावृत्ति होती है, क्योंकि श्रुतिके वाक्योंसे आत्मा सुनने योग्य है यह कहाहै और वह अर्थ मुझे भी संमत है इससे आपका कथन तुच्छ है. और प्रमाणांतरकी व्यावृत्तिमें श्रुतिके तात्पर्यकी कल्पना तभी कहनी योग्य है जब शब्दरूप प्रमाण सिद्ध होजाय और पुराण आदि शब्दांतरकी व्यावृत्तिमें तात्पर्य तो श्रुति आदिका संमत होनेसे कल्पना करनेको उचितही है ऐसा सिद्ध होनेपर यह आत्मा मनसेही देखने योग्य है इत्यादि श्रुतिभी अनायाससे लगसकती है जो किसीने यह कहा है कि, दर्शनवृत्तिके प्रति जो मनमात्रकोही उपादान कहती हैं उन श्रुतियोंके संग कुछ विरोध नहीं है।यह उनका कहना तो अत्यंतही विचारमें नहीं आसकता क्योंकि,प्राणकी आकांक्षामें प्रवृत्त हुई ये श्रुति उपादानमें तत्पर कैसे होसकती हैं क्योंकि काम, संकल्प, विचिकित्सा (संदेह) ये सब मनहीसे हैं इत्यादि श्रुतिसे निश्चयपूर्वक सब वृत्तियोंका मनकोही उपादान कारण बोधन करदिया तब आकांक्षाके अभावसे उपादानमें तात्पर्यको श्रुति कैसे वर्णन करसकती हैं। पहिले दूसरी वल्लीमें ओंकारको ब्रह्मबोधक कहा है इससे ओंकारभी अपरोक्षज्ञानका हेतु होजायगा, इस शंकाके निवारण करनेके लिये मनसे ही

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आत्मा देखने योग्य है. इत्यादि निश्चायक वचन हैं इसरीतिसे संपूर्ण श्रुति वर्णन करने (लगाने) को शक्य हैं इसप्रकार वाक्जालसे अलं है अर्थात् वाणीके जालको समाप्त करते हैं सिद्धांत तो यहहै कि, योगियोंको समाधिकेविषे दूर और विप्रकृष्टपदार्थोंका जो ज्ञानहै संपूर्ण शास्त्रोंमें प्रसिद्ध वह ज्ञान परोक्ष नही है, क्योंकि उससमय कोई परोक्षकी सामग्री नहीं है और स्मरण भी नहीं है क्योंकि उनका पहिले पृथक् २ अनुभव नहीं हैं और सुखआदिके ज्ञान समान वह साक्षिस्वरूपभी नहीं है क्योंकि इसमें सिद्धांतका विघात है और प्रमाणरहितभी नहीं है क्योंकि संपूर्ण प्रमाणोंमें कारणका नियम है और चक्षुआदिसे उत्पन्न भी वह ज्ञान नहीं है क्योंकि चक्षुआदिका उस समय संनिकर्ष नहीं है तिससे वह मानसिक प्रमाही कहनी चाहिये इससे मन प्रमाणरूप और इंद्रिय है यह निर्दोषहै—और भी जो योग और श्रुतिके समुच्चयकी कल्पना करते हैं उनके भी मतमें पूर्वोक्त दूषणोंका गण तदवस्थही है तिससे यह सिद्धभया कि, योगजन्य संस्कारहै सहा-यक जिसका ऐसे मनसेही आत्मा जानने योग्यहै कदाचित् कोई कहै कि, कामिनीकी भावना करनेवाले पुरुषको जैसे व्यवहित (दूरस्थित) कामिनीका साक्षात्कार अप्रमा होताहै इसीप्रकार भावनासे उत्पन्न आत्मसाक्षात्कारभी अप्रमा होजायगा सोभी ठीक नहीं क्योंकि आत्मसाक्षात्कारका विषय (आत्मा) बाधित नहीं है और न दोषसे जन्य है कामिनीका साक्षात्कार तो बाधित विषयक है और दोषजन्यभी है इससे अप्रमाणहै तिससे भावनासे जन्य आत्मसाक्षात्कार अप्रमाण नहीं है कदाचित् कहो कि, भावनाको समाधिका ज्ञापक मानोगे तो यह भी एक प्रमाण होजायगा सो ठीक नहीं क्योंकि, भावना मनकी सहकारिणीहै इससे प्रमाणके निरूपणमें अनिपुण नैयायिक आदि-कोंने भी योगजप्रत्यक्षका अलौकिक प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव किया है और योगसे उत्पन्न हुये अलौकिक संनिकर्षसे योगीजन व्यवहित विप्रकृष्ट और सूक्ष्म पदार्थरूप भी आत्माको यथार्थरीतिसे देखते हैं—सोई इस पातंजलसूत्रमें कहाहै कि, उक्त समा-धिमें जो सत्यप्रज्ञा (बुद्धि) है उसके शाब्दबोध और अनुमानसे अर्थात् युक्ति सिद्धज्ञान है उनसे वह प्रज्ञा अन्यविषयक होजाती है अर्थात् भिन्न अर्थकोभी विषय करलेती है क्योंकि उसका विषय निर्विकल्प अर्थ है--तिससे शब्द पदार्थ वृत्तिधर्म (घटत्व आदि) पुरस्कारके विनाही और अनुमानव्यापकमें वर्तमान धर्मके पुरस्कार (ज्ञान) सेही बोधके जनक नियमसे है इससे अर्थके ग्रहणमें योग्य विशेष्यमेंही तत्पर है अर्थात् योगविषयकोही ग्रहण करतेहैं—यहां व्यासजीका रचा यह भाष्यहै कि, श्रुतनाम आगमविज्ञान है--वह आगमविज्ञान सामान्य विषय है क्योंकि आगम विशेषको नहीं कहसकता, क्योंकि विशेषरूपसे शब्दका संकेत नहीं होताहै--इससे आरम्भ

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करके समाधि प्रज्ञासे भलीप्रकार ग्रहण करने योग्य वह विशेष है और वह पुरुषगत है वा भूतसूक्ष्मगत है–योगबीजमें कहाहै कि, ज्ञाननिष्ठहो वा विरक्तहो धर्मज्ञहो वा जितेंद्रियहो योगके विना देव भी हे प्रिये ! मोक्षको प्राप्त नहीं होता है और यह श्रुति भी है कि, कर्मके संग उसीवातके करनेमें यह मनुष्य असक्त हैं जिसमें इसका मनरूप लिंग प्रविष्ट है और स्मृति भी है कि सत् असत् योनियोंके जन्मोंमें इसको गुणोंका संगही कारण है–देहके मरणसमयमें जिसविषयमें राग आदिसे उद्बुद्ध होताहै उसीयोनिको जीव प्राप्त होताहै इससे योगहीनका अन्य जन्म होताही है, क्योंकि मरणके समयमें हुई जो विक्लवता उसको अयोगी नहीं हटा सकता है सोई योगबीजमें कहाहै कि, देहके अन्तसमयमें जिस २ को विचारता है वही वह जीव होजाता है यही जन्मका कारण है देहके अन्तमें कौन जन्म होगा यह मनुष्य नहीं जानते हैं–तिससे ज्ञान, वैराग्य, जप ये केवल श्रम हैं जब पिपीलिका (चेटी) देहमें लग जाती है और ज्ञानसे छुटजाती है तो वृश्चिकोंसे डसा हुआ यह जीव देहके अन्तमें कैसे सुखी हो सकताहै–योगियोंको तो योगके बलसे अन्तकालमें भी आत्मविचारसे मोक्षही होताहै जन्मांतर नहीं होताहै, सोई भगवान्ने कहाहै कि मरण समयमें अचल मनसे भक्तिसे युक्त वा योगके बलसे मोक्ष होताहै और यह श्रुतिभी है कि एकसौ एक हृदयकी नाडी हैं कदाचित् कहो कि, तत्त्वमसि 'आदि वाक्यको अपरोक्षज्ञानका जनक मानोगे तो उसका विचार करना व्यर्थ है,--सो ठीक नहीं क्योंकि वाक्यके विचारसे उत्पन्न जो ज्ञान है वह योगके द्वारा अपरोक्ष साधन है इसविषयमें योगबीजमें गौरी और महादेवका बहुत संवादहै उसमेंसे कुछ यहां लिखते हैं कि पार्वती बोली जो ज्ञानी मरते हैं उनकी कैसी गति होती है--हे देवेश ! हे दयारूप अमृतके समुद्र ! इसको कहो. ईश्वर बोले कि, देहके अंतमें ज्ञानीको पुण्य पापसे जो फल प्राप्त होता है उसको भोगकर फिर ज्ञानी होजाताहै फिर पुण्यसे सिद्धोंके संग संगतिको प्राप्त होता है फिर सिद्धोंकी कृपासे योगी होताहै अन्यथा नहीं होता, फिर संसार नष्ट होजाता है अन्यथा नहीं । यह शिवका कथनहै. पार्वती बोली ज्ञानी सदा ज्ञानसेही मोक्षको कहते हैं तो सिद्धयोगसे योग मोक्षका दाता कैसे होजाता है ? ईश्वर बोले ज्ञानसे मोक्ष होताहै यह उनका वचन अन्यथा नहीं है--जैसे सब कहते हैं कि, खड्गसे जय होताहै तो युद्ध और वीर्यके विना जयकी प्राप्ति कैसे होगी--तैसेही योगरहित ज्ञानसे मोक्ष नहीं होताहै इत्यादि--कदाचित् कोई शंका करै कि, जनक आदिकोंको योगके विनाही प्रतिबंध रहित ज्ञान और मोक्ष सुने जाते हैं तो कैसे योगसेही प्रतिबंधरहित ज्ञान और मोक्ष होंगे--इसशंकाका उत्तर देतेहैं कि, उनको पूर्वजन्ममें किये योगसे उत्पन्न जो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

संस्कार उससे ज्ञानकी प्राप्ति पुराण आदिमें सुनी जाती है सोई दिखातेहैं कि जैसे जैगीषव्य ब्राह्मण और असित आदि ब्राह्मण और जनक आदि क्षत्रिय और तुलाधार आदि वैश्य ये पूर्वजन्ममें किये अभ्यासके योगसे परमसिद्धिको प्राप्त हुये और धर्मव्याध आदि सात शूद्र पैलवकआदि--और मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शांडिली ये तपस्विनी--ये और अन्य बहुतसे नीचयोनिमें गतभी पूर्वजन्ममें किये अभ्यासके योगसे परमज्ञान निष्ठाको प्राप्त हुये--और पूर्वजन्ममें किये योगके पुण्यके अनुसार कोई ब्रह्मा कोई ब्रह्माकेपुत्र कोई देवर्षि कोईब्रह्मर्षि कोई मुनि कोई भक्तरूपको प्राप्त हुये हैं-और उपदेशके विनाही आत्मसाक्षात्कार-वाले हो जायँगे सोई दिखातेहैं कि हिरण्यगर्भ, वसिष्ठ, नारद, सनत्कुमार, वामदेव, शुक आदि ये पुराण आदिमें जन्मसेही सिद्ध सुनेहैं और जो पुराण आदिमें यह सुनाहै कि, ब्राह्म-णही मोक्षका अधिकारी है--यह योगीसे भिन्नके विषयमें समझना सोई गरुडपुराणमें कहाहै कि, जन्मांतरमें किया योगाभ्यास जिन मनुष्योंको नहींहै उनको योगप्राप्तिके लिये शूद्र वैश्य आदिका क्रम है वे स्त्रीसे शूद्र होतेहैं और शूद्रसे वैश्य होतेहैं और दयासे रहित क्षत्रिय होजाते हैं फिर अनूचान (विद्यावान्)--यज्ञका कर्ता--फिर कर्मसंन्यासी होते हैं फिर ज्ञानी योगी होकर क्रमसे मुक्तिको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् शूद्र वैश्य आदि क्रमसे योगी होकर मुक्तिको प्राप्त होजातेहैं इसप्रकार सब जातियोंका अधिकार सुननेसे योगसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानके द्वारा सब मुक्त होते हैं यह सिद्ध भया--और भ्रष्टभी योगीको तो शूद्र आदिका क्रम नहीं है क्योंकि भगवान्का यह वचनहै कि, योगसे भ्रष्टमनुष्य, शुद्ध जो धनी उनके कुलमें पैदा होताहै अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें पैदा होताहै--इति अलम्--भावार्थ--यहहै कि, जबतक प्राण जीवै और मन न मरै तबतक इसलोकमें ज्ञान कहांसे होसकता है और जो मनुष्य प्राण और मनका लय-करदे वह मोक्षको प्राप्त होता है अन्यमनुष्य किसीप्रकार भी प्राप्त नहीं होताहै ॥ १५ ॥

ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरंध्रे निरोधयेत् ॥ १६ ॥

प्राणमनसोर्लयं विना मोक्षो न सिध्यतीत्युक्तम्। तत्र प्राणलयेन मनसोऽपि लयः सिध्यतीति तल्लयरीतिमाह-ज्ञात्वेति ॥ सदैव सर्वदैव सुस्थाने शोभने स्थाने 'सुराज्ये धार्मिके देशे' इत्याद्युक्तलक्षणे स्थित्वा स्थितिं कृत्वा वसतिं कृत्वेत्यर्थः। सुषुम्ना मध्यनाडी तस्याः सद्भेदं शोभनं भेदनप्रकारं ज्ञात्वा गुरुमुखाद्विदित्वा वायुं प्राणं मध्यगं मध्यनाडीसंचारिणं कृत्वा ब्रह्मरंध्रे मूर्धावकाशे निरोधयेन्नितरां रुद्धं कुर्यात्।प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे निरोधो लयःप्राण-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लये जाते मनोऽपि लीयते । तदुक्तं वासिष्ठे—'अभ्यासेन परिस्पंदे प्राणानां क्षयमागते । मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥' इति । प्राणमनसोर्लये सति भावनाविशेषरूपसमाधिसहकृतेनांतःकरणेनाबाधितात्मसाक्षात्कारो भवति तदा जीवन्नेव मुक्तः पुरुषो भवति ॥ १६ ॥

भाषार्थ--प्राण और मनके लयविना मोक्ष सिद्ध नहीं होता यह कहा उनमें प्राणके लयसे मनकाभी लय सिद्ध होताहै इससे प्राणके लयकी रीतिका वर्णन करतेहैं कि, सदैव उत्तमस्थानमें अर्थात् उत्तमराज्य और धार्मिकदेशमें स्थित होकर सुषुम्ना नाडीके भेदनको भलीप्रकार गुरुमुखसे जानकर और प्राणवायुको मध्यनाडीमें गत (संचारी) करके ब्रह्मरंध्र (मूर्द्धाके अवकाश) में निरुद्ध करे (रोके) प्राणका ब्रह्मरंध्रमें जो निरोध वही लय है और प्राणके लय होनेपर मनका भी लय होजाताहै सोई वासिष्ठमें कहा है कि अभ्याससे जब प्राणोंकी क्रियाका क्षय होजाताहै तब मन शांत होजाता है और निर्वाणही शेष रहजाताहै और प्राण और मनका लय होनेपर भावना विशेषरूप समाधि है सहकारी जिसकी ऐसे अंतःकरणसे अबाधित आत्मसाक्षात्कार जब होजाताहै तब पुरुष जीवन्मुक्त होजाताहै ॥ १६ ॥

सूर्याचंद्रमसौ धत्तः कालं रात्रिंदिवात्मकम् ॥
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥ १७ ॥

प्राणलये कालजयो भवतीत्याह—सूर्याचंद्रमसाविति ॥ सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्याचंद्रमसौ ॥ ''देवताद्वंद्वे च' इत्यानङ् । रात्रिश्च दिवा च रात्रिंदिवम् 'अचतुर' इत्यादिना निपातितः । रात्रिंदिवं आत्मा स्वरूपं यस्य स रात्रिंदिवात्मकस्तं रात्रिंदिवात्मकं कालं समयं धत्तो विधत्तः कुरुतः । सुषुम्ना सरस्वती कालस्य सूर्याचंद्रमोभ्यां कृतस्य रात्रिंदिवात्मकस्य समयस्य भोक्त्री भक्षिका विनाशिका । एतद्गुह्यं रहस्यमुदाहृतं कथितम् । अयं भावः । सार्धं घटिकाद्वयं सूर्यो वहति सार्धं घटिकाद्वयं चंद्रो वहति । यदा सूर्यो वहति तदा दिनमुच्यते । यदा चंद्रो वहति तदा रात्रिरुच्यते । पंचघटिकामध्ये रात्रिंदिवात्मकः कालो भवति । लौकिकाहोरात्रमध्ये योगिनां द्वादशाहोरात्रात्मकः कालव्यवहारो भवति । तादृशकालमानेन जीवानामायुर्मानमस्ति । यदा सुषुम्नामार्गेण वायुर्ब्रह्मरंध्रे लीनो भवति । तदा रात्रिंदिवात्मकस्य कालस्याभावादुक्तम् 'भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य' इति । यावद्ब्रह्मरंध्रे वायुर्लीयते तावद्योगिन आयुर्वर्धते । दीर्घकालाभ्य-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्तसमाधिर्योगी पूर्वमेव मरणकालं ज्ञात्वा ब्रह्मरंध्रे वायुं नीत्वा कालं निवारयति स्वेच्छया देहत्यागं च करोतीति ॥ १७ ॥

भाषार्थ–अब प्राणका लय होनेपर कालका जय होताहै इसको वर्णन करतेहैं कि सूर्य और चंद्रमा, रात्रिदिन हैं स्वरूप जिसके ऐसे कालको करतेहैं और सुषुम्ना जो नाडी है वह सरस्वतीरूप नाडी सूर्य और चंद्रमाके किये रात्रिदिनरूप कालको भक्षण करनेवाली है अर्थात् नाशिका है यह गुप्त वस्तु कही है तात्पर्य यह है कि, अढाई घडीतक सूर्य बहताहै और अढाई घडीतक चंद्रमा बहताहै जब सूर्यस्वर बहताहै वह दिन कहाताहै और जब चंद्रमा वहताहै तब रात्रि कहातीहै. इसप्रकार पांच घडीके मध्यमेंही रात्रिदिनरूप काल होजाताहै लौकिक अहोरात्रके मध्यमें योगियोंके बारह अहोरात्र होतेहैं और उसी लौकिक कालके मानसे जीवोंकी आयुका प्रमाण है जब सुषुम्नाके मार्गसे वायु ब्रह्मरंध्रमें लीन होजाताहै तब रात्रिदिनरूप कालके अभावसे कहा है कि, सुषुम्ना कालकी भोक्री है जितने कालतक वायु ब्रह्मरंध्रमें लीन रहता है उतनेही कालतक योगियोंकी आयु बढतीहै बहुत कालतक कियाहै समाधिका अभ्यास जिसने ऐसा योगी पहिलेही अपने मरणसमयको जानकर और ब्रह्मरंध्रमें प्राण वायुको लेजाकर कालका निवारण करताहै और अपनी इच्छासे देहका त्याग करता है ॥ १७ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे ॥
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥ १८ ॥

द्वासप्ततीति ॥ पंजरे पंजरवच्छिरास्थिभिर्बद्धे शरीरे द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिःद्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीनां शिराणां द्वाराणि वायुप्रवेशमार्गाः संति सुषुम्ना मध्यनाडी शांभवी शक्तिरस्ति शं सुखं भवत्यस्माद्भक्तानामिति शंभुरीश्वरस्तस्येयं शांभवी । ध्यानेन शंभुप्रापकत्वात् । शंभोराविर्भावजनकत्वाद्वा शांभवी । यद्वा शं सुखरूपो भवति तिष्ठतीति शंभुरात्मा तस्येयं शांभवी चिदभिव्यक्तिस्थानत्वाद्ध्यानेनात्मसाक्षात्कारहेतुत्वाच्च । शेषा इडापिंगलादयस्तु निरर्थका एव निर्गतोऽर्थः प्रयोजनं यासां ता निरर्थकाः । पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात् ॥१८॥

भाषार्थ–इस मनुष्यके पंजरमें अर्थात् पंजरके समान शिरा अस्थियोंसे बँधेहुये शरीरमें बहत्तर सहस्र नाडियोंके द्वार हैं अर्थात् वायुप्रवेश होनेके मार्ग हैं उनमें सुषुम्ना जो मध्यनाडी है वह शांभवी शक्ति है अर्थात् तिससे भक्तोंको सुखहो ऐसे शंभु (शिवजी) की शक्ति है क्योंकि वह नाडी ध्यानसे शंभुको प्राप्त करती है वा शंभुका

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रकटताको पैदा करती है इसीसे शांभवी कहाती है अथवा शं (सुख) रूप जो टिकै उस आत्माको शंभु कहतेहैं उसकी जो शक्ति वह शांभवी कहाती है क्योंकि वह चैतन्यकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) का स्थान है और ध्यानसे आत्माके साक्षात्कारका हेतु भी सुषुम्ना है और शेष जो इडा पिंगला आदि नाडी हैं वे सब निष्प्रयोजन हैं अर्थात् उनसे पूर्वोक्त प्रयोजन सिद्ध नहीं होताहै ॥ १८ ॥

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुंडलीम् ॥
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ १९ ॥

वायुरिति ॥ यस्मात्परिचितोऽभ्यस्तो वायुस्तस्मादग्निना जठराग्निना सह कुण्डलीं शक्तिं बोधयित्वा अनिरोधतोऽप्रतिबंधात्सुषुम्नायां सरस्वत्यां प्रविशेत् वायोः सुषुम्नाप्रवेशार्थमभ्यासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

भाषार्थ–जिससे परिचित अर्थात् अभ्यास किया वायु जठराग्निके संग कुंडलीशक्तिको बोधन (जगा) करके निरोध (रोक) के अभावसे सरस्वतीरूप सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै इससे वायुका सुषुम्नामें प्रवेशके लिये अभ्यास करना उचित है ॥ १९ ॥

सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ॥
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥ २० ॥

सुषुम्नेति ॥ प्राणे सुषुम्नावाहिनि सति मनोन्मनी उन्मन्यवस्था सिद्ध्यत्येव । अन्यथा प्राणे सुषुम्नावाहिन्यसति तु इतराभ्यासाः सुषुम्नेतराभ्यासा योगिनां योगाभ्यासिनां प्रयासायैव श्रमायैव भवंतीत्यर्थः ॥ २० ॥

भाषार्थ–जब प्राण सुषुम्नामें बहने लगताहै तब मनोन्मनी अवश्य सिद्ध होजातीहै और प्राणके सुषुम्नावाही न होनेपर तो सुषुम्नाके अभ्याससे भिन्न जितने अभ्यास योगियोंके हैं वे सब वृथा हैं अर्थात् परिश्रमके ही जनक होनेसे उनसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होताहै ॥ २० ॥

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ॥
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ २१ ॥

पवन इति ॥ येन योगिना पवनः प्राणवायुर्बध्यते बद्धः क्रियते तेनैव योगिना मनो बध्यते । येन मनो बध्यते तेन पवनो बध्यते । मनःपवनयोरेकतरे बद्धे उभयं बद्धं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

भाषार्थ–योगी जिससे पवनका बंधन करलेताहै उसीसे मनको भी बंधन करलेता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है और जिस कारणसे मनका बंधन करसकता है उसी रीतिसे प्राणकोभी बांध सकता है अर्थात् मन और पवन इन दोनोंमेंसे एकके बंधनसे दोनोंका बंधन हो सकता है॥२१॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः॥
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः॥ २२॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति॥ चित्तस्य प्रवृत्तौ हेतुद्वयं कारणद्वयमस्ति किं तदित्याह-वासना भावनाख्यः संस्कारः समीरणः प्राणवायुश्च तयोर्वासनासमीरणयोरेकस्मिन्विनष्टे सति क्षीणे सति तौ द्वावपि विनश्यतः। अयमाशयः। वासनाक्षये समीरणचित्ते क्षीणे भवतः। समीरणे क्षीणे चित्तवासने क्षीणे भवतः। चित्ते क्षीणे समीरणवासने क्षीणे भवतः। तदुक्तं वासिष्ठे-'द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्यंदनवासने। एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वेऽपि नश्यतः॥' तत्रैव व्यतिरेकेणोक्तम्-'यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः। न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति॥ न यावद्याति विज्ञानं न तावच्चित्तसंक्षयः। यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम्॥यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः। यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः॥ तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च। मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः॥ त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः। तावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाश्रितैः॥' इति॥ २२॥

भाषार्थ-चित्तकी प्रवृत्तिमें दो हेतु हैं एक तो वासना अर्थात् भावना नामका संस्कार और प्राणवायु, वासना और प्राणवायु इन दोनोंमेंसे एकके नष्ट होनेपर वे दोनोंभी नष्ट हो जाते हैं-यहां यह आशय है कि, वासनाके क्षय होनेपर-पवन और चित्त नष्ट होजातेहैं-और पवनके क्षीण होनेपर चित्त और वासना नष्ट होजातेहै-और चित्तके क्षीण होनेपर पवन और वासना क्षीण होजातेहैं-सोई वासिष्ठमें कहाहै कि, हे राम! प्राणकी क्रिया और वासना ये दोनों चित्तके बीज हैं उन दोनोंके मध्यमें एकके नष्ट होनेपर वे दोनोंभी नष्ट होजातेहैं-और वासिष्ठमें ही व्यतिरेक (निषेध) के द्वारा कहा है कि जबतक मनका लय नहीं होता तबतक वासनाका क्षय नहीं होताहै और इतने वासनाका क्षय नहीं होता तब तक चित्त शांत नहीं होताहै और जबतक विज्ञान नहीं होता तबतक चित्तका संक्षय नहीं होता है-और जबतक चित्त शांत नहीं होता तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता है और जबतक वासनाका नाश न हो तबतक तत्त्वका आगमन कहां-और जबतक तत्त्वका आगम (प्राप्ति) न हो तबतक वासनाका क्षय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नहीं होता—इससे तत्त्वज्ञान मनका नाश—और वासनाका क्षय ये तीनों परस्पर कारण होकर दुःखसे साध्यरूप होकर स्थित हैं इससे जबतक इन तीनोंका समरीतिसे वारंवार अभ्यास न किया जाय तबतक अन्य कारणोंसे तत्त्व(ब्रह्मज्ञान)की संप्राप्ति नहींहोती है२२

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ॥

पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥ २३ ॥

मन इति ॥ यत्र यस्मिन्नाधारे मनो लीयते तत्र तस्मिन्नाधारे पवनो विलीयत इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

भाषार्थ--जिसमें मनका लय होता है वहांही पवनका लय हो जाता है और जहां पवनका लय होता है वहां ही मनभी लीन हो जाता है ॥ २४ ॥

दुग्धांबुवत्संमिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौहि ॥

यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥२४॥

दुग्धांबुवदिति ॥ दुग्धांबुवत्क्षीरनीरवत्संमिलितौ सम्यक् मिलितौ तावुभौ द्वावपि मानसमारुतौ मानसं च मारुतश्च मानसमारुतौ चित्तप्राणौ तुल्यक्रियौ तुल्या समा क्रिया प्रवृत्तिर्ययोस्तादृशौ भवतः तुल्यक्रियत्वमेवाह–यत इति । यतः यत्र सार्वविभक्तिकस्तसिः । यस्मिन् चक्रे मरुद्वायुः प्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मनःप्रवृत्तिः मनसः प्रवृत्तिर्भवति । यतो यस्मिन् चक्रे मनः प्रवर्तते तत्र तस्मिंश्चक्रे मरुत्प्रवृत्तिः वायोः प्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठे–'अविनाभाविनी नित्यं जंतूनां प्राणचेतसी । कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इवास्थिते॥कुरुतश्च विनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तमम्'इति२४

भाषार्थ–दूध और जलके समान मिलेहुये मन और पवनरूप जो चित्त और प्राण हैं वे दोनों तुल्यक्रिय हैं अर्थात् दोनोंकी प्रवृत्ति तुल्य होती है अर्थात् जिस नाडियोंके चक्रमें वायु प्रवृत्त होताहै उसी चक्रमें मनकी प्रवृत्ति होती है और जिस चक्रमें मन प्रवृत्त होता है उसी चक्रमें वायुकी प्रवृत्ति होती है सोई वासिष्ठमें कहा है कि, प्राणियोंके प्राण ओर चित्त दोनों अविनाभावी हैं अर्थात् एकके विना एक नहीं होसकता है और पुष्प और सुगंधके समान मिलेहुए तिल और तेलके समान स्थित हैं और ये अपने विनाशसे मोक्षरूप उत्तम कार्यको करते हैं ॥ २४ ॥

तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ॥

अध्वस्तयोश्चेंद्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्यसिद्धिः॥२५॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तत्रेति ॥ तत्र तयोर्मानसमारुतयोर्मध्ये एकस्य मानसस्य मारुतस्य वा नाशाल्लयादपरस्यान्यस्य मारुतस्य मानसस्य वा नाशो लयो भवति। एकप्रवृत्तेरेकस्य मानसस्य मारुतस्य वा प्रवृत्तेर्व्यापारादपरप्रवृत्तिरपरस्य मारुतस्य मानसस्य वा प्रवृत्तिर्व्यापारो भवति। अध्वस्तयोरलीनयोर्मानसमारुतयोः सतोरिंद्रियवर्गवृत्तिरिंद्रियसमुदायस्य स्वस्वविषये प्रवृत्तिर्भवति। प्रध्वस्तयोः प्रलीनयोस्तयोः सतोर्मोक्षपदस्य मोक्षाख्यपदस्य सिद्धिर्निष्पत्तिर्भवति। तयोर्लये पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानादित्यर्थः। 'तत्रापि साध्यः पवनस्य नाशः षडंगयोगादिनिषेवणेन। मनोविनाशस्तु गुरोः प्रसादान्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव' ॥ योगबीजे मूलश्लोकस्यायमुत्तरः श्लोकः ॥ २५ ॥

भाषार्थ–उन दोनों पवन और मनके मध्यमें एक मन वा पवनके नाशसे दूसरे पवन वा मनका नाश होता है और एक मन वा पवनके व्यापारसे दूसरे मन वा पवनका व्यापार होता है और जबतक मन और पवन नष्ट नहीं होते तबतक संपूर्ण इन्द्रियोंका समुदाय अपने २ विषयमें प्रवृत्त होता है और जब मन और प्राणक भलीप्रकार लय हो जाता है तब मोक्षरूप पदकी सिद्धि होती है, क्योंकि इन दोनोंक लय होनेपर पुरुषकी अपने स्वरूपमें स्थिति होजाती है और इस मूलके श्लोकक उत्तरश्लोक योगबीजमें यह लिखाहै कि, षडंगयोग आदिके सेवनसे पवनका नाश साधन करने योग्य है और मनका विनाश तो गुरुके प्रसादद्वारा निमेषमात्रसे सुसाध्य है२५

रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावतः ॥
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ २६ ॥

रसस्येति ॥ रसस्य पारदस्य मनसो मानसस्य स्वभावतः स्वभावाच्चंचलत्वं चांचल्यमस्ति। रसः पारदो बद्धश्चेन्मनश्चित्तं बद्धं भवति। ततो भूतले पृथिवीतले किं न सिद्ध्यति सर्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

भाषार्थ–और रस (पारा) और मन ये दोनों स्वभावसे चंचल हैं। यदि रस और मन ये दोनों बंधजायँ तो भूतलमें ऐसी वस्तु कौन है जो सिद्ध न हो सके अर्थात् सब पदार्थ सिद्ध होसकते हैं ॥ २६ ॥

मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ॥
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ॥ २७ ॥

तदेवाह–मूर्च्छित इति ॥ औषधिविशेषयोगेन गतचापलो रसो मूर्च्छितः कुम्भकांते रेचकनिवृत्तौ वायुर्मूर्च्छित इत्युच्यते। हे पार्वतीति पार्वती-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सुबोधायेश्वरवाक्यम् । मूर्च्छितो रसः पारदो वायुः प्राणश्च व्याधीन् रोगान् हरते नाशयति । भस्मीभूतो रसो ब्रह्मरंध्रे लीनो वायुश्च मृतः स्वयमात्मना स्वसामर्थ्येनेत्यर्थः । जीवयति दीर्घकालं जीवनं करोति । क्रियाविशेषेण गुटिकाकारकृतो रसः बद्धो भ्रूमध्यादौ धारणाविशेषेण धृतो वायुश्च बद्धः खेचरतामाकाशगतिं धत्ते विधत्ते करोतीत्यर्थः । तदुक्तं गोरक्षकशतके–'यद्भिन्नांजनपुंजसन्निभमिदं वृत्तं भ्रुवोरंतरे तत्त्वं वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता । प्राणं तत्र विलाप्य पंचघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायुना धारणा' इति ॥ २७ ॥

भाषार्थ–औषधिविशेषके योगसे नष्टहुई है चपलता जिसकी ऐसा रस मूर्च्छित कहाताहै और कुंभकके अंतमें रेचकसे निवृत्त वायुको मूर्च्छित कहतेहैं. हे पार्वती ! मूर्च्छित कियाहुआ पारद और प्राणवायु संपूर्ण रोगोंको नष्ट करता है और माराहुआ अर्थात् भस्म कियाहुआ पारा और ब्रह्मरंध्रमें लीन-प्राणवायु, यह अपने सामर्थ्यसे मनुष्यको दीर्घकालतक जिवा सकताहै और बद्ध किये हुए वे दोनों अर्थात् क्रियाविशेषसे गुटिकाकार किया हुआ पारा और भ्रुकुटिके धारणविशेषसे धारण कियाहुआ प्राणवायु ये दोनों आकाशगतिको करते हैं अर्थात् वह योगी पक्षियोंके समान आकाशमें उडसकताहै सोई गोरक्षकशतकमें कहाहै कि, भिन्नांजन पुंजके समान अर्थात् पिसे हुए अंजनके समूहकी तुल्य गोलाकार वायुरूप् और यकार रहित तत्त्व (प्राण) भ्रुकुटियोंके मध्यमें है उस तत्त्वका ईश्वर देवता है उस ईश्वरमें प्राणको चित्तसहित लय करके पांचघटी पर्यंत धारण करै, यह वायुके संग चित्तकी धारणा योगीजनोंका आकाशमें गमन करती है ॥ २७ ॥

मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् ॥
बिंदुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥

मनःस्थैर्य इति ॥ मनसः स्थैर्ये सति वायुः प्राणः स्थिरो भवेत् । ततो वायुस्थैर्याद्बिंदुर्वीर्यं स्थिरो भवेत् । बिंदोः स्थैर्यात्सदा सर्वदा सत्त्वं बलं पिंडस्थैर्यं देहस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥

भाषार्थ–मनकी स्थिरता होनेपर प्राणभी स्थिर होताहै और वायुकी स्थिरतासे वीर्यकी स्थिरता होती है और वीर्यकी स्थिरतासे सदैव बल होताहै और उससेही देहकी स्थिरता होतीहै ॥ २८ ॥

इंद्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥ २९ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इंद्रियाणामिति ॥ इंद्रियाणां श्रोत्रादीनां मनोंऽतःकरणं नाथः प्रवर्तकः। मनोनाथो मनसो नाथो मारुतः प्राणः। मारुतस्य प्राणस्य लयो मनोविलयो नाथः। स लयो मनोलयः नादमाश्रितो नादे मनो लीयत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

भाषार्थ--श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका नाथ (प्रवर्त्तक) अंतःकरण--मनहै और मनका नाथ प्राणहै और प्राणका नाथ मनका लयहै और वह मनका लय नादके आश्रित है अर्थात् नादमें मनका लय होताहै ॥ २९ ॥

सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतांतरे ॥
मनःप्राणलये कश्चिदानंदः संप्रवर्तते ॥ ३० ॥

सोऽयमिति ॥ सोऽयमेव चित्तलय एव मोक्षाख्यो मोक्षपदवाच्यः। मतांतरेऽन्यमते मास्तु वा। चित्तलयस्य सुषुप्तावपि सत्त्वान्मनःप्राणयोर्लये सति कश्चिदनिर्वाच्य आनंदः संप्रवर्तते सम्यक् प्रवृत्तो भवति। अनिर्वाच्यानंदाविर्भावे जीवन्मुक्तिसुखं भवत्येवेति भावः ॥ ३० ॥

भाषार्थ--सो यही चित्तका लय मोक्षरूप है अर्थात् इसकोही मोक्ष कहते हैं अथवा मतांतरमें इसको मोक्ष मत मानो, क्योंकि चित्तका लय सुषुप्तिमें भी होताहै तो भी मन और प्राणके लय होनेपर जो कुछ अकथनीय आनंद प्रकट होताहै उस अनिर्वचनीय आनंदके प्रकट होनेपर जीवन्मुक्ति रूप सुख अवश्य होताहै ॥ ३० ॥

प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ॥
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥ ३१ ॥

प्रनष्टेति ॥ श्वासश्च निश्वासश्च श्वासनिश्वासौ प्रनष्टौ लीनौ श्वासनिश्वासौ यस्मिन् स तथा बाह्यवायोरंतःप्रवेशनं श्वासः अंतःस्थितस्य वायोर्बहिर्निःसरणं निश्वासः प्रध्वस्तः प्रकर्षेण ध्वस्तो नष्टो विषयाणां शब्दादीनां ग्रहो ग्रहणं यस्मिन् निर्गता चेष्टा कायक्रिया यस्मिन् निर्गतो विकारोंऽतःकरणक्रिया यस्मिन् एतादृशो योगिनां लयोंऽतःकरणवृत्तेर्ध्येयाकारा वृत्तिर्जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥ ३१ ॥

भाषार्थ--जिसमें श्वास और निःश्वास भलीप्रकार नष्ट होजाय अर्थात् बाहरकी पवनका जो भीतर प्रवेश वह श्वास, और भीतरकी पवनका बाहर निकासना यह निःश्वास, यह दोनों जिसमें न रहैं और इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण करनाभी जिससे भलीप्रकार नष्ट होजाय, और देहकी क्रियारूप चेष्टाभी जिसमें न रहै, और अंतःकर-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

णका क्रियारूप विकारभी जिसमें न हो, ऐसा जो योगियोंका लय है अर्थात् ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारकी जो अंतःकरणवृत्तिहै वह सबसे उत्तमहै ॥ ३१ ॥

उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ॥
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥ ३२ ॥

उच्छिन्नेति ॥ उच्छिन्ना नष्टाः सर्वे संकल्पा मनःपरिणामा यस्मिन् स तथा निर्गतः शेषो येभ्यस्तानि निःशेषाण्यशेषाणि चेष्टितानि यस्मिन् स तथा स्वेनैवावगंतुं बोद्धुं शक्यः स्वावगम्यः वाचामगोचरो विषयः कोऽपि विलक्षणो लयः जायते योगिनां प्रादुर्भवति ॥ ३२ ॥

भाषार्थ–जिसमें मनके परिणाम रूप संपूर्ण संकल्प नष्ट होगये हों और जिसमें संपूर्ण चेष्टित न रहे हों अर्थात् कर चरण आदिका व्यापार निवृत्त हो और जो अपने आपही जानने योग्य हो अर्थात् जिसको अन्य पुरुष न जानसके और जो वाणीकाभी अगोचर हो अर्थात् वाणीभी जिसको न कहसके ऐसा विलक्षण लय योगीजनोंको प्रगट (उत्पन्न) होताहै ॥ ३२ ॥

यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेंद्रियसनातनी ॥
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥ ३३ ॥

यत्र दृष्टिरिति ॥ यत्र यस्मिन्विषये ब्रह्मणि दृष्टिरंतःकरणवृत्तिस्तत्रैव लयो भवति । भूतानि पृथिव्यादीनि इंद्रियाणि श्रोत्रादीनि सनातनानि शाश्वतानि यस्यां सा सत्कार्यवादेऽविद्यायां कार्यजातस्य सत्त्वात् । जीवभूतानां प्राणिनां शक्तिर्विद्या इमे द्वे अलक्ष्ये ब्रह्मणि लयं गते योगिनामिति शेषः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–जिस ब्रह्मरूप विषयमें अन्तःकरणकी वृत्ति होतीहै उसीमें मन लय होताहै और पृथ्वी आदि पंच महाभूत और श्रोत्र आदि इन्द्रिय ये जिसमें न हों वह अविद्या, क्योंकि सत्कार्यवाद मतमें अविद्यामें सम्पूर्ण कार्यका समूह रहता है. सत्कार्यवाद यहहै कि, घट आदिकार्य सत्रूप है-और प्राणियोंकी शक्तिरूप विद्या, ये अविद्या और विद्यारूप दोनों अलक्ष्य ब्रह्ममेंही योगियोंके लय हो जातेहैं ॥ ३३ ॥

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ॥
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥ ३४ ॥

लय इति ॥ लय इति प्राहुर्वदंति बहवः । लयस्य लक्षणं लयस्वरूपं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कीदृशमिति प्रश्नपूर्वकं लयस्वरूपमाह—अपुनरिति। अपुनर्वासनोत्थानात्पुनर्वासनास्थानाभावाद्विषयविस्मृतिर्विषयाणां शब्दादीनां ध्येयाकारस्य विषयस्य वा विस्मृतिर्लयो लयशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ--बहुतसे मनुष्य लय ऐसा कहते हैं परन्तु लयका लक्षण (स्वरूप) क्या है ऐसा कोई पूछै तो शब्द आदि सम्पूर्ण विषयोंकी वा ध्यान करनेयोग्य विषयकी जो विस्मृति उसको लय कहते हैं क्योंकि उस मनमें फिर वासना नहीं उठती है वा वह मन फिर वासनाओंका स्थान नहीं रहता है ॥ ३४ ॥

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ३५ ॥

वेदेति ॥ वेदाश्चत्वारः शास्त्राणि षट् पुराणान्यष्टादश सामान्या गणिका इव वेश्या इव । बहुपुरुषगम्यत्वात् । एका शांभवी मुद्रैव कुलवधूरिव कुलस्त्रीव गुप्ता । पुरुषविशेषगम्यत्वात् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ--चारों वेद और छहोंशास्त्र और अष्टादश १८ पुराण ये सब सामान्य गणिका (वेश्या) के समान हैं क्योंकि ये अनेक पुरुषोंके जानने योग्य हैं-और एक पूर्वोक्त शांभवीमुद्राही कुलवधूके समान गुप्त है क्योंकि उसको कोई विरला मनुष्यही जानसकताहै ३५

अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ॥
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ ३६ ॥

चित्तलयाय प्राणलयसाधनीभूतां मुद्रां विवक्षुस्तत्र शांभवीं मुद्रामाह—अंतर्लक्ष्यमिति ॥ अंतः आधारादिब्रह्मरंध्रांतेषु चक्रेषु मध्ये स्वाभिमते चक्रे लक्ष्यमंतःकरणवृत्तिः । बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे दृष्टिः चक्षुःसंबंधः कीदृशी दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता निमेषः पक्ष्मसंयोगः उन्मेषः पक्ष्मसंयोगविश्लेषः ताभ्यां वर्जिता रहिता चित्तस्य ध्येयाकारावेशे निमेषोन्मेषवर्जिता दृष्टिर्भवति । सोक्तैषा मुद्रा शांभवी शंभोरियं शांभवी शिवप्रिया शिवाविर्भावजनिका वा भवति । कीदृशी वेदशास्त्रेषु गोपिता वेदेषु ऋगादिषु शास्त्रेषु सांख्यपातंजलादिषु गोपिता रक्षिता ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—चित्तके लयार्थ प्राणलयका साधन जो शांभवीमुद्रा उसके कथनके अभिलाषी आचार्य--प्रथम शांभवीमुद्राका वर्णन करतेहैं कि, भीतरके जो आधार आदि चक्र हैं उनके मध्यमें अपनेको अभीष्ट जो चक्रहो उसमें लक्ष्य (अंतःकरणकी वृत्ति) हो और बाहिरके विषयोंमें जो दृष्टि हो वह निमेष और उन्मेषसे वर्जित हो अर्थात्

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पक्ष्म (पलक) के संयोग और वियोगसे हीन हो, क्योंकि चित्तमें ध्यान करनेके योग्य जो वस्तु उसके आकारके आवेश होनेसे निमेष उन्मेष रहित प्रकाशितही नेत्र बने रहतेहों—वेद और शास्त्रोंमें गुप्त यह मुद्रा अर्थात् ऋग्वेद आदि वेद और सांख्य पातंजल आदिशास्त्रोंमें भी छिपीहुई यह मुद्रा शांभवी कहातीहै कि, इससे शंभुका आविर्भाव (प्रकटता) होताहै वा यह मुद्रा शंभु भगवान्ने कहीहै ॥ ३६ ॥

अंतर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं शांभवम् ॥३७॥

शांभवीं मुद्रामभिनीय दर्शयति–अंतर्लक्ष्यमिति ॥ यदा यस्यामवस्थायामंतः अनाहतपद्मादौ यल्लक्ष्यं सगुणेश्वरमूर्त्यादिकं तत्त्वमस्यादिवाक्यलक्ष्यं जीवेश्वराभिन्नमहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थभूतं ब्रह्म वा तस्मिन्विलीनौ विशेषेण लीनौ चित्तपवनौ मनोमारुतौ यस्य स तथा योगी वर्तते निश्चलतारया निश्चला स्थिरा तारा कनीनिका यस्य तादृश्या दृष्ट्या बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे पश्यन्नपि चक्षुःसंबंधं कुर्वन्नपि अपश्यन् बाह्यविषयग्रहणमकुर्वन् वर्तते आस्ते । खल्विति वाक्यालंकारे । इयमुक्ता शांभवी मुद्रा शांभवीनामिका मुद्रयति क्लेशानिति मुद्रा गुरोर्देशिकस्य प्रसादात्प्रीतिपूर्वकादनुग्रहाल्लब्धा प्राप्ता चेत्तदिदमिति वक्तुमशक्यं शांभवं शांभवीमुद्रायां भासमानं पदं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदमात्मस्वरूपं शून्याशून्यविलक्षणं ध्येयाकारवृत्तेः सद्भावाच्छून्यविलक्षणं तस्या अपि भानाभावादशून्यविलक्षणं तत्त्वं वास्तविकं वस्तु स्फुरति प्रतीयते । तथाचोक्तम्–'अन्तर्लक्ष्यमनन्यधीरविरतं पश्यन्मुदा संयमी दृष्ट्युन्मेषनिमेषवर्जितमियं मुद्रा भवेच्छांभवी ॥ गुप्तेयं गिरिशेन तंत्रविदुषा तंत्रेषु तत्त्वार्थिनामेषा स्याद्यमिनां मनोलयकरी मुक्तिप्रदा दुर्लभा ॥ १ ॥ ऊर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिरूर्ध्ववेधो ह्यधःशिराः । राधायंत्रविधानेन जीवन्मुक्तो भवेत्क्षितौ । २ । ॥ ३७ ॥'

भाषार्थ–अत्र शांभवीमुद्राके स्वरूपको घटाकर दिखातेहैं कि, जिस कालमें योगी इसप्रकार वर्ते अर्थात् स्थित रहैं कि. भीतर अनाहत (निश्चल) पद्म आदिमें जो सगुण मूर्ति आदि लक्ष्य है वा तत्त्वमसि आदि 'महावाक्योंसे लक्ष्य जो जीव ईश्वरके अभेदरूप मैं ब्रह्म हूँ इस वाक्यका अर्थरूप ब्रह्म है उसमेंही विशेषकर जिसके चित्त

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और पवन (प्राण) ये दोनों लीनहों और निश्चल हैं तारे जिसमे ऐसी दृष्टि (नेत्र) से देहसे बाहिरके देशमें देखताहुआभी अद्रष्टाके समान हो अर्थात् बाहिरके विषयको न जानताहुआ अधोदृष्टि रहताहै--यह पूर्वोक्त शांभवी नामकी मुद्रा है और जो क्लेशोंको छिपाले उसे मुद्रा कहते हैं--यदि यह मुद्रा गुरुके प्रसादसे प्राप्त होजाय तो वह शांभव शंभुभगवान्का तत्त्व जिसको इसप्रकार नहीं बता सकते कि, यहहै शांभवीमुद्रामें भासमान वह योगियोंको प्राप्त होनेयोग्य आत्मारूप तत्त्व अर्थात् ध्येयाकार वृत्तिके होनेसे शून्यसे विलक्षण और अंतमें ध्येयाकार वृत्तिकेभी अभावसे अशून्यसे विलक्षण वास्तविक वस्तु योगीजनोंके मनमें स्फुरती है अर्थात् प्रतीत होती है--सोई कहा है कि अनन्यबुद्धि होकर अर्थात् अन्यविषयमें बुद्धिको न लगाकर भीतरके लक्ष्य (ब्रह्म) को दृष्टिके उन्मेष निमेषसे वार्जित नेत्रोंसे निरंतर आनंदसे देखताहुआ संयमी (योगी) होयतो यह शांभवी मुद्रा होती है और तंत्रके ज्ञाता गिरीश (शिव) ने यह गुप्त रक्खी है और यह दुर्लभमुद्रा तत्त्वके अभिलाषी योगीजनोंके मनको लय करती हैं और मुक्तिको भलीप्रकार देती है और ऊर्ध्व और अधोदृष्टि होकर और ऊर्ध्ववेध और अधः--शिर होकर स्थित योगी इस राधायंत्रके विधानसे भूमिमें रहताहुआभी जीवन्मुक्त होताहै--भावार्थ यह है कि, भीतरके लक्ष्यमें लयहुये हैं चित्त पवन जिसके और निश्चल हैं तारा जिसके ऐसी दृष्टिसे बाहिरके विषयको देखताहुआभी न देखनेके समान हो ऐसे योगीकी यह शांभवीमुद्रा होती है यदि यह गुरुके प्रसादसे प्राप्त हो जाय तो योगीको शून्य अशून्यसे विलक्षण जो शंभुका पदरूप परम तत्त्व है वह प्रतीत होताहै ॥ ३७ ॥

श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ॥
भवेच्चित्तलयानंदः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥ ३८ ॥

श्रीशांभव्या इति ॥ श्रीशांभव्याः श्रीमत्याः शांभवीमुद्रायाः खेचरीमुद्रायाश्चावस्थाधामभेदतः अवस्थाऽवस्थितिर्धाम स्थानं तयोर्भेदाच्छांभव्यां बहिर्दृष्ट्या बहिःस्थितिः खेचर्यां भ्रूमध्यदृष्ट्याऽवस्थितिः । शांभव्यां हृदयभावनादेशः खेचर्यां भ्रूमध्य एव देशः। तयोर्भेदाभ्यां शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्ये या चित्सुखरूपिणि चिदानंदस्वरूपिण्यात्मनि चित्तलयानंदो भवेत्स्यात् । श्रीशांभवीखेचर्योरवस्थाधामरूपसाधनांशे भेदः, नतु चित्तलयानंदरूपफलांश इति भावः॥ ३८॥

भाषार्थ--इस पूर्वोक्त श्रीमती शांभवीमुद्राके और खेचरीमुद्राके द्वारा अवस्था और धाम (स्थान) के भेदसे अर्थात् शांभवीमुद्रामें बाहिर दृष्टिसे बहिःस्थिति और खेचरी-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुद्रामें भ्रुकुटीके मध्यमें दृष्टिसे स्थिति होती है और शांभवीमें हृदय भावनाका देश है और खेचरीमें भ्रुकुटीका मध्यही देश है इन दोनों भेदोंसे देश काल वस्तुके परिच्छेदसे और सजातीय विजातीय स्वगतरूप भेदसे शून्य(रहित)चिदानंद स्वरूप आत्मामें चित्तके लयका आनंद होता है अर्थात् दोनों शांभवी खेचरीमुद्राओंका अवस्था और धामरूप साधन अंशमें तो भेद है और चित्तलयके आनंदरूप फलके अंशमें भेद नहीं है ॥३८॥

तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ ॥
पूर्वयोगं मनो युंजन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ ३९ ॥

उन्मनीमुद्रामाह—तारे इति ॥ तारे नेत्रयोः कनीनिके ज्योतिषी तारयोर्नासाग्रे योजनात्प्रकाशमाने तेजसि संयोज्य संयुक्ते कृत्वा भ्रुवौ किंचित्स्वल्पमुन्नयेदूर्ध्वं नयेत् । पूर्वः पूर्वोक्तोऽन्तर्लक्ष्यवहिर्दृष्टिरित्याकारको योगो युक्तिर्यस्मिन् तत्तादृशं मनोऽन्तःकरणं युंजन् युक्तं कुर्वन् योगी क्षणान्मुहूर्तादुन्मनीकारण उन्मन्यवस्थाकारको भवति ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—अब उन्मनीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, नेत्रोंकी कनीनिकारूप तारोंको ज्योतिमें अर्थात् तारोंको नासिकाके अग्रभागमें संयोग करनेसे प्रकाशमान जो तेज उसमें संयुक्त करके भ्रुकुटियोंको किंचित् (कुछेक) ऊपरको करदे और पूर्वोक्त जो अंतःलक्ष्य बहिःदृष्टि (भीतर लक्ष्य बाहिर दृष्टि) रूप योग है जिसमें ऐसा अंतः-करण (मन) उसको युक्त करता हुआ योगी क्षणमात्रमें उन्मनी अवस्थाका कारक होताहै अर्थात् पूर्वोक्त अवस्थासे स्थित योगीकी उन्मनीमुद्रा होती है ॥ ३९ ॥

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः ॥
केचित्तर्केण मुह्यंति नैव जानंति तारकम् ॥ ४० ॥

उन्मनीमंतराऽन्यस्तरणोपायो नास्तीत्याह—केचिदिति ॥ केचिच्छास्त्रतंत्रादिविदः आगच्छंति बुद्धिमारोहंत्यर्था एभ्य इत्यागमाः शास्त्रतंत्रादयस्तेषां जालैर्जालवद्बंधनसाधनैस्तदुक्तैः फलैर्मुह्यंति मोहं प्राप्नुवंति ।तत्रासक्ता बध्यंत इति भावः । केचिद्वैदिका निगमसंकुलैर्निगमानां निगमोक्तानां संकुलैः फलबाहुल्यैर्मुह्यंति । केचिद्वैशेषिकादयस्तर्केण स्वकल्पितयुक्तिविशेषेण मुह्यंति । तारयतीति तारकस्तं तारकं तरणोपायं नैव जानंति । उक्तोन्मन्येव तरणोपायस्तं न जानंतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

भाषार्थ—अब इसका वर्णन करते हैं कि, उन्मनीके विना अन्य तरनेका उपाय नहीं है कि, कोई शास्त्र और तन्त्र आदिके ज्ञाता आगमनके जालसे अर्थात् जिससे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

[stamp]

बुद्धिमें पदार्थ आजाय उन्हें आगम कहते हैं वे शास्त्र और तंत्ररूपोंके समूहसे मोहको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् जालके समान बंधनके कर्ता जो, शास्त्रतंत्रमें कहेहुये फल उनमेंही मोहित रहते हैं उनमें आसक्त हुये बँध जाते हैं--और कोई निगम (वेद) में कहे जो फलोंके समुदाय उससेही मोहित रहते हैं--और कोई वैशेषिक आदि अपनी कल्पना कियेहुये जो युक्तिरूप विशेषतर्क उनसेही मोहित रहते हैं--परन्तु तारकको नहीं जानते हैं अर्थात् संसारसमुद्रके तरनेका उपाय जो पूर्वोक्त उन्मनी उसको नहीं जानते हैं--भावार्थ यह है कि, कोई शास्त्र और तंत्रके जालसे कोई वेदोक्त फलोंसे-कोई तर्कसे--मोहित रहते हैं परंतु उन्मनीरूप तारकको नहीं जानते हैं ॥ ४० ॥

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चंद्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पंदभावेन यः ॥
ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥ ४१ ॥

अर्धोन्मीलितेति ॥ अर्धम् उन्मीलिते अर्धोन्मीलिते अर्धोन्मीलिते लोचने येन स अर्धोन्मीलितलोचनः अर्धोद्घाटितलोचन इत्यर्थः । स्थिरं निश्चलं मनो यस्य स स्थिरमना नासाया नासिकाया अग्रेऽग्रभागे नासिकायां द्वादशांगुलपर्यंते वा दत्ते प्रहिते ईक्षणे येन स नासाग्रदत्तेक्षणः । तथाह वसिष्ठः-'द्वादशांगुलपर्यंते नासाग्रे विमलेंऽबरे । संविद्दृशोः प्रशाम्यंत्योः प्राणस्पंदो निरुध्यते ॥' इति । निस्पंदस्य निश्चलस्य भावो निस्पंदभावः कायेंद्रियमनसां निश्चलत्वं तेन चंद्रार्कौ चंद्रसूर्यावपि लीनतां लीनस्य भावो लीनता लयस्तमुपनयन्प्रापयन्कायेंद्रियमनसां निश्चलत्वेन प्राणसंचारमपि स्तंभयन्नित्यर्थः । तदुक्तं प्राक्-'मनो यत्र विलीयेत' इत्यादिपूर्वोक्तविशेषणसंपन्नो योगी ज्योतीरूपं ज्योतिरिवाखिलप्रकाशकं रूपं यस्य स तथा तमशेषबीजमाकाशाद्युत्पत्तिद्वारा सर्वकारणमखिलं पूर्णं देदीप्यमानमतिशयेन दीप्यत इति देदीप्यमानं तत्तथा स्वप्रकाशकं परं कायेंद्रियमनसां साक्षिणं तत्त्वमनारोपितं वास्तविकमित्यर्थः । तदिदमिति वक्तुमशक्यं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं परमं सर्वोत्कृष्टं वस्तु आत्मस्वरूपमेति प्राप्नोति । उन्मन्यवस्थायां स्वस्वरूपावस्थितो योगी भवतीत्यर्थः । अत्राधिकं किं वाच्यम् । अपरं वस्तु प्राप्नोतीत्यत्र किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ-आधे उन्मीलित किये (खोले) हैं नेत्र जिसने और निश्चल है मन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जिसका और नासिकाके बारह अंगुलपर्यंत अग्रभागमें लगाये हैं नेत्र जिसने--सोई वसिष्ठने कहाहै कि, द्वादश अंगुल पर्यंत निर्मल जो नासिकाके अग्रभागमें आकाश उसमें यदि ज्ञान, दृष्टि दोनों भलीप्रकार शांत होजायँ तो प्राणोंका स्पंद (गति) रुक जाती है--ऐसा योगी और देह इंद्रिय मन इनके निस्पंदभाव (निश्चलता) से चंद्रमा और सूर्यकी भी लीनताको करताहुआ अर्थात् देह, मन, इंद्रियोंकी निश्चलतासे प्राणके संचारको भी रोकताहुआ सोई कहभी आये हैं कि, जहां मनभी विलय हो जाता है-- इसपूर्वोक्त प्रकारका योगाभ्यासी ज्योतिके समान सबका प्रकाशक--और आकाश आदिकी उत्पत्तिके द्वारा सबका कारण और अखिल (पूर्ण) रूप और अत्यंत प्रकाशमान और देह इंद्रिय मन इनका साक्षीरूप पर-और वास्तविक तत्त्वरूप--जो वह पद है जिसको यह नहीं कह सकते कि,--वह यह है--और योगीजन जिसमें जायँ उसे पद कहते हैं--उस परम (सबसे उत्तम) आत्मस्वरूपको प्राप्त होताहै अर्थात् उन्मनी अवस्थामें योगी अपने स्वरूपमें स्थित होताहै--इसमें अधिक और क्या कहने योग्य है अन्यवस्तुओंकी तो अवश्यही प्राप्ति होती है--भावार्थ यह है कि, जिसके आधे नेत्र खुले हों मन स्थिरहो नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि हो और जिसने देह आदिकी निश्चलतासे प्राणकोभी लीन करालियाहो ऐसा योगी, ज्योतिस्वरूप सबके कारण, पूर्ण देदीप्यमान साक्षीरूप जो तत्त्व उस परमपदको प्राप्त होताहै इसमें अधिक क्या कहने योग्यहै ॥ ४१ ॥

दिवा न पूजयेल्लिंगं रात्रौ चैव न पूजयेत् ॥
सर्वदा पूजयेल्लिंगं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ ४२ ॥

उन्मनीभावनायाः कालनियमभावमाह--दिवा नेति ॥ दिवा सूर्यसंचारे लिंगं सर्वकारणमात्मानम् । 'एतस्मादात्मान आकाशः संभूतः' इत्यादि श्रुतेः । न पूजयेत् न भावयेत् । ध्यानमेवात्मपूजनम् । तदुक्तं वासिष्ठे--'ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानमस्य महार्चनम् । विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो' इति । रात्रौ चंद्रसंचारे च नैव पूजयेन्नैव भावयेत् । चंद्रसूर्यसंचारे चित्तस्थैर्याभावात् । 'चले वाते चलं चित्तम्' इत्युक्तत्वात् । दिवारात्रिनिरोधतः सूर्यचंद्रौ निरुध्य । ल्यब्लोपे पंचमी तस्यास्तसिल् । सर्वदा सर्वस्मिन् काले लिंगमात्मानं पूजयेद्भावयेत् । सूर्यचंद्रयोर्निरोधे कृते सुषुम्नांतर्गते प्राणे मनःस्थैर्यात् । तदुक्तम्--'सुषुम्नांतर्गते वायौ मनःस्थैर्यं प्रजायते' इति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ--अब उन्मनीभावनामें कालके नियमका अभाव वर्णन करते हैं कि दिनमें

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थात् सूर्यके संचारमें लिंगका पूजन न करै अर्थात् सबके कारण लिंगरूप आत्माका ध्यान करै सोई कहा है कि, इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ और यहां ध्यानही पूजनशब्दसे लेना पुष्प आदिसे पूजन नहीं सोई वासिष्ठमें बसिष्ठजीने कहाहै कि, आत्माका उपहार (भेंट) ध्यानही है और ध्यानही इसका अर्चन (पूजा) है उसके विना यह आत्मा प्राप्त नहीं होता है और रात्रिमें अर्थात् चंद्रमाके वारमेंभी लिंगरूप आत्माका पूजन न करै क्योंकि, चंद्र और सूर्यके वारमें चित्तकी स्थिरता नहीं रहती है कहभी आये हैं कि प्राणवायुके चलायमान होनेसे चित्तभी चलायमान होजाताहै और दिवा और रात्रिके निरोधको करके सबकालमें लिंगका पूजन करै क्योंकि सूर्य और चंद्रका निरोध होनेपर प्राण सुषुम्नाके अंतर्गत होजाताहै और उससे मनकी स्थिरता होजाती है उससमय लिंगरूप आत्माका ध्यान करै सोई कहा है कि, सुषुम्नाके अंतर्गत सूर्यके होनेपर मनकी स्थिरता होजाती है-भावार्थ यहहै कि, सूर्य और चंद्रमाके संचारमें आत्माका ध्यान करै और सूर्य और चंद्र संचारको रोककर सबकालमें आत्माका ध्यान करै ॥ ४२ ॥

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः ॥ ४३ ॥

खेचरीमाह-सव्येति ॥ सव्यदक्षिणनाडिस्थो वामतदितरनाडिस्थो मरुतो वायुर्यत्र मध्ये चरति यस्मिन्मध्यप्रदेशे गच्छति तस्मिन्स्थाने तस्मिन्प्रदेशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरा भवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् । न संशयः उक्तेऽर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

भावार्थ-अब खेचरीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, इडा पिंगला नामकी जो सव्य दक्षिण नाडी हैं उनमें स्थित प्राणवायु जिस मध्य प्रदेशमें गमन करताहै उसी स्थानमें खेचरीमुद्रा स्थिर होजाती है इसमें संशय नहीं है॥ ४३ ॥

इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनःपुनः ॥ ४४ ॥

इडापिंगलयोरिति ॥ इडापिंगलयोः सव्यदक्षिणनाड्योर्मध्ये यच्छून्यं खम् । कर्तृ । अनिलं प्राणवायुं यत्र ग्रसेत् । शून्ये प्राणस्य स्थिरीभाव एव ग्रासः । तत्र तस्मिञ्छून्ये खेचरी मुद्रा तिष्ठते । पुनः पुन सत्यमिति योजना ॥ ४४ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भाषार्थ-इडा पिंगला जो सव्य दक्षिण नाडी हैं उनके मध्यमें जो शून्य (आकाश) है वह शून्य जिसमें प्राणवायुको ग्रसले और शून्यमें प्राणकी जो स्थिरता उसकोही ग्रास कहते हैं उसशून्यमें खेचरीमुद्रा स्थिर होती है यह बात बारंबार सत्य है ॥ ४४ ॥

सूर्याचंद्रमसोर्मध्ये निरालंबांतरं पुनः ॥
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥४५ ॥

सूर्याचंद्रमसोरिति ॥ सूर्याचंद्रमसोरिडापिंगलयोर्मध्ये निरालंबं यदंतरमवकाशस्तत्र । पुनः पादपूरणे। व्योम्नां खानां चक्रे समुदाये। भ्रूमध्ये सर्वखानां समन्वयात् । तदुक्तम्--'पंचस्रोतःसमन्विते' इति । या संस्थिता सा मुद्रा खेचरीनाम ॥ ४५ ॥

भाषार्थ--सूर्य और चंद्रमा अर्थात् इडा और पिंगलाके मध्यमें जो निरालंब अंतर (अवकाश) है उस आकाशोंके समुदायरूप चक्रमें क्योंकि, भ्रुकुटीके मध्यमें सब आकाशोंका समन्वय (मेल) है सोई कहाहै कि, पांच स्रोतोंसे युक्त भ्रूका मध्य है उस उक्त अवकाशमें जो भलीप्रकार स्थित हो वह खेचरी नामकी मुद्रा होती है ॥ ४५ ॥

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ॥
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥ ४६ ॥

सोमादिति ॥ सोमाच्चंद्राद्यत्र यस्यां खेचर्यां धाराऽमृतधारा उदितोद्भूता सा खेचरी साक्षाच्छिववल्लभा शिवस्य प्रियेति पूर्वेणान्वयः।अतुलां निर्मलां निरुपमां दिव्यां सर्वनाड्युत्तमां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे पूरयेत् जिह्वयेति शेषः ॥ ४६ ॥

भाषार्थ--जिस खेचरीमुद्रामें चंद्रमासे अमृतकी धारा उत्पन्न होती है वह खेचरीमुद्रा साक्षात् शिवजीको वल्लभ (प्यारी) है और अतुल अर्थात् जिसकी उपमा न हो और दिव्यरूप अर्थात् सब नाडियोंमें उत्तम जो सुषुम्ना है उसको पश्चिम मुखके विषे जिह्वासे पूर्ण करै ॥ ४६ ॥

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ॥
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते ॥ ४७ ॥

पुरस्ताच्चैवेति ॥पुरस्ताच्चैव पूर्वतोऽपि पूर्येत । सुषुम्नां प्राणेनेति शेषः । यदि तर्हि निश्चिताऽसंदिग्धा खेचरी खेचर्याख्या मुद्रा भवेदिति। यदि तु पुरस्तात्प्राणेन न पूर्येत जिह्वामात्रेण पश्चिमतः पूर्येत तर्हि मूढाव-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्याजनिका। न निश्चिता खेचरी स्यादिति भावः। खेचरीमुद्राप्यभ्यस्ता सती उन्मनी संप्रजायते चित्तस्य ध्येयाकारावेशात्तुर्यावस्था भवतीत्यर्थः ४७

भाषार्थ-और पूर्वमुखके विषेभी पूर्ण करै अर्थात् सुषुम्नाको प्राणसे पूर्ण करै तो निश्चयसे अर्थात् निःसंदेह खेचरी नामकी मुद्रा होती है और यदि पूर्वमुखमें प्राणसे पूर्ण न करै और पश्चिम मुखमें केवल जिह्वासेही पूर्ण करदे तो खेचरीमुद्रा मूढ अवस्थाको पैदा करती है इससे वह निश्चित नहीं है और अभ्यास कीहुई खेचरीमुद्राभी उन्मनी होजाती है अर्थात् चित्तके ध्येयाकार होनेसे तुर्यावस्था होजाती है॥ ४७ ॥

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ॥
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥ ४८ ॥

भ्रुवोरिति ॥ भ्रुवोर्मध्ये भ्रुवोरंतराले शिवस्थानं शिवस्येश्वरस्य स्थानं शिवस्य सुखरूपस्यात्मनोऽवस्थानमिति शेषः। तत्र तस्मिन् शिवे मनो लीयते शिवाकारवृत्तिप्रवाहवद्भवति तच्चित्तलयरूपं तुर्यं पदं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यश्चतुर्थाख्यं ज्ञातव्यम्। तत्र तस्मिन् पदे, कालो मृत्युर्न विद्यते। यद्वा सूर्यचंद्रयोर्निरोधादायुःक्षयकारकः कालः समयो न विद्यत इत्यर्थः॥ तदुक्तम्। 'भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य' इति॥ ४८ ॥

भाषार्थ-दोनों भ्रुकुटियोंके मध्यमें शिवरूप ईश्वरका वा सुखरूप आत्माका स्थान है उस शिव वा आत्मामें मन लीन होताहै अर्थात् मनकी वृत्तिका प्रवाह शिवाकार होजाताहै और वह चित्तका लय तुर्यपद अर्थात् जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिसे चौथा पद जानना और उस पदमें काल (मृत्यु) नहीं है अथवा सूर्य और चंद्रके निरोधसे अवस्थाके क्षयका कारक समय नहीं है सोई कह आये हैं कि, सुषुम्ना कालके भोगनेवाली है ॥४८॥

अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ॥
संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ ४९ ॥

अभ्यसेदिति ॥ तावत्खेचरीं मुद्रामभ्यसेत्। यावद्योगनिद्रितः। योगः सर्ववृत्तिनिरोधः सैव निद्रा योगनिद्राऽस्य संजाता इति योगनिद्रितः तादृशः स्यात्। संप्राप्ता योगनिद्रा येन स संप्राप्तयोगनिद्रस्तस्य कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये कालो मृत्युर्नास्ति ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-योगी जबतक योगनिद्रित हो अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका निरोधरूप जो योग वह निद्रारूप जिसको हो वह योगनिद्रित कहाताहै तबतक खेचरीमुद्राका

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अभ्यास करै और जिस योगीको योगनिद्रा भलीप्रकार प्राप्त होगई हो उसकी किसी कालमें भी मृत्यु नहीं होती ॥ ४९ ॥

निरालंबं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥
स बाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥ ५० ॥

निरालंबमिति ॥ यो निरालंबमालंबशून्यं मनः कृत्वा किंचिदपि न चिंतयेत् खेचरीमुद्रायां जायमानायां ब्रह्माकारामपि वृत्तिं परवैराग्येण परित्यजेदित्यर्थः । स योगी बाह्याभ्यंतरे बाह्ये वहिर्भवे आभ्यंतरेऽभ्यंतर्भवे च व्योम्न्याकाशे घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् । निश्चितमेतत् । यथाकाशे घटो बहिरंतश्चाकाशपूर्णो भवति तथा खेचर्यामालंबनपरित्यागेन योगी ब्रह्मणा पूर्णस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

भाषार्थ--जो योगी निरालंब (निराश्रय) मनको करके किंचित् भी चिंता नहीं करताहै अर्थात् खेचरीमुद्राके सिद्ध होनेपर ब्रह्माकार वृत्तिकाभी परमवैराग्यसे त्याग करता है वह योगी बाहिर और भीतरके आकाशमें घटके समान निश्चयकर टिकताहै अर्थात् जैसे घट आकाशके विषय बाहिर और भीतर आकाशसे पूर्ण होताहै तिसीप्रकार खेचरी-मुद्राके होनेपर आलंबनके परित्यागसे योगीभी ब्रह्मसे पूर्ण टिकताहै ॥ ५० ॥

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ॥
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ५१ ॥

बाह्येति ॥ बाह्यो देहाद्बहिर्भवो वायुर्यथा लीनो भवति खेचर्याम् । तस्यांतःप्रवृत्त्यभावात् । तथा मध्यो देहमध्यवर्ती वायुर्लीनो भवति तस्य बहिःप्रवृत्त्यभावात् । न संशयः । अस्मिन्नर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः । स्थीयते स्थिरीभूयतेऽस्मिन्निति स्थानं स्वस्य प्राणस्य स्थानं स्थैर्याधिष्ठानं ब्रह्मरंध्रं तत्र मनसा चित्तेन सह पवनः प्राणः स्थिरतां निश्चलतामेति प्राप्नोति ५१॥

भाषार्थ--खेचरीमुद्राके विषय देहसे बाहिरका पवन जिसप्रकार लीन होताहै, क्योंकि, उसकी भीतर प्रवृत्ति नहीं होती, तिसीप्रकार देहके मध्यका वायुभी लीन होजाताहै क्योंकि, उसकी बाहिर प्रवृत्ति नहीं होती इसमें संशय नहीं है किंतु मनसहित पवन प्राणकी स्थिरताका स्थान जो ब्रह्मरंध्र है उसमें निश्चलताको प्राप्त होजाताहै ॥ ५१ ॥

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ॥
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

एवमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण वायुमार्गे प्राणमार्गे सुषुम्नायामित्यर्थः। दिवानिशं रात्रिंदिवमभ्यस्यमानस्याभ्यासं कुर्वतो योगिनोऽभ्यासाद्यत्र यस्मिन्नाधारे वायुः प्राणो जीर्यते क्षीयते लीयत इत्यर्थः। तत्रैव वायोर्लयाधिष्ठाने मनश्चित्तं लीयते जीर्यत इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

भाषार्थ--इसपूर्वोक्त प्रकारसे प्राणरूप वायुका मार्ग जो सुषुम्ना उसमें रात्रिदिन अभ्यास करतेहुए योगीके अभ्याससे जिस आधारमें प्राणवायु जीर्ण होजाताहै अर्थात् क्षय होजाताहै उसीवायुके लयाधिष्ठान (स्थान) में मनभी लीन होजाताहै ॥ ९२ ॥

अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥
सिद्ध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥ ५३ ॥

इति खेचरी।

अमृतैरिति ॥ अमृतैः सुषिरनिर्गतैः पादतलं च मस्तकं च पादतलमस्तकम्। 'द्वंद्वश्च प्राणितूर्यसेनांगानाम्' इत्येकवद्भावः। पादतलमस्तकमभिव्याप्येत्यापादतलमस्तकं देहमाप्लावयेदाप्लावितं कुर्यात्। महानुत्कृष्टः कायो यस्य स महाकायः महांतौ बलपराक्रमौ यस्येत्येतादृशो योगी सिद्ध्यत्येव। अमृतप्लावनेन सिद्धो भवत्येव ॥ ९३ ॥

भाषार्थ—योगी पादतल और मस्तक पर्यंत देहको सुषिर (चन्द्रमा) से निकसे जो अमृत उनसे सेचन करै तो उत्तम है काया जिसकी और अधिक बल पराक्रम जिसके ऐसा योगी पूर्वोक्त अमृतके स्नानसे शुद्ध होजाताहै ॥ ९३ ॥

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ॥
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥ ५४ ॥

शक्तिमध्य इति ॥ शक्तिः कुण्डलिनी तस्या मध्ये मनः कृत्वा तस्यां मनो धृत्वा तदाकारं मनः कृत्वेत्यर्थः। शक्तिं मानसमध्यगां कृत्वा। शक्तिध्यानावेशाच्छक्तिं मनस्येकीकृत्य तेन कुण्डलीं बोधयित्वेति यावत्। 'प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह' इति गोरक्षोक्तेः मनसांतःकरणेन मन आलोक्य बुद्धिं मनसाऽवलोकनेन स्थिरीकृत्वेत्यर्थः। परमं पदं सर्वोत्कृष्टं स्वरूपं धारयेद्धारणाविषयं कुर्यादित्यर्थः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—शक्ति (कुण्डलिनी) के मध्यमें मनको धरकर अर्थात् कुंडलीके आकारका मनको करके और शक्तिको मनके मध्यमें करके अर्थात् शक्ति ध्यानके आवेशसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शक्तिको मनसें एककरके और उससे कुंडलीका बोधन करके सोई गोरक्षने कहा है कि, मन और पवन सहित कुंडली,वह्निके योगसे प्रबुद्ध होती है और अन्तःकरणरूप मनसे मनको देखकर अर्थात् मनसे देखनेके द्वारा बुद्धिको स्थिर करके सर्वोत्तम स्वरूप जो परमपद है उसकी धारणा करै अर्थात् ब्रह्ममें मनको लगावै ॥ ५४ ॥

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ॥
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ ५५ ॥

खमध्य इति ॥ खमिव पूर्णं ब्रह्म खं तन्मध्ये आत्मानं स्वस्वरूपं कुरु । ब्रह्माहमिति भावयेत्यर्थः । आत्ममध्ये स्वस्वरूपे च खं पूर्णं ब्रह्म कुरु । अहं ब्रह्मेति च भावयेत्यर्थः । सर्वं च खमयं कृत्वा ब्रह्ममयं विभाव्य किमपि न चिंतयेत् । अहं ब्रह्मेतिध्यानमपि परित्यजेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ–आकाशके समान पूर्ण जो ब्रह्म उसके विषे अपने आत्माको करके अर्थात् ब्रह्म मैं हूँ, ऐसी भावना करके अपने रूप स्वरूप आत्मामें पूर्ण ब्रह्मको करो–मै ब्रह्महूँ ऐसी भावना कर, और संपूर्ण प्रपंचको ब्रह्ममय करके अर्थात् ब्रह्मरूप विचारकर किसीकीभी चिंता न करै अर्थात् मैं ब्रह्महूं इस ध्यानकाभी परित्याग करदे ॥ ५५ ॥

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुंभ इवांबरे ॥
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णः कुंभ इवार्णवे ॥ ५६ ॥

एवं समाहितस्य स्वरूपे स्थितिमाह–अन्तःशून्य इति ॥ अन्तः अन्तःकरणे शून्यः । ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्द्वितीयशून्यः । बहिरंतःकरणाद्बहिरपि शून्यः । द्वितीयादर्शनात् । अंबरे आकाशे कुम्भो घटो यथांतर्बहिःशून्यस्तद्दंतःकरणे हृदाकाशे वायुपूर्णः ब्रह्माकारवृत्तेः सद्भावाद्ब्रह्मवासत्वाद्वा।बहिःपूर्णोऽतःकरणाद्बहिर्हृदवकाशाद्बहिर्वा पूर्णः। सत्तया ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्ब्रह्मपूर्णत्वाद्वा । अर्णवे समुद्रे कुम्भो घटो यथा सर्वतो जलपूर्णो भवत्येवं समाधिनिष्ठो योगी ब्रह्मपूर्णो भवतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

भाषार्थ--इसप्रकार समाधिमें स्थित योगीकी अपने स्वरूपमें स्थितिका वर्णन करते हैं कि, अन्तःकरणमें शून्यहो अर्थात् ब्रह्मसे अतिरिक्त वृत्तिके अभावसे दूसरेकी प्रतीति न होती हो और दूसरेके न देखनेसे अन्तःकरणसे बाहिरभी इसप्रकार शून्य हो जैसे आकाशमें स्थित घट भीतर और बाहिर जलसे शून्य होता है–और तिसी प्रकार हृदयके आकाशरूप अन्तःकरणमें ब्रह्माकार वृत्तिके होनेसे वा ब्रह्मकी वासनासे वायुसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पूर्ण हो और अंतःकरणसे वा हृदयाकाशसे बाहिरभी पूर्ण हो अर्थात् सत्तारूपसे वा ब्रह्मा-तिरिक्त वृत्तिके अभावसे वा ब्रह्मरूपसे इसप्रकार पूर्ण हो जैसे समुद्रके विषे डुबाहुआ कुंभ चारोंतरफसे जलपूर्ण होताहै इसीप्रकार समाधिके स्थित पुरुषभी ब्रह्मसे पूर्ण होताहै॥५६॥

बाह्यचिंता न कर्तव्या तथैवांतरचिंतनम् ॥
सर्वचिंतां परित्यज्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ ५७ ॥

बाह्यचिंतेति ॥ समाहितेन योगिनेत्यध्याहारः । बाह्यचिंता बाह्यविषया चिन्ता न कर्तव्या तथैव बाह्यचिंताकरणवदांतरचिंतनमांतराणां मनसा परिकल्पितानामाशामोदकसौधवाटिकादीनां चिंतनं न कर्तव्यमिति लिंग-विपरिणामेनान्वयः । सर्वचिंतां बाह्याभ्यंतरचिंतनं परित्यज्य किंचिदपि न चिंतयेत्परवैराग्येणात्माकारवृत्तिमपि परित्यजेत् । तत्त्यागे स्वरूपावस्थि-तिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवतीति भावः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—समाधिमें स्थित योगी बाहिरके माला चंदन आदि विषयोंकी चिंता न करै और तिसीप्रकार अंतःकरणमें मनसे कल्पना किये जो आशामोदक, श्वेतमंदिर, वाटिका आदि हैं उनका भी चिन्तन न करै इसप्रकार बाहर भीतरकी सम्पूर्ण चिंता-ओंका परित्याग करके किंचित् भी चिंता न करै अर्थात् परमवैराग्यसे ब्रह्माकारवृत्ति-काभी परित्याग करदे क्योंकि ब्रह्माकारवृत्तिका त्याग अपने स्वरूपमें स्थितिरूप मुक्ति जीवन समयमें ही हो जाती है ॥ ५७ ॥

संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ॥
संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शांतिम् ॥ ५८ ॥

बाह्याभ्यंतरचिंतापरित्यागे शांतिश्च भवतीत्यत्र वसिष्ठवाक्यं प्रमाण-यति-संकल्पेति ॥ संकल्पो मानसिको व्यापारः स एव संकल्पमात्रं तस्य कलनैव रचनैवेदं दृश्यमानं समग्रं जगत् बाह्यप्रपंचो मनोमात्रकल्पित इत्यर्थः । मनसो मानसस्य विलासो नानाविषयाकारकल्पना आशामोद-कसौधवाटिकादिकल्पनारूपो विलासः संकल्पमात्रकलनैव । मानसः प्रपं-चोऽपि संकल्पमात्ररचनैवेत्यर्थः । संकल्पमात्रे बाह्याभ्यंतरप्रपंचे या मतिः सत्यत्वबुद्धिस्तामुत्सृज । तर्हि किं कर्तव्यमित्यत आह-निर्विकल्पमिति ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विशिष्टकल्पना विकल्पः । आत्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वसजातीयविजातीयस्वगतभेददेशकालवस्तुपरिच्छेदकल्पनारूपः तस्मान्निष्क्रांतो निर्विकल्पस्तमात्मानमाश्रित्य धारणादिविषयं कृत्वा हे राम ! निश्चयमसंदिग्धं शांतिं परमोपरतिमवाप्नुहि । ततः सुखमपि प्राप्स्यसीति भावः । तदुक्तं भगवता व्यतिरेकेण-'न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम्' इति९८॥

भाषार्थ-वाह्य और आभ्यंतर चिताओंके परित्यागसे शांति भी होती है इसमें वसिष्ठके वाक्यका प्रमाण देते हैं, कि, मानसिक व्यापाररूप जो संकल्प है उसकी रचनारूपही यह दृश्यमान संपूर्ण जगत् है अर्थात् वाह्य प्रपंच मनसेही कल्पित है और आशामोदक श्वेतमंदिर वाटिका आदि नाना प्रकारके विषयोंकी कल्पनाका जो विलासहैं वहभी संकल्पकीही रचनाहै अर्थात् मानसप्रपंचभी संकल्पकीही रचनारूपहै इससे हेराम! संकल्प मात्रमें जो मति अर्थात् वाह्य और आभ्यंतरके प्रपंचमें सत्यत्व बुद्धिहै उसको त्याग दे कदाचित् कहो कि,फिर क्या करूं इससे कहतेहैं कि,निर्विकल्पके आश्रय होकर अर्थात् आत्माके विषे जो कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी-सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद-देश-काल-वस्तु-परिच्छेदरूप विशिष्ट कल्पनाहैं उनसे रहित जो निर्विकल्परूप अर्थात् पूर्वोक्त विशिष्ट कल्पनासे शून्य आत्मा है उसकोही धारणाका विषय करके हे राम! निश्चयसे तू शांतिको प्राप्त हो उस शांतिसे फिर सुखको भी प्राप्त हो जायगा--सोई भगवान्ने गीतामें कहा है कि विचारहीन पुरुषको शांति नहीं होती है और अशांत मनुष्यको सुख कहांसे होताहै ॥ ९८ ॥

कर्पूरमनले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा ॥
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ ९९ ॥

कर्पूरमिति ॥ यद्वद्यथाऽनलेऽग्नौ संधीयमानं संयोज्यमानं कर्पूरं विलीयते विशेषेण लीयते लीनं भवति।अग्न्याकारं भवति।यथा सलिले जले संधीयमानं सैंधवं लवणं विलीयते लवणाकारं परित्यज्य जलाकारं भवति तथा तद्वत्तत्त्वे आत्मनि संधीयमानं कार्यमानं मनो विलीयते आत्माकारं भवति ॥ ९९ ॥

भाषार्थ--जैसे कपूर अग्निमें संयोग करनेसे विशेषकर लीन होता है अर्थात् अग्निके आकार हो जाताहै और जैसे जलमें संयुक्त किया सैंधव लवण विलीन होता है अर्थात् लवणके आकारको त्यागकर जलाकार होजाता है-तिसी प्रकार तत्त्वरूप आत्मामें संयुक्त किया मन विलीन होता है । अर्थात् आत्माकार हो जाता है ॥ ९९ ॥

ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ॥
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पंथा द्वितीयकः ॥ १००

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मनसो विलये जाते द्वैतमपि लीयत इत्याह त्रिभिः-ज्ञेयमिति ॥ सर्वं सकलं ज्ञेयं ज्ञानार्हं प्रतीतं च ज्ञातं च ज्ञानं च इदं सर्वं मन उच्यते । सर्वस्य मनःकल्पनामात्रत्वान्मनःशब्देनोच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं च समं मनो विलीयते मनसा सार्धं नष्टं यदि तर्हि द्वितीयकः द्वितीय एव द्वितीयकः पंथा मनोविषयो नास्ति । द्वैतं नास्तीति फलितार्थः ॥ ६० ॥

भाषार्थ-अब मनके लय होनेपर द्वैतकाभी लय वर्णन करते हैं कि, संपूर्ण जो ज्ञेय (ज्ञानके योग्य) अर्थात् ज्ञात प्रतीयमान है और ज्ञान यह सब मन कहाता हैं क्योंकि ये सब मनकी कल्पनामात्र हैं यदि ज्ञान और ज्ञेय मन सहित नष्ट हो जायँ तो दूसरा मार्ग नहीं है अर्थात् मनका विषय जो द्वैत है वह नहीं रहता है ॥ ६० ॥

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ॥
मनसो ह्युन्मनीभावाद्द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ६१ ॥

मनोदृश्यमिति ॥ इदमुपलभ्यमानं यत्किंचिद्यत्किमपि चरं जंगममचरं स्थावरं चरं चाचरं च चराचरे ताभ्यां सह वर्तत इति सचराचरं यज्जगत्सर्वं मनोदृश्यं मनसा दृश्यम् । मनःसंकल्पमात्रमित्यर्थः । मनःकल्पनासत्त्वे प्रतीतिस्तदभावे चाप्रतीतिर्भ्रम एव सर्वं जगत् । भ्रमस्य प्रतीतकशरीरत्वात् । न च बौद्धमतप्रसंगः । भ्रमाधिष्ठानस्य ब्रह्मणः सत्यत्वाभ्युपगमात् । मनस उन्मनीभावाद्विलयाद्द्वैतं भेदः नैवोपलभ्यते नैव प्रतीयते । द्वैतभ्रमहेतोर्मनःसंकल्पस्याभावात् । हि तद्वेतावव्ययम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ-यह दीखता हुआ जो स्थावर जंगम(चराचर)रूप सहित जगत् जो कुछ है वह सब मनसे देखने योग्य है अर्थात् मनसे कल्पित है अर्थात् मनकी कल्पना होनेपर प्रतीत होताहै और कल्पनाके अभावमें प्रतीत नहीं होताहै इससे भ्रमरूपही है और भ्रमका शरीर प्रतीतिमात्र होता है कदाचित् कहो कि, ऐसे कहोगे तो बौद्धमतका प्रसंग होजायगा सो ठीक नहीं क्योंकि, भ्रमके अधिष्ठान ब्रह्मको सत्य मानतेहैं-और उक्त मनके उन्मनीभाव (विलय) से द्वैत (भेद) प्रतीतही नहीं होताहै क्योंकि, द्वैत भ्रमका हेतु जो मनका संकल्प है उसका अभाव है ॥ ६१ ॥

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ॥
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥ ६२ ॥

ज्ञेयमिति ॥ ज्ञेयं ज्ञानविषयं यद्वस्तु सर्वं चराचरं यद्दृश्यं तस्य परित्यागान्नामरूपात्मकस्य तस्य परिवर्जनाद्विलयं सच्चिदानंदरूपात्माकारं भवति ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मनसो विलये जाते सति कैवल्यं केवलस्यात्मनो भावः कैवल्यमवशिष्यते । अद्वितीयात्मस्वरूपमवशिष्टं भवतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–ज्ञानका विषय जो चराचररूप दृश्य है उसके परित्यागसे अर्थात् नामरूपात्मक जगत्के वर्जित करनेसे मन विलयको प्राप्त होजाता है अर्थात् सच्चिदानंदरूप आत्माकार होजाता है और मनका विलय होनेपर कैवल्य शेष रहजाता है अर्थात् अद्वितीय आत्मारूपही शेष रहजाता है ॥ ६२ ॥

एवं नानाविधोपायाः सम्यक्स्वानुभवान्विताः ॥
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ॥ ६३ ॥

एवमिति ॥ एवमंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरित्याद्युक्तप्रकारेण महान् समाधिपरिशीलनशुद्ध आत्मांतःकरणं येषां ते महात्मानस्तैर्महात्मभिः पूर्वे च ते आचार्याश्च पूर्वाचार्या मत्स्येंद्रादयस्तैः समाधेश्चित्तवृत्तिनिरोधस्य मार्गाः प्राप्त्युपायाः कथिताः । कीदृशाः समाधिमार्गाः । नानाविधोपायाः नानाविधा उपायाः साधनानि येषां ते तथा सम्यक् समीचीनतया संशयविपर्ययराहित्येन यः स्वानुभव आत्मानुभवस्तेनान्विता युक्ताः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–इसप्रकार नानाप्रकारके उपाय (साधन) हैं–जिनके और भलीप्रकार जो स्वानुभव अर्थात् संशय और विपर्ययसे रहित आत्मानुभव उससे युक्त चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधिके मार्ग अर्थात् प्राप्तिके उपाय पहिले महात्मा आचर्योंने कहे हैं अर्थात् समाधिके अभ्याससे महान् (शुद्ध) है आत्मा (अन्तःकरण) जिनका ऐसे महात्मा मत्स्येंद्र आदि पूर्वाचार्योंने अपने अनुभवसे पूर्वोक्त समाधिके मार्ग वर्णन किये हैं ॥ ६३ ॥

सुषुम्नायै कुंडलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने ॥
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥ ६४ ॥

सुषुम्नादिभ्यः कृतकृत्यस्ताः प्रणमति–सुषुम्नायै इति ॥ सुषुम्नामध्यनाडी तस्यै कुंडलिन्यै आधारशक्त्यै चन्द्राद्भ्रूमध्यस्थाज्जन्म यस्याः तस्यै सुधायै पीयूषायै मनोन्मन्यै तुर्यावस्थायै चिच्चैतन्यमात्मा स्वरूपं यस्याः सा तथा तस्यै।महती जडानां कायेंद्रियमनसां चैतन्यसंपादकत्वात्सर्वोत्तमा या शक्तिश्चिच्छक्तिः पुरुषरूपा तस्यै । तुभ्यमिति प्रत्येकं संबध्यते । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु ॥ ६४ ॥

भाषार्थ–सुषुम्ना आदि नाडियोंसे कृतकृत्य हुये आचार्य उनको प्रणाम करते हैं कि, मध्यनाडीरूप सुषुम्नाको और आधारशक्तिरूप कुंडलिनीको और चन्द्रमासे है जन्म

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जिसका ऐसी सुधाको और तुर्यावस्थारूप उस मनोन्मनीको नमस्कार है जो मनोन्मनी देह इंद्रिय मनरूप जो जड पदार्थ हैं उनकोभी चेतनताकी, संपादक होनेसे सबसे बडी शक्ति (चित् शक्ति पुरुष) रूप है और जो चेतन आत्मा स्वरूप है-इस श्लोकमें तुमको नमस्कार है इस पदका सर्वत्र संबन्ध है ॥ ६४ ॥

अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम् ॥
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ ६५ ॥

नानाविधान्समाध्युपायानुक्त्वा नादानुसंधानरूपं मुख्योपायं प्रतिजानीते-अशक्येति ॥ अव्युत्पन्नत्वादशक्यस्तत्त्वबोधस्तत्त्वज्ञानं येषां ते तथा तेषां मूढानामनधीतानां संमतम् । अपिशब्दात्किमुताधीतानामिति गम्यते। गोरक्षनाथेन प्रोक्तमित्यनेन महदुक्तत्वादुपादेयत्वं गम्यते। नादस्यानाहतध्वनेरुपासनेऽनुसंधानरूपं सेवनमुच्यते कथ्यते ॥ ६५ ॥

भाषार्थ-अनेकप्रकारके समाधिके उपायोंको कहकर नादानुसंधान रूप मुख्य जो उपाय है उसके वर्णनकी प्रतिज्ञा करतेहैं कि, अव्युत्पन्न (मूर्ख) होनेसे जिनको तत्त्वज्ञान अशक्य है उन मूढोंकोभी जो संमत है और अपिशब्दसे पठित मनुष्योंको तो संमत क्यों न होगा ऐसे गोरक्षनाथके कहेहुये नादोपासन अर्थात् अनाहतध्वनिका सेवन वर्णन करते हैं और यह नादका अनुसन्धान गोरक्षनाथ महान् पुरुषने कहाहै इससे अवश्य करने योग्य है ॥ ६५ ॥

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयंति ॥
नादानुसंधानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम्॥६६॥

श्रीआदिनाथेनेति ॥ श्रीआदिनाथेन शिवेन कथिताः प्रोक्ताः पादेन चतुर्थांशेन सह वर्तमानाः कोटिसंख्याका लयप्रकाराश्चित्तलयसाधनभेदा जयंत्युत्कर्षेण वर्तंते । वयं तु नादानुचिंतनमेव एकं केवलं लयानां लयसाधनानां मध्ये मुख्यतममतिशयेन मुख्यं मन्यामहे जानीमहे उत्कृष्टानां लयसाधनानां मध्ये उत्कृष्टतमत्वाद्गोरक्षाभिमतत्वाच्च नादानुसंधानमेव अवश्यं विधेयमिति भावः ॥ ६६ ॥

भाषार्थ-श्रीआदिनाथ (शिवजी) ने सवाकरोड चित्तके लयके प्रकार कहे हैं और वे सर्वोत्तम रूपसे वर्तते हैं हम तो एक नादानुसंधान (नादकासेवन) कोही केवल अत्यंत मुख्य लयके साधनोंमें मानते हैं क्योंकि, वह सबसे उत्तम है और गोरक्षनाथको अभिमत है इससे अवश्य करने योग्यहै ॥ ६६ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीम् ॥
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतःस्थमेकधीः ॥ ६७ ॥

शांभवीमुद्राया नादानुसंधानमाह–मुक्तासन इति ॥ मुक्तासने सिद्धासने स्थितो योगी शांभवीं मुद्राम् 'अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिः' इत्यादिनोक्तां संधाय कृत्वा । एकधीरेकाग्रचित्तः सन् दक्षिणे कर्णेऽन्तस्थसुषुम्नानाड्यां संतमेव नादं शृणुयात् । तदुक्तं त्रिपुरसारसमुच्चये–'आदौ मत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी नादोऽसौ वांशिकस्यानिलभरितलसद्वंशनिःस्वानतुल्यः। घंटानादानुकारी तदनु च जलधिध्वानधीरो गभीरो गर्जत्पर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाड्या' इति ॥ ६७ ॥

भाषार्थ--अब शांभवी मुद्रासे नादानुसंधानका वर्णन करते हैं कि, मुक्तासन सिद्धासनमें स्थित योगी भीतर लक्ष्य और बाहिर दृष्टि इत्यादि ग्रंथसे कही हुई शांभवीमुद्राको करके और एकाग्रचित्त होकर दक्षिणकर्णके विषे सुषुम्नानाडीमें वर्तमान जो देहके भीतरका शब्द है उसको सुनै सोई त्रिपुरसारसमुच्चयमें कहाहै कि, तारके संस्कारका कर्ता नाद प्रथमतो उन्मत्त भ्रमरोंके समूहका जो शब्द उसके समान और फिर पवनसे भरेहुये शोभित वंशके शब्दकी तुल्य और फिर घंटाके शब्द समान और समुद्रके शब्दकी तुल्य धीर और फिर गर्जतेहुये मेघका जो शब्द उसके समान गंभीर ऐसा पूर्वोक्त नाद इस देहमें सुषुम्नानाडीके छिद्रमें वर्तताहै ॥ ६७ ॥

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ॥
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥ ६८ ॥

पराङ्मुखीमुद्रया नादानुसंधानमाह–श्रवणेति ॥ श्रवणपुटे नयनयोर्नेत्रयोर्युगलं युग्मं घ्राणशब्देन घ्राणपुटे मुखमास्यमेषाम् । द्वंद्वे प्राण्यंगत्वादेकवद्भावे प्राप्तेऽपि सर्वस्यापि द्वंद्वैकवद्भावस्य वैकल्पिकत्वान्न भवति । तेषां निरोधनं करांगुलिभिः कार्यम् । निरोधनं चेत्थम्–अंगुष्ठाभ्यामुभौ कर्णौ तर्जनीभ्यां च चक्षुषी । नासापुटौ तथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि च' इति । चकारात्तदन्याभ्यां मुखं प्रच्छाद्येति समुच्चीयते । शुद्धा प्राणायामैर्मलरहिता या सुषुम्नासरणिः सुषुम्नापद्धतिस्तस्याममलो नादः स्फुटं व्यक्तं श्रूयते६८॥

भाषार्थ–अब पराङ्मुखीनाडीसे नादके अनुसंधानका वर्णन करते हैं कि, कर्ण और नेत्र और घ्राण इन तीनोंके युगल (दोनों छिद्र) और मुख इनका निरोध करै अर्थात् हाथकी अंगुलियोंसे इनको रोकै और निरोध भी इस वचनके अनुसार करै कि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अंगुष्ठोंसे दोनों कानोंका और तुर्जनियोंसे दोनों नेत्रोंका और मध्यमाओंसे नासापुटोंका और चक्कारके पढनेसे तर्जनियोंसे सुखका आच्छादन करै इसप्रकारका इंद्रियोंका निरोध करनेसे प्राणायामोंसे मलरहित जो सुषुम्नाका मार्ग है उसमें स्फुट (प्रत्यक्ष) अमल (स्पष्ट) नाद सुनताहै ॥ ६८ ॥

आरंभश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ॥
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥ ६९ ॥

अथ नादस्य चतस्रोऽवस्थाः प्राह-आरंभश्चेति ॥ आरंभावस्था घटावस्था परिचयावस्था निष्पत्त्यवस्था इति । सर्वयोगेषु सर्वेषु चित्तवृत्तिनिरोधोपायेषु शांभव्यादिषु व्यवस्थाचतुष्टयं स्यात्। चचैवतथापिचाः पादपूरणार्थाः॥६९॥

भाषार्थ-अब नादकी चार अवस्थाओंका वर्णन करतेहैं कि, आरंभ अवस्था-घटावस्था-परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था ये चारअवस्था संपूर्ण चित्तवृत्तिके निरोधरूपयोगोंमें होतीहैं अर्थात् शांभवीमुद्रादिकोंमें ये चारही अवस्था होती हैं ॥६९॥

अथारंभावस्था ।

ब्रह्मग्रंथेर्भवेद्भेदो ह्यानंदः शून्यसंभवः ॥
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥ ७० ॥

तत्रारंभावस्थामाह-ब्रह्मग्रंथेरिति॥ब्रह्मग्रंथेरनाहतचक्रे वर्तमानाया भेदः प्राणायामाभ्यासेन भेदनं यदा भवेत्तदेति यत्तदोरध्याहारः।आनंदयतीत्यानंदः आनंदजनकःशून्ये हृदाकाशे संभवतीति शून्यसंभवो हृदाकाशोत्पन्नो विचित्रो नानाविधः क्वणो भूषणनिनदः स एव क्वणकः भूषणनिनदसदृश इत्यर्थः । 'भूषणानां तु शिंजितम् । निक्काणो निक्वणः क्वाणः क्वणः क्वणनमित्यपि' इत्यमरः।अनाहतो ध्वनिरनाहतो निर्ह्रादो देहे देहमध्ये श्रूयते श्रवणविषयो भवतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

भाषार्थ-उन चारोंमें आरंभावस्था जो सबसे प्रथम है उसका वर्णन करतेहैं कि, अनाहतचक्रमें वर्तमान ब्रह्मग्रंथिका जब प्राणायामोंके अभ्याससे भेद होताहै तब आनंदका उत्पादक और हृदयाकाशरूप शून्यमें उत्पन्न-और अनेकविध और भूषणोंके शब्दकी तुल्य-अनाहत अर्थात् विना ताडनासे उत्पन्न ध्वनि (शब्द) देहके मध्यमें सुनता है-इस श्लोकमें कणशब्दसे भूषणोंका शब्द-इस अमरके श्लोकसे लेना कि, भूषणोंके शब्दको शिंजित-निक्काण-निक्वण-क्वाण--क्वण क्वणन कहतेहैं ॥ ७० ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हठं विना राजयोगो राज-योगं विना हठः ।
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ ७६॥

कुम्भक-प्राण-रोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यास-योगेन राज-योग-पदं व्रजेत् ॥ ७७॥

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता
नाद-स्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता बिन्दु-जयोऽग्नि-दीपनं
नाडी-विशुद्धिर्हठ-सिद्धि-लक्षणम् ॥ ७८॥

इति हठ-प्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ।

॥ ३॥ तृतीयोपदेशः

स-शैल-वन-धात्रीणां यथाधारोऽहि-नायकः ।
सर्वेषां योग-तन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥ १॥

सुप्ता गुरु-प्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥ २॥

प्राणस्य शून्य-पदवी तदा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥ ३॥

सुषुम्णा शून्य-पदवी ब्रह्म-रन्ध्रः महापथः ।
श्मशानं शाम्भवी मध्य-मार्गश्चेत्येक-वाचकाः ॥ ४॥

तस्मात्सर्व-प्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्म-द्वार-मुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्डीयानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ॥ ६॥

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्ति-चालनम् ।
इदं हि मुद्रा-दशकं जरा-मरण-नाशनम् ॥ ७॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्य-प्रदायकम् ।
वल्लभं सर्व-सिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्न-करण्डकम् ।

कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुल-स्त्री-सुरतं यथा ॥ ९॥

अथ महा-मुद्रा
पाद-मूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणाम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १०॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्ड-हतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ ११॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महा-मुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ १३॥

इयं खलु महामुद्रा महा-सिद्धैः प्रदर्शिता ।
महा-क्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ।
महा-मुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ १४॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्-तुल्या भवेत्सङ्ख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ १६॥

क्षय-कुष्ठ-गुदावर्त-गुल्माजीर्ण-पुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७॥

कथितेयं महामुद्रा महा-सिद्धि-करा नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ १८॥

अथ महा-बन्धः
पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनि-स्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ।
निष्पीड्यं वायुमाकुञ्च्य मनो-मध्ये नियोजयेत् ॥ २०॥

धारयित्वा यथा-शक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥ २१॥

मतमत्र तु केषांचित्कण्ठ-बन्धं विवर्जयेत् ।
राज-दन्त-स्थ-जिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥ २२॥

अयं तु सर्व-नाडीनामूर्ध्वं गति-निरोधकः ।
अयं खलु महा-बन्धो महा-सिद्धि-प्रदायकः ॥ २३॥

काल-पाश-महा-बन्ध-विमोचन-विचक्षणः ।
त्रिवेणी-सङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४॥

रूप-लावण्य-सम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महा-मुद्रा-महा-बन्धौ निष्फलौ वेध-वर्जितौ ॥ २५॥

अथ महा-वेधः
महा-बन्ध-स्थितो योगी कृत्वा पूरकमेक-धीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठ-मुद्रया ॥ २६॥

सम-हस्त-युगो भूमौ स्फिचौ सनाडयेच्छनैः ।
पुट-द्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७॥

सोम-सूर्याग्नि-सम्बन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८॥

महा-वेधोऽयमभ्यासान्महा-सिद्धि-प्रदायकः ।
वली-पलित-वेप-घ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९॥

एतत्त्रयं महा-गुह्यं जरा-मृत्यु-विनाशनम् ।
वह्नि-वृद्धि-करं चैव ह्यणिमादि-गुण-प्रदम् ॥ ३०॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्य-सम्भार-सन्धाय पापौघ-भिदुरं सदा ।
सम्यक्-शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथम-साधनम् ॥ ३१॥

अथ खेचरी
कपाल-कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२॥

छेदन-चालन-दोहैः कलां क्रमेणाथ वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद्भ्रू-मध्यं स्पृशति तदा खेचरी-सिद्धिः ॥ ३३॥

स्नुही-पत्र-निभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्ध-निर्मलम् ।

समादाय ततस्तेन रोम-मात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४॥

ततः सैन्धव-पथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्त-दिने प्राप्ते रोम-मात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५॥

एवं क्रमेण षण्-मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसना-मूल-शिरा-बन्धः प्रणश्यति ॥ ३६॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योम-चक्रं तदुच्यते ॥ ३७॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधि-मृत्यु-जरादिभिः ॥ ३८॥

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ३९॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ४०॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥ ४२॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनि-मण्डलम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनि-मुद्रया ॥ ४३॥

ऊर्ध्व-जिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४॥

नित्यं सोम-कला-पूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैल-वर्ति च दीपकः ।
तथा सोम-कला-पूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ४६॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमर-वारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुल-घातकाः ॥ ४७॥

गो-शब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गो-मांस-भक्षणं तत्तु महा-पातक-नाशनम् ॥ ४८॥

जिह्वा-प्रवेश-सम्भूत-वह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमर-वारुणी ॥ ४९॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा-रस-स्यन्दिनी
स-क्षारा कटुकाम्ल-दुग्ध-सदृशी मध्वाज्य-तुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्त-करणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्ट-गुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥ ५०॥

मूर्ध्नः षोडश-पत्र-पद्म-गलितं प्राणादवाप्तं हठाद्
ऊर्द्व्हास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।
उत्कल्लोल-कला-जलं च विमलं धारामयं यः पिबेन्
निर्व्याधिः स मृणाल-कोमल-वपुर्योगी चिरं जीवति ॥ ५१॥

यत्प्रालेयं प्रहित-सुषिरं मेरु-मूर्धान्तर-स्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्-मुखं निम्नगानाम् ।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमधो नान्यथा काय-सिद्धिः ॥ ५२॥

सुषिरं ज्ञान-जनकं पञ्च-स्रोतः-समन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्शून्ये निरञ्जने ॥ ५३॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥ ५४॥

अथ उड्डीयान-बन्धः

बद्धो येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महा-खगः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तव बन्धोऽभिधीयते ॥ ५६॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्यु-मातङ्ग-केसरी ॥ ५७॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९॥

सर्वेषामेव बन्धानां उत्तमो ह्युड्डीयानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६०॥

अथ मूल-बन्धः
पार्ष्णि-भागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूल-बन्धोऽभिधीयते ॥ ६१॥

अधो-गतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूल-बन्धं हि योगिनः ॥ ६२॥

गुदं पार्ष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३॥

प्राणापानौ नाद-बिन्दू मूल-बन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ ६४॥

अपान-प्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्र-पुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूल-बन्धनात् ॥ ६५॥

अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्नि-मण्डलम् ।
तदानल-शिखा दीर्घा जायते वायुनाहता ॥ ६६॥

ततो यातो वह्न्य्-अपानौ प्राणमुष्ण-स्वरूपकम् ।
तेनात्यन्त-प्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८॥

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्म-नाड्यं तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूल-बन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ६९॥

अथ जलन्धर-बन्धः
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरा-मृत्यु-विनाशकः ॥ ७०॥

बध्नाति हि सिराजालमधो-गामि नभो-जलम् ।

ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठ-दुःखौघ-नाशनः ॥ ७१॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठ-संकोच-लक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२॥

कण्ठ-संकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद्दृढम् ।
मध्य-चक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधार-बन्धनम् ॥ ७३॥

मूल-स्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत् ।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ७४॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरा-रोगादिकं तथा ॥ ७५॥

बन्ध-त्रयमिदं श्रेष्ठं महा-सिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठ-तन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६॥

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्य-रूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ७७॥

अथ विपरीत-करणी मुद्रा

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुख-वञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थ-कोटिभिः ॥ ७८॥

ऊर्ध्व-नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरु-वाक्येन लभ्यते ॥ ७९॥

नित्यमभ्यास-युक्तस्य जठराग्नि-विवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ॥ ८०॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्-क्षणात् ।
अधः-शिराश्चोर्ध्व-पादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ८१॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याम-मात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ८२॥

अथ वज्रोली

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धि-भाजनम् ॥ ८३॥

तत्र वस्तु-द्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वश-वर्तिनी ॥ ८४॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोली-सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५॥

यत्नतः शस्त-नालेन फूत्कारं वज्र-कन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायु-संचार-कारणात् ॥ ८६॥

नारी-भगे पदद्-बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७॥

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दु-पातेन जीवनं बिन्दु-धारणात् ॥ ८८॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दु-धारणात् ।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्काल-भयं कुतः ॥ ८९॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९०॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं निजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यास-योग-वित् ॥ ९१॥

अथ सहजोलिः
सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्ध-गोमय-सम्भवम् ॥ ९२॥

वज्रोली-मैथुनादूर्ध्वं स्त्री-पुंसोः स्वाङ्ग-लेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्त-व्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोग-युक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ९४॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्व-दर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां वै सिध्येन्न तु मत्सर-शालिनाम् ॥ ९५॥

अथ अमरोली
पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बु-धारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम् ।

निषेव्यते शीतल-मध्य-धारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥ ९६॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यक्सामरोलीति कथ्यते ॥ ९७॥

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्य-दृष्टिः प्रजायते ॥ ९८॥

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यास-पाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ ९९॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति ॥ १००॥

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्य्-अभ्यास-योगेन सर्व-सिद्धिं प्रयच्छतः ॥ १०१॥

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ १०२॥

देह-सिद्धिं च लभते वज्रोल्य्-अभ्यास-योगतः ।
अयं पुण्य-करो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥ १०३॥

अथ शक्ति-चालनम्
कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्याय-वाचकाः ॥ १०४॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ १०५॥

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्म-स्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ १०७॥

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०८॥

गङ्गा-यमुनयोर्मध्ये बाल-रण्डां तपस्विनीम् ।

बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०९॥

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
इडा-पिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥ ११०॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजङ्गीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ १११॥

अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्ध-मात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधान-युक्त्या
प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ ११२॥

ऊर्ध्वं वितस्ति-मात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बर-लक्षणम् ॥ ११३॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फ-देश-समीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ११४॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५॥

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।
मृत्यु-वक्त्र-गतस्यापि तस्य मृत्यु-भयं कुतः ॥ ११६॥

मुहूर्त-द्वय-पर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्णायां समुद्गता ॥ ११७॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ॥ ११८॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुख-सुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धि-भाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२०॥

ब्रह्मचर्य-रतस्यैव नित्यं हित-मिताशिनः ।
मण्डलाद्दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्य्-अभ्यास-योगिनः ॥ १२१॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।

एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यम-भीः कुतः ॥ १२२॥

द्वा-सप्तति-सहस्राणां नाडीनां मल-शोधने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्य्-अभ्यसनादृते ॥ १२३॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसन-प्राण-संयाम-मुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२४॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा परा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ १२५॥

राज-योगं विना पृथ्वी राज-योगं विना निशा ।
राज-योगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ १२६॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनो-युक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनो-वृत्तिर्मनीषिणा ॥ १२७॥

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महा-सिद्धि-प्रदायिनी ॥ १२८॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम् ।
स एव श्री-गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ १२९॥

तस्य वाक्य-परो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादि-गुणैः सार्धं लभते काल-वञ्चनम् ॥ १३०॥

इति हठ-प्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः ।

॥ ४॥ चतुर्थोपदेशः

नमः शिवाय गुरवे नाद-बिन्दु-कलात्मने ।
निरञ्जन-पदं याति नित्यं तत्र परायणः ॥ १॥

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ।
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्द-करं परम् ॥ २॥

राज-योगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ३॥

अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् ।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येक-वाचकाः ॥ ४॥

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथात्म-मनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ ५॥

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥ ६॥

तत्-समं च द्वयोरैक्यं जीवात्म-परमात्मनोः ।
प्रनष्ट-सर्व-सङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ७॥

राज-योगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरु-वाक्येन लभ्यते ॥ ८॥

दुर्लभो विषय-त्यागो दुर्लभं तत्त्व-दर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्-गुरोः करुणां विना ॥ ९॥

विविधैरासनैः कुभैर्विचित्रैः करणैरपि ।
प्रबुद्धायां महा-शक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥ १०॥

उत्पन्न-शक्ति-बोधस्य त्यक्त-निःशेष-कर्मणः ।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ ११॥

सुषुम्णा-वाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥ १२॥

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः ।
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥ १३॥

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ।
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥ १४॥

ज्ञानं कुतो मनसि सम्भवतीह तावत्
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥ १५॥

ज्ञात्वा सुषुम्णासद्-भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ।
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्म-रन्ध्रे निरोधयेत् ॥ १६॥

सूर्य-चन्द्रमसौ धत्तः कालं रात्रिन्दिवात्मकम् ।

भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥ १७॥

द्वा-सप्तति-सहस्राणि नाडी-द्वाराणि पञ्जरे ।
सुषुम्णा शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥ १८॥

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुण्डलीम् ।
बोधयित्वा सुषुम्णायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ १९॥

सुषुम्णा-वाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ।
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥ २०॥

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ २१॥

हेतु-द्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिन्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥ २२॥

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥ २३॥

दुग्धाम्बुवत्संमिलितावुभौ तौ
तुल्य-क्रियौ मानस-मारुतौ हि ।
यतो मरुत्तत्र मनः-प्रवृत्तिर्
यतो मनस्तत्र मरुत्-प्रवृत्तिः ॥ २४॥

तत्रैक-नाशादपरस्य नाश
एक-प्रवृत्तेरपर-प्रवृत्तिः ।
अध्वस्तयोश्चेन्द्रिय-वर्ग-वृत्तिः
प्रध्वस्तयोर्मोक्ष-पदस्य सिद्धिः ॥ २५॥

रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः ।
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ २६॥

मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ।
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ॥ २७॥

मनः स्थैर्यं स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत् ।
बिन्दु-स्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्ड-स्थैर्यं प्रजायते ॥ २८॥

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।

मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥ २९॥

सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतान्तरे ।
मनः-प्राण-लये कश्चिदानन्दः सम्प्रवर्तते ॥ ३०॥

प्रनष्ट-श्वास-निश्वासः प्रध्वस्त-विषय-ग्रहः ।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥ ३१॥

उच्छिन्न-सर्व-सङ्कल्पो निःशेषाशेष-चेष्टितः ।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वाग्-अगोचरः ॥ ३२॥

यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेन्द्रिय-सनातनी ।
सा शक्तिर्जीव-भूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥ ३३॥

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लय-लक्षणम् ।
अपुनर्-वासनोत्थानाल्लयो विषय-विस्मृतिः ॥ ३४॥

वेद-शास्त्र-पुराणानि सामान्य-गणिका इव ।
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुल-वधूरिव ॥ ३५॥

अथ शाम्भवी
अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेष-वर्जिता ।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेद-शास्त्रेषु गोपिता ॥ ३६॥

अन्तर्लक्ष्य-विलीन-चित्त-पवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चल-तारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः
शून्याशून्य-विलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं पदं शाम्भवम् ॥ ३७॥

श्री-शाम्भव्याश्च खेचर्या अवस्था-धाम-भेदतः ।
भवेच्चित्त-लयानन्दः शून्ये चित्-सुख-रूपिणि ॥ ३८॥

तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ ।
पूर्व-योगं मनो युञ्जन्नुन्मनी-कारकः क्षणात् ॥ ३९॥

केचिदागम-जालेन केचिन्निगम-सङ्कुलैः ।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥ ४०॥

अर्धोन्मीलित-लोचनः स्थिर-मना नासाग्र-दत्तेक्षणश्
चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निस्पन्द-भावेन यः ।

ज्योती-रूपमशेष-बीजमखिलं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्-पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥ ४१॥

दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ चैव न पूजयेत् ।
सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रि-निरोधतः ॥ ४२॥

अथ खेचरी
सव्य-दक्षिण-नाडी-स्थो मध्ये चरति मारुतः ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः ॥ ४३॥

इडा-पिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥ ४४॥

सूर्य्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालम्बान्तरे पुनः ।
संस्थिता व्योम-चक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥ ४५॥

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिव-वल्लभा ।
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्णां पश्चिमे मुखे ॥ ४६॥

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ।
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी सम्प्रजायते ॥ ४७॥

भ्रुवोर्मध्ये शिव-स्थानं मनस्तत्र विलीयते ।
ज्ञातव्यं तत्-पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥ ४८॥

अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योग-निद्रितः ।
सम्प्राप्त-योग-निद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ ४९॥

निरालम्बं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।
स-बाह्याभ्यन्तरं व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥ ५०॥

बाह्य-वायुर्यथा लीनस्तथा मध्यो न संशयः ।
स्व-स्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ५१॥

एवमभ्यस्यतस्तस्य वायु-मार्गे दिवानिशम् ।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२॥

अमृतैः प्लावयेद्देहमापाद-तल-मस्तकम् ।
सिध्यत्येव महा-कायो महा-बल-पराक्रमः ॥ ५३॥

शक्ति-मध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानस-मध्यगाम् ।

मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥ ५४॥

ख-मध्ये कुरु चात्मानमात्म-मध्ये च खं कुरु ।
सर्वं च ख-मयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ ५५॥

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे ।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे ॥ ५६॥

बाह्य-चिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तर-चिन्तनम् ।
सर्व-चिन्तां परित्यज्य न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ ५७॥

सङ्कल्प-मात्र-कलनैव जगत्समग्रं
सङ्कल्प-मात्र-कलनैव मनो-विलासः ।
सङ्कल्प-मात्र-मतिमुत्सृज निर्विकल्पम्
आश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ॥ ५८॥

कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले यथा ।
तथा सन्धीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ ५९॥

ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ॥ ६०॥

मनो-दृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्स-चराचरम् ।
मनसो ह्युन्मनी-भावाद्वैतं नैवोलभ्यते ॥ ६१॥

ज्ञेय-वस्तु-परित्यागाद्विलयं याति मानसम् ।
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥ ६२॥

एवं नाना-विधोपायाः सम्यक्स्वानुभवान्विताः ।
समाधि-मार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ॥ ६३॥

सुषुम्णायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्र-जन्मने ।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महा-शक्त्यै चिद्-आत्मने ॥ ६४॥

अशक्य-तत्त्व-बोधानां मूढानामपि संमतम् ।
प्रोक्तं गोरक्ष-नाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ ६५॥

श्री-आदिनाथेन स-पाद-कोटि-
लय-प्रकाराः कथिता जयन्ति ।
नादानुसन्धानकमेकमेव

इतनेही ध्यानका माहात्म्य तत्त्ववेत्ता ऋषिनने शास्त्रनके विषे वहुतसे प्रकारकरि कहाहै सोई परमतत्व मैंने वर्णन कियाहै ॥ १२१ ॥

अथवा यादृशी बुद्धी रामे कृष्णे तथा शिवे॥कर्तव्यमिति तद्धचानं या मतिः सा गतिर्भवेत् ॥ १२२ ॥ यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं योजनान् बहून् ॥ तत्सव ध्यान-योगेन क्षणेनैव विनश्यति ॥ १२३ ॥

अथवा जिस प्रकार राम कृष्ण तथा शिव इनके विषे बुद्धि होय सोई ध्यान करना योग्य है काहेतें कि जिस प्रकार मति होवै है सोई फलीभूत होवै है ॥ १२२ ॥ जो कि पर्वतके समान बडा भारी विस्तीर्ण वहुत योजनप-र्यंत पाप हो तोभी ध्यानयोगके एक क्षणमात्र साधन करिकै नाशकूं प्राप्त होवै है ॥ १२३ ॥

अथ बंधत्रयनिरूपणम् ॥

पद्मासनं समं बद्धा स्थापयेच्चुबुकं हृदि ॥ जालंधरामिमं बधं मृत्युमातंगनाशनम् ॥ १२४ ॥ पादमूलेन वामेन योनिसंपी-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

डच्यते बलात् ।। अपानमूर्द्धमुत्थाप्य मूल-
बंधं प्रशस्यते ॥ १२५ ॥ उड्डीनं कुरुते
यस्मादविश्रातं महाखगः ।। उडयानं त-
मिम बंधं सर्वदुःखहर नृणाम् ॥ १२६ ॥

मुद्रा दशप्रकारके पूर्वाचार्य्योंने कथन करीहैं तिनमेंसे
मुख्य २ वर्णन करौं हौं पद्मासन जो सब सुखके देवेवारी
आसन है ताहि बांधिकरि ठोढी हृदयमें लगावै यह
जालंधरबंध नाम मुद्रा होवै है सो कैसी है मृत्युरूप
मातंग जो हाथी ताकूं नाश करनेहारी है ॥ १२४ ॥
वामपादकी एडी करिकै लिंग और गुदा दोनोंके मध्यमें
जो योनिस्थान है ताहि बलकरिकै संपीडन करै अर्थात्
दाबिकरि स्थितहो और अपान जो नीचेके गमन करि-
बेवारो वायु ताहि ऊपर उठावै इस मुद्राको मूलबंध कहते
हैं ॥ १२५ ॥ महाखग जो प्राण अपान वायु सो
जातैं उड्डीन नाम है सो पश्चिममार्ग जो सुषुम्ना नाडी तामें
किया जाय अन्यत्र कहीं विश्राम न पावै संपूर्ण दुःखोंका
नाश करनेहारो तिसको उड्यान बंध कहते हैं ॥ १२६ ॥

बंधत्रयेण पवने प्रयाति गगने लयम् ।। ततो
न जायते मृत्युर्जरा रोगादिकं तथा ॥ १२७ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

[stamp]

इस प्रकार जो यह बंधत्रय अर्थात् तीन बंध हैं तिन करिकै पवन गगन जो ब्रह्मरंध्र है ताविषे लयकूं प्राप्त होवैहै तातैं मृत्यु तथा बुढापा आदि रोग नहीं होवैं हैं ॥ १२७ ॥

॥ अथ खेचरीमुद्रालक्षणम् ॥

एकं सृष्टिमयं देवमेका मुद्रा च खेचरी ॥ कुंभकः केवलः श्रेष्ठः धन्यः पुण्यश्च मोक्षदः ॥ १२८ ॥ गुरुवाक्याल्लभते जिह्वा सद्य-स्त्रिपथगामिनीम् ॥ भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी ॥ १२९ ॥

जिस प्रकार सृष्टिरूप एक परमेश्वर दव है तैसेही सब मुद्रनविषे एक खेचरी मुद्रा है तथा सब कुंभकनविषें एक केवलकुंभकमुद्रा श्रेष्ठ है सो धन्य तथा पुण्य तथा मोक्षकी देनेहारी है ॥ १२८ ॥ गुरुके वाक्यतैं प्राप्त होत जो जिह्वा त्रिपथ जो ब्रह्मरंध्र है ताके विषे शीघ्र गमन करनेहारी तथा भृकुटीके अंतर्गत जो दृष्टि सो खेचरी मुद्रा होवै है ॥ १२९ ॥

चंद्रात्सारः प्रस्रवति ह्यमृतं दिव्यरूपिणः ॥ खेचर्यां मुद्रितं येन मृत्युं जयति लीलया

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

॥ १३० ॥ उर्द्धजिह्वः स्थिरो भूत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठिति ॥ विषैर्विमुच्यते सर्वैर्व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥१३१॥ न रोगो मरणं तस्य नैवालस्यं प्रजायेत ॥ क्षुधा मूर्च्छा तृषा नैव मुद्रां यो वेत्ति खेचरीम् १३२॥

चंद्रमातैं जो सार दिव्यरूप अमृतको प्रस्राव होवैहै सो जिस साधक पुरुषने खेचरीमुद्रा करिकै ढकदीनो अर्थात् पान करिलीनोहै जाने सो पुरुष लीलाकरिकै ही मृत्युको जीतवेवारो होवै है ॥ १३० ॥ ऊपर करी है जिह्वा जाने एवंभूत जो पुरुष यदि एक क्षणमात्रभी स्थित होवै तौ संपूर्ण सर्प बिच्छू आदिक तिनके विषकरिकै छूटै हैं जो पुरुष खेचरीमुद्रा भलीप्रकार जानै ताकूं न रोग न मृत्यु न आलस्य न क्षुधा पिपासा मूर्च्छा होवै है और कोई प्रकारकी बाधा नहीं होवै है ॥ १३१ ॥ १३२ ॥

वलीपलितवेषघ्नी मुद्रेयं खेचरी सदा ॥ न तस्य क्षरत बिंदुमुद्रां यो वेत्ति खेचरीम् ॥ १३३ ॥

वलीपलित जो बुढापेकी देहका चर्म तथा कंपन ताकूं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यह खेचरी मुद्रा सदैव नाशकरनेवारी है जो पुरुष खेचरी मुद्राकू जानै ताको बिंदु जो कामदेव सो कोई कालविषे पतित नहीं होवै है ॥ १३३ ॥

चालनाद्दोहनाच्चैव च्छेदनाच्च तथैवच ॥ यावत् स्पृशति भ्रूमध्ये खेचरी सिद्धितां तदा ॥१३४॥

प्रथम एक चोखा और महीन वस्त्र तासों जिह्वाकूं पकडि कर चालन करै अर्थात् दोनों तरफहिलावै पुनः गोके थनके सदृश दोहन करै पुनः छेदन करै फेरि तीक्ष्ण शस्त्रसूं जिह्वाके नीचेकी नसकूं छेदन करै सो जबतक जिह्वा वढिकरि बाहिर भृकुटीपर्य्यंत न पहुँचे तबतक अभ्यास करै जब पहुँच जाय तब खेचरी सिद्धि होय है कुछ वार्ता गुरुवाक्यसे समझलेना ॥१३४॥

जायते म्रियते लोके बिंदुनां नात्र कारणम् ॥ तस्मादति प्रयत्नेन बिंदुधारणमाचरे-त् ॥ १३५ ॥ मरणं बिंदुपतनं जीवनं बिंदुधारणम् ॥ शिवो बिंदुरजः शक्तिः शाश-सूर्य्यमयस्तथा ॥ उभयोर्मेलनं कार्य्यं स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ १३६ ॥

जन्म मरण लोकविषे केवल बिंदु करिकैही होवैहै और कुछभी कारण नहीं ताते सदैवकाल अतियत्नसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विंदुको धारण करै ॥ १३५ ॥ विंदुका पतन होनाही जीवका मरण होवैहै तथा विंदुका धारण करनाही जीवन होवै है शिवरूप विंदु रजरूप शक्ति सो शशिसूर्य्यमय अर्थात् चंद्रमारूप विंदु सूर्य्यरूप रज होवै है सो दोनों कौ संमेलन करिकै अपने शरीरविषे प्रवेश करै सोही निश्चय करिकै मोक्षको देववारो होवैहै ॥ १३६ ॥

हकारः शंकरः प्रोक्तष्ठकारः शक्तिरीश्वरी ॥
उभायोर्मेलनं यस्मिन् हठयोगो निगद्यते १३७

तथा हठयोग लक्षण कथन करैं हैं, कि हकार करिकै शिव ठकार करिकै ईश्वरी पार्वती दोनोंनको संमेलन जाके विषे हो सोई हठयोग होवै है ॥ १३७ ॥

॥ अथ वज्रोलीमुद्रानिरूपणम् ॥

आदा रजः स्त्रियो योन्याः यत्नेनविधिवत्सुधीः ॥ आकृष्य लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ १३८ ॥ दैवाच्चलति चेद्वीर्य्यमूर्द्धमाकृष्य रक्षयेत्॥क्षणमात्रं योनितो यो लिंगनालं निवारयेत् ॥ १३९ ॥ पुनश्च चालनं कुर्य्यात्तस्यां योन्यां शनैः शनैः ॥ १४० ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वज्रोलीमुद्रा साधन कहैहैं आदिके विषे विधिपूर्वक स्त्रीकी योनीतैं रजकूं लिंगनालकरिकै आकृष्य नाम खैंचकरिकै अपने शरीरविषे प्रवेश करै॥१३८॥ कदाचित अपना वीर्य्य चलायमान होय तो ऊपरकूं खैंचकरि रक्षण करै अर्थात् गिरनै न पावै गिरा होवै तौ क्षणमात्र लिंग योनितैं बाहिर निकाललेय ॥ १३९ ॥ फिरि कुछ देर पीछे तिस योनिमें शनैः शनैः कहे धीरे धीरे चालन करै ॥ १४० ॥

गुरूपदेशतो योगी बलादाकृष्य तद्रजः ॥
उभयोर्मेलनं कृत्वा स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥
॥१४१॥ अनेनैव विधानेन सिद्धो भवति
भूतले ॥ वज्रोल्यभ्यासयोगोयं भोगयु-
क्तेपि मोक्षदः ॥ १४२ ॥ अयं तु शांकरो
योगो धीराणां तत्वदर्शिनाम् ॥ गोपनीयः
प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ॥ १४३ ॥

गुरुके उपदेशतैं योगी बलतैं तौन जो रज ताहि आक-र्षण करै दोनों जो रजबिंदु हैं तिनको एकत्र करिकै अपने शरीरविषे प्रवेश करै ॥ १४१ ॥ यही विधान करिकै योगाभ्यासी भूतलविषे सिद्ध होवैहै वज्रोलीके अभ्यासक-रिकै जो योग भोगयुक्त आपिनाम निश्चय मोक्षको देवेवारो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है ॥ १४२ ॥ यह योग साक्षात् शिवजीने कथनकरयोंहै सो योग धीर तथा तत्वदर्शी पुरुषनके वास्ते देयहै नहीं तो विशेषकरिकै सामान्यमनुष्यनको नहीं देना चाहिये ॥ १४३ ॥

सहजोल्यमरोली च वज्रोली भेदतो भवेत्॥
योगशास्त्रानुसारेण उभेअपिनिगद्यते १४४

सहजोली अमरोली ये जो दोई मुद्रा ते वज्रोलीके भेद हैं योगशास्त्रके अनुसारतें उभेअपि कहैं दोऊ निश्चय-करिकै निगद्यते नाम वर्णन करै हैं ॥ १४४ ॥

॥ अथ सहजोलीमुद्रालक्षणम् ॥

दैवाच्चलति चेद्वीर्य्य संप्राप्तं योनिमंडले ॥
उभयोः शोषणं येन स योगी सिद्धिभाजनम्
॥ १४५ ॥ सहजोलीति मुद्रेयं ज्ञातव्या योगिभिः सदा ॥ येन केन प्रकारेण बिंदुधा-रणमाचरेत् ॥ १४६ ॥

जो कदाचित् स्थानतैं वीर्य चलिजावै और स्त्रीकी योनिमंडलमें प्राप्त होजावै तौ लिंगकरिकै दोनोंको शोष-णकरै जाकी क्रिया इसप्रकार है कि पूर्वमें सीसेकी शलाका १४ चौदह अंगुल बनावै वह नित्य लिंगमें चालनकरै जब

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१२ बारह अंगुल प्रवेश होनेलगिजाय तब चांदीकी शलाका सच्छिद्र बनवावे ताको प्रवेशकरै और फूत्कारक· रिकै वायुसंचार करै फिर तिस लिंगनालकरिकै जल तथा दूध आकर्षण करै तदनंतर रजको और वीर्यको आकर्षण करै सो योगी संपूर्णसिद्धीनको पात्र है ॥ १४५ ॥ इसप्रकार इस मुद्राका नाम सहजोली है सो मुद्रा योगीजन जानैं हैं जिसकिसीप्रकार करिकै बिंदु जो कामदेव तिसका धारण करना ॥ १४६ ॥

॥ अथ अमरोलीमुद्रालक्षणम् ॥

स्वमूत्रोत्सर्गसमये मुख्यां धारां परित्यजेत् ॥ बलादाकर्षयेन्मध्यां धाराममृतरूपिणीम् ॥ ॥ १४७ ॥ स्तोकं स्तोकं त्यजेत्पश्चादुपदिष्टगुरुशिक्षया ॥ एवं योगविधानेन बिंदुर्गच्छति मंडले ॥ १४८ ॥ षण्मासमभ्यसेन्नित्यं साधकः संयतेंद्रियः ॥ शतांगनाऽपि भोगेऽपि बिंदुस्तस्य न क्षुभ्यति ॥ १४९ ॥ बिंदुसिद्धिर्भवेत्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ॥ बहुना किं प्रलापेन ह्युपतिष्ठंति सिद्धयः ॥ १५० ॥ संसारिणां विमूढानां मायामोहितचेतसाम् ॥ बिंदुर्ददाति

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सर्वेषां सुखदुःखमुदारधीः ॥ १५१ ॥ अयं तु शांकरो योगो योगिनां चात्मदर्शिनाम् ॥ रागग्रस्तमनुष्याणां न तु विषयशालिनाम् ॥ १५२ ॥

निजमूत्रोत्सर्गसमयमें मुख्यधाराको त्याग करिदेवे फेरि बलकरिकै अमृतरूपिणी जो मध्यधारा ताको आकर्षण करै ॥ १४७ ॥ गुरूपदिष्ट शिक्षाकरिकै ताहि धीरे धीरे कुछ थोडी थोडी त्याग करै याप्रकार योगविधान करिकै बिंदु जो है सो मंडलके विषे प्राप्त होवै है ॥ १४८ ॥ इंद्रियनको जीतालियो है जाने ऐसे जो साधक सो नित्य ही क्रमपूर्वक प्रकार छै महीनापर्य्यंत अभ्यास करै तौ सौ स्त्रीके साथ भोगकरनेपरभी ताको बिंदु क्षोभित नहीं होवै है ॥ १४९ ॥ यह जो जितश्वास योगी जाकी बिंदुसिद्धि होयगई ताको बहुत प्रलाप करिकै क्याहै संपूर्ण जो सिद्धि यह निश्चयकरिकै समीपमें स्थित होवैहैं ॥ १५० ॥ संसारी जे मनुष्य मायाकरिकै मोहित हैं चित्त जिनके तिनको उदारधी बिंदु जो काम है सो सुखदुःखको प्राप्त करै है ॥ १५१ ॥ यह जो अम्रोलीयोग सो साक्षात् श्रीशिवजीने प्रकाशित कियोहै सो केवल आत्मदर्शी योगीजनोंके वास्ते सुखप्राप्तकरैहै रागकरिकै ग्रस्त जे मनुष्य तिनको नहीं कैसे हैं वे मनुष्य अर्थात् विषययुक्त हैं ॥ १५२ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अमरोलीत्वियं प्रोक्ता महासिद्धिप्रदायिका ॥
बिंदुधारणरक्षार्थं मुद्रा नैव च यादृशी॥१५३॥

यह महासिद्धिकी देवेवारी अमरोली मुद्रा कहीहै जाके सदृश अन्य मुद्रा बिंदुधारणकी रक्षाके अर्थ एवं नाम निश्चय करिकै नहीं है अर्थात् सर्वदा इसके समान कोई अन्य नहीं योग जप तप सबका मूल यह है ॥ १५३ ॥

गुह्याद्गुह्यतमो लोके न भूतो न भविष्यति॥
ईशत्वं यत्प्रसादेन दुर्ल्लभं प्राप्यते भुवि ॥ १५४ ॥

इस बिंदुरक्षारूप योगके समान अन्य कोई जप तप भक्ति योग नहीं संसारमें यह योग गुप्तसे गुप्त है, अर्थात् हरेकको देना उचित नहीं इस बिंदुरक्षारूप योगप्रसादसे इस संसारविषे जो दुर्लभ ईशत्व है सो प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं ॥ १५४ ॥

॥ अथ शक्तिचालनीमुद्रालक्षणम् ॥

अपानवायुमाकृष्य चालयेत्कुंडलीं दृढाम् ॥निद्रां विहाय भुजगीं स्वयमूर्द्धं व्रजेत्खलु ॥ १५५ ॥ गुरूपदेशतो नित्यं शक्तिचालनमाचरेत् ॥ आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य सिद्धो भवति भूतले ॥१५६॥ षण्मासम-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भ्यसेद्योगी प्रत्यहं गुरुशिक्षया ॥ बहुना किं प्रलापेन मुक्तो भवति बंधनात् ॥ १५७ ॥

अपानवायु जो गुदाद्वारा नीचेगमन करैहै ताहि ऊपरको खेंचिकारि दृढ जो कंडली अर्थात् सात लपेटे देकारि पूर्ण निद्राके विषे जो होरही ताहि चालयेत् अर्थात् चलावै सो निद्रा छोडि आपही ऊर्द्ध जो ब्रह्मरंध्रस्थान तामें निश्चयकरि गमन करैहै ॥१५५॥ जो पुरुष गुरुके उपदेशतैं नित्यही शक्तिचालन मुद्राभ्यास करैहै ता पुरुषकी आयु वृद्धि निश्चयकरिकै होती है और संपूर्ण अणिमादिक सिद्धियां प्राप्त होकर पृथ्वीविषे सिद्धरूपहोता है ॥१५६॥ जो पुरुष इस मुद्राअभ्यासको छे महीना गुरुकी शिक्षापूर्वक निशिदिन करैहै ताकूं बहुत प्रलाप करनेसे क्या सर्व सिद्धि प्राप्त हो संसाररूप बंधनसे छूटिजावैहै ॥ १५७ ॥

॥ अथ विपरीतकरणीमुद्रालक्षणम् ॥

अधःशिरश्चोर्द्धपादमभ्यसेच्च दिनेदिने ॥ मुद्रेयं विपरीताख्या जठराग्निविवर्द्धनी ॥ १५८ ॥ नित्यमभ्यासयुक्तस्यात्याहारो बहुलोच्यते ॥ सूक्ष्माहारो यदि भवेदग्निर्दहति निश्चितम् ॥१५९॥तस्माद-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तिप्रयत्नेन साध्यते योगिना सदा ॥ वलितं पलितं चैवषण्मासोर्द्ध्वं न दृश्यते॥१६०॥

अधः कहें नीचेकूं शिर ऊंचेकूं पांव करै अर्थात् पृथ्वीमें मस्तक रखकारि अंतरिक्षमें पांव करै इसतरह दिन प्रति अभ्यास करै याको विपरीतकरणीमुद्रा नाम है सो मुद्रा जठराग्निकूं अत्यंत वृद्धि करैहै ॥ १५८ ॥ जो पुरुष या मुद्राको नित्य अभ्यास करै तिस साधकपुरुषकूं बहुत आहार करना योग्य है जो कदाचित् आहार कम करै तौ जठराग्नि शरीरकूं शीघ्रही भस्म करैगा ॥ १५९ ॥ तातैं अतिप्रयत्नकरिकै यह मुद्रा योगीकरिकै साधनीय होवैहै जो इसमुद्राका अभ्यास नित्य करै ताके वली पलित चर्म केश छे महीनामें नाश होवैं हैं अर्थात् तरुणकेसे होवैहैं तथा जराका अभाव होवैहै ॥ १६० ॥

याममात्रं यदा कर्त्तुं समर्थः स्याद्दिनेदिने॥ तदैव कुरुते योगी कालस्य मुखवंचनम् ॥ ॥१६१ ॥ गुरुप्रसादाल्लभते मुद्रेयं पापनाशनी ॥ गोपनीया विशेषेण न देया यस्य कस्यचित् ॥ १६२ ॥

अभ्यासके साधन जो नित्यप्राति एकप्रहर करिवे लगिजाय सो तेहीसमयसे कालके मुखकी वंचना करैहै ॥ १६१ ॥ यह मुद्रा केवल गुरुकी प्रसन्नतातैं सिद्ध होवैहै

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यह मुद्रा पापको नाश करिवेवारी है यह विशेषकारि गोपनीय है अर्थात् अनधिकारीकूं देना योग्य नहीं ॥१६२॥

॥ अथ समाधिनिरूपणम् ॥

ध्येयस्वरूपोपगतो यदा सुधीर्विस्मृत्य चात्मानमथावतिष्ठते ॥ योगी विलूनाखिलकर्म्मबंधनैर्योगस्य तच्चाष्टकमंगमीरितम् ॥ १६३ ॥

जिसकालविषे सुधी कहें सुंदरबुद्धिमान जो साधक पुरुष है ध्येयवस्तु जो परमात्मा है तास्वरूपकूं प्राप्त होवैहै अपनी जो देह तथा आत्माका पृथक्भाव ताहि भूलिकरि स्थित होवैहै सो योगी कैसो है कि,संपूर्ण जन्मांतरके संचित तथा वर्तमान आगामि तिनकरिकै छूटि जावैहै सो योगका अष्टम अंग जो समाधि सो होवैहै ॥ १६३ ॥

सरित्पतौ यथा चापः कर्पूरमनिले यथा॥ सलिले लवणं यद्वत्समाधिः प्राणसंयमात्॥१६४॥ घृते घृतं यथा क्षिप्तं वह्नौ वह्निरिवार्पितः॥ तथा भवति चैकत्वं जीवात्मपरमात्मनोः॥१६५॥अच्छेद्यः सर्वशस्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम् ॥ अशक्यो यक्षगंधर्वैर्योगी मुक्तस्समाधिना ॥१६६॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चोट, मोच, वायु-विकार से उत्पन्न सूजन और दर्द आदि में भी इसकी अत्यधिक उपयोगिता है। प्राणायाम के बिना भी यह आसन शरीर के अवयवों में लचक उत्पन्न कर देता है, जिससे सामान्य चोट आदि से लगने वाले आघात को सहन करना होता है। अधिक लाभ के लिए इसके साथ प्राणायाम का प्रयोग तालवद्ध रूप में करना श्रेयस्कर है।

रोग शमन में मुद्राओं का उपयोग

आसन के साथ मुद्राओं का भी अधिक महत्व है। यद्यपि मुद्राएँ आसनों के साथ की जाती हैं, तथापि मुद्राओं के द्वारा शरीर की सभी ग्रन्थियाँ सदैव क्रियाशील और स्वस्थ रखी जा सकती हैं तथा ग्रन्थियों से जो रसमय पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनके अभाव में शरीर अनेक व्याधियों का शिकार होजाता है। यदि ग्रन्थियाँ क्रियाशील रहें तो उनसे उत्पन्न होने वाला रस रक्त में मिल कर शरीर को व्याधियों से बचाता और उसका सुगठन एवं सौन्दर्य स्थायी रूप से बना रहता है। परन्तु मुद्राओं का अभ्यास वयस्कों के लिए ही हितकर है, बालकों को उनका अभ्यास नहीं करना चाहिए। क्योंकि बाल्यकाल में ग्रन्थियाँ अपरिपक्व होती हैं, उन्हें मुद्राओं के अभ्यास द्वारा परिपक्व और पुष्ट करने से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य में बाधा उत्पन्न हो सकती है,

योगाचार्यों ने बन्धों के सहित पच्चीस मुद्राओं का उल्लेख किया है। उनमें से अत्यन्त उपयोगी प्रमुख मुद्राओं का वर्णन करना उचित होगा। फल का कथन करते हुए मुद्राओं को दिव्य अष्ट सिद्धियाँ देने वाली स्वीकार किया गया है।

उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध और महावेध के नाम से पाँच बन्धों का वर्णन प्रायः सभी योगशास्त्रों में मिलता है, यह सभी

मुद्राओं के अन्तर्गत और अनेक प्रकार के रोगों का शमन करने वाले हैं। कुछ विद्वानों ने महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध और मूलबन्ध के रूप में पाँच महामुद्राओं का वर्णन किया है। वे सभी लौकिक और पारलौकिक, दोनों प्रकार के सुखों के देने वाली हैं।

उड्डीयान बन्ध

उदर में नाभि के ऊपर के भार और पश्चिम द्वार को उदर के सम-भाव में सिकोड़ने से उड्डीयान बन्ध होता है। आशय यह है कि उदर-स्थ टूंडी में नाभि के ऊपर नीचे भागों को इस प्रकार तानें कि वे दोनों भाग पीठ में जा लगें। यह बन्ध सभी बन्धों में प्रमुख हैं। इसमें उदर के नीचे के भाग में स्थित गुह्यादि चक्रों की सब नाड़ियों को नाभि से ऊपर की ओर उठाना चाहिए।

यह बन्ध बैठ कर या खड़े होकर भी किया जा सकता है। प्रत्येक प्रकार में शरीर को आगे की ओर झुका कर हथेलियों को जाँघों पर या घुटनों पर रखें और उदर को सिकोड़ें, जिससे कि वहाँ एक गढा जैसा बन जाय। उदर संकोच की यह क्रिया तब तक करें, जब तक कि कुम्भक प्राणायाम द्वारा श्वास को सरलता से रोक सकते हों। इसमें उदर की माँसपेशियाँ पीछे की ओर नहीं तननी चाहिए।

इसके अभ्यास से उदर के भारीपन एवं मलावरोध आदि में लाभ होता है। अग्निमांद्य, अजीर्ण, उदरशूल, पित्तज शूल तथा पित्त-पथरी आदि का शमन होता है। चेचक, विशूचिका, स्त्रियों के प्रदरादि विकार तथा मासिक गड़बड़ी भी दूर होजाती है। इस प्रकार स्त्रियों के लिए भी यह हितकर है। इसका अभ्यास करने वाले को स्नायविक रोग भी नहीं होते। 'अभ्यसेद्यस्तु सत्त्वस्थो वृद्धोऽपि तरुणायते' कह कर योग-शास्त्रियों ने स्पष्ट कर दिया है कि इसके अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो-

जाता है। इसमें प्रकट है कि यह बन्ध पुरुषों के सभी रोगों को दूर कर पुष्टि प्रदान करने में समर्थ है।

जालन्धर बन्ध

कण्ठ का संकोच करने और हृदय पर ठोड़ी रख लेने से जालन्धर बन्ध होता है। योगियों के अनुसार नीचे की ओर होने वाले अमृत-रस का स्राव इसके अभ्यास से शिर में ही स्थिर रहता है, इसीलिए इस बन्ध का मृत्यु को नाशक कहा गया है।

योग शास्त्रों का सिद्धान्त है कि मस्तष्क में अमृत का आविर्भाव होता रहता है, जिसके वहीं स्थिर रहने पर मनुष्य अत्यन्त स्वस्थ और दिव्य सौन्दर्य से सम्पन्न रहता है। परन्तु विपरीत आहार-विहार के कारण मस्तक में उत्पन्न होने वाला अमृत नीचे की ओर स्रवित होता हुआ उदरस्थ अग्नि (जठरानल) को मन्द करता रहता है। इसी कारण शरीर में अग्निमांद्यादि रोग उत्पन्न होजाते हैं।

उक्त बन्ध में कण्ठ का संकोच होने से ग्रन्थियों से उत्पन्न होने वाले रस का स्राव सही प्रकार से होता है और वह रक्त के साथ मिश्रित होकर शरीर को स्वस्थ और दृढ़ बनाने में सहायक होता है। इस बन्ध के अभ्यास से अनेक प्रकार के उदर-रोग नष्ट होजाते हैं।

मूलबन्ध

इसमें बाँयी एड़ी के द्वारा गुह्य प्रदेश को संकुचित करने और नाभि-ग्रन्थि को मेरुदण्ड में प्रयत्न पूर्वक लगाने का निर्देश है तथा दाँयी एड़ी से उपस्थ को दृढ़ता पूर्वक दबा लेना कहा है। इससे वृद्धावस्था को प्राप्त हुआ व्यक्ति भी तरुण के समान हृष्ट-पुष्ट होजाता है।

मस्तक के आधार से प्रारम्भ और गुह्य प्रदेश के समीप अन्त वाली रीढ़ की अस्थि के अन्त-स्थान से अनेक स्नायु और शिराओं का प्रारम्भ हुआ है। इस स्थान को योगाचार्यों ने मूलाधार चक्र का नाम दिया है और मूलबन्ध का अभ्यास यहाँ सहायक होता है।

पुरुषों के मूत्र स्थान के दोनों ओर कामग्रन्थियाँ हैं, जो कि काम-सम्बन्धी विचार और चेष्टा के कारण हर्ष को प्राप्त होती हैं। इन ग्रन्थियों के ही समान स्त्रियों के भी इसी स्थान पर रति ग्रन्थियों की स्थिति है। गुद और मूत्राशय के मध्य वाले स्थान को योनिमण्डल कहते हैं। इसी के ऊपर रीढ़ का वह अन्त-स्थान है, जो कि कन्द स्थान भी कहलाता है। यहाँ से इडा नाडी और पिंगला नाड़ी प्रारम्भ होती है। परन्तु इडा बाँयी ओर और पिंगला दाँयी ओर चढ़ती हुई एक ही स्थान पर समाप्त होती हैं।

तीसरी प्रमुख नाड़ी और है—सुषुम्ना। यह भी कन्द स्थान से प्रारम्भ होकर कण्ठ तक पहुँचती और वहाँ से दो भागों में बँट कर, एक भाग ललाट तक और दूसरा ब्रह्मरन्ध्र तक जाता है। इस प्रकार यह तीनों नाड़ियां श्वास क्रिया को पूर्ण रूप से नियन्त्रित करती हैं।

मूल स्थान से ही कुहू और शंखिनी नामक दो नाड़ियाँ उत्पन्न हुई हैं। इनमें मूत्र को रोकने के लिए कुहू नाड़ी और मल को रोकने के लिए शंखिनी नाड़ी को खींचना होता है। इस शंखिनी नाड़ी के खींचने से गुदा का संकोच होता है, जो कि इस बन्ध में करना आवश्यक है।

इसके अभ्यास से शरीरस्थ मल का अवरोध नष्ट होजाता है, भूख खुल कर लगती है। आलस्य और भारीपन नहीं रहता, इसलिए शरीर में स्फूर्ति और ताजगी बनी रहती है। पुरुषों के धातु रोग, शीघ्रपतनादि, स्त्रियों के रजोदोष एवं बवासीर आदि रोगों का भी शमन होता है।

महाबन्ध

योनि स्थान को बाँये पाँव की एड़ी से दबा कर उस एड़ी को दाँये पाँव से दबाले और गुह्य प्रदेश को धीरे-धीरे चलाता हुआ संकुचित करे तथा जालन्धर बन्ध के द्वारा प्राणवायु का धारण करे। इसका अभ्यास बाँए और दाँए दोनों ही अंगों से कर सकते हैं।

महाबन्ध मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध के सम्मिश्रण से बनता है। इससे गर्भाशय शोथ, प्रदर, पेड़ू का दर्द, उपस्थ-विकार, धातु-विकार आदि स्त्री-पुरुषों के सभी रोग मिट जाते हैं। साथ ही कोष्ठबद्धता, यकृतप्लीहा के विकार एवं अर्शादि का भी शमन होता है। इस क्रिया में दाँये पाँव को घुटने से मोड़ कर मूत्राशय पर दबाव डाला जाता है और घुटने से धरती को दबाते हैं। बाँया पाँव सीधा पसार कर उसके अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़ना होता है। यह बन्ध तरुण स्त्री-पुरुषों के लिए भी हितकर है।

महावेध

इसमें पद्मासन या सिंहासन लगा कर बैठना चाहिए। फिर एकाग्रता पूर्वक कण्ठमुद्रा द्वारा वायु की गति का निरोध करे और नासारन्ध्रों का संकोच करे तो वायु शीघ्र भर जाती है। प्रथम महाबन्ध का अभ्यास कर उड्डीयान बन्ध के द्वारा वायु को रोका जाय। इस महावेध के साथ महाबन्ध और मूलबन्ध करना अत्यन्त हितकर माना जाता है। प्राणायाम का अभ्यास हो तो यह मुद्रा शीघ्र सिद्ध होजाती है।

वायु को उदर से बाहर निःसृत करें तथा गुद स्थान और कामको ऊपर की ओर खींचें, फिर वायु खींचते समय इन शिराओं को ढीली छोड़ दें। इसमें श्वासावरोध की जितने समय तक की क्षमता हो, उतने समय तक ही रोकें। इसके अभ्यास से स्त्री-पुरुषों के प्रजनन अंग पुष्ट होते हैं तथा प्रदर, प्रमेह एवं कफज आदि विकारों का भी शमन होजाता है।

महामुद्रा

योनि स्थान को बाँए पाँव के तलुए से पीड़ित कर दाँए पाँव को पसारें और उसे हाथों के द्वारा दृढ़ता पूर्वक पकड़ लें। ठोड़ी को वक्ष से लगा लें और कण्ठ में जालन्धर बन्ध करके मूलबन्ध करें तथा वायु को

ऊर्ध्वदेश में धारण करें। इसके अभ्यास से दुष्ट व्रण, नासूर, विष-दोष तक का शमन होता है। मलावरोध, उदर का भारीपन, अपच एवं यकृत आदि के विकार भी दूर होजाते हैं।

यह मुद्रा उपर्युक्त से विपरीत क्रम द्वारा भी की जा सकती है। अर्थात् दाँए पाँव के तलुए से योनि स्थान को दवा कर दाँये पाँव को पसारने और हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़ने से भी साध्य होती है। इसलिए दोनों क्रमों से ही अभ्यास करना उचित है।

खेचरी मुद्रा

योग शास्त्रों में वर्णित यह मुद्रा भी बहुत प्रसिद्ध है। कपाल कुहर में विपरीत हुई जीभ के प्रविष्ट होने और भोंहों के वीच दृष्टि रहने से यह मुद्रा सिद्ध होती है। इसमें जीभ को ऊपर की ओर उलट कर पीछे की ओर ले जाय और कपाल के मध्य वाले छिद्र में प्रविष्ट करने का अभ्यास करे। यद्यपि इस क्रिया में जिह्वामूल की नाड़ी को शस्त्र से छेदा जाता है, जो कि किसी शल्य-चिकित्सक द्वारा करा सकते हैं, परन्तु ऑपरेशन न करायें तो भी इसका अभ्यास करने से जिह्वामूल के सभी रोग, कण्ठ-विकार, स्वरभंग आदि का शमन होता और दृष्टि भी तीव्र होती है।

धातुओं की विषमता से उत्पन्न दोष, रक्तदोष एवं निर्बलता आदि में भी यह हितकर है। इसके अभ्यास से युवावस्था बनी रहती है और दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है।

विपरीतकरणी मुद्रा

इस मुद्रा के अभ्यास में नीचे शिर और ऊपर पाँव करना होता है। योगाचार्यों ने 'ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी' अर्थात् ऊर्ध्व भाग में नाभि और अधोभाग में तालु होने से ऊर्ध्वभाग में सूर्य और अधोभाग में चन्द्रमा हो जाता है, यही विपरीतकरणी मुद्रा कहलाती है।

पीठ के बल धरती पर लेट कर पाँवों को परस्पर मिले हुए ऊपर की ओर उठावें और नितम्बों को हाथों से सहारा देकर उठते हुए चले जाँय। इस प्रकार पूरा शरीर उल्टा खड़ा हो सकता है। इसका अभ्यास प्रारम्भ में एक-आध मिनट से बढ़ाते हुए तीन-चार मिनट तक करना चाहिए।

इसके अभ्यास से तरुणावस्था में स्थायित्व आता है यानी बुढ़ापा नहीं घेरता और दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है, मस्तिष्क में विद्यमान जीवनी-शक्ति का संचार करने वाली ग्रन्थि इससे पुष्ट होती और समूचे शरीर में सार पदार्थ को समान रूप से पहुंचाने में सहायक होती है।

यह मुद्रा जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाली, खान-पान को पचाने वाली तथा वली-पलित (शिर के बालों का पक कर श्वेत होना या गंजापन आदि) को दूर करने वाली है। रक्त की कमी निर्बलता, कुरूपता आदि का शमन करने में भी हितकर है। शिरशूल, चक्कर आना, अचेतता आदि में लाभ पहुँचाती तथा चर्म रोग, मुँहासे, झुर्री आदि को भी मिटाती है। यदि उपर्युक्त प्रकार से अभ्यास करने में कठिनाई प्रतीत हो तो दीवाल के सहारे से खड़ा होना प्रारम्भ करें और धीरे-धीरे अभ्यास को बढ़ावें।

परन्तु ध्यान रहे कि इस मुद्रा को करने वाले के लिए अल्पाहार (कम भोजन) नहीं करना चाहिए। क्योंकि मुद्रा से प्रदीप्त होने वाली जठराग्नि के लिए उचित आहार आवश्यक है। अल्प भोजन करने से हानि हो सकती है।

शक्तिचालिनी मुद्रा

वज्रासन लगाकर बैठे और दोनों पाँवों को एड़ियों के पास से हाथों के द्वारा दृढ़ता पूर्वक पकड़ ले और कन्द स्थान को प्रपीड़ित करे। फिर धीरे-धीरे वायु खींचते हुए कुहू और शखिनी नाड़ियों को अन्यान्य नाड़ियों

के सहित ऊपर की ओर ताने। ऐसा करने से गुह्य प्रदेश और नाभि प्रदेश का पीठ की ओर आकर्षण होता है। प्रारम्भ में यह अभ्यास १०-१५ सेकण्ड ही करना चाहिए और फिर धीरे-धीरे वायु को छोड़ते हुए नाड़ियों को भी ढीली छोड़ दे। यह क्रिया प्रातःकाल दोनों समय १०-२० बार तक कर सकते हैं और कुछ समय भी बढ़ा सकते हैं।

इसके अभ्यास से काम जनित विकारों का शमन और ऊर्ध्वरेतत्व (वीर्य को ऊपर आकर्षित करने) की शक्ति प्राप्त होती है। वृद्धावस्था में भी तरुणों के समान बल का वर्द्धन होता है। यह क्रिया वृद्धावस्था को रोकने और दीर्घ आयु प्राप्त कराने वाली है। वीर्य-रोगों के कारण उत्पन्न नपुंसकता आदि तथा असौन्दर्य का शमन होता है। इसका अभ्यास स्त्रियों के लिए भी अत्यन्त लाभकारी और सौन्दर्य-वृद्धि का कारण हो सकता है।

योग मुद्रा

वज्रासन से बैठकर कटि के पीछे दोनों हाथ लेजाकर पीठ पर लगावे और बाँये हाथ से दाँये हाथ को पकड़ ले। फिर आगे की ओर झुक कर मस्तक को धरती पर टेके और प्राणवायु का रेचन करे। इस प्रकार १०-१५ सेकेण्ड, वायु-रहित स्थिति में रह कर पुनः धीरे-धीरे वायु को ग्रहण करे। इसे अभ्यास बढ़ाने के लिए अनेक बार करना चाहिए।

यह मुद्रा योगाभ्यासियों के लिए अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में तो सहायक है ही, उदर-रोगों को दूर करने में भी समर्थ है। यकृत, प्लीहा आदि के विकार, अर्श, स्नायविक दुर्बलता आदि का भी इसके द्वारा शमन होता है।

नभोमुद्रा

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरोभूत्वाधारयेत्पवनं सदा अर्थात् ऊर्ध्व जिह्वा करके स्थिर हो और कुम्भक के द्वारा वायु को रोक ले। इस प्रकार इस मुद्रा

का कार्य जीभ को तालु की ओर प्रेरित करना है। साथ ही दृष्टि को भोंहों के मध्य स्थिर करने का भी विधान है। क्योंकि दृष्टि के इस प्रकार रहने से ही इस मुद्रा के अभ्यास में दृढ़ता आती है।

यद्यपि इस क्रिया में, प्रारम्भ में कुछ कठिनाई प्रतीत होती है। फिर भी अभ्यास से सिद्धि होजाती है। ऊपर की ओर लौटा कर जिह्वा को उसके मूल में स्थिर करने में सफलता मिल जाय, तब समझना चाहिए कि मुद्रा सिद्ध होगई। इससे जिह्वा, कण्ठ और नेत्र के अनेकों रोग स्वतः नष्ट होजाते हैं। शरीर की अन्य ग्रन्थियों पर भी इसका अनुकूल प्रभाव पड़ता है। गल-ग्रन्थियों के दूषण से उत्पन्न होने वाले विकार एवं कण्ठ-स्वर के भंग होने तथा कण्ठमूल आदि में भी इससे अभूतपूर्व लाभ होता है, कुछ विद्वान् इसे खेचरी मुद्रा का ही एक रूप मानते हैं, परन्तु यथार्थ में यह अपना पृथक् रूप रखती है।

———

प्राणायाम से रोगों का शमन

प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु की गति नियन्त्रित की जाती है। इसके शाब्दिक अर्थ हैं—श्वास की वृद्धि होना। इसके अभ्यास से साधक श्वास के लम्बे या धीमे करने में अभ्यस्त हो जाता है। योगीजन इस क्रिया को शरीर में जीवनी शक्ति का संचार करने वाली मानते हैं, जिससे कि शारीरिक और मानसिक दुर्बलता और वृद्धावस्था का अवरोध होकर बल एवं पौरुष की वृद्धि होती है।

वायु पांच प्रकार के और उपवायु भी इतने ही हैं। इनका पूर्ण परिचय पहिले ही दे चुके हैं। प्राणवायु ऊर्ध्वभाग में और अपान वायु अधो-

जैसे शिवः शक्तिः कामः इस श्लोक के भाष्य में आया है। परा रूपा कुण्डलिनी शक्ति है इसका स्पष्ट ज्ञान तभी हो सकता है जब साधक अपने अस्तित्व को देवी के रूप में लय कर सके। वाण शब्द से ब करतल से ल मथितुसे उ अस्तां से अनुस्वार इनके मिलाने से वशिनीका ब्लूं बीज बनता है। पुर मथितु और अहो पुरषिका शब्दों का योग इस बात का द्योतक है कि शिव शक्ति की उपासना एक साथ करना ध्येय है जैसा कि प्रथम श्लोक में वर्णन किया गया है। इस श्लोक का आध्यात्मिक भाव यह है कि शिव (प्रकाश) का रूप तभी भाषित होता है जब कि उनका प्रतिबिम्ब शक्ति पर पड़ता है अर्थात् जब देवी जी के संयोग (विमर्श) से द्योतित होता है।

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटी परिवृते।
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे॥
शिवाऽकारे, मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां।
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्॥ 8॥

भावार्थः-

अमृतमय समुद्र के मध्य कल्पवृक्षों के उपवन से घिरी हुई मणिद्वीप के बीच चिन्तामणि मन्दिर में शिवाकार पर्यकं पर परम शिव में निवास की हुई चिदानन्द समुद्ररूपिणि भगवती तुम्हारा जो भजन करते हैं वे साधक धन्य हैं अर्थात् मुक्त हैं।

विज्ञान भाष्य

भगवती के स्वरूप का वर्णन करने के अनन्तर अब भगवती के निवास स्थान का वर्ण करते हैंः- अमृत रूप समुद्र में कल्पवृक्षों के उपवन से वेष्टित नवरत्न जड़ित कदम्ब वृक्ष के समीप चिन्ता मणियों से खचित रत्नजड़ित स्तम्भादि पर निर्मित भवन में शिवाकार मंच पर अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-ईशान सदा शिव की मूर्तिरूप मञ्च में जहां पर परमशिव पर्यङ्क (पलंग) स्थित है ऐसी चिदानन्द लहरी विज्ञान सुखतरंगात्मिका तुम

को कतिचन कुछ अनेक जन्म तक सुधांशुजन (ज्ञानी) भजते हैं। विष्णु पक्षे तु गोपालों के सौन्दर्यातिशय कल्याणकारक मनोहर मंच में हे शिवे! कतिचय धन्य (पुण्यकाम) पुरुष ही तुम्हारा भजन करते हैं "भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन" संसार में अन्तर्याग और बहिर्याग द्वारा निरन्तर तुम्हारा पूजन करने वाले जन ही धन्य हैं। जिन्होंने अपने मन को तुम्हारे कमलरूपी चरणों में भ्रमर के समान मकरन्द ग्रहण करने के लिये अर्पित कर दिया है तथा निरन्तर पंचदशाक्षरी से तुम्हारे सूक्ष्म शरीर में लीन होकर परम स्थान को प्राप्त कर लिया है।

श्रीयन्त्र के मध्य में बहिर्याग द्वारा स्वर्णपत्र या स्फटिक निर्मित में पञ्चादि चतुः षष्ठिअ उपचारान्त से विषद चक्र (सहस्र दल) में अन्तर्याग द्वारा हृदय कमल में जो अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र है, जहां पर वाणलिङ्ग काकिनी शक्ति के साथ रहती है, वहां पर जो तुम्हारा ध्यान करते हैं वे धन्य हैं।

इसी अन्तः पुण्डरीक के दहराकाश के चारों ओर पुरीतति नाड़ी का जाल फैला है, जिसमें जन्मजन्मान्तर की वासनायें भरी हुई हैं, ये वासनायें तुम्हारे चित्तरूपी प्रकाश को प्राप्त कर निरन्तर घूमती हुई जाग्रदादि अवस्था जन्य सम्पूर्ण क्रियाओं को प्रकाशित करती है, जिस तरह का संस्कार सामने आता है उसी प्रकार अन्तः करण में भावनाये लहराती हैं इसलिए अन्तर्याग द्वारा महात्मा लोग तुम्हारे स्वरूप का ध्यान अन्तर्दहर में करते हैं जिससे तुम्हारा प्रतिबिम्ब पड़कर निरन्तर अन्तःकरण में तुम्हारा रूप प्रकाशित होकर भासित होता रहे। इस सारूप्य मुक्ति को बिरले ही प्राप्त कर सकते हैं। सहस्र दल जिसका वर्णन ऊपर आया है उसका महत्व कंकालमालिनी तन्त्र में इस प्रकार लिखा हैः-

सहस्रारः कर्णिकायां चन्द्रमण्डलमध्यगा।
सर्वसंङ्कल्प रहिता कला सप्तदशी भवेत्॥
उन्मनी नाम तस्या हि भवपाशनिकृन्तनी।
सहस्रारे महापद्मे शुक्लवर्णमधोमुखम्॥

अकारादिक्षकारान्तैः स्फुरद्वर्णैर्बिराजितम्।
तत् कर्णिकायां देवेशी अन्तरात्मा ततो गुरुः॥

सूर्यस्य मण्डलं तत्र चन्द्रमण्डलमेव च।
ततो वायुर्महानाम्न ब्रह्मरन्ध्रं ततः स्मृतम्॥

तस्मिन् रन्ध्रे विसर्गश्च नित्यानन्दं निरञ्जमन्।
तदूर्ध्वं शङ्खिनी देवी सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी॥

षट्चक्र निरूपण में सहस्रार स्वरूप में आया है।

तदूर्ध्वे शङ्खिन्या निवसति शिखरे शून्य देशे प्रकाशम्।
विसर्गाधः पद्मं दशशत दलं पूर्ण चन्द्राति शुभ्रम्॥

अधोवक्त्रं तरुण रविकला-कान्ति किञ्जल्क पुञ्जम्।
लकारार्धवर्णैः प्रविलसित-वपुः केवलानन्द रूपम्॥

सुधाधारासारं निरवधि विमुञ्चन्नतितराम्।
यतेः स्वात्मज्ञ नं दिशति भगवान् निर्मलमतेः॥

सहस्रार दल के ज्ञान का महत्त्य :-

इदं स्थानं ज्ञात्वा नियति निज चितो नरवरो।
न भूयात् संसारे पुनरपि न वद्धस्त्रिभुवने॥

समग्रा शक्तिः स्वान्नियममनसस्तस्य कृतिनः।
सदा कर्त्तुं हर्त्तुं खगतिरपि वाणी सुविमला॥

अर्थात् इस सहस्रदल स्थान को साङ्गोपाङ्ग जानने से नियत निज चित्त का ज्ञान उस मनुष्य को हो जाता है और चित्त स्थिर करने की शक्ति आ जाती है वह संसार के बन्धन को प्राप्त नहीं होता है। भागवत् में लिखा है:-

कर्माणि क्रियमाणैस्तु गुणैरात्मनिबन्धनैः।
तदस्य संस्मृतिर्बन्धः पारतन्त्रश्च तत् स्मृतम्॥

सतगुण-राजस गुणों से जो कर्म होते हैं उनको जो शरीर में मानता है; यही बन्धन का कारण है। गीता में कहा है :-

अश्वमेधशतेनापि ब्रह्महत्याशतेन च।
पुण्यपापैर्न लिप्यन्ते येषां ब्रह्माहृदिस्थितम्॥

जिनकी ब्रह्म में निष्ठा हो गयी है उनको पुण्य पाप नहीं लगते हैं। और भी भागवद्गीता में :-

नैवतस्य कृतेनार्थो: नाऽकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

अर्थात् ऐसे महात्मा के कर्म करने से कोई स्वर्गादि सुख नहीं होता और न करने से कोई नरकादि दुःख नहीं होता है। जिसका मन शिव तत्व ब्रह्म में लय हो गया है ऐसे पुरुष के प्रारब्द्ध संचित और क्रियमाण कोई भी कर्म बन्धन के हेतु नहीं होते हैं। यथा :- ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।

''सुधासिन्धोर्मध्ये'' राजयोग से मनकी स्थिति को और हठ योग द्वारा प्राण को पूरक से नीचे भर कर अपान को मूलाधार से ऊपर खींचकर कुण्डलिनी महाशक्ति को मणिपूर में प्रणायाम के परस्पर संयोग से उत्पन्न अग्नि द्वारा उद्बोधन करे सुषुम्णा मार्ग से हृदय दहर के समीप से आत्म स्वरूप को ग्रहण करते हुए आज्ञा चक्ररूप चन्द्रमण्डल में जो अमृतपिण्ड है जिसका अमृतबिन्दु नीचे गिरने से यह शरीर जीवित रहता है। जिसको ऊपर रोकने के लिए योगीजिन विपरीत करणीमुद्रा द्वारा ऊपर ही रोक कर अमृत प्राप्त करते है। यही वह श्रीचक्र का बिन्दु स्थान है जिसके भीतर सम्पूर्ण चक्र इस प्रकार अन्तर्निहित है।

सुर बिटपिवाटी परिवृते :- शरीर में मूलाधार चक्र से लेकर सहस्र दल पर्यन्त षटचक्रों को एक ही स्थान पर एकत्रित करने से 43 (तेंतालीस) त्रिकोणात्मक यन्त्र बन जाते है। वही 43 त्रिकोण ही कल्पवृक्षों का उपवन है। इसके बीच में त्रिकोण मूलाधार चक्र ही बिन्दुरूप कदम्ब वृक्ष युक्त मणिद्वीप अग्नि का स्थान प्रकाशमय) के मध्य में चिन्तामणि गृह है, इसमें चतुर्दल रूपी ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश यह मंच के चार पाये

हैं, जिसमें सदाशिवमय शव ही विस्तार रूप हैं। उसमें बैठी हुई हे भगवति! तुम्हारी वह क्वणत्कांची दामा वाला स्वरूप शोभित है। समस्त जगत पर जब योगी अपनी स्थिति हठयोग या राजयोग द्वारा कर लेता है तब वहां पर तुम्हारे स्वासोच्छ्वास रूप में उत्पन्न होने वाले वायु से अनाहतनाद जो अव्यह्मरूप में कानों के अन्दर सुनाई देता है, वही समाधि अवस्था में व्यक्त होकर ''एकोऽहं बहुस्याम'' कामनारूप बीज है। यथा- (कामना से कः कला से ई तुम्हारे द्वीप सूक्ष्म स्थान से ''ल'' को मिलाने से ''क्लीं'' की ध्वनि स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाती है।

''परम शिव पर्यंक'', यहां पर ''खं ब्रह्म'' महावाक्य से शिवविन्दुरूप परा शक्तिनाद इसके योग से ''शिवः शक्त्यायुक्तो'' प्रणव की उत्पत्ति हुई। यह प्रणव अ उ म विश्वतैंजस प्राज्ञः ब्रह्म, विष्णु, रुद्र। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-रज-सत्व-तम इन भेदों से सर्वात्मक हैं। अतः तुम तुरीय रूप में अर्धमात्रारूप सूक्ष्मा मन्त्राक्षर ध्वनिमयी ''अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः'' तथा अर्धमात्रा में वासनामयी हो। ''मनसैवेद-ज्ञातव्यं'' नेहनानास्ति किंचन'' अव्यवहार्यरूपा चितिः प्रज्ञानं ब्रह्म। तुम ही हो इस श्लोक में कामेश्वरी बीज ''क्लीं और महाप्रेत ''हसौः'' की ध्वनि द्योतित होती है।

भावनोपनिषद् में श्रीचक्र के संबंध में इस प्रकार वर्णन आया हैः-

आत्मानमखण्डमण्डलाकारामावृत्य सकलब्रह्माण्डमण्डलं त्वप्रकाशं ध्यायेत।

ॐ० श्री गुरुः सर्वकारणभूता शक्ति। तेन नवरन्ध्ररूपो देहः। नवशक्तिरूपं श्रीचक्रम्। बाराही पितृरूपा। कुरुकुल्ला बलिदेवता माता। पुरुषार्थाः सागराः। देहो नवरत्न द्वीपः। आधार नवकमुद्राः शक्तयः। त्वगादि सप्तधातुभिरनेकैः संयुक्ताः कल्पतरवः। तेजः कल्पकोद्यानम्। रसनया भाव्यमाना मधुराम्लतिक्तकटुकषाय लवण भेदाः षड़रसाः षड्ऋतवः क्रियाशक्तिः पीठम्। कुण्डलिनी ज्ञानशक्तिर्गृहम्। इच्छा शक्तिमहात्रिपुर सुन्दरी। ज्ञाता

होता ज्ञानमग्निः ज्ञेयं हविः। ज्ञातृज्ञान ज्ञेयानामभेदभावनं श्री चक्र पूजनम्। नियति सहिताः शृङ्गारदयो नवरसा अणिमादयः।

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यपुण्यपापमयाः ब्राह्माद्यष्टशक्तयः। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाश श्रोत्रत्वकचक्षुर्जिह्वाघ्राणवाक्पाणि पाद-पायुपस्थ मनोविकाराः षोडश शक्तयः। वचनादानगमनविसर्गानन्दहानोपेक्षा बुद्धयोऽनङ्गकुसुमादि शक्तयोऽष्टौ। अलम्बुसा कुहूविंश्वोदरी वरुणाहस्तिजिह्वा यशस्वत्यश्विनी गान्धारीपूषाशङ्खिनीसरस्वतीडापिङ्गलासुषुम्नाचेति चतुर्दश नाड्यः सर्वसंक्षोभिण्यादि चतुर्दशारगादेवताः।

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहम्।
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदिमरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथम्
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरते॥ 9॥

भावार्थ

हे भगवति! मूलाधार में तुम पृथ्वीरूप से हो मणिपुर (अन्य ग्रन्थों में इस दल को स्वाधिष्ठान कहा है) में जलरूप होकर रहती हो स्वाधिष्ठान (इसको अन्यत्र मणिपूरक कहा है) में अग्निरूप से हृदय में वायु की मूर्ति विशुद्ध में आकाशस्वरूपा भ्रूमध्य में मनोमयी शक्ति इस षट्चक्रात्मक कुल मार्ग को भेदन कर सहस्र दल में वैन्दवस्थान (जो गुप्तस्थान है) उसमें पति परम शिव के साथ तुम हृल्लेखा कुण्डलिनी स्वरूप से बिहार करती हो।

विज्ञान भाष्य

जगत् काञ्ची इस श्लोक में भगवती के स्थूल रूप का वर्णन किया गया है। सुधासिन्धोर्मध्ये सूक्ष्म मन्त्रात्मक विग्रह को कह कर महीं मूलाधारे इस श्लोक में भगवती की हृल्लेखा कुण्डलिनी के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार से किया है। मूलाधार पृथ्वी तत्व से लेकर विशुद्ध आकाशतत्व कुलमार्ग को भेदन कर आज्ञाचक्र में मनोमयी शक्ति सम्पन्ना राजयोग्यगम्या भगवती का सहस्रारचक्र में जो गुप्त स्थान है। जिसे

षटचक्र में ''सुगुप्तं तद्यत्नात्'' कहकर निर्देश किया है वहां पर सदाशिव में मिल जाती हो यही आरोह क्रम से मोक्ष सिद्धि है। योगशास्त्र का तात्पर्य कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार से जागृत कर सहस्रार में ले जाने का है। षट्रचक्रों में पृथ्वी आदि तत्व आये हैं जिस-जिस तत्व पर योगी विजय प्राप्त कर लेता है उस उसका ज्ञान उसे प्राप्त होता है। और जिस तत्व में मन को लीन कर देता है उसी-उसी वस्तु के भीतर होने वाले गुणों से सम्पन्न हो जाता है। तथा शरीर में योग शास्त्रोक्त भुवन भेदों में मन को स्थिर करने से उन-उन लोकों की स्थिति को जान लेता है।

मूलाधार पृथ्वी के सम्पूर्ण तत्वों से युक्त है, इसमें गन्ध तन्मात्रा है। यही मूल त्रिकोण श्री यन्त्र का प्रथम त्रिकोण है। यदि पृथ्वी तत्वात्मक मूलाधार में किसी का दोष आ जाता है। तब यह शरीर भी जो आधाराधेय भाव से मूलाधार पर स्थित है वह स्वयं भी निराधार होकर कार्य करने में असमर्थ हो जाता है। इसके भेदन का तात्पर्य यह है कि साधक अपान वायु के द्वारा इस चक्र के मध्य में बिन्दुरूप जीवनसत्ता शक्ति के ऊपर मन को हठ और राजयोग द्वारा स्थिर कर लेता है तब वह समाधि अवस्था द्वारा पृथ्वीतत्व में लीन होकर पृथ्वी के प्रत्येक भाग में सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से प्रविष्ट हो जाता है। यहां पर भगवद् पाद ने स्वाधिष्ठान की संज्ञा ही मणिपूर मानकर यह सिद्ध किया है कि पूर्ववत् मनोयोग से इस जल तत्वात्मक चक्र का भेदन करने से जल स्तम्भन आदि सिद्धियां प्राप्त हो जाती है। वही श्री यन्त्र का अष्टकोण है। यह चार दल मूलाधार के ऊपर जब षट् दल को रखा जाता है तब-तब आठ ही कोण बनते हैं। इसलिए इस स्थान पर अष्टकोण बनते हैं। जब योगी अपान वायु को ऊर्ध्वाकर्षण करते हुए नाभिस्थान-स्वाधिष्ठान में पहुंचता है उस समय प्राणापान के परस्पर संघर्ष से अग्नि उत्पन्न होती है। इसी को दशदलात्मक बह्निका (अग्नि का स्थान कहा है। इसमें मन को स्थिर करने से बह्नि जय स्थिति को प्राप्त कर लेता है। यह भी यन्त्र का अर्न्तदशार है। हृदय में नादात्मक वायु का स्थान है। इसकी तन्मात्रास्पर्श है। पूर्ववत् श्री यन्त्र का बहिर्दशार

बन जाता है। इसके ऊपर योगमार्ग से विजय पाने पर योगी वायु के समान गति प्राप्त कर लेता है।

विशुद्धचक्र कण्ठकूप में आकाश का स्थान है। चतुर्दशार श्री यन्त्र का यहां से प्रादुर्भाव होता है। इस स्थान पर विजय पाने से योगी आकाशगमन तथा लघिमा सिद्धि को प्राप्त करता है। यह सिद्धि अञ्जनीनन्दन हनुमान जी को प्राप्त थी, तुलसीदास जी ने लिखा है- ''मशक समान रूप कपि धरी, लङ्का चले सुमिरि नरहरी'' इस प्रकार षट्चक्र भेदन कर कुण्डलिनी शक्ति आज्ञाचक्र में चन्द्र स्थान पर पहुंचती है तब साधक को भगवती परचिती के स्वरूप की स्फुरणा होती है। जिसका ''सुधासिन्धो'' वाक्य से निरूपण किया गया है, तदनन्तर जीव चिच्छक्ति के साथ सहस्रार में जाता है जो अमा का स्थान है यह केवल योगी जन से ही गम्य हैः यहां पर वाणी की गति नहीं है, महामाया परब्रह्म के साथ एकरूपा होकर वहां पर विराजती हैं, इसी को ''परमानन्द लहरी'' कहकर निर्देश किया गया है। ''ॐ आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन'' ब्रह्मानन्द का अनुभव प्रणव का विलास यहां पर ही है इसी ही स्थान को वेद में ''नेति नेति'' कहा है ''न स पुनरावर्तते'' यहां पर जाकर फिर दुःख में नहीं आता है। (पुर्नजन्म नहीं होता) तत्र को मोहः कः शोकः इस स्थिति में जाकर मोह, शोक दूर हो जाते हैं, कुण्डलनी शक्ति यहां पर शिव तत्व में मिल जाती है इस भाव को ''सहरहसिपत्या विहरसे'' इससे दर्शाया है ब्रह्मरन्ध्र में कुडलनी के मिलने को सिद्ध सोपान में लिखा है- ''कुण्डलिन्या महीभेदे योगी त्यजति मेदिनीम् सलिलस्थानभेदेन जले चलति योगवित्'' इस प्रकरण को स्पष्ट करने के लिए जिस-जिस चक्र में जिन वर्णों का अधिष्ठान है वह सब विस्तार से दिखाते हैं। मनुष्य शरीर छ चक्रों से बना हुआ है जो श्रीचक्र के पृथक पृथक चक्र हैं जिनको आजकल के वैज्ञानिकों अन्वेषण करते करते थक बैठे हैंः परन्तु भारतीय ऋषियों ने अन्तर्मुख दृष्टि प्राप्त करके जिस चक्र की जहां स्थिति है उसका क्या रंग है और प्रत्येक चक्र में कहां कितने दल हैं? उन पर कौन-कौन अक्षर (Alpha-

bets) अ से क्ष तक प्राकृतिक रूप से विराजते हैं। इस विषय की उपयोगिता होने के कारण इसको विस्तार से स्पष्ट करते हैं :-

यथाः "आधारे लिंगनाभौ हृदयसरसिजे, तालुमूले ललाटे द्वे पत्रे षोडशारे द्विदशदशदले द्वादशार्धे चतुष्के बासान्तो बालमध्ये ड फ क ठ सहिते कण्ठदेशे स्वराणाम् हं क्षं तत्वार्थ युक्तं सकल दलगतं वर्णरूपं नमामि।

1- पार्थिव चक्र मूलाधार में चतुष्कोणात्मक चार कोने वाला पार्थिव चक्र हैं इसके कोणों में दक्षिणावर्त्त से (दाहिनी ओर) वं-शं-षं-सं ये 4 वर्ण हैं पीले रंग का कमल है; इस चक्र में जो पद्म हैं उसके चार दल (पत्ते) हैं उस पर उक्त 4 अक्षर हैं। और आठ त्रिशूल और सप्त कुलचक्र हैं। बीच में पृथ्वी बीज "लं" है। उस बीज के मध्य में सृष्टिकर्ता शिव ब्रह्म के रूप में विराजमान हैं, डाकिनी शक्ति यहां पर है और कन्दर्प नाम का वायु यहां पर रहता है। पृथ्वी में मध्याकर्षण शक्ति (Gravitation) अर्थात् प्रत्येक वस्तु को नीचे की ओर खींचने की शक्ति रहती है। अपान वायु का भी यही स्थान है। चन्द्रमा का शरीर में यही अधिष्ठान माना गया है। विश्वसार तन्त्र में इस प्रकार कहा है :-

मूलाधारे धराचक्रं चतुष्कोणप्रियंवदे।
पीतवर्णं परिवृत्तचाष्टशूलैः कुलाचलैः॥

सप्तकुलाचलों के नाम ये हैं :-

नीलाचंल मन्दरं च पर्वते चन्द्रशेखरम्।
हिमालयं सुवेशंञ्च सुपर्वतम्।

अर्थात नीलाचलादि सात पर्वत हैं। यहीं पर कामबीज "क्लीं" का स्थान एवं भगवती त्रिपुरा का स्थान भी यही है। उसका आकार कैसा है सो लिखा है। "त्रिकोणं तत्तु विज्ञेयं शक्तिपीठं मनोहरम्॥ वामा ज्येष्ठा तथा रौद्री त्रिरेखा च तदूर्ध्वतः॥ कन्ठ देशे वसेत्प्राणों ह्यपानो गुदमण्डले॥ कन्ठदेशे मे प्राण वायु और गुदा देश में अपान वायु रहता है।

प्राण का स्थान ही सूर्य का स्थान है। अर्थात तेजस का स्थान है जो सबको ऊपर की ओर आकर्षि करता है। अर्थात अपान प्राण को अपनी ओर खींचता है। पृथ्वी में Law of Gravitation होने से सब वस्तु को अपनी ओर खींचने की शक्ति है और सूर्य में तैजस तत्व होने से प्रत्येक पदार्थ को ऊपर की ओर खींचने की शक्ति है। इस प्रकार यहां विसम्वाद क्रिया आकर्षण Negative विकर्षण Positive दो प्रकार की विरुद्ध शक्तियां काम करती हैं। जब तक जीवन है अर्थात् जब तक अपान का नीचे खींचना प्राण का उर्ध्वाकर्षण रूपी विसंवाद रहता है तब तक जीवन है। जब दोनों में से एक की गति रुक जाती है तब ही मरण है। अर्थात् क्रिया शक्ति का नाश है। कहा भी हैः-

"श्वासोच्छवासविभञ्जनेन जगतां जीवो यया धार्यते। सामूलाम्बुज गह्वरेविलसति प्रोद्दामदीपावली" श्वास प्रश्वास के विभञ्जन से जो जीवन सत्ता को बनाती है वह कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में प्रकाश रूप में रहती है।

अब दूसरा आप्य चक्र है। सिन्दूर के सदृश लाल रंग है। सुषुम्ना के बीच ध्वज के मूल में ये छः 6) दलों वाला कमल है। जिन पर 6 अक्षर (वर्ण हैं। इसके मध्यम में "व" कार बीज है। उसका अधिष्ठाान देवता वरुण है। शरदकालीन चन्द्रमा के समान वरुण का शुद्ध वर्ण रंग) है। ग्रन्थी भेदन कर कुल मार्ग यहां से चलता है। इसके ऊपर अग्निचक्र नाभी मूल में दश दल का चक्र है उसे मणिपुर कहते हैं सौन्दर्य लहरी में मणिपुर का स्थान स्वाधिष्ठान के स्थान पर मणिपुर नाम लिखा है। केवल नाम मात्र का भेद है। सब प्रकार के चक्रों का वर्णन एक ही तरह पर है। इसमें दश दल हैं इन पर डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं ये वर्ण हैं। इसका मेघ के समान रंग हैं। इसके मध्य में अग्नि त्रिकोण है और "रं" बीज है। यहां लाकिनी शक्ति का वास है।

(4) वायव्य चक्र हृदय कमल में 12 द्वादश दलात्मक अनाहत चक्र है यहां पर वायु का वास है।

इस मण्डल का सिन्दूर के समान रङ्ग है। कं-खं-गं-घं-ङं-चं-छं-जं-झं-ञं-टं-ठं ये वर्ण 12 दलों में हैं। यहां काकिनी शक्ति और वाणलिङ्ग का स्थान है। विष्णुग्रन्थी का भेदन यहां पर होता है।

(5) आकाश चक्र कण्ठ में है। इसमें 16 स्वर षोडशस्वर अ से अः तक हैं। यही षोडश नित्या का स्थान है। यहां का रक्त वर्ण है। वृत्ताकार आकाश मण्डल के मध्य में "हं" आकाश का बीज है। शाकिनी शक्ति त्रिनेत्र सदाशिव के साथ रहती है। यही मोक्ष का द्वार है।

(6) मानसचक्र भ्रूमध्य में चन्द्रमा के समान शीतल प्रकाश है। हूं-क्षूं दो वर्ण हैं। हाकिनी शक्ति के साथ शिव विराजते हैं। यहीं पर मन सूक्ष्मरूप से रहता है। ब्रह्मज्ञान इसी स्थान से होता है। इसके ऊपर सहस्रार कमल वैन्दव स्थान कुण्डलिनी शक्ति यहां पर परम शिव के साथ रहती है। इसी को "सहरहसिपत्या विहरसि" से शिव के साथ बिहार करना कहा है।

हं-चतुर्दसार- य-वहिर्दसार- वं-अन्तदसार-

विशुद्धि अनाहत मणिपुर

रं-अष्टकोण लं-त्रिकोण

स्वाधिष्ठान मूलाधार

सुधाऽऽधारासारैश्चरणयुगलान्तविगलितैः।
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसः।
अवाप्य स्वांभूमिं भुजगनिभमध्याष्टवलयं।
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणी॥ 10॥

भावार्थ

चरणकमल (भ्रूमध्य द्विदल) से निसृत अमृत की धारसार में (षट्चक्ररूपी) प्रपञ्च को सिञ्चन करती हुई रसरूपी जो आम्नाय के प्रकाश से अपने मूलाधार भूमि को (अवरोह मार्ग से) प्राप्तकर अपने सर्पाकार (सार्द्ध

त्रिवलय) करके कुलकुण्ड में शयन करती है। अर्थात् सुषुम्ना के अन्दर बज्रानाड़ी के भीतर छिप जाती है।

विज्ञान भाष्य

पहले श्लोक में मूलाधार जो अग्निशिखा का स्थान है वहां से कुलकुन्डलिनी को षट्चक्र भेदन द्वारा सहस्रार में परम शिव के संयोग द्वारा माया ब्रह्म की एकता कही है। यही मोक्षावस्था है। योगी निरन्तर इसी अवस्था से जीवनामुक्त स्थिति और अणिमा लघिमादि सिद्धियां प्राप्त करता है। परन्तु यावच्छरीर में यह स्थिति नहीं रहती। यदि यह स्थिति बनी रहे तो संसारिक प्रपञ्च लीन हो जाते हैं। अतः यह हल्लेखा जीवन-शक्ति कुण्डलिनी प्रत्येक क्षण में विद्युत् गति के समान तीव्रगति से फिर अपने स्थान पर लौट कर इस शरीर को जीवन प्रदान करती है। इसलिये अब वह महाशक्ति अपनी मूल भूमि का किस प्रकार सञ्चार करती रहती है। इस बात को सुधा धारेत्यादि पद से प्रकट किया है। "अवाप्य स्वां भूमिं"- कुलकुण्डलिनी अपने स्थान को प्राप्तकर आत्मभाव होने से निर्वाण स्थिति में साधक को पहुंचा देती है। इसलिए पहले कुन्डलिनी का स्वरूप और उसकी सहस्रार में जाने की गति और ग्रन्थियों का भेदन जानकर कुल कुन्डा में कुहरिणी का प्रवेश जाना जाता है। यथा मेरुतन्त्र में-

पण्णनवत्सङ्गुलायामं शरीरमुभयात्मकम्।
गुद ध्वजान्तरे कन्दमुत्सेधो द्व्यगुलंविदुः॥

तस्माद् द्विगुणविस्तारं वृत्तरूपेण शोभितम्।
नाड्यस्तत्र समुद्भूताः मुख्या तिस्रःप्रकीर्तिताः॥

ईडा वामेस्थिताः नाडीपिंगलादक्षिणेस्थिता।
तयोर्मध्यगता नाडी सुषुम्णा वेशमस्थिताः।

पादांगुष्ठद्वये याता शिफाभ्यां शिरसा पुनः।
ब्रह्मस्थानं समापन्ना सोमसूर्याग्निरूपिणी ॥

प्रत्येक पुरुष का अपने अंगुल से 96 अंगुल लम्बा शरीर होता है। गुदा और लिंग के मध्य से 2 अंगुल के अन्तर पर कन्द स्थान है, उससे द्विगुण अर्थात् 4 अंगुल के विस्तार का एक वृत्त बना है, यहां से नाडी शिरा और धमनियां उत्पन्न होता है। इनमें मुख्य नाडी तीन हैं।

मेरु दण्ड के वाम भाग में ईडा (चन्द्रनाड़ी) दक्षिण भाग में पिंगला (सूर्यनाडी) दोनों के मध्य मेरुदण्ड के भीतर सुषुम्णा है, यथा- "मध्ये नाडी सुपुम्णा त्रिनवगुणमयी" सूर्य, चन्द्र, अग्नि तीनों गुणों वाली है। "विद्धिते धनुराकारे नाडीडा पिगलेपरे" सुषम्ना नाडी के मध्य में वज्रा उसके बीच में चित्रणी चित्रा के मध्य में ब्रह्मनाडी, ईडा, पिंगला, धनुष के आकार की तरह मुड़ी हुई है। यथा-

मध्ये सुषुम्णाना तन्मध्ये बज्राख्यालिंगमूलतः।
तन्मध्ये चित्रिणी सूक्ष्मा विशतन्तुसहोदरा॥

मूलमूलात्सहस्रारस्तदंतर्ब्रह्मनाडिका।

तथा-

तस्या मध्ये विचित्राख्या अमृतश्राविणी शुभा।
सर्वतेजोमयी सातु योगीनां हृदयंगमा॥

अर्थात् सुपुम्णा के मध्य में बज्रानाड़ी उसके मध्य में चित्रा के छिद्र को ही ब्रह्मनाडी कहते हैं, योगी इसी में आनन्द करते हैं इसे प्रणव विलासिता" भी कहते हैं, ओंकार की ध्वनि से यह जागृत होती है। मायातन्त्र में इसके स्वरूप का वर्णन आया है- "ब्रह्मद्वार मुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति" अपने मुख से ब्रह्मद्वार को ढक कर यह कुण्डलिनी रहती है। षट्चक्र निरुपण में कहा है-

विद्वन्माला विलासा मुनिमनसि लसत् तन्तुरूपा सुसूक्ष्मा,
शुद्धज्ञान प्रबोधा सकल सुखमयी शुद्धबोध स्वभावा॥

ब्रह्म द्वारं तदास्ये प्रविलसति सुधा धार गम्यं प्रदेशं।
ग्रन्थीस्थानं तदेतत् वदनमिति सुषुम्णाख्यनाड्यांलपन्ति॥

स्योर्द्धे विशतन्तु सोदरकला सूक्ष्मा जगन्मोहिनी।
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं संछादयन्ती स्वयम्॥
शंखावर्तनिभा नवीन चपला माला विलासास्पदाम्।
सुप्ता सर्पसमा शिवोपरि लसत् सार्द्धत्रिवृत्ताकृति॥

उक्त श्लोकों में कुन्डलिनी का स्वरूप बताया है। सूक्ष्म कमल के रेशे के समान यह शिरा है सारा संसार इसी के कारण मोह-निद्रा में पड़ा है। यह कुण्डलिनी ब्रह्मद्वारा को अपने मुख से ढके हुई सहस्रार वैन्दव स्थान से जो अमृत निकलता है वह सब कुण्डलिनी के ही मुख में चला जाता है, इस नाड़ी का स्वरूप शङ्ख के आवर्त की तरह घूमा हुआ है, यह बिजली की तरह चमक देती है, मूलाधार में जो शिवलिंग है उसमें साढ़े तीन फेरे लगा कर सर्पिणी के समान सोती सी रहती है।

''भित्वा लिंगत्रयं तत् परमशिवपदे सूक्ष्मधाम्नि प्रदीपे। सा देवी शुद्धसत्वा तड़िदिव विलसत् तन्तुरूपा सुसूक्ष्मा'' मूलाधार अनाहत विशुद्ध में तीन शिवलिंगों को पारकर परम शिव सहस्रार में विद्युत चमक वाली अतिसूक्ष्म कुण्डलिनी को ले जाना यही परम शिव पर्यंक में शयन करना है।) यह रहस्यमय स्थान है।

यद्यपि कुण्डलिनी को जागृत कराने की विधि योगशास्त्र में लिखी है। पर यह गुरुगम्य है केवल पुस्तकों के अध्ययन से इसका ज्ञान हो जाना सम्भव नहीं है यह आनुभविक विज्ञान है इसके लिए ''गुरुपदेशतोगम्यं नतु शास्त्रार्थ कोटिभिः'' यह गुरुगम्य है तथापि यम नियमासनादि सम्पन्न साधन चतुष्टयावान् मुमुक्षु के लिए इसकी रूपरेखा संक्षेप से लिख रहे हैं इष्ट देव भगवती की पूर्ण भक्ति से इसका प्रकाश होता है। वस्तुतः भगवती के उपासक को किसी न किसी रूप में गुरु मिल ही जाते हैं, कुण्डलिनी के उत्थान की विधि भिन्न प्रकार हैः-

''पद्मासने निविश्यांते ततः पाणिद्वयं न्यसेत्।
ततः हंसमुपश्रृत्य शनैः संकोचयेत् गुदम्॥

वायुमुत्तोलयेत्तोन वर्त्मना स पुनः पुनः।
उत्तोल्य भेदयेच्चक्रं तस्यानुष्ठानमुच्यते॥

मूलाधारसरोजेतु त्रिकोणमणिसुन्दरम्।
कामो भवति तन्मध्ये बालार्ककोटिसन्निभः॥

तर्ध्वे कुण्डली शक्तिः स्वयम्भूलिंगवेष्टिता।
हृदिस्थां कुञ्चिकां कृत्वा गत्वा तदुदरे शिवे॥

कण्ठाधं समनुप्राप्य द्वारं कुञ्चिकयाहवत्।
उद्घाट्य परमेशानीं पवने नप्रदीपयेत्॥

हुताशनप्रतप्तांतु तापेन धृषमूर्द्धजाम्।
प्रसुप्तां नागिनीं लिंगे योनिवक्त्रे प्रबोधयेत्॥

ततः प्रक्षालयेद्वायुं यावन्नाऽड्यन्तरेषु च।
गुरूपदिष्टमार्गेण सकृद्वा कुम्भकेन च॥

आक्रम्यैनं ततो जीवं सुगुप्तेन यथाभृशम्।
उदूर्ध्वच्छ्वासैरूर्ध्वमुखात् कारयेत्पङ्कजान् शिवे॥
प्रबोधयेत् शनैः वायुं मेरुश्रृंगं नयेत्सुधीः॥

उक्त श्लोकों का तात्पर्य यह है यमनियमासन सम्पन्न अधिकारी भस्त्रिका को सिद्ध किया हुआ पद्मासन में बैठकर दोनों हथेलियों को अपने दोनों जङ्घाओं पर रखकर "हंस" हकार सकार से वायु की वाह्य अन्तर्गति स्थगित कर शनैः शनैः गुदा को आकुञ्चन करके (सिकोड़कर) वायु को ऊपर की ओर पूरक की सिद्धि से उछालने से ऊपर के पांच चक्रों को भेदन करे मूलाधार त्रिकोण में कामबीज आगे बालसूर्य की तरह चमक वाला है उसके ऊपर स्वयम्भूलिंग में सर्पाकार कुण्डलिनी शक्ति है, हृदयपत्र में विष्णुग्रन्थि का भेदन कर विशुद्ध में हठयोग के नियमानुसार ले जावे कुण्डलिनी को जगाकर कुम्भक को अग्नि से उसे उत्तपन कर अवरोह मार्ग से योनिस्थान में लावे तब नाड़ियों को वायु से शुद्ध कर देवे तब उर्द्धश्वास को खींचकर षट् कमलो के विकास करने से शनैः शनैः

कुण्डलिनी को जागृत करे यह अनुभव सिद्ध गुरु से जानने योग्य है। तथाच,

हूंकारेणैव देवीं यमनियमसमभ्यासशीलः सुशीलो।
ज्ञात्वा श्रीनाथवक्त्रात् क्रममिति च महामोक्षवर्त्मप्रकाशम्

ब्रह्म द्वारस्य मध्ये विरचयति सतां शुद्धवृद्धिस्वभावं
भित्वा लिंगत्रयं तत् पवनदहनयो सक्रमेणैव गुप्तम्।

हूंकार शब्द से कुण्डलिनी को जागृत करके पवनदहन कुम्भक पूरक के योग से मोक्षद्वार को उद्घाटन करे अर्थात् मूलाधार जो कफ का स्थान है उसे कुम्भक की अग्नि से प्रतप्त कर हूं हूं हूं इस शब्द से जिस भाव का संकेत किया जाता है उस क्रिया से कुण्डलिनी को वहां से चालन करके स्वयम्भूलिंग (मूलाधार में) बाणलिंग (अनाहत में) इतर लिंग (विशुद्ध में) इन तीन लिंगों के भीतर छिद्र से उस कुण्डलिनी को जगाकर अर्थात् तीन ग्रन्थियों को भेदर कर परम शिव में (सहस्रार में) कुण्डलिनी को पहुंचाना आरोह और पुनः अवरोह मार्ग से कुण्डलिनी को यथास्थान में लाना सहस्रार से जो अमृत श्रावित होकर आज्ञारूपी भगवती के चरणों के द्वारा सारे षट्चक्रात्मक देहरूपी प्रपंच को सिंचन करती हुई ज्योतिरूप आम्नाय को सहसा प्राप्त कर कुण्डलिनी अपने स्थान को प्राप्त करती है। इस श्लोक में आम्नाय पद से शङ्कर के पंचमुखों से निकले हुए पंचाम्नाय से तात्पर्य है यथा- ''पूर्व दक्षिण पाश्चात्यै सदनूर्द्ध क्रमेण च। पंचवक्त्रे शिवप्रोक्ताः पंचमाम्नाय देवताः'' शिवजी के पञ्चमुखों से पञ्चम्नाय निकले हैं। (1) पूर्वाम्नाय जिसमें उन्मनी विद्या है 'ह स्त्रीं ह्रीं श्रीं क ल ह्रीं'' (2) दक्षिणाम्नाय जिसमें भोगिनी विद्या है ऐं क्लिन्ने मदद्रवेत् हसौः (3) पश्चिमाम्नाय जिसमें कुब्जिका विद्या ऐं ह्रीं श्रीं हस फ्रें ह सौः ओं हैं (4) उत्तराम्नाय कलिका विद्या एवं फ्रें महाचंड योगीश्वरी (5) ऊर्ध्वाम्नाय जिसमें परा प्रसाद मन्त्र है प्रपञ्च शब्द से देह और सारी सृष्टि का अर्थ है। यथा-

''योगी च ब्रह्मवित्ज्ञानी शिवयोगी तथात्मवित्।
तेनैव विहितं सर्वं प्रपञ्चात्मैक्य विग्रहम्॥

देह इन्द्रियादि कालादि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रपञ्चात्मक है शास्त्र में प्रपञ्चन्यास सविस्तार वर्णित है। आकाशादि मानसादि स्थानों को जो स्तम्भरूप है तथा क्रम से नीचे के चक्रों को अपने प्रकाश से सिञ्चित करती हुई सार्ध त्रिवृत्ता बनकर कुल कुण्डलिनी कुलकुण्ड चतुर्दल मध्यवर्ती मूलाधार गर्त में निवास करती है। स्वपिषि से उस सुसुप्तिका निर्देष है जो माण्डूक्य उपनिषद् में "सुसुप्ति स्थानं एकीभूत प्रज्ञानघन आनन्दमयो ह्यानन्दभुक्" से वर्णित किया है। उस आनन्दावस्था में विलास करती है। इस प्रकार कुण्डलिनी मूलाधार से सहस्रार में सहस्रार से मूलाधार में आरोह अवरोह मार्ग से चलती हुई सारे प्रपञ्च को जीवित करती है। अर्थात् ब्रह्मरंध्र अकुल स्थान से अमृत पान कर कुल रूप अपने स्थान पर लौटती है। पुनः अमृत पान के लिए कुलस्थान मूलाधार से ब्रह्मरंध्र में प्रवेश कर आनन्दित होती है जब कुण्डलिनी परम शिव सहस्रार में जाती है उस समय 6 चक्र इसी में लीन हो जाते हैं। फिर अमृत के प्रभाव से नीचे उतरते सब तत्व तथा चक्र यथावत् हो जाते हैं, यह संसार का उदय प्रलय है यह उत्पत्ति प्रलय क्रिया अति शीघ्र होती रहती है जो संसार की दृष्टि से मालूम नहीं होता है। दिव्यदृष्टिगम्य यह ज्ञान है "दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य में योगमैश्वरम्" योग का चमत्कार दिव्यदृष्टि द्वारा दिखाई देता है। तब योग विभूति दिखाने को अर्जुन को भगवान ने दिव्य चक्षु दिये थे। सामयिक लोग भगवान के भाल में जो चन्द्र है उसी को अमृतपिण्ड मानते हैं आज्ञाचक्र निसृत पीयूष को परम रस कहते हैं चन्द्रमा षोडश नित्या है, ये सब अमृतमय हैं यह पीयूष प्रवाह भगवती के चरणों से स्पन्दित होकर नीचे को प्रवाहित होता है। साढ़े तीन कोटि नाड़ियों को तथा वागादि देवताओं को और साधिभौतिक सम्पूर्ण संसार को जीवित करती है।

(यह कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्णाना के मध्य देश से विद्युत छटा की तरह षट्चक्रों को संजीवन करती हुई ब्रह्मरंध्र में पहुंचती है। नाभि में विष्णुग्रन्थी हृदय में ब्रह्मग्रन्थी को भेदन कर सहस्रार में प्रवेश करती है।

यही कुलकुण्डलिनी के जागरण का संक्षेप में निर्देष है।) गुरु उपदेश द्वारा मुमुक्षु जन इस ज्ञान को प्राप्त कर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं यही भगवती का पूजन आदि उच्च उपासना है।

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि।
प्रभिन्नाभिः शम्भोनवभिरपि मूलप्रकृतिभिः
त्रयश्चत्वारिंशद् वसुदलकलाश्रत्रिवलय-
त्रिरेखाभिःसार्धं तवशरण कोणाः परिणतः॥11॥

भावार्थ

चार त्रिकोण श्रीकण्ठ और पांच शिवयुवति ये नवकोण नौ मूल प्रकृति से 43 कोण जिसमें अष्टदल और षोडशदल त्रिवृत्त तीन रेखाओं से श्री यन्त्र के कोण परिणत हुए।

विज्ञान भाष्य

इस श्लोक में श्रीचक्र का वर्णन आया है यह श्रीचक्र नौ मूल प्रकृति का द्योतक है, इसमें ऊपर के चार त्रिकोण शितिकण्ठ कहे जाते हैं। नीचे के पांच त्रिकोण शिवयुवति हैं अर्थात् चार ऊपर से नीचे की ओर, पांच नीचे से ऊपर के त्रिकोण हैं, मध्य बिन्दू से ये पृथक हैं परन्तु अष्ट दल षोडशदल तीन वृत्त तीन भूपुर सब मिलाकर तैंतालीस कोण होते हैं। ये तैंतालीस भगवति के भुवन कोण हैं, इसमें मूल त्रिकोण की गणना नहीं की गई है यह सृष्टी क्रम द्वारा गणना मूल त्रिकोण छोड़कर तैंतालीस त्रिकोण बताये हैं। नौ मूल प्रकृति इस चक्र की मूल भूमिकाएं हैं इनको ही नवयोनी कहते हैं, अर्थात नौ, धातुओं का सूचक है। यथा-

त्वक्, असृक्, मांस, मेदा, अस्थि, ये पांचशक्ति मूलक माता की धातू हैं। प्राण, मज्जा, शुक्र, जीव, ये चार धातू श्रीकण्ठ पिता के अंग से आती हैं।

इनके अतिरिक्त पञ्च भूत, पञ्च तन्मात्रा, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन, माया, शुद्धविद्या महेश्वर (सदाशिव) ये शिव तत्व से बने हैं, इससे

अथ तृतीयोपदेशः

अथ मुदाप्रकरणम्

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी ॥ १ ॥

मुद्राओं के प्रकार बताते हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान मुद्रा, जलंधर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेंचरी (ये सब आठ मुद्रायें हैं) ॥ १ ॥

विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालनी ।
ताडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पंचधारणा ॥ २ ॥

विपरीतकरी, योनि, वज्राणी, शक्तिधारिणी, तड़ागी, मांडवी, शांभवी, धारणा[1] (यहाँ तक सोलह मुद्रायें हुई) ॥ २ ॥

अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी ।
पञ्चविंशति मुद्राणि सिद्धदानीह योगिनाम् ॥ ३ ॥

(पुनः सोलह के बाद) अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी, भुजंगिनी, ये कुल २५ मुद्रा कही जाती हैं, ये योगियों के लिये सिद्धिदात्री हैं ॥ ३ ॥

मुद्राणां फलम्

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव सन्निधौ ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥ ४ ॥

(भगवान शिव पार्वती से कहते हैं—) हे देवी ! मैंने तुम्हारे सम्मुख मुद्राओं का यह वृत्त कहा है, जिसके जानने से सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त हो जाती हैं ॥ ४ ॥

---

१. धारणा मुद्रा पाँच प्रकार की है जैसे—पार्थिवी, आरम्भसी, वैश्वानरी, वायवी, नभा ।

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
प्रीतिदं योगिनाञ्चैव दुर्लभं मरुतामपि ॥ ५ ॥

ये मुद्रायें गोपनीय हैं, जिस किसी योग्य-अयोग्य को ये देय नहीं हैं। योगियों के लिये प्रातिदायक तथा देवताओं के लिये भी ये दुर्लभ हैं ॥ ५ ॥

(समीक्षा गोपनीय, अदेय, दुर्लभ आदि कहने के पीछे विशेष बात यह है कि हर कोई इन्हें कर ही नहीं सकता है । यदि सीख भी ले तो वह बिना नियम और व्यवस्था के और इन्हें या अज्ञानवश पवित्रता और समयादि के बिना करके इनसे लाभ की बजाय हानि ही उठायेंगे । अतएव अपात्र को ये मुद्रायें अदेय हैं । अनेक मुद्राओं की साधना भी कठिन है, जिन्हें देवसदृश जन भी करने में नियम का ध्यान नहीं रख पाते हैं । अत: मात्र योगीजन ही इन्हें कर पाते हैं, यह भाव है)

महामुद्राविधि:

पायुमूलं वामगुल्फे सम्पीड्य दृढयत्नतः ।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदाङ्गुलः ॥ ६ ॥

(अब सर्वप्रथम महामुद्रा की विधि बताते हैं—) मलद्वार को वाम एड़ी पर दृढ़ता के साथ दबाकर दायें पैर को फैलाकर हाथ से पैर की अंगुली को धारण करें ॥ ६ ॥

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् कण्ठ का संकोचन (सिकोड़) करके भ्रुवों के मध्य में देखना चाहिये । यह विद्वानों के द्वारा महामुद्रा के नाम से अभिहित की जाती है ॥ ७ ॥

महामुद्राफलम्

क्षयकासं गुदावर्त्तं प्लीहाजीर्णज्वरं तथा ।
नाशयेत्सर्वरोगांश्च महामुद्रा च साधनात् ॥ ८ ॥

(महामुद्रा का फल बताते हैं—) इस महामुद्रा के अत्यधिक सेवन से क्षयज खाँसी, गुदावर्त (गुदा के फोड़े) तापतिल्ली, जीर्णज्वर, तथा अन्य सब रोग नष्ट होते हैं ॥ ८ ॥

नभोमुद्रा

यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत् पवनं सदा ।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥ ९ ॥

(अब नभोमुद्रा की विधि बताते हैं—) जहाँ-जहाँ भी योगी किसी कार्य में स्थित हो, तब तब सदैव ऊपर की ओर जिह्वा से स्थित होकर वायु को धारण करे । योगियों के रोगों का नाश करने वाली यह नभोमुद्रा होती है ॥ ९ ॥

उड्डीयानवन्धः

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ १० ॥

(अब उड्डीयान बंध की विधि बताते हैं—) उदर में नाभि के ऊर्ध्वभाग को पश्चिम तान (द्वार) को समान रूप से सिकोड़ना चाहिये । अर्थात् मध्यस्थ नाड़ीचक्र को सिकोड़कर उठाये । इसी को उड्डीयान बन्ध कहते हैं, गजरुप मृत्यु के लिये साक्षात् सिहँ यही उड्डीयान बंध होता है ॥ १० ॥

उड्डीयानबन्धफलम्

समग्राद्बन्धनादेतदुड्डीयानं विशिष्यते ।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ११ ॥

समस्त मुद्राबंधो में उड्डीयान बंध विशिष्ट माना जाता है । इस उड्डीयान बंध के साधन से स्वयं ही मुक्ति होती है ॥ ११ ॥

जालन्धरबन्धः

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदयेन्यसेत् ।
जालन्धर कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम् ।
जालन्धरमहामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ॥ १२ ॥

(अब जालंधर बंध का लक्षण करते हैं—) कण्ठ का संकोचन करके ठोड़ी को हृदय पर रखना चाहिये । इसी जालंधर बंध के करने से सोलह प्रकार का आधार बंध होता है । जालंधर महामुद्रा मृत्यु का भी क्षय करने वाली है ॥ १२ ॥

जालन्धरबन्धफलम्

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम् ।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः ॥ १३ ॥

(जालन्धरबन्ध का फल बताते हैं—) सिद्ध हुआ जालंधर बंध योगियों को सिद्धिदायक है । छह मास तक जो अभ्यास करता है, वह सिद्ध हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १३ ॥

मूलबन्धविधिः

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः ।
नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ॥ १४ ॥

(मूलबंध की विधि बताते हैं—) वाम पैर की एड़ी से गुह्यस्थान

(योनिस्थान) का आकुंचन करे, पुनः नाभिग्रन्थी को मेरुदण्ड से यत्नपूर्वक दबाये ।। १४ ।।

मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत् ।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ।। १५ ।।

पुनः लिङ्ग को दायीं एड़ी से दृढ़ता से दबाये, यह जरा की विनाशक मुद्रा मूलबंध कही जाती है ।। १५ ।।

मूलबन्धफलम्

संसारसमुद्रं तर्त्तुमभिलषति यः पुमान् ।
विरलेसुगुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत् ।। १६ ।।

(अब मूलबन्ध का फल बताते हैं—) संसार सागर से पार होने की जो जन इच्छा करता है, वह एकांत स्थान में इस मुद्रा में स्थितमन होकर अभ्यास करें ।। १६ ।।

अभ्यासाद्बन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ।
साधयेद् यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः ।। १७ ।।

इस बंध के अभ्यास से अवश्य ही वायु की सिद्धि होती है । अतः निरालस्य होकर यत्नपूर्वक इसकी साधना करनी चाहिये ।। १७ ।।

महाबन्धविधिः

वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत् ।
दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः ।। १८ ।।

बायें पैर की एड़ी से पायुमूल का निरोध करना चाहिये तथा योगीजन को दायें पैर से बायीं एड़ी को प्रयत्नपूर्वक दबाना चाहिये ।। १८ ।।

शनैः शनैश्चालयेत् पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छनः ।
जालन्धरे धारयेत् प्राणं महाबन्धो निगद्यते ।। १९ ।।

इसके बाद शनैः-शनैः गुह्यस्थान का चाल न करें—चलायें और आकुञ्चन या सिकोड़ने की क्रिया करें। तथा प्राणवायु जालन्धर में धारण करें। यही महाबन्ध कहलाता है ॥ १९ ॥

महाबन्धस्यफलम्

महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशनः ।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम् ॥ २० ॥

(अब महाबंध का फल बताते हैं—) जरा और मरण को दूर करने वाली महाबंध नामक यह मुद्रा सबसे श्रेष्ठ बंध है। इसके प्रसाद से सब इच्छाओं को साधना चाहिये ॥ २० ॥

महावेधविधिः

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा ॥ २१ ॥

(महावेध की विधि बताते हैं—) जिस प्रकार पुरुष के बिना नारी का रूप, यौवन और सुन्दरता (निरर्थक है), उसी प्रकार महावेध मुद्रा के बिना मूलबन्ध और महाबंध होते हैं ॥ २१ ॥

महाबन्धं समासाद्य उड्डानकुम्भकं चरेत् ।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ॥ २२ ॥

प्रथम महाबंध मुद्रा को करे, पुनः उड्डीयान बंध मुद्रा द्वारा कुंभक प्राणायाम को करना चाहिये। इस प्रकार यही महाबंध मुद्रा कही जाती है, जो योगियों को सिद्धिदायक है ॥ २२ ॥

महावेधफलम्

महाबन्धमूलबन्धौ महावेध समन्वितौ ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः ॥ २३ ॥

(अब इसका फल बताते हैं—) महाबंध और मूलबंध के सहित महावेध मुद्रा को योग को जो प्रतिदिन करता है, वह योगी योगज्ञानी है ॥ २३ ॥

न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोयं योगिपुङ्गवैः ॥ २४ ॥

वह न मृत्यु से भय करता है और न उसे जरा आती है। अत: योगी विशिष्टों द्वारा यह महावेधमुद्रा गोपनीय मानी गयी है ॥ २४ ॥

खेचरीमुद्रा

जिह्वाधो नाडीं सञ्छिन्नां रसनां चालयेत् सदा ।
दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत् ॥ २५ ॥

(अब खेचरी मुद्रा की विधि बताते हैं—) जिह्वा के नीचे की नाड़ी को छिन्न करके रसना को सदैव चलाना चाहिये। जिह्वा को मक्खन से दुहा करना चाहिये और लौहयन्त्र से खींचना चाहिये ॥ २५ ॥

एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।
यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तदागच्छति खेचरी ॥ २६ ॥

इस प्रकार नित्य अभ्यास से जिह्वा लम्बी हो जाती है। जब वह भ्रुवों के मध्य में पहुँच जाये तो खेचरी की ओर ले जाती है ॥ २६ ॥

रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ २७ ॥

पुन: जिह्वा को तालु के मध्य में शनैः शनैः प्रवेश कराना चाहिये। जिह्वा को कपाल गुहर (तालु के मध्यस्थ गड्ढ़े) में उल्टी करके प्रविष्ट करके भ्रुवों के मध्य में दृष्टि को स्थित करे, यही खेचरी मुद्रा होती है ॥ २७ ॥

खेचरीमुद्राफलम्

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते ।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते ॥ २८ ॥

खेचरी मुद्रा का फल बताते हैं—इस मुद्रा से न तो मूर्च्छा, न क्षुक्षा, न तृष्णा, न आलस्य ही उत्पन्न होता है । और न रोग, न जरा, न मृत्यु ही होती है । अपितु शरीर देवता जैसा हो जाता है ॥ २८ ॥

नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः ।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः ॥ २९ ॥

शरीर को न अग्नि जला पाती है, न पवन सुखा पाती है, न जल गला पाता है और न सर्प डस सकता है ॥ २९ ॥

लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम् ।
कपालवक्त्र संयोगे रसना रसमाप्नुयात् ॥ ३० ॥

शरीर में सुन्दरता आ जाती है, और निश्चय ही समाधि सिद्ध होती है । कपाल और मुख के संयोग होने पर रसना के रसों की प्राप्ति हो जाती है ॥ ३० ॥

नाना रस समुद्भूतमानन्दं च दिने दिने ।
आदौ लवणक्षारं च ततस्तिक्तं कषायकम् ॥ ३१ ॥

अनेक प्रकार के रसों का दिन-दिन अद्भुत आनंद प्राप्त होता है । प्रांरभ में लवण, क्षार का और तिक्त (तीखे) और कषाय का रसानुभव होता है ॥ ३१ ॥

नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च ।
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम् ॥ ३२ ॥

तदुपरान्त नवनीत (मक्खन), घृत, दुग्ध, दही, मधु, द्राक्षा, और अमृत जैसे रसों की उत्पत्ति हो जाती है ॥ ३२ ॥

विपरीतकरणीमुद्रा

नाभिमूलेवसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः ।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ।। ३३ ।।

(अब विपरीतकरी मुद्रा विधि बताते हैं—) नाभि के मूल में सूर्य बसते हैं और तालु के मूल में चन्द्रमा । जब सूर्य अमृत को ग्रस लेता है, तब नर मृत्यु के वश होता है ।। ३३ ।।

(समीक्षा—(सूर्य नाभि में स्थित है तथा अमृत सहस्रारचक्र में (ब्रह्मरंध्र में) है । सूर्य द्वारा अमृतपान करने से मनुष्य की स्थिति में परिवर्तन हो जाता है ।)

ऊर्ध्वं च योजयेत् सूर्यञ्चन्द्रञ्च अध आनयेत् ।
विपरीतकरी मुद्रासर्वतन्त्रेषु गोपिता ।। ३४ ।।

सूर्य को ऊपर की ओर उठाना चाहिये तथा चन्द्रमा को नीचे की ओर ले आना चाहिये । इसी का नाम विपरीतकरी मुद्रा है, जो सब तंत्रों में गोपनीया कही गयी है ।। ३४ ।।

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः ।
ऊर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ।। ३५ ।।

(विपरीतकरी मुद्रा की विधि बताते हैं—) भूमि पर सिर रखकर हाथों को नीचे रखकर पैरों को ऊर्ध्व करके विपरीतकरी मुद्रा मानी गयी है ।। ३५ ।।

विपरीतकरणीमुद्राफलम्

मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरां मृत्युञ्च नाशयेत् ।
स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ।। ३६ ।।

(विपरीतकरी मुद्रा का फल बताते हैं—) यह मुद्रा नित्य साधनी

चाहिये और जरामत्यु को नष्ट करना चाहिये । वह सब लोकों में सिद्ध होता है और प्रलय में भी दुःखी नहीं होता ।। ३६ ।।

योनिमुद्रा

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखम् ।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत् ।। ३७ ।।

(अब योनिमुद्रा की विधि बताते हैं—) पहले सिद्धासन लगाकर कान, नेत्र, नासिका, मुख को अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिकाओं से साधना (ढ़कना) चाहिये ।। ३७ ।।

काकोभिः प्राणंसङ्कृष्य अपाने योजयेत्ततः ।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधीः ।। ३८ ।।

चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी ।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे ।। ३९ ।।

पुनः काकी मुद्रा से प्राणवायु को खींचकर अपान वायु में योजित करे। फिर सुधीजन षट् चक्रों का ध्यान करे और 'हुं' और 'हंस' इन दो मंत्रों से जो साक्षात् भुजंगिनी है, उस देवी (कुंडलिनी) को जगाये तथा जीव के सहित इस शक्ति (कुंडलिनी) को उठाकर सहस्त्रकमल (सहस्त्रारचक्र) में ले जाये ।। ३८-३९ ।।

शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परं शिवेन सङ्गमम् ।
नानासुखं विहारञ्च चिन्तयेत् परमं सुखम् ।। ४० ।।

इससे स्वयं शक्तिवान् होकर परं कल्याण का संयोग पाकर अनेक प्रकार के सुख, विहार और परं आनंद का चिन्तन करता है ।। ४० ।।

शिवशक्तिसमायोगादेकान्ते भुवि भावयेत् ।
आनन्दमानसो भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत् ।। ४१ ।।

शिव (कल्याणमय) शक्ति के संयोग से भूमि पर एकान्त की भावनां करनी चाहिये । स्वयं परमानंद स्वरूप होकर 'अहं तत्व ही ब्रह्म है' यह भाव तब संभव होता है ॥ ४१ ॥

योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्ल्लभा ।
सकृत्तु लाभसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि ॥ ४२ ॥

योनिमुद्रा परं गोपनीय है । यह देवताओं को भी दुर्लभ है । सब प्रकार के लाभों की सिद्धि इससे संभव होती है और वही जन वस्तुतः समाधिस्थ होता है ॥ ४२ ॥

योनिमुद्राफलम्

ब्रह्महा भ्रूणहाचैव सुरापी गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न लिप्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ४३ ॥

(योनिमुद्रा फल बताते हैं—) ब्रह्मघाती, भ्रूणहत्यारा, मद्यपायी, गुरुपत्नी सेवी जैसे (पामरजन भी) योनिमुद्रा के पालन से इन पापों से लिप्त नहीं होते हैं अर्थात् इन पापों के दुष्प्रभाव से बहुत हद तक दूर हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च ।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबन्धनात् ।
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति ॥ ४४ ॥

जो भी घोर पाप और उपपाप हैं, वे सब योनिमुद्रा के (विधिवत) पालन से नष्ट हो जाते हैं । अतः यदि मुक्ति की इच्छा करनी है तो इस ुद्रा का अभ्यास करना चाहिये ॥ ४४ ॥

वज्रोणीमुद्रा

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यामूर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे ।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रोणिमुद्रां मुनयो वदन्ति ॥ ४५॥

(वज्रोणिमुद्रा क्या है यह कहते हैं) कि करतलों को धरा पर रख करके दोनों पैरों और सिर को ऊपर उठाये ! शक्ति के जागरण के लिये तथा चिरजीवन (दीर्घजीवन) पाने के लिये मुनिजन वज्रोणिमुद्रा को कहते हैं ॥ ४५ ॥

वज्रोर्णामुद्राफलम्

अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारकम् ।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः ॥ ४६ ॥

(अब वज्रोणिमुद्रा का फल बताते हैं—) योगशास्त्र में यह योगियों की मुक्तिकारक वज्रोणि मुद्रा है । यह योगों में परं हितकारी और योगियों को सिद्धि देने वाली है ॥ ४६ ॥

एतद्योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ।
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यतिभूतले ॥ ४७ ॥

इस योग की कृपा से निश्चय ही बिन्दु सिद्धि (वीर्यसिद्धि) होती है और इस महायत्न बिन्दुसिद्धि के हो जाने पर भूतल पर कौन सा कार्य है जो सिद्ध नहीं होता ॥ ४७ ॥

भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत् ।
तथापि सकला सिद्धिस्तस्य भवति निश्चितम् ॥ ४८ ॥

भोगों से युक्त पुरुष भी यदि इस मुद्रा का आचरण करता है, तो निश्चय ही सकल सिद्धि वह प्राप्त करता है ॥ ४८ ॥

शक्तिचालनीमुद्रा

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता ।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ॥ ४९ ॥

(अब शक्तिचालनी मुद्रा की विधि कहते हैं—) आत्मशक्ति मूलाधार में (शरीर में) सबसे बड़ा देवता—कुंडली शयन स्थिति में सर्पाकार साढ़े तीन वलयों (गोलाकारों) से युक्त है ॥ ४९ ॥

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा ।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत् ॥ ५० ॥

जब तक यह कुंडली शयनावस्था में है, तब तक जीव पशु के समान रहता है, तब तक ज्ञान भी नहीं होता है, (भले ही) कोटि उपाय किये जायें ॥ ५० ॥

उद्घाटयेत् कपाटञ्च यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ५१ ॥

जिस प्रकार कुंचिका से बंद द्वार को हठात् खोला जाता है, उसी प्रकार कुंडलिनी के जागने पर ब्रह्मद्वार को (भेदकर) जानना चाहिये ॥ ५१ ॥

नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिस्थितः ।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥ ५२ ॥

नाभिस्थान को वस्त्र से लपेट कर किन्तु नग्न होकर बाहर (सार्वजनिक रूप से) नहीं, अपितु गोपनीय गृह में स्थित होकर शक्तिचालन का अभ्यास करना चाहिये ॥ ५२ ॥

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ।
एवमम्बरयुक्तञ्च कटिसूत्रेण योजयेत् ॥ ५३ ॥

एक हाथ लम्बा तथा चार अंगुल चौड़ा कोमल, श्वेत और सूक्ष्म (बारीक) वस्त्र नाभि से लपेटे । इस प्रकार वस्त्र को पुनः कटिभाग में बाँधना चाहिये ॥ ५३ ॥

भस्मना गात्रं संलिप्य सिद्धासनं समाचरेत् ।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद् बलात् ॥ ५४ ॥

भस्म से शरीर को लिप्त करके पुनः सिद्धासन लगाना चाहिये ।

पुन: नासाछिद्रों (दोनों) से वायु खींचकर अपानवायु के साथ मिलाना चाहिये ॥ ५४ ॥

तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया ।
यावद्गच्छेत् सुषुम्णायां वायु: प्राकाशयेद्धठात् ॥ ५५ ॥

जब तक वायु सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर जाकर प्रकाशित हो, तब तक गुह्यस्थान (मलद्वार) का अश्विनी मुद्रा से धीरे-धीरे संकोचन करना चाहिये ॥ ५५ ॥

तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी ।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ॥ ५६ ॥

तब श्वास वायु को रोककर कुंभक श्वास को धारण करे तो कुंडलिनी उर्ध्वमार्ग की ओर प्राप्त होती है-उठती है ॥ ५६ ॥

विना शक्तिंचालनेन योनिमुद्रा न सिद्ध्यति ।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत् ॥ ५७ ॥

विना शक्तिचालनी के योनिमुद्रा सिद्ध नहीं होती, शक्तिचालनी के अभ्यास को पहले करें, पुन: योनिमुद्रा का अभ्यास करें ॥ ५७ ॥

इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत् ॥ ५८ ॥

(घेरण्ड ऋषि कहते हैं—) हे चण्डकापालि ! इस प्रकार शक्तिचालन मुद्रा मैंने तुम्हें बतायी । यह गोपनीय है, दिन-दिन इसका अभ्यास करना चाहिये ॥ ५८ ॥

शक्तिचालनीमुद्राफलम्

मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी ।
तस्मादभ्यसनंकार्यं योगिभि: सिद्धिकाङ्क्षिभि: ॥ ५९ ॥

यह मुद्रा परं गोपनीया है और जरामरण का नाश करती है । अत: सिद्धि चाहने वाले योगियों को इसका अभ्यास करना चाहिये ॥ ५९ ॥

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता ।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद्रोगाणां सङ्क्षयो भवेत् ॥ ६० ॥

जो योगी नित्य इसका अभ्यास करता है, उसके हाथ में सिद्धि आ जाती है । उसे विग्रह सिद्धि हो जाती है और उसके रोगों का क्षय हो जाता है ॥ ६० ॥

ताडागीमुद्रा

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिम् ।
ताडागी सा परामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ६१ ॥

पश्चिमोत्तान करके उदर को तालाब की आकृति के समान बनाये, यह ताडागी मुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी है ॥ ६१ ॥

माण्डूकीमुद्रा

मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ।
शनैर्ग्रसेदमृतं तन्माण्डूकीं मुद्रिकां विदुः ॥ ६२ ॥

(अब मांडूकी मुद्रा को कहते हैं—) मुख को बंद करके जिह्वामूल का चालन करे, पुनः धीरे-धीरे अमृत का पान करे (सहस्त्रारचक्र के परमानंद का ध्यान करे) इसे विद्वानों ने मांडूकी मुद्रा कहा है ॥ ६२ ॥

माण्डूकीमुद्राफलम्

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम् ।
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम् ॥ ६३ ॥

(इसका फल बताते हैं—) जो भी मांडूकी मुद्रा को करता है— वलित और पलित (त्वचा का सिकुड़ना तथा बालों का श्वेतहोना) इससे नहीं होता, तथा नित्य यौवन बना रहता है और केश पकते नहीं है ॥ ६३ ॥

शाम्भवीमुद्रा

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत् ।
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ६४ ॥

(शांभवी मुद्रा की विधि कहते हैं—) भोंहों के मध्य में दृष्टि डालते हुए सर्वदा मन को आत्मा में रमण करते हुए निरीक्षण करना चाहिये । यह सब विधानों में गोपनीया शांभवी मुद्रा है ॥ ६४ ॥

शाम्भवीमुद्राफलम्

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ६५ ॥

(इसका फल कहते हैं—) वेद, शास्त्र और पुराण इस मुद्रा के समक्ष सामान्य गणिका जैसे हैं (गौण हैं) जबकि यह शांभवी मुद्रा कुलवधु के समान गोपनीय है ॥ ६५ ॥

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम् ।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम् ॥ ६६ ॥

जो जन शांभवी मुद्रा को जानता है, वह आदिनाथ है, वही स्वयं नारायण स्वरूप है, और वही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा हैं ॥ ६६ ॥

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वर ।
शाम्भवीं यो विजानीयात् स च ब्रह्म न चान्यथा ॥ ६७ ॥

शांभवी मुद्रा को (तत्वतः) जो जानता है, वह साक्षात् ब्रह्म स्वरूप है । यह पूर्ण सत्य है, अन्यथा की संभावना नही है ॥ ६७ ॥

(समीक्षा—भावार्थ यह है कि शांभवी मुद्रा तन, मन, हृदय को परंशान्ति प्रदान करने वाली है । सब संतापों—तनावों को शांत करने वाली है । और जब मनुष्य के सब तनाव—घोर अंशाति शांत हो जायेगी तो ब्रह्मशक्ति (प्रजनन शक्ति) विष्णुशक्ति (परिवार समाज आदि की पालनाशक्ति) आदि विलक्षण और सुदृढ़ शक्तियाँ मनुष्य प्राप्त करता हैं ।)

पञ्चधारणामुद्रा

कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम् ।
धारणानि समासाद्य किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ ६८ ॥

(पंचधारणा मुद्रा बताते हैं—) इस प्रकार शांभवी मुद्रा कही गयी, अब पंचधारण मुद्रा को सुनो । पंचधारणाओं को प्राप्त करके मनुष्य इस भूतल पर क्या नहीं प्राप्त कर सकता ? ॥ ६८ ॥

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम् ।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ॥ ६९ ॥

इससे नरदेह का स्वर्गों में गमनागमन होता है । उसकी मनोगामी गति हो जाती है और खेचरत्व सिद्धि प्राप्त हो जाती है । यह सत्य है ॥ ६९ ॥

पार्थिवीधारणामुद्रा

यत्तत्त्वंहरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितं
वेदास्तं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थायिनम् ।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकांश्चित्तान्वितां धारये-
देषास्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ॥ ७० ॥

(अब पार्थिवधारणा की विधि बताते हैं—) भूमि का जो तत्व हरिताल (हल्दी) जैसा पीला है, लकार से युक्त है, आकार चौकोर है, ऐसे उन (वेदास्त्रं) कमलासन ब्रह्मा के सहित हृदय में ध्यान करे । तब प्राणवायु को खींचकर पाँच घटी (दो घण्टा) तक उसे धारण करे । यह स्तंभकरी अधोधारणा भी कही जाती है । इससे धरती पर विजय हो जाती है ॥ ७० ॥

पार्थिवीधारणामुद्राफलम्

पार्थिवीधारणामुद्रां यः करोति च नित्यशः ।
मृत्युञ्जयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद् भुवि ॥ ७१ ॥

(इसका फल कहते हैं—) प्रतिदिन जो जन पार्थिवीधारण को करता है, वह मृत्युञ्जय हो जाता है, वह सिद्ध हो भूमि पर विचरता है ॥ ७१ ॥

आम्भसीधारणामुद्रा

शङ्खेन्दुप्रतिमञ्च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभम्
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकांश्चित्तान्वितां धारयेत्
एषादु:सहतापपापहरिणी स्यादाम्भसी धारणा ।। ७२ ।।

इसका वर्ण शंख और चन्दमा जैसा सुन्दर, कुन्दपुष्प जैसा धवल है । शोभायमान वकार बीज से युक्त अमृत की संज्ञा वाला है, जो सदा ही विष्णु शक्ति से युक्त है या विष्णु इसके देवता हैं । (इस स्वरूप का ध्यान जल तत्व में करते हुए) प्राण को खींचकर पाँच घटी (२ घण्टे) तक कुंभक में स्थिर हो, यही दु:सह तापों को नष्ट करने वाली आंभसी धारणा होती है ।। ७२ ।।

आम्भसीधारणामुद्राफलम्

आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित् ।
जले च गम्भीरे घोरे मरणं तस्य नो भवेत् ।। ७३ ।।

इस श्रेष्ठ आम्भसी मुद्रा को जो जानता है, वह योगज्ञानी है । गम्भीर जल में उसका कभी मरण संभव नहीं होता ।। ७३ ।।

इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः ।
प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च तत्त्वतः ।। ७४ ।।

यह श्रेष्ठ मुद्रा प्रयत्नपूर्वक गोपनीय है । इसके प्रकाश से सिद्धि की हानि होती है, यह मैं सत्य कहता हूँ ।। ७४ ।।

आग्नेयीधारणामुद्रा

यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं
तत्त्वं तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत् सिद्धिदम् ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकांश्चित्तान्वितां धारयेत्
ऐषा कालगभीरभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा ।। ७५।।

(अब आग्नेयी मुद्रा की विधि बताते हैं—) (यह मुद्रा अग्नितत्व में स्थित है) इसका स्थान नाभि और इन्द्रगोप (भगवान की गाय—बरसाती लालरंग का एक गोल कीड़ा) जैसा इसका तीन कोण वाला वर्ण है, तेजयुक्त दीप्त अरुण जैसी आभा है और रुद्र इसके देवता है। (इस स्वरूप का प्राणों को रोककर कुंभक में पाँच घटी (२घण्टा) तक चित्त में ध्यान करे। इससे संसार का भय दूर होता है, यह वैश्वानरी (आग्नेयी) धारणा है ॥ ७५ ॥

आग्नेयीधारणामुद्राफलम्

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ यदि पतति साधकः ।
एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक् ॥ ७६ ॥

प्रदीप्त और जलती हुई अग्नि में यदि साधक गिर जाये तो इस मुद्रा के प्रसाद से वह जीवन धारण करता है, न कि मृत्यु ॥ ७६ ॥

वायवीधारणामुद्रा

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं धूम्रावभासं परं
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकांश्चित्तान्वितां धारयेद्-
ऐषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥ ७७ ॥

(अब वायवी धारणा की विधि कहते हैं—) इसका वर्ण भिन्न अंजन पुंज के समान, धुएँ के समान है, सत्व इसका गुण और यकार बीज है। स्वयं ईश्वर इसके देवता हैं। इसी स्वरूप का प्राणों को रोककर पाँचघटी (२ घण्टा) तक चित्त में ध्यान करे। आकाश में गमन इसी वायवी धारणा से होता है ॥ ७७ ॥

वायवीधारणामुद्राफलम्

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।
वायुना म्रियते नापि खे च गतिप्रदायिनी ॥ ७८ ॥

(फल बताते हैं—) यह श्रेष्ठ वायवी मुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी है, इसके कारण वायुकोष से मृत्यु नहीं होती तथा यह आकाशगमन को देने वाली होती है ॥ ७८ ॥

शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्य कस्यचित् ।
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च चण्ड ते ॥ ७९ ॥

जिस किसी भी शठ या भक्तिहीन को इसे नहीं देना चाहिये । अन्यथा देने पर सिद्धि की हानि हो जाती है—यह सत्य कहता हूँ ॥ ७९ ॥

आकाशीधारणामुद्रा

यत् सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम् ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकांश्चित्तान्वितां धारयेत्
एषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणा ॥ ८० ॥

(आकाशीधारणाविधि—) इसका वर्ण सिन्धु के जल के समान परं विस्तीर्ण भासित है । शिवदेवता सहित हकार इसका बीज है । प्राणों का पाँच घटी तक कुंभक में संयोजन करके इस स्वरूप का ध्यान करे तो यह आकाशी मुद्रा मोक्षद्वार का भेदन करने वाली होती है ॥ ८० ॥

आकाशीधारणामुद्राफलम्

आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति सैव योगवित् ।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति ॥ ८१ ॥

जो साधक आकाशीमुद्रा की पूरी जानकारी से परिपूर्ण रहता है, वही सही रूप में योग को पहचानने वाला है, उसकी काल आने पर भी मृत्यु नही होती और प्रलय होने पर भी वह डगमगाता नहीं है ज्यों का त्यों स्थिर रहता है ॥ ८१ ॥

अश्विनीमुद्रा

आकुञ्चयेद् गुदाद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः ।
सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥ ८२ ॥

गुदाद्वार का संकोचन (सिकोड़ना) तथा फैलाना बार-बार करे । यही अश्विनी मुद्रा है, जो शक्ति देने वाली है ॥ ८२ ॥

अश्विनीमुद्राफलम्

अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी ।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत् ॥ ८३ ॥

अश्विनी मुद्रा गुदारोगों को नष्ट करने वाली है । बल और पुष्टि करने वाली तथा अकालमृत्यु को हरने वाली है ॥ ८३ ॥

पाशिनीमुद्रा

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढबन्धनम् ।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी ॥ ८४ ॥

पाशिनी मुद्रा—कण्ठ और पीठ में दोनों पैरों को डाले और दृढ़ता से इस आसन को बाँधे, यही पाशिनि मुद्रा है, जो कुंडलिनी शक्ति को जगाने वाली है ॥ ८४ ॥

पाशिनीमुद्राफलम्

पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी ।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥ ८५ ॥

पाशिनी मुद्रा अत्यधिक बल और पुष्टि देने वाली है । सिद्धि चाहने वाले साधकों द्वारा इसे प्रयत्नपूर्वक साधना चाहिये ॥ ८५ ॥

काकीमुद्रा

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ॥ ८६ ॥

(काकीमुद्रा विधि—) काकचंचु (कौवे जैसी चौंच) के मुख को करके धीरे-धीरे वायु को पान करे। यह सब रोग विनाशिनी काकी मुद्रा होती है॥ ८६ ॥

काकीमुद्राफलम्

काकीमुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।
अस्याः प्रसादमात्रेण न रोगी काकवद् भवेत्॥ ८७ ॥

काकीमुद्रा सब तन्त्रों में गोपनीय है। इसके प्रसाद से काकवत् नीरोग हो जाता है॥ ८७ ॥

मातङ्गिनीमुद्रा

कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्॥ ८८ ॥

कण्ठ तक मग्न जल में स्थित होकर नासिकाछिद्रों से जल ग्रहण करे, पुनः मुख से निकाल दे तथा पुनः मुख से ग्रहण करना चाहिये॥ ८८ ॥

नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः।
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥ ८९ ॥

पुनः उसका नासाछिद्रों से रेचन करे। यदि पुनः-पुनः ऐसा करे तो मातंगिनी मुद्रा जरामृत्यु का नाश करती है॥ ८९ ॥

मातङ्गिनीमुद्राफलम्

विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः।
कुर्यान्मातङ्गिनीं मुद्रां मातङ्ग इव जायते॥ ९० ॥

विरल निर्जन देश में एकाग्रमन से स्थित होकर मातंगिनी मुद्रा को करे तो हाथी के समान बली होता है॥ ९० ॥

यत्र यत्र स्थितोयोगी सुखमत्यन्तमश्नुते।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साधयेन्मुद्रिकां पराम्॥ ९१ ॥

पुस्तकालय
विभाग
शान्ति कुंज, हरिद्वार
२५५ | 208

वह योगी जहाँ-जहाँ स्थित होगा, वहाँ-वहाँ अत्यंत सुख को ग्रहण करता है । अत: सब प्रयत्नों से इसे साधना चाहिये ॥ ९१ ॥

भुजङ्गिनीमुद्रा

वक्त्रं किञ्चित् सुप्रसार्य चानिलं गलया पिबेत् ।
सा भवेद् भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ९२ ॥

(भुजंगिनी मुद्रा—) मुख को कुछ फैलाकर कण्ठ से वायु को पीना चाहिये । वह जरामृत्यु विनाशक भुजंगिनी मुद्रा होती है ॥ ९२ ॥

भुजङ्गिनीमुद्राफलम्

यावच्च उदरे रोगा अजीर्णादि विशेषतः ।
तत् सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजङ्गिनी ॥ ९३ ॥

उदर में जो अजीर्णादि विशिष्ट रोग हैं, उन सबको, जहाँ भुजंगिनी मुद्रा होती है, शीघ्र ही समाप्त करती है ॥ ९३ ॥

मुद्राणांफलम्

इदं तु मुद्रापटलं कथितं चण्ड ते शुभम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम् ॥ ९४ ॥

(घेरण्ड ऋषि बोले—हे चंडकापालि ! यह मुद्राविवरण मैंने तुमसे कहा है । यह सब सिद्धजनों का प्रिय और जरामृत्यु का विनाशक होता है ॥ ९४ ॥

शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्य कस्यचित् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि ॥ ९५ ॥

शठ या भक्तिहीन जिस किसी को भी यह नहीं देना चाहिये । देवताओं को भी यह दुर्लभ और प्रयत्नसहित गोपनीय है ॥ ९५ ॥

ऋजवे शान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च ।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम् ।। ९६ ।।

जो कोमल मन वाला हो, शांतचित्त हो, गुरुभक्ति परायण हो, कुलीन हो, उसी को यह मुद्राविधि देनी चाहिये, जो भोग मुक्ति की दात्री हैं ।। ९६ ।।

मुद्राणां पटलं ह्येतत् सर्वव्याधिविनाशकम् ।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविवर्धनम् ।। ९७ ।।

मुद्राओं का यह विवरण सर्वव्याधि विनाशक है और अभ्यासशील की जठराग्नि को बढ़ाने वाला है ।। ९७ ।।

न तस्य जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा ।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम् ।। ९८ ।।

उसकी न मृत्यु और जरादिक होता है । न अग्निजल का भय होता है, वायु का भय भी उसे कहीं नहीं होता ।। ९८ ।।

कासः श्वासः प्लीहकुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः ।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः ।। ९९ ।।

कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ, श्लेष्मा आदि बीस प्रकार के रोग मुद्राओं के साधने से नष्ट होते हैं ।। ९९ ।।

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्ड ते ।
नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले ।। १०० ।।

अधिक क्या कहूँ ? चे चंडकापालि ! तुझे सार बताता हूँ कि (मुद्रा के योगियों को) सिद्धिदायक पृथ्वीतल पर अन्य कुछ नहीं है ।। १०० ।।

।। इति श्रीघेरण्डसंहितायां राघवीयेभाष्ये मुद्राप्रयोगोनाम तृतीयोपदेशः ।।

✦

इन तीनों प्राणायामों में पूरा साँस न भरके आधा श्वास ही भरा जाता है। साथ ही मानसिक क्रिया की जाती है कि श्वास के साथ ही साथ मन को ऊपर सहस्रार से लेकर नीचे मूलाधार तक ले जाते हैं और उसी प्रकार लौटते समय रेचक करते हुए मूलाधार से सहस्रार तक ले जाकर श्वास छोड़ देते हैं। मानस क्रिया में मन श्वास के साथ ऊपर से नीचे आता है और नीचे से ऊपर जाता है। तब एक चक्र पूरा होता है। तीनों प्राणायामों में ऐसे ५ या ७ चक्र प्रत्येक प्राणायाम में करें। प्राण के साथ मन का रहना आवश्यक है। साथ ही लौटते समय मूलाधार चक्र को ऊपर खींचे रहें।

(क) इडा-नाडी-शोधन—एकाग्र चित्त होकर बैठें। बाईं नाक से हलका श्वास, 'ओम्' के मानस जप के साथ, भरते हुए इडा नाडी के माध्यम से मूलाधार चक्र तक जावें और रेचक करते हुए अपान वायु को 'ओम्' के साथ ऊपर उठाते हुए सहस्रार चक्र तक ले जाकर श्वास छोड़ें। ऐसे ५ या ७ चक्र पूरे करें।

(ख) पिंगला-नाडी-शोधन—पूर्ववत् दाहिनी नाक से ओम् का ध्यान करते हुए पूरक करें और सहस्रार से मूलाधार तक जावें और रेचक के समय अपान को ऊपर खींचते हुए सहस्रार चक्र तक जाकर श्वास छोड़ें। ऐसे ५-७ चक्र पूरे करें।

(ग) सुषुम्णा-नाडी-शोधन—इसमें भी पूर्ववत् दोनों स्वरों में 'ओम्' के ध्यान के साथ श्वास भरते हुए सुषुम्णा नाडी के माध्यम से मूलाधार तक प्राण उतारें और धीरे-धीरे रेचक करते हुए अपान वायु को मूलाधार से उठाते हुए सुषुम्णा नाडी के माध्यम से ही सहस्रार चक्र तक जावें। इसे भी ५-७ बार करें।

८. बन्ध और मुद्राएँ

(क) बन्ध

शरीर के किसी अवयव को किसी प्रकार बाँधने या नियन्त्रित करने को बन्ध कहते हैं। प्राणायामों में इनकी विशेष आवश्यकता पड़ती है। बन्ध और मुद्रा में अन्तर यह है कि आसनों के साथ नाड़ियों और मांसपेशियों के नियन्त्रण को 'मुद्रा' कहते हैं। इसी को जब प्राणायाम के साथ किया जाता है, तब उसे 'बन्ध' कहते हैं।

१. मूलबन्ध

मेरुदण्ड, पृष्ठवंश या रीढ़ के सबसे अन्तिम भाग को मूल कहते हैं। यहीं पर इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियों का अन्तिम भाग है। इसी स्थान पर मलद्वार (गुदा) है। मलद्वार और उसके चारों ओर के भाग को ऊपर खींचकर रोककर रखने को मूलबन्ध कहते हैं।

विधि—सिद्धासन पर बैठकर दोनों हाथ घुटनों पर रखें। श्वास अन्दर लेकर कुंभक करें, साथ ही जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध लगावें। गुदा-प्रदेश को ऊपर खींचें। फिर रेचक करके बाह्य कुम्भक करें और साथ ही मूलबन्ध लगावें। मूलबन्ध बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कुम्भकों के साथ लगता है। साधक ध्यानावस्था और अन्य समय में भी इस मूलबन्ध को लगाए रख सकते हैं।

लाभ—इससे अपानवायु की ऊपर की ओर गति होती है। अपान प्राणवायु से मिलता है। इससे पेट के रोग दूर होते हैं। दस्त-पेचिश आदि में लाभ होता है। पाचनशक्ति बढ़ती है। वीर्य की ऊपर की ओर गति होती है। साधक ऊर्ध्वरेतस् होता है। कुंडलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपर चढ़ती है।

२. उड्डीयान बन्ध (उड्यान बन्ध)

उड्डीयान बन्ध का ही संक्षिप्त रूप उड्यान बन्ध भी है। इसमें प्राण ऊपर उठकर सुषुम्णा में प्रविष्ट होता है, अतः इसे उड्डीयान कहते हैं।

विधि—यह बन्ध बैठकर और खड़े होकर दोनों प्रकार से किया जा सकता है। पहले रेचक करके श्वास पूरा बाहर निकाल दें। फिर पेट को ढीला करके उसे बलपूर्वक खींचकर मेरुदंड (रीढ़ की हड्डी) से लगावें, जिससे पेट के स्थान पर गड्ढा दिखाई पड़ने लगे। जितना पेट अन्दर खिंचेगा, उतना अच्छा है। फिर धीरे-धीरे श्वास लें। इसे ३ या ५ बार करें।

लाभ—यह मृत्युंजय बन्ध कहा जाता है। इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। इससे मन्दाग्नि नष्ट होती है, भूख बढ़ती है, फेफड़े पुष्ट होते हैं। इससे हृदय पर दबाव पड़ता है, अतः हृदय के रोगी इसे न करें।

३. जालन्धर बन्ध

यह बन्ध गले के नाड़ी-समूह (नाडी-जाल) को बाँधकर रखता है, अतः इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं।

विधि—इसमें सिर को नीचे झुकाते हैं और हनु (ठोड़ी) को कण्ठकूप (गले के नीचे गड्ढे वाला स्थान) में दृढ़तापूर्वक लगाते हैं। शरीर सीधा रहे, केवल सिर झुकेगा। प्राणायाम करते समय पूरक करके आभ्यन्तर कुंभक करने पर इसे लगाते हैं। इससे श्वास कंठ से ऊपर नहीं जाता और प्राण-अपान का संयोग होता है, जिससे सभी उदर-विकार दूर होते हैं।

लाभ—इस बन्ध से कंठ सुरीला होता है। इडा और पिंगला का द्वार बन्द होने से प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करता है। इस बन्ध से मेरु-रज्जु पर तनाव पड़ता है, जिससे मेरुदण्ड ठीक रहता है। मेरुदण्ड के कशेरु यथास्थान हो जाते हैं और

Spondylitis (रीढ़ की हड्डी में अकड़न) बीमारी में लाभ होता है। गले में दबाव पड़ने से चुल्लिका और उपचुल्लिका (Thyroid and Parathyroid) ग्रन्थियाँ ठीक ढंग से काम करने लगती हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से जालन्धर बन्ध अत्यन्त उपयोगी है।

४. महाबन्ध

विधि—बाएं पैर की एड़ी को सीवनी (मलद्वार का जोड़) में लगावें और दाहिने पैर को बाईं जंघा के ऊपर रखें। बाएं नथुने से पूरक करके जालंधर बन्ध लगावें। नीचे से अपान वायु को ऊपर खींचकर मूलबन्ध लगावें और आभ्यन्तर कुंभक करें। फिर दाहिनी नाक से धीरे-धीरे रेचक करें। इसी प्रकार दूसरी बार में दाहिनी नाक से पूरक करते हुए जालंधर बन्ध लगावें। नीचे से अपान वायु को खींचकर मूलबन्ध लगावें और कुंभक करें। बाद में बाईं नाक से धीरे-धीरे रेचक करें। यह दो या तीन बार करें। (हठ० ३.१८-१९)

लाभ—इससे प्राण ऊर्ध्वगामी होता है। इडा-पिंगला-सुषुम्णा तीनों का संगम होता है। ऊपर से प्राण का दबाव और नीचे से अपान का दबाव पड़ने से नाभिस्थल पर दोनों का मेल होता है। इससे कुंडलिनी शीघ्र जागृत होती है। इससे प्रमेह, पुराना ज्वर, तिल्ली बढ़ना आदि रोग ठीक होते हैं।

५. जिह्वा बन्ध

विधि—जिह्वा को उलटकर उसे कोमल तालु (Soft Palate) से लगावें। जिह्वा का जितना अधिक भाग कोमल तालु से लगा रहेगा और कोमल तालु पर जितना दबाव पड़ेगा, उतना अच्छा है। मुख को बन्द रखें। ध्यान आदि से समय जीभ को उलट कर उसके अग्रभाग को कोमल तालु से लगाकर रखें। इससे ध्यान अधिक केन्द्रित रहता है। इसे कम से कम ५ मिनट करें।

लाभ—जीभ को उलटकर कोमल तालु से लगाकर रखने से शरीर में नव-जीवन और स्फूर्ति आती है। गले की सभी बीमारियों में यह लाभप्रद है। टान्सिल बढ़ना, कान के रोग, स्वरयंत्र के विकार, नाक के रोग आदि में यह विशेष लाभप्रद है।

(ख) मुद्राएँ (योग से संबद्ध)

हठप्रदीपिका ने १० मुद्राओं का उल्लेख किया है। ये हैं—१. महामुद्रा, २. महाबन्ध, ३. महावेध, ४. खेचरी, ५. उड्डीयान, ६. मूलबन्ध, ७. जालन्धर, ८. विपरीतकरणी, ९. वज्रोलि, १०. शक्तिचालन। (हठ० ३.६)

६. महामुद्रा

विधि—दोनों पैर फैलाकर बैठें। बाएं पैर को मोड़कर उसकी एड़ी सीवनी (गुदा-उपस्थ के मध्य का जोड़) पर लगा दें। अब साँस निकालकर आगे झुकें और दाहिने पैर के पंजे को दोनों हाथों से पकड़ लें। अब पूरक करके जालंधर बन्ध और मूलबन्ध लगावें। धीरे-धीरे प्रयत्न करें कि सिर घुटने से लग जावे। न लगे तो जहाँ तक सिर नीचे झुका सकते हों, वहाँ तक झुकावें। घुटना मुड़ना नहीं चाहिए। फिर दोनों बन्ध खोलकर धीरे-धीरे रेचक करते हुए ऊपर उठें। इस प्रकार तीन बार बायां घुटना मोड़कर करें। बाद में तीन बार दायां घुटना मोड़कर करें। दोनों ओर की संख्या बराबर रहे।

लाभ—इससे खाँसी, मन्दाग्नि, पेट के रोग, कब्ज, क्षय, प्रमेह, पुराना ज्वर, कुष्ठ, मन्दाग्नि, तिल्ली का बढ़ना आदि रोग दूर होते हैं। इससे कुंडलिनी शीघ्र जागृत होती है।

क्षय-कुष्ठ-गुदावर्त-गुल्माजीर्ण-पुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥ हठ० ३.१६

७. महावेध मुद्रा

विधि—पद्मासन लगाकर पहले पूरक करके आभ्यन्तर कुम्भक करें। अब तीनों बन्ध लगावें। घुटनों के दोनों ओर हथेलियाँ रखकर पूरे शरीर को ऊपर उठा लें और मूलाधार स्थल को भूमि पर बार-बार थोड़े झटके से रखें, जिससे मूलाधार भाग को कुछ झटका लगे। साथ ही यह ध्यान करें कि प्राण इडा-पिंगला को छोड़कर कुंडलिनी शक्ति को जगाता हुआ सुषुम्णा में प्रवेश कर रहा है। बाद में धीरे-धीरे रेचक करें। यह अभ्यास किसी गुरु के सामने ही करें।

लाभ—इससे कुंडलिनी शक्ति जागृत होती है। प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करता है। महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा में तीनों परस्पर संबद्ध मुद्राएँ हैं। यथासंभव इन्हें एक साथ मिलाकर करना चाहिए।

८. खेचरी मुद्रा

विधि—जीभ को उलटकर ऊपर कोमल तालु (Soft-Palate) में लगावें। जीभ को जहाँ तक अन्दर ले जा सकते हों ले जावें, उतना अच्छा है। अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य में लगावें। इसको खेचरी मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा में कोमल तालु के सबसे ऊपरी भाग तालु-कुहर या कपाल-कुहर तक जीभ को पहुँचाने का विधान है। यह माना जाता है कि कपाल-कुहर में इडा-पिंगला और सुषुम्णा का मेल होता है और यहाँ पर अमृत की बूंदें क्षरित होती हैं।

कपाल-कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ हठ० ३.३१

हठप्रदीपिका (३.३१ से ५३) और घेरण्ड संहिता (३.२१ से ३०) में खेचरी मुद्रा का बहुत विस्तार से वर्णन है। जीभ को लंबा करने के लिए छेदन, चालन और दोहन आदि प्रकार बताए गए हैं। जीभ की जड़ को चाकू आदि से काटने से गूंगा हो जाने की संभावना है, अत: सामान्य साधक इससे बचें। मक्खन, घी आदि लगाकर अंगुली से या वस्त्र से जीभ को खींचने की विधि को दोहन कहते हैं। यह विधि की जा सकती है।

लाभ—खेचरी मुद्रा के बहुत लाभ बताए गए हैं। हठप्रदीपिका का कथन है कि जो खेचरी मुद्रा को सिद्ध कर लेता है, उसे रोग, मृत्यु, आलस्य, निद्रा, भूख-प्यास आदि नहीं सताते। उसे कोई रोग नहीं होता और वह जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है। (हठ० ३.३८-३९)

न रोगो मरणं तन्द्रा, न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत् तस्य, यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥ हठ० ३.३८

९. विपरीतकरणी

इसमें शिर को नीचे और पैर को ऊपर किया जाता है, अत: इसे विपरीत-करणी मुद्रा कहा जाता है। आसनों में इसका उल्लेख है।

विधि—चादर, दरी या कम्बल पर पीठ के बल लेट जावें। हाथ बगल में रखें। साँस भरकर पैर ९० डिग्री तक की सीध में ले आवें। साँस छोड़कर दुबारा साँस भरें। पैरों को थोड़ा सिर की ओर झुकावें, झटका देकर पीठ को ऊपर उठावें, पीठ को हाथों का सहारा दें और कूल्हे की हड्डी पर दोनों ओर हाथ रखें और पूरे शरीर को हाथों पर रोकें। इस प्रकार सिर, गर्दन और पीठ का ऊपरी हिस्सा भूमि पर होगा तथा शेष सारा शरीर ऊपर उठा हुआ होगा। पीठ से पैर तक का हिस्सा ६० या ७० डिग्री का कोण बनाएगा। इस स्थिति में पहुँचकर साँस स्वाभाविक रूप से लें। जालंधर बन्ध स्वयं लग जाएगा अर्थात् ठोड़ी कंठकूप में लग जाएगी। प्रारम्भ १ या २ मिनट से करें और ३ या अधिक से अधिक पाँच मिनट करें। फिर हाथ का सहारा देकर पहले पीठ भूमि पर रखें, फिर धीरे-धीरे पैर नीचे रखें। इसके करने से खुश्की अधिक होती है, अत: ५ मिनट से अधिक न करें। घी-दूध आदि की मात्रा अधिक लेने पर ५ मिनट से अधिक कर सकते हैं।

लाभ—यह विपरीतकरणी सर्वांग-आसन का ही एक अंग है। इससे शीर्षासन वाले सारे लाभ प्राप्त हो जाते हैं। यह शीर्षासन से सरल और उतना ही

लाभप्रद है। सर्वांग में पीठ को और ऊपर उठाकर ९० डिग्री पर ले जाते हैं। उसमें पूरी पीठ ऊपर उठ जाती है। इससे भूख बढ़ती है, मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, झुर्री नहीं पड़ती, बाल काले हो जाते हैं। प्रतिदिन अभ्यास करने से अकाल मृत्यु नहीं होती।

हठप्रदीपिका का कथन है कि पीयूष ग्रन्थि (Pituitary gland) से जो पीयूष (अमृत) स्रवित होता है, उसे नाभिस्थित सूर्य खा जाता है, अतः बुढ़ापा आता है। इसके करने से अमृत गले में ही रुका रहता है, नाभि तक नहीं पहुँचता, अतः बुढ़ापा नहीं आने पाता।

यत् किंचित् स्रवते चन्द्राद् अमृतं दिव्यरूपिणः।
तत् सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः॥ हठ० ३.७६

१०. वज्रोली (वज्रोलि) मुद्रा

विधि—केमिस्टों के यहाँ रबर की बनी नली 'कैथेटर' मिलती है, उसे मूत्रेन्द्रिय में डाल कर धीरे-धीरे जल मूत्राशय तक पहुँचाया जाता है। बाद में दूध, तेल आदि खींचने का अभ्यास किया जाता है। इससे मूत्राशय स्वच्छ रहता है। सामान्य साधकों को इसके करने की आवश्यकता नहीं है।

११. शक्तिचालिनी मुद्रा

विधि—वज्रासन में बैठें। दोनों नासाछिद्रों से पूरा श्वास भरें और उसे मलद्वार में स्थित अपानवायु से मिलावें। फिर अश्विनी मुद्रा करें अर्थात् गुदा को १०-२० बार ऊपर खींचें और छोड़ें। इस स्थिति में प्रयत्न करें कि अन्दर की वायु सुषुम्णा के अन्दर प्रवेश करने लगे। साँस भरने के बाद अनेक बार अश्विनी मुद्रा करने से धीरे-धीरे सुषुम्णा में वायु का प्रवेश होने लगता है। ऐसा करने से कुंडलिनी शक्ति जागृत होने लगती है। अश्विनी मुद्रा के पश्चात् २-४ मिनट भस्त्रिका प्राणायाम करें। इससे कुंडलिनी का ऊर्ध्वगमन होता है। कुंडलिनी जागृत हुई है, इसकी पहचान यह है कि मेरुदण्ड के अन्दर सुषुम्णा में चींटियों के रेंगने जैसा अनुभव होने लगता है।

लाभ—इससे शीघ्र प्राणोत्थान होकर कुण्डलिनी जागृत होती है। आलस्य, प्रमाद दूर होता है। इसको स्वास्थ्यवर्धक और सर्वरोगनाशक कहा गया है।

१२. योनिमुद्रा

विधि—सिद्धासन पर बैठे। पहले काकी-मुद्रा करें अर्थात् जीभ को मोड़कर कौवे की चोंच के समान बना लें, ओष्ठ भी गोलाई में हो जाएंगे। इस

प्रकार गोलाकार मुंह से पूरक करके कुंभक करें। साथ ही कान आदि को पूरा बन्द कर लें। इसकी विधि यह है—दोनों अंगूठों से दोनों कान बन्द करें, दोनों तर्जनी से दोनों आँख, दोनों मध्यमा से दोनों नाक, दोनों अनामिका एवं कनिष्ठा को मिलाकर दोनों ओर से मुँह बन्द करें। इस क्रिया को 'षण्मुखी मुद्रा' कहते हैं।

इस प्रकार सब द्वार बन्द करके मन ही मन अन्दर 'ओम्' का जप करें। साथ ही यह भी विचार करें कि कुंडलिनी जागृत होकर चक्रों का भेदन करते हुए ऊपर आज्ञाचक्र में स्थित सहस्रदल कमल की ओर जा रही है। फिर रेचक करके श्वास बाहर निकाल दें। (घेरण्ड संहिता ३.३३-३८)

लाभ—इससे प्राण-अपान का मेल होता है और कुंडलिनी जागृत होकर ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। इसमें शिव-शक्ति के समागम की भावना की जाती है। कुंडलिनी शीघ्र जागृत होती है। दिव्य प्रकाश का दर्शन होता है और चक्र-दर्शन का क्रम प्रारम्भ होता है। इसके अनेक बार करने से समाधि की स्थिति आती है।

१३. उन्मनी मुद्रा

विधि—सिद्धासन या पद्मासन पर बैठकर दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करें। नेत्र अधखुले रखें। ध्यान आज्ञाचक्र या ब्रह्मरन्ध्र में रखें। मन में कोई विचार संकल्प या विकल्प न आने दें। मन को विचारहीन करने के कारण इसे उन्मनी मुद्रा कहते हैं। श्वास सामान्यरूप से चलने दें।

लाभ—इस मुद्रा में कोई भी विचार मन में न आने देने से अमनस्कयोग की स्थिति आ जाती है। शरीर की विस्मृति होने लगती है। प्रत्याहार की अवस्था आ जाने से बुद्धि स्थिर हो जाती है। समाधि की स्थिति आ जाती है। ज्ञान का प्रकाश उदय होने लगता है और ऋतंभरा प्रज्ञा का आभास होता है।

१४. शाम्भवी मुद्रा

विधि—सिद्धासन या पद्मासन में बैठें। 'समपृष्ठशिरोग्रीवः' होकर सीधे बैठें। नेत्रों को खुला रखें, पलकों को न हिलावें। सामने कोई लक्ष्य न रखते हुए, अमनस्क भाव से त्राटक करें। देखते हुए भी कुछ न देखें। आपका ध्यान न बटे। आपका ध्यान हृदय में स्थित कारण-शरीर की ओर रहे। इसमें त्राटक करना है। जितनी अमनस्कता होगी, उतनी ही सफलता मिलेगी। शांभवी मुद्रा की सफलता इस बात पर निर्भर है कि आँख खुली होने पर अमनस्क होने के कारण बाहर का कुछ न दिखाई पड़ना। ध्यान हृदयस्थ अन्तर्जगत् पर होगा। श्वास सामान्य रूप से चलेगा।

लाभ—इस मुद्रा की सिद्धि से उन्मनी मुद्रा के लाभ प्राप्त होते हैं। मन और बुद्धि शान्त होते हैं। साधक का ध्यान हृदय में प्रविष्ट होने लगता है। इससे

शीघ्र समाधि लगने लगती है। अन्तःकरण के तत्त्वों का साक्षात्कार सरलता से होने लगता है। शरीर की सुध-बुध भूलने लगती है और मन अन्तर्जगत् में लीन होता है। इससे मन में आनन्द की अनुभूति होती है। आँख बन्द करके ध्यान करने की अपेक्षा आँख खोलकर ध्यान लगाना कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु इसका लाभ कई गुना अधिक माना गया है।

१५. काकी मुद्रा

विधि—सिद्धासन या पद्मासन पर बैठकर, 'समपृष्ठशिरोग्रीवः' होकर सीधे रहें। ओष्ठों की सहायता से जीभ को गोल मोड़कर कौवे की चोंच की तरह बना लें। इससे पूरक करके आन्तरिक कुम्भक करें। इसके बाद 'षण्मुखी मुद्रा' करें, अर्थात् दोनों हाथ के अंगूठों से दोनों कान बन्द करें, दोनों तर्जनी से दोनों नेत्र, दोनों मध्यमा से दोनों नासाछिद्र, अनामिका और कनिष्ठा दोनों को मिलाकर ओष्ठों को दोनों ओर से बन्द करें। यथाशक्ति कुंभक करके दोनों नासाछिद्रों से धीरे-धीरे रेचक करें। इसको ४-५ बार करें।

लाभ—इससे पित्त का प्रकोप शान्त होता है। पित्तजन्य रोग नष्ट होते हैं। नेत्रों की शक्ति बढ़ती है और दिव्य ज्योति की उत्पत्ति होती है।

१६. अश्विनी मुद्रा

अश्व (घोड़ा) मल त्यागने के बाद अपनी गुदा को कई बार सिकोड़ता है और फैलाता है। अश्विनी मुद्रा में अश्व के तुल्य ही गुदा का आकुंचन और प्रसारण किया जाता है, अतः इसे अश्विनी मुद्रा कहतें हैं।

विधि—सुखासन में बैठकर गुदा को ऊपर सिकोड़ें, फिर बाहर की ओर फैलावें। इस प्रकार १०-१५ बार करें। पूरक करके या बिना पूरक किए ही इसका अभ्यास करें। इसे २-३ मिनट करें।

लाभ—इससे प्राणोत्थान और कुण्डलिनी-जागरण शीघ्र होता है। मूलाधार चक्र की शुद्धि होती है। ज्योति-दर्शन शीघ्र होता है।

१७. त्रिबन्ध-मुद्रा

इसमें जालंधर, उड्डीयान और मूलबन्ध ये तीनों बन्ध लगाए जाते हैं, अतः इसे त्रिबन्ध मुद्रा कहते हैं।

विधि—पद्मासन लगाकर बैठें। थोड़ा पूरक करें, प्रश्वास को नाभिमंडलस्थ समान वायु से मिलावें और मूलाधार से अपान वायु को ऊपर खींचे। इसके बाद तीनों बन्ध लगाकर आन्तरिक वायु को सुषुम्णा में प्रविष्ट कराने का प्रयत्न करें। इसी अवस्था में रहते हुए दोनों हथेलियाँ दोनों बगल में भूमि पर रखें। इसके पश्चात् नितम्बों को उठाकर भूमि पर धीरे-धीरे झटके से रखें। ऐसा

कई बार करें। इससे प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करने लगते हैं।

लाभ—इस मुद्रा के करने से प्राण सुषुम्णा में शीघ्र प्रवेश करते हैं। कुण्डलिनी सचेत होकर ऊपर की ओर उठने लगती है और चक्र भी क्रमशः प्रकाशित होने लगते हैं।

१८. मातंगिनी मुद्रा

विधि—इसमें जल में खड़े होकर, जलनेति वाला भरा लोटा नाक में लगाकर उसका पानी अन्दर खीचें और उस पानी को मुँह से निकालें। बाद में मुँह में जल भरकर, मुँह बन्द करके, उस जल को दोनों नाकों से निकालें। फिर मुँह में पानी भरकर अन्दर साँस से झटका देकर पिचकारी की तरह दोनों नाक से उस पानी को निकालें। इस प्रकार कई बार करें।

लाभ—यह जलनेति का ही दूसरा प्रकार है। जलनेति वाले सारे लाभ इससे होते हैं। इससे मस्तिष्क, ब्रह्मरन्ध्र और नेत्रों को शीतलता मिलती है। इससे सिरदर्द, आँख दुखना, नजला, जुकाम आदि रोग नहीं होते हैं। बाल सफेद नहीं होते। दृष्टि तीव्र होती है और मुख पर कान्ति आती है।

१९. योगमुद्रा

विधि—पद्मासन लगाकर बैठें। रेचक करके बाह्य कुम्भक करें। अब तीनों जालन्धर आदि बन्ध लगावें। धीरे-धीरे आगे झुकते हुए सिर को पृथिवी से लगा दें। छाती जितना आगे झुक सके झुकावें। इस स्थिति में जितनी देर रुक सकते हो रुकें। फिर पूरक करते हुए सिर को ऊपर उठावें। यह एक चक्र हुआ। इस प्रकार ३-४ बार करें।

लाभ—इससे शरीर स्वस्थ रहता है, मन प्रसन्न रहता है, नाड़ियों की शुद्धि होती है, प्राणों को शक्ति मिलती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यह मुद्रा धारणा-ध्यान-समाधि की प्रगति में सहायक है।

२०. तडागी मुद्रा

तडाग (तालाब) में जैसे पानी भर जाता है, उसी प्रकार पेट में वायु भर लेने के कारण इसे तडागी मुद्रा कहते हैं।

विधि—शवासन की मुद्रा में आसन पर लेट जावें। श्वास धीरे-धीरे अन्दर खींचे। अधिक से अधिक श्वास अन्दर खींचकर पेट को पूरा फुला लें। कुंभक करें और वायु को पेट के अन्दर इस प्रकार हिलावें, जैसे तालाब में जल हिलता है। कुम्भक के पश्चात् धीरे-धीरे श्वास को बाहर निकाल दें। इसे २-३ बार कर सकते हैं।

लाभ—इससे पेट के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं।

एसा अनुभव करता है जिसे वह प्रकट नहीं कर सकता है फिर भी पूर्णतः उसे छिपा भी नहीं सकता। शब्द उस अनुभूति को पूर्ण व्यक्त करने में असमर्थ होते हैं, कारण, मन ऐसे शब्दों को नहीं जानता है, जिनसे वह उसका ठीक वर्णन कर सके। यह उस शांति की अनुभूति है, जो ज्ञानातीत है।

बंध, नाड़ी एवं चक्र

प्राणायाम की विधियों का अनुसरण करने के लिए बन्धों, नाड़ियों एवं चक्रों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

बन्ध का अर्थ बन्धन, एकत्र मिलाना, शृंखला या पकड़ है। यह एक शारीरिक स्थिति भी है, जिसमें शरीर के कुछ अवयव या भाग सिकोड़े और नियंत्रित किये जाते हैं।

नाड़ी शरीर में नली मार्ग है, जिससे ऊर्जा प्रवाहित होती है।

चक्र पहिये या वर्तुल हैं, जो शरीर में शरीर-यंत्र के संतुलन पहिये हैं।

जब विद्युत्शक्ति उत्पन्न की जाती हैं तब उस शक्ति को निश्चित स्थान पर ले जाने के लिए ट्रान्स्फार्मर, कंडक्टर, फ्यूज, स्विच् और इंसुलेटेड वायर की जरूरत होती है; कारण इनके बिना उत्पन्न की गयी विद्युत्शक्ति प्राणघातक हो सकती है। जब प्राणायाम के अभ्यास से योगी के शरीर में प्राण का संचार किया जाता है तब ऊर्जा के अपव्यय को रोकने में बन्ध का उपयोग करना और अन्यत्र हानि पहुँचाये बिना उसे उचित कक्ष में ले जाना योगी के लिए समान रूप से आवश्यक हो जाता है। बन्ध के बिना प्राण घातक है।

प्राणायाम के लिए महत्त्वपूर्ण तीन मुख्य बन्ध ये हैं: (१) जालन्धर बंध, (२) उड्डीयान बंध, और (३) मूल बंध।

१. प्रथम जालन्धर बन्ध है, जिस पर योगी का अधिकार होना चाहिए। जाल का अर्थ फन्दा, जाला, जाली या झंझरी होता है। जालन्धर में गर्दन और गले को संकुचित किया जाता है और चिबुक को हँसुली और सीने की हड्डी के ऊपरी सिरे के बीच गड्ढे में टिकाया जाता है। सर्वांगासन (देखें चित्र २३३–२३४) और उसकी मालाएँ करते समय इस पर अधिकार प्राप्त किया जाता है। कारण, यहाँ पर भी चिबुक उरोस्थि पर दबाया जाता है। जालन्धर बन्ध रक्तप्रवाह और प्राण को हृदय, ग्रीवाग्रंथियों तथा मस्तिष्क सहित सिर में संचालित करता है। यदि प्राणायाम जालन्धर बंध के बिना किया जाता है तो तत्काल हृदय, आँख की पुतलियों के पीछे तथा कान के छिद्रों में दबाव का अनुभव होता है और सिर भ्रमित मालूम पड़ता है। जालन्धर बंध प्राणायाम की तीन प्रक्रियाओं--पूरक (श्वास लेना), रेचक (श्वास छोड़ना) और कुंभक (श्वास रोकना)-- में आवश्यक है।

२. उड्डीयान का अर्थ है ऊपर उड़ना। उड्डीयान बंध की प्रक्रिया में उरःप्राचीर को

ऊपर वक्षःस्थल की ओर उठाया जाता है और अधोउदरीय अवयवों को मेरुदण्ड की ओर ! कहते हैं कि उड्डीयान बंध के द्वारा महापक्षी प्राण को नाड़ी की ऊर्जा प्रवाहित होने के मुख्य मार्ग अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी से होकर उड़ने के लिए विवश किया जाता है। सुषुम्ना नाड़ी मेरुदण्ड या रीढ़स्तंभ के अन्दर स्थित है। कहा जाता है कि बन्धों में सर्वोत्तम बंध उड्डीयान है और जो अपने गुरु या शिक्षक द्वारा सिखायी गयी पद्धति से इसका सतत अभ्यास करता है, वह पुनः युवा हो जाता है। यह आसन वह सिंह है, जो मृत्युरूपी गज को मार डालता है। यह रेचक के बाद एक मात्र बाह्य कुंभक में करना चाहिए, अर्थात् पूर्ण उच्छ्वसन और नवीन श्वसन के बीच के समय में, जब श्वासोच्छ्वास क्रिया रुकी रहती है। यह उरःप्राचीर और उदर के अवयवों को व्यायाम देता है। उरःप्राचीर के उठने से निर्मित खोह हृदय की मांसपेशियों को सौम्य मालिश देता है, जिससे वह ठीक होता है। अन्तर्कुम्भक के समय अर्थात् पूर्ण श्वसन और उच्छ्वसन प्रारंभ करने के बीच के समय, जब श्वास रुका रहता है, उड्डीयान बंध कदापि नहीं करना चाहिए, अन्यथा यह हृदय और उरःप्राचीर पर दबाव डालेगा और आँखें बाहर खींची जाएँगी।

३. मूल का अर्थ जड़, स्रोत, प्रारंभ या कारण, नींव या बुनियाद है। मूल बंध गुदा और अण्डकोष की थैली के बीच का प्रदेश है। इस जगह के सिकुड़ने से नीचे की ओर गतिवाला अपानवायु (उदर के निचले भाग में स्थित प्राण) हृदयस्थ प्राणवायु के साथ गतिशील होता है।

मूलबन्ध पहले अन्तर्कुम्भक (श्वास को रोके रखना) में करना चाहिए। नाभि और गुदा के मध्य निचले उदर-प्रदेश को रीढ़ की ओर सिकोड़ा जाता है और उरः-प्राचीर की ओर खींचा जाता है। उड्डीयान बंध में गुदा से उरःप्राचीर तथा ऊपरी उरोस्थि तक सारा प्रदेश मेरुदण्ड की ओर पीछे खींचा और ऊपर उठाया जाता है। परंतु मूलबंध में गुदा और नाभि के मध्य का सारा निचला उदर का भाग सिकोड़ा जाता है, मेरुदण्ड की ओर खींचा जाता है और उरःप्राचीर की ओर ऊपर उठाया जाता है।

गुदा के समीप की संकोचक मांसपेशियों के सिकोड़ने का अभ्यास – अश्विनी मुद्रा – मूलबंध पर अधिकार प्राप्त करने में व्यक्ति की मदद करता है। अश्व का अर्थ है घोड़ा। मूत्र करते हुए घोड़े का सूचक होने से इसे अश्विनी मुद्रा कहते हैं इसे विविध आसन– विशेषतः ताड़ासन, शीर्षासन, सर्वांगासन, ऊर्ध्व धनुरासन, उष्ट्रासन तथा पश्चिमोत्तानासन करते समय सीखना चाहिए।

कहा जाता है कि इन बंधों के अभ्यास से सोलह आधार बंद हो जाते हैं। आधार (धृ धातु से–सहारा देना) का अर्थ अवलम्ब, मर्मस्थान है। सोलह मर्मस्थान हैं– अंगूठे, टखने, घुटने, जाँघ, शिश्न के ऊपर की खुली त्वचा, जननेन्द्रियाँ, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कण्ठ, तालु, नासिका, भ्रूमध्य, भाल, सिर तथा ब्रह्मरन्ध्र (सिर के

कपाल का छिद्र जिसके द्वारा, कहते हैं, शरीर छोड़ते समय आत्मा भाग जाती है)।

अनुभवी गुरु या शिक्षक के व्यक्तिगत निरीक्षण के बिना स्वयं उड्डीयान और मूलबंध सीखने के प्रयास में अत्यन्त खतरा है। उड्डीयान बंध का गलत प्रयोग अनैच्छिक वीर्यपतन का और पौरुष की हानि का कारण होगा; जब कि मूलबंध पौरुषहीन साधक को अत्यन्त दुर्बल बना देंगे। मूलबंध के उचित प्रयोग में भी खतरा बना रहता है। यह लैंगिक धारणाशक्ति की वृद्धि करता है जिससे उस शक्ति के दुरुपयोग के लिए साधक लालायित होता है। यदि वह उस लोभ के वशीभूत होता है तो उसका सर्वनाश होता है। उसकी सभी सुप्त वासनाएँ उत्तेजित की जाती हैं और लाठी से मार खाये सोये हुए सर्प की तरह प्राणघातक होती ह। तीन बंधों पर प्रभुत्व-प्राप्ति से योगी अपने गन्तव्य के चौराहे पर होता है। एक मार्ग भोग या सांसारिक आनन्द के सुखभोग की ओर जाता है; दूसरा मार्ग योग या परमात्मा से मिलन की ओर ले जाता है। सांसारिक सुखभोग का आकर्षण बहुत होता है। फिर भी योगी के लिए इन आनन्दोपभोगों के कर्ता के प्रति अधिक आकर्षण होता है। इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होती हैं और परिणामतः वे विषयों की ओर आकृष्ट होती हैं और भोग के मार्ग को अपनाती हैं। यदि इन्द्रियों की दिशा परिवर्तित की जाती है, जिससे वे अन्तर्मुखी हो जाएँ, तब वे योगमार्ग का अनुसरण करती हैं। योगी की इन्द्रियाँ सम्पूर्ण सृष्टि के स्रोत, सृष्टिकर्ता से मिलने के लिए अन्तर्मुख होती हैं। गुरु के मार्गदर्शन की वास्तविक आवश्यकता उस समय होती है जब कि साधक ने तीन बंधों पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया होता है। कारण केवल उचित मार्गदर्शन में ही यह बढ़ी हुई शक्ति उच्च एवं सुन्दर उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उदात्तत्व प्राप्त करती है। फिर साधक ऊर्ध्वरेतस् (ऊर्ध्व–ऊपर की ओर; रेतस्–वीर्य) होता है अथवा ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करता है और अपने पौरुष को नष्ट नहीं करता है। बाद में वह नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करता है। उसके अंदर की शक्ति सूर्य के समान तेजपूर्ण होगी।

मूलबंध का अभ्यास करते समय योगी सच्चे स्रोत अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि के मूल तक पहुँचने के लिए प्रयास करता है। उसका लक्ष्य पूर्ण नियंत्रण, अर्थात् चित्तबंध है जिसमें मन, बुद्धि, और अहंकार समाविष्ट हैं।

मनुष्य का शरीर स्वयं में विश्व का एक लघुरूप है। हठ यह शब्द ह और ठ इन दो अक्षरों के समूह से बना हुआ है, जिसका अर्थ क्रमशः सूर्य और चन्द्र है। कहा जाता है कि सौर एवं चान्द्र ऊर्जाएँ दो मुख्य नाड़ियों–पिंगला तथा इड़ा–से होकर बहती है, जो क्रमशः दाहिने और बायें नासिकारन्ध्र से प्रारंभ होती हैं तथा नीचे मेरुदण्ड के मूल को जाती हैं। पिंगला सूर्यनाड़ी है तो इडा चन्द्रनाड़ी है। इन दोनों के मध्य सुषुम्ना नाड़ी है जो अग्निनाड़ी है। जैसा कि पहले कहा गया है सुषुम्ना नाड़ी जीवन ऊर्जा के बहने का मुख्य मार्ग है और यह मेरुदण्ड या

रीढ़ में स्थित है। पिंगला और इड़ा एक दूसरे से होकर गुजरती हैं और इस प्रकार सुषुम्ना भी अनेक स्थानों पर उनसे होकर गुजरती है। ये संगम स्थल चक्र या पहिये कहलाते हैं और इंजिन को संचालित करनेवाले संतुलनचक्र की तरह शरीर यंत्र को संचालित करते हैं।

मुख्य चक्र हैं : मूलाधार चक्र जो गुदा के ऊपर कटिप्रदेश में स्थित है (मूल= जड़, कारण, स्रोत; आधार=अवलम्ब, मर्मस्थान); जननेन्द्रियों के ऊपर स्वाधिष्ठान चक्र (स्व=प्राणभूत शक्ति, आत्मा; अधिष्ठान=स्थान या निवास); नाभि मणिपूरक चक्र है (मणिपूरक= नाभि); नाभि और हृदय के मध्य मनस् और सूर्य चक्र (मनस्=मन; सूर्य=रवि); हृदय प्रदेश में अनाहत चक्र (अनाहत= हृदय); अन्न प्रणाली प्रदेश में विशुद्ध चक्र (विशुद्ध=पवित्र); भौहों के मध्य आज्ञा चक्र (आज्ञा=आदेश); मस्तिष्क की खोह में का सहस्रार चक्र, जो सहस्रदलों का कमल कहलाता है; और ललाट चक्र, जो भाल के ऊपर स्थित है (ललाट=भाल)।

हो सकता है कि ये चक्र अंत:स्रावक ग्रंथियों के अनुरूप हों, जो दूसरी प्रणाली के न्यासर्ग (शरीर के अन्दर का एक पुष्टिकर रासायनिक तत्त्व) और अन्तर्गत स्राव (शरीर से निकला हुआ रस या मल) की पूर्ति करते हैं। मूलाधार तथा स्वाधिष्ठान चक्र कदाचित् जननेन्द्रियों (पुरुषों के अंडाशय, शिश्न और शिश्न की ग्रंथियाँ और स्त्रियों के अंडाशय, गर्भाशय और योनी) से सम्बन्धित हैं। इन दो चक्रों के बीच जननेन्द्रियों (शिश्न और भग) का स्थान है जिसे कामदेव के नाम पर कामरूप कहते हैं। उदर के अवयव–जैसे पेट, प्लीहा, यकृत और अग्न्याशय कदाचित् मणिपूरक चक्र से सम्बन्धित हैं। सूर्य और मनस् चक्रों का संबंध संभवत: दो मूत्रपिण्डों (गुर्दों) से है। अनाहत चक्र हृदय है और मुख्य रक्तवाहिनी नलियाँ उसके चारों ओर हैं। विशुद्ध चक्र संभवत: कंठग्रन्थि, उपकंठग्रन्थि तथा हृदयासन्न ग्रन्थियों से सम्बन्धित है। आज्ञा, सहस्रार और ललाट चक्रों का सम्बन्ध मस्तिष्क की वस्तु, पीयूषग्रन्थि तथा शीर्षग्रन्थि से है।

तान्त्रिक सिद्धान्तों के अनुसार प्राणायाम का उद्देश्य शरीर में स्थित ब्रह्माण्डशक्ति कुंडलिनी को जागृत करना है। मेरुदण्ड के मूल में स्थित सबसे नीचे नाड़ी केंद्र–मूलाधार चक्र में कुण्डली मारकर सोये हुए सर्प का प्रतीक है कुंडलिनी। इस गुप्त शक्ति को जगाना होगा और मेरुदण्ड प्रदेश से चक्रों को भेदन करते हुए सहस्रार चक्र (सिर में सहस्रदलयुक्त कमल, मस्तिष्क में नाड़ियों का तंतुजाल) तक ऊपर ले जाना और वहाँ परमात्म तत्त्व से मिलना होगा। कदाचित् अत्यधिक चेतनाशक्ति का वर्णन करने की यह लाक्षणिक रीति है, विशेषत: जीवनीशक्ति, जिसे ऊपर वर्णित उड्डीयान और मूलबंध के अभ्यास से प्राप्त किया जाता है। कुंडलिनी को जगाना और उसे ऊपर ले जाना, कदाचित् वासना-शक्ति के उदात्तीकरण का प्रतीक है।

१. नौलि (= नौलिक, नलक्रिया या न्योली)—

अमन्दावर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यत: ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलि: सिद्धै: प्रचक्ष्यते ॥ (हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् कन्धों को नवाये हुए अत्यन्त वेग के साथ, जलभ्रमर के समान अपनी तुन्द को दक्षिण-वाम भागों से भ्रमाने को सिद्धों ने नौलि-कर्म कहा है ।

पद्मासन (सिद्धासन या उत्कटासन) लगाकर, जब शौच, स्नान, प्रात:सन्ध्या आदि से निवृत्त हो लिये हों और पेट साफ तथा हल्का हो गया हो, तब रेचक कर वायु को बाहर रोककर बिना देह हिलाये, केवल मनोबल से पेट को दायें से बायें और बायें से दायें चलाना सोचे और तदनुकूल प्रयास करे । इसी प्रकार सायं-प्रात: स्वेद आने पर्यन्त प्रतिदिन अभ्यास करते-करते पेट की स्थूलता जाती रहती है । तदनन्तर यह सोचना चाहिये कि दोनों कुक्षियाँ दब गयीं और बीच में दोनों ओर से दो नल जुटकर मूलाधार से हृदय तक गोलाकर खम्भ खड़ा हो गया । यही खम्भा जब बँध जाय तब नौलि सुगम हो जाती है । मनोबल और प्रयासपूर्वक अभ्यास बढ़ाने से दायें-बायें घूमने लगती है । इसी को चलाने में छाती के समीप, कण्ठ पर और ललाट पर भी नाडियों

---

१. रुद्रयामल में वस्तिकर्म का उल्लेख नहीं है ।

का द्वन्द्व मालूम पड़ता है । एक बार न्योली चल जाने पर चलती रहती है । पहले-पहल चलने के समय दस्त ढीला होता है । जिसका पेट हल्का है तथा जो प्रयासपूर्वक अभ्यास करता है उसको एक महीने के भीतर ही न्योली सिद्ध हो जायगी।

इस क्रिया का आरम्भ करने से पहले पश्चिमोत्तानासन और मयूरासन का थोड़ा अभ्यास कर लिया हो तो यह क्रिया शीघ्र सिद्ध हो जाती है । जब तक आँत पीठ के अवयवों से भलीभाँति पृथक् न हो तब तक आँत उठाने की क्रिया सावधानी के साथ करे, अन्यथा आँतें निर्बल हो जायँगी । किसी-किसी समय आघात पहुँचकर उदर रोग, शोथ, आमवात, कटिवात, गृध्रसी, कुब्जवात, शुक्रदोष या अन्य कोई रोग हो जाता है । अत: इस क्रिया को शान्तिपूर्वक करना चाहिये । अँतड़ी में शोथ, क्षतादि दोष या पित्तप्रकोपजनित अतिसारप्रवाहिका (पेचिश), संग्रहणी आदि रोगों में नौलि-क्रिया हानिकारक है ।

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादि संधापिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलि: ॥

(हठयोगप्रदीपिका)

यह नौलि मन्दाग्नि का भली प्रकार दीपन और अन्नादि का पाचन और सर्वदा आनन्द करती है तथा समस्त वात आदि दोष और रोग का शोषण करती है ।[१] यह नौलि हठयोग की सारी क्रियाओं में उत्तम है ।

अँतड़ियों के नौलि के वश होने से पाचन और मल का बाहर होना स्वाभाविक है नौलि करते समय साँस की क्रिया तो रुक ही जाती है । नौलि कर चुकने पर कण्ठ के समीप एक सुन्दर अकथनीय स्वाद मिलता है । यह हठयोग की सारी क्रियाओं में श्रेष्ठ इसलिये है कि नौलि जान जाने पर तीनों बन्ध सुगम हो जाते हैं । अतएव यह प्राणायाम की सीढ़ी है । धौति, वस्ति में भी नौलि की आवश्यकता होती है । शंखपखाली क्रिया में भी, जिसमें मुख से जल ले अँतड़ियों में घुमाते हुए पायु-द्वारा ठीक उसी प्रकार निकाल दिया जाता है जैसे शंख में एक ओर से जल देने पर घूमकर जल दूसरी राह से निकल जाता है, नौलि सहायक है ।

Scanned by CamScanner

कुण्डलिनी-साधना और तन्त्र मत

शक्ति की उपासना तो जैन-बौद्ध-शैव-शाक्त-वैष्णव आदि सभी तन्त्रमार्गों में स्वीकृत है। उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति की साधना भी स्वीकृत है। आचार्य शङ्कर ने भी कुण्डलिनी साधना को महत्त्व प्रदान किया था। वे 'सौन्दर्यलहरी' में कहते हैं—

'सुधाधारासारैश्चरणा युगलान्तर्विगलितैः,
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसः।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं,
स्वामात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि ॥१०॥'[१]

'वामकेश्वर तन्त्र' में कुण्डलिनी का परिचय देते हुए कहा गया है कि—

'भुजङ्गाकाररूपेण मूलाधारं समाश्रिता।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभाऽऽशुभा॥
मूलकन्दं कणाग्रेण दष्ट्वा कमल कन्दवत्।
मुखेन पृच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रं समाश्रिता॥
पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः।
वायुमूर्ध्वगतिं कुर्वन् कुम्भकाविष्टमानसः॥

---

१. सौ. ल.।

वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन्।
ज्वलनाघाततपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट्॥
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्यतः।
ब्रह्मग्रन्थिं च भित्वैव कमलानि भिनत्ति षट्॥
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते।
सा चावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृति कारणम्॥
'आधारकन्दमध्यस्थितसुषिरमध्ये बिसतन्तुनिभा
तत्र कुण्डलिनी शक्तिः वर्तत इति तात्पर्यम्॥' (लक्ष्मीधरा)

भगवती त्रिपुराभी 'सहस्त्रवार' में परमशिव के पास जाकर विहार करती हैं—

'मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं।
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे॥'[१]

और भगवती कुण्डलिनी भी सहस्त्रार में पहुँचने के अनन्तर सारे प्रपञ्च को अमृत से नहलाकर 'मूलाधार चक्र' के कुलकुण्ड में आकर सो जाती हैं—

'स्वामात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि॥'[२]

कुण्डलिनी-जागरण की प्रकिया

देवी कुण्डलिनी हुङ्कारपूर्वक जाग्रत होती है और षट्चक्र एवं ग्रन्थित्रय का भेदन करती हुई सहास्त्रार में अपने प्रियतम शिव के पास पहुँचकर विहार करती है—

''हुङ्कारेणैव देवीं यमनियमसमभ्यासशीलः सुशीलो,
ज्ञात्वा श्रीनाथवक्त्रात् क्रममिति च महामोक्षवर्त्मप्रकाशम्।
ब्रह्मद्वारस्य मध्ये विरचयति सतां शुद्धबुद्धिस्वभावो,
भित्वा तल्लिंगरूपं पवनदहनयोरा क्रमेणैव गुप्तम्॥५०॥''

''भित्वालिङ्गत्रयं तत् परमरसशिवे सूक्ष्मधाम्नि प्रदीपे
सा देवी शुद्धसत्वा तडिदिव विलसतन्तुरूपस्वरूपा।
ब्रह्माख्यायाः शिराया सकलसरसिजं प्राप्य देदीप्यते तन्
मोक्षाख्यानन्दरूपं घटयति सहसा सूक्ष्मताल लक्षणेन॥''

''नीत्वा तां कुलकुण्डलीं लयवशाज्जीवेन सार्द्धसुधी-
र्मोक्षे धामनि शुद्धपद्मसदने शैवे परे स्वामिनि।

---

१. सौ. ल.।
२. सौ. ल.।

Scanned by CamScanner

ध्यायेदिष्टफलप्रदां भगवतीं चैतन्यरूपां परां,
योगीन्द्रो गुरुपादपद्मयुगलाम्वी समाधौ यतः ॥''
''लाक्षाभं परमामृतं परशिवात् पीत्वा पुनः कुण्डली
नित्यानन्दमहोदयात् कुलपथान्मूले विशेत् सुन्दरी।
तद्दिव्यामृतधारया स्थिरमतिः सन्तर्पयेद् दैवतं
योगी योगपरम्पराविदितया ब्रह्माण्डभाण्डस्थितम् ॥''[१]

Scanned by CamScanner

गुरु गोरक्षनाथ की दृष्टि

गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि 'शक्तिचालिनी मुद्रा' के अभ्यास से प्राणा-कुञ्चन करके कुण्डली का चालन करना चाहिये। १५ दिनों तक वज्रासनस्थ होकर इसका अभ्यास करणीय है। वायुप्रज्वलित अग्नि कुण्डलिनी को प्रतप्त करती है। इससे कुण्डलिनी सुषुम्णा के मुख में प्रवेश करके वायु-वह्नि के साथ प्रवेश करती हुई यह कुल शक्ति **'ब्रह्मग्रन्थि'** का एवं इसके बाद रुद्रग्रन्थि का भेदन करती है—

(१) 'वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्।
सन्तप्ता साग्निना नाड़ी शक्तिस्त्रैलोक्यमोहिनी।
प्रविशेद् वज्रदण्डे तु सुषुम्णावदनान्तरे।
वायुना वह्निना सार्धं **ब्रह्मग्रन्थिं** भिनत्ति सा।
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्वा रुद्रग्रन्थौ च तिष्ठति।।'[१]

(२) वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां **कुण्डलीमाशु** बोधयेत्।।
भिद्यन्ते **ग्रन्थयो** वंशे तप्तलोहशलाकया।
तथैव पृष्ठवंशे स्याद् ग्रन्थिभेदस्तु वायुना।।[२]

'रुद्रग्रन्थि' का भेदन करने के बाद शिवात्मवाप्ति होती है—

'रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा सैव याति शिवात्मकम्।।' (योग बीज)

Scanned by CamScanner

(81) *कुण्डलिनी तत्वं और वैष्णवागम—'कुण्डलिनी' वह ब्रह्माण्डव्याप्त शाश्वत शक्ति है जिसमें सम्पूर्ण जगत कुण्डलित रहता है। यह शब्द शक्तिस्वरूप है—

(2) ना.पं. (1/3/71) (3) अहि.सं. (36/55-56)

'सैषा कुण्डलिनी शक्तिर्यस्यां कुण्डलितं जगत्।
शब्दशक्तिस्वरूपेण यथा तदवधारय।। [1]

'शिवसंहिता' में कुण्डलिनी के स्वरूप एवं उसके अवस्थान के विषय में इस प्रकार कहा गया है—

'तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता।
सार्धत्रिकारा कुटिला सुषुम्नामार्ग संस्थिता।

अर्थात् योनिमण्डल में स्थित 'कुण्डलिनी परदेवता' विद्युत के समान हैं। वह साढ़े तीन वलयों में कुण्डलित हैं और सुषुम्ना मार्ग को रोके हुए स्थित हैं।

वैष्णवागम में 'कुण्डलिनी शक्ति' का भी उल्लेख है—

'तदूर्ध्वे काम बीजं तु फलशान्तीन्दुनादकम्।
तदूर्ध्वे तु शिखाकारा कुण्डली ब्रह्मविग्रहा।। [2]

'अहिर्बुध्न्य संहिता' (32हवें अध्याय) में कहा गया है कि—

शरीरं ध्रियतेयेन तस्मिन् वसति कुण्डली।। —अहि.सं. (32/9)

अर्थात् अण्डाकार मूल कन्द है। उसी में 12 अरों वाली नाभिचक्र स्थित है। उसी के द्वारा शरीर धारण किया जाता है। उसी में कुण्डली निवास करती है। यह भी कहा गया है कि चक्र के चारों ओर आठ मुखों वाली कुण्डलिनी निवास करती है—

'वर्तते परितश्चक्रमष्टवक्त्राथ कुण्डली।। (32/11)

यह वैष्णवी कुण्डलिनी अष्ट प्राकृतिक भोगों (फणों) से उस चक्र को घेर कर सुषुम्ना नाड़ी से जाने वाले 'ब्रह्मरंध्र' को अपने मुख से आच्छादित करके स्थित है—

'अष्टप्रकृतिरूपेण भोगेना वेष्टय वैष्णवी।
ब्रह्मरंध्र सुषुम्नायाः पिदधाति मुखेन वै।। (अहि.सं. 32/12)

'कुण्डलिनी' को भारतीय योगशास्त्र में 'जगतसंसृष्टिरूपा' कहा गया है। इसे ही 'देवों द्वारा नमस्कृत वाग्देवी' भी कहा गया है—

'जगत संसृष्टि रूपा सा निर्वाणे सततोद्यता।
वाच्यमवाच्या वाग्देवी सदा देवैर्नमस्कृता।।
यह मुक्ति की ओर उन्मुख शक्ति अवाच्य है। [3]

●●●

(1) लक्ष्मी तंत्र (26/15) (2) नारद पञ्चरात्र (5/10/10)
(3) शिव संहिता (हि.पटल 24)

Scanned by CamScanner

शाक्तानन्दतरङ्गिणी में कहा गया है कि साधक को ब्राह्म मुहूर्त-वेला में उठकर प्रात:कृत्य से निवृत्त होकर भगवती के साथ परम गुरु शिव का ध्यान करना चाहिये। फिर पञ्चभूतमय तत्त्वों द्वारा स्वेष्ट देवता की पूजा करनी चाहिये। फिर गुरु की पूजा करके गुरुमन्त्र का जप करना चाहिये। फिर वाग्भवबीज 'ॐ ऐं' (या अन्य में 'क्लीं') का जप करना चाहिये—

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय चिन्तयेद्गुरुदैवतम्।
स्वमूर्द्धनि सहस्रारे शिवाख्यपरबिन्दुके।।

अर्थात् रात्रि के दो दण्ड शेष रह जाने पर ब्राह्म मुहूर्त्त में अपनी मूर्द्धा में शिव-बिन्दु सहस्रार में भगवती पराम्बा एवं भगवान् परम शिवरूप परम गुरु का ध्यान करना चाहिये। 'श्यामारहस्य' में कहा गया है कि पूजाविधान में मानसिक गन्ध-पुष्पादि समर्पित करते हुये ही वाग्भवमन्त्र का जप करना चाहिये— 'मनसा गन्धपुष्पाद्यै: सम्पूज्य वाग्भवं जपेत्'। इष्टदेव की स्तुति करनी चाहिये और 'तेजोरूपं समर्प्याथ स्तवेन तोषयेद् गुरुम्'।

नादबिन्दुयुक्त, अकथादि रेखा वाले, अलक्ष त्रय कोण वाले, सहस्रार महापद्म में स्थित, सृष्टि-स्थिति-लयात्मक परबिन्दु एवं उसकी परमा शक्ति (सार्धत्रिवलयाकारा, कोटिविद्युत्समप्रभा, परम कुण्डली) की पूजा करनी चाहिये, जो कि योनिरूपा, सनातनी

एवं नादात्मिका है— 'नादरूपेण सा देवी योनिरूपा सनातनी'। सहस्रार ही 'शिवपुर' है; अत: वहीं कल्पद्रुमाच्छादित रत्नवेदिका पर नानारत्नोपशोभित पर्यङ्क पर शब्दब्रह्मशरीरी सदाशिव एवं शक्ति की पूजा करनी चाहिये; किन्तु देवता को शब्दस्वरूप में कल्पित करना चाहिये— 'पद्ममध्ये स्थितं देवं निरीहं शब्दरूपवत्'; क्योंकि 'पादयोर्नूपुरं रम्यं शब्दब्रह्ममयं वपु:' कहा गया है। यहीं श्यामा कुण्डलिनी का भी ध्यान करना चाहिये; जैसा कि कहा भी गया है—

ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं स्वयम्भूलिङ्गसंस्थिताम्।
श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम्।
विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्वरूपिणीम्।।

जैसे ही वह शिव का मुखपद्म चूमती है और क्षण भर भी रमण करती है, वैसे ही लाक्षा रस की भाँति अमृत का स्राव होने लगता है। इसी अमृत से षट्चक्र के समस्त देवताओं की तृप्तिरूप पूजा करनी चाहिये और परदेवता का भी तर्पण करना चाहिये—

अमृतं जायते देवि ! तत्क्षणात्परमेश्वरि।
तदुद्भवामृतं देवि ! लाक्षारससमोपमम्।।
तेनामृतेन देवेशि ! तर्पयेत् परदेवताम्।
षट्चक्रदेवतास्तत्र सन्तर्प्याऽमृतधारया।।

तत्पश्चात् देवी को पुन: मूलाधार चक्र में लाना चाहिये और इसी देवी के आवागमनरूपी इसी यात्रा द्वारा मनोलय करना चाहिये— यातायातक्रमेणैव तत्र कुर्यान्मनोलयम्'।

मूलाधार में कुण्डली का प्रत्यावर्तन करने के बाद उसे सहस्रार में लाना चाहिये तथा शक्ति-शक्तिमान के सामरस्य का चिन्तन करना चाहिये—

रमित्वा शम्भुना सार्धं कुण्डली परदेवता।
मूलाधारान्महेशानि ! सहस्रारे समानयेत्।।
शम्भुगतां परां शक्तिमेकीभावं विचिन्तयेत्।
ध्यायेत् कुण्डलिनीं तत्र इष्टदेवस्वरूपिणीम्।।

भगवती को मूलाधार से स्वाधिष्ठान, स्वाधिष्ठान से मणिपूर, मणिपूर से अनाहत, अनाहत से आज्ञाचक्र, आज्ञाचक्र से बिन्दु, अर्धेन्दु आदि के यात्रापथ से सहस्रार में लाना चाहिये तथा उन जगन्मयी भुजङ्गरूपिणी देवी पराकुण्डलिनी का षट्चक्रों में ध्यान करना चाहिये। इससे ध्याता साक्षात् ब्रह्मय हो जाता है; जैसा कि कहा भी है—

षट्चक्रे परमेशानि ! ध्यात्वा जगन्मयीं शिवाम्।
भुजङ्गरूपिणीं देवीं नित्यां कुण्डलिनीं पराम्।।

Scanned by CamScanner

और पाँचवीं तुरीयातीत अवस्था ही शिव-पर्यंक है। विद्वानों ने पर्यंक और आसन को एक ही माना है और मण्डल ब्राह्मणोपनिषत् के अनुसार 'निश्चयज्ञानमासनम्' अर्थात् 'निश्चय ज्ञान ही आसन है' और 'मैं शुद्ध अद्वैत ब्रह्म हूँ' ऐसे निश्चयज्ञान से संपूर्ण वासनाएँ नष्ट होजाती हैं और तब 'सर्वपरिपूर्णतुरीयातीतब्रह्मभूतो योगी भवति' अर्थात् 'वह योगी सब प्रकार परिपूर्ण होकर तुरीयातीत अवस्था में ब्रह्मरूप होजाता है।

ब्रह्म चिदानन्दस्वरूप है, इसलिये उसकी शक्ति भी चिदानंद स्वरूपा है। तेजोविन्दु उपनिषद् के अनुसार—

केवलं तुर्यरूपोऽस्मि तुर्यातीतोऽस्मि केवलः।
सदा चैतन्य रूपोऽस्मि चिदानन्दमयोऽस्म्यहम्॥

अर्थात्—मैं केवल तुर्यरूप, केवल तुर्यातीतरूप, सदा चैतन्यरूप और चिदानन्दमय हूं।

इस प्रकार उस चिदानन्दमय ब्रह्म से उद्भूत आवेश रूप लहरें ही शांभवी शक्ति है और इस श्लोक में उसी की उत्कृष्ट उपासना की प्रेरणा दी गई है।

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि॥९॥

टीका—पृथिवी तत्व और जल तत्व को मूलाधार में, स्वाधिष्ठान में स्थित अग्नितत्व को मणिपूर में, वायु तत्व को हृदय

में, आकाश तत्व को ऊपर विशुद्ध चक्र में और मन को भी भ्रूमध्य में—इस प्रकार सर्व कुलपथ अर्थात् शक्ति-मार्ग को वेध कर सहस्रार पद्म में तू अपने पति के साथ विहार करती है।९।

व्याख्या—इस श्लोक में कुण्डलिनी शक्ति का षट्चक्र-वेध के सहित आरोहण कहा है। षट्चक्र एक प्रकार की सूक्ष्म ग्रन्थियाँ हैं, इनकी आकृति फूलों की पंखुड़ियों के समान होती है। इनके जो पृथक्-पृथक् कोश निकले रहते हैं, उन्हें पद्मदल कहते हैं।

इन चक्रों की आकृति पृथक्-पृथक् होती है, इन्हीं आकृतियों को चक्र-यन्त्र कहते हैं। इनके नाम मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र विशुद्ध चक्र और आज्ञा चक्र हैं। मूलाधार चक्र का स्थान जननेन्द्रिय से दो अंगुल ऊपर और गुदा से दो अंगुल नीचे है। इस चक्र के चार दल हैं जो कि लाल वर्ण के हैं, यह वर्ण वं शं षं सं कहलाते हैं। इसका तत्व पृथिवी और बीज लं है। इसके अधिपति ब्रह्मा माने जाते हैं। इस चक्र का वेध होने पर सब प्रकार की प्रतिभाओं के साथ सर्व शास्त्र ज्ञान का लाभ प्राप्त हो सकता है।

स्वाधिष्ठान चक्र सुषुम्ना के अन्तर्गत चित्रणी नाड़ी में मूलाधार चक्र के ऊपर पेडू पर रहता है। यह विद्युत के समान प्रकाशमान चक्र सिन्दूर जैसे वर्ण और छः दल का है। बं भं मं यं रं लं उन दलों के वर्ण हैं। इस चक्र के अधिपति नीलवर्ण वाले विष्णु हैं। इसकी सिद्धि से अहंकारादि विकारों का नाश होता है।

मणिपूर चक्र स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर नाभि मूल में रहता है। मेघ के समान नीले वर्ण के इस चक्र के दश दल हैं, जिनके

वर्ण डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं हैं। इस बीज के प्रतिपाद्य देव चतुर्भुज अग्नि हैं, जिनका वर्ण लाल है तथा अधिपति रुद्र हैं। इसके सिद्ध होने पर सृष्टि, पालन, संहार की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

अनाहत चक्र मणिपूर चक्र के ऊपर हृदय में स्थित रहता है इसके अरुण वर्ण के बारह दल होते हैं, जिनके वर्ण कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं हैं। इसका तत्व वायु और बीज य है। इस चक्र के अधिपति 'ईशान' देव हैं। इस चक्र में स्वयं ही अनाहत नाद की ध्वनि होती रहती है। यदि उपासना सकाम हो तो इससे भौतिक उपलब्धियाँ और निष्काम हो तो योग-सिद्धि और परकाया-प्रवेश की सामर्थ्य प्राप्त हो सकती है।

विशुद्ध चक्र अनाहत चक्र के ऊपर कण्ठ में होता है। इसके धूम्र वर्ण के सोलह दल होते हैं, जिनके वर्ण अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः हैं। इस चक्र के मध्य में पूर्ण चन्द्रमा के समान गोल आकाश मण्डल है इसका देवता आकाश और बीज 'हं' है। इसके सिद्ध होने पर ज्ञान के स्रोत खुल जाते और मन में आनन्द का प्रवाह दौड़ने लगता है।

आज्ञा चक्र भ्रू के मध्य स्थित है। इसके दो दल हं क्षं वर्ण के तथा श्वेत रंग के हैं। इसका तत्व महः और बीज प्रणव है। इसके अधिपति श्वेत वर्ण वाले शिव हैं। इसकी सिद्धि से साधक को सब सामर्थ्यों की प्राप्ति होती है।

षट्चक्र-वेध में ध्यान-साधना प्रमुख है। सर्व प्रथम मस्तिष्क मध्य स्थिति त्रिकुटी में तेजस्वरप ज्योति का बार-बार ध्यान करना ही उसकी अभ्यास-सिद्धि है। त्रिकुटी के पश्चात् आज्ञा-

चक्र में तेजोमय स्फुलिंग के ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। जब यह अभ्यास परिपक्व होजाय तब विशुद्ध चक्र में फिर अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान और मूलाधार चक्र में ध्यान-साधना को पुष्ट करे। उक्त छओं चाक्रों में ध्यानाभ्यास के सिद्ध होने पर, जब साधक छओं को पार कर लेता है तब उसे कुण्डलिनी रूप महाशक्ति के दर्शन होते हैं। वह रूप उस समय अत्यन्त विकराल दिखाई देता है, क्योंकि वेदने से पीड़ित हुई कुण्डलिनी फुत्कार करती हुई साधक के अनेक जन्मों के संचित संस्कारों को चबा लेती है। इस प्रकार वह मन की स्थूलता को सूक्ष्मता में परिवर्तित करती जिसे अलंकारिक भाषा में कुण्डलिनी का मन के वक्ष पर चढ़ना और शस्त्र से उसका स्थूलरूप नष्ट करना है। पुराणों में वर्णित दुर्गा-महिषासुर के युद्ध की कल्पना इसी आधार पर हुई है।

शिव-संहिता आदि ग्रन्थों में षट्चक्रों का जो उपर्युक्त क्रम दिया है, उससे यहाँ कुछ अन्तर प्रतीत होता है। चक्रों के नाम-क्रम में अन्तर होने का अभिप्राय यह हो सकता है कि उपस्थ के समीप वाले स्वाधिष्ठान चक्र के भेदन से कामवासना बढ़ती है तब वज्रौली आदि क्रियाओं से ऊर्ध्वरेता होना सिद्ध किया जाता है, यह समयाचार को अभीष्ट नहीं, वरन् कौलाचार को अभीष्ट है।

समयाचार के अनुसार वेधक्रम इस प्रकार है कि मूलाधार के भेदन से पृथिवी तत्व और जलतत्व का भी भेदन करना चाहिए। फिर स्वाधिष्ठान को छोड़ कर मणिपूर में अग्नि का भेदन करते हैं, परन्तु स्वाधिष्ठान चक्र में ऊपर जल और नीचे अग्नि, इन दोनों का सन्धिस्थान होने से अग्नि के प्रदीप्त होजाने पर मूलाधार के भेदन से मूलाधार के पृथिवीतत्व और स्वाधि-

ष्ठान के जलतत्व दोनों का भेदन एक साथ ही हो जाता है,'हंसो-पनिषत्' से भी ऐसा ही सिद्ध होता है—

'गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य' इत्यादि (हं० उ०६-९) के अनुसार सनत्कुमार कहते हैं कि 'प्रथम गुदा को खींचकर आधार चक्र की वायु को बाहर निकाले और स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणाएँ करके मणिपूर चक्र में अनाहत चक्र का अतिक्रमण करे। फिर विशुद्ध चक्र में प्राणों का निरोध कर आज्ञाचक्र के ध्यान पूर्वक ब्रह्मरन्ध्र का ध्यान करे। इस प्रकार 'मैं त्रिमात्र आत्मा हूँ' यह ध्यान करने से आधार चक्र से ब्रह्मचक्र पर्यन्त जो नाद होता रहता है, वह शुद्ध स्फटिक के समान परमात्म ब्रह्म कहा जाता है।

चक्रों का स्थान मेरुदण्ड के भीतर सुषुम्ना नाड़ी में होता है। गुदा के पीछे कन्द संज्ञक मांसपेशी है,जिसकी नाभि में कुण्डलिनी साढे तीन कुण्डल डाले हुए स्वयंभू लिंग पर शयन करती है और जब वह जागती है तब स्वाधिष्ठान चक्र में रहती है। उस अव-स्था में जीव बिन्दु रूपी शिव तथा कुण्डलिनी जीवस्वरूपा शक्ति कहलाती है। आज्ञा चक्र में चढ़ने पर उसी को त्रिपुरा कहते हैं। वही सहस्रार में शिव के साथ सायुज्यता को प्राप्त होती है। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार—

मूलाधारादा ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा। तन्मध्ये तटित्कोटिसमा मृणालतन्तुसूक्ष्मा कुण्डलिनी। तत्र तमोनिवृत्तिः। तद्दर्शनात्सर्वपापनिवृत्तिः ॥

अर्थात्—मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सूर्य के समान आभा वाली सुषुम्ना नाड़ी है और उसके मध्य विद्युत् जैसी एवं मृणा

लतन्तु के समान सूक्ष्म कुण्डलिनी है, उसमें तमोगुण की निवृत्ति होती और उसके दर्शन से सभी पाप नष्ट होते हैं ।

भेदन के समय शक्ति की गति मूलाधार से सहस्रार की ओर और सहस्रार से उतरते समय मूलाधार की ओर होती है, उस समय वह नाड़ियों को अमृत से सींचती हुई उतरती है । इनदोनों गतियों में आरोह उन्नेय भूमिका और अवरोह अन्वयभूमिका संज्ञक होता है । इन दोनों भूमिकाओं के सिद्ध होने पर ही याग को सिद्धि समझनी चाहिए । योगचूडामण्युपनिषत् के अनुसार 'ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित्' अर्थात् 'जो इनके ऊपर-नीचे जाने को समझता है वही योग का जानने वाला है ।'

सुधाधाराऽऽसारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः
प्रपंचं सिंचन्ती पुनरपि रसाम्नाय महसा ।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानंकृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणी ।१०।

टीका—हे कुहरिणी ! अपने दोनों चरणों के मध्य से वर्षती हुई सुधा-धाराओं से प्रपंच को सीचती हुई और छओं तेजोमय रसाम्नाओं से होती हुई (या छओं चक्रों के द्वारा सिंचन करती हुई) अपनी भूमि में उतर कर स्वयं को सर्पिणी के समान साढ़े तीन कुण्डल लगा कर तुम कुलकुण्ड में शयन करती हो ॥१०॥

व्याख्या—इस श्लोक में यह प्रेरणा है कि आज्ञाचक्र में शक्ति का ध्यान करना चाहिए । इस चक्र की विशेषता सुदृढ़ इच्छा शक्ति का विकास करना है । इस चक्र में भेदन होते ही कुण्ड-

लिनी शक्ति किसी प्रकार की बाधा के बिना ही सहस्रार कमल में पहुँच कर शिव से सायुज्य प्राप्त कर लेती है।

इसी कुण्डलिनी शक्ति को प्राणधारिणी प्राणविद्या कहा गया है 'कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी' इत्यादि (योगचूड़ामण्युपनिषत्) और कहा है कि 'प्राण ही अमृत है' इससे इसे सुधावर्षिणी कहना युक्ति संगत ही है। 'पैंगलोपनिषत्' के अनुसार साधक जब 'ततोऽभ्यास पटुत्वात् सहस्रशः सदाऽमृत-धारा वर्षति, अर्थात् अभ्यास पटु होजाता है तब सदा अमृत की सहस्रों धाराएँ बरसती रहती हैं।

तात्पर्यदीपिका के अनुसार—

आधारादि षट्कमलदलेषु पातिता द्वादशान्तस्थितचन्द्र-मण्डलात्सृता अमृतविन्दवोऽकारादिक्षकारान्तवर्णात्मना परिणताः उक्तं ह्याचार्ये—

मूलाधारात्स्फुरिततड़िदाभा प्रभा सूक्ष्म रूपो—
द्गच्छन्त्यामस्तकमणुतरा तेजसां मूलभूता ।
सौषुम्णाध्वाचरणनिपुणा सा सवित्रानुविद्धा—
ध्याता सद्योऽमृतमथ रवेः स्रावयेत् सार्धसोमात् ।
शिरसि निपतित या विन्दुधारा सुधाया ।
भवति लिपिमयीसा ताभिरंग मुखाद्यम् ॥

अर्थात्—'आधारादि षट्कमल के दलों में पातित द्वादशान्त स्थित चन्द्रमण्डल से निःसृत अमृत की बूँदें अकार से क्षकार के अन्त तक वर्णरूप में परिवर्तित होजाती हैं। आचार्यों का कहना है कि मूलाधार से स्फुरित विद्युत की आभा के समान प्रभावयुक्त सूश्मरूप से निकली हुई, मस्तक से लेकर अणुतर तेज की मूलभूत

सुषुम्ना के मार्ग से संचरण करने में निपुण एवं सविता से अनुबद्ध उसका जब ध्यान किया जाता है, तब वह तुरन्त ही सार्ध, सोम, रवि से अमृत का स्राव किया करती है। मस्तक पर गिरी हुई वह अमृत की बिन्दुधारा जब लिपिमयी होती है तब उससे मुखादि अंग भी परिपूर्ण होजाते हैं।

और शिवसूत्र में वर्णों की विशेषता इस प्रकार व्यक्त की गई है—

अकारादिक्षपर्यन्ताः कलास्ताः शब्दकारणम् ।
मातरः शक्त्योदेव्यो रश्मयश्च कलाः स्मृतः ॥

अर्थात्— 'अकारादि से क्षकार तक जो कला हैं, वे शब्द का कारण, मातायें, दैवीशक्ति और रश्मियाँ कहलाती हैं।' इसके अतिरिक्त 'क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम्' के अनुसार 'कुण्डलिनी शक्ति वर्णमाला की रचना किया करती है।

जब कुण्डलिनी का अवरोह होता है, उस समय विभिन्न नाड़ी-चक्रों से होने वाले अमृत स्राव से सम्पूर्ण शरीर में नख से शिख पर्यन्त सिचन हुआ करता है। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् के अनुसार 'तालुचक्रं तत्रामृतधारा प्रवाहो' इत्यादि से 'तालुचक्र में अमृत की धार निरन्तर बहती रहती है।' कुण्डलिनी जिस मार्ग से चढ़ती है, उसी से उतर कर पुनः अपने स्थान पर साढ़े तीन कुण्डल लगाकर शयन करती है। इसका यह अभिप्राय समझना चाहिए कि कुण्डलिनी जब ऊपर उठ जाती है, तब मूलाधार में वह नहीं रहती और मूलाधार में लौटकर ही पुनः सोती है। अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि मूलाधार में जो अनन्त शक्ति भरी पड़ी है, उसमें कभी कोई कमी नहीं होती,

वरन् जागृत हुई कुण्डलिनी ऊपर चढ़ती है तब भी उसका सम्बन्ध मूलाधार से बना रहता है।

फिर शास्त्र में स्पष्ट ही कहा है कि—

> चक्रं सहस्रपत्रं तु ब्रह्मरन्ध्रे सुधाधरम्।
> तत्सुधासारधाराभिरभिवर्धयते तनुम् ॥

अर्थात्– अमृत के धारण करने वाले ब्रह्मरन्ध्र में जो सहस्र-दल वाला चक्र है, वह सुधा की धाराओं से शरीर को पुष्ट करता रहता है।

आम्नाय का अभिप्राय मार्ग से है, योगतत्वोपनिषत् के अनुसार 'वायुना यह चित्तं च प्रविशेच्च महापथम्' इत्यादि से योगी के लिए वायु सहित अग्नि और कुण्डलिनी का साधन करके भावना पूर्वक सुषुम्ना प्रवेश करके वहाँ के अवरोध को जीतकर वायु के सहित महापथ में अग्रसर होना कहा है। इससे आगे कहा है—

> भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पंचकः ।
> येषु पंचसु देवानां धारणा पंचधोच्यते ॥

अर्थात्—जिसका चित्र वायु सहित सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है, उसके लिए पृथिवी, जल, अग्नि,, वायु और आकाश इन पंचमहाभूत रूपी देवताओं की पाँच प्रकार की धारणा होती है।

उक्त श्लोक में प्रपंच का तात्पर्य शरीर से है। शरीरस्थ नाड़ियां रस के स्राव द्वारा शरीर को पुष्ट करती रहती हैं। क्योंकि जिस साधक को शरीर प्रिय हो उसे उसका पुष्ट होना अभीष्ट है ही। 'योगतत्वोपनिषत् के अनुसार—

परब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्क्रान्तिरिष्यते ।
अथ नो चेतममुत्स्रष्टुं स्वशरीरं नियम् ॥
सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादिगुणान्वितः ।
कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गे महीयते ॥

अर्थात्—(देह छोड़ने पर) जो परब्रह्म में लीन हो जाता है, उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। यदि उसे शरीर प्रिय हो तो वह शरीर में स्थित रहकर अणमादि सिद्धियों से युक्त होकर सभी लोकों में विहार कर सकता है और जब कभी चाहे तब स्वर्ग में देवता भी हो सकता है।

महसा का अभिप्राय महान से है, अमरकोष के अनुसार 'महस्तूत्सवतेजसो:' अर्थात् 'महत् का अर्थ उत्सव और तेज है' इसलिए उक्त श्लोक का 'रसाम्नाय' पद अमतयुक्त एवं तेजोमय आम्नाय से होगा इसलिए उक्त पदों का भावार्थ शक्ति के योग से नाड़ियों से अमृत-सिचन द्वारा शरीर रूपी प्रपंच का पुष्ट होना ही मान्य हो सकता है।

सकार को षट्रसों का आधार बताते हुए कहा है—

सोमं चामृतनायं च सुधासारं सुधानिधिम् ।
सकारं षड्रसाधारं नामभिः परिकीर्तितम् ॥

अर्थात्—सोम, अमृतनाय, सुधासार, सुधानिधि रूपी सकार षट्रसों का आधार है, जिसे उक्त नामों से बताया गया है।

इस प्रकार रसाम्नाय का अभिप्रायः रस सींचने वाली नाड़ियों से है, जिससे कि शरीर की पुष्टि होती है और साधना में शरीर का पुष्ट या स्वस्थ रहना आवश्यक है, क्योंकि रोगी

शरीर से साधना नहीं हो सकती, वरन् रोग साधना में विघ्न-स्वरूप होता है।

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पंचभिरपि
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।
त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्च त्रिवलय-
त्रि रेखाभिः सार्धं तव शरण कोणाःपरिणताः।११।

टीका—चार श्रीकण्ठ और पाँच शिवयुवतियाँ इन नौ मूल प्रकृतियों से तुम्हारे निवासरूप तेंतालीस त्रिकोण बनते हैं, वे शम्भु के विन्दुस्थान से भिन्न तथा तीन वृत्तों और तीन रेखाओं सहित अष्ट और षोडश दलों से युक्त हैं ॥११॥

व्याख्या—श्रीचक्र-निर्माण में मेरु, कैलास और भूः के भेद तीन प्रकार माने जाते हैं, इन तीनों में ही शक्ति-स्थान तथा अर्चन-विधि में भिन्नता है। मेरुचक्र में सोलह नित्या कलाओं से, कैलासचक्र में आठ मातृका शक्तियों से और भूःचक्र में आठ वशिनी देवियों से सम्बन्धित चक्र होता है।

श्रीचक्र ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों का ही प्रतीक है। क्योंकि ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों में ही समान शक्तियों की विद्यमानता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार यह सम्पूर्ण विश्व बानवे मूल तत्वों से बना है। प्रत्येक तत्व का निर्माण परमाणुओं से हुआ है। परमाणु के मध्य न्यूक्लियस होता है, जिसका व्यास एक इंच के लाखवें भाग का भी सौ लाखवाँ भाग है। इस न्यूक्लियस को केन्द्र मानकर जो इलेक्ट्रोन घूमते रहते हैं, वे केन्द्र से मिलने के लिए सदा उत्सुक रहते हैं। परमाणु में न्यू-

योग में कुम्भक करते समय मूल उड्डीयान और जालंधर तीन प्रकार के बंध करने का उपदेश दिया है। इन बंधों को एक बार में ही करने से पीठ और उसके अंदर मेरुदंड और उससे सम्बन्धित स्नायुओं का बहुत अच्छा व्यायाम हो जाता है। इसमें मांसपेशियाँ फूलती है और फिर सिमट जाती है, जिससे इन पेशियों तथा मेरुदंड और स्नायुओं में रक्त की गति बढ़ जाती है। स्नायुजाल को स्वस्थ रखने के लिये सबसे अच्छा प्राणायाम कपालभाति है।

कुछ शरीरोपयोगी बंध—यौगिक क्रियाओं में अनेकों प्रकार के बंध बताए गये हैं। जिनमें प्रमुख हैं। (1) मूल बंध (2) उड्डीयान बंध (3) जालंधर बंध (4) महाबंध।

(1) मूल बंध—मूल बंध गुदा एवं (मूत्रेन्द्रिय) के बीच के स्थान को बन्द करने का नाम मूल बंध है। बायें पैर की एड़ी को गुदा एवं लिङ्ग के बीच में अच्छी तरह से जमाकर दबाना है और नीचे जाने वाली अपान वायु को बल के साथ ऊपर की ओर खींचना है। इसमें सिद्धासन होना जरूरी है।

इसमें अपान वायु ऊपर की ओर जाकर प्राण वायु के साथ मिलती है। कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपर की ओर बढ़ती है, जिससे किसी भी कोष्ठ में रुकावट दूर होती है। पाचन शक्ति तेज होती है। वीर्य उर्ध्वरेतस् होता है। इससे अनेकों लाभ हैं। इसलिये इसे अवश्य करना चाहिये।

(2) उड्डीयान बंध—दोनों जंघाओं को मोड़कर पैरों के तलवों को परस्पर भिड़ाकर पेट के नाभि के नीचे ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींचकर रीढ़ के हड्डी से ऐसा लगा दें कि पेट के स्थान पर गड्ढा सा दिखने लगे। पेट को अंदर की ओर जितना अधिक खींचा जायेगा उतना ही ये बंध अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षी के समान सुषुम्णा की ओर उड़ने लगता है। इसलिए इसे उड्डीयान बंध कहा जाता है।

लाभ—प्राण वायु और वीर्य का ऊर्ध्वमुखी होना, पाचनशक्ति का बढ़ना और फेफड़े का शक्तिशाली होना इस बन्ध का लाभ है।

जालन्धर बन्ध—कण्ठ को सिकोड़कर मजबूती के साथ ठोड़ी को कण्ठ कूप लगाये सीना तना रहे तथा हृदय से ठोड़ी 4 अङ्गुल दूर रहे इसे स्वर सुधीर होता है तथा प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करता है।

महाबन्ध—महाबन्ध के दो प्रकार हैं—पहला है कि बांये पैर की एड़ी को लिङ्ग और गुदा के बच में जमाये। जंघा के ऊपर दाहिने पैर को रखकर सीधा होकर जिस नासिका छिद्र से श्वास चल रहा हो उसी से पूरक प्राणायाम करके जालन्धर बन्ध लगाये, फिर मूलद्वार से वायु को ऊपर की ओर खींचकर मूलबन्ध लगाये मन को मध्य नाड़ी में लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करें। उसके बाद दूसी नासिका से धीरे-धीरे रेचक फिर श्वास का अनुलोम विलोम करें।

दूसरी विधि है पद्म अथवा सिद्धासनस्थ होकर लिङ्ग (योनि) और गुह्य प्रवेश को सिकोड़कर अपान वायु को ऊपर की ओर खींचे और फिर उसे नाभि में स्थित समानवायु के साथ मिलाकर हृदयस्थ प्राणवायु को नीचे की ओर करके प्राण और अपान वायुओं के साथ नाभिस्थल पर दृढ़रूप से कुम्भक करें।

इससे प्राणवायु ऊपर की ओर होती है, जिससे वीर्य की शुद्धि होती है। इडा, पिङ्गला और सुषम्णा का मिलन होने से बल की अपार वृद्धि होती है। इस प्रकार प्राणायाम शरीर को पूर्ण स्वस्थ रखकर आयु वृद्धि का मूल कारण है।

षट्कर्म और उनकी रोग निवारण में भूमिका—रुद्रयामल तन्त्र के चौबीसवें और पच्चीसवें पटल में नेती, दन्ती, धौती, नौली और त्राटक पांच कर्म

Scanned by CamScanner

'स्वामात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि।

कुण्डलिनी जागरण प्रक्रिया—देवी कुण्डलिनी हुङ्कारपूर्वक जाग्रत होती है और षट्चक्र एवं ग्रन्थित्रय का भेदन करती हुई सहस्रार में अपने प्रियतम शिव के पास पहुँचकर विहार करती हैं—

'हुङ्कारेणैव देवीं यमनियमसमभ्यासशीलः सुशीलो।
ज्ञात्वा श्रीनाथवक्त्रात् क्रममिति च महामोक्षवर्त्मप्रकाशम्।।
ब्रह्मद्वारस्य मध्ये विरचयति सतां शुद्धबुद्धिस्वभावो।
भित्वा तल्लिंगरूपं पवनदहनयोरा क्रमेणैव गुप्तम्।।
"भित्वालिङ्गत्रयं तत् परमरसशिवे सूक्ष्मधाम्नि प्रदीपे।
सा देवी शुद्धसत्वा तडिदिव विलसतन्तुरूपस्वरूपा।।
ब्रह्माख्यायाः शिराया सकलसरसिजं प्राप्य देवीप्यते तनु।
मोक्षाख्यानन्दरूपं घटयति सहसा सूक्ष्मताल लक्षणेन्।।"

"नीत्वा तां कुलकुण्डलीं लयवशाज्जीवेन सार्द्धसुधी-
र्मोक्षे धामनि शुद्धपद्मसदने शैवे परे स्वामिनि।
ध्यायेदिष्टफलप्रदां भवगतीं चैतन्यरूपां परां,
योगीन्द्रो गुरुपादपद्मयुगलम्बी समाधौ यतः।।"
"लाक्षाभं परमामृतं परशिवात् पीत्वा पुनः कुण्डली।
नित्यानन्दमहोदयात् कुलपथान्मूले विशेत् सुन्दरी।।
तद्दिव्यामृतधारया स्थिरमतिः सन्तर्पयेद् दैवतं।
योगी योगपरम्पराविदितया ब्रह्माण्डभाण्डस्थितम्।।

अर्थात् तन्त्रशास्त्र में मूलाधार में सर्प के समान कुण्डली मार कर स्थित है, इसे ही शक्ति कुण्डलिनी कहते हैं। यह कुण्डलिनी जब जगती है, तब हुंकार की ध्वनि होती है और षट्चक्र और तीन ग्रन्थियों को तोड़ती हुई सहस्रदल कमल में अपने प्रियतम शिव के साथ पहुँच कर विहार करती है। इसे कोई सामान्य मनुष्य नहीं जगा सकता। इसे यम-नियम, आसनादि का अभ्यास करने वाला व्यक्ति ही जगा सकता है, जिसने श्रीनाथ के मुख से क्रमानुसार अभ्यास किया हो। ऐसा शुद्ध बुद्धि स्वभाव वाला व्यक्ति ब्रह्मद्वार के मध्य में पवनदहन योग के आक्रमण से प्रतप्त तथा स्वयम्भू लिंग को घेर कर आधी त्रिवली के आकार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति को जो कि हुंकार बीज का उच्चारण करते हुए जगाता है और स्वयंभू लिंग के छिद्र से निकाल कर उसे ब्रह्मद्वार तक पहुँचाता है। पहले कुण्डलिनी अनाहत चक्र स्थित बाण लिंग का, फिर आज्ञाचक्र स्थित आज्ञा लिंग का भेदन करती हुई ब्रह्मनाड़ी की सहायता से सहस्रदल कमल में प्रवेश करती है और फिर वहाँ परमानन्दमय शिव में प्रतिष्ठित हो जाती है। यह योगी का काम है कि वह अपने जीवभाव के साथ कुलकुण्डलिनी को मूलाधार से उठा कर बिन्दु शिव के साथ समरस कर दे, वहाँ सहस्रार के कुण्डलिनी लाक्षावर्ण के समान परमामृत का पान कर तृप्त हो जाती है। उसके बाद परमानन्द की अनुभूति को मन में रखते हुए पुनः मूलाधार चक्र में लौट आती है। यही है कुण्डलिनी जागरण योग। इसकी सिद्धि योगी को जीवन्मुक्त बनाती है तथा योगी साक्षात् शिवरूप हो जाता है।

Scanned by CamScanner

'बंधपूर्वकं पंचविंशत्युत्तरशतविपलपर्यंतं यदा प्राणायामस्थैर्यं भवति तदा प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छति । ब्रह्मरंध्रं गतः प्राणो यदा पंचविंशतिपलपर्यंतं तिष्ठति तदा प्रत्याहारः। यदा पंचघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा धारणा । यदा षष्टिघटिकापर्यन्तं तिष्ठति तदा ध्यानम्। यदा द्वादशदिनपर्यंतं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्वं रमणीयम्। '[१]

पण प्राणायामाची सिद्धी होणे आवश्यक आहे. ती होणेकरिता तीन महिनेपर्यंत अभ्यास कसा केला पाहिजे हे मागील श्लोकात सांगितले आहे. जालंधरबंध, उड्डियानबंध व मूलबंध या तीन बंधांनी युक्त असा प्राणायामाचा अभ्यास व्हावा यांपैकी जालंधरबंध व उड्डियानबंधाची सूचना श्रीमहाराजांनी, 'हृदि स्थाप्य हनुं' व 'पश्चादाकर्षितोदरः' या दोन वाक्यांनी केली आहे. तिसरा मूलबंध, हठयोगप्रदीपिकेत अधिक सांगितला आहे. या तीनही बंधांची संक्षिप्त लक्षणे टीकाकारांनी सांगितली आहेत. ती अशी -

(१) कंठाकुंचनपूर्वकं चिबुकस्य हृदिस्थापनं जालधरबंध :,

(२) 'प्रयत्नविशेषेण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबंधः,

(३) पार्ष्णिभागेन (गुल्फयोरधः प्रदेशः) योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं (योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं) गुदस्याकुंचनं मूलबंधः[२]

प्रत्येक बंधाचे फल तेथेच दाखविले आहे. मूलबंधाचे वर्णन करीत असताना हठयोगप्रदीपिकाकार सांगतात -

---

[१]बंधपूर्वक केलेल्या प्राणायामाचा जेव्हा १२५ विपळे स्थिर होतो तेव्हां तो ब्रह्मरंध्रांत प्रवेश करतो. ब्रह्मरंध्रांत गेलेला प्राण जेव्हां २५ विपळांपर्यंत टिकतो तेव्हां प्रत्याहार (होते). जेव्हां (तो प्राण) पांच घटकांपर्यंत (ब्रह्मरंध्रांत) राहतो ती धारणा. जेव्हां ६० घटका (प्राण ब्रह्मरंध्रांत) राहतो ते ध्यान. (आणि) बारा दिवसपर्यंत (प्राण ब्रह्मरंध्रांत स्थिर झाला की समाधि असे हे सर्व रमणीय आहे.

[२]१) गळा ओढून हनुवटी छातीला टेकवणे हा जालंधरबंध. २) विशेष प्रयत्नांनी बेंबीचा भाग पाठीकडे खेंचणे हा उड्डियाणबंध. ३) टांचेच्या खालच्या भाग योनिस्थानावर (गुद आणि लिंग यांच्यामधली शिवण) जोराने दाबून गुदाचे आकुंचन हा मूलबंध.

'अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वन्हिमण्डलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ।।६६।।
ततो यातो वन्ह्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ।।६७।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्तासंप्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ।।६८।।
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगाभिः सदा ।।६९।।[१] (ह. यो. प्र. ३)

या श्लोकावर टीकाकारांनी सविस्तर विवरण केले आहे. ते पहावे. कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन सुषुम्नानाडीत प्रवेश करते असे फल मूलबंधाचे दिले आहे. प्राणायामाभ्यासाचे वेळी तीनही बंधांची आवश्यकता पुढील श्लोकात दाखविली आहे.

'अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः।। ४६।। (ह.यो.प्र. २)

हे तीनही बंध गुरूमुखातून नीट समजून घ्यावेत (१४ । १५)

भस्त्रिका

समासीनो यतास्योऽन्तः प्राणं दक्षिणया त्यजेत्।
सारं लगति हृत्कंठकपोलावध्यसौ यथा।। १६।।

लोहकारस्य भस्त्रावच्छक्त्याश्वापूर्य रेचयेत्।
वामां मध्यानामिकाभ्यां धृत्वा जाते श्रमे विधेः।। १७।।

[१] *अपान वर चढू लागला की तो अग्निमंडलांत जातो तेव्हां त्या वायूच्या आघाताने अग्नीची मोठी ज्वाळा निर्माण होते. त्या अग्नि आणि अपानवायूंमध्ये उष्ण असा प्राणवायू शिरतो. त्यायोगें देहस्थित अग्नीचा मोठा भडका होऊन त्या प्रदीप्त अग्नीने झोंपलेली कुंडलिनी संतप्त होऊन काठीने मारलेल्या नागिणीसारखी फूत्कार करीत (वेटोळीं सोडून) सरळ होते आणि बिळांत शिरावे तशी ब्रह्मनाडीत (सुषुम्णेत) प्रवेश करते. त्यासाठी योग्यांनी नित्य मूलबंधाचा अभ्यास करावा.*

पीत्वा प्राणं कुम्भयित्वा धृत्वाङ्गुष्ठेन दक्षिणम्।
वामया रेचयेन्मन्दं तथाथ प्राग्वदाचरेत्।। १८।।
द्विनाड्यभ्यासाद्यामार्धं शक्तिर्मार्गं ददात्यरम्।
भस्त्रेयं सर्वदोषघ्नी रूक्पापघ्न्यपि सिद्धिदा।। १९।।

अर्थ :- समस्थितीत ताठ बसून, मुख झाकून, आतला वायू उजव्या नाकपुडीने बाहेर टाकावा म्हणजे रेचक करावा. तो जोराने आवाज होईल असा करावा. हृदय, कंठ व गाल यांच्यापर्यंत तो प्राण जाऊन पोचेल इतक्या जोराने रेचक करावा. डावी नाकपुडी, मध्यमा व अनामिका या दोन बोटांनी दाबून धरून, उजव्या नाकपुडीनेच, लोहाराच्या भात्याप्रमाणे शक्तीप्रमाणे लवकर लवकर वायू आत घेऊन बाहेर सोडावा. येथे फक्त पूरक व रेचकच आहे. कुंभक नाही. असे करीत असता श्रम झाले तर विधीप्रमाणे प्राणवायू आत घेऊन म्हणजे पूरक करून, उजवी नाकपुडी आंगठ्याने दाबून धरून कुंभक करावा व डाव्या नाकपुडीने रेचक सावकाश करावा. नंतर पूर्वीप्रमाणे डाव्या नाकपुडीने पूरक व रेचक सारखे, जलद, जोराने करावेत. याप्रमाणे क्रमाने दोनी नाकपुडींनी, अर्धा प्रहरपर्यंत पूरक व रेचक यांचा रोज अभ्यास केला तर त्याने शक्ती शीघ्र मार्ग देते ही सर्व कफादी दोषांचा नाश करणारी, रोग व पाप यांचा नाश करणारी, सिद्धिदायक अशी भस्त्रा नावाची क्रिया आहे. (१६-१७-१८-१९)

विवरण :- या चार श्लोकांत, भस्त्रिका कशी करावी, व तिचे फल काय हे श्रीमहाराजांनी सांगितले आहे. कुंभकाचे आठ प्रकार हठयोगप्रदीपिकाकारांनी दाखविले असून त्यांपैकी भस्त्रिका या प्रकाराचे विशेष वर्णन केले आहे. ते श्लोक असे

'सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा प्लाविनीत्यष्ट कुंभकाः ।। ४४।।

याप्रमाणे कुंभकाचे आठ प्रकार दाखविले. भस्त्रिकेचे सविस्तर विवेचन पुढील श्लोकातून आले आहे -

'ऊर्वोरूपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ।। ५८।।

सम्यक्पद्मासनं बध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ।। ५९।।

यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम् ।
वेगेन पूरयच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ।। ६०।।

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ।। ६१।।

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ।
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ।। ६२।।

यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ।
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम् ।। ६३।।

विधिवत्कुभकं कृत्वा रेचयेदिड्यानिलम् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ।। ६४।।

कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थ कफाद्यर्गलनाशनम् ।। ६५।।

सम्यग्गात्रसमुद्भूत ग्रंथित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदम् ।।६६।।

(हठयोगप्रदीपिका २)

पद्मासन घालून भस्त्रिकेचा अभ्यास करावा असे हठयोगप्रदीपिकाकारांचे मत आहे याला श्रीमहाराजांचा विरोध दिसत नाही. या अभ्यासाचे वेळी तोंड बंद पाहिजे. उजव्या नाकपुडीने रेचकपूरक सारखे जोराने प्रथम करावेत. असे करीत

असता दमल्यासारखे वाटल्यास उजव्या नाकपुडीने पूरक करून रेचक न करता, उजवी नाकपुडी बंद करून कुंभक करावा व डाव्या नाकपुडीने रेचक प्रथम सावकाश करावा आणि मग पूर्वीप्रमाणे डाव्या नाकपुडीने रेचक पूरक जोरात सुरू करावेत. कुंभकानंतर रेचक करणे असल्यास, तो मात्र सावकाशच केला पाहिजे. लोहाराच्या भात्याप्रमाणे वारा घेण्याचे व सोडण्याचे काम सारखे चालू ठेवावे. हा डाव्या नाकपुडीने रेचक पूरकाचा अभ्यास चालू असल्यास श्रम वाटल्यास पूर्वीप्रमाणे डाव्या नाकपुडीने पूरक झाल्याबरोबर ती बंद करून कुंभक करावा व उजव्या नाकपुडीने पूर्वीप्रमाणे रेचक पूरक जोराने सारखे सुरू करावेत. हा अभ्यास अर्धा प्रहरपर्यंत तरी करावा असे श्रीमहाराज सांगतात. हा भस्रिकाभ्यास एकेका नाकपुडीने क्रमाने करावा यापेक्षा दुसरी पद्धत अशी की -

डावी नाकपुडी बंद करून उजव्या नाकपुडीने प्रथम पूरक करावा. लगेच ती नाकपुडी बंद करून डाव्या नाकपुडीने रेचक करावा. म्हणजे एका नाकपुडीने पूरक व दुसऱ्या नाकपुडीने रेचक असे सारखे जलद करावे. असे शंभर वेळ करून श्रम वाटल्यास, पूरकोत्तर कुंभक करून डावीने सावकाश रेचक करावा आणि नंतर डावीने पूरक व उजवीने रेचक असा अभ्यास सुरू करावा. पूर्वीच्या पद्धतीत अभ्यासाचा आरंभ रेचकापासून असून, रेचक - पूरक दोनीही एकाच नाकपुडीने करावयाचे आहेत आणि दुसऱ्या पद्धतीत, अभ्यासारंभ पूरकापासून असून एकीने पूरक तर लगेच दुसरीने रेचक करावयाचा आहे. या दोन्हीही पद्धती, हठयोगप्रदीपिकेच्या द्वितीयोपदेशातील चौसष्टाव्या श्लोकाच्या टीकेत ब्रम्हानंदांनी दाखविल्या आहेत तो ग्रंथ असा -

भस्राकुंभकस्येवं परिपाटी। वामनासिकापुटं दक्षिणभुजा-नामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य दक्षिणनासिकापुटेन भस्रावद्वेगेन रेचकपूरकाः कार्याः। श्रमे जाते तेनैव नासापुटेन पूरकं कृत्वांऽगुष्ठेन दक्षिणं नासापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं धारयेत्। पश्चादिडया रेचयेत्। पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य

वामनासिकापुटेन भस्त्रावझ्झटिति रेचकपूरका: कर्तव्या:। श्रमे जाते तेनैव नासिकापुटेन पूरकं कृत्वाऽनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासिकापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदित्येका रीति:।

वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य दक्षिणानासापुटेन पूरकं कृत्वा (तत्) झटित्यगुंष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन रेचयेत्। एवं शतधा कृत्वा श्रमे जाते तेनैव पूरयेत्। बंधपूर्वकं (कुंभकं) कृत्वा इडया रेचयेत्। पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा झटिति वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य पिंगलया रेचयेद् भस्त्रावत्। पुन: पुनरेवं कृत्वा रेचकपूरकावृत्तिश्रमे जाते वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा (तत्) अनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां धृत्वा कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदिति द्वितीया रीति:।'

या भस्त्रिकेच्या दोन पद्धतींपैकी पहिली पद्धती श्रीमहाराजांनी येथे सांगितली आहे. ही भस्त्रिका सुप्त कुंडलिनी शक्तीला जागृत करणारी असून, सुषुम्नानाडीतील वायूच्या गतीला प्रतिबंधक असणारे कफादिदोष नष्ट करणारी आहे. 'शक्तिमार्गिददात्यरं' 'सर्वदोषघ्नी' या पदांनी, श्रीमहाराजांनी हेच सुचविले आहे. भस्त्रिकाकुंभक, त्रिदोषहर असून तो सर्वदा हितकर आहे असे टीकाकार सांगतात.

'सर्वेषां कुंभकांना सर्वदा हितत्वेऽपि सूर्यभेदनोज्जायिनावुष्णौ प्रायेण शीते हितौ। सीत्कारीशीतल्यौ शीतले प्रायेणोष्णे हितौ। भस्त्राकुंभक: समशीतोष्ण: सर्वदा हित:। सर्वेषां कुंभकाना सर्वंरोगहरत्वेऽपि, सूर्यभेदेनं प्रायेण वातहरं । उज्जायी प्रायेण श्लेष्महर: । सीत्कारीशीतल्यौ प्रायेण पित्तहरे । भस्त्राख्य: कुंभक: त्रिदोषहर इतिबोध्यम् ।'[१]

[१] *सर्वच कुंभक सर्वकाळ हितकर असले तरी सूर्यभेदन आणि उज्जायी हे उष्ण असून बहुधा शीतकाळांत हितकर असतात. तसेच सीत्कारी आणि शीतली हे शीतल असल्याने उष्णकाळांत हितकर असतात. भस्त्रा कुंभक मात्र सर्वकाळीं हितकर असतो. सर्वच कुंभक सर्वच रोग दूर करतात. तरी पण सूर्यभेदन मुख्यतः वातहारक आहे. उज्जायी मुख्यतः कफहारक व सीत्कारी शीतली मुख्यतः पित्तहारक आहेत. भस्त्रा कुंभक मात्र तीनही दोषांचा निवारक आहे हे ध्यानांत ठेवावे.*

याप्रमाणे भस्राकुंभक विशेष महत्त्वाचा असल्याने तो अवश्य नेहमी करावा. बाकीचे कुंभक यथासंभव करावेत असे ब्रह्मानंद लिहितात

'अतएव इदं भस्रा इत्याख्यायस्येति भस्राख्यं कुंभकं तु विशेषेणैव कर्तव्यं अवश्यकर्तव्यमित्यर्थ:। सूर्यभेदनादयस्तु यथासंभवं कर्तव्या:'

म्हणून भस्रिकेचाच अभ्यास येथे श्रीमहाराजांनी सांगितला आहे.

(१६-१७-१८-१९)

शक्तिचालन

शिश्ननाभ्यन्त:स्थकंदं सति वज्रासने पदौ ।
धृत्वा दृढं प्रपीड्यारं भस्रां सिद्धासनास्थित: ।। २०।।

समाकुंचितनाभिर्द्राक्कुर्याच्छक्तिश्चलत्यत: ।
यामार्धाभ्यासतो धैर्यान्मध्यनाड्यां समुद्‌गता।। २१।।

ऊर्ध्वाकृष्टा भवत्किंचिच्छक्तिर्नाडीमुखं त्यजेत् ।
तत: स्वतो व्रजत्यूर्ध्वं प्राणोऽतस्तां विचालयेत ।। २२।।

चालनात्सर्वसिद्ध्यप्तिर्मडलाद्योगिनो न तु ।
रूग्भ्यो भयं यमाच्चापि नेतोऽन्यन्नाडिशोधनम् ।। २३।।

अर्थ :- वज्रासन घालून आपले दोनी पाय हातांनी धरून; पायांच्या टाचानी शिश्न व नाभि यांच्यामध्ये नऊ अंगुले असणाऱ्या कंदावर ताडन करावे. नंतर सिद्धासनावर बसून गुरूपासून समजून घेतलेल्या परिधान युक्तीने नाभीचे आकुंचन करून लवकर लवकर भस्रिका करावी. यामुळे शक्ती चलित होते. असाच धैर्यने अर्धा प्रहरपर्यंत अभ्यास केल्याने सुषुम्नानाडीमध्ये सावध झालेली शक्ती किंचित् वर आकृष्ट होते व सुषुम्नानाडीचे मुख सोडून देते. नंतर मार्ग मोकळा झाल्यामुळे प्राणवायू आपोआप वर ब्रह्मरंध्राकडे जाऊ लागतो. म्हणून त्या शक्तीचे चालन करावे. या शक्तीचालनाभ्यासाने योगी पुरुषाला सर्व सिद्धींची

प्राप्ती चाळीस दिवसांत होते. रोगांचे व यमाचेही भय राहात नाही. या शक्तिचालनाशिवाय दुसरे नाडी शुद्धीचे साधन नाही. (२०-२१-२२-२३)

विवरण :- या चार श्लोकांमध्ये शक्तिचालन नावाच्या मुद्रेचे विवेचन श्रीमहाराजांनी केले आहे. हठयोगामध्ये एकंदर दहा मुद्रा सांगितल्या आहेत त्या अशा आहेत -

'महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्डयानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ।। ६।।
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ।। ७।।

(हठयोगप्रदीपिका ३/६-७)

१) महामुद्रा, २) महाबन्ध, ३) महावेध, ४) खेचरी, ५) उड्डयानबंध, ६) मूलबंध, ७) जालंधरबंध, ८) विपरीतकरणी, ९) वज्रोली, १०) शक्तिचालन

अशा दहा मुद्रा योगशास्त्रामध्ये दाखविल्या आहेत. यापैकी जालंधरबंध, उड्डयानबंध, खेचरी, विपरीतकरणी, वज्रोली व शक्तिचालन या सहा मुद्रांचा उल्लेख योगरहस्यामध्ये श्रीमहाराजांनी केलेला आहे. त्यातही, शक्तिचालनमुद्रेचे विवेचन या चार श्लोकात सुस्पष्ट केले आहे.

शक्ती म्हणजे कुंडलिनी. तिचे चालन करणे म्हणजे तिला हालविणे, जागे करणे असा सामान्यत: शक्तिचालन शब्दाचा अर्थ आहे. कुंडलिनीची सात नावे पुढीलप्रमाणे आहेत.

'कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ।
कुंडल्यरुंधती चैते शद्बाः पर्यायवाचका: ।। १०४।।'(ह. यो. प्र. ३)

योगासंबंधी असणाऱ्या शास्त्रामध्ये कुंडलिनी ही सापाप्रमाणे ३।। वेटोळे घालून, शेपूट मुखात घेऊन, मूलाधारात म्हणजे गुदाच्यावर दोन बोटे या

स्थानात सुषुम्नारूप ब्रह्माचे द्वार अडवून निजली आहे, असे वर्णन केलेले आढळते. पायाच्या तळव्यापासून मस्तकावरील केसापर्यंत आपल्या हाताच्या बोटांनी ९६ बोटे इतके प्रमाण शरीराचे आहे. शरीराच्या बरोबर मध्यभागी ४८ बोटांवर कुंडलिनीचे निवासस्थान आहे. याबद्दल हठयोगप्रदीपिकाकार स्पष्टीकरण करतात -

'कंदोर्ध्वं कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ।। १०७।।'

(ह. यो. प्र. ३)

कंदाच्यावर कुंडलिनी शक्ती निजलेली आहे. तिचे चालन करण्याकरिता कंद ताडन करावे असे 'शिश्नाभ्यंतस्थकंदं प्रपीड्य' या वाक्याने श्रीमहाराज येथे सुचवीत आहेत. कंद म्हणजे काय ते पुढील श्लोकात सांगितले आहे -

'ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबर लक्षणम्।। ११३।।'

(ह.यो.प्र.३)

गुदस्थानापासून वर एक वीतभर म्हणजे बारा बोटे, या मापाचे, ज्याची लांबी रुंदी चार बोटे आहे असे, मऊ, शुभ्र, एखाद्या कमलांतरी गुंडाळलेल्या वस्त्रासारखे हे कंदाचे स्वरूप आहे असे योगी लोकांनी वर्णन केले आहे.

श्रीमहाराजांनी टीकेमध्ये, 'शिश्ननाभ्यंतःस्थं नवांगुलकंदं' असे सांगितले आहे. याचा अभिप्राय असा आहे की -

गुदापासून दोन बोटे सोडून एक बोट मापाचे शरीराचे मध्यस्थान आहे. त्या मध्यस्थानापासून नऊ अंगुले कंदस्वरूप आहे. म्हणजे गुदापासून ते बारा अंगुले म्हणजे वीतभर आहे असे हठयोगप्रदीपिकाकारांना म्हणावयाचे आहे म्हणजे काही विरोध नाही. याबद्दल याज्ञवल्क्य असे सांगतात -

'गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेंढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः।
देहमध्यं तनोर्मध्यं मनुजानामितीरितम्।।

कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलं।
चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम्।।

अंडाकृतिवदाकार भूषितं च त्वगादिभिः।
चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगम्।।'[१]

श्रीगोरक्षनाथही कंदाचे विवेचन पुढील श्लोकात करतात-

'ऊर्ध्वं मेंढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत् ।
तत्रनाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः।।'[२]

याप्रमाणे कंदस्थानामध्ये राहाणारी कुंडलिनी शक्ती, कंदताडनाने जागृत होऊन सुषुम्ना नाडीतून वर जाऊ लागते. त्यामुळे प्राणही ब्रह्मरंध्राकडे जाऊ लागतो आणि पुढे क्रमाने तो ब्रह्मरंध्रात स्थिर झाला असता, प्राणायाम, प्रत्याहार इत्यादी पुढील अंगाची सिद्धी होते. इतकेच नाही तर, या शक्तिचालनाच्या अभ्यासाने, चाळीस दिवसात सर्व सिद्धीचा लाभ होतो, नाडी शुद्धी होते, इत्यादी फल याचे सांगितले आहे. या अभ्यासाचा प्रकार सर्व योग्य गुरूकडूनच समजून येईल. (२०-२१-२२-२३)

---

[१] *गुदाच्या दोन अंगुळे वर आणि लिंगाच्या दोन अंगुळे खाली देहाच्या मधोमध मानवांच्या शरीराचा मध्यबिंदु (तंत्रग्रंथांत) सांगितला आहे. मनुष्यांच्या कंदाचे ठिकाण ह्या देहाच्या मध्यबिंदूपासून नऊ अंगुळे वर चार अंगुळे लांब आणि तेवढेच रुंद आहे. त्याचा आकार अंडाकृतीप्रमाणे असून त्याच्यावर त्वचादींनी ते सजवलेले आहे. चतुष्पाद, पक्षी इत्यादि तिर्यक् प्राण्यांत ते उदराच्या मध्यावर असते.*

[२] *लिंगाच्या वर आणि बेंबीच्या खाली पक्ष्याच्या अंडाच्या आकाराची कंद नांवाची योनि आहे तिथून (शरीरांतील) बाहत्तर हजार नाड्या उगम पावतात.*

खेचरी मुद्रा

चालितायामपि प्राणो बद्धा चेद्रसना सुखम् ।
वज्रत्यूर्ध्वं सिद्धिपूर्वं राजयोगपदप्रदः ।। २४।।

अर्थ :- कुंडलिनी शक्तीची हालचाल सुरू झाली असता, जिव्हा जर एका विशिष्ठ ठिकाणी ठेवली तर प्राणवायू , सुखाने वर ब्रह्मरंध्राकडे जातो व तो आणिमादिसिद्धी देऊन राजयोगाचीही भूमिका देतो (२४)

जिव्हां मूलशिरां छित्वा रोममात्रं प्रघर्षयेत् ।
पथ्यासैंधवचूर्णैर्गां प्राग्वत्सप्तदिनैर्मुहुः ।। २५।।
षण्मासादिति जिव्हाधः शिराबंधो विनश्यति ।
मुद्रा स्यात्खेचरी त्र्यध्वे योजितावाङ्मुखीकला ।। २७।।

अर्थ :- जिभेच्या खाली असणारी शीर, एक केसभर छेदाची आणि हिरडा व सैंधव यांचे चूर्ण तेथे चोळावे. याप्रमाणे सात दिवसांनी पुन: पूर्वीप्रमाणे छेदन वगैरे करावे. असे सहा महिनेपर्यंत केले असता, जिभेच्या खाली असणाऱ्या शिरेचे बंधन नष्ट होते. नंतर तीन नाड्यांच्या मार्गात पडजिभेच्यावर असणाऱ्या छिद्रामध्ये, वर अग्र करून ती जीभ घातली असता, खेचरी मुद्रा सिद्ध होते. (२५ - २६)

विवरण :- वरील श्लोकामध्ये खेचरी मुद्रेचे महत्त्व प्रतिपादन केले आहे. खेचरीचे लक्षण हठयोगप्रदीपिकाकार असे करतात.

'कपालकुहरे जिव्हा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।।' (३।३२)

पडजिभेपासून वर मस्तकापर्यंत असणाऱ्या छिद्रामध्ये जीभ घालून, दृष्टी भ्रुमध्यावर ठेवून बसणे म्हणजे खेचरी मुद्रा होय. टीकाकारांचे स्पष्टीकरण असेच आहे -

'कपालकुहरे जिव्हाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरंतर्दर्शनं खेचरीतिलक्षणं सिद्धम् ।'

याकरिता जीभ बरीच लांब करावी लागते. तो अभ्यास २५ व २६ या श्लोकांमध्ये सुचविला आहे. जीभ किती लांब झाली पाहिजे व त्याकरिता कोणते उपाय रोज केले पाहिजेत ते हठयोगप्रदीपिकाकारांनी पुढील श्लोकात सांगितले आहे -

'छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद् भ्रुमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ।।' (३।३३)

जीभ तोंडाबाहेर काढली असता ती वर भुवयांच्या मध्यापर्यंत जाऊन पोचली पाहिजे इतकी लांबी जिभेची झाली पाहिजे. त्याकरिता छेदन, चालन व दोहन असा तीन प्रकारचा अभ्यास सहा महिनेपर्यंत करण्यास सांगितले आहे. जिभेच्या खाली जी शीर आहे ती तोडली असता हळूहळू जिभेची वाढ करता येते. त्याकरिता छेदन हा पहिला उपाय. तो सुद्धा एकदम न करता पहिले दिवशी, निवडुंगाच्या पानाप्रमाणे अत्यंत तीक्ष्ण सूक्ष्म शस्त्राने केसभरच ती शीर कापून हिरडा व सैंधव यांच्या वस्त्रगाळ केलेल्या चूर्णाने त्या कापलेल्या जागी चोळावे. याप्रमाणे सात दिवस करावे. नंतर आठवे दिवशी आणखी केसभर ती शीर जिभेच्या खालची कापावी व हिरडा-सैंधव यांच्या चूर्णाने ती जागा चोळावी. याप्रमाणे छेदन व घर्षण हा अभ्यास चालू असतानाच, चालन व दोहन हेही उपाय चालू ठेवावेत. चालन म्हणजे -- दोन्ही हातांचे अंगठे व तर्जनीत जीभ धरून, ती बाहेर उजव्या व डाव्या बाजूने हळूहळू खेचणे. तसेच दोहन म्हणजे - दोनी हातांच्या आंगठ्यात व तर्जनीत जीभ धरून ती धार काढतात त्याप्रमाणे सारखी तोंडाबाहेर खाली खाली ओढणे. याप्रमाणे, छेदन, चालन, दोहन हा अभ्यास रोज चालू केला असता जिभेच्या खाली असणाऱ्या शिरेचा बंध तुटून जीभ लांब होते. नंतर ती तोंडाच्या आतच पाठीमागे वळवून पडजीभेच्यावर असणाऱ्या छिद्रातून ती लांब झालेली जीभ, आतून भुवईपर्यंत घालून बसणे म्हणजे खेचरी

मुद्रा होते. इडा, पिंगला व सुषुम्णा या तीन नाड्या पडजीभेच्या वरच्या छिद्रातून वर जातात. त्या मार्गाने जीभेचे अग्र मस्तकापर्यंत नेऊन बसणे. याबद्दलचे हठयोगप्रदीपिकाकारांचे श्लोक असे आहेत.

'स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।३४।।

ततःसैंधव-पथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।३५।।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्ययुक्तं समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबंधः प्रणश्यति ।।३६।।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ।।३७।।

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमापि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ।।३८।। (तृतीयोपदेश)

हा सर्व विषय श्रीमहाराजांनी २४ ते २६ या तीन श्लोकातून व त्यांच्या टीकेतून चर्चिलेला आहे. छेदन, चालन व दोहन याबद्दल टीकाकार ब्रह्मानंदाचे स्पष्टीकरण असे आहे -

'एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्र छेदनं, सप्तदिनपर्यंतं तावदेव सायंप्रातश्छेदनं घर्षणं च। अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यन्तं युक्तः सन् समाचरेत्'।

'चालनं, हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनं। दोहः करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनं। तैः कलां जिव्हां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् तावत्। कियत्, यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः।' (२४ - २५ - २६)

सहज्जिव्हा चरत्यस्य खे कदापि स्पृशन्ति नो।
विषार्तिरुग्जराक्षुत्तृण्निद्रातंद्रामृतिक्रिया:।। २७।।

स्त्र्याश्लेषितस्यापि बिंदुर्न क्षरत्यूर्ध्वमेति स:।
चलितश्चेद्योनिमुद्राबद्धो मुक्त: स भोग्यपि।। २८।।

अर्थ :- याची जिव्हा मनासह आतील आकाशात संचार करते. याला विषाची बाधा, रोग, म्हातारपण, भूक, तहान, झोप, ग्लानी, मृत्यू इत्यादिकांचा केव्हाही स्पर्श होत नाही. (२७)

स्त्रीने आलिंगन दिले असताही याचे वीर्य चलित होत नाही. ते वरच जाते. कदाचित् चलित झाल्यास वज्रोली मुद्रेने प्रतिबद्ध होऊन वर जाते. खाली येत नाही. असा हा भोगी असूनही मुक्त आहे. (२८)

विवरण :- वरीलप्रमाणे सहा महिनेपर्यंत व्यवस्थित अभ्यास होऊन खेचरी मुद्रा सिद्ध झाली असता तिचे फल या दोन श्लोकांत दाखविले आहे. या मुद्रेला खेचरी असे नाव का दिले याचे उत्तर, सहज्जिव्हा चरत्यस्य खे' या वाक्याने श्रीमहाराजांनी दिले आहे. अन्तर्मुख झालेले मन व जिव्हा ही दोनीही भ्रूमध्यातील आकाशात, आज्ञाचक्रात स्थिर होऊन राहातात. त्यामुळे या पुरुषाला कोणत्याही विषाची बाधा होत नाही. भूक, तहान, झोप व मृत्यू यांचाही संबंध सुटतो. इतकेच नव्हे तर, हा खेचरी सिद्ध झालेला पुरुष ऊर्ध्वरेता होतो. याचे वीर्यस्खलन कधीही होत नाही. वीर्य सतत ऊर्ध्वगामी बनते. हाच विषय हठयोगप्रदीपिकेत पुढील श्लोकातून वर्णिलेला आहे -

'चित्तं चरति खे यस्माज्जिव्हा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता।। ४१।।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वत:।
न तस्य क्षरते बिंदु: कामिन्याश्लेषितस्य च।। ४२।।

चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।। ४३।।

(हठयोगप्रदीपिका तृतीयोपदेश)

प्रपंचात व परमार्थात विशेष उन्नती होण्याकरिता ब्रह्मचर्याची आवश्यकता आहे याबद्दल विचारी पुरुषांचे दुमत नाही. वीर्याचे रक्षण करणे म्हणजेच ब्रह्मचर्य होय. पण वीर्याचे रक्षण कोणत्या प्रकाराने होते याचे ज्ञान फारच थोड्या लोकांना आहे. बहुतेक डॉक्टर लोक असे सांगतात की, वीर्यरक्षण करण्याकरिता कामाचा वेग रोखला गेला तर नाना प्रकारचे रोग होणेचा संभव आहे. या त्यांच्या सांगण्याचा अर्थ असा आहे की, वीर्य तयार झाल्यानंतर त्याची बाहेर पडण्याची प्रवृत्ति असते. तो वेग रोख णे हानिकारक आहे. पण अत्यंत विषयासक्तीमुळे अस्वाभाविक रीतीने अनावश्यक परिमाणात वीर्य बनवून ते नष्ट करण्याने तर फारच मोठी हानी आहे. अशा मनुष्याला क्षयासारखे भयंकर रोग उद्‌भवतात. ही गोष्ट निश्चित आहे की अत्यंत विषयासक्तीत सापडल्याने अस्वाभाविक रीतीने वीर्य बनून ते नष्ट होऊ लागले तर शरीर धारण करणाऱ्या धातूवरच तो कुऱ्हाडीचा आघात होत आहे. पण स्वाभाविक रीतीने वीर्य बनून जर त्याचे रक्षण होऊ शकेल तर ब्रह्मचर्य पालनाचा पूर्ण लाभ होऊ शकतो. डॉक्टरांच्या मतानुसार वीर्याची उत्पत्ती अशी होते - पुरुषाला जेव्हा कामाचा वेग उत्पन्न होतो तेव्हा त्याचे रक्त वेगाने अंडकोशातील ग्रंथीकडे येऊ लागते. त्या ग्रंथीतून निघणाऱ्या एका विशिष्ट रसाचे संमिश्रण त्या रक्तात झाले असता रक्ताचे, लाल रंगाचे कीटाणू वीर्याच्या श्वेत कीटाणू रूपाने परिणाम पावतात. या कीटाणूंमध्ये जननशक्ती असते. हे जर बाहेर टाकले तर काही हानी नाही. त्यांचे कार्य, बाहेर पडून स्त्रीच्या गर्भाशयात गर्भस्थिति करणे हेच आहे. हे जर रोखले जातील तर स्वप्नदोष व प्रमेहादी रोग होण्याचा संभव आहे. अशी स्थिति असल्यामुळे ब्रह्मचर्यपालनाचे काय तात्पर्य आहे, ही गोष्ट विचारणीय ठरेल असे डॉक्टर लोकांचे मत आहे.

आमच्या महर्षींचे सांगणे असे आहे की, वीर्य म्हणजे प्राणशक्तीच असल्याने ते नष्ट होण्याने प्राणशक्तीचाच ऱ्हास होणारा आहे. अपानशक्तीचे उत्थान झाल्यानंतर उदानरूपी अग्नीच्या संयोगाने वीर्याची प्राणशक्ती उर्ध्वगामिनी होते. अशा योगी पुरूषाचे वीर्य स्खलित होत नाही आणि मैथुनसमयी स्खलित झाले तरी त्याचे ब्रह्मचर्य व्रत नष्ट होत नाही. वज्रोलिमुद्रा म्हणून योग शास्त्रामध्ये एक मुद्रा आहे. या मुद्रेची सिद्धी अभ्यासाने, त्या योग्याने मिळविली असल्याने, स्वप्नदोषामुळे इंद्रियात उतरलेले किंवा मैथुनसमयी बाहेर पडलेलेही वीर्य तो योगी पुन: वर खेचू शकतो. ते वीर्य पुन: वर चढू लागते. पण ते वीर्याशयात किंवा मूत्राशयात पुन: प्रवेश करीत नाही, तर उदानशक्तीच्या उष्णतेने योनिस्थानातील रुधिरात मिळून जाते. आणि त्यामुळे प्राण, वेगाने सुषुम्ना नाडीतून ऊर्ध्वगामी होत राहतो. योगी लोक, या प्रक्रियेला रजवीर्याचा योग मानतात. याबद्दल प्रमाण असे -

'योनिस्थाने महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसन्निभम् ।
रजो वसति जंतूनां देवीतत्त्वं समाहितम् ।।
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृत: ।'

(योगशिखोपनिषत्)

याचा अर्थ :- प्रत्येक जीवाच्या शरीरात योनिस्थानरूप महाक्षेत्रामध्ये, जास्वंदीच्या फुलासारख्या रंगाचे रज असते. याला देवीतत्व म्हणतात. त्या रजाचा व वीर्याचा संयोग झाला असता राजयोगाची प्राप्ती होते. गुद व उपस्थ या दोघांच्यामध्ये, शिवणीच्यावर त्रिकोणाकृति असे एक मृदू स्थान आहे, यालाच योनिस्थान म्हणतात. त्याठिकाणी वीर्य चढले असता उष्णता उत्पन्न होते. जी वीर्य आणि रज यांचा योग करणाऱ्या रासायनिक क्रियेची सूचक होते. याबद्दल आणखीही प्रमाण असे -

'गलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले ।
ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।।
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ।
स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा।।
पाण्डुरं शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ।
विद्रुमद्रुमसंकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः ।।
शशिस्थाने वसेद्बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्।।'
(योगचूडामणि उपनिषत्, ध्यानबिन्दु उपनिषत्)

याचा अर्थ :- गलित झालेले वीर्य जेव्हा योनिस्थानामध्ये नेले जाते तेव्हा ते अग्निमध्ये पडून दग्ध होऊ लागले असता, ते वज्रोलीमुद्रेच्या अभ्यासाने वर खेचून घेतले जाते. त्या बिंदूमध्ये दोन प्रकार आहेत. एक श्वेत दुसरा रक्त. श्वेत बिंदूला वीर्य म्हणतात, लाल बिंदूला रज म्हणतात. पोवळयासारखा रंग असलेले रज योनिस्थानात राहाते. वीर्य वीर्याशयरूपी चंद्रस्थानात वीर्य राहाते. या दोघांचे ऐक्य होणे फार दुर्लभ आहे. असे ऊर्ध्वरेते योगी पुरूष गृहस्थातही असू शकतात. वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, व्यास इत्यादि उदाहरणे प्रसिद्ध आहेत. याप्रमाणे खेचरी व वज्रोली दोनही मुद्रांचे महत्व श्रीमहाराजांनी या श्लोकातून सुचविले आहे. कुंडलिनी जागृत झाल्यावाचून मात्र या दोनही मुद्रांची सिद्धी होऊ शकत नाही. (२७-२८)

विपरीतकरणी

सुधान्त:स्रवतीन्दोस्तां ग्रसत्यर्कस्ततो जरा।
अध:शीर्षोर्ध्वपत्तिष्ठेद्बह्वाहार: शनै: शनै:।। २९।।

याममात्रं तत: सिद्धिर्व्यस्तेयं करणीष्टदा।
वलीपलितवेपघ्नी मृत्युहर्त्री सुधाप्रदा।। ३०।।

अर्थ :- टाळूपासून आत अमृतस्राव होत असतो ते अमृत जठराग्नीमध्ये पडून भस्म होते. त्यामुळे म्हातारपण येते. म्हणून खाली मस्तक आणि वर पाय करून रहावे. हळूहळू एक प्रहरपर्यंत अशा स्थितीत राहता आले म्हणजे सिद्धी प्राप्त होते. यामुळे आहार हळूहळू अधिक वाढतो. या स्थितीला विपरीत - करणी असे म्हणतात. अंगावर सुरकुत्या पडणे, अकाली केस पांढरे होणे, शरीर कापणे इत्यादि दोष दूर करणारी, अमृत देणारी मृत्यूला दूर सारणारी अशी ही विपरीतकरणी आहे. (२९-३०)

विवरण :- दहा मुद्रांपैकी विपरीतकरणी नावाची मुद्रा व तिचे फल या दोन श्लोकांमध्ये श्रीमहाराजांनी सांगितले आहे - माणसाला म्हातारपण का येते याबद्दल योगशास्त्रकारांचे असे म्हणणे आहे की - टाळूच्या मूल भागात असणाऱ्या चंद्रापासून अमृतस्राव होत असतो. अमृत खाली पडते, ते नाभीस्थानात असणारा अग्निस्वरूप सूर्य तो भक्षण करतो. त्यामुळे शरीराला म्हातारपण येते. हा विषय पुढील श्लोकात आलेला आहे -

'यत्किंचिद् ग्रसते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिण: ।
तत्सर्वं ग्रसते सुर्यस्तेन पिंडो जरायुत:।।' (ह.यो.प्र.३। ७७)

याबद्दल टीकाकारांनी गोरक्षनाथांचेही प्रमाण दिले आहे.

'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मक: ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूलेच चन्द्रमा:।।
वर्षत्यधोमुखश्चद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रवि: ।
करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ।।'

हे अमृत खाली पडू नये याकरिता खेचरीमुद्रा सांगितली, तशीच ही विपरीतकरणी मुद्राही सांगितली आहे. ते अमृत खाली पडू नये याकरिता पाय वर व मस्तकाचा भाग खाली करून राहाणे ही विपरीतकरणी येथे श्रीमहाराजांनी सांगितली आहे. म्हणजे नाभिपासून पायापर्यंतचा भाग वर गेल्यामुळे तो सूर्य वर

झाला व अमृतस्रावी चंद्र खाली आला. त्यामुळे आता ते अमृत सूर्यरूपी अग्नीत न पडता तसेच शरीरात राहू शकते. याचा अभ्यास कसा करावा हे पुढील श्लोकातून दाखविले आहे -

'ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरध:शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ।। ७९।।

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्य: साधकस्य च ।। ८०।।

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अध:शिरश्चोर्ध्वपाद: क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ।। ८१।।

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ।। ८२।।

(ह. यो. प्र. ३)

अभ्यासाचा प्रकार टीकाकारांनी पुढीलप्रमाणे स्पष्ट दाखविला आहे - 'कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्यबाहुमूलादारभ्य कूर्मरपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां, स्कंधाभ्यां, गलपृष्ठभागशिर: पृष्ठभागाभ्यांच भूमिमवष्टभ्याध:शिरो भवेत्। ऊर्ध्वमुपर्यन्तरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपाद: प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् । दिने दिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणं एकदिन वृद्धया अभ्यसेत्।'

प्रथम उताणे पडून दोनी हातांनी कंबर धरून तो कंबरेपासून खालचा पायापर्यंत असलेला भाग वर उचलावा. याप्रमाणे संपूर्ण शरीर हळूहळू हाताच्या कोपरांनी, नंतर खांद्यांनी धरून कंठाचा व मस्तकाचा मागील भाग भूमीवर टेकून बाकी सर्व शरीर वर करून पहिल्या दिवशी एक क्षणभरच रहावे. असा अभ्यास दुसरे दिवशी, तिसरे दिवशी क्षणाक्षणांनी वाढवावा. याप्रमाणे एक प्रहर अशा स्थितीत राहाता आले म्हणजे विपरीतकरणी सिद्ध झाली. जरा व मृत्यूला जिंकणारी

श्रीस्वामीमहाराजप्रणीत कुंडलिनीयोग

'मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिका: क्रमात् ।
एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते ।।'

(योगशिखोपनिषत्)

मंत्रयोग, लययोग, हठयोग व राजयोग असे चार योगाचे प्रकार वरील श्लोकात दाखविले आहेत. गुरूपदिष्ट मंत्राचा जप, सच्छास्त्राचा अभ्यास, मंत्रदेवतेचे चिंतन हा सर्व मंत्रयोग होय. याचे फल समाधिसिद्धी हे आहे. चित्त लीन, वृत्तिशून्य होणे याला लययोग म्हणतात. षट्चक्रांच्या वेधाने प्राण स्थिर झाला असता लययोग सिद्ध होतो. गुद, उपस्थ, नाभी, हृदय, कंठ व भ्रूमध्य या सहा स्थानात क्रमाने आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध व आज्ञा या नावांची सहा चक्रे आहेत. काही ठिकाणी आठ चक्रे तर काही ठिकाणी नऊ चक्रेही दाखविली आहेत. ती अशी -

'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूर्ययोध्या ।
तस्यां हिरण्मय: कोश: स्वर्गो ज्योतिषावृत: ।।
तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्रय अरे त्रिप्रतिष्ठते।।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदोविदु: ।।'

(अथर्ववेद कां. १० सूक्त २ मंत्र ३१-३२)

अर्थ :- आठ चक्रे आणि नऊ द्वारे असलेली ही (तनु) देवतांची अयोध्यापुरी आहे. या पुरीमध्ये जो सुवर्णमय कोश ज्योतीने आवृत आहे तोच स्वर्ग आहे. त्या सुवर्णमय कोशात, जो तीन अरांनी तीन प्रकारांनी प्रतिष्ठित आहे, आत्मरूपी यक्ष राहात आहे, त्याला ब्रह्मवेत्ते लोक जाणतात. या मंत्रात आठ चक्रांचा उल्लेख आहे. नऊ चक्रांचा उल्लेख असलेले प्रमाण असे -

'नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपंचकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामतो भवेत् ।।'

(शुक्लयजुर्वेदमण्डल ब्राह्मणोपनिषत् ४)

अर्थ :- नऊ चक्रे, सहा आधार, तीन लक्ष्य व पाच आकाश यांचे चांगल्या प्रकारे ज्ञान ज्याला नाही तो नुसता नावाचा योगी आहे. ऋग्वेदातील सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषदामध्येही नऊ चक्रांचे सविस्तर वर्णन आहे. सहा प्रसिद्ध चक्रांची नांवे व स्थाने वर दिलेली आहेतच. याशिवाय कंठस्थ विशुद्ध-चक्राच्यावर तालुचक्र सहावे; भ्रूचक्र, ज्याला ज्ञाननेत्र म्हणतात ते सातवे; आज्ञाचक्र आठवे व त्याच्यावर मूर्धास्थानात आकाशचक्र नववे सांगितले आहे. सहस्रारच आकाशचक्र आहे. याला चक्रांत घेतले नाही तर आठच चक्रे होतात. या चक्राचे स्थान सुषुम्ना नाडीच्या आत आहे. सुषुम्ना नाडीचे वर्णन पुढीलप्रमाणे केले आहे -

'गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन् वीणादण्डः सदेहभृत् ।
दीर्घास्थि देहपर्यंतं ब्रह्मनाडीति कथ्यते।।'

(योगशिखोपनिषत्)

गुदाच्या पाठीमागच्या भागात एक वीणादंड देहाला धारण करणारा आहे. तो मोठ्या हाडाचा बनविलेला असून वरपर्यंत गेला आहे. त्याच्यामध्ये ब्रह्मनाडी म्हणजे सुषुम्ना आहे. त्या सुषुम्नेतून प्राण वर चढू लागला असता तो आज्ञाचक्रात येऊन पोचला म्हणजे चित्तलयरूप लययोग सिद्ध होतो. मनाचे संकल्प विकल्प शांत होऊन पूर्ण एकाग्रता होणे हे लययोगाचे प्रयोजन आहे.

आज्ञाचक्राच्या वर ब्रह्मारंध्रातील सहस्रारामध्ये प्राण जाऊन स्थिर झाला असता राजयोगाची प्राप्ती होते. यामुळे निर्बीज समाधी, प्राणलय, चित्तलय, द्रष्टा जीव, वृत्तिरूप टाकून आपल्या मूलस्वरूपाने परब्रह्मरूपाने राहाणे इत्यादी फले प्राप्त होतात.

मंत्रयोग, लययोग व राजयोग या तीन योगप्रकारांचे संक्षिप्त वर्णन वरीलप्रमाणे दिले आहे. योगाचा चौथा प्रकार हठयोग हा आहे. याचेच प्राधान्याने वर्णन योगरहस्यामध्ये श्रीमहाराजांनी केले आहे. आरंभी नवव्या श्लोकात, 'हठयोगं समभ्यसेत्' असा तेथे उपक्रम करून पुढील निरूपण केले आहे. त्या श्लोकाच्या टीकेत हठयोग शब्दाचा अर्थ पुढीलप्रमाणे दिला आहे -

'हकार उच्यते सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
इति तयो: प्राणापानयो योगो हठयोग: ।।'

प्राण व आपान यांचे ऐक्य म्हणजे हठयोग. हे ऐक्य दोन प्रकारांनी करता येते. प्राणाचे अपानाशी मेलन किंवा अपानाचे प्राणाशी मेलन या दोन प्रकारांनी प्राण व अपान यांचे ऐक्य म्हणजे हठयोग सिद्ध होतो. हेच भगवद्गीतेत चौथ्या अध्यायात,

'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे'

या वाक्याने सांगितले आहे. अपान शक्तीचे स्थान गुद व उपस्थ आहे. म्हणजे आधारचक्राच्या समीप अपान वायु असून त्याची अधोगती आहे. प्राणवायू हृदयाच्या वरच्या भागात काम करीत आहे. त्यापैकी, ' अपाने जुह्वति प्राणं' हा प्रकार म्हणजे अपानाशी प्राणाचा योग करणे. याची पद्धत अशी -

अपान शक्तीत प्राणाची आहुती देण्याकरिता प्राणाला खाली आणले पाहिजे. प्रथम हळू हळू पूरकाने प्राणवायू फुप्फुसात खेचून घ्यावा. नंतर कंठाचा संकोच करून - जालंधरबंध करून त्या वायूला जोराने खाली दाबावे लागते. या अभ्यासाने प्राणशक्ती वरच्या भागातील सर्व नाड्यांतून खेचली जाऊन खाली उतरू लागते आणि हळूहळू कंदाच्या जवळ मूलाधार चक्रात येते. त्याच्या अगोदरच साधकाने सिद्धासन किंवा गुदाचे संकोचन करून मूलबंध यांच्या द्वाराने खाली जाणाऱ्या अपानशक्तीला रोखून धरलेले असते. त्या अपानाशी वरून येणाऱ्या प्राणाचे ऐक्य होते, याप्रमाणे प्राण व अपान दोनी एक होऊन सुषुम्नेच्या

द्वारातून आत प्रवेश करतात. ते द्वार मूलाधार व स्वाधिष्ठान यांच्या मध्ये असणाऱ्या कुंडलिनीच्या स्थानावरच आहे. याप्रमाणे प्राण व अपान दोनी एक होऊन सुषुम्नेत प्रविष्ट झाले असता, घटावस्था म्हणून योगाची दुसरी अवस्था सिद्ध होते आणि तो पुरुष थोड्या प्रयत्नाने किंवा केवळ संकल्पानेही प्राणाचा प्रवाह शरीरातील कोणत्याही भागात सहज नेऊ शकतो. प्राणापानाच्या ऐक्याची दुसरी पद्धती अशी आहे -

आत घेतलेला वायू रेचकद्वारा हळूहळू बाहेर सोडून, मूलबंध, तसेच पोट पाठीकडे आत खूप ताणावयाचे म्हणजे उड्डियानबंध करून खालच्या अपानाला वरच्या भागात खेचून घेतले असता वर अपान व प्राण यांचे ऐक्य होते, यालाच भगवद्गीतेमध्ये प्राणात अपानाची आहुती देतात असे म्हटले आहे. याप्रमाणे प्राणापानांचे ऐक्य, करून त्यांचा सुषुम्नेमध्ये प्रवेश झाला म्हणजे प्राणायामाची सिद्धी झाली असे समजावे. प्राणायामाची होणारी सिद्धी, नाडीशुद्धी, प्राणलय व चित्तलय या प्रकारची योगरहस्यामध्ये तेराव्या श्लोकात श्रीमहाराजांनी दाखविली आहे. दुसऱ्या पद्धतीप्रमाणेच प्राणापानांचे ऐक्य, हठयोगप्रदीपिकाकारांनी दाखविले आहे, ते श्लोक असे -

'अधोगतिमपानं व ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः।। ६२।।

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।। ६४।।[१]

---

[१]*स्वाभाविक खाली जाणारा अपान (गुदाच्या) आकुंचनाने बळाने वर चढवण्याला योगी मूलबंध म्हणतात. प्राण आणि अपान तसेच नाद आणि बिंदू यांचे मूलबधाने ऐक्य केल्याने योग उत्तम प्रकारे सिद्ध होतो यांत संशय नाही.*

या श्लोकाचा भाव टीकाकार वर्णन करतात -

'अयं भाव:। मूलबंधे कृतेऽपान: प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति। ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति। ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरिगत्वा नादस्य बिंदुना सहैक्यमाधाय मूर्ध्निगच्छत:। ततो योगसिद्धि:।' [१] (तृतीयोपदेश)

अपान उर्ध्वगती होऊन पुढे काय काय कार्य होते ते पुढील श्लोकातून दाखविले आहे -

'अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वन्हिमंडलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ।। ६६।।

ततो यातो वन्ह्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ।। ६७।।

तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दंडाहता भुजंगीव नि:श्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ।। ६८।।
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत्।' [२]

(तृतीयोपदेश)

---

[१] *याचा भावार्थ. मूलबंध केल्याने प्राण अपानासह मिळून सुषुम्णेत प्रवेश करतो. तेव्हां नादाची अभिव्यक्ति होते. नंतर नादासह प्राण आणि अपान हृदयाच्या वर जाऊन बिंदूशी एकरूप होऊन टाळूकडे जातात. मग योग सिद्ध होतो.*

[२] *अपान वर चढू लागला की तो अग्निमडलांत जातो तेव्हां त्या वायूच्या आघाताने अग्नीची मोठी ज्वाळा निर्माण होते. त्या अग्नि आणि अपानवायूंमध्ये उष्ण असा प्राणवायू शिरतो. त्यायोगें देहस्थित अग्नीचा मोठा भडका होऊन त्या प्रदीप्त अग्नीने झोंपलेली कुंडलिनी संतप्त होऊन काठीने मारलेल्या नागिणीसारखी फूत्कार करीत (वेटोळीं सोडून) सरळ होते आणि बिळांत शिरावे तशी ब्रह्मनाडीत (सुषुम्णेत) प्रवेश करते. त्यासाठी योग्यांनी नित्य मूलबंधाचा अभ्यास करावा.*

मूलबंधाच्या अभ्यासाने अपान ऊर्ध्वगती होऊन वन्हिमंडलापर्यंत येतो. हे वन्हिमंडल त्रिकोणाकृति नाभीच्या खाली आहे. याबद्दल याज्ञवल्क्यांचे विवरण असे आहे -

'देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभं ।
त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदां ।।
मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद् ब्रवीमते ।
तन्मध्ये तु शिखातन्वी सदा तिष्ठति पावके।। '

अपानवायू खालून वर येऊ लागला असता, त्याच्या आघाताने नाभी खालच्या त्रिकोणाकृती मंडलात असणारी जठराग्नीची सूक्ष्म ज्वाला वाढू लागते. नंतर तो वायू व वन्ही वर तापलेल्या प्राणात जाऊन मिसळतात. त्यामुळे खालून अपानाच्या आघाताने पेटलेला जठराग्नी वरून प्राणाच्या आघाताने अत्यंत प्रदीप्त होतो. त्यामुळे अत्यंत संतप्त झालेली निद्रिस्त कुंडलिनीशक्ती चांगली जागी होते व आपली साडेतीन वेटोळी सोडून सरळ होते आणि सुषुम्ना नाडीमध्ये प्रवेश करते. याप्रमाणे कुंडलिनी शक्ति जागृत करण्याचे उपाय व ती जागृत झाली असता मिळणारी सिद्धी यांचे वर्णन वीस ते तेवीस श्लोकांपर्यंत श्रीमहाराजांनी केले आहे. आसन, प्राणायाम, मुद्राबंध यांचा अभ्यास म्हणजे हठयोगाचा अभ्यास याने कुंडलिनी जागृत होते. या योगाप्रमाणेच दुसराही कुंडलिनीयोग शास्त्रसंमत असा आहे. त्याबद्दल थोडेसे दिग्दर्शन करून हा विषय पूर्ण करावयाचा आहे.

कुंण्डलिनी योग

विश्वातील चेतन, अचेतन सर्व विभागांमध्ये एक विलक्षण शक्ती अनुभवसिद्ध आहे. परस्परविरोधी पंचभूतांमध्ये दिसून येणारा समन्वय, त्या शक्तीच्या नियमनामुळेच आहे असे मान्य करावे लागते. नाही तर परस्परांच्या धर्मसांकर्याने जगाचा नाश झाला असता. ही शक्ति परब्रह्माची किंवा परमात्म्याची

आहे असे, 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां' इत्यादि वाक्यांवरून सिद्ध होते. याबद्दल पंचदशीकार सांगतात -

'शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियामिका।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषुवस्तुषु।। ३८।।

वस्तुधर्मा नियम्येरञ्शक्त्या नैव यदा तदा।
अन्योन्यधर्मसांकर्याद्विप्लवेत जगत्खलु।। ३९।।

(पंचदशी ३)

याच ईश्वरशक्तीची अभिव्यक्ती, त्या त्या उपाधीमुळे कमीजास्ती प्रमाणात असलेली दिसते. मनुष्यामध्ये बाल, तरुण, निरोगी, रोगी इत्यादी अवस्थामध्ये शक्ती कमी-जास्ती असलेली दिसून येते याला कारण, असंग, निर्विकार आत्मस्वरूप मानता येत नाही. तर शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धी इत्यादी उपाधीमुळेच हा शक्तिभेद मान्य करावा लागतो. ही शक्ती शक्तिमानाहून भिन्नही ठरविता येत नाही. पंचमहाभूतांच्या आधाराने व्यक्त होणाऱ्या या शक्तीला जड शक्ती किंवा भौतिक शक्ती असे म्हटले जाते आणि शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि इत्यादीकांच्या आश्रयाने अभिव्यक्त होणारी हीच शक्ती चेतन शक्ती समजली जाते. मनुष्यामध्ये असणाऱ्या या आध्यात्मिक शक्तीलाच कुंडलिनी म्हणतात. कुंडलिनीचा आकार सर्पासारखा मानलेला आहे ब्रह्मांडधारी शेषही सर्परूपच आहे. तात्पर्य समष्टी किंवा व्यष्टिरूप पिंडब्रह्मांड धारण करणारी ही शक्ती एकच आहे.

'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते'[१]

(छांदोग्य १। ११। ५)

'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः।(छांदोग्य ६। ८। २)[२]

---

[१] *हे सर्वच जीवमात्र प्राणानेच (जीवनांत) प्रवेश करतात आणि प्राणानेच (जीवन) सोडतात.*

[२] *मन हे प्राणानेच बद्ध आहे.*

स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः

(कौषीतकी उपनिषत् ३। ८)[१]

इत्यादी वाक्यांमध्ये वर्णिलेला प्राण म्हणजे हीच शक्ती आहे. उपनिषदांमध्ये प्राणोपासनेचे महत्त्व दाखविले आहे. हा प्राण म्हणजे प्राणवायूपेक्षा भिन्न ईश्वररूप आहे.

'हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा प्राण इत्यभिधीयते'

या वाक्यात वर्णिलेला हिरण्यगर्भ किंवा प्राण, केवल वायूरूप नसून सर्वही सूक्ष्म शरीरांचा नियामक परमात्माच आहे.

'अत एव प्राणः' (ब्रह्मसूत्र १।१।२३) या अधिकरणामध्ये प्राण म्हणजे ब्रह्म असा निर्णय सूत्रभाष्यामध्ये केला आहे. याबद्दल शास्त्रामध्ये पुढीलप्रमाणे वर्णन आले आहे.

'ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा ।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ।।

महाकुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी ।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तैजसी।।'

ही शक्ती सुवर्णाप्रमाणे भासणारी सत्व, रज व तम या तीन गुणांना व्यक्त करणारी विष्णूची-व्यापक परमात्म्याची निर्भय करणारी शक्ती आहे असे समजावे. या परब्रह्मरूपी शक्तीला महाकुंडलिनी असेही म्हणतात. हीच जीव शक्तीही असून कुंडलयुक्त तेजोमय प्राणाकारही आहे.

कुंडलिनी शक्तीला बुद्धिमान् मनुष्याने, तिच्या स्थानातून म्हणजे मूलाधारातून भ्रूमध्यापर्यंत संचलित केले पाहिजे. यालाच शक्तिचालन म्हणतात. याबद्दल प्रमाण असे-

[१] *तो हा प्राणच प्रज्ञात्मा, आनंद आणि अजरामर आहे.*

‘कुण्डल्येव भवच्छक्तिस्तांतु संचालयेद्बुध:।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते।।’

सद्‌गुरूंच्या शक्तिपातदीक्षेने या शक्तीचे चालन होते. म्हणजे ती जागृत होते. गुरू हे आपल्या शिष्याचे ठिकाणी आध्यात्मिक शक्तीचा पात करून त्याचे परतत्वाशी ऐक्य घडवून आणतात. याबद्दल आगमग्रंथात पुढील उल्लेख आला आहे

‘परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतु शक्तिपातेन ।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्य मूर्तिस्थ: ।।’

शक्तिपाताचे प्रयोजन आणखी एके ठिकाणी असे दिले आहे -

तत्त्वज्ञानेन मायाया बाधो नान्येन कर्मणा ।
ज्ञानं वेदान्तवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम्।।

तच्च देवप्रसादेन गुरो: साक्षान्निरीक्षणात् ।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम् ।।’

मायेचा बाध तत्त्वज्ञानानेच होतो. अन्य कर्मादिकांनी होत नाही. वेदान्त महावाक्यापासून उत्पन्न होणारा जीव ब्रह्मैक्याचा अनुभव म्हणजे ज्ञान होय. ते ज्ञान, ईश्वरप्रसादाने सद्‌गुरूंची कृपादृष्टी पडली असता अधिकारी शिष्याला महावाक्यद्वारा शक्तिपाताने उत्पन्न होते.

शक्तिपात या शब्दामुळे उत्पन्न होणारे काही आक्षेप व त्यांचे समाधान शक्तिरहस्यामध्ये पुढीलप्रमाणे केले आहे-

‘व्यापिनी परमा शक्ति: पतितेत्युच्यते कथम् ।
उर्ध्वादधोगति: पातो मूर्तस्यासर्वगस्य च ।।

सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत्स्थिता ।
किन्त्वियं मलकर्मादिपाशबद्धेषु संवृता ।
पक्वदोषेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते॥'

अर्थ :- ही श्रेष्ठ शक्ती सर्वव्यापक अशी आहे. तर मग तिचा पात होतो असे कसे म्हणता येईल? सर्वव्यापक नसणारा मूर्त पदार्थ वरून खाली येणे, जसे वरून फेकलेला चेंडू खाली पडणे याला पात असे म्हणतात. हा सर्वव्यापक शक्तीचा कसा संभवतो? असा येथे आक्षेप घेतला असता, याचे समाधान असे की - तुमचा आक्षेप सत्य आहे. पण येथे शक्तिपात शब्दाचा अभिप्राय असा आहे - ही शक्ती परमात्म्याप्रमाणे सर्वव्यापक, स्वाभाविक, नित्य अशी आहे हे खरे, पण अनेक जन्मांच्या पाप-वासनारूप पाशांनी जखडलेल्या जीवांच्या ठिकाणी ही शक्ती आच्छादित झालेली असते. ज्यांचे मनोदोष परिपक्व झालेले असतील अशा अधिकारी पुरुषांच्या त्या दोषांचा समूल उच्छेद होऊन सद्गुरू कृपेने ती शक्ती त्या अधिकारी, पुरुषांचे ठिकाणी अभिव्यक्त होते. यालाच शक्तिपात अशी औपचारिक संज्ञा आहे. शिष्यामध्ये असणाऱ्या शक्तीला जागे करणे यालाच शक्तिपात असे म्हणतात. शक्तिजागृतीने प्राणवायू ऊर्ध्वगामी होतो. आणि चित्त व प्राण दोघांचाही पूर्ण लय होतो म्हणून या कुंडलिनी योगाला महायोग असे म्हणतात. म्हणजे हा योग पातंजलादियोगापेक्षा निराळा आहे असे नसून हाही त्यांच्याप्रमाणेच चित्तवृत्तिनिरोधरूपच आहे. पण हा गुरुकृपेने शीघ्र प्राप्त होतो. इतर मार्ग परिश्रमसाध्य आहेत इतकाच विशेष यामध्ये आहे. मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग या सर्व भूमिका क्रमाने या कुंडलिनी योगामध्ये अंतर्भूत होतात असा अभिप्राय आहे.

टीका—गोडियों ऊपर वैठाय प्राण रोके और जिव्हासे तालूके रस्ते को रोक कर प्राणायाम करे ॥ ६४ ॥

अपानेमुदरेनीत्वा कुंभकंशक्तिताचरेत् रेचयेच्च न्द्रनाड्यांतु पुनःसूर्येनपूरयेत् ॥

टीका—अपान वायु को गुदा से पेट में लेजावे फिर जितना होसके प्राणायाम करे फिर वामीनासा से वायु छोडे दक्षिणनासा से प्राण चढाए ॥ ६५ ॥

द्वादशेवंप्रकृत्वातु पश्चान्मुद्रांविसर्जयेत् मूलद्वार स्याऽधाकृत्वा पार्ष्णिवामपदस्यच ॥

टीका—बारह प्राणायाम कर मुद्रा त्यागे और बांयेपैर की एडी गुदा के नीचेरखे ॥ ६६ ॥

तस्योपरिचस्थित्वातु वामेदक्षपदंनयेत् जानूंधृ त्वातुजानूर्धे कुंभकंपूरयेन्मुखात् ॥

टीका—एडी के ऊपर वैठ के वामे को दहना पैर लेजावे फिर जानू पर जानू रख कर सुख से कुम्भक को करे ॥ ६७ ॥

चिबुकंतुगलेस्पृत्वा ह्यपानंचोर्धवाहयेत् स्वभक्तया कुम्भकंकृत्वा रेचकंरेचयेच्छनैः ॥

टीका—ठोडी गले से लगाय गुदा से अपानवायु को प्राण वायुसे मिलावे यथाशक्ति कुम्भक कर धीरेसे रेचक करे ॥ ६८ ॥

द्वादशयंप्रकृत्वातु वंधमुद्रांविसर्जयेत् ॥

टीका—यह बारह करके बन्ध मुद्रा को छोडे ॥

अथ वेधमुद्रा ॥ वामजंघोपरिदक्षं पादंदक्षोपरि यथा ॥ ॥

टीका—बाईजंघा के ऊपर दाहिना पैर और दहिनी जंघा ऊपर ६९

वामपादंप्रकृत्वातु करौधृत्वाधरोपरि देहंतदोपरि स्थित्वा प्राणायामंप्रकलपयेत् ॥

टीका—बायां पैर रखे दोनोंहाथ पृथ्वी पर रखे देह का बोझा उनपररख प्राण चढाए ॥ ७० ॥

अथ खेचरी मुद्रा ॥ हरीतकींचमारीचीं सैंधवेनस मन्वितं चूर्णंकृत्वातु जिव्हाधा पक्षमेकंविनिक्षपेत् ॥

टीका हरीड मिरिच काले सेंधालवण बराबरले चूर्ण करे इस चूर्ण को जिव्हा के नीचेवाले तंदे ऊपर लगावे दिनपंदरह १५ ॥ ७१ ॥

जिव्हातंतुपुनःछित्वा चूर्णसूक्ष्मंविरणतत् स्थानं चसबलंकृत्वा धृत्वाजिव्हांकरेणच ॥

टीका—फिर जिव्हा के नीचेवाले तंदे को काट देवे फिर उसी चूर्ण को महीन कर कपडे से जखम पर लगाय कर जखम सुखावे फिर जिव्हा हाथ से पकडे ॥ ७२ ॥

वामदक्षिणमार्गेत्वा कर्षयित्वापुनःपुनः ऊर्ध्वंनीत्वा स्वरद्वारं रुध्वावायुंनिरोधयेत् ॥

फिर वामेदहिने जिव्हा को खैंच ऊपर वाले तालू के दरवाजे बन्द करे ॥ ७३ ॥

सिद्धासनेपिस्थित्वातु खेचरींतुप्रकल्पयेत् अलक्ष रघुनाथंच चिंतायित्वासुभक्तितः ॥

टीका—सिद्धासन पर बैठ रघुनाथजी का ध्यान कर खेचरी मुद्रा को करे ॥७४॥

अथ उडियाबन्धमुद्रा ॥ शोधनंस्वोदरस्यापि ह्युडी याबन्धमुच्यते स्वोदरंशोधयेत्त्वेवं नाभिपृष्टेनसस्पृशेत्

टीका—पेट को शोधना उडियाकहिते हैं इसतरह पेट को शोधे कि नाभिपीठ से मिलजावे ॥७५॥

प्राणेह्यपानंसंयुज्ये द्योगाभ्यासेनयोगावेत् ॥

टीका—गुदा से अपान को प्राण से हृदय में मिलादेवे ॥

अथ मूलबन्धमुद्रा ॥ वामपार्ष्ण्युपरिस्थित्वा मूल द्वारंनिरोधयेत् ॥

टीका—बाई एडीपर बैठ कर गुदा के रास्ते को रोके ॥७६॥

दक्षिणपादपार्ष्णींच नाभिंरुध्वास्थिरंभवेत् अपान वायुंप्राणेपि योजयेद्बन्धमुद्रके ॥

टीका—दाहिनेपैर की एडी से नाभिरोकके अचल होवे अपान वायु को गुदा से हृदय में प्राण वायु से मेले ॥७७॥

अथ जालन्धरमुद्रा ॥ आसनंस्वास्तिकंकृत्वा कंठे नाचिबुकंस्पृशेत् दृष्टींत्रिवेन्यांसंधृत्वा बन्धेतामिडापिं गले ॥

टीका—स्वस्तिकासन पर बैठ गले से ठोडी को गले मिलाय नजर सुधी कर नासिका बंब करे ॥ ७८ ॥

मूलद्वारंसंकुचित्वा नाभिंपृष्टेनसंस्पृशेत् अनेना पिविधानेन मुद्रातुयोगीनांभवेत् ॥

टीका—मूलद्धारको रोककर नाभिपीठ से मिलाने से मुद्रा होतीहै ७९

अथ विपरीतमुद्रा ॥ भूम्यांचकूर्परौधृत्वा स्वदेहंचोर्ध्वं तांनयेत् कराभ्यांकटिदेशंतु स्तंभयेद्यत्नेनच ॥

टीका—भूमिपर आरके रखकर देह को उलटाय ऊंचे लेजावे हाथों दोनों से कमर को थामरखे ॥ ८० ॥

ग्रीवोपरिस्वदेहंतु कृत्वाकुम्भकमाचरेत् पूरकंरेच कंचन्द्र सर्याभ्यांबहुधाऽचरेत् ॥

टीका—ग्रीवा के ऊपर उलटा देह खडा कर कुम्भक को करे फिर रेचक पूरक करे बहुत ॥ ८१ ॥

विपरीतास्थितियस्याः विपरीतातदातुसा: देहस्यो र्ध्वं प्रकुर्त्वातु कपालेनास्थिरंभवेत् ॥

टीका—उलटा कर देह खडा करने से उलटी मुद्रा यह है दूसरी शिर पृथ्वी पर रख के उलटा खडा होवे ॥ ८२ ॥

कपालमुद्रासाज्ञेया योगसाधनकर्माणि ॥

टीका—इसको योगसाधन में कपालमुद्रा जाने ॥

अथ शक्तिचालनमुद्रा ॥ यामार्धशेषरात्र्यांतु वज्रास

नंसमाचरेत् ॥

टीका—चार घडी रात्रिरहे वज्रासन करे ॥ ८३ ॥

कुम्भकंतुयथाशक्ति कृत्वारेचकपूरकौ कुण्डलनीं त्वनेनापि बोधनार्थायकारयेत् ॥

टीका—कुण्डलनी को जगाने के वास्ते वारंवार रेचक पूरक कर ॥ ८४ ॥

चत्वारिघटिपर्यंतं वायुंचापिप्रवाहयेत् पुनःसूर्येन पूरयित्वा कुण्डणींतुप्रबोधयेत् ॥

टीका—चार घटि तक वायु को वगाय फिर सूर्यसे पूरक कर कुण्डणी को जगावे ॥ ८५ ॥

जाग्रयित्वातुसागच्छे त्प्राप्नोतिदर्शनंपरं रुध्वातु ब्रह्मद्वारंच कुण्डणीस्वोदरेस्थिता ॥

टीका—जाग कर कुण्डलणी ब्रह्मद्वार छोड कर कुण्डलनी जातीहै तो दर्शन होता है ॥ ८६ ॥

मुद्रायाःसाधनेनापि त्यक्त्वातंसाचगच्छति ॥

टीका—मुद्रा के साधन से कुण्डलनी अपने स्थान छोड कर चली जाती है

अथ योगविघ्नानि ॥ शरीरेबहुविघ्नानि भवन्त्येवपुनः पुनः ॥

टीका—शरीर में वारंवार बहुत विघ्न होते हैं ॥ ८७ ॥

स्तरों के अंतिम कारण परमेश्वर तथा सर्वद्रष्टा हो जाते हैं। उनका पारमार्थिक स्वतः प्रकाश, आत्मपूर्ण स्वरूप इस जगद्व्यवस्था से किसी भी तरह प्रभावित हुए विना ही समस्त लौकिक सत्ताओं के रूप में विभासित रहता है।

अतएवानन्तशक्तिमान् परमेश्वरः स विश्वरूपीविश्वमयो भवतीति प्रसिद्धं सिद्धानां च परापरस्वरूपा कुण्डलिनी वर्तते। अतस्ते पिण्डसिद्धाः प्रसिद्धा सा कुण्डलिनी प्रबुद्धा अप्रबुद्धा चेति द्विधा। अप्रबुद्धेति तत्रपिण्डचेतनरूपा स्वभावेन नानाचिन्ताव्यापारोद्यमप्रपञ्चरूपा कुटिलस्वभावा कुण्डलिनी ख्याता सैव योगिनां तत्तद्विलसित विकाराणां निवारणोद्यमस्वरूपा कुण्डलिन्यूर्ध्वगामिनी प्रसिद्धा भवति॥ १४॥

परापरशक्ति से युक्त परमेश्वर अनन्त शक्तिमान् कहा जाता है। वह समस्त विश्व का अधिष्ठातारूप आधार होने से विश्वरूप और विश्वमय कहा जाता है। परापरस्वरूपा शक्ति कुण्डलिनी सिद्धों के देहपिण्ड में विद्यमान है, उस कुण्डलिनीके बल अथवा प्रभाव से वे कायसिद्ध के रूप में प्रसिद्ध हैं। यह कुण्डलिनी प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध (सुप्त)—दो प्रकार की है। यद्यपि देहपिण्ड में विद्यमान कुण्डलिनी स्वभाव से चेतनस्वरूप है, तथापि जब तक वह जगायी नहीं जाती है, तब तक वह संसारी पुरुषोंके लिये अनेक शोकमोहचिन्ताव्यापार-रूपिणी है--बन्धनकारिणी है, वही मूलाधार में कुटिल—अधोमुखी (सुप्त) रहती है, पर वही जगायी जाने पर सहस्रदल तक ऊर्ध्वगामिनी होती है तथा योगियों के मनोविकारों का निवारण करती है॥ १४॥

विशेष—अप्रबुद्ध और प्रवुद्ध कुण्डलिनी के स्वरूप का महायोगी गोरखनाथ ने गोरक्षशतक आदि में विस्तार से विचार किया है। अन्य योगसंहिताओं में इसका विशिष्ट निरूपण उपलब्ध होता है। गोरखनाथजी का कथन है कि मेढ्र के ऊपर और नाभि के नीचे कन्द के समान सभी नाड़ियों का उत्पत्ति-स्थान है। कन्द के ऊपर कुण्डलिनीशक्ति आठ प्रकार की होकर कुण्डलित आकार में सुषुम्ना में स्थित पश्चिमद्वार—ब्रह्मद्वार को अपने मुख से आच्छादित कर स्थित है। इस तरह जिस द्वार से ऊर्ध्व की ओर गति करते हुए योगसाधक द्वारा निर्मल, निर्विकार, ब्रह्मरन्ध्र—ब्रह्मस्थान में प्रवेश किया जाता है, उसी द्वार को रोक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कर कुण्डलिनी शक्ति सोती है। वह वह्नियोग से जागृत होकर मन और प्राण के साथ डोर में बँधी सूई के समान ऊपर उठती है। यह भुजङ्गाकृति कुण्डलिनी, जो कमलतन्तु के समान विभासित और शुभ दीप्तियुक्त है, सुषुम्नामार्ग से वह्नि के संयोग से ऊपर उठ जाती है और जिस तरह ताली से तालाबन्द दरवाजा खोला जाता है, उसी तरह कुण्डलिनी महाशक्ति से योगी मोक्षद्वार का भेदन करता है। इस कुण्डलिनी के जागरण की विधि का वर्णन है :

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढ़तरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिवुकं ध्यात्वा च तत्प्रेक्षितम्।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन् प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रबोधान्नरः॥
(गोरक्षशतक ५२)

योगसाधक दोनों हाथों को एक-दूसरे से सटा कर पद्मासन में अच्छी तरह स्थित होकर वक्षःस्थल पर चिवुक को लगा कर कुण्डलिनी का ध्यान करते हुए वार-वार प्राणायाम द्वारा वायु खींच कर उसे अपानवायु से मिलाकर कुम्भक द्वारा वायु को रोक कर श्वास बाहर निकालने से शक्ति के प्रबोधनद्वारा अतुल बोध प्राप्त करता है।

शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि में उपर्युक्त जागरण विधि को शक्तिचालिनी मुद्रा नाम दिया गया है।

विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु।
(शिवसंहिता ४।१०७)

शक्तिचालन मुद्रा के अभ्यास से कुण्डलिनी जाग कर ऊपर की ओर गति करती है।

आकाशादि को कुण्डलिनी से उत्पत्ति

ऊर्ध्वमिति सर्वतत्वान्यपि स्वस्वरूपमेवेत्यूर्ध्वे वर्तते अतएव सा विमर्शरूपिणि योगिनः स्वस्वरूपमवगच्छन्तीति सुप्रसिद्धा ॥ १५ ॥

आकाश आदि समस्त भौतिक पदार्थ कुण्डलिनी शक्ति से ही उत्पन्न होते हैं, (कार्यों की कारण से भिन्न सत्ता नहीं है) समस्त प्रपञ्च कुण्डलिनीस्वरूप ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं, वह सभी के ऊपर विराजमान परम सत्ता होने से विमर्शरूपिणी विद्या है। योगियों को (भगवती कुण्डलिनी की साधना से) आत्मस्वरूप की प्राप्ति (अलख निरञ्जन परमात्मा का साक्षात्कार) सहज ही हो जाती है, यह बात प्रसिद्ध है ॥ १५ ॥

विशेष – हठयोगप्रदीपिका में निर्देश है कि शक्तिवोध से योगी को सहजावस्था की प्राप्ति स्वयं हो जाती है।

उत्पन्नशक्तिवोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥
(हठयोगप्रदीपिका ४ । ११)

जीवात्मा और परमात्मा का अभेद ज्ञान ही सहज ज्ञान है। यही स्वविश्रान्तिरूप अद्वैत पद अथवा परम पद है।

मध्यशक्तिप्रबोधन

मध्यशक्तिप्रबोधेन अधःशक्तिनिकुञ्चनात्।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम् ॥ १६ ॥

(नाभिदेशस्थ मणिपुर चक्र में स्थित कुण्डलिनी मध्य शक्ति कही जाती है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी अधःशक्ति के रूप में प्रसिद्ध है। सहस्रदल में यही शक्ति ऊर्ध्व शक्ति के रूप में विराजमान होती है।) मध्य शक्ति को जगाने से और अधः शक्ति के ऊपर की ओर आकर्षण से तथा ऊर्ध्व शक्ति (कुण्डली) के निपात—संयोजन से परम पद की प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

विशेष—मूलाधार में आधार पद्म हैं, यह चार दलों वाला है। यह चक्र कुलाभिध कहलाता है, इसमें कुण्डलिनी शक्ति सर्प के समान आकृतिवाली सुप्ता अवस्था में पड़ी रहती है।

तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता ॥
(शिवसंहिता ५ । ८५)

आधार कमल की कर्णिका में त्रिकोणाकार योनि— कामगिरि पीठ में अधः शक्ति कुण्डलिनी रहती है। इसको अपान वायु के निकुञ्चन—आकर्षण से ऊर्ध्व

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मुख कर जगाया जाता है। ढके हुए सुषुम्ना द्वार को उद्घाटित कर यह ऊर्ध्व-मुखी होती है। नाभिचक—मणिपूरक में आठवलयों वाली मध्य कुण्डलिनी की स्थिति बतायी गयी है। यह बन्धत्रय—मूल, उड्डियान और जालन्धर बन्ध के अभ्यास से समुत्थित होती है। प्राण से अपान का ऐक्य स्थापित होना ऊर्ध्व शक्तिपात कहा गया है। शक्ति—कुण्डलिनी ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रंथि का भेदन कर षट्चक्र से होती हुई सहस्रार में पहुँच जाती है, उस समय शून्य समाधि की स्थिति में साधक अपने स्वरूप में समाहित हो जाता है।

एकैव सा मध्योर्ध्वाधः प्रभेदेन त्रिधा भिन्ना शक्तिरभिधीयते ॥ १७ ॥

यद्यपि कुण्डलिनी महाशक्ति स्वरूपतः एक ही है, तथापि (स्थान और सूक्ष्मस्थूल भेद से) वह अधः, मध्य और ऊर्ध्व शक्ति के रूप में तीन प्रकार की कही जाती है ॥ १७ ॥

विशेष—मूलाधार में रहनेवाली कुण्डलिनी सूक्ष्म, अबोधरूप और सबका कारण कही जाती है। नाभि में मणिपूर चक्र में स्थित कुण्डलिनी बोधरूपा कही जाती है और यही शक्ति जब ऊर्ध्वमुखी होकर ऊपर की ओर गति करती है, तब बोधजनक कल्याणकारिणी ऊर्ध्व शक्ति के रूप में प्रसिद्ध होती है।

बाह्येन्द्रियव्यापारनानाचिन्तामया सैवाधः शक्तिरित्युच्यते। अतएव योगिनस्तस्या आकुञ्चने रता यस्या आकुञ्चनं मूलाधारबन्धनात्सिद्धं स्यात् ॥ १८ ॥

बाह्य इन्द्रियजन्य कार्यों की चिन्ता का कारण अधः शक्ति—मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी है। (जब तक इसको जगाया नहीं जाता है तब तक साधक सांसारिक कार्यों की चिन्ता से ग्रस्त रहता है)। योगी मूलाधार में स्थित इस शक्ति के आकुञ्चन—संकोचन में तत्पर रहते हैं। मूलाधार बन्ध के अभ्यास (अपान और प्राण का ऐक्य स्थापित होने पर उड्डियान और जालन्धर बन्ध की सिद्धि) से यह शक्ति ऊर्ध्वमुखी होकर जाग जाती है और साधक को परमानन्द की प्राप्ति करा देती है ॥ १८ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विशेष—साधक योनिस्थान—गुदा और मेढ्र के मध्य भाग के स्थान को किसी भी पैर की एड़ी से दबा कर गुदा को सिकोड़े और फैलाये तथा अपान वायु को ऊपर की ओर खींचे। यही मूलवन्ध है। जिससे नीचे की ओर गतिशील अपानवायु को साधक सुषुम्ना में प्रवाहित करता है अथवा ऊपर की ओर उठाता है, वही मूलवन्ध है। जिस वन्ध से प्राण उड़कर सुषुम्ना नाड़ी में पहुँच जाता है, वही उड्डियानवन्ध है। नाभि के ऊपर और नीचे उदर में पीछे की ओर इस तरह आकर्षण करे कि दोनों भाग पीठ तक—पीछे पहुँच जाय। कम-से कम इस तरह तीन बार आकर्षण करना चाहिये। कंठ (गले के विवर) को सिकोड़ कर साधक को हृदय-देश में—वक्ष के समीप चार अंगुल की दूरी पर ठोड़ी को दृढ़ता से स्थापित करना चाहिये। यही जालन्धरवन्ध है। इन तीनों वन्धों के अभ्यास से कुण्डलिनी महाशक्ति क्रमशः सहस्रार में पहुँच जाती है।

यस्माच्चराचरं जगदिदं चिदचिदात्मकं प्रभवति तदेव मूलाधारं संवित्प्रसरं प्रसिद्धम् ॥ १९ ॥

जिससे चर-अचर, स्थावर-जंगम, चिद्, अचिद् समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है, वह मूलाधार है, जिसके संकोच और प्रसरण से कुण्डलिनी का प्रवोधन होने पर ज्ञान की वृद्धि होती है—यह मूलाधार ही संवित्प्रसारण-भूमि है ॥ १९ ॥

सर्वशक्तिप्रसरसंकोचाभ्यां जगत्सृष्टिः संहृतिश्चभवत्येव न सन्देहस्तस्मात्सा मूलमित्युच्यते। अतः प्रायेण सर्वे सिद्धा मूलाधाररता भवन्ति ॥ २० ॥

समष्टिरूप (सर्वेश्वरी) महाशक्ति के व्यापार—कार्य से ही (संकोच और प्रसरण से ही) जगत् का सृजन और संहार होता है, इसमें संदेह नहीं है (कि योगी इस मूल शक्ति का ध्यान कर जगत् की सृष्टि और संहार कर सकता है)। यही कारण है कि मूलाधार में स्थित यह महेश्वरी शक्ति ही मूल शक्ति है। प्रायः सभी सिद्ध, यही कारण है कि मूलाधारशक्ति—कुण्डलिनी को जगाने में तत्पर रहते हैं ॥ २० ॥

तरङ्गितस्वभावं जीवात्मानं वृथाभ्रमन्तमपि स्वप्रकाश मध्ये स्वस्वरूपतया सदा धारयितुं समर्था या सा कुण्डलिनी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मध्याशक्तिर्गीयते स्थूलसूक्ष्मरूपेण महासिद्धानां प्रतीयत इति निश्चयः ॥ २१ ॥

मध्या शक्ति (कुण्डलिनी) का वर्णन किया जाता है। यह कुण्डलिनी चिद्रूप होने से जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप है। अविद्यावश संसार–बन्धन में विषयादि मृगतृष्णा में आसक्त जीवात्मा को यह मध्या शक्ति अपने चिद्रूप स्वप्रकाश में धारण करने में सदा समर्थ है। यह कुण्डलिनी स्थूल और सूक्ष्म–दो प्रकार की कही गयी है। इसकी महासिद्ध योगियोंको ही अच्छी तरह जानकारी रहती है, इसमें रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं है ॥ २१ ॥

विशेष—महासिद्ध योगियों को यह कुण्डलिनी मूलाधार में सूक्ष्मरूपिणी और मणिपूर चक्र में स्थूल प्रतीत होती है।

स्थूल-सूक्ष्म कुण्डलिनी

स्थूलेति निखिलग्राह्याधारविग्राह्य स्वरूपापि पदार्थान्तरे भ्रास्यमाणा चिद्रूपा या वर्तते सा कुण्डलिनी साकारास्थूला-पुनस्त्वियमेव स्वप्रसारचातुर्यतया वर्तमाना योगिनां परमानन्द-तया कुण्डलिनी या निश्चयभूता वर्तते सा सूक्ष्मा निराकारा प्रवुद्धा महासिद्धानां मते प्रसिद्धा ॥ २२ ॥

यद्यपि मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी योगसिद्ध पुरुषों के अतिरिक्त संसार में विषयासक्त बँधे जीवमात्र के लिये सूक्ष्म (अज्ञात) है तथापि यह शब्दात्मक स्थूल जगत् की सृष्टि करने के कारण साकार—स्थूल कही जाती है। वह रूपादि विषयों में भ्रमण—संचार करती रहती है, यही निज विस्तार-कौशल से नाभिस्थान—मणिपूर चक्र में अपने उपर्युक्त विषयसम्बन्धों को छोड़ कर अपने चैतन्यस्वरूप से योगियों को अपने आनन्ददायक व्यापक अखण्ड आत्मा का निश्चय कराती है। जागने पर यह सूक्ष्म रूप से, निराकार और सर्वत्र व्यापक रहती है। योगनिपुण महासिद्ध ही इस बात को अच्छी तरह जानते हैं ॥ २२ ॥

विशेष—जो योगसाधक कुण्डली को संचालित कर लेता है, वह सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है और मृत्यु को वश में कर अपने अखण्ड परमानन्द स्वरूप में लीन हो जाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नियंत्रण हो जाने से आत्मजगत् पर साधक का अधिकार हो जाता है। यह आत्मविजय महर्षियों की दृष्टि में विश्वविजय से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

कुण्डलिनी शक्ति एक ही है तथापि स्थान एवं सूक्ष्म-स्थूलादि भेद से विभिन्न नामों से जानी जा सकती है, यथा—अधः, मध्य, एवं ऊर्ध्व कुण्डलिनी, स्थूल एवं सूक्ष्म कुण्डलिनी, प्रवुद्ध एवं अप्रबुद्ध कुण्डलिनी आदि। अप्रवुद्ध कुण्डलिनी का निवास मूलाधार में है। मूलाधार चक्र की स्थिति रीढ़ की हड्डी के सबसे निचले छोर से वतायी गयी है। गुदा से दो अंगुल ऊपर तथा लिंग से दो अंगुल नीचे चार अंगुल चौड़ा चतुर्दल आधारपद्म है। उसके मध्य त्रिकोणाकार योनि है, इसे कामपीठ या कामाख्या योनि भी कहते हैं। इस योनि में सुषुम्ना-द्वार के सम्मुख स्वयंभू महालिंग है। इस स्वयंभू लिंग के साढ़े तीन कुण्डल मार कर कुण्डलिनी शक्ति सोई पड़ी है। इस सुषुप्तावस्था में भी वह शरीर—धारणा का कार्य करती है। स्वभाव से चेतन होते हुए भी यह अप्रवुद्ध एवं अधोमुखी कुण्डलिनी संसारी पुरुषों के लिये नाना प्रकार के शोक-मोहादि प्रपंचों का सम्पादन करती हुई वन्धन का हेतु है। वही शक्ति जागृत एवं ऊर्ध्वमुखी होने पर जब सहस्रदल तक संचरण करने लगती है, तो जन्म-मरणविषयक समस्त दुःखों को दूर करने में समर्थ होता है। इसके उत्थान के लिये प्राणायाम द्वारा अपानवायु के निकुंचन तथा ध्यानादि की यौगिक क्रियायें अपेक्षित हैं। जीवात्मा प्राणवायु के अधीन है, प्राण-अपान अपने चंचल स्वभाव के नाते मूलाधार से लेकर ऊपर मुख-नासिका-छिद्रपर्यन्त संचरित होते रहते हैं, जब तक इन पर नियंत्रण नहीं होता, तब तक हृत्कमल में ध्यान की प्रक्रिया सम्भव नहीं होती—

प्राणापानवशो जीवो ह्यधोर्ध्वं च धावति।
वामदक्षिणमार्गेण चंचलत्वान्न दृश्यते॥
(गोरक्षपद्धति श्लोक–३९)

ऊपर से आज्ञाचक्रगत प्राणवायु नीचे मूलाधारस्थित अपान वायु तथा मूलाधारगत अपानवायु आज्ञाचक्रस्थ प्राणवायु को परस्पर आकर्षित करती रहती हैं। प्राणायाम-क्रम में आसनादि के दृढ़ हो जाने पर योगाभ्यासी पुरुष प्राण और अपान का परस्पर संयोग करता है। मणिपूर की कर्णिका में अष्टधावेष्टित कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मरन्ध्र-मार्ग को अवरुद्ध कर सोई पड़ी रहती है। प्राणवायु के उत्तेजित होने से प्रबुद्ध होकर वह मन एवं प्राणवायु के सहित सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मनाड़ी से ऊर्ध्वगामी होती है। इस अवसर पर शक्तिचालनी मुद्रा, महामुद्रा, खेचरीमुद्रा तथा जालन्धर, उड्डीयान, मूलबन्धादि के अभ्यास की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आवश्यकता है। इनके सम्यक् अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सहज ही सुषुम्नाद्वार को छोड़ देती है। अतः प्राणवायु स्वतः सुषुम्ना में प्रवेश पाने लगती है। कुण्डलिनी-जागरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए गोरक्षसंहिता में कहा गया है—चित्त को मणिपूर-चक्र में लगाकर अपान-द्वार को संकुचित-विस्तृत करता हुआ योगी साधक नीचे की गति को रोककर ऊपर की ओर खींचे, जिससे वह मन और प्राण से संयुक्त हो जाय, फिर उस ऐक्य में अग्नि के समान दहकते हुए ज्योतिरूप का ध्यान करे, जिससे वह ज्योति मणिपूर-चक्र का वेधन कर हृदयपद्मस्थित अनाहत चक्र में पहुँचती है और अभ्यास की सिद्धि होने पर अनाहत चक्र को भी पार करती हुई वह शक्ति ब्रह्मरन्ध्र तक जा पहुँचती है और फिर शरीर छोड़ने के समय ब्रह्मरन्ध्र को भी त्याग कर परमशून्यस्वरूप महेश्वर ब्रह्म में जाकर लय को प्राप्त हो जाती है।

नाभौ संयम्य पवनगतिमधो रोधयन्संप्रयत्नादा-
कुंच्यापानमूलं हुतवहसदृशं तन्तुवत्सूक्ष्मरूपम्।
तद्वध्वा हृत्सरोजेतदनुदलएके तालुके ब्रह्मरन्ध्रे
भित्वाते यान्ति शून्यं पविशति गगने यत्र देवो महेशः॥
(गोरक्षसंहिता श्लोक ७८)

प्राणापान का संयोगकर जाग्रत कुण्डलिनी को सहस्रदल में पहुँचा देना ऊर्ध्वशक्तिपात कहलाता है। सभी पदार्थों से ऊपर नाम-रूपादि से रहित अद्वैत रूप परमपद ही ऊर्ध्व संकेत से प्रसिद्ध है। उस परब्रह्म के अखण्ड स्वरूप का तथा आत्मस्वरूप का उस अद्भुत चैतन्य से साक्षात्कार कराने में तत्पर होने वाली शक्ति ही ऊर्ध्वशक्ति के नाम से सम्बोधित की जाती है। प्राण-अपान की एकता एवं मुद्रा-बन्धादि के सिद्ध हो जाने पर ऊर्ध्वगामी कुण्डलिनी सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मा-विष्णु और रुद्रग्रन्थियों का भेदन करती हुई पिण्डस्थ सभी चक्रों का विकास कर देती है। सहस्रदल में कुण्डलिनी के पहुँचने पर प्राण, इन्द्रिय और मन केसमस्त व्यापार रुक जाते हैं। प्रकाश और अन्धकार, गति और विराम, व्यावहारिक और पारमार्थिक का भेद लुप्त हो जाता है। मोक्ष-स्थान ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर कुण्डलिनी-शक्ति परमात्मा शिव से पूर्णतः तादात्म्य स्थापित कर अपनी उच्चतम और सर्वाधिक गौरवशाली आत्माभिव्यक्ति और आत्मसुख प्रकट करती है। मूलाधार-चक्र से उत्थित कुण्डलिनी शक्ति की उसके प्रियतम 'शिव' से आनन्दमय पुनर्मिलन की पवित्र यात्रा यहाँ पर पहुँचकर अपना ध्येय प्राप्त कर लेती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्राणवायोरभ्यासी रेचकपूरककुम्भकभेदभिन्नप्राणायामानुष्ठानरूपस्तस्मिंस्तत्परा अवहिता अभूवन्नासन् । तस्मात्पवनमभ्यसेत्प्राणमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

अब प्राणायामके अवश्य अभ्यास और सर्वोत्तमोंके कर्त्तव्य और फलका वर्णन करते हैं कि, ब्रह्मा आदि देवताभी अन्तकके भयसे अर्थात् काल जीतनेके लिये प्राणवायुके अभ्यासमें तत्पर हुए अर्थात् रेचक, कुम्भक, पूरक भेदोंसे भिन्न २ जो प्राणायाम उनके करनेमें सावधान रहे तिससे प्राणायामके अभ्यासको अवश्य करे ॥ ३९ ॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ॥
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ४० ॥

यावदिति ॥ यावद्यावत्कालपर्यन्तं मरुत्प्राणानिलो देहे शरीरे बद्धः श्वासोच्छ्वासक्रियाशून्यः। यावच्चित्तमन्तःकरणं निराकुलमविक्षिप्तं समाहितम् । यावद् भ्रुवोर्मध्ये दृष्टिरन्तःकरणवृत्तिः । दृष्टिरत्र ज्ञानसामान्यार्थः । तावत्तावत्कालपर्यन्तं कलयतीति कालोऽन्तकस्तस्माद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । तथा च वक्ष्यति-' खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा । साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥ ' इति । स्वाधीनो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

यावत्कालपर्यन्त प्राणवायु शरीरमें बद्ध है अर्थात् श्वास और उच्छ्वास क्रियासे शून्य है और इतने अन्तःकरण निराकुल अर्थात् विक्षेपरहित वा सावधान है और इतने भ्रुकुटियोंके मध्यमें अन्तःकरणकी वृत्ति है तावत्कालपर्यन्त कालसे भय किसी प्रकार नहीं होसकता है अर्थात् योगी स्वाधीन होजाता है सोई आगे कहेंगे कि, उस योगीको कोई खा नहीं सकता न कोई कर्म बांध सकता न कोई उसे साधसकता जो योगी समाधिसे युक्त है ॥ ४० ॥

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ॥
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥ ४१ ॥

विधिवदिति ॥ विधिवत्प्राणसंयामैरासनजालन्धरबन्धादिविधियुक्तप्राणायामैर्नाडीचक्रं नाडीनां चक्रं समूहस्तस्मिन्विशोधिते निर्मले सति मारुतो वायुः सुषुम्ना इडापिंगलयोर्मध्यस्था नाडी तस्या वदनं मुखं भित्त्वा सुखादनायासाद्विशति । सुषुम्नान्तरिति शेषः ॥ ४१ ॥

विधिपूर्वक अर्थात् आसन जालन्धरबन्ध आदि पूर्वक किये हुए प्राणायामोंसे नाडियोंके समूहके भलीप्रकार शोधन हुएपर प्राणवायु इडा और पिंगलाके मध्यमें वर्तमान सुषुम्नानाडीके मुखको भली प्रकार भेदन करके सुषुम्नाके मुखमें सुखसे प्रविष्ट होजाता है ॥ ४१ ॥

मारुते मध्यसञ्चारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥ ४२ ॥

मारुत इति ॥ मारुते प्राणवायौ मध्ये सुषुम्नामध्ये संचारः सम्यक्चरणं गमनं मूर्धपर्यन्तं यस्य स मध्यसञ्चारस्तस्मिन् सति मनसः स्थैर्यं ध्येयाकारवृ-

पूरकान्त इति ॥ जालंधर इत्यभिधा नाम यस्य स जालंधराभिधो बंधो बध्नाति प्राणवायुमिति बंधः कण्ठाकुञ्चनपूर्वकं चिबुकस्य हृदिस्थापनं जालंधरबंधः पूरकांते पूरकस्यांते पूरकानन्तरं झटिति कर्तव्यः । तुशब्दात्कुम्भकादावुड्डियानकस्तु कुम्भकांते कुम्भकस्यांते किंचित्कुम्भकशेषे रेचकादौ रेचकात्पूर्वं कर्तव्यः । प्रयत्नविशेषेण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबंधः ॥ ४५ ॥

अब हठसिद्धिके विषे परमहंसोंकी उस सर्वकुंभक साधारण युक्तिको तीन श्लोकोंसे कहते हैं–जो अन्यसे सिद्ध न होसके कि, पूरकप्राणायामके अंतमें जालंधर है नाम जिसका वह बंध करना अर्थात् कंठके आकुंचनको करके चिबुकको हृदयमें स्थापनरूप जालंधरबंधसे प्राणवायुका बंधन करै और तुशब्दसे कुंभककी आदिमें भी जालंधर बंध करै और कुंभकके अंतमें अर्थात् कुंभकके किंचित् शेष रहनेपर और रेचकप्राणायामकी आदिमें उड्डियानबंधको करै प्रयत्न विशेषसे नाभिप्रदेशका पीठसे जो आकर्षण उसे उड्डियानबंध कहते हैं ॥ ४५ ॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसङ्कोचने कृते ॥
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ४६ ॥

अधस्तादिति ॥ कण्ठस्य संकोचनं कण्ठसंकोचनं तस्मिन्कृते सति जालंधरबंधे कृते सतीत्यर्थः । आश्वव्यवहितोत्तरमेवाधस्तादधःप्रदेशादाकुंचनेनाधाराकुञ्चनेन मूलबंधेनेत्यर्थः । मध्ये नाभिप्रदेशे पश्चिमतः पृष्ठतस्तानं ताननमाकर्षणं तेनोड्डियानबंधेनेत्यर्थः । उक्तरीत्या कृतेन बंधत्रयेण प्राणो वायुर्ब्रह्मनाडीं सुषुम्नां गच्छतीति ब्रह्मनाडिगः सुषुम्नानाडिगामी स्यादित्यर्थः।अत्रेदं रहस्यम् । यदि श्रीगुरुमुखाज्जिह्वाबंधः सम्यक् परिज्ञातस्तर्हि जिह्वाबंधपूर्वकेन जालंधरबंधेनैव प्राणायामः सिध्यति । वायुप्रकोपेनैवमधातुर्वपुःकृशत्वं वदनेप्रसन्नतेत्यादीनि सर्वाणि लक्षणानि जायंत इति मूलबंधोड्डियानबंधौ नोपयुक्तौ । तयोर्जिह्वाबंधपूर्वकेण जालंधरबंधेनान्यथा सिद्धत्वात् । जिह्वाबंधो न विदितश्चेदधस्तात्कुंचनेनेति श्लोकोक्तरीत्या प्राणायामाः कर्तव्याः। त्रयोऽपि बंधा गुरुमुखाज्ज्ञातव्याः। मूलबंधस्तु सम्यगज्ञातो नानारोगोत्पादकः । तथा हि । यदि मूलबंधे कृते धातुक्षयो विष्टंभोऽग्निमांद्यं नादमांद्यं गुटिकासमूहाकारमजस्येव पुरीषं स्यात्तदा मूलबंधः सम्यक् न जात इति बोध्यम् । यदि तु धातुपुष्टिः सम्यक् मलशुद्धिरग्निदीप्तिः सम्यक् नादाभिव्यक्तिश्च स्यात्तदा ज्ञेयं मूलबंधः सम्यक् जातः इति ॥ ४६ ॥

कंठका संकोचन करनेपर अर्थात् जालंधर बंध किये पीछे शीघ्रही नीचेके प्रदेशसे आकुंचन होनेसे अर्थात् आकुंचनसे मूलबंध होनेसे हुआ जो मध्यमें पश्चिमतान अर्थात् पृष्ठसे नाभिप्रदेशमें प्राणका आकर्षणरूप उड्डियानबंधसे प्राण ब्रह्मनाडीगत होजाता है । सुषुम्नानाडीमें पहुँच जाता है, यहां यह रहस्य अर्थात गोप्य वस्तु है कि, यदि गुरुमुखसे जिह्वाबंध भली प्रकार जानलिया होय तो जिह्वाबंधके करनेके अनंतरही जालंधर बंधसे प्राणा-

याम सिद्ध होता है अर्थात् वायुके प्रकोपनसेही धातुओंकी प्रसन्नता देहमें कृशता और मुखकी प्रसन्नता आदि संपूर्ण लक्षण होजाते हैं इससे मूलबंध उड्डियान बंध करनेका कुछ उपयोग नहीं और जिह्वाबंध न जाना होय तो इस श्लोकमें उक्त रीतिसे प्राणायाम करने और ये तीनों बंध गुरुमुखसे जानने योग्य हैं, क्योंकि भली प्रकार न जाना हुआ मूलबंध नानारोगोंको पैदा करता है सोई दिखाते हैं कि, यदि मूलबंध कियेपर धातुका क्षय विष्टंभ मंदाग्नि नादकी मंदता और गुटिकाके समूहकेसा है आकार जिसका ऐसा बकरीके समान पुरीष (मल) होय तो यह जानना कि, मूलबन्ध भली प्रकार नहीं हुआ और यदि धातुओंकी पुष्टि भली प्रकार मलशुद्धि और अग्निका दीपन और भलीप्रकार नादकी प्रकटता होय तो यह जानना कि, मूलबन्ध भलीप्रकार हुआ है. भावार्थ यह है कण्ठके संकोच कियेपर नीचेके प्रदेशसे प्राणके आकुंचनसे पश्चिमतान करनेपर नाभिप्रदेशमें पृष्ठसे प्राणके आकर्षणसे प्राण सुषुम्नामें पहुँच जाता है ॥ ४६ ॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कठादधो नयेत् ॥
योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्दवयो भवेत् ॥ ४७ ॥

अपानमिति ॥ अपानमपानवायुमूर्ध्वमुत्थाप्याधाराकुञ्चनेन प्राणं प्राणवायुं कण्ठादधः अधोभागे नयेत्प्रापयेद्यः स योगी योगोऽस्यास्ति अभ्यस्यत्वेनेति योगी योगाभ्यासी जरया वार्धक्येन विमुक्तो विशेषेण मुक्तः सन् । षोडशानामब्दानां समाहारः षोडशाब्दं षोडशाब्दं वयो यस्य स तादृशो भवेत् । यद्यपि ' पूरकान्ते तु कर्तव्यः ' इत्यादिना त्रयाणां श्लोकानामेक एवार्थः पर्यवस्यति तथापि ' पूरकान्ते तु कर्तव्यः ' इत्यनेन बन्धानां काल उक्तः । ' अधस्तात्कुञ्चनेन ' इत्यनेन बन्धानां स्वरूपमुक्तम् । ' अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य ' इत्यनेन बन्धानां फलमुक्तमिति विशेषः । जालन्धरबन्धे मूलबन्धे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्ये बन्ध उड्डियानबन्धो भवत्येवेत्यस्मिन् श्लोके नोक्तः। तथाचोक्तं ज्ञानेश्वरेण गीताषष्ठाध्यायव्याख्यायाम् ' मूलबन्धे जालन्धरबन्धे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बन्धः स्वयमेव भवति ' इति ॥ ४७ ॥

अपानवायुको ऊर्ध्व (ऊपर) को उठाकर आधाराकुंचनसे प्राणवायुको जो कण्ठके अधोभागमें स्थापन करै वह योगी जरासे विमुक्त होता है और षोडश वर्षका है देह जिसका ऐसा होता है. यद्यपि पूर्वोक्त तीनों श्लोकोंका अन्तमें एकही अर्थ होता है तथापि (पूरकान्ते) इस प्रथम श्लोकसे बन्धोंका समय कहा है और (अधस्तात्कुंचनेन) इस दूसरे श्लोकसे बन्धोंका स्वरूप कहा (अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य) इस तीसरे श्लोकसे बन्धोंका फल कहा है यह विशेष जानना और जालंधरबन्ध मूलबन्ध करनेपर नाभिके भागमें आकर्षण नामका बन्ध जो उड्डियान बंध है वह स्वयंही होजाता है इससे इस श्लोकमें नहीं कहा, सोई ज्ञानेश्वरने गीतामें छठे अध्यायकी व्याख्यामें कहा है मूलबन्ध जालंधर किये पीछे आकर्षण नामका बन्ध स्वयंही होजाता है ॥ ४७ ॥

सिद्धिके लिये अनेक प्रकारके अर्थात् सूर्यभेदन आदिमे भिन्न २ प्राणायामोंको करते हैं, क्योंकि विचित्र कुंभकप्राणायामोंके अभ्याससे विचित्रही सिद्धिको प्राप्त होजाता है अर्थात् जन्म, औषधी, मंत्र, तप इनसे उत्पन्न हुई विलक्षण सिद्धि कुंभक प्राणायामोंसे होती है। सोई भागवतमें कहा है कि, उत्तम जन्म औषधी तप और मंत्र इनसे जितनी सिद्धि होती है उन सबको योगी योगसे प्राप्त होता है और अन्य कर्मोंसे योगकी गति प्राप्त नहीं होती और उस गतिकी प्राप्ति प्रत्याहार आदिकी परम्परासे समझनी ॥ ४३ ॥

अथ कुंभकभेदाः।

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुंभकाः ॥४४॥

अथाष्टकुंभकान्नामभिर्निर्दिशति-सूर्यभेदनमिति ॥ स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ-अब आठ कुंभक प्राणायामोंको नाम लेलेकर दिखाते हैं कि, सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लाविनी ये आठप्रकारके कुंभक प्राणायाम जानने ॥ ४४ ॥

पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः॥
कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः॥ ४५ ॥

अथ हठसिद्धावनन्यासिद्धां पारमहंसीं सर्वकुंभकसाधारणयुक्तिमाह त्रिभिः ॥ पूरकांत इति ॥ जालंधर इत्यभिधा नाम यस्य स जालंधराभिधो बंधो बध्नाति प्राणवायुमिति बंधः कंठाकुंचनपूर्वकं चिबुकस्य हृदि स्थापनं जालंधरबंधः पूरकांते पूरकस्यांते पूरकानंतरं झटिति कर्तव्यः। तुशब्दात्कुंभकादावुड्डियानकस्तु कुंभकांते कुंभकस्यांते किंचित्कुंभकशेषे रेचकस्यादौ रेचकादौ रेचकात्पूर्वं कर्तव्यः। प्रयत्नविशेषेण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबंधः ॥ ४५ ॥

भाषार्थ-अब हठसिद्धिकेविषे परमहंसोंकी उस सर्वकुम्भक साधारण युक्तिको तीन श्लोकोंसे कहते हैं जो अन्यसे सिद्ध न होसके कि, पूरकप्राणायामके अंतमें जालंधरहै नाम जिसका वह बंध करना अर्थात् कंठके आकुंचनको करके चिबुकको हृदयमें स्थापनरूप जालंधरबंधसे प्राणवायुका बंधन करे और तुशब्दसे कुंभककी आदिमें भी जालंधर बंध करै और कुंभकके अंतमें अर्थात् कुंभकके किंचित् शेष रहनेपर और रेचकप्राणायामकी आदिमें उड्डियान बंधको करै प्रयत्न विशेषसे नाभिप्रदेशका पीठसे जो आकर्षण उसे उड्डियानबंध कहते हैं ॥ ४५ ॥

अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ॥
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ४६ ॥

अधस्तादिति ॥ कंठस्य संकोचनं कंठसंकोचनं तस्मिन्कृते सति जालंधरबंधे कृते सतीत्यर्थः । आश्वव्ययदाऽितोत्तरमेवाधस्तादधःप्रदेशादाकुंचनेनाधाराकुंचनेन मूलबंधेनेत्यर्थः । मध्ये नाभिप्रदेशे पश्चिमतः पृष्ठतस्तानं ताननमाकर्षणं तेनोड्डियानबंधेनेत्यर्थः । उक्तरीत्या कृतेन बंधत्रयेण प्राणो वायुर्ब्रह्मनाडीं सुषुम्नां गच्छतीति ब्रह्मनाडिगः सुषुम्नानाडिगामी स्यादित्यर्थः अत्रेदं रहस्यम् । यदि श्रीगुरुमुखाज्जिह्वाबंधः सम्यक् परिज्ञातस्तर्हि जिह्वाबंधपूर्वकेन जालंधरबंधेनैव प्राणायामः सिध्यति । वायुप्रकोपेनैवमधातुवपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नतेत्यादीनि सर्वाणि लक्षणानि जायंत इति मूलबंधोड्डियानबंधौ नोपयुक्तौ । तयोर्जिह्वाबंधपूर्वकेण जालंधरबंधेनान्यथा सिद्धत्वात् । जिह्वाबंधो न विदितश्चेदधस्तात्कुंचनेनेति श्लोकोक्तरीत्या प्राणायामाः कर्तव्याः । त्रयोऽपि बंधा गुरुमुखाज्ज्ञातव्याः । मूलबंधस्तु सम्यगज्ञातो नानारोगोत्पादकः । तथा हि । यदि मूलबंधे कृते धातुक्षयो विष्टंभोऽग्निमांद्यं नादमांद्यं गुटिकासमूहाकारमजस्येव पुरीषं स्यात्तदा मूलबंधः सम्यक् न ज्ञात इति बोध्यम् । यदि तु धातुपुष्टिः सम्यक् मलशुद्धिरग्निदीप्तिः सम्यक् नादाभिव्यक्तिश्च स्यात्तदा ज्ञेयं मूलबंधः सम्यक् जातः इति ॥ ४६ ॥

भाषार्थ–कंठका संकोचन करनेपर अर्थात् जालंधर बंध किये पीछे शीघ्रही नीचेके प्रदेशसे आकुंचन होनेसे अर्थात् आकुंचनसे मूलबंध होनेसे हुआ जो मध्यमें पश्चिमतान अर्थात् पृष्ठसे नाभिप्रदेशमें प्राणका आकर्षण रूप उड्डियान बंधसे प्राण ब्रह्मनाडीगत होजाता है । सुषुम्ना नाडीमें पहुंच जाता है, यहां यह रहस्य अर्थात् गोप्य वस्तु है कि, यदि गुरुमुखसे जिह्वाबंध भलीप्रकार जानलिया होय तो जिह्वाबंधके करनेके अनंतरही जालंधर बंधसे प्राणायाम सिद्ध होता है अर्थात् वायुके प्रकोपनसेही धातुओंकी प्रसन्नता देहमें कृशता और मुखकी प्रसन्नता आदि संपूर्ण लक्षण होजाते हैं इससे मूलबंध उड्डियान बन्ध करनेका कुछ उपयोग नहीं और जिह्वाबन्ध न जाना होय तो इस श्लोकमें उक्त रीतिसे प्राणायाम करने और ये तीनों बन्ध गुरुमुखसे जानने योग्य हैं, क्योंकि भलीप्रकार न जाना हुआ मूलबंध नानारोगोंको पैदा करता है सोई दिखाते हैं कि, यदि मूलबंध कियेपर धातुका क्षय विष्टंभ मंदाग्नि नादकी मंदता और गुटिकाके समूहकेसा है आकार

जिसका ऐसा बकरीके समान पुरीष (मल) होय तो यह जानना कि, मूलबंध भली-प्रकार नहीं हुआ और यदि धातुओंकी पुष्टि भलीप्रकार मलशुद्धि और अग्निका दीपन और भलीप्रकार नादकी प्रकटता होय तो यह जानना कि, मूलबन्ध भलीप्रकार हुआ है, भावार्थ यह है कण्ठके संकोच कियेपर नीचेके प्रदेशसे प्राणके आकुंचनसे पश्चिमतान करनेपर नाभिप्रदेशमें पृष्ठसे प्राणके आकर्षणसे प्राण सुषुम्नामें पहुँच जाता है ॥४६॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयेत् ।
योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्दवयो भवेत् ॥ ४७ ॥

अपानमिति ॥ अपानमपानवायुमूर्ध्वमुत्थाप्याधाराकुंचनेन प्राणं प्राणवायुं कंठादधःअधोभागे नयेत्प्रापयद्यःस योगी योगोऽस्यास्तिअभ्य-स्यत्वेनेति योगी योगाभ्यासी जरया वार्धक्येन विमुक्तो विशेषेण मुक्तः सन् । षोडशानामब्दानां समाहारःषोडशाब्दं षोडशाब्दं वयो यस्य स तादृशो भवेत् । यद्यपि 'पूरकांते तु कर्तव्यः' इत्यादिना त्रयाणां श्लोकानामेक एवार्थःपर्यवस्यति तथापि 'पूरकांते तु कर्तव्यः' इत्यनेन बंधानां काल उक्तः । 'अधस्तात्कुंचनेन' इत्यनेन बधानां स्वरूपमु-क्तम् । 'अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य' इत्यनेन बंधानां फलमुक्तमिति विशेषः । जालंधरबंधे मूलबंधे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बंध उड्डिया-नबंधो भवत्येवेत्यस्मिञ्श्लोके नोक्तः । तथाचोक्तं ज्ञानेश्वरेण गीताषष्ठा-ध्यायव्याख्यायाम् । 'मूलबंधे जालंधरबंधे च कृते नाभेरधोभाग आक-र्षणाख्यो बंधः स्वयमेव भवति ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-अपानवायुको ऊर्ध्व (ऊपर) को उठाकर आधाराकुंचनसे प्राणवायुको जो कंठके अधोभागमें स्थापन करै वह योगी जरासे विमुक्त होताहै और षोडश वर्षका है देह जिसका ऐसा होता है. यद्यपि पूर्वोक्त तीनों श्लोकोंका अंतमें एकही अर्थ होता है तथापि (पूरकान्ते) इस प्रथम श्लोकसे बन्धोंका समय कहा है और (अधस्तात्कुंचनेन) इस दूसरे श्लोकसे बन्धोंका स्वरूप कहा (अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य) इस तीसरे श्लोकसे बन्धोंका फल कहा है यह विशेष जानना और जालंधरबंध और मूलबंध करनेपर नाभिके भागमें आकर्षण नामका बन्ध जो उड्डियान बंध है वह स्वयंही होजाता है इससे इस श्लोकमें नहीं कहा, सोई ज्ञानेश्वरने गीतामें छठे अध्यायकी व्याख्यामें कहा है मूलबन्ध जालंधरकिये पीछे आकर्षण नामका बन्ध स्वयंही होजाता है ॥ ४७ ॥

ज्ञान, अमृत और आनन्द प्रदान करने के लिये अभ्युत्थान करें। मेरी विषय-वासना का अंधकार हरण कर लें।

ऐसा संकल्प करके 'हुं' इस मन्त्र से कुण्डलिनी को जगाना चाहिये। तत्पश्चात् पवन-दहन, कुम्भक और पूरक के योग से मोक्ष द्वार का उद्घाटन करना चाहिये अर्थात् मूलाधार को कुम्भक की अग्नि से प्रदीप्त करके हूं-हूं इस शब्द-संकेत से कुण्डलिनी को चलित करना चाहिये।

सुषमन गली भली सौदामिनी। पति के महल चली कुल भामिनि॥

यहाँ कहते हैं कि कुलभामिनी (अर्थात् कुण्डलिनी) अपने पति के महल (अर्थात् सहस्रार चक्र की ओर) चली। किस रास्ते से चली? तो कहते हैं कि सुषुमना-गली में होकर चली, सुषुम्णा नाड़ी से होकर चली। कैसी गली है? ऐसी जिसमें सौदामिनी का प्रकाश है।

छत्तीसन की बनी हवेली। छह मंजिल बारी अलबेली।

सम्पूर्ण विराट् छत्तीस तत्वों से ही बना है। शिव के बिना शक्ति नहीं रह सकती और शक्ति के बिना शिव नहीं रह सकते।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चारों सन्ध्याओं में श्रीगुरु-देव का ध्यान-योग

श्रीगुरु-चक्र के उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि—'कुण्डलिनी' महा-शक्ति श्री-गुरु-शक्तचम्बा का ही रूप है'। चारों सन्ध्याओं में इस महा-शक्ति को मूलाधार, मणिपुर से जगाकर श्रीगुरु-देव के वामाङ्ग में ले जाना ही साधना की अन्तिम सीढ़ी है।

'मूलाधार-चक्र' में काम-वीज 'क्लीं' अवस्थित है, जो स्वयम्भू-लिङ्ग का आधार है अर्थात् जिस पर स्वयम्भू-लिङ्ग प्रतिष्ठित है, वह अग्नि-रूप है।

'प्राण'-वायु (नाक से हम जो साँस लेते हैं) और 'अपान'-वायु (गुदा में रहने-वाली वायु) जब 'मूलाधार-चक्र' में कुम्भक द्वारा भावना-पूर्वक मिलाई जाती हैं, तो इनके वेग से 'क्लीं' बीज में निहित कामाग्नि भड़क उठती है। इस अग्नि से तप-कर मूलाधार में सोई हुई 'कुण्डलिनी' महा-शक्ति जगकर ऐसे सीधी हो जाती है, जैसे डण्डे से प्रताड़ित नागिन कुण्डली छोड़कर झटके से सीधी हो जाती है।

'मणिपुर-चक्र' (नाभि) में भी इसी प्रकार कुण्डलिनी के स्फुरण को देखने का अभ्यास किया जाता है। पूर्ण अभ्यास-क्रम इस प्रकार है—

१. 'प्राण'-वायु को खींच कर भावना द्वारा मूलाधार-चक्र में ले जाय।
२. इस समय ठोढ़ी को छाती से लगाकर, गले की सब नाड़ियों के मुँह बन्द कर 'जालन्धर-बन्ध' लगाए।

३. साथ ही पेट को भीतर खींचकर, पीठ से उसे सटाकर 'उड्डियान बन्ध' लगाए और 'गुदा' को ऊपर की ओर संकुचित कर 'मूल-बन्ध' लगाए।
४. तब मूलाधार-चक्र में चतुर्दल के बीच 'क्लीं'-बीज से अग्नि की उठती हुई लपटें देखे।
५. फिर 'कुण्डलिनी' को सीधी रेखा के समान, 'सुषुम्णा' में सीधे ऊपर चढ़कर, 'श्रीगुरु-चक्र' में उसका पहुँचना देखे और श्री गुरु-शक्तचम्बा माँ के रूप में बदल-कर उसे श्रीगुरुदेव के वाम-अङ्ग में विराजती हुई देखे।

अन्त में श्वास बाहर निकालते हुए, उसे वापिस नीचे आती हुई 'कुण्डलिनी' के आकार में 'स्वयम्भू-लिङ्ग' से लिपटती हुई देखे। श्वास बाहर निकालते समय, जालन्धर-बन्ध, उड्डियान-बन्ध और मूल-बन्ध—तीनों को धीरे-धीरे खोलता जाए। यह ध्यान रहे कि श्वास एकदम झटके से बाहर न निकले।

ऐसा करने के लिए पहले बाँएँ स्वर से 'प्राण'-वायु को खींचना चाहिए। उसे मूलाधार में रोककर क्रम-संख्या २, ३, ४, ५ के अनुसार देखना चाहिए। फिर दाहिने स्वर से धीरे-धीरे श्वास छोड़नी चाहिए। इसके बाद दाहिने स्वर से साँस खींचे और पूर्वोक्त विधि से सब काम करके बाँयें से उसे बाहर निकाले। तीसरी बार पुनः बाँयें से श्वास खींचे और सब काम करके दाहिने से उसे निकाले।

ऐसा ६ बार करके, थोड़ा विश्राम करे। इस ध्यान में जो पसीना आये, उसे शरीर में ही रगड़ लेना चाहिए। पसीना योग का तेज है।

६ बार मूलाधार-चक्र में ध्यान करने के बाद, ६ बार मणिपुर-चक्र में ध्यान करे—

१. 'प्राण'-वायु को खींच कर भावना द्वारा मणिपुर-चक्र में ले जाय।
२. पहले की तरह जालन्धर-बन्ध, उड्डियान-बन्ध और मूल-बन्ध लगाए।
३. तब मणिपुर-चक्र में दश-दल के बीच एक त्रिकोण के मध्य 'रं'-बीज से अग्नि की उठती हुई लपटें देखे। कुण्डलिनी (जो यहाँ पाँच फेरे देकर सुप्तावस्था में है) का जगना देखे। फिर सीधे गुरु-चक्र में पहुँचकर श्रीगुरु-शक्तचम्बा के रूप में उसे बदलते हुए देखे। अन्त में श्वास निकालते हुए मूल-बन्ध खोलते हुए देखे कि वह फिर वापिस नीचे उतर कर, मणिपुर में उसी त्रिकोण के मध्य में 'रं' बीज पर पाँच घेरों में कुण्डली मारकर लेट गई है।

प्राणायामस्त्रिधाप्रोक्तोरेचपूरककुंभकैः॥सहितःकेवलश्चेतिकुंभकोद्विविधोमतः ७६ रेच
नंपूरणंकुर्यात्सवैकेवलकुंभकः॥सतुकेवलकुंभस्तुरेचपूरकवर्जितः ७७ यावत्केवलसि
द्धिःस्यात्सहितंतावदभ्यसेत्॥रेचकंपूरकंत्यक्त्वासुखंयद्वायुधारणं ७८ प्राणायामोयमित्यु
क्तःसतुकेवलकुंभकः॥कुंभकेकेवलेसिद्धेरेचपूरकवर्जिते ७९ नतस्यदुर्लभंकिंचित्त्रिषु
लोकेषुविद्यते॥शक्तःकेवलकुंभेनयथेष्टंवायुधारणं ८० राजयोगपदंचैवलभतेनात्रसंश
यः॥हठंविनाराजयोगोराजयोगंविनाहठः ८१ नसिध्यतिततोयुग्ममानिष्पत्तेःसमभ्यसेत्॥
कुंभकःप्राणरोधांतेकुर्याच्चित्तंनिरामयं ८२ एवमभ्यासयोगेनराजयोगपदंव्रजेत्॥कुंभकात्कुं
डलीबोधःकुंडलीबोधतोभवेत् ८३ अंतर्गतासुषुम्णाचहठसिद्धिश्चजायते॥आहारंक्षीय
तेयोगीकृष्णपक्षेयथाशशी ८४ शुक्लपक्षेयथाचंद्रस्तथाभ्यासोमृतोपमं॥ वपुःकृशत्वंवदनेप्रस
न्नतानादस्फुटत्वंनयनेसुनिर्मले॥आरोग्यताबिंदुजयोग्निदीपनंनाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणं
८५ इतिश्रीस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायांहठप्रदीपिकायांषट्कर्मसाधनंनामद्वितीयोपदेशः २
सशैलवनधात्रीणांयथाधारोहिनायकः॥सर्वेषांयोगतंत्राणांतथाधारोहिकुंडली १ सुप्ता
गुरुप्रसादेनयदाजागर्तिकुंडली॥तदासर्वाणिपद्मानिभिद्यंतेग्रंथयोपिच २ प्राणस्यशून्यपद

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

चैतत्थाराजपथायते॥ तथा चित्तं निरालंबं तथा कालस्य वंचनं ३ शून्यपदवी निरिक्तं॥ सुषुम्णा शू
न्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः॥ श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकः ३ तस्मात्सर्वप्रय
त्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीं ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ५ महामुद्रा महाबंधो महा
वेधश्च खेचरी॥ उड्डियानं मूलबंधो बंधो जालंधराभिधः॥६॥ करणी विपरीताख्या वज्रोली
शक्तिचालनं॥ इदं हि मुद्राजनकं जरामरणनाशनं॥ ७॥ आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्र
दायकं॥ वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि॥८॥ गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकं॥
कस्यापि नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा॥९॥ वज्रोली रमरोलीश्च सहजोली त्रिधा मता॥ जी
एतेषां लक्षणं लक्ष्ये कर्त्तव्यं च विशेषतः॥१०॥ अथ महामुद्रा॥ पादमूलेन वामेन योनिं सं
पीड्य दक्षिणां॥ प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढं॥११॥ कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वा
युमूर्द्धतः॥ यथा दंडाहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते॥१२॥ ऋज्वीभूता यथा शक्तिः कुंड
ली सहसा भवेत्॥ तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता॥१३॥ ततः शनैः शने

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

रेमरेचयेन तु वेगेन ॥१३॥ इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रशस्यते ॥१४॥ महाक्लेशादयो दोषाः क्षी
यंते मरणादयः ॥ महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥१५॥ चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यां
गे पुनरभ्यसेत् ॥ यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१६॥ नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः
सर्वेपि नीरसाः ॥ अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥१७॥ क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्मा
जीर्णपुरोगमाः ॥ तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां च योभ्यसेत् ॥१८॥ कथितेयं महामुद्रा म
हासिद्धिकरी नृणां ॥ गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥१९॥ अथ महामुद्राबंधः ॥
पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥ वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥२०॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढं ॥ निःपीड्य योनिमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥२१॥
धारयित्वा यथाशक्त्या रेचयेदनिलं शनैः ॥ वामांगे प्रथमभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥२२॥
मतमत्र तु केषांचित् कंठबंधं विवर्जयेत् ॥ राजदंतस्थजिह्वाया बंधः शस्तो भवेदिति ॥२३॥
अयं किल महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥ कालपाशमहाबंधविमोचनविमोक्षणः ॥२४॥

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

क्रम्य ४

जंघा ४
स्फि ४

अयं च सर्वनाडीनां ध्वंशतिनिबोधकः ॥ त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः २५ रूपलावण्यसं
पन्नायथास्त्री पुरुषं विना ॥ महामुद्रामहाबंधौ निःफलौ वेधवर्जितौ २६ अथ महावेधः ॥ महा
बंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥ वायुना गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया २७ समहस्त
युगो भूमौ स्फिजौ संताडयेच्छनैः ॥ पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यमे: २८ सोमसूर्या
ग्निसंबंधाज्जायते चामृतायवे ॥ वलीपलितवेधघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः २९ बंधत्रयं महायोगो
ध्यं जरामरणनाशनं ॥ वन्हिवृद्धिकरं चैव अणिमादिगुणप्रदं ३० मृतावस्था समुत्पन्नाततो
वायुनिरेचयेत् ॥ महावेधोयमभ्यस्तो महासिद्धिप्रदायकः ३१ अष्टधा क्रियमाणेयं चयामेया
मेद्दिने दिने ॥ पुण्यसंभारसंधायी पापौघभिदुरं सदा ३२ सम्यक्शिक्षामतामेवस्वल्पंप्रथम
साधनं ॥ वन्हिस्त्रीपथसेवानामादौ वर्जनमारभेत् ३३ अथ खेचरीमुद्रा ॥ चित्तं चरति खे यस्मा
ज्जिह्वा चरति खे गता ॥ तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्नमस्कृता ३४ छेदनचालनदोहनैः कलां
क्रमेण वर्द्धयेत्तावत् ॥ रसना यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदानीं खेचरी सिद्धिः ३५ कपालकुहरे जि
ह्वाप्रविष्टा विपरीतगा ॥ भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ३६ स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सु
तीक्ष्णं स्निग्धं निर्मलं ॥ समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ३७ ततः सैंधवपथ्याभ्यां

न्पस्त २
सत्वरं ४

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

१

रूलीताभ्यां प्रकर्षयेत्॥ पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुछिनेत्॥ ३८ एवं क्रमेण षण्मासं नित्य
युक्तः समाचरेत्॥ षण्मासाद्रसनामूलनाडीबंधो विनश्यति ३९ अथ वागीश्वरीधाम शिरो
वस्त्रेण वेष्टयेत्॥ शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित् ४० वितस्तिप्रमितं दैर्घ्यं वि
स्तारे चतुरंगुलं॥ मृदुत्वं धवलं प्रोक्तं छेदनांबरलक्षणं ४१ पुनः षण्मासमात्रेतु पुनः सं
घर्षणं प्रिये॥ भ्रूमध्यावधि चैवोर्ध्वं तिर्यक्कर्णबिलावधि ४२ अधस्ताच्चुबुकं मूलं प्रयाति
क्रमकारिता॥ केशाद्यूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्संख्यावधि प्रिये ४३ पुनः संवत्सरादेव द्वियाद्येव
लीलया॥ ब्रह्मरंध्रं समावृत्य तिष्ठत्सुरमवंदिते ४४ स्वतालुमूलं संघृष्य सप्तवासरमात्म
नि॥ स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोषयेत् ४५ अंगुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वां तत्र निवेशये
त्॥ शनैः शनैर्मस्तकांत्मे महावज्रकपाटभित् ४६ पूर्वबीजयुतां विद्यां व्याख्यातामतिदुर्लभां
अस्याः षडंगं कुर्वीत तया षट्स्वरभिन्नया ४७ खेचरीं तत्सकलं क्रियाक्रमेणैव विनश्यति
शाश्वतोदये॥ आ...वस्त्र समवायकारिणी खेचरी भवति खेदहारिणी ४८ क्रमेणैव प्रकर्त
व्याऽभ्यासेन चरयाण्येति॥ युगपद्यत्ततत्तस्य शरीरे विलयं व्रजेत् ४९ तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्या

ती८

२

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

सोनयुगपत्स्त्रिये॥ एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारे वसेत्ध्रुवं ५० षट्चक्राणि विभिद्याशक्तिं भुं
जगीं प्रोत्सार्य मूलस्थितां भित्वा ग्रंथित्रयं च पश्चिमशिराप्रकाररूपं महत्॥ नीत्वा प्रा
णमतः शिरोबिले मलं निर्मथ्य चित्तेन तत्र लिंगं यः पिबती दुमं उत्तमं मन्त्रमुक्तः ससाक्षा
च्छिवः॥५१॥ नित्यं यस्तूर्ध्वजिह्वाग्रे यो पिबति पुमान् सप्तधारामृतौघं सुस्वादं शीतलांगं दु
रितभयहरं क्षुत्पिपासानिवारि॥ पिंडस्थैर्यं हि तस्माज्जयति मृतयथामृत्युरोगाञ्जयंति
दौर्भाग्यं याति नाशं प्रसरति सकलं याति बालत्वं शिवत्वं ५२ तीक्ष्णं च हरते व्याधिं कटुकं कु
ष्टनाशनं॥ घृतस्वादूपमं चैवामरत्वं लभते ध्रुवं ५३ मधुस्वादूपमं चैव वश्यत्वमुञ्जरते
बकुं॥ लकुरवंडकस्वादूनिपधान्नादीन्यनेकशः ५४ दिव्यकल्पं क्रीडये नित्यं समुत्कृष्टो
जायते ध्रुवं॥ तन्मयत्वं भवाप्नोति कोशाकारी च कीटकः ५५ कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा
विपरीतगा॥ भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ५६ काकचंचुविधानेन शीतलं सलिलं
पिबेत्॥ प्राणापानप्रयोगेन योगी भवति निर्जरः ५७ कंठोपरा [illegible] पथ्ये परिवर्तयेत्॥
साभवेत्खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ५८ रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्द्धं यति दिष्टति॥ वि

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

१०

बधैर्मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ५९ न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥ न च मू
र्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं ६० पीड्यते न तु रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥ बाध्यते न स का
लेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं ६१ खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥ तस्य न क्षरते बिंदुः का
मिन्यालिंगितस्य च ६२ चलितोपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलं ॥ व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या
निबद्धो योनिमुद्रया ६३ ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥ मासार्द्धेन न संदेहो मृ
त्युं जयति योगवित् ६४ नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ॥ तक्षकेनापि दष्टस्य विषं
तस्य न सर्पति ६५ इंधनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः ॥ तथा सोमकलापूर्णं देही देहं
न मुंचति ६६ गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीं ॥ कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः
६७ गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥ गोमांसभक्षणं तच्च महापातकनाशनं ६८
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ॥ चंद्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ६९ ना
भिदेशे भवेदेष भास्करो दहनात्मकः ॥ अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले तु चंद्रमाः ७० वर्षत्य
धोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः ॥ ज्ञातव्यं करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते ७१ मूर्ध्नः षोडशप
त्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयेत् ॥ उत्कल्लोल

१०

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

कलाजलं च विमलं धारामृतं यः पिबेन्निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरंजीवति ७२ रसनातालु
मूलेन यः प्राणं सततं पिबेत्॥ अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगपरिक्षयः ७३ चुंबंते यदि लंबिकाग्रम
निशं जिह्वारसस्यंदिनी सक्षाराकटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा॥ व्याधीनां हरणं जरांत
करणं शास्त्रागमोदीरणं स्यैतस्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणं ७४ सुषिरं ज्ञानजनकं
पंचस्रोतःसमन्वितं॥ तिष्ठती खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजने ७५ बद्धं मूलबिलं येन तेन वि
दा घ्नो विदारितः॥ अजरामरतां याति यथा पंचमुखो हरः ७६ अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिव
त्सरात्॥ ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतो ह्यणिमादिगुणोदयात् ७७ एकं सृष्टिमयं बीजं एका मुद्रा च खेचरी
एको देवो निरालंबो ह्येकावस्था मनोन्मनी ७८ पातालयच्छिरातिसुषिरं मेरुमूले यदस्ति तद्वद्वे
तत्त्ववदंति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानां॥ चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां तं बध्नीयात्सुक
रणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ७९ अथ मूलबंधमुद्रा॥ पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गु
दं॥ अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽयमुच्यते ८० अधोगतमपानं वै चोर्ध्वगं कुरुते बलात्॥ आकुं
चनेन तं प्राहुर्मूलबंधं च योगिनः ८१ गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात्॥ वारंवारं यथा चो
र्ध्वं समायाति समीरणः ८२ प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकतां॥ ततो योगस्य संसिद्धिं कुरु

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

११

तेनात्र संशयः ॥८३॥ अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥ युवा भवति वृद्धोपि सततं मूल
बंधनात् ८४ अपाने चोर्ध्वगे जाते संप्राप्ते वह्निमंडले ॥ तदानल(शिखादी)र्घा विवर्द्धते वायुना हता
८५ ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकं ॥ तेनात्यंतप्रदीप्तश्च ज्वलनो देहगस्तदा ८६ तेन
कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ॥ दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ८७ बिलं प्रवि
ष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरे व्रजेत् ॥ तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ८८ अथोड्डिया
णबंधः ॥ बद्धो येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥ तस्मादुड्डीयणाख्योयं योगिभिः समुदाहृ
तः ८९ उड्डानं कुरुते यस्मादविश्रांतो महाखगः ॥ उड्डीयाणं तदेव स्यात्तत्र बंधो विधीयते ९० उद
रे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ॥ उड्डीयाणो ह्ययं बंधो मृत्युमातंगकेसरी ९१ उड्डीयाणं
तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥ अभ्यसेदनिशं योगी वृद्धोपि तरुणो भवेत् ९२ नाभेरूर्ध्वम
धश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥ षण्मासाभ्यासयोगेन जयेन्मृत्युं न संशयः ९३ संति वज्रासने पा
दौ कराभ्यां धारयेद्दृढं ॥ गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ९४ पश्चिमं तानमुदरे कारयेच्च हृ
दये गले ॥ शनैः शनैर्यथा प्राणो नाडीसंधिं गच्छति ९५ सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियाण

११

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

कः ९५ उड्डीयाणे कृते बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ९६ अथ जालंधरबंधः ॥ कंठमाकुंच्य हृदये स्था
पयेच्चिबुकं दृढं ॥ बंधो जालंधराख्योयं मृत्युक्षयकारकः ९७ बध्नाति हि शिराजालमधोयाति नभोज
लं ॥ ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशकः ९८ जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥ न पीयूषं प
तत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ९९ कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्ध्रुवं ॥ मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोड
शाधारबंधनं १०० बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैर्निषेवितं ॥ सर्वेषां योगतंत्राणां साधनं योगिनो
विदुः १०१ अधस्तात्कुंचनेनैव कंठसंकोचने कृते ॥ मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मरंध्रगः २
मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डीयाणं तु कारयेत् ॥ इडां च पिंगलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमापथे ३ अने
नैव विधानेन प्रयाति पवनो लयं ॥ ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ४ अथ विपरीतकरणं ।
यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणं ॥ तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडविनाशनं ५ तत्रास्ति क
रणं दिव्यं सूर्यस्य मुखबंधनं ॥ गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ६ ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालो
रूर्ध्वं भानुरधः शशी ॥ करणं विपरीताख्यं गुरुवाक्येन लभ्यते ७ करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिवि
नाशिनी ॥ नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्द्धनी ८ आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य तु ॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहते हि क्षणात् ९ अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ क्षणाच्च किं

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

१२

विदधित्समभ्यसे[illegible] दिने दिने ॥ १० चलितं वलितं चैव षण्मासात्तु न दृश्यते ॥ याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ११ अथ वज्रोली ॥ स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥ वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनं १२ तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥ कर्मद्वयमिदं प्रोक्तं धुलिना सिद्धयोगिना ॥ क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् १४ यत्नतः शरजालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ॥ शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् १५ पुरुषो वाथ नारी वा वज्रोली सिद्धिमाप्नुयात् ॥ नार्या भगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् १६ चलितं निजं बिंदुं च ऊर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥ मरणं बिंदुपातेन जीवितं बिंदुधारणात् ॥ १८ ॥ सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुरक्षणात् ॥ यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ १९ ॥ चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितं ॥ तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः २० ऋतुमत्या रजोऽप्येवं निजं बिंदुं च रक्षयेत् ॥ मेंद्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवान् २१ अयं योगः पुण्यवतां धन्यानां तत्त्वशालिनां ॥ निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनां २२ सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या एकभेदतः ॥ जले भस्म विनिक्षिप्य दग्धगोमयसंभवं ॥ २३ ॥ वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं ॥ आसानयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणं २४ सहजोलिरियं प्रोक्ता सेव्यते योगिभिः सदा ॥

१२

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

अयंसुशुभकरोयोगोभोगमोक्षसुखप्रदः२५ अथ अमरोलिः॥ पित्तोल्बणत्वात्प्रथमांतु
धारां विहाय निःसारतयांत्यधारां॥ निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिकैः खंडमते
समर्थैः२६ अमरीं यः पिबेन्नित्यं वस्यं कुर्याद्दिने दिने॥ वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोली
ति कथ्यते २७ पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात्॥ अथ यदि नारी रजो रक्षेद्व
ज्रोल्या यह योगिनी २८ तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः॥ तस्याः शरीरे नाद
श्च बिंदुतामेव गच्छति २९ स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभरमास्वदेहगौ॥ वज्रोल्यभ्यासयो
गेन सर्वसिद्धिः प्रजायते ३० अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवं॥ देहसिद्धिं च लभ
ते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ३१ तस्माद्धंससाधकानां भोगयुक्तेपि मोक्षदः॥ तस्मात्पुण्य
यतामेव योगोयं संप्रतिष्ठति ३२ महता कुंचना दूर्ध्वं रजसापि हि योगिनी॥ अतीताना
गतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवं ३३ अथ शक्तिचालने॥ कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरी
श्वरी॥ कुंडल्यरुंधती चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः ३४ कंदोर्ध्वे कुंडली शक्तिः [illegible]
[illegible]॥ २ यथा कुंडलाकलितः॥ ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ३५ येन

25

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयं ॥ मुखेनाछाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ३६ उद्घाटये
त्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥ कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ३७ कंदोर्ध्वे
कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनां ॥ बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ३८ अहो
धिष्ठी पत्रैलानामाधारः शेष कुंडली ॥ अशेषयोगतंत्राणामाधारः कुंडली तथा ३९ कुं
डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥ सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ४०
गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनी ॥ बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदं ४१
इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥ इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा सरस्वती ४२ पुच्छे प्र
गृह्य भुजंगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च तां ॥ निद्रां विहाय सा ऋज्वी ऊर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ४३ शय्यास
नस्थस्य फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्द्धमात्रं ॥ प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं
परिचालनीया ४४ वितस्ति प्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलं ॥ मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनांबुरल
क्षणं ४५ वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुंडली ॥ कुर्यादनंतरं भस्त्रीं कुंडलीमाशु बोध
येत् ४६ भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः ॥ मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ४७

१३

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोतिदीर्घीकृतश्चंद्रांभःपरिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिको
याःसदा॥ भिंदन्कालविशालवह्निवशगान्त्रं रंध्रनाडीगणान्तत्कालं कुरुते पुनर्नवत
रं छिन्नद्रुमस्कंधवत् ४८ कुंडलीचालयित्वा तु कुर्यात्कुंभी विशेषतः॥ एवमभ्यसतो नित्यं
यमिनः शंकते यमः ४९ तथाभ्यसेत्सूर्यभेदं उज्जायीं चापि शीतलीं॥ एवमभ्यासयुक्त
स्य श्रमस्त्वयमिनः कुतः ५० मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ॥ ऊर्ध्वमाकृष्यते किं
ल६ चित्सुषुम्णायां गतिं कुंडली ५१ तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवं॥ जहाति तस्मा
प्राणोयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ५२ तस्मात्संचालयेन्नित्यं शांभुगर्भामरुंधतीं॥ यस्याः
संचालनेनाशु योगी रोगैर्विमुच्यते ५३ येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनं॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ५४ ब्रह्मचर्यरतस्यैवं नित्यं हितमिताशिनः॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ५५ अभ्यासान्निःसृतां चांद्रीं विभूत्या सह मि
श्रयेत्॥ धारयेदुत्तमांगे दिव्यदृष्टिप्रदायके ५६ द्विसप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशो
धनं॥ कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ५७ इति शक्तिचालनं॥ इति मुद्रादश

CC-0. In Public Domain.Kavikulguru Kalidas Sanskrit University Ramtek Collection

१४

ओंकाराद्यानिनाथेन शंभुना॥ करणे सर्वसिद्धीनामेके नापि क्षमेय सा॥५८॥ अथ राजयोगः॥ राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा॥ राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न राजते ५९ मारुताभ्यसनं सर्वं मनोयुक्तं समाचरेत्॥ इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ६० क्षीणापि मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनां॥ आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सबला भवेत् ६१ अभ्यासेषु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना॥ रुद्राणी वा परा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ६२ उपदेशो हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकः॥ स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ६३ तस्य वाक्यपरो मुद्राभ्यासे स्यात्समाहितः॥ अणिमादिगुणैश्वर्यं जायते कालवंचने ६४ इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां मुद्राबंधनं नाम तृतीयोपदेशः॥ ३॥ नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने॥ निरंजनपदं याति नित्यं यत्र परायणः १ अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमं॥ मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं परं २ राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी॥ अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदं ३ अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालंबं निरंजनं॥ जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ४ यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः॥ समस्तनष्टसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ५ सलिले सैंधवं

१४

[1]निरुद्धयोः परिहृतस्वैराचारयोः, वाय्वोः प्राणापानयोः, संघट्टात् "गुद-माकुञ्च्य बहुशः प्राणापानौ निरुद्धय च। संयोज्य ते" इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या संयोगात्, स्फुटितो ग्रन्थिः सुषुम्नान्तर्गतमूलाधारकमलपर्यन्तं वसन्, तादृशं मूलं मूलाधारम्। ततो हृदयान्तरसंवित्तिशून्यपुर्यष्टकात्मना। "ध्यायन् भुजगाकृति हुङ्कारविह्वलज्योतिः पवनक्षेपमनोभिर्गमयेदूर्ध्वम्" इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या मूला-दुत्थितायाः [3]कुण्डलिनीरूपायाः "ततो हृदयपद्मान्तः स्फुरन्तीं संविदीं[4] कलाम्" (सु० ३४) इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या हृदयान्तरे स्फुरन्त्याः संवित्तेश्चिदात्मनः,

> चितिश्चित्तं च चेतन्यं चेतना[5]द्वयकर्म च।
> जीवः कला [6]शरीरं च सूक्ष्मं पुर्यष्टकं मतम्॥

उन वशिनी आदि देवियों की बीजरूप स्वर-कलाओं से संस्पृष्ट वर्णों का उच्चारण करते हुए पूजा करे। हे वीरवन्दिते! ये वशिनी आदि रहस्ययोगिनी देवियाँ संसार के दलन में समर्थ सर्वरोगहर चक्र में निवास करती हैं॥१५२-१५४॥

जिनकी मनमानी गति को रोक दिया गया है, उन प्राण और अपान वायुओं के संघट्ट से ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है, अर्थात् "गुदा का संकोच कर और बार-बार प्राणायाम के अभ्यास से प्राण और अपान की गति को नियन्त्रित कर इनको एक में मिला देना चाहिये" किसी प्रामाणिक व्यक्ति के द्वारा बताई गई इस विधि से प्राण और अपान का संयोजन करने पर सुषुम्ना नाडी के अन्तर्गत मूलाधार आदि चक्रों में विद्यमान ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं। तब मूलाधार से उठकर कुण्डलिनी शक्ति, हृदय में स्थित संवित्ति ही शून्य (सूक्ष्म) पुर्यष्टक का स्वरूप धारण कर लेती है। इस प्रसंग में किसी अभियुक्त ने कहा है—"भुजग (सर्प) के समान आकृति वाली कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करते हुए, हुंकार से इस कुण्डलिनी रूप दीपशिखा को कंपाते हुए, पवन की गति के साथ मन का संयोजन कर इसको ऊपर उठाये"। इसी तरह से मूलाधार से उठी इस कुण्डलिनी शक्ति का शिवानन्द मुनि के शब्दों में हृदयपद्म में स्फुरित हो रही संवित्ति कला के रूप में ध्यान करे। हृदय में स्फुरित हो रही इस संवित्ति कला से ही स्वच्छन्दसंग्रह में वर्णित सूक्ष्म पुर्यष्टक का स्फुरण होता है, जैसे कि—

---

१. देवि—ख. ने. च. छ. ज. झ. उ.। २. 'निरु''''दुर्लक्ष्यत्वात्' नास्ति—ख. ने. ज. उ.। ३. कुण्डलिन्याः—झ.। ४. संविदं—झ.। ५. नेन्द्रिय—झ.। ६. च देवेशि—क. ग. झ.।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 20

Scanned by CamScanner

ननु कः कामाग्निः ? स कुत्र[1] वा निवसति ? किं वा हविरित्यत आह—

महाप्रकाशे विश्वस्य संसारवमनोद्यते ।
मरीचिवृत्तीर्जुहुयान्मनसा कुण्डलीमुखे ॥१०६॥

कुण्डलीमुखे, व्यवस्थिते इति शेषः । अत्र श्रुतिः—"तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" (तै० आ० १०।११।१२) इति । महाप्रकाशे निरिन्धनदीप्ते निर्वाणरहिते प्रमातरि वह्नौ । विश्वस्य संहारवमनोद्यते । विश्वस्य शिवादि-[2]भूम्यन्तस्य, संहारे निजकारणतावन्मात्राऽवस्थितौ, वमने सर्जने चोद्यते । [3]विश्वा-द्यैव शक्तिः । [4]तदुक्तमाज्ञावतारे—"स्वेच्छयैव जगत्सर्वं निगिरत्युद्गिरत्यपि" इति । मनसा सार्धं मरीचिवृत्तीर्जुहुयात् । आन्तरस्य चिदनलस्य[5] मरीचयोऽ-[6]क्षाणि, [7]बहिरर्थेषु तेषां [8]संचारा वृत्तयः । तदुक्तं विज्ञानभैरवभट्टारकैः—"यत्र[9] यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते प्रभोः" (श्लो० ११४) इति । कोऽर्थः ? कुण्डलिन्याः

मानकर उनकी बारी-बारी से आहुति देता हुआ अपने स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जप करे ॥१०५॥

प्रश्न होता है कि यह कामाग्नि क्या है ? यह कहाँ रहती है ? और यह हवि कौन सी है, जिसकी कि आहुति देने की बात है, इन्हीं का अब विवरण देते हैं—

कुण्डलिनी के मुख में व्यवस्थित महाप्रकाशरूपी वह्नि में, जो कि स्वेच्छा से संसार के संहार और सर्जन में लगी हुई है, मन के साथ सभी इन्द्रियों की वृत्तियों की आहुति दे दे ॥१०६॥

यह कामाग्नि कुण्डलिनी के मुंह में विराजमान है। यह तैत्तिरीयारण्यक श्रुति इसमें प्रमाण है—"उस कुण्डलिनी रूप कामाग्नि के मध्य में परमात्मा विराजमान हैं" । यह कामाग्नि महाप्रकाशमय है, बिना ही इन्धन के निरन्तर बिना बुझे जलती रहती है । यह प्रमातृस्वरूपिणी महाप्रकाशमयी वह्नि शिव से भूमि पर्यन्त समस्त संसार को कारणता मात्र रूप में अपने में छिपा लेती है और फिर वही कार्य के रूप में इसको अपने से बाहर निकाल देती है । यह शक्ति सारे विश्व की जननी है । आज्ञावतार नामक ग्रन्थ में बताया गया है—"अपनी इच्छा से ही यह सारे जगत् को निगलती और उगलती रहती है" । इसमें मन के साथ इन्द्रियों की वृत्तियों की आहुति दे । आन्तर चिदग्नि की किरणें इन्द्रियां हैं । बाह्य अर्थों की तरफ इनका संचार ही वृत्तियां कहलाती हैं । विज्ञानभैरव भट्टारक ने कहा है—"जहाँ जहाँ इन्द्रियों के प्रसार के कारण प्रभु का चैतन्य अभिव्यक्त होता

१. कुत्र निवसन्ति—ख. ने. ज. झ. उ. । २. शादेर्भू—ख. ने. ज. झ. उ. । ३. शिवस्या-त्मेच्छा—क. ग. । ४. 'तदुक्तमाज्ञावतारे' नास्ति—ख. ज. झ. उ । ५. चित्कलस्य—क. ग. । ६. अक्षनिवहः—ख. ने. झ. उ. । ७. 'बहिः' नास्ति—ख. ने. झ. उ. । ८. संवादिकाः—ख. ने. ज. झ. उ. । ९. तत्र तत्र—सार्वत्रिको दी० पाठः ।

by: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

Scanned by CamScanner

शिखायां महाशून्ये व्यवस्थिते सर्वप्राणिष्वात्मनि प्रकाशलक्षणे कामाग्नौ "आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन" (न्या० भा० १।१।४) इति तन्त्रान्तरोक्तरीत्या बहिरर्थेषु प्रसृतचिन्मरीचिरूपाक्षवृत्तिलक्षणं हविस्तेनैव मार्गेणान्तर्मुखतया मनसा सह[1] जुहुयादित्यर्थः। तदुक्तं विज्ञानभैरवभट्टारकैः—

महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
[2]हूयते मनसा सार्धं स[3] होमश्चेतनास्रुचा ॥ इति।
(श्लो० १४६)

[4]अयमेवान्तरो होमः। तदुक्तं पद्धतिषु—

धर्माधर्महविर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा।
सुषुम्नावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तीर्जुहोम्यहम् ॥ इति ॥१०६॥

है"[1]। इसका अभिप्राय यह है कि कुण्डलिनी की शिखा में, महाशून्य में विराजमान सभी प्राणियों में स्वात्मस्वरूप महाप्रकाश (कामात्मक) वह्नि में बाह्य विषयों के रूप में प्रसृत समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों की आहुति दे दी जाती है। "आत्मा मन से, मन इन्द्रियों से और इन्द्रियाँ अर्थ से संयुक्त होती हैं" न्यायभाष्य को इस पद्धति से बाह्य विषयों की तरफ आकृष्ट चिन्मरीचिस्वरूप इन्द्रियों की वृत्तियों को ही आहुति माना गया है। यहाँ आहुति का तात्पर्य जिस पद्धति से ये बाहर आईं, उसी पद्धति से इनको अन्तर्मुख बनाकर उनको मन के साथ अपनी आत्मा को समर्पित कर देना है। विज्ञानभैरव भट्टारक का इस विषय में कहना है—

महाशून्य स्थान में विराजमान चित्स्वरूपिणी वह्नि में अपनी चेतना की स्रुचा बनाकर मन के साथ पाँच महाभूतों, बाह्य इन्द्रियों और उनके विषयों की जो आहुति दी जाती है, वही वास्तविक होम है ॥

इसी को आन्तर होम कहा जाता है, जैसा कि [2]पद्धतियों में बताया गया है—

धर्म और अधर्म रूपी आहुति से प्रज्वलित आत्मचिदग्नि में मन रूपी स्रुवा की सहायता से मैं अपने सुषुम्ना मार्ग को खोल कर अपनी इन्द्रियों की वृत्तियों को नित्य आहुति देता हूँ ॥१०६॥

---

१. 'सह' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ.। २. वातेन—ख. ने. ज. उ.। ३. महामहिमशालिनि—ख. ने. उ.। ४. महामहिमशाली चाय—झ.।

1. विज्ञानभैरव का पूरा श्लोक और उसकी व्याख्या हमारे भावानुवाद में देखी जा सकती है।

2. यह श्लोक अनेक पद्धति-ग्रन्थों तथा तन्त्र-ग्रन्थों में भी मिलता है।

hri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

Scanned by CamScanner

तेजस्विता, निरोगी काया, जठराग्नि प्रदीप्त तथा नाड़ियों की विशुद्धता ये सब लक्षण प्रकट होने लगते हैं।[196]

शिवसंहिता में भी कुम्भक के लिए यह प्रसङ्ग आया है कि इच्छानुसार वायु के धारण करने से निश्चय ही कुम्भक की सिद्धि होती है तथा वह योगी कुम्भक सिद्ध कर लेने पर इस संसार में कुछ भी सिद्ध कर सकता है।[197]

4.7 प्राणायाम के अङ्गभूत बन्धत्रय

बन्ध-बन्धने धातु में घञ् प्रत्यय करने पर बन्ध शब्द निर्मित होता है जिसका अर्थ है बांधना या नियन्त्रित करना। वैसे तो बन्ध शब्द अनेकार्थक है किन्तु प्राणायाम प्रसंग में प्राणों को नियन्त्रित करने में यह सहायक है। कुम्भक करते समय जहाँ प्राण को नियन्त्रित करना है वहीं बन्ध लगा दिया जाता है जिससे उसी अंग पर प्राण का प्रभाव बना रहे तथा वह अनिच्छित स्थान पर भी न जा सके।

वस्तुतः अन्य शास्त्रों में बन्ध कई प्रकार के वर्णित हैं किन्तु हठयोग में मुद्रा प्रकरण के अन्तर्गत मुख्यतः तीन बन्ध कहे गए हैं-

4.7.1 उड्डीयानबन्ध- उत् उपसर्गपूर्वक + 'डीङ् विहायसा गतौ (पा.धा.दिवा. 1135) धातु करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय। सुषुम्ना के अन्दर निरुद्ध प्राण को उड्डीयानबन्ध द्वारा ऊपर की ओर उठाया जाता है। इलीलिए मत्स्येन्द्रनाथ आदि

---

196 वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्। (वहीं 2/78)

197 यथेष्टं धारणाद्वायोः कुम्भकः सिध्यति ध्रुवम्।
केवले कुम्भके सिद्धे किं न स्यादिह योगिनः। (शि.सं. 3/47)

योगसिद्धों ने इसे उड्डीयान कहा है।[198] इस बन्ध के लगाने से प्राणरूपी महापक्षी निरन्तर सुषुम्ना में उड़ता रहता है इसलिए इसे उड्डीयान कहते हैं।[199] उड्डीयान बन्ध की विधि गोरक्षपद्धति, हठयोगप्रदीपिका तथा घेरण्डसंहिता में इस प्रकार वर्णित है कि नाभि के ऊपर और नीचे के उदर को (भाग) पीछे अर्थात् पृष्ठ भाग से या पीठ से खींचकर लगाया जाता है। अर्थात् श्वास बाहर निकालकर पेट को पीठ से सटा लिया जाता है जब तक श्वास रोक सकें तब तक, पुनः सामान्य स्थिति में आ जाना चाहिए। इसी का अभ्यास योगी के लिए 'मृत्युविजयी' होती है। अर्थात् इस उड्डीयान बन्ध के नियमित अभ्यास से असमय में होने वाली मृत्यु को टाला जा सकता है।[200] प्राणायाम के साथ यह अभ्यसनीय है।

इसके अभ्यास का फल बताते हैं कि यदि गुरु द्वारा उपदिष्ट उड्डीयान का कोई वृद्ध भी नियमित अभ्यास करे तो वह भी युवा हो सकता है। यह योगियों के लिए सहज है।[201] निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यह तीनों बन्धों में सर्वोत्तम बन्ध है तथा इसका अभ्यास दृढ़ हो जाने पर योगी की प्राणवायु स्वभावतः

---

198 बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्माद् उड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।। (ह.दी. 3/55)

199 (क) उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदैव स्यात्, तत्र बन्धोऽभिधीयते। (वहीं 3/36)

(ख) उड्यानं कुरुते .... स्यान्मृत्युमातंगकेसरी (गोरक्षपद्धति 1/76)

200 (क) उदरात्पैश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो निगद्यते। (वहीं 1/77)

(ख) उदरे........नाभेरुर्ध्वं च कारयेत् (ह.प्र. 3/57)

(ग) उदरे........ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी (घे.सं. 3/10)

201 उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते। (ह.प्र. 3/58)

मस्तिष्क की ओर (ऊपर) उठने लगती है जिससे मुक्ति का मार्ग और भी सरल हो जाता है।[202]

4.7.2. मूलबन्ध- पैर की एड़ी से योनि भाग (गुदा एवं शिशन के मध्य) को पूर्णः दबाकर गुदा को आकुञ्चन (सिकोड़ना) करें और साथ ही अपानवायु को ऊपर की ओर खींचकर रखने से ही मूलबन्ध होता है।[203] घेरण्ड संहिता में सर्वप्रथम वाम पैर की एड़ी से गुह्यस्थान दबाएँ पुनः दायीं एड़ी से लिङ्ग को दबाकर आकुञ्चन करें। यह विधि जरा विनाशक भी कही जाती है।[204]

मूलबन्ध में स्वाभाविक रूप से निम्नगामी अपान वायु को बलपूर्वक ऊपर ले जाया जाता है जिसके परिणामस्वरूप मल-मूत्र की मात्रा घट जाती है तथा साधक 'स्वल्पमूत्र-पुरीष' बन जाता है। इसलिए गुदा को एड़ी से दबाकर बारम्बार बलपूर्वक योनि के आकुञ्चन से स्वतः अपान वायु ऊपर की ओर जाने लगता है। वृद्ध भी इसके अभ्यास से युवा हो जाता है।[205]

---

202 (क) सर्वेषामेव बन्धानामुत्तानो ह्युड्डिनायकः।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्। (वहीं 3/60)
(ख) समग्राद्बन्धनादेतद् .... स्वाभाविकी भवेत्। (घे.सं. 3/11)

203 (क) पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते। (गो.प. 1/80)
(ख) ह.प्र. (3/61)

204 पार्ष्णिना वामपादस्य............यत्नतः सुधीः। मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु............... मूलबन्धो निगद्यते। (घे.सं. 3/14-15)

205 (क) अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्। (गो.प. 1/81)
(ख) अधोगतिमपानं .... मूलबन्धं हि योगिनः।
गुदं पाष्ण्यां .... वारं वारं सथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः। (ह.प्र. 3/62-63)

इसके नियमित अभ्यास से अपान वायु ऊपर उठकर प्राणवायु के साथ मिल जाती है तथा दोनों मिलकर उष्णता को लिए कुण्डली को भी जगाकर ब्रह्मनाड़ी (सुषुम्ना) में प्रवेश कर जाती है जिससे साधक इस भव सागर से तर जाता है।[206] इसलिए साधकों को इस मूलबन्ध का प्रतिदिन यथा सामर्थ्य अभ्यास करना चाहिए।

4.7.3. जालन्धर बन्ध कण्ठ छिद्र का संकोच करके ठोडी (हनु) को दृढ़तापूर्वक हृदय में लगावें। यह बन्ध कण्ठसम्बन्धी रोगसमूहों को नष्ट करता हुआ नाड़ी समूह व कपाल छिद्र से द्रवित अमृतरस (सोमस्राव) को बांधने के कारण 'जालन्धर बन्ध' कहलाता है।[207]

यह 'जालन्धर बन्ध' अकेला ही कण्ठसंकोच द्वारा इड़ा व पिङ्ला दोनों को स्थिर कर देता है। इसे मध्यचक्र (विशुद्धचक्र) भी कहते हैं। इसके अभ्यास का परिणाम सिर से पाँव तक शरीर के सोलह भागों में दिखाई देता है। छः मास के निरन्तर अभ्यास से योगी के लिए यह सिद्ध हो जाता है।[208] इस प्रकार तीनों बन्धों का प्राणायाम के समय अभ्यास करते हुए साधक प्राणवायु को सुषुम्ना में प्रवाहित करें। इस विधि से प्राणवायु स्थिर होकर लय (ब्रह्मरन्ध्र) को प्राप्त करती है तथा साधक को रोग, जरा व मृत्यु का भय नहीं रहता क्योंकि आन्तरिक उद्भूत

---

206 ह. प्र. (3/64-69)
घे.सं. (3/16-17)

207 (क) कण्ठमाकुञ्च्य................ जरामृत्युविनाशकः
बध्नाति हि शिरोजालम्.......... कण्ठदुःखौघनाशनः (ह.प्र. 3/70-72)
(ख) गोरक्षपद्धति (1/78-79)
(ग) घे.सं. (3/12)

208 कण्ठसंकोचनेनैव................. षोडशाधारबन्धनम्। (ह.प्र. 3/73)
घे.सं. (3/13)

संवेदनाएँ मस्तिष्क के उच्च भाग में केन्द्रीभूत रहती हैं।[209] इस प्रकार प्राणायाम के अङ्गभूत बन्धत्रय का भी संक्षिप्त वर्णन कर दिया गया है। अब अन्त में प्राणायाम के लाभ या फल की बात करे तो पूर्वोक्त सभी प्राणायामों के वर्णन के साथ-साथ ही उसके लाभों की भी चर्चा हो चुकी है। किन्तु शिवसंहिता में प्राणायाम से होने वाले विशेष लाभों का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है।

4.8. प्राणायाम के विशेष लाभ

यदि साधक की प्राणायाम में सिद्धता हो गई तो ऐसे, योगवित् साधक को ऐश्वर्य की आठ सिद्धियाँ (अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता और वशिता) प्राप्त हो जाती हैं जिससे साधक भोगरूपी तथा पाप-पुण्य रूप समुद्र को पारकर त्रिलोकों में सुखपूर्वक विचरण करता है।[210] सभी सिद्धियाँ उस योगी के वश में हो जाती हैं यथा- वाक्सिद्धि, इच्छानुसार आचरण, दूरदृष्टि, दूर श्रवण, सूक्ष्म दर्शन, परकायाप्रवेश, विष्ठामूत्रलेपन में सुगन्ध व स्वर्ण जैसी चमक, अदृश्यकरण तथा आकाशगमन ये सब शक्तियाँ उसे प्राप्त हो जाती हैं अर्थात् उसके लिए संसार में कुछ भी असाध्य नहीं होता।[211]

अध्यायसार

प्रस्तुत चतुर्थ अध्याय में हठयोग से सम्बन्धित प्रमुख शास्त्रों की दृष्टि में प्राणायाम का क्या स्वरूप है इस पर विचार करने का एक लघु प्रयास किया गया।

---

209 ह.प्र. (3/74-76)

210 प्राणायामेन योगीन्द्रो लब्ध्वैश्वर्याष्टकानि वै।
पापपुण्योदधिं तीर्त्वा त्रैलोक्यचरतामियात्।। (शि.सं. 3/61)

211 ततोऽभ्यासक्रमेणैव ....स्वेप्सिता ध्रुवम्।
वाक्सिद्धिः कामचारित्वं .... एतानि सर्वाणि खेचरत्वं च योगिनाम्।
यदा भवेत्.................. संसारचक्रेऽस्मिन् नास्ति यन्न स धारयेत्। (शिव. सं. 3/62-65)

बन्धों एवं मुद्राओं के ऊपर भी विचार करना उचित प्रतीत होता है। अतः निम्नवत् प्रस्तुत है—

बन्ध (१) मूलबन्ध

मूल गुदा एवं लिङ्ग-स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूल बन्ध है। वाम पाद की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्य भाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिङ्ग एवं कन्द के बीच के भाग को दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपान वायु को बल के साथ धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने को मूलबन्ध कहते हैं। सिद्धासन के साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनों के साथ एड़ी को सीवनी पर बिना लगाये हुए भी मूलबन्ध लगाया जा सकता है।[१]

हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है—

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।।
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः।।[२]

अर्थात् एड़ी से योनिस्थान को दबाकर गुदा का संकोच करें और अपानवायु को ऊपर की ओर आकर्षित करें, इसे मूलबन्ध कहते हैं। जो अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी करता है, उसे

---

१. कल्याण योगतत्त्व अंक पृ० ३२५

२. ह०यो०प्र० ३/६१-६२

योगीजन मूलबन्ध कहते हैं।

लगभग इसी तरह का वर्णन शिवसंहिता में देखा जा सकता है—

पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत् ।।
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ।
अपान प्राणयौरैक्यं प्रकरोत्यधि कल्पितम् ।
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रां प्रसिद्ध्यति ।।[१]

अर्थात् पाँव की ऐड़ी से गुदामार्ग को दबायें और बलपूर्वक अपान वायु को ऊपर की ओर आकर्षित करे। (इस प्रकार अपान को ऊपर ले जाकर प्राण से मिलावें) इस जरा-मरण नाशक बन्ध को मूल बन्ध कहते हैं। इस प्रकार कल्पित हुए इस बन्ध के द्वारा अपान और प्राण को संयुक्त करने से योनिमुद्रा स्वतः ही सिद्ध हो जाती है।

इस बन्ध से अपान वायु का ऊर्ध्व-गमन होकर प्राण के साथ एकता होती है। कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपर की ओर चढ़ती है। कोष्ठबद्ध दूर करने, जठराग्नि को प्रदीप्त करने और वीर्य को ऊर्ध्व रेतस बनाने में यह बन्ध अत्युत्तम है। साधकों को न केवल भजन के अवसर पर किन्तु हर समय मूलबन्ध को लगाये रखने का अभ्यास करना चाहिए।

महाबन्ध

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरुपरि ।

---

१. *शिवसंहिता ४/६४-६६*

गुदयोनिं समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ।।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ।
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं गत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ।।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ।
नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धान यान्ति योगिनः ।।
उपाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ।।[1]

अर्थात् पाँव को फैलाकर बायें उरु पर दायें पाँव को रखें। गुदा तथा योनि को संकुचित करके अपान को ऊपर की ओर चढ़ावें, जिससे कि वह समान वायु के साथ मिलकर प्राणवायु को नीचे की ओर करे। जो बुद्धिमान साधक प्राण-अपान के मिलनार्थ इस बन्ध को करता है, उसके लिए यह सिद्धिदायक होता है। अथवा योगी के नाड़ी जल से रसव्यूह शिर की ओर जाता है, अर्थात् इस बन्ध के ऊपर की ओर गमन करता है। इस प्रकार मुद्रा एवं बन्ध दोनों को ही एक-एक अंग से ठीक प्रकार प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए।

भवेदध्यासतो वातः सुषुम्नामव्यसङ्गतः ।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थि पञ्जरे ।।
सम्पूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ।।[2]

अर्थात् इसके अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में अवस्थित

---

१. शिवसं० ४/३७-४०

२. ,, ४/४१-४२

होता है और यह बन्ध साधक के शरीर को पुष्ट करने वाला भी है। इसके द्वारा योगी की शरीरस्थ अस्थियों का ढांचा तथा उनके सभी बन्धन दृढ़ हो जाते हैं। उस योगी का हृदय सम्पूर्ण रूप से संतुष्ट होता है। इस बन्धन के प्रभाव से उस योगीन्द्र के सभी इच्छित पूर्ण होते हैं। इस अभ्यास के द्वारा उसे इन सभी लाभों की प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार वर्णन हठयोग प्रदीपिका में भी प्राप्त होता है।[१]

महाबन्ध की दो विधियाँ बतायी गई हैं। पहली विधि के अनुसार बायें पैर की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्यभाग में जमाकर बायीं जंघा के ऊपर दाहिने पैर को रख, समसूत्र में हो बाम अथवा जिस नासारन्ध्र से वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगायें। फिर मूलद्वार से वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगायें। मन को मध्य नाड़ी में लगाते हुए यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात पूरक की विपरीत वाली नासिका से धीरे-धीरे रेचक करें। इस प्रकार दोनों नासिका से अनुलोम-विलोम रीति से समान प्राणायाम करें। दूसरी विधि इस प्रकार है— पद्म अथवा सिद्धासन से बैठ, योनि और गुह्यप्रदेश सिकोड़, अपान वायु को ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान-वायु मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायु को अधोमुख करके प्राण और अपान वायुओं के साथ नाभिस्थल पर दृढ़रूप से कुम्भक करें। इसका फल— प्राण का ऊर्ध्वगामी होना, वीर्य की शुद्धि, इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना का संगम प्राप्त होना, बल की वृद्धि आदि है।[२]

---

१. ह०यो०प्र० ३/१९-२३

२. कल्याण योग तत्त्व अंक पृ० ३२६

(३) उड्डीयान बन्ध

इस बन्ध के विषय में हठयोग प्रदीपिका में इस प्रकार कहा गया है—

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।।
उड्डीयानं कुरुते यस्मादविश्रान्त महाखगाः ।
उड्डीयानं तदैव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ।।
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरुर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसो बंधो मृत्युमातङ्गकेशरी ।।
उड्डीयानं तु हसजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ।।[१]

अर्थात् जिससे बँधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उड़ जाय, उस बन्ध को उड्डीयान कहते हैं। देहावकाश में गतिशील महाखगरूप प्राण जिस बन्ध से सुषुम्ना में उड़ता (गति करता) है, उसे उड्डीयान कहते हैं। उदर में नाभि के ऊपर पश्चिम तान करें तो यह मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान उड्डीयानबन्ध होता है। गुरु ने इस बन्ध को सदैव सहज बताया है। इसका निरन्तर अभ्यास करने वाला वृद्ध भी तरुण हो जाता है।

इसी प्रकार का वर्णन शिवसंहिता में भी प्राप्त होता है।[२]

---

१. *ह०यो०प्र० ३/५५-५८*

२. *शिवसंहिता ४/७२-७५*

गोरक्षसंहिता तथा योगतत्त्वोपनिषत् में भी इसी से मिलता-जुलता वर्णन उपलब्ध होता है।[१]

इसके विषय में योग तत्त्व अंक में कहा गया है कि दोनों जानुओं को मोड़कर पैर के तलुओं को परस्पर भिड़ाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) से ऐसा लगा दें, जिससे कि पेट के स्थान पर गड्ढा सा दीखने लगे। पेट को अन्दर की ओर जितना अधिक खींचा जायेगा, उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षी के सदृश सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है इसलिए यह बन्ध उड्डीयान कहलाता है। इसे पैरों के तलुओं को बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है। इसका फल—प्राण वीर्य का ऊपर की ओर दौड़ना, मन्दाग्नि का नाश, क्षुधा की वृद्धि, जठराग्नि का प्रदीप्त और फेफड़े का शक्तिशाली होना है।[२]

(४) जालन्धर बन्ध

बध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बन्धोः कण्ठदुखौघनाशनः ।।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठ संकोच लक्षणे ।
न पीयूष पतत्यग्नौ न वायुः प्रकुप्यति ।।[३]

---

१. गो०सं० १/७६-७७, योगतत्त्वोपनिषत् (गोरक्ष संहिता के पृ० ६५ पर उद्धृत)

२. कल्याण योगतत्त्व अंक पृ० ३२६

३. गो०सं० १/७८-७९

अर्थात् जो बन्ध कण्ठदेश में होता और शिरोजाल का बन्धन करता हुआ चन्द्रामृत रूप जल कपाल कुहर से नीचे गिरने से रोकता है, वह दु:खों और रोगों का नाश करने वाला जालन्धर बन्ध होता है। कण्ठ को संकुचित कर वायु को रोकना ही जालन्धर बन्ध माना गया है। इससे चन्द्रामृत गिरकर अग्नि में पड़ने से रुका रहता है। इस बन्ध के अभ्यास से वायु का प्रकोप नहीं हो पाता है।

हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है कि कण्ठ का संकोच करके हृदय पर ठोड़ी को दृढ़ता से लगावें। यह जरामृत्यु का नाश करने वाला जालन्धर संज्ञक बन्ध है। यह बन्ध नाड़ियों के समूह को तथा कपालकुहर रूप नभ के जल को बाँधता है, इसलिए जालन्धर बन्ध कहलाता है। यह कण्ठ के रोग, दु:खों का नाश करने वाला है। लक्षण जिस कण्ठ का संकोच है, उस जालन्धर बन्ध के करने से अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और न वायु का ही प्रकोप होता है। यह बन्ध दृढ़तापूर्वक कष्ट का संकोच करने से दोनों नाड़ियों का स्तम्भन करने वाला है। इसे सोलह आधारों का बन्धन कर्ता मध्य चक्र जानना चाहिए।[१]

इसी प्रकार का वर्णन योगकुण्डल्युपनिषत् में भी प्राप्त होता है।[२]

शिव संहिता में इस बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

---

१. ह०यो०प्र० ३/७०-७६

२. ह०यो०प्र० पृ० १२५ पर उद्धृत

बद्धा गलशिराजालं हृदयं चिबुकन्यसेत् ।
बन्धो जालंधर प्रोक्ता देवानामपि दुर्लभः ।।
नाभिस्थवह्निर्जन्तुनां सहस्त्रकमलच्युतम् ।
पिबेत् पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयैदिमम् ।।
बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान् ।
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ।।
जालन्धरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धदायकः ।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिनां सिद्धिमिच्छता ।।[१]

अर्थात् गलशिराजाल को बाँध कर ठोड़ी को हृदय से लगा ले, यह जालन्धर बन्ध कहलाता है। यह बन्ध देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। सहस्त्रदल कमल अर्थात् सहस्त्रार से स्त्रवित होते हुए अमृत को नाभि में स्थित अग्नि पान कर लेता है, परन्तु उसे ऐसा न करने देने के लिए इस जालन्धर बन्ध को अवश्य करना चाहिए। क्योंकि चन्द्रामृत का जठराग्नि द्वारा ग्रास कर लिए जाने से अन्त में मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। परन्तु जालन्धर बन्ध एक ऐसा साधन है, जो कि जठराग्नि की चन्द्रामृत पान करने से रोकता रहता है।

इसको करने से बुद्धिमान साधक स्वयं अमृत पाने की शक्ति प्राप्त कर लेता है और उसे अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। वह उससे त्रिलोकी में सुखपूर्वक विचरण करता है। यह जालन्धर बन्ध सिद्धों के लिए सिद्धिदायक है।

---

१. *शिवसंहिता ४/६०-६३*

योगतत्त्वोपनिषत् में भी इसी तरह का वर्णन प्राप्त होता है।[१]

योग तत्त्व अंक में कहा गया है कि कण्ठ को सिकोड़कर ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक कण्ठकूप में इस प्रकार स्थापित करें कि हृदय से ठोड़ी का अन्तर केवल चार अंगुल का रहे, सीना आगे की ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठस्थान के नाड़ी-जाल के समूह को बाँधे रखता है, इसलिए इसका नाम जालन्धर बन्ध है। इसका फल—कण्ठ का सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कण्ठ के संकोच द्वारा इडा, पिंगला नाड़ियों के बन्द होने पर प्राण का सुषुम्ना में प्रवेश करना है।[२]

जालन्धर बन्ध का वर्णन योगकुण्डल्युपनिषत् में भी विस्तृत रूप में प्राप्त होता है।[३]

मुद्रा

योग शास्त्रों में मुद्रा का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। प्रस्तुत स्थल पर किञ्चित् प्रमुख मुद्राओं के विषय में निम्नवत् संक्षिप्त वर्णन द्रष्टव्य है—

(१) खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।

---

१. गो०सं० पृ० ६५ पर उद्धृत

२. कल्याण योग तत्त्व अंक पृ० ३२६

३. ह०यो०प्र० पृ० १२५ पर उद्धृत

न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न मूर्च्छा तु भवेत्तस्य यो मुद्रा वेत्ति खेचरीम् ।।
पीड्यते न च शोकेन न च लिप्यते कर्मणा ।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेति खेचरीम् ।।
चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी ।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ।।[१]

अर्थात् जिह्वा को उल्टी लौटाकर कपालकुहर में प्रविष्ट करें और दृष्टि को भौहों के मध्य में स्थिर कर लें। यह खेचरी मुद्रा होती है। जो योगी खेचरी मुद्रा को जानता है, उसे रोग, मृत्यु, निद्रा, क्षुधा, तृषा और मूर्च्छा से पीड़ित नहीं होना पड़ता। न उसे शोक होता है, न कर्म का बन्धन। उसे भवबन्धन में नहीं पड़ना होता। जिस योगी का चित्त चंचल नहीं होता और जिसकी जिह्वा खेचरी में रमण करती है, उनके लिए यह सभी सिद्धों द्वारा नमस्कार की हुई खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है।

शाण्डिल्योपनिषत् में खेचरी मुद्रा का जो विस्तृत वर्णन मिलता है, उसे यहाँ संक्षेप में बताते हैं—

इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ।
तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम् ।।

छेदन चालन दोहन कलांपरा जिह्वाकृत्वा दृष्टि भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते। जिह्वां

---

१. गो०सं० १/६२-६५

नित्तं च खे चरति, तेनोर्ध्वजिह्वः पुमानमृतौ भवति।[१]

अर्थात् इडा और पिंगला के मध्य जो शून्य भाग है, वह वायु को ग्रस लेता है। वहीं खेचरी मुद्रा रहती है और वहीं सत्य रहता है। छेदन, चालन और दोहन के द्वारा जिह्वा को नोकदार बनाकर, भृकुटियों के मध्य भाग में दृष्टि स्थिर कर लें फिर जब कपाल के छिद्र में जिह्वा उलटी होकर जाने लगती है, तब खेचरी मुद्रा बनती है। इससे जीभ और चित्त दोनों ही कपाल छिद्र रूपी आकाश में विचरण करते हैं, तब ऊपर गई हुई जीभवाला वह पुरुष अमर हो जाता है।

इस मुद्रा का विशेष वर्णन योग तत्त्व अंक में भी देखा जा सकता है।[२]

(२) महामुद्रा

हठयोग प्रदीपिका में इसके विषय में इस प्रकार कहा गया है—

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम्।
प्रसारितं पदं कृत्वा धराभ्यां धारयेद्दृढम्।।
कंठै बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।
यथा डंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते।।
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुराश्रया।।

---

१. *गो०सं० पृ० ५९ पर उद्धृत*

२. *कल्याण योगतत्त्व अंक पृ० ३२६*

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वन्दति विबुधोत्तमाः ।।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ।।
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ।।[१]

अर्थात् बायें पाँव के तलुए से योनिस्थान को पीड़ित करके दायें पांव को फैलावे और भूमि पर रखकर दृढ़ता से पकड़े। फिर कण्ठ प्रदेश में बन्ध करके वायु को ऊर्ध्व देश में धारण करे, इससे जैसे कुण्डली लगाकर बैठा हुआ सर्प डंडे से मारे हुए के समान दण्ड के आकार का हो जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति सहसा सरल हो जाती है और तब दोनों पुटों के आश्रय से प्राण के वियुक्त होने के कारण मरणावस्था जैसी हो जाती है। उससे वायु का रेचन धीरे-धीरे करें, श्रेष्ठ विद्वान इसे महामुद्रा कहते हैं। इससे महाक्लेशादि और मरणादि दोषों का भी नाश हो जाता है। इसलिए श्रेष्ठ विद्वान पुरुष इसे महामुद्रा कहते हैं—

घेरण्ड संहिता में उपर्युक्त से मिलता जुलता भाव प्रदर्शित है।[२] गोरक्ष संहिता प्रथम शतक, शिव संहिता के चतुर्थ पटल एवं कल्याण में भी इसका विस्तृत वर्णन किया गया है।[२]

(३) अश्विनी मुद्रा

सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर योनिमण्डल को अश्व के

---

१. घेरण्ड संहिता - (ह०यो०प्र० पृ० १०२ पर उद्धृत)

२. गो०सं० १/५६-५८, शि०सं० ४/२६-३४, कल्याण योगतत्त्व अंक पृ० ३२७

सदृश पुनः पुनः सिकोड़ना अश्विनी मुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा का फल है—यह प्राण के उत्थान और कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत करने में सहायक होती है। अपान वायु को शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओं को मजबूत बनाती है।[१]

(४) शक्तिचालिनी मुद्रा

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेति ।।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैतिबोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ।।[२]

अर्थात् दोनों हाथों की अञ्जली बाँधकर दोनों कुहनियों को दृढ़ता से हृदय पर रखकर पद्मासन करे। ठोड़ी को हृदय में दृढ़ता से लगाकर ज्योतिरूप ब्रह्म का ध्यान करें। प्राणायाम द्वारा वायु खींचकर उसे अपान वायु से मिलावें ओर कुम्भक द्वारा वायु को रोककर धीरे-धीरे छोड़ दें। ऐसा करने से साधक को कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव का अतुलित बोध होता है अथवा शक्ति जागृत होती है।

शक्तिचालिनी मुद्रा का विस्तृत वर्णन हठयोग प्रदीपिका के तृतीय उपदेश में देखा जा सकता है।[३]

---

१. *कल्याण योग तत्त्व अंक पृ० ३२७*

२. *गो०सं० १/५१-५२*

३. *ह०यो०प्र० ३/१११-११५*

इसके विषय में महर्षि घेरण्ड द्वारा रचित घेरण्डसंहिता का विवेचन भी गोरक्षसंहिता में प्रस्तुत किया गया है।[१]

शिवसंहिता के अनुसार—

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम्।
अपानवायुनारुह्य बलादाकृष्यं बुद्धिमान्।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्ति प्रदायिनी।
शक्तिचालनमेव हि प्रत्यहं यः समाचरेत्।।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम्।।[२]

आधार कमल अर्थात् मूलाधार चक्र में जो कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है, उसे बुद्धिमान साधक अपानवायु पर आरूढ़ होकर और बलपूर्वक उसे आकर्षित करता हुआ चालन करे। यह शक्तिचालित मुद्रा है, जो सभी शक्तियों को देने वाली होती है। इसके नित्यप्रति अभ्यास करने से सभी रोगों का नाश होकर आयु की वृद्धि होती है।

उपर्युक्त की तरह ही कल्याण में इस मुद्रा के विषय में विशिष्ट वर्णन प्राप्त होता है।[३]

(५) योनिमुद्रा

सिद्धासन से बैठकर सम-सूत्र हो षणमुखी मुद्रा लगाकर अर्थात्

---

१. गो०सं० पृ० ४९ पर लिखित।

२. शि०सं० ४/१०५-१०६

३. कल्याण योगतत्त्व अंक पृ० ३२७

दोनों अंगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्र को, दोनों मध्यमाओं से नाक के छिद्रों को बन्द करके और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठिकाओं को दोनों ओठों के पास रखकर काकी मुद्रा अर्थात् जिह्वा को कौए की चोंच के सदृश बनाकर उसके द्वारा प्राणवायु को खींचकर अधोगत अपानवायु के साथ मिलायें। तत्पश्चात् ओउम् का जप करता हुआ ऐसी भावना करें कि उसकी ध्वनि के साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनी को जाग्रत करके षट् चक्रों का भेदन करते हुए सहस्त्रदल कमल में जा रही है। इससे अन्तर्ज्योति का साक्षात्कार होता है। आन्तरिक शुद्धि होती है।[१]

(६) योगमुद्रा

मूलबन्ध के साथ पद्मासन से बैठकर प्रथम दोनों नासिकापुटों से पूरक करके जालन्धर बन्ध लगायें, तत्पश्चात् दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर बायें हाथ से दायें हाथ की और दायें हाथ से बायें हाथ की कलाई पकड़ें, शरीर को आगे झुकाकर पेट के अन्दर एड़ियों को दबाते हुए सिर को जमीन पर लगा दें। इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् सिर को जमीन से उठाकर जालन्धर बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओं से रेचन करें।

यह मुद्रा पेट के रोगों को दूर करने और कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत करने में सहायक होती है।[२]

---

१. कल्याण योग तत्त्व अंक पृ० ३२८

२. वही पृ० ३२८

इसके अतिरिक्त भी मुद्राओं का वर्णन शास्त्रों में प्राप्त होता है, यथा—

उन्मनी मुद्रा[१], वज्रौली मुद्रा[२], काकी मुद्रा[३], तड़ागी मुद्रा[४], शाम्भवी मुद्रा[५], अमरौली मुद्रा[६], सहजौली मुद्रा[७] आदि।

मानव शरीर अत्यन्त रहस्यों से भरा है। शरीर की अपनी एक मुद्रामयी भाषा है, जिसे करने से शारीरिक स्वास्थ्य-लाभ में सहयोग प्राप्त होता है। यह शरीर पञ्चतत्त्वों के योग से निर्मित है। ये तत्त्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के रूप में जाने जाते हैं। शरीर में जब भी इन तत्त्वों का असंतुलन होता है, रोग पैदा हो जाते हैं। यदि हम इनका संतुलन करना सीख जाँय तो बीमार हो ही नहीं सकते। यदि बीमार हो भी जाँय तो इन तत्त्वों को संतुलित करके आरोग्यता वापस ला सकते हैं। ये सब हस्तमुद्राओं के प्रयोग से सम्भव हो सकता है।

हस्तमुद्रा चिकित्सा के अनुसार हाथ तथा हाथों की अँगुलियों

---

१. ह०यो०प्र० पृ० १७३, कल्याणयोग तत्त्व अंक पृ० ३२८

२. ह०यो०प्र० ३/८३-८४ पृ० १२९, ३/९९-१०० पृ० १३६, शि०सं० ४/७८-८०

३. गो०सं० २/३८-३९ पृ० १०४

४. कल्याण योगतत्त्व अंक पृ० ३२८

५. ह०यो०प्र० पृ० १७१

६. ह०यो०प्र० ३/९६-९८ पृ० १३४

७. ,, ४/९७-९८ पृ० ९५

(४) अनुशासन काण्ड

चौपाई

नमहुं शारदा मात भवानी । वन्दउँ शिव योगेश्वर ज्ञानी ॥
जो घेरण्ड कपालि बखानी । गोपनीय अति दुर्लभ वानी ॥
सो गावहुँ अस मति अनुमाना । साधहिं, सो नर ब्रह्म समाना ॥
भाव विशेष चित्त के जाना । सो मुद्रा घेरण्ड बखाना ॥
नाड़ी, ग्रन्थि, आंतरिक अंगा । करहिं नियंत्रण, शोधन, बंधा ॥
मुद्रा, बंध अनेक प्रकारा । कहहुँ सूक्ष्म जेहि ग्रन्थ प्रचारा ॥
उड्डियान, जालंधर, मूला । महाबंध मेटहि सब शूला ॥
महा नभो खेचरी सुजाना । मिटे दोष दारिद अज्ञाना ॥
जो साधहिं खेचरी महाना । तिनके वश यमराजहु आना ॥
जे विपरीत करण अभ्यासी । मिटहि द्वैत, होय ज्ञान प्रकाशी ॥

छन्द

योनि, वज्रोली, तड़ागी और शक्तीधारणी ।
माण्डवी, शुभ शांभवी अरु अश्विनी पंचधारणी ॥
पाशिनी, काकी, मतंगी, विपरीतकरण, भुजंगिनी ।
साधन करहिं मुद्रा विविध तेहिं मुक्ति है चिरसंगिनी ॥

चौपाई

पांच प्रकार धारणा एई । पार्थिव, अभ्यासी, आग्नेयी ॥
पुन वायवी अरु आकाशी । साधहिं योग सतत अभ्यासी ॥
मूलबंध कुण्डली जगाई । मूलाधार सुचार चलाई ॥
जालंधर जे बंध लगावे । तन मन शिथिल, प्राण गति पावे ॥
करे उर्ध्व गति सोइ उड्डियाना । महाबंध स्वयं ब्रह्म समाना ॥
अंतर गति, मुद्रा सों होई । महिमा 'योनि' सके कह कोई ॥
भूख प्यास जिनके वश आनी । सो खेचरि घेरण्ड बखानी ॥
परम भुजंगिनि, अनुपम काकी । तन में रोग रहे ना बाकी ॥

दोहा

महिमा मुद्रा अमित है, बंध अमित गुन खान ।
इनके बिन साधन सकल, सीमित रहत सुजान ॥३१

बंध

उड्डियानबंध—

उदर प्रदेश दवाये भीतर। पुनि ले जाये नाभि के ऊपर॥
कुम्भक करे, रहे यह भांती। सो उड्डियान बंध सुखरासी॥
प्रबल सिंह मारे जस हाथी। साधक रोग हरे एहि भांती॥
होय प्रबल जठराग्नि शरीरा। पाचन बढ़े, मिटे सब पीरा॥

जालंधर—

सकुच कण्ठ, ठोड़ी रख छाती। जालंधर साधे एहि भांती॥
सिद्धि मास षट् साधक पाई। मृत्यु भीति तिन ढिग नहिं आई॥
तन के जे सोलह आधारा। पग अंगुष्ठ गुदा विस्तारा॥
लिंग, वज्रनाड़ी अरु नाभी। जिह्वामूल अग्रतर भागी॥

दोहा

हृदय कण्ठ भ्रूमध्य अरु, नासिकाग्र पुनि मूल।
करे नियंत्रित नैत्र अरु, तालु, हरे सब शूल॥३२

चौपाई

मूलबन्ध--

वाम एडि पर गुदा लगायी। गुदा लगावत रहेउ दवाई॥
नाभि सिकोड़ रीढ़ की ओरा। सकुचि मूत्र इन्द्रिय तन थोरा॥
दाँयी एड़ि जनेन्द्रिय मूला। सकुचित अंग करे, सह शूला॥
मूलबंध एहि भांति लगाई। वृद्धावस्था नहिं ढिग जाई॥

महाबंध—

उड्डियान जालंधर मूला। महाबंध नाशहिं सब शूला॥
तीनों बंध साथ कर जोई। महाबंध अभ्यासी होई॥
बंध सो कल्पद्रुम अनुरागी। जे धारे ते अति बड़ भागी॥

महाबेध मुद्रा—

मूल बेध संग में उड्डियाना। कुम्भक में थिर होय सुजाना॥
महाबंध मुद्रा कहलाई। यह मुद्रा बिन बंध लजाई॥

दोहा

महाबंध और मूल का, महाबेध के साथ।
योगवेत्ति साधक सदा, नित्य करत अभ्यास॥३३

चौपाई

महामुद्रा—

वाम एड़ि पर गुदा लगाई। गुदा लगावत लेइ दवाई॥
फैला कर दायां पग आगे। तेहि अंगुष्ठ उभय कर थामे॥
दृष्टि रखे भ्रूमध्य लगाई। यही महामुद्रा कहलाई॥

नमोमुद्रा—

जिह्वा ले जो तालु सटाई। तो यह नभ मुद्रा बन जाई॥

खेचरी—

जिव्हा मूल काट पुन लीजे। दोहन घृत अरु दूध से कीजे॥
लम्ब जीभ क्रम-क्रम हो जाई। कुहर कपाल मोड़ तब लाई॥
तालु छिद्र जिव्हा जब पाती। करे पान अमृत दिन राती॥
इच्छा मृत्यु पाय अस योगी। वृद्ध न होय रहे नहिं रोगी॥
भूख प्यास बस में कर राखे। सद्ग्रन्थन मुद्रा गुण भाखे॥

दोहा

अग्नि जलाये ताहि नहिं, नहिं जल ताहि भिगोय।
वायु सुखाय ताहि नहिं, मुद्रा साधे जोय ॥३४

चौपाई

विपरीतकरणी—

नाभि मूल दिनकर सम जाना। तालु मूल शशि कर स्थाना।
चन्द्र झरहि अमृत दिन राती। सोखहि भानु, मीच नर खाती॥
कर विपरीत करण असयोगी। पिये सुधा, शत जीवन भोगी॥
लेटे चित्त, बाँह रख भूमा। पैर उठाय, शीश नहिं लूमा॥
देइ नितम्ब हाथ आधारा। पग दोउ सटे लम्ब अकारा॥
नीचे सिर ऊपर पग जाई। झरे अमिय नहिं नाभि समाई॥
जो अस मुद्रा लेइ बनाई। जरा मृत्यु तिन ढिग नहिं जाई॥
यह मुद्रा सब सन हितकारी। भोगी अरु योगी, नर-नारी॥
नित्य करहिं नियमित अभ्यासा। आधि व्याधि तन के सब नासा॥

दोहा

मुद्रा यह अति परम अरु, लाभ अमित नित देय।
हाथ कंगन कह आरसी, परख स्वयं ही लेय ।।३५

चौपाई

योनि मुद्रा--

कहहुँ योनि मुद्रा सुखकारी। गोपनीय मुनिनाथ विचारी।
योग सिद्धि साधन अलबेली। यह मुद्रा परिपूर्ण अकेली।।
सिद्धासन में बैठहि जाई । दृष्टि कोर भ्रूमध्य जमाई ।।
कर्ण छिद्र अंगुष्ठ लगावा । लेइ मध्यमा नैत्र मुदावा ।।
अरु अनामिका नाक दबाई । लेइ कनिष्ठा औंठ बंधाई ।।
काकी मुद्रा लेइ बनाई। प्राण अपानन देइ मिलाई ।।
श्वास श्वास 'सो हं' धुनि लागी। चक्र प्राण गति भेदन लागी।।
कुण्डलिनी इक सर्पाकारा। सोवत निस दिन मूलाधारा।।
यह विधि ताकूं देइ जगाई। सहस्त्रार तक दे पहुँचाई।।

दोहा

अहं ब्रह्म, सब ब्रह्ममय, ऐसा करे विचार।
सो योगी है ब्रह्म सम, खुले मोक्ष का द्वार ।।३६

चौपाई

वज्रयोनि—

जमा हथेली भू पर लाई । दोउ पग ऊपर देइ उठाई ।।
शीश भूमि कछु ऊपर लावा। तब सब भार हथेली लावा ।।
मुद्रा सो वज्र योनि कहाई । साधन कठिन करे चित्त लाई।।

तड़ागी—

बैठ पश्चिमोत्तान सुभूमहि । सर जिमि भरहिं, उदर तस फूलहिं।।
सोइ तड़ाग मुद्रा कहलाई । जरा मृत्यु नहिं सक ढिग आई।।
नैत्र बन्द रख, अधर सटाई। भीतर जिह्वा मूल हलाई ।।
नीचे ऊपर आगे पांछे । जिव्हा हिले डुले जस नाचे ।।

माण्डुकी—

ज्यों मण्डुक कूदे जल बीचा। जिह्वा उछले ऊपर नीचा ।।

दोहा

सो माण्डुक मुद्रा कही, स्त्रवित होय रस देह ।
चिर यौवन तिनका रहे, अस मुद्रा जिन नेह ।।३७

चौपाई

शक्तिचालिनी—

ब्रह्म द्वार तक जे जन जाहीं । द्वार प्रवेश युक्ति बिन नाहीं ।।
तेहि कर द्वार सुषुम्ना मानहु । कुण्डलनी तंह ताला जानहु ।।
बिन चाभी जस खुलहि न ताला । बिन मुद्रा नहिं गति तिहुं काला ।।
शक्ति चालिनी युक्ति सुहानी । लघु प्रयास प्रवसहिं अस प्राणी ।।
गुप्त क्रिया, एकान्त उपाई । खुले बदन, अभ्यास कराई ।।
श्वेत वस्त्र इक गज आकारा । चौड़ाई हो अंगुल चारा ।।
नाभि और कटि दे लपटाई । ऊपर डोरो एक बंधाई ।।
सिद्धासन ले खीचहिं प्राना । करे युक्त सों योग अपाना ।।
कर संकुच उत्सर्जन अगा । होय सुषुम्ना गति तेहि संगा ।।
श्वास रुके कुण्डलनी जागे । बढ़े सुषुम्ना पथ पर आगे ।।

दोहा

शक्ति चालिनी से प्रथम करे 'योनि' अभ्यास ।
शक्ति चालिनी से सदा 'अश्विनि' सफल प्रयास ।।३८

चौपाई

अश्विनी —

गुदा जनेन्द्रिय बारम्बारा । पुन संकोच पुनहिं विस्तारा ।।
अस अश्विनि मुद्रा सोइ जाना । बढ़े शक्ति अरु रोग नसाना ।।

पाशिनी —

पग दोउ धर गर्दन के पाछे । कर लपेट पकड़े तेहि आछे ।।
सो मुद्रा पाशिनी कहाई । सब इच्छा पूरन हुइ जाई ।।

काकी—

काक चोंच सम मुखहि बनावा । श्वास खींच तन रोग नसावा ।।
काकी मुद्रा अस कर जाना । दीर्घ काल तन राखहि प्राना ।।

मातंगिनी—

जल बिच बैठ, खींच जल नासा । पुनि मुख सों कर देय निकासा ।।
मुख सों खींच नासिका खांदे । अस मातंगनि मुद्रा साधे ।।

भुजंगिनी—

फैला अधर मुखहि चौड़ावा । वायु पान कर आयु बढ़ावा ।।

दोहा

मुद्रा सोइ भुजंगिनी, नित अभ्यास कराय ।
जन्म मृत्यु को दूर रख, रोगहि सकल नसाय ।।४१

धर भ्रू मध्य दृष्टि कर ध्याना । मुद्रा अस शांभवी बखाना ।।
मुद्रा बनहि दीर्घ अभ्यासा । सब मुद्रन में मुद्रा खासा ।।

-धारणा-

अब कछु कहहुँ धारणा सुन्दर । प्रत्याहार होय गति मंथर ।।

पर्थिवी—

पृथ्वी तत्त्व, बीज लं कारा । पीत रंग चौकोर आकारा ।।
देव ब्रह्म सब ओर समाना । हृदय कमल अस कीजे ध्याना ।।
बिनु तन करहि विश्व परिभ्रमणा । जानहु सोई पर्थिवी धारणा ।।

अभ्यासी—

नीर तत्त्व अरु बीज वं कारा । कुन्द पुष्प सम श्वेत दुधारा ।।
देव विष्णू, अस ध्यान लगाई । पूरन कर कुंभक में जाई ।।
जल पर थल सम तेहि गति होई । रहें प्राण वरु जलहि डुबोई ।।

चौपाई

अभ्यासी यह धारणा, धरहि सिद्धि अस होय ।
गुप्त करे अस साधना, सिद्धि रखे मन गोय ।।३१

चौपाई

आग्नेयी—

अग्नि तत्त्व, रंग कांच समाना । नाभि प्रदेश करहि अस ध्याना ।।
रवि सम तेज त्रिभुज आकारा । रुद्र देव धर ध्यान विचारा ।।

अन्वयार्थः - यथा निःशब्दे शब्दरहिते, केवले कुम्भे केवलकुम्भके, प्राप्ते कृते सति, तत् महत् स्थानं, विष्णोः पदं मुक्तिस्थानं भवति । तथा तस्यामवस्थायाम् खलु तयोः जीवात्मपरमात्मनोः, ऐक्यं मेलनं सम्भवति ।

वैशिष्ट्यम् – केवलकुम्भक एव परमपदमित्युच्यते, अतः तदा जीवात्मपरामात्मनोः ऐक्यात् मुक्तिर्भवति इति आशयः। परन्तु पातञ्जलदिशा वस्तुतः समाधिरेव अत्रापि सम्भवति । केवलकुम्भावस्थायाम् चित्तं वृत्तिरूपेण परिणतं नास्ति किन्तु, वृत्तिनिरोधत्वात् निर्बीजावस्थान्तर्गतमेव । अतः चित्तं प्रवृत्तिरूपेण नास्ति चेदपि तिष्ठति इति हेतोः कैवल्यं न प्राप्तं परन्तु संस्काराभावे अचिराद्भवतीत्यतः मुक्तमिति श्लोके उच्यते ।

47. निःशब्दं तत्त्वमित्याहुरनिर्वाच्यं परं पदम् ।
भूतेन्द्रियादिप्रकृतेस्तत्त्वानां च लयात्मकम् ॥

अन्वयार्थः – निश्शब्दं केवलकुम्भाभ्यासगतं शब्दराहित्यं हि, अनिर्वाच्यं अवर्णनीयं, परं पदं तुरीयातीतं, भूतेन्द्रियादिप्रकृतेः महाभूत-एकादशेन्द्रियादिप्रकृतेः तत्त्वानां च, लयात्मकं प्रतिप्रसवहेतुकं तत्त्वं, इत्याहुः इति वर्णयन्ति ।

वैशिष्ट्यम् – केवलकुम्भावस्थायां निश्शब्दता या भवति सा एव परं पदमिति व्यवह्रियते । यत्र च महाभूताद्येकादशेन्द्रियाण्यपि प्रतिप्रसवकाले विलयं यान्ति, तथाविधं तत्त्वं भवति निश्शब्दाख्यं केवलकुम्भकम् ।

48. मूलोड्याणजलन्द्रबन्धनविधामभ्यास्यतो योगिनो
वायोरुद्गमने निरङ्कुशविधेस्तद्व्योमसंरोधनात् ।
भूतानीन्द्रियवर्गतद्गुणमनोहंचित्तबुद्ध्यादयः
सर्वं लीनमुपैति वृत्तिरहितं सौख्यं तदा किंचन ॥

अन्वयार्थः - बन्धत्रयाणां मूलबन्ध-उड्याणबन्ध-जालन्धरबन्धाणां विधान् अभ्यास्यतो मूलोड्याणजलन्द्रबन्धनविधामभ्यास्यतो, योगिनः साधकस्य, वायोः प्राणवायोः, उद्गमने ऊर्ध्वगमने, निरङ्कुशविधेः निर्बाधप्रवृत्या, तद्व्योमसंरोधनात् तत्र चिदाकाशे

बन्धनात्, भूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यानि पञ्चभूतानि, इन्द्रियवर्गः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, तद्गुणानि तस्य त्रिगुणस्य भेदानि, मनोहंचित्तबुद्ध्यादयः मनः-अहङ्कारः-चित्तं-महत् इत्यादय, सर्वं सकलं, लीनमुपैति लयं गच्छति, तदा तस्यामवस्थायां, किञ्चन किञ्चित्, वृत्तिरहितं चित्तपरिणामरहितं, सौख्यं सुखं अनुभवति।

वैशिष्ट्यम् – प्राणायामाभ्यासे त्रिबन्धाभ्यासेन वायोर्वशीकारो भवति तेन भूतेन्द्रियमनोवृत्तिबुध्यहङ्काराणां प्रवृत्त्यभवाच्च वृत्तिराहित्यस्य यत्सुखमस्ति तथाभूतं किञ्चित् नैव विद्यते अन्यत् । निरङ्कुशविधिना इत्युक्ते अङ्कुशरूपं दण्डं विनापि यथा मत्तगजोऽपि वशङ्गतो भवति इति, तथा इन्द्रियादयोऽपि वशीकृताः भवन्ति इति । अतः प्राणायामाभ्यासोपयोगिनां त्रिबन्धानां वर्णनम् अग्रिमश्लोकतः क्रियते । *यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः* [44] इति हठग्रन्थप्रयुक्तप्रसिद्धवचनमुपलक्ष्य तदनुगुणमेव वायोरुपसेवनेन अङ्कुशसहायं विनापि मत्तस्य प्राणरूपकरेः नियन्त्रणमधुना केवलकुम्भाख्येन कृतमिति ज्ञायते ।

IV.1.17 मूलबन्धः

49. योऽपानसूर्यमथ वायुनिरोधनेन
प्राणेन्दुना सह तदूर्ध्वगतं प्रकृत्या ।
योगैकसिद्धिमनिशं कुरुते समस्तां
प्रज्ञावतामपि स एव हि मूलबन्धः ॥

अन्वयार्थः - अथ, सूर्यं तत्संज्ञकं, अपानं वायुं, वायुनिरोधनेन कुम्भकाभ्यासेन, इन्दुना चन्द्रेण, प्राणेन वायुना, सह साकं, प्रकृत्या अभ्यासेन, तदूर्ध्वगतं उद्गमनं कृत्वा, प्रज्ञावतां विद्यावतां अपि, समस्तां सकलां, योगैकसिद्धिं केवलयोगाभ्यासविभूतिं, अनिशं सततं, यः अभ्यासः, कुरुते साधयति, स एव हि, मूलबन्ध इति संज्ञकः ।

---

[44] ह.प्र. 2.15

वैशिष्ट्यम् – मूलबन्धविषये उच्यते । पार्ष्णिभागेन योनिं सम्पीड्य अपानवायुमूर्ध्वमाकर्णयन् गुदमाकुञ्चयेति चेत् स मुलबन्धो भवति ।[45] अपानप्राणयोः च ऐक्यवशात् मूत्रपुरीषक्षयेन युवत्वं [46] तथा अनलशिखावृद्धिः[47] कुण्डल्युद्धरणं [48] च मूलबन्धाभ्यासतो जायतेति हठशास्त्रम् । एतद्धि उच्यते उपनिषत्सु -

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥ [49]

एवमेव योगचूडामण्युपनिषदि च वर्णितमस्ति । [50]

IV.1.18 <u>उड्यानबन्धः</u>

50. अधश्चोर्ध्वं च नाभेर्यो बन्धनं कुरुते बलात् ।
उड्डियानमसौ बन्धो रुग्जरामृत्युनाशनः ॥

अन्वयार्थः - नाभेः उदरस्य, अधः नीचं च, ऊर्ध्वं उच्चं च, यः साधकः, बलात् हठेन, बन्धनं धारणं, कुरुते अभ्यस्यते, असौ अयं, उड्डीयानः बन्धः, रुग्जरामृत्यूनां रोगवार्धक्यमरणानां, नाशनः विनाशकः भवति ।

वैशिष्ट्यम् – उड्यानबन्धाभ्यासाय नाभेरूर्ध्वमधश्च उदरस्य पश्चिममाकर्षणं पृष्ठसंलग्नरीत्या कुर्यात् ।[51] सुषुम्मनायां बद्धे सति प्राणस्योड्डीयनादियं संज्ञा ।[52]

---

[45] ह.प्र.3-61
[46] ह.प्र.3-65
[47] ह.प्र.3-66
[48] ह.प्र.3-68
[49] ध्या.बि.उ.73,74
[50] यो.चू.उ.46,47
[51] ह.प्र.3-57
[52] ह.प्र.3-55

एतदभ्यासेन तारुण्यं [53] तथा षण्मासाभ्यासेन मृत्युजय [54] इत्यादिकं सम्भवतीति फलम् । प्राणायाममुद्राद्यभ्यासेषु बन्धोऽयमपेक्षितो विशिष्टतया तथा इतरबन्धाभ्यासाय च उड्यानाश्रयित्वात् बन्धानामुत्तममित्युच्यते, अतः एतेन मुक्तिश्च स्वाभाविकीति कथ्यते हठे ।[55] अत्र उपनिषत्प्रमाणम् -

उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः ।
उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते ॥

उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ [56]

एवमेव योगचूडामण्युपनिषदि च वर्णितमस्ति । [57]

IV.1.19 जालन्धरबन्धः

51. कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
एष जालंधरो बन्ध ऊर्ध्वामृतनिबन्धकः ॥

अन्वयार्थः - कण्ठं गळं, आकुञ्च्य व्यावृत्य, हृदये वक्षसि, चिबुकं हनुं, दृढं निश्चलं, स्थापयेत् रक्षयेत्, एषो जालन्धराख्यः बन्धः, ऊर्ध्वस्थस्य अमृतस्य निबन्धको रक्षको भवति ।

वैशिष्ट्यम् – कण्ठस्य सङ्कोचनेन चिबुकस्य हृदयस्पर्शनमेव जालंधराख्येन अभ्यस्यते ।[58] एतेन जरामरणादिनाशः कण्ठदोषादिनां निवारणञ्च [59] सम्भवति । योगशास्त्रे कश्चन सिद्धान्तः अस्ति यत्, देहे ऊर्ध्वतो चन्द्रमण्डलतो अमृतं स्रवति नाभिदेशस्थं सूर्यमण्डलं

[53] ह.प्र.3-58

[54] ह.प्र.3-59

[55] ह.प्र.3-60

[56] ध्या.बि.उ.75,76

[57] यो.चू.उ.48,49

[58] ह.प्र.3-70

[59] ह.प्र.3-71

प्रति तथा आयुः ह्रसति इति । तद्दिशा अमृतस्त्रावो जालन्धरबन्धाभ्यासेन निरुध्यते, तेन आयुर्वृद्धिश्च जायेत । [60] प्रमाणान्तरम् उपनिषत्सु -

बध्नाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कर्मदुःखौघनाशनः ॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥ [61]

एवमेव योगचूडामण्युपनिषदि च वर्णितमस्ति । [62]

IV.1.20 केवलकुम्भकाभ्यासः

52. अथोर्ध्वमध्यस्थिरबन्धनाभ्यामाकुञ्चनादूर्ध्वमपानवायोः ।
घ्राणैकरन्ध्रे मरुतां प्रवेशाच्छीघ्रं भवेत्केवलकुम्भसिद्धिः ॥

अन्वयार्थः - अथ ऊर्ध्वमध्यस्थिरबन्धनाभ्यां जालन्धरोड्याणबन्धाभ्यां, अपानवायोः अधोगमकप्राणस्य, ऊर्ध्वं उपरि, आकुञ्चनात् सङ्कोचनात् मूलबन्धाभ्यासात् इत्याशयेन एवं बन्धत्रयं विधाय, मरुतां प्राणानां, घ्राणैकरन्ध्रे नासापुटे, प्रवेशात् निवेशात्, केवलकुम्भाख्यस्य अभ्यासस्य सिद्धिः फलं, शीघ्रं वेगेन, भवेत् संसिध्येत् ।

वैशिष्ट्यम् - केवलकुम्भकस्य फलनिरूपणं बहुत्र दृश्यते परम् अभ्यासः इत्थमनुष्ठेय इति निरूपणं विरलतयैवास्ति । अत्र केवलकुम्भकस्य साधने शीघ्रतरोपायं प्रदर्शयति । तथापि अभ्यासाय गुरोर्वचनं अपेक्षितमेव । यथा तप्ते प्रतले जलबिन्दुः सर्वतो संकोचमापद्येत तद्वत् केवलकुम्भो जायतेति वृद्धाः ।

53. अयं केवलकुम्भाख्यो यस्याजस्रं वशो भवेत् ।
सदा भवति विख्यातः स एव प्राणसंयमी ॥

[60] ह.प्र.3-72

[61] ध्या.बि.उ.77,78

[62] यो.चू.उ.50,51

3. लक्ष्यलीनमनसाऽनिलेन यो वर्तते चलिततारको भवेत् ।
खेचरीयमथ सैव शांभवी मुद्रयाऽस्तु कृतया जगद्गुरुः ॥

अन्वयार्थः – लक्ष्यलीनमनसा लक्ष्ये साध्ये लीनमनसा प्राप्तलयचित्तेन, यः साधको वर्तते सः, चलिततारको तारकयोगस्य सिद्धिसाधको भवेत् । अथ अभ्यासेन, सैव साधकः, खेचरीयं खेचरी अभ्यासं, तथा शाम्भवी मुद्रया च, कृतया अभ्यस्यमानतया, जगद्गुरुः जगतो विश्वस्य गुरुः नियन्ता, अस्तु भवतु ।

वैशिष्ट्यम् – सहजलिङ्गे परमात्मनि मनो नित्यं विलीनं कृत्वा अचञ्चलिततारान्वितवान् यस्तु सोऽपि सद्गुरुः स्यात् इति राजयोगव्याख्यायाम् अस्ति । इयं शाम्भवीमुद्रिका भवति । तामेव खेचरीमुद्रा इति केचिद्वदन्ति । एतदेवोक्तं मण्डलब्राह्मणोपनिषदि - *एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शाम्भवी भवति । तामेव खेचरीमाहुः* [2]- इति ।

V.2.1 खेचरीमुद्रायाः अवबोधनम्

4. लोकोऽन्तः खेचरी मुद्रामज्ञात्वा बाह्यखेचरीम् ।
अवलम्ब्य रता केचिज्जिह्वाछेदनकर्मणा ॥

अन्वयार्थः – लोकः जनाः साधकाः, मुद्रां अन्तः खेचरीं, अज्ञात्वा अनवगम्य, बाह्यखेचरीं मुद्राविशेषं, अवलम्ब्य आश्रित्य, केचित् साधकाः, जिह्वाछेदनकर्मणा जिह्वायाः अधस्थनाडेः कर्तनकर्मणि, रताः आसक्ता भवन्ति ।

वैशिष्ट्यम् – सामान्यतो लोके तावत् योगिसामान्येषु बहूनामियं खेचरीमुद्रा जिह्वाछेदनैकमात्रसाध्या इति मतिः विभ्रमात्मिका इति आचार्याणामभिप्रायः । सः सम्प्रदायो भवतु नाम, परं तस्मादियं खेचरी किञ्चिद्भिन्ना, तत्र च बुद्धा न सन्ति साधका इति तेषामज्ञानं निवारयितुमेव इत्थमुच्यते । खेचरी च मुद्रासु श्रेष्ठा इत्यतो विभ्रान्ताश्च बहवो इत्थं जिह्वायाः छेदनकर्मणि निरता भवन्ति । अन्तःखेचरी एव मुक्तिदा इति बोधनमत्र क्रियते । प्राप्तमूलग्रन्थे *मुद्रा* इति टङ्कितदोषोऽस्तीत्यतो *मुद्राम्* इति संशोधितमस्ति ।

---

[2] म.ब्र.उ.2-1-61

5. तालुमूलद्वादशान्तमध्यं प्रत्यक्कलात्मकम् ।
यत्तस्मिञ्ज्योतिषि मनो दत्वा निजहृदि क्रमात् ॥

6. दृष्टिस्तु पूर्णिमा ज्ञेयं दृश्यमादौ तमोमयम् ।
तन्मध्ये मनसा पश्येज्ज्योतिर्लिङ्गं सुनिश्चलम् ॥

अन्वयार्थः – तालुमूलद्वादशान्तमध्यं जिह्वामूलस्य द्वादशाङ्गुलरिमाणतो अन्तस्स्थं, प्रत्यक्कलात्मकं प्रत्यक्कलेति नामकं, यत् तत्त्वं, तस्मिन् ज्योतिषि प्रकाशपुञ्जे, निजहृदि वक्षसि, क्रमात् गुरूक्तदिशा, मनः चित्तं, दत्वा समर्प्य, दृष्टिः आलोकनं तु, पूर्णिमा इति ज्ञेयं अवगन्तव्यं, तत्र आदौ प्रथमं, तमोमयं तमसा प्रतलीकृतं, तथा तन्मध्ये तमोमध्ये तु, सुनिश्चलं कम्पविरहितं, ज्योतिर्लिङ्गं प्रकाशरूपं, मनसा इन्द्रियेण, पश्येत् ध्यायेत् ।

वैशिष्ट्यम् – खेचरी अथवा शाम्भवीमुद्रायाः दर्शनार्थं अमा, प्रतिपत्, पूर्णिमा चेति तिस्रो दृष्टयः प्रतिपादितास्सन्ति, तत्र सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति।[3] तामेवात्र कथ्यते । तल्लक्ष्ये नासाग्रे, तालुमूलद्वादशाङ्गुलाग्रभागे अन्तःपुरोभागे च गाढं तमः दृश्यते । तत्र अखण्डमण्डलाकारज्योतिदर्शनात् सच्चिदानन्दं ब्रह्म सिध्यति । [4] इति खेचर्याः अभ्यासे कश्चन प्रकारविशेषः।

7. नासाग्रदत्तनिमिषोन्मिषबाह्यदृष्ट्या
लक्ष्ये सदाशिवविमर्शकगूढदृष्ट्या ।
ज्योतिःस्वरूपमचलं परिणामहीनं
पश्यन्ति ये त इह संयमिनः कृतार्थाः ॥

अन्वयार्थः – नासाग्रदत्तनिमिषोन्मिषबाह्यदृष्ट्या नासिकायाः अग्रे स्थाने दत्ता या निमिषोन्मिषबाह्यदृष्टिः अर्धनिमीलितदर्शनं तया, सदाशिवविमर्शकगूढदृष्ट्या सदाशिवस्येश्वरस्य स्पष्टदर्शनार्थं कृतगहनदृष्ट्या च, लक्ष्ये स्थाने, अचलम् अचञ्चलं, परिणामहीनं भावरहितं, ज्योतिःस्वरूपं प्रकाशं, ये साधकाः, पश्यन्ति अवलोकयन्ति, ते संयमिनः योगीन्द्राः, इह लोके, कृतार्थाः कृतकृत्याः ।

---

[3] म.ब्र.उ.2-1-59

[4] म.ब्र.उ.2-1-60, राजयोगव्याख्या

वैशिष्ट्यम् – पूर्णिमाभ्यासस्य पूर्वोक्तस्य प्राशस्त्यमेवात्र कथ्यते । अस्य लक्ष्यं नासाग्रं तत्र ज्योतिर्दृश्यते तद्दर्शनात् योगी कृतार्थो मुक्तो भवति । एतच्च मण्डलब्राह्मणोपनिषदि – *तासु पूर्णिमाभ्यासः कर्तव्यः । तल्लक्ष्यं नासाग्रम् । तदा तालुमूले गाढतमो दृश्यते । तदभ्यासात् अखण्डमण्डलाकारज्योतिः दृश्यते । तदेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म भवति* ॥ [5]

8. पश्चिमाभिमुखं लिङ्गमभिन्नवलयाकृतिम् ।
त्वं पूर्वाभिमुखो भूत्वा पश्य पश्य महाद्भुतम् ॥

अन्वयार्थः –पश्चिमाभिमुखं पश्चिमदेशं प्राचीम् अभिमुखीकृत्य स्थियमानं, अभिन्नवलयाकृतिम् अभिन्नं विशिष्टमथवा भेदरहितं वलयाकृतिं वर्तुलाकारं, लिङ्गं शिवलिङ्गमथवा आत्मलिङ्गं, त्वं साधकः, पूर्वाभिमुखो भूत्वा लिङ्गम् अभिमुखीकृत्य, पश्य पश्य अवलोकय, तत् महाद्भुतं विशिष्टानुभवदम् ।

वैशिष्ट्यम् – पश्चिमाभिमुखस्य लिङ्गस्य पूर्वाभिमुख्यं कार्यमित्युक्ते लिङ्गस्यैव पुरतो तत्पश्यन् उपविशेत् इति ज्ञेयम् । पश्य पश्य इति द्विरुक्तिः आश्चर्यबोधनार्थं तथा पादपूरणार्थञ्च इति चिन्तनीयम् । *तदा पश्चिमाभिमुखः प्रकाशः* इति वाक्यस्य राजयोगव्याख्यायाम् इत्थमुच्यते – *पूर्वाभिमुखो योगी सम्पूर्णमण्डलाकारम् आत्मलिङ्गं यदि पश्यति, तत्पश्चिमाभिमुखः प्रकाशः स्वीकर्तव्यः* ॥ [6]

9. यदा तज्ज्योतिरोङ्कारं ब्रह्माच्युतशिवात्मकम् ।
पश्यन्ति सूरयः शान्तं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

अन्वयार्थः – सूरयः ज्ञानिनः साधकाः, यदा यस्मिन् अवसरे, तत् शान्तं स्वच्छं, ज्योतिः प्रकाशं, ओङ्कारं प्रणवं, ब्रह्माच्युतशिवात्मकं त्रिदेवस्वरूपं, पश्यन्ति अवधारयन्ति, तदा तत् स्थानं, विष्णोः परमं पदम् एतत्संज्ञायुतम् इति उच्यते ।

वैशिष्ट्यम् – सा च पूर्वोक्ता ज्योतिः त्रिदेवसङ्कल्पयुतम्स्ति तथा ओङ्कारमिति च वदन्ति यमिनः । एतद्धि विष्णोः पदं, शिवपदमथवा परमपदमिति व्यवह्रियते,

---

[5] म.ब्र.उ.2-1-60

[6] म.ब्र.उ. 2-64

मोक्षकवाटमित्याशयः । एतच्च मण्डलब्राह्मणोपनिषन्निरूपितमस्ति, यथा – *तत्प्रत्ययविदितं ब्रह्मैव परममृतम् ओङ्काररूपम् आपोज्योतिस्स्थलं शिवविष्णोः परं पदं चेति वदन्ति* ।[7]

ओङ्कारममृतं ब्रह्मेत्यापोज्योतिस्स्थलं शिवम् ।
विष्णोः परं पदं चेति प्राहुः ब्रह्मविदो जनाः ॥[8]

V.2.2 शाम्भवीमुद्रासिद्धिः तच्चिह्नानि च

10. पूर्णेन्दुबिम्ब इव सन्मणिदीपकेव
मध्याह्नसूर्य इव वह्निशिखेव नित्यम् ।
विद्युत्प्रभेव शिवलिङ्गमहो विचित्रं
लक्ष्यान्तरे ज्वलति पश्यति चक्षुरग्रे ॥

अन्वयार्थः – पूर्णेन्दुबिम्बः पूर्णेन्दोः वर्तुलाकारचन्द्रस्य रूपम् इव, सन्मणिदीपकेव सन्मणिदीपिका मणिवत् प्रकाश्यमाना इव, मध्याह्नसूर्य इव मध्याह्नसूर्यो यथा प्रकाण्डो भवति तद्वत्तीव्रः, नित्यम् सर्वदा, वह्निशिखेव वह्नेरग्नेः शिखा ज्वाला तद्वत् तीक्ष्णा, विद्युत्प्रभेव विद्युतो तडितः प्रभा कान्तिरिव, अहो आश्चर्यं, विचित्रं विशिष्टं, लक्ष्यान्तरे अपरस्मिन् लक्ष्ये, ज्वलति प्रकाशते तत्, चक्षुरग्रे अक्ष्णोः पुरतः, पश्यति ईक्षते ।

वैशिष्ट्यम् – शाम्भवीमुद्रया यामद्वयम् आत्मेक्षणेऽभ्यस्ते मनोवायू साम्यभावेन प्रवर्तितौ भवतः । तस्मात् मनस्स्थैर्ये सिद्धे तद्वशात् वायुः स्थिरो भवति । वायुचाञ्चल्ये वा मनश्चाञ्चल्ये वा प्राप्ते तद्वशात् इतरत्सर्वं चञ्चलमेव भवति । अतो राजयोगाभ्यासेन मनोवायुस्थैर्यं भवतीति निश्चयः । तच्चिह्नानि उच्यते – *आदौ तारकवत् दृश्यते, ततो वज्रदर्पणम्, ततः परिपूर्णचन्द्रमण्डलं, ततो नवरत्नप्रभामण्डलं, ततो मध्याह्नार्कमण्डलं,*

[7] म.ब्र.उ. 2-1-64 राजयोगव्याख्या

[8] म.ब्र.उ. 2-1-64 राजयोगव्याख्या

ततो वह्निशिखामण्डलं च एवं क्रमात् दृश्यते ॥ [9] इति निरूपितोऽयं क्रमः प्रस्तुतश्लोकेऽपि सन्दृश्यते ।

V.2.3 आत्मलिङ्गार्चनम्

11. आत्मलिङ्गमिदं पश्य किमन्यैः कर्मविभ्रमैः ।
अहिंसाद्यष्टपुष्पैस्तु मानसैरङ्ग पूजय ॥

अन्वयार्थः – इदं निरूप्यमाणम्, आत्मलिङ्गं चैतन्यं, पश्य अवधारय, अन्यैः अपरैः, कर्मविभ्रमैःप्रवृत्तिकलापैः, किं प्रयोजनम् । अतः, मानसैः मनस्सम्बद्धैः, अहिंसाद्यष्टपुष्पैः तु अहिंसा इत्यादिभिः अष्टसंख्याकैः पुष्परूपैस्तु, अङ्ग आत्मलिङ्गे, पूजय सेवय ।

वैशिष्ट्यम् – मण्डलब्राह्मणोपनिषदि द्वितीयब्राह्मणे द्वितीयखण्डे राजयोगव्याख्यायां आत्मलिङ्गपूजनार्थं अष्टपुष्पाण्युच्यन्ते । तथा मानसपूजां कर्तुमत्रोच्यते ।

12. पुष्पाण्यहिंसेन्द्रियनिग्रहश्च दयाक्षमाज्ञानसमाह्वयानि ।
ध्यानं तपः सत्यममीभिरेवं प्रपूजयेदात्मनि सिद्धलिङ्गम् ॥

अन्वयार्थः – तानि प्रागुक्तपुष्पाण्यत्र निरूप्यन्ते कानीति । पुष्पाणि मानसाङ्गपूजायै प्रागुक्तानि, अहिंसा निरुपद्रवः, इन्द्रियनिग्रहः शमः, दया करुणा, क्षमा क्षितिः, ज्ञानसमाह्वयः ज्ञानसङ्ग्रहणम्, ध्यानं चित्तैकाग्र्यं, तपः द्वन्द्वसहिष्णुता, सत्यं ऋतत्वं, इति अमीभिः उक्तैः, एवं उक्तप्रकारेण, आत्मनि स्वान्तः, सिद्धलिङ्गं शिवलिङ्गं, प्रपूजयेत् समर्चयेत् ।

वैशिष्ट्यम् – आत्मलिङ्गपूजनार्थमपेक्षितानि अष्टपुष्पाणि उपनिषद्दिशा निरूप्यन्ते । *अथ आत्मलिङ्गार्चनं –अहिंसा, सर्वेन्द्रियनिग्रहः, अधिकदयालुत्वं, क्षमा, सदाखण्डज्ञानपूर्णत्वं, सत्यं, तपोनिष्ठा, सर्वज्ञता च – इत्येतैरष्टपुष्पैः आत्मलिङ्गार्चनपरो*

---

[9] म.ब्र.उ.2-1-63

और उस समय नाकको आगेको भाग ताको देखे इसको योगासन कहते हैं । इति ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

इति श्रीघेरंडसंहिताश्रीमथुरास्थदक्षगोत्रोद्भवचातुर्वेदिशर्मश्री ५ कल्याणचंदात्मजराधाचंदविरचितव्रजभाषाटीकायां आसनवर्णनो नाम द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

तृतीयोपदेशः ३ ।

अथ मुद्राकथनप्रकरणम् ।

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलंधरम् ॥
मूलबंधो महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥ १ ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्राणी शक्तिधारिणी ॥
ताडागी मांडवी मुद्रा शांभवी पंचधारिणी ॥ २ ॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी ॥
पंचविंशतिमुद्राणि सिद्धिदानीह योगिनाम् ॥ ३ ॥

अर्थ—महमुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जलंधर, मूलबंध, महाबंध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरी, योनि, वज्राणी, शक्तिधारिणी, ताडागी, मांडवी, शांभवी, धारणामुद्रा, पांच तरहकी है । जैसे—पार्थिवीधारणा आम्भसीधारणा वैश्वानरीधारणा वायवीधारणा, नभोधारणा और तापीछें अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी, भुजंगिनी ॥ इति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव संनिधौ ॥
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥ ४ ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ॥
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरुतामपि ॥ ५ ॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थ—श्रीमहादेव गौरीसे बोले कि हे देवि ! मैंने तेरे आगे पति
मुद्रानिके नाम कहे हैं। इनके जानवेसोंही सब भाँतिकी सि्के रो
ड्धिकी लाभ होइ है। यह सब विषय परम गोपनीय है जि
किसीको कभी नहीं देना। क्योंकि विना प्रतिज्ञाके साधि
नहीं सक्के और कदापि बतायभी दो तौ चंचल लोग दोषि
करेंगे और न बन सकेंगे तौ इस विद्याकौ झूँठी कहकर
प्रतिज्ञोंकोभी नहीं देना, ये सब मुद्रा योगियोंकोही परम प्री
देनेवारी है। यह मुद्रा देवताओंकोभी दुर्लभ हैं। इति ॥४॥

अथ महामुद्राविधिः।

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदांगुलः ॥ ६ ॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं निरीक्षयेत् ॥
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥ ७ ॥

अर्थ—गुदामूलकों बाँई एडीसों बहुत तागतसों दबा
और दाँय हाथको फैलायकों हाथसों पाँयकी अंगुली
फिर कंठकों सकोडकें भोहके मध्यमें ध्यान लगा देवे इसक
पंडितगण महामुद्रा कहें हैं। इति ॥ ६ ॥ ७ ॥

अथ मुद्राफलम्।

क्षयकासं गुदावर्तं प्लीहां जीर्णज्वरं तथा ॥
नाशयेत् सर्वरोगांश्च महामुद्रातिसेवनात् ॥ ८ ॥

अर्थ--उपरोक्त (महामुद्रा को अधिक सेवन करवेसं
क्षयसों भई खासी गुदावर्त (गुदाके चारों तर्फ वारे फोडा

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पतिल्ली और जीर्ण ज्वर (पुरानो ज्वर), तथा और सब तरके रोग या महामुद्राके सेवनसों नाश होई है। इति ॥८॥

अथ नभोमुद्राविधिः।

यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ॥
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा ॥
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥ ९ ॥

अर्थ--जब जब योगी काहू काममें लगे तब तब सर्वदाही परकी ओर जीभ करकें कुंभकके द्वारा स्थिर होकर पवनको रण किया करै यह अभ्यास सदा रखनेसे योगियोंकों सम- रोगनिते निवृत्त होई हैं इसको नभोमुद्रा कहते हैं। इति९

अथ उड्डीयानबंधविधिः।

उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्वं तु कारयेत् ॥
उड्डीयानं कुरुते यत् तदविश्रान्तं महाखगः ॥
उड्डीयानंत्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ १० ॥

अर्थ—नाडीके ऊपरका भाग पश्चिमद्वारको उदरके समभा- सिकोडनों चाहिये अर्थात् उदरके मध्यम भागस्थ गुह्यादि स्थित नाडी समूहकों नाभीके ऊपर सिकोडके उठानों हिये इसको उड्डीयान बंध कहते हैं यह उड्डीयान बंद मो- लिये अर्थात् गजरूप मृत्युको सिंहके समान है। इति१०

अथ उड्डीयानबंधफलम्।

समग्राद्बंधना ह्येतत् उड्डीयानं विशिष्यते ॥
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्॥११॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थ–जितने मुद्राबंध कहे गये हैं उन सबमें
उड्डीयान बंध बहुत उत्तम है इस उड्डीयान बंधके सा
निसे आपही आप मुक्ति होई है । इति ॥ ११ ॥

अथ जालंधरबंधविधिः ।

कंठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत् ॥
जालंधरकृते बंधे षोडशाधारबंधनम् ॥
जालंधरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ॥ १

अर्थ--कंठको सकोड करकें छातीपर डाढी धरवेहीसों
लंधरबंध कह्यौ जाय है याके साधन करवेसों सोलह भाँ
आधार बंध हुवा करते हैं यह मौतकाभी नाशक है ॥ १

अथ जालंधरबंधफलम् ।

सिद्धं जालंधरं बंधं योगिनां सिद्धिदायकम् ॥
षण्मासमभ्यस्येत् यो हि स सिद्धो नात्र संशयः ॥

अर्थ--यह जालंधर बंध स्वयं सिद्ध है यह योगियोंको सि
देवेवारौ है जो बुद्धिवान् छः महीना इसका साधन करत
वह अवश्य सिद्धि हो जाता है इसमें संशय नहीं है ॥

अथ मूलबंधविधिः ।

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुंचयेत्ततः ॥
नाभिग्रंथिं मेरुदंडं संपीड्यं यत्नतः सुधीः ॥ १
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबंधं समाचरेत् ॥
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबंधो निगद्यते ॥ १

अर्थ–बाँये पाँयकी एडीसों गुदा प्रदेशको सिकोडे बा

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

एडीकी गाँठको पीठकी हड्डीसे दबावै और उपस्थकों दाँयें एडीसों मजबूत दबाके राखै इसकौ मूलबंध कहते हैं यह मुद्रा बुढापेंको दूर करै है। इति ॥ १४ ॥ १५ ॥

अथ मूलबंधफलम् ।

संसारसागरं तर्तुमभिलषति यः पुमान् ॥
विरलेषु गुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत् ॥ १६ ॥
अभ्यासाद्बंधनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ॥
साधयेद्यत्नतस्तर्हि मौनी तु विजितालसः ॥ १७ ॥

अर्थ–जो मनुष्य संसारसागरसे पार होनेकी इच्छा करै एकान्तस्थानमें गुप्तभावसे इस मुद्राका अभ्यास करै इस मूलबंधके अभ्याससे जरूर पवन (वायु) सिद्धि होइ है इसके साधक आलसकों छोडके मौंनी हो यत्नपूर्वक इसको साधन करै ॥ १६ ॥ १७ ॥

अथ महाबंधफलम् ।

महाबंधः परो बंधो जरामरणनाशनः ॥
प्रसादादस्य बंधस्य साधयेत्सर्ववांछितम् ॥ १८ ॥

अर्थ–यह महाबंध (नामकी मुद्रा) सब मुद्राओंमें श्रेष्ठ है और बुढापे तथा मोंतको नाश करै है इस महाबंधके प्रसादसों सब मनमान मनोरथ पूर्ण होइ है ॥ १८ ॥

अथ महावेधविधिः ।

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ॥
मूलबंधमहाबंधौ महावेधं विना तथा ॥ १९ ॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

महाबंधसमासस्य उड्डानकुंभकं चरेत् ॥
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः॥२

अर्थ–जैसे पुरुषके विना नारीको सुंदररूप यौ
(जवानी) तथा लावण्यता निष्फल रहती हैं । वैसे
महावेधमुद्राके विना मूलबंध तथा महाबंधभी काऊ का
नहीं रहते । पहले महाबंध मुद्रा करै फिर उड्डीयान
मुद्रा करके कुंभक प्राणायामसे वायुकों निरोध करवे जो
महावेध मुद्रा कही जाती है यह मुद्रा महावेधके
योगिजन सर्वसिद्धिकों पामें हैं ॥ १९ ॥ २० ॥

अथ महावेधफलम् ।

महाबंधमूलबंधौ महावेधसमन्वितौ ॥
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः ॥ २१
न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ॥
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोयं योगिपुंगवैः ॥ २२

अर्थ–जो साधक प्रतिदिन इस महावेधके सहित मह
और मूलबंधका साधन कियौ करें हैं वेही योगियोंमें
योगविद्याके जानवेवारे कहे जाते हैं । मोंत और बुढा
उनके पास कभी नहीं आय सक्ती । यह मुद्रा परम
रखवेके योग्य है योगीनमें श्रेष्ठ योगी इसको कि
नहीं कहते हैं ॥ २१ ॥ २२ ॥

अथ खेचरीमुद्राविधिः ।

जिह्वाधो नाडीं संछिन्नां रसनां चालयेत्सदा ।
दोहयेन्नवनीतेन लोहयंत्रेण कर्षयेत् ॥ २३ ॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ॥
यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी ॥२४॥
रसना तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत् ॥
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोर्मध्ये गतां दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ २५ ॥

अर्थ--जीभके नीचे जीभकी जड और जीभ इन दोनोंको जो नाडी जोडे रहती है उसको काट देवे और नित्यही जिह्वाके अग्रभाग और जिह्वा (जीभ) के नीचे सदा चलाया करै । और जीभको नवनीत (माखन) से दुहा करै और लोहेकी (चीमटा) सों खेंच लेय । याही प्रकार रोज करनेसे जीभ लंबी हो जाती है । क्रमसे अभ्यास करते करते जीभको इस प्रकार लंबी कर देय कि जासों दोनों भौंहोंके बीचतक पहुँच जाय । फिर उसी जीभको क्रमसे तालुके बीच ले जाय । तालु-देश मध्यस्थ (गढ्ढाको) कपालकुहर कहते हैं । जीभको उसी तालुके गढ्ढामें ऊपरकी ओर उलटके प्रवेशित करै ता पीछे दोनों भोहनिके मध्य (बीच) के भागको देखे याको खे-चरी मुद्रा कहे हैं ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

अथ खेचरीमुद्राफलम् ।

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते ॥
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते ॥ २६ ॥

अर्थ--जो मनुष्य या खेचरी मुद्राको साधन करे हैं उनको मूर्च्छा भूँख प्यास और आलस्य नहीं होई है और न रोग

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

न बुढापौ न मौत पास आवे और देवतानकीसी ताकी दे
हों जाय ॥ २६ ॥

नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः ॥
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजंगमः ॥ २७ ॥

अर्थ—और उनको आग नहीं जलाय सके पवन सुख
नहीं सके तथा पानी न गीला कर सके तथा साँप क
नहीं सके है ॥ २७ ॥

अथ विपरीतकरीमुद्राविधिः ।

नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चंद्रमाः ॥
अमृतं ग्रसते सूर्य्यस्ततो मृत्युवशो नरः ॥ २८
ऊर्ध्वे च गमयेत्सूर्य्यं चंद्रं च अध आनयेत् ॥
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥ २९ ॥
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मे समाहितः ॥
ऊर्ध्वपादः शिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ॥३०

अर्थ—नाभिकी जडमें सूर्य (सूर्यनाडी) वास करै अ
मुखके तलुआकी जडमें चंद्रमा (चंद्रनाडी) वास करै है ज
नीचेसे सूर्य अपने तेजसों खेंचवेसों देहमें रहवेवारो अमृत
ग्रास कर लेय है तब मनुष्य मौंतके वस होइ है । यालि
ऊपरकी ओरसौं सूर्यकों उठानों चाहिये और नीचेकी ओर
चंद्रमाको ले आनों चाहिये इसका नाम विपरीतकरी-मुद्रा
सो सब तंत्रोंसे गुप्त है अर्थात् अंत कहुँ नही कहीं गई । या
विधि ऐसी तरहँ है कि धरतीमें माथेकों धरे और दोनों हा
निसों धरतीको पकडकर पाँयनिको ऊपरकी ओर उठाय

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सीधा खडा करै और पूरक प्राणायामसे पवन खेंचकर कुंभकके द्वारा जहांतक ठेरे तबतक ठहरावे इसको विपरीतकरी मुद्रा कहते हैं। इति ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

अथ विपरीतकरीमुद्राफलम्।

मुद्रेयं साधयेन्नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत् ॥
स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो मनुष्य इस मुद्राको रोज साधन करता है वह बुढापा और मृत्युसे बच्यो रहे है। फिर सब लोकनिमें सिद्ध हो जाता है और प्रलय होनेपरभी अभय रहता है ॥ ३१ ॥

अथ योनिमुद्राविधिः।

सिद्धासनं समासाद्य कर्णं चक्षुर्नसो मुखम् ॥
अंगुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत् ॥ ३२ ॥
काकीभिः प्राणसंकृष्य अपाने योजयेत्ततः ॥
षट् चक्राणि क्रमाद् ध्यात्वा हुं हंसः मनुना सुधी॥३३॥
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजंगिनी ॥
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य करांबुजे ॥ ३४ ॥
शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परं शिवेन संगमम् ॥
नानासुखं विहारं च चिंतयेत्परमं सुखम् ॥ ३५ ॥
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुवि भावयेत् ॥
आनंदं च स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति संभवेत् ॥ ३६॥
योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ॥
सकृत्तु लाभसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि॥३७॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थ–प्रथम सिद्धासनसों बैठे फिर कान आँख नाक
ये चारों द्वारोंको अँगूठा तर्जनी मध्यमा अनामिका
अँगुरियानसों ढाँक लेय अर्थात् कानके दोनों छेदोंको
अँगुठानसों दोनों आँखनकों दोनों तर्जनीनसों दोनों
कके छेदोंको दोनों मध्यमानसों, मुखकों दोनों अनामि
न्सों दाबै। फिर या मुद्रासों प्राणपवनकों खेंचै और
उसै अपानपवन (अधोवायु) में मिलाय दे वाके
अंगमें छः चक्र है उनका ध्यान करै वाही समयमें (हुँ)
(हंस) इन दो मंत्रोंसे भुजंगिनी रूप कुंडलिनी देवीकों ज
तथा जीवात्मा सहित वा कुंडलिनीको सहस्र कमलमें
यकें ले जावै और वह साधक या प्रकार चिंता करे मा
शक्तिमय होकर शिव (आनंद) के संगप्रसंगमें आसक्त
भये परम आनंद भोग और विहार करता हूं तथा शिवश
संयोगसे मैंही आनंदमय (ब्रह्म हूं) इसको योनिमुद्रा क
हैं यह मुद्रा परम गोपनीय है यह देवताओंको दुर्लभ है
मुद्राको एकवारभी कोई साधन करै तौ साधनेवारौ पुरुष
हो जाय है इसके द्वारा बहुतही शीघ्र समाधि प्राप्त है
॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

अथ योनिमुद्राफलम्।

ब्रह्महा भ्रूणहा चैव सुरापी गुरुतल्पगः ॥
एतैः पापैर्न लिप्यते योनिमुद्रानिबंधनात् ॥ ३
यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च ॥
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबंधनात्
तस्मादभ्यासनं कुर्य्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थ–जो जन योनिमुद्राकौ साधन करें हैं व यदि ब्रह्मघाती (ब्राह्मणकों मारवेवारौ) बालघाती वा गर्भ गिरायवेवारौ दारू पीवेवारौ गुरुकी नारीसों मैथुन करवेवारौभी होइ तौभी पापमें नहीं सने है । औरभी जो बडे बडे पाप हैं तथा उपपाप हैं तिन सबकों योनिमुद्राकौ बांधवेवारो नष्ट कर देय है या कारण जो मुक्तिकी इच्छा करे सो याको साधन करै । इति ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

अथ वज्रोणिमुद्राविधिः ।

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां ऊर्ध्वे क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे ॥ शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रोणिमुद्रां मुनयो वदन्ति ॥ ४० ॥

अथ–दोनों हाथनिकी हथेरीसों धरतीके तलकों पकडकें दोनों पाँयनिकों ऊपर उठाय दै और माथौभी आकाशकी ओर उठा देवे केवल हाथके बल खडा रहै इसको मुनि (जन) वज्रोणि मुद्रा कहें हैं याके अभ्याससों अंगमें शक्ति (ताकत) आवे और सदा जिया करै अर्थात् अमर हो जावै । इति ॥ ४० ॥

अथ वज्रोणिमुद्राफलम् ।

अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम् ॥
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः॥४१॥
एतद्योगप्रसादेन बिंदुसिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ॥
सिद्धे बिंदौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले॥४२॥
भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत् ॥
तथापि सकला सिद्धिर्भवति तस्य निश्चितम्॥४३॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थ—यह मुद्रा साधनरूपी योगमें सब योगोंमें अ
(श्रेष्ठ) है और योगियोंकी मुक्ति (मोक्ष) कारण है और
योग बहुत हितका करनेवारौ है तथा योगियोंको सब तरह
सिद्धिकौ देवेवारौ है। इसी योगके प्रसादसे कामसिद्धि,
जो (वीर्य) सिद्धि निश्चय होइ है अर्थात् वीर्य रुक गया अ
जब इस भाँति महायत्नसे वीर्यसिद्धि हो गये पीछे कहो भ
लमें कौन और सिद्धि न होइगी। और सबेरे बडे बडे भोग
युक्त पुरुषभी यदि इस मुद्राका अभ्यास करै तौ सब भाँति
सिद्धियाँ जरूर उसकों मिलेंगी। इति ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४

अथ शक्तिचालनीमुद्राविधिः ।

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुंडली परदेवता ॥
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ॥४
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा ॥
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत् ॥४५

अर्थ—मूलाधारमें आत्मशक्ति (आत्माकी ताकत) सब
परे देवता कुंडलिनी सर्पके आकार साढे तीन लपेटाकी गुं
(गोला) बांधे सोय रही है। जबतक वह देहमें सोती रहै है त
तक जीव पशुकी तरह अज्ञान (ज्ञानरहित) बन्यो रहै है स
और असत्य कछु नहीं जान पडता तबतक चाहें कोटिप्रक
योगाभ्यास करौ कभीं सत्य ज्ञान नहीं होइगौ ॥ ४४ ॥ ४५

उद्घाटयेत्कपाटं च यथा कुंचिकया हठात् ॥
कुंडलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रबोधयेत् ॥ ४६

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थ—इसी निमित्त कहा है कि जैसे तारेसों बंद किवार (कपाट) तारीसे झटपट खोलकें भीतर पैठ जाय याही भाँति कुंडलिनीके जानवेपर ब्रह्मद्वार (माथे) को प्रभेद कियो जा सके है (चैतन्य कियो जाय है) कि जासों सत्य और असत्यकौ ज्ञान होइ है॥ ४६॥

नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण नच नग्नो बहिः स्थितः॥
गोपनीये गृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्॥४७॥

अर्थ—एक वस्त्रके द्वारा नाभिदेशकों लपेटकें काऊ गुप्त मकानमें बैठकर शक्तिचालनी मुद्राका अभ्यास करै किंतु नंगो ह्वैकें बाहरके भागमें या योगका साधन करनों उचित है नहीं, अर्थात् यह योग नंगो ह्वैकें गुप्तस्थानमें करनों चाहिये॥ ४७॥

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलम्॥
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम्॥
एवमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत्॥ ४८॥

अर्थ—एक बिलाँद लम्बो और चार अंगुल चौडौ कोमल (नरम) और महीन सुपेद कपडासों नाभिकों लपेटकें फिर उस वस्त्रको कमरसों बाँधै॥ ४८॥

भस्मना गात्रसंलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत्॥
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद्बलात्॥४९॥
तावदाकुंचयेद्गुह्यं शनैराश्विनिमुद्रया॥
यावद्गच्छेत्सुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेद्धठात्॥५०॥

अर्थ—राखसों अंगकों लपेट (लेपन) करै और सिद्धासन

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बाँधकर बैठे और नाकके दोनों छेदनसों प्राणवायु (हृदय पवन) कों खेंचकें बलके सहित अपानवायुके संग मिलाय जब तक वायु सुषुम्नानाडीके भीतर जायकें प्रकाशित न तबतक अश्विनी मुद्राके द्वारा धीरे धीरे गुह्यप्रदेश (गु कों सकोंडै ॥ ४९ ॥ ५० ॥

तदा वायुप्रबंधेन कुंभिका च भुजंगिनी ॥
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ॥ ५१

अर्थ–याही भाँति निश्वास रोककें कुंभक प्राणा धारण करै तौ भुजंगिनी भुजंगाकार कुंडलिनीशक्ति जा ऊपरकी ओर उठती है अर्थात् हजार दल कमल पर त्मानें मिल जाती है ॥ ५१ ॥

विना शक्तिं चालनेन योनिमुद्रा न सिद्धयति ।
आदौ चालनमस्यास्तु योनिमुद्रां समभ्यसेत् ॥ ५

अर्थ–विना शक्तिचालनी मुद्राके अभ्यास किये यो मुद्रा कभी सिद्धि नहीं हो सकै है यासों पहिले या शत्ति चालनी मुद्राकौ अभ्यास कर ले तब योनिमुद्राकौ अभ्या करै ॥ ५२ ॥

इति ते कथितं चंडकापाले शक्तिचालनम् ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत् ॥ ५३

अर्थ–घेरंड महाराज कहते हैं कि हे चंडकापालि! तुम आगे यह मैंने मुद्रा कही जाकौ नाम शक्तिचालनी है यह यत्नसों दिन दिन अभ्यास करनो चाहिये और वह अभ्या करनों गुप्त भावसों रहै सहसा प्रसिद्ध जाहिर न होयवे पावै

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथ शक्तिचालनीमुद्राफलम्।

मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी ॥
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः ५४

अर्थ--यह मुद्रा परम गुप्त है याके द्वारा बुढापौ और मृत्यु दोनों नष्ट हो जाय हैं याहीसों सिद्धिके चाहवेवारे योगियोंको इसका अभ्यास जरूर करनों चाहिये ॥ ५४ ॥

नित्यं योभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता ॥
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद्रोगाणां संक्षयो भवेत्॥५५॥

अर्थ--जो योगी या मुद्राकौ प्रतिदिन अभ्यास करै है वाके हाथमें सिद्धि आय जाय है और उसको विग्रहसिद्धि होय है (विग्रहसिद्धि वाकों कहैं हैं जामें विशेष ग्रहणकी शक्ति हो जाय है) अर्थात् कोई काम करै झटपट पूरो हो जाय हैं और वाके रोग दूर हो जाय हैं ॥ ५५ ॥

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृति ॥
ताडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥५६॥

अर्थ--पश्चिमोत्तान अर्थात् उत्तान होकर पडे और पेटको तडाग (तलाव) की तरह गहरौ करै और कुंभक प्राणायाम करै इसकौ तडागी मुद्रा कहैं हैं यह मुद्रा एक प्रधान गिनी जाय है याके द्वारा बुढापौ और मोंत जीती जाय है। इति ॥५६॥

अथ मांडूकीमुद्राविधिः।

मुखं संमुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ॥
शनैर्ग्रसेदमृतं तां मांडुकीमुद्रिकां विदुः ॥ ५७ ॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थ—मुखकों मूंदकें जीभकी जडकों तालुवेके ऊपर
ओर चलावै और धीरे धीरे हजारदल कमल निर्गत अमृ
पान करै इसको मांडुकीमुद्रा कहते हैं। इति ॥ ५७ ॥

अथ मांडूकीमुद्राफलम् ।

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम् ॥
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमांडुकीम् ॥५

अर्थ--मांडुकी मुद्राका नित्य अभ्यास जो कोई करै उ
अंगमें वलित (खालको सुकड जानों), पलित(वारनको सु
हो जानों)तथा मांस गलकर हाड मात्रको रहनों ये नहीं
और सदा यौवन (जवानहीं)बन्यो रहै (अर्थात्) मौंत न
आवे)और बाल पके नहीं (अर्थात् सुपेद नहीं होवे)इति॥५

अथ शांभवीमुद्राविधिः ।

नेत्रांजनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत् ॥
सा भवेच्छांभवी मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥ ५९

अर्थ--दोनों भौंहनिके बीचमें वा दोनों भोहोंकोही स्थि
दृष्टिसों अवलोकन करकें और मनकों एकरस करकें व
आत्माराम (परमात्मा) को देखै (मानों सच्चिदानंद व
बैठ्यो है) याहीकों शांभवी मुद्रा कहै हैं यह सब तंत्रों
गुप्त मानी गई है। इति ॥ ५९ ॥

अथ शांभवीमुद्राफलम् ।

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥
इयं तु शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ६० ॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थ--चारों वेद छहों शास्त्र (न्यायादि तथा धर्मशास्त्र) अठारह पुराण ये सब जैसे गणिका (रंडी) लोगप्रसिद्ध रहती हैं किसीसे गुप्त नहीं रहती तैसेही सामान्य वस्तु है परंतु शांभवी मुद्रा जैसे कुलवधू (अच्छे घरकी स्त्री) बडी यतनसों रहैं और सहसा काऊकी आंखनिके आगे नहीं आवे वैसेही यह मुद्रा जाननी ॥ ६० ॥

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम् ॥
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शांभवीम् ॥ ६१ ॥

अर्थ--जो मनुष्य या शांभवी मुद्राकों जाने है वह आदिनाथ (सबको प्रथम स्वामी) है वही स्वयं नारायण (जीवसमूहकी जीवनशक्ति तथा रवि) है और वही जगत्को पैदा करवेवारो ब्रह्माभी समझनों ॥ ६१ ॥

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः ॥
शांभवीं यो विजानीयात् स च ब्रह्म न चान्यथा ॥६२॥

अर्थ--जो मनुष्य या शांभवी मुद्राको जानता है वही मूर्तिमान् ब्रह्म है (परमेश्वर) है या बातकों महादेवजी तीन वार (त्रिवाचा) करकें सत्य कहते हैं यामें झूंठ नहीं है ॥ ६२ ॥

अथ पंचधारणमुद्राः ।

कथिता शांभवी मुद्रा शृणुष्व पंचधारणाम् ॥
धारणानि समासाद्य किं न सिद्ध्यति भूतले ॥६३॥

अर्थ--घेरंड महाराज कहते हैं कि शांभवीमुद्रा तौ कह आये अब हे चंडककापाली! तुम पंचधारणा मुद्रा सुनों यह

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पंचधारणामुद्राभी पांच प्रकारकी है जिन पाँचोंके प्राप्त होय पैं फिर भूतलमें कौन ऐसी बात है जो सिद्ध न हों अर्थ सब सिद्ध हो जाय हैं । इति ॥ ६३ ॥

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम् ॥
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ॥ ६४

अर्थ–ये पाँच प्रकारकी धारणा मुद्रा सिद्ध होनेपर इ नरदेहसों (विना मरे) जीतेही स्वर्गलोकमें आनों जानों सकै है और उस साधन करवेवालोंकी मनोगति (च जहां जाय) जाय सकै है तथा खेचरत्व (आकाशमें डवेकी शक्ति) प्राप्त हो जाती है पांच प्रकारकी धार पहिले कह आये हैं जैसे पार्थिवी १, आंभसी २, वाय ३, आग्नेयी ४, आकाशी ५ । इति ॥ ६४ ॥

अथ पार्थिवीधारणामुद्राविधिः ।

यत्तत्वं हरितानदेशरचितं भौमं लकारान्वितम् ॥
वेदास्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदिस्थायिनम् ॥ ६५
प्राणास्तत्र विनीय पंचघटिकां चितान्वितां धारये-
देषा शांभकरी भवेत् क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ॥ ६६

अर्थ··धरतीतत्वका वर्ण हरितालके समान पीला है या धर तीतलका बीज लकार है इसका आकार चौकोन बराबर है ब्र ह्मा याके देवता हैं योगके प्रभावसे उक्त सब बीजनके सहित हृदयमें ध्यानकर स्थापी करै उस समयमें प्राण वायुकों खेंच करकें कुंभकके द्वारा पांच घडी (दो घंटा) मन न डिगवे पावे

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

[stamp]

धारणा किये रहै इसी स्तंभकरी (श्वास ठहरायवेवारी) क्रियाकों पार्थिवीधारणा कहते हैं याको दूसरौ नाम (अधोधारणाभी है) याके धारण करवेसों धरती जीती जाय है अर्थात् धरती संबंधी कोईभी बाधा होइ तौ याके धारण करवेसों धारकको कछुभी विघ्न नहीं होता । इति ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

अथ पार्थिवीधारणामुद्राफलम् ।

पार्थिवीधारणामुद्रां यः करोति तु नित्यशः ॥
मृत्युंजयः स्वयं सोपि स सिद्धो विचरेद्भुवि ॥६७॥

अर्थ--जो नर रोज या पार्थिवी धारणामुद्राकों करता है वही स्वयं मृत्युंजय हो जाता है (अर्थात् कभी नहीं मरता) और वोही सिद्ध होके धरतीमें विचऱ्यो करै है ॥ ६७ ॥

अथ आंभसीधारणामुद्राविधिः ।

शंखेन्दुप्रतिमं च कुंदधवलं तत्वं किलालं शुभम् ॥
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना॥६ ॥
प्राणांस्तत्र विनीय पंचघटिकां चित्तान्वितो धारयेत् ॥
एषां दुःसहतापपापहरिणी स्यादांभसी धारणा ॥६९॥

अर्थ--जलतत्वका वर्ण शंख तथा चंद्रमाकी तुल्य विमल और कुंदपुष्पकी तरह उज्ज्वल है और शोभन है और याकी अमृत संज्ञा है और वकार याकौ बीज है और विष्णु याके देवता हैं योगके प्रभावसों हृदयके बीच उक्त जल तत्वके समुदायका ध्यान करै और उसी समय प्राणपवनकों खेंचके पंच घडी चित्त स्थिर करकें कुंभक प्राणायाममें स्थिर रहै या-

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हीकों आंभसीधारणामुद्रा कहते हैं यह मुद्रा बडे २ दुः
ताप (त्रय) तथा पापनिकों नाश करै है । इति ॥ ६८ ॥ ६

अथांभसीमुद्राफलम् ।

आंभसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित्
जले च गंभीरे घोरे मरणं तस्य नो भवेत् ॥ ७०

अर्थ- जो साधक या आंभसीमुद्राकों जानता है व
योगावित् (योगकौ साधवेवारौ) है वह यदि महाभयानक
गंभीर (गहरे) जलमेंभी पडकरभी मोंतकौ प्राप्त नहीं होइ
अर्थात् श्वाससाधनसों जलमें डूबभी नहीं सकै है ॥ ७०

इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः ॥
प्रकाशात्सिद्धिहानिः स्यात्सत्यं वच्मि च तत्वतः ।

अर्थ—यह मुद्रा बडी गुप्त है और यत्नसहित या
जाहिर न करनी याके जाहिर होवेसों सिद्धि (काम) की हा
होइ है यह मैं विचारकें सांच कहों हौं ॥ ७१ ॥

अथाग्नेयीमुद्राविधिः ।

यन्नाभिस्थितमिंद्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितम्
तत्वं तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदम् ॥
प्राणांस्तत्र विनीय पंचघटिकां चित्तान्वितं धारयेत्
एषा कालगभीरभीतिहारिणी वैश्वानरी धारणा ॥७

अर्थ--अग्नितत्वकौ स्थान नाभिस्थल है याकौ रंग इंद्र
(बीरबहुटी) की तरह लाल है रकार याकौ बीज है या
आकार त्रिकोण और रुद्र याके देवता हैं यह तत्व तेज

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूह है यह दीप्तमान (प्रकाशमान) और सिद्धिदायक है गबलसों या अग्नितत्वकौ उदय करायकें एकाग्रचित्त हो च घडीतक कुंभकप्राणायाम से प्राणवायु (हृदयमें रहवे-री पवन) कों धारण करै इसका नाम आग्नेयी धारणा मुद्रा याके अभ्याससों संसारका भय (डर) दूर हो जाय और अग्निके द्वारा साधककी मृत्यु (मौत) कभी नहीं सकेगी इति ॥ ७२ ॥

अथाग्नेयीधारणामुद्राफलम्।

प्रदीप्ते ज्वलिते वन्हौ पतितो यदि साधकः ॥
एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक्॥७३॥

अर्थ—यदि साधक बहुत जरती भई धकधकाती आगमें र पडै तौभी या आग्नेयीधारणामुद्राके प्रसादसे जीतो गो कभी मृत्युका भागी नहीं होगा ॥ ७३ ॥

अथ वायवीधारणामुद्राविधिः।

यद्भिन्नांजनपुंजसन्निभमिदं धूम्रावभासं परम्।
तत्त्वं सत्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ॥
प्राणांस्तत्र विनीय पंचघटिकां चित्तान्वितां धारये-।
देषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा७४

अर्थ—वायुतत्वकौ रंग घिस्यो भयो अंजन (सुर्मा) तथा एकी तरहँ है यकार याकौ बीज है और ईश्वर याकौ देवता यह तत्व सत्वगुणमय है योगके प्रभावसों या वायु (पवन) त्वकों उदित करायकें एकाग्रचित्त हो प्राणवायुकों खेंच-

Jangamwadi Math, VARANASI,
Acc. No.
CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कर कुंभकप्राणायामके द्वारा पांच घडीतक धारण करै नाम वायवी मुद्रा है यह मुद्रा साधन करवेवारेको कभी मृत्यु नहीं हो सक्ती और साधककी सामर्थ शमें जाने आनेकी हो जाती है ॥ ७४ ॥

अथ वायवीधारणामुद्राफलम् ।

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥
वायुना म्रियते नापि खे च गतिप्रदायिनी ॥

अर्थ--यह मुद्रा परम श्रेष्ठ है बुढापे और मौत नोंकों नाश करती है और साधक वायुके किसी प्र कोपसों नहीं मर सक्ता और यह मुद्रा आकाशग सामर्थकों देवेवारी है ॥ ७५ ॥

शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्य कस्यचित् ॥
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यात्सत्यं वच्मि च चंड ते॥

अर्थ--घेरंडमहाराज बोले कि हे चंडकापालि ! या मु विधि मूर्ख तथा जाके हृदयमें भक्ति न हो ऐसेनकों कभ बतानी चाहिये और हर काऊकों नहीं देना और श कनको देनेसो बतायवेवारेकों सिद्धि नहीं होइ यह मैंने साच कहा है ॥ ७६ ॥

अथ आकाशीधारणामुद्राविधिः ।

यत्सिंधौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासित
तत्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वित

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्राणांस्तत्र विनीय पंचघटिकां चित्तान्वितं धारये- ।
देषां मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणा ॥ ७७ ॥

अर्थ--आकाशतत्वका रंग समुद्रके विशुद्ध जलकी तरहँ काशित होता है सदाशिव याके देवता है हकार याकौ बीज इसी आकाशतत्वकों सदाशिवके सहित योगप्रभावसे देत एकाग्रमन होकर ध्यान करै और वाही समय प्रा-वायुको खेंचकर कुंभकप्राणायामसे पांच घडी धारण ये रहै इसीको आकाशीधारणा कहते हैं यह मुद्रा मोक्ष मुक्ति) के किवारनकों खोल देय है ॥ ७७ ॥

अथाकाशीधारणामुद्राफलम् ।

आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति सैव योगवित् ॥
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति ॥ ७८ ॥

अर्थ--जो मनुष्य आकाशीमुद्राको जानता है वही श्चय योगको जानवेवारौ है उसकी मृत्युभी किसीसे हीं होती है और प्रलय होनेपरभी ज्योंकौ त्यौं बन्यो है । इति ॥ ७८ ॥ इति पंच धारणामुद्राः समाप्ताः ।

अथ अश्विनीमुद्राविधिः ।

आकुंचयेद्गुदद्वारं प्रकाशयेत्पुनः पुनः ॥
सा भवेदश्विनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥ ७९ ॥

अर्थ--साधक फिर फिर अपने गुदाके मुखकों सकोडे र फैलावै याहीकौ नाम अश्विनीमुद्रा है यह मुद्रा क्ति (ताकत) को बढाययेवारौ है । इति ॥ ७९ ॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अथाश्विनीमुद्राफलम् ।

अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी ॥
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत् ॥ ८०॥

अर्थ—यह श्रेष्ठ मुद्रा अश्विनी गुदा (गांड) के रोगनकौ नाश करै है और बल और पुष्टि ताकों है और अकाल मरण (बेसमय मरवेकों) हर लेती है॥

अथ पाशिनीमुद्राविधिः ।

कंठे पृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवं दृढबंधने ॥
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी॥

अर्थ--दोनों पाँय कंठकी पीठमें डालकर जैसें (रस्सा) सों बाँध्यो जाय है वैसेंही दृढ (ताक बाँधै यही पाशनी मुद्रा कही जाय है यहभी शक्ति को जगावै है । इति ॥ ८१ ॥

अथ पाशिनीमुद्राफलम् ।

पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी ॥
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः

अर्थ--यह पाशिनी एक बडी भारी मुद्रा है य और पुष्टि (अंग बढाना) तथा सिद्धि चाहवेवारे लोग इसकौ जरूर बडे यत्नसों साधन करै ॥ ८२

अथ काकीमुद्राविधिः ।

काकचंचुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ॥
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थ--अपने मुखकों कौआकी चोंचके तरह बनायकें धीरे धीरे वायु पीवे इसका नाम काकीमुद्रा है यह सब तरहके रोगनकों दूर करै है ॥ ८३ ॥

काकीमुद्रा परा मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥
अस्याः प्रसादमात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत् ॥ ८४ ॥

अर्थ--यह काकीमुद्रा बहुत उत्तम है और सब तंत्रनिमें गुप्त है इसके प्रसार (प्रताप) सों मनुष्य काककी तरह रोगरहित हो जाय है । इति ॥ ८४ ॥

अथ मातंगिनीमुद्राविधिः ।

कंठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत् ॥
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्त्रेण चाहरेत् ॥ ८५ ॥
नासाभ्या रेचयेत्पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः ॥
मातंगिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ८६ ॥

अर्थ--कंठ (गरे) तक जलमें ठाडो होकर पहले नाकसों जलकों खेंचकें मुखसों निकार देवे ता पछिं मुखसों जल खेंच-कें पीछें नाकसों गेर देय नाकके दोनों छेदनसों वहाय देह, या प्रकार वारवार खेंचै और वेरवेर गेरै याकौ नाम मातंगिनी मुद्रा है यह मुद्रा बुढापे और मौतकों नाश करै है ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

अथ मातंगिनीमुद्राफलम् ।

विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः ॥
कुर्यान्मातंगिनीमुद्रां मातंग इव जायते ॥ ८७ ॥

अर्थ--साधक कहूं निर्जन वन (जहां कोई मनुष्य न हो)

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वहां एकाग्र चित्त कर बैठै या मातंगिनीमुद्राकों साधै
हाथीकी तरह बलवान् हो जाय है ॥ ८७ ॥

यत्र यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साधयेन्मुद्रिकां पराम् ॥ ८८॥

अर्थ—या मुद्राके साधन करवेवारे योगी जहां ज
स्थित (बैठा) रहेगा वहीं वहीं बहुत सुखका भागी हो
या कारण सब तरहसे जतन करकें या श्रेष्ठ मुद्राकौ सा
करनो चाहिये । इति ॥ ८८ ॥

अथ भुजंगिनीमुद्राविधिः ।

वक्रं किंचित्सुप्रसार्य्यं चानिलं गलया पिबेत् ॥
सा भवेद्भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ८९

अर्थ—मुखकों किंचित् थोरोसौ फैलायके गरेके द्वारा व
(पवन)पीया करै(गेरेमें पवनकौ धक्का जोरसे लगै)इसको भु
गिनी मुद्रा कहते हैं यह बुढापौ तथा मोंतकौ नाश करै है॥८

अथ भुजंगिनीमुद्राफलम् ।

यावच्च उदरे रोगमजीर्णादि विशेषतः ॥
तत्सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजंगिनी ॥ ९० ॥

अर्थ--जितनें उदर (पेट) में रोग हैं तथा अजीर्ण आ
दिकोंको विशेष करके यह भुजंगिनी मुद्रा शीघ्र दूर करै॥९

अथ सर्वमुद्राफलम् ।

इदं तु मुद्रापटलं कथितं चंडकापाले ॥
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम् ॥ ९१ ॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थ -घेरंडमुनि बोले कि हे चंडकापालि ! मैंने तेरे आगे यह मुद्रानकौ पटल कह्यौ यह सबरे सिद्ध जनोंको प्रिय (प्यारा)है और बुढापे तथा मोंतको नाश करै है। इति ॥९१॥

शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्य कस्यचित् ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि ॥ ९२ ॥

अर्थ–जो मूर्ख और भक्तिहीन अर्थात् जो भक्तिवान् न हो उसको ये मुद्रा कभी नहीं देनों चाहिये और जिस तिस-कोभी देनी उचित नहीं है इसको जतनसों गुप्त राखनी चा-हिये ये सब मुद्रा देवतानकोभी दुर्लभ हैं। इति ॥ ९२ ॥

ऋजवे शांतचित्ताय गुरुभक्तिपराय च ॥
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम् ॥ ९३ ॥

अर्थ–ये सब मुद्रा भोग (भोजनादि) मोक्ष दोनोंनको देवेवारी है यासों याकों विचार कर देनी चाहिये जैसे कि कोमल सुभाव हों शांतचित्त (चंचल मन न हो) गुरुके कह-वेमें विश्वास राखतातौ होइ और अच्छे कुल (वंश) कौ होय ऐसेनकौ देनी चाहिये ॥ ९३ ॥

मुद्राणां पटलं ह्येतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविवर्द्धनम् ॥ ९४ ॥

अर्थ–यह मुद्रापटल सबरे रोगनकौ नाश है और जो नित्य अभ्यास करते हैं उसकी जठराग्नि (पेटकी अग्नि) बढ जाय है। इति ॥ ९४ ॥

तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा ॥
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम्॥ ९५ ॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थ--जो नर मुद्रासाधन करैं हैं उनको न तौ बुढापै मौंत आदि न आग न पानी न पवन (वायु) कभी नहीं पोंचा सकें हैं । इति ॥ ९५ ॥

कासः श्वासः प्लीहकुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः ॥
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः ॥ ९६

अर्थ--मुद्रा साधन करवेसों कास श्वास प्लीह कोढ तरहके कफरोग नाशको प्राप्त होते हैं (अर्थात् सर्व जाते रहते हैं) इति ॥ ९६ ॥

बहुना किमिहोक्तेन सारं बच्मि च चंड ते ॥
नास्ति मुद्रासमं किंचित् सिद्धिदं क्षितिमंडलम्

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डचंडकापालिसंवादे घटस्थयोगप्रकरणे मुदाप्रयोगो नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

अर्थ--घेरंडमहाराज कहते हैं कि हे चंडकापालि ! तो बहुत कहनेसे क्या है कि किंतु सारबात मैं कहता हूं कि भूमंडल (धरतीके चारों तरफ) मुद्रासे परें कोईभी चीज सिद्धि देवेवारी नहीं है । इति ॥ ९७ ॥

इति श्रीघेरंडसंहितायां श्रीमधुपुरीयास्थदक्षगोत्रोद्भवचा वेंदीशर्म्म श्री ५ कल्याणचंद्रात्मजभिषग्राधाचंद्र-विरचिते व्रजभाषाभाष्यं नाम टीकायां घटस्थयोग-प्रकरणे मुद्राकथनो नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

CC.0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

त्यानंदपदच्छलेंदुविगलत्धारानिरालंबना॥एतस्याःपरतःपरात्परतरं निर्वाणशक्तेः
पदं शैवं शाश्वत ममलं नित्योदितं निःक्रियं॥तद्विष्णोःपदमित्युशंति
सुधियःकेचित्पदंब्रह्मणःकेचिद्धंसपदंनिरंजनपदंकेचिन्निरालंबनं॥आरोप्य
रोप्यशक्तिं कमलजनिलयादात्मनासाकमेवस्थानेह्यात्मा यसानेष्ववहितहृदय
श्चिंतयित्वाक्रमेण॥नीत्वानादावसानंखगकुलमहा पद्मांतरास्थां ध्यायेच्छ
तन्यरूपामभिलषितफलप्राप्तयेशक्तिमाद्यां॥साक्षाद्रसारसंगगनगतमहापद्म
सद्मस्थेहंसात्पीत्वा दिव्यामृतौघंपुनरपिचविशेन्मध्यदेशं कुलस्य॥चक्रेचक्रेक्र
मेणामृतरसविसरैस्तर्पयेद्देवतास्ता हाकिन्याद्यासमस्ताःकमलजदलगांतर्प
यित्कुंडलीतां॥अथषट्कर्माणिहठप्रदीपिकायां॥धौतीवस्तीचैतथानेतीत्राटकंचैवतथा॥
नौलिकंकपालभातीचैतानिषट्कर्माणिप्रचक्षते॥कर्मषट्कमिदंगोप्यंघटशोध
नकारकं॥विचित्रगुणसंधायिपूज्यतेयोगिपुंगवैः॥अथधौती॥चतुरंगुलविस्ता
रं सिक्तं वस्त्रंशनैर्ग्रसेत॥पुनःप्रत्याहरेदेतदभ्यासाद्धौतिकर्मवित्॥कासश्वासप्लीह
कुष्ठकफरोगाश्चविंश ॥धौतीकर्मप्रभावेनप्रयांत्येवनसंशयः॥अथवस्ती॥नाभिदघ्ने
त्य

स्त
जलेपायुन्यस्तनालोत्कटासनः॥आधाराकुंचनंकुर्यात्क्षालनंवस्तिकर्मवित॥गु
ल्मोदरंचापिवातंप्लीहपित्तकफोद्भवान्॥वस्तिकर्मप्रभावेनक्षीयंतेसकलामयाः॥
धात्विंद्रियांतःकरणप्रसादंदद्याच्चकांतिंदहनप्रदीप्तं॥अशेषदोषोपचयंनिहन्या
दभ्यस्यमानंजलवस्तिकर्म॥अथनेति॥सूत्रंवितस्तिसुस्निग्धंनासानालेप्रवेश
येत्॥मुखान्निर्गमयेत्साहिनेतिःसिद्धैर्निगद्यते॥कपालशोधनीचैवदिव्यदृष्टि
प्रदायिनी॥जत्रूर्ध्वजातरोगौघंनिहंत्याशुनेतिवित्॥अथत्राटकं॥निरीक्षेन्निश्च
लदृशासूक्ष्मलक्ष्यंसमाहितः॥अश्रुपातपर्यंतमाचार्यैस्त्राटकंस्मृतं॥यतत्त्राटकं
गोप्यंयथाहाटकपेटकं॥अथनौलिः॥अमंदावर्तवेगेनतुंदंसव्यापसव्ययोः॥नतां
सोभ्रामयदेषानौलीयोगेप्रचक्षते॥मंदाग्निसंदीपनपाचनाग्निसंधायिका
नंदकरीतथैव॥अशेषदोषामयशोषिणीचहठक्रियामौलिरियंहिनौली॥अथक
पालभाति॥भस्त्रवल्लोहकाराणांरेचपूरौससंभ्रमौ॥कपालभातीविख्याताकफ
दोषविशोषिणी॥अथमुद्राःपवनयोगसंग्रहे॥महामुद्रामहाबंधोमहावेधश्च
खेचरी॥शक्तिचालोमूलबंधउड्डियानंततःपरं॥जालंधरासिद्धोबंधोविपरीत

[Left margin: म, तीः, नः, धा, र्जो, स्त्र; right margin: २२ प्लीं, स्मृतं]

श्रुतीस्तथेति॥हठप्रदीपिकायां॥शैसैलवणधात्रीणांयथाधारोहिनायकः॥सर्वेषां
योगतंत्राणांतथाधारोहिकुंडली॥सुप्तागुरुप्रसादेनबोधितासुखदाभवेत्॥त
थासर्वाणिपद्मानिभिद्यंतेग्रंथयोपिच॥प्राणस्यशून्यपदवीतथाराजपथायते॥त
थाचित्तंनिरालंबंतथाकालस्यवंचनं॥तस्मात्सर्वप्रयत्नेनप्रबोधयितुमीश्वरीं॥ब्र
ह्मद्वारमुखेसुप्तांमुद्राभ्यासपरोभवेत्॥महामुद्रामहाबंधोमहावेधश्चखेचरी॥उ
ड्डियानंमूलबंधोबंधोजालंधराभिधः॥करणीविपरीताख्यातथावेशक्तिचालनं॥
एतत्त्रिमुद्रानवकंजरामरणवर्जितं॥आदिनाथोदितंदिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं॥वल्ल
भंसर्वसिद्धानांदुर्लभंमरुतामपि॥गोपनीयंप्रयत्नेनयथारत्नकरंडकं॥कस्यचि
न्नैववक्तव्यंकुलस्त्रीसुरतंयथा॥अथमहामुद्रा॥स्कंदपुराणे॥शोधनंनाडिजालस्य
घाटनंचंद्रसूर्ययोः॥रसानांशोधनंसम्यक्महामुद्राभिधीयते॥ईश्वरप्रोक्ते॥
महामुद्रांप्रवक्ष्यामितंत्रेस्मिन्ममवल्लभे॥यांप्राप्यसिद्धकाःसिद्धिंकपिलाद्याः
पुरागताः॥अपसव्येनसंपीड्यपादमूलेनसादरं॥गुरूपदेशतोयोनिंगुदमेढ्रांतरा
लगां॥सव्यंप्रसारितंपादंधृत्वापाणियुगेनतु॥नवद्वाराणिसंयम्यचिबुकंहृदयो

ना

२३

त्य
परि॥चित्तंचक्षुःपथेदत्वाप्रारभेद्वायुधारणं॥महामुद्राभवेन्नूएषासर्वतंत्रेषुगोपिता॥
वामांगेनसमभ्यस्यदक्षांगेनाभ्यसेत्पुनः॥प्राणायामंसमंकृत्वायोगीनियतमा
नसः॥मुद्रामेनांतुसंप्राप्यगुरुवक्त्रात्सुगोपितां॥अनेनविधिनायोगीमंदभाग्योपि
सिध्यति॥सर्वासामेवनाडीनांचालनंबिंदुधारणं॥जारणंतुकषायस्यपातकानांवि
नाशनं॥सर्वरोगोपशमनंजठराग्निविवर्धनं॥वपुषःकांतिकमलाजरामृत्युविनाशनं॥
वांछितार्थोबलंसौख्यमिंद्रियाणांचमारणं॥एतान्युक्तानिमोरूढस्ययोगिभिः॥
भवेदभ्यासतःचत्रयंनात्रकार्याविचारणात्॥गोपनीयाप्रयत्नेनमुद्रेयंसुरपूजिता॥यां
तुप्राप्यभवांभोधेःपारंगच्छंतियोगिनः॥मुद्राकामदुघाह्येषासाधकानांमयोदिता॥
गुप्ताचारेणकर्तव्यानदेयायस्यकस्यचित्॥इयंखलुमहामुद्रामहासिद्धैःप्रशस्यते॥
महाक्लेशायतादोषाजीर्यंतेमरणादयः॥महामुद्रांचतेनैववदंतिविबुधोत्तमा॥
इति॥हटप्रदीपिकायां॥यथादंडाहतःसर्पोदंडाकारःप्रजायते॥ऋज्वीभूतामहा
शक्तिःकुंडलीसहजाभवेत्॥पादमूलेनवामेनयोनींसंपीड्यदक्षिणं॥पादंप्रसारि
तंधृत्वाकराभ्यांपूरयन्मुखं॥कंठेबंधंसमारोप्यधारयेद्वायुमूर्ध्वतः॥तथासोमरण॥

न

र्ग

Dr. BHAU DAJI MEMORIAL

वस्थां हरते त्रिपराश्रयां॥ नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः॥ अपि भुक्तं विषं
घोरं पीयूषमिव जीर्य्यति॥ क्षयकुष्टगुदावर्तगुल्मप्लीहपुरोगमाः॥ तस्या दोषाः
क्षयं यांति महामुद्रां च योभ्यसेत्॥ महाबंधः ईश्वरप्रोक्तं॥ योस्यां प्रसारितः पादो
विन्यस्य तमुरूपरि॥ गुदयोनी समाकुंचनीत्वा पातानमूर्ध्वगं॥ योजयित्वा समानेन
कृत्वा प्राणमधोमुखं॥ बंधयेदूर्ध्वगत्यर्थमपानप्राणयोः सुधीः॥ कथितोयं महा
बंधः सिद्धिमार्गप्रदायकः॥ नाडीगलद्रसव्यूहमूर्ध्वं नयंति योगिनः॥ उभाभ्यां
साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः॥ मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत्॥ राज
दंतद्वयं तत्र जिव्हया तं भयेदिति॥ भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्ना मध्यसंगतः॥ अ
नेन वपुषः कांतिर्दृढबद्धोस्थिपंजरः॥ संपूर्णहृदयो योगी भवत्येतानि योगिनः॥ बं
धनानेन योगींद्रः साधयेत्सर्वमीप्सितं॥ अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेषु वै॥
हटप्रदीपिकायां॥ पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्॥ वामोरूपरि सं
स्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥ पूरयित्वा मुखे वायुं हृदये चुबुकं तथा॥ निःपीड्य योनि
मांकुंच मनो मध्ये नियोजयेत्॥ रेचयेच्छनैरेवं महाबंधोयमुच्यते॥ अयं खलु म

हाबंधो महासिद्धिप्रदायकः॥ कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः॥ अयं तु सर्व
नाडीनामूर्ध्वगमनरोधकः॥ त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः॥ अथ महावेधः॥
रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना॥ महामुद्रामहाबंधौ निःफलौ वेधवर्जितौ॥
महाबंधे स्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधा॥ वायुनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया॥
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः॥ पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति मध्य
गः॥ सोमसूर्याग्निसंधानं जायते चामृतायते॥ मृतावस्था समुत्पन्ना ततो मृत्युभयं
कुतः॥ महावेधोयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः॥ वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साध
कोत्तमैः॥ एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनं॥ वन्हिवृद्धिकरं चैव अणिमादिगुण
प्रदं॥ अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने॥ पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं स
दा॥ सम्यक्शिक्षावतामेव स्वल्पं प्रथमसाधने॥ ईश्वरप्रोक्तं॥ महाबंधस्थितो योगी कु
क्षिमापूर्य वायुना॥ स्फिचौ संताडयेद्विद्वान्वेधोयं कीर्तितो मया॥ वेधानानेन संवि
ध्य वायुना योगिपुंगवः॥ ग्रंथीन्सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मरंध्रं भिनत्त्यसौ॥ यः करोति स
दाभ्यासं महाबंधं सुगोपितं॥ वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामृत्युविनाशनं॥ चक्रमध्ये स्थि

तोदेवाः कंपंतेवायुताडनात्॥ कुंडल्यपिमहामयाकैलासांशविलीयते॥तस्माद्योगी
प्रयत्नेनकरोतित्रितयंक्रमात्॥एतत्रयंप्रयत्नेनचतुर्वारंकरोतियः॥षण्मासाभ्यं
तरेमृत्युंजयत्येवनसंशयः॥एतत्रयस्यमाहात्म्यंसिद्धोजानातिनेतरः॥यत्ज्ञा
त्वासिध्यः सर्वसिद्धाख्यांलेभिरेचिरं॥गोपनीयंप्रयत्नेनसाधनंसिद्धिमिछता॥
अन्यथाचनसिद्धिःस्यान्मुद्राणामेषनिर्णयइति॥अथखेचरीयोगबीजे॥वित
स्तिप्रमितंदीर्घंविस्तारंचतुरंगुलं॥मृदुलंधवलंप्रोक्तंचवेष्टनाधारलक्षणमिति॥
हठप्रदीपिकायां॥छेदनचालनदोहैर्जिह्वांसंवर्धयेत्तावत्॥यावदियंभ्रूमध्यंस्पृ
शतितदाखेचरी॥सिद्धिःकलांपराङ्मुखीकृत्वात्रिपथेपरिवर्तयेत्॥साभवेत्खे
चरीमुद्राव्योमचक्रंतदुच्यते॥रसनामूर्ध्वगंकृत्वाक्षणार्धमपियदितिष्ठति॥विषयै
र्मुच्यतेयोगीव्याधिमृत्युजरादिभिः॥खेचर्यामुद्रितंयेनविवरंलंबिकोर्ध्वतः॥तस्य
नक्षरतेबिंदुःकामिन्यालिंगितस्यच॥चलितोपियदाबिंदुःसंप्राप्तश्चहुताशनं॥
व्रजत्यूर्ध्वंहृतःछक्त्यानिरुद्धोयोनिमुद्रया॥संपातनविधौबिंदुःपांडुरोलोहित
स्तथा॥पांडुरंशुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यंमहारजः॥सिंदूरसंनिभंबीजंरविस्थानेस्थि

तंरजः॥शशिस्थानेस्थितोबिंदुस्तयोरैक्यंसुदुर्लभं॥बिंदुःशिवोरजःशक्तिःबिंदुरिंदु
रजोरविः॥यौतिबिंदोस्तदैकत्वंभवेदिव्यंवपुस्तदा॥शुक्लंचंद्रेणसंयुक्तंरजःसूर्ये
णसंवृतं॥तयोःसमरसैकत्वंयोजानातिसयोगवित्॥चित्तायत्तंनृणांशुक्लंशु
क्लायत्तंचजीवितं॥तस्माच्चित्तंचशुक्लंचरक्षणीयंप्रयत्नतः॥पातालाय्द्वियंतिशि
खरंमेरुमूलेतदस्तितत्॥तंचैतत्प्रवदंतिसुधीशंमुखंनिम्नगानां॥चंद्रात्सारःस्र
वणिवपुषस्तेनमृत्युर्नराणांबध्नीयात्त्सकरणमुदानान्यथाकायसिद्धिः॥इंध
नानियथावन्हिस्तैलवर्तीचदीपकः॥ऊर्ध्वपूर्णदेहिदेहंदेनमुंचति॥रसनांवेशयेदूर्ध्वंपि
बेत्तच्छ्राविताजलं गोमांसंभक्षयेन्नित्यंपिबेदमरवारुणीं॥कुलीनंतमहंमन्येइतरे
कुलघातकाः॥गोशब्देनोदिताजिह्वातत्प्रवेशोहितालुनि॥गोमांसभक्षणंतत्तु
महापातकनाशनं॥जिह्वाप्रवेशसंभूतवन्हिनोत्पादितःखलु॥चंद्रात्स्रवतियःसा
रःसस्यादमरवारुणी॥एकंसृष्टिमयंबीजमेकामुद्राचखेचरी॥एकोदेवोनिराल
बएकावस्थामनोन्मनी॥नासनंसिद्धसदृशंनकुंभःकेवलोपमः॥नखेचरीस
मामुद्रानानादसदृशोलयः॥मूर्ध्निषोडशपत्रगलितंप्राणादवाप्तंहठादूर्ध्वास्यार

सनानियम्यविवरेशक्तिंपरंचिंतयन् ॥ तत्कल्लोलकलाजलंचविमलंचयःपिबेन्निर्दो
षिःसमृणालकोमलतनुर्योगीचिरंजीवति ॥ चुंबंतीयदिलंबिकाग्रमनिशं
जिह्वारसस्यंदिनीसक्षाराकटुकाम्लदुग्धसदृशंमध्वाज्यतुल्यंयदा ॥ व्याधीनां
हरणंजरांतकरणंशास्त्रागमोद्धारणंतस्यास्यादिहसिद्धिरष्टगुणितासिद्धां
गनाकर्षणं । स्कंदपुराणे ॥ कपालकुहरेजिह्वाप्रविष्टाविपरीतगा ॥ भ्रुवोरंतर्गतादृ
ष्टिर्मुद्राभवतिखेचरी ॥ चित्तंचरतिखेयस्माज्जिह्वाचरतिखेगता ॥ तेनैषाखेच
रीमुद्रासिद्धैर्निषेविता ॥ यावद्बध्यानभोमुद्रातावद्बिंदुर्नगच्छति ॥ यावद्बिंदुः
स्थिरोदेहेतावत्कालभयंकुतः ॥ पीड्यतेनसरोगेणनवलिप्येतकर्मणा ॥ बाध्य
तेनसकालेनयोमुद्रांवेत्तिखेचरीं ॥ रसनातालुविवरेनिधायोर्ध्वमुखाममृतं ॥ पि
बन्निर्जरतांगच्छेत्षण्मासान्नात्रसंशयः ॥ ऊर्ध्वजिह्वःस्थिरोभूत्वासोमपानंकरो
तियः ॥ मासार्धेननसंदेहोमृत्युंजयतियोगवित् ॥ संपीड्यरसनाग्रेणराजदंतबि
लंमहत् ॥ ध्यात्वामृतमयींदेवींषण्मासेनकविर्भवेत् ॥ अमृतापूर्णदेहस्ययोगि
नोद्वित्रिवत्सरात् ॥ ऊर्ध्वंप्रवर्ततेरेतोह्यणिमादिगुणोदयं ॥ नित्यंसोमकलापू

र्णशरीरंयस्ययोगिनः ॥ तक्षकेनापिदष्टस्यविषंतंनचसर्पति ॥ तिदत्तात्रेयः ॥ अंतः
कपालविवरेजिह्वांव्यावृत्यचार्पयेत् ॥ भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषामुद्राभवतिखेचरी ॥ न
रोगोमरणंतस्यननिद्रानक्षुधातृषा ॥ नचमूर्छाभवेत्तस्ययोमुद्रांवेत्तिखेचरी मि
ति ॥ ईश्वरप्रोक्ते ॥ लंबिकोर्ध्वस्थितेगर्तेरसनांविपरीतगां ॥ संयोजयत्प्रयत्नेनसु
धाकूपविचक्षणः ॥ मुद्रैषाखेचरीप्रोक्तानामतुराघतः ॥ निरंतरकृताभ्यासःपीयु
षंप्रत्यहंपिबेत् ॥ तेनविग्रहसिद्धिःस्यान्मृत्युमातंगकेसरी ॥ मुद्रैषाखेचरीयस्य
सुस्थितास्यादतंद्रिता ॥ शतांब्रह्मगतेनापिक्षणार्धंमृत्युतेहिस ॥ इति ॥ अथमूल
बंधः ॥ पादमूलेनसंपीड्यगुदमासुयंत्रितं ॥ बलादपानमाकृष्यक्रमादूर्ध्वंसमभ्यसेत् ॥
कथितोयंमूलबंधोजरामरणनाशनः ॥ अपानप्राणयोरैक्यंक्षयोमूत्रपुरीषयोः ॥ बं
धेनानेनसुतरांयोनिमुद्राप्रसिद्ध्यति ॥ सिद्धायांयोनिमुद्रायांकिंनसिध्यतिभूत
ले ॥ बंधस्यास्यप्रसादेनगगनेविजितानिलः ॥ पद्मासनस्थितोयोगीभुवमुत्सृज्य
वर्तते ॥ सुगुप्तेनिर्जनेदेशेबंधमेनंसमभ्यसेत् ॥ संसारसागरंतर्तुंयदीच्छेद्योगिपुंगव ॥
हठप्रदीपिकायां ॥ पार्ष्णिभागेनसंपीड्ययोनिमाकुंचयेद्दृढं ॥ अपानमूर्ध्वमाकृष्य

नी
नाम
२६
ण
अने
शं

मूलबंधोयमुच्यते॥आधोगतंपानंचतदूर्ध्वंकुरुतेहठात्॥आकुंचनेनतंप्राहुर्मूल
बंधौंतुयोगिनः॥योगर्वज्ञिगुदंयाष्ण्यातुसंपीड्यवायुभांकुंचयेद्बलात्॥वारंवारंत
थाचोर्ध्वंसमायातिसमीरणः॥प्राणापानौनादबिंदूमूलबंधनचैकतां॥गत्वायो
गस्यसंसिध्विंगछतानात्रसंशयः॥अपानेचोर्ध्वगेजातेसंप्राप्तेवन्हिमंडले॥तथा
नलशिखादीर्घावर्धतेवायुनाहता॥ततोयातौवन्ह्यपानौप्राणमुष्णस्वरूपकौ॥
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तुज्वलनोदेहजस्तथा॥तेनकुंडलिनीसुप्तासततंसंप्रबोध्यते॥
दंडाहतभुजंगीवनिश्वितंऋजुतांव्रजेत्॥बिलंप्रविष्टेवतथाब्रह्मनाड्यंतरंव्रजेत्॥
तस्मान्नित्यंमूलबंधःकर्तव्यायोगिपुंगवैः॥उड्डीयानवीजेबंधोयेनसुषुम्नायांप्रा
णस्तुड्डियतेयतः तस्मादुड्डीयाणाख्यायंयोगिभिःसमुदाहृतः उड्डियानंकुरुतेय
स्मादविश्रांतंमहाखगः॥उड्डीयानंतदेवस्यान्मूलबंधाभिधीयते॥उदरेपश्चिम
मंतानंनाभेरूर्ध्वंसमाचरेत्॥उड्डीयानोह्यसौबंधोमृत्युमातंगकेसरी॥उड्डीया
नंतुसहजंगुरुणाकथितंयथा॥अभ्यसेत्तंद्रस्तुवृद्धोपितरुणायते॥नाभेरूर्ध्वम
धोचापितानंकूर्यात्प्रयत्नतः॥षण्मासान्मृत्युंजयत्येवनसंशयः॥ हठप्रदीपिका

MEMORIAL

यां॥सतिवज्रासनेपादौकराभ्यांधारयेद्दृढं॥गुल्फदेशसमीपेचकंदंतत्रपीडयेत्॥
पश्चिमंतानमुदरेकारयच्चुबुकंहृदि॥शनैःशनैर्यथाप्राणस्तुंदसिध्विंनगच्छति॥स
र्वेषामेवबंधानांह्युड्डियात्मकः॥उड्डियानेदृढेबंधेमूलस्वाभाविकोभवेत्॥इति॥
इश्वरप्रोक्ते॥नाभेरूर्ध्वमधश्चापितानंसरमाचरेत्॥उड्डियानोबंधएषसर्वदुःखौ
घनाशनः॥नित्यंयःकुरुतेयोगिचतुर्वारंदिनेदिने॥तस्यनाभेर्विशुधिःस्यात्येन
सिध्वोभवेन्मरुत्॥षण्मासमभ्यसन्योगीमृत्युंजयतितत्ववित्॥तस्योदराग्नि
र्ज्वलतिरसवृध्विश्चजायते॥अनेनसुतरांसिध्विर्विग्रहस्यप्रजायते॥रोगाणांसं
क्षयश्चापियोगिनोभवतिध्रुवं॥गुरोर्लब्ध्वाप्रयत्नेनसाधयेत्तुविचक्षणः॥निर्ज
नेसुस्थितेदेशेबंधंपरमदुर्लभमिति॥अथ जालंदरः॥बध्वागलशिराजालंहृदयेचु
बुकन्यसेत्॥बंधोजालंदरःप्रोक्तोदेवानामपिदुर्लभः॥नाभिस्थवन्हिर्जंतूनांस
हस्रकमलच्युतं॥पिबेत्पीयूषसेरेवतदर्थंबंधयोदिमं॥बंधनानेनपीयूषंस्व
यंपिबतिबुधिमान्॥अमरत्वंचसंप्राप्यमोदतेभुवनत्रये॥जालंधरोबंधएष
सिध्वानांसिध्विंदायकः॥अभ्यासःक्रियतेनित्यंयोगिनासिध्विमिछते॥तियोगबीजे॥

कंठमाकुंचहृदयेस्थापयेदृढमिछता॥बंधोजालंधरोख्योयममृताव्ययकारकइ
ति॥हठप्रदीपिकायां॥बध्नातिहिशिराजालमधोगामिनभोजलं॥ततोजालंधरो
बंधःकंठदुःखौघनाशनः॥जालंधरेकृतेबंधेकंठसंकोचलक्षणे॥नपीयूषंपतत्य
ग्नौनचवायुःप्रकुप्यति॥मध्यचक्रमिदंज्ञेयंषोडशाधारबंधनं॥बंधत्रयमिदंश्रे
ष्टंमहासिद्धनिषेवितं॥सर्वेषांहठतंत्राणांसाधनंयोगिनोविदुरिति॥अथविपरी
तकरणी॥हठयोगे॥नाभिदेशेस्थितोनित्यंभास्करोदहनात्मकः॥अमृतात्मा
स्थितोनित्यंतालुमध्येचचंद्रमाः॥वर्षत्यधोमुखश्चंद्रोग्रसत्यूर्ध्वमुखोरविः॥
करणंतच्चकर्तव्यंयेनसाप्राप्यतेसुधा॥विशुद्धेपरमेचक्रेरुध्वासोमकलामृतं॥
तन्मार्गेहृतंयातिवंचयित्वामुखंरवेः॥बध्वंसोमकलाजालंचविमलंकंठस्थतालू
र्ध्वंतोनासांतशिखरेणयातिगगनंद्वारंततःसर्वतः॥कूर्ध्वस्थोभविसंनितरामुत्ता
नपादःपिबेदेवंयःकुरुतेजितेंद्रियचयोनैवास्तितस्यक्षयः॥अमृतंकंदरंकृत्वाना
सांतंशिखरंक्रमात्॥स्वयमुच्चालितंयातिवंचयित्वामुखंरवेः॥हठप्रदीपिकायां॥
यत्किंचित्स्रवतेचंद्रादमृतंदिव्यरूपिच॥तत्सर्वंग्रसतेसूर्यस्तेनपिंडंविनाशिच॥

२८

हा

तत्रास्तिकरणंदिव्यंसूर्यस्यमुखबंनंतु॥शास्त्रार्थकोटिभिःकूर्ध्वनाभिरधःस्तालु
रूर्ध्वंभानुरधःशशी॥करणीविपरीताख्यासर्वव्याधिविनाशिनी॥दत्तात्रेयः॥ऊर्ध्व
भानुरधश्चंद्रस्तंयथाश्रुणुसांकृते॥अधःशिराश्चोर्ध्वपादःक्षणंस्यात्प्रथमेदि
ने॥क्षणाच्चकिंचिदधिकमभ्यसेच्चदिनेदिने॥वलिश्चपलितंचैवषण्मासार्धेनदृ
श्यते॥याममात्रंतुयोनित्यमभ्यसेत्सतुकालजित्॥नित्यमभ्यासयुक्तस्याजठरा
ग्निविवर्धनं॥अतोबहुलस्तस्यसंपाद्यःसांकृतेध्रुवं॥अल्पाहारोयदिभवेदग्निर्दहं
करोतिवै॥अथशक्तिचालनं॥ईश्वरप्रोक्ते॥अधारकमलेसुप्तांचालयेत्कुंडलींदृढां॥
अपानवायुनाकृष्यबलादाकुंचबुद्धिमान्॥शक्तिचालनमेवंहिप्रत्यहंयःसमभ्य
सेत्॥अग्निवृद्धिर्भवेत्तस्यरोगाणांचविनाशनं॥विहायनिद्रांभुजगीस्वयमूर्ध्वे
भवेत्खलु॥तस्मादभ्यसनंकार्यंयोगिनासिद्धिमिच्छता॥यःकरोतिसदाभ्यासंश
क्तिचालनमुत्तमं॥येनविग्रहसिद्धिःस्यादणिमादिगुणप्रदा॥गुरूपदेशविधि
नातस्यमृत्युभयंकुतः॥मुहूर्तद्वयपर्यंतंविधिनाशक्तिचालनं॥वैनैवज्रासनगतो
नित्यंमासार्धंतुसमभ्यसेत्॥वायुनाज्वलितोवन्हिःकुंडलींदहतेनिशं॥संतप्तासा

दीना

ग्निनाडीचंशक्तिः स्त्रैलोक्यमोहिनी॥ विशतेवक्त्रतुंडेनसुषुम्णावदनांतरे॥ वायु
नावह्निंसार्धंब्रह्मग्रंथींविभिद्यसा॥ विष्णुग्रंथिंततोभित्वारुद्रग्रंथौचतिष्ठति
ततस्तुकुंभकैर्गाढंपूरयित्वापुनःपुनः॥ भिद्यंतेग्रंथयोवंशेतप्तलोहशलाकया॥ त
थैवपृष्ठवंशस्याद्ग्रंथिभेदस्तुवायुना॥ पिपीलिकायथालग्नाकंडूस्तत्रप्रवर्त्तते॥ सु
षुम्णायांतथाभ्यासात्सततंवायुनाभवेत्॥ रुद्रग्रंथिंततोभित्वाततोयातिशिवालयं॥ [margin: येनकवाटं]
तुयथाकुंचिकयाहठात्॥ कुंडलिन्यातथायोगीमोक्षद्वारंविभेदयेत्॥ येनद्वारेण
गंतव्यंब्रह्मस्थानंनिरामयं॥ मुखेनाच्छाद्यतद्द्वारंप्रसुप्तापरमेश्वरी॥ कंदोर्ध्वेकुंड
लीशक्तिःसुप्तामोक्षायायोगिनां॥ बंधनायचमूढानांयस्तांवेत्तिसयोगवित्॥ अं
भोधिशैलद्वीपानांमाधारःशेषकुंडली॥ अशेषयोगतंत्राणामाधारःकुंडलीमता॥
कुटिलांगीकुंडलिनीभुजंगीशक्तिरीश्वरी॥ कुटिलारुंधतीदेवीशब्दाःपर्यायवाचकाः॥
कुंडलीकुटिलाकारासर्पवत्परिकीर्त्तिता॥ साशक्तिश्चालितायेनसमुक्तोनात्रसंशयः॥
गंगायमुनयोर्मध्येबालरंडीतपस्विनी॥ बलात्कारेणगृह्णीयात्तद्विष्णोःपरमंपदं॥
पुच्छंप्रगृह्यभुजगींसुप्तामुद्बोधयेदिमां॥ निद्रांविहायसाशक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठतेहठात्॥

परिस्थिताचैवफणावतीसाप्रातश्चसायंप्रहरार्धमात्रं॥ प्रपूर्य्यसौर्यात्परिधानयु
क्ताप्रगृह्यनित्यंपरिचालितासा॥ वज्रासनस्थितोयोगीचालयित्वातुकुंडलीं॥
सूर्यादनंतरोभस्त्राकुंडलीमाशुबोधयेत्॥ भानोराकुंचनंकुर्यात्कुंडलींचालयेत्
ततः॥ मृत्युवक्त्रगतस्यापितस्यमृत्युभयंकुतः॥ नासादक्षिणमार्गवाहिपवनो
प्राणोतिदीर्घीकृतश्चंद्राभःपरिपूरितामृततनुःप्राग्घंटिकायास्ततः॥ भिंदन्काल
विनालवह्निवशगान्सस्तूरंध्रनाडीगणान्स्वंकायंकुरुतेपुनर्नवतरंजीर्णोद्रुमःस्कं
धवत्॥ कुंडलींचालयित्वातुकुर्य्याद्भस्त्रांविशेषतः॥ एवमभ्यासतोनित्यंयमिनः
संकुतोयमः॥ तदाभ्यसेत्सूर्यभेदमुज्जायींचापिशीतलीं॥ एवमभ्यासतस्यस्ययमस्तु
यमिनःकुतः॥ मुहूर्तद्वयपर्यंतंनिर्भयंचालनादसौ॥ ब्रह्मचर्यरतस्यैवमिताशिनः॥
मंडलाद्दृश्यतेसिद्धिःकुंडलाभ्यासयोगिनः॥ द्विसप्ततिसहस्राणांनाडीनांमलशो
धनं॥ कुतःप्रक्षालनोपायःकुंडल्यभ्यासतोविना॥ अत्रशक्तिचालनेपद्मासनमे
वद्रष्टव्यं॥ नवज्रासनमनुभवविरोधात् तथाचग्रंथांतरे॥ कृत्वासंपुटितौकरौदृढ
तरंबद्ध्वाचपद्मासनंगाढंवक्षसिसंनिधायचिबुकंध्यानंचतच्चेतसि॥ वारंवा

रमपानमूर्ध्वमनिलंप्रोत्सारयेत्पूरयेत्प्राणंमुंचत्तिबोधमेतिनियतंरात्रिःप्रबोधो
दयात्॥इतिमुद्रानवप्रोक्ता।आदिनाथेनशंभुना॥एकैकातासुयमिनांमहासिद्धिप्र
दायिनी॥दत्तात्रेयः॥अभ्यासभेदतोभेदःफलंतुसममेवहि॥महामुद्रांसमभ्यस्य
महाबंधंततःपरं॥महावेधंचनियतंप्रकुर्याच्छक्तिचालनं॥आसनंसुदृढंबध्वामूल
बंधंविधायच॥उड्डियानंतथाबंधं ततोजालंधराभिधं॥अभ्यसेदितिसंबंधःहठ
प्रदीपिकायां॥मूलस्थानंसंकृष्यउड्डीयानंतुकारयेत्॥इडांचपिंगलांबाहयेत्पश्चि
मपथि॥अनेनैवविधानेनसेचयेत्पवनामलयं॥ततोनजायतेमृत्युर्जरारोगादिकं
तथेति॥योगबीजे॥चतुर्णामपिभेदानांकुंभकेसमुपस्थिते॥बंधत्रयमिदंकार्यं
वक्ष्यमाणंमयास्फुटं॥पूरकांतेतुकर्त्तव्योबंधोजालंधराभिधः॥कुंभकांतेरेचकादौ
कर्तव्यस्तुड्डियानकः॥अधस्तात्कुंचनेनाशुकंठसंकोचनेनच॥मध्येपश्चिमतान
नस्यात्प्राणोब्रह्मनाडिगः॥अपानमूर्ध्वमुत्थाप्यप्राणंकंठादधोनयन्॥योगीजरा
विमुक्तोस्मवयसाषोडशोभवेत्॥उड्डियानस्यसाहत्तिकत्वात्कुंभकदशायांकर्तव्यः॥
अत्रकेचित्॥यद्यपिकपिलादिस्थानामिवमहामुद्रादयःसंमतानयाज्ञवल्क्यादिमु

सि

मा

ति

DR. BHAU DAJI MEMORIAL
डाक्टर भाऊदाजी स्मारक

निनांतथापिसाधारणेनबोधव्याइत्याहुः तन्नतद्ग्रंथार्थावबोधविधुरत्वाद्धि॥नादोत्प
त्तिप्रकरणेअपानमूर्ध्वमाकृष्यप्रणवेनसमाहित इत्यत्रमूलबंधः कंठतएवोक्तः तद्
त्याचतत्संबंधिनाउड्डियानजालंधरावपिप्राप्तौ॥एकसमयावच्छेदेनत्रयाणामनु
ष्ठानस्यपूर्वंदर्शितत्वात्॥किंचजिह्वयावायुमानीयजिह्वामूलेनिरोधयेत्॥यःपिबेदमृ
तंविद्वान्सकलंभद्रमश्नुते॥इत्यत्रखेचरींविनामृतपानानुपपत्तेःस्पष्टत्वात्॥तस्मात्संति
याज्ञवल्क्यादीनामपिमुद्राअभिप्रेताः प्रतिपादनंतुग्रंथांतरप्रसिद्धत्वाद्विशेषाभावाच्चात्र
नकृतमित्यवधेयं॥इदानींपूर्वोक्तबाह्याभ्यंतरसाधनसंपन्नस्याधारमुद्राचक्रादिज्ञानव
तःमुमुक्षोःचित्तशुद्धिद्वारामोक्षसाधनीभूततत्वज्ञानोपयोगीनियोगांगानिनिरूप्यंते
तथाचपातंजलेयोगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षयेज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेरिति॥वक्ष्यमा
णानांयोगांगानामनुष्ठानादाविवेकख्यातेरशुद्धिक्षयेचित्तसत्वस्यप्रकाशावरणक्लेश
ख्यायाअशुद्धेर्निवृत्तौसत्यांभवतिज्ञानदीप्तिःसात्विकःपरिणामोविवेकख्यातिपर्यं
तःसतस्याविवेकख्यातेर्हेतुरित्यर्थः॥योगांगोद्देशपरंचसूत्रं॥यमनियमासनप्रा
णायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टावंगानीतियाज्ञवल्क्यः॥वक्ष्याम्यंगानि

DR. BHAU DAJI MEMORIAL
डाक्टर भाऊदाजी स्मारक

यो॰ चिं॰
८३

नाकफदोषविशोषिणी॥ अथमुद्राः पवनयोगसंग्रहे॥ महामुद्रामहाबंधोमहावेधश्चखेचरी॥ शक्ति
चालोमूलबंधश्चउड्डीयानंततःपरं॥ जालंधराभिधोबंधोविपरीतकृतिस्तथेति॥ हठप्रदीपिकायां॥
सशैलवनधात्रीणांयथाधारोहिनायकः॥ सर्वेषांयोगतंत्राणांतथाधारोहिकुंडली॥ सुप्तागुरु
प्रसादेनबोधितासुखदाभवेत्॥ तथासर्वाणिपद्मानिभिद्यंतेग्रंथयोपिच॥ प्राणस्यशून्यप
दवीतथाराजपथायते॥ तथाचित्तंनिरालंबंतथाकालस्यवंचनं॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेनप्रबो
धयितुमीश्वरी॥ ब्रह्मद्वारमुखेसुप्तांमुद्राभ्यासपरोभवेत्॥ महामुद्रामहाबंधोमहावेधश्च
बंधो खेचरी॥ उड्डीयानंमूलबंधोजालंधराभिधः॥ करणीविपरीताख्यातथावैशक्तिचालनं॥ एत
द्धिमुद्रानवकंजरामरणवर्जितं॥ आदिनाथोदितंदिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं॥ वल्लभंसर्वसिद्धीनां
दुर्लभंमरुतामपि॥ गोपनीयंप्रयत्नेनयथारत्नकरंडकं॥ कस्यचिन्नैववक्तव्यंकुलस्त्रीसुर

८३

तंयथा॥ अथमहामुद्रा॥ स्कंदपुराणे॥ शोधनंनाडिजालस्यचालनंचंद्रसूर्ययोः॥ रसानांशोष
णंसम्यक्महामुद्राभिधीयते॥ ईश्वरप्रोक्तेमहामुद्रांप्रवक्ष्यामितंत्रेस्मिन्मयदुर्लभां॥ यांप्रा
घा॰ प्यसिद्धकाः सिद्धिंकपिलाद्याःपुरागताः॥ अपसव्येनसंपीड्यपादमूलेनसादरं॥ गुरूपदेश
तोयोनिंगुदमेढ्रांतरालगां॥ सव्यंप्रसारितंपादंधृत्वापाणियुगेनतु॥ नवद्वाराणिसंयम्य
चिबुकंहृदयोपरि॥ चित्तंचक्षुःपथेदत्वाप्रारभेद्वायुधारणां॥ महामुद्राभवेत्येषा स
र्वतंत्रेषुगोपिता॥ वामांगेनसमभ्यस्यदक्षांगेनाभ्यसेत्पुनः॥ प्राणायामसमंकृत्वायोगीनिय
तमानसः॥ मुद्रामेतांतुसंप्राप्यगुरुवक्त्रात्सुगोपितां॥ अनेनविधिनायोगीमंदभाग्योपि
सि ध्यति॥ सर्वासामेवनाडीनांचालनंबिंदुधारणं॥ जारणंतुकषायस्यपातकानांविनाशनं॥
कुंडलीतापनंवायोर्ब्रह्मरंध्रप्रवेशनं॥ सर्वरोगोपशमनंजठराग्निविवर्द्धनं॥ वपुषःकांति

कमलाजरामृत्युविनाशनं॥ वांछितार्थो बलं सौख्यमिंद्रियाणां च मार्णं॥ एतान्युक्तानि सर्वाणि मा
र्गोरूढस्य योगिनः॥ मुद्राका मद्दुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता॥ गुप्ताचारेण कर्त्तव्या न देया यस्य क
स्यचित्॥ इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रशस्यते॥ महाक्लेशायनो दोषादीर्ण्यं ने मरणादयः॥ म
हामुद्रां च तेनैव वदंति विविधा नमा इति॥ हठप्रदीपिकायां॥ यथा दंडाहतः सर्पो दंडाकारः प्रजा
यते॥ ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहजा भवेत्॥ पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणं॥
पादं प्रसारितं धृत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखं॥ कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्द्ध्वतः॥ तथा सो मरणाव
स्थां हरते द्विपदाश्रयां॥ अदि पथ्यमपथ्यं चा रसाः सर्वेपि नीरसाः॥ अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जी
र्यति॥ क्षयकुष्टमुदावर्त्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः॥ तस्य रोगाः क्षयं यांति महामुद्रां च यो भ्यसेत्॥ अथ
महाबंधः ईश्वरप्रोक्ते॥ यो स्यां प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि॥ गुदयोनी समाकुंच्य नीत्वा चा

पान मूर्द्धगे॥ योजयित्वा समानेन कृत्वा चा सामधोमुखं॥ बंधयेदूर्द्धगत्यर्थमपानप्राणयोः सुधीः
॥ कथितोयं महाबंधः सिद्धिमार्गप्रदायकः॥ नाडीगलड्ड संचहमूर्द्धनिम्न तियोगिनः॥ उभाभ्यां सा
ध्या धयेत्त्वे[illegible]मेकैकं सुप्रयत्नतः॥ मतमन्यं तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत्॥ राजदंतद्वयं तत्र जिह्वयां
स्तंभयेदिति॥ भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामध्यसंगतः॥ अनेन वपुषः कीर्त्तिर्दृढबंधोस्थिपंजरः॥ सं
पूर्णहृदयो योगी भवंत्येतानि योगिनः॥ बंधेनानेन योगींद्रः साधयेत्सर्वमीप्सितं॥ अथापानप्राणयो
रैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेपु वे हठप्रदीपिकायां॥ पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्॥ वामो
रूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥ पूरयित्वा मुखे वायुं हृदये चिबुकं तथा॥ निःपीड्य योनि
माकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत्॥ रेचयेच्च शनैरेव महाबंधायमुच्यते॥ अयं खलु महाबंधो महासिद्धि
प्रदायकः॥ कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः॥ अयं तु सर्वनाडीनां मूर्द्धगमनरोधकः॥ त्रिवे

णीसंगमंधत्तेकेदारंप्रापयेन्मनः॥अयमहावेधः॥रूपलावण्यसंपन्नायथास्त्रीपुरुषंविना॥महा
मुद्रामहाबंधौनिःफलौवेधवर्जितौ॥महाबंधेस्थितोयोगीकृत्वापूरकमेकधा॥वायूनांगतिमावृत्य
निभृतंकंठमुद्रया॥समहस्तयुगोभूत्वास्फिजौसंताडयेच्छनैः॥पुटद्वयंसमाक्रम्यवायुःस्फुरतिमध्य
गः॥सोमसूर्याग्निसंधानंजायतेचामृतायते॥मृतावस्थासमुत्पन्नंततोमृत्युभयंकुतः॥महावेधोय
मभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः॥वलीपलितवेपघ्नःसेव्यतेसाधकोत्तमैः॥एतत्त्रयंमहागुह्यंजराम्
त्युविनाशनं॥वन्हिवृद्धिकरंचैव॥अणिमादिगुणप्रदं॥अष्टधाक्रियतेचैवयामेयामेदिनेदिने॥
पुण्यसंभारसंधायिपापौघभिदुरंसदा॥सम्यक्शिक्षावतामेवंस्वल्पंप्रथमसाधनं॥इश्वरप्रोक्ते॥
महाबंधस्थितोयोगीकुक्षिमापूर्यवायुना॥स्फिजौसंताडयेद्विद्वान्वेधोयंकीर्तितोमया॥वेधेनानेन
संविद्धंवायुनायोगिपुंगवः॥ग्रंथीन्सुषुम्णामार्गेणब्रह्मरंध्रंभिनत्यसौ॥यःकरोतिसदाभ्यासंमहावे

धंसुगोपितं॥वायुसिद्धिर्भवेत्तस्यजरामृत्युविनाशिनी॥चक्रमध्येस्थितादेवाःकंपंतेवायुताडना
त्॥कुंडल्यपिमहामायाकैलाशेसविलीयते॥तस्माद्योगीप्रयत्नेनकरोतित्रितयंक्रमात्॥
एतत्त्रयंप्रयत्नेनचतुर्वारंकरोतियः॥षण्मासाभ्यंतरेमृत्युंजयत्येवनसंशयः॥एतत्त्रयस्य
माहात्म्यंसिद्धोजानातिनेतरः॥यज्ज्ञात्वासिद्धकाःसर्वेसिद्धास्त्यांलेभिरे[illegible]चिरात्त[illegible]गोप
नीयंप्रयत्नेनसाधनंसिद्धिमिच्छता॥अन्यथाचनसिद्धिःस्यान्मुद्राणामेषनिर्णयः॥इतिग्रं
थखेचरी॥योगबीजे॥वितस्तिप्रमितंदीर्घंविस्तारंचतुरंगुलं॥मृदुलंधवलंप्रोक्तंवेष्टनांब
रलक्षणं॥हठप्रदीपिकायां॥छेदनचालनदोहैर्जिह्वांसंवर्धयेत्तावत्॥यावदियंभ्रूमध्यंस्प
शतिनदाखेचरीसिद्धिः॥कलांपराङ्मुखींकृत्वात्रिपथेपरिवर्तयेत्॥सामवेत्खेचरीमुद्रा
व्योमचक्रंतदुच्यते॥रसनामूर्ध्वगांकृत्वाक्षणार्धंयदितिष्ठति॥विषयैर्मुच्यतेयोगीव्याधि

द्वि

यो·चिं·

मृत्युजरादिभिः॥ खेचर्यामुद्रितंयेनविवरंलंबिकोर्द्धतः॥ नतस्यक्षरतेविंदुःकामिन्यालिंगितस्यच॥ च
लितोपियदाविंदुःसंप्राप्तश्चहुताशनं॥ व्रजत्यूर्द्धंहृतःशक्त्यानिरुद्धोयोनिमुद्रया॥ संपाननविधौ
विंदुःपांडुरोलोहितस्तथा॥ पांडुरंशुक्रमाख्यातंलोहिताख्यंमहारजः॥ सिंदूरसंनिभंवीजंरविस्था
नेस्थितंरजः॥ शशिस्थानेभवेद्बिंदुस्तयोरैक्यंसुदुर्लभं॥ विंदुःशि[illegible]वोरजःशक्तिर्विंदुरिंदूरजोरविः
यातिविंदोःसहैकत्वंभवेद्दिव्यंवपुस्तदा॥ शुक्रंचंद्रेणसंयुक्तंरजःसूर्येणसंयुतं॥ तयोःसमरसैक
त्वंयोजानातिसयोगवित्॥ चिताय[illegible]जंतूनांशुक्रंशुक्रायत्तंचजीवितं॥ तस्माद्विंदुंचशुक्रंचर
क्षणीयंप्रयत्नतः॥ तत्तालाद्वियतिशिरेमेरुमूलेतदस्तितत्वंचैतन्यवदंतिसुधीःसंमुखेनिम्न
गानां॥ चंद्रात्सारःस्रवतिसैनतेनमृत्युर्नराणांतद्बध्नीयात्सुकरणमदानान्यथाकायसिद्धिः
धनाने॥ यथावह्निस्तैलनष्टोवदीपकः॥ निःसंसोमकलापूर्णदेहीदेहंनमुंचति॥ रसनावेशयेदूर्द्ध

८५

तं

८५

DR. BHAU DAJI MEMORIAL

पिबेनछादितंजलं॥ गोमांसंभक्षयेन्नित्यंपिबेदमरवारुणीं॥ कुलीनंतमहंमन्येनेतराःकुलघातका
न॥ गोशब्देनोदिताजिह्वातत्प्रवेशोहितालुनि॥ गोमांसभक्षणंतत्तुमहापातकनाशनं॥ जिह्वाप्र
वेशसंभूतवह्निनोत्पादितःखलुचंद्रात्स्रवतियःसारःसास्यादमरवारुणी॥ एकंसृष्टिमयंबीजमे
कामुद्राचखेचरी॥ एकोदेवोनिरालंबएकावस्थामनोन्मनी॥ नासनंसिद्धसदृशंनकुंभःके
वलोपमः॥ नखेचरीसमामुद्राननादसदृशोलयः॥ ऊर्द्धःषोडशपत्रपद्मगलितंप्राणादवाप्तंहठा
दूर्द्धास्योरसनांनिपस्यविवरेशक्तिंपरांचिंतयन्॥ तत्कल्लोलकलानलंचविमलंजिह्वाकु
लंयःपिबेन्निर्दोषःसमृणालकोमलतनुर्योगीचिरंजीवति॥ चुंवंतीयदिलंबिकाग्रमनिशं
जिह्वारसस्यंदिनीसक्षाराकटुकाम्लदुग्धसदृशंमध्वाज्यतुल्यंप्रदाव्याधीनांहरणंजरांत
करणंशास्त्रागमोच्चारणंतस्यस्यादिहसिद्धिरष्टगुणितासिद्धांगनाकर्षणं॥ स्कंदपुराणे॥ कपा

लकुहरेजिह्वाप्रविष्टाविपरीतगाभ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्राभवतिखेचरी॥चित्तंचरतिखेय
स्माज्जिह्वाचरतिखेगता॥तेनैषाखेचरीनाममुद्रासिद्धैर्निषेविता॥यावद्बद्धानभोमुद्रा॥
तावद्बिंदुर्नगच्छति॥यावद्बिंदुःस्थिरोदेहेतावत्कालभयंकुतः॥पीयते नसरोगेणनचलि
प्यतकर्मणा॥बाध्यतेनसकालेनयोमुद्रांवेत्तिखेचरी॥रसनांतालुविवरे निधायोर्द्ध
मुखामृतं॥पिबेन्निर्जरतांगच्छेत्षण्मासान्नात्रसंशयः॥उर्द्ध्वजिह्वःस्थिरोभूत्वासोमपानं
करोतियः॥मासार्द्धेननसंदेहोमृत्युंजयतियोगवित्॥संपीड्यरसनाग्रेणराजदंतबिलंमह
त्॥ध्यात्वामृतमयींदेवीषण्मासेनकविर्भवेत्॥अमृतापूर्णदेहस्ययोगिनोद्वित्रिवत्सरा
त्॥ऊर्द्ध्वंप्रवर्त्ततेरेतोह्यणिमादिगुणोदयं॥नित्यंसोमकलापूर्णंशरीरंयस्ययोगिनः॥तक्ष
केणापिदष्टस्यविषंतंनचसर्पतीति॥दत्तात्रेयः॥अंतःकपालविवरेजिह्वांव्यावृत्यचार्पयेत्

भ्रूमध्येदृष्टिरप्येषामुद्राभवतिखेचरी।नरोगोमरणंतस्यननिद्रानक्षुधातृषानचमूर्छाभवेत्तस्य
योमुद्रांवेत्तिखेचरीमिति॥ईश्वरउवाच॥लंबिकोर्द्ध्वस्थितेगर्त्तेरसनांविपरीतगां॥संयोजयेत्प्र
यत्नेनसुधाकूपेविचक्षणः॥मुद्रैषाखेचरीप्रोक्ताभक्तानामनुरोधतः॥निरंतरंकृताभ्यासःपी
यूषंप्रत्यहंपिबेत्॥तेनविग्रहसिद्धिःस्यान्मृत्युमातंगकेसरी॥मुद्रैषाखेचरीयस्यसुस्थिरास्यादनं
दिता॥शत[illegible]ब्रह्मगतेनापिक्षणार्द्धमन्यतेहिसे[illegible]ति॥अथमूलबंधः॥पादमूलेनसंयोज्यगुदमा ज्य
२ गेसुयंत्रितं॥बलादपानमाकृष्यक्रमादूर्द्ध्वंसमभ्यसेत्॥कथितोयंमूलबंधोजरामरणनाशनः॥
२ अपानप्राणयोरैक्यंक्षयोमूत्रपुरीषयोः॥बंधेनानेनसुतरांयोनिमुद्राप्रसिद्ध्यति॥सिद्धायांयो
निमुद्रायांकिंनसिद्ध्यतिभूतले॥बंधस्यास्यप्रसादेनगगनेविजितानिलः॥पद्मासनस्थितोयो
गीभुवमुत्सृज्यवर्त्तते॥सुगुप्ते[illegible]निर्जनेदेशेबंधमेनंसमभ्यसेत्॥संसारसागरंतर्तुंयदीच्छेद्यो

गिपुंगवइति॥हठप्रदीपिकायां॥पार्ष्णिभागेनसंपीड्ययोनिमाकुंचयेद्गुदं॥अपानमूर्द्ध्वमाकृष्यमूल
वंधोयमुच्यते॥अधोगतमपानंचतदूर्द्ध्वंकुरुतेहठात्॥आकुंचनेनतंप्राहुर्मूलवंधंतुयोगिनः॥
योगवीजि॥गुदंपार्ष्ण्यातुसंपीड्यवायुमाकुंचयेद्बलात्॥वारंवारंतथाचोर्द्ध्वंसमायातिसमीरणः॥
प्राणापानौनादविंदूमूलवंधेनचैकतां॥गत्वायोगस्यसंसिद्धिंगछतेनात्रसंशयः॥अपानेचो
पा र्द्ध्वगेजातेसंप्राप्तेवन्हिमंडले॥तथानलशिखादीर्घावर्द्धतेवायुनाहता॥ततोयातौवन्ह्यपानौप्रा तौ
णमुक्तस्वरूपकौ॥तेनात्यंतप्रदीप्तस्तुज्वलनोदेहजस्तथा॥तेनकुंडलिनीसुप्तासंतप्ताप्रतिबो
ध्यते॥दंडाहतभुजंगीवनिश्वस्यऋजुतांव्रजेत्॥विलंप्रविष्टेवतयाब्रह्मनाड्यंतरेव्रजेत्॥त
स्मान्नित्यंमूलवंधःकर्तव्योयोगिपुंगवैः॥अथोड्डियानवंधः॥वद्धोयेनसुषुम्णायांप्राणस्तू
नू डीयतेयतः॥तस्मादुड्डीयानाख्योयंयोगिभिःसमुदाहृतः॥उड्डीनंकुरुतेयस्मादविश्रांतंमहा

खगः॥उड्डीयानंतदेवस्यात्तत्रवंधोभिधीयते॥उदरेपश्चिमंतानंनाभेरूर्द्ध्वंसमाचरेत्॥उ
ड्डियानोह्यसौवंधोमृत्युमातंगकेसरी॥उड्डियानंतुसहजंगुरुणाकथितंयथा॥अभ्यसे
त्सततंयस्तुवृद्धोपितरुणायते॥नाभेरूर्द्ध्वमधश्चापितानंकुर्यात्प्रयत्नतः॥षण्मासमभ्यसे
न्मृत्युंजयत्येवनसंशयः॥हठप्रदीपिकायां॥सतिवज्रासनेपादौकराभ्यांधारयेद्दृढं॥गुल्फ
देशसमीपेचतुकंदंतत्रप्रपीडयेत्॥पश्चिमंताणमुदरेधारयेद्धृदयेगले॥शनैःशनैर्यथाप्रा
व णस्तुंदमुद्धिंनिगछति॥सर्वेषामेववंधानामुत्तमोह्युड्डियानकः॥उड्डियानेदृढेवद्धेमुक्तिः
स्वाभाविकीभवेत्इति॥ईश्वरप्रोक्ते॥नाभेरूर्द्ध्वमधश्चापितानंनिर्भरमभ्यसेत्॥उड्डियानो
वंधएषकंठदुःखौघनाशनः॥नित्यंयःकुरुतेयोगीचतुर्वारंदिनेदिने।तेननाभेर्विशुद्धिः
स्याद्येनसिद्धोभवेन्मरुत्षण्मासमभ्यसन्योगीमृत्युंजयतितत्त्ववित्॥तस्योदराग्निर्ज्वल

निरस्तद्वैश्च जायते॥ अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजापते॥ रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो
भवति ध्रुवं॥ गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः॥ निर्जने सुस्थिते देशे बंधं परमदुर्लभ
मिति॥ अथ जालंधरः॥ बध्वा गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्॥ बंधो जालंधरः प्रोक्तो देवाना
मपि दुर्लभः॥ नाभिस्थ वन्हिर्जंतूनां सहस्रकमलच्युतं॥ पिबेत्पीयूषं रसवत्त दर्थं बंधयेदिमं॥
बंधेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान्॥ अमरत्वं च संप्राप्य मोदते भुवनत्रये॥ जालंधरो बं
धः प्रसिद्धानां सिद्धिदायकः॥ अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिनां सिद्धिमिच्छतेति॥ योगबी

२ जे॥ कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया॥ बंधो जालंधराख्योयममृताव्ययकारक इति॥ हठ
प्रदीपिकायां॥ बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलं॥ ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः॥ जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे॥ न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः कुप्यति॥ मध्यचक्र

मिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनं॥ बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैर्निषेवितं॥ सर्वेषां हठतंत्राणां सा
धनं योगिनो विदुरिति॥ अथ विपरीतकरणी॥ हठयोगेन नाभिदेशस्थितो नित्यं भास्करो दहना
त्मकः॥ अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमध्ये च चंद्रमाः॥ वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः॥ क
रणं तत्र कर्तव्यं येन संप्राप्यते सुधा॥ विशुद्धे परमे चक्रे बुद्धा सोमकलामृतं॥ तन्मार्गेण क
तं याति वंचयित्वा मुखं रवेः॥ अमृतं कंदरे कृत्वा नासांते शिखरे क्रमात्॥ स्वयमुत्पालितं पाति
वंचयित्वा मुखं रवेः॥ वह्निं सोमकलाजलं च विमलं कंठस्थलादूर्ध्वतो नासांते शिखरे प्रयाति
गगनद्वारं ततः सर्वतः॥ ऊर्ध्वस्थो भुवि संनित्यनितरामृतान पारः पिबेद्दिव्यं तु ननु जितेंद्रियश्च
योनिवास्ति तस्य क्षयः॥ हठप्रदीपिकायां॥ यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपि च॥ तत्सर्वं ग्रस
ते सूर्यस्तेन पिंडो विनाशि च॥ तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनं॥ गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु

शास्त्रार्थकोटिभिः॥ ऊर्द्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्द्ध्वभानुरधःशशी॥ करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशि
नी॥ एतात्रेयः॥ ऊर्द्ध्वभानुरधश्चंद्रस्तद्यथा स्यात्तथा कृते अधःशिरस्कोर्द्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने॥
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने॥ वलिश्च पलितं चैव षण्मासार्द्धेन दृश्यते॥ याममात्रं तु यो
नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्॥ नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्द्धनं॥ आहारो बहुलस्तस्य
संपाद्यः सांकृते ध्रुवं॥ अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दाहं करोति वै॥ अथ शक्तिचालनं ईश्वर प्रोक्ते
॥ आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुंडलीं दृढां॥ अपानवायुना कृष्य बलात्तां कुंचयेद्बुद्धिमान्॥ श
क्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समभ्यसेत् अग्निवृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनं॥ विहाय निद्रां
भुजगी प्रयमूर्द्ध्वं भवेत्खलु॥ तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिनासिद्धिमिच्छता॥ यः करोति सदाभ्यासं श
क्तिचालनमुत्तमं॥ येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा॥ गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभ

यं कुतः॥ मुहूर्तद्वयपर्यंतं विधिना शक्तिचालनं वज्रासनगतो नित्यं मासार्द्धं तु समभ्यसेत्॥ वा
युना ज्वलितो वन्हिः कुंडली हंति नि[illegible]शं॥ संतप्ता साग्निना जीवशक्तिस्त्रैलोक्यमोहिनी॥ विश
ते वज्रतुंडे न सुषुम्णावदनांतरे॥ वायुना वह्निना सार्द्धं ब्रह्म[illegible]ग्रंथिं विभिद्यसा॥ विष्णुग्रंथिं ततो भि
त्वा रुद्रग्रंथौ च तिष्ठति॥ ततस्तु कुंभकैर्गाढं पूरयित्वा पुनः पुनः भिद्यते ग्रंथयो वंशे तप्तलोहश
लाकया॥ तथैव पृष्ठवंशस्य ग्रंथिभेदस्तु वायुना पीपिलिका यथा लग्ना कंडूस्तत्र प्रवर्तते॥
सुषुम्णायां तथाभ्यासात्सततं वायुना भवेत्॥ रुद्रग्रंथिं ततो भित्वा ततो याति शिवात्मकमिति
हठयोग॥ उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्॥ कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्
॥ येन द्वारेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयं॥ मुखेनाछाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥ कंदोर्द्ध्वे कुंड
लीशक्तिर्बुद्धमोक्षाय योगिनां॥ बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥ अंभोधि शीलदीपाना

यो॰ चिं॰ ता ९०

माधारः शेषकुंडली॥ अशेषयोगतंत्राणामाधारः कुंडली तथा॥ कुंडल्यंगी कुटलिनी भुजंगी शक्ति
रीश्वरी॥ कुटि[illegible]रुंधती देवीशब्दाः पर्यायवाचकाः॥ कुंटिलीकुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता॥
॥ सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥ गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीं॥ बलात्का
रेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदं॥ पुच्छं प्रगृह्य भुजंगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च तां॥ निद्रां विहाय सा शक्ती
ऊर्द्धमुत्तिष्ठते हठात्॥ परिस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्द्धमात्रं॥ प्रपूर्य सूर्यात्प
रिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया॥ वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुंडलीं॥ सूर्या त्वा
दनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत्॥ भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः॥ मृत्युवक्त्रगतस्या
पि तस्य मृत्युभयं कुतः॥ नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतः सांद्रांभःपरिपूरि
तामृततनुर्मोग्वेष्टिकायास्ततः॥ भिंदंन्कालविशालवह्निवशगान्भ्रूरंध्रनाडीगणान्स्तंकीयकु

९०

रुते पुनर्नवतरं जीर्णद्रुमस्कंधवत्॥ कुंडलीं चालयित्वा तु कुर्याद्भस्त्रां विशेषतः॥ एवमभ्यासतो
नित्यं यमिनः शंकुते यमः॥ तदाभ्यसेत्सूर्यभेदमुज्जायीं चापि शीतलीं॥ एवमभ्यासयुक्तस्य
यमस्त्रस्य यमिनः कुतः॥ मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनाद्दिवे॥ ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमि
ताशिनः॥ मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः॥ द्विसप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशो
धनं॥ कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यासतो विना॥ अत्र शक्तिचालने यमासनमेवद्रष्टव्यं न
वज्रासनमनुभवविरोधात्तथा च ग्रंथांतरे॥ कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा च पद्मासनं गाढं व
क्षसि संनिधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि॥ वारंवारमपानमूर्द्धमनिलं प्रोत्सारयेत्पूरितं प्राणं मुंच
ति बोधमेति नियतं शक्तिः प्रबोधोदयात्॥ इति मुद्रानवकोक्ता आदिनाथेन शंभुना॥ एकैकात्रा
सु यमिनां महासिद्धिप्रदापि नीरत्रात्रेयः॥ अभ्यासभेदतो भेदः फलानु सममेव हि॥ अभ्या

सक्रमश्चोक्तः पवनयोगसंग्रहे॥ महामुद्रां समभ्यस्य महाबंधं ततः परं॥ महावेधश्च नियतं प्रकुर्या
च्छक्तिचालनं॥ आसनं सुदृढं बध्वा मूलबंधं विधाय च॥ उड्डीयानं तथा बंधं ततो जालंधराभि
धं॥ अभ्यासे दिति संबंधः हठप्रदीपिकायां॥ मूलस्थानं समाकृष्य उड्डियानं तु कारयेत्॥ इडां च
पिंगलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि॥ अनेनैव विधानेन सेव्यं से सबवनालयं॥ ततो न जायते मृत्युर्ज
रारोगादिकं तथेति॥ योगबीजे॥ चतुर्णामपि भेदानां कुंभके समुपस्थिते॥ बंधत्रयमिदं कार्यं व
क्ष्यमाणं मया स्फुटं॥ पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः॥ कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तू ड्डिया
नकः॥ अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचनेन च॥ मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयन्॥ योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्दवया भवेत्॥ उड्डी
यानस्य साहजिकत्वात्कुंभकदशायां कर्तव्यः॥ अत्र केचित्याज्ञवल्क्यकपिलादिसिद्धानामेव म

हामुद्रादयः संमतानयाज्ञवल्क्यादिमुनीनां तथापि साधारण्येन बोद्धव्या इत्याहुः तत्तुन
हृदयार्थविबोधविधुरत्वात्॥ तथाहि॥ नादोत्पत्तिप्रकरणे॥ अपानमूर्ध्वमाकृष्य प्रणवेन
समाहितः इत्यत्र मूलबंधः॥ कंठमुद्रा च त्रयोक्तः तदुक्ता च तत्संबंधिना उड्डियानजालंधरावपि
प्राप्तौ॥ एकस्मिन्नयाव छेदेन त्रयाणामनुष्ठानस्य पूर्वं दर्शितत्वात्॥ किंच जिह्वया वायुमानी
य जिह्वामूले निरोधयेत्॥ यः पिबेदमृतं विद्वान्सकलं भद्रमश्नुते इत्यत्र खेचरीं विनानुपप
त्तेः स्पष्टत्वात्॥ तस्मात्संति याज्ञवल्क्यादीनामपि मुद्रा अभिप्रेताः॥ प्रतिपादनं तु ग्रंथांत
रे प्रसिद्धत्वाद्विशेषेण न कृतमत्रेत्यवधेयं॥ इदानीं पूर्वोक्तबाह्याभ्यंतरसाधनसंपन्नस्या
धारमुद्रा च मुद्राचक्रादिज्ञानवतो मुमुक्षोश्चित्तशुद्धिद्वारा मोक्षसाधनीभूततत्वज्ञानोपयोगी॥
नियमांगानि निरूप्यंते॥ तथा च पातंजले॥ योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवे

याणेनराः दिशंतंपरमंपुराणपुरुषंवेदांतवेद्यंकविंविश्वाद्यंप्रविशंतिसततमहानंदैककंदंप्रभुं सहस्रारपद्मंविसर्गादधस्तादधाव
क्रमारक्तकिंजल्कपुंजं कुरंगेनहीनमिश्रंगस्वरंतः स्फुरद्रश्मिजालःसुधांशुःसमास्ते तदंतर्हतिंत्रस्तरंप्रसुसस्मयराधारभ
तंसुषुम्णाख्यनाड्याः तदेतत्पदंदिव्यमत्यंतगुह्यंसुरैरप्यगम्यंसुगोप्यप्रयत्नात् एतत्कैलाससंज्ञंपरमकुलपदंबिंदुरूपीयत्रा
स्तेदेवदेवोभवभयतिमिरध्वंसहंसोमहेशः भक्तानामादिभक्तोरसविवशसितांसंततामंतरंगेसौधींधारांविमुंचन्नभिम
तफलदोयोगिनांयोगगम्यः स्थानस्यास्यज्ञानमात्रेणनृणांसंसारेऽस्मिन्संभवोनैवभूयः भूतग्रामंसंततभ्यासयोगात्क
र्तुंहर्तुंस्याच्चशक्तिःसमग्रा स्थानेपरेहंसनिवासभूतेकैलासनाम्नीहनिधायचेतः योगीगतव्याधिरधःकृताधिवाधश्चिरंजी
वतिमृत्युमुक्तः स्थानेऽस्मिन्क्षयवृद्धिभावरहितानित्योदिताधोमुखीबालादित्यनिभप्रभाशशभृतःसात्वेकलाषोडशी
बालाग्रस्यविखंडितस्यशतधाभागेनचैकेनयासूक्ष्मत्वात्सदृशीनिरंतरगलत्पीयूषधाराधरा एतस्याःपरतःस्थिताभगव
तीभक्ताधिदेवाधिपानिर्वाणाख्यकलार्द्धचंद्रकुटिलासाषोडशांतर्गता बालाग्रस्यसहस्रधाविदलितस्यैकेनभागेनयासू
सूक्ष्मत्वात्सदृशीत्रिलोकजननीयाद्वादशार्कप्रभा निर्वाणाख्यकलापदोपरिगतानिर्वाणशक्तिःपराकोट्यादित्यसम
प्रभातिमहतावालाग्रभागस्यया कोट्यंशेनसमासमस्तजननीनित्योदितानिर्मलानित्यानंदपदप्रछेदुविगलद्धारा
निरालंबना एतस्याःपरतःपरात्परतरांनिर्वाणशक्तेःपदंशैवंशाश्वतमप्रमेयममलंनित्योदितोदितंनिःक्रियं तद्वि
ष्णोःपदमित्युशंतिसुधियःकेचित्पदंब्रह्मणः केचिद्धंसपदंनिरंजनपदंकेचिन्निरालंवनं आरोप्यारोप्यशक्तिंकमलनि
लयादात्मनासाकमेवस्थानेस्थानेस्वशक्त्यावसानेष्ववहितहृदयःषट्सुतांतयित्वाक्रमेण नीत्वानादावसानंखगमकुलमहा
पद्मसद्मांतरस्थांध्यायेच्चेतमरूपामभिलषितफलप्राप्तयेशक्तिमाद्यां साक्षात्प्राशारसाभंगगनगतमहापद्मसद्म

त्र

हंसात्पीत्वादिव्यामृतौघंपुनरपिचविशेन्मध्यदेशंकुलस्य चक्रेचक्रेक्रमेणामृतरसविसरैस्तर्पयेद्देवतास्ताडाकिन्याद्याःसमस्ताः
कमलजदलगांतर्प्ययेत्कुंडलीतां अथषट्कर्माणि हठप्रदीपिकायां धौतीवस्तीतथानेतीत्राटकंनौलिकंतथा कपालभा
तीचैतानिषट्कर्माणिप्रचक्षते कर्मषट्कमिदंगोप्यंघटशोधनकारकं विचित्रगुणसंधायिपूज्यतेयोगिपुंगवैः अथधौती
चतुरंगुलविस्तारंसिक्तंवस्त्रंशनैर्ग्रसेत् पुनःप्रत्याहरेदेतदभ्यासाद्धौतीकर्मवित् कासश्वासप्लीहकुष्ठंकफरोगाश्चविंश
तिः धौतीकर्मप्रभावेनप्रयांत्येवनसंशयः अथवस्ती नाभिदघ्नजलेपायुन्यस्तनालोत्कटासनः आधाराकुंचनंकु
र्यात्क्षालनंवस्तिकर्मवित् गुल्मोदरंचापिवातप्लीहपित्तकफोद्भवान् वस्तिकर्मप्रभावेनवाधंतेसकलामयाः धा
त्विंद्रियांतःकरणप्रसादंदधाच्चकांतिंदहनप्रदीप्तिं अशेषदोषोपचयंनिहंन्यादभ्यस्यमानंजलवस्तिकर्म अथने
ती सूत्रंवितस्तिसुस्निग्धंनासानालेप्रवेशयेत् मुखान्निर्गमयेत्साहिनेतीसिद्धैर्निगद्यते कपालशोधनीचैवदिव्य
दृष्टिप्रदायिनी जत्रूर्ध्वजातरोगौघान्नाशयत्याशुनेतिवित् अथत्राटकं निरीक्षेन्निश्चलदृशासूक्ष्मलक्ष्यंसमाहितः
अश्रुपातपर्यंतमाचार्यैस्त्राटकंमतं मोचनंनेत्ररोगाणांतंद्रादीनांकपाटकं एतच्चत्राटकंगोप्यंयथाहाटकपेटकं अथ
नौली अमंदावर्तवेगेनतुंदंसव्यापसव्यतः नतांसोभ्रामयेदेषानौलीयोगैःप्रचक्षते मंदाग्निसंदीपनपाचनादि
संधायिकानंदकरीतथैव अशेषदोषामयशोषिणीचहठक्रियामौलिरियंचनौली अथकपालभाती भस्त्रवल्लो
हकारस्यरेचपूरौससंभ्रमौ कपालभातीविख्याताकफदोषविशोषिणी अथमुद्राः पवनयोगसंग्रहे महामुद्रा
महाबंधोमहावेधश्चखेचरी शक्तिचालोमूलबंधउड्डियानंततःपरं जालंधराभिधोबंधोविपरीतकृतिस्तथेति हठ
प्रदीपिकायां सशैलवनधात्रीणांयथाधारोहिनायकः सर्वेषांयोगतंत्राणांतथाधारोहिकुंडली सुप्तागुरुप्रसादेन

यो॰ चिं॰
४२

बोधितासुखदाभवेत् तथासर्वाणिपद्मानिभिद्यंतेग्रंथयोपिच प्राणस्यशून्यपदवितथाराजपथायते तथाचित्तंनिरालंबं
तथाकालस्यवंचनं तस्मात्सर्वप्रयत्नेनप्रबोधयितुमीश्वरीं ब्रह्मद्वारमुखेसुप्तांमुद्राभ्यासपरोभवेत् महामुद्रामहाबंधोम
हावेधश्चखेचरी उड्डियानंमूलबंधोबंधोजालंधराभिधः करणीविपरीताख्यातथावैशक्तिचालनं एतद्धिमुद्रादशकं
जरामरणवर्जितं आदिनाथोदितंदिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं वल्लभंसर्वसिद्धानांदुर्लभंमरुतामपि गोपनीयंप्रयत्नेनयथा
रत्नकरंडकं कस्यचिन्नैववक्तव्यंकुलस्त्रीसुरतंयथा अथमहामुद्रा स्कंदपुराणे शोधनंनाडीजालस्यचालनंचंद्रसूर्ययोः
रसानांशोधनंसम्यक्महामुद्राभिधीयते ईश्वरप्रोक्ते महामुद्रांप्रवक्ष्यामितंत्रेऽस्मिन्ममवल्लभे यांप्राप्यसिद्धाःसिद्धिं
कपिलाद्याःपुरागताः अपसव्येनसंपीड्यपादमूलेनसादरं गुरूपदेशतोयोनिंगुदमेढ्रांतरालगां सव्यंप्रसारितंपादंध
त्वापाणियुगेनतु नवद्वाराणिसंयम्यचिबुकंहृदयोपरि चित्तंचित्तपथेदत्वाप्रारभेद्वायुधारणं महामुद्राभवेदेषासर्वतंत्रे
षुगोपिता वामांगेनसमभ्यस्यदक्षांगेनाभ्यसेत्पुनः प्राणायामंसमंकृत्वायोगीनियतमानसः मुद्रामेनांतुसंप्राप्यगुरु
वक्त्रात्सुगोपितां अनेनविधिनायोगीमंदभाग्योपिसिद्ध्यति सर्वासामेवनाडीनांचालनंबिंदुधारणं जारणंतुकषाय
स्यपातकानांविनाशनं कुंडलीतापनंवायोर्ब्रह्मरंध्रप्रवेशनं सर्वरोगोपशमनंजठराग्निविवर्द्धनं वपुषःकांतिकम
लाजरामृत्युविनाशनं वांछितार्थफलंसौख्यमिंद्रियाणांचमारणं एतदुक्तानिसर्वाणिमार्गारूढस्ययोगिनः भवेदभ्यास
तोवश्यंनात्रकार्याविचारणा गोपनीयाप्रयत्नेनमुद्रेयंसुरपूजिता यांतुप्राप्यभवांभोधेःपारंगच्छतियोगिनः मुद्राका
मदुघाह्येषासाधकानांमयोदिता गुप्ताचारेणकर्तव्यानदेयायस्यकस्यचित् इयंखलुमहामुद्रामहासिद्धैःप्रकाश्यते म
हाक्लेशायतोदोषाजीर्यंतिमरणादयः महामुद्रांचतेनैवेदंतिविबुधोत्तमाइति हठप्रदीपिकायां यथादंडाहतःसर्पो

राम
४२

व

ध

दंडाकारःप्रजायते ऋज्वीभूतायथाशक्तिःकुंडलीसहसाभवेत् पादमूलेनवामेन योनिंसंपीड्यदक्षिणं पादंप्रसारितं
धृत्वाकराभ्यांपूरयेन्मुखं कंठेबंधंसमारोप्यधारयेद्वायुमूर्द्धतः तथासोमरणावस्थांहरतेद्विपराश्रयां नहिपथ्यमपथ्यंवारसाः
सर्वेपिनीरसाः अपिभुक्तंविषंघोरंपीयूषमिवजीर्यति क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः तस्यदोषाःक्षयंयांतिमहा
मुद्रांचयोभ्यसेत् महाबंधः ईश्वरप्रोक्ते योस्यांप्रसारितः पादोविन्यस्यतमुरूपरि गुदयोनिंसमाकुंच्यनीत्वाचापानमूर्द्ध
गं योजयित्वासमानेनकृत्वाप्राणमधोमुखं बंधयेदूर्द्ध्वगत्यर्थमपानप्राणयोःसुधीः कथितोयंमहाबंधःसिद्धिमार्गप्र
दायकः नाडीजालद्रसव्यूहमूर्द्धंनयंतियोगिनः उभाभ्यांसाधयेत्पद्भ्यामेकैकंसुप्रयत्नतः मतमत्रतुकेषांचित्कंठबंधं
विवर्जयेत् राजदंतद्वयंतत्रजिह्वयातंभयेदिति भवेदभ्यासतोवायुःसुषुम्नामध्यसंगतः अनेनवपुषःकांतिर्दृढबंधो
स्थिपंजरः संपूर्णहृदयोयोगीभवंत्येतानियोगिनः बंधेनानेनयोगींद्रः साधयेत्सर्वमीप्सितं अपानप्राणयोरैक्यंकृत्वा
त्रिभुवनेध्रुवे हठप्रदीपिकायां पार्ष्णिवामस्यपादस्ययोनिस्थानेयोजयेत् वामोरूपरिसंस्थाप्यदक्षिणंचरणंतथा पूरयि
त्वामुखेवायुंहृदयेचिबुकंतथा निःपीड्ययोनिमाकुंच्यमनोमध्येनियोजयेत् रेचयेच्छनैरेवमहाबंधोयमुच्यते अ
यंखलुमहाबंधोमहासिद्धिप्रदायकः कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः अयंतुसर्वनाडीनामूर्द्ध्वगमनरोध
कः त्रिवेणीसंगमंधत्तेकेदारंप्रापयेन्मनः अथमहावेधः रूपलावण्यसंपन्नायथास्त्रीपुरुषंविना महामुद्रामहा
बंधौनिःफलौवेधवर्जितौ महाबंधस्थितोयोगीकृत्वापूरकमेकधा वायूनांगतिमावृत्यनिभृतंकंठमुद्रया स
महस्तयुगोभूमौस्फिचौसंताडयेच्छनैः पुटद्वयंसमाक्रम्यवायुःस्फुरतिमध्यगः सोमसूर्याग्निसंधानंजायतेचा
मृतायते मृतावस्थासमुत्पन्नंततोमरुभयंकुतः महावेधोयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः वलीपलितवेप

ध्रः सेव्यते साधकोत्तमैः एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनं वह्निवृद्धिकरं चैव अणिमादिगुणप्रदं अष्टधा क्रियते चैव यथा
मे यामे दिने दिने पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा सम्यक् शिक्षावतामेव स्वल्पं प्रथमसाधने ईश्वरप्रोक्ते म
हावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना स्फिजौ संताडयेद्धीमान्वेधोयं कीर्तितो मया वेधनानेन संविध्य वायुना यो
गिपुंगवः ग्रंथीन्सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रंथिं भिनत्त्यसौ यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितं वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य
जरामृत्युविनाशनं चक्रमध्ये स्थिता देवाः कंपंते वायुताडनात् कुंडल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते तस्माद्योगी प्र
यत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः षण्मासाभ्यंतरे मृत्युं जयत्येव न संशयः एतत्त्रयस्य मा
हात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः यज्ज्ञात्वा सिद्धयः सर्वाः सिद्धाः खाले भिरे चिरं गोपनीयं प्रयत्नेन साधनं सिद्धिमिच्छता अ
नभ्यासेन सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निर्णयः इति अथ खेचरी योगबीजे वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारं चतुरंगुलं मृदुलं
धवलं प्रोक्तं वेष्टनांबरलक्षणमिति हठप्रदीपिकायां छेदनचालनदोहैः जिह्वां संवर्धयेत्तावत् यावदियं भ्रूमध्यं स्पृश
ति तदा खेचरी सिद्धिः कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परिवर्तयेत् सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते रसनामूर्ध्वगां कृ
त्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः तस्य न क्षर
ते बिंदुः कामिन्यालिंगितस्य च चलितोपि यदा बिंदुः संप्राप्तश्च हुताशनं व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया सपु
नर्द्विविधो बिंदुः पांडुरो लोहितस्तथा पांडुरं शुक्रमाख्यातं लोहिताख्यं महारजः सिंदूरसंनिभं बीजं रविस्थाने स्थितं रजः
शशिस्थाने भवेद्बिंदुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभं बिंदुः शिवो रजः शक्तिः बिंदुरिंदू रजो रविः याति बिंदोः सहैकत्वं भवेत् दिव्यं व
पुस्तदा शुक्रं चंद्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संगतं तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्राय

त्तं च जीवितं तस्माच्चित्तं च शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितं तस्माच्चित्तं च शुक्रं च रक्षणीयं प्रयत्नतः पातालाद्यदि तिशिखरे मेरुमूले न
रलितत्वं चैतत्प्रवदति सुधीः सन्मुखे निम्नगानां चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां बध्नीयात्तत्करणमदतो नान्यथा का
यसिद्धिः इंधनानि यथा वह्निस्तैलवर्ती च दीपकः नित्यं सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति रसनां वेशयेदूर्ध्वं पिबेत्तच्छ्रावितं
जलं गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीं कुलीनं तमहं मन्ये नेतरान्कुलघातकान् गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो
हि तालुनि गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनं जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु चंद्रात्स्रवति यः सारः
स स्यादमरवारुणी एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी नासनं सिद्ध

व

सदृशं न कुंभः केवलोपमः न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वा
स्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन् तत्कल्लोलकलाजलं च विमलं जिह्वाकुलं यः पिबेन्निर्दोषः स मृणालको
मलतनुर्योगी चिरं जीवति चुंबंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतु
ल्यं यदा व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शास्त्रागमोद्धारणं तस्य स्यादिह सिद्धिरष्टगुणिता सिद्धांगनाकर्षणं स्कंदपुराणे क
पालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निषेविता यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिंदुर्न गच्छति यावद्बिंदुः स्थितो देहे तावत्कालभयं कु
तः पीड्यते न स रोगेण न च लिप्येत कर्मणा बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीं रसनां तालुविवरे निधायोर्ध्वमुखोऽमृतं पिबे
न्निर्जरतां गच्छेत् सप्तमासान्न संशयः ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् सं
पीड्य रसनाग्रेण राजदंतबिलं महत् ध्यात्वामृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरा

न् ऊर्द्ध्वं प्रवर्त्तते रेतो ह्यणिमादिगुणोदयं नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पतीति
दत्तात्रेयः अंतःकपालविवरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत् भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न
क्षुधा तृषा न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीमिति ईश्वरप्रोक्ते लंबिकोर्द्ध्वस्थिते गर्त्ते रसनां विपरीतगां संयोजयेत्प्र
यत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः निरंतरकृताभ्यासः पीयूषं प्रत्यहं पिबेत् तेन विग्रह
सिद्धिः स्यान्मृत्युमातंगकेसरी मुद्रैषा खेचरी यस्य सुस्थिता स्यादतंद्रिता शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्द्धं मन्यते हि स इति

अथ मूलबंधः पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयंत्रितं बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्द्ध्वं समभ्यसेत् कथितोयं मू
लबंधो जरामरणनाशनः अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः बंधेनानेन सततं योनिमुद्राप्रसिध्यति सिद्धा
यां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले बंधस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः पद्मासनस्थितो योगी भुवमुत्सृज्य व
र्त्तते सुगुप्ते निर्जने देशे बंधमेनं समभ्यसेत् संसारसागरं तर्त्तुं यदीच्छेद्योगिपुंगव इति हठप्रदीपिकायां पार्ष्णिभा
गेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदं अपानमूर्द्ध्वमाकृष्य मूलबंधोयमुच्यते अधोगतमपानं च तदूर्द्ध्वं कुरुते हठात्
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं तु योगबीजे गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् वारं वारं तथा चोर्द्ध्वं समायाति
समीरणः प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकतां गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः अपाने चोर्द्ध्वगे जा
ते संप्राप्ते वह्निमंडले तथानलशिखा दीर्घा वर्द्धते वायुनाहता ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुक्तस्वरूपकौ तेना
त्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबोध्यते दंडाहतभुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्
बिलं प्रविष्टेव तथा ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत् तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्त्तव्यो योगिपुंगवैः उड्डियानबंधः योगबीजे

बद्धो येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः तस्मादुड्डीयनाख्योयं योगिभिः समुदाहृतः उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महा
खगः उड्डियानं तदेव स्यान्मूलबंधोभिधीयते उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्द्ध्वं समाचरेत् उड्डियानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातं
गकेसरी उड्डियानं तु सहजं गुरुणा कथितं यथा अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोपि तरुणायते नाभेरूर्द्ध्वमधोवापि तानं कु
र्यात्प्रयत्नतः षण्मासमभ्यसन्मृत्युं जयत्येव न संशयः हठप्रदीपिकायां सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढं गुल्फदे
शसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् पश्चिमं तानमुदरे धारयेद्धृदये गले शनैः शनैर्यथा प्राणस्तुंदसंधिं निगच्छति सर्वेषामेव बं
धानां मुत्तमो ह्युड्डियानकः उड्डियाने दृढे बंधे मलः स्वाभाविको भवेत् इति ईश्वरप्रोक्ते नाभेरूर्द्ध्वमधश्चापि तानं निर्भ
रमाच रेत् उड्डियानो बंध एष सर्वदुःखौघनाशनः नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने तस्य नाभेर्विशुद्धिः स्याद्ये
न सिद्धो भवेन्मरुत् षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति तत्त्ववित् तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिश्च जायते अनेन सु
तरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवं गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः निर्ज
ने सुस्थिते देशे बंधं परमदुर्लभमिति अथ जालंधरः बध्वा गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् बंधो जालंधरः प्रोक्तो
देवानामपि दुर्लभः नाभिस्थवह्निर्जंतूनां सहस्रकमलच्युतं पिबेत्पीयूषं रसं तत्तदर्थं बंधयेदिमं बंधेनानेन पीयू
षं स्वयं पिबति बुद्धिमान् अमरत्वं च संप्राप्य मोदते भुवनत्रये जालंधरो बंध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः अभ्यासः
क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छतेति योगबीजे कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया बंधो जालंधराख्योयममृ
ताप्यायकारक इति हठप्रदीपिकायाम् बध्नाति हि सिराजालमधोगामि नभोजलं ततो जालंधरः प्रोक्तः कंठदुःखौ
घनाशनः जालंधरबंधनं बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैर्निषेवितं सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुरिति अ

थविपरीतकरणी हठयोगे नाभिदेशेस्थितोनित्यंभास्करोदहनात्मकः अमृतात्मास्थितोनित्यंतालुमध्येचचंद्रमाः व
र्षत्यधोमुखश्चंद्रोग्रसत्यूर्द्धमुखोरविः करणंतच्चकर्तव्यंयेनसांतंशिखरेक्रमात् स्वयमुज्वालितंयातिवंचयित्वामुखं
रवेः बद्धसोमकलाजलंचविमलंकंठस्थलाद्दूर्द्धतोनासांतंशिखरेणयातिगगनेद्वारंततःसर्वतः ऊर्द्धस्योभुविसंनि
पत्यनिततंमुत्तानपादःपिबेदेवंयःकुरुतेजितेंद्रियचयेनैवास्तितस्यक्षयः हठप्रदीपिकायाम् यत्किंचित्स्रवतेचं
द्रादमृतंदिव्यरूपिच तत्सर्वंग्रसतेसूर्य्यस्तेनपिंडोविनाशिच तत्रास्तिकरणंदिव्यंसूर्यस्यमुखबंधनं गुरूपदेशतो
ज्ञेयंनतुशास्त्रार्थकोटिभिः ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्द्धभानुरधःशशी करणीविपरीताख्यासर्वव्याधिविनाशिनी
रत्नत्रेयः ऊर्द्धभानुरधश्चंद्रस्तद्यथाणुसांकृते अधःशिराश्चोर्द्धपादक्षणंस्यात्प्रथमेदिने क्षणाच्चकिंचिदधिकमभ्यसेच्चदि
नेदिने वलिश्चपलितंचैवषण्मासार्द्धेनदृश्यते याममात्रंतुयोनित्यंअभ्यसेत्सतुकालजित् नित्यमभ्यासयुक्तस्यजठ
राग्निविवर्द्धनं आहारोबहुलस्तस्यसंपाद्यस्साहृतेध्रुवं अल्पाहारोयदिभवेत्ग्निर्दाहंकरोतिवै अथशक्तिचालनं
ईश्वरप्रोक्ते आधारकमलेसुप्तांचालयेत्कुंडलीदृढं अपानवायुनारूढ्यबलादाकुंचबुद्धिमान् शक्तिचालनमेवं
हिप्रत्यहंयःसमभ्यसेत् अग्निवृद्धिर्भवेत्तस्यरोगाणांचविनाशनं विहायनिद्रांभुजगीस्वयमूर्द्धभवेत्खलु तस्माद
भ्यसनंकार्य्ययोगिनासिद्धिमिछता यःकरोतिसदाभ्यासंशक्तिचालनमुत्तमं येनविग्रहसिद्धिःस्यादणिमादिगुणप्र
दा गुरूपदेशविधिनातस्यमृत्युभयंकुतः मुहूर्तद्वयपर्य्यंतंविधिनाशक्तिचालनं वज्रासनगतोनित्यंमासार्द्धंतुसम
भ्यसेत् वायुनाज्वलितोवह्निःकुंडलीरहतोःनिशं संतप्तासाग्निनाडीचशक्तिस्त्रैलोक्यमोहिनी विशतेवज्ररंडे
नसुषुम्णावदनांतरे वायुनावह्निनासार्द्धंब्रह्मग्रंथिंविभिद्यसा विष्णुग्रंथिंततोभित्वारुद्रग्रंथौचतिष्ठति ततस्तु

कुंभकेर्गाढंधारयित्वापुनःपुनः भिद्यंतेग्रंथयोवंशेतप्तलोहशलाकया तथैवपृष्ठवंशोस्यात्ग्रंथिभेदस्तुवायुना पिपी
लिकायथालग्नाकंडूस्तत्रप्रवर्त्तते सुषुम्णायांतथाभ्यासात्सततंवायुनाभवेत् रुद्रग्रंथिंततोभित्वाततोयातिशिवात्म
कमिति हठयोगे उद्घाटयेत्कपाटंतुयथाकुंचिकयाहठात् कुंडलिन्यातथायोगीमोक्षद्वारविभेदयेत् येनद्वारेणगंतव्यंब्र
ह्मस्थानंनिरामयं मुखेनाछाद्यतद्वारंप्रसुप्तापरमेश्वरी कंदोर्द्धेकुंडलीशक्तिर्सुप्तामोक्षाययोगिनां बंधनायचमूढानां
यस्तांवेत्तिसयोगवित् अंभोधिशोलद्वीपानामाधारःशेषकुंडली अशेषयोगतंत्राणामाधारःकुंडलीतथा कुंड
लांगीकुंडलिनीभुजंगीशक्तिरीश्वरी कुटिलारुंधतीदेवीशब्दाःपर्य्यायवाचकाः कुंडलीकुटिलाकारासर्पवत्परि
कीर्त्तिता साशक्तिश्चालितायेनसमुक्तोनात्रसंशयः गंगायमुनयोर्मध्येबालरंडातपस्विनी बलात्कारेणगृह्णी
यात्तद्विष्णोःपरमंपदं पुछंप्रगृह्यभुजगींसुप्तामुद्बोधयेदभिः निद्रांविहायसाशक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठतेहठात् परिस्थिता
चैवफणावतीसाप्रातश्चसायंप्रहरार्द्धमात्रकं प्रपूर्य्यसोर्य्यापरिधानमुक्त्वाप्रगृह्यनित्यंपरिचालितासावज्रासन
स्थितोयोगीचालयित्वातुकुंडलिं सर्प्पादनंतरंभस्त्राकुंडलिमाशुबोधयेत् भानोराकुंचनंकुर्य्यात्कुंडलींचालयेत्त
तः मृत्युवक्त्रगतस्यापितस्यमृत्युभयंकुतः नासादक्षिणमार्गवाहिपवनोप्राणेतिदीर्घीकृतश्चंद्राभःपरिपूरि
तामृततनुःप्राग्घंटिकायास्ततःभिंदन्कालविशालवह्निवशगाभ्रूरंध्रनाडीगणात्संकायंकुरुतेपुनर्नवतरं
जीर्णद्रुमस्कंधवत् कुंडलींचालयित्वातुकुर्य्याभस्त्रांविशेषतः एवमभ्यासतोनित्यंयमिनःशंकतेयमः तदाभ्यसे
त्सर्प्यभेदेमुज्जायींचापिशीतलीं एवमभ्यासयुक्तस्ययमस्तुयमिनःकुतः मुहूर्तद्वयपर्य्यंतंनिर्भयंचालनाद्धिवै
ब्रह्मचर्य्यरतस्यैवनित्यंहितमिताशिनः मंडलात्दृश्यतेसिद्धिःकुंडल्याभ्यासयोगिनः द्विसप्ततिसहस्राणांनाडीनांम

४८

लशोधनं कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्याभ्यासतो विना अत्र शक्तिचालने पद्मासनमेव हठेऽभिन वज्रासनमनुभववि
रोधात् तथाच ग्रंथांतरे कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वाच पद्मासनं गाढं वक्षसि संनिधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयेत्पूरयेत्प्राणं मुंचति बोधमेति नियतं शक्तिः प्रबोधोदयात् इति मुद्रा नव प्रोक्ता
आदिनाथेन शंभुना एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी दत्तात्रेयः अभ्यासभेदतो भेदः फलानुसनमेव हि
अभ्यासक्रमश्चोक्तः पवनसंग्रहे महामुद्रां समभ्यस्य महाबंधं ततः परं महावेधं च नियतं प्रकुर्याच्छक्तिचालनं आसनं सुदृढं
बध्वा मूलबंधं विधाय च उड्डियानं तथा बंधं ततो जालंधराभिधं अभ्यसेदिति संबंधः हठप्रदीपिकायां मूलस्थानं स
माकृष्य उड्डियानं तु कारयेत् इडां च पिंगलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि अनेनैव विधानेन सेवयेत्पवनालयं ततो न जा
यते मृत्युर्जरारोगादिकं तथेति योगबीजे चतुर्णामपि भेदानां कुंभके समुपस्थिते बंधत्रयमिदं कार्यं वक्ष्यमाणं मया
स्फुटं पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः कुंभकांतरे च कादौ कर्तव्यस्तु उड्डियानकः अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसं
कोचने कृते मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडीगः अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयन् योगी जराविमु
क्तः सन्वयसा षोडशो भवेत् उड्डीयानस्य साहजिकत्वात्कुंभकदशायां कर्तव्यः अत्र केचित् यद्यपि कपिलादिसिद्धा
नामेव महामुद्रादयः संमता न याज्ञवल्क्यादिमुनीनां तथापि साधारण्येन बोधयास्माकः तत्तद्ग्रंथार्थावबोधवि
धुरं तथाहि नारदोत्पत्तिप्रकरणे अपानमूर्ध्वमाकृष्य प्रणवेन समाहितः इत्यत्र मूलबंधः कंठत एवोक्तः तदुक्तस्य
तत्संबंधिना उड्डियानजालंधरावपि प्राप्तौ एकसमयावच्छेदेन त्रयाणामनुष्ठानस्य पूर्वं दर्शितत्वात् किंच जिह्वायां
वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत् यः पिबेदमृतं विद्वान्सकलं भद्रमश्नुते इत्यत्र खेचरीं विनामृतपानानुपपत्तेः ख

रामः
४७

ष्टत्वात् तस्मात्संतियाज्ञवल्क्यादीनामपि मुद्रा अभिप्रेताः प्रतिपादनं तु ग्रंथांतरे प्रसिद्धत्वाद्विशेषेण न कृतमत्रेणंसवधे
यं इदानीं पूर्वोक्तबाह्याभ्यंतरसाधनसंपन्नस्याधारमुद्राचक्रादिज्ञानवतः मुमुक्षोः चित्तशुद्धिद्वारा मोक्षसाधनीभू
ततत्वज्ञानोपयोगीनि योगांगानि निरूप्यंते तथा च पातंजले योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते
रिति वक्ष्यमाणानां योगांगानामनुष्ठानादाविवेकख्यातेरशुद्धिक्षये चित्तसत्वस्य प्रकाशावरणक्लेशाख्याया अशु
द्धेर्नाशे सति या भवति ज्ञानदीप्तिः सात्विकः परिणामो विवेकख्यातिपर्यंतः सततस्याविवेकख्यातेर्हेतुरित्यर्थः यो
गांगोद्देशपरं च सूत्रं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टावंगानीति याज्ञवल्क्यः
वक्ष्याम्यंगानि ते सम्यक् यथापूर्वं मया श्रुतं समाहितमना गार्गि ऋषिभिः सह संशृणु यमश्च नियमश्चैव आसनं
चैतथैव च प्राणायामस्तथा गार्गि प्रत्याहारश्च धारणा ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि वरानने यमश्च नियमश्चैव दश
धा संप्रकीर्तितः आसनान्युत्तमान्यष्टौ त्रयं तेषूत्तमोत्तमं प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्ताः प्रत्याहारश्च पंचधा धारणा पंचधा
प्रोक्ता ध्यानं षोढा प्रकीर्तितं त्रयं तेषूत्तमं प्रोक्तं समाधिस्त्वेकरूपतः बहुधा केचिदिच्छंति विस्तरेण पृथक् शृणु अहिं
सा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चैते यमा दश कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्व
दा अक्लेशजननं प्रोक्तं अहिंसा सैव योगिभिः सत्यं भूतहितं प्रोक्तं नयथार्थाभिभाषणं कर्मणा मनसा वाचा प
रद्रव्येषु निस्पृहा अस्तेयमिति तत्प्रोक्तं ऋषिभिस्तत्वदर्शिभिः कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा सर्वावस्था
सु सर्वदा सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां यतीनां मतीनां नैष्ठिकस्य च ब्रह्मचर्यं तु से
वोक्ता तथैवारण्यवासिनां ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः ब्रह्मचर्यं तु सैवोक्ता गृहस्थाश्रमवासिनां

रामः

LIBRARY OF THE BOMBAY BRANCH OF THE ROYAL ASIATIC SOCIETY

और क्षुधा नहीं उत्पन्न होते हैं।"[1]

"इन कुम्भकों को करते समय तीन बन्ध भी करना चाहिए--
1- मूलबन्ध, 2- उड्डियाण बन्ध, 3- जालन्धरबन्ध।"[2]

"शाण्डिल्योपनिषद् में बताया गया है कि पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिए। कुम्भक के अन्त में मूलबन्ध और रेचक के प्रारम्भ में उड्डियाण बन्ध करना चाहिए। नीचे गुदा का संकोचन कर त्वरित कण्ठ का संकोचन करे और बीच में पश्चिमतान करने से प्राण ब्रह्मनाड़ी में जाती है।"[3]

मूलबन्ध

"गुदा के संकुचन द्वारा अधोगति वाले अपान वायु को शक्तिपूर्वक रोककर ऊर्ध्वमुखी बनाया जाता है, इसे ही मूलबन्ध कहते हैं। मूलबन्ध के अभ्यास से अपान वायु ऊर्ध्वगामी होकर वह्नि मण्डल से मिलती है, जिससे अग्नि अधिक तीव्र हो जाती है। उसकी उष्णता से संतप्त होकर प्रसुप्त कुण्डलिनी जागृत होती

1- वक्त्रेण सीत्कारपूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्।
तेन क्षुत्तृष्णालस्यनिद्रा न जायते ।

शा०उ०,1/31.

2- चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते ।
बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः ।।
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः ।
जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते ।।
यो०शि०उ०,1/102-103; यो०कु०उ०,1/40-41.

3- पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ।।
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः।।
यो०शि०उ०,1/106-109,111,112; यो०कु०उ०,1/47,51,52; शा०उ०,1/28-29.

है और फुत्कार करती हुई सीधी होकर सुषुम्ना में प्रवेश करती है।"[1] "सदा मूलबन्ध करने से अपान और प्राण की एकता होती है। मल-मूत्र कम हो जाता है और बूढ़ा भी जवान हो जाता है।"[2]

उड्डियाणबन्ध

"इस बन्ध के करने से प्राण सुषुम्ना में ऊपर उड़ती है। इसलिए इसको उड्डीयाण कहते हैं। वज्रासन लगाकर दोनों पैरों को दोनों हाथों से दृढ़ता-पूर्वक पकड़े। गुल्फ प्रदेश के समीप कन्द को दबाकर उदर को ऊपर की ओर खींचे। हृदय और गले को भी तनाव के साथ खींचें। इससे प्राण शनैः-शनैः पेट की संधियों में प्रवेश करता है और पेट-सम्बन्धी सभी दोषों को दूर करता है।"[3] "थका हुआ प्राण रूप पक्षी जिससे उड़ता है वह उड्डीयाण है। उड्डीयाण बन्ध-मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह है। मस्तक के आकाश से उत्पन्न हुए जल को नीचे जाने से रोकता है।"[4]

1- (क) यो०कु०उ०, 1/42-46.

(ख) पार्ष्णिघातेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥
यो०त०उ०, 120, 131; ध्या०बि०उ०, 74-75; यो०चू०उ०-46.

(ग) गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥
यो०शि०उ०, 1/104-105; घे०सं०, 3/14-15; ह०यो०सं०, 7/16-19.

2- अपानप्राणयोरैक्यक्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥
यो०चू०उ०-47; ध्या०बि०उ०, 73-74.

3- यो०कु०उ०, 1/47-50; यो०शि०उ०, 1/106-108.

4- ध्या०बि०उ०,-75-77; यो०त०उ० 119, 120; यो०चू०उ०-48-50; ह०यो०सं०-7/11-13; घे०सं० 3/9-10.

जालन्धरबन्ध

"इस बन्ध में वायुमार्ग के निरोध के लिए कण्ठ का संकोचन किया जाता है। कण्ठ को संकुचित करने से अमृत अग्नि में नहीं गिरता और न वायु दौड़ती है।"[1]

महामुद्रा

"छाती को ठोड़ी से दबाकर बाँयी एड़ी से योनि के छिद्र को दबायें। दक्षिण पैर को फैलाकर दोनों हाथों से पकड़े तथा श्वसन से आपूर्ण दोनों कुक्षियों को बाँधकर धीरे-धीरे रेचन करें। इसे ही पापनाशिनी महामुद्रा कहते हैं।" सब नाड़ियों का शोधन, सूर्य चन्द्र का चलाना, और रसों को सुखाना ही महामुद्रा है। चन्द्र अंश से अभ्यास करके पुनः सूर्य अंश से अभ्यास करना चाहिए। जब संख्या बराबर हो जाये तो मुद्रा को छोड़ देना चाहिए। इससे अपथ्य भी पथ्य हो जाता है, नीरस रस हो जाता है, खाया हुआ विष भी अमृत के समान पच जाता है। महामुद्रा के अभ्यास से क्षय,कुष्ठ,भगन्दर,गुल्म,अजीर्ण और अन्य रोगों का क्षय हो जाता है।"[2]

घेरण्डसंहिता और हठयोगसंहिता में भी महामुद्रा का वर्णन प्राप्त होता है।"[3]

महाबन्ध

बाँये पैर की एड़ी को योनि स्थान में लगावें दाहिने पैर को फैलाकर हाथ से दृढ़तापूर्वक पकड़े। ठोड़ी को छाती पर रखकर हृदय को वायु से पूर्ण करें।

1- ध्या०बि०उ०-77-79; यो०कु०उ०- 1/51-52; यो०चू०उ०-50-51; यो० शि०उ०,1/110-111; घे०सं०-3/12; हयो०सं०, 7/14-15.

2-(क) यो०चू०उ०, 65-70.

(ख) ध्या०बि०उ०, 91-93.

3- घे०सं०, 3/6-7; हयो०सं०, 7/7-10.

कुम्भक से यथाशक्ति धारण कर रेचन करे। बाँये अंग से अभ्यास करने के बाद दाँये अंग से अभ्यास करना चाहिए। जो पैर फैला था उसे जाँघ पर झुकायें। इसे ही महाबन्ध कहते हैं। इसको दोनों तरफ से करना चाहिए।"[1] हठयोगसंहिता में भी महाबन्ध का वर्णन प्राप्त होता है।"[2]

महावेध

"महाबन्ध में स्थित होकर एकाग्र बुद्धि से पूरक करना चाहिए। कण्ठ-मुद्रा से धारण किए हुए वायु की गति को रोककर दोनों नथनों का संकोच करने से वायु शीघ्र भर जाता है, इसे ही महावेध कहते हैं।"[3] "हठयोगसंहिता में इसका वर्णन इस प्रकार है -- महावेध के बिना मूलबन्ध और महाबन्ध निष्फल होता है। महाबन्धमुद्रा में स्थित होकर उड्डीयाणबन्ध करते हुए कुम्भक द्वारा वायु निरोध करने से ही महावेध मुद्रा होती है। जो साधक प्रतिदिन महावेध सहित महा-बन्ध और मूलबन्ध को करता है, उसे जरा और मृत्यु से भय नहीं रहता है।"[4]

खेचरी मुद्रा

"कपाल के भीतर के छिद्र में जिह्वा को उलट कर धारण कर भ्रूमध्य

1- यो०त०उ०, 112-115.

2- ह०यो०सं० 7/20-22.

3- महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधी: ।
वायुनां गीतमावृत्य निभृतं कुण्ठमुद्रया ।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायु: स्फुरति सत्वरम् ।
अयमेव महावेध: सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।
यो०त०उ०, 115-117.

4- ह०यो०सं०-7/23-26.

में दृष्टि रखने पर खेचरी मुद्रा होती है।"[1] "ज्ञान वाले विवर में पाँच स्रोत है, वहाँ खेचरी मुद्रा होती है। इडा पिंगला में प्राण चलता है, यदि सुषुम्ना में प्राण स्थिर हो जाये तो खेचरी मुद्रा होती है। चन्द्र और सूर्य के बीच निराधार स्थान सहस्रार चक्र में खेचरी मुद्रा होती है।"[2] योगकुण्डल्युपनिषद् में खेचरी मुद्रा का विस्तार से वर्णन हुआ है। इसका द्वितीय अध्याय खेचरी विद्या के वर्णन से ही परिपूरित है। इसमें खेचरी मन्त्र, खेचरी मन्त्र से जपसिद्धि एवं खेचरी अभ्यास आदि का वर्णन हुआ है।

गुरु के सान्निध्य में रहकर ही इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। योगी सात दिन तक अपने गुरु के आदेशानुसार तालुमूल का घर्षणादि करके वहाँ के मल को दूर करता है। तत्पश्चात् थूहर पत्र के समान तीक्ष्ण, शुद्ध, शस्त्र ग्रहण कर एक रोम के बराबर छेदन करें। सेंधा नमक और हर्रे का चूर्ण वहाँ लगावे। फिर सातवें दिन कर्म को दोहराता रहे। छः मास तक ऐसा करने से जीभ के मूल की शिरा का बन्धन नष्ट हो जाता है, तब जीभ के अग्रभाग को वस्त्र से बाँधकर धीरे-धीरे खींचना चाहिए। इस प्रकार नित्य दोहन से छः मास में जीभ भ्रूमध्य तक और पार्श्व में कर्ण विवर तक पहुँच जाती है। क्रमशः इसके अभ्यास से जीभ ब्रह्मरन्ध्र तक चली जाती है, पार्श्व में गर्दन के पीछे तक और नीचे कण्ठ के अन्त तक पहुँच जाती है। इसप्रकार अभ्यास से जीभ ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करती है। यह

1- कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥
ध्या0बि0उ0-79-80; यो0त0उ0-117-118; यो0चू0उ0-52; यो0शि0उ0 5/40; शा0उ0, 1/59; घे0सं0, 7/29, 3/27.

2- छेदन चालनदोहैः फलां परां जिह्वां कृत्वा
दृष्टिं भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा
विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरीमुद्रा जायते ।
शा0उ01/60

2- वही, 1/55-59.

अभ्यास क्रमश: और धीरे-धीरे करना चाहिए, जब बाहर के मार्ग से जीभ ब्रह्म विवर के भीतर जाने लगे तो उसे अंगुली से उठाकर ब्रह्म विवर में प्रविष्ट कर दें। इस प्रकार तीन वर्ष तक अभ्यास करने से जीभ ब्रह्म द्वार में प्रवेश करती है। सुखासन पर बैठकर हृदय में प्राण का निरोध कर दृष्टि को भ्रूमध्य में लगाकर धीरे-धीरे मन्थन क्रिया करनी चाहिए।"[1]

खेचरी मुद्रा के फल

खेचरी मुद्रा के अभ्यास से रोग, मरण, निद्रा, भूख, प्यास और मूर्च्छा आदि नहीं होते हैं। रोग के द्वारा वह पीड़ित नहीं होता है, कर्मों से लिपायमान नहीं होता, काल के द्वारा बाधित नहीं होता है। उसका चित्त और जिह्वा आकाश में विचरण करता है। जिह्वा के ऊपर का छिद्र खेचरी मुद्रा द्वारा मूंद जाता है, उसका बिन्दु कामिनी के आलिंगन से भी क्षय नहीं होता है। जबतक शरीर में बिन्दु स्थित रहता है, तबतक मृत्यु का भय नहीं रहता। जबतक खेचरी मुद्रा बंधी रहती है, तबतक बिन्दु का क्षय नहीं होता है। खेचरी मुद्रा द्वारा जिह्वा के अग्रभाग से जिसने कपाल विवर बन्द कर लिया हो उसका अमृत अग्नि में नहीं गिरता और प्राण भी नहीं चलते।

प्राणायाम के फल

प्राणायाम के द्वारा आरोग्य की वृद्धि, मानसिक विकास एवं आत्मिक प्रगति होती है। योगचूड़ामणि उपनिषद् के अनुसार "प्राणायाम पापरूपी ईंधन के लिए अग्नि स्वरूप है और संसार सागर से पार होने के लिए सेतु के समान

1- यो०कु०उ०, द्वितीय अध्याय ।

2- (क) ध्या०बि०उ०, 80-85.

(ख) यो०चू०उ०, 53-58.

(ग) यो०शि०उ०, 5/41-42.

(घ) शा०उ०, 1/60.

15:01

रुक्षयवभक्षणेन बलप्राप्तिविषयकप्रकरणं मिलति। दुग्धमिश्रितजलपानेन, नैकवर्षपर्यन्तं गुहायां निवासेन, मासपर्यन्तमखण्डोपासनेन च योगी बली भवति[82]। वस्तुतः योगसाधनाप्रभावेन अल्पाहारग्रहणे [illegible] योगी [illegible]वान् भवति।

आहारप्रकारः

ग्रन्थनाम	पथ्याहारः	अपथ्याहारः
हठयोगप्रदीपिका	सुस्निग्ध-मधुर-शिवसम्प्रीत्यै मिताहाराः।	कटु-अम्ल-तीक्ष्ण-लवण-उष्ण-हरितशाक-सौवीर-तैल-तिल-सर्षप-मद्य-मत्स्य-अजादिमांस-दधि-तक्र-कुलत्थ-ककौल-पिण्याक-हीङ्गुल-शुनादयः।
हठरत्नावली	गोधूम-तण्डुल-यव-दुग्ध-घृत-माण्ड-नवनीत-शक्कर-मधु-पटोल-पञ्चशाक-मुद्ग-वर्षाजलञ्च।	तक्र-दधि-कोद्र-लशुन-कुलत्थ-तीक्ष्ण-लवण-उष्ण-हरितशाक-सर्षप-मद्य-मांसादयः।
घेरण्डसंहिता	शाल्यन्न-यवपिण्ड-गोधूम-माश-चणक-पटोल-पनस-कक्कोल-शुकाशक-द्राढिक-कर्कट-रम्भा-डुम्बर-कण्टकण्टक-अमरम्भ-बालरम्भ-रम्भादण्ड-मूलक-वार्ताकी-बालशाक-कालशाक-पटोल-पत्र-शुद्धसुमधुस्निग्धसुरसउदरार्धविवर्जित-मिताहाराः।	कटु-अम्ल-लवण-तिक्त-भृष्ट-दधि-तक्र-शाकोत्ट-मद्य-ताल-कुलत्थ-मसूर-पाण्डु-कुष्माण्ड-शाकदण्ड-तुम्बि-कोल-कपित्थ-कण्टबिल्व-पलाश-कदम्ब-जम्बीर-निम्ब-लकुच-लशुन-कामरङ्ग-प्रियाल-हीङ्गु-शाल्मली-केमुक-नवनीत-घृत-क्षीर-गुड-रम्भा-नारिकेल-दाडिम-द्राक्ष-नवनी-धात्री-अम्लरसाश्च।
शिवसंहिता	घृत-क्षीर-मिष्ठान्न-चूर्णवर्जितताम्बूल-कर्पूराणि च।	आम्ल-रुक्ष-तीक्ष्ण-लवण-सार्षप-कटवश्च।

[82] ब्र०पु०, 239 / 43 - 44

Tools Mobile View Share PDF to DOC Edit on PC

H.P.J.003/055
सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम्।
H.P.J.003/107
मूढास्तदज्ञानाद् बद्धास्तिष्ठन्तीति भावः।
H.P.J.004/021
मनः पवनयोरेकतरे बद्धे उभयं बद्धं भवतीत्यर्थः।
H.P.J.004/021
येन योगिना पवनः प्राणवायुर्बध्यते बद्धः क्रियते...।
H.P.J.004/026
रसः पारदो बद्धश्चेन्मनश्चितं बद्धं भवति।
H.P.J.004/027
क्रियाविशेषेण गुटिकाकारकृतो रसो बद्धः...।
H.P.J.004/027
... भ्रूमध्यादौ धारणाविशेषण धृतो वायुश्च बद्धः...।
H.P.J.004/096
यथा बद्धं पारदमाकाशगमनं करोति एवं बद्धं मनो...।
H.P.J.004/114
तावद् बद्धोऽप्यासिद्धोऽसौ नरः सांसारिको मतः।
V.S.006/019
संसारपाशबद्धानां योगिनामप्ययोगिनाम्।
V.S.006/052
संसारपाशबद्धानां नराणां मोक्षकाङ्क्षिणाम्।

बद्धपद्मासन

H.P.J.002/007
मलशोधकप्राणायामप्रकारमाह...बद्धपद्मासन इति।
H.P.J.002/010
बद्धपद्मासन इत्याद्युक्तमर्थं पिण्डीकृत्यानुवदन्...।
Y.S.009
बद्धपद्मासनासीनं नासाग्रार्पितया दृशा।

बधिर

Y.S.203
यथा मूर्खो यथा मूढो यथा बधिर एव वा।

बन्ध

H.P.J.001/024
कुक्कुटासनस्य यो बन्धः पूर्वश्लोकोक्त...।
H.P.J.001/042
...बन्धत्रयं मूलबन्धोड्डीयानबन्धजालन्धरबन्ध...।
H.P.J.001/046
गुरुमुखादवगन्तव्योऽयं जिह्वाबन्धः।
H.P.J.001/046
अनेन मूलबन्धः प्रोक्तः।
H.P.J.001/046
मूलबन्धोऽपि गुरुमुखादेवावगन्तव्यः।
H.P.J.001/046
...जिह्वाबन्धेनैवायं चरितार्थ इति हठरहस्यविदः।
H.P.J.001/048
जालन्धरबन्धं कृत्वेत्यर्थः।
H.P.J.001/052
...सिंहासनं बन्धानां मूलबन्धादीनां त्रितयं...सन्धानं...।
H.P.J.001/055
एवमुक्तेष्वासनबन्धेषु बन्धनप्रकारेषु विगतः श्रमो...।
H.P.J.001/055
...विगतश्रमः, आसनानां बन्धेषु श्रमरहितः।
H.P.J.002/007
जालन्धरादिबन्धपूर्वकं प्राणनिरोधः कुम्भकः।
H.P.J.002/008
...बन्धपूर्वकं कुम्भकं पुनर्भूयश्चन्द्रेणेडया रेचयेत्।
H.P.J.002/012
बन्धपूर्वकं...प्राणायामस्थैर्यं...प्राणो ब्रह्मरन्ध्रं गच्छति।
H.P.J.002/016
आहारादि...जालन्धरादिबन्धयुक्तिविशिष्टः प्राणायामो...।
H.P.J.002/018
युक्तं...जालन्धरबन्धादियुक्तं बध्नीयात् कुम्भयेत्।
H.P.J.002/041
विधिवत् प्राणसंयामैरासनजालन्धरबन्धादिविधियुक्त...।
H.P.J.002/045
जालन्धर इत्यभिधा नाम यस्य स जालन्धरभिधो बन्धः...।
H.P.J.002/045
...बध्नाति प्राणवायुमिति बन्धः।
H.P.J.002/045
कण्ठाकुञ्चनपूर्वकं चिबुकस्य हृदि...जालन्धरबन्धः...।
H.P.J.002/045
प्रयत्न...नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबन्धः।
H.P.J.002/046
...जालन्धरबन्धे कृते सतीत्यर्थः।
H.P.J.002/046
...अधःप्रदेशादाकुञ्चनेनाधाराकुञ्चनेन मूलबन्धेनेत्यर्थः।
H.P.J.002/046
...तेनोड्डियानबन्धेनेत्यर्थः।

H.P.J.002/046
...जिह्वाबन्धपूर्वकेन जालन्धरबन्धेनैव प्राणायामः...।
H.P.J.002/046
...लक्षणानि जायन्त इति मूलबन्धोड्डियानबन्धौ...।
H.P.J.002/046
तयोर्जिह्वाबन्धपूर्वकेण जालन्धरबन्धेनान्यथा...।
H.P.J.002/046
जिह्वाबन्धो न विदितश्चेद् 'अधस्तात् कुञ्चनेन'...।
H.P.J.002/046
ज्ञेयोऽपि बन्धा गुरुमुखाज्ज्ञातव्याः।
H.P.J.002/046
मूलबन्धस्तु सम्यगज्ञातो नानारोगोत्पादकः।
H.P.J.002/046
...मूलबन्धे कृते धातुक्षयो विष्टम्भोऽग्निमान्द्यं...।
H.P.J.002/046
...गुटिकासमूहाकारमजस्येव पुरीषं स्यात् तदा मूलबन्धः...।
H.P.J.002/046
...नादाभिव्यक्तिश्च स्यात् तदा ज्ञेयं मूलबन्धः सम्यग्...।
H.P.J.002/047
...पूरकान्ते तु कर्तव्य इत्यनेन बन्धानां काल उक्तः।
H.P.J.002/047
अधस्तात् कुञ्चनेनेत्यनेन बन्धानां स्वरूपमुक्तम्।
H.P.J.002/047
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्येत्यनेन बन्धानां फलमुक्तमिति...।
H.P.J.002/047
जालन्धरबन्धे भवत्येवेत्यस्मिन् श्लोकेनोक्तः।
H.P.J.002/047
मूलबन्धे जालन्धरबन्धे च कृते नाभेरधोभाग...।
H.P.J.002/047
...बन्धः स्वयमेव भवति, इति।
H.P.J.002/048
...सिद्धासनमेव...बन्धनेन सम्पाद्यैव कृत्वैवेत्यर्थः।
H.P.J.002/048
बद्धाभ्यासे सिद्धपीठं कुम्भकाबन्धपूर्वकम्।
H.P.J.002/048
सूर्यभेदनमभ्यस्य बन्धपूर्वकमेकधीः।
H.P.J.002/053
गच्छता तिष्ठता तु बन्धरहितः कर्तव्यः।
H.P.J.002/069
...जालन्धराख्यं बन्धं बद्ध्वा शनैर्मन्दं मन्दं रेचयेत्।

H.P.J.003/011
कण्ठे कण्ठदेशे बन्धं बन्धनं सम्यगारोप्य कृत्वा।
H.P.J.003/022
...तस्यां राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धस्तदुपरिभागस्य सम्बन्धः...।
H.P.J.003/023
अयं तु राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धस्तु सर्वांश...।
H.P.J.003/023
महाबन्धस्य फलमाह-अयं खल्विति।
H.P.J.003/023
अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महाबन्धः, महासिद्धीः...।
H.P.J.003/036
...तया बन्धो बन्धनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति।
H.P.J.003/055
उड्डीयानबन्धं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह-बद्ध इति।
H.P.J.003/055
यतो यस्माद्धेतोर्येन बन्धेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्नायां...।
H.P.J.003/055
...बन्धो योगिभिर्मत्यस्येन्द्रादिभिरुड्डीयनमाख्याभिधा...।
H.P.J.003/056
...बन्धादविश्रान्तं यथा स्यात् तथोड्डीनं विहङ्गमगतिं कुरुते।
H.P.J.003/056
तदेव बन्धविशेषमुड्डीयाननामकं स्यात्।
H.P.J.003/056
तत्र तस्मिन् विषये बन्धोऽभिधीयते...।
H.P.J.003/056
...बन्धस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः।
H.P.J.003/057
उड्डीयानबन्धमाह-उदर इति।
H.P.J.003/057
...नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्तानतरूप उड्डीयान...बन्धः।
H.P.J.003/060
सर्वेषां षोडशाधारबन्धानां मध्ये उड्डियानकः उड्डियानबन्ध...।
H.P.J.003/060
उत्तमः उत्कृष्टः, हि यस्मादुड्डियाने बन्धे दृढे सति...।
H.P.J.003/061
मूलबन्धमाह-पार्ष्णिभागेनेति।
H.P.J.003/061
...मूलबन्धोऽभिधीयते कथ्यते।

H.P.J.003/062
योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबन्धं मूलस्य मूलस्थानस्य...।
H.P.J.003/062
अनेन मूलबन्धशब्दार्थ उक्तः।
H.P.J.003/063
अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबन्धमाह-गुदमिति।
H.P.J.003/064
अथ मूलबन्धगुणानाह-प्राणापानाविति।
H.P.J.003/064
नादोऽनाहतध्वनिः बिन्दुरनुस्वारस्तौ मूलबन्धेनैकतां...।
H.P.J.003/065
सततं मूलबन्धनाद् मूलबन्धमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं...।
H.P.J.003/069
...तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबन्धो...।
H.P.J.003/070
जालन्धरबन्धमाह-कण्ठमिति।
H.P.J.003/070
...चुबुकस्थापनरूपो जालन्धर...जालन्धराख्यो...बन्धः।
H.P.J.003/071
जालन्धरपदस्यार्थमाह-बध्नातीति।
H.P.J.003/071
...जालन्धरो जालन्धरनामकोऽन्वर्थो बन्धः...।
H.P.J.003/072
...जालन्धरसंज्ञके बन्धे कृते सति, पीयूषममृतमग्नौ...।
H.P.J.003/073
...इडापिङ्गले स्तम्भयेद् बन्धयेद्, अयं जालन्धर इति...।
H.P.J.003/074
...उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बन्धं कारयेत् कुर्यात्।
H.P.J.003/074
जालन्धरबन्धेनेत्यर्थः।
H.P.J.003/076
इदं पूर्वोक्तं बन्धत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबन्धेष्वतिप्रशस्तं...।
H.P.J.004/072
...जालन्धरबन्धे-'मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम्'।
H.P.J.004/092
नाद एव बन्धः बध्यतेऽनेनेति बन्धः बन्धनसाधनं तेन...।
V.S.003/037
हस्ताभ्यां बन्धयेत् सम्यक्कर्णादिकरणानि च।
V.S.003/043
जङ्घोर्वोरन्तरे तत्र निश्छिद्रं बन्धयेद्दृढम्।
V.S.004/017
ध्यानमेव हि जन्तूनां कारणं बन्धमोक्षयोः।
Y.S.059
ततः स्यात्खेचरीमुद्रा बन्धो जालन्धरस्तथा।
Y.S.275
जालन्धरो बन्ध एष अमृतद्रवपालकः।
Y.T.005
बन्धः कुतो दारुणकालपाशात्।
Y.T.014
न दृष्टिलक्षाणि न चित्तबन्धो।

बन्धत्रय

H.P.J.001/042
...बन्धत्रयं मूलबन्धोड्डीयानबन्धजालन्धरबन्ध...।
H.P.J.002/046
...कृतेन बन्धत्रयेण प्राणो वायुर्ब्रह्मनाडिं सुषुम्नां...।
H.P.J.003/074
उक्तस्य बन्धत्रयस्योपयोगमाह-मूलस्थानमिति।
H.P.J.003/076
इदं पूर्वोक्तं बन्धत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबन्धेष्वतिप्रशस्तं...।
Y.T.005
बन्धत्रयेऽस्मिन्परिचीयमाने।
Y.T.008
बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां...।

बन्धन

B.Y.Y.002/156
विदित्वा मुच्यते क्षिप्रं जन्मसंसारबन्धनात्।
H.P.J.003/011
कण्ठे कण्ठदेशे बन्धं बन्धनं सम्यगारोप्य कृत्वा।
H.P.J.003/011
...योनिसम्पीडनेन जिह्वाबन्धनेन च चरितार्थ इति...।
H.P.J.003/022
किं तदित्याह-अत्र जालन्धरबन्धे कण्ठस्य बन्धनं बन्धः...।
H.P.J.003/024
कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबन्धो बन्धनं...।
H.P.J.003/036
...तया बन्धो बन्धनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति।
H.P.J.003/052
अन्यथा सुकरणबन्धनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धौ...।

बद्धपक्षीश्वरासन

H.R.003/018
रुत्रासनं चित्रपीठं बद्धपक्षीश्वरासनम् ।

बद्धपद्म

H.R.003/084
सिद्धे वा बद्धपद्मे वा स्वस्तिकेवाभवासने ।

बद्धपद्मासन

G. P.001/096
बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
G. P.002/007
बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुंशिवम् ।

बद्धपर्यङ्क

Y.Y.009/032
अथवा बद्धपर्यङ्के शिथिलीकृतविग्रहे ।

बद्धमत्स्येन्द्र

H.R.003/059
करेण बन्धयेत्तं तु बद्धमत्स्येन्द्रमासनम् ।

बन्ध

A.P.030
कण्ठे बन्धं समारोप्याधाराद्वायुमूर्ध्वतः ।
A.Y.001/020
सर्वाभ्यास विचित्रबन्ध करणाद्यज्ञानयोगः परः ।
A.Y.002/079
बन्धाय विषयासङ्गि मुक्तये निर्विषयं मनः ।
A.Y.002/079
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
G. P.001/078
उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो निगद्यते ।
G. P.001/079
ततो जालन्धरो बन्धो कण्ठदुःखौघनाशनः ।
G. P.001/080
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
H.R.002/008
पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
H.R.002/033
उड्डियाणं मूलबन्धो बन्धो जालन्धराभिधः ।
H.R.002/039
कण्ठे बन्धं समारोप्य पूरयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
H.R.002/055
उड्डीयाणो ह्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ।
H.R.002/064
बन्धो जालन्धरस्त्वेष विद्यते येन मारुतः ।
H.R.002/066
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन बन्धं जरायुतं ।
H.R.003/008
बन्धकरसम्पुटित शुद्धपद्मं चतुष्टयम् ।
Y.B.121
पूरकान्तेऽपि कर्त्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
Y.B.123
बन्धो जालन्धराख्योयममृताव्ययकारकः ।
Y.M.051
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ।
Y.R.087
उड्डियानो भवेद्बंधः प्राणोड्डयनकारकः ।
Y.R.088
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तः शिराजालनिरोधकः ।
Y.R.094
उड्डियाने कृतेबन्धे मूलबन्धोपि जायते ।
Y.V.015
बन्धमुद्रा कृतास्सर्वे नासाग्रे तु सुलोचनम् ।

बन्धचूली

H.R.003/016
आकारितं बन्धचूली पार्श्वकुक्कुटमेव च ।

बन्धत्रय

Y.B.100
बन्धत्रयेण संयुक्तः केवलः प्राप्तिकारकः ।
Y.B.113
बन्धत्रयमथेदानीं प्रवक्ष्यामि यथार्थवत् ।
Y.B.114
बन्धत्रयमिदं कार्यं वक्ष्यमाणं मया स्फुटम् ।
Y.R.089
बन्धत्रयमिदं योगे योगिनामुपकारकम् ।
Y.R.090
ज्ञात्वा बन्धत्रयं योगी कुण्डलीं बोधयेत्ततः ।

बन्धत्रितय

H.R.003/032
बन्धत्रितयसंस्थानं कुरुते चासनोत्तमम् ।

बन्धन

A.Y.002/082
अमनस्केक्षणात्क्षीणं कामक्रोधादिबन्धनम् ।
G. P.001/056
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् ।
Y.M.045
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदायिका ।
Y.R.102
येन याता विमुच्यन्ते जन्मसंसारबन्धनात् ।
Y.R.138
सर्वतो विनियम्यैकदेशे चित्तस्य बन्धनम् ।

बन्धपिण्ड

H.R.003/009
दण्डपार्श्वं च सहजं बन्धपिण्डं मयूरकम् ।

बन्धमत्स्येन्द्र

H.R.003/011
मत्स्येन्द्रं पार्श्वमत्स्येन्द्रं बन्धमत्स्येन्द्रमेव च ।

बन्धमोक्ष

Y.Y.009/001
ध्यानमेव हि जन्तूनां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बन्धविनाश

Y.Y.012/042
योगामृतं बन्धविनाशहेतुं समाधिमास्ते...।

बन्धहारिणी

Y.R.218
जीवन्मुक्तिरियं प्रोक्ता जीवतां बन्धहारिणी ।

बन्धु

S.SV.092
गुरुबन्धुनृपामात्येष्वन्येषु शुभदायिनी ।
S.SV.325
तयोर्द्वयोर्बन्धुवृद्धिपत्तिः पक्षक्षये...।
Y.Y.001/065
अर्थहानौ च बन्धूनां वियोगेष्वपि सम्पदाम् ।

बन्धुदर्शन

S.SV.106
विद्यारम्भादिकार्येषु बान्धवानां च दर्शने ।

बन्धुनाश

S.SV.359
दक्षिणे बन्धुनाशो हि मृत्युं मासं विनिर्दिशेत् ।

बल

H.R.002/059
अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
H.R.002/086
वायुसञ्चारणे जाते ऊर्ध्वमाकृष्यते बलात् ।
S.K.S.048
बलात्कृतं कार्यकारि रोगजं दुःखदं मतम् ।
S.K.S.050
नाभ्यां द्वीयेत्कर्फ यत्र तद्धि प्राणबलेन तु ।
S.K.S.134
मूलेन नलिकां दत्वा जलमाकर्षयेद्बलात् ।
S.SV.019
साकारे वा निराकारे शुभं वायुबलात्कृतम् ।
S.SV.022
शत्रुं हन्यात्स्वरबले तथा मित्रसमागमः ।
S.SV.022
लक्ष्मीप्राप्तिः स्वरबले कीर्तिःस्वरबले सुखम् ।
S.SV.023
कन्याप्राप्तिः स्वरबले स्वरतो राजदर्शनम् ।
S.SV.024
स्वरेण गम्यते देशो भोज्यं स्वरबले तथा ।
S.SV.024
लघु दीर्घं स्वरबले मलं चैव निवारयेत् ।
S.SV.030
प्राप्ते स्वरबले शुद्धे सर्वमेव शुभं फलम् ।
S.SV.270
स्वरज्ञानिबलादग्रे निष्फलं कोटिधा भवेत् ।
S.SV.271
दश शतायुतं लक्षं देशाधिपबलं क्वचित् ।
S.SV.271
शतक्रतुसुरेन्द्राणां बलं कोटिगुणं भवेत् ।
S.SV.371
समस्तु वायुर्विज्ञेयो बलतेजोविवर्धनः ।

क्षीयते-लीयते-इति, उक्तं हि मनुना—'दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहादि'ति। "प्राणायामैर्दहेद् दोषानि"ति च। उक्तं चाऽऽगमिभिः-'तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्ये'ति ॥ ५२ ॥

किञ्च—

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

प्राणायामाऽभ्यासात् मनसोऽन्तःकरणस्य धारणासु योग्यता भवतीति, प्राणायामो हि मनः स्थिरीकुर्वन् धारणासु योग्यतां मनसो नयति। इदञ्च विशेषतोऽवधेयम्—प्राणायामस्थैर्ये सति ततः सच्चिदानन्दब्रह्मप्राप्त्युपायात्मिकायाः सुषुम्णाया अग्रभागे सुषुम्णाद्वारमावृत्य सुप्ता या 'ईश्वरी'नामकुण्डली तामुन्निद्रां विधापयितुं महामुद्रादीनामभ्यासः कर्तव्यः। उक्तं च="सशैलवनधात्रीणां यथाऽऽधारोऽहिनायकः। सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाऽऽधारो हि कुण्डली ॥ "सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली। तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥ "सुषुम्णा, शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्रं, महापथः। श्मशानं, शांभवी, मध्यमार्ग–श्चेत्येकवाचकाः॥ "तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्। ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ "महामुद्रा, महाबन्धो, महावेधश्च, खेचरी। उड्यानं, मूलबन्धश्च, बन्धो जालन्धराऽभिधः ॥ "करणी विपरीताख्या, वज्रोली, शक्तिचालनम्। इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशकमि'ति ॥

(१) अथ 'महामुद्रा' यथा—'पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम्। प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढम् ॥ कण्ठबन्धं समारोप्य धारयेद् वायुमूर्ध्वतः। यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्। तदा सा मरणाऽवस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः। महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ "इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता। महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ॥ "महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः" ॥ "चन्द्राङ्गे हि समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत्। यावत्तुल्या भवेत् संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः। अपि भुक्तं विषंघोरं पीयूषमिव जीर्यति ॥ क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः। तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम्। गोपनीया प्रयत्नेन न देयाऽपात्रतायुजे ॥ (२) अथ महाबन्धः 'पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्। वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम्।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेद-निलं शनैः । सव्याऽङ्गे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ मतमत्र तु केषाञ्चित् कण्ठबन्धं विवर्जयेत् । राजदन्तस्थजिह्वाया बन्धशस्तो भवेदिति ॥ अयन्तु सर्व-नाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः । अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥ कालपा-शमहाबन्धविमोचनविचक्षणः । त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ रूपलाव-ण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना । महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जिता''-विति ॥ (३) अथ महावेधमुद्रा—'महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः । वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥ समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताड-येच्छनैः । पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ सोमसूर्याग्निसम्बन्धी जायते चाऽमृताय वै । मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ महावेधोऽयमभ्या-सान्महासिद्धिप्रदायकः । वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ एतत्त्रयं महा-गुह्यं जरामृत्युविनाशकम् । वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने । पुण्यसंभारसन्धायि पापौघभिदुरं सदा ॥ सम्यक् शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनमि'ति ॥ (४) अथ 'खेचरी'मुद्रा— 'कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा । भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ छेदनचालनदोहैः कलाक्रमेण वर्धयेत् तावत् । सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरी सिद्धिः ॥ स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् । समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् । पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् । षण्मा-साद् रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ॥ कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोज-येत् । सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ रसनां मूर्धगां कृत्वा क्षणा-र्धमपि तिष्ठति । विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा । न च मूर्च्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेच-रीम् ॥ चित्तं चरति खे यस्माज् जिह्वा चरति खे गता । तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः । न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥ चालितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्ड-लम् । व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः । मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ नित्यं सोम-कलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः । तक्षकेणाऽपि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः । तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु । चन्द्रात् स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं,-जिह्वारसस्पन्दिनी । साक्षारा

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कटुकाम्लदुग्धसदृशी, मध्वाज्यतुल्या तथा ॥ व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्रागमोदीरणं । तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥ मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठात् । ऊर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ॥ उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेत् । निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥ यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं तस्मिन्तत्त्वं प्रवहति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥ चन्द्रात् सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां तद्बध्नीयात् सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥ सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् । तिष्ठति खेचरीमुद्रा तस्मिंच्छून्ये निरञ्जने ॥ एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी । एको देवो निरालम्बो ह्येकावस्था मनोन्मनी ॥ (५) अथोड्डीयानबन्धमुद्रा—'बद्धो येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः । तस्मादुड्डीयनाऽऽख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ उड्डीनं कुरुते यस्माद् विश्रान्तं महाखगः । उड्डीयानं तदेव स्यात् तत्र बन्धोऽभिधीयते । उदरं पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् । उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा । अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ नाभेरूर्ध्वमधश्चाऽपि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः । षण्मासमभ्यसेत् मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डीयानकः । उड्डीयाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेदिति ॥ (६) अथ मूलबन्धमुद्रा—'पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् । अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥ अधोगतिमपानं वा ह्यूर्ध्वगं कुरुते बलात् । आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥ गुदं पार्ष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात् । वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ प्राणाऽपानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नाऽत्र संशयः ॥ अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः । युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम् । तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥ देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् । त्रिकोणन्तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥ मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥ ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणश्चोष्णस्वरूपकः । तेनाऽत्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलते देहजस्तथा ॥ तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते । दण्डाहता भुजंगीव निःश्वस्य ऋजुतां मजेत् ॥ बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् । तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदे'ति ॥ (७) अथ जालन्धरमुद्रा—'कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् । बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् । ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ जाल-

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

न्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे । न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम् । मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाऽऽधार-बन्धनम् ॥ अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिङ्गनाभयः । हृद्ग्रीवाकण्ठदेशाश्च लम्बिका नासिका तथा ॥ भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरन्ध्रकम् । एते हि षोडशा-धाराः कथिता योगिपुङ्गवैः ॥ मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् । इडां च पिंगलां बध्वा वाहयेत् पश्चिमे पथि ॥ अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् । ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवि-तम् । सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ (८) अथ विपरीतकरणीमुद्रा-'यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः । तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ॥ वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः । करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ॥ तत्राऽस्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवन्दनम् । गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी । करणी विपरीतात्मा गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धिनी । आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ॥ अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् । अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ क्षणाच्च किञ्चिदधिक-मभ्यसेच्च दिने दिने । वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥ याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ॥ (९) अथ वज्रोली मुद्रा-'स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना । वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् । क्षीरं चैकं द्वितीयन्तु नारी च वशवर्तिनी ॥ मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाऽऽकुंचनमभ्यसेत् । पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमा-प्नुयात् ॥ यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे । शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसं-चारकारणात् ॥ नारीभागे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् । चलितं न स्वस्य बिन्दु-मूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् । मरणं बिन्दु-पातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् । यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावत् कालभयं कुतः ॥ चित्ताऽऽयत्तं नृणां शुक्रं शुक्राऽऽ-यत्तं च जीवितम् । तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ऋतुमत्या रजोऽ-प्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् । मेढ्रेणाऽऽकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ सह-जोली चामरोली वज्रोल्या भेद एकतः । जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ वज्रोली मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम् । आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापा-रयोः क्षयात् ॥ सहजोलीतिसा प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा । अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ अथाऽमरोली-'पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाऽम्बुधारां विहाय

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निःसारतयाऽन्त्यधारा । निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली'ति॥ (१०) अथ शक्तिचालनी मुद्रा-'कुटिलाङ्गी, कुण्डलिनी, भुजङ्गी, शक्तिरीश्वरी । कुण्डल्यरुन्धती, चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् । कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् । मुखेनाऽऽच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् । बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥ कुण्डली कुण्डलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता । सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नाऽत्र संशयः ॥ गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् । बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी । इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा तु कुण्डली ॥ पुच्छे प्रगृह्य भुजंगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च तां । निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रं । प्रपूर्य सूर्यात् परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रन्तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् । मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ॥ सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् । गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् । कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ भानोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत् ततः । मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ । ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णायां समुद्गता ॥ तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णायां मुखं ध्रुवम् । जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ॥ तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् । तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् । किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने । कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनाद् ऋते ॥ इति मुद्रा दश प्रोक्ता योगीश्वरेण शम्भुना । एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी । तदेवं प्रसङ्गतः प्राणायामसंसाध्या मुद्राः शरीरशुद्धिप्रदा अनेकैश्वर्यप्रदाश्च संवर्णिता इति ॥ ५३ ॥

अथ प्रत्याहारं निरूपयति—

स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्वरूपाऽनुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

मोहनीयरञ्जनीयकोपनीयैः स्वस्वविषयैर्न संप्रयुज्यते चित्तं यदा तदेन्द्रियान्तःकरणान्यपि न संप्रयुज्यन्ते विषयैः, अतएव चित्तं स्वस्वरूपेऽवतिष्ठते, तदानीमिन्द्रियाण्यपि चित्तेऽभिनिविशन्तेऽतश्चित्तस्वरूपाकारत्वमिन्द्रियाणां भवति, स चायं

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मात्रेति द्वादश मात्रा नादबिन्दावुक्ताः 'घोषिणी प्रथमा मात्रा' इत्यादिना तत्रैव द्रष्टव्याः। प्रणवेन शनैः शनैरुच्चारितेन वायुं पूरयेत्। कीदृशेन मात्राः अकारोकारमकारार्धमात्राख्याश्चतस्रस्तासां प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रो मात्रा घोषिण्यादयो भूमिपत्यादिफला द्वादश, तासां योगश्चिन्तनं यस्मिंस्तेन प्रणवेन पूरयेत्। यदा द्वादशभिः प्रणवैः पूरणं तदाष्टचत्वारिंशद्भिः कुम्भनं, चतुर्विंशतिभी रेचनम्। यदा तु षोडशभिः पूरणं तदा चतुष्षष्टिभिः कुम्भनं द्वात्रिंशद्भी रेचनम्। यदा त्वष्टभिः पूरणं तदा द्वात्रिंशद्भिः कुम्भनं षोडशभी रेचनमिति विवेकः। सर्वमात्मानं न तु कतिपयाङ्गनिरोधेनोपविशेत्। तथा सति वायुवैषम्यं स्यात्। सर्वद्वारान् सर्वद्वाराणीत्यर्थः। अधोद्वारे आकुञ्चनमूलबन्धाभ्यामूर्ध्वद्वाराणि जालन्धरबन्धेन। उरोमुखकटिग्रीवमुन्नतं धारयेदिति शेषः। तदुक्तं गीतासु—'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम्' इति। हृदयं किञ्चिदुन्नतं धारयेत्, अनेन जालन्धरबन्धः सूचितः।

'कूर्माऽङ्गानीव' से प्रत्याहार कहा गया है। कहा भी गया है कि विषयों में स्वभावतः विचरण करने वाले इन्द्रियों को बलपूर्वक रोकना ही प्रत्याहार कहलाता है।

आन्तर प्रत्याहार सिद्धि के लिये मन को नियन्त्रित करना चाहिये; क्योंकि मन के नियन्त्रित न होने से दोष का स्मरण होता है। कहा भी है कि कर्मेन्द्रियों को नियन्त्रित करके इन्द्रिय विषयों को मन से जो विमूढ़ प्राणी स्मरण करता है, वह मिथ्याचार कहलाता है।

प्रणव का उच्चारण करते हुए धीरे-धीरे पूरक करे। जब बारह प्रणवों से पूरक करे तो अड़तालीस प्रणव से कुम्भक करे और चौबीस प्रणव से रेचक करे। जब सोलह प्रणव से पूरक करे तो चौंसठ प्रणव से कुम्भक और बत्तीस प्रणव से रेचक करे। जब आठ से पूरक करे तो बत्तीस से कुम्भक और सोलह से रेचक करे। अधोद्वार के आकुंचन से मूल बन्ध और ऊर्ध्व द्वार के आकुंचन से जालन्धर बन्ध करे। छाती मुख कटि गर्दन सीधा रखे। गीता में भी कहा है कि शरीर, शिर एवं गर्दन को सीधा रखकर अचल होकर स्थित रहे। हृदय को कुछ उच्च रखे। इससे जालन्धर बन्ध सूचित होता है।

जालन्धरबन्धः

स यथा—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्। बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताक्षयकारकः ॥ इति।

सञ्चारयेत् पूरकमात्राभिस्तस्मिन् हृदये। नासेति तेन मुखेन पूरकरेचकौ निषिद्धौ, मुखेनैव पूरणे शिरानैर्मल्यासिद्धेः। भूत्वेति प्राणस्तत्र सर्वशरीरे गतः प्रविष्टो भूत्वा तिष्ठतीति शेषः, एतेन कुम्भक उक्तः। स च पूरकमात्रापेक्षया चतुर्गुणाभिर्मात्राभिः कार्यः। अथ रेचकमाह शनैरिति। समुत्सर्जनं च पूरणापेक्षया द्विगुणाभिर्मात्राभिः। शीघ्रोत्सर्जने विमार्गे वायुर्गच्छेत्। स्थिरेति स्थिराभिरेकरूपाभिर्मात्राभिर्दृढं स्थिरं प्राणं कृत्वा केवलकुम्भके सिद्धे इत्यर्थः। ततो धारणाभिः प्रत्याहारमभ्यसेदित्याह अङ्गुष्ठे इत्यादिना। अङ्गुष्ठे इत्यादौ जातावेकवचनम्। अङ्गुष्ठयोर्गुल्फयोर्जङ्घयोरित्यादि बोद्धव्यम्। अङ्गुष्ठयोर्धारणे कुर्वीतेत्यन्वयः, द्वे तु, धारणे कुर्यादित्यर्थः। त्रयस्त्रय इति (जङ्घे प्राप्य) आद्यन्तमध्येषु निरोधाः कर्तव्या इति शेषः। जानुनि आद्यन्तयोरूरुभ्यां साधनाभ्यां ऊर्वोरपि तथा द्वे इत्यर्थः। गुदेति मूलाधारे स्वाधिष्ठाने चाद्यन्तमध्येषु निरोधः। वायोरिति, अत्र नाभिदेशे वायोरायतनं मुख्यं स्थानमस्ति। तच्च धारणया समाश्रयेदित्यर्थः। तत्रेति, तत्र नाभौ सुषुम्ना मध्यनाडी बहुभिर्द्वासप्ततिसहस्त्रैर्वृता। मूलं तु तस्याः कन्दमध्ये कन्दस्तु—'गुदध्वजान्तरे कन्दमुत्सेधादद्व्यङ्गुलं विदु'रित्युक्तः। 'गुदमेढ्रान्तरे यद्वै—वेणुकन्दं तदुच्यते' इति च। वेणुः सुषुम्ना सा च षट्चक्रवती मूलाधारदण्डान्तर्विवरगता मूर्धानं भित्त्वा ब्रह्मलोकान्तं निर्गता। यच्छान्दोग्ये—'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका' इति। नाभेरूर्ध्वं तु चक्रानुक्रमेण धारणा मूर्धान्तं द्रष्टव्या। उक्तं च योगियाज्ञवल्क्येन—

मर्मस्थानानि सिद्ध्यर्थं शरीरे योगक्षेमयोः। तानि सर्वाणि वक्ष्यामि यथावच्छृणु सुव्रते ॥१॥

कण्ठ को सिकोड़ते हुये चिबुक को दृढ़तापूर्वक हृदय पर स्थापित करना ही जालन्धर बन्ध कहलाता है; यह अमृत को अक्षय रखने वाला होता है। अर्थात् अमरत्व प्रदान करने वाला होता है।

पूरक मात्रा का हृदय में सञ्चार करे। नाक से पूरक-रेचक करे, मुख से नहीं; क्योंकि मुख से पूरक करने से शिर निर्मल नहीं होता। प्राण सारे शरीर में प्रविष्ट होकर स्थित रहता है, इसीलिये इसे कुम्भक कहते हैं। उसे सामान्य पूरक से चौगुना अधिक मात्रा में करना चाहिये। रेचक धीरे-धीरे करे। रेचक पूरक के दुगुनी मात्रा में करे। शीघ्र उत्सर्जन करने से वायु विमार्ग में जाता है। स्थिर रूप से एक समान मात्रा से प्राण को स्थिर दृढ़ करके कुम्भक सिद्ध होने पर धारणा से प्रत्याहार का अभ्यास मूलाधार गुदा और लिङ्ग के मध्य में करना चाहिये। वेणु सुषुम्ना को कहते हैं और वह षट्चक्रवती मूलाधार दण्ड के भीतर विवरगत मूर्धा को भेद कर ब्रह्मलोक तक जाता है। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि शरीर के योगक्षेम के लिये मर्मस्थानों का सिद्ध होना आवश्यक है।

मर्मस्थानसंख्यादि

मर्मस्थानसंख्या तु—

पादाङ्गुष्ठौ तु गुल्फौ च जङ्घामध्यौ तथैव च। तयोर्मूलं च जान्वोश्च मध्ये चोरूभयस्य च ॥२॥
पायुमूलं ततः पश्चान्मध्यदेहश्च मेढ्रकम्। नाभिश्च हृदयं गार्गि कण्ठकूपस्तथैव च ॥३॥
तालुमूलं च नासाया मूलं चाक्ष्णोश्च मण्डले। भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च प्रोक्तानि मुनिसत्तमैः ॥४॥
मर्मस्थानानि चैतानि.......................। इति।

एतेषु च तत्रैव धारणोक्ता—

स्थानेष्वेतेषु मनसा वायुमारोप्य धारयेत्। स्थानात्स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारं प्रकुर्वतः ॥१॥
सर्वे रोगाश्च नश्यन्ति योगाः सिध्यन्ति तस्य च। इति।

प्रपञ्चसारेऽपि (१९.५१)—

अङ्गुष्ठगुल्फजानुद्वितयं च गुदं च सीवनी मेढ्रम्। नाभिर्हृदयं ग्रीवा सलम्बिकाग्रं तथैव नासा च ॥१॥
भ्रूमध्यललाटाग्रं सुषुम्नाग्रं द्वादशान्तमित्येवम्। उत्क्रान्तौ परकायप्रवेशने चागतौ च पुनः स्वतनौ ॥२॥
स्थानानि धारणायाः प्रोक्तानि मरुत्प्रयोगविधिनिपुणैः। इति।

अङ्गुष्ठादूर्ध्वमारोहे फलमिदमुक्तम्। मूर्ध्नोऽङ्गुष्ठपर्यन्तावरोहेऽपि च धारणानां फलमुक्तम्—
स्थानात् स्थानं समाकृष्य यस्त्वेवं धारयेत्सुधीः। सर्वपापविशुद्धात्मा जीवेदाचन्द्रतारकम् ॥ इति।

अणुरक्ताश्चेत्यादीनां नाडीनां विशेषणम्। तदुक्तं छान्दोग्ये—'अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य' इति। अणवश्च ता रक्ताश्चेति समासः। एवं केवलकुम्भके सिद्धे प्राणमनसोः स्थानविशेषेषु प्रत्याहारमभ्यस्य धारणासिद्धये सुषुम्नायां प्राणमनसोः प्रवेशः कर्तव्यः। तत्रोपायः—मूलोड्याणजालन्धरबन्धैः शक्तिचालनेन त्वपानमूर्ध्वमाकुञ्च्य तेन देहमध्ये अग्निं प्रज्वाल्य तज्ज्वालया कुण्डलिनीं प्रताप्योद्बोध्य ब्रह्मनाडीद्वारमध्यस्थतन्मुखप्रसारणेन तत्र वायुमनोवह्नीन् प्रवेशयेदित्याशयेन आह—अतिसूक्ष्मामिति। तत्र जालन्धरबन्ध उक्तः।

पैर के अंगूठे, दोनों गुल्फ, जंघाओं का मध्य भाग, जंघाओं का मूल, दोनों जानुयें, दोनों ऊरुयें, पायुमूल, देह का मध्य भाग, मेढ़्र, नाभि, हृदय, कण्ठकूप, तालुमूल, नासिकामूल, अक्षिमण्डल, भौंहों का मध्य भाग एवं ललाट—ये सभी मर्मस्थान कहे गये हैं। इतने ही मर्मस्थानों में धारणा करनी चाहिये। याज्ञवल्क्य ने ही कहा है कि उपर्युक्त मर्मस्थानों में मनसा वायु को आरोपित करके धारणा करे। तदनन्तर एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाते हुये प्रत्याहार का साधन करने से समस्त रोग नष्ट होते हैं एवं साधक का योग भी सिद्ध होता है।

प्रपञ्चसार में भी कहा है कि दोनों अंगुष्ठ, दोनों गुल्फ, दोनों जानु, गुदा, सीवनी, मेढ्र, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कण्ठ, नासा, भ्रूमध्य, ललाट का अग्र भाग, सुषुम्ना का अग्र भाग—ये बारह ही दूसरे शरीर में प्रवेश करने हेतु एवं पुन: अपने शरीर में आने हेतु प्राण के स्थान हैं। इन्हीं स्थानों की धारणा वायु के प्रयोग में निपुण लोग करते हैं। अंगूठे से ऊपर ऊर्ध्व आरोह में यह फल कहे गये हैं। मूर्धा से अंगुष्ठपर्यन्त अवरोहक्रम में धारणा का फल बताते हुये कहा गया है कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर खींच कर वायु को जो धारण करता है, वह समस्त पापों से रहित विशुद्धात्मा होकर आकाश में चन्द्र-ताराओं की स्थितिपर्यन्त जीवित रहता है।

केवल कुम्भक-सिद्धि में प्राण और मन के स्थान विशेष हैं। प्रत्याहार के अभ्यास से धारणा सिद्धि में सुषुम्ना में प्राण और मन को प्रवेश कराना चाहिये। उसका उपाय है—मूल उड्यान जालन्धर बन्ध द्वारा शक्तिचालन से अपान को ऊपर आकुञ्चित करके देह में अग्नि प्रज्वलित करे। उसकी ज्वाला से कुण्डलिनी को तपाकर उद्बुद्ध करे। ब्रह्मनाड़ी-द्वारमध्यस्थ उसके मुख पसारने पर वहाँ वायु, मन एवं वह्नि का प्रवेश करे।

उड्याणमूलबन्धशक्तिचालनानि

उड्याणं यथा—

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्। उडियाणो ह्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी॥ इति।

मूलबन्धो यथा—

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्। अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो निगद्यते॥ इति।

शक्तिचालनं यथा—

सव्यासनस्थस्य फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्।
प्रपूर्य सूर्यात् परिधानयुक्ता प्रदह्य नित्यं परिचालनीया॥ इति।

अतिसूक्ष्मां तन्वीं बालाग्रशत(सहस्रान्त)भागोपमां नाडीं सुषुम्नां समाश्रयेत्, अन्या नाडीरुत्सृज्य तत्रैव मनो रुन्ध्यादित्यर्थ:। ततस्तयेत्यर्थ:। तृतीयार्थे तसि:। तन्तुना इति प्रतियोगिनि तृतीयाश्रवणात्। सुषुम्नया प्राणान् सञ्चारयेदूर्ध्वं नयेत्। ऊर्णनाभी कीटविशेषो लूताख्य: स तन्तुना यथोर्ध्वं सञ्चरति तथा सञ्चारयेदित्यर्थ:। तत इति। तत: सञ्चारानन्तरं तद्भित्त्वा इत्यग्रतनेनान्वय:। तत् पुण्डरीकं कीदृशं रक्तोत्पलवदाभासं रक्तवर्णं, नानावर्णनाडीयोगात् रक्तता। 'पुण्डरीकं सिताम्बुजे' इति कोषात्, सितत्वेऽपि औपाधिकी रक्तता ज्ञेया। पुरुषायतनं जीवनीड: महत् सर्वावभासकत्वात्। दहरं दभ्रं सूक्ष्मरूपत्वेन पुण्डरीके हृत्पद्मे दहराख्यमाकाशं वेदान्तेषु छान्दोग्यादिषु निगद्यते पठ्यते। तद्यथा—'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं 'पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वा व विजिज्ञासितव्यम्' इति। तद्भित्त्वेति, तत्पुण्डरीकमनाहताख्यं कुण्डलिनीं मन:प्राणाग्निभिर्भित्त्वा कण्ठं विशुद्धिचक्रस्थानं अर्गलां भेत्तुमायाति जीव:। तां सुषुम्नां पूरयन् व्याप्नुवन् यत: प्रयत: सावधान: 'पूरयन् दिवि' इति पाठे दिवि इति निमित्तसप्तमी, फलमपि च निमित्तं भवति, दिव: प्राप्त्यर्थं ऊर्ध्वमारोहेदित्यर्थ:। मनसस्त्विति मन:प्रकृतिकं क्षुरं शास्त्रनिष्णातं मन एवेत्यर्थ:। सुतीक्ष्णं तर्केण घर्षणोपलेन निर्घृष्टं शाणस्थानीयया बुद्ध्या निर्मलम्। पादस्येति, ब्रह्मण: पादस्य श्रुत्यन्तरोक्तस्य पुंस्पादस्थानीयस्योपरि तदुपासनया मर्मृज्य निर्मलीकृत्य, मृजेर्यङन्तात् ल्यप् छान्दस:। ब्रह्मण: पादा यथा—'तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म वाक् पाद: प्राण: पाद: चक्षु: पाद: श्रोत्रं पाद:' इत्यध्यात्मम्। अथाधिदैवतं 'अग्नि: पादो वायु: पाद आदित्य: पादो दिश: पाद:' इत्युभयमेवादिष्टं भवति। अध्यात्मं चाधिदेवं चेति। अथवा प्रणवस्य चत्वार्यक्षराण्येव जाग्रदादिरूपाणि पादा:। 'ओमित्येतदक्षरस्य पादाश्चत्वार:' इत्यथर्वणशिखोक्ते:। तत् प्रसिद्धं रूपं भूतादिस्वरूपं नाम तद्वाचक: शब्द: तद्द्वयं ब्रह्मणो लोमस्थानीयं स्वरूपाद् बाह्यं कृन्तयेन्निवर्तयेत्, तद्विषयां वृत्तिं भूतशुद्धिमार्गेण त्यजेदित्यर्थ:। इदमेव तस्य निकृन्तनं यदविषयीकरणं मनोमयत्वात्

संसारस्य मनसानुपरक्तस्य स्वरूपाभावात्। हठपक्षे उत्तरमार्गरोधकं सग्रन्थि नाडीचक्रं छिन्द्यात्। तदुक्तम्—

नासादक्षिणमार्गवाहिपवनः प्राणातिदीर्घीकृतश्चन्द्राम्भः परिपूरितामृततनुः प्राग्घण्टिकायां तदा।
छिन्द्यात् कालविशालवह्निवशतो भ्रूरन्ध्रनाडीगणान् तत्कार्यं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नद्रुमस्कन्धवत्॥ इति।

किं कृत्वा निकृन्तयेदत आह मन इति। मनसा उपायेन नित्यशोऽभीक्ष्णं योगं जीवात्मपरमात्मनोरैक्यं पक्षान्तरे योगमुद्योगमाश्रित्य। इन्द्रेति। कीदृशं योगं इन्द्रवज्र इवेति। तथा प्रोक्तं यथा इन्द्रो वज्रेण भेद्यं भिनत्ति, एवमयं योगश्छेद्यं वासनाजालम्। इन्द्रवज्रो विद्युत् तत्तुल्यया कुण्डलिन्या नाडीजालं च छिनत्ति। पुनः कीदृशं, मर्मणो जङ्घाया अनुकीर्तनं यस्मिन् स तं जङ्घारूपं मर्म ध्यानस्थानं यत्र कथितम्। जङ्घाग्रहणमङ्गुष्ठादेरप्युपलक्षणं तुल्यन्यायत्वात्। अङ्गुष्ठादिमूर्धान्तानां मर्मणामनुकीर्तनात्। 'मर्मजङ्घानुकर्तनं' इति पाठे यथा नापितेन क्षुरस्य तैक्ष्ण्यज्ञानाय जङ्घा अनुकृत्यते मुण्ड्यते, तथाङ्गुष्ठादिमर्मस्थानानि नाडीमलापनुत्तये निर्मलीक्रियन्ते इत्यर्थः। तद्ध्यानेति, तच्छब्देन योग्यतावशाद् मर्म जङ्घादि गुणीभूतमपि परामृश्यते। तत् सनामकं मर्मादि धारणाभिः छिन्द्यात्। अथवा व्यवहितमपि रूपं नाम तच्छब्देन परामृश्यते, स एवार्थः। इममिन्द्रवज्रयोगं जिह्वायास्तालुमूले प्रवेशार्थं जिह्वामूलसूत्रकृन्तनरूपं हठयोगिनो वर्णयन्ति।

पेट को सिकोड़कर वायु को नाभि के ऊपर उठाने को उड्याण बन्ध कहा जाता है; यह मृत्यु को जीतने वाला होता है। पार्ष्णि भाग से योनि को पीड़ित कर गुदा को आकुञ्चित कर अपान वायु को ऊपर की ओर खींचना मूलबन्ध कहलाता है। सव्य आसन में स्थित होकर प्रातः एवं सायं आधा प्रहर तक कुण्डलिनी को सूर्य से परिधानयुक्त करते हुये तप्त कर प्रतिदिन परिचालन करना ही शक्तिचालन कहलाता है।

अति सूक्ष्म तन्वी बालाग्र शत भागोपम नाड़ी सुषुम्ना का समाश्रयण ग्रहण करे। अन्य नाड़ियों को छोड़कर उसी में मन को निरुद्ध करे। सुषुम्ना में प्राण का संचार करके उसे ऊपर ले आये। मकड़ी जैसे अपने ही देह से निकले सूते के सहारे ऊपर चढ़ती है, वैसे ही प्राण को संचरित करे। पुण्डरीक का भेदन करके ऊपर जाय। पुण्डरीक रक्तोत्पल-सदृश रक्त वर्ण का है, नाना वर्ण की नाड़ियों के योग से उसका लाल रंग है। हठयोग के पक्ष में उत्तर मार्गरोधक सग्रन्थि नाड़ी चक्र का छेदन करना चाहिये। कहा भी गया है कि नासिका के दाहिने छिद्र से प्रवाहित होने वाली वायु अर्थात् इड़ा नामक नाड़ी प्राणवायु को अत्यधिक विस्तारित करके चान्द्र जल अर्थात् अमृत से आप्लावित होकर स्वयं को अमृतमय बनाते हुये गले में स्थित घण्टिका के पूर्व स्थान पर स्थित कालरूपी विशाल वह्नि के वशीभूत होकर भ्रू-स्थित रन्ध्र में विस्तारित नाड़ी समूह को छिन्न-भिन्न करके कटी हुई शाखाओं वाले वृक्ष में पुनः प्रस्फुटित पल्लवों के समान ही शरीर को भी नूतन बना देती है। मनसा उपाय से मन का निकृन्तन करे। नित्य अभीक्ष्ण योग से जीवात्मा परमात्मा ऐक्य की भावना से करे। जैसे इन्द्रवज्र से मेद्य का भेदन करता है, वैसे ही इस योग से वासनाओं का उच्छेद करे। इन्द्रवज्र से निःसृत बिजली के समान कुण्डलिनी नाड़ी जाल को छिन्न करती है। यह इन्द्रवज्र योग जिह्वा तालुमूल में प्रवेश के लिये जिह्वा मूल के सूत्र को काटने की बात हठयोगी कहते हैं।

रसनामूले सिराबन्धच्छेदः

तदुक्तं खेचर्याम्—

तालुमूलं समुद्धृत्य सप्तवासरमात्मवित्। स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोषयेत्॥१॥
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्। समाधाय यतस्तेन रोममात्रं समुच्छिदेत्॥२॥
छित्त्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णं तेन प्रघर्षयेत्। पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिदेत्॥३॥
एवं क्रमेण षण्मासं नित्ययुक्तः समाचरेत्। षण्मासाद्रसनामूले शिराबन्धः प्रणश्यति॥४॥ इति।

ततो दोहनमुक्तम्।

अथ वागीश्वरीं नाम शिरोवस्त्रेण वेष्टयेत्। शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित्॥५॥ इति।

खेचरी में कहा है कि आत्मज्ञानी सात दिनों तक तालुमूल के सभी मैल को गुरु के उपदेशानुसार साफ करे। स्नुहीपत्र के समान तेज स्निग्ध निर्मल शस्त्र लेकर रोम के बराबर जिह्वामूल के सूत्र को काटे। काटने के बाद उसमें सैन्धव चूर्ण मले। फिर सात दिनों के बाद रोममात्र काटे। इस क्रम से छः महीनों में जिह्वामूल के सूत्र का छेदन हो जाता है। इसके बाद दोहन करे। शिर को वागीश्वरी नामक वस्त्र से वेष्टित करे।

ब्रह्मार्गलप्रवेशफलम्

प्रवेशोऽप्युक्तः—

यदा त्वबाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मबिलं विशेत्। तदा ब्रह्मार्गलं देवि दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ॥६॥
अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वां तत्र प्रवेशयेत्। इति।

ततो जिह्वया मथनाभ्यासात् फलमप्युक्तम्—

एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिः परमेश्वरि। शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्माविभेदतः ॥ इति।

स हठतरः पन्थाः। ऊरोरिति। ऊरुग्रहणमुत्तरोत्तरस्थानोपलक्षणम्, ऊरोर्मध्ये समनस्कं प्राणं संस्थाप्य मर्मणः प्राणस्य च विमोचनं कर्तव्यम्। 'अस्मिन् मर्मण्यहं स्थितः' इत्यभिमानं त्यक्त्वा निरालम्बस्तिष्ठेदित्यर्थः। एवं स्थानान्तरेष्वप्यूह्यम्। अथवा सर्वत्रावच्छेदेन व्यवधायकं नाड्यादि विदार्य स्थानात् स्थानान्तरे गमनं च। चतुरिति, ऊरोरुत्तरेषु चतुर्षु गुदशिश्ननाभिहृदयस्थानेषु अभ्यासयोगेन नामरूपमर्मप्राणान् छिन्देत्। अथवा चतुर्वारं चतुरावृत्त्या प्रातर्मध्याह्ने सायं निशीथे च सर्वेषु स्थानेषु अभ्यासयोगेन। नन्वेवं छेदने देहाभिमानत्यागेन देहपातः स्यादत आह—अनभिशङ्कित इति। अयं भावः—न ह्यभिमानत्यागेन देहपातो भवति, सुषुप्त्यादिषु तथादर्शनात्। ध्यानिनां चिरकालं देहावस्थानस्मृतेश्च। न वा चक्रादिभेदेनेत्यपि सा शङ्केति। तत इति, तदनन्तरं योगी कण्ठान्तरे कण्ठमध्ये नाडीसञ्चयं समूहन् सङ्गीकुर्वन् छिन्देदित्यनुषङ्गः। कियन्त्यो नाड्यः सन्तीत्यपेक्षायां मध्यमसंख्यामाह—एकेति। वरा उत्तमाः। इडा रक्षत्वेति। इडा वामेन पिङ्गला दक्षिणेन इत्येवं वक्तव्ये रक्षतु-शब्दप्रयोगः शिष्याणामाशिषे विद्यासंप्रदायोच्छेदो मा भूदिति। वरं स्थानं सुषुम्नाख्यं, तं तदधिष्ठातारं पुंलिङ्गनिर्देशात्। किं तत् स्थानं कश्च तदधिष्ठाता इत्यपेक्षायामाह—सुषुम्ना त्विति। परे परपुरुषे ब्रह्मणि लीना विरजा निर्मला ब्रह्मरूपिणी ब्रह्मस्थानत्वात् सुषुम्नैव वरं स्थानं पर एव तदधिष्ठाता इत्यर्थः। कथंभूता सुषुम्ना, नाडीषु मध्ये द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीः प्रति तैतिलमुच्छीर्षं गण्डुकम्। यथा गण्डुकाधारे उत्तमाङ्गं तिष्ठति एवं सुषुम्नाधारे सर्वा नाड्यः स्थिता इत्यर्थः। 'तैतिलो गण्डुके प्रोक्तस्तैतिलं करणान्तरे' इति विश्वः। छिद्यते इति। ध्यानयोगेन ताश्छिद्यन्ते, तासां छिन्नत्वादुच्चावचदेशेषु उत्क्रान्तौ जीवस्य गमनं भवतीत्यर्थः। यदुक्तम्—'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' इति। एका सुषुम्ना न छिद्यते, तस्याः परमसूक्ष्मत्वेन मनोविषयत्वायोग्यत्वात् मनोविषयस्यैव योगेन च्छेद्यत्वात् ऋजुतयाऽप्रतिद्वन्द्वित्वाच्च। योगनिर्मलेति, योग एव निर्मला धारा यस्य तेन क्षुरेण मनसा अनलवर्चसा पादस्योपरि मृ(घृ)ष्टत्वान्निर्मले तेजसा नाडीशतं छिन्देत्। तासां च्छेदे तत्प्रभूतस्य द्वासप्ततिसहस्रस्यापि छेद सिद्धः। धीरो धीमान्, प्रभावाद्योगसामर्थ्यात्, इहजन्मनि मनुष्यशरीरे। तैतिलेन सुषुम्नायाः सादृश्यान्तरमाह—जातीपुष्पेति। जाती मालती तस्याः पुष्पाणां समायोगैः संयोगैः कृत्वा यथा प्रसाधकास्तैतिकं गण्डुकं वास्यन्ति वासेन परिमलेन युक्तं कुर्वन्ति एवं सा नाडी शुभाशुभैर्भावैर्वास्यते इति विपरिणामः। पुष्पाधिवासाश्रयो यथा गण्डुकं भवति तथेयं नाडी वासनाश्रय इत्यर्थः। तर्हि किं कार्यमत आह—तामिति। चिन्तनफलमाह—तदिति। प्रपद्यन्ते संपद्यन्ते। तत इति, विदितं चित्तं येन स विदितचित्तः। मात्राधारेण मात्रा द्वादशादिसंख्या प्रणवमात्रास्ता एव धारा मनः क्षुरस्य स तथा, तन्तु वासनारूपं नाडीरूपं च। द्विरुक्तिर्निश्चयार्थः। समाप्त्यर्थ इतिशब्दः।

कालवेला विधान से योगी धीरे-धीरे जीभ का दोहन करे। जब बाह्य मार्ग से जीभ ब्रह्मबिल में प्रवेश करता है तब देवताओं से भी दुर्भेद्य ब्रह्म अर्गला को अंगुल्यग्र से घर्षित करके जीभ को प्रवेश करावे। इस प्रकार का अभ्यास बारह वर्षों तक करने से सिद्धि मिलती है। तब साधक अपने ही शरीर में सारे संसार को अपने से अभिन्न रूप में देखता हैं।

उत्क्रान्तिविधिः

अयमारोहप्रकार उत्क्रान्तिसमये खेचरीपटले उक्तः, यथा—

यदा तु योगिनो बुद्धिस्त्यक्तुं देहमिमं भवेत् । तदा स्थिरासनो भूत्वा मूलाच्छक्तिं समुज्ज्वलाम् ॥१॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशां भावयेच्चिरमात्मनः । आपादतलपर्यन्तं प्रसृतं जीवमात्मनः ॥२॥
संहृत्य क्रमयोगेन मूलाधारपदं नयेत् । तत्र कुण्डलिनीं शक्तिं संवर्तानलसंनिभाम् ॥३॥
जीवं निजं चेन्द्रियाणि ग्रसन्तीं चिन्तयेद्धिया । संप्राप्य कुम्भकावस्थां तडिज्ज्वलनभास्वराम् ॥४॥
मूलाधाराद् यतिर्देवि स्वाधिष्ठानपदं नयेत् । तत्रस्थं जीवमखिलं ग्रसन्तीं चिन्तयेद् व्रती ॥५॥
तडित्कोटिप्रतीकाशां तस्मादुन्नीय सत्वरम् । मणिपूरपदं प्राप्य तत्र पूर्ववदाचरेत् ॥६॥
तत्र स्थित्वा क्षणं देवि पूर्ववद्योगमार्गवित् । अनाहतं नयेद्योगी तत्र पूर्ववदाचरेत् ॥७॥
ततो विशुद्धावानीय कुण्डलीं पूर्ववच्चरेत् । उन्नीय तस्माद् भ्रूमध्ये नीरक्षीरं ग्रसेत्पुनः ॥८॥
ग्रस्तं क्षीरं महाशक्त्या कोटिसूर्यसमप्रभम् । मनसा सह वागीश्या भित्त्वा ब्रह्मार्गलं क्षणात् ॥९॥
परामृतमहाम्भोधौ विश्रान्तिं तत्र कारयेत् । तत्रस्थं परमं देवं शिवं परमकारणम् ॥१०॥
शक्त्या सह समायोज्य तयोरैक्यं विभावयेत् । इति।

खेचरी पटल में कहा गया है कि जब योगियों का शरीर बुद्धिरहित हो जाता है तब आसन स्थिर होता है। तब मूल शक्ति कुण्डलिनी करोड़ सूर्य के समान प्रकाशमान होकर चित्त और आत्मा को आलोकित करती है। आपाद तल तक फैले जीवात्मा को समेट कर क्रम से पैरों से मूलाधार में ले आये। वहाँ कुण्डलिनी संवर्त अग्नि के समान प्रज्ज्वलित होकर अपने जीव इन्द्रियों को ग्रसित कर रही है—ऐसी भावना करे। कुम्भकावस्था में विद्युत् के समान चमकती कुण्डलिनी को योगी स्वाधिष्ठान में ले आये। वहाँ पर चिन्तन करे कि कुण्डलिनी ने सबों का ग्रास कर लिया। करोड़ बिजली के समान प्रकाशित उसे मणिपूर में ले आये। वहाँ पर भी पूर्ववत् भावना करे। वहाँ क्षण भर स्थित होकर पूर्ववत् उद्योग मार्गवित् योगी उसे अनाहत में ले आये। वहाँ पर भी वैसा ही आचरण करके कुण्डलिनी को विशुद्धि में ले आये। वहाँ से उसे आज्ञाचक्र में ले आये। वहाँ वह नीर-क्षीर का ग्रसन करती है। क्षीर पीने के बाद कोटि सूर्य के समान प्रभा वाली महाशक्ति वागीश्वरी का भेदन करके ब्रह्म अर्गला का भेदन करती है। तब वह परामृत महासागर में विश्रान्त होती है। वहाँ पर स्थित परम देव शिव परमकारण के साथ शक्ति को मिलाकर उनके ऐक्य की भावना करे।

कालवञ्चनप्रकारः

ज्ञातमुत्कान्तिकालं वञ्चयित्वा यदि जीवितुमिच्छेत् तदावरोहं कुर्यात्, इत्यपि तत्रोक्तम्। तद्यथा—

यदि वञ्चितुमुद्युक्तः कालं कालविभागवित् । कालस्तु यावद्व्रजति तावत्तत्र सुखं वसेत् ॥१॥
ब्रह्मद्वारार्गलस्याधो देहं कालप्रयोजनम् । तस्मादूर्ध्वं पदं देयं नहि कालप्रयोजनम् ॥२॥
यदा देव्यात्मनः कालमतिक्रान्तं प्रपश्यति । तदा ब्रह्मार्गलं भित्त्वा शक्तिं मूलपदं नयेत् ॥३॥
शक्तिदेहप्रसूतं तु स्वजीवं चेन्द्रियैः सह । तत्तत्कर्मणि संयोज्य स्वस्थदेहः सुखं व्रजेत् ॥४॥
अनेन देवि योगेन वञ्चयेत् कालमागतम् । इति।

अत्रारोहावरोहाभ्यास एव योगशास्त्रेषु मुख्यो योग इति द्रष्टव्यम्। स चात्र प्रकाशितः।

ज्ञात उत्क्रान्ति काल को वंचित करके यदि जीवित रहने की इच्छा हो तो अवरोहण कराना चाहिये। यदि जीने की

इच्छा हो तो बाल विभागवित् काल के रहने तक वहाँ सुख से रहे। ब्रह्मद्वार अर्गला के नीचे देह काल से प्रभावित होता है; इसलिये काल नहीं चाहता कि उससे ऊपर कोई जाय। यदि देव्यात्मा काल को अतिक्रमित देखता है तब ब्रह्म अर्गला को भेदकर शक्ति को मूलाधार में ले आये। शक्ति देहप्रसूत अपने जीव को इन्द्रियों सहित अपने-अपने कर्मों में लगा दे। स्वस्थ देह में सुखपूर्वक जीवित रहे। इस योग से आगत काल से बचा जा सकता है। यहाँ आरोह-अवरोह का अभ्यास योगशास्त्रों के मुख्य योग में देखना चाहिये।

पञ्चाशद्बुद्धिभेदनिर्णयः

अत्र पञ्चाशद्दलगामिनि चित्ते पञ्चाशद्बुद्धयो जायन्ते। तदुक्तमध्यात्मविवेके—

गुदलिङ्गान्तरे चक्रमाधारं तु चतुर्दलम्। परमः सहजस्तद्वदानन्दो वीरपूर्वकः ॥१॥
योगानन्दश्च तस्य स्यादीशानादिदले फलम्। स्वाधिष्ठानं लिङ्गमूलं षट्पत्रं चक्रमस्य तु ॥२॥
पूर्वादिषु दलेष्वाहुः फलान्येतान्यनुक्रमात्। प्रश्रयः क्रूरता गर्वनाशो मूर्छा ततः परम् ॥३॥
अवज्ञानमविश्वासो जीवस्य चरतो ध्रुवम्। नाभौ दशदलं पद्मं मणिपूरकसंज्ञकम् ॥४॥
सुषुप्तिरत्र तृष्णा स्यादीर्ष्या पिशुनता पुनः। लज्जा भयं घृणा मोहः क्रुधिताथ विषादिता ॥५॥
हृदयेऽनाहतं चक्रं दलैर्द्वादशभिर्युतम्। लौल्यप्रणाशः कपटः वितर्कोऽप्यनुतापिता ॥६॥
आशा प्रकाशश्चिन्ता च समीहा समता ततः। क्रमेण दम्भो वैकल्यविवेको हुंकृतिस्तथा ॥७॥
फलान्येतानि पूर्वादिदलस्थस्यात्मनो विदुः। कण्ठेऽस्ति भारतीस्थानं विशुद्धिः षोडशच्छदम् ॥८॥
तत्र प्रणव उद्गीथो हुंफट्वौषट्वषट्सुधा। स्वाहा नमोऽमृतं सप्त स्वराः षड्जादयो मताः ॥९॥
इति पूर्वादिपत्रस्थे फलान्यात्मनि षोडश। इति।

षोडशच्छदे त्वन्यत्र विशेष उक्तः—

कृपा क्षमार्जवं धैर्यं वैराग्यं च धृतिस्तथा। हास्यं रोमाञ्चनिश्चयौ ध्यानं सुस्थिरता तथा ॥१०॥
गाम्भीर्यमुद्यमं सत्त्वं चौदार्यैकाग्रता तथा। एते पूर्वादिपत्रेषु गुणाः.................. ॥११॥ इति।

'तत्त्वम्पदार्थावभासो द्रष्टव्यो द्विदले पुनः' इति। अत्र वायोरुत्थापनं तु आधारस्वाधिष्ठानयोरन्तरेऽग्निकुण्डं तन्मूले मनो दद्यात्। यत्र यत्र मनस्तत्र तत्र प्राण आयाति। प्राणवायुयोगेनाग्निर्दीप्यते स चोर्ध्वज्वलनस्वभावः। तस्मिंश्च ज्वालिते वायुरूर्ध्वं गच्छति ततः षट्चक्रभेदो भवति। स्वाधिष्ठानं लिङ्गचक्रं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य त्रिरावृत्त्या, तत्र कुण्डलिनीमिति अत एव वचनादनुमीयते।

अध्यात्मविवेक में पचास दलगामिनी पचास बुद्धियाँ इस प्रकार कही गई हैं—गुदा-लिङ्ग के मध्य में चार दल वाला मूलाधार चक्र है। वहाँ पर परम सहज आनन्द हैं। वीर साधक का योगानन्द ईशानादि दल का फल है। लिङ्गमूल में षड्दल चक्र स्वाधिष्ठान है। इसके पूर्वादि दल से अग्रलिखित फल मिलते हैं। इससे क्रूरता, गर्वनाश, प्रश्रय, मूर्छा, अवज्ञान, अविश्वास में जीव फँसता है। नाभि में दशदल पद्म का नाम मणिपूर है। इससे नींद, तृष्णा, ईर्ष्या, पिशुनता, लज्जा, भय, घृणा, मोह, क्रोध और विषाद होते हैं। हृदय में द्वादशदल वाला अनाहत चक्र है। यहाँ से लौल्य का प्रणाश, कपट, वितर्क, अनुताप, आशा, प्रकाश, चिन्ता, समीहा, समता, दम्भ, विवेक, वैकल्य, हुंकृति आदि गुण संचारित होते हैं। इसके फल पूर्वादि दलों से प्रारम्भ होते हैं। कण्ठ में सरस्वती का स्थान षोडश दल विशुद्धि चक्र है। वहाँ प्रणव, उद्गीथ, हुं, फट्, वौषट्, वषट्, स्वाहा, स्वधा, नमः अमृत, सप्तस्वर, षड्जादि उत्पन्न होते हैं।

षोडश दल के बारे में अन्यत्र भी कहा गया है कि कृपा, क्षमा, आर्जव, धैर्य, वैराग्य, धृति, हास्य, रोमांच, निश्चय, ध्यान, स्थिरता, गाम्भीर्य, उद्यम, सत्व, औदार्य, एकाग्रता—ये पूर्वादि पत्रों के गुण हैं।

यहाँ पर वायु का उत्थापन के लिये मूलाधार स्वाधिष्ठान के बीच में अग्नि कुण्ड के मूल में मन लगाना चाहिये। जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ प्राण जाता हैं। प्राण वायु के योग से अग्नि प्रदीप्त होती है, इसका उर्ध्व ज्वलन स्वभाव है। इसलिये ज्वलित वायु जब ऊपर उठती है तब षट्चक्रों का भेदन होता है। स्वाधिष्ठान लिंग चक्र को तीन प्रदक्षिणा करके तीन आवृत्ति में घेर कर कुण्डलिनी रहती है।

वेधमयी दीक्षा

तदुक्तं दीक्षापटले—

तत्र वेधमयीं दीक्षां वक्ष्ये संसारमोचनीम्। ध्यायेच्छिष्यतनोर्मध्ये मूलाधारे चतुर्दले ॥१॥
त्रिकोणमध्ये विमले तेजस्त्रयविजृम्भिते। वलयत्रयसंयुक्तां तडित्कोटिसमप्रभाम् ॥२॥
शिवशक्तिमयीं देवीं चेतनामात्रविग्रहाम्। सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरां शक्तिं भित्त्वा षट्चक्रमञ्जसा ॥३॥
गच्छन्तीं मध्यमार्गेण दिव्यां परशिवावधि। वादिसान्तदलस्थार्णान् संहरेत्कमलासन ॥४॥

इत्यादिकुण्डल्यनुसारेण वायोरपि चोर्ध्वं गच्छतस्त्रिः परिवृत्तिः। मणिपूरकं नाभिचक्रं गत्वा प्राप्य, अनाहतं हृच्चक्रं तदप्यतिक्रम्य, विशुद्धौ कण्ठप्रदेशे प्राणान् वायून्निरुध्याज्ञामाज्ञाचक्रं भ्रूमध्यवर्त्यनुध्यायन् अथो नादं ध्यायन्। कीदृशम् आधारमारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं प्रतीयमानं तथोज्ज्वलं, स वै नादः ब्रह्म प्राणात्मा परमात्मैवेति। ते प्राणाः षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकाः प्राक्प्रोक्ताः। ग्रन्थान्तरेषु तु षडुत्तरषट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकाः (२१६०६) इत्यङ्कतः। अन्यत्र ग्रन्थेषु 'अशीतिः षट्शतं चैव सहस्राणि त्रयोदश। लक्षं चैकं च निश्वासा अहोरात्रप्रमाणतः' इति संख्याभेद उक्तः। अङ्कतः (११३६८०) भवन्ति।

दीक्षा पटल में कहा गया है कि अब वेधमयी दीक्षा को कहता हूँ, जो भवमोचनी है। शिष्य के शरीर का चतुर्दल मूलाधार रूप में ध्यान करे। विमल त्रिकोण मध्य में तीन वलय के तेज से युक्त करोड़ बिजली के समान प्रकाशित शिव-शक्तिमयी देवी यहाँ पर चेतनामात्र विग्रह है। सूक्ष्म से सूक्ष्मतर शक्ति षट्चक्रों का भेदन करती हुई मध्य मार्ग से परशिव तक जाती है। मूलाधार के दलों में व श ष स वर्ण से कमलासन को संहृत कर लेती है।

कुण्डलिनी के अनुसार वायु भी तीन परिवृत्ति में ऊपर जाता है। नाभि का मणिपूर हृदय का अनाहत, चक्र कण्ठ का विशुद्धि चक्र को भेदन करते हुए भ्रूमध्य के आज्ञा चक्र में आता है। वहाँ नाद का अनुसन्धान करना चाहिये। मूलाधार से चलकर ब्रह्मरन्ध्र तक नाद उज्ज्वल प्रतीत होता है। वह नाद ही ब्रह्म, प्राणात्मा या परमात्मा है। उन प्राणों की संख्या इक्कीस हजार छः सौ है। ग्रन्थान्तर में इनकी संख्या २१६०६ कही गई है। अन्यत्र ग्रन्थों में इनकी संख्या ११३६८० रात-दिन के भेद से होती है।

तन्त्रान्तर में कहा गया है कि उच्छ्वास और निःश्वास में दो अक्षर 'हंस' है। उनमें प्राण हंस नाम से आत्मा के आकार में रहता है। नाभि में उच्छ्वास और हृदय के आगे निःश्वास व्यवस्थित रहता है।

निःश्वाससंख्याभेदः

तन्त्रान्तरे तु—

उच्छ्वासे चैव निःश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम्। तस्मात्प्राणस्तु हंसाख्य आत्माकारेण संस्थितः ॥१॥
नाभेरुच्छ्वासनिःश्वासा हृदयाग्रे व्यवस्थिताः । इति।

गुदं पायुमवष्टभ्य रुद्ध्वा आधारान्मूलाधारचक्राद्वायुं प्राणाख्यमुत्थाप्योर्ध्वमवष्टभ्य, अवष्टम्भनोपायो योगियाज्ञवल्क्येनोक्तः—

दक्षिणेतरगुल्फेन सीवनीं पीडयेद् दृढम्। अधस्तादण्डयोः सूक्ष्मां सव्योपरि च दक्षिणः ॥१॥
जङ्घोर्वोरन्तरं योगी निश्छिद्रं बन्धयेद् दृढम्। समग्रीवशिरःस्कन्धः समपृष्ठः समोदरः ॥२॥
इत्यादि। अत्र कादिमतोक्तश्वासक्रमोऽग्रे वक्ष्यते।

इति श्रीमहामहोपाध्यायभगवत्पूज्यपाद-श्रीगोविन्दाचार्यशिष्य-श्रीभगवच्छङ्कराचार्यशिष्य-श्रीविष्णुशर्माचार्यशिष्य-श्रीप्रगल्भाचार्यशिष्य-श्रीविद्यारण्ययतिविरचिते श्रीविद्यार्णवाख्ये तन्त्रे एकविंश: श्वास:॥२१॥

●

गुदा और लिङ्ग को रुद्ध करके मूलाधार चक्र से वायु को प्राणरूप में उठाकर ऊपर निरुद्ध करे। योगी याज्ञवल्क्य के अनुसार अवष्टम्भन का उपाय इस प्रकार है—दाँयें-बाँयें गुल्फों से सीवनी को दृढ़ता से दबाये। बाँयें गुल्फ पर दाँयाँ गुल्फ रखे। जांघों और उरुओं को निश्छिद्र दृढ़ बाँधे। ग्रीवा, शिर, कन्धा, पीठ, उदर को सीधा रखे।

इस प्रकार श्रीविद्यारण्ययतिविरचित श्रीविद्यार्णव तन्त्र के कपिलदेव नारायण-कृत भाषा-भाष्य में एकविंश श्वास पूर्ण हुआ

●

भस्त्रिका

शरीर को सीधा रखते हुए पद्मासन लगाकर बैठना चाहिए। मुख को बन्दकर नासिका से रेचन करें। वायु को प्रयत्नपूर्वक, आवाज के साथ इस प्रकार खींचना चाहिए कि मस्तक में एवं कण्ठ से हृदयकमलपर्यन्त स्पर्श प्रतीत हो। वेग से पूरक करने के पश्चात् कुछ समय तक वायु को रोका जाता है। पुन: रेचक करना चाहिए। उक्त रेचक और पूरक लोहकार की धौंकनी की भाँति अविरल गति से किया जाता है। जब श्रम हो जाये तब पिंगला नाड़ी से पूरक करना चाहिए। उदर में आपूरित वायु को तर्जनी के अतिरिक्त अन्य चारो अंगुलियों से नासिका के मध्य भाग को दृढ़ता से पकड़कर कुम्भक करना चाहिए। पुन: इड़ा नाड़ी से रेचक करना चाहिए।"[1]

भस्त्रिका के फल

इसके अभ्यास से कण्ठ की जलन दूर होती है, शरीर में जठराग्नि की वृद्धि होती है प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है। वात,कफ आदि से उत्पन्न रोग दूर होते है। सत्त्व आदि त्रय गुणों से उत्पन्न ग्रन्थि का भेदन होता है। इसके द्वारा पुण्य की वृद्धि होती है और पाप का नाश होता है।"[2]

सीत्कार

"मुख से सीत्कार करते हुए वायु को खींचकर यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिए, तदनन्तर नासिकाओं से रेचक करना चाहिए। इससे भूख,प्यास,आलस्य

1-(क) यो०कु०उ०,1/32-37; यो०शि०उ०, 1/96-98.
(ख) घे०सं० 5/74-75; ह०यो०सं०, 9/39-40.

2- यो०कु०उ०, 1/37-39; यो०शि०उ०, 1/98-100; ह०यो०सं०,9/41-42; घे०सं०, 5/76.

और निद्रा नहीं उत्पन्न होते हैं।"[1]

"इन कुम्भकों को करते समय तीन बन्ध भी करना चाहिए--
1- मूलबन्ध, 2- उड्डियाण बन्ध, 3- जालन्धरबन्ध।"[2]

"शाण्डिल्योपनिषद् में बताया गया है कि पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिए। कुम्भक के अन्त में मूलबन्ध और रेचक के प्रारम्भ में उड्डियाण बन्ध करना चाहिए। नीचे गुदा का संकोचन कर त्वरित कण्ठ का संकोचन करे और बीच में पश्चिमतान करने से प्राण ब्रह्मनाड़ी में जाती है।"[3]

मूलबन्ध

"गुदा के संकुचन द्वारा अधोगति वाले अपान वायु को शक्तिपूर्वक रोककर ऊर्ध्वमुखी बनाया जाता है, इसे ही मूलबन्ध कहते हैं। मूलबन्ध के अभ्यास से अपान वायु ऊर्ध्वगामी होकर वह्नि मण्डल से मिलती है, जिससे अग्नि अधिक तीव्र हो जाती है। उसकी उष्णता से संतप्त होकर प्रसुप्त कुण्डलिनी जागृत होती

1- वक्त्रेण सीत्कारपूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्।
तेन क्षुत्तृष्णालस्यनिद्रा न जायते ।

शा०उ०, 1/31 .

2- चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते ।
बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः ।।
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः ।
जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते ।।
यो०शि०उ०, 1/102-103; यो०कु०उ०, 1/40-41.

3- पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तुड्डियाणकः ।।
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः ।।
यो०शि०उ०, 1/106-109, 111, 112; यो०कु०उ०, 1/47, 51, 52; शा०उ०, 1/28-29.

है और फुत्कार करती हुई सीधी होकर सुषुम्ना में प्रवेश करती है।"[1] "सदा मूलबन्ध करने से अपान और प्राण की एकता होती है। मल-मूत्र कम हो जाता है और बूढ़ा भी जवान हो जाता है।"[2]

उड्डियाणबन्ध

"इस बन्ध के करने से प्राण सुषुम्ना में ऊपर उड़ती है। इसलिए इसको उड्डीयाण कहते हैं। वज्रासन लगाकर दोनों पैरों को दोनों हाथों से दृढ़ता-पूर्वक पकड़े। गुल्फ प्रदेश के समीप कन्द को दबाकर उदर को ऊपर की ओर खींचे। हृदय और गले को भी तनाव के साथ खींचें। इससे प्राण शनैः-शनैः पेट की संधियों में प्रवेश करता है और पेट-सम्बन्धी सभी दोषों को दूर करता है।"[3] "थका हुआ प्राण रूप पक्षी जिससे उड़ता है वह उड्डीयाण है। उड्डीयाण बन्ध-मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह है। मस्तक के आकाश से उत्पन्न हुए जल को नीचे जाने से रोकता है।"[4]

1- (क) यो०कु०उ०, 1/42-46.

(ख) पार्ष्णिघातेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥
यो०त०उ०, 120, 131; ध्या०बि०उ०, 74-75; यो०चू०उ०-46.

(ग) गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥
यो०शि०उ०, 1/104-105; घे०सं०, 3/14-15; ह०यो०सं०, 7/16-19.

2- अपानप्राणयोरैक्यक्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥
यो०चू०उ०-47; ध्या०बि०उ०, 73-74.

3- यो०कु०उ०, 1/47-50; यो०शि०उ०, 1/106-108.

4- ध्या०बि०उ०, -75-77; यो०त०उ० 119, 120; यो०चू०उ०-48-50; ह०यो०सं०-7/11-13; घे०सं० 3/9-10.

जालन्धरबन्ध

"इस बन्ध में वायुमार्ग के निरोध के लिए कण्ठ का संकोचन किया जाता है। कण्ठ को संकुचित करने से अमृत अग्नि में नहीं गिरता और न वायु दौड़ती है।"[1]

महामुद्रा

"छाती को ठोड़ी से दबाकर बाँयी एड़ी से योनि के छिद्र को दबायें। दक्षिण पैर को फैलाकर दोनों हाथों से पकड़े तथा श्वसन से आपूर्ण दोनों कुक्षियों को बाँधकर धीरे-धीरे रेचन करें। इसे ही पापनाशिनी महामुद्रा कहते हैं।" सब नाड़ियों का शोधन, सूर्य चन्द्र का चलाना, और रसों को सुखाना ही महामुद्रा है। चन्द्र अंश से अभ्यास करके पुन: सूर्य अंश से अभ्यास करना चाहिए। जब संख्या बराबर हो जाये तो मुद्रा को छोड़ देना चाहिए। इससे अपथ्य भी पथ्य हो जाता है, नीरस रस हो जाता है, खाया हुआ विष भी अमृत के समान पच जाता है। महामुद्रा के अभ्यास से क्षय,कुष्ठ,भगन्दर,गुल्म,अजीर्ण और अन्य रोगों का क्षय हो जाता है।"[2]

घेरण्डसंहिता और हठयोगसंहिता में भी महामुद्रा का वर्णन प्राप्त होता है।"[3]

महाबन्ध

बाँये पैर की एड़ी को योनि स्थान में लगावें दाहिने पैर को फैलाकर हाथ से दृढ़तापूर्वक पकड़े। ठोड़ी को छाती पर रखकर हृदय को वायु से पूर्ण करें।

1- ध्यान०बि०उ०-77-79; यो०कु०उ०- 1/51-52; यो०चू०उ०-50-51; यो० शि०उ०,1/110-111; घे०सं०-3/12; हठयो०सं०, 7/14-15.

2-(क) यो०चू०उ०, 65-70.

(ख) ध्यान०बि०उ०, 91-93.

3- घे०सं०, 3/6-7; हठयो०सं०, 7/7-10.

कुम्भक से यथाशक्ति धारण कर रेचन करे। बाँये अंग से अभ्यास करने के बाद दाँये अंग से अभ्यास करना चाहिए। जो पैर फैला था उसे जाँघ पर झुकायें। इसे ही महाबन्ध कहते हैं। इसको दोनों तरफ से करना चाहिए।"[1] हठयोगसंहिता में भी महाबन्ध का वर्णन प्राप्त होता है।"[2]

महावेध

"महाबन्ध में स्थित होकर एकाग्र बुद्धि से पूरक करना चाहिए। कण्ठ-मुद्रा से धारण किए हुए वायु की गति को रोककर दोनों नथनों का संकोच करने से वायु शीघ्र भर जाता है, इसे ही महावेध कहते हैं।"[3] "हठयोगसंहिता में इसका वर्णन इस प्रकार है -- महावेध के बिना मूलबन्ध और महाबन्ध निष्फल होता है। महाबन्धमुद्रा में स्थित होकर उड्डीयाणबन्ध करते हुए कुम्भक द्वारा वायु निरोध करने से ही महावेध मुद्रा होती है। जो साधक प्रतिदिन महावेध सहित महा-बन्ध और मूलबन्ध को करता है, उसे जरा और मृत्यु से भय नहीं रहता है।"[4]

खेचरी मुद्रा

"कपाल के भीतर के छिद्र में जिह्वा को उलट कर धारण कर भ्रूमध्य

1- यो०त०उ०, 112-115.

2- ह०यो०सं० 7/20-22.

3- महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधी: ।
वायुनां गीतमावृत्य निमृतं कुण्ठमुद्रया ।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायु: स्फुरति सत्वरम् ।
अयमेव महावेध: सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।
यो०त०उ०, 115-117.

4- ह०यो०सं०- 7/23-26.

में दृष्टि रखने पर खेचरी मुद्रा होती है।"[1] "ज्ञान वाले विवर में पाँच स्रोत है, वहाँ खेचरी मुद्रा होती है। इडा पिंगला में प्राण चलता है, यदि सुषुम्ना में प्राण स्थिर हो जाये तो खेचरी मुद्रा होती है। चन्द्र और सूर्य के बीच निराधार स्थान सहस्रार चक्र में खेचरी मुद्रा होती है।"[2] योगकुण्डल्युपनिषद् में खेचरी मुद्रा का विस्तार से वर्णन हुआ है। इसका द्वितीय अध्याय खेचरी विद्या के वर्णन से ही परिपूरित है। इसमें खेचरी मन्त्र, खेचरी मन्त्र से जपसिद्धि एवं खेचरी अभ्यास आदि का वर्णन हुआ है।

गुरु के सान्निध्य में रहकर ही इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। योगी सात दिन तक अपने गुरु के आदेशानुसार तालुमूल का घर्षणादि करके वहाँ के मल को दूर करता है। तत्पश्चात् थूहर पत्र के समान तीक्ष्ण, शुद्ध, शस्त्र ग्रहण कर एक रोम के बराबर छेदन करें। सेंधा नमक और हर्रे का चूर्ण वहाँ लगावे। फिर सातवें दिन कर्म को दोहराता रहे। छः मास तक ऐसा करने से जीभ के मूल की शिरा का बन्धन नष्ट हो जाता है, तब जीभ के अग्रभाग को वस्त्र से बाँधकर धीरे-धीरे खींचना चाहिए। इस प्रकार नित्य दोहन से छः मास में जीभ भ्रूमध्य तक और पार्श्व में कर्ण विवर तक पहुँच जाती है। क्रमश: इसके अभ्यास से जीभ ब्रह्मरन्ध्र तक चली जाती है, पार्श्व में गर्दन के पीछे तक और नीचे कण्ठ के अन्त तक पहुँच जाती है। इसप्रकार अभ्यास से जीभ ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करती है। यह

1- कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥
ध्या०बि०उ०-79-80; यो०त०उ०-117-118; यो०चू०उ०-52; यो०शि०उ० 5/40; शा०उ०, 1/59; घे०सं०, 7/29, 3/27.

2- छेदन चालनदोहैः फलां परां जिह्वां कृत्वा
दृष्टिं भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा
विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरीमुद्रा जायते ।
शा०उ०1/60

2- वही, 1/55-59.

अभ्यास क्रमश: और धीरे-धीरे करना चाहिए, जब बाहर के मार्ग से जीभ ब्रह्म विवर के भीतर जाने लगे तो उसे अंगुली से उठाकर ब्रह्म विवर में प्रविष्ट कर दें। इस प्रकार तीन वर्ष तक अभ्यास करने से जीभ ब्रह्म द्वार में प्रवेश करती है। सुखासन पर बैठकर हृदय में प्राण का निरोध कर दृष्टि को भ्रूमध्य में लगाकर धीरे-धीरे मन्थन क्रिया करनी चाहिए।"[1]

खेचरी मुद्रा के फल

खेचरी मुद्रा के अभ्यास से रोग, मरण, निद्रा, भूख, प्यास और मूर्च्छा आदि नहीं होते हैं। रोग के द्वारा वह पीड़ित नहीं होता है, कर्मों से लिपायमान नहीं होता, काल के द्वारा बाधित नहीं होता है। उसका चित्त और जिह्वा आकाश में विचरण करता है। जिह्वा के ऊपर का छिद्र खेचरी मुद्रा द्वारा मूंद जाता है, उसका बिन्दु कामिनी के आलिंगन से भी क्षय नहीं होता है। जबतक शरीर में बिन्दु स्थित रहता है, तबतक मृत्यु का भय नहीं रहता। जबतक खेचरी मुद्रा बंधी रहती है, तबतक बिन्दु का क्षय नहीं होता है। खेचरी मुद्रा द्वारा जिह्वा के अग्रभाग से जिसने कपाल विवर बन्द कर लिया हो उसका अमृत अग्नि में नहीं गिरता और प्राण भी नहीं चलते।

प्राणायाम के फल

प्राणायाम के द्वारा आरोग्य की वृद्धि, मानसिक विकास एवं आत्मिक प्रगति होती है। योगचूड़ामणि उपनिषद् के अनुसार "प्राणायाम पापरूपी ईंधन के लिए अग्नि स्वरूप है और संसार सागर से पार होने के लिए सेतु के समान

1- यो०कु०उ०, द्वितीय अध्याय।

2- (क) ध्या०बि०उ०, 80-85.

(ख) यो०चू०उ०, 53-58.

(ग) यो०शि०उ०, 5/41-42.

(घ) शा०उ०, 1/60.

तदुक्तं उदरगतपदार्थमुद्वमन्ती पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले। क्रमपरिचयवश्यवायुमार्गा गजकरिणीति निगद्यते हठज्ञैः।।

अथ नेतिकर्म-
सूत्रं वितस्तिसुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्। मुखान्निर्गमयेदेषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते।।
कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनि। जत्रूर्ध्वजातरोगाद्यैःजयत्येव सतीति नेतिः।।

अथ त्राटकम् -
विक्षेप निश्चलदृशां सुलक्ष्यञ्च समाहितः। अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ।।
मोटकं सर्वरोगानां तन्द्रादीनां कपाटनम् । यत्न तस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ।।

सा च निश्चलदृष्टिस्त्रिविधा। भूचरी-खेचरी-अगोचरी च। तत्र या सर्वतोन्यतोनिरुद्धा। नासाग्रसंपूर्णदेहपादाग्रस्थ भूपर्यन्तं विलोकयति। सा भूचरी। या भ्रूमध्यस्थगगनं सूर्यचन्द्रमण्डलादिकं वा विभावयति सा खेचरी। या तु अत्यन्त निरुद्धा नासाग्र नाभि प्रदेशमात्रमेव विलोकयति सा ईषत् गोचरत्वात् अगोचरी। अलवणा यवागूरिति वदति।।

अथ नौलि-
अमंदावर्तवेगेन तन्दसव्यापसव्यतः। नतांसौ भ्रामयेदेषा नौलीगौडैःप्रशस्यते।।
मंदग्नि संदीपन पाचनादि सन्धावनानन्दकरी सदैव। अशेष दोषामयशोषनीयं हठक्रिया मौलिरियं हि नौलि।।

अथकपालभाति-
भस्त्रीवल्लोहकाराणां रेचपूरौससंभ्रमौ। कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी।।
षट्कर्माभिगत स्थौल्यं कफमेदोमलातिहा। प्राणायामं ततःकुर्यात् अनायासेनसिध्यति।।
प्राणायामैरेव सर्वे: प्रशुष्यन्ति मला इति। आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्य कर्म म संमतम् ।।

त्राटकादिकन्त्वनन्तफलत्वात् सर्वैरेव कार्यम्। अन्यत्तु तद्दोषवतैरेव। अतिसंप्रदायः। नासिकाग्रे त्राटके क्रियमाणे निश्वासभासिका शक्तिर्जायते। यया तत्तत्स्वरूपोपलक्षितो वायर्नासिकाग्रे चंद्रमण्डलवद्दृश्यते। तद्रूपेण च।
धूम्रहरितरक्तश्वेतपीतरूपाणि। आकाशतत्वादीनि परिचीयन्ते।।

किञ्च-
प्रथमं नासाग्रे मयूरपुच्छाकारं छत्रवद्वीक्ष्यते तत्तदेव लक्ष्मीनारायणादिरूपतया प्रकटीभवतीति गुरूपदेशतो ज्ञेयमिति दिक्।।

इति प्राणायामोपदेशषट्कर्मोपदेशः।।

अथ मुद्रादशकमुच्यते-
तत्र शिवयोगे गोरक्षशतक हठप्रदीपकादावुक्तं। सर्वविरोधेन लिखख्यते।।

तत्र हठप्रदीपिकायाम् -
सशैलवनधात्रीणां यथा धारो हि नायकः। सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारा हि कणडली।।
सुप्त गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली। तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च।।

प्राणस्य शून्यपदवी महारन्ध्रं महापथम्। स्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकम्।।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्। ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।
महामद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी। उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराणि च।।
विपरीतगतिश्चैव वज्रोली शक्तिचलनम्। इदं हि मुद्रादशकं मद्राणामुत्तमोत्तमम्।।
आधिनाथोदितं संयगष्टैश्वर्यप्रदायकम्। वल्लभं सर्वसिद्धेन्दु दुर्लभं मरुतामपि।।
गोपनीयं प्रयत्नेन जरामरणनाशनम्। कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा।।

तत्र महामुद्रा-
पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम्। पादप्रसारितं कृतवा कराभ्यां धारयेद्दृढम्।।
कंठेबन्धसमारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः। यथा दंडाहतः सर्पो दंडाकारःप्रयुज्यते।।
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्। तदासौ मरणावस्था जायते त्रिपुटाश्रिता।।
ततः शनैःशनैरेव रेचयेत्तु न वेगतः। इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्श्यते।।
महाक्लेशायतो दोषा जीर्यन्ते मरणादयः। महामुद्रां च तामेवं वदंति विबुधोत्तमाः।।
चंद्रांगेन समभ्यस्य सूर्यांगेनाभ्यसेत्ततः। यावत्तुल्याभवेत् संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्।।
इदं पथ्यमपथ्यं वा सरसं नीरसं च वा। अपि भुक्तं विषं घोरं पीयुषमिव जीर्यते।।
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः। तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामद्रां तु योभ्यसेत्।।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।। गोपयित्वा प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।।

अयमर्थः-

वामपादमूलेन गुदंमेढ्रांतरालगं योनिस्थानं संपीड्य दक्षिणं पादं प्रसारितं कृत्वा पाणिभ्यां च चरणाग्रे धृत्वा नवद्वाराणि संयम्य कंठे शिरासंकोचलक्षणं जालंधरबंधं विधाय चित्तं ब्रह्मणि वायौ वा निधाय ऊर्ध्वाधोभ्यां वायुमाकृष्य हृदयादूर्ध्वतो धारयेत्। एवं वायुधारणाभ्यां क्रियमानायां व्याकुला भूता कुंडलिनीं अपानं प्राणाभ्यां सह नासापुटद्वयाश्रिता भवति। अतः तन्निः शेषगमनरोधाय शनैः शनैः रेचयेत्। एवं ततः पूर्ववदेव यथाशक्ति प्राणायामं कुर्यात्। अथ दक्षिणपादेन योनिस्थानं संपीड्य प्रसारितं वामपादं पाणिभ्यां धृत्वा पूर्ववदेव तत्समकालं तत्समसंख्यकं च प्राणायामं कुर्यात्। एवं महामुद्रा भवतीति।।

अथ महाबंधः-
पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्। वामोरुपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।।
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं द्रढम्। निःक्षिप्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत्।।
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं सुधीः। राजदंतद्वयं तत्र जिह्वयोन्नमयेदिति।।
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः। कालपाशमहाबन्धे विमोचविलक्षणः।।
अयं हि सर्व नाडीनामूर्ध्वं गतिबोधकः। त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारंप्रापयेन्मनः।।
अयं भावः-

महामुद्रानन्तरं महाबन्धः क्रियते इति। महामुद्रायां यः पादो योनिस्थाने कृतः तं तथैव स्थापयित्वा प्रसारितमपरं पादं तदुपरिविन्यस्य। गुदे योनिस्थानं समाकुञ्च्य। अपानं ऊर्ध्वगं कृत्वा। समानेन सह संयोज्य। हृदयोदरादौ कुंभयित्वा शनःशनैः रेचयेत्। पूर्ववदेव वामदक्षिणांशयोः समसंख्याकं प्राणायामं कुर्यात्। मनस्तु सुषुम्नायां स्थापयेत्। कण्ठ शिरासंकोचनमपिकुर्यात्। यद्वा राजदंतद्वयं मूलं जिह्वयोन्नमयेदेव महाबन्धो भवतिति।।

अथ महावेधः-
महामुद्रा महाबन्धौ निःफलौ वेधवर्जितौ। रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना।।
महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधा। वायुना गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया।।
न्यस्तहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः। जंघाद्वयं समाकृष्य वायुस्फुरति सत्वरम्।।

सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय च। समुत्पन्ना मृतावस्था ततो वायुं विरेचयेत्।।
महावेधोयमभ्यस्तो महासिद्धिप्रदायक:। वालीपालितवेधघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः।।
वेधेनानेन संभिद्य वायुना योगिपुंगवः। ग्रन्थीन् सुषुम्ना मार्गेण ब्रह्मरन्ध्रं भिनत्यसौ।।

अयं भाव:-

महाबन्धानन्तरं महावेधः क्रियते तेन महाबन्धे स्थितः प्राणापानावेकीकृत्य उदरे पूरयित्वा कंठसंकोचादिना वायुगतिर्निरुद्ध्य भूमौ हस्तयुगं धृत्वा नाभ्यधो मांसलप्रदेशलक्षणं स्फिचं वायुनैव शनैः शनैः संताडयेत्। एवं महावेधो भवति।।
बन्धत्रयं महागुह्यं जरामृत्यु विनाशनम्। वह्निवृद्धिकरं चैव अणिमादिगुणप्रदम्।।
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने पुण्यसंभारसंधायि पापौघाभिवरं तदा।।
संयक् शिक्षायतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम्।। वह्निस्त्रीपथसेवानामादौ वर्जनमाचरेत्।।

अथ खेचरी-
कपालकुहरे जिह्वाप्रविष्टा विपरीतगा। भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिः मुद्रा भवति खेचरी।।

अयं भाव:-

सुखदे आसने उपविश्य भ्रुवोर्मध्ये सदृढं दृष्टिं विधाय सुधाकूपनाम्निलंबिकोर्ध्व स्थिते कंठगर्ते विपरीतगां जिह्वां प्रयत्नेनापि संयोज्य चन्द्रमंडलाच्च्युतममृतं ससीत्कारं तत्रैव स्थिरतया जिह्वया सर्वदैवतत्स्वरूपं कुण्डलिनीध्यानपूर्वकं पिबेदेवं खेचरी मुद्रा भवति।।
जिह्वां पराङ्मुखीं कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति। क्षणेन मुच्यते योगी व्याधि मृत्य रादिभिः।।
न रोग मरणं तस्य न निद्रा न तृषा क्षुधा। न मूर्छा च भवेत् तस्य यो मुद्रां वेति खेचरीम्।।
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न सकर्मणा। बाध्यते न सकालेन यस्य मुद्रास्ति खेचरी।।
चित्तं चरति खे यस्मात् जिह्वा चरति खे यतः। तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धैर्नमरुता।।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरंलंबिकोर्ध्वतः। न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गि तस्य च।।
कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे पथि योजयेत्। सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमवक्त्रं तदुच्यते।।
ऊर्ध्वजिह्वःस मेधावी स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः। मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगिवित्।।
नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः। तक्षकेनापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति।।

गोरक्षनाथोपि प्राह-
मूर्ध्नःषोडशपद्मगलित्तं प्राणादावाप्तं हठादूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयेत्।।
तत्कल्लोलकलाजलं सुविमलं धारामृतं यःपिबेत् निर्दोषःस मृणालकोमलतनुःयोगी चिरं जीवति।।
चुंबन्ती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्याथवा।।
व्याधीनां हरणं जरांबुतरणं शस्त्रागमोद् गीरणं तस्य स्यादमृतत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम्।।
एकं सृष्टिमयं बीजमेकामुद्रा च खेचरी। एको देवो निरालंबो एकावस्था मनोन्मनी।।
यः पाताले यद्विशति सुचिरं मेरुमूले यदस्ति। तद्वै तत् प्रवदति सधीः तन्मुखं निम्नगानाम्।।
चन्द्रास्तावः स्त्रवति वपुषः तेन मृत्युर्नराणाम्। बध्नीयात् सुकरणमथो नान्यथाकामसिद्धिः।।
खेचरी धीच्छता छेदनचालनदोहनैःजिह्वा वृद्धिः संपादनीया।।

अथ उड्यानबंध:-

शिवयोगे-
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं निर्भरमाचरेत्। उड्यानो ह्ययं बंधः सर्वदुःखौघनाशनः।।
नित्यं यःकुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने। तस्य नाभेर्विशुद्धिः स्यात्तेन शुद्धो भवान् मरुत्।।

ऊर्ध्वाधोभ्यां नाभिर्दृढं संकोचयित्वा यथाभ्यासं वायुं कुंभयेदेवमुड्यानम् । दृढमासनं बद्ध्वा गुल्फदेशसमीपे कराभ्यांपादौ धृत्वा नाभिसमीपस्थं कन्दं पीडयन् उदरे पश्चिमतानं कुर्यात् यथा वायुः कुक्षिसन्धिं न गच्छत्येवमड्यानं बंधो जरामृत्युविनाशःसंपद्यते।।

अथ मूलबंधस्तत्रैव-
पादमूलेनसंपीड्य गुदमार्गे सुयंत्रितम्। बलादपामाकृष्य क्रमादूर्ध्वं समानयेत्।।
कथितोयं मूलबंधो जरामृत्यु विनाशनः। अपानप्राणयोरैक्यं क्षयं मूत्रपुरीषयोः।।
मूलबंधं करोत्येवं तथैक्यं बिंदुनादयोः। बंधस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः।।
पद्मासन स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य गच्छति।।
पार्ष्णि संपीडितं गुदमाकुंदनाकुंच्य वायुमपानमूर्ध्वमानयेत् एवं मूलबंधो भवति।।

अथ जालन्धरबंधः-
बध्वा गलशिराजालं हृदये चबुकं न्यसेत्। बंधो जालंधरः प्रोक्तः देवानामपि दुर्लभः।।
बध्नाति हि शिराजालं नाधो याति न भोजनम् । ततो जालंधरो बधो कंठ दुःखौघनाशनः।।
जालंधरेकृतेबंधे कंठ संकोच लक्षणे। न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकृत्यति।।
बंधेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान्। अमरतत्वं च संप्राप्यः मादत्ते भुवनत्रये।।
कंठे संकोचनं कृत्वा हृदये चुबुकं न्यसेत्। एवं जालंधरबंधो भवति तेन चन्द्रान्निसृतममृतं नाभिस्थे वह्निमंडले। न पतति किंतु ज़िह्वाद्वारे देह पतति इति भावः।।

अथ विपरीतकृतिः-
भूतले स्वशिरो दत्वा खे नयेच्चरणद्वयम्। विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।
एतां यः कुरुते नित्यं अभ्यासाद्याममात्रकम्। अमृतैः कुरुते पानं प्रलयेपि न सीदति।।

एतदेवोक्तं गोरक्षनाथेन-
ऊर्ध्व नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी। करणी विपरीताख्यं गुरुवक्त्रेण गम्यते।। इति ।।
ऊर्ध्व चरणद्वयं कृत्वा अधः करद्वयोपरि शिरोन्यसेदेवं विपरीत गतिर्भवति सा च प्रथमदिने क्षणमात्रं विधेया द्वितीयदिने किंचिदधिकामेवं यामपर्यंतं विधेया। अस्यां क्रियमाणायां साधकस्य भक्ष्यं बहुलं संपद्यते। अन्यथा प्रवृद्धो जाठरानलो धातुं दहतीति। बलितं पलितं चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते। याममात्रं तु यो नित्यं अभ्यसेत् सतु कालजित्।।

अथ वज्रोली-
सा च प्राप्तब्रह्मानंदतया मैथुनसुखानुरक्तानां ग्रहस्थयुंजानानां कृते प्रोक्ता गोरक्षनाथेन।।
वज्रोलीं कथयिष्यामि गोपिता सर्वयोगिभिः। त्यक्तयोगोक्तनियमाय या सिध्यंति योगिनः।।
अत्र वस्तुद्वयं मन्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्। क्षीरमेकं द्वितीयं तु नारी स्ववशवर्तिनी।।
अभ्यासं श्रुणु वज्रोल्या वक्ष्याम्यतिरहस्यकम्। सुखानि लभते नारी पुरुषसिद्धिमाप्नुयात्।।
नारीरम्यामधस्थाप्य रहस्ये तु दिगंबराम्। स्वयं दिगंबरो भूत्वा उत्तानायास्तथोपरि ।।
शतं च कुंभकं कुर्यात् नारी मंदं च निश्वसेत्। अयोना दृढमालिंग्य यनौ लिंगं नचार्पयेत्।।
अतस्त्वधर पानं च परस्परमथाचरेत्। परस्परमथालिंग्य यावत्प्रस्वेदसंभवः।।
यदि स्खलेद्वहिर्वीर्यं तदा स्वेदेन मर्दयेत्। यदि बिंदुर्न स्खलति पुनराश् लेष्य कामिनी।।
योनौ शि.ं चार्पयेद्वा यथा बिंदुः पतेद्वहिः। पतिते च पुनर्स्वेदजलेन परिमर्दयेत्।।
एवं दिनत्रयं कुर्यात् त्रिवारं प्रत्यहं ततः। रसनालेन फूत्कारं वायोःसंचारकारणात्।।
कुर्याच्छनैश्शनैर्योगी यावच्छक्तिप्रजायते। ततो मैथुनकाले तु पतत् बिंदं समुन्नयेत्।।
वज्रकंदं समापीड्य कुंभयित्वापि मारुतम्। चलद्विंदुं समाकृष्य मनस्तत्रैव धारयेत्।।
एवमभ्यसतो बिंदुः न योनौ पतति क्वचित्। इत्थं मैथुनशक्तिः स्यात् दुर्मदामपि कामिनी।।

मर्दयेद्योगयुक्तात्मा शतशो नात्र संशयः। एवं बिंदौ स्थिरे जाते मृत्यं जयति सर्वदा।।
मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदु धारणात्। एवं चैव स्थिरे जाते मृत्युं जयति नान्यथा।।
एवमभ्यसतो नारी यदिरेतस्समुद्धरेत्। देहस्थिरत्वमायाति वज्रोल्याभ्यासयोगतः।।
अभ्यासस्य क्रमं वक्ष्ये नारीणां च शनैश्शनैः। बहिशि.ागतं शुक्रं यदि स्खलति कालतः।।
टिंटिकामुखमाकुंच्यमणि तत्र प्रवेशयेत्। तमुद्धरेत्समाकृष्य वायुना तेन वर्त्मना।।
तदा रेतो रजो नाशं न गच्छति कदाचन। मूलाधारे च नारीणां सबिंदुर्नादतां व्रजेत्।।

अयं योगो पुण्यवतां सिद्देर्मत्सरिणां न हि। अयं भावः- निर्वाते विलासमंदिरे नानाप्रकारेण प्रियया सह विलासं कुर्यात्। पतद्बिंदुमपातेन सह हुं हुंकार सहितेन बलादूर्ध्वमाकृष्य किंचित्कालं व्यरमेद्यतः। यदा तु न धारयितुं शक्यते तदा बहिस्स्खलितेन बिंदुना सह प्रस्वेदेनांगं मर्धयेत्। एवं त्रिवारं त्रिवारं प्रत्यहं दिनत्रयं कृत्वा बिंदुसिद्धिं लभेत। नारीरजोप्येवमाकषयेत्। प्रियं शुक्रं च निश्वासं चाल्यं कुर्यात्। शीतलं कुंभकं च कुर्यात्।।

गोरक्षनाथशतकेनोक्तम् ।।शिवसंहितायाम् -
आदौ रजस्त्रियो योन्या यत्नेन विधिवत्सुधीः। आकुंच्य लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत्।।
स्वकं बिंदु च संबोध्य लिंगचालनमाचरेत्। दैवाचलेति चेदूर्ध्वं निबंधो योनिमुद्रया।।
वाममार् पतद्बिंदुं धृत्वालंग निवारयेत् । गुरूपदेशतो ज्ञेयो हुं हुंकारेण योगिनः।।
अपानवायुमाकुंच्य बलादाकर्षयेद् रजः। अनेन विधिना योगी क्षिप्रं योगस्य सिद्धये।।
गव्यभुक्कुरुते योगी गुरु पादाब्जपूजकः। बिंदुर्विदुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमयस्तथा।।
उभयोर्मेलनकार्यं स्वशरीरे प्रवेशनम्। अहं बिंदुरजश्शक्तिः उभयोर्मेलनं यदा।।
योगिनां साधनवतां भवेद्दिव्यवपुस्तथा। मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात्।।
तस्मादेतत्प्रयत्नेन कुरुते बिंदुधारणम्। जायते म्रियते लोकेबिंदुना नात्र संशयः।।
एतत् ज्ञात्वा सदा योगी बिंदु धारणमाचरेत्। सिद्धे बिंदौ महायत्नैः किन्न सिद्ध्यति भूतले।।
यस्य प्रसादमहिमा मन साद्दश्यतो भवेत्। बिंदुः करति सर्वेषां सुखं दुःखं च संस्थितम्।।
संसारिणां विमूढानां जरामरणनाशनम्। अयं सुखकरो योगीनामुत्तमोत्तमः।।
अभ्यासात् सिद्धिमाप्नोति भोगयुक्तौ हि मानवः। सकालं सिद्धितार्थेपि सिद्धिर्भवति भूतले।।
भुक्त्वा भोगानशेषान्वै योगेनानेन निश्चयम्। अनेन सकला सिद्धिः योगिनां भवति ध्रुवम्।।
स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायना। स्तोकंस्तोकं त्यजेन्मूत्रं ऊर्ध्वमाकृष्य तत् पुनः।।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यःसमाचरेत्। बिंदुसिद्धिर्भवेत्तस्य सर्वसिद्धिप्रदायकः।।
षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया। शतांगनोपभोगेपि न बिंदुस्तस्य नश्यति।।
सिद्धे यस्य बिंदुरत्ने किन्न सिद्ध्यति भूतले। इष्टत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभं भवेत्।।
चलितोपि महाबिंदुःसंप्राप्तोपि हुताशनम्। व्रजत्यूर्ध्वं हठः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।।
स्त्रवते विविधो बिंदुः पाण्डुरो लोहितस्तथा। पाण्डुरं शुक्रमित्याहुर्लोहितं च महारजः।।
सिंदूरद्रवसंकाशं रविस्थाने स्थितं रजः। शशि स्थाने स्थितो बिंदुः तयोरैक्यं सुदुर्लभम्।।
शिवो बिंदुरजः शक्ति बिंदुरिंदु रजोरविः। उभयोःसंगमादेवं प्रापयते परमंपदम्।।
वायुना शक्तिचारेण प्रेरितो च महारजः। याति बिंदुसहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्तदा।।
शुक्रंचंद्रेण संयुक्तं रजःसूर्येण संगतम्। तयो रस समैकत्वं यो जानाति स योगवित्।।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः। न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याक्लेशितस्य च।।
एतदगुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति। तस्मादेतत् प्रयत्नेन गोपितव्यं सदा बुधैः।।
इति शिवशतोक्तं शिवसंहितायाम्।।

पुनः शिवयोगे-
स्तोकंस्तोकंत्यजेन्मूत्रं ऊर्ध्वमाकृष्य तत्पुनः। गुरूपदिष्टमार्गेणप्रत्यहं यः समाचरेत्।।
बिंदुसिद्धिर्भवेत्तस्य सर्वसिद्धि प्रदायिनी। एतस्य षण्मासाभ्यासेन शतांगनोपभोगेपि न बिन्दुं पातः।।

अन्यत्र पुरीषत्यागकाले अङ्गुलीभिर्योनिस्थानं पीडयेदेवं मूत्ररोधोभ्यसनीयः। एवं मूत्रत्यागकाले गुदाकुंचनेन पुरीषरोधः शनैश्शनैः विधेयः।। एवं तावदभ्यसेत् यावत् स्वयमेव मूत्रपुरीषकालभेदेन भवतः इति एतदभ्सतो बिंदुसिद्धिर्भवेदिति। एतच्च बिंदुसिध्यादिकं मूढानामेव।।

ज्ञानिनां तु यथोक्तं गीतायाम् -
विहाय कामान्यःसर्वान् पुमाश्चरति निस्पृहः। निर्ममोनिरहंकारः सशान्तिं समगच्छति।।
एषा ब्राह्मी स्थितिस्तात नैनां प्राप्य विमुह्यति। स्थित्वास्यामंतकालेपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।
वज्रोल्येव किंचित् विशेषवती अमरोलि सहजोलिश्च।।

तथाहि शिवयोगे-
सहजोल्यमरोली च वज्रोली च न भिद्यते। येन केन प्रकारेण बिंदुं यत्नेन धारयेत्।।
दैवाच्चेद्भवति भगे मेलनं चंद्रसूर्ययोः। अमरोली इयं प्रोक्ता सर्वतंत्रेषु गोपिता।।
संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्ये तुल्यगतित्रयम्। तथा च स्वबिंदोरूर्ध्वनयनं वज्रोली।
ओं व्रौं फँ क्रूँ ह्रुँ जँ जः स्वाहा । वज्रोली मंत्रः।।
भगे रक्तेन सह मिलितस्य बिंदोरूर्ध्वनयनं अमरोली। स्वदेहे सरक्तस्य केवलस्य वा बिंदोर्बन्धनं सहजोलीति विवेकः।।

अथ शक्तिचालनं शिवयोगे -
आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुंडलीं दृढाम्। अपानवायुमाकृष्य बलादाकुंच्य बुद्धिमान्।।
शक्तिचालनमेतद्धि प्रत्यहं यः समाचरेत्। अग्निवृद्धिर्भवेत्तस्य रोगानां च विनाशनम्।।
विहाय निद्रां भुजगीं त्वरयोर्ध्वं व्रजेत्खलु। मुहूर्तद्वयं पर्यन्तं विधिना शक्तिचालनम् ।।
यःकरति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः। कुटिलांगी कुंडलिनीभुजंगी शक्तिरिश्वरी।।
कुंडल्यरुन्धती देवी शब्दाःपर्यायवाचकाः।।
अपानाकर्षणं गुदाकुंचनं मूलाधारचालनैः शक्तिं चालयेदिति शक्तिचालनं। एतन्मुद्रादशकमतीवगोप्यं अनेकसिद्धिजनकमेतन्मध्ये सिद्धैकैकोपि सिद्धा भवतीति ध्रुवम्।। इति मुद्रादशकोपदेशः।।

इति मैथिलभवदेवनाम्नि योगनिबंधे सपरिकरप्राणायामोपदेशनाम सप्तमोपदशः।।

अथ प्रत्याहरः।।

स च स्वस्वविषयेभ्यः इन्द्रियाणां प्रत्याहरणरूपः।।

तदुक्तं पातंजले-
स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपांधकार इवेंद्रियाणां प्रत्याहरणं प्रत्याहारः।। ततःपरमा वश्यंते इंद्रयाणामपि।।

अयं भावः-
चक्षुरादीनां स्वस्वविषयासंप्रयोगे इति चित्तस्य स्वरूपांधकार इवात्मनि विश्रामःप्रत्याहारः। तेन चित्तस्य निर्व्यापारतया रूपाद्यप्रतिपत्ति लक्षणस्यापरम इन्द्रियजयो भवतीति। अत्र रूपादिष्वव्यसनमिंद्रियजयः। इत्यपरे। चित्तैकाग्र्यात्। बाह्यविषयाप्रतिपत्तिरिवेंद्रियजय इति जैगीषव्यः सेयं परमेंद्रियवश्ता चिति निरोधाद्भवति इति ध्येयम्। अस्य प्रत्याहारस्य चत्वारःप्रकाराः। तत्रैको विषयेषु बुध्या चरतामिंद्रियाणां ब्रह्मत्वेनावधारिते यत्र कुत्रापि ब्रह्मत्वबुध्या स्थिरीकरणम् ।।

गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूपा चैव यशस्विनी।
अलम्बुसा कुहूरत्र शङ्खिनी दशमी स्मृता[1]।।

विशेषतः योगवित् प्राणायामाभ्यासेन साधको भवति। तदुच्यते :-

खगरज्जुवदित्येतत् यो जानाति स योगवित्।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।
शतानि षट् दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः ॥

एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥

अस्याः सङ्कल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।।

अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति।
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्॥

मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥
प्रबुद्धा वन्हियोगेन मनसा मरुता सह ।।

सूचिवद्गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया।
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ॥
कुण्डलिन्या तया योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्[2]।

यदा मूलबन्धादिना कुण्डलिनीशक्तिं जागरय्य एकैकं चक्रं क्रमशः क्रमयित्वा अन्ते सहस्रारकमलं प्रविशति तदा सः कालत्रयवेदी भवति।मूलबन्धनात् योगी वृद्धोऽपि तरुणायते। तदुक्तम् :-

अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते।

---

[1] ध्या.बि.-52-53
[2] ध्या.बिं. -61-68

उड्याणं कुरुते यस्माद् अविश्रान्तमहाखगः॥

उड्डियाणं तदेव स्यात् तत्र बन्धो विधीयते।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्। ।
उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमान्तङ्गकेसरी।
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम् ॥

ततो जालन्धरो बन्धः कर्मदुःखौघनाशनः।
जालन्धरे कृते बन्धे कर्णसंकोचलक्षणे ॥

न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रूवोरन्तर्गता दृष्टिः मुद्रा भवति खेचरी॥
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा[1]।

एतादृशखेचरीमुद्रायोगज्ञस्य न रोगः न मरणं न निद्रा न क्षुधा न तृषा न वा मूर्छा भवति नापि कर्मणा बध्यते। ततः परं महामुद्रा काचित् उच्यते - तथा हि

वक्षोन्यस्तहर्नुनिपीड्य सुषिरं योनेश्च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन् प्रविततं पादं तथा दक्षिणम्। ;
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनैः रेचयेत्
एषा पातकनाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते[2] ॥इति।

अयमेवार्थः योगतत्वोपनिषदि च श्रूयते, यथा -

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेत् दृढम् ॥

चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेत् वायुना पुनः।
कुम्भकेन यथाशक्ति धारयित्वा तु रेचयेत्।।

---

[1] ध्या.बि.-74-80

[2] ध्या.बि.-93

वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन ततोऽभ्यसेत्।
प्रसारितस्तु यः पादः तमूरूपरि नामयेत् ॥

अयमेव महाबन्धः उभयत्रैवमभ्यसेत्॥

किञ्च – महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।।

वायुना गतिमावृत्य निभृतं कर्णमुद्रया।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ॥
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम्[1]।

किञ्च खेचरीमुद्रानन्तरं कण्ठमाकुञ्च्य हृदये दृढबुद्ध्या स्थापयेत्। अयं जालन्धरो बन्धः इत्याख्यायते।

बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः[2]।
उड्यानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः[3]॥

एवं ध्यानाङ्गतया एतादृशखेचरीमुद्रा, महाबन्धः, जालन्धरबन्धः, उड्यानबन्धः, योनिबन्ध इत्यादयः कुम्भकाभ्यासेन सह समनुष्ठिताः चित्तैकाग्र्य-सम्पादनाय सहकुर्वन्ति। एतदतिरिक्ततया वज्रोली अमरोली इत्यादयः अपि समाधिरूपराजयोगसम्पादने सोपानभूताः योगाः अभिधीयन्ते।

ललितासहस्रनामसु च तत्र तत्र **जया जालन्धरस्थिता[4], ओड्याण-पीठनिलया[5]** इत्यादिना विवृतं दृश्यते। तथैव मूलाधाराद्याज्ञाचक्रपर्यन्तं **मूलाधारैकनिलया[6] ब्रह्मग्रन्थिविभेदिनी[7], अनाहताब्जनिलया[8],**

---

[1] यो.त.-112 तः 117 पर्यन्तम्
[2] यो.त.-119
[3] यो.त.120
[4] ल.स.-378
[5] ल.स.-379
[6] ल.स.-99
[7] ल.स.-100
[8] ल.स.-485

मणिपूरान्त-रुदिता[1], आज्ञाचक्रान्तरालस्था[2], विशुद्धचक्रनिलया[3] रुद्रग्रन्थिविभेदिनी[4] इति षट्चक्राणां श्रीदेव्याः अधिष्ठानरूपेण विवरणं पश्यामः।योगभ्यासी मूलबन्धाद्य-भ्यासेन कुण्डलिनीशक्तिं जागरय्य अपानं ऊर्ध्वमाकृष्य प्राणेन संयोज्य तद्वारा उपर्युपरि चक्रमतीत्य सहस्रारपद्मं सुषुम्नया प्रविश्य योगी समाधिस्थः भूतभविष्यवर्तमानकालज्ञो भवेत् इत्येवं योगशास्त्रप्रसिद्धानि तत्त्वानि मोक्षमार्गे साधनानि बहुत्र उपनिषत्सु हठयोग -अष्ठाङ्गहृदयादिग्रन्थेषु च विस्तृतरूपेण प्रतिपादितानि दृश्यन्ते।

परमस्माकं दौर्भाग्येन एतादृशयोगानुष्ठातारः योगिनः उपासका वा अद्यत्वे न दृश्यन्ते, केवलं ग्रन्थार्थनिर्वचनपरायणाः विरलमुपलभ्यन्ते। चित्तैकाग्रता धारणा। लक्ष्यस्यापि त्यागः समाधिः। स च समाधिः सम्प्रज्ञाता-सम्प्रज्ञातभेदेन द्विविधः। अन्यवृत्तिनिरोधेन एकस्यैव वस्तुनः वृत्तिरूपं ध्यानं संम्प्रज्ञातसमाधिः। सम्प्रज्ञातसमाधेः चिरकालाभ्यस्तस्य चित्ते सर्ववृत्तिनिरोधः अर्थात् सम्प्रज्ञातसमाधेः आलम्बनस्यापि क्षयः निरालम्बनरूपः असम्प्रज्ञात-रूपसमाधिः। असम्प्रज्ञातसमाधौ आत्मनः परमविशुद्धं केवलविशुद्धस्वरूपं अर्थात् कैवल्यं सिद्ध्यति इति अभ्यासवैराग्याभ्यां योगस्य सिद्धिः। उक्तप्रकारेण योगानुष्ठाने कृते सति कस्यचित् योगिनः कैवल्यसिद्धिरिति योगदर्शनहृदयम्।

हठयोगप्रदीपिकोक्ताः केचन योगाः -

पूरक-कुम्भक-रेचकयुक्तः प्राणयामः नियतरूपेण अर्थात् प्रतिदिनं घन्टाषट्कावधौ एकवारमिति क्रमेण चतुर्वारं प्राणायाममभ्यसेत्।अर्थात्

---

[1] ल.स.-495

[2] ल.स.-521

[3] ल.स.-475

[4] ल.स.-104

एकैकस्मिन् अवधौ अशीतिपर्यन्तं प्राणायाममभ्यसेत्। एवं कुर्वतः प्रतिदिनं विंशत्युत्तरत्रिशतं प्राणयामाः भवन्ति। एवं निरन्तरं मासत्रयं अभ्यस्यति चेत् नाडीशुद्दिर्भविष्यति। नाडीशुद्धौ सत्यां प्राणवायोः सुषुम्नानाड्यां प्रवेशो जायते। सुषुम्नायां वायुप्रवेशे सति मनसः चाञ्चल्यं नश्यति। एतादृशमनसः स्थैर्यसम्पादने सति खेचरीमुद्रा सिध्यति। तदुच्यते :-

विधिवत् प्राणसंयामैः नाडीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः।।

मारुते मध्यसञ्चारे मनःस्थैर्यं प्रजायते।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी[1]॥इति।

खेचरीमुद्रासिद्ध्यनन्तरं मनोन्मनीमुद्रा सम्भवति। तदुच्यते
शाण्डिल्योपनिषदि :-

तारं ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमय्य भ्रुवौ।
पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्[2]॥

तस्मात् खेचरीमुद्रामभ्यसेत्। ततोन्मनी भवति।

एतादृशयोगसिद्ध्ये कुम्भकाभ्यासः कर्तव्यः। कुम्भकश्च वायुबन्धनरूपः। इडया वायुमापूर्य किञ्चित् कालं उदरे स्तम्भयेत्। स च कुम्भक इत्यभिधीयते। स च कुम्भकः अष्टविध इति हठयोगप्रदीपिकाकारमतम्।

तदुच्यते –

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।

---

[1] ह.प्र -41,42
[2] शां.उ.-1-34

भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः[1]॥

योगकुण्डल्युपनिषदि कुम्भकस्य चत्वार एव भेदाः उच्यन्ते। यथा

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका।
भैदैरेव समःकुम्भो यस्मात् सहितकुम्भकः[2] ॥इति ॥

अन्ये च आन्तरबाह्यभेदेन कुम्भकद्वयमेव विवृण्वन्ति। हठयोगसिद्धौ बन्धत्रयं प्रामुख्यं भजते। तच्च बन्धत्रयं जालन्धरबन्धः, मूलबन्धः, उड्डीयान-बन्धश्चेति।

हठयोगप्रदीपिकायां दशमुद्रात्मकाः योगाः अभिधीयन्ते।
यथा

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः।।
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रा दशकं जरामरणनाशकम्[3] ॥

एतादृशदशमुद्राणामनुष्ठानेन साधको योगी मृत्युञ्जयः भवति। अणिमाद्य-ष्टसिद्धिमांश्च भवति। महामुद्रैव मूलबन्धः अथवा योनिबन्धः इत्याख्यायते।

महामुद्रा –

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणपादं प्रसारितं संस्थाप्य कण्ठदेशे वायुं प्रबध्य ऊर्ध्वदेशे धारणां कुर्यात्। अनेन कुण्डलिनीशक्तिः सहसा जागृता भवति। ततः परं कण्ठे बद्धं वायुं शनैः शनैः रेचयेत्। इयमेव महामुद्रा इत्यभिधीयते।

---

[1] ह.प्र.-44
[2] यो.कु.उ
[3] ह.प्र.-3-6,7

महाबन्धः –

वामपादं योनिस्थाने संस्थाप्य वामोरूपरि दक्षिणपादं विन्यस्य चुबुकं हृदये संस्थाप्य वायुं पूरयित्वा योनिं आकुञ्च्य वायुं धारयित्वा शनैः शनैः रेचयेत्। अयमेव महाबन्धः इत्याख्यायते।

महावेधः -

महाबन्धे स्थितो योगी बुद्धेः एकाग्रतां सम्पाद्ध्य वायुं पूरयेत्। वायोः गतिं निरुध्य प्राणायामं कुर्यात्। समहस्तगतः भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेत्। कण्ठमुद्रा इत्युक्ते जालन्धरबन्धः।तद्द्वारा वायोः ऊर्ध्वगमनम् अधोगमनञ्च निरुध्य कुम्भकं कुर्यात्।

खेचरीमुद्रा -

कपालकुहरे विपरीतगा जिह्वा ऊर्ध्वभागं स्पृशन्ती भवति तदा भ्रूवोर्मध्ये दृष्टिः प्रसार्यते चेत् सा खेचरीमुद्रेत्यभिधीयते। रसनामूर्ध्वगां कृत्वा भ्रूमध्यन्य-स्तदृष्टिः खेचरीमुद्रां षण्मासं यावत् समभ्यसेत् तस्य सिद्धिर्भवति। स च सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवति।

ओड्डीयाणबन्धः –

येन वायुबन्धेन अर्थात् निरन्तरकुम्भकाभ्यासेन प्राणवायुः सुषुम्नायां प्रविशति सः उड्डीयानबन्धः। उड्डीयं कुरुते यस्मात् तद् उड्डीयानमुच्यते।

मूलबन्धः –

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयत[1]॥

अर्थात् पार्ष्णिभागेन योनिस्थानं सम्पीड्य गुदं सङ्कोच्य अपानवायुमूर्ध्वं आकर्षति चेत् सः मूलबन्ध इत्याख्यायते। अर्थात् वस्तुतः

[1] ह.प्र.-3-61

प्राणापानौ मूलबन्धेन एकतां गच्छतः येन मूत्रपूरीषयोः क्षयः भवति तत्साधकः युवा भवति।

जालन्धरबन्धः -

कण्ठमाकुञ्च्य चुबुकं हृदये स्थापयेत्। अयमेव जालन्धरबन्ध इति कथ्यते। अयं बन्धः नाडीसमूहं तथा कपालकुहरे नभस्थं जलं च बध्नाति। येन च कण्ठसम्बन्धिरोगाणां नाशो भवति।

विपरीतकरणीमुद्रा :–

यस्य योगिनः ऊर्ध्वं नाभिः अधः तालुः अर्थात् ऊर्ध्वं सूर्यः अधस्थात् चन्द्रमाः इति यथा क्रियते सा विपरीतकरणी भवति। अस्याः मुद्रायाः निरन्तराभ्यासेन जाठराग्निविवर्धनं भवति। गुरूपदेशानुसारेणैव अस्य अभ्यासो विधेयः अस्य निरन्तराभ्यासेन बह्वन्नपचनं भवति। वस्तुतः शीर्षासनम् एव इयं मुद्रा।

वज्रोलीमुद्रा –

वज्रोलीमुद्रां यस्तु जानाति सः योगशास्त्रोक्तनियमपरिपालनं विनापि स्वेच्छया वर्तमानोऽपि सिद्धिभाजनो भवति। वज्रोलीमुद्राभ्यासिनः मेहनेन शनैः सम्यक् ऊर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत्। तदभ्यासबलेन तद्वायुसञ्चारकारणात् पौनःपुन्येन अभ्यासे वज्रोलीसिद्धिर्भवति। अनेन बिन्दुपातसंरक्षणात् अर्थात् बिन्दुधारणात् पुरुषस्य, नार्यास्तु रजःसंरक्षणात् वज्रोलीसिद्धिर्भवति। वज्रोलीमुद्रायाः एव सहजोलिः अमरोलिश्चेति भेदद्वयमपि हठयोगप्रदीपिकायां प्रपञ्चितम्।

शक्तिचालनमुद्रा -

अन्तिममुद्रारूपेण शक्तिचालनमुद्रा परिपठ्यते। सा च मुद्रा इत्थम् – वज्रासने स्थितः योगी कराभ्यां कन्दं प्रपीडयेत्। एवं नैरन्तर्येण कुर्वतः भस्त्रिका – कुम्भकमभ्यस्यतः कुण्डलिनीशक्तिजागरणं भवति। कुण्डलिनीशक्तिजागरणे प्राणः सुषुम्नानाडीं प्रविशति। तादृशकुण्डलिनीशक्तिजागरणद्वारा दण्डताडित -सर्प इव कुण्डलिनीशक्तिः

ऊर्ध्वमाक्रमते। तदा मूलाधाराद्याज्ञाचक्रपर्यन्तं कुण्डलिनीशक्तेः सञ्चालनाय नित्यं योगभ्यासिना प्रयत्नो विधेयः। एवं प्रयत्ननैरन्तर्येण कुण्डलिनीशक्तिं सहस्रारकमलपर्यन्तं नयति चेत् कुण्डलिनीशक्तिसंस्पर्शमात्रेण सहस्रारकमलं विकसितं भवति। तेन सः योगी भूतभविष्यद्वर्तमानकालत्रयाभिज्ञो भवति इति हठयोगप्रदीपिकोक्तानां केषाञ्चन योगानां सङ्ग्रहः कृतः। एतेषामेव योगानां प्रकृतमातृकायां विवरणं दृश्यते इत्यतः योगशास्त्रसम्बद्धहठ-योगप्रदीपिकाग्रन्थात् उद्धरणमत्र सङ्गृहीतम्।

योगतारावली

योगतारावलीनामको ग्रन्थः हठयोगस्य तथा राजयोगस्य च सम्बद्धः। योगाभ्यासिनः प्रायशः अनेन ग्रन्थेन परिचिताः। शङ्करग्रन्थावलिषु अयमपि ग्रन्थःदरीदृश्यते। एतत्सम्बद्धं ग्रन्थप्रकाशनं भारतीयविद्याप्रकाशनसंस्थाद्वारा १९८७तमे वर्षे जातमिति ज्ञायते। ग्रन्थेऽस्मिन् योगशास्त्रसम्बद्धः अत्युन्नत-स्तरीयः विषयः यद्यपि प्रतिपाद्यते तथापि व्याख्यासापेक्षोऽयं ग्रन्थः।

अस्य ग्रन्थस्य संस्कृतटीका नोपलभ्यते स्म। ग्रन्थस्यास्य व्याख्यायाः अनुपलम्भात्। ग्रन्थोऽयं शङ्करकर्तृक इत्यस्मिन् विषये बहवः विद्वांसः संशीतिं लेभिरे। विभिन्नसंस्करणेषु श्लोकानां मध्ये पाठान्तरदर्शनात् शुद्धपाठनिर्णयः नितराम् दुष्करः आपतितः। ग्रन्थस्यास्य हिन्दीभाषायां तथा वङ्गभाषायां च यद्यपि व्याख्या उपलभ्यते स्म तथापि तत्र पाठान्तरविषये शुद्धपाठविषये वा न किमपि चर्चितम् इत्यतः तयोः व्याख्ययोः उच्चस्तरत्वं न परिगण्यते।

ग्रन्थोऽयं शङ्कराचार्यकृतः इत्यत्र अस्ति संशयस्यावसरः। कुत्रापि प्राचीनग्रन्थेषु ग्रन्थास्यास्य तद्गतश्लोकानां वा उद्धरणं नोपलभ्यते। तथापि अष्टादशशतकीयभास्कराचार्येण तथा सप्तदशशतकीययोगिना शिवानन्देन च ग्रन्थस्यास्य उद्धरणं कृतमिति ज्ञायते। किञ्च शाङ्करसम्प्रदाये विद्यमानैः

वाराणस्यादिके स्नाने स्नात्वा शुद्धो भवेन्नरः ॥इति ॥

आत्मसं[?]संस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिष्ठं यजते शिवम्।
हस्तस्थं जलमुत्सृज्य लिहेत् कूर्परमात्मनः।।

शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु च योगिनः।
अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमा परिकल्पिता[1]**॥**

इत्यादिना। **सितासिते सरिते**[2] {यत्र } **सङ्गते तत्रा**{प्लु} **तासो दिवमुत्पन्तती-**त्यादिश्रुतिभ्यश्च। किं च प्रत्यहं प्रपञ्चप्राणाग्न्युपासना च क[3]र्तव्या ग्रह[4]णादिषु कार्यं शिवध्यानादिकं म[5]न्त्रयोगि च कु[6]र्यादिति च। एतत्सर्वं स्वप्नद‍ृ[7]ष्टज्ञाना-लम्ब[8]नं वेत्यादियोगसूत्रभाष्या[9] दावन्यत्र च स्पष्टम्। ग्रहणक्षेत्रादि{?}स्वरूपं तु महाराजतरले सप्रपञ्चंनिरूपि तः{तम् }।

मूलम् –

जालन्धरोड्डीयणमूलबन्धान् जल्पन्ति कण्ठोदरपायुमूलान्।
बन्धत्रयेऽस्मिन् परिचीयमाने बन्धः कुतो दारुणकालपाशात्।।

अथ शिष्यस्य मनोलयसिध्यर्थं केवलहठं विवक्षुः प्रथमं तत्साधनबन्धत्र-यप्रदेशानाह

जालन्धरेति। जालन्धरोड्डीयणमूलबन्धान् जालं नाडीसमूहं धरतीति जालन्धरः, कण्ठमूलप्रदेशः। तत्रत्यबन्धोऽप्यभेदोपचाराज्जालन्धर इत्युच्यते।

---

[1] दे.मा. – कल्पि -x – त्यादि
[2] दे.मा. – तो
[3] दे.मा. –सना – xx – र्तव्या
[4] दे.मा. - कर्त x^3 णादि
[5] दे.मा. – नादि xx – न्त्रयो
[6] दे.मा. - मन्त्र–x^4 - र्यादि
[7] दे.मा. – स्वप्न – x – ष्टज्ञा
[8] दे.मा. – ष्टज्ञा – x^3 –नं वे
[9] दे.मा. – त्रभा – x – दाव

उड्डीयते प्राणवायुर्यस्मात् तदुड्डीयणमुदरादिभाग इत्यर्थः। तत्रत्यबन्धोऽप्युड्डी-यणमित्युपलक्ष्यते। मूलम् - पायुस्थानं सर्वकारणभूतपराशक्तेराश्रयकमल-स्थानत्वात् मूलमित्युच्यते। तत्रत्यबन्धोऽपि लक्षणया मूलमित्यभिधीयते। जालन्धरश्चोड्डीयणं च मूलं च तानि तथोक्तानि तानीति बन्धाः, जालन्धरोड्डीयण
मूलाख्यबन्धास्तान् कण्ठं च उदरं च पायुश्चकण्ठोदरपायु{पायवः} तस्य मूला {ले}न्या[1]दिप्रदेशा इत्यर्थ। तान्येषां सन्तीति कण्ठोदरपायुमूलाः अर्शादित्वादच्। यथाक्रमं बन्धाः कण्ठोदरमूलादिभागेषु स्थिता इत्यर्थः। तान् वेदवाचः योगिन इति वेति शेषः। जल्पन्ति व्यक्तं वदन्ति, तथा चोक्तम् –

पार्ष्णिघातेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयन् दृढम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयात् मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।।
ओड्याणं कुरुते यस्मादाविश्रान्तमहाखगः{?}।
ओड्डीयणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी।॥
उदरात् पश्चिमं ताण {स्थानं ?}मधो नाभेर्निगद्यते।
ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ।।
बध्नाति हि शिला[2]जातमधोगामि नभोबिलम्।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखाघनाशनः।।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणः ।

इत्यादि योगचूडामण्यादौ शिवयोगप्रदीपिकायां च। ततः किं कार्यमित्याह- बन्धत्रय इति अस्मिन् पूर्वोक्ते बन्धत्रये परिचीयमाने अनवरत-मभ्यस्यमाने सति परिपूर्वकाच्चिनोतेः कर्मणि यक् ततः शानच्

[1]दे.मा. – त्या
[2] दे.मा. – वा

नुमागमश्च। दारुणकालपाशात् दारुणसर्वलोकसंहारकः। स चासौ कालो यमः। तस्य पाशाद्बन्धो बन्धनं कुतः सम्भवतीति शेषः। कुतोऽपि न सम्भवत्ये[1]वेत्यर्थः। किं शब्दात् पञ्चम्यास्तसिलिति तसिल्कुतिहोरति किमः क्वादेशः। एतदन्य-कालपाशस्य बन्धनहेतोरभावादिति भावः। कुतो दारुणकालपाशादिति वा योजनीयम्। अकस्मादपीत्यर्थः। बन्धत्रयाभ्यासकुठारेण[2] ब्रह्मनाडीकवाटे भिन्ने सति केवलकुम्भकसिद्ध्या मनोलयानन्तरं भेदाभासेन स्वभिन्नकालस्य तत्पाशस्य वा कदाचिदप्यप्रतीतेस्तन्मूलकबन्धस्य सुतरामभावः सिध्यतीत्यतः कण्ठादि-स्थानेष्ववश्यं गुरूपदिष्टमार्गेणाभ्यासः कर्तव्य इति भावः। अथ पुनरावृत्त्यै तदभ्यासहिंसां दूषयति जालन्धरेति - य इति शेषः। जालन्धरोड्डीयणमूलबन्धान् कण्ठोदरपायुमूलान् जल्पन्ति अविवेकतो बहु वदन्ति शिष्येभ्य इति शेषः। धराद्यपहरणाय जनान्मोहयितुं ग्रन्था[3]न् सम्पाद्य फणन्ति न वस्तुतो जानन्तीति भावः। अस्मिन् बन्धत्रये तत्स्थाने कण्ठादावित्यर्थः। परिचीयमान उपचीयमाने घृतसूपादिबहुलतरान्नभोजनेन मांसलतां प्रापिते सतीत्यर्थः। दारुणकालपाशात् तेषाम् अबन्धो बन्धाभावः मोक्ष इत्यर्थः। कुतः कुतो हेतोस्सम्भवति न कुतोऽपीत्यर्थः। देहपोषणादिपराणां जन्मसहस्रेणापि मुक्तिर्नास्तीति भावः। तथा चेह जन्मनि जन्मान्तरे वा कृतयोगाभ्यासस्यैवात्माज्ञानमुत्पद्यते नान्यस्येत्यतो मुमुक्षुभिः योगाभ्यासः कर्तव्य इति परमहृदयम्। तथा चोक्तं – श्रीभगवता-

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथ[4]वा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।।इति।

अत्रेदमनुसन्धेयम्। यदि योगवेषधारिणो ये धनाद्यपहाराय प्राकृता-न्वाग्भिः मनोहराभिः मोहयित्वा योगानुपदिशन्ति ये च तदुक्तिम् –

[1] दे.मा. – तीति तदर्थः इति दृश्यते
[2] दे.मा. – रणे
[3] दे.मा. – धा
[4] दे.मा. – ध

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः।
सूतकद्वयसंप्राप्तौ कथं सन्ध्यामुपास्महे॥
हृदाकाशे चिदादित्यः[1] सदा भाति निरङ्कुशः।
उदयास्तमयौ न स्तः कथं संध्यामुपास्महे।।

इत्यादिरूपां संमान्य स्वकुलाश्रमाचारान्विहाय स्वगुरुपदद्वयमपि महायोगिन इति सन्तुष्ट्या यथेच्छं विषयानुपभुञ्जानाः तिष्ठन्ति तेषां तेषां च जलचरपानाय निबद्धप्रतिपद्वृष्टिकबकयोगवत् फलतीति[2]।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये विद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते ये अविद्यायां[3] रताः॥
अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति [4](ये के चात्महनो जनाः}॥

इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथा चोक्तमागमे –

गुरुशिष्यावुभौ मोहादपरीक्ष्य परस्परम्।
उपदेशं वदन् गृह्णन् प्राप्नुयातां पिशाचताम् ॥इति।

हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्। इति स्मृतिरपीति। एवं च यथोक्तनियमपूर्वकमेव योगाभ्यासं कुर्यादिति गुरुयोग्यतां शु[5]श्रूषादिना ज्ञात्वा शिष्यो योगं समभ्यसेत्। शिष्ययोग्यतां ज्ञात्वोपदिशेद्गुरुरिति च गुरुशिष्यादिलक्षणं तु प्रकरणशेषे किंचिन्निरूपयिष्यामः। विस्तरस्तु महाराजतरले द्रष्टव्यः।

ओड्याणजालन्धरमूलबन्धैरुन्निद्रितायामुरगङ्गानायाम्।
प्रत्यङ्मुखत्वात् प्रविशन् सुषुम्नां गमागमौ मुञ्चति गन्धवाहः।।

---

[1] दे.मा. – तः
[2] दे.मा. – लती –x -अन्ध
[3] दे.मा. – अविद्यायोगे इति
[4] दे.मा. – अविद्वागसा इत्यधिकम् दृश्यते
[5] दे.मा. – शि

ततः किं भवतीत्याह -ओड्याणजालन्धरेति – ओड्याणजालन्धर-मूलबन्धैः ओ[1]ड्याणजालन्धरमूलाख्यैबन्धैरुदरकण्ठवायुमूलस्थानेषु कृतैः-प्राणवायुनिरोधैः करणैस्त्वयेति शेषः। उरगाङ्गनायां उरसा गच्छन्तीत्युरगाः। उरसो लोपश्चेति गमेर्धातोर्ड्व प्रत्ययः। अङ्गात् कल्याण इति वार्तिकेन मत्वर्थीयो नः अङ्गनाशुभावयवा अक्षयावयवा वा उरगा च सा अङ्गना चेति तथोक्ता कुण्डलिनी शक्तिरित्यर्थः। तस्यामुन्निद्रितायां निन्द्यते तिरस्क्रि[2]यते अनयेति निद्रा निन्देर्नलोपश्चेति रल्। उद्गता निर्गता सा च निद्रेति तथोक्ता पुनरागमनकारणशून्यनिद्रा महाप्रबोध इत्यर्थः। सास्यास्सञ्जाता उन्निद्रता तादृश्यां सत्यां तारकादित्वादितच्। गन्धवाहः कर्मफलदानाय गन्धांश्चित्त-वासनाः वाहयति प्रापयतीति गन्धवाहः प्राणवायुः वहतेर्ण्यन्तात् कर्मण्यण्। **तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधा[3]ति**-इति श्रुतेः। अस्यार्थः-

तस्मिन् ब्रह्मणि सति मातरिश्वा सूत्रात्मा अपः कर्मफलानि प्राणिनां दधा[4]ति, धारयतीत्यर्थः। सुषुम्नां स्वयंप्रकाशमानां ब्रह्मनाडीं प्रविशन् प्रकर्षेण इडापिङ्गलानाडीमार्गपरित्यागेन विशन् प्रविशन् विशप्रवेशन इति धातोर्लटश्शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरण इति सूत्रेण सामानाधिकरण्येऽपि बहुलग्रहणादाब्रह्मणस्सन्नितिवत् शतृप्रत्ययः सुषुम्नाया इति शेषः। प्रत्यङ्मुखत्वात् प्रातिलोम्येनाञ्चति प्रकाशति इति प्रत्यक् तस्य मुखं द्वारं तत्प्राप्तिमार्ग इत्यर्थः तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्माद्धेतोः गमागमावतः प्रवेशः बहिर्निस्सरणे मुञ्चति, यद्वा प्राणवायोर्गमनार्हा इडापिङ्गलाख्या वृत्त्यानावृत्ति-हेतुदक्षिणोत्तरमार्गैः[5] मुञ्चतीत्यर्थः।

---

[1] दे.मा. – आ
[2] दे.मा. - स्क्री
[3] दे.मा. – दा
[4] दे.मा. – दा
[5] दे.मा. – गौ

सकलकर्मतूलपूलकानलब्रह्मप्राप्तिमार्गसुषुम्नाप्रवेशानन्तरं निखिल-कर्मफलदायकोदग्दक्षिणमार्गचन्द्रसूर्यनाडीस्पर्शप्रसक्त्यभावेन तदभाव इति भावः।

उत्थापिताधारहुताशनोल्कैराकुञ्चनैश्शश्वदपानवायोः।
सन्तापतश्चन्द्रमस स्रवन्ती पीयूषधारां पिबतीह धन्यः।।

ततः को लाभ इत्यत आह उत्था[1]पितेति। इह केवलकुम्भके धन्यः भाग्यवान्जनः उत्था[2]पिताधारहुताशनोल्कैरुत्थापिता ऊर्ध्वं प्रापिताः उत्पूर्वात् आर्धधातोर्जन्तात् कर्मणि क्तः।

आ[3]र्तिह्नीत्यादिना पुगागमः। आधारो मूलाधारकमलं तस्मिन् हुताशनः हुतं चतुर्विधमन्नमश्नातीति तथोक्तो वैश्वानरः। **अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रृ{श्रि}त** इत्यादिभगवद्वचनात्। तस्योल्का ज्वाला यैस्तैर्वाति सदा गच्छतीति वायुः। कृवापेत्यादिना उण्। आतो युगिति युगागम[4]श्च। अपानेति अधो गच्छतीत्यपानः, **योपानितो[5]ऽपानः** इति श्रुतेः। स चा सौ वायुश्च तस्य शश्वदनवरतम् आकुञ्चनैरूर्ध्वमुखीकरणैः कौटिल्यार्थककुञ्चतेर्भावे लृट्। तैस्सन्तापतोऽतिशयतापाद्धेतोश्चन्द्रमसः सहस्रारकमलान्तर्गताक्षीणचिच्चन्द्र-मण्डलात् स्रवन्तीं तत्कालनिःस्रुतां पीयूषधारां पिबति। पानार्थकपाधातोः पाघ्रेत्यादिना पिबादेशः। सन्ततसत्त्वसम्पादकसुधापानेन चित्तं शुद्धसत्त्वमयं भूत्वा निरुद्धावस्थापन्नं भवतीति भावः। तथा च श्रुतिः- **अन्नमयं हि सो[6]म्यमन आ[7]पोमयः प्राण** इत्यादि। अत्रेदमनुसन्धेयम्- केवलकुम्भकाभ्या{स}समये यथोक्तसुषुम्नां

---

[1] दे.मा. – अर्था
[2] दे.मा. – उत्तथा
[3] दे.मा. – अ
[4] दे.मा. – गाग –x – श्च अ
[5] दे.मा. – त्नो
[6] दे.मा. – सा
[7] दे.मा. – सोम्य –x[3]- पोम

ध्यात्वा ओ[1]ड्याणे प्राणापानौ निरुध्य चिच्चन्द्रमन्डलनिःस्रुतसुधां पीत्वा मणिपूरकमलकर्णिकायां दीपिकारूपं ज्वलन्तं परमशिवं ध्यात्वा मृतेनाभिषिच्य वाहनाद्युपचारान् भावयित्वा मनसा हंसानुसन्धानं{ने} प्रत्यहं नियमेन कृते यदि तस्याकल्पं जरामरणरोगादिकं न सम्भवति किं त्वणिमादिविभूतिः सिद्ध्यति। अविच्छिन्नाभ्यासी चेत् ईश्वर एव भवति। निष्कामश्चेत् तदैव ब्रह्मज्ञानी भवतीति। सुषुम्नास्वरूपं तूत्तरत्र निरूपयिष्यामः। तथा चोक्तम् ब्रह्मविद्योपनिषदि –

रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकेनास्थितस्सुधीः।
नाभिकन्दे समं कृत्वा {प्राणापानौ समाहितः}

इत्यादिना। तथैव सूतगीतासु च। अभवं सा शिवस्याज्ञेत्यादिना खरोष्ट्रतुरवः[2]क्षुद्राब्रह्मविष्णवादयोऽभवन्नित्यन्तेनोक्तम्।

बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां विवर्जितां रेचकपूरकाभ्याम्।
विशोषयन्तीं विहितप्रवाहां विद्यां भजे केवलकुम्भरूपाम् ॥

अथ[3] केवलकुम्भकस्यैव प्राधा[4]न्यद्योतनाय तं प्रस्तौ[5]ति-बन्धत्रयेति। बन्धत्रयेति। बन्धत्रयस्य जालन्धरादिबन्धत्रयस्य योऽभ्यासः सन्ततधारणा तेन विपाकः कुण्डलिनीप्रबोधनद्वारा ब्रह्मनाडीद्वारा भेदनरूपफलसिद्धिः। तस्माज्जातां रेचकपूरकाभ्यां वैकृतप्राकृतभेदेन द्विविधाभ्यां विवर्जितां विशेषेण निश्शेषेण वर्जितां त्यक्तां सर्वधा{था}द्विविधपूरकरेचकशून्यामित्यर्थः। विषयप्रवाहं विशेषेण षिण्वन्ति[6] बध्नन्ति स्वेषु जनानिति विषयाः शब्दादयः, तेषां

[1] दे.मा. – दो
[2] दे.मा. – गः
[3] दे.मा. – ध
[4] दे.मा. – था
[5] दे.मा. – स्तै
[6] दे.मा. – ती

प्रवाहोऽविच्छिन्नपरम्परा तं विशोषयन्तीं निश्शेषं नाशयन्तीमित्यर्थः केवल-कुम्भरूपां केवलो सदृशः कुं एव रूपं यस्यास्तां विद्याविवेकख्यातिर्मनोलयद्वारा तद्धेतुत्वादियमपि विद्या तां भजे सेवेहमिति शेषः। ब्रह्मावधिपर्यन्तमवश्यं केवल कुम्भकाभ्यास एव कर्त[1]व्य इति भावः।

प्रत्याहृतः केवलकुम्भकेन प्रबुध्दकुण्डल्युपभुक्तशेषः।
प्राणः प्रतीचेन पथेन{पथा} मन्दं वितीर्यते विष्णुपदान्तराले।।

नन्वेवं सदा सञ्चरणशीलस्य प्राणवायोरतिविस्तृतत्वेनातिसूक्ष्मतनुषि सुषुम्नामात्रप्रवेशोऽनुपपन्न इत्यत्राह प्रत्याहृत इति। केवलकुम्भके[2]न प्रत्याहृतः इतरमार्गात् व्यावर्तितः। अत एव प्रबुध्दकुण्डल्युपभुक्तशेषः प्रबुध्दा सम्यग्बुध्दा जाग्रन्मध्यवर्तिनीत्यर्थः। कुण्डलीकुण्डलं कुण्डलवद्वेष्टनम् अस्या अस्तीति कुण्डली अर्शादित्वादच्, शाङ्र्गरवादित्वकल्पनादिकारः। तयोपभुक्तोऽतिशयेन भुक्तो वायुस्तस्मात् शेषः शिष्टः प्राणः प्राणाख्यो वायुः प्रतीचेन प्रातिलोम्येनाञ्चतीति प्रतीचः तेन प्रत्यक्प्राप्त्यनुकूलेनातिसूक्ष्मेणेत्यर्थः। पथेन{पथा} मार्गेण मन्दं गत्वेत्यध्याहारः। विष्णुपदान्तराले विष्णोः पदं विष्णुपदं चिदाकाश इत्यर्थः। वियद्विष्णुपदमित्यमरः। तस्यान्तरालो मध्यप्रदेशः तस्मिन् कारणे विलीयते विशेषेण पुनरागमनराहित्येन लीयते एकीभवतीत्यर्थः। **आत्मन आका[3]शस्सम्भूतः** इत्यादिश्रुतेः। स्वकारणमहाकाशान्तराले विलीनस्य वायोः स्वरूपं कदाचिदपि न पुनर्लभ्यते महाग्निपतितजलबिन्दुवत् जलनिक्षिप्तसैन्ध-वकणवच्चेति भावः। सहस्रशः सन्तु हठेषु कुम्भः सम्भाव्यते। केवलसंज्ञयैव कुम्भोत्तमो यत्र तु रेचपूरौ प्राणस्य न प्राकृतवैकृताख्यौ। ननु

[1] दे.मा. – वक –x – व्य इ
[2] दे.मा. – क
[3] दे.मा. – न आ –x – शस्स

ब्रह्माद्यधिदेवतानां वैकृतकुम्भकानां सतां किं केवलकुम्भक प्रशस्तयेत्यत्राह - सहस्रश इति। हठेषु तन्नामकयोगेष्वित्यर्थः कुम्भकुम्भकाः सहस्रशः सन्तु तिष्ठन्तु तेष्विति शेषः। तेषु कुम्भकेषु केवलसंज्ञयैव सिद्धादिवत्केवलरूढैव{?}सम्भाव्यते सम्भावितम्। भूप्राप्तावित्यस्मात् चुरादेर्भावे युक् न तु योगरूढतयेत्यर्थः। वैकृतकुम्भकानां पूरकरेचकविशिष्टत्वेन पूरकरेचकरहितवायुनिरोधमात्रार्थकुम्भकः शब्दप्रवृत्तेः तत्रानर्हत्वादिति भावः। तदभ्यासेन कदाचिदपि मनोलयासम्भवात् पुनःपुन-स्संसारप्रवर्तकेषु तेषूत्तमत्वशेमुषी न कार्येति भावः। तर्हि क उत्तम इत्यत्राह कुम्भो म इति यत्र कुम्भके प्राणस्य प्राकृतवैकृताख्या प्रकृत्या स्वभावेन निष्पन्नः प्राकृतविकृतिविकारः ते न निष्पन्नो वैकृतः प्राकृतवैकृताविति द्वन्द्वः। तावित्याख्या ययोस्तौ तौ रेचपूरौ न भवतः। स एव कुम्भोत्तमः कुम्भश्रेष्ठो भवति। तस्मिन्नेव कुम्भके कुंभ्यते{?} प्राणवायुगमनागमनराहित्येन येन स कुम्भक इति यौगिककुम्भकशब्दो योगरूढतया वर्तते नेतरेष्विति भावः। केवलकुम्भके सुषुम्नाप्रविष्टप्राणवायुना सह इत्येव दृश्यते चित्तलयसम्भवान्मुमुक्षुभिः केवलकुम्भकाभ्यास एव कार्यः। न त्वितरकुम्भकाभ्यास इति परमहृदयम्। अत्रेदमनुसन्धेयम्। यथोक्ते मठे यथोक्तासने स्थितो योगी हठमभ्यसेत्। हठो नाम, यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यान-धारणासमाध्यष्टाङ्ग[1]योगः। तत्रारम्भघटपरिचयनिष्पत्तिभेदात्[2] चतस्रोऽवस्थाः। तत्रारम्भे यमनियमप्राणायामपूर्वकं कुम्भकाभ्यासं कुर्या[3]त्। तत्र ब्रह्मचर्य-नियमस्थैर्यदयासत्यशौचास्तेया हिंसाक्षमार्जवभेदेन दशविधो यमः। सन्तोषा-
स्तिक्यसद्गुणरतितपोव्रतशिवपूजनयोगशास्त्रविचारवेदान्तश्रवणसत्पात्रदा

---

[1] दे.मा. - गो

[2] दे.मा. - भोच्च

[3] दे.मा. - त्या

नह्रीभेदेन नियमोऽपि दश विधः। सिद्धपद्मस्वस्तिकमुक्तवीरभद्रादिभेदेनासनानि च दश। तत्र स्तेयहिंसादीनां मृदुमध्यादिभेदेनैकाशीतिभेदनिरूपणं सिध्दाद्यासन-निरूपणञ्च महाराजतरले द्रष्टव्यम्। प्रा[1]णायामप्रकारस्तूक्त एव। तदाहारादि-नियम उच्यते। कट्वाम्लवणसर्षपहिंगूष्णशीतान्नशाकादिकमुपवासादिकं त्रिनिषेवणञ्च वर्जयेत्। प्रथमतःकी[क्षी}राज्यविशिष्टान्नभोजनं ततो गोधूमपिष्टभोजनं मुद्गविशिष्टशाल्या-न्नभोजनं च प्रशस्तम्। स्वपरिमिताहारस्य सव्यञ्जनमन्नमर्धपादपरिमितजलं च भुक्त्वा वायुसञ्चारार्थमेकपादमवशेषयेत्। एवं प्रत्यहं कुर्वन् यथा शक्तिसिद्धबद्धपद्माद्यासनासीनस्सन् यथेष्टवायुधारणां कुर्यात्। अभ्यासकाले प्रथमतः प्रस्वेदो जायते, तदा गुरूक्तप्रकारेण तत्साधनं कुर्यात्। ततोऽधिकाभ्यासात् आसनस्थस्य शरीरकम्पो जायते।

ततोऽधिकाभ्यासाद्दर्दुरवदासना{त्}उत्प्लुत्योत्प्लुत्य याति। ततोऽप्यधिका-भ्यासात् पद्मासनस्थ एव भूमिमुत्सृज्य केवलाकाश एव यथेष्टं वर्तते। तदा अतिमानुषव्यापारसमर्थो भवति। स्वसामर्थ्यमन्यस्मै न दर्शयेत्। सदा अज्ञात दुःखलेशःशुद्धसत्त्वप्रधा[2]नोऽल्पमूत्रपुरीषः स्वल्पनिद्रो लालदूषिकास्वेददुर्गन्धादि रहितश्च जायते। ततो बहुतराभ्यासात् बलवांश्च जायते। तद्धस्तताडनादेव व्याघ्र सिंहशरभादिमारणं भवति। मन्मथा[3]दप्यतिसुन्दरश्च भवति। तदा स्त्रीभिः प्रार्थितोऽपि न सङ्गं कुर्यात्। बिन्दुधारणात् सगन्धदेहः ततो रहसि प्लुतप्रणवजपं कुर्वन् प्रध्वस्तसकलदुरितप्रत्यूहसन्दोहो भवति। इयमारम्भावस्था। अथ घटावस्था निरूप्यते। प्राणापानयोर्मनोबुद्ध्योर्जीवात्मपरमात्मनोरैक्यं यत्र भवति, सा

---

[1] दे.मा. – प्र

[2] दे.मा. – था

[3] दे.मा. – धा

घटावस्था। तस्यां पूर्वोक्ताभ्यासं याममात्रमेव प्रत्यहं यदा कदा वाभ्यसेत्। अथ प्रत्याहारः शब्दादिषु विषयभावनामुत्सृज्य ब्रह्मभावनं तत् प्रत्याहारः। तन्नियमेनात्यहं याममात्रं वा कुर्यात् सन्ततकुम्भकाभ्यासी तु दूरदृष्टिर्दूरज्ञानवान् भवति। तन्मूत्रादिस्पर्शात् लोहादिकं शुद्धसवर्णं भवति। मुमुक्षुश्चेदेतादृशकाम्य-बुध्दिमुत्सृज्य गूढसामर्थ्य[1] यथा तथा मूर्खबधिरादिवत् प्रवर्तमानो गुरुवाक्यमविस्मृत्य सन्तताभ्यासं कुर्यात् इयमेव घटावस्था। ततः परिचयावस्था। वायुः केवलकुम्भकाभ्यासविषये यदि परिचितः स्यात्, सा परिचयावस्था। अथ पञ्चधारणीः, पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानं पीतवर्णं चतुरश्रं सबिन्दुकलकारयुक्तं वज्रलाञ्छितं विभाव्य तत्र चतुर्बाहुं चतुर्मुखं किरीटादियुक्तम् अनिरुद्धंवा ध्यायन्नेव पञ्चघटिकाः प्राणवायुधारणीं यदि करोति तस्य तदा भूमिजयो दीर्घा[2]युश्च भवति। जान्वादिकटि[3]पर्यन्तं जलस्थानम् अर्धचन्द्रसमाकारं श्वेतवर्णम् अर्जुनलाञ्छितं सबिन्दुकलान्तबीजयुक्तं जलमण्डलं विभाव्य तत्र नारायणं शङ्खचक्रादि-युक्तंशुध्दस्फटिकसङ्काशं पीतवाससं स पञ्चघटिकाः ध्यायन्नेवावधारणीं यदि करोति तदा तस्य महाबलविजयो भवति। कटिप्रदेशमारभ्य नाभि[4]पर्यन्तमग्निस्थानम्। सबिन्दुकं यान्तबीजे बीजं[5] युतं{?] ज्वालालाञ्छितं सिन्धूरवर्णं ध्यात्वा तत्र बालसूर्यप्रतीकाशं त्रिनयनं भस्मोध्दूलितसर्वाङ्गं वराभयकरं रुद्रं प्रद्युम्नं वा पञ्चघटिका ध्यायन्नेव तत्र वायुधारणीं यदि करोति तदा तस्य महाग्निविजयो भवति। आनाभिभ्रूमध्यपर्यन्तं वायुस्थानम्। तत्र धूम्रवर्णं वेदिकाकारं भूतमारुतं विभाव्य तत्र सबिन्दुकवायुबीजेनातिदीप्यमानमीश्वरं सङ्कर्षणं वा

[1] दे.मा. – र्थं
[2] दे.मा. – र्गा
[3] दे.मा. - टी
[4] दे.मा. – भी
[5] दे.मा. – बीजे –xx – युतं

ध्यायन्नेव पञ्चघटिकाः स्तत्र वायुं निरोधयेत्। ततोऽस्यमहावायुविजयो भवति। वायुवदतिवेगेन सर्वलोकान् चरति भ्रूमध्यमारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तमाकाशस्थानं तत्र नीलाञ्जनसमप्रभं महाकाशं विभाव्य तत्र पार्वतीसहितं चन्द्रशेखरं शुद्धस्फटिकवर्णं पञ्चवक्त्रं नीलकण्ठं दशभुजं सर्वायुधयुतं वराभयकरं भस्मदिग्धशरीरं परशिवं वासुदेवं वा हकारेण स्मरन्नेव पञ्चघटिकाः वायुं तत्र निरोधयेत्। तत् सायुज्यादिकं भवति। केचित्तु जान्वादिनाभ्यन्तं जलमण्डलं नाभ्यादिकण्ठान्तं वह्निमण्डलं कण्ठादिभ्रूमध्यान्तं वायुमण्डलं चाहुः। यथा गुरुमतज्ञोऽयमिति दिक्। राजयोगाङ्गपञ्चधारणीस्तु सदा पञ्चभूतेषु ब्रह्मभावना तां कुर्वन्नेव वसेत्। झटिति कैवल्यं सिध्यतीति दिक्। कुम्भकेन चिदाकाशे अष्टघटिका अभीष्टदेवतां ध्यायेत् तदेव सगुणध्यानम् इति परिचयावस्था। अथ समाधिः। जीवात्मपरमात्मनोरैक्यभावनैव समाधिरिति निष्पत्तिः। एवं यः कुरुते सदा तस्य स्वदेहं त्यक्तुं पुनस्प्र[1]ष्टुं व्याघ्राद्यनेकरूपाण्येकधैव धर्तुं च समर्थो भवति। यदि महेश्वरत्वेच्छा स्यात्{स?} एव भवतीति दिक्। अथ महाबन्धः- वामपार्णिं[2] योनिस्थाने संस्थाप्य दक्षिणं प्रसार्य हस्ताभ्यां दृढं गृहीत्वा चुबुकं हृदि विन्यस्येडया वायुमापूर्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा पुनर्दक्षिणया विरेचयेत्।

ततो दक्षिणपादं वामोरुरुपरि विन्यस्य तत्पार्ष्णिं{र्णिं} च योनिस्थाने संस्थाप्य वामं प्रसार्य हस्ताभ्यां दृढं च गृहीत्वा पुनर्दक्षिणयापूर्य कुम्भयित्वा पुनर्वामनाड्या विरेचयेत्। एवं क्रमेण यथाशक्ति प्रत्यहं गुरूक्तमार्गेण कुर्यात्। अयमेव महाबन्धः, महामुद्रासंज्ञिकश्च भवति। तदुक्तं मुक्तिसोपाने –

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य चुबुकं योनौ च वामाङ्घ्रिणी
हस्ताभ्यामनुधारयन् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्।।

---

[1] दे.मा. – स्पृ .
[2] दे.मा. – ष्णिं .

आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्धासनो रेचयेत्।
सर्वव्याधिविनाशिनीति महतीमुद्रा नृणां प्रोच्यते।।
चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेन समभ्यसेत्।
यावत्तयोर्भवेत्सख्यंस्ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ इति।

अयमेव कण्ठबन्धं विहाय नाडीद्वयेनापूर्य यथाशक्त्याकुंभ्य{कुञ्च्य}-पुनस्तेनैव विरेचयेदिति महावेधः। बन्धत्रयाभ्यासस्तूक्त एव। बन्धत्रयाभ्यास-काले जठराग्निवृध्दिर्भवति तदा क्षुदनुकूलाहारं भक्षयेत्। न चेत् तत्क्षणादेव जठराग्निः शरीरं भस्मीकरोति। केवलकुम्भकाभ्यासी तु गुरूपदिष्टासने स्थिते[1] हृदये बद्धाञ्जलिनासाग्रन्यस्तलोचनः ऋजुकायः प्रातर्मध्यान्हकालेषु नाभीकन्द-नासाग्रपादाङ्गुष्ठेषु यत्नपूर्वकं मनसा प्राणवायुधारणीं[2] करोति यदि, सर्वरोगरहितो निरायासंजीवति।

नाभीकन्दमात्र एव वायुनिरोधः स्यात् कुक्षिरोगनाशो भवति। नासाग्रमात्रे यदि दीर्घायुः शरीरलघुता च प्रत्यहं ब्राह्मे मुहूर्ते[3] जिह्वायाः प्राणवायुमाकृष्य तत्र धारणीं यदि करोति सरस्वतीप्रसादात् तस्य सर्वविद्यालाभो भवति। यस्मिन्नवयवे रोग उत्पद्यते तत्र यदि वायुधारणी[4] क्रि[5]यते तदङ्गरोगो विनश्यतीति। किं च द्विसप्ततिसहस्रनाडीषु यत्र यत्र कुम्भकं कर्तुमिच्छा तस्यां तस्यां प्रत्येकं प्राणः कुम्भितो भवति। अतः कुम्भका नाडीभेदेन द्विसप्ततिसहस्रसंख्याका भवन्ति इत्यादि सामान्यतो ज्ञेयमिति दिक्। अथ विशेषहठयोगप्रकारस्संक्षेपत उच्यते।

---

[1] दे.मा. – तो
[2] दे.मा. – णां
[3] दे.मा. – जाते इत्यधिकं दृश्यते
[4] दे.मा. – णां
[5] दे.मा. – क्री

तत्राष्टाङ्गानि - देहेन्द्रियपुत्रादिषु वैराग्यं यमः। सर्वदा परब्रह्मैक्यकामनैव नियमः। सर्वविषयेषु निस्सङ्गतया प्रवर्तनमासनम्, सर्वजगति मिथ्यात्वभावनैव प्राणायामः। सर्वदा प्रत्यग्ब्रह्मविचारः प्रत्याहारः। चित्तनैश्चल्यमेव धारणा। सर्वस्मिन् ब्रह्मभावनैव ध्यानम्,ध्यानविस्मृत्याखण्डानन्दानुभूतिः समाधिरिति। अत्र सर्वो[1]त्तमसमाधिपर्यन्तम् एवंप्रकारेणाष्टाङ्गाभ्यासं कुर्यात्। अथवा शीतोष्णाहारनिद्राविजयाविच्छिन्नयान्तिचित्तनिश्चलत्वविषयेन्द्रियनिग्रहः यमः।
गुरुभक्तिसत्यमार्गानुरक्त्यनिच्छाप्राप्तवस्वनुभवलब्धकामनाभावजगत्सङ्गराहित्य-ब्रह्मानुसन्धानकर्मफलकामनाभाववैराग्यभावाः नियमाः। सुखासनस्थिरत्वमा-सनम्। यथोक्तप्राकृतप्राणायामाभ्यास एव प्राणायामः। विषयेभ्य इन्द्रियव्यावर्तनं प्रत्याहारः। स्वशरीरे चैतन्यभावना ध्यानम्। पृ[2]थिव्यादिषु विष[3]यत्वव्यावर्त-नपूर्वकब्रह्मभावना धारणा अभेदभावनायाश्च विस्मृतिस्समाधिरित्य[4]ङ्गानि यमनियमौ विना षडङ्गानि च भवन्ति। अथादौ मनोहरं सूक्ष्मद्वारं सरीसृपवृश्चिकादिप्रवेशानगर्वादिधू[5]पवासितं मठं प्रकल्प्य य[6]त्र रम्यवेदिकाया-मतिमृदुले कुशाद्यासनविशिष्टासनमुपविशन् गुरुमभिवाद्य गणपतिं सम्पूज्य पूर्वो[7]क्तप्रकारेण नाडीशोधनं कृत्वप्रत्यहमाहारनियमेन वैकृतकुम्भकान्यनायासेन कुम्भकाभ्याससिद्दिपर्यन्तं कृत्वा ततः

[1] दे.मा. – र्वा
[2] दे.मा. – प्र
[3] दे.मा. – षुवि –x - यत्व
[4] दे.मा. – ष्टां इत्यधिकं दृश्यते
[5] दे.मा. – मा
[6] दे.मा. – त
[7] दे.मा. – र्वा

पूर्वोक्तमार्गेण बन्धत्रयाभ्यासं कुर्या[1]त्। क्रमेण सुषुम्नाद्वारभेदनं भवति बन्धत्रया[2]दभ्यासपटुर्गु[3]रुसमीप एव कुम्भकबन्धत्रयाभ्या-सादिकं कार्यम्। ग्रन्थतः हठाद्यभ्यासरहितगुरुमुखाद्वा ज्ञात्वा यदि करोति तस्य गर्भो[4]भिन्नो भवति रोगो वा जायते। ततः शि[शु]श्रूषया गुरुसामर्थ्यं[5] ज्ञात्वा हठादिग्रहणं हठादिग्रहणं कुर्यादिति ज्ञेयम्। अयं प्रकारस्तु सम्प्रज्ञातसमा ध्यवस्थापन्नस्य कर्मयोगि[6]नो न तु ज्ञानयोगिन इति। अथ तारकयोग उच्यते तदङ्गं शाम्भवीमुद्रा गुरुमुखात् ज्ञेया। तल्लक्षणं तु मण्डलब्राह्मणोपनिषद्युक्तम्। लक्ष्येऽन्तस्थे बाह्यया दृष्टौ निमेषोन्मे[7]षवर्जितायां इयं शाम्भवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोप्या भवतीति दृष्टयस्त्रयः प्रतिपत्पूर्णिमाभेदात्। तत्रार्धोन्मीलनं प्रतिपद्दृष्टिः सर्वोन्मीलनं पूर्णि[8]मादृष्टिः इत्यादिरिति। तासां मध्ये प्रथमं पूर्णिमादृष्ट्या लक्ष्यं पश्येदित्यादि इति दिक्। निस्सङ्काल्पक्षमालघ्वा[9]वाहाराप्रमादतातत्त्वसेवनैः क्रमेण कामक्रोधनिःश्वासभय-निद्रादि विजित्य निद्राभयसरीसृपमसत्य हिं[10]सादितरङ्गं तृष्णावर्तं जायापङ्कसंसार-महाम्बोधिं तर्तुं तमोरजसि रजस्सत्वे सत्त्वं नारायणे क्रमेण विलीनं विभाव्य तारकभावनां कुर्यात् य[11]था - नासा[12]ग्रबद्धदृष्टिरर्धोन्मीलितनेत्रो भ्रूमध्यादुपरि

[1] दे.मा. – त्या .
[2] दे.मा. – धत्र –x - दभ्या
[3] दे.मा. – गु
[4] दे.मा. – भ्रो
[5] दे.मा. – र्थं
[6] दे.मा. - योगी
[7] दे.मा. - मो
[8] दे.मा. – सर्वोन्मिलन ममा इति दृश्यते
[9] दे.मा. – ख्वा
[10] दे.मा. – हीं
[11] दे.मा. – त
[12] दे.मा. - थाना – x – ग्रब

चतुष्षट्दशद्वादशाङ्गुलिपरिमिताकाशे लक्ष्यं करोति यदि क्रमान्नील-धूम्ररक्ततरङ्गरुचिपीतकान्तयो दृश्यन्ते। तदा दृष्टिः स्थिरा भवति। स्वाभिमुखाकाशे स्वाभिमुखभूमौ वा स्थिरदृष्ट्या यदि लक्ष्यं करोति दृष्ट्युग्रापाङ्गान्यतरस्मिन्नुभयोर्वा स्वाभिमुखभूमौ वा काञ्चनमयूखाः दृश्यन्ते तदा दृष्टिः स्थिरा भवति अथवा शीर्षोपरि द्वादशषोडशाङ्गुलपरिमिताकाशान्यतरस्मिन्नाकाशे परमशिवरूपज्योतिर्भावनां भ्रूमध्ये चन्द्रबिम्बभावनां वा यदि करोति, तदा दृष्टिस्थैर्यं भवति। यदा स्थैर्यं तदा चित्तं लक्ष्यमयं भवतीति ज्ञेयमि{ज्ञेयम्}बाह्यलक्ष्यलक्षणम्। अथ मध्यलक्ष्यलक्षणं- यथा प्रत्यहं प्रातःकाले प्राप्तश्वेतादिवर्णाकाशम् अखण्डसूर्यचक्रवह्निज्वालाव-लीवत्तद्विहीनान्तरिक्षवत् पश्यति तदाकाराकारितस्तिष्ठति ततोऽभ्यसातिशयात् निर्विकारो गुणरहिताकाशो भवति। ततो विस्फुरत्तारकाकारगाढतमोपमः पराकाशो भवति। कालानलसमद्योतमानो महाकाशस्ततः सर्वोत्कष्टपरमज्योतिः प्रद्योतमानः तत्त्वाकाशो भवति। ततः कोटिसूर्यप्रकाशस्सूर्याकाशो भवति। एतादृशबाह्या-भ्यन्तरस्थव्योमपञ्चके योगी यदि लक्ष्यं करोति तन्मयो वियुक्तो भवति। अथान्तर्लक्ष्यलक्षणमुच्यते – मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तस्थितां सर्वदेवलोकाश्रयां सूर्याभामतिसूक्ष्मां ब्रह्माश्रयां सुषुम्नां ध्यात्वा तन्मध्यवर्तिनीमतिसूक्ष्मरूपां तटित्कोटिसमानाकारां सूक्ष्मकुण्डलिनीं मनसा ध्यात्वा सर्वपापविनिर्मुक्तो भवति। द्विदलकमले सच्चिदानन्दरूपं तेजः पश्यति चेत् सिद्धो भवति। तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये नादः श्रूयते तत्र मनसि स्थिरे सति चक्षुर्मध्यगतनीलज्योतिस्थलं विलोक्य असदृशसुखं प्राप्नोति। एवमेव हृत्पङ्कजमध्यवर्ति तेजश्शिखादर्शनेनापि[1] सामान्यतो लक्ष्यत्रयं निरूपितम्। अथ पूर्वोत्तरतारकद्वयं निरूप्यते। यदीन्द्रियान्तं तन्मूर्तितारकम् यद् भ्रूयुगाती[2]तं तदमूर्तितारकम् इति द्विविधं तारकम्। मूलाधारादिकमलेषु

[1] दे.मा. - पी

[2] दे.मा. - त्ती

मूलाधारादिकमलेषु गणपत्यादिरूपे खण्डतेजोमण्डले लक्ष्यं सदा यदि करोति तन्मनो यदि भवति। भ्रूमध्ये माणिक्य[1] शिखोपमं नीलमणिशिखोपमं वा परशिवं यदि पश्यति मुक्तो भवति। महाकाशे निर्गुणशिवं मनसा यदि पश्यति तदा मुक्तो भवति सर्वभूतेषु सर्ववस्तुषु च सदा परशिवभावनां यदि करोति[2] मुक्तो भवति सहस्रारकमले जलज्योतिरन्तर्लक्ष्यं भवति। बुद्धिगुहायां सर्वाङ्गसुन्दरं तेजोऽन्तर्लक्ष्यम् इत्यपरे वदन्ति। शीर्षान्तर्गत-मण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रमुमासहायं नीलकण्ठं प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यं केचिद्वदन्ति, अङ्गुष्ठमात्रपुरुषमन्तर्लक्ष्यं केचिद्वदन्ति। एवं क्रमेण पूर्वतारकाभ्यासं कृत्वोत्तर-तारकाभ्यासं कुर्यात्। खेचर्या जलज्योतिर्मनसा पश्यन् प्रथमं नादं श्रुण्वन् मनस्तत्र विलीनं कुया{र्या}त्। ततः क्रमेण कलायां ततः तदन्तर्गततेजो[3]द्वारा परे ब्रह्मणि विलीनं भवति। तदामनस्कतारकसिध्दिरिति। इयमेवोन्मन्यवस्था चेति च। तथा चोक्तं –

स एव लययोगस्यात्, तत्र योगमतःश्रुणु।

यमश्चनियमश्चैवेत्यादिना योगतत्त्वोपनिषदि। मण्डलब्राह्मणाद्युपनिषत्सु च ज्ञानयुक्तयष्टाङ्गयोगमुच्यते - **शीतोष्णाहारनिद्राविजय** इत्यादिना। श्रीमच्छ-शङ्कराचार्यविरचितविजृम्भितयोगविजृम्भितयोगशास्त्रभाष्ये च स्पष्टम्।

त्रिकूटनाम्नि स्तिमितान्तरङ्गे खे स्तम्भिते केवलकुम्भकेन।
प्राणानिलो भानुशशाङ्कनाड्या{?} विहाय सद्यो विलयं प्रयाति।।इति।

केवलकुम्भकस्यैवोत्तमत्वद्योतनाय तदभ्यासफलमाह। त्रिकूटनाम्नीति। त्रिकूटनाम्नि त्रयाणां सोमसूर्याग्नीनां कूटं यस्मिन् तत्तथोक्तं, तदिति नाम यस्य तस्मिन् खे आकाशे स्तिमितान्तरङ्गे स्तिमितं निश्चलं

---

[1] दे.मा. - क्व

[2] दे.मा. – तदा इति अधिकं दृश्यते

[3] दे.मा. – तेजो इति स्थाने लेखा इति दृश्यते

मनोमार्गं जित्वा मरुत इह नाडीगणजुषो
निरुध्यार्कं सेन्दुं दहनमपि संज्वाल्य शिखया ।
सुषुम्नां संयोज्य श्लथयति च षड्ग्रन्थि शशिनं
तवाज्ञाचक्रस्थं विलयति महायोगिसमयी ॥३॥

हे भगवति ! साधना में स्थित महायोगी समयमार्गी उपासक मन के मार्ग नाडीगणस्थित वायु को जीतकर इंडा एवं पिंगला में स्थित सूर्य एवं चन्द्र को भी निरुद्धकर अग्नि को भी ज्वाला से प्रज्वलित कर उसी से सुषुम्ना में प्रविष्ट कुण्डलिनी शक्ति से षट्चक्रभेदन करते हैं और आज्ञाचक्रस्थ चन्द्रमा को द्रवीभूतकर अमृतवर्षा करते हैं ॥३॥

अन्वयार्थबोधिनी

इह = साधनायां महायोगिसमयी = महायोगी चासौ समयमार्गी चेति तथा सः मनोमार्गं = मनोमार्गभूतान् नाडीगणजुषः = नाडीसमुदाय-वर्त्तिनः मरुतः = वायून् जित्वा—द्वासप्ततिसहस्रनाडीगणवर्तिवायुरूपं मनोमार्गं मनःसंचारणमार्गं प्राणायामादिना जित्वेत्यर्थः। सेन्दुम् = इन्दुना सहितम् अर्कं = सूर्यं निरुध्य—सूर्यचन्द्राविडापिङ्गलागतौ निरुध्य, शिखया = गुदाकुञ्चनवाय्वाघातजनिताग्निशिखया दहनमपि = स्वाधिष्ठान-गतमग्निमपि संज्वाल्य=सम्यग् ज्वलयित्वा ततः सुषुम्नां संयोज्य=सुषुम्ना नाडीं सम्यग् योगयुक्तं कृत्वा, तत्र प्राणसंचारणेन कुण्डलिनीं प्रवेश्ये-त्यर्थः। तथैव च, षड्ग्रन्थि = षण्णां—मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरा-नाहत-विशुद्धया-ऽऽज्ञानां ग्रन्थीनां समाहारं श्लथयति = भिनत्ति । किं च तव = भगवत्या आज्ञाचक्रस्थं शशिनं विलयति = विशेषेण द्रावयति ॥३॥

अमृत झरिका

साध्यसाधनभावेन मनोजयादि बहिरन्तःस्फुरणपर्यन्तमभिहितम् । तदेतत् कथं सम्भवतीत्याशङ्कायामुपासनाङ्गतया योगं विधत्ते—**मनोमार्गं जित्वेति** । महायोगिसमयी मनोमार्गजयादिकं कृत्वा षड्ग्रन्थि श्लथयति शशिनं च विलयति । एवं सति पूर्वोक्तं मनोजयादिकं सम्पद्यत इति संग्रहः । महायोगी चासौ समयी चेति महायोगिसमयी । समयी समय-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मार्गी। योगी चासौ समयी च योगिसमयी। महांश्चासौ योगिसमयी च महायोगिसमयीति वा। स मनोमार्गं जित्वा। कोऽसौ मनोमार्ग इति जिज्ञासायां विशेषणं नाडीगणजुषो मरुत इति। इह शरीरे नाडीगणजुषो मरुतो मनोमार्गं जित्वेति योजना। वेदाः प्रमाणमितिवद् मरुतो मनोमार्गमिति प्रयोगः। यतो मरुतः प्रवर्तन्ते ततो मनः प्रवर्तत इति मनोमार्गत्वं मरुताम्। तथा चोक्तमात्मारामयोगीन्द्रेण—

"यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्ति-
र्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः"। इति।

नन्वेतद्वचनेन मरुन्मार्गत्वं मनसोऽपि स्यादिति चेद्? अस्तु। अत्र तूपासनाप्रस्तावे मनोजयस्यैव मुख्यतयाऽपेक्षितत्वात्तन्मात्रकथनमुपपद्यते। यद्यपि—

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे।
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः॥

इति तदीयवचनात् सुषुम्नेतरनाडीनामानर्थक्यकथनात् तदीयवायुसंरोधनस्य नैरर्थक्यं पर्यवस्यतीति नाडीगणजुष इति सकलनाडीग्रहणमफलमिव भाति। तथापि मुख्यप्रयोजनवत्त्वात् सुषुम्नायाः, इतरासां च तदभावात्तावन्मात्रेण नैरर्थक्यकथनं, न तु तदीयवायुसंरोधननैष्फल्येन। अत एव तत्र टीकायां—"शं सुखं भवत्यस्मादिति शम्भुस्तस्येयम्, यद्वा शं सुखरूपो भवति तिष्ठतीति शम्भुरात्मा तस्येयं शाम्भवी शम्भोरात्मनो वाऽभिव्यक्तिकारणत्वाच्छाम्भवी। निरर्थकः पूर्वोक्तप्रयोजनाभावाद्" इत्येव व्याख्यातम्। न त्वत्यन्तनैरर्थक्यम्। पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात्=शाम्भवीपदद्योतितसुखभवन-सुखरूपावस्थानाऽऽत्मस्वरूपाभिव्यक्तिलक्षण-प्रयोजनाभावादिति तत्रार्थः।

ननु कथं सकलनाडीगणमरुद्विजयसम्भव इति चेद्? प्राणायामाद्यभ्यासवशेनेति ब्रूमः। तथा चोक्तं वसिष्ठेन—

अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते।
मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते॥ इति।

एतदेव प्रतिपादयति—निरुध्यार्कमित्यादिना। सेन्दुमिन्दुसहितमर्कं सूर्यं निरुध्य। इन्दुसूर्यप्रचारनाड्याविडापिङ्गले निरुध्येति फलितार्थः। इडापिङ्गलागतप्राणं निरुध्येति यावत्। एतदुक्तं भवति—यद्यपि

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मनोमार्गः सकलनाडीगणगतमरुत एव। शैत्यादिना जडीकृतहस्तादौ प्राणसंचाराभावे ज्ञानानुत्पत्तिदर्शनात्। तथापि मनोजयार्थं न सकलनाडीनिरोधस्तद्गतप्राणनिरोधो वाऽऽवश्यकः। किन्तु मुख्ययोरिडापिङ्गलयोस्तद्गतमरुतो वा निरोधेनैव मनोजयसंभव इति। तथा च कुम्भकविशेषेणेडापिङ्गलामरुन्निरोधः कर्त्तव्य इत्युक्तं भवति। तथा सति च हृदयोपरिगतसूर्यः आज्ञोपरिस्थचन्द्रश्च स्वस्वस्थानस्थितो भवतीति यथाश्रुतसूर्यचन्द्रनिरोधोऽप्युपपद्यते। तच्चाग्रे स्फुटीभविष्यति।

ननूक्तरीत्या इडापिङ्गलयोरेव जयो भवेन्न तु मुख्यायाः शाम्भव्याः सुषुम्नाख्यायाः। न हि तत्र प्राणसंचरणमस्ति येन तन्निरोधेन तज्जयः स्यादित्याशङ्कायां तत्र वैपरीत्यमेव, यतस्तत्र प्राणसंचारणमेव तज्जय इत्याशयवांस्तज्जयोपायमाह—दहनमपीत्यादि। प्राणायामकाले मूलबन्धेनापाने ऊर्ध्वगे क्रियमाणे स वह्निमण्डले गत्वा वह्निं प्रज्वालयति। सा च ज्वाला सर्वं शरीरं सुषुम्नां च तापयति। तदा सुषुम्नायां प्राणसंचारः प्रादुर्भवति। तदानीं च कुण्डलिनी प्रबुध्य षड्ग्रन्थि भिनत्ति। तदेतदाह—दहनमपि संज्वाल्य सुषुम्नां तद्दहनशिखया संयोज्य षड्ग्रन्थि षण्णां ग्रन्थीनां समाहारः षड्ग्रन्थि, तत् श्लथयति भिनत्ति। एवत्सर्वं स्वात्मारामयोगीन्द्रेणापि निरूपितम्—

अपान उर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदानलशिखा दीर्घा वर्धते वायुनाऽऽहता॥
ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते।
दण्डाहता भुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥
बिले प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥ इति।
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च॥ इति च।

सुषुम्नायां प्राणसंचारं च व्यतिरेकमुखेनाह—

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत्॥ इति।

'मध्यगः सुषुम्नामार्गगामी'ति तत्र टीका।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अत्रायं क्रमः—प्रथमं तावद् यमनियमसंपन्नो विजितासनः प्राणायामान् रेचकपूरककुम्भकाख्यान् कुर्यात्। एतेन मुहुराचरितेन नाडीशुद्धिः सम्पद्यते। एवं नाडीषु शुध्यन्तीषु मूलबन्धादीनपि गुरूपदिष्टमार्गेण कुर्यात्। तेन शनैः प्राणस्य सुषुम्नाप्रवेशो भवति। तदुक्तं योगिभिः—

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥ इति।

मूलबन्धजालन्धरबन्धोड्डियानबन्धैः प्राणो ब्रह्मनाड्यां सुषुम्नायां प्रविशतीत्यर्थः। एवं मूलबन्धेनापाने मुहुर्मुहुरूर्ध्वगामिनि जायमाने तदाहृतं वह्निमण्डलं प्रज्वलितं भवति। तथा चाभिहितं तत्रैव—

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्॥ इति।

तदीयया ज्वालया प्रागुक्तरीत्या कृत्स्नो देहस्तप्तो भवति सुषुम्ना नाडी च। तदा कुण्डलीनी प्रबुद्धा प्राणमार्गेणोर्ध्वमायाति षड्ग्रन्थि च भिनत्ति। एवं सति उन्मनीभावो मनोजयात्मकः पूर्वोदितक्रम इति।

एतत्सर्वं हठयोगप्रक्रिययास्माभिरभिहितम्। तन्त्रप्रक्रियायां कश्चिद्विशेषः। तथा हि योगिनां नाभौ वह्निमण्डलं समानवायुना ज्वाल्यमानं वर्तते। अशितपीतादिसमीकरणपरस्य समानस्य नाभिसंस्थत्वात्। मूलबन्धकुम्भकाभ्यां तस्यैव प्रज्वलनम्। तान्त्रिकाणां तु स्वाधिष्ठाने वह्निमण्डलम्।

'वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन्'।

इति वामकेश्वरवचनात्। अन्यत् प्रायः समानम्। समनन्तरश्लोकेऽधिकं स्पष्टीभविष्यति, अग्रे च स्फोरयिष्यते।

षड्ग्रन्थिश्लथने सति किं स्यदित्युच्यते **शशिनमिति**। तव भगवत्या यदाज्ञाचक्रं तत्र स्थितम्। सर्वत्र चक्रेषु देवीस्थितिसत्त्वात्तवेति चक्रविशेषणोपपत्तिः। तव शशिनमित्यपि शक्ययोजनम्। भगवत्याः पञ्चदशकलाभिर्युक्तत्वाच्छशिनः। तव समयीत्यपि तथा। त्वदीयसमयमार्गानुसारीत्यर्थात्। आधाराधिष्ठानयोरुपरि वह्निमण्डलम्, मणिपूरानाहतयोरुपरि सूर्यमण्डलं विशुद्ध्याज्ञायोरुपरि चन्द्रमण्डलमित्यग्रे व्यक्तीभविष्यति। तथा चाज्ञाचक्रस्थमित्याज्ञाचक्रोपरिस्थिमित्यर्थः। विलयति द्रवीकरोति। 'ली द्रवीकरणे' चुरादिः। दीर्घपाठसामर्थ्याद् अणिजन्तोऽपि।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

क्र्यादिदिवाद्योस्तु लिनाति लीयते इति रूपे। न तु लयतीति। विलयति वर्षयति चामृतधारा इति ज्ञेयम्। तथा चोक्तं भैरवयामले—

> शिवार्कमण्डलं भित्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्
> तदुद्भूतामृतस्यन्दि — परमानन्दनन्दिता
> कुलयोषित् कुलं त्यक्त्वा परं वर्षणमेति सा॥ इति।

शिवा कुण्डलिनी अर्कमण्डलं भित्वेति वह्निमण्डलभेदनोत्तरमिति द्रष्टव्यम्। परं वर्षणं द्वासप्ततिसहस्रनाडीषु प्रवर्षणं करोतीत्यर्थः। तेन चाप्यायित-तनुर्महायोगी परमानन्दनिमग्नो भवति।

ननु सहस्रारगतद्वितीयचन्द्रबिम्बस्रवदमृतधारयैव योगिनः परमानन्दः, न त्वज्ञाचक्रोपरिस्थचन्द्रबिम्बामृतस्रवणात्। वक्ष्यति हि—'महाव्योमस्थेन्दोरमृतलहरीप्लावितततनुः' इति, इति चेत्, सत्यम्। सहस्रारबिम्बप्रस्रवदेवामृतमाज्ञाचक्रस्थचन्द्रो धत्ते। स्रावयति च। तदपि वक्ष्यति—'तदाज्ञाचक्रस्थं शिशिरकरबिम्बं रविनिभं दृढव्यालीढं सद्विगलितसुधासारविसरम्' इति। एतावांस्तु विशेषः। साधारणानां तदमृतं हरति सूर्यः। अमायां कुलकुण्डे निपतति यत् पीत्वा भुजगी सुखं स्वपिति। चन्द्रार्कनिरोधे तु सा वक्ष्यमाणरीत्या प्रबुध्याज्ञोपरिस्थचन्द्रमण्डलं द्रावयति। द्रावणं च तत्संगृहीतामृतस्रावणमेव। तच्च न कुलकुण्डे किन्तु द्वासप्ततिनाडीसहस्रेषु इति। परन्त्वाज्ञाचक्रभेदनकाले तत्परिच्छिन्नं भवति। वक्ष्यमाणसहस्रारगतबिम्बदशनोत्तरमपरिच्छिन्नमिति। अत एव प्रदर्शितभैरवयामलवचने द्रावयन्तीन्दुमण्डलमिति परं वर्षमेतीति च पृथगुक्तम्। न हि द्रावणं सुवर्णादिद्रावणवच्छिथिलीकरणमात्रम्। तदुक्तिवैयर्थ्यापत्तेः। इत्थं च परं वर्षणमित्यत्र परमिति विशेषणमपि संगच्छते। द्रावणमपरवर्षणम्। इदं पुनः परवर्षणम् यत्सहस्रारचन्द्रबिम्बाज्जायते। परं वर्षणमेत्य सेति पाठे परं वर्षणं कृत्वा कुलकुण्डमेत्य स्वपितीति योजना॥ ३॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha.

यदा तौ चन्द्रार्कौ निजसदनसंरोधनवशा-
दशक्तौ पीयूषस्रवणहरणे सा च भुजगी ।
प्रबुद्धा क्षुत्क्रुद्धा दशति शशिनं बैन्दवगतं
सुधाधारासारैः स्नपयसि तनुं बैन्दवकले ॥४॥

जब अपने संचारसदन इडा एवं पिंगला नाड़ियों के निरोध से चन्द्र एवं सूर्य अमृत के स्रवण एवं हरणं करने में असमर्थ होते हैं, तब मूलाधार स्थित कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है, और भूखी होने से ऊपर को उठकर सहस्रारकमलस्थित चन्द्रमा को काटती है, अर्थात् वहाँ पहुँच कर अमृतरसास्वादन करने लगती है। तब सहस्रारस्थित हे भगवती ! आप साधक योगी को अमृतरसास्वादन कराकर आप्यायित करती हैं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

यदा = सुषुम्नासंयोजनकाले = सुषुम्नायां प्राणायामादिना वायु संचारणकाले **तौ** = इडापिङ्गलासंचारिणौ चन्द्रार्कौ योगेन **निजसदन संरोधनवशात्** = निजसदनयोः = चन्द्रार्कसदनयोः इडापिङ्गलयोः, अनाहताश्रयोर्वा सम्यग्रोधनवशात्, **पीयूषस्रवणहरणेऽशक्तौ** = सहस्रार-निर्झरत्पीयूषस्य ग्रहणपूर्वकस्रवणे चन्द्रोऽशक्तस्तद्धरणे च सूर्योऽशक्तो यदा स्यातामित्यर्थः। तदा **च सा** = प्रसिद्धा **भुजगी** = कुण्डलिनी **प्रबुद्धा** = पूर्वोक्तज्वलिताग्निशिखाघातादिना जागरिता **क्षुत्क्रुद्धा** = कुपितक्षुत्का च सती ऊर्ध्वमाक्रम्य **बैन्दवगतं** = सहस्रारगतं **शशिनं दशति** = भक्षयति = तदीयामृतरसास्वादनं करोति। तदा हे **बैन्दवकले**= बैन्दवस्थनित्यचन्द्रकलारूपिणि हे भगवति त्वं **सुधाधारासारैः** = स्वनिर्झरदमृतधारानिरन्तरसंपातैः साधकस्य **तनुं** = शरीरं **स्नपयसि** = मज्जयसि ॥ ४ ॥

अमृत क्षरिका

उक्तमेवार्थं विशदयन्नुत्तरां प्रक्रियामाह—**यदा ताविति**। ताविति वक्ष्यमाणचन्द्रव्यावृत्त्यर्थमिडापिङ्गलागतौ सूर्याचन्द्रमसौ परामृशति। **निजसदनेति**। निजसदनयोर्निजसंचरणस्थानयोरिडापिङ्गलयोः प्राणाया-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मेन कुम्भकविशेषेण संरोधनवशादित्यर्थः । कुम्भकविशेषे सति सुषुम्नायां वायुसंचारात्तदभिभूतत्वेन तयोः संरोधनम् । दृश्यते हि मध्यगतस्य फुल्लतायां पार्श्वयोः संकोचनम् । निजे-निजे सदनेऽनाहतोपरिस्थाने, आज्ञाचक्रोपरिस्थाने च ध्यानविशेषादिना तयोरेव चन्द्रार्कयोः संरोधवशादित्यप्यर्थः संभवति । स्रवणं च हरणं च स्रवणहरणं समाहार द्वन्द्वः । तस्मिन् स्रवणहरणे । पीयूषस्य सहस्रारचन्द्रप्रवहत्पीयूषस्य स्रवणहरणे यदा तावशक्तौ भवतः । तथा हि सहस्रारगतचन्द्रबिम्बान्नित्यममृतनिर्झरः प्रवहति । तमिडागतश्चन्द्रो गृहीत्वा प्रस्रवति सूर्याभिमुखम् । पिङ्गलागतश्च सूर्यस्तं हरति हृत्वा च शोषयति । तत एवाऽमृताऽप्राप्तेरनिर्वृतयः सर्वेपि पामराः जनाः इति योगसिद्धान्तः । चन्द्रसूर्यसदनसंरोधने च सति तौ स्रवणहरणयोरसमर्थौ भवतः । ततः किं ? तत्राह—**सा चेति** । यदेत्यनुषञ्जनीयम् । दशति शशिनं बैन्दवगतमित्यनन्तरं तदेति च पूरणीयम् । अथवाऽत्रैव तदेति पूरणीयम् । अत्र पक्षे पीयूषस्रवणहरणाशक्तिकाले भुजगी प्रबोधसुधास्नपनलक्षणकार्यद्वयमित्यर्थपर्यसानम् । सा च भुजगी कुण्डलिनी प्रबुद्धा पूर्वश्लोकव्याख्यायामुपदर्शितक्रियाभ्यासेन स्वाधिष्ठानाग्निप्रज्वलनतापेन प्रबोधं गता । सा किल प्रायः सुप्ता मूलाधारे शेते । तस्याः स्वरूपमुक्तम्—

> **तस्योर्ध्वे बिसतन्तुसोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी**
> **ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं संछादयन्ती स्वयम् ।**
> **शङ्खावर्तनिभा नवीनचपलामालाविलासास्पदा**
> **सुप्ता सर्पसमा शिवोपरिलसत्सार्धत्रिवृत्ताकृतिः ॥** इति ।

इयमेव वाग्रूपिणीत्यग्रे व्यक्तीभविष्यति । **क्षुत्क्रुद्धेति** । सूर्येणानुह्रियमाणां कृष्णपक्षे चन्द्रनिःसरदमृतस्रुतिं पीत्वा तृप्ता सती सा स्वपिति । सूर्यचन्द्रसदनरोधे तु सति अमृतस्रवणाभावात् सा क्षुदाविष्टा भवति । विशेषमग्रे वक्ष्यामः । इतः परं पूर्वश्लोकोक्तप्रक्रियानुसन्धेया । तथा हि क्षुत्क्रुद्धा दण्डाहृतेव भुजगी ऊर्ध्वमाक्रामति । भिनत्ति षट्चक्राणि । विलयति चाज्ञोपरिस्थचन्द्रमण्डलम् । ततः किमित्युच्यते—**दशति शशिनं बैन्दवगतमिति** । सहस्रारगतचन्द्रबिम्बनिःसरदमृतरसमास्वादयतीत्यर्थः । स च रसो न शिवशक्तिमेलनजन्यानन्दरसात्पृथक् कश्चन द्रवपदार्थ इति द्रष्टव्यम् । एतत् सर्वं संगृह्य वामकेश्वरतन्त्रेऽभिहितम्—

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha.

भुजङ्गाकाररूपेण मूलाधारं समाश्रिता।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा॥
मूलकन्दं फणाग्रेण दष्ट्वा कमलकन्दवत्।
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रं समाश्रिता॥
पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः।
वायुमूर्ध्वंगतिं कुर्वन् कुम्भकाविष्टमानसः॥
वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन्।
ज्वलनाघातपवना—ऽऽघातैरुन्निद्रितोऽहिराट्॥
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यदः।
ब्रह्मग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट्॥
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते।
सा चावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणम्॥ इति।

सुधाधारासारैरिति। यदेत्युपक्रमात्तदेति योज्यमित्युक्तम्। तदा सुधाया धाराणामासारैर्धारासंपातैः। न च धाराशब्दस्य पठितत्वाद् 'धरासंपात आसार' इति कोशोदितविशिष्टार्थघटकविशेषणस्याभिहितत्वाद् विशेष्यमात्रपरता आसारशब्दस्य युक्तेति वाच्यम्। यतो धारासंपातो हि न धारायाः संपात इति षष्ठीसमासलभ्यार्थबोधकः। किं तर्हि? धारया संपातो धारासंपात इति तृतीयासमासलभ्य–निरन्तर संपातबोधकः। न च प्रथमाधराशब्देनैव निरन्तरप्रवाहार्थेन तल्लाभ इति वाच्यम्। विच्छिद्य-विच्छिद्य प्रवहत्यपि धाराशब्दप्रयोगदर्शनात्। अत एव तैलधारायां जलधारायां च विशेषः। न चैवं धारया संपात इत्युक्तावपि नाविच्छिन्नधारालाभसंभव इति वाच्यम्। विच्छिन्नधाराया अनेकत्वप्रतीतेर्धारया संपात इत्येकत्वेन निर्देशादविच्छेदलाभात्। सकृद्धारायां संपतन्त्यामासारशब्दप्रयोगादर्शनाच्च। तैः सुधाधारासारैः साधकस्य तनुं शरीरं स्नपयसि। साधकमानन्दसरोनिमग्नं करोषीत्यर्थः। नन्वेवं भुजगी वा शशी वा स्नपयेत्, न तु भगवतीत्यतः संबोधनं बैन्दवकल इति। बिन्दुमध्यगता षोडशी नित्या चन्द्रकला बैन्दवकला। तत्सम्बुद्धौ हे बैन्दवकले। सैव परमानन्दरूपिणी अमृतरूपेणावतिष्ठत इति युक्तं तस्याः स्नपनकर्तृत्वमिति भावः।

ननु चन्द्रार्कसंरोधवशादेव पीयूषस्रवणहरणावरोधे आज्ञोपरिस्थचन्द्रबिम्बद्रावणादेव शशिनं तवाज्ञाचक्रस्थं विलयतीति पूर्वोपदर्शितात् सकल-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तनुस्नपनसंभवे क्षुद्रकुद्धायाः शशिदशनं किमर्थम् ? दशने च सति क्लेश एव संभाव्यत इति कथं सुधाधारासारस्नपनोपपत्तिश्चेति चेद् ? उच्यते। आज्ञासदनस्थश्चन्द्रो न स्वयममृतरूपः। किन्तु सहस्रारगता षोडशीकलैव नित्याऽमृतरूपा। तदीयामृतेनैवाज्ञोपरिस्थचन्द्रस्य सामृतत्वम्। तथा चाज्ञाचन्द्रद्रावणे भवतु काममानन्दलेशानुभूतिः। तथापि निरतिशयानन्दानुभूतिः सहस्रारचन्द्रबिम्बदर्शनेनैव भवति। अत एव "**सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते सा चावस्था परा ज्ञेया**"त्युपदर्शितवामकेश्वरवचनसंगतिः। एतेन सर्पदशने क्लेश एव स्यादित्यपि समाहितम्। न हि लौकिकं सर्पदशनमिह विवक्षितम्। किन्त्वमृतरसास्वाद एव। स च "सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदत" इति वचनप्रतिपाद्यार्थ एव।

नन्वमृतं नाम यदि कश्चन द्रवपदार्थः स्यात्तदा तदीयधारासारैः सकलशरीरस्नपनं संगच्छते। अतिसूक्ष्मशक्तिविशेषप्रसर एव सर्वस्यां तनाविति व्याख्यानेऽपि तत्कथंचिदुपपद्यते। यदि तु शिवशक्तिसमायोगजनितपरमानन्दोपभोग एव फलितार्थः स्यात्तर्हि तेन कुण्डलिनी वा शिवो वा मोदमानः स्यान्न तु साधको जीवः। तथा च सैव निर्वृतिकारणमित्युक्तिः कथं संगच्छते ? कुतो वा शिवशक्तिमोदार्थं साधकस्य प्रवृत्तिः। प्रवर्तमानो हि पुरुषः स्वार्थमेव समीहत इति चेद् ? उच्यते। न खलु जीवः शिवव्यतिरिक्तः। न वा कुण्डलिनीशक्तिरपि निजशक्तेः पृथक्। तथा च शिवशक्तिसमायोगस्य निर्वृतिकारणत्वं नानुपपन्नम्। यावच्च शिवशक्तिसमायोगो न भवति तावदसमर्थ एवायमात्मा पूर्णभोगादावप्यवतिष्ठते। एतदेव—

परोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किंचन।
शक्तः स्यात्परमेशानि शक्त्या युक्तो भवेद्यदि॥

इत्यनेनोक्तम्। सौन्दर्यलहर्यां च—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

इत्यनेनाभिहितम्। अन्यथा यदिचेदोरानर्थक्यं स्यात्। न हि परमशिवः कदाचिदपि शक्त्या वियुज्यते। तथा चाऽप्राप्तप्रतिषेधः स्यात्। तथा चोक्तम्—

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्त्या रहितः शिवः।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥ इति।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

न हि चन्द्रिकया वियुक्तश्चन्द्रः स्यादिति शक्यं सभावयितुम्। नतरां परोऽपि शक्तिरहितः इति।

ननु चैवमपि जीवस्यापि शिवरूपत्वे परोऽपि शक्तिरहित इति सम्भावना निरास्पदेत्यप्राप्तप्रतिषेधप्रसक्तितादवस्थ्यम्। तथा च कुण्डलिनी शक्तेः शिवेन संयोगवियोगावुभावप्यनुपपन्नावेव। अप्राप्तयोः प्राप्तिर्हि संयोग इत्यभिधीयत इति चेद् ? अत्र वदामः। व्यापकोऽपि परमशिवो मायासमाच्छादितः सहस्रकमले एव साधनैरभिव्यक्तो भवति। अत एव—

दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश-
स्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्।

इत्याद्याः श्रुतयः संगच्छन्ते। दहराकाशस्याभिव्यक्तिस्थानत्वात्। शिवेन सह नित्ययुक्तापि कुण्डलिनी शिवस्य सहस्रारेतरदेशावच्छेदेनाच्छादिततया मूलाधारे पृथगिवावतिष्ठते। अनिर्वचनीयायां च तस्यां न किंचिद् दुर्घटम्। व्यवहारसत्तायां पार्थक्योपपत्तेः। एषैव शिवस्य जीवावस्था नाम। अभ्यासवशेन च योगी कुण्डलिन्याः शिवयोगं सम्पादयति। तदा च स समर्थः सम्पद्यते। परमशिवरूपता तु मोक्षकाले एव भवति। कुण्डलिनीसंयोगे च विवृतानन्दः शिवो भवति। स एव साधकस्य परमानन्दः 'सा चावस्था परा ज्ञेये'त्यनेनोक्तः। ननु

हृदम्बुजे ब्रह्मकन्दसंभूते ज्ञाननालके।
आराग्रमात्रो जीवस्तु चिन्तनीयो मनीषिभिः॥

इति वचनाज्जीवो हृदयकमले तिष्ठतीति कथं सहस्रदलकमलगतशिवस्य जीवभाव इति चेन्न। चैतन्यस्यैक्यमेव। तदेव परं ब्रह्म। तन्मायाव्यवहितमपि सहस्रारे शक्याभिव्यञ्जनम्। एवं मायाव्यवधानकाल एव तत् चैतन्यमविद्यावच्छिन्नं सद् हृदयाम्बुजे वर्तमानं जीवसंज्ञं भवतीत्यन्यत्र विस्तरः।

अत्र क्रुद्धा कुपिता क्षुद् यस्याः सा क्षुत्क्रुद्धेत्याहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात्समासे क्षुधः पूर्वनिपातः। क्षुधा क्रुद्धा क्षुत्क्रुद्धेति तृतीयासमासे कुण्डलिन्याः क्रुद्धत्वमप्रसिद्धं कल्पनीयं स्याद्। यद्यपि

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्

इति हठयोगिवचनाज्जठराग्नेः प्रदीप्तिर्योगिनां भवतीति सैवात्र क्षुदिति शक्यं व्याख्यातुम्। तथापि तन्त्रेषु कुण्डलिन्या एव देव्याः क्षुद्वर्णनान्न

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सोऽर्थो गृहीत इति ज्ञेयम् । कलायाः षोडश्या इति श्लोकव्याख्यानावसरे च विशदीकरिष्यामः ।

अत्र श्लोकद्वयस्य प्रकारान्तरेणापि व्याख्या सम्भवति । तथा हि पूर्वश्लोके मनोमार्गमित्यादौ न कुण्डलिन्युन्थानप्रयुक्तषड्ग्रन्थिभेदनमुच्यते । किन्तु सुषुम्नायां वायुसंचारप्रयुक्तषड्ग्रन्थिश्लथीभावमात्रम् । मनोमार्गं मारुतं प्राणायामेन जित्वा कुम्भकेन सूर्याचन्द्रमसाविडापिङ्गले निरुध्य तमेव मारुतं सुषुम्नां संयोज्य सुषुम्नायां प्रवेश्य षड्ग्रन्थि श्लथयति शिथिलं करोति शशिनं च द्रावयतीति । तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाहतेत्युक्तत्वात् । द्वितीयश्लोके तु कुण्डलिन्युत्थानमभिधीयते । तथा हि यदा तौ चन्द्रार्कौ निजसदनसंरोधनवशादित्यनेन पूर्वमेव सुषुम्नायां वायुसंचारो द्योत्यते । वायुसंचारं विना शुष्कीभूता हि सुषुम्ना तिष्ठति । तदा पार्श्वस्थयोरिडापिङ्गलयोः प्रफुल्लता । यदा पुनः सुषुम्नायां वायुसंचारो भवति तदा सा प्रफुल्ला भवति पार्श्वगते च शुष्के भवत इति सूर्यचन्द्रसंरोधोपपत्तिः । एतदुत्तरं भुजगी प्रबुद्धा भवति क्षुत्क्रुद्धा चोर्ध्वमाक्रामतीति ॥ ४ ॥

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इडायां पिङ्गल्यां चरत इह तौ सूर्यशशिनौ
तमस्याधारे तौ यदि तु मिलितौ सा तिथिरमा।
तदाज्ञाचक्रस्थं शिशिरकरबिम्बं रविनिभं
दृढव्यालीढं सद् विगलितसुधासारविसरम् ॥३३॥

सूर्य और चन्द्र इडा तथा पिंगला नाडियों में विचरण करते हैं। जब वे मूलाधार तमस् में मिल जाते है तब अमावास्या तिथि होती है। तब आज्ञाचक्रस्थ चन्द्र सूर्य से आच्छादित होकर सूर्यसमानरूप हो जाता है तो मूलाधार में अमृत प्रस्रवण होता है ॥३३॥

अन्वयार्थबोधिनी

तौ = संवित्कमलाऽऽज्ञाकमलस्थानौ **सूर्यशशिनौ इह**—शरीरे **इडायां**= वामनाड्यां **पिङ्गल्यां**=पिङ्गलायां=दक्षिणनाड्यां च **चरतः** = संचारं कुरुतः। **आधारे**=मूलाधारे **तमसि यदि तु**=यदा तु **तौ मिलितौ** भवतः **सा तिथिरमा** भवति। **तदा**=तस्मिन् समये **आज्ञाचक्रस्थं शिशिरकरबिम्बं**= चन्द्रबिम्बं **रविणा दृढव्यालीढं**=रविग्रस्तं **रविनिभं** रविसमानस्वरूपमापन्नं **सत्** कुलकुण्डे **विगलितसुधासारविसरं**=प्रस्रुतसुधारसं भवति ॥३३॥

अमृतझरिका

एवमग्नेः स्थानं सूर्याचन्द्रमसोश्च स्थाने अभिहिते, यत्राग्नेः प्रज्वलनं सूर्यचन्द्रमसोर्निरोधश्च कर्तव्यः सपर्यादिना। अधुना कुण्डलिनीप्रसुप्तिहेतुं सूर्यचन्द्रसंचरणादिकं तन्निरोधस्य कुण्डलिनीप्रबोधोपयिकत्वाद्विवृणोति- **इडायामिति**। मूलादारभ्य ग्रीवापर्यन्तव्यापि पृष्ठास्थि मेरुरित्युच्यते। तस्य वामे भागे इडा नाम नाडी। दक्षिणे भागे पिङ्गला नाम नाडी। तदुक्तं भूतशुद्धौ

मेरोर्वामे इडा दक्षे पिङ्गला च स्थिते उभे॥ इति।

अनयोः स्वरूपमभिहितं योगार्णवे—

इडा च शङ्खकुन्दाभा तस्याः सव्ये व्यवस्थिता।
पिङ्गला सितरक्ताभा दक्षिणं पार्श्वमास्थिता॥ इति।

ते च मूलादृजुरूपेणाज्ञाचक्रं गत्वा नासारन्ध्रमायात इति यामलमतम्।

इडा च पिङ्गला चैव तस्य वामे च दक्षिणे।
ऋज्वीभूते शिरे ते च वामदक्षिणभेदतः।
सर्वपद्मानि संवेष्ट्य नासारन्ध्रगते उभे॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इति तत्रोक्तत्वात् । अन्ये तु तयोर्धनुराकारत्वमाहुः । तथा चोक्तं—

विद्धि ते धनुराकारे नाडीडापिङ्गले परे ॥ इति ।

अनयोश्च चन्द्रसूर्यरूपत्वं यदुक्तं संमोहनतन्त्रादौ—

वामगा या इडा नाडी शुक्लचन्द्रस्वरूपिणी ।
शक्तिरूपा हि सा देवी साक्षादमृतविग्रहा ।

दक्षे तु पिङ्गला नाम पुंरूपा सूर्यविग्रहा ।
रौद्रात्मिका महादेवी दाडिमीकेसरप्रभा ॥

इति, तत्तु चन्द्रसूर्ययोः संचरणमार्गत्वेन लक्षणया ज्ञेयम् ।

पद्मासनगतो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।

धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयत् ॥

इत्येवं योगिभिरप्युक्तिलाघवायैव चन्द्रेण सूर्यंणेत्येवं निर्देशः कृतः । चन्द्रसूर्यनामत्वाद्वा । न तु वस्तुतस्तौ चन्द्रसूर्यौ । चन्द्रे चन्द्रस्य सूर्ये सूर्यस्य संचरणायोगात् । पृथक्चन्द्रत्वसूर्यत्वकल्पनावैयर्थ्याच्च ।

एतत्प्रसङ्गेन सुषुम्नापि निरूप्यते । तत्र—

"मेरुदण्डबहिः पार्श्वे चन्द्रसूर्यात्मिके शिरे ।
मध्ये सुषुम्णा"

इति मायातन्त्रवचनान्मेरुमध्ये सुषुम्नानाडीति बहवः । तन्त्रचूडामणिप्रभृतिषु तु

मेरोर्वामे स्थिता नाडी इडा चन्द्रामृता प्रिये ।
दक्षिणे सूर्यसंयुक्ता पिङ्गला नाम नामतः ॥

तद्बाह्ये तु तयोर्मध्ये सुषुम्णा वह्निसंयुता ।

इत्येवं मेरोर्बाह्यप्रदेशे एवेडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णास्थितिरुक्ता । धनुराकारतया इडापिङ्गलयोः स्थितिपक्षे द्वयोः स्थानयोः इडापिङ्गलासुषुम्णानां संयोगो भवति । ध्वजमूले आज्ञायां च । तथा चोक्तम्—

इडायां यमुनादेवी पिङ्गलायां सरस्वती ।
सुषुम्णायां वसेद्गङ्गा तासां योगस्त्रिधा भवेत् ॥

संगता ध्वजमूले या विमुक्ता भ्रू वियोगतः ।
त्रिवेणीयोगः स प्रोक्तस्तत्र स्नानं महाफलम् ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

एतदेव विवृत्यान्यत्राभिहितं

वाममुष्कात्तु संभूता नाडी दक्षिणगामिनी।
सुषुम्णाकलिता जाता वामभागं समाश्रिता॥
हृद्गता दक्षभागस्था जत्रुमध्यं समाश्रिता।
वामं तु नासिकाद्वारं प्राप्नोति गिरिजेऽमले॥
नाडी दक्षिणमुष्कात्तु संजातोत्तरगामिनी।
सुषुम्णा कलिता जाता भागं दक्षिणमाश्रिता॥
हृद्गता वामभागस्था जत्रुमध्यं समाश्रिता।
दक्षिणं नासिकाद्वारं प्राप्नोति गिरिजेऽमले॥

तथा हि इडा वाममुष्कादारभमाणा दक्षिणाभिमुखं गत्वा ध्वजमूले सुषुम्णया संयुङ्क्ते। ततो दक्षिणाभिमुखीभूयोर्ध्वं गच्छति हृदयपर्यन्तम्। हृदये सुषुम्णातो दूरव्यवहिता। ततः पुनर्दक्षिणाभिमुखं वक्रीभूय जत्रुपर्यन्तं गत्वाऽऽज्ञायां सुषुम्णया संयुङ्क्ते। ततो विश्लिष्य वामनासिकां प्रविशति। एवं पिङ्गलापि दक्षिणमुष्कादारभ्य ध्वजमूले सुषुम्णया संयुज्य पुनर्वामाभिमुखं हृदयपर्यन्तं, ततो वक्रीभूय दक्षिणं जत्रुमाश्रित्याज्ञायां सुषुम्णया संयुङ्क्ते ततो दक्षिणनासिकायां विश्लिष्य प्रविशतीति। उपासकानामधिकचिन्तनस्यानुपयोगादत्र न विस्तरेण प्रतिपाद्यत इति।

तौ संवित्कमलोपर्याज्ञाचक्रोपरि च प्रदर्शितौ सूर्यशशिनौ इह साधारणतया सर्वेषां शरीरे इडायां यथाप्रदर्शितायां पिङ्गल्यां पिङ्गलायां च चरतः। पिङ्गशब्दस्य सिध्मादित्वाल्लच्प्रत्यये सति टापि पिङ्गलेति रूपं भवति। पिङ्गं लातीति विग्रहेऽपि तथैव रूपम्। "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कप्रत्यये टाप एव संभवात्। तथापि पिङ्गं लीयतेऽस्यामिति विग्रहे पिङ्गलीशब्दनिष्पत्तिः कर्तव्या। चरन्तौ च तौ यदि तु यदा हीत्यर्थः। न त्वत्र संशये यदिशब्दः। चरतोर्मेलनावश्यंभावात्। तमसि तामिस्रलोकरूपे आधारे मूलाधारचक्रे मिलितौ भवतः सा तादृशकलात्मिका तिथिरमाऽमावास्या भवति।

तत्र किं भवतीत्युच्यते—तदेति। तदा तस्मिन्नमावास्याकाले आज्ञाचक्रस्थमाज्ञाचक्रोपरिस्थं शिशिरकरबिम्बं चन्द्रबिम्बं संचरत् सद् मूलाधारं प्राप्य रविनिभं रविसरूपं भवति। कुतः? दृढव्यालीढं सद्। अर्थाद् रविणेव। मूलाधारे रविणा दृढव्यालीढं ग्रस्तमाच्छादितं सदित्यर्थः। रविविभादृढव्यालीढमिति पाठः समीचीनो भाति। अमायां

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रविचन्द्रयोरत्यन्तसंयोगाद्रवौ चन्द्रलयः प्राग् दर्शितः। अमा न मीयते चन्द्रो यस्यां तिथौ सा सूर्ये चन्द्रलयादिति व्युत्पत्त्या सोऽर्थः सिध्यति। अमेत्यव्ययं साकमित्यर्थे। अमा सूर्येण साकमत्यन्तसन्निकर्षेण तत्सम्बन्धि-त्वादमावास्येति शब्दः। ननु—

अमा षोडशभागेन देवि प्रोक्ता महाकला।
संस्थिता परमा माया देहिनां देहधारिणी॥

इति स्कान्दे प्रभासखण्डवचनादमीयमानत्वार्थोऽयुक्तः। एतद् रघुनन्दनो व्याचष्ट—"**चन्द्रमण्डलस्य षोडशभागेन परिमिता परिमिताऽऽधारशक्ति-रूपा क्षयोदयरहितत्वान्नित्या स्रक्सूत्रवत् सर्वानुस्यूता अमानाम्नी महाकला प्रोक्ते**"ति। सत्यम्। अत्रैव सहस्रारकमलचन्द्रमण्डलवर्ती नित्या षोडशी कला। सैवांशरूपेण मूलाधारे आधारशक्तिरूपेण वर्तते। षोडश्या एव सर्वानुस्यूताया पञ्चदशकला आज्ञाचक्रचन्द्रस्थाः सत्यः परिवर्तन्ते। ता एवामावास्यातिथौ सूर्ये प्रविलीयन्ते। तथा चोभयमुप-पन्नं नित्या कला सर्वानुस्यूता षोडश्यमेति न मीयन्ते पञ्चदशकला अस्या-मिति च। प्रागुपपादितं चास्माभिः पूर्णमास्यां सूर्यचन्द्रयोस्त्रिंशद्घटिका-दूरस्थितत्वममावास्यायां चात्यन्तसंनिकर्ष इति। तथा च सहार्थसन्नि-कर्षार्थावप्यमाशब्दस्य युज्येते।

कालमाधवीये पुनरेतच्छ्लोकव्याख्यायां तिथिद्वैविध्यं साधितम्। तदुक्तं "**एवं चात्र सामान्यविशेषरूपेण तिथिद्वैविध्यमुक्तं भवति, तत्र येयममेत्युक्ता क्षयोदयवर्जिता ध्रुवा षोडशीकला तद्युक्तः कालस्तिथि-सामान्यम्। यास्त्ववशिष्टा वृद्धिक्षयोपेताः पञ्चदशकलास्ताभिर्विशिष्ट-कालविभागस्थितिविशेषः**" इति। अयं भावः। अमा तिथिः सामान्यरूपा सर्वाभिस्तिथिभिः सह वर्तते। तस्या एव विशेषाः प्रतिपदादयः। यदा विशेषा न भवन्ति तदा सामान्यमात्रं वर्तते। स चैकदिवसात्मक एव कालो मासे। अन्येषु दिवसेषु तिथ्यन्तरसद्भावाद्। यथा घटादिविशेष-भावमापन्ना मृदेव घटादिप्रागभावध्वंसयोः काले सामान्येन मृद्रूपेण वर्तते। अन्यदा घटादिविशेषभावेन सह तद्वदिति।

अमायां सूर्यचन्द्रयोः सन्निकर्षे सति किं स्यादित्युच्यते—**विगलितेति**। सुधाया आसाराणां धारासंपातानां यो विसरः समुदायः स विगलितो येन तत्तादृशम्। कुलकुण्डे सुधासारविसरं प्रस्रावयतीत्यर्थः। तथा च तस्यामृतस्य प्रस्वादनेन परितृप्ता मत्ता च भुजगी तत्रैव कुलकुण्डे सुखं

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वपितीति भावः। न च सूर्यस्तदमृतं हृत्वा शोषयिष्यतीति वाच्यम्। सूर्यविमुखत्वात्तदा चन्द्रमसः। न हि स्वमुखविपरीतमुखकमण्डलुप्रस्रवज्जलं स्वयं जनाः पातुं प्रभवन्ति कमण्डलुमुखसांमुख्ये एव तत्पानसंभवात्। अमावास्यायां प्रस्रुतामृतेनैव मासपर्यन्ता कुलकुण्डलिन्यास्तृप्तिः।

परे तु कृष्णपक्षः कृत्स्न एव अमावस्या। चन्द्रश्च कृष्णपक्षे सूर्यविमुख एव भवति इति पञ्चदशदिवसपर्यन्तं कुलकुण्डे तेनामृतप्रस्रवणं भवति। तत्परिपानतृप्ता सती शेषपञ्चदशदिवसपर्यन्तमपि सुखं स्वपती शेत इत्याहुः।

एतत्सर्वमाध्यत्मिकाधिभौतिकयोरमावास्याद्योरैक्याभिप्रायेण। केचित्पुनराधिभौतिकौ शुक्लकृष्णपक्षौ मासपर्यन्तौ चरमा च तिथिरमावस्या। अध्यात्मं पुनः सूर्यचन्द्रनाड्योः संचरणे शुक्लकृष्णपक्षौ। उभयसंचरणेऽर्थात् सुषुम्णासंचरणे पूर्णिमा। उभयासंचरणे अमावस्या। तदा न कुण्डलिन्युत्थानम्। पूर्णिमायामेव कुण्डलिन्युत्थानमिति व्याचक्षते।

ननूपदर्शितस्कान्दवचनेऽमैव षोडशी कला। सैव चाधारशक्तिरित्युक्तं, रघुनन्दनेन तथैव व्याख्यानात्। न च मूलश्लोक आधारशक्तित्वं नोक्तमिति वाच्यम्। देहधारिणीति विशेषणेन तदर्थलाभात्।

पृथिवी विश्वस्य धारिणी

इति श्रुतेर्मूलाधारे पृथिवीतत्त्वोपगमात्तत्रैव देहधारकशक्तिसिद्धेः। तस्या एव कुण्डलीस्वरूपत्वादिति चेन्न। आधारशक्तेः षोडश्यंशमात्ररूपताया अस्माभिरुत्पपादनात्। न चांशन्वेऽपि तत्रामृतं स्यादेव, फलैकदेशेऽपि फलरसवदिति वाच्यम्। अंश इवांश इति व्याख्यानात्। प्रतिबिम्बकल्पः किलांश इति। अन्यथा शिवेन तस्या नित्यसंबद्धत्वात्तदुद्बोधनोर्ध्वनयनशिवमेलनादिकमनर्थकं स्यात्।

"सर्वं शक्तिमयं जगत्"

इत्युक्तेः सर्वस्य शक्तिमयत्वेऽपि न विशेषतोऽमृतम्। सामान्येन त्वमृतेन सर्वस्य जीवनं भवति। तथा च षोडश्यमृतविगलनेनैव कुण्डलिन्यास्तृप्तिः। तत्र सहस्रारस्थितामृतप्रस्रावकं तु चन्द्रबिम्बमाज्ञाचक्रस्थम्। तत्पुनः सूर्यो हरत्यन्यतिथिषु। कुण्डलिन्युत्थानानन्तरं तु कुण्डलिनीदशनेनामृतप्रस्रवणम्। तत्तु न कोऽपि हरतीति तेन सकलदेवतातृप्तिः सर्वनाडीपरिपोषणं चेति वक्ष्यते ॥३३॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

महाव्योमस्थेन्दोरमृतलहरीप्लावितननुः
प्रशुष्यद्वै नाडीप्रकरमनिशं प्लावयति तत्।
यदाज्ञायां विद्युन्नियुतनियुताभाऽक्षरमयी
सिता विद्युल्लेखा भगवति विधिग्रन्थिमभिनत् ॥३४॥

हे भगवती ! जब करोड़ों बिजलियों की प्रभा से युक्त, मातृकाक्षरमयी, श्वेतवर्णा कुण्डलिनी आज्ञाचक्र में आकर ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करती है तब वह सहस्रार में स्थित चन्द्रबिम्ब के अमृत से सारे शरीर को सराबोर करती है और बहत्तर करोड़ नाड़ियों को और षट्चक्र को भी सराबोर करती है ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थबोधिनी

हे **भगवति**! **यदा विद्युन्नियुतनियुताभा** = सहस्रकोटिविद्युत्समानप्रभा **अक्षरमयी** = मातृकामयी **सिता** = श्वेता **विद्युल्लेखा** = कुण्डलीनी **आज्ञायाम्** = आज्ञाचक्रे समागत्य **विधिग्रन्थि** = ब्रह्मग्रन्थिम् **अभिनत्** = भिनत्ति **तत्** = तदा **महाव्योमस्थेन्दोः** = सहस्रारगतचन्द्रस्य **अमृतेति**। अमृयलहर्या प्लाविता साधकतनुर्यया सा तथाविधा सैव कुण्डलिनी **प्रशुष्यत्** = शोषमुपगच्छत् **नाडीप्रकरं** = द्वासप्ततिसहस्रादिसंख्याकतया प्रसिद्धनाडीसमुदायं **वै** =निश्चयेन **प्लावयति** = प्लावितं करोति। **प्रशुष्यद्वैशन्तप्रकरमिति** पाठे प्रशुष्यन्तो ये वेशन्ता अल्पसरांसि षण्णां पद्मानामाधारस्थानानि तेषां प्रकरं समुदायमिति ॥ ३४ ॥

अमृतझरिका

एवं कुण्डलिनीप्रसुप्तिकारणं परिदर्शितम्। इतः परं यद्वक्तव्यं तद् "मनोमार्गं जित्वे"ति "यदा तौ चन्द्रर्कावि"ति च श्लोकाभ्यां तृतीयचतुर्थाभ्यां प्रागुपदिष्टम्। तत्र वक्तव्यो यो विशेषस्तं वदन्नेव सुधाधारास्नपनं तत्प्रयुक्तत्वाह्लादं च विशदयति—**महेति**। हे भगवति ! यदा यस्मिन्काले विद्युल्लेखा कुण्डलिनी विधिग्रन्थिमभिनत् तत्तदा अमृतलहरीप्लावितननुर्नाडीप्रकरं प्लावयतीति सम्बन्धः। कीदृशी सा विद्युल्लेखारूपिणी कुण्डलिनी तत्राह—**विद्युन्नियुतनियुताभेति**। कोटिविद्युत्प्रभेत्यर्थः। एतच्च षोडशीमकलां प्रस्तुत्य प्रागेव निवेदितम्—

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विद्युत्कोटिसमानकोमलतनूर्विद्योतिताधोमुखी ॥ इति ।

इमामेव कलामादायाधारशक्तिरूपेणोक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

ब्रह्माणी त्वं परा शक्तिर्ब्रह्मणोत्सङ्गगामिनी ।
द्वारं सा मोक्षमार्गस्य रोधयित्वा व्यवस्थिता ॥

तां भित्त्वा तु वरारोहे ऊर्ध्वशक्तिं परां शिवाम् ।
शक्तितत्त्वात्मिकां देवीं प्रसुप्तभुजगाकृतिम् ॥

शक्तितत्त्वं समाख्यातं भुवनैराश्रितं महत् ।
शक्तिं तत्त्वात्मिकामूर्ध्वशक्तेरुपरि संस्थिताम् ॥ इत्यादि ।

अक्षरमयीति । एषैव मातृकामयी पराशक्तिः । तस्या एव पश्यन्तीमध्यमाक्रमेण वैखर्यक्षरजाताभिव्यक्तिहेतुत्वात् । तदप्युक्तं प्रागेव । शारदायां च—

तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः । इति । अपि च तत्रैव

ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वगा विश्वरूपिणी ।
शिवसंनिधिमासाद्य नित्यानन्दागुणोदया ॥ इत्यारम्भ

आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः । इति ।

द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मा पञ्चाशद्वर्णरूपिणी ।
गुणिता सर्वगात्रेषु कुण्डली परदेवता ॥ इति च ।

आकारादीनां पञ्चदीर्घाणामनुस्वारस्य च त्यागेनाऽकारादिसकारान्ताः भूतलिपयो द्विचत्वारिंशत् । तेषां हक्षयोश्च योजने पञ्चाशत् । इमां कुण्डलिनीमेव परां शक्तिं विदन्ति । शारदायां तु विशेष उक्तः—

सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः ।
शक्तिं ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निरोधिका ॥
ततोऽर्धेन्दुस्ततो बिन्दुस्तस्मादासीत् परा ततः ।
पश्यन्तीमध्यमा वाचि वैखरीशब्दजन्मभूः ॥
इच्छाज्ञानक्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका ।
क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम् ॥
अकारादिसकारान्तां द्विचत्वारिंशदात्मिकाम् ।
पञ्चाशद्वारगुणितां पञ्चाशद्वर्णमालिकाम् ॥ इति ।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सत्त्वयुक्ता शक्तिः, रजोयुक्ता ध्वनिः, तमोविद्धा सा नादः, तमःप्राचुर्यान्निरोधिका। सा निरोधिका सत्त्वप्राचुर्येणार्धेन्दुः। उभयसंयोगाद् बिन्दुः। बिन्दुः किंचिदूर्ध्वमागतः परा वाक्। पश्यन्ती स्वाधिष्ठाने इति केचित्। नाभावित्यन्ये। हृदये मध्यमा। मुखे च वैखरी। अकारादिक्षकारपर्यन्तं रमत इत्यक्षरशब्दार्थः। तथा चोक्तं कादिमते—

स्वात्मेच्छाशक्तिघातेन प्राणवायुस्वरूपतः।
मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नाद उत्तमः॥
स एवोर्ध्वं तयानीतः स्वाधिष्ठाने विजृम्भितः।
पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तत्रैवोर्ध्वं शनैः शनैः॥
अनाहते बुद्धितत्त्वसमेतो मध्यमाभिधः।
तथा तयोर्ध्वं नुन्नः सन् विशुद्धौ कण्ठदेशतः॥
वैखर्याख्यस्ततः कण्ठशीर्षताल्वोष्ठदन्तगः।
जिह्वामूलाग्रपृष्ठस्थस्तथा नासाग्रतः क्रमात्॥
कण्ठताल्वोष्ठकण्ठोष्ठाद्दन्तोष्ठद्वयतस्तथा।
समुत्पन्नान्यक्षराणि क्रमादादिक्षकावधि।
आदिक्षान्तरतेत्येषामक्षरत्वमुदीरितम् ॥ इति।

श्रुतिरपि परापश्यन्तीमध्यमावैखरीश्चतस्रो वाच आह—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ इति।

त्रीणि परापश्यन्तीमध्यमाख्यानि। तुरीयं वाचो वैखरीरूपाः सर्वे मनुष्या वदन्ति उच्चार्यमाणत्वेनानुभवन्तीत्यर्थः। तिसृणामपि वाचां वैखरीं प्रतिमूलत्वेन तासामप्युद्भवस्य सर्वमनुष्येष्वावश्यकत्वात्। अत एव

आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः।

इत्यादिना सर्वप्राणिषु तदुद्भवः शारदायां सूचितः।

मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः
पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः।
वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा-
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरितो वर्णसङ्घः॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इत्येकस्यैव भावचतुष्टयोक्तेश्च । अथवा बालोत्पत्तिमभिधाय

क्षणं तिष्ठति निश्चेष्टो भीत्या रोदितुमिच्छति ।
ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वंगा विश्वरूपिणी ॥

इत्यादिरीत्या शारदायामुक्तत्वादिच्छामात्रेण परापश्यन्तीमध्यमानामुद्भवो न तूच्चारणं तत्रापेक्षितमित्याशयेन "तुरीयं वाचं मनुष्या वदन्ती"त्युक्तं श्रुतौ । न तु सर्वेषां मनुष्याणां ता न सन्तीति कृत्वा । किंच वैखरीं मनुष्या एव वर्णात्मिकां वदन्ति पश्वादिभिर्वर्णोच्चारणादर्शनादित्यपि श्रुत्यभिप्रेतार्थः ।

विधिग्रन्थिमभिनदिति । मूलाधारस्वाधिष्ठानचक्रे भित्वा रुद्रग्रन्थिं भिनत्ति । मणिपूरानाहते भित्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्ति । विशुद्ध्याज्ञे भित्वा ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्ति । तथा च विधिग्रन्थिमभिनदित्यनेन षण्णां चक्राणां त्रयाणां ग्रन्थीनां च भेदनकाल उच्यते । एतच्च प्रागुक्तं "सुषुम्णां संयोज्य श्लथयति च षड्ग्रन्थिं शशिनं तवाज्ञाचक्रस्थं विलयति महायोगिसमयी" इति । वामकेश्वरे च—

ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट् ।
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः ॥
ब्रह्मग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ।
सा चावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणम् ॥ इति ।

अत्रापि ग्रन्थित्रयभेदनानन्तरं षट्कमलभेदनमिति नार्थः । किन्तु यथोक्तक्रमेण द्विकद्विककमलभेदनपूर्वकैकैकग्रन्थिभेदनमेवेति द्रष्टव्यम् ।

तदा किं स्यादित्युच्यते—**महेति** । तत्तदा महाव्योमस्थेन्दोः—

बैन्दवे परमाकाशे सच्चिदानन्दलक्षणे ।
निष्प्रपञ्चे निराभासे निर्विकल्पे निरामये ॥

इत्युक्तचिदाकाशस्थचन्द्रमस इत्यर्थः । एतच्च दर्शितं स्वच्छन्दे—

षोडशान्तमिति ख्यातं व्योमस्थानेन्दुमण्डलम् ॥ इति ।

केचित्तु षोडशान्तं षोडशस्वरूपान्तं षोडशकलातिरिक्तमिदं निर्वाणकलां सप्तदशीं वदतीत्याहुः । तद् भावनाभेदमात्रम् । सप्तदश्याः कलाया अप्रसिद्धत्वात् । सहस्रदलगतं षोडशं, तत्र कला सप्तदशीति विभागमात्रं न तु वस्तुतः साप्तदश्यमिति । अत्र बिन्दुः श्रीचक्ररूपमिति वक्ष्यति । तस्य

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चामृतलहरीभिः प्लाविता तनुर्यस्य स साधकः नाडीप्रकरममृतैः प्लावयतीत्येका योजना। अथवा महाव्योमस्थेन्दोरमृतलहरीभिः प्लाविता तनुः साधकतनुर्यया सेति विद्युल्लेखायाः कुण्डलिन्या एव विशेषणमस्तु। सा नाडीप्रकरं प्लावयतीति च सुयोजम्।

या मुण्डाधारदण्डान्तरविवरगता हारनीहारगौरी
सौधीं धारां नभोऽम्भोरुहकुहरविधोः संस्रवन्तीं वहन्ती।

इति सारसमुच्चयोक्तेः सौधीं सुधासम्बन्धिनीं धारां, कस्य ? व्योमकमलकुहरगतेन्दोस्तां वहन्ती कुण्डलिनी, वहन्ती प्रापयन्ती सर्वां तनूमिति द्रष्टव्यम्।

सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसः।

इति भगवत्पादोक्तेश्च। प्रपञ्चमिति शरीरमित्यर्थः। तथा च गौतमीये—

विश्वं शरीरमित्युक्तं पञ्चभूतात्मकं मुने।
चन्द्रसूर्याग्नितेजोभिर्जीवब्रह्मैक्यरूपकम् ॥ इति।

प्रपञ्चशब्दस्य यथाश्रुतार्थत्वेऽपि भगवतीचरणामृतमुपजीव्यैव जगतः स्थितिरिति न काप्यनुपपत्तिः। कुण्डलिनीशक्तिवदेव संकर्षणशक्तिः। कुण्डलिन्यनुत्थानेऽपि महाव्योमस्थेन्दोरमृतकणेनैव शरीरस्थितेः। कुण्डलिन्युत्थानोत्तरं तु तदीयचन्द्रमण्डलदशनात् प्रस्रुतामृतलहर्या योगी प्लाविततनुर्भवतीति विशेषः। आपूर्यमाणवापीतडागादितो जलस्य प्रस्रवणे वाऽप्रस्रवणे वा न किंचिदन्तरं भवति। प्रस्रवणकरणे वृक्षलतावीरुदादीनां जीवनं भवतीति विशेषो न तु जलाशयस्य कश्चित्। एवं महाव्योमेन्दुमण्डलामृतस्यानन्तत्वात्तदप्रस्रवणे प्रस्रवणे वा न तस्य कश्चिद्विशेषः। योगिनस्तु शरीरमाप्लावितं भवतीति विशेषः प्रस्रवणादिति।

किं च **प्रशुष्यदिति**। सा प्रबुद्धा सहस्रारगता कुन्डलिनी तत्रत्यामृतं वहन्ती प्रशुष्यद् नाडीप्रकरं नाडीसमुदायमनिशं प्लावयति सिञ्चति। यद्यपि

प्रकरः स्यात्पुमान् सङ्घे विकीर्णकुसुमादिषु।
नपुंसके जोङ्गके स्त्री नाटयाङ्गे चत्वरावनौ॥

इति मेदिनीकोशात्संघार्थकप्रकरशब्दस्य पुंस्त्वात्तद्विशेषणस्यापि पुंस्त्वं युक्तमिति प्रशुष्यन्तमीति प्रयोक्तुमुचितम्। तथापि क्वचिज्जोङ्गकार्थे

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इव समुदायार्थेऽपि नपुंसकस्य वृत्त्यभ्युपगमे क्षतिविरहादुपपत्तिः । वै इत्यव्ययपदम् । तेन सह समासे प्रशुष्यद्वैनाडीप्रकरमित्येकपदमित्यतोऽप्युपपत्तिः ।

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः ।
चतुरङ्गुलविस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत् ॥
नाड्यस्तस्मात्समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ।

इत्युक्तं द्विसप्ततिनाडीप्रकरम् । यद्वा गौतमीये—

तिस्रः कोट्यस्तदर्धेन शरीरे नाड्यो मताः ।
तासु मुख्या दश प्रोक्तास्तासु तिस्रो व्यवस्थिताः ॥
प्रधाना मेरुदण्डेऽत्र चन्द्रसूर्याग्निरूपिणी ॥

इत्याद्युक्तनाडीप्रकरो द्रष्टव्यः ।

अथवाऽत्र "प्रशुष्यद्द्वैनाडीप्रकरमि"त्यत्र द्विदकारः पाठः । वै इत्यव्ययपक्षेऽपि "अनचि चे"ति द्वित्वेन द्विदकारोपपत्तेः । द्वैनाडीति च्छेदः । द्वयोरिडापिङ्गलयोः सम्बन्धिन्यो नाड्यो द्विनाड्यः द्विनाड्य एव द्वैनाड्यः स्वार्थे ष्यञि षित्वात् ङीष् । द्वैनाडीनां प्रकरो द्वैनाडीप्रकरः । प्रशुष्यंश्चासौ द्वैनाडीप्रकरश्चेति स तथा तम् । सुषुम्णाया मेर्वन्तरस्थत्वात्कन्दे इडापिङ्गलयोरेव साक्षात्संबन्धोऽन्यनाडीनामित्यतो द्वैनाडीप्रकरमित्युक्तम् ।

एतच्च "प्रशुष्यद्वैनाडीप्रकरमि"ति पाठमभ्युपगम्य व्याख्यातम् । क्वचित्कोशे "प्रशुष्यद्वेशन्तप्रकरमनिशं प्लावयति तदि"ति द्वितीयपादपाठः । तत्र वेशन्तशब्दस्य अल्पसरोऽर्थः । तथाचाहामरसिंहः—

वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरो (वापी तु दीर्घिका) इति ।

अत्र च षण्णां पद्मानां प्रसिद्धत्वात् पद्मानां च सरोजत्वात्सरउत्पन्नत्वाद् बृहत्सरसाश्च शरीरमध्येऽसंभवाद्वेशन्तप्रयोगः । वेशन्तेन षट्पद्मतदाधारतद्देवतानां सर्वासां ग्रहणम् । अत एव सर्वसंग्रहार्थं पद्मादिपदं परित्यज्य वेशन्तपदप्रयोगः । पद्मपदप्रयोगेऽति प्रसिद्धत्वात्पद्मान्येव गृह्येरन् वेशन्तस्य शरीरमध्येऽप्रसिद्धत्वात्कल्पनीयत्वात्तेन सर्वग्रहणतात्पर्यावसायः। एतत्प्लावनमुपपादितं प्रागस्माभिः । पुनरत्रोच्यते —

सदाशिवेन देवेशि क्षणमात्रं रमेत् प्रिये ।
अमृतं जायते देवि तत्क्षणात् परमेश्वरि ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तदुद्भवामृतं देवि लाक्षारससमायुतम् ।
तेनामृतेन देवेशि तर्पयेत् परदेवताम् ॥
षट्चक्रदेवतास्तत्र संतर्प्यामृतधारया ।
आनयेत्तेन मार्गेण मूलाधारं पुनः सुधीः ॥ इत्यादि ।

कुण्डलिनी सहस्रारं गता सदाशिवेन संयुङ्क्ते । तदेव रमणम् ततोऽमृतं जायते प्रादुर्भवति व्यक्तीभवति स्रवतीत्यर्थः । परदेवतां पराशक्तिं कुण्डलिनीं तर्पयेत् । तृप्ता भवतीत्यर्थः । तथा च षट्चक्रदेवतातर्पणेन कमले तत्प्लावनमपि सिद्धं भवति । युक्तश्चायमेव पाठः । अमृतलहरीप्लावितततनुरिति प्रथमपादेनैव सर्वनाडीनां प्लावनसिद्धेः । स्थूलस्य सर्वस्य तनुपदग्राह्यत्वात् । षट्चक्रस्य तु भावनागम्यस्यातिसूक्ष्मत्वात्तत्पृथगुक्तिरिति ध्येयम् ।

यद्यपि अनिशं प्लावनं न घटते । कुण्डलिन्युद्बोधनोर्ध्वनयनसमागमनकाल एव अमृतप्लावनोपपत्तेः । तथापि **यदाज्ञायामिति** कालविशेषनिर्देशात्तादृशकालव्यापकतयाऽमृतप्लावनविवक्षणान्न कापि क्षतिरिति द्रष्टव्यम् ॥३४॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ततो गत्वा ज्योत्स्नामयसमयलोकं समयिनां
पराख्या सादाख्या जयति शिवतत्त्वेन मिलिता ।
सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसो बिम्बमपरं
तदेव श्रीचक्रं सरघमिति तद् बैन्दवमिति ॥३५॥

विधिग्रन्थि के भेदन के बाद कुण्डलिनी वहाँ से ज्योत्स्ना (चन्द्रिका) मय समयलोक में, जिसको समयमार्गी ही देख पाते हैं, पहुँच जाती है। वहाँ वह कुण्डलिनी पराशक्ति होकर सादाख्य शक्ति होकर शिव तत्त्व से संयुक्त हो जाती है तो महान् उत्कर्ष को प्राप्त होती है। सहस्रार कमल में एक दूसरा चन्द्रबिम्ब है। वही श्रीचक्र, सरघ एवं बैन्दव कहलाता है ॥३५॥

अन्वयार्थप्रकाशिका

आज्ञाचक्रस्थब्रह्मग्रन्थिभेदनानन्तरं **ततः** सैव कुण्डलिनी **समयिनां ज्योत्स्नामयं समयलोकं गत्वा पराख्या** परा शक्तिः **सादाख्या**=साद-नाम्नी च सती **शिवतत्त्वेन मिलिता जयति**=उत्कर्षेण वर्तते। **सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसः**=चन्द्रमसोऽ**परं**=पूर्वोक्ताद् भिन्नं **बिम्बं** वर्तते। **तदेव श्रीचक्रमित्युच्यते सरघमित्युच्यते तदेव बैन्दवमित्यप्युच्यते** ॥३५॥

अमृतझरिका

आज्ञोपरिस्थविधिग्रन्थिरूपचन्द्रमण्डलभेदनसमकालमेव स्फुटितपात्रादिव चन्द्रादमृतमागृह्य सूर्यं प्रति प्रस्रवणायोगात् सहस्रदलकमलनिर्गलदमृतलहर्या कृत्स्नतन्वाह्लादनं नाडीगणाऽऽप्लावनादिकं च संपद्यत इति दर्शितम्। यदातदाप्रयोगात्। तदनन्तरं पराशक्तेः किं कार्यमिति जिज्ञासायामाह—तत इति। ततो विधिग्रन्थिभेदनसमनन्तरं कुण्डलिनी पराशक्तिर्ज्योत्स्नामयं समयिनां समयलोकं समयमार्गानुसारिमात्रगन्तव्यलोकमित्यर्थः। कौलानामाधारादावेव पूजनस्य वक्ष्यमाणतया तेषामेतल्लोकगमनविरहात् समयिनां समयलोकमित्युक्तम्। तमिमं सहस्रदलकमलात्मकं लोकं गत्वा। स हि ज्योत्स्नामयो लोकः। तथा हि—सूर्यचन्द्रयोर्मेलनादमावास्यात्मकत्वान्मूलाधारस्तामिस्रलोक इति वक्ष्यते। उक्तमपि—

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"तमस्याधारे" इति प्रागपि। न च तत्र वह्निकिरणसत्त्वात् कथं तामिस्रत्वमिति वाच्यम्। तामिस्रलोकेऽपि वंशादिघर्षणेन मण्यादिना च प्रकाशसंभवात्तावन्मात्रेण तामिस्रत्वभङ्गानुपपत्तेः। प्रत्युत तामिस्रलोके एव वह्निप्रकाशप्रसरसंभव इति। स्वाधिष्ठाने स्वयमग्नितत्त्वमेवेति तस्यापि तथात्वमेव। यद्यपि हुताशे द्वाषष्टिरिति या संख्योक्ता सा स्वाधिष्ठानस्य वह्नितत्त्वात्मकत्वेपि सूर्यस्यैव तत्र। तथापि मणिपूरे जले प्रतिबिम्ब्य यावत्स्वाधिष्ठानमागच्छन्ति ते किरणस्तावन्निर्बलाः सन्तो न तामिस्रतां ह्रापयितुं शक्नुवन्ति। कृष्णचतुर्दश्याद्येकादशीपर्यन्तं शुक्लपञ्चमीपर्यन्तं च तमआधिक्याच्च। मणिपूरे तु जलतत्त्वं तत्राग्निकिरणा एव मुख्यरूपेण तथापि तत्र सूर्यकिरणा अपि प्रतिबिम्बन्तीति मिश्रलोकः। स्वाधिष्ठानमपि यत्किंचित्सूर्यकिरणसंपर्कान्मिश्रलोक एव। तथापि तमःप्राधान्यात्तामिस्रत्वमुक्तम्। अनाहतं तु ज्योतिर्लोक एव। तदुपरि सूर्यबिम्बसत्त्वात्। विशुद्धिचक्रं तु चान्द्रलोकः। तत्र पञ्चदशानां चन्द्रकलानां प्रागुक्तत्वात्। तथापि सूर्यकिरणस्पर्शसद्भावान्न ज्योत्स्नालोकः। आज्ञाचक्रं तु सुधालोकस्तदुपरि चन्द्रसत्त्वात्। तथापि सूर्यकिरणसंपर्कान्न ज्योत्स्नालोकः। सहस्रदलकमलं तु ज्योत्स्नामय एव लोकः। तत्र चन्द्रसूर्याग्नीनां किरणाऽप्रवेशात्। न च चन्द्रकिरणप्रवेशनिषेधः किमित्युच्यत इति वाच्यम्। सूर्यप्रविष्टकिरणानामेव कलारूपेण चन्द्रे प्रवेशस्योक्तत्वाच्चन्द्रकिरणप्रवेशे सूर्यकिरणस्याप्यस्तित्वसूचनार्थत्वात्। सहस्रारे तु नास्ति तेषां प्रवेशः। तथा चोक्तं प्रागेव—"सूर्यशशिनोरगम्ये रश्मीनाम्" इति। अत्र परमा च ज्योत्स्ना पूर्णानन्दैरपि प्रतिपादिता—

समास्ते तस्यान्तः शशपरिरहितः शुद्धसंपूर्णचन्द्रः।
स्फुरज्ज्योत्स्नाजालः परमरसचयस्निग्धसंतानहासः॥ इति।

शशपरिरहितः कलङ्करहितः। एतेन लौकिकचन्द्रव्युदासः। शुद्धो राहुसम्बन्धरहितः। संपूर्णः क्षयवृद्धिरहितः। परमरसचयेन परमामृतसंदोहेन स्निग्धः संतानो विततिर्यस्य हासस्य तादृशो हास इव हासो यस्य सः मन्दहाससन्तानश्लक्ष्ण इति यावत्। स चायं ज्योत्स्नामयलोकः समयलोकः। समयाख्यपरमशिवलोकः। तत्र यश्चन्द्रस्तस्यैकैव कला सैव षोडशी कलेति व्याख्यातं प्राक्। सैव पराशक्तिरित्यपि निगद्यत इत्याह—**पराख्येति।** परेत्याख्या यस्याः सा पराख्या सैव साद इत्यप्युच्यत इत्याह—**सादाख्येति।** सादः शरणमिति शब्दकल्पद्रुमकाराः। क्वचित् शरणमिति क्वचिच्च चरणमिति निगद्यते। एतदेव—

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः

इत्यत्र चरणयुगलपदेन निर्दिष्टं सौन्दर्यलहर्याम्। स चन्द्रोऽपि पराख्य एव सादाख्यश्चैवेति मन्तव्यम्। एषैव कला कुण्डलिनीरूपमापद्य मूलाधारे वरीवर्ति। न चैवं मूलाधारे तत्स्थानकाले सहस्रारे सा न स्यादिति वाच्यम्। तस्या नित्यत्वाद् व्यापकत्वाच्चांशरूपेण मूलाधारेऽपि स्थितौ क्षत्यभावात्। सहस्रारे सा नित्यशुद्धचिद्रूपिणी मूलाधारे च कुण्डलिनी-रूपिणी।

जयति शिवतत्त्वेन मिलितेति। अत्रेदमवसेयम्।

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किंचिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

इति वचनाद् विना शक्तिं नैव तिष्ठति शिवः। वामकेश्वरे चोक्तम्—

शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते। इति।

तथापि पराशक्तिरियं द्वैरूप्यं यदा प्रतिपद्यते सहस्रारे परा चित्कला मूलाधारे कुण्डलिनी चेति तदा नित्यमिलितापि शक्तिरमिलितेव भवति। शक्तोऽपि च शिवोऽशक्त इव भवति। तथा चाभिहितं वामकेश्वरे—

परो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किंचन।
शक्तस्तु परमेशानि शक्त्या युक्तो भवेद् यदि॥ इति।

कथं हि नाम शक्तिरहित इति शक्यते संभावयितुम्। गगनकुसुम-समत्वात्। तस्मादस्ति कश्चन शक्तिवियोग इति गम्यते। स्पष्टीकृतं तद् देवीभागवते—

शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।
शक्तिहीनो हि यः कश्चिदसमर्थः स्मृतो बुधैः॥ इति।

चित्कलाया नित्यमिलितत्वादनिर्वचनीयभेदापन्नकुण्डलिनीशक्तिविश्लिष्ट एव परो हि शक्तिरहित इत्यनेनोक्त इति भावः। एतदेवाभिप्रेत्य भगवत्पादैरपि—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

इत्यभिहितम्। एतावांस्तु विशेषः। जीवस्याविद्याच्छादितत्वात्तदभिन्ने शिवे सहस्रारस्थे प्रायः कुण्डलिन्या विश्लेष इति, विद्यमानोऽप्यविद्यमान

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इव भवति प्रतिशरीरम् । साधनपरतन्त्रश्च शिवशक्तिसंयोगः । सकलजगन्मूले परमशिवे तु विशेषः । तत्र प्रलयकाले स्वभावादेव कुण्डलिनीशक्तेर्लीनाया अपि अनिर्वचनीयो विश्लेषः । परमशिवस्य स्वेच्छया च तत्संश्लेषः । तथा हि संश्लेषविश्लेषरहितः परमः शिवो वाङ्मनसागोचरो मोक्षलक्षणः सर्वदेशकालानवच्छिन्नः । स हि साधकानां लक्ष्यभूतः । न स स्रष्टा भर्ता संहर्ता वा । स निष्कल एव । ततो नात्यन्तभिन्नो यावत्संसारमवतिष्ठमानः सकलः शिवः शक्तिसंयोगवियोगादियुक्तो भवति कर्ता भर्ता संहर्ता च । एतावेवाह शारदायां—

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः ।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ॥ इति ।

प्रकरोति जगदिति प्रकृतिस्ततोऽन्य इत्यर्थः । न तु प्रकृतेः प्रधानादन्य इति । सिद्धत्वात् । एतमेवोपादायाह प्रयोगसारे—

नित्यः सर्वगतः सूक्ष्मः सदानन्दो निरामयः ।
विकाररहितः साक्षी शिवो ज्ञेयः सनातनः ॥ इति ।

विकाररहित इत्यनेनास्य सृष्ट्यादिहेतुत्वं नास्तीत्युच्यते । सदानन्दो निरामय इत्यनेन सकलसाधनसाध्यत्वं द्योत्यते । तस्य परमपुरुषार्थत्वज्ञापनाय नित्यः सर्वगतः सनातन इति विशेषणानि । प्रकाशलाभाय साक्षीति । नारायणीयेऽप्युक्तम्--

निष्क्रियं निर्गुणं शान्तमानन्दमजमव्ययम् ।
अजरामरमव्यक्तमज्ञेयमचलं ध्रुवम् ॥
ज्ञानात्मकं परं ब्रह्म स्वसंवेद्यं हृदि स्थितम् ।
सत्यं बुद्धेः परं नित्यं निर्मलं निष्कलं स्मृतम् ॥ इति ।

अत्यन्तभिन्नत्वेनाप्राप्यत्वं प्रसक्तं वारयितुं हृदि स्थितमित्युक्तम् । बुद्धेः परमिति साधनगम्यत्ववारणाय । सकलप्रतिबन्धकनिवृत्तौ तद्रूपेणावस्थानमेव पुरुषार्थ इति भावः । इतो नात्यन्ताभिन्नो नात्यन्तभिन्नश्च सकलः परमात्मा शिवः । स एव शास्त्रविषयः । तस्य च द्वे अवस्थे । प्रलयकालीना सृष्टिकालीना च । एतमेवादायाहुः पुण्यानन्दनाथाः—

सकलभुवनोदयस्थितिलयमयलीलाविनोदनोद्युक्तः ।
अन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः ॥ इति ।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निष्कलसकलयोरत्यन्तभेदं निरस्यन्नाह रहस्याम्नायः—

> **निरुत्तरं निराधारं सच्चिदानन्दसागरम् ।**
> **यदेतच्छाम्भवं मिश्रं निर्वाणाधारतां गतम् ॥** इति ।

निर्वाणाधारत्वं मुक्तोपसृप्यत्वम् । तच्च निरुत्तरादिरूपम् । तदेव सकलत्वेन मिश्रमित्यर्थः । प्रलयावस्थायां तु पराशक्त्यभिन्नयाऽपि अनिर्वचनीयभेदमापन्नया कुण्डलिनीशक्त्याऽन्तर्लीनया विश्लेष इति तदानीं स्पन्दाभावः । एतदेव "न खलु कुशलः स्पन्दितुमपी"त्यनेनाचार्यभगवत्पादैरुक्तम् । न पुनर्गगनकुसुमायितवियुक्तावस्थां संभावनयोपस्थाप्य तथोक्तमिति ध्येयम् । लीनया सह संयोगासंभवाच्च स्वतन्त्रः स सकलः शिवः स्वेच्छयैव तां प्रथममाविर्भावयति । तथा च वायवीयसंहितायां—

> **शिवेच्छया परा शक्तिः शिवतत्त्वैकतां गता ।**
> **ततः परिस्फुरत्यादौ सर्गे तैलं तिलादिव ॥**

शिवेच्छया ततः शिवादेव पराशक्तिः सर्गादावाविर्भवतीति योजना । शिवतत्त्वैकतां गतेति प्रलयावस्थाकथनम् । सा च स्वाभाविकी । भवतु वा तत्रापि शिवेच्छाप्रयोज्यत्वम् । सर्वथापि परिस्फुरणसंयोगादिषु परमेश्वरेच्छातिरिक्तं कारणान्तरं नास्त्येवेति शिवस्य जीवाद्वैलक्षण्यं द्रष्टव्यम् । तथा चाभिहितं पञ्चरात्रे—

> **एवमालोच्य सर्गादौ सच्चिदानन्दरूपिणीम् ।**
> **समस्ततत्त्वसंघातमस्फूर्त्यधिष्ठानरूपिणीम् ।**
> **व्यक्तां करोति नित्यां तां प्रकृतिं परमः पुमान् ॥** इति ।

एवमालोच्येत्यनेनालोचनं संकल्पलक्षणं कारणमाह । "तदैक्षत" "सोऽकामयते"त्येवं सामान्यतः प्रयोगादेतदालोचनमेवेक्षणं कामना चेति गम्यते । तथा चेच्छामात्रं हेतुरिति सिध्यति । न केवलं सामान्येक्षणमात्रं शक्तिसंयोगे हेतुः । किन्तु शक्तेरौत्सुक्यमपि । प्रथमसृष्टेः सामान्यकारणजन्यत्वेऽपि द्वितीयादिसृष्टेर्हेत्वन्तरपूर्वकत्वात् । यथा नैयायिकानां परमाण्वादिप्रथमक्रियायाः सर्गाद्यकालीनाया अदृष्टवदात्मसंयोगादिमात्रजन्यत्वेऽपि द्वितीयादिक्रियायास्तादृशसंयोगसहकृतनोदनाजन्यत्वमुपगम्यते । प्रथमक्रिया तु न नोदनाजन्या । नोदनायाः क्रियाजन्यत्वेनान्योन्याश्रयापातात् । तथा प्रकृतेऽपि प्रथमशक्त्याविर्भावस्य शिवेच्छामात्रजन्यत्वेऽपि

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पुनः शक्तिसंयोगो विशेषकारणान्तरजन्यः। स तु कारणविशेषः शक्तेरौत्सुक्यमेव। तदुक्तम्—

तस्यैवेषा परादेवी स्वभावामर्शनोत्सुका।
पूर्णत्वं सर्वभावानां यस्या नाल्पं न चाधिकम्॥

इति परापञ्चाशिकायाम्। स्वभावनस्तस्या शिवामर्शने शिवसंयोगे औत्सुक्यम् अनादिकालसिद्धं प्रकटीभूतायास्तत्प्रकटमिति भावः। न च जडाया औत्सुक्यानुपपत्तिरिति वाच्यम्। जडत्वासिद्धेः। शक्तेश्चैतन्याभ्युपगमात्

"सच्चिदानन्दरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि"

इति वचनात्। अन्यत्राप्युक्तं—

अभिव्यक्ता परा शक्तिरविनाभावलक्षणा।
अखण्डंपरचिच्छक्तिर्व्याप्ता चिद्रूपिणी विभुः॥

एवं परस्परेच्छावशाच्छिवशक्त्योरविनाभावलक्षणयोरपि संयोगः। ततश्च स्पन्दादिपूर्वकं जगत्सर्जनम्। तदिदमभिप्रेत्याभिहितं—"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुमि"ति। रहस्याम्नाये चोक्तम्—

परार्णाख्याच्छिवेच्छायां सत्यां सा विमर्शा तदा।
अजायत परार्णाख्या बीजादङ्कुरवत् प्रिये॥
अनुप्रविश्य तां शक्तिं वामाद्यैः पिण्डितो भवेत्।
समस्तबीजगर्भाढ्या सूक्ष्मबिन्दुत्वमेति सः॥
तत्प्रविश्याम्बिका भूत्वा सानन्दाकारतां गता।
तद्व्याप्त्या जृम्भितात्तस्माद् बिन्दुरुच्छूनतां गतः॥
तथा सा बिन्दुमुद्भिद्य नीवाराग्रवदुत्थिता।
तुल्यकालोदिता नित्यरश्मिकोटिविडम्बिनी॥
षट्त्रिंशत्तत्त्वगर्भाढ्या परमाद्यर्णगर्भिणी।

इत्यादिना। वामकेश्वरेऽप्युक्तम्—

त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या जाता महेश्वरी।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका।
कवलीकृतनिःशेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी॥

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इति । परापञ्चाशिकायामप्युक्तम्—

एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः ।

विचित्रान् सृष्टिसंहारान् विधत्ते युगपत्प्रभुः ॥

तथा चायं निष्कर्षः । जगत्कारणभूतः परमशिवोऽपि प्रलये शक्तिविश्लिष्टः स्पन्दनादिरहितः सृष्ट्यादौ स्वेच्छया शक्तिमाविर्भाव्य तया संयुज्य च जगत्सर्जनादौ प्रभवतीति शिवतत्त्वेन मिलिता शक्तिरुत्कर्षवती । ये पुनर्जीवात्मानस्तेऽपि कुण्डलिनीशक्तेः शिवेन संयोगं विनाऽसमर्था एव भवन्ति । यदा योगेनोपासनया च शक्तेः शिवसंयोगो भवति तदा स्वयमपि शिव एव सन्तः परमानन्दमाप्नुवन्ति ।

निष्कलत्वं शिवे बुद्ध्वा तद्रूपत्वं गुरोरपि ।

तन्निरीक्षणसामर्थ्यादात्मनश्च शिवात्मता ॥

इति चतुःशत्याम् । कुण्डलिनीप्रबोधशिवसंयोगाभ्यां तन्निरीक्षणसामर्थ्यम् । एवं विद्यायाः शिवमिलितायाः शक्तेः परम उत्कर्षः । तदेतत् सर्वमभिप्रेत्याह—**जयति शिवतत्त्वेन मिलिता** इति । जयति उत्कर्षेण वर्तत इत्यर्थः ।

ननु आज्ञाचक्रोपरिगतविधिग्रन्थिभेदनसमनन्तरं ज्योत्स्नामयलोकगमनं यदुक्तं "ततो गत्वा ज्योत्स्नामयसमयलोकम्" इति तेन ज्ञायते तत्रास्ति चन्द्रबिम्बमिति । न हि चन्द्रं विना ज्योत्स्ना संभवति । स च सहस्रारगतज्योत्स्नाप्रयोजकश्चन्द्रो यत्र पराख्या सादाख्या कला, किमाज्ञाचक्रगतचन्द्र एवाहोस्वित्ततो भिन्नः । नाद्यः । तत्र पञ्चदशकलानां सत्त्वादेककलाकत्वानुपपत्तेः । न द्वितीयः । अतिरिक्तचन्द्रमसोऽप्रसिद्धत्वादित्याशङ्कामप्रसिद्धेरज्ञाननिबन्धनतया द्वितीयं पक्षमेवावलम्ब्य निराकरोति—**सहस्रारे पद्मे** इति । सहस्रदलकमले शिशिरमहसश्चन्द्रस्यापरमाज्ञाचक्रस्थचन्द्रबिम्बाद् भिन्नं बिम्बं विद्यते ।

इन्दुर्ललाटदेशे तु तदूर्ध्वे बोधिनी स्वयम् ।

इत्येवमिन्दुप्रभृतीनां ललाटदेशे वर्णनात् सहस्रारे चक्रे शशपरिरहितस्य शुद्धस्य पूर्णचन्द्रस्य प्राक् प्रतिपादनाच्च । एतस्यैव चन्द्रबिम्बस्य स्वरूपभेदेन नामभेदानाह—तदेवेति । तदेव सहस्रारस्थितं चन्द्रबिम्बं श्रीचक्रं भवति । परमशिवः स्वेच्छया शक्तिं प्रथमं प्रादुर्भावयति ।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रादुर्भूतया तया संयोगे सति शिवः प्रभवितुं शक्तो भवति। तत्र प्रथमं शिवशक्त्योः शरणस्य चक्रस्योत्पत्तिः। तथा चोक्तं—

यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः॥ इति।

विश्वरूपिणी–कवलीकृतनिःशेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी प्रागुक्ता त्रिपुरा शक्तिः। सा स्वेच्छयाऽऽत्मनः स्वस्य, परमात्मनः शिवस्येति वा स्फुरत्तां स्फुरणरूपतां पश्येत्, स्फुरत्तां विकसद्रूपतामिति वा, "तदैक्षते"ति श्रुत्युक्तरीत्या पश्येत्तदा प्रथमं चक्रस्य श्रीचक्रस्य संभवः। सहस्रारचन्द्रबिम्बस्य शिवशक्तिशरणरूपत्वाच्छरणत्वेन प्रथमं श्रीचक्रस्यैव प्रादुर्भावाच्चन्द्रबिम्बस्य श्रीचक्रत्वं सिध्यति। एतच्च सूक्ष्मतमं श्रीचक्रस्वरूपमित्येतत्प्रागेव निवेदितम्। अत एवेतः परं

यथा न्यग्रोधबीजस्थशक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्॥

इत्युक्तम्। हृदयबीजं हकारः शिवः सकारः शक्तिर्वा तत्र स्थितं जगदित्यर्थः। तच्च चक्रं स्थूलस्य विरहात् सूक्ष्मं यथोक्तं चन्द्रबिम्बमेवेति भावः।

तदेव सरघमित्यप्युच्यते वेदेषु। अस्य चन्द्रबिम्बस्य मधुपूरितसरघवदमृतपूरितत्त्वात्सरघनामोपपत्तिः प्राक् प्रपञ्चिता।

तदेव बैन्दवमित्यप्युच्यते। षट्चक्रश्रीचक्रयोरभेदचिन्तनावसरे मूलाधारादिविशुद्धिपर्यन्तं त्रिकोणादिचतुर्दशकोणपर्यन्तचिन्तनं भवति। आज्ञाचक्रं तु अष्टदलादिशिवचक्रचतुष्टयरूपेण। बिन्दुः पुनः सहस्रारकमलरूपेण चिन्त्यते। सहस्रारतद्गतचन्द्रबिम्बयोरैक्याच्चन्द्रबिम्बमपि बिन्दुरूपमेव। बिन्दुरेव बैन्दवम्। तथा च चन्द्रबिम्बं बैन्दवनामाभिधेयं भवति। यद्वा सहस्रारं बिन्दुः। तत्र भवं चन्द्रबिम्बं बिन्दौ भवं बैन्दवमित्यभिधीयते। श्रीचक्रगतबिन्दोः सहस्रारचन्द्रबिम्बस्य चैक्येऽपि तस्य श्रीचक्ररूपत्वं प्रागेवास्माभिः सम्यङ्निरूपितं स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन श्रीचक्ररूपनानात्वविवरणावसर इति॥३५॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

छठवां परिच्छेद

प्राणायाम एवं त्रिबन्ध

प्राणायाम के अभ्यासी साधकों को तीनों वन्धों को लगाने की विधि का पूरा ज्ञान होना चाहिए और वन्धों को लगाते हुए ही उन्हें प्राणों पर नियन्त्रण करने का अभ्यास करना चाहिए। हठयोग प्रदीपिका के रचयिता योगी आत्माराम ने तीनों वन्धों का उत्कृष्टता के साथ वर्णन किया है। जिनका ज्ञान प्राणायाम के साधकों के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। पढ़िये मूलवन्ध का स्वरूप और उसका फल—

पार्ष्णि भागेन संपीड्य, योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य, मूलवन्धोऽभिधीयते ॥
अधोगतिमपानं वा, ऊर्ध्वगं कुरुते वलात् ।
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलवन्धं हि योगिनः ॥

अर्थात्—पैर की एड़ी के भाग से गुदा और लिंग के मध्य भाग को दवावें और गुदा का ऊर्ध्वाकिर्षण करे। इसके साथ ही अपानवायु का मन के दृढ़ संकल्प के साथ ऊर्ध्वाकिर्षण करे इसी को मूलवन्ध कहते हैं। यह अधोगति वाले अपान वायु को वलपूर्वक ऊर्ध्वगामी वनाता है इसलिए योगाचार्यों ने इसको मूलवन्ध कहा है—

गुदं पाष्ठर्या तु संपीड्य, वायुमाकुंचयेब्दलात् ।
बारं-वारं यथा चोर्ध्वम्, समायाति समीरणः ॥
प्राणापानौ नाद विन्दू, मूलवन्धेन चैकताम् ।
गत्वायोगस्य संसिद्धि, यत्छतो नात्र संशयः ॥

अर्थात्—पैर की एड़ी से गुदा द्वार को दवाकर अपान वायु का वलात् ऊर्ध्वाकिर्षण करे वार-वार ऐसा करने से वायु का ऊर्ध्वगमन हो जाता है। प्राण और अपान, नाद और विन्दु दोनों मूलवन्ध के लगाने से एकता को प्राप्त होते हैं। योग की निश्चय सिद्धि प्राप्त होती है इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है।

अपान प्राणयोरैक्यं, क्षयो मूत्र पुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि, सततं मूल बंधनात् ॥
अपाने ऊर्ध्वगे जाते, प्रयाते वह्निमण्डलम् ।
तदाऽनल शिखा दीर्घा, जायते वायुनाऽऽहना ॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ततो यातो वह्नयपानौ, प्राणमुष्ण स्वरूपपकम् ।
तेनात्यन्त प्रदीप्तस्तु, ज्वलनो देहजस्तथा ।।
तेन कुंडलिनी सुप्ता, संतप्ता सप्तबुध्यते ।
दण्डा भुजंगीव निश्वस्य, ऋजुतां व्रजेत् ।।

अर्थात्–मूलवन्ध के लग जाने के वाद प्राण अपान की एकता हो जाने पर शरीर में संचित मल-मूत्र का क्षय हो जाता है। अर्थात् प्राणायान के घर्षण से अन्न का रस भाग जल्दी से व्याप्त होने लगता है और प्राणायाम के अभ्यासी को मल-मूत्र वहुत ही थोड़ी मात्रा में होने लगते हैं। इसका परिणाम यह निकलता है कि जीर्ण शरीर वाला अतिवृद्ध भी पुनः यौवन प्राप्त कर लेता है। यह मूलवन्ध का विशेष परिणाम है। क्योंकि ज्योंही प्राण ऊर्ध्व गति करता है त्योंही वायु से ताड़ित हुआ वह्नि मण्डल पूर्णरूपेण प्रदीप्त हो जाता है एवं उससे अग्नि की लाट तीव्रता से निकलने लगती है, फिर वह अग्नि अपान के वल से ऊर्ध्वगति करके प्राण में मिल जाती है एवं प्राणवायु के समागम से देह में प्राप्त हुई जठराग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो जाती है। इसी के फलस्वरूप महाशक्ति कुंडलिनी जग जाती है जिस प्रकार दण्डे के मारने से कोई सर्पिणी जगकर भागती है।

विलं प्रविष्टेव ततो, ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूल बंधः, कर्त्तव्यो योगिभिः सदा ।।

अर्थात्–कुंडलिनी जग करके सुषुम्णा विवर में प्रवेश कर जाती है इसलिए योगियों को चाहिए कि इस मूलबन्ध का अवश्य और नित्य अभ्यास करें।

उड्डीयान बन्ध

मूलबन्ध के बाद उड्डीयान बन्ध लगाना चाहिए उड्डीयान वन्ध लगाने की विधि :–

वद्धोयेन सुषुम्नायां, प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं, योगिभिः समुदाहृतः ।।
उड्डीनं कुरुते यस्माद्, विश्रान्तं महाखगः ।
उड्डीयानं तदैव स्यात्तत्र, बंधो विधीयते ।।

उड्डीयान के द्वारा प्राण वायु सुषुम्ना में प्रवेश करता है और ब्रह्म रन्ध्र की ओर उड़ान करता है इसलिए योगियों ने इसको उड्डीयान कहा है। जिस प्रकार

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

से पक्षी आकाश में उड़ान किया करता है उसी प्रकार प्राण भी उड़ान किया करता है इसीलिए इसको उड्डियान कहते हैं।

उड्डियान वन्ध की विधि :-

उदरे पश्चिमोतानं, नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो, मृत्युमातंग केसरी ॥
उड्डीयानं तु सहजं, गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु, वृद्धोऽपि तरुणायते ॥

इसमें पेट को पीठ की ओर तनाव दिया जाता है और नाभि से ऊपर की ओर खींच दिया जाता है यह बंध मृत्यु रूपी हाथी के ऊपर केशरी अर्थात् सिंह के समान है। मृत्यु से जिताने वाला है। यह उड्डियान बंध बहुत सरल तरीके से गुरू-पदिष्ट है। जो इसका अभ्यास करते हैं। वे जराजीर्ण हो जाने पर भी यौवन प्राप्त कर लिया करते हैं।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि, तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं, जयत्येव न संशयः ॥
सर्वेषामेव बन्धाना-मुत्तमोह्यु ड्डीयानकः।
उड्डीयान दृढ़े वन्धे, मुक्ति स्वाभाविकी भवेत् ॥

अर्थात्-जो योगाभ्यासी प्रयत्न करके नाभि से ऊर्ध्व उत्तान करता है। ऐसा व्यक्ति छः महीने के अन्दर मृत्यु को जीत लेता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है। हमारे योगाचार्यों ने इस उड्डीयान बंध को सव वन्धों में उत्तम कहा है। इस योगी साधक ने उड्डियान वन्ध का अभ्यास दृढ़ कर लिया है उसकी मुक्ति स्वाभाविक हो जाती है। मूलवन्ध के वाद में उड्डियान वन्ध लगाने से प्राणायाम ऐक्य होकर प्राण की ऊर्ध्वगति हो जाती है एवं वायु पश्चिम वहन करता है। उड्डियान वन्ध बाह्य कुम्भक में वल देता है इसलिए मूल वन्ध के वाद इसका अभ्यास करना चाहिए। उड्डियान वन्ध के वाद जालन्धर वन्ध का अभ्यास करना चाहिए।

जालन्धर वन्ध का लक्षण :-

कंठमाकुंच्य हृदये, स्थापयेच्चिवुकं दृढ़म्।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरा मृत्यु विनाशकः ॥
वध्नाति हि शिराजाल मधोगामि नभो जलम्।
ततो जालन्धरो वन्धकंठ-दुखौधनाशनम् ॥

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कंठ का संकोचन करके ठोड़ी को छाती में लगा दें जरामृत्यु का विनाशक जालन्धर वन्ध योगियों ने कहा है। यह वन्ध शिर के नाड़ी समूह को वाँधता है और अधोगामी अमृत को रोकता है सारे दुःखों का नाश करने वाला जालन्धर वन्ध नाम का वन्ध कहा जाता है।

जालन्धरे कृते वन्धे, कंठ संकोच लक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ, न च वायु प्रकुप्यति॥
कंठ संकोचनेनैव द्वे, नाड्यो स्तम्भयेद्दृढ़म्।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं, षोऽशाधार वन्धनम्॥

जलन्धर वन्ध कर लेने पर ऊपर से गिरने वाला अमृत अग्नि में नहीं गिरता और वायु कुपित नहीं होता। इस जलन्धर वन्ध के कर लेने पर दो नाड़ियों का स्तम्भन स्वभाविक हो जाता है षोऽशाधार को वन्धन करने वाला इसको मध्य चक्र कहा गया है।

मूल स्थानं समाकुञ्च्य, उड्डीयानं कारयेत्।
इडां च पिंगलां वद्ध्वा, वाह्येत्पश्चिमे पथे॥
अनेनैव विधानेन, प्रयाति पवनालयम्।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा॥
बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं, महासिद्धेश्च सेवितम्।
सर्वेषां हठ तंत्राणा, साधनं योगिनो विदुः॥

अर्थात्—साधक को चाहिए कि पहले मूल वन्ध लगाये फिर उड्डियान करे। इडा पिंगला को बांधकर वायु को पश्चिम मार्ग से चलावे। इस अभ्यास से वायु लयता को प्राप्त हो जाएगा। इस स्थिति को प्राप्त करने के वाद साधक को जरा मृत्यु का भय कदापि नहीं होता। ये ही तीनों वन्ध महासिद्ध योगी राजों के अनुभूत हैं। यह महा-वन्ध और हठयोग की प्राथमिक ऊँची साधना है। इन वन्धों का वेत्ता योगी कभी भी मौत को प्राप्त नहीं होता। इस प्राणायाम के अभ्यासी को इन तीन वन्धों का अभ्यास अवश्य-अवश्य करना चाहिए। साधक को चाहिए कि प्राणायाम जब करे मूलवन्ध को पहले से लगा लें और वायु का रेचन करते हुए उड्डियान लगाये और आभ्यन्तर कुम्भक कर लेने के वाद जालन्धर वन्ध लगाकर बैठ जाय। इस प्रकार प्राणायाम करने वाले साधक यदि वन्ध के साथ प्राणायाम का अभ्यास करेंगे तो अवश्य मृत्यु को जीत लेंगे और अमरत्व को प्राप्त कर लेंगे।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अष्टविधि प्राणायाम

प्राणायाम के वेत्ता आचार्यों ने अपने अनुभव के आधार पर विविध प्रकार के कुम्भकों का उल्लेख किया है। वे सभी एक कुम्भक के ही अनेक भेद हैं। प्राणायाम के साथ-साथ हर व्यक्ति को तीनों वन्धों का ज्ञान हो जाना भी वहुत आवश्यक है। जो लोग प्राणायाम करते समय तीनों वन्धों को विधिपूर्वक लगाते हैं उनको ही प्राणायाम सिद्ध हो पाता है। हठयोग प्रदीपिका में वन्ध लगाने की विधि का वर्णन निम्नांकित श्लोकों में किया गया है :–

> पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बंधो जालन्धराभिधः।
> कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्त्तव्यस्तूड्डियानकः॥

पूरक प्राणायाम करने के वाद जालन्धर वन्ध लगाना चाहिए तथा कुम्भक के वाद एवं रेचक से पहले उड्डियान बंध लगाना चाहिए।

> अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठ संकोचने कृते।
> मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो प्रह्मनाड़िग॥

उड्डियान बंध के साथ ही मूलवन्ध लगा लेना चाहिए। मूलबंध और जलन्धर लग जाने के बाद जव मध्य भाग में पश्चिमत्तान अर्थात् उड्डियान बंध लगाया जाता है तव प्राण वायु ब्रह्म नाड़ी में प्रवेश करता है। इन तीनों बंधों के वाकायदा अभ्यास कर लेने पर योगी युवा वना रहता है। हठयोग के आचार्यों ने कुम्भक प्राणायाम के आठ विशेष भेद कहे हैं और उनके नाम इस प्रकार हैं :–

> सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली यथा।
> भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः॥

सूर्यभेदन, उच्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी ये आठ प्रकार के कुम्भक कहे गये हैं।

सूर्यभेदन प्राणायाम

> आसने सुखदे योगी, वद्ध्वा चैवासनं ततः।
> दक्षनाड्या समाकृष्य, वहिस्थं पवनं शनैः॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

वाहती निस्तंद्र । नाडिका पिंगला, इडा, भेदें ॥७४॥
वामनासापुटीला तद्वारे । इडानाम असे जिला ।
तद्वारें बाह्य वायूला । करिजे पूरक सुयुक्ति ॥७५॥
कमलांनालातुनी जल । ओढिता ये अंतराल ।
तैं षोडश मात्रा मित काल । भरिजेल शान्तपणें ।७६।
मग लावोनी जालंधर । करावा कुंभर सुंदर ।
चतुःषष्ठी मात्रा परिकर । होतां पूर्ण ॥७७॥
दक्षिण नासापुटीं पिंगला । तद्वारा रेचकू भला ।
कीजे द्वात्रिंश मात्रेला । मंदमंद गतीनें ॥७८॥
उड्डियाण जालंधर । हे कुंभकरेचक हितकर ।
असती हे चतुरें । कीजे अवश्य ॥७९॥
पूरक तो वेगानें । बंध लाविजेती दोन ।
मूलाधार उड्डियाण । हे जाणावे गुरुमुखें ॥८०॥
सायंप्रातर्मध्यान्हीं । तैसाची मध्यरजनी ।
एवं चतुर्वार प्रतिदिनीं । करावा प्राणायाम ॥८१॥
अशिति संख्याक प्रतिवेळ । करिजे प्राणायाम सोज्वळ ।
षण्मासाभ्यंतर नाडी निर्मळ । हो वेगेंसी ॥८२॥
हा अगर्भ प्राणायाम । ऐकिजे सगर्भ लक्षण ।
अभ्यासें निर्मळ मन । हो योगियाचें ॥८३॥
मूलाधारापासोन । चक्रब्रह्मरंध्र चरम ।
पृष्ठी मेरुदंड लक्षून । सुषुम्ना नाडीं वसे तेथें ॥८४॥
तद्द्वारें वायूचा । मार्ग उत्तम असे साचा ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बंधत्रयसहित आसनाचा। होता अभ्यास द्वार दे जी।८५।
मत्स्येंद्र, पश्चिमतान,। कंदताडन, परिधान,।
भस्त्रिकादि यथाक्रम। गुरुसान्निध्यें अभ्यसिजे ॥८६॥
मग सरल मार्ग वायूसी। होतां जपोनी प्रणवासी।
प्राणसमागमें प्रणवनादासी। ब्रह्मरंध्रीं नेईजे ॥८७॥
तेथें सहस्रदलकमल। स्थिर होतां योग्य काल।
मग चित्त होईल निर्मल। अनुसंधानीं ॥८८॥
स्थिरवोनी चित्तास। कीजे नादानुसंधानास।
सप्रणव त्रिकाल अभ्यास। होतां प्राण वश हो त्वरें।८९।
ह्या सगर्भ प्राणायामें। होईजेल प्रसन्न मन।
दुर्वासना नासोन। ये सद्वासना पाटव ॥९०॥
आतां बोलिजे सबीज। मग दुसरा निर्बीज।
हे प्राणायाम सहज। दाविती सद्वस्तु ॥९१॥
सगुण मूर्तीचें ध्यान। त्यासह कीजे प्राणायाम।
सुयुक्ति विषयां पासाव मन। वश हो सबीजें ॥९२॥
शब्दादि विषयांपासोनी। चित्तातें आकर्षोनी।
लाविजे स्वरूपानुसंधानीं। निर्बीजें प्राप्त हो ब्रह्मवस्तु ९३
(नोच्छ्वसेन्नचनिःश्वासेन्नैव गात्राणि चालयेत्।
एवंच तान्नियुंजीत कुंभकस्येति लक्षणं ॥१॥)
रेचक पूरक अनादृत्य। योगशास्त्राचें हें तथ्य।
हो केवळ कुंभक सत्य। न कीजे गात्रचापल्य ॥९४॥
बंधत्रयाचें लक्षण। साधिजेल करोनी प्रयत्न।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जें करी बंधविमोचन । दवडोनी मृत्यूसी ॥९५॥
करोनि सिद्धासन । योनी दाविजे वामपादपार्ष्णीनें ।
अपानासी ऊर्ध्व करोनी । मूलाधार अभ्यासिजे ॥९६॥
उदर ओढोनी पृष्ठभागीं । वायू आकर्षिजे सवेगीं ।
पुढें ऊर्ध्व करोनी नाभी । साधावा उड्डियाणबंध ॥९७॥
कंठ आकुंचन करोनी । हनु लाविजे हृदयस्थानीं ।
जरा मृत्यु विनाशी जाणोनी । कीजे बंध जालंधर ।९८।
(सर्वांचिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
निर्विकल्पः प्रसन्नात्मा प्राणायाम समभ्यसेत् ॥१॥)
एवं प्रकारें प्राणायाम । करिजे स्थिरवोनी मन ।
विषयीं यातां आकर्षोन । विवेकपाशें आवरिजे ॥९९॥
पुनः पुनः बाहेर । जातां करोनी प्रत्याहार ।
स्वरूपचिंतनीं सादर । असावें साधकें ॥१००॥
हें प्रत्याहार लक्षण । करावें चित्तसमाधान ।
मग धारणेसी योग्य मन । हो योगियाचें ॥१०१॥
धारणेचे द्विप्रकार । असनी बाह्याभ्यंतर ।
वायूसह मन स्थिर । कीजे तत्तद्देशीं ॥ १०२ ॥
नासिकाग्र भ्रूमध्यस्थान । तेथें ठेविजे चित्तासह नयन ।
करावें स्वरूपचिंतन । बाह्य धारण जाणिजे ॥१०३॥
मूलाधार, स्वाधिष्ठान, । मणिपूर, अनाहत जाण, ।
विशुद्ध, अज्ञाचक्र, मिळोन्न । हीं षट् चक्रें आंतर्य ।१०४।
प्रत्येक चक्रावरी । वायूसह मन स्थिर करीं ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

21:02

तृतीय उपदेश

कुंडली बोध

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥१॥

टीका—जैसे पर्वतों और वनों से युक्त इस पृथिवी को अहिनायक धारण करते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण योगतन्त्रों का धारण कुण्डली ही करती है ।

व्याख्या—श्लोक में बताया गया है कि कुण्डलिनी शक्ति सब प्रकार के योगों की आश्रय स्वरूपा है । जिस प्रकार सर्पों के अधिनायक अर्थात् शेष इस सम्पूर्ण पृथिवी को अपने फण पर धारण किये हुए, उसी प्रकार सब प्रकार के योगों को कुण्डलिनी धारण करती है । आशय यह है कि सब प्रकार के योगों की सिद्धि में कुण्डलिनी ही एक मात्र कारण है, उसके जागरण बिना योग के सभी उपाय निष्फल रहते है ।

श्लोक में 'धात्रीणाम्' कहकर पृथिवी के विषय में बहुवचन का प्रयोग हुआ है, उसका आशय यह है कि देश-भेद से पृथिवी को अनेक कहा है । कुछ विद्वानों के मत में शेष भगवान् त्रिलोकी का धारण करते हैं और तीन लोकों की तीन पृथिवी हुईं, इसीलिए बहुवचन प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है ।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जार्गात कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रन्थयोऽपि च ॥२॥

21:01

सुषुम्ना के पर्याय कथन

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।

तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥३॥

टीका—गुरु के प्रसाद से जब सोती हुई कुण्डली जाग्रत् होती है, तब वह सभी कमलों और ग्रन्थियों का भेदन कर देती है। वैसे ही प्राण की शून्य पदवी जब राजपथ जैसी हो जाती है, तब चित्त निरालम्ब हो जाता और काल का भी वंचन होता है ॥२—३॥

व्याख्या—सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत् करने के लिए गुरु की प्रसन्नता आवश्यक है, क्योंकि गुरु प्रसन्न होकर ही उपाय बताते हैं और जब उनकी कृपा से साधक उसमें सफलता प्राप्त कर लेता है, तभी कुण्डलिनी शक्ति षट्चक्रों और सब ग्रन्थियाँ को वेधकर सहस्रार पद्म में पहुँच सकती है। उसी के लिए शून्य पदवी से कही सुषुम्ना राजपथ के समान होकर प्राण को सुख-पूर्वक गमन करने के लिए मार्ग देती है। उस अवस्था में चित्त सब विषयों से विमुख हो जाता है और तभी काल का बन्धन भी नष्ट हो जाता है, अर्थात् मृत्यु का भय भी नहीं रहता।

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ।

श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥४॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।

ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥५॥

टीका—सुषुम्ना शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्य मार्ग एक अर्थ के वाचक हैं। इस-लिए सब प्रकार प्रयत्न करके ब्रह्मद्वार पर सोती हुई उस

21:01

ईश्वरी को जाग्रत् करने के लिए मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए ।।४—५।।

व्याख्या—सुषुम्ना, शून्य पदवी आदि जो नाम इस श्लोक में दिये हैं, उन सबका एक ही अर्थ है—सुषुम्ना नाड़ी। यह नाड़ी ही ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है। परन्तु उसी सुषुम्ना के द्वार को रोककर कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है। उसे जगाने के लिए महामुद्रा आदि का अभ्यास करना चाहिए।

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ।।६।।
करणी विपरीताख्या वाज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशम् ।।७।।
आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ।।८।।

टीका—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी उड्यान बन्ध, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन, यह दश मुद्राएँ जरा-मरण को नष्ट करने वाली हैं। यह मुद्राएं आदिनाथ द्वारा कहे हुए आठ दिव्य ऐश्वर्यों को प्रदान करती हैं जो कि सभी सिद्धों को प्रिय और देवताओं को भी दुर्लभ है ।।६—८।।

व्याख्या—ग्रन्थकार ने यहाँ दश मुद्राओं का वर्णन किया है। इन्हें करने वाला साधक मृत्यु को भी जीत लेने में समर्थ होता है। इनके द्वारा आठ दिव्य ऐश्वर्य अर्थात् अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। वे अष्ट सिद्धियाँ हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशता और वशिता। इनके विषय में पहले भी विवेचन किया जा

21:01

चुका है। यह आठों सिद्धियाँ मुद्राओं का अभ्यास करने वालों को सुलभ हैं।

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ।।६।।

टीका—यह सभी मुद्राएं रत्नों की पिटारी के समान गुप्त रखने योग्य हैं इन्हें उसी प्रकार नहीं कहना चाहिए जिस प्रकार कि कुल-स्त्री का समागम नहीं बताया जाता ।।६।।

व्याख्या—इन मुद्राओं को अनधिकारी पुरुष को कभी न बतावे। इसी अभिप्राय से प्रयत्न पूर्वक गोपनीय कहा है। साधक का कर्त्तव्य है कि इनका अभ्यास एकान्त में ही करे।

महामुद्रा कथन

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा धराभ्यां धारयेद्दृढम् ।।१०।।
कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ।।११
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ।।१२।।

टीका—बाँए पाँव के तलुए से योनि स्थान को पीडित करके दाँए पाँव को फैलावे और भूमि पर रखकर दृढ़ता से पकड़े। फिर कण्ठ प्रदेश में बन्ध करके वायु को ऊर्ध्व देश में धारण करे, इससे जैसे कुण्डली लगाकर बैठा हुआ सर्प दंडे से मारे हुए के समान दण्ड के आकार का हो जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति सहसा सरल हो जाती है और तब दोनों पुटों

21:01

के आश्रय से प्राण के वियुक्त होने के कारण मरणाअवस्था जैसी हो जाती है ।।१०—१२।।

व्याख्या—यहाँ महामुद्रा का वर्णन हुआ है। इसमें वाम पादमूल से योनि स्थान को दबाने और दाँए पाँव को फैलाकर हाथों की तर्जनी अंगुलियों के द्वारा उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिए। तदनन्तर कण्ठ में जालन्धर बन्ध करके मूलबन्ध करे। कुछ विद्वानों के मत में योनि के दबाने और जिह्वा का बन्धन करने से ही मूलबन्ध चरितार्थ हो जाता है इसलिए मूलबन्ध पृथक् से करने की आवश्यकता नहीं है।

उक्त विधि के अभ्यास से डडे से मारी हुई सर्पिणी के समान कुण्डलिनी शक्ति जागकर सीधी हो जाती है और प्राण-वायु का सुषुम्ना में प्रवेश हो जाने से इडा पिंगला दोनों नाड़ियों से उसका वियोग हो जाता है। इसीलिए उस अवस्था को मरणावस्था की समानता दी गई है।

ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ।।१३।।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ।।
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ।।१४।।

टीका—उससे वायु का रेचन धीरे-धीरे करे, वेग से न करे। श्रेष्ठ विद्वान् इसे महामुद्रा कहते हैं। इस महामुद्रा का प्रदर्शन महान् सिद्धों ने किया है, इससे महाक्लेशादि और मरणादि दोषों का भी नाश हो जाता है। इसलिए श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष इसे महा मुद्रा कहते हैं ।।१३—१४।।

21:01

व्याख्या—उपर्युक्त अवस्था होने पर वायु का रेचन वेगपूर्वक न करके धीरे-धीरे ही करे। क्योंकि वेग से रेचन करने पर शरीर को हानि पहुँचती है और शक्ति भी घटती है। यह महामुद्रा मरणादि दुःखों और पंच महाक्लेशों को भी नष्ट कर सकती है। अविद्या, स्मितता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यह पंच महाक्लेश कहलाते हैं। इन्हें नष्ट करने वाली होने से ही इसका नाम महामुद्रा हुआ।

महामुद्रा के अभ्यास का वर्णन

चन्द्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत्।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१५॥

टीका—चन्द्रांग से ठीक प्रकार अभ्यास करके सूर्यांग से अभ्यास करे। जब तक दोनों की संख्या समान हो तब तक ठीक प्रकार से अभ्यास करे और फिर मुद्रा का विसर्जन करदे ॥१५॥

व्याख्या—चन्द्रनाड़ी अर्थात् इड़ा से उपलक्षित अङ्ग को ही चन्द्राङ्ग कहते हैं और और सूर्याङ्ग का अर्थ है पिंगला से उपलक्षित अङ्ग। इसका आशय है कि पहले वाम नासिका से अभ्यास करे और फिर दक्षिण नासिका से। जब तक कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास समान संख्या में न हो जाय तब तक भले प्रकार अभ्यास करता रहे और समान संख्या होने पर महामुद्रा को विसर्जित करे।

जैसा वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है, वैसा ही अन्य अनेक ग्रन्थों में मिलता है। ग्रहयामल में तो इसको यथावत् ही कह दिया है। घेरण्ड संहिता में इस प्रकार कहा है—

पायुमूलं वामगुल्फे संपीडय दृढ़ यत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करेधृत पदांगुलः ॥

21:00

कंठं संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥

अर्थात्—गुह्य प्रदेश को बाँयी एड़ी से दृढ़तापूर्वक दवावे और दाँये पाँव को फैला कर उसकी अंगुलियों को हाथ से पकड़ ले तथा कण्ठ को सकोड़ कर भौंहों के मध्य में दृष्टि लगावे, विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥१६॥

टीका—इसका अभ्यास करने वाले योगी को पथ्यअपथ्य कुछ नहीं होता। इससे भक्षण किये हुए नीरस रस जीर्ण हो जाते हैं और विष के समान घोर अन्न भी अमृत के समान पच जाता है ॥१६॥

व्याख्या—महामुद्रा के अभ्यास से सभी रसों का परिपाक ठीक प्रकार से होता है और विष के समान न पचने योग्य अन्न भी पच जाता है। 'जारणं तु कषायाय पातकानां विनाशनम्' कहकर अन्य ग्रन्थकार ने इस मुद्रा को सभी कषाओं को भस्म करने और सभी पापों को दूर करने वाली स्वीकार किया है।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥१७॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥१८॥

टीका—इसके अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण और उनके दोष नष्ट हो जाते हैं। यह वर्णन की गई

21:00

महामुद्रा मनुष्यों को महासिद्धि प्रदान करने वाली है। इसे प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखे, किसी को भी न दे ।।१७—१८।।

व्याख्या—इस मुद्रा के सिद्ध होने पर क्षयादि रोगों का सर्वथा शमन हो जाता है। इसके द्वारा साधक को परमसिद्धि और दिव्य ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। यह गुप्त रखने के योग्य हैं।

महाबन्ध कथन

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।।१९।।
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबकं दृढ़म् ।
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ।।२०।।
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ।।२१।।
मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ।
राजदंतस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ।।२२।।
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ।।२३।।

टीका—बाँए पाँव की एड़ी को योनि स्थान में लगावे और बाँयी जंघा पर दाँया पाँव रखकर बैठे तथा वायु को पूरित करके ठोड़ी को हृदय स्थान में दृढ़ता से लगावे और योनि को संकुचित करके मनको नाड़ी के मध्य प्रविष्ट करे। फिर वायु को यथाशक्ति धारण करके धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार बाँए अंग में समान रूप से अभ्यास करके दांये अंग में करना

21:00

चाहिए अन्य विद्वान् का यह मत है कि जालंधर बन्ध में कंठ के संकोच को न करे, क्योंकि राजदन्त पर स्थित जिह्वा का बन्ध ही प्रशस्त होता है। यह सब नाड़ियों की ऊर्ध्व गति का निरोधक है, यह महाबन्ध अवश्य ही महासिद्धि का देने वाला है ॥१६ – २३॥

व्याख्या— बाँयी एड़ी को योनि स्थान में लगाकर बाँयी जाँघ पर दाँया पाँव रखने आदि की जो विधि बताई है, उसके अनुसार आसन बाँधकर वायु को भरकर ठोड़ी पर लगाने से जो जालन्धर बन्ध होता है उसे करके योनि-संकोच करता हुआ मूलबन्ध करे, परन्तु इस मूलबन्ध की सिद्धि जिह्वा के बन्धन से ही हो जाती है, इसलिए इसे करना अनावश्यक है।

कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे रेचक करे। प्रथम वाम अंग में और फिर दक्षिण अंग में करे। इस प्रकार वामांग और दक्षिणांग के अभ्यास की संख्या बराबर हो जाय तब अभ्यास करना चाहिए।

कुछ विद्वानों के मत में कण्ठ के संकोच का अनुपयोग है, क्योंकि राजदन्त अर्थात् दाढ़ के ऊपर स्थित जिह्वा का बन्ध ही कण्ठ संकोच की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होता है। दाढ़ों में अवस्थित जिह्वा का बन्ध सुषुम्ना से भिन्न बहत्तर हजार नाड़ियों में प्राणवायु के ऊर्ध्व गमन का प्रतिबन्धक है। इसका अर्थ हुआ कि जिससे नाड़ी-जाल का बन्धन होता हो, वह जालन्धर बन्ध कहलाता है।

कालपाशमहाबंधविमोचन विचक्षणः।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥२४॥

टीका—यह महाबन्ध काल के पाश को छुड़ाने में अद्भुत है तथा त्रिवेणी-संगम को और मन को केदार की प्राप्ति कराने वाला है ॥२४॥

21:00

व्याख्या—जालन्धर बन्ध, उड्यान वन्ध और मूलबन्ध इन तीनों के सम्मिलित होने से महावन्ध होता है, इसीलिए इसे त्रिवेणी संगम प्राप्त कराने वाला कहा है केदारं प्रापयेन्मनः कहने से यह अभिप्राय है कि इसके सिद्ध होने पर केदार अर्थात् शिव में मन का लय हो जाता है।

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥२५॥

टीका—जैसे पुरुष के बिना रूप-लावण्य से सम्पन्न स्त्री निष्फल है, वैसे ही महावेध के बिना महामुद्रा और महाबन्ध भी निष्फल हैं ॥२५॥

व्याख्या—इस श्लोक में महामुद्रा और महावन्ध की निकृष्टता और महावेध की उत्कृष्टता का कथन हुआ है। ग्रन्थकार के अनुसार महावेध के बिना उक्त दोनों व्यर्थ ही हैं। इसलिए महावेध की सिद्धि का अभ्यास करना चाहिए।

महावेध वर्णन

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।

वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥२६॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सताडयेच्छनैः ।

पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥२७॥

सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ।

मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत् ॥२८॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।

वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥२९॥

21:00

टीका—महाबन्ध में स्थित योगी बुद्धि को एकाग्र करके पूरक करे और कण्ठ मुद्रा से वायु की गति रोककर प्राणायाम करे। अपने स्फिचों को पृथिवी पर लगे हाथों से थामकर योनि स्थान में लगी हुई एड़ी वाले बाँए पाँव के सहित कुछ ऊपर की ओर उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करे। इससे प्राणवायु इडा और पिंगला को छोड़कर सुषुम्ना में चलने लगता है। तब चन्द्र, सूर्य, अग्नि सम्बन्धी क्रमशः, इडा, पिंगला और सुषुम्ना से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। फिर मरणावस्था के उत्पन्न होने पर वायु का रेचन करे। यह महावेध अभ्यास से महान् सिद्धि का देने वाला होता है। इससे वली, पलित, कम्पनादि दूर होते हैं। श्रेष्ठ साधक सदा इसका अभ्यास करते रहते हैं॥२६--२६॥

व्याख्या—महाबन्ध के पश्चात् महावेध की स्थिति होती है। कण्ठ मुद्रा का अर्थ जालन्धर बन्ध है, उसके द्वारा, वायुओं के ऊर्ध्वगमन, अधोगमन को रोककर कुम्भक करना चाहिए।

महावेध में वाम एड़ी को योनिस्थान में लगाकर चूतड़ों को हाथों के आश्रय से वाम पाद के सहित कुछ उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करने से वायु इडा-पिंगला, का त्याग कर सुषुम्ना में पहुँच जाता है और तब इडा, सुषुम्ना तीनों का वायु एक हो जाता है और इडा-पिंगला में प्राण का संचार न होने से साधक की मृत्यु जैसी अवस्था हो जाती है। क्योंकि इड़ा, पिंगला में प्राणवायु का संचार रहने को ही जीवन मानते हैं। जब ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाय तब वायु का विरेचन करना चाहिए। अभ्यास करने से यह महावेध सिद्ध होकर महान् सिद्धियों का देने वाला होता है। इससे जरावस्था के सभी चिह्न बालों का सफेद होना, चर्म का संकुचित होना और शरीर का काँपना आदि नष्ट होते हैं। योग तत्त्वोपनिषत् में महावेध का लक्षण इस प्रकार बताया है—

21:00

वायुनां गतिमावृत्य विभृतं कण्ठमुद्रया।
पुटद्वय समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम्।
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम्॥

अर्थात्– वायु की गति का निरोध करके दोनों नासारन्ध्रों का संकुचन करने से वायु शीघ्र भर जाती है। इस महावेध का सिद्ध पुरुष सदा अभ्यास किया करते है।

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम्॥३०॥
अष्टधा क्रियते चैव यामे दिने दिने।
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम्॥३१॥

टीका– उक्त तीनों मुद्राएं परम गुह्य एवं जरामरण को नष्ट करने वाली, अग्नि प्रदीप्त करने वाली और अणिमादि सिद्धियों के देने वाली है। यह मुद्राएं प्रहर-प्रहर दिन-दिन में आठ प्रकार से करनी चाहिए। इनके द्वारा पुण्यों की उत्पत्ति और पापों का शमन होता है। भले प्रकार शिक्षा प्राप्त करके इन्हें करना चाहिए॥३०—३१॥

व्याख्या—उपर्युक्त तीनों मुद्राओं से जरा-मृत्यु पर जय प्राप्त होकर, अग्नि दीप्त होती और अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इनसे पुण्य का लाभ और पापों का नाश होता है। परन्तु इनका अभ्यास आरम्भ करने से पूर्व गुरु से शिक्षा ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है।

खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥३२॥

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धि ॥३३

टीका – कपाल-कुहुर में विपरीत हुई जिह्वा के प्रविष्ट होने और भौंहों के मध्य में दृष्टि रहने पर खेचरी मुद्रा होती है। छेदन, चालन और दोहन कलाओं की क्रमपूर्वक तब तक वृद्धि करे, जब तक कि भौंहों के मध्य का स्पर्श हो जाय। जब कला का भौंहों में स्पर्श हो जाता है। तब खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है ॥३२– ३३॥

व्याख्या –जिह्वा को ऊपर की ओर उलटी करके कपाल के मध्य वाले छिद्र में प्रविष्ट करे और भौंहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे. इससे खेचरी होती है। छेदनादि कर्म करता हुआ जिह्वा को तब तक बढ़ावे, जब तक कि वह भौंहों के मध्य स्थान को स्पर्श करने लगे।

जिह्वा मूल की नाड़ी का शस्त्र से छेदन किया जाता है, इसकी विधि अगले श्लोक में कहेंगे। हाथ के अंगुष्ठ और तर्जनी अंगुली से जिह्वा को पकड़कर बाँए-दाँए हिलाना चालन कहलाता है और गोदोहन के समान जिह्वा दोहन करना इन क्रियाओं से जिह्वा बढ़ जाती है वह भौंहों के मध्य भाग को स्पर्श करती हुई और भी ऊपर पहुँच सकती है।

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३४॥
ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३५॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ॥३६॥

टीका—सेंहुड़ के पत्ते के समान तीक्ष्ण धार वाले, चिकने और स्वच्छ शस्त्र को लेकर उससे जिह्वामूल की नाड़ी का रोममात्र छेदन करे तथा पिसे हुए सेंधे नमक और हरड़ के मिश्रित चूर्ण से जिह्वामूल का ठीक प्रकार घर्षण करे। सात दिन ऐसा करने के अनन्तर पुनः रोम मात्र छेद दे। इस प्रकार के क्रम से नित्य प्रति करने से छः मास में जिह्वामूल का शिरा बन्ध नष्ट हो जाता है ॥३४—३६॥

व्याख्या—इन श्लोकों में खेचरी-सिद्धि के साधनों का वर्णन किया गया है। स्नुही अर्थात् सेंहुड़ के पत्तों में अत्यन्त तीक्ष्ण धार होती है, वैसे ही तीक्ष्ण शस्त्र से जिह्वा के मूल में एक रोम के बराबर छेद कर देना चाहिए। ऐसा करने से वहाँ घाव हो जाता है, उस पर सेंधे नमक और हरण का चूर्ण मलना चाहिए। चूर्ण मलने का यह कार्य नित्य प्रति प्रातः-सायं किया जाता है। जब सात दिन व्यतीत हो जाँय तब पुनः एक रोम के बराबर छेद कर दे और नमक तथा हरड़ के चूर्ण को मलने का क्रम यथावत् जारी रखे।

कुछ विद्वानों के विचार में नमक के स्थान पर कत्था और हरड़ का चूर्ण व्यवहार करना उचित है, क्योंकि योगाभ्यासी पुरुष के लिए नमक का सेवन वर्जित है। सात दिन के पश्चात् जो छेद किया जाय, वह पहले छेद से रोममात्र अधिक करना चाहिए, जिससे कि कुछ बड़ा छेद बन जाय।

इस प्रकार नित्य प्रति चूर्ण-मर्दन और प्रति सप्ताह छेदन करते रहने से छः मास में जिह्वा मूल का शिरा बन्धन कट

20:59

जाता है। यह शिरा बन्धन कपाल कुहर को रोके रहता है, इसके कटने पर जिह्वा उसमें प्रवेश कर सकती है, इसीलिए उस शिरा बन्धन को काटना आवश्यक होता है।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥३७॥
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥३८॥

टीका—इस प्रकार छेदनादि के उपाय द्वारा जिह्वा की वृद्धि हो जाने पर उसे उलटी पीछे की ओर लौटा कर तीनों नाड़ियों के मार्ग में करे। वह खेचरी मुद्रा होती है, उसी को व्योमचक्र कहते हैं। जो जिह्वा को तालु-रन्ध्र द्वारा ऊपर पहुँचा कर वहाँ आधे क्षण भी टिकाले तो वह योगी विषमता रूप रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि से मुक्त हो जाता है ॥३७—३८॥

व्याख्या—कपाल-रन्ध्र इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना तीनों नाड़ियों का मिलन मार्ग होने से त्रिपथ कहा जाता है। ऊपर की ओर लौटा कर जीभ को इसमें प्रविष्ट करके टिकाया जाता है। इससे सभी रोग, धातुओं की विषमता, जरावस्था मृत्यु आदि का भी क्षय हो जाता है। यह खेचरी मुद्रा व्योम चक्र भी कहलाती है।

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥३९॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न सकालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४०॥

20:59

टीका—खेचरी मुद्रा के जानने वाले योगी को रोग, मृत्यु, तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा, तृषा और मूर्च्छा नहीं होती। खेचरी का ज्ञाता रोग से पीड़ित नहीं होता, कर्म से लिप्त नहीं होता और काल से बाधित नहीं होता ।।३६—४०।।

व्याख्या—जो विद्वान् खेचरी मुद्रा को जानता है, उसे भूख-प्यास, रोग, निद्रा, तन्द्रा आदि नहीं होते। वह मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है। जो कर्म करता है उसका फल उसे नहीं भोगना होता, क्योंकि यह तो निष्काम कर्म करता है सकाम नहीं और निष्काम कर्म कर्त्ता को कभी अपने फलरूपी बन्धन में नहीं बाँधते। इसीलिए उसे काल अर्थात् मृत्युरूपी बाधा भी नहीं होती। आशय यह कि उसकी इच्छित मृत्यु होती है। जब चाहे तब शरीर को छोड़े और जब तक जीवित रहना चाहे तब तक रहे।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ।।४१।।

टीका—जिस मुद्रा के द्वारा चित्त भौंहों के मध्य आकाश में विचरण करता है और जिह्वा भी वहीं जाकर विचरती है उसी को सिद्ध पुरुषों ने खेचरी नाम दिया है ।।४१।।

व्याख्या—इस मुद्रा के अभ्यास में चित्त और जिह्वा दोनों ही भौंहों के मध्यरूपी आकाश में विचरते हैं। इसीलिए सिद्ध योगेश्वरों ने इसे खेचरी कहा है।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ।।४२।।
चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमंडलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ।।४३।।

20:59

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥४४॥

टीका—खेचरी मुद्रा के द्वारा जिसने तालु के ऊपर का विवर ढक लिया, उसे यदि कामिनी का स्पर्श भी प्राप्त हो जाय तो उसका विन्दु क्षरित नहीं होता और यदि विन्दु चलायमान भी हो जाय तो योनि मण्डल में पहुँच कर भी वह वज्रोली के बन्धन से खिचा हुआ ऊपर चला जाता है। तालु-विवर में उन्मुखी जिह्वा वाला योगी सोमपान करता हुआ एक पक्ष में ही मृत्यु को जीत लेता है ॥४२—४४॥

व्याख्या—खेचरी के अभ्यास द्वारा जिसकी जीभ तालु के रन्ध्र में पहुँच कर टिक जाती है तो बिन्दु का क्षरण नहीं होता। यदि विन्दु अपने स्थान से डिग भी जाय यो योनिमण्डल में पहुँच कर भी योनिमुद्रा के प्रभाव से वहाँ से खिच कर अपने स्थान में ही जा पहुँचता है।

'सोमपानं करोति' का अभिप्राय ऊर्ध्व विवर से गिरते हुए चन्द्रामृत का पान करने से है। जब जिह्वा वहाँ पहुँच जाती है, तब उस अमृत का पान करती हुई साधक को अमृतत्व की प्राप्ति करा देती है।

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥४५॥
इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥४६॥

टीका--जिस योगी का देह सदा चन्द्रकला के अमृत से परिपूर्ण रहता है, उसके देह में तक्षक काट ले तो भी विष नहीं

फैलता। जैसे अग्नि ईंधन को और दीपक तेल बत्ती को नहीं छोड़ता वैसे ही शरीरधारी भी सोमकला से सम्पन्न शरीर को नहीं छोड़ता ।।४५—४६।।

व्याख्या—ऊर्ध्व विवर से स्रवित होते हुए चन्द्रामृत के शरीर में परिपूर्ण रहने पर तक्षक नाग का विष भी व्यर्थ हो जाता है अर्थात् भयङ्कर सर्प भी काट ले तो उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि शरीर में चन्द्रमा से झरता हुआ अमृत भरा हो तो शरीर से प्राण कभी पृथक् नहीं हो सकता जैसे कि अग्नि से ईंधन पृथक् नहीं हो सकता अर्थात् अग्नि भी तभी बुझता है जबकि ईंधन को पूरी तरह भस्म कर डाले और तैल-बत्ती का दीपक से सदा सम्बन्ध रहने का आशय यह है कि जब तक तैल-बत्ती है, तभी तक दीपक प्रकाश देता है, जब तैल-बत्ती का अभाव हो जाता है तब प्रकाश नहीं रहता, यहाँ दीपक का तात्पर्य प्रकाश से ही है। सारांश यह है कि जिह्वा से कपाल कुहर में क्षरित होने वाले अमृत का पान करने वाला योगी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उस पर किसी रोग, विष या अवस्था आदि का प्रभाव नहीं पड़ता।

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ।।४७।।
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।।४८।।
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ।।४९।।

टीका—जो योगी नित्य प्रति गोमांस का भक्षण करता और वारुणी (मदिरा) पीता है, वही कुलीन है, और सब तो

कुलघातक ही होते हैं। गोशब्द से जो जिह्वा कही जाती है और तालुविवर में जिह्वा का जो प्रवेश है, वही भक्षण कहलाता है। यह गोमांस भक्षण महापाप को नष्ट कर देता है। तालु के ऊपर वाले विवर में जिह्वा के प्रवेश से संभूत हुई अग्नि से उत्पन्न होकर जो सार झरता है वही अमरवारुणी है ॥४७—४६॥

व्याख्या—योगी के लिए परम सिद्धि का कारण गोमांस-भक्षण और वारुणी-पान है। 'गो' शब्द का अर्थ जिह्वा है और भक्षण का अभिप्राय ऊर्ध्व विवर में जिह्वा का प्रवेश है। इस प्रकार यही गोम स भक्षण है, इसे महापापों का भी नाश करने वाला समझना चाहिए।

तालु के उसी ऊर्ध्व विवर में जब जिह्वा प्रविष्ट होकर दोहन करती है तब वहाँ ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है और उस ऊष्मा के प्रभाव से चन्द्रमा में सार रूप अमृत उत्पन्न होकर स्रवित होने लगता है अर्थात् भौंहों के मध्य वामभाग में अवस्थित चन्द्रमा से बिन्दु रूप सार या अमृत झरने लगता, वही अमर वारुणी अर्थात् दिव्य मदिरा है उसके पान करने वाले को इसलिए कृतार्थ और कुलीन कहा है कि वह योगाभ्यास द्वारा उस श्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त करने में सफल हो जाता है और जो सिद्धि की प्राप्ति में सफल है, उसके कृतार्थ होने में सन्देह ही क्या है?

चुम्बंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी
साक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा।
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥५०॥

टीका—यदि रस को स्रवित करने वाली क्षार, कटु, अम्ल, दूध, मधु और घृत के समान अनेक रस वाली जिह्वा तालु के ऊपर वाले छिद्र का बार-बार स्पर्श करे तो उससे साधक की सभी व्याधियों का हरण, वृद्धावस्था का अन्त और सन्मुख से आते हुए शस्त्र का निवारण होता है तथा अमृतत्व, अष्ट सिद्धियाँ और सिद्धांगनाओं का आकर्षण होता है । ५०॥

व्याख्या—जिह्वा सभी रसों का ग्रहण करती है । उसके लिए कटु, तिक्त, अम्ल, मधुर आदि कोई भी रस क्यों न हो, अग्राह्य नहीं है । वह जिह्वा तालु के छिद्र में प्रविष्ट होकर बार-बार चन्द्रकलामृत का स्पर्श करने लगे तो उस साधक को रोग, जरा, शस्त्र, मृत्यु आदि का कोई भय नहीं रहता तथा सिद्धों (देवताओं) की नारियाँ उसके प्रति आकर्षित होती हैं और वह अष्ट सिद्धियों को उपलब्ध करके स्वयं सिद्ध हो जाता है ।

मूर्ध्नःषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा–
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्ति परा चितयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥५१

टीका—जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर और ऊर्ध्व मुख करके परम शक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करता हुआ जो योगी प्राणवायु के साधन और हठयोग के द्वारा प्राप्त षोडश दल वाले कमल में मस्तक से धारा रूप में गिरते हुए ऊर्ध्व तरंग वाले चन्द्रकलामृत का पान करता है, वह रोग-रहित एवं मृणाल जैसी कोमल देह वाला होता हुआ चिरकाल तक जीवित रहता है ॥५१॥

व्याख्या—जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर चन्द्रामृत पीने वाला योगी चिरजीवी होता है। उसको अकाल मृत्यु नहीं होती। उसका शरीर कठोर हो तो भी कमल दण्ड के समान कोमल हो जाती है।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्।
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्सेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥५२

टीका—जिसमें यह आलेय स्थित है, उस छिद्र में रजतम से अतिरस्कृत बुद्धि वाले मनुष्य आत्म तत्व का होना मानते हैं। वहीं चन्द्र-सूर्य नाड़ियाँ मुख है तथा चन्द्रमा से देह के सार के स्रवित होने से मनुष्यों की मृत्यु होती है। इसलिए खेचरी मुद्रा करे, अन्यथा शरीर का पोषण नहीं हो सकता ॥५२॥

व्याख्या—प्रालेय अर्थात् जल कपाल कुहर में रहता है। जिन मनुष्यों की बुद्धि रजोगुण और तमोगुण का उल्लंघन किये रहती है यानी केवल सतोगुणी रहती है, उनके मत में आत्मतत्व भी वहीं है तथा वहीं इड़ा और पिंगला नाड़ियों का मुख भी है।

चन्द्रमा से वह जल स्रवित होता है तब उदरस्थ अग्नि रूपी सूर्य उसका ग्रास करता रहता है, इसी से मनुष्यों की आयु क्षीण होती जाती है। ग्रन्थकार का कथन है कि चन्द्रमा से स्रवित होते हुए उस अमृत का जिह्वा के द्वारा स्वयं ग्रास करले तो मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसलिए इसमें प्रयत्नशील होना चाहिए।

सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतः समन्वितम्।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरंजने ॥५३॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ।।५४।।

टीका – नाड़ियों के पंच स्रोत से युक्त छिद्र ज्ञान का उत्पन्न करने वाला है। उस शून्य रूप निरजन के लिए खेचरी मुद्रा में स्थिति होती है। एक सृष्टिमय बीज है, एक खेचरी मुद्रा है, एक ही निरालम्ब है और एक ही उन्मनी अवस्था है ।।५३ – ५४।।

व्याख्या – इडा आदि नाड़ियों के पंच स्रोत अर्थात् पच प्रवाह से युक्त सुषिर से ज्ञान उत्पन्न होकर शून्य रूप निरंजन में खेचरी की स्थिरता होती है अर्थात् खेचरी मुद्रा के प्रभाव से जब मन उस सुषिर (छिद्र) में प्रविष्ट होता है, तब आत्मज्ञान होता है।

सृष्टिमय बीज प्रणव है, वह एक ही है। यह संसार उसी प्रणव की महिमा को व्यक्त किये हुए स्थित है। 'ओमित्येदक्षर मिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एवं, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एवं' (माण्डूक्योपनिषत्) अर्थात् 'अविनाशी ब्रह्म ओंकारमय है, उसकी महिमा को प्रत्यक्ष लक्षित कराने वाला यह सम्पूर्ण विश्व है। भूत, भविष्य, वर्तमान रूप त्रिकालमय यह संसार ओंकार ही है और त्रिकाल से भी अतीत जो अन्य तत्व है, वह भी ओंकार ही है।

'एका मुद्रा च खेचरी' कहकर ग्रन्थकार ने सभी मुद्राओं में खेचरी की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की है। इसका आशय यह समझना चाहिए कि खेचरी सभी मुद्राओं में प्रमुख मुद्रा है और सर्व प्राप्ति की आकांक्षा वाले साधक को इसकी सिद्धि प्रयत्न पूर्वक करनी चाहिए। श्लोक में 'एक' पद का प्रयोग प्रमुखता प्रदर्शित करने के रूप में हुआ है।

ओड्डीयान बन्ध वर्णन

बद्धो येन सुषम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥५५॥
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगः ।
उड्डीयानं तदैव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥५६॥

टीका—जिससे बंधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उड़ जाय, उस बन्ध को उड्डीयान कहते हैं। देहावकाश में गतिशील महाखग रूप प्राण जिस बन्ध से सुषुम्ना में उड़ता (गति करता) है, उसे उड्डीयान कहते हैं ॥५५—५६॥

व्याख्या—जिस बन्ध से बँआ हुआ प्राण उड़कर सुषुम्ना में जा पहुँचे, उसे उड्डीयान वन्ध कहते हैं, क्योंकि वह प्राण को उडाकर सुषुम्ना में पहुँचाने का कारण होता है 'उड्डीनं कुरुते' अर्थात् 'उड़ान करता है' इसीलिए इसे उड्यिान कहा जाता है। नीचे उस बन्ध का लक्षण कहेंगे।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥५७॥
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥५८॥

टीका—उदर में नाभि के ऊपर पश्चिम तान करे तो यह मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान उड्डियान बन्ध होता है। गुरु ने इस बन्ध को सदैव सहज बताया है, इसका निरन्तर अभ्यास करने वाला वृद्ध भी तरुण हो जाता है ॥५७—५८॥

व्याख्या– उदर में स्थित टूंडी में, नाभि के ऊपर के निचले भाग को इस प्रकार ताने, जिससे कि वे दोनों भाग पीठ में लग जाँय। गुरुजन इसे स्वाभाविक बताते हैं क्योंकि प्राण स्वभाव से ही बाहर जाता है, परन्तु इसका निरन्तर अभ्यास कर लिया जाय तो यह पूर्णरूप से वश में हो जाता है। उस साधक में इतनी शक्ति, इतनी स्फूर्ति आ जाती है कि वह अपनी वृद्धावस्था को भूलकर तरुण होने का अनुभव करने लगता है।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥५९॥
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डियाने दृढ़े बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥६०॥

टीका—नाभि के ऊपर निचले भाग में ठीक प्रकार से तान करे। इस प्रकार छः मास तक निरन्तर अभ्यास करने से साधक मृत्यु को जीत लेता है, इसमें संशय नहीं है। सभी बन्धों में उडिडयान बन्ध श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके सिद्ध हो जाने से स्वाभाविक मृत्यु होती है ॥५९—६०॥

व्याख्या—उड्डियान बन्ध में नाभि के ऊपर निचले स्थान में यत्नपूर्वक तान अर्थात आकर्षण किया जाता है। यह सभी बन्धों में उत्तम माना जाता है। इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और रोग, दुःख आदि भी नष्ट हो जाते हैं।

इस बन्ध में प्राण पक्षी जैसी गति से उड़ान भरता हुआ सुषुम्ना द्वार से मस्तक में जा पहुँचता है और जब मन भी समाधि में लीन होता है, तब उसका मुक्त होना मानते हैं। यही विदेह मुक्ति कहलाती है, इसी से उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है। इसी को योगनिद्रा कहते हैं। 'ततोन्मनी

भवति' ततोयोगनिद्रा भवति (शां० उ०) अर्थात् उससे उन्मनी दशा प्राप्त होती है और उससे योगनिद्रा होती है।

मूलबंध वर्णन

पार्ष्णिभागेन संपीडच योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥६१॥
अधोर्गातमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आंकुचनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः ॥६२॥

टीका – एड़ी से योनि स्थान को दबाकर गुदा का संकोच करे और अपान वायु का ऊपर की ओर आकर्षित करे, इसे मूलबन्ध कहते हैं। जो अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी करता है, उसे योगीजन मूलबन्ध कहते हैं ॥६१—६२॥

व्याख्या –योनि स्थान का अभिप्राय है गुदा और लिंग के मध्य भाग से। उस स्थान को एड़ी से भले प्रकार पीड़ित करके गुदा को सकोड़े और अपान वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करे। यह क्रिया कुण्डलिनी जागरण में अत्यन्त सहायक होती है। इसके विषय में कहा है—

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुंचनेन त प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥
अपाने चोर्ध्वगे याते सम्प्राप्ते वह्नि मण्डले।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥

अर्थात्—अधोगति वाले अपान को शक्तिपूर्वक गुदा के आकुंचन द्वारा ऊपर ले जाने से मूलबन्ध होता है। अपान ऊपर जाकर वह्निमण्डल से मिलता है तो वायु के प्रभाव से अग्नि की अत्यधिक तीव्रता होती है। इत्यादि से कुण्डलिनी जागरण की विधि कही है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

गुदं वाष्ण्यां तु संपीडच वायुमाकुंचयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥६३॥

टीका—एड़ी से गुदा का भले प्रकार संपीडन करके बल पूर्वक वायु को बार-बार इस प्रकार आकर्षित करे कि जिससे वह सुषुम्ना के ऊपरी भाग में जा पहुँचे ॥६३॥

व्याख्या--मूलबन्ध की यह रीति योगवीज में कही हुई है। यद्यपि इसमें ऊपर की विधि से समानता है, फिर भी शाब्दिक विशेषता के कारण इसका उल्लेख यहाँ हुआ है।

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥६५
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६

टीका– अधोगति वाले प्राण और अपान, अनाहत नाद और बिन्दु मूलबन्ध के द्वारा ऐक्य को प्राप्त होकर योग की सिद्धि को प्राप्त कराते हैं, इसमें संशय नहीं है। अपान और प्राण का ऐक्य और संचित मल-मूत्र का क्षय होने से वृद्ध भी युवा होता है। अपान के ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि मण्डल में पहुँचने पर वायु से ताड़ित होने के कारण अग्नि शिखा दीर्घ हो जाती है ॥६४--६६॥

व्याख्या--नीचे की ओर गतिशील प्राणापान, नाद और बिन्दु यह सब एकता को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे कि

योग की परम सिद्धि होती है। उससे बुढ़ापा दूर होकर युवावस्था आ जाती है अर्थात् बली, पलित, झुर्री आदि मिटकर शरीर सुन्दर हो जाता है।

मूलबन्ध के करने से नीचे की गति वाला अपान वायु ऊपर चढ़ता हुआ अग्निमण्डल में पहुँच जाता है अर्थात् नाभि के नीचे के भाग में विद्यमान त्रिकोण जठराग्नि में प्रविष्ट होता है, तब अपान से ताड़ित जठराग्नि की शिखा बढ़ जाती है।

ततो यातो वह्नयपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥६७॥
तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दंडाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥६८

टीका--तब अग्नि और अपान दोनों अग्नि की दीर्घ हुई शिखा से गर्म होकर ऊपर की ओर गति वाले प्राण में जा पहुँचते हैं। उससे शरीरस्थ जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है। तब उससे भले प्रकार सन्तप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होकर डंडे से पिटी हुई सर्पिणी के समान सीधी हो जाती है ॥६७--६८॥

व्याख्या—कुण्डलिनी-जागरण के लिए तीनों बन्ध किये जाते हैं। जालन्धर बन्ध द्वारा वायु को रोकने के लिए कण्ठ का संकोच किया जाता है, मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन अधोभाग में होता है और मध्य में उड्डियान बन्ध से प्राण को खींचा जाना है। इस प्रकार सब ओर रोका जाने पर प्राण सुषुम्ना में दौड़ता है। अपान ऊपर चढ़कर अग्नि से मिलता और वह अग्नि प्राण स्थान में आकर प्राणवायु से मिलकर

सोती हुई कुण्डलिनी को ताड़ित करता है, तब वह कुण्डलिनी जागकर सीधी हो जाती और सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है।

विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ।।६६

टीका—फिर वह कुण्डलिनी सर्पिणी के बिल में प्रविष्ट होने के समान ब्रह्मनाड़ी में प्रविष्ट होती है। इसलिए योगियों को नित्यप्रति मूलबन्ध करना चाहिए ।।६६।।

व्याख्या—इस श्लोक में मूलबन्ध करने का अभिप्राय स्पष्ट किया है कि कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्ना में प्रविष्ट कराने के लिए मूलबन्ध किया जाना आवश्यक है। इसीलिए योगाभ्यासी पुरुषों को मूलबन्ध का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

जालन्धर बन्ध

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ।।७०।।
बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभो जलम् ।।
ततो जालन्धरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ।।७१
जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ।।७२
कंठसंकोचेनैनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ।।७३

टीका—कण्ठ का संकोच करके हृदय पर ठोड़ी को दृढ़ता से लगावे, यह जरामृत्यु का नाश करने वाला जालन्धर

संज्ञक बन्ध है। यह बन्ध नाड़ियों के समूह को तथा कपालकुहर रूप नभ के जल को बाँधता है, इसलिए जालन्धर बन्ध कहलाता है यह कठ के रोग दुःखों का नाश करते वाला है लक्षण जिसका कण्ठ का संकोच है, उस जालन्धर बन्ध के करने से अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और न वायु का ही प्रकोप होता है। यह बन्ध दृढ़तापूर्वक कण्ट का संकोच करने से दोनों नाड़ियों का स्तम्भन करने वाला है। इसे सोलह आधारों का बन्धन कर्ता मध्य चक्र जानना चाहिए ॥७०—७३॥

व्याख्या—इस बन्ध को जरामृत्यु का नाशक इसलिए माना है कि ब्रह्मरन्ध्र से जो चन्द्रामृत स्रवित होकर उदरस्थ अग्नि में भस्म होता रहता है, उसके अभाव में जीवन का नष्ट होना अवश्यं भावी है। यह बन्ध उस अमृत को अग्नि में गिरने से रोकता है। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बन्धो जालन्धरा भिधः।
कण्ठ संकोच रूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधकः॥
अधस्तात्कुंचने नाशु कण्ठ संकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतागेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥

अर्थात्—पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिए। इसमें कण्ठ के संकोच द्वारा वायु का निरोध किया जाता है। अधोभाग में मलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन करे और ऊपर से जालन्धर बन्ध द्वारा कंठ का सकोच तथा मध्य में उड्डयान बन्धद्वारा प्राणको खींचे तो प्राण ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में चढ़ने लगता है।

इस प्रकार कण्ठ का संकोच करने इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियों का स्तंभन स्वतः हो जाता है। कण्ठ में सोलह दल का विशुद्ध चक्र है, वहाँ वायु को रोक कर बन्धन करने वाला होने से इस बन्ध को मध्य चक्र कहा है।

मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् ।
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥७५॥
बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥७६॥

टीका—मूल स्थान का भले प्रकार संकोच करके उड्डियान बन्ध करे, जिससे इडा, पिंगला का स्तंभन होकर प्राण को पश्चिम मार्ग में ले जाय। इस विधान से ही प्राण का लय हो जाता है, तब रोग, जरा, मृत्यु आदि नहीं होते। यह तीन बन्ध श्रेष्ठ हैं, महासिद्धों द्वारा इनका सेवन किया जाता है। हठयोग के सब साधनों में इसकी उपयोगिता को योगी पुरुष जानते हैं ॥७४—७६॥

व्याख्या—आधार स्थान को ठीक प्रकार से संकुचित करके नाभि से पश्चिमतान रूप बन्ध (उड्डियान) को करना चाहिए तथा कण्ठ के संकोच से इडा-पिङ्गला का बन्धन करे, जो कि जालन्धर बन्ध से होता है। तदनन्तर प्राण के सुषुम्ना में प्रविष्ठ होने का प्रयत्न करे। ऐसा करने से प्राण का लय अर्थात् स्थैर्य हो जाता है। आशय यह है कि उसका बाह्य गमन रुक कर ब्रह्मरन्ध्र में ही स्थिति हो जाती है। इस प्रकार की उपलब्धि होने पर साधक को किसी रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि का भय नहीं रहता।

इस प्रकार उपर्युक्त उड्डियान बन्ध, मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध तीनों ही श्रेष्ठ हैं। बड़े बड़े योगीश्वर, परम

सिद्धि आदि ने इनको करके ही इच्छित सिद्धि और मोक्ष को प्राप्त किया। इसलिए योगाभ्यासियों को प्रयत्न पूर्वक इनका अभ्यास करना चाहिए।

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥७७॥
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥७८॥

टीका—दिव्य तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जिस अमृत का स्राव होता है, उसे नाभि में स्थित अग्नि सम्पूर्ण रूप से ग्रस लेता है। उसे रोकने के लिये सूर्य-मुख का वंचन करने वाले दिव्य करण को गुरु के उपदेश से जानना चाहिए, क्योंकि उसके बिना करोड़ों शास्त्रों का अर्थ जानना भी व्यर्थ है ॥७७—७८॥

व्याख्या—पहले भी बता चुके हैं कि तालमूल में चन्द्रमा का निवास माना गया है, वह अमृत की वर्षा किया करता है। परन्तु नाभि में सूर्य संज्ञक जिस अग्नि का निवास है, वह उस अमृत का ग्रास कर लेता है। परन्तु उसके ग्रसन को रोकने के लिये सूर्य के मुख को बन्द करना आवश्यक है। यदि उसका मुख रुक जाता है तो धातुओं और रसों का ह्रास भी रुक जाता है और आयु का क्षय नहीं होता। उसे रोकने का उपाय योगीश्वर सिद्ध पुरुषों को ज्ञात रहता है, उन्हें गुरु रूप में वरण करके उनसे वह उपाय सीखना चाहिए। यदि गुरु से उसे नहीं सीखते तो करोड़ों शास्त्र पढ़ कर भी नहीं सीख सकते। क्योंकि शास्त्रों में विधि-विधान तो लिखा होता है, परन्तु उसमें अनेक बातें ऐसी होती हैं जिनका स्पष्टीकरण अनुभवी सद्गुरु ही करने में समर्थ होता है, इसलिए गुरु से दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक है।

विपरीतकरणी मुद्रा

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥७६॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

टीक—जिस योगी के ऊर्ध्व भाग में नाभि और अधोभाग में तालु हो जाय, इस ऊर्ध्व भाग में सूर्य और अधोभाग में चन्द्रमा को कर देने वाली क्रिया विपरीतकरणी मुद्रा कहलाती है, इसे गुरु के वाक्यों द्वारा प्राप्त करते है। नित्यप्रति अभ्यास में लगे रहने वाले योगी के लिए यह मुद्रा जठराग्नि बढ़ाने वाली है तथा इसके द्वारा साधक इच्छानुसार अधिक भोजन कर सकता है ॥७६-८०॥

व्याख्या—इस मुद्रा के द्वारा तालु में अवस्थित चन्द्रमा नीचे और नाभि में अवस्थित सूर्य ऊपर हो जाता है। इसमें शिर नीचे और पाँव ऊपर करके स्थित होना होता है। इससे जठराग्नि इतनी बढ़ जाती है कि जितना भी खाया जाय सरलता से पच जाता है। परन्तु अल्पाहार नहीं करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है। क्योंकि—

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥८१॥
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥८२॥

टीका—यदि इसका अभ्यास करने वाला साधक यदि अल्प आहार करता है तो प्रदीप्त जठराग्नि उसके शरीर को उसी समय भस्म कर देती है। प्रथम दिन के अभ्यास में क्षण भर के लिए नीचे शिर और ऊपर पांव करने चाहिए। फिर दिनों दिन अभ्यास को एक-एक क्षण करके बढ़ावे तो छः महीने में वली, पलित अदृश्य हो जाते हैं। यदि एक प्रहर नित्य अभ्यास करे तो काल को भी जीत सकता है ॥८१—८२॥

व्याख्या—अल्प भोजन करने से इस मुद्रा के अभ्यासी साधक की जठराग्नि उसके शरीर को नष्ट कर डालती है। इसलिए यथेच्छ भोजन कर सके तो ही इस मुद्रा का अभ्यास करे।

इसमें नीचे शिर और ऊपर पाँव करके एक-एक क्षण नित्य बढ़ाते हुए अभ्यास करना चाहिए। इससे केशों का श्वेत होना, झड़ना आदि नष्ट होता है तथा तीन घण्टे नित्य अभ्यास करने से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो सकती है।

इस सब से यह भी प्रकट होता है कि योग की महिमा प्रारब्ध कर्म से भी बढ़कर है, क्योंकि योग के द्वारा प्रारब्ध के फल को भी नष्ट किया जा सकता है। इसलिए साधक को योगाभ्यास में प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस्कर है।

वज्रोली मुद्रा

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥८३
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥८४॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥८५॥
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥८६॥

टीका—जो योगी वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता है, वह योग-शास्त्र के नियमों का पालन न करके स्वेच्छा पूर्वक व्यवहार करे तो सिद्धिभाजन होता है। वज्रोली के साधक के लिए जो दो दुर्लभ वस्तुएं हैं, उन्हें मैं बताता हूँ। उनमें एक तो दूध है और दूसरी वश में रहने वाली स्त्री है। पुरुष हो या नारी बिन्दु को झरने से रोकने या आकुंचन करने का धीरे-धीरे अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो सकती है। शीशे की बनी हुई नली से धीरे-धीरे उपस्थ के छिद्र में वायु के संचारार्थ प्रयत्नपूर्वक इस प्रकार फूत्कार करे, जिस प्रकार कि अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए फूंक मारते हैं ॥८३—८६॥

व्याख्या—वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता पुरुष शास्त्र के नियमों की उपेक्षा करके भी किसी प्रकार वज्रोली मुद्रा का साधन करता है, उसे भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसका अभ्यास करने वाले के लिए दूध और स्त्री दुलभ वस्तु हैं। अर्थात् साधक को इनसे बचना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि अभ्यास काल में दुग्ध पान उचित है, परन्तु कुछ विद्वान् इसे ठीक नहीं मानते और यह कहते है कि स्त्री-संसर्ग के पश्चात निर्बलता को प्राप्त हुई इन्द्रियों की प्रबलता के लिए तो दुग्ध-पान हितकर है, परन्तु वज्रोली के साधक के लिए अयोग्य है।

वज्रोली मुद्रा की सिद्धि किस प्रकार हो ? इस पर कहते हैं कि पुरुष या स्त्री कोई भी हो बिन्दु को झरने से रोकने के

लिए उसके ऊपर आकुंचन का अभ्यास करना चाहिए। योग-तत्वोपनिषत् में कहा है—

> वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धि भाजनम्।
> लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
> अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्॥

अर्थात्—जो वज्रोली का अभ्यास करे वह सिद्धि का पात्र होता है। यदि वज्रोली की सिद्धि प्राप्त करले तो योग की सिद्धि उसके हाथ में ही समझो। वह भूत, भविष्य का भी ज्ञाता हो जाता है और उसे आकाश-गंमन की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

शीशे की चौदह अगुल लम्बी और उपस्थ के छिद्र में प्रविष्ट होने योग्य मोटी सलाई बनवाकर उसे उपस्थ में प्रवेश करने का अभ्यास करे। प्रथम दिन केवल एक अंगुल घुसावे, फिर क्रमशः एक-एक अंगुल नित्य बढ़ाता हुआ बारह अंगुल तक ले जाय। बस बारह अंगुल सलाई के प्रवेश से ही उपस्थ का मार्ग शुद्ध हो जायगा।

तदनन्तर चौदह अगुल लम्बी एक सलाई और बनवाये जो कि टेढी और ऊपर की ओर मुख वाली हो। उसे भी क्रमशः बारह अंगुल ही प्रविष्ट करे, उस टेढे और ऊध्वमुख वाले भाग को बाहर रखे। फिर स्वर्णकार की धौंकनी के नल के समान नलका लेकर उसके अगले भाग को उपस्थ में प्रविष्ट टेढ़ी और ऊर्ध्वमुख की सलाई के मध्य में घुसाकर फूत्कार करने से उपस्थ-मार्ग का शोधन हो जाता है।

इसके पश्चात् जल के आकर्षण का अभ्यास करे और जब वह सिद्ध होजाय तब बिन्दु के ऊर्ध्व आकर्षण का अभ्यास करना चाहिए। बस, इसकी सिद्धि होने पर ही वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो जाती है।

नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वगासरेत् ।
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥८७॥
एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्यु जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥८८॥
सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥८९॥
चित्तायत्तं नृणां शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैवे रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥९०॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यांसयोगवित् ॥९१॥

टीका—योनि में पतित होते हुए बिन्दु का अभ्यास करता हुआ ऊर्ध्व आकर्षण करे। यदि विन्दु चलित हो जाय तो भी उसका ऊपर को आकर्षण करके रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार जो योगविद् बिन्दु की रक्षा सम्यक् प्रकार करता है, वह मृत्यु को भी जीत लेता है। क्योंकि बिन्दु के पतन से मृत्यु और बिन्दु की रक्षा से ही जीवन है। मनुष्यों का शुक्र चित्त के आश्रित है और जावन शुक्र के आश्रित है, इसलिए शुक्र और मन दोनों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। ऋतुमती स्त्री के रज की और अपने विन्दु की भी उक्त प्रकार के अभ्यास से रक्षा करे। योगवेत्ता पुरुष मेढ् द्वारा रज और बिन्दु के ऊपर की ओर आकर्षण से रक्षा कर सकता है ।।८७—९१।।

व्याख्या—पतित हुआ बिन्दु भी उक्त मुद्रा के अभ्यास के द्वारा आकर्षित करके अपने पूर्व स्थान पर स्थापित किया

जा सकता है। पुरुष को अपने ही नहीं, स्त्री के भी रज की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि रज या वीर्य ही मनुष्य का जीवन है, यदि वही शरीर से निकल गया तो चाहे मृत्यु न भी हुई हो, तो भी मृत्यु के ही समान है।

इसमें यह भी समझ लेना चाहिए कि यदि पतन से पूर्व बिन्दु का क्षरण न रोका जा सके तो पतित हुए बिन्दु का आकर्षण किया जा सकता है। परन्तु इसका सिद्धि अभ्यास से ही सम्भव है। पतित हुए बिन्दु को उसके आश्रय स्थान मस्तक में पुनर्स्थापित करना चाहिए।

बिन्दु चित्त के अधीन है। यदि चित्त में कामवासना का आधिक्य है, उत्तेजना बढ़ गई है तो हो सकता है कि बिन्दु का पतन हो जाय। इसीलिए स्त्री के विषय में चिन्तन का भी योगाभ्यासी के लिए निषेध किया जाता है। क्योंकि चित्त के चंचल होने पर बिन्दु भी चलायमान हो जाता है और चित्त स्थिर है तो शुक्र के पतन का अवसर ही नहीं आ सकता।

'शुक्रायत्तं च जीवितम्' कहकर ग्रन्थकार ने प्रकट किया है कि शुक्र है तो जीवन है और शुक्र नहीं तो जीवन भी नहीं। इसीलिए आवश्यक है कि शुक्र की रक्षा की जाय। क्योंकि शुक्र के रक्षित न रहने पर शरीर दुर्बल, रोग-ग्रस्त, और शक्ति-हीन हो जाता है और धीरे-धीरे वह मनुष्य मृत्यु मुख में पहुँच जाता है।

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥९२॥
वज्रोलीमैथुनाद्ध्वं स्त्रीपुन्सोः स्वांगलेपनम्।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥९३॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥९४॥
अयं योगः पुण्यवतां धीराणाँ तत्त्वदर्शिनाम्
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥९५॥

टीका—सहजोली और अमरोली यह दोनों मुद्राएं वज्रोली के ही भेद हैं। जलाये हुए कण्डों की सुन्दर भस्म का जल में डाल दे और मैथुनानन्तर उत्साह रहित होकर सुखपूवक बैठेहुए स्त्री-पुरुष उस भस्म को अपने अगों पर लेपन करे। यह सहजोली कही जाने वाली क्रिया योगियों द्वारा सदैव श्रद्धा के योग्य है तथा यह शुभकारी योग भाग और मोक्ष दोनों देने वाला है। यह योग पुण्यवान, धीर, तत्वदर्शी और द्वेषरहित पुरुषों को सिद्ध होता है, द्वेषयुक्तों को सिद्ध नहीं होता ॥९४-९५॥

व्याख्या—वज्रोली मुद्रा के समान ही सहजोली और अमरोली मुद्राएं भी हैं। कुछ विद्वान् इन्हें भिन्न मानते हैं और कुछ किंचित् विशेषता के साथ एक ही समझते है इसीलिए कुछ संहिताओं में सहजोली और अमरोली का वर्णन नहीं किया है।

सहजोली के साधक स्त्री-पुरुष संसर्ग के अनन्तर कण्डों की भस्म को जल में मिलाकर अपने सर्वांग अर्थात् शिर, ललाट, नेत्र, हृदय, भुजा, उदर, नाभि आदि पर लेप करें। वज्रोली के साथ इस भस्म लेपन को ही सहजोली कहा गया है।

अमरोली मुद्रा

पित्तोल्वणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निः सारतयांत्यधारा। निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽबरोली ॥९६॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥९७॥
अभ्यासान्निःसृतां चांद्री विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥९८॥

टीका- अधिक पित्त वाली बिन्दु-धारा को तथा सार-अंश-रहित अन्त्य धारा को कुछ-कुछ छोड़कर शीतल मध्य धारा का सेवन किया जाता, उसे कापालिक मत में अमरोली मुद्रा कहते हैं। जो साधक नासिका द्वारा अमरी का नित्य पान करता हुआ वज्रोली का अभ्यास करता है उसे अमरोली कहते हैं। उस अभ्यास से निःसृत चन्द्रामृत को भस्म में मिलाकर उत्तम अंगों में धारण करे तो उसको दिव्य दृष्टि हो जाती है ॥९६—९८॥

व्याख्या- प्रथम बिन्दु धारा में पित्त की अधिकता कही है और दूसरी अन्त्यधारा में सारांश का अभाव बताया है। इन दोनों धाराओं का शनैः शनैः त्याग करना चाहिए अर्थात् पित्तादि दोषों से युक्त और निःसार धारा को छोड़कर शीतल, शान्तिप्रद धारा का सेवन करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि बिन्दुरूप धारा का सेवन (क्षरण) लाभकर नहीं है। शिवांबुरूप अमरी का नासिका द्वारा पान करता हुआ मैथुन द्वारा वज्रोली का अभ्यास करे, परन्तु बिन्दु-पातन करे।

'शीतल मध्य धारा' का अभिप्राय चन्द्रामृत से है, उसे गोबर की भस्म में मिलाकर श्रेष्ठ अंगों में मलना चाहिये, निकृष्ट अंगों में मलने का निषेध समझे। उत्तमांगों में शिर, कपाल, नेत्र, कन्धे, कण्ठ, हृदय और भुजा आदि माने जाते हैं। 'दिव्य दृष्टिः प्रजायते' का अर्थ है नेत्रों की दृष्टि तीव्र हो जाना,

उसे दूरदर्शन-शक्ति भी कह सकते हैं। इस प्रकार यह मुद्रा खण्ड कापालिक मत में अमरोली कहलाती है।

नारी की वज्रोली के साधन कथन

पुन्सो बिन्दुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात्।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनो ॥९९
तस्याःकिंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः।
तस्या शरीरेनादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥१००

टीका— सम्यक् अभ्यास के कौशल से जो नारी पुरुष के बिन्दु का आकर्षण करके वज्रोली मुद्राके द्वारा अपने रज की रक्षा करती है तो उसे भी योगिनी समझना चाहिए। उस नारी का रज किंचित् भी नाश को प्राप्त नहीं होता, इसमें सशय नहीं है। उसके शरीर में नाद भी बिन्दु रूप हो जाता है ॥९९--१००॥

व्याख्या— इसमें स्त्री के वज्रोली-साधन का वर्णन हुआ है इस साधन के करने से स्त्री का रज भो अपने स्थान से च्युत नहीं होता और मूलाधार से उठा हुआ नाद हृदय के ऊपर पहुँच कर विन्दुरूप हो जातो है। स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य का शरीर से बाह्य संयोग होने से सन्तानोत्पत्ति होती है, परन्तु दोनों का आन्तरिक योग होने पर ही योगी कहा जाता है। उन दोनों में बिन्दु चन्द्रमय और रज सूर्यमय है, इनका योग होने से परम-पद की प्राप्ति हो जाती है।

स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धि प्रयच्छतः ॥१०१॥
रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥१०२॥

देहसिद्धि च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३॥

टीका—वज्रोली के अभ्यास से वह बिन्दु और रज दोनों एक होकर अपने शरीर में ही स्थित हो जाँय तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जो स्त्री योनि-संकोच द्वारा ऊर्ध्व ले जाकर रज की रक्षा करे वह योगिनी है। उसे भूत, भविष्यत् का ज्ञान हो जाता तथा निश्चय ही खेचरी सिद्ध हो जाती है। वज्रोली के अभ्यास से अवश्य ही देह सिद्धि होती है। यह पुण्योत्पादक योग भोगों के भोगने पर भी मुक्तिदायक होता है ॥१०१—१०३॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से अभ्यास सिद्ध करने वाली स्त्री को त्रिकाल का ज्ञान होता है। रूप-लावण्य की प्राप्ति होकर शरीर में दिव्यता का समावेश होता है। अथवा जो सिद्धियाँ सिद्ध पुरुष को प्राप्त होनी कही हैं, सभी वज्रोली की साधिका योगिनी को प्राप्त हो जाती हैं—

कुण्डलिनी के पर्याय कथन

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१०४॥

टीका—कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती यह सब पर्यायवाचक हैं ॥१०४॥

व्याख्या—यहाँ कुण्डलिनी शक्ति के सात पर्यायवाचक नामों का वर्णन किया है, जिससे जिज्ञासु को यह समझने में कठिनाई न हो कि यह सभी नाम कुण्डलिनी के ही हैं। क्योंकि स्थलभेद से ग्रन्थों में कुण्डलिनी के अर्थ में उक्त में से कोई भी नाम मिल सकता है।

नाम मिल सकता है।

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ।।१०५।।
येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।।१०६।।
कंदोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बंधनाय च मूढ़ानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ।।१०७।।

टीका—जिस प्रकार कुंजी के द्वारा हठपूर्वक किवाड़ खोले जाते हैं, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष के द्वार को खोलते हैं। जिस मार्ग से निरामय ब्रह्मस्थान को जाते हैं, उसी द्वार के मुख को ढककर वह परमेश्वरी सोती है। कन्द ऊर्ध्व भाग में सोती हुई कुण्डलिनी योगियों के लिए मोक्ष के निमित्त होती है, परन्तु मूढ़ों के लिए बन्धन-प्रद हो जाती है, जोउसे जानता है वही योग का जानने वाला है ।।१०५—१०७।।

व्याख्या—कुण्डलिनी शक्ति मोक्ष के द्वार को खोल सकती है; परन्तु वह निरामय ब्रह्मपद को जाने वाले मार्ग को ढककर सोती रहती है। वह मूर्खों या अज्ञानियों के लिए बन्धन में डालने वाली है, जब कि योगाभ्यासियों को उससे मोक्ष प्राप्त हो सकती। इसलिए अभ्यास से पूर्व इसके विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना और इसके रहस्य को भले प्रकार समझ लेना चाहिए।

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ।।
—योगचूडामन्युपनिषत्

अर्थात—प्राणधारिणी गायत्री कुण्डलिनी से ही उत्पन्न होती है। यही प्राणविद्या और महाविद्या है, जो इस विद्या को जानते हैं वही वेद के जानने वाले हैं।

कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥१०८॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०९॥
इडा भगवती गङ्गा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुण्डली ॥११०॥

टीका—कुण्डलिनी का आकार कुटिल, सर्प के समान कहा जाता है, जो इस शक्ति का चालन करता है, वह मुक्त है, इसमें संशय नहीं है। गंगा, यमुना के मध्य में तपस्विनी बालरंडा है, उसे बलपूर्वक ग्रहण करना ही परमपद है। इडा भगवती गंगा और पिंगला यमुना नदी है तथा इडा-पिंगला के मध्य में जो कुण्डली है, वही बालरण्डा है ॥१०८—११०॥

व्याख्या—कुण्डलिनी का आकार सर्पिणी जैसा होता है वह साढ़े तीन कुण्डल मारे हुए रहती है। इस शक्ति को चालन करने वाला साधक अवश्य मुक्त हो जाता है। गंगा, यमुना कह-कर यहाँ इडा और पिंगला नाड़ियों का माहात्म्य वर्णन किया है। अर्थात् इडा नाड़ी गंगा के समान और पिंगला नाड़ी यमुना के समान पवित्र हैं। इनके मध्य में तपस्विनी बालरण्डा के नाम से स्वयं कुण्डलिनी शक्ति विद्यमान रहती है। यहाँ बालरण्डा का अर्थ कुछ न खाने वाली कहा है, इसका तात्पर्य हुआ प्रसुप्ता, उस सोती हुई कुण्डलिनी को हठयोग के द्वारा जगाकर परमपद प्राप्त करने का उपदेश है।

शक्तिचालन मुद्रा

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ।।१११।।

अवस्थिता चैव फणावतो सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य
नित्यं परिचालनीया ।।११२।।

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ।।११३।।

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ।।११४।।

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ।
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ।।११५।।

टीका - सोती हुई भुजंगी की पूंछ को पकड़कर प्रबोधन करने से वह शक्ति निद्रा छोड़कर ऊपर उठकर स्थित हो जाती है। वह फणावती प्रातःकाल, सायकाल में आधे प्रहर तक सूर्य से परित परिधान से ग्रहण करके नित्य चलानी चाहिए। मूल स्थान से बिलाँद भर ऊपर चार अंगुल विस्तार वाले कोमल, श्वेत और वेष्टित किये वस्त्र के समान कहा जाता है। वज्रासन में स्थित होकर दोनों पाँवों को एड़ियों के पास से हाथों द्वारा दृढ़ता से धारण कर उस कन्द का प्रपीडन करे। वज्रासन में स्थित हुआ योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुंडली को जाग्रत् करे ।।१११--११५।।

व्याख्या—पूंछ पकड़ कर कुण्डलिनी को जगाने का अभिप्राय यह है कि प्राणनिरोध के अभ्यास से वायु द्वारा ताड़ित होने पर कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है, उस अभ्यास को सिद्ध करना चाहिए। इसका चालन करने के लिए प्रातः, सायं दोनों समय डेढ़-डेढ़ घंटे नित्य प्रति अभ्यास करना चाहिए।

मूल स्थान से बिलाँद भर ऊपर यानी नाभि स्थान और उपस्थ के मध्य में कन्द स्थान कहलाता है। गोरक्षसहिता में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है कि नाभि के नीचे कन्द की जो योनि है, वह पक्षी के अण्डे समान के समान है, जिसमें से बहत्तर नाड़ियाँ उत्पन्न होकर शरीर के सभी अगों में गई हैं। वह कन्दस्थान कोमल और उज्वल वस्त्र के समान एक बिलाँद भर लम्बा और चार अगुल चौड़ा होता है।

वज्रासन करके एड़ियों से ऊपर पाँवों को पकड़ कर नाभि के नीचे के भाग में कन्द को पीड़ित करे। इस प्रकार करता हुआ साधक शक्तिचालन मुद्रा के साथ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुंडलिनी को जाग्रत् करना चाहिए। परन्तु इससे यह प्रकट होता है कि भस्त्रा कुम्भक के साथ वज्रासन ही करे. अन्य आसन न करे।

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥११६॥
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥११७॥
तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥११८॥

टीका—सूर्य का आकुंचन करने से कुंडली का चालन होता है। इस क्रिया को करने वाले योगी को मृत्यु के मुख में जाने पर भी मृत्यु का भय कहाँ है? इसका चालन निर्भय रूप से दो घड़ी पर्यन्त करे तो सुषुम्ना गई हुई यह शक्ति ऊपर खिचती है। वैसा होने पर वह कुंडलिनी सुषुम्ना के मुख में चली जाती है, इसलिए प्राण भी स्वतः सुषुम्ना में चला जाता है ॥११६—११८॥

व्याख्या—नाभिदेश के आकुंचन से वहाँ स्थित सूर्य (अग्नि) का आकुंचन हो जाता है और सूर्य का आकुंचन होने पर ही शक्ति का चालन होता है। इस प्रकार का चालन दो मुहूर्त तक करने से ही कुण्डलिनी सुषुम्ना में जाकर ऊपर की ओर खिचती है उसके द्वारा सुषुम्ना का मुख छोड़कर ऊपर जाने के कारण प्राण के लिएसुषुम्ना का मुखखुला मिलता है, इसलिए वह भी बाधा-रहित रूप से उसमें घुसकर ऊपर की ओर चढ़ता है। 'कुण्डलीं चालयन्प्राणान्भेद यन्शशि-मण्डलम्' (ब्र. वि उ.) के अनुसार कुण्डली और प्राण का चालन करके चन्द्रमण्डल का भेदन करे। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

अधस्तात्कुंचनेनाशु कण्ठ संकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥

अर्थात्—अधोभाग में गुदा का आकुंचन, ऊर्ध्वभाग में कण्ठ का सकोचन और मध्य में पश्चिमतान से प्राण का आक-र्षण करे तो (सब ओर से रोका हुआ) प्राण ब्रह्मनाडी अर्थात् सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है।

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम्।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥११९॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।।१२०।।

टीका—इसलिए नित्यप्रति के अभ्यास द्वारा सुखपूर्वक सोती हुई अरुन्धती का चालन करे, उसके चालन करने मात्र से ही योगी सब रोगों से मुक्त हो जाता है। जिसने शक्ति का चालन कर लिया वह योगी सिद्धि का पात्र हो गया। बहुत क्या कहें? वह लीलापूर्वक काल को भी जीत लेता है। ।११९–१२०।।

व्याख्या—व्याख्या सोती हुई कुण्डलिनी को जगाकर चालन करने वाला साधक सभी रोगों से रहित एवं पूर्ण स्वस्थ हो जाता है, मृत्यु भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। सभी विघ्न बाधाओं और व्याधियों को वह क्रीडा के समान उल्लंघन करने में समर्थ होता है। इस प्रकार शक्ति के चालन में कुशल योगी मृत्यु का भी विजेता हो जाता है।

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्याभ्यासयोगिनः ।।१२१।।
कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ।।१२२।।

टीका—जो साधक ब्रह्मचर्य परायण रहता हुआ नित्य मिताहार करता है, उस कुण्डलिनी के अभ्यासी योगी को एक मण्डल में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जो योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक ही विशेष रूप से करता है, उस अभ्यास परायण यमी को यम का भय भी कहाँ? ।।१२१—१२२।।

व्याख्या— ब्रह्मचर्य-परायण अर्थात् इन्द्रिय संयम सदैव तत्पर योगी ही कुण्डलिनी के जागरण का अभ्यास कर सकता है। यदि अभ्याम करने के दिनों में ब्रह्मचर्य-रहित हो जाय तो तो बिन्दु का क्षय होने के कारण उसका शरीर रोगी होकर शनैः शनैः काल कवलित हो सकता है और सिद्धि तो उसे हो ही नहीं सकती।

'मन्डल' पद काल का वाचक हैं, चालीस दिन के परिमाण को मण्डल कहते हैं। विधि पूर्वक कुन्डलिनी-चालन का अभ्यास करने वाला योगी एक मन्डल के समय में ही सिद्धि का दर्शन कर लेते है अर्थात उन्हें सिद्धि मिल जाती है। परन्तु इसके लिए उन्हें भस्त्रा कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिए।

यमी का अर्थ है 'यम' का पालन करने वाला। योगी को यम-नियमों का पालन आवश्यक होता है और इसीलिए वह यम-नियम-परायण रहता है. अतः 'यमी' शब्द का प्रयोग साधक के अर्थ में हुआ है। इससे यह प्रकट किया गया कि साधक मृत्यु से भी नहीं डरता। उसकी साधना में कितने ही विघ्न क्यों न आकर उपस्थित हो जाँय, वह धैर्य और साहस पूर्वक उनका उल्लंघन कर जाता है। परन्तु जो यमों का पालन नहीं करता, उसे जन्म-मरण के भय में पड़ना होता है।

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोभने।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥१२३॥
इयं तु मध्यमा नाडी दृढ़ाभ्यासेन योगिनाम्।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरया भवेत् ॥१२४॥

टीका—कुन्डलिनी के अभ्यास विना बहत्तर हजार नाड़ियों मल-शोधनार्थ उनके प्रक्षालन का अन्य उपाय ही क्या

है ? यह मध्य नाड़ी योगियों के दृढ़ अभ्यास द्वारा आसन, प्राणा-याम और मुद्रा से सरल होती है ॥१२३—१२४॥

व्याख्या—शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, सामान्य दशा में वे सभी मल से भरी रहती हैं। परन्तु कुन्डलिनी चालन का अभ्यास करने से वे नाड़ियाँ स्वयं धुल-धुल कर शुद्ध हो जाती हैं। इसलिए श्लोक में कुन्डलिनी चालन के अभ्यास का कर्तव्य रूप से संकेत है।

मध्य नाड़ी का अर्थ सुषुम्ना है, क्योंकि यही नाड़ी इडा और पिंगला के मध्य में रहती है। इसे सरल अर्थात् उपयोगी बनाने के लिए आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि साधनों की आवश्यकता होती है, क्योंकि उन्हीं साधनों के सिद्ध होने पर शक्ति प्रबुद्ध होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है।

अभ्याये तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥१२

टीका—अभ्यास काल में अनिद्रित रह कर जो साधक मन को समाधि में लीन कर लेते हैं, उन्हें रुद्राणी आदि मुद्राएं कल्याणमयी होकर सिद्धि के देने वाली होती हैं ॥१२५॥

व्याख्या--अभ्यास के समय साधक को आलस्य और निद्रा का परित्याग करना चाहिए, क्योंकि उनके होने पर समाधि में मन का लय नहीं होता, वरन् वह तो निद्रा-रहित अवस्था में ही हो सकता है। चित्त की एकाग्रता अनिद्रित अवस्था में ही बनती है और उसी को समाधि कहते हैं।

रुद्राणी मुद्रा का अभिप्राय शाम्भवी मुद्रा से है। 'लक्ष्ये-ऽन्तर्बाह्ययां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां च इयं शाम्भवी मुद्रा

20:49
Hatha_Yoga_Pradipika...

भवति' (मण्डलब्राह्मणोपनिषत्) अर्थात् 'लक्ष्य के भीतर और बाहर की दृष्टि जब निर्निमेष रूप से स्थिर हो जाती है, तब यह शाम्भवी मुद्रा होती है।' और इस मुद्रा का फल उसी उपनिषत् में तज्ज्ञानेन संसार निवृत्तिः, तत्पूजनं मोक्षफलदम्' कह कर उसके ज्ञान से संसार की निवृत्ति और पूजन से मोक्ष की प्राप्ति बताया है ।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥१२६॥

टीका—राजयोग के बिना पृथिवी, निशा और मुद्रा विलक्षण हों तो भी शोभित नहीं होती ॥१२६॥

व्याख्या—इसमें राजयोग के बिना आसनादि अङ्गों की निष्फलता कही गई है। चित्तवृत्ति को अन्य विषयों से रोक कर आत्मा में निर्विकल्प रूप से योजित करना ही राजयोग है। जब तक साधक इस प्रकार की उपलब्धि में असमर्थ रहता है, तब तक पृथिवी अर्थात आसन, निशा अर्थात् कुम्भक, विचित्र मुद्रा अर्थात महामुद्रा आदि सभी निरर्थक हैं।

कुछ विद्वानों ने पृथिवी का अर्थ स्थिरता भी किया है, क्योंकि पृथिवी स्थिर रहती है और वैसी स्थिरता राजयोग अर्थात चित्त वृत्ति के निरोध से ही हो सकती है। निशा का अर्थ कुम्भक इसलिये किया है कि जैसे रात्रि में राज पुरुषों का आवागमन नहीं रहता वैसे ही कुम्भक में प्राण का संचार रुका रहता है। परन्तु यह प्राणावरोध तब तक निष्फल है जब तक कि चित्त वृत्ति को आत्म-विषयक विचार में लीन न कर लिया जाय। यही बात महामुद्रा आदि पर भी लागू होती है कि वे कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, चित्तवृत्ति असंयमित है तो उसका महत्व किसी उपयोग का नहीं।

20:49
Hatha_Yoga_Pradipika...

**मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनोषिणा ॥१२७॥
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥१२८॥**

टीका—वायु-धारण की सम्पूर्ण विधि का अभ्यास मन लगा कर करे, उससे भिन्न किसी भी कार्य में मनीषी पुरुष को मनोवृत्ति नहीं लगानी चाहिए। आदिनाथ शिवजी ने यह दश मुद्रा बताई हैं। उनमें से कोई एक मुद्रा भी यमी (योगी) के लिए महासिद्धि के देने वाली हो सकती है ॥१२७—१२८॥

व्याख्या—प्राणायाम आदि की सभी विधियों को चंचल मन से न करे, वरन् मन को स्थिर करके उसी में लगा दे, तभी सफलता मिल सकती है। योगाभ्यासी पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह मनो को किसी अन्य विषय की ओर न जाने दे। ऊपर जो दश मुद्राएं कही हैं वह आदि नाथ रूप शिवजी द्वारा वर्णित हैं। उनमें से कोई-सी भी मुद्रा अभ्यास से सिद्धिप्रद हो सकती है।

सद्गुरु प्रशंसा

**उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्री गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥१२९॥
तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
आणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥१३०॥**

टीका—मुद्राओं के उपदेश को जो साम्प्रदायिक रूप से देता है, वही श्री गुरुदेव स्वामी और साक्षात् ईश्वर है। उसके

वाक्यों में तत्पर होकर जो साधक मुद्रा के अभ्यास में सावधान होने पर अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति और काल के वंचन की उपलब्धि प्राप्त कर सकते हैं ।।१२६—१३०।।

व्याख्या—सम्प्रदाय का अर्थ यहाँ नाथ सम्प्रदाय है जो कि श्री आदि नाथजी से ही प्रारब्ध हुआ था । उस सम्प्रदाय के उपदेश को जो सद्गुरु प्रदान करे, वह निश्चय ही साक्षात् रूप से परमेश्वर है । अर्थात् सम्प्रदाय के अनुसार योग का उपदेश करने वाले गुरु के वचन में जिज्ञासु को श्रद्धा और विश्वास रखते हुये, उन्हीं के अनुसार चलना चाहिए । गुरु के वचनों में इस प्रकार परायण जिज्ञासु समाहित चित्त से योगाभ्यास में तत्पर हो जाय तो उसे अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ तो प्राप्त होती ही है, साथ ही वह मृत्यु के उल्लघन में भी समर्थ होता है ।

।। हठयोग प्रदीपिका का तृतीयोपदेश समाप्त ।।

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नियमितपन, समान-भाग में सोना तथा जागना रखने के अतिरिक्त त्रि-बन्ध, आसन और प्राणायाम का अभ्यास रखेगा उसके शरीर में अतुल बल प्राप्त होने से मन और आत्मा में भी बल की वृद्धि होगी—

अतुल बल प्राप्ति के तीन साधन

(१) त्रि-बन्ध— मूल-बन्ध, उड्डियान-बन्ध और जालन्धर-बन्ध ये त्रि-बन्ध हैं। शौच आदि से निवृत्त होकर निम्न प्रकार करना चाहिए—

(i) मूल-बन्ध— सिद्धासन[1] या पद्मासन[2] से बैठकर दोनों हाथों की हथेलियों से दोनों पैर के घुटनों को पकड़े रहे और बाह्य वायु द्वारा पूरक करके गुदा का १०–१० बार सङ्कोचन और प्रसारण करें[3]।

---

१. सिद्धासन लगाने की विधि यह है—

एक आसन पर बैठकर बायें पैर की एड़ी को गुदा और उपस्थ के बीच के स्थान (सीवनी) पर दृढ़ता के साथ जमाये। पश्चात् दाएँ पैर की एड़ी को उपस्थ से ऊपर वाले भाग पर दृढ़ता से जमाये। दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर स्थिर करे। रीढ़ को सीधी रखें और ठोडी को हृदय के पास लाकर स्थिर करे और इन्द्रियों को वश में रखकर निश्चल भाव से दोनों भ्रुवों के मध्य अपनी दृष्टि स्थिर करे, यही सिद्धासन है (ह० प्र० २,३५)।

—सम्पादकः

२. पद्मासन की विधि—

बायें पैर के पृष्ठ-भाग को दायीं जङ्घा के ऊपर दृढ़ता के साथ जमाए। उसी प्रकार दायें पैर के पृष्ठ-भाग को बाईं जङ्घा के ऊपर दृढ़ता से जमाए। अब बाँयें पैर के अँगूठे को दाँयें हाथ से पकड़े, इसी प्रकार दायें पैर के अँगूठे को बायें हाथ से पकड़े। रीढ़ को सीधी रखे। अब ठोड़ी को हृदय के पास लाकर स्थिर करे अर्थात् ठोड़ी छाती से चार अङ्गुल के अन्तर पर रहे। तब नासिका के अग्र-भाग पर अपनी दृष्टि को स्थिर रखे। यही पद्मासन है।   —सम्पादकः

३. ह० प्र० ३, ६१ :

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

फल— इसके करने से गुदा और उपस्थ सम्बन्धी सब नसों में वायु और रक्त का सञ्चार होकर गुदज और योनिज सब रोग नष्ट होते हैं[1]। तथा अधोगामी अपान-वायु ऊर्ध्व-गामी होकर जठराग्नि को अत्यन्त प्रज्वलित करता है[1]। इससे अपान का प्राण से संयोग होता है, मल-मूत्र अल्प होता है और वीर्य का रक्षण होता है। इसलिए इसका अभ्यास करने वाला मनुष्य वृद्धावस्था में भी तरुण दिखाई देता है[2]।

(ii) उड्डियान-बन्ध— उड्डीन नाम पक्षी का है। यह बन्ध प्राण-वायु को रेचक करके करना होता है। सम्पूर्ण पेट को अन्दर खींचना और उसको जहाँ तक हो सके वहाँ तक पीठ

१. ह० प्र० ३, ६३; ६६ :

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।
वारं-वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः॥
अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्नि-मण्डलम्।
तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाहता॥

२. ह० प्र० ३, ६४; ६५ :

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥

मूलबन्ध के परिणाम-स्वरूप अधोगामी अपान-वायु ऊपर उठकर प्राण के साथ मिलकर एक हो जाता है, दूसरी ओर अपान के ऊपर की ओर जाने से नाभि के निम्न-भाग में स्थित जाठराग्नि के केन्द्र का घुसण होता है इससे जाठराग्नि अतीव प्रदीप्त हो जाती है। उसकी उष्णता से सुप्त हुई कुण्डलिनी जाग पड़ती है और उसका मुख सीधा होने पर अपान के साथ एकता को प्राप्त हुआ प्राण-वायु सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है। वहीं नाद भी अभिव्यक्त होता है। उस नाद को साथ लिए हुए एकीभूत प्राण-अपान हृदय के ऊपर पहुँच कर, नाद के बिन्दु को लिए, मूर्धा को प्राप्त होते हैं। तब समाधि की सिद्धि प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट है कि मूलबन्ध का योग में बहुत बड़ा महत्त्व है। —सम्पादकः

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की ओर ले जाना होता है[१]। इस प्रकार १०–१० बार खींचना और छोड़ना भी।

फल— इस बन्ध के करने से पेट में जमे हुए आम (=आंव) आदि मल छूट कर उदर की सारी आँतें साफ हो जाती हैं और क्षुधा प्रदीप्त होने से यह अकाल मृत्यु को दूर करने वाला है।

(iii) जालन्धर-बन्ध— यह बन्ध कुम्भक में जिस समय प्राण-वायु न लिया जावे और न छोड़ा जावे उस समय दाँतों पर दाँत रखकर गर्दन को फुलावे और कण्ठ को सिकोड़कर ठोडी को कण्ठ-मूल में हृदय की ओर १०–१० बार लगावे और भृकुटी की ओर गर्दन फुलाए हुए देखे।

फल— यह बन्ध नाड़ियों के समूह-रूप जाल को बान्धता है और कपाल के छिद्र-रूप ब्रह्माण्ड का जो जल है, उसका प्रतिबन्ध होने से प्राण की निम्न गति होती है[२]। इस प्रकार अपान और

---

१. ह० प्र० ३, ५७ :

उदरे पश्चिमे तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्यु-मातङ्ग-केसरी॥

इस उड्डीयान-बन्ध के ठीक तरह बन्धने से प्राण पक्षी की उड़ान की तरह सुषुम्ना में चढ़ने लगता है। —सम्पादकः

२. यह बन्ध बान्ध लेने से समस्त सिराओं (नाड़ियों) के जाल (=समूह) को तथा नीचे की ओर स्वभावतः रिसने वाले कपालस्थ जल (=जाल) को कण्ठ के संकोचन द्वारा बांधकर रखता है। अतः इसे 'जालन्धर' कहा गया है।

जालं=सिराणां जालं जलं च धरतीति जालन्धरः।

(ह० प्र० ३, ७१)

इस जालन्धर-बन्ध में कण्ठ को संकुचित करके एक ओर ऊर्ध्वगामी प्राणवायु को अधोगामी किया जाता है तो दूसरी ओर उसी कण्ठ-संकोचन के द्वारा इडा और पिङ्गला के स्वाभाविक व्यापार को रोक दिया जाता है ताकि प्राण और अपान हठ-पूर्वक एकत्र किए जा सकें। —सम्पादकः

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्राण का मध्य में संयोग होकर उष्णता बढ़ती है, जठराग्नि प्रदीप्त होता है। यह बन्ध जरा-मृत्यु का क्षय करने वाला है।

छः मास तक तीनों बन्धों का अभ्यास बराबर नित्य करने से उपरि-लिखित फलों की प्राप्ति होती है। साधारणतः फल नित्य अभ्यास करने से प्रतीत होगा। परन्तु कार्य-वश यदि किसी दिन न किया जाय तो कोई हानि नहीं। श्री भीष्मपितामह ने इन्हीं तीन बन्धों के अभ्यास द्वारा मृत्यु को रोक रखा था[1]।

(२) आसन— बल-प्राप्ति के लिए तीन आसनों का अभ्यास करना पर्याप्त है— सर्वाङ्गासन, ताड़ासन और शीर्षासन।

---

१. मूल-बन्ध के द्वारा मूलाधार को संकोचन करके तथा जालन्धर के द्वारा कण्ठ का संकोचन करके और उड्डियान के द्वारा नाभि-प्रदेश का पीठ के साथ संकोचन करके प्राण को सुषुम्ना नाडी के मुख (=ब्रह्म-द्वार) में प्रविष्ट कराया जाता है। यह अवधेय है कि मूलाधार (Anus) से एक वितस्ति (=१२ अंगुल) ऊपर अर्थात् नाभि (Navel) और मेहन (Penis) के मध्य-भाग (जिसे 'कन्द-स्थान' कहते हैं [ह०प्र० ३,११३]) में सुषुम्ना नाडी का मुख बन्द रहता है (ह० प्र० ३, १०७)। हठयोग के अनुसार आसन, आठ कुम्भक प्राणायामों और दस मुद्राओं (जिनमें उपर्युक्त त्रिबन्ध भी आते हैं) के ठीक-ठीक अनुष्ठान से सुषुम्ना का मुख खुल जाता है जिससे प्राण सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है (ह० प्र० ३, ११८; १२४) और चूंकि मन प्राण का अनुसरण करता है इससे मन भी सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है (ह० प्र० ४,१९-२०)।

ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर प्राण के स्थिर हो जाने पर मन भी स्थिर हो जाता है (ह० प्र० ४,२३)। सुषुम्ना के मुख को आसनों, प्राणायामों और मुद्राओं के अभ्यास से सुषुम्ना के मुख को खोल देना ही हठ-योग का लक्ष्य है।

लय-योग और राज-योग का कार्य अवशिष्ट रहता है अतः आगे प्राण का ब्रह्मरन्ध्र में निरोध-रूप लय होने से मन का भी लय हो जाता है। यह प्राण और मन का लय हो जाना ही लय-योग का उद्देश्य है। मनोलय=चित्तलय=समस्त-चित्तवृत्ति-निरोध ही राज-योग का सर्वोच्च लक्ष्य है जो प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और सम्प्रज्ञात समाधि रूप साधनों से साध्य है जिसमें चित्त, जीवात्मा और परमात्मा का परम-साम्य हो जाता है। इस अवस्था में परमानन्द की प्राप्ति होती है। —सम्पादक:

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

महावेध मुद्रा, खेचरी मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, योनि मुद्रा (व्रजोली मुद्रा), शक्ति चालन मुद्रा, योग मुद्रा आदि। इन सब का वर्णन देने की आवश्यकता नहीं है परन्तु चार प्रमुख मुद्राओं का वर्णन किया जा रहा है। इनके नियमित अभ्यास से कास, श्वास, प्लीहा वृद्धि, यकृत, वृद्धि, क्षय, मन्दाग्नि, कामोद्दीपन तथा जननेन्द्रिय रोग दूर हो जाते हैं। मुद्राओं के विषय में कहा गया है कि **'नास्ति मुद्रा समं किञ्चित् सिद्धं क्षिति मण्डले'** अर्थात् इस भूमण्डल पर सिद्धि प्रदान करने के लिए मुद्रा के समान अन्य कोई नहीं है।

महामुद्रा

बैठ कर बाँयी एड़ी से गुदा को सावधानी से दबायें तथा दाहिने पैर को फैलाकर उसके अंगूठे को दोनों हाथ से पकड़ें। ठोड़ी से वक्ष को दृढ़ता से दबायें (जालन्धर बन्ध)। दृष्टि को भ्रूमध्य रखें। श्वास (पूरक) को रोकें (कुम्भक)। इस स्थिति में जितने समय तक रह सकें रहें।। पहिले बांयें पैर से अभ्यास करें फिर दाहिने पैर से करें।

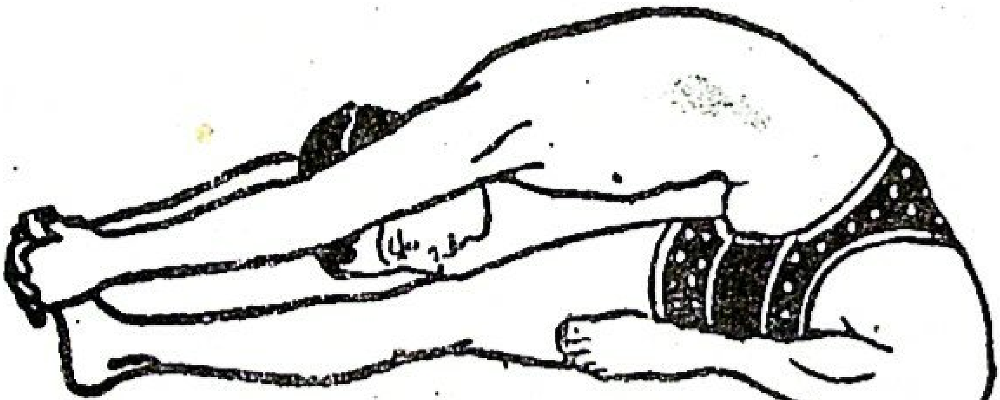

चित्र 24·21 महामुद्रा

इस मुद्रा से क्षय, प्लीहा वृद्धि, अपच, गुल्म, मलावरोध आदि नष्ट हो जाते हैं।

योनिमुद्रा

बांयें पैर की एड़ी को गुदा एवं दाहिने पैर को जननेन्द्रिय पर रखने को योनिमुद्रा नामक उत्तम ध्यान आसन होता है।

योगमुद्रा

पद्मासन पर बैठकर हथेलियों को एड़ी पर रखें। धीरे-धीरे श्वास बाहर निकालें (रेचक) सिर को आगे को झुकाकर ललाट को जमीन से स्पर्श करायें। हाथों को एड़ियों पर रखें या पीछे ले जाकर बांयी कलाई को दाहिने हाथ से पकड़ें।

इस मुद्रा से उदर के समस्त रोग नष्ट होते हैं।

चित्र 24·22 योगमुद्रा

CC0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collection.

 Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विपरीतकरणी मुद्रा

जमीन पर लेटकर पैरों को सीधे ऊपर उठायें। नितम्बों को हाथ से सँभाले। कोहनियों को जमीन पर रखें। शरीर को दृढ़ रखें। सूर्य का निवास योगी नाभि मूल में मानते हैं। एवं चन्द्रमा का निवास ऊपर तालूमूल में मानते हैं। इस मुद्रा से सूर्य ऊपर की ओर और चन्द्रमा नीचे की ओर खिंच जाता है इसलिए इसे विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। पहिले अभ्यास एक मिनट तक करें फिर अभ्यास को बढ़ाते हुए तीन घंटे तक ले जाया जा सकता है।

इस मुद्रा के अध्ययन से 6 माह में चेहरे की झुर्रियाँ नष्ट हो जाती हैं तथा श्वेत बाल काले हो जाते हैं। अग्नि प्रदीप्त हो जाती है। अभ्यास की समाप्ति पर हलका भोजन यथा दूध आदि ले लेना उचित है।

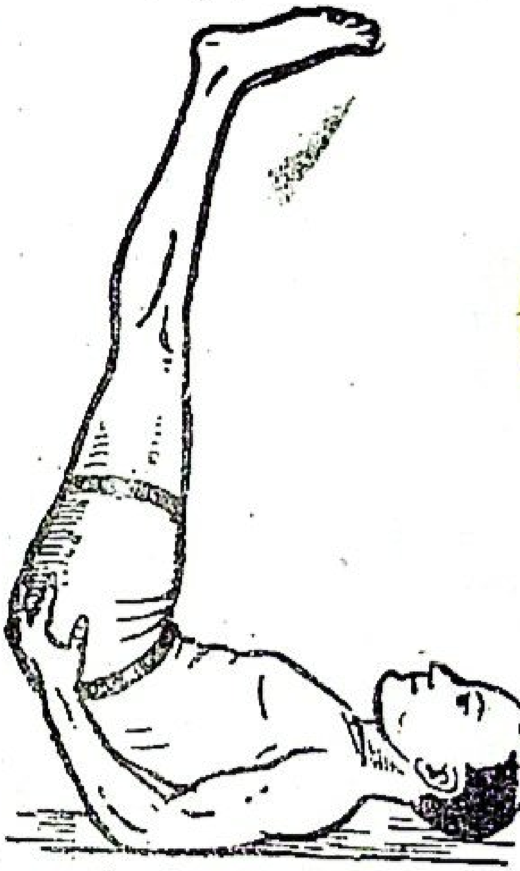

चित्र 24·23 विपरीतकरणी मुद्रा

बन्ध

ध्यानात्मक आसनों से पूर्ण लाभ उठाने के लिये उनके साथ-साथ बन्ध साधने की व्यवस्था योगियों ने की है। ये प्राणायाम के लिये भी बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। वैसे ये स्वतन्त्र रूप से भी साधे जा सकते हैं परन्तु ध्यानात्मक आसनों एवं प्राणायाम के साथ करने में पूर्ण लाभ की प्राप्ति होती है। बन्ध तीन हैं—(१) मूल बन्ध, (२) जालन्धर बन्ध तथा (३) उड्डीयान बन्ध।

त्रिबन्ध

चित्र 24·24

मूल बन्ध

इस बन्ध में गुदा का संकोचन किया जाता है। इसके अभ्यास के लिए सिद्धासन पर बैठना चाहिए क्योंकि इस आसन में एड़ी कसकर गुदा के नीचे जमी रहती है जिस कारण गुदा की पेशियों के संकोचन में सुविधा रहती है। संकोचन के साथ ही साथ अपान वायु को ऊपर की तरफ खींचना चाहिए।

CC0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मूल बन्ध के अभ्यास से ब्रह्मचर्य की रक्षा, वीर्य की पुष्टि तथा कोष्ठ बद्धता नष्ट होती है। अपान वायु की अधोगति स्वाभाविक है परन्तु इस बन्ध में उसे बल पूर्वक ऊपर की ओर खींचना होता है। यह क्रिया अति आवश्यक है क्योंकि अपान और प्राण वायु का संयोग कुण्डलिनी जाग्रति के लिए आवश्यक होता है।

जालन्धर बन्ध

इसमें ठोड़ी को झुकाकर वक्षास्थि (sternum) के ऊपरी भाग पर टिका देते हैं। इसका अभ्यास पद्मासन अथवा सिद्धासन के साथ करना उत्तम रहता है। इसे पूरक (प्रश्वसन, inspiration) के अन्त और कुम्भक (श्वास रोकने) के आरम्भ में किया जाता है।

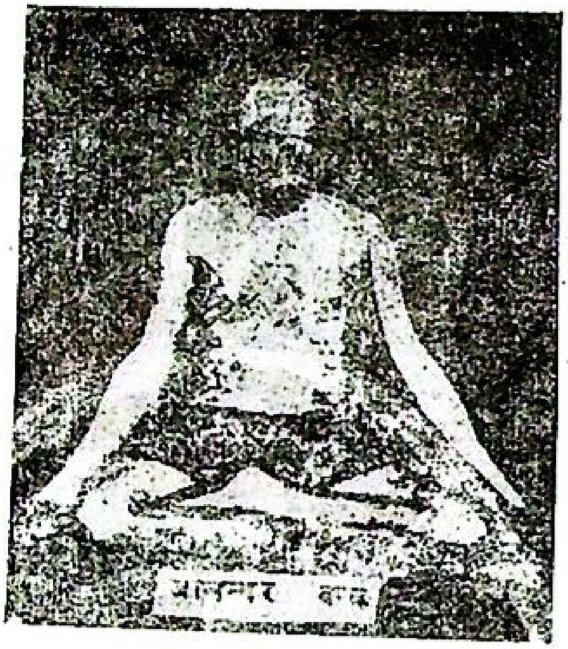

चित्र 24·25

इससे नेत्र, कर्ण, नासिका तथा ज्ञानेन्द्रियों को पर्याप्त व्यायाम मिल जाता है। मन में शान्ति, उत्साह, स्फूर्ति का संचार होता है। प्राण की गति अपने मार्ग से होती है जिससे नीचे से आती हुई अपान से उसका संयोग हो जाता है।

उड्डीयान बन्ध

संस्कृत में 'उड्डीयान' का अर्थ होता है 'उड़ना' तथा 'बन्ध' का अर्थ है बांधना। इस प्रकार किसी उड़ती वस्तु को बांधना या नियन्त्रण में करना उड्डीयान बन्ध है। मनुष्य की चित्तवृत्तियों को अधोमुख से उर्ध्वमुख करने के लिये उड्डीयान बन्ध एक श्रेष्ठ क्रिया है साथ ही साथ इससे स्वास्थ्य में लाभ होता है।

उड्डीयान बन्ध खड़े होकर अथवा बैठकर किया जा सकता है। बैठ कर पद्मासन लगाकर किया जाता है। खड़ी अवस्था में करते समय दोनों हाथ घुटनों पर या घुटनों से ऊपर जंघा पर रखने चाहिए और पैरों के मध्य फासला रखकर खड़े होना चाहिए।

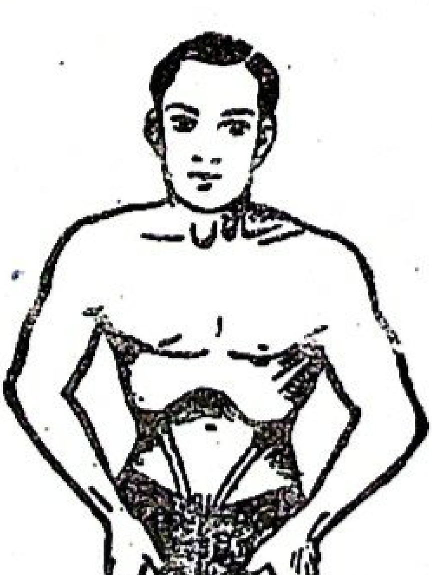

उड्डीयान बन्ध
चित्र 24·26

गहरे निश्वसन (expiration) द्वारा जहाँ तक सम्भव हो सके वायु बाहर निकालें। इस प्रकार [illegible] की खाली

CC0. Maharshi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करें। अब आन्त्र और नाभि को भी सिकोड़ें और पीछे की ओर खींचें जिससे आमाशय आदि ऊपर को उठकर पीठ से सट जायें। वायु बाहर निकालते समय गर्दन और कन्धों की पेशियाँ दृढ़ता से स्थिर रहें और वक्ष संकुचित हो जाय परन्तु वायु भीतर प्रवेश न कर सके। इसके पश्चात् पसलियों को ऊँचे उठाकर श्वास खींचने की चेष्टा करें। इससे वायु का फुफ्फुसों में धीरे-धीरे प्रवेश होगा तथा उदर की तनी हुई पेशियाँ शिथिल हो जायेंगी। इस प्रकार उड्डीयान बन्ध का एक चक्र पूरा होगा।

उड्डयान बन्ध से उदर (abdomin) के आभ्यान्तरिक अंग शिथिल हो जाते हैं। कोष्ठबद्धता, अपच एवं क्षुधा की कमी दूर होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से कुण्डलिनी जागरण में सहायता मिलती है।

उच्च रक्त चाप (High blood pressure) के रोगी, हृद रोगी एवं यक्ष्मा से पीड़ित व्यक्ति का बिना चिकित्सक की सलाह के बन्ध नहीं करने चाहिए।

———

CC0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उत्साहसाहसधैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ।
जनसङ्गपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥
युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

योग साधना करने वाले साधकों को भय, क्रोध और आलस्य तथा बहुत सोना और बहुत जागना एवं अधिक खाना, और उपवास करना सदा वर्जित है। क्योंकि अति आहार बहुत परिश्रम तथा वृथा बहुत बोलना, नियमों का ग्रहण कर किसी नियम में प्रतिज्ञाबद्ध हो जाना, एवं योग साधन के विरोधी लोगों का संग करना, और चंचलता, ये छः योग साधन का नाश करने वाले हैं, इसलिये इनका त्याग करना चाहिये। और उत्साह, साहस, धैर्य, तत्त्वज्ञान, तथा शास्त्र द्वारा अपने कल्याण का दृढ़ निश्चय कर लेना और प्रतिकूल जनसंग का परित्याग करना, ये छः योग की सिद्धि कराने वाले हैं इनको ग्रहण करना चाहिये। जो साधक परिमित आहार और नियमित विहार करते हैं तथा जो नियम से ठीक समय पर सोते जागते हैं और अपने व्यवहारिक कर्म में आवश्यकतानुसार चेष्टा करते हैं उनको सब दुःखों का नाश करने वाला योग सिद्ध होता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अर्थात्—हँस का जप ही वर्णब्रह्म है, इसी के द्वारा ब्रह्म को प्राप्ति हो सकती है। यही परमात्मा है और पुरुष भी यही है इस प्रकार अजपारूप 'हंस' शब्द को ब्रह्मरूप मानकर शरीर से निकलने वाले श्वास-प्रश्वास को अजपा गायत्री माना गया है। यह अजपा गायत्री कुण्डलिनी में उत्पन्न होती है, इसके समान कोई भी जप है, न पुण्य है। 'येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थान निरामयम्' (ध्यानबिन्दूपनिषद्) अर्थात् 'इस कुण्डलिनी के मार्ग द्वारा जाता हुआ साधक निरामय ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है।

शक्तिचालन

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्य मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥४६
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मगारमनामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥४७
प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरुता सह।
सूचीव गुणमादाय ब्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥४८

टीका—उपर्युक्त नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान रूप कन्द के ऊपर कुण्डलिनी आठ प्रकार की होकर ब्रह्मरन्ध्र के मुख को रोककर स्थित हैं। जिस मार्ग से चलते हुए पाप-रहित ब्रह्म-द्वार की प्राप्ति होती है, उसके द्वार को आच्छादित करती हुई कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है। वह बुद्धि के संयोग से जाग्रत् होकर मन और प्राण के साथ सुई के समान सुषुम्ना द्वार में प्रविष्ट होकर ऊपर की ओर चढ़ती है ॥४६-४८

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्याख्या—नाड़ियों के उत्पत्तिकेन्द्र से ऊपर मणिपूर चक्र है, उसमें यह शक्ति अष्टधा होकर सोती रहती है। उससे ब्रह्म-रन्ध्र का मार्ग रुका रहता है। उस कुण्डलिनी का जागरण बुद्धि के द्वारा ही हो सकता है।

ध्यानविन्दूपनिषत् में 'प्रबुद्धा बुद्धियोगेन' के स्थान पर, प्रबुद्धा वह्नियोगेन' कह कर कुण्डलिनी का जागरण अग्नि के संयोग से माना है। यहाँ दोनों ही कथन ठीक हैं, उनमें प्रथम अस्पष्ट और दूसरा स्पष्ट है। क्योंकि बुद्धि का योग होने पर ही साधक योग-साधन में तत्पर होकर अग्नि को उत्तेजित कर सकेगा। अग्नि प्रदीप्त करने की यह क्रिया भी बुद्धि के योग बिना सफलीभूत नहीं हो सकती।

योगकुण्डल्युपनिषत् में कुण्डलिनी को चलाने के दो प्रमुख साधन माने हैं—(१) सरस्वती चालन और (२) प्राण-निरोध। इसलिए विद्वान् योगी दोनों का ही प्रयोग करते है। उक्त उप-निषत् में ही कहा है—

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निभयाच्चालयेत्सुधीः ।
ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुम्नां कुण्डलीगता ॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वयम् ॥

अर्थात्—दो मुहूर्त तक सरस्वती का चालान करके सुषुम्ना नाड़ी को, जो कि कुण्डलिनी के निकट ही होती है, किंचित् ऊपर की ओर आकर्षित करे (खींचे) इस भाँति अभ्यास करने पर कुण्डलिनी सुषुम्ना के मुख में चढ़ने लगती है और उसके साथ प्राण भी स्वयं ही उस स्थान को छोड़कर सुषुम्ना में चलने लगता है।

अवरुद्ध मोक्षद्वार को खोलने के लिए प्राणशक्ति का सुषुम्ना में प्रवेश करना आवश्यक है। 'नाकृतं मोक्षमार्गस्यात् प्रसिद्धं

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पश्चिमं बिना' (यो० शि० उ०) अर्थात् 'पश्चिम मार्ग के प्रसिद्ध (प्रशस्त) हुए बिना मोक्षमार्ग भी प्रशस्त नहीं हो सकता।' योगतत्वोपनिषत् में कहा है—

वायुना सहचित्तं च प्रविशेच्च महापथम्।
यस्य चित्तं स्वपवनः सुषुम्नां प्रविशेदिह॥
भूमिरापोऽनलोवायु राकाशश्चेति पंचकः।
येषु पंचसु देवानां धारणा पंचधोच्यते॥

अर्थात्—जिसका चित्त वायु के सहित सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है, उसके लिए पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंचमहाभूत रूपी देवताओं की पाँच प्रकार की धारणा हो जाती है।

ग्रन्थकार ने कुण्डलिनी को आठ प्रकार की होकर ब्रह्मरन्ध्र को रोके रहना कहा है। इसकी पुष्टि अनेक शास्त्रों ने की है। शाण्डिल्योपनिषत् के अनुसार—

'नाभेस्तिर्यगधोर्ध्वं कुण्डलिनी स्थानम्। अष्टप्रकृतिरूपाऽष्टधा कुण्डलीकृता कुण्डलिनी शक्तिर्भवति।'

अर्थात्—नाभि के पार्श्व में ऊपर की ओर कुण्डलिनी का स्थान है। यह कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकृति स्वरूपा होकर आठ प्रकार से कुण्डल किये हुए है।

प्रसुप्तभुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा।
प्रबुद्धा बह्निनयोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया॥४९
उद्घाटयेत्कपाट तु तथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्॥५०

टीका—सोती हुई कुण्डलिनी सर्प की आकृति की, कमलनाल के तन्तु जैसी होती है, वह अग्नि के संयोग से जाग्रत् होकर

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सुषुम्ना मार्ग से ऊपर चढ़ती है। जिस प्रकार चाबी से ताला खुलता है, वैसे ही कुण्डलिनी-जागरण से योगी मोक्ष के द्वार को खोल लेता है ॥४६-५०

व्याख्या—कुण्डलिनी शक्ति जब तक निद्रा में पड़ी रहती है, तब तक साधक का कोई प्रयत्न सफल नहीं हो पाता। यह शक्ति सर्प के आकार में कुण्डल मारे हुए सोती रहती है। गौतमीय तन्त्र में कहा है—

> मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो।
> तावत् किंचिन्न सिध्येत मंत्रयंत्रार्चनादिकम् ॥
> जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसंचयै।
> तदा प्रासादमायाति मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम् ॥

अर्थात्—जब तक कुण्डलिनी-शक्ति मूलाधार में रहकर सोती है जब तक कोई भी मन्त्र, यन्त्र, पूजा आदि सफल नहीं होते। अनेक पुण्यों के संचय होने पर उनके प्रभाव से जब वह देवी जाग्रत् होती है, तब उसके प्रसाद से मन्त्र, यन्त्र, पूजनादि प्रभावकारी होते हैं।

कुण्डलिनी के दो मुख होते हैं। एक मुख से वह सुषुम्नारंध्र में साढ़े तीन लपेटे लगाये हुए सोती रहती है। इसका दूसरा मुख लकड़ी के प्रहार से आहत सर्पिणी के समान होता है। उसके इसी मुख से शरीर में श्वास प्रश्वास के आवागमन की क्रिया सम्पन्न होती रहती है। कुण्डलिनी का यह मुख सदैव जाग्रत् और क्रियाशील रहता है। इसी मुख से जीव को चेतना और बाह्य ज्ञान बना रहता है परन्तु प्रथम मुख उसके सुप्त होने के कारण निष्क्रिय रहता है, इसलिए मनुष्य आत्मज्ञान अथवा ब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाता। इसीलिए ग्रन्थकार द्वारा 'येन द्वारेण गन्तव्यं इत्यादि उपर्युक्त कथन यह स्पष्ट करता है कि जिस द्वार से जाने पर निरामय ब्रह्मस्थान की

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्राप्ति हो सकती है, उसी द्वार को घेरे हुए वह सोई पड़ी रहती है।' इसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि कुण्डलिनी के जाग्रत होकर ऊपर चढ़ने पर ही वह मोक्ष देने वाली सिद्ध हो सकती है।

शक्तिचालिनी मुद्रा

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढ़रं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेति।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैतिबोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ॥५१

टीका—दोनों हाथों की अञ्जली बाँधकर दोनों कुहनियों को दृढ़ता से हृदय पर रखकर पद्मासन करे। ठोड़ी को हृदय दृढ़ता से लगाकर ज्योतिरूप ब्रह्म का ध्यान करे। प्राणायाम द्वारा वायु खींचकर उसे अपान वायु से मिलावे और कुम्भक द्वारा वायु को रोककर धीरे-धीरे छोड़ दे। ऐसा करने से साधक को कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव का अतुलित बोध होता है अथवा शक्ति जाग्रत होती है ॥५१॥

व्याख्या—यहाँ ग्रन्थकार ने पद्मासन लगाकर जालन्धर बन्ध करने का संकेत किया है, जिसके करने से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण हो सकता है। यह शक्तिचालिनी मुद्रा भी कहलाता है। यह मुद्रा दीर्घकाल के अभ्यास से सिद्ध हो सकती है।

शक्ति चालिनी मुद्रा का विस्तृत वर्णन घेरण्ड संहिता में इस प्रकार मिलता है—

नाभिं सम्वेष्टय वस्त्रेण न च नग्नो बहिःस्थितः।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वितस्तिमितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलम् ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बर लक्षणम् ।।
एवंमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत् ।
भस्मनागात्र संलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत् ।।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपानेयोजयेद्बलात् ।
तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया ।।
यावद्गच्छेतसुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेत् हठात् ।
तदावायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी ।।
बद्धश्वासस्ततोभूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ।
शक्तींविनाचालनेन योनिमुद्रा न सिद्धयति ।।

अर्थात्—नाभि को वस्त्र से लपेट कर शक्तिचालिनी मुद्रा का एकान्त स्थान से अभ्यास करे। नग्नावस्था में इस मुद्रा का साधन कभी बाहर न करे। बिलाँदशर चौड़ा और चार अँगुल लम्बा श्वेत कोमल वस्त्र नाभि पर रखे और उसे कटिसूत्र से बाँधे। देह पर भस्म लगाकर और सिद्धासन से बैठ कर प्राण को खींचे और अपान से संयुक्त करे। सुषुम्ना के द्वार से गमन करती हुई वायु जब तक प्रत्यक्ष न हो तब तक अश्विनी मुद्रा से गुदा का संकोच करना चाहिए। इस प्रकार वायु के रुकने से सर्पाकार कुण्डलिनी जगाकर ऊर्ध्वमार्ग में स्थित होती है। इस शक्तिचालिनी मुद्रा के बिना योनिमुद्रा की सिद्धि नहीं होती।

इसमें पद्मासन के स्थान पर सिद्धासन करने का निर्देश है। महर्षि-गोरक्षनाथ ने इस मुद्रा को इतना स्पष्ट नहीं किया, जितना कि महर्षि घेरण्ड ने किया है।

योगी की चर्या कथन

अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जातवारिणा।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ।।५२

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥५३
संधिग्धो मधुराहारी चतुर्थांशविवर्जिताः ।
भुञ्चते स्वरस प्रीत्यै मिताहारी स उच्यते ॥५४
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिः शुभमोक्षप्रदायिनी ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥५५

टीका—उक्त मुद्रा के अभ्यास के कारण शरीर के अङ्ग में जो पसीना आता है, उसे अङ्गों में ही मल लेना चाहिए । लवण और अम्ल रसों से युक्त भोजन न करे वरन् दूध पीकर ही रहे । इस प्रकार अल्पभोजी, सर्व त्यागी और योगपरायण रहे । इसका एक वर्ष से अधिक समय अभ्यास करने से सिद्धि हो सकती है । इसमें कोई विचार नहीं करना चाहिए । सुखद, स्निग्ध, मधुर आहार करे, चौथाई पेट खाली रखे । भोजन करने से पूर्वइष्टदेव को निवेदन करे, वह योगी मिताहारी कहलाता है । केन्द्र के ऊपर शुभ मोक्ष के देने वाली कुण्डलिनी शक्ति स्थित है । यह अज्ञानियों के लिए बन्धन में रखने वाली है । उसे जो जानता है, वही वेदों को जानने वाला है ॥५२-५५

व्याख्या—योगाभ्यास के परिश्रम से शरीर के अङ्गों में पसीना आता है, उसे अंगों में ही मल लेने का विधान है । अन्य ग्रन्थों में भी ऐसा ही कथन मिलता है । ध्यानबिन्दूपनिषत् से भी इसकी पुष्टि होती है ।

योगी को मिताहार करना चाहिए । उसमें आधे पेट भोजन करना, चौथाई पेट को जल से भरना और शेष चौथाई खाली रखना चाहिए । यही मिताहार कहा जाता है । शक्तिचालनार्थ इसकी अत्यन्त अपेक्षा है । योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः ।।
एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम्।
सुस्निग्धमधुराहारचतुर्थांशावशेषकः ।।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते।

अर्थात्—साधक प्रथम प्राण को जीते इसके लिए उसे मिताहार, आसन और शक्तिचालन करना चाहिए। हे गौतम ! तुझे इनके लक्षण बताता हुँ उन्हें आदर सहित सुन। स्निग्ध और मधुर आहार करे और उदर का चौथाई भाग खाली रखे, इस प्रकार भगवान् की प्राप्ति के उद्देश्य से भोजन किया जाय, वही मिताहार कहलाता है।

कुण्डलिनी शक्ति ही योगी के लिए मोक्ष देने में कारण रूप है। वह अज्ञानियों के लिये बन्धनकारिणी इसलिए है कि अज्ञानी अपने अज्ञान के कारण उसके विषय में जानते ही नहीं तो उसे जगावेंगे ही कैसे ? ज्ञानी पुरुष उसकी शक्ति के विषय में परिचित होते हैं। और उसे जगाने की क्रिया जानते हैं। इसीलिए वह उनको मोक्ष प्रदान करने वाली हो जाती है।

विभिन्न ग्रन्थों में इसके चालनार्थ विभिन्न क्रियाओं का वर्णन विलता है। कहीं पद्मासन, कहीं सिद्धासन तो कहीं वज्रासन लगाकर। योगकुण्डल्युपनिषत् में ही कहा है—

बामांघ्रिमूलं कन्दाधः अन्यं तदुपरि क्षिपेत्।
समग्रीवशिरः कायो वज्रासनमितीरितम् ।।
कुल्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद् बुधः।
स्वस्थानादाभ्रुवोमध्यं शक्तिचालनमुच्यते ।।

अर्थात्—बाँये पांव की एड़ी को योनिस्थान में रखकर दाँये पाँव की एड़ी उसके ऊपर रख ले। ग्रीवा और शिर को समान

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur, MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तथा सीधा रखे तो यह वज्रासन होता है। कुण्डलिनी ही मुख्य शक्ति है, ज्ञानी साधक उसका चालन करके दोनों भौंहों के मध्य में ले जाता है, वही चक्ति चालन है।

शक्तिचालन के विषय में अन्यत्र कहा है—

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम्।
श्वेतं तु मृदुलं प्रोक्त वेष्टिपं वरलक्षणम्॥
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम्।
गुल्फदेशे समीते च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्॥
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्॥

अर्थात्—मूल स्थान से बिलांद भर ऊपर नाभि और मेढ़ के मध्य नौ अंगुल लम्बा और चार अंगुल चौड़ा, पक्षी के अण्डे के आकार का, शुभ-कोमल वस्त्र से लपेटा जैसा कन्द है। वज्रासन द्वारा पाँवों की एड़ियों को हाथों से पकड़ कर उस कन्द स्थान में दृढ़ता पूर्वक लगाकर उसको पीड़ित करे। इस प्रकार वज्रासन से बैठकर शक्ति चालिनो मुद्रा द्वारा कुण्डलिनी को चलायमान कर भस्त्रा कुम्भक करता हुआ कुण्डलिनी शक्ति को शीघ्र जाग्रत करे।

पञ्चमुद्रा कथन

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धश्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः॥५६

टीका—महामुद्रा, नभोमुद्रा, अड्डीयान बन्ध, जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध, इनका करना जो जानता है, वही योगी मुक्तिभाजन होता है॥५६

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्याख्या—उक्त पाँच मुद्राएँ प्रमुख हैं। शक्तिचालन का अभ्यास होने पर भी उक्त मुद्राएँ करते रहना चाहिए। अनेक विद्वान् महामुद्रा और नभोमुद्रा दोनों को प्रमुख मुद्राएँ मानते हैं। नभोमुद्रा और खेचरी मुद्रा में कोई अन्तर नहीं है, वरन् खेचरी नाम अधिक प्रसिद्ध है। घेरण्ड संहिता में इन दोनों का पृथक्-पृथक् वर्णन मिलता है।

यहाँ जिन तीन बन्धों की चर्चा हुई है, वे भी मुद्राओं के अन्तर्गत हैं। योगवेत्ताओं ने इनके अभ्यास पर भी बहुत बल दिया है। योगकुण्डल्युपनिषत् में भी कहा है—

बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः।
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयाणाभिधः।
जालन्धरस्तृयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते॥

अर्थात्—योगी को पापनाशक तीन बन्ध अवश्य करने चाहिए। उनमें प्रथम मूल बन्ध, दूसरा उड्डीयान बन्ध और तीसरा जालन्धर बन्ध कहलाता है।

महामुद्रा

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा।
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्॥
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनैःरेचयेे।
देषाव्याधिनाशिनौ सुमहती मुद्रानृणां कथ्यते॥५७
चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्यांगेनाभ्यसेत्पुनः।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्॥५८

टीका—हृदय में ठोड़ी को दृढ़ता से धारण कर दाँये पाँव की एड़ी को योनि स्थान पर दबावे और दाँये पाँव को लम्बा

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करके और दोनों हाथों से पाँव को मध्य से पकड़ले। फिर पूरक द्वारा उदर में वायु भरकर कुम्भक द्वारा समय रोके और तत्पश्चात् धीरे-धीरे निकाल दे। यह रोगों को नष्ट करने वाला श्रेष्ठ महामुद्रा कहलाती है। इसके अभ्यास का आरम्भ पहले चन्द्रनाड़ी से करे और फिर सूर्य नाड़ी से। इस प्रकार जब दोनों ओर के प्राणायाम समान मात्रा में हो जाँय तब मुद्रा को छोड़ दे ॥५७-५८

व्याख्या — उक्त महामुद्रा सब प्रकार के रोगों को नष्ट करती है प्राय सभी योग-ग्रन्थों में इनका वर्णन मिलता है। ग्रहयामल में इस मुद्रा का वर्णन इस प्रकार से मिलता है।

पादमूलेन वामेन योनि सम्पीड्य दक्षिणे।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढ़म् ॥
कण्ठेवक्त्रं समारोप्य धारद्वायुमूर्ध्वतः।
यथादण्डाहतः सर्पो दण्डकारः प्रजायते ॥
ऋज्वीभूता तथा शक्तिःकुण्डली सहसाभवेत्।
तदाऽसामरणावस्था जायते द्वितपुटाश्रिता ॥
तदा शनैः शनैः रेव रेचयेत नवेगतः।
इयं खलुमहामुद्रा तवस्नेहात् प्रकाश्यते ॥

अर्थात्–बाँयी एड़ी से योनिस्थान को दबाकर दांये पाँव को पसारे और मुख को दोनों हाथों से पकड़ कर और कण्ठ को सिकोड़कर कुम्भक द्वारा वायु को रोके। इसके अभ्यास से जैसे डण्डे द्वारा पीटा गया सर्प डंडे के समान खड़ा हो जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति सहसा खड़ी हो जाती है। इस प्रकार दोनों पुटों से प्राणायाम की साम्य अवस्था हो जाय, तब वायु को धीरे-धीरे निकाल दे। इसी को महामुद्रा कहते हैं।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

घेरण्ड संहिता में वर्णन संक्षेप में, परन्तु बहुत स्पष्ट रूप से मिलता है—

वायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्यार्थ केधृतं पदांगुलः।
कण्ठ संकोचनं कृत्वा भुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥

अर्थात्—गुदा स्थान को बाँयो एड़ी से दृढ़ता-पूर्वक दबाकर बाँये पाँव को फैलावे और हाथ से पाँवों की अँगुलियों को पकड़े और कण्ठ को सिकोड़कर भौंहों के मध्य स्थान में दृष्टि लगावे। विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है।

महामुद्रा का फल कथन

तर्हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं बिषं घोरं पीयूषमिव जोर्यंते ॥५९
क्षयकुष्ठमुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत्।६०
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥६१

टीका—महामुद्रा का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर पथ्य,अपथ्य और मिष्ठ, कटु, तिक्त, लवण, अम्ल आदि रसों का स्वाद और विचार कुछ भी शेष नहीं रहता। यदि घोर विष का भी भक्षण कर ले तो वह अमृत के समान हो जाता है। इससे क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्फ, अजीर्ण आदि रोगों का भी शमन हो जाता है।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यह महामुद्रा अत्यन्त सिद्धि करने वाली है, जिसे प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखे और अनधिकारी को कभी न दे ।।५९-६१

व्याख्या—महामुद्रा का अभ्यास सिद्ध हो जाने पर योगी को पथ्य-अपथ्य का कोई विचार नहीं रहता और न उसे मीठे, खट्ठे, कड़ुवे आदि का स्वाद ही आता है। उसमें घोर विष को भी अमृत के समान पचा लेने की शक्ति आ जाती है। यह मुद्रा सभी रोगों को नष्ट करने में भी अत्यन्त प्रभावकारी है। हठयोग प्रदीपिका में कहा है—

इयं खलु महामुद्रा महासिद्धिः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ।।

अर्थात्—यह महामुद्रा महान् सिद्धि को प्रत्यक्ष करने वाली है। इसके अभ्यास से (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी पाँचों) महाक्लेश आदि दोष एवं जन्म-मरणादि नष्ट होते हैं।

शाण्डिल्योपनिषत् के अनुसार भी यही सिद्ध होता है—

वामपादमूलेन योनिं संपीड्य दक्षिण पाद प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत् । तेन सर्वक्लेशहानिः । ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते ! क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वागादिदोषा नश्यन्ति । एष प्राणजयोपायं सर्वमृत्यूपघातकः ।।

अर्थात्—बाँये पाँव के मूल से ब्रह्मरन्ध्र को दबा कर दाँया पाँव पसारे और उसे दोनों हाथों से पकड़े। फिर दोनों नासापुटों द्वारा वायु भरकर कण्ठबन्धन के ऊपर चढ़ावे और ऊपर उठी वायु को रोक ले। इससे सभी क्लेशों का नाश होता है, विष भी अमृत के समान पच जाता है। क्षय, गुल्म, गुदावर्त और पुराने चर्म रोग नष्ट होते है। प्राण को जीतने का यह उपाय सर्व मृत्यु का नाश करने वाला है।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस मुद्रा का अन्य योग शास्त्रों में भी इसी प्रकार वर्णन मिलता है। परन्तु अधिक विस्तार यहाँ अभीष्ट नहीं।

खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥६२
न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न मूर्च्छा तु भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।६३

खेचरी मुद्रा का फल

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्यते कर्मणा।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥६४

खेचरी मुद्रा का फल

चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ॥६५

टीका—जिह्वा को उल्टी लौटाकर कपाल कुहर में प्रविष्ट करे और दृष्टि को भौंहों के मध्य स्थिर कर ले। यह खेचरी मुद्रा होती है। जो योगी खेचरी मुद्रा को जानता है, उसे रोग, मृत्यु, निद्रा, क्षुधा, तृषा और मूर्छा से पीड़ित नहीं होना पड़ता। न उसे शोक होता है, न कर्म का बंधन। जो खेचरी मुद्रा को सिद्ध कर लेता है उसे भव-बन्धन में नहीं पड़ना होता। जिस योगी का चित्त चंचल नहीं होता और जिसकी जिह्वा खेचरी में रमण करती है, उनके लिए यह सभी सिद्धों द्वारा नमस्कार की हुई खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है ॥६२-६५

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्याख्या—जिह्वा को ऊपर की ओर लौटा कर कपालरन्ध्र में प्रवेश कराने से खेचरी मुद्रा होती है। यह अत्यन्त प्रभावशालिनी होने के कारण सभी सिद्धों द्वारा पूजनीया है। शाण्डिल्योपनिषत् में खेचरी मुद्रा का जो विस्तृत वर्णन मिलता है, उसे यहाँ संक्षेप में बताते हैं—

इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्।
तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥

छेदन चालन दोहन, कलां परा जिह्वा कृत्वा दृष्टि भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते। जिह्वां चित्तं च खे चरति, तेनोर्ध्वजिह्वः पुमानमृतो भवति ॥

अर्थात्—इडा और पिंगला के मध्य जो शून्य भाग है, वह वायु को ग्रस लेता है। वहीं खेचरी मुद्रा रहती है और वहीं सत्य रहता है। छेदन, चालन और दाह के द्वारा जिह्वा को नौंकदार बनाकर, भृकुटियों के मध्य भाग में दृष्टि स्थिर कर ले। फिर जब कपाल के छिद्र में जिह्वा उलटी होकर जाने लगती है, तब खेचरी मुद्रा बनती है। इससे जीभ और चित्त दोनों ही कपालछिद्र रूपी आकाश में विचरण करते हैं, तब ऊपर गई हुई जीभ वाला वह पुरुष अमर हो जाता है।

बिन्दुमूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठताः।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम् ॥६६
खेचर्या मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥६७
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्योर्भयं कुतः।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥६८

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

टीका—विन्दु शरीर का मूल है, यह पाँव से शिर पर्यन्त प्रतिष्ठित रहता है। इसी से शिराओं में सजीवता और अपने की सामर्थ्य रहती है। जिसने खेचरी मुद्रा को कण्ठछिद्र की लम्बिका के ऊपर रोक लिया, उस योगी का बिन्दु कामिनी के आलिंगन से भी क्षरित नहीं होता जब तक शरीर में बिन्दु स्थित रहता है, तब तक मृत्यु का भय कहाँ ? जब तक नभो-मुद्रा दृढ रूप में बँधी रहती है, तब तक बिन्दु चलायमान नहीं होता ॥६६-६८

व्याख्या—इस नभोमुद्रा का तात्पर्य खेचरी मुद्रा से ही है। अन्य शास्त्रान्तर्गत खेचरी से पृथक् नभोमुद्रा से अभिप्राय नहीं समझना चाहिए। इसमें जिह्वा भी कण्ठमूल के छिद्र रूपी आकाश में स्थित होकर ब्रह्मरन्ध्र में संचित होने वाले अमृत का पान करती है, इसीलिए इस मुद्रा के प्रति श्रद्धा रखते हुए सभी सिद्धजन इसे पूजनीया मानते और नमस्कार करते हैं।

पाँव से शिर पर्यन्त बिन्दु के स्थित रहने का तात्पर्य स्पष्ट है कि बिन्दु शरीर के सर्वांग में रहकर उसे प्राणित करता रहता है और शरीर की सभी नाड़ियाँ बिन्दु से व्याप्त रहकर ही अपने अपने कार्य का संचालन ठीक प्रकार से कर सकती हैं। इसका अर्थ यह भी है कि शरीर के जिस अवयव में बिन्दु (वीर्य) अपने सही अनुपात में नहीं पहुँचता वह अङ्ग निर्बल और निष्प्राण हो जाता है।

खेचरी मुद्रा के अभ्यास से बिन्दु कण्ठनाल की छिद्रलम्बिका में ही रुक जाता है। उस समय योगी पर किसी कामिनी द्वारा आलिंगन किये जाने का भी प्रभाव नहीं पड़ता। बिन्दु की स्थि-रता के कारण उस योगी के चित्त में चंचलता नहीं आ पाती।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अथवा यह भी कह सकते हैं कि बिन्दु की स्थिरता या अस्थिरता का कारण मन ही है। योगकुण्डल्युपनिषत् ने यही मत व्यक्त किया है। उसके अनुसार—

मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् ।
न च वन्धनमध्यस्थं तद्वै कारणमानसम् ।।

अर्थात्—यह बिन्दु मन से ही उत्पन्न होता है, जैसे कि दूध से घृत की उत्पत्ति होती है। उस बिन्दु में कुछ भी बन्धन नहीं है, वरन् जो कुछ भी बन्धन है, वह सब मन का ही है।

'वायुं बिन्दु तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत्' (यो. कु. उ.) के अनुसार प्राणवायु, बिन्दु, चक्र और चित्त का ठीक प्रकार से अभ्यास करके योगीजन ऐक्य रूपी समाधि तक पहुँच जाते और अमृतत्व को प्राप्त होते हैं।

बिन्दु की स्वस्थान में पुनः स्थिरता

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।
ब्रजत्यूर्ध्वं हृते शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ।।६९
स पुनर्द्विविधो विन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरः शुक्रमित्यहुर्लोहिताख्यो महारजः ।।७०
सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः ।
शशिस्थाने स्थितो विन्दुस्तयोरेक्यं सुदुर्लभम् ।।७१

टीका—यदि कभी चित्त की चंचलतावश बिन्दु च्युत होकर नाभिस्थान में पहुँच भी जाय तो योनिमुद्रा के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को ऊपर उठा ले। इससे बिन्दु पुनः अपने स्थान में लौट कर स्थिर हो जायगा। वह बिन्दु दो भाँति का होता है—(१) पाण्डुर वर्ण का और (२) लोहित वर्ण वाला महाराज कहलाता

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। तैल-मिश्रित सिन्दूर के द्रव के समान वह रज नाभिमंडल में स्थित है और चन्द्र स्थान में बिन्दु रहता है। इन दोनों का ऐक्य अत्यन्त दुर्लभ समझना चाहिए ॥६९-७१

व्याख्या—यह संभव है कि चित्त में किसी प्रकार से विकार उत्पन्न हो जाय और उसके चंचल होने पर बिन्दु अपने स्थान से क्षरित होने लगे। उस समय खेचरी मुद्रा के द्वारा तालु का छिद्र बन्द कर लेने से बिन्दु अपने स्थान पर जा चढ़ेगा।

शास्त्रकार ने शुक्र और रज का भेद बताते हुए कहा है कि शुक्र का रंग श्वेत और रज का रंग लाल होता है। नाभिमण्डल के सूर्य स्थान मे रज का और षोडशाधारचक्र में रज स्थान है। उनका परस्पर मिलना बहुत ही कठिन है।

बिन्दु-रज के ऐक्य से परमपद प्राप्ति

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥७२
वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेदिद्दव्यं वपुस्ततः ॥७३

सूर्य-चन्द्र का समरसैकत्व

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥७४
शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥७५

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

टीका—बिन्दु शिव है और रज शक्ति अथवा चन्द्रमा बिन्दु और सूर्य रज है। इन दोनों के संयोग से परम शरीर की प्राप्ति होती है। वायु के द्वारा शक्ति का चालन करने से जब रज आकाश को प्ररित होकर बिन्दु के साथ मिल जाता है तब शरीर दिव्य बन जाता है। शुक्र बिन्दु रूपी चन्द्र से युक्त है और रज सूर्य से समन्वित है जो इन दोनों की समरसता को जानता है, वही योग का ज्ञाता है। नाड़ी जाल के शोधनार्थ चन्द्र-सूर्य को संयुक्त किया जाता है। यह रसों का ठीक प्रकार शोषण करने वाली महामुद्रा कहलाती है ।।७२-७५

व्याख्या—बिन्दु को शिव या चन्द्रमा स्वरूप मान कर रज को शक्ति या सूर्य स्वरूप कहा है। इन चन्द्रमा और सूर्य का मिलना कोई साधारण कार्य नहीं है, यह ऊपर कह चुके हैं। परन्तु योगी को तो इनका मिलन कराना ही होता है। यहाँ चन्द्र-सूर्य के मिलन से अभिप्राय प्राणवायु और अपान वायु का ऐक्य करने से है। बिन्दु रूपी शुक्र या चन्द्रमा से और रक्तवर्ण के रज का सूर्य से समरस हो जाना योगी के लिए परमाश्यक है। जो योगी इसे नहीं जानता, वह योग के विषय में कुछ भी नहीं जानता। ऐसा करने पर ही जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्य संभव होता है।

प्राण अपान को मिलाने की क्रिया पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। इसी से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर ऊपर चढ़ती हुई शिव से संयुक्त होती है। परन्तु यह क्रिया सुगमता से नहीं हो सकती। इसके लिए पूर्ण जानकारी और पत्पश्चात् अत्यन्त अभ्यास की आवश्यकता होती है। जो लोग केवल पढ़-सुनकर ही इस क्रिया को करने लगते हैं, वे अनेक प्रकार की हानि उठा सकते हैं।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

योगाभ्यास में शरीरस्थ मलों का शोधन भी अत्यावश्यक होता है। इसके लिए नाड़ी-शोधन को बहुत महत्व दिया गया है। नाड़ी-शोधन से नाड़ियों में रहने वाले वात, पित्त, कफ की विकृति दूर हो जाती है और चन्द्र-सूर्य का चालन होने से भोजन पानादि का शोषण होता है। अथवा यों कहना चाहिए कि सब भोजन-पानादि इस क्रिया के द्वारा परिपक्वता को प्राप्त होकर शरीर में रम जाते हैं और इस प्रकार भोजन-पानादि से होने वाले विकार रोगी को पीड़ित नहीं करते। ऐसी क्रिया से युक्त होने के कारण ही महामुद्रा को रोगनाशिनी तो कहा ही है, साथ ही 'एषा पातकनाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते (ध्या. वि. उ.) अर्थात् 'इस महामुद्रा को पाप-नाशिनी भी कहते हैं।

उड्डीयान बन्ध

उड्डयानं कुरुते यस्मादविश्रांते महाखगम् ।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥७६

उड्डीयान का स्थान

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते ।
उड्डीयानो ह्ययं वन्धस्तव बन्धो निगद्यते ॥७७

टीका—उड्डीयान बन्ध के लिए जैसे महाखग विश्राम करता है, वैसे ही उदर की पश्चिम ताण को नाभि के ऊपर करना चाहिए। उदर से पश्चिम में और नाभि से नीचे इस बन्ध का स्थान बतलाया जाता है ॥७६-७७

व्याख्या—उड्डीयान वन्ध के बिषय में अन्य ग्रन्थों में भी कहा है कि नाभि से नीचे ऊपर के भाग को उदर के पीछे इस

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रकार खींचे जिससे वह उदर में ही लग जाय। योगतत्वोपनिषत् में कहा है—

बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूडडीयते यतः।
उड्यणाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः॥

अर्थात्—जिससे बँधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उठ जाय, उसे योगीजन उड्डियानबन्ध कहते हैं।

जालन्धर बन्ध

बध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलम्।
ततो जालंधरों बन्धोः कण्ठदुःखौघनाशनः॥७८
जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।
न पीयूष पतत्यग्नौ न वायुः प्रकुप्यति॥७९

टीका—जो बन्ध कण्ठदेश में होता और शिरोजाल का बन्धन करता हुआ चन्द्रामृत रूप जल कपाल कुहर से नीचे गिरने से रोकता है, वह दुःखों और रोगों का नाश करने वाला जालन्धर बन्ध होता है। कण्ठ को संकुचित कर वायु को रोकना ही जालन्धर बन्ध माना गया है। इससे चन्द्रामृत गिरकर अग्नि में पड़ने से रुका रहता है। इस बन्ध के अभ्यास से वायु का प्रकोप नहीं हो पाता।

व्याख्या—कण्ठ का संकोच करके प्राणवायु का अवरोध करना ही इस बन्ध की प्रमुख क्रिया है। योगतत्वोपनिषत् के अनुसार—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढ़या धिया।
बन्धोजालन्धराख्योऽयं मृत्युमातंगकेसरी॥

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अर्थात्—कण्ठ को सिकोड़ कर दृढ़ता पूर्वक छाती पर रखने से जालन्धर बन्ध होता है, जोकि मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान है।

हठयोगप्रदीपिका में भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं। यथा—

कण्ठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढ़म्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः॥

अर्थ—उपर्युक्त के समान है, केवल 'मृत्युमातंगकेसरी' के स्थान पर 'जरामृत्यु विनाशक' कहने भर का परिवर्तन है।

मूलबन्ध

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलवन्धो विधीयते ॥८०
अपानप्राणयौरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥८१

टीका—अपान वायु को ऊपर की ओर खींचकर प्राणवायु से मिलावे और पाँव की एड़ी से योनिस्थान को दृढ़ता से दबा कर गुह्यद्वार को सिकोड़े, यह मूलबन्ध कहलाता है। इस प्रकार जो साधक अपना और प्राणवायु को मिलाने के अभ्यास में लगा रहता है, उसके मूत्र और मल नष्ट हो जाते हैं। यदि वह वृद्ध हो तो युवा हो जाता है ॥८०-८१

व्याख्या—प्राण और अपान को मिलाने से मूलबन्ध होता है, यह सामान्य सिद्धान्त है। योगतत्वोपनिषत् के अनुसार इस क्रिया का नाम योनिबन्ध भी है। उसमें इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम् ।
अपानमूर्ध्वमत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते ॥
प्राणापानौ नादबिन्दु मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धि यच्छतो नात्र संशयः ॥

अर्थात्—एड़ी के द्वारा योनि स्थान को दबाकर भीतर की ओर खींचे। इस प्रकार अपान वायु को ऊपर की ओर उठाकर प्राणवायु से मिलने पर योनिबन्ध होना कहलाता है। इस भाँति प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता प्राप्त होती है। यह योग निःसंदेह सिद्धि के प्राप्त कराने वाला है।

शिव संहिता में भी मूलबन्ध को जरा-मरण नाशक और योनिमुद्रा को सिद्ध करने वाला कहा गया है—

पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत् ॥
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ।
अपान प्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ॥
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ।
सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ॥

अर्थात्—एड़ी से गुह्यमार्ग को आकुंचित करके पीड़ित करे और बलपूर्वक अपान वायु को आकर्षित करके ऊपर की ओर चढ़ाने से यह मूलबन्ध जरा-मृत्यु को नाश करने वाला है। इस प्रकार कल्पित हुए बंध से अपान और प्राण को एक करे तो मूलबन्ध के द्वारा योनिमुद्रा स्वयं ही सिद्ध हो जाती है और योनिमुद्रा के सिद्ध होने पर सिद्ध पुरुषों का इस जगत् में क्या सिद्ध नहीं हो सकता ? इस मूलबन्ध के प्रभाव से योगी वायु को जीतकर आकाश गमन की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आत्मा के समान जानकर उनका त्याग कर देता है। यह रसना विषयक प्रत्याहार समझना चाहिए।

उक्त पाँच विषयों से, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को वृत्तियों को हटा कर आत्मतत्व में स्थिर करना आवश्यक है, इससे तद्विषयक प्रत्याहार सिद्ध होता है।

इसका अभिप्राय यह है कि सुने हुए कटु शब्द को मधुर शब्द के समान माने और मधुर शब्द को कटु शब्द के समान। इस प्रकार अच्छे शब्द मन को आकर्षित न होने दे और बुरे शब्द से घृणा न करे, सब प्रकार के शब्दों को समान भाव से ग्रहण करता हुआ चित्त को लगने दे।

इसी प्रकार नासिका से रुचिकर पदार्थों को सूँघे या अरु-चिकर पदार्थों को उनमें असमानता न माने और नेत्रों से लुभावने पदार्थों को, देखे या घृणित पदार्थों को, सभी में समता का भाव रखकर चित्त को उनसे हटाये रखे। इसलिए सब दृश्यमान पदार्थों को आत्मवत् मानने का उपदेश है यही सिद्धान्त त्वचा से स्पर्श योग्य या अस्पर्श योग्य पदार्थों और जीभ से सुस्वादु या कुस्वादु पदार्थों के प्रति भी मान्य समझना चाहिये। इस प्रकार प्रिय या अप्रिय विषयों को इन्द्रियों से हटाकर आत्मतत्व में स्थित करना ही प्रत्याहार है।

हठयोग से प्रत्याहार

चन्द्रामृतमयी धारां प्रत्याहरति भास्करः।
प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उच्यते ॥३०

टीका—चन्द्रमा की अमृतमयी धारा को सूर्य ग्रसता है, उसे सूर्य से हटाकर स्वयं ग्रस ले, वह प्रत्याहार कहलाता है ॥३०

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्याख्या—प्रत्याहार का वर्णन हठयोग के अन्तर्गत आता है। सोलहदल के कमल की कर्णिका में जो चन्द्रबिम्ब स्थित है, उससे निकलने वाले अमृत की धारा को नाभिकमल में विद्यमान सूर्य ग्रास करता है। विपरीतकरिणीमुद्रा के द्वारा उस धारा को सूर्य के मुख से निकालकर अपने मुख में ले जाय, यह प्रत्याहार कहलाता है।

श्लोक में विपरीतकरिणी मुद्रा की ओर संकेत है। इसका विवेचन हठयोग प्रदीपिका में इस प्रकार मिलता है—

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रामृत दिव्यरूपिण: ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्य स्तेन पिंडो जरायुत: ।।
ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरध: शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ।।

अर्थात्—'दिव्य सुधामय रूप वाले तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जो अमृत गिरता है, उस सब अमृत का नाभि में स्थित अग्नि रूप सूर्य ग्रास कर लेता है। उससे शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।' उस अमृत की रक्षा के लिए योगाचार्यों ने विपरीतकरणी मुद्रा का विधान किया जो कि इस प्रकार सिद्ध होती है कि 'जिस योगी के ऊपरी भाग में नाभि और नीचे के भाग में तालु है, उसके ऊपर के भाग में अग्नि रूप सूर्य और नीचे के भाग में अमृतरूप चन्द्रमा हो जाय, तब विपरीतकरिणी मुद्रा होती है। इसका अभिप्राय यह है कि ऊपर स्थित चन्द्रमा और नीचे स्थित अग्नि को उलटा करके स्थित हो वह विपरीतकरिणी मुद्रा होगी। परन्तु यह मुद्रा गुरु के उपदेश से ही सिद्ध हो सकती है।

एक स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्रमंडलात् ।
तृतीयो य: पुनस्ताभ्यां स भवेदजरामर: ।।३१

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

टीका—एक स्त्री भोग्या है और भोगने वालों के पास चन्द्र मण्डल से प्राप्त होती है, उसे यदि तीसरा भोगे तो अजर, अमर हो जाता है ॥३१

व्याख्या—यहाँ एक स्त्री का अर्थ है अमृत की वह धारा जो कि चन्द्रमण्डल के स्थान तालुमूल से निकलती है। दोनों का अभिप्राय चन्द्रमा और सूर्य है। चन्द्रमा से निकली हुई अमृतधारा अग्निरूप सूर्य को प्राप्त होती है। इसमें तीसरा वह योगी समझना चाहिए जो विपरीतकरणी मुद्रा द्वारा अमृत-धारा को चन्द्र-सूर्य दोनों से बचाकर स्वयं उसका उपभोग करता है। उस योगी को वृद्धावस्था और मृत्यु का भय नहीं रहता अर्थात् उस अमृतधारा का भोग करने वाला योगी किसी भी रोग-व्याधि के चंगुल में न फँसकर सदा स्वस्थ रहता है, जिससे कि बुढ़ापा उसे नहीं घेर पाता और इस प्रकार वह मृत्यु से बचा रहता है।

विपरीतकरिणी मुद्रा

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो देहनात्मनः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमा ।३२
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रोग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः ।
ज्ञातव्या करणी तत्र यथा पीयूषमाप्यते ।।३३

टीका—अग्नि रूपी एक सूर्य नाभि में रहता है और अमृत रूपी आत्मा वाला चन्द्रमा सदा तालुमूल में निवास करता है। तालुमूल में नीचे की ओर मुख करके रहने वाला चन्द्रमा जिस अमृत की वर्षा करता है, उसे ऊपर की ओर मुख किये हुए

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अग्निरूपी सूर्य नाभि में रहता हुआ ही पान कर लेता है। परन्तु जो योगी विपरीतकरिणी मुद्रा को जानते हैं, वे उस अमृत को अग्नि के मुख से बचाकर अपने मुख में लेते रहते हैं ॥३२-३३

व्याख्या—चन्द्रमा का निवास तालुमूल स्थित विशुद्ध चक्र में माना जाता है। वहाँ से सुधारस का स्राव होता रहता है, जिसे नाभिमण्डल में स्थित अग्नि पी लेता है। यदि वह अमृत उस अग्नि के द्वारा ग्रास किया जाने से बचा रहे तो उस अमृत को कोई रोग नहीं हो सकता और वह सदा स्वस्थ रहता है।

योगाभ्यास में साधक का स्वस्थ रहना अत्यावश्यक है। अस्वस्थ शरीर अभ्यास में बाधक होता है, क्योंकि शरीर के स्वस्थ न रहने पर मन भी स्वस्थ नहीं रह सकता और उस स्थिति में योगाभ्यास करना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। इसलिए योगाचार्यों ने आसती, मुद्राओं आदि के द्वारा शरीर को निरोग और सुपुष्ट बनाये रखने की आवश्यकता बताई है।

उर्ध्वं नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं सूर्यरधःशशी।
करणी विपरीताख्या गुरूपदेशेन लभ्यते ॥३४

टीका—नाभि में स्थित अग्नि रूपी सूर्य को ऊपर और तालुमूल में स्थित अमृतमय चन्द्रमा को नीचे करना ही विपरीत करिणी नाम की मुद्रा है, जो कि गुरु के उपदेश से ही प्राप्त होती है ॥३४

व्याख्या—अग्नि को ऊपर और चन्द्रमा को नीचे की ओर करने से विपरीतकारिणी मुद्रा होती है। यह मुद्रा गुरु के तत्वाधान में ही उपलब्ध करनी चाहिए। इससे पहले प्राणायामादि के अभ्यास और खेचरी मुद्रा के साधन में दृढ़ता प्राप्त कर लेनी चाहिए।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अनाहत चक्र

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रोरवीति महास्वनः ।
अनाहतं च तत्वचक्रं हृदये योगिनो विदुः ॥३५
अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकम् ।
प्रान्ते प्राणे महापद्म योगी स्वममृतायते ॥३६

टीका—रस्सियों के तीन लपेटों में बँधा हुआ मनुष्य जैसे रोदन शब्द करता है, वैसे ही अनाहत चक्र-में माया से बँधा हुआ जीव हृदय में निरन्तर नाद करता रहता है, इसे योगिजन ठीक प्रकार से जानते हैं। अनाहत चक्र का (और उससे पहले) मणिपूर चक्र का अतिक्रमण करके महापद्म के प्राप्त होने पर योगी स्वयं अमरत्व को प्राप्त होता है ॥३५-३६

व्याख्या—मनुष्य शरीर में छः चक्र हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र। इनका वर्णन पहिले भी कर चुके हैं। यहाँ उन चक्रों के भेदन की ओर ग्रन्थकार का संकेत है। इसलिए यह बताना आवश्यक है कि मूलाधार चक्र का स्थान गुदा से दो अंगुल ऊपर और जननेन्द्रिय से दो अंगुल नीचे है। स्वाधिष्ठान चक्र का स्थान मूलाधार से ऊपर तथा जननेन्द्रिय के समक्ष है। मणिपूर स्वाधिष्ठान के ऊपर नाभिमूल स्थित है और अनाहित चक्र का निवास हृदय में है। इससे ऊपर अर्थात् कण्ठ में विशुद्ध चक्र होता है और आज्ञाचक्र दोनों भौंह के मध्य में रहता है।

ग्रन्थकार ने इन चक्रों का क्रम से भेदन करने का संकेत किया है और 'प्राप्ते प्राणे महापद्म' कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि जब प्राण महाकमल अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र को प्राप्त हो जाता

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collection

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है तब वह अमृत में लीन हो जाता है। अथवा यह कहना चाहिए कि अमृतत्व से युक्त ब्रह्मस्थान की प्राप्ति हो जाती है। योग-शास्त्रों के अनुसार योगाभ्यासियों की साधना की चरम सीमा वहीं है और इसलिए षट्चक्र भेदन का अत्यन्त महत्व माना गया है। यही कुण्डलिनी जागरण और उसका शिव से मिलन होने की विधि है, जिसके अभ्यास से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ऊर्ध्वं षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनांनिधाय विधिवच्छक्तिं परां चिन्तयेत् ।
तत्कल्लोलकलाजलं सुविमलं जिह्वाकुलं यः पिबे-
न्निर्दोषः समृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥३७

टीका—सहस्रार से षोडशदल कमल में गिरते समय प्राण-वायु को नासिका के ऊपर वाले विवर में चढ़ा ले जाय। जिह्वा को भी ऊर्ध्व विवर में घुसाकर मुख को ऊपर की ओर करे और प्राणवायु के सहित सहस्रार में पहुँची हुई कुण्डलिनी का ध्यान करे। कुण्डलिनी के वहाँ पहुँचते ही जो अमृतमय तरंग निर्गत हो उसका जिह्वा से मंथन कर उसके सार रूप अमृत का पान करे। इससे योगी का शरीर अत्यन्त कोमल एवं दोषरहित होता और उसे चिरञ्जीव की प्राप्ति होती है ॥३८

व्याख्या—खेचरी मुद्रा के साथ उपर्युक्त प्रकार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त वायुपूरण करके सहस्रार से विशुद्ध चक्र में गिरते समय प्राणवायु को नासिका से ऊर्ध्वविवर में चढ़ा लेने का विधान है। इसमें अमृतपान के लिए जिह्वा को जिह्वामूल से होकर ब्रह्मरन्ध्र पहुँचाने का अभ्यास किया जाता है। शौण्डिल्य उप-निषद् में संध्या के समय वायु को खींचकर पान करने का निर्देश

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मिलता है। उससे तीन महीने में अभ्यासी की वाणी सरस्वती स्वरूपा हो जाती है। और छः महीने के अभ्यास से सभी रोग दूर हो जाते हैं। इसके पश्चात् इसी उपनिषत् में कहा है—

जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत्।
यः पिवेदमृतं विद्वान् सकलभद्रमश्नुते ॥

अर्थात्—जो विद्वान् योगी जीभ से वायु को ग्रहण कर उसे जिह्वामूल में रोककर अमृत का पान करता है, उसका सब प्रकार से कल्याण होता है।

इस प्रकार उक्त क्रिया योगाभ्यासियों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इससे सब रोगों की समाप्ति होने के साथ ही दीर्घजीवन की उपलब्धि होती है।

काकीमुद्रा

काकचंचुवदास्येन शीतलं सलिलं पिवेत्।
प्राणापानविधानेनतोऽसौ भवति निर्जरः ॥३८
रसना तालुमूललेन य प्राणमनिलं पिबेत्।
अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगस्य संक्षवः ॥३९

टीका—कौए की चौंच के समान मुख को करके जो साधक प्राणापान के विधान से शीतल वायु का पान करता है वह कभी बूढ़ा नहीं होता। जो योगी जीभ के द्वारा प्राणवायु पीता हुआ तालुमूल को पूरित करता है वह छः मास के अभ्यास से ही सब रोगों का छुटकारा पा लेता है ॥३८-३९

व्याख्या—उपर्युक्त क्रिया को योगशास्त्रियों ने काकी मुद्रा के नाम से कहा है। इसमें कौए की चौंच जैसी मुख-मुद्रा बना

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कर जीभ के द्वारा वायु का पान किया जाता है इस मुद्रा में नासिका रन्ध्रों वायु के ग्रहण का विधान नहीं है।

मुख को वायु खींचने के योग्य बनाकर जिह्वा द्वारा वायु को खींचना स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकर है। इससे अनेक रोगों का नाश होता है। यद्यपि यह बात अनेक स्थलों पर कही गई है, परन्तु प्रत्येक वर्णन का अपना-अपना पृथक् महत्व होने के कारण उसमें पुनरोक्ति दोष नहीं समझना चाहिए, वरन् यह मानना चाहिए कि योगशास्त्र की समी क्रियाएँ गुप्त होने के कारण बहुत से विद्वानों को भी यह ज्ञात नहीं हो पाता कि किस क्रिया को किस प्रकार किया जाय और उससे क्या-क्या लाभ हो सकते हैं। प्राणायामों में नासिका के द्वारा वायु ग्रहण करने के लाभ पृथक् हैं और जिह्वा द्वारा वायु खींचने के गुण पृथक्। इसलिए उसके भेदों को ठीक प्रकार समझ कर ही इच्छित अभ्यास करना श्रेयस्कर है।

काकी मुद्रा से वृद्धावस्था की अप्राप्ति कहकर सतत यौवन और रोग-राहित्य का लाभ सिद्ध किया है। यह कोई आश्चर्य जनक बात नहीं है, वरन् अनेक सिद्ध पुरुषों द्वारा अनुभूत तत्व है, परन्तु इसका लाभ ठीक से अभ्यास में तत्पर रहकर ही उठाया जा सकता है।

विशुद्ध चक्र

विशुद्धे पञ्चमे चक्रे ध्यात्वासो सकलामृतम्।
सन्मार्गेण हृतं याति वञ्चयित्वा मुखं रवेः ॥४०
विशब्देन स्मृतो हंसो नैर्मल्यं शुद्धिरुच्यते।
अतः कण्ठे विशुद्धाख्य चक्रं चक्रविदो विदुः ॥४१

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सूर्यमुख-वंचन

अमृतं कन्दरे कृत्वा नासान्तसुषिरे क्रमात् ।
स्वयमुच्चालितं याति वर्जयित्वा मुखं रवेः ।।४२

टीका—योगी पाँचवे विशुद्ध चक्र में चन्द्रकलामय अमृत का ध्यान करे। तब ऊर्ध्व मार्ग से ऊपर उठते हुए सूर्य मुख को वंचन करे वह चन्द्रकलामृत उस योगी के मुख में पड़ता है। 'वि' शब्द से वंस का और 'शुद्ध' शब्द निर्मल का बोध होता है। इसलिए विशुद्ध संज्ञक जो चक्रकण्ठ में स्थित है उस श्रेष्ठ चक्र को योगवेत्ता भले प्रकार जानते हैं। विशुद्ध चक्र में स्थित अमृत का अपान युक्त प्राण को ऊपर ले जाकर ऊर्ध्व विवर में प्रविष्ट कर क्रमपूर्वक नासिका से ऊपर ले जाने से सूर्य मुख का वंचन होता है, उससे वह अमृत पेट में अन्नवत् हो जाता है ।।४०-४२

व्याख्या—षट्चक्रों के अन्तर्गत विशुद्ध चक्र पाँचवाँ है, वहाँ चन्द्रकला से स्रावित होने वाले अमृत का ध्यान करना चाहिए 'विशुद्ध' अर्थ शुद्ध हंस है और हंस जीव का पर्याय माना गया है। विशुद्ध चक्र का स्थान कण्ठ में होने के कारण भी उसकी श्रेष्ठता बनती है। क्योंकि कण्ठ से निकलते हुए 'हकार' और सकार को जपता हुआ जीव अजपागायत्री के जप में संलग्न रहता है। शरीर में प्राणियों को अच्युत रूप हंस सदा स्थित रहता है और 'हंस एव परं सत्यं हंस एवतु सत्यकम्' (ब्र.वि.उ.) अर्थात् 'हंस ही परम सत्य है और हंस ही शक्ति स्वरूप है।

शरीर के चार अवयव अत्यन्त पवित्र माने गए हैं जिनमें ब्रह्मा, विष्णु शिव और महेश्वर का निवास रहता है। ब्रह्मविद्योपनिषत् में कहा गया है—

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collection

 Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः ।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः ॥

अर्थात्—'ब्रह्म का स्थान हृदय एवं विष्णु का कण्ठ है। तालु में रुद्र, ललाट में महेश्वर हैं। इससे कण्ठ का महत्व प्रत्यक्ष होता है।

चन्द्रामृतपान का फल

बद्धं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थलादूर्ध्वतो
नासान्ते सुषिरे नयेत्व गगनद्वारान्ततः सर्वतः ।
ऊर्ध्वास्योभुविसन्निपत्यनितरामुत्तानपादः पिबे-
देवं यः कुरुतेजितेन्द्रियगणोनैवास्तितस्यक्षयः ।४३
ऊर्ध्वजिह्वां स्थिरीकृत्य सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥४४

टीका—कण्ठ के ऊर्ध्व भाग में स्थित स्वच्छ चन्द्रकलामृत को रोककर नासिका से ऊपर के विवर में भरे और वायु के सभी द्वारों को रोककर गगन में प्राणापान युक्त पूरक करे तथा पृथिबी में उत्तान लेट जाय और पाँवों को उत्तान कर उक्त अमृत को पीवे। इस प्रकार से जो जितेन्द्रिय योगी सदा करता रहता है, उसका क्षय कभी नहीं हो सकता। जीव को ऊर्ध्व स्थिर करके अमृतपान करने वाला योगाभ्यासी पन्द्रह दिन में ही मृत्यु को जीतने वाला हो जाता है ॥४३-४४

व्याख्या—चन्द्रामृत को रोककर ऊर्ध्व विवर में पूरित करने की विधि पहले बता चुके हैं। शरीर के नौ द्वारों को रोक कर उसे प्राण और अपान के सहित ऊपर आज्ञाचक्र में स्थित करे। इसमें उत्तान लेटकर पाँवों को भी उत्तान कर लेने का संकेत उत्तान आसन की ओर हैं, जिनमें सीधे लेटकर पाँवों को भी सीधे पसार लिया जाता है।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इसके साथ ही जिह्वा को ऊपर अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर करके चन्द्रमामृत का पान करना साधक के लिए अत्यन्त हितकर है। वैसा करने से उसमें मृत्यु को भी जीत लेने की शक्ति आ जाती है, इसका अभिप्राय स्वस्थ और दीर्घजीवन से है।

अभ्यास काल में योगी को जितेन्द्रिय रहना चाहिए, इस पर बहुत बल दिया गया है, उसका कारण यह है कि जितेन्द्रियता के अभाव में अनेक रोगों की उत्पत्ति हो सकती है और योग-साधना भी ठीक प्रकार से नहीं हो सकती। इसलिए मानसिक संयम की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि मानसिक संयम से सभी प्रकार के संयम स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।

वद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखी हरः ॥४५

टीका—जो योगी मूलद्वार को रोकने में सफलता प्राप्त कर लेता है, उसके सभी विघ्न नष्ट होकर अजर-अमरत्व की प्राप्ति होती है और वह पंच मुख शिव के समान हो जाता है ॥४५

व्याख्या—इस श्लोक में मूलबन्ध की ओर संकेत है। जो योगी मूलबन्ध के साथ अपनी वायु को ऊपर की ओर आकर्षण करने में सफल हो जाता है, उसी को साधना तो निर्विघ्न चलती ही है, साथ हो उसे वृद्धावस्था और मृत्यु का भय भी नहीं रहता।

यहाँ मूलबन्ध का वर्णन करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। हठयोग प्रदीपिका में कहा है—

अर्थात्—अधोगति वाले अपान वायु को जो बन्ध बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी करता है और साथ ही गुह्यदेश का संकोच करता है उसे मूलबन्ध कहते हैं।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संपीड्य रसनाग्रेण राजदन्तिबिलं महत् ।
ध्यात्वाहृतमयीं देवी षण्मासेन कविर्भवेत् ॥४६
सर्वाधाराणि बध्नाति यदूर्ध्वं धारितं महत् ।
न मुञ्चत्यमृतं कोऽपि सपन्था पंच धारणा ॥४७

टीका—जो योगी राजदन्त के रन्ध्र को जिह्वा के अग्रभाग से पीड़ित करता हुआ अमृतमयी वाणी का छः महीने तक ध्यान करता है, वह कवि हो जाता है। राजदन्त के रन्ध्र को जिह्वा के अग्रभाग से पीड़ित कर रोके तो सभी नाड़ियों के द्वार रुक जाते हैं। जब ऊर्ध्व मार्ग रुक जाता है, तब अमृत की धार कहीं अन्यत्र नहीं गिरती। जैसे पंचधारणा के अभ्यासी को अमृत हरण रूप प्रत्याहार बताया है, वैसे ही अमृत का ऊर्ध्व विवर में धारण करना धारण है ॥४६-४७

व्याख्या—जीभ के अग्रभाग तालुरन्ध्र को पीड़ित करने से जो टपकते हुए अमृतरस को पीता हुआ साधक सरस्वती का ध्यान करता है उसे वाणी सिद्ध हो जाती है। 'त्रिमासात्तस्य कल्याणी जायते वाक् सरस्वती' (शा. उ.) अर्थात् तीन मास के अभ्यास से ही वाणी कल्याणमयी सरस्वती हो जाती है।

राजदन्तरन्ध्र के मार्ग को जीभ से रोक लेने पर अमृत की धारा रुक जाती है, जिससे कि अमृत ऊर्ध्व विवर में स्थिर हो जाता है, यह अमृत की धारणा कही गई है। शाण्डिल्योपनिषत् में धारणा के तीन प्रकार कहे गए हैं—'आत्मनि मनोधारणं दहराकाशे बाह्याकाशं धारणं पृथिव्यप्ते जो - बाह्यऽकाशेषु पंचमूर्ति धारणं चेति' अर्थात्—आत्मा में मन की धारणा, दहराकाश में बह्याकाश की धारणा और पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश में पाँचमूर्तियों की धारणा। यथार्थ में जो 'निश्चय निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः' (त्रि ब्रा उ.)

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अर्थात् चित्त को निश्चल बना लेना ही धारणा समझनी चाहिए। वैसे यह प्रकरण धारणा का नहीं, वरन् प्रत्याहार का है, फिर भी प्रसंगवश यहाँ धारणा के विषय में कहना आवश्यक प्रतीत हुआ। आगे यथा प्रकरण धारणा के विषय में पूर्ण प्रकाश डालेंगे।

रसास्वादानुभव

चुम्बन्ती यदि लम्बकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी।
सक्षारं कटुकाम्लदुग्धसदृशं मध्वाज्यतुल्यं तथा।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्राङ्गमोद्गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टंगुणितंसिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥४८

टीका—जिह्वाग्र से चुम्बन का अभ्यास करने वाले योगी को कभी क्षार, कभी कटु, कभी अम्ल, कभी दुग्ध जैसा, कभी मधु और कभी घृत जैसे स्वाद का अनुभव होने लगता है और अभ्यास के सिद्ध होने पर रोगों का हरण और वृद्धावस्था का अन्त होता है। बिना अध्ययन किये ही शास्त्रों और उनके अंगों की व्याख्या करने की सामर्थ्य, अमृतत्व और अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है तथा सिद्धों और स्त्रियों को आकर्षण की प्राप्ति होती है ॥४८

व्याख्या—लम्बिका का निरन्तर चुम्बन करते रहने वाले योगाभ्यासी को खट्टे, मीठे आदि अनेक रसों का स्वाद स्वतः प्राप्त होने लगता है और जब अभ्यास परिपक्व हो जाता है तब यदि वृद्धावस्था हो तो युवावस्था की प्राप्ति हो जाती है। यदि शरीर में कोई रोग हो तो नष्ट हो जाता है।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शास्त्रों को पढ़े बिना ही उनके सर्वांग का ज्ञान हो जाता है मृत्यु को जीतने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। अणिमादि अष्ट-सिद्धियाँ सुलभ होती हैं। 'अथ नो चेत्समुत्स्रष्टं स्वशरीरं प्रियं इत्यादि (या. त. उ.) के अनुसार 'यदि शरीर प्रिय हो तो वह सिद्धियों से सम्पन्न होकर सब लोकों में विहार कर सकता है।'

उस साधकका शरीर अत्यन्त तेजोमय लावण्यमय और सुन्दर हो जाता है, इसलिए स्त्रियाँ उसके रूप पर मोहित और आकर्षित होने लगती हैं। 'तद्रूपवशगा नार्यः कांक्षन्ते तस्य संगमम्' (ते. बि. उ.) अर्थात् 'उसके रूप को देखकर अनेक स्त्रियाँ उस पर मोहित हो जाती हैं और संगम की इच्छा करने लगती हैं। उसे जो परमसिद्धि प्राप्त होती है। उसका रहस्य जानने से सिद्ध पुरुष भी उसका सामीप्य प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं।

अमृतापूर्णदेहस्व योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतोऽप्यणिमादिगुणोदयः ॥४९
ईन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देहं देही मुञ्चति ॥५०
नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं शस्य योगिनः ।
तक्ष केणापि दंष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥५१

टीका—उक्त प्रकार शरीर के अमृत से युक्त पर दो या तीन वर्ष के अभ्यास से ही विन्दु ऊपर की ओर चढ़ जाता है, जिससे अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है। जसे अग्नि सूखे काष्ठ को तथा दीपक तेल सहित बत्ती को भी जलाये बिना नहीं रहता, वैसे ही चन्द्रकला के अमृत से परिपूर्ण हुआ जीवात्मा साधक के शरीर का त्याग नहीं करता। जिस योगी का देह

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karaundi, Jabalpur,MP Collection

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चन्द्रकला के अमृत से परिपूर्ण रहता है, वह तक्षक नाग द्वारा दंशित हो जाय तो भी उसके देह में विष नहीं फैल सकता ।।४९-५।।

व्याख्या—उक्त विधि से शरीर में अमृत भर जाने पर साधक दो-तीन वर्ष के अभ्यास में ही ऊर्ध्वगामी हो जाता है। उसे अणमादि सिद्धियाँ अनायास ही उपलब्ध हो जाती हैं उसको जरा-मरण का भी भय नहीं रहता और सर्प-दंश उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। योगचूड़ामण्युपनिषत् में कहा है—

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्यक्षीयते बिन्बुः कामिन्यालिंगितस्य च ।।

अर्थात्—जिसने खेचरी मुद्रा के द्वारा जीभ के ऊपर विवर प्रकार (कपाल कुहर) को बन्द कर लिया है, उसका बिन्दु किसी प्रकार भी नष्ट नहीं हो सकता और रमणी के आलिंगन का प्रभाव भी उस पर नहीं पड़ता।

इस प्रकार साधक ऊर्ध्वरेता हो जाता है, तब 'यावद् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्यु भयं कुतः' अर्थात् 'शरीर में जब तक वीर्य स्थित रहता है तब तक मृत्यु का क्या भय है ?' इससे यह प्रकट होता है ऊर्ध्वरेता योगी जरा-मरण के भय से वचा भी रहता है और उसकी शारीरिक अग्नि इतनी तीव्र हो जाती है कि उसे कोई घोर भयङ्कर सर्प भी काट ले तो विष अमृत के समान नब जाता है।

धारणा वर्णन

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणां च समभ्यसेत् ।।५२

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कुण्डलिनी शिव मिलन

नाभौ संयस्य पवनगतिमधो रोधयसंप्रयत्नादा-
कुञ्चयापानमूलं हुतवहसदृशं तन्तुवत्सूक्ष्मरूपम् ।
तद्वद्ध्वा हृत्सरोजे तदनु दलणके तालुके ब्रह्मरन्ध्रे
भित्वाते यान्ति शून्यं प्रविशति गगने यत्र देवोमहेशः ।७८

टीका—चित्त को मणिपूर चक्र में लगाकर अपान द्वार को संकुचित-विस्तृत करता हुआ योगी अपान की नीचे की गति रोककर ऊपर की ओर खींचे जिससे कि वह मन और प्राण से संयुक्त हो जाय । फिर उसे ऐक्य में अग्नि के समान दमकते हुए ज्योति स्वरूप का ध्यान करे, जिससे वह ज्योति मणिपूर चक्र का बेधन कर हृदयपद्म स्थित अनाहत चक्र में पहुँचती है और अभ्यास की सिद्धि होने पर अनाहत चक्र को भी वेधती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक जा पहुँचता है और फिर शरीर छोड़ने के समय ब्रह्मरन्ध्र को भी त्यागकर परम शून्य स्वरूप महेश्वर ब्रह्म में जाकर लय को प्राप्त होती है ।।७८

व्याख्या—यह कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया है । इस विषय में योगकुण्डल्युपनिषत् में विस्तृत वर्णन मिलता है । उसके कुछ अंश-उद्धरण करना उचित होगा—

अपान चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले ।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ।।
ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्त प्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा ।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता संप्रबुध्यते ।
दण्डाहत भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ।।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बिल प्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
ब्रह्मग्रन्थि ततो भित्वारजोगुण समुद्भवम् ।।

अर्थात्—जब अपान ऊपर जाकर वह्निमण्डल से मिलता है, तब उसके प्रभाव से अग्नि की तीव्रता अत्यधिक बढ़ जाती है। उस उत्ताप से सन्तप्त होकर सोई कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है और डंडे से मारी जाने वाली सर्पिणी के समान फुंकार कर सीधी हो जाती है और बिल में प्रवेश करने के समान सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश करती है। इस प्रकार ब्रह्मग्रन्थि को भेदकर वह कुण्डलिनी विद्यु त-रेखा के समान सुषुम्ना में चढ़ने लगती है।

इसी उपनिषत् में आगे की प्रक्रिया बताते हुए कहा है कि फिर वह शीघ्र ही हृदय-स्थित विष्णु-ग्रन्थि को प्राप्त होकर और भी ऊपर अर्थात् आज्ञाचक्र तक पहुँचकर रुद्रग्रन्थि में पहुँची है और वहाँ से भौंहों के मध्य स्थान का भेदन करती हुई चन्द्रमा के स्थान में पहुँचती हैं, जहाँ षोडशदल का अनाहत चक्र स्थित है। वहाँ वह चन्द्रमा से उत्पन्न द्रव को सोख लेती है और तब प्राणवायु के वेग से रक्त-पित्त का शोषण सूर्य कर लेता है। चन्द्र मण्डल में जाकर कुण्डलिनी वहाँ के पदार्थ को सोखती है। और इसके प्रभाव से जो चित्त पहले वाह्य पदार्थों में संलग्न था वह परमार्थ में लगकर आत्मानन्द का उपभोग करने लगता है, इससे अधोभाग का रज और ऊपर का शुक्र मिलकर शिव में लीन हो जाते हैं तथा प्राण-अपान का भी उन्हीं में लय हो जाता है।

इस प्रकार यह कुण्डलिनी जागरण और षट्चक्र भेदन की क्रिया हुई। इसके द्वारा साधक ब्रह्मरूप मोक्ष में लय को प्राप्त होता है।

Maharshi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नाभौ शुभ्रारविन्दं तदुपरि विमलं मण्डलं चण्डरश्मेः ।
संसारस्यैकरूपां त्रिभुवनजननी धर्मदात्रीं नराणाम् ।
तस्मिन्मध्ये त्रिमार्गे त्रितयतनुधरां छिन्नमस्तांप्रशस्तां
तां वन्दे ज्ञानरूपां मरणभयहरां योगिनीज्ञानमुद्राम्
॥७९

टीका—नाभि में शुभ्र पद्म का चिन्तन करता हुआ योगी उसके मध्य में प्रचण्ड रश्मियों वाले सूर्यमण्डल का ध्यान करे जिसमें संसार-कारण-स्वरूपा, त्रिभुवन की जननी, परम धर्म देने वाली, त्रिगुणात्मिका, त्रिमार्गा, त्रितय तनु धारणी भागवती छिन्नमस्ता, ज्ञानस्वरूपा एवं भासमाना कुण्डलिनी की मैं वन्दना करता हूँ। वह ज्ञान मुद्रारूपिणी भगवती मरण-भय का हरण करने वाली है ॥७९

व्याख्या—नाभि स्थित मणिपूर चक्र में सूर्य का ध्यान करता हुआ योगी भगवती कुण्डलिनी की वन्दना करे। वह कुण्डलिनी सत्व, रज, तम रूप तीन गुणों के कारण तीन उपाधियों वाली होकर विद्यमान रहती हैं कुण्डलिनी से ही तीनों लोकों की उत्पत्ति है, वही मनुष्यों को योगमार्ग से मोक्ष स्वरूप धर्म प्रदान करती है। वही ज्ञान रूपिणी ब्रह्मादि देवताओं द्वारा स्तुत्य और छिनमस्ता नाड़ी स्वरूपा है। उसको प्रसन्न करने वाला साधक मरण भय से छूट जाता है।

कुण्डलिनी को मरणभय की नष्ट करने वाली कहने का कारण यह भी है कि कुण्डलिनी के प्रबुद्ध हुए बिना किसी मन्त्र का कार्यकारी होना नहीं बनता। गौतमीय तन्त्र में कहा है—

नागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसंचयैः ।
तदा प्रसादमायाति मंत्रयंत्रार्चनादिकम् ॥

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तृतीयोपदेश

—×—×—

कुण्डली-बोध

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥१

टीका—जैसे पर्वतों और वनों से युक्त इस पृथिवी को अहिनायक धारण करते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण योगतन्त्रों का धारण कुण्डली ही करती है ।

व्याख्या—श्लोक में बताया गया है कि कुण्डलिनी शक्ति सब प्रकार के योगों की आश्रय स्वरूपा है । जिस प्रकार सर्पों के अधिनायक अर्थात् शेष इस सम्पूर्ण पृथिवी को अपने फण पर धारण किये हुएहैं,उसी प्रकार सब प्रकार के योगों को कुण्डलिनी धारण करती है । आश्रय यह है कि सब प्रकार के योगों की सिद्धि में कुण्डलिनी ही एक मात्र कारण हैं, उसके जागरण बिना योग के सभी उपाय निष्फल रहते हैं ।

श्लोक में 'धात्रीणाम्' कहकर पृथिवी के विषय में बहुवचन का प्रयोग हुआ है, उसका आशय यह है कि देश-भेद से पृथिवी को अनेक कहा है । कुछ विद्वानों के मत में शेष भगवान् त्रिलोकी का धारण करते हैं और तीन लोकों की तीन पृथिवी हुई, इसी-लिए बहुवचन प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है ।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥२

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सुषुम्ना के पर्याय कथन

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वंचनम् ।।३

टीका—गुरु के प्रसाद से जब सोती हुई कुण्डली जाग्रत् होती है, तब वह सभी कमलों और ग्रन्थियों का भेदन कर देती है। वैसे ही प्राण की शून्य पदवी जब राजपथ जैसी हो जाती हैं, तब चित्त निरालम्ब हो जाता और काल का भी वंचन होता है ।।२-३।।

व्याख्या—सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए गुरु प्रसन्नता आवश्यक है, क्योंकि गुरु प्रसन्न होकर ही उपाय बताते है और जब उनकी कृपा से साधक उसमें सफलता प्राप्त कर लेता है, तभी कुण्डलिनी शक्ति षट्चक्रों और सब ग्रन्थियों को वेधकर सहस्रार पद्म में पहुँच सकती है। उसी के लिए शून्य पदवी से कही सुषुम्ना राजपथ के समान होकर प्राण को सुख-पूर्वक गमन करने के लिए मार्ग देती है। उस अवस्था में चित्त सब विषयों से विमुख हो जाता है और तभी काल का बन्धन भी नष्ट हो जाता है अर्थात् मृत्यु का भय भी नहीं रहता।

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथम् ।
श्मशान शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ।।४
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ।।५

टीका—सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्य मार्ग एक अर्थ के वाचक हैं। इस-लिए सब प्रकार प्रयत्न करके ब्रह्मद्वार पर सोती हुई उस

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ईश्वरी को जाग्रत् करने के लिए मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए ॥४-५॥

व्याख्या—सुषुम्ना, शून्य, पदवी आदि जो नाम इस श्लोक में दिये हैं, उन सबका एक ही अर्थ है—सुषुम्ना नाड़ी। यह नाड़ी ही ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है। परन्तु उसी सुषुम्ना के द्वार को रोककर कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है। उसे जगाने के लिए महामुद्रा आदि का अभ्यास करना चाहिए।

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥६
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशम् ॥७
आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥८

टीका—महामुद्रा महाबन्ध, महावेध, खेचरी उड्यान बन्ध, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी वज्रोली, शक्तिचालन यह दश मुद्राएँ जरा-मरण को नष्ट करने वाली हैं यह मुद्राएँ आदिनाथ द्वारा कहे हुए आठ दिव्य ऐश्वर्यों को प्रदान करती हैं जो कि सभी सिद्धों को प्रिय और देवताओं को भी दुर्लभ हैं ॥६-८॥

व्याख्या—ग्रन्थकार ने यहाँ दश मुद्राओं का वर्णन किया है। इन्हें करने वाला साधक मृत्यु को भी जीत लेने में समर्थ होता है। इनके द्वारा आठ दिव्य ऐश्वर्य अर्थात् अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। वे अष्ट सिद्धियाँ हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशता और वशिता। इनके विषय में पहले भी विवेचन किया जा

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सुषुम्ना के पर्याय कथन

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वंचनम् ।।३

टीका—गुरु के प्रसाद से जब सोती हुई कुण्डली जाग्रत् होती है, तब वह सभी कमलों और ग्रन्थियों का भेदन कर देती है। वैसे ही प्राण की शून्य पदवी जब राजपथ जैसी हो जाती हैं, तब चित्त निरालम्ब हो जाता और काल का भी वंचन होता है ।।२-३।।

व्याख्या—सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए गुरु प्रसन्नता आवश्यक है, क्योंकि गुरु प्रसन्न होकर ही उपाय बताते है और जब उनकी कृपा से साधक उसमें सफलता प्राप्त कर लेता है, तभी कुण्डलिनी शक्ति षट्चक्रों और सब ग्रन्थियों को वेधकर सहस्रार पद्म में पहुँच सकती है। उसी के लिए शून्य पदवी से कही सुषुम्ना राजपथ के समान होकर प्राण को सुख-पूर्वक गमन करने के लिए मार्ग देती है। उस अवस्था में चित्त सब विषयों से विमुख हो जाता है और तभी काल का बन्धन भी नष्ट हो जाता है अर्थात् मृत्यु का भय भी नहीं रहता।

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथम् ।
श्मशान शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ।।४
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ।।५

टीका—सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्य मार्ग एक अर्थ के वाचक हैं। इस-लिए सब प्रकार प्रयत्न करके ब्रह्मद्वार पर, सोती हुई उस

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ईश्वरी को जाग्रत् करने के लिए मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए ।।४-५।।

व्याख्या—सुषुम्ना, शून्य, पदवी आदि जो नाम इस श्लोक में दिये हैं, उन सबका एक ही अर्थ है—सुषुम्ना नाड़ी। यह नाड़ी ही ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है। परन्तु उसी सुषुम्ना के द्वार को रोककर कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है। उसे जगाने के लिए महामुद्रा आदि का अभ्यास करना चाहिए।

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ।।६
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशम् ।।७
आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ।।८

टीका—महामुद्रा महाबन्ध, महावेध, खेचरी उड्यान बन्ध, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी वज्रोली, शक्तिचालन यह दश मुद्राएँ जरा-मरण को नष्ट करने वाली हैं यह मुद्राएँ आदिनाथ द्वारा कहे हुए आठ दिव्य ऐश्वर्यों को प्रदान करती हैं जो कि सभी सिद्धों को प्रिय और देवताओं को भी दुर्लभ हैं ।।६-८।।

व्याख्या—ग्रन्थकार ने यहाँ दश मुद्राओं का वर्णन किया है। इन्हें करने वाला साधक मृत्यु को भी जीत लेने में समर्थ होता है। इनके द्वारा आठ दिव्य ऐश्वर्य अर्थात् अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। वे अष्ट सिद्धियाँ हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशता और वशिता। इनके विषय में पहले भी विवेचन किया जा

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चुका है। यह आठों सिद्धियाँ मुद्राओं का अभ्यास करने वालों को सुलभ हैं।

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥९

टीका—यह सभी मुद्राएँ रत्नों की पिटारी के समान गुप्त रखने योग्य हैं इन्हें उसी प्रकार नहीं कहना चाहिए जिस प्रकार कि कुल-स्त्री का समागम नहीं बताया जात ॥९॥

व्याख्या—इन मुद्राओं को अनधिकारी पुरुष को कभी न बतावें। इसी अभिप्राय से प्रयत्न पूर्वक गोपनीय कहा है। साधक का कर्त्तव्य है कि इनका अभ्यास एकान्त में ही करें।

महामुद्रा कथन

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥१०
कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्डहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥११
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥१२

टीका—बाँए पाँव के तलुए से योनि स्थान को पीड़ित करके दाँए पाँव को फैलावे और भूमि पर रखकर दृढ़ता से पकड़े। फिर कण्ठ प्रदेश में बन्ध करके वायु को ऊर्ध्व देश में धारण करे, इससे जैसे कुण्डली लगाकर बैठा हुआ सर्प डण्डे से मारे हुए के समान डण्डे के आकार का हो जाता है वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति सहसा सरल हो जाती है और तब दोनों पुटों

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के आश्रय से प्राण के वियुक्त होने के कारण मरणावस्था जैसी हो जाती है ॥१०-१२॥

व्याख्या—यहाँ महामुद्रा का वर्णन हुआ है। इसमें वाम पादमूल से योनि स्थान को दबाने और दाँये पाँव को फैलाकर हाथों की तर्जनी अँगुलियों के द्वारा उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिए। तदनन्तर कण्ठ में जालन्धर बन्ध करके मूलबन्ध करे। कुछ विद्वानों के मत में योनि के दबाने और जिह्वा का बन्ध न करने से ही मूलबन्ध चरितार्थ हो जाता है। इसलिए मूलबन्ध पृथक से करने की आवश्यकता नहीं है।

उक्त विधि के अभ्यास से डंडे से मारी हुई सर्पिणी के समान कुण्डलिनी शक्ति जागकर सीधी हो जाती है और प्राण-वायु का सुषुम्ना में प्रवेश हो जाने से इडा, पिंगला दोनों नाड़ियों से उसका वियोग हो जाता है। इसीलिए इस अवस्था को मरणावस्था की समानता दी गई है।

ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥१३

इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ।
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥१४

टीका—उससे वायु का रेचन धीरे-धीरे करे, वेग सेन करे। श्रेष्ठ विद्वान् इसे महामुद्रा कहते हैं। इस महामुद्रा का प्रदर्शन महान् सिद्धों ने किया है, इससे महाक्लेशादि और मरणादि दोषों का भी नाश हो जाता है। इसलिए श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष इसे महा मुद्रा कहते हैं ॥१३-१४॥

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्याख्या—उपर्युक्त अवस्था होने पर वायु का रेचन वेग-पूर्वक न करके धीरे-धीरे ही करे। क्योंकि वेग से रेचन करने पर शरीर को हानि पहुँचती है और शक्ति भी घटती है। यह महामुद्रा मरणादि दुःखों और पंच महाक्लेशों को भी नष्ट कर सकती है। अविद्याअस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश यह पंच महाक्लेश कहलाते हैं। इन्हें नष्ट करने वाली होने से ही इसका नाम महामुद्रा हुआ।

महामुद्रा के अभ्यास का वर्णन

चन्द्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्ला भवेत्संख्या ततो मुद्रा विसर्जयेत् ॥१५

टीका—चन्द्रांग से ठीक प्रकार अभ्यास करके सूर्यांग से अभ्यास करे। जब तक दोनों की संख्या समान हो तब तक ठीक प्रकार से अभ्यास करे और फिर मुद्रा का विसर्जन कर दे ॥१५

व्याख्या—चन्द्रनाड़ी अर्थात् इड़ा से उपलक्षित अङ्ग को ही चन्द्राङ्ग कहते हैं और सूर्याङ्ग का अर्थ है पिंगला से उप-लक्षित अङ्ग। इसका आशय है कि पहले वाम नासिका से अभ्यास करे और फिर दक्षिण नासिका से। जब तक कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास समान संख्या में न हो जाय तब तक भले प्रकार अभ्यास करता रहे और समान संख्या होने पर महा-मुद्रा को विसर्जित करे।

जैसा वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है, वैसा ही अन्य अनेक ग्रन्थों में मिलता है। ग्रहयामल में तो इसको यथावत् ही कह दिया है। घेरण्ड संहिता में इस प्रकार कहा है—

पायुमूल वामगुल्फ सम्पीड्य दृढ़ यत्नतः ।
याम्यपादं प्रसार्यांथ करेधृत पदागुलः ॥

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कंठं संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ।।

अर्थात्—गुह्य प्रदेश को बाँयी एड़ी से दृढ़तापूर्वक दबावे और बाँये पाँव को फैलाकर उसकी अंगुलियों को हाथ से पकड़ले तथा कण्ठ को सिकोड़कर भौंहों के मध्य में दृष्टि लगावे, विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है ।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ।।१६

टीका—इसका अभ्यास करने वाले योगी को पथ्य, अपथ्य कुछ नहीं होता । इससे भक्षण किये हुए नीरस रस जीर्ण हो जाते हैं और विष के समान घोर अन्न भी अमृत के समान पच जाता है ।।१६।।

व्याख्या—महामुद्रा के अभ्यास से सभी रसों का परिपाक ठीक प्रकार से होता है और विष के समान पलने योग्य अन्न भी पच जाता है । जारण तु कषायायें पातकाना विनाशरम्' कहकर अन्य ग्रन्थकार ने इस मुद्रा को सभी कलाओं को भस्म करने और सभी पापों को दूर करने वाली स्वीकार किया है ।

क्षयकुष्ठगुठावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।।१७

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ।।
गोपनीय प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ।।१८

टीका—इसके अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण और उनके दोष नष्ट हो जाते हैं । यह वर्णन की गई

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

महामुद्रा मनुष्यों को महासिद्धि प्रदान करने वाली है। इसे प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखे, किसी को भी न दे ॥१७-१८॥

व्याख्या—इस मुद्रा के सिद्ध होने पर क्षयादि रोगों का सर्वथा शमन हो जाता है। इसके द्वारा साधक को परम सिद्धि और दिव्य ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। यह गुप्त रखने के योग्य हैं।

महाबन्ध कथन

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥१९
पूरयित्वा ततो वायु हृदये चिवुकं दृढम् ।
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२०
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥२१
मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ।
राजदंतस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥२२
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥२३

टीका—बाँए पाँव की एड़ी को योनि स्थान में लगावे और बाँयी जंघा पर दाँया पाँव रखकर बैठे तथा वायु को पूरित करके ठोड़ी को हृदय स्थान में दृढ़ता से लगावे और योनि को संकुचित करके मन को नाड़ी के मध्य प्रविष्ट करे। फिर वायु को यथाशक्ति धारण करके धीरे-धीरे रेचन करें। इस प्रकार बाँए अङ्ग में समान रूप से अभ्यास करके दाँये अङ्ग में करना

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चाहिए। अन्य विद्वान् का यह मत है कि जालंधर बन्ध के कण्ठ के सङ्कोच को न करे क्योंकि राजदन्त स्थित जिह्वा का बन्ध ही प्रशस्त होता है। यह सब नाड़ियों की ऊर्ध्व गति का निरोधक है, यह महाबन्ध अवश्य ही महासिद्धि कर देने वाला है ॥१६-२३॥

व्याख्या—बाँयी एड़ी को योनि स्थान में लगाकर बाँयी जाँघ पर दाँया पाँव रखने आदि की जो विधि बताई है, उसके अनुसार आसन बाँधकर वायु को भरकर ठोड़ी पर लगाने से जो जालंधर बन्ध होता है उसे करके योनि संकोच करता हुआ मूलबन्ध करे, परन्तु इस मूलबन्ध की सिद्धि जिह्वा के बन्धन से ही हो जाती है, इसलिए इसे करना अनावश्यक है।

कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे रेचक करे। प्रथम वाम अङ्ग में और फिर दक्षिण अङ्ग में करे। इस प्रकार वामांग और दक्षिणांग के अभ्यास की संख्या बराबर हो जाय तब अभ्यास करना चाहिए।

कुछ विद्वानों के मत में कण्ठ के संकोच का अनुपयोग है, क्योंकि राजदन्त अर्थात् दाढ़ के ऊपर स्थित जिह्वा का बन्ध ही कण्ठ संकोच की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होता है। दाढ़ों में अवस्थित जिह्वा का बन्ध सुषुम्ना से भिन्न बहत्तर हजार नाड़ियों में प्राणवायु के ऊर्ध्व गमन का प्रतिबन्धक है। इसका अर्थ हुआ कि जिससे नाड़ी-जाल का बन्धन होता हो, वह जालन्धर बन्ध कहलाता है।

कालपाशमहाबंधविमोचन विचक्षणः।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापतेन्मनः ॥२४

टीका—यह महाबन्ध काल के पाश को छुड़ाने में अद्भुत है तथा त्रिवेणी-संगम को और मन को केदार की प्राप्ति कराने वाला है ॥२४॥

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्याख्या—जालन्धर बन्ध, उड्डियान बन्ध और मूलबन्ध इन तीनों के सम्मिलित होने से महाबन्ध होता है, इसीलिए इसे त्रिवेणी संगम प्राप्त कराने वाला कहा है केदार प्रापयेन्मनः कहने से यह अभिप्राय है कि इसके सिद्ध होने पर केदार अर्थात् शिव में मन का लय हो जाता है।

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥२५

टीका—जैसे पुरुष के बिना रूप-लावण्य से सम्पन्न स्त्री निष्फल है वैसे ही महावेध के बिना महामुद्रा और महाबन्ध भी निष्फल हैं ॥२५॥

व्याख्या—इस लोक में महामुद्रा और महाबन्ध की महावेध के बिना निकृष्टता का कथन हुआ है। ग्रन्थकार के अनुसार महावेध के बिना उक्त दोनों व्यर्थ ही हैं। इसलिए महावेध की सिद्धि का अभ्यास करना चाहिए।

महावेध वर्णन

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥२६
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥२७
सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै।
मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत् ॥२८
महाबेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।
वलोपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥२९

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

टीका—महाबन्ध में स्थित योगी बुद्धि को एकाग्र करके पूरक करे और कण्ठ मुद्रा से वायु की गति रोककर प्राणायाम करे। अपने स्फिचों का पृथिवी पर लगे हाथों से थामकर योनि स्थान में लगी हुई एड़ी वाले बाँए पाँव के सहित कुछ ऊपर की ओर उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करे। इससे प्राणवायु इडा और पिंगला को छोड़कर सुषुम्ना में चलने लगता है। तब चन्द्र, सूर्य, अग्नि सम्बन्धी क्रमशः इडा पिंगला की ओर सुषुम्ना से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। फिर मरणावस्था के उत्पन्न होने पर वायु का रेचन करे। यह महावेध अभ्यास से महान् सिद्धि का देने वाला होता है। इससे वली, पलित, कम्पनादि दूर होते हैं। श्रेष्ठ साधक सदा इसका अभ्यास करते रहते हैं ॥२६-२९॥

व्याख्या—महाबन्ध के पश्चात् महावेध की स्थिति होती है। कण्ठ मुद्रा का अर्थ जालन्धर बन्ध है, उसके द्वारा, वायुओं के ऊर्ध्वगमन, अधोगमन को रोककर कुम्भक करना चाहिए।

महावेध में वाम एड़ी को योनिस्थान में लगाकर चूतड़ों को हाथों के आश्रय से वाम पाद के सहित कुछ उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करने से वायु इड़ा-पिंगला का त्याग कर सुषुम्ना में पहुँच जाता है और इडा-पिंगला में प्राण का संचार न होने से साधक की मृत्यु जैसी अवस्था हो जाती है। क्योंकि इड़ा, पिंगल में प्राणवायु का संचार रहने को ही जीवन मानते हैं। जब ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाय तब वायु का विवेचन करना चाहिए। अभ्यास करने से यह महावेध सिद्ध होकर महान् सिद्धियों का देने वाला होता है। इससे जरावस्था के सभी चिह्न, बालों का सफेद होना, चर्म का संकुचित होना और शरीर का काँपना आदि नष्ट होते हैं। योग तत्वोपनिषत् में महावेध का लक्षण इस प्रकार बताया है—

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वायुना गतिमावृत्य विभृतं कण्ठमुद्रया ।
पुटद्वयं समाक्राम्य वायु स्फुरति सत्वरम् ।
अयमेव महावेधः सिद्धैरम्यस्यतेऽनिशम् ॥

अर्थात्—वायु की गति का निरोध करके दोनों नासारन्ध्रों का संकुचन करने से वायु शीघ्र भर जाती है। इस महावेध का सिद्ध पुरुष सदा अभ्यास किया करते हैं।

एतत्त्रयं महागुह्यं जर्रामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमाविगुणप्रदम् ॥३०
अष्टधा क्रियते चौव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यसंभारसंधाययि पापौघभिदुरं सदा ।
सभ्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥३१

टीका—उक्त तीनों मुद्राएँ परम गुह्य एवं जरामरण को नष्ट करने वाली, अग्नि प्रदीप्त करने वाली अणिमादि सिद्धियों के देने वाली हैं। यह मुद्राएँ प्रहर-प्रहर दिन-दिन में आठ प्रकार से करनी चाहिए। इनके द्वारा पुष्पों की उत्पत्ति और पापों का शमन होता है। भले प्रकार शिक्षा प्राप्त करके इन्हें करना चाहिए ॥३०-३१॥

व्याख्या—उपर्युक्त तीनों मुद्राओं से जरा-मृत्यु पर जय प्राप्त होकर, अग्नि दीप्त होती और अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इससे पुण्य का लाभ और पापों का नाश होता है। परन्तु इसका अभ्यास आरम्भ करने से पूर्व गुरु से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है।

खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥३२

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥३३

टीका—कपाल-कुहर में विपरीत हुई जिह्वा के प्रविष्ट होने और भौंहों के मध्य में दृष्टि रहने पर खेचरी मुद्रा होती है। छेदन, चालन और दोहन कलाओं की क्रमपूर्वक तब तक वृद्धि करे, जब तक कि भौंहों के मध्य का स्पर्श हो जाय। जब कला का भौंहों में स्पर्श हो जाता है। तब खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है ॥३६-३३॥

व्याख्या—जिह्वा को ऊपर की ओर उलटी करके कपाल के मध्य वाले छिद्र में प्रविष्ट करे और भौंहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे, इससे खेचरी होती है। वेदनादि कर्म करता हुआ जिह्वा को तब तक बढ़ावे, जब तक कि वह भौंहों के मध्य स्थान को स्पर्श करने लगे।

जिह्वा मूल की नाड़ी का शस्त्र से छेदन किया जाता है, इसकी विधि अगले श्लोक में कहेंगे। हाथ में अंगुष्ठ और तर्जनी अंगुली से जिह्वा को पकड़कर बाँये-दाँये हिलाना चालन कहलाता है और गोदोहन के समान जिह्वा दोहन करना इन क्रियाओं से जिह्वा बढ़ जाती है वह भौंहों के मध्य भाग को स्पर्श करती हुई और भी ऊपर पहुँच सकती है।

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय समस्तेनरोमभात्रं समुच्छिनेत् ॥३४

ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोमभात्रे समुच्छिनेत् ॥३५

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

एवं क्रमेश षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबन्धः प्रणश्यति ॥३६

टीका--संहुड़ के पत्ते के समान तीक्ष्ण धार वाले चिकने और स्वच्छ शस्त्र को लेकर उससे जिह्वामूल की नाड़ी का रोम-मात्र छेदन करे तथा पिसे हुए सैंधे नमक और हरड़ के मिश्रित चूर्ण से जिह्वामूल का ठीक प्रकार घर्षण करे। सात दिन ऐसा करने के अनन्तर पुनः रोम मात्र छेद कर दे। इस प्रकार के क्रम से नित्य करने से छः मास में जिह्वामूल का शिर, बन्ध नष्ट हो जाता है ॥३४-३६॥

व्याख्या--इन श्लोकों में खेचरी-सिद्धि के साधनों का वर्णन किया गया है। स्नुही अर्थात् संहुड़ के पत्तों में अत्यन्त तीक्ष्ण धार होती है, वैसे ही तीक्ष्ण शस्त्र से जिह्वा के मूल में एक रोम के बराबर छेद कर देना चाहिए। ऐसा करने से वहाँ घाव हो जाता है, उस पर सेंधे नमक और हरड़ का चूर्ण मलना चाहिए। चूर्ण मलने का यह कार्य नित्य प्रति प्रातः-सायं किया जाता है। जब सात दिन व्यतीत हो जाँय तब पुनः एक रोम के बराबर छेद कर दे और नमक तथा हरड़ के चूर्ण को मलने का क्रम यथावत जारी रखें।

कुछ विद्वानों के विचार में नमक के स्थान पर कत्था और हरड़ का चूर्ण व्यवहार करना उचित है, क्योंकि योगाभ्यासी पुरुष के लिए नमक का सेवन वर्जित है। सात दिन के पश्चात् जो छेद किया जाय, वह पहले छेद से रोममात्र अधिक करना चाहिए, जिससे कि कुछ बड़ा छेद बन जाय।

इस प्रकार नित्य प्रति चूर्ण मर्दन और प्रति सप्ताह छेदन करते रहने से छः मास में जिह्वा का मूल शिरा बन्धन कट

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Coll

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जाता है। यह शिरा बन्धन कपाल कुहर को रोके रहता है, इसके कटने पर जिह्वा उसमें प्रवेश कर सकती है, इसलिए शिरा बन्धन को काटना आवश्यक होता है।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योचक्रं तदुच्यते ।।३७
रसनामूर्ध्वगाँ कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभि ।।३८

टीका—इस प्रकार छेदनादि के उपाय द्वारा जिह्वा की वृद्धि हो जाने पर उसे उलटी पीछे की ओर लौटाकर तीनों नाड़ियों के मार्ग में करे। वह खेचरी मुद्रा होती है, उसी को व्योमचक्र कहते हैं। जो जिह्वा को तालु रन्ध्र द्वारा ऊपर पहुँचा कर वहाँ आधे क्षण भी टिकाले तो वह योगी विषमता रूप रोग बुढ़ापा, मृत्यु आदि से मुक्त हो जाता है ।।३७-३८।।

व्याख्या—कपाल-रन्ध्र, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना तीनों नाड़ियों का मिलन मार्ग होने से त्रिपथ कहा जाता है। ऊपर की ओर लौटाकर जीभ को इसमें प्रविष्ट करके टिकाया जाता है। इससे सभी रोग, धातुओं की विषमता, जरावस्था मृत्यु आदि का क्षय हो जाता है। यह खेचरी मुद्रा व्योमचक्र भी कहलाती है।

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।३९
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न सकालेन यो मुदां वेत्ति खेचरीम् ।।४०

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

टीका—खेचरी मुद्रा के जानने वाले योगी को रोग, मृत्यु, तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा और मूर्च्छा नहीं होती। खेचरी का ज्ञाता रोग से पीड़ित नहीं होता, कर्म से लिप्त नहीं होता और काल से बाधित नहीं होता ॥३९-४०॥

व्याख्या—जो विद्वान् खेचरी मुद्रा को जानता है, उसे भूख, प्यास, रोग, निद्रा, तन्द्रा आदि नहीं होते। वह मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है। जो कर्म करता है उसका फल उसे नहीं भोगना होता, क्योंकि वह तो निष्काम कर्म करता है सकाम नहीं और निष्काम कर्म, कर्त्ता कभी अपने फल रूपी बन्धन में नहीं बाँधते। इसीलिए उसे काल अर्थात् मृत्यु रूपी बाधा भी नहीं होती। आशय यह है कि उसकी इच्छित मृत्यु होती है। जब चाहे तब शरीर को छोड़े और जब तक जीवित रहना चाहे तब तक रहे।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥४१

टीका—जिस मुद्रा के द्वारा चित्त भौंहों के मध्य आकाश में विचरण करता और जिह्वा भी वहीं जाकर विचरती है उसी को सिद्ध पुरुषों ने खेचरी नाम दिया है ॥४१॥

व्याख्या—इस मुद्रा के अभ्यास में चित्त और जिह्वा दोनों ही भौंहों के मध्यरूपी आकाश में विचरते हैं। इसीलिए सिद्ध योगेश्वरों ने इसे खेचरी कहा है।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥४२
चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डलं।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥४३

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ।।४४

टीका—खेचरी मुद्रा के द्वारा जिसने तालु के ऊपर का विवर ढक लिया, उसे यदि कामिनी का स्पर्श भी प्राप्त हो जाय तो उसका बिन्दु क्षरित नहीं होता और यदि बिन्दु चलायमान भी हो जाय तो योनि मण्डल में पहुँचकर भी वह वज्रोली के बन्धन से खिचा हुआ ऊपर चला जाता है। तालु-विवर में उन्मुखी जिह्वा वाला योगी सोमपान करता हुआ एक पक्ष में ही मृत्यु को जीत लेता है ।।४२-४४।।

व्याख्या—खेचरी के अभ्यास द्वारा जिसकी जीभ तालु के रन्ध्र में पहुँच कर टिक जाती है तो बिन्दु क्षरण नहीं होता। यदि बिन्दु अपने स्थान से डिग भी जाय तो योनिमण्डल में पहुँच कर भी योनिमुद्रा के प्रभाव से वहाँ से खिचकर अपने स्थान में ही जा पहुँचता है।

'सोमपानं करोति' का अभिप्राय ऊर्ध्व विवर से गिरते हुए चन्द्रामृत का पान करने से है। जब जिह्वा वहाँ पहुँच जाती है, तब उस अमृत का पान करती हुई साधक को अमृतत्व की प्राप्ति करा देती है।

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ।।४५
इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।।४६

टीका—जिस योगी का देह सदा चन्द्रकला के अमृत से परिपूर्ण रहता है, उसके देह में तक्षक काट ले तो भी विष नहीं

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

फैलता। जैसे अग्नि ईंधन को और दीपक तेल बत्ती को नहीं छोड़ता वैसे ही शरीरधारी भी सोमकला से सम्पन्न शरीर को नहीं छोड़ता ।।४५-४६।।

व्याख्या—ऊर्ध्व विवर से स्रवित होते हुए चन्द्रामृत के शरीर पर परिपूर्ण रहने पर तक्षक नाग का विष भी व्यर्थ हो जाता है अर्थात् भयङ्कर सर्प भी काट ले तो उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि शरीर में चन्द्रमा से झरता हुआ अमृत भरा हो तो शरीर से प्राण कभी पृथक् नहीं हो सकता जैसे कि अग्नि से ईंधन पृथक् नहीं हो सकता अर्थात् अग्नि भी तभी बुझती है जबकि ईंधन को पूरी तरह भस्म कर डाले और तैल बत्ती का दीपक से सदा सम्बन्ध रहने का आशय यह है कि जब तक तैल बत्ती है, तभी तक दीपक प्रकाश देता है, तब तैल-बत्ती का अभाव हो जाता है तब प्रकाश नहीं रहता यहाँ दीपक का तात्पर्य प्रकाश से ही है। सारांश यह है कि जिह्वा से कपाल कुहर में क्षरित होने वाले अमृत का पान करने वाला योगी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उस पर किसी रोग, विष या अवस्था आदि का प्रभाव नहीं पड़ता।

गोमासं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ।।४७
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशकम् ।।४८
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवतिः यः सारः स स्यादमरवारुणी ।।४९

टीका—जो योगी नित्य प्रति गोमांस का भक्षण करता और वारुणी (मदिरा) पीता है, वही कुलीन है, और सब तो

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कुलघातक ही होते हैं। गोशब्द से जो जिह्वा कही जाती है और तालुविवर में जिह्वा का जो प्रवेश है, वही भक्षण कहलाता है। यह गोमांस भक्षण महापाप को नष्ट कर देता है। तालु के ऊपर वाले विवर में जिह्वा के प्रवेश से सम्भूत हुई अग्नि से उत्पन्न होकर जो सार झरता है वही अमर वारुणी है ॥४७-४९॥

व्याख्या—योगी के लिए परम सिद्धि का कारण गोमांस भक्षण और वारुणी-पान है। 'गो' शब्द का अर्थ जिह्वा है और भक्षण का अभिप्राय ऊर्ध्व विवरण में जिह्वा का प्रवेश है। इस प्रकार यही गोमांस भक्षण है, इसे महापापों का भी नाश करने वाला समझना चाहिए।

तालु के उसी ऊर्ध्व विवर में जब जिह्वा प्रविष्ट होकर दोहन करती है तब वहाँ ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है और उस ऊष्मा के प्रभाव से चन्द्रमा में सार रूप अमृत उत्पन्न होकर अवस्रवित होने लगता है अर्थात् भौंहों के मध्य वामभाग में अवस्थित चन्द्रमा से बिन्दु रूप सार या अमृत झरने लगता है, वही अमर वारुणी अर्थात् दिव्य मदिरा है उसके पान करने वाले को इसलिए कृतार्थ और कुलीन कहा है कि वह योगाभ्यास द्वारा उस श्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त करने में सफल हो जाता है और जो सिद्धि की प्राप्ति में सफल है, उसके कृतार्थ होने में सन्देह ही क्या है ?

चुम्बंतीं यदि लंबिकाग्रमनिशं, जिह्वारसस्यंदिनी
साक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा।
व्याधीनां हरण जरांतकरणं शास्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥५०

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

टीका—यदि रस को स्रवित करने वाली क्षार, कटुअम्ल, दूध, मधु और घृत के समान अनेक रस वाली जिह्वा तालु के ऊपर वाले छिद्र का बार-बार स्पर्श करे तो उससे साधक की सभी व्याधियों का हरण, वृद्धावस्था का अन्त और सन्मुख से आते हुए शस्त्र का निवारण होता है तथा अमृतत्व, अष्ट सिद्धियाँ और सिद्धांगनाओं का आकर्षण होता है ॥५०॥

व्याख्या—जिह्वा सभी रसों का ग्रहण करती है। उसके लिए कटु, तिक्त, अम्ल, मधुर आदि कोई भी रस क्यों न हो, अग्राह्य नहीं है। वह जिह्वा तालु के छिद्र में प्रविष्ट होकर बार-बार चन्द्रकलामृत का स्पर्श करने लगे तो उस साधक को रोग, जरा, शस्त्र, मृत्यु आदि का कोई भय नहीं रहता तथा सिद्धों (देवताओं) की नारियाँ उसके प्रति आकर्षित होती हैं और वह अष्ट सिद्धियों को उपलब्ध करके स्वयं सिद्ध हो जाता है।

मूर्ध्नःषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन्।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥५१

टीका—जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर और ऊर्ध्व मुख करके परम शक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करता हुआ योगी प्राणवायु के साधन और हठयोग के द्वारा प्राप्त षोडश दल वाले कमल में मस्तक से धारा रूप में गिरते हुए ऊर्ध्व तरङ्ग वाले चन्द्रकलामृत का पान करता है, वह रोग-रहित एवं मृणाल जैसी कोमल देह वाला होता हुआ चिरकाल तक जीवित रहता है ॥५१॥

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्याख्या—जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर चन्द्रामृत पीने वाला योगी चिरञ्जीवी होता है। उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती। उसका शरीर कठोर हो तो भी कमल दण्ड के समान कोमल हो जाता है।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः।५२

टीका—जिसमें यह प्रालेय स्थित है, उस छिद्र में रज-तम से अतिरस्कृत बुद्धि वाले मनुष्य आत्म तत्व का होना मानते हैं। वहीं चन्द्र-सूर्य नाड़ियाँ मुख हैं तथा चन्द्रमा से देह के सार के स्रवित होने से मनुष्यों की मृत्यु होती है। इसलिए खेचरी मुद्रा करे, अन्यथा शरीर का पोषण नहीं हो सकता।।५२।।

व्याख्या—प्रालेल अर्थात् जल कपाल कुहर में रहता है जिन मनुष्यों की बुद्धि रजोगुण और तमोगुण का उल्लंघन किये रहती है यानी केवल सतोगुणी रहती है, उनके मत में आत्म-तत्व भी वहीं हैं तथा वहीं इड़ा और पिंगला नाड़ियों का मुख भी है।

चन्द्रमा से वह जल स्रवित होता है तब उदरस्थ अग्नि रूपी सूर्य उसका ग्रास करता रहता है इसी से मनुष्यों की आयु क्षीण होती जाती है। ग्रन्थकार का कथन है कि चन्द्रमा से स्रवित होते हुए उस अमृत का जिह्वा के द्वारा स्वयं ग्रास कर ले तो मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसलिए इसमें प्रयत्नशील होना चाहिए।

सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतः समन्वितम्।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्शून्ये निरंजने।।५३

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालंब एकावस्था मोनन्मनी ।।५४

टीका—नाड़ियों के पंच स्रोत से युक्त छिद्र ज्ञान को उत्पन्न करने वाला है। उस शून्य रूप निरञ्जन के लिए खेचरी मुद्रा में स्थिति होती है। एक सृष्टिमय बीज है, एक खेचरी मुद्रा है एक ही निरालम्ब है और एक ही उन्मनी अवस्था है ।।५३-५४।।

व्याख्या—इड़ा आदि नाड़ियों के पंच स्रोत अर्थात् पंच प्रवाह से युक्त सुषिर से ज्ञान उत्पन्न होकर शून्य रूप निरंजन में खेचरी की स्थिरता होती है अर्थात् खेचरी मुद्रा के प्रभाव से जब मन उस सुषिर (छिद्र) में प्रविष्ट होता है, तब आत्मज्ञान होता है।

सृष्टिमय बीज प्रणव है, वह एक ही है। यह संसार उसी प्रणव की महिमा को व्यक्त किये हुए स्थित है। 'ओमित्येदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपख्यानं भूत भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एवं, यच्चान्यत् त्रिकालातातं तदप्योंकार एव' (माण्डूक्योपनिषत् अर्थात् अविनाशी ब्रह्म ओंकारमय है, उसकी महिमा को प्रत्यक्ष लक्षित कराने वाला यह सम्पूर्ण विश्व है। भूत, भविष्य, वर्तमान रूप त्रिकालमय यह संसार ओंकार ही है।

'एका मुद्रा च खेचरी' कहकर ग्रन्थकार ने सभी मुद्राओं में खेचरी की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की है। इसका आशय यह समझना चाहिए कि खेचरी सभी मुद्राओं में प्रमुख मुद्रा है और सर्व प्राप्ति की आकांक्षा वाले साधक को इसकी सिद्धि प्रयत्न पूर्वक करनी चाहिए। श्लोक में 'एक' पद का प्रयोग प्रमुखता प्रदर्शित करने के रूप में हुआ है।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

 Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ओड्डीयान बन्ध वर्णन

बद्धो येन सुषुम्नायाँ प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।५५
उड्डीयानं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगाः ।
उड्डीयानं तदैव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ।।५६

टीका—जिससे बँधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उड़ जाय, उस बन्ध को उड्डीयान कहते हैं। देहाबकाश में गतिशील महाखग रूप प्राण जिस बन्ध से सुषुम्ना में उड़ता (गति करता) है, उसे उड्डीयान कहते हैं ।।५५-५६।।

व्याख्या—जिस बन्ध से बँधा हुआ प्राण उड़कर सुषुम्ना में जा पहुँचे, उसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं, क्योंकि वह प्राण को उड़ाकर सुषुम्ना में पहुँचाने का कारण होता है 'उड्डीनं कुरुते' अर्थात् 'उड़ान करती हैं' इसीलिए इसे उड्डीयान कहा जाता है। नीचे उस बन्ध का लक्षण कहेंगे।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातङ्गकेसरी ।।५७
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ।।५८

टीका—उदर में नाभि के ऊपर पश्चिम तान करे तो यह मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान उड्डियान बन्ध होता है। गुरु ने इस बन्ध को सदैव सहज बताया है, इसका निरन्तर अभ्यास करने वाला वृद्ध भी तरुण हो जाता है ।।५७-५८।।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्याख्या—उदर में स्थित टूंडी में, नाभि के ऊपर के निचले भाग को इस प्रकार ताने, जिससे कि दोनों भाग पीठ में लग जाँय। गुरुजन इसे स्वाभाविक बताते हैं, क्योंकि प्राण स्वभाव से ही बाहर जाता है, परन्तु इसका निरन्तर अभ्यास कर लिया जाय तो यह पूर्णरूप से वश में हो जाता है। उस साधक में इतनी शक्ति, इतनी स्फूर्ति आ जाती है कि वह अपनी वृद्धावस्था को भूलकर तरुण होने का अनुभव करने लगता है।

नाभेरूर्ध्वमश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्येन्मृत्युं जयत्वेव न संशयः ॥५९
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डियाने दृढ़े बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥६०

टीका—नाभि के ऊपर निकले भाग में ठीक प्रकार से तान करे। इस प्रकार छः मास तक निरन्तर अभ्यास करने से साधक मृत्यु को जीत लेता है, इसमें संशय नहीं है। सभी बन्धों में उड्डियान बन्ध श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके सिद्ध हो जाने से स्वाभाविक मृत्यु होती है ॥५९-६०॥

व्याख्या—उड्डियान बन्ध में नाभि के ऊपर निचले स्थान में यत्नपूर्वक तान अर्थात् आकर्षण किया जाता है। यह सभी बन्धों में उत्तम माना जाता है। इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और रोग, दुःख आदि भी नष्ट हो जाते हैं।

इस बन्ध में प्राण पक्षी जैसी गति से उड़ान भरता हुआ सुषुम्ना द्वार के मस्तक में जा पहुँचता है और जब मन भी यही विदेह मुक्ति कहलाता है, इसी से उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है। इसी को योगनिद्रा कहते हैं। ततोन्मनी

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'भवति' ततोयोगनिद्रा भवति (शां० उ०) अर्थात् उससे उन्मनी दशा प्राप्त होती है और उससे योगनिद्रा होती है।

मूलबन्ध वर्णन

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥६१
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आंकुचनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः ॥६२

टीका—एड़ी से योनि स्थान को दबाकर गुदा का संकोच करे और अपान वायु को ऊपर की ओर आकर्षित करे, इसे मूलबन्ध कहते हैं। जो अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी करता है, उसे योगीजन मूलबन्ध कहते हैं ॥६१-६२॥

व्याख्या—योनि स्थान का अभिप्राय है गुदा और लिंग के मध्य भाग से। उस स्थान को एड़ी से भली प्रकार पीड़ित करके गुदा को सकोड़े और अपान वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करे। यह क्रिया कुण्डलिनी जागरण में अत्यन्त सहायक होती है। इसके विषय में कहा है—

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥
अपाने चोर्ध्वगे याते सम्पाप्ते वह्नि मण्डले ।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥

अर्थात्—अधोगति वाले अपान को शक्तिपूर्वक गुदा आकुंचन द्वारा ऊपर ले जाने से मूलबन्ध होता है। अपान ऊपर जाकर वह्निमण्डल से मिलता है तो वायु के प्रभाव से अग्नि की अत्यधिक तीव्रता होती है। इत्यादि से कुण्डलिनी जागरण की विधि कही है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

गुदं वष्ण्र्या तु संपीडय् वायुमाकुंचयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥६३

टीका—एड़ी से गुदा का भले प्रकार संपीडन कर बल पूर्वक वायु को बार-बार इस प्रकार आकर्षित करे कि जिससे वह सुषुम्ना के ऊपरी भाग में जा पहुँचे ॥६३॥

व्याख्या—मूलबन्ध की यह रीति योगबीज में कही हुई है। यद्यपि इसमें ऊपर की विधि से समानता है, फिर भी शाब्दिक विशेषता के कारण इनका उल्लेख यहाँ हुआ है।

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धि यच्छतो नात्र संशयः ॥६४
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयाः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥६५
अपाने ऊर्ध्वगे जाते सम्प्राप्ते वह्निमण्डलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६

टीका—अधोगति वाले प्राण और अपान, अनाहत नाद और बिन्दु मूलबन्ध के द्वारा ऐक्य को प्राप्त होकर योग की सिद्धि को प्राप्त कराते हैं, इसमें संशय नहीं है। अपान और प्राण का ऐक्य और संचित मल-मूत्र का क्षय होने से वृद्ध भी युवा होता है। अपान के ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि-मण्डल में पहुँचने पर वायु में ताड़ित होने के कारण अग्नि-शिखा दीर्घ हो जाती है ॥५४-६६॥

व्याख्या—नीचे की ओर गतिशील प्राणापान, नाद और बिन्दु यह सब एकता को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे कि

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

योग की परम सिद्धि होती है। उससे बुढ़ापा दूर होकर युवावस्था आ जाती है। अर्थात् बली, पलित, झुर्री आदि मिटकर शरीर सुन्दर हो जाता है।

मूलबन्ध करने से नीचे की गति वाला अपान वायु ऊपर चढ़ता हुआ अग्निमण्डल में पहुँच जाता है अर्थात् नाभि में नीचे के भाग में विद्यमान त्रिकोण जठराग्नि से प्रविष्ट होता है, तब अपान से ताड़ित जठराग्नि की शिरा बढ़ जाती है।

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ।।६७
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दंडाहता भुजङ्गीध निश्वस्य ऋजुताँ व्रजेत् ।।६८

टीका—तब अग्नि और अपान दोनों अग्नि की दीर्घ हुई शिखा से गर्म होकर ऊपर की ओर गति वाले प्राण में जा पहुँचते हैं। उससे शरीरस्थ जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाता है। तब उससे भले प्रकार सन्तप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होकर डण्डे से पिटी हुई सर्पिणी के समान सीधी हो जाती है ।।६७-६८।।

व्याख्या—कुण्डलिनी-जागरण के लिए तीनों बन्ध किये जाते हैं। जालन्धर बन्ध द्वारा वायु को रोकने के लिए कण्ठ का संकोच किया जाता है, मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन अधोभाग में होता है और मध्य में उड्डियान बन्ध से प्राण को खींचा जाता है। इस प्रकार सब ओर रोका जाने पर प्राण सुषुम्ना में दौड़ता है। अपान ऊपर चढ़कर अग्नि से मिलता और वह अग्नि प्राण स्थान में जाकर प्राणवायु से मिलकर

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सोती हुई कुण्डलिनी को ताड़ित करता है, तब वह कुण्डलिनी जागकर सीधी हो जाती और सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है।

विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाडच्न्तरं ब्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ।।

टीका—फिर वह कुण्डलिनी सर्पिणी के बिल में प्रविष्ट होने के समान ब्रह्मनाड़ी में प्रविष्ट होती है। इसलिए योगियों को नित्यप्रति मूलबन्ध करना चाहिए ।।६९।।

व्याख्या—इस श्लोक में मूलबन्ध करने का अभिप्राय स्पष्ट किया है कि कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्ना में प्रविष्ट कराने के लिए मूलबन्ध किया जाना आवश्यक है। इसीलिए योगाभ्यासी पुरुषों को मूलबन्ध का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

जालन्धर वर्णन

कण्ठमाकुंचय हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बंधो जलंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ।।७०
बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभो जलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ।।७१
जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ।।७२
कण्ठसंकोचेनेनैव द्वे नाडचौ स्तम्भयेद्दृढ़म् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ।।७३

टीका—कण्ठ का संकोच करके हृदय पर ठोड़ी को दृढ़ता से लगावे, यह मृत्यु का नाश करने वाला जालन्धर

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संज्ञक बन्ध है। यह बन्ध नाड़ियों के समूह को तथा कपालकुहर रूप नभ के जल को बाँधता है, इसीलिए जालन्धर बन्ध कहलाता है यह कण्ठ के रोग दुःखों का नाश करने वाला है जिस कण्ठ का संकोच है, उस जालन्धर बन्ध के करने से अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और न वायु का ही प्रकोप होता है। यह बन्ध दृढ़ता पूर्वक कष्ट का संकोच करने से दोनों नाड़ियों का स्तम्भन करने वाला है। इसे सोलह आधारों का बन्धन कर्त्ता मध्य चक्र जानना चाहिए ॥७०-७३॥

व्याख्या—इस बन्ध को जरामृत्यु का नाशक इसलिए माना है कि ब्रह्मरन्ध्र से जो चन्द्रामृत स्रवित होकर उदरस्थ अग्नि में भस्म होता रहता है, उसके अभाव में जीवन का नष्ट होना अवश्यंभावी है। यह बन्ध उस अमृत को अग्नि में गिरने से रोकता है। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः।
कण्ठ संकोच रूपोऽसा वायुमार्ग निरोधकः॥
अधस्तात्कुंचने नाशु कण्ठ-संकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥

अर्थात्—पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिए। इसमें कण्ठ के संकोच द्वारा वायु का निरोध किया जाता है। अधोभाग में मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन करे और ऊपर से जालन्धर बन्ध द्वारा कंठ का संकोच तथा मध्य में उड्डियान बन्ध द्वारा प्राण को खींचें तो प्राण ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में चढ़ने लगता है।

इस प्रकार कण्ठ का संकोच करने से इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियों का स्तम्भन स्वतः हो जाता है। कण्ठ में सोलह दल का विशुद्ध चक्र है, वहाँ वायु को रोककर बन्धन करने वाला होने से इस बन्ध को मध्य चक्र कहा है।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मूलस्थानं समाकुंचय उड्डियानं तु कारयेत् ।
इडाँ च पिंगलाँ बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ।।७४
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ।
ततो न जायते हृत्युर्जरारोगादिकं तथा ।।७५
बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषा हठतंत्राणां साधनं योगिनो विन्दुः ।।७६

टीका—मूल स्थान का भले प्रकार संकोच करके उड्डियान बन्ध करे, जिससे इडा, पिङ्गला का स्तम्भन होकर प्राण को पश्चिम मार्ग में ले जाय। इस विधान से ही प्राण का लय हो जाता है, तब रोग, जरा, मृत्यु आदि नहीं होते। यह तीन बन्ध श्रेष्ठ हैं, महासिद्धों द्वारा इनका सेवन किया जाता है। हठयोग के सब साधनों में इसकी उपयोगिता को योगी पुरुष जानते हैं ।।७४-७६।।

व्याख्या—आधार स्थान को ठीक प्रकार से संकुचित करके नाभि से पश्चिमतान रूप बन्ध (उड्डियान) को करना चाहिए तथा कण्ठ के संकोच से इड़ा-पिङ्गला का बन्धन करे जो कि जालन्धर बन्ध से होता है तदनन्तर प्राण के सुषुम्ना में प्रविष्ट होने का प्रयत्न करे। ऐसा करने से प्राण का लय अर्थात् स्थैर्य हो जाता है। आशय यह है कि उसका बाह्य गमन रुक कर ब्रह्मरन्ध्र में ही स्थिति हो जाती है। इस प्रकार की उपलब्धि होने पर साधक को किसी रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि का भय नहीं रहता।

इस प्रकार उपर्युक्त उड्डियान वन्ध, मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध तीनों ही श्रेष्ठ हैं। बड़े-बड़े योगीश्वर, परम

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सिद्धि आदि ने इनको करके ही इच्छित सिद्धि और मोक्ष को प्राप्त किया। इसलिए योगाभ्यासियों को प्रयत्न पूर्वक इनका अभ्यास करना चाहिए।

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥७७
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥७८

टीका—दिव्य तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जिस अमृत का स्राव होता है, उसे नाभि में स्थित अग्नि सम्पूर्ण रूप से ग्रस लेता है। उसे रोकने के लिए सूर्य मुख का वंचन करने वाले दिव्य करण को गुरु के उपदेश से जानना चाहिए, क्योंकि उसके बिना करोड़ों शास्त्रों का अर्थ जानना भी व्यर्थ है ॥७७-७८॥

व्याख्या—पहले भी बता चुके हैं कि तालमूल में चन्द्रमा का निवास माना गया है वह अमृत की वर्षा किया करता है। परन्तु नाभि में सूर्य संज्ञक जिस अग्नि का निवास है, वह उसे अमृत का ग्रास कर लेता है। परन्तु उसके ग्रसन को रोकने के लिये सूर्य के मुख को बन्द करना आवश्यक है। यदि उसका मुख रुक जाता है तो धातुओं और रसों का ह्रास भी रुक जाता है और आयु का क्षय नहीं होता। उसे रोकने का उपाय योगीश्वर सिद्ध पुरुषों को ज्ञात रहता है, उन्हें गुरु रूप में वरण करके उनसे वह उपाय सीखना चाहिए। यदि गुरु से उसे नहीं सीखते तो करोड़ों शास्त्र पढ़कर भी नहीं सीख सकते। क्योंकि शास्त्रों में विधि-विधान तो लिखा होता है, परन्तु उसमें अनेक बातें ऐसी होती हैं जिनका स्पष्टीकरण अनुभवी सद्गुरु ही करने में समर्थ होता है, इसलिए गुरु से दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक है।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विपरीतकरणी मुद्रा

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥७६
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०

टीका—जिस योगी के ऊर्ध्व भाग में नाभि और अधो-भाग में ताल हो जाय, इस ऊर्ध्व भाग में सूर्य अधोभाग में चन्द्रमा को कर देने वाली क्रिया विपरीतकरणी मुद्रा कहलाती है, इसे गुरु के वाक्यों द्वारा प्राप्त करते हैं। नित्यप्रति अभ्यास में लगे रहने वाले योगी के लिये यह मुद्रा जठराग्नि बढ़ाने वाली तथा इसके द्वारा साधक इच्छानुसार अधिक भोजन कर सकता है ॥७६-८०॥

व्याख्या—इस मुद्रा के द्वारा तालु में अवस्थित चन्द्रमा नीचे और नाभि में अवस्थित सूर्य ऊपर हो जाता है। इसमें शिर और नीचे पाँव ऊपर करके स्थित होना होता है। इससे जठराग्नि इतनी बढ़ जाती है कि जितना भी खाया जाय सर-लता से पच जाता है। परन्तु अल्पाहार नहीं करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है। क्योंकि—

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥८१
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥८२

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

 Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

टीका—यदि इसका अभ्यास करने वाला साधक अल्प आहार करता है तो प्रदीप्त जठराग्नि उसके शरीर को उसी समय भस्म कर देती है। प्रथम दिन के अभ्यास में क्षण भर के लिए नीचे शिर और ऊपर पाँव करने चाहिए। फिर दिनों दिन अभ्यास को एक-एक क्षण करके बढ़ावे तो छः महीने में बली पलित अदृश्य हो जाते हैं। यदि एक प्रहर नित्य अभ्यास करे तो काल को भी जीत सकता है ॥८१-८२॥

व्याख्या—अल्प भोजन करने से इस मुद्रा के अभ्यासी साधक की जठराग्नि उसके शरीर को नष्ट कर डालती है। इसलिए यथेच्छ भोजन कर सके तो ही इस मुद्रा का अभ्यास करे।

इसमें नीचे शिर और ऊपर पाँव करके एक-एक क्षण नित्य बढ़ाते हुए अभ्यास करना चाहिए। इससे केशों का श्वेत होना झड़ना आदि नष्ट होता है तथा तीन घण्टे नित्य अभ्यास करने से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो सकती है।

इस सबसे यह भी प्रकट होता है कि योग की महिमा प्रारब्ध कर्म से भी बढ़कर है, क्योंकि योग के द्वारा प्रारब्ध के फल को भी नष्ट किया जा सकता है। इसलिए साधक को योगाभ्यास में प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस्कर है।

वज्रोली मुद्रा

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ।८३
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीय तु नारी च वशवर्तिनी ॥८४

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽत्रथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥८५
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥८६

टीका—जो योगी वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता है, वह योग-शास्त्र के नियमों का पालन न करके स्वेच्छा पूर्वक व्यवहार करे तो सिद्धिभाजन होता है। वज्रोली के साधक के लिए जो दो दुर्लभ वस्तुएँ हैं उन्हें मैं बताता हूँ। उनमें एक तो दूध है और दूसरी वश में रहने वाली स्त्री है। पुरुष हो या नारी बिन्दु को झरने से रोकने या आकुंचन करने का धीरे-धीरे अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो सकती है। शीशे की बनी हुई नली से धीरे-धीरे उपस्थ के छिद्र में वायु के संचारार्थ प्रयत्न पूर्वक इस प्रकार फूत्कार करे जिस प्रकार कि अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए फूँक मारते हैं ॥८३-८६॥

व्याख्या—वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता पुरुष शास्त्र के नियमों की उपेक्षा करके भी किसी प्रकार वज्रोली मुद्रा का साधन करता है, उसे भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसका अभ्यास करने वाले के लिये दूध और स्त्री दुर्लभ वस्तु है। अर्थात् साधक को इनसे बचना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि अभ्यास काल में दुग्ध पान उचित है, परन्तु कुछ विद्वान् इसे ठीक नहीं मानते और यह कहते हैं कि स्त्री-संसर्ग के पश्चात् निर्बलता को प्राप्त हुई इन्द्रियों की प्रबलता के लिए तो दुग्धपान हितकर है, परन्तु वज्रोली के साधन के लिए अयोग्य है।

वज्रोली मुद्रा की सिद्धि किस प्रकार हो ? इस पर कहते हैं कि पुरुष या स्त्री कोई भी हो बिन्दु को झरने से रोकने के

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karouhdi, Jabalpur,MP Co

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लिए उसके ऊपर आकुंचन का अभ्यास करना चाहिए। योग-तत्वोपनिषत् में कहा है—

वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धि भाजनम्।
लभ्यते यदि यस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्॥

अर्थात्—जो वज्रोली का अभ्यास करे वह सिद्धि का पात्र होता है। यदि वज्रोली की सिद्धि प्राप्त करले तो योग की सिद्धि उसके हाथ में ही समझो। वह भूत, भविष्य का भी ज्ञाता हो जाता है और उसे आकाश-गमन की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

शीशे की चौदह अंगुल लम्बी और उपस्थ के छिद्र में प्रविष्ट होने योग्य मोटी सलाई बनवाकर उसे उपस्थ में प्रवेश करने का अभ्यास करें। प्रथम दिन केवल एक अंगुल घुसावे, फिर क्रमशः एक-एक अंगुल नित्य बढ़ाता हुआ बारह अंगुल तक ले जाय। बस बारह अंगुल सलाई के प्रवेश से ही उपस्थ का मार्ग शुद्ध हो जायगा।

तदनन्तर चौदह अंगुल लम्बी एक सलाई और बनवाये जो कि टेढ़ी और ऊपर की ओर मुख वाली हो। उसे भी क्रमशः बारह अंगुल ही प्रविष्ट करे, उस टेढ़े और ऊर्ध्वमुख वाले भाग को बाहर रखे। फिर स्वर्णकार की धौंकनी के नल के समान नलका लेकर उसके अगले भाग को उपस्थ में प्रविष्ट टेढ़ी और ऊर्ध्वमुख की सलाई के मध्य में घुसाकर फूत्कार करने से उपस्थ मार्ग का शोधन हो जाता है।

इसके पश्चात् जल के आकर्षण का अभ्यास करे और जब वह सिद्ध हो जाय तब बिन्दु के ऊर्ध्व आकर्षण का अभ्यास करना चाहिए। बस, इसकी सिद्धि होने पर ही वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो जाती है।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥८७

एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥८८

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥८९

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैवं रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥९०

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं सम्यगभ्यासयोगवित् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥९१

टीका—योनि में पतित होते हुए बिन्दु का अभ्यास करता हुआ ऊर्ध्व आकर्षण करे। यदि बिन्दु चलित हो जाय तो भी उसका ऊपर को आकर्षण करके रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार जो योगविद बिन्दु की रक्षा सम्यक् प्रकार करता है, वह मृत्यु को भी जीत लेता है। क्योंकि बिन्दु के पतन से मृत्यु और बिन्दु की रक्षा से ही जीवन है। मनुष्यों का शुक्र चित्त के आश्रित है और जीवन शुक्र के आश्रित है, इसलिए शुक्र और मन दोनों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। ऋतुमती स्त्री के रज की और अपने बिन्दु की भी उक्त प्रकार के अभ्यास से रक्षा करे। योगवेत्ता पुरुष मेढ्र द्वारा रज और बिन्दु के ऊपर की ओर आकर्षण से रक्षा कर सकता है ॥८७-९१॥

व्याख्या—पतित हुआ बिन्दु भी उक्त मुद्रा के अभ्यास द्वारा आकर्षित करके अपने पूर्व स्थान पर स्थापित किया जा

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

 Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सकता है। पुरुष को अपने ही नहीं, स्त्री के भी रज की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि रज या वीर्य ही मनुष्य का जीवन है, यदि वही शरीर से निकल गया तो चाहे मृत्यु न भी हुई हो, तो भी मृत्यु के ही समान है।

इसमें यह भी समझ लेना चाहिए कि यदि पतन से पूर्व बिन्दु का क्षरण न रोका जा सके तो पतित हुए बिन्दु का आकर्षण किया जा सकता है। परन्तु इसकी सिद्धि अभ्यास से ही सम्भव है। पतित हुए बिन्दु को उसके आश्रय स्थान मस्तक में पुनः स्थापन करना चाहिए।

बिन्दु चित्त के अधीन है। यदि चित्त में कामवासना का आधिक्य है, उत्तेजना बढ़ गई है तो हो सकता है कि बिन्दु का पतन हो जाय। इसीलिए स्त्री के विषय में चिन्तन का भी योगाभ्यासी के लिए निषेध किया जाता है क्योंकि चित्त के चंचल होने पर बिन्दु भी चलायमान हो जाता है और चित्त स्थिर है तो शुक्र के पतन का अवसर ही नहीं आ सकता।

'शुक्रायत्तं व जीवितम्' कहकर ग्रन्थकार ने प्रकट किया है कि शुक्र है तो जीवन है और शुक्र नहीं तो जीवन भी नहीं। इसीलिए आवश्यक है कि शुक्र की रक्षा की जाय। क्योंकि शुक्र के रक्षित न रहने पर शरीर दुर्बल, रोग-ग्रस्त और शक्तिहीन हो जाता है और धीरे-धीरे वह मनुष्य मृत्यु मुख में पहुँच जाता है।

सहजोलिश्चामामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥९१
वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥९२

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ।।९४
अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणा सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ।।९५

टीका—सहजोली और अमरोली यह दोनों मुद्राएँ वज्रोली के ही भेद हैं। जलाये हुए कण्डों की सुन्दर भस्म को जल में डाल दे और मैथुनान्तर सुखपूर्वक बैठे हुए स्त्री-पुरुष उस भस्म को अपने अङ्गों पर लेपन करें। यह सहजोली कही जाने वाली क्रिया योगियों द्वारा सदैव श्रद्धा के योग्य है तथा यह शुभकारी योग, भोग और मोक्ष दोनों को देने वाला है। वह योग पुण्यवान्, धीरे, तत्वदर्शी और द्वेष रहित पुरुषों को सिद्ध होता है, द्वेष-युक्तों को सिद्ध नहीं होता ।।९२-९७।।

व्याख्या—वज्रोली मुद्रा के समान ही सहजोली और अमरोली मुद्राएँ भी हैं। कुछ विद्वान् इन्हें भिन्न मानते हैं और कुछ किंचित् विशेषता के साथ एक ही समझते हैं इसलिए कुछ संहिताओं में सहजोली और अमरोली का वर्णन नहीं किया है।

सहजोली के साधक स्त्री-पुरुष संसर्ग के अनन्तर कण्डों की भस्म को जल में मिलाकर अपने सर्वांग अर्थात् शिर, ललाट, नेत्र, हृदय, भुजा, उदर, नाभि आदि पर लेप करे। वज्रोली के साथ इस भस्म लेपन को ही सहजोली कहा गया है।

अमरोली मुद्रा

पित्तोल्वणत्वात्प्रथमां विहाय निः सारतांत्य धारा। निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्ड-मतेऽमरोली ।।९६

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अमरी यः पिवेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥९७
अभ्यासान्निःसृतां चांद्री विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥९८

टीका—अधिक पित्त वाली बिन्दु-धारा को तथा सार-अंश-रहित अन्य धारा को कुछ-कुछ छोड़कर शीतल मध्य धारा का सेवन किया जाता, उसे कापालिक मत में अमरोली मुद्रा कहते हैं। जो साधक नासिका द्वारा अमरी का नित्य पान करता हुआ वज्रोली का अभ्यास करता है उसे अमरोली कहते हैं। उस अभ्यास से निःसृत चन्द्रामृत को भस्म में मिलाकर उत्तम अङ्गों में धारण करे तो उसकी दिव्य दृष्टि हो जाती है ॥९६-९८॥

व्याख्या—प्रथम बिन्दु धारा में पित्त की अधिकता कही है और दूसरी अन्त्यधारा में सारांश का अभाव बताया है। इन दोनों धाराओं का शनैः-शनैः त्याग करना चाहिए अर्थात् पित्तादि दोषों से युक्त और निःसार धारा को छोड़कर शीतल शान्तिप्रद धारा का सेवन करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि बिन्दुरूप धारा का सेवन (क्षरण) लाभकर नहीं है। शिवाबुरूप अमरी का नासिका द्वारा पान करता हुआ मैथुन द्वारा वज्रोली का अभ्यास करे, परन्तु बिन्दु-पात न करे।

'शीतल मध्य धारा' का अभिप्राय चन्द्रामृत से है, उसे गोबर की भस्म में मिलाकर श्रेष्ठ अङ्गों में मलना चाहिए, निकृष्ट अङ्गों में मलने का निषेध समझें। उत्तमांगों में शिर कपाल, नेत्र, कन्धे, कण्ठ, हृदय और भुजा आदि माने जाते हैं। 'दिव्य दृष्टिः प्रजायते' का अर्थ है नेत्रों की दृष्टि तीव्र हो जाना

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उसे दूरदर्शन-शक्ति भी कह सकते हैं। इस प्रकार यह मुद्रा खण्ड कापालिक मत में अमरोली कहलाती है।

नारी की वज्रोली के साधन कथन

पुंसो बिन्दुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात्।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥९९
तस्याःकिंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः।
तस्या शरीरेनादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥१००

टीका—सम्यक् अभ्यास के कौशल से जो नारी पुरुष के बिन्दु का आकर्षण करके वज्रोली मुद्रा के द्वारा अपने रज की रक्षा करती है तो उसे भी योगिनी समझना चाहिए। उस नारी का रज किंचित् भी नाश को प्राप्त नहीं होता इसमें संशय नहीं है। उसके शरीर में नाद भी बिंदु रूप हो जाता है ॥९९-१००॥

व्याख्या—इसमें स्त्री के वज्रोली-साधन का वर्णन हुआ है इस साधन के करने से स्त्री का रज भी अपने स्थान से च्युत नहीं होता और मूलाधार से उठा हुआ नाद हृदय के ऊपर पहुँचकर बिन्दुरूप हो जाता है। स्त्री-पुरुष के रजवीर्य का शरीर के ब्रह्म संयोग होने से संतानोत्पत्ति होती है, परन्तु दोनों का आंतरिक योग होने पर ही योगी कहा जाता है। उन दोनों में चन्द्रमय और रज सूर्यमय है इनका योग होने से परमपद की प्राप्ति हो जाती है।

स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धि प्रयच्छतः ॥१०१
रक्षेवा कुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥१०२

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३

टीका—वज्रोली के अभ्यास से बिन्दु और रज दोनों एक होकर अपने शरीर में ही स्थित हो जाँय तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जो स्त्री योनि-संकोच द्वारा ऊर्ध्व ले जाकर रज की रक्षा करे वह योगिनी है। उसे भूत, भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है तथा निश्चय ही खेचरी सिद्ध हो जाती है। वज्रोली के अभ्यास से अवश्य ही देह-सिद्धि होती है। यह पुण्योत्पादक योग भोगों के भोगने पर भी मुक्तिदायक होता है ॥१०१-१०३॥

व्याख्या—उक्त प्रकार से अभ्यास सिद्ध करने वाली स्त्री को त्रिकाल का ज्ञान होता है। रूप-लावण्य की प्राप्ति होकर शरीर में दिव्यता का समावेश होता है। अथवा जो सिद्धियाँ सिद्ध पुरुष को प्राप्त होती हैं, सभी वज्रोली की साधिका योगिनी को प्राप्त हो जाती हैं—

कुण्डलिनी के पर्याय कथन

कुटिलांगी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१०४

टीका—कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुजङ्गी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डलिनी, अरुन्धती यह सब पर्यायवाचक हैं ॥१०४॥

व्याख्या—यहाँ कुण्डलिनी शक्ति के सात पर्यायवाचक नामों का वर्णन किया है, जिससे जिज्ञासु को यह समझने में कठिनाई न हो कि यह सभी नाम कुण्डलिनी के ही हैं। क्योंकि स्थलभेद से ग्रन्थों में कुण्डलिनी के अर्थ में उक्त में से कोई भी नाम मिल सकता है।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ।।१०५
येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।।१०६
कन्दोर्ध्वंकुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढ़ानां यस्तां वेत्ति स योगवित्।।१०७

टीका—जिस प्रकार कुंजी के द्वारा हठपूर्वक किवाड़ खोले जाते हैं, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष के द्वार को खोलते हैं। जिस मार्ग से निरामय ब्रह्मस्थान को जाते हैं, उसी द्वार के मुख को ढक कर वह परमेश्वरी सोती है। कन्द ऊर्ध्व भाग में सोती हुई कुण्डलिनी योगियों के लिए मोक्ष के निमित्त होती है, परन्तु मूढ़ों के लिए बन्धन प्रद हो जाती है, जो उसे जानता है वही योग का जानने वाला है ।।१०५-१०७।।

व्याख्या—कुण्डलिनी शक्ति मोक्ष के द्वार को खोल सकती है परन्तु वह निरामय ब्रह्मपद को जाने वाले मार्ग को ढक कर सोती रहती है। यह मूर्खों या अज्ञानियों के लिए बन्धन डालने वाली है, जब कि योगाभ्यासियों को उससे मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इसलिए अभ्यास से पूर्व इसके विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना और इसके रहस्य को भली प्रकार समझ लेना चाहिए।

कुण्डलिन्यां समुद्भुता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ।।

—योगचूडामण्युपनिषत्

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अर्थात्—प्राणधारिणों गायत्री कुण्डलिनी से ही उत्पन्न होती है। यही प्राणविद्या और महाविद्या है, जो इस विद्या को जानते हैं वही वेद के जानने वाले हैं।

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥१०८
गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनीम् ।
बलत्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०९
इडा भगवती गङ्गा पिंगला यमुना नदी ।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥११०

टीका—कुण्डलिनी का आकार कुटिल, सर्प के समान कहा जाता है, जो इस शक्ति का चालन करता है, वह मुक्त है, इसमें संशय नहीं है। गङ्गा, यमुना के मध्य में तपस्विनी बाल-रंडा है, उसे बल पूर्वक ग्रहण करना ही परमपद है। इडा भग-वती गङ्गा और पिङ्गला यमुना नदी है तथा इडा-पिङ्गला के मध्य में जो कुण्डली है, वही बालरण्डा है ॥११०॥

व्याख्या—कुण्डलिनी का आकार सर्पिणी जैसा होता है वह साढ़े तीन कुण्डली मारे हुए रहती है। इस शक्ति को चालन करने वाला साधक अवश्य मुक्त हो जाता है। गङ्गा, यमुना कहकर यहाँ इडा और पिङ्गला नाड़ियों का माहात्म्य वर्णन किया है। अर्थात् इडा नाड़ी गङ्गा के समान और पिङ्गला नाड़ी यमुना के समान पवित्र हैं। इनके मध्य तपस्विनी बालरण्डा के नाम से स्वयं कुण्डलिनी शक्ति विद्यमान रहती है। यहाँ बाल-रण्डा का अर्थ कुछ न खाने वाली कहा है, इसका तात्पर्य हुआ प्रसुप्ता, उस सोती हुई कुण्डलिनी को हठयोग के द्वारा जगाकर परमपद प्राप्त करने का उपदेश है।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शक्ति चालन मुद्रा

पुच्छे प्रगृह्य भुजंगी सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरुर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥१११

अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य
नित्यं परिचालनीया ॥११२

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ।
मृदुलं धावलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥११३

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥११४

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ।
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥११५

टीका—सोती हुई भूजङ्गी की पूँछ को पकड़कर प्रबोधन करने से वह शक्ति निद्रा छोड़कर ऊपर उठकर स्थिर हो जाती है। वह फणवती प्रातःकाल सायं-ककाल में आधे प्रहर तक सूर्य से पूरित परिधान से ग्रहण करके नित्य चलानी चाहिए। मूल स्थान से विलाँद भर ऊपर चार अंगुल विस्तार वाले कोमल, श्वेत और वेष्टित किये वस्त्र के समान कहा जाता है। वज्रासन में स्थित होकर दोनों पाँवों को एड़ियों के पास से हाथों द्वारा दृढ़ता से धारण कर उस कन्द का प्रपीडन करे। वज्रासन में स्थित हुआ योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा-कुम्भक के द्वारा कुण्डली को जाग्रत करे ॥१११-११५॥

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्याख्या—पूँछ पकड़ कर कुण्डलिनी को जगाने का अभिप्राय यह है कि प्राणनिरोध के अभ्यास से वायु द्वारा ताड़ित होने पर कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है, उस अभ्यास को सिद्ध करना चाहिए। इसका चालन करने के लिए प्रातः सायं दोनों समय डेढ़-डेढ़ घण्टे नित्य प्रति अभ्यास करना चाहिए।

मूल स्थान से बिलाँद भर ऊपर यानी नाभि स्थान और उपस्थ के मध्य में कन्द स्थान कहलाता है। गोरक्षसंहिता में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है कि नाभि के नीचे कन्द की जो योनि है, वह पक्षी के अण्डे के समान है, जिसमें बहत्तर नाड़ियाँ उत्पन्न होकर शरीर के सभी अङ्गों में गई हैं। वह कन्द स्थान कोमल और उज्ज्वल वस्त्र के समान एक बिलाँद भर लम्बा और चार अंगुल चौड़ा होता है।

वज्रासन करके एड़ियों से ऊपर पाँवों को पकड़ कर नाभि के नीचे के भाग में कन्द को पीड़ित करे। इस प्रकार करता हुआ साधक शक्तिचाल मुद्रा के साथ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत करना चाहिए, परन्तु इससे यह प्रकट होता है कि भस्त्रा कुम्भक के साथ वज्रासन ही करें अन्य आसन न करें।

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥११६

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥११७

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥११८

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

टीका—सूर्य का आकुंचन करने से कुण्डली का चालन होता है। इस क्रिया को करने वाले योगी को मृत्यु के मुख में जाने पर भी मृत्यु का भय कहाँ है ? इसका चालन निर्भय रूप से दो घड़ी पर्यन्त करे तो सुषुम्ना गई हुई यह शक्ति ऊपर खिंचती है। वैसा होने पर वह कुण्डलिनी सुषुम्ना के मुख में चली जाती है इसलिए प्राण भी स्वतः सुषुम्ना में चला जाता है ॥११४-११८॥

व्याख्या—नाभिदेश के आकुंचन से वहाँ स्थित सूर्य (अग्नि) का आकुंचन होता जाता है और सूर्यका आकुंचन होने पर ही शक्ति का चालन होता है। इस प्रकार का चालन दो मुहूर्त्त तक करने से ही कुण्डलिनी सुषुम्ना में जाकर ऊपर की ओर खिंचती है उसके द्वारा सुषुम्ना का मुख छोड़कर ऊपर जाने के कारण प्राण के लिए सुषुम्ना का मुख खुला मिलता है, इसलिए वह भी बाधा-रहित रूप से उसमें घुसकर ऊपर की ओर चढ़ता है। 'कुण्डलीं चालयन्प्राणान्भेदयन्शशिमण्डलम्' (ब्र० वि० उ०) के अनुसार कुण्डली और प्राण का चालन करके चन्द्र मण्डल का भेदन करे। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

अधस्तात्कुंचनेनाशु कण्ठ संकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमताने स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडीगः ॥

अर्थात्—अधोभाग में गुदा का आकुंचन, ऊर्ध्वभाग में कण्ठ का संकोचन और मध्य में पश्चिमतान से प्राण का आकर्षण करे तो (सब ओर से रोका हुआ) प्राण ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है।

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥११९

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र वहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥१२०

टीका—इसलिए नित्यप्रति के अभ्यास द्वारा सुख पूर्वक सोर्ती हुई अरुन्धती का चालन करे, उसके चालन करने मात्र से ही योगी सब रोगों से मुक्त हो जाता है। जिसने शक्ति का चालन कर लिया वह योगी सिद्धि का पात्र हो गया। बहुत क्या कहें ? वह लीलापूर्वक काल को भी जीत लेता है। ॥११९-१२०॥

व्याख्या—सोती हुई कुण्डलिनी को जगाकर चालन करने वाला साधक सभी रोगों से रहित एवं पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। मृत्यु भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। सभी विघ्न बाधाओं और व्याधियों को वह क्रीड़ा के समान उल्लंघन करने में समर्थ होता है। इस प्रकार शक्ति के चालन में कुशल योगी मृत्यु का भी विजेता हो जाता है।

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।
मण्डलाद्दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्याभ्यासयोगिनः ॥१२१
कुण्डली चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेतः ।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥१२२

टीका—जो साधक ब्रह्मचर्य परायण रहता हुआ नित्य मिताहार करता है, उस कुण्डलिनी के अभ्यासी योगी को एक मण्डल में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जो योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक हो विशेष रूप से करता है, उस अभ्यास परायण यमी को यम का भय भी कहाँ ? ॥१२१-१२२॥

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्याख्या—ब्रह्मचर्य-परायण अर्थात् इन्द्रिय संयम में सदैव तत्पर योगी ही कुण्डलिनी के जागरण का अभ्यास कर सकता है। यदि अभ्यास करने के दिनों में ब्रह्मचर्य-रहित हो जाय तो बिन्दु का क्षय होने के कारण उसका शरीर रोगी होकर शनैः शनैः काल कवलित हो सकता है और सिद्धि तो उसे हो ही नहीं सकती है।

'मण्डल' पद काल का वाचक है, चालीस दिन के परिणाम को मण्डल कहते हैं। विधिपूर्वक कुण्डलिनी-चालन का अभ्यास करने वाला योगी एक मण्डल के समय में ही सिद्धि का दर्शन कर लेते हैं अर्थात् उन्हें सिद्धि मिल जाती है। परन्तु इसके लिए उन्हें भस्त्रा कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिए।

यमी का अर्थ है 'यम' का पालन करने वाला। योगी को यम-नियमों का पालन आवश्यक होता है और इसीलिए वह यम-नियम-परायण रहता है, अतः 'यमी' शब्द का प्रयोग साधक के अर्थ में हुआ है। इससे यह प्रकट किया गया कि साधक मृत्यु से भी नहीं डरता। उसको साधन में कितने ही विघ्न क्यों न आकर उपस्थित हो जाँय, वह धैर्य और साहस पूर्वक उनका उल्लंघन कर जाता है। परन्तु जो यमों का पालन नहीं करता, उसे जन्म-मरण के भय में पड़ना होता है।

द्वासप्ततिसहस्राणाँ नाडीनां मलशोधने।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥१२३
इयं तु मध्यमा नाड़ी दृढ़ाभ्यासेन योगिनाम्।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥१२४

टीका—कुण्डलिनी के अभ्यास बिना बहत्तर हजार नाड़ियाँ मल शोधनार्थ उनके प्रक्षालन का अन्य उपाय ही क्या

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

 Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है ? यह मध्य नाड़ी योगियों के दृढ़ अभ्यास द्वारा आसन प्राणायाम और मुद्रा से सरल होती है ॥१२३-१२४॥

व्याख्या—शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, सामान्य दशा में वे सभी मल से भरी रहती हैं। परन्तु कुण्डलिनी चालन का अभ्यास करने से वे नाड़ियाँ स्वयं धुल-धुलकर शुद्ध हो जाती हैं। इसलिये श्लोक में कुण्डलिनी चालन के अभ्यास का कर्तव्य रूप से संकेत है।

मध्य नाड़ी का अर्थ सुषुम्ना है, क्योंकि यही नाड़ी इडा और पिंगला के मध्य में रहती है। इसे सरल अर्थात् उपयोगी बनाने के लिए आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि साधनों की आव-श्यकता होती है, क्योंकि उन्हीं साधनों के सिद्ध होने पर शक्ति प्रबुद्ध होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है।

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥१२५

टीका—अभ्यास काल में अनिद्रित रह कर जो साधक मन को समाधि में लीन कर लेते हैं, उन्हें रुद्राणी आदि मुद्राएं कल्याणमयी होकर सिद्धि के देने वाली होती हैं ॥१२५॥

व्याख्या—अभ्यास के समय साधक को आलस्य और निद्रा का परित्याग करना चाहिए, क्योंकि उनके होने पर समाधि में मन का लय नहीं होता, वरन् वह तो निद्रा-रहित अवस्था में ही हो सकता है। चित्त की एकाग्रता अनिद्रित अव-स्था में ही बनती है और उसी को समाधि कहते हैं।

रुद्राणी मुद्रा का अभिप्राय शाम्भवी मुद्रा से है। लक्ष्ये-ऽन्तर्वाह्यायां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां च इयं शाम्भवी मुद्रा

O. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collect

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भवति' (मण्डलब्राह्मणोपनिषत्) अर्थात् 'लक्ष्य के भीतर और बाहर की दृष्टि जब निर्निमेष रूप से स्थिर हो जाती है, तब यह शाम्भवी मुद्रा होती है। और इस मुद्रा का फल उसी उपनिषत् में तज्ज्ञानेन संसार निवृत्तिः, तत्पूजनं मोक्षफलदम्' कह कर उसके ज्ञान से संसार की निवृत्ति और पूजन से मोक्ष की प्राप्ति बताया है।

राजयोगं बिना पृथ्वी राजयोगं विना निशा।
राजयोगं बिना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥१२६

टीका—राजयोग के बिना पृथिवी, निशा और मुद्राविलक्षण हों तो भी शोभित नहीं होती ॥१२६॥

व्याख्या—इसमें राजयोग के बिना आसनादि अङ्गों की निष्फलता कही गई है। चित्तवृत्ति को अन्य विषयों से रोक कर आत्मा में निर्विकल्प रूप से योजित करना ही राजयोग है। जब तक साधक इस प्रकार की उपलब्धि में असमर्थ रहता है, तब तक पृथिवी अर्थात् आसन, निशा अर्थात् कुम्भक, विचित्र मुद्रा अर्थात् महामुद्रा आदि सभी निरर्थक हैं।

कुछ विद्वानों ने पृथिवी का अर्थ स्थिरता भी किया है, क्योंकि-पृथिवी स्थिर रहती है और वैसी स्थिरता राजयोग अर्थात् चित्त वृत्ति के निरोध से ही हो सकती है। निशा का अर्थ कुम्भक इसलिये किया है कि जैसे रात्रि में राजपुरुषों का आवागमन नहीं रहता वैसे ही कुम्भक में प्राण का संचार रुका रहता है। परन्तु यह प्राणनिरोध तब तक निष्फल है जब तक चित्त वृत्ति को आत्म-विषयक विचार में लीन न कर लिया जाय। यही बात महामुद्रा आदि पर भी लागू होती है कि वे कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो चित्तवृत्ति असंयमित है तो उसका महत्व किसी उपयोग का नहीं।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

 Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ।।१२७

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ।।१२८

टीका—वायु धारण की सम्पूर्ण विधि का अभ्यास मन लगाकर करे, उससे भिन्न किसी भी कार्य में मनीषी पुरुष को मनोवृत्ति नहीं लगानी चाहिए। आदिनाथ शिवजी ने यह दश मुद्रा बताई हैं। उनमें से कोई एक मुद्रा भी यमी (योगी) के लिए महासिद्धि देने वाली हो सकती है ।।१२७-१२८।।

व्याख्या—प्राणायाम आदि की सभी विधियों को चंचल मन से न करे, वरन् मन को स्थिर करके उसी में लगा दे, तभी सफलता मिल सकती है। योगाभ्यासी पुरुष का कर्तव्य है कि वह मन को किसी अन्य विषय की ओर न जाने दें। ऊपर जो दश मुद्राएँ कही हैं वह आदि नाथ रूप शिवजी द्वारा वर्णित हैं। उनमें से कोई-सी भी मुद्रा अभ्यास से सिद्धिप्रद हो सकती है।

सद्गुरु प्रशंसा

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्री गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ।।१२९

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ।।१३०

टीका—मुद्राओं के उपदेश को जो साम्प्रदायिक रूप से देता है, वही श्री गुरुदेव स्वामी और साक्षात् ईश्वर है। उसके

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collect

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वाक्यों में तत्पर होकर जो साधक मुद्रा के अभ्यास में सावधान होने पर अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति और काल के वचन की उपलब्धि प्राप्त कर सकते हैं ॥१२९-१३०॥

व्याख्या—सम्प्रदाय का अर्थ यहाँ नाथ सम्प्रदाय से है, जो कि श्री आदि नाथजी से ही प्रारम्भ हुआ था। उस सम्प्रदाय के उपदेश को जो सद्गुरु प्रदान करे, वह निश्चय ही साक्षात् रूप से परमेश्वर है । अर्थात् सम्प्रदाय के अनुसार योग का उपदेश करने वाले गुरु के वचन में जिज्ञासु को श्रद्धा और विश्वास रखते हुये, उन्हीं के अनुसार चलना चाहिए। गुरु के वचनों में इस प्रकार परायण जिज्ञासु समाहित चित्त से योगाभ्यास में तत्पर हो जाय तो उसे अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ तो प्राप्त होती ही हैं, साथ ही वह मृत्यु के उल्लंघन में भी समर्थ होता है ।

❀ हठयोग प्रदीपिका का तृतीयोपदेश समाप्त ❀

—❀—

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

अथ [१०७]कुंभक को फल ।

चौपाई— एकहु प्राणायाम सधि आवै केऊ अस्वमेध फल पावै ।
ताते प्राणायाम [१०८]जु करै सो जोगी जु[१०९] आप उधरै ॥५०६ ॥
पूरक सुरापान अघ हरे रेचक ते हत्या पुनि टरे ।
गोहत्या कुंभक से नासै त्राटक सब ही पाप विनासै ॥५०७ ॥
पूरक ब्रह्मलोक ले जावै कुंभक विष्णुलोक पहुंचावै ।
रेचक रूप रुद्र कौ लहै त्राटक मुक्ति सुसारिष्टि गहै ॥५०८ ॥
ओंकार कौ[११०] मंत्र उचारै तीन देवता मांहि विचारै ।
यातें अनहद उपजै आई नाना धुनि तब देत दिखाई ॥५०९ ॥
संख मेघ घंटा धुन पावै भेरी[१११] दुंदभी वैण[११२] सुणावै ।[११३]
औरै नाद अनंत प्रकासै जयतराम जो प्राण अभ्यासै ॥५१० ॥ ॥इति कुंभक फल ॥
इति आठ कुंभक कहे भिनि-भिनि करि सोय ।
जयतराम केवल कीया आठ अंग सिधि होय ॥५११ ॥[११४]

अथ चौबीस मुद्रा कथनं नाम ।

दोहा— मुद्रा है बहुभांति की जानत है सिव देव ।
जयतराम हम कहत है चतुरवीस कौ भेद ॥५१२ ॥

चौपाई— प्रथमही संछोभणी कहिये दुतीयै द्रावणी मुद्रा लहिये ।
आकर्षणी तीसरी जानौ चतुर्थ मुद्रा वस्या मानौ ।५१३ ॥
पंचम उनमद मुद्रा जोई महाअंकुसा षष्टी सोई ।
सप्तम त्रिखंडा जु उचारी वीरजरूपा अष्टम भारी ॥५१४ ॥
नवमी करण विपरीति जु जो है मूलबंध दसमी पुनि सो है ।
कामराज एकादश कहिये बंध उड्याण द्वादशी लहिये ॥५१५ ॥
बंध जालंधर त्रयोदस सोई मुद्रा महा चतुरदस जोई ।
महाबंध पंचदस भाषौ महावेध षोडस पुनि आंखौ ॥५१६ ॥

---

१०७. केवल कुंभक (भां) *१०८. जग (भां.)*
१०९. वर (भां), *११०. सों (ना.),*
१११. भेर (ना.) *११२. वेणि (भां),*
११३. सुण आवै (भां.), *११४.* These Lines missing in *(नां)*

सत्रैही खेचरी मुद्रा गाऊ सब मुद्रा सिरताज बताऊ ।
अष्टादसी कहौ पुनि जोई वरणक मुद्रा कहिये सोई ॥५१७ ॥
उणीसई सहजोली जानो बीसई षणमुखी सु मानो ।
एकरवीस चाचरी जोई दोईरवीस भूचरी सोई ॥५१८ ॥
त्रयोवीस अगोचरी गाई उनमनि चतुरवीसमी भाई ।
चतुरवीस को रूप पिछानै जयतराम तब साधन ठानै ॥५१९ ॥
॥इति चौबीस मुद्रा नाम ॥

अथ प्रथमे संछोभणी मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— [११५]सुस्तक आसन बैठक करई पायमूल कर वाय जु[११६] भरई ।
कर अंकोच विकोच न कैर कुंडलीनी को पुंछ जु जरै ॥५२० ॥
तब सर्पणी कुंडली[११७] तजै दसम द्वार कौ मारग भजै ।
अग्नि प्रबल अधिकता[११८] पावै जयतराम मुद्रा यह गावै ॥५२१ ॥
॥इति संछोभणी ॥

अथ दूजी द्रावणी मुद्रा ।

चौपाई— स्वस्तक आसन बैठे धीर प्राणायाम करि गहै समीर ।
जिभ्या उलटि कपालि [११९]चढावै षटचक्रनि मै वाय मिलावै ॥५२२ ॥
षटचक्र पुनि वेधै वाई दसमद्वार में पहुंचै जाई ।
दसमद्वारतें अमृत झरै सौ ले सर्व अंग मै धरै ॥५२३ ॥
षटचक्र षोडस आधार तामधि गहै ।
अमीकी धार देही सदा प्रफुलत रहै ।
मनमल छाडि अमलता गहै ॥५२४ ॥
जनम मरन कौ दोष मिटावै द्रावणी मुद्राकौ जो पावै ।
जयतराम बडभागी लहै अधिकारी बिन भेद न कहै ॥५२५ ॥
॥इति द्रावणी मुद्रा ॥

---

११५. स्वस्तक (भां) *११६. भज (ना.)*
११७. कुंडल (भां) *११८. अधिकारिता (ना.)*
११९. From this half verse until the beginning of अथ आकरषणी मुद्रा is seen missing in (ना.)

अथ आकरषणी मुद्रा कहिये है ।

स्वस्तक आसन बैठक करै पिंडब्रह्म[१२०] को ध्यान जु धरै ।

बहुरौ प्राणायाम करावै दसमद्वार कों प्राण चलावै ॥५२६ ॥

सहस्रदल कमल है पुनि तहा सियाराम को सुमरे जहां ।

[१२१]प्रभुक्रिपा कटाछ जब देखै भुक्ति[१२२] मुक्ति दोउ फल पेखै ॥५२७ ॥

दोहा— त्रितीये मुद्रा यह कही आकर्षणी जु सोय ।

जयतराम अति गोप्य है गुरुमुख साधन होय ॥५२८ ॥

॥इति आकर्षणी ॥

अथ वस्या मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— आसन सिधमें[१२३] बैठक ठानै कुंडलनी अपने बस आनै ।

[१२४]मेढिमधि कुंडलनी जोई सूती रहै सदा पुनि सोई ॥५२९ ॥

मायाबीज [१२५]पढ ध्यान जु धरै कुंडलनी प्रबोधन करै ।

जैसे मंत्र गारडी ठांनै पुंगी वाय सर्प वसि आनै ॥५३० ॥

यों जोगी अजपा को धारै मायाबीजको मंत्र उचारै ।

पुंगीसम अनहद धुनि धरै [१२६]कुंडलनी वस ऐसे करै ॥५३१ ॥

[१२७]बहुरि जु अपनो मन में आवै जहा चाहै वहां ले जावै ।

अनहद पुंगी के वसि[१२८] होई सदा रहै अपने वसि[१२९] सोई ॥५३२ ॥

अणिमा आदि सिधि चलि आवै हाथ जोरि आगे जु रहावै ।

जनम मरन सब जाई पलाई जयतराम यह मुद्रा गाई ॥५३३ ॥

॥इति वस्या मुद्रा ॥

अथ पंचमी उनमद मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— प्रथमही पदमासन करि लेवै बंध सकल विधि सौ द्रिढ देवै ।

मन को पवन जु मधिही मिलावै कुंडलनी मस्तक मैं आवै ॥५३४ ॥

---

१२०. पिंडब्रह्मांड (भां) — *१२१. क्रियाकटाछि तहां (भां)*

१२२. भगति (भां) — *१२३. सिधसु (भां.)*

१२४. मेढुमधि (भां) — *१२५. परि (भां)*

१२६. कुंडलनी कौ वसिता करै (भां) — *१२७. वहिरि(ना.)*

१२८. वस होवै (ना.) — *१२९. वस सोवे (ना.)*

कुंडल सप्त अधो परिहरै दसमे द्वारमाहि फणि करै ।

भूमै तहां मंत की नाई जोगी उनमद है घटमांही ।।५३५ ।।

आसन गिरिसम प्रथमही कहिये दुजौ [१३०]वृक्षरुपी पुनि लहिये ।

तीजो दीप लोयवत जोई तीनो [१३१]वसि करे पुनि सोई ।।५३६ ।।

चमतकार नानाविधि देखै [१३२]अरु पुनि बुधि अमलता पेखै ।

मन अरु पवन दोऊ मिलि रहै अनमद भाव तबै पुनि लहै ।।५३७ ।।

दोहा— यह उनमद मुद्रा कही जोगी उनमद हो.य ।

जयतराम गुरुतें लहै गुरुबिन लखै न कोय ।।५.३८ ।।

।।इति उनमद मुद्रा ।।

अथ महाअंकुसा मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— सुस्तक आसन प्रथमही ठानै पवन निरोधिरु अंतरि आनै ।

प्राणायाम कौ अंकुस धारै ताकरि मन गयंद कौ मारै ।।५३९ ।।

हिदारुपी वन है जोई मनगज तहा सदा रहै सोई ।

नाना उपद्रवकौं तहां ठाने जनममरन के वानि कवांने ।।५४० ।।

ताते जोगी अैसे करे [१३३]ज्यान जंजीर तासकै जरै ।

प्राणायाम अंकुस सम धारै सो ले मन गज कै सिर मारै ।।५४१ ।।

ताकरि मन अति निश्चल होवे जनममरन के बंधन खोवे ।

[१३४]यातें महा अंकुसा कही जयतराम मन जीते सही ।।५४२ ।।

।।इति महा अंकुसा मुद्रा ।।

अथ सप्तमी त्रिखंडा मुद्रा ।

[१३५]प्रथम ही सुस्तक आसन धारे सोहं मायाबीज उचारै ।

त्रिखंड कुंभक क्रमसो करे वाय अपान उर्ध ले धरे ।।५४३ ।।

इडा नाडि नाभिमध वसे वाय अपान तहां पुनि लसै ।

प्रथम खंड तहां कुंभक करैं मायाबीज तहां उचारै ।।५४४ ।।

---

१३०. वृषभरुपी (भा.) *१३१. सुवसि (भां)*

१३२ This half verse missing in *(ना.)* *१३३. ग्यान (भां)*

१३४. यह तो (ना.)

१३५. *This onwards pages containing verses until the description of महामुद्रा missing in (भां)*

बहुर पिंगला हिदै जानौ प्राण वाय तहां ले ठानो ।

ऐसे कुंभ हिदे धारै उंकार तहा मंत्र उचारै ॥५४५ ॥
अर्ध उर्ध पवन तहां लेवै ता पाछे रेचन कर देवै ।
नाभि उर्ध हिदै ठहरावै सो पुनि दुजो खंड कहावै ॥५४६ ॥
याकै परै कंठमधि आने तीजो कुंभक अैसै ठांने ।
मुखके मध सुखमना रहै बीज सकार तहा पुन कहै ॥५४७ ॥
तीन ठोर कुंभक ठहरावै मुद्रा त्रिखंडा नाम कहावै ।
नाभिमधि कुंभक जब धरै ताकरि अग्न उदीपन करै ॥५४८ ॥
हिदै कुंभक जब सधि आवै ताकरि रवि को तेज बढावै ।
बहुरि कमल हिदाक़ो जोई फूलै अति सुगंध होय सोई ॥५४९ ॥
कुंभक कंठमध्य जब करै ताकरि चंद्र अमी अति झरे ।
निर्मल बुधि कर पीवै सोई अैसै त्रिखंडी मुद्रा होई ॥५५० ॥

दोहा— यह त्रिखंडा मुद्रा कही मन बुद्धि निर्मल होय ।
जयतराम गुरुक्रिपाते जो साधै जोय ॥५५१ ॥
॥इति त्रिखंडी मुद्रा ॥

अथ अष्टमी बीजरूपणी मुद्रा कहिये है ।

वीरजमुद्रा वरन सुनाउ राजजोग घर माहि लखाउं ।
यह साध बिंद वस करै जोगी यामै चित्त न धरै ॥५५२ ॥
प्रथम फोत्रिका कर्म विचारे प्राणायाम समझ पुनि करै ।
अंकोच विकोच संकोचन जोई सिसनद्वारिक साधै सोई ॥५५३ ॥
प्रथमही भेद गुरुतै पावै ता पाछै साधै न ठहरावै ।
आसन साध प्राण वस करै रेचक पूरक कुंभक करे ॥५५४ ॥
प्राणायाम परायण होवै ता पीछै इंद्रियमल खोवै ।
ता पाछै पयकौ भुव डारै अैसै सिसन अमलता धरै ॥
स्त्री भोगि ग्रही पुनि करै ताको बिंद कबहु न परै ॥५५५ ॥
ज्यों ज्यों तानै वृषनकौ गहिके उच मरोरि ।
जयतराम त्यों-त्यों चढै बीज सिसन की चोरि ॥५५६ ॥

चौपाई— भोग समै कंद्रप नही डारै जुवती कंदर्प को पुनि धारै ।
तहा अंकोच विकोचन करई जिभ्या उलटि उर्ध को धरई ॥५५७ ॥
उत आसन कर कंद्रप जोई दसमद्वारि ले जावै सोई ।

रजवीरज दोउ ले धरे शिवशक्ति को मेल करै ॥५५८ ॥
ऐसै वीरजरूपा जानौ राजजोग घरही में मानौ ।
घरही माहि जोग सो साधै सो या मुद्राको आराधै ॥५५९ ॥
जोगी याको अैसै करै अपनी बिंद उर्ध ले धरे ।
बजरोली अमरोली कहिये नादबिंदको संगम लहीये ॥५६० ॥
कामवस याही ते होई वृधहू काम करै पुनि सोई ।
ग्रंथन माहि गोप्य यहु राखी जयतराम प्रकट कर भाखी ॥५६१ ॥
॥इति वीरमुद्रा ॥

अथ नवमी विपरीतकरण मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— प्रथमही उतआसन कौ करै कांधौ सीस भूमिपर धरै ।
सकल सरीर उर्ध को आने दोउ पद अवर दिस ताने ॥५६२ ॥
दोउ करते दंडवत करै अजपाको ध्यान मंत्र पढ धरै ।
ठोडी कंठकूपमधि तानै हिदै नाभि द्रिष्ट को आनै ॥५६३ ॥
चरन अंगुष्ट लग द्रिष्ट जु धरै ता पाछै कुंभक द्रिढ करै ।
पायमूल कर वाई गहै यथाशक्ति साधन सिध लहै ॥५६४ ॥
क्रम क्रम साधन सो मन लावै साढेतीन घडी ठहरावै ।
पूर्ण कुंभक अैसे होई साधन सिद्ध लहे पुनि सोई ॥५६५ ॥
दसमें द्वारि चंद्र का वासा सोलह कलासहित प्रकासा ।
सो पुनि कला प्रकट कर गाऊं न्यारो न्यारो नाम सुनाऊं ॥५६६ ॥
अमृतमानदा पूखा जानो तुष्टपुष्ट पुनह घ्रित मानो ।
सुसमुना चंद्रका कांति जु कहिये त्रिष्णा श्री प्राति पुनि लहिये ॥
रंगदा पूर्ण पूर्णमा मानो सोलह कला चंद्रकी जानौ ॥५६७ ॥
सो पुनि कला अमी नित झरे चंद्र तहातें वर्षा करै ।
सोई अमी नाभिमय आवै ताको सूर्य भस्म करावै ॥५६८ ॥
नाभि अस्थान भानका वासा तेऊ कलासहित प्रकासा ।
तेउ कला प्रगट करि भाखौ गुरुकी क्रिया गोप्य न ही राख्यौ ॥५६९ ॥
तापनी तापनी धुम्रा जान्यौ ज्वाला मरीचि रुचि मानौ ।
स्वसमण भोगदा विस्वा लहिये बोधनि धारणी क्षमा रवि कहिये ॥५७० ॥
अैसी भांति अमी रवि जारे तातै जोगी जगत विचारे ।

विप्रीता जो मुद्रा करै रविकों आनि सीसमैं धरै ॥५७१ ॥
ससिको नाभिं मध्य ले धरै सकल सरीर अमीसो भरै ।
ऐसे मन आनंद बढावै जन्ममरन को दोष मिटावै ॥५७२ ॥

दोहा— द्वादस कला जु भानुकी सोलह ससिकी जोय ।
रविकी चार सधै जबै पावै सोला सोय ॥५७३ ॥
रवि की बारह है कला सोलह कला जो चंद ।
गुरु जिसको भाखे नही कहा करै सिख मंद ॥५७४ ॥

चौपाई— जो या मुद्रा सधि नही आवै ताकी देहिनास लतीका है घर जोवै ।
अग्नि मंत्रते प्रगटै जहां कुंडलनी व्याकुल हो तहां को जावै ॥
अमृत आई नाभिमे जरै तातै सब जन्मे अरु अमरे ॥५७५ ॥
नाभिस्थान सिखामय सोई अंगुष्टमात्रा जोति है जोई ।
आत्मघट मै सदा प्रकासै तेलरूप अमृतकौ ग्रासै ॥५७६ ॥
जब ही अमी तेल नही आवै तब से दीपक जोत नसावै ।
मंदर मध्य होय अंधायारा याको पंडित करो विचारा ॥५७७ ॥

दोहा— या मुद्रा विपरीतगा वरन कही हम जोय ।
जयतराम गुरुमुख करै लहै अमर पद सोय ॥५७८ ॥
॥इति विपरीतिकरणी मुद्रा ॥

अथ मूलबंध मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— वाम पाद की इडी जोई जोनि स्थान लगावै सोई ।
दछिनपाद उर्ध धरि रहै समकर पीठ अपान जु गहै ॥५७९ ॥
मायाबीज पढ उर्ध चढावै वाय अपान उर्ध ले आवै ।
अष्ट परिजानि ध्यान पुनि धरै वाय अपान सोइ वस करै ॥
वाय अपान कबै नही सरै जोगी अमर कदै ना मरे ।
जयतराम ऐसैविध ठानै मूलबंध मुद्रा सो जानो ॥५८१ ॥
॥इति मूलबंध मुद्रा ॥

अथ एकादसी कामराजमुद्रा कहिये है ।

चौपाई— ज्योनिस्थानि पद एडी धरै बहुत वेरतक चयन करै ।
मुख करि मायाबीज उचारै कुंडलीनीकौ पुंछ जु जारै ॥५८२ ॥
गुदा उर्ध मेढ्र तरि सोई कुंडलनीका है घर जोई ।

अग्निमंत्र ते प्रकटे जहा कुंडली व्याकुल व्है तहां ॥५८३ ॥

नेवै उर्धकी गबन कराई दसमै ढारि पहोंचे जाई ।

जयतराम जोगी सिध लहै मूलबंध अैसैविध कहै ॥५८४ ॥

॥इति कामराज मुद्रा ॥

अथ द्वादसी उड्याण बंध मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— प्रथमही सिधासन करि लेवै बहुरौ बंध उड्याण जु देवै ।

उरध पीठ नालमध जोई तासौ नाभि लगावै सोई ॥५८५ ॥

मंत्र उडयां ध्यान पुनि धरै वाय अपान सोई वस करै ।

करै वृधसो बालक होवै सकल विकास देह के खोवे ॥५८६ ॥

यह मुद्रा उड्याणकौ भेद कह्यौ समझाई ।

जयतराम साधन किये वृधहु बालक थाय ॥५८७ ॥

॥इति उड्याणबंध मुद्रा ॥

अथ त्रयोदसी जालंधर बंध मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— जोगी पदमासन द्रढ करै चिबुक कंठकूप मधि धरै ।

ग्रीवा हैयकी सद्रस धारे तामै लक्ष्मी बीज उचारै ॥५८८ ॥

द्रिष्ट त्रिवेणी राखे गोई प्राणायाम करै पुनि सोई ।

प्राण अपान वाय वसि करै तेजोमंडल द्रिष्ट जु परै ॥५८९ ॥

जैसे जाय सरोवर तीरा तामे जाल पसारे कीरा ॥

अर्ध के तंत जु करै वै जोई सबै उर्धकौ आवै सोई ॥५९० ॥

अैसै ही जोगी करि लेवै जालंधर द्रढ बंध ही देवै ।

सकल नाडिका पवन चढावै सो पुनि चलै उर्धको आवै ॥५९१ ॥

दोहा— जालंधर बंध देत ही मन पवना वसि होय ।

जयतराम मिट जात है संकल्प विकल्प होय ॥५९२ ॥

॥इति जालंधर बंध मुद्रा ॥

अथ चतुर्दशमी महामुद्रा ।

चौपाई— वाम पादकी एडी जोई सीवन ताकरि दाबै सोई ।

दछणि पाव पसार जु रहै दोऊ करसो अंगुष्ट गहै ॥५९३ ॥

सहजै कछू एक खैचन करई वाम अंग दिस कंधर धरई ।

दोउ मुरतै वाई गहै जथाशक्ति कुंभक करि है ॥५९४ ॥

जालंधादि बंध द्रिढ धारै क्रम क्रम कुंभक वाय उतारै ।

कुंभक समै अंकोचन आनै बहुरि विकोचन बहुविध ठानै ॥५९५ ॥

पुन दछन कंधापरि रहै दोऊ स्वर करि वाई गहै ।

बहुरो मथै उदर की नारी पुनह वायकौ देत उतारी ॥५९६ ॥

बारंबार ससि सूरजु गहै द्वादश प्राणायाम करि रहै ।

याते सकल कलेस मिटावै सब ही नाडी अमलता पावै ॥५९७ ॥

दोहा— आसे श्रमहि न उपजै आलस नींद मिटाय ।

जयतराम याके संध्या मृत्यु न ग्रासे आय ॥५९८ ॥

॥इति महामुद्रा ॥

अथ पंचदसी महाबंध मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— प्रथमही सिधासन द्रिढ करै कंठकूपमधि चिबुक सु धरै ।

कंठ जिभ्या कछु उर्ध को धारै तहां खेचरी बीज उचारै ॥५९९ ॥

अध उर्ध दसन न बिचि लेवै काकचंचुवत मुख करि देवै ।

पूर्णगिर मुद्रा पुन कहिये उभै भेद याही के लहिये ॥६०० ॥

नाटिक छंद सहजही पावै अष्टसिध नवनिध चलि आवै ।

प्राणायाम आदि वसि होई दसवै द्वार पहौतै सोई ॥६०१ ॥

दोहा— महाबंध मुद्रा कही यातै लगै समाधि ।

जयतराम गुरुक्रिपा तैं मेटे मन की व्याधि ॥६०२ ॥

॥इति महाबंध मुद्रा ॥

अथ षोडसी महावेधमुद्रा कहिये है ।

चौपाई— महामुद्रा महाबंध जु जोई अरु पुनि महावेध है सोई ।

ए तीनौ एकही करि जान क्रिया भिन्न पुनि तिनकी मान ॥६०३ ॥

जोनि स्थान अपान है जहां महामुद्रा को घर है जहां ।

याको साधन अैसै ठानै नाडि विलोय वाय सिरि आनै ॥६०४ ॥

[१३६]महाबंध घर कंठ जु होई प्राण निरोध करै पुनि सोई ।

महावेध का घर पुनि जानो दसमें द्वारमधि सो मानो ॥६०५ ॥

---

१३६. महावेध (ना.)

यामें जिभ्या उर्ध चढावै [१३७]चंद्रस्थान आन ठहरावै ।

प्राणायाम निरोधन[१३८] करई अैसै वज्र कपाटही जरई ॥६०६ ॥
अैसै महावेध यह धारै यामे मायाबीज उचारे ।
अजपाबीज जपै पुनि जोई सहस्त्रकमलदल फूलै सोई ॥६०७ ॥
अैसै बुधि [१३९]अमलता पावै बहुरौ सहज समाधि लगावै ।
आगै गोप्य[१४०] रहै कछू नाही जयतराम या मुद्रामाही ॥६०८ ॥
॥इति महावेध मुद्रा ॥

अथ सप्तदसमी खेचरी मुद्रा ।

खेचरी मुद्रा बरन सुनाउ सब मुद्रामहि सार लखाउ
जयतराम गुरुमुख सधि आवै याते जोग समाधि ही पावै ॥६०९ ॥
जिभ्या उलटि कपाल चढावै भुवकै मधि द्रिष्टि ठहरावै ।
आसन साधि जुगति यह रहिये खेचरी मुद्रा तासौ कहिये ॥६१० ॥
बहरो खट अंग याके जोई तिनकौ वरनि सुनाऊ सोई ।
छेदन चालन मथन प्रवेशन दोहन मंत्र पढै द्रिढ करि मन ॥६११ ॥
को एक रिषजन अैसै [१४१]गावत साधन द्वादस बरस बतावत ।
अैसी भांति क्रिया जब सधै अंगुर च्यारि खेचरी वधै ॥६१२ ॥
द्वादस वर्ष क्रियामें रहिनौ अतिही कठिन खेदकौ सहनौ ।
ताते गुरुक्रिपा हम पाई याकी सुगम उपाय बताई ।
साधन मास षटही जो करै बढै खेचरी बिंद न टरै ॥६१३ ॥

अथ प्रथमे छेदनचालन कहिये है ।

चौपाई— सुनही पत्र सम सस्त्र धरावै ताकैहि पत्र गजवेल मगावै ।
अति तीक्षण उजलि अति करै सो ले जिभ्याकै तरि धरै ॥६१४ ॥
जिभ्यामूल बालसम छेदे आठै आठै दिनमै भेदै ।
साधिक हाथिमित्र [१४२]पुनि भेदे अथवा [१४३]गुरुवा आपही छेदे ॥६१५ ॥

---

१३७. चंद्रसिधानि (भां) *१३८. निरोधनि (भां)*
१३९. बुध (ना.) *१४०. गोपि (ना.)*
१४१. वरष द्वादसकिरियाओ गाहत (ना.) *१४२. कर देवे (भां)*

जिभ्यातले सुखमना नारी ताकौ छेदन करे विचारी ।
ऐसी भांति छेदना कहिये याके किया वृधिता लहिये ॥६१६ ॥
इडा [१४४]पिंगुला सुखमना जानु तीनौ नाडि जिम्यातरि मानु ।
जिभ्या अणी [१४५]सुचालन करावै तीनो नाडि प्रगट होय आवै ॥६१७ ॥
हरडे सिंधव सूठ जू आनै [१६६] चूरण करर जीभतर ठानै ।
कछूक जीभ अर्थ करि लेवे वाती सूत्र की तरि देवे ॥६१८ ॥
जिभ्या माहि अमी नित आवै तातै छिद्र तुरत मिलि जावै ।
यातै वासी करै जु जोई छिद्र मधि धरि राखै सोई ॥६१९ ॥
ऐसै साधन नितप्रति साधै षटमास लग जे आराधै ।
आठ दिवस प्रति छेदन ठांनौ वार चौईस अैसी विध जानौ ॥६२० ॥
यामे अल्प अहारही लेवै दूधभात भखि सब तजि देवै ।
भोजन करत जुगति यहि ठाने वाती लें मुख बाहरि आनै ॥६२१ ॥
जिभ्या सदा उर्ध करि राखै गुरु उपदेस मंत्र मुख भाखै ।
यह क्रिया षटमास करावै जिभ्या अंगुर च्यार बढावै ॥६२२ ॥
ब्रह्मरंध्रमै पहुचै सोई गुरुमुख साधन साधे कोई ।
जयतराम छेदन यों जानौ ताकै पीछै दोहन ठानौ ॥६२३ ॥
॥इति छेदन चालन ॥

अथ दोहन ।

दोहा— ब्रह्ममहूरत उठ करि बैठ ऐ करित जाय ।
जयतराम ताही समै जिभ्या दोहन थाय ॥६२४ ॥

चौपाई— मुखतैं जिभ्या बाहरि आने दोऊ [१४७]करसौ दोहन ठांनै ।
जथासक्ति खैचे पुनि जोइ याते वृधि [१४८]लहै पुन सोई ॥६२५ ॥
बहुरि दछिनकर अंगुष्ट जानौ सो ले मुखकै माही आनौ ।
चणक प्रमाण सिवलिंगही धोवै अैसीभांति अमल सो होवै ॥६२६ ॥

---

१४३. गुरकै आपही लेवे (भां)
१४४. प्यंगुला (भां)
१४५. सुमथन (भां)
१४६. चूर्ण करै जीभ तरि ठांनै (भां)
१४७. हाथस्यौ (भां)
१४८. वृध (ना.)

अैसै जिभ्या मारग पावै ब्रह्मकपाट तुरत खुलि जावै ।
बहुरौ अंगुष्ट उर्ध चलावै [१४९]तालूमध्यहि आनि ठहरावै ॥६२७ ॥
बहुरि काढि मुखबाहरि आनै जलसो धोय पुनि मुखमै ठानै ।
नासाछिद्र लगावै जोई ताकरि सुधि विवर व्है सोई ॥६२८ ॥
बहुरों अंगुष्ट उर्ध चलावै [१५०] नासा केस लगी आनि ठहरावै ।
नासा सीवनिको सुधि करै अंगुष्ट उचौ बहुरौ धरै ॥६२९ ॥
ब्रह्म[१५१] विवरमें ले ठहरावै सुखमनका घर सुध करावै ।
नेत्रविवर अंगुष्टकौ आनै करै सुध अमलता ठानै ॥६३० ॥
नेत्रजोति यातें अधिकावै अरु पुनि नाडी सुध रहावै ॥
बहुरि तरजनी मुखमै आनै दसमै द्वारि ताकौ ले ठानै ॥६३१ ॥
नेत्रमूल के ऊपरि जोई ब्रह्मरंध्र का घर है सोई ।
चणक अंकुर प्रमाण तहां लहिये परम सिवलिंग तहां ही कहिये ॥६३२ ॥
ताको ताकरि सुधि जु करै ता पीछै पुनि उर्धज धरै ।
ऊर्ध छिद्र अवर इक जानौ सो भी ताकरि सुध जु ठांनौ ॥६३३ ॥
अैसी भांति जुगति यह धरै जिभ्या सिवलिंग दोहन करै ।
जयतराम बहुरौ यह जानै तै पीछै परवेसन ठानै ॥६३४ ॥

अथ परवेसन विधि ।

चौपाई— सुस्तक आसन बैठक धरई स्वास रोकि सरीर सम करई ।
बंध उड्याण [१५२]कामवरु देवै बहुरौ उर्ध जीभ कों लेवै[१५३] ॥६२५ ॥
पूरव छिद्र कहै पुनि जोई सुध कीये अंगुष्ट करि सोई ।
सोसो जिभ्यासौ सुध करै क्रम-क्रम उर्ध [१५४]को ले धरै ॥६३६ ॥
ब्रह्मविवर लग ले ठहरावै ताकै जाय कपाट लगावै ।
तामै बिंद अहोनिस झरे देय कपाट ताकौ वसि [१५५]करे ॥६३७ ॥

---

१४९. तालू मधि (भां)
१५०. नासाकेस आनि (भां)
१५१. ब्रह्मधाममै (भां)
१५२. कामरु देय (भां)
१५३. लेय (भां)
१५४. उर्ध उर्ध (ना.)
१५५. थिर करे (भां)

अथवा नारि अलिंगन करई ताकौ बिंद न कबहु ढरई ।
कला खेचरीकी सब फुरै मासमाहि नाडी सुध करै ॥६३८ ॥
अनहद दूजै मासि प्रकासै तीजै मास काया [१५६]दिवि भासै ।
चौथे मास यहै फल होई देखै सुणै द्रूरकी सोई ॥६३९ ॥
फुरै सरस्वती पांच मासा बालकरूपी मन व्है तासा ।
छठे मास शिवरूपी भयौ आगै [१५७]करणा कछू नही रहयौ ॥६४० ॥

दोहा— ऐसे प्रवेशन करै जिभ्या उर्ध चढाय ।
जयतराम ता पुरखको छटे मास सिध[१५८] थाय ॥६४१ ॥

॥इति प्रवेशन ॥

अथ मथन विचार ।

दोहा— तालुमूल सिवलिंग पुनि अथवा अग्निस्थान ।
[१५९]करि अंगुष्टतें तासको मथन त्रिसंध्यः ठान ॥६४२ ॥

चौपाई— अथवा कील [१६०]धातमय करै मथै ताहि [१६१]करि सुधता धरै ।
मथन जु कांहु नाही दिखावे द्रिष्ट परै तो विघन[१६२] परावै ॥६४३ ॥
ऐसी भांति गुप्त करि राखै जो गुन होय सो काहू न भाषै ।
[१६३]च्यार स्थान मथनके जानै जिभ्या करि जो मन जो ठानै ॥६४४ ॥
प्रथम अखिका जानौ सोई अरु दुतीये लंबिका होई ।
त्रितिये तालु नाम जु जानौ चतुर्थ नाम घटिको मानौ ॥६४५ ॥
जिभ्यामूल अंबिका जोई ताकी छेदन करे जानये सोई ।
ताकी वाति बाहरि आनै जिम्या उलटि मथन तहां ठाने ॥६४६ ॥
जिभ्या अणी अति तीछण जानौ सस्त्रहु ते अधिक करि मानौ ।
अग्नि नीर तत्व दोउ लहिये तिनकरि जिभ्या तीछणक ये ॥६४७ ॥
ताते अणीसों छेदन करई ताही समै मंत्र उचरेई ।
याकरि सहज वृधिता पावै बहुरि लंबिका मथन करावै ॥६४८ ॥

---

१५६. *दिव (ना.)* — १५७. *फणै (ना.)*
१५८. *पर ताथ (ना.)* — १५९. *कर (भा.)*
१६०. *धातमध (ना.)* — १६१. *तासकरि (भां)*
१६२. *विखनि पवारे (ना.)* — १६३. *From this line onwards six verses missing upto 650 in (भां)*

दसमै द्वारि लंबीका जानौ जीभ अणीसो मथन जु ठानौ ।
बहुरि उलटि कंठमधि लावै ताकरि स्वास उस्वास न आवै ॥६४९ ॥
सिवलिंग तालूका पुनि जानौ बहुरि तहां भी मथन जु ठानौ ।
जाप जीभ थिर कीवै वरषै अमी सु ताकौ पीवै ॥६५० ॥
घंटिका चणक अंकूर कहावै ताकौ मथै सो अनहद पावै ।
अैसै कामधेनमय जोई खेचरी मुद्रा कहिये सोई ॥६५१ ॥
च्यार स्थान मथन के कहिये सोई च्यारो थन करि[164] गहिये ।
तिनको दुहि अमी नित पीवै सो जोगी बहुत काल ही जीवै ॥६५२ ॥
जोगी मनोरथ पूरण होवै लहै प्रकास मूढता खोवै ।
जयतराम मथन यह कहियै गुरुकी क्रिपा तासकौ लहियै ॥६५३ ॥
॥इति मथन ॥

अथ मंत्र साधन ।

चौपाई— षटअंगसहित खेचरी कहिये तिनमै मंत्र अंग बड लहिये ।
जो कोई मंत्र अंग को साधे षटअंगन कौ सो भल लाधै ॥६५४ ॥
मेलकमुद्रा लागै सही अनंत कालमै जो सिध कही ।
षटही मासमांहि सो लगै जाकै मंत्र ह्रिदा में जगै ॥६५५ ॥

अथ मंत्र आवाहन ।

अथ श्री खेचरी स्मर्यामीति अस्य श्री खेचरी मंत्रस्य
कपिल ऋषि श्रीमन्नारायण देवता सिध अनयासेन
खेचरी मुद्रा साधनसिध्यर्थं जपे विनयोगः
-हां -हीं -हुं -हैं -हौं -हः ॥ इति मंत्र ॥

अथ न्यासः ।

चौपाई— गं हृदयायनमः इति कहिये सं शिरसे स्वाहा [165] उच्चरये ।
नं शिखाय वौषट् पुन जानौ मं कवचाय इसी विधि मानौ ॥६५६ ॥
हुं नेत्रत्रयाय वौषट् लं अस्त्राय जानिये फट् ।
॥इति न्यास ॥

---

१६४. के कहिये (-ना.) *१६५. लहिये (भां)*

अथ षडंग ध्यान —ह्रूं — ह्रीं

आधार चक्र वरन है जोई खेचरी मुद्रा कहिये सोई ।
मुद्रा राजहंस सो लहिये गगनवास ताको पुनि कहिये ॥६५७ ॥
आनंद बीजरूप सो जानो अरु पुनि सिबकी सक्ति जू मानौ ॥
ब्रह्मलोक जननी है जोई करौ स्तुति जौर [१६६]करि दोई ॥६५८ ॥
॥इति षडंग ध्यान ॥

अथ पानमुदक्षण ।

चौपाई— सिधासन करि बैठक ठानौ बहुरि जुगतिविधसौ तहां जानौ ।
मूलद्वार कुंडलनी जोई ताकौ चांपि जगावै सोई ॥६५९ ॥
बहुरि वहां ते उर्ध चलावै प्राण अपान [१६७]तामधि मिलावै ।
षटचक्रकों वेधे जोई ब्रह्मध्यान करै तहां सोई ॥६६० ॥
बहुरौ जिभ्या उर्ध चढावै षटछिद्रनकै पाट लगावै ।
सकल पवन कौ उर्धही आने लेकरि ब्रह्मरंध्र में ठाने ॥६६१ ॥
ऐसीविधी आनंद बढावै सो जोगी समाधिसुख पावै ।
सूर्यतेज चंद्र धरि आनै चंद्र अमी की वर्षा ठानै ॥६६२ ॥
सोई अमी सु [१६८]अधकौ आवै सुखमन तंतु [१६९]माहि समावै ।
षटचक्रनमधि बरसै आई तासौ देह पुष्ट रहै भाई ॥६६३ ॥
जोगीअजर अमरता लहै ईश्वरभाव सकलही गहै ।
याकी महिमा सिव अति भाखी सो पुनि [१७०]मुखसो जाय न आखी ॥६६४ ॥
॥इति पानमुदक्षण ॥

अथ अवखदी वरननं ।

बहुरि औखदि[१७१] वरनि सुनाउ दिव्य दिव्य प्रगट कहि गाऊ ।
अवखदिविना[१७२] सिध नही लहै तातै जोगी अवखदि नित गहै ॥६६५ ॥

---

१६६. कर (भां)
१६७. करै तहांमधि (ना.)
१६८. अर्धकौ (भां)
१६९. सु माह (भां)
१७०. मुनमुखसौ (ना.)
१७१. अवषध (भां)
१७२. अवषधविना सिधि (भां)

भृंग समूल संग्रह आनै ताहि सुकायरु चूरण ठानै ।
क्रिष्णतिल आमल दधि लेवै मधित्रिय सकल कौ सेवै ॥६६६ ॥

दोहा— रोगव्याध सबही कटै जरामृत्यु मिटि जाय ।
जयतराम अवखद भखै तो ये ता गुण थाय ॥६६७ ॥

चौपाई— एक एक निर्गुडी पात दिनप्रति तीने बेर जो खात ।
वरसवार है अैसो होवै जरामृत्यु दोनूसों खोवै ॥६६८ ॥
निर्गुडी नलनी अरु मूंडी समकरि वनतै ल्यावै ढुंढी ।
बहुरि सर्करा घृत जु मिलावै वरसदिवस साध्या सिध पावै ॥६६९ ॥
षटमास गंधक सो धरै [१७३]तिलकरु गोलोचन सम करै ।
मधुत्रय जुक्ति चूर्ण करि खावे अजर अमर पदवी सो पावे ॥६७० ॥

अथ [१७४]रहनविधान ।

चौपाई— प्रथम एकांत मढी एक ठाने वनग्रह माहि जहां मन माने ।
षटमास आसन द्रिढ धरै प्राणीमात्रसौ बात न करै ॥६७१ ॥
मंत्र जाप निसदिन ही उचारै चावल पय भखि लूण निवारै ।
[१७५]नागरवेल भूलि [१७६]नही खावे कछुक मींठो भोजन पावै ॥६७२ ॥
पूरब अवखद वरनी जोई साधन करै तासकौ सोई ।
दिवस सातवे रवि दिन आवै ता दिन छेदन जु करावै ॥६७३ ॥
पाखि पाखि प्रति दोहन करै मथन अहोनिसही मन धरै ।
अैसें करत मास षट जावे वृद्ध खेचरी तबै पावै ॥६७४ ॥
अंगुर च्यार जीभ [१७७]बढावै भक्तिमुक्ति दोउ फल पावै ।
कृत्य कृत्य सोई नर होय जन्ममृत्यमल डारै धोय ॥६७५ ॥

दोहा— ग-योजु तावा उपरै बूंद एक धरि देह ।
जयतराम सो कनक होय खेचरि [१७८]का गुण येह ॥६७६ ॥
॥इति खेचरी मुद्रा ॥

---

१७३. रुद्रलोचन (भां) *१७४. रहिन (ना.)*
१७५. नागरवेलि (भां) *१७६. मूलि (ना.)*
१७७. बढि आवै (भां) *१७८. खेचर (भां)*

अथ अष्टादशमी वरणक मुद्रा ।

चौपाई— या मुद्रा को कोई यों गावै अमरोलीभी नाम कहावै ।
क्रिया असुधि सहित अनुसरे तो तजि बुधजन सुधि ही करै ॥६७७ ॥
[१७९] हूं हूं फट् स्वाहा सोई मंत्रदीप यो जपिये जोई ।
उउै ब्रह्म महूर्त्तमाही निर्गुंडी कौ पान करत राही ॥६७८ ॥
अंजुरी तीन मंत्र पढि पीवै सकल रग सुध कीवै ।
बहूरि कमल प्रफुल्लित होवै देहविकार सकलही खोवै ॥६७९ ॥
बहूरौ क्रिया एक और जु ठाने अवखदि चार प्रभातही आनै ।
निरगुंडी अरु भंगरो जोई मुंडी चतुर्थ अवर गिलोई ॥६८० ॥
च्यारौ सम करि चूरण करै ताकौ मर्दि मंत्र उचरै ।
यह क्रिया षट मास जु करई सबही मुद्रा सहजै फुरई ॥६८१ ॥
सर्व [१८०] सिध अनयास जु पावै आगै करणौ नाहि रहावै ।
साधनमांहि प्रस्वेद जु आवै ताकौ मरदन देह करावै ॥६८२ ॥

दोहा— अमर अभैता पाइये वरणक साधै कोय ।
जयतराम गुरुक्रिपाते वज्रोली सिधि होय ॥६८३ ॥
॥इति वरणक मुद्रा ॥

अब सहजोली मुद्रा ।

चौपाई— अमरोली वजरोली कहिये सहजोली भी यामै लहिये ।
जयतराम ये तीनो जानौ इनकौ भेद येकही मानौ ॥६८४ ॥
॥इति सहजोली ॥

अथ बीसई षणमुखी मुद्रा ।

प्राणायाम साधन जब करई तामे कबहू विघन जु परई ।
सो नर मुद्रा षण्मुखी साधै सुस्तक आसन बैठ आराधै ॥६८५ ॥
मूल उड्याण बंध द्रिढ धरै अरु पुनि जालंधर बंध करै ।
दोऊ हस्तकी अंगुरी जोई तिनकरि मुदै छिद्र है सोई ॥६८६ ॥
मुखनासानेत्र बंध करै अंगुरी दोय करण मैं धरै ।
अैसे कर कुंडलिनी घेरे मूलद्वार तैं उर्ध उतेरे ॥६८७ ॥

---

१७९. खेचर (भां)   १८० सर्वसिधि (भां)

प्राणायाम केवल करि वाई दसमै [१८१]द्वार पहुंचै जाई ।
जोगी परम सिध कौ पावै जयतराम षणमुखी बतावै ॥६८८ ॥
॥इति षणमुखी ॥

अथ एकबीसमी चाचरी मुद्रा ।

प्रथम सिधासन बैठिक [१८२]करई नासाद्रिष्टि अचल करि धरई ।
ज्योतिरूप[१८३] प्रतिबिंब विलोके अर्धचन्द्र बिंब[१८४] अवलोके ॥६८९ ॥
जोतिरूप कुंडलनी जोवै आतमरूप सुख[१८५] प्रगटे होवै ।
बहुरि उलटि चख उरमै करै आत्मध्यान तहां पुनि धरै ॥६९० ॥
[१८६]नित्यप्रत्य जोगी दर्शन पावै होय मगन पदमाहि समावै ।
चाचरी मुद्रा ऐसै कहिये जयतराम सो गुरुमुख लहिये ॥६९१ ॥
॥इति चाचरी मुद्रा ॥

अथ बाइसमी भूचरी मुद्रा कहिये है ।

चापाई— सिधासन बैठक द्रिढ करै भुवकै मधि ध्यान पुनि धरै ।
नखसिख सकल सरीर अवलोके[१८७] जोतिरूप षटमाहि विलोकै ॥६९२ ॥
बहुरि उलटि चख्य उरमे आनै भौहा उर्ध ध्यान को ठानै ।
जोतिद्रिष्टि प्रतछ तहां लहै जथासक्ति तामै थिर रहै ॥६९३ ॥
बहुविध आनंद उपजै आई सो सुख मुखकरि कहौ [१८९]न जाई ।
भूचरि मुद्रा या[१९०] विध होवै जयतराम सब संकट खोवै ॥६९४ ॥
॥इति भूचरी ॥

१८१. दसम द्वारकौ (भां)
१८२. द्रढ (भां)
१८३. जोतसरूप (ना.)
१८४. अर्धचंद्रबिंब अवलोकै ज्योतिरूप प्रतिबिंब विलोकै (भां)
१८५. तहां सुख (भां)
१८६. नितिप्रत्य (भां)
१८७. अलोकै (भां)
१८८. घटिमाहि (ना.)
१८९. कहया (भां)
१९० यहविधि (भां)

अथ तेईसमी अगोचरी मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— षटचक्रनमधि ध्यान जु ठाने बहुरौ ध्यान उर्धकौ आने ।
सहस्त्रकमलदल ध्यान जु धरै बहु-यौ मनहि[१९१] उर्ध संचरे ॥६९५ ॥

दोहा— मुद्रा कही अगोचरी ध्यान अगोचर होय. ।
जयतराम गुरुक्रिपातै[१९२] याकौ साधन जोय ॥६९६ ॥

॥इति अगोचरी मुद्रा ॥

अथ चौबीसमी उनमनी मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— स्वस्तक आसन बैठक धरै प्राणायाम [१९३]जुगतसों करै ।
जोग अंग सो सकल पुनि विचारे द्रिढ करि बंध सकल पुनि धारे ॥६९७ ॥
मन अरु पवन दोउ थिर करै संकल्पविकल्प सब परहरे ।
इंद्रीवृति सकल उरि आनै कूर्मभांति[१९४] अंग कौ ठानै ॥६९८ ॥
मन आतमकौ प्रगट देखै सकल मनोरथ पूरन पेखे ।
अनहद धुनि तहा प्रगटै आई ताकी महिमा कही न जाई ॥६९९ ॥
भितीये मेघधुनि प्रगट होवे बहुरौ अनहद धुनि को जोवै ।
प्रथम बीन धुनि उपजै आई दुतीय शंख धुनि देत दिखाई ॥७०० ॥
नाना धुनि [१९५]अखंडत होवै संकल्प विकल्प[१९६] मन सब खोवै ।
गायत्री अजपा जहा भ्यासे बहुरौ आपहि[१९७] आप प्रकासै ॥७०१ ॥
परमातम को दरसन पावै तिनसो मिल आनंद बढावे ।
जैसै बहुत कालसौ [१९८]कोई बिछु-यौ मित्र मिलै पुनि सोई ॥७०२ ॥
पूर्व दुखकी करत संभारा सो पुनि रुदन करि तह[१९९] वारा ॥
अैसै परम मित्र परमात्म बहुत काल कौ बिछुयौ आतम ॥७०३ ॥
सो पुनि मिल [२००] कर आनंद बाढै अस्त्रपात प्रेम के काढै ।
बहुत काल में अंतर रहौ ताकौ दुख कछु जात न कह्यौ ॥७०४ ॥

---

१९१. मनु जु धरै बहु उर्ध संचरै (ना.) — *१९२. गुरकी क्रिपा (भा)*
१९३. जुक्तिस्यौ (भां) — *१९४. कूरमभात (ना.)*
१९५. धुनिहि अखंडित (भां) — *१९६. नर मनकौ (ना.)*
१९७. आपकौ (भां) — *१९८. कालयें (ना.)*
१९९. ततकारा (भां) — *२००. मिलि करि (भां)*

सो सब दुख ततकार नसायौ जबही प्रभुकौ दरसन पायौ ।
नाना वृत्त[२०१] मन सकल मिटावै अरु पुनि बुधि[२०२] अमलता पावै ॥७०५ ॥
माया कबहु मोह न करै सीस नवाय विघ्न सब टरै ।
श्री गुरुको प्रसादही भयौ[२०३] आगै करणौ [२०४]कछु नही रह्यौ ॥७०६ ॥
॥इति मुद्रा ॥

अथ मंत्र [२०५]विचार कहियै है ।

मायाबीज -ह्रीं[२०६] कामराज बीज क्लीं
उड्याणबीज·-हीं लक्ष्मीबीज श्रीं
अजपाबीज सोहं हंसो ।
॥इति मंत्र विचार ॥७०७ ॥

चौपाई— [२०७]एको बीज [२०८]सिष्टिमय कहिये मुद्रा एक खेचरी लहिये ।
एकौ देव निरंजन जानो अवस्था एकै उनमनी मानौ ॥७०८ ॥

दोहा— [२०९]यह उनमन मुद्रा कही सब मुद्राको सार ।
जयतराम गुरुक्रिपातै याको लहे विचार ॥७०९ ॥
इति श्री चौबीस यह मुद्रा पूर्ण सोय ।
जयतराम स्रधासहित गुरुमुख जाणै कोय ॥७१० ॥[२१०]
॥इति चौबीस मुद्रा ॥

अथ ओंकार को अर्थ निरूपण ।

चौपाई— ओंकारको रूप पछानै ताकरि जनममरन भय भानै ।
सो पुनि तीन अक्षरमय राजत अकार उकार मकार विराजत ॥७११ ॥
जो ओंकारसो अजहि कहावै रजगुण करिकै सिष्टि उपावै ।
विष्णु अकार सतोगुण सोई ताकरि विश्‍व की रक्षा होई ॥७१२ ॥
मकारसो महादेवको जानो तमकरि नास विश्‍वकौ मानौ ।
अैसो ओंकार है जोई सकल विश्‍व को कारण सोई ॥७१३ ॥

---

२०१. वृत्य (भां) *२०२. बुध (ना.)*
२०३. लह्यौ (भां) *२०४. क्यों (भां)*
२०५. विध (ना.) *२०६. क्रां (ना.)*
२०७. एकही (भां) *२०८. सिष्टमय (ना.)*
२०९. एक (ना.) *२१०. This verse missing in (ना.)*

अध्याय १२ वा.

या अध्यायात याज्ञवल्क्य गार्गिला मागील ११ अध्यायात सांगितलेल्या अष्टांग योगाचे सार थोडक्यात सांगतात.

त्याचे ७ टप्पे

१. प्राणवायूने अग्नी प्रदीप्त करणे

२. कुण्डलिनी जागृत करणे

३. प्राणाचा सुषुम्ना नाडीतून हृदय कमळात प्रवेश

४. प्राणाचे आणखी ऊर्ध्वगमन

५. प्राणाचे भ्रूमध्यात केंद्रिकरण

६. प्राण आणि मनाचे भ्रूमध्यभागी विलीनीकरण

७. मोक्षप्राप्ती.

अष्टांग योगचरणाचे फायदे – योगाबरोबर वेदविहित नित्यकर्म करण्याचे महत्त्व. याज्ञवल्क्यांचे एकान्तात समाधी अवस्थेत जाणे, गार्गि याज्ञवल्क्यांची पूजा करून एकान्तवासात स्वर्गीय आनंदात विलीन होते. वासुदेवाची स्तुति, याज्ञवल्क्य आणि गार्गी आपल्यातील परमात्म्याला जाणून चिरंजीव आहेत.

१ ला टप्पा – प्राणवायूने अग्नि प्रज्वलित करणे

याज्ञवल्क्य म्हणाले–

डाव्या टाचेने गुदद्वारावर, उजव्या टाचेने शिवणीवर दाब आणून, गुडघे जमिनीवर टेकलेले, हाताचे पंजे एकमेकांवर जुळवून – डाव्यावर उजवा– ठेवावे. मनश्चक्षूसमोर मूलाधाराजवळील अग्नीची ज्योत आणावी. नंतर आयुर्मान कमी करणारा प्राणवायू रोखला जातो व तो सावकाशपणे तळापासून वर अग्नीच्या स्थानापर्यंत येतो. अपानवायूने संथपणे प्रज्वलित अग्नि सर्व प्राणिमात्रांच्या देहमध्यामध्ये चमकतो. सकाळी– संध्याकाळी आणि मध्यरात्री एकाग्र व समतोल मनाने याचा सराव एक मुहूर्त – ९० मिनिटे– पर्यंत १० दिवस करावा.

अशा रीतीने ज्यांनी प्राणावर विजय मिळविला याची सूचना म्हणून पुढील लक्षणे दिसू लागतात. सहा महिने अगर एक वर्षानंतर शरीर हलके वाटते, जठराग्नी प्रदीप्त होतो, आवाज मधुर होतो,

मलमूत्राला दुर्गंधी येत नाही. कोणत्याही काळी श्वसनक्रिया मृदु व नियमित राहते आणि तीन वर्षानंतर मरणाचे भय राहात नाही.

२ रा टप्पा – कुण्डलिनी जागृत होणे

नंतर अग्नीसह प्राणवायू मनाच्या सहाय्याने नाभीमधील निष्क्रिय कुण्डलिनीत केंद्रित करावा. कुण्डलिनी स्वतःच्या मुखाने सुषुम्नेला आणि आपल्या अंगाने इतर नाड्यांना वेढून, स्वतःची शेपटी तोंडात धरून, वायूंचा मार्ग बंद करून, निद्रित सर्पाप्रमाणे श्वासोच्छवास करीत, परंतु सतत जागृत असलेली स्वतःच्या तेजाने चमकणारी कुण्डलिनी सर्व प्राणिमात्रांच्या नाभिस्थानात वास्तव्य करते. जो कोणी एकाग्र मनाने, सर्परूपात कंदस्थानामधील नाड्यात असलेली कुण्डलिनी , – जी प्राणवायूचा नाड्यांमधील संचार बंद करते. – प्राणवायूने प्रज्वलित केलेल्या अग्नीच्या ज्वालांनी जागृत करतो तो सर्व माणसात श्रेष्ठ होय. सर्परूपातील, अग्नीने जागृत केलेली, वायूने घुसळलेली कुण्डलिनी आपले शरीर मोकळे करते व जागृत होते. नाभिमध्यात असलेली कुण्डलिनी जेव्हा जागृत होते तेव्हा सर्व वायू एकत्र येतात आणि अग्नीसह, कापडातील धाग्याप्रमाणे सर्व शरीरभर संचार करतात.

३ रा टप्पा – सुषुम्ना नाडीतून प्राणवायूचा हृदयकमळात प्रवेश

याप्रमाणे कुण्डलिनीस्थानावर ताबा प्राप्त झाल्यावर, सतत ध्यानामध्ये राहून अपान वायूला नाभीस्थानाच्या वरच्या अंगाला खेचला पाहिजे. ज्यावेळी शरीरातील प्राणवायू अग्नीसह नाभीपलीकडे सरकतो तेव्हा सर्व रोग नष्ट होतात, बल वाढते आणि शरीर कांतिमान होते. यानंतर सर्व वायू एकत्र येऊन अग्नीसह ब्रह्मरंध्रात प्रवेश करतात. यासाठी मी काही उपाय, मार्ग सांगतो. हृदयातील अग्नीच्या तेजस्वी ज्वालांवर चिंतन करणे. यामुळे जेव्हा अग्नीसह वायू हृदयात रोखला जातो तेव्हा तो हजार पाकळ्यांच्या हृदयकमळात शिरतो. त्याला उर्ध्वदिशेला ढकलला पाहिजे. या ब्रह्मपुरामध्ये – या शरीरात – पूर्ण उमललेल्या हृदयकमळात प्राण उगवत्या सूर्याप्रमाणे प्रकाशतो. अग्नि, ढगातील विजेच्या शलाकेप्रमाणे हृदयातील सुषुम्ना नाडीच्या मध्यातून चमकतो. अग्नि पूर्ण उमललेल्या हृदयकमळात स्थिर होतो आणि प्राण त्यात प्रवेश करतो तेव्हा ज्योतीप्रमाणे निरनिराळी लक्षणे दिसू लागतात.

जीवास आकर्षित करून अपान वायु थांबू देत नाही. जसे की चेंडू खेळणाऱ्या च्या हाती असते /वश होते तसेच जीव अविद्येच्या वशीकरणात राहतो. ज्या कारणे प्राण–अपान च्या वशीकरणात राहतो. त्याच कारणाने तो इडा आणि पिंगला नाड्यांच्या द्वारा मूलाधारा पर्यंत जातो आणि मूल व नासिकारन्ध्रां पर्यंत जातो. या प्रकारे चढ –उतार राहतो. आणि चंचल होण्यामुळे दिसत ही नाही.

३९,४०. बाज पक्षाच्या पायाला दोरी बांधून ढिली सोडली तर तो उडून जाईल आणि दोरीला खेचले तर पुनः जवळ येईल. त्याच प्रकारे मायेच्या गुणांनी बांधलेला जीव प्राण –अपान वायुंच्या द्वारे वर–खाली खेचला जातो आणि आज्ञाचक्रात स्थित प्राण वायु वर मूलाधारात स्थित अपान वायु ला वर खेचतो आणि मूलाधारात स्थित अपान वायु आज्ञा चक्रात स्थित प्राणवायुला खाली खेचतो. या प्रकारे ते दोन वायु परस्पर एक दुस–यास आपले–आपले खेचतात. परंतु योगवेत्ता पुरूष या दोन्हीचे संयोजन करतात.

हंस मन्त्र आणि अजपा गायत्री

४१,४२,४३,४४,४५. हा जीव (प्राणवायु) हंकार वृत्तिने बाहेर येतो आणि सकार आणि ध्वनि स आत जातो. ह्या प्रकारे तो सदा /नेहमी हंस–हंस मंत्राचा जप करत असतो. ह्याप्रकारे रात्रं दिवस जीव २१ हजार ६०० शे मंत्र जप करतो. ह्याचे नाव अजपा गायत्री आहे जे की योग्यांना मोक्ष देणारे आहे. ह्याच्या संकल्पमात्राने सर्व पापांपासून सुटका केली जाते. ह्याचे समान कोणती ही विद्या नाही आणि ह्यासमान कोणते ज्ञान भूत –भविष्या मध्ये ही होणार नाही. कुण्डलिनी मध्ये उत्पन्न झालेली ही गायत्री प्राणधारिणी, प्राणविद्या आणि महाविद्या आहे, जो कोणी हीस जाणतो तोच वेद जाणणारा होतो.

शक्तिचालन

४६,४७,४८. वरील नाड्यांचे उत्पत्ति स्थान रूपात कंदाच्या वर कुण्डलिनी आठ प्रकार ची होऊन ब्रह्मरन्ध्राच्या मुखाला रोकून तिथेच स्थित आहे. ज्या मार्गाने चालताना पाप रहित ब्रह्मद्वाराची प्राप्ति होते. त्याचे द्वार आच्छादित करत ही कुण्डलिनी शक्ति सुप्त अवस्थेत राहते. ती बुद्धि च्या संयोगाने जागृत होवून मन आणि प्राणा बरोबर सुई प्रमाणे सुषुम्ना द्वारात प्रविष्ट होवून वर चढते.

४९,५०. निद्रिस्त अवस्थेतील कुण्डलिनी सापाच्या आकृतीची , कमलनाल तन्तु सारखी असते, ती अग्नि च्या संयोगाने जागृत होवून सुषुम्ना मार्गातून वर चढते. ज्या प्रकारे कुलूप किल्लीने उघडते त्याप्रमाणे कुण्डलिनी जागरणाने योगी मोक्ष द्वारास उघडतो.

शक्तिचालिनी मुद्रा

दोन्ही हातांची अंजली बांधून दोन्ही कोपऱ्यांना दृढतापूर्वक हृदयावर ठेवून पद्मासन करावे. (थोडक्यात हाताची नमस्कार स्थिती छातीच्या मध्यावर) हनुवटी छातीच्या खळग्यात ठेवून ज्योतिरूप ब्रह्माचे ध्यान करावे. प्राणायाम द्वारा वायु खेचून त्यास अपान वायुत मिसळावे आणि कुंभक द्वारा वायुस रोखून हळूहळू सोडावे. असे केल्याने साधकास कुण्डलिनी शक्तिचा प्रभावाचे अतुलित बोध होतो अथवा शक्ति जागृत होते.

योग्याचे चर्या कथन

५२,५३,५४,५५. वरील मुद्रेच्या अभ्यासाने शरीरास घाम येतो त्यास अंगातच जिरवावे. लवणयुक्त (खारट)आणि अम्ल रसाने युक्त भोजन करू नये, केवळ दूध प्यावे. या प्रकारे अल्प भोजन, सर्व त्यागी आणि योगपरायण राहावे. याचा एक वर्षाहून अधिक काळ अभ्यास करण्याने सिद्धि प्राप्त होवू शकते. ह्याकरिता कोठला ही विचार करू नये. सुखद स्निग्ध, मधुर आहार करावा. पोटाचा चौथा भाग रिकामा सोडावा. भोजना पूर्वी इष्ट देवास निवेदन करावे. त्या योग्यास मिताहारी म्हणतात. केंद्राच्या वर शुभ मोक्षास देणा–या कुंडलिनी शक्ति स्थित आहे. ती अज्ञानी लोकांसाठी बंधनात ठेवते. तीस जो जाणतो, तो वेदांना जाणणारा होय.

पंचमुद्रा कथन

५६.महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान बंध, जालंधर बंध, मूलबंध हे जे साधक करू शकतात, तेच योगी मुक्त होतात.

(नभोमुद्रा आणि खेचरी मुद्रेत काही अंतर नाही)

महामुद्रा

५७,५८. हृदयात हनुवटीला दृढतेने धारण करून डाव्या पायाच्या टाचेला योनि स्थानावर दबाव आणि उजवा पाय लांब करून आणि दोन्ही हातांनी मध्यात पकडून परत पूरक द्वारापोटात वायु

भरून कुंभका द्वारा रोकावा आणि नंतर हळूहळू बाहेर काढावा. याच्या अभ्यासाचा प्रारंभ प्रथम चंद्रनाडी ने करावा आणि नंतर सूर्य नाडीने करावा. या प्रकारे जेव्हा दोन्ही नाकाने समान प्राणायाम समान मात्रेने होईल तेव्हा मुद्रा सोडावी.

महामुद्रेचे फल कथन

५९,६०,६१. महामुद्रेचा अभ्यास दृढ झाल्यावर पथ्य, अपथ्य आणि मिष्टान्न, कडू, तिखट, खारट, अम्ल आदि रसांचा स्वाद आणि विचार काहीही शेष(शिल्लक) राहत नाही. जरी घोर विषाचे भक्षण केले तरी ही अमृता समान होते. ह्याच्याने क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण आदि रोगांचे शमन होते. ही महामुद्रा अत्यंत सिद्धि करणारी आहे, ज्यास प्रयत्नपूर्वक गुप्त ठेवावे आणि अनाधिकाऱ्यास कधीही देवू नये.

खेचरी मुद्रा

६२,६३,६४,६५. जिभेला उलट दिशेने फिरवून कपालकूहरात प्रविष्ट करावे आणि दृष्टी भुवयांच्या मध्यावर स्थिर करावी. ही खेचरी मुद्रा होते जी योगी लोक खेचरी मुद्रा म्हणून जाणतात त्या मुद्रेमुळे रोग, मृत्यु, निद्रा, क्षुधा, तृष्णा आणि मूर्च्छा ह्याचा त्रास होत नाही. न शोक होतो न कर्माचे बंधन. जो खेचरी मुद्रेची सिद्धी प्राप्त करतो त्यास भव बंधनात पडत नाही. ज्या योग्याचे चित्त चंचल होत नाही आणि ज्याची जिव्हा खेचरी मध्ये रमण होते, त्यांना हे सर्व सिद्धी प्राप्त साधकांकडून नमस्कार केलेली खेचरी मुद्रा सिद्ध होते.

६६,६७,६८. बिंदु शरीराचा मूळ आहे, तो पायापासून शिर स्थानापर्यंत प्रतिष्ठित होतो. त्यामुळे शिरांमध्ये सजीवता आणि सामर्थ्य राहते. ज्यांनी खेचरी मुद्रेला कण्ठछिद्राच्या लम्बिकेच्या वर रोकून धरले आहे, त्यास योग्याचे बिंदु कामिनी च्या आलिंगनाने ढळत नाहीत. जो पर्यंत शरीरात बिंदु स्थित राहतो, तोपर्यंत मृत्युचे भय कोठून असणार? जो पर्यंत नभोमुद्रा दृढ रूपात बांधली जाते तोपर्यंत बिंदु चलायमान होत नाही.

६९,७०,७१. जर कधी चित्ताच्या चंचलतेमुळे बिंदु च्युत होऊन नाभिस्थानात पोहोचला तर योनिमुद्रा द्वारा कुंडलिनी शक्तीला वर उचलावे. त्यामुळे बिंदु पुन्हा आपल्या स्थानात वापस येऊन स्थिर होतो. हा बिंदु दोन प्रकारचा होतो १. पाण्डुवर्ण २. लोहित वर्ण ह्यास महारज म्हणतात. तैल मिश्रीत सिंदूरी रंगाप्रमाणे द्रव असतो. ह्या दोनाचे ऐक्य अत्यंत दुर्लभ समजावे.

बिंदु रजाच्या ऐक्याने परमपद प्राप्ति

७२,७३,७४,७५. बिंदु शिव आणि रज शक्ति अथवा चंद्रमा बिंदु आणि सूर्य रज आहे. या दोघांच्या संयोगाने परम शरीराची प्राप्ती होते. वायु द्वारा शक्तिचे चालन करण्याने जेव्हा रज आकाशाला प्रेरित होवून बिंदु च्या बरोबर मिसळतो तेव्हा शरीर दिव्य बनते. शुक्र बिंदु रूपी चंद्राने युक्त आणि रज सूर्याने समन्वित आहे. जो ह्या दोघांची समरसता जाणतो तो योगाचा ज्ञाता होय. नाड्यांच्या जाळ्यांचे शोधनार्थ चंद्र –सूर्यास संयुक्त केल्या जातो. ही रसांचे ठिक प्रकारे शोषण करणारी महामुद्रा म्हटल्या जाते.

उड्डीयान बंध व उड्डीयानाचे स्थान

७६,७७. उड्डीयान बंधासाठी जसे महाखग विश्राम करतो, त्याप्रकारे पोटाची पश्चिम ताणास नाभिच्या वर करावे. पोटात पश्चिम आणि नाभिच्या खाली ह्या बंधाचे स्थान सांगितले जाते.

जालंधर बंध

७८,७९. जो बंध कंठदेशात होता आणि शिरोजालाचे बंधन करताना चन्द्रामृत रूप जल कपाल कुहूराच्या खाली पडण्यापासून रोकतो. तो दुःख आणि रोगांचा नाश करणारा जालंधर बंध असतो. कंठाचे संकुचित करून वायुला रोकणे म्हणजे जालंधर असे म्हणतात. ह्यामुळे चंद्रामृत पडून अग्निने पीडण्यापासून रोकून राहतो. ह्या बंधाच्या अभ्यासाने वायुचा प्रकोप होत नाही.

मूलबंध

८०,८१. अपान वायुला वर खेचून प्राणवायु ला मिळवावे आणि पायाच्या टाचेपासून योनिस्थानास दृढतापूर्वक दाबून गुह्यद्वारास आकुंचित करावे. ह्यास मूलबंध म्हणतात. ह्या प्रकारे जो साधक अपान आणि प्राणवायुला मिळवण्याचा अभ्यास करतो, त्याचे मूत्र व मल नष्ट होतात. जर तो वृद्ध असेल तर युवक होतो.

प्रणवाभ्यास

८२,८३. एकान्त स्थानात दृढतापूर्वक पद्मासनात बसून शरीर, कंठ आणि शिर समान स्थितीत ठेवून व दृष्टिला नासिकेच्या अग्रभागावर स्थिर करून ओंकार स्वरूप अव्यय ब्रह्माचा जप

प्रिय–अप्रिय विषयांचे प्रत्याहरण

२५. कानावर जे जे प्रिय किंवा अप्रिय शद्ब ऐकू येतात त्यात ही मन आसक्त होते, यासाठी कानाचा विषय रूप शद्बावरून मन दूर करणे म्हणजे प्रत्याहार होय.

२६. नाकाद्वारा जो गंध किंवा अगंध, वास घेतल्या जातो त्या गंधास भ्रमात्मक मानून साधकाने त्याचा त्याग करावा. हा गंधाचा प्रत्याहार आहे.

२७. डोळ्यांद्वारा जे काही पवित्र किंवा अपवित्र दृश्य दिसल्या जाते, ते सर्व आत्मा आहे, असे जाणून त्या दृश्यांचा त्याग करणे तो डोळ्यांचा प्रत्याहार आहे.

२८. त्वचे द्वारा जो काही स्पर्श किंवा अस्पर्श पदार्थाचा अनुभव होतो, त्या सर्वांचा ही आत्मा जाणून जो त्याग करतो, त्यास त्वक प्रत्याहारात प्रवृत्त योग च योगास जाणणारा आहे.

२९. जिह्वा जिचा विषय सुस्वाद किंवा अस्वाद पदार्थांचे सेवन करते, त्यास आत्म्याचे समान जाणून जो त्याग करतो, तो प्रत्याहारी योगी यथार्थात योगास जाणणारा आहे.

हठयोगाने प्रत्याहार

३०. चंद्राच्या अमृतमयी धारेस सूर्य ग्रासतो, त्या सूर्यास हटवून स्वयं ग्रासावे, त्यास प्रत्याहार म्हणतात.

३१. एक स्त्री भोग्य आणि भोगणाऱ्या कडे चंद्र मंडलाने प्राप्त होते, त्यास जर तीसरा भोगल्यास तो अजर, अमर होतो.

विपरीतकरिणी मुद्रा

३२,३३. अग्नि रूपी एक सूर्य नाभित राहतो आणि अमृत रूपी आत्म्याचा चंद्रमा सदा तालुमूलात निवास करतो. तालुमूलात खालच्या दिशेला मुख करून राहणारा चंद्रमा ज्या अमृताची वर्षा करतो, त्यास वर मुख करून असलेला अग्निरूप सूर्य नाभित राहून पेयपान करतो./पितो. परंतु जो योगी विपरीतकरिणी मुद्रेस जाणतो, तो त्या अमृतास अग्निच्या मुखातून वाचवतो आपल्या मुखात घेतो.

३४. नाभिमध्ये स्थित अग्नि रूपी सूर्यास वरच्या दिशेने आणि तालुमूलात स्थित अमृतमय चंद्रम्यास खाली करणे त्यास विपरीत करिणी नावाची मुद्रा आहे, जी की गुरूच्या उपदेशानेच प्राप्त होते.

अनाहत चक्र

३५,३६. दोरीच्या तीन लपेटा मध्ये बांधलेला मनुष्य जसे रोदन शद्व करतो, तसेच अनाहत चक्रात मायेने बांधलेला जीव हृदयात निरन्तर नाद करतो. त्यास योगीजन ठीक प्रकारे जाणतात. अनाहत चक्राचे (आणि त्या पहिले) आणि मणिपूर चक्राचे अतिक्रमण करून महापद्म ची प्राप्ती झाल्यावर योगी स्वयं अमरत्वास प्राप्त होतो.

३७.सहस्त्राराने षोडशदल कमलातून पडताना प्राणवायूस नासिकेच्या वरील विवरात घेवून जावा. जिह्वेस वरील विवरात घुसून तोंड वरच्या दिशेला करावे आणि प्राणवायु सहित सहस्त्रारात पोहोचलेली कुंडलिनीचे ध्यान करावे. कुंडलिनी तेथे पोहोचल्यावर जो अमृतमय तरंग आलेला आहे त्यास जिह्वेने मंथन करून सार रूप अमृतपान करावे. त्यामुळे योग्याचे शरीर अत्यंत कोमल व दोषरहित होते त्यास चिंरजीवाची प्राप्ति होते.

काकीमुद्रा

३८,३९. कावळ्याच्या चोची प्रमाणे तोंड करून जो साधक प्राणापानाच्या विधानाने शीतल वायुचे पान करतो तो कधी वृद्ध होत नाही. जो योगी जीभेने प्राणवायु पिऊन तालुमूलात पूरित करतो तो सहा महिन्याच्या अभ्यासाने सर्व रोगापासून मुक्त होतो.

विशुद्ध चक्र –सूर्यमुख वंचन

४०,४१,४२. योग्याने पाचव्या विशुद्ध चक्रावर चंद्रकलामय अमृताचे ध्यान केल्यानंतर ऊर्ध्व मार्गाने वर जाणारी सूर्य मुखास दूर ठेवल्यास केल्यास चंद्रकलामृत त्याच्या योग्याच्या मुखात पडते. वि – शद्वाने हंस आणि शुद्ध –शद्वाचा अर्थ निर्मल असा होतो. म्हणून विशुद्ध नावाचे जे चक्र कंठामध्ये स्थित आहे त्या श्रेष्ठ चक्रास योगवेत्ता चांगल्या प्रकारे जाणतो. विशुद्ध चक्रात स्थित असलेल्या अमृताचे अपान युक्त प्राणास वर घेऊन जावून उर्ध्व विवरामध्ये प्रविष्ट करून क्रमपूर्वक नासिकेच्या वर घेऊन गेल्यास सूर्य मुखाचे वचन होते, त्यामुळे अमृत पोटात अन्नाप्रमाणे होते.

चन्द्रामृतपानाचे फल

४३,४४. कण्ठाच्या वरील भागात स्थित स्वच्छ चंद्रकलामृतास रोखून त्या अमृतास नासिकेच्या वरील विवरात भरावे आणि वायुचे सर्व द्वारास रोकून गगनात प्राणपान युक्त पूरक करावा आणि पृथ्विवर उताने झोपून पायांना वर उचलून त्या अमृताचे पान करावे. या प्रकारे जो जितेंद्र योगी सर्वदा करतो त्याचा क्षय कधी होत नाही. जीवास ऊर्ध्व स्थिर करून अमृतपान करणारा योगाभ्यासी १५ दिवसातच मृत्यूला जिंकणारा होतो.

४५. जो योगी मूलद्वारास रोकण्यास सफलता प्राप्त करतो, त्याचे सर्व विघ्न नष्ट होवून अजर–अमरत्वाची प्राप्ति होते आणि तो पंच मुख शिवासमान होतो.

४६,४७. जो योगी राजदन्ताचे रंध्रास जिभेच्या अग्रभागास पीडीत करून अमृतमयी वाणीचे सहा महिन्यापर्यंत ध्यान करतो, तो कवि होतो. राजदन्ताच्या रन्ध्रास जिभेच्या अग्रभागास पीडित करून रोकतो तेव्हा सर्व नाड्यांचे द्वार बंद होतात. जेव्हा ऊर्ध्व मार्गावर रोकल्या जाते तेव्हा अमृताची धारा दुसरीकडे अन्यत्र कुठे ही पडत नाही. जसे पंचधारणेच्या अभ्यासामध्ये अमृत हरण रूप प्रत्याहार सांगितला आहे. जसे अमृताचे ऊर्ध्व विवरात धारण करणे म्हणजेच धारणा होय.

रसास्वादानुभव

४८. जिव्हाग्रास चुंबनाचा अभ्यास करणाऱ्या योग्यास कधी क्षार, कधी कटू रस, कधी अम्ल, कधी दुग्ध असा तर कधी मधुर आणि कधी तूपासारखा स्वाद अनुभवास येतो आणि अभ्यास सिद्ध झाल्यावर रोगाचे हरण आणि वृद्धावस्थेचा अंत होतो. अध्ययनाशिवाय शास्त्र आणि त्याचे अंगांची व्याख्या करण्याचे सामर्थ्य, अमृतत्व आणि अष्ट सिद्धींची प्राप्ती होते आणि सिद्ध साधक व स्त्रियांचे आकर्षण प्राप्त होते.

४९,५०,५१. वरील प्रकार शरीरात अमृत युक्त २ किंवा ३ वर्षाच्या अभ्यासाने बिंदु ऊर्ध्व दिशेला जातो. ज्यामुळे अणिमा इत्यादी सिद्धींची प्राप्ती होते. जसे अग्नि सुकलेल्या काष्ठ किंवा दीवा तेला सहित बत्तीस जाळल्याशिवाय राहत नाही. तसेच चंद्रकलेचे अमृताने परिपूर्ण झालेला जीवात्मा साधकाच्या शरीराचा त्याग करीत नाही. ज्या योग्याचा देह चंद्रकलेच्या अमृताने परिपूर्ण राहतो, तो तक्षक नागा द्वारा दंशित झाला तरी त्याच्या देहात विष पसरू शकत नाही.

किंवा सुखासनाला साधकयोग्याने गुप्त ठेविले पाहिजे. हे आसन सर्वश्रेष्ठ व अत्यंत कल्याणकारी आहे.

तृतीय पटल समाप्त

चतुर्थ पटल

१. साधकाने प्रथम पूरक योग करून म्हणजे नाकपुडीने वायू आत खेचून घेऊन स्वाधार म्हणजे मूलाधारचक्रात वायूला मनासहित स्थिर करावे आणि गुदा व लिंग यांच्यामध्ये जे योनिस्थान आहे, ते प्रयत्नपूर्वक संकुचित करण्यास उद्युक्त व्हावे.

२.,३. योनिमुद्राकथनम् – ब्रह्मयोनीच्या मध्यभागी कन्दुक किंवा कामपुष्प अर्थात कामबाणासारख्या उज्ज्वल, कोटी सूर्याप्रमाणे प्रकाशयुक्त आणि कोटी चंद्रांप्रमाणे शीतल अशा कामदेवाचे ध्यान साधकाने करावे. त्याच्या वर सूक्ष्म ज्योतीच्या ज्वालेसारखी चमकणारी, चिद्रूप म्हणजे चैतन्यस्वरूप व परमश्रेष्ठ अशा सतराव्या कलेच्या रूपाने असणारी कुलकुंडलिनी शक्ती आहे. त्या स्थानीच साधकाने आपले म्हणजे जीवाचे अर्थात शिवाचे व कुंडलिनी शक्तीचे म्हणजे चिद्रूप चैतन्य शक्तीचे एकीकरण होत हे असे चिंतन करावे (जीव म्हणजे संकुचित शिव होय.)

४.,५. (ज्यावेळी कुलकुंडलिनी शक्ती जागृत होते) त्यावेळी जीव ब्रह्मयोनीपासून निघून कोटी सूर्याप्रमाणे तेजस्वी व कोटी चंद्रांप्रमाणे शीतल असलेल्या ब्रह्ममार्गाने अर्थात सुषुम्ना नाडीच्या मार्गाने स्थूल, सूक्ष्म व कारण या तीन शरीरांना क्रमाने ओलांडून ऊर्ध्वगमन करतो. याचा अर्थ असा की, ज्यावेळी कुंडलिनी शक्ती सुषुम्नामार्गाने सहस्त्राराकडे जाऊ लागते त्यावेळी ती स्थूल, सूक्ष्म व कारण या तीनही शरीरांना कारणीभूत होणाऱ्या किंवा उत्पन्न करणाऱ्या शक्तींना आपल्यात समाविष्ट करून घेते. या नंतर ही शक्ती अर्थात जीव स्वर्गातील म्हणजे सहस्त्रारातील परमानन्दकारक, पांढऱ्या व लाल अशा संयुक्त रंगाचे अर्थात गुलाबी रंगाचे अत्यंत तेजस्वी व अमृताच्या धारेचा वर्षाव करणाऱ्या दिव्य अशा कुलामृताचे पान करून पुन्हा ब्रह्मयोनीमध्ये येऊन स्थिर होतो. याचा अर्थ असा की, साधन करताना कुंडलिनी शक्ती सहस्त्रारात गेल्यावर तेथे ती शिवाशी एकरूप झाल्याने तिला अमृतपान घडते व त्यानंतर पुन्हा ही शक्ती अर्थात जीव आपल्या मूळच्या जागी येऊन स्थिर होतो.

६. ब्रह्मयोनीच्या स्थानी (सहस्त्रारातून अमृतपान करून आलेला जीव म्हणजे शक्ती किंवा प्राण अर्थात प्राणवायू) पुन्हा त्या स्थानापासून मात्रायोगाने अर्थात प्राणायामाने किंवा शक्तिचालनाच्या साधनाने निघून सहस्त्रारात जातो हे निश्चित आहे. यात काहीही असत्य नाही. ही ब्रह्मयोनी प्राणासारखीच आहे असे मी या तंत्रातच म्हटले आहे.

७.,८. (अशा प्रकारे साधनाने) तो काल इत्यादींनी युक्त असा शिवात्मक म्हणजे शिवरूप जीव पुनःपुन्हा सुषुम्नामार्गाने प्रस्थान करीत अर्थात ऊर्ध्वगामी होऊन चंद्रमंडलात जाऊन अमृतपान करून पुन्हा ब्रह्मयोनीमध्ये येऊन लय पावतो किंवा स्थिर होतो. या बंधालाच योनिमुद्रा म्हणतात. संसारात अशी कोणतीही वस्तू नाही की, जी केवळ हा बंध केल्यानेच सिद्ध होणार नाही किंवा असाध्य असेल. याचा अर्थ असा की, योनिमुद्रा सिद्ध केल्यावर सर्व काही सिद्ध केल्यासारखेच आहे.

९,१०,११,१२,१३,१४. जे मंत्र छिन्नस्वरूप, कीलित म्हणजे बांधलेले किंवा अर्धांग झालेले, स्तंभित, दग्ध, शिररहित, मलिन, तिरस्कृत म्हणजे अनादर किंवा त्याग करण्यास योग्य असलेले, मंद, बाल म्हणजे कमी प्रभावाचे, वृद्ध म्हणजे पूर्ण प्रभावाचे, प्रौढ म्हणजे मध्यम प्रभावाचे, यौवनगर्वित म्हणजे उग्र स्वभावाचे किंवा उत्तेजनात्मक, भेदयुक्त, भ्रमात टाकणारे किंवा भ्रांती उत्पन्न करणारे, सप्ताहांमुळे, मूर्च्छित अर्थात क्रियाहीन झालेले, शत्रुपक्षाला हितकारक असणारे, निर्वीर्य म्हणजे सामर्थ्यहीन, सत्त्वरहित, सत्त्वहीन व खंडित होऊन शंभर तुकड्यात विभाजित झालेले आहेत असे सर्व प्रकारचे मंत्र वरील प्रकाराने योनिमुद्रा सिद्ध करून केल्यावर अत्यंत शीघ्र व प्रकर्षाने सिद्ध होतात. जर सद्गुरूंनी ह्या मंत्रांची दीक्षा दिली, तर हे मंत्र सिद्धिप्रद व मोक्षदायक होतात. त्याचप्रमाणे साधक योग्याच्या मुखातून मंत्राचे शुभाशुभ म्हणजे शुद्ध व अशुद्ध शद्बांनी उच्चारण झाले, तरी हे मंत्र योनिमुद्रेच्या बंधनाने अर्थात ही मुद्रा करून मंत्रजप केल्याने ते सर्वसिद्ध व अनुकूल होतात. गुरूचे हे कर्तव्य आहे की, जिज्ञासू साधकाला मंत्राचा अधिकार प्राप्त व्हावा या करिता त्याने त्याला विधीपूर्वक या मुद्रेची दीक्षा द्यावी व साधकाकडून हजार वेळा त्याचा अभ्यास करून घ्यावा.

१५,१६. जरी साधकाने एक हजार ब्रह्महत्त्या केल्या आणि त्रैलोक्याचाही घात म्हणजे त्रैलोक्यातील सर्व प्राण्यांचाही संहार केला, तरी तो या योनिमुद्रेच्या बंधनाने अर्थात ती लावून साधन केल्याने (तिच्या प्रभावामुळे) तो पापात लिप्त होऊ शकत नाही किंवा पाप त्याला लिप्त

अर्थात स्पर्श करू शकत नाही. गुरूचा घात अर्थात हत्या करणारा, मद्यपान करणारा, चोरी करणारा, गुरूपत्नीशी रममाण होणारा अर्थात तिच्याशी व्यभिचार करणारा व अशाच प्रकारची अनेक पातके करणारा साधक या योनिमुद्रेच्या बंधनाने अर्थात ती सिद्ध केल्यावर त्या पापांमुळे बांधला जात नाही अर्थात त्या पापांची फळे अशा साधकाला स्पर्श करू शकत नाहीत.

१७,१८,१९. या करिता मोक्षाची आकांक्षा असणाऱ्या साधकाने योनिमुद्रेचा नित्य अभ्यास करणे उचित आहे किंवा ते त्याचे कर्तव्य आहे. या मुद्रेच्या अभ्यासामुळे साधकाला सिद्धी मिळते व त्यामुळेच त्याला मोक्षाची प्राप्ती होते. अभ्यासामुळेच ज्ञानाची प्राप्ती होते व अभ्यासामुळेच साधकाची योगात प्रवृत्ती होते म्हणजे त्याला योगाभ्यास करावा असे वाटते. अभ्यासामुळे योनिमुद्रा सिद्ध होते आणि अभ्यासानेच वायूचे साधन होते म्हणजे इडा-पिंगलांच्या द्वारा संसारोन्मुख होऊन वाहणारा वक्र किंवा अधो वायू सरळ होऊन तो सुषुम्नामार्गाने ऊर्ध्वमुख होऊन संचार करू लागतो. अभ्यासामुळेच साधक कालवंचना अर्थात कालाचे उल्लंघन करू शकतो किंवा कालापासून आपला बचाव करतो. अभ्यासानेच साधक मृत्युंजय होतो आणि अभ्यासयोगानेच त्याला वाचासिद्धी व इच्छेप्रमाणे आचरण करण्याची शक्ती प्राप्त होते. या सर्वांचे तात्पर्य असे की, साधकयोग्याने नेहमी आळस सोडून अभ्यासात तत्पर राहिले पाहिजे. कारण सर्व सिद्धीचे कारण अभ्यास आहे किंवा अभ्यासामुळे सर्व सिद्धी होणे संभव आहे.

२०. ही योनिमुद्रा परम गोपनीय म्हणजे गुप्त राखण्यास योग्य अशी आहे. या करिता ही अनधिकारी पुरूषाला कधीही देऊ नये अर्थात सांगू किंवा शिकवू नये. जरी प्राण कण्ठाशी आले, तरी सुद्धा ही मुद्रा अनधिकाऱ्यास देऊ नये किंवा देणे उचित नाही.

२१. (महादेव पार्वतीला म्हणतात) हे देवी! आता मी जो योग किंवा योगाचे साधन सांगतो ते साधकाला परमसिद्धी प्रदान करणारे आहे. ते परम दुर्लभ आहे.

२२. ज्यावेळी श्रीसद्गुरूच्या प्रसादाने म्हणजे त्याने परंपराप्राप्त शक्तीच्या द्वारा केलेल्या शक्तिपाताने अर्थात शक्तिसंक्रमणाने (अनादि कालापासून निद्रिस्त असलेली) कुंडलिनी शक्ती जागृत होते. (त्यावेळी सुषुम्णामार्गाने तिचे ऊर्ध्व संचलन होत असल्याने) सर्व पद्मांचा अर्थात मूलाधारापासून सहस्त्रारापर्यंत असलेल्या सर्व चक्रांचा व सर्व ग्रंथीचा म्हणजे ब्रह्म, विष्णू व रूद्र ग्रंथींचा भेद होतो. याचा अर्थ असा की, सुषुम्णेच्या द्वारा प्राणवायू ब्रह्मरंध्रापर्यंत सरळपणे संचार

करू लागतो. त्याची वक्र म्हणजे संसारोन्मुख गती नाहीशी होऊन तो सरळ गतीचा अर्थात परमात्मोन्मुख होऊ लागतो.

२३. या करिता सर्व प्रकारचे प्रयत्न करून साधकाने ब्रह्मरंध्राच्या मुखापाशीच (ऊर्ध्व गमनाचा मार्ग अडवून) झोपलेल्या कुंडलिनी देवीला जागृत करण्याकरिता मुद्रांचा अभ्यास करणे आवश्यक आहे.

२४,२५. महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरीमुद्रा, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरणीमुद्रा, उड्डियानबंध, वज्रोलीमुद्रा व शक्तिचालिनी मुद्रा या दहा मुद्रा – प्रमुख असून– इतर सर्व मुद्रांमध्ये सर्वोत्तम किंवा सर्वश्रेष्ठ आहेत.

२६. (श्री महादेव पार्वतीला असे म्हणतात) हे प्रिये! आता मी या तंत्रात महामुद्रेचे वर्णन करून सांगतो. या मुद्रेची प्राप्ती करून घेऊन कपिल आदि प्राचीन ऋषी व मुनी सिद्ध झाले.

२७,२८,२९,३०. सद्‌गुरूंनी ज्या विधीने शिकविले असेल त्या रीतीने अत्यंत आदराने डाव्या पायाच्या टाचेने गुदा व लिंग यांच्या मधील योनिस्थान घट्ट दाबावे. नंतर उजवा पाय पसरून सरळ लांब करावा व तो दोन्ही हातांनी धरावा म्हणजे उजव्या पायाचा तळवा दोन्ही हातांनी पकडावा. त्या नंतर शरीराची नऊ द्वारे रोखून अर्थात त्या द्वारांवर संपूर्ण संयम प्रस्थापित करून, हनुवटी हृदयावर ठेवून आणि चित्तवृत्ती चैतन्यात स्थिर करून नंतर वायूचे साधन करावे अर्थात वायू केवल कुंभकामुळे सुषुम्णेत प्रवेश करून आपली वक्र गती सोडून स्थिर होईल असे करावे. या विधीला अर्थात या विधीने प्राणांचे म्हणजे कुंडलिनी शक्तीचे संचलन सुषुम्णेत होण्यासाठी केलेल्या या प्रक्रियेला महामुद्रा असे म्हणतात. ही मुद्रा सर्व तंत्रात गुप्त ठेविली आहे. या मुद्रेचा प्रथम डाव्या अंगाने म्हणजे डाव्या टाचेने योनिस्थान दाबून व नंतर उजव्या अंगाने म्हणजे उजव्या टाचेने योनिस्थान दाबून अभ्यास करावा. निश्चल मनाच्या योगी साधकाने हा प्राणायामाचा अभ्यास समानरूपाने करावा.

३१,३२,३३,३४. अशा प्रकारे या महामुद्रेचा अभ्यास किंवा हे साधन (नियमित, निरंतर व दृढ श्रद्धेने केले असता) या साधनाभ्यासाच्या प्रभावाने मंदभाग्याचा साधकयोगीही सिद्ध होतो. या महामुद्रेच्या प्रभावानेसर्व नाड्यांचे चालन होते म्हणजे शरीरातील सर्व नाड्या चेतनामय होतात. बिंदू स्थिर होतो म्हणजे वीर्याची अधोगती नाहीशी होऊन ते ऊर्ध्वगती होते अर्थात त्याचे ओजात किंवा तेजात रूपांतर होते. हा साधनाभ्यास जीवन आकर्षित किंवा स्थिर अगर

तेजस्वी ठेवतो आणि तो सर्व प्रकारच्या पातकांचा नाश करण्यास समर्थ असतो. त्याचप्रमाणे या मुद्रेच्या अभ्यासाने कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन प्राण ब्रह्मरंध्रामध्ये प्रवेश करतात किंवा प्राणांना ब्रह्मरंध्रामध्ये प्रविष्ट करण्याची शक्ती साधकाला प्राप्त होते. त्याचे सर्व रोग नाहीसे होऊन जठराग्नी प्रदीप्त होतो. शरीर सुंदर अर्थात अव्यंग व स्वच्छ कांतीने युक्त होते. वृद्धावस्था व मृत्यू यांचा नाश होतो. याचा अर्थ असा की, साधक सुंदर, कांतिमान व दीर्घजीवी होतो. साधकाला सर्व प्रकारच्या इच्छित फलांची प्राप्ती होऊन सुख मिळते आणि इंद्रियांवर संयम ठेवण्याचे सामर्थ्य त्याला प्राप्त होते. अशा प्रकारे येथपर्यंत जे काही फल कथन केले आहे, ते सर्व योगारूढ योग्याला योगसाधनाभ्यासपरायणतेने अवश्य सिद्ध होते. याबद्दल संशय बाळगण्याचे किंवा विचार करण्याचे कारण नाही.

३५,३६. श्रीशंकर म्हणतात, हे सुरपूजिते देवी पार्वती ! ही मुद्रा प्रयत्नपूर्वक गुप्त ठेविली पाहिजे अर्थात ज्या साधकाला योगाभ्यासात रूची आहे व जो ही मुद्रा करण्यास समर्थ आहे त्यालाच फक्त ही सांगण्यास हरकत नाही. साधकयोगी ही मुद्रा प्राप्त किंवा उपलब्ध करून घेऊन संसारसमुद्रातूनन पार होतात. मी सांगितलेली ही मुद्रा साधकांना कामधेनुस्वरूप आहे म्हणजे या मुद्रेच्या साधनाभ्यासामुळे साधकाच्या मनोवांछित कामना पूर्ण होऊ शकतात. या मुद्रेचा अभ्यास अत्यंत गुप्तपणे केला पाहिजे आणि ती सर्वसामान्य व्यक्तीला अर्थात अनधिकारी माणसाला किंवा सर्वांना देणे उचित नाही म्हणजे देऊ नये.

महाबन्धकथनम्

३७,३८,३९,४०. त्यानंतर म्हणजे महामुद्रा केल्यानंतर प्रथम दोन्ही पाय लांब करून मग डाव्या मांडीवर उजवा पाय ठेवावा. गुदा व योनीचे आकुंचन करावे. अपानवायू ऊर्ध्व करावा म्हणजे त्याला वर खेचावे व त्याचा समानवायूबरोबर संबंध स्थापित करावा म्हणजे अपान व समानवायूचे मीलन किंवा एकीकरण अगर समरसीकरण करावे. त्यानंतर प्राणवायूला अधोमुख करावे म्हणजे खाली खेचावे. प्राणा–पानांच्या (व समानवायूच्याही) समरसीकरणाने साधकाची गती ऊर्ध्वमुखी व्हावी म्हणून बुद्धिमान साधकांसाठी हा महाबंध कथन केला आहे. अर्थात अशा प्रकारे महाबंध केला म्हणजे तीनही वायूंच्या समरसीकरणामुळे अनादि निद्रिस्त कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन जीवाची बहिर्गती संपून ऊर्ध्वगती सुरू होते. प्राण किंवा शक्तीचा सुषुम्णेत प्रवेश

झाला म्हणजेच अशी गती जीवाला किंवा साधकाला प्राप्त होते. हा महाबंध साधकाला सिद्धिमार्गाचे म्हणजे कुंडलिनी शक्तिजागृतीमुळे उपस्थित होणाऱ्या अंतरंग साधनमार्गाचे अर्थात स्वतःहून चालणाऱ्या साधनाचे दान करणारा आहे. त्याचप्रमाणे या महाबंधामुळे साधकाच्या शरीरातील नाड्यांच्या जाळ्यातील रसव्यूह म्हणजे निरनिराळ्या शक्ती (मूलाधारात ब्रह्मरंध्रापाशी एकत्रित होऊन सुषुम्नामार्गाने) सहस्त्राराकडे गमन करतात. अशा प्रकारे मुद्रा व बंध या दोन्ही गोष्टी एक-एक अंगाने म्हणजे एकदा उजवा पाय डाव्या मांडीवर ठेवून व नंतर डावा पाय उजव्या मांडीवर ठेवून साधकाने प्रयत्नपूर्वक कराव्यात.

४१.४२. या महाबंधाच्या साधनाभ्यासाने प्राणवायू सुषुम्नानाडीमध्ये प्रवेश करतो. यामुळे साधकाचे शरीर पुष्ट होते किंवा राहते आणि साधकयोग्याच्या शरीरातील सर्व अस्थी व बंधने दृढ अर्थात बलिष्ठ होतात. त्याचप्रमाणे योगीसाधकाचे हृदय संपूर्णपणे संतुष्ट होते अर्थात त्याचे हृदय संतोषाने परिपूर्ण व आनंदित राहते. या सर्व गोष्टी या महाबंधाच्या प्रभावाने योग्याला आपोआप प्राप्त होतात. या बंधाच्या साधनाने योगी आपल्या इच्छेनुसार सर्व सिद्धी प्राप्त करतो किंवा त्याच्या सर्व इच्छित कामना पूर्ण होतात.

महावेधकथनम्

४३. श्रीशंकर म्हणतात की, हे त्रिभुवनेश्वरी! अपान व प्राण यांना एक करून महाबंधामध्ये स्थिर असलेल्या योग्याने आपल्या पोटात वायू भरून आपल्या दोन्ही पार्श्वभागावर ताडन करावे, मी (शंकराने) या प्रकाराला वेध म्हटले आहे.

४४. बुद्धिमान योगिश्रेष्ठाने या महावेधाचा अभ्यास करून वायुद्वारा अर्थात जागृत कुंडलिनी शक्तीचे सुषुम्नामार्गात चालन करून त्या मार्गातील (रूद्रग्रंथी व विष्णुग्रंथी) या दोन्ही ग्रंथीसह ब्रह्मग्रंथीचा भेद करावा.

४५. जो साधक या सर्वोत्तम किंवा सर्वश्रेष्ठ महावेधाची प्रक्रिया गुप्त ठेवून सतत अभ्यास करतो त्याला वायुसिद्धी प्राप्त होते म्हणजे त्याचा वायू सिद्ध होतो अर्थात वायूची वक्र किंवा बहिर्मुख गती संपून तो सुषुम्नागामी होतो. याचा अर्थ असा की, महावेधाचा अभ्यास करणाऱ्या साधकाची आत्मशक्ती कुंडलिनी जागृत होऊन ती शनै शनै सुषुम्नेत प्रवेश करून सहस्त्रारातील

शिवाशी मीलन होण्यासाठी सतत उद्युक्त राहते. ज्यावेळी संपूर्ण शक्ती जागृत होते तेव्हा महामीलन सिद्ध होते. यामुळे साधकाचे जरा व मरण नाहीसे होतात.

४६. शरीरातील चक्रांमध्ये ज्या देवता आहेत त्या (उपरोक्त प्रकारे) केलेल्या वायूच्या ताडनामुळे कम्पायमान होतात आणि यामुळेच महामाया कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन ती सुषुम्नाद्वारा कैलासात म्हणजे ब्रह्मस्थानात किंवा सहस्त्रारात लीन होते. याचा अर्थ असा की, महावेधान्तर्गत ताडनक्रिया ही महामायास्वरूप कुंडलिनी शक्ती जागृत व्हावी म्हणूनच केली जाते. ही शक्ती जागृत व्हावी म्हणूनच सर्व साधने व साधनान्तर्गत प्रक्रिया सिद्ध झाल्या आहेत. ज्यावेळी कैलासातील शिवाशी एकरूप होण्याकरिता ही जागृत शक्ती अंतरंग साधन करू लागते अर्थात सुषुम्नाद्वारा ऊर्ध्वमुख होते त्यावेळी खऱ्या कर्माची, भक्तीची व ज्ञानाची सिद्धी होते. त्याचप्रमाणे चक्रस्थित देवता म्हणजे गणेश, ब्रह्मा, विष्णू, महादेव, भाषाधीश व ज्योतिस्वरूप ईश्वर क्रमाने आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध व आज्ञाचक्रांमध्ये स्थित आहेत. ज्यावेळी कुंडलिनी शक्ती सुषुम्नामार्गाने वर वर जाऊ लागते त्यावेळी वायुरूप शक्तीच्या वेगाने या देवता क्रमशः जागृत होऊन त्या या शक्तीत विलीन होतात. यालाच षट्चक्र वेध व ग्रंथित्रयभेद असे म्हणतात.

४७. महावेधाची क्रिया केली नाही, तर महामुद्रा व महाबंध निष्फळ होतात अर्थात महावेधाशिवाय मुद्रेचे व बंधांचे काहीही फळ मिळत नाही. या करिता योगीसाधकाने प्रयत्नपूर्वक क्रमाने मुद्रा, बंध व महावेध या तिन्हीही साधनांचा अभ्यास करावा.

४८. जो साधक मुद्रा, बन्ध आणि वेध या तिन्हींचा दररोज दिवसा व रात्री चार वेळा प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करील तो सहा महिन्यात मृत्यूवर विजय प्राप्त करील यात काहीही संशय नाही.

४९. सिद्धपुरूष या तिन्हींचे माहात्म्य उत्तम प्रकारे जाणतात, इतर लोक अर्थात सामान्य सांसारिक लोक हे माहात्म्य जाणत नाहीत. हे माहात्म्य जाणणाऱ्या व त्याप्रमाणे साधनाभ्यास करणा–या साधकाला सर्व प्रकारच्या सिद्धींचा लाभ होतो.

५०. सिद्धीची इच्छा करणाऱ्या साधकाचे हे कर्तव्य आहे की, त्याने आपला साधनाभ्यास प्रयत्नपूर्वक गुप्त ठेवावा. मुद्रा इत्यादि गोष्टी साधारण किंवा सामान्य लोकांसमोर प्रकट केल्याने

सिद्धीची म्हणजे शिवशक्तिसामरस्याची अंतिम स्थिती कधीच प्राप्त होत नाही हे नितांत सत्य आहे.

खेचरीमुद्राकथनम्

५१,५२,५३,५४. बुद्धिमान साधकाने वज्रासन म्हणजे सिद्धासन घालून भ्रूमध्यात दृष्टी स्थिर करून बसावे. नंतर जीभ उलटी करून ती वर टाळू जवळील सुधाकूपस्वरूप विवरात यत्नाने स्थापित करावी किंवा त्या जागी तिचे संयोजन करावे. (यामुळे टाळूमधून पाझरणाऱ्या अमृताचे पान साधक करू शकतो.) या मुद्रेला खेचरी असे नाव असून तिचे भक्तांच्या हिताकरिता प्रकटीकरण केले आहे. ही खेचरीमुद्रा सर्व सिद्धींची जननी असून ती मला माझ्या प्राणांपेक्षाही अधिक प्रिय आहे जो साधक ही खेचरीमुद्रा लावून निरन्तर साधनाभ्यासरत राहून नित्य अमृतपान करतो त्याचे शरीर त्यामुळे सिद्ध होते किंवा त्याला विग्रहसिद्धी प्राप्त होते म्हणजे त्याला प्रतिमारूप देवतांची सिद्धी होते. याचा अर्थ असा की, खेचरीमुद्रा लावून साधनाभ्यास करणाऱ्या साधकाचे शरीर पुष्ट, सुगठित व शुद्ध होते आणि त्याच्या शरीरातील सर्व चक्रस्थ देवता संतुष्ट होतात. मृत्युरूपी हत्तीच्या बाबतीत ही खेचरीमुद्रा सिंहासारखी आहे.

५५. जरी साधक पवित्र, अपवित्र किंवा इतर कोणत्याही अवस्थेत असला, तरी ज्या साधकाला ही खेचरी मुद्रा सिद्ध झालेली आहे, तो सदासर्वदा शुद्ध आहे किंवा त्याच्या बाबतीत सर्व काही शुद्धच आहे, यात काहीही संशय नाही.

५६. या खेचरीमुद्रेचे साधन जो साधकयोगी अर्ध्या क्षणभरही करतो तो पापरूपी महासमुद्रातून पलीकडे जाऊन सुखपूर्वक दिव्य भोग भोगण्यास समर्थ होतो. (जर या साधकाचा साधनाभ्यास अर्धा राहिला व त्यास पुन्हा जन्म ग्रहण करणे भाग पडले, तर त्याचा उत्तम व उच्च कुलात जन्म होतो.)

५७. जो योगी ही खेचरीमुद्रा लावून स्वस्थचित्त व ब्रह्मपरायण राहील, त्याला शंभर ब्रह्मदेवांचे जीवन व्यतीत होणारा (दीर्घ कालही) अर्ध्याक्षणाप्रमाणे प्रतीत होईल.

५८. गुरूच्या उपदेशाने ज्या साधकाला या खेचरीमुद्रेचा लाभ होईल, तो साधक जरी अनेक पापकर्मात गुंतून पडला, तरी (असे साधन करणाऱ्या) बुद्धिमान साधकाला परमश्रेष्ठ गती

म्हणजे मोक्ष, कैवल्य किंवा शिवसामरस्य प्राप्त होते. याचा अर्थ असा की, खेचरी साधनाने साधकाची सर्व पापे नष्ट होतात व तो मुक्ती प्राप्त करतो.

५९. श्रीशंकर म्हणतात, हे सुरपूजिते देवी पार्वती! ही खेचरी मुद्रा प्राणाच्या बरोबर आहे. या करिता ही मुद्रा सामान्य किंवा वाटेल त्या व्यक्तीला देणे उचित नाही. उलट ही मुद्रा प्रयत्नपूर्वक गुप्त ठेविली पाहिजे.

जालन्धरबन्धकथनम्

६०.,६१. साधकाने गळ्यातील शिरांचे जाळे म्हणजे सर्व शिरा आकुंचित करून हनुवटी हृदयाला लावावी. या क्रियेला जालंधरबंध म्हणतात. हा बंध देवतांना सुद्धा प्राप्त होणे दुर्लभ आहे. बेंबीच्या ठिकाणी असलेला जठराग्नी सहस्त्रदलकमलातून पाझरणाऱ्या अमृताचे पान करतो अर्थात सहस्त्रारातून पाझरणाऱ्या अमृताचे हा अग्नी भस्म करीत असल्याने त्याचा शरीराला उपयोग होत नाही किंवा ते अमृत वाया जाते. यासाठी म्हणजे त्या अग्नीचे हे कार्य रोखण्यासाठी किंवा थांबविण्यासाठी म्हणजे जठराग्नीने अमृत भस्म करण्याचे कार्य करू नये म्हणून हा जालंधरबंध साधकाने अवश्य केला पाहिजे. याचे तात्पर्य हे आहे की, नाभिस्थित अग्नी म्हणजे सूर्य सहस्त्रारातून पाझरणाऱ्या अमृताचे सतत पान करीत असल्याने माणसाला मृत्यू येतो. परंतु जालंधरबंध हे एक असे साधन आहे की, जे जठराग्निला अमृतपान करू देत नाही म्हणजे जालंधरबंध केल्यामुळे चंद्र मंडलातून पाझरणारे अमृत सूर्यमंडलात जात नाही अर्थात हे अमृत जळून भस्म न होता योगी त्याचे पान करून चिरंजीव होतो.

६२. या जालंधरबंधाच्या प्रभावाने बुद्धिमान योगीसाधक स्वतः अमृताचे पान करतो किंवा अमृतपानाची शक्ती प्राप्त करतो आणि यामुळे अमरत्व प्राप्त करून तो तिन्ही लोकात आनंदपूर्वक संचार करतो.

६३. हा जालंधरबंध सिद्धांना सिद्धी देणारा आहे. या करिता ज्या साधकाला सिद्धीची म्हणजे शिवशक्तिसामरस्याची इच्छा आहे त्याने या जालंधरबंधाचा नित्य अभ्यास केला पाहिजे.

मूलबन्धकथनम्

६४,६५. (डाव्या किंवा उजव्या) पायाच्या टाचेने गुदद्वाराचा मार्ग दाबून धरून बलपूर्वक अपानवायूला वर आकर्षित करावे म्हणजे खेचावे. (अशा प्रकारे अपानवायूला वर खेचून त्याचे

प्राणवायूशी ऐक्य करावे) या क्रियेला मूलबंध म्हणतात. हा मूलबंध जरा व मरण यांचा नाश करणारा आहे.

६६. अशा प्रकारे कल्पित केलेल्या म्हणजे सांगितलेल्या या मूलबंधाच्या द्वारा अपानवायू व प्राणवायू यांचे ऐक्य केल्याने योनिमुद्रा आपोआप सिद्ध होईल.

६७. सिद्ध पुरूषांना ही योनिमुद्रा सिद्ध झाल्यावर या भूतलावर असा कोणता पदार्थ आहे की, जो त्यांना उपलब्ध होऊ शकणार नाही? या मूलबंधाच्या प्रसादाने वायूला जिंकून साधक पद्मासन घालून (खेचरी मुद्रा लावून) साधनाला बसला, तर तो पृथ्वीचा म्हणजे पृथ्वीतत्त्वाचा अर्थात मूलाधाराचा त्याग करून (सुषुम्नामार्गाच्या द्वारा) आकाशात म्हणजे सहस्त्रारात गमन करतो.

६८. जर एखाद्या श्रेष्ठ योग्याला हा संसारसागर तरून पार होण्याची इच्छा असेल, तर त्याने निर्जन देशात व गुप्तस्थानामध्ये या मूलबंधाचा अभ्यास करणे उचित आहे.

विपरीतकरणीमुद्राकथनम्

६९. (दोन्ही हातांची बोटे एकमेकात अडकवून ४५ अंशाच्या काटकोनात भूमीवर अंथरलेल्या जाडसर व लांबरूंद आसनावर हात ठेवून) साधकाने आपले डोके जमिनीवर (आसनावर ठेविलेल्या हातांच्या बोटांमध्ये) टेकवावे आणि दोन्ही पाय वर आकाशात स्थिर करावेत. याला विपरीतकरणीमुद्रा म्हणतात. ही मुद्रा सर्व तंत्रात गुप्त आहे म्हणजे ती प्रकट करणे योग्य नाही.

७०. या प्रकाराने जो साधक या मुद्रेचा दररोज तीन तासपर्यंत निरन्तर अभ्यास करील तो निश्चितपणे मृत्यूला जिंकील व प्रलयात त्याला कोणत्याही प्रकारचे कष्ट होणार नाहीत.

७१. जो साधक शरीरात विद्यमान असलेल्या अमृताचे पान करतो त्याला सिद्धांचे साम्य प्राप्त होते म्हणजे तो साधक स्वतः सिद्ध होतो. जो साधक हा मुद्राबंध करतो (व सिद्ध होतो) तो सर्व लोकांमध्ये पूज्य होतो.

उड्डीयानबन्धकथनम्

७२,७३.बेंबीच्या वरील व खालील भाग असे आकुंचन करावेत किंवा ताणावेत की, ते दोन्ही भाग पाठीला जाऊन लागतील. याला उड्डीयानबंध म्हणतात. हा बंध सर्व दुःखांच्या समूहाचा नाश करणारा आहे. (श्वास किंवा पोटातील सर्व वायू बाहेर सोडून) पोटाला पाठीकडे आकर्षित

करीत बेंबीचे वरील भागाकडे अर्थात ऊर्ध्व आकुंचन किंवा आकर्षण करावे अगर बेंबी वर खेचावी. हा उड्डीयानबंध होय. हा बंध मृत्युरूपी हत्तीला मारणारा सिंहच आहे. याचा अर्थ असा की, या बंधाच्या अभ्यासाने साधक मृत्युरुपी दुःखाचे उल्लंघन करून पलीकडे जातो किंवा तो जन्ममरणाच्या बंधनातून मुक्त होतो.

७४. जो योगीसाधक या उड्डीयानबंधाचा दररोज चार वेळा अभ्यास करतो त्याचे नाभिचक्र म्हणजे मणिपूरचक्र शुद्ध होते अर्थात तेथील सर्व बंधने दूर होतात व त्याचा वायूही सिद्ध म्हणजे सुषुम्नागामी होतो.

७५. जो योगीसाधक सहा महिने या उड्डीयानबंधाचा नित्यनियमित अभ्यास करतो तो निश्चितपणे मृत्यूला जिंकतो किंवा मृत्यू जिंकण्यास समर्थ होतो आणि त्याचा जठराग्नी विशेष रूपाने प्रदीप्त होतो व (त्याच्या शरीरातील) रसाची वृद्धी होऊ लागते म्हणजे सर्व प्रकारचे रस शरीरात उपस्थित झाल्याने त्याचे शरीर पुष्टीदायक व कांतिमान होते.

७६. या उड्डीयानबंधाच्या प्रभावाने योगीसाधकाचे शरीर आपोआप सिद्ध होते अर्थात त्याची काया अजरामर होते व त्याच्या सर्व रोगांचा निश्चितपणे नाश होतो.

७७. बुद्धिमान साधकाने या परमदुर्लभ बंधाचा गुरूपासून प्रयत्नपूर्वक लाभ करून घेऊन म्हणजे तो शिकून घेऊन एकान्त व सुस्थितीने संपन्न अशा स्थानात स्वस्थचित्ताने राहून त्याचे साधन करावे.

वज्रोलीमुद्राकथनम्

७८. श्रीशंकर म्हणतात, हे देवी पार्वती ! मी आपल्या भक्तांच्या लाभासाठी संसाराचा अंधकार दूर करणाऱ्या व गुह्यातील गुह्य म्हणजे परमगोपनीय अशा वज्रोलीमुद्रेचे कथन करतो.

७९. गृहस्थ आपल्या इच्छेप्रमाणे घरात राहात असतानाही म्हणजे भोग भोगीत असतानाही व योगोक्त नियमांचे पालन केल्याशिवायही या वज्रोलीमुद्रेच्या साधनाने (गृहस्थ साधकयोगी) मुक्त होतो अर्थात मुक्ती किंवा कैवल्य प्राप्त करतो. याचा अर्थ असा की, या वज्रोलीमुद्रेच्या साहाय्याने गृहस्थ साधक भोग व मोक्ष या दोहोंचाही अधिकारी होतो.

८०. या वज्रोली मुद्रेचा योगाभ्यास भोगयुक्त पुरूषांनाही मोक्ष देणारा आहे. याचा अर्थ असा की, भोगात रत असलेला पुरूषही या मुद्रेच्या अभ्यासाने मुक्ती प्राप्त करू शकतो. यासाठी अत्यंत प्रयत्नाने सदासर्वदा वज्रोलीमुद्रेचा अभ्यास करणे हे योगीसाधकाचे कर्तव्य आहे.

८१,८२,८३,८४. प्रथम बुद्धिमान साधकाने प्रयत्न करून विधिविधानपूर्वक स्त्रीच्या योनीतील रज लिंगनालात आकर्षण करून अर्थात लिंगातील मार्गाने वर खेचून घेऊन ते आपल्या शरीरात प्रविष्ट करावे. नंतर आपल्या बिंदूचा म्हणजे वीर्याचा निरोध करून योनीमध्ये लिंगचालन अर्थात संभोगक्रिया करावी. यावेळी दैववशात बिंदू आपल्या स्थानापासून चलित किंवा च्युत झाला, तर योनिमुद्रेच्या द्वारा त्याचा निरोध करून त्याचे वर आकर्षण करावे. नंतर तो बिंदू शरीरात डाव्या भागात स्थापन करून क्षणभर लिंगचालन म्हणजे संभोगक्रिया थांबवावी. (थोड्यावेळाने) पुन्हा गुरूच्या उपदेशाप्रमाणे योगी साधकाने हुं हुं अशा प्रकारचे शद्बोच्चारण करीत योनीमध्ये लिंगचालन करावे म्हणजे संभोगक्रियेत प्रवृत्त व्हावे आणि त्यावेळी बलपूर्वक अपानवायूचे आकुंचन करून स्त्रीच्या रजाचे आकर्षण करावे. याला वज्रोलीमुद्रा असे म्हणतात.

८५. या वज्रोलीमुद्रेच्या विधिविधानाने अर्थात क्रियेने योगीसाधक अत्यंत लवकर योगसिद्ध होतो आणि गुरूचरणकमलांची पूजा करणारा योगी आपल्या शरीरात अमृताचे पान करण्यास समर्थ होतो अर्थात शरीरस्थ अमृत तो प्राशन करतो.

८६. बिंदू म्हणजे वीर्य चंद्रस्वरूप व रज सूर्यस्वरूप आहे असे जाणून दोघांना संयुक्त करून किंवा एकमेकात मिसळून त्यांचा आपल्या शरीरात प्रवेश करावा. याचा अर्थ असा की, वज्रोलीमुद्रा करताना जेव्हा साधक स्त्रीच्या योनीतील रज खेचून घेईल तेव्हा त्याने ते स्वशरीरातील वीर्याशी एकरूप करून नंतर त्याचे ऊर्ध्वाकर्षण करावे म्हणजे या मिश्रणाचे आपोआप ओजात रूपान्तर होऊन साधकाला दिव्य व अजरामर काया प्राप्त होते.

८७. श्रीशंकर म्हणतात, बिंदू हा मत्स्वरूप म्हणजे शिवस्वरूप आहे व रज हे शक्तिस्वरूप आहे असे जाणून जर साधक या दोहोंना (आपल्या शरीरात) एकत्रित, संयुक्त किंवा एकरस करील, तर या साधनाने योगीसाधकाचे शरीर दिव्य होईल. याचे तात्पर्य असे आहे की, बिंदुरजाचे म्हणजे शिवशक्तीचे अर्थात ईश्वरमायेचे समरसीकरण केल्याने किंवा दोहोंचा एकमेकात लय केल्याने साधकाच्या अध्यारोपाचा म्हणजे मी शिव नसून जीव आहे अशा जन्मजन्मान्तरी धारण केलेल्या धारणेचा किंवा कल्पनेचा अपवाद होतो अर्थात ती नाहीशी होते म्हणजे मी जीव नसून

शिव आहे असे ज्ञान त्याला होते व साधक मुक्त होतो. सारांश रज व बिंदूचे सामरस्य करणारा साधक सिद्ध व मुक्त होतो.

८८. बिंदुपात झाल्याने मृत्यू (लवकर ओढवतो) व बिंदुधारण केल्याने मनुष्यप्राणी (दीर्घकाल) जिवंत राहतो. या करिता साधकाने प्रयत्नपूर्वक बिंदू धारण करावा म्हणजे त्याचे रक्षण करावे. याचा आशय असा आहे की, स्त्री संभोगामध्ये वीर्यपात होणे योग्य नाही, कारण त्यामुळे साधना निष्फल होते. शिवाय वीर्य हेच शरीराचे खरे जीवन आहे, कारण त्याच्याशिवाय शरीरात सामर्थ्य राहूच शकत नाही आणि सामर्थ्य न राहणे हे मनुष्याला प्रत्यक्ष मृत्यूसारखेच आहे. यासाठी केव्हाही व कोणत्याही दशेत बिंदुक्षय रोखणे हे साधकाचे प्रमुख कर्तव्य आहे.

८९. मनुष्य प्राण्याचे जन्म–मरण बिन्दूने म्हणजे वीर्यक्षयानेच होते यात काहीही संशय नाही. याचा अर्थ असा की, जोपर्यन्त बिन्दू स्थिर किंवा दृढ होत नाही तोपर्यंत मनुष्याची जन्ममरण परंपरा संपत नाही. या दृष्टीने विचार करून किंवा हे जाणून अर्थात बिंदूच्या स्थिरीकरणाचे ज्ञान प्राप्त करून घेऊन साधकाने बिंदूचे धारण करण्यात किंवा त्याचे रक्षण करण्यात नेहमी तत्पर राहिले पाहिजे.

९०. श्रीशंकर म्हणतात, हे पार्वती! महान प्रयत्न करून बिन्दू सिद्ध केल्यावर या भूतलावर अशी कोणती गोष्ट आहे की, जी सिद्ध होऊ शकणार नाही? अर्थात बिंदू सिद्ध झाल्यावर सर्व काही सिद्ध होते किंवा बिंदूच्या रक्षणातच सर्व सिद्धी अंतर्निहित आहेत. या बिन्दुरक्षणाच्या प्रसादानेच माझा (शंकराचा) असा महिमा आहे. अर्थात बिंदूचे रक्षण केल्यानेच माझी सर्वत्र कीर्ती झाली आहे आणि जो साधक बिंदू स्थिर किंवा दृढ करतो त्याचीही कीर्ती माझ्यासारखीच होते.

९१,९२. मनुष्याला सांसारिक सुखदुःखात गुंतवून किंवा अडकून ठेवण्याचे कार्य बिंदूच करतो म्हणजे सुखदुःखाचे कारण बिंदूच आहे. त्याचप्रमाणे मूर्ख माणसांच्या मूर्खतेचे व जरामरणशील संसारी लोकांच्या जन्ममरण चक्राचे बिंदूच कारण आहे. यासाठी बिंदूचे रक्षण करणारा किंवा तो स्थिर व दृढ करणारा असा माझा शांकरयोग म्हणजे सिद्धयोग हा सर्व योगात उत्तम योग आहे.

९३. (या सिद्धयोगान्तर्गत वज्रोलीमुद्रेच्या) अभ्यासामुळे भोगयुक्त माणसालाही सिद्धी प्राप्त होते. अर्थात मनुष्य कितीही भोगाकांक्षी असला, तरी त्याने जर वज्रोलीमुद्रेचा अभ्यास केला, तर त्याला भोग भोगता भोगता शिवसामरस्याची सिद्धी प्राप्त होऊन संसारातील सर्व इच्छित

पदार्थाची सिद्धी किंवा प्राप्ती होते म्हणजे इच्छा केल्यावर त्याला प्राप्त होऊ शकत नाही असा पदार्थच असत नाही.

९४. या योगाभ्यासाच्या द्वारा म्हणजे योगाभ्यासात सिद्ध झालेला साधक आपले अशेष भोग भोगित असताना निश्चितपणे सुखी राहतो आणि योगीसाधकांना या वज्रोलीमुद्रेच्या साधनद्वारा सर्व सिद्धी अवश्यपणे प्राप्त होतात. कारण महान सुख भोगता भोगता ही साधना सिद्ध होते. या करिता या वज्रोलीमुद्रेचा अभ्यास करणे आवश्यक आहे. सारांश, वज्रोलीमुद्रेच्या साधनद्वारा सिद्ध झाल्यावर साधकाच्या उरलेल्या शुभाशुभ भोगांपैकी अशुभ भोगही सुखपूर्वक पूर्ण होतात.

९५. वज्रोलीमुद्रेच्या दोन भेदांना सहजोली व अमरोलीमुद्रा अशी नावे दिली आहेत (मात्र भेदाचा प्रकार कोणताही असला व त्याला कोणतेही नाव दिले असले, तरी या सर्व प्रकारातील साररूप गोष्ट ही आहे की) साधकयोग्याने कोणत्याही प्रकाराने बिंदू धारण अर्थात स्थिर किंवा दृढ करावा.

अमरोलीमुद्राकथनम्

९६. जर दैववशात उत्तेजनामुळे किंवा मनाला व शरीराला वेग प्राप्त झाल्यामुळे अर्थात भोगाकांक्षेमुळे वीर्यबिंदू आपल्या स्थानापासून चलित झाला म्हणजे उत्सर्गोन्मुख झाला आणि त्याचा रजबिंदूशी संबंध येऊन साधक चंद्ररूपी बिंदूचे व रजरूपी सूर्याचे समरसीकरण किंवा एकत्रिकरण करण्यात सफल झाला, तर या मुद्रेला अमरोली मुद्रा असे म्हणतात. या मुद्रेत स्वशरीरातील ढळणाऱ्या बिंदूचे व स्त्री शरीरातील रजाचे लिंगनालाच्या म्हणजे वीर्यवाही नाडीच्या द्वारा आकर्षण केले जाते.

सहजोलीमुद्राकथनम्

९७. जर योगीसाधकाचा स्वतःचा बिंदू चलित झाला, तर त्याने योगमुद्रेच्या बंधनाने बिंदूचे वर आकर्षण करावे म्हणजे ढळणाऱ्या बिंदूचा अवरोध करावा. या मुद्रेला सहजोली मुद्रा असे म्हणतात. ही मुद्रा सर्व तंत्रांमध्ये गुप्त आहे.

९८. जरी (वरील दोन मुद्रांचे) कार्य एकसारखे असले, तरी संज्ञाभेदामुळे त्यांचे अमरोली व सहजोली हे दोन भेद झाले आहेत. या करिता योगीसाधकाने या दोन्ही मुद्रांचा साधनाभ्यास पूर्ण प्रयत्नपूर्वक केला पाहिजे.

९९. श्रीशंकर म्हणतात, हे प्रिये पार्वती! मी हे साधन भक्तांवर प्रेम प्रकट करण्यासाठी किंवा भक्तांवरील प्रेमामुळे कथन केले आहे. हे साधन प्रयत्नपूर्वक गुप्त ठेवले पाहिजे व ते सामान्य माणसाला किंवा सरसकट सर्वांना देणे उचित नाही किंवा देऊ नये.

१००. या वज्रोलीमुद्रेपेक्षा अधिक गुप्त असे अन्य कोणतेही साधन या पूर्वी झाले नव्हते अर्थात भूतलावर अवतरले नव्हते व पुढे कधीही होणार नाही म्हणजे प्रकट होणार नाही. या करिता बुद्धिमान साधकाने प्रयत्नपूर्वक हे साधन गुप्त राखणेच उचित आहे.

१०१,१०२. श्रीगुरूंनी उपदेश केल्याप्रमाणे मूत्रत्याग करताना अर्थात लघवी करण्याच्या वेळी साधकाने नेहमी बलपूर्वक वायूचे आकर्षण करून म्हणजे अपानवायू वर खेचून घेऊन थोडी थोडी लघवी करावी व पुन्हा अपानवायूचे वर आकर्षण केले म्हणजे लघवी पूर्ण झाल्यावर अपानवायू वर खेचून घेतला, तर बिन्दू म्हणजे वीर्य सिद्ध होईल अर्थात साधक ऊर्ध्वरेता होईल. ही बिन्दुसिद्धी साधकाला महासिद्धी प्रदान करणारी आहे. याचा अर्थ असा की, वीर्यसिद्धी प्राप्त करण्यासाठी साधकाने हळू हळू थोडी थोडी लघवी करण्याचा अभ्यास केला पाहिजे.

१०३. श्रीगुरूने शिकविल्याप्रमाणे साधकयोग्याने जर वरील क्रियेचा अभ्यास सहा महिने (नियमित केला) तर अशा साधकाने शंभर स्त्रियांशी संभोग केला, तरी त्याच्या वीर्याचे स्खलन अर्थात वीर्यपात होणार नाही.

१०४. श्रीशंकर म्हणतात, हे पार्वती! अशा प्रकारे जेव्हा महान प्रयत्न करून बिंदू सिद्ध होईल म्हणजे साधक ऊर्ध्वरेता होईल तेव्हा अशा साधकाला काय सिद्ध होणार नाही? याचा अर्थ असा की, साधक ऊर्ध्वरेता झाला की, त्याला सर्व काही सिद्ध होईल. या बिन्दुसिद्धीच्या म्हणजे ऊर्ध्वरेतत्त्वाच्या प्रभावानेच मला म्हणजे शंकराला दुर्लभ ईश्वरत्व प्राप्त झाले आहे.

शक्तिचालनमुद्राकथनम्

१०५. आधार कमलात अर्थात मूलाधारचक्रात निद्रिस्त अर्थात अनादि कालापासून झोपलेल्या म्हणजे बहिर्मुख वृत्तीने संसारात रमलेल्या कुण्डलिनी शक्तीला बुद्धिमान साधकाने अपानवायूवर आरूढ होऊन बलपूर्वक त्या शक्तीचे ऊर्ध्वाकर्षण करून तिला जागृत करावे. याचा अर्थ असा की, शक्तीची बहिर्गती म्हणजे अनादि कालापासून संसार भोगण्याची वासनात्मक निद्रितावस्था संपवून तिला उपरोक्त प्रक्रियेने चेतन किंवा जागृत करून तिची अंतर्गती म्हणजे सुषुम्नामार्गाने शिवाशी समरस करण्यासाठी तिला ऊर्ध्वगतीने मार्गस्थ करणे होय. या प्रक्रियेला शक्तिचालनमुद्रा म्हणतात. ही मुद्रा साधकाला सर्व शक्तींचे प्रदान करणारी आहे.

१०६. जो साधक ही शक्तिचालनमुद्रा नित्यनियमाने दररोज करतो त्याच्या आयुष्याची वाढ होते व सर्व रोगांचा नाश होतो.

१०७. या शक्तिचालनमुद्रेच्या साधनाभ्यासामुळे भुजगी म्हणजे सर्पिणी सारखी आकृती असलेली कुण्डलिनी शक्ती आपल्या अनादि निद्रेचा म्हणजे बहिर्मुख वृत्तीचा अर्थात संसार भोगण्याच्या वासनेचा त्याग करून स्वतःच (सुषुम्नामार्गाने) ऊर्ध्वगामी होईल हे निश्चित आहे. याचा अर्थ असा की, ज्यावेळी कुण्डलिनी शक्ती जागृत होते त्यावेळी ती स्वतः अंतरंग साधनाच्या रूपाने साधक शरीरात उपस्थित होते. त्यामुळे बाह्य साधनाची आवश्यकता संपुष्टात येते किंवा येथपर्यंतच बाह्य साधनाची गती उपयोगी होते. जागृत शक्ती ही साधक शरीरात गुरूरूपाने स्वतः साधन करून साधकाला सुषुम्नामार्गाने सहस्त्रारात नेऊन अंतिम सामरस्यसिद्धी प्राप्त करून देते. या करिता सिद्धीची इच्छा करणाऱ्या योगीसाधकाने या शक्तिचालनमुद्रेचा नित्यप्रती अभ्यास केला पाहिजे.

१०८. जो साधकयोगी या उत्तमोत्तम म्हणजे सर्वश्रेष्ठ अशा शक्तिचालनमुद्रेचा नेहमी अभ्यास करील त्याला विग्रहसिद्धी प्राप्त होते म्हणजे अशा साधकाचे शरीर निश्चितपणे सिद्ध अर्थात अमर होते. ही मुद्रा अणिमादि सिद्धी प्रदान करणारी आहे.

१०९,११०. जो साधक गुरूने उपदेश केलेल्या विधिप्रमाणे म्हणजे त्याने शिकविलेल्या प्रक्रियेप्रमाणे या शक्तिचालनमुद्रेचा अभ्यास करतो त्याला मृत्यूचे भय राहत नाही. जो साधक विधिविधानपूर्वक प्रयत्नाने दोन मुहूर्तपर्यंत शक्तिचालनमुद्रेचा अभ्यास करतो त्याला सर्व सिद्धी प्राप्त होतात. या करिता साधकयोग्याला स्वतःला जे आसन युक्त किंवा योग्य वाटेल अर्थात

रूचेल, पटेल व शरीराला संयुक्तिक होईल त्या आसनात बसून या शक्तिचालनमुद्रेचा अभ्यास करणे हे त्याचे कर्तव्य आहे.

१११. श्रीशंकर म्हणतात, हे पार्वती! मी ज्या ह्या दहा मुद्रा कथन केल्या आहेत, त्या मुद्रांसारखे आत्तापर्यंत साधन झाले नाही व पुढे होणार नाही. यातील एका एका मुद्रेचा म्हणजे कोणत्याही एका मुद्रेचा किंवा एका मुद्रेनंतर दुसऱ्या मुद्रेचा अभ्यास केला असता साधकाला सिद्धी प्राप्त होऊन तो सिद्ध होतो, हे नितांत सत्य आहे.

अशा प्रकारे श्रीशिवसंहितेतील हरगौरीसंवादात्मक मुद्राकथन नावाचे चवथे पटल समाप्त झाले.

पंचम पटल

योगशास्त्र प्रकरण

१. श्रीभगवतीदेवी पार्वती म्हणाली की, हे ईश्वरा! हे प्रिय शंकरा! योगाभ्यासी साधकांना योगाभ्यास करताना संसारात जी जी विघ्ने उपस्थित होतात ती ती तुम्ही मला सांगा. याचा अर्थ असा की, योगाभ्यास करणाऱ्या साधकाला साधनकालात अनेक प्रकारच्या विघ्नांशी सामना करावा लागतो ही विघ्ने कोणकोणती आहेत हे समजले म्हणजे ती टाळून साधन करता येणे सुलभ व्हावे व साधकभक्तांवार उपकार व्हावेत या उद्देशाने पार्वतीने या विघ्नांबद्दल जिज्ञासा प्रकट केली आहे.

२. ईश्वर म्हणाले – श्रीशिवशंकर म्हणाले की, हे देवी पार्वती! योगसाधनामध्ये जी विघ्ने किंवा बंधने उपस्थित येतात ती मी तुला सांगतो, तू ती लक्षणे ऐक. मनुष्याला मोक्षामध्ये आड येणारे भोग हे परम बंधन आहे.

भोगरूपयोगविघ्नविद्याकथनम्

३,४,५. स्त्रीसंसर्ग म्हणजे आठ प्रकारचे मैथुन (कोणत्याही अवस्थेत स्त्रीचे स्मरण करणे, तिच्या रूपाचे व गुणांचे वर्णन करणे किंवा श्रृंगाररसप्रसाधन ग्रंथ वाचून स्त्रीसंबंधी चर्चा करून तिची स्मृती करणे, स्त्रियांबरोबर पत्ते, सोंगट्या इ.खेळणे, स्त्रियांकडे वाईट दृष्टीने पाहणे, स्त्रीबरोबर एकान्तात बोलणे, स्त्री प्राप्त व्हावी म्हणून व तिच्याशी संभोग व्हावा असा संकल्प करणे, हा संकल्प पूर्ण व्हावा म्हणून उपाय किंवा प्रयत्न करणे आणि स्त्रीशी संभोग करणे असे आठ प्रकारचे मैथुन शास्त्राने व विद्वानांनी सांगितले आहे.) उत्तम शय्या, मनोहर किंवा श्रेष्ठ

४०. जमिनीवर पालथे पडून दोन्ही पाय पसरून पाठीवर घ्यावे. या पायांना दोन्ही हातांनी धरावे व त्यानंतर डोके व तोंड उचलून धरावे. याला उष्ट्रासन म्हणतात.

४१. व ४२. जमिनीवर दोन्ही पायांच्या अंगठ्यापासून बेंबीपर्यंत भाग जमिनीवर ठेवावा हातांचे पंजे जमिनीवर टेकवून डोके वर उचलून नागाच्या फणीप्रमाणे वर उचलून धरावे. या आसनाच्या अभ्यासाने जठराग्नी प्रदीप्त होतो. (भूक वाढते) व सर्व रोगांचा नाश होतो. तसेच भुजगी देवी प्रसन्न होते. या भुजंगासन अभ्यासाचा हा उपयोग आहे.

४३. व ४४. दोन्ही गुडघ्यांवर (पद्मासनाप्रमाणे मांडीवर नव्हे) दोन्ही पाय उताणे ठेवून दोन्ही हात बैठकीच्या जागेवर जमिनीवर उत्ताणे ठेवणे. नंतर पूरक करून दृष्टी नाकाच्या शेंड्यावर स्थिर करावी. याला योगासन म्हणतात व योग्यांना योगसाधना करून घेण्यास याचा फार उपयोग होतो.

तृतीयोपुदेश

१.,२,३. महामुद्रा, नभोमुद्रा, उडीयान, जालन्धर, मूलबंध, महाबंध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्राणी, शक्तिधारिणी, ताडागी, मांडवी, शांभवी, पार्थिवी धारिणी, आम्भसीधारणा, वैश्वनरीधारणा, वायवीधारणा, नभोधारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी, भुजंगिनी याप्रमाणे सिद्धी देणारे आहेत.

४.,५. श्री. महादेव गौरीला सांगतात–(पार्वतीला) की, हे देवि मी तुला मुद्रा बंध यांची नावे सांगितली. याची नीट माहिती घेतली तर सर्व प्रकारच्या सिद्धीचा लाभ होतो. तथापि ह्याची माहिती कोणाला तरी सांगून चालणार नाही. कारण ज्यांनी निश्चय केला नाही त्यांना त्या जमणार नाहीत. योगी लोकांना परम प्रेम देणाऱ्या ह्या मुद्रा देवांना दुर्लभ आहेत.

६.७. गुदद्वाराला डाव्या पायाचा घोटा घट्ट चिकटवून ठेवून उजवा पाय समोर पसरून ठेवावा व पायाची बोटे दोन्ही हातांनी धरावी. हनुवटी गळ्याच्या खोबणीमध्ये बसविण्याचा प्रयत्न करून दोन्ही भुवयांच्या मध्ये दृष्टी ठेवावी. ह्या स्थितीला पंडीत लोक महामुद्रा म्हणतात.

८. महामुद्रेच्या विशेष अभ्यासामुळे खोकला, मूळव्याध, जीर्णज्वर ,प्लीहा यांचे सर्व प्रकारचे रोग दूर होतात.

९. ज्या ज्या ठिकाणी निरनिराळ्या कामात योग्याला राहावे लागेल. त्या त्या ठिकाणी जीभ वर करून कुंभक करीत राहिल्यास ह्या स्थितीला नभोमुद्रा म्हणतात व त्यामुळे योग्यांचे सर्व रोग नाश पावतात.

१०. उभे राहून किंवा पद्मासनावर बसून पोट मागे खेचावे. बेंबी वर ओढावी. सर्व भागात सारखाच ताण घ्यावा. बेंबीभोवतालचा भाग आत खेचला जातो. हवा वर ओढावी लागते. ह्याला उड्डीयान बंध म्हणतात. हा बंध हत्तीला सिंह त्याप्रमाणे मृत्यूला नामोहरम करतो.

११. सर्व बंधामध्ये उड्डीयान बंध विशेष चांगला व उपयुक्त आहे. उड्डीयान बंधाच्या नीट अभ्यासाने सहज रीतीने मुक्ती प्राप्त होते.

१२. पद्मासनावर बसून हात गुडघ्यावर ठेवून हनुवटी हृदयावर ठेवून बसावे. जालंधर बंध व महामुद्रा यांच्या अभ्यासामुळे मृत्यू दूर जातो.

१३. जालंधर बंध योगीजनांना सिद्धी प्राप्त करून देण्यासाठी अत्यंत उत्तम आहे. सहा महिनेपर्यंत सतत अभ्यास करणारा सिद्ध होतो यात शंका नाही.

१४.,१५. डाव्या पायाची टाच गुदद्वारावर घट्ट बसवावी. बेंबी पाठीच्या कण्यापर्यंत प्रयत्नपूर्वक आत ओढावी. उजव्या पायाच्या टाचेखाली जननेंद्रिय दाबून बसवावे व पुढे सरकून वर बसावे. या मुद्रेला मूलबंध म्हणतात. याच्या अभ्यासामुळे म्हातारपण येत नाही.

१६,१७. जे पुरूष संसारसागरातून तरून जाण्याची इच्छा ठेवतात त्यांनी दूर एकांतस्थानी जाऊन गुप्तपणे या मुद्रेचा अभ्यास करावा. या बंधाच्या अभ्यासाने प्राणवायूवर लवकर जय मिळविता येतो. आळसावर विजय मिळवून मूकभावाने प्रयत्न करावा हे इष्ट आहे.

१८. महाबंधाहून दुसरा बंध नाही की जो वृद्धपणा व मृत्यू यांचा नाश करील. ह्या बंधाच्या प्रसादाने सर्व इच्छित गोष्टी साधतात.

१९., २०. स्त्रीचे रूप, तारूण्य व सौंदर्य ज्याप्रमाणे पुरूषाशिवाय निष्फळ असते त्याप्रमाणे मूल बंध व महाबंध हे दोन्ही महावेध या क्रियेशिवाय निष्फळ असतात. (महाबंध म्हणजे एक पाय पसरून बसावे. दुसऱ्या पायाची टाच व तळवा पसरलेल्या पायाच्या जांघेत बसवावी व दोन्ही हातांनी पसरलेल्या पायाची बोटे पकडावी व समोर पहात बसावे) ह्या महाबंधामध्ये उड्डियान बंध करावा. कुंभकही करावा, या क्रियेस महावेध म्हणतात व हा योगीजनांना सिद्धि देणारा असतो.

२१, २२. जो योगी दररोज महाबंध, मूलबंध व महावेध यांचा अभ्यास नियमितपणे करतो तो योग जाणणाऱ्यात श्रेष्ठ ठरतो. त्याला मृत्यूचे भय नसते किंवा वृद्धपणही त्याला येत नाही. योगशास्त्रात श्रेष्ठ पुरूष हा प्रयत्न गुप्त ठेवतात व अभ्यास करतात.

२३,२४,२५.जीभेच्या खाली जोडलेला जो मांसल भाग जिभेला लागून असतो, तो अगदी थोडा थोडा कापावा, जीभ हलवणे–फिरवणे हेही करावे. तसेच रोज लोणी लावून जीभ लांब करण्याचा प्रयत्न करावा. लोखंडी चिमटा (योग्य प्रकारचा) घेऊन त्याने जीभ बाहेर ओढावी. याप्रमाणे रोज रोज करीत गेल्यास जिभेची बाहेर येण्याची लांबी वाढते व ही लांबी जिभेचे टोक भुवयांच्या मध्यभागी लागेल येथपर्यंत वाढवीत जावयाचे असते. जिभेचे टोक तेथे पोचू लागले म्हणजे खेचरी मुद्रा साधली जाते. त्यानंतर जिभेचा शेंडा तोंडात टाळूमध्ये असलेल्या छिद्रात शिरकावण्याचा प्रयत्न हळूहळू करावा. व या कपाल कुहरात (टाळूतील छिद्र) जीभ पोचवावी. व दृष्टी भुवयामध्ये स्थिर करावी. या स्थितीलाही खेचरी मुद्रा म्हणतात.

२६. जो साधक खेचरी मुद्रा साधून त्याचा अभ्यास करील त्याला मूर्च्छा, भूक, तहान, आळस यापैकी कशाचाही उपद्रव होत नाही. रोग, म्हातारपण किंवा मृत्यूपासून तो दूर राहून त्याला देवासारखा देह प्राप्त होतो.

२७.खेचरी मुद्रेच्या अभ्यासूला अग्नीपासून भय राहात नाही वायुपासून उपद्रव होत नाही, पाण्याचा त्रास होत नाही तसेच सापही दंश करू शकत नाही.

२८. बेंबीच्या मुळाशी सूर्य (सूर्यनाडी) असतो व तोंडातील टाळूच्या विवरात चंद्र (चंद्र नाडी) असतो. ज्यावेळी सूर्य आपल्या तेजाने चंद्राच्या स्थानी असलेले अमृत खेचून घेतो त्यावेळी माणसाचा मृत्यू ओढवतो.

२९. यासाठी सूर्यस्थान वर व चंद्रस्थान खाली अशी शरीराची स्थिती केली तर त्याला विपरीतकरी मुद्रा म्हणतात व याचे तंत्र गोपनीय असे आहे.

३०. दोन्ही हातांनी वेष्टन घालून डोके जमिनीवर टेकवून पाय वर व डोके खाली अशी स्थिती केली तर त्याला विपरीतकरणी मुद्रा म्हणतात (यालाच आसनाभ्यासात शीर्षासन म्हणतात.)

३१. जो मनुष्य या मुद्रेचा रोज अभ्यास करील त्याला वृद्धपणा या मृत्यूचे भय राहाणार नाही. सर्व लोकांमध्ये सिद्ध पुरूष राहून प्रलय काळातही त्याला भय राहाणार नाही.

३२–३७. सिद्धासनावर बसावे, षण्मुखी मुद्रेची स्थिती (हाताच्या दोन अंगठ्यांनी दोन कानावर दाबावे, दोन तर्जनीद्वारे दोन्ही डोळ्यांवर दाब द्यावा. दोन्ही मधल्या बोटांनी नाकपुड्यावर दाब द्यावा. व अनामिका–करंगळी यांनी दोन्ही ओठांवर दाब द्यावा) अशा या स्थितीत प्राणवायू पूरक करून त्यामध्ये अपान वायू मिळवून शरीरातील सहा चक्रे (स्वाधिष्ठान, मूलाधार, अनाहत, विशुद्ध, ज्ञान,सहस्त्रार) समोर घेऊन त्यावर ध्यान करावे. त्यावेळी हुं व हंस ह्या दोन मंत्रांच्या साहाय्याने गुप्त कुंडलिनी (भुजंगिनी) देवीला जागृत करावे व तिला सहस्त्रार चक्रापर्यंत पोचवून विचार करावा की, मी स्वतः शक्तिमान होत आहे–शिवाशी होणाऱ्या संगमाने मला सर्व प्रकारची सुखे प्राप्त झाली असून परम सुखाचा विचार मला सुचतो. कल्याणकारी अशा शिवशक्तीशी सहवास एकान्तामध्ये मला होत आहे. मी स्वतः आनंदमय होऊन ब्रह्मपदाप्रत पोचत आहे.

या स्थितीस योनिमुद्रा म्हणतात व ही गुप्त ठेवण्यासारखी देवांना दुर्लभ अशी स्थिती आहे. ही मुद्रा एक दिवस जरी केली तरी योग्य तो लाभ होऊन अभ्यासू केवळ समाधी स्थितीत पोचतो.

३८.,३९. योनिमुद्रा करणाऱ्या योग्याला ब्रह्महत्या, बालहत्या, मद्य पिणे, गुरूपत्नी संभोग ह्या पापांचा उपद्रव होत नाही. जी जी पापे महाभयंकर आहेत किंवा तत्सम अन्य पापांचाही नाश योनिमुद्रेच्या अभ्यासाने होऊ शकतो यासाठी जे मुक्तीची इच्छा करतात त्यांनी योनिमुद्रेचा अभ्यास करावा.

४०. दोन्ही हातांचे तळवे जमिनीवर ठेवून दोन्ही पाय वर उचलून धरावे. दोन्ही हातावर सर्व शरीर तोलावे. या क्रियेस वज्रोणी मुद्रा म्हणतात. शारीरिक ताकद येण्यासाठी व दीर्घायुष्यासाठी वज्रोणी मुद्रा उपयोगी आहे.

४१.,४२,४३. वज्रोणी मुद्रेच्या अभ्यासाचा योग हा श्रेष्ठ आचार असून योगी जनांना मुक्ती देणारा आहे. हा हितकारक योग योगी लोकांना सिद्धी देणारा आहे. या योगाच्या अभ्यासामुळे बिन्दुसिद्धी म्हणजे वीर्यनियंत्रण लौकर प्राप्त होते. महाप्रयत्नपूर्वक बिंदुसिद्धी ज्याला जमली त्याला भूतलावर काय साधणार नाही? जरी या मुद्रेचा अभ्यास सर्वप्रकारची सुखे भोगलेल्या माणसाने केला तर त्यालाही सिद्धी प्राप्त होतील.

४४.,४५. मूलाधार चक्रामध्ये आत्मशक्तीरूप कुंडलिनी सर्पाकार साडेतीन हात लांब अशी झोपलेल्या अवस्थेत असते. जेथपर्यंत ती झोपलेल्या अवस्थेत असते तेथपर्यंत ती पशुवत

प्राणीच असते. अज्ञानरूप बंधन तेथपर्यंत कायम राहते की जेथपर्यंत कुंडलिनी झोपलेली राहते. कोटीप्रकारचे योग करूनही ज्ञान प्राप्त होत नाही. या प्रयोगास शक्तिचालन मुद्रा विधी म्हणतात.

४६. ज्याप्रमाणे बंद कपाटाचे कुलुप किल्लीने उघडले जाते त्याप्रमाणे ह्या योगामुळे कुंडलिनीची जागृती होऊन ब्रह्मज्ञानाचे भांडार खुले होते.

४७. शक्तिचालन मुद्राविधीचा प्रयोग कमरेभोवती गुंडाळलेल्या एका वस्त्रासह करणे इष्ट आहे.बाहेर नग्न अवस्थेत करणे योग्य नसते म्हणून गुप्त जागी राहून हा प्रयोग करावा.

४८.या अभ्यासासाठी मृदुल (मऊ) पांढरा, तलम असे एक वीत लांब रूंद कापड चार बोटाची पट्टी कंबरेच्यावर नाभिप्रदेशावर गुंडाळावी. याप्रमाणे कमरेच्या वस्त्राची योजना करावी.

४९.,५०. सर्वांगाला भस्म लावावे व सिद्धासनात बसावे. नाकाने प्राण वायूने पूरक करून तो बलपूर्वक अपान वायूत पोचवावा. जोपर्यंत दोन्ही वायू सुषुम्नानाडीमध्ये प्रवेश करीत नाहीत. (कटीपर्यंत) अश्विनी मुद्रा करून गुदाप्रदेश खेचून धरावा.

५१. अशाप्रकारच्या प्रयत्नाने वायूच्या नियंत्रणाने कुंडलिनी-भुजंगिनी कुंभिका रोकलेल्या श्वासामुळे वर दिशेला प्रवृत्त होऊन सहस्त्रार कमला पर्यंत पोचते.

५२. शक्ती चालन अभ्यासाशिवाय योनिमुद्रा सिद्ध होऊ शकत नाही त्यासाठी प्रथम शक्ती चालनाच्या नियमित अभ्यासानंतर योनिमुद्रेचा अभ्यास करावा.

५३. घेरण्डऋषी म्हणतात, हे चण्डकपाले हा शक्तिचालन प्रयोग मी सांगितला, तो गुप्त पद्धतीने रोजरोज प्रयत्नपूर्वक अभ्यासात ठेवावा.

५४. अशी ही परमगोपनीय मुद्रा वृद्धपणा व मृत्यूचा नाश करणारी आहे. म्हणून सिद्धीची इच्छा असणाऱ्या योगीजनांनी त्याचा नित्य अभ्यास करावा.

५५. जो योगी नेहमी योनिमुद्रेचा अभ्यास करतो त्याला सिद्धी प्राप्त करणे म्हणजे हातातील सोपी गोष्ट होते. त्याची ग्रहणशक्ती, काम पुरे करण्याची तत्परता वाढीला लागून रोगांचाही नाश होतो.

५६. पाठीवर उताणे पडून पोटाला तलावाप्रमाणे समजून पाणी हालवावे. कुंभक कारावा. या मुद्रेला तडागी मुद्रा म्हणतात. म्हातारपण व मृत्यूचा नाश करणारी अशी ही मुद्रा आहे.

५७. तोंड पोकळ करून जीभेचे टोक टाळूजवळच्या छिद्राजवळ फिरवीत राहावे. यामुळे मस्तकातील सहस्त्रार कमळातून अमृतरस हळूहळू झिरपू लागेल. या क्रियेस मांडूकी मुद्रा म्हणतात.

५८. जो नित्य अभ्यासात मांडुकी मुद्रा ठेवतो त्याच्या शरीरावर सुरकुत्या वा पांढरेपणा येत नाही व त्यामुळे चिरतारूण्याचा लाभ होऊन त्याचे केस पांढरे होत नाहीत.

५९. बैठ्या आसनावर बसून दोन्ही भुवयांचे मध्यभागी दोन्ही डोळ्यांची नजर स्थिर करून आपल्या अंतःकरणातील परमात्मा ध्यानी आणावा. या क्रियेस शांभवी मुद्रा म्हणतात व याचे तंत्र सर्व तंत्रात अतिशय गुप्त स्वरूपाचे आहे.

६०. चार वेद, सहा शास्त्रे, अठरा पुराणे ही सर्व सामान्य स्त्रीप्रमाणे कोणालाही परिचयात येतात. कोणापासून गुप्त राहात नाहीत परंतु शांभवी मुद्रा मात्र कुलीन घरंदाज स्त्रीप्रमाणे विशेषतः अन्य माणसांच्या दृष्टीस पडत नाही.

६१. जो मनुष्य शांभवी मुद्रा जाणतो तो प्रत्यक्ष आदिनाथ, स्वतः सूर्यनारायणासमान इतकेच नव्हे, तर तो सृष्टी निर्माणकर्ता ब्रह्मदेव असतो.

६२. पुन्हा पुन्हा अगदी खरे खरे म्हणून हे सांगितले आहे की जो शांभवीमुद्रा जाणतो तो महेश्वर किंवा ब्रह्मदेवच समजावा. तो दुसरा कोणी नसतो.

६३. घेरण्ड महाराज म्हणतात, शांभवी मुद्रेच्या माहितीनंतर आता पाच धारणांची माहिती सांगतो ती ऐका. या धारणांचे ज्ञान व त्यांचा अभ्यास झाल्यास या पृथ्वीतलावर हवी ती गोष्ट प्राप्त करता येईल.

६४. या पंचधारणा मुद्रा म्हणजे पार्थिवी, आंभसी, वायवी, आग्नेयी, आकाशी ह्या होत. यांच्या अभ्यासाने मनुष्य देहासह स्वर्गात जाणे येणे करतो. अभ्यासकाला मनोगती व आकाशगमनाची शक्ती प्राप्त होते.

६५. या पृथ्वीचे (भूतलाचे) तत्त्वा प्रमाणे पिवळे आहे, बीज लकार स्वरूप चौकोनी (वेदास्त्र–चतुरस्त्र) आहे, निर्माणकर्ता कमलांसनस्थ ब्रह्मदेव आहे ही भावना ह्दयात धारण करून प्राणवायु पूरकाद्वारे, सेवन करून पाच घटका – दोन तास– कुंभक करून बसावे. या क्रियेस पार्थिवी धारणा म्हणतात. याच्या अभ्यासाने पृथ्वीतत्त्वावर विजय प्राप्त होतो यासाठी ही अधोधारणा (पार्थिवी धारणा) करावी. यामुळे धारणा कर्त्याला विघ्नाची बाधा होत नाही.

६६. जो मनुष्य नेहमी रोज पार्थिवीधारणा मुद्रा करतो तो मृत्युंजय होतो. व पृथ्वीतलावर सिद्ध पुरूष म्हणून वावरतो.

६७. जलतत्त्वाचा (पाण्याचे तत्त्व) वर्ण शंख, चंद्राप्रमाणे स्वच्छ निर्मल – कुन्द फुलाप्रमाणे उज्वल व अमृतमय आहे. याचे बीज व कार असून तेथे नेहमी श्रीविष्णूची वसती असते. योगन्यासाच्या साहाय्याने वरील गोष्टीचे ध्यान करावे व प्राणवायूचे सेवन करून कुंभकाद्वारे पाच घडी (दोन तास) चित्त स्थिर करून बसावे. या क्रियेस आंभसी धारणामुद्रा म्हणतात. याच्या अभ्यासाने असह्य असा त्रास सहन करता येतो व अनेक पापांचा नाश होतो.

६८. जो मनुष्य ही आम्भसी मुद्रा जाणतो तो योगज्ञानी असतो. त्याला पाण्यापासून येणारे भयानक मरण येत नाही. पाण्यापासून मरणाचे भय राहात नाही.

६९. ही मुद्रा श्रेष्ठ प्रकारची असून यत्नपूर्वक ती गुप्त ठेवली पाहिजे. काळजीपूर्वक अभ्यास करून योग्य माणसालाच उपदेशिली पाहिजे. जर ती अयोग्य रीतीने प्रकट केली तर सिद्धीची हानी होते. ही मी तत्त्वशुद्ध रीतीने खरी गोष्ट सांगत आहे.

७०. अग्नितत्त्वाचे स्थान बेंबीपाशी आहे. बीज इंद्रगोपा प्रमाणे पावसाळ्यात पुंजक्या पुंजक्याने दिसणारे किड्याप्रमाणे लाल आहे. आकार त्रिकोणाकृती आहे व या तत्त्वाची देवता रूद्र (श्रीशंकर) आहे. हे तत्त्व तेजःपुंज असून सिद्धिदायक आहे. या तत्त्वाच्या रूपाचे ध्यान करून चित्त एकाग्र करून प्राणवायू कुंभकावस्थेत पाच घडी (दोन तास) धारण करून बसावे. ती जीवनातील भय नष्ट करून मृत्यूला दूर ठेवणारी धारणा म्हणजे वैश्वानरी धारणा – अग्नेयी मुद्रा होय.

७१. जो अग्नेयी मुद्रेचा अभ्यासू धगधगत्या अग्नीमध्ये पडला तरी आग्नेयीमुद्रेच्या प्रसादाने तो जिवंत राहील. मृत्यू त्याच्या वाट्याला येणार नाही.

७२. वायुतत्त्वाचा रंग अंजनासारखा म्हणजे धुराप्रमाणे आहे. त्याचे बीज यकार आहे व वायुतत्त्व सत्त्वगुण संपन्न असून ईश्वर त्याची देवता आहे. योगाच्या अभ्यासकाने या तत्त्वाचे चिंतन करून प्राणवायू पूरकाद्वारे खेचून घेऊन तो देहामध्ये पाच घडी (दोन तास) रोकून ठेवावा. या क्रियेचे नाव वायवीमुद्रा आहे. या मुद्रेचा अभ्यास करणाऱ्या योग्यास आकाशगमन करता येते.

७३. ही मुद्रा अत्यंत श्रेष्ठ आहे व त्याच्या अभ्यासाने वृद्धपण व मृत्यू येत नाहीत, वायूचे भय नष्ट होऊन आकाशात जाण्याची शक्ती त्यामुळे प्राप्त होते.

७४. घेरण्ड महाराज म्हणतात की, मूर्ख वा श्रद्धाहीन माणसाला ही मुद्रा शिकवू नये. शिकविल्यास त्याला सिद्धी मिळत नाही. हे चंडकपाले, ही गोष्ट मी तुला खरी तीच सांगत आहे.
७५. आकाशतत्त्वाचा रंग समुद्राच्या शुद्ध पाण्याप्रमाणे असून सदाशिव ही त्याची देवता आहे. ह कार हे त्याचे बीज आहे. योगाभ्यासातून प्रवृत्त होऊन आकाशतत्त्वाचे योग्य असे चिंतन करावे व नंतर प्राणवायू कुंभकाद्वारे पाच घडी (२ तास) चित्तामध्ये राहू द्यावा. या क्रियेस आकाशी धारणा मुद्रा म्हणतात. यामुळे मोक्षाचे द्वार खुले करणारी नभोधारणा सिद्ध होते.
७६. आकाशी धारणा मुद्रा जो जाणतो तो खरा योगी पुरूष असतो. मृत्यूचा घाला त्याचेवर येत नाही व प्रलयाकाळीही तो स्थिर स्थितीत राहतो.
७७. बैठ्या आसनावर बसून गुदद्वार आकुंचन करावे व फुलवावे ही क्रिया पुनः पुनः करावी . या क्रियेस अश्विनी मुद्रा म्हणतात. ह्या क्रियेमुळे शरीरात शक्तीचा संचार होतो.
७८. ही अश्विनी मुद्रा श्रेष्ठ प्रकारची असून गुदद्वाराचे सर्व प्रकारचे रोग नष्ट करणारी आहे. बल देऊन शरीरास पुष्टी देणारी तसेच अकाली मृत्यू टाळणारी आहे.
७९. दोन्ही पाय गळ्याचे मागे म्हणजे मानेवर टाकून घट्ट आवळून धरावे. या मुद्रेच्या अभ्यासाने शक्ती वाढीला लागते.
८०. पाशिनी ही एक महत्त्वाची मुद्रा असून शरीराला बल व पुष्टी देते. सिद्धीची इच्छा ठेवणा–या साधकानी प्रयत्नपूर्वक साध्य करून घ्यावी.
८१. व ८२. कावळ्याच्या चोचीप्रमाणे तोंड करून प्राणवायू हळू हळू ओढावा –प्यावा–या क्रियेस काकीमुद्रा म्हणतात. यामुळे सर्व रोग नष्ट होतात.
ही मुद्रा एक विशेष असून ती करण्याचे तंत्र गोपनीय आहे. या मुद्रेच्या प्रसादाने कावळ्याप्रमाणे अभ्यास निरोगी बनतो (कावळा कधी आजारी पडत नाही व त्याचे आयुष्य दीर्घ असते अशी माहिती जाणकार देतात)
८३.,८४. गळ्यापर्यंत पाण्यात उभे राहून नाकाने पाणी ओढावे. व तोंडातून ते सोडावे. पुनः तोंडाने पाणी ओढून नाकातून बाहेर टाकावे. ह्या क्रियेस मातंगिनी मुद्रा म्हणतात. ही एक विशेष मुद्रा असून वृद्धपणा व मृत्यू यांना दूर ठेवते.
८५. साधक जर मनुष्यवस्ती नसलेल्या ठिकाणी राहून एकाग्रचित्त करून मातंगिनी मुद्रेचा अभ्यास करील तर तो हत्तीप्रमाणे बलवान होईल.

८६. या मुद्रेचा अभ्यास करणारा योगी जेथे जेथे असेल तेथे त्याला अत्यंत सुखाचा लाभ होतो. यासाठी सर्व प्रकारचे प्रयत्न करून विशेष मुद्रांचा अभ्यास करीत राहावा.

८७. तोंड जास्त प्रमाणात उघडून प्राणवायू गळ्यातून घशातून प्यावा व तोंड एकदम मिटावे. असे पुनः पुन्हा करावे. या क्रियेस भुजंगिनी मुद्रा म्हणतात. ही वृद्धपणा व मृत्यू यांना अभ्यासू पासून दूर ठेवते.

८८. जेथे भुजंगिनी मुद्रेचा अभ्यास होतो त्या साधकाचे पोटातील अजीर्णादी सर्व रोग लवकर नाहीसे होतात.

८९. घेरण्डऋषी म्हणतात, हे चंडकपाली, मी अशा ह्या अनेक मुद्रा सांगितल्या. ह्या सर्व, सर्व सिद्धी प्राप्त करणाऱ्या मंडळींना प्रिय असून वृद्धपण व मरण यांचा त्यामुळे नाश होतो.

९०. ह्या मुद्रा मूर्ख व श्रद्धाहीन अशापैकी कोणालाही सांगू नयेत. देवांनाही दुर्लभ अशा ह्या मुद्रा प्रयत्नपूर्वक जपून केल्या पाहिजेत.

९१. ह्या मुद्रांमुळे सर्व प्रकारचे भोग भोगता येतात. मुक्ती मिळते यासाठी शांत चित्ताच्या, गुरूभक्ती करणाऱ्या, चांगल्या कुळामधील मंडळींना. ह्या मुद्रा सांगाव्या.

९२. ह्या विविध मुद्रांच्या अभ्यासाने सर्व रोगाचा परिहार होतो. नेहमी अभ्यास करणा–या मनुष्याची भूक वाढते व पचनक्रियाही चांगली होते.

९३. जो मनुष्य नेहमी मुद्रांचा अभ्यास करील त्याला मृत्यू नाही व वृद्धपण नाही. तो नेहमी तरूण राहतो. त्याला अग्नी वा पाण्याचेही भय नसते, मग वाऱ्यापासून भय येणार कोठून?

९४. ह्या मुद्रांच्या अभ्यासामुळे खेकला, दमा, प्लीहारोग, कोड, कफरोग (वीस प्रकारचे) रोग नष्ट होतात यात शंका बाळगू नये.

९५. हे चंडकपाली, फार काय सांगावे? सार असे की, ह्या जगतीतलावर सिद्धी प्राप्त करून देणारे साधन ह्या मुद्रांच्या अभ्यासासारखे दुसरे कोणतेच नाही.!

चतुर्थोपदेश

१. घेरण्ड ऋषी म्हणतात, आता मी तुम्हाला प्रत्याहार ह्या उत्तम योगाची माहिती सांगतो. ह्या प्रत्याहाराच्या ज्ञानाने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर या शत्रूंचा नाश होतो.

को उस ब्रह्म पद के दर्शन होने लगते हैं, जिस पद पर पहुँच कर आत्मा का धराधाम में पुनः आगमन नहीं होता।

जो स्थिरचित्त साधक रेचक और पूरक प्राणायाम को छोड़कर 'केवलकुम्भक' प्राणायाम करता है, वह कभी बीमार और बूढ़ा नहीं होता। वह सदैव कामदेव के समान सुन्दर और जवान बना रहता है।

केवलकुम्भक प्राणायाम में सिद्ध साधक के लिए संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं होता। अणिमा आदि सिद्धियाँ उसके लिए हाथ में रखे हुए फल की तरह सहज उपलब्ध होती हैं और उसे मृत्यु का भी कोई भय नहीं होता।।३०-३३।।

राजदन्तयुगलादिमस्पृशन् सन्निधाप्य रसनां तदन्तिके।
काकचंचुपुटमारुतं पिबेत् प्राणसंयमनमेतदुत्तमम् ।।३४।।

राजदन्तेति। राजदन्तयुगलद्वयस्यादिमस्पृशन् तेषाम् अन्तिके समीपे जिह्वां सन्निधाप्य काकचंचुपुटेन वायुं पिबेत्। काकचंचुपुटवन्मुखं कृत्वा पिबेदित्यर्थः। मध्यभूतदन्तचतुष्टयं राजदन्ताः, एतदुत्कृष्टं वायोर्नियमनमिति।।३४।।

सामने की ओर दन्तपंक्ति में जो चार दाँत होते हैं, उन्हें 'राजदन्त' कहा जाता है। जिह्वा को कौवे की चोंच की तरह सिकोड़ कर और उसके अग्रभाग को राजदन्त की जड़ में दबाकर वायु का पान करना (अर्थात् वायु को खींचना) उत्तम प्राणायाम कहलाता है।।३४।।

द्विकचंचुसमीरकं शनैर्धयतः सम्परिकृत्य सन्ध्ययोः।
श्रमदाहगरोदरामयज्वरगुल्माः प्रथमं प्रयान्ति च ।।३५।।

द्विकेति। द्विकचंचुभ्यां समीरणं वायुं धयतः पिबतः। धेट् पा पाने। द्वाभ्यां ककाराभ्यां लक्षितो द्विकः काकः श्रमदाहं गरो विषम् उदरामयम् उदररोगः ज्वरः गुल्म इत्याद्याः प्रशमं प्रयान्ति।।३५।।

इन श्लोकों में काकचञ्चु मुद्रा से वायुपान-पूर्वक 'केवलकुम्भक' प्राणायाम करने से होने वाले लाभों का वर्णन किया गया है। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल में काकचञ्चु मुद्रा से वायुपान करता है, उसके उदर-रोग, गुल्म रोग और ज्वर का शमन हो जाता है। शारीरिक परिश्रम से आई थकावट तथा जलन समाप्त हो जाती है।।३५।।

उभयोरपि सन्ध्ययोर्मुहूर्त्ते पिकधातुर्धयतस्त्रिमासमात्रम्।
सरसं द्विकचंचुगन्धवाहं भुवि सारस्वतसिद्धिरुत्तमा स्यात् ।।३६।।

उभयोरिति। उभयोः प्रातः सायं सन्ध्ययोर्मुहूर्त्ते दण्डद्वयं यावत् प्रहरत्रयमात्रं वा कं श्मश्रुं तस्य धातुः धर्त्तुः पुंसः काकचंचुपुटमारुतं पिबतः सारस्वतसिद्धिर्भवति सन्ध्यामुहूर्त्तमात्रं प्रहरत्रयं वेति व्यवस्थितविकल्पार्थः।।३६।।

तीन महीनों तक प्रतिदिन दोनों संध्याओं में नियमित रूप से दो मुहूर्त्त (अर्थात् ४८ मिनट)-पर्यन्त उपर्युक्त विधि से वायुपान करने से सारस्वत-सिद्धि मिलती है।।३६।।

विषमुग्रमुदग्रवीर्यभाजां प्रविनाशं समुपैति पन्नगानाम्।
किमु वृश्चिककीटलूतकानामिह काकोलमुखानिलस्य पानात् ॥३७॥

द्विकचञ्चुसमीरगं नरः सरसं यः परिकृष्य सन्ध्ययोः।
कुरुते निजकुण्डलीमुखे क्षयरोगं स विमुच्य जीवति ॥३८॥

द्विकचंचुसमीरणं नरो यः पिबतीहानिशमेव वीततन्त्रः।
भवति ध्रुवमेव तस्य वर्षाच्छ्रवणं दर्शनमप्यतीव दूरात् ॥३९॥

बहुधा कथितैर्मुहुः किमेभिर्द्विकचञ्चवा तु समीरणस्य पानात्।
जरसा सह नाशमाशु याति प्रबलं मृत्युकृतं भयं नराणाम् ॥४०॥

विषमिति। काकोलः त्रयं सुगमम् ।।३७-४०।।

मकड़ी-सहित छोटे-मोटे कीड़ों तथा बिच्छू आदि के जहर की तो बात ही क्या; काकचञ्चु मुद्रा से वायुपान करने वाले मनुष्यों पर सर्प आदि के तीक्ष्ण और उग्र विष का भी प्रभाव नहीं होता।

जो मनुष्य दोनों संध्याओं में काकचञ्चु मुद्रा से शुद्ध वायु का आकर्षण करके उसे अपनी कुण्डलिनी के मुख से नियोजित करता है, वह क्षयरोग को जीतकर जीवित रहता है।

काकचञ्चु मुद्रा से वायु-सेवन करने वाले मनुष्य की इन्द्रियाँ वृद्धावस्था में भी शिथिल नहीं होतीं। वह बुढ़ापे में भी दूर की चीजों को साफ-साफ देख सकता है और दूर की आवाज़ को भी साफ-साफ सुन सकता है।

इस विधि से वायु-सेवन के अनेकानेक लाभ हैं। मुद्दे की बात यह है कि ऐसा मनुष्य बुढ़ापे को जीतकर आजीवन स्वस्थ रहता है और उसे असमय मृत्यु का भय नहीं होता।।३७-४०।।

विमर्श—काकोल अर्थात् पहाड़ी कौवा। 'काकोलमुख अनिलपान' का अर्थ हुआ—कौवे के मुख अर्थात् चोंच की तरह मुख बनाकर शुद्ध स्वच्छ वायु का पान करता।

क्षयरोग तपेदिक या टी.बी. को कहते हैं, मगर यहाँ क्षयरोग का तात्पर्य आयु बढ़ने के साथ-साथ शरीर में होने वाले क्षरण से है। इस क्रिया से शरीर में स्वाभाविक रूप से होने वाला क्षरण या ह्रास रुक जाता है, जिसके फलस्वरूप दीर्घ जीवन की प्राप्ति होती है।।

जिह्वां कृत्वाऽनाकुलस्तालुमूले दन्तैर्दन्तान् गाढमापीडयित्वा ।
मन्दं मन्दं यः पिबेद्गन्धवाहं सौधैः पूरैः साकमन्तः स्पृशद्भिः।।४१।।

षण्मासाभ्यासेन रोगैरशेषैः पातेभ्योऽसौ मुच्यते साधकेन्द्रः।
अब्दादेकाद्विश्रसां मृत्युदूतीं जित्वा भूमौ दीर्घकालं स जीवेत् ।।४२।।

वर्षत्रयाभ्यासवशादतीतमनागतं वेत्त्यलिनीलकेशः।
विषं न देहे क्रमते तदीये दष्टे सुघोरैरपि पन्नगेन्द्रैः।।४३।।

न कृत्रिमं स्थावरजङ्गमं वा विषं किमन्यैरपि कालकूटैः।
गुणाष्टकं कालवशादुपेत्य महीतले क्रीडति भैरवो वा।।४४।।

जिह्वामिति। तालुप्रदेशे जिह्वां योजयित्वा उपरिस्थदन्तपङ्क्त्याऽधो दन्तावलि आपीड्य सौधैः पूर्वमुखावस्थितैः सह गन्धवाहं वायुं पिबेत्। अन्यत् सुगमम्। प्रकारान्तरमाह—जिह्वामिति। सौधैर्मुखान्तर्गतरसैः विस्रसां जरां कृत्रिमविषं नारिकेलमिश्रितकर्पूरं स्थावरं हिमशैलजादिकं जङ्गमं पार्वतीयं व्याघ्रनाभिजन्यं गुणाष्टकम्। अष्टसिद्धिर्भैरवावतारार्थे वाशब्दः।।४१-४४।।

ऊपर और नीचे की दन्तपंक्तियों को परस्पर बलपूर्वक जोड़कर जीभ को उलट कर तालुमूल से जोड़ दें। मुख को ऊपर उठाकर धीरे-धीरे वायुपान करें अथवा सहस्रार से झरने वाले रस का धीरे-धीरे पान करें। छः महीने तक इसका नियमित रूप से अभ्यास करने से साधक सभी रोगों से मुक्त हो जाता है। एक वर्ष तक अभ्यास करने से मृत्यु को जीतकर दीर्घजीवी होता है। तीन वर्षों तक लगातार नियमित रूप से अभ्यास करने वाले साधक पर सर्पदंश-सहित किसी भी प्रकार के स्थावर-जंगम या कृत्रिम विष का कोई प्रभाव नहीं होता। आगत और अनागत अर्थात् भूत और भविष्य का जानकार वह साधक भैरव के समान हो जाता है।।४१-४४।।

या मुण्डाधारदण्डान्तरविवरगताहारनीहारगौरी
सौधीं धारां नभोऽम्भोरुहकुहरविधोः संस्रवन्तीं वहन्ती।
तस्या वज्राख्यनाड्याः खगमुदरदरीमध्यगं या विदध्यात्
तस्या ब्रह्माण्डभाण्डप्रलयमपघनं स्याद्घनं मृत्युमृत्योः।।४५।।

या मुण्डेति। सुषुम्नान्तर्गताया वज्राख्यनाड्या उदरमेव दरी कन्दरा तन्मध्यवर्त्तिनं खगं वायुं यो विधानं करोति तस्य पवनं शरीरं मृत्युमृत्योर्घनं मुद्गरं भवति। मृत्युर्यमः तस्य मृत्युर्नाशकः तस्य लोहमुद्गरो भवति। घनः स्याल्लोहमुद्गर इत्यमरः। सा का मुण्डाधारदण्डान्तरविवरगर्त्ता मुण्डस्याधारभूतो दण्डः पृष्ठवंशात्मकः तदन्तर्गतसुषुम्ना तन्मध्यवर्त्तिनमित्यर्थः। कीदृशाहवे हिमवच्छुभ्रामृतधारां वहन्ती धारयन्ती आकाशदेशावस्थितपद्माभ्यन्तरवर्त्तिनो विधोश्चन्द्रस्य क्षरन्तीम्। तथाच यः सुषुम्नान्तर्गतवायुं निरोधयति तस्य मरणं न भवतीत्यर्थः।।४५।।

मुण्ड अर्थात् सिर के आधारस्वरूप मेरुदण्ड की मध्यवर्त्तिनी एवं सहस्रदल कमल के आकाश में स्थित चन्द्रमा से टपकने वाली सुधाधारा का वहन करने वाली सुषुम्णा नाड़ी की अन्तर्वर्तनी 'वज्रा' नामक नाड़ी में जो साधक पवन (श्वास) का निरोध करता है, उसका शरीर यमराज के प्राणनाशक लौहमुद्गर की तरह दृढ़ और अनश्वर हो जाता है।।४५।।

मूर्च्छां गतो हरति रोगसमूहमध्या-
द्बद्धः करोति गगने गमनं नराणाम्।
वातो मृतो वितनुतेऽमरतां समस्त-
मभ्यासतः सुलभमेव समीरणस्य ।।४६।।

मूर्च्छामिति। मूर्च्छा निश्चेष्टत्वे सति इति यावत्। अद्धा तत्त्वेन रोगसंघातं निवारयति। बद्धः सन् नाद्यन्तरे निरुद्धः आयत्तः सन् मनुष्याणाम् आकाशगमनं निराधारसंचारं करोति मृतः मनसा सह याति स्वाभीष्टदेशं तथा विलीनः अमरताम् अमरणं नयति। तथाच—

मूर्च्छितो हरति व्याधिं निहन्यान्मरणं मृतः।
बद्धः खेचरतां कुर्यात् वशो वायुश्च भैरवि ।।४६।।

इस प्रकार वायु-सेवन का नित्यप्रति नियमित रूप से अभ्यास करने से शरीर के सभी रोगों का नाश हो जाता है, आकाश में निराधार विचरण करने की क्षमता तथा साधक को अजरता और अमरता की प्राप्ति होती है।।४६।।

अथ पार्ष्णिनिरुद्धकम्बुर्ना ध्वजमूलस्थितसव्यपादपार्ष्णिः।
ऋजुकायशिरोधरो यतात्मा विषयेभ्यो विनिवर्त्तितेन्द्रियाश्वः ।।४७।।

प्रकारान्तरमाह—**अथेति**। ना पुरुषः स्वीयमानसं कमलजन्मनो ब्रह्मणो निलये आधारकमलेऽवस्थापयेत्। कीदृक् पार्ष्णिना एकपादगुल्फेन निरुद्धः कम्बुनिरुद्धः कम्बुनिरुद्धगुदमार्गो येन सः ध्वजमूले लिङ्गमूलेऽवस्थापिता अपरपादपार्ष्णिर्येन सः। ऋजुकायः अवक्रशरीरः। यतात्मा इन्द्रियमेव दुर्द्धरत्वादश्व इवाश्वः।।४७।।

बुद्धिमान साधक एक पैर की एँडी से गुदाद्वार को तथा दूसरे पैर की एँडी से लिंग-मूल को दबाकर आसन लगाकर बैठ जाय। घोड़े की तरह गुदाद्वार को ऊपर की ओर खींचकर बन्द कर ले। शरीर को सीधा और तना हुआ रखे।।४७।।

काकीचञ्चवग्रहष्टैर्मुहुरुदरदरीं पूरयित्वा समीरै-
रङ्गुष्ठाभ्यामुभाभ्यां नररिपुविवरे तर्जनीभ्यां च नेत्रे।
नासारन्ध्रं निरुध्य स्थिरविमलमतिर्मध्यमाभ्यामथास्य-
मन्याभिर्नातिगाढं कमलजनिलये स्थापयेन्मानसं खम् ।।४८।।

यथाशक्त्याभ्यासं प्रतिदिवसमेवं विदधतः
सुषुम्नान्तश्चायं प्रचरति शनैर्देहपवनः ।
तदा नादो नैजो भवति सहसानन्दजननः
क्रमाद्वीणावादिप्रहतमृदुवीणारवशयः ॥४९॥

आदौ मत्तालिमालागलपथविगलत्तारझङ्कारहारी
नादोऽसौ वंशिकांस्यानिलभरितलसद्वंशनिस्वानतुल्यः ।
घण्टानादानुकारी तदनु जलनिधिर्ध्वानधीरो गभीरो
गर्जं पर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्त्तते ब्रह्मनाड्याः ॥५०॥

विजिते भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य समुत्थितप्रणादः ।
अणिमादिगुणा भवन्ति तस्यामितपुण्यस्य महासुखास्पदस्य ॥५१॥

काकीति। काकवधूमुखेनाकृष्टैर्वायुभिरुदरदरीं पूरयित्वा करद्वयस्यांगुष्ठाभ्यां नररिपुविवरे वक्ष्यमाणं नरो अर्जुनः तस्य रिपुः कर्णः कर्णविवर इत्यर्थः। तर्जनीद्वयेन नेत्रद्वयं मध्यमाभ्याम् अंगुलीभ्यां नासापुटं निरुध्य अन्याभिश्चतुर्भिर्मुखं निरुध्य।

यथेति। एवमनेन कथितप्रकारेण प्रतिदिनमभ्यसतः पुंसः सुषुम्नाभ्यन्तरे अयं वायुः संचरति यदि तदा सततानन्दजनको ब्रह्मप्रदो नाद उत्पद्यते क्रमेण पुनर्वीणासमरवो भवति वीणावादिप्रकृतत्वेनातिशयमधुरध्वनिरिति। द्वयं सुगमम्।।४८-५१।।

ओठों को कौवे की चोंच की तरह सिकोड़ कर धीरे-धीरे वायु खींचे। इस वायु को फेफड़े और पेट में भर लें। दोनों अंगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, दोनों मध्यमाओं से दोनों नासापुटों को और शेष चार अंगुलियों से दोनों ओठों को ऊपर-नीचे से दबाकर बन्द कर लें। इस क्रिया से शरीर के भीतर की वायु सम्पीड़ित (compressed) हो जाती है। मन को मूलाधार में नियोजित करके (केन्द्रित करके) बुद्धिमान साधक इस सम्पीड़ित वायु को सुषुम्णा नाड़ी में प्रविष्ट कराने का प्रयास करे। नित्य-प्रति इस प्रकार से अभ्यास करने से सुषुम्णा नाड़ी में वायु का सञ्चार होने लगेगा। सुषुम्णा में वायु का सञ्चार प्रारम्भ हो जाने पर 'ब्रह्मनाद' उत्पन्न होगा, जो वीणा के झंकार आदि की तरह सुनाई देगा।

ब्रह्म-नाड़ी के कुहर में होने वाला यह नाद प्रारम्भ में मतवाले भौंरों के गुञ्जन के समान, फिर बाँसों के झुरमुट में चलने वाली हवा की सीटी के समान, फिर घण्टानाद की तरह, फिर समुद्र की लहरों से उत्पन्न गम्भीर घोष के समान और तत्पश्चात् मेघों की गर्जना की तरह सुनाई देता है।

जिस अमित पुण्यशील तथा महासुखास्पद अर्थात् सौभाग्यशील साधक के द्वारा वायु को जीतकर उसे सहज बना लिया जाता है, उसे अणिमा आदि सभी सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त

हो जाती हैं। उसे इन सिद्धियों को पाने के लिए अलग से प्रयास करने अर्थात् साधना-अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।।४८-५१।।

विमर्श—'नररिपुविवरे'—पुराण में कहा गया है कि बदरी-आश्रम में नर और नारायणरूप दो तपस्वी तपस्या कर रहे हैं। इनमें से नररूप तपस्वी अर्जुन तथा नारायण-रूप तपस्वी भगवान् श्रीकृष्ण हैं। महाभारत में अर्जुन का प्रबलतम प्रतिद्वन्दी तथा शत्रु कर्ण है। कर्ण कान को भी कहते हैं। अतः नररिपुविवर का अर्थ हुआ—दोनों कानों के विवर या छिद्र।

'कमलज-निलय'—भगवान् विष्णु की नाभि से कमल-सहित आविर्भूत होने के कारण प्रजापिता ब्रह्माजी को कमलभू-कमलज आदि नामों से स्मरण किया जाता है। षट्चक्रों के प्रसंग में मूलाधार चक्र में ब्रह्माजी का वास माना गया है। अतः कमलज-निलय अर्थात् ब्रह्माजी के आवास से तात्पर्य मूलाधार चक्र से है।

शारदातिलक (पटल २५, श्लोकसंख्या ४८) में दशविध नादोत्पत्ति का निरूपण करते हुए इसे हंसलक्षण ज्ञान का उदय कहा गया है। इन श्लोकों की व्याख्या करते हुए राघवभट्ट ने 'हंसोपनिषद्' के प्रमाण से इस दशविध नाद के नाम इस प्रकार बताये हैं—१. चिणि, २. चिणिचिणि, ३. घण्टानाद, ४. शंखनाद, ५. तन्त्रीनाद, ६. तालनाद, ७. वेणुनाद, ८. भेरीनाद, ९. मृदंगनाद और १०. मेघनाद। 'प्रयोगसार' नामक ग्रन्थ में योगियों की सिद्धि-सूचक दस अवस्थायें बताई गई हैं। यथा—१. कम्प, २. रोमोद्गम, ३. आनन्द, ४. विमलत्व, ५. स्थिरता, ६. लाघव, ७. प्रकाश, ८. ज्ञान, ९. वैदुष्य और १०. अद्वैतात्म-सञ्चय।

सुरराजतनुजवैरिरन्ध्रे विनिरुध्य स्वकाङ्गुलीद्वयेन।
जलधेरिव धीरनादमन्तः प्रसरन्तं सहसा श्रृणोति मर्त्यः ।।५२।।
परिभावयतोऽपि नादमेनं त्रिदशाधीशतनूजवैरिजातम्।
सततं भवतीह तस्य जन्तोर्गुणसम्पत्तिरपेतकल्मषस्य ।।५३।।

सुरराजेति। सुरराज इन्द्रः तत्तनुजोऽर्जुनः तद्वैरी कर्णः तत्र स्वहस्तद्वयांगुलिद्वयेन निरुध्य समुद्रस्येव गभीरं शब्दमभ्यन्तरे प्रसरन्तं शृणोति मर्त्यः तस्यापगतपाप्मनः गुणावाप्तिर्भवति मोक्षप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः।।५२-५३।।

दोनों कानों के छिद्रों को दो अँगुलियों से कसकर दवाने पर ब्रह्मनाड़ी में उद्भूत सागरगर्जन के समान इस गम्भीर नाद की अनुगूँज जब पूरे शरीर में परिव्याप्त सुनाई देने लगती है, तब श्रेष्ठ साधक सभी पापों और कल्मषों से मुक्त हो जाता है।।५२-५३।।

विमर्श—सुरराज इन्द्र के पुत्र अर्जुन का शत्रु कर्ण अर्थात् कान।

त्रिदशाधीशतनुजवैरिजातम्—त्रिदशाधीश अर्थात् देवताओं के राजा इन्द्र के पुत्र अर्जुन के शत्रु कर्ण अर्थात् कान से (कान को अवरूद्ध करने से) उत्पन्न नाद।

शृङ्गाण्यङ्गुलिभिर्निरुध्य विधिवत्कोदण्डयोः पण्डितो
मध्ये बद्धमरुन्निरुध्य वृषभश्रेष्ठञ्च षष्ठेन्द्रियम्।
साक्षात्तत्क्षणमेव पश्यति शनैस्त्रैयन्तगीतं परम्
ज्योतिस्त्रैपुरमङ्कमुक्तशशभृल्लक्षाभलक्षप्रभम्　　॥५४॥

इति श्रीनागभट्टविरचिते त्रिपुरासारसमुच्चये तृतीयः पटलः

●

शृङ्गाणीति। शृङ्गाणीन्द्रियाणि तान्यंगुलीभिः प्रतिरुध्य कोदण्डयोर्भ्रुवोर्मध्ये निरुद्धपवनः वृषभश्रेष्ठः। वृषो विषयः तं भजत इति वृषभः वृषभाणीन्द्रियाणि तच्छ्रेष्ठं षष्ठेन्द्रियं मनः तन्निरुध्य इत्यर्थः। त्रैयन्तर्गीतं वेदांतवेद्यं अंकमुक्तशशभृल्लक्षाभलक्षप्रभम् एककालोदितनिष्कलङ्कानेकचंद्रप्रभम्। अयमर्थः—इन्द्रियाणि स्वकरांगुलीभिर्निरुध्य भ्रुवोर्मध्ये स्वान्तसम्भिन्नवायुं स्वप्रभावक्रमेण यो नियमयति स शशिप्रभं वेदान्तवेद्यं परं ज्योतिःस्वरूपमात्मानम् अनुभवतीत्यर्थः।।५४।।

इति श्रीमद्गोविन्दशर्मविरचितायां त्रिपुरासारसमुच्चयटीकायां
सम्प्रदायदीपिकायां तृतीयः पटलः

●

कान, नाक, नेत्र और मुख आदि इन्द्रियों को अँगुलियों से दबाकर वायु (श्वास) को अवरुद्ध करके वृषभश्रेष्ठ षष्ठेन्द्रिय अर्थात् मन को भ्रूमध्य में केन्द्रित करने से चन्द्रमा के समान धवल और शीतल वेदान्त-वेद्य परंज्योतिस्वरूप परमात्म-तत्त्व के दर्शन होने लगते हैं।।५४।।

विमर्श—'कोदण्ड' का अर्थ है—धनुष। भ्रूमध्य में स्थित आज्ञाचक्र का आकार धनुष के समान बताया गया है। अतः यहाँ 'कोदण्ड' से अभिप्राय भ्रूमध्य-स्थित आज्ञाचक्र से है।

'वृषभश्रेष्ठषष्ठेन्द्रिय'—चूँकि शरीररूपी रथ या शकट का संचालन इन्द्रियों के द्वारा किया जाता है; अतः यहाँ 'वृषभ' पद इन्द्रियों का उपलक्षक है। इन वृषभरूप इन्द्रियों का सञ्चालन 'मन' के द्वारा किया जाता है, अतः 'मन' को वृषभश्रेष्ठ कहा गया है। यद्यपि कान, नाक, नेत्र आदि इन्द्रियों का संचालन मन के द्वारा किया जाता है; मगर मन की गणना पञ्च ज्ञानेन्द्रियों में नहीं की जाती; अतः उसे षष्ठ-इन्द्रिय कहा गया है। 'वृषभश्रेष्ठषष्ठेन्द्रिय' मन का विशेषण एवं उपलक्षक हैं।

श्रीनागभट्ट-विरचित 'त्रिपुरासारसमुच्चय' के तृतीय पटल की
'कौलिनी' व्याख्या पूर्ण हुई।

●

चतुर्थः पटलः

अथ पूरकयोगयोजितान्तः पृषदश्वो निजमूलचक्रदेशे ।
विदधीत बुधः समाहितोऽजोपपदग्रन्थिविभेदने प्रयत्नम् ॥१॥

एवं प्राणायामेन पवनजययोगविशेषांश्चोक्त्वा जितामरतामविकाराणामभ्युदयनिः-श्रेयसप्राप्त्युपायभूतं मन्त्राणां छिन्नादिदोषपरिहारार्थं योनिमुद्राबन्धनप्रकारं वक्तुमुपक्रमते—**अथ पूरकयोग इत्यादिना**। आदौ पूरकादियोगाभ्यासेन निजमूलचक्रदेशे मनः संयोज्य अजोपपदग्रन्थिविभेदने यत्नं प्रकुर्वीत। अजो ब्रह्मा स एव उपपत्तिर्यस्य ग्रन्थिशब्दस्य तेन ब्रह्मग्रन्थिरित्यर्थः। समाहिताभ्यासध्यानः।।१।।

प्रारम्भ में पूरक आदि के क्रम से त्रिविध प्राणायाम करते हुए मन को मूलाधार में नियोजित करके ब्रह्मग्रन्थि के भेदन का प्रयास करना चाहिए।।१।।

विमर्श—पिछले पटल में त्रिविध प्राणायाम का प्रयोगक्रम एवं 'केवलकुम्भक' प्राणायाम की विधि और उसके फलों का निरूपण करने के बाद इस पटल में अभ्युदय एवं निःश्रेयस् के उपायभूत मन्त्रों के छिन्नादि पचासों दोषों के निवारण के लिए योनि-मुद्राबन्धन का निरूपण किया जा रहा है। पूरक आदि से अभिप्राय है—पूरक, कुम्भक एवं रेचक-समन्वित त्रिविध प्राणायाम। 'अजोपपदग्रन्थि' से अभिप्राय है—ब्रह्मग्रन्थि, जो मूलाधार चक्र में है।

शकृत् समुत्सृज्य यथा शनैः स्वं सङ्कोचयेत्कम्बुनि मार्गमर्वा ।
बुधस्तथाधारनियोजितात्मा सङ्कोचयेत्कम्बुनि मार्गमुच्चैः ॥२॥

ग्रन्थिभेदप्रकारमाह—**शकृदिति**। अर्वा अश्वः शकृद्विष्ठां समुत्सृज्य त्यक्त्वा येन प्रकारेण कम्बुनि मार्गं गुदमार्गं सङ्कोचयेत् तेन प्रकारेणाधारचक्रे संयुक्तात्मा पुरुषः स्वीयं कम्बुनि मार्गं सङ्कोचं नयेत्।।२।।

अपने यथासिद्ध योगासन पर सुखपूर्वक बैठा हुआ साधक, जिसने अपने मन को मूलाधार चक्र में नियोजित कर दिया है, अपने गुदामार्ग को सिकोड़कर धीरे-धीरे उसी तरह संकुचित करे, जिस तरह घोड़ा (अर्वा) मलत्याग के बाद अपने गुदामार्ग को संकुचित करता है।।२।।

विदधीत मुहुर्मुहुर्गुरूक्तक्रमतो हुंकृतिमङ्कलग्नपाणिः ।
दृढरुद्धगुदध्वजान्तरालस्थिततेजोमयपुष्कराग्रयोनिः ॥३॥

अथ कम्बुनि मारुतं जितात्मा प्रतिलोमेन शनैः प्रवेशयेत्तम् ।
कमलासनपङ्कजस्य मूलं स्वगुरुप्रोक्तविधानतो दुरापम् ।।४।।

विदधीतेति। मुहुर्मुहुर्वारंवारं गुरूपदिष्टप्रकारेण करकमलद्वयं नाभेरधःस्थिततेजोमयपद्माग्रस्य योनिञ्च यत्नेन निरुध्य गुदलिङ्गमध्यतेजोमयपुष्कराग्रे योनिर्येन निरुद्धमूलाधार इत्यर्थः। अयमर्थः गुदध्वजयोर्मध्ये स्थितं यच्चतुष्पत्रं पद्मं तन्मध्ये त्रिकोणाकारा योनिरिति।

अथेति। कम्बुनि मारुतमपानवायुं देशिकोक्तक्रमेणाकुञ्च्य शनैरुर्ध्वं नीत्वा कमलासनपङ्कजाख्यं सुषुम्नामूलं प्रवेशयेत्।।३-४।।

वह अपनी दोनों हथेलियों को नाभि के ऊपर रखे। गुह्य प्रदेश और लिंगमूल के मध्यवर्ती योनिमण्डल को निरुद्ध करके गुरु-उपदिष्ट विधि से अपान वायु को हुंकार-पूर्वक खींचकर उसे सुषुम्ना में प्रविष्ट कराने का प्रयास करे।।३-४।।

अमुना विधिना मुहुः कृतेन क्रमशः कम्बुनि मारुतस्ततोऽसौ ।
अजपङ्कजमूलदेशमार्गप्रणयी ग्रन्थिविभेदनं करोति ।।५।।

अमुना विधिनेति। एवं मुहुर्मुहुरभ्यासेन अधोवृत्तं निरुध्य तदन्तर्ब्रह्ममार्गःस्थितग्रन्थिभेदनं करोतीत्यर्थः ।।५।।

अपान वायु को खींचकर उसे सुषुम्णा में प्रविष्ट कराने के सतत् प्रयास के फलस्वरूप सुषुम्णा के बन्द द्वार पर वायु का बार-बार आघात होता है। वायु के लगातार आघात के फलस्वरूप सुषुम्णा का द्वार खुल जाता है और तब सुषुम्णा में वायु के प्रवेश से ब्रह्मग्रन्थि का भेदन हो जाता है।।५।।

विमर्श—गुह्य प्रदेश से दो अँगुल ऊपर और लिंगमूल से दो अँगुल नीचे चार अँगुल विस्तृत योनिमण्डल है। इसे कन्द भी कहते हैं। इस योनिमण्डल के ऊपर चार कमलदल वाला मूलाधार चक्र है। इस मूलाधार चक्र में स्वयम्भूलिंग है। स्वयम्भू लिंग के ऊपर ब्रह्मनाडी का मुख है। इस स्वयम्भू लिंग को साढ़े तीन फेरों से लपेट कर कुण्डलिनी शक्ति स्थित है, जिसने सुषुम्णा-विवर को बन्द कर रखा है। हुंकार-पूर्वक अपान वायु को खींचकर उसे सुषुम्णा में प्रविष्ट कराने के लिए बार-बार प्रयास करने से सुषुम्णा के बन्द द्वार पर वायु का लगातार आघात होता है। वायु के बार-बार के आघात से ब्रह्मनाडी का बन्द मुख खुल जाता है और इस तरह ब्रह्मनाडी में स्थित ब्रह्मग्रन्थि का भेदन हो जाता है।

परिहृत्य खगाधिपस्ततोऽसौ सरणिं चन्द्रमसो नभोमणेः ।
कमलं कमलासनस्य पश्चाद्विदधीतोर्द्ध्वमुखं प्रविश्य सम्यक् ।।६।।

परिहृत्येति। अपानश्च ऊर्ध्ववृत्तित्वेन प्राणात्मकत्वात् खगाधिपत्याख्यां लभते। एवमूर्ध्वगमनाय प्रवृत्तोऽपानवायुः सोमसूर्यात्मकेडापिङ्गलामार्गौ परिहृत्य कमलमूलं सुषुम्नामूलम् उपविश्य ऊर्ध्वमुखं करोति।।६।।

चन्द्रमा और सूर्य के गलियारों को छोड़कर अर्थात् इडा और पिंगला को छोड़कर अपान वायु (खगाधिप) का कमलासन (ब्रह्मनाडी) में प्रविष्ट होने का उपक्रम सुषुम्णा के उलटे द्वार को सीधा कर देता है और वह उसमें प्रविष्ट हो जाता है।।६।।

प्रतिभानमथाद्भुतं प्रविष्टे भवनान्तः परमेष्ठिनः खगेशे।
लघुता वपुषो भवत्युदग्रा जठरान्तर्ज्वलनस्य चापि दीप्तिः ॥७॥

प्रतिभानमिति। खगेशेऽपानवायौ ब्रह्मणो भवनाभ्यन्तरं प्रविष्टे सति अद्भुतम् आश्चर्यजनकं प्रतिभानं भवति, वपुषः उदग्रा लघुता भवति॥७॥

जब ब्रह्मनाडी में अपान वायु का प्रवेश हो जाता है (अर्थात् सरलतापूर्वक नियमित रूप से संचार होने लगता है) तब साधक के शरीर में बहुत-से आन्तरिक परिवर्तन होने लगते हैं। उसकी जठराग्नि बलवती हो जाती है और शरीर का भारीपन कम हो जाता है।।७।।

तडित्कोटिप्रख्यं सुरुचिजितकालानलरुचिम्
सहस्रादित्यांशुप्रकरसदृशोद्द्योतकलितम्।
भ्रमन्तं योन्यन्तः स्थुरदरुणबन्धूककुसुम-
प्रभं कामं ध्यायेज्जठरशशभृत्कोटिशिखरम् ॥८॥

तडित्कोटिप्रख्यमिति। कामशरीराग्निं ध्यायेत्। कीदृशं विद्युदग्रतुल्यम्। स्वतेजसा दितिजा कालानलस्य रुचिर्येन तादृशं सहस्रसंख्यादित्यतेजःसमूहतुल्येन उद्योतेन कलितं सम्बद्धं योन्यन्तराधारचक्रस्याभ्यन्तरे भासमानं बन्धूकशब्देन रक्तवर्णाभं शशभृल्लक्षशिशिरम्। एतेन साधकानामानन्दजनकत्वं बोध्यते। **काममिति।** कामशब्दो रहस्यागमे शरीरवैश्वानरे रूढः। एवं तेजोमयं कामं स्वाधारगमनं भावयेत्। तथा चोक्तं रुद्रयामले—

भ्रमं योनिगतं ध्यायेत् कामं बन्धूकसन्निभम्।
ज्वलत्कालानलप्रख्यं तडित्कोटिसमप्रभम् ।।८।। इति।

जब ब्रह्मनाडी में वायु का संचार सुगमता-पूर्वक होने लगे तब बुद्धिमान् साधक को योनिमण्डल के भीतर बन्धूकपुष्प के समान भासमान लाल वर्ण के 'काम' का ध्यान करना चाहिए। काम का अर्थ है—शरीर की अग्नि में व्याप्त ऊष्मा, जो बिजली के समान चमकीली, प्रलयकालीन अग्नि के समान दाहक, सूर्य के समान देदीप्यमान तथा चन्द्रमा के समान आनन्दप्रद है।।८।।

तस्योद्र्ध्वेऽग्निशिखा चिरद्युतिलतापुञ्जप्रभाभास्वरा
सूक्ष्मा ब्रह्मपथान्तराम्बरगता चैतन्यमात्रा कला।

एकीभूतमनन्तरं सह तथा ध्यायेद्धिया निश्चलम्
आत्मानञ्च निवातदीपनिभया हंसस्वरूपं बुधः ॥९॥

तस्येति। तस्य कामराजाख्यजातवेदस उपरि शिखारूपातिसूक्ष्मा विद्युत्सहस्रसन्निभा चिद्रूपा या कला सा ब्रह्मेति। केचित्तु विद्युत्सहस्रसन्निभा चिद्रूपात्मकला निष्कला ध्येया इत्यनुषज्यते। परमहंसस्वरूपात्मानं तया कलया एकीकृत्य चिन्तयेदिति।।९।।

इस कामसंज्ञक अग्नि की शिखा पर निष्कम्प दीपशिखा के आकार की अत्यन्त सूक्ष्म चैतन्य कला है, जिसकी चमक हजारों बिजलियों से भी अधिक है। यह चित्कला ही कुण्डलिनी का अधिष्ठान है। इस चित्कला में कुण्डलिनी शक्ति अन्तर्व्याप्त है, जैसा कि अगले श्लोक में बताया गया है। यह चैतन्य कला योनिमण्डल (मूलाधार) से अम्बर (शिरोवर्ती आकाशमण्डल)-पर्यन्त ब्रह्मपथ पर संचरण करती है। बुद्धिमान् साधक को यह भावना करनी चाहिए कि उसकी हंसस्वरूप आत्मा और इस चैतन्य कला में कोई भिन्नता नहीं है; अपितु वे दोनों एक ही हैं।।९।।

शक्तिः कुण्डलिनीति या निगदिता आईमसंज्ञा जग-
न्निर्माणे सततोद्यता प्रविलसत्सौदामिनीसन्निभा।
शङ्खावर्त्तनिभां प्रसुप्तभुजगाकारां जगन्मोहिनीम्
तन्मध्ये परिभावयेद्बिषलतातन्तूपमेयाकृतिम् ॥१०॥

शक्तिरिति। तया कलया चिद्रूपा कला कुण्डलिनीशक्तिरिति कथिता, पूर्वोक्तशिखा-मध्यगां परिभावयेत्। अन्तर्व्याप्य स्थितां ध्यायेदित्यर्थः।।१०।।

सोई हुई नागिन के समान वलयाकारा तथा बिजली के समान गुण-धर्म वाली इस कुण्डलिनी शक्ति को मन्त्र और योगशास्त्र में जगत् का हेतु कहा गया है। बुद्धिमान् साधक कमल-नाल के रेशे से भी अधिक सूक्ष्म तथा शंख के समान आवर्तों वाली इस विश्व-विमोहनी कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान उपर्युक्त चैतन्य कला में करे। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि बुद्धिमान् साधक भावनापूर्वक यह ध्यान करे कि यह कुण्डलिनी शक्ति 'काम'-संज्ञक अग्नि की शिखारूपा चैतन्य-कला में अन्तर्व्याप्त है।।१०।।

विमर्श—आगमशास्त्र के अनुसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति सच्चिदानन्दरूप सकल ब्रह्म से उद्भूता उस आदि शक्ति से हुई है, जिसने इच्छा, ज्ञान और क्रिया तथा वामा-ज्येष्ठा और रौद्री आदि त्र्यात्मक रूप ग्रहण कर अर्थसृष्टि को तथा चैतन्य अखण्ड नादरूप 'शब्दब्रह्म' बनकर शब्दसृष्टि को प्रकट किया। यही शब्दब्रह्म सभी प्राणियों में कुण्डलिनी के रूप में व्याप्त है—

तत्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगाम्। (शारदा १/१४)

व्यष्टि और समष्टिभेद से कुण्डली के दो रूप हैं। साढ़े तीन फेरे मारकर सोई हुई नागिन के रूप में यह व्यष्टि कुण्डलिनी मनुष्यमात्र के मूलाधार में स्थित है तो समष्टि कुण्डलिनी ने स्वयं को पचासगुणा विस्तृत करके मन्त्रमय जगत् को जन्म दिया है। प्रपञ्चसार, शारदातिलक, शक्तिसंगमतन्त्र (कालीखण्ड) तथा मातृकाचक्रविवेक आदि ग्रन्थों में कुण्डलिनी के रूपविस्तार का विशद् रूप से वर्णन किया गया है।

शंखावर्तनिभा—इस कुण्डलिनी शक्ति ने न सिर्फ ब्रह्माण्ड को जन्म दिया है, अपितु शंख के आवर्त के समान सभी वस्तुओं को आवृत्त कर रखा है—

शंखावर्तक्रमाद् देवी सर्वमावृत्य तिष्ठति'। (शारदा १/५४)

सौंदामिनी-सन्निभा—बिजली के समान गुण-धर्म वाली। बिजली के प्रमुख रूप से दो गुण-धर्म हैं। प्रथम तो यह कि वह चमकीली है तथा प्रकाशदायिका है; अतः जब तक कुण्डलिनी सोई रहती है—देहात्मबुद्धि-जन्य अज्ञान आत्मतत्त्व को आच्छादित किये रखता है। कुण्डलिनी का जागरण होते ही इस अज्ञान का कुहासा छँटने लगता है तथा स्वरूप-विस्मृत आत्मा को अपने शिवत्व की स्मृति और अनुभूति होने लगती है। बिजली की दूसरी विशेषता है—चपलता। अतः यदि किसी जन्म में कुण्डलिनी प्रबुद्ध हो जाती है तो जन्मों का अन्तराल उसकी जागृति-रूप स्फुरत्ता में व्यवधान नहीं डाल पाता। बिजली ऊर्जा है। कुण्डलिनी से प्राप्त ऊर्जा की बदौलत आत्मा अष्टपाशों का बन्धन काटकर मलत्रय-प्रक्षालन करने में समर्थ होता है। अतः भवपाश से छूटने के निमित्त साधक-आत्मा के लिए इस प्रसुप्ता कुण्डलिनी को प्रबुद्ध और जागृत करना आवश्यक एवं अनिवार्य है। अतएव इस तारतम्य में अगले श्लोक में कुण्डलिनी-प्रबोधन के उपक्रमों का निरूपण किया गया है।

हूङ्कारेण गुरूपदिष्टविधिना प्रोत्थाप्य सुप्तां ततः
कृत्वा तां कलया तया परमया चिद्रूपया सङ्गताम्।
मायां कुण्डलिनीं समाहितमनास्तामुच्चरेत् कौशिकीम्
शक्तिं ब्रह्ममहापथेन सहितामाधारतः स्वात्मना ॥११॥

भित्त्वा लिङ्गत्रयमथ बुधो ब्रह्मनाड्येह चोर्ध्वम्
गच्छन्तीं तां कमलजपदात्प्रापयेदात्मशक्तिम्।
व्योमाम्भोजप्रणयिपरमानन्दकन्दं विसर्ग-
स्थानं चन्द्रोपरि परिगलद्रक्तपीयूषधारम् ॥१२॥

उक्तमर्थं संक्षिप्य दर्शयति—हूङ्कारेति। हूङ्कारेण मन्त्रसहितेन गुरूक्तप्रकारेण तां कुण्डलिनीं आधारकमले सुप्तमुत्थाप्य प्रबोध्य अनन्तरं तया परमया चैतन्यरूपया मिलितां कुण्डलिनीं मायां कुलं मूलाधारः तत्रस्थां शरीरस्य देवतां चिन्तयेत्।

अकुलं शिव इत्युक्तः कुलं शक्तिः प्रकीर्त्तिता ।
कौलं तेजोविकारः स्यादिति त्रितयनिर्णयः ।। इति।

भित्त्वेति। अग्रे कथितं लिङ्गत्रयं विभिद्य ब्रह्मनाड्या सुषुम्नायां ब्रह्मणः स्थानादूर्ध्वं तां कुण्डलिनीं शक्तिम् आकाशाम्भोरुहप्रणयित्वम् आकाशाम्भोजस्थपरमानन्दस्थविसर्ग-स्थानं प्रापयेत् ध्यायेत्।।११-१२।।

स्वयम्भू लिङ्ग को साढे तीन फेरों से घेर कर नागिन के समान सोई हुई इस कुण्डलिनी को बुद्धिमान साधक गुरुदेव के द्वारा बताई गई विधि के अनुसार हूंकार-पूर्वक जगाये। जब देवी कुण्डलिनी जाग जायँ, तो उन्हें 'काम'-संज्ञक अग्नि की शिखारूपी चिन्मय कला के साथ सम्पृक्त करे तथा चिन्मय कला-समाहिता देवी कुण्डलिनी का मूलाधार-स्थित अपनी इष्टदेवता के रूप में ध्यान करे। तत्पश्चात् सुषुम्णा के खुले हुए मार्ग से उन्हें ब्रह्मपथ में प्रविष्ट कराये। अपान वायु की सहायता से उन्हें धीरे-धीरे उठाते हुए तीनों लिंगों का भेदन करके सहस्रार मण्डल में लाये। उन्हें वहाँ विसर्ग क्षेत्र-स्थित चन्द्र-मण्डल से क्षरित होने वाली लाल रंग की सुधा का पान कराये।।११-१२।।

विमर्श—ब्रह्मनाडी में तीन लिंग स्थित हैं—मूलाधार में स्वयम्भू लिंग, अनाहत चक्र में बाण-लिंग तथा आज्ञा चक्र में इतरलिंग। अपने आरोहक्रम में देवी कुण्डलिनी इन तीनों लिंगों का भेदन करती है।

'रक्तपीयूषधारम्'—सुधा अर्थात् अमृत का रंग दूध की तरह श्वेत-धवल है; लेकिन सहस्रारवर्ती चन्द्र-मण्डल से क्षरित होने वाले अमृतरूपी द्रव का रंग लाल माना जाता है। राष्ट्रगुरु पूज्यपाद स्वामीजी महाराज, दतिया ने 'निग्रहदारुणसप्तक' के द्वितीय श्लोक का भाष्य करते हुए लिखा है—'षट्चक्रभेदमापाद्य रक्तवर्णममृतं प्रवाहं पीत्वा........' 'अमृतस्य रक्तवर्णत्वात्।'

इष्टदेवता-स्वरूपिणी देवी कुलकुण्डलिनी को दिव्य अमृतपान कराने की यही शास्त्रोपदिष्ट विधि है और इस विधि से देवी कुण्डलिनी को अमृतपान कराना ही 'कुल-साधना' है। प्रतिदिन इस साधना में निरत रहने वाले कुलसाधक का पुनर्जन्म नहीं होता, जैसा कि कुलार्णवतन्त्र (पटल ६/श्लोक १००) में कहा गया है—

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले ।
पुनरुत्थाय पुनः पीत्वा, पुनर्जन्म न विद्यते ।।

क्योंकि उस दिव्य अमृतपान के फलस्वरूप प्रतिदिन अहर्निश ब्रह्मानन्द में डूबे रहने वाले कुलसाधक को उसके जीवन-काल में ही जीवन-मुक्ति मिल जाती है।

पीत्वा कुलामृतरसं पुनरेव दिव्यम्
मध्यं विशेदपघनस्य समाहितात्मा ।

यायात्कुलादकुलमेव पुनश्च मात्रा-
योगेन देशिकवरप्रतिपादितेन ॥१३॥

सा शक्तिः सकलशरीरजीवभूता
प्राणोऽसाविति गदितात्र तन्त्रिमुख्यैः ।
उद्घातः स तु परिपठ्यते मुनीन्द्रैः
प्राणोऽन्तः स्पृशति यदा क्रमेण नीतः ॥१४॥

अमुं स्वाधारस्थं प्रतिदिवसमभ्यासनिरतः
करोति श्रद्धावान् सततमवधूताखिलमलः ।
स मुक्तो दुःखौधैरगयतजराक्लेशमरणो
गुणग्रामोपेतः सुर इव चिरं जीवति भुवि ॥१५॥

चतुर्विधा या कथितेह सृष्टिः प्रवर्त्तते सा सकलापि यस्याम् ।
प्रलीयते चापि जगत्समस्तं कालाग्निरुद्रादिशिवान्तमेतत् ॥१६॥

सेयं मयोक्ता खलु योनिमुद्रा बन्धस्तु देवैरपि दुर्लभः स्यात् ।
अनेन बन्धेन न साध्यते यन्नास्त्येव तत् साधकपुङ्गवस्य ॥१७॥

पीत्वा कुलामृतरसमिति। एवं तां सहस्रारपर्यन्तं नीत्वा तत्रस्थं दिव्यं सुधारसं पीत्वा तेनैव मार्गेण विरोहक्रमेण अपघनस्य मध्यं कुलाख्यं योन्याधारं प्रापयेत्। शरीरमध्यं मूलाधारमित्यर्थः। कथं ग्राहयेदित्याह—मात्रायोगेन गुरूक्तमात्रायोगक्रमेण गतागतं विदधीत। मात्रा तु—

विन्दुनादस्तथा शक्तिर्मात्रात्रयमुदाहृतम् । इति।

तथा हि मात्रापदेन पीठत्रयं विधीयते। आज्ञास्थानगतो बिन्दुः तत्त्वाज्ञा प्रकाशकस्वरूपं पूर्णाख्यं पीठं तदुपरि ललाटमध्ये बिन्द्वात्मकप्रकाशरूपस्य शिवात्मकस्फुरद्रूपनादात्मकस्य नादाख्यं द्वितीयं पीठं तदुपरि शिखा विश्वात्मिका शक्तिरूपं मया उक्ता खलु निश्चये अस्या मुद्राया बन्धनं देवैरपि दुर्लभञ्च। योनिमुद्राया अनेन बन्धनप्रकारेण यन्न साध्यते तदा स्मरणम् तथा सर्वमेवानया मुद्रया साध्यत इत्यर्थः। इयं का इह जगति या चतुःप्रकारा सृष्टिरुक्ता यस्यां प्रवर्त्तते यतो भवतीत्यर्थः। उद्भिदस्तरुगुल्माद्याः स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः जरायुजाः मनुष्याद्याः अण्डजाः पक्षिसर्पादयः। केचित्तु शब्दसृष्टिः शब्दार्थसृष्टिः प्रकृतिपुरुषसृष्टिरिति मन्यते। अथवा नैयायिकमते पुरुषसृष्टिः, सांख्यमते प्रकृतिपुरुषयोगात्, पातञ्जलमते केवलप्रकृतेः, मीमांसकमतेऽदृष्टादिति चतुर्विधा सृष्टिः। समस्तं जगदपि यस्यां कालाग्निरुद्रादिरूपां यस्यामेव लयं याति पूर्वोक्तध्यानविशेष एव मुद्रा॥१३–१७॥

इष्टदेवता-स्वरूपिणी देवी कुण्डलिनी चन्द्रमण्डल से क्षरित इस अमृत का पान करके जब परितृप्त हो जायँ, बुद्धिमान साधक उन्हें गुरु-उपदिष्ट विधि से 'मात्रायोग-पूर्वक'

अकुल स्थान से अवतरित करके शरीर के मध्य भाग में स्थित 'कुल'स्थान में पुनः प्रतिष्ठित कर दे।

परमा कलारूपा यह चित् शक्ति ही समस्त प्राणियों में जीवरूप से विद्यमान है। तन्त्र-मनीषियों ने इसे ही प्राण (शक्ति) तथा मुनियों ने 'उद्वात' अर्थात् ऊपर की ओर गमन करने वाला प्राणवायु कहा है। जब पूरक प्राणायाम के क्रम में इसे नीचे की ओर लाया जाता है, यह शरीर के समस्त अन्तर्भाग का स्पर्श करता है। इसे मूलाधार में लाने का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यास से साधक के सारे मल (मायिक, आणव और कार्मिक मल) विनष्ट हो जाते हैं और वह समस्त दुःखसमूहों, जरा-मरण आदि बन्धनों से मुक्त होकर इस पृथ्वी पर देवताओं के समान चिर काल तक जीवित रहता है।

उद्भिज, स्वदेज, अण्डज और जरायुज नाम वाली चार प्रकार की जीवसृष्टि इसी परमा कलारूप चित् शक्ति से उत्पन्न होती है, उसी में जीवन व्यतीत करती है और अंत में कालाग्नि रुद्र-सहित उसी में लीन हो जाती है।

यहाँ बताई गई यह 'योनिमुद्रा' देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। इस क्रिया के द्वारा सब कुछ पाया जा सकता है। इसकी साधना करने वाला ही 'साधकश्रेष्ठ' है।।१३-१७।।

विमर्श—'मात्रायोगेन' (मात्रास्थान-पूर्वक)—यहाँ मात्रा से अभिप्राय बिन्दु, नाद और शक्ति अर्थात् तीन पीठों से है। इनमें से प्रथम पीठ है—आज्ञाक्षेत्र में स्थित प्रकाशात्मक पूर्णपीठ। दूसरा है—ललाट में स्थित शिरःस्वरूप स्फुरित नादात्मक नादपीठ। तीसरा पीठ है—शिखा क्षेत्रवर्ती विश्वात्मिका शक्तिपीठ। देवी कुण्डलिनी अमृत-पान के उपक्रम में संचरण करती हुई इन तीनों से गुजरती है, अतः उनके संचरण को मात्रायोगपूर्वक कहा गया है।

अकुल और कुल—कुल का अर्थ है—कुण्डलिनी शक्ति और 'अकुल' कहते हैं—परमशिव को (कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते—सौभाग्यभास्कर)। शिव का धाम सहस्रार में है और शक्ति का वास मूलाधार में है। अतः अकुल और कुल यहाँ क्रमशः सहस्रार और मूलाधार के उपलक्षक हैं।

छित्त्वा रुद्धाः स्तम्भिताः कीलिता ये सुप्ता मत्ता मूर्च्छिता हीनवीर्याः।
दग्धाः श्रस्ताः शत्रुपक्षस्थिता ये बाला वृद्धा गर्विता यौवनेन ॥१८॥

ये निर्जीवा ये च सत्त्वेन हीनाः षण्डीभूताश्चाङ्गमन्त्रैर्विहीनाः।
एते मुद्राबन्धनेनापि योन्या मन्त्राः सर्वे वीर्यवन्तो भवन्ति ॥१९॥

छित्त्वेति। युग्मकम्। एते सर्वे मन्त्रा योनिमुद्रया ध्यानविशेषेण वीर्ययुक्ता भवन्ति। एतैरुच्छिन्ना मनोर्यस्यादिमध्यान्ते खामिनं बीजमुच्यते।

संयुक्तं वारियुक्तं वायुनाक्रान्तं त्रिधा पुनः।
चतुर्धा पञ्चधा वाथ स मन्त्रश्छिन्नसंज्ञकः ।।
आदिमध्यावसानेषु भूबीजद्वन्द्वलांछितः ।
रुद्धमन्त्रः स विज्ञेयो भुक्तिमुक्तिविवर्जितः।।

ये च कीलिताः—

आदिमध्यावसानेषु हंसः प्रासादवाग्भवौ ।
हकारो विन्दुवान् जीवो वाग्भवश्च चतुष्कलः ।
माया नामापि च पदं नास्ति यस्य स कीलितः ।

ये स्तम्भिताः—

एकं मध्ये स्वयं मूर्ध्नि यस्मिन्निन्द्रपुरन्दरौ ।
न विद्यते स मन्त्रः स्यात् स्तम्भितः सिद्धिबोधनः ।।

ये च सुप्ताः—

त्रिवर्णो हंसहीनो यः स सुप्तश्च उदाहृतः ।

ये च मत्ताः—

मन्त्रा वाप्यथवा विद्या सप्ताधिकदशाक्षरः ।
फट्कारः पञ्चकादिर्यो मन्दोमत्त उदीरितः ।।

ये च मूर्च्छिताः—

पञ्चधास्त्रं स्थितां मध्ये यस्य मन्त्रः स मूर्च्छितः।

ये हीनवीर्याः—

विरामस्थानगं यस्य हीनवीर्यः स कथ्यते ।

ये च दग्धाः—

वह्निर्वायुसमायुक्तो यस्य मन्त्रस्य मूर्धनि ।
सप्तधा दृश्यते तत्तु दग्धं मन्त्रीतमन्त्रवित् ।।

ये च श्रस्ताः—

अस्त्रं द्वाभ्यां त्रिभिः षड्भिरष्टाभिर्दृश्यतेऽक्षरैः।
स्तम्भः सोहऽभिहितो मन्त्रः.......... ।।

ये च शत्रुपक्षे स्थिताः। तारादिभिरननुकूलाः। ये च बालाः। सप्तार्णो मनुर्बालः। ये च वृद्धाः—

त्रिंशद्वर्णश्चतुषष्टिवर्णो मन्त्रः शताक्षरः ।
चतुःशताक्षरश्चापि वृद्ध इत्यभिधीयते ।।

ये च युवानः—षोडशार्णो युवा प्रोक्तः। ये च जीवहीनाः—षष्ठाक्षरो जीवहीनः। ये च सत्त्वहीनाः—द्विवर्णः सत्त्वहीनः स्यात्। ये अङ्गहीनाः—

षड्विंशत्यक्षरो मन्त्रः षट्त्रिंशद्वर्णकस्तथा ।
एकोनविंशद्वर्णो वाप्यङ्गहीन उदाहृतः ।

इत्यादिदोषदुष्टा अपि मन्त्रा अनेन ध्यानेन विशुद्धा भवन्तीत्यर्थः॥१८-१९॥

मन्त्रशास्त्र में मन्त्रों के छिन्न आदि कई दोष बताये गये हैं। इन दोषों से युक्त मन्त्रों की साधना करने से कोई फल नहीं मिलता। अतएव मन्त्रों के दोषों का शमन अनिवार्य है। योनिमुद्रा बाँधकर विशेष प्रकार से ध्यान करते हुए सदोष मन्त्रों का जप करने से मन्त्रों के इन समस्त दोषों का शमन हो जाता है और वे निर्मल तथा फलदायी हो जाते हैं। इन दोषों के नाम और लक्षण इस प्रकार हैं—

१. छिन्न—जिस मन्त्र के आदि और अन्त में रहने वाला वायुबीज (यं) संयुक्त अक्षर के साथ अथवा केवल दो बार उच्चरित हो, वह 'छिन्नसंज्ञक' मन्त्र है। स्वराक्रान्त छिन्न मन्त्र तीन प्रकार का होता है। आ, ई, ऊ, ऐ, औ—इन दीर्घ स्वरों में यदि शक्तिबीज (ह्रीं) तीन या चार या पाँच दीर्घ स्वरों से आक्रान्त हो तो वह भी छिन्न-संज्ञक होता है।

२. जिस मन्त्र के आदि, मध्य या अन्त में दो बार पृथ्वीबीज (लं) हो, वह 'रुद्ध' मन्त्र है।

३. शक्तिहीन—जिस मन्त्र में ह्रीं, हूँ, ॐ, श्रीं या फ्रें नहीं हों, वे शक्तिहीन होते हैं।

४. पराङ्मुख—जिस मन्त्र में कामबीज (क्लीं) न हो, आदि में मायाबीज (ह्रीं) न हो तथा अन्त में अंकुश (क्रों) न हो, वह 'पराङ्मुख' होता है।

५. बधिर—जिस मन्त्र के आदि, मध्य या अन्त में 'हं' या 'सं' न हो, वह बधिर होता है।

६. नेत्रहीन—पाँच अक्षरों वाले जिस मन्त्र में 'र'कार, 'ह'कार या 'स'कार न हो, वह नेत्रहीन होता है।

७. कीलित—जिस मन्त्र के आदि, मध्य एवं अन्त में 'हंस', 'ह्रौं', 'ऐं', 'हं', 'सं', 'फ्रें', 'हूँ', 'ह्रीं' एवं 'नमामि'—इनमें से कोई पद नहीं हो, वह कीलित होता है।

८. स्तम्भित—जिस मन्त्र के मध्य में 'फट्', 'ल'कार न हो अथवा अन्त में दो बार 'फट्'कार और 'ल'कार न हो, उसे 'स्तम्भित' कहते हैं।

९. दग्ध—जिस मन्त्र के आदि में समवेत रूप से 'र'कार तथा 'य'कार सात बार आये हों, वह मन्त्र 'दग्ध' होता है।

१०. त्रस्त—दो, तीन, छः अथवा आठ अक्षरों से युक्त अस्त्रमन्त्र (फट्) जिस मन्त्र में हो, उसे त्रस्त कहा जाता है।

११. भीत—जिस मन्त्र के आदि में प्रणव (ॐ), शिव (हं) एवं शक्ति (ऐं) न हो, वह 'भीत' कहा जाता है।

१२. मलिन—जिस मन्त्र के आदि, मध्य तथा अन्त में कुल मिलाकर चार 'म'कार हों, उसे 'मलिन' कहते हैं।

१३. तिरस्कृत—जिस मन्त्र के मध्य में अथवा अन्त में 'द'कार अथवा 'हुँ'कार हो, अथवा दो बार 'हूँ-फट्' हो, उसे तिरस्कृत कहा जाता है।

१४. भेदित—जिस मन्त्र के हृदयप्रदेश में दो बार 'भ्यो' कहा गया हो, मध्य में 'वषट्' हो और अन्त में 'हूँ फट्' हो, उसे भेदित कहा जाता है।

१५. सुषुप्त—जिस मन्त्र में तीन अक्षर हों; लेकिन उसमें 'हं' और 'सं' में से कोई अक्षर न हो, वह 'सुषुप्त' कहलाता है।

१६. मदोन्मत्त—अठारह अक्षरों वाले जिस मन्त्र में पाँच बार 'फट्'कार हो, वह 'मदोन्मत्त' कहलाता है।

१७. मूर्छित—जिस मन्त्र के मध्य में पाँच बार अस्त्रबीज (फट्) का प्रयोग हो, वह 'मूर्छित' होता है।

१८. हतवीर्य—जिसके अन्त में पाँच बार अस्त्रबीज हो, वह मन्त्र 'हतवीर्य' कहलाता है।

१९. हीन—जिस अठारह अक्षरों के मन्त्र के आदि, अन्त और मध्य में चार बार अस्त्रबीज हो, वह मन्त्र 'हीन' कहलाता है।

२०. प्रध्वस्त—'ॐ ह्रीं क्रों'—इन तीन बीजों से युक्त उन्नीस (१९) अक्षरों का मन्त्र 'प्रध्वस्त' कहलाता है।

२१. बाल—सात अक्षरों वाला मन्त्र 'बाल' कहलाता है।

२२. कुमार—आठ अक्षरों वाला मन्त्र 'कुमार' कहा जाता है।

२३. युवा—सोलह अक्षरों वाला मन्त्र 'युवा' कहा गया है।

२४. प्रौढ—चौबीस अक्षरों वाला मन्त्र 'प्रौढ' कहा गया है।

२५. वृद्ध—तीस, चौंसठ, सौ या चार सौ अक्षर का मन्त्र 'वृद्ध' कहलाता है।

२६. निस्त्रिंशक—जो मन्त्र 'ॐ' युक्त नवाक्षर हो, वह निस्त्रिंशक अर्थात् घातक होता है।

२७. निर्बीज—जिस मन्त्र के अन्त में नमः, मध्य में दो बार 'स्वाहा' हो, जिसमें वषट्, हूँ, वौषट् शब्द नहीं हों, जो 'फट्'कार से युक्त न हो, अथवा 'ह'कार-'स'कार से विहीन हो, वह 'निर्बीज' होता है।

२८. सिद्धिहीन—जिस मन्त्र के मध्य में छः (६) 'फट्'कार हो, वह मन्त्र 'सिद्धिहीन' होता है।

२९. मन्द—जिस मन्त्र में दस अक्षर हों, वह 'मन्द' होता है।

३०. कूट—एकाक्षर मन्त्र 'कूट' कहलाता है।

३१. निरंशक—कूट या एकाक्षर मन्त्र को 'निरंशक' भी कहते हैं।

३२. सत्त्वहीन—दो अक्षरों का मन्त्र 'सत्त्वहीन' कहलाता है।

३३. केकर—चार अक्षरों का मन्त्र 'केकर' कहलाता है।

३४. जीवहीन—षडक्षर मन्त्र 'जीवहीन' होता है।

३५. धूमित—साढ़े सात और साढ़े बारह अक्षरों वाले मन्त्र 'धूमित' होते हैं।

३६. आलिंगित—साढ़े दो बीजों (अढ़ाई बीजों) से युक्त बीस, इक्कीस या तीस अक्षर वाले मन्त्र 'आलिंगित' होते हैं।

३७. मोहित—बाईस अक्षरों का मन्त्र 'मोहित' कहलाता है।

३८. क्षुधार्त—चौबीस अक्षरों वाला मन्त्र 'क्षुधार्त' होता है।

३९. दृप्त—ग्यारह, तेईस, चौबीस या पच्चीस अक्षरों वाला मन्त्र 'दृप्त' होता है।

४०. अंगहीन—छब्बीस, उनतीस और छत्तीस अक्षर वाला मन्त्र 'अंगहीन' होता है।

४१. अतिक्रुद्ध—जिस मन्त्र में २८ या ३१ अक्षरों हों, वह अतिक्रुद्ध होता है।

ये मन्त्र सभी प्रयोजनों के लिए वर्जित हैं।

४२. अतिक्रूर—तीस और तैंतीस अक्षरों वाले मन्त्र 'अतिक्रूर' होते हैं तथा सभी प्रयोजनों में निषिद्ध कहे गये हैं।

४३. सव्रीड—चालीस से तिरसठ तक अक्षरों वाले मन्त्र 'सव्रीड' (अर्थात् लजालु) कहे गये हैं।

४४. शान्तमानस—पैंसठ (६५) अक्षरों वाले मन्त्र 'शान्तमानस' कहलाते हैं।

४५. स्थानभ्रष्ट—पैंसठ (६५) से निन्यानबे (९९) वर्ण वाले सभी मन्त्र 'स्थानभ्रष्ट' होते हैं। ये अशुभ माने जाते हैं।

४६. विकल—तेरह और पन्द्रह अक्षर वाले मन्त्र 'विकल' होते हैं।

४७. निस्नेह—इक्यावन (५१), सौ (१००), डेढ सौ (१५०) तथा दो सौ से तीन सौं तक अक्षरों वाले मन्त्र 'निस्नेह' होते हैं।

४८. अतिवृद्ध—चार सौ (४००) से एक हजार तक अक्षरों वाले मन्त्र 'अतिवृद्ध' कहे जाते हैं।

४९. पीडित—जिन मन्त्रों में एक हजार से अधिक अक्षर होते हैं, वे 'पीडित' कहलाते हैं। दो हजार से अधिक अक्षरों वाले मन्त्र सात प्रकार के कहे गये हैं; किन्तु उन्हें समष्टि रूप से 'स्तोत्र' समझना चाहिए।

विमर्श—मन्त्र-दोषों के उपर्युक्त लक्षण शारदातिलक (पटलसंख्या २, श्लोक-संख्या ७१ से १०९) तथा तन्त्रसार में यथाउद्धृत विश्वसारतन्त्र के अनुसार हैं। मन्त्र के इन समस्त दोषों की समष्टि रूप से शान्ति के लिये योनिमुद्रा के सामर्थ्य के प्रमाण में त्रिपुरासारसमुच्चय का यही श्लोक (१७वाँ) शारदातिलक की टीका में प्रस्तुत किया गया है।

दोषशमन-विधि—तन्त्रसार में विश्वसारतन्त्र से दोषों के उपर्युक्त नाम और लक्षणों को उद्धृत करके योनिमुद्रा से इन दोषों के शमन के लिए जो विधि बताई गई है, वह इस प्रकार है—'योनिमुद्रा बाँधकर तथा आधार-पद्म (मूलाधार चक्र) को संकुचित करके यह भावना करनी चाहिए कि मन्त्र के वर्णसमूह मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक आ-जा रहे हैं। ऐसा ध्यान करते हुए पूरक और कुम्भक प्राणायाम करके मन्त्र का एक हजार बार 'जप' करना चाहिए। इस प्रकार जप करने से मन्त्र के सभी दोषों की शान्ति हो जाती है।

गुरुतल्पनिषेवणञ्च पानं द्विजहत्या मधुनः सुवर्णचौर्यम्।
अमुता विलयं प्रयान्ति सम्यक् सकृदप्याचरितेन बन्धनेन ॥२०॥

स तु मन्त्रिवरः स एव योगी गुणसिद्धेः पदमास्थितः स एव।
अमुना चरतीह बन्धनं यः सततं स्वौचितधर्मकर्मनिष्ठः ॥२१॥

अमुना भवतीह देहभाजां सतताभ्यासकृतेन बन्धनेन।
न जरा पितृराजवैजयन्ती न च मृत्युप्रतिपादिता च भीतिः ॥२२॥

एतस्यैव हि बन्धनस्य मनुजः प्राप्नोति शश्वत्कृता-
दभ्यासादणिमादिसिद्धिमतुलां संवित्तिमप्यूर्जिताम्।
योगञ्चाप्रतिमं जयञ्च मरुतः कालस्य वा वञ्चनम्
तद्विष्णोः परमं पदन्तु सततं पश्यन्ति यत्सूरयः ॥२३॥

इति श्रीनागभट्टविरचिते त्रिपुरासारसमुच्चये चतुर्थः पटलः

गुरुतल्पनिषेवणमिति। सकृदाचरितेनापि योनिमुद्राबन्धनेन पुरुषो महापातकान्मुक्तो भवतीत्यर्थः। **अमुना इति।** देहिनाम् अमुना योनिमुद्राबन्धनेन सर्वदा कृतेन ध्रुवा भवति। कीदृशी? पितृराजस्य यमस्य बन्धनस्य सतताभ्यासात् मनुष्योऽणिमाद्यष्टविधगुणान् प्राप्नोति उत्तमां प्रतिपत्तिज्ञानञ्च प्राप्नोति। योगाभ्यासञ्च प्राप्नोति। वायोर्विजयमाप्नोति। कालस्य वा वञ्चनं सकलस्य च प्रेरणं वा स्यात्। विकल्पोपमयोरेवार्थे। चः समुच्चये। विष्णोश्च तत्पदं स्थानं पश्यन्ति सूरयः।।२०-२३।।

इति श्रीमद्गोविन्दशर्मविरचितायां त्रिपुरासारसमुच्चयटीकायां
सम्प्रदायदीपिकायां चतुर्थः पटलः

यह योनिमुद्रा अत्यन्त पुण्यदायिनी है। यह मुद्रा धारण करने से सुरापान, ब्रह्महत्या, स्वर्ण की चोरी तथा गुरुतल्प-गमन-जैसे जघन्य पाप भी कट जाते हैं।

योनिमुद्रा बाँधकर साधना करने वाला साधक मन्त्रविदों और योगाभ्यासियों में श्रेष्ठ माना जाता है। धर्म-कर्मनिष्ठ ऐसा साधक गुण-सिद्ध और सम्पन्न होता है।

इस मुद्रा का सतत् अभ्यास करने वाला साधक न तो कभी वृद्ध होता है और न ही कभी उसके अंगों और इन्द्रियों में शिथिलता आती है। ऐसे साधक को यमराज का भी कभी भय नहीं होता।

उसे अणिमा आदि सिद्धियाँ और संवित् की प्राप्ति होती है। वायु को जीतकर वह (साधक) काल को भी जीत लेता है तथा उसे भगवान् विष्णु के उस परम पद की प्राप्ति होती है, जिसके दर्शन श्रेष्ठ ऋषियों को ही होते हैं।।२०-२३।।

श्रीनागभट्ट-विरचित 'त्रिपुरासारसमुच्चय' के चतुर्थ पटल की
'कौलिनी' व्याख्या पूर्ण हुई।

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इसका समाधान कुछ विद्वान् इतना ही करते हैं कि चित्त वृत्ति का निर्विकार हो जाना ही मोक्ष है ? क्योंकि शरीर में आत्म-भाव ही विकार है और वही विकार जीव के लिए बन्धन स्व-रूप है । 'देहत्रयमसद्विद्धि कालत्रयमसत्सदा (तेजोबिन्दु) अर्थात् सूक्ष्म, स्थूल और लिंग इन तीनों शरीरों को असत् समझना चाहिए । तीनों काल भी सदा असत् ही है' इसलिए साधक आत्म की देह से भिन्न समझता हुआ आत्मा और परमात्मा में अभेद-दर्शन करे । तेजोबिन्दूपनिषत् के ही अनुसार—

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थितिः ।
ध्यान शब्देन विख्यातः परमानन्द दायकः ॥

अर्थात्—मैं ब्रह्म हूँ, ऐसी निराश्रय श्रेष्ठ वृत्ति में स्थित होना ही ध्यान शब्द से विख्यात परम आनन्द के देने वाली अवस्था है ।

इन सबसे सिद्ध होता है कि प्राण और मन के लय होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप जो आलम्ब-रहित श्रेष्ठ वृत्ति होती हैं वह परमानन्द प्राप्त कराने वाली और सुख-दुःख से निवृत्ति कराने वाली जीवन्मुक्ति रूपी मोक्ष हैं ।

जीवन्मुक्ति का लक्षण

ज्ञात्वा सुषुम्नातद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ।
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत् ॥१६

टीका—श्रेष्ठ स्थान में रहकर और सुषुम्ना नाड़ी के भेदन की विधि जानकर साधक प्राणवायु का सुषुम्ना में संचार करे ॥१६॥

व्याख्या—इस लोक में प्राण के लय की विधि बताई गई है । साधक किसी श्रेष्ठ स्थान में जाकर योगाभ्यास करे श्रेष्ठ स्थान के विषय में पहले बता चुके हैं कि उत्तम राज्य हो

0, Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collect

और धार्मिक स्थान हो, वहाँ एकान्त में बैठकर साधना करनी चाहिए और गुरु के उपदेश से सुषुम्ना नाड़ी के भेदन विधि जानकर प्राणवायु को उसमें प्रविष्ट करना चाहिए। वह प्राण सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता है, वहाँ उसका निरोध करें।

इस प्रकार प्राण का ब्रह्मरन्ध्र में लीन होना ही मन का लीन हो जाना है और मन के लीन होने से कोई विकार शेष नहीं रहता, निर्वाण ही शेष रहता है। यही साधक की श्रेष्ठ स्थिति है।

प्राणलय से कालजय कथन

सूर्याचंद्रमसौ धत्तः कालं रात्रिदिवात्मकम् ।
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥१७

टीका—सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि दिवसात्मक काल के धारण करने वाले हैं और उस काल को भोगने वाली सुषुम्ना है, यह गुह्य रहस्य प्रकट किया है ॥१७॥

व्याख्या—प्राण का लय हो जाने पर ही योगी काल को जीतने में समर्थ होता है। सूर्य और चन्द्रमा दिन-रात्रि स्वरूप काल को उत्पन्न करते हैं और सुषुम्ना नाड़ी उस दिन-रात्रि अर्थात् एक घण्टा सूर्य स्वर और एक घण्टा चन्द्र स्वर के प्रवाह हित रहता है। सूर्य स्वर के प्रवाह वाला समय दिन और चन्द्र स्वर के प्रवाह वाला समय रात्रि होता है। इस प्रकार दिन रात्रि रूप काल दो घण्टे में ही पूरा हो जाता है और इसके अनुसार चौबीस घण्टे में योगियों के बारह दिन-रात्रि व्यतीत हो जाते हैं।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

 Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जब सुषुम्ना-मार्ग से प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता है तब उसके लिए दिन-रात्रि रूप काल का अभाव हो जाता है, इसीलिए सुषुम्ना को काल का भक्षण करने वाली कहा है। ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु जितने समय तक स्थित रहता है, उतने ही समय के लिए योगी की आयु-वृद्धि हो जाती है और इस प्रकार दीर्घकाल तक इसका अभ्यास सिद्ध कर लेने वाला योगी अपना मरण-काल निकट जानकर, यदि जीवन की इच्छा करता है तो प्राणवायु को सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर निरुद्ध करता है तब उसकी मृत्यु नहीं होती। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि योगी की स्वेच्छा मृत्यु होती है।

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे।
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥१८

टीका—मनुष्य शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों के द्वार हैं, उनमें सुषुम्ना नाड़ी शाम्भवी शक्ति है और शेष सब नाड़ियाँ निरर्थक हैं ॥१७॥

व्याख्या—'पंजर' का अर्थ है अस्थि-नाड़ी से बँधा हुआ शरीर। मनुष्य शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ होती हैं, परन्तु वे शरीर में अन्न-रस वहन करने का ही कार्य करती हैं, जो कि देहासक्त व्यक्तियों के लिए तो उपयोगी होती हैं, परन्तु योगी के लिए उनका महत्व शरीर-यात्रा चलाने भर के लिए है, उसे उनसे मोह नहीं रहता। क्योंकि वह शरीर-परक न होकर आत्मा-परक होता है।

उन बहत्तर हजार नाड़ियों में एक सुषुम्ना नाड़ी ही ऐसी है, जो साधक के लिए विशेष रूप से उपकार करने वाली सिद्ध होती है। उसी को मध्य नाड़ी भी कहते हैं। विद्वानों ने उसे

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collect

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शाम्भवी शक्ति भी कहा है, क्योंकि वही नाड़ी साधक को शिव की प्रप्ति कराने में सहायक होती है।

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुण्डलीम् ।
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रवेशेदनिरोधतः ॥१९
सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्धयत्येव मनोन्मनी ।
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥२०

टीका—परिचित हुआ वायु जठराग्नि के साथ कुण्डली को बोधित करके अवरोध रूप सुषुम्ना में प्रविष्ट होता । जब प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवाहित होता है, तब मनोन्मनी अवस्था सिद्ध हो जाती है। योगियों के इससे अन्य अभ्यास के जितने भी प्रयास हैं, वे व्यर्थ होते हैं ॥१९-२०॥

व्याख्या—परिचित का अर्थ है अभ्यास और अभ्यास किया हुआ वायु ही जठराग्नि के साथ मिलकर कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने में समर्थ होता है। 'अधोगतिमपान वै ऊर्ध्वंग कुरुते बलात्' इत्यादि (यो. कु. उ.) से अपान वायु ऊपर जाकर अग्नि मण्डल से मिलता है तब अग्नि की तीव्रता वहुत बढ़ जाती है, उस ताप से सन्तप्त हुई कुण्डलिनी जाग्रत् होती है और सुषुम्ना के मुख में घुस जाती है।

जव कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती हैं तब सुषुम्ना का मुख खुला रहता है, जिससे प्राण के मार्ग में भी कोई रुकावट नहीं रहती और वह भी उसमें घुसकर ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता है, तो मनोन्मनी अवस्था हो जाती है। इसलिए योगियों के लिए इसी का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि अन्य किसी प्रकार के अभ्यास से मनोन्मनी अवस्था नहीं हो सकती, इसलिए वैसे प्रयास निष्फल ही समझने चाहिए।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

 Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ।।२१

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिस्तौ द्वावपि विनश्यतः ।।२२

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ।।२३

टीका—जिस अभ्यास से योगी वायु का बन्धन करता है, उसी से मन का बन्धन कर लेता है। इस प्रकार जिससे मन का बन्धन होता है, उसी से वायु का बन्धन हो जाता है। चित्त की प्रवृत्ति में दो हेतु होते हैं वासना और वायु। इनमें से एक का नाश होने पर दूसरे का भी नाश हो जाता है। जहाँ मन विलीन होता है वहीं वायु विलीन होता है और जहाँ वायु लीन होता है, वहाँ मन भी लीन हो जाता है ।।२१-२३।।

व्याख्या—प्राणवायु के अभ्यास से योगी जब मन को वश में कर लेता है, तब उसकी चंचलता नष्ट हो जाती है। मन का धर्म है चिन्तन और मन के लय से चिन्तन का त्याग होकर निश्चिन्तता का उदय होता है। मन क्या है ? इस विषय में विद्वानों का मत है कि प्राण का स्पन्दन ही मन है, परन्तु प्राण के स्पन्दन-रहित होने पर मन की रक्षा होती है। इस प्रकार प्राण ही मन की रक्षा करता है क्योंकि सुषुम्ना में चढ़ता हुआ प्राण जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर लीन हो जाता है तब उसके साथ मन का भी लय हो जाता है। इससे समझा जा सकता है कि जिससे प्राण का बन्धन है उसी से मन का भी है और जिससे मन का बन्धन है, उसी से प्राण का बन्धन होता है।

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collect

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चित्त की प्रवृत्ति दो कारणों से होती है, एक तो वासना से और दूसरे वायु से। इन दोनों में से एक नष्ट हो जाय तो वे दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि वासना के नष्ट होने पर वायु और चित्त नष्ट होते हैं और वायु के क्षीण होने पर चित्त और वासना का नाश हो जाता है। इसका सीधा साधा अर्थ है कि चित्त से वासना का विकार दूर होते ही चित्त शान्त हो जाता है और चित्त के शान्त होने पर ही तत्वज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।

कुछ विद्वानों के विचार में तत्वज्ञान होने पर ही चित्त के संयम से वासना का शमन हो सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि चित्त की प्रवृत्ति, वासना और प्राणवायु इन तीनों का बन्धन आवश्यक है इसके बिना आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसलिए इन तीनों के बन्धन का अभ्यास योगी के लिए कर्तव्य है।

जहाँ मन का लय हो, वहीं वायु का लय होगा और जहाँ वायु का विलय हो, वहीं मन का विलय होता है। 'अर्थात् प्राण-वायु के साथ संयुक्त हुआ मन भी ब्रह्मरन्ध्र में ही जाकर लय को प्राप्त होता है। 'वायुं बिन्दु तथा चक्रं चैव समभ्यसेत्' इत्यादि (यो. कु. उ.) अर्थात् प्राणवायु, बिन्दु, चक्र और चित्त का उचित रूप से अभ्यास करके योगीजन ऐक्यरूपता की समाधि तक पहुँच जाते हैं।'

इस प्रकार साधक को प्राणवायु पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिए। उसी से मन पर भी विजय प्राप्त हो सकती है और मन-प्राण का जीता जाना ही तत्वज्ञान की उपलब्धि है।

Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Colle

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दुग्धांबुवत्संमिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि।
यतोमरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥२४
तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकस्यवृत्तेर परप्रवृत्तिः।
अध्वस्तयोचेंद्रियवर्गवृत्ति प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्यसिद्धिः।२५
रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावतः।
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्धयति भूतले ॥२६

टीका—दुग्ध और जल के समान संयुक्त मन और वायु तुल्य क्रिया हैं। जहाँ वायु की प्रवृत्ति है, वहाँ मन की प्रवृत्ति है और जहाँ मन की प्रवृत्ति है, वहीं वायु क प्रवृत्ति है वहाँ एक के नाश से दूसरे का नाश होता है, एक की प्रवृत्ति से दूसरे की प्रवृत्ति होती है। जब तक सब इन्द्रियों का अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होना नहीं रुकता, तब तक मोक्षपद की सिद्धि भी सम्भव नहीं है। रस और मन स्वभावतः ही चपल होते हैं, रस और मन वद्ध हो जाँय तो भूतल पर क्या सिद्ध नहीं हो सकता? ॥२४-२६॥

व्याख्या—जैसे दूध और जल मिलकर एक हो जाते हैं उनके रूप और क्रिया में कोई अन्तर नहीं रहता, वैसे ही मन और प्राणवायु के संयोग को समान समझना चाहिए। तुल्य-क्रिया का अर्थ है दोनों की प्रवृत्ति का एक समान होना। जिस स्थान में मन प्रवृत्ति होती है, उसी स्थान में प्राण की प्रवृत्ति होती है। मुण्डकोपनिषत् में कहा है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन् प्राणः पञ्च संविवेश।

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collect

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ।।

अर्थात्—जिस शरीर में पाँच रूपों वाला प्राण स्थित है, शरीरधारियों का मन उसी प्राण से व्याप्त है। यह सूक्ष्म आत्मा मन के द्वारा जाना जाता है और उस मन के शुद्ध होने पर आत्मा सब प्रकार से सशक्त हो जाता है।

इस प्रकार मुण्डक में भी मन को प्राण से व्याप्त कहकर उनकी समानता ही प्रकट की गई है। एक दूसरे का इतना तादात्म्य होने से यह कहना उचित ही है कि इनमें से एक के नाश से दूसरे का नाश हो जाता है और एक व्यापार नहीं करता तो दूसरा भी नहीं करता। सभी इन्द्रियां तभी तक अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त रहती हैं, जब तक कि मन या प्राण उन्हें उसके लिए प्रेरित करता है। यह नहीं हो सकता कि मन किसी इन्द्रिय का उसके विषय में प्रेरण करे और प्राण का सहयोग न मिले तो वह इन्द्रिय अपने व्यापार में प्रवृत्त हो जाय।

रस अर्थात् पारद की चंचलता सभी पर विदित है, जैसे वह किंचित् उष्णता पाकर ही अपने स्थान से चलायमान होकर अन्यत्र बढ़ता है, वैसे ही मन भी स्वभाव से ही चंचल है, वह कभी कहीं और कभी कहीं उड़ान भरता है। इसीलिए साधक को उस मन के निरोध का कर्तव्य रूप से उपदेश दिया जाता है और ज्ञानी साधक तो सदा यही विश्वास रखता है—

लब्धात्मा जिह्वया तुच्छो लोलया लोलसत्तया ।
स्वल्पस्पन्दो द्रव्य निष्ठो रसो नाहमचेतनः ।।

—सन्यासोपनिषत्

अर्थात्—चंचल मन और मन से संयुक्त जिह्वा से, द्रव्य से उत्पन्न तुच्छ स्पन्दन में नहीं हूँ।

. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ।
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ।।२७

टीका—आदिनाथ कहते हैं कि हे पार्वति ! मूर्च्छित रस और प्राण रोगों का हरण करता है मरा हुआ रस एवं ब्रह्मरन्ध्र में लय को प्राप्त हुआ प्राण मनुष्य को जीवन देता और खेचरत्व प्राप्त कराता है ।।२७।।

व्याख्या—जैसे वनौषधियों के योग से घोटकर पारद की चपलता नष्ट कर दी जाती है, तब उसकी मूर्च्छित संज्ञा होती है, वैसे ही कुम्भक के पश्चात् रेचक से निवृत्ति को प्राप्त हुआ प्राणवायु भी मूर्च्छित कहलाता है । इस प्रकार मूर्च्छित अवस्था को प्राप्त हुआ पारद और प्राण सभी रोगों को दूर करने में समर्थ होता है ।

पारद को भस्म कर लिया जाय तो वह मरा हुआ कहा जाता है और प्राणवायु का भी निरोध करके उसे सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा दिया जाय तो वह भी मृत कहलाता है, क्योंकि इडा-पिङ्गला से विलग होकर सुषुम्ना में प्रवेश करते ही मनुष्य की अवस्था मरे हुए के समान हो जाती है, इसलिए यह प्राण की मृतावस्था मानी गई । इस प्रकार मरा हुआ पारद और प्राण दोनों ही मनुष्यों को दीर्घजीवन प्राप्त कराने में समर्थ होते हैं ।

'बद्धः खेचरतां धत्ते' का अभिप्राय यह है कि क्रियाविशेष से बद्ध किया हुआ पारा गर्मी प्राप्त होते ही आकाश की ओर गति करता है और भौंहों के मध्य विशेष रूप से धारण किया हुआ प्राणवायु भी साधक को आकाशगति प्राप्त कराता

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collect

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। इस प्रकार बद्ध प्राण के प्रभाव से योगी आकाश में पक्षियों के समान उड़ने में समर्थ होता है।

मनःस्थैर्यें स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थरो भवेत् ।
बिंदुस्थैर्यात्सद सत्वं पिंडस्थैर्य प्रजायते ।।२८
इन्द्रियाक्षां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ।।२९
सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापु मतांतरे ।
मनः प्राणलये कश्चिदानन्ददः संप्रवर्तते ।।३०

टीका—मन के स्थिर होने पर प्राण भी स्थिर हो जाता है और प्राण की स्थिरता से बिन्दु स्थिर होता है। बिन्दु की स्थिरता से सदा सत्व रहता है और उसको शरीर में स्थिरता उत्पन्न होती है। इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन का स्वामी प्राण है, प्राण का स्वामी लय है और लय नाद से आश्रित है। यही मोक्ष कहलाता है, मतान्तर से ऐसा नहीं कि मन और प्राण का लय होने पर अनिर्वचनीय आनन्द प्रकट होता है। ।।२८-३०।।

व्याख्या—मन के स्थिर होने पर ही प्राण स्थिर होता है, क्योंकि मन चंचल होगा तो प्राण भी चंचल रहेगा। मन की स्थिरता से स्थिर हुआ प्राण वीर्य को चलित नहीं होने देगा और वीर्य चलित नहीं होता, शरीर में विद्यमान रहता है तो शरीर की शक्ति बनी रहती है शक्ति है तो शरीर में स्थिरता रहना स्वाभाविक है।

श्रोत्रादि पंच इन्द्रियों का स्वामी मन ही है क्योंकि मन की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। उस मन का स्वामी प्राण है, क्योंकि प्राण के सहयोग के बिना

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collection

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मन की प्रवृत्ति भी निष्फल होती है। परन्तु प्राण का स्वामी है मन का लय हो जाना, जो कि नाद का आश्रित होता है। क्योंकि नाद ही ब्रह्म है, यथा 'नादो ज्योतिर्मयः शिवः' (नाद बिन्दु) अर्थात् 'नाद ही ज्योतिर्मान् शिव है।' इसलिए मन का नाद में लय होना मोक्षरूप कहा गया है।

परन्तु उक्त मत से भिन्न मत के कुछेक विद्वान् चित्त के लय होने को मोक्ष रूप नहीं मानते। उनके अनुसार चित्त का लय तो सुषुप्ति में भी हो जाता है। उनका यह मत प्रस्तुत प्रसङ्ग में उपयुक्त नहीं है क्योंकि मन और प्राण के लय होने पर जो अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है, उससे जीवन्मुक्ति की अवस्था रूप उपलब्धिका सुख अवश्य मिलता है। इसीलिए ग्रन्थकार ने चित्त का प्राण के साथ नाद में लय हो जाना मोक्ष स्वरूप कहा है।

प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ।
निश्चेष्टो निर्विकारस्थ लयो जयति योगिनाम् ॥३१
उच्छिन्नसर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥३२

टीका—श्वास-निश्वास-रहित, विषय के ग्रहण से उन्मुख चेष्टा-रहित और विकार-रहित योगियों का लय होता है। सर्व संकल्पों की उच्छिन्नता, अशेष चेष्टाओं से निवृत्ति, वाणी से न कहा जाने योग्य लय योगियों का होता है ॥३१-३२॥

व्याख्या—बाह्य वायु का भीतर पहुँचना श्वास और भीतर के वायु का बाहर निकलना निवास होता है। जिसमें इनकी और इन्द्रियों के द्वारा विषयों के ग्रहण का अभाव हो जाय तथा चेष्टा और विकार भी नष्ट हो जाय, इसे लय का होना समझना चाहिये। अभिप्राय यह है कि ध्येय वस्तु के

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collect

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आकार में अन्तःकरण की वृत्ति का एकाकार हो जाना ही लय है।

लय के अन्य लक्षण में मन के कार्यरूप संकल्पों का नष्ट होना चेष्टित् अर्थात् अङ्ग-संचालन व्यवहार का निवृत्त हो जाना आदि का समावेश है। लय को वाणी से नहीं कहा जा सकता, वरन् स्वयं ही अनुभव के द्वारा जाना जा सकता है, ऐसे लय की उपलब्धि सर्वश्रेष्ठ मानी गई है।

यत्र दृष्टिर्लयस्तत्व भूतेन्द्रियसनातनी।
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥३३

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम्।
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥३४

टीका—जहाँ दृष्टि का लय होता है, वहाँ सनातन भूत और इन्द्रिय नहीं रहते। जीवों की शक्ति रूप विद्या, अविद्या दोनों ही अलक्ष्य में लय होती हैं। इस प्रकार लय कहा जाता है, परन्तु लय का लक्षण क्या है? विषय की विस्मृति और वासनाओं का पुनः न उठना ही लय है ॥३३-३४॥

व्याख्या—ब्रह्मरूप अन्तःकरण वृत्ति में मन का लय होता होता है। जिसमें पृथिवी आदि पंच महाभूत और इन्द्रियाँ हों, वह अविद्या और जीवों की भक्ति रूप विद्या इन दोनों का लय अलक्ष्य ब्रह्म में ही होता है।

विद्या और अविद्या का फल विपरीत है। केनोपनिषत् में यम ने नचिकेता से कहा कि—

दूसमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्या भीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्तः ॥

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अर्थात्—विद्या अविद्या के फल भिन्न होते हैं। हे नचिकेता ! तुम्हें अनेकों भोग अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सके, इससे मैं समझता हूँ कि तुम विद्या की ही कामना करते हो।

इस प्रकार भिन्न फल वाली विद्या और अविद्या दोनों का ही पूर्ण रूप से त्याग करके ब्रह्म में चित्त का रम जाना लय है, वही श्रेष्ठ स्थिति है।

फिर भी कुछ लोग लय के विषय में पूछ सकते हैं कि उसका लक्षण क्या होता है ? इसका समाधान ग्रन्थकार इस प्रकार करते हैं कि शब्दादि सभी विषयों और साथ ही ध्येय विषय की भी विस्मृति हो जाय वही लय का लक्षण है क्योंकि लय का अर्थ है आत्मसात् हो जाना और वासनाओं का पुनः उत्थान न करना आत्मसात् का प्रत्यक्ष लक्षण है। 'यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासंछिव एव केवलः' (श्वेताश्वतर) अर्थात् जब अज्ञान का अन्धकार दूर हो जाता है तब दिन, रात्रि, सत्, असत् का बोध नहीं रहता, उस समय केवल एक शिव ही शेष रहता है।' वही अवस्था 'लय' समझनी चाहिए।

शाम्भवी मुद्रा वर्णन

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥३५
अंतर्लक्ष्यं वहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥३६

टीका—वेद, शास्त्र और पुराण सभी सामान्य गणिका के समान और शाम्भवी मुद्रा ही कुल वधु के सजान गोपनीय है। अन्तर्लक्ष्य और वहिर्लक्ष्य में निमेष और उन्मेष न हो, ऐसी यह शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्र में छिपी रहती है ॥३५-३६॥

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collect

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्याख्या—शाम्भवी मुद्रा का वर्णन आरम्भ करते हुए प्रथम उसका महत्व प्रकट किया है कि यह मुद्रा परम गोपनीय है। कुलवधू के समान कहने से, यहाँ कुलवधू अर्थात् सद्गृहस्थ की पत्नी की गरिमा स्वीकार की है और वेदादि के सर्व सुलभ होने के कारण उसे गणिका के समान बताकर शाम्भवी मुद्रा की श्रेष्ठता ही व्यक्त की है।

शरीर में जो मूलाधारादि षट्चक्र हैं उनमें से जो अभीष्ट हो, उस चक्र में लक्ष्य बनाकर अन्तःकरण की वृत्ति और विषयों वाली दृष्टि जो निमेष उन्मेष से रहित हो ऐसी यह मुद्रा ऋग्वेदादि और योग-दर्शनादि में छिपी हैं। इससे शुभ की प्रत्यक्षता प्राप्त होती है, इसलिए इसका नाम शाम्भवी मुद्रा हुआ।

अन्तर्लक्षविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते ।
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः ।
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्वं परं शांभवम् ॥३७

टीका—जब योगी अपने चित्त और वायु को अन्तर्लक्ष्य में लय करके निश्चल तारे वाले दृष्टि से शरीर के बाहर देखता हुआ भी नहीं देखता, यह शाम्भवी मुद्रा गुरु के प्रसाद से प्राप्त होती है। इससे शून्य-अशून्य से भी विलक्षण शाम्भव रूप परम तत्व का स्फुरण होता है ॥३७॥

व्याख्या—इस श्लोक में शाम्भवी मुद्रा का स्वरूप बताया है। त्वमसि आदि महाकाव्यों से जीवात्मा परमात्मा के अभेद रूप लक्ष्य में मन और प्राण का लय होने पर निश्चल दृष्टि खुली रहकर भी बाहर के विषयों को नहीं देख पाती, क्योंकि मन का लय होने पर इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण नहीं कर

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सकतीं। इस प्रकार ब्रह्म मे लय को प्राप्त हुए मन और प्राण जब इस अवस्था में पहुँच जाते हैं, तब शाम्भवी मुद्रा होती है।

श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः।
भवेच्चित्तलतानन्दः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥३८

टीका—शाम्भवी और खेचरी मुद्राओं के द्वारा अवस्था और धाम के भेद से शून्य चित्त सुख स्वरूप चित्त के लय का आनन्द होता है ॥३८॥

व्याख्या—शाम्भवी और खेचरी दोनों ही मुद्रायें समान फल प्रदान करने वाली मानी गई हैं। इनमें से किस मुद्रा का अभ्यास किया जाय ? यह साधक की अवस्था और देश काल को देख कर निश्चित करना चाहिए। अथवा इन दोनों मुद्राओं में देश-भेद यह है कि शाम्भवी मुद्रा में बाह्य दृष्टि होने से बहिः स्थिति और खेचरी मुद्रा में भौंहों के मध्य में दृष्टि रहने से वही स्थिति होती है। परन्तु इन दोनों से ही चिदानन्द रूप आत्मा में चित्त का जो लय होता है, उस परमानन्द की उपलब्धि होती है।

उन्मीन मुद्रा

तारे ज्योतिषी संयोज्यकिंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ।
पूर्वयोगं मनो युंजन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥३९
केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः।
केचित्तर्केण मुह्यंति नैव जानन्ति तारकम् ॥४०

टीका—तारों को ज्योति में युक्त करके भौंहों को कुछ ऊपर की ओर करे और पूर्वोक्त योग में मन को लगा दे तो क्षण

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collect

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भर में उन्मनीकारक अवस्था होती है। किसी आगम के जाल से और किसी निगम के फलों से जो मोहित रहते हैं, वे तारक को नहीं जान सकते ॥३९-४०॥

व्याख्या—नेत्रों के तारों को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करके प्रकाशमान ज्योति में योजित करे और भृकुटियाँ कुछ ऊपर की ओर उठाकर पूर्वोक्त अन्तर्लक्ष्य और वहिर्दृष्टि रूप योग में मन को लगा देना चाहिये। इससे उन्मनी अवस्था हो जाती है। यह उन्मनी अवस्था साधक को तारने वाली है, परन्तु आगाम अर्थात् शास्त्रों और निगम अर्थात् वेदों में विभिन्न प्रकार की उपासनाओं और यज्ञों का वर्णन होने से उनमें विश्वास रखने वाले लोग योग का अभ्यास नहीं करते, वे संसार सागर से तारने वाली इस उन्मनी अवस्था को नहीं जान पाते।

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चंद्रार्कावपि लीनतामुपनन्निष्पंदभावेन यः।
ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं।
तत्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥४१

टीका—अर्द्ध उन्मीलित नयन, स्थिर मन और नासिका के अग्रभाग में दृष्टि वाला योगी चन्द्र सूर्य का लीन करता हुआ निस्पद भाव से अत्यन्त देदीप्यमान, ज्योति स्वरूप अशेष, अखिल विश्व के बीज रूप परम तत्व के पद को जाता है। इस विषय में अधिक क्या कहा जाय ? ॥४१॥

व्याख्या—उन्मनी अवस्था में योगी के नेत्र आधे खुले आधे बन्द रहते हैं। उस समय वह स्थिर चित्त से नासिका के अग्रभाग में दृष्टि रखता है। उसका मन इस प्रकार लय को

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्राप्त हो जाता है कि उसे अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती ।

उस नासिका के अग्रभाग में जो स्वच्छ आकाश है, उसमें ज्ञान और दृष्टि दोनों सम्यक् प्रकार से लग जाँय तो प्राणों का स्पन्दन भी रुका हुआ प्रतीत होता है और प्राण के संचार के उस अवरोध में कारण होती है शरीर मन और इन्द्रियों की निश्चलता । ऐसी स्थिति में अवस्थित हुआ योगी तत्व स्वरूप परम पद को प्राप्त होता है ।

उस परम पद का वर्णन करना बहुत कठिन है अधिक तो क्या अल्प कथन भी नहीं हो पाता । योगतत्वोपनिषत् में कहा है—

अनिर्वाच्य पदं वक्तुं न शाक्यं तै सुरैरपि ।
स्वात्मप्रकाश रूपं तत्कि शास्त्रेत्र प्रकाशते ।।

अर्थात्—उस अनिर्वाच्य पद का वर्णन देवता भी नहीं कर सकते तब शास्त्र ही उस आत्मप्रकाश रूप का वर्णन कैसे कर सकते हैं ?

दिवा न पूजयेल्लिगं रात्रौ चौव न पूजयेत् ।
सर्वदा पूजयेल्लिगं दिवारात्रिनिरोधतः ।।४२

टीका—दिन में लिंग का पूजन न करे, रात्रि में भी नहीं करना चाहिए । दिन रात्रि के निरोध को करता हुआ सर्व काल में लिङ्ग-पूजन कर सकता है ।।४२।।

व्याख्या—उन्मनी अवस्था में काल का कोई नियम नहीं रहता । दिन का अर्थ सूर्य और रात्रि का अर्थ चन्द्रमा, इन दोनों का संसार होने के समय लिंग-पूजन का निषेध है । तात्पर्य यह है कि पिंगला और इड़ा के स्वर-संसार काल में पूजन नहीं करना चाहिए । इसका कारण यह है कि सूर्य-चन्द्र स्वर के संचार काल

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collect

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में चित्त की स्थिरता नहीं रह पाती, क्योंकि उस समय प्राणवायु चलायमान रहता है इसलिए चित्त भी चलायमान रहेगा।

दिन-रात्रि को छोड़कर अन्य सभी कालों में पूजन करने का निर्देश है। क्योंकि सूर्य-चन्द्र का निरोध होने पर प्राण सुषुम्ना में चला जाता है तब मन की भी स्थिरता हो जाती है। इस श्लोक में पूजन शब्द का प्रयोग ध्यान के लिए है, क्योंकि योगी के लिए बाह्य पूजन अपेक्षित नहीं उसके लिए तो ध्यान ही पूजन है। इसलिए लिंग अर्थात् आत्मा के ध्यान का ही निर्देश समझना चाहिए।

खेचरी मुद्रा का स्थैर्य कथन

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः ॥४३
इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥४४
सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालम्बान्तरं पुनः।
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥४५

टीका—बाँयी-दाँयी नाड़ियों में स्थित प्राणवायु जहं जाता है, वहीं खेचरी मुद्रा स्थित होती है, इसमें संशय नहीं। इडा और पिङ्गला के मध्य का शून्य प्राणवायु का ग्रास कर ले, उसी शून्य में खेचरी मुद्रा होती है यह कथन बार-बार सत्य ही है। सूर्य और चन्द्र के मध्य जो निराश्रय अन्तर है, उस व्योम चक्र में ठीक प्रकार स्थित होने से उस मुद्रा का नाम खेचरी है ॥४३-४५॥

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्याख्या—बाँयी नाड़ी इडा है, इसे चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं और दाँयी नाड़ी पिंगला है, जो कि सूर्य नाड़ी भी कहलाती है। उनमें स्थित प्राणवायु निकलकर जहाँ पहुँचता है वहीं खेचरी मुद्रा का होना कहा है। इडा-पिंगला के मध्य शून्य अर्थात् आकाश माना जाता है, उनमें प्राण का स्थिर होना ही प्राण का ग्रास कहलाता है। उसी शून्य रूप आकाश में खेचरी का स्थित होना निश्चित है। इडा-पिंगला के मध्य जो आश्रय रहित अन्तर है, वहाँ आकाशों का समुदाय रूप चक्र विद्यमान रहता है, क्योंकि भौंहों के मध्य सभी आकाश मिलते हैं। उसी आकाश में ठीक प्रकार से स्थित होना ही खेचरी मुद्रा है। 'एवं सहजानन्दे यदा मनोलीयते तदा शाम्भवी भवति' तामेव खेचरी माहुः (मण्डलब्राह्मणोपनिषत्) अर्थात् 'जब मन ऐसे सहजानन्द में लीन हो जाता है तब जीव को शान्ति मिलती है, वह शाम्भवी है जिसे खेचरी कहते हैं।

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा।
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥४६
पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत्।
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते ॥४७

टीका—जिससे चन्द्रमा से अमृत की धारा प्रकट होती है, वह खेचरी मुद्रा साक्षात् शिव-वल्लभा है। अतुल और दिव्य सुषुम्ना को पश्चिम मुख में जिह्वा से पूर्ण करना चाहिए और यदि पूर्व मुख में पूर्ण करे तो निश्चय ही खेचरी मुद्रा होती है। इस प्रकार अभ्यास से सिद्ध इस मुद्रा से उन्मनी अवस्था उत्पन्न हो जाती है ॥४६-४७॥

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collect

 Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्याख्या—खेचरी मुद्रा शिवजी को अत्यन्त प्रिय है। उसमें चन्द्रामृत की धारा उत्पन्न हो जाती है। इसलिए इसका अभ्यास साधक को दीर्घजीवी बनाता है।

सुषुम्ना नाड़ी के दो मुख होते हैं—पश्चिम और पूर्व ! इन दोनों मुखों को प्राण से पूरित करें। इसका ठीक प्रकार से अभ्यास करने पर उन्मनी अवस्था होती है। परन्तु सुषुम्ना के बल पश्चिम मुख को ही पूरित करने और पूर्व मुख का पूरित न करने से जो खेचरी मुद्रा होती है, वह मूढ़ अवस्था को उत्पन्न करने वाली है।

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते।

ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ।।४८

अभ्यत्सेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः।

संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ।।४६

निरालम्बं मनःकृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत्।

स बाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ।।६०

टीका—भौंहों के मध्य में शिव का स्थान है, वहाँ मन का विलय होता है। उस पद को काल की विद्यमानता से रहित तुर्य पद जानना चाहिए। खेचरी का तब तक अभ्यास करे, जब तक योगी योग निद्रित हो और जब योग निद्रा की प्राप्ति हो जाती है, तब उसकी मृत्यु कभी नहीं होती। जो योगी मन को आश्रय-रहित करके कुछ भी चिन्ता नहीं करता, वह बाह्याभ्यन्तर के आकाश में घट के समान टिक जाता है, यह निश्चय है ।।४८-५०।।

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्याख्या—दोनों भृकुटियों के बीच शिव रूप आत्मा का स्थान माना गया है। वहाँ पहुँची हुई मन की वृत्ति शिवाकर हो जाती है। वह पद जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के पश्चात् का अर्थात् चौथा तुरीय पद है, जहाँ काल तो रह ही नहीं सकता।

योग-निद्रा में सभी वृत्तियों का निरोध होता है, यह अवस्था बहुत समय के अभ्यास से सिद्ध होती है। इसकी प्राप्ति के लिये खेचरी का अभ्यास करना उचित है। इसके द्वारा मृत्यु भी विजित हो जाती है। इसलिए खेचरी का अभ्यास करता हुआ योगी मन को आश्रय-रहित कर दे अर्थात् संयमित करे अन्य किसी प्रकार का चिन्तन न करे। तब जैसे खाली घट बाहर-भीतर आकाश से पूर्ण होता है वैसे ही खेचरी मुद्रा होने पर आलम्बन छोड़े हुए योगी ब्रह्म में स्थित होता है।

वाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ।
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥५१

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥५२

अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ।
सिद्धयत्यत्र महाकायो महाबलपराक्रमः ॥५३

टीका—जैसे वाह्य वायु लीन होता है, वैसे मध्य का भी लीन हो जाता है, इसमें संशय नहीं तथा मन सहित प्राण-वायु अपने स्थान में स्थिरता को प्राप्त होता है। इस प्रकार वायु मार्ग में दिन-रात्रि अभ्यास करते हुए, जिसमें वायु लीन होता है, उसी में मन भी लय हो जाता है। तलुओं से मस्तक पर्यन्त शरीर को चन्द्रामृत से सिंचित कर ले तो उस

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collect

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

योगी को महाबल, पराक्रम और महान् काया की सिद्धि होती है वही उसका अमृत से स्नान करना है ।।५१-५३।।

व्याख्या—खेचरी मुद्रा के अभ्यास काल में बाह्य वायु तो लीन होता ही है, क्योंकि उसका भीतर प्रवृत्त होना असम्भव है। इसी प्रकार शरीर के मध्य का वायु इसलिए लीन होता है कि उसकी वाह्य प्रवृत्ति नहीं हो सकती। परन्तु मन के सहित वह वायु अपनी स्थिरता के स्थान ब्रह्मरन्ध्र में जाकर स्थैर्य को प्राप्त होता है। प्राणवायु के मार्ग सुषुम्ना में सदा अभ्यास करने से वह वायु जीर्ण हो जाता है। उसका जीर्ण ही लय होना है। प्राणवायु लीन होता है, वहीं मन भी लीन हो जाता है। ऐसा होने पर ही चन्द्रमा से स्रवित होते हुए अमृत से समूचे शरीर का पोषण होता है, जिससे बल-पराक्रम बढ़ता और साधक दीर्घजीवी हो जाता है।

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ।
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ।।५४

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।।५५

टीका—मन को शक्ति के मध्य और शक्ति को मन के मध्य में करके तथा मन से मन को देख परमपद का धारण करे। ब्रह्म के मध्य आत्मा को और आत्मा के मध्य ब्रह्म को करके, सत् को ब्रह्ममय करता हुआ किंचित् भी चिन्ता न करे।।५४-५५।।

व्याख्या—मन को कुण्डलिनी शक्ति में लगाकर उस शक्ति को मन में योजित करे। अर्थात् मन और शक्ति का ऐक्य करके मनन पूर्वक मन का अवलोकन करे, यह देखें कि मन

0. Maharishi Mahesh Yogi Vedic Vishwavidyalaya (MMYVV), Karoundi, Jabalpur,MP Collec

कुण्डलिनी शक्ति[1]

कुण्डलिनी का विवेचन, विशेष रूप से मूलाधार चक्र के साथ साथ पूर्व मे भी किया जा चुका है। इसे शास्त्रो मे सर्प, देवी तथा शक्ति एक साथ ही कहा है। हठ योगप्रदीपिका (३।१०४) मे कुटिलागी, कुण्डलिनी, भुजगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुधती इन सात पर्यायवाचक नामो का उल्लेख किया गया है। समष्टि के रूप मे यह पराकुण्डलिनी, महाकुण्डलिनी, महाशक्ति, अव्यक्त कुण्डलिनी आदि नाम से पुकारी जाती है तथा व्यष्टि मे यह कुण्डलिनी कही जाती है। इसे आधार शक्ति भी कहते है। व्यष्टि रूप से व्यक्ति इस शक्ति ही के आश्रित है। यही उसका मूल आधार है। इसी के ऊपर व्यक्ति की क्रियाशीलता तथा विकास आधारित है। समष्टि रूप से सम्पूर्ण विश्व इसके आश्रित है। यह विश्व के समस्त पदार्थों की आश्रयदात्री है। यही उनकी मूल शक्ति है। विश्व मे क्रियाशीलता तथा चेतना सब इसी शक्ति के कारण है। कुण्डलिनी शक्ति ही प्राण शक्ति है। प्राण को गति विधि इस पर ही आधारित है। यह शक्ति मूलाधार मे स्थित है। प्रत्येक शारीरिक क्रिया के लिये प्राणी को मूलाधार चक्र से ही शक्ति प्राप्त होती है। मन भी मूलाधार स्थित कुण्ड-

---

१ विशद विवेचन के लिये लेखक का "भारतीय मनोविज्ञान" नामक ग्रन्थ देखने का कष्ट करें।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्—मत्र भाग। ६२ से ६५ तक।

दर्शनोपनिषत्—४।११, १२। ध्यानबिन्दूपनिषत्—६५ से ७२ तक योगचूडामण्युपनिषत् ३६ से ४४ तक। योगशिखोपनिषत्—१।८२ से ८७ तक, ११२ से ११७ तक। ५।३६, ३७, ६।१ से ३ तक, १६ से १९ तक, ५५।

योगकुण्डल्युपनिषत्—१।७, ८, १०, १३, १४, ६२ से ७६ तक। शाण्डिल्योपनिषत्—१।४।८। शिव-सहिता—४।२१ से २३ तक, ५।७५ से ९८ तक।

हठ योग प्रदीपिका—३।१से ५ तक, ११, १२, ३।१०४ से १२३ २।६५, ४।१०,११, २९ ५४। Yoga Immortality and Freedom by Mircea Eliade-Page-245। घरेण्ड सहिता—६।१, १६, १७, ३।३४ से ३६ तक, ४४, ४६, ५१। गोरक्ष पद्धति—१।४६ से ५२ तक, ५४, ५६, ग्रन्थान्तरे १, २, ५ से ११ तक ३, ७०। भारतीय सस्कृति और साधना-महा महोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज जी—३०२ से ३२२ तक कुण्डलिनी तत्त्व। "शक्ति जागरण"

लिनी शक्ति से ही शक्ति प्राप्त कर क्रियाशील होता है। चिन्तन, सकल्प, इच्छा आदि मन के कार्य, बोलना, उठना, बैठना, दौडना, कूदना, चलना, फिरना आदि शरीर की सब बाह्य क्रियाये तथा रक्त सचालन आदिक शरीरकी सब आन्तरिक क्रियाये कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा ही होती है। इस शक्ति से ही विश्व की उत्पत्ति, स्थैर्य तथा विनाश होता है। यही विश्व आधार महा शक्ति व्यक्ति मे भी अभिव्यक्त होती है। मानव का भौतिक शरीर तथा उसकी क्रियाये इस कुण्डलिनी शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ है। यही सब मे मूलसत्ता रूप से विद्यमान है। मन तथा पुद्गल दोनो इस शक्ति के ही रूप है। वही मनुष्य मे चेतन एव जड तथा दृष्ट जगत् की शक्ति और उसके पदार्थों के रूप मे अभिव्यक्त है। यह आदि शक्ति है। मूलाधार के योनि स्थान मे स्थित स्वयभू लिंग मे सर्पाकार होकर लिपटी अपने मुख से सुषुम्ना के रन्ध्र को बन्द किये सो रही कुण्डलिनी शक्ति मे ही चित्त विद्यमान है। यही अचेतन मन का स्थान है। त्रिकाल के अनुभवो सहित मन की शक्ति, बुद्धि, अहकार आदि स्थूल शरीर सहित सब मूलाधार चक्र पर कुण्डलिनी शक्ति मे विद्यमान हैं। स्मृति ज्ञान का यही श्रोत है। व्यक्ति में ब्रह्माण्ड की सब शक्तियो का यह केन्द्र है। इस शक्ति की सुप्तावस्था मे ब्रह्ममार्ग बन्द रहता है। सुषुम्ना रन्ध्र को ही ब्रह्ममार्ग कहते है। इसमे को होकर ही कुलकुण्डलिनी सहस्रार पर पहुँचती है। साधारण अवस्था मे जब ब्रह्म-मार्ग बन्द रहता है तथा जब शक्ति अविकसित अवस्था मे पडी रहती है, तब प्राणशक्ति इडा ओर पिंगला मे को होकर ही बहती रहती है। जैसा कि पूर्व मे बताया जा चुका है, प्रत्येक चक्र की शक्ति इस कुण्डलिनी की ही शक्ति है। षट्-चक्र, उन चक्रो की शक्तियाँ, देवता तथा अव्यक्त शक्ति रूप देवियाँ ये सब कुण्डलिनी की ही अभिव्यक्तियाँ है। इन सबको मिलाकर कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी की सुप्तावस्था मे सब चक्र अधोमुखी होते है। जब यह कुण्डलिनी शक्ति जागरित होकर ब्रह्म मार्ग से ऊपर को सहस्रार की तरफ चलती है तो क्रमश ऊपर के चक्र तथा नाडिया प्रकाशित होती चलती है और अधोमुखी चक्र उस शक्ति के सम्पर्क मात्र से ऊर्ध्व मुख होते जाते है। उन चक्रो की विशिष्ट शक्तियाँ जो कि इस कुण्डलिनी की ही शक्तियाँ हैं, अव्यक्त से व्यक्त हो जाती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि उन अलग अलग केन्द्रो की शक्ति का जागरण भी सुषुम्ना सम्बन्ध से क्रमश होता चला जाता है। वैसे तो यह शक्ति प्रवाह सदैव चलता रहता है, क्योकि इसके बिना स्थूल शरीर क्रियाशील एव जीवित नही रह सकता। सभी मनुष्यो मे ये चक्र अपनी शक्ति द्वारा न्यूनाधिक

रूप से क्रियाशील रहते है। इनमे अधिक शक्ति प्रवाहित होने से मानव अधिक योग्य अर्थात महान् तथा विकसित गुणो वाला होता हे। जब व्यक्ति इनकी शक्ति को विशेष रूप से जाग्ररित करता है, तब कुण्डलिनी शक्ति जागरित होकर उन चक्रो से सम्बन्धित होती है तथा उस व्यक्ति मे उन चक्रो से सम्बन्धी शक्ति विकसित हो जाती है। यह कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार चक्र मे स्थूल रूप से स्थित सब चक्रो का आधार है। यह अनादि एव अनन्त शिव की शक्ति ही ब्रह्म की माया है जिसके द्वारा सृष्टि की अभिव्यक्ति और लय का क्रम चलता रहता हे। ब्रह्म तथा उसकी मूल शक्ति दोनो ही केन्द्रस्थ हे। ब्रह्म निरपेक्ष दृष्टामात्र है, किन्तु शक्ति मे विस्तार एव सकोच होता रहता है। अभिव्यक्ति की क्रिया समाप्त होने पर लय की क्रिया प्रारम्भ होती है। उत्पत्ति और विनाश दोनो के क्रमिक रूप से प्रकट होते रहने को ही काल चक्र कहते है। सृष्टि का प्रारम्भ त्रिगुणात्मक मूलप्रकृति से होता हे। सत्त्व, रजस्, तमस्, रूपा शक्ति से ही विभिन्न रूपा प्रपञ्चात्मक सृष्टि का उदय हुआ है। योग-शास्त्रो मे सहस्रार पर ही शिव-शक्ति मिलन बताया गया है। यही महा-कुण्डलिनी शक्ति परब्रह्म के साथ स्थित है। यही प्रकृति की साम्यावस्था है। तीनो गुण (सत्व, रजस्, तमस्) इस अवस्था मे वैषम्य रहित हो जाते हे। यह महाप्रलय की अवस्था कही जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ह कि सृष्टि और प्रलय का क्रम चलता रहता है। इस प्रलयावस्था के बाद सृष्टि प्रारम्भ होती है। मूल प्रकृति की साम्यावस्था भग होने से गुणो मे वैषम्य पैदा हो जाता है, जिसके फलस्वरूप सृष्टि प्रारम्भ होती है। सृष्टि के उदयकाल मे सबसे प्रथम महत्तत्व का उदय होता है। यह ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड दोनो मे विद्यमान है। यह भ्रूमध्य स्थित आज्ञा चक्र का तत्त्व है, जिसका विवेचन पूर्व मे किया जा चुका है। इसे ही सृष्टि का कारण कहा है। इस महत्तत्व से ही पचतन्मात्राओ की उत्पत्ति होती है। विशुद्ध, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान तथा मूलाधार केन्द्रो से क्रमश शब्द, स्पर्श, रूप, रस एव गन्ध तन्मात्रायें उदय होती है, जिनसे पञ्चीकरण के द्वारा आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन स्थूल विषयो का उदय होता है। दूसरी तरफ महत्तत्व से अहकार, मन, पचज्ञानेन्द्रियो तथा पच कर्मेन्द्रियो का उदय होता है। ये भी पूर्व वर्णित विभिन्न चक्रो की विभिन्न इन्द्रियाँ हैं। सृष्टि सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर विकसित होती चली जाती है। आज्ञाचक्र से नीचे विशुद्ध चक्र है, जिसका तत्व आकाश है। महत्तत्व से पहिले आकाश तत्व की

उत्पत्ति होती है फिर वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी तत्त्व का क्रमश उदय होता है। ये सब तत्त्व क्रमश अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान तथा मूलाधार चक्र के हैं, जिनका विवेचन स्थल विशेष पर किया जा चुका है। जब स्थूल आकाश मण्डल, स्थूल वायुमण्डल, स्थूल तेजमण्डल, स्थूल जलमण्डल तथा स्थूल भूमण्डल की रचना के बाद अर्थात् स्थूल जगत् की उत्पत्ति के बाद शक्ति का विस्तार बन्द हो जाता है, तब वह शक्ति मूलाधार चक्र मे, योनि मे स्थित स्वयभू लिंग के मुख को अपने मुख से ढके हुए तथा सुषुम्ना छिद्र या ब्रह्म मार्ग को रोके हुए सुप्तावस्था मे विद्यमान होती है। कुण्डलिनी शक्ति की इस अवस्था मे ब्रह्म द्वार बन्द रहता है। इस अवस्था मे जीव अन्नमय कोष (स्थूल कोष) मे पडा रहता है। वह वासना, अभिमान तथा भोगेच्छा से स्थूल शरीर प्राप्त करता रहता है अर्थात् जन्म मरण के चक्र मे पडा भ्रमित रहता है। ऐसी स्थिति मे प्राण केवल इडा और पिगला से होकर ही बहता है। विकास के बाधित हो जाने पर लय की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यही काल चक्र का स्वरूप है। इस प्रक्रिया से ब्रह्माड साम्यावस्था की ओर चलता है। ब्रह्माड की साम्यावस्था ही महाप्रलय है। इस अवस्था मे तो प्रत्येक व्यक्ति बिना प्रयत्न के ही ब्रह्माड की मुक्ति के साथ स्वय भी मुक्त हो जाता है। यह तो रहा काल चक्र का व्योरा किन्तु जब व्यक्ति स्वय प्रयत्न करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है तो वह उसके लिए महा प्रलय तक क्यो रुके। इस मोक्ष प्राप्ति के लिये साधन विधि द्वारा सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को अनिवार्य रूप से जगाना पडता है। बिना कुण्डलिनी शक्ति को जगाये काम नही चलता। हठयोग प्रदीपिका मे स्पष्ट रूप से दिया गया है कि जिस प्रकार से ताली से फाटक खुल जाते है, ठीक उसी प्रकार से योगी हठ योग के द्वारा कुण्डलिनी को जगाकर मोक्ष द्वार (सुषुम्ना छिद्ररूपी ब्रह्ममार्ग) खोलते है।[1] परमेश्वरी (कुन्डलिनी) रोग एव दु ख आदि से रहित ब्रह्म स्थान (सहस्रार) के मार्ग (सुषुम्ना रन्ध्र वा ब्रह्मरन्ध्र) को रोके हुए सो रही है।[2] कन्द के ऊपर सोई हुई यह कुण्डलिनी शक्ति योगियो को मोक्ष तथा मूर्खों को बन्धन प्रदान करती है। ऐसा जानने वाला ही योग जानता है। जो इस शक्ति को जागरित करके ब्रह्म-मार्ग (सुषुम्ना-मार्ग) से सहस्रार मे पहुँचाता है, वह योगी मोक्ष प्राप्त करता है तथा जो इस शक्ति को सासारिक विषय

---

१ हठयोग प्रदीपिका—३।१०५।

२ हठयोग प्रदीपिका—३।१०६।

भोगो मे लगाता है, वह निश्चित रूप से बन्धन मे पड़ा रहता है।[1] जो योगी मूलाधार मे लिपटी हुई इस कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर सुषुम्ना मार्ग मे मूलाधार चक्र से ऊपर को ले जाता है वह बिना संशय मोक्ष प्राप्त करता है।[2] गगा (इडा), जमुना (पिगला) के मध्य बालरण्डा तपस्विनी (कुण्डलिनी) के साथ बलात्कार (हठयोग द्वारा जगाने से) करने से योगी विष्णु के परमपद को प्राप्त करता है।[3] गुरु कृपा से जब सुषुप्त कुण्डलिनी जागरित हो जाती है, तब सब पद्मो तथा ग्रन्थियो का भेदन होता है, अर्थात् कुण्डलिनी, सुषुम्ना मार्ग मे स्थित सब चक्रो तथा ग्रन्थियो का भेदन करती है। इस शक्ति को जगाने के लिये मुद्रा आदि हठयोग क्रियाओ का अभ्यास करना चाहिये।[4] बिना इस कुण्डलिनी शक्ति को जगाये ज्ञान प्राप्त नही हो सकता, चाहे कोई जितना भी योगाभ्यास क्यो न करे।[5]

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान तथा मोक्ष की तो कौन कहे सासारिक शक्ति या वैभव भी बिना कुण्डलिनी शक्ति के जागरित हुए प्राप्त नही हो सकता क्योकि विश्वगत समस्त शक्ति ही कुण्डलिनी रूप से मनुष्य देह मे विद्यमान हैं।

मनुष्य के सामने अपने वास्तविक स्वरूप को जानने की इच्छा स्वाभाविक है अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर उसकी प्राप्ति करने का प्रयत्न करना भी स्वाभाविक है। सम्पूर्ण दार्शनिक विवेचनाओ का मूल केन्द्र विन्दु यही है। साधनाओ के मूल मे यही है। सब योग क्रियाओ का लक्ष्य यही है। सचमुच यदि देखा जाये तो स्वरूपोपलब्धि ही मानव का परम कर्त्तव्य है। साख्य-योग में प्रकृति से भिन्न चैतन्य स्वरूप ही जीव का स्वरूप माना गया है। अत योगी योगाभ्यास के द्वारा विवेक ज्ञान प्राप्त कर प्रकृति के बन्धन से सदैव के लिये छुट कर जन्म-मरण अथवा शरीर धारण के चक्र से छुट जाते है। यही विदेह कैवल्य है, जिसका विवेचन स्थल विशेष पर किया जा चुका है। किन्तु इस सिद्धान्त को हम सर्वोच्च सिद्धान्त नही मान सकते हैं। इससे आगे के सिद्धान्त

---

१. हठयोग-प्रदीपिका—३।१०७।
२ हठयोग प्रदीपिका—३।१०८।
३ हठयोग प्रदीपिका—३।१०९, ११०।
४ शिव-सहिता—४।२२, २३।
५, घेरण्ड सहिता—३।४५।

के अनुसार जीव ब्रह्म वा शिव रूप ही है। जब तक वह शिवरूप नही हो जाता, तब तक लक्ष्य की पूर्ति न समझनी चाहिये। सब शिवरूप है। ब्रह्माण्ड मे कार्य कर रही शिव की शक्ति शिव से भिन्न नही है। शिव ही शक्ति-रूप है तथा शक्ति शिवरूप है। दोनो को एक दूसरे से भिन्न नही किया जा सकता है। ये एक दूसरे से अलग अलग नही जाने जा सकते हे क्योकि ये अलग हो ही नही सकते। शिव अपनी शक्ति के रूप मे ही विश्वरूप धारण करते है। यह महाशक्ति ही मनुष्य के शरीर मे कुण्डलिनी शक्ति रूप से विद्यमान है। इसी कारण से मनुष्य देह का अत्यधिक महत्व है। यहा इतना कहना आवश्यक हो जाता हे कि जो पिण्ड मे है वही ब्रह्माण्ड मे है। "यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे", अत सहस्रार अनादि अनन्त शिव ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने वाली आदि शक्ति के साथ अभिन्न होकर विद्यमान हे। दूसरे, ब्रह्माण्ड के समान ही मानव के भीतर सब विकास एव लय की क्रिया होती ह। कुण्डलिनी शक्ति के जागरित होने पर जीव सुषुम्ना मार्ग से चक्रो का भेदन करते हुये, अन्त मे सहस्रार पर पहुच कर शिव मे लीन होने पर स्वय शिव रूप हो जाता हे। अत जब तक कुण्डलिनी जागरित होकर सहस्रार मे नही पहुँचती तब तक मनुष्य को परम लक्ष्य की प्राप्ति होकर उसके कर्त्तव्य की पूर्ति नही होती।

परम लक्ष्य की प्राप्ति रूप कर्त्तव्य का पालन करने के लिये इस कुण्डलिनी शक्ति को जागरित करने के बहुत से साधन शास्त्रो मे बताये गये हे। जागरित का अर्थ यहाँ कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्वगामिनी बनाना है। कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वगामिनी तथा अधोगामिनी दोना ही हो सकती हे अर्थात् यह दोनो दिशाओ मे प्रवाहित हो सकती है। इसे अधोगमन की तरफ से रोकना तथा इसे ऊर्ध्व-गामिनी करना ही इसका (कुण्डलिनीका) वास्तविक जागरण है। यह शक्ति अगर अधोगामिनी होकर व्यक्ति की कामेच्छा की वृद्धि कर उसे कामुक बना नित्य यौनेच्छा तृप्ति करवाती रहती हे तो उसका ऊर्ध्वगामिनी होना अत्यधिक कठिन हो जाता हे। आत्म नियन्त्रण, सयम, दृढनिश्चय, अत्यधिक सहनशीलता श्रद्धा तथा तीव्र अभ्यास करने वाला साधक ही इसके (कुण्डलिनी शक्ति के) जागरण मे सफल हो सकता हे। यह मार्ग सरल नही है। इस शक्ति के जागरण करने से पूर्व व्यक्ति को इसके तेज को सहन करने की शक्ति प्राप्त करनी चाहिये। साधारणतया तो सुषुम्ना द्वार बन्द रहता है और प्राण का गमन इडा तथा पिगला मे को होकर होता है। योग उपायो के द्वारा प्राण का गमन धीरे धीरे सुषुम्ना द्वार से होने लगता हे ओर इडा तथा पिंगला मे को

होकर प्राण का प्रवाहित होना धीरे धीरे कम होता जाता है। कुण्डलिनी का जागरण सद्गुरु की कृपा, ईश्वर कृपा से तथा सात्विक और शुद्ध अन्त करण वाले व्यक्ति मे सरलता से होता है। इस शक्ति का जागरण कभी कभी अकस्मात् भी देखने मे आता है। इस जागरण का कारण पूर्वजन्म के सात्विक सस्कारो का उदय अथवा पूर्व जन्म के योग साधन का फल हो सकता है। कुण्डलिनी के जागरित करने के जितने भी उपाय है, वे सब तभी लाभप्रद हो सकते है, जब साधक स्वय पात्र हो। पात्रता होना बहुत जरूरी है, अन्यथा हानि की भी सम्भावना होती है।

मत्र, जप, तप, गम्भीर अध्ययन, चिन्तन, अन्वेषण, अत्यधिक श्रद्धा, भक्ति-पूर्ण भजन कीर्तन, तीव्र सवेग, प्राणायाम, बन्ध तथा मुद्रा आदि से कुण्डलिनी जागरित की जा सकती है, किन्तु इन बाह्य साधनो के साथ साथ ध्यान हुए बिना सिद्धि प्राप्त नही होती। ईश्वर तथा सदगुरु की कृपा कुण्डलिनी शक्ति जागरण मे सर्वोच्च स्थान रखती है। प्राणायाम तथा ध्यान के द्वारा मूलाधार से क्रमश एक एक चक्र का भेदन करते हुये अन्त मे सहस्रार तक पहुँचना कुण्डलिनी शक्ति को जागरित करने का श्रेष्ठ उपाय है।[1] योगकुण्डल्युपनिषत् मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि केवल कुण्डलिनी ही शक्ति रूपा है। बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि इसको ठीक से जागरित करे तथा मूलाधार चक्र से भ्रूमध्य तक ले जाये। यह शक्ति जागरण करना कहा जाता है। इसके अभ्यास मे सरस्वती नाडी का सचालन तथा प्राणायाम ये दो बहुत महत्त्व पूर्ण हे। इस तरह के अभ्यास से ही कुण्डलिनी जागरित होती है। इसके आगे सरस्वती सचालन की विधि भी विस्तार के साथ दी गई है तथा प्राणायाम का उसकी विधियो सहित विवेचन किया गया है।[2] आगे इसी उपनिषद् मे कुण्डलिनी के जागरण की विधि बताई गई हे। जिसके अनुसार सत्य निष्ठा एव विश्वास के साथ बुद्धिमान् व्यक्ति प्राणायाम का अभ्यास करे। सुषुम्ना मे चित्त लीन रहता है, उसमे को वायु नही जाती। केवल कुम्भक के द्वारा सुषुम्ना का मार्ग शुद्ध कर योगी बलपूर्वक मूल बध द्वारा अपान वायु को ऊर्ध्वगामी करता है। अग्नि के साथ अपान वायु प्राण वायु स्थान पर

---

१ यह विषय क्रियात्मक होने के कारण इसको सद्गुरु से जानना चाहिए। इसके विशद विवेचन के लिये तत्सम्बन्धित पुस्तकें तथा लेखक का "भारतीय मनोविज्ञान नामक ग्रन्थ देखने का कष्ट करे।

२ योगकुण्डल्युपनिषत्—१।७ से ३९ तक।

जाती है। उसके बाद प्राण तथा अपान के साथ अग्नि कुण्डलिनी तक पहुँचती है। अग्नि की उष्णता तथा पवन की गति से जागरित होकर कुण्डलिनी सुषुम्ना मार्ग मे चली जाती है। फिर तीनो ग्रन्थिया (ब्रह्म, विष्णु तथा रुद्र) का भेदन करती हुई अनाहत चक्र पर को होती हुई सहस्रार तक पहुँच जाती है। प्रकृति आठो रूपो (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, बुद्धि, अहकार तथा मन) को छोडकर कुण्डलिनी शिव के पास जाकर सहस्रार मे विलीन हो जाती है। प्राणादि सबके विलीन होने का विवेचन इस उपनिषद मे आता है।[२] यह अवस्था जिसमे कुण्डलिनी सहस्रार पर पहुँच कर शिव से मिलकर विलीन हो जाती है, समाधि की अवस्था है, जिसके सिद्ध होने से योगी को विदेह मुक्ति प्राप्त होती है। यह ही परमानद की अवस्था का कारण है।[३] योगचूडामण्युपनिषत मे कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष द्वार का भेदन बताया है।[४] इसका विवेचन अन्य योग उपनिषदो, शिव-सहिता तथा हठयोग प्रदीपिका आदि मे भी प्राप्त होता है। घेरण्ड सहिता मे योनिमुद्रा तथा शक्ति सचालिनी मुद्रा के द्वारा कुण्डलिनी का जागरण करके जीवात्मा सहित उसे सुषुम्ना मार्ग से सहस्रार मे पहुचान की विधि बताई गई है।[५] हठयोग प्रदोपिका मे भस्त्रिका कुम्भक के द्वारा शीघ्र कुण्डलिनी का जागरित होना बताया गया है। इस प्राणायाम को नाडी शुद्धि करने वाला, सब कुम्भको मे सुखद, अत्यधिक लाभप्रद तथा ब्रह्म नाडो के मार्ग को खोलने वाला बताया गया है। इसके दृढता पूर्वक अभ्यास से सुषुम्ना मार्ग मे स्थित तीनो ग्रन्थियो (ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि) का भेदन होता है। केवल कुम्भक के द्वारा साधक राजयोग को पाप्त करता है। इस कुम्भक से कुण्डलिनी शक्ति जागरित होती तथा सुषुम्ना मार्ग खुल जाता है। यही हठ योग की पूर्णता है।[१] कुण्डलिनी शक्ति के जागरित होने पर योगी कर्म बन्धन से छुटकारा पाकर समाधि अवस्था को प्राप्त करता है। जिसने प्राणायाम सिद्ध कर लिया है तथा जिसकी जठराग्नि तीव्र हो गई है, उसे कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्मा मे उसका प्रवेश कराना चाहिये जब तक प्राण सुषुम्ना मे प्रवेश करके ब्रह्म रन्ध्र का भेदन नही करते

---

२ योगकुण्डल्युपनिषत्—१।६२-७६ तक।

३ योगकुण्डल्युपनिपत्—१।८२ से ८७ तक।

४. योगचूडामण्युपनिपत्—३६ से ४४ तक।

५ घेरण्ड सहिता—३।३४, ३५, ३६, ४४, ४६, ४९, ५०, ५१।

१ हठयोग प्रदीपिका—२।६५, ६६, ३।११५, १२१, ४।७० स ७६ तक

तब तक ध्यान की चर्चा ही बेकार है ।[1] सहस्रार मे स्थित शिव की महाशक्ति जो कि शिव रूप ही है, जब प्रसारित होती है तो वह क्रमश स्थूल तर भाव को ग्रहण करती जाती है । यह क्रमिक विकास पूर्व मे दिखाया जा चुका है । इस स्थूलता की ओर विकसित होने वाली सृष्टि मे शक्ति ने सहस्रार से उतर कर आज्ञाचक्र पर महत्तत्व स्थूल भाव प्रदान किया तथा वहाँ शक्ति छोडकर क्रमश अन्य चक्रो मे भी स्थूलता को प्राप्त करती तथा अपनी शक्ति को छोडती हुई अन्त मे मूलाधार चक्र पर पहुँच अपना स्थूलतम रूप प्राप्त कर वही रुक गई । सब चक्र मिलाकर इस शक्ति का शरीर कहा जा सकता है । इसी की शक्ति सब केन्द्रो पर विद्यमान है । मूलाधार पर पृथ्वी तत्त्व का उदय हुआ, जो कि शक्ति का स्थूल तम रूप है, किन्तु शक्ति का यह स्थूलतमरूप भी पुद्गल के सूक्ष्मतम रूप से भी सूक्ष्म है । यहाँ जीव इस शक्ति के साथ पडा है । यह शक्ति इन सब रूपो मे मनुष्य शरीर मे काम कर रही है, किन्तु इसका निष्क्रिय केन्द्र (साम्यावस्था) हर हालत मे सहस्रार मे ही है । वही मूल कारण है ।

जब कुण्डलिनी शक्ति जागरित होकर पुन सुषुम्ना मार्ग से होकर अपने धाम सहस्रार पर पहुँचती है, तो वही अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि की है । उस स्थिति में पहुँचने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है । शक्ति के ऊर्ध्व गमन मे प्रथम कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार चक्र की शक्ति को खीचकर अपने मे लीन कर लेती है, जिसके फलस्वरूप पृथ्वी तत्त्व जल तत्त्व मे लीन हो जाता है । चित्त के ऊपर मूलाधार तथा उसकी क्रियाओ का प्रभाव नही रह जाता है । स्वाधिष्ठान चक्र पर कार्य करने वाली शक्तियो द्वारा मन प्रभावित होता है । जब कुण्डलिनी शक्ति स्वाधिष्ठान चक्र को छोडकर ऊपर मणिपूर मे प्रवेश करती है तो वह स्वाधिष्ठान चक्र की शक्ति को खीच कर अपने मे लीन कर लेती है और उस चक्र को प्रभाव हीन कर देती है । अब मन पर स्वाधिष्ठान चक्र का प्रभाव न रहकर मणिपूर चक्र का प्रभाव मन पर होता है । इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति ज्यो ज्यो ऊपर को चढती जाती है त्यो त्यो निम्न चक्रो की शक्ति को अपने मे लीन कर उन्हे प्रभाव हीन छोडती जाती है । जिस चक्र पर यह पहुँचती है, उस काल मे उसी के द्वारा मन विशेष रूप से प्रभावित होता है । जब अन्त मे कुण्डलिनी आज्ञाचक्र को भी छोडकर आज्ञाचक्र तथा सहस्रार के बीच के विभिन्न स्तरो को पार कर सहस्रार मे पहुँचती है तो छ ओ चक्रो की

---

१ हठयोग प्रदीपिका—४।११, १९, ११४ ।

शक्तियो सहित परम शिव मे लीन होकर एक रूप हो जाती है। यही शिव-शक्ति मिलन है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऊर्ध्वगमन मे कुण्डलिनी शक्ति विभिन्न चक्रो (शक्ति केन्द्रो) की शक्तियो को एक-एक करके अपने मे समेटती चली जाती है तथा चचलता छोड कर सब शक्तियो सहित शिव मे लीन हो जाती है। ठीक उसी प्रकार से अधोगमन मे यह शक्ति अपनी शक्ति का कुछ भाग प्रत्येक चक्र पर छोडती चलती है और अन्त मे मूलाधार चक्र पर जाकर विद्यमान हो जाती है। जब तक यह कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार चक्र पर रहती है, तब तक ऊपरी केन्द्रो पर छोडी हुई शक्ति उन केन्द्रो (चक्रो) पर अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती है जो कि कुण्डलिनी शक्ति के ऊर्ध्वगमन काल मे चक्रो के साथ उसका सम्पर्क होने से अभिव्यक्त होती है। शक्तियाँ तो पूर्व से ही विद्यमान थी किन्तु उनकी अभिव्यक्ति कुण्डलिनी शक्ति के जागरित तथा उर्ध्वगामी होकर विशिष्ट चक्र के सम्पर्क मे आने से ही होती है। इस कुण्डलिनी शक्ति के जागरण तथा सुषुम्ना मार्ग से ऊर्ध्वगमन से क्रमश सब चक्र तथा नाडियाँ प्रकाशित हो जाती है। जिस चक्र पर यह शक्ति पहुचती है वही चक्र अधोमुख से ऊर्ध्वमुख होकर खिल उठता है तथा अपनी सम्पूण अव्यक्त शक्तियो को प्रगट कर देता है, जिससे उसकी चक्रो मे सोई हुई शक्तियाँ जागकर क्रियाशील हो उठती हैं। जब यह कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वगामी होकर आज्ञा चक्र में पहुँच जाती है, तब योगी को सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। इस शक्ति के सहस्रार मे पहुँचने पर सब वृत्तियो का निरोध हो जाता है और योगी को वास्तविक रूप से असम्प्रज्ञात समाधि की योग्यता प्राप्त हो जाती है। यह ज्ञान की पराकाष्ठा की अवस्था है।

कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से, जैसा कि पूर्व मे बताया जा चुका है, अत्यधिक उष्णता पैदा होती है। कुण्डलिनी शक्ति के उष्ण होने पर वह तुरन्त सुषुम्ना मार्ग मे को ऊर्ध्वगमन नही करती है। कुण्डलिनी शक्ति उष्ण होने पर उष्ण धाराओ को उत्पन्न करती है, जो कि नाडियो के द्वारा शरीर के विभिन्न भागो तथा मस्तिष्क केन्द्रो मे जाकर उष्णता प्रदान करती है जिससे मन क्रियाशील एव चचल हो जाता है। इन धाराओ का अधिक भाग मल मूत्र द्वारो से निकल जाता है। धाराओ के इस प्रवाह को न रोकने से कामेच्छा प्रबल होती तथा बवासीर जैसे रोग पैदा हो जाते है। कुण्डलिनी शक्ति की धाराओ का कार्य सदैव चलता रहता है जो कि सुप्तावस्था मे भी बन्द नही

होता। इन स्वत प्रवाहित विचार धाराओ का ऐसा प्रभाव होता है कि व्यक्ति न चाहते हुए भी बहुत से कार्य इनके प्रभाव से कर बैठता है।

कुण्डलिनी शक्ति का जागरण पूर्ण तथा आशिक दोनो रूप से होता है। इसके अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति को सम्भालने की क्षमता प्राप्त किये बिना भी लोग जागरित कर लेते है। सरलता पूर्वक पूर्ण रूप से कुण्डलिनी शक्ति का जागरित होना पूर्व जन्म सस्कार तथा गुरु कृपा बिना कठिन है। उसके पूर्ण रूप से जागरित करने के लिये सामान्य साधक को सघर्ष पूर्ण अथक प्रयत्न करना पडता है। ऐसा करने पर भी हो सकता है कि शक्ति का आशिक जागरण ही हो पावे, जिसमे स्थायीत्व नही हो सकता है। इसके द्वारा बहुत हानि पहुँचने की सम्भावना भी रहती है। इसी प्रकार से क्षमता प्राप्त होने के पूर्व इस शक्ति के जागरण से भी महान् हानि होती है। कभी कभी अचानक स्वय बिना साधन विधि अभ्यास के भी कुण्डलिनी शक्ति जागरित हो जाती है। ऐसी अवस्था मे बहुत सचेत रहकर अपने को सम्भालते रहने की आवश्यकता होती है।[1] किसी व्यक्ति मे एकाएक अलौकिक शक्तियो तथा असाधारण ज्ञान का उदय होना उसके पूर्वजन्म के सात्विक सस्कारो के प्रभाव से कुण्डिलिनी शक्ति के जागरित होकर ब्रह्म द्वार मे ऊर्ध्वमुख होने को बताता है।

कुण्डलिनी शक्ति को अग्निरूप बताया गया है। इसके जागरित होने पर अत्यधिक उष्णता का उदय होता है। इसके अर्ध्वगमन मे यह सुषुम्ना मार्ग स्थित जिस चक्र मे को होकर जाती है, वह जलते हुए अगारे के समान हो जाता है। जब कुण्डलिनी उस चक्र को छोडकर ऊपर के चक्र मे को होकर जाती है तब पूर्व का चक्र भाग निष्क्रिय तथा शक्ति हीन शीतल हो जाता है। जहाँ को कुण्डलिनी जाती है वह भाग उष्ण तथा नीचे का भाग शीतल हो जाता है।

बौद्धो के अनुसार भी योग-उपनिषदो के समान ही नाभि प्रदेश मे यह (शक्ति) सोई हुई है, जिसे योगाभ्यास के द्वारा जागरित किया जाता है। यह प्रज्वलित अग्नि के समान धर्म-चक्र तथा सम्भोग चक्र मे पहुँचती है तथा फिर उष्णीशा-कमल (सहस्रार-के समान) मे जाती है। अपने मार्ग का सब कुछ भस्म करके यह निर्माण काय मे आ जाती है।

---

१ इस विषय मे सद्गुरु का सहारा लेना चाहिये। यह क्रियात्मक पक्ष होने से यहाँ केवल सकेत मात्र ही किया जा सकता है।

कुण्डलिनी जागरण को जो कि योगाभ्यास द्वारा किया जाता है, स्थाई रखने के लिये निरन्तर अभ्यास तथा पवित्र भावो के रखने की आवश्यकता है। निरन्तर योगाभ्यास से यह शक्ति सुषुम्ना मे को होकर चक्रो मे ऊर्ध्व गमन करती है। अगर अभ्यास निरन्तर चालू न रक्खा जाये तो शक्ति ऊँचे चक्रो से उतरकर पुन निम्न चक्र मूलाधार मे स्थित हो जाती है।

कुण्डलिनी शक्ति के जागरित होने पर सुषुम्ना मार्ग से ऊर्ध्वगमन मे सबसे पहला धक्का मूलाधार चक्र पर लगता है। इसलिये मूलबन्ध को दृढता से लगाये रखना जरूरी है। सुषुम्ना नाडी मे को प्राणो का प्रवाह तथा सूक्ष्म जगत् मे प्रवेश होने से विचित्र खिचाव होना स्वाभाविक है, क्योकि प्राण सब देह से खिचकर सुषुम्ना मे को जाते है। ऐसी स्थिति मे साधक का सम्बन्ध स्थूल शरीर तथा स्थूल जगत् से हटकर सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म जगत् से हो जाता है। साधक के लिये सात्विक आहार, शुद्ध जीवन तथा ब्रह्मचर्य पालन अति आवश्यक हो जाते है। इसका ध्यान न रखने से अनेको विकार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। इस अभ्यास के द्वारा कुछ शक्तिया भी स्वत प्राप्त होती है। इनका अहकार नही करना चाहिये न इन्हे व्यक्त ही होने देना चाहिये। साधना जगत् के रहस्य गुप्त ही रखने चाहिये।

परम लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात् अद्वैत शिवभाव का प्राप्त होना बिना कुण्डलिनी जागरण के असम्भव है। अन्तिम लक्ष्य मे द्वैत भाव तो हो ही नही सकता। द्वैत की समाप्ति तथा अद्वैत प्राप्ति बिना कुण्डलिनी के जागरित हुए नही हो सकती। विवेक-ज्ञान की स्थिति तो द्वैत की स्थिति है, भले ही उसके सम्पन्न होने पर जन्म मरण से छुटकारा प्राप्त हो जावे, किन्तु वह हमारा परम लक्ष्य नही हो सकता। इस रूप से कुण्डलिनी जागरण का महत्व स्पष्ट है।

प्रमेह, उन्माद, धातु दौर्बल्य, शुक्र तारल्य, स्वप्नदोष आदि को दूर करता है। स्त्रियों के गर्भाशय सम्बन्धी विकारों को मिटाता है। शरीर में रक्त संचरण को नियमित बनाकर, अंग प्रत्यंग को क्रियाशील बनाता है। यह आत्मविश्वास, स्फूर्ति तथा उत्साह की वृद्धि करता है।

इस आसन के सम्यक् प्रयोग से अनिद्रा, अपच, कब्ज तथा उदर-विकार दूर होते हैं। मल-निष्कासन भली प्रकार होता है। जननेन्द्रिय सम्बन्धी दोष ठीक हो जाते हैं।

बन्ध

हठयोग की क्रियाओं में बन्ध, मुद्रा एवं षट्कर्म का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। हठयोग में तीन बन्धों की गणना मुद्राओं के अन्तर्गत की जाती है। हठयोग प्रदीपिका में दस मुद्राओं के अन्तर्गत ही इनकी गणना करते हुए कहा गया है कि ये दशों जरामरणनाशक हैं।[22] अन्य मुद्राओं की भाँति इन तीन बन्धों का उद्देश्य भी सुषुम्ना के द्वार को ढक कर सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति का जागरण करना है।[23] इसीप्रकार आयुर्वेदीय पंचकर्म के समान यौगिक षट्क्रियायें अन्तःशोधन की विधियाँ हैं। इसलिए योग पद्धति में शरीर के अन्तः तथा बाह्य मार्गो की शुद्धि के लिए बन्ध, मुद्रा एवं षट्कर्म का ज्ञान आवश्यक है।

मूलबन्ध :

विधि- गुदा एवं लिंग स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूलबन्ध है। बाएँ पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्यभाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़ कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिंग एवं कन्द के मध्य भाग का दृढ़तापूर्वक संकोच

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

करते हुए अधोगत अपानवायु को बलपूर्वक धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने को मूलबन्ध कहते हैं।[24] सिद्धासन के साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनों के साथ एड़ी को सीवनी पर बिना लगाये हुए भी मूलबन्ध लगाया जा सकता है।

लाभ : इससे अपानवायु का ऊर्ध्व-गमन होता है और वह प्राण वायु के साथ एकत्र होती है। कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपर की ओर चढ़ती है। कोष्ठबद्धता दूर करने, जठराग्नि को प्रदीप्त करने और वीर्य को ऊर्ध्वरेतस बनाने में यह बन्ध अति उत्तम है।

उड्डीयानबन्ध :

विधि दोनों जंघाओं को मोड़कर पैरों के तलुओं को परस्पर मिलाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) से लगा दें जिससे कि पेट के स्थान पर गड्ढा सा दीखने लगे। जितना ही पेट को अन्दर की ओर अधिक खींचा जायेगा उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षी के सदृश सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है, इसलिए इस बन्ध का नाम उड्डीयान रखा गया है।[25] यह बन्ध पैरों के तलुओं को बिना मिलाये हुए भी किया जा सकता है।

लाभ : इस बन्ध के समुचित अभ्यास से प्राण और वीर्य का उर्ध्वगमन होने लगता है, जठराग्नि का प्रदीप्त होती है और फेफड़े शक्तिशाली बनते हैं।

जालन्धर बन्ध :

विधि कंठ को सिकोड़कर ठोडी को दृढ़तापूर्वक कंठकूप में इस प्रकार स्थापित करें कि हृदय से ठोडी का अन्तर केवल चार अंगुल का रह जाय, सीना आगे की

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

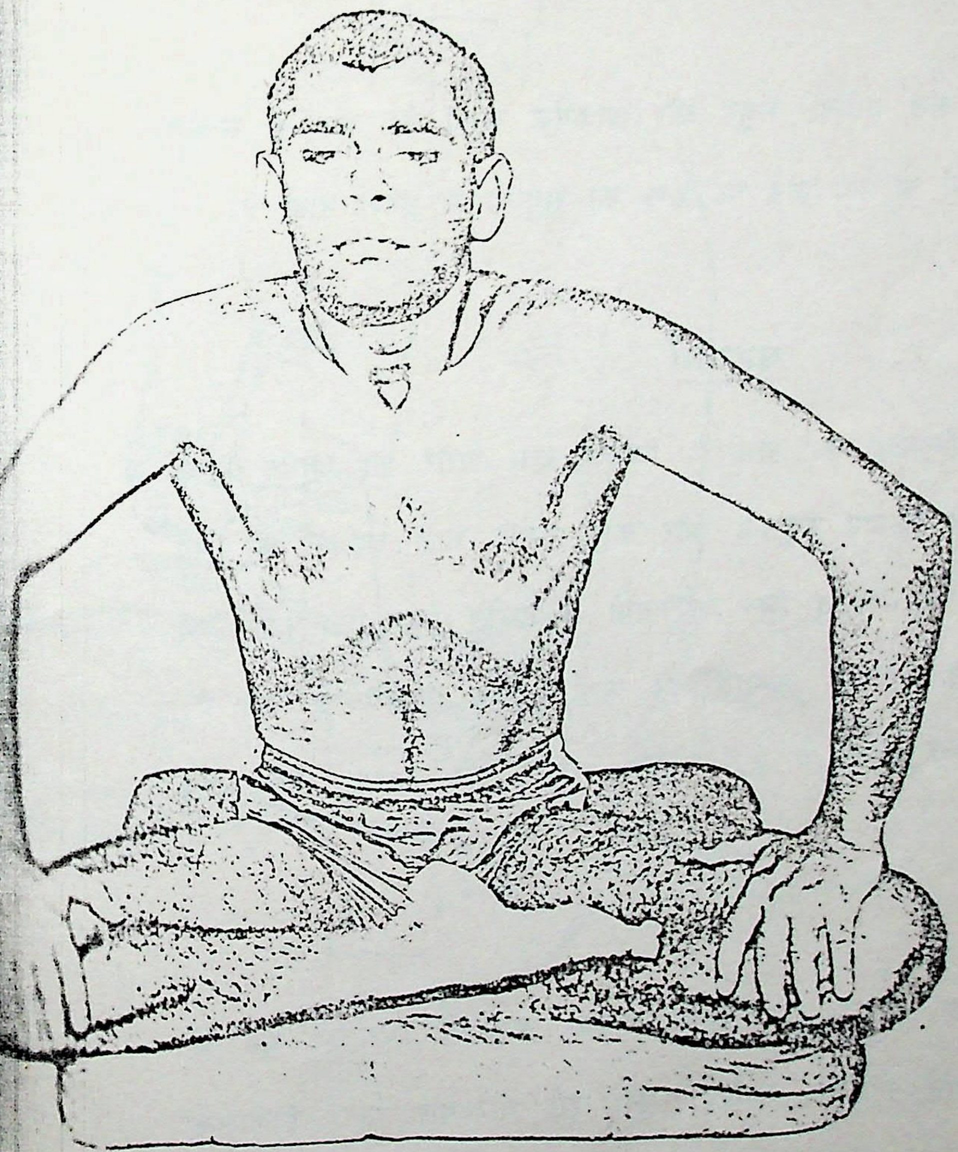

उड्डीयानबन्ध

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठस्थान के नाड़ी-जाल के समूह को बाँधें रखता है, इसलिये इसका नाम जालन्धर बन्ध रखा गया है।[26]

लाभ- हठयोगप्रदीपिका के अनुसार यह जरा तथा मृत्यु का नाशक है। जालन्धर बन्ध में ऊर्ध्वश्वास पथ, स्वर नलिकायें तथा मस्तिष्कगत रक्त वाहिनियाँ प्रभावित होती है।[27]

इसके अभ्यास से कंठ सुरीला, मधुर और आकर्षक बनता है। कंठ के संकोच द्वारा इड़ा, पिंगला नाड़ियों के बंद होने पर प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश होता है।

षट्कर्म

षट्कर्म उन छः क्रियाओं का नाम है, जिसके द्वारा शरीर का शोधन किया जाता है। यह छः शोधन क्रियाएं स्थूलता और कफ प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए विशेष रूप से लाभकारी है। किन्तु जिन व्यक्तियों में त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) की समानता हो, उन्हें इन क्रियाओं के अभ्यास की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। यह छः शोधन क्रियाएं इस प्रकार से है - धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति।[28]

1. धौति :

विधि- चार अंगुल चौड़ा, पन्द्रह हाथ लम्बा कपड़ा जल में भिगोकर गुरु के निर्देश के अनुसार धीरे-धीरे निगलना चाहिए। पुनः इसे धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए इसे धौति-क्रिया कहते हैं।[29] घेरण्ड-संहिता के अनुसार अन्तःधौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूलशोधन के भेद से धौतिकर्म चार प्रकार का माना गया है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

विचार स्वयमेव बन्द हो जाते हैं। इसका नियमित अभ्यास करने से कपाल चमकने लगता है।

मुद्रा

महामुद्रा :

विधि- बाँएं पैर की एड़ी से सीवनी नाड़ी को दबाएँ तथा दाहिने पैर को भूमि पर फैला कर दोनों हाथों से दृढ़तापूर्वक पकड़ लें तदुपरान्त जलन्धर बन्ध लगाकर वायु को ऊपर की ओर ले जाकर रोकना चाहिए। जिस प्रकार डण्डे की चोट से सर्प दण्ड के समान सीधा हो जाता है उसी प्रकार मुद्राओं के निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सहसा सीधी हो जाती है तब इड़ा और पिंगला मृतवत हो जाती है। इसके बाद योगी को धीरे-धीरे श्वास का रेचक करना चाहिए, श्रेष्ठ योगियों ने इसी को महामुद्रा कहा है। महासिद्धों द्वारा बताई गई इस महामुद्रा के अभ्यास से महाक्लेश आदि दोष तथा मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है इसी कारण विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है।

लाभ : इस मुद्रा से अविद्या अस्मिता आदि पंचक्लेश दूर होते हैं। अतएव इसका नाम महामुद्रा पड़ा। इसके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है तथा कुष्ठ रोग एवं गुदा सम्बन्धी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। बढ़ी हुई तिल्ली, पुराना ज्वर, प्रमेह भी दूर हो जाते हैं।

गोरक्ष-संहिता[42] तथा घेरण्ड संहिता[43] में भी इनके लाभों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि इसके निरन्तर अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, गुल्म, अजीर्ण आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

महाबन्ध :

विधि वाम चरण को एड़ी की सीवनी नाड़ी पर लगाये तथा दायें चरण को वाम जंघा पर दृढ़तापूर्वक स्थापित करें। तत्पश्चात् वायु का पूरक करके चिबुक को कण्ठकूप पर दृढ़तापूर्वक रखें। तब मूल बन्ध लगाते हुए मन को सुषुम्ना में लगाना चाहिए। यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात धीरे धीरे वायु को रेचक करना चाहिए। इस प्रकार वायीं ओर से अभ्यास करने के बाद पुनः दायीं तरफ से अभ्यास करना चाहिए। कुछ आचार्यो के मत को उद्धृत करते हुए हठयोग प्रदीपिकाकार कहते हैं कि जालन्धर बन्ध नहीं लगाना चाहिए अपितु जाअन्धर बन्ध की अपेक्षा जिह्वा बन्ध ही श्रेयस्कर है क्योंकि इससे प्राणों की गति ब्रह्मरन्ध्र की ओर हो जाती है।

लाभ : यह महाबन्ध निश्चित ही महान सिद्धियों का प्रदाता है तथा इसके अभ्यास से सभी नाडियों की अर्ध्वगामिता रूक जाती है। यह महाबन्ध कालपाश को तोडने की सामर्थ्य रखता है, इसके अभ्यास से तीनों नाड़ियों (इडा पिंगला और सुषुम्ना) का संगम होता है तथा मन भृकुटि (शिव स्थान) में लगने लगता है।[44] योगकर्णिका में कहा गया है कि यह त्रिवेणी संगम को प्राप्त करता है तथा मन केदार में रमण करता है।[45]

महाबेधः

विधि- महाबेध की महत्ता का वर्णन करते हुए हठयोगप्रदीपिका[46] तथा घेरण्ड संहिता[47] में कहा गया है कि जिस प्रकार रूप यौवन-सम्पन्ना स्त्री, पुरूष के बिना व्यर्थ होती है, उसी प्रकार महामुद्रा तथा महाबन्ध दोनों ही महाबेध के बिना व्यर्थ है। इसकी प्रक्रिया निर्धारित करते हुए कहा गया है कि योगी को महाबन्ध लगाकर

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

मन को एकाग्रचित्त कर श्वास को ग्रहण करने के पश्चात् जालंधर बन्ध द्वारा वायु की गति का निरोध करना चाहिए । तदुपरान्त दोनों हथेलियों को भूमि पर लगाकर सम्पूर्ण शरीर को तुला के समान दोनों हथेलियों पर उठा लेवें। इसके अनन्तर धीरे धीरे नितम्ब प्रदेश को भूमि पर ताड़न करें। ऐसा करने से प्राणवायु दोनों नासारन्ध्रों को छोड़कर सुषुम्नावाही हो जाता है ।

सोम (इड़ा) सूर्य (पिंगला) अग्नि (सुषुम्ना) इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध होने पर अमरता की प्राप्ति तथा मृतावस्था की उत्पत्ति होने पर अर्थात् इड़ा और पिंगला के निष्क्रिय होने पर वायु का सुषुम्ना से रेचन करना चाहिए ।

लाभ : इस महाबेध के अभ्यास से अभ्यासी को महासिद्धियों की प्राप्ति, झुर्रियों, बालों का पकना तथा शरीर का कांपना बन्द होता है। इसलिए श्रेष्ठ साधक इसका अभ्यास करते हैं।

महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिए। ये तीनों वृद्धावस्था और मृत्यु का विनाश करती हैं, इसके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा सिद्धियों की प्राप्ति होती हैं। अच्छे जानकार साधकों को भी इसका अभ्यास काल में अल्प मात्रा में ही करना चाहिए।[48]

शिव-संहिता में कहा गया है कि जो साधक प्रतिदिन इन मुद्राओं का चार बार अभ्यास करता है वह केवल छः मास में ही मृत्यु पर विजय लेता है।[49]

खेचरी :

विधि- जीभ को धीरे-धीरे तालु के अन्दर प्रवेश कराके, जीभ को ऊपर की ओर उलटकर कपाल कुहर में प्रविष्ट कराकर दोनों भौहों के बीच में दृष्टि स्थिर करने को खेचरी मुद्रा कहते हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

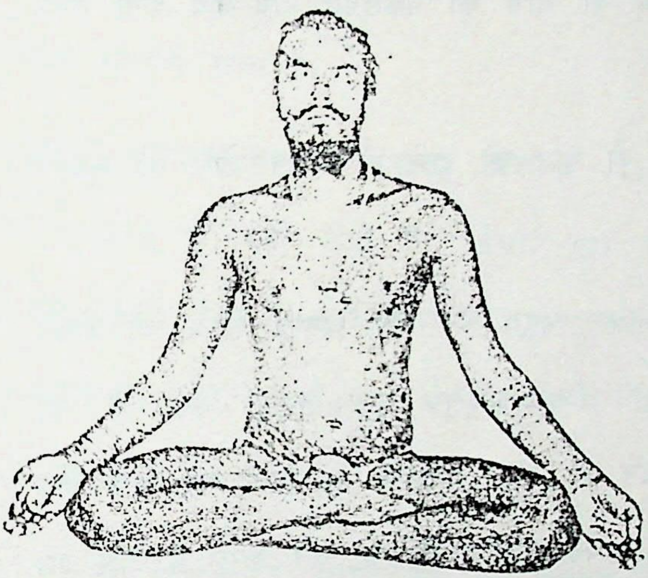

खेचरी

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

इस क्रिया को सिद्ध करने के लिए जिह्वा का छेदन, चालन और दोहन करते हैं। यह क्रिया लम्बे अर्से के बाद सिद्ध होती है। ऐसा करने पर जिह्वा इतनी बढ़ जाती है कि वह भ्रुकुटि के मध्य भाग तक पहुँचने लगती है, तब खेचरी सिद्ध होती है। हाथ के अंगूठा और तर्जनियों से जीभ को पकड़कर दायें-बायें दोनों तरफ घुमाने का नाम चालन है।

अंगूठा और उंगलियों की मदद से गाय को दूहने के समान जीभ को दुहकर बढ़ाने का नाम दोहन है।

स्नुही या सेहुंड के पत्ते के समान बहुत पैने और स्निग्ध शस्त्र को लेकर उससे जिह्वा के नीचे की पतली झिल्ली जिसे फ्रेनुलुम (Frenulum) कहते हैं, को काटने को छेदन कहते हैं। ऐसे काटने से जीभ आसानी से ऊपर की छोर तक बढ़ाई जा सकती है। छेदन की क्रिया प्रत्येक सप्ताह में एक बार करते हैं और इस प्रकार करते हुए छः महीने के अन्तर्गत छेदन की प्रक्रिया पूर्ण होती है।

खेचरी सिद्ध करने की एक दूसरी सरल विधि भी है। इस विधि में जिह्वा को उलटकर मोड़ते हुए तालु से लगाकर कुछ देर तक स्थिर रखें। धीरे-धीरे इसका अभ्यास बढ़ायें। ऐसा करने से कुछ समय पश्चात् जीभ कोमल होकर आसानी से मुख गह्वर में प्रविष्ट होने लायक हो जाती है। सिंहासन, शीतली प्राणायाम इस क्रिया में सहायक है। इसके अभ्यास के समय प्रोटीन युक्त भोजन का सेवन न करने से खेचरी शीघ्र हो जाती है।

लाभ : तालु के ऊपर छिद्र में जिह्वा को प्रविष्ट करके एक घड़ी अर्थात् चौबीस मिनट भी स्थिर रखें तो योगी सर्प बिच्छू आदि के विष से मुक्त हो जाता है। इसके अभ्यास से निद्रां, तन्द्रा, क्षुधा, तृषा-प्यास, मूर्च्छा आदि भी योगी के पास नहीं

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

फटकती है। इसका कारण है कि जब जीभ भ्रूमध्य को छूती है तो वह लार ग्रन्थि (Salivary gland) को उत्तेजित करती है और उससे लार स्रावित होने लगता है जिससे साधक की चेतना अभ्यास के समय व्यग्र नहीं होती और साधक लम्बे समय तक निर्विघ्न ध्यानस्थ रहता है।

जीभ से मस्तिष्क तक जाने वाली तंत्रिकाएं (Trigeminal G'osopheryngial) परानुकंपी प्रधानतंत्र से जुड़ी होती हैं। खेचरी मुद्रा द्वारा स्नायु उत्तेजित होते हैं जिससे इनमें स्पन्दन होता है इसके साथ ही साथ स्वाद, रस और श्वसन को भी नियंत्रित करती है। अत: खेचरी मुद्रा के अभ्यास के बाद योगी समाधि की स्थिति को सहज ही प्राप्त कर लेता है।

ध्यान की अवस्था में खेचरी मुद्रा के अभ्यास के फलस्वरूप मध्य मस्तिष्क प्रभावित होता है और मध्य मस्तिष्क से ही श्वसनतंत्र, हृदय और शरीर के अन्य स्नायु नियंत्रित होते हैं। परानुकंपी स्नायुतंत्र के उत्तेजित हो जाने से शिथिलता आती है और यही शिथिलता समाधि में सहायक होती है।

ज्ञान के जनक तथा पांच स्रोतों (दो नाक, दो कान तथा एक मुख) से युक्त छिद्र जो कि ज्ञानयुक्त शून्य है उसी में खेचरी मुद्रा रहती है। जिस प्रकार से सृष्टि का मूल बीज प्रकृति है, देवों में श्रेष्ठ परमात्मा है और अवस्थाओं में एक मात्र अवस्था मनोन्मनी अवस्या है, उसी प्रकार मुद्राओं में एक मात्र खेचरी मुद्रा मानी गई है।[50]

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

विपरीतकरिणी :

विधि- दिव्यरूप चन्द्रमण्डल से जो अमृत तत्त्व स्रवित होता है उन सबको नाभिमण्डल स्थित अग्निस्वरूप सूर्य ग्रसता रहता है, इसी कारण से शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त है।

सूर्य के मुँख में वह चन्द्र रस स्रवित न हो, इसकी एक दिव्य क्रिया कही गई है तथा इस क्रिया को गुरू के उपदेश से ही जाना जा सकता है न कि करोड़ों शास्त्रों के समूह से नाभिमण्डल को ऊपर और तालुमूल को नीचे करने से सूर्यमण्डल ऊपर तथा चन्द्रमण्डल नीचे की ओर हो जाता है। इसी क्रिया को विपरीतकरिणी मुद्रा कहते हैं जो कि गुरु के द्वारा ही प्राप्त होती है।[51]

घेरण्ड संहिता के अनुसार नाभिमूल में सूर्य नाड़ी और तालुमूल के चन्द्रनाड़ी का वास माना गया है। सहस्राव को सूर्य नाड़ी ग्रहण करती है और उसी से प्राणी की मृत्यु कही गई है। यदि उसी स्राव का पान चन्द्र नाड़ी करें तो जीव को मृत्युभय नहीं सताता। अतः सूर्यनाड़ी को ऊपर तथा चन्द्रनाड़ी को नीचे करना ही विपरीतकरिणी कहलाती है।[52]

शिव-संहिता के अनुसार भूमि पर सिर रखकर दोनों पैरों को ऊपर स्थापित करना ही विपरीतकरिणी मुद्रा है।[53] इसका प्रतिदिन अभ्यास जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। किन्तु यह विशेष ध्यातव्य है कि इसके अभ्यासी को पर्याप्त मात्रा में आहार ग्रहण करना चाहिए अन्यथा प्रदीप्त जठराग्नि शरीरस्थ रक्त, मज्जा आदि धातुओं को जलाने लगती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

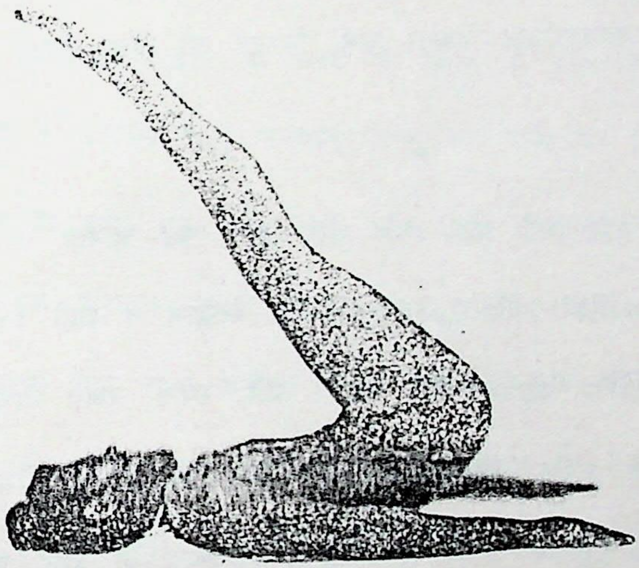

विपरीतकरिणी

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

प्रारम्भ में एक क्षणपर्यन्त ही नीचे की ओर सिर एवं पाँवों को ऊपर की ओर स्थापित करना चाहिए। इसके अभ्यास की वृद्धि प्रतिदिन क्षण मात्र में ही करनी चाहिए।

लाभ : इस मुद्रा में छः मास निरन्तर अभ्यास से शरीर की झुर्रियाँ तथा बालों की श्वेतता नष्ट एवं इसका प्रतिदिन एक प्रहर का अभ्यास साधक को कालजित् बना देता है[54] भूख बढ़ने लगती है, आमाशयिक विकार भ्रम, सिरदर्द को ठीक करता है।

वज्रोली :

विधि- योगोक्त नियम रहित स्वेच्छाचारी योगी यदि इस क्रिया को जानता है तो वह भी योगसिद्धि का अधिकारी होगा। इस मुद्रा की सिद्धि अप्राप्य न सही किन्तु दुष्कर अवश्य मानी गई है। चौदह अंगुल पर्यन्त शीशे, तांबे, स्वर्ण, रजत अथवा रबर की पतली नली को लिंगेन्द्रिय के माध्यम से प्रतिदिन एक-एक अंगुल परिमाण से ऊपर की ओर प्रवेश कराना चाहिए। बारह दिन पर्यन्त लिंगेन्द्रिय के शुद्ध होने पर वायु का ग्रहण और त्याग करना चाहिए। दृढ़ अभ्यासानन्तर क्रमशः जल, दूध, तेल, शहद और पारा ग्रहण करना चाहिए। इस अभ्यास में सिद्धहस्त होने पर ही योगी स्वबिंन्दु अथवा रज को आकर्षित करें।

लाभ : लिंगेन्द्रिय के छिद्र की शुद्धि और अपानवायु पर पूर्णतया अधिकार प्राप्त हो जाता है। इन मुद्राओं को किसी अनुभवी की सहायता से करनी चाहिए अन्यथा हानि पहुँचने की अधिक सम्भावना होती है।

यदि कोई साधक इस क्रिया को जानता है तो वह शीघ्र ही भूत-भविष्य को जानने वाला, आकाशगामी एवं उसे कार्य सिद्धि प्राप्त होती है।[55]

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

शक्तिचालन :

विधि- हठयोग प्रदीपिकाकार के अनुसार जिस सुषुम्ना मार्ग से उस निरामय ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है, कुण्डलिनी उसी सुषुम्ना मार्ग के मुँख द्वार को ढककर सोई रहती है। यह शक्ति सर्प के समान कुटिल आकार वाली तथा गंगा (इड़ा नाड़ी) और यमुना (पिंगला नाड़ी) के मध्य में स्थित है जिसको पुरूषार्थ से ही जगाना सम्भव होता है क्योंकि वहीं भगवान् विष्णु का परम पद है।

कन्द के ऊपर इस शक्ति को प्रातः और सायं आधे पहर तक पिंगला नाड़ी से पूरक करके परिधान युक्ति से पकड़कर प्रतिदिन चलाना चाहिए। लिंगेन्द्रिय तथा नाभि के मध्य एक हाथ ऊँचाई वाला, चार अंगुल परिमाण वाला, कोमल, श्वेत तथा वस्त्र के द्वारा लिपटे हुए के समान कन्द स्थान है। इस कन्द प्रदेश को वज्रासन में स्थित होकर दोनों पैरों के टखनों से दबाना चाहिए। तद्नन्तर भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए, इससे कुण्डलिनी शीघ्रता से जागृत हो जाती है अथवा नाभिमण्डल स्थित सूर्यनाड़ी का आकुंचन कर इस शक्ति को चलाने का अभ्यास करना चाहिए। इस शक्ति को दो मुहूर्त पर्यन्त निर्भय होकर चलाने से यह शक्ति सुषुम्ना में कुछ प्रविष्ट होकर उर्ध्वगामी हो जाती है।

लाभ : सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्द्धक होने के अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने में सहायक होता है। जिस साधक ने इस शक्ति को चलायमान कर लिया है, वहीं राजयोग आदि सिद्धियों को प्राप्त करता है। वह योगी लीला करता हुआ मृत्यु पर विजय पाता है। इस शक्ति चालन के अभ्यास से बहत्तर सहस्र नाड़ियों का मल दूर हो जाता है।[56]

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

इस प्रकार आदिनाथ शम्भु द्वारा उपदिष्ट ये सभी मुद्राएं साधकों को महासिद्धि प्रदान करने वाली है और जो साधक एकाग्र मन से इन मुद्राओं का अभ्यास करता है, वह अणिमा आदि गुण ऐश्वर्य के साथ-साथ मृत्यु पर भी विजय पाता है।[57]

योनिमुद्रा :

विधि- सिद्धासन पर बैठकर पूरक करें। तत्पश्चात् योनिमार्ग का ऊपर की ओर संकोच करें और दोनों अंगूठे से दोनों कानों को, तर्जनी से, दोनों आँखों को, मध्यमा से, नाक को अनामिका एवं कनिष्ठिका से ओष्ठ को बन्द कर लें। यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् हाथों की अंगुलियों को हटा लें और योनि भाग का संकोच भी छोड़ दें फिर पूरक करके यही प्रक्रिया करें। इसे योनिमुद्रा कहते हैं।

लाभ : इससे कुण्डलिनी शक्ति शीघ्र जागृत होती है एवं वीर्य का ओजस शक्ति में रूपान्तरण होता है। इस मुद्रा से प्राण अपान का संगम होता है।

योग मुद्रा :

विधि- मूलबन्ध के साथ पद्मासन में बैठकर सर्वप्रथम दोनों नासिकापुटों से पूरक करके जालन्धर बन्ध लगायें, तत्पश्चात् दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर बायें हाथ से दांयें हाथ की ओर और दायें हाथ से बायें हाथ की कलाई को पकड़े, शरीर को आगे झुकाकर पेट के अन्दर एडियों को दबाते हुए सिर को जमीन पर लगा दें। इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् सिर को जमीन से उठाकर जालन्धर बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओं से रेचक करें।

लाभ : पेट के रोगों को दूर करने और कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने में सहायक होती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

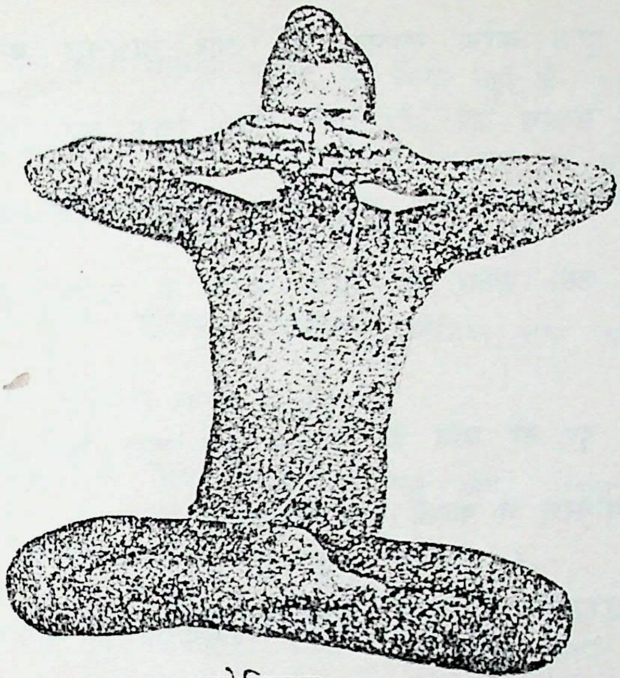

योनिमुद्रा

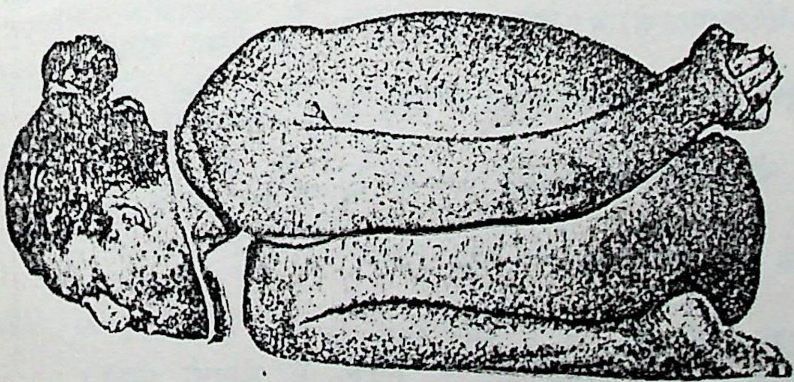

योगमुद्रा

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

अश्विनी मुद्रा :

विधि- स्थिर आसन पर बैठकर पूरक करके कुम्भक करें और जालन्धर बन्ध लगायें और गुदा द्वार को बार-बार संकोच करें और छोड़े। फिर रेचक करते हुए बार-बार करें। इस मुद्रा में जैसे घोड़ा मल त्याग करते समय गुदा का बार-बार संकोच करता है और छोड़ता है उसी प्रकार की क्रिया करने के कारण इसे अश्विनी मुद्रा कहते हैं।

लाभ : गुदा सम्बन्धित सभी रोग दूर हो जाते हैं। सुषुम्ना द्वार खुल जाता है जिससे कुण्डलिनी शक्ति के शीघ्र जागरण में काफी मदद मिलती है।

योगाभ्यास- सावधानियाँ एवं विशेषताएँ

योगाभ्यास से कई सार्थक स्थूल प्रभाव होते हैं। योग मनुष्य तथा उसके पर्यावरण में सामंजस्य बनाये रखने में सहायक होता है और मनुष्य को पर्यावरणजन्य विकारों से बचाता है। योगाभ्यास मनुष्य के मनो-दैहिक व्यवस्था में व्यवस्थित क्षमता प्रदान करके उसे रोगों से बचाता है। आधुनिक समय में होने वाले अधिकांश रोग मनुष्य तथा उसके पर्यावरण के बीच सामंजस्य न बन पाने के कारण ही उत्पन्न हो रहे हैं।

यौगिक क्रियाएँ मुख्यतः निम्नांकित तीन प्रकार की भूमिका में प्रभावी होती हुई मनुष्य के स्वास्थ्य-लाभ एवं रोगनिवारण में सहायक होती है-

1. मनोविजय एवं तनाव-शैथिल्य हेतु
2. शारीरिक व्यायाम एवं पुनर्स्थापन हेतु
3. संशोधन हेतु

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar. An eGangotri Initiative

हठयोग में मुद्रा-विधान

मुद्रा- उद्देश्य

दैनिक जीवन में उषा: से रात्रि विश्राम स्थिति तक खाना, उपासना हो अथवा अन्य कार्य सम्पादन सभी में मनुष्य भिन्न २ मुद्राओं का प्रयोग करता है। आर्टिस्ट अथवा चित्रकार जिस प्रकार किसी भी व्यक्ति के अंग प्रत्यंग विशेष की मुद्रा मात्र से उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रकट करता है, उसी तरह विभिन्न कार्यों के लिए कुछ मुद्रायें नियत हैं, उन मुद्राओं के बिना कार्य सम्पन्न हो ही नहीं सकता। चलने में हमारे पैरों का अन्दर एक त्रिभुजीय आकृति बनाता है, इस आकृति के बनाये बिना चलने जैसा कार्य सम्भव ही नहीं हो सकता। पानी में तैरने की मुद्रा से भूमि पर दौड़ा नहीं जा सकता। गौतम बुद्ध की बोधि सिद्धि (ध्यान मुद्रा) धर्मचक्र एवं अभिज्ञान समाधि (वरद हस्त मुद्रा) एक मुद्रायें अथवा, रचना अथवा आस्वादन सिद्ध करती है। तान्त्रिक साधना विधि में भी आत्म साक्षात्कार हेतु पंच-मकारों के अन्तर्गत एक मकार मुद्रा का भी विशिष्ट स्थान है। शिव की ताण्डव एवं कृष्ण की मुरली बजाने की मुद्राओं का अलग अलग अस्तित्व है। इसी प्रकार हठयोग साधना पद्धति के अन्तर्गत शाम्भवी, उन्मनी आदि मुद्राओं की पृथक् २ अभिव्यक्ति एवं शारीरिक मानसिक क्रिया कलापों को आधिकाधिक बनाकर आत्म साक्षात्कार हेतु उन्मुख करती है।

मुद्रा का स्वरूप एवं कार्य

वस्तुतः शारीरिक गतिविधियों के अनुसार पंच-

तत्वों के आधार पर शरीर क्रियाओं का विश्लेषण करते हैं और अंग-उपांगों का सम्बन्ध पंच तत्वों से स्वीकार करते हैं तो इस आधार पर मुद्रा-वायु- तत्त्व का प्रतीक है। वायु तत्त्व का कार्य है प्रकृति के अन्दर गति प्रदान करना। हमारे शरीर का स्नायु जाल वायु तत्त्व का भौतिक स्वरूप है और इसी के कारण ही ये सक्रिय हैं। नाग वायु के द्वारा विकास की क्रिया के विविध स्वरूप और स्तरों की अभिव्यक्ति देना मुद्रा के कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत है। मुद्रा बाह्य आकृति है जो प्रकृति के अदृश्य गुणात्मक रूप को प्रकट करती है। बाह्य और आभ्यन्तर को एक रूप करके दृश्य रूप देना ही मुद्रा है।

यह उल्लेखनीय है कि हठयोग की कुछ मुद्रायें देती हैं जिनका प्रभाव नैसर्गिक रूप से शरीर एवं मनःस्थिति पर पड़ता है जिससे मन के उद्वेग और तनावों में शिथिलता आकर शारीरिक और मानसिक विकृतियां दूर होती हैं एवं साधना में स्थिरता आती है। शरीर एवं मन को साधनोपयोगी बनाने के लिए ही घेरण्ड ने " मुद्रया स्थिरता "[1] मुद्राओं के अभ्यास से स्थिरता की उपलब्धि होती है। घेरण्ड का स्थिरता से तात्पर्य शरीर के अन्दर से मुद्राओं के माध्यम से अतिरिक्त वायु का निष्कासन कर शरीर और मन को सबल बनाते हुए रजोगुण से सत्त्वगुण की ओर ले जाना है। इसके अतिरिक्त जहाँ काय- शोधन प्रक्रिया में षट्कर्म , आसन, प्राणायाम के कार्य नहीं हो पाता वहाँ मुद्राओं के प्रयोग से घट-शुद्धि कर साधना हेतु शरीर में स्थिरता लायी जाती है।

<u>योगसाधना में मुद्राओं के कार्य एवं लाभ</u>

"योग साधना के अन्तर्गत मुद्राओं का महत्त्व आसन, प्राणायामादि क्रियाओं से अधिक माना गया है। मुद्राओं का अभ्यास

१- घे० सं० ३।१०

कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने एवं चक्रों का भेदन करने में विशेष उपयोगी है, महामुद्रा , नभोमुद्रा, खेचरी, विपरीतकरणी, ताडागी, माण्डुकी, काकी, भुजंगिनी, शाम्भवी आदि विभिन्न मुद्राओं के अभ्यास का निर्देश योगपरक शास्त्रों में उपलब्ध होता है। इन मुद्राओं का आध्यात्मिक महत्त्व तो है ही भौतिक रोगों से मुक्त कराने में भी इनका प्रमुख योगदान है।[1]

बन्धों के अन्तर्गत जालन्धर, उड्डियान, मूलबन्ध, एवं महाबन्ध की गणना की जाती है। महाबन्ध वस्तुतः प्रथम तीन बन्धों का ही मिश्रित रूप है। जालन्धर, उड्डियान एवं मूलबन्ध की स्थिति क्रमशः कण्ठ, उदर, एवं गुदा प्रदेश में स्वीकार की गई है।

आध्यात्मिक उपलब्धि के साथ साथ भौतिक स्तर पर भी मुद्रा एवं बन्धों के अभ्यास की कम सार्थकता नहीं है। मुद्राओं के सम्यक् अभ्यास से शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य में सुदृढ़ता आती है। शरीर का तापमान नियन्त्रित रहता है। मस्तिष्क, हृदय, पाचन संस्थान, मूत्र-संस्थान एवं प्रजननात्मक क्रिया व उनसे सम्बन्धित रहकर शरीर की प्राण शक्ति की संचरण क्रियाओं को अपूर्व योगदान देती हैं।

<u>मुद्राओं की संख्या</u>

मुद्राओं की संख्याओं के विषय में स्वात्माराम एवं घेरण्ड दोनों एक मत नहीं हैं। स्वात्माराम ने ह० प्र० में निम्न मुद्राओं का उल्लेख किया है-

" महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डियानबन्ध , मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी , वज्रोली एवं शक्तिचालिनी

१- योगवाणी- षट्कर्म विशेषांक पृ० १८-२४

आदि दस मुद्राओं का वर्णन किया है,[1] किन्तु इन दस मुद्राओं के अन्तर्गत तृतीय उपदेश में ही वज्रोली मुद्रा प्रकरण में सहजोली[2] और अमरोली[3] तथा ह० प्र० के चतुर्थ उपदेश में शाम्भवी[4] व उन्मनी[5] मुद्रा का भी वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रकार ह० प्र० में कुल मिलाकर चौदह मुद्राओं का उल्लेख स्वात्माराम ने किया है।

घे० सं०[6] के अन्तर्गत तृतीयोपदेश में घेरण्ड ने २५ मुद्राओं का विस्तृत वर्णन किया है- " महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान बन्ध, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालिनी, ताडागी, माण्डुकी, शाम्भवी, पंचधारणा, पार्थिवी, आम्भसी, आग्नेयी, वायवीय एवं आकाशी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगिनी, भुजंगिनी आदि मुद्राओं का उल्लेख किया है।"

घेरण्ड संहिता में पंच- धारणाओं का भी उल्लेख [illegible] मुद्राओं में सम्मिलित किया है। यह समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि इन धारणाओं का मुद्राओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। साधना के क्षेत्र में जब कोई साधक अग्रसर होता है तो इन पंच धारणाओं की सिद्धि संयम[7] (धारणा, ध्यान एवं समाधि) की साधना के आधार पर ही की जा सकती है। अतः पूर्व यदि साधक समाधि के अनुभव तक नहीं पहुंचा तो पंच धारणा

१- ह० प्र० ३।६

२- ,, ३।९०

३- ,, ३।९२,९६

४- ,, ४।३५

५- ,, ४।३६

६- घे० सं० ३।१ से ३ तक

७- योगदर्शन- विभूति पाद ३।४

इनका एवं अभ्यासों की सिद्धि होना असम्भव प्रतीत होता है। पंचधारणा के अतिरिक्त अन्य सभी मुद्राएं समाधि अनुभव नहीं अपितु समाधि की ओर उन्मुख करने वाली है जो साधन मात्र हैं। घेरण्ड ने पंच धारणा पर संयम करने की प्रक्रिया को मुद्राओं में समाविष्ट कर मुद्राओं की संख्या बढ़ाई है। इन धारणाओं से मुद्राओं का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह ध्यान का विषय है।

घेरण्ड संहिता में मुद्रा प्रकरण में "सिद्धिदा च योगिनाम्"[1] यह योगियों के लिए सिद्धि प्रदाता कहा है।

इसी प्रकार का उल्लेख हठप्रदीपिका में मुद्रा-प्रकरण में भी उपलब्ध है- "यह दस मुद्राएं जरा मरण को नष्ट करने वाली है, यह मुद्राएं आदिनाथ द्वारा कही हुए आठ दिव्य ऐश्वर्यों[2] को प्रदान करती है, जो कि सभी सिद्धों को प्रिय और देवताओं को दुर्लभ है।"

यही नहीं स्वात्माराम ने इन मुद्राओं को रत्न-पिटारी के समान गुप्त रखने का निर्देश किया है- "यह सभी मुद्राएँ रत्न-पिटारी के समान गुप्त रखने योग्य हैं इन्हें उसी प्रकार[3] गुप्त रखना चाहिए, जिस प्रकार कुलवधू के साथ समागम गुप्त रखा जाता है।"

मुद्राओं के अभ्यास करने पर वृद्धावस्था और मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है तथा आठ ऐश्वर्यों (अणिमादि सिद्धियों) की प्राप्ति होती है, का निर्देश किया है तथा इन्हें अनधिकारी से गुप्त रखने का भी उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में साधक निर्जन स्थान में इनका अभ्यास करे। मुद्राओं की प्रशंसा का जहाँ प्रश्न उठता है वहाँ स्वात्माराम और घेरण्ड

१- घेरण्डसंहिता ३।३

२- ह०प्र० ३।७

३- ,, ३।८

रूप मुद्रा से बढ़कर है तथा अधिकांश स्थलों पर अतिशयोक्ति का ही प्रयोग किया है। इस अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा के विषय में हठयोग का प्रचार प्रसार होकर हठयोग सम्प्रदाय की अलग पहचान की विचार धारा रही होगी।

मुद्रा- वर्गीकरण

मुद्राओं की संख्या के विषय में हठयोग ग्रन्थकार एक मत नहीं है, इसी प्रकार मुद्राओं का वर्गीकरण हठयोगपरक ग्रन्थों के अन्तर्गत उपलब्ध नहीं है। इस शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत कौन सी मुद्रा ध्यानोपयोगी है तथा कौनसी शरीर शुद्धता एवं रोग निवारण में साधकों के लिए लाभकारी होगी, पृथक् पृथक् वर्गीकृत किया गया है। इस वर्गीकरण से निश्चयतः उन साधकों को अभीष्ट लाभ मिलेगा जिनके पास प्रत्येक मुद्रा सीखने के लिए पर्याप्त समय नहीं है लेकिन जीवन में आध्यात्मिक गति की ओर जाने की प्रबल जिज्ञासा रखते हैं। उन्हें कुछ ही मुद्राओं के अभ्यास से आशातीत लाभ की अपेक्षा करनी चाहिए।

ध्यानोपयोगी मुद्रायें

खेचरी, शाम्भवी, उन्मनी

घट शुद्धि हेतु मुद्रायें

महा, नभो, उड्डियानबन्ध, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालिनी, तडागी, माण्डुकी, पंच धारणा- पार्थिवी, आम्भसी, आग्नेयी, वायवीय, आकाशी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगिनी एवं भुजंगिनी।

खेचरी मुद्रा

ध्यानबिन्दूपनिषद् में खेचरी मुद्रा - [1] कपाल कुहर में विपरीत (उल्टकर) हुई जिह्वा के प्रविष्ट होने और भ्रूकुटी के मध्य दृष्टि रखने पर खेचरी मुद्रा होती है। इस स्थिति में बिन्दु अग्नि में नहीं गिरता और न (शरीर में) वायु संचरित होती है।

खेचरी मुद्रा के जानने वाले योगी को रोग, मृत्यु, तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा, तृष्णा और मूर्च्छा नहीं आती, खेचरी का साधक रुग्ण नहीं होता, कर्म से लिप्त नहीं होता और न काल बाधित ही होता है।

जिस मुद्रा के द्वारा चित्त भौहों के मध्य आकाश में विचरण करता है और जिह्वा भी वहीं जाकर विचरती है, उस खेचरी को सिद्ध नमस्कार करते हैं।

योगकुण्डल्युपनिषद्[2], योगतत्त्वोपनिषद्[3] एवं शाण्डिल्य[4] उपनिषद् में भी खेचरी मुद्रा की प्रक्रिया ध्यानबिन्दूपनिषद् के अनुसार ही प्राप्त है।

वशिष्ठ योग में खेचरी मुद्रा

" उत्कट आसन से बैठकर, जीभ को नीचे से जोड़ने वाले पतले तन्तु को काट कर, जीभ उठाकर धार बनाई ऊँचा तक की ढंडी से रगड़े तथा नित्य प्रातःकाल ही जीभ को दोनों हाथों से अंगूठे और

1- ध्यानबिन्दूपनिषद् पृ० ७९ से ८२ तक

2- योगकुण्डल्युपनिषद् २।३ से ७ तक

3- योगतत्त्वोपनिषद् पृ० ११७

4- शाण्डिल्य उपनिषद् ४।३।१ (प्रथम भाग)

उंगली से दोनों पार्श्वों से नाक के नीचे के समान ही दोहन करें। इसके पश्चात् त्रिकटु का चूर्ण लगाकर मलते रहें, अथवा कपड़े से भी दोहन किया जा सकता है। इसी प्रकार तब तक करते रहें जब तक जीभ निकाल कर जिह्वाग्र भाग भ्रूमध्य को फिर नासिका अग्र भाग को और अन्त में ब्रह्मरन्ध्र को स्पर्श न कर लिया करे। फिर जिह्वा उलटकर कपाल कुहर में जाने योग्य बन जाती है।[1]"

<u>सारस्वत कुण्डलिनी महायोग में खेचरी</u>

"सिद्धासनपूर्वक शरीर को स्थिर सीधा कम्प-विहीन रखकर जीभ को आगे की ओर साधक परिचालन करता है, इससे जीभ के रेशे नरम और ढीले पड़ जाते हैं। जिह्वा का चालन करके धीरे धीरे तालु के बीच जिह्वा की नोक को रगड़ना चाहिए, फिर उसे स्थिर कर लेना चाहिए। जो जिह्वा का अग्रवर्ती भाग है उसे तालु के छिद्र में लगा देना चाहिए, इससे इसी भाग पर ध्यान जमा रहता है, जहाँ जीभ लगी रहती है। निरन्तर इस प्रकार करते हुए कुछ काल पश्चात् बड़े बड़े अनुभवात्मक ज्ञान होने लग पड़ते हैं। यह मुद्रा नित्य नियमपूर्वक करनी चाहिए। खेचरी मुद्रा के अभ्यास का ज्ञान इस प्रकार का होता है कि जिससे विश्वासात्मक, प्रामाणिक ज्ञान बन सकते हैं। इस ज्ञान के द्वारा साधक बाहर भीतर का सब कुछ क्रिया कलाप देख और जान सकता है

साधक की दृष्टि वहीं खिंची चली जाती है जहाँ जीभ लगी है। तालु भाग के छिद्र में लगा हुआ जिह्वा का वह भाग बरबस साधक की दृष्टि को वहीं खींचकर ध्यानस्थ कर देता है।[2]"

१- [illegible] पृ० १३८

२- सारस्वत कुण्डलिनी महायोग पृ० १०२ व १०३

ह० र० में खेचरी

जिह्वा की आकृति के समान शस्त्र ही उसके मूल में छेदन योग्य है। इसके लिए विद्वानों ने सेहुड़ पत्र भी तेज धार का है उचित बताया है। जिह्वा की ग्रन्थि का परीक्षण कर बाल के बराबर इड़ा पिंगला सुषुम्ना स्वर के पथी पर काटे, काटने पर हर्रे एवं सोंठ के वस्त्र का चूर्ण नमक तथा सैंधा नामक लगावे।[2]

गाय दोहन के समान जिह्वा का दोहन करे तथा पुनः सात दिवस पश्चात् तिल मात्र छेदन करे। श्रीनिवास भट्ट के मतानुसार इसका दोहन शनैः शनैः कर जिह्वा से भ्रूकुटी स्पर्श ही माना करे।[1]

ह० सं० चन्द्रिका में भी[2] खेचरी मुद्रा की प्रक्रिया ह० र० के समान ही है।

शिव संहिता में खेचरी मुद्रा

"बुद्धिमान साधक दोनों भ्रू अर्थात् भ्रूकुटी के मध्य में दृढ़ करके दृष्टि को स्थिर करके और नाना उपद्रव रहित होके पद्मासन स्थित होकर जिह्वा को विपरीत अर्थात् ऊपर सुधा कूप (तालु विवर) में यत्नपूर्वक संयोजित करे। हे पार्वती! भक्तों के प्रति यह खेचरी मुद्रा प्रकाशित की है। यह खेचरी मुद्रा सर्व सिद्धि की जननी है और हे देवी! इसको प्राण से भी अधिक प्रिय है। जो निरन्तर इस अभ्यास से नित्य अमृत पान करता है उसका शरीर सिद्ध हो जाता है अर्थात् नाश नहीं होता और मृत्युरूपी हस्ति का यह खेचरी सिंह रूपी मारक है।[3]"

१- ह० र० २।१२१ से १२३ तक व १२५ से १२६ तक

२- ह० सं० चं० २६ स

३- शिव संहिता ४।५१ से ५७ तक

अपवित्र अथवा पवित्र हो या किसी अवस्था में हो जिसको खेचरी मुद्रा सिद्ध है वह सर्वदा शुद्ध है । इसमें संशय नहीं है । जो इस खेचरी की भावनायें भी करेगा वह पापापाप सागर से पार होकर सुखपूर्वक स्वर्ग का भोग भोगेगा । उसके अनन्तर उत्तम कुल में उसका जन्म होगा ।

गोरक्ष पद्धति में खेचरी

" जिह्वा को उलटी फिराकर कपाल कुहर में प्रवेश करे तदनन्तर भ्रूमध्य में निश्चल दृष्टि स्थिर करना । इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं जो योगी गुरुपदिष्ट मार्ग द्वारा छेदन, दोहन, चालन विधि से खेचरी मुद्रा को बहुत काल पर्यन्त अभ्यास करता है उसके रोग, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्च्छा और मरण दुःख नष्ट हो जाते हैं । जो योगी खेचरी मुद्रा जान कर उसे अभ्यास करके सिद्धि करता है वह रोग से पीड़ित नहीं होता , कर्म के फल में बन्धन नहीं पाता, और काल , मृत्यु आदि से भी वध्य नहीं है ।

जिस कारण पल्लव के लिए एकाग्र होकर मन, बुद्धि, चित्त शून्य होकर फिरता है तथा जिह्वा भी अवकाश खेचराकाश में रहकर ब्रह्मरन्ध्रान्तर्गत चन्द्रकलामृत का पान करती है इस हेतु से मन बुद्धि के विषय बन्धन निवारण करने वाली खेचरी मुद्रा अवश्य सिद्ध करनी है अत्यन्त गुप्त है ।[1] "

ह० प्र० में खेचरी मुद्रा

" कपाल कुहर के मध्य में जीभ उलटी करके प्रविष्ट करनी चाहिए और साधक की दृष्टि दोनों भौंहों के मध्य स्थित रहनी चाहिए । इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं ((खेचरी सिद्धि में) छेदन, चालन

१- गोरक्ष पद्धति पृ० ३४,३५

जब योगी के जीभ (कला) की तब तक बढ़ाते रहें जब तक जीभ भौहों के मध्य का स्थान स्पर्श न करे। ऐसा करने पर खेचरी सिद्ध होती है।

स्नुही के पत्ते के समान तेज धार वाले, स्वच्छ और चिकने शस्त्र को लेकर उससे जिह्वा मूल की नाड़ी का रोम मात्र छेदन करना चाहिए और उसके बाद (उस घाव पर) पिसे हुए सेंधा नमक और हरड़ के चूर्ण को अच्छी तरह मिलना चाहिए। सात दिन के पश्चात् फिर रोम के बराबर ही छेदन करना चाहिए। इस प्रकार (छेदन और चूर्ण घर्षण) के नित्य प्रति क्रम से छः मास में कपाल कुहर से टपकने वाले अमृत को रोकने वाले जिह्वा मूल का शिराबन्ध पूर्णतः नष्ट हो जाता है। जीभ को उलट कर (जहाँ तीनों सुषुम्ना आदि) त्रिपथ में लगाना चाहिए। इसी को व्योम चक्र भी कहा जाता है। यही खेचरी मुद्रा है।[1]

ह० प्र० में खेचरी के विषय में आगे लिखा उल्लेख किया है- "जो योगी तालुरन्ध्र में जीभ को ऊपर कर आधा क्षण भी स्थित कर लेता है, वह सभी प्रकार के विष, रोग, मृत्यु और जरादि से मुक्त हो जाता है। जो खेचरी को जानता है अर्थात् खेचरी के अभ्यास में समर्थ हो जाता है, उसे रोग, मृत्यु, तन्द्रा, निद्रा, भूख प्यास और मूर्छा नहीं सताती है। वह रोग से पीड़ित नहीं होता न उसे कर्मों के शुभाशुभ फल ही बांधते हैं। उसे मृत्यु भी बाध्य नहीं करती।[2]

फिर (खेचरी मुद्रा) के द्वारा चित्त दोनों भौहों के बीच आकाश में स्थित हो जाय और (उसी शून्य में) यहीं जिह्वा भी ऊपर जाती है, इसे सिद्धों ने खेचरी मुद्रा कहा है। जो योगी खेचरी मुद्रा

१- ह० प्र० ३।३२ से ३६

२- ,, ३।३७ से ४१

से उत्पन्न वायु के ऊपर जिव्हा को आच्छादित कर देता है, (वह) कामिनी युवती द्वारा आलिंगित होने पर भी उसके वीर्य का क्षरण- स्खलन नहीं होता है, यदि बिन्दु स्खलित भी होने लगे तो योनि मण्डल में योनि मुद्रा के प्रभाव से (खेचरी से) अग्नि के आकर्षण से ऊपर पहुँच जाता है ऊर्ध्वमुखी होकर से (तालु के ऊपर जिव्हा में सहस्रार से गलित) चन्द्रामृत का जो योगी पान करता है, वह व्याधि रहित - इस पक्ष में मृत्यु को जीत लेता है।

ह० प्र० में खेचरी की प्रशंसा

" जिस योगी का शरीर नित्य चन्द्र कला से पूर्ण रहता है- अर्थात् सहस्रार से गलित अमृत का पान करता है उसे यदि तक्षक (विषैला सांप) भी काट ले तो उसका विष शरीर में नहीं फैलता। जिस तरह अग्नि ईंधन को नहीं छोड़ती, दीपक तेल युक्त बत्ती को प्रकाशित ही करता रहता है, उसी तरह जब तक शरीर चन्द्रमा की कला से परिपूर्ण है, तब तक जीवात्मा उसका त्याग नहीं करता है।[1] "

जो योगी नित्य जिव्हा को तालुरन्ध्र में प्रविष्ट कर बारबार भक्षण करता है और अमर वारुणी पीता है, उसी को मैं (स्वात्माराम) कुलीन समझता हूँ और दूसरे लोग कुल घातक हैं। यहाँ गो शब्द का अर्थ है जिव्हा और तालु विवर में उसका प्रवेश ही मांस भक्षण है। वह बड़े से बड़े पापों को नष्ट कर देता है। जब तालु विवर में जिव्हा के प्रवेश से उष्णतापरक अग्नि उत्पन्न होती है, तब (सहस्रार स्थित) चन्द्रमा से जो द्रव क्षरता है, वही अमर वारुणी है।

यदि इस प्रकार कहने वाली, नाद, आदि,

१- ह० प्र० ३।४४ से ४६

लवण, दुग्ध, मधु और घी आदि रसों के समान रस प्रकट करने वाली जीभ तालु के ऊपर वाले विवर छिद्र का निरन्तर स्पर्श करती (चन्द्रकलामृत को पीती) है, तो साधक की सभी व्याधियों (रोगादि) का नाश हो जाता है, जरादि का अन्त होता है, शस्त्रादि (के आघात) का निवारण हो जाता है। वह अमरत्व प्राप्त करता है अष्ट सिद्धियों और सिद्धांगनाओं का आकर्षण होता है।

ह० प्र० में खेचरी मुद्रा

" जो योगी जीभ को कपाल कुहर में ले जाकर और मुख को ऊपर की ओर उठाकर परम शक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करता हुआ प्राणवायु के साधन और अभ्यास से प्राप्त कण्ठ में सोलह दल वाले कमल में मस्तक से धारा रूप में गिरते ऊर्ध्व रसना वाले चन्द्रकलामृत (सोमरस) का पान करता है, वह रोग रहित हो जाता है उसका शरीर मृणाल(कमल-नाल) के समान कोमल हो जाता है और वह चिरकाल तक जीवित रहता है।[1] "

सुषुम्ना के ऊपर भाग में स्थित विवर में चन्द्रकलामृत (प्रालेय) का अधिष्ठान है, उसमें तमो- रजोगुण से परे तथा सतो गुण से सम्पन्न विशुद्ध [illegible] आत्म- तत्त्व का दर्शन करता है। यहीं चन्द्र-सूर्य सुषुम्ना आदि प्रमुख नाड़ियों का उद्गम स्थान है शरीर का सार तत्त्व चन्द्रामृत स्रवित होता है, उदरस्थ अग्नि रूपी सूर्य उसका ग्रास करता है, इसी प्राणियों की मृत्यु हो जाती है इस सार तत्त्व को अधोगामी होने से रोकने के लिए खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए, यदि यह अभ्यास नहीं किया जाता है तो शरीर की परिपक्वता - अमरत्व सम्भव नहीं है।

१- ह० प्र० ३।५० से ५३ तक

नाड़ियों के मध्य स्थित शून्य चित्त नाम का उत्पन्न करने वाला है। उस शून्य रूप निरंजन के लिए खेचरी मुद्रा निर्भर होती है। दृष्टिमय (ज्ञानात्मक) बीज एक ही है, मुद्राओं में प्रधान खेचरी मुद्रा एक ही है और निराधार, निरालम्ब, निरंजन रूप देव एक ही है, मनोन्मनी ही प्रधान यौगिक स्थिति अथवा अवस्था भी एक ही है।

घेरण्ड संहिता में खेचरी का उल्लेख

जिह्वा के नीचे वाली नाड़ी को छेदकर जिह्वा के अग्र भाग को निरन्तर चालन करे तथा मक्खन लगाकर दोहन करता हुआ लोहे की चिमटी से खींचे। नित्य प्रति ऐसा अभ्यास करने से जिह्वा बढ़ जाती है। उसका दोहन भौंहों के मध्य पहुँचने तक करता रहे। पुनः क्रमशः तालुमूल में धीरे धीरे प्रविष्ट करे। कपाल रन्ध्र में जिह्वा को ऊपर की ओर उलटी करके ले जाना चाहिए। दृष्टि दोनों भौंहों के मध्य में रखे। यह खेचरी मुद्रा है।

खेचरी का अभ्यास करने वाले साधक को मूर्च्छा, क्षुधा, तृष्णा, आलस्य आदि नहीं व्यापते हैं। रोग, जरा एवं मरण का भय नहीं रहता। न अग्नि से शरीर जलता है न वायु से शुष्क होता है, न जल गीला करता है और न सर्प काट सकता है। शरीर लावण्यमय हो जाता है। निश्चय समाधि सिद्ध होती है। कपाल और मुख का रसना के साथ संयोग होने से अनेक रसों की उत्पत्ति होती है, खेचरी का साधक जिह्वा से दिन पर दिन अद्भुत रसों का आस्वाद लेता है, प्रारम्भ में लवण, क्षार, तिक्त और कषाय रस का तत्पश्चात् मक्खन, घृत, दुग्ध, दधि, तक्र, मधु, द्राक्षा और फिर अमृतादि रसों का स्वाद उत्पन्न होता है।

१- घे० सं० ३।२९

खेचरी मुद्रा के विषय में ह० प्र०, घे० सं०, एवं अन्य हठ योगपरक ग्रन्थों में जिह्वा छेदन, चालन एवं दोहन की एक ही प्रक्रिया दी है। किन्तु छेदन की प्रक्रिया को अपनाने में साधकों को एक बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि इस मुद्रा के अनुभवी साधक बहुत कम ही मिलते हैं और जो भी हैं वे सम्पर्क शून्य हैं। इसलिए यह मुद्रा साधकों के लिए बहुमूल्य होते हुए भी प्रचार की दृष्टि से शून्य सी हो गई है। इस मुद्रा के मर्मज्ञ उत्तराखण्ड की पहाड़ियों में खोज करने पर कोई एक ही मिल सकता है और उनसे निर्देश प्राप्त करना साधारण काम नहीं है, इस कठिनाई को देखते हुए भगवत्कृपा से खेचरी का सरल उपाय सोचने में समर्थ हो सका हूं। "प्रविधि योग" में प्रस्तुत प्रक्रिया भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

<u>खेचरी मुद्रा की सरल प्रक्रिया</u>

खेचरी के अभ्यास के लिए जिह्वा के अधो-भाग में जिह्वा से संयुक्त तन्तु का छेदन तेजधार वाले शस्त्र से नहीं करना चाहिए, क्योंकि छेदन क्रिया से "सुषुम्ना" से निकल कर जिह्वा में आकर मिलने वाली "सरस्वती नाड़ी" जो सूक्ष्म होती है, के कट जाने का भय रहता है। जिससे कट जाने से वाक् एवं श्रवण शक्ति बिल्कुल नष्ट होने की सम्भावना रहती है।

आरम्भ में १५ दिन से लेकर १ मास पर्यन्त त्रिफला का मोटा दरदरा चूर्ण जिह्वा तन्तु एवं मुख में उप-जिह्वा के नीचे ऊपर तथा जिह्वा के ऊपर दायें बायें भाग पर दाहिने हाथ की तर्जनी, मध्यमा एवं अनामिका अंगुली से घर्षण करें। जिह्वा को बायें हाथ से पकड़ लेना चाहिए। यह क्रिया प्रातः शौचादि से निवृत्त होकर करना चाहिए। इस क्रिया से कपाल रन्ध्र एवं जिह्वा से विजातीय द्रव्य शनैः शनैः बाहर आयेगा तथा जिह्वा नरम हो जायेगी व जिह्वा के रेशे ढीले पड़ जायेंगे। जिह्वा के अधोभाग का तन्तु

शनै: शनै: स्वयमेव ही खिंच जायेगा । इस अवधि के पश्चात् रेशमी वस्त्र को गर्म जल में भिगोकर जिह्वा को दोहन करें, गर्म जल में वस्त्र को बार बार भिगोये जिससे जिह्वा गरम रहे । प्रतिदिन यह क्रिया कम से कम १५-२० मिनट तक करना चाहिए । एक माह के बाद मीठा चूर्ण बन्द कर देना चाहिए इसके बाद त्रिफला का बारीक कपड़छन किया हुआ चूर्ण लेकर बराबर उपर्युक्त प्रक्रिया द्वारा प्रयोग करता रहे । जिह्वा दोहन के बाद में मक्खन या नवनीत का लेप जिह्वा पर करे । यह क्रिया दोहन चालन को खेचरी सिद्ध होने तक करे । त्रिफला चूर्ण के स्थान पर हल्दी व सेंधा नमक व मायफल का भी चूर्ण प्रयोग किया जा सकता है ।

आहार विहार

खेचरी के अभ्यास काल में आहार का विशेष ध्यान रहे । मिर्च मसाले एवं लवण का प्रयोग जिह्वा को बढ़ने से रोक देगा। इसलिए घृत, दूध एवं फल का प्रयोग विशेष रूप से करे । इस काल में ठण्डे पेय पदार्थों का प्रयोग एवं बर्फ इत्यादि भी नहीं लेना चाहिए ।

विहार का जहाँ तक प्रश्न है खेचरी अभ्यास के सिद्ध होने तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे क्योंकि जिह्वा दोहन में पार्श्वान्तिक, पार्श्वेन्द्रिय ग्रन्थियों एवं श्रवण शक्ति पर विशेष बल पड़ता है । ब्रह्मचर्य के न रहने पर श्रवण शक्ति जा सकती है। अभ्यास काल में कानों में सरसों का तेल गरम या भी कुछ गरम करके अथवा आयुर्वेदीय क्षार तैल का प्रयोग करते रहना चाहिए।

साधना के समय प्रतिदिन जिह्वा को उलट कर लगाना चाहिए । साधनावस्था में खेचरी का सर्वप्रथम प्रभाव यह पड़ता है कि शरीर का समस्त स्नायु मण्डल एक पुञ्ज में बंधकर ध्यान व्योमचक्र में लगी जिह्वा पर केन्द्रित हो जाता है तथा इसके पश्चात् अन्य अनुभूति आरम्भ हो जाती है।

ह० प्र० एवं घेरण्ड संहिता की विधि, शोधन एवं चालन की प्रक्रिया तो समान रूप से उपलब्ध है किन्तु अनुभूतियों का उल्लेख घेरण्ड संहिता में और अधिक मिलता है। "घेरण्ड संहिता में उल्लेखित है कि इसके अभ्यास से समस्त रसों का रसास्वादन करती हुई जिह्वा लवण, क्षार, तिक्त, दधि, तक्र, मधु, द्राक्षा और अमृतादि रसों का स्वाद करती है।[1] यह अनुभूति सर्वोत्तम प्रतीत होती है।

शाम्भवी मुद्रा

अद्वयतारकोपनिषद् में शाम्भवी मुद्रा के लक्षण- "अन्तर्लक्ष्य करते हुए दृष्टि बाहर रहे तथा निमेष- उन्मेष से रहित हो जाय, दृष्टि एक टक हुई रहे, ऐसी अवस्था में मुग्ध रहने वाली शाम्भवी मुद्रा है।[2]"

सारस्वत कुण्डलिनी महायोग में शाम्भवी मुद्रा- "यह भगवान् शिव की परमा-शक्ति है, भगवान् शिव ने स्वयं जिसका आदर किया है वह शाम्भवी मुद्रा है जिसके ज्ञान होने पर शिव ज्ञान होता है। जिसमें दिव्य दृष्टि हो जाती है, अन्तर्ज्ञान और भविष्यज्ञान स्वतः हो जाता है इसे शाम्भवी मुद्रा कहते हैं।

यह शाम्भवी मुद्रा समस्त मुद्राओं की कसौटी है। इसका सम्बन्ध भगवान् शम्भु से है और भगवान् शम्भु ने आद्यशक्ति को बताया है, यह गुप्त- गुप्त बातों व विषयों को सिखाने वाली है यह पारम्परिक

१- घे० सं० ३।२५ से २८ तक
अद्वयतारकोपनिषद् १२
२-
३- सारस्वतकुण्डलिनी महायोग पृ० १०० से १०२

साधक को ऊँचाई पर स्थापित कर देती है, यह दिव्य ज्ञान देने वाली, कल्याणों की कल्याणकारी और दिव्य चक्षु प्रदान करने वाली शाम्भवी मुद्रा है।

यह शाम्भवी मुद्रा बड़ी विचित्र है, विलक्षण है, इस मुद्रा से बाह्य जगत् एवं अन्तर्जगत् के सभी बातों का ज्ञान साधक को हो जाता है। निरन्तर अभ्यास के करते रहने पर यह मुद्रा सिद्ध हो जाती है, इसमें कोई संशय का विषय नहीं है।

सूक्ष्म शरीर में देवी सरस्वती द्वारा स्वयं[1] डा० के० डी० वाजपेयी के कुल से उद्धरित "सारस्वत कुण्डलिनी महायोग" में शाम्भवी मुद्रा के विषय में उल्लेख किया है- "एक दूसरी शाम्भवी मुद्रा भी होती है जिसमें मेरुदण्ड को सुन्दर रखना या सीधा रखना आवश्यक रहता है। फिर नीचे झुकाकर ठोड़ी को कण्ठ में लगा देना चाहिए और मेरुदण्ड आगे झुकाये रहें पीछे सीधा सिर रहे। दोनों आँखों से भ्रूमध्य देखें तो, नासिका की अथवा कण्ठ चक्र में दृष्टि जमा लेनी चाहिए, जहाँ साधक स्वयं दर्शन करता है एक परम दिव्य प्रकाश को जो बहुत प्रकार के रंगों का है उस प्रकाश के दर्शन करने की शाम्भवी मुद्रा चमत्कार हो जाती है।"

ह० प्र० में शाम्भवी मुद्रा की कोई प्रक्रिया का तो उल्लेख किया नहीं है, मात्र उसकी प्रशंसा की है- "वेद शास्त्र, पुराणादि के एक गणिका के समान हैं एवं शाम्भवी मुद्रा को कुलवधू के समान गुप्त रखने योग्य वर्णन किया है।"[2]

काविल योग में शाम्भवी मुद्रा- "अपने सिद्ध किये हुए आसन से बैठकर कमर और ग्रीवा सीधी हो जाये और पलकों को बिना

१- सारस्वत कुण्डलिनी महायोग पृ० १७८

२- ह० प्र० ४।३५

विहार नेत्रों को खोलकर बाह्य लक्ष्य रखकर हुये रहें। ध्यान हृदय में स्थित कारण शरीर के पदार्थों में रहे अथवा आँखा स्पंदहीन रखे हुए खुली रहें। साधक का जितना अधिक अभ्यास होगा, उतनी ही एकाग्रता इस शाम्भवी मुद्रा के करने में होगी। शाम्भवी मुद्रा की सिद्धि इसी में है कि नेत्र खुले रहने पर भी बाह्य पदार्थों को नहीं देखे, ध्यान शरीर के अन्दर लक्ष्य पर होता है, इससे दृश्यस्थ पदार्थों का विस्मरण शीघ्र होने लगता है।[1] ''

ह० प्र० में शाम्भवी मुद्रा- '' वेद शास्त्र और पुराण आदि सामान्य गणिका के समान हैं, तथा शाम्भवी मुद्रा कुलवधू के समान गोपनीय है।[2] ''

अन्तर्दृष्टि और बहिर्दृष्टि में निमेष-उन्मेष न हो अर्थात् नेत्र एक टक खुले रहें, ऐसी शाम्भवी मुद्रा वेद और शास्त्रों में छिपी रहती है। जब योगी अपने चित्त और प्राण को अन्तर्लक्ष्य में लय करके निश्चल दृष्टि से शरीर के बाहर देखता हुआ भी नहीं देखता, वह शाम्भवी मुद्रा गुरु प्रसाद से प्राप्त होती है। इससे शून्य अशून्य से भी विलक्षण शाम्भवरूप परम तत्त्व का स्फुरण होता है।

शाम्भवी और खेचरी मुद्राओं के द्वारा अवस्था और स्थान के भेद से चित्त सुख स्वरूप शून्य में चित्त के लय का आनन्द होता है।

" ज्योत्स्ना टीकाकार का शाम्भवी के विषय में मत- '' शाम्भवी और खेचरी में अवस्था (स्थिति) और स्थान के अनुरूप से साधना की ही भिन्नता है, दोनों के द्वारा समान रूप से चित्त-

---

१- बहिरंग योग पृ० २२८, २२९

२- ह० प्र० ३।३५ से ३८

आनन्द रूप फल में भेद नहीं है।[1] ”

वस्तुतः स्वात्माराम ने शाम्भवी और खेचरी दोनों ही मुद्राओं को समान फल प्रदान करने वाली स्वीकार किया है। क्योंकि साधक को जिस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए वह उसकी क्षमता एवं मानसिक स्तर पर आधारित होगा। इन दोनों मुद्राओं में प्रधान भेद यह है कि शाम्भवी में बाह्य दृष्टि से अन्तर्लक्ष्य रखना है और खेचरी में भ्रूकुटी के मध्य में दृष्टि रखने के साथ अन्य क्रियाओं में रखना है परन्तु इन दोनों से ही चिदानन्द रूप आत्मा में चित्त का जो लय होता है उससे परमानन्द की प्राप्ति होती है।

“ घेरण्ड संहिता में शाम्भवी मुद्रा की प्रक्रिया एवं उसका फल एक प्रक्रिया के समान ही उपयुक्त है। घेरण्ड ने विशेष रूप से उल्लेख किया है कि जो इसका अभ्यास करता है वह आदिनाथ है, वह नारायण तथा सृष्टिकर्ता ब्रह्म स्वरूप है। मैं सत्य कहता हूँ शाम्भवी का जानने वाला साक्षात् ब्रह्मरूप ही है।[2] ”

महर्षि घेरण्ड शाम्भवी मुद्रा को अत्यन्त गोपनीय स्वीकार करते हैं। उनके मत से इस मुद्रा को वेद शास्त्रादि के समान प्रकाशित करना उचित नहीं।

शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास प्रयोग की दृष्टि से एक साध्य क्रिया है। साधकों को इसका अभ्यास अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए। शाम्भवी मुद्रा के अभ्यास से पूर्व कुछ समय तक त्राटक का अभ्यास करना

१– योगवाणी– हठ योग विशेषांक नवम्बर १९८१ पृ० १३१

२– घे० सं० ३।५४ से ५६

लाभकारी होगा । शाम्भवी से मस्तिष्क एवं नेत्रों पर दबाव पड़ने से उत्तेजना आती है जिसके कारण बायीं आँख से जाने वाली " गान्धारी नाड़ी " तथा दायीं आँख से जाने वाली " हस्ति जिह्वा नाड़ी " एवं नेत्रों की तंत्रिकाओं पर विशेष दबाव पड़ता है। इसलिए शुद्ध दुग्ध घृत एवं शुद्ध पेय का प्रयोग करना आवश्यक है। अन्यथा आँखों में मोतियाबिन्दु हो सकता है। " दृष्टि वितान " (रेटिना) का स्तर भी बहुत पतला होता है उसका पोषण शिरायें ,धमनियों और नाड़ियों से न होकर केवल तंत्रिकाओं द्वारा होता है। शाम्भवी से इन तंत्रिकाओं पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए साधक इसे सावधानी से करें। मस्तिष्क में उपस्थित सेन्टर " [illegible] " पर भी इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

शाम्भवी मुद्रा के साधक को मादकता व उन्माद प्राप्ति भी नहीं करना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो एक पल ही पर्याप्त है।

उन्मनी मुद्रा

शाण्डिल्योपनिषद् में उन्मनी मुद्रा का निम्नलिखित वर्णन प्राप्त होता है-

" (मन के) तारों की ज्योति में युक्त करके आँखों को कुछ ऊपर की ओर करें और पूर्वोक्त योग में मन को लगा दे तो क्षण भर में उन्मनीकारक अवस्था होती है।[1] "

हठ योग में उन्मनी मुद्रा- " भूमध्य पर स्थिरता से देखकर दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करें। बिना किसी तनाव के शान्त बैठे रहें और ध्यान आज्ञा चक्र में रहे। संकल्प-विकल्पों का त्याग करके एकाग्र होकर बैठे रहें। ध्यान आरम्भ में भी रह सकते है।[2] "

१- शाण्डिल्योपनिषद् प्रथम भाग पृ० १७

२- हठ योग पृ० ३८

बहिरंग योग में दूसरी प्रक्रिया – " नेत्र अध खुले रखते हुए दृष्टि को नासाग्र पर, अथवा नासिका से बारह अंगुल की दूरी पर अलक्ष्य रूप में स्थिर कर दें, तब शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन की गति को रोकता हुआ, संकल्प- विकल्प का अभाव करता हुआ योगी अपने स्वरूप में स्थित हो जाय।[1] "

ह० र० में उन्मनी मुद्रा – " ह० र० में उन्मनी मुद्रा की किसी प्रक्रिया का उल्लेख नहीं किया है बल्कि ' एका- वस्था मनोन्मनी ' अर्थात् मनोन्मनी (अमनस्क) अवस्था ही एक स्थिति है (अन्य नहीं)।[2] " कह कर इति की है।

ह० प्र० में उन्मनी मुद्रा– " (नेत्र से) तारों की ज्योति से संयुक्त कर भौंहों को थोड़ा थोड़ा ऊपर उठाना चाहिए, इस तरह पहले निरूपित (अन्तर्लक्ष्य और बहिर्दृष्टि[3]) योग में मन को लगाने से क्षण भर में उन्मनी कारक अवस्था सिद्ध होती है

कुछ शास्त्र ग्रन्थादि के (द्वारा प्रस्तुत विधियों के) जाल में कुछ (अन्यवादी) निगमों के(द्वारा निर्दिष्ट कर्मादि कर्मों के) फन्द में तथा कुछ (वैशेषिक आदि दर्शनों में जनों द्वारा कल्पित युक्तियों) से भ्रमित रहते हैं, वे तारक (योग) नहीं जानते हैं।

जिस योगी के नेत्र अर्ध खुले रहते हैं, जिसका मन स्थिर रहता है, जो नासिका के अग्रभाग में दृष्टि युक्त करता है, जो चन्द्र (इड़ा) और सूर्य (पिंगला) नाड़ी प्रवाहित प्राण को (सुषुम्ना में) लय कर निस्पन्द हो जाता है (जिसे शरीर की सुधि नहीं रहती है) वह (योगी)

१- बहिरंग योग ३२८

२- ह०र० ४।[illegible]

३- ह० प्र० ४।३८ से ४१

कैवल्यभाव क्योंकि स्वरूप [illegible] वर्जित विश्व के बीच रूप परम पद (आत्म स्वरूप) को प्राप्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में अधिक क्या कहा जाय ? "

ह० प्र० में स्वात्माराम ने उन्मनी मुद्रा प्रकरण में उल्लेख किया है-

" न दिन में लिंग का पूजन करे और न रात्रि में ही करना चाहिए[1], दिन रात्रि के निरोध होने पर सर्वदा लिंग का पूजन करना चाहिए। "

घे० सं० में उन्मनी मुद्रा का उल्लेख नहीं उपलब्ध होता।

योगवाणी में लिंग पूजन से तात्पर्य यहाँ आत्म चिन्तन से है। केवल दिन में या रात में ही आत्म चिन्तन न करके योगी को सदा दिन रात्रि के परे होकर आत्म स्वरूप में लीन रहना चाहिए। उन्मनी दशा की प्राप्ति के लिए काल के विजय का उपाय है। जब योगी की सूर्य नाड़ी-पिंगला चलती है तब तक दिन है, जब चन्द्र नाड़ी-इड़ा चलती है तब रात है। योगी सूर्य, चन्द्र नाड़ी से प्राण को सुषुम्ना में लीन कर काल के विजय से स्वतंत्र होकर सदा आत्म स्वरूप में स्थित रहता है। सुषुम्ना[2] में प्रवाहित वायु से मन स्थिर होकर उन्मनी की सिद्धि में सहायक होता है।

डा० चमनलाल गौतम ने दिन व रात्रि में लिंग के पूजन के विषय में ह० प्र० के उपर्युक्त श्लोक की टीका निम्न प्रकार से

१- दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ चैव न पूजयेत् ।
सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रिनिरोधतः ॥
- ह० प्र० ४।४२

२- योगवाणी - [illegible] फरवरी, १९८१

की है- " उन्मनी अवस्था में काल का कोई नियम नहीं है। दिन का अर्थ सूर्य और रात्रि का अर्थ चन्द्रमा इन दोनों का संचार होने के समय लिंग पूजन का निषेध है। तात्पर्य यह है कि पिंगला और इड़ा स्वर संचार काल में पूजन नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि सूर्य चन्द्र स्वर के संचार काल में चित्त को स्थिरता नहीं हो पाती, क्योंकि उस समय प्राण वायु चलायमान रहता है, इसलिए चित्त भी चलायमान रहेगा।[1] "

अतः स्वात्माराम ने लिंग, दिन एवं रात्रि के क्रमशः आत्मा, पिंगला और इड़ा का प्रतीक माना है, और प्रतीकात्मक शैली में ही श्लोक की रचना की है। आत्म चिन्तन के लिए इड़ा-पिंगला के स्वर संचार अर्थात् दिन रात्रि का निरोध किया है तथा सुषुम्ना के प्रवाह काल को ही सिद्धि दायक स्वीकार किया है। स्वात्माराम का तात्पर्य दिन रात्रि के समय से नहीं है बल्कि सुषुम्ना के प्रवाह काल से है। सुषुम्ना में प्रवाहित वायु मन और प्राण को स्थिर करती है जो उन्मनी की सिद्धि में सहायक है।

महामुद्रा

ध्यानबिन्दूपनिषद् में महामुद्रा का निम्न प्रकार से वर्णन उपलब्ध होता है-

" यहाँ योगी जालन्धर बन्ध लगाकर बायें पैर से योनि नाड़ी को दबाते हुए दाहिने पैर को फैलाकर रखे तथा दोनों हाथों को दोनों ओर भूमि पर रखे हुए पूरक प्राणायाम करे, कुम्भक करते हुए रेचक करे। यह प्रक्रिया साधकों के सभी पाप तथा योगियों के योग विघ्नों को नष्ट करने वाली महामुद्रा है।[2] "

१- ह० प्र० [illegible], टीका पृ० १०५,१०६

२- ध्यानबिन्दूपनिषद् पृ० ६१

योगकुण्डल्युपनिषद् में महामुद्रा का निम्न प्रकार से वर्णन उपलब्ध होता है-

" पहले जालन्धरबन्ध लगाकर बायें पैर से एड़ी से योनिकी नाड़ी को दबायें और दायें पैर को (जमीन पर) फैलाते हुए दोनों हाथों से पकड़ें, चन्द्रनाड़ी (इड़ा) से पूरक करके उदर में वायु भरें, और कुम्भक करके शनैः (पिंगला) सूर्यनाड़ी से रेचन करें। इस प्रकार मनुष्यों के समस्त रोगों को नष्ट करने वाली महामुद्रा होती है। इस प्रक्रिया से चन्द्रभाग (बायें) से करके[1] पुनः सूर्य भाग (दायें) से अभ्यास करते हुए दोनों ओर बराबर संख्या में करें। "

वशिष्ठ योग में महामुद्रा- " दोनों टांगें फैलाकर बैठें और बायां पैर मोड़कर एड़ी को गुदा और उपस्थ के मध्य (सीवन) में दबाकर के लगा दें, तब आगे झुककर फैलाते हुए दक्षिण पैर के पंजे को दोनों हाथों की उंगलियों में पकड़ें। फिर पूरक विधि से श्वास अन्दर भरकर मूल तथा जालन्धर बन्ध लगाकर यथाशक्ति बैठे रहें। यहाँ पर तीनों बन्ध लगाने का विधान भी है रेचक के समय प्राण को शनैः शनैः बाहर निकालें। इसके पश्चात्[2] दूसरे पार्श्व से, दक्षिण पैर से इसी प्रकार करें और दोनों ओर से ५-६ बार करें। "

कल्याण योगांक में महामुद्रा- " बायें पैर की एड़ी सीवन (गुदा तथा अण्डकोष के मध्य के चार अंगुल स्थान) में लगाकर दाहिना पैर लम्बा कर दें और दोनों हाथ, एक के ऊपर दूसरा, घुटने के पास रख के दोनों नासिकाओं से पांच घर्षण करें। फिर बायीं नासिका से पूरक करें। कुम्भक के समय लम्बाए हुए पैर के अंगूठे को दोनों हाथों से पकड़ें और सिर को घुटने पर लगा दें (अथवा लगाने का प्रयत्न करें) तथा मन

१- योगकुण्डल्युपनिषद् पृ० ४६-४७

२- वशिष्ठ योग पृ० ३२३

मैं यह भावना करें कि " मेरी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है और मैं उसे ब्रह्मरन्ध्र में ले जाता हूँ " तथा यथाशक्ति कुम्भक करके पूर्व नाड़ी (दाहिनी नासिका) से शनैः शनैः रेचक करें। इस प्रकार वामांग में जितनी मुद्राएं करने का विचार हो उतनी कर लें। फिर दक्षिणांग में भी इसी क्रम से उतनी ही मुद्राएँ करें जितनी वामांग में की थी। यह ध्यान रहे कि दक्षिणांग में पूरक दाहिनी नासिका से और रेचक बायीं से किया जाय तथा दाहिने पैर की एड़ी योनि में लगायी जावे।

यह मुद्रा कपिल मुनि ने साधी थी। इसके अभ्यास से अविद्या, अस्मिता(अहम् अहंकार) राग द्वेष अभिनिवेश (मरण-भय) ये पंच क्लेश, क्षय रोग, गुल्म रोग, भगन्दर, प्लीहा और कोढ़ नाश होता है। और अष्ट प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।[1]

शिव संहिता में महामुद्रा का विवरण-

" बाम पाद की एड़ी से गुदा और लिङ्ग के मध्य में जो योनि की जगह उसको गुरु के उपदेशपूर्वक पीड़ित करे दक्षिण पैर को फैलाकर हाथों से पकड़ कर (अंगुष्ठ) नव द्वारों को रोक कर चिबुक को हृदय पर स्थित करे और चित्त-वृत्ति को चैतन्य में स्थित करके वायु का साधन- रेचक पूरक तथा कुम्भक करना चाहिए। यह महामुद्रा सब तन्त्रों के प्रमाण से गोप्य है इसे वामांग से अभ्यास करके फिर दक्षिणांग से अभ्यास कर योगी स्थिर बुद्धि से प्राण का जप करे।[2]

इस विधान से मन्द भाग्य योगी भी सिद्ध हो जावेगा और इस महामुद्रा के प्रभाव से समस्त नाड़ियों का चालन ठीक हो जावेगा और बिन्दु स्थिर होकर जीवन आकर्षित रहेगा, समस्त पापों का नाश

१- कल्याण योगांक पृ० ४४८

२- शिव संहिता ४। २७-२४ तक

होगा , कुण्डली भी जागृत उठाकर वायु को ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करेगा, जठराग्नि प्रज्वलित होकर समस्त रोगों का नाश करेगा और शरीर में सुन्दर कान्ति आयेगी , वृद्धावस्था सहित मृत्यु का नाश हो जायेगा, सब वांछित फल मिलेगा , इन्द्रियों का निग्रह होगा , यह सब जो वर्णन किया है , वह सभी योगारूढ़ को इस मुद्रा के अभ्यास से सिद्धि प्राप्त होती है, इसमें संशय नहीं है, निश्चय है।"

गोरक्ष-पद्धति में महामुद्रा- "हृदय पर ठोढ़ी को जमाकर रखे और वाम पाद की एड़ी से योनि स्थान (सीवन नाड़ी) को दृढ़ता से दबाये दाहिना पैर लम्बा करके दोनों हाथों से दक्षिण पैर का अग्र भाग पकड़ कर रोके तब उदर में पूरक द्वारा वायु भरे, कुछ काल यथा शक्ति कुम्भक करे फिर शनैः शनैः रेचन करे, यह योगियों की समस्त रोग नाशक महामुद्रा कही गई है। इस महामुद्रा के अभ्यास में प्रथम वामांग से अभ्यास करके फिर दक्षिणांग से अभ्यास करे, प्राणायाम की मात्रा बराबर हो जाय तब मुद्रा छोड़नी चाहिए।

जब मुद्रा का अभ्यास दृढ़ हो जाय तो पथ्यापथ्य का कोई विचार नहीं रहता। इसके अभ्यास से संयोग विरुद्ध वस्तु (जैसे घृत, मधु बराबर मिलाकर कृत्रिम विष होता है) या घोर विष भी खाये तो अमृत के समान पच जाता है। गुदावर्त, गुल्म, अजीर्ण, क्षय , कुष्ठादि रोग शान्त हो जाते हैं। यह महासिद्धि देने वाली मुद्रा है। इसे गुप्त रखना चाहिए तथा अनधिकारी को नहीं देनी चाहिए।"[1]

हठ रत्नावली में महामुद्रा की प्रक्रिया एवं उससे होने वाले शारीरिक एवं आध्यात्मिक लाभ गोरक्षपद्धति के समान ही है।[2]

१- गोरक्ष पद्धति पृ० ३० से ३२ तक

२- ह० र० २।३८ से ४३ तक

"" हठ योग चन्द्रिका "" में महामुद्रा वर्णन ध्यानबिन्दूपनिषद् के तुल्य उपलब्ध है।[१] ""

यो० प्र० में महामुद्रा- "" बायें पैर के एड़ी से योनि (सीवनी नाड़ी) को पीड़ित करके दायें पैर को फैलावे और भूमि पर रखकर मुट्ठी से पकड़े, जालन्धर बन्ध लगाकर वायु को ऊर्ध्व देश में धारण करे, जैसे टेढ़ी कुण्डली लगाकर बैठा हुआ सर्प डण्डे से आहत होने पर सीधा हो जाता है वैसे ही कुण्डलिनी भी सहसा सरल हो जाती है, तब दोनों नासा पुटों के आश्रय से प्राण के वियुक्त होने के कारण (शरीर की) मरणावस्था जैसी हो जाती है। तब वायु का रेचन, शनैः शनैः करे, शीघ्रता से न करे।[२] ""

इससे महाक्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश) क्षीण होकर मरणादि दोषों का भी नाश हो जाता है। इसलिए विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है। चन्द्रांग से ठीक प्रकार अभ्यास करके सूर्यांग से अभ्यास करे जब तक दोनों की संख्या समान हो तब तक ठीक प्रकार से अभ्यास कर मुद्रा का विसर्जन करे।

जब मुद्रा का अभ्यास दृढ़ हो जाय तब पथ्यापथ्य का कोई विचार नहीं रहता, मिष्ठान्न, लवण, तिक्तादि का स्वाद कुछ नहीं रहता। सभी प्रकार के रस नीरस मालूम पड़ते हैं। संयोग विरुद्ध वस्तु (घृत मधु) या घोर विष भी खाये तो अमृत के समान पच जाता है। कुष्ठ गुदावर्त, गुल्म, अजीर्ण, क्षय, कुष्ठादि रोग शान्त हो जाते हैं। साधक को महासिद्धि देने वाली यह महामुद्रा कही है। इसे यत्नपूर्वक गुप्त रखे तथा कभी भी अनधिकारी को प्रदर्शित न करे।[2] ""

१- ह० यो० चं० २६ क

२- यो० प्र० ३।६-१७ तक

घे० सं० में महामुद्रा की प्रक्रिया ह० प्र० के तुल्य ही उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त घेरण्ड ने[1] दृष्टि को भ्रूमध्य में रखने का निर्देश किया है- "भ्रूमध्येनिरीक्षयेत्"।

ह० र० में महामुद्रा पर टिप्पणी- "श्रीनिवास ने महामुद्रा की प्रक्रिया वशिष्ठ परम्परा के आधार पर उल्लेख की है और यही प्रक्रिया ह० प्र० में भी उपलब्ध है। ह० प्र० और ह० र० में मूलबन्ध का निर्देश है, भ्रूमध्य में दृष्टि रखने का नहीं है जैसाकि घे० सं० में उल्लेख है। वत्साभिन के अनुसार यह मैत्र परम्परा में प्राप्त है जो कि "दीपकपिञ्जिका" के पृष्ठ ७७ पर अंकित है[2]।"

घेरण्ड के अतिरिक्त किसी भी ग्रन्थकार ने भ्रूमध्य में दृष्टि रखने के विषय में संकेत नहीं किया है। तथा मुद्रा के अभ्यास से कुण्डलिनी जागृत होगी अथवा नहीं इसका भी उल्लेख नहीं किया। स्वात्माराम ने महामुद्रा के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से वर्णन किया है जिससे साधक उत्साहित होता है।

ह० प्र० और घे० सं० में महामुद्रा के अभ्यास की प्रक्रिया तो समान है किन्तु घेरण्ड ने दृष्टि को भ्रूमध्य में रखने का उल्लेख किया है। महामुद्रा के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने के विषय में स्वात्माराम ने विस्तार से उल्लेख किया है। घेरण्ड के अनुसार दृष्टि भ्रूमध्य में रखने से महामुद्रा का अभ्यास कुण्डलिनी पर विलम्ब से प्रभावी होगा तथा कष्ट साध्य भी है किन्तु ह० प्र० की मूलबन्ध की प्रक्रिया सहज है तथा कुण्डलिनी को शीघ्र प्रभावित करेगी। मुद्रा में रेचक, पूरक, कुम्भक प्राणायाम की दोनों ही संस्तुति

१- घे० सं० ३।४-६ तक

२- ह० र० पृ० १२८

कहते हैं क्योंकि प्राणायाम के अभ्यास में मूलबन्ध का लगना परमावश्यक है, नहीं तो प्राणायाम भी त्वरित प्रभावी नहीं होगा। अतः उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि महामुद्रा के अभ्यास में ह० प्र० की प्रक्रिया साधना हेतु अधिक उपयुक्त जान पड़ती है।

नभोमुद्रा

घे० सं० में नभोमुद्रा का स्वरूप- "योगी निरन्तर सब कार्यों में स्थिर ऊर्ध्व जिह्वा होकर कुम्भक द्वारा वायु को रोके। इसको नभो मुद्रा कहते हैं। इससे योगी के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।"[1]

इस मुद्रा का ह० प्र० में उल्लेख नहीं है क्योंकि अवस्था में कुम्भक द्वारा यह साधना की उन्नतावस्था का अभ्यास है साधारण एवं मध्यम कोटि का साधक इस मुद्रा की साधना नहीं कर सकता। इसलिए अन्य ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है।

उड्डियानबन्ध

ध्यानबिन्दूपनिषद् में उड्डियानबन्ध- "उदर एवं नाभि का भाग पीठ से लग जाय। यह उड्डियानबन्ध, मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंह के समान है।"[2]

योगकुण्डल्युपनिषद् में उड्डियानबन्ध- "कुम्भक रेचक करते हुए बंधा हुआ प्राण उड़ कर सुषुम्ना में जा पहुँचने का कारण है पद्मासन से बैठकर हाथों से पैरों को दृढ़ता से पकड़े। और घुटनों से धमनी को पीड़ित

1- घे० सं० ३।७

2- ध्यानबिन्दूपनिषद् पृ० [illegible]

करते हुए उदर को पीठ की ओर ले जाना हृदय पर ठोड़ी लगाये और उदर से[1] शनैः शनैः प्राण रेचन करे। इस क्रिया से उदर के समस्त विकार दूर होते हैं।"

"योगशिखोपनिषद् में उड्डियानबन्ध की प्रक्रिया योगकुण्डल्युपनिषद् के समान ही दी है।[2]"

शिव संहिता में उड्डियानबन्ध- "नाभि से ऊपर और नीचे की आंतों को खींचना उड्डियानबन्ध कहते हैं, यह दुःख के समूह को नाश करने वाला है उदर को पीछे आकर्षित करे और नाभि से ऊपर भाग में आंतों को यह उड्डियानबन्ध है और मृत्यु रूपी मातंग का नाश करने वाला यह केसरी सिंह है।[3]"

जो योगी नित्य इस बन्ध को बार बार अभ्यास करेगा, उसका नाभि चक्र शुद्ध होकर वायु सिद्ध हो जायेगा। यदि योगी छः मास इस बन्ध का अभ्यास करे तो निश्चय ही मृत्यु को जीत लेगा और उसका जठराग्नि विशेष प्रज्वलित होगा और रस की वृद्धि होगी। इस उड्डियानबन्ध के प्रभाव से योगी का शरीर आप ही सिद्ध हो जायेगा अर्थात् अमर हो जायेगा और रोगों का निश्चय नाश हो जायेगा।"

गोरक्षपद्धति में उड्डियानबन्ध- "जिस कारण उड्डियानबन्ध से रुका हुआ प्राण वायु कहीं भी विश्राम न करके उड़ कर सुषुम्ना में गति करता है उसी कारण यहाँ मृत्यु रूपी गज के ऊपर सिंह जैसा यह बन्ध कहा जाता है। उदर से पश्चिम और नाभि से नीचे इस बन्ध का स्थान योगी कहते हैं क्योंकि यह बन्ध उसी स्थान में करना योग्य है।[4]"

१- योगकुण्डल्युपनिषद् पृ० ४७ से ५० तक

२- योगशिखोपनिषद् १।१०६ से १०८ तक

३- शिव संहिता ४।७२ से ७६ तक

४-गोरक्षपद्धति पृ० ४३

[illegible]

नाभि के ऊपर तथा नीचे का भाग ऊपर में इस प्रकार ऊपर की पीठ की ओर खींचे, इसे उड्डियानबन्ध कहते हैं, मृत्यु रूपी गज को मारने के लिए यह सिंह के समान है। गुरु द्वारा बतलाये हुए इस बन्ध का निरन्तर अभ्यास करे तो वृद्ध भी तरुण हो जाय। नाभि ऊर्ध्वाधो भाग को खींच कर पीठ में लगाये, ऐसे इस बन्ध को छः मास पर्यन्त निरन्तर अभ्यास करे तो निस्सन्देह मृत्यु को जीत ले। बन्धों में उड्डियानबन्ध उत्तम है इसके करने से पक्षियों की सी गति करके सुषुम्ना द्वारा प्राण मस्तिष्क में ले जाने से समाधि में मोक्ष होता है यही स्वाभाविक मुक्ति है।[1]

ह० र०[2], ह० सं० पं०[3], ह० प्र०[4] एवं घे० सं०[5] में उड्डियान बन्ध की प्रक्रिया एवं उससे होने वाले लाभों का उल्लेख गोरक्ष पद्धति के समान ही उपलब्ध है।

उड्डियानबन्ध के अभ्यास के परिमाण के विषय में स्वात्माराम व घेरण्ड ने कोई संकेत नहीं किया है, चूंकि इसका अभ्यास बिना बाह्य कुम्भक के नहीं हो सकता, इसलिए इसके अभ्यास की संख्या की ओर भी ध्यान रखना आवश्यक है। बिना परिमाण के अभ्यास किया गया तो इसका प्रभाव हृदय एवं फुफ्फुसों पर पड़ेगा तथा अपरिमित अभ्यास से रक्तचाप बढ़ जायेगा जिसका परिणाम साधक के लिए कभी भी घातक सिद्ध हो सकता है।

१- गोरक्ष पद्धति पृ० ४२, ४३

२- ह० र० २।५४ से ५७

३- ह० सं० पं० २३ [illegible]

४- ह० प्र० ३।५५ से ५८ तक

५- घे० सं० ३।८,९

उड्डियान बन्ध से हृदय, फुफ्फुस एवं उदरगत यकृत, तिल्ली, वृक्क एवं लघु एवं दीर्घ आँतों पर पड़ता है जिससे इसके अभ्यास से समस्त विकार दूर होकर सबल बनते हैं। इस बन्ध के अभ्यास से आमाशय भुक्तान्न शीघ्र पचाता है तथा आँतें मल निस्सारण का कार्य नियमित करती हैं। उड्डियानबन्ध के साथ बाह्य कुम्भक होता है इसलिए प्राणोत्थान होकर प्राण सुषुम्ना में प्रवेश कर जाते हैं। इस-लिए इसके अभ्यास से शोधन, पाचन, धारण का कार्य स्वयं ही होता रहता है। श्वास एवं रक्तचाप के रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

जालन्धरबन्ध

ध्यानबिन्दूपनिषद् में जालन्धरबन्ध- " शिर का अधः भाग जिसके द्वारा जीवन खींचे जाता है संकुचित करके बन्ध करने से जालन्धर बन्ध होता है। इस बन्ध से कण्ठ के रोग नष्ट होते हैं।[1] "

योगकुण्डल्युपनिषद् में जालन्धर बन्ध- " पूरक के अन्त में कण्ठ के संकोच द्वारा वायु का निरोध करने से जालन्धर होता है। अधोभाग में मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन कर और ऊपर से जालन्धर बन्ध द्वारा कण्ठ का संकोच तथा मध्य में उड्डियानबन्ध द्वारा प्राण को खींचने से प्राण सुषुम्ना में चढ़ने लगता है। इस प्रकार कण्ठ का संकोच करने से इड़ा पिंगला दोनों नाड़ियों का स्तम्भन हो जाता है। कण्ठ में षोडश दल का विशुद्ध चक्र वहाँ वायु को रोक कर बन्धन करने वाला होने से इस बन्ध को मध्य चक्र कहा है।[2] "

योगशिखोपनिषद्[3] में जालन्धरबन्ध- योगकुण्डल्युपनिषद् के समान है।

शिव संहिता में जालन्धर बन्ध- " गला शिरा

१- ध्यानबिन्दूपनिषद् पृ० ७७ व ७८

२- योगकुण्डल्युपनिषद् पृ० ५१

३- योगशिखोपनिषद् पृ० १०६,११०

नाड़ी की जाल से शिर की ओर जाने वाले रस को रोकता है, उसको जालन्धर बन्ध कहते हैं। सहस्रार चक्र से भी अमृत टपकता है, नाभि मण्डल स्थित जठराग्नि उसका पान करती है। उसको रोकने के लिए जालन्धर बन्ध करना उचित है। इससे चन्द्र मण्डल से अमृत सूर्य मण्डल में नहीं जाता, योगी स्वयं उस अमृत के पान करके चिरंजीव रहता है।[1]"

यह जालन्धरबन्ध सिद्धों को सिद्धि देने वाला है, इसलिए सिद्धि चाहने वाले योगी को इसका नित्य अभ्यास करना उचित है।

गोरक्षपद्धति में जालन्धर बन्ध- "यह बन्ध स्थान में होता है और रोगों को हरता है, नाड़ियों वाले जाल का बन्धन करता है। कण्ठ का संकोच करके प्राण वायु की गति को रोकना जालन्धर बन्ध है। इससे चन्द्रामृत, पिघलकर सूर्य अग्नि में नहीं गिरता एवं वायु प्रकुपित नहीं होता है।[2]"

गोरक्ष पद्धति में ग्रन्थकार के जालन्धर बन्ध- "कण्ठ नीचे झुकाकर हृदय से चार अंगुल अन्तर पर ठोड़ी को दृढ़ता से स्थापन करे। यह जालन्धर बंध वृद्धावस्था तथा मृत्यु नाशक है।[3]"

ह०र०[4] एवं ह० यो० प्र०[5] में जालन्धर बन्ध की प्रक्रिया गोरक्ष पद्धति के समान है।

ह० प्र० में जालन्धर बन्ध- " कण्ठ को संकुचित

१- शिवसंहिता ४।६०, ६१ व ६२

२- गोरक्ष पद्धति पृ० ४३

३- गोरक्ष पद्धति पृ० ४४

४- ह० र० ३।४६

५- ह० यो० प्र० ३।७०

कर हृदय देश में ठोढ़ी को दृढ़ता पूर्वक स्थापित करना चाहिए । यह जरा और मृत्यु को नष्ट कर देने वाला जालन्धर बन्ध है ।"

यह नाड़ियों के समूह और नीचे की ओर गिरने वाले कपाल कुहर के जल - अमृत को रोकता है इसलिए इस जालन्धर बन्ध के अभ्यास से और गले के सिकोड़ने से न तो अमृत अग्नि (जठरानल) में गिरता और न वायु (प्राण) ही दूषित होती है । (कण्ठ का संकोचन करने से इड़ा और पिंगला नाड़ियों का स्तम्भन हो जाता है । प्राण सुषुम्ना से प्रवाहित होते हुए ऊर्ध्व मुख होता है इन षोडश आधारों का मध्यवर्ती मध्य चक्र कण्ठ [illegible] शुद्ध चक्र जानना चाहिए । अतः , पिंगला को कण्ठ संकोचन द्वारा दृढ़ता से आबद्ध करना चाहिए ।

मूलाधार को अच्छी तरह सिकोड़ कर उड्डियान बन्ध करना चाहिए और इड़ा पिंगला दोनों नाड़ियों को स्तम्भित कर प्राण को (सुषुम्ना) पश्चिम मार्ग में प्रविष्ट करना चाहिए । इस प्रकार प्राण स्थिर हो जाता है प्राण का लय होने पर मृत्यु का भय नहीं रहता, वृद्धावस्था नष्ट हो जाती है और रोगादि नहीं होते न बाल झड़ते हैं और न पकते ही हैं । महासिद्ध योगी इन तीन (उड्डियान जालन्धर मूल) बन्धों का अभ्यास करते हैं । समस्त हठयोग के साधकों तथा प्रक्रियाओं में इसे योगी (गोरखनाथ आदि) श्रेष्ठ हैं तथा मानते हैं ।

घे० सं० में जालन्धर बन्ध- " कण्ठ को संकोचन कर हृदय पर ठोढ़ी को रखकर जालन्धर बन्ध होता है । इससे सोलह आधारों का आधार बन्ध होता है और यह मृत्यु को पराजित करता है यह जालन्धर बन्ध योगियों को सिद्धि प्रदान करता है इसके छः महीने के अभ्यास से योगी सिद्ध

१- ह० प्र० ३|६६ से ७२ तक

हो जाता है।[1]

जालन्धर बन्ध की प्रक्रिया ह० प्र० एवं घेरण्ड संहिता में समान रूप से दी गई है।

ह० प्र० में जालन्धर बन्ध से होने वाले मुख्य एवं सम्पूर्ण प्रभावों का उल्लेख स्वात्माराम ने किया है।

"बध्नाति हि सिराजालमधोगामि नभोजलम्।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः॥"

यह नाड़ियों के समूह और नीचे की ओर गिरने वाले कपाल कुहर के जल-अमृत को रोकता है। इसलिए यह जालन्धर बन्ध गले के रोगों को नष्ट करता है।[2] इस प्रकार का उल्लेख घेरण्ड संहिता में नहीं है।

जालन्धर प्रक्रिया को जालन्धर नाम के योगी से लिया गया है अथवा जालन्धर योगीश ने इसका आविष्कार किया था। इस प्रकार का निर्देश हठ रत्नावली से उपलब्ध होता है।[3]

जालन्धर बन्ध का अभ्यास बैठकर होगा अथवा खड़े होकर होगा यदि बैठ कर होगा तो कौन से आसन से बैठा जाय। इस प्रकार का संकेत घेरण्ड एवं स्वात्माराम ने नहीं किया है। कुम्भक प्राणायाम के बिना जालन्धर बन्ध का अभ्यास नहीं हो सकता लेकिन कुम्भक के अभ्यास के विषय में भी कोई भी संकेत नहीं किया है और नहीं अभ्यास की संख्या ही निर्धारित की है। अस्तु, घेरण्ड एवं स्वात्माराम की जालन्धर बन्ध प्रक्रिया अपूर्ण प्रतीत होती है तथा इससे किसी किसी को हानि भी हो सकती है।

१- घे० सं० ३।१०,११

२- ह० प्र० ३।७०

३- ह० र० पृ० १३०

मूलबन्ध

ध्यानबिन्दूपनिषद् में मूल बन्ध

" प्राण और अपान के एक होने से मल मूत्र का नाश अर्थात् मात्रा कम हो जाती है। इस प्रकार मूल बन्ध के लगातार अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो जाता है। एड़ी द्वारा योनि- स्थान को दबाकर गुदा का आकुंचन करते हुए अपान वायु को ऊपर की ओर ले जाय। यह मूल बन्ध होता है।[१] "

योगकुण्डल्युपनिषद् में मूल बन्ध

" अपानवायु की अधोगति को बलात् ऊर्ध्व- गति ऊपर को उठावे। गुदा के आकुंचन करने से मूल बन्ध होता है।[२] "

योगशिखोपनिषद् में मूलबन्ध

" गुदा को एड़ी से दबाते हुए वायु का बलात् आकुंचन करे तथा बार बार वायु की ऊर्ध्वगति करे। प्राण अपाननाद एवं बिन्दु मूल बन्ध के द्वारा एक हो जाने से योग की सिद्धि हो जाती है। इसमें कोई संशय नहीं है।[३] "

शिव संहिता में मूलबन्ध

" पाद मूल - एड़ी से गुदा मार्ग को आकुंचन

१- ध्यानबिन्दूपनिषद् पृ० ७३ ,७४

२- योगकुण्डल्युपनिषद् पृ० ४२

३- योगशिखोपनिषद् १।१०४,१०५

करके पीछे की ओर बल से अपानवायु को आकर्षण करके ऊर्ध्व को ले जाय अर्थात् प्राण के साथ सम्बन्ध करे इसको मूल बन्ध कहते हैं। यह बन्ध जरा-मरण का नाश करने वाला है।[1]"

इस अभ्यास बन्ध से अपान और प्राण को एक करे और इस मूल बन्ध के प्रभाव से योनि मुद्रा आप ही सिद्ध हो जायेगी। योनि मुद्रा के सिद्ध होने से सिद्ध लोगों को इस संसार में सब सिद्ध हो सकता है। इस मूल बन्ध के प्रभाव से वायु को योगी जीत के अनुशासन किया हुआ वह भूमि को त्याग देगा और आकाश में गमन करेगा। यदि संसार सागर के पार होने की इच्छा हो तो पवित्र योगी को निर्जन प्रदेश में गुप्त स्थान में इस मूल बन्ध का अभ्यास करना उचित है।

<u>घे० सं० में मूलबन्ध</u>

"" बायें पैर की एड़ी से (सीवनी) को दबाते हुए गुदा प्रदेश को आकुंचित करे। नाभि ग्रन्थि को मेरुदण्ड की ओर यत्नपूर्वक लगाकर दायीं एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबावें। वृद्धावस्था को नष्ट करने वाला बन्ध मुद्रा है।[2] ""

" ह० यो० में उपर्युक्त मूलबन्ध मुद्रा की प्रक्रिया मिश्रित प्रक्रिया है जो " ध्यानबिन्दूपनिषद्, योगकुण्डल्युपनिषद् एवं योगशिखोपनिषद् " तीनों की मिश्रण विधि है।"

घे० सं० में उल्लिखित प्रक्रिया में " नाभिग्रन्थि मेरुदण्डे सुधीः संपीड्य यत्नतः " नाभि ग्रन्थि को मेरुदण्ड की ओर यत्न-

---

१- शिव संहिता ४।[illegible]

२- घे० सं० ३।१२-१३

पूर्वक लगायें। नाभि ग्रन्थि लगाने की प्रक्रिया उड्डियानबन्ध में पूर्व ही उल्लि-खित है, इसलिए मूल बन्ध में यह अनावश्यक प्रतीत होता है।

ह० प्र० में प्रक्रिया एवं होने वाले आध्यात्मिक लाभों का वर्णन सविस्तार से किया है। किन्तु मूलबन्ध का अभ्यास किस समय तथा कितने बार किया जाय इसका उल्लेख स्वात्माराम एवं घेरण्ड दोनों ने ही नहीं किया है जिसके कारण मुद्रा अपूर्ण सिद्ध हो सकती है।

" मेढ्रं दक्षिण गुल्फेन दृढबन्धं समाचरेत् " - बायीं एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबायें। घेरण्ड का यह कथन भी मूल बन्ध की स्थिति में आवश्यक है क्योंकि मूलबन्ध तो योनि, नाभि, पशी एवं किसी भी आसन से बैठे हुए लगाया जा सकता है तथा सभी अवस्थाओं में लगा हुआ मूल बन्ध लाभकारी होगा।

यह मुद्रा दूषित अपान को शुद्ध करने में हित-कारी है। मूलबन्ध से रोग- मधुमेह, प्रमेह तथा प्रदर को दूर करने में सहायक है। गुदा प्रदेश के रोग बवासीर, भगन्दर को शीघ्र नष्ट करती है। इसको रात दिन में कितने बार किया जाय लाभकारी ही सिद्ध होगी।

महाबन्ध

योगतत्त्वोपनिषद् में महाबन्ध

" बायें पैर की एड़ी को योनि स्थान में लगायें, दक्षिण पैर को फैलाकर दोनों हाथों से दृढ़ता से पकड़ें। ठोढ़ी को हृदय पर दबाते हुए वायु का पूरक करें तथा यथाशक्ति कुम्भक करते हुए रेचक कर दें। इस प्रकार बायें से करने के पश्चात् दायें से अभ्यास करें। दोनों भागों से अभ्यास करने से महाबन्ध होता है।[१] "

१- योगतत्त्वोपनिषद् पृ० ११३-११४

वशिष्ठ योग में महाबन्ध

" वाम पाद की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्य भाग (सीवन) में दृढ़ता से जमा दे और दक्षिण पाद को वाम जंघा पर रख दें, तब पूरक करके जालन्धर बन्ध लगा दें यथाशक्ति कुम्भक रख कर शनैः शनैः रेचक करें, कहीं कहीं ऐसा उल्लेख मिलता है कि महाबन्ध को करते समय पार्ष्णि के द्वारा मूल बन्ध को पुनः पुनः ताड़न करता रहे तथा महामुद्रा और महाबन्ध में कुम्भक के समय मन को सुषुम्ना में प्रविष्ट कर देने का विधान भी मिलता है। परन्तु ऐसा तभी हो सकता है। जब साधक को इन दोनों क्रियाओं के यथार्थ रूप का साक्षात्कार हो चुका हो। इसमें भी वाम तथा दक्षिण पार्श्व से रेचक पूरक की संख्या भी समान रखनी चाहिए।[1] "

शिव संहिता में महाबन्ध

" वाम पाद को प्रकार से दक्षिण पाद को वाम ऊरु पर स्थित करके और गुदा और योनि को आकुंचन करके अपान को ऊर्ध्व करके समान वायु के साथ सम्बन्ध करके और प्राण वायु को अधोमुख करे, यह बन्ध प्राण अपान के ऊर्ध्व गति के हेतु बुद्धिमान साधक के प्रति कहा है। यह महाबन्ध सिद्धि मार्ग का दाता है और योगीगण नाड़ियों से इस बन्ध से ऊपर गमन करता है।[2] "

इसके अभ्यास से प्राण वायु सुषुम्ना के मध्य में स्थित होगा और इस महाबन्ध के प्रभाव से शरीर पुष्ट होगा अस्थि पंजर और शरीर के सब बन्ध दृढ़ अर्थात् परिपुष्ट हो जायेंगे। योगी का हृदय सन्तोष से पूर्ण और आनन्दित रहेगा।

१- वशिष्ठयोग पृ० ७३२३

२- शिवसंहिता ४।३७ से ४२ तक

गोरक्ष पद्धति में महाबन्ध

" वाम पाद की एड़ी से योनिस्थान को रोक कर के दक्षिण पाद को वाम ऊरु पर स्थापित करें तब जालन्धर बंध करके वायु को पूरक कर मन को सुषुम्ना में प्रवृत्त करे। यथाशक्ति कुम्भक करके शनैः शनैः रेचन करे। इसी प्रकार वामांग में अभ्यास करें, दोनों अंगों से अभ्यास की संख्या समान करें। यह समस्त नाड़ियों की गति ऊपर की ओर करने वाला महासिद्धि दायक महाबन्ध है।[1] "

ह० र० में महाबन्ध

" वाम पद की एड़ी से योनि स्थान को दबायें दायां पैर बायीं जंघा पर स्थापित करें, मुख द्वारा वायु ग्रहण करते हुए ठोढ़ी को हृदय पर स्थापित करें तथा मूलबन्ध करें तथा मन को सुषुम्ना में लगायें। इसी प्रकार वामांग से करने के पश्चात् दक्षिणांग से भी करें। यह योगियों के लिए महासिद्धि दायक है।[2] "

ह० सं० चं० में महाबन्ध

" ह० सं० चं० में महाबन्ध की प्रक्रिया गोरक्ष पद्धति के समान उपलब्ध है।[3] "

ह० प्र० में महाबन्ध

" बायें पैर की एड़ी को योनि स्थान में लगायें बायीं जंघा पर दायां पैर रखकर बैठे तथा वायु को पूरित करके चिबुक

१-गोरक्ष [illegible] पद्धति पृ० ४६

२- ह० र० २।४४ से ४६

३- ह० सं० चं० २६ क

को मूल स्थान पर दबाता है उसमें और योनि को संकुचित करके मन को नाड़ी के मध्य प्रविष्ट करे फिर वायु को यथाशक्ति धारण कर शनैः शनैः रेचन क्रिया करे। अन्य विद्वानों का मत है कि जालन्धर बन्ध में कण्ठ का संकोच करे। क्योंकि राजदन्त पर स्थित जिह्वा का बन्ध ही प्रशस्त होता है। यह सब नाड़ियों की ऊर्ध्वगति का निरोधक है, यह महाबन्ध अत्यन्त महासिद्धि का देने वाला है।[1]"

यह महाबन्ध काल के पाश को छुड़ाने में प्रवीण उसमें है यह त्रिवेणी (जालन्धर उड्डियान और मूलबन्ध) का संगम है, यह (महाबन्ध) "प्रयाग" को प्राप्त कराने वाला तथा (दोनों भौंहों के मध्य में स्थित शिव स्थान) केदार में मन को स्थित करने वाला है।[1]"

<u>घे० सं० में महाबन्ध</u>

" बायीं एड़ी से योनि स्थान (गुदा प्रदेश) का निरोध करके दायें पैर से यत्नपूर्वक बायीं एड़ी को दबाते हुए शनैः शनैः योनि का आकुंचन करे। जालन्धर बन्ध से प्राण वायु को धारण करे। इसे महाबन्ध कहते हैं। यह महाबन्ध सब मुद्राओं में श्रेष्ठ है यह वृद्धावस्था एवं मृत्यु को दूर करता है इस महाबन्ध से सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं।[2]"

ह० प्र० में महाबन्ध की प्रक्रिया विस्तृत रूप से उल्लिखित है तथा महाबन्ध से होने वाले आध्यात्मिक एवं शारीरिक लाभों का भी वर्णन किया है दोनों की प्रक्रिया में अन्तर यह है कि स्वात्माराम ने दायें पैर को बायीं जंघा पर रखने तथा घेरण्ड ने दायें पैर को बायीं जंघा के स्थान पर बायें पैर की एड़ी पर रखने का उल्लेख किया है घेरण्ड ने जालन्धर

१- ह० प्र० ३।१८ से २४ तक

२- घे० सं० ३।१४ से १६ तक

बन्ध लगाने की संस्तुति तो की है किन्तु ठोढ़ी हृदय पर रखी जाय अथवा नहीं इसका कोई उल्लेख नहीं किया है। स्वात्माराम ने ठोढ़ी को हृदय पर स्थापित करने के लिए उल्लेख किया है। दोनों ने प्राणवायु पूरक करने के लिए वर्णन किया है किन्तु स्वात्माराम ने यथाशक्ति कुम्भक करके वायु को शनैः शनैः रेचक करने के लिए भी निर्दिष्ट किया है, घेरण्ड ने कुम्भक और रेचक का कोई उल्लेख नहीं किया। घेरण्ड के अनुसार अभ्यास करने से साधक भ्रमित होकर हानि भी उठा सकता है। स्वात्माराम महाबन्ध को वामांग तथा दक्षिणांग से करने के पक्षधर हैं, किन्तु घेरण्ड का इस ओर भी ध्यान नहीं गया है। अस्तु, यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि घेरण्ड की महाबन्ध मुद्रा की प्रक्रिया अपूर्ण है।

महावेध

योगतत्त्वोपनिषद् में महावेध

"महावेध में स्थित होकर चित्त एकाग्र कर जालन्धर बन्ध लगाकर वायु को पूरक द्वारा भरकर कुम्भक में स्थित रखना चाहिए, इससे प्राण वायु का दोनों नाड़ी पुटों को छोड़कर सुषुम्ना में वेग से स्फुरण हो जाता है। इस महावेध का योगी दिन रात अभ्यास करते हैं।[1]"

वशिष्ठ योग में महावेध

"महाबन्ध मुद्रा में स्थित होकर पूरक करके कुम्भक कर लें, तब दोनों बन्ध लगाकर हथेलियां भूमि पर दक्षिण वाम ओर रखकर वाम पाद सहित शरीर को उन पर उठा लें, तब उसी पर पुनः पुनः सीवन प्रांत का ताड़न करे।[2]"

१- योगतत्त्वोपनिषद् पृ० ११५, ११६

२- वशिष्ठ योग पृ० ३३४

महावेध योग की दूसरी विधि

पद्मासन लगाकर पूरक सहित कुम्भक करके भूमि से उठाकर भूमि पर मूलाधार को पुनः पुनः ताड़न करे। क्योंकि प्रचलित महावेध की क्रिया में जब शरीर को हाथों से ऊपर उठाया जाता है तब मूलबन्ध स्थिर नहीं रहता, पद्मासन लगाकर करने से यह दोष नहीं आता, अतः पद्मासन लगाकर करना ही उत्तम है। इसे भी पैर बदलकर करें, प्राणायामों की संख्या समान रहे।

शिव संहिता में महावेध

" हे त्रिभुवनेश्वरी। अपान और प्राण को एक करके महाबंध स्थित योगी उदर की वायु से पूर्ण करके दोनों स्फिच अर्थात् पार्श्वों का ताड़न करे। इसको इसी महावेध कहा है। जो मनुष्य इस उत्तम महावेध को गुप्त करके सदा अभ्यास करेगा उसको जन्म मरण नाशिनी वायु सिद्ध हो जायेगी।[1] "

शरीरस्थ चक्र में जो देवता हैं वह वायु के ताड़न से कम्पायमान होते हैं और महामाया कुण्डलिनी देवी कैलाश अर्थात् ब्रह्मस्थान में लय होती है। महामुद्रा और महाबन्ध बिना वेध के निष्फल हैं। इसलिए योगी को यत्नपूर्वक क्रम से तीनों मुद्राओं का अभ्यास करे। जो यह मुद्रा बन्ध और वेध तीनों का अभ्यास दिन में चार बार करेगा वह छः मास में निश्चय मृत्यु पर विजय प्राप्त करेगा। इसमें संदेह नहीं है।

गोरक्ष[2] पद्धति में महावेध, शिव संहिता के समान है।

१- शिव संहिता ४।४३ से ४८ तक

२- गोरक्षपद्धति पृ० ४७-४८

" ह० र० में महाबेध मुद्रा की प्रक्रिया शिव संहिता के समान है किन्तु ह० र० में जालन्धर बन्ध के साथ करने का निर्देश है।[1] "

जोगप्रदीपिका में महाबेध को दिन में ८ बार तीन तीन घण्टे के पश्चात् करने का निर्देश किया है–

" अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने। "

" घे० सं० में महाबेध की प्रक्रिया शिव संहिता के समान जालन्धर बन्ध के साथ की है।[2] "

<u>ह० प्र० में महाबेध</u>

" जिस प्रकार रूप लावण्य से युक्त स्त्री पुरुष के बिना निष्फल है उसी तरह महामुद्रा और महाबन्ध दोनों महाबेध के (अभ्यास के) बिना व्यर्थ हैं। योगी को महाबन्ध में स्थित होकर चित्त एकाग्र कर जालन्धर बन्ध (कण्ठ मुद्रा) लगाकर वायु को पूरक द्वारा खींच कर उसे कुम्भक की विधि से स्थिर करना चाहिए, अपने स्फिच (पुट्ठों) को भूमि पर दोनों हाथों से थाम कर (भूमि पर योनि स्थान से अपनी एड़ी चाहे बायें पैर सहित कुछ ऊपर की ओर उठाकर) शनैः शनैः ताड़ित करना चाहिए। इससे प्राण वायु मध्य नाड़ी (सुषुम्ना) में चलने लगती है तब चन्द्र सूर्य और अग्नि (सुषुम्ना) के सम्बन्ध से अमृत तत्त्व की प्राप्ति होती है।[3] "

मरणावस्था उत्पन्न ([illegible]

१– ह० र० २/५६, ६०

२– घे० सं० ३/२५

३– ह० प्र० ३/२६ से ३० तक

वायु स्थिर) होने पर वायु का रेचन करना चाहिए । यही महावेध है जिसका अभ्यास करने से महासिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । इससे झुर्रियाँ नष्ट हो जाती हैं, पलित बाल काले होने लगते हैं और कम्पन नष्ट हो जाता है । उत्तम साधक साधक महावेध का अभ्यास करते हैं । महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध - ये तीनों मुद्राएँ परम गोपनीय हैं । बुढ़ापा और मृत्यु (भय) को नष्ट करने वाली हैं, जठराग्नि को बढ़ाती हैं, और अणिमादि सिद्धियों को प्रदान करने वाली हैं । ये मुद्राएँ प्रहर प्रहर (तीन तीन घण्टे के बाद) प्रत्येक दिन आठ बार की जाती हैं । ये पुण्यों को पुष्ट करने वाली हैं और पापों के लिए वज्र के समान हैं अर्थात् पापों को नष्ट करने वाली हैं । इनके अभ्यास के पहले गुरु (योग-सिद्ध) से अभ्यास विधि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ।"

घे० सं० में महावेध

"पुरुष के बिना जैसे स्त्री का रूप-यौवन और लावण्य व्यर्थ है, वैसे ही महावेध के बिना मूल बन्ध और महाबन्ध निष्फल हैं । प्रथम महाबन्ध का अभ्यास कर उड्डियान बन्ध कर कुम्भक से वायु को रोके, इसे महावेध कहते हैं ।"[1]

जो योगी प्रतिदिन महावेध के साथ महाबन्ध और मूल बन्ध का अभ्यास करते हैं वे योगी, योगियों में श्रेष्ठ हो जाते हैं, मृत्यु-भय और वृद्धावस्था उन पर आक्रमण नहीं करती । यह परम गुह्य है, इसे गुप्त रखना चाहिए ।

ह० प्र० में महावेध

"महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ

१- घे० सं० ३।१७ से २० तक

महामुद्रा, महाबन्ध दोनों महावेध के बिना व्यर्थ हैं।[1]

घे० सं० में महामुद्रा के स्थान पर- मूल बन्ध महाबन्धी महावेध किया-(तथा) मूल बन्ध और महाबन्ध, महावेध के बिना दोनों निष्फल होने का निर्देश किया है।[2]

महावेध अभ्यास में ह० प्र० कार ने पहले महाबन्ध में स्थित होकर जालन्धर बन्ध लगाकर पूरक करते हुए स्फिचों (चूतड़ों) की ताड़न की क्रिया करते हुए प्राण का सुषुम्ना में से जाने की प्रक्रिया बतलायी है तथा दिन में आठ बार करने के लिए संकेत किया है।

घे० सं० कार ने महावेध के अभ्यास में महाबन्ध में स्थित होकर उड्डियानबन्ध कर कुम्भक करने की संस्तुति की है। दोनों की मुद्राओं में जालन्धर और उड्डियान बन्धों का अन्तर ही है तो साथ ही घेरण्ड ने चूतड़ों को ताड़न करने का निर्देश नहीं किया है और न दिन में कितने बार अभ्यास किया जाय उसका ही कोई उल्लेख है।

स्वात्माराम ने महावेध के अभ्यास से महासिद्धियों की प्राप्ति एवं शरीर से झुर्रियों का दूर होना तथा बाल सफेद होना शरीर की कमजोरी के कारण कम्पन इत्यादि का नष्ट होना आदि का उल्लेख किया है।

घेरण्ड ने मृत्यु भय नहीं रहता तथा वृद्धावस्था आक्रमण नहीं करती है, का उल्लेख किया है। स्वात्माराम ने इस मुद्रा के द्वारा अनुरूप प्राप्ति के लिए भी संकेत किया है।

१- ह० प्र० ३। २८

२- घे० सं० ३। १७

विपरीतकरिणी

योगतत्त्वोपनिषद् में विपरीतकरिणी

" विपरीत रूप से करने से उदर रोगों का हरण करके नित्याभ्यास युक्त होने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। साधक को प्रचुराहार भक्षण करना चाहिए। यदि अल्पाहार होगा तो शरीर का नाश होगा।

प्रथम दिन सिर नीचे पैर ऊपर करके एक क्षण करना चाहिए और एक एक क्षण प्रतिदिन बढ़ाते हुए इसका छः मास तक करने से पली-पलित दूर हो जाते हैं तथा एक प्रहर करने से योगी कालजित हो जाता है।[1] "

वशिष्ठ योग में विपरीतकरिणी

" दोनों हथेलियाँ और सिर भूमि पर बिछाए गद्दे आदि कोमल वस्त्र पर धर कर पैरों सहित शरीर उठाकर पाद तल आकाश की ओर करके सिर और हथेलियों पर तोल दें- शरीर सीधा रहे, इस स्थिति में यथाशक्ति रहें।[2] "

दूसरी विधि

पीठ के बल भूमि पर लेटकर कटि को हाथों का सहारा देकर, ग्रीवा तथा कन्धों पर शरीर को थोड़ा तिरछा रखते हुए खड़ा कर दें (जैसे सर्वांगासन में करते हैं) फिर जालन्धर बन्ध लगा कर दृष्टि पैर के अंगूठों पर स्थिर कर दें। प्रथम विधि से यह दूसरी विधि

१- योगतत्त्वोपनिषद् पृ० १२२ से १२५

२- वशिष्ठ योग पृ० ३२६

श्रेष्ठ है क्योंकि सिर पर आवश्यक दबाव नहीं पड़ता है।"

"शिव संहिता[1] में विपरीतकरणी की प्रक्रिया "योगतत्त्वोपनिषद्" के समान ही है।"

गोरक्ष पद्धति[2], ह० र०[3] एवं ह० सं० पं०[4] में विपरीतकरणी मुद्रा की प्रक्रिया "योगतत्त्वोपनिषद्" के समान है।

<u>ह० प्र० में विपरीतकरणी</u>

"दिव्य तालु में स्थित चन्द्रमा से जो कुछ भी अमृत (सोम कला जल) स्रवित होता है, उसे नाभि में स्थित कालात्मक सूर्य ग्रस लेता है, इससे शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त करता है। उस (अमृत) को सूर्य मुख में गिरने से बचाने के लिए गुरु के उपदेश से दिव्य करण(विपरीतकरणी) को जानना चाहिए। करोड़ों शास्त्रों के अर्थ से वह ज्ञातव्य नहीं है।[5]

"ह० प्र०[6] एवं शि० सं०[7] में विपरीतकरणी मुद्रा की अभ्यास विधि "योगतत्त्वोपनिषद्" के तुल्य है।"

ह० प्र०[8] में - नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठरा-

१- शिव संहिता ४।६९ से ७१ तक

२- गोरक्ष पद्धति पृ० ५८, ५९

३- ह०र० २।६७ से ७३

४- ह० सं० पं० १९ क

५- ह० प्र० ३।७६ से ७७

६- ह० प्र० ३।७८ से ८१

७- शि० सं० ३।२६ से ३१

८- ह० प्र० ३।७९ से ८१

ग्निविवर्धिनी " नित्य के अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते । याम मात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् । अर्थात् इस (मुद्रा) से छः मास के अन्दर झुर्रियां एवं पके केश दिखाई नहीं देते हैं । इस तरह एक प्रहर तक अभ्यास करने वाला मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है ।

<u>घे० सं० में विपरीतकरणी</u>

"मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत् । स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति – इस मुद्रा के नित्य अभ्यास करने से मृत्यु भय और वृद्धावस्था पीड़ित नहीं करती है और वह (साधक) सब लोकों में सिद्ध तथा प्रलय में अजर अमर है ।"[1]

जैसाकि इसके नाम से विदित है कि यह "विपरीतकरणी" मुद्रा अर्थात् उल्टे रूप से करने पर- शिर (चन्द्र) को भूमि पर और नाभि केन्द्र (सूर्य) को पैरों सहित आकाश की ओर करने से होती है। यह मुद्रा आजकल विश्व भर में "शीर्षासन" नाम से विख्यात है । आधुनिक हठयोगियों ने इसे आसनों की श्रेणी में ही नहीं रखा बल्कि इसे सर्वोत्तम आसन कहा है। विपरीतकरणी को शीर्षासन कहना उचित प्रतीत नहीं होता ।

१- "शीर्षासन" नाम से शिर अथवा मस्तक नीचे की ओर तथा पैर ऊपर की ओर करने से किसी भी आसन को "शीर्षासन" कहा जा सकता है, जैसे कपालासन, वृश्चिकासन, ऊर्ध्वपद्मासन, अधोमुख पद्मासन आदि किन्तु विपरीतकरणी मुद्रा यह एक विशिष्ट मुद्रा है, जिसके अभ्यास में शिर, उदर एवं पैर सीधे पृथ्वी पर लम्बवत् होने चाहिए

१- घे० सं० ३|२८ से ३१ तक

तथा शरीर को स्थिर रखने के लिए हाथों की कुहनियों से कमर को सहारा मिलना चाहिए। शरीर का भार सिर तथा दोनों हाथों की कुहनियों पर रहता है।

२– विपरीतकरणी मुद्रा को शीर्षासन कहने का कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि हठयोग की प्राचीन परम्पराओं में "शीर्षासन" नाम का कोई भी आसन नहीं है।

३– आधुनिक हठयोगियों ने शीर्षासन[1] के अभ्यास के लिए तीन घण्टा समय की संस्तुति नहीं की है जबकि ह० प्र० में एक याम (तीन घण्टे) तक अभ्यास का निर्देश किया है– " याम मात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ।"

४– शीर्षासन[2] के अभ्यास में भोजन बहुत मात्रा में करने का निर्देश नहीं है जबकि ह० प्र० में विपरीतकरणी के वर्णन में –" आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च " साधक को बहुत आहार करना चाहिए।

उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए " हमें विपरीतकरणी को " शीर्षासन " नाम देना समीचीन नहीं है।

विपरीतकरणी हठयोग साधना की उच्चावस्था की मुद्रा है। साधारण अभ्यास के समय विपरीतकरणी मुद्रा को शनैः शनैः करना ही पर्याप्त होगा। ह० प्र० में अभ्यास को तीन घण्टे तक बढ़ाना चाहिए। स्वात्माराम का यह निर्देश शरीर के नेत्र, कर्ण, नासिका हृदय एवं मस्तिष्क जैसे कोमल अवयवों को देखते हुए उचित नहीं जान पड़ता है। इस मुद्रा को अधिक समय तक साधने से नेत्र, हृदय एवं मस्तिष्क पर रक्त का अतिरिक्त

१– ह० प्र० ३।८१

२– ह० प्र० ३।७९

भार पड़ेगा जिसके परिणामस्वरूप वे अथवा विकारी हो जायेंगी। नेत्र ज्योति कुछ दिनों में कम हो जायेगी। व्यावहारिक में ऐसा देखा गया है। इसके अभ्यास से " दृष्टि वितान " (रेटीना) बिल्कुल नष्ट हो जायेगा। अतः इसका अभ्यास अनुभवी साधक के मत से ही करना चाहिए।

योनिमुद्रा

इस मुद्रा का किसी ग्रन्थ में षण्मुखीमुद्रा तथा किसी में योनिमुद्रा नाम से उल्लेख आया है।

दर्शनोपनिषद् में षण्मुखी मुद्रा

" स्वस्तिक आसन से बैठकर अपानवायु को ऊर्ध्व करते हुए प्रणव जप के द्वारा मन को शनैः शनैः समाहित करें। हाथों से कर्णादि इन्द्रियों को सम्यक् रूप से अंगूठों से कानों को तथा नासिका, मध्यमा से मुख को ढंकते हुए ब्रह्मरन्ध्र में प्राण को प्रयत्नपूर्वक धारण करते हुए आनन्दानुभव करें।[1] "

बहिरंग योग में योनिमुद्रा

" सिद्धासन से बैठकर हाथों के अंगूठों से दोनों कानों तर्जनियों से नेत्रों को मध्यमाओं से दोनों नथुनों को और अनामिका तथा कनिष्ठा से दोनों ओष्ठों को दबावें, इससे पूर्व " काकी मुद्रा " द्वारा प्राण को अन्दर खींच कर उदरगत " अपान " से मिलावें और उक्त रूप से सब द्वार बन्द करके ॐ का मानसिक जप करते हुए ऐसा दृढ़ संकल्प करें कि जागी हुई कुण्डलिनी चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार कमल में जा रही है।[2] "

१- दर्शनोपनिषद् ६।३२ से ३५ तक

२- बहिरंग योग पृ० ३२८

शि० सं० में योनिमुद्रा

" सिद्धासन लगाकर बैठें और दोनों हाथ के अंगूठों से कानों को, दोनों हाथों की तर्जनियों से नेत्रों को, मध्यमाओं से नासिका छिद्रों को अनामिका तथा कनिष्ठा से मुख को आच्छादित कर ले। " काकी मुद्रा " द्वारा प्राण को खींचकर अपान से मिलावें और शरीरस्थ षट्चक्र का ध्यान करता हुआ " हूँ " तथा " हंस " मंत्र से कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर उसके साथ ही जीवात्मा को सहस्रार में ले जाय। उस समय यह एकान्त भावना करनी चाहिए कि " मैं शिव के साथ शक्ति सम्पन्न होकर सुखपूर्वक विहार कर रहा हूँ शिव शक्ति के संगम से ही मैं आनन्दमय स्वयं ब्रह्म हो गया हूँ " यह योनिमुद्रा है।[1] "

इसके अभ्यास से ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, गुरुतल्पगमन आदि पापों से मुक्त हो जाता है। संसार के सभी महापाप उपपाप आदि इस योनि मुद्रा से मिट जाते हैं इसलिए मुमुक्षु जनों को इसका अभ्यास करना चाहिए।

योनिमुद्रा का उल्लेख हठयोग के कम ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है।

ह० प्र० में योनिमुद्रा का कोई उल्लेख नहीं है।

वज्रोलीमुद्रा

ध्यानबिन्दूपनिषद् में वज्रोली

" खेचरी के द्वारा जिह्वा के विवर में प्रवेश करने के पश्चात् स्त्री की योनि में लिंग के प्रवेश होने पर भी उसका बिन्दु का

१- शि० सं० ३।३३ से ३८ तक

धारण नहीं हो सकता। जब तक शरीर में बिन्दु वर्तमान है तब तक मृत्यु भय भी नहीं है।[1]"

योगतत्त्वोपनिषद् में वज्रोली स्वरूप

" वज्रोली का अभ्यास जो योगी करता है वह सिद्धियों की प्राप्ति करता है। और उसे ही योग की सिद्धि प्राप्त होती है।[2]"

वशिष्ठ योग में वज्रोली मुद्रा-प्रक्रिया

" कैथेटर नाम की रबड़ की बनी एक विशेष नलिका कैमिस्टों की दुकानों से मिल जाती है। यह ४-५ नम्बर की १४-१५ अंगुल लम्बी हों और उसके अग्रभाग में ४-६ अंगुल तक बादाम रोगन, घृत व तिल का तेल लगाकर मूत्रेन्द्रिय के छिद्र में डाल कर ऊपर चढ़ाने की ओर प्रविष्ट करें- ले जावें, प्रथम दिवस २-३ इंच ही ले जायें। फिर नित्य एक दो इंच चढ़ाने की ओर अधिक बढ़ाते जायें, यदि पीड़ा प्रतीत हो तो तुरन्त बाहर निकाल दें। इसका अभ्यास हो जाने पर फिर ७-८ नम्बर का कैथेटर लेकर पूर्वोक्त रीति से चढ़ावें। अभ्यास हो जाने पर उत्कट बैठकर नौलि क्रिया से अंतड़ियों को उठाकर मूलाधार को सिकोड़ कर कैथेटर के द्वारा बाहर की वायु का आकर्षण करें (इसे फूत्कार कहना कहते है) इसके पश्चात् इसका भी अभ्यास हो जाने पर १२ नम्बर के कैथेटर से अभ्यास करें। अब जल का पात्र, लोटा, गिलास आदि भर कर कैथेटर जल में डाल कर फूत्कार विधि से जल को चढ़ाने की ओर खींचे यह जब अन्दर पहुँच कर मूत्र को साथ लेकर निकल आता है। जब रबड़ की इस नलिका से जल का आकर्षण भली प्रकार होने लगे तब सीसे या चांदी के कैथेटर से जलाकर्षण का अभ्यास कर लें। इससे सुविधा रहती है। जल के समान दूध, तेल का भी आकर्षण किया जा

१- ध्यानबिन्दूपनिषद् पृ०८३-८४

२-योगतत्त्वोपनिषद् पृ० १२६

जाता है, ये द्रव पदार्थ मूत्राशय के जल मूत्र को साथ लेकर बाहर निकल जाता है। इसी कारण " मूत्राशय " को वस्ति भी कह सकते हैं।[1] ""

<u>शिव संहिता में वज्रोली</u>

"" अतएव बुद्धिमान साधक यत्न करके विधानपूर्वक स्त्री की योनि से रज को लिंगनाल में आकर्षण करके अपने शरीर में प्रवेश करे और अपने बिन्दु को निरोध करके लिंग चालन करे यदि दैवात् बिन्दु अपने स्थान से चले तो योनि-मुद्रा से निरोध करके ऊपर से आकर्षण करे और उस बिन्दु को वाम भाग में स्थित करके क्षणमात्र लिंग चालन निवारण करे फिर गुरु-उपदेश द्वारा योगी हुं हुं कार शब्द उच्चारण पूर्वक योनि में लिंग चालन करे और बल से अपानवायु को आकुंचन करके स्त्री के रज को आकर्षण करे। इसको वज्रोली मुद्रा कहते हैं।[2] ""

<u>गोरक्ष पद्धति में वज्रोली</u>

"" यत्न करके मन्द मन्द चालित वीर्य को लिङ्गस्य संकोचन करके ऊपर लेने के अभ्यास सिद्ध होने में वज्रोली मुद्रा सिद्ध होती है।[3] ""

चांदी अथवा कांच की (१४ अंगुल लम्बी सलाई) लेकर शनैः शनैः लिंग छिद्र में (प्रतिदिन) फूत्कार अर्थात् वायु प्रवेश करे। (इसका अभ्यास हो जाने पर) स्त्री संयोग में जब बिन्दु (वीर्य) शरीर से पतनाभिमुख होता है उसे इस अभ्यास से ऊपर खींचे अथवा स्त्री में गिरे हुए वीर्य को रज सहित बिन्दु का आकर्षण कर (वीर्य) चढ़ाकर स्थापना करे। इस प्रकार

१- वशिष्ठ योग पृ० ३२६-३२७

२- शिवसंहिता ४।८१-८४

३- गोरक्ष पद्धति पृ० ५०, ५१

जो बिन्दु की रक्षा करता है वह योगी मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। बिन्दु के पतन से मृत्यु और उसकी रक्षा से अमरत्व प्राप्त होता है। [1]

<u>ह० र० में वज्रोली</u>

" कुण्डलिनी शक्ति उद्बोधन, नाड़ी परिशोधन एवं प्राण- अपान का समायोजन करने के लिए वज्रोली मुद्रा की यानी परम्परा के अनुसार गुणवान साधक एवं साधिकाओं के लिए वज्रोली की प्रक्रिया प्रदर्शित की जा रही है। अभ्यास के प्रारम्भ में एक नलिका अन्दर प्रवेश के लिए लिंग के सामने रखें और दूसरी नलिका लिंग के अन्दर प्रविष्ट करके दोनों को जोड़ दे तथा वायु का आकुंचन करें। "

एक स्वर्ण, चांदी, ताम्र और सीसे की बनी नलिका को प्रारम्भ से अन्दर प्रविष्ट करें। यह २०(बीस) अंगुल लम्बी सुन्दर गोल एवं चिकनी होनी चाहिए। यह " कीर " की आकृति की नलिका स्त्री-स्त्रियों के लिए उपयुक्त है। इसको (लिंग में) प्रविष्ट करके फिर वायु को सरल रूप में खींचा जा सकता है। "

<u>ह० सं० में वज्रोली</u>

" बारह अंगुल की सीसे की पतली तथा गोल सलाका है वह लिंग के अन्दर धीरे धीरे प्रविष्ट करे। ठीक प्रकार अभ्यास होने पर वायु का आकर्षण करे वायु के पश्चात् दूध आदि का आकर्षण करे वायु के पश्चात् दूध आदि का आकर्षण करे। अभ्यास पूर्ण होने पर स्त्री की योनि में प्रवेश कर बिन्दु एवं रज को भी पुनः लिंग द्वारा योगी अपने अन्दर ले जायें। "

<u>ह० प्र० में वज्रोली</u>

" श्री योगी वज्रोली मुद्रा (का अभ्यास)

१- ह०र० २।७६ से ८८

२- ह० सं० पृ० २७ ६

जानता है, वह योगशास्त्र के नियमों के पालन के बिना भी अपनी इच्छा से जीवन धारण करते हुए भी सिद्धि प्राप्त कर लेता है। (वज्रोली) साधक के लिए दो दुर्लभ वस्तुओं का मैं वर्णन करता हूँ। एक तो दूध और दूसरी वशवर्ती स्त्री।[१]"

ह० प्र० में वज्रोली

" सम्भोग के पश्चात् वीर्य को स्खलित होने से रोकने के लिए उस (बिन्दु) को धीरे धीरे आकुंचित करे उसे ऊपर ले जाने के लिए स्त्री सिद्ध अथवा पुरुष (शनैः शनैः) अच्छी तरह अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो जाती है। शीशे की बनी हुई नली से उपस्थ के छिद्र में वायु के संचार के लिए फूत्कार करें। यदि सम्भोग के समय में बिन्दु स्खलित होने की स्थिति में आजाय तो भी उसे अभ्यास से ऊपर की ओर खींचना चाहिए। स्खलित होने वाले बिन्दु का ऊपर आकर्षण कर उसकी रक्षा करनी चाहिए। इस तरह बिन्दु की जो योगी रक्षा करता है वह मृत्यु को जीत लेता है। वीर्य का स्खलन अथवा पतन ही मृत्यु और उसे शरीर में धारण करना रखना ही जीवन है।

बिन्दु को शरीर में धारण करते रहने से योगी के शरीर में दिव्य गन्ध की उत्पत्ति होती है। जब तक शरीर में वीर्य स्थिर है तब तक काल का भय नहीं रहता- शरीर जीर्ण-शीर्ण होकर नष्ट नहीं होता। मनुष्यों का चित्त शुक्र के आश्रित है। जीवन शुक्र के आश्रित है। इसलिए वीर्य और मन दोनों की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिए। (योगाभ्यासी को वज्रोली मुद्रा के द्वारा) ऋतुमती स्त्री के रज और बिन्दु की रक्षा करनी चाहिए। योगाभ्यास में निपुण योगी को उपस्थ के छिद्र से रज और बिन्दु दोनों को ऊपर आकर्षण करना चाहिए।[२]"

१- ह० प्र० ३।८२ से ८३

२- ह० प्र० ३।८४ से ८६ तक

<u>घे० सं० में वज्रोली</u>

“ दोनों हाथों को पृथ्वीतल भूमि पर टेके और दोनों पैर व सिर को आकाश में ऊपर की ओर (आकाश में) उठाये । शास्त्रों में इसे कुण्डलिनी शक्ति प्रबुद्ध करने वाली और जीवन देने वाली वज्रोली मुद्रा कहा है ।[1] ”

“ यह योग मुद्रा योगियों के लिए मुक्ति देने वाली हितकारिणी, सिद्धि प्रदायिनी तथा श्रेष्ठ है, इसके प्रभाव से बिन्दु सिद्ध होने के कारण साधक ऊर्ध्वरेतस्त्व में समर्थ होता है और जब बिन्दु-पात पर विजय प्राप्त करली जाती है तब भूमि पर कौनसा कार्य नहीं हो सकता, यदि भोगी पुरुष भी मुद्रा का अभ्यास करे तो उसे भी सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं ।[2]

घेरण्ड के अनुसार वज्रोली अभ्यास से गृहस्थी भी लाभ उठा सकते हैं । इससे मनुष्य की वीर्य रक्षा होती है । मन में स्त्री भोग की इच्छा समाप्त हो जाती है। इस मुद्रा को [illegible] बताया है ।[2]”

ह० र० में वज्रोली पर निम्न टिप्पणी प्राप्त है— “ घे० सं० की वज्रोली हाथों पर शरीर का भार सन्तुलित करके पैरों को आकाश की ओर एक दूसरे को क्रास करके पीठ की ओर से गर्दन पर लाने तथा शरीर को ऊपर उठाने से वज्रोली मुद्रा होती है। यह स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया से शक्ति को ऊर्ध्वगामी करने के लिए पर्याप्त पहुँचा है। डा० विनोद सनाढ्य हठयोग प्रकाश सहित विचार मनुवर्ती ।[3]”

घे० सं० की वज्रोली प्रक्रिया सामान्य ग्रन्थों में दी गई प्रक्रिया से बिल्कुल भिन्न है। हाथों पर खड़ा होना तथा टांग पीछे

१– घे० सं० ३।४५

२– घे० सं० ३।४६ से ४८ तक । यह तीन श्लोक श्री पीताम्बर पीठ दतिया एवं कैवल्यधाम, बरेली से प्रकाशित घे० सं० में अतिरिक्त उपलब्ध है ।

३– ह० र० पृ० २१३

से जाने से बिन्दु सिद्धि होती वैवाहिक परम्परागत हठयोग ग्रन्थ " ह० र० ", हठप्रदीपिका एवं शिव संहिता में कहा है। तांत्रिक प्रणाली में वज्रोली की दो प्रक्रियां दी गई हैं[१]। ""

एक प्रक्रिया हठयोग की है और अन्य क्रिया योग की। हठयोग की वज्रोली मुख्य रूप से मैथुन की ओर संकेत करती है और क्रिया योग की चक्र जाग्रत करने की ओर, किन्तु प्रथम प्रक्रिया से परिणाम शीघ्र होता है। (बिहार स्कूल आफ योग - वोल्यूम २० नं० ३ मार्च १९८१) हठयोग के प्रामाणिक ग्रन्थ ह० प्र० एवं शिव संहिता में वज्रोली की प्रक्रिया में कुछ बातें रह गई हैं। श्रीनिवास ने इसे विस्तृत में वर्णन किया है। ह० प्र० के कई श्लोकों से कई २ अर्थ निकले हैं, कुछ तांत्रिक रूढ़िवादी हठयोग में तांत्रिक प्रक्रिया को अपनाने में संकोचशील है। कैवल्य धाम से प्रकाशित ह० प्र० में मैथुन प्रक्रिया का कोई सन्दर्भ नहीं दिया है।

१- One is from Hathyoga and the oter Kriyo yoga. The Hath Yoga Vajroli is mainly directed towards maidhuna and the Kriya yoga technique towards Chakra awakening. Results are reached much sooner with the first method. (Bihar School of Yoga Vol. XX No. 3 March 1981) . These are certain gaps about the technique of Vajroli in standard texts like HP and S.S. and Sriniwas described this topic in detail. There are certain slokas in H.P. which are giving double meaning. They support that theses processes have no references a member of the fair six. (Refer HP Kaivalyadham p.108)

HR , P- 132.

2. Gh.S. Technique is entirely different from the Vajroli as it is commonly understand and described. Curiously enough this handstand with leg turned upward is said to result in Sindusidhi and traditional Vajroli as in HR and H.P. & Shiv Samhita. In tantric system, there are two techniques given for Vajroli.

H.R.P. 132

ह० प्र० और शि० सं० की वज्रोली प्रक्रिया परस्पर बिल्कुल भिन्न है। शि० सं० की वज्रोली कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने की आ-योग प्रक्रिया है। शि० सं० की प्रक्रिया का अभ्यास करने से साधक का बिन्दु निश्चि-त रूप से ऊर्ध्वगामी होगा तथा साधनारत रहने से वीर्यपात नहीं होगा। किन्तु ह० प्र० की वज्रोली प्रक्रिया " वमन- वमन " के समान है- कुत्ता जिस प्रकार वमन करके पुनः भक्षण करता है वही प्रक्रिया ह० प्र० में अपनायी है। पहले स्त्री सम्भोग करके स्त्री की योनि में साधक वीर्यपात करे फिर वीर्य और रज का पुनः लिंग नाल के द्वारा उसका आकर्षण करें। जब हठयोगी को शक्ति की ही आवश्यकता है तो मैथुन क्यों करता है। मैथुन से शक्ति नष्ट होगी।

ह० प्र० की प्रक्रिया को हठयोग में प्रविष्ट कर देने से मैथुन का मार्ग प्रशस्त करना मात्र है। हठयोग और स्त्री सम्भोग एक दूसरे के विपरीत है। स्त्री सम्भोग अथवा स्त्री की योनि में वज्रोली का अभ्यास करने से वीर्य नाश होकर शक्ति का ह्रास होगा जबकि हठयोगी को शक्ति की निरन्तर आवश्यकता है। हठयोगी जिसकी साधना निम्न भूमि की है और उसने स्त्री के साथ वज्रोली का अभ्यास किया तो अवज्ञा का पात्र होगा। साथ ही हठयोग जैसी पवित्र परम्परा से विश्वास उठ जायेगा और योगी उपहास का पात्र होगा। अस्तु, ह० प्र० की वज्रोली हठयोग साधना में साधक की अपेक्षा बाधक होगी। इसलिए शि० सं० की वज्रोली ही श्रेयस्कर होगी।

सहजोली एवं अमरोली मुद्रा

शिव संहिता में सहजोली मुद्रा

" शिव संहिताकार ने सहजोली एवं अमरोली को वज्रोली का ही भेद स्वीकार किया है- उनका एक मात्र उद्देश्य वीर्य स्तम्भन करना है। ""

अमरोली भेद

"यदि हठात् वेगवश वीर्य चले और रज बिन्दु का सम्बन्ध- स्त्री सम्भोग की जाय तो उसको अमरोली कहते हैं।"

सहजोली

"जिस बिन्दु- वीर्य चलायमान होता योगी योनि मुद्रा के बन्ध से अवरोध करे उसको सहजोली कहते हैं। यह सभी तन्त्रों में गोपनीय है।

यद्यपि कार्य एक समान है परन्तु संज्ञा से अमरोली सहजोली दो भेद भिन्न हैं। इसलिए योगी को उचित है इन सहजोली- अमरोली मुद्राओं का अभ्यास करे।[1]"

गोरक्ष पद्धति में सहजोली

"ये नाम वज्रोली के हैं यही सहजोली और अमरोली भी हैं। ये वज्रोली के ही भेद हैं। गोबर के कंडे (उपले) जलाकर उसकी भस्म जल में मिलाये। वज्रोली के लिए मैथुन करके क्षण मात्र सुख से बैठकर सभी व्यापार छोड़कर स्त्री- पुरुष स्वांग एवं सर्वांग भस्म सेवन करें। यह सहजोली- मुद्रादि (साधनाओं में) जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नहीं, जहाँ मोक्ष है वहाँ भोग नहीं, इस मुद्रा के अभ्यास में भोग सहित मोक्ष भी है।[2]"

गोरक्ष पद्धति में अमरोली

"शिवाम्बु की प्रथम धारा पित्त की उष्णता

१- शिव संहिता ४।९५ से ९८ तक

२- गोरक्ष पद्धति पृ० ५२

है अन्यधारा नि:सारता के कारण त्याग कर निर्विकार मध्य धारा के ग्रहण कर सेवन करते हैं । यह योगाभिमत कापालिकी क्रिया है जो अमरोली कही है । जो पुरुष अमरोल- शिवाम्बु का पान व नस्य तथा वज्रोली का अभ्यास प्रतिदिन करता है वही कापालिकी अमरोली कही गई है ।[1] "

ह० र० में सहजोली

" सहजोली एवं अमरोली दोनों ही वज्रोली की पर्याय मुद्रा है । योगी- योगिनी वज्रोली मुद्रा (मैथुन) करने के पश्चात् स्थान पर गाय के गोबर के उपलों की भस्म जल में मिलाकर लेपन करें अन्य कार्य से मुक्त होकर सहजोली में विश्राम कर बैठें ।

अमरोली कथन

शिवाम्बु (स्वमूत्र) की पित्त मिश्रित प्रथम तथा बाद की नि:सार धारा को छोड़कर मध्य की शीतल धारा का प्रयोग करें । यह कापालिकी परम्परा का मत है ।[2] "

" ह० सं० चं० में सहजोली व अमरोली मुद्रा ह० र० के समान ही है ।[3] "

ह० प्र० में सहजोली

सहजोली और अमरोली वज्रोली के ही पर्याय हैं । जले हुए गाय के गोबर के कण्डे की भस्म जल में डाल कर सम्भोग के बाद [illegible][4] रति क्रिया से विरत होकर बैठकर स्त्री-पुरुष स्थान पर भस्म लेपन करें ।

१- गोरक्ष पद्धति पृ० ५२ श्लो० ५५
२- ह० र० २।१०६ से १०८ तक
३- ह० सं० चं० २० ब
४- ह० प्र० ३।९० से ९४ तक

योगियों ने वज्रोली क्रिया को महामयी कहा है, यह कल्याणकारी योग है, जो भोग और मोक्ष दोनों प्रदान करता है। यह योग पुण्यशालियों, धैर्यवान्, तत्त्वदर्शियों और राग द्वेष रहित लोगों को ही सिद्ध होता है। जो मत्सर- राग द्वेष से युक्त है, उनके लिए कल्याणकारी नहीं है।"

अमरोली प्रक्रिया

"अधिक पित्त वाली पहली धारा और बाद की रहित अन्त की धारा को त्याग कर शीतल मध्य धारा का ही सेवन किया जाता है, इसे खण्ड कापालिक मत से अमरोली कहा जाता है। अमरो-लिकाम्बु का नित्य पान एवं नस्य करते हुए वज्रोली अभ्यास करता है वह अभ्यास अमरोली कहा जाता है।

(अमरोली) के अभ्यास से निकला चन्द्रांश को भस्म में मिलाकर उत्तमांगों में (सिर, कपाल, नेत्र, कन्धों, कण्ठ और हृदय आदि) में लेप करना चाहिए (साधक को) दिव्य दृष्टि हो जाती है।

स्त्री की वज्रोली मुद्रा

ह० प्र० में स्त्री वज्रोली

स्त्री की वज्रोली मुद्रा "यदि स्त्री अच्छी तरह अभ्यास में निपुणता प्राप्त कर वज्रोली मुद्रा के द्वारा पुरुष के वीर्य का आकुंचन कर रज की रक्षा करती है तो वह योगिनी है। इस प्रकार स्त्री का रज नष्ट नहीं होता, इसमें सन्देह नहीं है। उसके शरीर में (मूलाधार से चक्रादिक) नाद (हृदय के ऊपरी भाग में पहुंच कर) बिन्दु रूप हो जाता है।

वज्रोली मुद्रा के अभ्यास से बिन्दु और रज एक

होकर अभी भी शरीर में रस की भांति ही अमरत्व सिद्धियाँ प्रदान करता है। जो स्त्री योनि के संकोच द्वारा रज को ऊर्ध्व कर रक्षा करती है, वह योगिनी है, सिद्धयोगा है और निश्चय भैरवी की सिद्धि होती है। वज्रोली के अभ्यास से देह सिद्धि की प्राप्ति होती है। यह योग अत्यन्त पुण्यकारक है। भोगों के भोगने पर भी यह योग मोक्ष प्रदान करता है।"

घे० सं० में अमरोली सहजोली का उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

स्त्री सम्भोग के पश्चात् अमरोली में सहजोली गाय के गोबर से बने कण्डों (उपलों) की भस्म पानी में मिलाकर उत्तम शरीर पर लेपने का निर्देश है और इसी भस्म लेपन को विभूति लेपन कहा है। यह प्र-क्रिया विपरीत परिस्थितियों में नग्न शरीर की ठण्ड से सुरक्षा करती है। जो उद्योगी पुरुषों का परित्याग कर देते हैं, उनके लिए अमरोली लाभकारी होती है। इस मुद्रा का अभ्यास स्त्री-पुरुष दोनों ही कर सकते हैं।

<u>ह० र० में अमरोली पर टिप्पणी</u>

" ह० प्र० में तृतीय उपदेश के ९० वें श्लोक में अमरोली को सहजोली का भाग स्वीकारा है। इसका अभ्यास "शिव-योनि" आसन से किया जाता है। यह गाय के गोबर की भस्म शरीर के कुछ भाग सिर, मस्तक, आँख, वक्षःस्थल तथा बाहों पर लेपन की सलाह दी जाती है, जो विभूति कहते हैं। इस क्रिया से ठण्ड एवं सन्निपात जैसी बीमारियों से रक्षा होती है। इसका उल्लेख घेरण्ड संहिता में नहीं किया है। शिव संहिता में इसका उल्लेख कुछ भिन्न है।[१]"

वस्तुतः अमरोली मुद्रा जिसका उल्लेख मुद्रा के

१- ह० र० पृ० १३३

अन्तर्गत है उसका आत्म चिन्तन अथवा कुण्डलिनी जागरण से कोई सम्बन्ध नहीं है । यह मुद्रा तो वज्रोली मुद्रा में आयी शारीरिक थकान को दूर करने के लिए एवं शरीर को गर्मी से बचाने के लिए एक प्रक्रिया मात्र है ।

अमरोली

"" यह वज्रोली प्रक्रिया का ही एक भाग है । इसकी तांत्रिक प्रक्रिया एवं विस्तृत वर्णन ह० र० के परिचय भाग (इन्ट्रोडक्शन) में मिलता है। यह " शिवाम्बुकल्प " नाम की स्वतन्त्र मुद्रा है। यह तांत्रिक कार्य है जिसका उल्लेख शिव संहिता में भी है। प्राचीन समय में लम्बी अवधि तक ध्यान करने वाले योगी अमरोली का प्रयोग करते थे । कुछ परिस्थितियों में अमरोली से पाचन संस्थान स्वस्थ रहता है। ध्यान के अभ्यास से रक्त भ्रमण एवं हृदय पर प्रभाव पड़ता है। रक्तचाप अचानक गिर जाता है। अमरोली के प्रयोग से रक्त संस्थान स्वस्थ रहता है।[१, २] वैज्ञानिक शोधों ने यह प्रस्तुत कर दिया है कि अमरोली (शिवा-म्बु) में चौबीस (२४) प्रकार के हारमोन्स है ।"

अमरोली का विशिष्ट प्रयोग विधि

" हे पार्वती । अब सिद्धि देने वाली क्रियाएं कहता हूं और शास्त्र जानने वालों द्वारा विचारपूर्वक बताये पात्र बताता हूं । स्वर्ण, रजत , ताम्र, कांसा, पीतल, लोहा, जस्ता, मिट्टी, कांच, वेणु (बांस) , बेंत, शंख, लकड़ी, चमड़ा और पत्तों का बना हुआ पात्र हो । इनमें से किसी भी प्रकार के पात्र में साधक शिवाम्बु का धारण करे । हे देवि । मिट्टी का उत्तम तथा ताम्र धातु का पात्र सर्वोत्तम है ।[३]

खारे (क्षारयुक्त) कड़वे, तिक्त पदार्थ न

१- ह० र० पृ० १३४

२- बिहार स्कूल आफ योग पोस्टम १६ नं० १ पृ० ३६ व ३७

३- आरोग्य का अमूल्य साधन शिवाम्बु पृ० ३५१ से ३५२

करने वाला अमरोलि , सुपाच्य एवं सात्त्विक भोजन करने वाला जितेन्द्रिय साधक रात को भूमि पर सो जाय । चतुर्थ प्रहर में उठकर निर्मोही तथा उत्साहयुक्त वाला साधक पूर्व दिशा की ओर मुख करके शिवाम्बु उत्सर्ग करे और आदि अन्त की धारा को छोड़कर मध्य धारा ग्रहण करे । शिवाम्बु पान की यह उत्तम विधि है । ऐसे लिये । जैसे साँप के मुँह में और पूँछ में जहर होता है वैसे ही मूत्र धारा के विषय में यह बात प्रसिद्ध है । शिवाम्बु दिव्य अमृत है बुढ़ापा एवं रोग नाशक है। महा-योगी उसका पान करके अपनी साधना करे ।"

हठयोग में अमरोली प्रक्रिया एक शरीर को निरोग करने तथा स्वस्थ रखने के लिए एक चमत्कारिक विधि है । यह शरीरगत समस्त परमाणुओं का मार्जन कर देती है। यह एक दिव्य रसायन है ।

शक्ति-चालिनी-मुद्रा

वशिष्ठ योग में शक्तिचालिनी मुद्रा

" वज्रासन से बैठकर दोनों नथुनों से पूरक करके अन्दर अपान के साथ मिला दें । जब प्रयत्न करें कि उपरगत वायु सुषुम्ना के अन्दर प्रवेश करने लगे, उसके लिए अश्विनी मुद्रा अर्थात् गुदा का संकोच-विकास करे । गुदा को ऊपर खींचे फिर ढीला छोड़ दिया करें इस क्रिया से प्राण का प्रवेश सुषुम्ना में होने लगता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है ।[1] "

शिव संहिता में शक्तिचालिनी मुद्रा

" मूलाधार कमल में सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को बुद्धिमान साधक अपान वायु पर आरूढ़ होकर अर्थात् अपान को बलपूर्वक आक-

---

१- वशिष्ठ योग ३ पृ० ३२७

चालित कर चलावें। इस शक्तिचालिनीमुद्रा को जो प्रतिदिन करता है उसकी आयु की वृद्धि होती है तथा समस्त रोगों का इस मुद्रा से नाश होता है।[1] "

<u>गोरक्ष पद्धति में शक्ति चालिनी मुद्रा</u>

"वज्रासन करके हाथों से पैरों की एड़ी पकड़ कर कंद स्थान को गुल्फों से लगाकर पीड़ित करे तथा नाभि स्थान (सूर्य) को आकुंचन कर कुण्डली को चलावे इसका पूर्ण अभ्यास होने पर मृत्यु का भय नहीं है। चार घड़ी[2] निर्भय होकर शक्ति चालन करे तो कुण्डलिनी सुषुम्ना में प्रवेश करने लगती है।"

<u>ह० र० में शक्तिचालिनी मुद्रा</u>

" एक आसन से बैठकर दोनों हाथों को भूमि पर रखें, अंगुली आगे की ओर तथा अंगूठा पीछे की ओर करें तथा दायें नासा छिद्र से पूरक करके बारह अंगुल लम्बी ४ अंगुली चौड़ी शक्ति नाड़ी को अंगुली की सहायता से बायें से दायें घुमावें।[3] निर्भय होकर दो मुहूर्त पर्यन्त घुमाने से कुण्डलिनी सुषुम्ना में चली जाती है। "

<u>ह० प्र० में शक्तिचालिनी मुद्रा</u>

"कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली और अरुन्धती ये सभी शब्द कुण्डलिनी के पर्यायवाची हैं। जिस प्रकार कुंजी द्वारा हठपूर्वक कपाट को खोला जाता है उसी प्रकार हठयोग

१- शिव संहिता ४।१०५-१०६

२- गोरक्ष पद्धति पृ० २६

३- ह० र० २।१११ से ११४ तक

के अभ्यास से योगी कुण्डलिनी शक्ति से मोक्ष के द्वार को खोलता है। जिस मार्ग से निरामय- दुःखरहित ब्रह्म स्थान- ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश किया जाता है, उसी सुषुम्णा द्वार को आवृत कर परमेश्वरी कुण्डलिनी कन्द के ऊर्ध्व भाग में सोयी रहती है, यह योगियों को मोक्ष प्रदान करती है, अज्ञानियों के लिए बन्धनकारिणी है। जो उसे जानता है, वही योग का ज्ञाता है।[1] **

कुण्डलिनी शक्ति का आकार सर्प के तुल्य है, यह शक्ति जिसके द्वारा चालित- प्रबुद्ध की जाती है, वह योगी मुक्त है, अन्यथा नहीं। गंगा (इड़ा नाड़ी) और यमुना (पिंगला नाड़ी) के मध्य में बालरण्डा तपस्विनी के समान कुण्डलिनी स्थित है। उसे बलात् करना परमपद की प्राप्ति है।

सोयी हुई सर्पिणी कुण्डलिनी को पूंछ पकड़ कर जगाना चाहिए। वह निद्रा को त्याग कर ऊर्ध्वमुख जाकर स्थित हो जाती है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी दक्षिण नासा से वायु खींचते हुए कुम्भक की विधि से पूर्वाह्न और अपराह्न के समय डेढ़ डेढ़ घण्टे तक परिधान युक्ति से परि- चालित (प्रबोधित) करे।

मूलस्थान से एक वितस्ति ऊपर चार अंगुल चौड़ा कन्द का स्थान है। यह कोमल और श्वेत है, लपेटे हुए वस्त्र के समान है। (साधक को) वज्रासन में स्थित होकर दोनों पैरों की एड़ियों के पास हाथों से गुल्फों को पकड़ कर उस कन्द का प्रपीडन करे। उस वज्रासन में बैठकर शक्ति चालन करते हुए योगी को भस्त्रा-कुम्भक प्राणायाम कर कुण्डलिनी को जगाना चाहिए। **

** भावार्थ- देह में स्थित सूर्य का आकुंचन करे।

१- ह० प्र० ३।९५ से १११ तक

इस तरह कुण्डलिनी शक्ति का चालन करे। जिससे योगी को मृत्यु का भय नहीं रहता। दो मुहूर्त शक्ति का चालन करने से कुण्डलिनी सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर कुछ ऊपर की ओर खिंच जाती है। ऐसा करने से कुण्डलिनी मुख द्वार से उसके अन्दर प्रवेश करती है प्राणवायु स्वयं सुषुम्ना में चली जाती है।[1] ''

इस अरुन्धती (कुण्डलिनी) का भी सुख से होती है, नित्य चालन करना चाहिए। जिससे योगी रोगों से छुटकारा पा जाता है। जो योगी कुण्डलिनी को चलायमान कर लेता है, वह अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है, अधिक क्या कहा जाय वह देह में ही काल को वश में कर लेता है।

जो (साधक इन्द्रियों को वश में रखकर) ब्रह्मचर्य का पालन करता है व उचित आहार-विहार का सेवन करता है, वह शक्ति चालन मुद्रा का अभ्यास करने वाला योगी एक मण्डल (४० दिन) में ही सिद्धि युक्त हो जाता है। कुण्डलिनी का चालन कर योगी को विशेष रूप से भस्त्रा कुम्भक का नित्य अभ्यास करना चाहिए, जिससे इसे यम (काल) का कोई भय नहीं रहता। मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

'' बिना कुण्डलिनी चालन किये (शरीर में स्थित) ७२ हजार नाड़ियों के मल शोधन के लिए उनके प्रक्षालनार्थ अन्य कोई उपाय ही नहीं है। योगियों के दृढ़ अभ्यास से आसन प्राणायाम और मुद्राओं के द्वारा मध्यमा नाड़ी सहज हो जाती है अर्थात् कुण्डलिनी के प्रवेश के लिए सुषुम्ना मार्ग के रूप में प्रशस्त हो जाती है।[2] ''

अभ्यास के समय मन को समाधि में लीन करने

१- ह० प्र० ३।११२- ११८ तक

२- ह० प्र० ३।११९-१२४ तक

पर निरालम्बित अवस्था में साधक को रुद्राणी, शाम्भवी, अथवा उन्मनी अवस्था सुख- सिद्धिकारिणी एवं सिद्धि प्रदान करती है।

राजयोग के बिना पृथ्वी (आसन) निशा (कुम्भक प्राणायाम) और मुद्रा (विलक्षण होने पर भी) शोभित नहीं होती। साधक को प्राणायाम की सभी विधियों को मनोयोगपूर्वक अभ्यास करना चाहिए तथा साधक को मन की वृत्ति को अन्य विषय में नहीं लगानी चाहिए।

आदिनाथ शिव जी ने इन दस मुद्राओं का प्रका- शन किया है, इनमें से प्रत्येक मुद्रा योगी को महासिद्धि प्रदान करने वाली है। जो योगी मुद्राओं का साम्प्रदायिक (गुरु परम्परा से) उपदेश प्रदान करता है, वही वास्तव में गुरु है, वही स्वामी है, वही ईश्वर स्वरूप है। साधक उस गुरु के वचन का अनुवर्ती होकर मुद्राओं का सावधानी से अभ्यास कर अणि- मादि सिद्धियों की प्राप्ति करते हुए मृत्यु का वंचन करता है।"

ह० प्र० में शक्तिचालिनी मुद्रा

" मूलाधार में कुण्डलिनी साढ़े तीन वल लपेट कर सर्पिणी के रूप में सोयी है। उसकी सुप्तावस्था में योगी अज्ञानावस्था में रहता है, जब तक ज्ञान न हो जाय तब तक अभ्यास करते रहना चाहिए। जैसे कुंजी से ताला खुलने पर कपाट खुल जाते हैं, वैसे ही कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर ब्रह्मरन्ध्र खुलता है। नाभि को वस्त्र से लपेट कर एकान्त में इसका अभ्यास करे। नग्नावस्था में इसका अभ्यास निषिद्ध है।[1]

बालिश्त भर लम्बा, चार अंगुल चौड़ा सफेद मुलायम वस्त्र नाभि पर रखकर कटिसूत्र से बांध दे। शरीर में भस्म लेपन कर

१- ह० प्र० ३।४० से ४६ तक

सिद्धासन से बैठकर, प्राण को खींचकर अपान से मिलावे, जब तक सुषुम्ना द्वार से वायु गमन करती हुई, प्रकाशित न हो तब तक अश्विनी मुद्रा से गुदा का आकुंचन करता रहे। इस प्रकार श्वसन क्रिया रुकने से कुम्भक के प्रभाव से सर्पाकार कुण्डलिनी जाग्रत होकर मार्ग में खड़ी हो जाती है, इस शक्ति चालिनी मुद्रा के बिना योनि- मुद्रा सिद्ध नहीं होती है। शक्ति चालिनी मुद्रा के पश्चात् ही योनि मुद्रा का अभ्यास करे। हे चण्डकापालि। इस मुद्रा को गोपनीय रख कर प्रतिदिन अभ्यास करे।

"यह परम गोपनीय एवं जरा-मृत्यु को नष्ट करने वाली है। सिद्धि की आकांक्षा वाले योगियों को इसका नित्य प्रति अभ्यास करना चाहिए। इससे विग्रह सिद्धि सहित सभी सिद्धियां प्राप्त होती हैं तथा समस्त रोगों का नाश होता है।[१]"

ह० प्र० एवं घे० सं० दोनों ही ग्रन्थों में कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने के लिए आसन, प्राणायाम तथा परिधान को आधार मानते हैं किन्तु फिर भी दोनों में निम्न भिन्नता है -

ह० प्र० में वज्रासन, भस्त्रिका कुम्भक, प्राणायाम

१- इयं परमगोप्या जरामरण नाशिनी।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः॥
नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता।
तस्य विग्रह सिद्धिः स्याद् रोगाणां संक्षयो भवेत्॥
- घेरण्ड संहिता ३।५९ व ६०, संस्कृति संस्थान एवं श्री पीताम्बर पीठ, दतिया से प्रकाशित घे० सं० में श्लोक अतिरिक्त प्राप्त है।

नाभि पर परिधान प्रमाण १ वितस्ति लम्बा ४ अंगुल चौड़ा । प्रतिदिन २ मुहूर्त अभ्यास का समय, ४० दिन (एक मण्डल) में सिद्धि प्राप्त की अवधि । एकान्त स्थान में गुप्त अभ्यास एवं अंग प्रक्षालित करना ।

घे० सं० में- सिद्धासन, भस्त्रा प्राणायाम, नाभि पर एक वितस्ति लम्बा चार अंगुल चौड़ा परिधान । अश्विनी मुद्रा से एकान्त में अभ्यास । योनिमुद्रा को शक्ति चालिनी मुद्रा का अंग स्वीकार किया है ।

दोनों ग्रंथों की मूल प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं है । दोनों का मुख्य उद्देश्य कुण्डलिनी को जाग्रत करना है। ह० प्र० में शक्ति- चालिनी मुद्रा के लिये चालि शब्दों का उल्लेख बार बार किया है तथा मुद्रा की प्रक्रिया के प्रकरण में राजयोग प्रकाश और कुण्डलिनी के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग औचित्यपूर्ण नहीं।[1] राजयोग प्रकाश में " पुच्छी " को आसन तथा " शिखा " को प्राणायाम के प्रतीक में प्रयोग करना उपयुक्त नहीं है। इस प्रकरण में क्रियात्मक स्तर, भाषा की स्पष्टता ही प्रयोग की जानी अपेक्षित है, जिससे साधक को भ्रम उत्पन्न न हो।[2]

ताडागी मुद्रा

घे० सं० में ताडागी मुद्रा

" पश्चिमोत्तान आसन लगाकर बैठें और उदर को तड़ाग के समान विस्तृत करें। यह ताडागी मुद्रा जन्म-मरण को नष्ट करने वाली है।[3] "

इस ताडागी मुद्रा का ह० प्र० तथा अन्य ग्रंथ

१- ह० प्र० ३।१००

२- ,, ३।१२२

३- घे० सं० ३।६०

योग ग्रन्थों में उल्लेख नहीं है। इस मुद्रा की पूर्ति पश्चिमोत्तान आसन में उड्डियान बन्ध से की जाती है।

माण्डुकी मुद्रा

घे० सं० में माण्डुकी मुद्रा

" मुख को बन्द करके तालु में जिह्वा को घुमाना चाहिए। (जिह्वा सहस्रार से टपकते हुए) सुधारस का शनैः शनैः पान करे। यह माण्डुकी मुद्रा कहलाती है। इसके अभ्यास से वलीपलित रोग, बालों का श्वेत होना दूर होता है। नित्य यौवन की प्राप्ति होती है।[1] "

माण्डुकी मुद्रा का उल्लेख ह० प्र० में नहीं है। इसकी पूर्ति खेचरी या नभो मुद्रा से की जाती है।

घेरण्ड संहिता की पंचधारणाएं

घे० सं० में पंचधारणा प्रक्रिया

" घेरण्ड ऋषि का कथन है कि पंच धारणाओं के सिद्ध होने पर ऐसा कौन सा कार्य है जो कि सिद्ध न हो सके। इन धारणाओं के सिद्ध होने से मनुष्य का शरीर से ही स्वर्ग में आना जाना होता है। मनुष्य इससे मनोगति और खेचरीत्व को पा सकता है।[2] "

योगतत्त्वोपनिषद् में पंच धारणा

" जिसका चित्त वायु के सहित सुषुम्ना में

१- घे० सं० ३।५१-५२

२- घे० सं० ३।५७-५८

प्रवेश कर जाता है उसके लिए पृथ्वी , जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंच महाभूत रूपी देवताओं की पंच प्रकार की धारणा की जाती है।[1]"

पार्थिवी धारणा

योगतत्त्वोपनिषद् में पार्थिवी

"(शरीर में) पैरों से जानु पर्यन्त पृथ्वी का स्थान है। पृथ्वी चारकोण वाली पीत वर्ण की " लं " अक्षर युक्त है। पृथ्वी तत्त्व में वायु का आरोप करके और " लं " को उसमें युक्त करके स्वर्ण के समान वर्ण वाले चतुर्भुज ब्रह्मा का ध्यान करने से पृथ्वी तत्त्व जय हो जाता है।[2]"

घे० सं० में पार्थिवी

" पृथ्वी तत्त्व का वर्ण हरताल के समान पीत " लं " चौकोर आकार और ब्रह्मा देवता है। योग बल से इसे उदय कर हृदय- देश में धारण कर, पांच घड़ी प्राण का निरोध पूर्वक कुम्भक करे। इसे पृथ्वी मुद्रा कहते है। इसे ही अधो धारणा मुद्रा भी कहते हैं। इसके सिद्ध होने पर योगी पृथ्वी जय होता है। जो नित्य पृथ्वी तत्त्व पर धारणा करता है, वह मृत्यु को जीत कर सिद्ध होकर पृथ्वी पर विचरण करता है।[3]"

आम्भसी धारणा

योगतत्त्वोपनिषद् में जल सम्बन्धी धारणा-

" जानु से गुदा स्थान तक जल तत्त्व का स्थान

१- योगतत्त्वोपनिषद् पृ० ८३ व ८४

२- ,, पृ० ८५ व ८६

३- घे० सं० ३। ७०

है। जहाँ चन्द्र के रूप में " व " बीज पाता है। इस जल तत्त्व में वायु का आरोप करके " व " को समन्वित करे और चतुर्भुज किरीटधारी शुद्ध स्फटिक के समान पीत वस्त्र धारण किये हुए भगवान् नारायण का ध्यान करे। इस प्रकार पाँच घड़ी तक करने से सभी पापों से मुक्त हो जाता है।[1] ""

घे० सं० में जल तत्त्व की धारणा- " जल का वर्ण शंख, चन्द्र, कुन्द के समान शुभ्र है। " व " इसका बीज, देवता विष्णु है। योगबल से हृदय में इसे एकाग्रचित्त से पाँच घड़ी तक कुम्भक द्वारा धारण करे। इसे आम्भसी धारणा कहते हैं। इसके अभ्यास से असह्य पीड़ा नष्ट हो जाती है।[2]

आग्नेयीधारणा

योगतत्त्वोपनिषद् में आग्नेयी धारणा

"" गुदा से हृदय तक वह्नि का स्थान है। वह्नि तीन कोण वाला रक्त वर्ण " र " अक्षर युक्त है। वह्नि में वायु का आरोप करके और " र " अक्षर को समन्वित करके तीन नेत्र वाले वर दायक तरुण आदित्य के समान प्रकाशमान सर्वांग में भस्म रमा कर प्रसन्न मन से भगवान् रुद्र का पाँच घड़ी ध्यान करे।[3] वह वह्नि द्वारा भी भस्म नहीं किया जा सकता। ""

१- घे० सं० ३।५९

२- घे० सं० ३।६०

३- योगतत्त्वोपनिषद् पृ० ६१ से ६४ तक

घे० सं० में आग्नेयी धारणा

" वह्नि नाभि में स्थित है। इसका वर्ण इन्द्र-गोप कीड़े के तुल्य है। " र " अक्षर इसका बीज है। आकृति त्रिकोण है, रुद्र इसका देवता है। यह तत्त्व तेज: पुंजमय दीप्तिवान और सिद्धिप्रद है। योग से इसे जयकर चित्त की एकाग्रता से पांच घड़ी तक कुम्भक करके प्राण को धारण करे। इसे आग्नेयीधारणा कहते हैं। इसका अभ्यास होने पर काल-भय नष्ट हो जाता है और इसके अभ्यासी को वह्नि से मृत्यु नहीं होती। इसे वैश्वानरी धारणा भी कहते हैं।[1] "

वायवीय धारणा

योगतत्त्वोपनिषद् में वायवीय धारणा

" हृदय से भ्रुकुटियों तक वायु का स्थान है। यह छ: कोण का कृष्ण वर्ण वाला " य " अक्षर युक्त है। मरुत् स्थान में " य " अक्षर के सहित सर्वत्र विश्वोन्मुख ईश्वर का ध्यान करे। पांच घड़ी तक ऐसा करने से वायु गमन की शक्ति प्राप्त होती है और साधक वायु से मृत्यु को प्राप्त नहीं होता।[2] "

घे० सं० के अनुसार वायवीय धारणा

" वायु का रंग अंजन और धुएं के समान काला होता है। इसका बीज " य " और देवता ईश्वर है। यह तत्त्व सत्त्वगुण वाला है। योग बल से इसका आविर्भाव होने पर एकाग्र चित्त से कुम्भक द्वारा पांच घड़ी तक प्राण वायु को धारण करे। इस वायवीय धारणा नाम की मुद्रा के अभ्यास से साधक को आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है।[3] "

" यह मुद्रा जरा- मृत्यु को दूर करती है। वायु

१- घे० सं० ३।६१

२- योगतत्त्वोपनिषद् ६८ से १०२ तक

३- घे० सं० ३।६२

से साधक की मृत्यु नहीं होती, और आकाश गति प्राप्त होती है। भक्तिहीन शठ को यह नहीं देना चाहिए। हे षण्मुख। ऐसा करने पर सिद्धि की हानि होती है, यह मैं सत्य कहता हूँ।[1] "

आकाशी धारणा

योगतत्त्वोपनिषद् के अनुसार

" भ्रूमध्य से मूर्धान्त पर्यन्त आकाश का स्थान है। व्योम वृत्ताकार धूम्र वर्ण का तथा " ह " अक्षर से प्रकाशमान है। आकाश तत्त्व में वायु का आरोप करके भगवान् शंकर का ध्यान करें। शंकर सदाशिव ही बिन्दुरूप महादेव एवं व्योमाकार हैं। ये सब कार्यों से उत्पन्न सभी गुणों से विभूषित पार्वती के अर्धांग सदाशय एवं सभी कारणों के कारण हैं। आकाश की धारणा उन्हीं करने से अवश्य ही आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है। उसका वास कहीं भी रहे, वह प्रमोद से अत्यन्त सुखी रहता है।[2] "

पै० सं० के अनुसार

" आकाश तत्त्व का वर्ण विद्युत समान वह

१- पै० सं० ३।७८ व ७९
श्री पीताम्बर पीठ संस्कृत परिषद् दतिया तथा संस्कृति संस्थान बरेली से प्रकाशित पै० सं० में अतिरिक्त उपलब्ध।

२- योगतत्त्वोपनिषद् ९८ से १०२ तक

मनुष्य के ललाट में केवल " ह " शेष है। प्राण संयमपूर्वक यदि यहाँ तक कुम्भक करते है उसकी सिद्धि होती है उसकी सिद्धि से कैवल्य और मुक्ति प्राप्त होती है।[१] "

" जो योगीश्वर आकाशी धारणा की साधना [illegible] जो होती है प्रलय में भी उसे क्लेश नहीं होता।[२] "

अश्विनी- मुद्रा

घे० सं० में अश्विनी मुद्रा

" गुदा द्वार का बार बार संकोच और प्रसारण करे। यह अश्विनी मुद्रा कहलाती है।[३] "

" यह मुद्रा गुदा रोगों को नष्ट करने वाली, शारीरिक शक्ति बढ़ाने वाली तथा अकाल मृत्यु का हरण करने वाली है।[४] "

ह० प्र० में अश्विनी मुद्रा का उल्लेख नहीं है।

पाशिनी मुद्रा

घे० सं० के अनुसार पाशिनी मुद्रा

" दोनों पैरों को कण्ठ के पीछे की ओर ले

१- घे० सं० ३।८१

२- घे० सं० ३।८०-८१ श्री पीताम्बर पीठ दतिया(म० प्र०) एवं संस्कृति संस्थान, बरेली से प्रकाशित घे० सं० में अतिरिक्त।

३- घे० सं० ३।८२

४- ,, ३।८३ ,, ,, ,,

बांधकर उन्हें परस्पर मिलाकर पाश के समान दृढ़ बंध करे यदि, यह पाशिनी मुद्रा कही है, यह शक्ति को जाग्रत करती है।[1] "

" यह श्रेष्ठ मुद्रा है, यह पुष्टि चाहने वाले योगी को यत्नपूर्वक इसकी साधना करनी चाहिए।[2] "

यह पाशिनी मुद्रा प्रक्रिया घे० सं० की [illegible] के तुल्य है। ह० प्र० में इसका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

काकी मुद्रा

घे० सं० के अनुसार

" मुख कौए की चोंच के समान करके उससे धीरे धीरे वायुपान करे। यह सभी रोगों को नष्ट करने वाली काकी मुद्रा है।[3] "

" यह परम मुद्रा को सब प्रकार से गुप्त रखना चाहिए। इस मुद्रा के अभ्यास से कौए के समान रोग रहित रहता है।[4] "

घेरण्ड ने इस मुद्रा का उल्लेख आवश्यक किया है, क्योंकि " वातसार धौति " में भी इसकी प्रक्रिया वर्णित की है।[5]

ह० प्र० में इस मुद्रा का उल्लेख नहीं है।

१– घे० सं० ३।८४

२– घे० सं० – संस्कृति संस्थान बरेली व श्री पीताम्बर पीठ दतिया से प्रकाशित ३।८५ घे० सं० में अतिरिक्त वर्णन

३– घे० सं० ३।८६

४– " ३।८७ " "

५– " ३।१५

मातंगिनी- मुद्रा

घे० सं० के अनुसार

"जल में कण्ठ पर्यन्त खड़े होकर नासिका से जल खींचकर मुख द्वार से बाहर निकाल दे। फिर मुख के द्वारा जल खींच कर नासिका द्वारा निकाले। इसका अभ्यास बार बार करना चाहिए। यह मातंगिनी नाम की परम मुद्रा है, जिसके सिद्ध होने पर जरा मरण का भय नहीं रहता।[१]"

इस मुद्रा को एकान्त स्थान में एकाग्र चित्त से करना चाहिए। इसके सिद्ध होने पर मातंगी हाथी के समान बलवान हो जाता है और सदा सुखी रहता है इस मुद्रा को यत्नपूर्वक करना चाहिए।[२]"

भुजंगिनी मुद्रा

घे० सं० की विधि

मुख को फैलाकर कण्ठ से वायु का पान करे। यह भुजंगिनी मुद्रा कहलाती है इसके सिद्ध होने पर जरा- मृत्यु का नाश होता है। इससे अजीर्णादि सभी उदर रोग नष्ट हो जाते हैं।[३]"

मुद्राओं की विशिष्टता

" हे चण्डकापालि! यह जो मुद्रा वर्णन की है कहा है, यह जरा-मृत्यु का नाशक और सभी सिद्ध पुरुषों को प्रिय है। यह

१- घे० सं० ३।८८ व ८९

२- घे० सं० ३।९०-९१ संस्कृति संस्थान, बरेली से प्रकाशित घे० सं० में अतिरिक्त वर्णित

३- घे० सं० ३।९२-९३

अत्यन्त गोपनीय एवं देव- दुर्लभ पटल को भक्तिहीन शठ को कभी न प्रदर्शित करे और प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखे। यदि प्रदर्शित करना आवश्यक हो भी तो सरल, शान्त, गुरु भक्त अधिकारी को ही यह भोग और मोक्ष दायक पटल बताना चाहिए। यह सर्व रोग नाशक पटल नित्य अभ्यास करने वाले साधक के लिए जठराग्नि प्रदीप्त करने वाला और जरा मरण नाशक सिद्ध होगा। उसे अग्नि, जल, वायु आदि से किसी प्रकार का भय नहीं रहेगा। कास, श्वास, प्लीहा, श्लेष्मा आदि बीस प्रकार के रोग इन मुद्राओं के अभ्यास से अवश्य नष्ट हो जाते हैं ये सत्य। अधिक क्या कहूँ इन मुद्राओं के समान सिद्धि दायक कोई अन्य साधन भूमण्डल पर नहीं है।[1]

मुद्राओं की संख्या

मुद्राओं की संख्या के विषय में घेरण्ड तथा स्वात्माराम के अलग अलग विचार हैं। स्वात्माराम ने ह० प्र०[2] में दस (१०) मुद्राओं का उल्लेख तृतीय उपदेश में किया है तथा वज्रोली के साथ सहजोली[3] व अमरोली[4] मुद्राओं को भी बताया है। इसके अतिरिक्त शाम्भवी[5] व उन्मनी[6] मुद्राओं का उल्लेख मुद्रा- पटल (तृतीयोपदेश) में न करके समाधि प्रकरण (चतुर्थोपदेश) में किया है। इस प्रकार ह० प्र० में कुल मिलाकर पन्द्रह (१५) मुद्राओं का उल्लेख एवं उनसे होने वाले शारीरिक और आध्यात्मिक लाभों को बताया है।

घे० सं०[7] में मुद्राओं की संख्या पच्चीस निर्धारित

१- घे० सं० ३/९४ से १०० तक - संस्कृति संस्थान, बरेली से प्रकाशित घे० सं० में मुद्राओं की विशेषता का उल्लेख अतिरिक्त उपलब्ध होता है।

२- ह० प्र० ३/६

३- ,, ३/९०

४- ,, ३/९३-९४

५- ,, ४/३५

६- ,, ४/३६

७- घे० सं० ३/१-३ तक

की है। इन पच्चीस मुद्राओं के अन्तर्गत तीन बन्ध और पाँच धारणाओं को भी सम्मिलित किया है। वस्तुतः घेरण्ड की पंच धारणाएं मुद्रा नहीं है, यह तो साधना के उच्च स्तर में ध्यान की पाँच प्रकार की अलग अलग भूमिकाएं हैं, जिन्हें मुद्रा कहना उपयुक्त नहीं। इसके अतिरिक्त तड़ागी, माण्डुकी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगिनी व भुजंगिनी आदि सात मुद्राएं अन्य हठयोग क्रियाओं के नाम परिवर्तन कर पुनरावृत्ति मात्र हैं।

खेचरी

खेचरी की ह० प्र० एवं घेरण्ड संहिता की समान प्रक्रिया है। किन्तु खेचरी सिद्ध करने के लिए स्वात्माराम[1] ने थूहड़ पत्ते के समान तेजधार वाले स्वच्छ और चिकने शस्त्र से जिह्वामूल की नाड़ी शनैः शनैः रोम मात्र छेदन अर्थात् काटने के लिए उल्लेख किया है तथा उस कटे स्थान पर सेंधा नमक व हल्दी का चूर्ण लगाने की प्रक्रिया बतायी है। घेरण्ड[2] ने किसी तेजधार वाले शस्त्र का खेचरी के छेदन क्रिया में उल्लेख नहीं किया है, किन्तु [illegible] एवं मक्खन लगाकर दोहन करके लोहे की चिमटी से खींचने का निर्देश किया है।

मानव देह में जिह्वा एक कोमल एवं मुख्यांग है जिसके रोम मात्र अधिक कट जाने से जिह्वा छेदन घातक सिद्ध हो सकता है। इसलिए छेदन क्रिया करने में विशेष सावधानी रखनी चाहिए तथा इसके जो विशेषज्ञ हैं उनसे ही छेदन कर्म कराना उचित है। किन्तु इसके विशेषज्ञ आज संसार में कम ही मिलते हैं। कभी भी असावधानी के कारण छेदन क्रिया में वाक् शक्ति संचारित करने वाली नाड़ी भी जिह्वा मूल से छीलकर जाती है और कट सकती है। इसलिए काटने की प्रक्रिया बहुत प्राचीन हो चुकी है। काटने की अपेक्षा जिह्वा मूल का घर्षण किया जाय तो आशातीत लाभ होगा।

१- ह० प्र० ३।३२

२- घे० सं० ३।२९

खेचरी मुद्रा[1] के अभ्यास की आवश्यकता पर स्वात्माराम ने उल्लेख किया है कि " जो नित्य गोमांस भक्षण करता है- जिह्वा को तालुरन्ध्र में प्रवेश कर अमरवारुणी पीता है- अजरामर है प्रतिदिन चन्द्रामृत का पान करता है। उसी को मैं (स्वात्माराम) कुलीन समझता हूँ। अन्य तो कुल घातक है।

स्वात्माराम तथा घेरण्ड दोनों ही खेचरी को सभी मुद्राओं में सर्वोपरि स्वीकार करते है। ह० प्र० में खेचरी की प्रशंसा की पुनरावृत्ति की गई है।

शाम्भवी मुद्रा

शाम्भवी की विधि एवं उसके परिणाम[2] ह० प्र० एवं घे० सं० दोनों ग्रन्थों में समान रूप से है। स्वात्माराम तथा घेरण्ड[3] ने शाम्भवी को कुल वधू के समान गुप्त रखने का निर्देश किया है। घेरण्ड[4] ने शाम्भवी मुद्रा जानने वाला " आदिनाथ ", " नारायण ", " सृष्टिकर्ता " तथा ब्रह्मस्वरूप भी बताया है।

शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास कष्ट साध्य है। हठयोगी को इसका अभ्यास सावधानी से करना चाहिए। शाम्भवी से मस्तिष्क

१- गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥ ह० प्र० ३।४६

२- ह० प्र० ३।३५

३- घे० सं० ३।६५

४- घे० सं० ३।६५ से ६६ तक

एवं नेत्रों पर खिंचाव पड़ता है। इसलिए इसके अभ्यास से पूर्व त्राटक का अभ्यास कर लिया जाय तो लाभकारी होगा। शाम्भवी मुद्रा के अभ्यासी को नासिका एवं अपान शक्ति भी नहीं करनी चाहिए। जिन साधकों की नेत्र ज्योति कमजोर है अथवा नेत्र किसी अन्य कारण से रुग्ण हैं, उन्हें यह वर्जित है।

उन्मनी मुद्रा

ह० प्र० में उन्मनी मुद्रा प्रकरण में - न दिन में लिंग का पूजन करे और न रात में, दिन रात का निरोध होने पर सर्वदा लिंग का पूजन करे। यहाँ लिंग पूजन से तात्पर्य आत्म चिन्तन से है। दिन रात्रि से इड़ा- पिंगला नाड़ी के प्रवाह काल से है। इड़ा- पिंगला के प्रवाह काल में आत्म चिन्तन न करे तथा इनका निरोध करके सुषुम्ना के प्रवाह काल में आत्म-चिन्तन उचित[1] ठहराया है। सुषुम्ना के प्रवाहकाल में ही प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं।

त्रिकर्म

महामुद्रा

घे० सं० की महा मुद्रा अभ्यास में दृष्टि को भ्रूमध्य में रखने का निर्देश किया है- "भ्रूमध्ये निरीक्षयेत्[2]।"

ह० प्र० में - "कण्ठे बन्धं समारोप्य[3]" जालन्धर

१- दिवा न पूजयेल्लिंगं रात्रौ चैव न पूजयेत् ।
सर्वदा पूजयेल्लिंगं दिवारात्रि निरोधतः ।। ह० प्र० ४।४२

२- घे० सं० ३।४

३- ह० प्र० ३।१०

बन्ध लगाने की संस्तुति की है। ह० र०[1] में उल्लेख है कि घे० सं० की प्रक्रिया [illegible] के अनुसार भैरव परम्परा में प्रचलित है।

घेरण्ड के अतिरिक्त किसी ग्रन्थकार ने भ्रूमध्य में दृष्टि रखने के विषय में निर्देश नहीं किया है। स्वात्माराम ने महामुद्रा के विषय में विस्तृत रूप से उल्लेख किया है।

नभोमुद्रा

घे० सं०[2] में नभोमुद्रा अभ्यास में साधक प्रत्येक अवस्था में कुम्भक करके जिह्वा उलट कर रखे। यह स्थिति हठयोग की उच्च साधना में ही सम्भव है। सर्वसाधारण के लिए नभो मुद्रा का अभ्यास अत्यन्त कठिन है। इसका वर्णन अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है।

उड्डियानबन्ध, जालन्धर बन्ध एवं मूल बन्ध प्रक्रिया सभी ग्रंथों में एक समान है।

महाबन्ध

महाबन्ध में घेरण्ड ने बायें पैर को बायें पैर की एड़ी पर रखने तथा पूरक करके जालन्धर बन्ध लगाने का निर्देश किया है। स्वात्माराम ने बायें पैर को बायीं जंघा पर रखने तथा पूरक कुम्भक तथा शनैः रेचक करने का उल्लेख किया है। घेरण्ड कुम्भक का संकेत तो करते हैं किन्तु कोई निर्देश नहीं करते। महाबन्ध मुद्रा की स्वात्माराम की प्रक्रिया अधिक प्रभावी है।

१- ह०र० पृ० १२८

२- घे० सं० ३।७

महावेध

ह० प्र० कार[1] ने उल्लेख किया है- जिस प्रकार रूप लावण्य से युक्त स्त्री पुरुष के बिना निष्फल है, उसी प्रकार महामुद्रा तथा महाबन्ध महावेध के बिना व्यर्थ है, अर्थात् महावेध मुद्रा परमावश्यक है। घेरण्ड[2] ने महामुद्रा तथा मूलबन्ध, महावेध के बिना व्यर्थ है।

स्वात्माराम[3] ने महावेध के अभ्यास में महाबन्ध जालन्धर बन्ध, पुट्ठों का ताड़न तथा दिन में ८ (आठ) बार अभ्यास करने तथा घेरण्ड[4] ने महाबन्ध, उड्डियान बन्ध करके महावेध मुद्रा का अभ्यास करने के लिए उल्लेख किया है। घेरण्ड ने अभ्यास की कोई संख्या निर्धारित नहीं की है।

विपरीतकरिणी मुद्रा

आधुनिक हठयोगियों ने विपरीतकरिणी मुद्रा को शीर्षासन नाम दिया है, किन्तु विपरीतकरिणी मुद्रा और शीर्षासन में भिन्नता है। जिस आसन में सिर भूमि पर तथा शेष शरीर ऊर्ध्व स्थिति में हो उसे ही शीर्षासन नाम दिया जा सकता है, जैसे कपालासन, वृश्चिकासन, ऊर्ध्व पद्मासन आदि। किन्तु विपरीतकरिणी मुद्रा एक विशिष्ट मुद्रा है जिसमें सिर, हृदय, नाभि-केन्द्र तथा पैर सरल रेखा में समान रहेंगे। इस स्थिति में ही सहस्रार से टपकने वाला सुधारस नाभिकेन्द्र में नहीं आयेगा। इसलिए विपरीतकरिणी मुद्रा को शीर्षासन नाम देना उचित नहीं है।

१- ह० प्र० ३।२४

२- घे० सं० ३।१७

३- ह० प्र० ३।२५-२६

४- घे० सं० ३।१८-१९

विपरीतकरिणी घे० सं० और ह० प्र० की समान विधि है ।

योनिमुद्रा

योनिमुद्रा का दर्शनोपनिषद् में षण्मुखी मुद्रा नाम दिया है।[1] घे० सं० में उपलब्ध योनि मुद्रा के अध्याय में " काकीमुद्रा " भी सम्मिलित की है। घेरण्ड की योनि मुद्रा कुण्डलिनी जागरण हेतु तथा " ब्रह्म " के साथ लय करने के लिए विशिष्ट मुद्रा है। ह० प्र० में इसका उल्लेख नहीं है।

वज्रोली- मुद्रा

घे० सं० में प्रस्तुत वज्रोली मुद्रा ह० प्र० तथा हठयोगपरक ग्रन्थों से बिलकुल भिन्न है। ह० प्र० की वज्रोली विधि मुख्य रूप से स्त्री सम्भोग की ओर प्रेरित करती है, जो योगियों के लिए उचित नहीं है । जहाँ वज्रोली के द्वारा कुण्डलिनी जागरण का प्रश्न है वहाँ हठयोग के अन्तर्गत बहुत सी प्रक्रियाएं हैं जिनके द्वारा शक्ति स्फुरण होता है तो फिर मैथुन की क्या आवश्यकता है ? मैथुन विधि से तो शक्ति का क्षय होता है जबकि हठयोगियों को शारीरिक शक्ति की हर समय आवश्यकता है। ह० प्र० की वज्रोली प्रक्रिया से यह प्रतीत होता है कि इस सम्प्रदाय के हठयोगियों के मन में स्त्री सम्भोग के अंकुर वर्तमान थे । इसलिए उन्होंने इस भोग के प्रेय मार्ग को प्रशस्त किया । घेरण्ड की वज्रोली विशुद्ध प्रक्रिया है जिस पर कोई आक्षेप नहीं कर सकता ।

१- दर्शनोपनिषद् ६।३२ से ३५ तक

२- घे० सं० ३।३६ से ३८ तक

सहजोली व अमरोली

घे० सं० में सहजोली व अमरोली का वर्णन उप-लब्ध नहीं है। ह० प्र० की सहजोली वास्तविक परिस्थितियों में कहाँ तक व्यवहार किया जा सकता यह विचारणीय है। अमरोली " शिवाम्बु पान " शरीर को स्वस्थ रखने के लिए नीरोगतादायक तथा उसकी चमत्कारिता की अनुपम खोज है। शिवाम्बु पान से समस्त प्रकार के रोग समूल नष्ट होते हैं।

शक्तिचालिनी मुद्रा

ह० प्र० एवं घे० सं० दोनों ग्रन्थों में कुण्डलिनी शक्ति के उद्बोधन के लिए शक्ति चालिनी मुद्रा नाम की एक विशिष्ट मुद्रा का उल्लेख है। दोनों ग्रन्थों की प्रक्रिया में भिन्नता है।

हठप्रदीपिका के अनुसार

१- वज्रासन पर स्थित
२- भस्त्रिका कुम्भक प्राणायाम
३- एक वालिश्त लम्बा चार अंगुल चौड़ा परिधान नाभिकन्द पर प्रयोग
४- प्रतिदिन २ मुहूर्त का अभ्यास
५- एक मण्डल (४० दिन) में शक्ति जागरण की प्राप्ति
६- एकान्तवास एवं गुप्त अभ्यास
७- कन्द(सीवनी) नाड़ी का प्रताड़ित करना
८- ब्रह्मचर्य पालन तथा मिताहार प्रयोग
९- राजयोग प्राप्ति अनिवार्य

१- ह० प्र० ३।१०८ से १२१ तक

घेरण्ड संहिता के अनुसार

१- सिद्धासन प्रयोग

२- मूल प्राणायाम

३- एक चालित वस्त्र चार अंगुल चौड़ा परिधान नाभि केन्द्र पर प्रयोग हेतु

४- शक्तिनी मुद्रा के स्वरूप में अभ्यास

५- शक्ति चालिनी मुद्रा में योनि मुद्रा का प्रयोग आवश्यक

६- सम्यावस्था में रहकर अभ्यास[1]

अन्य मुद्राएं

घे० सं० की खेचरी, माण्डुकी, शाम्भवी, पाशिनी, काकी, मातंगिनी, भुजंगिनी, मुद्राओं की धौति, बस्ति, एवं मुद्राओं की प्रक्रिया में हेर फेर अथवा नाम परिवर्तन संख्या बढ़ाने के लिए मुद्रा पटल में सम्मिलित किया है।

इसी अध्याय में प्रत्याहार का योग में स्थान, प्रत्याहार के लक्षण, प्रत्याहार की विधि, प्रत्याहार साधना का परिणाम आदि का उल्लेख करने का प्रयास करेंगे।

———०००———

१- घे० सं० ३।४० से ४६ तक

क्वणत्काञ्चीति। क्वणत् काञ्चीदाम यस्याः सा क्वणत्काञ्चीदामा, डाबन्तः। करिकलभकुम्भस्तनभरा। करिशब्दोऽत्रोपरञ्जकः; यथा—स्तनचूचुकमिति। कलभशब्देनैव करिशावकस्य प्राप्तत्वात्। अथ वा, करिषु कं प्रकाशं लभत इति करिकलभः करिवर इति यावत्। तस्य कुम्भौ तयोरिव स्तनभरौ यस्याः सा। परिक्षीणा मध्ये; क्षाममध्या, राकाशशाङ्कानना, ऐक्षवं धनुः पुष्पमयबाणान् पाशं सुवर्णमयम्, सुवर्णमयमङ्कुशं च धारयन्ती। तदुक्तं **मनोरमायाम्**—"सौवर्णौ पाशाङ्कुशौ वामदक्षिणकरयोर्ध्येयौ" इति। अधस्तनकरयोर्वामदक्षिणक्रमेण धनुर्बाणा ध्येयाः। उपरितनयोः वामदक्षिणक्रमेण पाशाङ्कुशौ ध्येयौ। केषांचित्संप्रदाये शक्तीनां दक्षिणवामकरयोगेन पाशाङ्कुशौ ध्येयौ; अन्येषां च वामदक्षिणक्रमेणेति। पुरस्तादास्तां नः प्रत्यक्षा भवतु। प्रार्थनायां लोट्। पुरमथितुराहोपुरुषिका; अहोपुरुषशब्दाद् वुञि कृते शब्दोऽयं सिद्धः। दर्पातिशयसंभावना; "आहोपुरुषिका दर्पाद्या स्यात्संभावनात्मनि" इत्यमरः। त्रिपुरं दिधक्षुः दर्पातिशयेन आत्मनि तृणप्रायमेतत्त्रिपुरमिति यान् संभावनादीन् कृतवान् सा भवल्लक्षणा पुरस्तादास्तां नः। पुरारेर्या अकुण्ठिता शक्तिः सा त्वमेव, त्वद्युक्तः सर्वत्र प्रभवति इति 'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति' इति पूर्वोक्तार्थः स्मारितः। न इति बहुवचनं संतोषातिशयेनात्मनो गौरवख्यापनार्थम्। इति सप्तमपद्यार्थः॥ ७॥

ध्यानमुक्तम्; कुत्र ध्येयाहमित्यत आह—

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्॥ ८॥

सुधासिन्धोरिति। अमृताम्बुधिमध्ये कल्पवृक्षवाटिकावृते कदम्बोपवनयुते नवरत्नखचितद्वीपे चिन्तामणिघटितकुड्यस्तम्भप्राकारतोरणादिमण्डितगृहे शिवाकारभाजि मञ्चे, सदाशिव एव मञ्चीभूत इत्यर्थः। तथा मञ्चचरणीभूतविधिहरिरुद्रेश्वरविलसिते मञ्चीभूते सदाशिवे परमासने परमशिवपर्यङ्कनिलयां परमशिवः गुणातीतः सकल-

प्रपञ्चसाक्षी सच्चिदानन्दसुन्दरः तवेक्षया (त्वदपेक्षया) पर्यङ्कतां प्राप्त इत्यर्थः। तत्र निषण्णां त्वां धन्याः कतिपये पश्चिमजन्मानः चिदानन्दलहरीं परमां शिवाविनाभूतां भजन्ति। तदुक्तं **रुद्रयामले**—

"यस्य नो पश्चिमं जन्म न स्वयं यो महेश्वरः।
स न प्राप्नोति परमां दशपञ्चाक्षरीमिमाम्" ॥

इति। अनेन ध्यानयोगेन भजतो जन्ममरणदुःखाम्बुधेरुन्मज्जनं भवतीति भावः। शिव एकारः एकादशस्वरः; तेन त्रिकोणं, परमशिवो बिन्दुः तन्निलयां श्रीचक्रान्तर्गतत्रिकोण-मध्यबिन्दुनिलयां धन्या भजन्तीति सांप्रदायिकार्थो गुरुगम्यः। इत्यष्टमपद्यार्थः ॥ ८ ॥

ध्यानं त्रिविधम्—स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति। 'कणत्काञ्चीदामा' इति स्थूलध्यान-मुक्तम्। 'चिदानन्दलहरीम्' इत्यनेन परं ध्यानमुक्तम्। इदानीं सूक्ष्मध्यानमाह—

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्त्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे ॥ ९ ॥

महीमिति। षट्चक्राणि मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्ध्याज्ञाख्यानि क्रमेण पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानां मनसश्च स्थानानि। एतच्चक्रषट्कं कुलपथमित्युच्यते। तदुपरि शिरसि सहस्रदलमकुलपथमित्युच्यते। हे कुण्डलिनीस्वरूपे! परमेश्वरि, महीं मूलाधारे भित्त्वा, चतुर्दलपद्मं महीस्थानं भित्त्वेत्यर्थः। स्वाधिष्ठाने कं जलं भित्त्वा, षड्दलं भित्त्वा, मणिपूरे हुतवहस्थितिं दशदलं भित्वा; अत्र व्यत्ययेन योजना, स्वाधिष्ठानमणिपूरकयोः शांभवमतानुसारेण संज्ञाव्यत्ययो वा। हृदि मरुतमनाहतं द्वादशदलं भित्त्वा, आकाशमुपरि कण्ठे विशुद्ध्याख्यं षोडशदलं भित्त्वा, भ्रूमध्ये मानसस्थाने द्विदलं भित्वा; एतच्चक्रषट्कं कुलपथमित्युच्यते; अकुलपथे सहस्रारे सहस्रदले रहसि पत्या परमशिवेन सह विहरसे। एतावता एवं सूक्ष्मध्यानयोगेनोपास्यमाना भूमि-

त्यागादियोगसिद्धिं दिशसि। सहस्रदलेन संयुज्यमाना निर्वाणपदवीं दिशसीति भावः। तदुक्तं **रहस्यसिद्धिसोपाने**—

"कुण्डलिन्या महीभेदे योगी त्यजति मेदिनीम्।
सलिलस्थानयोगेन जले चलति योगवित्॥
वह्नेर्भेदे जलमिव स्पृशत्यग्निं ज्वलच्छिखम्।
मरुद्भेदे शीघ्रगतिर्याति क्रोशशतं क्षणात्॥
व्योमभेदे खे चरति मनोभेदे मनोगतिः।
यत्र कामयते तत्र याति लोकत्रयेऽपि च॥
संयोजयञ्छिवपदे शिव एव प्रजायते।
कर्ता हर्ता च सर्वत्र सुरासुरनमस्कृतः॥"

इति। सूक्ष्मध्यानेन सूचितं कुण्डलिन्या भूमिकात्रयमुन्नेयम्। भूमिका, अन्वयभूमिका प्रत्यावृत्तिभूमिकेत्यनेन पद्येनोक्ता। इति नवमपद्यार्थः॥ ९॥

अपरे त्वाहुः—

सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसा।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि॥ १०॥

सुधाधारसारैरिति। सुधाधारासारैः; अमृतधारासंपातैः, चरणयुगलान्तर्विगलितैः; भ्रूमध्यगतशुक्लरक्तचरणमध्यमागतो निष्यन्दमानैः, प्रपञ्चम्; मानसस्थानादिषट्चक्ररूपं कुलपथं सिञ्चन्ती; एतेनान्वयभूमिकोक्ता। प्रत्यावृत्तिभूमिकामाह—पुनरपि रसाम्नायाः षडाम्नायाः पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोर्ध्वानुत्तराः। एते शक्तेराम्नायाः स्थानानि, पार्थिवाप्यानलवायव्यनाभसमानसादिशां वाम्नायाः; एतेषां स्थानानि अनुत्तरादिक्रमेण, भ्रूमध्यादिमानसादिक्रमेण वा। तेषां महसा। एतेषां षण्णां प्रकाशकतेजसा स्वां भूमिमवाप्य मूलाधारमवाप्य। भुजगनिभमध्युष्टवलयम्; सार्धत्रिवलयम्, आत्मानं कृत्वा

कुलकुण्डे मूलाधारान्तर्गतचतुर्दलपद्मकर्णिकामध्यवर्तित्रिकोणे स्वपिषि । कुहरिणि; कुहरं रन्ध्रविशेषः, तद्वति गुप्तस्थान इत्यर्थः । एतेन पद्यद्वयेन कुण्डलिनीरहस्यसोपानमभिहितम् । तदुक्तं चतुःशत्याम्—

"मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं रक्तोर्णातन्तुसंनिभाम् ।
कुलकुण्डलिनीं नित्यां विद्युदुल्लासदृक्तनुम् ॥
मत्तालिकुलझंकारसदृक्षतरनादिनीम् ।
उन्नीयोन्नीय चक्रेषु क्रमात्स्यन्दति वैभवम् ॥
अनुभूय परं गत्वा पीत्वा कुलपरामृतम् ।
अकुलात्कुलकं भूयः कुलादकुलकं महः ॥
एवं मां सुन्दरीं ध्यायेत्सूक्ष्मध्यानं प्रकीर्तितम् ।"

इति । इति दशमपद्यस्यार्थः ॥ १० ॥

'शिवाधारे चक्रे' इत्यादि श्रीचक्रं सूचितम् । इदानीं श्रीचक्रस्य स्वरूपमात्रमाह—

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि
प्रभिन्नाभिः शंभोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः ।
त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्रत्रिवलय-
त्रिरेखाभिः सार्धं तव चरणकोणाः परिणताः ॥ ११ ॥

चतुर्भिरिति । चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवैः शिवयुवतिभिः शक्तिभिः । शिवानामध ऊर्ध्वाग्रास्त्रिकोणाः शिवाः, अधोमुखकोणाः शक्तयः ताभिः प्रभिन्नाभिः शंभोर्नवभिः मूलप्रकृतिभिः श्रीचक्रभूताभिर्नवयोनिभिः, त्रयश्चत्वारिंशत्कोणाः वसुदलकलाश्रत्रिवलयत्रिरेखाभिः; अष्टदलषोडशदलवृत्तत्रयभूगृहत्रयैः सह तव चरणकोणाः परिणताः, तव चरणयोः कोणपरिणतय एवेत्यर्थः । तदुक्तं भवति—श्रीचक्रान्तर्गतबिन्दुरूपस्य शंभोरूर्ध्वाधःस्थितनवयोनिभिः श्रीचक्रमूलकारणभूताभिर्निष्पन्नत्रिकोणाष्टकोणदशारद्वयचतुर्दशाराणां त्रिचत्वारिंशत्कोणाः अष्टदलषोडशदलवृत्तत्रयचतुर्द्वारोपशोभितभूगृहत्रयैः सार्धं तव चरणकोणाः

अरुणामोदिनी

एवं भगवत्याः सर्वाभीष्टदातृत्ववर्णनामुखेन पञ्चश्लोक्या देवतान्तरसाधारण्यभ्रान्तिं निराकृत्य, तत्स्वरूपं विवर्णयिषुरादावागमप्रसिद्धं तद्ध्यानं निबध्नाति—क्वणदिति । काञ्ची मेखला दामेव काञ्चीदाम । क्वणच्छब्दायमानं काञ्चीदाम मेखलाकलापो यस्याः सा । "स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची सप्तकी रशना तथा" इत्यमरः । अत्र क्वणदित्यनेन सम्यग्ध्यातृहृत्कमलं प्रत्यागमनं सूच्यते । करिकलभो गजशावः । अत्र "कलभः करिशावकः" "त्रिंशद्वर्षस्तु कलभः" इत्यादिकोशात्कलभशब्दस्यैव करिशावकवचनशक्तत्वेऽपि सामान्यविशेषभावाश्रयणान्न पौनरुक्त्यम । यथाह वामनः—"एवं करिकलभकर्णावतंसादिषु सामान्यविशेषभावाश्रयणान्न पौनरुक्त्यम्" इति । अत एव "आनिन्यिरे वंशकरीरनीलैः" इत्यादयः साधव इत्याहुर्मल्लिनाथचरणाः । यद्वा—करिषु कलेन शोभया भाति, कं लभत इति वा करिकलभो गजश्रेष्ठः, तस्य कुम्भनिभाभ्यां स्तनाभ्यां नता नम्रा, योग्यतयेषन्नम्रेत्यर्थः । तथा मध्ये वलग्ने परिक्षीणा, शातोदरीत्यर्थः । अत एव करिकलभकुम्भस्तननतेति वा । परिणतः पूर्णो यः शरच्चन्द्रः, तत्तुल्यं स एव वा वदनं यस्याः सा । धनुर्बाणान्पाशं यन्त्रं सृणिमङ्कुशं च । अपीत्युक्तानामेव समुच्चये । "अङ्कुशोऽस्त्री सृणिर्द्वयोः" इत्यमरः । करतलैर्हस्ततलैश्चतुर्भिरित्यर्थः । दधाना; बिभ्राणा । मथ्नातीति मथिता, पुराणां मथिता, तस्य त्रिपुरान्तकस्य । एतेन रुद्रस्य भगवतीप्रसादादत्युत्कटकार्यकरणसामर्थ्यं सूचितम् । अहो इत्यहमर्थेऽव्ययम् । अहो चासौ पुरुषश्चेत्यहोपुरुषः । "सुप्सुपा" इति समासः । अहोपुरुषस्य भाव आहोपुरुषिका मनोज्ञादित्वाद्वुञ् । आहोपुरुषिका पुरमथितुः शक्त्याविष्करणरूपा देवीत्यर्थः । "आहोपुरुषिका दर्पाद्या स्यात्संभावनात्मनि" इत्यमरः । प्राथमिकश्लोकोपात्तसंभूयोपास्तिसूचनाय पुरमथितेत्यादिपदद्वयोपादानमित्यवगन्तव्यम् । नः ध्यानार्थं प्रवृत्तानामस्माकं पुरस्तादग्रे संवित्कमले वा, आस्तामुपविशतु, निवासं प्राप्नोतु । एवंप्रकारेण ध्यायेदिति कवेरभिसंधिः ॥ ७ ॥

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे ।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ॥ ८ ॥

लक्ष्मीधरा

सुधासिन्धोरिति। सुधासिन्धोः ; अमृतसमुद्रस्य, मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते ; सुरविटपिनां कल्पवृक्षाणां वाटीभिः झम्पाभिः, परिवृते मणिद्वीपे ; मणिमये अन्तरीपे, नीपोपवनवति ; नीपैः कदम्बैः उपवनवति, चिन्तामणिगृहे ; चिन्तामणिविरचिते मन्दिरे, शिवाकारे ; शिवात्मके शक्तिरूपे, त्रिकोणे इति यावत् । मञ्चे ; खट्वायां, परमशिवपर्यङ्कनिलयां ; परमशिव एव पर्यङ्कः तल्पं, तत्र निलयः अवस्थितिर्यस्याः, तां भजन्ति सेवन्ते, त्वां भवतीं, धन्याः त्वत्प्रसादवशात् कृतार्थाः कतिचन विरलाः, चिदानन्दलहरीं ; चित् ज्ञानं तदाकारः आनन्दः निरतिशयः सुखं, तस्य लहरीं उत्सेकरूपाम् ।

अत्रेत्थं पदयोजना—हे भगवति, सुधासिन्धोः मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां त्वां चिदानन्दलहरीं कतिचन धन्याः भजन्ति ।

अत्रेदमनुसंधेयम्—भगवत्पादाचार्या समयमतपारदृश्वानः समयाचारप्रवणाः समयरूपां भगवतीं स्तुवन्ति । समयाचारो नाम आन्तरपूजारतिः । कुलाचारो नाम बाह्यपूजारतिरिति रहस्यम् । एतच्च 'तवाधारे मूले सह समयया' इत्यादिश्लोकव्याख्यानावसरे निपुणतरमुपपादयिष्यामः । श्रीचक्रस्य वियच्चक्रमिति नामान्तरमस्ति ; वियच्चक्रत्वं तु वियत्पूज्यत्वात् । वियत्पूज्यत्वं द्विविधं, दहराकाशजं, बाह्याकाशजं चेति । बाह्याकाशजं नाम बाह्याकाशावकाशे पीठादौ भूर्जपत्रशुद्धपटहेमरजतादिपट्टतले लिखित्वा समाराधनम् । एतदेव कौलपूजेत्याहुर्वृद्धाः । तदुत्तरत्र स्फोर्यते । दहराकाशजं नाम हृदयाकाशावकाशे चक्रस्य पूजनम् । इदमेव समयपूजेत्याहुः समयिनः । एतदप्युत्तरत्र स्फोर्यते । तत्र नवयोनिष्वधःस्थितशिवात्मकयोनिचतुष्कस्योपरि ऊर्ध्वस्थितशक्त्यात्मकयोनिपञ्चकादधःप्रदेशस्य बैन्दवस्थानस्य नाम सुधासिन्धुरिति ।

"बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्च योन्यः सुरद्रुमाः ।
तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्टपम् ॥
तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम् ।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे ॥

अतिरम्यतरे तत्र कशिपुश्च सदाशिवः ।
भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः ॥
तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी ।
शिवार्कमण्डलं भित्त्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम् ॥
तदुद्भूतामृतस्यन्दिपरमानन्दनन्दिता ।
कुलयोषित्कुलं त्यक्त्वा परं वर्षणमेत्य सा ॥"

इति **भैरवयामले वामकेश्वरमहातन्त्रे** बहुरूपाष्टकविद्यायां कथितम् । "देव्या मन्दिरमुत्तमम्" इत्यस्यार्थः—देवीमन्दिरं त्रयश्चत्वारिंशत्त्रिकोणात्मकं श्रीचक्रमुच्यते। अत उक्तं 'शिवाकारे मञ्चे' इति । त्रिकोणात्मकश्रीचक्रस्य बैन्दवस्थानं प्रत्यङ्गत्वात्, बैन्दवस्थानस्य प्रधानत्वात्, प्रधाने गुणस्यान्तर्भावात् तदन्तर्भाव उक्त इति रहस्यम्। "भृतकाः" इत्यस्यार्थः—भृतकाः भृत्याः द्रुहिणहरिरुद्रेश्वराः । एतच्च "गतास्ते मञ्चत्वं द्रुहिणहरिरुद्रेश्वरभृतः" इत्यादिश्लोकव्याख्यानावसरे वक्ष्यते। "शिवार्कमण्डलं भित्त्वा" इत्यस्यायमर्थः—शिवा नाम शक्तिः कुण्डलिनी अर्कमण्डलं हृत्कमलोपरि स्थितं भित्त्वा भिन्नं कृत्वा अवयुत्य आच्छाद्येत्यर्थः । अर्कमण्डलोपरि स्थितं ब्रह्मद्वारं पिधाय सहस्रकमलान्तःस्थितमिन्दुमण्डलं दशति द्रावयति । अत एव कुलयोषित्; कुण्डलिनीशक्तिः, कुलं कुलमार्गं सुषुम्नामार्गं त्यक्त्वा तत्रैवेन्दुमण्डले आस्थाय परं वर्षणम् उत्कृष्टवर्षणं द्विसप्ततिसहस्रनाडीषु प्रवर्षणम्; कृत्वेति शेषः। सा कुण्डलिनी पुनः स्वस्थानमेत्य स्वाधिष्ठानं प्राप्य स्वपितीति तात्पर्यम् । शिवादीनां मञ्चत्वोपधानत्व-पतद्ग्रहत्वावस्थापन्नत्वं कामरूपत्वाद्देवानामत्यन्तासन्नसेवार्थं संक्षेपेणोक्तवान् सदाशिवः—

"सुधाब्धौ नन्दनोद्याने रत्नमण्डपमध्यगाम् ।
बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहुं त्रिलोचनाम् ॥
पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां श्रियम् ।
ध्यात्वा च हृद्गतं चक्रं व्रतस्थः परमेश्वरीम् ॥
पूर्वोक्तध्यानयोगेन चिन्तयन् जपमाचरेत् ।"

इति । अनेन 'क्वणत्काञ्चीदामा' इति, 'सुधासिन्धोर्मध्ये' इति श्लोकद्वयमेकीकृत्य व्याख्यातमित्यवगन्तव्यम् ॥ ८ ॥

अरुणामोदिनी

एवं ध्यातव्यदेवतास्वरूपमभिधाय ध्यानप्रणालीमुपदिशति—सुधासिन्धोरिति। हे देवि! सुधासिन्धोः अमृताब्धेर्मध्ये मध्यभागे, तत्र च सुरविटपिनां कल्पतरूणां वाटीभिः शाखाभिः परिवृते परितः समन्तादवृते वेष्टिते, मणिद्वीपे; वज्रवैडूर्यादिमाणिक्यखचितेऽन्तरीपे, तत्र च नीपैः कदम्बैरुपवनमारामोऽस्यास्तीति तस्मिन्। "कदम्बवनवासिनीम्" इत्यादिप्रयोगाद्देव्याः कदम्बवनवासरसिकत्वादिति भावः। चिन्तामणिभिश्चिन्तितार्थप्रदैर्माणिक्यविशेषैर्निर्मिते गृहे सद्मनि। तत्र च शिवस्य पञ्चवक्त्रस्य महेशितुराकार इवाकारो यस्य तस्मिन् मञ्चे सिंहासने। परमशिवपर्यङ्कनिलयाम्; अतिकल्याणास्तरणनिवासिनीम्, चित्स्वरूपश्चासावानन्दश्च चिदानन्दो निरतिशयसुखम्, तस्य लहरीं प्रवाहरूपां त्वां भवतीं, कतिचन; केचिद्धन्याः सुकृतिनो भजन्ति सेवन्ते; कति न भजन्ति च, भजन्त्येवेति वार्थः। प्रथमं सुधासिन्धुं निधाय तन्मध्ये कल्पवृक्षपरीतरत्नान्तरीपसंस्थितनीपोद्यानवनमध्यस्थरत्नमण्डपान्तःसंस्थिते सिंहासनेऽतिकल्याणोपबर्हणोपरि संस्थितां चिदानन्दरूपिणीं देवीं क्वणदित्यादिश्लोकोक्तप्रकारेण ध्यायेदित्युपदेशः। तथा चोक्तम्—

"सुधाब्धौ नन्दनोद्याने रत्नमण्डपमध्यगाम्।
बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम्॥
पाशाङ्कुशौ शरांश्चापं धारयन्तीं शिवां श्रियम्।
ध्यात्वा च हृद्गते चक्रे व्रतस्थः परमेश्वरीम्।
पूर्वोक्तध्यानयोगेन संचिन्त्य जपमाचरेत्॥"

इति। उक्तं चाचार्यैः—

"सुधासिन्धुमध्ये मणिद्वीपरम्ये सुकल्पद्रुमाकल्पकादम्बसत्त्रे।
स्फुरत्स्वर्णसिंहासने रत्नपीठे भवाङ्के निषण्णां भजाम्यन्नपूर्णाम्॥"

इति। इति प्रातीतिकार्थः॥

आगमरस्यार्थस्तु—नवयोन्यात्मके श्रीचक्रे शिवात्मकयोनिचतुष्कस्योपरि शक्त्यात्मकयोनिपञ्चकस्याधःप्रदेशे वर्तमानस्य बिन्दुस्थानस्य सुधासिन्धुरिति नाम। तस्य मध्ये मध्यभागे सुरविटपिनां कल्पसंतानहरिचन्दनमन्दारपारिजातरूपसुरतरुत्वेनागमोक्तानां पञ्चानां योनीनां वाटीभिर्वेष्टनैः। "वेष्ट परिवेष्टने" इति धातुः। परिवृते व्याप्ते, मणिद्वीपे मणिमयरत्नद्वीपवत्स्थिते नीपैः कदम्बैरुपवनवति, यद्वा—नयन्ति चक्रस्वरूपमिति नीपा रेखाः, ता एवोपवनं तद्वति, चिन्तामणिनिर्मिते गृहे, पुष्परागपद्म-

रागगोमेदवज्रवैडूर्यनीलमुक्तारत्नमरकतादिनिर्मितप्राकारानन्दवापिकादिसहिते, शिवायाः शक्त्या आकारो रूपं यस्य तस्मिञ्शिवात्मके, यद्वा—शिवा एकारस्तदात्मके त्रिकोण इत्यर्थः । मञ्चे; ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरपादसहितायां खट्वायाम्, परमश्चासौ शिवश्च परमशिवः, स एव पर्यङ्कोऽवसक्थिका कशिपुरित्यर्थः । स निलयो यस्यास्ताम्, तत्र नित्यनिवासिनीमित्यर्थः । चिदानन्दलहरीं; ज्ञानानन्दप्रवाहिनीं त्वाम्, भक्ताभीष्टदात्रीं भवतीमित्यर्थः । कतिचन; केचिद्धन्याः सुकृतिनो हरिहरादयो भजन्ति सेवन्ते, हरिहर-द्रुहिणरुद्रा भृतकत्वमिन्द्रश्च पतद्ग्रहतां च प्राप्य नित्यं भवतीमेव सेवन्त इत्यर्थः । तदुक्तं भैरवयामले वामकेश्वरतन्त्रे—

"बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्च योन्यः सुरद्रुमाः ।
तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्डपम् ॥
तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम् ।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हिणि ॥
अतिरम्यतले तत्र कशिपुश्च सदाशिवः ।
भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः ॥
तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी ।
शिवार्कमण्डलं भित्त्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम् ॥
तदुद्भूतामृतस्यन्दिपरमानन्दनन्दिता ।
कुलयोषित्कुलं त्यक्त्वा परं पुरुषमेति सा ॥"

इति । इत्यागमरहस्यार्थः ॥

ग्रन्थपरार्थोऽपि प्रतीयते—हे देवि! सुरा देवा एव विटपिनः कल्पतरवः, इष्टार्थदातृत्वात् । तेषां वाटीभिः स्थलविशेषैः परिवृते, श्रीशैलादितत्तत्प्रसिद्धदेवतास्थल-चिह्नित इत्यर्थः । मणिमया द्वीपा यस्मिंस्तत्तदुपासनयोग्यस्थलसहित इत्यर्थः । नीपोपवन-वति; कदम्बवनयुक्ते, चिन्ताग्रणिनिर्मितानि गृहाणि देवालयानि यस्मिंस्तस्मिन् । सुधा-शब्देन सुष्ठु दधाति भुवनमिति व्युत्पत्त्या सुधावदतिधवलत्वाद्वा सुधा इत्यनेन हिमाचल उच्यते । तथा च सुधामारभ्या सिन्धोः सिन्धुपर्यन्तं हिमाचलमारभ्य सेतुपर्यन्तं मध्यदेशे शिवाकारे अतिधवलत्वात्स्फटिकमणिमयतया शिवसदृशे मञ्च्यत इति मञ्चे पूज्ये कैलास इत्यर्थः । परमशिवः सदाशिवः, यद्वा—परमौ च तौ शिवौ च परमशिवौ, तस्य तयोर्वा पर्यङ्क उत्सङ्गो निलयो यस्यास्तां, पार्वतीपरमेश्वराभ्यामङ्के निधायानुगृहीता-मित्यर्थः । अत एव भगवत्पादाः स्तोत्रमेतद्विधाय कैलासं गत्वा तत्रैतामेव स्तुतिं पार्व-तीपरमेश्वरसमीपे पठ्यमानां दृष्टवन्त इति प्रसिद्धिः । चिच्छक्तेर्देव्याः प्रतिपादिकामानन्द-

लहरीं तदभिधेयां त्वां प्रबन्धमित्यर्थः। यद्वा—चनचितां प्रत्येकान्वयत्वे आनन्दलहरीं प्रबन्धं, त्वां च कतिचिद्धन्या न भजन्तीति काकुः। भजन्त्येवेत्यर्थः। इति ग्रन्थ-महत्ताप्रतिपादकार्थः।

अथ च सुष्ठु राजते प्रकाशत इति सुरो जीवः; स एव विटपी, आपादमस्तकं विस्तीर्य वर्तमानत्वात्तस्य वाट्या वेष्टनेन परितो वृते धृते; तदभावे देहस्थित्यभावात्। किं च, मणिमया मणिवत्प्रकाशमानाः द्वीपाः देवतानिवासस्थानत्वाद् द्वीपतुल्या मूलाधारादिस्थानविशेषाः। यद्वा—मणिरूपा द्वीपाः शिवेन स्वनिवासस्थानतया विष्णुं प्रति कथिताः ब्रह्मरन्ध्रमुखचक्षुःश्रोत्रगण्डोष्ठदन्तमूर्धहस्तपादादिसंधिपार्श्वनाभिहृदयादयो यस्मिंस्तस्मिन्। नयन्ति शरीरं गमनागमनव्यापारैरिति नीपाः प्राणापानव्यानोदानसमानाख्या मुख्यप्राणाः, नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजयोपप्राणाश्च; नितरां पाति शरीरमिति वा नीपाः पूर्वोक्ता इन्द्रियाधिष्ठानदेवताश्च, तैरुपवनवति उद्यानवनयुक्ते। संकल्पविकल्पात्मकत्वात् चिन्तारूपम्, आत्माधिष्ठानत्वान्मणिवत्प्रकाशमानत्वान्मणिरूपं च गृहं गुहात्वेनोपनिषद्भिर्निरुक्तं हृदयपुण्डरीकं यस्मिंस्तस्मिन्। यद्वा—चिन्तामणीनामिष्टार्थवितरणप्रवणतया चिन्तामणिरूपाणाम्।

"श्रीपर्वतः शिरःस्थाने केदारस्तु ललाटके।
वाराणसी महाप्राज्ञा भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे॥
भ्रुवोर्घ्राणस्य यः संधिरिति जाबालिका श्रुतिः।
कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रायागो हृत्सरोरुहे॥
चिदम्बरं तु हृन्मध्यमाधारः कमलालयः।"

इति पुराणोक्तानां श्रीपर्वतादीनां पुण्यक्षेत्राणां गृहे निवासस्थाने, शिवाकारे; सकलदेवतावासत्वात् शिवात्मके, अत एव मञ्चे पूज्ये तदात्मतया भावनार्ह इत्यर्थः। सुष्ठु दधाति शरीरमिति सुधः, मूलाधारः पादेन्द्रियं वा, उभयाभावे शरीरधारणाभावात्। आ समन्तात्सेधति सिञ्चति नाडीमार्गमिति आसिन्धुः, शिरःस्थितश्चन्द्रः; सुधासहितस्य आसिन्धोः पादशिरसोर्मध्ये मध्यभागे परमशिवः अतिकल्याणरूपमनाहतं चक्रम्, तदेव पर्यङ्कः स निलयो यस्यास्तां नित्यं हृत्कमलवासिनीं चिदानन्दलहरीं त्वां कतिचनाध्यास्ते सेवन्त इति प्रतिपाद्यप्रतिपादकसंवलितार्थः॥ ८॥

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।

मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्त्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे ॥ ९ ॥

लक्ष्मीधरा

महीमिति । महीं ; पृथिवीतत्त्वं, मूलाधारे ; मूले गुदस्थाने सर्वाधारभूतं चक्रं मूलाधारभूतमिति, तस्मिन् मूलाधारे ।

"सर्वाधारा मही यस्मान्मूलाधारतया स्थिता ।
तदभावे तु देहस्य पातः स्यादुद्गमोऽपि वा ॥"

इति **रुद्ररहस्ये** । पृथिवीतत्त्वात्मकस्य मूलाधारस्याभावे देह ऊर्ध्वं वा गच्छेत्, अधो वा पतेदित्यर्थः । कम् ; उदकतत्त्वम् । अपिशब्दः स्वाधिष्ठानोक्तवह्निं समुच्चिनोति । मणिपूरे ; मणिपूरचक्रे । यत्र स्थिता भगवती मणिभिः तत्प्रदेशं पूरयति, स देशो मणिपूरः । समयिनां आन्तरपूजावसरे तृतीयकमले नानाविधमणिगणखचितभूषणार्पणं देव्याः कर्तव्यमिति रहस्यम् । हुतवहम् ; अग्नितत्त्वम् । स्थितं ; प्रतिष्ठितं, स्वाधिष्ठाने ; स्वाधिष्ठाननामके चक्रे । कुण्डलिन्याः भगवत्याः स्वयमधिष्ठाय ग्रन्थिं कृत्वा अवस्थानं स्वाधिष्ठानम् । यथोक्तं **योगदीपिकायाम्**—"रुद्रग्रन्थिरयं शक्तेः स्वाधिष्ठानाग्रसीमनि" इति । यद्यपि आधारचक्रस्योपरि स्वाधिष्ठानं वर्णनीयम्, तथापि आकाशादितत्त्वोत्पत्तिक्रममवलम्ब्य व्युत्क्रमेण मणिपूरचक्रवर्णनं कृतमित्यनुसंधेयम् । एतच्च 'तवाज्ञाचक्रस्थम्' इत्यादिश्लोकषट्कव्याख्यानावसरे सम्यगुपवर्णितम् । हृदि ; हृदयाकाशे अनाहतनामनि चक्रे । अनाहतनादस्थानत्वात् अनाहतं नामास्य । मरुतं ; मरुत्तत्त्वम् । आकाशम् ; आकाशतत्त्वम्, उपरि ; पूर्वोक्तानामुपरि विशुद्धिचक्रे । शुद्धस्फटिकसंकाशत्वात् विशुद्धिर्नामास्य । मनः ; मनस्तत्त्वम्, अपिशब्दः उक्तसमुच्चयार्थः । भ्रूमध्ये ; भ्रुवोरन्तराले आज्ञाचक्रे । अत्र आङीषदर्थः, ज्ञा ज्ञानम्, ईषत् ज्ञानं यत्र जायते साधकानां भगवतीविषयम् । ब्रह्मग्रन्थिभेदनातिव्यग्रतया भगवत्याः आज्ञाचक्रे क्षणमात्रावस्थानात् साधकानां तटिल्लेखारूपेण अवभासनात् आज्ञाचक्रं नामास्य । स्थितमिति लिङ्गव्यत्ययेन सर्वत्रानुषज्यते । सकलं ; सर्वम् । अपिः समुच्चये । भित्त्वा कुलपथं ; सुषुम्नामार्गम् । सहस्रारे ; सहस्रदले, पद्मे ; कमले, सह मिलित्वा, रसि ; एकान्ते, पत्या ; सदाशिवेन, विहरसे ; क्रीडसे ।

अत्रेत्थं पदयोजना—हे भगवति! मूलाधारे महीं, कं मणिपूरे हुतवहमपि, स्वाधिष्ठाने हुतवहमेव, हृदि मरुतं आकाशमुपरि, मनोऽपि भ्रूमध्ये आकाशमपि, स्थितमिति विभक्तिव्यत्ययेन सर्वत्रानुषज्यते। सकलं कुलपथमपि भित्त्वा सहस्रारे पद्मे रहसि पत्या सह विहरसे।

अत्रेदमनुसंधेयम्—मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्धयाज्ञात्मकानि षट् चक्राणि। एतानि पृथिव्यग्निजलपवनाकाशमनस्तत्त्वात्मकानि। तानि तत्त्वानि तेषु चक्रेषु तन्मात्रतयावस्थितानि। तन्मात्रास्तु गन्धरूपरसस्पर्शशब्दात्मकाः। आज्ञाचक्रस्थितेन मनस्तत्त्वेन एकादशेन्द्रियगणः संगृहीतः। एवमेकविंशतितत्त्वानि प्रतिपादितानि। पत्या सह रहसि सहस्रपत्रे विहरसे इत्यनेन तत्त्वचतुष्टयं सूचितम्। तच्च मायाशुद्धविद्यामहेश्वरसदाशिवात्मकं तत्त्वचतुष्टयम्। एवं मिलित्वा पञ्चविंशतितत्त्वानि मायापर्यन्तानि मायया युक्तत्वात् प्राकृतानि। माया महेश्वरेण संयुक्ता सती तस्य जीवभावमापादयति। स जीवः प्राकृत एव। शुद्धविद्या तु सदाशिवेन युक्ता सती सादाख्या कलेति व्यवह्रियते। अतो भगवती चतुर्विंशतितत्त्वान्यतिक्रान्ता सदाशिवेन पञ्चविंशेन सार्धं विहरमाणा षड्विंशतत्त्वत्वमापन्ना परमात्मेति गीयते। एतदुक्तं भवति—सादाख्या कला पञ्चविंशेन सदाशिवेन मिलिता षड्विंशा भवति। मेलनस्य तत्त्वान्तरत्वात् न चोभयोर्मेलनमुभयात्मकम्। तस्य तादात्म्यरूपत्वात् तत्त्वान्तरमेवेति रहस्यम्।

यत्तु श्रुतिवाक्यम्—"पञ्चविंश आत्मा भवति" इति, तत्तु सदाशिवतत्त्वप्रतिपादनपरम्, न मेलनपरमिति ध्येयम्। ननु (कथं) बैन्दवस्थानं श्रीचक्रस्य मध्यस्थितम्, शिवचक्राणां चतुर्णामुपरि शक्तिचक्राणां पञ्चानामधस्तादवस्थितत्वात्। सहस्रारपद्मस्य तु शिरःस्थितत्वात् सर्वेषामुपरि वर्तमानत्वात्, तस्य बैन्दवस्थानत्वं नोपपद्यत इति चेत्, निशम्यतां **भागवतमत**रहस्यम्—

> "चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
> शिवशक्तिमयं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः॥"

इत्यादौ शक्तिचक्राणि त्रिकोणाष्टकोणदशारद्वितयचतुर्दशकोणात्मकानि पञ्च चक्राणि। शिवचक्राणि तु अष्टदलषोडशदलमेखलात्रितयभूपुरत्रयात्मकानीति। अतः शक्ति-

चक्राणां बाह्यतः शिवचक्राणि। शिवस्य शक्तिबाह्यत्वायोगात् तानि शिवचक्राणि बिन्दुरूपेणाकृष्य शक्तिचक्रान्तरे स्थापितानि। अत एव बिन्दुः शिवचक्रचतुष्टयात्मकः शक्तिचक्रेषु पञ्चसु व्यश्नुवानः समास इति शिवशक्त्योरैक्यमिति केचित्।

अन्ये तु—बिन्दुत्रिकोणयोरैक्यं, अष्टकोणाष्टदलाम्बुजयोः, दशारयुग्मषोडशदलाम्बुजयोः, चतुर्दशारभूपुरयोरैक्यम्। अनेन प्रकारेण शिवशक्त्योरैक्यमित्याहुः। अत्र बिन्दुशब्देन शिवचक्रचतुष्टयप्रतिनिधिभूतो वर्तुलाकारो लक्ष्यते, न तु चतुष्कोणमध्यवर्ती बिन्दुः। स तु सहस्रकमलान्तर्गतः आधारस्वाधिष्ठानदशदलप्रकृतिभूतः शिवशक्तिमेलनाविष्टतनुः सादाख्यं षड्विंशं तत्त्वम्। तेन सह नादबिन्दुकलानामैक्यं नास्ति, तस्य नादबिन्दुकलातीतत्वात्। एतच्च पुरस्तात्प्रपञ्चयिष्यते। अत एव सहस्रकमलान्तर्गतचन्द्रमण्डलमध्यवर्ती सुधासिन्धुरेव भगवत्या विहरणस्थानमिति 'सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे' इति 'सुधासिन्धोर्मध्ये' इति श्लोकद्वयस्यैक एवार्थ इति रहस्यम्।

इममेवार्थं **भैरवयामले चन्द्रज्ञानविद्यायां** शिव आह पार्वतीम्—

"चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
नवचक्रैश्च संसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः॥
त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा।
चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च॥
बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम्।
चतुरश्रं च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात्॥
त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनाश्रके॥
शैवानामपि शाक्तानां चक्राणां च परस्परम्।
अविनाभावसंबन्धं यो जानाति स चक्रवित्॥
त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा।
मनुकोणं चतुष्कोणं कोणचक्राणि षट् क्रमात्॥
मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम्।

अनाहतं विशुद्ध्याख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः ॥
तदाधारस्वरूपाणि कोणचक्राणि पार्वति ।
त्रिकोणरूपिणी शक्तिर्बिन्दुरूपः शिवः स्मृतः ॥
अविनाभावसंबन्धस्तस्माद्बिन्दुत्रिकोणयोः ।"

इति । इतः पूर्वम्—"अधोमुखं चतुष्कोणं शिवचक्रात्मकं विदुः" इत्यनुसारेण "अधोमुखानि चत्वारि त्रिकोणानि शिवात्मकानि" इत्युक्तिः "शिवचक्राणि बाह्यानि तद्रूपेणावस्थितानि" इत्येवंपरेति ध्येयम् ।

यद्वा—कौलमतानुसारेण अधोमुखानि चत्वारि त्रिकोणानि शिवात्मकानि, ऊर्ध्वमुखानि पञ्च त्रिकोणानि शक्त्यात्मकानि । कौलमते संहारक्रमेण लेखने नवत्रिकोणात्मकं श्रीचक्रम् । एतत्सर्वं 'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः' इत्यादिश्लोकव्याख्यानावसरे वक्तव्यमपि 'सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे' इत्यत्रावश्यं वक्तव्यत्वात् उभयोपयोगितया अत्रैव किंचित्कथितम् । विस्तरस्तु तत्रैवावधार्यः ॥ ९ ॥

अरुणामोदिनी

एवं ध्यानप्रणालीमुपदिश्य योगशास्त्रप्रसिद्धकुण्डलिनीरूपत्वेन भगवतीं स्तोति—महीमिति । हे देवि ! आ समन्ताद्ध्रियते शरीरमनेनेति आधारः । मूले गुदस्थाने स्थित आधारो मूलाधारः । अथवा, मूलं सर्वेषां चक्राणामादिकारणम्; स चासावाधारश्च मूलाधारस्तस्मिन्, सर्वचक्राधारे चतुर्दलत्वेन कुण्डलिनीशक्तेर्नित्यनिवासत्वेन प्रसिद्धे मूलाधाराख्ये चक्रे,

"गुदलिङ्गान्तरे चक्रमाधाराख्यं चतुर्दलम् ।
अस्ति कुण्डलिनी ब्रह्मशक्तिराधारसंपुटे ॥
आब्रह्मरन्ध्रमृजुतां नीतेयममृतप्रदा ।"

इति वचनात् । स्थितमिति नपुंसकस्य विभक्ति (लिङ्ग)विपरिणामेन सर्वत्रान्वयः । स्थिता तन्मात्रगन्धात्मना सूक्ष्मरूपेणावस्थितां महीं भुवं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमनसामाद्यां पृथिवीतत्त्वमित्यर्थः । मूलाधारे महीतत्त्वावस्थितिश्च रुद्ररहस्य उक्ता,

"सर्वाधारा मही यस्मान्मूलाधारतया स्थिता ।
तदभावे तु देहस्य पातः स्यादुद्गमोऽपि वा ॥"

इति। तथा मणिभिर्नानारत्नैः पूर्यते भूष्यते देवी अत्रेति, मूलाधारादुत्थापिताया देव्या मणिपूरकचक्रे भूषणैर्भूष्यत्वादिति मणिपूरे नाभिसंस्थे अन्वर्थनामनि दशदले चक्रे, "नाभौ दशदलं चक्रं मणिपूरकसंज्ञितम्" इति वचनात्। स्थितम्; तन्मात्ररसात्मना सूक्ष्मरूपेणावस्थितं, कं; जलं तत्तत्वमित्यर्थः। तथा भगवत्याः शक्त्याः स्वयमात्मना सर्वाकारत्वेन ग्रन्थिं कृत्वा अधिष्ठीयत इति वा, सुष्ठु अधिष्ठीयत इति वा स्वाधिष्ठानं मूलाधारोपरितनं षड्दलमग्नितत्त्वात्मकं कमलम्; "स्वाधिष्ठानं लिङ्गमूले षट्पत्रं च क्रमस्य च" इत्यागमात्। तस्मिन् स्थितं रूपतन्मात्ररूपेण सूक्ष्मरूपेणावस्थितं हुतवहमग्नितत्त्वमित्यर्थः। अत्र यद्यपि,

"मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम्।
अनाहतं विशुद्ध्याख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः॥"

इत्यागमान्तरपर्यालोचनया मूलाधारानन्तरं स्वाधिष्ठानमेव वक्तव्यम्, तथापि, "आत्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी," "आपो वा अग्नेरायतनम्," "अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशः" इत्यादिश्रुतिसूत्रक्रममवलम्ब्य मणिपूरमुक्तवानिति ध्येयम्। किं चेदम्, 'तवाज्ञाचक्रस्थम' इत्यादिश्लोकषट्कश्रौतक्रममवलम्ब्यावरोहणक्रमेणैव आत्माकाशमरुदग्निजलपृथिवीतत्त्वात्मकानि आज्ञाप्रभृतीनि कमलान्युपदिश्य ध्यानं निबध्नतां 'मनस्त्वं व्योम त्वम्' इति श्लोके, 'नरं' 'क्षितौ षट्पञ्चाशत्' इति श्लोके च तमेव क्रममुपदर्शयतां स्मृत्यपेक्षया श्रौतक्रमस्य प्राबल्यं प्रतिपादयतामाचार्याणामपि संमतमेवेत्यवगन्तव्यम्।

यत्तूक्तं रामकविना—नाभिलिङ्गमूलचक्रप्रसिद्धयोर्मणिपूरस्वाधिष्ठानशब्दयोः सामीप्यादन्योन्यपदवाच्यता मधुमाधवशब्दयोर्माधवमासयोरेवेति, तच्चिन्त्यम्, मूलाधारादिव्यवहारोच्छेदापत्तेः, मध्वादिशब्दानां वसन्तमासयोः कोशाप्रसिद्धेश्चेति, 'आचार्यतात्पर्यमपि अस्मदुक्तानुसारि' इत्यनन्तरोक्तिश्च चिन्त्या। तथा हृदि; हृदयाकाशसंस्थिते द्वादशदले केनाप्यनाहतत्वादनाहतमित्यन्वर्थनामनि चक्रे,

"हृदयेऽनाहतं चक्रं शिवस्य प्रणवाकृति।
पूजास्थानं तदिच्छन्ति दलैर्द्वादशभिर्युतम्॥"

इति वचनात्। स्थितं; तन्मात्रस्पर्शरूपेण सूक्ष्मात्मनावस्थितं, मरुतं; वायुतत्त्वम्। तथा उपरि; अनाहतचक्रादूर्ध्वप्रदेशे स्वप्रकाशे षोडशदले शुद्धस्फटिकवर्णतया विशुद्धिरित्यन्वर्थनामनि कण्ठस्थिते कमले, "कण्ठे तु भारतीस्थानं विशुद्धिः षोडशच्छदम्" इति वचनात्। स्थितं; तन्मात्रशब्दात्मना सूक्ष्मरूपेणावस्थितमाकाशतत्त्वं च। तथा भ्रुवोर्मध्यं

तस्मिन् भ्रुवोरन्तरस्थद्विदले आज्ञीषज्ज्ञानं भगवतीविषयं साधकानां भवति क्षणमात्रावस्थायित्वादेव्यास्तत्रेति वा, आ समन्ताज्ज्ञायतेऽस्यामिति वा आज्ञेत्यन्वर्थनामनि कमले, "भ्रूमध्ये द्विदलं चक्रमाज्ञासंज्ञं प्रचक्षते" इति वचनात्। स्थितं; मनो मनस्तत्त्वं चेति, एतत्सकलं समस्तमपि मूलाधारादिचक्रस्थितपृथिव्यादिशब्दसंगृहीतानि भूततन्मात्रज्ञानेन्द्रियपञ्चकमनोमायाशुद्धविद्यामहेश्वरसदाशिवान्तं सर्वं तत्त्वजालं कमलद्विकद्विकोपरि स्थितं रुद्रविष्णुब्रह्मनामकं ग्रन्थित्रयं चेति तत्सर्वमित्यर्थः। कुलपथं; सुषुम्नामार्गम्। षट् चक्राणि कुलपथमुच्यत इति केचित्। भित्त्वा; साधककौशलवशादुत्थापिता भुजङ्गरूपा बिसतन्तुनिभा स्वयं सग्रन्थीनि षट् कमलानि निर्भिद्य निर्गच्छती सतीत्यर्थः। सहस्रमराणि दलानि यस्य तत् सहस्रारं सहस्रदलम्, तस्मिन् पद्मे ब्रह्मरन्ध्रसंस्थिते कमले, "चक्रं सहस्रपत्रं तु ब्रह्मरन्ध्रसमन्वितम्" इति वचनात्। रहसि; एकान्ते, पत्या सह; सदाशिवेन साकं, विहरसे; क्रीडसि। योगवेदिना साधकेन सम्यग्वायुनिरोधान्मूलाधारादुत्थाप्य षट्कमलग्रन्थिभेदनपूर्वकं सहस्रारकमलमानीय तत्र शिवेन सह प्रापितविहारा योगशास्त्रप्रसिद्धा कुण्डलिनीशक्तिश्च भवत्येव नान्येत्यभिप्रायः। अत एवाहुराचार्याः—"माया कुण्डलिनी क्रिया मधुमती" इत्यादिना। अत्रोक्तं वामकेश्वरतन्त्रे—

"भुजङ्गाकाररूपेण मूलाधारं समाश्रिता।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा॥
मूलकन्दं फणाग्रेण दष्ट्वा कमलकन्दवत्।
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता॥
पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः।
वायुमूर्ध्वगतिं कुर्वन् कुम्भकाविष्टमानसः॥
वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन्।
ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट्॥
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यथ।
ब्रह्मग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट्॥
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते।
सा चावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणम्॥"

इति। उपासकानां च,

"त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा।
मनुकोणं च षट्कोणं कोणचक्राणि षट् क्रमात्॥

मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम् ।
अनाहतं विशुद्धयाख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः ॥"

इत्यागमादुक्तचक्रषट्कमेव सुधासिन्धुरिति; तदेव चन्द्रमण्डलम् । तत्रैव शिवयोर्विहारश्चेति रहस्यम् ॥ ९ ॥

सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसः ।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि ॥ १० ॥

लक्ष्मीधरा

सुधाधारेति । सुधाया अमृतस्य धाराणामासारैः संपातैः । अत्रासारशब्द एव धारासंपातवचन इति धाराशब्दसाहचर्यादासारशब्दः संपातमात्र इति न पौनरुक्त्यम् । यद्वा— सुधाया आधारभूता आसारा धारासंपाताः, तैः, चरणयुगलान्तर्विगलितैः; चरणयुगलस्य पादारविन्दद्वितयस्य अन्तर्विगलितैः मध्यप्रदेशात् स्रवद्भिः, प्रपञ्चं; द्विसप्ततिसहस्रसंख्याकनाडीमार्गं, सिञ्चन्ती; सेक्त्री, पुनरपि; सेचनानन्तरमपि, रसाम्नायमहसः; चन्द्रसकाशात् । रसाम्नायमहःशब्दो **यामलेषु** कलानिधौ प्रसिद्धः, रसस्य सुधाया आम्नायो गुणानामाधिक्यमिति यावत्, तदात्मकं महः कान्तिर्यस्य सः रसाम्नायमहा इति व्युत्पत्तेः । अवाप्य; प्राप्य, स्वां; स्वकीयां, भूमिं; आधारचक्रं, भुजगनिभं; सर्पसदृशम्, अध्युष्टवलयम्; अधिष्ठितकुण्डलनाविशेषं, स्वं; निजम्, आत्मानं; कृत्वा; धृत्वा स्वस्वरूपमवलम्ब्य उषित्वा, स्वपिषि; निद्रासि, कुलकुण्डे; कुः पृथिवीतत्त्वं लीयते यत्र तत्कुलं आधारचक्रम् । लक्षणया सुषुम्नामार्गः कुलमित्युच्यते । अत एव कौलाः कुलपूजका आधारसेवका इति कौलत्वं तेषामिति रहस्यम् । एतदुत्तरत्र प्रस्फोर्यते । कुलमार्गस्य सुषुम्नाया मूले यत्कुण्डं कमलकन्दाकारम् आधारकन्दं तस्मिन् कुहरिणि, कमलकन्दमध्यस्थितच्छिद्रतुल्यं छिद्रं यस्य कुण्डस्य तत्तथोक्तम् । आधारकन्दमध्यस्थितसुषिरमध्ये बिसतन्तुनिभा तत्र कुण्डलिनीशक्तिः वर्तत इति तात्पर्यम् ।

अत्रेत्थं पदयोजना—हे भगवति! चरणयुगलान्तर्विगलितैः सुधाधारासारैः प्रपञ्चं सिञ्चन्ती रसाम्नायमहसः सकाशात् स्वां भूमिं पुनरप्यवाप्य भुजगनिभमध्युष्ट-वलयं स्वमात्मानं कृत्वा कुहरिणि कुलकुण्डे स्वपिषि।

अत्रेदमनुसंधेयम्—शिरःस्थितं चन्द्रमण्डलं सर्वयोगशास्त्रसिद्धम्। तत्तु समयिनां मते श्रीचक्रमेव चन्द्रमण्डलम्, षोडशकलात्मकत्वात्। श्रीविद्यायाः प्रतिपदादिषोडश-दिनेषु कलावृद्धिक्षययोः वक्ष्यमाणत्वात् चन्द्रमण्डलमेतदेव। बाह्यस्थितमपि चन्द्र-मण्डलं श्रीचक्रमेवेति **सुभगोदयव्याख्याने** निदर्शितम्। तत्तु महारहस्यम्। अतश्च शिरःस्थितसहस्रदलकमलान्तर्गतश्रीचक्रात्मकशशिबिम्बमध्यस्थिताया भगवत्याश्चरण-कमलनिर्णेजनजलैः सुधामयैः साधकस्य सकलशरीरं संप्लाव्य पुनः भुजङ्गरूपेण आधार-कुण्डं प्रविश्य सुषुम्नामवष्टभ्य सा भगवती स्वपितीति। यथोक्तं **वामकेश्वरमहातन्त्रे—**

> "भुजङ्गाकाररूपेण मूलाधारं समाश्रिता।
> शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभाशुभा॥"

इति। आशुभा; क्षणप्रभा, विद्युन्निभा इत्यर्थः।

> "मूलकन्दं फणाग्रेण दष्ट्वा कमलकन्दवत्।
> मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रं समश्रिता॥
> पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः।
> वायुमूर्ध्वगतिं कुर्वन् कुम्भकाविष्टमानसः॥
> वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन्।
> ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट्।
> रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यथः।
> ब्रह्मग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट्॥
> सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते।
> सा चावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणम्॥"

इति **श्रुतिरपि** भगवत्याः चरणाम्बुजसुधाधारासारैः प्रपञ्चसेचनं प्रतिपादयति। तथा हि—"लोकस्य द्वारमर्चिमत्पवित्रम्। ज्योतिष्मद्भ्राजमानं महस्वत्। अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानम्। चरणं नो लोके सुधितान् दधातु।"

अस्यार्थः—लोकस्य स्वनिवासस्थानस्य सायुज्यस्य वा साष्टर्यादेर्वा ब्रह्मलोकादेर्वा द्वारं, तत्प्रापकमित्यर्थः। अर्चिमत् अर्चींषि मयूखाः अस्य सन्तीति अर्चिमत्, अर्चिष्मदित्यर्थः। छान्दसः सकारलोपः। मयूखाः किरणाः। पवित्रं स्वयमतिशुद्धम्, अन्यशुद्धिहेतुश्च। "ज्योतिष्मष्मद्भ्राजमानं महस्वत्" इत्याम्रेडनं अर्चिष्मत्स्तुत्यर्थम्। यद्वा—"त्रिखण्डं मातृकाचक्रं सोमसूर्यानलात्मकम्" इति वक्ष्यते। 'अर्चिष्मत्' इत्यनेन आग्नेयान्यर्चींष्यष्टोत्तरशतं कथ्यन्ते। 'ज्योतिष्मत्' इत्यनेन ऐन्दवानि षट्त्रिंशदुत्तरशतं ज्योतींषि निर्दिश्यन्ते। 'महस्वत्' इत्यनेन भानवीयानि षोडशोत्तरशतं महांसि किरणाः संगृह्यन्ते। एतच्च 'क्षितौ षट्पञ्चाशत्' इति श्लोकव्याख्यानावसरे निपुणतरमुपपादयिष्यामः। अमृतस्य धाराः, सुधाप्रवाहान्; बहुधा; बहुप्रकारेण द्विसप्ततिसहस्रनाडीमार्गेषु, दोहमानं; किरत् चन्द्रमण्डलगतसुधाधाराप्रवाहान् स्वनिर्णेजनपवित्रितान् वर्षदित्यर्थः। तच्चरणम्, चरणशब्दो नपुंसकः, "पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्" **इत्यमरः**। न अस्मान् साधकान् लोके प्रपञ्चे सुधितान्; तृप्तान्; यद्वा—संजातबुद्धिप्रकाशान् सुधियः, कृत्वा दधातु पुष्णातु।

नन्वयं मन्त्रः अपाधास्विष्टिषु याज्यात्वेनाम्नातः। मन्त्राणां समवेतार्थप्रकाशनशीलत्वात्, 'चरणाय स्वाहा' इति चतुर्थ्यर्थोपहितशब्दस्यैव देवतात्वात्, एतद्व्याख्यानं न संगच्छत इति चेत्; उच्यते—

अत्राहुः भगवत्पादाः—"सिद्धमन्नं परित्यज्य भिक्षामटति दुर्मतिः" इति। अयमाशयः—वेदस्य सकर्तृकत्वासिद्धेः फलदानसमर्थत्वेन सर्वविद्वदभिमतं वृद्धव्यवहारावसितशक्तिकं 'लोकस्य द्वारम्' इत्यादिविशेषणविशिष्टत्वार्ह भगवत्याश्चरणमेव 'चरणाय स्वाहा' इत्यत्र चरणशब्देनाभिधीयत इति ॥ १० ॥

अरुणामोदिनी

विहारानन्तरकृत्यमाह—सुधाधारेति। हे देवि! चरणयुगलस्य पदद्वन्द्वस्यान्तरभ्यन्तराद्विगलितैः गलद्भिः सुधाधाराणाममृतसंततीनामासारैर्वेगवर्षणैः; "आसारः स्यात्प्रसरणे वेगवर्षे सुहृद्बले" इति विश्वः। प्रपञ्चं; द्विसप्ततिसहस्रसंख्याकनाडीमार्गं, सिञ्चन्ती; सेचमाना, "लोकस्य द्वारमर्चिमत्पवित्रम्। ज्योतिष्मद्भ्राजमानं महस्वत्। अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानम्। चरणं नो लोके सुधितान् दधातु।" इति श्रुतेः। इह च भगवत्याः सुषुम्नामार्गेण सहस्रारान्तर्गतत्वात्, "तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका",

"सुषुम्ना तिसृषु श्रेष्ठा वैष्णवी मुक्तिमार्गदा" इत्यागमात् प्रधाननाड्यां सुषुम्नायां सेचने जाते पिण्डाण्डब्रह्माण्डयोरैक्याद्ब्रह्माण्ड इव पिण्डाण्डेऽपि सर्वासु नाडीष्वाह्लादो जायत इत्युक्तम् । रसा आम्नायन्तेऽस्मिन्निति रसाम्नायममृतमयं महस्तेजो यस्य तस्मात्; सहस्रारपद्मवर्तिनोऽक्षीणकलाचन्द्रात्, तत्सकाशादित्यर्थः । महसीति पाठे रसाम्नायं रसावृत्तिरूपं महस्तेजो यस्याः सा आनन्दरूपिणी अत्यन्ततृप्ता . . शादुन्मताति सतीत्यर्थः (?) । पुनर्भूयोऽपि स्वां स्वकीयां भूमिं निवासस्थानं "भूमिः क्षितौ स्थानमात्रे" इति विश्वः । मूलाधारमित्यर्थः । अवाप्य; प्राप्य, भुजगनिभं; सर्पाकारं, स्वं स्वकीय-मात्मानं देहं सहस्रारावाप्तये ऋजूकृतमित्यर्थः । अध्युष्टोऽधिष्ठितो वलयः कुण्डलना येन तं सन्तं कृत्वा विधाय कुण्डलितं कृत्वेत्यर्थः । कुहरं बिलमस्यास्तीति तस्मिन् इह सच्छिद्रवति, सर्वप्रियत्वाच्छिद्रस्येति भावः । कुलकुण्डे; कुण्डाकारे कुले निवासगृहे । यद्वा—कुः पृथिवीतत्त्वं लीयतेऽस्मिन्निति कुलं मूलाधारः । तदेव कुण्डं निवासस्थानभूतः करण्डविशेषः तस्मिन् स्वपिषि निद्रासि । कुहरिणीत्यस्य देवीसंबुद्धिपरत्वं केचि-दिच्छन्ति । शिरसि चन्द्रमण्डलं वर्तत इति योगशास्त्रप्रसिद्धेश्चन्द्रमण्डलश्रीचक्रयोरुभयोरपि षोडशकलात्मकत्वेनैक्याच्छिरःस्थितसहस्रारान्तर्गतश्रीचक्रचन्द्रमण्डलीयस्वचरणनिर्णेज-नसुधाजलैः साधकशरीरं संप्लाव्य पुनरप्याधारचक्रं भुजङ्गाकारेणैवावाप्य सुषुम्नाम-वष्टभ्य स्वपिति भगवतीत्यभिप्रायः । आधारकमलकन्दसुषिरमध्ये बिसतन्तुनिभा कुण्डलिनी वर्तत इत्यागमः ॥ १० ॥

पूर्वश्लोके इन्दुमण्डलात्मकं श्रीचक्रमित्युक्तम् । तदेव श्रीचक्रमुपदिशति—

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि
प्रभिन्नाभिः शंभोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः ।
चतुश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्रत्रिवलय-
त्रिरेखाभिः सार्धं तव शरणकोणाः परिणताः ॥ ११ ॥

लक्ष्मीधरा

चतुर्भिरिति । चतुर्भिः; चतुःसंख्यासंख्येयैः श्रीकण्ठैः, श्रृणाति हिनस्तीति श्रीः विषं कण्ठे यस्यासौ श्रीकण्ठः हरः । ते कोणा अपि श्रीकण्ठाः । तादात्म्यात्त-द्व्यपदेशः । अत एव बहुवचनसिद्धिः श्रीकण्ठात्मकैरित्यर्थः । शिवयुवतिभिः शक्तिभिः । पूर्ववद्बहुवचनसिद्धिः । शक्त्यात्मकैरित्यर्थः । पञ्चभिः । अपिशब्दो

कृशा, परिणतः परिपूर्णः शरत्कालीनो यश्चन्द्रः तद्वद्वदनं मुखं यस्याः सा, तथा करतले धनुः कोदण्डं बाणान् पाशं रज्जुविशेषं सृणिमङ्कुशं दधाना धारयन्ती नोऽस्माकं पुरस्तादग्रे आस्तां तिष्ठतु, कीदृशी पुरमथितुः शिवस्य आहोपुरुषिका अहो पुरुषोऽहमित्यभिमानरूपा। "आहोपुरुषिका दर्पाद्या स्यात्सम्भावनात्मनि" इत्यमरः। अत्र पाशधनुषोरूर्ध्वाधोवामकरयोः अङ्कुशबाणयोरूर्ध्वाधोदक्षकरयोर्ध्यानम्। केचित्तु दक्षोर्ध्वकरे पाशं वामोर्ध्वकरेऽङ्कुशं शक्तीनामिच्छन्ति। अत्र धनुरैक्षवं, बाणा रक्तकमलनीलकमलकल्हारकैरवसहकारमञ्जरीरूपास्तन्त्रराजादावुक्ताः, अङ्कुशं नानारत्नखचित-सुवर्णमयं, पाशो रक्तपट्टनिर्मितः।

विष्णुपक्षे—नोऽस्माकं पुरमथितुः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थानाशकस्य अस्मन्मोक्षप्रदस्य विष्णोरग्रे आहोपुरुषिका पार्वतीरूपा आस्ताम् तिष्ठतु अप्रयोजकत्वात्, मोहिनीमूर्तेः शिवक्षोभःकरायास्ततोऽप्यधिकसुन्दरत्वादित्याशयः। "ऊर्ध्वाभ्यां मणिवंशवादनवरं मुद्रालसत्पुस्तकम्, पाशं चाङ्कुशमैक्षवं धनुरिषुं सम्यग्दधानं करैः॥ गोपीगोपपरीवृतं सुरतरोर्मूलेस्थितं हारिणं, स्त्रीवेषं मणिभूषणोज्ज्वलममुं कृष्णं भजे सुन्दरम्॥" इति सुन्दरीगोपालाभिप्रायेण वेदं सङ्गमनीयम्॥ ७॥

आनन्दलहरीटीका

ध्यानोपयुक्तं भगवत्याः स्वरूपमाह-**क्वणदिति**-क्वणत् शब्दायमानं काञ्च्याः क्षुद्रघंटिकाया दाम माला यस्याः सा तथा। डाबुभाभ्यामन्यतरस्यामिति डाप् टिलोपः। करिकलभो हस्तिशावकः। तत्कुंभयोरिव स्तनयोर्भरो यस्याः सा तथा। भरेत्यत्र नतेति पाठे तादृशस्तनाभ्यां नम्रेत्यर्थः। यद्यपि कलभः करिशावक इत्यभिधानात्करिपदवैयर्थ्यमायाति, तथाऽप्यत्र कलभशब्दः शावकमात्रपरः। अतिप्रौढत्वख्यापनार्थं वा करिपदं करिषु कं सुखं प्रौढतानिमित्तं लभत इति करिकलभः। करिश्रेष्ठ इति वाऽर्थः। परिणतः परिपूर्णो यः शरत्कालीनश्चन्द्रः तद्वद्वदनं यस्याः, सा तथा। धनुरिक्षुमयं, बाणान् पञ्च रक्तकमल-नीलकमल-कह्लार-कैरव-सहकारमञ्जरीरूपान्, तन्त्रराजाद्युक्तान्। पाशं रक्तपदसूत्रनिर्मितं, सृणिमंकुशं, नानारत्नघटितं सुवर्णमयं, करतलैश्चतुर्भिः, दधाना धारयन्ती, पुरमथितुः शिवस्य, आहोपुरुषिका अहमेव पुरुष इति आत्मनि बहुमानहेतुभूता नः अस्माकं, पुरस्तादग्रे, आस्तां तिष्ठतु। आहोपुरुषिका दर्पाद्या स्यात्संभावनात्मनीत्यमरः। अत्र पाशधनुषी ऊर्ध्वाधो वामकरयोः, अंकुशबाणपञ्चके तथैव दक्षिणकरयोरिति भावः। केचित् दक्षिणोर्ध्वकरे अंकुशमिति वदन्ति॥ ७॥

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्॥ ८॥

ஸுதாஸிந்தோ ர்மத்யே ஸுரவிடபிவாடீ பரிவ்ருதே
4 4 4 1 1 1 1 1

மணித்வீபே நீபோபவனவதி சிந்தாமணிக்ருஹே;
3 1 1 1 1 1 1 1 3

சிவாகாரே மஞ்சே பரமசிவ பர்யங்க நிலயாம்
1 1 1 1 1

பஜந்தி த்வாம் தன்யா: கதிசன சிதாநந்தலஹரீம்.
4 1 1 4 1 1 1 1 3 3

सुधासिन्धु के बीच सुरद्रुमवाटीगण से परिवेष्टित,
मणिमय अंतरीप में शुभ कदंब उपवनमध्य विनिर्मित,
चिन्तामणि मंदिर में शिवाकार मंचोपरि समलंकृत,
परमशिवास्तरण का बना अधिवास मनोहर शुचि संस्कृत,
शासन करनेवाली चिदानंदलहरी का तव चिंतन -
करते हैं भाग्यवान कतिचन भगवति माते! सन्त सुजन! ॥

लक्ष्मीधरा

सुधासिन्धोरिति । सुधासिन्धोः अमृतसमुद्रस्य, मध्ये, सुरविटपिवाटीपरिवृते - सुरविटपिनां कल्पवृक्षाणां वाटीभिः परिवृते, मणिद्वीपे - मणिमये अन्तरीपे, नीपोपवनवति - नीपैः कदम्बैः उपवनवति, चिन्तामणिगृहे चिन्तामणिविरचिते मन्दिरे, शिवाकारे - शिवात्मके शक्तिरूपे, त्रिकोण इति यावत्, मञ्चे खट्वायां, परमशिवपर्यङ्कनिलयां परमशिव एव पर्यङ्कः तल्पं - तत्र निलयः अवस्थितिर्यस्याः तां, भजन्ति सेवन्ते, त्वां भवतीं, धन्याः - त्वत्प्रसादवशात् कृतार्थाः, कतिचन विरलाः, चिदानन्दलहरीं - उत्सेकरूपाम् ।

अत्रेत्थं पदयोजना हे भगवति सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां त्वां चिदानन्दलहरीं कतिचन धन्याः भजन्ति । अत्रेदमनुसन्धेयम् - भगवत्पादाचार्याः समयमतपारदृश्वानः समयाचारप्रवीणाः समयरूपां भगवतीं स्तुवन्ति । समयाचारो नाम आन्तरपूजारतिः; कुलाचारो नाम बाह्यपूजारतिः इति रहस्यम् । एतच्च तवाधारे मूले सह समयया इत्यादिश्लोकव्याख्यानावसरे निपुणतरमुपपादयिष्यामः । श्रीचक्रस्य वियच्चक्रमिति नामान्तरमस्ति । वियच्चक्रत्वं तु वियत्पूज्यत्वात् । वियत्पूज्यत्वं द्विविधम् - दहराकाशजं, बाह्याकाशजं चेति । बाह्याकाशजं नाम बाह्याकाशावकाशे पीठादौ, भूर्जपत्र-शुद्धपटहेमरजतादिपट्टतले लिखित्वा समाराधनम् । एतदेव कौलपूजेत्याहुर्वृद्धाः । तदुत्तरत्र स्फोर्यते । दहराकाशजं नाम हृदयाकाशावकाशे चक्रस्य पूजनम् । इदमेव समयपूजेत्याहुः

समयिनः । एतदप्युत्तरत्र स्फोर्यते । तत्र नवयोनिष्वधःस्थितशिवात्मकयोनिचतुष्कस्योपरि ऊर्ध्वस्थितशक्त्यात्मकयोनिपञ्चकादधःप्रदेशस्य बैन्दवस्थानस्य नाम सुधासिन्धुरिति । 'बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्च योन्यः सुरद्रुमाः । तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्टपम् ॥ तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम् । शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे ॥ अतिरम्यतरे तत्र कशिपुश्च सदाशिवः । भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः ॥ तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी । शिवाऽर्कमण्डलं भित्त्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम् । तदुद्भूतामृतस्यन्दिपरमानन्दनन्दिता । कुलयोषित्कुलं त्यक्त्वा परं वर्षणमेत्य सा ॥' इति भैरवयामले वामकेश्वरमहातन्त्रे बहुरूपाष्टकविद्यायां कथितम् । 'देव्या मन्दिरमुत्तमम्' इत्यस्यार्थः— देवीमन्दिरं त्रयश्चत्वारिंशत्त्रिकोणात्मकं श्रीचक्रमुच्यते । अत उक्तं 'शिवाकारे मञ्चे' इति । त्रिकोणात्मकश्रीचक्रस्य बैन्दवस्थानं प्रत्यङ्गत्वात्, बैन्दवस्थानस्य प्रधानत्वात्, प्रधाने गुणस्यान्तर्भावात् तदन्तर्भाव उक्त इति रहस्यम् । 'भृतकाः' इत्यस्यार्थः—भृतकाः भृत्याः द्रुहिणहरिरुद्रेश्वराः । एतच्च 'गतास्ते मञ्चत्वं द्रुहिण....' इत्यादिश्लोकव्याख्यानावसरे वक्ष्यते । 'शिवार्कमण्डलं भित्त्वा' इत्यस्यायमर्थः— शिवा नाम शक्तिः कुण्डलिनी अर्कमण्डलं हृत्कमलोपरि स्थितं भित्त्वा भिन्नं कृत्वा अवयुत्य आच्छाद्येत्यर्थः । अर्कमण्डलोपरि स्थितं ब्रह्मद्वारं पिधाय सहस्रकमलान्तःस्थितमिन्दुमण्डलं दशति द्रावयति । अत एव कुलयोषित् कुण्डलिनीशक्तिः कुलं कुलमार्गं सुषुम्नामार्गं त्यक्त्वा तत्रैवेन्दुमण्डले आस्थाय परं वर्षणं उत्कृष्टवर्षणं द्विसप्ततिसहस्रनाडीषु प्रवर्षणम्; कृत्वेति शेषः । सा कुण्डलिनी पुनः स्वस्थानमेत्य स्वाधिष्ठानं प्राप्य स्वपितीति तात्पर्यम् । शिवादीनां मञ्चत्वोपधानत्वपतद्ग्रहत्वावस्थापन्नत्वं कामरूपत्वाद्देवानामत्यन्तासन्नसेवार्थं घटते । इममेवार्थं संक्षेपेणोक्तवान्सदाशिवः—
'सुधाब्धौ नन्दनोद्याने रत्नमण्टपमध्यगाम् । बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहुं त्रिलोचनाम् ॥
पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां श्रियम् । ध्यात्वा च हृद्गतं चक्रं व्रतस्थः परमेश्वरीम् ॥
पूर्वोक्तध्यानयोगेन चिन्तयन् जपमाचरेत् ।' इति । अनेन 'क्वणत्काञ्चीदामा' इति, 'सुधासिन्धोर्मध्ये' इति श्लोकद्वयमेकीकृत्य व्याख्यातमित्यवगन्तव्यम् ॥ ८ ॥

सौभाग्यवर्धनी

ध्यानमुक्तम्; कुत्र ध्येयाऽहमित्यत आह—**सुधासिन्धोरिति** । अमृताम्बुधिमध्ये कल्पवृक्षवाटिकावृते कदम्बोपवनयुते नवरत्नखचितद्वीपे चिन्तामणिघटितकुड्यस्तम्भप्राकारतोरणादिमण्डितगृहे शिवाकारभाजि मञ्चे, सदाशिव एव मञ्चीभूत इत्यर्थः । तथा मञ्चचरणीभूतविधिहरिरुद्रेश्वरविलसिते मञ्चीभूते सदाशिवे परमासने परमशिवपर्यङ्कनिलयां परमशिवः गुणातीतः सकलप्रपञ्चसाक्षी सच्चिदानन्दसुन्दरः त्वदपेक्षया पर्यङ्कतां प्राप्त इत्यर्थः । तत्र निषण्णां त्वां धन्याः कतिपये पश्चिमजन्मानः

चिदानन्दलहरीं परमां शिवाविनाभूतां भजन्ति। तदुक्तं रुद्रयामले—'यस्य नो पश्चिमं जन्म न स्वयं यो महेश्वरः। स न प्राप्नोति परमां दशपञ्चाक्षरीमिमाम्'॥ इति। अनेन ध्यानयोगेन भजतो जन्ममरणदुःखाम्बुधेरुन्मज्जनं भवतीति भावः। शिव एकारः एकादशस्वरः; तेन त्रिकोणं, परमशिवो बिन्दुः तन्निलयां श्रीचक्रान्तर्गतत्रिकोणमध्यबिन्दुनिलयां भजन्तीति - सांप्रदायिकार्थो गुरुगम्यः॥ ८॥

अरुणामोदिनी

एवं ध्यातव्यदेवतास्वरूपमभिधाय ध्यानप्रणालीमुपदिशति—**सुधासिन्धोरिति**। हे देवि, सुधासिन्धोरमृताब्धेर्मध्ये मध्यभागे, तत्र च सुरविटपिनां कल्पतरूणां वाटीभिः शाखाभिः परिवृते परितः समन्ताद्वृते वेष्टिते, मणिद्वीपे वज्रवैडूर्यादिमाणिक्यखचितेऽन्तरीपे, तत्र च नीपैः कदम्बैरुपवनमारामोऽस्यास्तीति तस्मिन्। 'कदम्बवनवासिनीम्' इत्यादिप्रयोगाद्देव्याः कदम्बवनवासरसिकत्वादिति भावः। चिन्तामणिभिश्चिन्तितार्थप्रदैर्माणिक्यविशेषैर्निर्मिते गृहे सद्मनि। तत्र च शिवस्य पञ्चवक्त्रस्य महेशितुराकार इवाकारो यस्य तस्मिन्मञ्चे सिंहासने। परमशिवपर्यङ्कनिलयामतिकल्याणास्तरणनिवासिनीम्, चित्स्वरूपश्चासावानन्दश्च चिदानन्दो निरतिशयसुखम्, तस्य लहरीं प्रवाहरूपां त्वां भवतीं कतिचन केचिद्धन्याः सुकृतिनो भजन्ति सेवन्ते, कति न भजन्ति च, भजन्त्येवेति वाऽर्थः। प्रथमं सुधासिन्धुं निधाय तन्मध्ये कल्पवृक्षपरीतरत्नान्तरीपसंस्थितनीपोद्यानवनमध्यस्थरत्नमण्डपान्तःसंस्थिते सिंहासनेऽतिकल्याणोपबर्हणोपरि संस्थितां चिदानन्दरूपिणीं देवीं क्वणदित्यादिश्लोकोक्तप्रकारेण ध्यायेदित्युपदेशः। तथा चोक्तम्—"सुधाब्धौ नन्दनोद्याने रत्नमण्डपमध्यगाम्। बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहुां त्रिलोचनाम्॥ पाशाङ्कुशौ शरांश्चापं धारयन्तीं शिवां श्रियम्। ध्यात्वा च हृद्गते चक्रे व्रतस्थः परमेश्वरीम्। पूर्वोक्तध्यानयोगेन संचिन्त्य जपमाचरेत्॥' इति। उक्तं चाचार्यैः—'सुधासिन्धुमध्ये मणिद्वीपरम्ये सुकल्पद्रुमाकल्पकादम्बसत्रे। स्फुरत्स्वर्णसिंहासने रत्नपीठे भवाङ्के निषण्णां भजाम्यन्नपूर्णाम्॥' इति। इति प्रातीतिकार्थः॥

आगमरहस्यार्थस्तु—नवयोन्यात्मके श्रीचक्रे शिवात्मकयोनिचतुष्कस्योपरि शक्त्यात्मकयोनिपञ्चकस्याधःप्रदेशे वर्तमानस्य बिन्दुस्थानस्य सुधासिन्धुरिति नाम। तस्य मध्ये मध्यभागे सुरविटपिनां कल्पसंतानहरिचन्दनमन्दारपारिजातरूपसुरतरुत्वेनागमोक्तानां पञ्चानां योनीनां वाटीभिर्वेष्टनैः। 'वेष्ट परिवेष्टने' इति धातुः। परिवृते व्याप्ते मणिद्वीपे मणिमयरत्नद्वीपवत्स्थिते नीपैः कदम्बैरुपवनवति, यद्वा नयन्ति चक्रस्वरूपमिति नीपा रेखाः, ता एवोपवनं तद्वति, चिन्तामणिनिर्मिते गृहे, पुष्यरागपद्मरागगोमेधवज्रवैडूर्यनीलमुक्तारत्नमरकतादिनिर्मितप्राकारानन्दवापि-

कादिसहिते, शिवायाः शक्त्या आकारो रूपं यस्य तस्मिञ्शिवात्मके, यद्वा शिवा एकारस्तदात्मके त्रिकोण इत्यर्थः। मञ्चे ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरपादसहितायां खट्वायाम्, परमश्चासौ शिवश्च परमशिवः सदाशिवः, स एव पर्यङ्कोऽवसक्थिका कशिपुरित्यर्थः। स निलयो यस्यास्ताम्, तत्र नित्यनिवासिनीमित्यर्थः। चिदानन्दलहरीं ज्ञानानन्दप्रवाहिनीं त्वाम्, भक्ताभीष्टदात्रीं भवतीमित्यर्थः। कतिचन केचिद्धन्याः सुकृतिनो हरिहरादयो भजन्ति सेवन्ते, हरिहरद्रुहिणरुद्रा भृतकत्वमिन्द्रश्च पतद्ग्रहतां च प्राप्य नित्यं भवतीमेव सेवन्त इत्यर्थः। तदुक्तं भैरवयामले वामकेश्वरतन्त्रे—'बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्च योन्यः सुरद्रुमाः। तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्डपम्। तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम्। शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हिणि। अतिरम्यतले तत्र कशिपुश्च सदाशिवः। भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः। तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी। शिवार्कमण्डलं भित्त्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्। तनूद्भूतामृतस्यन्दिपरमानन्दनन्दिता। कुलयोषित्कुलं त्यक्त्वा परं पुरुषमेति सा॥' इति। इत्यागमरहस्यार्थः॥

ग्रन्थपरार्थोऽपि प्रतीयते—हे देवि, सुरा देवा एव विटपिनः कल्पतरवः, इष्टार्थदातृत्वात्। तेषां वाटीभिः स्थलविशेषैः परिवृते, श्रीशैलादितत्तत्प्रसिद्धदेवतास्थलचिह्नित इत्यर्थः। मणिमया द्वीपा यस्मिंस्तत्तदुपासनयोग्यस्थलसहित इत्यर्थः। नीपोपवनवति कदम्बवनयुक्ते, चिन्तामणिनिर्मितानि गृहाणि देवालयानि यस्मिंस्तस्मिन्। सुधाशब्देन सुष्ठु दधाति भुवनमिति व्युत्पत्त्या सुधावदतिधवलत्वाद्वा सुधा इत्यनेन हिमाचल उच्यते। तथा च सुधामारभ्य आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्तं हिमाचलमारभ्य सेतुपर्यन्तं मध्यदेशे शिवाकारे अतिधवलत्वात्स्फटिकमणीमयतया शिवसदृशे मञ्च्यत इति मञ्चे पूज्ये कैलास इत्यर्थः। परमशिवः सदाशिवः, यद्वा परमौ च तौ शिवौ च परमशिवौ, तस्य तयोर्वा पर्यङ्क उत्सङ्गो निलयो यस्यास्तां, पार्वतीपरमेश्वराभ्यामङ्के निधायानुगृहीतामित्यर्थः। अत एव भगवत्पादाः स्तोत्रमेतद्विधाय कैलासं गत्वा तत्रैतामेव स्तुतिं पार्वतीपरमेश्वरसमीपे पठ्यमानां दृष्टवन्त इति प्रसिद्धिः। चिच्छक्तेर्देव्याः प्रतिपादिकामानन्दलहरीं तदभिधेयां त्वां प्रबन्धमित्यर्थः। यद्वा, चनचितां प्रत्येकान्वयत्वे आनन्दलहरीं प्रबन्धं, त्वां च कतिचिद्धन्या न भजन्तीति काकुः। भजन्त्येवेत्यर्थः। इति ग्रन्थमहत्त्वाप्रतिपादकार्थः॥

अथ च सुष्ठु राजते प्रकाशत इति सुरो जीवः; स एव विटपी, आपादमस्तकं विस्तीर्य वर्तमानत्वात् तस्य वाट्या वेष्टनेन परितो वृते धृते; तदभावे देहस्थित्यभावात्। किं च, मणिमया मणिवत्प्रकाशमानाः द्वीपाः देवतानिवासस्थानत्वाद्द्वीपतुल्या मूलाधारादिस्थानविशेषाः। यद्वा, मणिरूपा द्वीपाः शिवेन स्वनिवासस्थानतया विष्णुं प्रति कथिताः ब्रह्मरन्ध्रमुखचक्षुःश्रोत्रगण्डोष्ठदन्तमूर्धहस्तपादादिसंधिपार्श्वनाभिहृदयादयो यस्मिंस्तस्मिन्। नयन्ति शरीरं गमनागमनव्यापारैरिति नीपाः प्राणापान-

ஸுதாஸிந்தோர் மத்யே ஸுரவிடபிவாடீ பரிவ்ருதே
4 4 4 1 1 1 1 1

மணித்வீபே நீபோபவனவதி சிந்தாமணிக்ருஹே;
3 1 1 1 1 1 1 1 3

சிவாகாரே மஞ்சே பரமசிவ பர்யங்க நிலயாம்
1 1 1 1 1

பஜந்தி த்வாம் தன்யா: கதிசன சிதாநந்தலஹரீம்.
4 1 1 4 1 1 1 1 3 3

सुधासिन्धु के बीच सुरद्रुमवाटीगण से परिवेष्टित,
मणिमय अंतरीप में शुभ कदंब उपवनमध्य विनिर्मित,
चिन्तामणि मंदिर में शिवाकार मंचोपरि समलंकृत,
परमशिवास्तरण का बना अधिवास मनोहर शुचि संस्कृत,
शासन करनेवाली चिदानंदलहरी का तव चिंतन -
करते हैं भाग्यवान कतिचन भगवति माते! सन्त सुजन! ॥

लक्ष्मीधरा

सुधासिन्धोरिति । सुधासिन्धोः अमृतसमुद्रस्य, मध्ये, सुरविटपिवाटीपरिवृते - सुरविटपिनां कल्पवृक्षाणां वाटीभिः परिवृते, मणिद्वीपे - मणिमये अन्तरीपे, नीपोपवनवति - नीपैः कदम्बैः उपवनवति, चिन्तामणिगृहे चिन्तामणिविरचिते मन्दिरे, शिवाकारे - शिवात्मके शक्तिरूपे, त्रिकोण इति यावत्, मञ्चे खट्वायां, परमशिवपर्यङ्कनिलयां परमशिव एव पर्यङ्कः तल्पं - तत्र निलयः अवस्थितिर्यस्याः तां, भजन्ति सेवन्ते, त्वां भवतीं, धन्याः - त्वत्प्रसादवशात् कृतार्थाः, कतिचन विरलाः, चिदानन्दलहरीं - उत्सेकरूपाम् ।

अत्रेत्थं पदयोजना हे भगवति सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां त्वां चिदानन्दलहरीं कतिचन धन्याः भजन्ति । अत्रेदमनुसन्धेयम् - भगवत्पादाचार्याः समयमतपारदृश्वानः समयाचारप्रवीणाः समयरूपां भगवतीं स्तुवन्ति । समयाचारो नाम आन्तरपूजारतिः; कुलाचारो नाम बाह्यपूजारतिः इति रहस्यम् । एतच्च तवाधारे मूले सह समयया इत्यादिश्लोकव्याख्यानावसरे निपुणतरमुपपादयिष्यामः । श्रीचक्रस्य वियच्चक्रमिति नामान्तरमस्ति । वियच्चक्रत्वं तु वियत्पूज्यत्वात् । वियत्पूज्यत्वं द्विविधम् - दहराकाशजं, बाह्याकाशजं चेति । बाह्याकाशजं नाम बाह्याकाशावकाशे पीठादौ, भूर्जपत्र-शुद्धपटहेमरजतादिपट्टतले लिखित्वा समाराधनम् । एतदेव कौलपूजेत्याहुर्वृद्धाः । तदुत्तरत्र स्फोर्यते । दहराकाशजं नाम हृदयाकाशावकाशे चक्रस्य पूजनम् । इदमेव समयपूजेत्याहुः

समयिनः । एतदप्युत्तरत्र स्फोर्यते । तत्र नवयोनिष्वधःस्थितशिवात्मकयोनिचतुष्कस्योपरि ऊर्ध्वस्थितशक्त्यात्मकयोनिपञ्चकादधःप्रदेशस्य बैन्दवस्थानस्य नाम सुधासिन्धुरिति । 'बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्च योन्यः सुरद्रुमाः । तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्टपम् ॥ तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम् । शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे ॥ अतिरम्यतरे तत्र कशिपुश्च सदाशिवः । भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः ॥ तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी । शिवाऽर्कमण्डलं भित्त्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम् । तदुद्भूतामृतस्यन्दिपरमानन्दनन्दिता । कुलयोषित्कुलं त्यक्त्वा परं वर्षणमेत्य सा ॥' इति भैरवयामले वामकेश्वरमहातन्त्रे बहुरूपाष्टकविद्यायां कथितम् । 'देव्या मन्दिरमुत्तमम्' इत्यस्यार्थः — देवीमन्दिरं त्रयश्चत्वारिंशत्त्रिकोणात्मकं श्रीचक्रमुच्यते । अत उक्तं 'शिवाकारे मञ्चे' इति । त्रिकोणात्मकश्रीचक्रस्य बैन्दवस्थानं प्रत्यङ्गत्वात्, बैन्दवस्थानस्य प्रधानत्वात्, प्रधाने गुणस्यान्तर्भावात् तदन्तर्भाव उक्त इति रहस्यम् । 'भृतकाः' इत्यस्यार्थः—भृतकाः भृत्याः द्रुहिणहरिरुद्रेश्वराः । एतच्च 'गतास्ते मञ्चत्वं द्रुहिण....' इत्यादिश्लोकव्याख्यानावसरे वक्ष्यते । 'शिवार्कमण्डलं भित्त्वा' इत्यस्यायमर्थः—शिवा नाम शक्तिः कुण्डलिनी अर्कमण्डलं हृत्कमलोपरि स्थितं भित्त्वा भिन्नं कृत्वा अवयुत्य आच्छाद्येत्यर्थः । अर्कमण्डलोपरि स्थितं ब्रह्मद्वारं पिधाय सहस्रकमलान्तःस्थितमिन्दुमण्डलं दशति द्रावयति । अत एव कुलयोषित् कुण्डलिनीशक्तिः कुलं कुलमार्गं सुषुम्नामार्गं त्यक्त्वा तत्रैवेन्दुमण्डले आस्थाय परं वर्षणं उत्कृष्टवर्षणं द्विसप्ततिसहस्रनाडीषु प्रवर्षणम्; कृत्वेति शेषः । सा कुण्डलिनी पुनः स्वस्थानमेत्य स्वाधिष्ठानं प्राप्य स्वपितीति तात्पर्यम् । शिवादीनां मञ्चत्वोपधानत्वपतद्ग्रहत्वावस्थापन्नत्वं कामरूपत्वाद्देवानामत्यन्तासन्नसेवार्थं घटते । इममेवार्थं संक्षेपेणोक्तवान्सदाशिवः—'सुधाब्धौ नन्दनोद्याने रत्नमण्टपमध्यगाम् । बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहुं त्रिलोचनाम् ॥ पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां श्रियम् । ध्यात्वा च हृद्गतं चक्रं व्रतस्थः परमेश्वरीम् ॥ पूर्वोक्तध्यानयोगेन चिन्तयन् जपमाचरेत् ।' इति । अनेन 'क्वणत्काञ्चीदामा' इति, 'सुधासिन्धोर्मध्ये' इति श्लोकद्वयमेकीकृत्य व्याख्यातमित्यवगन्तव्यम् ॥ ८ ॥

सौभाग्यवर्धनी

ध्यानमुक्तम्; कुत्र ध्येयाऽहमित्यत आह—**सुधासिन्धोरिति** । अमृताम्बुधिमध्ये कल्पवृक्षवाटिकावृते कदम्बोपवनयुते नवरत्नखचितद्वीपे चिन्तामणिघटितकुड्यस्तम्भप्राकारतोरणादिमण्डितगृहे शिवाकारभाजि मञ्चे, सदाशिव एव मञ्चीभूत इत्यर्थः । तथा मञ्चचरणीभूतविधिहरिरुद्रेश्वरविलसिते मञ्चीभूते सदाशिवे परमासने परमशिवपर्यङ्कनिलयां परमशिवः गुणातीतः सकलप्रपञ्चसाक्षी सच्चिदानन्दसुन्दरः त्वदपेक्षया पर्यङ्कतां प्राप्त इत्यर्थः । तत्र निषण्णां त्वां धन्याः कतिपये पश्चिमजन्मानः

व्यानोदानसमानाख्या मुख्यप्राणाः, नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजयोपप्राणाश्च; नितरां पाति शरीरमिति वा नीपाः पूर्वोक्ता इन्द्रियाधिष्ठानदेवताश्च, तैरुपवनवति उद्यानवनयुक्ते। संकल्पविकल्पात्मकत्वात् चिन्तारूपं आत्माधिष्ठानत्वान्मणिवत्प्रकाशमानत्वान्मणिरूपं च गृहं गुहात्वेनोपनिषद्भिर्निरुक्तं हृदयपुण्डरीकं यस्मिंस्तस्मिन्। यद्वा, चिन्तामणीनामिष्टार्थवितरणप्रवणतया--चिन्तामणिरूपाणाम्। 'श्रीपर्वतः शिरःस्थाने केदारस्तु ललाटके। वाराणसी महाप्राज्ञा भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे॥ भ्रुवोर्घ्राणस्य यः संधिरिति जाबालिका श्रुतिः। कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागो हृत्सरोरुहे॥ चिदम्बरं तु हृन्मध्यमाधारः कमलालयः।' इति पुराणोक्तानां श्रीपर्वतादीनां पुण्यक्षेत्राणां गृहे निवासस्थाने शिवाकारे सकलदेवतावासत्वात् शिवात्मके, अत एव मञ्चे पूज्ये तदात्मतया भावनार्हे इत्यर्थः। सुष्ठु दधाति शरीरमिति सुधः, मूलाधारः पादेन्द्रियं वा, उभयाभावे शरीरधारणाभावात्। आ समन्तात्सेधति सिञ्चति नाडीमार्गमिति आसिन्धुः, शिरःस्थितश्चन्द्रः; सुधसहितस्य आसिन्धोः पादशिरसोर्मध्ये मध्यभागे परमशिवः अतिकल्याणरूपमनाहतं चक्रम्, तदेव पर्यङ्कः स निलयो यस्यास्तां नित्यं हृत्कमलवासिनीं चिदानन्दलहरीं त्वां कतिचनाध्यात्मे सेवन्त इति प्रतिपाद्यप्रतिपादकसंवलितार्थः॥ ८॥

आनन्दगिरीया

अत्रारभ्य श्लोकत्रयेण कुण्डलिनीं स्तौति **सुधासिन्धोरिति**। हे परमेश्वरि, मातः धन्याः केचन त्वां भजन्ति। कुत्रेत्यत आह - सुधासिन्धोरित्यादि। अमृतसागरमध्ये यो मणिद्वीपः कल्पवृक्षवाटीपरिवृतः, तत्र चिन्तामणिनिर्मितं गृहं शालाप्राकारतोरणापवरकवेदिकायुक्तं परितः प्रफुल्लकदंबवनवायुसुरभीकृतं, तत्र गृहे समीचीनयथोचितवेदिकायां श्रीचक्रमालिख्य तत्र श्रीचक्रमध्ये यः त्रिकोणाकारः श्रीकण्ठः सदाशिवो मञ्चत्वेन ध्येयः, तस्य च ब्रह्मविष्णुरुद्रमहेश्वराः चत्वारो देवाश्चरणत्वेन ध्येयाः। तन्मध्ये यो बिन्दुः स सदाशिवः परमः शिवपर्यंकत्वेन ध्येयः, तत्र निलयः स्थानं यस्याः, एतादृशीं त्वां पञ्चदशाक्षरया लोपामुद्राविद्यया भजन्ति, ध्यायन्ति धन्याः एवं भजन्तीत्यर्थः। कीदृशीं त्वां चिदात्मनः संयोगे प्रादुर्भूतानन्दलहरीं इति। अयं तु सांप्रदायिकोऽर्थः। परे तु समुद्रद्वीपकल्पद्रुमादीन् वाग्भवकामराजादिबीजपूर्वकचतुर्थ्यन्ततत्तन्नाममन्त्रैश्चत्वारिंशद्भिस्तान् पूजयेत् इति। तदस्मत्संप्रदायाननुसारित्वात्प्रपञ्चसारादावदृष्टत्वात् अस्माभिर्न लिखितम्। पूजाविधिस्तु षोडशोपचारैः चतुर्गुणितैः वर्तत इति विशेषः। अत्रारभ्य रहस्यार्थः - सुधेति शरीराभ्यन्तरे, चतुर्दशकमले मणिद्वीपे मूलाधारे नीपोपवनवति। चिन्तामणिः शिवलिङ्गः। तद्गृहे स्वयंभूलिङ्गाधिष्ठाने गुणत्रयात्मकस्वयंभूलिंगे पीठे शिवः प्रकाशः, तत्पर्यंकगतां कोटिसूर्यप्रतीकाशामिति प्रतिपादितत्वात्। चिदानन्दलहरीमेव त्वां कुण्डलिनीं स्तुवन्तीति। तथा च कुण्डलिनीचिन्तनपरस्य सर्वं ज्ञायेतेति भावः। एवंभूतां चिन्तयतः किं न स्यात्॥ ८॥

तात्पर्यदीपिनी

भगवत्या मुख्यमंगध्यानं अवगतमेव । तदावासभूतसमुद्रद्वीपनगरमन्दिरशय्यासनादिकं यावन्नोपदिश्यते, तावत् ध्यातॄणां ध्यानसंपत्तिः कुत इत्यत आह—**सुधासिन्धोरिति** - हे मातः कतिचन विरलाः तत्रापि धन्याः कृतपुण्यपुञ्जाः त्वां-चिदानन्दलहरीं, चित् ज्ञानं, आनन्दः निरतिशयसुखं, तयोः लहरीं त्वां भवतीं, भजन्ति सेवन्ते । भजनस्थानमाह - किंविधां त्वां ? सुधासिन्धोः अमृतसमुद्रस्य, मध्ये अन्तरालप्रदेशे, सुरविटपिवाटीपरिवृते सुराणां विटपिनः कल्पवृक्षाः, तेषां वाटी वनं, तया परिवृतं वेष्टितं तस्मिन्, मणिद्वीपोपवनवति, नीपानां कदंबवृक्षाणां उपवनानि उद्यानानि यस्मिन्, तथोक्ते कदम्बोद्यानसंपन्ने, चिन्तामणिगृहे चिन्तामणिनिर्मितगृहे, तस्याभ्यन्तरवर्तिनि शिवाकारे ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वराख्यैः चतुर्भिः शिवैः मञ्चपादचतुष्टयतामापन्नैः, परमशिवेन सदाशिवाख्येन मञ्चोपरिफलकाकारधारिणा उत्तानशायिना साञ्जलिना संपन्ने मञ्चे खट्वायां तदुपरि स्थितस्य परमेश्वरस्य कामेश्वरस्य समानरूपवर्णायुधालंकारवस्त्रमाल्यादियुक्तस्य सर्वाकारसमानस्य पुंस्त्वप्रख्यापकश्मश्रवादिमात्रभिन्नस्य भगवतः पर्यंके निलयो यस्याः सा तथोक्ता ताम् । अनेन श्लोकेन अमरसुधानिधिसिन्धुनानावृक्षमहीधरादयः, सुरविटपिशब्देन कल्पवृक्षवाटिकादयः, मणिद्वीपशब्देन नवरत्नशालादयः नीपोपवनशब्देन श्यामलांभः, चिन्तामणिगृहशब्देन चतुर्द्वाराणिमादिचक्रादयः शिवाकारमञ्चशब्देन बिन्दुस्थानमध्यवर्तिमहामञ्चजवनिकावितानादयः सर्वेऽपि चतुश्चत्वारिंशन्मन्दिरमन्त्रवाच्याः ध्वनिताः ते मन्त्राः पद्धतिभ्योऽवगन्तव्याः ॥ ८ ॥

पदार्थचन्द्रिका

एवं भवानीं संप्रार्थ्येदानीं तस्या बहिरंगध्यानमाह—**सुधासिन्धोरिति** । हे हिमगिरिसुते, धन्याः प्राचीनानेकजन्मोपार्जितपुण्यपुञ्जशुद्धान्तःकरणास्ते च कतिचन कतिपयास्त्वां भजन्ते सेवन्ति ध्यायन्तीत्यर्थः । भवानीं विशिनष्टि-सुधासिन्धोर्मध्ये, तत्रापि मणिद्वीपे, तत्रापि चिन्तामणिगृहे, तत्रापि मञ्चे स्थितो यः परमशिवपर्यङ्कः आस्तरणरूपः सदाशिवः स निलय आश्रयो यस्यास्ताम् । अत्र मध्य इत्येवमादि सप्तम्यन्तपदचतुष्टयं व्यधिकरणं द्रष्टव्यम् । सुधा अमृतं तस्य सिन्धुः क्षीरसागरः, तस्य मध्ये । मणिद्वीपं विशिनष्टि-सुरेति । सुरविटपिनः कल्पवृक्षाः, तेषां वाटी, उपवनं तेन परिवृते । चिन्तामणिगृहं विशिनष्टि-नीपेति । नीपानामुपवनं तद्विद्यते यस्मिंस्तथा तस्मिन् । अत्र निपात्ययोगाभिप्रायेण मतुप्प्रयोगः । अन्यथा बहुव्रीहिणैव नीपोपवनसंबन्धेन मतुपो वैयर्थ्यं स्यात् । चिन्तामणिनिर्मितं गृहं चिन्तामणिगृहं, तस्मिन् मञ्चे उपवेशनस्थाने । तद्विशिनष्टि - शिवाकारे द्रुहिणहरिरुद्रेश्वरमयत्वान्मंगलरूपे । ध्येयस्य भवानीस्वरूपस्यानन्दरूपतामाह-चिदिति । चिच्चासौ आनन्दश्च चिदानन्दो ब्रह्म, तस्य लहरीव लहरी ताम् । लहरीशब्देनात्रैवं

ध्वनितम् । यथा समुद्रलहरी, भिन्नत्वेन प्रतीयमानापि भवानी परमार्थतो न भिन्ना, किन्तु ब्रह्मैव । अथवा चितः शास्त्रजन्यानि ज्ञानानि, आनन्दा विषयसुखानि, तेषां लहरी परंपरा यस्याः सा ताम् । यद्वा चित् ब्रह्मान्तःकरणवृत्तिः, आनन्दाः तद्भक्तिजन्यानि सुखानि, तेषां लहरी यस्याः सा ताम् ॥ ८ ॥

डिण्डिमभाष्यम्

भगवत्या मुख्यमङ्गलध्यानमवगतमेव । तत्सदानासभूतसमुद्रद्वीपनगरमन्दिरशय्याऽऽसनादिकं यावन्नोपदिश्यते तावद् ध्यातॄणां ध्यानसम्पत्तिः कुत इत्याशङ्क्याह - **सुधासिन्धोरिति** । सुधासिन्धोरमृतसमुद्रस्य मध्ये अन्तरालप्रदेशे, सुरविटपिवाटीपरिवृते दिव्यकाननवृक्षवेष्टिते, मणिद्वीपे रत्नमयान्तरीपे ; पुनः किम्भूते ? नीपोपवनवति कदम्बोद्यानसम्पन्ने, तन्मध्यस्थिते देवमणिनिर्मितमन्दिरे ; ततोऽन्तर्वर्तिनि शिवाकारे ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वराख्यैः चतुर्भिः शिवैर्मञ्चपादचतुष्टयतामापन्नैः पञ्चमशिवेन सदाशिवाख्येन मञ्चोपरिफलकाकारिणा उत्तानशायिना साञ्जलिना सम्पन्ने मञ्चे खट्वायां तदुपरि स्थितस्य परमशिवस्य कामेश्वरस्य स्वसमानरूपवर्णायुधालङ्कारवस्त्रमाल्यादियुक्तस्य सर्वाकारसमानस्य पुंस्त्वप्रख्यापनमात्रलक्षणभिन्नस्य भगवतः पर्यङ्के निलयो निवासो यस्याः सा तथोक्तां तां चिदानन्दलहरीरूपां सच्चिदानन्दप्रवाहलक्षणमयीं, त्वां भगवतीं, कतिचन ध्यायिनः पुण्यजन्मानो, भजन्ति सेवन्ते । अनेन श्लोकेनारम्भे सुधानिधिः सिन्धुः नानावृक्षमहोद्यानादयः, सुरविटपिशब्देन कल्पवाटिकादयः, मणिद्वीपशब्देन चतुर्द्वाराणिमादिचक्रादयः, नीपोपवनशब्देन बिन्दुस्थानमध्यवर्तिमहामञ्चजवनिकावितानादयः सर्वेऽपि चतुश्चत्वारिंशन्मन्दिरमन्त्रवाच्यादयो ध्वनिताः । तदुक्तं महायोगपद्धतौ, तत्र मन्त्रा एते—
"अमृताम्भोनिधये नमः, रत्नद्वीपाय नमः, नानावृक्षमहोद्यानाय नमः, कल्पवाटिकायै नमः, हरिचन्दनवाटिकायै नमः, सन्तानवाटिकाय नमः, पारिजातवाटिकायै नमः, कदम्बवनवाटिकायै नमः, पुष्परागरत्नप्राकाराय नमः, पद्मरागरत्नप्राकारायः नमः, गोमेधरत्नप्राकाराय नमः, वज्ररत्नप्राकाराय नमः, इन्द्रनीलरत्नप्राकाराय नमः, मुक्तारत्नप्राकाराय नमः, मरकतरत्नप्राकाराय नमः, विद्रुमरत्नप्राकाराय नमः, माणिक्यरत्नप्राकाराय नमः, सहस्रस्तम्भमण्डपाय नमः, अमृतवापिकायै नमः, आनन्दवापिकायै नमः, बालातपोद्गाराय नमः, चन्द्रिकोद्गाराय नमः, महाशृङ्गारपरिघायै नमः, महापद्माटव्यै नमः, चिन्तामणिगृहराजाय नमः, पूर्वाम्नायमयपूर्वद्वाराय नमः, उत्तराम्नायमयोत्तरद्वाराय नमः, दक्षिणाम्नायमयदक्षिणद्वाराय नमः, पश्चिमाम्नायमयपश्चिमद्वाराय नमः, रत्नप्रदीपवलयाय नमः, महासिंहासनाय नमः, ब्रह्ममयैकमञ्चपादाय नमः, विष्णुमयैकमञ्चपादाय नमः, रुद्रमयैकमञ्चपादाय नमः, ईश्वरमयैकमञ्चपादाय नमः, सदाशिवमयमञ्चफलकाय नमः, हंसतूलतूलिकायै नमः, हंसतूलमहोपधानाय नमः, कौस्तुभास्तरणाय नमः, महावितानकाय नमः, महाजवनिकायै नमः, इति । एते सर्वत्र नमोन्ता वाङ्मयकमलापुरःसरा मन्दिरमन्त्राः" एतेन श्लोकेन सूचिता भवन्ति ।

'भजन्ति त्वाम्' इत्यत्र भजनं नाम पूजनम्। तच्च चतुःषष्ट्युपचारात्मकम्। तच्च भगवत्याः श्रीसुन्दरीभट्टारिकाया असाधारणचिह्नं, नान्यासां देवतानाम्। अन्यासान्तु कासाञ्चित् पञ्चोपचाराः, कासाञ्चित् षोडशोपचाराः, ततोऽप्यधिकानां कासाञ्चिच्चतुर्विंशत्युपचाराः। सर्वदेवताचक्रसिंहासनाधिरूढायाः श्रीललितामहाभट्टारिकायाश्चतुःषष्ट्युपचाराः कर्तव्याः तन्मन्त्राश्चतुःषष्टिप्रकारा आगमशास्त्रप्रसिद्धा लिख्यन्ते—"आवाहनानन्तरं पाद्यं कल्पयामि नमः, अर्घ्यं कल्पयामि नमः, इति क्रमेण आभरणावरोपणं, सुगन्धितैलाभ्यङ्गम्, मज्जनशालाप्रवेशनम्, मञ्चमण्डपमणिपीठोपवेशनं, दिव्यस्नानार्थमुद्वर्तनमुष्णोदकस्नानं, कनककलशच्युततीर्थाभिषेकः, धौतवस्त्रपरिमार्जनम्, अरुणदुकूलपरिधानम्, अरुणदुकूलोत्तरीयम्, आलेपनमण्डपप्रवेशनम्, आलेपनमण्डपमणिपीठोपवेशनम्, चन्दनागुरुकुङ्कुमशङ्कुमदमृगमदकर्पूरकस्तूरीगोरोचनादिदिव्यगन्धेन सर्वविलेपनं केशभारस्य कालागरुधूपं, मल्लिकामालतीजातीचम्पकाशोकशतपत्रपूगकुड्मलीपुन्नागकह्लारमुख्यसर्वर्तुकुसुममालां, भूषणमण्डपप्रवेशनम्, भूषणमण्डपमणिपीठोपवेशनम्, नवमणिमुकुटं, शशिशकलसीमन्तसिन्दूरतिलककरणं, कालाञ्जनं, नीलीयुगलं, नासाभरणम्, अधरयावकं, प्रथमभूषणं, कनकचिन्ताकं, पदकं, महापदकं, मुक्तावलीम्, एकावलीछन्नकेयूरयुगलचतुष्टयं, वलयावलिम्, ऊर्मिकावलीम्, काञ्चीदाम, कटीसूत्रम्, सौभाग्याभरणम्, पादकटकम्, रत्ननूपुरम्, पादाङ्गुलीयकम्, एककरे पाशम्, अन्यकरे अङ्कुशम्, इतरकरे पुण्ड्रेक्षुचापम्, अपरकरे पुष्पबाणान्, श्रीमणिमाणिक्यपादुके स्वसमानवेषाभिरावरणदेवताभिः सह महाचक्राधिरोहणम्, कामेश्वराङ्कपर्यङ्कोपवेशनम्, अमृतासवचषकम्, आचमनीयम्, कर्पूरवीटिकाम्, आनन्दोल्लासविलासहासम्, मङ्गलारार्तिकम्, छत्रचामरयुगलम्, दर्पणतालवृन्तम्, गन्धपुष्पम्, धूपदीपनैवेद्यम्—कल्पयामि नमः; इति चतुःषष्ट्युपचारमन्त्राः।" एतैर्यत्पूजनम् तद्भावनापूर्वकम्, तदेव भगवत्या भजनमिति भजन्तीति क्रियापदनिर्देशस्यार्थः इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ ८ ॥

गोपालसुन्दरी

सुधासिन्धोरमृताम्बुधेर्मध्ये, सुरविटपिनां कल्पवृक्षाणां या वाटी तयाः परिवृते वेष्टिते, मणिद्वीपे नवरत्नरचितद्वीपे, नीपोपवनवति कदम्बारामरमणीये, चिन्तामणिगृहे चिन्तामणिरत्नरचितकुड्यस्तम्भादियुक्तमन्दिरे, शिवाकारे मञ्चे शिवानां ब्रह्मविष्णुरुद्रेशानामाकारो मूर्तिर्यत्र तादृशे मञ्चे खट्वारूपे, परमशिवः सदाशिव एव पर्यङ्ककशिपुतया स्थितः तस्मिन् निलयोऽवस्थानं यस्यास्ताम्। "ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः। एते पञ्च महाप्रेताः पादमूले व्यवस्थिताः॥" इति वचनात्। तदुक्तं रुद्रयामले—"यस्य नो पश्चिमं जन्म न स्वयं यो महेश्वरः। स न प्राप्नोति परमां दशपञ्चाक्षरीमिमाम्॥" इति। एतादृशीं त्वां कतिचन धन्याः पश्चिमजन्मानः स्मरन्ति। "सृष्टिचक्रं सुधासिन्धुः सौभाग्यं सुरवाटिकाः। दशारयुगलं रत्नद्वीपं नीपवनं तथा॥ चिन्तामणिगृहं रम्यमष्टारं

परमेश्वरि । त्रिकोणं मञ्चरूपं तु बिन्दुकं च सदाशिवः ॥ " इति वचनादर्थो वा । अथ च सुधासिन्धुरासवसमूहः सुरविटपिकुलवृक्षः भूषारूपो मणिरेव द्वीपो यत्र नीपोपवनः । चिन्तैव मणिर्यस्मात् तादृशे गृहे अवलरूपे, शिवाकारे वराङ्गरूपे, परमशिवो बिन्दुः, चिदानन्दलहरीं सर्वेषामानन्दानामित्यादि श्रुत्युक्तरूपामित्यर्थः । पर्यालोचनया पञ्चमयागोऽन्यत्र सूचितः । कीदृशीं चिदानन्दलहरीं विज्ञानसुखतरङ्गात्मिकामित्यर्थः । शिव एकारस्तेन त्रिकोणं परमशिवो बिन्दुः । श्रीचक्रान्तर्गतत्रिकोणमध्यनिलयामित्यर्थ इत्यपि वदन्ति ।

विष्णुपक्षे—नीपोपवनवति वृन्दावनेऽपि तत्सत्त्वात् सौन्दर्यातिशयने शिवमप्याकारयतीति, शिवाकारे कल्याणरूपे वा मञ्चे खट्वायां, हे परमशिव परमकल्याणस्वरूप ! पर्यङ्कनिलयां चिदानन्दलहरीरूपां त्वां कतिचन पुरुषा भजन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

आनन्दलहरीटीका

विशेषान्तरमप्याह—**सुधेति** । सुधासिन्धोः अमृतसमुद्रस्य मध्ये, सुरविटपिनां देववृक्षाणां या वाटी, तया परि सर्वतो वृते मणिद्वीपे जलमध्यस्थतटप्रदेशे नीपानां कदम्बानामुपवनं आरामः क्रीडावनं तद्वति, चिन्तामणिरूपरत्ननिर्मिते गृहे मञ्चे खट्वायां, कीदृशे ? शिवानां ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वराणामाकारा मूर्तयः, पादचतुष्टयरूपेण वर्तन्ते यत्र, तादृशे । परमशिवः सदाशिव एव पर्यङ्कः पादचतुष्टयोपरिस्थितफलकरूपः, तत्र निलय आसनं यस्याः सा तथा, ताम् । तदुक्तं तन्त्रे—" ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः । एते पञ्च महाप्रेताः " । महाप्रेतत्वं नाम महावीरत्वम् । प्रेताः प्रकर्षेण इताः देवीशरीरसंसर्गातिशयं प्राप्ताः । भट्टारिकया देव्या कामेश्वरांगेन संगः । कामेश्वरस्य शिवेन संगः, सदाशिवस्य मञ्चस्थमध्यफलकतां प्राप्तस्य, मञ्चेषु खट्वापादमूले व्यवस्थिता इति । पुनः कीदृशीं—चिदानन्दलहरीं ज्ञानसुखयोस्तरङ्गाकृतिम् । अथवा सकलश्रीविद्यामन्त्रनिदानभूतकामेशीबीजस्वरूपां च । चिदानन्दपदेन कामपरेण ककारो लभ्यते । अन्यवर्णानां स्वरूपपरिग्रहः । तदुक्तं ज्ञानार्णवे—" सकला भुवनेशानी कामेशीबीजमुद्धृतम् । अनेन सकला विद्याः कथयामि वरानने " इति । कतिचन अनिर्वचनीया धन्याः । त्वत्कृपया श्लाघनीयाः एतादृशीं त्वां भजन्तीत्यन्वयः ॥ ८ ॥

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि ।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि *भित्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे ॥ ९ ॥

---

* जित्वा कुलपथं, भित्वाऽऽकुलपथं.

மஹீம் மூலாதாரே கமபி மணிபூரே ஹுதவஹம்
4 1 1 1 1
ஸ்திதம் ஸ்வாதிஷ்டானே ஹ்ருதி மருதமாகாச முபரி |
2 1 4 2 3 1 1 1
மனோபி ப்ரூமத்யே ஸகல மபி பித்வா குலபதம்
1 4 4 1 1 4 1 1 1 2
ஸஹஸ்ராரே பத்மே ஸஹ ரஹஸி பத்யா விஹரஸே ||
1 3 1 1

मूलाधार चक्रगत पृथिवी को, मणिपूरतत्व जलको,
स्वाधिष्ठानाधिष्ठित अग्नितत्व को, हृदयगतानिल को,
ऊपर के विशुद्ध में गगन तत्वको, भ्रुकुटीगत मनको ;
सब का भेदन कर कुलमार्ग पार कर सहसा सुखमन को,
सहस्रारकमल में अंततो गत्वा पहुंच परमपावन
करती हो विहार पति के सँग एकान्त में भूतभावना ! ॥

लक्ष्मीधरा

महीं पृथिवीतत्त्वं, मूलाधारे मूले गुदस्थाने सर्वाधारभूतं चक्रं मूलाधारभूतमिति, तस्मिन् मूलाधारे। "सर्वाधारा मही यस्मात् मूलाधारतया स्थिता। तदभावे तु देहस्य पातस्स्यादुद्गमोऽपि वा ॥" इति रुद्ररहस्ये। पृथिवीतत्त्वात्मकस्य मूलाधारस्याभावे देह ऊर्ध्वं वा गच्छेत्, अधो वा पतेदित्यर्थः। कं उदकतत्त्वम्। अपिशब्दः स्वाधिष्ठानोक्तवह्निं समुच्चिनोति। मणिपूरे मणिपूरचक्रे, यत्र स्थिता भगवती मणिभिः तत्प्रदेशं पूरयति, स देशो मणिपूरः। समयिनां आन्तरपूजावसरे तृतीयकमले नानाविधमणिगणखचितभूषणार्पणं देव्याः कर्तव्यमिति रहस्यम्। हुतवहं अग्नितत्त्वम्, स्थितं प्रतिष्ठितं, स्वाधिष्ठाने स्वाधिष्ठाननामके चक्रे, कुण्डलिन्याः भगवत्याः स्वयमधिष्ठाय (स्वेच्छयाधिष्ठाय) ग्रन्थिं कृत्वा अवस्थानं स्वाधिष्ठानम्। यथोक्तं योगदीपिकायां—"रुद्रग्रन्थिरयं शक्तेः स्वाधिष्ठानाग्रसीमनि" ॥ इति। यद्यपि आधारचक्रस्योपरि स्वाधिष्ठानं वर्णनीयं, तथापि आकाशादितत्त्वोत्पत्तिक्रममवलम्ब्य व्युत्क्रमेण मणिपूरचक्रवर्णनं कृतमित्यनुसन्धेयम्। एतच्च 'तवाज्ञाचक्रस्थम्' (३६ श्लोकः) इत्यादि-श्लोकषट्कव्याख्यानावसरे सम्यगुपवर्णितम्। हृदि हृदयाकाशे अनाहतनामनि चक्रे, अनाहतनादस्थानत्वात् अनाहतनामास्य। मरुतं मरुत्तत्त्वम्, आकाशं आकाशतत्त्वम्, उपरि पूर्वोक्तानामुपरि विशुद्धिचक्रे, शुद्धस्फटिकसङ्काशत्वात् विशुद्धिनामास्य। मनः मनस्तत्त्वम्, अपिशब्दः उक्तसमुच्चयार्थः, भ्रूमध्ये भ्रुवोरन्तराले आज्ञाचक्रे, अत्र आङ् ईषदर्थः, ज्ञा ज्ञानम्, ईषत् ज्ञानं यत्र जायते साधकानां भगवतीविषयम्। ब्रह्मग्रन्थिभेदनातिव्यग्रतया भगवत्या आज्ञाचक्रे क्षणमात्रावस्थानात् साधकानां

तटिल्लेखारूपेण अवभासनात् आज्ञाचक्रनामास्य। स्थितमिति लिङ्गव्यत्ययेन सर्वत्रानुषज्यते। सकलं सर्वम्। अपि समुच्चये। भित्त्वा कुलपथं सुषुम्नामार्गम्। सहस्रारे सहस्रदले पद्मे कमले सह मिलित्वा रहसि एकान्ते पत्या सदाशिवेन विहरसे क्रीडसे॥

अत्रेत्थं पदयोजना—हे भगवति, मूलाधारे महीं, कं मणिपूरे हुतवहमपि, स्वाधिष्ठाने हुतवहमेव, हृदि मरुतं, आकाशमुपरि, मनोऽपि भ्रूमध्ये आकाशमपि, स्थितमिति विभक्तिव्यत्ययेन सर्वत्रानुषज्यते। सकलं कुलपथमपि भित्त्वा सहस्रारे पद्मे रहसि पत्या सह विहरसे॥

अत्रेदमनुसंधेयम्—मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्ध्याज्ञात्मकानि षट् चक्राणि। एतानि पृथिव्यग्निजलपवनाकाशमनस्तत्त्वात्मकानि। तानि तत्त्वानि तेषु चक्रेषु तन्मात्रतयाऽवस्थितानि। तन्मात्रास्तु गन्धरूपरसस्पर्शशब्दात्मकाः। आज्ञाचक्रस्थितेन मनस्तत्त्वेन एकादशेन्द्रियगणः संगृहीतः। एवमेकविंशतितत्त्वानि प्रतिपादितानि। पत्या सह रहसि सहस्रपत्रे विहरसे इत्यनेन तत्त्वचतुष्टयं सूचितम्। तच्च मायाशुद्धविद्यामहेश्वरसदाशिवात्मकं तत्त्वचतुष्टयम्। एवं मिलित्वा पञ्चविंशतितत्त्वानि मायापर्यन्तानि मायया युक्तत्वात् प्राकृतानि। माया महेश्वरेण संयुक्ता सती तस्य जीवभावमापादयति। स जीवः प्राकृत एव। शुद्धविद्या तु सदाशिवेन युक्ता सती सादाख्या कलेति व्यवह्रियते। अतो भगवती चतुर्विंशतितत्त्वान्यतिक्रान्ता सदाशिवेन पञ्चविंशेन सार्धं विहरमाणा षड्विंशतत्त्वत्वमापन्ना परमात्मेति गीयते। एतदुक्तं भवति—सादाख्या कला पञ्चविंशेन सदाशिवेन मिलिता षड्विंशा भवति, मेलनस्य तत्त्वान्तरत्वात्। न चोभयोर्मेलनमुभयात्मकम्। तस्य तादात्म्यरूपत्वात् तत्त्वान्तरमेवेति रहस्यम्। यत्तु श्रुतिवाक्यम्—'पञ्चविंश आत्मा भवति' (तै. ब्रा. १. २. ६) इति, तत्तु सदाशिवतत्त्वप्रतिपादनपरम्, न मेलनपरमिति ध्येयम्। ननु (कथं) बैन्दवस्थानं श्रीचक्रस्य मध्यस्थितम्, शिवचक्राणां चतुर्णामुपरि शक्तिचक्राणां पञ्चानामधस्तादवस्थितत्वात्। सहस्रारपद्मस्य तु शिरःस्थितत्वात् सर्वेषामुपरि वर्तमानत्वात्, तस्य बैन्दवस्थानत्वं नोपपद्यत इति चेत्, निशम्यतां भागवतमतरहस्यम्—'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः। शिवशक्तिमयं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः॥' इत्यादौ शक्तिचक्राणि त्रिकोणाष्टकोणदशारद्वितयचतुर्दशकोणात्मकानि पञ्च चक्राणि। शिवचक्राणि तु अष्टदलषोडशदलमेखलात्रितयभूपुरत्रयात्मकानीति। अतः शक्तिचक्राणां बाह्यतः शिवचक्राणि। शिवस्य शक्तिबाह्यत्वायोगात् तानि शिवचक्राणि बिन्दुरूपेणाकृष्य शक्तिचक्रान्तरे स्थापितानि। अत एव बिन्दुः शिवचक्रचतुष्टयात्मकः शक्तिचक्रेषु पञ्चसु व्यश्नुवान~~ः—~~समाप्त इति शिवशक्त्योरैक्यमिति केचित्॥

अन्ये तु—बिन्दुत्रिकोणयोरैक्यं, अष्टकोणाष्टदलाम्बुजयोः, दशारयुग्मषोडशदलाम्बुजयोः, चतुर्दशारभूपुरयोरैक्यम्। अनेन प्रकारेण शिवशक्त्योरैक्यमित्याहुः। अत्र बिन्दुशब्देन शिवचक्र-

चतुष्टयप्रतिनिधिभूतो वर्तुलाकारो लक्ष्यते, न तु चतुष्कोणमध्यवर्ती बिन्दुः । स तु सहस्रकमलान्तर्गतः आधारस्वाधिष्ठानदशदलप्रकृतिभूतः शिवशक्तिमेलनाविष्टतनुः सादाख्यं षड्विंशं तत्वम् । तेन सह नादबिन्दुकलानामैक्यं नास्ति, तस्य नादबिन्दुकलातीतत्वात् । एतच्च पुरस्तात्प्रपञ्चयिष्यते । अत एव सहस्रकमलान्तर्गतचन्द्रमण्डलमध्यवर्ती सुधासिन्धुरेव भगवत्या विहरणस्थानमिति 'सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे' इति 'सुधासिन्धोर्मध्ये' इति श्लोकद्वयस्यैक एवार्थ इति रहस्यम् । इममेवार्थं भैरवयामले चन्द्रज्ञानविद्यायां शिव आह पार्वतीम्—'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः । नवचक्रैश्च संसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः ॥ त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा । चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च ॥ बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम् । चतुरश्रं च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात् ॥ त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम् । दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनाश्रके ॥ शैवानामपि शाक्तानां चक्राणां च परस्परम् । अविनाभावसंबन्धं यो जानाति स चक्रवित् ॥ त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा । मनुकोणं चतुष्कोणं कोणचक्राणि षट् क्रमात् ॥ मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम् । अनाहतं विशुद्ध्याख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः ॥ तवाधारस्वरूपाणि कोणचक्राणि पार्वति । त्रिकोणरूपिणी शक्तिः बिन्दुरूपः शिवः स्मृतः ॥ अविनाभावसंबन्धस्तस्माद्बिन्दुत्रिकोणयोः ।' इति । इतः पूर्वम्—'अधोमुखं चतुष्कोणं शिवचक्रात्मकं विदुः' इत्यनुसारेण 'अधोमुखानि चत्वारि त्रिकोणानि शिवात्मकानि' इत्युक्तिः 'शिवचक्राणि बाह्यानि तद्रूपेणावस्थितानि' इत्येवंपरेति ध्येयम् ॥

यद्वा, कौलमतानुसारेण अधोमुखानि चत्वारि त्रिकोणानि शिवात्मकानि, ऊर्ध्वमुखानि पञ्च त्रिकोणानि शक्त्यात्मकानि । कौलमते संहारक्रमेण लेखने नवत्रिकोणात्मकं श्रीचक्रम् । एतत्सर्वं 'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः' इत्यादिश्लोकव्याख्यानावसरे वक्तव्यमपि 'सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे' इत्यत्रावश्यं वक्तव्यत्वात् उभयोपयोगितया अत्रैव किंचित्कथितम् । विस्तरस्तु तत्रैवावधार्यः ॥ ९ ॥

सौभाग्यवर्धनी

ध्यानं त्रिविधम्—स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति । क्वणत्काञ्चीदामेति स्थूलध्यानमुक्तम् । चिदानन्दलहरीमित्यनेन परं ध्यानमुक्तम् । इदानीं सूक्ष्मध्यानमाह—**महीमिति** ॥ षट् चक्राणि मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्ध्याज्ञाऽऽख्यानि क्रमेण पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानां मनसश्च स्थानानि । एतच्चक्रषट्कं कुलपथमित्युच्यते । तदुपरि शिरसि सहस्रदलमकुलपथमित्युच्यते । हे कुण्डलिनीस्वरूपे परमेश्वरि, महीं मूलाधारे भित्त्वा, चतुर्दलपद्मं महीस्थानं भित्त्वेत्यर्थः । स्वाधिष्ठाने कं जलं भित्त्वा षड्दलं भित्त्वा, मणिपूरे हुतवहस्थितिं दशदलं भित्त्वा ; अत्र व्यत्ययेन योजना, स्वाधिष्ठानमणिपूरकयोः

शांभवमतानुसारेण संज्ञाव्यत्ययो वा। हृदि मरुतमनाहतं द्वादशदलं भित्त्वा, आकाशमुपरि कण्ठे विशुद्ध्याख्यं षोडशदलं भित्त्वा, भ्रूमध्ये मानसस्थाने द्विदलं भित्त्वा; एतच्चक्रषट्कं कुलपथमित्युच्यते; अकुलपथे सहस्रारे सहस्रदले रहसि पत्या परमशिवेन सह विहरसे। एतावता एवं सूक्ष्मध्यान-योगेनोपास्यमाना भूमित्यागादियोगसिद्धिं दिशसि। सहस्रदलेन संयुज्यमाना निर्वाणपदवीं दिशसीति भावः। तदुक्तं रहस्यसिद्धिसोपाने—कुण्डलिन्या महीभेदे योगी त्यजति मेदिनीम्। सलिलस्थानयोगेन जले चलति योगवित्॥ वह्नेर्भेदे जलमिव स्पृशत्यग्निं ज्वलच्छिखम्। मरुद्भेदे शीघ्रगतिर्याति क्रोशशतं क्षणात्॥ व्योमभेदे खे चरति मनोभेदे मनोगतिः। यत्र कामयते तत्र याति लोकत्रयेऽपि च॥ संयोजयञ्छिवपदे शिव एव प्रजायते। कर्ता हर्ता च सर्वत्र सुरासुरनमस्कृतः॥' इति। सूक्ष्मध्यानेन सूचितं कुण्डलिन्या भूमिकात्रयमुन्नेयम्। भूमिका अन्वयभूमिका प्रत्यावृत्तिभूमिकेत्यनेन पद्येनोक्ता॥ ९॥

अरुणामोदिनी

एवं ध्यानप्रणालीमुपदिश्य योगशास्त्रप्रसिद्धकुण्डलिनीरूपत्वेन भगवतीं स्तौति—**महीमिति।** हे देवि आ समन्ताद्ध्रियते शरीरमनेनेति आधारः। मूले गुदस्थाने स्थित आधारो मूलाधारः। अथवा, मूलं सर्वेषां चक्राणामादिकारणम्; स चासावाधारश्च मूलाधारस्तस्मिन्, सर्वचक्राधारे चतुर्दलत्वेन कुण्डलिनीशक्तेर्नित्यनिवासत्वेन प्रसिद्धे मूलाधाराख्ये चक्रे, 'गुदलिङ्गा-न्तरे चक्रमाधाराख्यं चतुर्दलम्। अस्ति कुण्डलिनी ब्रह्मशक्तिराधारसंपुटे॥ आब्रह्मरन्ध्रमृजुतां नीतेयममृतप्रदा।' इति वचनात्। स्थितमिति नपुंसकस्य विभक्ति(लिङ्ग)विपरिणामेन सर्वत्रान्वयः। स्थितां तन्मात्रगन्धात्मना सूक्ष्मरूपेणावस्थितां महीं भुवं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमनसामाद्यं पृथिवी-तत्त्वमित्यर्थः। मूलाधारे महीतत्त्वावस्थितिश्च रुद्ररहस्य उक्ता, 'सर्वाधारा मही यस्मान्मूलाधारतया स्थिता। तदभावे तु देहस्य पातः स्यादुद्गमोऽपि वा॥' इति। तथा मणिभिर्नानारत्नैः पूर्यते भूष्यते देवी अत्रेति, मूलाधारादुत्थापिताया देव्या मणिपूरकचक्रे भूषणैर्भूष्यत्वादिति मणिपूरे नाभिसंस्थे अन्वर्थनामनि दशदले चक्रे 'नाभौ दशदलं चक्रे मणिपूरकसंज्ञितम्' इति वचनात्। स्थितम्, तन्मात्र-रसात्मना सूक्ष्मरूपेणावस्थितं कं जलं तत्तत्वमित्यर्थः। तथा भगवत्याः शक्त्याः स्वयमात्मना सर्वा-कारत्वेन ग्रन्थिं कृत्वा अधिष्ठीयत इति वा, सुष्ठु अधिष्ठीयत इति वा स्वाधिष्ठानं मूलाधारोपरितनं षड्दलमग्नितत्त्वात्मकं कमलम्; 'स्वाधिष्ठानं लिङ्गमूले षट्पत्रं च क्रमस्य च' इत्यागमात्। तस्मिन् स्थितं रूपतन्मात्ररूपेण सूक्ष्मरूपेणावस्थितं हुतवहमग्नितत्त्वमित्यर्थः। अत्र यद्यपि, 'मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम्। अनाहतं विशुद्धयाख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः॥' इत्यागमान्तर-पर्यालोचनया मूलाधारानन्तरं स्वाधिष्ठानमेव वक्तव्यम्, तथाऽपि 'आत्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी,' 'आपो वा अग्नेरायतनम्, 'अद्भ्योऽग्नि-

ब्रह्मतः क्षत्रं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाः' इत्यादिश्रुतिसूत्रक्रममवलम्ब्य मणिपूरमुक्तवानिति ध्येयम्। किं चेदम्, 'तवाज्ञाचक्रस्थम्' इत्यादिश्लोकषट्कश्रौतक्रममवलम्ब्यावरोहणक्रमेणैव आत्माकाशमरुदग्निजलपृथिवीतत्त्वात्मकानि आज्ञाप्रभृतीनि कमलान्युपदिश्य ध्यानं निबध्नतां 'मनस्त्वं व्योम त्वम्' इति श्लोके, 'नरं' 'क्षितौ षट्पञ्चाशत्' इति श्लोके च तमेव क्रममुपदर्शयतां स्मृत्यपेक्षया श्रौतक्रमस्य प्राबल्यं प्रतिपादयतामाचार्याणामपि संमतमेवेत्यवगन्तव्यम्॥

यत्तूक्तं रामकविना—नाभिलिङ्गमूलचक्रप्रसिद्धयोर्मणिपूरस्वाधिष्ठानशब्दयोः सामीप्यादन्योन्यपदवाच्यता मधुमाधवशब्दयोर्माधवमासयोरेवेति, तच्चिन्त्यम्, मूलाधारादिव्यवहारोच्छेदापत्तेः, मध्वादिशब्दानां वसन्तमासयोः कोशाप्रसिद्धेश्चेति, 'आचार्यतात्पर्यमपि अस्मदुक्तानुसारि' इत्यनन्तरोक्तिश्च चिन्त्या। तथा हृदि हृदयाकाशसंस्थिते द्वादशदले केनाप्यनाहतत्वादनाहतमित्यन्वर्थनामनि चक्रे। 'हृदयेऽनाहतं चक्रं शिवस्य प्रणवाकृति। पूजास्थानं तदिच्छन्ति दलैर्द्वादशभिर्युतम्॥' इति वचनात्। स्थितं तन्मात्रस्पर्शरूपेण सूक्ष्मात्मनाऽवस्थितं मरुतं वायुतत्त्वम्। तथा उपरि अनाहतचक्रादूर्ध्वप्रदेशे स्वप्रकाशे षोडशदले शुद्धस्फटिकवर्णतया विशुद्धिरित्यन्वर्थनामनि कण्ठस्थिते कमले। 'कण्ठे तु भारतीस्थानं विशुद्धिः षोडशच्छदम्' इति वचनात्। स्थितं तन्मात्रशब्दात्मना सूक्ष्मरूपेणावस्थितमाकाशतत्त्वं च। तथा भ्रुवोर्मध्यं तस्मिन् भ्रुवोरन्तरस्थद्विदले आ ईषज्ज्ञानं भगवतीविषयं साधकानां भवति क्षणमात्रावस्थायित्वाद्देव्यास्तत्रेति वा, आ समन्ताज्ज्ञायतेऽस्मिन्निति वाऽऽज्ञेत्यन्वर्थनामनि कमले। 'भ्रूमध्ये द्विदलं चक्रमाज्ञासंज्ञं प्रचक्षते' इति वचनात्। स्थितं; मनो मनस्तत्त्वं चेति एतत्सकलं समस्तमपि मूलाधारादिचक्रस्थितपृथिव्यादिशब्दसंगृहीतानि भूततन्मात्रज्ञानेन्द्रियपञ्चकमनोमायाशुद्धविद्यामहेश्वरसदाशिवान्तं सर्वं तत्त्वजालं कमलद्विकद्विकोपरि स्थितं रुद्रविष्णुब्रह्मनामकं ग्रन्थित्रयं चेति तत्सर्वमित्यर्थः। कुलपथं सुषुम्नामार्गम्। षट् चक्राणि कुलपथमुच्यत इति केचित्। भित्त्वा साधककौशलवशादुत्थापिता भुजङ्गरूपा बिसतन्तुनिभा स्वयं सग्रन्थीनि षट् कमलानि निर्भिद्य निर्गच्छती सतीत्यर्थः। सहस्रमराणि दलानि यस्य तत् सहस्रारं सहस्रदलम्, तस्मिन् पद्मे ब्रह्मरन्ध्रसंस्थिते कमले। 'चक्रं सहस्रपत्रं तु ब्रह्मरन्ध्रसमन्वितम्' इति वचनात्। रहसि, एकान्ते, पत्या सह सदाशिवेन साकं, विहरसे क्रीडसि। योगवेदिना साधकेन सम्यग्वायुनिरोधान्मूलाधारादुत्थाप्य षट्कमलग्रन्थिभेदनपूर्वकं सहस्रारकमलमानीय तत्र शिवेन सह प्रापितविहारा योगशास्त्रप्रसिद्धा कुण्डलिनीशक्तिश्च भवत्येव नान्येत्यभिप्रायः। अत एवाहुराचार्याः— 'माया कुण्डलिनी क्रिया मधुमती' इत्यादिना। अत्रोक्तं वामकेश्वरतन्त्रे—'भुजङ्गाकाररूपेण मूलाधारं समाश्रिता। शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा॥ मूलकन्दं फणाग्रेण दष्ट्वा कमलकन्दवत्। मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता॥ पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः। वायुमूर्ध्व-

गतिं कुर्वन्कुम्भकाविष्टमानसः ॥ वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् । ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट् ॥ रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यथ । ब्रह्मग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ॥ सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते । सा चावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणम् ॥' इति ॥ उपासकानां च, 'त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा । मनुकोणं च षट्कोणं कोणचक्राणि षट् क्रमात् ॥ मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम् । अनाहतं विशुद्ध्याख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः ॥' इत्यागमादुक्तचक्रषट्कमेव सुधासिन्धुरिति ; तदेव चन्द्रमण्डलम् । तत्रैव शिवयोर्विहारश्चेति रहस्यम् ॥ ९ ॥

आनन्दगिरीया

बाह्यध्यानमुक्त्वा परमेश्वर्या महामायायाः कुण्डलिन्यास्तु ध्यानमाह — **महीमिति** । षट्चक्रम् । अथ परमेश्वर्याः कुण्डलिन्या भूमिकात्रयं, उत्पत्तिभूमिका लयभूमिका प्रत्यावृत्तिभूमिका चेति । तत्रोत्पत्तिभूमिकाध्यानमुच्यते महीमित्यादि । अत्रैवमागमप्रक्रिया । शरीरे षट्चक्राणि सन्ति मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहताज्ञाविशुद्धयाख्यानि । तेषां स्थानानि—"गुदात्तुद्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्राच्च द्व्यंगुलादधः । मूलाधारमिदं प्रोक्तं भूमिस्तत्र प्रतिष्ठिता । तदुपरि लिंगमूले स्वाधिष्ठानं, तत्र जलं तिष्ठति । तदुपरि नाभिमूले मणिपूरं, तत्र तेजः । तदुपरि हृदयेऽनाहतं, तत्र वायुः । तदुपरि कण्ठे आज्ञाचक्रं, तत्राकाशम् । तदुपरि, भ्रूमध्ये विशुद्धिचक्रं, तत्र मनः । अत्र प्रतिचक्रं कमलमप्यास्ते । मूलाधारे चतुर्दलपद्मं, स्वाधिष्ठाने षड्दलं, मणिपूरे दशदलं, अनाहते द्वादशदलं, आज्ञायां षोडशदलं, विशुद्धौ द्विदलम् । एवं चक्रषट्कमागमशास्त्रे कुलपथमिति परिभाषितम् । एतच्चक्रषट्कस्योपरि ब्रह्मरन्ध्रे निर्वाणचक्रम् । तत्र सहस्रदलकमलं, तस्य परिभाषा अकुलपद्मम् । तत्र केवलः परमात्मा सदाशिव आनन्दमयस्तिष्ठति । एवं स्थिते, मूलाधारचक्रे, महामाया कुण्डलिनीरूपेणोत्पद्यते । तत्र वर्तमानं चतुर्दलकमलाकारं भूमण्डलमतिक्रम्य, स्वाधिष्ठाने सूत्राकारेणागच्छति । तत्रापि षड्दलं जलचक्रमतिक्रम्य मणिपूरे गच्छति । तत्रापि दशदलं तेजश्चक्रमतिक्रम्यानाहते गच्छति । तत्रापि द्वादशदलं पवनचक्रमतिक्रम्य आज्ञाचक्रे गच्छति । तत्रापि षोडशदलचक्रमुल्लंघ्य भित्वा विशुद्धौ गच्छति । ततो द्विदलं भित्वा निर्वाणे सहस्रदले वर्तमानेन सदाशिवेन सह मिलित्वा लीना भवतीति क्रीडतीवोत्प्रेक्ष्यते । तेनोत्पत्तिलयभूमिके उक्ते । इति ध्यानमुपदिशन् स्तौति । मूलाधार इत्यादिना । छन्दोऽनुरोधेन स्वाधिष्ठानपदं प्राप्तं नोक्तं, किन्तु मणिपूरकं प्रोक्तम् । सकलमपि षट्चक्रमपि । योगशास्त्रे तत्तच्चक्रे वर्तमानभूम्यादिभेदेनास्य फलमप्युक्तम् । भूभेदे भूत्यागी समर्थो योगी भवति । जलभेदे जलात्मकः, तेजोभेदे वह्निरिव, वायुभेदे त्वरागतिः ; नभोभेदे खेचरः, स्वात्मनो भेदे स्वेच्छागतिः, निर्वाणभेदे सदाशिव इति । भूमित्यागादिसिद्धयोऽपि योगिनां भवन्ति । एवं सूक्ष्मान्तरं ध्यानमुक्तम् । अयमर्थस्तु

अस्माभिः श्रीगुरूपदिष्टमार्गेण कृतः। ननु कुलपथगामिनां कुलपथत्यागादि विरुद्धमिति चेत्सत्यम्। स्वस्वामिप्रेमपरतन्त्रमनसां स्वीयानामपि स्वाधीनपतिकानां पतिशुश्रूषादिकुलाचारमपि परित्यजन्तीनां सुस्निग्धसाधुसख्यादिसाहाय्ये न कोऽपि दोषः, तद्वदिति तदुक्तं भवेत्। देहलीं व्यतिक्रम्य भावरूपकुलपथमतिक्रम्यापि अभिसारन्यायेन स्वस्वामिसमीपोपसर्पणे न कोऽपि दोषस्तद्वदिति। तदुक्तं भरतेन "कान्ताभिसरणे स्वीया लज्जानाशादिशंकया। सत्रासचपलापांगतरंगितविलोचना। सुस्निग्धैकसखीमात्रयुक्ता याति समुत्सुका। एषा प्रिये तु निद्राणे पार्श्वे तिष्ठति निश्चला। भावेन बोधयत्येनं शीतैः स्रग्दामचन्दनैः॥" इति। शब्दच्छलाश्रयणेऽपि न दोषः। कला शोभा। त्वन्महितं यथा स्यात्तथा विहरसीति। अत्र मूलविद्यायां मायात्रयं, तस्य द्वादश व्यञ्जनानि, द्वादश स्वराः, तेषामपि ....द्वादश। त्रिभिर्द्वादशभिः षट्त्रिंशज्जायते इति प्रतिचक्रं षट्कूटाक्षरदेवतापूजनमप्यान्तरयागांगं वदन्ति केचित्। पुनः, रहस्यार्थमाह - षट्चक्रेभ्यस्त्वामुत्थाप्य भाग्योदयादकुलारविन्दं प्रापयन्, गुरूपदिष्टविधिना षट्चक्रभेदक्रमेण शिरःसहस्रदलकमले ब्रह्मानन्दघने शिवे सामरस्यगतां, पुनस्तथैवावरोहक्रमेणान्तरेव त्वां चिन्तयतः किं न स्यात्॥ ९॥

तात्पर्यदीपिनी

ननु अन्तर्यागबहिर्यागावुभावपि आगमप्रसिद्धौ। अन्तर्यागं विना बहिर्यागो न फलप्रद इति श्रूयते। तदन्तर्यागविधानं कथं न प्रकाशयत इत्यत आह - **महीमिति**। हे मातः, त्वं सहस्रारे सहस्रं अराः पत्राणि यस्य तत्, तस्मिन्, पद्मे रहसि अन्यागोचरे पत्या सदाशिवेन सह विहरसे क्रीडसे। किं कृत्वा? सकलमपि कुलपथं, कौ पृथिव्यां लीयते, तत्कुलं, तस्य पन्थाः संचरणमार्गः तं, शरीरसञ्चरणमार्गं भित्वा। शरीरे किं भेदितं तत्राह - मूलाधारे गुदस्थाने महीं पार्थिवचक्रं भित्वा। "गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः। मूलाधारमिति ज्ञेयं भूमिस्तत्रप्रतिष्ठिता"। एवं प्रकारेण अन्येष्वपि स्थानेषु भित्वा उलंघ्य इति शब्दो योजनीयः। मणिपूरे मणिपूरकचक्रे, कं उदकतत्वमपि भित्वा, तदुपरि स्वाधिष्ठाने, स्वया अधिष्ठीयते तत्स्वाधिष्ठानं, तत्र चक्रे नाभौ, हुतवहस्थितिं हुतवहस्याग्नेः स्थितिमवस्थानं भित्वा। तदुक्तं योगदीपिकायां - "रुद्रग्रन्थिरियं शक्तेः स्वाधिष्ठानाग्रसीमनी"ति। यद्यपि मणिपूरशब्दो नाभिचक्रे प्रसिद्धः, स्वाधिष्ठानशब्दश्च लिंगमूले प्रसिद्धः, तथाप्यन्योन्यसामीप्यात् अन्योन्यपदवाच्यता मधुमाधवयोरिव प्रसिद्धा। तस्याः प्रसिद्धेः स्तोत्रकर्तुः प्रामाणिकचूडामणेः भगवतः शंकराचार्यस्य निर्देशादेव समूलता अंगीकर्तव्या। पुनः हृदि अनाहते स्थाने, मरुतं वायुचक्रं भित्वा, उपरि पूर्वोक्तानामुपरि विशुद्धिचक्रे, आकाशं आकाशतत्वं भित्वा। विशुद्धित्वमधिकसंकाशत्वात्। भ्रूमध्ये भ्रुवोरन्तराले आज्ञाचक्रे, मनः मनस्तत्वं भित्वा। अपि शब्दः समुच्चयार्थः। अत्रापि आज्ञाविशुद्धिचक्रयोः कण्ठकूपभ्रूमध्य-

वाचकता सामीप्यात् पूर्ववदेव अन्योन्यसाधारणी दृश्यते। अत्रेदमनुसन्धेयं - मूलाधार - स्वाधिष्ठान - मणिपूरक - विशुद्ध्याज्ञात्मकानि षट्चक्राणि। एतानि पृथिव्यग्निजलपवनाकाशमनस्तत्वात्मकानि। तेषां तत्वानि तेषु तन्मात्रतया स्थितानि। तन्मात्रास्तु गन्धरूपरसस्पर्शशब्दात्मकाः आज्ञाचक्रस्थितेन मनस्तत्वेन एकादशेन्द्रियगणः संगृहीतः। एवं एकविंशतितत्वानि प्रतिपादितानि। पत्या सह रहसि सहस्रारे पद्मे विहरस इत्यनेन तत्वचतुष्टयं सूचितम्। तच्च माया - शुद्धविद्या - महेश्वर - सदाशिवात्मकं तत्वचतुष्टयम्। एवं मिलित्वा पञ्चविंशतितत्वानि प्रतिपादितानि ॥ ९ ॥

पदार्थचन्द्रिका

इदानीमन्तरंगध्यानमाह - **महीमिति**। हे हिमगिरिसुते त्वं सकलं कुलपथं, कुलं षट्चक्रस्थ-मह्यादिसमूहः पन्था इव कुलपथः, तं भित्वा उल्लंघ्य, सहस्रारे सहस्रदले पद्मे, रहसि अन्यागम्ये सति, पत्या अधिकृतचैतन्येन शिवाख्येन सह विहरसि रमसे। कुलपथमेवाह - महीमिति। मूलाधारे आधारचक्रे स्थितां महीं, मणिपूरे चक्रे कं जलं, स्वाधिष्ठाने नाभौ स्थितं हुतवहं, हृदि अनाहतचक्रे स्थितं मरुतं, उपरि तदुपरि कण्ठे विशुद्धचक्रे आकाशं, भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रे मनः। भित्वेति सर्वत्र संबध्यते। आकुलेति पाठे आकुलपथं विषमपथम्। अयमर्थः—अस्ति सद्योमुक्तिपक्षः क्रममुक्ति-पक्षश्च। तत्र ज्ञानिनस्तु इहैव समवलीयन्ते। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति' श्रुतिप्रामाण्यात् इहैव मुक्ता भवन्ति। एवं देहेऽपि मह्याद्यावरणं भित्वा योगिनः सहस्रारे पद्मे वर्तमानं ब्रह्म प्राप्नुवन्तीति दर्शयितुं भवान्याः षट्चक्रभेदनपूर्वकपतिसहितरमणकथनम्। तत्तु तस्याः षट्चक्रभेदनहेतुकमेव स्वात्मरमणं नित्यशुद्धबुद्धस्वरूपत्वात्तस्याः। जित्वेति पाठे एक एवार्थः ॥ ९ ॥

डिण्डिमभाष्यम्

ननु अन्तर्यागबहिर्यागावुभावपि प्रसिद्धौ अन्तर्यागं विना केवलं बहिर्यागः पूर्वोक्तः चतुश्चत्वारिं-शन्मन्दिरचतुःषष्ट्युपचारमन्त्रयुक्तोऽपि न फलप्रद इति प्रसिद्धिः श्रूयते, तदन्तर्यागविधानं कथं प्रकाशत इत्याशङ्कायामाह—**महीमिति**।

मूलाधारे वर्तमानां महीं पार्थिवचक्रं जित्वा—"गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः। मूलाधारमिति प्रोक्तं भूमिस्तत्र प्रतिष्ठिता"। एवं प्रकारेणान्येष्वपि स्थानेषु जित्वा उलङ्घ्य इत्ययं शब्दो योजनीयः। मणिपूरे लिङ्गस्थाने कं जलचक्रं जित्वा। मणिपूरशब्दो यद्यपि नाभिचक्रे प्रसिद्धः। तथापि अन्योन्यसामीप्यादन्योन्यपदवाच्यता मधुमाधवमासयोरिव प्रसिद्धः। तस्याः प्रसिद्धेः तत्स्तोत्रकर्तुरिति प्रामाणिकचूडामणेर्भगवतः शङ्कराचार्यस्य निर्देशादेव समूलताङ्गीकर्तव्या। स्वाधिष्ठाने नाभिचक्रे स्थितं हुतवहमग्निचक्रं जित्वा उलङ्घ्य। हृदि अनाहतस्थाने मरुतं पवनचक्रं

जित्वा, उपरि गलरूपे आकाशं नभश्चक्रं जित्वा। अत्राप्याज्ञाविशुद्ध्योः कण्ठरूपभ्रूमध्यवाचकता सामीप्यात्पूर्ववदेवान्योन्यसाधारणी दृश्यताम्। आज्ञा विशुद्धिः, विशुद्धिराज्ञा, इत्युभयतः प्रसिद्धिर्दृश्यते। अथ विशुद्धिनाम्नि भ्रूमध्ये मनश्चित्तचक्रं जित्वा। एवं प्रकारेण सकलमपि कुलपथं शरीरचक्रमार्गं जित्वा। अकुलपथे सहस्रारे पद्मे-परंज्योतिःस्वरूपा त्वं परंज्योतिःस्वरूपेण श्रीकामेश्वरमहाभट्टारकेण सह सार्धं, पत्या भर्त्रा विहरसे क्रीडां करोषि। ननु भवदुक्तेषु मूलाधारादिस्थितभूतचक्रादिषु मूलमन्त्राक्षरजनिततत्तद्देवतापूजनं चेन्न स्यात्, तदा तत्तच्चक्रकथनमपि व्यर्थं स्यादित्याशङ्कायामुच्यते—अत्र सहस्रारशब्दो मूलाधारादिषु सर्वत्र सम्बध्यते। हस्रेण सह वर्तते इति सहस्राणि। सहस्राणि अराणि दलानि यस्य तत् सहस्रारम्। हं बीजरूपं महादेवं स्रावयन्ति द्रावयन्ति स्वात्मीकुर्वन्ति इति हस्राणि षट्त्रिंशत्सङ्ख्यानि विद्याक्षराणि, तेषां विद्याक्षराणां मूलाधारादिषु षोढा, तदक्षरादीनामपि शिष्टाः कल्पेश्वरादिदेवताः पूज्याः। तत्र मन्त्रा मूलाधारमहीचक्रे षट्—कं कल्पेश्वराय नमः, अं अनुगम्यम्बायै नमः, अं अनुग्रहैश्वरनाथाय नमः, इं इदङ्गमदनाथाय नमः, ईं ईड्यम्बायै नमः। अथ स्वाधिष्ठाने-ललिताम्बायै नमः, हं हतिगनाथाय नमः, रं रेचकनाथाय नमः, इं इंबम्बायै नमः, मं महःपितृनाथाय नमः। अथ मणिपूरे - हं हरिण्यम्बायै नमः, अं अन्तःकरणनाथाय नमः, सं सारसाम्बायै नमा, हं हरनाथाय नमः, रं रतिनाथाय नमः। आज्ञाचक्रे-ईं ईड्येतरनाथाय नमः, कं कनकदाम्रनाथाय नमः, मं मदनास्वादननाथाय नमः, सं सहादनाथाय नमः, अं अवलम्बनाथाय नमः, अं अम्बुगणनाथाय नमः। विशुद्धौ लं लमरेप्युनाथाय नमः, अं अवकाशनाथाय नमः, हं हठनाथाय नमः रं रटच्छर्दिनाथाय नमः, इं इति हर्यम्बायै नमः, मं महम्बायै नमः। अथ ब्रह्मरन्ध्रोपरि कुलस्थाने—षट्कोणोपरि सर्वतत्वकमलं विभाव्य समस्तशक्तितत्वनाथायै नमः, श्रीललितामहाभट्टारिकायै नमः, इति मन्त्रः। एवमेतेषु चक्रेषु मन्त्रावरणदेवतापूजनाख्योऽन्तर्यागः प्रकाशितः। चक्रावरणदेवतापूजनाख्यान्तर्यागस्तु क्षितौ षट्पञ्चाशदिति भाविनि श्लोके कथ्यते ॥९॥

गोपालसुन्दरी

क्वणत्काञ्चीत्यादिना स्थूलध्यानं, चिदानन्दलहरीमित्यादिना परं ध्यानमुक्त्वा सूक्ष्मध्यानमाह—महीमिति। मूलाधारे चतुर्दले, महीं पृथिवीं स्वाधिष्ठाने जलं मणिपूरे नाभिचक्रे स्थितं तद्हुतवहं स्वाधिष्ठानमणिपूरयोः संज्ञाव्यत्ययः शान्तनवमतेनेति। हृदि अनाहते मरुतं, वायुमुपरि कण्ठे विशुद्धिचक्रे आकाशं, (भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रे आकाशं), भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रे मनः अन्तःकरणम्; एवं सकलमपि कुलपथं षट्चक्रं जित्वा सहस्रारे द्वादशान्ते कैलाससंज्ञके, पत्या कान्तेन शिवेन सह, रहसि एकान्ते विहरसीत्यर्थः। सिद्धिसोपाने, "कुण्डलिन्या सहाभेदे योगी त्यजति मेदिनीम्। सलिलस्थानयोगेन जले चरति योगवित्। वह्निभेदे जलमिव स्पृशत्यग्निं ज्वलच्छिखम्। मरुद्भेदे

शीघ्रगतिर्याति क्रोशशतं क्षणात् ॥ व्योमभेदे खे चरति मनोभेदे मनोगतिः । यत्र कामयते तत्र याति लोकत्रयेऽपि च ॥ संयोजयन् शिवपदे शिव एव प्रजायते । कर्ता हर्ता च सर्वत्र सुरासुरनमस्कृतः॥'' इति सिद्धिविशेषोऽप्युक्तः। कुण्डलिनीरूपापि त्वमेवेति विष्णुपक्षेऽपि तात्पर्यम् ॥ ९ ॥

आनन्दलहरी टीका

श्लोकाभ्यां स्थूलध्यानमुक्त्वा सूक्ष्मध्यानमाह - **महीमिति** - मूलाधारे चतुर्दलचक्रे महीं पृथ्वीं भित्वेत्यग्रतनेन संबन्धः। एवमग्रेऽपि। तदुक्तं—गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः। मूलाधारमिति प्रोक्तं भूमिस्तत्र प्रतिष्ठिता '' इति। कं जलमपि मणिपूरे षड्दलचक्रे, हुतवहमग्निं स्वाधिष्ठाने दशदलचक्रे नाभौ स्थिते। यद्यप्यन्यत्र मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरेति नाभिपद्मस्य मणिपूरसंज्ञा, तथाऽप्यत्र, शैवकल्पे स्वाधिष्ठानमणिपूरयोः संज्ञावैपरीत्यमिति तथाऽभिधानम्। अत एवाग्रे षट्चक्रवर्णनश्लोकषट्केऽपि तथैवाभिधास्यते। केचित्तु कमपि स्वाधिष्ठाने हुतवहं मणिपूरे स्थितमिति व्यवधानेन योजयन्ति। हृदि अनाहते द्वादशदले वायुं, उपरि कण्ठे विशुद्धिचक्रे षोडशदले आकाशं, भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रे द्विदले मनो मानसं; एवं क्रमेण सकलमपि सर्वमेव कुलपथं षट्चक्ररूपं भित्वा प्रविश्य सहस्रारे शिरःस्थितसहस्रदलकमले रहसि निर्जने पत्या परशिवेन सह विहरसे एवं रूपेण ध्यातव्यासीत्यर्थः। एतद्-ध्यानसिद्धेः फलमुक्तं सिद्धिसोपाने—'' कुण्डलिन्या महीभेदे योगी त्यजति मेदिनीम्। सलिलस्थानयोगेन जले चरति योगवित्। वह्निभेदे जलमिव स्पृशत्यग्निं ज्वलच्छिखम्। मरुद्भेदे शीघ्रगतिर्याति क्रोशशतं क्षणात्। व्योमभेदे खे चरति मनोभेदे मनोगतिः। यत्र कामयते तत्र याति लोकत्रयेऽपि च। संयोजयन् शिवपदे शिव एव प्रजायते। कर्ता हर्ता च सर्वत्र सुरासुरनमस्कृतः '' इति ॥ ९ ॥

सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसः*।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि ॥ १० ॥

ஸுதாதாராஸாரைஸ்சரணயுகலாந்தர்விகலிதை:
4 4 3 1 3 1

ப்ரபஞ்சம் ஸிஞ்சந்தீ புனரபி ரஸாம்நாய மஹஸ: ;
1 1 1 1 1 1

அவாப்ய ஸ்வாம் பூமிம் புஜகநிபமத்யுஷ்டவலயம்
4 4 3 4 4 1

ஸ்வமாத்மானம் க்ருத்வா ஸ்வபிஷி குலகுண்டே குஹரிணி.
1 1 1 1 1 1 3 1

---

* रसाम्नायमहसा

चरण युगल अंतर्विगलित अमृतधारावर्षण द्वारा
साधक-तन के नाडीमार्ग सहस्रद्विसप्तति का पूरा
सिंचन कर के, अमृतकिरण-नाडी से हो वापस मुड़कर,
सर्पाकृति कुंडली लगा निज गृह की ओर पुन: बढ कर
कमल-कंद रूपी उस मूलाधार चक्र के भीतर घुस,
सोती है कमलतंतु सा धर सूक्ष्म रूप भगवति बरबस ! ॥

लक्ष्मीधरा

सुधाया अमृतस्य धाराणामासारैः संपातैः। अत्रासारशब्द एव धारासंपातवचन इति धाराशब्दसाहचर्यादासारशब्दः संपातमात्र इति न पौनरुक्त्यम्। यद्वा, सुधाया आधारभूता आसारा धारासंपाताः, तैः, चरणयुगलान्तर्विगलितैः चरणयुगलस्य पादारविन्दद्वितयस्य अन्तर्विगलितैः मध्यप्रदेशात् स्रवद्भिः, प्रपञ्चं द्विसप्ततिसहस्रसंख्याकनाडीमार्गं सिञ्चन्ती सेक्त्री, पुनरपि सेचनानन्तरमपि रसाम्नायमहसः चन्द्रसकाशात्। रसाम्नायमहःशब्दो यामलेषु कलानिधौ प्रसिद्धः; रसस्य सुधाया आम्नायो गुणानामाधिक्यमिति यावत्, तदात्मकं महः कान्तिर्यस्य सः रसाम्नयमहा इति व्युत्पत्तेः। अवाप्य प्राप्य स्वां स्वकीयां भूमिं आधारचक्रं भुजगनिभं सर्पसदृशं अध्युष्टवलयं अधिष्ठितकुण्डलनाविशेषं स्वं निजं आत्मानं कृत्वा स्वस्वरूपमवलम्ब्य उषित्वा स्वपिषि निद्रासि कुलकुण्डे कुः पृथिवीतत्त्वं लीयते यत्र तत्कुलं आधारचक्रम्। लक्षणया सुषुम्नामार्गः कुलमित्युच्यते। अत एव कौलाः कुलपूजकाः आधारसेवकाः इति कौलत्वं तेषामिति रहस्यम्। एतदुत्तरत्र प्रस्फोर्यते। कुलमार्गस्य सुषुम्नाया मूले यत्कुण्डं कमलकन्दाकारं आधारकन्दं तस्मिन् कुहरिणि, कमलकन्दमध्यस्थितच्छिद्रतुल्यं छिद्रं यस्य कुण्डस्य तत्तथोक्तम्। आधारकन्दमध्यस्थितसुषिरमध्ये बिसतन्तुनिभा तत्र कुण्डलिनीशक्तिः वर्तत इति तात्पर्यम्॥

अत्रेत्थं पदयोजना—हे भगवति, चरणयुगलान्तर्विगलितैः सुधाधारासारैः प्रपञ्चं सिञ्चन्ती रसाम्नायमहसः सकाशात् स्वां भूमिं पुनरप्यवाप्य भुजगनिभमध्युष्टवलयं स्वमात्मानं कृत्वा कुहरिणि कुलकुण्डे स्वपिषि॥

अत्रेदमनुसंधेयम्—शिरःस्थितं चन्द्रमण्डलं सर्वयोगशास्त्रसिद्धम्। तत्तु समयिनां मते श्रीचक्रमेव चन्द्रमण्डलम्, षोडशकलात्मकत्वात्। श्रीविद्यायाः प्रतिपदादिषोडशदिनेषु कलावृद्धिक्षययोः वक्ष्यमाणत्वात् चन्द्रमण्डलमेतदेव। बाह्यस्थितमपि चन्द्रमण्डलं श्रीचक्रमेवेति सुभगोदयव्याख्याने निदर्शितम्। तत्तु महारहस्यम्। अतश्च शिरःस्थितसहस्रदलकमलान्तर्गतश्रीचक्रात्मकशशिबिम्बमध्यस्थिताया भगवत्याश्चरणकमलनिर्णेजनजलैः सुधामयैः साधकस्य सकलशरीरं

संप्राप्य पुनः भुजङ्गरूपेण आधारकुण्डं प्रविश्य सुषुम्नामवष्टभ्य सा भगवती स्वपितीति। यथोक्तं वामकेश्वरमहातन्त्रे—'भुजङ्गाकाररूपेण मूलाधारं समाश्रिता। शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभाऽऽशुभा ॥' आशुभा, क्षणप्रभा, विद्युन्निभा इत्यर्थः। 'मूलकन्दं फणाग्रेण दष्ट्वा कमलकन्दवत्। मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रं समाश्रिता ॥ पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः। वायुमूर्ध्वगतिं कुर्वन्कुम्भकाविष्टमानसः ॥ वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन्। ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट्। रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः। ब्रह्मग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ॥ सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते। सा चावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणम् ॥' इति। श्रुतिरपि भगवत्याः चरणाम्बुजसुधाधारासारैः प्रपञ्चसेचनं प्रतिपादयति। तथा हि—'लोकस्य द्वारमर्चिमत्पवित्रम्। ज्योतिष्मद्भ्राजमानं महस्वत्। अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानम्। चरणं नो लोके सुधितान् दधातु ॥' (तै.ब्रा.३.१२.३) ॥ अस्यार्थः—लोकस्य स्वनिवासस्थानस्य सायुज्यस्य वा साष्टर्चादेर्वा ब्रह्मलोकादेर्वा द्वारं, तत्प्रापकमित्यर्थः। अर्चिमत् अर्चींषि मयूखाः अस्य सन्तीति अर्चिमत्, अर्चिष्मदित्यर्थः। छान्दसः सकारलोपः। मयूखाः किरणाः। पवित्रं स्वयमतिशुद्धं अन्यशुद्धिहेतुश्च। 'ज्योतिष्मद्भ्राजमानं महस्वत्' इत्याम्रेडनं अर्चिष्मत्त्वस्तुत्यर्थम्। यद्वा—'त्रिखण्डं मातृकाचक्रं सोमसूर्यानलात्मकम्' इति वक्ष्यते। 'अर्चिष्मत्' इत्यनेन आग्नेयान्यर्चींष्यष्टोत्तरशतं कथ्यन्ते। 'ज्योतिष्मत्' इत्यनेन ऐन्दवानि षट्त्रिंशदुत्तरशतं ज्योतींषि निर्दिश्यन्ते। 'महस्वत्' इत्यनेन भानवीयानि षोडशोत्तरशतं महांसि किरणाः संगृह्यन्ते। एतच्च 'क्षितौ षट्पञ्चाशत्' इति श्लोकव्याख्यानावसरे निपुणतरमुपपादयिष्यामः। अमृतस्य धाराः सुधाप्रवाहान् बहुधा बहुप्रकारेण द्विसप्ततिसहस्रनाडीमार्गेषु दोहमानं किरत् चन्द्रमण्डलगतसुधाधाराप्रवाहान् स्वनिर्णेजनपवित्रितान् वर्षदित्यर्थः। तच्चरणम्, 'चरणशब्दो नपुंसकः, 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। नः अस्मान् साधकान् लोके प्रपञ्चे सुधितान् तृप्तान्; यद्वा, संजातबुद्धिप्रकाशान् सुधियः, कृत्वा दधातु पुष्णातु ॥

नन्वयं मन्त्रः अपाघास्विष्टिषु याज्यात्वेनाम्नातः। मन्त्राणां समवेतार्थप्रकाशनशीलत्वात्, 'चरणाय स्वाहा' इति चतुर्थ्यर्थोपहितशब्दस्यैव देवतात्वात्, एतद्व्याख्यानं न संगच्छत इति चेत्; उच्यते—

अत्राहुः भगवत्पादाः—'सिद्धमन्नं परित्यज्य भिक्षामटति दुर्मतिः' इति। अयमाशयः—वेदस्य सकर्तृकत्वासिद्धेः फलदानसमर्थत्वेन सर्वविद्वदभिमतं वृद्धव्यवहारावसितशक्तिकं 'लोकस्य द्वारम्' इत्यादिविशेषणविशिष्टत्वार्हं भगवत्याश्चरणमेव 'चरणाय स्वाहा' इत्यत्र चरणशब्देनाभिधीयत इति ॥ १० ॥

सौभाग्यवर्धनी

अपरे त्वाहुः—**सुधाधारासारैरिति** । सुधाधारासारैरमृतधारासंपातैः चरणयुगलान्तर्विगलितैः भ्रूमध्यगतशुक्लरक्तचरणमध्यमार्गतो निष्यन्दमानैः प्रपञ्चं मानसस्थानादिषट्चक्ररूपं कुलपथं सिञ्चन्ती; एतेनान्वयभूमिकोक्ता । प्रत्यावृत्तिभूमिकामाह—पुनरपि रसाम्नायाः षडाम्नायाः पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरो-र्ध्वानुत्तराः; एते शक्तेराम्नायाः स्थानानि, पार्थिवाप्यानलवायव्यनाभसमानसादिशांभवाम्नायाः; एतेषां स्थानानि अनुत्तरादिक्रमेण, भ्रूमध्यादिमानसादिक्रमेण वा । तेषां महसा । एतेषां षण्णां प्रकाशक-तेजसा स्वां भूमिमवाप्य मूलाधारमवाप्य । भुजगनिभमध्युष्टवलयं सार्धत्रिवलयम्, आत्मानं कृत्वा कुलकुण्डे मूलाधारान्तर्गतचतुर्दलपद्मकर्णिकामध्यवर्तित्रिकोणे स्वपिषि । कुहरिणि कुहरं रन्ध्रविशेषः तद्वति गुप्तस्थान इत्यर्थः । एतेन पद्यद्वयेन कुण्डलिनीरहस्यसोपानमभिहितम् । तदुक्तं चतुःशत्याम्—'मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं रक्तोर्णातन्तुसंनिभाम् । कुलकुण्डलिनीं नित्यां विद्युदुल्लासदृक्तनुम् ॥ मत्तालिकुलझं-कारसदृक्षतरनादिनीम् । उन्नीयोन्नीय चक्रेषु क्रमात्स्यन्दति वैभवम् ॥ अनुभूय परं गत्वा पीत्वा कुलपरामृतम् । अकुलात्कुलसंभूय (कुलकं भूयः) कुलादकुलकं महः ॥ एवं मां सुन्दरीं ध्यायेत्सूक्ष्मध्यानं प्रकीर्तितम् ॥' इति ॥ १० ॥

अरुणामोदिनी

विहारानन्तरं कृत्यमाह—**सुधाधारेति** । हे देवि, चरणयुगलस्य पदद्वन्द्वस्यान्तरभ्यन्तराद्वि-गलितैर्गलद्भिः सुधाधाराणाममृतसंततीनामासारैर्वेगवर्षणैः; 'आसारः स्यात्प्रसरणे वेगवर्षे सुहृद्बले' इति विश्वः । प्रपञ्चं द्विसप्ततिसहस्रसंख्याकनाडीमार्गं सिञ्चन्ती सेचमाना; 'लोकस्य द्वारमर्चिम-त्पवित्रम् । ज्योतिष्मद्भ्राजमानं महस्वत् । अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानम् । चरणं नो लोके सुधितां दधातु ।' इति श्रुतेः । इह च भगवत्याः सुषुम्णामार्गेण सहस्रारान्तर्गतत्वात् 'तासां मूर्धानमभि-निःसृतैका' 'सुषुम्णा तिसृषु श्रेष्ठा वैष्णवी मुक्तिमार्गदा' इत्यागमात् प्रधाननाड्यां सुषुम्णायां सेचने जाते पिण्डाण्डब्रह्माण्डयोरैक्याद्ब्रह्माण्ड इव पिण्डाण्डेऽपि सर्वासु नाडीष्वाह्लादो जायत इत्युक्तम् । रसा आम्नायन्तेऽस्मिन्निति रसाम्नायममृतमयं महस्तेजो यस्य तस्मात्; सहस्रारपद्म-वर्तिनोऽक्षीणकलाचन्द्रात्, तत्सकाशादित्यर्थः । महसीति पाठे रसाम्नायं रसावृत्तिरूपं महस्तेजो यस्याः सा आनन्दरूपिणी अत्यन्ततृप्ता....शादुन्मताति सतीत्यर्थः । पुनर्भूयोऽपि स्वां स्वकीयां भूमिं निवासस्थानं 'भूमिः क्षितौ स्थानमात्रे' इति विश्वः । मूलाधारमित्यर्थः । अवाप्य प्राप्य भुजगनिभं सर्पाकारं स्वं स्वकीयमात्मानं देहं सहस्रारावाप्तये ऋजूकृतमित्यर्थः । अध्युष्टोऽधिष्ठितो वलयः कुण्डलना येन तं सन्तं कृत्वा विधाय कुण्डलितं कृत्वेत्यर्थः । कुहरं बिलमस्यास्तीति तस्मिन् इह सच्छिद्रवति, सर्वप्रियत्वाच्छिद्रस्येति भावः । कुलकुण्डे कुण्डाकारे कुले निवासगृहे । यद्वा

कुः पृथिवीतत्त्वं लीयतेऽस्मिन्निति कुलं मूलाधारः। तदेव कुण्डं निवासस्थानभूतः करण्डविशेषः तस्मिन् स्वपिषि निद्रासि। कुहरिणीत्यस्य देवीसंबुद्धिपरत्वं केचिदिच्छन्ति। शिरसि चन्द्रमण्डलं वर्तत इति योगशास्त्रप्रसिद्धेश्चन्द्रमण्डलश्रीचक्रयोरुभयोरपि षोडशकलात्मकत्वेनैक्याच्छिरःस्थित-सहस्रारान्तर्गतश्रीचक्रचन्द्रमण्डलीयस्वचरणनिर्णेजनसुधाजलैः साधकशरीरं संप्लाव्य पुनरप्या-धारचक्रं भुजङ्गाकारेणैवावाप्य सुषुम्नामवष्टभ्य स्वपिति भगवतीत्यभिप्रायः। आधारकमलकन्दसुषिरमध्ये बिसतन्तुनिभा कुण्डलिनी वर्तत इत्यागमः ॥ १० ॥

आनन्दगिरीया

इदानीं लयभूमिकां प्रत्यावृत्तिभूमिकां चाह—**सुधाधारेति**। अत्र योगशास्त्रे प्रकारः। यदा योगी पद्मासने उपविश्य योगमभ्यस्यति, तदा गुल्फाभ्यां गुदमूलं निष्पीड्य प्राप्तप्राणधारणया, मूलाधारात्कुण्डलिनीं महामायां प्रपञ्चजननीं उत्थाप्य स्वाधिष्ठानमानयति, तद्भित्वा अग्रे मणिपूरमानयति, तदपि भित्वा, अनेन क्रमेण सकलमपि कुलपथं भित्वा यदा ब्रह्माण्डमण्डले निर्वाणचक्रमारोहति, तत्र वर्तमानसहस्रदलकमले कुण्डलीमानीय तत्र वर्तमानेन चिदानन्दात्मना सदाशिवेन संयोज्य, तत्रामृत-कुण्डे खेचरीसाहाय्येन जिह्वामानीय तत्संयोगे, अमृतबिन्दवो धारा वा अमृतस्य स्रवति। पश्चात् सा धारा येन पथा कुण्डलिनी समागता, तत्र तत्र गत्वा मूलाधारपर्यन्तमायाति। तदनु सर्वस्मिन् शरीरे तदमृतं विस्तार्य शरीरमाप्याययति। तदा योगी जीवन् वर्तते। पश्चाद्यदा खेचरीं विघटयति, तदा कुण्डलिनी ततो वियुज्य स्वप्रकाशेन तेजसा तत्तच्चक्रं प्रकाशयन्ती तत्तच्चक्रतेजसा आत्मानं प्रकाशयन्ती परमेश्वरी कुण्डलिनी मूलाधारमायाति। तदा सा कुण्डलिनी मूलाधारचक्रे आत्मानं सार्धत्रिवलयाकारं सर्पशरीरमिव कृत्वा स्वपिति। तदा योगी जागर्ति इति। तथा च योगशास्त्रे—"मूलादि-ब्रह्मरन्ध्रातं रक्तोर्णातन्तुसन्निभाम्। कुलकुण्डलिनीं नित्यां विद्युद्वल्लीसदृक्तनुम्। मत्तालिकुलझंकार-सदृक्षतरनादिनीम्। उन्नीयोन्नीय चक्रेषु क्रमादायाति बैन्दवम्। अनुभूय परं गत्वा पीत्वा कुलपथामृतम्। अकुलात्कुलकं भूयः कुलादकुलकं सदा। एवं तां सुन्दरीं ध्यायेत्सूक्ष्मं ध्यानं प्रकीर्तितम्।" इति। तदनुरोधे चायं श्लोकः—तथाहि - हे कुहरिणि, कुहरा स्वाधिष्ठानादि चक्राणि, ते प्राप्यत्वेन विद्यन्ते यस्यास्तस्याः, तत्संबोधनं, सप्तम्यन्तं वा। त्वं पुनरपि स्वां भूमिं मूलाधारचक्रं, रसाम्नायमहसा, रसशब्देन षट्संख्याका आम्नायाः, विशुद्धादीनि षट्चक्राणि तत्प्रकाशकानि, तत्प्रकाशकत्वेन स्वप्रकाशकेन स्वतेजसा स्वप्रकाशवत्तेजसा वा मार्गेण अवाप्य प्रत्यावृत्त्या प्राप्य, तत्र कुलकुण्डे मूलाधारे स्वपिषि सुप्ता भवसि। किं कृत्वा स्वमात्मानं भुजगनिभं कृत्वा, भुजगस्य निभेव निभा यस्य, निभा प्रकाशः, तमेवाह - किंलक्षणमात्मानं, अध्युष्टवलयं सार्धत्रयमण्डलाकारमित्यर्थः। किं कुर्वन्ती, प्रपञ्चं सिंचन्ती, प्रपंचं चक्रषट्कावच्छिन्नं शरीरं सिंचन्ती आप्याययन्ती। एषा लयभूमिका।

कैः सुधाधारासारैः अमृतधारासंपातैः जिह्वाग्रलग्नकुण्डलिनीयोगाग्रे च्युता मधुबिन्दवः त एवामृत-धारासाराः, तैरित्यर्थः। किंलक्षणैस्तैः, चरणयुगलान्तर्विगलितैः, ततः स्रुत्वा भ्रूचक्रे वर्तमानं यच्छुक्लरक्ताख्यं चरणयुगलं तदन्तरालमागत्य पुनरग्रे गमनाय ततो विगलितैः। यदा ब्रह्मलोकादागत्य भगवती भागीरथी श्रीहरिचरणकमलान्तरालमागत्य तदाप्लाव्य अग्रे चलिता पृथ्वीमाप्याययति तथेत्यर्थः। अथवा एतत्पद्यद्वयं क्रमेणारोहावरोहपरतया व्याख्येयम्। तथाहि - प्रथमं मूलाधारे, चतुर्दलं पीतवर्णं कमलं ध्यात्वा तत्कर्णिकायां सूर्यसोमाग्निमयं त्रिकोणं विभाव्य, तन्मध्ये जपाकुसुम-बन्धूकसन्निभं सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलं सत्वरजस्तमोगुणाक्रान्तं कामाख्यं बिन्दुं विचिन्त्य तदूर्ध्वं कुण्डलिनीशक्तिं चिद्रूपामष्टत्रिंशत्कलायुक्तां पञ्चदशवर्णश्रीविद्यारूपां तटित्कोटिप्रभादीप्तां बिसतन्तुतनीयसीं प्रसुप्तभुजगाकारां सार्धत्रिवलयाकारेण स्थितां स्वेच्छादण्डाहतां कृत्वा उत्थाप्य, गुरूपदिष्टविधिना, सुषुम्नामार्गेण मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्धाज्ञाख्यषट्चक्रभेदक्रमेण ब्रह्मरन्ध्रस्थितविमलसहस्रदलं कमलं प्रापय्य तत्रस्थितपरमामृतधारया वर्णमय्या कुण्डलिनीं तां सन्तर्प्य स्थापयतीति आरोहक्रमः। तत्परतया प्रथमं पद्यं; तदुच्यते 'सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे' इति। पुनश्चावरोहः। पुनः सुधास्रोतःस्वरूपिणीं अकुलामृतरूपेण सुषुम्नान्ततदाधार - तत्तद्धातु - तत्तद्वर्ण - तत्तद्दैवत - तत्तच्चक्रिणीं भ्रूमध्यस्थितचरणयुगलविगलितामृतधारया आप्लावयन्तीं आज्ञाविशुद्ध्यादिक्रमेण मूलाधारं नीत्वा तथैव सदा सर्पाकारेण स्थापयेदित्यवरोहः। तदुच्यते - 'अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि' - अयं हि योगिनो मार्ग इति। सुधाधारासारैः इति श्लोकस्य रहस्यार्थः—प्रपञ्चं सिञ्चन्ती चरणसंचरणक्षरद-मृतासारेण सामरस्यरसाम्नायेन, एकनित्यानन्दघनेन, मूलाधारस्थशिवलिङ्गं भुवं, भुजगाकारेण लिंगं वेष्टमाना, कुहरिणी कुहरं ब्रह्म, तदन्तर्गता सा तन्मयीति यावत्। "मूलाधारगता शक्तिः सूक्ष्माकारा महेश्वरी। सर्पाकारेण चिल्लिंगमावृत्यास्ते कुलाकुले। यामुत्थाप्य लभेद्ब्रह्म कुलान्ते स्वप्रकाशकम्। एतदुत्थानमात्रेण साधकः संप्रपश्यति। यदुत्थानेन देवेशि वयमाज्ञाकराः सदा" इति॥ १०॥

तात्पर्यदीपिनी

ननु यथा अन्तर्यागः प्रधानपूजांगं, तथा कुण्डलिनीशक्त्युत्थानमपि पूजांगमेव, तदकरणे पूजासमग्रफलप्राप्तिर्नास्तीति तत्प्रकाशको य आगमरहस्यभूतः श्लोकः कथं न प्रकाश्यते? तत्राह। **सुधाधारासारैरिति**। हे कुहरिणि कुण्डलिनीशक्तिस्वरूपे परमेश्वरि! कुहरो नाम मूलाधारादिषु युक्तं रन्ध्रस्थानमण्डलं, सोऽस्याः कुण्डलिनीशक्तेर्निवासस्थानत्वेनास्तीति कुहरिणी, तत्संबुद्धिः। त्वं कुलकुण्डे शरीरमध्ये स्वाधिष्ठानसमीपे सुषुम्नारन्ध्रान्मुखमाक्षिप्य सुखेन स्वपिषि। किं कृत्वा? स्वमात्मानं अध्युष्टवलयं कृत्वा, अध्युष्टमधिगतं वलयं येन स तथा तं कृत्वा विधाय। किं भूतमात्मानं?

भुजगनिभं, भुजगो अहिः तन्निभा यस्य तं बिसतन्तुनिर्भासाहिसदृशमित्यर्थः। कथं भूता त्वं? चरणयुगलान्तर्विगलितैः चरणयुगलस्य पादारविन्दद्वितयस्य, अन्तः मध्यप्रदेशात्, विगलिताः, तैः सुधाधारासारैः सुधाया या धाराः तासां आसाराः संपाताः, तैः प्रपञ्चं द्विसप्ततिसहस्रसंख्याकं नाडीमार्गं सिञ्चन्ती सेक्त्री, पुनः पुनरपि सेचनानन्तरमपि, रसाम्नायमहसः रसस्य सुधायाः आम्नायः गुणानामाधिक्यं पंचात्मिकं महः कान्तिर्यस्य स रसाम्नायमहः, तस्माच्चन्द्रात्सकाशात्, स्वां भूमिं स्वाधिष्ठानं अवाप्य, अत्यन्ततृप्ता इति शेषः। एवं त्वयि महामायारूपिण्यां सुप्तायां योगिनः परमानन्दरूपाः जागरूका भवन्ति। त्वयि जागरूकायां संसारबन्धविच्छेदाभावात्। वृद्धाः सन्तः स्वातन्त्र्यविरहादस्वातन्त्र्यमयतन्द्रीप्रविष्टा भवन्तीत्यर्थः। श्रुतिरपि भगवत्याश्चरणांबुजसुधाधारासारैः प्रपञ्चसेचनं प्रतिपादयति। तथा हि - "लोकस्य द्वारमर्चिमत्पवित्रं ज्योतिष्मद्भ्राजमानं महस्वत्। अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं चरणं नो लोके सुधितां दधातु" इति ॥ १० ॥

पदार्थचन्द्रिका

इदानीं कुण्डलिनीशक्तिरूपाया भवान्या ध्यानमाह - **सुधेति**। हे हिमगिरिसुते त्वं कुलकुण्डे स्वपिषीत्यन्वयः। कुः पृथ्वी लीयते आश्लिष्टा भवति अस्मिन्निति कुलं मूलाधारचक्रम्। तत्कुण्डमिवेति कुलकुण्डं तस्मिन्। किं कृत्वा, स्वां भूमिं मूलाधारमवाप्य, तत्र स्वमात्मानं स्वकीयं देहं भुजगनिभं भुजगसदृशं कृत्वा। पुनरात्मानं विशिनष्टि - अध्युष्टवलयं, अध्युष्टशब्दः सार्धत्रितयसंख्यावाचको लोके प्रसिद्धः। अध्युष्टं मण्डलं वलयं यस्य तम्। किं कुर्वती, सुधाधारासारैः सुधाधारा आसारा इव वर्षधारा इव, तैः प्रपञ्चं सिञ्चन्ती। कथं भूतैः चरणकमलयोरन्तर्मध्यं तस्माद्विगलितैः, पुनरपि पुनर्वारं वारं निरन्तरमित्यर्थः। रसाम्नायमहसा रसाम्नायश्च महश्च तयोः समाहारः, रसाम्नाय-महस्तेजः। अत्रोपलक्षणे तृतीया। रसाम्नायः स्वरूपसुखं, महः स्वरूपचैतन्यम्।

डिण्डिमभाष्यम्

ननु यथान्तर्यागप्रधानपूजाङ्गं तथा कुण्डलिनीशक्त्याः स्थानमपि पूजाङ्गमेव, तदकरणे पूजासमग्र-फलप्राप्तिर्नास्ति, तत्प्रकारको योगागमरहस्यभूतः श्लोकः कथं न प्रकाश्यत इत्याशङ्क्याह—**सुधेत्यादि**। हे कुहरिणि कुण्डलिनीशक्ते! शक्तेर्निवासस्थानत्वेनास्तीति कुहरिणी कुण्डलिनीशक्तिः, तदस्यास्त्य-स्मिन्निति मतुबधिकारे 'अत इनि ठनौ' इति सूत्रेण इनिप्रत्ययः, 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप्, 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति णत्वम्। एवंभूता कुहरिणी शक्तिः मूलाधारादिषट्चक्रभेदिनी भूत्वा ब्रह्मरन्ध्रोपरि मतद्वादशसहस्रदलकमलकर्णिकास्थितरक्तशुक्लचरणयुगलान्तरं चुम्बति ततः परामृतं सेचयन्ती तेन प्रपञ्चमाप्लावयन्ती तदमृताप्लावनसञ्जातपरमानन्देन योगिना पुनरपि स्वभूमीभूतमूलाधार-स्थानमानीता तदनन्तरं ध्यानशक्त्योत्थापितयोगाग्निना दग्धभोगमण्डला यत्रामृतपूर्वं सुषुम्ना(म्णा)दण्ड-

उद्धारमात्मनैव सदा भुज्यमानं यदा मुञ्चति तदा कुण्डलिनी महामाया शक्तिः सुप्ता भवति निर्व्यापारा भवति। निर्विघ्नमेव परब्रह्मद्वारे सुषुम्ना(म्णा)दण्डरन्ध्रे यथेष्टं प्रविश्य परमामृतं भुक्त्वा सिद्धशरीरो भूत्वा परमशिव इव नित्यशरीरः परमयोगी सर्वाणिमाद्यैश्वर्ययुक्तो विहरति इति योगशास्त्रप्रसिद्धिः तमेवार्थमनेन श्लोकेनाह—श्लोकार्थस्तु—हे कुहरिणि कुण्डलिनि! चरणयुगलान्तः प्रागुक्तशुक्लचरणयुगलत्मध्याद् विगलितैर्निःसृतैः सुधाधारासारैरमृतधारासमूहैः करणभूतैः प्रपञ्चं शरीरं सिञ्चन्ती आप्लावयन्ती। अत्र प्रपञ्चपदेन देहस्याभिधानम्, अण्डप्रपञ्चपिण्डप्रपञ्चयोरैक्याभिधानार्थम्। तदुक्तं योगदीपिकायाम्—"अण्डे तु ये प्रपञ्चाः स्युः पिण्डे ते च प्रतिष्ठिताः। लघुत्वं गुरुताश्चैते न भेदस्त्वण्डपिण्डयोः॥" तथाहि—अण्डे लोकालोकगिरिः, पिण्डे त्वचः। अण्डे जलधिः, पिण्डे रक्तम्। अण्डे गङ्गादि नद्यः, पिण्डे इडापिङ्गलादि नाड्यः। अण्डे भास्करादिनवग्रहाः तिमिरनिराकरणार्थं, देहप्रकाशकाः पिण्डे एकादशेन्द्रियाणि, अण्डे ब्रह्म, पिण्डे मनः, अण्डे महामेरुः, पिण्डे हृदयकमलम्। अण्डे पर्वताः, पिण्डेऽस्थीनि। अण्डे तदभिमानी जीवात्मा, पिण्डे देहाभिमानी जीवात्मा। अण्डे सहस्रचतुर्युगाकारदिवसावसाने सहस्रचतुर्युगाकारसर्वनिशायाम्, अवान्तरप्रलयजलप्लावनरूपा ब्रह्मणो निद्रा, पिण्डे दिवसावसाने रात्रौ निद्रा। अण्डे रात्रेरनन्तरम् उत्थानपर्यन्तं वर्तमानान्येव सूर्यादिनवग्रहचक्रेन्द्रियाणि प्रकाश्यन्ते, पिण्डे प्रबोधानन्तरमिन्द्रियप्रचारः। अण्डे सहस्रचतुर्युगसम्मितदिवसकल्पनानुरूपशतसंवत्सरावसाने ब्रह्मरूपिणो जीवाजीवात्मनामण्डादुत्क्रमणं तदधिष्ठितशरीरस्य ब्रह्माण्डस्य महादेवेन काशिनाममहाश्मशाने स्वललाटवह्निना दहनं, पिण्डे तु मानुषदिवसानुरूपं संवत्सरशतान्ते पापसम्बन्धात्ततोऽर्वाग् वा जीवात्मनो देहादुत्क्रमणे तस्य बन्धुभिः श्मशानादिदाहः। एवं सर्वत्र चिन्त्यमाने अण्डप्रपञ्चपिण्डप्रपञ्चयोरैक्यमेवेति योगशास्त्ररहस्यप्रख्यापनाय प्रपञ्चशब्देन देहस्याभिधानम्। एवम्भूतशरीरं सिञ्चन्ती सा पुनरपि भूयोऽपि रसाम्नायमहसा उपलक्षिता अमृतसेचनजनितरसानन्दस्य य आम्नायः पुनः पुनरभ्यासस्तस्य महसा तेजसा अत्यन्ततृप्तिवशादुन्मत्ता सती स्वां भूमिं मूलाधारमवाप्य भुजगनिभं सर्पाकारतामापन्नम् अध्युष्टवलयं योगाग्निना प्लुष्टवलयम्। 'उष' दाहे इत्युषधातोरधिपूर्वात् क्तप्रत्यये 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वम्-अध्युष्टम्। एवंभूतं स्वमात्मानं कुलकुण्डे देहसिद्धिस्थाने कृत्वा निवेश्य सुषुम्ना(म्णा)रन्ध्रान्मुखमाक्षिप्य सुखेन स्वपिषि। त्वयि महामायारूपिण्यां सुप्तायां योगिनः परमानन्दे मुक्ता जागरूका भवन्ति, त्वयि जागरूकायां संसारबन्धविच्छेदाभावाद् बद्धाः सन्तः स्वातन्त्र्यविरहात् पारतन्त्र्यमयनिद्रातन्त्रे प्रविष्टा भवन्ति॥ १०॥

गोपालसुन्दरी

कुण्डलिन्यास्तावद् भूमिकात्रयं तत्रोन्नयभूमिका महीमित्यादिनोक्ता, अन्वयभूमिकां प्रत्यावृत्तिभूमिकां चाह—सुधाधारासारैरिति। सुधाधारासारैरमृतधारासम्पातैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः भ्रूमध्य-

गतशुक्लरक्तचरणमध्यमार्गतो निष्पन्दितैः प्रपञ्चं मानसं स्थानादिषट्चक्ररूपं कुलपथं सिञ्चन्तीत्यनेनान्वयभूमिकोक्ता प्रत्यावृत्तिभूमिकामाह—पुनरपीति। रसाम्नाया पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोर्ध्वानुत्तराः शक्तेराम्नायाः स्थानानि पार्थिवाप्यानलवायव्यनाभसमानसाः शाम्भवाम्नायाः एतेषां स्थानानि उत्तरादिक्रमेण भ्रूमध्यादिमानसादिक्रमेण वा एतेषां महसा एषां षण्णां प्रकाशकतेजसा स्वां भूमिं मूलाधारमवाप्य लब्ध्वा, आत्मानं स्वस्वरूपं भुजगनिभं सर्पाकारम् अध्युष्टवलयं सार्धत्रिवलयं कृत्वा कुलकुण्डे मूलाधारान्तर्गतचतुर्दलपद्मकर्णिकामध्ये वर्तिनि त्रिकोणे कुहरिणि कुहरं रन्ध्रविशेषस्तद्वति गुप्तविषये (स्थाने) स्वपिषि, तदुक्तम्-"मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं रक्तोर्णातन्तुसन्निभाम्। कुलकुण्डलिनीं नित्यां विद्युद्वल्लीसमाकृतिम्। मत्तालिकुलझङ्कारसदृक्षतरनादिनीम्। उन्नीयोन्नीय चक्रेषु क्रमात् स्यन्दति वैभवं॥ अनुभूय परं गत्वा पीत्वा कुलपरामृतम्। अकुलात्कुलकं भूयः कुलादकुलकं महः॥ एवं मां सुन्दरीं ध्यायेत्सूक्ष्मध्यानं प्रकाशितम्॥ इति पूर्ववदेव **विष्णुपक्षे** सङ्गतिः॥ १०॥

आनन्दलहरीटीका

अत्र कुण्डलिन्या भूमिकाचतुष्टयम्। तत्र पूर्वश्लोके षट्चक्रभेदरूपोन्नयभूमिका, परशिवसंयोगरूपलयभूमिका च दर्शिता। इदानीं पुनः परावृत्तिरूपप्रत्यावृत्तिभूमिकां स्वस्थानावस्थानरूपविश्रान्तिभूमिकां च दर्शयति। **सुधेति**। सुधाया अमृतस्य धाराणां आसारैः संपातैः चरणयुगलस्य भ्रूमध्यस्थितस्य सितरक्तरूपस्य अन्तर्मध्यात् विगलितैः निर्गतैः, प्रपञ्चं [रसाः] षडाम्नायाः स्थानानि ज्ञानादि षट्चक्राणि। शक्तितन्त्रे मूलाधारादिषट्चक्राण्येव, क्रमे पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोर्ध्वानुत्तराख्याः षडाम्नायाः इत्युच्यन्ते। शैवतन्त्रे तु पार्थिवाप्यानलवायव्यनाभसमानसा इत्युच्यन्ते। तेषां महसा तेषां प्रकाशकेन स्वीयतेजसा विशिष्टा त्वम्। एतदज्ञात्वैव कश्चित् रसाम्नायमहसा आनन्दाभ्यासतेजसेति व्याचष्टे। अवाप्येति। स्वां भूमिं स्वस्थानं मूलाधारमवाप्य स्वमात्मानं स्वीयाभ्यासतः स्वीयं शरीरं भुजगनिभं सर्पाकारं अध्युष्टवलयं सार्धं त्रिवलयं योगशास्त्रप्रसिद्धं कृत्वा, कुलकुण्डे मूलाधारान्तर्गतचतुर्दलकमलकर्णिकामध्यस्थितत्रिकोणे कुहरिणि रन्ध्रविशेषवति स्वपिषि। शयनं करोषि। कुहरं षट्चक्रमध्यरन्ध्रं तदाश्रयत्वेन विद्यते यस्याः सा। तथा तत्संबोधनं कुहरिणि? इति कश्चित्। एतादृशभावनैव सूक्ष्मध्यानम्। तदुक्तं तन्त्रे-"मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं रक्तोर्णातन्तुसन्निभाम्। कुलकुण्डलिनीं नित्यां विद्युद्वल्लीसदृक्तनुम्। मत्तालिकुलझंकारसदृशस्वरनादिनीम्। उन्नीयोन्नीय चक्रेषु क्रमात्स्यन्दति वैभवम्। अनुभूय परं गत्वा पीत्वा कुलपरामृतम्। अकुलात्कुलकं भूयः कुलादकुलकं महः। एवं मां सुन्दरीं ध्यायेत् सूक्ष्मध्यानं प्रकाशित"मिति॥ १०॥

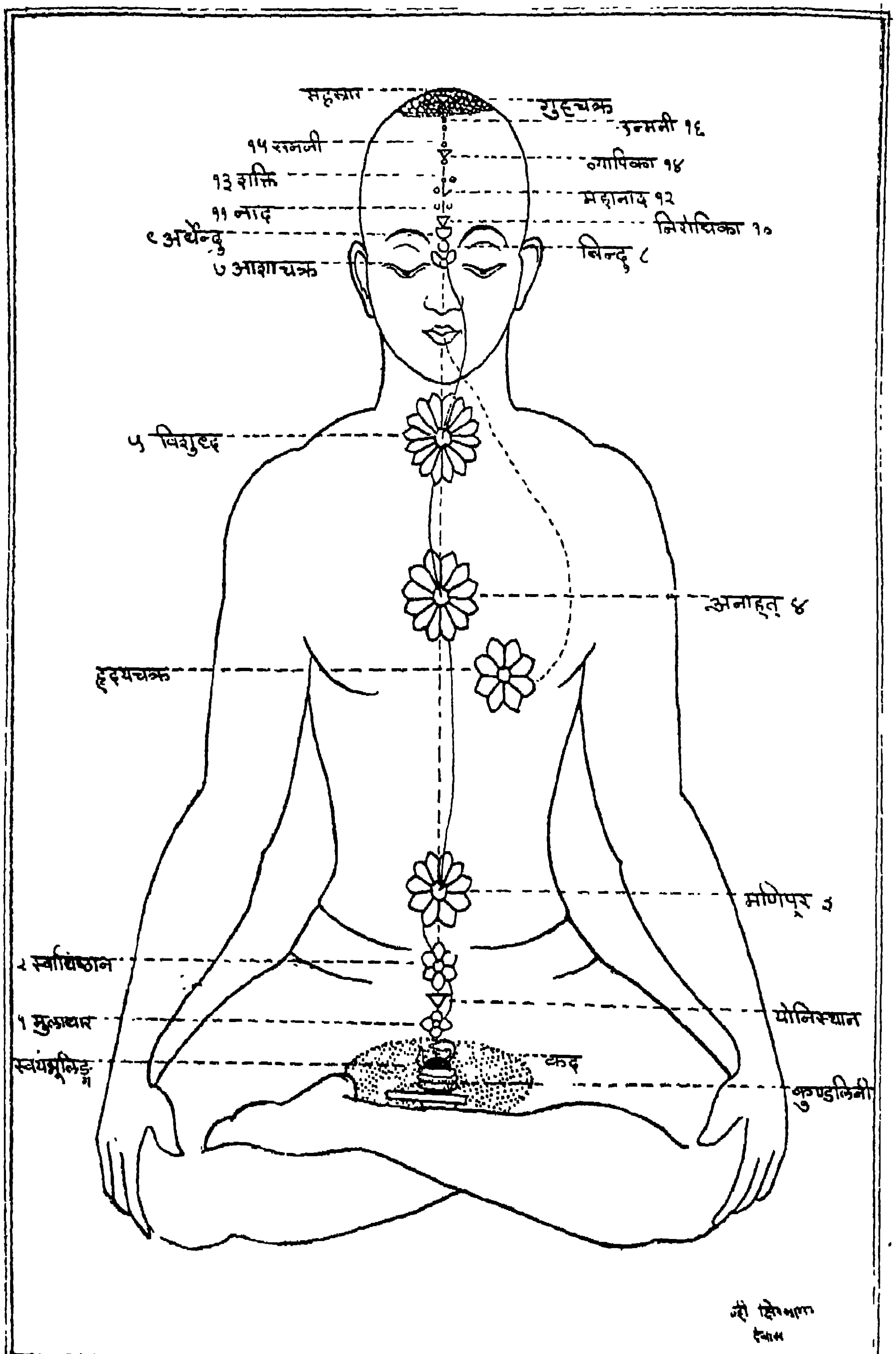

The different yogic plexuses

और लहरीं से ल ह्रीं लेकर हादि विद्या के तीनों कूटों को ग्रहण किया जा सकता है। कं * सुख वाचक शब्द है, कं ब्रह्म और प्राण वाचक भी है देखे छान्दोग्य (४, १०, ५)। इस श्लोक की अगले श्लोक से संगति करने से हादि विद्या को षट् चक्र वेध विद्या समझना चाहिये।

षट् चक्र वेध अर्थात उन्नेय भूमिका।

[९]

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वाकुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि॥

अर्थः— पृथिवी तत्व को मूलाधार में और जल को भी (मूलाधार में ही) मणिपूर में अग्नितत्व को जिसकी स्थिति स्वाधिष्ठान में है, हृदय में वायु तत्व को और ऊपर विशुद्ध चक्र) में आकाश तत्व को, और मन को भी भ्रमध्य में, इस प्रकार सकल कुल पथ (शक्ति के मार्ग) का वेध करके तू सहस्रार पद्म में अपने पति के साथ एकान्त में विहार करती है।

सं० टि० यहां अन्तर्याग का वर्णन है, कुण्डलिनी शक्ति का षट चक्र वेध पूर्वक आरोहण बताया गया है।

* नोटः—कं शिरः सुख वारिषु—विश्वः, सुखशीर्ष जलेषु कं इति मेदिनी।

व्याख्या:— षट् चक्र निरूपणं, शिव संहिता और अन्य ग्रन्थों में बिना मतभेद षट् चक्रों का क्रम इस प्रकार देखने में आता है कि गुदा के पास पृथिवी तत्व का मूलाधार चक्र है, उपस्थ के निकट जल तत्व का स्वाधिष्ठान चक्र, नाभि के पास अग्नि तत्व का मणिपूर चक्र, हृदय के पास वायु तत्व का अनाहत चक्र, कंठ में आकाश तत्व का विशुद्ध चक्र और भ्रूमध्य के पास मनस्चक्र है, जिसको आज्ञा चक्र कहते हैं। परन्तु सौन्दर्य लहरी में इस क्रम में अन्तर दिखता है जिसके अनुसार उपस्थ के पास जल तत्व का मणिपूर और नाभि में आग्नेय स्वाधिष्ठान चक्र होना चाहिये। तत्वों का क्रम तो वह ही है परन्तु चक्रों के नामों के क्रम से उपस्थ के चक्र का नाम मणिपूर और नाभि चक्र का नाम स्वाधिष्ठान प्रतीत होता है। शंकर भगवत्पाद ने यद्यपि इन दो चक्रों के स्थानों का संकेत नहीं किया है, परन्तु नाम क्रम से यह ही प्रतीत होता है कि उनको, उपस्थ वाले चक्र का नाम मणिपूर और नाभि के चक्र का नाम स्वाधिष्ठान अभिमत था। परन्तु हमारी राय में ऐसा नहीं है, केवल तत्वों के वेध क्रम में अन्तर है। समयाचार के मतानुसार उपस्थ वाले चक्र का वेध करना उचित नहीं समझा गया, क्योंकि इस चक्र के वेध से काम वासना की वृद्धि होकर बज्रौली इत्यादि क्रियाओं द्वारा ऊर्ध्वरेता होने की सिद्धि प्राप्त की जाती है, जो कौलाचार को अभीष्ठ है, समयाचार को नहीं। इसलिये यहां समयाचार के अनुसार वेध क्रम दिया गया है। वह इस प्रकार है कि मूलाधार के वेध द्वारा पृथिवी तत्व का और साथ ही जल तत्व का भी वहां ही वेध किया जाना चाहिये। 'अपि' शब्द का 'कं'

के साथ प्रयोग इस बात की ओर संकेत करता है, नहीं तो अपि शब्द वृथा सा दिखता है। फिर स्वाधिष्ठान को छोडकर नाभि वाले मणिपूर में अग्नि का वेध किया जाता है परन्तु अग्नि तत्व की स्थिति योनि स्थान में होने के कारण स्वाधिष्ठान में दिखाई गई है अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र में नीचे अग्नि ऊपर जल दोनों का संधि स्थान है क्योंकि योनि स्थान मूलाधार और स्वाधिष्ठान के मध्य भाग में स्थित है इसलिये अग्नि के प्रदीप्त होने पर मूलाधारस्थ पृथिवी और स्वाधिष्ठानस्थ जल दोनों का वेध मूलाधर के वेध के साथ हो जायगा।

हमारे इस मत को हंसोपनिषत् से पुष्टि मिलती है। वहां गुदा चक्र से वायु का उत्थान करके मणिपूर चक्र में ले जाने का विधान किया गया है, बीच में स्वाधिष्ठान चक्र का वेध न करके उसकी तीन बार प्रदिक्षिणा करने की आज्ञा है।

गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिःप्रदिक्षिणीकृत्य मणिपूरकं च गत्वाऽनाहतमतिक्रम्य विशुद्धौप्राणान् निरुध्याज्ञामनुध्यायन् ब्रह्मरंध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमित्येवं सर्वदा ध्यायेत्।

अर्थः—गुदाद्वार को रोक कर आधार चक्र से वायु को उठा कर स्वाधिष्ठान की ३ बार परिक्रमा करके मणिपूर जाकर, अनाहतचक्र का अतिक्रमण करके विशुद्धचक्र पे प्राणों का निरोध करे और आज्ञाचक्र में ध्यान करता हुआ, फिर ब्रह्मरंध्र का ध्यान करता हुआ मैं तीन मात्रा से युक्त ॐ हूं ऐसा सदा ध्यान करे। अर्थात् मैं जाग्रतावस्था में वैश्वानर अकार, स्वप्नावस्था में तैजस् उकार और

सुषुप्ति में प्राज्ञ मकार हूं, इस प्रकार सदा ध्यान करता हुआ शुद्ध-स्फटिक सदृश नाद का आधार चक्र से ब्रह्मरंध्र पर्यन्त ध्यान करना चाहिये।

बिन्दु और बीज के योग से नाद की उत्पत्ति होती है। कहा है

बिन्दुःशिवात्मको बीज शक्तिर्नादस्तयोर्मितः।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ॥

स्थूल रूप में विंदु शुक्र है और बीज रज है और ऊर्ध्वरेता होने पर दोनों का समवाय अर्थात् कुण्डलिनी का जागरण नाद कहलाता है। समयाचार की विधि भावना प्रधान होती है और भावना युक्त साधन द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की जाती है, कौलाचार में जो उर्ध्वरेतस् की सिद्धि स्वाधिष्ठान चक्र के वेध द्वारा की जाती है, वह समयाचार वाला आज्ञाचक्र में मन का वेध करके करता है। हंसोपनिषत् के उपरोक्त क्रमानुसार स्वाधिष्ठान चक्र की ३ बार प्रदिक्षिणा करके ऊपर उठ जाने के साधन में स्वाधिष्ठान चक्र के वेध का निषेध किया गया है। उसकी तीन बार प्रदिक्षिणा करनी चाहिये, क्योंकि यहां शक्ति की पीठ है, जैसा कि नाम से प्रकट है (स्व+अधि+स्थान=स्वाधिष्ठान)। मूल बंध द्वारा आधार चक्र का वेध होकर पृथिवी और जल दोनों का एक साथ बंध होगा, क्योंकि मूलबन्ध के अभ्यास से योनिस्थान जो दोनों चक्रों के मध्य में है और अग्नि का स्थान है, दबता है। योनिस्थान पर दबाव पड़ने से अग्नि प्रदीप्त होकर पृथिवी और जल दोनों का वेध एक साथ कर देती है। अग्नि तत्व का वेध मणिपूर अर्थात् नाभि चक्र में होता है और वह

वहां विद्युत् का रूप धारण कर लेती है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में जल का वेध होकर वर्षा ऋतु में मेघों में विद्युत् प्रकट हुआ करती है। योनिस्थान में प्रदीप्त अग्नि नीचे मूलाधार में पृथिवी तत्व को तपाता है और ऊपर स्वाधिष्ठानस्थ जल को। जल वाष्प बन कर मणिपूर (नाभिचक्र) में मेघवत् आच्छादित हो जाता है और वहां अग्नि का वेध होकर वह विद्युत् का रूप धारण कर लेती है। देखें श्लोक ३९, ४०। ग्रीष्म ऋतु में गरमी से पृथिवी तप्त होकर जल सूखने लगता है, यह जल का वेध है। वर्षा में वह ही जल मेघों के रूप में परिणत हो जाता है, और उनके ताप से विद्युत् प्रकट होती है, यह अग्नि का वेध है।

*चक्रों का स्थान मेरुदंड (spinal bone) के भीतर नीचे से मस्तिष्क तक उठने वाली सुषुम्ना नाडी (spinal cord) में है। इसके द्वारा शरीर की नाडियों का मस्तक से संबंध है। गुदा के पीछे एक मांसपेशी है, जिसे कंद कहते हैं, उसकी नाभि अर्थात् केन्द्र में कुण्डलिनी स्वयंभूलिंग पर साढे तीन कुंडल डाले सोती रहती है। जागकर वह स्वाधिष्ठान चक्र में रहने लगती है। उस अवस्था में जीव को विन्दु रूपी शिव कहते हैं और कुंडलिनी को जीव रूपा शक्ति।

आज्ञा चक्र में चढकर वह ही परमात्मा रूपा शक्ति त्रिपुरा कहलाती है जो सहस्रार में शिव के साथ सायुज्यता प्राप्त कर लेती

* चक्रों और नाडियों की सविस्तार जानकारी के लिये लेखक का अंग्रेजी ग्रंथ Divine Power पढ़ें।

है। षट् चक्र वेध के पूर्व शक्ति का रूप जीवात्मिका और षट् चक्र वेध के पश्चात् शिवात्मिका समझना चाहिये। जीवात्मिका का स्थान स्वाधिष्ठान और शिवात्मिका का स्थान विशुद्ध चक्र हैं।

मूलाधार और स्वाधिष्ठान को अग्नि खंड, मणिपूर और अनाहत को सूर्य खंड और विशुद्ध एवं आज्ञा चक्र को चन्द्र खंड कहते हैं। योनिस्थान अग्नि की, अनाहत सूर्य की और आज्ञा चंद्र की पीठ कहलाती हैं। अग्नि खंड में रुद्र ग्रंथि, सूर्य खंड में विष्णु ग्रंथि, और सोम खंड में ब्रह्म ग्रंथि कहलाती हैं।

अन्तरिक्षगतो वन्हिर्वैद्युतः स्वान्तरात्मकः।
नभःस्थः सूर्यरूपोऽग्नि नीभिमंडलमाश्रिताः॥

(यो शि ५, ३२)

विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्त्रवत्यमृतमुन्मुखः।
तालु मूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षत्यधो मुखः॥

(५, ३३)

अर्थः— अन्तरिक्ष में उठकर अग्नि विद्युत् रूप हो जाती है, जो अपना अन्तरात्मा है। आकाश में स्थित अग्नि सूर्य रूप है, यह नाभि मण्डल (मणिपूर और अनाहत्) में आश्रित है. नीचे की ओर मुख रहने पर वह विष की वर्षा करता है और ऊपर की ओर मुख होने पर अमृत का स्रवण करने लगता है। तालू के मूल स्थान (आज्ञा) पर चन्द्रमा का स्थान हैं, उसका मुख नीचे की ओर है और वह अमृत की वर्षा किया करता है। अनाहत् चक्र के १२ दल १२ आदित्य कहलाते हैं। उर्ध्वमुख सूर्य और अधो-

मुख चन्द्र के बीच में विशुद्ध चक्र के १६ दल चन्द्रमा की १६ कलाओं के सदृश चमकने लगते हैं। कुण्डलिनी शक्ति जागकर जब सूर्य मण्डल से ऊपर चढती है, तब सूर्य को ऊर्ध्वमुख कर देती है। फिर कुण्डलिनी शक्ति उससे भी ऊपर जाकर चन्द्र मण्डलका बेध करती हुई सहस्रार में उठती है, तब चन्द्रमा भी अमृत की वर्षा करने लगता है और सारे देह की नाडियां उस अमृत से भर जाती हैं और योगी का शरीर दिव्य बन जाता है।

अवसरण अर्थात अन्वय भूमिका

बेध के समय शक्ति की गति मूलाधार से सहस्रार की ओर होती है जिसका वर्णन ऊपर के श्लोक में दिया गया है। सहस्रार से नीचे उतरते समय वह नाडियों को अमृत से सींचती हुई मूलाधार की ओर लौटती है। आरोह को उन्नेय भूमिका और अवरोह को अन्वय भूमिका कहते हैं। प्रत्यावृत्ति भूमिका से कुण्डलिनी का नीचे उतर कर अपने स्थान पर गुहा में लौट आने का अभिप्राय है। गत श्लोक में उन्नेय भूमिका का वर्णन किया गया है और अगले श्लोक में अन्वय और प्रत्यावृत्ति भूमिकाओं का वर्णन है इनको अप्यय और प्रभव क्रम भी कहते हैं। दोनों के सिद्ध होने पर योग की सिद्धि होती है। कहा है 'योगोहि प्रभवाप्ययौ' कठोपनिषत्। यह उभय क्रम कुण्डलिनी सोपान रहस्य के नाम से प्रसिद्ध है।

[१०]

सुधाधाराऽऽसारैश्चरण युगलान्तर्विगलितैः
प्रपंचं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नाय महसा।

अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वामात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणी ॥

अर्थः— अमृत धाराओं की वर्षा से, जो तेरे दोनों चरणों के बीच से टपकती हैं, प्रपंच को सींचती हुई फिर छओं आम्नायों से होती हुई अथवा छओं चक्रों द्वारा सींचती हुई, अपनी भूमि पर उतरकर अपने आप को सर्पिणी के सदृश साढ़ेतीन कुंडल डालकर, हे कुहरिणि ! तू कुल कुंड में सोती है।

स० टि० यहां पर कुण्डलिनी का सहस्रार में कुछ समय ठहर कर फिर अपने स्थान में उतर आना दिखाया गया है। रस=छः चक्र, आम्नाय=विधान, महस्=प्रकाश। प्रपंच=देह, पिण्ड। कुल कुण्ड= कुण्डलिनी के रहने का कुंड, कुहरिणी= गुहा में रहने वाली। (कुहर=गुहा।)

पूर्व श्लोक की संगति से इस श्लोक का भाव स्पष्ट है कि मूलाधार से जागकर सुषुम्ना मार्ग द्वारा जब कुंडलिनी हृदयस्थ सूर्य को उन्मुख करती हुई आज्ञा चक्र के ऊपर चन्द्रमंडल में प्रवेश करती है, तब उसके चरणद्वय के बीच से अमृत की धारायें नीचे बरसने लगती हैं। यहां भगवती के चरणों का ध्यान आज्ञा चक्र में किया जाना बताया गया है।

शक्ति के अवतरण के साथ सब नाड़ियों का भिन्न-भिन्न चक्रों के द्वारा अमृत के प्रवाह से सारे शरीर में आनखशिख सिंचाव होता है। जिस मार्ग से शक्ति का आरोहण होता है उसी मार्ग से

अवतरण होकर वह फिर अपने स्थान पर सर्पाकार साढेतीन कुण्डल डालकर सो जाती है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। या तो सारी शक्ति ऊपर उठ जाती है और मूलाधार में शक्ति का कुंडलिनी रूप में उसके उठने से अभाव हो जाता है, और फिर लौटने पर वह फिर सो जाती है। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि मूलाधार में अनन्त शक्ति है, इसलिये वहां पर रहने वाले भंडार में कभी कमी नहीं होती, जागकर शक्ति ऊपर भी जाती आती रहती है और नीचे भी बनी रहती है। हमारी समझ में दूसरा विकल्प सत्य जान पडता है क्योंकि यदि सारी शक्ति सहस्रार में उठ जाय तो उत्थान के साथ शरीर का आधार न रहने के कारण वह तुरन्त प्रति प्रसव क्रम से लीन हो जाना चाहिये। प्रपंच का अर्थ शरीर अथवा नाडी जाल किया जाता है, दोनों पक्ष में एक ही परिणाम समझना चाहिये। क्योंकि नाडियों द्वारा सारा शरीर पुष्ट होता है, केवल नाडियां ही नहीं। नाडियों की संख्या प्रश्नोपनिषत् में इस प्रकार दी गई है।

> अत्रैतदेकशतं नाडिनां तासां शतशतमेकैकस्यां द्वासततिः २
> प्रतिशाखा नाडी सहस्राणि भवन्ति। प्रश्न० (३,६)

रसाम्नाय महसा के स्थान पर रसाम्नाय महसः पाठान्तर भी मिलता है। उसका अर्थ नीचे दिया जाता है। तांत्रिक परिभाषा के अनुसार इस पाठान्तर पद का अर्थ 'अमृत के प्रकाश से चमकने वाला चन्द्रमा' होने के कारण श्लोक का भावार्थ इस प्रकार होगा कि शक्ति चन्द्र मण्डल से नीचे उतर आती है, और अपनी भूमि

पर आकर ३।। कुण्डलाकृति सर्पिणीवत् सो जाती है। कुल का अर्थ शक्ति समझना चाहिये और कुण्ड से उसके रहने का कुंड सदृश स्थान समझना चाहिये। कुहरिणी का अर्थ कुहर अर्थात् बिल में रहने वाली है। कुहर विल, छिद्र अथवा रंध्र को कहते हैं। नाडियों द्वारा प्रपंच का सींचे जाने का संबन्ध छ:ओं चक्रों के द्वारा होने के कारण रसाम्नायमहसा का अर्थ जैसा हमने किया है उचित प्रतीत होता है। रस पद से छः और आम्नाय पद से 'मार्ग' अर्थ लेने से यह अर्थ किया गया है। आम्नाय का अर्थ मार्ग दिखाने वाले बेद, और गुरु परम्परा गत संप्रदायोपदेश हैं। और महस् का अर्थ उत्सव और तेज दोनों है (महस्तूत्सवतेजसोः, इति अमरः) इसलिये पूरे पद का तृतीयांत अर्थ छः तेजोमय आम्नायों के द्वारा, अथवा रस (अमृत) से पूर्ण तेजोमय आम्नाय द्वारा होगा, पंचमी बिभक्ति में 'द्वारा' की जगह 'से' लगाना पडेगा। आम्नाय से चाहे चन्द्र अथवा चक्र समझा जा सकता है। महस् का अर्थ उत्सव भी किया जा सकता, उस पर्याय में शक्ति का शिव के योग से अमृत सिंचन रूपी उत्सव समझना चाहिये। तांत्रिक पद्धति के अनुसार उपासना के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्द्ध और वाम छः आम्नाय हैं, उन सबका फल शक्ति का जागरण होकर समाधि प्राप्त करना ही है। उक्त आम्नाय गुरु परम्परागत उपदेश से जानने चाहिये।

गया है। इसकी साधना भोजन से पूर्व होती है। दन्तधावन के अनन्तर इच्छा भर जल पीकर अंगुली से उलटी कर दे। अभ्यास हो जाने पर यह जल इच्छा मात्र से बाहर निकाला जा सकता है। पेट में प्रविष्ट जल को न्योली कर्म के द्वारा भ्रमाकर बाहर फेंकना और भी श्रेष्ठ होता है। पित्त प्रधान पुरुषों के हेतु यह क्रिया बड़ी हितकर होती है। चरनदास के शब्दों में गजकर्म की प्रक्रिया पढ़िये :—

गजकर्म याही जानिये, पिये पेट भरि नीर।
फेरि युक्ति सो काढ़िये, रोग न होय शरीर॥

इस उद्धरण की द्वितीय पंक्ति में ध्यान देने योग्य शब्द हैं 'फेरि युक्ति सों काढ़िये'। युक्ति से यहाँ पर कवि का तात्पर्य है भीतर गए हुए जल को न्योली कर्म के द्वारा भ्रमाकर बाहर निकालना।

चरनदास ने गजकर्म के पश्चात् न्योली कर्म का उल्लेख किया है। न्योली को नल क्रिया, नौलिक, नौलि आदि नामों से भी जाना जाता है हठयोग प्रदीपिका के मतानुसार —

अमन्दावर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते॥

अर्थात् कन्धों को नवाये हुए बड़ी तेज गति से जल भ्रमरवत् अपनी तुन्द को दक्षिण वाम भागों से भ्रमाने को सिद्धों ने नौलि कर्म कहा है। पेट को दायें बायें घुमाने की प्रक्रिया ग्रन्थों से नहीं सीखी जा सकती है। इसके लिए गुरु का मार्ग-प्रदर्शन प्रत्येक क्षण पर परमावश्यक है जैसा कि चरनदास के अनुभव से ज्ञात होता है :—

जो गुरु करके ताहिं दिखावै। न्योली कर्म सुगम करि पावै॥

शौचादि से प्रातःकाल निवृत्त हो जाने पर पद्मासन धारण करके साधक रेचक के द्वारा वायु को बाहर रोके और बिना देह हिलाए हुए मनोबल से पेट को दायें से बायें और बायें से दायें चलाने का प्रयत्न करे। प्रातः एवं सायं यह प्रयत्न और अभ्यास करने से पेट की स्थूलता समाप्त हो जाती है। तदनन्तर साधक को सोचना चाहिए कि दोनों कुक्षियों के दब जाने से बीच में दोनों ओर से नल जुट कर मूलाधार से हृदय तक एक गोलाकार खंभ खड़ा हो गया है। इस खंभ के बँध जाने पर नौलि सुगम हो जाती है। अभ्यास से यह न्यौली दायें बायें घूमने लगती है। इसके संचालित हो जाने पर वक्षस्थल के समीप कंठ पर तथा ललाट पर नाड़ियों का द्वन्द्व अनुभव होता है। विस्तार के साथ वर्णित इस प्रक्रिया का उल्लेख चरनदास ने अत्यन्त संक्षेप में सूत्र रूप में किया है।

न्योली पद्मासन सों करै। दोनों कर घुटनों पर धरै॥
पेटरु पीठ बराबर होय। दहने बायें नले बिलोय॥
जो गुरु करके ताहिं दिखावै। न्यौली कर्म सुगम करि पावै॥

कवि के शब्दों में न्यौली साधना का प्रभाव सुनिये :—

मैल पेट में रहन न पावै। अपान वायु तासों वश आवै॥
ताप तिली अरु गोला शूल। होन न पावै नेक न मूल॥
और उदर के रोग कहावै। सो भी वै रहने नहि पावै॥

'हठयोग प्रदीपिका' में इसकी साधना का सत्प्रभाव इस प्रकार वर्णित हुआ है:-

मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादि सन्धापिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः॥

नौलि साधना से मन्दाग्नि का उद्दीपन होता है और अन्नादि का पाचन होता है। इससे समस्त वातादि दोष नष्ट होते हैं और रोग का शोषण होता है। यह नौलि हठयोग की समस्त क्रियाओं में उत्तम है।

न्यौली की आवश्यकता धौति और वस्ति साधना में भी पड़ती है। यह प्रा णा-याम का महत्वपूर्ण स्तर है। इसकी सिद्धि हो जाने पर तीनों बन्ध सुगम हो जाते हैं।

न्यौली कर्म के अनन्तर त्राटक कर्म आता है। चरनदास ने त्राटक का वर्णन न्यौली के अनन्तर ही किया है। 'हठयोग प्रदीपिका' के मतानुसार एकाग्रचित साधक निश्चल दृष्टि से सूक्ष्म लक्ष्य पर तब तक दृष्टिपात करे जब तक अश्रुपात न होने लगे। आचार्यों ने इसे त्राटक कर्म कहा है।[1] सफेद दीवाल पर सूक्ष्म काला चिह्न अंकित करके उसी पर दृष्टि नियोजित करते-करते चित्त समाहित हो जाता है और शक्ति सम्पन्न हो जाती है। उपनिषदों में त्राटक के निम्नलिखित तीन भेद माने गए हैं :—

१. आन्तर त्राटक—नेत्र बन्द करके हृदय या भ्रूमध्य में एकाग्रता स्थापित करने की भावना को आन्तर त्राटक कहते हैं।

२. बाह्य त्राटक—चन्द्र, प्रकाशवान् नक्षत्र, पर्वत की शिखर वा किसी अन्य दूरवर्ती लक्ष्य पर दृष्टि को स्थिर करने की क्रिया को बाह्य त्राटक कहते हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि सूर्य पर त्राटक नहीं किया जाता है।

---

१. निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥

३. मध्य त्राटक—बिन्दु, किसी देवमूर्ति, भगवान के चित्र, नासिका के अग्र-भाग या समीपवर्ती किसी अन्य लक्ष्य पर दृष्टि केन्द्रित करने की क्रिया को मध्य त्राटक कहते हैं।

'घेरंड संहिता' में लिखा है कि जब तक आँसू न गिरे तब तक पलक मारे बिना किसी सूक्ष्म वस्तु पर दृष्टिपात करते रहने का नाम त्राटक है।[1]

त्राटक के इस शास्त्रीय और परम्परागत विवेचन के अनन्तर अब संत चरनदास के त्राटक विषयक अनुभव पठनीय होंगे। कवि के शब्दों में—

त्राटक कर्म टकटकी लागै। पलक पलक सों मिलै न ताकै ॥
नैन उघारे ही नित रहै। होय दृष्टि थिर शुकदेव कहै ॥
आँखि उलटि त्रिकुटी में आनो। यह भी त्राटक कर्म्म पिछानो ॥
जेते ध्यान नैन के होई। चरनदास पूरण हो होई ॥

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि ने त्राटक के विषय में स्थूल रूप से अपने विचारों को व्यक्त कर दिया है। फिर भी इन पंक्तियों से त्राटक के विषय में विचार स्पष्ट होता है।

योगियों का कथन है कि त्राटक के अभ्यास से शांभवी मुद्रा सिद्ध हो जाती है, नेत्रों के रोग नष्ट हो जाते हैं और दृष्टि दिव्य हो जाती है।[2] त्राटक नेत्ररोग-नाशक होता है। तन्द्रा, आलस्यादि शरीर में नहीं ठहरने पाते हैं।[3]

चरनदास ने जिन षट्कर्मों का वर्णन किया है उनका सविस्तार विवेचन यहां समाप्त होता है। इन षटकर्मों के अतिरिक्त कवि ने कपालभाँति, धौकनी, बाधी तथा शंखपषाल को भी कर्मों की संज्ञा दी है परन्तु कवि ने इन्हें उपर्युक्त षट्कर्मों के अन्तर्गत ही माना है जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है :—

कपाल भाँति अरु धौकनी बाधी शंख पखाल।
चारि कर्म ये और हैं इनहिं छहौ के नाल ॥

---

१. निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
यावदश्रूणि पतन्ति त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ॥
घे० सं०—प्रथमोपदेशः, ५३

२. एवमभ्यासयोगेन शांभवी जायते ध्रुवम्।
नेत्ररोगा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥
घे० सं०—प्रथमोपदेशः, ५४

३. मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥
ह० यो० प्रदीपिका

इनमें से कपालभाँति का अध्ययन तथा विवेचन आवश्यक है। कारण कि कपाल भाँति को अनेक विद्वानों एवं हठयोगियों ने षट्कर्म का एक अंग और महत्वपूर्ण साधना माना है।

'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार लोहार की भट्ठी के सदृश्य तीव्रता के साथ क्रमशः रेचक, पूरक, प्राणायाम को शांतिपूर्वक करना योग शास्त्र में कफ दोष का विनाशक माना गया है और यह क्रिया कपालभाँति नाम से ज्ञात है।[1] जिस समय सुषुम्ना नाड़ी से वा फुफ्फुस में से श्वासनालिका के द्वारा कफ बारम्बार ऊपर आता हो या प्रतिश्यास (जुकाम) हो गया हो उस समय सूत्रनेति अथवा धौतिक्रिया से शोधन नहीं सम्भव हो पाता है। ऐसी दशा में इसी कपालभाँति साधना से कफवाहा नाड़ियों एवं फुफ्फुस में इकट्ठा हुआ कफ जल विनष्ट हो जाता है। सुषुम्ना, मस्तिष्क और आमाशय की शुद्धि होने से पाचन शक्ति प्रदीप्त होती है। इस क्रिया को अधिक तीव्रगति से नहीं करना चाहिए अन्यथा नाड़ी को आघात पहुँचता है और फुफ्फुसों में शिथिलता आती है। कपालभाँति तीन प्रकार की है—वातक्रमकपालभांति, व्युत्क्रम कपालभाँति तथा शीत्क्रम कपालभाँति।[2] इडा अर्थात् बायें नासिकारन्ध्र से वायु को भरे और पिंगला अर्थात् दाहिने नासारन्ध्र द्वारा उसका रेचन करे, एवं दाहिने नासारन्ध्र से वायु को खींचे और बांये निकाल दे। वायु के खींचने या छोड़ने में वेग नहीं धारण करना चाहिए। इस योग साधना से कफ दोष विनष्ट हो जाता है। इसका नाम वातक्रम कपालभाँति कहते हैं।[3] नाक के दोनों रन्ध्रों से जल खींचे और उसे मुख से निकाल दे। इसी प्रकार मुख से जल ग्रहण कर नासिका छिद्रों से निकाल दे। इस क्रिया को वातक्रम कपालभांति कहते हैं।[4] मुख द्वारा शीत करके

---

१. भस्त्रावल्लोकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥
ह० यो० प्रदीपिका

२. वातक्रमेण व्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषतः।
भालभाँति त्रिधा कुर्यात् कफदोषं निवारयेत्॥
घे० सं०—प्रथमोपदेशः, ५५

३. इडया पूरयेद्वायुं रेचयेत् पिंगला पुनः।
पिंगलया पूरयित्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्॥
पूरकम् रेचकं कृत्वा वेगेन नतु चालयेत्।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत्॥
घे० सं० प्रथमोदेशः, ५६-५७

४. नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत्।
पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोषं निवारयेत्॥
घे० सं०—प्रथमोपदेशः, ५८

जल ले और नासिका रन्ध्र से निकाल दे। इस क्रिया को 'शीत्क्रम कपाल भाँति' कहते हैं। इस योग का अभ्यास करने से मनुष्य कामदेव के समान कांतिमान् हो सकता है। इसके अभ्यास से वार्धक्य और जरा के हाथ से परित्राण प्राप्त कर सकता है।[1]

मुद्राएँ

'हठयोग प्रदीपिका' में मुद्राओं का बड़ा महत्व वर्णित हुआ है।[2] इन मुद्राओं को योग दर्शन में "जरामरणनाशक्तम्, अष्टैश्वर्यं प्रदायकम् क्षीयन्तेमरणादयः" आदि कहा गया है। प्रत्केक साधक को इन मुद्राओं की साधना करनी पड़ती है तभी कुंडलिनी जाग्रत होती है। जाग्रत होने के अनन्तर कुंडलिनी षट्चक्रों का भेदन करके सहस्त्रार में प्रवेश करती है। ये मुद्रायें दस मानी गई है :—

१. महामुद्रा २. महाबन्ध ३. खेचरी ४. मूलबन्ध ५. उड्डीयान ६. जालन्धर-बंध ७. विपरीतकरणी ८. वज्राली ९. शक्तिचालिनी १०. महावेध।

घेरंड ऋषि ने अपनी पुस्तक 'घेरंड संहिता' में निम्नलिखित मुद्राओं को मान्यता प्रदान की है :—

> महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्ः।
> मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी॥
> विपरीतकारिणी योनिर्वज्राली शक्तिचालिनी।
> ताडागी मांडवी मुद्रा शाम्भवी पंचधारणा।
> अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
> पंचविंशति मुद्रा वै सिद्धिदाश्चैव योगिनाम्॥

अर्थात् निम्नलिखित पच्चीस मुद्रायें योगियों को सिद्धि देने वाली है :—

१. महामुद्रा २. नभोमुद्रा ३. उड्डीयान ४. जलन्धर ५. मूलवन्ध ६. महाबन्ध ७. खेचरी ८. विपरीकरिणी ९. योनि १०. बज्राली ११. शक्तिचालिनी १२. ताडागी १३. मांडवी १४. शाम्भवी १५. पंचधारणा अयोधारणा १६. आम्भसीधारणा १७. वैश्वनिरीधारणा १८. वायवीधारणा १९.नमोधारणा २०. अश्विनी २१.पाशिनी २२. काकी २३. मांतगी तथा २४. भुजंगिनी।

---

१. शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासनालैविवर्जयेत्।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत्॥
न जायते च वार्धक्यं जरा नैव प्रजायते।
भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत्॥
वही, ५९ तथा ६०

२. हठयोग प्रदीपिका—उप० ३।६.१४

'ब्रह्मयामल' के मत से शरीर के अन्दर कुंडलिनी महाशक्ति निद्रावस्था में पड़ी हुई है। सर्वराज शेषनाग यथा वन, पहाड़ आदि से संयुक्त पृथ्वी के एकमात्र आधार है उसी प्रकार यह कुंडलिनी शक्ति भी समस्त योग दर्शन का आधार है। इस महाशक्ति के जाग्रत होने पर देहस्थ षट्चक्र में सकल पद्म एवं ग्रंथियों का भेद खुल जाता है और तभी प्राणवायु सुषुम्नारन्ध्र में प्रविष्ट होकर आनन्दपूर्वक विचर सकती है। जब मन अवलम्ब के बिना भी स्थिर रहने लगता है, तब अमरत्व या मुक्ति प्राप्त होती है। अतः इस कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करना उचित और आवश्यक है।[1]

चरनदास ने 'अष्टांगयोग-वर्णन' प्रकरण में निम्नलिखित पाँच मुद्राओं का प्रतिप्रादन किया है :—

१. खेचरी मुद्रा २. भूचरी मुद्रा ३. चाचरी मुद्रा ४. अगोचरी मुद्रा ५. उनमनी मुद्रा।

इन उपर्युक्त पाँच मुद्राओं में से प्रथम खेचरी मुद्रा का विवेचन एवं प्रतिपादन करने में कवि का ध्यान विशेष रहा है। कवि ने प्रायः २७ छन्दों में खेचरी मुद्रा धारण करने की विधि, क्रिया और महत्व का वर्णन किया है। शेष चार मुद्राओं का वर्णन केवल १८ छन्दों में समाप्त हो गया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कवि ने खेचरी मुद्रा को योग साधना में विशेष महत्वपूर्ण और सहायक माना है।[2]

---

१. सशैलवनधात्रीणां यथाधारो हि नायकः।
सर्वेषां हठतंत्राणां तथा धाराहि कुंडली॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली।
तदा पद्मानि सर्वाणि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च॥
प्राणस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते।
यदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य बन्धनम्॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥

२. संत सुन्दर दास ने अपने ग्रन्थ 'ज्ञान समुद्र' में आठ मुद्राओं का उल्लेख किया है। उक्त ग्रन्थ से कवि का मुद्रावर्णन छन्द यहाँ उद्धृत किया जाता है :—
सुनि महामुद्रा महाबन्धः महावेध च खेचरी।
उड्यान बंध सु मूल बंधहि बन्ध जालंधर करी॥
बिपरीत करणी पुनि वज्रोली शक्ति चालन कीजिये।
इमि होइ योगी अमर काया शशि कला मित पीजिए॥

चरनदास द्वारा वर्णित खेचरी मुद्रा का विवेचन करने के पूर्व इसके शास्त्रीय पक्ष की विवेचना आवश्यक है। खेचरी मुद्रा के सम्बन्ध में 'घेरंड संहिता' का निम्नलिखित श्लोक पठनीय है :—

जिह्वाधो नाडीं संछिन्नां रसनां चालयेत् सदा ।
दोहयेन्नवनीतेन लोहयंत्रेण कर्षयेत् ॥
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।
यावद् गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी ॥
रसनां तालुमध्ये तु शनैश्शनैः प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥[1]

अर्थात् जिह्वा के निम्न प्रदेश में जिह्वा और जिह्वा की जड़ को मिलाने वाली नाड़ी है। उसका भेदन करता हुआ सतत रसना के नीचे रसना के अग्रभाग को परिचालित करे तथा रसना को मक्खन से मल कर चिमटे से खींचा करे। नित्य प्रति यह क्रिया करने से जिह्वा बड़ी हो जाती है। क्रमशः अभ्यास के द्वारा जिह्वा को इतनी लम्बी कर ले कि वह भ्रू-मध्य तक पहुँच जाय। पुनः जिह्वा को क्रमशः तालु के मध्य में ले जाय। तालु के मध्यस्थ गढ्ढे को कपाल कुहर के मध्य में ऊपर को उलटी करके ले जाय और उभय भ्रू-मध्य अपनी दृष्टि को स्थिर करे। इसको खेचरी मुद्रा कहा गया है।

शास्त्रान्तर में खेचरी मुद्रा का वर्णन इस प्रकार हुआ है :—

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः ।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ॥
लम्बिकोर्ध्वस्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम् ।
संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ॥
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरागतः ॥

अर्थात् वज्रासन से निरुपद्रव शांत स्थान में बैठकर भ्रू-द्वय के मध्य दृष्टि दृढ़ता से लगाने तथा जिह्वा के ऊपर जो तालुकुहर है वहाँ पर रसना को उलटी उठाकर लगाने की क्रिया को खेचरी मुद्रा कहते हैं।

अब चरनदास द्वारा वर्णित खेचरी मुद्रा का वर्णन पठनीय होगा। निम्न-लिखित पंक्तियों में कवि ने जिह्वा का छीलन, छेदन तथा दोहन बताया है। जिह्वा दोहन मक्खन से होता है। जिह्वा-दोहन छेदन के अनन्तर होता है। जिह्वा सामा-

---

१ घे० सं०—तृतीयोपदेशः, २५-२७

न्यतया तीन प्रकार की होती है—नाग जिह्वा, हस्ति जिह्वा तथा धेनु जिह्वा। नाग-जिह्वा निसर्गतः बड़ी होती है। शेष दो का छेदन, छीलन तथा दोहन करना पड़ता है। चरनदास के मत से सर्वप्रथम क्रिया इस सम्बन्ध में है जल कुल्ला करना। इसके अनन्तर जिह्वा में चौबस्त चूर्ण की मालिश करनी चाहिए। इसके बाद साधक जिह्वा का दोहन, तानन (तानना या खींचना) करे और उसे दाँतों के नीचे दबाये। इन सब के पश्चात् उसका छीलन और छेदन करे। इस क्रिया के पश्चात् तोतू के कट जाने पर ब्रह्मरन्ध्र को धोकर उसका मैल निकाल डाले और जिह्वा को दो अंगुली की कूची से पकड़ कर (उसे उलट कर) उसी ब्रह्मरन्ध्र में नियोजित करे। इस क्रिया को खेचरी मुद्रा कहते हैं। कवि के ही शब्दों में पूरा वर्णन पठनीय होगा। अतएव यहाँ एक अष्टपदी उद्धृत की जाती है:—

पहिले मुद्रा खेचरी को साधन मनूं।
जैसे आगे करी सबी ऋषि मुनि जनूं॥
ताते जल के कुरले करि जुबगाइये।
ता पाछे चौबस्त को चूरण लगाइये॥
जिह्वा हाथ में पकरि मर्दन छीलन करै।
दोहन तानन करै बहुरि दशनन धरै॥
फिरि करि छीलन ताहि छेदनहिं कीजिए।
तोतू ज्यों कटि जाय यत्न सोइ लीजिए॥
ब्रह्मरन्ध्र को धोय कै मैल निवारिये।
बाये अंगूठे ऊपर काग को धारिये॥
सहज सहज सरकाय कै आगे लाइये।
यह सब साधन कठिन गुरु से पाइये॥
दो अंगुली कूंची सूं करि मेलना।
जिह्वा उलटि राख जु नितप्रति खेलना॥
यह उपाय षट मास करै तजिभान ही।
रसना यों बंधि जाय चढै अस्थान ही॥

प्रस्तुत उद्धरण में तीन बातें विशेष ध्यान देने योग्य है। प्रथम यह कि संत चरनदास इस खेचरी वर्णन को पम्परागत सैद्धांतिक खेचरी वर्णन की शृंखला की एक कड़ी मानते हैं जैसा कि उद्धरण की प्रथम दो पंक्तियों से प्रकट होता है। कवि ऋषियों एवं मुनियों द्वारा वर्णित परम्परा में ही अपनी रचना को रखता है। अब इस प्रस्तुत कथन का परीक्षण आवश्यक है। कवि का खेचरी मुद्रा वर्णन पूर्ण रूप से शास्त्रीय वर्णन से साम्य न रखता हुआ भी उससे बहुत अंश में मिलता-जुलता है।

इसका कारण यह है कि इन संतों ने हठयोग की दुरूह और दुःसाध्य प्रक्रिया को सरल तथा रोचक बनाने के लिए उसमें यत्र-तत्र परिवर्तन कर दिया है, परन्तु इतना होते हुए भी वर्ण्य विषय की आत्मा में क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं समुपस्थित हुआ है। दूसरे हठयोग के विशिष्ट ग्रन्थों में खेचरी मुद्रा साधना के लिए प्रत्येक स्तर पर गुरु का निर्देश अतीव आवश्यक माना गया है। प्रायः गुरुपदेश अभाव में साधक अपनी वाणी खो बैठता है तथा नाड़ियों पर भाँति-भाँति के व्याघात समुत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए गुरु का निर्देशन अनिवार्य माना गया है। संत चरनदास ने भी इस परम्परा का निर्वाह किया है। तीसरी बात यह है कि कवि ने इस प्रक्रिया का वर्णन बड़ी ही स्पष्ट और सुगम शैली में किया है जिसमें कि अल्पज्ञ भी उसके सन्देश को हृदयंगम कर सके।

योग-ग्रन्थों में खेचरी मुद्रा साधना का बड़ा माहात्म्य गाया गया है। 'घेरंड संहिता' में उल्लेख हुआ है कि जो खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते हैं उनको मूर्च्छा, क्षुधा और पिपासा कुछ भी कष्ट नहीं देती है। आलस्य, रोग, बुढ़ापा, एवं मृत्यु का उसे डर नहीं रह जाता। उसका शरीर देवशरीरवत् हो जाता है।[1] खेचरी साधक को अग्नि नहीं जला सकती, पवन शुष्क नहीं कर सकता, जल उसे गीला नहीं कर सकता और सर्प उसे काट नहीं सकता है।[2] इस मुद्रा के साधक के शरीर में अपूर्व लावण्य विकसित हो उठता है और उसे समाधि की प्राप्ति होती है। कपाल और मुख के मिलन से उसकी रसना से नाना प्रकार के श्रेष्ठ रस उत्पन्न होते हैं।[3] जो साधक इसका अभ्यास करते हैं उनकी जिह्वा से दिन प्रतिदिन अद्भुत रस संचार हुआ करता है और मन नित्य प्रति नये आनन्द में निमग्न रहता है। साधक की जिह्वा में क्रमशः लवण, क्षार, तिक्त, कषाय, नवनीत, घृत, क्षीर, दही, मट्ठा, मधु, द्राक्षा और अमृत आदि नाना प्रकार के रसों का आविर्भाव होता

---

१. न च मूर्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहं प्रपद्यते॥
घे० सं०—तृतीयपदेशः, श्लोक २८

२. नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजंगमः॥
वही, श्लोक २९

३ लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात्॥
घे० सं—तृतीयपदेशः, श्लोक ३०

है ।¹ संत चरनदास के शब्दों में खेचरी साधना का महत्व निम्नलिखित है । घेरंड संहिता तथा चरनदास द्वारा वर्णित खेचरी साधना का महत्व प्रायः एक-सा है । कवि की रचना से कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत कर देना असंगत न होगा :—

एक जु प्राणायाम जीमसूं कीजिये ।
दूजे बन्ध उड्यान यहीं सें दीजिये ॥
तीजे करि करि ध्यान निरखि जहूँ ज्योति ही ।
चोथे अमृत पिवै खुलै तहं सोत ही ॥
खैंचे त्रिकुटी पाट सहज अरु फेरिये ।
द्रवै सुधा रसनीर जहां मन घेरिये ॥
अमृत ही के स्वाद को कौन बखानई ।
जो कोइ अंचवै हंस सोइ पुनि जानई ।
दिन दिन पलटै देह रक्त दूधाभवै ।
बीस बरस अरु चारि माहिं ऐसा ह्वै ॥
इच्छा चारी होय बरस छत्तीस में ।
सब लोकन में जाय अपनी शक्ति तें ॥
जेते विषय व्यापै नहिं, रोग न दहै शरीर ।
जो कोइ पीवै युक्ति सूं, काम धेनु को छीर ॥
भूख प्यास अरु नींदै, रहै न तीनौ लेव ।
नाद बिन्दु गुटका बंधै, कहै यही शुकदेव ॥
तीन महीने चार का बालक गोदी माय ।
ना वह पीवै नीर ही अन्न नही वह खाय ॥
वह तो जीवै दूध सूं वाकू वहीं जुकाम ।
लगो रहै माताकुचन निसरे एक न याम ॥
अमृत पीवै योगिया ऐसे चरणहिदास ।
पहरहु यह छाडै नहीं कामधेनु को पास ॥
ऐसे धारै तौ बनै, सुधा रसाला संत ।
दिवि काया हो जाय जब धनि कहै कमलाकंत ॥

---

१. नानारससमुद्भूमानन्दं च दिने दिने ।
आदौ लवणक्षारं-तिक्तकषायकम् ॥
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च ।
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम् ॥
घे० सं०—तृतीयपदेशः, श्लोक ३१ तथा ३२

आठ पहर लागा रहै पीवै कै कै ध्यान।
मैं कहा जैसा ही, परसै पद निरवान॥
भेद गुरु से ये लहै, और छिपावै वाहि।
जो जो फल याके अधिक, होय परापति ताहि॥
योगेश्वर अरु देवता, मुनी ऋषीश्वर जान।
रखवारे वाके घने, करन न देवैं ध्यान॥
टेक गहै सो जापिये और करै ह्यां ध्यान।
यती सती अरु गुरुमुखी, जाकी ऐसी आन॥
बड़ी जु मुद्रा खेचरी, मुख में याका वास।
जो कहि मैं शुकदेव जी, जानलेहु चरणदास॥

उपर्युक्त उद्धरण के वर्ण्य विषय की तुलना 'घेरंड संहिता' में वर्णित खेचरी मुद्रा के माहात्म्य वर्णन से करने पर ज्ञात होता है कि चरनदास ने खेचरी साधना का माहात्म्य बड़े विस्तार के साथ वर्णित किया है। योग दर्शन के किसी भी ग्रन्थ में इस मुद्रा साधना का महत्त्व इतने विस्तार के साथ नहीं उपलब्ध होता है। इस उद्धरण की प्रथम बारह पंक्तियों में कवि ने खेचरी साधना से हठयोग साधना में जो सहायता प्राप्त होती है उसका उल्लेख किया है। शेष अंश में उसके महत्व या माहात्म्य की अभिव्यक्ति हुई है।

कवि द्वारा वर्णित द्वितीय मुद्रा भूचरी है। शास्त्रकारों का कथन है कि नासिका के अग्रभाग से चार अंगुल दूर रहे हुए अवकाश में मन को स्थिर करना भूचरी है। अष्टांग योग की साधना में धारणा के सिद्धि के हेतु प्रस्तुत मुद्रा का अभ्यास श्रेयस्कर हैं। इसकी साधना से योगी को अलौकिक सुख प्राप्त होता हैं। उसे दैहिक, दैविक तथा भौतिक संताप दग्ध नहीं करते। सांसारिक कष्ट उसे व्यथित और पीड़ित नहीं करते। 'घेरंड संहिता' में इस मुद्रा के विषय में कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है। चरनदास के शब्दों में अब भूचरी मुद्रा की प्रक्रिया पढ़िये :—

दूजी मुद्रा भूचरी, नासा जाको वास।
प्राण अपान जुदी जुदी, एक करै चरणदास॥
जितकी तित रख प्राण को, वा घर लाय अपान।
ताहि मिलावै युक्ति सूं, करि करि संयम ध्यान॥
जब वह जीतै पवन कूं, मन चंचल ठहराय।
गगन चढ़न की आश हो, कहै शुकदेव सुनाय॥
गुदा द्वार बंध दीजिए, एंडी पांव लगाय।
आसन सिद्ध जु कीजिए, मन पवनावश लाय॥

अपान वायु जब वशभवै, ऊरध खैंच लचाय।
सनई सनई जाचढै, प्राण वायु ह्वै जाय॥

चांचरी मुद्रा का वर्णन कवि ने भूचरी के अनन्तर किया है। आज्ञा चक्र में भव को अवरुद्ध करना चांचरी मुद्रा है। शास्त्रकारों के मत्यानुसार पक्षान्तर में इसको खेचरी मुद्रा भी कहते हैं, परन्तु चरनदास द्वारा वर्णित खेचरी और चांचरी की साधना, प्रक्रिया और महत्व एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं, अतः इससे स्पष्ट है कि कवि योगशास्त्रकारों की भाँति पक्षान्तर मे इसको खेचरी नहीं मानता है। कवि के शब्दों में चांचरी मुद्रा निम्नलिखित है:—

तीजी मुद्रा चांचरी जाको नैनन वास।
नासा आगे दृष्टि कूं राखै मन धर आस॥

अंगुल चार नासिका आगे। चित अस्थिर करि देखन लागे॥
खुले पाँच तत करै जु कोई। मन अरु पवन जहाँ थिर होई॥
फिरि हासूं नासा परि आवै। अचल टकटकी तहाँ लगावै॥
जहं बहुतक अचरज दरसावै। विभव स्वर्ग के आगे आवै॥
जित सूं पलट तिरकुटी मांहीं। ध्यान करै कहुं अन्त न जाहीं॥
दीरघ तारा सा परकासै। उदय होय सूरज ज्यों भासै॥
चित चेतन दोउ मेला करै। लै उपजै अरु दुविधा हरै॥
यही चांचरी मुद्रा जानै। चरनदास याकूं पहिचानै॥

विगत पृष्ठों में भूचरी की विवेचना करते हुए लिखा गया है कि शास्त्रकारों का कथन है कि नासिका के अग्रभाग से चार अंगुल दूर रहे हुए अवकाश में मन को स्थिर करना भूचरी है। अब प्रस्तुत उद्धरण के निम्नलिखित शब्द विचारणीय है:—

"नासा आगे दृष्टि कूं राखै मन धर आस।
अंगुल चारि नासिका आगे॥
चित अस्थिर करि देखन लागै।
खुलै पाँच तत करै जु कोई॥
मन अरु पवन जहाँ थिर होई।
फिरि हासूं नासा परि आवै॥
अचल टकटकी तहाँ लगावै॥"

स्पष्ट है शास्त्रकार नासिका के अग्रभाग में चार अंगुल पर दृष्टि लगाने को भूचरी मानते हैं और चरनदास इसी क्रिया को चांचरी मुद्रा मानते हैं। 'घेरंड-संहिता' में इस मुद्रा का उल्लेख नहीं मिलता है।

खांचरी मुद्रा के अनन्तर कवि ने 'अगोचरी मुद्रा' का वर्णन किया है। योग दर्शन के विद्वानों के मतानुसार नासिका के अग्रभाग पर मन को रोक कर स्थिर करना अगोचरी मुद्रा है। इसकी साधना से मन के समस्त विकार, भ्रम और मायादि बन्धन विच्छिन्न हो जाते हैं। 'घेरंड संहिता' में जिन पचीस प्रमुख मुद्राओं का उल्लेख हुआ है उसमें अगोचरी को मान्यता नहीं दी गई है। चरनदास ने अगोचरी मुद्रा का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

कहूं अगोचरि चौथी मुद्रा। तामें सुख पावै योगीन्द्रा ॥
या मुद्रा का संखन बासा। शुकदेव कहैं सुन चरणहि दास।
शान सुरति दोउ एक ह्वै पलट अगोचर जाय।
शब्द अनाहद में रतैं मन इन्द्री थिरपाय ॥

मुद्रा प्रकरण के अन्तर्गत कवि द्वारा वर्णित अंतिम मुद्रा है उनमनी मुद्रा। इसकी स्थिति दशवें द्वार में मानी गई है। इसकी साधना से समाधि सिद्ध होती है और समस्त वासनाएँ विनष्ट हो जाती हैं। इसके द्वारा द्वैत की भावना विनष्ट होती है तथा साधक और साध्य, ध्याता और ध्येय में एकात्मकता स्थापित होती है। इस स्थिति में समस्त क्रियाएं विनष्ट हो जाती हैं और योगी परमहंस के रूप में विचरण करता है। उनमनी मुद्रा का वर्णन कवि ने निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

पंचवीं मुद्रा उनमनी दशवें द्वारे बास।
सिद्धि समाधि मिलै जहां दग्धहोय सब आस ॥
आनंदहि आनन्द जहां तहां न काल कलेश।
तीनौ गुन नहि पाइये झांनहि माया लेश ॥
जीवातम परमात्मा होय जाय वा ठौर।
ध्याता ध्यानन ध्येह जहं तहां न किरिया और ॥

बंध

'अष्टांग योग वर्णन' के अन्तर्गत कवि ने चार बंध—महाबंध, मूलबंध, जलंधर बंध तथा उड्यान बंध, का वर्णन किया है। प्राणायाम साधना में बंधों का बड़ा महत्व है। बंधों के बिना प्राणायाम करना लाभप्रद नहीं है। बंधों के बिना प्राणायाम में साधक सफल भी नहीं हो सकता। बंधों के प्रयोग की विधि निम्नलिखित है:—

१. पूरक के समय—मूलबंध तथा उड्डियान बंध।
२. कुम्भक के समय—मूल बंध तथा जालन्धर बंध।
३. रेचक के समय : मूलबंध तथा उड्डियान बंध।

मूलबंध प्राणायाम के प्रारम्भ से अंत तक रहता है। इसके अतिरिक्त एक और बंध का रहना आवश्यक होता है। गुदा के दृढ़तापूर्वक संकोच को मूलबंध, ठुड्डी के कंठकूप में दृढ़तापूर्वक स्थापन को जालंधर बंध और पेट के नाभि से

नीचे एवं ऊपर के आठ अंगुल भाग को पश्चिमोत्तान करना उड्डियान बंध है। इन बन्धों को मुद्रा भी कहा जाता है।

चरनदास द्वारा वर्णित विविध बंधों में महाबन्ध सर्वप्रथम है। महाबंध में योगी अपने वाम पाद को सीवन में तथा दक्षिण पाद को वाम पाद की जंघा के मूल में ऊपर की ओर रखे। तदनन्तर पाँच घर्षण करके वाम नासिका से पूरक करे। कुंभक करते समय उभय हस्तों से दक्षिण पैर के घुटने को ग्रहण किये रहे तथा मन को सुषुम्णा नाड़ी में नियोजित करके अपने हृदय में कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करके ब्रह्म रन्ध्र में ले जाने की भावना को दृढ़ करे। योगी स्वशक्ति तथा अभ्यासानुसार कुंभक करके दक्षिण नासिका से शनैः-शनैः रेचक करे। वाम अंग में उसे (योगी को) जितनी मुद्राएं करनी अपेक्षित हों, इसी प्रकार करे। वाम अंग की मुद्राएं कर लेने के अनन्तर फिर उतनी ही (जितनी वामांग में हुई हैं) मुद्राएं दक्षिणांग में करे। इस क्रिया से वही फल प्राप्त होता है जो कि महामुद्रा से प्राप्त होता है। महाबंध दो प्रकार का माना गया है। प्रथम में योगी सिद्धासन से बैठकर मूलबन्ध को बराबर दृढता से लगा के दोनों हाथ चूतड़ों के समीप स्थित करके पांच घर्षण करे। इसके अनन्तर वह दोनों नासिकाओं से पूरक करे। कुंभक करता हुआ योगी मन में यह भावना दृढ़ करे कि वह कुंडलिनी महाशक्ति को जाग्रत कर रहा है। ऐसी भावना को दृढ़ करता हुआ योगी शिरासना सहित ऊपर उठकर कन्द स्थान को रगड़े। अपनी इच्छा के अनुसार कुंभक करके दोनों नासिकाओं से धीरे-धीरे रेचक करे। महाबन्ध के दूसरे प्रकार में योगी पद्मासन से बैठकर वाम नासिका से पंच घर्षण करे। तदनन्तर उसी नासिका से पूरक को भरे। कुंभक के समय लीलासन से स्थित होकर अपने मन में यह भावना दृढ़ करे कि मैं कुंडलिनी महाशक्ति को जाग्रत कर रहा हूँ। इसके पश्चात् योगी यथाशक्ति कुंभक कर लेने के अनन्तर दक्षिण नासिका से धीरे-धीरे रेचक करे। योगी वामांग में जितनी मुद्राएं करनी हो उन्हें करके फिर दक्षिणांग में इसके विपरीत क्रम से उतनी ही मुद्राएं करे जितनी चन्द्रांग में की हैं।

महाबंध की उपर्युक्त क्रिया जिसका इतने विस्तार में वर्णन हुआ है, वहाँ 'घेरंड संहिता' में अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में वर्णित है। ऋषि घेरंड के अनुसार बाईं एड़ी से पायुमूल (गुदा) का निरोध करके दाहिने पैर से यत्नपूर्वक बाईं एड़ी को दबाता हुआ धीरे-धीरे गुह्य देश को चलावे और धीरे-धीरे गुह्य देश को सिकोड़े और जालंधर बन्ध से प्राणवायु को धारण करे। इसका नाम महाबंध है :—

> वामपादस्य गुल्फे तु पायुमूलं निरोधयेत्।
> दक्षपादेन तद् गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥
> शनैःशनैश्चालयेत् पार्ष्णिं योनिमाकुंचयेच्छनैः।
> जालन्धरे धारयेत्प्राणं महाबन्धो निगद्यते ॥

घे० सं०—तृतीयोपदेशः, श्लोक १८ तथा १९

महाबंध का जो सविस्तार विवेचन ऊपर भिन्न-भिन्न योगदर्शन के ग्रन्थों में हुआ है, उसको सूत्र रूप में चरनदास के निम्नलिखित पद्यांश में पढ़िये। ध्यान देने योग्य बात यह है कि कवि की महाबंध विषयक धारणा और शास्त्रीय-मत में कोई अन्तर नहीं है। अत: कवि की इस रचना में परम्परागत सैद्धांतिक विचार-धारा ही प्रमुख है। अब कवि के शब्दों में इस वर्णन को सुनिये :—

महाबन्ध तोहि पहल बताऊँ। पाछे मूलबन्ध सम गाऊँ ॥
बायां पांव सियन गहि दीजै। मूलद्वार एड़ी बंध कीजै ॥
दहिनी जंघ जंघ पर लावै। गउमुख आसन नाम कहावै ॥
राखै चिबुक हृदय पर लाय। पवनराह पूरब को जाय ॥
ध्यान त्रिकुटी संयम करै। प्राणवायु हिरदे में धरै ॥
महाबन्ध ऐसे करि साधै। गुरु प्रताप याही आराधै ॥
बिना पुरुष तिरिया कूं जानो। बन्ध बिना मुद्रा पहिचानो ॥
निरफल जाय पुरुष बिन नारी। महाबन्ध बिनु मुद्रा धारी ॥
मांहि कंठ के ध्यान लगावै। सुरत निरत ह्वाई ठहरावै ॥
महाबन्ध अस्थत करै, सो योगी ह्वै जाय।
पवन पंथ मुंदित करै, ध्यान कंठ में लाय ॥

शशियरकूं सूरज पर लावै। रेचक पूरक पवन फिरावै ॥
पहर-पहर भर पवन भरीजै। प्रथम अल्प अभ्यास करीजै ॥

महाबंध की साधना का बड़ा चमत्कारी प्रभाव होता है। कवि के मत से जो योगी इसकी साधना करता है वह जरा, मृत्यु, मन्दाग्नि आदि पर विजयी होकर अमरत्व प्राप्त करता है।[1]

---

१. महाबन्ध करै अभ्यासा। अमृत अच पियासा ॥
जरा मृत्यु देही नहिं आवै। महाबन्ध तीनौ गुन पावै ॥
जठर अग्नि परचै बहुभारी। निशिदिन मांहि करै अठवारी ॥

'घेरंड संहिता' में इसे जरामरणविनाशिनी तथा सकलसिद्धिप्रदायिनी मुद्रा कहा गया है :—

महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशनः।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत्सर्ववांछितम् ॥
—तृतीयोपदेशः, श्लोक २०

महाबंध के पश्चात् कवि ने मूलबंध का वर्णन किया है। गुह्य प्रदेश को एंडी से दबाकर भली-भाँति बंधे हुए अपान वायु को बल के साथ शनैः-शनैः ऊपर को खींचे। इस क्रिया का नाम मूलबंध है। यह बुढ़ापे और मृत्यु को दूर करती है।[1] 'घेरंड संहिता' के अनुसार वाम एंडी से गुह्यप्रदेश को संकुचित करे तथा यत्न के साथ मेरुदंड में नाभिग्रंथि को लगाकर दबावे तथा दक्षिण एंडी से उपस्थ को दृढ़ता के साथ दाबकर रखे, इसको मूलबन्ध कहते हैं। इस मुद्रा से बुढ़ापा निकट नहीं आता है।[2] मूलबन्ध के इस शास्त्रीय विवेचन से चरनदास का पूर्ण मतैक्य है। कवि ने परम्परागत विचार धारा के अनुसार बांई एड़ी से गुदा-प्रदेश के संकुचन और यत्न के साथ मेरुदंड नाभिग्रन्थ को लगाकर दबाने तथा दाहिनी एड़ी से उपस्थ को दृढ़ता के साथ दाबकर रखने की क्रिया का वर्णन तो किया ही है परन्तु विशेषता यह है कि कवि ने कपड़े की एक गेंद को गुदा के मध्य कस कर वायु को अवरुद्ध करने के उपाय का भी उपदेश दिया है। इस उपाय से भी नीचे की पवन ऊपर जाती है और सहज ही प्राण तथा अपानवायु मिलकर एक हो जाती है। कवि द्वारा वर्णित मूलबन्ध प्रकरण से कतिपय महत्वपूर्ण पंक्तियां को यहाँ उद्धृत करना असंगत नहीं होगा :—

अब मैं मूलबन्ध बतलाऊँ। ज्यों का त्यों साधन दिखलाऊँ॥
गुदा बास याका तुम जानो। गुदा द्वार बन्धन दे टानो॥
बायें पांव की एंडी सेती। मूल द्वार रोकै करि हेती॥
ऊरध ही कूं खैंचन कीजै। शुकदेव कहै नीके सुन लीजै॥
अरु कबहू मन ऐसी धरै। आसन पदम करन कूं करे॥
कपड़े की इक गेंद बनावै। गुदा मध्य कसबंध लगावै॥
यों भी वायु सधै वा भांती। जोपै लाग रहै दिन राती॥
पवन तले की ऊपर जावै। प्राण अपान सहज मिल जावै॥
नाद बिंद रल मिलजा दोई। एक वर्ण साधै जो कोई॥

---

१. पादमूलेन सम्पीड्य गुदामार्गं सुयंत्रितम्।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं समभ्यसेत्॥
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः।

२. पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुंचयेत्ततः।
नाभिग्रंथि मेरुदंडे संपीड्य यत्नतः सुधीः॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते॥
घे० सं०—तृतीयोपदेशः, श्लोक १४-१५

मूलबन्ध की साधना का महत्त्व निम्नलिखित है :—

मूलबन्ध गुण ऐसा होई। वायु अधोगति जाय न कोई ॥
रेता ऊरध वार्यू रुधै। दिन दिन आयु सवाई बंधै ॥
यातें बारज मय दरि आवै। रोगरक्त को सभी नशावै ॥
योग माहिं यह भी परधान। बूढ़ा देह पलट को ज्वान ॥
जठर अगन बाढ़ै अधिकाय। जो चाहै तो बहुतै खाय ॥

'घेरंड संहिता' के अनुसार जो साधक भवसागर के पार जाने के आकांक्षी हैं, वे एकांत वा निर्जन स्थान में इस मुद्रा का अभ्यास करें। इस मूलबन्ध का अभ्यास करने से निश्चय ही मरुसिद्धि हो सकती है। अतएव साधक आलस्य को त्याग, मौनधारण करके, यत्न के साथ इसकी साधना करे।[१]

महाबन्ध तथा मूलबन्ध के अनन्तर कवि ने जालन्धर बंध का वर्णन किया है। कंठ को संकुचित कर के हृदय पर ठोढ़ी को रखने की क्रिया का नाम जालंधर बन्ध है। इससे सोलह प्रकार का आधारबन्ध हो सकता है और यह मृत्यु को पराजित करता है।[२] 'ग्रहदारवन्य' में लिखा है कि कंठ को सिकोड़ कर ठोढ़ी को दृढ़ता के साथ हृदय पर रखे, इसको जालन्धर बन्ध कहते हैं। इसके द्वारा शरीरस्थ अमृत निरंतर परिपूर्ण रहता है।[३] एक अन्य संहिता में उल्लेख हुआ है कि गले की नसों को बांधकर ठोढ़ी को हृदय पर रखकर कुंभक करने की क्रिया को जालंधर बन्ध कहते हैं। यह देवताओं को भी दुर्लभ है।[४] संत चरनदास के शब्दों में जालंधर बन्ध निम्नलिखित है :—

तीजा बंध जलंधर जानौ। कंठ वास ताका पहिचानौ ॥
ग्रीवा लटक चिबुक हिय लावै। कंठ पवन रोके परचावै ॥

---

१. संसारसमुद्रं तर्तुमभिलषति यः पुमान्।
विरले सुगुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत् ॥
अभ्यासाद्बन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
साधयेद्यत्नतो तर्हि मौनीतु विजितालसः ॥
घे० सं०—तृतीयोपदेशः, श्लोक १६–१७

२. कंठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।
जालंधरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ॥

३. कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताव्ययकारकः ॥

४. बद्ध्वा गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्।
बन्धो जालन्धरो प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥

हिरदै प्राण पूरकरि रहिये । बंध जलंधर यासूं कहिये ॥
अरध पवन नीचे को जाय । अरध पवन ऊरध कूं लाय ॥
उदर मध्य लै ताहि विलोय । ब्रह्म रन्ध्र जा पहुंचै सोय ॥
इह विधि ब्रह्म पंथ कूं धावै । सहजै सहजै मध्य समावै ॥
जरामरण जहं भय नहि व्यापै । लहै अमर पद हरिहं आपै ॥
चरणदास शुकदेव बतावै । जोपै बंध उड्यान लगावै ॥

प्रस्तुत उद्धरण की पंक्तियों में वर्णित जालंधर बन्ध का विषय 'ब्रह्यामल' एवं 'घेरंड संहिता' से पूर्णरूपेण साम्य रखता है। इसके अतिरिक्त कवि ने वायु संचार और नियंत्रण पर विचार व्यक्त करके विषय को और भी अधिक बोधगम्य बना दिया है। शैली की दृष्टि से दुरूह विषय को कवि ने सरल एवं स्पष्ट बनाने का प्रयत्न किया है।

जालंधर बन्ध के पश्चात् कवि ने उड्डीयानबन्ध का उल्लेख 'अष्टांगयोग' प्रकरण में किया है। शास्त्रकारों के मत से नाभि के ऊपर के भाग और पश्चिम द्वार को उदर के समभाव में सिकोड़े अर्थात् उदर के अधोभाग में स्थित गुह्यादिचक्र स्थित समस्त नाड़ियों को नाभि के ऊपर को उठावे। इसी का नाम उड्डीयानबन्ध है। यह बन्ध मृत्युरूपी हाथी के हेतु सिंह सदृश्य है।[1] योगयुक्त व्यक्ति प्रतिदिन चार बार इस उड्डीयान बन्ध का आचरण करे तो उसकी नाभि शुद्ध और मरुत् शुद्धि हो जाती है। षट्मास तक इस बन्ध का अभ्यास करने मात्र से योगी मृत्युंजय हो सकता है। इसका आचरण करने वाले व्यक्ति की जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है एवं शरीर में पुष्टि करने वाला रस संचालित होता है। इसके प्रसाद से योगियों के रोग नष्ट हो जाते हैं।[2] 'दत्तात्रेयसंहिता' में भी उल्लेख मिलता है कि उड्डीयानबन्ध का

---

१. उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वन्तु कारयेत् ।
उड्डीयानं कुरुते यत्तदविश्रान्तं महाखगः ॥
उड्डीयानं त्वसौ मृत्युमातंगकेसरी इव ॥
घे० सं०—तृतीयोपदेशः, श्लोक १०

२. नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन शुद्धो भवेन्मरुत् ॥
षण्मासमभ्यसेद्योगी मृत्युं जयति निश्चितम् ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिश्च जायते ॥
रोगाणां संक्षेपश्चापि योगिनां भवति ध्रुवम् ।
गुरोर्लब्ध्वा तु यत्नेन साधयेच्च विचक्षणः ॥
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम् ।

अभ्यास करने पर वृद्ध पुरुष भी तरुण बन जाता है। जो इसका षट् मास पर्यन्त अभ्यास कर लेता है वह साधक मृत्यु को पराजित कर देता है।[1] अब चरनदास के उड्डीयान-बन्ध विषयक विचार अध्ययनीय है। कवि के शब्दों में प्रस्तुत बन्ध निम्नांकित है :—

> बंध उड्यान आगे कहा, जिह्वा उलट लगाय।
> कान आँख मुख नाक के, स्वर सब बंध कराय॥
> इह सुबन्ध महिमा अधिक, लागै बजर किवांर।
> सात द्वार की बाट ही, निकसै नांहि बयार॥
> पांचौ मुद्रा बंध सब, दिखलाया यह देश।
> शुकदेव कहै रणजीत सुन, और कहूँ उपदेश॥

उड्डीयानबन्ध विषयक उपर्युक्त शास्त्रीय विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्राणायाम में रेचक के समय नाभि को पीछे खींचकर मेरुदंड से मिलाए। इससे वायु सुषुम्णा में प्रवेश करेगा। अभ्यास से वायु का ब्रह्म रन्ध्र में लय हो जाना उड्डीयान बन्ध है। परन्तु चरनदास के मत से जिह्वा को उलट कर तालु प्रदेश में लगाए। साधक कान, आँख, मुँह, नाक के समस्त स्वरों को अवरुद्ध करे और वायु को किसी मार्ग से बाहर निकलने न दे। यह क्रिया उड्डीयान बन्ध है। इस प्रकार से दोनों के चिन्तन और प्रक्रिया वर्णन में जो अंतर है वह पूर्णतया स्पष्ट है।

प्रत्याहार

विषयों से असम्बद्ध होकर इंद्रियाँ जब चित्त के स्वरूप का अनुकरण करती है, तो उस अवस्था का नाम प्रत्याहार है। जितेन्द्रिय साधक अथवा योगी की इन्द्रियाँ ध्येयवस्तु में अनुरक्त अथवा संलग्न चित्त के सदृश्य हो जाती हैं। चित्त के निरुद्ध हो जाने पर वे स्वतः बिना परिश्रम निरुद्ध हो जाती हैं। इस दशा में इन्द्रियाँ चित्तानुगामिनी समझी जाती हैं। संक्षेप में विषयासम्प्रयोगकाल में चित्तानुगमन प्रत्याहार है। प्रत्याहार में इन्द्रियों का स्वरागद्वेषात्मक विषयों से विवेक रूपी बल के द्वारा निवृत्त करके उनको चित्त के आधीन करना परमावश्यक है। 'योगदर्शन' के अनुसार :—

> "स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः"
>
> —योगदर्शन २-५४

अर्थात् "अपने विषयों के संग से रहित होने पर, चित्त के सदृश्य रूप में अपरिश्रुत हो जाना प्रत्याहार है।" प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने पर साधक वाह्यज्ञान शून्य हो जाता है। यदि किसी अन्य साधन से मन का निरोध हो जाता है तो इन्द्रियों का

---

१. अभ्यसेद्यस्तु सत्वस्थो वृद्धोऽपि तरुणायते।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः॥

१९. प्राणमये सञ्चालयति प्राणम् ।

प्राणमय कोष में सर्वत्र प्राण का सञ्चालन कर देती है ।

नाड़ी-शुद्धि होने पर, समस्त नाड़ी-जाल शुद्ध हो जाने के कारण, प्रत्येक शाखा-उपशाखा में सर्वत्र प्राण का वेग से सञ्चार होने लगता है और प्राणमय कोष शक्ति से आनखशिख परिपूर्ण हो जाता है। इस अवस्था का नाम घटा अवस्था है। क्रियाओं के आरम्भ होने से आरम्भ अवस्था कहलाती है । आरम्भ अवस्था में शक्ति के ऊर्ध्वगामी होने से इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होने लगती हैं और शक्ति के वेग से प्राणमय कोष के प्राण से परिपूर्ण हो जाने पर घटावस्था कहलाती है ।

२०. तदा प्राणायामसिद्धिश्च ।

तब प्राणायाम की सिद्धि होती है।

२१. सा चतुर्विधा ।

वह प्राणायाम की सिद्धि चतुर्विध होती है ।

२२. प्राणस्यापानेऽपानस्य प्राणे योग उभयोर्गति-रोधश्च ।

२३. केवलः प्राणविलीने चतुर्थः ।

अपान में प्राण का योग होना, प्राण में अपान का योग होना और दोनों की गति का निरोध होना। चौथा केवल प्राणायाम है जिसमें प्राण का लय हो जाता है।

जैसा कि श्री भगवान् ने गीता में अर्जुन से यज्ञों का वर्णन करते हुए कहा है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापान गतीरुद्ध्वा प्राणायाम परायणाः ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥

—'कोई तो अपान में प्राण की आहुति देते हैं, दूसरे प्राण में अपान की आहुति डालते हैं, कोई प्राण और अपान की गति को रोक कर प्राणायाम करते हैं और दूसरे नियमपूर्वक आहार करके प्राण की प्राण में आहुति देते हैं। ये सब ही यज्ञ के जानने वाले हैं जिन्होंने अपने पापों को यज्ञ द्वारा निकाल फेंका है।

उक्त चारों प्रकार के प्राणायामों का श्वास-प्रश्वास के पूरक, रेचक और कुम्भक प्राणायामों से अभिप्राय नहीं है, परन्तु रेचक-पूरक द्वारा इनकी सिद्धि हो सकती है और शक्ति जागने पर बिना रेचक-पूरक के भी सिद्ध होते हैं। चारों की क्रियाएँ नीचे समझायी जाती हैं। पाठकों को यह बात तो उपरोक्त श्लोकों से समझ में आ ही गयी होगी कि असली प्राणायाम प्राण और अपान के मिलने से होता है। 'ये दोनों शक्तियाँ कहाँ और किस प्रकार मिलायी जाती हैं ?'—यही समझने की बात है।

अपान शक्ति का स्थान पायु तथा उपस्थ है अर्थात् अपान आधार चक्र के समीप रहता है और उसकी गति नीचे की ओर होती है। प्राण शक्ति हृदय से ऊपर के भाग में काम करती है। दोनों का योग कर के इनको सुषुम्ना-विवर में प्रविष्ट करना चाहिए। सुषुम्ना में प्रवेश करने का द्वार कुण्डलिनी के स्थान पर है जो मूलाधार और स्वाधिष्ठान के बीच में स्थित है अर्थात् प्राण और अपान दोनों को इसी स्थान पर खींचकर मिलाना होता है जिस से दोनों मिलकर सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं। तब घटावस्था

की सिद्धि होती है और योगी के किञ्चित् प्रयत्न अथवा सङ्कल्प मात्र से जहाँ चाहे वहीं प्राण का प्रवाह सुगमता से होने लगता है।

(१) अपान शक्ति में प्राणों की आहुति देने के लिए प्राण को नीचे उतारना पड़ेगा और उसको आधार चक्र में ले जाकर अपान में मिलाना पड़ेगा। यह क्रिया पूरक और अन्दर के कुम्भक करने से भी सिद्ध होती है। श्वास को फुप्फुस Lungs में धीरे-धीरे, परन्तु दबाव के साथ खींचकर पूरक करना पड़ता है। फिर कण्ठ का सङ्कोचन कर के जालन्धर बन्ध द्वारा वायु को जोर से नीचे दबाया जाता है। इस क्रिया से, कुछ अभ्यास के पश्चात्, प्राण शक्ति ऊपर के भाग की सब नाड़ियों से इड़ा-पिङ्गला नाड़ियों में खिंचकर नीचे की ओर उतरने लगती है और धीरे-धीरे कन्द के पास मूलाधार चक्र में एकत्रित होती है। वहाँ पर योगी ने पहले से ही सिद्धासन अथवा गुदा का सङ्कोचन कर के मूल बन्ध द्वारा अपान शक्ति को रोका हुआ होता ही है। इस प्रकार वहाँ दोनों का योग किया जाता है। यह प्राण की अपान में आहुति हुई।

(२) फिर रेचक द्वारा धीरे-धीरे प्रश्वास को निकाला जाता है और मूलबन्ध तथा पेट को पीठ की ओर खींचकर उड्डयान बन्ध द्वारा नीचे की नाड़ियों से अपान को ऊपर खींचकर प्राण से मिलाया जाता है। इस प्रकार फिर दोनों का योग होता है। यह अपान की प्राण में आहुति देना है। उक्त प्रकार दोनों का योग कर के प्राण के सुषुम्ना में प्रवेश करने पर असली प्राणायाम की सिद्धि होती है।

(३) तदनन्तर बाह्य कुम्भक करके श्वास-प्रश्वास की गति रोक दी जाती है जिससे प्राण और अपान दोनों अपना-अपना बाह्य कार्य त्यागकर अन्तर्मुख होने लगते हैं (जैसा कि मृत्यु के पूर्व दम घुटने से होता है) और दोनों अपने-अपने स्वरूप को त्याग

कर लय होने लगते हैं। यही प्राण-अपान की गति-निरोध रूप तीसरा यज्ञ है।

(४) चौथे केवल कुम्भक के सिद्ध होने पर श्वास-प्रश्वास किसी भी अवस्था में स्वयं रुकने लगते हैं और श्वास-गति का निरोध होने से प्राणशक्ति का निरोध होता है। पाँचों प्राणों का निरोध होने से शरीर का समस्त व्यापार रुककर प्राण का समष्टि उत्थान होता है और समाधि लगने लगती है। ऐसे योगी मिताहार करके दीर्घकाल तक समाधि का आनन्द लेते हैं। यही प्राणों की प्राणों में आहुति देना है। इस चौथे का तीसरे से इतना भेद है कि केवल कुम्भक में प्राण सब चक्रों में एक दम विलीन होने लगेगा। इन चारों ही रीतियों में प्राण सुषुम्ना में चढ़ता है।

शक्ति के जागकर क्रियावती होने पर चारों प्रकार के प्राणायाम बिना यत्न के अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति का आधार लिए बिना ही सिद्ध होने लगते हैं। श्रीमच्छङ्कराचार्य जी ने भी योगतारावली में केवल कुम्भक का सुन्दर वर्णन किया है जो पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत किया जाता है—

बन्धत्रयाभ्यास विपाकजातां,
विवर्जितां रेचकपूरकाभ्याम्।
विशोषयन्तीं विषयप्रवाहं,
विद्यां भजे केवलकुम्भरूपाम् ॥८

प्रत्याहृतः केवल कुम्भकेन,
प्रबुद्धकुण्डल्युपभुक्तशेषः।
प्राणः प्रतीचीन पथेन मन्दं,
विलीयते विष्णुपदान्तराले ॥१२

—'मूल, उड्डयान और जालन्धर,—तीनों बन्धों के अभ्यास की परिपक्व अवस्था होने पर प्रकट होने वाली उस केवलकुम्भक

रूप विद्या का मैं भजन(साधन) करता हूँ जो रेचक और पूरक से वर्जित है और सब विषयों के प्रवाहों को सुखा डालती है।'

—'केवलकुम्भक के द्वारा खींचा हुआ प्राण,—जो जागी हुई कुण्डलिनी के भोजनोपरान्त शेष बच गया है,–धीरे-धीरे सुषुम्ना के पश्चिम मार्ग द्वारा विष्णुपदस्वरूप अन्तराल में लय हो जाता है अर्थात् सहस्रार में चढ़कर परब्रह्म में लय हो जाता है।'

२४. तदा पश्चिमतो वेधाच्चित्तलयः।

तब सुषुम्ना के मार्ग का वेध होने से चित्त की लयावस्था आती है।

२५. सिद्ध मंत्राणामाप्ति मातृका-संबोधात्।

मातृका शक्ति के जागने के कारण सिद्ध मन्त्रों की प्राप्ति होती है।

मातृका शक्ति कुण्डलिनी का वह स्वरूप है जिसमें शब्द औरी पदों की रचना सहित अकार से क्षकार तक वर्णमाला वंखर वाणी द्वारा प्रकट होती है। इसीलिए कुण्डलिनी को सरस्वती भी कहते हैं। सरस्वती के सिद्ध होने पर मन्त्रों एवं पदों का स्वय विकास होने लगता है और योगी में व्याख्यान देने अथवा कविता रचने की शक्ति आ जाती है।

२६. अष्टाङ्गयोग सिद्धिश्च।

और अष्टाङ्ग योग की सिद्धि होती है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—आठों अङ्ग धीरे-धीरे पुष्ट हो जाते हैं। यदि १२ घण्टे क्रियाओं का वेग चलता रहे तो एक घण्टे की धारणा, ५ मिनट का ध्यान तथा २५ सैकेण्ड की समाधि होती है—ऐसा अनुमान है। तदनुसार ही नीचे के अङ्ग भी उत्तरोत्तर पुष्ट होते हैं।

२७. महायोगोदयो वा ।

अथवा यह कहें कि महायोग का उदय होता है।

२८. नृत्यति गायति हसति रोदति च ।

और साधक नाचता है, गाता है, कभी हँसता है, कभी रोता है।

२९. प्रणवादिनामोच्चारणं गानं कीर्तनम् च ।

प्रणवादि नामों का उच्चारण, गान और कीर्तन करता है।

३०. दिव्य भावैर्मत्तो भवति ।

३१. रौद्रादिभावैरपि सम्पन्नोभवति ।

दिव्य भावों में मस्त हो जाता है और रौद्रादि भावों से भी युक्त होता है।

रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, हास्य, वीर, करुणा, भय, घृणा (वीभत्स) और सप्रेम भक्ति अर्थात् शान्त,—ये ९ भाव हैं।

उक्त ९ प्रकार के भाव कभी-कभी आते हैं। इनके अतिरिक्त शिवभाव, दिव्यभाव और ब्रह्मभाव आदि भी होते हैं। इन भावों

के आने से मनुष्य उन्मत्तवत् दीखने लगता है। यही ज्ञानी की अवस्था है, क्योंकि इस अवस्था में जीवभाव स्वल्प अथवा नहीं-सा हो जाता है।

३२. भक्त्या परयाऽविष्टो भवति।

परा भक्ति के आवेश में आ जाता है।

३३. करोति सिद्ध दर्शनमिष्टदेवदर्शनञ्च।

सिद्धों और इष्टदेव के दर्शन करता है।

३४. ऊर्ध्वरेताश्च भवति।

और ऊर्ध्वरेता हो जाता है।

यह बात तो सब जानते हैं कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक है और वीर्य की रक्षा का नाम ही ब्रह्मचर्य है। परन्तु, 'वीर्य की रक्षा किस प्रकार होती है?'–यह बात बहुत कम लोग समझते हैं। बहुधा डाक्टरों का कथन है कि वीर्य की रक्षा के लिए काम के वेग को रोकने से नाना प्रकार के रोगों के होने की सम्भावना होती है। इसका अर्थ यह है कि बनने के पश्चात् वीर्य बाहर निकलने की प्रवृत्ति रखता है और उस को रोकने से हानि होती है। परन्तु अतिविषयासक्ति में अस्वाभाविक रीति से अनावश्यक परिमाण में वीर्य बनाकर नष्ट कर देने से और भी अधिक हानि होती है। ऐसे मनुष्य यक्ष्मा जैसे भयङ्कर रोगों का आवाहन करते हैं।

यह बात निश्चित् है कि विषयासक्ति में अस्वाभाविक रूप से वीर्य बनाने से शरीर की धातुओं पर कुठाराघात होता है,

क्योंकि उनका सत्व जबरदस्ती खींचा जाता है। परन्तु जो वीर्य स्वाभाविक रूप से बनता है, यदि उसकी रक्षा हो सके तो पूर्ण ब्रह्मचर्य का लाभ उठाया जा सकता है। डाक्टरों के मत के अनुसार वीर्य की उत्पत्ति इस प्रकार होती है कि जब पुरुष को काम का वेग उत्पन्न होता है, तब उसके रुधिर का प्रभाव अण्डकोषों की ग्रन्थियों में आने लगता है। वहाँ पर उन ग्रन्थियों में से निकलने वाले एक प्रकार के रस के रासायनिक प्रयोग (chemical action) से रुधिर के रक्त वर्ण कीटाणु वीर्य के श्वेत कीटाणुओं में परिणत हो जाते हैं जिनको अंग्रेजी में spermatozoa कहते हैं।

उपरोक्त वीर्य के श्वेत कीटाणुओं में जनन-शक्ति होती है। यदि वे बाहर निकाल दिये जाएँ तो कोई हानि नहीं होती, क्योंकि उनका कार्य बाहर निकल कर स्त्री के गर्भाशय में गर्भस्थिति करना ही है। यदि कोई पुरुष उसको रोकता है तो स्वप्नदोष और प्रमेह आदि रोग होने की सम्भावना रहती है। ऐसी अवस्था में ब्रह्मचर्य पालन का क्या तात्पर्य है ? यह बात विचारणीय है। हमारे महर्षियों का कथन है कि वीर्य प्राणशक्ति ही है और वीर्य के नष्ट होने से प्राणशक्ति का ह्रास होता है। अपान शक्ति का उत्थान होने पर, उदान रूपी अग्नि का योग होने से वीर्य की प्राणशक्ति ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है। ऐसे योगी का वीर्य स्खलित नहीं होता और मैथुनकाल में स्खलित होने पर भी उसका ब्रह्मचर्य नष्ट नहीं होता।

'बज्रौली' मुद्रा की सिद्धि होने पर तो उदान के वेग के कारण स्वप्नदोष द्वारा स्खलित होकर इन्द्रिय में उतर आया हुआ अथवा मैथुन द्वारा बाहर पात हुआ वीर्य भी पुनः ऊपर चढ़ जाता है। ऊपर जाकर वह लौटकर वीर्याशय या मूत्राशय में प्रवेश नहीं कर

सकता, वरन् उदान शक्ति की उष्णता से योनिस्थानस्थ रुधिर में मिल जाता है और प्राण का वेग सुषुम्णा में ऊर्ध्व-प्रवाह करने लगता है। योगियों ने इस क्रिया को रज-वीर्य का योग माना है—

योनिस्थाने महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसन्निभम्।
रजो वसति जन्तूनां देवीतत्वं समाहितम्॥
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः। —योगशिखो०

—'योनि-स्थान रूपी महा-क्षेत्र में, जवा कुसुम के वर्ण का रज हर एक जीवधारी के शरीर में रहता है। उसको देवी तत्व कहते हैं। उस रज और वीर्य के योग से राजयोग की प्राप्ति होती है अर्थात् दोनों के योग का फल राजयोग है।

गुदा और उपस्थ के मध्य में सींवनी के ऊपर त्रिकोणाकृति नरम स्थान है जिसको योनि-स्थान कहते हैं। वहाँ पर वीर्य चढ़ने से उष्णता उत्पन्न होती है जो वीर्य और रज की रासायनिक क्रिया की सूचक होती है।

गलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले।
ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम्॥
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।
स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा॥
पाण्डुरं शुक्रमित्याहु र्लोहिताख्यं महारजः।
विद्रुम द्रुम संकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः॥
शशि स्थाने बसेद्विन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्॥
—योग-चूड़ामणि उपनिषत्, ध्यान बिन्दु उपनिषत्

—'गलित होने पर जब वीर्य योनिस्थान में पहुँचता है तो वह अग्नि में गिरकर जलता हुआ वह वीर्य योनि मुद्रा के अभ्यास से

हठात् ऊपर चढ़ा लिया जाता है। वह बिन्दु दो प्रकार का होता है,—श्वेत और रक्त। श्वेत को वीर्य और लाल को रज कहते हैं। मूँगा के रङ्ग का रज योनि-स्थान में रहता है और वीर्याशय रूपी चन्द्रस्थान में वीर्य रहता है। इन दोनों का मिलाप बड़ा दुर्लभ है। (यहाँ योनि का अर्थ पुरुष का उपरोक्त योनिस्थान है)।

वास्तव में वीर्य प्राण और ओज का स्थूल शरीर है। प्राण अथवा ओज के ऊर्ध्व गमन करने पर यदि कभी वीर्य स्खलित भी हो जाय तो उससे ब्रह्मचर्य में बाधा नहीं आती। ऐसे योगी गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए भी ब्रह्मचर्य का ही पालन करते हैं। पूर्वकाल के वसिष्ठ, याज्ञवल्क्यादि सब ऋषि-मुनि गृहस्थी ही थे। प्रश्नोपनिषत् में कहा है—

प्राणं एते प्रस्कन्दति ये दिवा रत्या संयुज्यते।
ब्रह्मचर्यमेव तद्रात्रौ रत्या संयुज्यते॥

—प्रश्न० १ १३

—'जो दिन में रति कर्म करते हैं, उनके प्राण नष्ट होते हैं और जो रात्रि में रति कर्म करते हैं, वे ब्रह्मचर्य में ही रहते हैं।' क्योंकि दिन में सूर्य की प्राणशक्ति है, रात्रि में नहीं।

कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर प्राण-अपान के स्वाभाविक ऊर्ध्वगामी हो जाने के कारण उनके ब्रह्मचर्य में बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि उनकी प्राणशक्ति का ऊर्ध्व प्रवाह सतत् बना रहता है। जिनकी कुण्डलिनी शक्ति नहीं जागी है, वे लोग यदि अभ्यास करके वीर्य को ऊपर खींच भी लें तो वह रज से न मिलने के कारण मूत्र के साथ बाहर आ जाता है। इसलिए हठयोग प्रदी-

पिका में लिखा है कि बिना कुण्डलिनी जागे वज्रौली और खेचरी मुद्राएँ सिद्ध नहीं होतीं।

ऐसे योगियों को ऊर्ध्वरेता कहते हैं। साधारण लोगों को भी वीर्य-रक्षा करने से लाभ होता है, क्योंकि उनके प्राण और ओज का थोड़ा-बहुत ऊर्ध्व प्रवाह होता ही है। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि मन में काम का विकार ही उत्पन्न न होने दिया जाय। विकार आने पर वीर्य बनना अनिवार्य है और बनने के पश्चात् वीर्य की रक्षा करना अति कठिन है।

३५. ततः खेचरीसिद्धिः।

उस (ऊर्ध्व रेता होने) से खेचरी की सिद्धि होती है। खेचरी का अर्थ प्राण का आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) में गमन करता है।

३६. वीतराग विषयत्वम्।

वीतराग विषयत्व होता है।

पाँचों क्लेश तनु होने लगते हैं और मनुष्य के राग, द्वेष, भय, काम, क्रोध, मोह आदि का वेग शिथिल होकर क्षीण हो जाता है। अन्त में सब मल नष्ट हो जाता है, क्योंकि प्राणों के ऊर्ध्वगामी होने से इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होने लगती हैं और साधक विषयों से उपरत हो जाता है।

३७. सूर्येन्दुवह्नि दीपशिखा विद्युत् खद्योत् नक्षत्रादीनि ज्योतींषि पश्यति।

सूर्य, चन्द्र, अग्नि और दीप-शिखा, बिजली, जुगनू, नक्षत्र इत्यादि ज्योतियाँ दिखायी पड़ती हैं। उक्त दर्शन तीन प्रकार से होते हैं—(१) बहिर्दृष्टि,—आँखें खोले हुए बाहर, (२) मध्य

[धारणा–१]

श्रीभैरव उवाच

**[1]ऊर्ध्वे प्राणो ह्यधो जीवो विसर्गात्मा परोच्चरेत् ।
उत्पत्तिद्वितयस्थाने भरणाद् भरिता[१] स्थितिः ।।२४।।**

योऽयमूर्ध्व इति हृदो द्वादशान्तं यावद् वहन् प्राणः, यश्चाधो जीवो द्वादशान्ताद् हृदन्तमपानः, एषा परा देवी उच्चरेत् सततं स्वयमुच्चरन्ती स्थिता। कीदृशी ? विसर्गात्मा विसर्गोऽन्तर्बहिर्भावकरणरूपो विमर्श आत्मा यस्याः सा अप्राणाद्यशाक्त-स्पन्दोन्मेषा, तदाच्छुरणेन विना नियतप्राणप्रवाहायोगात् । यत एवमत उत्पत्तिद्वितयस्य बाह्याभ्यन्तरोत्पादद्वयस्य यत् स्थानं हृद् द्वादशान्तश्च, तत्र भरणादिति नित्योन्मिष-दाद्यस्फुरत्तात्मभैरवीयशक्त्युपलक्षणात्, भरिता स्थितिः भैरवस्वरूपाभिव्यक्तिर्भवति ।

अथवा ऊर्ध्वे द्वादशान्ते प्राणः प्राणनरूपो जीवनाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः संस्थाप्यः । अधश्च हृदि हृदयस्थाने जीवोऽपानः, जीव्यतेऽनेनेति जीवः, भक्षणपानादेरधोमार्गप्रस-रणाज्जीव इत्युच्यते तदुपाधिमान्, अत एव जीव इति । विसर्गात्मा अन्तर्बहिर्भावकरण-रूप आत्मा यस्य। तेनापि परैव उच्चारमायाति अहमित्यन्तश्चक्रारूढा, एतयोर्द्वयो-र्विभेदापत्त्या अहमिति प्रकाशनात् । उत्पत्तौ द्वादशान्ते द्वितीये हृदि च धारणात् । तत्र स्थित्या भरितस्थितिः स्यादेवेति सर्वोपाधिविस्मरणादहमिति विमर्शवान् स्यादिति भावः ।।२४।।

इस तरह से देवी के द्वारा पूछे गये परा देवी के स्वरूप को पहचानने के लिए उपाय के रूप में क्रमशः एक के बाद दूसरी ११२ धारणाओं का निरूपण करते हुए भगवान् भैरव कहते हैं––ऊपर हृदय से द्वादशान्त[2] तक जाने वाला प्राण और नीचे

---

१. °त°–ख० त० ।

1. तन्त्रालोकविवेक (भा० १, आ० १, पृ० १४३) में इस श्लोक का 'भरणाद् भरितस्थितिः' इतना अंश मिलता है ।

2. प्राण और अपान की गति जिस स्थान पर जाकर रुक जाती है, उसको द्वादशान्त कहते हैं । बाह्य और आन्तर, शिव द्वादशान्त और शक्ति द्वादशान्त के भेद से इसकी कई स्थानों में स्थिति मानी गई है । प्राण और अपान के विसर्ग और पूरण व्यापार के द्वारा प्राणी का शरीर आप्यायित होता रहता है । ४९ वें श्लोक में द्वादशान्त पद का अर्थ शून्यातिशून्य मध्यधाम, अर्थात् सुषुम्ना नाडी किया गया है । तन्त्रालोक (५।७१) में सभी नाडियों के अग्रभाग में द्वादशान्त की स्थिति मानी गई है । विभिन्न श्लोकों की व्याख्या में इन शब्दों की चर्चा आई है । उपोद्घात में भी इन पर विचार किया जायगा ।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

द्वादशान्त से हृदय तक आने वाला जीव नामक अपान, यह परा देवी का उच्चारण है, स्पन्दन है। परा देवी ही स्वयं इसका निरन्तर उच्चारण करती रहती है, अर्थात् प्राण और अपान के रूप में स्पन्दित होती रहती है। यह परा देवी विसर्ग-स्वभाव है। अर्थात् आन्तर और बाह्य भावों की सृष्टि करना ही इसका स्वरूप है। यह परा देवी "अबिन्दुमविसर्गं च" (८८ श्लो०) इत्यादि कारिका में आगे वर्णित होने वाले अशाक्त स्पन्द अर्थात् शैव सृष्टि के प्रथम स्पन्द अकार से उन्मिषित होती है, स्वरूप-लाभ करती है। क्योंकि उससे जब तक इसका संपर्क नहीं होता, तब तक प्राण का प्रवाह नियमित रूप से नहीं चल सकता। "प्राणापानमयः प्राणो विसर्गापूरणं प्रति" (७।२५) इत्यादि स्थल में स्वच्छन्दतन्त्र में इसी बात को विस्तार से समझाया गया है। इस स्थिति में बाह्य और आन्तर विषय प्राण और अपान की सृष्टि के स्थान हृदय और द्वादशान्त में नित्य उन्मिषित हो रही प्रथम स्फुरत्तास्वरूप भैरव की शक्ति की भावना करने से योगी में भैरव स्वभाव की अभिव्यक्ति हो जाती है, उसका भैरव स्वरूप प्रकट हो जाता है।

अथवा ऊपर द्वादशान्त में प्राण की स्थापना करनी चाहिये, जो कि प्राणन रूप अर्थात् जीवन रूप चित्त की एक वृत्ति है। नीचे हृदय में जीव उपाधि वाले अपान को स्थापित करना चाहिये। इसको जीव इसलिए कहा जाता है कि अपान वायु खाई गई अथवा पी गई वस्तु को नीचे के मार्ग में ले जाता है। इसी उपाधि के कारण इसको जीव कहते हैं। अन्दर आना और बाहर जाना जिसका स्वरूप है, स्वभाव है, प्राण वृत्ति का यह स्वाभाविक व्यापार ही परा शक्ति का उच्चारण, स्पन्दन है, जो कि शरीर के भीतर निरन्तर चल रहे 'अहम्' चक्र में अपना स्थान बनाए हुए है। उक्त दोनों स्थितियों का जब अलग-अलग चिन्तन होता है, तभी 'अहम्' तत्त्व प्रकाशित होता है, उत्पन्न होता है। वह द्वादशान्त और हृदय में अवस्थित रहता है। इस स्थिति के कारण साधक को भरित (भरी-पूरी = सम्पूर्ण स्वरूप लाभ की) स्थिति प्राप्त हो जाती है। अर्थात् सभी तरह की उपाधियों का विस्मरण हो जाने से 'अहम्' यह विमर्श, अर्थात् 'मैं ही भैरव हूँ' इस तरह की प्रत्यभिज्ञा निश्चित रूप से हो जाती है।

ऊपर प्रथम अनुच्छेद में बताये गये अर्थ के अतिरिक्त शिवोपाध्याय ने इस श्लोक के पाँच अन्य अर्थ भी किये हैं, जो कि क्रमशः इस प्रकार हैं—

ऊपर अर्थात् सभी इन्द्रियों के प्रसार के मार्ग में प्राण वायु विषयों का आप्यायक है, यह सूक्ष्म प्राण के रूप में निरन्तर स्पन्दन करता रहता है और बाह्य विषयों का बोध कराता है। नीचे जीव इन सभी विषयों में अपान के रूप में प्रविष्ट होता है। इन दोनों स्थितियों में परा शक्ति ही निरन्तर प्रकाशित होती रहती है। इस लिये ग्राह्य की उत्पत्ति की जगह हृदय और ग्राहक की उत्पत्ति के स्थान द्वादशान्त में, जहाँ कि उसका प्रमेय से सम्पर्क होता है, शक्ति की भरित अवस्था का ध्यान करने पर साधक भैरव स्वरूप हो जाता है।

ऊपर, जहाँ कि प्राण और अपान का उन्मेष होता है, समस्त वाचक शब्दों का अनुप्राणक अकार रहता है और नीचे, सबके अन्त में जीव अर्थात् सकार की स्थिति रहती है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

इस तरह से प्राण और जीव पद से यहाँ अकारादि सकारान्त मातृका के वर्णों का बोध होता है। विसर्ग स्वभाव के अपने एक भाग में हकार कला को धारण करने वाली नाद रूपा यह परा देवी मातृका चक्र के क्रम से समस्त वाच्य-वाचकात्मक जगत् को लाँघ कर, अपने प्रकाश से समस्त भेद दृष्टि को दबाकर स्फुरित होती है। इस लिये उक्त दोनों उत्पत्ति स्थानों में, हृदय और द्वादशान्त में, अकार और हकार का परामर्श करने से शिव और शक्ति का सामरस्य हो जाने पर साधक भैरव-स्वरूप में समाविष्ट हो जाता है।

'ऊर्ध्व' पद का अर्थ है उत्कृष्ट प्राण, क्योंकि इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति का इसी में विस्तार होता है और उसी से यह सारा विश्व अनुप्राणित है। 'अधः' पद का अर्थ है इदन्ता परामर्श का विषय होकर निकृष्ट दशा को प्राप्त हुआ जीव, क्योंकि इच्छा के विषय ज्ञेय वर्ग का यह कार्य बन जाता है। सोमरूप आप्यायक शक्ति संसारी जीवों की स्थिति का कारण बनती है। यह शक्ति परा, परापरा और अपरा शक्तियों के रूप में स्फुरित होती हुई विश्व से अभिन्न रूप में सदा भासित होती रहती है। इस लिये उत्पत्ति स्थल अर्थात् प्रमेय पद में, द्वितय शब्द वाच्य प्रकाश्य-प्रकाशक के सामरस्य रूप प्रमाण पद में तथा प्रमेय[1] और प्रमाण की जहाँ विश्रान्ति होती है, उस प्रमातृ पद में भरण से अर्थात् परा भट्टारिका स्वरूप तुरीय में आनन्द से आप्यायित हो जाने से साधक में भैरव दशा की अभिव्यक्ति हो जाती है।

अथवा ऊर्ध्व पद का अर्थ है माया पर्यन्त अध्वा के ऊपर, प्राण का अर्थ है इनका अनुप्राणक शुद्ध और अशुद्ध अध्वा में व्याप्त शिव-शक्ति तत्त्व। इसके नीचे जीव की स्थिति है, जिसने कि माया प्रभृति तत्त्वों की अधीनता स्वीकार कर ली है और मनुष्य नाम से अभिहित होता है। यही आत्मतत्त्व कहलाता है। इन सब स्वरूपों में शिव की परात्मिका स्वातन्त्र्य शक्ति ही स्पन्दित होती रहती है। उत्पद्यमान शुद्ध और अशुद्ध दोनों मार्गों में पर शक्ति की इस व्याप्ति के कारण ही सब सब कुछ है, इस भावना के अभ्यास से जगत् के समस्त पदार्थों के साथ सामरस्य की स्थिति प्राप्त हो जाने पर साधक को भरितावस्था प्राप्त हो जाती है।

अन्तिम अर्थ यह है—अनुत्तर, अकुल स्वरूप चिद्धाम से स्वयं उन्मिषित होने वाले हकार की स्थिति ऊपर और नीचे विसर्जनीय अनुप्राणित विसर्गस्वरूप जीव की, सकार की स्थिति रहती है। हान और समादान, त्याग और ग्रहण की प्रक्रिया के आधार पर इस हंस

---

1. "त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम्" (३।२०) इस शिवसूत्र में प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय दशाओं में तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में चतुर्थ शिवपद (शुद्ध प्रमाता) तथा तुरीय अवस्था के आसेचन की बात कही गई है। जल पर तेल गिराने से जैसे वह चारों तरफ फैल जाता है, उसी तरह से उक्त तीनों स्थितियों में चतुर्थ दशा का आसेचन करने से (फैला देने से) साधक शिव-स्वरूप का, तुरीय अवस्था का सभी स्थानों और अवस्थाओं में साक्षात्कार करने लगता है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

मन्त्र का उच्चारण, जो कि 'अजपा जप'[1] के नाम से प्रसिद्ध है, परा शक्ति स्वयं ही करती है। इसीलिये 'मैं वह शिव हूँ' इस तरह के अपने स्वरूप का परिचय यहाँ प्राप्त होता है। इस स्थिति में हकार और सकार इन दोनों की उत्पत्ति के स्थल में, अर्थात् हकार की उत्पत्ति के स्थान हृदय और सकार की उत्पत्ति के स्थान द्वादशान्त में भरण से, अर्थात् उन वर्णों के स्वरूप का चिन्तन करने से, शाक्त बल की प्राप्ति होती है और अन्त में साधक भैरव-स्वरूप हो जाता है।

ऊपर बताई गई छः व्याख्याओं में से पहली और दूसरी व्याख्या के अनुसार अविकल्प स्वरूप के चिन्तन से साधक शाम्भव समावेश में, चौथी और पांचवीं व्याख्या के अनुसार सब कुछ अपना ही स्वरूप है, इस तरह की भावना के आधार पर शुद्ध विकल्प का चिन्तन करने से शाक्त समावेश में एवं तीसरी और छठी व्याख्या के अनुसार धारणा में वर्णविशेष के परामर्श की प्रधानता के आधार पर आणव समावेश में समाहित होता है। इन त्रिविध समावेशों का वर्णन मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में 'उच्चारकरण' (२।२१-२३) इत्यादि तीन श्लोकों में किया गया है। उपोद्घात में इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला जायगा। इस प्रथम धारणा में और आगे दी जा रही सभी धारणाओं में शाम्भव, शाक्त और आणव उपायों में से किसी एक का सहारा लेकर ही योगी अनुपाय प्रक्रिया में प्रविष्ट होता है या कभी-कभी बिना इनका सहारा लिये भी अपने स्वरूप में समाविष्ट हो जाता है, इस बात का विशेष विवेचन भी हम वहीं करेंगे। आवश्यकता के अनुसार श्लोकों की व्याख्या के प्रसंग में भी इनका संक्षिप्त उल्लेख हो सकता है ।।२४।।

[धारणा–२]

मरुतोऽन्तर्बहिर्वाऽपि वियद्युग्मानिवर्तनात्[1] ।
भैरव्या[2] भैरवस्येत्थं भैरवि व्यज्यते वपुः ।।२५।।

भैरवि, मरुतः प्राणस्यापानस्य च, अन्तर्बहिश्च यद् वियद्युग्मं हृदाकाशो द्वादशान्तश्च यद् वियद्द्वयम्, ततोऽनिवर्तनात् प्रत्यावर्तनाभावेन क्षणमात्रमन्तर्मुखत्वेनावस्थानात् प्राणापानयोर्द्वयोरस्तंगतत्वात्, भैरवीस्वरूपस्य भैरवस्य परमात्मनः, वपुः शरीरं स्वरूपमिति यावत्। धर्मिधर्मात्मकत्वेन शिवशक्तिद्वैधं प्रकाशविमर्शस्वरूपं परमार्थत एकमेव तत्त्वं व्यज्यते प्रकाशते, प्रकटीभवति। 'अनुवर्तनात्' इति पाठे अनुन्मेषनिमेषणादित्यर्थः ।।२५।।

हे भैरवि, प्राण और अपान नामक पवन के आधारभूत स्थान आन्तर आकाश हृदय और बाह्य आकाश द्वादशान्त से प्रत्यावृत्ति के अभाव में एक क्षण के लिये उसकी वृत्ति

---

१. °नु°–ख० ।   २. °वं–ख० ।

1. आगे १५१ संख्या के श्लोक की व्याख्या में इस विषय पर विस्तार से विचार किया जायगा ।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

अन्तर्मुख हो जाती है। तब ऐसी प्रतीति होती है मानों प्राण और अपान कहीं विलीन हो गये हैं। इस स्थिति को इस शास्त्र में 'मध्यदशा' के नाम से जाना गया है, जिसका कि विश्लेषण आगे किया जा रहा है। इस मध्यदशा का जब विकास किया जाता है, तब परा शक्ति भैरवी से अभिन्न रूप में विद्यमान भगवान् भैरव का स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। धर्म और धर्मी के रूप में प्रकाश और विमर्श स्वभाव शिव और शक्ति भिन्न होते हुए भी परमार्थतः एक ही हैं, इसका विवेचन अभी यहीं (१४-२१ श्लोक) किया जा चुका है। 'अनिवर्तनात्' के स्थान पर 'अनुवर्तनात्' ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है। यहाँ अनुवर्तन शब्द का अर्थ प्राण और अपान की उन्मेष और निमेष दशा की स्थिर अनुवृत्ति है। अर्थात् प्राण और अपान की जो स्थिति है, उसी के अनुवृत्त रहने पर, उनमें नये उन्मेष और निमेष व्यापार के न चलने पर, पहली व्याख्या में प्रतिपादित मध्यदशा का अन्वेषण किया जा सकता है।

योगशास्त्र[1] की प्रक्रिया के अनुसार इस श्लोक का अभिप्राय यह होगा—सकल[2], प्रलयाकल प्रभृति सभी प्रमाता जीवों के प्राण की पूरक, कुम्भक और रेचक अवस्थाएँ स्वाभाविक रूप से बिना प्रयत्न के निरन्तर गतिशील रहती हैं। हृदय स्थित कमलकोश से प्राण का उदय होता है। नासिका मार्ग से बाहर निकल कर यह बारह अंगुल चल कर अन्त में आकाश में विलीन हो जाता है। इसलिए बाह्य आकाश भी योगशास्त्र में द्वादशान्त के नाम से प्रसिद्ध है। प्राण की इस स्वाभाविक बाह्य गति को 'रेचक' नाम से जाना जाता है। बाह्य द्वादशान्त से अपान का उदय होता है और नासिका मार्ग से ही चलकर यह हृदय स्थित कमलकोश में विलीन हो जाता है। अपान की यह स्वाभाविक आन्तर गति 'पूरक' कही जाती है। प्राण द्वादशान्त में और अपान हृदय में क्षणमात्र के लिये विलीन हो जाता है। यही प्राण की

1. शिवोपाध्याय ने इस श्लोक की व्याख्या, विशेष कर आठ प्रकार के प्राणायामों क विवेचन योगवासिष्ठ के आधार पर किया है। योगवासिष्ठ 'मोक्षोपाय' के नाम से भी प्रसिद्ध है। द्रष्टव्य—प्रकरण ६ पूर्वार्ध, २५ वां सर्ग।
2. शैव शास्त्रों में प्रमाता के सात भेद माने गये हैं। ये हैं—शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। शिव और शक्ति तत्त्व मिलकर शिव प्रमाता का रूप धारण करते हैं। इसकी स्थिति राजा के समान है। सदाशिव मन्त्रमहेश्वर, ईश्वर मन्त्रेश्वर और शुद्धविद्या मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी स्थिति अधिकारी राजपुरुष की सी है। विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल जीवों पर ये शिवप्रमाता रूपी राजा के प्रतिनिधि होकर शासन करते हैं। आणव, मायीय और कार्म—ये तीन प्रकार के मल माने गये हैं। इनमें से एक मल से आवृत विज्ञानाकल, दो मलों से आवृत प्रलयाकल और तीनों मलों से आवृत सकल प्रमाता कहलाते हैं। ये सभी भेद परिमित प्रमाता के हैं। प्रथम चार भेद शुद्ध सृष्टि के और अन्तिम तीन अशुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत हैं। अशुद्ध सृष्टि के प्रमाताओं को ही अपने मलीय आवरणों को हटाने के लिए उपायों का सहारा लेना पड़ता है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

'कुम्भक' अवस्था कही जाती है। बाहर और भीतर दोनों स्थानों में निष्पन्न होने से यह बाह्य और आन्तर के भेद से दो तरह की होती है। मनुष्य के श्वास-प्रश्वास की निरन्तर चलने वाली स्वाभाविक प्रक्रिया से निष्पन्न होने वाली इन रेचक, पूरक तथा बाह्य एवं आन्तर कुम्भक अवस्थाओं का निरन्तर सावधानी से निरीक्षण[1] करने वाला योगी फिर आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ता।

पातंजल योग में प्राणायाम के अभ्यास से प्राण वायु की गति को नियन्त्रित इसलिये किया जाता है कि उसी अभ्यास की पद्धति से मन को भी नियन्त्रित किया जा सके। सहज योग के प्रतिपादक इस ग्रन्थ में न तो प्राण वायु के और न मन के ही निग्रह के लिये कोई आयास-साध्य उपाय बताया गया है। वायु स्वभाव से ही चल है। चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते प्राणों की गति निरन्तर चलती रहती है। सकल, प्रलयाकल प्रभृति प्रमाता जीवों में ही नहीं, पशु पक्षी, मृग आदि में भी सदा, सर्वत्र दिन-रात बिना प्रयत्न के स्वाभाविक रूप से आठ प्रकार के प्राणायाम निरन्तर निष्पन्न होते रहते हैं। इन आठ प्रकार के प्राणायामों के स्वरूप को ठीक तरह से जान लेने पर योगी मुक्त हो जाता है। साधक जो कुछ करता है, उन सभी अवस्थाओं में अपने स्वाभाविक बोध से इन कुम्भक प्रभृति प्राण की अवस्थाओं को जानता रहता है, वह अन्तर्मुख हो जाता है, अर्थात् सब कुछ करते हुए भी वह उनमें लिप्त नहीं होता।

इन आठ प्राणायामों की स्थिति इस प्रकार है—१. हृदय कमल से प्राण स्वेच्छा से ही बहिर्मुख हो जाता है। यह प्राण की रेचक अवस्था है। २. हृदय से बाहर निकलते समय बारह अंगुल तक प्राण का अंगों से जो स्पर्श होता है, वह पूरक दशा है। ३. पुरुष के प्रयत्न के बिना ही बाहर से अपान के लौटते समय, अंगों में उसके भरते समय जो स्पर्श होता है, उसको भी पूरक ही कहते हैं। ४. अपान के हृदय में आकर विलीन हो जानेपर जब तक प्राण का उदय नहीं होता, तब तक की अवस्था कुम्भक कहलाती है। इस अवस्था का अनुभव केवल योगी को ही हो सकता है। इस तरह प्राण वायु शरीर के बाहर और भीतर निरन्तर स्वाभाविक रूप से प्राण[2] के आयाम के अभ्यास में निरत रहता है। प्राण की भांति अपान भी दिन-रात शरीर के भीतर और बाहर चलता हुआ अपान के आयाम के स्वाभाविक अभ्यास

---

1. बौद्ध (पालि और संस्कृत) अभिधर्म ग्रन्थों में दस अनुस्मृतियां वर्णित हैं। इनमें अन्तिम अनुस्मृति का नाम आनापान स्मृति है (द्रष्टव्य—अभिधम्मत्थसंगहो ९।८)। इसका संबन्ध प्राण और अपान की इस सूक्ष्म प्रक्रिया से ही है।

2. "तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः" (२।४९) इस योग-सूत्र और इसके व्यास-भाष्य प्रभृति ग्रन्थों में प्राणायाम शब्द की विस्तृत व्याख्या देखनी चाहिये। संक्षेप में श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना ही प्राणायाम कहलाता है। श्लो० ६६ की व्याख्या में इसका अवयवार्थ स्पष्ट किया गया है। प्राणायाम शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य नरेन्द्रदेव अपने ग्रन्थ 'बौद्ध-धर्म-दर्शन' में आश्वास-प्रश्वास शब्द पर टिप्पणी करते हैं—"विनय की अर्थकथा के अनुसार 'आश्वास' सांस छोड़ने को

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

में निरन्तर लगा रहता है। जैसे कि १. उदय के बिना अपान की अन्तर्मुखता बाह्य रेचक के नाम से जानी जाती है। २. अपान के द्वादशान्त से उठ कर स्थूल स्वरूप धारण करने की दशा को बाह्य पूरक कहा जाता है। ३. इसी तरह से द्वादशान्त (बाह्य आकाश) से उठ कर नासिका के अग्रभाग तक की अपान की गति को भी बाह्य पूरक कहा जाता है। ४. बाह्य आकाश (द्वादशान्त) में प्राण के अस्त हो जाने पर जब तक अपान का उदय नहीं हो जाता, तब तक की अवस्था को बाह्य कुम्भक कहा जाता है। अपान की उस समय वैसी ही स्थिति रहती है, जैसी कि मिट्टी में अभी पैदा नहीं हुए घड़े की होती है।

इस तरह से प्राण और अपान के पूरण के दो प्रकारों के अनुसार प्राणायाम के आठ भेद होते हैं। इन सभी आठों प्राणायामों को अपना ही स्वरूप समझ कर इनकी भावना करनी चाहिये। हृदय, कण्ठ, तालु, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त में प्राण की गति रहती है और हृदय-कमल, मुख का संकोच-विकास तथा द्वादशान्त अपान की गति के स्थान हैं। इनमें एक क्षण के लिये प्राण के अस्त हो जाने पर और अपान का उदय न होने पर बिना प्रयत्न के बाह्य कुम्भक की प्राप्ति होती है। इसी तरह से एक क्षण के लिये अपान के अस्त हो जाने पर और प्राण का उदय न होने पर बिना प्रयत्न के अन्तः कुम्भक की प्राप्ति होती है। यह [1]मध्यदशा ही परम पद कहलाती है। प्राण और अपान की इस मध्यदशा को योगी ही जान सकते हैं। एक [2]तुटि, लव अथवा क्षण के लिये भी अन्तर्मुख हो जाने पर योगी में इस मध्य-

और 'प्रश्वास' सांस लेने को कहते हैं। लेकिन सूत्र की अर्थकथा में दिया हुआ अर्थ इसका ठीक उल्टा है। आचार्य बुद्धघोष विनय की अर्थकथा का अनुसरण करते हैं। उनका कहना है कि बालक माता की कोख से बाहर आता है तो पहले भीतर की हवा बाहर जाती है और पीछे बाहर की हवा भीतर प्रवेश करती है। इस प्रवृत्ति क्रम से 'आश्वास' वह वायु है, जिसका निःसारण होता है। सूत्र की अर्थकथा में किया गया अर्थ पातंजल योगसूत्र के व्यास-भाष्य के अनुसार है (२।४९ पर व्यासभाष्य—"बाह्यस्थवायोरानयनं (चमनं) श्वासः, कोष्ठचस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः)" (पृ० ८१)। ६६ वें श्लोक की व्याख्या में भी इस तरह का मतभेद देखने में आता है। इस पर उपोद्घात में विचार किया जायगा।

1. "मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः" और "विकल्पक्षय-शक्तिसंकोचविकास-वाहच्छेदाद्यन्त-कोटिनिभालनादय इहोपायाः" (सू० १७-१८) प्रत्यभिज्ञाहृदय के इन दो सूत्रों और उनकी व्याख्या में क्षेमराज ने इस विषय को स्पष्ट रूप से समझाया है।
2. प्राण के सवा दो अंगुल चलने में जितना समय लगता है, उसे 'तुटि' कहते हैं। कमल के कोमल पत्तों में तीखी सुई चुभोने पर एक पत्ते को छेदने में जो समय लगता है, उसे 'लव' कहा जाता है। अठारह निमेष (पलक झपने का समय) की एक काष्ठा, तीस काष्ठा की एक कला और तीस कला का एक क्षण होता है। तुटि, लव और क्षण की यह परिभाषा क्रमशः तन्त्रसार (अभिनवगुप्त कृत, पृ० ४८), प्रपंचसार (१।३९) और अमर-कोश (१।४।११) में दी गई है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

दशा का आविर्भाव हो जाता है और तब प्राण और अपान की पुनः प्रत्यावृत्ति नहीं होती, अर्थात् वह साधक मुक्त हो जाता है ॥२५॥

[धारणा–३]

[1]न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासिते[1] ।
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरवरूपता[2] ॥२६॥

मध्ये मध्यनाडीधाम्नि निर्विकल्पतया विकल्पहान्युपायतो विकासिते सति मरुद्रूपा शक्तिः प्राणात्मिका न व्रजेद् हृदयतो द्वादशान्तं न यायात्, न चापानात्मिका शक्तिः, विशेद् द्वादशान्ताद् हृदयं गच्छेत् । एवंविधया तया प्राणात्मिकया अपानात्मिकया वा शक्त्या भैरवरूपता भवेत् भैरवरूपधारी योगी भवति ॥२६॥

वायुरूप यह प्राणात्मक और अपानात्मक शक्ति हृदय से द्वादशान्त तक न तो जायगी और न द्वादशान्त से हृदय की ओर वापस ही लौटेगी, जब कि मध्यनाडी का धाम (स्थान) विकल्पहानि रूप उपाय से विकसित कर दिया जाय, अर्थात् पूर्व श्लोक में प्रतिपादित मध्यदशा का योगाभ्यास की पद्धति से विकास कर लिया जाय । इसका अभिप्राय यह है—

सर्वाः शक्तीश्चेतसा दर्शनाद्याः स्वे स्वे वेद्ये यौगपद्येन विष्वक् ।
क्षिप्त्वा मध्ये हाटकस्तम्भभूतस्तिष्ठन् विश्वाकार एकोऽवभासि ॥

कक्ष्यास्तोत्र के इस वचन के अनुसार दर्शन आदि सब शक्तियों के समूह को अपने अपने विषय में एक साथ डाल कर, उसके आधार के रूप में—

तमधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन् ।
स्मयमान इवास्ते यस्तस्येयं कुसृतिः कुतः ॥ (श्लो० ११)

इस स्पन्दकारिका के श्लोक में प्रतिपादित स्पन्दतत्त्वात्मक अपने स्वभाव को जान कर, निर्विकल्पभाव से निमीलन और उन्मीलन समाधि में एक साथ रहने वाली व्यापक मध्यदशा का सहारा लेकर योगी भैरव मुद्रा में प्रविष्ट हो जाता है । इस मुद्रा का लक्षण यह है—

अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
इयं सा भैरवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

इस अवस्था में प्रविष्ट हो जाने पर योगी दर्पण में बनते-बिगड़ते हुए नाना प्रकार के प्रतिबिम्बों की भांति चिदाकाश में उदित और विलीन हो रहे बाह्य पदार्थों और आन्तर भावों को, अर्थात् समस्त विकल्पों को, निमीलन और उन्मीलन [2]समापत्ति (समाधि) के बीच

---

१. °स°–ख० । २. °धृत्–ख० तवि०, °धृक्–स्प० ।

1. यह श्लोक स्पन्दनिर्णय (पृ० २४) और तन्त्रालोकविवेक (भा० ३, आ० ५, पृ० ३३३) में उद्धृत है ।

2. समाधि के अर्थ में समापत्ति शब्द का प्रयोग बौद्ध साहित्य में भी मिलता है । भैरवी मुद्रा में अन्तर्लीन व्यक्ति की इन्द्रियाँ खुली रहती हैं, तो भी वे अपने विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होती। इसी स्थिति को उन्मीलन समाधि कहते हैं। बाह्य और आन्तर इन्द्रियों (करणों) के प्रवाह को रोक कर प्राप्त की गई समाधि को निमीलन समाधि कहते हैं ।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

में ध्यान रूपी अरणि से जलाई गई ज्ञानाग्नि के द्वारा भस्म कर अपने समस्त करणचक्र (इन्द्रिय समूह) को आलम्बन के अभाव में अक्रम रूप से अपने स्वरूप में ही विस्फारित (विस्तीर्ण) कर लेता है। उस समय ऐसी प्रतीति होती है, मानों ये इन्द्रियां अपने अद्भुत स्वरूप को आंखें फाड़ कर देख रही हों। इस निर्विकल्प अवस्था में प्रवेश कर लेने पर साधक भैरवस्वरूप हो जाता है, अर्थात् उसको अपने स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है, प्राण और अपान की गति के शान्त हो जाने से, हृदय और द्वादशान्त में प्राण और अपान की अस्पन्द अवस्था में स्थिति हो जाने से, मध्यदशा का विकास होने पर साधक अपने भैरवीय स्वरूप को पहचान लेता है, वह साक्षात् भैरव स्वरूप हो जाता है। इसी विषय को अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में—

तद्ध्यानारणिसंक्षोभान्महाभैरवहव्यभुक्।
हृदयाख्ये महाकुण्डे जाज्वलन् स्फीततां व्रजेत्॥

इत्यादि ग्रन्थ से स्पष्ट किया है।

पचीसवें और छब्बीसवें श्लोक में मध्यम धाम (स्थान) का सहारा लेने वाले आणव उपाय का वर्णन है॥२६॥

[धारणा–४]

कुम्भिता रेचिता वापि पूरिता वा यदा भवेत्।
तदन्ते शान्तनामासौ शक्त्या शान्तः प्रकाशते॥२७॥

शास्त्रमार्गानुसारेण रेचिता सती कुम्भिता बहिः, पूरिता वा सती कुम्भिता अन्तः, यदा मरुद्रूपा शक्तिर्भवति, तदा तदन्ते तत्तदभ्यासपरिशीलनेन शान्तवेगानुभवेन प्रशान्तकुम्भकावस्थोदये प्रकाशमात्रावस्थोदये भेदोपशमात् तया शक्त्या शान्तनामा नामरूपातीतः, असौ शान्तः परमस्वभावः प्रकाशतेऽभिव्यक्ता भवति॥२७॥

योगशास्त्र में उपदिष्ट पूर्वोक्त विधि से बाह्य कुम्भक अवस्था में, अथवा आन्तर कुम्भक अवस्था में प्राण और अपान रूप शक्ति आदरपूर्वक निरन्तर अभ्यास का परिशीलन करने से शान्त हो जाती है, अर्थात् मध्यदशा का विकास हो जाता है। कुम्भक की प्रशान्त अवस्था का उदय होने से सभी भेद विगलित हो जाते हैं और शक्ति भी अपने शान्त स्वरूप में विलीन हो जाती है। तब नाम और रूप से अतीत प्रकाशमात्र अवस्था का उदय होने पर परम शान्तस्वभाव स्वात्मस्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है॥२७॥

[धारणा–५]

[1]आमूलात् किरणाभासां [1]सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकाम्।
चिन्तयेत् तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः॥२८॥

---

१. सूक्ष्मसूक्ष्मत°–त०।

1. नेत्रतन्त्रोद्योत (भा० १, पृ० २००) तथा तन्त्रालोकविवेक (भा० ३, आ० ५, पृ० ४०१) में यह श्लोक उद्धृत है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

आमूलात् आहृदयाद् जन्माधाराद्वा द्वादशान्तं यावत् किरणाभासां मरीचिरूपां क्रमात्क्रमं सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकां तनिमानमाश्रयन्तीं तां मरुच्छक्तिं चिन्तयेत् ध्यायेत्। कीदृशीम्? द्विषट्कान्ते द्वादशान्ते शाम्यन्तीम्। एवं सुसूक्ष्मतमस्यापि ध्येयाकारस्य गलनाद् भैरवोदयो भैरवस्वरूपाविर्भावः, भवेदिति शेषः ॥२८॥

हृदय से अथवा मूलाधार से लेकर द्वादशान्त तक चन्द्र और सूर्य के समान अपनी किरणों से भासित हो रही तथा क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अवस्था की ओर अग्रसर हो रही उस पवन की शक्ति का चिन्तर करे, जो कि द्वादशान्त में जाकर शान्त हो जाती है, नाम और रूप से अतीत अवस्था को प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार के अभ्यास से अत्यन्त सूक्ष्म ध्येय के आकार के भी विगलित हो जाने पर योगी भैरव स्वरूप हो जाता है, अर्थात् उसकी स्वाभाविक भैरव दशा का आविर्भाव हो जाता है।

नेत्रतन्त्र (८। ४१) की टीका में क्षेमराज ने तथा तन्त्रालोक (५। ८९-९१) की टीका में जयरथ ने इस श्लोक को उद्धृत कर जो विवरण प्रस्तुत किया है, तदनुसार यहाँ द्वादशान्त पद से ब्रह्मरन्ध्र का ग्रहण किया जाना चाहिये। मूलाधार में अथवा हृदय में विद्यमान प्राण शक्ति यौगिक पद्धति के अनुसार सुषुम्णा मार्ग से अथवा मध्यदशा के विकास के कारण ब्रह्मरन्ध्र तक जाते जाते अत्यन्त सूक्ष्म होकर अन्त मे प्रकाश में विलीन हो जाती है ॥२८॥

[धारणा-६]

[1]उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम्।
ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत् तावदन्ते महोदयः ॥२९॥

तामेत शक्तिं तडिद्रूपां विद्युद्वत् चलद्दीप्त्योज्ज्वलां प्रतिचक्रं कन्दादिब्रह्मरन्ध्रान्तचक्रेभ्यः क्रमात्क्रमम् उद्गच्छन्तीमुल्लसन्तीं चिन्तयेत्, यावत् परं विश्वपूरकमूर्ध्वं मुष्टित्रयं द्वादशान्तधाम तावत्। अन्ते महोदयः महाभैरवैकात्मतोदयः, अहमेव महाभैरव इत्यवमर्शः स्यादेव ॥२९॥

इसी विद्युत्स्वरूप, बिजली के समान एकाएक चमकने वाली शक्ति का प्रत्येक चक्र में, कन्द से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त क्रमशः ऊपर उठती हुई अवस्था में चिन्तन करे। इससे [2]मुष्टित्रय परिमित द्वादशान्त धाम में परम उत्कृष्ट विश्वपूरक, सारे विश्व को अपने प्रकाश से भर देने वाला, महाभैरव का स्वरूप प्रकाशित हो उठता है। इसी बात को तन्त्रालोक में इस प्रकार से कहा गया है—

अधःप्रवाहसंरोधादूर्ध्वक्षेपविवर्जनात् ।
महाप्रकाशमुदयज्ञानव्यक्तिप्रदायकम् ॥
अनुभूय परे धाम्नि मात्रावृत्त्या पुरं विशेत्। (५।८८-८९)

---

1. यह श्लोक तन्त्रालोकविवेक (भा० ३, आ० ५, पृ० ३९७) में उद्धृत है।
2. एक मुट्ठी का परिमाण चार अंगुल माना गया है। तीन मुट्ठी, अर्थात् बाहर अंगुल। इस तरह से मुष्टित्रय शब्द यहाँ द्वादशान्त के अर्थ में प्रयुक्त है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

इसका अभिप्राय यह है कि प्राण और अपान की गति को रोक कर मध्यदशा का विकास कर उससे उत्पन्न शक्ति की सहायता से ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश पाकर योगी परम प्रकाशमय स्थिति में अवस्थित हो जाता है ।।२९।।

[धारणा–७]

क्रमद्वादशकं सम्यग् द्वादशाक्षरभेदितम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या मुक्त्वा मुक्त्वा[१]ऽन्ततः शिवः ।।३०।।

जन्माग्र-मूल-कन्द-नाभि-हृत् - कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य - ललाट-ब्रह्मरन्ध-शक्ति-व्यापिन्याख्यं यत्क्रमाणां चक्राणां द्वादशकं द्वादशस्थाननामभिः प्रसिद्धम्, तत् सम्यगिति यथायथं क्रमेण अकारादिविसर्गान्तैः षण्ढस्वरवर्जैर्द्वादशाक्षरैः, भेदितं रञ्जितम्, ध्यायेदिति शेषः । तच्च प्रत्येकं स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या आदौ ध्यानेन स्फुटं ततश्च स्पन्दमानं ततोऽपि ज्योतीरूपतां प्राप्तं स्थूलं सूक्ष्मं परमित्यभिधीयते । इति सोपानपदक्रमं मुक्त्वा मुक्त्वा परित्यज्य, अन्ततोऽन्ते, शिवः परमार्थतः सर्वत्रावभासकः स्वात्मस्वरूपः शिव एव भवति ।।३०।।

जन्माग्र, मूल, कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति, व्यापिनी ये बारह चक्र, जो कि द्वादश स्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं, क्रमशः एक दूसरे के ऊर्ध्व स्थान में स्थित हैं । इन चक्रों के स्थान और स्वरूप को ठीक तरह से समझ कर उनमें अकार से लेकर विसर्ग पर्यन्त स्वरों का ध्यान करना चाहिये । तन्त्रशास्त्र में ऋ ॠ ऌ ॡ ये चार स्वर षण्ढ (नपुंसक) कहे गये हैं, अतः ध्यान आदि में इनका उपयोग नहीं किया जाता । सोलह स्वरों में से इन चार षण्ढ स्वरों को निकाल देने पर इनकी संख्या भी बारह रह जाती है । अतः इन बारह स्वरों का क्रमशः उक्त बारह चक्र स्थानों में ध्यान करना चाहिये । यह ध्यान स्थूल, सूक्ष्म और पर पद्धति से त्रिविध[1] उपाय के रूप में मृत्युंजयभट्टारक (नेत्रतन्त्र) के ६-८ अधिकारों में विस्तार से वर्णित है । योगी जब अपने दृढ़ संकल्प से इन ध्यानों का अभ्यास करते हुए स्पष्ट स्थूल वस्तु के ध्यान को छोड़ कर स्पन्दावस्था में विद्यमान सूक्ष्म वस्तु के ध्यान में और सूक्ष्म ध्यान को छोड़कर ज्योतिर्मय पर वस्तु के ध्यान में प्रविष्ट होता है, तो अन्ततः इस अभ्यास-पद्धति से वह परमार्थ रूप से सर्वत्र प्रकाशित हो रहे कल्याणमय स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, अर्थात् स्वयं शिव बन जाता है ।।३०।।

[धारणा–८]

तया[२]ऽऽपूर्याशु मूर्धान्तं भङ्क्त्वा भ्रूक्षेपसेतुना ।
निर्विकल्पं मनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे सर्वगोद्गमः ।।३१।।

---

१. °क्त्वा त°–ख० । २. °था°–ख० ।

1. याग, होम, जप, ध्यान, मुद्रा, यन्त्र, मन्त्र—ये सब स्थूल उपाय हैं । षट्चक्र, षोडश आधार आदि में प्राण-चार की भावना को सूक्ष्म उपाय बताया गया है । अष्टांग योग के अभ्यास से प्राप्त होने वाली सर्वात्मभाव की स्थिति को पर उपाय माना गया है ।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

तया जन्मादिचक्राक्रमणशक्त्या प्राणाख्यया मूर्धान्तं द्वादशान्तमापूर्य, तथा तमेव द्वादशान्तं भ्रूक्षेपसेतुना भ्रूभेदनक्रमेण सेतुनेव वारिप्रवाहं गुरूपदेशयुक्त्या भङ्क्त्वा, तदनन्तरं मनो निर्विकल्पं त्यक्तचापलं कृत्वा विधाय, सर्वोर्ध्वे द्वादशान्तादप्युपरि परमाकाशे सर्वगोद्गमः सर्वव्यापकताप्रादुर्भावः स्यात् ॥३१॥

पूर्व श्लोक में प्रतिपादित जन्माग्र प्रभृति बारह चक्रों का भेदन करने वाली प्राण-शक्ति से मूर्धान्त, अर्थात् द्वादशान्त को भर कर तथा उस द्वादशान्त को भ्रूक्षेप के सेतु से, अर्थात् भ्रूभेद के क्रम से, जैसे पुल (सेतु) की सहायता से नदी आदि के पानी को पार किया जाता है, उसी तरह गुरु के द्वारा उपदिष्ट युक्ति से पार कर और इसके बाद मन को निर्विकल्प, निश्चल, स्थिर बना कर द्वादशान्त के भी ऊपर स्थित सबसे ऊपर वाले स्थान परमाकाश में जब योगी पहुँचता है, उस समय उसमें सर्वव्यापकता का उद्गम हो जाता है, अर्थात् वह सर्वव्यापक परभैरव स्वरूप में समाविष्ट हो जाता है ॥३१॥

[धारणा–९]

[1]शिखि[१]पक्षैश्चित्ररूपैर्मण्डलैः शून्यपञ्चकम्[२] ।
ध्यायतोऽनुत्तरे शून्ये प्रवेशो[३] हृदये भवेत् ॥३२॥

यथा हि शिखिपक्षैर्मयूरपुच्छैः, चित्ररूपैरनेकवर्णैः, मण्डलैश्चन्द्रकैः, शून्यपञ्चकमूर्ध्वाधोमध्यपार्श्वद्वयस्थितमिव पञ्चेन्द्रियमण्डलैश्चित्रवद्भासमानस्य जगतो शून्यपञ्चकरूपत्वं हृदये ध्यायतः, अनुत्तरे शून्ये परमाकाशे परमधामनि प्रवेशः समावेशो भवेत् । गन्धर्वनगरतुल्यं चित्रमिवेदमिति निश्चयेन परमार्थसिद्धिः स्यादेवेति भावः । शिखिपक्षचित्ररूपैरिति पाठे त्वयमर्थः—शिखिपक्षवच्चित्ररूपैः रूपरसादिग्रहणान्नानारूपैर्मण्डलैः । मण्डं रससारं लान्तीदृंशि मण्डलानीन्द्रियाणि तैः । शून्यपञ्चकं तन्मात्रत्वेनाव्यक्तत्वात् शून्यरूपं विषयपञ्चकं शब्दादिरूपं ध्यायतोऽनुत्तरे शून्ये भैरवरूपे प्रवेशः समावेशो भवेदिति ॥३२॥

जैसे चित्र-विचित्र चन्द्रकों से देदीप्यमान मोर के पंखों में पाँच शून्य दिखाई पड़ते हैं, इनकी स्थिति ऊपर, नीचे, मध्य तथा दोनों पार्श्वों में होती है, इसी तरह पाँच इन्द्रियमण्डलों से चित्र-विचित्र रूप में प्रतीत हो रहे इस जगत् के प्रति अपने हृदय में पाँच इन्द्रियों के विषयों के स्थान पर पाँच शून्यों की भावना करने पर योगी का अनुत्तर शून्य, अर्थात् परम आकाश में समावेश हो जाता है । इसका अभिप्राय यह है कि योगी को अपने इन्द्रियमण्डल की सहायता से यह जगत् मयूर के पंख के समान नाना वर्णों से चित्रित चित्र के समान विविध रूपों में भासित होता है । यह आभास शून्य-स्वरूप है, यह सब गन्धर्वनगर के समान अथवा चित्र के समान कल्पना का व्यापार मात्र है, ऐसी भावना करने पर

---

१. °पिच्छचि°–योक०, °पक्षचि°–योख० । २. °षट्ककम्–योख० । ३. परं व्योमतनुर्भ°–योख० ।

1. योगिनीहृदयदीपिका (पृ० ३१९) में यह श्लोक मिलता है ।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

निश्चय ही परमार्थ की प्राप्ति हो जाती है। कहीं कहीं 'शिखिपक्षचित्ररूपैः' ऐसा पाठ मिलता है। इसका अभिप्राय यह है कि रूप, रस आदि विविध विषयों के ग्राहक इन्द्रियों का मण्डल इस लिये है कि ये उन-उन विषयों के सार को लाकर चित्त को समर्पित करती हैं। तन्मात्रा-वस्था में अव्यक्त, अर्थात् शून्य रूप से अवस्थित इन शब्द आदि पाँच विषयों का हृदय में ध्यान करने वाले योगी का अनुत्तर शून्य भैरव रूप में प्रवेश अर्थात् [1]समावेश हो जाता है।

योगिनीहृदयदीपिका के रचयिता अमृतानन्द योगी ने शून्यषट्क की व्याख्या करते हुए इस श्लोक को उद्धृत किया है। योगिनीहृदय में 'ह्रीं' इस बीजाक्षर में छः शून्यों की भावना का उपदेश है। प्रणव आदि में भी यह भावना की जा सकती है। 'ह्रीं' बीज में हकार और मायाक्षर (ईकार) के बीच में रेफ की, मायाक्षर और अर्धचन्द्र के बीच में बिन्दु की, अर्धचन्द्र और नाद के बीच में रोधिनी की, नाद और शक्ति के बीच में नादान्त की, शक्ति और समना के बीच में व्यापिका की और समना के ऊपर उन्मनी की शून्य के रूप में भावना करनी चाहिये। इनमें से प्रथम पाँच शून्यों की भावना मयूर के पंख में विद्यमान चन्द्रक के सदृश करनी चाहिये। अन्ततः जब योगी उन्मना नामक षष्ठ शून्य में प्रविष्ट होता है, तब वह परमाकाश में लीन हो जाता है ॥३२॥

[धारणा-१०]

ईदृशेन क्रमेणैव यत्र [१]कुत्रापि चिन्तना[२]।
शून्ये कुड्ये परे पात्रे स्वयंलीना वरप्रदा ॥३३॥

ईदृशेन क्रमेण हानादानरूपेण गुदाधार-जन्म-कन्द-नाभि-हृदय-कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-ललाट-ब्रह्मरन्ध्र-शक्ति-व्यापिन्यन्तं यत्र कुत्रापि स्वात्मनोऽन्यत्र स्वात्मवत् परत्रापि व्योम्नि प्राकारभाजनादौ, यद्वा परे पात्रे निर्मलचित्ते शिष्यादौ, चिन्तना स्मरणा, स्वयंलीना अहर्निशं स्वदेहान्तः क्रमद्वादशकारोहणगाढतरध्यानावमर्शबलात् स्वयमेव लीना सती, वरप्रदा भवेत् परप्रकाशोदयात्मकोत्कृष्टवस्तुप्रदायिनी भवति। चिन्तनादिति पाठे तु पूर्वोक्तां मरुच्छक्तिं प्रथमान्तत्वेन विपरिणमय्य सा मण्डूकप्लुत्या-ऽनुवर्तनीया, तेन चिन्तनाद् हेतोर्मरुच्छक्तिः शून्ये बाह्ये कुड्यादौ वा स्वयंलीना सती वरप्रदेत्यन्वयः। बाह्यशून्यकुड्यादिकेऽपि स्वात्मवपुषीव प्राणशक्तिक्रमद्वादशकं चिन्तनीयम्, यत्र तत्र परपदपरामर्शैक्यभावेनाहंरूपतादात्म्याभिमानः स्यादिति तात्पर्यम् ॥३३॥

---

१. य°—ख०। २. °नात्—कटी०, °येत्—ख०।

1. समावेश, समापत्ति, समाधि—ये सब शब्द पर्यायवाची हैं। समावेश दशा में व्यक्ति अपने बाह्य स्वरूप को भूल जाता है और अपने इष्टदेव के स्वरूप में समाविष्ट (लीन) हो जाता है। समावेश का लक्षण और उसके भेदों का, विशेष कर शाम्भव, शाक्त और आणव समावेशों का, निरूपण तन्त्रालोक के प्रथम आह्निक (पृ० २०५-२५५) में विस्तार से मिलता है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

इसी क्रम से गुदाधार, जन्म, कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति और व्यापिनी में से किसी को छोड़ते और किसी को पकड़ते हुए, अथवा जहाँ कहीं भी अपने शरीर के सिवाय दूसरे के शरीर में भी इसी प्रकार चिन्तन करते हुए, अथवा अपने शरीर के सिवाय अन्यत्र आकाश, प्राकार (परकोटा), पात्र आदि में, अथवा परपात्र, अर्थात् निर्मल मन वाले शिष्य के चित्त में चिन्तन-स्मरण की प्रक्रिया से रात-दिन इस द्वादश क्रम के आरोहण की पद्धति का दृढ़तापूर्वक अभ्यास करने से साधक की स्मृति स्वयं विलीन होकर वरदात्री बन जाती है, अर्थात् परम प्रकाश के उदय के रूप में उत्कृष्ट वस्तु को देने वाली होती है। इसी बात को अभिनवगुप्त ने अपने परमार्थसार में इस तरह से बताया है—

सर्वोत्तीर्णं रूपं सोपानपदक्रमेण संश्रयतः।
परतत्त्वरूढिलाभे पर्यन्ते शिवमयीभावः ॥(१७ श्लो०)

अर्थात् कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, बिन्दु, नाद, शक्ति ये सब परतत्त्व तक पहुँचने के लिए सीढ़ी का काम करते हैं। धीरे-धीरे एक सीढ़ी को छोड़कर दूसरी पर चढ़ते हुए अन्त में जैसे व्यक्ति गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाता है, उसी तरह से इनमें से भी एक को छोड़ कर दूसरे को पकड़ते हुए योगी अन्त में सर्वोत्तीर्ण रूप में, सबसे उत्कृष्ट अवस्था में पहुँच जाता है, अर्थात् वह स्वयं शिवमय हो जाता है।

'चिन्तनात्' ऐसा पाठ मानने पर पूर्व श्लोकों में वर्णित द्वितीयान्त मरुच्छक्ति पद को प्रथमा विभक्ति में बदल कर [1]मण्डूक-प्लुति न्याय से उसकी यहाँ अनुवृत्ति की जाती है। इससे यह अर्थ होगा कि चिन्तन के कारण मरुच्छक्ति शून्य में अथवा बाहर स्थित भित्ति आदि में स्वयं लीन होकर वरप्रदात्री बन जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि बाह्य शून्य, कुड्य (भित्ति) आदि में भी अपने शरीर के समान ही प्राणशक्ति के उक्त बारह सोपानों का क्रमशः चिन्तन करना चाहिये। इस प्रक्रिया से अपने शरीर के सिवाय अन्यत्र भित्ति आदि में अथवा पर पात्र में ध्यान को स्थिर करने से योगी की एकाग्रता की भावना जब दृढ़ हो जाती है, तो यह मरुच्छक्ति वहीं अपने आप लीन हो जाती है। तब परम पद के परामर्श से उसके साथ स्वात्मस्वरूप की तादात्म्य भावना, अर्थात् मैं वही हूँ इस प्रकार की

---

1. मण्डूक-प्लुति न्याय पाणिनि व्याकरण में प्रसिद्ध है। वहाँ आगे के सूत्रों में पूर्व सूत्रों के कुछ पदों की अनुवृत्ति की जाती है। यह अनुवृत्ति प्रायः निरन्तर चलती है। कभी-कभी आवश्यकता के अनुसार बीच के किसी सूत्र में किसी पद की अनुवृत्ति न होने पर भी आगे के सूत्र में उसकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। ऐसे ही स्थलों में मण्डूक-प्लुति न्याय प्रवृत्त होता है। मेढक जैसे कूद कर चलता है, उसी तरह आवश्यक पद की अनुवृत्ति भी बीच के सूत्र या सूत्रों को कुदा कर की जातो है। प्रस्तुत स्थल में २८वें श्लोक में पठित द्वितीयान्त मरुच्छक्ति शब्द की आवृत्ति इसी न्याय से की जाती है और उसको प्रथमान्त पद में बदल लिया जाता है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

प्रत्यभिज्ञा के आधार पर ऐक्य भावना का अभिमान जाग उठता है। इस विषय को स्पन्दकारिका में इस तरह से समझाया गया है—

यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात्।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥
तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न या शिवः।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः॥
इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
संपश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥ (२८-३० श्लो०)

अर्थात् यह जीवात्मा सर्वमय सर्वात्मक विश्वरूप है, क्योंकि यह सभी पदार्थों को जानने वाला है और सभी पदार्थ इसी से उत्पन्न होते हैं। यह जीवात्मा सर्वमय इसलिये भी है कि यह सभी संवेद्य (जानने योग्य) पदार्थों के साथ संवेदन (ज्ञान) के रूप में जुड़ा रहने से सदा उनसे अभिन्न ही प्रतीत होता है। इस तादात्म्य अवस्था में शब्द और अर्थ की अलग-अलग प्रतीति न होकर उनकी एकाकार प्रतीति होती है। इस स्थिति में ऐसी कोई अवस्था नहीं बच रहती, जहाँ कि शिव का स्वभाव, चित् का प्रकाश, न प्रकाशित हो रहा हो। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रकाश-स्वभाव चिदात्मक शिव ही ज्ञेय के रूप में भासित होता है। अतः यह कहना ठीक ही है कि यह जीवात्मा सर्वमय है। जिस जीवात्मा को इस स्थिति का ज्ञान हो जाता है, जिसमें इस प्रत्यभिज्ञा का उदय हो जाता है कि सब कुछ मैं ही हूँ, वह इस सारे जगत् को अपनी लीला-भूमि समझने लगता है, वह सदा युक्त अवस्था में, समाधि दशा में रहते हुए जीवन्मुक्त हो जाता है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

स्पन्दकारिका के व्याख्याकार उत्पल वैष्णव, रामकण्ठ और क्षेमराज ने इन कारिकाओं के अर्थ को विस्तार से समझाया है। जिज्ञासु जनों को उसे वहीं देखना चाहिये। अन्तिम निष्कर्ष यही निकलता है कि जब जीवात्मा को यह ज्ञान हो जाता है कि मैं सर्वमय हूं, तब अपने शरीर में, दूसरे के शरीर में, अथवा भित्ति-प्राकार आदि में भी प्राणशक्ति का क्रमिक विकास कर वह परम पद में प्रतिष्ठित हो सकता है ॥३३॥

[धारणा–११]

कपालान्तर्मनो न्यस्य ति[१]ष्ठन्मीलितलोचनः।
क्रमेण मनसो दार्ढ्याल्लक्षयेल्लक्ष्यमुत्तमम् ॥३४॥

कपालाऽन्तः शिरःकपालमध्ये यदन्तश्छिद्रमस्ति तदन्तरे, मनो न्यस्य कपालरन्ध्रस्थिते स्वप्रकाशे प्रभास्वरे ज्योतिषि आलम्बने धारणाध्यानसमाधीन् संपाद्य, कूणितनेत्रः स्थितः सन् क्रमेण मनसो दार्ढ्याद् उत्तमं लक्ष्यं लक्षयेत्, "मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्" (यो० ३। ३१) इति न्यायात्। अथवा कपालान्तः प्रकाशविमर्शस्वरूपमध्ये शिवशक्ति-

१. °ष्ठे°–ख०।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

मयं सर्वं जगदिति विमर्शविषयं मनो न्यस्य मीलितलोचनः संकुचितभेददृष्टिः, अन्तः-संकुचितहृदयादिबाह्यान्तरेन्द्रियवर्गः, क्रमेण मनसो दाढर्यात् सुषुम्णायामस्तङ्गतप्राणापानादिचारेण तद्दाढर्याद् यल्लक्ष्यमस्ति तदेव लक्षयेत्। तेन घटोऽयमितिवत् प्रत्यक्षत उत्तमं ज्योतिः पश्यतीत्यर्थः ॥३४॥

शिरःकपाल के भीतर विद्यमान छिद्र (सुषिर) में अपने मन को स्थापित कर, कपाल-रन्ध्र में विद्यमान स्वयंप्रकाश प्रभास्वर ज्योति को आलम्बन बनाकर, उसमें धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास करना चाहिये। आँख मूँद कर इस प्रक्रिया को निरन्तर दोहराते रहने से योगी के मन में क्रमशः दृढ़ता का संचार होता है और वह उस उत्तम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, जिसका कि वर्णन "मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्" (३।३१) इस सूत्र में योगसूत्रकार भगवान् पतंजलि ने किया है।

[1]कशब्देन परा शक्तिः पालकः शिवसंज्ञया।
शिवशक्तिसमायोगः कपालः परिपठ्यते॥

तन्त्रकोश के इस वचन के आधार पर 'क' शब्द परा शक्ति का और 'पाल' शब्द शिव का वाचक है, अतः कपाल शब्द से यहाँ शिव और शक्ति के समायोग (सामरस्य) का ग्रहण होना चाहिये। अनेक स्थानों पर उद्धृत "शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः" इस श्रीकण्ठीसंहिता के वचन के अनुसार यह सारा जगत् शिव और शक्ति के, तन्त्रशास्त्र में प्रकाश और विमर्श के नाम से प्रसिद्ध, स्वरूप में विद्यमान है। साधक को इसी स्वरूप में अपने मन को स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिये और बाह्य विषयों से अपने इन्द्रिय-चक्र को समेट लेना चाहिये। धीरे-धीरे उसकी भेद-दृष्टि, दूसरे से अपने को अलग समझने का स्वभाव, घटती जाती है और उसकी बाह्य और आन्तर इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं। क्रमशः उसका प्राण–चार, प्राण और अपान की गति, मध्यनाडी सुषुम्णा में लीन हो जाता है और तब उसका मन दृढ़, अर्थात् अत्यन्त स्थिर हो जाता है। इस अवस्था में वह उस स्वात्मस्वरूप उत्तम ज्योति का दर्शन उसी तरह से कर सकता है, जैसे कि कोई मनुष्य घट, पट आदि पदार्थों को अपनी आँखों के सामने देखता रहता है ॥३४॥

[धारणा–१२]

[2]मध्यनाडी मध्यसंस्था[१] बिससूत्राभरूपया।
ध्याताऽन्तर्व्योमया देव्या तया देवः प्रकाशते ॥३५॥

मध्यनाडी सुषुम्णाख्या, मध्यसंस्था हृदयमध्यस्था भवतीत्यन्वयः। बिससूत्राभरूपया सूक्ष्मत्वात् मृणालतन्तुतुल्याकारया ध्याताऽन्तर्व्योमया ध्यातं चिन्तितमन्तर्व्योम चिदाकाशात्मकं यस्यां सा तथाविधया तया देव्या देवः प्रकाशः प्रकाशते। मध्यनाड्या-

---

१. °स्थ°–तवि०।

1. प्रस्तुत श्लोक को इसी श्लोक की व्याख्या में शिवोपाध्याय ने उद्धृत किया है।

2. तन्त्रालोकविवेक (भा० १, आ० १, पृ० १३१) पर यह श्लोक मिलता है।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

मन्तश्चिदाकाशात्मकं शून्यमेवास्ति । तस्मात् प्राणशक्तिर्निःसरतीति विमर्शेन प्रकाश-प्रादुर्भाव इति भावः । यद्वा मध्यनाडी मध्यसंस्था चासौ बिससूत्राभरूपा च, मध्यनाडी-मध्यसंस्थबिसरूपा चेति विशेषणोभयपदः समासः । तया एवंविधया मरुच्छक्त्या तन्मध्य-चिन्तिताकाशया देवः प्रकाशते ॥३५॥

सुषुम्णा नाम की मध्यनाडी हृदय के मध्य में रहती है । यह कमल-नाल में विद्यमान अत्यन्त सूक्ष्म तन्तुओं के समान कृश आकार वाली है । इस मध्यनाडी में चिदाकाश स्वरूप आन्तर व्योम (गगन) का ध्यान करने पर इसकी सहायता से साधक के हृदय में प्रकाशात्मक भगवान् शिव प्रकाशित हो उठते हैं । मध्यनाडी के भीतर चिदाकाश रूप शून्य का निवास है । उससे प्राणशक्ति निकलती है । इस तरह से विमर्श शक्ति की सहायता से प्रकाशात्मक शिवस्वभाव का प्रादुर्भाव होता है । अथवा मध्यनाडी मध्यसंस्था भी है और बिसतन्तु के समान सूक्ष्म आकार वाली भी है, इन दोनों विशेषण पदों का यहाँ समास माना जायगा, अर्थात् 'मध्यसंस्थबिससूत्राभरूपया' यह समस्त एक ही पद रहेगा । इस तरह की प्राण वायु की शक्ति से, जिससे कि बीच में चिदाकाश का चिन्तन किया जाता है, प्रकाशस्वरूप देव, परभैरव प्रकाशित हो उठते हैं । स्पन्दकारिका के इस श्लोक में भी यही बात कही गई है—

> तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।
> सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥ (२५ श्लो०)

इसका अभिप्राय यह है कि साधक जब मध्यनाडी की सहायता से चिदाकाश में प्रविष्ट होता है, तब सोम और सूर्य अर्थात् अपान और प्राण अथवा मन और प्राण सुषुम्णा में अपने आप विलीन हो जाते हैं । इस अवस्था के उपस्थित होने पर जो योगी अपने वास्तविक स्वरूप को न पहचान कर सिद्धियों के चक्कर में पड़ जाता है, वह तो स्वप्न-सुषुप्ति जैसी मूढ़ दशा में ही पड़ा रह जाता है और जो उस अवस्था में भी आगे बढ़ने के लिये प्रयत्नशील रहता है, वह चिदाकाश में प्रविष्ट हो प्रकाशमय प्रबुद्ध स्वरूप हो जाता है ॥३५॥

[धारणा–१३]

करुद्धदृगस्त्रेण भ्रूभेदाद् द्वाररोधनात् ।
दृष्टे बिन्दौ क्रमाल्लीने तन्मध्ये परमा स्थितिः ॥३६॥

अङ्गुष्ठतर्जन्यादिक्रमेण कराभ्यां रुद्धानि दृगुपलक्षितानि मुखरन्ध्राण्येवास्त्रं तेन करणेन यद् द्वाररोधनं द्वारस्थगनम्, तस्माद्धेतोर्यो भ्रूभेदो भ्रूमध्यस्थग्रन्थिविदारणम्, तस्माद्धेतोर्बिन्दौ दृष्टे क्रमादेकाग्रताप्रकर्षात् संविद्गगने तस्मिन् बिन्दौ लीने च सति संविद्गगनमध्य एव योगिनः परमा स्थितिः परभैरवाभिव्यक्तिः स्यात् ॥३६॥

भ्रूमध्य में अवस्थित ग्रन्थि को काटने के लिये योगी अपने इन्द्रिय रूपी हथियारों से ही काम लेता है, जब कि वह इन आंख आदि इन्द्रियों को अंगूठे से और अपनी तर्जनी आदि अंगुलियों से दबाकर उनके बाहर जाने के मार्गों को रोक लेता है । योगशास्त्र में इस तरह

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

की क्रिताएँ [1]करण के नाम से प्रसिद्ध हैं । इस प्रकार को क्रिया से योगी को भीतर (भ्रूमध्य में) प्रकाश-बिन्दु का दर्शन होने लगता है । इस बिन्दु में मन को एकाग्र करने का अभ्यास करते-करते यह बिन्दु बोध-गगन में विलीन हो जाता है और उसके साथ ही योगी की इस बोध-गगन में, प्रकाशात्मक अवस्था में, स्थिति हो जाती है, अर्थात् उसका परभैरव स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है ।

यहाँ वर्णित वस्तु का क्रम इस प्रकार होगा—योगी पहले अपनी अंगुलियों से आँख-कान आदि को दबाने जैसे करणों (मुद्राओं) की सहायता से इन इन्द्रियों के बाहर निकलने के मार्ग को रोक देता है । फिर इन्हीं इन्द्रियों को साधन बनाकर वह भ्रूमध्य तक पहुँचता है और इनकी सहायता से वह भ्रूमध्य स्थित ग्रन्थि को काट डालता है । इस क्रिया के बाद योगी को भ्रूमध्य में ज्योति-बिन्दु के दर्शन होते हैं । ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने के रास्ते को यह ग्रन्थि ही रोके रहती है, अतः जब इस ग्रन्थि का भेदन हो जाता है और बिन्दु में चित्त एकाग्र हो जाता है, तो अनायास ही ब्रह्मरन्ध्र स्थित बोध-गगन में विहार करने वाली परासंविद् देवी के दर्शन हो जाते हैं ॥३६॥

[धारणा–१४]

धामान्तःक्षोभसंभूतसूक्ष्माग्नितिलकाकृतिम् ।
बिन्दुं शिखान्ते हृदये लयान्ते ध्यायतो लयः ॥३७॥

धाम्नो लोचनवर्तिनस्तेजसः, अन्तःक्षोभेण अत्यन्तनिपीडनादिना संभूतं सूक्ष्माग्नितिलकाकृतिं नयनरश्मिरूपं बिन्दुं शिखान्ते[2] द्वादशान्ते हृदि च ध्यायतः । अथवा धाम्नो दीपादितेजसो योऽन्ते निर्वाणसमये क्षोभश्चाञ्चल्यम्, ततः संभूतं सूक्ष्माग्नितिलकाकृतिं बिन्दुं शिखान्तादौ ध्यायतः । लयान्ते गलितविकल्पे पर्यवसाने लयस्तदैक्योपपत्तिर्भवेत् । विकल्पे गलिते तदवसाने परमतेजस्तत्त्वसमावेशः स्यादित्यर्थः ॥३७॥

लोचन (नेत्र) में निवास करने वाला तेज यहां धाम पद से अभिप्रेत है । पूर्व श्लोक में प्रतिपादित प्रक्रिया से नेत्र को जोर से दबाने से सूक्ष्म अग्नि कणों की सी आकृतियाँ चमक उठती हैं । ये आकृतियाँ नायन (नेत्रों के) तेज से निकली किरणें ही हैं । इनमें से किसी एक

---

1. "करणं देहसंनिवेशविशेषात्मा मुद्रादिव्यापारः" (पृ० ३५) शिवसूत्रविमर्शिनी के परिशिष्ट (टि० १९) में करण का यह लक्षण बताया गया है । योगशास्त्र के ग्रन्थों में वर्णित खेचरी प्रभृति मुद्राओं और जालन्धर प्रभृति बन्धों का इसी में समावेश किया जाता है । इनमें शरीर के अंगों को किसी विशेष प्रकार की स्थिति में रखने का अभ्यास किया जाता है । करण की गणना आणव उपाय में की जाती है । अपने सात भेदों के साथ इसका विवेचन तन्त्रालोक के पंचम आह्निक (पृ० ४३८–४४३) में तथा अन्यत्र भी किया गया है ।
2. शिखान्त पद यहां ऊर्ध्व द्वादशान्त के अर्थ में प्रयुक्त है । शिखा (चोटी) के नीचे के इस स्थान में ही उन्मना शक्ति निवास करती है । इस विषय को समझने के लिये श्लो० ४२ की टीका देखनी चाहिये ।

Courtesy: Shri Tarun Dwivedi, Surviving Son of Late Vraj Vallabh Dwivediji (15 Jul 1926 - 17 Feb 2012)

इत उत्तरं श्रीशिवोपाध्यायकृता विवृतिः ।

एवं प्रश्नितवस्तुनिर्णयाय क्रमेण भूमिकाज्ञानानि प्रकाशयति—

श्रीभैरव उवाच—

ऊर्ध्वे प्राणो ह्यधो जीवो विसर्गात्मा परोच्चरेत् ।
उत्पत्तिद्वितयस्थाने भरणाद्भरिता स्थितिः ॥ २४ ॥

योऽयमूर्ध्वं इति हृदो द्वादशान्तं यावद् वहन् प्राणः, यश्चाधो जीवो द्वादशान्ताद् हृदन्तमपानः, एषा परादेवी उच्चरेत्, सततं स्वयमुच्चरन्ती स्थिता, कीदृशी विसर्गोऽन्तर्बहिर्भावकरणरूपो विमर्श आत्मा यस्याः सा अप्राणाद्यशाक्तस्पन्दोन्मेषा—तदाच्छुरणेन विना नियतप्राणप्रवाहायोगात् । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'प्राणः प्राणमयः प्राणो विसर्गापूरणं प्रति ।' इति ।

यत एवमत उत्पत्तिद्वितयस्य बाह्याभ्यन्तरोत्पादद्वयस्य यत् स्थानं हृद् द्वादशान्तश्च, तत्र भरणादिति नित्योन्मिषदाद्यस्फुरत्तात्मभैरवीयशक्त्युपलक्षणाद् भरिता स्थितिः भैरवताभिव्यक्तिर्भवतीति यावत् ।

अथ च ऊर्ध्वं इति सर्वेन्द्रियप्रसरेषु प्राणो विषयानुप्राणकः सूक्ष्मप्राणप्रवाहः, यश्चाधो जीवः स्वीकृतसर्वविषयो विशन्नपानः स एवोक्तयुक्त्या परा उच्चरेत्—सततं चकास्ति, ततो ग्राह्योत्पत्तिस्थाने हृदि ग्राहकोत्पत्तिस्थाने च मेयसङ्घट्टपदे । भरणादिति प्राग्वत् ।

किञ्च, ऊर्ध्वं इति प्राणापानोन्मेषपदे प्राणोऽशेषवाचकानुप्राणकोऽकारः, अध इति अन्ते जीवः सकार इत्यादि सान्तो मातृकागतो वर्णपुञ्जः, सैषा विसर्गात्मा प्रान्तदर्शितहकारकलात्मना नादरूपा परा उच्चरेत्—मातृकाचक्रक्रमेणाशेषवाच्यवाचकान्तं जगदुल्लङ्घ्य गच्छति—स्वौजसा भेदपदमभिभूय स्फुरतीति यावत्, अतश्च उत्पत्तिद्वितयस्थाने अकार-हकारौ विमृश्य शिवशक्तिसङ्घट्टः । हृदि द्वादशान्ते चेति प्राग्वत् ।

अपि च, ऊर्ध्वं इति उत्कृष्टतया प्राणो विश्वानुप्राणक इच्छाज्ञानक्रियाप्रसरः, अध इति इदन्ताविमृश्यतया निकृष्ट ईषणीयज्ञेयकार्यात्मा जीवः, सोमरूपतया संसारिणां जीवितस्थितिहेतुः, सैषा भगवती परा शक्तित्रयात्मना परापरेणापरेण च रूपेणोच्चरेत्—उत्कृष्टतयैव चरन्ती विश्वाभेदस्फुरत्तया प्रसरन्ती सदा स्थितेति कृत्वा उत्पत्तौ मेयपदे, द्वितयशब्दवाच्ये प्रकाश्यप्रकाशकसङ्घट्टरूपे प्रमाणपदे, स्थान इति तदुभयविश्रान्तिधाम्नि प्रमातृपदे, भरणात्

'त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम्' (शि० सू० ३।२०) इति दृष्टया पराभट्टारिकात्मतुर्यानन्दाप्लावनात् भरिता स्थितिः ।

अन्यच्च, ऊर्ध्वं इति मायान्ताध्वोपरि प्राणोऽनुप्राणकं शुद्धाशुद्धाध्वव्यापि शिवशक्तितत्त्वं, तस्यैव चाधो जीवः स्वीकृतमायादितत्त्वग्रामं नरशब्दवाच्यमात्मतत्त्वं यावत्, सैषेत्थं परा उच्चरेत् —शैवी स्वातन्त्र्यशक्तिरेवेत्थं जृम्भते। तेन उत्पत्तिद्वितयस्थाने उत्पद्यमानशुद्धाशुद्धाध्वद्वये भरणात् पराशक्तिव्याप्त्या सर्वसर्वमयत्वभावनया तत्सामरस्यापादनाद्भरिता स्थितिः। अत्र व्याख्याने श्रीपरोक्तमन्त्रव्याप्तिरनुसर्तव्या ।

अपरम्, ऊर्ध्वे प्राणोऽनुत्तराकुलात्मनश्चिद्धाम्नः स्वयमुन्मिषन् हकारः, अधो जीवः सकारो विसर्गात्मा विसर्जनीयानुप्राणितो यः, सैषा हानसमादानहंसीरूपा परैव उच्चरति, अत एव 'अहं सः' इति स्वात्मप्रत्यभिज्ञानविमर्श इवात्रोपलभ्यते । यत एवमतः उत्पत्तिद्वितयस्थाने हकारसकारोदयहृद्द्वादशान्तस्थानयोर्भरणात् तद्वर्णविमर्शपरिशीलनयुक्तितः शक्तिबलासादनाद् भैरवीभावो भवति। एवमत्र प्रथमद्वितीययोर्व्याख्यानयोरविकल्पस्वरूपपरिशीलनात्मा शाम्भवावेश उपक्षिप्तः । चतुर्थपञ्चमयोः सर्वाहम्भावभावनात्मकशुद्धविकल्पावमर्शरूपः शाक्तः। तृतीयषष्ठयोर्वर्णविशेषावमर्शप्रधान आणवः। यदुक्तं मालिनीविजये—

'अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ॥
उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥
उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥'

शाम्भवसमावेशस्यार्थो यथा—

'अकिञ्चिच्चिन्तकस्येति विकल्पानुपयोगिता ।
तया च झटिति ज्ञेयसमापत्तिर्निरूप्यते ॥
सा कथं भवतीत्याह गुरुणातिगरीयसा ।
ज्ञेयाभिमुखबोधेन द्राक्प्ररूढत्वशालिना ॥
तृतीयार्थे तसि व्याख्या वा वैयधिकरण्यतः ।
आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनम् ॥
परतद्रूपता शम्भोराद्याच्छक्त्यविभागिनः ।
तेनायमत्र वाक्यार्थो विज्ञेयः प्रोन्मिषत्स्वयम् ॥

मातारमधरीकुर्वत् स्वां विभूतिं प्रदर्शयत् ।
आस्ते हृदयनैर्मल्यातिशये तारतम्यतः ॥
ज्ञेयं द्विधा च चिन्मात्रं जडं चाद्यं च कल्पितम् ।
इतरत्तु तथा सत्यं तद्विभागोऽयमीदृशः ॥
जडेन यः समावेशः स प्रतिच्छन्दकाकृतिः ।
चैतन्येन समावेशस्तादात्म्यं नापरं किल ॥
तेनाविकल्पा संवित्तिर्भावनाद्यनपेक्षिणी ।
शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशोऽत्र शाम्भवः ॥
अविकल्पपथारूढो येन येन पथा विशेत् ।
धरासदाशिवान्तेन तेन तेन शिवीभवेत् ॥
निर्मले हृदये प्राग्रस्फुरद्भूम्यंशभासिनि ।
प्रकाशे तन्मुखेनैव संवित्परशिवात्मता ॥
एवं परेच्छाशक्त्यंशसदुपायमिमं विना ।
शाम्भवाख्यं समावेशममन्यन्त निरासिनः ।।' इति ॥ २४ ॥

इस प्रकार प्रश्न का निर्णय हो जाने पर 'भूमिका-ज्ञान' को प्रकट करते हुए श्रीभैरव ने कहा—

अनुवाद—हे प्रिये ! उर्ध्व में (अर्थात् हृदय से द्वादशान्त-पर्यन्त) प्राण है और अधः (अर्थात् द्वादशान्त से हृदय-पर्यन्त नीचे आने वाला वायु) अपान है, परा का ही यह स्पन्दन अन्तः और बाह्य उन्मेष करने वाली दो प्रकार की (बाह्य एवं आभ्यन्तर) उत्पत्तियों के स्थान (हृदय तथा द्वादशान्त) को भरने के कारण भरितावस्था है, जो भैरव की अभिव्यक्ति करती है ।

व्याख्या—हृदय से द्वादशान्त तक चलने वाला वायु प्राण कहा जाता है और जो 'जीव' द्वादशान्त से हृदय-पर्यन्त चलता है, वह अपान कहलाता है । यह 'प्राण' और 'अपान' की गमनागमन क्रिया परादेवी कहलाती है । वह नित्य श्वास-प्रश्वास के द्वारा अक्षरोच्चारण करती हुइ विद्यमान है । यह भीतर-बाहर, निर्गम-प्रवेश रूप तथा प्राणापान से रहित केवल स्पन्दोत्पत्ति मात्र जिसका स्वरूप है, वह पराशक्ति है । जैसा कि स्वच्छन्दतंत्र में कहा गया है—

'प्राणः प्राणमय प्राणो विसर्गपूरणं प्रति ।'

अर्थात् प्राण प्राणमय है और अपान अपानमय है । यह प्राणापान का आगम-निर्गम ही 'आपूरण' कहलाता है । इसी को भरिता-स्थिति या पराशक्ति के नाम से कहा गया है । क्योंकि प्राणापान की उत्पत्ति बाह्य-आभ्यन्तर उत्पादन से हृदय और बाह्य-द्वादशान्त में भरने के कारण ही भरिता कहलाती है और नित्य उन्मीषित होने के कारण स्फुरण करती हुई 'भैरवी-शक्ति' 'भरिता-स्थिति' या भैरवताभिव्यक्ति के नाम से कही गयी

है। सम्पूर्ण इन्द्रियों में विषयों का संचार करने वाला सूक्ष्म प्राणप्रवाह 'ऊर्ध्व' कहलाता है तथा 'जीव' जिसने सर्व विषयों के भीतर प्रवेश पा लिया है, वह भीतर सूक्ष्म प्रवाह का संचार करता हुआ अपान के नाम से कहा गया है। वही भीतर प्रवेश करता हुआ सूक्ष्म अपान का संचार पराशक्ति कहलाता है। अतः ग्राह्य सूक्ष्म-प्राण-प्रवाह को ग्रहण करने वाला स्थान हृदय और ग्राहक उत्पत्ति-स्थान को ग्रहण करने वाला द्वादशान्त कहलाता है तथा दोनों स्थानों में संचार करने वाला वायु उन्मेष या संघट्ट पद से प्रतिपादित किया जाता है।

इस प्रकार प्राण और अपान को भरने के कारण ही भरिता-शक्ति कहलाती है। प्राण और अपान 'उन्मेष' और 'पद' के नाम से कहे गये हैं। अतः समग्र वाचक वर्णों के भीतर अनुप्राणित होने वाला अकार 'ऊर्ध्व' कहलाता है। और अंतिम वर्ण (अर्थात् सकार, वा सान्त मातृकागत वर्णसमुदाय) 'अधः' कहलाता है। इस प्रकार अकार से सकार तक और सकार से अकार तक गमनागमनात्मिका शक्ति, जिसके अन्त में 'हकार' दिखलाया गया है, तथा जो कलनात्मा नाद-रूप है 'परा' कहलाती है। वह मातृकाचक्र के क्रम से वाच्य और वाचक के अन्तर्गत सम्पूर्ण जगत् में संचार करती है, जो अपने तेज से भेदक पदों को दबाकर उन्मीषित होती है। इसीलिए दोनों उत्पत्ति के स्थान 'अकार' और 'हकार' का विचार करने पर 'शिव' और शक्ति का संघटन (हृदय और द्वादशान्त के भीतर जो निरन्तर होता है) भरिताशक्ति या पराशक्ति कहलाती है। (अथवा) उत्कृष्ट होने के कारण और सारे संसार में प्राण-शक्ति का संचार करने के कारण इच्छा ज्ञान और क्रिया का प्रसार 'ऊर्ध्व' कहलाता है। तथा विमर्श शक्ति के कारण निकृष्ट अर्थात् इच्छा करने योग्य ज्ञेय रूप कार्यात्मा जीव है।

वह सोमरूप होने के कारण संसार के प्राणियों की जीवित स्थिति का कारण है, वही 'अधः' कहलाता है। इसी प्रकार शक्ति त्रयात्मा-परा अपरा और परापरा के रूप में भगवान् की तीनों शक्तियाँ ही भरिता कही जाती हैं। ये उत्कृष्ट होने के कारण 'स्फुरणा' रूप से सम्पूर्ण विश्व में फैलती हुई ईश्वर की उत्पत्ति के समय में 'उन्मेष' और स्थिति के समय में 'पद' शब्द से प्रतिपादित की गई है। इस प्रकार प्रकाश्य और प्रकाशक रूप से संघट्टात्मक स्थान (हृदय और द्वादशान्त) प्रमाण और 'प्रमातृ' से परिपूर्ण करने के कारण यह पराशक्ति के नाम से तुर्यावस्था के आनन्द से प्लावित होने के कारण भरितास्थिति कही गयी है।

जैसा कि 'शिवसूत्र' में भी कहा गया है—

'त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम्'। (३।२०)

अर्थात् परा, अपरा और परापरा शक्ति से अभिन्न जैसे तिल में तेल रहता है, उसी प्रकार इस त्रिशक्ति में व्याप्त रहने वाली चतुर्थ शक्ति तुर्या (जो केवल आनन्द-मय है) ही भरिताशक्ति है और उसी को पराशक्ति कहते हैं। और भी 'ऊर्ध्व'

शब्द से माया-पर्यन्त चलने का मार्ग 'प्राण' कहलाता है। वह शुद्ध-अशुद्ध अध्व में व्यापक होकर शिवशक्ति रूप से संचार करता है, जिसे ऊर्ध्व कहते हैं। मायिक तत्त्व समुदाय को ग्रहण कर लेने के कारण जीव नर शब्द से वाच्य होकर अभिमुख आता है। इसी प्रकार वह प्राणवायु का प्रवेश-निर्गम हृदय और द्वादशान्त दोनों स्थानों में उत्पन्न होने वाला शुद्धाध्व और अशुद्धाध्व दो मार्गों से व्याप्त पराशक्ति को सर्वसर्वमयत्व भावना से सामरस्य उत्पन्न करने के कारण 'भरितास्थिति' है। परातंत्र में कहे गये मंत्रों का अनुसरण करना इस स्थिति की प्राप्ति में प्रथम स्थान है।

अथवा 'अनुत्तराकुलात्माचित्तधाम' में स्वयं उन्मीषित होने वाला 'हकार' 'ऊर्ध्व' है और 'सकार' (विसर्गस्वरूप विसर्जनीय से अनुप्राणित) अधः (अर्थात् जीव) स्वरूप है। यह हानोपादान रूप 'हँसी' ही परादेवी है। इसीलिए 'अहं सः' मैं वही हूँ, इस प्रकार का आत्मप्रत्यभिज्ञान विमर्श के समान उपलब्ध होता है। क्योंकि उत्पत्ति के दोनों स्थानों में 'हकार' और 'सकार' के उदय होने के कारण तथा हृदय और द्वादशान्त दोनों स्थानों को भरने के कारण उन वर्णों में विमर्श के परिशीलन की युक्ति से शक्ति का बल प्राप्त होता है, वही भैरवीभाव है। इस प्रकार इस कारिका की पहली व दूसरी व्याख्याओं के अनुसार अविकल्पस्वरूप परिशीलनात्मक शांभव आदेश दिया गया है। चौथी और पाँचवीं व्याख्याओं में 'सम्पूर्ण मैं हूँ' ऐसा सर्वव्यापक भावनात्मक शुद्ध विकल्प विमर्श स्वरूप शाक्तभाव बतलाया गया है। तीसरी व छठी व्याख्याओं में वर्णविमर्श प्रधान 'आणवमार्ग' का निरूपण किया गया है। मालिनीविजय-तंत्र में भी इसका विस्तार से वर्णन है ॥ २४ ॥

अधुना स्वतः सिद्धाः पूरककुम्भकरेचकाः प्राणस्यावस्थाविशेषाः सर्वेषां सकल-प्रलयाकलादीनां प्रमातॄणामयत्नेन सम्भवन्ति। यथा—

'बाह्योन्मुखत्वं प्राणानां यद्धृदम्भोजकोटरात्।
स्वैरमेवात्तयत्नानां तं धीरा रेचकं विदुः॥
द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं बाह्यमाक्रमतां हृदः।
प्राणानामङ्गसंस्पर्शो यः स पूरक उच्यते॥
अपानेऽस्तङ्गते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि।
तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभिर्यानुभूयते॥'

इत्यादिना प्राणापानदशायामेवारोहावरोहक्रमे तच्चिन्तावहितैर्योगिभिर्भूयते इति यद्योगशास्त्रेषु प्रतिपादितं तद्विषयावधानमुपदिशति—

मरुतोऽन्तर्बहिर्वापि वियद्युग्मानिवर्तनात्।
भैरव्या भैरवस्येत्थं भैरवि व्यज्यते वपुः॥ २५॥

मरुतः प्राणस्यापानस्य चान्तर्बहिश्च यद्वियद्युग्मं—हृदाकाशो द्वादशान्तश्च यद्वियद्द्वयं, ततोऽनिवर्तनान् प्रत्यावर्तनाभावेन क्षणमात्रमन्तर्मुखत्वेनावस्थानात्

प्राणापानयोर्द्वयोरस्तंगतत्वात् भैरवीस्वरूपस्य भैरवस्य वपुः 'अन्तः स्वानुभवानन्दा' इत्यारभ्य 'तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम्' इति कृतलक्षणं धर्मिधर्मात्मकत्वेन शिवशक्तिद्वैधं प्रकाशविमर्शस्वरूपं परमार्थत एकमेव तत्त्वं प्रकटीभवेत्, एतदुक्तं भवति—हृदि स्थितात्पद्मयन्त्रात् प्राणस्योदयः, बहिर्द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते आकाशे प्राणस्यास्तं गतिः । एवं बाह्याद् द्वादशान्तादपानोदयः, हृत्पद्मयन्त्रे त्वपानस्यास्तम् । एवमनवरतम्—

'बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैतान् कुम्भकादीननारतम् ।
प्राणापानस्वभावान् स्वान् बुद्ध्वा भूयो न जायते ॥
गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
एते न रोधमायान्ति प्रकृत्या हि चलोऽनिलः ॥'

इत्याद्युक्तनीत्या सर्वेषां प्रमातॄणां पशुपक्षिमृगादीनां च सर्वदा सर्वत्र रात्रिन्दिवमष्टौ प्राणायामाः स्वतः सिद्धाः पुरुषप्रयत्नानपेक्षाः । ते च—

'स्वस्वभावतया बुद्धा यदि स्युर्तर्हि मोक्षदाः ।
यत्करोति यदश्नाति बोधेनैताननुस्मरन् ॥
कुम्भकादीन्नरः सोऽन्तस्तत्र कर्ता न किञ्चन ।'

इत्युक्तेः । ते च यथा—हृत्कमलाद्बहिर्मुखत्वं स्वेच्छयैव यत् प्राणस्य सा प्राणरेचकावस्था १ । हृदयात् सकाशाद् बहिर्द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं निःसरतां प्राणानामङ्गसंस्पर्शः पूरकः २ । बहिःप्रदेशात् पुरुषप्रयत्नं विनैवापाने प्रत्यावृत्ते सति योऽङ्गप्रपूरणस्पर्शः सोऽपि पूरकः ३ । अपाने प्रलीने सति हृदयात् प्राणोऽपि योवन्नाभ्युदितस्तावत्कालं कुम्भकावस्था ४ । अस्यामवस्थायां योगिनामेवानुभव इति प्राणवायुः सदा देहाद् बहिरन्तश्च प्राणायामपरः । एवमपानोऽप्यनिशं बहिरन्तश्चापानायामवान्, यथा बहिराकाशेऽस्तङ्गते प्राणे यावन्नोद्गतोऽपानो भवेत् तावत्कालं बहिः पूरकावस्था अपानस्य १ । तथा अपानस्य द्वादशान्तादुत्थाय यद्रूपपीनत्वं सोऽपि बहिः पूरकः २ । तथा बहिर्द्वादशाङ्गुलपर्यन्तप्रदेशेऽपानस्य मृदन्तरस्थानिष्पन्नघटवद्या स्थितिः सा कुम्भकावस्था अपानस्य ३ । उदयं विना यदपानस्यान्तर्मुखत्वं स बाह्यरेचकः ४ इति प्राणपूरकापानपूरकद्वैध्येऽष्टौ प्राणायामाः । एतान् स्वस्वभावत्वेन जानीयात् । हृत्कण्ठतालुललाटरन्ध्रद्वादशान्ताः प्राणगतिविषयाः । हृत्कन्दाननसङ्कोचविकासद्वादशान्ता अपानगतिविषयाः । क्षणमस्तङ्गतप्राणमपानोदयरहितमयत्नसिद्धं यद्बाह्यस्थं कुम्भकं, तथा क्षणमस्तङ्गतापानं प्राणोदयरहितमयत्नसिद्धमन्तःस्थकुम्भकं यत्, तदेव परमं पदं मध्यरूपत्वात् । एतदेव मध्यंवासिष्ठे ब्रह्मदर्शने भुसुण्डोपाख्याने—

'एतत्तदात्मनो रूतं शुद्धैषा सा परैव चित् ।
एतत्तत्सतताभासमेतत् प्राप्य न शोचते ।।
अस्तं गतवति प्राणे त्वपानेऽभ्युदयोन्मुखे ।
बहिः कुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोचति ।।
अपानेऽस्तं गते प्राणे किञ्चिदभ्युदयोन्मुखे ।
अन्तःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोचति ।।'

इत्यादिना योगिगम्यप्राणापानमध्यदशाविश्रान्त्या द्वयोरनिवर्तनात् प्रत्यावृत्त्यभावेन तत्तुटि-लव-क्षणमात्रमन्तर्मुखत्वात् मध्यदशाविर्भावः ।। २५ ।।

अब स्वतःसिद्ध पूरक, कुम्भक और रेचक रूप प्राणायाम की अवस्थिति विशेष का वर्णन करते हैं, जिससे सभी लोगों को सम्पूर्ण प्रलय-पर्यन्त कलना का प्रत्यक्ष हो सके । प्राण और अपान की दशा में आरोह और अवरोह के क्रम से उस पराशक्ति का चिन्तन करने में योगी जिस क्रिया के द्वारा दत्तचित्त हो जाता है, उस (क्रिया) का प्रतिपादन विषयावधान पूर्वक करते हैं—

अनुवाद—भैरवि ! वायु (प्राण तथा अपान) का भीतर और बाहर व्यापक जो आकाश (हृदयाकाश तथा द्वादशान्त) है, उससे न हटने के कारण भैरव का वह तत्त्व प्रकट होता है ।। २५ ।।

व्याख्या—प्राण और अपान रूप वायु के भीतर-बाहर हृदयाकाश और द्वादशान्ताकाश से, आवर्तन-प्रत्यावर्तन के रूप से और क्षणमात्र अन्तर्मुख होकर अवस्थित होने से जो स्थिति होती है, वह भैरवरूप भैरवी या भैरवीरूप भैरव के रूप में कही जाती है । वह अन्तःकरण में स्वानुभव से आनन्द मात्र स्वरूप वाली है । यह धर्मी और धर्म के रूप से शिवशक्ति या प्रकाश-विमर्श स्वरूप होते हुए भी परमार्थतः एक ही तत्त्व को प्रकट करती है । यहाँ इस रूप में कहा जा सकता है कि हृदय में स्थित जो 'हृदयपद्मरूप यन्त्र' है, उससे प्राणवायु का उदय होता है । वह (प्राणवायु) बाहर बारह अंगुल पर्यन्ताकाश में संचार करता है, तब तक प्राण कहलाता है । बारह अंगुल के बाद प्राणगति के अस्त हो जाने पर क्षणमात्र के लिए, जब तक उसमें अपान गति उत्पन्न न हो तब तक जो अवस्था रहती है, वह भैरवस्वरूप है । क्षणमात्र के बाद जब वह अपान गति को धारण कर लेता है और भीतर जाने लगता है, तब बाहर द्वादशान्त आकाश से अपान का उदय होने के बाद हृदयाकाश में पहुँचने तक उसमें अपानत्व रहता है । हृदय में पहुँचने के बाद अपानत्व शक्ति के नष्ट हो जाने पर और प्राणवायु की उत्पत्ति के पूर्व जो शून्याकार स्थिति रहती है, वह 'भैरवीस्वरूप' है ।

इसी प्रकार जब उसमें पुनः प्राणशक्ति उत्पन्न हो जाती है और वह द्वादशान्त तक आता है और प्राणत्व नष्ट हो जाने के कारण क्षणमात्र के लिए भैरवस्थिति में

रहकर फिर अपानत्वग्रहण कर लेता है, तब 'प्राणापान' के 'निर्गम-प्रवेश' के मध्य में जो स्थितियाँ आती हैं, वे (स्थितियाँ) भैरवीस्थिति के स्वरूप के समान और भैरवीस्थिति भैरवस्थिति के स्वरूप के समान है। इस प्रकार पुरुष-प्रयत्न की अपेक्षा न रखते हुए भी स्वतःसिद्ध प्रकृति द्वारा आठ प्राणायाम प्रत्येक प्राणी के प्रतिदिन हो जाया करते हैं। उन प्राणायामों को ही जो स्व-स्वभाव से होने वाले हैं, कोई प्राणी समझ ले तो वे स्वयं मोक्षप्रद हुआ करते हैं। व्यक्ति जो कुछ करता है वह करता रहे, को कुछ भी खाता है, वह खाता रहे, किन्तु ज्ञान के साथ इनका स्मरण करता हुआ कुम्भकावस्था में रहकर वास्तव में वह कुछ नहीं करता। ऐसा शास्त्रों में कहा गया है—

'जो प्राण और अपान स्वभाव वाले हैं और निरन्तर चलते रहने वाले हैं, इन कुम्भकों को समझ कर मनुष्य पुनः जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता। चलते हुए या खड़े हुए, जगते हुए या सोते हुए ये किसी के भी रुकते नहीं हैं, क्योंकि वायु प्रकृत्ति से ही चल है।

उन प्राणायामों का क्रम इस प्रकार है—जो हृदय-कमल से बहिर्मुख होकर स्वतः से ही प्राणवायु की गति उत्पन्न होती है, वह प्राणवायु की 'रेचक' अवस्था है। हृदय से बाहर निकलते हुए प्राणवायु का प्रत्येक अंग से स्पर्श होना, यह प्राणवायु की प्रथम 'पूरक अवस्था' है। बाहर के प्रदेश से बिना किसी प्रयत्न के जब वायु प्रत्यावर्तन करता है, तो प्रत्येक अंग का स्पर्श करता हुआ हृदयाकाश-पर्यन्त जाता है, वह भी अपानवायु की 'पूरक अवस्था' है। जब तक प्राणवायु का उदय नहीं होता, तब तक की उस अवस्था का नाम 'कुम्भकावस्था' है। इस अवस्था में योगियों के अनुभव मात्र से गम्य प्राणवायु सदा देह के बाहर और भीतर भ्रमण करता हुआ प्राणायाम में तत्पर रहता है। इसी प्रकार अपानवायु भी भीतर और बाहर 'अपानायाम' करता रहता है। जैसे बाहर के 'आकाश' में प्राणवायु के अस्त होने पर जब तक अपान वायु का उदय नहीं होता, तब तक की अवस्था 'अपान कुम्भक' है, जैसे मिट्टी के भीतर रहा हुआ घड़ा। कपाल आदि बनकर मिट्टी का अंत होने पर भी जब तक कपाल संजोग न हो, तब तक घटत्व की उत्पत्ति नहीं होती है। और वह अवस्था न मिट्टीरूप है, और न घटरूप। इसी प्रकार वह अवस्था न प्राण-रूप है, न अपान रूप। वही अवस्था अपानवायु की 'कुम्भकावस्था' है।

अपान का अन्तर्मुखत्व होना बाह्य रेचक है और द्वादशान्त से हृदय-पर्यन्त जाने वाली गति बाह्यपूरक है। इस प्रकार प्राणायाम और अपानायाम रूप आठ प्रकार का प्राणायाम प्रकृति-सिद्ध है, जो प्रत्येक चैतन्य प्राणी के शरीर में प्रतिदिन होता रहता है। हृदय, कंठ, तालु, ललाट और द्वादशान्त ये सभी प्राण की गति के विषय हैं। यही बात 'वासिष्ठ' भूषण्डोपाख्यान के बाह्यदर्शन विषय में कही गई है। 'हृदय-कमल' के संकोच और विकास के कारण द्वादशान्त-पर्यन्त अपानगति के विषय हैं। क्षण भर के लिए अस्तंगत प्राण अपान उदय होने के पूर्व तक जिस निर्विकल्प अवस्था में रहता है

वह बाह्यकुम्भक है तथा क्षण भर के लिए अस्त होने वाला अपानवायु जब तक प्राणवायु का उदय न हो, उतने समय तक बिना प्रयत्न सिद्ध 'अन्तः कुम्भकावस्था' है।

मध्यविकासेन प्राणापानयोः प्रवेशनिर्गमाभावमाह—

न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासिते ।
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरवरूपता ॥ २६ ॥

मरुद्रूपा शक्तिर्न व्रजेत्—हृदो द्वादशान्तं न यायात्, न च विशेत्—द्वादशान्तात् हृदयं न गच्छेत्, केवलं मध्ये मध्यनाडीधाम्नि विकल्पहान्युपायतो विकासिते सति। अत्रायं भावः—दर्शनादीनां सर्वशक्तीनां समूहं स्वे स्वे विषये युगपद्भावेन प्रक्षिप्य स्वं स्वभावं स्पन्दतत्त्वात्मकं तदाधारमवलोक्य निर्विकल्पतया निमीलनोन्मीलनसमाधितायुगपद्व्यापकमध्यभूम्यवष्टम्भादध्यासितैतदुभयविसर्गारणिविगलितसङ्कल्पभावाक्रमविस्फारितकरणचक्रतया—

'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा वै भैरवी मुद्रा सद्यस्तत्पददायिनी ॥'

इति भैरवी मुद्रानुप्रविष्टत्वे जाते सति मरुद्रूपा शक्तिर्न बहिः प्रसरेत्, नान्तः प्रविशेत्, एवंविधया तया भैरवरूपता भवेत्, तया प्रशमितप्राणापानभावाभिव्यक्तभैरवीयरूपतया भैरवरूपधारी योगी भवति, एतत् श्लोकद्वयं मध्यमधामाश्रया आणवी भूमिः ॥ २६ ॥

अनुवाद—वायुशक्ति न (हृदय से द्वादशान्त तक) जाये और न (द्वादशान्त से हृदय में) प्रवेश करे बल्कि मध्य (अर्थात् मध्यनाड़ी) में विकल्पविहीन होकर विकसित हो जाय तो उससे भैरवमुद्रा बनती है ॥ २६ ॥

व्याख्या—हृदय से द्वादशान्त-पर्यन्त न तो द्वादशान्त से हृदय में जाये न हृदय से द्वादशान्त में आये, इस प्रकार मध्यनाड़ी के भीतर संकल्प-विकल्प से रहित अवस्था में यह स्थिति ही भैरत्व को देने वाली है—

'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा वै भैरवी मुद्रा सद्यस्तत्पददायिनी ॥'

भैरवीमुद्रा में प्रविष्ट हो जाने पर वायु की शक्ति प्रवेश-निर्गम रूप व्यापार से रहित होकर रहती है। इसी अवस्था का नाम 'भैरवरूपता' है। अथवा जिसमें प्राणापान क्रिया के अभाव की अभिव्यक्ति होती है, वही 'भैरवीरूप' होकर प्रकाश में आता है। उस भैरवीरूप शक्ति से युक्त होकर ही योगी भैरवी मुद्रा सिद्ध हो जाने पर 'मध्यमधाम' में आश्रय करने के कारण 'आणवभूमि' के रूप में साधक की स्थिति होती है।

इन २४, २५ व २६ वीं कारिकाओं में बतलाई क्रमशः पहली, दूसरी और तीसरी धारणा 'आणवीभूमि' कहलाती है ॥ २६ ॥

कुम्भिता रेचिता वापि पूरिता वा यदा भवेत् ।
तदन्ते शान्तनामासौ शक्त्या शान्तः प्रकाशते ।। २७ ।।

रेचिता सती कुम्भिता, बहिः पूरिता वा कुम्भिता अन्तर्यदा मरुद्रूपा शक्तिर्भवति, तदा तदन्ते यदेति अभ्यासात् प्रशान्तकुम्भकावस्थोदये भेदोपशमात् शान्ताख्या असौ शक्तिः, शान्तः परमस्वभावः नामरूपातीतः प्रकाशतेऽभिव्यक्तप्रथो भवति ।। २७ ।।

अनुवाद—प्राणापान वायु की शक्ति रेचक पूरक के द्वारा जब कुम्भित की जाय, उसके अन्त में वह शान्त नामा शक्ति अवस्था में रहती है, उसी से शान्तरूप प्रकाशित होता है ।। २७ ।।

व्याख्या—'रेचक' करने पर बाहर निकलकर प्राणवायु जब तक प्राणत्व को छोड़ने के बाद अन्तःप्रवेश करने के लिए अपानत्व को ग्रहण नहीं करता है, वह मध्य में स्थित 'कुम्भिकाशक्ति' है । और जब भीतर प्रवेश पाने के लिए 'अपानवायु' अपानत्व को त्याग कर प्राणत्व को ग्रहण नहीं करता, तब उसके मध्य में 'कुम्भितावस्था' है । यही भैरव या भैरवी अवस्था है, जिसे 'शान्ता शक्ति' (भी) कहते हैं । इसे शान्ताशक्ति इसलिए कहा गया है क्योंकि यह शांत, परमस्वभाव और नाम रूप से अतीत है । इसकी अभिव्यक्ति होना ही परमतत्त्व का ज्ञान होना है । इसी बात को 'प्रत्यभिज्ञा' में भी स्पष्ट कहा गया है[1] ।

यह प्राणवायु विच्छिन्न होकर अर्थात् प्राणत्व को त्याग कर कुछ काल तक रुकने के बाद अपानत्व को ग्रहण करता है तथा अपानत्व को ग्रहण कर, हृदयाकाश में पहुँचकर, अपानत्व को त्याग कर, प्राणत्व को नहीं ग्रहण करता है । इन दोनों बिन्दुओं के मध्य में क्षण भर के लिए विश्रान्ति रूप विमर्श का अनुभव होता है । 'वही मैं हूँ' ऐसा अनुभव होना यही 'भैरव-भैरवी रूप अवस्था' कही गई है ।

आ मूलात्किरणाभासां सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरात्मिकाम् ।
चिन्तयेत् तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ।। २८ ।।

आ मूलात्—आ जन्माधारात् द्वादशान्तं यावत्, किरणाभासां मरीचिरूपां क्रमात्क्रमं तनुतामाश्रयन्तीं तां मरुच्छक्तिं चिन्तयेत् ध्यायेत्, कीदृशीं द्विषट्कान्ते द्वादशान्ते शाम्यन्तीम्, इत्थं सुसूक्ष्मतमस्यापि ध्येयाकारस्य ध्यानप्रकर्षोत्थापितस्यागलनाद् भैरवस्वरूपता भवति ।। २८ ।।

अनुवाद—आधारचक्र से द्वादशान्त चक्र-पर्यन्त किरण रूप में प्रकाशित होती हुई, क्रमशः सूक्ष्मता को धारण करती हुई, जो प्राणापान वायु की शक्ति है, उसका चिन्तन

---

१. 'इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता ।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ।।'

करते हुए ध्यान करना चाहिए, जो कि द्वादशान्त में जाकर शान्त होती है। इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म ध्येय-स्वरूप ध्यान के आधिक्य से उत्थापित वह भैरवस्वरूप को अभिव्यक्ति करने वाली है ॥ २८ ॥

व्याख्या—यह किरण रूप से प्रकाशमान, सूक्ष्म से सूक्ष्म 'मूलाधार' से द्वादशान्त चक्र तक चढ़नेवाली और द्वादशान्त में जाकर प्राणत्व का त्याग कर अपानोदय के पूर्व 'भैरवरूप' को प्राप्त करने वाली, अति सूक्ष्म आकार के भी नष्ट हो जाने पर उसके बाद प्राप्त होने वाली 'भैरवावस्था' है। यह पाँचवीं धारणा है ॥ २८ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम् ।
ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत् तावदन्ते महोदयः ॥ २९ ॥

तामेव शक्तिं तडिद्रूपां विद्युद्वत् चलद्दीप्त्योज्ज्वलां प्रतिचक्रं कन्दादिब्रह्मरन्ध्रान्तचक्रेभ्यः क्रमात्क्रमम् उद्गच्छन्तीमुल्लसन्तीं चिन्तयेत्, यावत् परं विश्वपूरकं ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं द्वादशान्तधाम तावत् महाभैरवैकात्मतोदयः ॥२९॥

इसके आगे छठी धारणा बतलाई जा रही है—

अनुवाद—वह बिजली के समान प्रकाशवाली, प्राणवायु की शक्ति मूलाधार से क्रमशः प्रतिचक्र में दौड़ती हुई, बारह अंगुल ऊँचे तक जा रही है—ऐसा चिन्तन करना चाहिए। जब तक कि अपने में सम्पूर्ण विश्व को समा लेने वाले महाभैरवत्व का उदय नहीं हो ॥ २९ ॥

व्याख्या—मूलकन्द से ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त ऊपर उठती हुई, विद्युल्लता के समान देदीप्यमान स्वरूप वाली, बढ़ती हुई प्राणवायु की चित्त (चैतन्य) शक्ति जब द्वादशान्त के अन्त में पहुँचती है, तब महान् प्रकाश का उदय होता है; तब—'यह मेरा स्वरूप है'—इस प्रकार अवमर्श होता है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—'मैं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे ही सारे संसार की प्रवृत्ति चलती है[1]।

और भी 'प्रत्यभिज्ञातंत्र' में इसका स्पष्ट निरूपण किया गया है—

'यह सब मेरा वैभव है', इस प्रकार जानता हुआ विश्वात्मा के विकल्पों के प्रसार होने पर भी वह जीव महेशता को प्राप्त हो जाता है[2] ॥ २९ ॥

क्रमद्वादशकं सम्यग् द्वादशाक्षरभेदितम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या मुक्त्वा मुक्त्वान्ततः शिवः ॥ ३० ॥

---

१. 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।' (गीता)

२. सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥ (प्रत्यभिज्ञा)

जन्माग्र-मूल-कन्द-नाभि-हृत्-कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-ललाट--ब्रह्मरन्ध्र--शक्ति-व्यापिन्याख्यं यत्क्रमाणां चक्राणां द्वादशकं, क्रमेण कुटिलाकृत्यनाहतेन युक्तं यदेतदेव द्वादशकं, तत् सम्यगिति क्रमेणादिविसर्गान्तैर्द्वादशाँक्षरै रञ्जितं, षण्ठस्वरवर्जं द्वादश स्वरभेदाः, प्रत्येकं 'स्वाभाविकं चलं दीप्तम्' इति—स्थित्या आदौ ध्यानं स्फुटीकृतम्, ततः स्पन्दमानं, ततोऽपि ज्योतीरूपतां प्राप्तम्, स्थूलं सूक्ष्मं परमित्यभिधीयते, इति सोपानपदक्रमं मुक्त्वा मुक्त्वा परित्यज्य अन्ततोऽन्ते परमशिवभावः ॥ ३० ॥

अब सातवीं धारणा बतलाते हैं—

अनुवाद—क्रमशः अकारादि द्वादश स्वरों के द्वारा, द्वादशचक्रों को भेदन करता हुआ, स्थूल और सूक्ष्म परिस्थितियों को छोड़ते-छोड़ते अन्त में जीव शिव रूप बन जाता है ॥ ३० ॥

व्याख्या—अभिप्राय यह है कि जन्माग्र (अकुलचक्र) मूल, कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरंध्र, शक्ति और व्यापिनी नाम के बारह चक्र मनुष्य की गुदा से लेकर मस्तक-पर्यन्त क्रमशः ऊपर से ऊपर स्थित है। इन बारह चक्रों में 'शण्डस्वर' (ए, ऐ, ओ, औ) को छोड़कर अकार से लेकर विसर्गान्त बारह स्वर से क्रमशः भेदन करता हुआ साधक स्वभाव से ही, जो दीप्त और चल है,[1] ऐसा ध्यान करता हुआ, इन चक्रों का भेदन करे—तब इस स्पन्दन से ज्योति को प्राप्त करके सूक्ष्म, स्थूल और परमरूप को प्राप्त करने के लिए सीढ़ी-दर-सीढ़ी क्रमशः एक-एक को छोड़ता हुआ अन्त में 'परमस्वभाव' को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् ज्योति को प्राप्त होता है। ये दोनों 'सूक्ष्म' और 'पर' के नाम से कहे गये हैं। इससे मनुष्य सर्व-विजयी और सर्वत्र प्रकाशमान् होता हुआ परमार्थतः शिवरूप से प्रकाशित होता है[2] ॥ ३० ॥

खेचरीमुद्रामाह—

तयापूर्याशु मूर्धान्तं भङ्क्त्वा भ्रूक्षेपसेतुना ।
निर्विकल्पं मनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे सर्वगोद्गमः ॥ ३१ ॥

तया जन्मादिचक्राक्रमणशक्त्या प्राणाख्यया अर्धचक्रात्मिकया मूर्धान्तं

१. स्वाभाविकं दीप्तं चलम् ।

२. विवृत्ति में कहा गया है—

(क) इति सोपानपदक्रमं मुक्त्वा मुक्त्वा परित्यज्य अन्ततोऽन्ते परमशिवभावः ।
(क्षेमराज)

(ख) सर्वजित्वात् सर्वत्रावभासकः शिव एव प्रकाशते परमार्थतः ।
(शिवोपाध्याय)

द्वादशान्तमापूर्य, तथा तमेव द्वादशान्तं भ्रूक्षेपसेतुना भ्रूभेदनक्रमेण सेतुनेव वारिप्रवाहं गुरूपदेशयुक्त्या भङ्क्त्वा, तदनन्तरं निर्विकल्पं मनः कृत्वा, सर्वोर्ध्वे द्वादशान्तादप्यूर्ध्वं परमाकाशे सर्वव्यापकत्वं स्यात् ॥ ३१ ॥

अब आठवीं भूमिका द्वारा खेचरी मुद्रा का साधन बतलाते हैं—

अनुवाद—उस प्राणशक्ति के द्वारा तथा भ्रूभेदन के सेतु से उस द्वादशान्त को तोड़कर, मन को विकल्प रहित करके, सबसे ऊपर (द्वादशान्त आकाश से भी ऊपर) सर्वव्यापकता का उदय होता है[1] ॥ ३१ ॥

शिखिपक्षैश्चित्ररूपैर्मण्डलैः शून्यपञ्चकम् ।
ध्यायतोऽनुत्तरे शून्ये प्रवेशो हृदये भवेत् ॥ ३२ ॥

मयूरस्य पतत्राणि आधारत्वेनैषां सन्ति एतादृशैश्चित्ररूपैश्चन्द्रकैर्दीप्यमानैरपि अन्तर्बहिः शून्यरूपैः सादृश्येन शून्यपञ्चकमूर्ध्वाधोमध्यपार्श्वद्वयस्थितं पञ्चेन्द्रियेषु शून्यरूपत्वं वा हृदये ध्यायतः परमाकाशसमावेशो भवेत् । शिखिपक्षचित्ररूपैरिति पाठे त्वयमर्थः—शिखिपक्षवच्चन्द्रकवच्चित्ररूपैः रूपरसादिग्रहणात् नानारूपैः मण्डलैः, मण्डं रससारं लान्तीदृंशि मण्डलानीन्द्रियाणि तैः शून्यपञ्चकं तन्मात्रत्वेनाव्यक्तत्वात् शून्यरूपं विषयपञ्चकं शब्दादिरूपं ध्यायतोऽनुत्तरे शून्ये भैरवरूपे प्रवेशः समावेशो भवेदिति ॥ ३२ ॥

अब नवीं धारणा वर्णित है—

अनुवाद—रंगीन मयूरपंखों की तरह मण्डलों (इन्द्रियों अथवा तन्मात्राओं) को पंचक शून्य मानकर हृदय में ध्यान करते हुए (योगी) का प्रवेश अनुत्तर शून्य में होता है ॥ ३२ ॥

ईदृशेन क्रमेणैव यत्र कुत्रापि चिन्तना ।
शून्ये कुडचे पर पात्रे स्वयं लीना वरप्रदा ॥ ३३ ॥

ईदृशेन क्रमेण हानादानरूपेण, आक्रमेण, गुदाधार-जन्म-कन्द-नाभि-हृत्कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-लालट-ब्रह्मरन्ध्र-शक्ति-व्यापिन्यन्तं यत्र कुत्रापि स्वात्मनोऽन्यत्र स्वात्मवत् परत्रापि व्योम्नि प्राकारभाजनादौ, यद्वा परे पात्रे निर्मलचित्ते शिष्यादौ चिन्तना स्मरणा, स्वयं लीना अहर्निशं स्वदेहान्तः क्रमद्वादशकारोहणगाढतरध्यानावमर्शनबलात् स्वयमेव लीना सती स्मृतिः वरप्रदा भवेत्—परप्रकाशोदयात्मकोत्कृष्टवस्तुप्रदायिनी भवति । यदुक्तम्—

---

१. जिस प्रकार मयूरपंख चित्र होने के कारण गन्धर्वनगर की भाँति शून्य होते हैं, उसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों और पाँचों तन्मात्राओं को शून्य समझने के कारण ही अनुत्तरशून्य में उनका प्रवेश होता है ।

'सर्वोत्तीर्णं रूपं सोपानपदक्रमेण संश्रयतः ।
परतत्त्वरूढिलाभे पर्यन्ते शिवमयीभावः ॥' इति ।

चिन्तनात् इति पाठे तु पूर्वोक्तां मरुच्छक्तिं प्रथमान्तत्वेन विपरिणमय्य मरुच्छक्तिः मण्डूकप्लुत्या अनुवर्तनीया, तेन चिन्तनात् होतोः मरुच्छक्तिः शून्ये बाह्ये कुडचादौ वा स्वयं लीना सती वरप्रदेत्यन्वयः, बाह्यशून्यकुडचादिकेऽपि स्वात्मवपुषीव प्राणशक्तिक्रमद्वादशकं चिन्तनीयमिति तात्पर्यम् ॥ ३३ ॥

अब साधक को आगे बढ़ने के लिए दसवीं धारणा निरूपित है—

अनुवाद—इस प्रकार क्रम से जहाँ कहीं भी शून्य प्राकार, अथवा किसी पात्र में चिन्तना होती है, तो उसमें स्वतः लीन प्राणशक्ति वरप्रदा बन जाती है ॥ ३३ ॥

व्याख्या—इसी क्रम से त्याग और ग्रहण के द्वारा गुदा, मूलाधार, जन्म, कन्ध, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरंध्र, शक्ति और व्यापिनी चक्र में चाहे कहीं भी, अथवा किसी भी स्थान में अपनी आत्मा से अन्य स्थान पर, आत्मा के समान की स्थानान्तर में—जैसे आकाश में, अन्य व्यक्ति में, पात्रादि में अथवा उत्तम पात्र, निर्मलचित्त वाले शिष्यादि में चिन्तन करता हुआ, अहर्निश साधना में लीन, अपने शरीर में ही द्वादश चक्र में चढ़ने से, अत्यन्त गाढ़ ध्यान के विचार बल से, स्वयं लीन हो जाने पर जो स्मृति उत्पन्न होती है, वह वरप्रदा (अर्थात् पर प्रकाश के उदय होने के कारण प्राप्त होने वाली उत्कृष्ट वस्तु को देने वाली) होती है। जैसा शास्त्रों में कहा गया है—'सम्पूर्ण चक्रों से पार होकर सोपानक्रम से उत्त-रोत्तर उन्नत चक्र का आश्रय करने वाला साधक परमतत्त्व पर चढ़कर अन्त में शिवमय हो जाता है।'

अभिप्राय यह है कि इस प्रकार पूर्वोक्त प्राणायाम रूप वायु की शक्ति को शरीर के द्वादश चक्रों में ध्यान करते हुए अथवा वृक्ष या किसी अन्य सत्पात्र शिष्य में ध्यान करते हुए क्रमशः द्वादश चक्रों का चिन्तन करना चाहिए। जब साधक व्यापिनी चक्र को पार कर लेगा, तब स्वयं शिवस्वरूप हो जायेगा। जैसा कि स्पन्दकारिका में भी कहा गया है—

'जिससे सर्वमय जीव सर्वभाव उत्पन्न होने के कारण संवेदन रूप से तादात्म्य प्रतिपत्ति को प्राप्त हो जाता है, उससे शब्द और अर्थ के चिन्तन से उसके शरीर में ऐसी कोई अवस्था नहीं रह जाती है, जो शिवस्वरूप नहीं है। भोक्ता ही भोग्य रूप बन जाता है और उसकी सर्वदा ऐसी ही स्थिति बनी रहती है, और सभी अवस्थाओं में उसका ज्ञान ऐसा ही रहता है, मानों उसने यह सारा जगत् खेल के लिए बनाया है। जगत् को इस प्रकार देखता हुआ सभी संशयों से मुक्त होकर वह योगी शिव-स्वरूप विचरण करता है[1] ॥ ३३ ॥

---

१. 'यस्मात्सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात् ।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥

कपालान्तर्मनो न्यस्य तिष्ठन्मीलितलोचनः ।
क्रमेण मनसो दार्ढ्यात् लक्षयेल्लक्ष्यमुत्तमम् ।। ३४ ।।

शिरःकपालमध्ये यदन्तश्छिद्रमस्ति तदन्तरे मनो न्यस्य, कपालरन्ध्रस्थिते स्वप्रकाशे प्रभास्वरे ज्योतिषि आलम्बने धारणाध्यानसमाधीन् सम्पादयित्वा (सम्पाद्य) कूणितनेत्रः स्थितः सन् उत्तमं लक्ष्यं लक्षयेत् ।

'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ।' (योगसूत्र, पा० ३ सू० ३१)

इति न्यायात् । यद्वा—

'कशब्देन पराशक्तिः पालकः शिवसंज्ञया ।
शिवशक्तिसमायोगं कपालं परिपठ्यते ।।'

इति तन्त्रकोशयुक्त्या कपालान्तः प्रकाशविमर्शस्वरूपमध्ये—

'शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।'

इति नीत्या शिवशक्तिमयं सर्वं जगत्, इति-विमर्शविषयं मनो न्यस्य, मीलित-लोचनः सङ्कुचितभेददृष्टिः सन् सर्वोत्तमं लक्ष्यं पश्यतीत्यर्थः ।। ३४ ।।

अब ग्यारहवीं धारणा वर्णित है—

अनुवाद—कपाल के भीतर मन को लगाकर नेत्र बन्दकर बैठा हुआ योगी क्रम से मन को दृढ़ता के कारण उत्तम लक्ष्य को देखे ।। ३४ ।।

व्याख्या—सिर और कपाल के भीतर छो छेद हैं, उसे 'कपालछिद्र' कहते हैं । उसमें प्रकाश अर्थात् चमकती हुई ज्योति है । योगी उसमें धारणा से ध्यान को समाधिस्थ करके टेढ़े नेत्र के द्वारा उत्तम लक्ष्य को देखे । तब उसे सिद्धों के दर्शन होंगे । जैसा कि पातंजलयोगसूत्र में निरूपित है—

'मस्तक की ज्योति में संयम करने से सिद्धों के दर्शन होते हैं ।'

अथवा यों कहा जाय—'क' शब्द से पराशक्ति और 'पालक' शब्द का अर्थ शिव है, इस प्रकार शिवशक्ति का समायोग कपाल कहलाता है । ऐसा तंत्रालोक की उक्ति से—'कपाल के भीतर प्रकाश और विमर्शरूप से शक्ति ही सारा जगत् है और शक्ति-मान् (वह) महेश्वर है'—इस नीति से सारा जगत् शिवशक्तिमय है । इस प्रकार के विमर्श में मन लगाकर तथा नेत्र बंद करके संकुचित भेद दृष्टि बनाकर सबसे उत्तम लक्ष्य को देखना चाहिए ।। ३४ ।।

तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न या शिवः ।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितिः ।।
इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
सम्पश्यत् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ।।' (स्पन्दकारिका)

मध्यनाडी मध्यसंस्था बिससूत्राभरूपया ।
ध्यातान्तर्व्योमया देव्या तया देवः प्रकाशते ।। ३५ ।।

मध्यनाडी सुषुम्नाख्या, मध्यसंस्था हृदयमध्यस्था भवतीत्यन्वयः, सूक्ष्मत्वात् मृणालसूत्रतुल्यरूपया ध्यातं चिन्तितमन्तर्व्योम चिदाकाशात्मकं यस्यां सा, तथाविधया देव्या देवः प्रकाशः प्रकाशते, मध्यनाड्यामन्तश्चिदाकाशात्मकं शून्यमेवास्ति, तस्मात् प्राणशक्तिर्निःसरति—इति विमर्शेन प्रकाशप्रादुर्भावः, यद्वा मध्यनाडी मध्यसंस्था चासौ बिससूत्राभरूपा च मध्यनाडी मध्यसंस्थबिसरूपा च इति विशेषणोभयपदः समासः, तया एवंविधया मरुच्छक्त्या तन्मध्यचिन्तिताकाशया देवः प्रकाशते ।। ३५ ।।

अब बारहवीं धारणा निरूपित है—

अनुवाद—मध्यनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना मध्य (हृदय) में स्थित है, उसका कमलनाल के सूत्र के समान सूक्ष्म चिदाकाशत्मिका देवी का ध्यान करने पर शिव प्रकाशित होता है ।। ३५ ।।

व्याख्या—मध्यनाड़ी सुषुम्ना हृदय-चक्र में स्थित है। सूक्ष्मता के कारण वह मृणाल-तन्तु सदृश एवं भीतर से पोली है। उसमें चिदाकाश है। उस सुषुम्ना के भीतर पराशक्ति का ध्यान करने से प्राण-शक्ति बाहर निकलती है, इस विमर्श से प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है, उस प्रकाश में 'परमशिव' के दर्शन होते हैं। जैसा कि स्पन्दकारिका में भी कहा हैं[1]—'जब उस महाकाश में, जिसमें सूर्य और चन्द्र का प्रकाश भी विलीन हो जाता है, सुषुप्ति अवस्था के सदृश ऐसी विशेष जागृत अवस्था होती है, जिसमें गुप्त शिवतत्त्व आविर्भूत होता है ।। ३५ ।।

कररुद्धदृगस्त्रेण भ्रूभेदाद् द्वाररोधनात् ।
दृष्टे बिन्दौ क्रमाल्लीने तन्मध्ये परमा स्थितिः ।। ३६ ।।

अङ्गुष्ठतर्जन्यादिक्रमेण कराभ्यां रुद्धानि दृगुपलक्षितानि मुखरन्ध्राणि येन तादृशस्य योगिनोऽस्त्रेण भ्रूमध्यस्थग्रन्थिविदारणात् हेतोर्बिन्दौ दृष्टे क्रमादेकाग्रताप्रकर्षात् लीने संविद्गगने एव मध्येऽस्य योगिनः परमा स्थितिः भैरवाभिव्यक्तिः स्यादित्यर्थः। अयमत्रान्वयः—कररुद्धदृगस्त्रेण करणेन यद् द्वाररोधनं द्वारस्थगनं तस्मात् हेतोर्यो भ्रूभेदस्तस्माद्धेतोः बिन्दुदर्शनम्। यद्वा द्वारं ब्रह्मद्वारं तस्य रोधनं स्थगनं भ्रूमध्यकृतमेव ततो हेतोः—भ्रूमध्यग्रन्थि-

---

१. तदा तस्मिन्महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ।।' (स्पन्दकारिका)

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम्।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशनम्।।[25]

योगी अपने दोनों एड़ियों को सीवनी के पास दोनों अण्डकोषों के नीचे स्थापित करें, परन्तु इसमें सिंहासन के विपरीत क्रम में रखना चाहिए अर्थात् सीवनी के बांयें भाग में बांया एड़ी तथा दक्षिण भाग में दक्षिण एड़ी को रखना चाहिए और अपने पैरों का उभय पार्श्वभाग मुट्ठी बंधे हुए हाथों से दृढ़ता के साथ स्थिरतापूर्वक पकड़ कर आसन लगावे। यही क्रिया भद्रासन कहलाती है। यह आसन भी शारीरिक रोगों के नाश में अतिशय ही सहायक होती है।

अतः चौरासी आसनों में इन चार आसनों को मुख्य माना गया है। यह सभी आसनों में श्रेष्ठ कहलाते हैं, परन्तु इनमें भी सुखपूर्वक उपवेशन के लिए साधक हो सिद्धासन का ही उपयोग करना चाहिए, क्योंकि सिद्धासन को सर्वोत्तम माना गया है।

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं, भद्रं चेति चतुष्टयम्।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे, तिष्ठेत् सिद्धासने सदा।।[26]

मुद्रा

आदिनाथोदितं दिव्यम् अष्टैश्वर्यप्रदायकम्।
वल्लभं सर्वसिद्धीनां दुर्लभं मरूतामपि।।[27]

आदिनाथ शिव द्वारा उपदिष्ट मुद्रा ज्ञान समस्त आठ सिद्धियों को प्रदान करने वाली और सभी सिद्धों के लिए अत्यन्त प्रिय है। इनके निरन्तर अभ्यास से जो ऐश्वर्य अथवा सिद्धियों को प्राप्ति होती है, वो इस प्रकार है-

---

25. वही, 1/53-54
26. वही, 1/34
27. वही, 3/8

1. **अणिमा :** प्राकृतिक नियमों के विपरीत शरीर को परमाणु के तरह सूक्ष्म बनाने की सिद्धि।

2. **महिमा :** आकाश की तरह विशाल शरीर करने की सिद्धि।

3. **गरिमा :** रूई आदि लघुपरिमाण द्रव्य की पर्वत के समान गुरुता।

4. **लघिमा :** पर्वत के समान परिमाण द्रव्य की रूई के समान लघुता।

5. **प्राप्ति :** अभिलषित वस्तु का साधक के पास होना। जैसे- हाथ में चन्द्र का स्पर्श।

6. **प्राकाम्य :** इच्छा का अनभिघात, जब चाहे तब जल के समान पृथ्वी में डूबना और उभरना।

7. **ईशता :** पाँच भौतिक पदार्थों के उत्पाद, पालन एवं विनाश का सामर्थ्य।

8. **वशिता :** भूत एवं भौतिक पदार्थों को वश में रखना।

मुद्राओं का अभ्यास करना सभी देवताओं को भी अत्यन्त प्रिय है। इसके अभ्यास से प्राणायाम, प्रत्याहार आदि अंगों की सिद्धि में सहायता प्राप्त होता है। मुद्राओं की संख्या विभिन्न ग्रंथों में भिन्न-भिन्न स्वीकार की गयी है। घेरण्ड संहिता में 25 मुद्राओं का वर्णन प्राप्त होता है, जबकि हठयोग प्रदीपिका में इनकी संख्या 10 बतायी गयी है। यहाँ हम हठयोग प्रदीपिका में वर्णित 10 मुद्राओं का वर्णन करेंगे।

महामुद्रा, महाबन्धो, महाबेधश्च, खेचरी।
उडयानं मूलबन्धश्च, बंधो, जालन्धराभिधः।।
करणी विपरीताख्या, वज्रोली, शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकम्, जरामरणनाशनम्।।[28]

28. वही, 3/6-7

1. महामुद्रा 2. महाबंध 3. महावेध 4. खेचरी 5. उड्डियान 6. मूलबन्ध 7. जालन्धर बन्ध 8. विपरीतकरणी 9. वज्रोली एवं 10. शक्तिचालन- ये दश मुद्रायें मुख्य कहलाती हैं जिनके निरन्तर अभ्यास से ऊपर वर्णित सिद्धियाँ शीघ्र ही प्राप्त हो जाती हैं। हठयोग प्रदीपिका में इस मुद्रा अभ्यास के ज्ञान को गोपनीय रखने की बात कही गयी है। कहा गया है कि इसे उसी प्रकार गुप्त रखना चाहिए जिस प्रकार कोई गृहस्थ अपने रत्न-आभूषण को पेटी में सबसे छुपा कर रखता है।

भगवान् शिव देवी पार्वती से कहते हैं कि हे देवि! मैंने तुम्हारे समक्ष जिन मुद्राओं का नाम उल्लेख किया है, जिनके जानने मात्र से ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इन मुद्राओं को प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिए अर्थात् किसी को भी अर्थात् जो इसके लायक नहीं हैं उसको प्रदान करने योग्य नहीं है। देवताओं के लिये भी यह दुर्लभ है। ये सभी मुद्रायें योगियों के लिए प्रीतिदायक हैं।[29]

1. महामुद्रा

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीडय दक्षिणम्।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढ़म्।।
कण्ठे बन्धं सामारोप्य धारयेद् वायुमूर्ध्वतः।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।।[30]

साधक अपने बायें पैर की एडी से योनि स्थान को दबाकर, अपने दाहिने पैर को फैलाते हुए तथा दाहिने पैर की एडी का धरती से स्पर्श कराते हुए उसी पैर के अंगूठे के अग्रभाग को दोनों हाथों की तर्जनी अंगुलियों से दृढ़ता से पकड़े, फिर कण्ठ में जालन्धर बंध

29. घेरण्ड संहिता, पृ0 31
30. ह0 प्र0 3/10-11

लगाकर वायु को सुषुम्ना में ग्रहण करे। जिस प्रकार कुण्डली लगाकर बैठा हुआ सर्प, दण्ड का आघात पाकर दण्ड की तरह लम्बा (सीधा) हो जाता है, उसी प्रकार इस क्रिया के अभ्यास से आधारशक्ति कुण्डली भी तत्काल सीधी हो जाती है। तब इडा एवं पिंगला पर आधृत उस कुण्डली की यह स्थिति मरणावस्था कहलाती है, क्योंकि सुषुम्ना में जब प्राणवायु का संचार हो जाता है तब इडा और पिंगा नाड़ियाँ मृत हो जाती हैं।

इस महामुद्रा की विशिष्टता को अभिव्यक्त करते हुए शिवसंहिता में भगवान् शिव ने माता पार्वती से कहा है कि जो मन्द भाग्य वाले साधक होते हैं वो भी इस महामुद्रा के अभ्यास से सिद्धियों को प्राप्त कर सकते हैं। इसके अभ्यास स्वरूप शरीर के अन्तर्गत स्थित समस्त नाड़ियों का समूह स्वतः परिचालित होने लगती है एवं जीवन के लिए संजीवनी स्वरूप शुक्र स्तम्भित होकर जीवन को भी अवस्थित रखता है। इसके प्रभाव से समस्त पापों एवं रोगों का नाश हो जाता है, शरीर कान्तिमान होता है, जरा-मरण का विनाश होता है, मन वान्छित फल एवं आनंद की प्राप्ति होती है तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होता है। इस मुद्राभ्यास के परिणामस्वरूप साधक संसार-समुद्र को पार करने में समर्थ होता है तथा सिद्ध हो जाने पर यह मुद्रा समस्त कामनाओं को प्रदान करने वाली है।[31]

2. महाबन्ध

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।।
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम्।
निष्पीडय वायुमाकुंच्च मनोमध्ये नियोजयेत्।।[32]

31. घे0 सं0, पृ0 33
32. ह0 प्र0 3/19-20

साधक पूर्वोक्त विधि से अपने बायें पैर की एडी को योनिस्थान में स्थापित कर अपने दाहिने पैर को बायें पैर पर रखें। फिर अपने ठोडी को हृदय स्थान पर स्थापित करते हुए प्राणवायु को खींचकर मध्यनाड़ी सुषुम्ना में स्थापित करे। इस प्रकार ऐसे ही कुम्भक प्राणायाम करते हुए अन्त में उस वायु का रेचन करें। आगे इसी क्रिया को दाहिने पैर से शुरु कर दोहरायें।

इस महाबन्ध के निरन्तर अभ्यास से साधक को महासिद्धियों को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करता है। यह साधक के मृत्युपाश को ढीला करने वाला माना गया है। इस मुद्रा के अभ्यास से तीनों नाड़ियों का संगम हो जाता है। अतः यह बंध गंगा, यमुना एवं सरस्वती के संगम वाले तीर्थराज प्रयाग की शोभा प्राप्त करता है तथा यह साधक के मन को शिव स्थान केदार तक पहुँचाने में समर्थ होता है।[33]

3. महावेध

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषः विना।
महामुद्रा-महाबन्धौ निष्फलौ वेध वर्जितौ।।
महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया।।[34]

जिस प्रकार लोक में रूप एवं आभा से सम्पन्न किसी युवति स्त्री का वह मनोहारी रूप एवं लावण्य तब तक व्यर्थ ही माना जाता है जब तक उस स्त्री का कोई पति न हो, वैसे ही महामुद्रा महावेध मुद्रा के बिना ये उपर्युक्त महाबन्ध एवं महामुद्रा भी साधक के लिए निरर्थक ही माने जाते हैं।

33. वही, पृ0 53
34. वही, 3/25-26

सर्वप्रथम महाबंध मुद्रा का साधक एकाग्रचित्त होकर नासिका द्वार से पूरक प्राणायाम कर कण्ठमुद्रा से इस वायु का ऊर्ध्वगमन एवं अधोगमन रोक कर, अपने दोनों हाथों की हथेलियों को समतल धरती पर टिकाकर तथा बायें पैर की एडी को योनि में लगाकर साधक अपने नितम्बों को ऊपर उठा उठाकर बार-बार भूमि पर पटके। इस अभ्यास से साधक की प्राणवायु इडा एवं पिंगला को त्यागकर सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है यही क्रिया 'महावेध' कहलाती है।

योग को जानने वालों में वही योगी सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है, जो महावेध मुद्रा का अनुष्ठान करते हुए महाबन्ध और मूलबन्ध मुद्राओं का भी आचरण प्रतिदिन करें। ऐसा करने वाले योगी साधक को न तो मृत्यु का भय होता है और न ही बुढ़ापा उस पर अपना प्रभाव डाल सकती है। ये तीनों मुद्रायें ही साधकों द्वारा यत्नपूर्वक गोपनीय रखने का उपदेश दिया गया है अर्थात् जो कोई इसका सत्पात्र लगें उसी के समक्ष इसे प्रकाशित करना चाहिए।[35]

4. खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।
छेदन-चालन-दोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत् तावत्।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः।।[36]

जिह्वा के निम्न भाग में अवस्थित नाड़ी का छेदन करते हुए उसके अग्रभाग का प्रतिदिन परिचालन करने के साथ-साथ मक्खन की सहायता से उसका दोहन करते हुये लोहे की चीमटी द्वारा जिह्वा को खींचना चाहिए। इस क्रिया का प्रतिदिन अभ्यास करने से जिह्वा की

35. घे0 सं0, पृ0 39
36. ह0 प्र0 3/32-33

लम्बाई बढ़ती है। यह अभ्यास तब तक करे जब तक जिह्वा इतनी लम्बी हो जाये कि दोनों भौंहों के मध्य भाग को स्पर्श करने लगे, तब उसे धीरे-धीरे तालु के भीतर समाविष्ट करना चाहिए। तालु के मध्य भाग में अवस्थित गड्ढ़े में ले जाकर जिह्वा को ऊपर की ओर उलट कर प्रविष्ट करने के पश्चात् दोनो भौहों के मध्य भाग में अपनी दृष्टि को स्थिर करने की क्रिया ही 'खेचरी' मुद्रा कहलाती है।

जो साधक इस खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते हैं, उनके ऊपर मूर्च्छा, भूख, प्यास तथा आलस्य का कभी कोई प्रभाव नहीं होता, साथ ही उनपर कभी किसी रोग का भी प्रभाव नहीं पड़ता, न ही बुढ़ापा उनको प्रभावित करता है। मृत्यु का भय भी समाप्त हो जाता है तथा साधक देवशरीर तुल्य हो जाता है। उन्हें न तो अग्नि जला सकती है, न वायु उसे सुखाने में समर्थ हो पाती है। न तो जल उनके शरीर को गीला कर पाता है और न ही उन पर सर्प के दंश का कोई असर होता है। उनके शरीर में अलौकिक लावण्य का प्रादुर्भाव हो जाता है और वो निश्चित रूप से समाधि योग को प्राप्त कर लेते हैं।[37]

5. उड्डीयान बन्ध

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्माद् उड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहतः।।
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदैव स्यात्, तत्र बन्धोऽभिधीयते।।[38]

नाभि के ऊपर उदरभाग के पीछे की तरफ अर्थात् भीतर की ओर बलपूर्वक खींचने और प्राणवायु को उठाने पर सुषुम्ना में प्राणवायु आकाश मार्ग से जाता है, तब साधक को

37. घे0 सं0, पृ0 40
38. ह0 प्र0 3/55-56

गरुड़ के समान आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसी कारण इसको 'उड्डीयान बन्ध' कहा जाता है। यह बंध मृत्युरूपी गज के लिए सिंह के समान होता है।

जो योगी प्रतिदिन चार बार इस बन्ध का अभ्यास करता है, उनको नाभिशुद्धि एवं मरूत सिद्धि की प्राप्ति होती है। निरन्तर छः मास तक अभ्यास करने से योगी मृत्यु को भी पराजित करने में समर्थ हो जाता है। अतः बुद्धिमान साधक को गुरु से उपदिष्ट होकर अत्यन्त दुर्लभ इस बंध का अभ्यास करना चाहिए।[39]

दत्तात्रेय संहिता में तो यहाँ तक कहा गया है कि इस बन्ध के सतत् अभ्यास से मनुष्य वृद्धत्व से मुक्त होकर पुनः यौवन को प्राप्त कर लेता है-

अभ्यसेद्यस्तु सत्त्वस्थो वृद्धोऽपि तरूणायते।
षण्मासमभ्यसन्मृत्युं जयत्येव न संशयः।।

6. मूलबन्ध

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोडभिधीयते।।[40]

साधक को अपने पैर की एडी से योनि भाग पूर्णतः दबा कर गुदा को संकुचित करके, अपानवायु को ऊपर की ओर खींचे। इसी क्रिया को मूलबंध कहा जाता है।

आशय यह है कि गुदमार्ग को एड़ी से पीड़ित कर सम्यक् प्रकार से नियन्त्रित करते हुए अपान वायु को बलपूर्वक धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने का अभ्यास करने का नाम ही 'मूलबंध' है।

---

39. घे0 सं0, पृ0 35
40. ह0 प्र0 3/61

अतः जो साधक संसाररूपी प्रकृत सागर को पार करने की कामना रखते हैं, उन्हें एकांत स्थान पर गुप्त रूप से अवस्थित होकर इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इसका अभ्यास करने से निश्चित रूप से अभ्यासी को मरूत् सिद्धि की प्राप्ति होती है; अतएव साधक को आलस्य का त्याग करके मौन भाव से इस मुद्रा की साधना करनी चाहिए।[41]

7. जालन्धरबन्ध

कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोड्शाधारबन्धम्।
जालन्धरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी।।[42]

कण्ठदेश का संकोचन करते हुए ठोढ़ी को हृदय पर स्थापित करना ही 'जालन्धर बन्ध' कहलाता है। इस मुद्रा के अभ्यास के फलस्वरूप सोलह प्रकार के आधारों[43] का बन्धन होता है अर्थात् कण्ठस्थान में अवस्थित जो 16 स्वरों के 16 आधार होते हैं, उनका कण्ठ संकोचन करने के परिणामस्वरूप बन्धन हो जाता है। यह मुद्रा मृत्यु को भी विनष्ट करने वाली होती है।

स्वयं सिद्ध यह जालन्धर बन्ध योगियों के लिए सिद्धि प्रदान करने वाला है, जो ज्ञानी पुरुष छः मास तक निरन्तर इसका अभ्यास करता है, वह अवश्य ही सिद्ध हो जाता है। शिवसंहिता में भी कहा गया है कि जो साधक इस बंध का अभ्यास करके सहस्त्रदल कमल से बहने वाली अमृत को अधोभाग भाग में लाकर स्वयं उसका पान करते हुये अमरत्व का लाभ प्राप्त कर लेता है।[44]

---

41. घे0 सं0, पृ0 37
42. वही, पृ0 3/12
43. ह0 प्र0, पृ0 66
44. घे0 सं0, पृ0 36

8. विपरीतकरणी मुद्रा

यत् किञ्चित स्त्रवते चन्द्राद अमृतं दिव्यरूपिणः।
तत् सर्व ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः।
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम्।
गुरुपदेशतो ज्ञेयम्, न तु शास्त्रार्थकोटिभिः।।[45]

नाभि स्थान में सूर्य अर्थात् इड़ा नाड़ी और तालुमूल में चन्द्र अर्थात् पिंगला नाड़ी का वास रहता है। इसी कारण सहस्त्रदल से जब पीयूषधारा का क्षरण होता है तो उस अमृतधारा को सूर्य अपना ग्रास बना लेता है, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो जाता है, लेकिन यदि चन्द्रनाड़ी द्वारा उस अमृत को अपना ग्रास बनाया जाय तो मनुष्य पर मृत्यु का आक्रमण कभी नहीं हो सकता। इसलिए इस विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग अनुसार सूर्य नाडीं को ऊर्ध्व भाग में एवं चन्द्रनाड़ी को अधोभाग में स्थापित करना चाहिए। इस मुद्रा को अन्य सभी ग्रंथों में गुप्त ही रखा गया है किसी में इसका प्रकाशन नहीं किया गया है। साधक को चाहिए कि अपने सिर को भूतल पर पूर्ण तरह से स्थापित करते हुये दोनों हाथों से भूमि को पकड़कर सावधानीपूर्वक दोनों पैरों को आकाश में ऊपर उठाते हुए सीधा खड़ा कर स्थिर हो जाये, यही क्रिया 'विपरीतकरणी मुद्रा' कहलाती है।

जो साधक इस मुद्रा का प्रतिदिन अभ्यास करते हैं, वे जरा और मृत्यु को पराजित करने में समर्थ हो जाते हैं अर्थात् अमर हो जाते हैं। ऐसे साधक सभी लोकों में सिद्ध हो जाते हैं और प्रलयकाल में भी उनका विनाश नहीं होता।[46]

45. ह0 प्र0 3/77-78
46. घे0 सं0, पृ0 42

9. वज्रोली मुद्रा

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसञ्चारकारणात्।।[47]

शीशे की बनी हुई लिंग में प्रविष्ट होने योग्य चौदह अंगुल लम्बी नाली बनवाकर उसको लिंग में प्रविष्ट कराने का अभ्यास करे। प्रथम दिन एक अंगुल, दूसरे दिन दो अंगुल, तीसरे दिन तीन अंगुल प्रविष्ट कराये। इसी विधि से क्रमशः वृद्धि करते हुए 12 अंगुल प्रविष्ट करें। इस प्रकार जब 12 अंगुल नाली प्रविष्ट हो जायें तो साधक का लिंगमार्ग शुद्ध होने की स्थिति में आ जाता है। तब उसी प्रकार की एक दूसरी नाली 14 अंगुल की बनवायें जिसका नाली दो अंगुल तेढ़ा हो और जिसका मुख ऊपर की ओर हो। उसे भी 12 अंगुल तक लिंग में प्रविष्ट करें, परन्तु दो अंगुल तेढ़े भाग को बाहर ही रखें। फिर स्वर्णकार की अग्निधमन शलाका के समान उस नाली के बाहर वाले भाग में मुख से फूंक मारे। इस क्रिया से लिंगमार्ग की पूर्ण शुद्धि हो जाती है। फिर उस नाली के माध्यम से लिंग से जलाकर्षण का अभ्यास करें। इस जलाकर्षण की सिद्धि होने पर वह योगी नारी समागम के अनन्तर स्त्रीयोनि में क्षरित शुक्रबिन्दु के आकर्षण का अभ्यास करें। इस शुक्रबिन्दु के ऊर्ध्वाकर्षण की सिद्धि होने पर ही 'वज्रोली मुद्रासिद्धि' मानी जाती है। यह वज्रोली मुद्रा उसी योगी को सिद्ध होती है जिसने खेचरी मुद्रा द्वारा प्राणवायु को अपने वश में कर लिया हो।

कोई नारी भी इस क्रिया को कर सकती है। यदि वो पुरुष का शुक्र अपनी योनि में खींच कर अपने रज को भी वज्रोली क्रिया से संरक्षित करने का अभ्यास कर लेती है तो वह नारी भी विद्वानों द्वारा योगिनी कहलाती है। दृव्यदृष्टि एवं त्रिकालदर्शिनी हो जाती है तथा इस मुद्रा के अभ्यास से वह निश्चित ही आकाशचारिणी भी हो जाती है। अतः यह मुद्रा का

47. ह0 प्र0 3/86

अभ्यास ऐसा पुण्यप्रद प्राप्त कराने वाली है तथा विषयभोग के पूर्ण आनन्द के साथ मुक्ति प्रदान करने वाली भी है।

10. शक्तिचालिनी मुद्रा

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता।।
यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्।।[48]

मूलाधार में स्थित आत्मशक्ति रूपा परा देवता कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन फेरे में लिपटी हुई सर्पिणी के समान शयनावस्था में स्थित रहती हुई जब तक वह कुण्डलिनी शक्ति सोई रहती है, तब तक कितने प्रकार का भी योगाभ्यास करने पर भी जीव में ज्ञान का संचार नहीं हो पाता और वह जीव अज्ञानावृत पशु के समान विचरण करता रहता है।

इसलिए कहा जाता है कि जिस प्रकार ताले से बन्द दरवाजे को खोलने के लिए कुंजी (ताली) की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर साधक ब्रह्मद्वार अथवा मोक्ष द्वार को खोल देता है, जिससे उसके समस्त अज्ञान का नाश होता है और उसमें ज्ञान का संचार होता है।

शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करने के लिए सर्पप्रथम सिद्धासन पर विराजमान होकर नासिका छिद्रों द्वारा प्राणवायु को खींचते हुये बलपूर्वक उसे अपान वायु के साथ संयोजित करने का प्रयास तब तक करें जब तक वह वायु सुषुम्ना नाड़ी के भीतर जाकर प्रकाशित न हो

48. घे0 सं0 3/49-50

जाए तब तक अश्विनी मुद्रा द्वारा धीरे-धीरे गुह्यप्रदेश को सिकोड़ते रहना चाहिए।[49] यहीं क्रिया शक्तिचालिनी मुद्रा कहलाती है।

इस मुद्रा का प्रतिदिन अभ्यास करने से जरा-मरण का नाश हो जाता है। इसलिए सिद्धि की कामना रखने वाले साधक को इसका अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

इस प्रकार भगवान् आदिनाथ शिव ने योगशास्त्र में जो दश मुद्राओं का उपदेश दिया है, उनमें प्रत्येक मुद्रा का अभ्यास समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाली है। अतः योगी को किसी योग्य गुरु के निर्देशन में रहकर समस्त मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए और गुरु आदेशानुसार एकाग्रचित होकर, युक्त आहार विहार करते हुए हठयोग साधना में प्रवृत्त होना चाहिए, तभी साधक अणिमादि अष्टसिद्धियों को प्राप्त कर मृत्यु पर विजय पाने में समर्थ हो पाता है।

प्रत्याहार

यतो यतो मनश्चिरति मनश्चचंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येत वशं नयेत्।।[50]

प्राणी का मन जैसे-जैसे विचरण करता रहता है, वैसे-वैसे ही वह चंचल एवं अस्थिर भी होता जाता है, अतः उन-उन विषयों से मन को नियन्त्रित करते हुए मन को अपने वश में करना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है कि मनुष्य का मन अत्यन्त चंचल एवं अस्थिर रहता है, जबकि योग साधना के लिये मन का वशीकरण अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए सर्वप्रथम साधक को अपने मन की चंचलता को नियन्त्रित करने का उपदेश दिया गया है।

49. वही, 3/54-55
50. घे0 सं0 4/2

अपान मुद्रा – मध्यमा तथा अनामिका अंगुलियों को अंगूठे के अग्रभाग से मिलाने पर अपान मुद्रा बनती है।

लाभ – शरीर एवं नाड़ियों की शुद्धि होती है। गुदा सम्बन्धी रोगों में लाभ होता है। वायु दोषों एवं मूत्र रोगों में लाभकारी होता है।

प्राण मुद्रा – कनिष्ठिका तथा अनामिका अंगुलियों के सिरों को अंगूठे के अग्रभाग से मिला देने पर प्राण मुद्रा बनती है।

लाभ – शारीरिक कमजोरी दूर होती है। ऑखों की रोशनी तेज होती है। रोग–प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। हठयोग के ग्रंथों में उल्लेख मिलता है कि प्राण एवं अपान की एकता होने पर योग हो जाता है। अतः प्राण मुद्रा एवं अपान मुद्रा को प्रतिदिन अधिकाधिक समय करने से समत्व की प्राप्ति होती है।

ध्यान मुद्रा :– किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठकर बांए हाथ की हथेली पर दॉए हाथ की हथेली को पीछे की तरफ रखने से ध्यान मुद्रा बनती है।

लाभ – ध्यान करने के लिए सर्वोत्तम मुद्रा है। मन की चंचलता शांत होकर एकाग्रता बढ़ती है। मन में सात्विक विचारों का उदय होता है। ध्यान की उच्चतर स्थिति में पहुॅचाने में सहायक है।

हस्त मुद्राओं के पश्चात् अब हम शरीर की उन विशेष स्थितियों (मुद्राओं) का वर्णन करेगें जिनके द्वारा शरीर की प्राण शक्ति को नियन्त्रित किया जाता है, साथ ही यह चमत्कारिक मुद्रायें कुण्डलिनी जागरण में विशेष लाभकारी है।

महामुद्रा – बायीं ऐड़ी से गुदा प्रदेश को दबायें और दाहिने पैर को फैलाकर उसकी अंगुलियों को हाथ से पकड़े, कण्ठ को सिकोड़ कर, भौहों के मध्य में दृष्टि लगाने पर महामुद्रा होती है।

लाभ – रोगों में लाभ प्राप्त कर शरीर स्वस्थ होता है।

महाबेध मुद्रा – महाबंध और उड्डियान बंध लगाकर, कुंभक किया जाता है।

लाभ : वृद्धावस्था नहीं होती। मृत्यु का भय नहीं होता। महाबेध के बिना मूलबंध और महाबंध निष्फल है।[230]

विपरीतकरणी मुद्रा – विपरीतकरणी मुद्रा में शरीर को उसकी सामान्य अवस्था से विपरीत अवस्था में कर देना होता है। इसके लिए साधक को सबसे पहले सीधे लेटना होता है तत्पश्चात् गहरी श्वास लेते हुए पैरों को एक साथ ऊपर की ओर सिर की तरफ उठाते हुये धड़ को हाथों से सम्भालते हुए पैरों को ऐसे उठाते है कि पैर सीधे होते हुए भी सिर की ओर थोड़ा झुके रहे।

हठयोगियों के अनुसार मनुष्य के ललाट से एक प्रकार का अमृत टपकता रहता है जो नीचे गिरने के कारण नाभि में स्थित सूर्य के द्वारा भस्म कर दिया जाता है। योग में इस अमृत को भस्म ना होने देने हेतु विपरीतकरणी मुद्रा विशेष बताई गयी है।

लाभ – वृद्धावस्था नहीं होती। मृत्यु का भय नहीं होता।

---

[230] घेरण्ड संहिता 3.41।

योनि मुद्रा – किसी ध्यानात्मक आसन में बैठकर दोनों हाथों के अगूठों से दोनों कानों को, दोनों हाथों की तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, मध्यमाओं से नासिका को और अनामिका से मुख को बन्द किया जाता है। काकी मुद्रा द्वारा प्राण को खींचकर अपान से मिलाकर, तत्पश्चात् शरीरस्थ षटचक्रों का ध्यान करते करते हुए हॅस मंत्र से कुण्डलिनी को जगाकर प्राण को सहस्त्रार में ले जाती है। यह मुद्रा स्वयं के भीतर कई प्रकार के रहस्य छिपाये रखने वाली मुद्रा होने के कारण ही योनि मुद्रा कहलाती है।

लाभ – संसार के सभी महापाप, उपपाप आदि इस योनि मुद्रा के सिद्ध होने से मिट जाते है।

चैतन्यमानयेदृवीं निद्विता या भुजङ्गिनी।[231]

अर्थात् – उपरोक्त अभ्यास के द्वारा भुजंङ्गिनी के रूप में जो त्रिपुर भैरवी जो हमारे भीतर सुषुप्त अवस्था में विराजमान है, उसे चैतन्य किया जाता है।

वज्रोणि मुद्रा – पैरों को सामने फैलाकर बैठें। हथेंलियों को नितम्बों के समीप रखते हुये भुजाओं पर बल डालते हुये शरीर को भूमि से ऊपर उठाने से वज्रोणि मुद्रा होती है। इस क्रिया को करते हुये स्वाभाविक रूप से मूल बंध लग जाता है।

इस मुद्रा को ब्रह्मचारी और ग्रहस्थ दोनों ही कर सकते हैं। आंकुचन के द्वारा इस क्रिया में शुक्र को ऊपर की ओर खींचना होता है।

लाभ –

अयं योगे योग श्रेष्ठो योगिना मुक्तिकारागम्।
अय हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः।।[232]

अर्थात् – यह मुद्रा योगियों को मुक्ति देने व उनका हित करने वाली एवं सिद्धि देने वाली है।

ऐतद् योग प्रसादेन बिन्दसिद्धिर्भवेद ध्रवम्।
सिद्धे विन्दौ महायत्ने कि न सिध्यति भूतले।।[233]

अर्थात् – इसके अभ्यास से साधक के बिन्दु की सिद्धि होती है। तब उसके लिए पृथ्वी पर कोई कार्य असाध्य नहीं होते।

शक्तिचालिनी मुद्रा – शरीर के अधोभाग में सो रही कुण्डलिनी को जगाने के हेतु साधक को बिटटे भर चौडा चार अंगुल लंबा कोमल वस्त्र नाभि पर लगाकार कटि में बॉधना चाहिए। शरीर में भस्म लगाकर सिद्धासन में बैठकर, प्राण को खींचकर अपान से युक्त किया जाता है। अश्विनी मुद्रा द्वारा गुहा को संकुचित किया जाता है। कुण्डलिनी जागरण के लिए यह अति महत्वपूर्ण अभ्यास है।

---

231 घेरण्ड संहिता 3.51।

232 घेरण्ड संहिता 3.58।

233 घेरण्ड संहिता 3.59।

लाभ –

तदावायु प्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङिनी।[234]

अर्थात् – उपरोक्त विधि से वायु को रोकने से सर्प रूपिणी कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है। सर्व सिद्धियों की प्राप्ति होती है। सभी रोगों का नाश होता है।

पाशिनी मुद्रा – पीठ के बल लेटकर, तत्पश्चात् नितम्बों एवं धड़ को जमीन से ऊपर उठाते हुये सिर की ओर मोड़ते हुये जमीन से छुआने का प्रयत्न होता है। भुजाओं को पैरों के पीछे से पाश के समान बांधा जाता है। आंखे बंद कर धीमी एवं गहरी श्वसन क्रिया की जाती है।

लाभ –

सा एव पाशिनी मुद्र शक्ति प्रबोधकारिणी।[235]

अर्थात्–पाशिनी मुद्रा शक्ति/कुण्डलिनी को जाग्रत करने वाली है। बल और पुष्टि देने वाली है।

मुद्राए अनेकों प्रकार की है परन्तु अलग–अलग मुद्राओं का प्रयोग कर्म विशेष के अनुसार किया जाता है, परन्तु निश्चित रूप से मुद्राओं के द्वारा साधक को सिद्धियों की प्राप्ति होती है।

''नास्ति मुद्रासन किंचित सिद्धि दक्षितिमण्डले''[236]

अर्थात् – मुद्राओं के समान सिद्धिदायक कोई अन्य नहीं है।

''मुद्रं रातीति मुद्रा''

अर्थात्ः– मुद्राओं को देवताओं के समक्ष बनाने से वह प्रसन्न होते है। अतः योग की प्राप्ति, देवताओं की प्रसन्नता एवं विविध रोगों के नाश में मुद्राओं को विशेष स्थान है। इन मुद्राओं को जानकर एवं समझकर, साधक को इनकी साधना करनी चाहिए।

<u>कुण्डलिनी जागरण में बंधों का महत्व</u>

बंध का अर्थ होता है बांधना या रोक देना। हठयोग के ग्रंथों में शरीर के कुछ विशिष्ठ अंगों को एक विशेष विधि से सिकोड़ने अथवा नियंत्रित करने की क्रिया को बंध कहा गया है। हठयोग में बंधों के अभ्यास को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। इन बंधों के अभ्यास के बिना कुण्डलिनी का जागरण संभव नहीं है। इनका अभ्यास जितना सरल है उतने ही इसके लाभ चमत्कारिक बताये गये है। योग ग्रंथों में बन्धों का महत्व आसन एवं प्राणायाम से भी अधिक कहा गया है। बंधों के नियमित अभ्यास से शरीर में ऊर्जा प्रवाह की दिशा बदली जा सकती है। बंध को छोड़ने के पश्चात् ऊर्जा का प्रवाह शरीर में अधिक गति से होने लगता है।

बंधों के अभ्यास से चक्रों के जागरण में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त चित्त को एकाग्र करने में भी इनका अभ्यास सहायक सिद्ध होता है।[237]

---

[234] घेरण्ड संहिता 3.68।

[235] घेरण्ड संहिता 3.84।

[236] घेरण्ड संहिता ।

बंध मुख्य रूप से चार प्रकार के होते है :–

मूलबंध, उड्डियान बंध, जालंधर बंध एवं महाबंध।

मूलबंध – समस्त बंधों में मूलबंध को कुण्डलिनी जागरण के लिए सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। गुदा के छिद्रों को सिकोड़कर ऊपर की ओर खींचकर रखना मूलबंध कहलाता है।

पार्ष्णिना वामपद्स्य योनिमाकुच्येत्ततः।
नाभिग्रन्थिं मेरूद्ण्डे सुधीः संपीडय यत्नतः।।[238]

अर्थात् – बायीं एड़ी से गुप्त प्रदेश को संकुचित करें और प्रयत्नपूर्वक मेरूदण्ड में नाभि–ग्रंथि को लगाकर दबायें और दायीं एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबाया जाता है। मूलबंध लगाते समय अपनी सजगता को श्वास पर केन्द्रित कर, बंध भली प्रकार से लगाने के बाद संकुचन स्थल पर मूलाधार पिण्ड पर ध्यान को एकाग्र किया जाता है। इस बंध के नियमित अभ्यास से शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तीनों ही स्तरों पर लाभ प्राप्त होते हैं।

इस बंध का अभ्यास श्रोणि प्रदेश की नाड़ियों को उत्तेजित कर स्वस्थ बनाता है। इसके अतिरिक्त इसके प्रभाव से वीर्यवाहिनी नसों, मूत्र वाहिकाओं एवं सम्पूर्ण गुदा प्रदेश की नस–नाड़ियां स्वस्थ्य एवं मजबूत हो जाती है।

इस अभ्यास का प्रभाव मनोकायिक रोगों के उपचार पर भी पड़ता है, इसके प्रभाव से मस्तिष्क एवं अन्तःस्त्रावी तंत्र की सक्रियता बढ़ जाती है जिसका सकारात्मक प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है।

इस बंध के अभ्यास से ऊर्जा की अधोगति रुककर, ऊर्जा की दिशा बदलकर ऊधर्व हो जाती है। कुण्डलिनी साधना प्रारम्भ करने वाले अभ्यासियों के लिए मूलबंध की साधना अति सहायक है क्योंकि उस परम् शक्ति का निवास स्थान यहीं है। अभ्यास से मूलाधार में अवस्थित उस कुण्डलिनी में चैतन्यता उत्पन्न होने लगती है। यह क्रिया अत्यन्त चमत्कारिक क्रिया है। इसके नियमित अभ्यास से साधक के शरीर में दिव्य ऊर्जा का उदय होता है, कुछ समय के प्रयास से ही साधक अभ्यास के चमत्कारिक प्रभाव स्वयं में अनुभव करने लगता है एवं उसकी एकाग्रता में दिनों दिन उन्नति होने लगती है।

मूलबंध के निरंतर अभ्यास से जब मूलाधार स्थित सुप्त शक्ति का उत्थान आरम्भ होने लगता है तब वह शक्ति अग्नि की लपटों की भाति षठ्चक्रों एवं तीनों ग्रन्थियों को भेदती हुई उस शिव के स्थान तक पहॅुच जाती है। तब उस योगी का मन, बुद्धि एवं इन्द्रियां सब उसके वशीभूत हो जाता है।

कुण्डलिनी जागरण द्वारा मुक्ति का यह मार्ग बड़ा ही रहस्यमय एवं चमत्कारिक है। मूलबंध द्वारा कुण्डलिनी जागरण की यह क्रिया एक ऐसी महत्वपूर्ण क्रिया है, जिसको जाने बिना कुण्डलिनी साधना करने वाले साधक की स्थिति ऐसी है जैसे बिना लगाम का कोई घोड़ा।

---

[237] गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियां, पृ0 78, पं0 श्री राम शर्मा

[238] घेरण्ड संहिता 3.6।

मूलबंध की स्थिति दृढ़ हो जाने पर जब अपान वायु ऊपर की ओर गमन करने लगती है तब इसका सम्पक्र प्राण वायु से होता है, प्राण के अपान से सम्पक्र में आने से एक प्रकार का विद्युत प्रवाह होने लगता है। तब उस योगी की चेतना का विस्तार होने लगता है, चेतना एक नये लोक में जाने लगती है, जिससे साधक के विचार, व्यवहार एवं कर्म भी परिवर्तित होने लगते है तथा उसके भीतर सुख शक्तियों का उदय प्रारम्भ होने लगता है।

उड्डियान बंध – घेरण्ड संहिता में महर्षि घेरण्ड ने सभी बंधों में उड्डियान बंध को सर्वोत्तम कहा है क्योंकि यही मोक्ष को सहज रूप से दिलाता है।

समग्राद बन्धनाद्धयेतदुड्डियानं विशिष्यते।
उड्डियाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभविकी भवेत्।।[239]

उन्होनें इस बंध को करने की विधि इस प्रकार बताई है –

उद्रे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्वं तु कारयेत्।
उड्डीनं कुरूते यस्माद्विश्रान्तं महाखगः।।[240]

अर्थात् – नाभि के ऊपर के उदर को पीठ की ओर सम्भाव में सिकोड़े जिसके परिणाम स्वरूप महाखग (प्राण) ऊपर उठता है। इसे ही उड्डियान बंध कहते है, जो मृत्यु रूपी गज के लिए सिंह के समान है।

जैसा कि उपरोक्त सूत्र में वर्णित है कि उड्डियान बंध के अभ्यास में पेट को मात्र अन्दर नहीं खिंचना होता अपितु खीचने के साथ ऊपर को भी उठाना होता है। इस बंध के अभ्यास हेतु बहिर्कुम्भक का प्रयोग किया जाता है।

शारीरिक स्तर पर इस बंध का प्रभाव मुख्य रूप से पाचन संस्थान के अंगों पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त नियमित अभ्यास से पूरे धड़ में रक्त परिसंचरण बढ़ता है एवं सभी भीतरी अंगों में मजबूती आती है। आध्यात्मिक स्तर पर यह मणिपुर चक्र की जाग्रति में सहायक होता है। मणिपुर चक्र की जाग्रति होने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि जब कुण्डलिनी का जागरण मूलाधार चक्र में होता है तो वह ऊपर को उठती तो है किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ऊपर उठने के पश्चात् वह पुनः नीचे न जाये। ऊपर उठने के पश्चात् भी उसकी सुषुप्ति अवस्था में लौटने की संभावना बनी रहती है। जिससे साधक का प्रयास व्यर्थ हो सकता है लेकिन एक बार कुण्डलिनी यदि मणिपुर चक्र को पार कर जाये तो फिर उस शक्ति की अधोगति नहीं होती। अतः मणिपुर चक्र को पार करने पर मोक्ष के द्वार खुल जाते है, ऐसा योग के ग्रंथों में उल्लेख मिलता है।

उड्डियान बंध के नियमित अभ्यास से अपान एवं प्राण के प्रवाह की दिशा में परिवर्तन हो जाता है, वह समान प्राण के साथ मिल जाते है। फलस्वरूप मणिपुर चक्र जाग्रत हो जाता है।

---

[239] घेरण्ड संहिता 3.13।

[240] घेरण्ड संहिता 3.12।

उड्डियान बंध का अभ्यास सदा खाली पेट करना चाहिए। यह अभ्यास बैठकर या खड़े होकर दोनों प्रकार से किया जा सकता है। यह एक अद्भुत क्रिया है इसके अभ्यास से प्राण वायु सुषुम्ना के मार्ग से ब्रह्मरंध्र की ओर बढ़ने लगती है।

जालंधर बंध – शरीर के सोलह आधार होते है। यह सोलह आधार है – दो पैर, गुदा, मूत्रेन्द्रिय, वज्र नाड़ी, नाभि प्रदेश, कण्ठ प्रदेश, गला, जीभ का मूल, ऊपर का जबड़ा, तालू, नासिकाग्र, भ्रूमध्य, दो नेत्र, और ब्रह्मरन्ध्र। जालन्धर बंध उनमें से एक आधार को बन्द करने की क्रिया है, मात्र इस आधार को बॉध देने से शरीर के अन्य आधारों पर भी योगी नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है।

कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।।[241]

अर्थात् – कंठ को संकुचित करें और हृदय पर ठुड्डी को रखें तो जालन्धर बंध होता है। इससे सोलह आधारों पर नियन्त्रण हो जाता है। जालंधर बंध का अभ्यास बहिर्कुम्भक एवं अन्तर्कुम्भक दोनों में से किसी भी प्रकार से किया जा सकता है। जब तक श्वास को सहजता पूर्वक रोक सके तब तक रोकनी चाहिए। शारीरिक स्तर पर यदि समझे तो कण्ठ के माध्यम से ही धड़ की समस्त नाड़ियां मस्तिष्क क्षेत्र में प्रवेश करती है। मस्तिष्क प्रवेश से जो हार्मोन स्त्रावित होते है वह कण्ठ के माध्यम से ही समस्त शरीर में प्रवेश करते है। कण्ठ क्षेत्र में ही थायरॉइड एवं पैराथायरॉइड नामक ग्रन्थियां है

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि जालंधर बंध के नित्य अभ्यास से सम्पूर्ण शरीर सकारात्मक रूप से प्रभावित होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो यह बंध अनाहत, विशुद्धि एवं आज्ञा तीनों चक्रों की सक्रियता को बढ़ाता है, उसमें शक्ति का संचार होता है और वह जाग्रत हो जाते है।

महाबन्ध – महाबंध अर्थात् तीनों बंध – मूलबंध, उड्डियानबंध एवं जालंधर बंध को एक साथ लगाने का अभ्यास। इस बंध का अभ्यास बाह्य कुम्भक अर्थात् श्वास को बाहर रोक कर किया जाता है। श्वास को बाहर फेंक कर, छाती के पूर्ण रूप से खाली हो जाने पर साधक द्वारा क्रमशः जालन्धर बंध, उड्डियायन बंध और मूलबंध को लगाने का नित्य अभ्यास किया जाता है। यथा संभव श्वास को रोकने के पश्चात् विपरीत क्रम अर्थात् पहले मूलबंध, फिर उड्डियान बंध और अन्त में जालन्धर बंध को खोला जाता है। बंध के दौरान मानसिक रूप से यह भावना की जाती है कि अपान वायु मूलाधार चक्र से उठती हुई मणिपूर में प्रवेश कर रही है। जालंधर बंध लगे होने के कारण विशद्धि चक्र से प्राण वायु नीचे की ओर प्रवाहित होती है तब मणिपूर चक्र में इन दो वायु (प्राण–अपान) का मिलन होने से मणिपुर चक्र जाग्रत होकर समान वायु के साथ मिलकर उस शक्ति को ऊपर की ओर ले जाता हैं।

यह अभ्यास चक्रो के जागरण हेतु महत्वपूर्ण क्रिया है। विशेषकर मूलाधार, मणिपुर एवं विशुद्धि चक्र को जाग्रत करने हेतु, परन्तु यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है कि महाबंध का अभ्यास

---

[241] घेरण्ड संहिता 3.10।

तभी प्रारंभ करें जब अन्य तीन बंधों को लगाने में पूर्ण रूप से निपूर्ण हो जायें। इस बंध के निरन्तर अभ्यास से साधक अन्तमुखी होते हुए ध्यान साधना के लिए तैयार हो जाता है

अतः इस सुषुप्त कुण्डिलिनी रूपी महाशक्ति के जागरण हेतु साधक नियमित रूप से उपरोक्त बंधों का अभ्यास पूर्ण एकाग्रता एवं विश्वास के साथ करता है।

कुण्डलिनी मंत्र एवं स्त्रोत्र

प्राणवायु का निरोध करके मूलाधार में स्थित साढ़े तीन वलय वाली कुण्डलिनी को ''**ओम् हॅू ऐं ह्रीं श्रीं**'' इस मंत्र का जप करते हुये ध्यान करना चाहिए।

विनियोग,

ऋष्यादिन्यास

कर हृदयादिन्यास

प्रार्थना स्त्रोत्र :– कुण्डलिनी शक्ति की प्रार्थना हेतु अनेकों स्त्रोत्र रूद्रयामल तंत्र में वर्णित है। उनमें से एक स्त्रोत यहा लिखा जा रहा है जिसका पाठ कुण्डलिनी की साधना करने वाले अभ्यासी के लिए अति सहायक सिद्ध हो सकता है। निम्नलिखित स्त्रोत्र प्रातः उठते ही कुण्डलिनी रूपी महाशक्ति का ध्यान करते हुये करना चाहिए।

।।श्रीगुरुः शरणम्।।

सार्थ श्रीकुण्डलिनीस्तुतिस्तोत्र

जन्मोद्धारनिरीक्षणीहतरूणी वेदादिबीजादिमां

नित्यं चेतसि भाव्यते भुवि कदा सद्वाक्यसंचारिणी।

मां पातु प्रियदासभावकपदं संघातये श्रीधरे

धात्रि त्वं स्वयमादिदेववनिता दीनातिदीनं पशुम् ।।1।।

रक्ताभामृतचन्द्रिका लिपिमयी सर्पाकृतिर्निद्रिता

जाग्रत्कूर्मसमाश्रिता भगवती त्वं मां समालोकय।

मांसोद्रन्धकुगन्धदोषजडितं वेदादिकार्यान्वितं

स्वल्पास्वामलचन्द्रकोटिकिरणै र्नित्यं शरीरं कुरू ।।2।।

सिद्धार्थी निजदोषवित्स्थलगति र्व्याजीयते विद्यया

कुण्डल्याकुलमार्गकुक्तनगरी मायाकुमार्गःश्रिया।

यद्येवं भजति प्रभातसमये मध्याह्नकालेऽथवा

नित्यं यः कुलकुण्डलीजपपदा–म्भोजं स सिद्धो भवेत ।।3।।

वाय्वाकाशचतुर्दलेऽतिविमले वांछाफलोन्मूलके

नित्यं सम्प्रति नित्यदेहघटिता सांकेतिता भाविता।

विद्याकुण्डलमानिनी स्वजननी मायाक्रिया भाव्यते

यैस्तैः सिद्धकुलोभ्दवैःप्रणतिभिःसत्स्तोत्रकेःशम्शुभिः ।।4।।

वाताशंकविमोहिनीति बलवच्छायापटोद्रामिनी

संसारादिमहाऽसुखप्रहरणी तत्र स्थिता योगिनी।

सर्वग्रान्थि–विभेदिनी स्वभुजगा सू मातिसू मा परा

ब्रह्मज्ञान–विनोदिनी कुलकुटी–व्याघातिनी भाव्यते ।।5।।

वन्दे श्रीकुलकुण्डलीं त्रिवलिभिः सांगेः स्वयंभू–प्रियं,

प्रावेष्टयाम्बर–मार चित्तचपलां बालाबलां निष्कलाम्।

या देवी परिभाति वेदवदना सम्भावनी तापिनी,

स्वेष्टानां शिरसि स्वयंभू–वनिता तां भावयामि क्रियाम् ।।6।।

वाणीकोटि – मृदंगनादमदना – निश्रेणिकोटि –ध्वनिः,

प्राणेशी रसराशिमूलकमलोल्लासैक – पूर्णानना।

आषाढोद्भव–मेघवाल–नियुत–ध्वान्तानना स्थायिनी,

माता सा पारपातु सूक्ष्मपथगा मां योगिनां शंकरी ।।7।।

त्वामाश्रित्य नरा व्रजन्ति सहसा वैकुण्ठ–कैलसयो–

रानन्दैक–विलासिनी शशिशतानन्दाननां कारणाम्।

मातः श्रीकुलकुण्डली प्रियकरे काली कुलाद्दीपनेः

तत्स्थानं प्रणमामि भद्रवनिते मामुद्धर त्वं पशुम् ।।8।।

कुण्डली–शक्ति–मार्गस्थं स्तोत्राष्टक–महाफलम्।

यः पठेत् प्रातयत्थाय स वै योगी भवेद् ध्रुवम् ।।9।।

कुण्डलिनी ध्यान योग में सावधानियां

जैसा कि पूर्व में ही वर्णन किया जा चुका है कि कुण्डलिनी की साधना करने वाले साधक को योग शास्त्रों में वर्णित विभिन्न क्रियाओं को सिद्ध करना परम् आवश्यक है। इन क्रियाओं को सिद्ध किये बिना कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करना ठीक वैसा ही है जैसे नंगे हाथों से बिजली के तारों को छूना।

कुण्डलिनी शक्ति एक पराविद्युत शक्ति है जिसकी गति एवं तीव्रता को मापना संभव नहीं है। जब तक योग साधना के द्वारा शरीर और मन पूर्ण रूप से शुद्ध एवं नियंत्रित ना हो जाये तब तक इस काल से भी अधिक भंयकर शक्ति को छेड़ना अति विनाशक सिद्ध हो सकता है।

कुण्डलिनी साधना सदैव कुशल गुरु के निर्देशन में ही किया जाता है। गुरु का चयन सोच समझकर किया जाता है। अयोग्य गुरु या स्वयं पुस्तकों से पढ़कर, मात्र अपनी जिज्ञासा को शांत करने के उद्देश्य से कभी भी इस शक्ति को जाग्रत करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। साधना अपरिपक्व हो, कामवासना पर पूर्ण नियंत्रण ना हो पाया हो तथा संयम शक्ति दुर्लभ हो, तो भी इस महा सर्पिणी को छेड़ना अति जोखिम भरा हो सकता है।

कभी कभार किसी साधक को पूर्व जन्मों की साधना के फल–स्वरूप या मन में अति भक्ति एवं समपर्ण का भाव होने के कारण भी कुण्डलिनी शक्ति का जागरण स्वतः ही हो जाता है। ऐसी स्थिति में साधक को अपने आचार–विचार को पूर्णतः सात्विक रखना होता है। उसे काम–क्रोध, लोभ मोह, आदि से दूर रहते हुए, उस परम्–शक्ति की निरन्तर साधना करनी चाहिए, इसके अतिरिक्त उस साधक को उस परम् शक्ति से प्राप्त सिद्धियों का प्रयोग जन–कल्याण हेतु करना चाहिए।

यदि कई प्रयासों के बाद भी साधक कुण्डलिनी जागरण में असमर्थ रहे तो उसे हताश ना होते हुए साधना का त्याग नहीं करना चाहिए अपितु उस परम् शक्ति पर पूर्ण विश्वास रखते हुए साधना के अभ्यास को नियमित रूप से करते रहना चाहिए।

कुण्डलिनी जाग्रत होने के पश्चात् साधक को शरीर एवं मन की पवित्रता को बनाये रखने के साथ–साथ, वैराग्य की भावना का भी मन से त्याग नहीं करना चाहिए। यदि साधक मन से वैराग्य का त्याग करके पुनः वासनाओं को अपने मन में लाता है तो कुण्डलिनी पुनः उतर जायेगी, तब उस मनुष्य के हाथ पछतावे के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रह जाता ।

कुण्डलिनी जाग्रत होने के पश्चात् मूलबंध को सावधानी से लगायें रखना चाहिए। कुण्डलिनी जागरण के समय साधक के समक्ष कुछ भंयकर दृश्य भी दृष्टिगत होते देखं गये हैं। ऐसा होने के पीछे कारण है – साधक का परिचय स्थूल जगत् से हटकर सूक्ष्म जगत् से हो रहा होता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर साधक को भयभीत नहीं होना चाहिए। यह दृश्य मात्र तब तक अनुभव होगें जब तक कुण्डलिनी भृकुटि तक नहीं पहुॅच जाती। आज्ञा चक्र में इसके प्रवेश के पश्चात् सारे भय समाप्त हो जाते हैं।

कुण्डलिनी के आज्ञा चक्र में प्रवेश होने की स्थिती ही समाधि की स्थिति कहलाती है। इस स्थिति में प्रवेश होने के पश्चात् साधक समस्त ब्रह्माण्ड से एकाकार हो जाता है।

कुण्डलिनी मूलाधार में स्वयंभू लिंग में साढ़े तीन चक्कर लगायें सुषुम्ना के मुख को बंद करके सुप्तावस्था में स्थित है। योग में वर्णित अनेकों क्रियाओं द्वारा साधक इस सोई हुई शक्ति को जगाकर सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध तक पहुॅचाने का प्रयास करता है। इस यात्रा में कुण्डलिनी मानव देह में अवस्थित अनेकों ग्रंन्थियों का भेदन करती हुई सहस्त्रार में पहुॅचकर परमात्मा के साथ एकात्मय प्राप्त करती है।

सहस्त्रार में कुण्डलिनी का पहुॅचना ही कुण्डलिनी साधना का अन्तिम लक्ष्य है। कुण्डलिनी जागरण हेतु अनेकों उपायों का निर्देश योग के ग्रंथों में वर्णित है। प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी–अपनी पद्धति है। जो जिस पद्धति का अनुसरण करता है, उसे उसी सम्प्रदाय में वर्णित मार्ग का अनुसरण करते हुये आगे बढ़ना होता है।

कुण्डलिनी के विषय में उपरोक्त वर्णन अति संक्षेप में दिया गया है। अतः कुण्डलिनी शक्ति का पूर्ण ज्ञान हेतु और अधिक अध्ययन एवं श्रेष्ठ गुरु का मार्ग–दर्शन अति आवश्यक है।

ही यह स्थिति प्राप्त कर लेता है। योगशिरवोपनिषद् में स्पष्ट रूप से लिखा है "षट्चक्रों का ज्ञान प्राप्त करके साधक प्राण द्वारा सुषुम्ना के भीतर सुखमण्डल में प्रवेश करता है। वहाँ प्रवेश करने के पश्चात् उसे प्राण को ऊर्ध्वगति में नियोजित करना चाहिए। उसे प्राण, बिन्दु तथा चक्रों का क्रमशः अभ्यास चित्त के साथ करना ही अपेक्षित है। इस प्रकार योगी अमृतपान कर समाधि अवस्था की प्राप्ति करता है।"[1]

4.6 मुद्रा एवं बन्ध–विज्ञान

4.6.1 मुद्रा एवं बन्ध–विज्ञान : सामान्य परिचय

'मुद' अर्थात् आनन्दस्वरूप प्रदान करने के कारण इसकी संज्ञा है– 'मुद्रा'। 'अष्टमहासिद्धियों के सौभाग्य को तिरस्कृत करने वाली ऐश्वर्यरूपिणी तथा परमात्म विशर्म के आनन्दोत्कर्ष की परमाह्लादिनी शक्ति की स्वात्मानुभूतिमयी प्रकाशन ही 'मुद्रा' है तथा यही देवताओ की तात्त्विक पूजा है।"[2] अतः नामानुरूप योगियों को परम ऐश्वर्य की प्राप्ति करवाने वाली तथा ब्रह्म को प्रसन्न करने वाली 'मुद्रा' का विशिष्ट ज्ञान प्रत्येक योगी के लिए आवश्यक है। मुद्रा का विधान भारतीय धर्म–साधना की समस्त पद्धतियों में अपेक्षित है। इसीलिए प्रत्येक साधना पद्धति द्वारा धर्म–दृष्टि के अनुसार विभिन्न मुद्राओं का निर्माण होता रहा है, जिससे अनेक दृष्टियों से निर्मित एवं वर्गीकृत किए जाने के कारण ये अनेक प्रकार की दृष्टिगोचर होती हैं। मुख्यतः ये मुद्राएं तन्त्र लोक में तीन प्रकार की कही गई है "मनोजा, वाग्भवा एवं देहोद्भवा– मनोजा मुद्राएं जो

---

[1] षट्चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत् सुखमण्डलम्।
प्रविशेद्वायुगाकृष्य तथैबोर्ध्वं नियोजयेत्।
वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चितं चैव समभ्यसेत्।
समाधिनैकेन सममममृतं यान्ति योगिनः।। यो० शि० उ०, ७४–७५

[2] आनन्दोल्लासश्रीः क्षुल्लकिताष्टमहासिद्धि सौभाग्या।
दृश्यते यत्र दशायां सैव दैवस्य सर्वमुद्राः।। म० मं०, ५१

मानसिक अनुसन्धान से उद्भूत होती है। वाग्भवा मुद्राए, जो मन्त्रों द्वारा उद्भूत होती है तथा देहोद्भवा मुद्राएं जो शरीराङ्गों की विशिष्ट आकृतियों को बनाने से उद्भूत होती है।"[1] इन्हे अङ्गविक्षेपात्मक मुद्राएं कहतें है। इन तीनों वर्गों के अन्तगर्त समस्त मुद्राओं का समावेश हो जाता है।

योग साधना में जिन मुद्राओं का अभ्यास किया जाता है, वे यौगिक मुद्राएं कही जाती है। बन्धों की गणना अधिकाशतः इसी के अन्तर्गत की जाती है। इन मुद्राओं के अभ्यास में विशेष विधि एवं आसन की आवश्यकता होती है। ये मुद्राएं परमात्मा या परा शक्ति का स्वरूप प्रतिबिम्बित करती है तथा देह के द्वारा साधक को आत्म स्वरूप के अनुरूप आनन्द प्रदान वाली कुण्डलिनी जागरण हेतु अत्यावश्यक है। वराहोपनिषद् के अनुसार "इड़ा, पिंगला, के मध्य सुषुन्ना नाड़ी में विशेष रूप से मुद्रा–बन्ध द्वारा वायु को उर्ध्वमुख किया जाता है।"[2] शिव संहिता में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है "सब प्रकार से प्रयत्न करके ब्रह्मरन्ध्र के मुख में सोती हुई कुण्डलिनी को जागृत करने के लिए मुद्रा का अभ्यास अत्याश्वयक है।"[3] "हठयोग प्रदीपिका एवं घेरण्ड संहिता मुद्राओं को दिव्य ऐश्वर्यों का साधन कहते हुए इन्हे सिद्धों को प्रिय, परम गोपनीय तथा देवों के लिए भी अप्राप्य बताया गया है।"[4]

---

[1] मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रैयं त्रिविधा स्मृता।। मुद्राः विज्ञान एवं साधना में उदधृत, पृ० स०, ८

[2] इडापिङ्गलयोर्मर्ध्य सुषुम्नाडिमण्डले।।
मद्राबन्धविशेषण वायुमूर्ध्व च कारयेत्। वरा० उ०, ५/६७-६८

[3] तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।। शि० स०, ४/२३

[4] क– आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरूतामपि।। ३/८
ख– घे० स०, ३/४-५

संख्या

योगतत्त्वोपनिषद्[1] में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी मुद्रा, जालन्धर बन्ध उडिडयान बन्ध, मूलबन्ध, वज्रोली, अमरोली, सहजोली एवं विपरीतकरणी इन ग्यारह मुद्राओ का उल्लेख है। योगचूडामण्युपनिषद्[2] में महामुद्रा, नभोमुद्रा खेचरी मुद्रा, बन्धत्रय, योनिमुद्रा, शक्तिचालन वज्रोली एवं षण्मुखी– ध्यानबिन्दूपनिषद[3] में बन्धत्रय, खेचरी, वज्रोली एवं महामुद्रा का, योगकुण्डल्युपनिषद्[4] में शक्तिचालन, एवं खेचरी मुद्रा का, शाण्डिल्योपनिषद्[5] में बन्धत्रय, वैष्णवी तथा खेचरी मुद्रा का, योगशिखोपनिषद्[6] में बन्धनत्रय एवं खेचरी मुद्रा का, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[7] में षण्मुखी मुद्रा का तथा अद्वयतारकोपनिषद्[8] में शाम्भवी मुद्रा का उल्लेख प्राप्त होता है।

हठयोग से सम्बन्धित मुख्य ग्रन्थों में भी इन्हीं मुद्राओं का स्वरूप प्रकट किया गया है। हठयोग प्रदीपिका[9] तथा शिवसंहिता[10]– महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालन्धर, मूल, विपरीतकरणी, उड्डियान, वज्रोली एवं शक्तिचालन– इन दस मुद्राओं को, गोरक्ष पद्धति[11]– महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध एवं मूलबन्ध को तथा

---

1 क– महामुद्रा महाबन्धों महावेछश्त
जालन्धरोड्डियाणश्च मूलबन्धस्तथैव च।।
वज्रोली चामरोली च सहजोली त्रिधा मता।। यो० त० उ०, २६–२७
ख– वही, १२२–१२३

2 यो० चू० उ०, ४५,४६–५६, ६३, ६५–७०, ११४–११५

3 ध्या० बि०उ०, ७३–८३

4 यो० कु० उ०, १/७–८, ४२–५३, २ अ०

5 शा० उ०, १/७/११, १४–१७, ३६–४२

6 त्रि० शि० उ०, १/१०४–११२, ५/३८–४५

7 त्रि० ब्रा० उ०, २/३२–४२

8 अ० ता० उ०, १२

9 महामुद्रा, महाबंधो महावेधश्व खेचरी। उडचानं मूलबंधश्व बंधो जालंधराभिः।।
करणी विपरीतताख्या वज्रोली शक्तिचालम्। इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशम्।।
ह० यो० प्र०, ३/६–७

10 शि० सं०, ४/२४–२५

11 महामुद्रांनभोमुदां उड्डीयानं जलंधरम्। मूलबन्धञ्च योवेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः।।
गो० प०, १/४७

घेरण्ड संहिता[1]– उपर्युक्त १० मुद्राओं सहित शक्तिचालन , ताड़ागी, माण्डवी, शाम्भवी, पञ्चधारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी, भुञ्जगिनी, पार्थिव, आम्भसी, आग्नेय, वायवी एवं आकाशी इन २५ मुद्राओं को स्वीकृत करती है। यहां विभिन्न उपनिषदों में वर्णित मुद्राओं की विधि एवं फल का वर्णन किया जा रहा है –

1. महामुद्रा

"नाड़ी समूह का शोधन, सूर्य चन्द्र का चालन तथा रस का शोषण करने से ही इसे महामुद्रा कहा गया है।"[2] "वांम पैर की ऐड़ी से योनि स्थान पर दबाव डालते हुए, ठोढ़ी को छाती से लगाकर तथा दायां पैर सीधा फैलाकर, दोनों हाथों से उसे पकड़कर उदर में पूर्ण श्वास भरकर शनैः शनैः निकालना चाहिए। अभ्यास काल में क्रमशः प्रथम बायीं नासिका चन्द्र अंश द्वारा श्वास आकृष्ट कर, रेचन करते हुए तथा पुनः दायीं नासिका 'सूर्य अंश' द्वारा श्वास आकृष्ट कर रेचन का अभ्यास करना उचित है।"[3] इसमें कण्ठ में जालन्धर बन्ध लगाकर वायु को उपर ले जाकर रोकना चाहिए। महामुद्रा के निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर उर्ध्वगति को प्राप्त हो जाती है। इसी कारण विद्वानों ने इसे महामुद्रा की संज्ञा से अभिहीत किया है। "विभिन्न योगशास्त्रों में इस मुद्रा का समान स्वरूप उपलब्ध होता है।"[4]

---

1 घे० स०, ३/६-१००

2 क– शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते।। यो० चू० उ०, ६५
ख– वही, ध्या० बि० उ०, ६१-६२
ग– वही, गो० प०, १/७६

3 वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनि च वामाङ्घ्रिणा हस्ताभ्यामनु–धारयन्प्रसरितं पादं तथा। आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचयेत्सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते।। चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रा विसर्जयेत्।।
यो० चू० उ०, ६६-६७

4 क– ध्या० बि० उ०, ६३
ख– शि० सं०, ४/२६-३०

लाभ

महामुद्रा के निरन्तर अभ्यास द्वारा पथ्य–अपथ्य अथवा समस्त प्रकार के नीरस भोजन भी सुपाच्य हो जाता है। अधिक भोजन तथा विष भी ग्रहण कर लेने पर वह अमृत के समान पच जाता है तथा योगी को क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त, गुल्म, अजीर्ण आदि एवं भविष्य में होने वाले सभी रोगों से मुक्ति प्राप्त होती है। यह महासिद्धि प्राप्त करवाने वाली मुद्रा गुप्त रखने योग्य है इसीलिए प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिए।"[1] शिव संहिता में इस मुद्रा के लाभ बताते हुए कहा गया है "इस उपाय से समस्त रोगों का उपशमन होकर जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है। शरीर सुन्दर स्वच्छ भांति से युक्त हो जाता है तथा मृत्यु का नाश होता है। इससे योगी समस्त इच्छित फल तथा इन्द्रिय संयम बनाए रखने की सामर्थ्य भी प्राप्त करता है।"[2]

2. महाबन्ध

योगतत्त्वोपनिषद् में महाबन्ध की विधि का उपरोक्त महामुद्रा की विधि के समान वर्णन उपलब्ध है "वाम पैर की एड़ी द्वारा योनिस्थान को दबाये तथा दायें पैर को

ग– ह० यो० प्र०, ३/१०–१३
घ– घे० सं, ३/६–७
ड.– गो० प०, १/५८–५६
च– द०यो०शा०, २६२–२६७

1 क– नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते।।
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रा तु योऽभ्यसेत्।।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नने न देया यस्य कस्यचित्।। यो०चू०उ०, ६८–७०
ख– ध्या० बि० उ०, ६३
ग– गो० प०, १/६०–६२

2 सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम्।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम्।।
वांछितार्थकलं सौख्यमिंद्रियाणाञ्च मारणम्। शि० सं०, ४/३३–३४

फैलाकर उप पैर के अँगूठे को शनैः शनै पूरक, शक्ति–अनुसार कुम्भक एवं पुनः रेचक करना चाहिए।"[1] यहां उपरोक्त महामुद्रा से भिन्न–महाबन्ध की "इस क्रिया का निरन्तर अभ्यास प्रथम बाँये अंग से, उपरान्त दांये अंग से अर्थात् प्रथम बाई एड़ी योनी पर, दायां पैर प्रसारित कर हाथो से पकड़े, इसके पश्चात् दाई एड़ी से योनि को दबाकर, बायां पैर प्रसारित कर हाथों से पकड़ने का निर्देश है। इसे ही महाबन्ध कहा गया है जिसका दोनों विधि से अभ्यास आवश्यक है।"[2]

हठयोग प्रदीपिका में इसका स्वरूप कुछ भिन्न प्रकार से वर्णित है– "वाम पैर की एड़ी को योनि स्थान में लगाकर दायां पैर वाम जंघा पर रखे, तदुपरान्त वायु को पूरित करके ठोढी को हृदय में लगाते हुए योनि को संकुचित कर, मन को नाड़ी के मध्य प्रविष्ट करे। पुनः वायु को यथा शक्ति कुम्भक, ततप्श्चात् शनैः शनै रेचन करे। इस प्रकार बाँये अंग द्वारा अभ्यास करके दाँये अङ्ग द्वारा करना चाहिए।"[3] शिव संहिता[4] महाबन्ध की समान पद्धति का अनुसरण करती है जबकि घेरण्ड संहिता[5] में योगी बायां पैर की एड़ी गुदा मूल पर तथा दक्षिण पैर से यत्नपूर्वक बायी एड़ी को दबाता हुआ समान रूप से क्रिया सम्पन्न करता है।

---

1 पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम्।।
चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः
कुम्भकेन यथाशक्ति धारयित्वा तु रेचयेत्।। यो०त०उ०, ११२–११३

2 वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन ततोऽभ्यसेत्।
प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि नामयेत्।।
अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत्। वही, ११४–११५

3 पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।
पूरयित्वा ततो वायु हृदये चिबुकं दृढम्।
निष्पीड्य वायुमाकुंव्य मनोमध्ये नियोजयेत्।।
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः।
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत्।। ह०यो०प्र०, ३/१६–२१

4 शि०सं०, ४/३७–३८

5 घे०सं०, ३/१८–१६

हठयोग प्रदीपिका में वर्णित है कि इस महाबन्ध के अभ्यास काल में जालन्धर बन्ध की उपेक्षा राजदन्त स्थित जिह्वा का बन्ध लगाना चाहिए क्योंकि इससे प्राणों की गति ब्रह्मरन्ध्र की ओर हो जाती है[1]

लाभ

"महाबन्ध के अभ्यास से समस्त नाड़ियों की उर्ध्वगति रूक जाती है। ये बन्ध निश्चय से महासिद्धि की प्राप्ति करवाता है। इसे त्रयबन्ध सम्मिलित होने से त्रिवेणी संगम प्राप्त कराने वाला, काल के पाश को छुड़ाने वाला तथा केदार की प्राप्ति कराने वाला कहा गया है।"[2]

3. महावेध

योगतत्त्वोपनिषद् में महाबन्ध की विधि को लक्षित करते हुए कहा गया है– "सिद्ध योगीजन इस महावेध का निरन्तर अभ्यास करते हैं।"[3] इस उपनिषद् में महामुद्रा, महाबन्ध तथा महावेध, इन तीनो की एक ही विधि अर्थात् समान स्वरूप उपलब्ध होता है।

हठयोग प्रदीपिकानुसार "पूर्व वर्णित महाबन्ध की स्थिति में योगी एकाग्र बुद्धि द्वारा पूरक करके कण्ठ मुद्रा से वायु गति रोककर प्राणायाम करे। तदुपरान्त दोनों हथेलियों को भूमि पर लगाकर सम्पूर्ण शरीर निर्देश को तुला के समान दोनों हथेलियों

---

1 मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत्।
राजदंतरस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति।। ह०यो०प्र०, ३/२२

2 अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्व गतिनिरोधकः।
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः।।
कालपाश महाबंधविमोचन विचक्षणः।
त्रिवेणसिङ्गमं धत्ते केदारं प्रापतेन्मनः।। वही, ३/२३-२४

3 अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम्। यो०त०उ०, ११७

पर उठाले और नितम्ब प्रदेश को भूमि पर ताड़न करें। इससे प्राणवायु इड़ा–पिंगला त्यज् कर सुषुम्ना में चलने लगती है।"[1]

घेरण्डसंहिता में इस मुद्रा का उल्लेख अव्यक्त रूप में वर्णित है– इस को अधिक सुस्पष्ट विधि से "प्रथम महाबन्ध मुद्रा का अभ्यास कर उड्डियाणबन्ध करते हुए कुम्भक द्वारा वायु को रोके, यही महावेध कहा जाता है।"[2] शिवसंहिता में "महाबन्ध की स्थिति में अपान एवं प्राण को एकीकृत करके दोनों पार्श्वों को ताड़ित करने का निर्देश है।"[3]

महावेध की महत्ता

"महावेध के बिना मूलबन्ध तथा महाबन्ध भी उसी प्रकार निष्फल है, जिस प्रकार कि पुरूष के बिना स्त्री का रूप, यौवन एवं लावण्य व्यर्थ है।''[4] अतः ''महावेध के अभ्यास से रहित महामुद्रा तथा महाबन्ध दोनों व्यर्थ है इसलिए इन तीनों का अभ्यास सावधानीपूर्वक यथाक्रम में करना चाहिए।"[5]

लाभ

"इस महासिद्धिदायक मुद्रा में सोम, सूर्य, अग्नि सम्बन्धी–क्रमश इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना का परस्पर सम्बन्ध होने पर अमृतत्व की प्राप्ति होती है तथा वली, पलित,

---

1 महाबन्धस्थिता योगी कृत्वा पूरकमेकधोः।
वायुनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया।।
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः।
पुटद्वयमयिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः।। ह०यो०प्र०, ३/२६-२७

2 महाबन्ध समासाद्य उड्डीयान कुम्भकं चरेत्।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः।। घे०सं०, ३/२२

3 अपनाप्राणयोरैक्यं ऊत्वा त्रिभुवनेश्वरि।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना।
स्फिचौ संताडयेद्धीमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया।। शि०सं०, ४/४३

4 रूपयौवन लांवण्य नारीणां पुरुषं विना।
मूलबन्ध महाबन्धौ महावेध बिना यथा।। घे०सं०, ३/२१

5 महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमांत।। शि०सं०, ४/४७

कम्पनादि दूर होते हैं।"[1] "सिद्धि की कामना करने वाले साधक का कर्त्तव्य है कि वह अपने अभ्यास को प्रयास पूर्वक गोपनीय रखे। यह निश्चित है कि इस मुद्रा को साधारण लोगों के प्रति प्रकट कर जाने पर सिद्धि प्राप्ति नहीं हो सकती।"[2]

4. खेचरी मुद्रा

यह सर्वविदित है कि देह में तालुमूल के समीप एक विवर से चन्द्ररस रूपी अमृत का स्राव होता रहता है जो नाभि प्रदेश अर्थात् जठराग्नि पहुंच कर समाप्त हो जाता है, इसकी धीरे–धीरे समाप्ति वृद्धावस्था तक पर्यन्त तथा पूर्णतया विनष्टि मृत्यु तक पहुंचाती है। "इस अमृत रस को रोकने हेतु जिह्वा को विपरीत कर कपालगुह्या में पहुँचाना तथा ध्यान को भृकुटियों के मध्य बनाए रखना खेचरी मुद्रा कही गई है"[3]

विधि

"सर्वप्रथम साधक को सात दिन पर्यन्त तालुमूल को गुरु के उपदेशानुसार घिस कर उसका मैल दूर करना चाहिए। फिर थूहड़ के पत्ते की तरह तीक्ष्णधारायुक्त किसी पवित्र औजार से जिह्वा मूल को बाल के बराबर गुरु से कटवाए यां स्वयं काटे। कटे हुए स्थान पर हरड़ और सैंधे नमक का चूर्ण लगाया जाए। सात दिन तक पुनः उसी

---

1 ह०यो०प्र०, ३/२८–२६

2 यज्ज्ञात्वा साधनाः सर्वे सिद्धिं सम्यग्लभन्ति वै।।
गोपनीय प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः।
अन्यथा च न सिद्धि : स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः।। शि०सं०, ४/४६–५०

3 क– यो०चू०उ०, ५७
ख– यो०त०उ०, ११७–११८
ग– यो०शि०उ०, ५/४०
घ– शा०उ०, १/७/४२
ङ– ध्या०बि०उ०, ७६–८०
च– ह०यो०प्र०, ३/३२
छ– घे०सं०, ३/२७
ज– गो०प०, १/६३
झ– शि०सं०, ५१–५३

प्रकार काटे। इस तरह निरन्तर छः मास तक अभ्यास करते रहने पर जीभ का तालु के साथ बन्धन कट जाने पर, जिह्वा के अग्र भाग में वस्त्र लपेट कर शनैः शनैः बाहर की ओर को दोहन करना चाहिए। इस प्रकार नियमित अभ्यास द्वारा जिह्वा में निरन्तर वृद्धि होने से, वह बढ़कर बाहर भृकुटियों के बीच, बगल में कर्ण–छिद्रो तक, और बाहर ठोढी तक पहुँचने लगेगी। यह अभ्यास निरन्तर तीन वर्षो तक किए जाने पर जिह्वा बालों, कन्धों तथा नीचे कण्ठकूप तक पहुँचने में समय हो जाती है। पुनः तीन वर्ष के अभ्यास द्वारा यह ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच कर उसे ढक लेती है, इसमें कोई संशय नहीं है कि जिह्वा ग्रीवा के पीछे तथा कण्ठ के अन्त तक पहुँच जाएगी। इस प्रकार जिह्वा धीरे–धीरे ब्रह्मरन्ध्र को भेद देती है।''[1] "खेचरी मुद्रा की समान विधि का वर्णन अन्य ग्रन्थो में भी इस प्रकार उपलब्ध होता है।"[2]

---

1 तालमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित्।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्व विशोधयेत्।।
स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्ण स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्।।
हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत्।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्।।
एवं क्रमेण षाण्मास नित्योद्युक्तः समाचरेत्।
षाण्मासाद्रसनामूलं सिरबन्धं प्रणशीत।।
अथ वागीश्वरधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत्।
शनैरूत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित्।।
पुनः षाण्मासमात्रेण नित्यं संघर्षणान्मुने।
भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि।।
अध्श्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रमचारिता।
पुनः सवंत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया।।
केशान्तमूध्व। क्रमेति तिर्यक्शाखावधिर्मुने।
अधस्तात्कण्ठकूमपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु।।
ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः।
तिर्यक् चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधिः।।
शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभित्। यो०कु०उ०, २/२८-३७

2 क– ह०यो०प्र०, ३/३४-३५
ख– घे०सं०, ३/२५-३२

सिद्धि

"छेदन, चालन एवं दोहन के द्वारा जिह्वा को ज्यादा से ज्यादा नुकीला बनाकर, भ्रकुटि के मध्य में दृष्टि स्थिर करके, कपाल के छिद्र में जब जिह्वा विपरीत होकर गमन करने लगे तभी खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है।"[1] "इस का अभ्यास मेलन के साथ किए जाने पर ही इसकी सिद्धि होती है अर्थात् गुरु के मुख से 'मेलन' मंत्र ग्रहण कर शास्त्रीय परम्परानुसार साधनोंपरान्त सिद्धि की प्राप्ति होती है।"[2] ''इस विद्या के द्वारा योगी आकाश में उड़ने में समर्थ हो जाता है, अतः खेचरी का अभ्यास खेचरी बीज के साथ करना चाहिए। खेचरी के बीज मन्त्र में खेचर का रूप 'ह' कार, आवसथ अर्थात् धारणा का रूप 'ई' कार, अग्नि का रूप 'र' कार और जल का रूप 'अनुस्वार' अर्थात् बिन्दू है। खेचरी योग इससे सिद्ध होता है। सोमांश चन्द्र बीज 'स' कार, इसकी विपरीत गणना करने पर नवें अक्षर 'भ' पुनःचन्द्रबीज 'स' कार, इसकी विपरीत गणना करने पर अष्टम् अक्षर 'म' और इसके पांच अक्षर उल्टा गिनने पर 'प' तथा 'चन्द्रबीज 'स' कार एवं संयुक्त वर्ण युक्त 'क्ष' सबसे अन्तिम अक्षर माना गया है। अतः ह्रीं, भं, सं, मं, पं, सं, क्षं से खेचरी मंत्र निर्मित होता है। गुरु द्वारा विधिवत् उपदेश प्राप्त कर इस मंत्र का जप करने से सभी प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त किया जा सकता है। इस मंत्र के प्रतिदिन द्वादश बार जप करने से देह में स्थित माया का स्वप्न में भी प्रभाव नहीं

---

1 छेदनचालनदोहै– फलां परां जिह्वां कृत्वा दृष्टिं भ्रूमध्ये स्थाप्य
कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते। शा०उ०, १/७/४२-क

2 क– अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिध्यति।
अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम्।। यो०कु०उ०, २/५
ख– यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः।
तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसंततौ।। वही, २/८

पड़ता तथा जो नियमपूर्वक इसका पांच लाख बार जाप करता है, उस साधक की खेचरी स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार छः बीजाक्षरों से करन्यास एवं षड़ांगन्यास द्वारा खेचरी पूर्ण रूप से सिद्ध होती है। यह अभ्यास अत्यन्त सावधानी से धीरे धीरे क्रमशः करना चाहिए। शीघ्रता से किया गया अभ्यास शरीर को हानि पहुँच सकता है।"[1]

लाभ

"खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाने पर अमृत अग्नि के ऊपर गिर कर नष्ट नहीं होता तथा न ही वायु गतिमान होती है। न क्षुधा, न प्यास, न निद्रा तथा न ही आलस्य का उदय होता है और जो योगी यह जानता है उसे मृत्यु का भय नहीं रहता।"[2] "उसे न

---

[1] क– अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत्।
खेचर्या खेचरीं युञ्जन्खेचरीबीजपूरया।।
खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत्।
खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम्।।
आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति।
सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत्।।
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातामक्षरं चन्द्ररूपकम्।
तस्मादप्यष्टमं वर्ण विलोमेन परं मुने।।
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी।
इन्दोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तितः।।
गुरूपदेशलभ्यं च सवयोगप्रसिद्धिदम्।
यत्तस्य देहजा माया निरूद्धकरणाश्रया।।
स्वप्नेऽपि न लभेतस्यनित्यं द्वादशजप्यतः।
य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः।।
तस्य श्री खेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते। यो०कु०उ०, २/१६-२३
ख– तस्याः षड्ङ्ग कुर्वीत तथा षट्स्वरभिन्नया।
कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादिहैतवे।।
शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि।
युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत्।। वही, २/३८-३९

[2] क– खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न पीयुषं पतत्यग्नो न च वायुः प्रधावति।।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नौवालस्यं प्रजायते।
न च मृत्युर्भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।। यो०शि०उ०, ५/४१-४२
ख– ध्या०बि०उ०, ८०
ग– ह०यो०प्र०, ३/३८-४०
घ– घे०सं०, ३/२८

मूर्च्छा आती है, न रोग कष्ट देते हैं और न ही वह कर्मों में लिप्त होता है"[1] "सिर से लेकर पांव पर्यन्त शरीर के समस्त अंग जिनके द्वारा पुष्ट होते हैं, उन सभी शिराओं का मूल बिन्दू खेचरी मुद्रा है तथा जिस साधक ने इस मुद्रा द्वारा जिह्वा से कपाल कुहर को ढक लिया है, उस साधक का रमणी के आलिंगन से भी बिन्दुपात नहीं हो सकता और जब तक बिन्दु शरीर में स्थित है तब तक मृत्यु से कोई भय नही।"[2] घेरण्ड संहिता के अतिरिक्त लाभों की चर्चा करते हुए कहा गया है – "इस मुद्रा में स्थित योगी को न अग्नि भस्म कर सकती है, न वायु शुष्क कर सकती है, न जल आर्द्र कर सकता है तथा न सर्प काट सकता है। इसकी सिद्धि से योगी के शरीर में दिव्य कान्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है तथा कपाल एवं रसना के योग से अनेक रस उत्पन्न होने लगते हैं। नए नए आनन्द की अनुभूति होने लगती है। प्रारम्भ में लवण, क्षार, तिक्त एवं कषाय रस का तथा तत्पश्चात् मक्खन्, घृत, दुग्ध, दधि, तक्र, मधु, द्राक्षा तथा फिर अमृतादि रसों का स्वाद उत्पन्न होता है।"[3]

---

1 क– न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेति खेचरीरम्।
पीऽयते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।। ध्या०बि०उ०, ८१
ख– यो०चू०उ०, ५४

2 क– बिन्दुमूलशरीराणि शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।
भावयन्ती शरीराणि आपादतलमस्तकम्।।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च।।
यावद्बिन्दु : स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः। वही, ५६–५८
ख– ह०यो०प्र०, ३/४२–४४

3 नाग्निनादह्यतेयात्रं न शोषयति मारुतः।
न देह क्लेदयन्तयापो दशयेन्न भुजंगमः।।
लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।
कपाल वक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात्।।
नाना रससमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने।
आदौ लवणक्षारं च ततस्तिक्त कषायकम्।।
नवनीतं लवणक्षारं च ततस्तिक्त कषायकम्।।
नवनीतं धृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।
द्राक्षा रसं च पीयूषं जायते रसनोदकम्।। घे०सं०, ३/२६–३०

5. मूल बन्ध

अधिकाशतः सभी योग शास्त्र ग्रन्थबन्धों में से "मूल बन्ध को प्रथम उड्डियान बन्ध को द्वितीय तथा जालन्धर बन्ध को तृतीय स्थान दिया गया है।"[1] इनका क्रमशः विवेचन इस प्रकार है। "एड़ी से गुदा कों अत्यन्त दृढ़ता से दबाकर वायु को ऊपर की ओर बलपूर्वक बारम्बर आकृष्ट किया जाता है ताकि अपान वायु ऊपर आ सके। इस क्रिया को मूलबन्ध कहते हैं।"[2] इस क्रिया के माध्यम से अधोमुखी अपान को, उर्ध्वमुखी बनाने के लिए ऊपर की ओर आकृष्ट किया जाता है जिसका लक्ष्य सुषुम्ना में शक्ति प्रवाहित करना है। अतः मूलबन्ध कुण्डलिनी में पूर्णतया सहायक है। "इस बन्ध का अभ्यास करते हुए नाभिग्रन्थि अर्थात् ब्रह्म ग्रन्थि को दबाना चाहिए ताकि वायु सरलता से सुषुम्ना में प्रविष्ट हो सके।"[3]

लाभ

"मूलबन्ध के अभ्यास से प्राण तथा अपान, नाद तथा बिन्दु एक हो जाते हैं अर्थात् इनकी दूरी समाप्त हो जाती है, जिसके परिणाम स्वरूप योग का अभ्यास करने

---

1 क– प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयतूड़ीडयाणकः।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथायाम्यहम्।। यो०शि०उ०, १/१०३
ख– यो०कु०उ०, १/४१

2 क– गुदं पार्ष्ण्या तुसंपीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।
बारं बारं यथा चोर्ध्वं समायति समीरणः।।
ख– ब्०बि०उ०, ७४
ग– यो०कु०उ०, १/४२
ध– यो०चू०उ०, ४६
ङ– यो०त०उ०, १२०–१२१
च– ह०यो०प्र०, ३/६१–६२
छ– घे०सं०, ३/१४–१५
ज– गो०प०, १/८१
झ– शि०सं०, ४/६४

3 नाभिग्रन्थि मेरूढण्डे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः। घे०सं०, ३/१४

वाला निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त है।"[1] "प्राण अपान की एकता से मलमूत्र कम तथा वृद्ध भी युवा हो जाता है।"[2] "अपान, की उर्ध्वगमन द्वारा जब वह्निमण्डल से योग करता है , उस समय वायु से आहत होकर अग्नि अत्यन्त तीव्र हो जाती है। तत्पश्चात् उष्ण स्वरूप वाले प्राण में अग्नि एवं अपान का संयोग होने पर उत्पन्न प्रभाव से देहजन्य विकार नष्ट हो जाते हैं तथा उस अग्नि से संतप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी जागृत होकर सर्पिणी के समान फुंकारती हुई सीधी हो जाती है।"[3] अतः मूलबन्ध का अभ्यास योगियों को सदैव करते रहना चाहिए। "इस प्रकार मूलबन्ध से प्राप्त होने वाले लाभो की चर्चा विभिन्न ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है।"[4]

6. उड्डियान बन्ध

"उड्डियान बन्ध कुम्भक के अन्त में तथा रेचक के प्रारम्भ में किया जाता है, इसके अभ्यास से प्राण बँध कर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करने लगता है, प्राणों के इसी उड्डीयान के कारण योगी जन इस बन्ध को 'उड्डीयान बन्ध कहतें है। गुरु द्वारा बताए

---

1 प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धि यच्छतो नात्र संशय।। यो०शि०उ०, १/१०५

2 अपानप्राणयौरक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोपि सततं मूलबन्धनात्।। यो०चू०उ०, ४७

3 अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता।।
ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।
तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते।
दण्डाहतभुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्।। यो०कु०उ०, १/४३-४५

4 क– ह०यो०प्र०, ३/६४-६६
ख– घे०सं०, ३/१५-१७
ग– शि०सं०, ४/३७-३८

जाने पर यह बहुत सरल हो जाता है तथा इसका अभ्यास बिना आलस्य प्रतिदिन करने से वृद्ध भी युवा हो जाता है।"[1]

"नाभि के ऊपर ओर नीचे के पेट के भाग को प्रयत्नपर्वूक पीछे की ओर लगाने से 'उड्डियान बन्ध की क्रिया सम्पन्न होती है।"[2] "जिस प्रकार थके बिना महापक्षी उड़ने की क्रिया करता है, उसी प्रकार पेट की पश्चिम 'ताण' क्रिया के साथ नाभि को ऊपर की ओर खींचना चाहिए।"[3] "इसकी तुलना मृत्यु रूपी हाथो के लिए सिंह के समान की गई है जिससे प्राण सुषुम्ना में उठ जाता है।"[4]

लाभ

"इस बन्ध के छः मास तक निरन्तर अभ्यास द्वारा योगी निश्चित रूप से मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। सभी चिन्हों में से यही बन्ध श्रेष्ठ है जिसके सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक मृत्यु होती है।"[5] "इससे समस्त पेट के विकार शान्त होते हैं। इसीलिए

---

1 क– कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्त्तव्यस्तूड्डियाणकः।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते तथा।।
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।
उड्डियाण तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।।
अभ्यसेत् तदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्। यो०शि०उ०, १/१०६–१०८
ख– यो०कु०उ०, १/४७–४८
ग– ह०यो०प्र०, ३/५५–६६
ध– गो०प०, १/७७

2 नाभोरूर्ध्वमधश्चापि ताणं कुर्यात् प्रयत्नतः।। यो०शि०उ०, १/१०८
क– यो०चू०उ०, ४६
ख– ह०यो०प्र०, ३/५७
ग– घे०स०, ३/८
घ– गो०प०, १/७८
ड.– शि०सं०, ४/७२–७३

3 उड्डियाणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः।।
उड्डियाणं तदेव स्यातत्र बन्धो विधीयते।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूधर्वं कारयेत्।। ध्या०बि०उ०, ७५–७६

4 क– उड्डीयानं ह्यसौ बंधो मृत्युमातङ्गकेसरी।। ह०यो०प्र०, ३/५७
ख– अऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी। बन्धोयेन सुषुम्नायां प्राणस्तुड्डीयतेयतः। यो०त०उ०, ११६

5 क– षण्मासमभ्येन्मृत्यु जयत्वेव न संशयः।।
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।

इसका सदैव अभ्यास आवश्यक है।"[1] इस बन्ध से विष्णु ग्रन्थि पर दवाब पड़ता है जिस कारण उससे सम्बन्धित समस्त कार्य सरलता से सम्पन्न होते हैं। वराहोपनिषद्[2] मे भी इसके लाभों की चर्चा विस्तृत रूप से उपलब्ध होती है।

7. जालन्धर बन्ध

"कण्ठ को सिकोड़ कर दृढ़ता पूर्वक हृदय पर इस प्रकार स्थापित करें कि प्राण वायु अन्दर से बाहर न जा सके। ऐसी क्रिया 'जालन्धर बन्ध' कहलाती है। इसके अभ्यास से ब्रह्मरन्ध्र से स्रावित होने वाला अमृत द्रव शोषित होने लगता है, वह जठराग्नि में पहुँच कर व्यर्थ नष्ट नहीं होता यह क्रिया सदैव पूरक के अन्त में की जाती है ताकि वायु का निरोध हो सके।"[3] इससे प्राण सुषुम्ना की ओर प्रेरित होते हैं। इस बन्ध से रूद्रग्रन्थि पर दवाब पड़ता है तथा सोलह प्रकार के आधारो का बन्ध हो जाता है। वे सोलह आधार है– अगुष्ठ, गुल्फ, जानु, ऊरू, सीवनी, लिङ्ग, नाभि, ग्रीवा, हृदय, कण्ठदेश, लम्बिका, नासिका, भ्रमध्य, मस्तक, मूर्धा तथा ब्रह्मरन्ध्र। इन आधारों का बन्ध अत्यावश्यक है, इनके बिना योगपथ पर सफलता सम्भव नही।

उड्डियाने दृढ़े बंधे मुक्ति स्वाभाविकी भवेत्।। ह०यो०प्र०, ३/५६-६०
ख– यो०शि०उ०, १/११०
ग– गो०प०, १/७८/४

1 तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्त्तव्यं सततं शनैः।। यो०कु०उ०, १/५०

2 वरा०उ०, ५/६-९

3 क– पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बन्धोजालन्धराभिधः।
कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधकः।।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदयेस्थापयेद् दृढ़निश्चयः।
बन्धोजालन्धराख्योऽयमृतव्ययकारकः। यो०शि०उ०, १/१०९-११०
ख– ध्या०बि०उ०, ६९
ग– यो०कु०उ०, ६९
घ– यो०चू०उ०, १/५१
ङ– यो०त०उ०, ११८-११९
च– ह०यो०प्र०, ३/७०
छ– गो०प०, १/८०
ज– शि०सं०, ४/६०

लाभ

शरीर में नीचे की ओर जाने वाले आकाश तथा जलतत्त्व को शिर में ही स्थिर रखता है, ऐसा जालन्धर बन्ध दुख तथा रोगों को नष्ट करता है। इसे करने से अमृत अग्नि में नहीं पड़ता तथा वायु भी स्थिर रहती है।"[1] शिव संहिता में इसके निरन्तर अभ्यास प्राप्त होने वाले लाभ की चर्चा करते हुए कहा गया है कि "यह बन्ध देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। इसके अभ्यास से बुद्धिमान साधक स्वयं अमृतपान में समर्थ हो जाता है तथा वह अमृत प्राप्त कर त्रिलोकी में सुख पूर्वक विचरण करता है। यह बन्ध सिद्धों के लिए सिद्धिदायक है। इस प्रकार नित्य प्रति इसके अभ्यास द्वारा वह इच्छित सिद्धि प्राप्ति सफल हो जाता है।"[2]

त्रयबन्ध अभ्यास

"इन तीनों बन्धों का एक साथ अभ्यास कुण्डलिनी जागरण को सरल बनाता है। इनके लिए मूलबन्ध के द्वारा अधोभाग में गुदा का संकोचन करके, कण्ठ संकोचन द्वारा जालन्धर बन्ध मध्य में उड्डियान बन्ध द्वारा प्राण वायु को खींच कर प्राण को सब ओर से रोकने पर वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके उर्ध्वगामी हो जाता है।"[3]

---

1 क– बध्नाति हि शिरोजायमधोगामिनभोजनम्।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठे दुःखौघनाशनः।।
जालन्धरे ऊते बन्धे कण्ठ सकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति।। यो०चू०उ०, ५०–५१
ख– गो०प०, ७६–८०

2 बन्धो जालंधरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः।।
बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान्।
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये।।
जालंधरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता।। शि०सं०, ६१–६३

3 क– अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने ऊते।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः।। यो०कु०उ०, १/५२

8. विपरीतकरणी मुद्रा

"सिर नीचे तथा पैर ऊपर की ओर करने से इस मुद्रा की स्थिति बनती है। पहले क्षण भर के लिए तथा इसके पश्चात् प्रत्येक दिन एक–एक क्षण अभ्यास बढ़ते रहना चाहिए।"[1] हठयोग प्रदीपिकानुसार "उर्ध्व भाग में नाभि और अधो भाग में तालु की स्थिति होने पर विपरीतकरणी मुद्रा कही जाती है। जिसे गुरु के निर्देश द्वारा ही किया जाना चाहिए।"[2] घेरण्ड संहिता में इस मुद्रा की समान पद्धति की चर्चा करते हुए कहा गया है– "नाभिमूल में सूर्य नाड़ी तथा तालुमूल में चन्द्रनाड़ी का वास है। सहस्रार के अमृतस्राव को सूर्यनाड़ी ग्रहण करती है जिनसे प्राणी की मृत्यु कहीं गई है। यदि उसी स्रावका पान चन्द्रनाड़ी करे तो जीव को मृत्यु का भय नहीं सताता। अतः सूर्यनाड़ी को ऊपर तथा चन्द्र नाड़ी को नीच करना विपरीतकरणी मुद्रा है। इसमें सिर को भूमि पर लगाकर दोनों हाथ टेके और दोनों पांवो को ऊपर उठाकर कुम्भक के द्वारा वायु को रोके।"[3] शिव संहिता[4] भी समान विधि का अनुसरण करती है। "इस मुद्रा के अभ्यास काल में योगी को यथेष्ट भोजन ग्रहण करना चाहिए अन्यथा प्रदीप्त जठराग्नि उसके

ख– ध्या०बि०उ०, १०१
ग– यो०शि०उ०, १/१११
घ– शा०उ०, १/७/१२

1 अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमें दिने।।
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेतु दिनेदिने। यो०त०उ०, १२४–१२५

2 ऊर्ध्व नाभेरधस्तालोरूर्ध्व भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते।। ह०यो०प्र०, ३/७८

3 नाभिमूले वसेत् सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृत ग्रसते मृत्युस्ततो मृत्युवशो नरः।।
उर्ध्व च जायते सूर्यश्चन्द्रं च अध आनयेत्।
विपरीतकरणी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मा समाहितः।
उर्ध्वपादः स्थिरोभूत्वा विपरीतकरी मता। घे०सं०, ३२–३५

4 शि०सं०, ४/६८

शरीर को उसी समय समाप्त कर देती है।"[1]

लाभ

जठराग्नि प्रदीप्त होने के कारण "छः मास में ही साधक के शरीर की झुर्रियां तथा बालों की सफेदी समाप्त हो जाती है। जो योगी प्रतिदिन एक प्रहर तक इस मुद्रा का अभ्यास करता है, वह काल को अपने वश में कर लेता है।"[2]

9. वज्रोली

"शीशे की चौदह अंगुल लम्बी और उपस्थ के छिद्र में प्रविष्ट होने योग्य मोटी सलाई बनवाकर उसे उपस्थ में प्रतिदिन एक–एक अंगुल परिणाम से ऊपर की ओर प्रवेश कराना चाहिए। बारह दिन पर्यन्त लिगेन्द्रिय के पूर्णतया शुद्ध हो जाने पर वायु का ग्रहण तथा त्याग करना चाहिए। अभ्यास में अग्रसर होते हुए क्रमशः जल, दूध, तेल, शहद तथा पारा ग्रहण करना ही अपेक्षित है। इस मुद्रा के सिद्धहस्त होने पर योगी द्वारा रज को आकर्षित करने पर इस मुद्रा की सिद्धि हो जाती है।"[3]

शिव–संहिता में इस मुद्रा के स्वरूप पर प्रकाश डालते कहा गया है "पहले साधक विधि–विधान से प्रयत्न–पूर्वक योनि से रज का उपस्थ नाल में आकर्षण कर अपनी देह में प्रविष्ट करे। इस क्रिया में यदि दैववशात् बिन्दु अपने स्थान से च्युत हो जाय तो उसको योनिमुद्रा के द्वारा निबद्ध कर ऊपर की ओर आकर्षित करें तथा बायें

---

1 क– आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च।।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात्। यो०त०उ०, १२३–१२४
ख– ह०यो०प्र०, ३/८०–८१

2 क– वली च पलितं चैव षण्मासाधन्नि दृश्यते।।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्। यो०त०उ०, १२५–१२६
ख– ह०यो०प्र०, ३/८२

3 ह०यो०प्र०, द्रष्टव्य, पृ०सं०–१३१

भाग में स्थित कर, क्षणभर के लिए लिंग चालन क्रिया को रोक कर पुनः गुरु उपदेशानुसार वह हूँ हुँकार शब्द का उच्चारण करता हुआ चालन क्रिया में प्रवृत्त हो जाय तथा बलपूर्वक अपान वायु का आकुंचन करता हुआ रज का आकर्षण करें यही वज्रांली मुद्रा है।"[1] ध्यानबिन्दूपनिषद् योगचूडामण्युपनिषद् इत्यादि "अग्नितत्त्व में बिन्दुपात को रोकने हेतु योनिमुद्रा द्वारा उसे रोककर उर्ध्वगामी बनाने"[2] की चर्चा उपलब्ध होती है। घेरण्ड संहिता में कहा गया है – "दोनों हाथों को पृथ्वी पर टिकाकर दोनों पैरो एवं मस्तक को आकाश में उठा देना ही वज्रोली मुद्रा कही जाती है।"[3] इस प्रकार मुद्रा का यह स्वरूप वज्रोली मुद्रा से साम्य नहीं रखता।

लाभ

"योगी वज्रोली मुद्रा का नित्य अभ्यास करता शीघ्र सिद्धावस्था को प्राप्त कर सकता है तथा सिद्धि को उसके हस्तगत जानना चाहिए वह भूत, भविष्य का ज्ञाता होकर आकाश मार्ग से गमन करने में समर्थ हो जाता है।"[4]

---

1 आदौ रजः स्त्रियो योन्याः यत्नेन विधिवत्सुधीः।
आकुंचय लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत्।।
स्वकं बिन्दुञ्च सम्बन्ध्य लिंगचालनमाचरेत।
देवाच्चलति चेदूर्ध्वं निबद्धो योनिमुद्रया।।
वाममार्गेपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिंग निवरायेत्।
क्षणमात्रं योनितो य पुमांश्चालनमाचरेत्।।
गुरूपदेशतो योगी हुं हुं कारेण योनितः।
अपानवायुमाकुंच्य बलादाकृष्य तद्रणः।। शि०स०, ४/८१-८४

2 क– गलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले।।
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रा। ध्या०बि०उ०, ८५
ख– ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्चहुताशनम्।
व्रजात्यूर्ध्व गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया।। यो०चू०उ०, ५६

3 धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्याम् उर्ध्व क्षितेत्पादयुगंशिरः।
शक्तिप्रबोधाय चिरंजीवनाय वज्रोलिमुद्रां कवयोवदन्ति।। घे०सं०, ३/४५

4 वज्रालीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम्।।
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धि करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम्।। यो०त०उ०, १२६-१२७

"योनि में पतित हुआ बिन्दु भी उक्त मुद्राभ्यास द्वारा आकर्षित करके अपने पूर्वस्थान पर स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार जो योगबिन्दु की रक्षा करता है वह मृत्यु को जीत लेता है।"[1]

9. सहजोली मुद्रा

योगतत्त्वोपनिषद् में इस मुद्रा का केवल नामोल्लेख ही उपलब्ध होता है हठयोग प्रदीपिका में इस संबंध में कहा गया है, " ये दोनों मुद्राएं सहजोली तथा अगरोली वज्रोली मुद्रा के ही दो भाग है। सहजोली मुद्रा में जलाए हुए कुण्डों की सुन्दर भस्म को जल में डालकर, मैथुनान्तर सुखपूर्वक बैठ कर पुरूष तथा स्त्री द्वारा अपने–अपने अङ्गों पर लेप करने का विधान वर्णित है।"[2]

लाभ

"यह क्रिया योगियों द्वारा सदैव श्रद्धा के योग्य तथा शुभकारी योग, भोग एवं मोक्ष प्रदान करने वाली है। यह योग पुण्यवान्, धीर, तत्त्वदर्शी और द्वेष रहित पुरूषों द्वारा ही सिद्ध हस्त होता है।"[3]

---

1 क– नारीभगे पतिद्विन्दुमभ्यासेनोर्ध्वगासरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।।
एवं संहक्षयेद्विदुं मृत्यु जयति योगवित्। ह०यो०प्र०, ३/८१–८८
ख– घे०सं०, ३/४६–४८

2 सहजोलिश्चामामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षित्य दग्धगोमयसंभवम्।।
वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुन्सोः स्वांगलेपनम्। ह०यो०प्र०, ३/९१–९२

3 सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रे सुया योगिभिः सदा।
अयं शुभकरो योगी भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः।।
अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम्।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशीलनाम्।। वही, ३/९३–९४

10. अमरोली मुद्रा

वज्रोली मुद्रा के द्वितीय भेद अमरोली का स्वरूप योगतत्त्वोपनिषद् में इस प्रकार वर्णित है– "जो योगी अमरी अर्थात् स्वाम्बु का प्रतिदिन घ्राणेन्द्रिय के माध्यम से उसका नस्य करता है तथा साथ ही वज्रोली का अभ्यास करता है, तो उसे अमरोली का साधक कहा जाता है।"[1] हठयोग प्रदीपिका का कथन "अधिक पित्त वाली प्रारम्भिक बिन्दुधारा तथा सार अंश से शून्य एवं अन्त की बिन्दुधारा का त्याग करके शीतल मध्य धारा का ही इस मुद्रा में सेवन करना अमरोली कहा जाता है।"[2] शिव संहिता में "लिंगनाल द्वारा रज–बिन्दु के शोषण को अमरोली मुद्रा स्वीकार किया है।"[3]

लाभ

इस अभ्यास से देह–सिद्धि योगसिद्धि एवं मुक्ति या स्वरूपावस्था की प्राप्ति होती है।

11. शाम्भवी मुद्रा

"योगी की अन्तः एवं बाह्य लक्ष्य को देखने की सामर्थ्य से युक्त दृष्टि जब स्थिर हो जाती है, तब वह स्थिति शांभवी मुद्रा कहलाती है।"[4] "यह दृष्टि प्रथम अग्निमण्डल, ऊपर सूर्य मण्डल, उनके मध्य सुधा स्वरूप चन्द्रमण्डल तथा उनके बीच तेजोमय अखण्ड ब्रह्म पर स्थिर होकर शाम्भवी मुद्रा को लक्षित करती है।"[5] हठयोग प्रदीपिकानुसार "अन्तर्लक्ष्य एवं ब्रह्म लक्ष्य विषयों में निमेष एवं उन्मेष दृष्टि रहित चित्त

---

1 अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते।। यो०त०उ०, १२८

2 पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतयान्त्यधारा।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली।। ह०यो०प्र०, ३/९६

3 अमरोलिरियं प्रोक्ता लिंगनालेन शोषयेत्। शि०सं०, ४/९६

4 अन्तर्बाह्यलक्ष्ये द्रष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां सत्यां शांभवी मुद्रा भवति। अ०ता०उ०, १२

5 आदावग्निमण्डलम्। तदुपरि सूर्यमण्डलम्। तन्मध्येसुधाचन्द्रमण्डलम्।
तन्मध्येऽखण्ड ब्रह्मतेजो मण्डलम्। तद्विद्युल्लेखावच्छुक्लभास्वरम्।
तदेव शाम्भवी लक्षणम्।। म०ब्रा०उ०, २/१/५

को आज्ञा चक्र में स्थित करना शाम्भवी मुद्रा कही गई है जो वेद शास्त्रों में छिपी हुई है।"[1] घेरण्ड संहिता में भी "दृष्टि को दोनों भौहों में स्थिर कर एकाग्र मन से चिन्तन करते हुए परमात्मा का दर्शन करने को शाम्भवी मुद्रा स्वीकृत किया गया है।"[2]

सिद्धि

शाम्भवी मुद्रा की सिद्धि भृकुटियों के मध्य ब्रह्म के दर्शन करने की दृष्टि पर निर्भर करती है। दृष्टि के तीन स्वरूप कहे गए हैं– अमावस्या, प्रतिपदा तथा पूर्णिमा। निमीलित दृष्टि अमावस्या स्वरूप है, अर्धनिमीलित दृष्टि प्रतिपदा स्वरूप है तथा पूरी तरह खुली हुई दृष्टि पूर्णिमा है। इसीलिए पूर्णिमा रूप दृष्टि का ही अभ्यास करना चाहिए।"[3] इसका भाव यह है कि पलक बन्द होने पर आलस्य से चित्त का लय अर्धखुले नेत्रों से विक्षेप तथा पूर्ण खूले नेत्रो से चित्त का लय अन्तर्मुखी होता है इसीलिए पूर्णिमा रूप दृष्टि ही श्रेयस्कर है। "इससे सहज ही मन आनन्द में लीन हो जाता है, तब शाम्भवी मुद्रा सिद्ध होती है।"[4]

लाभ

"इसके अभ्यास से मन स्थिर तत्पश्चात् बुद्धि स्थिर हो जाती है।"[5] घेरण्ड संहिता में स्पष्ट लिखा है, "वेद शास्त्रों में शाम्भवी मुद्रा कुलवधु के समान छिपे हुए बताया गया है तथा इसका अभ्यास करने वाला स्वयं आदिनाथ नारायण तथा जगत्स्रष्टा ब्रह्म ही

---

1 अन्तर्लक्ष्यम् बहिर्दृष्टि र्निमषोन्मेषवर्जिता। एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता।।
ह०यो०प्र०, ४/३६

2 नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।
साभवेच्छाम्भवीं मुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।। घे०सं०, ३/६४

3 तदृदर्शने तिस्त्रो दृष्टयः अमा प्रतिपत् पूर्णिमा चेति।
निमीलितदर्शनममादृष्टिः। अर्धोन्मीलितं प्रतिपत्।
सर्वोन्मलिनं पूर्णिमा भवति। तासु पूर्णिमाभ्यासः कर्त्तव्यः।। म०ब्रा०उ०, २/१/६

4 एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शाम्भवी भवति। वही, २/१/८

5 तदभ्यासान्मनः स्थैर्यम्। ततो बुद्धिस्थैर्यम्।। वही, ९

है।"[1] हठयोग प्रदीपिका "शाम्भवी मुद्रा द्वारा लित लय का विस्तारपूर्वक वर्णन करती है।[2]

12. षण्मुखी मुद्रा

अंगूठो से दोनों कान, तर्जनी एवं मध्यमा से नेत्र अनामिका एवं कनष्ठिका से नासारन्ध्रों को बन्द करके ध्यान लगाना 'षण्मुखी मुद्रा कहलाता है। इस मुद्रा की त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] दर्शननोपषिद्[4] तथा मण्डलब्राह्मणोंपनिषद्[5] आदि में चर्चा प्राप्त होती है।

लाभ

"इस मुद्रा का अभ्यास करने वाले को कर्म लिप्त नहीं करते। सूर्यास्त के समय कर्म सम्पन्न किए जाते हैं किन्तु चिदादित्य का तो उदय–अस्त होता ही नही; इसीलिए इसे जानने वाले के लिए कोई कर्म शेष नहीं रहते।"[6]

13. शक्तिचालन मुद्रा

महाशक्ति, कुण्डलिनी कही गई है तथा समस्त मुद्राओं का प्रधान लक्ष्य ही महाशक्ति का जागरण अर्थात् सोई हुई शक्ति को जगाना है। उपरोक्त जिन मुद्राओं का वर्णन किया गया है सभी का परिप्रेक्ष्य यही है। योगकुण्डल्युपनिषद् इसकी परिभाषा,

---

1 वेदशास्त्र पुराणानि सामान्य गणिका इव
इयन्तु शाम्भवीमुद्रा गुप्ताकुलवधूरिव।।
स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्।
स च ब्रह्म सृष्टिकारो योमुद्रां वेत्ति शाम्भवीम्।। घे०स०, ३/६४-६६

2 ह०यो०प्र०, ३/३६-३७

3 त्रि०ब्रा०उ०, २/११६

4 दर्श०उ०, ६/३३-३४

5 म०ब्रा०उ०, २/२/२

6 तस्या न कर्मलेप। खेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्तव्यम्।
एवं विर्धाश्चदादित्यस्योदयास्तमयाभावात्सर्वकर्माभावः।। वही, २/२/३

देते हुए कहता है – "योगी, जिस चालन क्रिया के द्वारा महाशक्ति को नीचे से ऊपर दोनों भृकुटियों के मध्य ले जाता है, उसे शक्तिचालन नाम से सम्बोधित करते हुए इसकी विधि का निर्देश किया गया है– "इस क्रिया में सर्वप्रथम इड़ा नाड़ीप्रवाह समय पद्मासन में दृढ़तापूर्वक स्थित होकर दोनों नासिका छिद्रों को अंगुष्ठ तथा तर्जनी अंगुली से पकड़कर निर्भयता पूर्वक दो मुहूर्त तक पहले बायीं फिर दायीं नासिका छिद्र से निरन्तर रेचक तथा पूरक करने के उपरान्त सूर्य नाड़ी अथवा दायीं नासिका छिद्र से रेचक करके कण्ठ संकोचन संहित पेट को ऊपर की ओर खींचें। इससे वायु वक्षस्थल से ऊपर की ओर गमन करेंगा। इसी क्रम से पूरक द्वारा समान क्रिया करनी चाहिए। ऐसा अभ्यास प्राण गति अवरूद्व कर कुण्डलिनी को सुषुम्ना नाड़ी में अविष्ट करा देता है। इसीलिए नियमित रूप से शब्दमयी सरस्वती चालन अर्थात् शक्तिचालन करना चाहिए।"[1] योगशिखोपनिषद्[2] शक्तिचालन की समान विधि का उल्लेख करता है। अन्तर मात्र इतना है कि यह उपनिषद् वज्रासन में इस प्रक्रिया के सम्पन्न करने का निर्देश देता है। हठयोग प्रदीपिका में इस मुद्रा की चर्चा इस प्रकार है– "सोती हुई भुजङ्गी की

---

1 यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली।
इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम्।।
अगुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम्।
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनः पुनः।।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयात्त्चालयेत्सुधीः।
उर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम्।।
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः।।
तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठ संकोचने ऊते।
सरस्वत्याश्चालनेन वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत्।।
सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत्।।
तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भा सरस्वतीम्।
यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते।।
गुल्मं जलोदरः प्लीहा ये चान्ये तुन्दमध्यगाः।
सर्वे तु शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम्।। यो०कु०उ०, १/८०, १२-१८

2 यो०शि०उ०, १/८३-८५

पूँछ को पकड़कर प्रबोधन करने से वह शक्ति निद्रा छोड़कर ऊपर उठकर स्थिर हो जाती है। वह फणवती प्रातः काल सायंकाल में आधे प्रहर तक सूर्य से पूरित परिधान से ग्रहण करके नित्य करनी चाहिए। मूल स्थान से चार अंगुल ऊपर विस्तार वाले कोमल श्वेत तथा वेष्टित किये वस्त्र के समान कहा जाता है। वज्रासन में स्थित होकर दोनों पाँवो को एड़ियों के पास से हाथों द्वारा दृढ़ता से धारण कर उस बन्द का प्रपीड़न करें। पुनः नाभिदेश के आकुंचल से वहां स्थित सूर्य के आकुंचन कर लेते कुण्डलिनी का सचांलन होता है। इस प्रकार दो मुहूर्त तक चालन करने से शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है।"[1] घेरण्ड संहिता[2], गोरक्ष पद्धति[3] तथा शिव संहिता[4] समान रूप से इस क्रिया का व्याख्यान भिन्न शब्दों में किया गया है।

लाभ

इस शक्तिचालन मुद्रा से प्राण सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है, उस अरूंधती का, जो सुख से सोती है, नित्य चालन करने से योगी रोगो से मुक्त हो जाता है तथा अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है तथा योगी अनायास ही मृत्यु को अपने वश में

---

1 पुच्छे प्रग्रह्यं भुजंगी सप्तामुद्बोधयेच्च ताम्।
निद्रां विहाय सा शक्तिरुर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्।।
अवस्थित चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रग्रह्य नित्यं परिचालनीया।।
उर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम्।
मृदुलं धाववलं प्रोक्तं वेष्टितांवरलक्षणम्।।
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धान्येद्दृढ़म्।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत्।।– – –
भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडली चालयेत्ततः।– – –
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निभयं चालनादसौ
उर्ध्वमाकृष्यते किचित्सुषुम्नायां समुद्गता।। ह०यो०प्र०, ३/११-११४, ११६-११७

2 घे०स०, ३/४६-५७

3 गो०प०, १/५२

4 शि०सं०, ४/१०५

कर लेता है।"[1] इस प्रकार शक्ति चालन मुद्रा की सिद्धि से फल प्राप्ति की चर्चा विभिन्न योग ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है।[2]

अतः इन यौगिक मुद्राओं के अतिरिक्त उपनिषदों में ज्ञान मुद्रा[3], वैष्णवी मुद्रा[4] चिन्मुद्रा इत्यादि का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[5]

4.6.2 अष्टांग–योग में मुद्रा एवं बन्ध विज्ञान की उपयोगिता

आसन के सन्दर्भ में उपयोगिता

प्रत्येक आसन मुद्रा–बन्ध से युक्त होकर सम्बन्धित लाभ में वृद्धि प्राप्त करता है। मुद्राओं का मुख्य उद्देश्य उर्जा क्षेत्र की संरचना को सन्तुलित करना है। जिस क्षेत्र में ऊर्जा की जितनी आवश्यकता है, मुदाएं उतनी ही शक्ति का वितरण करती है। आसनों द्वारा प्राप्त उर्जा को यदि मुद्राओं के माध्यम से नियन्त्रित न किया जाए तो अधिक उर्जा का विचरण शरीर के उस भाग को हानि पहुँचा सकता है।

प्राणायाम के सन्दर्भ में उपयोगिता

मुद्राएँ प्राणायाम अभ्यास काल में प्राणों के बिखराव पर नियन्त्रण स्थापित करती है जैसे जालन्धर बन्ध कण्ठ से निकलने वाली समस्त नाड़ियों को बांध लेता है जिससे

---

1 तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुधतीम्।
तस्याः सञ्चालनेनैन योगी रोगै : प्रमुच्यते।
योन सञ्चालिता शक्तिः स योगो सिद्धि भाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया।। ह०यो०प्र०, ११६–१२०

2 क– वही, १२१–१२५
ख– घे०स०, ३/५०–६०
ग– गो०प०, ५३–५६
घ– शि०सं०, ४/१०६–१११

3 ना०बि०उ०, ३१

4 क– ब्र०वि०उ०, ५६
ख– शा०उ०, १/७/१४

5 त्रि०ब्रा०उ०, २/६३

प्राणायामाभ्यास से उत्पन्न उर्जा का अधिक भाग केवल मस्तिष्क में न जाकर सम्पूर्ण शरीर में आवश्यकतानुसार वितरित होता है। इसी प्रकार मूल बन्ध तथा उड्डियान बन्ध प्राणों को एक केन्द्र पर संचित कर, उचित दिशा की ओर गतिशील करते हैं। इसीलिए अधिकांश ग्रन्थों में बन्ध सहित प्राणायाम करने का निर्देश प्राप्त होता है।

ये प्राणायाम मुद्राओं के साथ सम्मिलित रूप में कुण्डलिनी जागरण हेतु प्रवृत्त होते हैं। केवल प्राणायाम या केवल मुद्राएं इस शक्ति को जगाने में असमर्थ है इसलिए इन दोनों का साथ–साथ अभ्यास निसंदेह लक्ष्य की प्राप्ति करवाता है उदाहरण के लिए प्राण–निरोध समय योनिमुद्रा द्वारा गुदा भाग का आकुंचन तथा साथ में उड्डियानबन्ध द्वारा नाभिका अकुंचन निश्चित रूप से कुण्डलिनी को जागृत कर सुषुम्ना में प्रवेश करा देती है।

प्रत्याहार तथा धारणा के सन्दर्भ में उपयोगिता

चित्त वृत्तिया स्वभावतः बहिर्मुखी होती है किन्तु प्राण के निरूद्ध होने पर ये वृत्तिया भी अन्तर्मुखी होती जाती है। यहीं पर साधक मुद्राओं के अभ्यास द्वारा चेतना को अन्तर्मुखी बनाकर प्रथम प्रत्याहार तथा पश्चात् धारणा की स्थिति को प्राप्त करता है।

ध्यान तथा समाधि के सन्दर्भ में उपयोगिता

मुद्राओं द्वारा प्राणों के बिखराव को रोकने पर शरीर में स्नायु तथा नाड़ियो को शान्ति प्राप्त होती है तथा समस्त विक्षेप समाप्त हो जाते हैं जिससे एकाग्रता बढ़ती है और ऐसी अवस्था ध्यान के लिए अति उत्तम स्वीकृत की गई है। तब साधक ध्यान के अभ्यास द्वारा समाधि स्थिति तक सरलता से पहुँच सकता है।

4.7 कुण्डलिनी–विज्ञान

4.7.1 कुण्डलिनी–विज्ञान : सामान्य परिचय

'कुण्डलं इव शीलं अस्या' अर्थात् कुण्डल के सदृश प्रकृति वाली 'कुण्डलिनी' कहलाती है। "मृणालसूत्र की तरह सूक्ष्म अष्ट प्रकृति रूपा (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अंहकार युक्त) आठ प्रकार से कुण्डली किए हुए ब्रह्मरन्ध्र अथवा सुषुम्ना के मुख को वायु–चेष्टा, जल तथा अन्न आदि का अवरोध करके अपने मुख से आच्छादित कर सोई रहती है।"[1] "यह तिर्यक स्वरूप वाली सर्प की भाँति लिपटी हुई है।"[2] "इसे कुटिलांगी, भुजंगी, शक्तिरीश्वरी, अरूंधती इत्यादि नामों से सम्बोधित किया जाता है।"[3] जिस प्रकार कुंजी के द्वारा घर के किवाड़ खोले जाते हैं, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष के द्वार को खोलते हैं।"[4]

कुण्डलिनी जागरण विधि

"कुण्डलिनी जागरण अनेक प्रकार से हो सकता है। वे है– 1. जन्म, 2. मंत्र, 3. तपस्या, 4. जड़ी–बूटियां, 5. राजयोग, 6. प्राणायाम, 7. क्रिया–योग, 8. शक्तिपात, 9.

---

[1] क– अष्टप्रकृतिरूपा सा चाष्टधा कुण्डलीऊता।
यथावद्वायुसारं च ज्वलनादि च नित्यशः।।
परितः कन्दपार्श्वे तु निरुध्यैवसदा स्थिता।
मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं तथा।। त्रि०ब्रा०उ०, ६३–६४
ख– दर्श०उ०, ४/११–१२
ग– ध्या०बि०उ०, ४४–४५
घ– यो०कु०उ०, १/८२–८३
ङ– यो०चू०उ०, ३६
च– यो०शि०उ०, ८२
छ– ष०च०नि०, ८/५०–५१

[2] कुण्डलिनी कुटिलाकारा सर्पवद्वेष्टिता भवति।। शा०उ०, १/७/३६–ग

[3] कुटिलांगी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरूंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः।। ह०यो०प्र०, ३/१०४

[4] क– उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया गृहम्।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षदारं प्रभेदयेत्।। यो०चू०उ०, ३६
ख– ध्या०बि०उ०, ६७–६८
ग– शा०उ०, १/७/३६–ख
ध– ह०यो०प्र०, ३/१०५

तन्त्र, 10. शरणगति, 11. कर्मयोग, 12. भक्तियोग तथा 13. ज्ञान योग।"[1] अतः शास्त्रों में कुण्डलिनी जागरण की विविध विधियों का उल्लेख प्राप्त होता है परन्तु यहां योगोपनिषदों में वर्णित कुण्डलिनी जागरण हेतु विधियों का उल्लेख किया जा रहा है।

योगकुण्डल्युपनिषद् "मुख्य रूप से कुण्डलिनी जागरण के दो साधन कहते हैं, सरस्वती चालन तथा प्राणनिरोध।"[2]

क. सरस्वती चालन

सरस्वती चालन को ही शक्तिचालिनी क्रिया अथवा मुद्रा कहा गया है। यह शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी को जागृत करने की प्रमुख विधि है जिसका विस्तार पूर्वक वर्णन मुद्रा विज्ञान के अन्तगर्त कर दिया गया है। यहां इतना कहना ही श्रेयस्कर है – यह क्रिया, शक्ति को जागृत करने वाली समस्त मुद्राओं का आधार एवं लक्ष्य है तथा इससे शीघ्र ही शक्ति जागृत होकर सुषुम्ना में प्रवेश करती है।

ख. प्राणनिरोध

कुण्डलिनी जागरण का मुख्य आधार ही 'प्राणनिरोध' है। विधि चाहे किसी भी प्रकार की हो कुण्डलिनी जागरण तभी सम्भव है जब प्राण का स्पन्दन अवरूद्ध होगा। सर्वप्रथम प्राण निरोध हेतु प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है।

प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास द्वारा जब साधक केवल कुम्भक की सिद्धि प्राप्त करता है तब रेचक और पूरक का विलय होकर वायु निरन्तर स्थिर रहने लगता है तब वायु की यही स्थिरता ही प्राण की गति अवरूद्ध कर कुण्डलिनी पर उष्णता द्वारा दवाब

---

1 पूर्ण योग, स्वामी शान्तिधर्मानन्द सरस्वती, पृ०सं०, २२८

2 तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम्।
प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत्।। यो०कु०उ०, १/८

डालती है इसीसे कुण्डलिनी सीधी होकर उर्ध्वगमन करती है। अतः महाशक्ति उत्थापन के लिए प्राणायाम का धैर्य पूर्वक अभ्यास करना अत्यावश्यक है।

प्राणायाम के अतिरिक्त शाण्डिल्योपन्षिद् में प्राण गति अवरूद्ध करने की विभिन्न विधियों को उल्लेख किया गया है–

"1. सांसारिक वृत्तियों के प्रति अनास्था उत्पन्न करने के पश्चात् लम्बे काल तक ध्यान द्वारा एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास होने पर प्राण का स्पन्दन बन्द हो जाता है।

2. बिना श्रम के अधिक देर तक श्वास खींचते हुए पूरक आदि वायु के दृढ़ अभ्यास तथा एकान्त चिन्तन करने से मन की गति पूर्णतया रूक जाती है।

3. ऊँकार के उच्चारण के पश्चात् शब्द तत्त्व की अनुभूति होने से सद्ज्ञान द्वारा सुषुप्ति का रूप जान लेने पर प्राण तत्त्व वश में आ जाता है।"[1]

4. तालु मूल में स्थित रहने वाली ग्रन्थि को जब जिह्वा द्वारा सतर्क पूर्वक दबाया जाता है। तब प्राणवायु के ऊपर छिद्र में आने से प्राण गति अवरूद्ध होती है।

5. तालु से उर्ध्व की ओर बारह अंगुल दूर तक गमन करने वाला प्राण चेष्टा–शून्य हो जाता है, तब अभ्यास मात्र से ही ऊपर के छिद्र द्वारा प्राण का स्पन्दन अवरूद्ध किया जाता है।

---

1 यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोहितात्।।
एकतत्त्वदृढाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते।
पूरकाद्यनिलायामद्दृढाभ्यासादरवेदजात्।।
एकान्तध्यानयोगाच्च मनः स्पन्दो निरुध्यते।
ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्द तत्त्वानुभावानात्।
सुषुप्ते संविदा ज्ञाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते।। शा०उ०, १/७/२६

6. नासिका के अग्रभाग के सामन द्वादश अंगुल की दूरी पर पवित्र आकाश में ज्ञान–दृष्टि के अत्यन्त शान्त हो जाने पर प्राणों की गति रूक जाती है।

7. भौहों के मध्य में तारक ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर शान्ति के मिल जाने से जगत् व्यापर बन्द होने लगते हैं तथा मानसिक संकल्प विराम लेते हैं, तो प्राणगति अवरूद्ध होती है।

8. केवल प्रणव के स्वरूप में ही प्रादुर्भूत जो ज्ञान ज्ञेय रूप मंगलमय बनकर प्रकट होता है तथा जिसमें विकल्प के अंश का स्पर्श भी नहीं रहता, तब प्राण की गति अवरूद्ध हो जाती है।"[1]

9. "चिरकाल तक हृदय प्रदेश में एकान्त आकाश की अनुभूति होने से वासना विहीन मन ध्यान–मग्न होने लगता है। इससे प्राण का स्पन्दन अवरूद्ध हो जाता है।

इस प्रकार क्रमानुसार अन्य अनेक गुरुओं के अमृत वचनो उपदेशों का अनुसरण करके भाँति–भाँति के संकल्पों की कल्पना के माध्यम से प्राण का स्पन्दन अवरूद्ध हो जाता है।"[2]

---

[1] तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घण्टिकाम्।
उर्ध्वरन्ध्रं गते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।
प्राणेगलितसंवित्तौ तालूर्ध्वं द्वादशान्तगे।
अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे।
संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।
भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।
ओमित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं ज्ञेयात्मकं शिवम्।
असंस्पृष्टविकल्पांशं प्राणस्पन्दो निरुध्यते।। शा०उ०, १/७/३०-३४

[2] चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने।
अवासनमनोध्यानात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।

ग. हंस मन्त्र द्वारा कुण्डलिनी जागरण

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त हंस मन्त्रोच्चारण द्वारा भी कुण्डलिनी जागरण होता है। हंसोपनिषद् स्पष्ट रूप से "'हं' को बीज तथा 'स' को शक्ति कहता हुआ कुण्डलिनी उत्थापन के माध्यम से सृष्टि की प्रलय प्रक्रिया की ओर सकेंत करता है तथा 'सोऽहम्' को कीलक कह कर कुण्डलिनी की प्रत्यागमन विधि बताता हुआ सृष्टि उत्पति प्रक्रिया की ओर संकेत करता है।"[1]

इनके अतिरिक्त महामुद्रा, इत्यादि, मुद्राएं, जालन्धर आदि त्रयबन्ध कुण्डलिनी जागरण में परम सहायक है। इन सभी की परस्पर सहायता से ही यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है। जैसे महामुद्रा या मूलबन्ध द्वारा गुदा भाग से उड्डियाण बन्ध द्वारा नाभिभाग से महाशक्ति को बार–बार ताड़ित करने पर ही वह उर्ध्वमुखी होती है। इस प्रकार उपर्युक्त समस्त विधियां महाशक्ति उत्थापन के लिए सहायक है।

त्रयग्रन्थि भेदन

उपनिषदों में कुण्डलिनी जागरण प्रक्रिया को त्रय ग्रन्थि भेदन के माध्यम से दर्शाया गया है। उपर्युक्त विधियों के माध्यम से उत्पन्न "अग्नि एवं वायु द्वारा तपाये जाने पर त्रिलोक को मोहित करने वाली जीवनशक्ति अर्थात् कुण्डलिनी जागृत हो जाती है अर्थात् कुण्डलिनी का मुख सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है। सुषुम्ना का आभ्यन्तर आवरण ब्रह्मनाड़ी नाम से सम्बोधित किया जाता हैं इसीलिए सुषुम्ना मुख के इस भेदन को 'ब्रह्मग्रन्थि भेदन' कहते हैं तथा इसे ही कुण्डलिनी जागरण भी कहते हैं।

एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासंकल्पकल्पितैः।
नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुध्यते।। वही, १/७/३५-३६

1 हमिति बीजम्। सं इति शक्तिः। सोऽहमिति कीलकम्।। हं०उ०, १०

इस प्रकार वायु अथवा प्राण से प्रदीप्त अग्नि के द्वारा संतप्त कुण्डलिनी ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करती है। इसके पश्चात् यह शक्ति सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर ऊपर को उठती हुई हृदय कमल के समीप आकर रूक जाती है। निष्ठा पूर्वक साधना में निरन्तर क्रियाशील रहने के कारण अनाहत चक्र भी जागृत हो जाता है। यह हृदय चक्र विष्णु का स्थान माना गया है, अतः इसके खुलने को अथवा जागृत होने को 'विष्णु ग्रन्थि भेदन' कहा जाता है। इसके अन्तर कुण्डलिनी ब्रह्मनाड़ी में ऊपर की ओर जाती हुई आज्ञा एवं विशुद्धि चक्र को पार करती हुई मस्तिष्क में स्थित सहस्रार चक्र पर पहुँचती है। इसको रूद्र का स्थान माना गया है। अतः इसके भेदन को 'रूद्रग्रन्थि भेदन' कहा जाता है। यह ब्रह्मनाड़ी का सबसे ऊपर का स्थान है जहाँ पर पहुँचने का अर्थ है– सर्वसन्देह समाप्ति तथा परब्रह्म की प्राप्ति। इस प्रकार इस स्थिति में समस्त भेद मिट जाते हैं तथा अद्वैत की ही प्रतिष्ठा रह जाती है।"[1] इस प्रक्रिया का उल्लेख अन्य योग शास्त्रों द्वारा भी किया गया है।[2]

त्रयग्रन्थि तथा चक्रों में सम्बन्ध

"ये तीनो ग्रन्थियां ब्रह्म, विष्णु एवं रूद्र– सुषुम्ना नाड़ी से होकर प्राण के मुक्त प्रवाह को अवरूद्ध करती है और चक्रों के जागरण एवं कुण्डलिनी के उत्थान को बाधित करती है। इन तीनों ग्रन्थियों के बिन्दुओं पर सुषुम्ना की जागृति होने पर

---

[1] वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्।
सतंप्त साग्निना जीवा शक्तिस्त्रैलोक्यमोहिनी।।
प्रविशेच्चन्द्रदण्डे तु सुषुम्नावदनान्तरे।
वायुना वह्निना सार्धं ब्रह्मग्रन्थि भिनत्ति सा।।
विष्णुग्रन्थि ततो भित्त्वा रूद्रग्रन्थौ च तिष्ठति। यो०शि०उ०, १/८३-८७

[2] क– यो०कु०उ०, १/६५-६६
ख– वरा०उ०, ५/६१-६६

विशेष प्रकार से मेरूदण्डीय संकुचन का अनुभव होता है जो इनका चक्रों से सम्बन्ध प्रकट करता है। ब्रह्म ग्रन्थि ब्रह्म का प्रतीक है तथा जीवन एवं सृष्टि की व्यक्त शक्ति है। इसके प्रभाव क्षेत्र में मूलाधार तथा स्वाधिष्ठान चक्रों का समावेश है। इसे मूलाधारीय ग्रन्थि भी कहा जाता है। कुण्डलिनी शक्ति से इस ग्रन्थि का भेदन स्वाधिष्ठान चक्र के निकट होता है। द्वितीय ग्रन्थि विष्णु ग्रन्थि है जिसके प्रभाव क्षेत्र में मणिपुर चक्र, अनाहत चक्र तथा विशुद्धि चक्र आते हैं। इसे नाभिग्रन्थि भी कहा जाता है। कुण्डलिनी शक्ति द्वारा इस ग्रन्थि का भेदन अनाहत चक्र के निकट होता है। इसके भेदन के पश्चात् मानवीय व्यक्तित्त्व तथा ब्रह्माण्ड के मध्य की अन्तः क्रिया स्वाभाविक तथा सहज रूप से होने लगती है। रूद्र ग्रन्थि आज्ञा तथा सहस्रार चक्रों का संचालन करती है। इसे ग्रीवा ग्रन्थि भी कहते हैं। इसके भेदन से वैयक्तिकता समाप्त हो जाती है। व्यक्त चेतना का त्याग तथा अव्यक्त चेतना में प्रवेश हो जाता है। अतः रूद्र ग्रन्थि भेदन ही अन्तिम स्थल है जहां आत्मा तथा परमात्मा का अन्तिम विलय घटित होता है।"[1]

कुण्डलिनी प्रंशसा

कुण्डलिनी को आधार शक्ति कहते हुए योगशिखोपनिषद् में उल्लेखित है – "सुषुम्ना तथा सरस्वती जहाँ मिलतें है वही से उत्पन्न तथा वहीं पर लय प्राप्त करता है। इसीलिए प्रत्येक सम्भव प्रयास करके गुरु की शरण में आ जाना चाहिए; क्योंकि वही आधार शक्ति का वास्तविक स्वरूप दिखाने में सक्षम है। कुण्डलिनी अर्थात् आधार

---

1 यो०द०, पृ०सं०–३५८–३६०

शक्ति जब सोई होती है तब सम्पूर्ण विश्व पर निद्रा का प्रभाव होता है तथा इस शक्ति के जागने पर तीनों लोक जागृत हो उठते हैं। ऐसा ज्ञान प्राप्त कर योगी अन्धकार में भी वस्तु को ज्ञात कर पाप–पुण्य से मुक्त हो जाता है। गुरु की प्रसन्नता द्वारा इस आधार शक्ति से विद्युत पुञ्ज निकलता है जिससे निःसदेह मुक्ति की प्राप्ति होती है। प्राण को आधार शक्ति में समर्पित करने से योगी का शरीर कम्पित होता है जिससे वह सदैव आनन्दित अथवा नृत्य मुद्रा में रहता है। उसको अनुभव हो जाता है कि समस्त पदार्थ आधार शक्ति द्वारा रचित है तथा इस के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। यही समस्त देवताओं का आधार तथा सभी वेदों का निवास स्थान है। यहीं पर त्रिवेणी (इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना) का संगम होता है जहां स्नान कर एवं पाने कर योगी पाप–पुण्य से मुक्ति प्राप्त करता है। इस आधार में पश्चिम लिङ्ग के द्वार है अर्थात् तीन गाठें है जिनके खोल कर ही आवागमन से मुक्ति सम्भव है। इस आधार शक्ति के दो भाग कहे गए है बाह्य एवं अन्तरिक इसका बाह्य भाग सुषुम्ना है जिसमें सम्पूर्ण विश्व प्रतिष्ठित है तथा आन्तरिक भाग निराकार ब्रह्म है जिसको जान कर योगी ब्रह्म है जिसको जान कर योगी ब्रह्ममय ही हो जाता है।"[1] इसी सन्दर्भ में

---

[1] केचिद्वदन्ति चाधारं सुषुम्ना च सरस्वती।
आधाराज्जायते विश्वं विश्वं तत्रैव लीयते।।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुपादं समाश्रयेत्।
आधारशक्तिनिद्रायां विश्वं भवति निद्रया।।
तस्यां शक्तिप्रबोधेन त्रैलेक्यं प्रतिबुध्यते।
आधारं यो विजानाति तमसः परमश्नुते।।
तस्य विज्ञानमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते।।
आधारचक्रमहसा विद्युत्पुञ्जसमप्रभा।
तदा मुक्तिर्न संदेहो यदि तुष्टः स्वयं गुरुः।।
आधारचक्रमहसा पुण्यपापे निकृन्तयेत्।
आधारवारोधेन लीयते गगनान्तरे।।

सिद्धसिद्धान्त पद्धति में कुण्डलिनी को कुल शक्ति तथा अकुल शक्ति, इन दो प्रकारों में विभक्त करते हुए कहा गया है – "कुण्डलिनी कुलशक्ति रूप में परा, सत्ता, अहन्ता, स्फुरता एवं कला–इन पाँच रूपों में समस्त विश्व के आधार रूप में अभिव्यक्त होती है तथा अकुल रूप में अनादि पब्रह्म, परमेश्वर, निराकार, निरञ्जन शिव रूपी पराशक्ति का निवास है जो जाति, वर्ण, गोत्र आदि अखिल निमित्तों से रहित है।"[1]

इस प्रकार समस्त विश्व की रचना करने वाली शक्ति का व्यष्टि रूप मानव शरीर में कुण्डलिनी के रूप में विद्यमान है। इसकी प्रसुप्ति की अवस्था मानव को लौकिक सृष्टि की ओर कार्यरत रखती है। वह मोह–माया इत्यादि को प्रभाव से उस को शाश्वत् सत्य से पृथ्क कर आवागमन के चक्र की ओर अग्रसर करती है पर जब मानव गुरु की शरण में आकर कुण्डलिनी का ज्ञान प्राप्त कर इसको जागृत करता है तब वह सभी पाशों को काट कर सीधा ब्रह्म में लीन हो जाता है। इसीलिए योगचूडामण्युपनिषद् में इस महाशक्ति को योगियों के लिए मोक्षदायिनी तथा अज्ञानियों के लिए बन्धनकारिणी कहा गया है।"[2]

आधारवातरोधेन योगी नृत्यति सर्वदा।
आधारवातरोधेन विश्व तत्रैव दृश्यते।।
सृष्टिराधारमाधारमाधारे सर्वदेवताः।
आधारे पश्चिमे भागे त्रिवेणीसंगमो भवेत्।
तत्र स्नात्वा च पत्विा च नरः पापात् प्रमुच्यते।।
आधारे पश्चिमं लिङ्ग कवाटं तत्र विद्यते।
तस्योद्धाटनमात्रेण मुच्यते भवबन्धनात्।।
आधारपश्चिमे भागे चन्द्रसूर्यो स्थिरौ यदि।
तत्र तिष्ठति विश्वेशो ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत्। यो० शि० उ०, ६/२२-३२

1 कुलमिति। परा सत्ता अहन्ता स्फुरता कलास्वरूपेण सैव पञ्चधा विश्वस्याधारत्वेन तिष्ठति।।
अकुलमिति। जातिवर्णगोत्राद्यखिलनिमित्तत्वेनैकमेवास्तीति प्रसिद्धम्।। सि०सि०प०, ४/३,६

2 बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा।। यो०चू०उ०, ४४

कुण्डलिनी जागरण लय प्रक्रिया

"मन्त्रोच्चारण, शक्तिचालिनी क्रिया अथवा प्राणायाम इत्यादि के दृढ़ अभ्यास द्वारा जब योगी प्राण एवं अपान का निरोध कर लेता है, तब उसकी गर्मी से तप्त होकर कुण्डलिनी जागृत हो जाती है अर्थात् तप्त कुण्डलिनी के मुख में बन्द पड़ा हुआ सुषुम्ना मुख उससे बाहर आ जाता है तथा कुण्डलिनी का मुख सिकुड़कर सुषुम्ना के मुख में चला जाता है। ऐसी स्थिति में उर्ध्वगमोन्मुखी कुण्डलिनी मुलाधार स्थित ब्रह्म एवं डाकिनी शक्ति तथा उस पद्म पर कामादि चतुर्वृत्तियों से युक्त चारों दलों पर स्थित "बं शं षं सं" का स्वयं में लय कर मात्र 'लं' बीज सहित ऊपर बढ़ती है। मुलाधार का त्याग कर स्वाधिष्ठान में पहुँचने पर कुण्डलिनी विष्णु एवं राकिनी शक्ति तथा प्रज्ञय, अविश्वास, अवज्ञा, मूर्छा, सर्वनाश एवं क्रूरता इन वृत्तियों से युक्त षट् दलों पर स्थित "बं भं मं यं रं लं" का स्वयं में लय करती है। यहां पृथ्वी बीज 'लं' जल में लय प्राप्त कर जल बीज 'वं' में परिणत होकर कुण्डलिनी के मुख में स्थित हो जाता है। इसके पश्चात् मणिपुर चक्र पर पहुंचकर कुण्डलिनी समान क्रम से रूद्र एवं लाकिनी शक्ति तथा लज्जा, पिशुनता, ईर्ष्या, सुषुप्ति, विषाद, कषाय, तृष्णा, मोह, घृणा तथा भय वृत्तियों से युक्त दश दलों पर स्थित "डं, ढं णं तं थं दं धं नं पं फं" का स्वयं में लय करती है। इस स्थल पर 'वं' बीज अग्नि मण्डल में लय प्राप्त कर अग्नि बीज 'रं' में परिणत होकर कुण्डलिनी के मुख में अवस्थान प्राप्त करता है। मणिपुर चक्र से ऊपर अनाहत चक्र तक आ जाने पर कुण्डलिनी द्वारा वहां स्थित ईशानरूद्र एवं काकिनी शक्ति तथा आशा, चिन्ता, चेष्टा, नम्रता, दम्भ, विकलता,

विवेक, अंहकार, कपट, वितर्क और अनुताप–इन वृत्तियों से युक्त द्वादश दलों पर स्थित "कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं" का स्वयं में लय किया जाता है। यहां पर अग्नि बीज 'रं' वायु मण्डल में तीन होकर वायु बीज 'यं' में तुष्ट हुआ उसके (कुण्डलिनी) मुख में स्थान प्राप्त करता है। अनाहत चक्र भेदन पश्चात् कुण्डलिनी विशुद्धि चक्र की ओर प्रस्थान करती है। वहां पहुँच कर पंचवक्त्र एवं साकिनी शक्ति तथा षोडश वृत्तियो से युक्त षोडश दलो पर स्थित "अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लं लृं एं ऐं ओं औं अं अः" का स्वयं में लय करती है। यहां वायु बीज 'यं' आकाश में लीन होकर आकश बीज 'हं' प्रणव 'ॐ' में परिणत होकर कुण्डलिनी आज्ञा चक्र में पहुँच कर वहाँ स्थित लिङ्ग एवं हं, लं, क्षं इन तीन मातृका वर्णों, त्रय गुणों तथा ब्रह्म–शिव प्रवृति पद्मा स्थित देव समूह को स्वयं में लीन करती है। यहां आकाश बीज 'हं' प्रणव ॐ में परिणत होकर कुण्डलिनी के शरीर में लीन हो जाता है। यहां से कुण्डलिनी नाद, बिन्दु, हकारार्ध और निरालम्ब पुरी प्रवृति का स्वयं में 'लय करती हुई अर्ध चन्द्र कपाट का भेदन कर ऊपर ब्रह्मरन्ध्र–स्थित सहस्त्रदल पदम् में परम पुरूष के साथ संयुक्त हो जाती है। इस प्रकार महाशक्ति कुल–कुण्डलिनी स्थूल भूत से लेकर प्रकृति पर्यन्त सांख्य के चौबिस तत्त्वों का ग्रास करके मस्तिष्क में स्थित सहस्रार में पहुँचकर ब्रह्म के साथ संयुक्त हो जाती है। ऐसी अवस्था में योगी ब्रह्म ज्ञान से शून्य होकर अनिर्वचनीय आनन्द मे निमग्न हो जाता है। इस लय क्रिया के पश्चात् कुण्डलिनी समान पथ से प्रत्यागमन करती है, तथा लय क्रिया के समय ग्रास किए समस्त देवताओं, शक्तियों वृत्तियों इत्यादि को उत्पन्न कर पूर्ववत् यथास्थान में

विद्यमान करती हुई पुनः अपने मूल स्थान पर श्यानावस्था में चली जाती है। इसकी उर्ध्वयात्रा लयं क्रम तथा अधोयात्रा सृष्टिक्रम कहलाती है।"[1] षट्चक्रनिरूपण[2] तथा अन्य योग विषयक शास्त्रों में कुण्डलिनी जागरण की यही लय क्रिया सर्वत्र प्रयोज्य है।

इस प्रकार कुण्डलिनी जागरण की लय प्रक्रियां एक क्षण में सम्पन्न हो जाती है किन्तु इसको जगाने में अथक योगाभ्यास, धैर्य, दीर्घ काल अत्यन्त अवश्यक है।

उपनिषदों में इसी लय प्रक्रिया की ओर संकेत करते हुए कहा गया है, "वाम तथ दक्षिण भाग अर्थात् इड़ा एवं पिंगला को निरूद्ध कर सुषुम्ना में प्रवेश पाकर महाशक्ति षट्चक्र भेदन कर जब सभी का स्वयं में लय करती हुई ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कती है तब एक मात्र ब्रह्म ही शेष रह जाता है जिससे एकाकार होकर परम गति प्राप्ति है।"[3]

इस प्रक्रिया में सर्वाधिक अपेक्षित है – योग्य गुरु निर्देशन। बिना गुरु के या अयोग्य गुरु के मार्गदर्शन में किया गया अभ्यास योगी को उसके लक्ष्य के विपरीत गमन करता है जिसके भयंकर परिणाम उसे जीवन पर्यन्त भोगने पड़ सकते हैं। इसीलिए योगी को गुरु के निर्देशन में ही अभ्यास करना चाहिए।

पूर्ण गुरु ही सर्वस्व देने में समर्थ होता है "उसकी प्रसन्नता ही शिष्य के शरीर के आधार चक्र में से ऐसा प्रकाश पुञ्ज उत्पन्न कर देती है, जिससे मुक्ति की

---

1 कुण्डलिनी शक्ति, पृ०सं०, ६६–१०१

2 ष०च०नि०, पृ०सं०–८०–६०

3 षट् चक्राणि च निर्भिद्य ब्रह्मरन्ध्रछहिर्गतम्।।
वामदर्क्षे निरुद्धन्ति प्रविशन्ति सुषुम्ना।
ब्रह्मरन्ध्र प्रविश्यन्ति ते यान्ति परमां गतिम्।। यो०शि०उ०, ६/३३–३४

निःसन्देह प्राप्ति होती है।"[1] इसी सन्दर्भ में शिव संहिता कहती है, "गुरु के प्रसन्न होने पर जब सुप्त कुण्डलिनी जागृत होती है, तब सभी पद्म और सभी ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है "[2] जो योगी अथवा शिष्य को निसंदेह परम गति प्राप्त करवाती है।

4.7.2 अष्टांग–योग में कुण्डलिनी–विज्ञान की उपयोगिता

आसन के सन्दर्भ में उपयोगिता

कुण्डलिनी जागरण हेतु प्रत्येक विधि का आधार आसन है अर्थात् किसी न किसी आसन में यह प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। जैसे– पद्मासन सिद्धासन, वज्रासन आदि। योगासन समय कुण्डलिनी ज्ञान योगी को विशेष आसन के प्रति चेतन कर देता है जिसके निरन्तर अभ्यास द्वारा वह इस शक्ति को जागृत करने की क्षमता प्राप्त करता है। इस शक्ति को ध्यान में रखकर किए गए आसनों का अभ्यास अतिरिक्त फलदायक होता है। जिससे शक्ति उत्थापन में सहायता मिलती है।

प्राणायाम के सन्दर्भ में उपयोगिता

प्राण ही वह बाण है जिससे महाशक्ति कुण्डलिनी सुषुम्ना का भेदन कर ऊर्ध्वगामी होती है। प्राणायाम की रेचक, पूरक एवं कुम्भक क्रिया का सतत अभ्यास ही प्राण निरोध के लिए किया जाता है तथा यही प्राणायाम का लक्ष्य है। यदि साधक कुण्डलिनी से अनभिज्ञ होकर प्राणायामभ्यास में प्रवृत्त हो जाए तो वह इसमें केवल शारीरिक स्तर तक के लाभ ही प्राप्त करेगा तथा जिस अमृतपान के लिए मानव योनि प्राप्त हुई है उससे अछूता ही रह जाएगा।

---

1 आधारचक्र महसा विद्युत्पुञ्जसमप्रभा
तदा मुक्तिर्न संदेहो यदि तुष्टः स्वयं गुरुः।। यो०शि०उ०, ६/२६

2 सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।। शि०सं०, ४/२२

धारणा, ध्यान तथा समाधि के सन्दर्भ में उपयोगिता

"इस शक्ति का मन के द्वारा दर्शन करने मात्र से मनुष्य पापों से मुक्त हो जाता है।"[1] इसका तात्पर्य शक्ति के दर्शनोपरान्त उसकी धारणा तथा धारणा करने के पश्चात् सतत् ध्यान, उसे (शक्ति) जागृत करने में पूर्णतया समर्थ होता है और जब यह महाशक्ति जागृत होकर सुषुम्ना पथ से षट्चक्रों को भेदती हुई सहस्रार तक पहुँचती है तब ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई शेष नहीं रहता। यही समाधि स्थिति कही गई है।

अतः कुण्डलिनी विज्ञान साधक को महाशक्ति की विशिष्ट जानकारी से परिचित करवाता है। इससे युक्त साधक पथ भ्रष्ट न होकर उचित मार्ग से लक्ष्य की ओर प्रस्थान करता है।

निष्कर्षात्मक अभिमत

योगोपनिषदों में अत्यन्त विस्तृत एवं स्पष्ट रूप से अष्टांग–योग का निरूपण उपलब्ध होता है। मुख्यतः ये उपनिषद् इस बात पर बल देते हैं कि अष्टांग–योग मात्र अष्ट–अंगों का ज्ञान होने पर ही सिद्ध नहीं किया जा सकता अपितु मुख्य विज्ञानों के विशिष्ट ज्ञान द्वारा ही इसकी सिद्धि निश्चित होती है। इसीलिए अष्टांग–योग में सहायक सृष्टि–विज्ञान, शरीर–विज्ञान, नाड़ी–विज्ञान, प्राण–विज्ञान, चक्र–विज्ञान, मुद्रा एवं बन्ध–विज्ञान तथा कुण्डलिनी–विज्ञान का ज्ञान होना अति आवश्यक है। अष्टांग–योग के प्रथम अंग 'यम' की सिद्धि हेतु सृष्टि–विज्ञान का ज्ञान अनिवार्य है।

---

1 तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापविनाशद्वारा मुक्ति भवति। अ०ता०उ०, ५

परमतत्त्व द्वारा निर्मित सृष्टि सम्बन्धी ज्ञान से ही मानव–मन में सभी प्राणियों को ब्रह्म स्वरूप देखते हुए सहजता, सहनशीलता, एकसमानता नम्रता एवं अभोगादि वृत्तियों का प्रवेश होगा जो यम पालन में अत्यन्त सहायक है। यही भावनाएं 'नियम' अंग साधने में भी महत्त्वपूर्ण हैं। विभिन्न शारीरिक प्रकृतियों के कारण शारीरिक ज्ञान भी अत्यावश्यक है क्योंकि बिना शरीर–विज्ञान के आसनों का अभ्यास हानिकारक सिद्ध हो सकता है तथा अल्प ज्ञान से प्राप्त विपरीत प्रभाव बहुत कष्टदायक होते हैं। इसी प्रकार प्राणायाम सिद्धि के लिए प्राण–विज्ञान अनिवार्य है। प्राणायाम का आधार जीवनी–शक्ति 'प्राण' है जिनका शरीर में कार्य, स्थान तथा प्रभाव जाने बिना प्राणायाम का अभ्यास करना रोगों को निमन्त्रण देने के समान है। इनके अतिरिक्त प्राण का प्रवाह जिस मार्ग से होता है उन नाड़ियों का ज्ञान भी अति आवश्यक है। इसकी पुष्टि इससे हो जाती है कि अधिकाशतः इन योग परक उपनिषदों में प्राणायाम की महिमा से पूर्व नाड़ियों तथा चक्रों की विस्तृत जानकारी दी गई है। इसी सन्दर्भ में त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् का कथन है कि नाड़ी, वायु, प्राणों के स्थान तथा चेष्टाएं नाना प्रकार की हैं। उन सभी को जानने का प्रयास करना चाहिए। ध्यानबिन्दूपनिषद् भी नाड़ी एवं चक्र की जानकारी योग–साधकों के लिए परमावश्यक स्वीकृत करते हैं। इसके अतिरिक्त कुण्डलिनी नामक महाशक्ति भी प्राण के माध्यम से उर्ध्वमुखी होकर समस्त चक्रों का भेदन करके ब्रह्म में लय प्राप्त करती है। अतः कुण्डलिनी मार्ग एवं चक्र स्थान का ज्ञान प्राणायामभ्यास से पूर्व अपेक्षित है। मुद्रा एवं बन्ध प्राणायाम करते हुए लगाना श्रेयस्कर माना गया है जिसकी पुष्टि करते हुए योगकुण्डल्युपनिषद् का

कथन है कि निष्पाप योगी का इन चारों प्रकार के प्राणायामों के कुम्भक काल में तीन प्रकार के बन्ध लगाना अत्यावश्यक है।

अतः धारणा, ध्यान एवं समाधि से पूर्व विभिन्न विज्ञानों का ज्ञान होने पर किसी भी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती और जीव इन से लाभान्वित होते हुए जीवन के परम लक्ष्य परमानन्द को प्राप्त करने योग्य हो जाता है।

***

'समकायः सुगन्धिश्च सुकान्ति स्वरसाधकः।
आरम्भभटकरचैव यथा परिचयस्तदा।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था भवन्ति ताः।।
आरभः कथितोऽस्माभिरधुना वायुसिद्धिये।
अपरः कथ्यते पश्चात्सर्वदुःखौधनाशनः।।
प्रौढ़वह्निः सुभोगी च सुखी सर्वाङ्गसुन्दरः।
संपूर्णहृदयो योगी सर्वोत्साहसबलीन्वितः।
जायते योगिनो वश्यमेते सर्वकलेवरे।।'[१०३]

अतः उपरोक्त विवरण से निःसन्देह स्पष्ट होता हैं कि अध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ने के लिए प्राणायाम में अभ्यासरत योगी को नाड़ी ज्ञान, प्राण समुच्चय का ज्ञान एवं नाड़ियों में प्राण संचार एवं उसका प्रभावादि जानना परमावश्यक है। प्राण के सम्यक् संचार के लिए नाड़ी शुद्धि का होना नितान्त अनिवार्य है। क्योंकि नाड़ी चक्र भली भांति शुद्ध होने पर ही प्राणशक्ति सम्यक् रूप से प्रवाहित होती है।

(ङ) प्राण-जीव-कुण्डलिनी का आपस में सम्बन्ध व स्थान निर्देशन :-

'कुण्डलिनी' योगशास्त्र के अनेक गूढ़ विषयों मे से एक प्रमुख विषय हैं। इसको सर्पिणी, शक्ति, कुण्डलिनी, ईश्वरी इत्यादि भी कहा जाता है यह कुण्डलिनी योग-तंत्र का आधार है। जिस प्रकार समस्त पर्वत, वन और भूमि का आधार भगवान् शेष नाग हैं अर्थात् इन्हीं के ऊपर ही ये सब टिका हुआ है उसी प्रकार सब योग-तन्त्रों अर्थात् उपायों का आधार कुण्डली है।

'सशैलवनधात्रीणां यथाऽऽधारोऽहि नायकः।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाऽऽधारो हि कुण्डली।'[१०४]

---

१०३. शिव. सं., ३.३१-३४.

१०४. हठ. यो. प्र., ३.१.

योग विज्ञान के अनुसार इस समस्त ब्रह्माण्ड में जितनी शक्तियां विद्यमान हैं, वे सब सूक्ष्म रूप में मानव शरीर में भी हैं। कुण्डलिनी शक्ति को भी मानव शरीर में उपस्थित शक्तियों में से एक माना गया है। यह माना गया है कि मेरूदण्ड के भीतर इडा और पिंगला नामक दो स्नायवीय शक्ति-प्रवाह और मेरूदण्ड में स्थित मज्जा के भीतर एक सुषुम्ना नामक नाड़ी है। इस सुषुम्ना-नाड़ी के नीचे कुण्डलिनी का आधारभूत पदम् विद्यमान है। कुछ योगी कुण्डलिनी का आधार मूलाधार चक्र को कहते हैं।

मूलाधार इत्यादि सात चक्र हैं और मनुष्य के शरीर में विद्यमान रहते हैं ऐसा माना गया है। इन्हीं चक्रों में नाड़ियां मिलती है। इन सभी चक्रों का सम्बन्ध सुषुम्ना नाड़ी से है। मुख्य सात चक्र हैं :-

१. मूलाधार
२. स्वाधिष्ठान
३. मणिपूरक
४. अनाहत चक्र
५. विशुद्ध चक्र
६. आज्ञा चक्र
७. शून्य चक्र

'(१) मूलाधार चक्र का स्थान मेरूदण्ड के निचले भाग में माना गया है। इस चक्र के नीचे त्रिकोण यन्त्र जैसा एक सूक्ष्म योनिमण्डल है। जिसके मध्य से सुषुम्ना नाड़ी, दांयी ओर से पिंगला और बांयी ओर से इडा नाड़ी निकलती है, इसलिए इसे मुक्त त्रिवेणी भी कहते हैं। मूलशक्ति अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का आधार होने से इस चक्र को मूलाधार कहते हैं। मूलाधार चक्र का स्थान गुदा द्वार से दो अंगुल ऊपर और उपस्थमूल से दो अंगुल नीचे हैं। इसकी चार पंखुडियां हैं (दल हैं)। इन चारों दलों पर वँ, शँ, षँ, सँ ये चार अक्षर अंकित

हैं। इसका रंग लाल है तथा गंध इसका गुण है। गणेश इसके देवता हैं। पृथ्वी तत्त्व है। डाकिनी शक्ति है।

(२) स्वाधिष्ठान चक्र उपस्थ के ठीक सामने है। यह षट्दल कमल है। यह सिन्दूरी (पीला) रंग के प्रकाश से प्रकाशित है। इसकी छः पंखुड़ियों पर बँ, भँ, मँ, यँ, रँ, लँ ये छः अक्षर अंकित हैं। जल तत्त्व है। रस गुण है। ब्रह्मा इसके देवता हैं। राकिनी शक्ति है।

(३) मणिपूरक चक्र नाभि में मणि के आकार वाला है। इसके दस दल हैं, जिन पर डँ, ढँ, णँ, तँ, थँ, दँ, धँ, नँ, पँ, फँ अक्षर अंकित हैं इसका रंग नीला है। विष्णु इसके देवता है। लाकिनी शक्ति है। अग्नि तत्त्व है।

(४) अनाहत चक्र मणिपूरक चक्र के ऊपर है। हृदय इसका स्थान है। यह सफेद रंग का है। इसके बारह दल होते हैं जो कँ, खँ, गँ, घँ, ङँ, चँ, छँ, जँ, झँ, ञँ, टँ, ठँ, इन बारह अक्षरों से युक्त है। इसके अधिष्ठातृ देवता शिवजी हैं। वायु तत्त्व है तथा काकिनी शक्ति है।

(५) विशुद्ध चक्र कंठ में स्थित हैं। इसके सोलह दल हैं, जिन पर 'अ' से 'अः' तक के सोलह अक्षर सुशोभित हैं और जीव इसके देवता हैं। साकिनी शक्ति है तथा आकाश तत्त्व हैं। शब्द गुण हैं। इसका रंग भूरा है।

(६) आज्ञा चक्र भ्रूमध्य में स्थित है। इसके दो दल हैं जिन पर 'हँ' और 'क्षँ' दो बीज अंकित हैं। ज्योति इसके देवता हैं। हाकिनी शक्ति है। इसका रंग नारंगी है। मन तत्त्व है।

(७) उक्त षट्चक्रों के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में शून्य चक्र में हजार दल वाला कमल होता है। यह शुद्ध स्फटिक मणि के समान देदीप्यमान होता है। इसके अधिष्ठात्री

देवता परब्रह्म हैं। आत्मा तत्त्व हैं। इसके अनेक रंग होते हैं।'[१०५]

इन षट्चक्रों का भेदन कर कुण्डलिनी का सहस्त्रार में जीव-ज्योति से मिलन हो जाता है।

कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर से होकर निकलती है। सुषुम्ना नाड़ी के दोनों ओर बहने वाली इडा और पिंगला नामक नाड़ियां इसके दो कुण्डल हैं। इन कुण्डलों के कारण ही इसे कुण्डलिनी कहते हैं।

साधारण अवस्था में यह कुण्डलिनी सोई हुई अवस्था में रहती है। इसका दृष्टान्त एक ऐसी सर्पिणी के समान दिया जा सकता है जो कुण्डल खाए बैठी हो।

'योगयाज्ञवल्क्यम्' में भी इसके बारे में कहा गया है कि मूलाधार चक्र के ऊपर नाभि से टेढे तथा ऊपर से कुण्डली के स्थान की अष्ट प्रकृति रूपा जो यह कुण्डलिनी है वह आठ प्रकार से कुण्डली करती है।

'तस्योर्ध्वं कुण्डलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः।
अष्टप्रकृतिरूपा सा अष्टधा कुण्डलीकृता।।'[१०६]

इसके बारे में माना गया है कि यह इतनी सूक्ष्म है कि इसे देखा नहीं जा सकता। केवल योगाभ्यास द्वारा अनुभव किया जा सकता है। जब योगियों की यह कुण्डलिनी जागृत हो जाती है तो वह मुक्त हो जाते हैं।

'कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता।
सा शक्तिचालिता येन सः मुक्तो नात्र संशयः।।'[१०७]

---

१०५. प्रा. यो. शि., पृ. ६६-१०१.

१०६. योगयाज्ञ., ४.२१.

१०७. हठ. यो. प्र., ३.१०१.

जब तक यह कुण्डलिनी सोई रहती है तब तक जीव पशु की भांति अज्ञानी बना रहता है और करोड़ों प्रकार का अभ्यास करने पर भी उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

'मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुंजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता।
यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्।।'[१०८]

यह अष्ट प्रकृति रूपा जो कुण्डलिनी है वह चारों तरफ वायु तथा जल के संचार को रोककर इस संसार रूपी जाल के मूल में उसी तरह स्थित रहती है जिस प्रकार मकड़ी जाल में रहती है।

'यथावद्वायुसंचारं जलान्नादीनि नित्यशः।
परितः कन्दपार्श्वेषु निरूद्धयैव सदा स्थिता।।'[१०९]

इसको जागृत करने के लिए प्राणायाम का आश्रय लिया जाता है। प्राणायाम के अभ्यास से कुण्डलिनी पर एक प्रकार का आघात लगता है जिससे वह सोते से जाग कर, सर्प के समान फुंकार मारती हुई सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है। जिस प्रकार सर्पिणी रेंगती है उसी प्रकार यह कुण्डलिनी शक्ति रेंगती हुई ऊपर चढ़ती है।

'स्फुरन्ती हृदयाकाशे नागरूपा महोज्जला।
वायुर्वायुसखेनैव ततो याति सुषुम्णया।।'[११०]

---

१०८. घे. सं., ३.४९-५०.

१०९. योगयाज्ञ. ४.२२.

११०. वही, ४.२४.

सुषुम्ना में प्रवेश करते ही उसका चक्र भेदन का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। यह कुण्डलिनी शक्ति चक्रों का क्रमशः भेदन करती हुई अन्त में सहस्त्रार तक पहुँच जाती है।

जब यह कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना नाड़ी में उर्ध्वगामी होती है तो ब्रह्मरन्ध्र में अमृत की वर्षा होती है अर्थात् साधक के शरीर को कुण्डलिनी के प्रसाद में ब्रह्मरन्ध्र से टपकते हुए अमृत के बिन्दु प्लावित करते हैं।

सहस्त्रार तक पहुँचने पर कुण्डलिनी का शिव से मिलन होता है और साधक को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

प्राण-जीव व कुण्डलिनी का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीव कुण्डलिनी शक्ति व प्राण शक्ति को लेकर ही इस संसार में आता है। बाद में यह कुण्डलिनी इन चक्रों में प्राणशक्ति के साथ प्रवेश करती है। यह प्राण शक्ति सर्पिणी की भांति रेंगती हुई ऊपर चढ़ती है। ज्यों-ज्यों वह ऊर्ध्वगामिनी होती है त्यों-त्यों जीव अपने अभ्यास के बल से कुण्डलिनी को जागृत करता है। ज्यों-ज्यों यह प्राण शक्ति ऊपर चढ़ती जाती है त्यों-त्यों जीव को ज्ञान, शक्ति और आनन्द की अधिक से अधिक अनुभूति होती जाती है। सहस्त्रार में पहुँच कर जीव की मोक्ष प्राप्ति की यात्रा समाप्त हो जाती है। कुण्डलिनी को जागृत करके जीव मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है और उस समय जीव के लिए प्राण रूपी शक्ति का भण्डार खुल जाता है और वह जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अगर जीव कुण्डलिनी जागृत करने का अभ्यास छोड़ देता है तो कुण्डलिनी फिर से सो जायेगी।

यह कुण्डलिनी प्राणशक्ति के साथ ही ऊपर को उठती जाती है और अन्त में मूलाधार चक्र में कुण्डली मारकर अथवा साम्यावस्था में रहती है।

कुण्डलिनी जागरण से ही जीव के लिए मोक्ष के द्वारा खुलते हैं और वह ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है और पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता है।

महाबंध

दाहिने पैर की एड़ी से गुदा और लिंग के मध्य दबाया जाय और बांया पैर दक्षिणा जंघे पर रखा जाय। इसके साथ जालंधर बंध लगाते हैं। [1]कुछ लोग दांत पर दांत बैठाकर जिह्वा से उसके बीच में चांपते हैं। कुम्भक करके वायु को नीचे से ऊपर को फेंकते हैं।(२) बांयी एड़ी से गुदामूल का निरोध कर दाहिने पैर से यत्नपूर्वक बांयी एड़ी को दबाते हुए धीरे धीरे गुह्य देश को कुन्चन करना चाहिये। (३)

१- शिव संहिता ४।३७,३८ २- गोरक्ष संहिता

३- वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत्।
दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नत: सुधी: ।।
शनै: शनै: श्चालयेत् पार्ष्णि योनिमाकुंचयेच्छनै: ।
जलन्धरे धारयेत् प्राणां प्राणं महाबन्धो निगद्यते (घेरण्ड संहितायामे)
अन्येव महाबन्धो मुद्रा अद्यायमभ्यसेत् ।
महाब न्धास्थितो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनै: ।।
अपमेव: महाबन्ध: सिद्धैरभ्यस्यते नरै: ।
पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।।
वामोरुपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।
पूरयित्वा मुखे वायुं हृदये चिबुकं दृढं ।।
निष्पीड्य योनिमाकुन्चयन्मनोमध्येनियोजयेत् ।
रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोयमुच्यते ।।
अमुं योनिं महाब न्धं महासिद्धि प्रदायकं ।
वामांगे च समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत ।।
अयं चसर्व नाड़ीणामूर्द्ध गतिनिरोधयेत् ।
त्रिवेणी संगमम् धत्ते केदारं प्रापयेन्मन: ।।
रूपलावण्य सम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महाबन्ध स्थितो योगी कृत्वा प्रकरणं तथा ।
वायुन्मां गतिमाकृष्य विधृतं कण्ठमुद्रया ।।
(योग कर्णिकायामे)

बंध- त्रय- (१) बंध त्रय का महत्व । (२)

१- मुखनासिक कर्णानां अङ्गुलिभिर्विरोधयेत् ।

तथोदर भित्ति प्रोक्तं सन्मुखीकरणं त्विदं ।।

पूरकान्ते प्रकर्तव्यं पानं बालन्ध रामिधं ।

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तुगिनायक: ।।

अध आकुंन्चनेव कण्ठसंकोचने कृते ।

मध्यपश्चिमतानेन प्राण: ब्रह्मनाभि: ।।

अपानमूर्द्धमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधोनयेत् ।

योगी जरा विमुक्ति: सनं षोडशाब्दवयो लभेत् ।।

सर्वत्र कुम्भके कुर्यात गुदस्याकुन्चनं सुधी:

तदा वायुर्मवेद्दश्यो भवेच्च धारणा दाम: ।। (योग स्वारोदये)

मूलबन्धं तत: कुर्यादुड्डीयान स्तत: परम् ।।

जालंधरं तत: कुर्याद् बंधत्रयमितीरितं ।

नासाभ्यां वायुमाकृष्य उदरं पूरयेच्छनै: ।।

मूलस्थानं समाकुन्च्य हृदये चिबुकं न्यसेत् ।

उदरे पश्चिमातानं जालंधर मितीरितं ।।

उड्डियाने विशेषोयं वक्ष्यामि तत् समासत: ।

वज्रासने स्थितोयोगी पादाभ्यां करयोधृतम् ।।

उदरे पश्चिमातानं मूलाकुन्चये तत: ।

साधयित्वा यथा शक्तिं द्वितीय भेदनं शृणु ।।

पेषयेच्च मूलाधारं शनै: शनै: प्रयत्नत: ।

उड्डियाने महासिद्धिं लभेच्च साधयेत्सदा ।।

अन्याश्चापि च मुद्राश्च साधयेद्वा न साधयेत् (योग कर्णिकायामे)

२- बंध त्रय महागुह्यं जरामरण नाशनं ।। (घेरण्ड संहितायाम)

पुण्य संभार सद्भावं पापौघाति हरंसदा ।।

सम्यक शिक्षावतामेव स्वप्नं प्रथमसाधने ।। (योगकर्णिकायाम)

महावेध-

आसनस्थ होकर दोनों हाथों से शरीर को जमीन से उठाया जाय और चूतड़ को जमीन पर बार -बार पटका जाय।(१) महाबन्ध का अभ्यास कर उड्डियान बंध के बाद कुम्भक द्वारा वायु को रोकना महावेध है।(२) महावेध का महत्व इस प्रकार है।(३)

१- गोरक्ष पद्धति १।९-४ शिवसंहिता ४।४३

२- घेरण्ड संहिता

"In Maha vedha (Gherand Samhita V.25.) the yogi asumes the mahabandha posture, and concentrating his mind, stops the upward and downward course of the Prana. Then placing the palms of his hands on the ground, he taps the ground with his buttocks (Sphic) and the 'moon', Sun and 'fire' - that is, Ida, Pingala, and Susumna- become united upon the entry of the Prana into the latter Nadi. Then the body asumes a death like aspect, which disappears with the slow expiration which follows." (Page 208)

(The Serpent Power X Ed.- Sir John Woodroffe)

३- रूपयौवन लावण्यं नारीणां पुरुषं बिना यथा।
महामुद्रा महाबंध महावेध विना तथा।।
(महामुद्रा महाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ) पाठ्यांतर
महावेध समासाद्य उड्यायी कुम्भक चरेत्।
महावेध समाख्यातं योगिनां सिद्धिदायकं।। (योगकर्णिकायाम्)

कबीर के समान ज्ञानेश्वर भी मानते हैं कि जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में भी । यही नाथपंथ की सुप्रसिध्द धारणा है । सृष्टि में परिव्याप्त शक्ति को महा कुण्डलिनी कहा जाता है और व्यष्टि देह पिण्ड में व्याप्त शक्ति को कुण्डलिनी कहा जाता है । " पिण्डे पिण्डीचा ग्रासु " (ज्ञा. अ. ६ २९१) इस ओवी में यही रहस्य स्पष्ट किया है । पिण्ड से पिण्ड का ग्रास करना याने उद्बोधित कुण्डलिनी से पंच महाभौतिक शरीर का विलयन करना । उसी में भी पृथ्वी आप और तेज इन तीन तत्त्वों का विलयन होता है । (इसका अधिक विवेचन इसी प्रबंध में अ. ३ में मिलेगा ।)

षट्कर्म -

नाथसंप्रदाय के सांप्रदायिक ग्रंथों में देहशुध्दि के लिए जिन षट्कर्मों का विस्तृत विवेचन मिलता है । ये षटकर्म हैं-- धौति, बस्ती, नेती, नौली, कपालभाति और त्राटक । लेकिन कबीर और ज्ञानेश्वर में इन षट्कर्मों का विवेचन नहीं मिलता । अत: षट्कर्मों की जानकारी भी यहाँ नहीं दी गयी ।

मुद्रा -

मुद्राओं की सिध्दि के बिना कुण्डलिनी जागृत नहीं होती । मुद्राओं को बंध भी कहा जाता है । हठयोगप्रदीपिका में दस मुद्राओं का वर्णन आया है ।[२९४] उनमें खेचरी मुद्रा को श्रेष्ठ बतलाया गया है । हठयोगप्रदीपिका में कहा है --

" एकं सृष्टिमयं बीजं, एका मुद्राच खेचरी ।
एको देव निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ।। "[२९५]

ब्रह्मरंध्र के सहस्राकार पद्म के मूल में एक शक्ति केन्द्र है, वहीं चन्द्रमा का स्थान बताया जाता है । चन्द्रमा से हमेशा अमृत झरता रहता है । अन्य

---

२९४ हठयोगप्रदीपिका - उपदेश ३।६,७

२९५ हठयोगप्रदीपिका -- उपदेश ३।५४ ।

लोगों में यह अमृत व्यर्थ जाता है। परन्तु योगी खेचरी मुद्रा की साधना के द्वारा अपनी जिव्हा को तालुमूल में प्रविष्ट करके इस सोमरस का पान करता है और अमर हो जाता है।

पूरक प्राणायाम करते समय मूलबंध तथा उड्डियानबंध लगाये जाते हैं। कुंभक प्राणायाम करते समय मूलबंध तथा जालंधर बंध लगाये जाते हैं। रेचक प्राणायाम करते समय मूलबंध एवं उडियान बंध लगाये जाते हैं।

कबीर में बंध अथवा मुद्राओं के विषय में व्यवस्थित रूप में वर्णन नहीं पाया जाता। कबीर ने सूत्रवत् मूलबंध तथा उन्मनी अवस्था या खेचरी मुद्रा की ओर संकेत किया है। एक स्थल पर कबीर ने लिखा है --

" अवधू गगनमण्डल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंकनालि रस पीजै।
मूलबाँधि सर गगन समानां सुखमन यौं तन लागी।[296] "

और

" अवधू मेरा मन मतवारा।
उन्मनी चढ़या गगनरस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।।[297] "

अतएव कबीर ने मूलबंध, खेचरी मुद्रा की साधना की थी जिसका आभास मात्र मिलता है, अन्य मुद्राओं का भी व्यवस्थित वर्णन नहीं है।

ज्ञानेश्वरजी ने मूलबंध, जालंधर बंध और उड्डियाण बंध तीनों का विस्तृत विवेचन किया है। तीनों बंधों का वर्णन हठयोगप्रदीपिका में किये हुए वर्णन से मिलता जुलता है। तीनों बंधों का वर्णन ज्ञानेश्वरी के छठे अध्याय आया है। मूलबंधका वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर जी कहते हैं कि पिंडली को जांघ से मिलाकर[298] पैर के तलुए इस प्रकार टेढ़े करने चाहिये कि वे ऊपर की ओर हो जायें।

---

२९६. कबीर ग्रंथावली, पृ.११० २९७. कबीर ग्रंथावली, पृ.११०

२९८. मुडेंची प्रौढी ऐसी। तेथ सांधिजे आतां परियेसीं।
तरी उडु या जघनासी। कडोनि धाली।। ज्ञा. अ. ६।१९२।

और तब उन्हें गुदस्थान के मूल में रखकर ओरसे दबाना चाहिए।[२९९] दाहिनी तलुए से गुदस्थान की सीवन का ठीक बीचवाला भाग दबाना चाहिए। इससे बायी तलुवा सहज में ठीक ऊपर जमकर बैठ जायेगा।[३००] गुदा और वृषण के बीच में चार अंगुल का अन्तर होता है। उसमें से यदि डेढ़ अंगुल दोनों ओर छोड़ दिया जाय तो बीच में एक अंगुल बाकी रह जाता है।[३०१] एड़ी का पिछला भाग वहीं रखकर और सारे शरीर का भार तूल तोलकर उस स्थान को अच्छी तरह दबाना चाहिए।[३०२] फिर पीठ का नीचेवाला भाग धीरे हलके पन से ऊपर उठाना चाहिये, जिसमें यह भी पता न चले कि ऊपर का शरीर उठाया गया है या नहीं और दोनों घुटने भी उसी प्रकार संभाल कर रखने चाहिये।[३०३] (हे अर्जुन) ऐसा करने से सारे शरीर का भार एड़ी के केवल अगले भागपर आ पड़ेगा।[३०४] यह मूलबंध का वर्णन है और इसका दूसरा नाम वज्रासन भी है।[३०५] इस सूक्ष्मता से यदि देखें तो ज्ञानेश्वर जी का किया हुआ मूलबंध का वर्णन और हठयोग - प्रदीपिका में आया हुआ मूलबंध का वर्णन एक ही है।[३०६]

---

२९९ चरणतळें देव्हडी। आधार द्रुमाचा बुडीं।
सुघटितें गाढीं। संचरी पां ।। ज्ञा. अ. ६।१९३

३०० सव्य तो तळीं ठेविजे। तेणें शिवणीमध्यु पीडिजे।
वरी बैसे तो सहजें। वामचरणु ।। ज्ञा. अ. ६।१९४

३०१ गुदमेढ्रांचा तौतीं। चारी अंगुळें निगुतीं।
तेथ सार्ध सार्ध प्रान्तीं। सांडुनियां ।। ज्ञा. अ. ६।१९५

३०२ माजि अंगुळ एक निगे। तेथ टांचेनि उत्तरभागें।
नेहेटिजे परि वागें। पेलोनी ।। ज्ञा. अ. ६।१९६

३०३ उचलिलें कां नेणिजे। तैसें पृष्ठान्त उचलिजे।
गुल्फद्वय धरिजे। तेणेंचि मानें ।। ज्ञा. अ. ६।१९७

३०४ मग शरीरसंचु पार्था। अशेष ही सर्वथा।
पाष्णिचा माथा। स्वयंभु होय ।। ज्ञा. अ. ६।१९८

३०५ अर्जुना हें जाण। मूळबंधाचें लक्षण।
वज्रासन गौण। नाम यासी ।। ज्ञा. अ. ६।१९९।

३०६ हठयोगप्रदीपिका -- उपदेश ३।६१-६५।

छठे अध्याय में जालंधर बन्धका भी वर्णन आया है। सिर दबाकर नीचे बैठ जाता है और ठोडी गले के नीचेवाले गढ्ढे में बैठ जाती है और सिर अच्छी तरह छाती के साथ सट जाता है।[307] इससे कंठनाडी भी उसी में मिलकर फँस जाती है। इसी प्रकार के बंध को " जालंधर बंध " कहते हैं।[308] नाभि ऊपर उठ जाती है और पेट अन्दर धँस जाता है, परन्तु हृदयकोश प्रफुल्लित हो जाता है।[309] इस प्रकार लिंगमूल के ऊपर और नाभिस्थान के नीचे जो बन्ध होता है उसे उड्डियान बंध " कहते हैं।[310] दोनों बंधों का वर्णन भी हठयोगप्रदी--पिका में किये वर्णन से मिलता जुलता है।[311]

तेरहवें अध्याय में इन बंधों के स्थान बताये हैं। आधार चक्र में मूलबंध, नाभि में मणिपूरचक्र के स्थानपर उड्डियान बंध और कंठ में विशुध्दचक्र के स्थानपर जालंधर बंध होता है।[312] अन्यत्र ज्ञानेश्वरी अ. ४।१२७, १४७, अ. ८।४९-५७ में तीन मुद्राओं का उल्लेख आया है।

---

307 मग कंठनाळ आटे। हनुवटी हे दाटे।
ते गाढी होयोनि नेहटे। वक्षःस्थळी ।। ज्ञा. अ. ६।२०७

308 माजि घंटिका लोपे। वरी बंधु जो आरोपे।
तो जालंधरु म्हणिपे। पंडुसुता ।। ज्ञा. अ. ६।२०८

309 नाभी वरी पोखे। उदर हें थोके।
अंतरीं फांके हृदयकोशु ।। ज्ञा. अ. ६।२०९

310 स्वाधिष्ठानावरिचिले कांठीं। नाभिस्थानातळवटीं।
बंधु पडे किरीटी। वोढियाणा तो ।। ज्ञा. अ. ६।२१०

311 जालंधर -- हठयोग प्रदीपिका
३।७०,७१,७२ उड्डियान - ह. यो. प्र. ३।५५-६०

312 आधारीं नाभी कंठीं। बंधत्रयाचीं घरटीं।
चंद्रसूर्यसंपुटीं। सुये चित्त ।। ज्ञा. अ. १३।५०८।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञानेश्वरी में आया हुआ मुद्राओं का वर्णन ज्ञानेश्वरजी ने नाथसंप्रदाय के अनुसार ही किया है। कबीर ने विस्तृत वर्णन नहीं किया, केवल संदर्भ दे दिया है।

षट्चक्र भेदन और कुण्डलिनी उत्थापन :

कुण्डलिनी उत्थापन प्रक्रिया का वर्णन हठयोग के ग्रंथों के अतिरिक्त त्रिपुरासारसमुच्चय, ज्ञानार्णव, तंत्र, गंधर्व तंत्र, वामकेश्वर तंत्र आदि तन्त्र ग्रंथों में भी मिलता है। इस प्रक्रिया से योगी लोग आत्मज्योति दर्शन तथा अनहद नाद श्रवण करते हैं। कुण्डलिनी स्वयं नादस्वरूपा, ज्योतिस्वरूपा तथा शक्तिस्वरूपा मानी जाती है। कुण्डलिनी जागृत करने के लिए चक्रभेदन की परम आवश्यकता बतलायी गयी है। योगसूत्र, शिवसंहिता, घेरंड संहिता आदि हठयोग के प्रामाणिक ग्रंथों में प्राय: षट्चक्रों का वर्णन मिलता है। किन्तु नाथपंथ में तथा तंत्र ग्रंथों में इन चक्रों की संख्या ६ से अधिक दी हुई है।[११३] नाथ-साहित्य में चक्रों की निश्चित संख्या और नाम आदि का कोई क्रम नहीं मिलता। "मछिन्द्र गोरख बोध" (गो. बा. पृ.२०२) के अन्तर्गत मूलचक्र, गुदाचक्र, मणिचक्र, अनहद चक्र, विशुद्धचक्र और चंद्रचक्र इन छ: नामों का उल्लेख मिलता है। इसी में फिर अन्यत्र (पृ.१९२) क्रमश: अरधचक्र, ऊर्ध्वचक्र, पश्चमचक्र, हिरदा चक्र, काठचक्र, ध्यानचक्र नाम आये हैं। गोरखबानी में अष्टचक्रों का वर्णन मिलता है। इस तरह चक्रों की संख्या में विभिन्नता पायी जाती है। इतना ही नहीं तो चक्रों के नाम, स्थान, दल की मात्रिकाओं, तत्त्व, गुण, देवता, शक्ति आदि के संबंध में भी हठयोग तथा तंत्रग्रंथों में अन्तर पाया जाता है। कबीर की उक्तियों से पता लगाना कठिन है कि वे किस तंत्र ग्रंथ या हठयोगके किस आचार्य से प्रभावित हैं।

यहाँ कुण्डलिनी का शास्त्रीय विवेचन भी आवश्यक है। योगशास्त्र का सिध्दान्त है कि जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी है। सृष्टि की समष्टि

---

११३. शक्तिसम्मोहन तंत्र तथा महानिर्वाण तंत्र में ९ चक्र हैं।

शक्ति को महाकुण्डलिनी कहते हैं और शरीरस्थ व्यष्टि शक्ति को केवल कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है कि " कुण्डले अस्या: स्त: इति कुण्डलिनी । अर्थात् वह शक्ति जिसके दो कुण्डल हों । ये कुण्डल इडा और पिंगला हैं। इन दो नाड़ियों के बीच सुषुम्ना नाड़ी है। इसी से होकर कुण्डलिनी शक्ति ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। सुषुम्ना के भीतर कई सूक्ष्म नाड़ियों की कल्पना की गयी है। इनमें वज्रा, चित्रणी और ब्रह्म नाड़ियाँ प्रमुख हैं। किन्तु अधिकतर चर्चा इडा पिंगला और सुषुम्ना की ही होती है। इन नाड़ियों के कई सांकेतिक नाम भी हैं। इन्हें सिध्दों ने क्रमश: ललना, रसना, अवधूति और सन्तों ने गंगा यमुना और सरस्वती संज्ञाएँ दी हैं।

अनेक प्रकार की साधनाओं से कुण्डलिनी को जागृत किया जाता है। वह जागृत होने पर जो स्फोट होता है उसी को नाद कहते हैं। नाद से प्रकाश होता है। प्रकाश का व्यक्त रूप महाबिन्दु है। इस महाबिन्दु के भी तीन रूप हैं -- इच्छा , ज्ञान तथा क्रिया । इन्हें प्रतीकात्मक भाषा में सूर्य, चन्द्र , अग्नि तथा ब्रह्मा , विष्णु , शिव भी कहते हैं। इसी प्रकार नाद के भी तीन प्रकार बताये गये हैं -- महानाद, नादान्त और निरोधनी । बीज सृष्टि से उत्पन्न होनेवाला जो नाद है वही ओंकार है। उसी नाद को शब्दब्रह्म कहते हैं। ओंकार से बावन मातृकाएँ उत्पन्न होती हैं। इनमें ५० अक्षरमय हैं। हकार प्रकाशरूप है और सकार आवमर्शी प्रकाश का प्रवाह है। ये ही मातृकाएँ लोम और विलोम रूप से दो होती हैं। ये ही दो कुण्डल हैं। इन कुण्डलों को धारण किए मातृकामयी कुण्डलिनी है। सहस्रचक्र में जो अव्यक्त नाद है वही आज्ञाचक्र में ओंकार रूप से व्यक्त होता है।

षट्चक्रभेदन से कुण्डलिनी जागृत होती है। अत: षट्चक्रों का[३१४] संक्षेप में वर्णन करके ज्ञानेश्वर और कबीर के साहित्य में उनका आविष्कार किस रूप में

---

३१४ इन षट्चक्रों का विस्तृत वर्णन शिवसंहिता, घेरंड संहिता, तथा षट्चक्र निरूपण नामक ग्रंथों में मिलेगा । मराठी में " षट्चक्रदर्शन भेदन " ले श्री.म.वैद्य इस्लामपूर, इस पुस्तकमें मिलेगा ।

'कल्याण' के शक्ति अंक पृ.४५४ पर देखिये ।

हुआ है इसका वर्णन अब मैं करूँगा ।

पायु से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ से दो अंगुल नीचे चतुरंगुल विस्तृत समस्त नाड़ियों का मूलस्वरूप पक्षी के अंडे की तरह एक कंद विद्यमान है । हठयोग प्रदीपिका के अनुसार इसमें से ७२ हजार तथा शिवसंहिता के अनुसार ३५ हजार नाड़ियाँ निकलकर शरीरभर में फैली हुई हैं । इनमें तीन नाड़ियाँ प्रधान हैं । इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना । ये तीनों नाड़ियाँ षट्चक्रों को आवृत करती हुई भ्रूमध्यभाग में आ मिलती हैं । इसी स्थल को त्रिवेणी कहते हैं ।

(१) <u>मूलाधार चक्र</u> -

गुदा के ऊपर तथा लिंगमूल के नीचे मूलाधार चक्र है । यह सुषुम्ना नाड़ी के मुख में संलग्न है । इस चक्र कमल में चार दल होते हैं तथा इसका रंग पीला होता है । इन चार दलों के चार अक्षर हैं व, श, ष और स । गणेश इनके ध्येय देवता हैं । इस चक्र की अधिष्ठात्री डाकिनी देवी है ।[३१५] कुण्डलिनी इस चक्र के नीचे त्रिकोण आकृतिमय अग्निचक्र से जिसे " त्रिपुर " कहते हैं, अवस्थित स्वयंभू लिंग से साढ़े तीन वलयों में लिपटी हुई सुषुप्तावस्था में पड़ी रहती है । यह नागिन के समान है ।[३१६] यह अपने मुख में अपनी पूँछ को दबाये हुए है ।[३१७] और यह संसार की सृजन शक्ति है ।[३१८]

कबीर में इन तीन नाड़ियों की, पंच प्राणों की और मूलाधार चक्र की चर्चा मिलती है । त्रिवेणी का भी उल्लेख कबीर में आया है । कबीर कहते हैं--

अरध , उरध की गंगा जमुना मूलकमल को घाट ।
षट् चक्र की गागरी , त्रिवेणी संगम बाट ।।[३१९]

---

३१५ शिवसंहिता ५।१०६

३१६ सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभयास्वया ..(शिवसंहिता प.५ श्लो. ५८)

३१७ मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णा विवरे स्थिता .. (,, ,, ,,५७)

३१८ जगत् संसृष्टिरूपा सा निर्माणे सततोद्यता (शिवसंहिता पटल २ श्लो. २४)

३१९ कबीर ग्रंथावली, पृ. ९४ ।

दूसरे एक रूपक में कहा है कि चन्द्रसूर्य अर्थात् इडा पिंगला नाड़ियों के सहारे सुषुम्ना नाडी की डोरी में होकर पंचवायु (प्राण, अपान, समान , उदान, व्यान) संचरित होती है तथा उसी सुषुम्ना के निचले छोर में प्राण शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति स्थित है ।

" चंद सूर्य दोइ खंभवा बंकनालिकी डोरी ।
झूले पंच पियारिया, तहं झूले जीय मोर ।।[320] "

इन नाड़ियों के द्वारा योगी कुण्डलिनी को जागृत करता है । नाड़ियों के सम्मिलन स्थान को त्रिवेणी अथवा संगम कहा जाता है । कबीर ने प्राणायाम की साधना के द्वारा इडा पिंगला नाड़ियों की सहायता से मूलाधार कमल को बेधकर अन्य षट्चक्रों को बेधते हुए संगमस्थानपर मन ले जाने का निर्देश किया है ।[321] कबीर ने भी कुण्डलिनी को नागिन कहा है , " प्रेम पियाले पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी । "

ज्ञानेश्वरी में भी मूलाधार चक्र का इसी प्रकार का वर्णन आया है । इडा पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों का वर्णन तो मैंने प्राणायाम का वर्णन करते समय किया ही है । षट्चक्रों के दलों का, अक्षरों का, स्वरूप का जैसा वर्णन कबीर में मिलता है , वैसा वर्णन ज्ञानेश्वर में नहीं मिलता है । ज्ञानेश्वरी में केवल षट्चक्रों का उल्लेख मात्र है । षट्चक्रों का भेदन करके कुण्डलिनी किस प्रकार जागृत की जाती है ? जागृत होने के बाद किस मार्ग से वह षट्चक्रों को भेदती हुई ब्रह्मरंध्रतक जाती है ? कुण्डलिनी जागृत होनेके बाद साधक की अवस्था कैसी होती है और परमात्मा से समरस होकर वह चन्द्रमा की सत्रहवीं कला का अमृतपान वह कैसे करती है ? आदि का विवेचन ज्ञानेश्वरजी ने विस्तार से किया है । लेकिन षट्चक्रों की ओर संकेत मात्र मिलता है ।

---

320 कबीर ग्रंथावली, पृ. ९४ ।
321 कबीर ग्रंथावली, पृ. ९४ ।

शिव संहिता के अनुसार ज्ञानेश्वरजी ने कुण्डलिनी को नागिन कहा है (कबीर भी उसको नागिन कहते हैं ।) छठे अध्याय में ज्ञानेश्वरजी कहते हैं कि जिस प्रकार नागिन का कुंकुम के समान लाल बच्चा कुंडली लगाकर बैठता है[322], उसी प्रकार यह कुण्डलिनी नामक शक्ति साढे तीन फेरे की कुण्डली मारकर और सिर नीचे करके नागिन की तरह सोई रहती है।[323] वह इतनी तेजोमय होती है कि मानो विद्युत् के बने हुए कंकण हो या अग्नि की ज्वाला की रेखा हो या बढ़िये और चमकीले सोने का कंकण हो।[324] आगे ज्ञानेश्वरी में ज्ञानेश्वर जी ने कुण्डलिनी को जगदम्बा या परमेश्वरी कहा है।[325]

मूलाधारचक्र का भी उल्लेख मिलता है। छठे अध्याय में मूलबंधका वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वरजी ने कहा है कि पैर के दोनों तलुए टेढ़े करके मूलाधार चक्र के नीचे पक्के बिठाने चाहिए।[326] बारहवें अध्याय के नमन में सद्गुरु का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर जी कहते हैं कि ऐ सद्गुरु कृपा दृष्टि, मूलाधार चक्रपर होनेवाली कुण्डलिनी शक्ति की गोद में तू अपने शिष्यों का संगोपन करती है और उनको सुलाने के लिए हृदयाकाशरूपी पलने में उनको रखकर तू झोंके देती है।[327] आगे वे कहते हैं कि कुण्डलिनी रूपी मशाल मूलाधारचक्र पर रख दी और उसकी रोशनी से ब्रह्मरन्ध्र तक का मार्ग मालूम हुआ।[328]

(२) स्वाधिष्ठान चक्र -

इस चक्र या कमल के छ: दल होते हैं। यह लाल रंग का होता है। यह

---

३२२ नागाचें पिलें । कुंकुमें नाहलें । वळण घेऊनि बाहलें । सेजे जैसें ।। ज्ञा.अ.६।२२२

३२३ तैशी ते कुण्डलिनी । मोटकी औट वळणी । अधोमुख सर्पिणी । निजैली असे ।। ज्ञा. अ. ६।२२३

३२४ विद्युल्लतेची विडी । वन्हीज्वाळांची घडी । पंधरियाची चोखडी । घोटीव जैशी ।। ज्ञा. अ. ६।२२४

३२५ ज्ञा. अ. ६।२७२, २८१

३२६ चरणतळें देखडी । आधारमुद्रेचां बुडीं । सुघटितें गाढीं । पडली पा ।। ज्ञा. अ. ६।१९३ ।

३२७ आधारशक्तीचां अंकीं । वाढविसी कौतुकीं । हृदयाकाश पल्लकीं । परिये देसी निजे ।। ज्ञा. अ. १२।५

३२८ मग कुंडलिनियेचा टेंभा । आधारीं केला उभा । तया चोजवळें प्रभा । निमथावरी ।। ज्ञा. अ. १२।५१ ।

लिंगमूल में स्थित है । इसके संकेत अक्षर ब, भ, म, य, र , ल हैं । इस चक्र की अधिष्ठात्री शाकिनी देवी है । इसका ध्यान करनेवाला विश्वभर में बंधन रहित और भयरहित होकर विचरण करता है ।[329]

कबीर ने इसका वर्णन किया है । उनका मत है कि छ: दलवाले कमलपर मनन करनेवाला योगी जब इस कमल और तीन नाड़ियों अर्थात् चारों का सम्मिलन कर देता है और सुषुम्ना में-जो दो नाड़ियों के बीच में है - ध्यान को केन्द्रित करता है । तब यह दूसरा कमल खिल जाता है और योगी मृत्युपर विजय पा जाता है ।

" छटदल कँवल निवासिया , चहुँकी फेरि मिलाई रे ।[330]
वहुँके बीच समाधियाँ, तहँ काल न पासै आइ रे ।।

ज्ञानेश्वरी के छठे अध्याय में एक बार स्वाधिष्ठान चक्र का उल्लेख आया है । लेकिन उसमें कमल उसका विस्तृत विवेचन नहीं मिलता । उड्डियान बंध का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वरजी कहते हैं कि स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर के हिस्से में और नाभिस्थल के नीचे के हिस्से जो बंध होता है, उसको उड्डियान बंध कहते हैं ।[331] इस प्रकार ज्ञानेश्वरी में स्वाधिष्ठान चक्र का एक ही बार उल्लेख आया है ।

(३) मणिपूर चक्र -

यह तृतीय चक्र है । यह नाभि के समीप स्थित है । यह सुनहले रंग का है ।

---

३२९ द्वितीयन्तु सरोजंच लिंगमूले व्यवस्थितम् ।
स्वाधिष्ठानं च षड्वर्णं परिभास्वर षड्दलम् ।। शिवसंहिता ५।७५

३३० कबीर ग्रंथावली, पृ. ८८

३३१ स्वाधिष्ठानावरिचिले काठीं । नाभिस्थाना तळवटीं ।
बंधु पडे किरीटी । ओढियाणा तो ।। ज्ञा. अ. ६।२१०

और दस दलवाला है। इसके दलाक्षर ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ हैं। इसकी अधिष्ठात्री लाकिनी देवी है। इस चक्र का चिन्तन करनेवाला पातालसिध्दि प्राप्त करता है। वह इच्छाओं का अधिपति और रोगशोक का नाशक हो जाता है।[332]

कबीर ने दस दल के स्थानपर अष्टदल कमल का उल्लेख किया है। उनका मत है कि आठ दलवाले कमल पर मनन करनेवाले योगी विरले ही होते हैं। सद्गुरु के सिवा इस चक्र का भेदन करना असंभव है। क्योंकि यहाँ साक्षात् श्रीरंग केली करता है।

" अष्ट कमलदल भीतरा तंह श्रीरंग केलि कराइरे।
सतगुरु मिले तो पाइये, नहीं तो जन्म अकारथ जाई रे।।"[333]

इसका मनन करने पर आनंदकीप्राप्ति होती है। परम तत्त्व की साधना के हेतु इसका भेदन आवश्यक है।

ज्ञानेश्वरी के छठे अध्याय में तीन बन्धों के वर्णन के साथ मणिपूरचक्र का उल्लेख आया है। ज्ञानेश्वर जी कहते हैं कि मूलबन्धके व्दारा पूरी तरह से बँध जाने के कारण अपान वायु शरीर में पीछे की ओर बढ़ती है और दबाव पड़ने के कारण फूलने लगती है।[334] फिर वह कुपित होकर मत्त होती है और उसी बंद जगह में गड़गड़ाने लगती है और नाभिस्थान में रहनेवाले मणिपूर चक्र को बीच बीच में धक्के देती है।[335] इस प्रकार मणिपूरक चक्र का केवल उल्लेख आया है।

---

332 तृतीयं पंकजं नाभौ मणिपूरक संज्ञकम्।
दशारंडा फिकान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम्।। शिवसंहिता ५।७९

333 कबीर ग्रंथावली पृ. ८८।

334 जो मूळबंधें कोंडला। अपानु माघौता मुरडला।
तो सवेंचि वरी सांकडला। फुगु धरी।। ज्ञा. अ. ६।२१४

335 क्षोभलेपणें माजे। उबाळला ठायीं गाजे।
मणिपूरेंसीं झुंजे। राहोनियां।। ज्ञा. अ. ६।२१५

(४) अनाहत चक्र -

यह हृदय में स्थित है । इसके द्वादश दल होते हैं । इसका रंग लाल होता है । इसके दलाक्षर क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ हैं । काकिनी नाम की देवी इसकी अधिष्ठात्री है । इसका चिन्तन करनेवाला अपरिमित ज्ञान प्राप्त कर त्रिकालज्ञ हो जाता है ।[336]

कबीर ने इस कमल की स्थिति अभ्यन्तर अर्थात् हृदय में बतायी है । वहाँ प्रभु का वास बताया है । इस द्वादशदल कमल में अमृत का ग्रास बताया है ।[337] इसपर चिन्तन करनेवाले योगी को परम सत्य की प्राप्ति हो सकती है ।

ज्ञानेश्वरी में कबीर के समान अनाहत चक्र का विस्तृत वर्णन नहीं मिलता, केवल उल्लेख मिलता है । छठे अध्याय में जागृत कुण्डलिनी का मार्ग ज्ञानेश्वरजी ने बताया है । वे कहते हैं कि यह कुण्डलिनी जब हृदय में (अनाहत चक्र में) आती है तब वह अनाहत शब्द से बोलने लगती है ।[338] यह सत्य ही है कि जबतक अनाहत चक्र का भेदन नहीं होता, तबतक अनाहत ध्वनि सुनायी नहीं पड़ती । बारहवें अध्याय के नमन में भी इसका उल्लेख आया है । गुरुकृपा दृष्टि को संबोधकर ज्ञानेश्वरजी कहते हैं कि ऐ गुरुकृपादृष्टि, तू, बीजकला रूपी (व्योमचक्र में होनेवाली चन्द्रामृतरूपी सत्रहवीं कला का दूध साधक को पिलाती है और अनाहत ध्वनि का गीत गाती है । समाधि बोध से समझा बुझाकर तू साधक को सुलाती है ।[339] (आत्मानंद में लीन करती है ।)

---

336 हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत् ।
कादिठान्तार्ण संस्थानं द्वादशारसमन्वितम् ।।
अतिशोणं वायु बीजं प्रसादस्थानमीरितम् । (शिवसंहिता, ५।८३)

337 द्वादस दल अभि अंतरि म्यंत, तहाँ प्रभु पाइसि करिले च्यन्त ।। क.ग्रं.पृ.१९९
द्वादस कमल के अंतरा, तैह अमृत को ग्रास ।
जिनि यहु अमृत चाखिया, सो ठाकुर हम दास ।। क.ग्रं.पृ. ९४

338 हें बसो ते कुंडली । हृदयाआंतु आली ।
तंव अनाहता बोली । बोलवे ते ।। ज्ञा. अ. ६।२७४

339 बाराविये स्तन्य देसी । अनाहताचा हल्लरु गासी ।
समाधिबोधें निजविसी । बुझाउनि ।। ज्ञा. अ. १२।७ ।

अभ्यास करें। रेचक और पूरक के अतिरिक्त मुख पूर्वक वायु धारण करने को केवल कुम्भक कहते हैं।''[1]

कुम्भक के भेदों में अन्तर है। कहीं पर कुम्भक के आठ भेद कहे गये हैं। कुछ विद्वानों ने छः प्रकार के और कुछ विद्वानों ने 2 प्रकार के कुम्भक बतलाये हैं। घेरण्ड़ संहिता में साधारण रूप से 8 प्रकार कुम्भक के बतलाये गए हैं–''सहित, सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली।''[2] हठयोग प्रदीपिका में सहित, केवल के स्थान पर शीतकारी, प्लाविनी 8 भेद हैं।

''शरीर में कृशता, मुख पर प्रसन्नता, नाद का प्राकट्य, नेत्रों में स्वच्छता, रोग का अभाव, बिन्दू का क्षय, अग्नि का दीपन ओर नाड़ी–शुद्धि, यह हठयोग के लक्षण हैं।''[3]

हठयोग की सिद्धि हो जाने पर उक्त उपलब्धियाँ अनायास ही हो जाती हैं, उनके लिए साधक को कोई प्रयत्न नहीं करना होता।

(iv) **मुद्रा**–''घेरण्ड़ संहिता में घेरण्ड़ ऋषि ने मुद्राओं के 25 प्रकार बताये हैं–''महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालिनी, तड़ागी, माण्ड़वी, शांभवी, पंचधारणा, अश्विनी, पाशिनी,

---

1. प्राणायाम स्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः।। ह.प्र. 2/71
यावत्केवल सिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत्।
रेचकं पूरक मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।। ह.प्र. 2/72

2.(i) सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायीशीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूचर्छा केवली वाष्टकुम्भकाः।। घे.सं. 5/45

(ii) सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः।। ह.प्र. 2/44

3. वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्।। ह.प्र. 2/78

काकी, मातंगी और भुजंगिनी इत्यादि पच्चीस मुद्राएँ योगियों हेतु सिद्धि प्रदान करने वाली हैं।''[1]

हठयोग प्रदीपिका में दश मुद्राएँ वर्णित हैं-''महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान बंध, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन यह दश मुद्राएँ जरा-मरण को नष्ट करने वाली हैं।''[2]

(1) **महामुद्रा**-''बांये पैर की एड़ी को गुदामूल पर दृढ़तापूर्वक स्थापित करना चाहिए। तथा दाहिने पैर को सीधा फैलाकर पैर की अंगुलियों को पकड़ना चाहिए तत्पश्चात् कण्ठ का संकुचन करते हुए भ्रूमध्य पर दृष्टि को केन्द्रित करना चाहिए। यह महामुद्रा है।''[3]

''इसका अभ्यास क्षय, कास, गुदावर्त, प्लीहा, जीर्ण ज्वर आदि सभी रोगों का नाश करता है।''[4]

(2) **नभोमुद्रा**-''जिह्वा को ऊपर की ओर करके कुम्भक द्वारा वायु को रोकना नभो मुद्रा कहलाती है। इसका अभ्यास सभी प्रकार के रोगों का नाश करने वाला होता है।''[5]

---

1. महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेकचरी।। घे.सं. 3/1
विपरीतकरिणी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी।
तडागीमाण्डवीमुद्रा शाम्भवीपञ्चधारणा।। घे.सं. 3/2
अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी भुजंगिनी।
पञ्चविंशति मुद्रावै सिद्धिदाश्चेहयोगिनाम्।। घे.सं. 3/3
2. महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेकचरी।
उड्यान मूलबंधश्च बंधो जालं धराभिधः।। ह.प्र. 3/6
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशम्।। ह.प्र. 3/7
3. वायूमूलं वामगुल्फ संपीड्य दृढप्रयत्नतः।
यामयपादं प्रसार्याथ करेधृत पदांगुलः।। घे.सं. 3/6
कण्ठ संकोचनं कृत्वाभ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्रभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः।। घे.सं. 3/7
4. क्षयकुण्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।। ह.प्र. 3/17
5. यत्र तत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरोभूत्वाधारयेत्पवनं सदा।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी।। घे.सं. 3/8

(3) **उड्डीयान बन्ध**–''नाभि के ऊपर के भाग और पश्चिम द्वार को उदर के समाभाव में सिकोड़ें, अथवा उदर को पीछे की ओर खींचते हुए नाभि के ऊपर ले जायें इसे उड्डीयान बंध कहते हैं। यह मृत्युरूपी गज के लिए सिंह के समान है। सभी बंधनों में उड्डीयान बंध प्रमुख है। इसके अभ्यास से सहज ही मोक्ष मिल जाता है।''[1]

(4) **जालन्धर बंध**–''कण्ठ को संकुचित कर ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक हृदय पर स्थापित करें। यह जालन्धर बन्ध कहलाता है। इससे सोलह प्रकार आधार बन्ध हो जाता है। यह जालन्धर नाम की महामुद्रा मृत्यु को भी नष्ट कर देती है।''[2]

''यह जालन्धर बन्ध सिद्ध होने पर योगियों को सिद्धि प्रदान करता है तथा इसका छह महीने अभ्यास करने से ही योगी अवश्य ही सिद्ध होता है।''[3]

(5) **मूलबन्ध**–''एड़ी से योनि स्थान को दबाकर गुदा का संकोच करें और अपान वायु को ऊपर की ओर आकर्षित करें, इसे मूलबन्ध कहते हैं। जो अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी करता है, उसे योगीजन मूलबन्ध कहते हैं।''[4]

---

1. उदरे पश्चिमे तानं नाभेरूर्ध्वन्तुकारयेत्। घे.सं. 3/9
   उड्डीयानं कुरूतेयत् तदविश्रान्तं महाखगः।
   उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातंग केशरी।। घे.सं. 3/10
   समग्राद् बन्धनाद्धयेतदुड्डीयानं विशिष्यते।
   उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भेवेत्।। घे.सं. 3/11
2. कण्ठ सङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदयेन्यसेत्।
   जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।
   जालन्धरं महामुद्रामृत्योश्चक्षयकारिणी।। घे.सं. 3/12
3. सिद्धं जालन्धरं बन्ध योगिनां सिद्धिदायकम्।
   षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः।। घे.सं. 3/13
4. पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्।
   अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।। ह.प्र. 3/14
   अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरूते बलात्।
   आंकुचनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः।। ह.प्र. 3/15

''संसार-सागर से पार होने के आकांक्षियों को वन में छिपकर इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। इसीलिए मौन एवं निरालस्य रहकर प्रयत्न पूर्वक इसका अभ्यास करें।''[1]

कुछ विद्वानों के अनुसार महामुद्राएँ पाँच तो प्रमुख रूप से हैं ही। इस सन्दर्भ में योगचूडामन्युपनिषद् में कहा गया है-''जो योगी महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान, जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध को जानता है वह मोक्षभाजन होता है।''[2]

(6) **महाबन्ध**-''बांये पैर की एड़ी से गुदामूल को दृढ़तापूर्वक स्थापित करना चाहिए तत्पश्चात् दाहिने पैर से बांये पैर की एड़ी को प्रयत्नपूर्वक दबाऐं, धीरे-धीरे एड़ी का चालन करना चाहिए तथा योनिस्थान का संकुचन करना चाहिए। जालंधर बंध द्वारा प्राणवायु को धारण करना चाहिए। यही महाबन्ध है।''[3]

''यह मुद्रा जरा और मृत्यु का नाश करने वाली है तथा साधक की सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाली है।''[4]

(7) **महावेध**-''महाबन्ध मुद्रा का अभ्यास कर उड्डियान बंध करते हुए कुम्भक द्वारा वायु को रोकें यही महावेध कहा गया है।''[5]

---

1. संसार समुद्रं तर्त्तुमभिलषति यः पुमान्।
   विजनेषु गुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत्।। घे.सं. 3/16
   अभ्यासात् बंधनस्यास्य मरूत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
   साधयेद्यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः।। घे.सं. 3/17
2. महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डियानं च जलन्धरम्।
   मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्।। योगचूड़ामन्युपनिषद् 45
3. वामपादस्य गुल्फै तु पायुमूलं निरोधयेत्।
   दक्षपादेन तद् गुल्फे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः।। घे.सं. 3/18
   शनैः शनैश्चालयेत् पाष्णियोनिमाकुंचयेच्छेनैः।
   जालन्धरे धारयेत्प्राणं महाबन्धोनिगधते।। घे.सं. 3/19
4. महाबन्धः परोबन्धो जरामरणनाशनः।
   प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्वावांछितम्।। घे.सं. 3/20
5. महाबन्धं समासाद्य उड्डीयान कुम्भकं चरेत्।
   महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः।। घे.सं. 3/22

''महावेध के बिना मूलबंध और महाबंध भी उसी प्रकार निष्फल हैं, जिस प्रकार कि पुरूष के बिना स्त्री का रूप यौवन, लावण्य व्यर्थ है।''[1]

''जो योगी महावेध का अभ्यास करते हैं उन्हें वृद्धावस्था नहीं घेरती और मृत्यु का भय भी नहीं होता है। योगिराजों को इसे गोपनीय रखना चाहिए।''[2]

(8) **खेचरी मुद्रा**–''जिह्वा और जिह्वा मूल को मिलाने वाली जो नाड़ी जिह्वा के नीचे है, उसको छेदकर जिह्वा के अग्रभाग का निरन्तर चालन करें तथा मक्खन लगाकर दोहन करता हुआ लोहे की चिमटी से खींचें। नित्यप्रति इसका अभ्यास करने से जिह्वा बढ़ जाती है। इसे इतनी बढ़ा लेनी चाहिए कि वह भौंहों के मध्य तक पहुँच सके। इस प्रकार क्रमशः तालूमूल से धीरे-धीरे प्रविष्ट करें। कपाल-रन्ध्र में जिह्वा को ऊपर की ओर उलट करके ले जाना चाहिए। उस समय दोनों भौहों के मध्य भाग में दृष्टि रखें। यह खेचरी मुद्रा होती है।''[3]

''खेचरी का अभ्यास करने वाले साधक को मूर्च्छा, क्षुधा, तृष्णा, आलस्य नहीं सताते। रोग, जरा और मृत्यु का भय नहीं रहता।''[4]

(9) **विपरीतकरणी मुद्रा**–''नाभि-मूल में सूर्यनाड़ी और तालूमूल में चन्द्रनाड़ी है। सहस्त्रार में अमृतधारा का प्रवाह रहता है। सूर्यनाड़ी के अमृत के पीने से प्राणी की मृत्यु होती है, परन्तु चन्द्रनाड़ी का अमृतपान करने पर मृत्यु का भय नहीं रहता अतएव सूर्यनाड़ी को ऊपर

---

1. रूपयौवन लावण्यं नारीणां पुरूषं बिना।
   मूलबन्ध महाबन्धौ महावेध विना यथा।। घे.सं. 3/21
2. न च मृत्यु भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते।
   गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुङ्गवैः।। घे.सं. 3/24
3. जिह्वाधोनाडी सछिन्नां रसनां चालयेत् सदा।
   दोहयेन्नवनीतेन लोहयन्त्रेण कर्षयेत्।। घे.सं. 3/25
   एवं नित्यं समाभयासाल्लम्बिकादीर्घतां ब्रजेत्।
   यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी।। घे.सं. 3/26
   रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत्।
   कपालकुहरेजिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
   भ्रूवोर्मध्येगता दृष्टिर्मुद्राभवति खेचरी।। घे.सं. 3/27
4. न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
   न च रोगो जरामृत्युर्देवदेहं प्रपद्यते।। घे.सं. 3/28

और चन्द्रनाड़ी को नीचे करें। यह विपरीतकरणी मुद्रा सब प्रकार गोपनीय है। सिर को भूमि में लगाकर दोनों हाथ टेकें और दोनों पांवों को ऊपर उठाकर कुम्भक के द्वारा वायु को रोकें, यही विपरीतकरणी मुद्रा है।''[1]

''इस मुद्रा का नित्य अभ्यास करने से वृद्धावस्था और मृत्यु नष्ट होती है और इसका अभ्यास करने वाला सब लोकों में सिद्धि सम्पन्न एवं प्रलय में भी दुःखित नहीं होता है।''[2]

(v) **प्रत्याहार**–''घेरण्ड़ संहिता में प्रत्याहार का वर्णन किया गया है–जहाँ–जहाँ चंचल मन विचरण करे, उसे वहीं–वहीं से लौटाने का प्रयत्न करते हुए आत्मा के वश में करें। पुरस्कार, तिरस्कार, सुनने में सुखद, सुनने में अरूचिकर वचनों से मन को हटाकर आत्मा के वश में करें। सुगन्ध और दुर्गन्ध से मन को हटा लें। मधुर, अम्ल, तीखा आदि रसों की ओर मन आकृष्ट हो तो उसे वहाँ से भी हटाकर आत्मा के वशीभूत करें। यही प्रत्याहार है।''[3]

''यह ऐसा विज्ञान है जिससे काम आदि शत्रुओं का नाश होता है।''[4]

---

1. नाभिमूलवसेत्सूर्यस्तालुभूले च चन्द्रमाः।
   अमृतं ग्रसते मृत्युस्ततो मृत्युवशो नरः।। घे.सं. 3/33
   ऊर्ध्वं जायतेसूर्यश्चंद्र च अध आनयेत्।
   विपरीतकरणी मुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।। घे.सं. 3/34
   भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मा समाहितः।
   ऊर्ध्वपादं स्थिरोभूत्वा विपरीतकरीमता।। घे.सं. 3/35
2. मुद्रेयं साधिता नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत्।
   संसिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति।। घे.सं. 3/36
3. यतो यतो मनश्चरति चाञ्चल्यवशतः सदा।
   ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशंनयेत्।। घे.सं. 4/2
   पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यंदुश्रुतं तथा।
   मनस्तस्मान्नियम्यैतदात्मन्येव वशंन्येत्।। घे.सं. 4/3
   सुगन्धो वापि दुर्गन्धो घ्राणेषुजायतेमनः।
   तस्मात् प्रत्याहारेदेतदात्मन्येव वशंनयेत्।। घे.सं. 4/4
   मधुराम्लकटुतिक्तादिरसान्याति यदामनः।
   तदाप्रत्याहरेत्तेभ्य आत्मन्येव वशंनयेत्।। घे.सं. 4/5
4. यस्य विज्ञान मात्रेण कामादिरिपुनाशनम्।। घे.सं. 4/1

मुद्रा :—

हठयोग परंपरा में मुद्राओं का महत्वपूर्ण स्थान है। शिवसंहिता में मुद्राओं को अष्टसिद्धि प्रदान करने वाली कहा गया है। घेरण्डसंहितानुसार मुद्राएं योगसाधक को मानसिक स्थिरता प्रदान करती हैं जिससे बिखरी हुई प्राणशक्ति के एकत्रित होने से मन के अर्न्तमुखी होने की प्रक्रिया आंरभ हो जाती है। मानसिक स्थिरता प्राप्त हो जाने से जगत में कुछ भी असंभव नहीं है। योग में आसन व प्राणायाम जहाँ शरीर को शक्तिशाली व निरोगी बनाने का कार्य करते हैं। वहीं मुद्राएं अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशों पर सकारात्मक प्रभाव डालकर, नाड़ी संस्थान में प्रवाहित सूक्ष्म प्राण प्रवाह को जागृत कर, मन की चंचलता को समाप्त करने में उपयोगी है। सामान्य रूप से किसी मुहर, द्रव्य (धन) या किसी विशेष शारीरिक स्थिति को मुद्रा कहा जाता है। हाथों द्वारा या संपूर्ण शरीर के प्रयोग से एक स्थिति विशेष को धारण करने का अभ्यास योग में मुद्रा कहलाता है। योगियों ने मुद्राओं की अनुभूति शक्ति—प्रवाह की स्थितियों के रूप में की, जिनका उद्देश्य होता है व्यक्ति की प्राणशक्ति को ब्रह्यण्डीय प्राणशक्ति के साथ जोडना। हठयोगिक मुद्राओं के अभ्यास का मूल उद्देश्य सूक्ष्म रूप से मन की वृत्तियों में परिवर्तन लाकर चित्त को सजग व एकाग्र बनाना है। हठयोग की प्रत्येक मुद्रा शरीर के तंत्रिका तंत्र में एक विशेष प्रकार की संवेदना का निर्माण करती है जिससे मस्तिष्क पर सकारात्मक पड़ता है। परिणामस्वरूप मस्तिष्कीय तरंगों से कुछ समय पर्यंत उस विशेष भाव का प्रभाव हमारे भीतर अनुभव होता रहता है। जिसे अधिक अभ्यास से बढ़ाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त प्राणों की दिशा परिवर्तन करने का सामर्थ्य भी मुद्राओं के अभ्यास से आ जाता है। इसलिए हठयोग में प्राणोत्थान प्रक्रिया व कुण्डलिनी जागरण के लिए मुद्राओं का विशेष स्थान है।

शिवसंहिता में भी कुण्डलिनी जागरण व चक्र भेदन हेतु मुद्राओं के अभ्यास की बात कुछ इस प्रकार की गई है।

''सुप्ता गुरूप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपिंच।।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितमीश्वरीम्।
ब्रह्यद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्''।।

जब सुप्त कुण्डलिनी गुरू के आर्शीवाद से जाग उठती है तब सभी अन्तःस्थ चक्रों व ग्रंथियों का भेदन हो जाता है। इसलिए ब्रह्मद्वार के मुख पर सुप्त कुण्डलिनी की जागृति हेतु सारे प्रयत्नों द्वारा मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।
हठयोग की प्रत्येक प्रक्रिया विशेष से योग साधक की छुपी हुई दैनिक व आध्यात्मिक शक्ति का जागरण होने में सहायता प्राप्त होती है। परंतु मुद्राएं विशेष रूप से कुण्डलिनी जागरण हेतु महत्त्वपूर्ण कही गई है। महर्षि घेरण्ड ने घेरण्डसंहिता में भी मुद्राओं को सिद्धि प्रदायक कहकर उल्लेख किया है। घेरण्डसंहिता में मुद्राओं के महत्त्व को भगवान शिव देवी पार्वती को इस प्रकार बतला रहे हैं :–

''मुद्राणां पटलं देवि कथित सिध्दिः संनिधौ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्व सिध्दि प्रजायते।।
गोपनीय प्ररूत्नेन न देयं यस्यकस्यचित्।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभंमरूतामपि''।।

शिवसंहिता में रचनाकार मुद्राफल के विषय में बताने के लिए शिव पार्वती संवाद का उल्लेख करते हैं जिसमें भगवान शिव देवी पार्वती को कहते हैं :–
हे देवी। मैनें तुम्हें जिन मुद्राओं का ज्ञान प्रदान किया है, इनके प्रभाव से व्यक्ति को समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। योगियों को आनंददायक यह मुद्राएं देवताओं के लिए भी दुर्लभ हैं। इसलिए यह हमेशा गुप्त रखने योग्य हैं।
शरीरेन्द्रियों, नाड़ियों और विशिष्ट चक्रों से निरंतर प्राणों का बर्हिगमन होता रहता है जो बाह्य जगत् में फैल जाता है जिससे शरीर में निरंतर आंतरिक सूक्ष्म ऊर्जा का ह्यस होता है। मुद्राओं का अभ्यास इस ऊर्जा प्रवाह को उल्टा करने में सक्षम है जिससे सूक्ष्म प्राणशक्ति पुनः शरीर में धारण हो जाए और उसका क्षय कम से कम हो। इस प्रकार से प्राणों के बिखराव में न्यूनता आने से मन अर्न्तमुखी होने लगता है और प्राणोत्थान प्रक्रिया के होने से मुद्राओं का अभ्यास कुण्डलिनी जागरण में महत्त्वपूर्ण है। इसलिए प्राचीनकाल से ही हठयोग में बड़ी संख्या में मुद्राओं के अभ्यास का वर्णन है।
मुद्राओं को कई समूहों में बांटा जा सकता है। सामान्यतः पाँच प्रकार के समूहों में मुद्राओं का वर्गीकरण हो सकता है। ये पाँच समूह हैं– 1. हस्तमुद्राएं 2. मन मुद्राएं 3. कायामुद्राएं 4. बन्धमुद्राएं 5. आधार मुद्राएं।

शिवसंहिता और घेरण्डसंहिता में जिन मुद्राओं का वर्णन प्राप्त होता है वे बंध, प्राणायाम और आसन के सामूहीकरण से प्राप्त शरीर की स्थितियाँ विशेष हैं। शिवसंहिता में योनि मुद्रा के अलावा और दस मुद्राओं का वर्णन प्राप्त होता हैं जो निम्न प्रकार से हैं – 1. महामुद्रा 2.

महाबंध 3. महावेध 4. खेचरीमुद्रा 5. जालंधरबंध 6. मूलबंध 7. विपरीतकरणी 8. उड्डयानबंध 9 वज्रोलिमुद्रा 10. शक्तिचालन।
घेरण्डसंहिता में पच्चीस मुद्राओं का वर्णन महर्षि घेरण्ड ने किया है। घेरण्डसंहिता में उल्लेखित मुद्राओं का वर्णन निम्न प्रकार से है :–

''महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्ध महाबंध महाबंधश्च खेचरी।।
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी।
ताडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पंचधारणा।।
अश्विनी पाशिनी काकी मातृडी च भुजङ्गिनी।
पचंविंशति मुद्राणि सिध्ददानीह योगिनाम्''।।

1. महामुद्रा 2. नभोमुद्रा 3. उड्डीयान 4. जालंधरबंध 5. मूलबन्ध 6. महाबंध 7. महावेद 8. खेचरी 9. विपरीतकरणी 10. योनिमुद्रा 11. वज्रोलिमुद्रा 12. शक्तिचालिनी 13. ताडागी 14. मांडवी 15 शांभवी 16. पंचधारणा (पार्थिवी, आम्भसी, आग्नेयी, वायवीय, आकाशी) 17. अश्विनीमुद्रा 18. पाशिनीमुद्रा 19. काकीमुद्रा 20. मातंगिनी 21. भुजंगिनी मुद्रा इस प्रकार पच्चीस मुद्राएं हैं।

शिवसंहिता की तरह ही घेरण्डसंहिता में भी मुद्रा प्रकरण के अन्तर्गत त्रिबंधों का भी वर्णन प्राप्त होता है। शिवसंहिता ओर घेरण्डसंहिता दोनों ग्रंथों में भगवान शिव ही मुद्राफल का कथन देवी पार्वती के लिए कहते हैं, शिवसंहिता में मुद्राओं को कुण्डलिनी जागरण का हेतु बताकर गुप्त रखने को कहते हैं वहीं घरेण्डसंहिता में मुद्राओं का सर्वसिद्धिप्रदायक कहकर गोपनीय रखने हेतु कहा गया है ।

महामुद्रा :–

शिवसंहिता और घेरण्डसंहिता दोनों में उल्लेखित प्रथम मुद्रा महामुद्रा है। दोनों ग्रंथों में महामुद्रा की क्रियाविधि में थोड़ा सा अंतर है। शिवसंहिता में बांए पैर की एड़ी से गुदा एवं लिंग के बीच में स्थित योनिस्थान को दृढ़ता से दबाने को कहा गया है और जालंधरबंध लगाकर सुषुम्णा में चित्त को स्थिर कर प्राणायाम का अभ्यास करने को कहा गया है। समानरूप से दोनों ओर से महामुद्रा को शिवसंहिता में करने को कहा गया है। वहीं घेरण्ड संहिता में योनिस्थान को न दबाकर गुदामूल को दबाने का वर्णन है और साथ ही दृष्टि भ्रूमध्य में स्थिर करने का विधान

है। जालंधरबंध की बात दोनों ग्रंथों में समान है। परंतु घेरण्डसंहिता में दूसरी ओर से भी महामुद्रा को करना है कि नहीं ऐसा कोई संकेत नहीं दिया गया है।
शिवसंहिता और घेरण्डसंहिता दोनों ग्रंथों में महामुद्रा के फल अथवा लाभ की चर्चा मिलती है। शिवसंहिता में मुद्राफल कथन में केवल शारीरिक लाभ ही न बताकर आध्यात्मिक लाभ की भी चर्चा की गई है, वहीं घेरण्ड संहिता में केवल शारीरिक लाभों का ही वर्णन प्राप्त होता हैं। ऐसे में तुलनात्मक रूप से शिवसंहिता में महामुद्रा की क्रियाविधि व मुद्राफल अधिक विस्तृत है।

नोट :– दोनों ग्रंथों में वर्णित मुद्राओं की क्रियाविधि व मुद्राफल का वर्णन पूर्व के अध्यायों में किया जा चुका है।

मूलबंध :–

शिवसंहिता में जालंधरबंध के पश्चात् मूलबंध का विवरण प्राप्त होता है। शिवसंहिता में मुद्राओं की क्रमबद्धता घेरण्डसंहिता, हठप्रदीपिका आदि की तरह नहीं है। शिवसंहिता में केवल दस मुख्य मुद्राओं का वर्णन प्राप्त होता है। शिवसंहिता में मूलबंध की क्रियाविधि में कौन से पैर का प्रयोग करना है इसका कोई निर्देश नहीं दिया है और न ही नाभिग्रंथि को मेरूदण्ड में लगाने हेतु कहा गया है। शिवसंहिता मे मूलबंध को अपान और प्राण में स्थिरता व एकता स्थापित करने वाला व जरा मृत्यु को हरने वाला कहा गया है। मूलबंध की सिद्धि से योनिमुद्रा के स्वतः सिद्ध हो जाने की बात कही गई है जिससे संसार मे सब कुछ सिद्ध हो जाता है। वायु पर विजय व आकाशगमन में सिद्धि के बारे में भी बताया गया है। दूसरी ओर घेरण्डसंहिता की क्रियाविधि में स्पष्ट रूप से मूलबंध के अभ्यास में बांए पैर की एड़ी का प्रयोग करने को कहा गया है। घेरण्डसंहिता में मूलबंध के अभ्यास में उड्डियानबंध का भी प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त साधक को मूलबंध के अभ्यास के दौरान आलस्यरहित और मौन रहने के निर्देश दिए गए हैं। एकांत में मूलबंध के अभ्यास की बात भी कही गई है। शिवसंहिता व घेरण्डसंहिता में समान रूप से यह माना गया है कि मूलबंध के अभ्यास से वायु सिद्धि होती है।

विपरीतकरणीबंध :–

विपरीतकरणी शब्द से ही इसके अर्थ का अनुमान हो जाता है कि शरीर की विपरीत अर्थात उल्टी स्थिति में बारे में कहा गया है। शिवसंहिता में विपरीतकरणी बंध की बात कही गई है जिसे संसार रूपी समुद्र को पार करने के इच्छुक साधकों को एकांत में करना चाहिए। यहाँ शरीरस्थ चंद्र एवं सूर्यस्थान का वर्णन नहीं मिलता जैसा कि अन्य हठयोग ग्रंथों में प्राप्त होता

है। शिवसंहिता में विपरीतकरणी को बंध कहा गया है साथ ही विपरीतकृति भी। इस मुद्रा का तीन घण्टे तक प्रतिदिन का अभ्यास मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करा देता है, ऐसा कहा गया है। शिवसंहिता के एक मंत्र में शरीरस्थ अमृत के पान की बात विपरीतकरणी के संबंध में की गई है।
यथा–

''अमृतं कुरूते पानं सिध्दानां समताभियात्''।

जो इस बंध का अभ्यास करता है। वह सर्वत्र पूज्य हो जाता है, शरीरस्थ अमृत का पान करता है और सिद्धों के समकक्ष हो जाता है।
शिवसंहिता में विपरीतकरणीबंध के अभ्यास से जिस अमृतपान का वर्णन किया है घेरण्डसंहिता में उस अमृत का स्थान व उसके पान क्रियाविधि को विस्तृत रूप से बताया गया है। ऐसा वर्णन तुलनात्मक रूप से शिवसंहिता में प्राप्य नहीं है। घेरण्डसंहिता में विपरीतकरणी को मुद्रा कहा गया है। अभ्यास की अवधि का कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता। हालांकि क्रियाविधि दोनों ग्रंथों में समान है परंतु घेरण्डसंहिता में पूर्ण स्थिति पर कुंभक द्वारा वायु को रोकने को कहा गया है। दोनों ग्रंथों में इसे गुप्त रखने को कहा गया है, लाभ एक जैसे वर्णित किए गए हैं। शिवसंहिता और घेरण्डसंहिता दोनों ग्रंथों में समानरूप से कहा गया है कि इस मुद्रा की सिद्धि से प्रलयकाल में भी साधक दुःख प्राप्त नहीं करता।

जालंधरबंध :–

शिवसंहिता में जालंधरबंध का वर्णन खेचरीमुद्रा के पश्चात आया है। सामान्य शब्दों में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि गले की शिराओं को संकोच कर ठोड़ी को वक्षस्थल पर लगाना चाहिए, यह जालंधर बंध है। इसके अतिरिक्त क्रियाविधि में अधिक वर्णन नहीं मिलता परंतु लाभ एवं फल की दृष्टि से इसे देवताओं के लिए भी दुर्लभ शिवसंहिता में बताया गया है। इसके अभ्यास से साधक अमृतपान कर अमरता को प्राप्त कर लेता है। अतः सिद्धि के इच्छुक साधकों को नित्य अभ्यास करना चाहिए।
घेरण्डसंहिता में भी शिवसंहिता की तरह क्रियाविधि बताई गई है। घेरण्डसंहिता ठोडी को वक्षस्थल पर न रखकर हृदयस्थान पर रखने को कहा गया है। थोड़ा अधिक वर्णन करते हुए घेरण्डसंहिता में बताया गया है कि जालंधर बँध के अभ्यास से सोलह प्रकार का आधार बंध हो जाता है।
सिद्धिसिद्धांत पद्वति के अनुसार शरीरस्थ यह सोलह आधार हैं – पैर का अंगूठा, मूलाधार, गुदा, मेढ्र (लिंग), ओड्डियाण, नाभि, हृदय, कण्ठ, घण्टिका, तालु, जिह्वामूल, भ्रूमध्य, नासाग्र, नाक के मूल का ऊपरी भाग, ललाट और ब्रह्यारंध्र। इस प्रकार से सोलह आधार ध्यान हेतु कहे गए हैं

जिनका बंध घेरण्डसंहितानुसार जांलधरबंध करने से हो जाता है। इसके अतिरिक्त घेरण्ड ऋषि जांलधर बंध को महामुद्रा कहकर संबोधित करते हैं और इसे मृत्यु को हरने वाली बताते हैं। कई हठयोग ग्रंथों में पांच प्रकार की मुद्राओं को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है जो है – महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियाणबंध, जालंधरबंध और मूलबंध, यह पांच मुद्राएं मोक्षदायिनी मानी गई हैं। इसलिए ही महर्षि घेरण्ड जालंधरबंध को महत्वपूर्ण बताने हेतु महामुद्रा का ज्ञान दे रहे हैं।

महावेध :शिवसंहिता और घेरण्डसंहिता दोनों हठयोग ग्रंथो में महाबंध के पश्चात महाबंध का स्थान आता है। मुद्राओं के क्रम में शिवसंहिता में महावेध का तृतीय व घेरण्डसंहिता में सातवां स्थान है। दोनो ग्रंथों में महावेधमुद्रा की क्रियाविधि अलग–अलग प्रकार से वर्णित है। शिवसंहिता में महावेधमुद्रा की विधि इस प्रकार वर्णित है – '' महाबंध में स्थित बुद्धिमान साधक वायु से पेट को भरकर दोनों नितम्बों को बार–बार भुमि पर पटकें।'' जबकि घेरण्डसंहिता में महाबन्ध मुद्रा के साथ उड्डियानबंध के द्वारा कुंभक प्राणायाम करते हुए वायु को रोकने हेतु कहा गया है।'' इस प्रकार दोनों हठयोगग्रंथ महाबंध की अलग–अलग क्रियाविधि का वर्णन करते हैं। शिवसंहिता में कुण्डलिनी जागरण में सहायक कहकर महावेधमुद्रा के लाभ व फल का वर्णन प्राप्त होता है। शिवसंहिता में इस प्रकार कहा गया है :–

''चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते''।।

शरीरस्थ चक्रों में विद्यमान देवगण वायु के ताडन से कांपने लगते हैं एवं महामाया कुण्डली देवी भी शिवस्थान (बह्मरंध्र) में लीन हो जाती है। आध्यात्मिकता व साधनामार्ग में लाभकारी होन के साथ–साथ शिवसंहिता में महावेध के जरा–मृत्युनाशक आदि कहकर शारीरिक लाभों का भी वर्णन प्राप्त होता है। घेरण्डसंहिता में भी वैसे ही शारीरिक लाभों की चर्चा की गई है जैसी शिवसंहिता में प्राप्त होती है।

शिवसंहिता और घेरण्डसंहिता दोनों में समानरूप से महावेधमुद्रा को गोपनीय रखने हेतु कहा गया है अन्यथा इसकी सिद्धि नहीं होती।

खेचरीमुद्रा :–

शिवसंहिता और घेरण्डसंहिता दोनों ग्रंथों में महावेधमुद्रा उपरांत खेचरीमुद्रा का वर्णन किया गया है। शिवसंहिता में खेचरीमुद्रा की साधना हेतु उपयुक्त स्थान व उपयुक्त आसन के बारे में बताया गया है। संपूर्ण क्रियाविधि को सरलतम प्रारूप में शिवसंहिता में वर्णित किया गया है। शिवसंहितानुसार खेचरीमुद्रा का सृजन भगवान शिव ने भक्तों के आग्रह पर किया है और यह मुद्रा उनकी सर्वाधिक प्रिय है।

''मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः।
सिद्वीनां जननी ह्यषा मम प्राणाधिकप्रिया''।।

अर्थात यह खेचरीमुद्रा भक्तों के आग्रह से बतायी गई है। सभी सिद्धियों की जन्मदात्री यह मुद्रा मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। शिवसंहिता में खेचरीमुद्रा के लिए वज्रासन का विधान है। कण्ठ–छिद्र को शिवसंहिता में सुधाकूप कहकर संबोधित किया गया है। खेचरी मुद्रा को अति महत्वपूर्ण मुद्रा मानते हुए कहा गया है कि यदि साधक आधे क्षण भी इसका अभ्यास कर ले तो पाप रूपी महासमुद्र को पार कर देवतासुलभ भोगों को भोग कर श्रेष्ठजनों में जन्म पाता है।
भगवान शिव अन्ततः कहते हैं कि मेरी यह प्राणप्रिय मुद्रा केवल अधिकारी साधक को ही बताने योग्य है अतः देवताओं द्वारा पूजित यह मुद्रा गुप्त रखने योग्य है।शिवसंहिता के अनुसार भ्रूमध्य में दृष्टि स्थापित कर सुधाकूप (कपालविवर) में पलटी हुई जिहवा का प्रवेश कराना ही खेचरी मुद्रा है परन्तु घेरण्डसंहिता इस मुद्रा की विधि में विस्तृत विवरण उपलब्ध करवाती हैं। घेरण्डसंहिता के अनुसार खेचरी मुद्रा की सिद्धि हेतु जिहवा का इतना लंबा होना आवश्यक है कि वो कपालविवर तक जा सके। इसलिए घेरण्डसंहिता में जिहवा को लम्बा करने के लिए चालन, दोहन, छेदन और कर्षण जैसी विधियाँ बताई गई हैं। शिवसंहिता की विधि की तुलना में घेरण्डसंहिता की विधि कष्टकर प्रतीत होती है। किसी योग्य निर्देशन से ही यह प्रक्रियाएं संभव है अन्यथा कोई हानि भी हो सकती है।
घेरण्डसंहिता में भी खेचरी मुद्रा की भूरि–भूरि प्रशंसा की गई है और स्थिर समाधि प्राप्त होने में इसे सहायक कहा गया है।

महाबंध – शिवसंहिता में महाबंध को दोनों पांवों द्वारा एक–एक कर प्रयत्नपूर्वक सिद्ध करना चाहिए। महाबंध के अभ्यास से वायु सुषूम्णा के मध्य में स्थिर हो जाता है। महाबंध से शरीर पुष्ट होता है और अस्थि पिंजर दृढ़ हो जाता है। इस बंध की साधना से साधक पूर्ण रू॰ से संतुष्ट रहता है। इस महाबंध को सिद्ध करने से साधक अपान एवं प्राण को एक करके सभी अभीष्ट सिद्ध कर लेता है, शिवसंहिताकार का ऐसा मत है।

वहीं घेरण्डसंहिता के अनुसार यह महाबंध सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ व जरामरण नाशक कहा गया है। इस बंध की सिद्धि सभी इच्छाएं पूर्ण हो जाती है। इस बंध के अभ्यास में मूलबुंध उड्डयान बन्ध व जालन्धर बन्ध, तीनों एक साथ लगते हैं।

उड्डियानबंध –

शिवसंहितानुसार उड्डियानबंध द्वारा साधक के समस्त दुःखों का नाश हो जाता हे। इसे मृत्युरूप हाथी के लिए सिंह के समान कहा गया है। यहाँ प्रतिदिन चारों पहर इसके अभ्यास के लिए कहा गया है। इस प्रकार अभ्यास करने से नाभिचक्र शुद्ध होकर वायु की सिद्धि हो जाती

है। छः माह तक निरंतर अभ्यास से योग साधक मृत्यु को भी जीत लेता है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है और शरीर स्वस्थ रहता है।

शरीर के समस्त प्रकार के रोगों का नाश इस बंध की सिद्धि से होता है। शिवसंहिता के अनुसार इस बंध को योग्य गुरू से सीख कर अकेले स्वस्थ चित्त होकर अभ्यास करना चाहिए। घेरण्डसंहिता में उड्डियानबंध को सभी बंधों में प्रमुख माना गया है इसके अभ्यास से सहन ही मोक्ष प्राप्ति की बात कही गई है।

वज्रोलीमुद्रा – शिवसंहिता में जिस वज्रोली मुद्रा का वर्णन प्राप्त होता है उसका वर्णन तंत्र ग्रंथों में भी मिलता हे। इसका अभ्यास बिंदु सिद्धि व वीर्य रक्षा के लिए किया जाता है।

घेरण्डसंहिता में वज्रोलि का तो नहीं परंतु वज्रोणीमुद्रा का वर्णन प्राप्त होता है। इस मुद्रा को यहाँ विद्वानों को शक्तिसंचारक व जीवन प्राप्त कराने वाली कहा गया है। योगियों को मुक्तिप्रदायक, हितकारी व सिद्धि देने वाली यह श्रेष्ठ मुद्रा है।

मुख्यतः बिन्दु सिद्धि के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

शक्तिचालिनी मुद्रा –

शिवसंहितानुसार शक्तिचालिनी मुद्रा के अभ्यास से सभी रोग नष्ट हो जाते हैं व आयुवृद्धि होती है। कुण्डलिनी शक्ति जागृत हाती है। अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों को देने वाली है। मुक्तासन के साथ इसके अभ्यास के लिए शिवसंहिता में वर्णन प्राप्त होता है।

घेरण्डसंहिता में कहा गया है कि इसके अभ्यास से सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती है और सभी रोगों का नाश होता है।

प्रत्याहार :–

योगसाधना में अन्य साधनों की भांति प्रत्याहार भी एक महत्वपूर्ण साधन है। हठयोग में आसन और प्राणायाम के अभ्यास से शक्तिसंपन्न साधक के लिए इंद्रियों का निग्रह अति आवश्यक हो जाता हैं अन्यथा चंचल घोड़ों की भांति इंद्रियाँ अपने–अपने विषयों की ओर भागती रहती हैं। धातव्य है कि चंचल व अस्थिर मन से योगसाधना के ध्येय की पूर्ति नहीं हो सकती।

प्रत्याहार के द्वार इंद्रियों का बाह्य विषयों के प्रति आकर्षण अवरूद्व कर उन्हें अन्र्तमुख करने का अभ्यास किया जाता है।

पातंजलयोग दर्शन के अनुसार : –''स्वविषयसम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेद्रियाणां प्रत्याहार'' अर्थात् इंद्रियों का अपने विषयों के साथ संबंध न होने पर चित्त के स्वरूप का

किञ्चिद्दर्शितवर्णाभं प्राणचक्रं सुलोचने ।
प्लावयेत पूर्व चक्रेण पूर्णचन्द्रनिभं तनुः ॥ (१५।१२९)

शरीर में प्राण के एकादश केन्द्र—'कौलज्ञाननिर्णय' के सप्तदश पटल में भैरव ने देवी से कहा है कि 'महायोग' में वर्णन आता है कि शरीर के मध्य निम्न स्थानों पर समीर स्थित है—१. गुह्यस्थान (मलाशय), २. जननेन्द्रिय, ३. नाभि, ४. हृदय, ५. अधोमुख पद्म, ६. घण्टिका, ७. नासाग्रभाग, ८. द्वादशान्त, ९. दोनों भौंहों के मध्य स्थान, १०. ललाट, ११. शिखस्थ ब्रह्मरन्ध्र—

'साधुदेवि! महायोगे योगिनीसिद्धनायिके ।
गूढं गुह्यं सनाभिञ्च हृदि पद्ममधोमुखम् ॥
समीरस्तोभकैचक्रं घण्टिकाग्रन्थि शीतलम् ।
नासाग्रं द्वादशान्तंच भ्रुवोर्मध्ये व्यवस्थितम् ॥
ललाटं ब्रह्मरन्ध्रं च शिखरस्थं सुतेजसम् ।
एकादशविधं प्रोक्तं विज्ञानं देहमध्यतः ॥'

प्राण और आत्मा में एकत्व स्थापना—मत्स्येन्द्रनाथ साधना के क्षेत्र में अकेले प्राण की साधना के पक्षधर नहीं थे । वे प्राण एवं आत्मा में एकत्व स्थापित करके साधना को अग्रपद करना चाहते थे । वे कहते हैं—'**आत्मप्राण समं कृत्वा** ।'[१]

कालवञ्चन और उसकी प्रक्रिया—मत्स्येन्द्रनाथ काल वञ्चन का बार-बार उपदेश दिए हैं ।

'वराहोपनिषद' में 'काल वञ्चन' की पद्धति इस प्रकार बताई गई है—१. समग्रीवशिर होकर, २. शरीर को ऋजु एवं सुस्थिर, सुनिश्चित करके, ३. चित्त सावधान करके, ४. दोनों नेत्रों को नासिकाग्र पर फिर हृदय के मध्य और बिन्दु में संयोजित करके, आनन्दरस विभोग तुरीय एवं अमृत का दर्शन करे कि उसमें से आनन्दरस झर रहा है । ५. अपान वायु को गुदाद्वार के ऊपर सिकोड़ कर ऊपर नीचे करे, ६. वायु को सङ्कुचित करते समय अपान वायु को ऊपर खींचा जाय और मन में ध्यान एवं उच्चारण किया जाय, ७. अपान वायु का रेचन करते समय लक्ष्मी बीज 'श्रीं' का उच्चारण एवं ध्यान किया जाय । प्रणव का उच्चारण करते हुए स्वात्मस्वरूप का एवं श्रीं के साथ श्री का ध्यान करे ।

'समग्रीवशिरः कायः संवृतास्य सुनिश्चिलः ।
नासाग्रे चैव हृन्मध्ये बिन्दुमध्ये तुरीयकम् ।
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः ।
अपानमुकुलीकृत्य पायुमाकृष्य चोन्मुखम् ।
प्रणवेन समुत्थाय श्रीबीजेन निवर्तयेत् ॥
स्वात्मानं च श्रियं ध्यायेदमृतप्लावनं ततः ।
कालवञ्चनमेतद्धि सर्वमुख्यप्रचक्षेत ॥'

---

१. कौ.ज्ञा.नि. (प. २०।६)

Scanned by CamScanner

(१८) कालवञ्चन

मत्स्येन्द्रनाथ ने कालवञ्चन की साधना पर बहुत जोर दिया है। अकाल कलित चिद्धाम में समावेश होने पर कालवञ्चन हो जाता है।

नेत्रतन्त्र (अधिकार ८।५०) में कहा गया है—

कालस्य वञ्चनं नाम योगः परमदुर्लभः।
अनेनाभ्यासयोगेन मृत्युजिद् भवति नरः ॥[१]
अनेनैव तु योगेन लोकानुग्रह काम्यया।
भवते मृत्युजिद्योगी सर्वप्राणिषु सर्वदा ॥
एष मृत्युञ्जयःख्यातः शाश्वतः परमो ध्रुवः।
अस्मात्परतरो नास्तिः सत्यमेत्द्वाम्यहम् ॥
यत्परामृतरूपं तु त्रिविधं चोदितं मया।
तदभ्यासाद्भवेज्जन्तुरात्मनोऽथ परस्व वा ॥ ५३ ॥
अमृतेशसमो देवि! मृत्युजिन्नात्र संशयः।
येन येन प्रकारेण यत्र यत्रैव संस्मरेत्।
तेन तेनैव भावेन स योगी कालजिद्भवेत् ॥ ५५ ॥

गोरक्षनाथ ने 'गोरक्षशतक' के ग्रन्थारम्भ में ही कहा है कि मैंने इस ग्रन्थ की रचना तीन प्रधान उद्देश्यों से की है—

'ध्रुवं यस्यावबोधेन जायते परमं पदम्।
एतद् विमुक्तिसोपानमेतत् कालस्य वञ्चनम्।

(गोरक्षशतक ४५५)

योग—१. परम पद की प्राप्ति, २. विमुक्ति का सोपान, ३. कालवञ्चन। (गोरक्षशतक ४-५)

हठयोगप्रदीपिकाकार की दृष्टि—स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि—

(१) भ्रूद्वय के मध्य जो शिवस्थान है उसमें मन को लय रूप **'तुर्यपद'** का उदय होता है। इस स्थिति में उस **'तुर्यपद'** में वहाँ काल का प्रवेश कहा?

(२) **खेचरी मुद्रा की सिद्धि** होने पर भी काल का प्रभाव कहाँ?

(३) यदि **सुषुम्णा में प्राण एवं मन का प्रवेश** हो जाय तो काल का भय कहाँ?

(४) **ब्रह्मरन्ध्र या उन्मनी की स्थिति में प्राण का लय होने पर काल का भय कहाँ?**

'भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥ (४।४८)
अभ्यसेत् खेचरीं तावद् यावत्स्याद्योगनिद्रितः।

१. नेत्रतन्त्र (अधिकार ८।५०)   २. वराहोपनिषद्

Scanned by CamScanner

सम्प्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ (४।४९)

काल-वञ्चन—संसार का कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता। वह उन समस्त उपायों, युक्तियों एवं साधनों का प्रयोग करता है जिससे कि वह मर न सके। साधक, योगी, कालै, शैव, शाक्त, वैष्णव, गृहस्थ, सन्यासी आदि सभी मरने से डरते हैं किन्तु मृत्यु अनिवार्य है और प्रत्येक प्राणी की श्वासें गिनती की हैं। उनसे ज्यादा न वह जी सकता है और न उसके पूर्व वह मर सकता है। इन अपरिहार्य विधान के बाद भी योगी और तान्त्रिक सदैव से मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करते रहे हैं। उपनिषदों ने भी जीवन की कृतार्थता के कुछ सूत्र निश्चित किए थे जिनमें कहा गया है कि—

(१) **असतो मा सद्गमय।**

(२) **तमसो मा ज्योतिर्गमय।**

किन्तु अन्तिम सूत्र है—

(३) **मृत्योर्मामृतं गमय।**

मैत्रेयी ने भी अमृतत्व को ही सर्वोपरि मानकर पूँछा था कि—'येनाहं नामृतं स्याम् तेनाऽहं किं कुर्याम्?'

नाचिकेता ने भी इसी अमरता को (अमृततत्व) की जिज्ञासा की थी।

कालवञ्चन और मत्स्येन्द्रनाथ की दृष्टि—मत्स्येन्द्रनाथी एवं गोरक्षनाथी दोनों साधन मार्गों में (या पूरे नथ पंथ में) **मृत्युञ्जयत्व की कामना, काल वञ्चन की उत्कण्ठा, काल विजिगीषा** एवं **एतन्मूलक युयुत्सा** (काल से लड़ने की अभीप्सा) अत्यन्त प्रबल रही है।

मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलज्ञाननिर्णय के पञ्चम पटल में कहा है कि आकाशावतरित एवं ब्रह्मरन्ध्र से श्रवित अमृत का यदि पान कर लिया जाय तो साधक शीघ्र ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है तथा अन्य उपायों से भी अमृतत्व पा सकता है—

(१) स्रवन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण अचिरान्मृत्युजिद्भवेत् ॥ (प. ५।७)

(२) अथान्यं सम्प्रवक्ष्यामि मृत्युञ्जय विशेषत: । (प. ५।१२)

(३) कथितं मृत्युञ्जयन्देवि! सर्वज्ञानस्य निर्णय: । (प. ५।३४)

(४) अमरत्वं भवेद्देवि! जयेन्मृत्युं न संशय: । (प. ५।३३)

(५) साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि कालस्य वञ्चनं शुभम् । (प. ६।१६)

(६) कथयामि न सन्देहो यथा मृत्युर्विनश्यति । (प. ६।१७)

(७) मासेन जितयेन्मृत्युं सत्यं सत्यं महातपे । (प. ६।१९)

(८) अब्दमेकं यदाभ्यस्तञ्जरामृत्युर्विनश्यति । (प. ६।२०)

(९) न तस्य भवते मृत्युर्योगयानपर: सदा । (प. ६।२५)

(१०) न मृत्युर्भवते तस्य अब्दात् स्वच्छन्दगो भवेत् । (प. ६।२६)

Scanned by CamScanner

(११) आगतं नाशयेन्मृत्युं घटिकार्द्धे वरानने । (प. ६।२८)

(१२) कालस्य वञ्चनं देवि! सुगोप्यं प्रकटीकृतम् । (प. ६।२८)

(१३) पलितस्तम्भविज्ञानं जरामरणनाशनम् । (प. ७।१)

(१४) जरामरणनिर्मुक्तो व्याधिरोग-विवर्जितः । (प. ७।१७)

(१५) (चतुर्थ शान्तिक चक्र) 'कुरुते अमरत्वं हि सतताभ्यासतत्परः । (कौलज्ञान-निर्णय प. १०।१९)

(१६) (सप्तम चक्र) जरामृत्युविनाशञ्च परदेहे प्रवेशनम् । (प. १०।२६)

(१७) कालस्य वञ्चनं देवि! रूपस्य परिवर्तनम् । (१४।१८)

(१८) कालस्य वञ्चनं देवि! सिद्धिश्च मानसी भवेत् । (१४।२६)

(१९) (वह्निकौल के प्रसङ्ग में) वश्यमाकर्षणं देवि! जरामरण नाशनम् । (१४।३५)

(२०) पुरप्रवेशमावेशं मृत्युनाशं महातपे । (प. १४।४२)

(२१) न मृत्युर्भवते तस्य अक्षयो ह्यमरद्युतिः । (प. १४।४५)

(२२) क्षणेन मुच्यते रोगैर्व्याधिमृत्युजरादिभिः । (प. १४।५१)

(२३) जरामरणनिर्मुक्तो नित्यं वै योगिनीप्रिये । (प. १४।७३)

(२४) सततमभ्यसेत् प्राज्ञो व्याधिमृत्युर्नविद्यते । (प. १४।७५)

(२५) अक्षयो ह्यमरो भूत्वा कामदेवद्वितीयकेः । (प. १४।८६)

(२६) अमृतेन विना देवि अमरत्वं कथं प्रिये ।
अमृतं कौलसद्भावं शृणु कामकलात्मकम् ।

(२७) अक्षयो ह्यमरो नित्यो यथार्हन्तिष्ठ मानसः । (प. १५।२२)

कालवञ्चन की पद्धतियाँ—मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं कि—

(१) **चन्द्रमा के स्थान का ध्यान करके** और **ऊर्ध्वचन्द्र के साथ अपना सम्पर्क स्थापित** करके यह कल्पना करनी चाहिए कि मेरा मन उसके दिव्य एवं शीतल सीकरों से सींचा जा रहा है । इससे व्यक्ति सारे रोगों एवं मृत्यु से मुक्त हो जाता है—

'ध्यात्वा चन्द्रासनस्थञ्च ऊर्धश्चन्द्रेण घट्टितम् ।
सीकरैः शीतलैर्दिव्यैः सिच्यमानमनुस्मरेत् ।
जरामरणनिर्मुक्तं सर्वव्याधिविवर्जितम् ।[1]

(२) **द्वितीयविधि**—साधक यह ध्यान करे कि 'चन्द्रमा' मेरी नाभि हृदय एवं मस्तक में स्थित है । ऐसा ध्यान करते रहने से भी एक वर्ष बाद अमृतत्व प्राप्त होगा **'ततः स्वातन्त्र्यमायाति जरामरणवर्जिताम्** । (कौलज्ञाननिर्णय)[2]

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. ५।१२-१३)
२. कौलज्ञाननिर्णय (प. ५।१६)

अथान्यं शृणु कल्याणि! यथातथ्येन भाविनि ।
ध्यायेच्चन्द्रमिदं नाभिमूर्ध्नि च हृदयगतम् । (प. ५।१६)

इसका अभ्यास एक वर्ष तक करना चाहिए । इससे साधक जरा एवं मृत्यु दोनों से मुक्त होकर अमर हो जाता है ।

षष्ठ पटल में कहा गया है कि—साधक को अमृताप्ति एवं काल वञ्चनार्थ अन्य विधियों का भी प्रयोग करना चाहिए ।

(३) तृतीय विधि—साधक को चाहिए कि वह ब्रह्मप्रकृतिक अमृत से अपने को पूर्ण कर ले और उसे आत्मसात् भी कर ले तो एक मास के भीतर वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है ।[1] यह अमृत 'ब्रह्मविल' से स्रवित होता है और जिह्वा को तालुमूल में रखकर धीरे-धीरे वायु पीने से छह मासों में प्राप्त होता है और एक वर्ष तक निरन्तराभ्यास से तो जरा एवं मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो जाती है ।[2]

इसका दूसरा फल यह भी कि इससे '**निर्मल देह**' भी प्राप्त होता है और '**अज्ञानपटल' का विनाश** होता है—

'अद्य में निर्मलं देहमज्ञानपटलाहतम् ।
प्रकाशितं महाज्ञानं यत्सुरैरपि दुर्लभम् ।।[3]

उक्त योगाभ्यास से साधक (अमृताप्ति के कारण) एक वर्ष के भीतर मृत्यु पर विजय प्राप्ति के अतिरिक्त—

(१) अतीतानागत (भूत भविष्य का ज्ञान), (२) दूर श्रवण, दूर दर्शन, (३) विषनाशन, गरल पर विजय भी प्राप्त कर लेता है और अमर (अच्छिद्यमान) हो जाता है—

'अतीतानागतञ्चैव दूरादिश्रवणन्तथा ।
विषं न क्रमते देहे दंशितोऽपि महोरगैः ।।
स्थावरं जङ्गमं वापि कृत्रिमं गरलं तथा ।
छेद्यमानो न छिद्येत तद्गतो तन्मनो यथा ।।[4]

किसी भी अस्त्र-शस्त्र से उसको काटा भी नहीं जा सकता ।

राजदन्त के मध्य बिन्दु या अमृत स्थित है—

द्वौ राजदमध्यस्थं बिन्दुरूपं व्यवस्थितम् ।
अमृतं ते विजानीयाद्वलीपलितनाशनम् ।। (६।२३)

---

१. कथयामि न सन्देहो यथा मृत्युर्विनश्यति ।
प्रसार्य दन्तुशयान्तु यावद् ब्रह्मविलङ्गतः ।
अमृताग्रं रसाग्रेण दह्यमानसुधीरपि ।
मासेन जितयेन्मृत्युं सत्यं सत्यं महातपे ।।

२. मासेन जितयेन्मृत्युं सत्यं सत्यं महातपे । (१९)
अब्दमेकं यदाभ्यस्तज्जरामृत्युर्विनश्यति । (२०)

३. कौलज्ञाननिर्णय (प. ६।१५-१६)

४. कौलज्ञाननिर्णय (प. ६।२१-२२)

Scanned by CamScanner

साधक को चाहिए कि शीतल स्पर्श संस्थान में जिह्वा स्थापित करे और अमृतपान करे—**'शीतलं स्पर्शसंस्थाने रसनां कृत्वा तु बुद्धिमान् ।'** (या स्पर्श संस्थान में जिह्वा स्थापित करके शीतल अमृत का पान करना चाहिए ।) उससे साधक की मृत्यु नहीं होती—**'न तस्य भवते मृत्युर्योगयान परः सदा ।'** क्योंकि रसना को तालुमूल में संयोजित करने से व्याधिनाश एवं मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है—**'रसना तालुमूले तु व्याधिनानाशनाय योजयेत् ।'**[1]

साधना विधि—(१) रसना को तालु मूल में स्थापित करना चाहिए । (२) साधक को खड़े होकर, जागृत होकर, स्वप्न देखते हुए, चलते हुए, भोग करते हुए, मैथुन में रत होते हुए, अर्थात् सभी स्थितियों में अपनी जिह्वा को विपरीत गामी दिशा में पीछे की ओर मोड़कर, मन को हृदय में स्थापित करके 'उन्मनी' की अवस्था में पदार्पण करना चाहिए । इससे वह अर्ध घटिका काल में ही समागत मृत्यु का ध्वंस कर सकता है और काल का वञ्चन कर सकता है और यह अत्यन्त गुप्त है ।

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'रसना तालुमूले तु व्याधिनाशाय योजयेत् ।
तिष्ठन् जाग्रन स्वपन् गच्छन् भुञ्जन मैथुने रतः ॥
रसनं कुञ्चयेन्नित्यं स्ववक्त्रेण तु संयुतम् ।
न मृत्युर्भवते तस्य अब्दात् स्वच्छन्दगो भवेत् ॥
हृदिस्थञ्चमनः कृत्वा यावदुनतां गतः ।
आगतं नाशयेन्मृत्युं घटिकार्द्धे वरानने ॥[2]

(१९) मत्स्येन्द्रनाथोक्त अमृत-साधना और उसके साधन

मत्स्येन्द्रनाथ ने 'कौलज्ञाननिर्णय' में **'मृत्योर्मामृतं गमय'** के आदर्श को कहीं भी विस्मुत नहीं किया और वे इसका बार-बार स्मरण कराते रह गए । यथा—

'मृत्युञ्जयं महादेव कथयस्व प्रसादतः । (५।१)
चन्द्राह्लादकरं दिव्यम् आगच्छन्तं स्वमध्यतः ।
स्रवन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण अचिरान्मृत्युजिद्भवेत् ॥ (५।३)
ध्यात्वा चन्द्रासनस्थञ्च ऊर्धश्चन्द्रेण घट्टितम् ।
सीकरैः शीतलैर्दिव्यैः सिंच्यमानमनुस्मरेत् ॥
जरामरणनिर्मुक्तं सर्वव्याधिविवर्जितम् ॥ (५।१३)
ध्यायेच्चन्द्रमिदं देवि! नाभिमूर्ध्नि च हृद्गतम् । (५।१६)
सहस्रदलशोभाढ्यं गोक्षीरधवलोपमम् ।
देव्याचक्रगतश्चक्रं तादृशं खेचरैः स्थितम् ॥
अधश्चक्रसमारूढं ऊर्धचक्रेण प्लावितम् ।

---

१. कौलज्ञानिर्णय (प. ६।२५)
२. कालस्य वञ्चनं देवि! सुगोप्यं प्रकटीकृतम् ।

Scanned by CamScanner

सततमभ्यसेद्योगी सिंच्यमानश्च विशेषैः । (५।१९)
षोडशारं महापद्मं हिमकुन्देन्दुसम्प्रभम् ।
स्थाने स्थाने तु तंध्यात्वा शिवाद्या वीचिगोचरम् ।
बिन्दुधारानिपातैश्च विप्लवैः पूरितन्तनुः ।
निष्क्रान्तं रोमकूपैश्च गोक्षीर हिमसन्निभम् ।
न जरामरणान्तस्य व्याधिरोगं न विद्यते ।
स्वातन्त्रः शिवतुल्यस्तु स्वच्छन्दगति चेष्टितः ॥ (५।२४)
प्रसार्य दन्तुरायान्तु यावदब्रह्मविलङ्गतः ।
अमृताग्रं रसाग्रेण दह्यमानसुधीरपि ।
मासेन जितयेन्मृत्युं सत्यं सत्यं महापते ।
रसनातालुमूले तु कृत्वा वायुं पिबेच्छनैः ।
षण्मासादभ्यसेदेवि! महारोगैः प्रमुच्यते ।
अब्दमेकं यदाभ्यस्तञ्जरामृत्युर्विनश्यति ॥ (६।२०)
अमृतं तु विजानीयाद्वलीपलितनाशनम् ।
रसना तालुमूले तु व्याधिनाशाय योजयेत् ॥ (६।२५)
तिष्ठज्जाग्रन स्वपङ्गच्छन् भुञ्जन मैथुने रतः ।
रसनं कुञ्चयेन्नित्यं स्ववक्त्रेण तु संयुतम् ।
न मृत्युर्भवते तस्य अब्दात् स्वच्छन्दगो भवेत् ॥ (६।२७)
हृदिस्थञ्च मनः कृत्वा यावदुन्मतां गतः ।
आगतं नाशयेन्मृत्युं घटिकार्धे वरानने ।
कालस्य वञ्चनं देवि! सुगोप्य प्रकटीकृतम् ॥ (६।२८)

(२०) अमृत साधन और काया योग

मत्स्येन्द्रनाथ ने यह अनुभव किया कि **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'** । शरीर के इस महत्व को देखकर उन्होंने शरीर का सन्धान किया तो पाया कि **'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'** । प्रश्न यह उठा कि पिण्ड के ब्रह्माण्ड को साक्षात्कृत कैसे किया जाय तथा **'मृत्योर्मामृतं गमय'** के वैदिक आदर्श को चरितार्थ कैसे किया जाय? जब पिण्ड स्थिर होगा तभी तो अमर होगा । इसी 'अमृतत्व' को 'कालवञ्चन' की भी आख्या दी गई ।

मत्स्येन्द्र की काया विषयक दृष्टि—मत्स्येन्द्रनाथ ने अपनी काया विषयक दृष्टि एवं आदर्श काया के सिद्धान्त को कौ.ज्ञा.नि. में इस प्रकार व्यक्त किया—

(१) **निर्मल देह**—अद्य में **निर्मलं देहं** तत्प्रसादेन भैरव । (४।१)

(२) **निर्मल देह**—अद्य में **निर्मल देह**मज्ञान पटलाहतम् । (६।१५)

(१) **साध्य देह**—साधकः साध्यदेहे तु पशुदेहे तु हृद्गतम् । (४।७)

(२) **साध्यदेह**गतश्चिन्त्य निमेषार्द्ध स्तुभ्यते पशुः । (४।९)

वज्रदेह—वज्रवतिष्ठत देहं संहारन्तु न हि प्रिये । (१५।२५)

Scanned by CamScanner

'योगबीज' में गोरक्षनाथ ने कहा है कि शरीर के दो प्रकार हैं—(१) **परिपक्व देह** =योगयुक्त—योगाग्नि से पका। (२) **अपक्व देह** = योग हीन—जड़। शोक युक्त।

अपक्वाः परिपक्वाश्च द्विविधा देहिनः स्मृताः।
अपक्वा योगहीनास्तु पक्वा योगेन देहिनः ॥ ३४ ॥

पक्व शरीर—

पक्वो योगाग्निना देप्ती ह्यजड शोकवर्जितः।
जडस्तत्पार्थिवो ज्ञेयश्चापक्वो दुःखदो भवेत् ॥
शीतोष्णसुखदुःखाद्यैर्व्याधिभिर्भानवैस्तथा।
अन्यैर्नानाविधैर्जीवैः शस्त्राग्निजलमारुतैः ॥ ३७ ॥
शरीरं पीड्यते चास्य चित्तं संक्षुभ्यते ततः।
प्राणापान विपत्तौ तु क्षोभमायाति मारुतः ॥ ३८ ॥
ततोदुःखशतैर्व्याप्त चित्तं लुब्धं भवेनृणाम् ॥ ३९ ॥

परिपक्व शरीर के लक्षण (गोरक्षनाथ की दृष्टि)

- (१) अहङ्काराभाव (२) आकाश से भी अधिक निर्मल (३) सूक्ष्मतम (४) इच्छारूप
- रोगाभाव अजर। अमर। सर्वगामी। सर्वत्रगामी नानारूपात्मक
- ५ महाभूतों सेअप्रभावित योग बल—प्राप्त।
- योगाग्नि द्वारा शरीर के सातों धातु परिदग्ध जीवन्मुक्त योगी का शरीर
- 'योगदेह' कीप्राप्ति। सर्वदोष शून्य।
- अद्वेद्य, अभेद्य, अकाट्य। योगाग्नि से निर्मित

अमृत-साधन—योगतन्त्रसाधना में अमृत साधना, मृत्युञ्जयत्व, कालविजय एवं काल वञ्चन के नाम से की जाती है। भारतीय जीवन के मूल आदर्श सूत्र तीन हैं और उसमें अन्तिम सूत्र **अमृतत्त्वाप्ति** ही है—१. **असतो मा सद्गमय**। २. **तमसो मा ज्योतिर्गमय**। ३. **मृत्योर्मामृतं गमय**।

अमृतत्व साधना को महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ ने अंतिशय महत्व दिया है। वे कौलज्ञाननिर्णय में कहते हैं—

'देव्याभूत्वा च योगिन्या मातृकावशानुगा।
लीयन्ते खेचरी चक्रे क्षोभयेत् परमामृतम् ॥
अमृतेन विना देवि! अमरत्वं कथं प्रिये।
अमृतं कौलसद्भावं शृणु कामकलात्मकम् ॥[१]

अमृत साधन की अनेक प्रकृयायें—जब मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती हैं—'**येनाहंनामृतं स्याम् तेनाऽहं किं कुर्याम्**' तब उनके **अमृत का अर्थ** देवों द्वारा पिया जाने वाली भौतिक अमृत नहीं है।

१. कौलज्ञाननिर्णय (१४।९३-९४)

Scanned by CamScanner

अमृत साधना की यौगिक पद्धति—**ब्रह्मरन्ध्र में जो सहस्रार नामक पद्म स्थित** है उसमें जो 'योनि' है उसमें 'चन्द्रमा' का निवास है। उस त्रिकोणाकार योनि से चन्द्रमृत निरन्तर प्रवाहित होता रहता है और यह (अमृत) इड़ा नामक (वासनासा पुट में स्थित) नाड़ी के द्वारा सदैव धारा रूप में प्रवाहित होता रहता है—

ब्रह्मरन्ध्रे हि यत् पद्मं **सहस्रारं** व्यवस्थितम्।
तत्र कन्दे हि या योनिस्तस्यां चन्द्रो व्यवस्थित:॥ १२९ ॥
त्रिकोणाकारतस्तस्या: सुधाक्षरति सनततम्।
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमा: ॥ १३० ॥
अमृतं वहति धारा धारारूपं निरन्तरम्।
वामनासापुटं याति **गङ्गेत्युक्ता** हि योगिभि: ॥ १३१ ॥[१]

मूलाधार चक्र में जो चार दलों वाला कमल है, उसमें एक कन्द है और उस कन्द में **योनि** है। **योनि में सूर्य का निवास है। उस सूर्यमण्डल के द्वार से सदैव विष का स्राव** होता रहता है। यह विष धारारूप होकर पिङ्गला नाड़ी के द्वारा तापयुक्त होकर निरन्तर प्रवहित होता रहता है। यह नाड़ी दक्षिण नासापुट में स्थित है—[२]

कामिकागम की दृष्टि—'कामिकागम' में कहा गया है कि—(१) परा संवित् पहले शक्तिमान शिव से अविभक्त भाव से विमर्श रूप से उल्लसित रहती है। वही विश्वोन्मेष की आकांक्षा के कारण **प्रकृतिरूपा संवित् शक्ति हो जाती** है और अपने यथार्थ स्वरूप का गोपन करती है। 'पहले संवित् शक्ति प्राण रूप में परिणत हुई' (**संवित् प्राक प्राणे परिणता**) प्राण रूप में परिणत यह संवित् शक्ति प्राण और अपान रूप से विभाजित होती है। इसे ही 'प्राणवाह एवं अपानवाह' कहते हैं। यही प्राण एवं अपानदशा में परासंवित् चन्द्रमा के रूप में अमृत की वर्षा करके देहेन्द्रिय वर्ग को तृप्त करती है और प्राणरूप सूर्य इस **चान्द्र कला** को ही प्रविलापित करता रहता है—

चन्द्रसूर्यात्मना देहं पूरयेत्प्रविलापयेत्।
अमृतं चन्द्ररूपेण द्विधा षोडशधा पुन: ॥ ९५ ॥[३]

'चन्द्रमा' पीयूष वर्ष कहलाता है। यह अमृतमयी रश्मियों का केन्द्र है। अमृत देव पेय है। यह चन्द्रमा से सदैव स्रावित होता रहता है। यह दो प्रकार का होता है (१) प्रत्यक्ष ज्योतिश्चक्र दृष्ट चन्द्रमा की कलाओं के रूप में (२) अति निर्मल, पूर्ण शुद्ध अपतत्त्व के रूप में।

---

१. शिवसंहिता

२. मूलाधारे हि यत्पद्मं चतुष्पत्रं व्यवस्थितम्।
तत्र कन्देऽस्ति या योनिस्तस्यां सूर्यो व्यवस्थित: ॥ १३४ ॥
तत् सूर्यमण्डलद्वारं विषं क्षरति सन्ततम्।
पिङ्गलायां विषं तत्र समर्पयति तापन:।
विषं तत्र वहन्ती या धारारूपं निरन्तरम्।
दक्षनासापुटे याति कल्पिते यन्तु पूर्ववत्॥ (शिव संहिता)

३. अभिनवगुप्त : तन्त्रालोक (आ. ६।९५)

Scanned by CamScanner

(१) देवतागण पूर्णिमा से अमावस्या के पहले भी चतुर्दशी तक अमृत पी जाते हैं।

(२) देवता १५ कलाओं को पी सकते हैं। यह प्रतिदिन घटते-घटते अमावयाके दिन समाप्त हो जाता है। कहा गया है कि 'देवों पितरों और मनुष्यों के द्वारा चन्द्रमा प्रतिदिन पिया जाता है। क्षीण होता हुआ अमा के आक्रोश में समा जाता है।'—

यस्मिन् सोमः सुरपितृनरैरन्वहं पीयमानः।
क्षीणः क्षीणः प्रविशति।

आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि—आचार्य जी कहते हैं—

अमृतं चन्द्ररूपेण द्विधा षोडशधा पुनः ॥ ९५ ॥
पिबन्ति च सुराः सर्वे दशपञ्च पराः कलाः।
अमा शेषगुहान्तःस्थामावास्या विश्वतर्पिणी ॥ ९६ ॥[१]

अमा कला १६वीं कला है। इसी में पन्द्रहों कलायें आवास बना लेती हैं। फिर इसे से पूर्णिमा तक बढ़ती हैं। इसी आवास के कारण इसे अमावास्या कहते हैं। चन्द्रमा की कलाओं के क्रमशः क्षीण होने का यही कारण है। 'अमा कला' सूक्ष्म अपतत्त्व है। इसीलिए सूर्य भी उसे सोख नहीं पाता। यह विश्व को आप्यायित करने वाली 'आप्यायनी कला' है। यही षोडशी है—

एव कलाः पञ्चदश क्षीयन्ते शशिनः क्रमात्।
आप्यायिन्यमृताद्रूपतादात्म्यात्षोडशी न तु ॥ (९७)

१५वीं तुटि के अन्त में अमावस्या का उदय हो जाता है। वहाँ चन्द्रमा क्षीण हो जाता है। १६वीं का अर्धभाग अमावस्य भाग है और आधा भाग प्रतिपद है। अमा भाग के पूर्व कृष्णपक्ष समाप्त हो जाता है अतः इसे शुक्ल पक्ष की सन्धि भी कहते हैं।

*** षोडशी कला के दो भाग ***

(१) आमावस्या भाग   (२) प्रातिपद भाग

दोनों के मध्य एक ऐसा बिन्दु है जहाँ तिथि की कल्पना करना सम्भव नहीं होता।

अमाकला के परिवेश में चन्द्रमा सूर्य में पूर्णतया लीन हो जाता है। इससे वह अत्युष्ण होने के कारण अमृत मधु का स्राव करने लगता है। चन्द्रमा के साथ रहने वाला (सिंहिका) का पुत्र राहु उसे पीने लगता है।

स्व. (७।७१०-७१) में कहा गया है कि—प्राण रूप सूर्य में अपान रूप चन्द्र बिम्ब का प्रवेश होता है। प्राणार्क मान है। उसमें मेय चन्द्रमा का प्रवेश होता है। इससे अमृत चूने लगता है। यह चान्द्र पीयूष राहु पीने लगता है। यही समय **ग्रहण** कहलाता है। जब वह अमृत पीकर चान्द्र बिम्ब को मुक्त करता है उसे ही **ग्रहण से मुक्ति का समय** कहते

१. तन्त्रालोक (आ. ६।९५-९६)

Scanned by CamScanner

हैं । उस समय अपान चन्द्र मुक्त हो जाता है और शुक्ल पक्ष का आरम्भ हो जाता है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं—

तत्रार्कमण्डले लीनः शशी स्रवति यन्मधु ।
तप्तत्वात्तत्पिबेदिन्दुसहभूः सिंहिकासुतः ॥ (आ. ६।१०१)

स्व. (७।७०-७१) में कहा गया है कि—

'रविबिम्बान्तरे देवि! चन्द्रबिम्बं तदा भवेत् ।
तदन्तरे भवेद्राहुरमृतार्थी वरानने ।
अमृतं स्रवते चन्द्रो राहुश्च ग्रसते तु तत् ।
पीत्वा त्यजति तद्बिम्बं तदा मुक्तः स उच्यते ॥'

सूर्य को प्रमाण कहा जाता है । चन्द्रमा प्रमेय कहा जाता है । इसमें जो सूर्य है वह ज्ञान स्वरूप है और चन्द्रमा क्रिया स्वरूप है । दोनों के संयोग की दशा में माया प्रमाता राहु का लाभ होता है । राहु इसे ग्रस लेने की कला जानता है । वह ग्रास बनाकर सूर्य सोम को पचा नहीं पाता केवल उन्हें आच्छादित कर सकता है । राहु तमोरूप है । सूर्य सोम प्रकाश रूप है अतः प्रकाश अन्धकार से मुक्त हो जाता है ।

राहु आच्छादक तो है किन्तु चन्द्र सूर्य का विलापक नहीं है ।[१]

'हठयोग प्रदीपिका' के तृतीय उपदेश में बिन्दु साधन एवं अमृत साधना का वर्णन किया गया है इसमें कहा गया है कि–

(१) चलायमान होता हुआ भी बिन्दु योनिमण्डल में पहुँच जाने पर भी **योनिमुद्रा** द्वारा (वज्रोली द्वारा) आकर्षण शक्ति से खिञ्चा हुआ सुषुम्नानाड़ी के बिन्दु के स्थान में पहुँचा जाता है **बिन्दु को अमृत भी कहा गया है ।**

तालु के ऊपर के छिद्र की ओर उन्मुख जिह्वा वाला योगी सोमपान (अमृत पान) करता है । (ऊर्ध्व छिद्र में से गिरते हुए चन्द्रामृत पीता है)

'ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्त ॥ (३।४४)

* अमृत पीने वाले को तक्षक नाग का विष भी कुछ भी नहीं कर सकता—

'नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ (३।४५)

* सोम (अमृत) से पूर्ण शरीर को जीवात्मा कभी परित्यक्त नहीं किया करता—

'तथा सोमकला पूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥

* जो अमर वारुणी (अमृत) का पान करता है और खेचरी मुद्रा का अभ्यास करता

---

१. तन्त्रालोक (आ. ६)
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
भासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्त ॥

Scanned by CamScanner

है वे ही कुलीन हैं अन्य लोग कुल घातक हैं ।[१] यह **अमर वारुणी (अमृत) चन्द्रमा से प्रवाहित होती** है और वह्नि के संयोग से आविर्भूत होती है और जिह्वा को उलटकर तालु में लगाने से जिह्वा को प्राप्त हुआ करती है ।[२]

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि मेरु के समान सबसे ऊँची सुषुम्ना नामक जो नाड़ी है उसके उच्चतम भाग में प्रालेय (सोम कला जल अर्थात् अमृत) है । उस अमृत जल वाले स्थान में एक निम्नगामी छिद्र है उससे 'अमृत' टपकता है जो कि चन्द्रमा से स्रवित होता है । उसको पीने से ही **कायसिद्धि** होती है अन्यथा नहीं होती ।[३]

सर्वोच्च मुद्रा वही है जो अमृत साधिका हो अतः सर्वोच्च बीज तो सृष्टि बीज ॐ है और सर्वोच्च मुद्रा (अमृत साधिका) खेचरी मुद्रा है—

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी । (३।५४)

चन्द्र-प्रसूत अमृत और उसका शोषण—चन्द्रमा से स्रवित अमृत दिव्य है उसे सूर्य पी लेता है इसीलिए शरीर रोगाक्रान्त होता है, मर जाता है, अन्यथा ऐसा कभी न हो पाता—

यत्किञ्चित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः । (हठयोग)

अमृतत्व प्राप्ति का केवल एक ही साधन है और वह है—**सूर्य का मुख वञ्चन** ।

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ॥

योगमार्तण्डकार की दृष्टि—योगिवर गोरक्षनाथ ने 'योगमार्तण' में कहा है—

(१) नाभि के मध्य में **दहनात्मक भास्कर** स्थित है ।

(२) तालु के मध्य में **अमृतात्मा चन्द्रमा** स्थित है ।

(३) **अधोमुखी चन्द्रमा सहस्रार में स्थित है और वहीं से अमृत स्राव करता है।**

(४) इस **स्रवित अमृत को मूलाधारस्थ और ऊर्ध्वमुखस्थ सूर्य उस अमृत को** पी लेता है ।

नाभिमध्ये वसत्येषो भास्करो दहनात्मकः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमध्ये तु चन्द्रमा ॥
वर्षत्यधो मुखं चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखोरविः ।
विज्ञातस्य करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते ॥

---

१. गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥ (३।४७)

२. जिह्वा प्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात् स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी । (३।४९)

३. चन्द्रात्सारः स्रवति वपुस्तेन मृत्युर्नराणां ।
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कायसिद्धि । (३।५१)—हठयोगप्रदीपिका

Scanned by CamScanner

वर्षत्यधो मुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वं मुखो रविः ।
ज्ञातव्यं करणं तत्र तेन पीयूषमाप्यते ॥

अमृतपान की विधि—(विपरीतकरणीमुद्रा)

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालु ऊर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणं विपरीताख्यं गुरुवाक्येन लभ्यते ॥—योगमार्तण्ड
ऊर्ध्वजिह्वस्ततो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥—योगमार्तण्ड
काकचञ्चुपुटास्येन शीतलं सलिलं पिबेत् ।
मासार्धेन सम्मोहो सर्वरोगविवर्जितः ॥—योगमार्तण्ड
विशुद्धपरमं चक्रं भूत्वा सोमकलाजलम् ।
उन्मार्गेनात्र जलं याति वञ्चयित्वा मुखे रवौ ॥—योगमार्तण्ड
प्राणापानविधानेन योगी भवति निर्जरः ।
रसनातालुमूलेन यः प्राणं सततं पिबेत् ॥—योगमार्तण्ड
काकचञ्चुवदास्येन शीतलं सलिलं पिबेत् ।—विवेक मार्तण्ड
प्राणापान विधानेन योगी भवति निर्जरः ॥
रसनातालुयोगेन योऽमृतं सततं पिबेत् ।
अब्दार्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगपरिक्षयः ॥—विवेक मार्तण्ड
विशुद्धे परमे चक्रं धृत्वा सोमकलाजलम् ।
उन्मार्गेण कृतं याति वञ्चयित्वा खेर्मुखम् ॥—विवेक मार्तण्ड

<u>योगमार्तण्ड</u> में पुनः कहा गया है—

बध्वा सोमकलाजलंसुविमलं कर्णस्थलादूर्ध्वतो
नासान्तो सुचिरेणयाति गमनं द्वारं ततः सर्वतः ।
ऊर्ध्वास्ये भुवि सन्निवेश नयने सिक्ताङ्ग गात्रं पिबेत्
एवं यो विजितेन्द्रियमना नवास्ति तस्य क्षयः ॥

गोरक्षपद्धति के अनुसार इसका पाठ इस प्रकार है—

'बद्धं सोमकलाजलं सुविमलं कर्णस्थलादूर्ध्वतो
नासान्ते सुषिरे नयेच्च गगनद्वारान्ततः सर्वतः ।
ऊर्ध्वास्यो भुवि सन्निपत्य नितरामुत्तानपादः पिबेत्
देवः यः कुरुते जितेन्द्रियगणो नैवास्ति तस्य क्षयः ॥

योगमार्तण्डकार कहते हैं कि जो योगी जिह्वा को ऊपर उठाकर सोमपान करता है वह पन्द्रह दिनों में मृत्यु को जीत लेता है—

'ऊर्ध्वजिह्वस्ततो भूत्वा सोममानं करोति यः ।
मासार्धेन नात्र सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ (१३३)

(**विवेकमार्तण्ड** १४७ वें श्लोक में (अब्दार्धेन अर्थात् ६ मासों में) और **गोरक्षपद्धति** में <u>मासार्द्धेन</u> एवं योगमार्तण्ड में भी <u>मासार्द्धेन</u> पाठ मिलता है।)

Scanned by CamScanner

योगी को चाहिए कि वह अपनी जिह्वा के अग्रभाग से राजदन्त (श्रेष्ठ दाँत) से बिल को आच्छादित करके टपकते हुए अमृत रस का पान करे और अमृतमयी वाणी का ध्यान करे ऐसा करने से वह ६ मास के भीतर महान तत्त्वज्ञानी हो जाता है—

'सम्पीड्य रसनाग्रेण राजदन्तैर्बिलं महत् ।
ध्यात्वाऽमृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥—योगमार्तण्ड

गोरक्षनाथ कहते हैं कि जो योगी **'लम्बिका'** के अग्रभाग का स्पर्श करती हुई दुग्ध सदृश घी के समान (सहस्रदल कमल के चन्द्रमण्डल से स्रवित) **सोमजल (अमृत) को पीता है वह अमर हो जाता है** और आगम निगम आदि शास्त्रों का धारा प्रवाह व्याख्यान करता है और सारी व्याधियों से मुक्त हो जाता है—

'चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी
मध्वीकारादुदकस्य दुग्ध सदृशो मिष्टाज्य तुल्स्य च ।
व्याधीनां जरणां जरापहरणं शास्त्रागमोद्गीरणं
तस्यस्यादमरत्वमष्टगुणितं दिव्याङ्गना कर्षणाम् ॥—योगमार्तण्ड

योगी गोरक्षनाथ ने इसी विषय में कहा था कि गगनमण्डल में एक औंधाकुआँ (सहस्रारस्थ निम्नाभिमुखी चन्द्रमा) और उसमें अमृत का वास है । जो गुरुदीक्षित है वह तो उसे यथाकाम खूब पीता है किन्तु अदीक्षित व्यक्ति प्यासा ही लौट आता है—

'गगन मण्डल में ऊँधा कूबा तहाँ **अमृत का वासा** ।
सगुण होई सु भरि भरि पीबै निगुण जाइ पियासा ॥

अमृत पान से मन स्थिर होता है । गोरक्षनाथ कहते हैं—

नीझर झरणैं अमृत जीया यूं मन हूवा क्षीरं ।[1]

जीवन्मुक्त योगी अहर्निश अमृतपान करता रहता है । गोरक्षनाथ कहते हैं—

'जीवता जोगीअमीरस पीवता अहनि अखण्डित धार ।

ऐसा करने से—

'दिष्टि मधे अदिष्टि विचारि बा ऐसा आगम अपार ।'

चन्द्रमा की कलायें और अमृत—योगी गोरक्षनाथ ने सिद्धसिद्धान्तपद्धति में चन्द्रमा की १६ कलायें बताकर उनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

उल्लोला, कल्लोलिनी, उच्चलन्तो, उन्मादिनी, तरङ्गिणी, शोषिणी, लम्पटा, प्रवृत्ति, लहरी, लोला, लेलिहाना, प्रसरन्ती, प्रवाहा, सौम्यया, प्रसन्नता, प्लवन्ती एवं चन्द्रस्य षोडशकला सप्तदशीकला निवृत्ति साऽमृतकला । (सिद्धसिद्धान्तपद्धति १।६५)

चन्द्रमा की १६ कलाओं में चन्द्रमा में स्थायी रूप से रहने वाली, प्रलयकाल में भी अक्षुणा रहने वाली सोमरसमयी निजकला का नाम है **'निवृत्ता'** । यही **अमृतकला** है जो कि **'सप्तदशी कला'** कहलाती है ।[2]

१. गोरखबानी (६७) पृ. २४ २. सि.सि.प.

Scanned by CamScanner

(२१) चक्र-व्योम और चक्र-साधना

पातञ्जल योग में चक्र, ग्रन्थि, कुण्डलिनी, आसन-विज्ञान, नाड़ी योग, अजपा गायत्री, शक्तिसाधना आदि का कहीं भी उल्लेख नहीं है किन्तु तान्त्रिक योग में है। **मत्स्येन्द्रनाथ मुख्यतः तान्त्रिक योग के अनुवर्ती थे।** उनकी साधना में हठयोग से सम्बद्ध चक्र, ग्रन्थि, नाडीयोग आदि सभी तत्त्वों का सन्निवेश है।

कौलज्ञाननिर्णय में पिण्डस्थ चक्रों का यथेष्ट वर्णन तो मिलता है किन्तु तान्त्रिक पद्धति के अनुसार उनके क्रमिक वर्णन (उनके बीज वर्ण, अधिष्ठाता देवता, अधिष्ठात्री शक्ति, उनके वाहन, उनके आयुध, उनके पीठ आदि का सर्वाङ्गपूर्ण यथाक्रम वर्णन) का अभाव अवश्य है। **मत्स्येन्द्रनाथ** ने चक्रो के विषय में यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत की है। वे कहते हैं—**(१)**

चतुष्पत्रञ्च **अष्टारं द्वादशारं** वरानने ।
पञ्चारं षोडशारञ्च **चतुःषष्टिदलं** प्रिये ॥ ६ ॥
शतपत्रं सुशोभाढ्यं **सहस्रं दल** शोभितम् ।
कोटिपत्रं सुतेजाढ्यंतस्योर्द्धे अन्यथा शृणु ॥ ७ ॥
अर्द्धकोटिसमायुक्तं **कोटित्रयसमन्वितम्** ।
कर्णिकाकेशरैर्युक्तं **दीप्यमानं** नभस्तले ॥ ८ ॥
तस्योर्द्धे व्यापकंतत्र नित्योदितमखण्डितम् ।
स्वातंत्रमब्जमचलं सर्वव्यापी निरञ्जनम् ॥[1]

(२) मत्स्येन्द्रनाथ ने सहस्रदलपद्म (सहस्रार) नामक सप्तम चक्र का भी उल्लेख किया है और कहा है कि—

'सहस्रदलशोभाढ्यं गोक्षीरधवलोपमम् ।
देव्याचक्रगतञ्चकं तादृशं खेचरैः स्थितम् ॥
अधश्चक्र समारूढं ऊर्धचक्रेण प्लावितम् ।
सततमभ्यसेद्योगी सिंच्यमानश्च विशेषैः ॥
वलीपलित निर्मुक्तः सर्वव्याधिविवर्जितम् ।
क्रीडते सः समुद्रान्तं स्वातन्त्रः सिध्यते प्रिये ॥[2]

अर्थात् एक चक्र सहस्रदलों वाला है जो कि गौ के दूध के समान श्वेत है। यह निम्नवर्ती चक्रों के ऊपर स्थित है। सारे निम्नवर्ती चक्र उसी सहस्रार चक्र (तदन्तर्गत स्थित चन्द्र पीयूष) से आप्लिवित होते रहते हैं। यदि कोई साधक उसका ध्यान करे तो वलीपलित एवं सर्व व्याधियों से निर्मुक्त हो जाता है और स्वतन्त्र हो जाता है।

(२२) आध्यात्मिक मण्डल, चक्र, पद्म एवं लोक-कल्पना

साधना के समय साधक को योगसाधना में जो आ. मण्डल, चक्र पद्म एवं लोक दृष्टिगत होते हैं वे भिन्न-भिन्न हैं। **योग शास्त्र में सामान्यतः ७ चक्र (पद्म) या**

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. ३।५-१०) २. कौलज्ञाननिर्णय (५।१८-२१)

Scanned by CamScanner

आध्यात्मिक मण्डल (केन्द्र) स्वीकार किये जाते हैं यथा—१. **मूलाधार चक्र**, २. **स्वाधिष्ठान चक्र**, ३. **मणिपूरक चक्र**, ४. **अनाहत चक्र**, ५. **विशुद्धाख्य चक्र**, ६. **आज्ञाचक्र** एवं ७. शून्य चक्र या सहस्रार या **सहस्रदल पद्म**। इनकी दल संख्या क्रमश: इस प्रकार है—४, ६, १०, १२, १६, २ एवं १०००। किन्तु योगियों ने तन्त्र साधना के समय '**अष्टदलकमल, रोहिणी चक्र, सोम चक्र** आदि अन्य चक्रों का भी साक्षात्कार किया।

मत्स्येन्द्रनाथ ने अनेक नए चक्रों, पद्मों एवं आत्मिक केन्द्रों को भी देखा। वे कहते हैं कि यह भी सत्य है कि ७ पाताल हैं, स्वर्ग हैं और १४ भुवन हैं जो बाह्य हैं—

'सप्तपातालमुद्दिष्टं तस्योर्द्ध्वं स्वर्गसंस्थितम्।
एतानि कथिता भद्रे! भुवनानि चतुर्दश॥[1]

किन्तु साधनोपयोगी अनेक आन्तर लोक (चक्र, पद्म या आ. मण्डल) हैं। यथा—

चतुष्पत्रञ्च अष्टारं **द्वादशारं** वरानने।
पञ्चारं षोडशारञ्च **चतुःषष्टिदलं** प्रिये॥ ६॥
शतपत्रं सुशोभाढ्यंसहस्रं दल शोभितम्।
कोटिपत्रं सुतेजाढ्यंतस्योर्द्ध्वे अन्यथा शृणु॥ ७॥
अर्द्धकोटिसमायुक्तं **कोटित्रय** समन्वितम्।
कर्णिकाकेशरैर्युक्तं दीप्यमानं नभस्तले॥ ८॥
तस्योर्द्ध्वे व्यापकंतत्र नित्योदितमखण्डितम्।
स्वातन्त्र्यमब्जमचलं सर्वव्यापी निरञ्जनम्॥ ९॥

मत्स्येन्द्रनाथ **चक्राभ्यास** के विषय में कहते हैं—**प्लावयित्वा जगत् सर्वं त्रयचक्रं समभ्यसेत्।'**

वे '**मूलाधारस्थ, नाभिस्थ, हृदयस्थ चक्र, घण्टिका, नासाग्र, द्वादशान्त, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्रं**', आदि सभी चक्रों का उल्लेख करते हैं।[2]

(२३) मत्स्येन्द्रोल्लिखित 'सहस्रदलपद्म' का तान्त्रिक योग में वर्णित स्वरूप

पातञ्जल योग में तो नहीं किन्तु तान्त्रिक योग में सहस्रार (शून्य चक्र) या सहस्रदलपद्म का यथेष्ट विवेचन उपलब्ध होता है। उसमें कहा गया है कि—

(१) (आज्ञाचक्र के ऊर्ध्व में **वायु के लयस्थान, हलाकार, वराभयप्रदायक, शुद्धबुद्धिप्रकाशक) महानाद के ऊर्ध्व में स्थित शङ्खिनी नाड़ी के शिखर प्रदेश में विसर्ग नामक शक्ति के अधोदेश में, पूर्ण चन्द्र के समान अत्यन्त शुभ्र प्रकाश वाला सहस्रदलकमल** स्थित है। यह निम्नाभिमुखी है। यह प्रात:कालिक भास्कर की रश्मियों के समतुल्य कान्ति वाला एवं केशर पुञ्ज से युक्त है और केवलानन्द स्वरूप है—

'तदूर्ध्वे शंखिन्या निवसति शिखरे शून्यदेशे प्रकाशं '

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. २।४)   २. कौलज्ञाननिर्णय (१७।२-४)

Scanned by CamScanner

विसर्गाधः पद्मं दशशतदलं पूर्णचन्द्रातिशुभ्रम् ।
अधोवक्त्रं कान्तं तरुणरविकला कान्तिकिंजल्कपुञ्जं
लकाराद्यैर्वर्णैः प्रविलसितवपुः केवलानन्दरूपम् ॥[1]

(२) उस सहस्रदल पद्म की कर्णिका के मध्य परमामृत समूह से अत्यन्त स्निग्ध दीप्तिवाला, रश्मिसमूह को स्फुरित करता हुआ निष्कलङ्क एवं निर्मल पूर्णचन्द्रमण्डल विद्यमान है । उसके मध्य में विद्युदाकाराकारित एक त्रिकोण स्थित है जो कि निरन्तर स्फुरित होता रहता है । उस त्रिकोण के मध्य बिन्दुरूप शून्य स्थित है और वह समस्त देवगण पूजित एवं अत्यन्त गुप्त है—

समास्ते तस्यान्तः शशपरिरहितः शुद्धसम्पूर्णचन्द्रः
स्फुरज्ज्योत्स्नाजालः परमरसचयस्निग्धसन्तान हासी ।
त्रिकोणंतस्यान्तः स्फुरति च सततं विद्युदाकाररूपं
तदन्तः शून्यं तत् सकल सुरगणैः सेवितं चातिगुप्तम् ॥ ४१ ॥[2]

(३) उस बिन्दु रूप शून्य को यत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिए । **यह अतिशय परमानन्द के विस्तृत समूह का प्रधान मूल है और अति सूक्ष्म है एवं निर्वाणकला के साथ विद्यमान चन्द्र की षोडशी कला द्वारा निर्मल प्रकाश से युक्त है** । इसी स्थान में **परमशिव** स्थित है जो कि शून्याकार, सर्वात्मा, परमानन्द स्वरूप एवं अज्ञानान्धकाररूप मोह को नष्ट करने वाले भास्कर हैं ।

'सुगोप्यं तद् यत्नादतिशय परमामोदसन्तानराशेः
परं कन्दं सूक्ष्मं सकलशशिकला शुद्धरूपप्रकाशम् ।
इह स्थाने देवः परमशिवसमाख्यानसिद्धः प्रसिद्धः
स्वरूपी सर्वात्मा रस विरसमितोऽज्ञान मोहान्ध हंसः ॥ ४२ ॥

(४) निरन्तर अतिशय अमृतधारासार की वर्षा करता हुआ वह भगवान् परमशिव निर्मल बुद्धि वाले योगिजनों की स्वात्मज्ञान का बोध कराता है । वही सर्वेश्वर शिव समस्त सुखों की विस्तार धारा को धारण करता है । वही परमहंस नाम से भी विख्यात है । (श्लोक ४३)[3]

(५) परम शिव के इसी स्थान को **शैव शिवस्थान वैष्णव परमपुरुष विष्णु का** स्थान, अन्यलोग **हरिहर पद** देवी के आराधक **देवी का स्थान** एवं अन्य मुनिजन इसे **प्रकृति पुरुष का स्थान** कहते हैं । (श्लोक ४४)

इसी **सहस्रारपद्म** में **अमा** नामक चन्द्र की सोलहवीं कला (षोडशी कला) विद्यमान है जो कि प्रातः कालीन सूर्य की कला के समान रक्तवर्णवाली है। यह अत्यन्त शुद्ध (निष्कलैः) मृणालतन्तु के सौवें भाग के समान सूक्ष्म है, कोटिविद्युतवत ज्योतिष्मती, अधोमुखी एवं नित्यानन्द परम्परा से क्षरित अमृतधारा को धारण करने वाली है । (अमा कला)

---

१. षट्चक्रनिरूपणम् (४०)
२. षट्चक्रनिरूपणम् (४१)
३. षट्चक्रनिरूपणम्

अत्रास्ते शिशुसूर्यसोदरकला चन्द्ररूप सा **षोडशी**
शुद्धा नीरजसूक्ष्मतन्तु शतधाभागैकरूपा परा ।
विद्युत्कोटि समान कोमलतनूर्विद्योतिताऽधोमुखी
नित्यानन्द परम्पराऽतिविगलत पीयूषधाराधरा ॥ ४६ ॥

(७) **अमाकला** के भीतर **निर्वाणकला** स्थित है। **निर्वाणकला केश के अग्रभाग के एक हजारहवें भाग के समान सूक्ष्म है।** यह समस्त प्राणियों के हृदय में चैतन्य स्वरूप से स्थित रहती है। यह समस्त ऐश्वर्यों से युक्त, नित्यज्ञानप्रदात्री, अर्धचन्द्राकाराकारित एवं समस्त सूर्यों के समान किरणों वाली है। (श्लोक ४७)

'निर्वाणाख्यकलापरा परतरा सोऽऽस्ते तदन्तर्गता
केशाग्रस्य सहस्रधा विभाजितस्यैकांशरूपा सती ।
भूतानामधिदैवतं भगवती नित्यंप्रबोधोदया
चन्द्रार्द्धाङ्गसमानभङ्गुरवती सर्वार्कतुल्यप्रभा ॥[१]

(८) **निर्वाणशक्ति**—इस **निर्वाण कला** के मध्य देश में अपूर्वा परमा **निर्वाण शक्ति** विद्यमान है जो कोटिसूर्य के समान अत्यन्त प्रकाशमान है। यह तीनों भुवनों की जन्मदात्री है। यह केशाग्रभाग के एक करोड़हवें भाग के समान सूक्ष्म है। यह निरन्तर क्षरित अमृतधारा को धारण करती है,समस्त जीवों की प्राणरूपा एवं तत्त्वज्ञानप्रदात्री है।

'एतस्या मध्यदेशे विलसति परमाऽपूर्वनिर्वाणशक्तिः
कोट्यादित्यप्रकाशा त्रिभुवनजननी कोटिभागैकरूपा ।
केशाग्रस्यातिगुह्या निरवधि विगलत्प्रेमधाराधरा सा
सर्वेषां जीवभूता मुनिमनसि मुदा तत्त्वबोधं वहन्ती ॥४८ ॥[२]

(९) **निर्वाणशक्ति के मध्य स्थित परमशिव**—उस पूर्वोक्त **निर्वाणशक्ति** के मध्य स्थित शून्य में नित्यानन्द नामक 'शिवपद' विद्यमान है जो कि अत्यन्त निर्मल, नित्य, योगिगम्य, सर्वसुखस्वरूप एवं शुद्धज्ञानस्वरूप है। उसे ही कोई **ब्रह्मपद,** कोई **विष्णुपद,** कोई हंसपद एवं पुण्यात्माजन मोक्ष रूप अनिर्वचनीय आत्मसाक्षात्कार का स्थान कहते हैं।

तस्या मध्यान्तराले शिवपदममलं शाश्वतं योगिगम्यं
नित्यानन्दाभिधानं सकलसुखमयं शुद्धबोधस्वरूपम् ।
केचिद् ब्रह्माभिधानं पदमिति सुधियो वैष्णवं तल्लपन्ति
केचिद्धंसाख्यमेतत किमपि सुकृतिनोमोक्षमात्मप्रबोधम् ॥ ४८ ॥[२]

शिवसंहिताकार की दृष्टि—शिव संहिता में कहा गया है कि—

(१) **आज्ञापद्म** से ऊपर तालुमूल में **सहस्रदलपद्म** सुशोभित है और यही **सुषुम्नानाडी** का मूलस्थान है।

(२) यह सुषुम्णा तालुमूल में अधोमुखी है।

(३) मूलाधार से योनि पर्यन्त समस्त नाड़ियाँ तत्त्वज्ञान का बीज हैं और ब्रह्ममार्ग

१-२. षट्चक्रनिरूपणम्

Scanned by CamScanner

प्रदात्री हैं—

> अतः ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारं सरोरुहम् ।
> अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ॥ १५० ॥
> तालुमूले सुषुम्णा सा अधोवक्त्रा प्रवर्तते ।
> मूलाधारेण योन्यन्ताः सर्वनाड्यः समाश्रिताः ।
> ता बीजभूतास्तत्त्वस्य ब्रह्ममार्गदायिकाः ॥ १५१ ॥

यद्यपि योग के ग्रन्थों (**षट्चक्रनिरूपण, सिद्धसिद्धान्तपद्धति, शिवसंहिता** आदि ग्रन्थों की भाँति) मत्स्येन्द्रनाथ ने पिण्डस्थ चक्रों का यथाक्रम एवं यथाविवरण विवेचन ता नहीं किया किन्तु उन्होंने मूलाधार चक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रदलपद्म एवं उन्मना तक के समस्त चक्रों का (कौलज्ञाननिर्णय में) उल्लेख अवश्य किया है । उन्होंने ग्रन्थियों में **ब्रह्मग्रन्थि, पञ्चव्योम** का भी उल्लेख किया है । वे कौलज्ञाननिर्णय के ३१वें औा ३२वें श्लोकं में कहते हैं—

> देव्याः चक्रादि देवेशि! **ब्रह्मरन्ध्रावशानुगम्** ।
> युक्तं कामकला देवि! पलितस्तम्भनं परम् ।
> एतन्ते कथितं गुह्यं **उन्मनज्ञाननिर्णितिः** । (प. ७।३२)

(२४) पञ्चव्योम

मत्स्येन्द्रनाथ ने **पञ्चव्योम** का **उल्लेख** मात्र किया है किन्तु **गोरक्षनाथ** ने तो उन **पाँचों की सविस्तार विवेचना भी की है ।** उनके अनुसार पञ्चव्योम पराकाश आदि हैं ।

मत्स्येन्द्रनाथ[1] कहते हैं—

> प्रसन्ना ये नरा भद्रे! **व्योमध्या**नैकचेतसः ।—(१६।६)

व्योमपञ्चक (गोरक्षनाथ : सि.सि.प.)

१.आकाश २.पराकाश ३.महाकाश ४.तत्त्वाकाश ५.सूर्याकाश

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'अथ व्योमपञ्चकं लक्ष्येदाकाशं-पराकाशं-महाकाशं-तत्त्वाकाशं-सूर्याकाश-मिति व्योमपञ्चक बाह्याभ्यन्तरेऽत्यत्तान्धकारनिभं पराकाशमवलोकयेदथवा-भ्यन्तर कालानल सङ्काशं महाकाशमवलोकयेदथवा बाह्यभ्यन्तरे निजतत्त्वस्वरूप तत्त्वाकाशमवलोकयेदथवा बाह्याभ्यन्तरे सूर्यकोटिनिभं सूर्याकाश-मवलोकयेत् स्वयं व्योपञ्चकावलोकनेन व्योमसदृशो भवति ।'

कहा भी गया है कि जो **पञ्चव्योम, नवचक्र, १६ आधार, ३ लक्ष्य को भलीभाँति नहीं जानता वह योगी केवल नाममात्र का योगी है—**

---

१. मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—'ध्यात्वा विद्युल्लताकारं शक्तिर्वै व्योमपञ्चके ।
—कौलज्ञाननिर्णय (४।९)

Scanned by CamScanner

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः ।।[१]

(१) आकाश और उसका ध्यान—शरीर के बाहर एवं भीतर अत्यन्त निर्मल-निराकार **'आकाश'** का ध्यान करना चाहिए ।

(२) पराकाश और उसका ध्यान—शरीर के बाहर-भीतर अत्यन्त अन्धकारमय **'पराकाश'** का ध्यान करना चाहिए ।

(३) महाकाश और उसका ध्यान—शरीर के भीतर प्रलयाग्नि के समान **'महाकाश'** का ध्यान करना चाहिए ।

(४) तत्त्वाकाश और उसका ध्यान—चिदाकाश या **'तत्त्वाकाश'** का ध्यान करना चहिए ।

(५) सूर्याकाश और उसका ध्यान—शरीर के बाहर भीतर करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमय **'सूर्याकाश'** का ध्यान करना चाहिए ।[२]

मत्स्येन्द्रनाथ ने समस्त चक्रों एवं षोडशाधरों का भी उल्लेख करते हुए उन्हें प्राण का केन्द्र **'एकादश विज्ञान'** स्वीकार किया है—

गूढं गुह्यं सनाभिञ्च हृदि पद्ममधोमुखम् ।
समीरस्तोभकं चक्रं घण्टिका ग्रन्थिशीतलम् ।।
नासाग्रं द्वादशान्तं च भ्रुवोर्मध्ये व्यवस्थितम् ।
ललाटं ब्रह्मरन्ध्रं च शिखरस्थं सुतेजसम् ।
एकादशविधं प्रोक्तं विज्ञानं देहमध्यतः ।।[३]

मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—साधक को नासा के माध्यम (मार्ग द्वारा) अपनी चेतना को चक्र में स्थापित करना चाहिए ।

चित्त दद्यान्तु चक्रेण नासे दद्यात् विजृम्भिका ।

इसका फल—

'वाचासिद्धिर्भवर्त्येव कामदेवोऽपर प्रिये ।
देवकन्या सुराणाञ्च यक्षविद्याधरो भवेत् ।। (१४।५४-५५)

(२५) ऊर्ध्वरितसत्व की साधना (बिन्दु-साधना)

मत्स्येन्द्रनाथी तान्त्रिक साधना में ब्रह्मचर्य पर बल तो नहीं दिया गया है तथापि **मत्स्येन्द्रनाथ** ने कहा कि—

अणिमा लघिमा देवि! ऊर्ध्वरेतः प्रवर्तनम् ।
ऊर्ध्वरिता भवेद योगी न योगी करत प्रिये । (कौ.ज्ञा.नि. १४।५७)

मत्स्येन्द्रनाथ ने इस चक्र एवं योग को दुर्लभ भी कहा है किन्तु इस योग से भी

१-२. सिद्धसिद्धान्तपद्धति (२।३०)   ३. कौलज्ञाननिर्णय (प. १७।२-४)

Scanned by CamScanner

महत्तर योग को **योगिनी कौल** कहा है और इसे महान आश्चर्यकरी कहा है—

दुर्लभं तु इमं चक्रं **नास्तियोगं इमम् परम्**।
अत ऊर्ध्मपरं गुह्यं **योगिनीकौलमुत्तमम्** ।
अभ्यासे तु यदाभ्यस्त महदाश्चर्यकारकम् ॥[१]

खेचरी मुद्रा—मत्स्येन्द्रनाथ खेचरीमुद्रा का अभ्यास करने के लिए आदेश देते हुए उसके द्वारा ध्यान केन्द्रित करने का परामर्श देते हैं—

रसना ऊर्ध्वकं कृत्वा मनस्तिस्मिन्निवेशयेत् ।
सतताभ्यासयेत्तु मुहूर्तं नाशयेत् प्रिये ।
क्षणेन मुच्यते रोगैर्व्याधिमृत्युजरादिभिः ।
नश्यते व्याधिसंघातं सिंहस्यैव यथा मृगाः ।
क्षणेन नश्यते व्याधिः कटुके कुष्ठनाशनम् ॥

(१) **सुस्वादेन** महादेव वलीपलितनाशनम् ।

(२) **क्षीरस्वादेन** मेधावि अमरो जायते नरः ।

(३) **घृतस्वादोपमनं** देवि! स्वातन्त्रन्तु यथा भवेत् ।

खेचरी मुद्रा की सिद्धि से अमृतपान होने लगता है । यहाँ अमृत का नाम तो नहीं लिया गया तथापि सुस्वाद, क्षीर स्वाद एवं घृत स्वाद की बात तो कही ही गई है । क्या ये अमृतपान के पूर्वभाव नहीं हैं?

(२६) ब्रह्मरन्ध्र और उसका स्वरूप

ब्रह्मरन्ध्र—योगियों ने **विविध ग्रन्थों में ब्रह्मरन्ध्र का उल्लेख** किया है और वहाँ से स्रावित अमृत के पान का उपदेश भी किया है । **मत्स्येन्द्रनाथ कौ.ज्ञा.नि. में** कहते हैं—

'चन्द्राह्लादकरं दिव्यम् आगच्छन्तं खमध्यतः ।
स्रवन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण अचिरान्मृत्युजिद्भवेत् ॥ (५।७)

शिवसंहिताकार की दृष्टि—शिवसंहिता में कहा गया है कि सहस्रदल पद्म ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है—

'ब्रह्मरन्ध्रे हि यत् पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्दे हि यायोनिस्तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः ॥
त्रिकोणाकारतस्तस्याः **सुधाक्षरति सन्ततम्** ।
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमाः ॥ १३० ॥
अमृतं वहति धारा धारारूपं निरन्तरम् ।
वामनासापुटं याति गङ्गेत्युक्ता हि योगिभिः ॥ १३१ ॥
आज्ञापङ्कजदक्षासाद् वामनासापुटं गता ।
उदग्वहति तत्रेडा **गङ्गेति समुदाहृता** ॥ १३२ ॥

---

१. कौलज्ञाननिर्णय (प. १४।५८-५९)

Scanned by CamScanner

शिवसंहिता में कहा गया है कि—

(१) **ब्रह्मरन्ध्र में ही सहस्त्रदलकमल स्थित है।** इसके **कन्द की योनि में चन्द्रमा** है। त्रिकोणाकार योनि से चन्द्रमा द्वारा अमृत स्राव होता रहता है और यह अमृत इड़ानाड़ी में निरन्तर प्रवाहित होता रहता है।

(२) जिह्वा के मूल में एक सूक्ष्म मार्ग स्तर पर उतरकर यह क्षरित होता रहता है।

(३) जिह्वा को उलटकर कण्ठ कूप (तालुमूल) में उसका अमृत संस्पर्श कराना ही अमृतपान है। इससे घण्टिकाधार में जिह्वा के अग्रभाग से साधक निरन्तर प्रवाहित अमृत का पान किया करता है।

जिह्वा को उलटकर, इडा-पिङ्गला-सुषुम्णा वाले सङ्गम त्रिपथ में लगाना चाहिए। इस खेचरी मुद्रा से जिह्वा को तालुमूल से अमृत प्राप्त होने लगता है—

तेनेषा **खेचरी नाम मुद्रा** सिद्धैर्निरूपिता।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्॥

—हठयोग प्रदीपिका (३।३७, ४१, ४४)

ब्रह्मरन्ध्र—स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

ज्ञात्वा सुषुमना सद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यम्।
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत्॥ (४।१६)

अर्थात् सुषुम्णा नाड़ी के भेदन की विधि जानकर और इसी नाड़ी में प्राणवायु को प्रविष्ट कराकर ब्रह्मरन्ध्र (मूर्धावकाश) में उसका निरोध करना चाहिए।

प्राण का ब्रह्मरन्ध्र में निरोध ही उसका **लय** है। यदि ब्रह्मरन्ध्र में प्राण निरुद्ध हुआ तो उसके साथ ही साथ मन भी वहीं निरुद्ध होकर वहीं लयीभूत हो जाएगा।

कौलज्ञाननिर्णय में **ब्रह्मरन्ध्र** का भूरिशः उल्लेख किया गया है—

(१) श्रवन्तं **ब्रह्मरन्ध्रेण** अचिरान्मृत्युजिद्भवेत्। (५।७)

(२) लीनं वे **ब्रह्मरन्ध्रे** तु कृष्णाञ्जनद्रवात्मकम्। (७।६)

(३) खद्योतितगतादूर्द्ध्वं **ब्रह्मरन्ध्रं** लयं गताः। (७।१४)

(४) कण्ठकूपस्थितोद्योतं **ब्रह्मरन्ध्रलयं** गताः। (७।१८)

(५) देव्याः चक्रादि देवेशि! **ब्रह्मरन्ध्रावशानुगम्**। (७।३२)

(६) ललाटं **ब्रह्मरन्ध्रं** च शिखरस्थं सुतेजसम्।

(नासाग्रं **द्वादशान्तं** च भ्रूवोर्मध्ये व्यवस्थितम्)। (१७।३)

प्राण एवं मन के एक साथ लयभाव की पुष्टि **योग वसिष्ठ** में भी इस प्रकार की गई है—

'अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते।

Scanned by CamScanner

मनः प्रशममायाति निर्वाणमविशष्यते ॥

जब सुषुम्णा मार्ग से वायु ब्रह्मरन्ध्र में लयीभूत होती है तब रात्रिदिवात्मक काल का विनाश हो जाता है क्योंकि 'भोक्तत्री सुषुम्ना कालस्य' । जब ब्रह्मरन्ध्र में वायु का लय हो जाता है तब साधक योगी की आयु बढ़ जाती है । इतना ही नहीं योगी मृत्युकाल को जानकर अपने ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु को निलीन कर लेते हैं और अपनी मृत्यु का निवारण कर लिया करते हैं ।

ज्योत्स्नाकार ब्रह्मानन्द कहते हैं—

(१) यदा सुषुम्नामार्गेण वायुर्ब्रह्मरन्ध्रे लीनो भवति तदा रात्रि दिवात्मकस्य कालस्याभावायुक्तमभोक्त्री सुषुम्ना कालस्य इति । यावद ब्रह्मरन्ध्रे वायुर्लीयते तावद्योगिन आयुर्वर्धते ।

(२) दीर्घकालाभ्यस्त समाधि योंगी पूर्वमेव मरणकालं ज्ञात्वा ब्रह्मरन्ध्रे वायु नीत्वा कालं निवारयति स्वेच्छया देहत्यागं च करोतीति।ज्योत्स्ना,श्लोक १७। उप. ४

पवन और मन के लय का सिद्धान्त यह है कि—

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ (४।२१)

ब्रह्मरन्ध्र का सम्बन्ध सहस्रार से है । 'शिवसंहिता' में कहा गया है कि-ब्रह्मरन्ध्र में जो पद्म (कमल या चक्र) स्थित है वह सहस्रार कहलाता है । इसमें कन्द में जो योनि है उसमें चन्द्रमा व्यवस्थित है । उस त्रिकोणाकार योनि से चन्द्रामृत सदा स्रवित होता रहता है । यह चन्द्रामृत इडा नाड़ी के द्वारा सदैव प्रवाहित होता रहता है—

'ब्रह्मरन्ध्रे हि यत् पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्दे हि या योनिस्तस्यांचन्द्रो व्यवस्थितः ।
त्रिकोणाकारतस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम् ॥
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमाः ।
अमृतं वहति धारा धारारूपं निरन्तरम् ॥ (१२९-१३०)[1]

तालु स्थान में पहले जिस पद्म (चक्र) के सम्बन्ध में कहा गया है । उसके कन्द में पश्चिम की ओर मुख वाली एक योनि है । उसके मध्य मे विवर में सुषुम्ना नाड़ी का मूल है । यही **विवर 'ब्रह्मरन्ध्र' कहा जाता है** और यह **मूलाधार पङ्कज** तक स्थित है—

तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुरोदितम् ।
तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखी मता ॥ १५२ ॥
तस्या मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ।
ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तमामूलाधारपङ्कजम् ॥ १५३ ॥[2]

सुषुम्णा नाडी के उस रन्ध्र में चिच्छक्ति (अन्तर्शक्ति) कुण्डलिनी स्थित है । **सुषुम्णा में चित्रिणी नाड़ी स्थित** है । उस **चित्रा नाड़ी में ब्रह्मरन्ध्र की स्थिति** है—

१-२. शिव संहिता

Scanned by CamScanner

तत्रान्तरन्ध्रे चिच्छक्तिः सुषुम्णाकुण्डली सदा ॥ १५४ ॥
सुषुम्णायां स्थिता नाड़ी चित्रा स्यान्ममवल्लभे।
तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादिकल्पना ॥ १५५ ॥

इड़ा, पिङ्गला एवं सरस्वती नामक जो तीन नाड़ियाँ हैं वे ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हैं—**ब्रह्मरन्ध्र** में ही इन तीन नदियों (गङ्गा-यमुना-सरस्वती या इड़ा-पिङ्गला-सरस्वती) का सङ्गम है।[१]

ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां सङ्गमः स्यादसंशयः ॥

जो **ब्रह्मरन्ध्ररूप सङ्गम** में स्नान करता है वह धन्य है।

तस्मिन्ध्याने स्नातकानांमुक्तिः स्यादविरोधतः ॥ १६३ ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ।
तासां तु सङ्गमेस्नात्वा धन्यो याति परां गतिम् ॥ १६४ ॥

यदि साधक आधे क्षण के लिए भी मन को ब्रह्मरन्ध्र में लीन करके स्थिर रहता है तो वह सभी पापों से मुक्त होकर परम गति प्राप्त कर लेता है। जिस योगी का मन इसमें लीन हो जाता है वह साधक समस्त अणिमादि सिद्धियों का फल भोगकर मुझ परमात्मा शिव में प्रतिष्ठित हो जाता है—[२]

ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ।
अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते ।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ॥[३]

साधक इस ब्रह्मरन्ध्र के ध्यानमात्र से ही इस संसार में मेरा (शिव जी का) प्रिय हो जाता है। वह सभी पापों को पराजित करके (विनष्ट करके) भुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है और अनके मुमुक्षुओं को अद्भुत (अलौकिक) ज्ञान करके उन्हें भवसागर तार देता है—

एतद्रन्ध्रध्यानमात्रेण मर्त्यः
संसारेऽस्मिन् वल्लभो मे भवेत् सः ।
पापान् जित्वा भुक्तिमार्गाधिकारी
ज्ञानं दत्वा तारयत्यद्भुतं वै ॥ १७५ ॥ (शिवसंहिता)

ब्रह्मरन्ध्र का सर्वोच्च महत्त्व है क्योंकि ब्रह्मरन्ध्र का ज्ञान ब्रह्मा आदि देवताओं के लिए भी सुलभ नहीं है। इसका ध्यान योगियों को बहुत प्रिय है। इस (ब्रह्मरन्ध्र) का रहय गुप्त रखना चाहिए।[४]

सुषुम्ना नाडी के भेदन को जानकर, प्राणवायु को मध्यनाड़ी में प्रविष्ट कराकर ब्रह्मरन्ध्र (मूर्द्धा के अवकाश) में उसको रोकना चाहिए—

'ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ।

१-४. शिव संहिता

Scanned by CamScanner

स्थित्वा सदैव सुस्थाने **ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत्** ।।[1]

भास्कर राय कहते हैं—'ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रदलं पद्मं तत्र याकिन्याख्या योगिनी तिष्ठति ।'[2]

नाथ पंथ के षोडशाधार एवं ब्रह्मरन्ध्र—सिद्धसिद्धान्तपद्धति में षोडशाधारों में एक आधार **ब्रह्मरन्ध्र** भी कहा गया है । उसमें कहा गया है कि—**'अवशिष्टे षोडशे ब्रह्मरन्ध्रं आकाशचक्रं तत्र श्रीगुरु चरणाम्बुज युग्मं सदावलोकयेदाकाशवत्पूर्णे भवति ।'** (२५)

ब्रह्मरन्ध्र—मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलज्ञाननिर्णय में योग साधना से सम्बद्ध एवं सर्वोच्च आध्यात्मिक केन्द्र **ब्रह्मरन्ध्र** शब्द का बार-बार उल्लेख किया है । वे कहते हैं—

तद्योतितगतादूर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रं लयं गताः ।
षण्मासासेवनाभ्यताद् वृद्धोऽपि तरुणायते ।। (७।१४)
कण्ठकूपस्थितोद्योतं ब्रह्मरन्ध्रलयं गता ।। (७।१८)
देव्याः चक्रादि देवेशि! ब्रह्मरन्ध्रावशानुगम् ।। (७।३१)

ब्रह्मरन्ध्र और सहस्रार ही अमृतपान योग के मुख्यालम्बन है क्योंकि वहीं अमृत धर शशाङ्क निवास करता है—मत्स्येन्द्रनाथ ब्रह्मरंध्र से अमृत स्राव होने की बात कहकर उसके पीने का उपदेश देते हुए भोगी को अमरता लाना चाहते हैं—

'चन्द्राह्लादकरं दिव्यम् आगच्छन्तं खमध्यतः ।
स्रवन्तं **ब्रह्मरन्ध्रेण** अचिरान्मृत्युजिद्भवेत् ।। (५।७)

भास्करराय की दृष्टि—भास्कर राय 'ओड्याण पीठ निलया बिन्दुमण्डलवासिनी' वाक्य (ब्रह्माण्ड पुराण : ललितोपाख्यान) की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि बिन्दुमण्डलवासिनी का अर्थ यह है कि **भगवती महात्रिपुर सुन्दरी जहाँ निवास करती हैं उस धाम का ही नाम 'ब्रह्मरन्ध्र' है**—

'बिन्दुः शुक्लं तस्य मण्डलः ब्रह्मरन्ध्रमित्यन्ये ।।[3]

समाधि—अष्टाङ्ग योग का अन्तिम अङ्ग समाधि है । मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं—

'हृदिस्थन्तु ममः कृत्वातन्निष्ठं यावत्तिष्ठति ।
तावत् समाधिमायातिस्तोभावेशादिलक्षणम् ।।[4]

समाधि है क्या? महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'तदेवार्थमात्रनिर्माणं स्वरूप शून्यमिव समाधिः ।।[5]

अर्थात् जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निजस्वरूप शून्य सा हो जाता है तब वही ध्यान ही **समाधि** कहलाने लगता है । **समाधि के सविकल्प, निर्विकल्प, सबीज-निर्बीज, संप्रज्ञात-असंज्ञात** आदि अनेक भेद हैं ।

१. हठयोग प्रदिपिका
२. सौभाग्यभास्कर (ललिता. स. १६०)
३. सौभाग्यभास्कर
४. कौलज्ञाननिर्णय (प. १४।३८)
५. विभूतिपाद (२।३।३)

Scanned by CamScanner

योग-मुद्रा

यह आसन वास्तव में पद्मासन का एक विकास है। या हम इसे मत्स्यासन का उल्टा कह सकते हैं जो स्वयं पद्मासन लगा कर किया जाता है। पद्मासन की भाँति पैरों को जमा कर पीठ के बल मुड़ने पर मत्स्यासन बनता है और सामने मुँह के बल मुड़ने पर योग-मुद्रा हो जाती है।

पद्मासन से ज़रा ज़्यादा दोनों एँड़ियों को चढ़ा कर पेट में घुसा-सा दिया जाता है इसमें।

इसको योगमुद्रा इस लिये कहते हैं कि इसके अभ्यास द्वारा कुंडलिनी को जागृत करने में सहायता मिलती है।

विधि

मत्स्यासन की विधि से दोनों पांव (पहले दाहना और फिर बायां) घुटनों से मोड़ एक दूसरे पर रखते हुये पेड़ू की जड़ में जमा दीजिये। फिर दोनों हाथ पीठ के पीछे ले जाकर एक से दूसरे की कलाई थाम लीजिये। फिर इसके बाद धीरे धीरे सामने की ओर झुकते चले जाइये और जब माथा ज़मीन पर टिक जाय तो इसकी पूर्णावस्था समझिये। पर जल्दी न कीजिये और न कहीं पर झटका या ज़रूरत से ज़्यादा जोर लगाइये। साँस मामूली तौर से लीजिये जब तक आराम से रह सकिये, और फिर सीधे हो जाइये। इसे तीन बार तक कर सकते हैं।

दूसरा प्रकार

योगमुद्रा का एक दूसरा प्रकार है जो ख़ासकर उनके लिये है जिनको जीर्ण कोष्ठबद्धता है या जिनके पाचन यंत्र (पेट की नसें) अपने ठीक स्थान से हट कर इधर उधर खिसक गये हैं। क्योंकि पुरानी कब्जियत या अजीर्ण आदि आमतौर से तभी होते हैं जब ये नसें अपनी जगह छोड़ देती हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह द्वितीय प्रकार की योगमुद्रा उनको फिर अपनी जगह पर लाने में सहायक होती हैं।

इसमें और पहिली योग मुद्रा में केवल हाथों की स्थिति में फ़र्क है। इस में हाथ पीठ के पीछे न ले जाकर सामने दोनों बगलों पर रख कर एक गेंद सा बना लिया जाता है जिससे झुकते समय वह गेंद पेट में गड़ती चले। हाथ की मुट्ठी सी बँधी रहे एँड़ियों के ऊपर और इसी हालत में पेट का दबाव मुट्ठी रूपी गेंद पर पड़े।

चित्र नं० ४६

झुकते समय साँस बाहर को फेंकना चाहिये। द्वितीय प्रकार की पूर्णावस्था में पाँच सेकेंड से ज़्यादा न रहना चाहिये। इसको शक्ति के अनुसार ४-५ बार कर सकते हैं। स्नायुसंस्थान की दुरुस्ती या आध्यात्मिक दृष्टि से पहिले प्रकार की पूर्णावस्था में एक ही बार देर तक (एक से पाँच मिनट तक) अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिये।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

व्यायामात्मक लाभ — पेट की नसों को अपने ठीक स्थान पर करने तथा उन्हें सबल और स्वस्थ बनाने में योगमुद्रा सहायता करती है।

स्नायुसंस्थान की गड़बड़ी भी इससे दूर होती है। देर तक एक आसन में योगमुद्रा कुंडलिनी को जगाने में सहायक तो है ही। जो लोग योग विद्या से ज़्यादा आगे जाने की इच्छा रखते हैं उन्हें देर तक इसकी पूर्णावस्था में पड़े रहना चाहिये।

चिकित्सात्मक प्रयोग — इसमें एँड़ियों का दवाव कुछ ऐसा पेट पर (आमाशय और मलद्वार) पड़ता है जिससे पुराना सूखा हुआ मल दूर होकर पुरानी कब्ज़ियत दूर होती है।

नसों के हटने की वजह से जो कब्ज़ियत हो जाती है वह भी इसी से दूर होती है, ख़ास कर इसके दूसरे प्रकार से।

वीर्य दोषों को दूर करने में भी योगमुद्रा सहायक होती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शरीर को आभ्यंतरिक स्वच्छता के लिये कुछ विशेष योगिक क्रियायें।

हम कह चुके हैं कि आसनों से पूर्ण लाभ उठाने के लिये शरीर की अंदरूनी सफ़ाई ज़रूरी है। क्या आधुनिक वैज्ञानिक स्वास्थ्य, व्यायाम और चिकित्सा विशारदों के अनुसार और क्या प्राचीन (योगासनों के आविष्कर्ता) योगियों के अनुसार पूर्ण स्वास्थ्य और कार्य सिद्ध[1] के लिये शरीर की भीतरी स्वच्छता सबसे अधिक आवश्यक है।

इस संबन्ध में प्राचीन ऋषियों का कथन तो यह है कि नाड़ियों में मल अथवा विकार एकत्र हो जाने के कारण श्वास बीच (इड़ा और पिंगला के बीच की सुषुम्ना) से नहीं चल पाता, और जबतक बीच से प्राण वायु का आवागमन नहीं स्थापित होता तब तक न तो मन में शांति आती है और न कोई कार्य सिद्ध होता है। जब शरीर को भीतर स्वच्छ कर साधक सुषुम्ना में प्राण का संचार कर लेता है तब शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य तो बायें हाथ का खेल हो जाता है, उसे दिव्य आलोक प्राप्त होकर अति-मानवी कार्य सिद्ध करने की शक्तियाँ प्राप्त होने लगती हैं।

पर इस स्वच्छता को प्राप्त करने की कुछ विशेष क्रियायें भी बताई हैं योगियों ने, और वह ऐसी हैं जिसे सभी[2] कर सकते हैं। योग क्रियायों की विशेषता यही है कि वह सबके लिये सुलभ हैं। इसके लिये ऐसी कोई क़ैद नहीं है कि आदमी पूर्ण स्वस्थ, तगड़ा या युवा हो वही इनकी कसरतों

---

१ मलाकुलासु नाडीषु मारुतौ नैव मध्यमः।
कथं स्यादुन्मनी भावः कार्य सिद्धिः कथं भवेत्॥

२ युवावृद्धोऽति वृद्धोवा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वं योगेष्ववंदितः॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

या क्रियाओं को कर सकता है। वह कहते हैं कि जवान हो या बूढ़ा या बहुत बूढ़ा हो और चाहे कमज़ोर और दुबला ही क्यों न हो, अगर निरालस होकर नियम से अभ्यास करता चले तो उसे सिद्धियाँ अवश्य प्राप्त होंगी। इनमें टके का ख़र्च नहीं, न कोई औज़ार या ख़ास साधन की ज़रूरत है न खाने पीने में कोई ख़ास ख़र्चीली चीज़ की ज़रूरत है। बस शर्त यह है कि आप नियम से ठीक समय पर नित्य अभ्यास करते चलें और क्रम क्रम से बढ़ावें। केवल किताब पढ़ने से नहीं होगा[1] योगसिद्धि प्राप्त करने के लिये इन क्रियाओं को पहले सिद्ध करना होगा।

शरीर की सफ़ाई के लिये योगियों ने छः क्रियायें (षट् क्रिया) बताई हैं जो बहुत सरल हैं और सब उनसे लाभ उठा सकते हैं। इनके नाम हैं—

नौलि नेति, धौति, वस्ति, कपालभाति और त्राटक। इनके सिद्धि करने के बाद 'वज्रौलि' और 'शंख प्रक्षालन' नाम की दो क्रियाएँ और हैं पर इनसे हमको अभी प्रयोजन नहीं है और उक्त छः क्रियाओं में भी प्रकार भेद हैं। जैसे तीन प्रकार की धौति और दो प्रकार की नौलि। पहले हम नौलि को लेते हैं।

---

१ क्रियायुक्तस्तु सिद्धिः स्यादक्रियस्यः कथं भवेत्' ।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उड्डीयान और नौलि

उड्डीयान

विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि उक्त छः क्रियाओं में कुछ का संबंध पेट की सफ़ाई से और कुछ का ब्रह्मांड की सफ़ाई यानी गर्दन से ऊपर जितनी ज्ञानेंद्रियाँ हैं उनकी सफ़ाई से हैं।

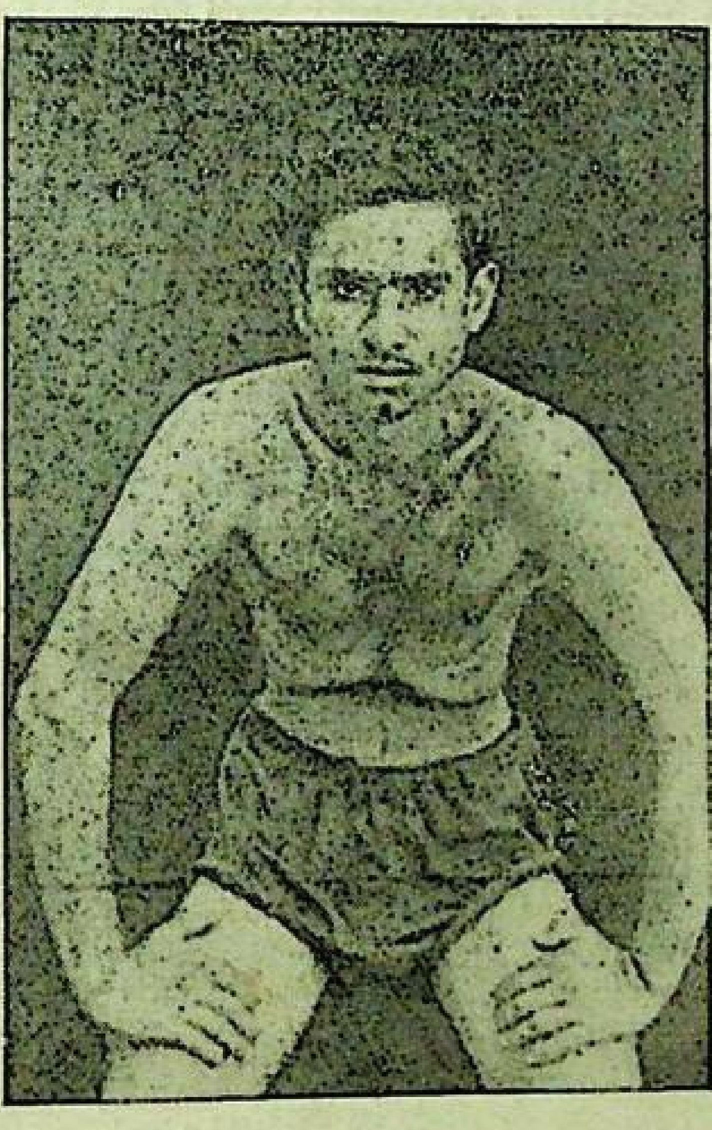

चित्र नं० ४७

नौलि पेट की सफ़ाई के लिये संसार में बेजोड़ क्रिया है और इसकी पहली सीढ़ी है 'उड्डीयान', जिसकी विधि हम पहले ही उड्डीयान बंध के सिलसिले में बता चुके हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उड्डीयान दो प्रकार से किया जाता है, एक बैठ कर पद्मासन लगा कर और दूसरा खड़े हो कर। जब उड्डीयान के बाद नौलि करना हो तो खड़े होकर ही करना ठीक होगा।

पहले दोनों पाँवों को एक या डेढ़ फुट के फ़ासले पर रख दोनों हाथ रान पर घुटने के पास (चित्र नं० ४७ देखिये) स्थापित करते हुए सामने की ओर ज़रा झुक्कर खड़े हो जाइये और फिर पूर्वोक्त विधि से उड्डीयान बंध लगाइये। पहले फेफड़ों से सारा प्राण वायु बाहर निकाल दीजिये। फिर नकली या झूठी श्वास क्रिया करते हुये कुछ देर उड्डीयान कीजिये। पेट की जितनी नसें और पेशियाँ हैं उनका पूर्ण शिथिलीकरण पहले नितांत

नौलि

आवश्यक हैं और उससे भी पहले झुकते समय कंधे और गर्दन की पेशियों को बताये अनुसार दृढ़तापूर्वक जमा लेना ज़रूरी है। इतना कर चुकने के बाद नौलि की क्रिया शुरू होगी।

विधि

उड्डीयान बंध लगाकर खड़े होना ही नौलि क्रिया के लिये मानो तैयार हो जाना है। उड्डीयान करना आसान है पर नौलि काफी कठिन है। पहले साल या कम से कम छ महीने तक केवल उड्डीयान सिद्ध करना चाहिये और जब उड्डीयान बिलकुल सिद्ध हो जाय तो नौलि बहुत आसानी से होने लगती है। हम नौलि को उड्डीयान का ही एक विकास कहेंगे।

नौलि की ख़ास क्रिया पेट के दोनों बड़े नलों को बाएँ से दाहिनी और दाहिनी से बाईं ओर घुमाने या 'मथने' की है। जब उड्डीयान बंध ऐसा लगने लगे कि महाप्राचीरा काफ़ी ऊपर उठकर भीतर घुस जाय, और निचला पेट पीठ से एकाकार दिखने लगे और पेट के दोनों नल बीचो बीच साफ़ बाहर निकल कर दिखाई पड़ने लगें तो समझिये कि आप नौलि के योग्य अब हो रहे हैं और अब आप इसकी क्रिया का अभ्यास शुरू कर सकते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नौलि की विधि उड्डीयान की ही विधि है; नई बात केवल इतनी ही है कि खड़े हो, उड्डीयान बंध लगाये हुये पेट के उन दोनों नलों को घुमाना है। पर सुविधा के लिये हम पूरी विधि संक्षेप से लिखेंगे—

यदि वस्ति क्रिया नहीं करनी हो तो नौलि खड़े होकर करना ही ठीक है और इसके लिये कम से कम छः महीने पहिले से खड़े होकर उड्डीयान

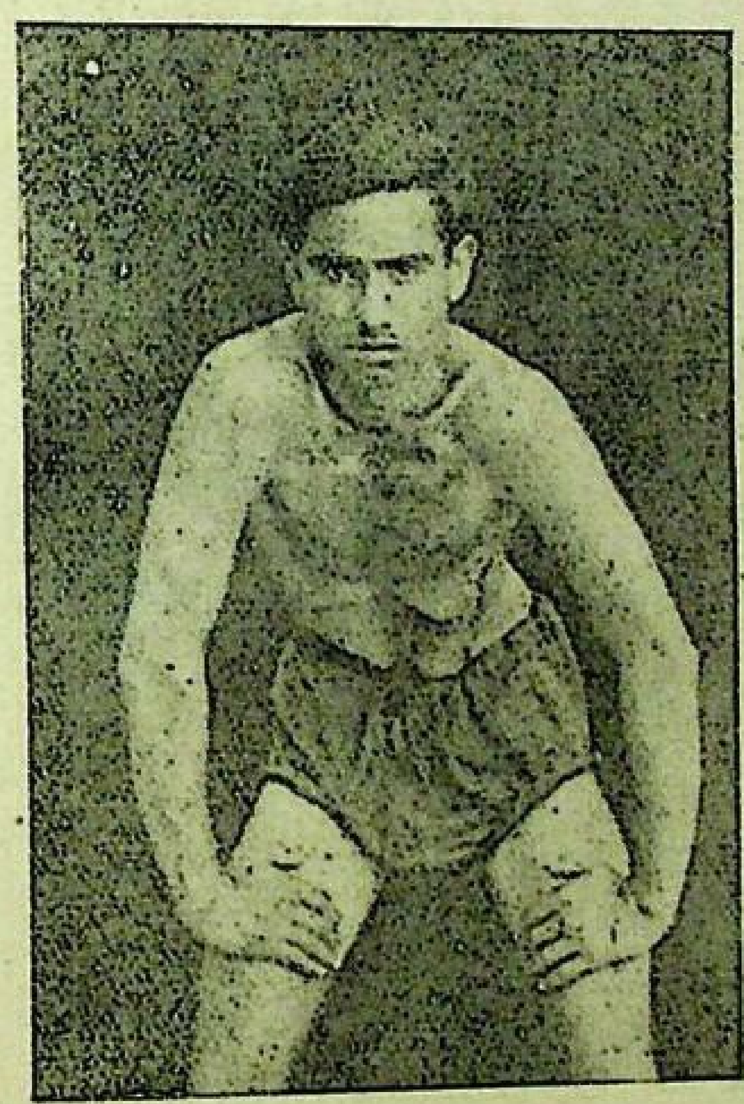

चित्र नं० ४८ वाम नौलि

का अभ्यास करते आना ज़रूरी है जिससे पेट इतना पतला हुआ रहे कि नौलि का निकलना, दिखाई पड़ना और अंत में फिर उनका चलाना संभव हो। जिनका पेट मोटा है या जिनकी अवस्था अधिक है उन्हें उड्डीयान के अभ्यास में ही एक दो साल तक लगाना पड़ सकता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सीधे खड़े हो जाइये। पैरों को डेढ़ फुट के फाँसले पर रख सामने ज़ोर झुक दोनों हाथ रानों पर जमा दीजिये और उन पर (हाथों पर) गर्दन और कंधों का पूरा भार आने दीजिये। फिर सारी साँस बाहर फेंकते हुये पेट खलाइये और महाप्राचीरा को ऊपर (छाती की ओर) चढ़ जाने दीजिये। फिर धड़ को थोड़ा सीधा करते हुये और कुछ इच्छाशक्ति के सहारे पेट के दोनों नलों को बीचोबीच बाहर निकालिये।

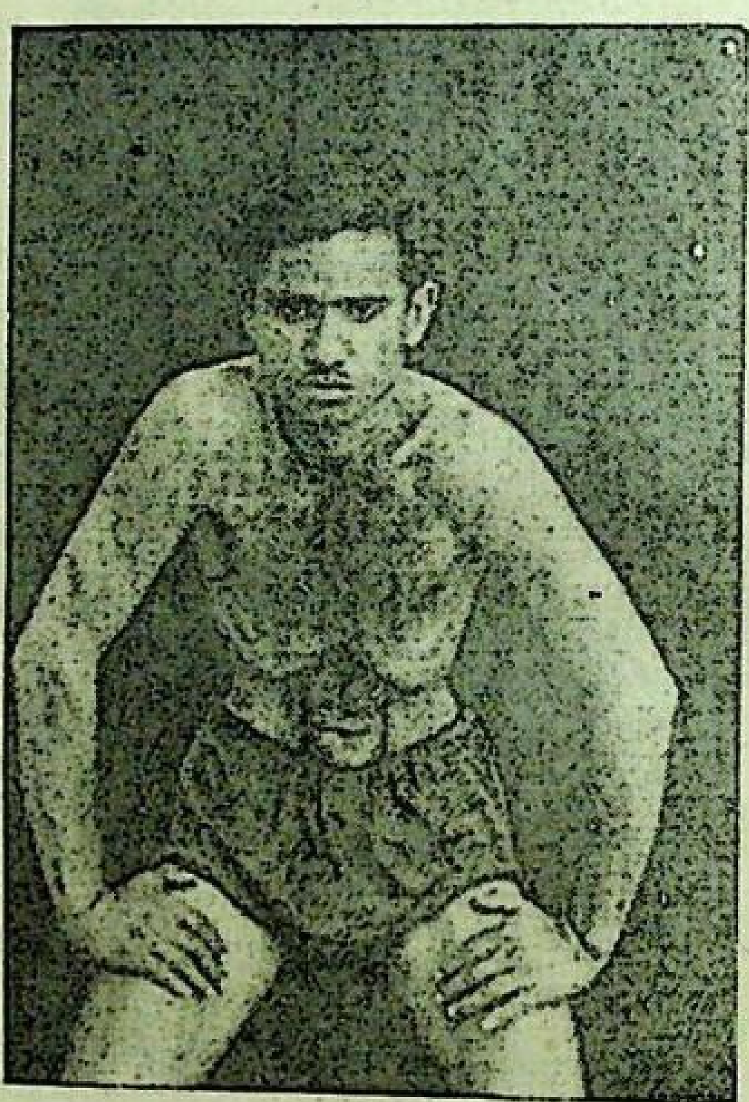

चित्र नं० ४६ मध्यम नौलि

यही नलों को बाहर निकालना ही नौलि की मुख्य क्रिया है और ठीक जगह पर भीतरी धक्का देकर जिसने नलों को उभाड़ देना सीख लिया उसने मानों पूरी क्रिया सीख ली फिर आगे के सब काम आसान हो जाते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बस शर्त यह कि ठीक जगह पर धक्का या दबाव पड़ना चाहिये। इसमें आधी सफलता उस ठीक जगह के ज्ञान (जहाँ से यह दोनों नल शुरू होते हैं यानी कामाद्रि के ऊपर और नाभि के नीचे से) और आधी प्रबल इच्छाशक्ति के ऊपर निर्भर करती है। ठीक उसी जगह पर भीतर धक्का या ठेलाव पड़ते ही दोनों नल उभड़ आवेंगे और शेष सब पेशियाँ शिथिल हो जायँगी।

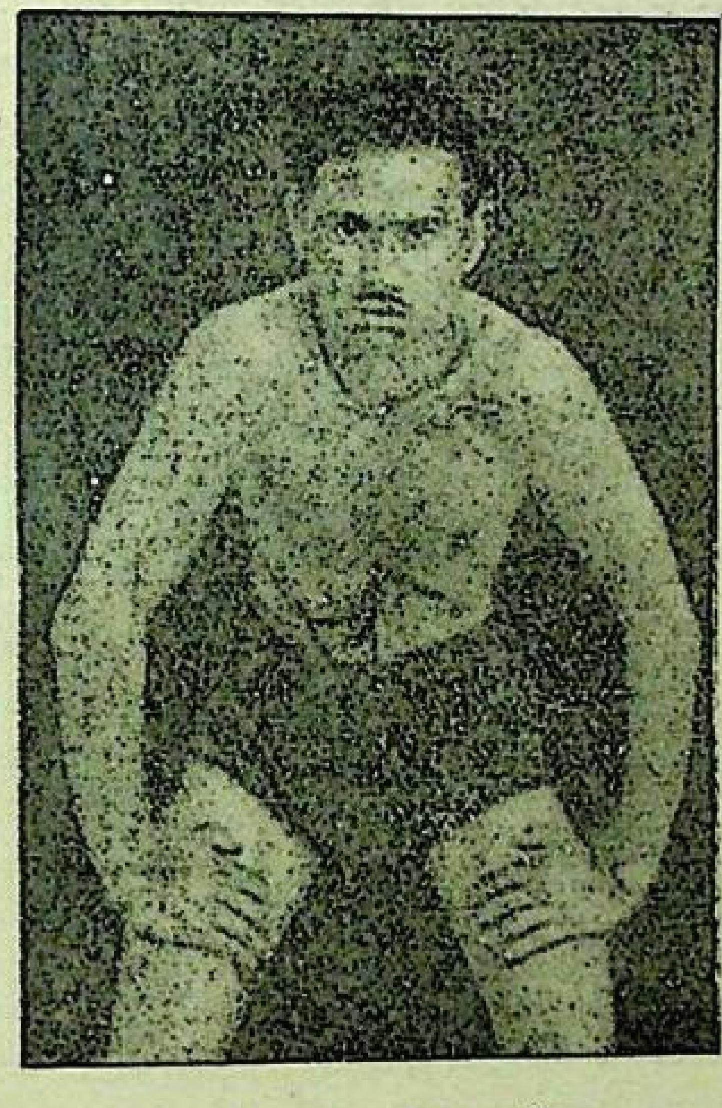

चित्र नं० ५० दक्षिण नौलि

प्रारंभ में एक साधारण भूल जो प्रायः सभी नौसिखिये साधक करते हैं वह यह है कि ठीक जगह दबाव डाल नहीं पाते और नलों की जगह पूरा पेट उभाड़ देते हैं, नल निकलता ही नहीं और असाध्य समझ कर छोड़

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देते हैं। छोड़ना न चाहिये और न कभी निरुत्साह होना चाहिये। जैसे ही मालूम हो कि ठीक जगह धक्का नहीं पड़ा और नल न निकलकर पूरा पेट निकल रहा है, वहीं पर छोड़ देना और सीधे होकर साँस लेकर फिर से पूरी साँस निकाल कर दुबारा उड्डीयान बंध लगाकर कोशिश करना चाहिये। बड़े आईने के सामने खड़े होकर अभ्यास करने से जल्दी सफलता होगी।

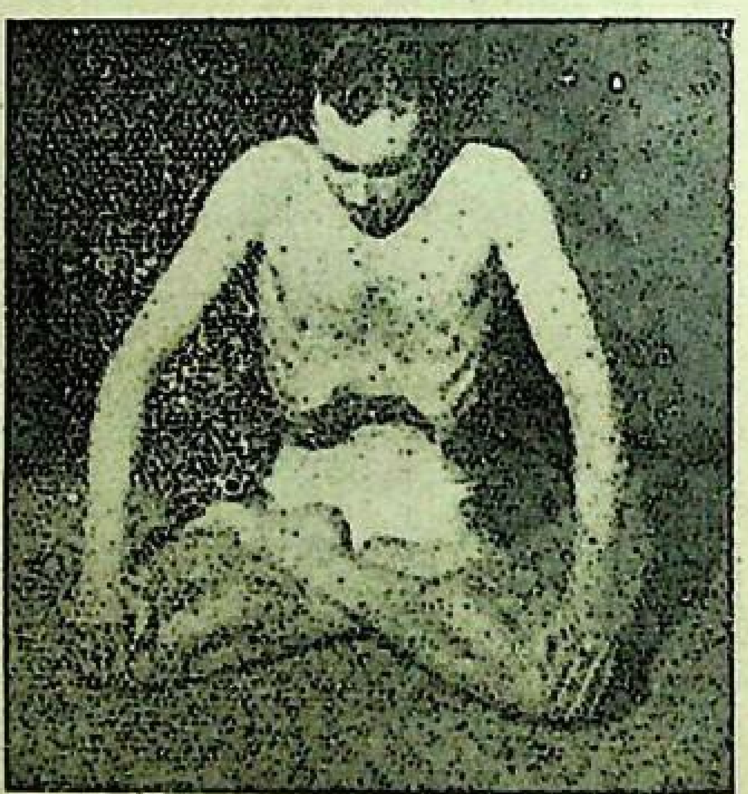

चित्र नं० ५१

एक बार जहाँ नल पकड़ में आया फिर तो वह कामाद्रि से लेकर पसलियों तक (जहाँ ये नल ख़तम होते हैं) बड़ी आसानी से सिकुड़ कर उभड़ आवेंगे। ठीक जगह पर दबाव पड़ने की ज़रूरत है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह धक्का या दबाव कुछ कुछ ऐसा होता है जैसा कि कब्ज़ वालों को पाखाने के वक्त लगाना पड़ता है। फ़र्क़ इतना ही है कि पाख़ाना निकालने वाला दबाव सिर्फ़ नीचे की ओर दिया जाता है और यह नीचे तथा सामने दोनों ओर।

पहले नल बीचो बीच निकलेंगे और इसे मध्यम (बीच) की नौलि कहते हैं। जब यह निकलने लगे तो पहले इतने ही पर संतोष कर एकाध महीने केवल इसी को पूर्ण रूप से सिद्ध करने में लगाना चाहिये। क्योंकि सबसे महत्व पूर्ण यह मध्यम नौलि ही है। यह है नौलि की प्रथम क्रिया। मध्यम नौलि सिद्ध होने पर दक्षिण और वाम नौलि निकालने की चेष्टा करनी चाहिये, और यह तीनों (मध्यम, दक्षिण तथा वाम) ख़ूब सध जाने पर तब इसकी अंतिम क्रिया, यानी चक्कर देते हुये नौलि को तेज़ी से घुमाना, आरम्भ करना चाहिये। वास्तव में 'नौलि' उन दोनों नलों को बारी-बारी से दायें बायें घुमाने को ही कहते हैं।

मध्यम नौलि

एक बार के उड्डीयान में कई बार मध्यम नौलि निकालने और बैठाने का अभ्यास जब हो जाय तब दक्षिण नौलि उभाड़ने की कोशिश करनी चाहिये।

जब दक्षिण यानी दाहिनी नौलि उभाड़ना हो तो पहले दाहनी ओर ज़रा झुककर और बाईं ओर का धड़ जरा सीधा रखते हुये दाहनी ओर दबाव डालकर दाहना नल (प्रबल इच्छाशक्ति का उपयोग करते हुये) उभाड़िये और बायें नल को सुप्तावस्था (ढीला) में रहने दीजिये। सिर्फ़ दाहना नल निकलेगा और बायाँ बिलकुल न दिखलाई पड़ेगा।

दक्षिण नौलि

जब दक्षिण नौलि सिद्ध हो जाय तो ठीक उसी विधि से वाम नौलि निकालिये। क़ायदा यह है कि जिधर का नल उभाड़ना हो उस ओर ज़रा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

झुककर तिरछे खड़े होइये और उसके उल्टी ओर का धड़ ज़रा सीधा तान दीजिये, बस उस तरफ़ का (यानी जिधर का धड़ सीधा है उसकी उल्टी ओर का) नल उभड़ आवेगा ।

जब इतना होने लगे तो बारी-बारी से दाहना और बायाँ नल उभाड़ने का अभ्यास आरंभ कर दीजिये। यानी दाहना नल जब उभड़े तो वह पेट के बिलकुल दाहने किनारे पर दिखाई पड़े (आईने में देखते चलिये) और बायाँ बिलकुल ढीला और गुप्त रहे और जब बायाँ निकले तो वह एकदम पेट के बाएँ छोर पर (इच्छाशक्ति द्वारा ठेलकर और भीतरी दवाव के सहारे) दिखे।

जब मध्यम, दक्षिण और वाम, यह तीनों (नौलियां) सिद्ध हो जायें तो एकाध महीने यहीं तक रहिये। फिर कुछ दिन में स्वतः आप को इन नलों को चक्राकार घुमाने की प्रवृति होगी, यहाँ तक कि आप किसी प्रकार उस प्रवृत्ति को रोक न सकेंगे और एक दिन स्वतः इसकी चतुर्थ या पूर्णावस्था की क्रिया आप कर लेंगे।

चक्र नौलि

इसकी विधि यों है। दोनों नलों को बारी-बारी एक बार दाहने और एक बार बाएँ इतनी जल्दी जल्दी से ले जाया जाय कि पता न चले और ऐसा ज्ञात हो कि मथानी चल रही है पेट के बीच से। कायदा यह है कि बीच से बायें को बिलकुल बांई ओर ले जाइये और दाहने को बिलकुल ढीला रखिये। साथ ही जैसे ही बायाँ नल डूबे वैसे दाहने नल को उभाड़ और लुढ़का कर एक दम दाहनी ओर ले जाकर फिर बीच में लाइये। बीच में आते ही दाहना नल डूबेगा और तुरत बायां उभड़ेगा।

इसी तरह सांस बाहर फेंके हुये एक उड्डीयान में तेज़ी से कई बार नलों को उभाड़ने को ही चक्र-नौलि कहते हैं। नल अपने आप इतनी तेज़ी से डूबने उतराने लगते हैं और दाहने से बाएँ या बाएँ से दाहने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आने जाने लगते हैं कि जान पड़ता है पेट में लहरें उठ रही हैं और बैठ रही हैं। दोनों नलों को परस्पर सहयोग करना सिखाना पड़ता है शुरू में।

एक बार में सात चक्कर से ज़्यादा न देना चाहिये। पर अभ्यास बढ़ जाय और साधक हृष्ट पुष्ट हो तो इक्कीस चक्कर तक बढ़ाये जा सकते हैं।

नौलि बिलकुल खाली पेट में करनी चाहिये।

ये (उड्डीयान और नौलि) वास्तव में पेट की सफ़ाई के व्यायाम हैं

व्यायामात्मक लाभ — और पाश्चात्य देशों में इनकी उपयोगिता पर मुग्ध हो इतना ज़्यादा आजकल अपनाया जा रहा है कि आश्चर्य होता है। सब से पहले जर्मनी में इसका प्रचार बढ़ा था। सब से पहले मैक्सिक नाम के एक जर्मन सर्कस व्यायामवीर ने यूरोप में नौलि का खेल दिखा कर (सन् १९१०) दर्शकों को चकित कर दिया था। तमाशा यह है कि आजकल भारतीय व्यायामी प्रायः पाश्चात्य शिक्षकों से नौलि सीखते देखे गये हैं। यह काल की विडम्बना है और क्या!

यह निश्चय है कि पेट की भीतरी सफ़ाई, मालिश और व्यायाम के लिये उड्डीयान और नौलि से बढ़ कर कोई चीज़ नहीं है।

चिकित्सात्मक प्रयोग — (१) अजीर्ण और पुरानी कोष्ठबद्धता इससे सदा के लिये दूर हो जाती है। जिनको घोर कब्ज़ियत हो वह पाख़ाना जाने के पहले गुनगुने (पाव आध पाव) पानी में आधा नींबू निचोड़ कर या दो रत्ती नमक डाल कर पी लें और फिर उड्डीयान और नौलि करें तो विशेष फ़ायदा हो सकता है।

(२) यकृत, प्लीहा और गुर्दे की सारी शिकायतें इनसे दूर होती हैं।

(३) आमाशय, मलाशय तथा कोष्ठ की शुद्धि के लिये ये चोटी की क्रियायें हैं।

(४) स्त्री और पुरुष दोनों के लिये ये समान रूप से उपादेय हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(५) ऋतु की अनियमितता, समय पर न होना, कष्ट से होना, थोड़ा या बहुत ज्यादे या कई दिन तक लगातार होते रहना आदि दोष तथा प्रदर आदि स्त्रियों के गर्भाशय सम्बन्धी वे सभी रोग जो 'गुप्तरोग' के नाम से प्रसिद्ध है, इनसे दूर होते हैं।

(६) पुरुषों के भी गुप्त रोगों (वीर्य रोगों, नपुंसकता आदि) में भी इन से लाभ देखा गया है।

निषेध

चालीस से ऊपर की उम्र वालों को नौलि के 'चक्कर' में न पड़ना ही अच्छा, यदि वे बहुत पहले से नियम पूर्वक इसका अभ्यास नहीं करते आ रहे हैं। और चालीस के ऊपर वाले यदि उड्डीयान और उसका विकास (यानी नौलि) शुरू करना ही चाहे तो पहले विशेषज्ञ से अपनी परीक्षा करवा लें और उसकी देखरेख में अभ्यास करें यदि वह राय दे।

(२) जिनके पेट में 'टी वी' के किस्म का कोई रोग हो या जिनको 'एपेंडिसाइरिस' हो, या नौलि निकालने में जिनको दर्द होता हो उन्हें तब तक उड्डीयान न शुरू करना चाहिये जब तक ये शिकायतें बिलकुल दूर न हो जाय।

(३) बढ़े हुये रक्तचाप वालों को कभी ये व्यायाम न शुरू करना चाहिये।

(४) जिनको उड्डीयान या नौलि करने में कोई विशेष कष्ट वा दर्द मालूम हो तो उन्हें भी तब तक के लिये इनसे बचना ही अच्छा है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इत्थं भूतक्षयान्नित्यं जीवितं भूतधारणम् ।
उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ॥6॥

वायुमण्डल के आघात से इस शरीर में एक रात-दिन के सामान्यतया इक्कीस हजार छः सौ श्वास-प्रश्वास चल रहे हैं । प्राणियों में जब पृथ्वीमंडल (तत्व) कम पड़ जाता है, तो शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, जब जल कम पड़ जाता है, तो क्रमशः केश सफेद हो जाते हैं, जब तेजोभाग कम पड़ जाता है, तो ठीक तरह से भूख नहीं लगती तथा कान्ति नष्ट होती है, जब वायुभाग की कमी पड़ जाती है, तो शरीर में नित्य कँपकँपी होती है । और अकेले जल या अकेले आकाश से कोई जी नहीं सकता । इस प्रकार नित्य ही भूतों का क्षय होता रहता है । इसलिए भूतों को धारण किए रहना (भूत धारण करना) ही जीवन है । इसी कारण से बड़े-बड़े पक्षी अविच्छिन्न रीति से सतत ही उड़ते रहते हैं ।

उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ।
उड्डियाणो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥7॥
तस्य मुक्तिस्तनोः कायात्तस्य बन्धो हि दुष्करः ।
अग्नौ तु चालिते कुक्षौ वेदना जायते भृशम् ॥8॥
न कार्या क्षुधितेनापि नापि विण्मूत्रवेगिना ।
हितं मितं च भोक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा ॥9॥
मृदुमध्यममन्त्रेषु क्रमान्मन्त्रं लयं हठम् ।
लयमन्त्रहठा योगा योगो ह्यष्टाङ्गसंयुतः ॥10॥

इसी को उड्डियाणबन्ध कहा जाता है । इस उड्डियाणबन्ध को यदि हमारे शरीर में प्रतिदिन किया जाए, तब मृत्युरूप हाथी का नाश करने में वह केसरी (सिंह) जैसा होता है । शरीर से इसकी मुक्ति भी हो सकती है परन्तु निर्दिष्ट पुरुष के लिए यह उड्डियाणबन्ध दुष्कर है, क्योंकि अग्नि को जब चलायमान किया जाता है, तब पेट में बड़ी वेदना होती है, इसलिए भूखे मनुष्य को और विष्टा-मूत्र के वेग वाले मनुष्य को यह उड्डियाणबन्ध नहीं करना चाहिए । जिसे योगक्रिया करनी हो, उसे हितकारी, थोड़ा-थोड़ा और प्रमाणपुरःसर (प्रमाण के अनुसार) खाना चाहिए । इस प्रकार विविध खाद्यों से क्षुधाशान्ति करके मृदु = लय, मध्यम = हठ और मन्त्र = नादानुसन्धान—इन योगों की साधना करनी चाहिए । इन तीन योगों में प्रथम क्रम लययोग का, द्वितीय मन्त्रयोग का और तीसरा क्रम हठयोग का है । उनमें हठयोग यम आदि आठ अंगों वाला होता है ।

यमश्च नियमश्चैव तथा चासनमेव च ।
प्राणायामस्तथा पश्चात्प्रत्याहारस्तथा परम् ॥11॥
धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमो भवेत् ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ॥12॥
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ।
तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ॥13॥
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ।
एते हि नियमाः प्रोक्ता दशधैव महामते ॥14॥

हे बुद्धिमान ! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार, ध्यान और आठवीं समाधि—ये आठ योग के अंग हैं । इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सरलता), क्षमा, धैर्य, मिताहार तथा बाहर-भीतर की पवित्रता—ये दश यम हैं । इसी प्रकार तप,

सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, लज्जा, मनन, जप और व्रत—ये दस नियम कहे जाते हैं।

एकादशासनानि स्युश्चक्रादि मुनिसत्तम।
चक्रं पद्मासनं कूर्म मयूरं कुक्कुटं तथा ॥15॥
वीरासनं स्वस्तिकं च भद्रं सिंहासनं तथा।
मुक्तासनं गोमुखं च कीर्तितं योगवित्तमैः ॥16॥
सव्योरु दक्षिणे गुल्फे दक्षिणं दक्षिणेतरे।
निदध्यादृजुकायस्तु चक्रासनमिदं मतम् ॥17॥

हे मुनिश्रेष्ठ! चक्र आदि आसन ग्यारह हैं। चक्रासन, पद्मासन, कूर्मासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, सिंहासन, मुक्तासन और गोमुखासन—ये ग्यारह आसन योगवेत्ताओं ने कहे हैं। (यहाँ ग्यारह आसन कहे हैं, जब कि जाबालदर्शनोपनिषद् में नौ आसन बताए हैं। यहाँ पर चक्रासन और कूर्मासन—दो ज्यादा बताए गए हैं। उनमें से चक्रासन का स्वरूप तो यहाँ बताया गया है, अन्य आसनों के स्वरूप जाबालदर्शनोपनिषत् में बताए गए हैं। कूर्मासन के विषय में जिज्ञासु को किसी योग्य गुरु के पास जाकर उसकी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए।) जब बाँयीं जाँघ दाहिने टखने पर और दाहिनी जाँघ बाँयें टखने पर रखी जाए और शरीर एकदम सीधा रखा जाय, तब उसे चक्रासन माना गया है।

पूरकः कुम्भकस्तद्वद्रेचकः पूरकः पुनः।
प्राणायामः स्वनाडीभिस्तस्मान्नाडीः प्रचक्षते ॥18॥
शरीरं सर्वजन्तूनां षण्णवत्यङ्गुलात्मकम्।
तन्मध्ये पायुदेशात्तु द्व्यङ्गुलात्परतः परम् ॥19॥
मेढ्रदेशादधस्तात्तु द्व्यङ्गुलान्मध्यमुच्यते।
मेढ्रान्नताङ्गुलादूर्ध्वं नाडीनां कन्दमुच्यते ॥20॥
चतुरङ्गुलमुत्सेधं चतुरङ्गुलमायतम्।
अण्डाकारं परिवृतं मेदोमज्जास्थिशोणितैः ॥21॥

पूरक, कुंभक और रेचक—इस तीन प्रकार का प्राणायाम होता है। वह अपनी नाड़ियों के द्वारा ही होता है, इसलिए नाडियाँ कही जाती हैं। सभी प्राणियों का (मनुष्यों का) शरीर छियानबे अंगुल के प्रमाण का होता है। इस शरीर में गुदा के ऊपर दो अंगुल और लिंग प्रदेश के नीचे दो अंगुल को शरीर का मध्यप्रदेश कहा जाता है। और लिंग के नीचे—एक अंगुल ऊँचे नाड़ियों का कन्द (मूल स्थान) कहा जाता है। वह चार अंगुल ऊँचा, चार अंगुल लम्बा-चौड़ा, अण्ड जैसे आकार का है और मेद, मज्जा, हड्डियों और रक्त से आवृत है।

तत्रैव नाडीचक्रं तु द्वादशारं प्रतिष्ठितम्।
शरीरं ध्रियते येन वर्तते तत्र कुण्डली ॥22॥
ब्रह्मरन्ध्रं सुषुम्णा या वदनेन पिधाय सा।
अलम्बुसा सुषुम्णायाः कुहूनाडी वसत्यसौ ॥23॥
अनन्तरारयुग्मे तु वारुणा च यशस्विनी।
दक्षिणारे सुषुम्णायाः पिङ्गला वर्तते क्रमात् ॥24॥

तदन्तरारयोः पूषा वर्तते च पयस्विनी ।
सुषुम्ना पश्चिमे चारे स्थिता नाडी सरस्वती ॥25॥

वहीं नाड़ीचक्र स्थित है। वह बारह आराओं वाला है। इसी के द्वारा शरीर धारण किया जाता है। उसमें कुण्डली अवस्थित है। नाड़ीचक्र में जो सुषुम्ना नाड़ी है, उसने अपने मुख से ब्रह्मरन्ध्र को ढँककर रखा है। अलम्बुसा और कुहू नाड़ियाँ सुषुम्णा के पास में होती हैं और सुषुम्णा के दाहिनी ओर के आरे में पिंगला नाड़ी अवस्थित है। इसके बाद के दो आरों में पूषा और यशस्विनी—ये दो नाड़ियाँ हैं, और सुषुम्ना के पश्चिम के आरे में सरस्वती नाड़ी है।

शङ्खिनी चैव गान्धारी तदनन्तरयोः स्थिते ।
उत्तरे तु सुषुम्नाया इडाख्या निवसत्यसौ ॥26॥
अनन्तरं हस्तिजिह्वा ततो विश्वोदरी स्थिता ।
प्रदक्षिणक्रमेणैव चक्रस्यारेषु नाडयः ॥27॥
वर्तन्ते द्वादश ह्येता द्वादशानिलवाहकाः ।
पटवत्संस्थिता नाड्यो नानावर्णाः समीरिताः ॥28॥
पटमध्यं तु यत्स्थानं नाभिचक्रं तदुच्यते ।
नादाधारा समाख्याता ज्वलन्ती नादरूपिणी ॥29॥
पररन्ध्रा सुषुम्ना च चत्वारो रत्नपूरिताः ।
कुण्डल्या पिहितं शश्वद्ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्यमम् ॥30॥

इसके बाद के दो आरों में शंखिनी और गान्धारी नाड़ियाँ हैं। सुषुम्ना के उत्तर भाग में इडा नाम की नाड़ी रहती है। इसके बाद हस्तिजिह्वा और विश्वोदरी नाडियाँ आयी हुई हैं। इस तरह इस नाडी चक्र के आराओं में दाहिनी ओर के प्रदक्षिणा के क्रम से नाडियाँ आई हुई हैं। ये बारह नाडियाँ हैं। उनमें बारह वायु बह रहे हैं। वे वस्त्र की तरह रही हुई हैं और तरह-तरह के रंगों वाली कही गई हैं। नाभि प्रदेश का जो मध्य स्थान है, उसे नाभिचक्र कहा जाता है। और जो नाडीनाद का आधार है उसे ज्वलन्ती और नादरूपिणी कहा गया है। पररन्ध्रा और सुषुम्ना आदि चार रत्नों से भरपूर हैं। और ब्रह्मरन्ध्र का मध्यभाग सदैव कुण्डली के द्वारा ढँका हुआ ही रहता है। (आवृत होकर रहता है।)

एवमेतासु नाडीषु धरन्ति दश वायवः ।
एवं नाडीगतिं वायुगतिं ज्ञात्वा विचक्षणः ॥31॥
समग्रीवशिरःकायः संवृतास्यः सुनिश्चलः ।
नासाग्रे चैव हृन्मध्ये बिन्दुमध्ये तुरीयकम् ॥32॥
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः ।
अपानं मुकुलीकृत्य पायुमाकृष्य चोन्मुखम् ॥33॥
प्रणवेन समुत्थाप्य श्रीबीजेन निवर्तयेत् ।
स्वात्मानं च श्रियं ध्यायेदमृतप्लावनं ततः ॥34॥

इस प्रकार इन नाडियों में दश वायु धारण किए जाते हैं। इस तरह नाडीगति और वायुगति को जानकर बुद्धिमान मनुष्य को गर्दन, मस्तक और शरीर को सीधा रखकर, मुँह बन्द करके, एकदम निश्चल होकर बैठना चाहिए और नासिका के अग्रभाग में, हृदय के बीच में और बिन्दु के बीच जो तुरीय पद अवस्थित है, उसे एकदम एकाग्र होकर, दोनों नेत्रों से उससे होता हुआ अमृत का स्रवण देखना चाहिए। फिर बाद में अपानवायु का संकोच करके गुदा को ऊँचे खींचना चाहिए। इस प्रकार प्रणवमंत्र

के द्वारा ठीक तौर से उसे ऊपर स्थापित करके लक्ष्मीबीज के द्वारा उसे वापिस लौटाना चाहिए। उस समय अपने आत्मा का लक्ष्मी के रूप में ध्यान करना चाहिए। इससे अमृत के द्वारा तरबतर हुआ जा सकता है।

कालवञ्चनमेतद्धि सर्वमुख्यं प्रचक्षते ।
मनसा चिन्तितं कार्यं मनसा येन सिद्ध्यति ॥35॥
जलेऽग्निज्वलनाच्छाखापल्लवानि भवन्ति हि ।
नाधन्यं जागतं वाक्यं विपरीता भवत्क्रिया ॥36॥
मार्गे बिन्दुं समाबध्य वह्निं प्रज्वाल्य जीवने ।
शोषयित्वा तु सलिलं तेन कायं दृढं भवेत् ॥37॥
गुदयोनिसमायुक्त आकुञ्चत्येककालतः ।
अपानमूर्ध्वगं कृत्वा समानोऽन्ने नियोजयेत् ॥38॥

इसे ही सभी में मुख्य कालवञ्चन कहा जाता है। इसी के द्वारा मन में चिन्तित कार्य मन में ही सिद्ध हो जाता है। ''जल स्थान में अग्नि प्रकट करने से भी शाखाएँ और कोंपलें प्रस्फुटित होती हैं— यह जो जगत् का वाक्य है, वह यहाँ अधन्य (अकृतार्थ) नहीं होता (कृतार्थ ही होता है), यहाँ विपरीत क्रिया होती ही है। मार्ग में बिन्दु को बाँधकर, जीवन में अग्नि को प्रज्वलित करके जल को सुखा देना चाहिए, इससे शरीर दृढ़ (मजबूत) बनता है। गुदारूप मूल स्थान में एकाग्र होकर एक ही समय में (उसी समय) अपानवायु का संकोच भी करना चाहिए। और इस तरह उसे ऊर्ध्वगामी बनाकर समान के रूप में जठर के अन्न के साथ जोड़ना चाहिए।

स्वात्मानं च श्रियं ध्यायेदमृतप्लावनं ततः ।
बलं समारभेद्योगं मध्यमद्वारभागतः ॥39॥
भावयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानसुयोगतः ।
एष योगो वरो देहे सिद्धिमार्गप्रकाशकः ॥40॥
यथैवापाङ्गतः सेतुः प्रवाहस्य निरोधकः ।
तथा शरीरगाच्छाया ज्ञातव्या योगिभिः सदा ॥41॥
सर्वासामेव नाडीनामेष बन्धः प्रकीर्तितः ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन स्फुटीभवति देवता ॥42॥

उस समय अपने आत्मा का लक्ष्मी के रूप में ध्यान करना चाहिए। इससे अमृत में तरबतर हुआ जा सकता है। यह योग बलरूप है। इसका बीच के द्वारभाग से आरंभ करना चाहिए। प्राण और अपान का सुयोग करके उसकी ऊर्ध्वगति की भावना करनी चाहिए। यह उत्तम योग है और देह में सिद्धि का मार्ग प्रकट करने वाला है। जैसे बीच में मेंड़ (बाँध) बाँधी हो, तो वह पानी के प्रवाह को रोकती है, वैसे ही योगियों के शरीर की छाया के बारे में समझना चाहिए। इसे 'सर्वनाडीबन्ध' कहा जाता है। इस बन्ध के सिद्ध होने पर आत्मारूप देवता स्फुट हो जाता है।

एवं चतुष्पथो बन्धो मार्गत्रयनिरोधकः ।
एकं विकासयन्मार्गं येन सिद्धाः सुसङ्गताः ॥43॥
उदानमूर्ध्वगं कृत्वा प्राणेन सह वेगतः ।
बन्धोऽयं सर्वनाडीनामूर्ध्वं याति निरोधकः ॥44॥

अयं च सम्पुटो योगो मूलबन्धोऽप्ययं मतः ।
बन्धत्रयमनेनैव सिद्ध्यत्यभ्यासयोगतः ॥45॥
दिवारात्रमविच्छिन्नं यामे यामे यदा यदा ।
अनेनाभ्यासयोगेन वायुरभ्यसितो भवेत् ॥46॥

इस प्रकार चार मार्ग वाला यह बन्ध तीन मार्गों को रोकता है, एवं एक मार्ग को खुला कर देता है, जिससे सिद्ध हुए मनुष्यों ने अच्छी तरह से आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लिया है। प्राण के साथ उदान वायु को ऊर्ध्वगामी करके तुरन्त ही यह नाडियों का बन्ध किया जा सकता है। वह निरोधक है, इसलिए ऊपर ही ऊपर जाता है। यह सम्पुट योग है। इसे 'मूलबन्ध' भी माना गया है। इसका अभ्यास करने से अन्य तीन बन्ध इसी के द्वारा सिद्ध हो जाते हैं। रात-दिन और प्रहर-प्रहर पर जिस समय इसका अभ्यास किया जाता है, उस-उस समय वायु वश में आने लगता है।

वायावभ्यसिते वह्निः प्रत्यहं वर्धते तनौ ।
वह्नौ विवर्धमाने तु सुखमन्नादि जीर्यते ॥47॥
अन्नस्य परिपाकेन रसवृद्धिः प्रजायते ।
रसे वृद्धिं गते नित्यं वर्धन्ते धातवस्तथा ॥48॥
धातूनां वर्धनेनैव प्रबोधो वर्धते तनौ ।
दह्यन्ते सर्वपापानि जन्मकोट्यर्जितानि च ॥49॥
गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम् ।
शिवस्य बिन्दुरूपस्य स्थानं तद्धि प्रकाशकम् ॥50॥

इस प्रकार वायु को वश करने का अभ्यास होने पर शरीर में प्रतिदिन अग्नि बढ़ता रहता है और अग्नि के बढ़ने से अन्न आदि आसानी से पच जाते हैं। अन्न का ठीक तरह से पाचन होने से रस की वृद्धि होती है, और रस की वृद्धि होने से दिन-प्रति-दिन धातु की वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार से धातुओं के बढ़ने से शरीर में ज्ञान बढ़ जाता है, और करोड़ों जन्मों के सभी पाप जल जाते हैं। गुदा और लिंग के बीच में मूलाधार अवस्थित है, उसके तीन कोने हैं और वही स्थान बिन्दुरूप शिव का प्रकाशक स्थान है।

यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता ।
यस्मादुत्पद्यते वायुर्यस्माद्वह्निः प्रवर्धते ॥51॥
यस्मादुत्पद्यते बिन्दुर्यस्मान्नादः प्रवर्धते ।
यस्मादुत्पद्यते हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः ॥52॥
मूलाधारादिषट्चक्रं शक्तिस्थानमुदीरितम् ।
कण्ठादुपरि मूर्धान्तं शाम्भवं स्थानमुच्यते ॥53॥
नाडीनामाश्रयः पिण्डो नाड्यः प्राणस्य चाश्रयः ।
जीवस्य निलयः प्राणो जीवो हंसस्य चाश्रयः ॥54॥

वहाँ पर कुण्डलिनी नाम की पराशक्ति का स्थान है। वहाँ से वायु उत्पन्न होता है, और वहीं से अग्नि भी बढ़ती है। वहाँ से बिन्दु उत्पन्न होता है, वहीं से नाद बढ़ता है, वहीं से 'हंस' (सोऽहं मंत्र) भी उत्पन्न होता है, और वहीं से मन उत्पन्न होता है। मूलाधार आदि छः चक्र शक्ति का स्थान कहलाते हैं, और कण्ठ के ऊपर, मस्तक तक 'शांभव स्थान'—आत्मा का स्थान कहा जाता है। यह देह

नाडियों का आश्रयस्थान है, एवं नाडियाँ प्राण का आश्रय है, प्राण जीव का आश्रयस्थान है और जीव का परमात्मा आश्रयस्थान है।

हंसः शक्तेरधिष्ठानं चराचरमिदं जगत्।
निर्विकल्पः प्रसन्नात्मा प्राणायामं समभ्यसेत् ॥55॥
सम्यग्बन्धत्रयस्थोऽपि लक्ष्यलक्षणकारणम्।
वेद्यं समुद्धरेन्नित्यं सत्यसन्धानमानसः ॥56॥
रेचकं पूरकं चैव कुम्भमध्ये निरोधयेत्।
दृश्यमाने परे लक्ष्ये ब्रह्मणि स्वयमाश्रितः ॥57॥
बाह्यस्थविषयं सर्वं रेचकः समुदाहृतः।
पूरकं शास्त्रविज्ञानं कुम्भकं स्वगतं स्मृतम् ॥58॥

वह हंस शक्ति का मूल स्थान है। वही स्थावर-जंगम जगत् है—ऐसा समझकर, विकल्परहित होकर प्राणायाम का अच्छी तरह से अभ्यास करना चाहिए। जिस मनुष्य को सत्य का (आत्मतत्त्व का) अनुसन्धान करने की मनीषा हुई हो, उसको तीनों बन्धों में अच्छी तरह रहते हुए भी लक्ष्य-लक्षण का कारण और नित्य जाननेयोग्य परम तत्त्व को खोज निकालना चाहिए। परब्रह्मरूप प्रत्यक्ष लक्ष्य में अपनी स्थिति करके रेचक और पूरक प्राणायाम को कुंभक के बीच में रोककर बहुत अभ्यास करके अन्त में कुंभक में स्थिति कर देनी चाहिए। बाहर के सभी विषय रेचक कहलाते हैं। शास्त्रों का अनुभव ज्ञान पूरक है और अपने में रहा हुआ परम तत्त्व कुंभक कहलाता है।

एवमभ्यासचित्तश्चेत्स मुक्तो नात्र संशयः।
कुम्भकेन समारोप्य कुम्भकेनैव पूरयेत् ॥59॥
कुम्भेन कुम्भयेत्कुम्भं तदन्तस्थः परं शिवम्।
पुनरास्फालयेदद्य सुस्थिरं कण्ठमुद्रया ॥60॥
वायूनां गतिमावृत्य धृत्वा पूरककुम्भकौ।
समहस्तयुगं भूमौ समं पादयुगं तथा ॥61॥
वेधकक्रमयोगेन चतुष्पीठं तु वायुना।
आस्फालयेन्महामेरुं वायुवक्त्रे प्रकोटिभिः ॥62॥

इस प्रकार अभ्यास करने में यदि चित्त लग जाए, तो वह मुक्त हो जाता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। कुम्भक से चढ़ाकर कुम्भक को ही पूरक करना चाहिए। फिर उस कुंभक से ही कुंभक करना चाहिए। और उसके अन्दर स्थिति करके परमशिव का ध्यान करना चाहिए और फिर कण्ठमुद्रा से अत्यन्त स्थिरता से फिर से आस्फालन (कुम्भक द्वारा ही वायु का संचरण) करना चाहिए। वायुओं की गति को घेरकर, पूरक और कुम्भक धारण करके दोनों हाथ सीधे रखने चाहिए, और पृथ्वी पर दोनों पैर भी सीधे रखने चाहिए। वेधक क्रम के योग से वायु के द्वारा वायु के मुख में प्रकोटियों से चार पीठवाले महामेरु का आस्फालन करना चाहिए। (वेधक योग अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र ग्रन्थियों का वेध।)

पुटद्वयं समाकृष्य वायुः स्फुरति सत्त्वरम्।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धाज्जानीयादमृताय वै ॥63॥
मेरुमध्यगता देवाश्चलन्ते मेरुचालनात्।
आदौ सञ्जायते क्षिप्रं वधोऽस्य ब्रह्मग्रन्थितः ॥64॥

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ।
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्त्वा रुद्रग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ॥65॥
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा छित्वा मोहमलं तथा ।
अनेकजन्मसंस्कारगुरुदेवप्रसादतः ॥66॥

जिस समय वायु सोम, सूर्य तथा अग्नि के सम्बन्ध से तुरन्त ही दोनों नासापुटों को खींचकर स्फुरित होता है, तब वह अमृत देने वाला होता है, ऐसा समझना चाहिए। मेरु का संचालन करने से मेरु के मध्य में रहते हुए देव चलित होते हैं, और तुरन्त ही प्रथम ग्रन्थि के द्वारा उसका वेध होता है। बाद में ब्रह्मग्रन्थि भेदकर वह योगी विष्णुग्रन्थि को भेदता है। और विष्णुग्रन्थि को भेदकर रुद्रग्रन्थि को भेदता है। रुद्रग्रन्थि को भेदकर अनेक जन्मों के संस्कारों तथा गुरु की कृपा से मोहरूपी मैल को काटकर वह परमपद को प्राप्त हो जाता है।

योगाभ्यासात्ततो वेधो जायते तस्य योगिनः ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्नानाडिमण्डले ॥67॥
मुद्राबन्धविशेषेण वायुमूर्ध्वं च कारयेत् ।
ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घो मोक्षप्रदायकः ॥68॥
आप्यायनः प्लुतो वापि त्रिविधोच्चारणेन तु ।
तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ॥69॥
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ।
ह्रस्वं बिन्दुगतं दैर्घ्यं ब्रह्मरन्ध्रगतं प्लुतम् ।
द्वादशान्तगतं मन्त्रं प्रसादं मन्त्रसिद्धये ॥70॥

इस प्रकार योगाभ्यास करने के बाद, उस योगी को इडा और पिंगला के बीच की सुषुम्ना नाडी के मण्डल में वेध होता है। इसके लिए मुद्रा तथा बन्धों की विशेषता के द्वारा वायु को ऊर्ध्व गतिवाला करना चाहिए। वह वायु ह्रस्व होता है, तो पापों को जलाता है, और दीर्घ होता है तो मोक्षदायक होता है, और प्लुत हो तो पुष्टिकारक होता है। इस प्रकार तीन प्रकार के उच्चारणों से वह युक्त होता है। घण्ट के दीर्घ निनाद जैसा और तेल की धारा की तरह अविच्छिन्न ऐसा प्रणव का जो अग्र भाग है, वह अवर्णनीय है। उसे जो जानता है, वह वेदवेत्ता है। इस प्रणवमंत्र के ह्रस्व भाग को बिन्दु में अवस्थित मानकर तथा दीर्घ भाग को ब्रह्मरन्ध्र में तथा प्लुत भाग को द्वादशार चक्र के अन्त में अवस्थित मानकर ध्यान करना चाहिए, जिससे प्रसादरूप होकर वह मंत्र की सिद्धि के लिए हो।

सर्वविघ्नहरश्चायं प्रणवः सर्वदोषहा ।
आरम्भश्च घटश्चैव पुनः परिचयस्तथा ॥71॥
निष्पत्तिश्चेति कथिताश्चतस्रस्तस्य भूमिकाः ।
कारणत्रयसम्भूतं बाह्यं कर्म परित्यजन् ॥72॥
आन्तरं कर्म कुरुते यत्रारम्भः स उच्यते ।
वायुः पश्चिमतो वेधं कुर्वन्नापूर्य सुस्थिरम् ॥73॥
यत्र तिष्ठति सा प्रोक्ता घटाख्या भूमिका बुधैः ।
न सजीवो न निर्जीवः काये तिष्ठति निश्चलम् ।
यत्र वायुः स्थिरः खे स्यात्सेयं प्रथम भूमिका ॥74॥

११. पेशीशूल और सन्धिवात	वृश्चिकासन, शीर्षासन, पश्चिमोत्तानासन, सर्वाङ्गासन आदि
१२. कुष्ठरोग	शीर्षासन और महामुद्रा
१३. विश्राम	शवासन
१४. सर्वरोगनिवारक और दीर्घायु- प्रदायक	पद्मासन, शीर्षासन, सर्वाङ्गासन तथा पश्चिमोत्तानासन

नोट:- यदि आप किन्हीं पुराने रोगों से ग्रसित हों तो आपको आसनों के साथ मुद्रा, प्राणायाम और जप भी संयुक्त करने होंगे। यदि इनमें से कोई विशेष विषय आपकी प्रकृति को उपयुक्त न हो तो आप अपने आध्यात्मिक गुरु से परामर्श करें। आपको सच्चाईपूर्वक धैर्य से दीर्घकाल तक इनका अभ्यास करना होगा।

पंचम अध्याय

महत्त्वपूर्ण मुद्राएँ और बन्ध

मुद्रा और बन्ध के अनेक प्रकार हैं-जैसे महामुद्रा, महावेध, नभोमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, योनिमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, अश्विनीमुद्रा, पाशिनीमुद्रा, मातंगीमुद्रा, काकीमुद्रा, भुजंगिनीमुद्रा और योगमुद्रा तथा महाबन्ध, जालन्धरबन्ध, उड्डियानबन्ध और मूलबन्ध।

इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्राओं एवं बन्धों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। इनमें से आपको जो उपयोगी लगे, उसे चुन कर नियमित रूप से अभ्यास कीजिए। इनसे खाँसी, श्वास का रोग, प्लीहा तथा यकृत की अपवृद्धि, कामवासना की उत्तेजना, रतिजरोग, यक्ष्मा, जीर्णमलावरोध, कुष्ठरोग एवं सभी असाध्य रोग भी दूर हो जाते हैं। इन मुद्राओं और बन्धों से मनोवांछित फल प्राप्त होता है; क्योंकि-

"नास्ति मुद्रासमं किंचित् संसिद्धये क्षितिमण्डले।"

अर्थात् पृथ्वी पर मुद्राओं के समान सिद्धि दिलाने वाला और कुछ भी नहीं है।

१. महामुद्रा

बायीं एड़ी से गुदा को सावधानीपूर्वक दबायें। दायीं टाँग को आगे फैला लें। दोनों हाथों से पैर के अँगूठे को पकड़ लें। श्वास ले कर उसे रोकें (कुम्भक)। ठोड़ी को सीने पर दृढ़ता से दबायें (जालन्धरबन्ध)। दृष्टि को त्रिकुटी पर जमायें (अर्थात् भ्रूमध्यदृष्टि)। जितनी देर हो सके, इस मुद्रा को टिकाये रखें। पहले बायीं टाँग से और फिर दायीं टाँग से अभ्यास करें। इससे यक्ष्मा, अर्श अथवा बवासीर, प्लीहा की अपवृद्धि, अपच, गुल्म, कुष्ठ, मलावरोध, ज्वर आदि रोग दूर होते हैं तथा आयु बढ़ती है। यह मुद्रा अभ्यास करने बाले साधक को सिद्धियाँ प्रदान करती है। इस मुद्रा को करने पर प्रायः जानुशीर्षासन-जैसी आकृति बन जाती है।

२. योगमुद्रा

पद्मासन में बैठ कर हथेलियों को एड़ियों पर रखें। धीरे-धीरे श्वास बाहर निकालें तथा आगे को झुकें और मस्तक से भूमि को स्पर्श करें। यदि आप इस मुद्रा को देर तक टिकाये रखते हैं, तो सामान्य रूप से श्वास ले और निकाल सकते हैं अथवा आप पूर्वावस्था में आ कर पुनः श्वास ले सकते हैं। हाथों को एड़ियों पर रखने के स्थान में उन्हें पीठ की ओर ले जा सकते हैं। अपनी बायीं कलाई को दायें हाथ से पकड़ें। इस मुद्रा से समस्त प्रकार के उदर रोग दूर होते हैं।

३. खेचरीमुद्रा

'खे' का अर्थ है 'आकाश में' और 'चर' का अर्थ है 'चलना'। योगी आकाश में चलता है; इसलिए इसे खेचरीमुद्रा कहते हैं।

इस मुद्रा को केवल वही व्यक्ति कर सकता है जिसने अपना प्रारम्भिक अभ्यास ऐसे गुरु के साक्षात् मार्गदर्शन में किया हो जो स्वयं खेचरीमुद्रा करते हों। इस मुद्रा का प्रारम्भिक अंश जिह्वा को इतनी लम्बी बनाना है कि उसका अग्रभाग भृकुटि के मध्य वाले स्थान को स्पर्श कर सके। प्रति सप्ताह गुरु जिह्वा के नीचे के तन्तु को थोड़ा-थोड़ा करके स्वच्छ तथा तीक्ष्ण धार वाले यन्त्र (छुरी) से काटता रहेगा। नमक और हल्दी-चूर्ण लगाने से कटे हुए तन्तु फिर से नहीं जुड़ते। जिह्वा को ताजा मक्खन लगा कर बाहर खींचें। उँगलियों से जिह्वा को पकड़ कर इधर-उधर घुमायें। जिह्वा के दोहन का अर्थ है उसे पकड़ कर इस प्रकार खींचना जिस प्रकार गाय का दूध निकालते समय उसके थनों को पकड़ कर दूध निकाला जाता है।

जिह्वा के नीचे वाले तन्तु को नियमित रूप से सप्ताह में एक बार काटना चाहिए। यह कार्य ६ माह से ले कर २ वर्ष तक किया जाना चाहिए। इन सब विधियों से आप जिह्वा को इतनी लम्बी कर सकते हैं कि वह मस्तक को स्पर्श कर लेगी। खेचरीमुद्रा का यह प्रारम्भिक अंश है।

इसके पश्चात् सिद्धासन में बैठ कर जिह्वा को ऊपर और पीछे की ओर इस प्रकार मोड़ें कि वह तालु को स्पर्श कर ले और जिह्वा से नाक के पश्च-द्वार को बन्द कर दें। आप अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करें। श्वासोच्छ्वास रुक जायेगा। जिह्वा अमृत-कूप के मुँह पर है। यह खेचरीमुद्रा है।

इस मुद्रा के अभ्यास से योगी मूर्च्छा, क्षुधा, पिपासा और आलस्य से मुक्त हो जाता है। वह रोग, क्षीणता, वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्त हो जाता है। इस मुद्रा से व्यक्ति ऊर्ध्वरता योगी बनता है। चूँकि योगी का शरीर अमृत से पूर्ण हो जाता है; अतः वह घातक विष से भी नहीं मरता। यह मुद्रा योगियों को कायसिद्धि प्रदान करती है। खेचरी सर्वश्रेष्ठ मुद्रा है।

४. वज्रोलीमुद्रा

यह हठयोग में एक महत्त्वपूर्ण यौगिक क्रिया है। इस क्रिया में पूर्ण सफल होने के लिए आपको कठिन परिश्रम करना पड़ेगा। इस क्रिया में बहुत कम साधक दक्ष होते हैं। योग के विद्यार्थी विशेष प्रकार की बनवायी हुई १२ इंच लम्बी चाँदी की एक नली को मूत्र-मार्ग में प्रवेश करा कर इसके द्वारा पहले पानी और फिर दूध, तेल, मधु आदि खींचते हैं। अन्त में वे पारा खींचते हैं। कुछ समय बाद वे बिना नली के सहारे मूत्र-मार्ग द्वारा इन तरल पदार्थों को खींच लेते हैं। ब्रह्मचर्य में सुस्थित होने के लिए यह क्रिया अत्युपयोगी है। प्रथम दिन मूत्र-मार्ग में केवल १ इंच नली ही प्रवेश करायें, दूसरे दिन २ इंच, तीसरे दिन ३ इंच, इसी प्रकार इसे बढ़ाते जायें। जब तक १२ इंच नली भीतर प्रविष्ट न हो जाये, तब तक क्रमशः अभ्यास करते रहें।

राजा भर्तृहरि इस क्रिया को बहुत दक्षता से कर लेते थे। इस मुद्रा को करने वाले योगी का एक बूँद वीर्य भी बाहर नहीं निकल सकता और यदि निकल भी जाये तो वह इस मुद्रा द्वारा उसे वापस ऊपर खींच सकता है। जो योगी वीर्य को ऊपर खींच कर सुरक्षित रख सकता है, वह मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। उसके शरीर से सुगन्ध निकलती है। भगवान् कृष्ण इस मुद्रा में बड़े कुशल थे; इसलिए अनेक गोपियों के मध्य रहते हुए भी वे नित्य-ब्रह्मचारी कहलाते थे।

५. विपरीतकरणीमुद्रा

भूमि पर लेट कर टाँगों को सीधे ऊपर उठायें। नितम्बों को हाथों से सहारा दें। कोहनियाँ भूमि पर टेक लें। स्थिर बने रहें। नाभि के मूल में सूर्य का और तालु-मूल में चन्द्रमा का निवास है। जिस प्रक्रिया से सूर्य को ऊपर की ओर तथा चन्द्रमा को नीचे की ओर ले जाया जाता है, वह विपरीतकरणीमुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा में सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति को पलट दिया जाता है। प्रथम दिन इसे एक मिनट तक करें। धीरे-धीरे इसे तीन घण्टे तक बढ़ा दें। छह महीने में आपके चेहरे की झुर्रियाँ और श्वेत बाल लुप्त हो जायेंगे। जो योगी इसे प्रतिदिन तीन घण्टे तक करते हैं, वे मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। चूंकि इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है, अतः जो लोग इस मुद्रा का अभ्यास देर तक करते हैं, उन्हें इस क्रिया की समाप्ति पर अल्पाहार-जैसे दूध आदि-ले लेना चाहिए। शीर्षासन की मुद्रा भी विपरीतकरणीमुद्रा कहलाती है।

६. शक्तिचालनमुद्रा

एकान्त कमरे में सिद्धासन में बैठें। बलपूर्वक श्वास को अन्दर खींच कर उसे अपान के साथ जोड़ें। वायु के सुषुम्ना में प्रवेश करने तक मूलबन्ध लगायें। वायु को रोकने से कुण्डलिनी का दम घुटने के कारण वह जाग्रत हो जाती है और सुषुम्ना में हो कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है। इस मुद्रा के अभ्यास से व्यक्ति सिद्ध बन जाता है।

सिद्धासन में बैठें। गुल्फ के पास से पैर को पकड़ कर धीरे-धीरे पैर से कन्द को पीड़ित करें। यह ताड़न-क्रिया है। इस पद्धति से भी कुण्डलिनी जाग्रत की जा सकती है।

७. महावेध

अन्यत्र वर्णन किये अनुसार महाबन्धमुद्रा में बैठें। धीरे-धीरे श्वास खींच कर उसे रोकें और ठोड़ी को सीने पर दबायें (जालन्धर-बन्ध)। हथेलियों को भूमि पर रखें। शरीर को हथेलियों पर टिका दें। नितम्बों को धीरे-धीरे उठा कर हलके से भूमि पर पटक दें। नितम्बों को ऊपर उठाते समय आसन अक्षत तथा दृढ़ होना चाहिए। यह क्रिया जरा तथा मृत्यु का उच्छेदन करती है। योगी मन पर नियन्त्रण तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है।

८. महाबन्ध

बायीं एड़ी से गुदा को दबायें तथा दायाँ पैर बायीं जंघा पर रखें। गुदा एवं योनि या मूलाधार की पेशियों को सिकोड़ें। अपान वायु को ऊपर की ओर खींचें। धीरे-धीरे श्वास को खींच कर जालन्धर-बन्ध द्वारा उसे यथाशक्ति रोकें। फिर धीरे-धीरे श्वास को बाहर निकाल दें। मन को सुषुम्ना पर स्थिर करें। प्रथम बायीं ओर से और फिर दायीं ओर से अभ्यास करें। सामान्यतया योगी लोग महामुद्रा, महाबन्ध एवं महावेध साथ-साथ करते हैं। इन तीनों का एक अच्छा संघटन बनता है। ऐसा करने से ही सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता है। योगी आप्तकाम हो जाता है तथा सिद्धियाँ प्राप्त करता है।

९. मूलबन्ध

बायीं एड़ी से योनि को दबायें। गुदा को सिकोड़ें। अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे अपान वायु को बलपूर्वक खींचें। दायीं एड़ी को जननेन्द्रिय पर रखें। इसे मूलबन्ध कहते हैं जो जरा और मृत्यु का विनाशक है।

प्राणायाम के अभ्यास में सिद्धि अथवा पूर्णता बन्धों की सहायता से प्राप्त होती है। इस मूलबन्ध के अभ्यास से ब्रह्मचर्य में सहायता मिलती है, धातु पुष्ट होती है, मलावरोध दूर होता है और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। मूलबन्ध का अभ्यास करने वाला योगी सदा युवा बना रहता है। उसके बाल सफेद नहीं होते।

अपान वायु जो मल को बाहर निकालने का कार्य करती है, स्वभावतः नीचे की ओर जाती है। मूलबन्ध के अभ्यास से गुदा को सिकोड़ने और अपान वायु को बलपूर्वक ऊपर खींचने से वह ऊपर की ओर संचारित होने लगती है। प्राण-वायु का अपान वायु से संयोग होता है और वह संयुक्त प्राण-अपान वायु सुषुम्ना नाड़ी अथवा ब्रह्म-नाड़ी में प्रवेश कर जाती है। तब योगी योग में पूर्णता प्राप्त करता है। यह योग का एक रहस्य है। तब योगी इस संसार के लिए मर जाता है। वह अमृत-सुधा का पान करता है। वह सहस्रार में शिव-पद का आनन्द-लाभ करता है। उसे समस्त दिव्य विभूतियाँ और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं।

जब अपान वायु प्राण-वायु से मिलती है, तब योगी को अनाहतनाद अथवा विभिन्न प्रकार के अन्तर्नाद सुस्पष्ट रूप से सुनायी पड़ते हैं; क्योंकि अब बाहरी संसार के शब्द उसे नहीं सुनायी देते हैं। उसे गम्भीर एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। प्राण, अपान, नाद और बिन्दु मिल जाते हैं। योगी योग में पूर्णता प्राप्त कर लेता है।

१०. जालन्धरबन्ध

गले को सिकोड़ें। ठोड़ी को दृढ़ता से सीने पर दबायें। यह बन्ध पूरक के अन्त में और कुम्भक के आरम्भ में किया जाता है। इस बन्ध के अभ्यास से प्राण-वायु सही मार्ग में होती है। वह अपान वायु से मिल जाती है। इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं। नाभि-चक्र में स्थित जठराग्नि उस अमृत को भस्म करती है जो तालु-रन्ध्र द्वारा सहस्रार से टपकता रहता है। इस अमृत को इस प्रकार नष्ट होने से बचाने के लिए योग के विद्यार्थी को इस बन्ध का अभ्यास करना चाहिए। योगी अमृत-पान करके अमरता प्राप्त करता है।

११. उड्डियानबन्ध

बलपूर्वक जोर से श्वास को बाहर निकाल कर फेफड़ों को खाली कर लें। फिर आँतों और नाभि को सिकोड़ लें और उन्हें बलपूर्वक पीठ की ओर अन्दर खींचें जिससे उदर ऊपर उठ कर शरीर के पीछे की ओर वक्षीय गुहा (Thoracic cavity) में चला जाये। इस बन्ध का निरन्तर अभ्यास करने वाला साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त करता तथा सदा युवा बना रहता है। इससे ब्रह्मचर्य धारण करने में अधिक सहायता प्राप्त होती है। सभी बन्ध कुण्डलिनी जाग्रत करते हैं। उड्डियानबन्ध का अभ्यास कुम्भक के अन्त में और रेचक के आरम्भ में किया जाता है। जब आप इस बन्ध का अभ्यास करते हैं तो उरःप्राचीर (जो कि वक्षीय गुहा एवं उदर के मध्य मांसपेशी का एक भाग होता है) ऊपर उठ जाता है और पेट की दीवार पीछे चली जाती है। उड्डियान करते समय अपने धड़ को आगे की ओर झुकायें। उड्डियान बैठे हुए और खड़े हुए दोनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। खड़े हो कर करते समय हाथों को घुटनों या घुटनों से थोड़ा ऊपर रखें। टाँगों को थोड़ा दूर-दूर रखें।

उड्डियान मानव के लिए वरदान है। अभ्यास करने वाले को यह सुन्दर स्वास्थ्य, शक्ति, ओज और जीवन-शक्ति प्रदान करता है। नौलि-क्रिया को, जो पेट के मल को मथ डालती है, इसके साथ मिला देने से यह एक शक्तिशाली जठरान्त्रीय बलकारक औषधि (Gastro-intestinal Tonic) का काम करता है। मलावरोध, आँतों के क्रमाकुंचन की दुर्बलता तथा आहार-तन्त्र के जठरान्त्र-विकार से संघर्ष करने के लिए योगी के पास ये दो महत्त्वपूर्ण अस्त्र हैं। इन दो यौगिक व्यायामों से ही आप उदर के आन्तरांगों की मालिश तथा पुष्ट करने का काम ले सकते हैं।

जो नौलि का अभ्यास करना चाहें, उन्हें आरम्भ में उड्डियान करना चाहिए। उड्डियान पेट की वसा को कम करता है। पेट के व्यायामों में उड्डियान और नौलि की बराबरी का कोई अन्य व्यायाम नहीं है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों देशों में सम्पूर्ण भौतिक व्यायाम-पद्धतियों में ये दोनों व्यायाम अनुपम, अद्वितीय और अभूतपूर्व हैं।

१२. योनिमुद्रा

सिद्धासन में बैठ जायें। दोनों अँगूठों से कान को, तर्जनियों से आँखों को, मध्यमा से नासा-रन्ध्रों को, अनामिका से ऊपर के ओष्ठ को तथा कनिष्ठिका से अधरोष्ठ को बन्द करें। जप करने के लिए यह सुन्दर मुद्रा है।

बड़ी गहराई में चले जायें और षट्-चक्रों और कुण्डलिनी पर ध्यान लगायें। अन्य मुद्राओं की भाँति यह सबके लिए बिलकुल सरल नहीं है। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए आपको प्रचुर श्रम करना पड़ेगा। यदि आप इस मुद्रा में निश्चयपूर्वक सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो आपको पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना होगा। इसमें सफलता प्राप्त करना 'देवानामपि दुर्लभा' - देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। अतः इस मुद्रा की महत्ता को अनुभव करें। इसका अभ्यास बड़ी सावधानीपूर्वक करें।

षष्ठ अध्याय

प्राणायाम-विज्ञान

कुम्भक आठ प्रकार के हैं:

(१) सूर्यभेद
(२) उज्जायी
(३) सीत्कारी
(४) शीतली
(५) भस्त्रिका
(६) भ्रामरी
(७) मूर्च्छा
(८) प्लावनी

कुछ पुस्तकों में प्लावनी-प्राणायाम को आठवाँ कुम्भक कहा गया है। कुछ में केवल-कुम्भक को आठवाँ प्रकार कहा गया है। यद्यपि कपालभाति षट्-कर्म से सम्बन्धित है, फिर भी मैंने इसका वर्णन यहाँ किया है; क्योंकि यह प्राणायाम-व्यायाम का ही एक भेद है।

प्राण वह वायु है, जो शरीर में संचालित होता है और जब इसे शरीर के भीतर रोक लिया जाता है, तो यह कुम्भक कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है- 'सहित' और 'केवल'। कोई भी व्यक्ति हठयोग के बिना राजयोग में पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। कुम्भक के अन्त में आपको अपने मन को सभी विषयों से हटा लेना चाहिए। धीरे-धीरे और निरन्तर अभ्यास से आप राजयोग में प्रतिष्ठित हो जायेंगे।

अभ्यास संख्या १

पद्मासन में बैठ जायें। अपने नेत्रों को बन्द कर लें और त्रिकुटी पर ध्यान जमायें। दायें नासिका छिद्र को अपने दायें हाथ के अँगूठे से बन्द कर लें।

अध्याय ३

मुद्रा और बंध

१. महा मुद्रा

गुदा द्वार को बाँय एड़ी से दबायें और दाँयें पैर को सीधा रखें। धीरे से आगे की ओर झुकें और हाथों से अपने दाँयें पंजे को पकड़ें। श्वाँस भीतर लें और रोक कर रखें। ठोढ़ी को वक्ष पर दबायें और जालंधर बंध लगायें।

दृष्टि को त्रिकुटि पर रखें। जितनी देर तक सरलता पूर्वक रोक सकें, श्वाँस को रोकें। तत्पश्चात् धीरे-धीरे सिर और शरीर को उठायें और श्वाँस को बाहर निकाल दें। इसी प्रकार इसे ४ से ६ बार दोहरायें। तत्पश्चात् विपरीत ओर से गुदा द्वार को दाँयें पैर की एड़ी से गुदा को दबा कर और बाँयें पंजे को पकड़ कर करें।

लाभ

यह क्षय, बवासीर, प्लीहा वृद्धि, अपच, जठरशोथ, कब्ज, ज्वर आदि को दूर करती है। इसके अभ्यास से जीवन काल में वृद्धि होती है। यह अभ्यासी को महान् सिद्धियाँ प्रदान करती है।

यह जानुशिरासन की तरह है, अंतर मात्र इतना है कि जानुशिरासन में आपको रेचक करके फिर झुकना होता है और सिर घुटनों तक पहुँचना चाहिए। यह थोड़ा-थोड़ा अर्ध पश्चिमोत्तानासन की भाँति है।

२. ताड़न क्रिया

पद्मासन में बैठ जायें। हथेलियों को भूमि पर जमा कर, इनके बल पर अपने शरीर को उठायें और नितंबों को जल्दी-जल्दी दस या बीस बार भूमि पर पटकें । अभ्यास के समय कुंभक लगाये रहें। इसे २ या ३ बार दोहरायें और इसकी संख्या में शनैः-शनैः वृद्धि करें। इस क्रिया को करने से कुंडलिनी शीघ्र जाग्रत होती है।

३. महा बंध

बाँयीं एड़ी को गुदा में अथवा कंद (गुदा से २ इंच ऊपर और जनन अंगों से २ इंच नीचे) के ऊपर लगायें। दोनों हाथ की उंगलियों को फंसा कर घुटने के ऊपर रखें और बंध त्रय (मूल बंध, उड्डियान बंध और जालंधर बंध) का अभ्यास करें। मूलाधार में सुषुम्ना पर धारणा करें। १० बार प्राणायाम का अभ्यास करें। तत्पश्चात् दाहिनी एड़ी को गुदा अथवा कंद पर रखें और बाँयाँ पैर दाहिनी जंघा पर रखें और बंध त्रय के साथ १० बार प्राणायाम करें। सामान्यतया योगी महा मुद्रा, ताड़न क्रिया, महा बंध और महा वेध करता है। यह एक अच्छा संयोजन है और ऐसा करने से ही अधिकतम लाभ प्राप्त होते हैं। महा बंध जरा और मृत्यु का नाश करता है और इसके अभ्यास से योगी की सभी इच्छायें पूर्ण होती हैं। इस बंध के लाभ बंध त्रय के समान ही हैं, लेकिन महा बंध शीघ्र कुंडलिनी जागरण करता है।

४. महा वेध

महा वेध ताड़न क्रिया एवं बंध त्रय का संयुक्त रूप है। महा बंध की स्थिति में बैठें। दोनों नासारंध्रों से श्वाँस भीतर लें और जालंधर बंध लगा कर श्वाँस को रोकें । अब हथेलियों को भूमि पर रखें, शरीर को उठायें और नितंबों को १० २० बार हल्के से भूमि पर पटकें। इसको करते समय आप पैरों को अपने स्थान से हिलने न दें। जैसे आप महा बंध में रखते हैं, उस तरह पैरों को गुदा पर रखने से आप संपूर्ण शरीर को वैसे का वैसा ही नहीं उठा सकते हैं। इसलिये महा वेध के लिये आप पद्मासन में बैठ सकते हैं। इसके अभ्यास से प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करता है। जब आपको थकान का अनुभव हो अथवा मूर्छा आने लगे तो अत्यंत धीरे-धीरे पूरक करें। प्रारंभ में प्रत्येक बैठक में मात्र एक बार इसे करें, बाद में धीरे-धीरे संख्या में वृद्धि करें। इसका अभ्यास अपने गुरु की उपस्थिति में करें। इसका अभ्यास ताड़न क्रिया और महा बंध के पश्चात् किया जाना चाहिए। यह शरीर की समस्त दुर्बलता को दूर करता है और कुंडलिनी का जागरण करता है।

५. योनि मुद्रा

सिद्धासन में बैठ जायें। गहरी श्वाँस ले कर कानों को दोनों अंगूठों से बंद कर लें। आँखों को दोनों तर्जनियों से, नासारंध्रों को मध्यमा उंगलियों से, ऊपरी ओंठ को अनामिका उंगली से तथा निचले ओंठ को कनिष्ठा उंगली से बंद करें।

यह जप करने के लिये उत्तम मुद्रा है। इसे बद्धयोनि मुद्रा कहते हैं। आपको इस मुद्रा की प्रविधि गुरु से प्रत्यक्ष रूप में सीखनी चाहिए। आपको छहों चक्रों तथा कुंडलिनी पर ध्यान करना चाहिए और साथ ही बीज मंत्र का जप और प्राणायाम करना चाहिए। इस मुद्रा को सफलता पूर्वक करने के लिये आपको ब्रह्मचर्य में पूर्ण स्थित होना चाहिए । "देवानामपि दुर्लभा " '—यह देवों के लिए भी अत्यंत दुर्लभ है। एक बार इस मुद्रा में सिद्धि प्राप्त करने के बाद योगाभ्यासी योग की उच्च अवस्था को प्राप्त करता है।

६. योग मुद्रा

पद्मासन में बैठ जायें। हाथों को घुटनों पर रखें। अब रेचक करें और तब तक आगे झुकें जब तक कि आपका सिर भूमि को स्पर्श न करने लगे। यदि आप इस आसन में लंबे समय तक रुकें तो आप सामान्य रूप से श्वाँस ले सकते हैं अथवा बैठी हुई स्थिति में आ जायें और पूरक करें। हाथों को एड़ियों पर रखने के स्थान पर आप उन्हें पीठ की ओर ले जायें और दायें हाथ से बाँयीं कलाई पकड़ें और फिर आगे की ओर झुकें। यह उदर अंगों के लिये बहुत अच्छी क्रिया है।

७. खेचरी मुद्रा

खेचरी मुद्रा में जिह्वा तथा मन आकाश में रहते हैं। 'ख' का अर्थ है आकाश और 'चरी' का अर्थ है चलना। अर्थात इस मुद्रा के अभ्यास से योगी आकाश में विचरण करता है।

इस मुद्रा का प्रारंभिक भाग है जीभ को लंबा करना। जीभ के निचले हिस्से को एक तेज धार वाले चाकू से बाल के बराबर मोटाई में काटा जाता है। आपको यह क्रिया एक ऐसे गुरु से सीखनी चाहिए जो खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते हैं। गुरु प्रति सप्ताह में एक बार जीभ का थोड़ा-थोड़ा भाग काटेंगे। जीभ के निचले भाग को सुन्न करने वाली दवा से संवेदना रहित किया जा सकता है। काटने के बाद उस पर कत्था, नमक और फिटकरी को एक समान मात्रा में मिला कर, इस चूर्ण का छिड़काव किया जा सकता है। यह रक्त स्राव को रोकता है तथा घाव को भरने में सहायता करता है और नमक कटे हुए हिस्से को जुड़ने से रोकता है। काटने की प्रक्रिया प्रति सप्ताह तब

तक निरंतर की जानी चाहिए जब तक कि जीभ की नोंक सरलता पूर्वक भ्रूमध्य स्थान तक न पहुँच जाये। कभी-कभी जिह्वा को कई बार काटना होता है और इसमें २ या ३ वर्ष भी लग जाते हैं। जिस दिन जीभ काटी जाती है, उस दिन अभ्यासी को मात्र दूध ही लेना चाहिए। अन्य दिनों में जीभ की ताजे मक्खन से मालिश करनी चाहिए और इसे दिन में कई बार बाहर खींचना चाहिए। इस प्रकार जीभ लम्बी की जा सकती है। यह मुद्रा का प्रारंभिक भाग है।

पद्मासन अथवा सिद्धासन में बैठ जायें। दृष्टि को त्रिकुटि में दोनों भौंहों के मध्य स्थिर रखें। जीभ को मोड़ें और इसे तब तक भीतर ले कर जायें जब तक कि जीभ की नोंक से नासारंध्रों का पिछला द्वार बंद न हो जाये। इस मुद्रा के अभ्यास से अभ्यासी मूर्छा, भूख, प्यास और आलस्य से मुक्त हो जाता है। उसके जीवन काल में वृद्धि हो जाती है। वह कई दिनों और महीनों तक श्वाँस को रोक सकता है। खेचरी मुद्रा करने वाले योगी स्वयं को भूमि के नीचे बंद करके ६ माह पश्चात् भी जीवित बाहर आ जाते हैं। प्राचीन काल में योगी इस मुद्रा की सहायता से वायु गमन किया करते थे।

८. मूल बंध

पद्मासन अथवा सिद्धासन में बैठ जायें। गुदा द्वार को संकुचित करें। और अपान वायु को ऊपर की ओर खींचें। अपान वायु जो कि मल को बाहर निकालने का कार्य करती है, उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नीचे की ओर जाने की है। मूल बन्ध के अभ्यास से गुदा द्वार को संकुचित करने से यह अपान वायु बल पूर्वक ऊपर की ओर खींची जाती है और इसे ऊपर की ओर ले जाया जाता है। यह मूल बन्ध कहलाता।

९. जालंधर बंध

नाभि में स्थित जठराग्नि तालु के छिद्र द्वारा सहस्रार चक्र से रिसने वाले अमृत का उपयोग कर लेती है। जालंधर बंध इस अमृत को नाभि में नहीं जाने देता। जालंधर बंध का अभ्यास पूरक के पश्चात् अर्थात श्वाँस रोकते समय (कुंभक) किया जाता है। जालंधर बंध के अभ्यास से प्राण बाहर नहीं जा पाता। कंठ को संकुचित करें और ठोढ़ी को दृढ़ता पूर्वक वक्ष पर दबायें। जब कुंभक की अवधि समाप्त हो जाये तो सिर उठा कर अपनी सामान्य स्थिति में ले आयें और सिर, गर्दन और धड़ एक सीध में करके तत्पश्चात् श्वाँस बाहर निकालें।

१०. उड्डियान बंध

उड्डियान शब्द संस्कृत के मूल 'उड' और 'डि' शब्द से आया है। जिसका अर्थ है उड़ना। जब इस बंध का अभ्यास किया जाता है तो प्राण सुषुम्ना के द्वारा ऊपर उड़ते हैं। इसलिये इसे उड्डियान कहा जाता है।

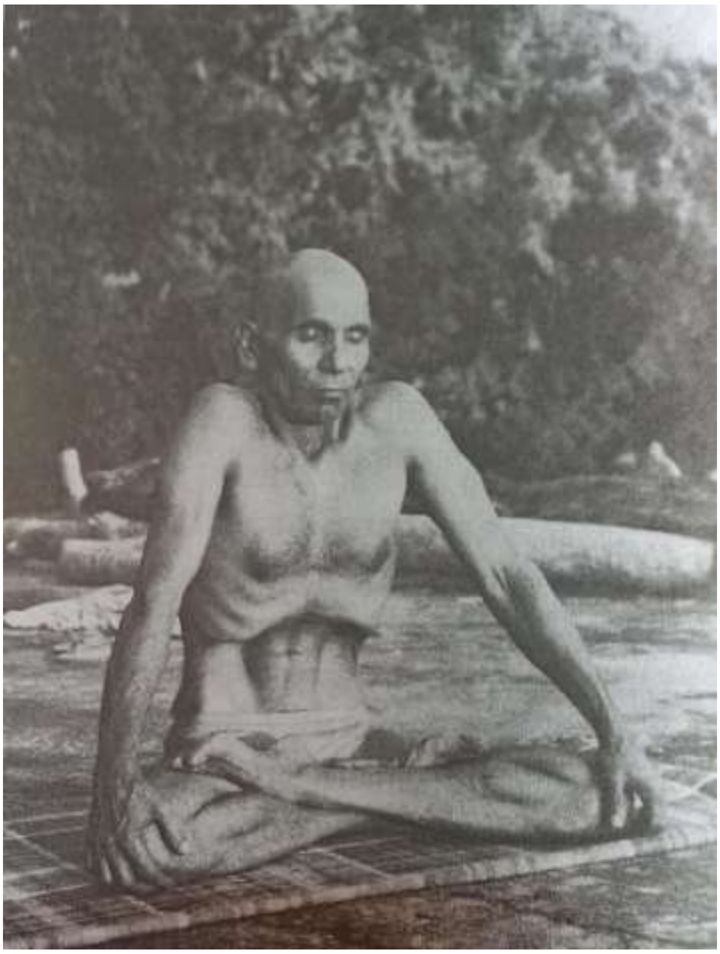

इसका अभ्यास कुंभक के अंत में तथा रेचक के प्रारंभ में किया जाता है। रेचक के समय पेट को थोड़ा पीछे की ओर खींचा जाता है। नाभि के ऊपर और नीचे की आँतें ऊपर की ओर खींची जाती हैं। पेट वक्ष गुहा में बहुत ऊपर पीठ की ओर रहता है। आप इसे प्राणायाम के अभ्यास के समय बैठे हुए अथवा पेट के व्यायाम की तरह खड़े-खड़े कर सकते हैं। इस बंध को ६ से ८ बार दोहरायें। उड्डियान नौलि क्रिया की प्रथम स्थिति है। नौलि क्रिया सामान्यतया खड़े हो कर की जाती है, जब कि उड्डियान बैठ कर भी किया जा सकता है। यह क्रिया ब्रह्मचर्य के पालन में बहुत सहायक है। यह अभ्यासी को सुंदर स्वास्थ्य, बल और शक्ति प्रदान करता है।

जब इसे नौलि के साथ संयुक्त कर दिया जाता है तो यह आमाशय हेतु शक्तिशाली शक्ति वर्धक का काम करता है। योगियों के लिये कब्ज, दुर्बल पाचन शक्ति तथा अन्य आँतों के विकारों से लड़ने के लिये नौलि और उड्डियान शक्तिशाली हथियार हैं। आप इन दोनों क्रियाओं द्वारा आँतों की सभी मांस पेशियों की मालिश कर सकते हैं। इस हेतु अन्य कोई भी क्रियायें इनकी बराबरी नहीं कर सकती हैं। उड्डियान सभी बंधों में सर्वश्रेष्ठ है। असाध्य रोगों में जहाँ सभी दवायें असफल हो जाती हैं वहाँ नौलि और उड्डियान अत्यंत शीघ्र प्रभाव डालते हैं और उनका उपचार करते हैं। नौलि का विवरण अगले पृष्ठ पर दिया जा रहा है।

११. बंध त्रय

यह मूल बन्ध, जालंधर बंध और उड्डियान बंध का संयुक्त रूप है। इसका अभ्यास सिद्धासन में बैठ कर प्राणायाम करते समय किया जाता है। सभी बंधों की प्रविधि अलग से पूर्व में ही दी जा चुकी है। बंध त्रय के लिए पूरक करते समय गुदा द्वार को संकुचित करें। यह मूल बन्ध है। कुंभक के समय ठोढ़ी से वक्षस्थल पर दबाव डाल कर जालंधर बंध लगायें, तत्पश्चात् सिर उठायें और रेचक करें और पेट को वक्ष गुहा में ऊपर की ओर खींचें । इसे उड्डियान कहते हैं । जब अपान ऊपर उठती है तो यह अग्नि मंडल में पहुँचती है, तत्पश्चात् वायु से प्रज्वलित हो कर अग्नि की ज्वाला ऊँची उठती है। गर्म अवस्था में अग्नि और अपान प्राण साथ एक होते हैं। इस अग्नि के द्वारा सोती हुई कुंडलिनी एक फुंफकार की ध्वनि के साथ जाग्रत हो जाती है तथा उस सर्प की भाँति सीधी हो जाती है जिसे छड़ी से पीटा जा रहा हो और यह ब्रह्मनाड़ी के छिद्र में प्रवेश कर जाती है।

प्रातः और सायंकाल बंध त्रय सहित १० अथवा २० प्राणायाम नित्य करें। सुख पूर्वक प्राणायाम में बताये अनुसार १:४: २ का अनुपात रखें और धीरे-धीरे प्रत्येक बैठक में प्राणायामों की संख्या में वृद्धि करते जायें।

श्वाँस को अपनी सामर्थ्य से अधिक रोकने का प्रयत्न न करें। अभ्यास में श्वाँस में अवरोध का तनिक भी अनुभव नहीं होना चाहिए। आपको पूरक, रेचक और कुंभक के मध्य इस प्रकार सामंजस्य स्थापित करना चाहिए कि आप समस्त १० अथवा २४ प्राणायाम सरलता पूर्वक और आराम से कर सकें। बंध त्रय पेट की चर्बी को अत्यंत शीघ्र घटाता है। इसके अभ्यास से कुंडलिनी अत्यंत शीघ्र जाग्रत होती है। इसके अभ्यास से मूल बंध, जालंधर बंध और उड्डियान बंध के सभी लाभ प्राप्त होते हैं।

१२. विपरीत करणी मुद्रा

जब यह मुद्रा प्रदर्शित की जाती है तो यह सर्वांग आसन के समान दिखाई देती है। हमारे शरीर के भीतर सूर्य नाभि के मूल में रहता है और चंद्रमा तालु के मूल में । वह क्रिया जिसके द्वारा इस सूर्य को ऊपर की ओर लाया जाता है और चंद्रमा नीचे की ओर, उसे विपरीत करणी मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा में सूर्य और चंद्रमा की स्थिति विपरीत हो जाती है।

भूमि पर लेट जायें। पैरों और जाँघों को धीरे-धीरे ऊपर की ओर 'उठायें। पैरों को सीधे रखें। पैरों को सहारा देने के लिए हथेलियों को कमर के पास रखें। स्थिर रहें। प्रथम दिन इसे मात्र एक मिनट तक करें, तत्पश्चात् धीरे-धीरे इसकी अवधि में वृद्धि करें। इसके अभ्यास से छह माह पश्चात् चेहरे की झुर्रियाँ अदृश्य हो जायेंगी। आप इसका अभ्यास प्रातःकाल २ घंटे और सायंकाल २ घंटे कर सकते हैं। आप इस मुद्रा में अपने इष्ट मंत्र का जप भी कर सकते हैं। जैसे ही मुद्रा समाप्त हो, आप एक प्याला दूध ले सकते हैं। शीर्षासन को भी विपरीत करणी मुद्रा कहते हैं।

१३. शक्तिचालन मुद्रा

वज्रासन में बैठ जायें दाहिने पैर की एड़ी को दाँयें हाथ से और बाँयें पैर की एड़ी को बाँये हाथ से पकड़ें। पैरों को जमाये रहें। अब नितंबों को उठा कर जितनी बार संभव हो पटकें। अंत में भस्त्रिका प्राणायाम कुंभक के साथ करें। थोड़ा विश्राम करें, तत्पश्चात् अपनी सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार इसे २ या ३ बार दोहरायें। आप इस मुद्रा का अभ्यास प्रातः और सायंकाल दोनों समय आधा से एक घंटे तक कर सकते हैं। इस अभ्यास से नाड़ियों में प्राण के प्रवाह का अनुभव होता है, नाड़ियाँ शीघ्र शुद्ध हो जाती हैं।

यह मुद्रा कुंडलिनी में स्पंदन करती है। सभी यौगिक क्रियाओं के अभ्यास के समय लंगोटी अथवा कौपीन अथवा छोटी पतली चड्डी पहने रहें, तभी आप उन्हें सरलता से कर पायेंगे।

१४. अश्विनी मुद्रा

वज्रासन अथवा पद्मासन में बैठ जायें। गुदा द्वार को कई बार संकुचित करें और विमोचित। यह कुंडलिनी शक्ति का जागरण करती है। कब्ज दूर करती है। आपको इसके अभ्यास से स्वाभाविक रूप से शौच जाने की इच्छा होगी। आपको खुल कर शौच होगा। मूल बन्ध में गुदा का मात्र संकुचन किया जाता है। अश्विनी मुद्रा में आपको इसे निरंतर संकुचित और विमोचित करते रहना पड़ता है। यही मूल बन्ध और अश्विनी अंतर है। मुद्रा में अंतर है ।

१५. तड़ागी मुद्रा

पश्चिमोत्तानासन में बैठ जाइये। पेट को भीतर करें। इसके लिये आपको रेचक करना होगा। अब पश्चिमोत्तानासन करें, फिर उड्डियान बंध लगायें । यह तड़ागी मुद्रा है। बाद में आप सीधे बैठ जायें और पूरक करें । आप इसे ४ से ६ बार कर सकते हैं। पश्चिमोत्तानासन और उड्डियान बंध के सभी लाभ इस मुद्रा से प्राप्त होते हैं। यह पेट का अच्छा व्यायाम है।

१६. भूचरी मुद्रा

पद्मासन अथवा सिद्धासन में बैठ जाइये। अपनी दृष्टि नासिकाग्र पर केंद्रित करें और गहन ध्यान में डूब जायें। यह भूचरी मुद्रा है।

१७. अगोचरी मुद्रा

मोम की गोली से अपने कानों को बंद कर लें। पद्मासन अथवा सिद्धासन में बैठ जाइये। गहन धारणा और ध्यान करें। इसके अभ्यास से आपको अनाहत ध्वनि सुनाई देगी। लंबे समय के पश्चात् बिना कानों को बंद किये भी आप अनाहत ध्वनि सुन सकेंगे।

१८. शांभवी मुद्रा

शांभवी मुद्रा तब आती है, जब लक्ष्य आंतरिक होता है और नेत्र स्थिर रहते हैं ।

दृष्टि को भ्रूमध्य में केंद्रित करें। आप स्वाभाविक रूप से ध्यान और समाधि में प्रवेश करेंगे। आपमें अंतरदृष्टि का विकास होगा। जो शांभवी मुद्रा का अभ्यास करता है, वह सच्चा योगी है। यह एक महत्वपूर्ण मुद्रा है।

१९. मंडूकी मुद्रा

मुँह को बंद कर लें। जिह्वा को तालु की ओर मोड़ें। सहस्रार से रिसने वाले अमृत का धीरे-धीरे पान करें। यह मंडूकी मुद्रा है। यह खेचरी मुद्रा का प्रारंभिक अभ्यास है। इस मुद्रा से शरीर को चिर-यौवन की प्राप्ति होती है।

२०. भुजंगिनी मुद्रा

गर्दन को थोड़ा आगे की ओर झुका कर, कंठ द्वार को बंद करें। ग्रासनली से वायु का पान करें। यह कुछ-कुछ प्लाविनी प्राणायाम की प्रारंभिक क्रिया की भाँति है। उड्डियान बंध करने से भीतर ली गयी वायु इसको करने से बाहर निकल जायेगी। यह क्रिया अपच तथा अजीर्ण हेतु उत्तम है।

२१. मातंगिनी मुद्रा

कंठ तक पानी में खड़े हो जायें। आप जल के एक बड़े टब का भी प्रयोग कर सकते हैं अथवा दोनों हाथों में जल भर लें और नासिका से जल को भीतर खींचें और इसे मुँह से बाहर फेंकें, यह व्युत कर्म है। तत्पश्चात् जल को मुँह से खींचें और इसे नासिका से बाहर निकालें। इसे शीत कर्म कहते हैं। इस क्रिया को दोहरायें। सर्दी-जुकाम,

नासाशोथ और नासिका के अन्य रोग इससे दूर होते हैं। जिनको सर्दी अत्यंत शीघ्र हो जाती है, वे इसके अभ्यास से सर्दी से पूर्णतया अप्रभावित रहते हैं। (अंत में 'स्वास्थ्य हेतु नासिका से जल पिएँ' शीर्षक में इस क्रिया को विस्तार से बताया गया है।)

२२. वज्रोली मुद्रा

राजा भर्तृहरि तथा बनारस के त्रिलंग स्वामी इस मुद्रा में सिद्ध हस्त थे। आपको इसे किसी ऐसे गुरु से सीखना होगा जो स्वयं इसका अभ्यास करते हों। वर्तमान में ऐसे बहुत कम लोग हैं जिनको इस मुद्रा का ज्ञान है। इसकी साधना के समय अभ्यासी एक चाँदी की नलिका को अपनी मूत्र नलिका में प्रवेश कराके उसके द्वारा जल खींचते हैं।

थोड़े अभ्यास के बाद वे इससे दूध खींचते हैं, तत्पश्चात् तेल और फिर शहद खींचते हैं। अंत में वे बिना नली की सहायता के पारा भी खींच लेते हैं। जो योगी इस मुद्रा का अभ्यास करता है, उसके वीर्य की एक बूँद भी बाहर नहीं निकल सकती है। योगी अपने वीर्य को ऊपर खींच कर इसे ओज शक्ति के रूप में संरक्षित रखता है। मूल बन्ध, महा बंध, महा मुद्रा, आसन और प्राणायाम वज्रोली मुद्रा में सहायक होते हैं। वज्रोली मुद्रा का अभ्यास गुरु के प्रत्यक्ष निर्देशन में किया जाना चाहिए।

अध्याय ४

क्रियाएँ

षट कर्म

(छह शोधन क्रियाऐं)

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

समय किसी प्रकार का कष्ट एवं पीड़ा का अनुभव न हो। क्योंकि अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते अधिक संख्या में प्राणायाम करते समय एक ही आसन पर बैठना पड़ता है, शरीर के किसी भाग में किंचित् पीड़ा से प्राणायाम का क्रम तथा मानसिक स्थिरता छिन्न-भिन्न हो जाती है। इसलिए साधक के लिए प्राणायाम आरम्भ करने से पूर्व उपर्युक्त आसन में से किसी भी एक आसन का भली प्रकार अभ्यास कर लेना अनिवार्य है। इस पुस्तक में प्राणायाम करने की विधि में कोई विशेष आसन का नाम नहीं देकर "यथाविधि आसन पर बैठ जायें" का उल्लेख किया गया है।

समय

प्राणायाम-अभ्यास का समय सूर्योदय से पूर्व ब्रह्ममुहूर्त्त (सूर्योदय से लगभग दो घण्टे पूर्व) एवं सूर्यास्त के ठीक पश्चात् उत्तम माना जाता है। अवश्य, उच्चतर साधना के अभ्यासी साधक मध्यरात्रि में भी कर सकते हैं। विशेष ग्रीष्मप्रधान देश में दिनमान में प्राणायाम अनुकूल नहीं रहता। शरीर में क्लान्ति तथा अवसाद आ जाता है। तदुपरान्त बाहर का वातावरण शान्त नहीं रहने के कारण एकान्तता भंग हो जाती है। साधारण स्वास्थ्य-सम्पन्न प्रथम अभ्यासकारी के लिए शरद और वसन्तऋतु उपयुक्त रहती हैं। ग्रीष्मऋतु में प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जीर्ण सर्दी, जुकाम, कफ़ और दमाग्रस्त लोग शीत, ग्रीष्म, शरद, वसन्त सब ऋतुओं में प्राणायाम का अभ्यास कर सकते हैं तथा एक बार ऋतु के अनुसार अभ्यास प्रारम्भ करने के उपरान्त सभी ऋतुओं में चालू रख सकते हैं।

स्थान

प्राणायाम करने के लिए एकान्तता अति आवश्यक है। पूर्णरूपेण कोलाहलरहित स्थान होना चाहिए। यहाँ तक कि

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्राणायाम करने के समय सूक्ष्म ध्वनि भी कान में सुनाई नहीं पड़े। पवित्र, स्वच्छ, दुर्गन्धहीन, असबाव आदि रहित, ऐसा निर्दिष्ट स्थान होना विधेय है जहाँ विशुद्ध वायु का सहज आवागमन हो सके। अथच वायु की तीव्रता भी न रहे। क्योंकि वायु की तीव्रता का आघात फुफ्फुस पर पड़ता है, इससे फुफ्फुस दुर्बल हो जाते हैं। विशेष प्राणायाम की सिद्धि के लिए अभ्यासी साधक को तो वायु की तीव्रता कभी-कभी घातक भी हो जाती है। अधिक देर तक प्राणायाम करने से शरीर बहुत हल्का हो जाता है तथा प्रचण्ड वायु द्वारा जीर्ण पत्र की भाँति साधक को आसन से गिरा देने की संभावना बनी रहती है।

क्रम

प्राण और अपान वायु का संतुलन अर्थात् नियंत्रित श्वास-प्रश्वास द्वारा अन्तर्शुद्धीकरण क्रिया ही प्राणायाम मानी जाती है। प्राणायाम वैज्ञानिक तत्त्वों पर आधारित होने के कारण नियम-शृंखला तथा क्रम में आबद्ध है। प्रत्येक प्राणायाम का क्रम है – १:४:२ अर्थात् श्वास लेने का चौगुना समय श्वास अन्दर रोकना और द्विगुण समय में श्वास बाहर निकालना। जैसे पाँच सेकण्ड में श्वास भरें तो बीस सेकण्ड तक अन्दर रोकें तथा दस सेकण्ड में प्रश्वास बाहर निकालें। इस श्वास-प्रश्वास लेने, रोकने और त्यागने को क्रमशः पूरक-कुम्भक-रेचक नाम से अभिहित किया गया है जिसका विवरण निम्न प्रकार है :–

श्वास ग्रहण – पूरक

ग्रहण के बाद रोकना – कुंभक (आन्तरिक)

प्रश्वास त्यागना – रेचक

प्रश्वास के बाद श्वास बाहर रोकना – बाह्य कुंभक

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पूरक, कुंभक और रेचक भी मात्रा अनुसार कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम तीन श्रेणियों में निम्न प्रकार विभाजित हैं :—

	पूरक मात्रा सेकण्ड अथवा गिनती में	कुंभक मात्रा सेकण्ड अथवा गिनती में	रेचक मात्रा सेकण्ड अथवा गिनती में
कनिष्ठ	४	१६	८
मध्यम	८	३२	१६
उत्तम	१६	६४	३२

साधक अपनी शक्ति के अनुसार क्रम निर्धारित करके प्राणायाम का आभ्यास प्रारम्भ करें एवं शनैः शनैः क्रमसंख्या बढ़ाते रहें। इससे प्राणायाम की संख्या बढ़ाने की शक्ति बढ़ जावेगी। अर्थात् उत्तम श्रेणी में पहुँच पावेंगे, जैसा कि उपर्युक्त विवरण में दिया गया है। साधक ध्यान रखें कि पूरक और कुंभक के समय या दोनों की पूर्ण स्थिति में पेट फूल कर बाहर की ओर न बढ़े, पेट स्वाभाविक स्थिति में ही रहे।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बन्ध

प्राणायाम के साथ मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध और उड्डियान-बन्ध, तीनों बन्ध भी संश्लिष्ट हैं। बिना बन्धों के प्राणायाम पूर्ण नहीं होता। प्रत्येक प्रकार के प्राणायाम के साथ मूलबन्ध और जालन्धरबन्ध लगा ही रहता है। प्राणायाम-विशेष के साथ उड्डियान सहित तीनों बन्ध एक साथ रहते हैं। यहाँ तीनों बन्धों का विवरण एवं उपयोगिता दी जा रही है। साधक गहरे अध्ययन के पश्चात् प्रयोग में लावें।

मूलबन्ध

यथाविधि आसन पर बैठकर मलद्वार (गुदा) और मूत्रेन्द्रिय (लिंग या योनि) को आन्तरिक बल-वेगपूर्वक संकुचन द्वारा अपानवायु के साथ ऊपर की ओर धीरे-धीरे खींचें। इससे उपर्युक्त दोनों द्वार बन्द हो जावेंगे। किन्तु ध्यान रहे कि खिंचाव का दबाव अंग के किसी अन्य भाग पर न पड़े। प्रायः देखा जाता है कि आन्तरिक बल प्रदान की अपेक्षा बाहर का बल ही प्रदत्त होता है जिससे उपर्युक्त दोनों बन्धों के ऊपर प्रभाव न पड़ कर सारे शरीर के ऊपर ही पड़ता है। शरीर ऊपर की ओर खिचा रहता है। मूलबन्ध का प्रयोग ऐसा होना चाहिए कि अन्य किसी को ज्ञात न हो। प्राणायाम के अतिरिक्त साधारण अवस्था में बैठ कर मूलबन्ध लगाते हुए बात भी कर सकते हैं। खड़े होकर भी मूलबन्ध लगाया जा सकता है। परन्तु इसके लिए प्रचुर मात्रा में अभ्यास की आवश्यकता है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मूलबन्ध लगाने के कारण दोनों द्वार बन्द हो जाते हैं। इससे दोनों द्वारों के उद्गम स्थान का व्यायाम हो जाता है तथा मूलबन्ध खुलते ही तीव्र गति से शुद्ध रक्त उपर्युक्त स्थान-समूह एवं नाड़ियों में प्रवेश करता है जिससे बवासीर, खूनी बवासीर, गुल्म (मस्सा) आदि मलद्वार संबंधी रोग नहीं होते। हो भी जायें तो ठीक हो जाते हैं। साधारणतः मूत्रेन्द्रिय का दवाव निम्नाभिमुखी होता है। किन्तु मूलबन्ध लगाने से इन्द्रिय-मूल का खिचाव ऊपर की ओर रहता है। इससे वीर्यवहा नाड़ी की गति ऊद्ध्र्वमुखी हो जाती है। कामशक्ति सीमित होती है। ब्रह्मचर्य पुष्ट होता है। स्वप्नदोष, प्रमेह, गनोरिया आदि गुप्त रोग निर्मूल होते हैं। क्लोम ग्रन्थि के ऊपर मूलबन्ध का दवाव भली भाँति पड़ता है जो कि मधुमेह रोग-निवारण में अतीव सहायक है। साथ ही स्त्रियों के अनियमित मासिक धर्म, अत्यधिक स्राव, प्रदर एवं जरायु संक्रान्त रोग दूर होते हैं। नियमपूर्वक अभ्यासियों (नारी वा पुरुष) को उपर्युक्त किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती। मूलबन्ध से प्राणवायु सुषुम्ना-वाही होती है।

प्राणायाम करते समय प्रारम्भ से अन्त तक मूलबन्ध लगा ही रहना चाहिये।

जालन्धरबन्ध

पूरक करके आँखें बन्द करते हुए ठुड्डी को कंठकूप में लगाकर श्वास रोकने की प्रक्रिया को जालन्धरबन्ध कहते हैं। इस प्रक्रिया से विशुद्ध चक्र तथा श्वासवहा नलिका का द्वार बन्द हो जाता है। इससे मस्तिष्क में वायु का आघात पहुंचना रुक जाता है। ज्ञानतन्तुओं का केन्द्रस्थल मस्तिष्क में होने के कारण ज्ञानतन्तु शक्तिसम्पन्न होते हैं। साथ-साथ कंठकूप से

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लेकर समग्र ग्रीवा प्रदेश पर उपयुक्त खिंचाव तथा प्रभाव पड़ता है। इससे उपर्युक्त स्थान-समूह की नस-नाड़ियों का पर्याप्त व्यायाम हो जाता है तथा थाइरोइड, पैरा थाइरोइड ग्रंथियाँ प्रभावित होती हैं; जिससे टांसिल, गलगंड, हंजिरा, कंठमाला, अस्पष्ट स्वर तथा गला पड़ना आदि दोष दूर होकर कंठ का स्वर सुरीला, मधुर और आकर्षक बन जाता है। जालन्धरबन्ध के साथ-साथ इड़ा-पिंगला नाड़ियाँ भी बन्द हो जाने के कारण प्राण सुषुम्नावाही होने में सहायता मिलती है।

रेचक करते समय ग्रीवा को धीरे-धीरे समावस्था में लाकर आँखें खोलकर जालन्धरबन्ध खोला जाता है।

विशेष सूचना

जालन्धरबन्ध लगाते समय साधक ध्यान रखें कि ग्रीवा सीधी रखते हुए केवल ठुड्डी ही कंठकूप से मिली रहे। असावधानी के कारण ग्रीवा झुकने से क्षति पहुंचने की संभावना है। ग्रीवा तथा इसकी नसनाड़ियों में सूजन एवं साथ-साथ मेरुदण्ड के मध्यवर्ती स्थान में वक्रता आ जाती है।

उड्डियानबन्ध

निर्दिष्ट समय तक कुंभक करने के पश्चात् रेचक करते-करते पेट को अन्दर की ओर खींचते हुए पूर्णतया मेरुदण्ड के साथ मिलाकर रखने को उड्डियानबन्ध कहा जाता है। पेट को अन्दर की ओर खड्डे की भांति बनाकर जितना अधिक खींचा जाता है उतना ही अच्छा रहता है। इस स्थिति में बाह्य कुंभक रखें। अर्थात् रेचक के पश्चात् श्वांस बाहर ही रोके रहें। इससे उड्डियानबन्ध अधिक समय तक रखने में अतीव सहायता मिलती है।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उड्डियानबन्ध में दोनों फुफ्फुसों का भी संकोचन हो जाता है। इससे फुफ्फुसों में प्रवाहित असंख्य नाड़ियाँ उत्तेजित होती हैं जिससे फुफ्फुस-कोष-समूह को शक्ति मिलती है। फुफ्फुस संक्रान्त रोग विशेषकर यक्ष्मा (टी. बी.) आक्रमण के प्रतिरोध करने में समर्थ रहकर शरीररूपी यन्त्र को सक्षम रखने में हृदय की सहायता करते रहते हैं।

पेट पूर्णतया अन्दर की ओर खिंचे रहने के कारण संपूर्ण उदर-गह्वर का व्यायाम हो जाता है जिससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है, कब्ज दूर होता है, उदर-वायुविकार (Gastric trouble) ठीक हो जाता है। आंतशूल, पेचिश, पेट की वादी आदि की निवृत्ति होती है तथा उदर संबंधी समस्त रोगों से मुक्त रहा जा सकता है। क्लोम ग्रन्थि के ऊपर भी उड्डियानबन्ध का दबाव पड़ता है जिससे मधुमेह (Diabetes) रोग के निवारण में सहायता मिलती है। तदतिरिक्त यकृत, प्लीहा, किडनी, मूत्राशय, मलाशय, क्षुद्रान्त्र, बृहदान्त्र, और अन्यान्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (Endocrine glands) को प्रभावित करके सतेज व कर्मक्षम करता है। उड्डियानबन्ध में वीर्यवहा नाड़ी पर भी प्रभाव पड़ता है। इससे उपर्युक्त नाड़ी की गति उद्र्ध्वमुखी होने लगती है। स्वप्नदोष, प्रमेह आदि गुप्त रोगों के निवारण में सहायता मिलती है।

प्राणवायु का प्रभाव भी ऊपर की ओर होने में सहायता मिलती है। तीनों बन्ध एक साथ लगाकर रहें तो शरीर की सहस्रों नाड़ियों का एक साथ परिमित व्यायाम हो जाता है। इससे तीनों बन्धों के स्थान-समूह एवं नाड़ियों के सभी दोष प्रशमित हो जाते हैं। नित्य अभ्यासी को किसी प्रकार का रोग होने की संभावना नहीं रहती। किन्तु तीनों बन्धों का अभ्यास

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By SIddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सुदृढ़ रूप में भली भाँति होना विधेय है। कोई भी बन्ध अप्रत्याशित रूप से अर्थात् झटके के साथ खोलना वर्जित है एवं बन्ध के समय शरीर में किसी प्रकार की हलचल या तनाव की स्थिति नहीं होनी चाहिए। शान्त समाहित चित्त होकर शरीर को सरल, स्वाभाविक स्थिति में रखकर तीनों बन्धों का प्रयोग करें।

CC-0, Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

नौलि-कर्म—

विधि—नौलि-कर्म उदर से किया जाता है। इसमें साधक को घुटने के बल झुककर उदरवर्ती नाड़ियों को जलभंवर (आवर्त) के समान अत्यन्त वेगपूर्वक दक्षिण तथा वाम पार्श्वों में क्रमशः घुमाना पड़ता है।[१]

फल—यह क्रिया मन्दाग्नि को प्रदीप्त करती है। अन्नादि को अच्छी प्रकार से पचाती है और साधक को सदा प्रसन्नचित्त रखती है। यह उदर-सम्बन्धी रोग, उदर की स्थूलता, आतों का विकार, कब्ज, उदरपीड़ा आदि की अचूक औषधि है। धौती आदि क्रियाओं में यह मूर्द्धन्य है; क्योंकि अन्य कतिपय क्रियाओं में इसका उपयोग होता है।[२]

कपालभाति-कर्म—

विधि—कपालभाति-क्रिया रेचक तथा पूरक प्राणायाम के समीप की है। इसमें यथेष्ट आसन लगाकर अभ्यासी लोहकार की धौंकनी के समान अत्यन्त शीघ्रता से रेचक तथा पूरक प्राणायाम करता है। इसमें एक नासिका-रन्ध्र से वायु को भीतर खींचकर दूसरे नासिका-विवर से उसे तुरन्त निकालने का विधान है।[३]

फल—कपालभाति-कर्म के अभ्यासी को कफ से उत्पन्न होने वाले विकार व्यथित नहीं करते हैं।[४] यह प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी-जागरण में सहायक होता है।

मुद्राएँ—

मुद्रा की संख्या—आचार्य **नारायणतीर्थ** के अनुसार मुद्राएँ नौ हैं—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, शक्तिचालन, मूलबन्ध, उड्डीयान, जालन्धरबन्ध तथा विपरीतकरणी।

महामुद्रा—

विधि—अभ्यासी सर्वप्रथम दोनों टाँगे फैलाकर बैठे। तदनन्तर वाम (बाएँ) पाद को मोड़े। इस मुड़े हुए बाएँ पैर से गुदा और मेढ़्र के मध्य भाग में स्थित सीवनी को भली-भाँति पीड़ित करे अर्थात् दबाए। प्रसारित दाएँ (दक्षिण) पैर को दोनों हाथों से पकड़े। तदनन्तर शरीर के नौ द्वारों (छिद्रों) को अपने अधीन करके आगे झुके और चिबुक (ठोड़ी) को हृदयप्रदेश से लगाए (स्पर्श कराए)। इस प्रकार की मुद्रा (आकृति) बन

---

१ आनन्दा (अमंदा)-वर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्ययोः।
नलांशो (नतांसो) भ्रामयेदेषा नौली योगे प्रचक्षते ॥
—यो० सि० चं० पृ० ६९।

२ मन्दाग्निसन्दीपनपाचकाग्निसन्धायि (पि)-कानन्दकरी तथैव।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रिया मौलिनीयं हि नौली ॥
—यो० सि० चं० पृ० ६९।

३ भस्त्रेव लोहकाराणां रेचपूरौ ससंभ्रमौ। —यो० सि० चं० पृ० ६९।

४ कपालभाती विख्याता कफदोषप्रदाहिनी ॥ —यो० सि० चं० पृ० ६९।

जाने के पश्चात् प्राणवायु पर नियन्त्रण रखा जाता है। इस प्रकार बाएँ पैर से महा-मुद्रा का अभ्यास करके पुनः दक्षिण (दाएँ) पैर से यह मुद्रा की जाती है।[1]

फल—गुरु द्वारा उपदिष्ट महामुद्रा का स्थिर चित्त से अभ्यास करने से साधारण योगी भी सिद्ध पुरुष बन जाता है। इसका पौनःपुन्येन अभ्यास करने से जठराग्नि प्रज्वलित होती है और शरीर के समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं। महामुद्रा की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इससे बिन्दु स्थिर होता है और कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत् होकर सुषुम्ना नाड़ी के सहारे ऊपर की ओर उठती हुई ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट होती है। इस प्रकार प्राणोत्थान और कुण्डलिनी-जागरण में इसका विशेष उपयोग है।

महाबन्ध-मुद्रा—

विधि—सर्वप्रथम साधक दोनों पैरों को विस्तीर्ण कर एक पैर (दक्षिण चरण) को दूसरे (वाम) पैर के उरुप्रदेश पर स्थिर करे। तदनन्तर गुदा एवं योनि का आकुञ्चन करके (सिकोड़कर) अपानवायु को ऊर्ध्वमुखी करके समानवायु के साथ मिलाए और प्राण को अधोमुखी करे।[2] ऐसा करने से महाबन्ध-मुद्रा सिद्ध होती है।

फल—इस प्रकार का अभ्यास करने से प्राण तथा अपानवायु ऊर्ध्वगामी हो जाते हैं। अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और नाड़ियों का रससमूह ऊपर की ओर प्रवाहित होने लगता है।[3]

महावेध-मुद्रा—

विधि—महावेध-मुद्रा सिद्ध करने के लिए सर्वप्रथम महाबन्ध-मुद्रा लगायी जाती है। इस प्रकार महाबन्ध-मुद्रा में स्थित साधक योगशास्त्रोक्त विधि से पूरक-प्राणायाम द्वारा बाह्य-वायु का पूरण करके प्राणादि वायुओं की ऊर्ध्व-अधःप्रदेश प्रवहणशीलता को कण्ठ-मुद्रा के द्वारा (कुम्भक-प्राणायाम के द्वारा) निरुद्ध करे। तदनन्तर भूमि पर स्थापित हथेलियों के आश्रय से वाम पाद के सहित स्फिच (नितम्ब) को ऊपर की ओर उठाकर दूसरे

---

[1] अपसव्येन संपीडच पादमूलेन सादरम्।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम्॥
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन तु।
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि॥
······वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाऽभ्यसेत् पुनः।—यो० सि० चं० पृ० ६९-७०।

[2] योऽस्यां (ततः) प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि।
गुदयोनी समाकुञ्च्य नीत्वा चापानमूर्ध्वगम्॥
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम्।
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थमपानप्राणयोः सुधीः॥
कथितोऽयं महाबन्धः·········—यो० सि० चं० पृ० ७०।

[3] ············सर्वसिद्धिप्रदायकः।
नाडीगलद्रसव्यूहमूर्ध्वं नयति योगिनः।—यो० सि० चं० पृ० ७०।

चरण से उसे (नितम्ब) ताड़ित करे। इस प्रकार वाम पाद से स्फिच को पीड़ित करने पर प्राणवायु इडा तथा पिंगला नाड़ियों में प्रवाहित होना छोड़कर केवल सुषुम्ना नाड़ी में ही प्रवाहित होने लगता है। फलस्वरूप चन्द्रमा, सूर्य तथा अग्निदेवता से अधिष्ठित इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना—ये तीन नाड़ियाँ एकत्रित हो जाती हैं। अर्थात् तीनों नाड़ियों का वायु एक हो जाता है। किन्तु इडा और पिंगला नाड़ियों को त्यागकर जब प्राणवायु केवल सुषुम्ना नाड़ी में प्रवाहित होता है तब मृतावस्था सी उत्पन्न होने लगती है। क्योंकि इडा और पिंगला नाड़ियों में वायु का जो संचरण है, वही जीवन है। अतः ऐसी दशा आते ही साधक पूरितवायु का रेचन (त्याग) करे। महावेध-मुद्रा साधने की यही प्रक्रिया है।[1]

फल—महावेध-मुद्रा के अभ्यास से आयु की वृद्धि होती है। अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वृद्धावस्था में शरीर झुरियों से आक्रान्त नहीं होता है। केश शीघ्र श्वेत नहीं होते और अभ्यासी का देह शीघ्र दुर्बल होकर काँपने नहीं लगता है।[2]

खेचरी-मुद्रा—

विधि—खेचरी-मुद्रा में छेदन, चालन और दोहन—इन तीन क्रियाओं द्वारा जिह्वा को इतना लम्बा किया जाता है कि पश्चिम की ओर प्रत्यावर्तित करने पर वह नाड़ियों के मार्ग—(कपाल के मध्य भाग में स्थित छिद्र)—को स्पर्श कर सके और आगे की ओर से भ्रुकुटियों के मध्यभाग को स्पर्श करने में समर्थ हो सके। जिह्वा को लम्बा करने की प्रथम विधि (छेदन) में जिह्वा के निचले तथा पतले तन्तू को थोड़ा-थोड़ा प्रतिदिन काटा जाता है। इसमें शीघ्रता करना अनुचित है, अन्यथा गूंगा होने की सम्भावना रहती है। चालन-क्रिया में हाथ के अँगूठे और तर्जनी अंगुली से जिह्वा को पकड़कर दाईं-बाईं ओर घुमाया जाता है और दोहन क्रिया में दोनों हाथों के अँगूठे और तर्जनी से गाय के थन के समान जीभ के दोनों पार्श्वों को दोहना पड़ता है अर्थात् जिह्वा को धीरे-धीरे खींचना पड़ता है। स्कन्दपुराण में खेचरी-मुद्रा सिद्ध करने का यही प्रकार बतलाया गया है।[3]

---

[1] महावेधं (महाबन्धं) स्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधा।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥
समहस्तयुगो भूमौ स्थितौ संताडयेच्छनैः।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥
सोमसूर्याग्निसन्धानं जायते ······—यो० सि० चं० पृ० ७०।

[2] ············चामृतायते—यो० सि० चं० पृ० ७०।
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥—यो० सि० चं० पृ० ७०-७१।

[3] कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निगद्यते ॥—स्कन्दपुराण, यो० सि० चं० पृ० ७१।

फल—जो साधक खेचरी-मुद्रा के द्वारा लम्बी हुई जिह्वा को तालु के ऊपरी भाग में स्थित छिद्र से क्षण भर का स्पर्श कराने में समर्थ होता है, वह वात-पित्त-कफ धातुओं की विषमतारूप व्याधि, प्राण और देह के वियोगरूप मरण और वृद्धावस्था की जीर्णता से दूर रहता है और सर्प, विच्छू आदि की विषमयी भेदन-क्रिया उस पर प्रभाव नहीं डालती। खेचरी-मुद्रा से तालु (लम्बिका) के ऊपरी छिद्र को आवृत कर लेने पर कामिनी के स्पर्श आदि से साधक का बिन्दु (वीर्य) क्षरित नहीं होता अर्थात् बिन्दु अपने मस्तिष्क स्थान से नहीं गिरता है और यदि चलायमान हुआ बिन्दु योनिपर्यन्त पहुँच भी जाय तो भी योनि-मुद्रा (वज्रोली-मुद्रा) से नियन्त्रित बिन्दु आकर्षण-शक्ति से ऊपर की ओर खिंचा हुआ होकर सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से ऊर्ध्वगामी हो जाता है।[1]

शक्तिचालन मुद्रा—

विधि—अभ्यासी मूलाधार-चक्र के कमल पर सुप्त कुण्डलिनी-शक्ति को अपानवायु से भूयोभूयः आकृष्ट करे। यही शक्तिचालन मुद्रा है।[2]

फल—जो साधक प्रतिदिन शक्तिचालन-मुद्रा का अभ्यास करता है, उसकी जठराग्नि प्रदीप्त होती है वह रोग से मुक्त रहता है तथा चिरकाल से मूलाधार-चक्र में सुप्त उसकी कुण्डलिनी-शक्ति अपने सर्पाकार रूप को छोड़कर सुषुम्ना-नाड़ी की सहायता से ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है।[3] अतः अणिमादि सिद्धियों के अभिलाषी को शक्तिचालन-मुद्रा का सर्वदा प्रयास करते रहना चाहिए।

मूलबन्ध-मुद्रा—

विधि—साधक गुदामार्ग को सङ्कुचित करके पादमूल (एड़ी) से उसे ताड़ित करे। तदनन्तर अपानवायु की अधोगमनशीलता को बलपूर्वक रोककर उसे ऊर्ध्वमुखी बनाए, जिससे अपानवायु का प्राणवायु के साथ संयोग हो सके। ऐसा करने से मूलबन्ध-मुद्रा सिद्ध होती है।[4]

फल—यह बन्ध जरा-मरण का नाशक है अर्थात् इसके अभ्यास से साधक स्वस्थ एवं दीर्घायु प्राप्त करता है। यह जठराग्नि को प्रदीप्त करके अपच के कारण सम्भाव्यमान रोगों को शक्ति नहीं पकड़ने देता है।

---

[1] रसं समूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति।
विषयै (विषै) र्मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः॥
खेचर्य्या मुद्रितं येन विवरे लम्बिकोर्ध्वतः।
……… ………निरुद्धो योनिमुद्रया॥—यो० सि० चं० पृ० ७१।

[2] आधारकमले…… ……समभ्यसेत्—यो० सि० चं० पृ० ७१।

[3] विहाय मुद्रां भुजगीं स्वयमूर्ध्वं भवेत् खलु—यो० सि० चं० पृ० ७१।

[4] पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयन्त्रितम्।
बलादपानमाकृष्य बलादूर्ध्वं समभ्यसेत्॥—यो० सि० चं० पृ० ७१-७२।

उड्डीयान-मुद्रा--

विधि—वज्रासन लगाकर साधक दोनों हाथों से दोनों पैरों को पकड़े। गुल्फ प्रदेश के समीप उदर को लाकर उसे पीड़ित करे। ऐसा करने से उड्डीयान-मुद्रा लगती है।[१]

फल—इसका छः माहपर्यन्त निरन्तर अभ्यास करने से साधक मृत्युंजयी हो जाता है। प्रतिदिन चार बार अभ्यास करने से नाभिप्रदेश में स्थित साधक का नाभि-चक्र शुद्ध हो जाता है। फलतः चक्र का वायु-तत्त्व उसके अधीन हो जाता है।

जालन्धर-बन्ध—

विधि—देवताओं से भी दुष्प्राप्य जालन्धर-बन्ध के लिए साधक कण्ठ से शिराजाल (नाड़ि-समूह) को बाँधकर अर्थात् कण्ठ के छिद्र को संकुचित करके चिबुक को हृदय प्रदेशपर्यन्त ले जाकर दृढ़रीति से स्थिर रखे। ऐसा करने से जालन्धर-बन्ध सिद्ध होता है।[२] हठयोगप्रदीपिका में 'जालन्धर'--पद का अर्थ करते हुए लिखा है—जो शिराओं (नाड़ियों) के समूहरूप जाल को बाँधता है और कपाल के छिद्ररूप नभ में स्थित जल को नियन्त्रित रखता है, उसे जालन्धरबन्ध कहते हैं; क्योंकि जाल नाम समुदाय एवं जलसमूह का है।

फल—जालन्धर-बन्ध का विजयी योगज-ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

विपरीतकरणी-मुद्रा--

विधि—नाम से ही प्रतीत होता है, जिसमें पदार्थों की दिशा का व्युत्क्रम (स्थानान्तरण) किया जाता है, उसे विपरीतकरणी-मुद्रा कहते हैं। विपरीतकरणी-मुद्रा सिद्ध करने का प्रकार यह है—ऊपर पैर और नीचे सिर करने से जब साधक के ऊर्ध्व भाग में नाभि और अधोभाग में तालु स्थिर हो जाता है और ऊपर के भाग में अग्निरूप सूर्य और अधोभाग में अमृतरूप चन्द्रमा आ जाते हैं, तब विपरीतकरणी-मुद्रा सिद्ध होती है।[३]

फल—इस मुद्रा का फल समस्त रोगों का समूलोन्मूलन करना है।

इस प्रकार शरीर के बाह्य एवं आन्तरिक अङ्गों को शुद्ध एवं परिपुष्ट रखने के लिए कर्मयोग का अनुशीलन अत्यावश्यक है। इससे धारणा के साक्षात् अङ्ग प्राणायाम को सिद्ध करके साधक उसे राजयोग-प्राप्ति का साधन बना सकता है।

कर्मयोग के प्रसङ्ग में नारायणतीर्थ की देन—पातञ्जल-योगसूत्र के व्याख्याग्रन्थों में कर्मयोग की चर्चा नहीं मिलती है। शास्त्रों के गम्भीर अध्येता एवं योगसिद्ध आचार्य **नारायणतीर्थ** ने अष्टाङ्गयोग के प्रसङ्ग में कर्मयोग की उपयोगिता युक्तिपूर्वक बतलाते हुए

---

१ सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम्।
गुल्फदेशसमीपे च उदरं तत् प्रपीडयेत्॥ —यो० सि० चं० पृ० ७२।

२ बद्ध्वा गले शिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्।
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः॥ —यो० सि० चं० पृ० ७२।

३ ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्ध्वभानुरधःशशी।
करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी॥—यो० सि० चं० पृ० ७२।

उसका स्वरूप एवं स्थान निर्धारित किया है। अतः कर्मयोग के सन्दर्भ में **नारायणतीर्थ** का विशेष स्थान है।

प्रत्याहार—शरीर-प्रधान आसन तथा वायु-प्रधान प्राणायाम की साधना पूर्ण होने के पश्चात् साधक के लिए इन्द्रिय-प्रधान प्रत्याहार का सोपान प्रशस्त होता है। चंचल घोड़ों की भाँति वेगवान् इन्द्रियाँ मोहनीय, रञ्जनीय एवं कोपनीय विषयों की ओर भागती रहती हैं। प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों की बाह्य-विषयाभिमुखता अवरुद्ध की जाती है। **'प्रति'** (प्रतीप) तथा **'आ'**—उपसर्गपूर्वक **'हृ'** धातु से निष्पन्न 'प्रत्याहार' पद के—विरुद्ध मार्ग से खींचना—अर्थ से भी उपर्युक्त आशय स्पष्ट है। योग-साधना के प्रथम सोपान से ही साधक की इन्द्रियाँ उसके वश में रहने लगती हैं, लेकिन इन्द्रियनिग्रह प्रथम चार सोपानों का साक्षात् फल नहीं है। वह प्रत्याहार का साक्षात् फल है। इसी अभिप्राय से प्रत्याहार को इन्द्रियनिग्रह-प्रधान कहा गया है।[१]

प्रत्याहार के माहात्म्य से निगृहीत इन्द्रियाँ चित्त के अनुरूप हो जाती हैं।[२] योगी के ध्यान की अवस्था में चित्त की भाँति निगृहीत इन्द्रियाँ भी ध्येयाकारवती हो जाती हैं तथा चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियाँ भी स्वतः (प्रयत्न के विना) निरुद्ध हो जाती हैं। इसलिए जितेन्द्रिय योगी की इन्द्रियाँ चित्त का अनुकरण करने वाली कही गयीं हैं। यदि वे राजा के सेवक अथवा रानी मधुमक्खी की सहकारी मधुमक्खियों के समान चित्त के अधीन रहकर कार्य न करें तो साधक धारणा आदि नहीं कर सकता। विष्णुपुराण में भी प्रत्याहार का यही स्वरूप वर्णित हुआ है।[३]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि पातञ्जल-योग में प्रत्याहार इन्द्रिय का धर्म है। **नारायणतीर्थ** ने योगसिद्धान्तचन्द्रिका में **योगियाज्ञवल्क्य** के श्लोकों द्वारा प्रत्याहार की इन्द्रिय तथा प्राणवायुविषयक द्विविध मार्गीय-साधना उपन्यस्त की है।[४] वस्तुतः पातञ्जल-योग में प्राणवायुविषयक प्रत्याहार प्राणायाम के अन्तर्गत है।

---

[१] प्रत्याहार इन्द्रियधर्म इति—यो० वा० पृ० २७८।

[२] स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः—यो०सू०२।५४।

[३] शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः॥
वश्यता परमा तेन जायते निष्कलात्मनाम्।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः—वि० पु० ६।७।४३, यो० वा० पृ० २७७।

[४] अष्टादशसु यद्वायोर्मर्मस्थानेषु धारणम्।
स्थानात् स्थानात् समाकृष्य प्रत्याहारो निगद्यते।
संपूर्य कुम्भवद्वायुमङ्गुष्ठान्मूर्ध्नि मध्यतः।
धारयत्यनिलं बुद्ध्या प्राणायामप्रचोदितः॥
व्योमरन्ध्रात् समाकृष्य ललाटे धारयेत् पुनः।
ललाटाद्वायुमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत्॥

दर्द मालूम हो तो उस अङ्गपर नरम कपड़ा रखकर बैठना चाहिये। यदि अधिक पीड़ा हो तो रतनजोतके तेलकी मालिश कर सकते हैं। एक आसनसे जप ३ घंटे ३६ मिनटतक बिना हिले-डुले सुखपूर्वक बैठा जा सके, तब उस आसनकी सिद्धि समझनी चाहिये। आरम्भमें बीचमें दो-एक बार आसनको बदल सकते हैं। आसनको दृढ़ करनेका सरल उपाय यह है कि जब बैठनेका अवसर मिले उसी एक आसनसे बैठनेका यत्न करे। जो अभ्यासी स्थूल अथवा विकारी शरीर होनेके कारण उपर्युक्त आसनोंसे न बैठ सकें, वे अर्द्धपद्म, अर्द्धसिद्ध अथवा किसी सुखासनसे तथा दीवारका सहारा लेकर बैठ सकते हैं; पर मेरुदण्डको सीधा तथा कमर, गर्दन और सिरको समरेखामें रखना अति आवश्यक है। प्रथम तीन—अर्थात् स्वस्तिक, सिद्ध और सम आसनोंमें हाथोंको उलटा करके घुटनोंपर रखना अथवा ज्ञानमुद्रासे बैठना लाभदायक है। दोनों हाथोंकी कलाईको घुटनोंपर रखकर तर्जनी अर्थात् अँगूठेके पासकी अँगुली तथा अँगूठेको एक-दूसरेकी ओर फेरकर दोनोंके सिरे आपसमें मिलाने और शेष अङ्गुलियोंको सीधा फैलाकर रखनेको ज्ञानमुद्रा कहते हैं। अन्य तीन अर्थात् पद्म, बद्धपद्म तथा वीरासनमें दोनों हाथोंको उठाकर सीनेसे लगाये रखना हितकर है। सब आसनोंमें बायाँ हाथ एड़ियोंके ऊपर सीधा रखकर उसी प्रकार दायाँ हाथ उसके ऊपर रखकर अथवा जिसमें सुगमता प्रतीत हो उस विधिसे हाथोंको रखकर बैठ सकते हैं। मुखको पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी ओर करके बैठना चाहिये।

अभ्यासपर बैठनेसे तीन घंटे पूर्व कुछ न खायँ। बैठनेके लिये एक चौकी होनी चाहिये, जो न अधिक ऊँची हो और न अधिक नीची हो। चौकीके ऊपर कुशासन, उसके ऊपर ऊनका आसन, उसके ऊपर रेशम या (उसके अभावमें) सूतका वस्त्र होना चाहिये। अहिंसामें निष्ठा रखनेवाले अभ्यासियोंको किसी प्रकारके चर्मको आसनके रूपमें प्रयोग न करना चाहिये। देश-काल और परिस्थितिको दृष्टिमें रखते हुए किसी-किसी स्मृतिमें मृगचर्मकी व्यवस्था दी गयी है; किंतु वर्तमान समयमें उत्तम-से-उत्तम ऊनी आसन सुगमतासे प्राप्त हो सकते हैं और निरपराधी पशुओंकी हिंसा अधिकतर चर्मप्राप्तिके उद्देश्यसे ही की जाती है।

विशेष वक्तव्य— ॥ सूत्र ४६ ॥ अभ्यास ऐसी कोठरी या कमरेमें करना चाहिये, जो शुद्ध, शान्त, एकान्त और निर्विघ्न हो। हर प्रकारके शोरगुल, मच्छर, पिस्सू और पील आदिसे रहित हो। अभ्याससे पहले अथवा पीछे हवन अथवा घृतके साथ धूप-दीप आदि सुगन्धित वस्तुओंके जलानेसे उसको सुगन्धित रखना चाहिये। नदीतट अथवा पाँच हजार फीटसे अधिक ऊँचाईवाले पहाड़ी स्थानोंका वायुमण्डल शुद्ध और भजनके लिये अधिक उपयोगी होता है। गरम मैदानवाले स्थानोंमें शरद् और वसन्त-ऋतुमें भजन अच्छा हो सकता है। पहाड़ोंमें अथवा जमीनमें खुदी हुई गुफा समाधि लगानेके लिये अति उत्तम है; किंतु उसमें सील किंचिन्मात्र भी न होने पावे और शुद्ध हो। योगाभ्यासमें खान-पानमें संयम रखना अति आवश्यक है और शरीर तथा नाड़ीशोधनसे शीघ्र सफलता प्राप्त होती है, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन इस पादके प्रथम तथा ३२ वें सूत्रके विशेष विचारमें कर दिया गया है। यहाँ शरीरके सूक्ष्म; सात्त्विक, शुद्ध, स्वस्थ, नीरोग, आसनको दृढ़ और ध्यानको स्थिर करने तथा कुण्डलिनीको जाग्रत् करनेवाले कुछ उपयोगी बन्ध-मुद्राएँ और आसन बतलाये देते हैं—

१ मूल-बन्ध—मूल गुदा एवं लिङ्ग-स्थानके रन्ध्रको बंद करनेका नाम मूल-बन्ध है। वाम

पादकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ़ लगाकर गुदाको सिकोड़कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिङ्ग एवं कन्दके बीचके भागको दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपानवायुको बलके साथ धीरे-धीरे ऊपरकी ओर खींचनेको मूल-बन्ध कहते हैं। सिद्धासनके साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनोंके साथ एड़ीको सीवनीपर बिना लगाये हुए भी मूल-बन्ध लगाया जा सकता है।

फल—इससे अपानवायुका ऊर्ध्व-गमन होकर प्राणके साथ एकता होती है। कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपरकी ओर चढ़ती है। कोष्ठबद्ध दूर करने, जठराग्निको प्रदीप्त करने और वीर्यको ऊर्ध्वरेतस् बनानेमें यह बन्ध अति उत्तम है। साधकोंको न केवल भजनके अवसरपर किंतु हर समय मूलबन्धको लगाये रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

२ उड्डीयान-बन्ध—दोनों जानुओंको मोड़कर पैरोंके तलुओंको परस्पर भिड़ाकर पेटके नाभिसे नीचे और ऊपरके आठ अंगुल हिस्सेको बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढकी हड्डीसे) ऐसा लगा दे जिससे कि पेटके स्थानपर गड्ढा-सा दीखने लगे। जितना पेटको अंदरकी ओर अधिक खींचा जायगा उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षीके सदृश सुषुम्णाकी ओर उड़ने लगता है, इसलिये इस बन्धका नाम उड्डीयान रखा गया है। यह बन्ध पैरोंके तलुओंको बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है।

फल—प्राण और वीर्यका ऊपरकी ओर दौड़ना, मन्दाग्निका नाश, क्षुधाकी वृद्धि, जठराग्निका प्रदीप्त और फेफड़ेका शक्तिशाली होना।

३ जालन्धर-बन्ध—कण्ठको सिकोड़कर ठोडीको दृढ़तापूर्वक कण्ठकूपमें इस प्रकार स्थापित करे कि हृदयसे ठोडीका अन्तर केवल चार अंगुलका रहे, सीना आगेकी ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठस्थानके नाडी-जालके समूहको बाँधे रखता है, इसलिये इसका नाम जालन्धर-बन्ध रखा गया है।

फल—कण्ठका सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कण्ठके सङ्कोचनद्वारा इडा, पिङ्गला नाड़ियोंके बंद होनेपर प्राणका सुषुम्णामें प्रवेश करना।

लगभग सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्धके साथ किये जाते हैं। राजयोगमें ध्यानावस्थामें जालन्धर-बन्ध लगानेकी बहुत कम आवश्यकता होती है।

४ महाबन्ध—पहली विधि—बायें पैरकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें जमाकर बायीं जङ्घाके ऊपर दाहिने पैरको रख, समसूत्रमें हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्रसे वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे। फिर मूलद्वारसे वायुका ऊपरकी ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगावे। मनको मध्य नाड़ीमें लगाये हुए यथाशक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् पूरकके विपरीतवाली नासिकासे धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार दोनों नासिकासे अनुलोम-विलोम-रीतिसे समान प्राणायाम करे।

दूसरी विधि—पद्म अथवा सिद्धासनसे बैठ, योनि और गुह्यप्रदेश सिकोड़, अपानवायुको ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान-वायुके साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायुको अधोमुख करके प्राण और अपानवायुओंके साथ नाभिस्थलपर दृढ़रूपसे कुम्भक करे।

फल—प्राणका ऊर्ध्वगामी होना, वीर्यकी शुद्धि, इडा, पिङ्गला और सुषुम्णाका सङ्गम प्राप्त होना, बलकी वृद्धि इत्यादि।

५ महावेध—पहली विधि—महाबन्धकी प्रथम विधिके अनुसार मूलबन्धपूर्वक कुम्भक करके, दोनों हाथोंकी हथेली भूमिमें दृढ़ स्थिर करके, हाथोंके बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों (चूतड़) को शनैः-शनैः ताड़ना देवे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इडा, पिङ्गलाको छोड़कर कुण्डलिनी शक्तिको जगाता हुआ सुषुम्णामें प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायुको शनैः-शनैः महाबन्धकी विधिके अनुसार रेचन करे।

दूसरी विधि—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठे, अपान और प्राणवायुको नाभिस्थानपर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथोंको तानकर नितम्बों (चूतड़ों) से मिलते हुए भूमिपर जमाकर नितम्ब (चूतड़) को आसनसहित उठा-उठाकर भूमिपर ताड़ित करते रहें।

फल—कुण्डलिनी शक्तिका जाग्रत् होना, प्राणका सुषुम्णामें प्रवेश करना। महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा—तीनोंको मिलाकर करना अधिक फलदायक है।

मुद्रा

१ खेचरी मुद्रा—जीभको ऊपरकी ओर उलटी ले जाकर तालु-कुहर (जीभके ऊपर तालुके बीचका गढ़ा) में लगाये रखनेका नाम खेचरी मुद्रा है। इसके निमित्त जिह्वाको बढ़ानेके तीन साधन किये जाते हैं—छेदन, चालन और दोहन।

पहिला साधन—छेदन—जीभके नीचे भागमें सूताकारवाली एक नाड़ी नीचेवाले दाँतोंकी जड़के साथ जीभको खींचे रखती है। इसलिये जीभको ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ीके दाँतोंके निकटवाले एक ही स्थानपर स्फटिक (बिल्लौर) का धारवाला टुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पाँच बार फेरते रहें। कुछ दिनोंतक ऐसा करनेके पश्चात् वह नाड़ी उस स्थानमें पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थानको जिह्वामूलतक काटते चले जायँ। स्फटिक फेरनेके पश्चात् माजूफलका कपड़छान चूर्ण (Tarin acid टेरिन ऐसिड) जीभके ऊपर-नीचे तथा दाँतोंपर मलें और उन सब स्थानोंसे दूषित पानी निकलने दें। माजूफल-चूर्णके अभावमें अकरकरा, नून, हरीतकी और कत्थेका चूर्ण छेदन किये हुए स्थानपर लगावें। यह छेदन-विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकारकी हानि पहुँचनेकी सम्भावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदनका कार्य किसी धातुके तीक्ष्ण यन्त्रसे प्रति आठवें दिन उस शिराको बालके बराबर छेदकर घावपर कत्था और हरड़का चूर्ण लगाकर करते हैं। इसके छेदनके लिये नाखून काटनेवाला-जैसा एक तीक्ष्ण यन्त्र और खाल छीलनेके लिये एक दूसरे यन्त्रकी आवश्यकता होती है, जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ीके सम्पूर्ण अंशके एक साथ कट जानेसे वाक् तथा आस्वादन-शक्तिके नष्ट हो जानेका भय रहता है। इसलिये इसे किसी अभिज्ञ पुरुषकी सहायतासे करना चाहिये। छेदनकी आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और यह नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लम्बी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदनकी अधिक आवश्यकता नहीं है।

दूसरा एवं तीसरा साधन—चालन व दोहन—अँगूठे और तर्जनी अँगुलीसे अथवा बारीक वस्त्रसे जीभको पकड़कर चारों तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खींचनेको चालन कहते हैं। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे जीभका गायके स्तनदोहन-जैसे पुनः-पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करनेकी क्रियाका नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे अन्तिम अवस्थामें जीभ इतनी लम्बी हो सकती है कि नासिकाके ऊपर भ्रूमध्यतक पहुँच जाय। इस मुद्राका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यानकी अवस्था परिपक्व करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वाओंके भी नाना प्रकारके भेद देखनेमें आये हैं। किसी जिह्वामें सूताकार नाड़ीके स्थानमें मोटा मांस होता है, जिसके काटनेमें अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वामें न यह नाड़ी होती है, न मांस। उसमें छेदनकी आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिये।

२ महामुद्रा—मूलबन्ध लगाकर बायें पैरकी एड़ीसे सीवन (गुदा और अण्डकोषके मध्यका चार अंगुल स्थान) दबाये और दाहिने पैरको फैलाकर उसकी अँगुलियोंको दोनों हाथोंसे पकड़े। पाँच घर्षण करके बायीं नासिकासे पूरक करे और जालन्धर-बन्ध लगाये। फिर जालन्धर-बन्ध खोलकर दाहिनी नासिकासे रेचक करे। यह वामाङ्गकी मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दक्षिणाङ्गमें इस मुद्राको करना चाहिये।

दूसरी विधि—बायें पैरकी एड़ीको सीवन (गुदा और उपस्थके मध्यके चार अङ्गुल भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैरको लंबा फैलावे। फिर शनैः-शनैः पूरकके साथ मल तथा जालन्धर बन्ध लगाते हुए दायें पैरका अँगूठा पकड़कर मस्तकको दायें पैरके घुटनेपर जमाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय पूरक की हुई वायुको कोष्ठमें शनैः-शनैः फुलावे और ऐसी भावना करे कि प्राण कुण्डलिनीको जाग्रत् करके सुषुम्णामें प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तकको घुटनेसे शनैः-शनैः रेचक करते हुए उठाकर यथास्थितिमें बैठ जाय। इसी प्रकार दूसरे अङ्गसे करना चाहिये। प्राणायामकी संख्या एवं समय बढ़ाता रहे।

फल—मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि उदरके रोगों तथा प्रमेहका नाश, क्षुधाकी वृद्धि और कुण्डलिनीका जाग्रत् होना।

३ अश्विनी मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर योनिमण्डलको अश्वके सदृश पुनः-पुनः सिकोड़ना अश्विनी मुद्रा कहलाती है।

फल—यह मुद्रा प्राणके उत्थान और कुण्डलिनी शक्तिके जाग्रत् करनेमें सहायक होती है। अपानवायुको शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओंको मजबूत करती है।

४ शक्तिचालिनी मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर हाथोंकी हथेलियाँ पृथ्वीपर जमा दे। बीस-पचीस बार शनैः-शनैः दोनों नितम्बोंको पृथ्वीसे उठा-उठाकर ताड़न करे। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओंसे अथवा वामसे अथवा जो स्वर चल रहा हो उस नासिकासे पूरक करके प्राणवायुको अपानवायुसे संयुक्त करके जालन्धर-बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय अश्विनीमुद्रा करे अर्थात् गुह्यप्रदेशका आकर्षण-विकर्षण करता रहे।

तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर यदि दोनों नासिकापुटसे पूरक किया हो तो दोनोंसे अथवा पूरकसे विपरीत नासिकापुटसे रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रतापूर्वक बैठ जाय।

घेरण्डसंहितामें इस मुद्राको करते समय बालिश्त-भर चौड़ा, चार अंगुल लम्बा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभिपर कटिसूत्रसे बाँधकर सारे शरीरपर भस्म मलकर करना बतलाया है।

फल—सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्द्धक होनेके अतिरिक्त कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें अत्यन्त सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करें।

५ योनिमुद्रा—सिद्धासनसे बैठ सम-सूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे दोनों नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे नाकके छिद्रोंको बंद करके और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठिकाओंको दोनों ओठोंके पास रखकर काकीमुद्राद्वारा अर्थात् जिह्वाको कौएकी चोंचके सदृश बनाकर उसके द्वारा प्राणवायुको खींचकर अधोगत अपानवायुके साथ मिलावे। तत्पश्चात् ओ३म्का जाप करता हुआ ऐसी भावना करे कि उसकी ध्वनिके साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनीको जाग्रत् करके षट्चक्रोंका भेदन करते हुए सहस्रदल-कमलमें जा रही है। इससे अन्तर्ज्योतिका साक्षात्कार होता है।

६ योगमुद्रा—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठकर प्रथम दोनों नासिकापुटोंसे पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे, तत्पश्चात् दोनों हाथोंको पीठके पीछे ले जाकर बायें हाथसे दायें हाथकी और दायें हाथसे बायें हाथकी कलाईको पकड़े, शरीरको आगे झुकाकर पेटके अंदर एड़ियोंको दबाते हुए सिरको जमीनपर लगा दे। इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करनेके पश्चात् सिरको जमीनसे उठाकर जालन्धर-बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओंसे रेचन करे।

फल—पेटके रोगोंको दूर करने और कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें सहायक होती है।

७ शाम्भवी मुद्रा—मूल और उड्डीयान-बन्धके साथ सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर नासिकाके अग्रभाग अथवा भ्रूमध्यमें दृष्टिको स्थिर करके ध्यान जमाना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है।

८ तड़ागी मुद्रा—तड़ाग (तालाब) के सदृश कोष्ठको वायुसे भरनेको तड़ागी मुद्रा कहते हैं। शवासनसे चित्त लेटकर जिस नासिकाका स्वर चल रहा हो उससे पूरक करके तालाबके समान पेटको फैलाकर वायुसे भर ले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायुको पेटमें इस प्रकार हिलावे जिस प्रकार तालाबका जल हिलता है। कुम्भकके पश्चात् सावधानीसे वायुको शनैः-शनैः रेचन कर दे, इससे पेटके सर्वरोग समूल नाश होते हैं।

९ विपरीतकरणी मुद्रा—शीर्षासन=कपालासन—पहिले जमीनपर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उसपर अपने मस्तकको रखे। फिर दोनों हाथोंके तलोंको मस्तकके पीछे लगाकर शरीरको उलटा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे। थोड़े ही प्रयत्नसे मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासनके साथ भी की जा सकती है। इसको ऊर्ध्व-पद्मासन कहते हैं। आरम्भमें इसको दीवारके सहारे करनेमें आसानी होगी।

फल—वीर्यरक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्निका बलवान् होना, प्राणकी गति स्थिर

और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिरदर्द आदिका दूर होना, रक्तका शुद्ध होना और कफके विकारका दूर होना।

१० वज्रोली मुद्रा—मूत्रत्यागके समय कई बार मूत्रको बलपूर्वक ऊपरकी ओर आकर्षित करे। ऐसा करते समय इस बातको ध्यानसे देखे कि मूत्रधारा कितने नीचेसे आकर्षित होकर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरन्तर अभ्याससे जब मूत्रधार दस-बारह अंगुल नीचेसे आकर्षित होकर खींची जा सके और उतारनेमें कुछ शक्ति लगाना पड़े तो समझना चाहिये कि वज्रोली क्रिया सिद्ध हो गयी है। तत्पश्चात् क्रमशः जल, दूध, तेल अथवा घी, शहद और अन्तमें पारा खींचनेका अभ्यास करे।

दूसरी विधि—एक चौदह अंगुल रबरका कैथीटर (जो कि अंग्रेजी दवाखानोंमें मिल सकता है) पानीमें उबालकर लिङ्ग-छिद्रमें प्रवेश करनेका अभ्यास करे। यह अभ्यास एक अंगुलसे प्रारम्भ करके क्रमशः एक-एक अंगुल बढ़ाता जाय। जब बारह अंगुल प्रविष्ट होने लगे तो चौदह अंगुल लम्बी और लिङ्गके छिद्र-अनुसार चौड़ी जस्तेकी सलाई जो दो अंगुल मुड़ी हुई ऊपरको मुँहवाली हो जिससे कि लिङ्गेन्द्रियमें प्रविष्ट कर सके उपर्युक्त रबरके कैथीटरकी रीतिसे लिङ्ग-छिद्रमें प्रवेश करनेका अभ्यास करे। जब बारह अंगुलतक प्रविष्ट होने लगे, तब चौदह अंगुल लम्बी लिङ्गके छिद्र-अनुसार चौड़ी अंदरसे पोली एक चाँदीकी सलाई बनवावे, जो दो अंगुल टेढ़ी और ऊर्ध्वमुखी हो। इस टेढ़े भागको लिङ्ग-छिद्रमें प्रविष्ट करके दो अंगुल बाहर रहने दे, फिर सुनारकी धमनीके सदृश धमनीसे उस सलाईमें लगातार फूत्कार करे। इस प्रकार लिङ्गमार्गकी अच्छी प्रकार शुद्धि हो जानेपर वायुको खींचने और छोड़नेका अभ्यास करे, इस अभ्यासके सिद्ध हो जानेपर लिङ्ग-छिद्रसे उपर्युक्त रीतिसे जल, तेल, दूध, शहद और पारेके खींचनेका क्रमशः अभ्यास करे। कैथीटर और यन्त्र इन्द्रीके छिद्र और उसके आकारके अनुसार होने चाहिये।

फल—लिङ्गेन्द्रियके छिद्रकी शुद्धि और अपानवायुपर पूर्णतया अधिकार प्राप्त हो जाता है, पथरीको तोड़कर निकालनेमें सहायता मिलती है।

इस मुद्राका फल हठयोगके शास्त्रमें अलौकिक सिद्धियाँ बतलायी गयी हैं; परंतु जरा-सी असावधानी होनेपर इन्द्रिय-छिद्रमें विकार होनेसे भयङ्कर शारीरिक रोग उत्पन्न होने तथा स्त्रीके रज खींचनेकी चेष्टामें ऊँचे-से-ऊँचे अभ्यासीके लिये भी आध्यात्मिक पतन होनेकी अधिक सम्भावना है। इस प्रकारके बहुत-से उदाहरण दृष्टिगोचर हुए हैं। इन मुद्राओं आदिको किसी अनुभवीकी सहायतासे करना चाहिये अन्यथा लाभके स्थानमें हानि पहुँचनेकी अधिक सम्भावना है।

११ उन्मुनि मुद्रा—किसी सुख-आसनसे बैठकर आधी खुली हुई और आधी बंद आँखोंसे नासिकाके अग्रभागपर टकटकी लगाकर देखते रहना यह उन्मुनि मुद्रा कहलाती है। इससे मन एकाग्र होता है।

काकी और भुजङ्गी मुद्राका वर्णन पचासवें सूत्रके विशेष वक्तव्यमें किया जायगा।

अग्निसार-क्रिया

नाम :—

इस क्रिया के अभ्यास से पेट में बहुत शीघ्र अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। सारे शरीर में पसीना आ जाता है। इसीलिए इस क्रिया को 'अग्निसार-क्रिया' कहते हैं।

विधि :—

अग्निसार-क्रिया का अभ्यास करने के लिए दरी अथवा कम्बल पर वज्रासन लगा कर बैठ जाइए। दोनों घुटनों को चौड़ा कर लीजिए। दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर जमा लीजिए। अब पूरक करके साँस को अन्दर भरिए तथा भरे हुए श्वास को रेचक करके बाहर निकालते हुए, पेट को चित्र 55/1 के अनुसार अन्दर की ओर पिचकाइए और बाह्य कुम्भक लगाइए।

अब बाह्य कुम्भक लगाए हुए ही, पेट को चित्र 55/2 के अनुसार, बाहर की ओर फुलाइए तथा अन्दर की ओर पिचकाइए। एक बार कुम्भक लगने पर आठ से बीस बार तक पेट को फुलाया तथा पिचकाया जा सकता है। इस प्रकार बाह्य कुम्भक लगा कर पेट को फुलाने और पिचकाने को अग्निसार-क्रिया कहते हैं। एक बार कुम्भक लगा कर जितनी बार सरलतापूर्वक पेट को फुला तथा पिचका सकते हैं, वह एक चक्र (राउण्ड) कहलाता है। इस प्रकार तीन से पाँच बार कुम्भक लगा अभ्यास करना चाहिए।

अग्निसार-क्रिया को खड़े होकर भी कर सकते हैं। दोनों पैरों के बीच में लगभग आधा मीटर का फासला रख कर सीधे खड़े हो जाइए। अब थोड़ा आगे की ओर झुककर, दोनों हाथों को दोनों घुटनों से थोड़ा ऊपर, दोनों जांघों पर जमा लीजिए। अब पूरक करते हुए साँस को अन्दर भरिए। अन्दर भरी हुई साँस को रेचक द्वारा पूरी तरह से बाहर निकालते हुए, पेट को अन्दर की ओर पिचकाइए तथा बाह्य कुम्भक लगाइए। कुम्भक लगाए हुए ही पेट को बाहर की ओर फुलाइए तथा अन्दर की ओर पिचकाइए। एक बार कुम्भक लगाकर यथाशक्ति आठ से बीस बार तक पेट को फुलाइए तथा पिचकाइए। यह एक चक्र (राउण्ड) हुआ। इस प्रकार तीन से पाँच चक्र करें।

लाभ :—

अग्निसार-क्रिया के अभ्यास से पेट की बढ़ी हुई चर्बी कम हो जाती है। पेट नर्म हो जाता है। पेट के अनेक रोग दूर हो जाते हैं। भूख खूब लगती है। उड्डियान बंध साधने में सरलता हो जाती है।

55/1 55/2

बन्ध

नाम :—

'बन्ध' का अर्थ है 'बाँधना'। बन्ध के अभ्यास से शारीरिक और मानसिक शक्तियों को बाँधने में सहायता मिलती है। मुख्य बन्ध तीन होते हैं। जालन्धर बन्ध, उड्डियान बन्ध और मूल बन्ध। इन तीनों बन्धों के योग को महाबन्ध कहते हैं।

जालन्धर-बन्ध :—

गले की पेशियों का संकोच करके, ठोड़ी को छाती से चित्र 56/1 के अनुसार सटा लेने से जालन्धर-बन्ध लगता है।

लाभ :—

जालन्धर-बन्ध लगाने से कुम्भक का समय बढ़ाने में सहायता मिलती है। गले के रोगों में आराम पहुँचता है।

उड्डियान बन्ध :—

उड्डियान बन्ध का अभ्यास करने के लिए दरी या कम्बल पर पद्मासन लगाकर बैठ जाइए। दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर जमाइए। घुटनों को दृढ़तापूर्वक दबाइए। अब पूरक करते हुए साँस को अंदर भरिए। फिर रेचक द्वारा सारे श्वास को बाहर निकाल दीजिए। बाह्य कुम्भक लगाइए। पेट को अन्दर की ओर इतना पिचकाइए कि वह कमर में जा लगे। साथ ही छाती को ऊपर की ओर उठाते हुए पूरी तरह फुला लीजिए। चित्र 56/2 के अनुसार जितनी देर सरलतापूर्वक रुक सकते हैं, रुकिए। अन्त में धीरे-धीरे पेट को ढीला छोड़ दीजिए। पूरक करते हुए धीरे-धीरे श्वास को अन्दर भर लीजिए। यह उड्डियान बन्ध कहलाता है।

उड्डियान बन्ध को खड़े होकर भी कर सकते हैं। खड़े होकर करने के लिए, दोनों पैरों के बीच में लगभग तीस सेंटीमीटर (एक फुट) का फासला रखते हुए, सीधे खड़े हो जाइए। दोनों हाथों को दोनों कुल्हों पर इस प्रकार रखें कि चारों अँगुलियाँ आपस में सटी हुई, सामने की ओर रहें। अँगूठे पीछे की ओर रहें। अब पूरक करते हुए साँस को अन्दर भरिए। अब चित्र 56/3

56/1

56/2

56/3

56/4

56/5

के अनुसार, सामने झुकते हुए रेचक द्वारा साँस को बाहर निकालिए। रेचक नाक द्वारा अथवा मुँह द्वारा कीजिए। यदि मुँह द्वारा रेचक करें तो दोनों ओंठों को चोंच के समान बना कर, साँस को फूंक मारते हुए बाहर निकालिए। साँस को बाहर निकाल कर बाह्य कुम्भक लगाइए। पेट को अंदर की ओर पिचका कर, कमर से लगाइए। अब बाह्य कुम्भक लगाए तथा पेट को पिचकाए हुए धीरे-धीरे चित्र 56/4 के अनुसार, सीधे खड़े हो जाइए। दोनों हाथों को दोनों जंघाओं पर जमा लीजिए। जितनी देर सरलतापूर्वक रुक सकते हैं रुकिए। अन्त में धीरे-धीरे पेट को ढीला छोड़कर, नाक द्वारा पूरक करते हुए, धीरे-धीरे साँस को अन्दर लें। यह एक चक्र पूरा हुआ। इस प्रकार बैठकर अथवा खड़े होकर तीन से पाँच चक्र तक अभ्यास करें।

उड्डियान बंध का अभ्यास करने से पूर्व कुछ देर अग्निसार-क्रिया का अभ्यास करने से उड्डियान बंध सरलतापूर्वक सध जाता है।

लाभ :—

उड्डियान बन्ध के अभ्यास से पेट पर बढ़ी हुई चर्बी कम होती है। आँतों के रोग, कब्ज, पेट के अन्य रोग और गुर्दों (किडनी) के विकारों में लाभ होता है। नौलि-क्रिया साधने में सरलता होती है।

मूल-बन्ध :—

दरी या कम्बल पर पद्मासन लगाकर बैठ जाइए। गुदा (मल द्वार) को ऊपर की ओर खींच कर, संकोचन कीजिए। यह मूल-बन्ध कहलाता है।

लाभ :—

मूल-बन्ध के अभ्यास से आँतों की बीमारी और बवासीर में लाभ होता है। मल-मूत्र के रोगों में भी लाभ होता है। यह भूख को बढ़ाता है।

महाबन्ध :—

दरी या कम्बल पर पद्मासन लगा कर बैठ जाइए। आँखें बंद कीजिए। अब चित्र 56/5 के अनुसार जालन्धर, उड्डियान और मूल-बन्ध एक साथ लगाइए। यह महाबन्ध कहलाता है।

लाभ :—

इससे तीनों बन्धों के लाभ एक साथ प्राप्त होते हैं।

एक महिला साधिका के अनुसार, महिलाओं के लिए उड्डियान बन्ध एवं महाबन्ध का अभ्यास करना बहुत उपयोगी है। उनके मासिक धर्म को अन्यमत्ता अथवा गड़बड़ी जैसे मासिक धर्म का समय पर न आना, जल्दी आना, देर से आना, कम श्राव होना, अधिक श्राव होना, कष्टप्रद होना आदि रोगों में लाभ पहुँचाता है। साथ ही गर्भाशय की गड़बड़ को भी दूर करता है।

अध्याय - 2

साहित्य का सर्वेक्षण - हठयौगिक ग्रंथों में कुण्डलिनी विज्ञान का विस्तृत विवेचन

योग का महत्वपूर्ण अंग हठयोग है जिस पर लेखन कार्य भी विद्वानों ने बहुत अधिक किया है। नाथ परंपरा से हठयोग का प्रचार-प्रसार सामाजिक जीवन में हो गया। इसका मुख्य कारण हठयोग ग्रंथो का सृजन ही रहा है। गुरु गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ जो कि इस परंपरा में अग्रणी है और भगवान आदिनाथ शिव को ही योग का प्रदाता मानते है। कुण्डलिनी एवं तंत्र पर बहुत से ग्रंथ प्रकाशित है। उनमें से कुछ प्रमुख ग्रंथों का उद्धरण यहाँ प्रस्तुत करेंगे-

गोरक्षशतकम् के अनुसार-

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिस्पष्टधा कुण्डलीकृता।

ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति।। ३० ।।

प्रबुद्धा वहियोगेन मनसा मारुता हता।

प्रजीव गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया।। ३१ ।।

अर्थात् कन्द के ऊपर कुण्डलिनी नाम की शक्ति आठ कुण्डली लगाकर तथा सर्वदा सुषुम्ना के प्रवेश द्वार को अपने मुख से बंद कर पड़ी हुई है। अग्नि के संपर्क से जगकर तथा मानसिक रुप से वायु के द्वारा धक्का दिए जाने पर यह कुण्डलिनी अपने साथ प्रजीव को लेकर सुषुम्ना में चली जाती है जैसे कि यह एक सूत्र हो।

योगकुण्डल्योपनिषद् में वर्णन मिलता है -

अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वहिनमण्डले।

ततोऽनुशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता।।

तती यतौ वहनयपानो प्राणमुखणस्वरुपकम्।

तेनात्यन्त प्रदीप्ते ज्वलनो देहतस्तथा।।

तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता संप्रबुध्यते।

दण्डाहत भुजंगोव निश्वस्य ऋजुतां ब्रजेत।।

बिल प्रवेशतो यत्र बह्मानाड़यन्तर ब्रजेत ।।

(१/४३,४४,४५,४६)

अर्थात् जब अपान ऊपर जाकर वह्निमण्डल में मिलता है, तब उसके प्रभाव से अग्नि की तीव्रता अत्यधिक बढ़ जाती है उस उताप से संतप्त होकर सोई कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है और डंडे से मारी जाने वाली सर्पिणी के समान फुँकार कर सीधी हो जाती है और बिल में प्रवेश करने के समान सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश करती है। इस प्रकार ब्रह्मग्रन्थि को भेदकर यह कुण्डलिनी विद्युत रेखा के समान सुषुम्ना में चढ़ने लगती है।

शिव संहिता के अनुसार -

तंत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता।

सार्द्धत्रिकारा कुटिला सुषुम्ना मार्गसंस्थिता।। २/२३ ।।

अर्थात् उसी में विद्युतलता के समान परम देवतारुप कुण्डलिनी विद्यमान है, जो साढ़े तीन आवृति से टेढ़ी सुषुम्ना मार्ग में स्थित है।

पश्चिमाभिमुखीः योनिर्गुदमेढ्रान्तरालगा।

तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ति कुण्डली सदा।।

संवेष्टय सकला नाडीः सार्द्धत्रिकुटलाकृतीः।

मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्नाविवरे स्थिता।। ५/७५/७६।। शिव संहिता

अर्थात् पश्चिममुखी योनि गुदा और लिंगमूल के मध्य में स्थित है। वही कंद और वही कुण्डलिनी कही गई है वह कुण्डलिनी शक्ति सब नाड़ियों को घेरकर साढ़े तीन कुटिल आकृति वाली पूंछ को मुख में लेकर सुषुम्ना के छिद्र में स्थित है।

सिद्ध सिद्धांत पद्धति के अनुसार -

सा कुण्डलिनी प्रबुद्धा अप्रबुद्धा चेति द्विविधा।

अप्रबुद्धेति तत् तत् पिण्डे चेतनरूपा स्वभावेन नाना

चिन्तत्यापारोधमप्रपच्चरुपा कुटिल स्वभाव कुण्डलिनी ख्याता।

अर्थात् कुण्डलिनी दो प्रकार की होती है प्रबद्ध अर्थात् जागृत और अप्रबद्ध अर्थात् सोयी हुई। इनमें अप्रबुद्ध अर्थात् सोई हुई कुण्डलिनी प्रत्येक शरीर में चेतनरूप होने से विविध प्रकार की चिंताएँ क्रियाएँ प्रयास आदि प्रस्तुत होती है। इसलिए वह कुटिल स्वभाव वाली है यह प्रसिद्ध है ।

हठ प्रदीपिका के अनुसार -

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽग्नियकः।

सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुण्डली।।

जिस प्रकार सर्पों के स्वामी शेषनाग पर्वत वन सहित संपूर्ण पृथ्वी के आधार है, उसी प्रकार सम्पूर्ण योग-तंत्रो का आधार कुण्डलिनी है।

ततो वहिन प्रतापेन प्राणसघर्षणेन च।

तन कुण्ड़लिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते।।

प्राणवायु के प्रहार से अग्नि शिखा प्रदीप्त होती है और उसकी गर्मी से प्रसुप्त कुण्ड़लिनी जाग पड़ती है।

योग कुण्डल्युनिषद् के अनुसार -

ज्वलनाघातपवना घादोरुन्न्द्रितोऽहितोऽहिरार।

ब्रह्मग्रंथि ततो भित्वा विष्णुग्रंथि भिनत्यतः।।

रुद्राग्रंथ च भित्वैव कमलानि भिनति षट्।

सहस्त्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते।।

सेवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारिणी।। (१/८५,८६,८७)

अर्थात् ऐसा करने से अग्नि और वायु के प्रहार से सुप्त कुण्ड़लिनी जाग्रत होकर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रंथियों का भेदन करके षट्चक्र का भेदन करती हुई सहस्त्रार कमल में पहुँच जाती है तथा यहाँ वह शक्ति के रूप में शिव में मिलकर आनंद प्राप्त करती है। यह अवस्था परमानन्दी मुक्तिरूप होती है।

प्राणस्थानं ततो वहिः प्राणापानौ च सत्वरम्।

मिलित्वा कुण्डली याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः।।

तेनागिना च संतप्ता पवनेनैव चालिता।

प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्ना वदनान्तपरे।। (१,६५,६६)

प्राण के स्थान मे जब वह अग्नि पहुँचती है और प्राण तथा अपान दोनो मिलकर कुण्डलिनी में मिलते है, उस समय उयकी गर्मी से तप्त होकर एवं वायु के बारम्बार दबाव से कुण्डलिनी सीधी होकर सुषुम्ना के मुँह में प्रवेश कर जाती है।

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।

मुखेनाच्छाद्यं तद्द्वार प्रसुप्ता परमेश्वरी।

प्रवद्धा वहिनयोगेन मनसा मरुता सह।

सूचिवद्गुणमादायं प्रजत्युर्ध्व सुषुम्नया।

उद्धारयेत्कपाट तु यथा कंचिकया हठात्।।

कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वार विभैदयेत।।

ध्यानबिन्दुपनिषद् (६५,६६,६७,६८)

जिस मार्ग से ब्रह्मस्थान तक सुगमता से जाया जा सकता है उस मार्ग का द्वार परमेश्वरी कुण्डलिनी अपने मुँह से ढ़क कर सोयी हुई है। अग्नि तथा मन प्रेरित प्राणवायु के सम्मिलित योग से वह जागृत होती है और जैसे सुई के साथ धागा जाता है उसी प्रकार प्राणवायु के साथ वह कुण्डलिनी सुषुम्ना पथ के ऊपर जाती है। जैसे कुंजी से हठात द्वार खोल दिया जाता है वैये ही योगी कुण्डलिनी शक्ति से मोक्षद्वार को भेदते हैं।

त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार -

योगाभ्यासेन मरुता साग्निना बोधिता सती।

स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा महोज्जवला।।

अर्थात् योगाभ्यास द्वारा प्राणवायु तथा अग्नि से प्रदीप्त यह महासती कुण्डलिनी ऊपर उठकर हृदयाकाश में पहुचँती है और वहाँ अत्यन्त प्रकाशपूर्ण नाग के रूप में स्फुरित होती है।

तंत्रसार के अनुसार -

कोटि सौदामिनीभासां स्वयंभू लिंगवेष्टिनाम्।

तन्त्रसार लिंग में लिपटी हुई वह कुण्ड़लिनी शक्ति कोटि विद्युत की तरह चमकती है।

षट्चक्र निरूपण में वर्णन मिलता है -

तन्मध्ये लिंगरूपी द्रुतकनक कलाकोमलः पश्चिमास्यो।

ज्ञानध्यानप्रकाशः प्रथम किसलयाकारूपः स्वयंभु।।

विद्युत्वपूर्णेन्दुविम्बुप्रकरकरचय स्निग्धसन्तानहासी काशो।

वासी विलासी विलसित सरिदावर्तरूप प्रकारः।।

तस्योदवे विसतन्तुसोदरलसत्सक्ष्मा जगन्मोहिनी।

ब्रह्मद्वारमुख मुखेन मधुरं, सछादयन्ती स्वयम्।।

शंखावर्तनिभा नवीनचपलामालाविलासास्प्रदा।

सुप्ता सर्पसमा शिवोपरि, लसत्सार्द्धत्रिवृताकृति।।

अर्थात् - त्रिकोण के भीतर स्वयंभू लिंग है जिसका वर्ण स्वर्ण के समान है और जिसका सिर नीचे की ओर है। उस नूतन किशलय के समान देव का प्रकाश ज्ञान-ध्यान द्वारा ही संभव है। इस स्वयंभू लिंग पर कमल-तंतु के समान अति सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति सो रही हैं। वह जगत को मोहित करने वाली हैं और ब्रह्मद्वार को अपने मुख से ढ़के हुए है। शंख

की चक्रवत् रेखाओं के समान उसकी चमकीली सर्पाकार आकृति शिवलिंग के चारों और साढ़े तीन फेरे लिए है।

शादरा तिलक के अनुसार –

योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्तौ नित्यमजंसा।

आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः।।

अर्थात् वह कुण्डलिनी शक्ति योगियों के हृदय में नृत्य करती है। बिजली की तरह स्फुरणा करती है वहीं सम्पूर्ण प्राणियों का आधार है।

ज्ञार्नणव तंत्र के अनुसार –

मूलाधारे मूल विद्यां विद्युत्कोटि संप्रभातम्।

अर्थात् चक्र में वह मूल विद्या कोटि विद्युत के समान चमकती है।

कौलामृत में वर्णन –

नारोड्डुव्यक्तस्त दुपरिकोट्यादित्य सन्निभा।

अत्रेव कुण्डली शक्ति विहरेत विश्वव्यापिनी।।

अर्थात् वह कुण्ड़लिनी शक्ति अग्निरूप है। कोटि सूर्य के समान चमकती है। वह परम शक्ति है। विश्व में विस्तृत विहार करती है।

स्त्रोत समुच्चय में महाशक्ति कुण्डलिनी का स्तवन करते हुए शक्ति उपासक तत्ववेता की अभिव्यक्ति है –

मेरूदण्ड़े वहिनना शब्दात पदं तेजोमयीति च।

सिद्धि प्राप्ति पदात् सिद्धिः सर्वकाम् पदात् पुनः।।

सर्वेषां परिपूरेति चक्र स्वामिनीत च।

गुप्त योनिन्यनंगा च कुसुमेऽनंग मेखले।।

सर्व मुन्त्रमयीव्युक्ता सर्व द्वन्द्व क्षयकारी।

सर्व सौभाब्यदाचेति सर्व विघ्न निवारिणी।।

सर्वज्ञानमयीव्युक्ताव्ला सर्व व्याधि विनाशिनी।

सर्वानन्दमयी देवि, सर्व रक्षा स्वरूपिणी।।

महाशक्ते महागुप्ते ततश्चैव महा–महा।

कुल कुण्ड़लिनी देवि, कन्द मूले निवासिनी।।

अर्थात् मेरूदण्ड में अग्नि, शब्द पद, तेजमयी, सिद्धि प्रदान करने वाली, कामपद, सर्वव्यापक, चक्र संस्थानों की स्वामिनी, गुप्त योनि, कामशक्ति, अनंग मेखला, समस्त मंत्रों की शक्तियुक्त, रहस्यमयी, महानतम कुण्डलिनी देवी, कंद मूल में निवास करती है।

कालिकोपनिषद् में वर्णन मिलता है –

मूलाधारे स्मरेदिदव्यं त्रिकोणं तेजसां निधिम्।

शिखा आनायी तस्योग्नेरथ ऊर्ध्वं व्यवस्थिता।।

तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः।

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्र सोक्षरः परमः स्वराट्।।

स एव विष्णुः स प्राण स कालोऽनिः चन्द्रमाः।

इति कुण्डलिनी ध्वात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

अर्थात् मलाधार में दिव्य त्रिकोण तेज-पुंज, उर्ध्वगामी तेज-शिखा के मध्य परब्रह्म अवस्थित है। वह तेज ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, अक्षर, काल, अग्नि, चन्द्रमा, प्राण आदि है ऐसा कुण्डलिनी ध्यान करना चाहिए।

शाण्डिल्योपनिषद् -

नाभेस्तिर्यगधोर्ध्वा कुण्डलिनीस्थानम्। अष्टप्रकृति रूपाऽस्टधा।

कुण्डलिकृता कुण्ड़लिनी शक्तिर्भवति। यथावद्वायुसंचार जलान्नादीनि।

परितः स्कन्धपार्श्वेषु निरूध्येनं मुखेनेष समावेष्टय ब्रह्मरन्ध्र।

योगकालेऽपानेनाग्तिना च स्फुरति।

- शाण्डिल्योपनिषद ७/६

नाभि के नीचे कुण्डलिनी का निवास है। यह आठ प्रकृति वाली है। इसके आठ कुण्डल है। यह प्राण वायु को यथावत संचालित करती है। अन्न और जल को व्यवस्थित करती है। मुख और ब्रह्मरंध्र की अग्नि को प्रकाशित करती है।

त्रिपुरा तंत्र में वर्णन मिलता है -

या देवता भोगकरी सा मोक्षग्र न कल्पते।

मोक्षदा नहि भोगाया त्रिपुरा तु द्वय प्रदा।।

जो देवता भोग देते है वे मोक्ष नहीं देते जो मोक्ष देते है वे भोग नहीं देने पर कुण्डलिनी दोनो प्रदान करती है।

योग दर्शन में समाधिपाद का ३६ वाँ सूत्र है -

विशोका वा ज्योतिष्मति।।

अर्थात् इसमें शोक संतापो का हरण करने वाली ज्योति शक्ति के रूप में कुण्डलिनी शक्ति की ओर संकेत है।

घेरण्ड संहिता में वर्णन मिलता है -

मूलाधार कुण्डलिनी भुजंकाररूपिणी।

तत्र तिष्ठति जीवात्मा प्रदीपकलिकाकृतिः

ध्यायेतेजोमयं ब्रह्म तेजोध्यानं परात्परम्।। ६/६

अर्थात् मूलाधार में सर्पाकार रूपिणी कुण्डलिनी है। यहीं दीपक की लौ के रूप में आत्मा का निवास है यहां तेजोमय परात्पर ब्रह्मा का ध्यान करना ही तेजोध्यान अर्थात् ज्योति ध्यान है।

तेजोध्यानं श्रुत चण्ड सूक्ष्मध्यानं श्रणुष्व मे।

बहुभाग्यवशाद्यस्य कुण्डली जाग्रति भवेतु।। ६/६

अर्थात् हे चण्ड! तुमने तेजोध्यान (ज्योति ध्यान) का श्रवण किया बहुत भाग्य से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है।

प्रपंचसार तंत्र के अनुसार -

प्रकृतिः निश्चला परावासूपिणी पर प्रमाणात्या कुण्डलिनी।

अर्थात् यह कुण्डलिनी महाशक्ति अविचल प्रकृति और परावाणी है। यह पर ब्रह्म है।

योगवाशिष्ठ के अनुसार-

रसपूर्णा यमाकारं भावयत्वाशु ततथा।

धते चित्रकृतो बुद्धों रेखा राम यथा कृतिम।।

यह कुण्डलिनी शक्ति रस भावना से ओत-प्रोत हैं, उसके जाग्रत होने पर मनुष्य रस-भावनाओं से ऐसे भर जाता है जैसे चमड़े का चरस। यह रसिकता अनेक कलाओं के रूप में विकसित होते हुए जीवन को रससिक्त बना देती है।

महायोगविज्ञान में वर्णन आता है। -

इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मासो तेजोरुपा गुणात्मिका।

क्रमेणनेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम्।।

गुणिता सर्वगात्रेषु कुंडली पर देवता।

विश्वात्मना प्रबद्धा सा सूते मंत्रमयं जग्रत।।

एकधा गुणिता शक्तिः सर्वे विश्वप्रवर्तिनी।

अर्थात् तेजस्वरूपं कुण्डलिनी जाग्रत होने पर इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति को प्रखर बनाती है। संपूर्ण शरीर पर उसका प्रभाव दिखने लगता है। प्रसुप्त मंत्रमय जगत जाग्रत हो उठता है। विश्वात्म ज्ञान जाग्रत होता है। विश्व का प्रवर्तन करने वाली कुण्डलिनी साधक को अनेक गुण सम्पन्न बना देती है।

आदिगुरु शंकराचार्य द्वारा लिखित सौंदर्यलहरी में वर्णन -

अवाप्य स्वां भूमिं, भुजगनिभमध्युष्टवलयं।

स्वमात्मानं कृत्वा, स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि।।

अर्थात् सर्पिणी की तरह कुंडली मारकर तुम्ही मूलाधार चक्र के ‘कुलकुंड‘ में शयन करती है।

योगराजोपनिषद् के अनुसार -

अपाने मूलकन्दारस्यं कामरुप च तज्जगुः।

तदेव तहिकुण्डं स्यात तत्वकुण्डलिनी तथा।। ६।।

अपान स्थूल मूलाधार में कंद हैं इसे कामरूप कामबीज कहते हैं, उसे ही अग्निकुण्ड़ अथवा कुण्डलिनी तत्व कहते हैं।

महायोगविज्ञान के अनुसार

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्ड़लिनी परदेवता।

शीयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रय वलयान्विता।।

यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।

ज्ञानं न आधार जायते तावत कोटियोग विधेरपि।।

शक्ति निद्रायां विश्वं भवति निद्रयां।

तस्या शक्ति प्रबोधेन त्रेलोक्य प्रति बुध्यते।।

अर्थात् आत्मशक्ति कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में साढ़े तीन कुण्डलिनी लगाये हुए सर्पिणी की तरह शयन करती है। जब तक सोती है तब तक उसका जीवन पशुवत बना रहता है। बहुत प्रयत्न करने पर भी तब तक उसे ज्ञान नहीं हो पाता। जिसकी यह आधार शक्ति सो रही है उसका सारा संसार ही सो रहा है, पर जब वह जागती है तो उसका भाग्य और संसार ही जाग पड़ता है।

ऋग्वेद में कुण्डलिनी का वर्णन मिलता है -

अहमेवं स्वयमिदं वदामि।

जुष्ट देवेभिरुत भानुषेभिः।

य कं कामये तं तमुग्रं कुणोभि।

तं ब्रह्माणं तमृषि तं सुमेंधाम्।।   (१०/१२५/५)

अर्थात् देवताओं और मनुष्यों को अभीष्ट प्राप्ति का मार्ग में ही बतलाती हूँ। जो मेरी (विवेक-शक्ति की) उपासना कर मुझे प्रसन्न करता है उसे ही मैं प्रखर बनाती हूँ। ब्राह्मण, ऋषी तथा मेधावी बनाती हूँ।

हठप्रदीपिका के अनुसार -

उदधारयेत्कपाटं तु तथा कुंचकया हठात्।

कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयते।।

येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।

मुखेनाच्छाद्य तद्द्ववांर प्रसुप्ता परमेश्वरी।।

ठंदोर्ध्वं कुण्डली शक्तिःसुप्ता मोक्षाया योगिनाम्।

बंधनाय च मूढ़ानां यस्ता वेत्ति स योगवित्।।   (३/१०१-१०३)

अर्थात् जिस प्रकार कुंजी से किवाड़ खोले जाते है वैसे ही योगी कुण्ड़लिनी द्वारा मोक्ष द्वार को खोलते हैं।

निरामय ब्रह्मस्थान को जाने वाले मार्ग को अपने मुख से ढांके कुण्डलिनी परमेश्वरी सोती रहती है। कन्द के ऊर्ध्व में सोयी पडी यह कुण्डलिनी ही (जागने पर) योगियों के मोक्ष का साधन बनती है और (सोती रहने पर) मूढ़ों के बंधन का कारण बनी रहती है। इस रहस्य को जानने वाला ही योगी होता है।

योगसार ग्रंथ के अनुसार -

नमस्ते देवदेवेशि योगीश प्राणवल्लभे।

सिद्धिदे वरदे मातः स्वयम्भूलिंगवेष्टिते।।

प्रसुप्तभुजगारे सर्वदा कारणप्रिये।

कामकलान्विते देवि! मनोऽभीष्ट करूष्व च।।

असारे घोरसंसारे भवरोगान्महेश्वरी।

सर्वदा रक्षा मां देवि। जन्मसंसाररूपकात्।।

इति कुण्डलिनीस्त्रोतं ध्यात्वां यः प्रपठेत्सुधीः।

अर्थात् योगियो की प्राण वल्लभा सिद्धि दायनी, वरदायनी, स्वयं भू लिंग के साथ लिपटी हुई, सोई सर्पिणी के रूप वाली, काम कालान्वित अभीष्ट फलदायक है। हे देवी! आपको नमस्कार। इस सार रहित घोर कष्टदायक भव रोगों से घिरे जन्म मरण रूपी संसार में हे देवि मेरी रक्षा कीजिए। इन भावनाओं के साथ प्रज्ञावान साधक कुण्डलिनी महाशक्ति का ध्यान एवं स्तवन करे।

शिवं संहिता के अनुसार -

चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताड्नात्।

कुण्डल्यपि महामाया केलासे सा विलीयते।। ४/४६

प्राणवायु की ताडना से चक्रों के मध्य में अवस्थित देवता जाग्रत होते है और माया कुण्डलिनी कैलाश मस्तक में जा पहुँचती है।

शांभवी तंत्र के अनुसार -

उद्घाट्येत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्।

कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभदयेत।।

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने बल से द्वार पर लगी हुई अर्गला आदि को ताली से खोलता है, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी के अभ्यास द्वारा सुषुम्ना के मार्ग का भेदन करता है और ब्रह्मलोक में पहुँचकर मोक्ष को प्राप्त होता है।

शक्ति तंत्र में वर्णन मिलता है -

शक्तिः कुंडलिनीति विश्वजननीव्यापारगद्धोद्यमा।

ज्ञात्वेत्थं तनुर्विशन्ति जननागभेऽर्भकत्वनराः।।

कुण्डलिनी महाशक्ति के प्रयत्न से ही संसार का सारा व्यापार चल रहा है। जो इस तथ्य को जान लेता है वह शोक-संताप भरे बंधनों में नहीं रहता है।

शिव संहिता के अनुसार -

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया।

अध्वित संधिसंस्थाना वाग्देवी बीजसंज्ञिका।।

ज्ञेया शक्तिरयं विष्णुनिर्मला स्वर्णभास्करा।। (५/७७-७८)

यह कुण्डलिनी शक्ति सुप्त सर्पिणी के समान है। वही स्फुरणा गति, ज्योति एवं वाक् है। यह विष्णु शक्ति है। स्वर्णिम सूर्य के समान दीप्तिवान है।

योगिनी तंत्र के अनुसार-

सहस्त्रारोपरिबिन्दो कुण्डल्या मेलनं शिवे।

मैथुनं शयन दिव्यं यतीनां परिकीर्तितम्।।

अर्थात् हे पार्वती, सहस्त्रा में जो कुल और कुण्डलिनी महासर्प और महासर्पिणी का मिलन है उसी को यतियो ने परम मैथुन कहा है।

संत ज्ञानेश्वर के अनुसार -

अधोमुखसर्पिणी निदेली असे।

विद्युल्लते विडी वहि ज्वाला ची घडी।

पधरेया ची घोटीव जैशी

(श्री ज्ञानेश्वरी अ. ६-२२२-२२४)

मग कुंडलिनी येचा टेभ। आधारी केला उभा।

तिया चोजविलिया प्रभा। निमथावेरी।।

(श्री ज्ञानेश्वरी अ. १२/५१-५२)

तंत्रार्णव ग्रंथ के अनुसार -

पंचदेव मयं जीव, पंच प्राणमयं शिवं।

कुण्डली शक्ति संयुक्त, शुभ्र विद्युल्लोपोमम्।।

यह जीव पाँच देव सहित है। प्राणवान होने पर शिव हैं यह परिकर कुण्डलिनी शक्ति युक्त है। इनका आकार चमकती बिजली के समान है।

कुण्डलिनी जागरण का परिचय पंच कोशों की जागृति के रूप में मिलता है।

कुण्डलिनी शक्तिशविर्भवति साधके।

तदा सं पंच कोशे मत्तेजोऽनुभवति ध्रुवम।।

महायोगविज्ञान

जब कुण्ड़लिनी जागृत होती है तो साधक के पाँचो कोश ज्योर्तिमय हो उठते है। यही शक्ति केन्द्र है जिन्हे सूक्ष्म शक्तियों का भण्डारगार कहा जाता है और जिन्हें उच्च्व स्तरीय गायत्री-सावित्री साधना द्वारा जागृत किया जाता है।

कामधेनु तंत्र के अनुसार -

युवती सा समाख्यात सा महाकुण्डली परा।

इस कुण्डलिनी महाशक्ति को ही परम सुंदरी युवती कहते है।

योगवाशिष्ठ -

सा चोक्ता कुण्डलीनाम्ना कुण्डलाकारवाहिनी।

प्राणिनां परमा शक्तिः सर्वशक्तिज्वप्रदा।।

अनिशं निश्चद्रूपा रूषितेव भुजंमी।

संस्कृतोर्ध्वीकृतमुखी स्पन्दनाहेतुतां गता।।

सर्पिणी की तरह कुण्डली मार कर बैठी हुई यह कुण्डलिनी प्राणियों की परमशक्ति है। सब शक्तियों को जागृत करने वाली है। जैसे क्रोंध में भरी सर्पिणी फुसकारती है। वैसे ही मुँह उपर उठाये यह कुण्डलिनी फुँकारते रहती है। इसी से सारे शरीर में स्पंदन होता है।

शाण्डिल्योपनिषद् -

आकुचंनेन कुण्डलिन्याः कवाटमुद्धाटय मोक्षदारं विभदयेत।

येन मार्गेण गन्तव्यं तदद्वारं मुखेनाच्छाझा प्रसुप्ता कुण्ड़लिनी।

कुटिलाकारा संपद्वेष्टिता भवति। सा शक्तिर्येण चलिता।

स्यात् सतुमुक्तो भवति। कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता।

चेद्योगिनां मुक्तये भ्वति। बन्धनायाधोमूढ़ानम्।

कुण्डलिनी को आकुंचित कर कपाट खोल कर मोक्षद्वार उन्मुक्त करना चाहिए। जो गन्तव्य मार्ग है, उसके द्वार को मुख से ढ़क प्रसुप्ता कुण्डलिनी कुटिलाकार होकर सर्पवत लिपटी पड़ी है। इस कण्ठ के ऊपर भाग में स्थित कुण्डलिनी योगी को मुक्त करती है। मुढ़ो में वह निचले भाग में रहती है बंधन का कारण बनती है।

महातंत्र में वर्णन आता है - जाग्रत हुई कुण्डलिनी असीम शक्ति का प्रसव करती है। उससे नाद, बिन्दु, कला के तीनों अभ्यास स्वयंमेव सध जाते हैं परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी चारो वाणियाँ मुखर हो उठती है। इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति में उभार आता है। शरीर वीणा के सभी तार क्रमबद्ध हो जाते है और मधुर ध्वनि में बजते हुए अन्तराल को झंकृत करते है। शब्दब्रह्म की यह सिद्धि मनुष्य को जीवनमुक्त कर देवात्मा बना देती है।

त्रिशिखिब्रह्मणोपनिषद् में शास्त्रकार ने कहा है - ‘‘योग साधना द्वारा जगाई हुई कुण्डलिनी बिजली के समान तड़पती और चमकती है। उससे जो सोया है वह जागता है, जो जागता है वह दौड़ने लगता है।

योगचूडामण्युपनिषद के अनुसार -

कुण्डलिन्या समद्भता गायत्रीप्राणधारिणी। प्राणविद्या महाविद्या।

यस्तां वेति स वेदवित।।३५।।

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डाकृतिः।

ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाधं तिष्डति ।।३६।।

यह गायत्री प्राण को धारण करने वाली प्राणविद्या है महाविद्या है जो कुण्ड़लिनी से उदभुत है इस प्रकार जो जान लेता है वही वेदवेता है। कुण्डलिनी शक्ति कन्द के ऊर्ध्वभाग में आठ कुण्डलो की आकृति में व्याप्त होकर ब्रह्म द्वार के मुँह को अपने मुख से ढ़ककर सदैव स्थित रहती है।

वृहज्जाबालोपनिषद् का कहना हैं - "यह कालाग्नि कुण्डलिनी जब अधोगामी होती है तो मनुष्य कों अशक्त बना देती है। जब वह ऊपर उठती है तो उच्च सिद्धियों को प्रदान करती हुई ब्रह्मलोक तक पहुँचती है"।

पादुका पंचक के अनुसार -

ब्रह्मरंध्रसरसीरूहोदरेनित्य, लग्नमवदात् मद्भुतम।

कुण्डली विवरकाण्ड मड़ित द्वादशार्ण सरसीरूहं भजे।।

मस्तक के मध्य अधोमुख सहस्त्रार कमल है। उसके मध्य में अद्भुत पथ गामिनी शक्तिधारा है। उसे कुण्डलिनी कहते है।

मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार -

मूलाधारादा ब्रह्मरन्ध्रपर्यंतं सुषुम्ना सूर्याभा।

तन्मध्ये तटित्कोटिसमा मणालतन्तु सूक्ष्मा कुण्डलिनी ।

तत्र तमोनिवृतिः तद्दर्शनात्सर्व पापनिवृतिः।।

अर्थात् मूलाधार से लेकर ब्रह्मरंध्र तक सूर्य के प्रकाश जैसी सुषुम्ना नाड़ी फैली हुई है। उसी के साथ कमल तंतु के समान सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति बँधी हुई है। उसी के प्रकाश से अंधकार दूर होता है और पापों से निवृति होती है।

रुद्रतंत्र के अनुसार -

मूलाधारस्थ ब्रह्मयात्मतेजोमध्ये व्यवस्थिता।

जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाश तेजसी।।

मूलाधार में निवास करने वाली आत्मतेजरूपी अग्नि, जीवशक्ति है। प्राणरूपी आकाश में प्रकाशवान कुण्डलिनी है।

त्रिशिखब्रह्मणोपनिषद् के अनुसार -

योगाभ्यासेन मरुता सग्निना बोधितासती।

स्फुरिता हृदययाकाशे नागरुपा महोज्जवला।।

योगाभ्यास द्वारा प्राणवायु तथा अग्नि से प्रदीप्त यह महासती कुण्ड़लिनी ऊपर उठकर हृदयाकाश में पहुँचती है और वहाँ अत्यन्त प्रकाशपूर्ण नाग के रूप में स्फुरित होती है।

योगवाशिष्ठ के अनुसार -

मांस कुयंत्र जठरे स्थिते श्लिष्टमुखं मिथः।

ऊर्ध्वाधिः संमिलत्स्थलह्यम्भः स्थैरिय वैतसम्।।

तस्य कुण्ड़लिनी लक्ष्मीर्निलीनान्त निजास्पदे।

पद्यराग समद्रस्रू कोशे मुक्तावली यथा।। (६/१/८१/६३-६४)

हे राम! देहरूपी यंत्र के उदरभाग में नाभि के पास परस्पर मिले हुए मुख वाली धौकनियों के समान माँस का पिण्ड इस तरह थरथराता हुआ स्थित है, जैसे ऊपर और नीचे बहने वाले दो जलों के बीच में सदा स्थिर रहने वाला वेतकुज्ज उसके भीतर कुण्ड़लिनी शक्ति इसी प्रकार स्थित है जैसे मूंगें की पिटारी में मोतियों की माला।

देवी भागवत -

पंचप्राणाधिदेवी या पंचप्राणस्वरूपिणी।

प्राणाधिकप्रियतया सर्वाभ्यः सुन्दरी परा।।

पाँच प्राण उसी पंचकोश सम्पदा के पाँच स्वरूप है। प्राणों की अधिष्ठात्री देवी वे ही है। सर्वांग सुंदरी है। पराशक्ति भगवान को प्राणों से प्यारी है।

कुर्मपुराण में कुण्डलिनी विद्या के बारे में -

पूज्याविभावती सौम्या भौगिनीभोगाशायिनी ।।६६।।

त्रैलोक्यसुन्दरीनम्यासुन्दरी कामचारिणी।।६७।।

वह दीप्तिमान देवी सौम्या, भोगनी, भोग शायिनी, त्रैलोक्य सुंदरी, रम्य, सौन्दर्य रूपा और कामचारिणी है।

सौभाग्य लक्ष्युपनिषद् में वर्णन आता है-

आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिरावृतभडिंमण्डलाकारं तत्र मूलकंदे शक्तिः

पावकाकार ध्यायेत तत्रेव कामरुपपीठ कामप्रद भवति इत्याधारचक्रम।।

अर्थात मूलाधार चक्र में योनि के आकार का तीन घेरे वाला ब्रह्म चक्र है। वहाँ सुप्त सर्पिणी की तरह कुण्डलिनी शक्ति का निवास है। जब तक वह जाग्रत न हो तब तक उस स्थान पर प्रचण्ड अग्नि धधकती हुई ज्वाला का ध्यान करे।

अथर्ववेद १६/३१/1 में कहा गया है, हे आत्मग्नि! तेरे द्वारा मुझे प्रकाश, तेज, बल, प्रतिमा, पराक्रम, ओजस सभी तेरे भीतर से उभर रहे है। हे अग्नि! मेरे ३३ विभाग का मेरे ऊपर अनुग्रह है।

यजुर्वेद १२/७ में कहा गया है - हे दिव्य अग्नि तु आयु, वर्चस, सुसंतति, धन, मेधा, रति पौरूष बनकर हमे अपना अनुग्रह प्रदान करे।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कुण्डलिनी को **'योगाग्नि'** अथवा **'नाचिकेत अग्नि'** कहा गया है और इसकी तुलना यज्ञाग्नि से की गई है।

घेरण्ड संहिता -

उदघाटयेत्कपाटं च यथा कुच्चिकयाहठात्।

कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभदयेत।।६३।।

अर्थात् जिस प्रकार ताले को बिना चाबी के नहीं खोला जा सकता ठीक उसी प्रकार ब्रह्मद्वार भी कुण्डलिनी को जाग्रत किए बिना नहीं खोला जा सकता।

योग के दृष्टिकोण से ब्रह्मद्वार का अर्थ है परा और अपरा जगत के बीच का द्वार। वह द्वार जो हमारे भौतिक और आध्यात्मिक जगत् की अनुभूतियों के बीच है, उसे योगियों

ने नाम दिया 'ब्रह्मद्वार'। कुण्डलिनी शक्ति के जागरण के पश्चात् जब वह द्वार खुलता है तब ही मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ सक्रिय हो जाती है।

योगवशिष्ठ में कुण्डलिनी साधन की दिव्य सिद्धियो का वर्णन करते हुए लिखा है -

रेचकेन प्रयोगेण नाडयन्तर निरोधिना।

मुहूर्त स्थितिमाप्नोति तदा व्योमगदर्शनम्।।

मुखोहिर्द्वादशान्ते रेचकान्यासयुक्तिः।

प्राणे चिरं स्थित नीते प्रविशव्यपरां पुरम।।

रेचकाभ्यासयोगेन जीवं कुण्ड़लिनीग्रहात्।

उद्धृत्यते योज्यते यावदामोहः पवनादिव।।

व्यज्यते विरतस्पन्दो देहाऽयं कोष्ठलोष्ठवत्।

देहेऽपि जीवेऽपि मतावा सेवक इवादरः।।

स्थावरे जंगमे वापि यथाभिमतयेच्छायां।

भोक्तु तत्संपदं सम्याजीवोऽन्तर्विनिश्यते।।

इति सिद्धिश्रियं भुकत्वा स्थित चेतहपुःपुनः।

प्रविश्यते स्वमन्यद्वा यद्यतास विरोचते।।

देहादयस्तथा विम्बान्त्रयाप्तवत्याखिलानथ।

संविदा जगदापूर्य संपूर्ण स्थीयतेऽथवा।।

अर्थात् रेचक के प्रयोग से जब कुण्डलिनी शक्ति मस्तिष्क में थोड़ी देर के लिए टिक जाती है तो उन सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते है जो बहुत पहले इस नश्वर देह का परित्याग कर चुके हैं। प्राणों को मुख से बारह अंगुल बाहर रखने का अभ्यास कर लेने वाला योगी किसी दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकता है। इन्हीं युक्तियों से योगी में जीव को कुण्डली से उसी प्रकार बाहर निकालने की क्षमता मिल जाति है जिस प्रकार वायु से सुगंध खींच ली जायए। इस स्थिति में शरीर कही भी पड़ा रहे चेतना उससे अलग होकर बाहर के दृश्यों का उसी प्रकार घूम कर आनन्द ले सकती है जैसे कोई इस शरीर से ही कही भ्रमण कर रहा है। दूसरे शरीर चाहे वह जड़ वृक्ष ही क्यों न हो उसमें भी ये चेतना प्रवेश करके वहाँ के सब हाल जान सकती है। किसी और के शरीर में प्रवेश करके उस शरीर को मिलने वाले भोग आदि सुखों का रसास्वादन किया जा सकता है।

कुण्डलिनी शक्ति का कोई आर-पार नहीं हैं। अन्य योगों की अपेक्षा यह योग सरल भी है किन्तु साधनाकाल के विक्षेप और कठिनाईयों को संभालने के लिये बड़े साहस और कठोर तप की आवश्यकता होती हैं।

यदि प्राण वायु को इड़ा (बायें नथुने) से पूरित करे तो उसे नियंत्रित (कुम्भक) करके पुनः दूसरे से छोड़ देना चाहिए और बाद में पिंगला (दायें नथुने) से वायु अंदर लेकर कुम्भक कर, बायें से छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार बायें और दाहिने नथुने से लगातार प्राणायाम का अभ्यास करने से योग साधकों के नाड़ीसमूह तीन मास से कुछ अधिक समय में निर्मल हो जाते हैं।

२. सूर्यभेदन प्राणायाम

विधि- कुण्डलिनी जागरण में सूर्यभेदन प्राणायाम का महत्वपूर्ण स्थान है, इसके माध्यम से पिंगला नाड़ी सक्रिय हो जाती है। इसके लाभ हठप्रदीपिका में इस प्रकार बताए गये हैं।

कपालशोधनं वातदोषहनं कृमिदोषहत्।

पुनः पुनरिदं सूर्यभेदनमुतमम्।।

हठप्रदीपिका २/५०

यह अभ्यास मस्तक प्रदेश को शुद्ध करता हैं। वात संबंधी रोगों को नष्ट करता है। उदर में उत्पन्न कृमि दोषों को दूर करता है। अतः यह सूर्यभेदन नाम का उत्तम अभ्यास पुनः पुनः करना चाहिए।

सूर्य भेदन की विधि हठप्रदीपिका में इस प्रकार है -

आसने सुखदे योगी बदध्वा चैवासनं ततः।

दक्षनाड्या समाकृष्ण बहिस्थम पवनं शनैः।। २/४८

आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत।

ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत पवनं शनैः।। २/४६

योगाभ्यासी कोई भी सुखदायक आसन बिछाकर उस पर आसन लगाकर दाहिने नथुने से बाहरी वायु को धीरे-धीरे अंदर खींचकर उसे जब तक हो सके अधिकाधिक निरोध करे और फिर बायें नथुने से धीरे-धीरे श्वास को छोडे।

इस मंथन का प्रहार मूलाधार में प्रसुप्त महाग्नि पर प्रसुप्त सर्पिणी पर करना पडता हैं। आक्सीजन के संयोग से अग्नि भड़कती है। प्राण की अभीष्ट मात्रा प्रसुप्त अग्नि चिनगारी को मिलते रहने से उसके भडकने और दावानल का रूप धारण करने में देर नहीं लगती। यही प्राण प्रक्रिया सूर्यभेदन प्राणायाम का मुख्य प्रयोजन है।

जागरण का प्रयोग उल्लेख शिव संहिता में आता है।

चक्र मध्ये स्थिता देवाः कम्पतिवायु ताड़नात्।

कुण्डल्यपि महामाया कैलाशे सा विलीयते।।

शिव संहिता

प्राणवायु के आघात से चक्रो के मध्य रहने वाले देवता जागते हैं और महामाया कुण्ड़लिनी कैलाशपति शिव से जा मिलती हैं।

हठप्रदीपिका में वर्णन आता है -

तदानिल शिखा दीर्घा जायते वायुनाहता।

तेन कुण्ड़लिनी सुप्ता संतप्ता सप्रबुध्यते।।

प्राणवायु के प्रहार से अग्नि शिखा प्रदीप्त होती है और उसकी गर्मी से प्रसुप्त कुण्ड़लिनी जाग पड़ती है। सूर्यभेदन प्राणायाम द्वारा अग्नि उत्पन्न करने के जिन उपकरणों से रगड़ उत्पन्न करनी है वे इड़ा और पिंगला नामक दो प्राण प्रवाह हैं।

शक्तिरुपः स्थितश्चन्द्रो वामनाडी प्रवाहकः।

दक्षनाडी प्रवाहश्च शम्भुरुपो दिवाकरः।।

शिव स्वरोदय

वामनाड़ी का प्रवाह करने वाला चन्द्रमा शक्तिरूप से और दक्षिण नाड़ी का प्रवाह सूर्य रुप में स्थित रहता हैं।

योग रसायन में सूर्यभेदन द्वारा प्रदीप्त अग्नि के बारे में निम्न वर्णन मिलता है।

ततो वहि प्रतापेन प्राणसंघर्षणेन च।

दंडाहता भुजंगीव कुण्डली संप्रबुद्धयते।।

योग रसायनम्।।

अग्नि अर्थात् उष्ण को पिंगला नाड़ी अर्थात् सूर्य नाड़ी से लिया गया है। कुण्डलिनी जागरण में सूर्य नाड़ी के चालन द्वारा ताप उत्पन्न किया जाता है ताकि सुप्त कुण्डलिनी का जागरण हो सके। यह प्रक्रिया सूर्यभेदन प्राणायाम द्वारा संपन्न होती हैं।

ज्वलनाघातपवना धादोरुन्निद्रितोऽहिराट्।

ब्रह्मग्रंथि ततो भित्वा विष्णुग्रंथि भिनत्यतः।।

रुद्रग्रंथि च भित्वैव कमलानि भिनति षट।

सहस्त्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते।।

सेवावस्था परा ज्ञेया सैव निवृतिकारणा।

योगकुण्डल्युपनिषद्

अग्नि और प्राणवायु दोनों के आघात से सुप्ता कुण्डलिनी जाग पड़ती है और ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि, रूद्रग्रंथि तथा षट्चक्र का भेदन करती हुई सहस्त्रार कमल में पहुँचती हैं। वहाँ यह शक्ति शिव के साथ मिलकर आनंद की स्थिति में निवास करती है। यही श्रेष्ठ परास्थिति है। यही मोक्ष का कारण हैं।

प्राणं स्थानं ततोवहिः प्राणापानौ च सत्वरम्।

मिलित्वा कुण्डली याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः।

तेनाग्नाच संतृप्ता पवने परिचालिता।

प्रसाय स्व शरीर तु सुषुम्नावदनान्तरे

योगकुण्डल्युपनिषद्

प्राण और अपान के संयोग से महाग्नि दीप्तवान होती है और कुण्डलिनी जगती है। प्राणवायु में तीव्रता आने से वह अग्नि भी तीव्र होती जाती हैं।

सूर्यभेदन प्राणायाम में तालबद्धता को उत्पन्न करना स्थूल शरीरगत ऊर्जा को एकत्रित, प्रज्वलित और प्रखर बनाता हैं। संकल्प शक्ति से खींचा गया प्राण आत्म प्राण की मूलाधार स्थिति को प्रज्वलित करता हैं।

घेरण्ड संहिता में वर्णन -

कुम्भकः सूर्यभेदस्तु जरामृत्युविनाशकः।

बोधयेत्कुण्डली शक्ति देहानलविवर्धनम्।

इतिते कथितं चण्डं सूर्यभेदनमुतमम्।।६६।।

यह सूर्यभेद संज्ञक प्राणायाम जरा मृत्यु का नाश करने वाला है। इससे कुण्डलिनी का जागरण होता है और शरीरस्थ अग्नि प्रदीप्त होती है। हे चण्ड! इस प्रकार यह सूर्यभेद नामक श्रेष्ठ प्राणायाम मैने तुम्हें बताया है।

योगियों और योग वैज्ञानिकों का मत है कि दाहिनी नासिका से हम एक ही क्रिया को बार-बार करते है, तब हमारे शरीर की अनुकम्पी क्रियाशीलता और चयापचय की दर में वृद्धि होती है जिसके कारण शरीर में इस प्रकार के परिवर्तन होते है। इस प्राणायाम से वातदोष दूर होता है। पिंगला नाड़ी के क्रियाशील बनने से प्राण ऊर्जा जाग्रत होती है। यह प्राणायाम बुढ़ापे व मृत्यु को दूर रखता है। कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करता है।

३. शक्तिचालनी मुद्रा

शक्तिचालनी मुद्रा द्वारा मूलाधार में प्रसुप्त कुण्डलिनी को जागृत करके ऊर्ध्वगामी बनाया जा सकता हैं। शक्तिचालनी मुद्रा में गुदा और मूत्र संस्थान को संकल्प बल के सहारे संकोचन कराया जाता हैं। संकोचन से तात्पर्य है, उनकी बर्हिमुखी एवं अधोगागमी आदत को

अर्न्तमुखी एवं ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए प्रशिक्षित करना। इसके लिए दोनों ही इन्द्रियों का उसके सुविस्तृत क्षेत्र को संकोचन कराया जाता हैं। कभी-कभी मुँह से हवा खींची जाती है। पानी पीया जाता हैं। इसमें मुख को खींचने की क्रिया करनी पड़ती हैं। पिचकारी में पानी भरते समय भी ऐसा ही होता हैं। मल और मूत्र छिद्रों से ऐसा ही वायु खींचने छोड़ने का प्राणायाम जैसा अभ्यास करना संक्षेप में शक्तिचालनी मुद्रा का प्रयोग हैं।

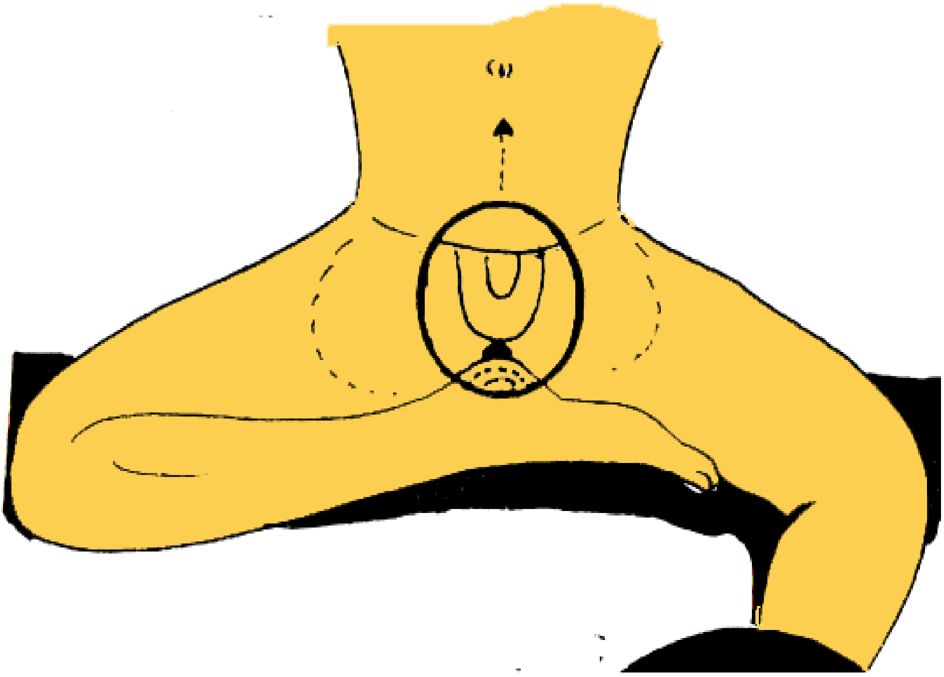

शक्तिचालनी मुद्रा का महत्व एवं लाभ योगशास्त्रों में इस प्रकार बताया गया है

शक्तिचालनमेव हि प्रत्यहं यः समाचारेत।

आयुवृद्धिर्भहवेतस्य रोगाणां च विनाशनम्।

शिवसंहिता

शक्तिचालनी मुद्रा का प्रतिदिन जो अभ्यास करता है उसकी आयु में वृद्धि होती है और उसके रोगों का नाश होता है।

कुण्डली कुरिलाकारा सर्पवत परिकीर्तिका।

सा शक्तिश्चचालिता येन स युक्तो नात्र सशयः।

हठयोग प्रदीपिका

कुण्ड़लिनी सर्पिणी की तरह कुटिल है उसे शक्तिचालनी मुद्रा द्वारा जो चलायमान कर लेता है, वही योगी है।

शक्तिचालन का अर्थ वह भी है जो कुण्डलिनी जागरण शब्द से प्रतिध्वनित होता है। प्रसुप्त स्थिति की मूर्च्छना जब दूर हो जाती है और प्राणशक्ति प्रखर एवं सक्रिय होती है तो अवसाद अभाव दूर हो जाता हैं।

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डली दृढाम।

अपानवायुनोरुहय बलादाकृष्ण बुद्धिमान्।

शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी।। शिवसंहिता(४/१०५)

मूलाधार चक्र में स्थित प्रसुप्त पड़ी हुई कुण्डलिनी शक्ति को प्राण वायु द्वारा चलाने और जगाने वाली शक्ति चालन क्रिया सर्वशक्ति प्रदायिनी हैं।

विहाय निद्रां भुजगी स्वर्यमूर्ध्वं भवेत्खलु।

तस्मादभ्यासनं कार्य योगिना सिद्धिमिच्छता।।

यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुतमम्।

येन विग्रहसिद्धि स्स्राद् अणिमादिगुणप्रदा।।

शिव संहिता(४/१०७-१०८)

जो योगी सिद्धि की इच्छा से शक्तिचालन का नित्य अभ्यास करता है उसके शरीर में सो रही सर्पिणी कुण्ड़लिनी जाग्रत होकर स्वयं ही ऊर्ध्वमुख हो जाती हैं। सदा अभ्यास करने पर उसे सिद्धि मिलती है तथा अणिमादि विभूतियाँ प्राप्त होती हैं।

तस्मात्संचालनयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम्।

तस्याः संचालनेनैव योगी रोगेः प्रमुच्चते।। ३/११५

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।

किमत्र बहुनोक्तेन काल जयति लीलया।। ३/११६

हठप्रदीपिका

इसलिए सुखपूर्वक सो रही अरुंधति (कुण्डलिनी) का नित्य संचालन आवश्यक है। इस शक्तिचालन से योगी रोगों से मुक्त हो जाता हैं। जिसने शक्ति संचालन कर लिया वह योगी सिद्धि भाजन हैं। वह कालजित कहा जा सकता हैं।

शक्तिचालनी मुद्रा का पूर्वाद्ध मूलबंध कहलाता है। मूलबंध में मात्र संकोचन भर होता है। जितनी देर मल-मूत्र छिद्रों को सिकोड़ा जाता रहेगा उतनी देर मूलबंध की स्थिति मानी जाएगी। यह एक पक्ष है, आधा अभ्यास हैं। इसमें पूर्णता समग्रता तब आती है जब प्राणायाम की तरह खींचने छोड़ने के दोनों ही अंग पूरे होने लगे। जब संकोचन विसर्जन का खींचने से ढ़ीला करने का उभयपक्षीय अभ्यास चल पड़े तो समझना चाहिए शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास हो रहा हैं।

आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबधोऽयमुच्व्ते।

अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वन्हिना सह गच्छति।।

योगकुण्डल्योपनिषद्

मूलबंध के अभ्यास से अधोगामी अपान को बालात् ऊर्ध्वगामी बनाया जाए, इससे अपान प्रदीप्त होकर अग्नि के साथ-साथ ही ऊपर चढ़ता है।

अभ्यासद् बन्धनस्यास्यु मरुतसिद्धिर्भवेद ध्रुवम।

साधयेत यन्तो तहि मौनी तु विजितालसः।।

घेरण्डसंहिता ३/६

मूलबंध के अभ्यास से मरुत सिद्धि होती है अर्थात् शरीरस्थ वायु पर नियंत्रण होता है। अतः आलस्य विहीन होकर मौन रहते हुए इसका अभ्यास करना चाहिए।

प्राणापानौ नादबिन्दु मूलबन्धेन चैकताम्।

गत्वा योगस्य संसिद्धि यच्छतो नाम संशयः।।

हठयोग प्रदीपिका

प्राण और अपान का समागम नाद बिंदु की साधना तथा मूलबंध का समन्वय यह कर लेने पर निश्चित रूप से योग की सिद्धि होती है।

अपान प्राणयो रैक्यं क्षयोमूल पुरीष्योः।

युवाभवति वृद्धोऽपि सतनं मूलबंधनात्।।

हठयोग प्रदीपिका

निरंतर मूलबंध का अभ्यास करने से प्राण और अपान समन्वय से अनावश्यक मल नष्ट होते है और वृद्धता भी यौवन में बदलती है।

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु चालयेदबुधः।

स्वस्थनादाभुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते।।

तत्साधने हयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम्।

प्राणरोधमधाभ्यासादृज्वीकुण्ड़लिनी भवेत।।

योगकुण्डल्युपनिषद्

कुण्डलिनी ही मुख्य शक्ति है। ज्ञानी साधक उसका चालन करके दोनो भौंहो के मध्य में ले जाता है तो वही शक्तिचालन है। कुण्डलिनी को चलाने के दो मुख्य साधन हैं। सरस्वती का चालन और प्राण निरोध, अभ्यास द्वारा लिपटी हुई कुण्डलिनी सीधी हो जाती हैं।

नासिका द्वारा प्राण संचार करके उसे मूलाधार तक ले जाना प्राण को अपान में होमना है और मूलबंध एवं शक्तिचालिनी मुद्रा द्वारा **'अपान'** का उत्थान करके उसे प्राण से मिलना अपान को प्राण में होमना कहा जाता हैं। प्राण और अपान दोनों ही सामान्य गति को नियंत्रित करके उसे उच्च लक्ष्यों की ओर प्रेरित करना ही प्राणायाम का उद्देश्य हैं।

गीता में योग साधक द्वारा प्राण को अपान में तथा अपान को प्राण में होमने का उल्लेख इसी दृष्टि से किया जाता हैं।

यथा-

अपाने जुहति प्राणः प्राणोऽपान तथा परे।

प्राणवान गतिं रुद्धवा प्राणायाम परायणाः।।

अर्थात् कोई साधक अपान में प्राण को आहुति देते है कुछ प्राण में अपान को होमते है। प्राण और अपान की गति नियंत्रित करके साधक प्राणायाम परायण होता है।

४. महामुद्रा

योगशास्त्र में मुख्यतयाः १० मुद्राओं का वर्णन आता है सभी मुद्राएँ कुण्डलिनी जागरण में सहायक है हठप्रदीपिका नामक ग्रंथ में वर्णन किया है -

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।

ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत।। ३/५

अतएव सुषुम्ना के मूल स्थान में सोती हुई कुण्डलिनी को जगाने के लिये पूर्ण प्रयास के साथ मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी।

उड्डीयन मूलबंधस्ततो जालन्धराभिधः।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।। ३/६

महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उड्डीयन, मूलबंध, जालंधरबंध, विरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन ये दस मुद्राओं में उत्तम हैं।

भगवान आदिनाथ ने ये दस मुद्राएँ बतायी है जो बुढ़ापा और मृत्यु को दूर करती है और आठ प्रकार के दिव्य ऐश्वर्य को देने वाली हैं। सभी सिद्धों के लिए प्रिय ये मुद्राएँ देवताओं के लिये भी दुर्लभ है। यह कुण्ड़लिनी को जगाने में सहायक हैं।

यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकार प्रजायते।।

ऋज्वीभूतां तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत।। ३/१०

जिस प्रकार डण्डे की मार खाकर साँप डण्ड़े की आकृति वाला अर्थात् उसी के समान सीधा हो जाता है उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति सहसा सीधी (जाग्रत) हो जाती है।

शिव संहिता में निम्न वर्णन आता है -

अपसत्येन सम्पीडय पादमूलेन सादरम्।

गुरुपदेशतो योनि गुदमेढ्रान्तरालगाम्।।२७।।

सत्यं प्रसारितं पाद धृत्वा पाणियुगेन वै।

नवद्वाराणि सयम्य चिबुंक हृदयोपरि।।४/२८।।

शिव संहिता

गुरु के उपदेश से (बाये) पैर की एड़ी से गुदा और लिंग के मध्य योनिस्थान को अच्छी प्रकार दायें पैर को फैलाकर दोनों हाथों से धारण करके नव द्वारों को संयम करके ठोड़ी को हृदय पर लगाए।

चितं चितपथे दत्वा प्रभवेद्वायुसाधनम्।

महामुद्राभवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिका।।२६।।

मन को मन के मार्ग में लगाकर वायु का संधान करे यही मन के मार्ग में लगाकर वायु साधन करे यही सब तंत्रों में गोपनीय महामुद्रा कही गयी है।

वामाङ्गेन समसभ्यस्य दक्षागेंनाभ्यसेत्पुनः।

प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः।।३०।।

वामांग से अभ्यास करके दायें अंग से पुनः अभ्यास करें। नियत मन से योगी प्राणायाम को सम करेगा।

जीवनन्तु कषायस्य पातकानां विनाशनम्।

कुण्डलीतापनं वार्योब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम्।।३२।।

जीवन में आकर्षण होकर पातकों का विनाश होता हैं। कुण्डलिनी का जागरण और वायु का ब्रह्मरंध्र में प्रवेश होता हैं।

कपिल मुनि को महामुद्रा करने से ही सिद्धि मिली थी। महामुद्रा का अभ्यास करने से पूर्व अभ्यासी को कुछ समय तक खेचरी, शाम्भवी, मूलबंध तथा कुम्भक का अभ्यास कर उनमें दक्षता प्राप्त कर लेनी चाहिए। मूलाधार, विशुद्धि, आज्ञा तीनों चक्रों पर महामुद्रा करते समय सजगता रखनी चाहिए। महामुद्रा से अनुकंपी और परानुकंपी तंत्रिका तंत्र में संतुलन आता है। महामुद्रा के अभ्यास से कफ, बवासीर, अस्थमा, प्लीहा के रोग गले की बीमारी और बुखार आदि में लाभ प्राप्त होता हैं।

महामुद्रा से कुण्डलिनी जाग जाती है इससे मस्तिष्क की क्रियाएँ और मस्तिष्क से उत्पन्न तरंगे धीरे-धीरे शांत होती है और मनुष्य को सहज ध्यान की अवस्था में ले जाती है। यह मुद्रा मूलाधार और आज्ञा चक्र को जोड़ने वाले ऊर्जा परिपथ को उद्दीपक करती है संपूर्ण तंत्र प्राण से आवेशित हो जाता है जिससे सजगता बढ़ती हैं।

५. योनिमुद्रा

नादयोग का अभ्यास होते हुए भी हठयोग में योनी मुद्रा की चर्चा इसलिए की गई है कि इसके द्वारा यह प्रयास किया जाता है कि कुम्भक के अभ्यास से और मंत्र सजगता के

साथ अपनी चेतना को षट्चक्रों में घुमाकर कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत किया जाए। सोऽहम वह मै हूँ। इस पर चिंतन करते-करते जब शक्ति का संयोग शिव के साथ होता है तब चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में जाग्रति की अनुभूति लगती है।

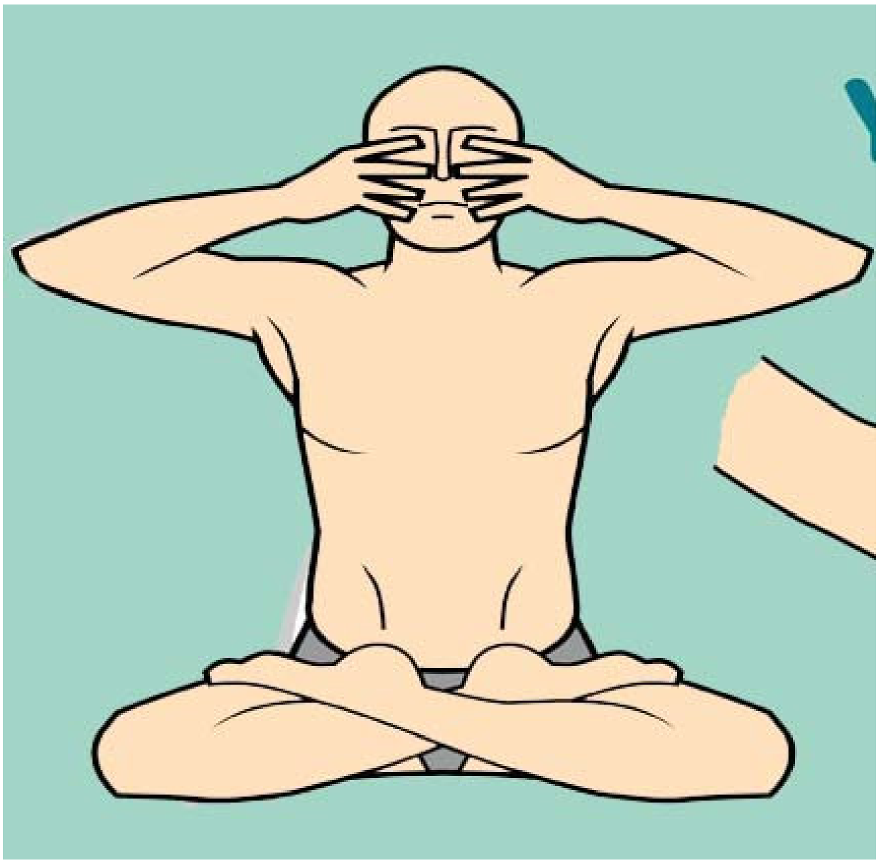

घेरण्ड संहिता में वर्णन मिलता है -

सिद्धासनं समासाध कर्णुचर्क्षुनसामुखम्।

अंगुष्ठतर्जनी मध्यानाभाधे पिदधीत वे।।४६।।

प्राणमाकृष्य काकीभिरपाने योजयेततः।

षट् चक्राणि क्रमाध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधी।।५०।।

चैतन्यमानयदेवी निद्रिता या भुजंगिनी।

जीवने संहिता शक्ति समुत्याप्य पराम्बुजे।।५१।।

अर्थ - सिद्धासन में बैठे और दोनों हाथों के अंगूठे से मध्यमाओं से नासिका को और अनामिका से मुख को बंद करें। काकी मुद्रा द्वारा प्राण को खींचकर अपान में मिला दे और शरीरस्थ षट्चक्रों का ध्यान करते हुए अथवा हंस मंत्र से कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर उसके साथ ही जीवात्मा को सहस्त्रार में ले जाए।

इसका योनि मुद्रा नाम इसलिए पड़ा कि गर्भ में जिस प्रकार की चेतना मनुष्य की रहती है। चेतना का जो मूल रूप रहता है उसी चेतना का अनुभव इस अभ्यास में किया जाता है। वास्तव में यह मुद्रा हठयोग की क्रिया नहीं है यह नादयोग की क्रिया है। योग में इसका दूसरा नाम भी है 'षण्मुखी मुद्रा' इस प्रकार कुण्डलिनी के रूप में त्रिपुर भैरवी जो हमारे भीतर सुषुप्त है उसे चैतन्य किया जाता है जाग्रत किया जाता है। जीव भाव के साथ 'मै' भाव के साथ आत्मा को या आत्मतत्व को देवी के इसी चेतन स्वरूप के साथ ऊपर चढ़ाया जाता है।

अपने आपको उसमें लीन किस प्रकार किया जाता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' मै ब्रह्मा हूँ। इस महाकाव्य के अनुभव से मै केवल दो को देख नहीं रहा हूँ क्योंकि यदि मैं दो को देखता हूँ तो इसका अर्थ हुआ कि मै अलग और ये दो अलग हैं। लेकिन योनि मुद्रा की साधना में शुरू से ही यह भाव जाग्रत करने के लिए कहा जा रहा है कि वह मै हूँ 'सोऽहं'। जब 'वह मै हूँ' और मै वह है तब मै उस तत्व से एक हूं उससे भिन्न नहीं हूँ। इस प्रकार तत्व चिंतन करके परम चेतना को पाया जा सकता है।

६. नादयोग

लययोग द्वारा कुण्डलिनी साधना का आधार नाद धारणा है। नाद द्विविध आहत एवं अनाहत दोनों ही नादों का उद्गम स्त्रोत कुण्डली या कुण्डलिनी शक्ति ही मानी जाती है।

'षट्चक्रनिरुपण' ग्रंथ में वर्णन मिलता है -

''कला कुण्डलिनी चैव, नाद शक्ति समन्विता'' अर्थात् कला कुण्डलिनी, नाद-शक्ति से संयुक्त है।

<u>आज्ञा</u> - यह भ्रूमध्य में दो दलों का होता है।

<u>सहस्रार</u> - यह मस्तक पर हजार दलों का होता है। इन चक्रों के विभिन्न रंगों एवं दलों में मातृका - अक्षर तथा चक्रों की अधिष्ठात्री योगनियों का निवास होता है।

<u>सुषुम्ना मार्ग -</u>

मेरूदण्ड के भीतर इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ है। दोनो और इडा और पिंगला और मध्य में सुषुम्ना। यही कुण्डलिनी शक्ति के गमनागमन का मार्ग है। चार दलों वाले मूलाधार-चक्र में त्रिकोण के मध्य स्वयंभू-लिंग को साढ़े तीन घेरा देकर तन्तुओं के समान अतिसूक्ष्मरूपा कुल-कुण्डलिनी सुषुप्तावस्था में स्थित रहती है। इसी का जागरण करने पर साधक शक्ति-सम्पन्न होते हैं।

<u>कुण्डलिनी-जागरण विधि</u>

गुरूद्वारा कुण्डलिनी मन्त्र का उपदेश ग्रहण कर उस मन्त्र का यथाविधि जप करते हुए इसके अतिसूक्ष्म रूप को मन्त्ररूप में परिणत करके कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण किया जाता है। जागरण के पश्चात कुण्डलिनी मूलाधार से उठकर सुषुम्ना नाड़ी के मध्य से सहस्रार में जाकर वहाँ विराजमान भगवान सदाशिव को अमृत से तृप्त करती हुई और स्वयं भी शिव-सायुज्य से परम आनन्दित होती हुई साधक के समस्त शरीर को अमृत से आप्लवित करती है और पुनः अपने स्थान मूलाधार में आ जाती है। पुनः इसी प्रकार गमनागमन करती हुई साधक को योगसिद्धियाँ प्रदान करती है। इस प्रकार, प्रसन्न एवं जाग्रत-कुण्डलिनी शक्ति कामधेनु और वाञ्छा-कल्पतरू की तरह साधक के समस्त मनोरथों को पूर्ण करती है।

कुण्डलिनी-स्तुति के श्लोकों में इसी का वर्णन है। स्तुति का उपसंहार अन्तिम श्लोक में मन्त्रमयी कुण्डलिनी शक्ति का वर्णन किया गया है। यह मन्त्रमयी कुण्डलिनी-शक्ति मस्तक में रक्तवर्ण के नीचे मुखवाले सहस्रार - दल के पूर्ण चन्द्रमण्डल से अमृत धारा का वर्षण करती हुई सुधापान से मत्त होकर पुनः पुनः मूलाधार से सहस्रदल कमल में जाती और पुनः मूलाधार में आ जाती है। इस प्रकार, कुण्डलिनी शक्ति के चिन्तक साधक के सभी पाप-पुञ्ज विनष्ट हो जाते तथा वह साधक जरा मृत्यु से रहित होकर मूर्तिमान् अनंग की भाँति परमसुन्दर नील-कुञ्चित - कुन्तल होकर चिरायु होता है। इस प्रकार, शक्ति-साधना में मन्त्रयोग का ही प्राधान्य स्पष्ट है, क्योंकि मन्त्रयोग द्वारा ही कुण्डलिनी-शक्ति का सरलता से जागरण संभव है। इसलिए श्रीविद्या एवं त्रयक्षरी, पञ्चदशाक्षरी, षोडशी, महाषोडशी आदि मन्त्रों का तन्त्रशास्त्र में बड़ा ही गौरवपूर्ण वर्णन मिलता है। उक्त मन्त्रों का कुण्डलिनी-शक्ति से साक्षात् सम्बन्ध है। अतः शक्ति-उपासना का प्रधान अंग कुण्डलिनी-शक्ति है।

शारदातिलक में कुण्डलिनी-स्तुति इस प्रकार है--

"मूलोन्निद्रभुजंग राजसदृशीं यान्तीं - सुषुम्नान्तर भित्त्वाऽऽधार समूहमाशु विलसत्सौदामिनीसन्निभाम् व्यायोम्भोजगतिन्दुमण्डलगलद् दिव्यामृतौघेः पतिं सम्भाव्य स्वगृहागताम् पुनरिमां सञ्चिन्तयेत् कुण्डलीम् "!!1!!

"हंसं नित्यमनन्तमद्वयगुणं स्वाधारतो- निर्गता

शक्तिः कुण्डलिनी समस्तजननी हस्ते गृहीत्वा च तम्।

याता शम्भुनिकेतनं परसुखं तेनानुभूयम् स्वयं यान्ती स्वाश्रयमर्क

कोटिरूचिरा ध्येया जगन्मोहिनी" !!2!!

"अव्यक्तं परबिम्बमञ्चितरूचिं नीत्वा शिवस्यालयं

शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासन्निभा।

आनन्दामृतकन्दगं पुरमिदं चन्द्रार्क कोटिप्रभं

संवीक्ष्य स्वगृहं गता भगवती ध्येयानवेद्या गुणैः" !!3!!

"मध्ये वर्त्म समीरणद्वयमिथस्संघट्टसंक्षोभजं

शब्दस्तोममतीत्य तेजसि तडित्कोटिप्रभाभास्वराम्।

उद्यन्तीं समुपास्महे नवजपा-सिन्दूरसान्द्रारूणां

सान्द्रानन्दसुद्यामयीं परशिवं प्राप्तां परां देवताम् !!4!!

"गमनागमनेषु जा (ला) ङिकी सा ननुयाद् योगफलानि कुण्डली।

मुदिना कुलकाम चैनुरेषा भजनांकांक्षितं कल्पवल्लरी।।" !!5!!

"आधारस्थित शक्ति बिन्दुनिलयां नीवारशूकोपमां नित्यानन्दमयीं गलतपरसुधावर्षैः प्रबोध प्रदैः। सिक्त्वा षट्सरसीरूहाणि विधि-वत्कोदण्ड मध्योदितां ध्यायेद् भास्वरबन्धु जीवरूचिरां संविन्मयीं देवताम्।। 6।।"

"हुत्पंकेरूहभानु बिम्बनिलयां विद्युल्लतामन्थरां बालावर्गरूण तेजसा भगवतीं निर्भर्त्सयन्ती तमः नादाख्यां परमर्ध चन्द्रकुटिलां संविन्मयीं शाश्वतीं यान्तीमक्षररूपिणीं विमलधीर्ध्यायेद्विभुं तेजसाम्" ।।7।।

"भाले पूर्णनिशापति कर प्रतिभटां नीहारहारत्विषा सिञ्चन्तीममृतेन देवममितेनानन्दयन्तीं तनुम।

वर्णानां जननीं तदीयवपुषा संख्यात्यविश्वं स्थितां ध्यायेत् सम्यगनाकुलेन मनसा संविन्मयी माम्बिकाम् ।।8।।

"मूले भाले हृदि च विलसद्दर्णरूपा सवित्री पीनोतुंगस्तन भनतमलसन्मध्यदेशा महेशी । चक्रे गलितसुधया सिक्तगात्री प्रकामं

दद्यादाद्या श्रियमविकली वाङ्मयी देवता वः" ।। 9।।

"आधार बन्ध प्रमुख क्रियाभिः समुपस्थिता कुण्डलिनी सुधाभिः।

त्रिधामबीज शिवमर्चयन्ती शिवांगना वः शिवमातनोतु" ।। 10 ।।

"निजभवननिवासादुच्चरन्ती विलासैः पथि पथि कमलानां चारू हासं विधाय।

तरूण तरणिकान्तिः कुण्डली-देवता सा शिवसदनसुधाभिर्दीपयेदात्मतेजः" ।। 11।।

"सिन्दूरपुञ्जनिभमिन्दुकलावतंसभानन्दपूर्णनयनत्रय शोभिवक्त्रम।

आपीनतुंगकुचनम्रमनंगतन्त्रं शम्भोः कलत्रममितां श्रियमातनोतु" ।।12।।

"वर्णैरर्णवषड्दिशारविकला चक्षुर्विभक्तैः क्रमा दाद्येः

सादिभिरावृतान् क्षहयुतैः षट्चक्र मध्यानिमान्

डाकिन्यादिभिराश्रितान् परिचितान् ब्रह्मादिभिर्दैव ते--

र्भिन्दाना परदेवता त्रिजगतां चिते विधत्तां मुदम्" ।।13।।

"आधाराद् गुणवृत्तशोभिततनुं लिंगत्रयं सत्वरं भिन्दन्तीं कमलानि

चिन्मयधनानन्द प्रबोधोत्तरम्। संक्षुब्ध ध्रुवमण्डलामृतकर प्रस्यन्द

मनामृतस्रोतः कन्दलिता भिाभमन्दतडिदाकारां शिवां भावयेत्" ।।14।।

"मूलाधारे त्रिकोणे तरूण तरणिभा भास्वरे ब्रिभमन्तं
कामं बालार्ककालानलजरठकुरांगंकोटिप्रभाभम्।
विद्युन्मालासहस्रद्युतिरूचिरलसदन्धु जीवाभिरामं
त्रै गुण्याक्रान्त बिन्दुं जगदुदय लयैकान्त हेतुं विचिंत्य"।।15।।

"तस्योर्ध्वं विस्फुरन्तीं स्फुटरूचिरतडितपुञ्जयाभास्वरांगी मुद्गच्छन्तीं सषुम्नामनु सरणिशिखाभाललाटेन्दुबिम्बम्। चिन्मात्रां सूक्ष्मरूपां जरादुदयकरीं भावना मात्रगम्यां मूलं या सर्वधाम्नां स्फुरति निरूपमा हुंकृतोदञ्चितोरः" ।।16।।

"नीता सा शनकैरधोमुखसहस्रारारूणाजोदरे श्चयोतत्पूर्ण -
शशांकबिम्बमधुनःपीयूषधारास्रतिम्।
रक्तां मन्त्रमयीं निपीय च सुधानिष्यन्दरूपा विशेद भूयोऽप्यात्मनिकेतनं पुनरपि प्रोत्थाय पीत्वा विशेत् । " ।।17।।

कुण्डलिनी-स्तुति में प्रदत्त विधानों का जिक्र आगे किया जायेगा, किन्तु योगशास्त्र प्रतिपादित कुण्डलिनी जागरण विषय में तथ्य निरूपित है।

योग का अर्थ है स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाना। बाहर से अन्तर्मुख होना। चित्त की वृतियों द्वारा हम स्थूलता की ओर जाते हैं, बहिर्मुख होते हैं। आत्मतत्व से प्रकाशित चित्तअहंकाररूप वृत्तिद्वारा, अहंकार इन्द्रियों और तन्मात्रारूप वृतियों के द्वारा, तन्मात्राएँ सूक्ष्म और स्थूलभूत और इन्द्रियाँ विषयों की वृत्तिओं के द्वारा बहिर्मुख होती हैं, जितनी वृत्तियाँ बहिर्मुख होती हैं। उतनी ही उनमें

शरीर को धारण करनेवाली है, ओंकाररूप, ज्योत्स्नात्मिका, शुभात्मिका वह परादेवी कुण्डलिनी शक्ति है। गुणपरा, गुणरूपा और परा शक्ति कुण्डलिनी, सत्वरज-तम-गुणत्रयरूप में विधुल्लता की सम्पूर्ण प्रभा को धारण करने वाली है, जिस समय साधक से मन्त्र देवता और गुरू के साथ ऐक्य भावना करने के लिए कहा जाता है, उस समय साधक जिस इष्ट देवता का साधन करता है, वही एकमात्र परम देवता है, यह समझना भूल है। भगवत्पाद शंकराचार्य ने 'प्रपञ्चसार तन्त्र में हृल्लेख्या बीज के सम्बन्ध में कहा है **"यां ज्ञात्वा सकलमपास्य कर्मबन्धं तद्विष्णोः परमं पदं प्रयाति लोकः। तामेतां त्रिजगति जन्तुजीवभूतां हृललेख्यां जपत च नित्यमर्चयीत।।"** अतः स्पष्ट है कि शक्ति-बीज-साधन के द्वारा भी विष्णुपद प्राप्त किया जाता है। " साधक के उपसाय या इष्टदेवता उसकी गुरूनिर्दिष्ट ब्रह्ममूर्ति मात्र है", यह पहले ही कहा जा चुका है। शाक्ततन्त्र में शक्ति को प्रधानता दी जाती है, इसी से ह्रीं कार बीच और कुण्डलिनी शक्ति की आराधना को प्रधानता दी जाती है, शिव और शक्ति के परस्पर - सम्बन्ध को 'अविनाभाव' कहा गया है। अविनाभावापन्न ही जीवन्मुक्त है।

कुण्डलिनी-जागरण-विधि

समस्त शक्ति एक स्थल में कुण्डली बनाकर सर्पवत् बैठी रहती है। इसलिये, इसका नाम कुण्डलिनी-शक्ति है। यह शक्ति मातृगर्भस्त सन्तान में जाग्रत रहने पर भी सन्तान के भूमिष्ठ होते ही निद्रित सी हो जाती है। मुमुक्षु साधक आत्म कल्याण के निमित्त इस कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा उर्ध्वगतिवाली करके क्रम से षट्-चक्र - भेदनद्वारा सहस्रार में ले जाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार,

उसे ऐसा करने में समर्थ होने पर उसका दिव्य नेत्र खुल जाता है और दिव्य ज्ञान शक्ति के बल से यह अपने स्वरूप को देखकर कृतकृत्य हो जाता है-- जन्म-मृत्यु के कष्ट से मुक्त हो जाता है।

कुण्डलिनी-शक्ति का स्थान

मनुष्य मात्र के मेरुदण्ड के उभय पार्श्व में - दोनों भाग में इडा, पिंगला नामक दो नाड़ियाँ है। इन दोनो नाड़ियों के मध्य में अतिसूक्ष्म एक दूसरी नाड़ी है, जिसका नाम सुषुम्ना है। इसके निम्न भाग में चतुर्दल त्रिकोणाकार एक कमल है, इस कमल पर कुण्डलिनी शक्ति सर्पाकार कुण्डली बनाकर स्थित है। यथा-

> **"पश्चिमाभिमुखी योनिगुदमेढ्रान्तरालगा।**
> **तत्र कन्दं। समाख्यातं तत्रास्ति-कुण्डली सदा।।**
> **संवेष्ट्य सकलां नाड़ी सार्धत्रिकुटिलाकृतिः।**
> **मुखे निवेश्य सा पुच्छे सुषुम्ना विवरे स्थिता।।"**

गुदा और लिंग के बीच में निम्नाभिमुख एक योनिमण्डल है, जिसे कन्द-स्थान भी कहा जाता है। उसी स्थान में कुण्डलिनी शक्ति समस्त नाड़ियों को वेष्टित करती हुई, साढ़े तीन फेरा भरकर, अपनी पूँछ मुख में लिए, सुषुम्ना के छिद्र को बन्दकर सर्प के सदृश अवस्थान करती है।

"सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया त्वया। अहिवत् संधिसंस्थाना वाग्देवी बीजसंज्ञका।।"

सर्प-तुल्या यह कुण्डलिनी-शक्ति पूर्ववर्णित स्थान में निद्रित रहती है, परन्तु अपनी दीप्ति से स्वयं दीप्तियती है। वह सर्प के समान सन्धिस्थान में वाग्बीज के रूप में स्थित है।

"ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भयास्वर्णभास्वरा।

सत्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रय प्रसूतिका।

यह कुण्डलिनी-शक्ति व्यापक परमात्या की शक्ति है। यह निर्भय तथा सुवर्णमय दीप्तिमती है तथा सत्त्व, रज और तमोग्रणों की प्रसूति है। **हठयोग-प्रदीपिका** में कहा गया है

"कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।

बन्धनाय च मूढ़ानां पस्तां वेत्ति स योगवित्।।

कन्द के ऊपरी भाग में कुण्डलिनी-शक्ति सो रही है।

जो योगी इसका उत्थापन करता है, जगाता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है। कुण्डलिनी-शक्ति को जगाने की युक्ति जाननेवाला ययार्थ रूप से योग को जानता है।

अतः जो पुरूष प्राण को दशमद्वार-सहस्रार में ले जाना चाहता है उसे उचित है कि वह गुरू की सन्निधि में एकाग्रचित होकर युक्ति से उस शक्ति को जाग्रत करे। शिवसंहिता में कहा गया है-

"सुप्ता गुरूप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।

तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।।"

तस्यात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्। ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्"

अर्थात् गुरू की कृपा से निद्रिता कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर, मुलाधार आदि षट्चक्र स्थित पदम तथा ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है। अतः सर्वविधप्रयत्न से ब्रह्मरन्ध्र के मुख में स्थित उस निद्रिता परमेश्वरी शक्ति कुण्डलिनी को प्रबोधित करने के लिए प्राणायाम, मुद्रा आदि का अभ्यास करना चाहिए।''

बन्धत्रययुक्त प्राणायाम, मुद्राओं तथा भावनाओं द्वारा धीरे-धीरे कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होती है। इस शक्ति को जाग्रत् करने के लिए शास्त्रोक्त उपायों के रहते हुए भी परिपक्व अनुभवी उपदेष्टा की विशेष आवश्यकता है; क्योंकि शास्त्रीय उपाय-समूहों की विधि तथा अधिकार रहने पर भी, उपयोगिता का विचार उपयुक्त अनुभवी गुरू ही कर सकता है।

अतः मुमुक्षु साधक अनुभवी सदगुरू से इस शक्ति के जागरण की कुंजी प्राप्त करें। केवल ग्रन्थों पर निर्भर होने से अनर्थ की सम्भावना बनी रहती है।

1. सर्वप्रथम साधक नेती, धोती, बस्ति आदि क्रियाओं द्वारा घट-देह-शुद्धि करें।
2. तदनन्तर, अष्टप्रकार के प्राणायाम की शिक्षा ग्रहण करें यद्यपि षटचक्र भेदन में सभी प्रकार के प्राणायामों की आवश्यकता नहीं है, तथापि योगियों के लिए सभी प्रकार के प्राणायाम की शिक्षा उपयोगी है और इससे अभ्यास की पटुता भी आती है।
3. प्राणायामों के पीछे मुद्राएँ, अर्थात् महामुद्रा, महाबेध, महाबन्ध, विपरीतकरणी, तारण, परिधान-युक्ति चालन, शक्तिचालनी आदि

आवश्यक मुद्राएँ भी अभिप्रेत है। बन्धत्रयसहित ये सभी प्राणायाम तथा मुद्राएँ कर्तव्य है। अन्यथा विषमय फल होने की सम्भावना बनी रहती है।

4. राजयोग की विधि के अनुसार षट्चक्रों में भावनाएँ करनी पड़ती है। पतञ्जलि प्रभृति योगाचार्यों ने प्राणायाम को योग का चतुर्थ आवश्यक अंग माना है। परन्तु जैनाचार्यों ने इसे आवश्यक नहीं समझा है। श्री हेमचन्द्र प्रभृति विद्वानों ने तो इसका निषेध भी किया है

5. तत्राप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः में कदर्थितम्। प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याचित्तविप्लवः।। (हैमयोगशास्त्र)।

प्राणायाम हठयोग है जिसे जैनाचार्यों ने योगमार्ग में अनावश्यक माना है। हरिभद्रसूरि ने कहा है कि ध्यान में बलात्कार से श्वासोच्छवास का निरोध नहीं करना चाहिए। पातञ्जलयोगसूत्र की वृति में **'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'** (योगसूत्र 1/34) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए श्रीयशो विजय जी कहते हैं।

'अनैकान्तिकमेतत्। प्रसह्य ताभ्या मनोव्याकुलीभावात्। ऊसासं ण णिरूं भइ।' (आवश्यकनिर्युक्ति) तथा ' इत्यादिपारमर्षेण तन्निषेधच्च तात्पर्य है कि किसी साधक को इससे लाभ हो तो वह प्राणायाम करे, इसमें कोई निषेध नहीं है; परन्तु सब के लिए प्राणायाम को आवश्यक अंग जैन आचार्य नहीं मानते।

भारतीयदर्शन- परम्परा में वैदिक, बौद्ध और जैन- ये तीन मुख्य दर्शन हैं। ये तीनों दर्शन आत्मा, पुण्य-पाप, परलोक और मोक्ष इन तत्वों को मानते हैं, इसीलिए ये आस्तिक दर्शन हैं।

पंचम अध्याय

योग एवं तन्त्र में कुण्डलिनी जागरण की विभिन्न विधियाँ

तान्त्रिक दृष्टिकोण से कुण्डलिनी जागरण की विधि--

वेदवर्णित जगद् व्यापिनी आद्या शक्ति ब्रह्मशक्ति है। इस ब्रह्मशक्ति का विकास अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमय दृश्य-प्रपंच है। शास्त्रों में इसे देवी, महादेवी, शिवा, प्रकृति,भद्रा, रूद्रा, नित्या, गौरी, धात्री, तथा शक्ति आदि अनेक नामों से विवेचित है। शास्त्रों में इन प्राणशक्तियों के केंन्द्रीभूत शक्ति को 'देवी' कुण्डलिनी कहा गया है। शैल-समुद्र अरण्यप्रान्त को धारण करनेवाली धरित्री का आधार जैसे अनन्तनाग है, उसी प्रकार शरीरस्थ समस्तगति और क्रिया-शक्ति का आधार कुण्डिलिनी शक्ति है। यह शक्ति-समस्त- शक्ति एक स्थल में कुण्डली बनाकर सर्पवत् बैठी रहती है, इसलिए इसका नाम कुण्डलिनी शक्ति है। यह शक्ति मातृगर्भस्थ सन्तान में जाग्रत रहने पर भी सन्तान के भूमिष्ठ होते ही निद्रित सी हो जीती है। मुमुक्षु साधक आत्म कल्याणार्थ कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्ना नाडी के द्वारा उर्ध्वगतिवाली करके क्रम से षट्चक्र भेदन द्वारा सहस्रार में ले जाने के लिए प्रयत्न शील रहता है। इसे इसप्रकार करने में समर्थ होने पर उसका दिव्य नेत्र खुल जाता है औ दिव्य ज्ञान शक्ति के बल से यह अपने स्वरूप को देखकर कृतकृत्य हो जाता है। जन्म-मृत्यु के कष्ट से मुक्त हो जाता है।

कुण्डलिनी-शक्ति का स्थान-

मानव मात्र के मेरूदण्ड के उभय पार्श्व में इडा पिंगला नामक दो नाड़ियाँ है। इन दोनों नाडियों के मध्य में अतिसूक्ष्म एक दूसरी नाडी है, जिसका नाम सुषुम्ना है। इसके नीचे के भाग में चतुर्दल त्रिकोणाकार एक कमल है, इस कमल पर कुण्डलिनी शक्ति सर्पाकार कुण्डली बनाकर स्थित है।

" **पश्चिमाभिमुखी योनिगुदमेढान्तरालगा। तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ति कुण्डली सदा।। संवेष्ट्य सकलां नाडीं सार्धत्रिकुटिलाकृतिः मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्ना विवरे स्थिता।।**" गुदा और लिंग के बीच में निम्नाभिमुख एक योनि मण्डल है, जिसे कन्द स्थान भी कहा जाता है। उसी स्थान में कुण्डलिनी शक्ति समस्त नाडियों को वेष्टित करती हुई, साढ़े- तीन फेरा भरकर, अपनी पूँछ मुख में लिए सुषुम्ना के छिद्र को बन्द कर सर्प-सदृश अवस्थित है। '**सुप्ता नागोपमा- ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया। अहिवत सन्धि संस्थान वाग्देवी बीज संज्ञका।।**" अपनी दीप्ति से स्वतः दीप्तिमती सर्पतुल्या कुण्डलिनी-शक्ति वाग्वीज के रूप में सन्धिस्थान में स्थित है।

'**केयं शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा। सत्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका।।**" यह कुण्डलिनी शक्ति व्यापक परमात्मा की शक्ति है। यह निर्भय तथा सुवर्ण सर्दृश दीप्तिमती है तथा सत्व, रज और तमोगुणों की प्रसूति है।

योग एवं तन्त्र के पारपेक्ष्य में कुण्डलिनी जागरण

'हठयोग प्रदीपिका' में कहा गया है-

"**कन्दोर्ध्वं कुंडलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।**

बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेति स योगवित्।।"

कन्द के उपरी भाग में शक्ति कुण्डलिनी सो रही है। जो योगी उसका उत्थापन करता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है। कुण्डलिनी शक्ति को जगाने की युक्ति जाननेवाला ही योग को यथार्थ जानता है। अतः जो पुरूष प्राण को दशमद्वार (सहस्रार) में ले जाना चाहता है, उसे उचित है कि वह गुरू के सान्निध्य में एकाग्रचित होकर युक्ति से उस शक्ति को जाग्रत करे। शिवसंहिता वहाँ साक्ष्यप्रमाण प्रस्तुत करती है-

"सुप्ता गुरूप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली। तदा सर्वाणि पद्मानि भिधन्ते ग्रन्थयोऽपि च।। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्। ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं[1] समाचरेत्।"

खेचरी मुद्रा-जीभ को उपर की ओर प्रतीप कर तालु-कुहर (जीभ के अपर तालु के बीच का गड्ढा) में लगाये रखने का नाम खेचरी मुद्रा है। इसके निमित्त जिह्वा को बढ़ाने के तीन साधन किये जाते हैं।

छेदन, चालन और दोहन।

प्रथमसाधन-छेदन-

जीभ के नीचे के भाग में सूताकार वाली एक नाड़ी नीचे वाले दाँतों की जड़ के साथ जीभ को खींचे रखती है। इसलिए जीभ को उपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ी के दाँतों के निकटवाले एक ही स्थान पर स्फटिक का धारवाला

टुकड़ा प्रतिदिन प्रातः काल चार-पाँच बार फेरते रहें। कुछ दिनों तक ऐसा करने पर वह नाड़ी उस स्थान में पूर्ण कट जायगी। इसप्रकार क्रमशः उससे उपर-उपर एक-एक स्थान को जिह्वामूल तक काटने चले जायँ। स्फटिक फेरने के पश्चात् माजूफल का कपड़छान चूर्ण (Tarin Acid) जीभ के उपर-नीचे तथा दाँतों पर मले और उन सब स्थानों से दूषित जल निकलने दें। माजूफल-चूर्ण के अभाव में अकरकरा,नून, हरीतकी कत्थे का चूर्ण क्षेदन किये हुए स्थान पर लगावें। यह छेदन विधि सर्वसुगम है और इससे किसी प्रकार की हानि होने की सम्भावना नहीं है। चालन-दोहन- अँगूठे और तर्जनी अँगुली से या बारीक वस्त्र से जीभ को पकड़ कर चारों ओर उलट-फेर कर हिलाने और खींचने को चालन कहते हैं। मक्खन या घी लगाकर दोनों हाथों की अंगुलियों से जीभ का गाय के स्तनदोहन जैसे पुनः पुनः क्रमशः आकर्षण करने की क्रिया का नाम दोहन है। निरंतर अभ्यास करते रहने से अन्तिम अवस्था में जीभ इतनी लम्बी हो सकती है कि नासिका के उपर भ्रूमध्य तक पहुँच जाय। इस मुद्रा का अतिशय महत्व है। इससे ध्यान की अवस्था सुदृढ़ करने में बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वाओं के भी विभिन्न भेद दृष्टिगोचर हुए हैं। किसी जिह्वा में सूताकार नाड़ी के स्थान में मोटा मांस होता है, जिसके काटने में अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वा में न यह नाड़ी होती है और न मांस। उसमें छेदन की आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिए।

महामुद्रा

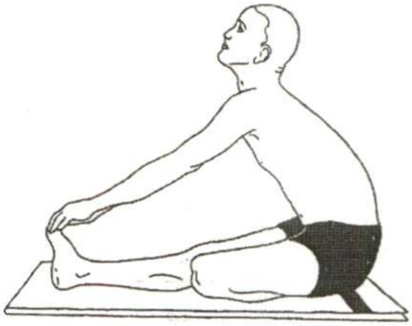

मूलबन्ध लगाकर बायें पैर की एड़ी से सीवन-(गुदा और अण्डकोष के मध्य का चार अँगुल स्थान) दबाया जाय ओर दाहिने पैर को फैलाकर उसकी अंगुलियों को दोनों हाथों से पकड़ लें। पाँच घर्षण करके बायीं नासिका से पूरक प्राणायाम करें और जालन्धर बन्ध लगायँ। पुनः जालन्धर-बन्ध खोलकर दाहिनी नासिका से रेचक प्राणायाम करें। यह वामांग-मुद्रा समाप्त हुई। इसीप्रकार दक्षिणांग में यह मुद्रा विधेय है।

1. अन्य विधि :- बायें पैर की एड़ी को सीवन (गुदा और उपस्थ के मध्य के चार-अँगुल भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैर को लम्बा फैलावें पुनः शनैः पूरक के साथ मूल तथा जालन्धर-बन्ध लगाते हुए दायें पैर का अँगूठा पकड़कर मस्तकको दायें पैर के घुटने पर जमाकर यथाशक्ति कुम्भक प्राणायम करें। कुम्भक के समय पूरक की हुई वायु को कोष्ठ में शनैः-शनैः फुलावें और ऐसी भावना करें कि प्राण कुण्डलिनी को जाग्रत करके सुषुम्णा में प्रवेश कर रह है, तत्पश्चात् मस्तक को घुटने से धीरे-धीरे रेचक करते हुए उठाकर यथास्थिति में बैठ जाये। इसीप्रकार, अन्य अंग से किया जाय।

प्राणायाम की संख्या तथा समय बढ़ता रहें। फल-मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि क्षुधा की वृद्धि और कुण्डलिनी का जाग्रत होना।

अश्विनीमुद्रा-

सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर योनि मण्डल के अश्व के सदृश पुनः पुनः सिकोड़ना अश्विनी मुद्रा कहलाती है। फल-यह मुद्रा प्राण के उत्थान और कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत करने में सहायक होती है। अपानवायु को शुद्ध ओर वीर्यवाही स्नायुओं को मजबूत करती है।

शक्ति चालिनी मुद्रा-

सिद्ध या पद्मासन से बैठकर हाथों की हथेलियाँ पृथ्वी पर रोप दें। बीस-पचीस बार धीरे धीरे दोनों नितम्बों को पृथ्वी उठा-उठाकर ताड़न करें। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओं से या वाम से या जो स्वर चल रहा हो उस नासिका से पूरक करके प्राणवायु को अपान वायु से संयुक्त करके जालन्धर बन्ध लगाकर यथा शक्ति कुम्भक करें। कुम्भक प्राणायाम के समय अश्विनी मुद्रा करें अर्थात् ग्रह्य प्रदेश का आकर्षण विकर्षण करता रहे। तदनन्तर जालन्धर बन्ध खोलकर यदि दोनों नासिका पुट से पूरक किया हो तो दोनों से या पूरक से विपरीत नासिकापुट से रेचक करें और निर्विकार होकर एकाग्रतापूर्वक बैठ जायँ। घेरण्डसंहिता में इस मुद्रा को करते समय बालिश्त भर चौड़ा, चार अँगुल लम्बा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्रा नाभि पर कटिसूत्रा से बाँध कर सारे शरीर पर भस्म मलकर करना कहा गया है।

फल - सर्वरोगनाशक और स्वास्थ्य वर्द्धक होने के अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति का जाग्रत करने में अत्यन्त सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभान्वित हों।

योनिमुद्रा-

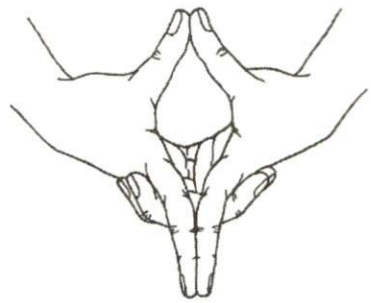

सिद्धासन से बैठ सम-सूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अँगुठों से दोनों कानों कों, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, दोनों मध्यमाओं से नाक के छिद्रों को बन्द कर और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठकाओं को दोनों ओठों के पास रखकर काकी मुद्राद्वारा अर्थात् जिह्वा को कौए की चोंच के समान बनाकर उसके द्वारा प्राणवायु को खींचकर अधोगत अपानवायु के साथ मिला दें। तत्पश्चात् ओम् का जाप करता हुआ ऐसी भावना की जाय कि उसकी ध्वनि के साथ परस्पर सम्बद्ध वायु कुण्डलिनी को जाग्रत कर षट्चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रदल-कमल में जा रही है। इससे अन्तर्ज्योति का साक्षात्कार होता है।

योगमुद्रा-

मूलबन्ध के साथ पद्मासन लगाकर प्रथम दोनों नासिका पुटों से पूरक कर जालन्धर बन्ध लगावें, पश्चात् दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर बायें हाथ से दायें हाथ की और दायें हाथ से बायें हाथ की कलाई को पकड़े शरीर को आगे

झुकाकर पेट के अन्दर एड़ियों को दबाते हुए सिर को जमीन पर लगा दें। इस प्रकार, यथा शक्ति कुम्भक करने के बाद सिर को जमीन से उठाकर जालन्धर-बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओं से रेचन करें। फल-पेट के रोगों को दूर करने और कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत करने में सहायक होती है।

शाम्भवीमुद्रा-

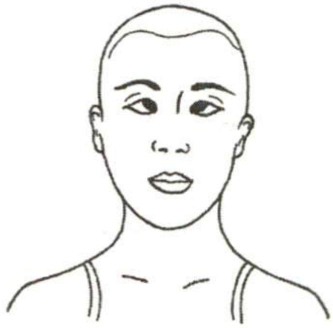

मूलबन्ध के साथ, उड्डीयान-बन्ध के साथ सिद्ध या पद्मासन से बैठकर नासिका के अग्रभाग या भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान करना शाम्भवीमुद्रा कहलाती है।

विपरीतकरणी मुद्रा-

शीर्षासन-कपालासन-पहले जमीन पर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उस पर अपने मस्तक को रखें। फिर दोनों हाथों के तलों को मस्तक के पीछे लगाकर शरीर को उलटा उपर उठाकर सीधा खड़ा कर दें। थोड़े ही प्रयत्न से मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासन के साथ भी की जा सकती है। इसको उर्ध्व-पद्मासन कहते है। आरम्भ में इसको दीवार के सहारे करने में आसानी होती है। फल-वीर्यरक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्नि का बलवान् होना, प्राण

की गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिदर्द आदि का दूरहोना, रक्त का शुद्ध होना, और कफविकार का दूर होना।

वज्रोली मुद्रा-

मुत्रत्याग के समय कई बार मूत्र को बलपूर्वक उपर की ओर आकर्षित करें। ऐसा करते समय यह ध्यातव्य है कि मूत्रधारा कितने नीचे से आकर्षित होकर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरंतर अभ्यास से जब मूत्रधार दस-बारह अँगुल नीचे से आकर्षित होकर खींची जा सके ओर उतारने में कुछ शक्ति लगानी पड़े तो समझा जाय कि वज्रोली क्रिया सिद्ध हो गई। तत्पश्चात् क्रमशः जल, दूध, तेल या घी, शहद, ओर अन्त में पारा खींचने को अभ्यास किया जाय।

बन्धत्रययुक्त प्राणायाम, मुद्राओं तथा भावनाओं द्वारा धीरे-धीरे कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। इस शक्ति के उत्थापन के लिए- शास्त्रोक्त उपायों के रहते हुए भी परिपक्व अनुभवी उपदेष्टा की विशेष आवश्यकता है। क्योंकि शास्त्रीय उपाय समूहों की विधि तथा अधिकार परत्व से उपयोगिता का विचार उपयुक्त अनुभवी गुरू ही कर सकता है। अतः मुमुक्षु साधकवृन्द अनुभवी सद्गुरू से इस शक्ति के जागरण की कुंजी प्राप्त कर लें। केवल ग्रन्थों पर निर्भर रहने से अनर्थ की सम्भावना बनी रहती है। साधक सर्वप्रथम नेती, धोती, वस्ति आदि क्रियाओं के द्वारा घट (देह) शुद्धि कर लें। पश्चात्, अष्ट प्रकार के प्राणायाम की शिक्षा ले लें। यधपि षट्चक्र भेदन में सभी प्रकार के प्राणायामों की आवश्यकता नहीं है, तथापि योगियों

के लिए सभी प्रकार के प्राणायाम की शिक्षा उपयोगी है। इससे अभ्यास का पटुत्व भी होता है। प्राणायाम के पीछे मुद्राएँ, अर्थात् महामुद्रा, महाबेध, महाबन्ध, विपरीत करणी, तारण, परिधानयुक्ति-चालन, शक्तिचालनी आदि आवश्यक मुद्राएँ भी सीखनी है। बन्धत्रयसहित प्राणायाम एवं मुद्राप्रदर्शन अपेक्षित है। अन्यथा विषम फल होने की सम्भावना है।

वस्तुतः ब्रह्माण्ड में जितनी शक्तियाँ हैं, उन सब को ईश्वर ने शरीर रूप पिण्ड के तीन शक्तिशाली नाड़ियों के केन्द्रभाग में एकत्र कर दिया है। किन्तु सुषुम्णा नाड़ी का मुख त्रिकोण योनिमण्डल के मध्य-स्थान पर जहाँ से यह मेरूदण्ड के भीतर होती हुई उपर की ओर चलती है, साधारण अवस्था में बन्द रहता है। इसी कारण, इसकी शक्ति अविकसित रहती है और प्राणशक्ति-केवल इडा और पिंगला द्वारा जो इस त्रिकोण मण्डल के वामा और दक्षिण भाग से उपर की ओर चक्रों को छूती हुई चलती है, समस्त शरीर में निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। इसी त्रिकोण योनिमण्डल में एक अतिसूक्ष्म विद्युत्-समान अभुदत-दिव्य शक्तिवाली नाड़ी लिपटी हुई पड़ी है। इसका दृष्टांत-**एक ऐसी सर्पिणी से दे सकते हैं, जो साढ़े तीन लपेट खाये हुए अपनी पूँछ को मुख में दबाये शंखाकार होकर सो रही हो**। यही कुण्डलिनी- शक्ति अभिहित है। यह नाड़ी बिना प्रयोग के सुप्त-जैसी पड़ी रहती है। इसका शरीर सम्बन्धी कोई कार्य बाह्य दृष्टि से प्रतीत नहीं होता है।

इस कारण, पाश्चात्य शरीर-शास्त्राज्ञ अभीतक इसका अभी तक अन्वेषण नहीं कर पाये हैं किन्तु प्राचीन युनान, रोम आदि देशो के तत्ववेत्ता भारतीय-ज्ञान प्रकाश-पुंज

से परिचित एवं आलोकित रहे हैं। अफलातून (Plato) तथा पाइथागोरस (Pythogorus) जैसे आत्मदर्शी विद्वानों के प्रबन्धों में इसका संकेत उपलब्ध है कि नाभि के पास एक ऐसी अद्‌भुत शक्ति विद्यमान है, जो मस्तिष्क के प्रभुत्व-यथा बुद्धि के प्रकाश को समुज्जवल कर देती है और जिससे मनुष्य के भीतर दिव्य-शक्तियाँ प्रकट होने लगती है। कुण्डलिनी देवी उठी हुई है। यह नाड़ी जिस किसी प्रकार से अपने लपेटों को खोलकर सीधी हो गई है। इसका मुख सुषुम्ना नाड़ी के भीतर चली गई। यही कुण्डली की जागृति है। जिस प्रकार सुसज्जित भवन प्रकोष्ठ के विद्युत तार नाना वर्ण के ग्लोब, झाड़ फनूस तथा विद्युत् यन्त्र, पंखे आदि लगे हों तो विद्युत बटन-दबाने से ये सभी क्रमशः प्रकाश विखेरते; अपना-अपना कार्य संचालित करने हैं, उसी प्रकार कुण्डलिनीरूप बटन दबाने से विद्युत प्रवाह (Electric current) सुषुम्ना तार में पहुँचता है; क्रमशः समस्त चक्र और नाडीसमुदाय प्रकाशित हो जाते हैं। जिस-जिस चक्र का संस्पर्शन कुण्डलिनी शक्ति करती है, वह अधोमुख से उर्ध्वमुख होकर विकसित होता जाता है। इसे आज्ञा चक्र पर पहुँचने पर सम्प्रज्ञात समाधि की ओर यह उन्मुख होती है। सहस्रार तक पहुँचने पर, इसकी सारी वृतियों का निरोध हो जाता है तथा उसे असम्प्रज्ञात-समाधि की वास्तविकी योग्यता प्राप्त हो जाती है इस अवस्था में मनुष्य को समस्त सांसारिक ज्ञान अतिशीघ्र प्राप्त हो जाता है। कुण्डलिनी शक्ति के सुषुम्ना के मुख में प्रवेश होने पर नाना प्रकार के अनुभव होते है, उनका प्रकट करना

वर्जित है। किन्तु कुण्डलिनी जाग्रत करने के कुछ उपाय तथा साधकों के लाभार्थ कुछ चेतावनी दी जाती है।

कुण्डलिनी जाग्रत करने के उपाय-

कुण्डलिनी शक्ति का जागरण शरीर के शुद्ध और सूक्ष्म होने पर होता है। सात्विक विचार, शुद्ध अन्तः करण, ईश्वर की सच्ची भक्ति और परिपक्व वैराग्य की अवस्था में एकाग्रता-निश्चल ध्यान से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। जहाँ कहीं आपाततः किसी मानव में अलौकिक शक्ति, अद्‌भुत चमत्कार तथा असाधारण ज्ञान-प्रतिभा का विकास दृष्टि गोचर हो तो बोधव्य है कि पूर्वजन्म के सात्विक संस्कारों के उदय होने या हृदय पर सात्विक प्रभाव डालनेवाली अन्य किसी घटना से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर सुषुम्ना के मुख में चली गई है।

जिस प्रकार पृथ्वी में लगे हुए नलद्वारा पानी उपर जाने के लिए केवल नल के उपर लगी हुई मशीन को चलाने से नली में से पानी स्वयं उपर आना आरम्भ हो जाता है, इसी प्रकार साधनपाद में चतुर्थ प्राणायाम की पाँचवीं विधिद्वारा कुण्डलिनी शक्ति को चेतन करके सुषुम्ना में लाने का यत्न किया जाता है। अतः प्राणायाम तथा मुद्राएँ कुण्डलिनी शक्ति को चेतन करने में सहायक हो सकती हैं। भस्त्रिका, कपाल-भाति, सूर्य भेदी प्राणायाम। महाबन्ध, महावेध, महामुद्रा खेचरी मुद्रा, विपरीत करणी-मुद्रा, अश्विनी मुद्रा, योनिमुद्रा, शक्ति चालिनी-मुद्रा इत्यादि।

आत्मस्थिति के जिज्ञासु के लिए अपने अन्तिमध्येय का लक्ष्य श्रेयाकर है। इन चक्रों पर दो प्रकार से ध्यान किया जाता है-

(1) सिद्धियों तथा शक्तियों के प्राप्त करने के उद्देश्य से चक्रों में दी हुई विशेष बातों के विशेष चक्र पर भावना के- साथ ध्यान किया जाता है। यह मार्ग तान्त्रिकों का है। लम्बा है।

(2) आध्यात्मिक-उन्नति तथा परमात्म प्राप्ति के उद्देश्य से इन सब बातों पर ध्यान न देकर केवल इन स्थानों को ध्येय बनाकर भीतर प्रवेश पाना होता है।

अभ्यासियो का लक्ष्य केवल परमात्मतत्व है।

कुण्डलिनी जाग्रत करने का एक अनुभूत साधन-

सर्वप्रथम योगसूत्र साधनपादसूत्र एकावन के चतुर्थ प्राणायाम की पाँचवीं विधि-अनुसार-प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में चार पाँच घंटे तक स्थिर करने का अभ्यास परिपक्व कर लें। उपर्युक्त योग्यता की प्राप्ति के पश्चात् शरीर के पूर्ण रूप से स्वस्थावस्था में कार्तिक से फाल्गुन अर्थात् नवम्बर मास से- मार्च तक के समय में सारे बाह्य व्यवहार से निवृत होकर शान्त एकान्त निर्विघ्न स्थान में साधना आरम्भ किया जाय।

वस्ती या एनिमा द्वारा उदर-शोधन करते रहें। आवश्यकता पडने पर, धौती और नेती भी करते रहें।

प्रातः काल भोजन बादाम का छौंका; बादाम की गिरी छिलके निकाली हुई, सोंफ, कासनी, काली मिर्च पीसकर छानकर पिसे हुए बादाम के साथ धीमें छौंक लिये जायँ। उसमें मुनक्के, अंजीर आदि डाले जा सकते हैं। रात को दूध।

महात्मा मूसा, जो यहूदी धर्म के प्रवर्तक हुए हैं, उनके समबन्ध में कहा गया है कि होरब पर योगसाधन के समय जब उनको प्रथम बार ईश्वर प्रकाश के दर्शन हुए तो वे उस तेज को न सहन कर सके। योगमार्ग से अनभिज्ञ होने के कारण उनके शिष्य नहीं समझ पायें हैं।

(1) कुण्डलिनी शक्ति के सुषुम्ना नाड़ी के अभ्यन्तर प्रविष्ट होने पर उसका प्रथम टक्कर मूलाधार चक्र पर लगता है, इससे उपस्थ इन्द्रिय पर दबाव पड़ता है अतएव मूलबन्ध सावधानी से लगाये जाते।

(2) उस समय स्थूल-जगत् से सूक्ष्म-जगत् में प्रवेश तथा स्थूल शरीर से समस्त प्राणों का प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी में अपना स्थान बना लेता, समस्त बाह्य-प्राण हाथ-पैर आदि से खिंचाव के साथ अन्दर जाने लगते, उस समय साधक भयभीत न हों।

(3) विद्युन्मय सूक्ष्म नाड़ियों चक्रो, तन्मात्राओं तथा तत्वादि के प्रकाश इतने अलौकिक होते है कि प्रथम अवस्था में साधक सहन नहीं कर पाते। इसी प्रकार सूक्ष्म जगत् के शब्द भी अपरिचित होने के कारण भीषण प्रतीत होते हैं। इसलिए साधक द्रष्टा बनकर देखते रहें, अन्यथा भयकी वृति आने के साथ ही कुण्डलिनी शक्ति जहाँ पहुँची है वहीं से पुनःलौट जा सकती है।

(4) सूक्ष्म जगत् स्थूल जगत् से अति विलक्षण है, वहाँ की सूक्ष्मता और विलक्षणता भी प्रथमावस्था में भय का कारण बन सकती है। उससे साधक भयभीत न हों।

(5) कभी-कभी अप्रिय और भयंकर दृश्य सम्मुख आते, कुछ हानि नहीं पहुँचा सकते, स्वयं हट जाते है।

(6) भृकुटि या ब्रह्मरन्ध्र में प्राण रूक जाने के बाद शवासन मे लेटकर ध्यान करने से शरीर के सीधे रहने के कारण प्राणों का प्रवाह कुण्डलिनी में खींचे जाने से पुनः उससे सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश होने में आसन से बैठने की अपेक्षा सुगमता से होता है, परन्तु इस तरह लेटकर क्रिया करना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक नहीं है। चित लेटने की अवस्था में जब मूलाधार चक्र पर सारे प्राणों के वेग का टक्कर लगता है और इसलिए उपस्थ इन्द्रिय पर अधिक खिंचाव पड़ता है उस समय मूलबन्ध पूरी दृढ़ता के साथ बँधा रहना चाहिए, अन्यथा दुर्बल क्षीण शुक्रवालों के लिए वीर्य या मूत्र निकलने की सम्भावना हो सकती है। जबतक कुण्डलिनी भृकुटि तक पहुँच न जाती है तब तक भय बना रहता है। आज्ञाचक्र पर स्थिर होने के बाद कोई भय नहीं रहता। उस समय समस्त सूक्ष्म जगत् का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यही वास्तविक समाधि है। सहस्रार में पहुँचने पर , सारी वृतियों का निरोध हो जाता है तथा असम्प्रज्ञात समाधि-सिद्ध होती हें इसमार्ग में आडम्बर से बचते हुए अपनी शक्तियों तथा अनुभवों को छिपाये हुए साधारणावस्था में रहना कल्याण कारी है। कहा भी गया है।

"यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्। न सुवृतं न दुर्वृवतं वेद काश्चित् स ब्राह्मणः।।" गूढ धर्माश्रितो विद्वानज्ञात चरितं चरेत्।

अन्धवजजडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्।।"

जिसको कोई सन्त या असन्त, अश्रुत या बहुश्रुत, सुवृत या दुर्वृत नहीं जानता, वह ब्रह्मनिष्ठ योगी है। गूढ़ धर्म का पालन करता हुआ विद्वान योगी दूसरों से

अज्ञातचरित रहे। अन्धे के समान, जड़ के सामन और मूक के समान पृथ्वी पर विचरण करे।

(पातंजलयोग प्रदीप द्वितीयपाद सूत्र 30, 31, 32, 46)।

इति पंचमो अध्याय।

६.७. तन्त्रे कुण्डलिनीशक्तिः :-

तान्त्रिकसाधनायां कुण्डलिनीशक्तेः विशेषो महिमा विद्यते। कुण्डलिनीजागरणं तान्त्रिकसाधनायाः प्रधानं लक्ष्यम्। कृण्डलिनीशक्तेराधारः देहस्य अन्तः विद्यते। इयं शक्तिः उद्धगामी भूत्वा षड्चक्रं भित्त्वा सहस्रारे विद्यमानेन विन्दुरूपेण परमशिवेन सह समभावं प्राप्नोति। एषा एव योगसाधनायाः चरमं स्थानं अद्वैतसिद्धेर्वा परमावस्था।

'कुण्डले अस्याः स्तः' इति कुण्डलिनी अर्थात् यस्याः कुण्डलद्वयं विराजते सा कुण्डलिनी। कुण्डद्वयं यथा - 'इडा''पिङ्गला' नाडी च। अनयोः द्वयोः नाड्योः अन्तः सुषुम्ना नाडी विराजते। सुषुम्नानाड्यामपि काश्चन नाड्यः विराजन्ते। एतासु चित्रिण्या नाड्या मध्ये कुण्डलिनी प्रवहति। अतः सुषुम्नानाड्याः उभयतः विद्यमाने इडीपिङ्गलाख्ये द्वे नाड्यौ द्वे कुण्डल्यौ।

कुण्डलिनी चिच्छक्तेः स्वरूपम्। अस्याः आत्मशक्तिः परावाग्वा अख्यान्तरम्। अस्याः मुला विद्या इत्याख्या -

'मूलाधारे मूलविद्यां विद्युत्कोटिसमप्रभाम्'

नाना तन्त्रग्रन्थानां नये कुण्डलिनी मूलाधारचक्रस्य अधः त्रिकोणे विराजते। अस्याः कुलकुण्डमित्यप्याख्यान्तरम्। आचार्यः शङ्करः इदं मतं समर्थयन् सौन्दर्यलहर्यामुवाच –

'स्वात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणी।'

इयं कुण्डलिनी जगत्प्रपञ्चस्य कारणस्वरूपा। अतः एनां शब्दब्रह्म इत्युच्यते। एषा कामस्य अग्नेः नादस्य तारस्य ॐकारस्य च स्वरूपात्मिका। केचन इमां शक्तित्वेन परमात्माशक्तित्वेन च आख्यान्ति –

'अप्यव्यक्तं प्रलपति यदा कुण्डलिनी तदा।
मूलाधारे विसरति सुषुम्नावेष्टिनी मुहुः।।
शक्तिः कामाग्निनादात्मा गूढमूर्तिः प्रवर्तते।
तदा तां तारमित्याहुरोमात्मेति बहुश्रुताः।।
तामेव शक्तिं ब्रुवते परमात्मेति चापरे।।'[720]

कुण्डलिनी शक्तिः मानवशरीरस्य तस्या ब्रह्माण्डीयमहाशक्तेः प्रतिनिधित्वं करोति या अखिलस्य ब्रह्माण्डस्य सृष्टीकर्त्री पालनकर्त्री च। Sir ARTHUR AVALON (Sir John Woodroffe) कथयति –kundalini is the static shakti ……,.It is the individual bodily representative of the great Cosmic Power (Shakti) which creates and sustains the universe.[721]

इयं कुण्डलिनी कुटिला अतः इयं सर्पवत् भुजङ्गी अथवा नागिनी शक्तिः इत्युच्यते। 'कुण्डलिनी कुटिलाकारसर्पवत् परिकीर्तिता' वामकेश्वरतन्त्रे अस्य स्वरूपमुक्तम् –

'भूजङ्गाकाररूपेण मूलाधारं समाश्रिता
शक्तिः कुण्डलिनी नामविसतन्तुनिभाऽऽशुभा।।

---

[720]प्र.सा.त. – २.५२, ५३, ५४

[721] The serpent Power – Arthur Avalon

मूलकन्दं फणाग्रेन दृष्ट्वा कमालकन्दवत्।

मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रं समाश्रिता।।'[722]

'षट्चक्रनिरूपणग्रन्थे' जगन्मोहिन्याः स्वरूपं वर्णितम्। इतोऽपि एषा विद्युतः प्रकाशत्वेन व्याख्याता –

तस्योर्ध्वे विसतन्तुसोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनीम्

ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं संछादायन्ती स्वयम्।

शांखावर्तनिभा नवीनचपलामालाविलासास्पदा

सुप्ता सर्पसमा शिवोपरिलसत्सर्द्धत्रिवृताकृतिः।।[723]

देवीपुराणे कुण्डलिनीं - 'यतः श्रृङ्गाटकाकारा कुण्डलिन्युच्यते ततः'[724] अर्थात् कुण्डलिनी त्रिकोणतैलभर्जनश्रृङ्गाटसदृशी भवति। अत्र त्रिकोणं नाम इच्छा, ज्ञानं, क्रिया च। त्रिकोणं एतेषां त्रयाणामेव लिङ्गम्। अतः योगिनीहृदये उक्तम् –

'मेयमातृप्रमामानप्रसरैः सङ्कुचत्प्रभम्।

श्रृङ्गाटरूपमापन्नमिच्छाज्ञानक्रियात्मकम्।।'[725]

जाग्रतस्वप्नसुषुप्त्याख्यम् अवस्थात्रयं प्रमाताप-प्रमाण-सत्त्व-रजः-तमः इत्यादीनि त्रीकाणि त्रीकोणे अन्तर्भवन्ति।

---

[722]वामकेश्वरतन्त्रम्, सौ.ल.ल.टी. - १०

[723]षट्.नि.-श्लोक-१०

[724]सौ.भा.– पृ.- १७३

[725]यो.हृ.– १.५१

इयं कुण्डलिनी अष्टप्रकृतीनां स्वरूपत्वेन विवेच्यते। कुण्डलिन्याः अष्टौ प्रकृतयः यथा – भूमिः, जलं, अग्निः, वायुः, आकाशम्, मनः, अहङ्कारः च। अतः उक्तम् –

'अष्टप्रकृतिरूपा सा चाष्टधा कुण्डलीकृता।
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।'[726]

मूलाधारे स्थिता कुण्डलिनी सर्वासां शक्तीनां आधारभूतत्वे परिगण्यते। इयं सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः आश्रयं प्रयच्छति। सर्वेषां पदार्थानां मूलस्वरूपत्वेन इयं परिगण्यते। इयं कुण्डलिनी चैतन्यरूपिणी। इयं शिवादीनां सान्निध्यं प्राप्य नित्यम् आनन्दसत्त्वादीनां गुणत्रयाणां आविर्भावं कारयन्ति। अतः उक्तम् –

'तत्श्चैतन्यरूपा सा सर्वगा विश्वरुपिणी।
शिवसन्निधिमासाद्य नित्यान्दगुणोदया।।'[727]

अस्याः कुण्डलिनीशक्तेरेव सर्वस्य जगतः सृष्टिः। अतः इयं विश्वजननीत्वेन परिगण्यते। अस्याः कुण्डलिन्याः शक्तेः सर्वाः सृजनशीलाः शक्तयः उत्पद्यन्ते। अतः इयं सर्वासां शक्तीनां उत्सत्वेन परिगण्यते। अतः प्रख्यातः पाश्चात्यो विद्वान् Sir ARTHUR AVALON तस्य The Serpent Power ग्रन्थे अचकथत् –'Kundalini is the Static form of the creative

---

[726]त्रिपूराब्राह्मणोपनिषद् – पृ. - १३४

[727]शा.ति.

energy in bodies, which is the source of all energies, including prana.'[728]

कुण्डलिनी शरीरे शब्दब्रह्मणः स्वरूपा। सा चिद्रूपस्य सर्वस्याः शक्तेः विश्वजननीरूपा –

'सर्वदेवमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा।
सर्वतत्त्वमयी साक्षात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः।
त्रिधामजननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी।।'[729]

शब्दब्रह्मणः जननीस्वरूपिण्यां कुण्डलिन्यामेव सर्वस्याः मातृकायाः सृष्टिः।। अतः कुण्डलिनीपरावाक् च समानतत्त्वत्वेन विवेच्यते -

'प्रकृतिनिश्चला परावागरूपिणी परप्रणवात्मिका कुण्डलिनी शक्तिः।'

पश्यन्तीमध्यमावैखरीभिः तिसृभिः अवस्थाभिः शब्दब्रह्मस्वरूपाः अकारादयः वर्णरूपेण प्रकाश्यन्ते। 'शारदितिलके' अतः उक्तम् अव्यक्तः 'खकारः' परविन्दोः उत्पन्नः । इदं शब्दब्रह्म एव प्रणीषु अक्षरात्मारूपेण कुण्डलिन्यां विराजते। इदमक्षरं प्रकाशितं भूत्वा गद्यपद्ययोः रूपं गृह्णाति। कुण्डलिन्या एव वर्णमालायाः विकासः सङ्घट्यते –

'तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणीनां देहमध्यगम्।
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः।।'[730]

---

[728] The Serpent Power : Arthur Avalon, page - 14

[729]शा.ति– १.५५-५६

[730] तत्रैव. – १.१४

कुण्लिन्याः मदमत्तं भ्रमरगुञ्जनं वैखरीं वाचमेव व्यनक्ति। सर्वेषु जीवेषु प्राणशक्तित्वेन सा सदा विराजते। अतः 'षट्चक्रनिरूपणग्रन्थे' उदितम् –

> 'कुजन्ती कुलकुण्डलिनी च मधुरं मत्तालिमालास्फुटम्।
> वाचं कोमलकाव्यवन्धरचना भेदातिभेदक्रमैः।
> श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जीवो यया धार्यते
> सा मूलाम्बुजगह्वरे विलसति प्रोद्दामदीप्तावलिः।।'[731]

कुण्डलिनी शब्दब्रह्मणः कारणतः प्रणवत्वेन (ॐकारत्वेन) परिगण्यते। वाच्यवाचकयोः अभेदसम्बन्धत्वात् कुण्डलिनी प्रणवस्वरूपं भवति। कुण्डलिन्याः त्र्युत्तरार्धवृत्तानि भवन्ति 'अकारः, उकारः, मकारश्च' इतोपि अर्धं वृत्तं भवति अर्धमात्रायाः प्रतीकम्। ॐकार-उमयोः उभयोः मध्ये समानाः वर्णाः विद्यन्ते। अतः उमा ॐकारः कुण्डलिनी च एकतत्त्वत्वेन परिगण्यन्ते।

मन्त्राः मातृकया विरचिताः। इमाः मातृकाः नादरूपाः। इयं कुण्डलिनी देव्याः मन्त्ररूपस्य प्रतीकम्। पञ्चदशीमन्त्रः त्रखणात्मकः। त्रिखण्डात्मकेन मन्त्रेण संयुक्तत्वात इयं मूलाधारे अग्निकुण्डलिनीत्वेन, हृदयप्रदेशे सूर्यकुण्डलिनीत्वेन, भ्रूमध्ये सोमकुण्डलिनीत्वेन परिगण्यते। समष्टिरूपिण्याः कुण्डलिन्याः स्थानं भवति मूलाधारस्य अधः विद्यमे 'वाग्भवत्रिकोणे'। अतः आचार्यैः उदितम् –

'चतुर्विधतनुं अग्निसूर्यसोमसमष्टिरूपेण अग्निकुण्डलिनी मूलाधारे सूर्यकुण्डलिनी हृदये सोमकुण्डलिनी भ्रूमध्ये समष्टिकुण्डलिनी मूलाधाराधोगतवाग्भवत्रिकोणे।'[732]

---

[731]षट्.नि. – श्लोकः - ११

[732]मन्त्र और मातृकाओ का रहस्य – पृ. - ६८

एवं विभागेण उर्द्धमुखीकुण्डलिन्याः तिस्रः अवस्थाः प्राप्यन्ते। पुनः अरुणोपनिषदि कुण्डलिन्याः कुमारी योषित् पतिव्रता चेति तिस्रःस्थितयः वर्णिता।

वाग्भववीजमेवे कुण्डलिन्याख्या - 'वाग्भववीजस्य कुण्डलिनीति संज्ञा।'[733] वाग्भवस्य वीजं भवति - 'ऐं'। अयं त्रिकोणाकारः। 'ऐं' भवति शिवशक्त्योः समभावस्य वोधकः। तन्त्रशास्त्रानुसारं अकारं भवति शिवस्य इकारश्च शक्तेः वोधकः। अतः अ+इ - 'ऐं' निष्पद्यते। विन्दुना परापरयोः अभिव्यक्तिर्भवति।

कुण्डलिनी कामशक्तेरपि लिङ्गमिति विद्वांसः अभिमन्यते। कुण्डलिनी सर्पाकारा भवति। पाश्चात्यर्शने सर्पः कामनावासनयोः लिङ्गत्वेन परिगण्यते। सामान्यदृष्ट्या वक्तुं शक्नुमः सर्वेषां दुःखानां कारणं भवति कामनावासने। प्रत्येकं प्राणिनः कामनया आविष्टाः सन्तः शुद्धं प्रकाशमवगन्तुं नैव शक्नुवन्ति। कामभावना जनान् प्रतिक्षणं दंशति। अतः कुण्डलिनी कामस्य लिङ्गत्वेन परिगण्यते। कामस्य अर्थो भवति इच्छा। अतः ऋग्वेदे उक्तम् – 'कामस्तदग्रेऽवर्तत।' सृष्टेः मूले इयं इच्छाशक्ति एव अस्ति। इयम् इच्छाशक्तिरेव सर्वं कार्यं सम्पादयति।

तन्त्रे भोगमोक्षयोः स्वीकृतिरस्ति। भगवती 'त्रिपुरसुन्दरी' कामेश्वरीत्वेन परिगण्यते। इयं त्रिपुरसुन्दरी सर्वासां कामनानां अधिष्ठात्री। भगवत्याः इदं रूपं विश्वमातुः रूपमेव प्रकाशयति। कुण्डलिनीक्रियाशक्तेः प्रतीकत्वन परिगण्यते। विश्वस्य सर्वाः क्रियाः अस्याः शक्तेः अधीनाः। कुण्डलिनी प्राणशक्तित्वेन शरीरं धरति। तथा च सा इच्छाज्ञानक्रियात्वेन सर्वं कार्यं सम्पादयति। आचार्यः शङ्करः इमां शक्तिं 'आवरणशक्तित्वेन' स्वीकृत्य एनां ब्रह्मणः स्वरूपत्वन कल्पितवान्।

---

[733]सौ.भा. – पृ. - १७५

आगमनये शिवशक्त्योः अद्वयभावः स्वीकृतः। अतः शिवः एव शक्तेः रूपम्। परतत्त्वं यदा क्रियावत् भवति यदा 'शक्तिः' उत्पद्यते, यदा क्रियाशुन्यं भवति तदा 'शिवः' इत्युच्यते। सरलया भाषया वदामश्चेत् किमपि वस्तु यदा क्रियां करोति तदा आधारस्य आवश्यकता अवश्यं भवति। शक्तिः आत्मानं द्विधा विभाजयति स्थिरशक्तित्वेन क्रियाशक्तित्वेन च। इयं स्थिराशक्तिरेव कुण्डलिनी क्रियाशक्तिरेव प्राणशक्तिः इति वक्तुं शक्नुमः। वस्तुतस्तु 'चितिशक्तिरेव' नाना रूपैः आत्मानं प्रकाश्य नाना नामानि धरति। शिवलिङ्गस्य परितः वेष्टता इयं कुण्डलिनी आधुनिकीविज्ञानभाषायां पुरमाणोः सङ्घटनत्वेन वक्तुं शक्यते। परमाणौ यथा इलेकट्रन, प्रोटन, नियट्रन – इत्याख्यानि त्रीणि उपादनानि सन्ति तानि उपादानानि च केन्द्रस्य परितः भ्रमन्ति, तथैव कुण्डलिन्यपि वलयाकारेण शिवलिङ्गम् आवृणोति। एतेषां त्रयाणां गुणानां वैषम्यादेव जगतः सृष्टिः संसारस्य च क्रियाः सम्पद्यन्ते।

****

CHAPTER- VI
MUDRAS & BANDHAS

The meaning of the word 'Mudrā' is often with the physical gestures displayed or through which the human expresses his feelings. Mudras have their own special meaning and importance in the field of Yoga, by practicing which the seeker progresses on the path of spiritual practice; and mudras play the role of a helper in awakening the unlimited potential and power within him. This also awakens the Kundalini Shakti and takes the seeker to his goal. The first mention of mudras is found in Tantra Shastra. The knowledge of Tantra Shastra was given by Lord Shiva to his first disciple Parvati; or Mudrās are hand gestures used in conjunction with pranayama (yogic breathing exercises), and are generally done while seated in Padmasana, Sukhasana or Vajrasana pose. Mudras act to stimulate different parts of the body involved with breathing and to affect the flow of energy in the body and even one's mood.

1. MEANING OF MUDRA

The word currency is derived from the suffix 'Rak' in the root 'Mudreheshe;'. which means- 'happy condition.

The Sanskrit word 'mudra' means gesture. These postures can be sensual, emotional, devotional and aesthetic. Yogis perceive mudras as ***"states of energy flow, intended to connect one's life force with the cosmic life force"****.*

"According to the Kularnava-Tantra, the origin of the Mudra is from the root verb Mud, which means happiness or

gaiety. Mudra represents currency to make a person feel happy; it also signifies seal i.e. locking action through neromusculo-glandular lock. It also means happy gesture by feeling gaiety at physical, mental, emotional, social & spiritual level.

2. DEFINITION OF MUDRA

Mudras are a combination of subtle bodily movements that bring about changes in attitude, mood and instincts and deepen alertness and concentration at spiritual level.

*The special sense of the mind is called **Mudra**.*

"That particular position consisting of Asana, Pranayama and Bandha involving neuro-musculo-glandular locks through which the awakening of higher spiritual energy is possible, is called **Mudra**.

"The science of special and disciplined movements of the *fingers* and *hands* is called ***Mudra-Vigyan***. By the practice of these mudras, those *five elements* ***come in balance state i.e. 1:2:3:4:5 amoung – Either, air, fire, water & earth*** these five elements from which this human body is made. The right combination of these, since then, the actions in the body are conducted smoothly. The names of these five elements are panchmahabhutas- either earth, fire, air and water. If due to any reason or mistake, the balance of these five elements in the body gets disturbed i.e. excess or deficiency of any substance; e.g. deficiency, then various types of diseases originate in the body. If they remain in the balanced quantity, then the human body remains healthy.

Mudra can involve whole body involvement with the practices of asanas, pranayama and mind-philosophy. On the

other hand, it can only be hand mudra. In Hatha Yoga Pradipika, and other yoga-shastras, the mudra has been called *'Yoganga'*, which requires very subtle awareness.

From time to time, different descriptions of mudras are found in many ancient scriptures. They were written down so that they could be easily passed on to the coming generations. But even in all the texts, such a detailed description of mudra has not been given, because this knowledge cannot be acquired by reading only, for this, constant practice is required under skilled guidance. Enough practice and effort as a result, can be found in them. After which there is awakening of *prana*, *chakras* and *kundalini* and sadhak can attain many types of siddhis.

The ten mudras described by ***Adinath*** i.e. Shiva are divine and specially bestowing all the eight opulences. These *eight opulences* are known as *Anima, Mahima, Garima, Laghima, Prapti, Prakamya, Ishita and Vashita*. The Sadhaka gets power to acquire subtle form from its gross status e.g. Lord Hanuman acquired the subtle form of house-fly to enter the mouth of demon and come out from other gate-way. etc.

Just as energy waves in the form of light or sound get changed when they hit a mirror. Similarly, mudras also change the direction of prana. From the ends of the nadis and the chakras, there is a continuous radiation of prana, which normally leaves the body and is scattered in the outer world.

It is said in the *Tantra Shastras* that if the dispersion of prana is stopped by the practice of mudra, then the mind becomes introverted, which naturally leads to *pratyahara* and there comes a state of perception. Due to the ability to bring

back Prana, the practice of mudras has an important place in the awakening of *Kundalini*.

The expressions and gestures adopted in the practice of mudras establish a direct relationship between *annamaya kosha, manomaya kosha and pranamaya kosha.* In the beginning, it develops awareness within the practitioner about the flow of life in the body. Ultimately it establishes pranic balance in the koshas and directs the subtle energy to the higher chakras, leading to a higher state of consciousness.

By the way, *money* is also known as *mudra*, our *facial expressions* are also called '*mudra'*, as if a person is happy, then his facial expressions also show happiness, it is called 'pleasing posture'. To be in '*mudra'* also speaks of the printing process (seal/stamp), sealing of property by magistrate or envelopes, letters, is also called '*mudra'* in the sense of locking. In the sense of sealing, *it is also a dam made up of nerves, muscules and endocrine glands, due to which the seeker is able to move Prana in the body as per his wish.*

We bind the energy force in the flow of our life-force. Through Mahabandha mudra, the energy is sent to other parts of the body, through which the seeker can send the energy according to himself, he gets spiritual benefits. *When the mudra occurs for pranayama, it is called bandha. When used for spiritual gain it is called mudra. Therefore, mudra has a special place and importance in hatha yoga practice.*

3. MEANING AND DEFINITIONS OF THE WORD BANDHA-

In ancient yogic literature, bandhas were accepted only as a part of mudras. The Guru gave the knowledge of this to his disciples orally used to do . The bandha which have been discussed in the Yoga scriptures, are those of the nervous system, sadhak proves to be able to calm and moderate the sensations .

'***Bandh'*** is a **Sanskrit word**, which literally means- *'to bind,' to tighten or'hold up'.*

The word '***Bandha'*** is formed by suffixing *'Ghan'* in **Bandhneydhatu**, which means '**to *bind' or to control.*** The process by which binding a particular part of the body and stopping the sensations coming and going from there to achieve a particular goal is *bandha,*It is called koshakar-bandha, the word has many meanings like – *to bind, tighten, fasten, organize, stop, interfere etc.*

The practice of *bandha* is actually a sexual block, which blocks the sensations arising in all the nerves inside the body and brain and awakens other types of sensations. Wherever the action of contraction or expansion takes place in the internal organs, it changes the processes and momentum related to the internal organs. Takes the body into another kind of arousal or calm state, due to which there is a feeling of inner stillness.

From the point of view of yoga, the use of ***bandha** is very important during pranayama.* Through this, the prana is controlled. So that he can not go to unwanted places. Where the life goes, it will have its effect on that same organ. Therefore, by

using bandha, it becomes possible to control Prana and take it to the desired place. It can be said that by constricting the parts of the body, *the process of turning the vrittis inward to control prana is called bandha.* The internal organs and the nerves are healthy and active. Bandha is a physical exercise. *Bandha signifies the origin of spiritual power."*

Bandhas can be practiced independently or can be combined with the practices of mudras and pranayama. In this way, by combining the bandhas, these practices awaken the supersensory abilities and become helpful in higher yogic activities.

In the famous Upanishad of Yoga, Yogkundal-upanishad, it is said in relation to the practice of bandhas ***"- Bandha-trayam idamkaryamyogibhirvitakatmasaih;"*** That is, a yogi with a sattvik attitude, free from the afflictions of anger, hatred, jealousy, etc., should use these three bandhas. These bandhas should be used compulsorily at the time of pranayama sadhna, otherwise there is a possibility of loss instead of profit from pranayama. Therefore, the usefulness of bandhas in the context of spiritual practice is undeniable.

There are **four** types of ***Bandhas***-

1. **Jalandhara-Bandha.**
2. **Moola-Bandha.**
3. **Uddiyana-Bandha.**
4. **Maha-Bandha .**

The fourth bandha is a combination of the first three. *These three bandhas directly affect the three glands. Moolabandha is related to Brahma-granthi, Uddiyana-bandha is*

related to Vishnu granthi and Jalandharabandha is related to Rudra-granthi. These three glands obstruct the free flow of prana in the sushumna-nadi, which leads to chakras awakening. There is a hindrance in the awakening of the Kundalini due to knots of three granthis.

In the Yoga scriptures, three glands have been told – Brahmagranthi, Vishnu Granthi and RudraGranthi. These glands represent subtle blockages and mental problems that prevent individual consciousness from soaring high in the fields of meditation. If one wants to experience higher awareness, one must first open these glands. *Bandha* is very effective to open these glands. In the language of yoga, due to the blockage of these glands, Prana gets blocked in the main vital path of the body '*Sushumna'*, and as soon as these glands open, Prana starts flowing in Sushumna. This increases the receptivity of the mind and higher experience, begin to be received. These glands are not located in the gross body, but in the subtle body, they can be opened only by the practice of bandhas.

जालन्धरोडयागनमूल बन्धा- अल्पन्ति कण्ठोदर पायुमूलान् ।
बन्धत्रयेडस्मिन्परिचीयमाने बन्धः कुतो दारूणकालपाषात् । (योगन्तारावलि)

*The positions of Jalandhara-Bandha, Uddiyana-Bandha and Moola-Bandha are in the neck, abdomen and perineum (mooladhara) respectively. If their duration can be extended, then what is the fear of death? (**Yogataravali Sutra-5 Sri Adi Shankaracharya**)*

According to Parmhansa Niranjanananda- *"Practicing Bandha gives a subjective experience to a person. That is, when we do Bandha for a long time, it has an effect on the activities of*

our mind. Helps the mind in attaining inner harmony and balance by fixing at the point.

4. AIM & OBJECTIVES OF MUDRAS AND BANDHAS

Mudras and bandhas have a important place in yoga even more than asanas and pranayama, as the practice of mudras affects our *pranamaya kosha* and *manomaya kosha.* Many sensations arise within the channel in the body. There are many changes in the mind area on which we get our attention. In the field of prana, the energy in the body increases or decreases from time to time. For all these reasons, mental or there develops restlessness and neuroticism in the inner state and state of prana.

A meaningful purpose of Mudra and Bandha is also to awaken the Kundalini power. *Kundalini* is the basis of all the measures and practices of yoga, *just as Sheshnag, the king of snakes, is dependent on this earth,full of mountains and forests. In the absence of Kundalini awakening, all yoga practice is meaningless.*

तस्मात्सर्व प्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वार मुखे सुप्तां मुद्राभ्यास समाचरेत् ॥[1] **(3/5-H.P)**

---

[1] . हठप्रदीपिका 3/5

Mudras should be practiced with Sushumna with full effort to awaken the sleeping Kundalini in the original place.

The purpose of the practice of mudra is also to achieve stability, this fact has also been said by **Maharishi Gherand**. By using the *bandha, it is helpful in controlling the life force in the body and keeping it at one place and keeping the whole body healthy and running smoothly.* By its continuous practice, the seeker gets the *experience of many divine powers and he becomes capable of awakening the inner instinct by saving himself from external subject tendencies.*

Aims & objectives :-

1. For the preparation and practice of Pranayama.
2. To control pranic movement in the body as per one's wish.
3. To divert prana from Ida-Pingala to Sushumna.
4. For Kundalini awakening.
5. To attain spiritual happiness.
6. For mental stability.
7. For the practice of meditation.
8. For preparation for pratyahara.
9. For Panchtatva Sadhana.
10. For the practice of penetrating the shat-cakra.
11. For the treatment of diseases.
12. To balance the five elements in the body.
13. To maintain physiological balance.
14. To get divine powers.
15. For the attainment of eight siddhis.
16. To control 16- adharas i.e. vital points in the body by Jalandhara-Bandha Mudra.

5. COMPARATIVE ASPECTS OF BANDHAS AND MUDRAS MENTIONED IN HATHAPRADIPIKA-(HP) AND HATHATATVAKAUMUDI-(HTK) :-

Svatmarama- Hathapradipika- (HP) *&* Sundardeva- Hathatatvakaumudi have described 10-10 *Mudra-bandhas*. **In *Hathapradipika* its mentioned in chapter-3, as in *Hathatatatvakaumudi* mentioned in chapter 14th & 15th.**

Description of mudras as follws – HP & HTK.

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्डीयानं" मूलबन्धस्ततो जालन्धराभिधः ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ॥ ६ ॥[2] (3/6-H.P)

Mahāmudrā, Mahābandha, Mahāvedha, Khecari, Uddiyāna, Mülabandha, Jālandharabandha, Viparitakarani, Vajroli and Sakticālana.

Mahāmudrā HATHAPRADIPIKA :

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दढम् ॥९॥[3] (3/9-H.P)

Pressing the perineum with the left heel, the extended right leg should be held firmly by both hands.

यथा दण्डहतः सपदण्डाकारः प्रजायते ।
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ॥
कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥ १० ॥[4] (3/10-H.P)

---

[2]. हठप्रदीपिका 3/9

[3]. हठप्रदीपिका 3/9

[4]. हठप्रदीपिका 3/10

(And) performing the Bandha at the throat (i.e. Jalandhara) one should keep raising the Vayu. As a result of this Mudra, Kundalini becomes straight just as a snake when it is struck with a rod becomes straight.

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्न तु" वेगतः ।

इयं खलु महामुद्रा महासिद्धेः प्रदर्शिता ॥१२॥[5] (3/12-H.P)

Thereafter one should exhale slowly, never rapidly. This, indeed, is the Mahamudră expounded by the great Siddhas.

Benefits:

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।

तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १६ ॥[6] (3/16-H.P)

All diseases – consumption, skin disease, constipation, glandular enlargement, indigestion and many other of those (Yogis) who practise Mahamudra are completely destroyed.

Mahāmudrā– HTHATATVAKAUMUDI :

घटनं शशिसूर्ययोः करोति परिशुद्धिं तनुते वपुः शिराणाम् ।

विदधाति विशोषणं रसानां नरि मुद्राधिगता महापाद्या | ॥ २९ ॥[7] (15/29-HTK)

Practice of mahāmudrā which is highly respectable; unifies the moon and the sun, purifies the channels (sirās) in body and dries up the toxicity in the body.

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुदृढं योनिं स्ववामांघ्रिणा

धृत्वा पाणियुगेन सम्प्रसारितं पादं ततो दक्षिणं ।

आपूर्य श्वसन कुक्षियुगलं' बद्धा शनै रेचयेद्

एषा व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते । ३० ॥[8] (15/30-HTK)

---

[5]. हठप्रदीपिका 3/12

[6]. हठप्रदीपिका 3/16

[7]. हठतत्त्वकौमुदी 15.29

[8]. हठतत्त्वकौमुदी 15.30

Place the chin on the chest firmly, press the perineum with the left heel, stretch the right leg and hold the right foot with both the hands, inhale through the nose, hold the air in the chest and slowly exhale. This forms mahā-mudrā, which removes diseases of the practitioner.

चन्द्रांगे ऽभ्यस्य सम्यग् दशशतकिरणांगे ऽभ्यसेत्तुल्यसंख्या यावत् स्यात् तावदेनां पुनरिह कथितं नास्ति पथ्यं कुपथ्यम् || अस्या अग्रे रसा ये जगति गतरसाः कालकूटं सुधा स्यान् मुद्रासौ कामधेनुः सकलगदहरी सर्वसिद्धिप्रदा च ॥ ३३ ॥[9] (15/33-HTK)

Practice this properly on the left (lunar nostril) followed by an equal number through the right. For the one who practises this does not have anything like recommended or restricted food, since the (gastric) fire is enhanced. For him all tastes are tasteless. The deadliest of the poisons (kālakūta) becomes like nectar. This mudra is like kämadhenu (the wish fulfilling cow), which removes all the diseases and offers all the supernatural powers.

क्षयकुष्ठगुदावर्त्तगुल्मप्लीहपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां च यो भजेत् ॥ ३६ ॥[10] (15/36-HTK).

One who practises mahāmudrā, alleviates all the disorders including *consumption, skin diseases, constipation, glandular enlargement, spleen disorders and many others.*

Fig-1 : Mahāmudrā

---

[9]. हठतत्त्वकौमुदी 15.33
[10]. हठतत्त्वकौमुदी 15.36

Mahāmudrā–

Comparative aspects of Mahā-mudrā mentioned in HP & HTK:

It has mentioned in chapter- 3 of Hathapradipika, (verse no. 9 – 17)the sequence of Mudra and Bandhabegins from Mahā-mudrā onwards,where as compared with Hathatatvakaumudi it's chapter- 15 (verse no. 29 – 39), and the sequence of Mudra &Bandha begins from Viparitakarni and khecari of chapter-14. Both texts mentioned same technique of Mahā-mudrā.

Mahābandha HATHAPRADIPIKA :

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्" ।
बामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम्" ।
निष्पीड्य" योनिमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥१८-१९ ॥[11] (3/18-19-H.P)**

18-19. Fixing the left heel at the perineum, placing the right foot on the left thigh, inhaling air, and then pressing the chin firmly on the chest (by JālandharaBandha) and contracting the pelvic floor (by Mulabandha), the mind should be fixed on the top of the central Nadi (i.e. Susumna)

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याने तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ||२०||[12] (3/20-H.P).

Retaining the air to capacity one should exhale slowly. Practising this on the left side one should again practise it on the right side.

Note: Practising Mahabandha on the right side would mean adopting this position of the body and the mind while fixing the right heel at the perineum and placing the left foot on the right thigh and vice versa.

---

11 . हठप्रदीपिका 3.18-19

12 . हठप्रदीपिका 3.20

मतमत्र तु केषांचित् कण्ठबन्धं विवर्जयेत्" ।

राजदन्तस्थजिह्वाया" बन्धः शस्तो भवेदिति ॥ २१ ॥[13] (3/21-H.P).

In this connection some opine that the chin-lock is to be excluded; (they hold that) pressing the tongue against the front teeth (tongue-lock) is preferable.

Benefits :

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।

त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ||२३||[14] (3/23-H.P).

(Mahabandha, which is) efficacious in removing the great bondage of the noose of death, brings about confluence of the three currents (flowing in the three Nadis-Ida, Pingala and Susumna) and reaches the mind to Kedāra (the space inside between the eyebrows which is the Sivasthāna).

Mahābandhah HATHATATVAKAUMUDI :

धृत्वा वामांघिपार्ष्णिगुद' भगविषयान्ते ऽनुबद्धा समीरम् मन्दं संरेच्य सव्येऽवयव इति विधायानुदक्षे ऽभ्यसेत्तत् ॥ वामेनास्थ्यंघ्रिमन्यं चरणमभिविधायानुसंपूर्य वायुं न्यक् चित्तेऽपानमूर्ध्वं भगमनुकलयेद् राजदन्ते च जिह्वा ||३७ ||[15] (15/37-HTK).

---

13. हठप्रदीपिका 3.21

14. हठप्रदीपिका 3.23

15. हठतत्त्वकौमुदी 15.37

Press the left heel at the perineum, hold the breath, then gently exhale through the left (nostril). Practise this through the right (nostril). Put the other (right) heel at the (pubic) bone, thereafter inhale gently and with full concentration raise the apāna up the anal region while pressing the root of the front teeth with the tongue.

Benefits :

अयं नाडिचालाद्रसौघं समस्तं नयति उत्तमांगादधः सौधमुच्चैः ।

सदाभ्यासतः शाम्भवी मध्यगः स्यान्

मरुत् स्यात् पुष्टिरंगे स्थिदाढ्यं मुनेश्च ॥ ३९ ॥[16] (15/39-HTK).

Practice (stimulation) of this nādi pulls up the hosts of secretions from the upper parts (perineum) to the lower part.A regular practice of this by a muni offers success in sambhavi. Directs the marut (prāna) to the middle path (susumna). *Nourishes the body and strengthens the bones.*

---

[16] . हठतत्त्वकौमुदी 15.39

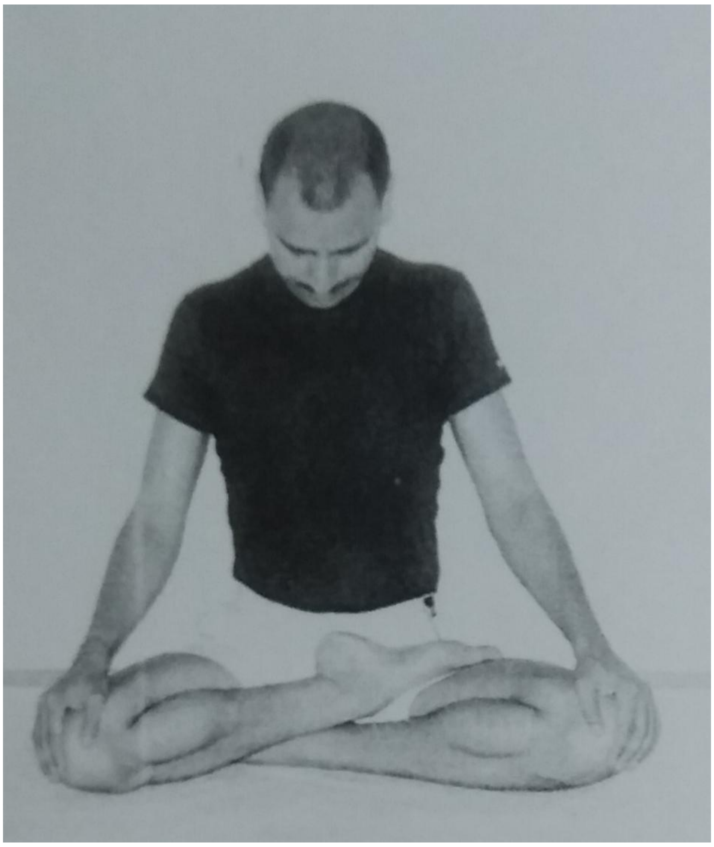

Mahābandhah – fig-2.

Comparative aspects of Mahābandhah mentioned in HATHAPRADIPIKA & HATHATATVAKAUMUDI :

*It has mentioned in **chapter- 3** of **Hathapradipika,** (verse no.- **18-23**), where as in **Hathatatvakaumudiit's chapter-15** (verse no. **37-40**)*

And both mentioned same technique& benefits.

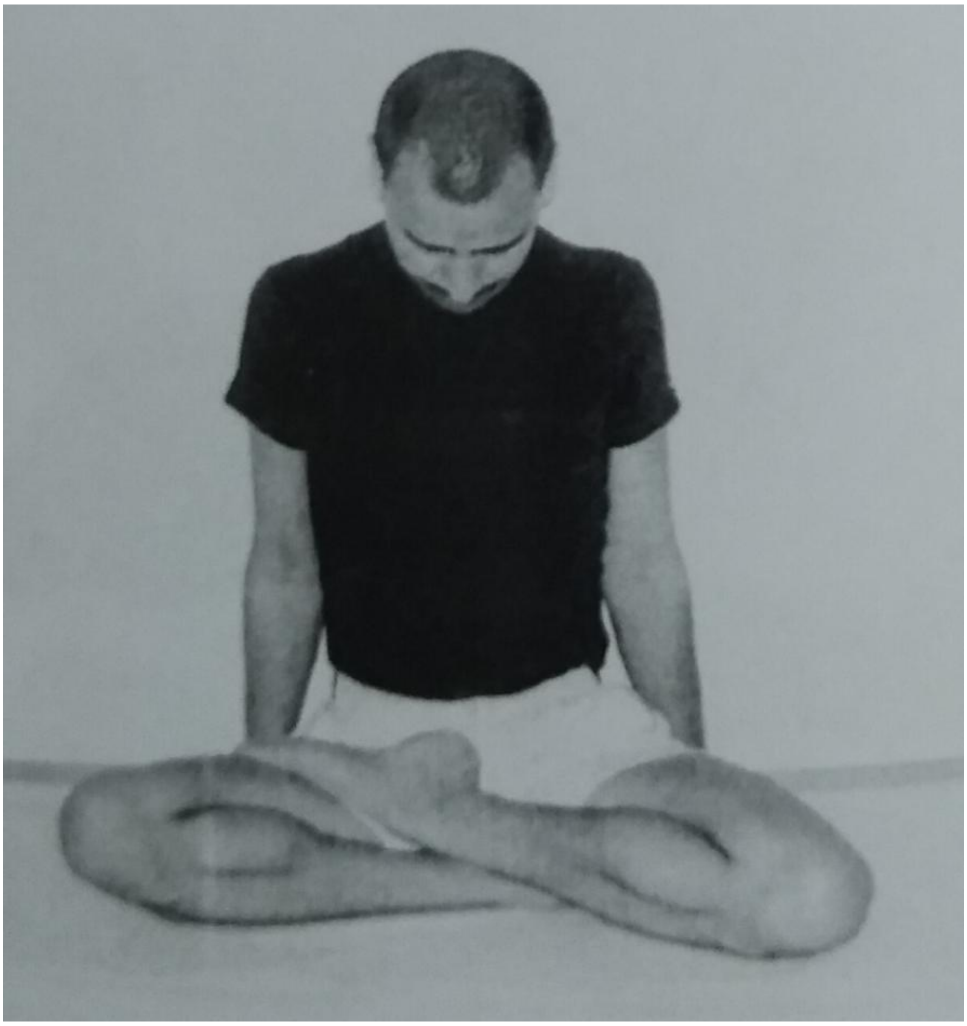

Mahāvedha – fig-3.

Mahāvedha HATHAPRADIPIKA

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फली वेधवर्जितौ ॥ २४ ॥[17] (3/24-H.P).

Just as the beauty and charm of a wife serve no purpose in the absence of the husband, similarly Mahamudra and Mahabandha unaccompanied with Vedha (Mahāvedha) are futile.

महाबन्धस्थितो" योगी कृत्वा पूरकमेकधीः " ।

वायूनां˙˙ गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ||२५||[18] (3/25-H.P).

---

17 . हठप्रदीपिका 3.24

18 . हठप्रदीपिका 3.25

Settled in Mahābandha, the Yogi with concentrated mind, after performing Pūraka (inhalation), should restrain the respiratory function and stop it (exhalation) by (adopting) the Kanthamudrā (i.e. JalandharaBandha).

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ" संताडयेच्छनैः ।

पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ||२६||[19] (3/26-H.P).

Balancing on the two palms placed on (level) ground in the sitting position, one should softly strike the ground with the posteriors. By doing this, the Vayu escaping from the two Nädis (Ida and Piñgalā) springs into the middle one (Susumnā).

Benefits :

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।

चलीपलितवेपनः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥२८ ॥[20] (3/28-H.P).

Practice of this Mahavedha crowns the efforts of the Yogi with great success. It destroys (prevents) wrinkles, grey hair and tremor (and) is practised by the best of the Sādhakas (practitioners).

एतत् त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।

वह्विवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम्" ॥ २९ ॥[21] (3/29-H.P).

This triad (of Mudrās) is to be kept secret; it destroys (delays) old age and death, increases the gastric heat and brings Siddhis (supernatural powers) like Anima (becoming extremely small) and others.

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने पुण्यसंभारसंधायि" पापौघभिदुरं सदा ।

सम्यक् शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३० ॥[22] (3/30-H.P).

---

[19]. हठप्रदीपिका 3.26

[20]. हठप्रदीपिका 3.28

[21]. हठप्रदीपिका 3.29

[22]. हठप्रदीपिका 3.30

It is practised eight times, every three hours, every day. It invariably confers (upon the Yogi) the (entire) group of virtues and destroys the (whole) collection of vices. Thus performed, it is an easy practice of primary importance even for those who are well-trained, (in Hathayoga).

Mahāvedhah HATHATATVAKAUMUDI :

रूपलावण्यसम्पूर्णा यथा स्त्री पुरुषं विना ।

महामुद्रामहाबन्धो महावेधं विना तथा ॥ ४१ ॥[23] (15/41-HTK).

Just as charm and beauty of a woman is futile without a man, so also mahamudra and mahābandha are fruitless withoutmahāvedha.

महावेधसंस्थो मुनिः पूर्य वायुं

गतिं चास्य रुद्धानुजालन्धरेण ॥

स्फिचौ ताडयेत् स्थाप्य हस्तौ समानौ

शनैर्भूतले नासिकां सन्निरुध्य ॥ ४२ ॥ [24] (15/42-HTK).

In the practice of mahavedha, a muni inhales the air and retains the breath with jalandhara-bandha and placing the hands on the ground strikes the buttocks gently on the floor.

कृते संस्फुरत्येवमेवं समीरो

हृदन्तर्गतस्तेन सन्धानमेषाम् ॥

भवेदर्कचन्द्रानलानां सुसिद्ध्यै

स्पृशेज्जिस्वया राजदन्तोर्ध्वरन्धम् ॥ ४३ ॥[25] (15/43-HTK).

---

[23]. हठतत्त्वकौमुदी 15.41

[24]. हठतत्त्वकौमुदी 15.42

[25]. हठतत्त्वकौमुदी 15.43

With this practice prāṇa dwelling in the heart gets stimulated. For further success, one should press the tongue against the cavity above the uvula. Thus one unites the forces ofarka (sun), candra (moon) and anala (fire)..

यदोत्पन्नावस्था मरणसदृशात्रानुपवनं
विमुञ्चेदभ्यस्तो विधिवदितिबन्धः सुफलदः ॥
महावेधः सेव्यः सकलपलितघ्नो वलितजित्'
चलत्यन्तः शक्तिभृंशपवन सन्तान इह ॥ ४४ ॥[26] (15/44-HTK).

When a death-like state arises, one should release the prana. Having been perfect in the proper technique. Mahavedha brings about the auspicious results like *removal of all grey hair and wrinkles, moves the internal energy (kundalini) and expansion of prāna..*

Benefits :

भ्रुवोरन्तर्दृष्टिं सुदृढमनुबध्नाति विभृयान् महामुद्राचं वै त्रितयमिति गुह्यं मृतिहरम् ॥
जराजन्मच्छिदि" ज्वलन "परिवृद्धिं वितनुते
चतुर्वैगुण्येना" ऽहनि सततमेतत् परिभजेत् ॥ ४५ ॥[27] (15/45-HTK).

One firmly fixes the gaze at the center of the eyebrows and practises the triad of mahamudra etc. consistently, eight times a day. This is the secret of overcoming death, alleviation of old age, and enhancing bodily heat.

महामुद्रात्रयमिदं शक्तिबोधकरं परम् ।
नाडीगताखिलमलशोषणं कायसिद्धिकृत् ॥ ४८ ॥[28] (15/48-HTK).

---

[26]. हठतत्त्वकौमुदी 15.44

[27]. हठतत्त्वकौमुदी 15.45

[28]. हठतत्त्वकौमुदी 15.48

The triad of mahāmudrā etc. is efficient (means) to arouse kundalini, through cleansing of all the morbidities in the nādis and brings perfection of the body.

Note*: One should first practise mahamudrǎ followed by mahabandha and then mahāvedha. This is the sequence of practice for the arousal of kundalini-śakti.*

Comparative aspects of Mahāvedhah mentioned in HATHAPRADIPIKA & HATHATATVAKAUMUDI :

Hathapradipika has mentioned same technique as mentioned in Hathatatvakaumudi, but it's mentioned in 3rd chapter (verse no. 24-30) of HP and HTK described it in chapter- 15th (verse no 41-49).

Khecari-Mudrā. *mentioned in both texts, but not applicable as yoga therapy, because of advance or higher spiritual practice) In Hathapradipika chapter -3rd&chapter-14th of Hathatatvakaumudi.*

And even few more Mudra & bandha which are higher spiritual practices, and can't be applied as therapeutic aspects; i.e. ***Vajroli (sahajoli & amaroli), Sakticalana.***

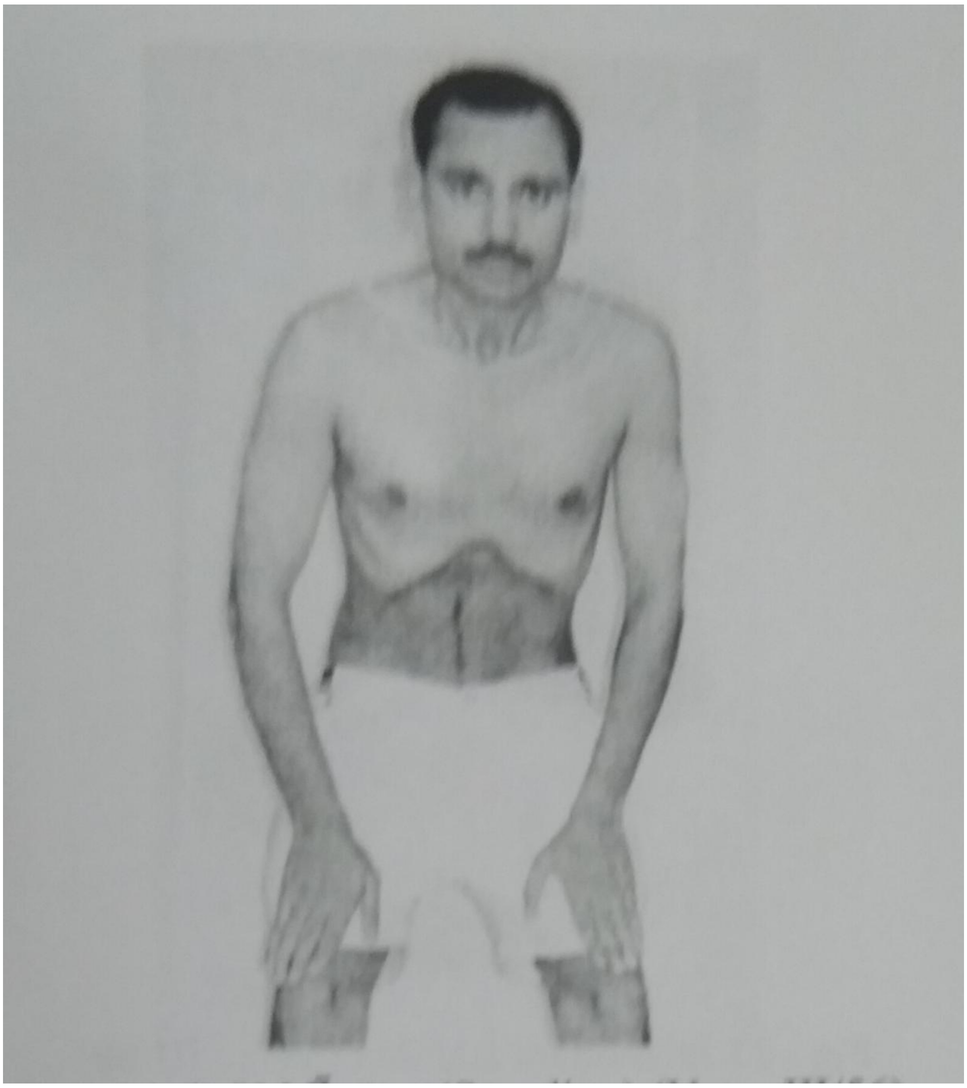

Uddiyāna-Bandha - fig-4.

UddiyānaBandha HATHAPRADIPIKA :

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूडीयते यतः ।

तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥५४ ॥ (3/54-H.P).

The Yogis call it Uddiyāna because by (the practice of this lock Prana is confined the Suşumna and rises with the Nädi.

“”नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात् प्रयत्नतः ।

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥58 ॥[29] (3/58-H.P).

[29] . हठप्रदीपिका 3.58

One should with effort pull (back- wards) the parts above and below the navel (the abdomen including the navel). By practising this for six months one, verily, conquers (premature) death.

Benefits :

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं यथा अभ्यसेत्।

सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ||५७॥ [30] (3/57-H.P).

Even if an old person practises Uddiyāna as a matter of habit (which is second nature) in the manner prescribed by the guru, he or she becomes young.

Note: it seems to be that if Uddiyana becomes a habit, Prāṇa frequently rises to the head and the Yogi aspiring for liberation, is on the right path.

Uddiyāna-Bandha- HATHATATVAKAUMUDI- (Adopt Vajrasana):-

अथोड्डियानो बन्धस्तत्र विधेयो दृढं सुधिया ||9||[31] (15/9-HTK).

Here follows uddiyana-bandha which a wise should firmly practise.

वज्रासने करयुगेन' निगृह्य पादौ

गुल्फप्रदेशनिकटे किल तत्र कन्दः ॥

द्राक् पीडयेन्नुचिरपश्चिमतानमेतत्

तुन्दे हृदा चिबुकमादि वियुज्य' धीरः ॥ ११ ॥[32] (15/11-HTK).

---

[30]. हठप्रदीपिका 3.57

[31]. हठतत्त्वकौमुदी 15.9

[32]. हठतत्त्वकौमुदी 15.11

Adopt vajräsana. Hold the legs with the hands near the ankles and press the kanda (perineum) with the heels. Thereafter press the abdomen towards the back and press the chest with the chin.

Benefits :

प्रत्यहं यश्चतुर्वारम् उड्यानं च समभ्यसेत् ।

तस्य नाभेः साधनेन सिद्धो भवति मारुतः ॥ १६ ॥[33] (15/16-HTK).

One who practises uddiyana for four times a day purifies the navel and gains control over prāna. 16.

रोगक्षयो ऽग्निवृद्धिश्च स्थिरता विग्रहस्य च ।

अनेनोड्यानबन्धेन साधकस्य भवेद् ध्रुवम् ॥ १७ ॥[34] (15/17-HTK).

A sadhaka by this practice of uddiyana, certainly gets rid of diseases, enhances (gastric) fire and gets stability of the body.

Comparative aspects of Uddiyāna-Bandha mentioned in HTHAPRADIPIKA & HATHATATVAKAUMUDI :

Both text have same technique of doing uddiyānaBandha, and similarities in the benefits. Hathapradipika mentioned this bandha in chapter 3rd chapter (verse no. 54-59) and Hathatatvakaumudi mentioned it in 15thchapter (verse no. 9-17). But the difference of sequence (The next practice is Mülabandha as per HP) &(the next practice is jälandharabandha as per HTK). Both text mentioned about the control over prāna only Hathatatvakaumudi prescribed to adopt Vajrasana and advising moolbandha & Jalandhara-bandha indirectly.

[33] . हठतत्त्वकौमुदी 15.16

[34] . हठतत्त्वकौमुदी 15.17

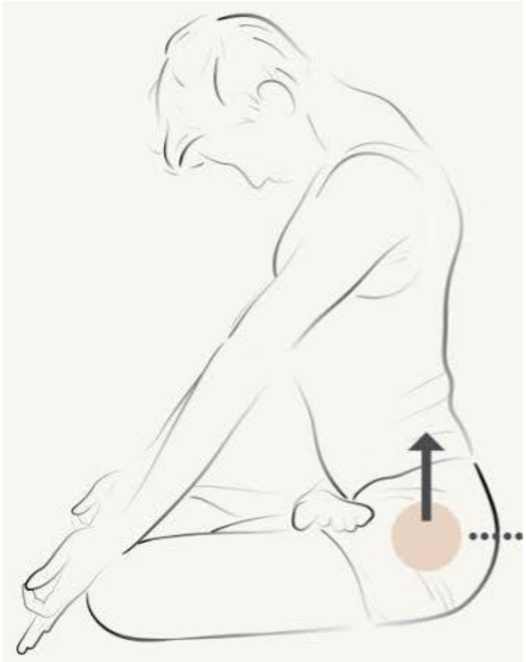

Fig-5 : Mulabandha

Mülabandha HATHAPRADIPIKA :-

पाणिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥ ६० ॥ (3/60-H.P).

Pressing the perineum with the heel, contracting the anus and raising theApāna is known as **Mülabandha**.

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्" ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥६१॥[35] (3/61-H.P).

By contraction (of anus) the ApānaVāyu, of which the natural course should be downwards, is forcefully (though cautiously) directed upwards. The Yogis call this (action) Mulabandha.

Note :- Directing the course of Apāna upward would be a diversion of the Apāna reflex in as much as, instead of letting it

[35] . हठप्रदीपिका 3.60

perform its original function it would consist in prompting the feeling of some thing rising up along the back. This experience the Yogis some times call "rising of Apāna".

गुदं पार्ष्या तु संपीड्य योनिमाकुञ्चयेगलात्" ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ||६२||[36] (3/62-H.P).

Pressing the anus with the heel, one should repeatedly contract the perineum with force until the Samiraṇa goes up.

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चेकताम्
गत्वा योगस्य संसिद्धि यच्छतो" नात्र संशयः ॥ ६३ ॥[37] (3/63-H.P).

When the 'Präna' through Mülabandha unites with 'Apana' and 'Nada with Bindu one (the Yogi) attains perfection in Yoga. This is undoubtedly true.

***Benefits** :-*

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥६४॥ [38] (3/64-H.P).

By constant practice of Mulabandha, urine and odour diminish, Apāna meets Prana and even old become young..

Note: The Yogis digest most of what they eat or drink.

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्" ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥ ६५ ॥[39] (3/65-H.P).

---

[36]. हठप्रदीपिका 3.62
[37]. हठप्रदीपिका 3.63
[38]. हठप्रदीपिका 3.64
[39]. हठप्रदीपिका 3.65

When the Apāna rises up and reaches the sphere of the vahni (the navel region), then fanned by the Vayu, the flames of fire blaze up.

Note: This is an allegorical description of the effect of what is here called Apāna rising up along the back to the navel region. Blazing up the fire signfies richness of sensation complex particularly intensity of heat.

तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।

दण्डाहता भुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥६७ ॥[40] (3/67-H.P).

By this, the sleeping Kundalini is activated and awakened and straightens up as a she-serpent (straightens up) with a hiss when beaten by a stick.

१२ बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्" ।

तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदाः ||६८ ॥[41] (3/68-H.P).

And then, just as (a serpent) enters a hole, the Kundalini enters the Brahmanādi (Susumna). Hence the Yogis should always practise Mūlabandha.

Note: This phenomenon spreading over the whole of Suṣumnāupto the top of the head completes Kundalini Yoga.

Mülabandha HATHATATVAKAUMUDI :-

अधोगाम्यपानं तमापीडय पार्ष्या

गुवाकुञ्चनै रूर्ध्वमाकर्षयोः ॥

अपानं यथोव प्रयात्येष शश्वद्

हठेन विधेयं तथा मूलबन्धः ॥ १ ॥[42] (15/2-HTK).

---

[40]. हठप्रदीपिका 3.67

[41]. हठप्रदीपिका 3.68

[42]. हठतत्त्वकौमुदी 15.1

With the help of the heels, press the perineum and pull up the apăna which has a tendency to move downwards. This technique is called mülabandha since it ensures forceful upward movement of apāna.

Or else

भगाऽपान मध्ये विनाऽस्त्यस्थि'देशस्
तमापीडयेत् पाणभागेन भूरि ॥
अपानं गुदाकुञ्चनेनोर्ध्वमुच्चैः
क्रिया शश्वदेवं कृते मूलबन्धः ॥ २ ॥[43]

Press well the perineum between the genital and anus with the heel. Forcefully pull up the apana by contracting the anus. A consistent practice of this kriyā is **Mülabandha**,

Note :- One, who successfully closes brahmarandhra. Overcomes obstacles. He overcomes old age and becomes immortal like five-faced hara (an epithet of Siva).

Comparative aspects of Mülabandha mentioned in HP & HTK:

*Mülabandha mentioned in **chapter-15th** of Hathatatvakaumudi and in Hathapradipika, it has mentioned in **chapter 3rd**. Both have same technique and similarities in the prescription. Both mentioned about forcefully pulling of Apāna while contracting the anus.*

---

[43]. हठतत्त्वकौमुदी 15.2

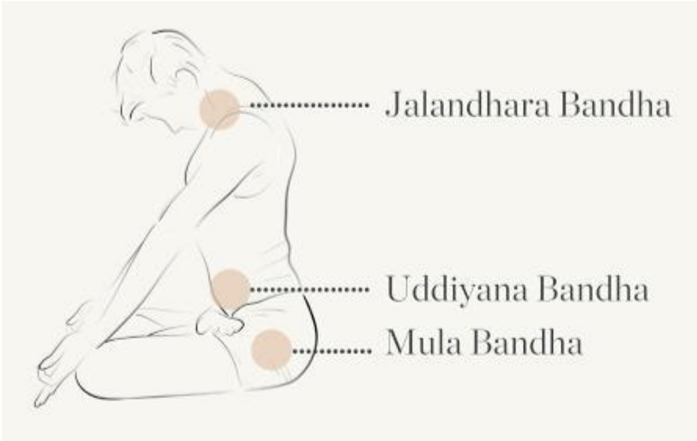

Jālandharabandha. Fig- 6

Jālandharabandhah HATHAPRADIPIKA

कण्ठमाकुच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्" ।

बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः १४ ॥६९ ॥[44] (3/69-H.P).

Contracting the throat, the chin should be firmly placed on the chest. This is known as Jalandhara Bandha, the destroyer (greatest enemy) of old age and (premature) death i.e. death before 'Nispattiavasthā' is attained.

बध्नाति हि शिराजालमधोगामिनभोजलम् ।

ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥७० ॥[45] (3/70-H.P).

Jalandhara Bandha dams the whole group of channels and prevents downward flow of the fluid from upper regions. It puts an end to all kinds of pain arising in the throat. Hence it is called JalandharaBandha (chin lock) which gives an upward pull to the current passing through (the neck).

जालन्धरे कुते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।

न पीयूषं पतत्यग्नो न च वायुः प्रकुष्यति ॥७१ ॥[46] (3/71-H.P).

---

[44]. हठप्रदीपिका 3.69

[45]. हठप्रदीपिका 3.70

[46]. हठप्रदीपिका 3.71

So long as JalandharaBandha, characterised by contraction of the throat, is maintained the nectar flowing from the moon does not fall into the fire (in the navel) nor is Väyu disturbed.

Note:The word Väyu in this verse stands for the Ayurvedic humour generally called Väta, the disturbance of which is the source of a number of diseases.

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भवेद् दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥७२॥[47] (3-72-H.P).

The two Nadis (Ida and Piñgalā) should be completely blocked by contraction of the throat. This is known as the Madhyacakra which controls the sixteen Adhāras (by regulating the flow of vital fluids to them).

Note:The sixteen vital points are: angusta (big toes), gulpha (ankles), jānu (knees), ūru (thighs), sivani (perineum), linga (generative organ), nābhi (navel), hrd (mid-chest), grivä (neck), kanthadeśa (region of throat), lambikä (tongue), näsikā (nose), bhrūmadhya (region between the eye brows), lalata (fore-head), mūrdha (upper edge of the fore-head), and brahmarandhra (anterior fontanelle– top of the head). The meaning is that the effect of JalandharaBandha is felt practically all over the body from foot to head.

Benefits :-

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥७४ ॥[48] (3/74-H.P).

---

[47]. हठप्रदीपिका 3.72

[48]. हठप्रदीपिका 3.74

Only by this practice Pavana merges (into the Brahmarandhra; and) then do not occur (premature) death, old age, disease, etc.

Note: The internally aroused sensations are concentrated on the top most part of the cerebrum. This is what they meant and they believed that so long as this is maintained one cannot die..

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धेश्च सेवितम् ।

सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः * ॥७५ ॥[49] (3/75-H.P).

This is the remarkable triad of Bandhas which is practised by (all) the great Yogis. The Yogis know it to be the means of success in (the practice of) Hatha (Yoga) in all its aspects.

Jālandharabandhah (HATHATATVAKAUMUDI) :-

खेचरी चित्तपीयूषप्रवाहपरिबन्धनी ।

जालन्धरो ऽमृतमरुत्प्रवाहपरिरोधकः ॥ १९ ॥[50] (15/19-HTK).

Practice of khecari restricts the flow of the activity of citta while jalandharabandha controls the flow of nectar and marut (prāna).

आकुञ्च्य कण्ठं हृदये निदध्यात्

किञ्चित् स तु जालन्धरबन्ध एषः ||

अयं करोत्यव्ययमर्कवक्त्रे

पतत्सुधाया वपुषो ऽमरत्वम् ॥ २० ॥[51] (15/20-HTK).

Contract the throat and press the chin slightly against the chest. This is jälandharabandha, which prevents the flow of

---

49 . हठप्रदीपिका 3.75

50 . हठतत्त्वकौमुदी 15.19

51 . हठतत्त्वकौमुदी 15.20

ambrosia from falling into mouth of the sun, thus making the body immortal.

Benefits :-

बघ्नाति वै कण्ठशिरासमूह' नाघस्ततो याति नमः नवज्जलम् ॥

जालन्धरस्तेन कृतः सुसियैः स्यात् कण्ठदुःखौघविनाशहेतुः |२१|[52] (15/21-HTK).

Application of jalandhara-bandha controls the group of channels in the throat firmly, which does not allow the nectar to flow down. With this practice, **the adepts remove the disorders of the throat .**

नृणां कण्ठसंकोचनेनैव नाड्या - वुभे स्तम्भयेत्तेन मध्यस्थचक्रम् ||

इदं षोडशाधारनामोक्तमाशु गतेः स्तम्भितवायोः सुधापातमग्नौ ॥ २२ ॥[53] (15/22-HTK).

By the contraction of the throat (jalandhara-bandha) one can stop both the nādīs, thus stabilizing the madhyacakra. This further moves the väyu in the sixteen ädhäras. This practice quickly controls the prāṇa and stops falling of the nectar in the fire.

अमृतमहिमगुः स्वमेष नाभिस्थित दहनः प्रपिबज्ज्वलत्यजस्रम् ||

निटिलकमलतश्च्युतं तदग्निर्न पिबति' पाति च बन्ध एव धत्ते ॥ २३ ॥ [54] (15/23-HTK).

The huge fire that continuously burns at the navel naturally burns up the nectar oozing from the moon. Application of this bandha (jalandhara) prevents the fire from devouring the nectar flowing from the lotus at the forehead.

---

[52] . हठतत्त्वकौमुदी 15.21

[53] . हठतत्त्वकौमुदी 15.22

[54] . हठतत्त्वकौमुदी 15.23

Comparative aspects of Jālandhara-bandhah in Hathapradipika & Hathatatvakaumudi :-

Jālandharabandha technique is similar between both texts. In Hathapradipika chapter-3 (verse no. 69-75). and in Hathatatvakaumudi chapter-15th (verse no. 18-23), beneficial and remove the disorders of throat,as well as save the nectar to fall in the fire.

Viparitakaranī HATHAPRADIPIKA :-

यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।

तत् सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥७६॥[55] (3/76-H.P).

All the nectar that flows from the splendid moon (in the throat) is swallowed up by the sun; (at the navel); and (it is) for this reason that body gets old.

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम्१४१ ।

गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥७७॥[56] (3/77-H.P).

This is a superb practice which deprives the mouth of the sun (in the navel region of nectar flowing from the moon). It can only be known from the instructions of a Guru not from millions of discussions.

ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।

करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते" ॥७८ ॥[57] (3/78-H.P).

The practice in which the navel is above and the palate below-the sun above and the moon below- is known as **Viparitakarani (topsyturvy pose)** It can (only) be learnt from the words uttered by a Guru.

---

[55]. हठप्रदीपिका 3.76

[56]. हठप्रदीपिका 3.77

[57]. हठप्रदीपिका 3.78

Note: It means that one should learn it from a person well-versed in Yoga and not from books.

Benefits :-

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी१४४ ।

आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ।

अल्पाहारो यदि भवेदनिर्दहति तत्क्षणात् ॥७९ ॥[58] (3/79-H.P).

This practice increases the gastric heat of a regular practitioner. One who practises it (daily) should procure (and eat) ample food. If he eats insufficient food, the increasing heat soon consumes (his body).

अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने ।

क्षणा किञ्चिदधिकमभ्यसेश दिने दिने ||८० ॥[59] (3/80-H.P).

On the first day one should remain for a very short time with one's head below and feet above. The duration of this practice should be gradually increased day by day.

Note: The position of the body in which one remains with head down and legs up position is known as 'Viparitakarani. Thus popularly known'Sarvāngāsana' and 'Shirsāsana' can also be grouped under Viparitäkarani. However, Yoga practitioners are cautioned to the fact that the Shirshasna is the advanced variation of Viparitakarani. They should begin with the traditionally known ***Viparitakarani*** *technique.*

वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।

याममात्र ४९ तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ॥८१ ॥ [60] (3/81-H.P).

---

58 . हठप्रदीपिका 3.79

59 . हठप्रदीपिका 3.80

60 . हठप्रदीपिका 3.81

Wrinkles and grey hair disappear after six months (of practice). One who practises it regularly for three hours a day overcomes (premature) death.

Note: Any of the three variations of Viparitakarani is capable of bringing about the effect mentioned in this verse. Individual Sadhaka may resort to any of the three variations depending upon his ability.

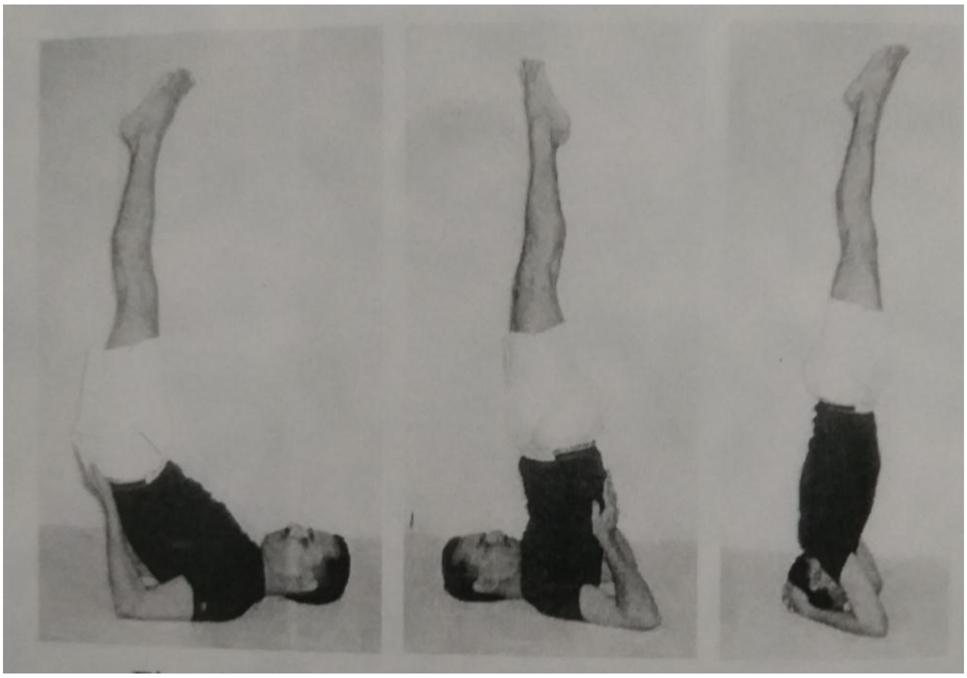

VIPARITAKARANĪ – Fig-7.

Viparītakaraṇī - HATHATATVAKAUMUDI

ऊर्ध्वं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थला दूर्ध्वतो नासान्ते' सुषिरे नयेच्च गगनद्वारं ततः सर्वतः ॥ ऊर्ध्वास्यो भुवि संनिपत्य नितरामुत्तानपादः पिबेत् एवं यः कुरुते जितेन्द्रियजनो नैवास्ति तस्य क्षयः ॥ २ ॥[61] (14/2-HTK).

One should take position on the ground raising theLegs up and keeping the face up. Thus he should raise the sacred secretion oozing from the moon from the aperture at the end of

[61]. हठतत्त्वकौमुदी 14.2

the nose which is above the throat at the opening of the head.Having controlled the senses one who does this practice does not perish.

ऊर्ध्वपादो ऽधोमस्तकः स्यात् क्षण

वासरे ऽथादिमे ऽभ्यास वृद्धमा धयेत् ॥ (14/3-HTK).

एवमभ्यासतो याममात्रं सदा मृत्युजित् स्याज् जराजिच्च षण्मासतः ॥ ३ ॥[62]

In the beginning, one should take the legs up and head down for a short time and thus prolong the time gradually. Through the practice, one should maintain for three hours (one yāma), thus overcoming (premature) death and old age in six months.

Benefits :-

नित्याभ्यासादस्य हि जठराग्निर्वृद्धिमायाति ॥ ५ ॥ [63] (14/5-HTK).

Daily practice of this **enhances the gastric fire.**

वलितं पलितं चैव षण्मासान्नैव दृश्यते ।

याममात्रं च यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ॥ ७ ॥ [64] (14/7-HTK).

One who practises for one yāma (three hours) daily, **gets rid of wrinkles and grey hair in six months and indeed overcomesdeath (untimely).**

Comparative aspects of Viparitakaranī in HATHAPRADIPIKA & HATHATATAVAKAUMUDI :-

Hathatatvakaumudi & Hathapradipika both mentioned Viparitakaranī with similar techniques and benefits and prescribed for one *yāma (Three hours) to overcoming premature death & old age.*

[62]. हठतत्त्वकौमुदी 14.3

[63]. हठतत्त्वकौमुदी 14.5

[64]. हठतत्त्वकौमुदी 14.7

Table – 1 : Comparative study between both texts of H.P & HTK -

s.no.	Topic	Content	Hathapradipika-H.P.	HTK-Hathatatvakaumudi
1.	**Mudra & Bandha**	Description	Next to Pranayama of Ch-3/v-6-18. 10 Mudras.	Ch-14 & 15
		Objectives	For the awakening of Kundalni for transmitting prana in Sushumna. For the flow of prana as deseired, old age, premature death, eight types of opulence factors for piercing the six chakras.	Ch-14/v–1
2.	**Maha-mudra**	Type .	Ch-3/ v- 9-17	Ch-15,v-28 (Dandadharna) v-29 (Mahamudra)
		Benefits .	Destroyer of great tribulation. death conquered, indigestion	Constipation, skin disorders, glandular enlargement,

			reliever, tuberculosis, leprosy.	spleen disorders .
3.	**Maha-bandha.**	Technique.	Ch-3/v-18-19. .Same in HTK, description of ida, pingla, sushumna .	Ch-15/v-37-40.
		Benefits .	Maha Siddhi, Moksha, death conquered,fearless, focus of mind.	Control over senses overcoming fear of death. upward Pranic movement.
4.	**Maha-vedha.**	Techniques.	Same as HTK.	Ch-15/v-42 - 48.
		Benefits .	Wrinkles,hairfall, oldage, increases gastric heat. Bring Siddhis like: Anima(becoming extremely small). 3 hours gap do practice.	Additional benefits;- Removal of gray hair, expansion of prana, move internal energy (kundalni).
5.	**Uddiyana-Bandha**	Technique.	Ch-3/ v- 54 - 59	Ch -15/ v- 9
		Benefits .	Most effective bandha. leads younger	Overcomes death.

			looks. no fear of death.	
6.	**Mula-bandha**	Technique.	Ch-3/ v -60-69.	Ch-15/v -1-2.
		Benefits .	Decrease in stool & urine . Puberty factors. Illuminate the gastric fire. Kundalni awakening.	Same.
7.	**Jalandhara-Bandha.**	Technique.	Ch-3/v-70-75.	Ch-15/v-20.
		Benefits .	Throat region disorders. Fear of death. Anti-aging; guard nectar; Vata doshas.	Same.
8.	**Viparita-karani**	Technique.	Ch -3/v-78-81.	Ch-14/v-2.
		Benefits .	Activate gastric fire. *caution: if there is no food, there is an air outbreak, white hair becomes black,* Aura/radiance . Eliminates wrinkles.	same.

9.	**Khecari-mudra.**		Not applicable for yoga therapy.	Same.
		Technique & Benefits.	As in HTK. (higher spiritual practice)	As in HP.
10.	**Vajroli** .		Not applicable for therapy purpose .	Same.
		Technique & Benefits	Same as HTK.	Same in HP.
11.	**Sakti-chalana** .		Higher spiritual practice.	Same.
		Technique	Same as HTK.	Same in HP.
		Benefits	Towards Moksha.	Same as in HP. spiritual purpose
			72,000 nadis cleansing.	
			No fear of death.	

******

भूमिका

योगवासिष्ठ में मोक्ष के साधन निरूपण के प्रसङ्ग में चूडाला का आत्मबोध विशिष्टरूप से वर्णित है। वहाँ कुण्डलिनी जागरण को आत्मप्रबोध के कारण के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। कहा गया है—महाचिति अर्थात् कुण्डलिनी का उदय न होना ही जगत् आदि समष्टिचित्त के कारण स्वप्न और इन्द्रजाल के समान जगद्रूप में भिन्न-भिन्न रूप में भासमान होते रहते हैं। चिन्मात्र ही सब कुछ है। चिति सर्वथा अच्छेद्य अदाह्य एवं सूर्य के समान अतिशय दीप्तिसम्पन्न है। अदिति सम्पत्ति अखण्डालोक के समान स्वयम्प्रकाश संविद्रूपा कुण्डलिनी है[1]। वह आत्माराम हो विश्रान्त रहती है। अकस्मात् जगद्विभ्रम होता है, उदित होते ही विश्वभ्रम निवृत्त हो आत्मैक्य की प्रतीति होने लगती है।

कुण्डलिनी का स्वरूप विश्लेषण करते हुए योगवासिष्ठ में कहा गया है—"चारों ओर से फैली हुई शाखाओं से परिवेष्टित नाडियों की आश्रय आन्त्रवेष्टनिका सुषुम्णा नाम की नाडी है। इस नाडी से आंत घिरी रहती है अतः इसे आन्त्रवेष्टनिका कहते हैं। आशय यह है कि देह में स्थित वायु के अपने अधीन हो जाने पर सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसके उपपादन के लिए सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई बहत्तर हजार शाखाओं वाली प्रधान सौ नाडियों की आश्रित मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त सात चक्रों में प्रविष्ट होकर निकली हुई तथा मूलाधार में साढ़े तीन वलय वेष्टन के भीतर सोई हुई कुण्डलिनी की शक्ति से सम्पन्न सुषुम्णा नाडी का वर्णन किया है[2]। इस प्रकार कुण्डलिनी का विशद वर्णन चूडाला के चरित्र के व्याज से अनेक अध्यायों में किया गया है। अतः, इस विषय को योगवासिष्ठ के अनुवाद से ही पाठकगण अवगत करें[3] क्योंकि यही इसका प्रधान प्रतिपाद्य है।

जिज्ञासुओं की यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि यह कुण्डलिनी प्रबोध क्या है जिसे कुण्डलिनी जागरण शब्द से कहा जाता है तथा मोक्ष के साधन में चरम स्थान है, जिसके जागरण से विश्व हाथ पर रखे गए आँवले के समान प्रत्यक्ष हो जाता है और सत्य अनृत का यथार्थ सत्य अनुभव हो जाने से पुनः माया के अधीन नहीं होता है। सांख्य की प्रकृति या माया अपने नग्न स्वरूप को प्रत्यक्ष हो जाने से स्वयं उसके प्रति अपने मायिक कार्यों से विरत हो जाती है और मोक्ष-द्वार अनावृत हो जाता है, क्योंकि, आवरण के हट जाने से जीवन्मुक्त होकर मायिकजगत् में भी सानन्द विचरण करता हुआ सकल जन के सुख के लिए जीवनयापन करता है।

कुण्डलिनी का परिचय—योगवासिष्ठ में निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध में निर्वाण के साधनों का निरूपण किया गया है। इसमें योग और कुण्डलिनी की साधना का अतिशय महत्त्वाधान दिया गया है। अद्वैत तत्त्व या चिन्मयानन्दस्वरूप प्राप्ति कुण्डलिनी जागरण सापेक्ष है। अतः मोक्षस्वरूप निरूपण से पूर्व योग और कुण्डलिनी का स्वरूप प्रदर्शित करना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि, मुक्ति कुण्डलिनी-जागरण-सापेक्ष है।

पूजा या सगुण साधना कुण्डलिनी-जागरण के बिना निरर्थक है। गन्धर्वतन्त्र के अनुसार मूलाधार में कुण्डलिनी की निद्रित अवस्था में किसी प्रकार भी सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती है[4]। घेरण्डसंहिता के अनुसार साधक के शरीर में जबतक कुण्डलिनी निद्रिता रहती है, तबतक साधक पशु के समान है, अनन्त योगाभ्यास करने पर भी उसे यथार्थ

---

१. योग० नि० पू० स० ७८ पृ० सं० ४८–४९।
२. यो० वा० स० ८० पृ० ५६।
३. द्रष्टव्य चूडालोपाख्यान पृ० ४५ से ९६।
४. मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता विभो।
तावन्न किञ्चित्सिद्ध्येत मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम्॥ (ग० त० ६।२६।३७)

तत्त्वसाक्षात्कार नहीं होता है।[१] पुण्य के फलस्वरूप यदि कुण्डलिनी का जागरण हो जाता है तो मन्त्र, यन्त्र, अर्चना, ज्ञान की साधना किसी से भी सिद्धि प्राप्त कर अष्टविध ऐश्वर्यसम्पन्न हो शिव के समान जीवन्मुक्त हो जगत् में विचरण करता है।[२]

योग और कुण्डलिनी-जागरण—पुण्य के फलस्वरूप संविद्रूपा भगवती कुण्डलिनी का जागरण आवश्यक होता है, किन्तु, उसके लिए साधन-चतुष्टय की सम्पन्नता एवं योगसाधना नितान्त एकान्त अपेक्षित है। वस्तुतः योगसाधना इसके लिए असाधारण है, अत एव इस योग और उसकी सात भूमियों का निरूपण विस्तार से योगवासिष्ठ में किया गया है। तन्त्र की दृष्टि में योग के बिना कुण्डलिनी का चङ्क्रमण सम्भव ही नहीं है[३]। रुद्रयामल में कुण्डलिनीरूपा संविद् का जागरण योग के अधीन माना गया है[४]। किन्तु योग के द्वारा केवल प्राणायाम; मूलबन्ध आदि हठयोग प्रक्रिया को ही नहीं समझना चाहिए, विश्वास, प्रेम, भक्ति, कर्म, ज्ञान इन सभी के द्वारा कुण्डलिनी को जगाया जा सकता है। सङ्गीत अर्थात् नादविद्या के द्वारा भी कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है। क्योंकि, चिन्मय नादात्मक ब्रह्म है। स्वर भी नादब्रह्म है, अतः विशुद्ध स्वर की साधना से गायक की कुण्डलिनी का जागरण होता है। सभी स्थिति में अद्वैत सच्चिदानन्द की ही उपलब्धि है। साधारण साधक कुण्डलिनी के जागरण के लिए कर्म, ज्ञान, योग, एवं भक्ति की सम्मिलित रूप में साधना का योगवासिष्ठ आदि में निरूपण किया गया है। किन्तु अधिकार के अनुसार ही इनमें किसी की साधना होती है। ज्ञान, न्यास, वैराग्य, योग आदि से कुण्डलिनी का जागरण होता है।[५] इस प्रसङ्ग में योग शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है। इसीलिए ज्ञान योग का अवलम्बन योगवासिष्ठ में किया गया है। किसी-किसी शास्त्र में भक्तियोग और कर्मयोग से किसी भी साधना को गृहीत किया जाता है। कुण्डलिनी का जागरण साधनासापेक्ष है और वह व्यापक योग है। साधारणतः, कुण्डलिनीयोग से कुण्डलिनीयोग, हठयोग तथा लययोग समझा जाता है।

कुण्डलिनी तत्त्व—अन्य विषयों के विश्लेषण से पूर्व कुण्डलिनी तत्त्व का स्वरूप निरूपण आवश्यक प्रतीत होता है। कुण्डलिनी पराशक्ति शब्दब्रह्म महात्रिपुरसुन्दरी एवं कामकला है। वह मातृकारूपिणी, सर्वतत्त्वमयी सर्वदेवमयी और विश्वमयी है। अद्वय सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूपा सनातनी कुण्डलिनी विश्वसृष्टिकारिणी और विश्वरूपिणी है। इसीलिए योगवासिष्ठ में जगत् को चैतन्यस्वरूपा कहा गया है। यह विश्वातीता ज्ञानस्वरूपा है[६]। यही कुण्डलिनी तान्त्रिकसाधकों की इष्टदेवता[७] है। उच्चतम साधना कुण्डलिनी साधना है। परदेवता कुण्डलिनी सर्वत्रगामिनी विश्वरूपिणी नित्यानन्दा शिवस्वरूपा शिवशक्ति में वस्तुतः भेद न होने से शिवसान्निध्य प्राप्त होता है, वस्तुतः, यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि सांख्यिकी प्रकृति के समान यह जड न होकर शैवदर्शन के शिवशक्ति के क्रम में प्राप्त यह प्रकृति चेतनस्वरूपा है। लोचनकार के शब्दों में—जिसका जागरण विश्व का जागरण अर्थात् प्रबोध हो जाता है एवं जो अपने आयतन में विश्राम लाभ करती है—ऐसी प्रतिभा है।

---

१. यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्॥ (घे० सं० ३।५५)

२. जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादयः॥
शिववद्विहरेल्लोकेऽष्टैश्वर्यसमन्वितः । (ग० त० ६।६७।३८)

३. बिना योगं न सिध्येत कुण्डलिनी चङ्क्रमः प्रभो। (ग० त० ६।३६)

४. वेदाधीनं महायोगं योगाधीना च कुण्डली। (रु० या० उ० त० २१)

५. Tantra as a way of Realization. C. N. L. val IV p. 238.

६. ध्यायेत्कुण्डलिनीं देवीं स्वयम्भुलिङ्गवेष्टिनीम्।
श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम्।
विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम्॥ (ष० नि० ११ श्लोक की टीका १४।२)

७. निजेष्टदेवतारूपा देहसंस्था च कुण्डली (मातृ० त० १४।२)

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिमां शिवाम् ।। (लो० प्र० अ० पद्य)

यह प्रकृति देशकाल से अनवच्छिन्न सम्पूर्ण शरीर में परिव्याप्त, शब्द एवं अर्थ से स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गव्यापिनी है। पर और अपर विभाग की दृष्टि से यह पराप्रकृति है। स्वरूपतः अपर अर्थात् पुंनपुंसकप्रकृति भी वही है। योगियों के हृदयकमल में वह तत्त्वरूप से नृत्यपरायण है। सभी प्राणियों के मूलाधार में झलमल आलोक विद्युत् के रूप में स्फुरित रहती हैं। शङ्ख के आवर्त के समान घेरा धारण कर वह शिव को आवर्त के अन्दर रखकर स्थित रहती है। वह कुण्डली के रूप में स्थित सर्प के आकार में रहती हैं।

शारदातिलक के अनुसार कुण्डलिनी चैतन्यरूपिणी, सर्वत्रगामिनी विश्वरूपिणी, नित्यानन्दा, शिवस्वरूपा, शिव का सान्निध्य प्राप्त कर अवस्थित है। शिव और शक्ति में स्वरूपतः भेद नहीं है, काल्पनिक भेद माना जाता है। शिव-सान्निध्य प्राप्त कर अवस्थित है[1]।

शक्ति का दो स्वरूप माना गया है—चित् और अचित्। चित् शक्ति के भी दो रूप हैं सक्रिय और निष्क्रिय। निष्क्रिय अवस्था का शक्ति का कोई भी परिचय प्राप्त नहीं होता है। सक्रिय अवस्था की क्रिया के द्वारा उसका परिचय प्राप्त होता है। शक्ति की निष्क्रिय अवस्था के समय प्रकाशस्वरूप शिव भी अप्रकाशस्वरूप रहता है। शक्ति के सक्रिय होने पर शिव भी उसके आश्रय में आत्मप्रकाश लाभ करता है। अचित् शक्ति परिग्रह शक्ति या उपादानशक्ति (लीलाशक्ति) के नाम से परिचित है। अचित् शक्ति का भी शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो रूप है। शुद्ध अचित् शक्ति मायातीत विशुद्ध जगत् का उपादान है। वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार शुद्धसत्त्व, तान्त्रिक विन्दु या महामाया मानते हैं। अशुद्ध अचित्शक्ति के द्वारा अनन्त ब्रह्माण्ड के साथ सभी मायिक जगत् प्रकाशित हैं। शुद्ध अचित्शक्ति का नाम कुलकुण्डलिनी है। तन्त्र में माया के द्वारा पराशक्ति कुण्डलिनी चिदचिदुभयात्मिका के रूप में वर्णित है।

कुण्डलिनी और मूलाधार—तन्त्रशास्त्रानुसार जीव शरीर में मूलाधार में परदेवता आत्मशक्ति कुण्डलिनी साँप के आकार में कुण्डलाकार हो सोती रहती है और इसकी कुण्डली साढ़े तीन वलय है[2]।

कमल के मृणालसूत्र के समान उसका आकार है, वह अग्नि के समान देदीप्यमान है, वह सबकी जननी, कोटि-सूर्य की प्रभा के समान सदा दीप्तिमयी है[3]। मूलाधार में एक चतुर्दल रक्तकमल है। गुह्यदेश से ऊपर एवं लिङ्गमूल से नीचे सुषम्णानाडी मुखसंलग्न यह अधोमुख पद्म अवस्थित है[4]।

इस पद्म की कर्णिका के अभ्यन्तर वज्रानाडी के मुख में त्रैपुरनाम का विद्युत् के समान उज्ज्वल कोमल त्रिकोण है। सदा यह त्रिकोण कोटि सूर्य की प्रभा के समान समुज्ज्वल बन्धुक पुष्प के समान लाल जीवधारक कन्दर्पनामक वायु है। श्री क्रममत के अनुसार यह त्रिकोण कामाख्यायोनि एवं कन्दर्प अपानवायु है[5]।

---

१. ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वथा विश्वरूपिणी। शिवसन्निधिमासाद्य नित्यानन्दगुणोदया ।।
   ....सर्पाणामङ्गश्रियमुपेयुषी । (शा० ति० १।५१-५३)

२. (क) मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता। शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता। घे० सं० ३।४४
   (ख) प्रसुप्तभुजगाकारा त्रिरावर्ता महाद्युतिः । त० रा० ३०।६५

३. प्रज्वद्भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
   सर्वेषां जननी प्रोक्ता सूर्यकोटिसमप्रभा ।। ष० नि० श्लो० ५० शङ्करकृतटीका

४. अथाधारपद्मं सुषुम्णास्यलग्नं ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुःशोणपत्रम् ।
   अधो वक्त्रम् ··· ···· ···· । ष० नि० श्लो० ४

५. (क) वज्राख्यावक्त्रदेशे विलसति सततं कर्णिकामध्यसंस्थम् ।
   कोणं तत्त्रैपुराख्यं तडिदिव विलसत्कोमलं कामरूपम् ।। कोटिसूर्यप्रकाशः श्लो० ८
   (ख) कर्णिकायां स्थिता योनिः कामाख्या परमेश्वरी ।
   अपानाख्यं हि कन्दर्पम् आधारे तन्त्रिकोणके । विश्वनाथकृत० टीका ।

स्वयम्भूलिङ्ग और कुण्डलिनी—शाक्तानन्दतरङ्गिणी में कहा गया है—त्रिकोण के मध्य में कामबीज के ऊपर अधोमुख सरन्ध्र स्वयम्भूलिङ्ग अवस्थित है। मृणालसूत्र के समान सूक्ष्म जगन्मोहिनी कुलकुण्डली अपने मुख से ब्रह्मद्वार अर्थात् स्वयम्भूलिङ्ग के मुख को मृदुभाव से आच्छादन कर अवस्थित है। नवीन विद्युत् की माला के समान स्थिरतर शोभा के समान शोभाशालिनी सर्प के समान सोई हुई कुण्डलिनी शंख के आवर्त के समान शिव के चरण पर साढ़े तीन वलयजटित है[1]।

स्वयम्भूलिङ्ग अधोवक्त्र और कुण्डलिनी भी अधोवक्त्रा है। श्रीक्रम में कहा गया है कि परदेवता कुण्डली अधोवक्त्रा और ऊर्ध्ववक्त्रा एवं उसकी आकृति विद्युल्लता के समान व्यक्त होती है। ब्रह्मद्वारमुख को अपने मुख के द्वारा सदा आच्छादन कर सोती रहती है[2]।

ब्रह्मद्वार—गोरक्षसंहिता में जिस द्वार से निरामय ब्रह्मस्थान में गमन किया जाता है—वही ब्रह्मद्वार है। कुलकुण्डलिनी उसी ब्रह्मद्वार को मुख से आच्छादित रखती है।[3]

नाडी संवेष्टनी कुण्डलिनी - कुण्डलिनी केवल शिवको वेष्टन करके स्थित है, ऐसी बात नहीं है वरन् वह सभी नाडियों को संवेष्टन करके विराजमान हैं। शिवसंहिता में कहा गया है—गुह्यस्थान और मेढ्र के मध्य स्थान में अधोमुख योनि = त्रिकोण है। वहीं पर कन्द है और उस कन्द में कुण्डलिनी सदा वर्तमान रहती है। वह सुषुम्णा नाडी के विवर में अवस्थित है। साढ़े तीन वलय में सभी नाडियों को वेष्टन कर वह मुख में पुच्छ को लेकर अवस्थित है।[4] यहाँ

---

१. (क) स्वयम्भूलिङ्गं तन्मध्ये सरन्ध्रं पश्चिमाननम्।
ध्यायेच्च परमेशानि शिवं श्यामलसुन्दरम्॥ शा० त० उ० ४

(ख) अयं स्वयम्भूः कामबीजोपरि स्थितः। (ष० नि० श्लो० ९ कालच० टीका)

२. (क) तस्योर्ध्वे बिसतन्तुसोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी।
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं संच्छादयन्ती स्वयम्॥
शङ्खावर्तनिभा नवीनचपलामालाविलासास्पदा।
सुप्तासर्पसमा शिरोपरिलसत्सार्द्धत्रिवृत्ताकृतिः॥

३. (क) अधोवक्त्रा स्थिता देवी ऊर्ध्वं पुच्छादिशोभना। ष० नि० श्लो० १०
अत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता॥
परिस्फुरति सर्वात्मा सुप्ता हि भुजगाकृतिः।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति। श्रीक्र० व० श्लो० १०

(ख) येन द्वारेण कुण्डलिन्या ब्रह्मणि गमनं तद्द्वारमाह ब्रह्मद्वारमिति। ष० नि० श्लो० ३

(ग) ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्। गो० सं०

४. पश्चिमाभिमुखी योनिः गुदमेढ्रान्तरालगा।
तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ते कुण्डली सदा॥
संवेष्ट्य सकला नाडी सार्धत्रिवलयाकृतिः।
मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णाविवरे स्थिता॥ शि० सं० ५।७९८०
सभी नाडियों के मूल को कन्द कहा जाता है—
गुदात्तु द्व्यङ्गुलादुर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः।
चतुरङ्गुलविस्तारं खगाण्डवत्।
नाड्यस्तस्मात् समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः। षनि० श्लो० १
अर्थात् गुह्यदेश से दो अङ्गुल ऊपर एवं मेढ्र से दो अङ्गुल नीचे चार अङ्गुल का कन्दमूल है। यह पक्षी के अण्ड के समान है। इससे बाहर भी हजारों नाड़ियाँ निकलती हैं।

कुण्डलिनी ही विश्व की प्राणशक्ति एवं जीवशरीर में जीवशक्ति है। जीवशक्ति प्राण के आकार में अभिव्यक्त होती है। "जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकारेण तेन सा"[१]।

मनुष्य के सोने पर भी जैसे उसका निःश्वास प्रश्वास चलता ही रहता है वैसे ही कुण्डलिनी का भी निःश्वास अव्याहत रहता है। षट्चक्रनिरूपण में कहा गया है कि इस निःश्वासप्रश्वास से ही वह जगत् के जीव को धारण करती है। कुण्डलिनी का निःश्वासप्रश्वास ही जीव के प्राण के धारण का मूल आधार है। जीव के जीवत्व का आधार कुण्डलिनी ही है[२]। देहावच्छिन्नजीवात्मा का निःश्वासप्रश्वास का समष्टिरूप ही कुण्डलिनी का निःश्वासप्रश्वास है।

जीव के प्रश्वास एवं निःश्वास के साथ ही हं एवं सः ये दो अक्षर अभिव्यक्त होते हैं। इसीलिए प्राण को 'हंस' कहा जाता है। जीवात्मा हंसरूप में अवस्थित है। कुण्डलिनी शक्ति इस हंस को आश्रय करती हुई स्वयं अभिव्यक्त करती है[3]। कुण्डलिनी का दो रूप—

प्राणाकार में अभिव्यक्त पराशक्ति कुण्डलिनी को प्राणकुण्डलिनी कहा जाता है। कुण्डलिनी का यह रूप अस्थिर गतिशील व्यक्त है। कुण्डलिनी का अन्य रूप स्थिर अव्यक्त है। पराशक्ति जब इस रूप में अवस्थान करती है तभी उसकी सुप्तरूप में कल्पना की जाती है। सुप्त मनुष्य की निष्क्रियता व्यावहारिक जगत् में भी प्रत्यक्ष है। साँप जब सोता है तब कुण्डली आवर्त के रूप में सोई रहती है। इसलिए जो शक्ति सांप के समान सोती हैं उसे कुण्डली या कुण्डलिनी कहा जाता है[४]।

प्राणतोषिणी के मत में मूलाधार में सांप के समान कुण्डलिनी नाडी है, उस नाडी के मध्य में अवस्थिति के लिए इस शक्ति को कुण्डली कहा जाता है[५]। इसी को सर्पी भी कहा जाता है। अन्य कारण यह भी है कि कुण्डली प्राणशक्ति है, सर्प को प्राणशक्ति का प्रतीक माना जाता है[६]। यह कल्पना अतिशय प्राचीन है। गाय में जोड़ा सांप की आभूषणमूर्ति (Morif) मेसोपटेसिया के लेगास के राजा राजागुडिया के (King gudea of Lagash) यज्ञीय पानपात्र के गाय में प्राप्त है। इस राजा का समय प्रायः २६० ईसा पूर्व माना जाता है। भारतीय शिल्प में भी यह इतिहास प्राप्त होता है। सांप के प्राणशक्ति के प्रतीक में सामान्य जन का भी विश्वास है। सांप का स्वप्न देखने पर वंशवृद्धि मानी जाती है। प्राणशक्ति कुण्डलिनी को सर्पी मानने से एक विश्वास ही है। कुण्डल शब्द का अर्थ आवेष्टन होता है। जगन्माता महाशक्ति शब्दार्थमय विश्वसृष्टि करती है, उसको वेष्टन कर अवस्थित रहने के कारण उसे कुण्डली या कुण्डलिनी कहा जाता है[७]।

मूलाधार में स्थित कन्द को कुण्ड कहा जाता है। इस कुण्ड को जो शक्ति स्थिति के स्थान के रूप में ग्रहण करती है (कुण्ड + ला + उ + ई) वही कुण्डली है। अथवा कुण्डल कुण्डयुक्त (अस्ति अर्थ में अच् प्रत्यय) कुण्डलयुक्ता देवी अर्थात् कुण्ड को वेष्टन करके वह अवस्थित है, अतः वह कुण्डली है।

---

१. त० रा० त० ३०।६३

२. श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जीवो यथा धार्यते।
सा मूलाम्बुजगह्वरे विलसति प्रोद्दामदीप्तावलिः॥

३. (क) उच्छ्वासे चैव निःश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम्।
तस्मात्प्राणस्तु हंसाख्य आत्माकारेण संस्थितः॥ ष० नि० श्लो० ११
(ख) बिभर्ति कुण्डलिनी शक्तिरात्मानं हंसमाश्रिता। शा० त० २५।३७

४. सर्पकुण्डलिनीभावाल्लोके कुण्डलिनीमता। सि० स० ४०।२०

५. मूलाधारे सर्पवत् कुण्डलिनीभूता नाडी वर्तते तन्मध्यस्थायित्वादियं कुण्डली। प्रा० तो० परि० १।६

६. M. S. I. A. C. P. 67

७. P. T. Part II पृ० 596-97

महाकुण्डली, कुण्डली, कुण्डलिनी—जीव शरीर में मूलाधार में अवस्थिता पराशक्ति को कुण्डली या कुण्डलिनी कहा जाता है। यह उसका व्यष्टि स्वरूप है। इसी प्रकार वह चिन्शक्ति और मायाशक्ति भी है[१]। समष्टि रूप में उसे महाकुण्डली कहा जाता है। महाकुण्डली चिद्रूपिणी हैं, ब्रह्मरूपिणी है। वह परम शिव से अभिन्न है, वह सहस्रार में परम शिव को सार्द्धत्रिवलयाकार में वेष्टन करती है। शिवविन्दु के साथ एक होकर रहती है[२]। पूर्व में ही निर्दिष्ट है कि मूलाधार में स्वयम्भू लिङ्ग को कुण्डली वेष्टन करती है। कतिपय आचार्य इसको शक्ति का अचिद्रूप कहते हैं[३]। कुण्डली को ही कुलकुण्डली कहा जाता है। लक्ष्मीधर ने कुल शब्द की व्याख्या में कहा है कु = पृथिवी तत्त्व जिसमें लीन होता है वह कुल हैं। यह कुल ही मूलाधार चक्र है। क्योंकि, मूलाधार चक्र में पृथिवी तत्त्व अवस्थित है। लक्षणा के द्वारा सुषुम्णा मार्ग को कुल कहा जाता है[४]। इस सुषुम्णा मे जो कुण्डली रहती है, वह कुल कुण्डली या कुल कुण्डलिनी है। इसी प्रकार कुल का अर्थ शक्ति होता है[५] कुण्डल या वृत्तविशिष्टा अर्थात् वृत्ताकार जो है वही कुण्डली है। जो कुल अर्थात् शक्ति कुण्डली है—वह कुलकुण्डली है। इस अर्थ को मानने पर महाकुण्डली को भी कुलकुण्डली कहा जाता है। साधारणतः ब्रह्माण्ड में जो महाकुण्डली पिण्ड में है, उसी को कुल कुण्डली कहा जाता है[६]। महाकुण्डली पर जीव शरीर में कुण्डली के रूप में अवस्थान करती है। महाकुण्डली ब्रह्मस्वरूपिणी है। अतः, उसका सगुण और निर्गुण दो रूप है। निर्गुण रूप में चैतन्य-स्वरूपा, आनन्दस्वरूपा, ब्रह्मानन्दप्रकाशिनी है एवं सगुण रूप में सर्वभूत प्रकाशिनी है[७]। महाशक्ति महाकुण्डली सर्वभूत प्रकाशिनी का अर्थ यह है कि वह सर्वभूत सभी वस्तु अर्थात् समग्र सृष्टि को अभिव्यक्त करती है। वही सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त होती है, सृष्टि उससे भिन्न नहीं है. क्योंकि, सृष्टि-स्थितिलयात्मिका है।

सार्द्ध त्रिवलयाकार का अर्थ—महाकुण्डली सार्द्ध त्रिवलयाकार में शिव को वेष्टन कर अवस्थित है। इसमें एक-एक वृत्त देवी का एक-एक रूप या अवस्था का प्रतीक है। एक वृत्तात्मिका महाकुण्डली विन्दु है द्विवृत्त समन्विता महा-कुण्डली पुरुष प्रकृति स्वरूपात्मिका है। त्रिवृतासमन्विता देवी इच्छा-ज्ञान-क्रिया इस त्रितयशक्ति स्वरूपा है एवं रजः सत्त्व और तमः इन तीन गुणों से समन्विता है अर्थात् त्रिगुणात्मिका है[८]। कुण्डली के सार्द्धत्रिवलय को प्रकृति उसके तीनों गुण एवं उसकी विकृति भी कहते हैं[९]। त्रिगुणात्मिका प्रकृति और उसकी विकृति है इसी के आधार पर सृष्टि होती है[१०]। त्रिवृत्त

---

१. सुषुम्णाया मूले यत्कुडं कमलकन्दाकारमाधारक-कन्दम्। सौ० ल० १० (लक्ष्मीधर टीका)

२. S. S. पृ० ६९९।

३. G. L. पृ० २१२, २१३।

४. कुः पृथिवीतत्त्वं लीयते यत्र तत्कुलताधारचक्रम्। लक्षणया सुषुम्णा मार्गः कुलमित्युच्यते। (सौ० ल० श्लो० १० लक्ष्मीधर टीका)।

५. अकुलं शिवतामुक्तं कुलं शक्तिः प्रकीर्तिता। (बृ० त० उ० ३७)

६. Tantra As a way of Realization (S. R. C. M. Vo-II p. 188)

७. (क) सार्द्धत्रितयविन्दुभ्यो भुजङ्गी कुलकुण्डली।
निर्गुणा सगुणा देवी ब्रह्मरूपा सनातनी॥
चैतन्यरूपिणी देवी सर्वभूतप्रकाशिती।
आनन्दरूपिणी देवी ब्रह्मानन्दप्रकाशिनी॥ (कुब्जिकावचन प्रा० तो० काण्ड १ परि०)
(ख) S. P. पृ० ३६।

८. G. L. पृ० ८६।

९. S. S. पृ० ६९८।

१०. प्रकृत्या जायते पुंसः प्रकृत्या सृज्यते जगत्।
तोयात्तु बुद्‌बुदं देवि यथा तोये विलीयते॥
प्रकृत्या जायते सर्वं पुनस्तस्यां प्रलीयते। नि० त० ३

या त्रिवलय के द्वारा त्रिगुणात्मिका प्रकृति की अवगति होती है और अर्ध वृत्त के द्वारा विकृति की अवगति होती है। विकृति पूर्व प्रकृति नहीं है, किन्तु प्रकृति भी है, क्योंकि प्रकृति के द्वारा ही वह उद्भूत है। इस तत्त्व को अवगत कराने के लिए ही विकृति को अर्द्धवृत्त या अर्द्धवलय कहा जाता है, अतः सार्द्धत्रिवलय को सृष्टि का प्रतीक भी कहा जाता है। किन्तु यह भी सत्य है कि कुण्डली का शुद्ध सार्द्धत्रिवलय ही है यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उसके वलय की अधिक संख्या का भी उल्लेख मिला है। जैसे शाण्डिल्योपनिषद् में कहा गया है कि कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकृति के रूप में अवस्थित है[1]। यह कुण्डली ही वृत्त या वलय है। कुण्डली का इक्यानवे (९१) पर्यन्त वलय या वृत्त की चर्चा मिलती है। प्रत्येक वलय या वृत्त एक-एक मातृका वर्ण का प्रतीक है[2]।

महाकुण्डली और सृष्टि--महाकुण्डली सर्वसत्त्वमयी, सृष्ट्यात्मिका, नाना विचित्र क्रियोद्योग प्रपञ्चमूर्ति विश्व-स्वरूपा है[3]। वह जब आत्मलीन सुप्तावस्था का त्याग कर प्रसारित होती है तभी चित् और अचित् जगत् की सृष्टि होती हैं, उसका प्रसार एवं सङ्कोचन ही जगत् की सृष्टि और संहार है, इसीलिए, इसको जगत् का मूल कहा जाता है[4]। विचित्र स्थूल सृष्टि में कुण्डली शक्तिका स्थूल रूप अभिव्यक्त होता है। इसी समय इसको प्रत्यक्ष किया जाता है। इस स्थूल के अन्तराल में उसका जो सूक्ष्म रूप रहता है उस रूप में वह सर्वगामिनी व्याप्ति-व्यापकशून्य रहती है[5]। यह उसका स्वरूप है। गुरु के आश्रय में ही उसको इस रूप की उपलब्धि होती है[6]।

शक्ति का स्थिर अव्यक्त एवं अस्थिर व्यक्त ये दो रूप परस्पर अविच्छिन्न हैं। मेरु को या दण्ड को--दो प्रान्तों का दोनों रूप अविच्छिन्न है। सृष्टि में सर्वत्र कुण्डली शक्ति इन उभय रूपों में विराजमान है। उसके इन दोनों रूपों में विराजमान है। इन उभयरूपों के समवाय में ही सृष्टि है। इसीलिए सृष्टि या अभिव्यक्त पदार्थ का अणु परमाणु में ही यह उभयरूप परिलक्षित होता है। जो शक्ति व्यक्त और अचल है, उसके मूल में उसका निश्चल अव्यक्त रूप रहता है। निश्चल अव्यक्त अनन्त शक्ति निश्चल अमेय और अपरिसीम है, व्यक्त और सचल शक्ति उसी असीम समुद्र का बिन्दुमात्र है।[7]

पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड उभयत्र सृष्टि का आधार कुण्डलिनी है, सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में कहा गया है, परापरा-स्वरूपा कुण्डलिनी पिण्ड का आधार और देहसिद्धिकारिणी है।[8]

पिण्ड ही जीवदेह है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण के भेद से जीवशरीर तीन प्रकार का है। इन तीनों देह का आधार कुण्डलिनी है। कुण्डलिनी ही केन्द्रीय कील है जिसके ऊपर जीव का शारीरिक, प्राणिक और मानसिक शक्ति समवाय में जटिल देहयन्त्र आवर्तित होता है[9]। स्वरूपतः चिद्रूपिणी कुण्डलिनी ही देहावच्छिन्न जीव है। अतः देहयन्त्र

---

१. अष्टप्रकृतिरूपाऽष्टधा कुण्डलीकृत्य कुण्डलिनी भवति। शा०·उ०·॥ ४।८
पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार ये आठ प्रकृतियां है। दर्शनीय० ४।११

२. G. L. पृ० २१८।

३. नानाचित्रक्रियोद्योगप्रपञ्चमयविग्रहा। सि० स० ४।९६

४. शक्तिप्रसरसङ्कोचौ जगतः सृष्टि-संहृती।
भवतो नात्र सन्देहस्तस्मात्तन्मूलमुच्यते। सि० ज० ४।२४

५. बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका।
अपरा सर्वथा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापकवर्जिता॥ ऐ० ४।३१

६. स्वस्वरूपदशायां सा बोधनीया गुरुश्रिता। ऐ० ४।३३

७. Tantra as a way of Realization. S. R. E. M. vol II. p. 188.

८. परम्परास्वरूपा सा पिण्डाधारतयाश्रुता।
भवेत्कुण्डलिनी यद्वत् पिण्डसंसिद्धिकारिणी॥ (सि० स० ४।१८)

९. Tantra as a way of Realization. (S. R E. N. vol II p. 77-78)

भी वही है और उसको चलाती भी वही है, शुद्ध जीव नहीं, सृष्टि जिस किसी पदार्थ की सृष्टि करती है, और उस पदार्थ के रूप में प्रसूत होता है, वे उसके केन्द्रस्थल में निश्चल आत्मलीन ही अवस्थान करती है।[१] तन्त्र के इस सिद्धान्त का समर्थन आधुनिक विज्ञान से भी समर्थित है। एक अणु में प्रचण्ड शक्ति उपलब्ध होती है। जडविज्ञान ने इसको परीक्षण के द्वारा प्रदर्शित कर दिया है। किन्तु विज्ञान और तन्त्र में यह भेद है कि विज्ञान की यह शक्ति जडस्वरूप है, किन्तु तन्त्र-सिद्धान्त में यह शक्ति चिद्रूपिणी महाशक्ति का ही रूपविशेष है—यही दोनों में भेद है। विज्ञान की प्रगति एक दिन इस तन्त्रसिद्धान्त को परीक्षण के द्वारा समर्थित कर देगी।

मनुष्य शरीर को केन्द्रभूमि—जीव शरीर का केन्द्र मूलाधार है, इसीलिए यह कुण्डलिनी मूलाधार में सर्पाकार में सुप्त रहती है। शाण्डिल्योपनिषद् में मानव शरीर के मध्य स्थान या केन्द्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि मध्य स्थान गुह्य देश से दो अङ्गुल ऊपर एवं मेढ्र के दो अङ्गुल नीचे रहता है।[२] यही स्थान मूलाधार है।[३] अतः निश्चल कुण्डलिनी ही देह का केन्द्रस्थान है। कुण्डलिनी के मूलाधार में अवस्थान की अन्य व्याख्या भी सृष्ट्यात्मिका षट्त्रिंशत् (३६) तत्त्वमयी शक्ति का स्थूलतम तत्त्व क्षितितत्त्व के रूप में जब प्रसूत होता है तब सृष्टिमुख में उसका कोई भी कर्म शेष नहीं रह जाता है। यह क्षितितत्त्व ही निष्क्रिय हो विश्राम करने लगता है। नरशरीर में मूलाधार ही क्षितितत्त्व का स्थान है। इसीलिए, कुण्डलिनी मूलाधार में प्रसुप्ता रहती है[४]। समष्टि सृष्टि के क्षेत्र में महाकुण्डली आत्मलीन हो सहस्रार में रहती है। मनुष्य के शरीर में मस्तकशीर्ष सहस्रार का स्थान है। सर्वव्यापिनी समष्टि शक्ति का व्यष्टि के अर्थात् जीवदेह के स्थानविशेष में साधना के सौकर्म से निर्देश किया गया है। सहस्रार में शिवशक्ति की उपलब्धि होती है[५]।

पिण्ड ब्रह्माण्ड—विषय के तात्पर्य को समझने के लिए पिण्डब्रह्माण्ड के ऐक्यतत्त्व की पर्यालोचना करनी होगी। तन्त्र में सृष्टितत्त्व मौलिकतत्त्व है। षडध्वा के प्रसङ्ग में पूर्व खण्ड में भी कहा गया है। तन्त्रमत में पिण्ड क्षुद्रब्रह्माण्ड है[६]। अतः जो ब्रह्माण्ड में है वे पिण्ड में भी है।[७]

शिवसंहिता में कहा गया है देह में ही मेरु अवस्थित है। सप्तद्वीप, सभी नदियाँ समुद्र, पर्वत, क्षेत्र, क्षेत्रपाल, ऋषि, मुनि, ग्रहनक्षत्र, पुण्यतीर्थ' पीठस्थान, पीठदेवता, सृष्टिसंहारकारी, भ्राम्यमाण, चन्द्रसूर्य, नभ, वायु, वह्नि, जल, पृथिवी, त्रैलोक्य में जितने प्राणी हैं, सभी इस शरीर के मेरु को वेष्टन कर अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं[८]। संक्षेप

---

१. Tantra as a way of Realization, वही

२. गुह्याद्द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्राद्द्व्यङ्गुलादधः।
देहमध्यं मनुष्याणां भवेति ॥ (शा० उ० १।४।५)

३. गुदमेढ्रान्तरालस्ल मूलाधारं त्रिकोणकम्। (योगवा० १।१६८)

४. S. P. p. 41.   ५. Ś. Ś. p. 683.

६. प्रतिदेहं परेशानि ब्रह्माण्डं नात्र संशयः। (नि० त० प० १०)

७. ब्रह्माण्डवर्ति यत्किञ्चित् तत् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा। (सि० स० ६।२)

८. देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः ॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः ॥
सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च ॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देवता।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते ॥ (शिवसं० २।१-४)

में यह कहा जा सकता है कि चौदहों भुवन में जो कुछ है सभी इस पिण्ड में भी है। तन्त्र आदि में पिण्ड में ही चौदहों भुवन के रहने का वर्णन मिलता है। मूलाधार के नीचे पैर के तल भाग तक सात भुवनों अर्थात् सातपातालों को एवं मूलाधार से मस्तकशीर्ष तक भू, भुव आदि सात भुवन विराजमान हैं।[१]

पिण्ड में चक्र—नरदेह शक्ति का ही रूपविशेष है। किन्तु देह में सर्वत्र शक्ति का प्रकाश एक रूप में नहीं है। कतिपय विशेष केन्द्र में शक्ति का प्रकाश प्रत्यक्ष होता है। इन्हीं केन्द्रों को चक्र कहा जाता है। मूलाधार से आरम्भ कर शरीर के ऊपर के स्थान में चक्र के होने का वर्णन मिलता है। मेरुदण्ड के मध्य में = अभ्यन्तर में सुषुम्णा नाडी है। सुषुम्णा मूल अर्थात् मूलाधारस्थ कन्द से लेकर ब्रह्मान्ध्र तक विस्तृत है[२]। इस सुषुम्णा नाडी के अन्दर ही चक्र या पद्म का स्थान है।[3] अन्य मत के अनुसार चक्र या पद्म का स्थान चित्रिणी नाडी के मध्य में माना गया है[४], किन्तु इस मत का ही विशेष प्रचार है। सुषुम्णानाडी के अभ्यन्तर में वज्रानाडी है। उसके अभ्यन्तर में चित्रिणी नाडी का स्थान है[५]। अतः सूक्ष्मविचार न करने पर द्वितीय मत में भी सुषुम्णा के मध्य में ही चक्र का स्थान माना गया है।

षट्चक्र—चक्र कहने से सामान्य रूप में मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, सहस्रार, इन छः चक्रों की अवगति होती है। ललना, सोमचक्र आदि चक्रों का भी उल्लेख शास्त्र में मिलता है।[६]

प्राणशक्ति का केन्द्रचक्र—ये चक्र प्राणशक्ति के सूक्ष्म केन्द्र हैं। सजीव मनुष्य के प्राणवायु के द्वारा ये अभिव्यक्त होते हैं। मनुष्य के मरने के साथ ये सभी चक्र मिल जाते हैं। अतः, शव के छेदन करने पर चक्रों का सन्धान नहीं मिलता है।

स्थूल शरीर के जिस अंश में जो चक्र का स्थान निर्दिष्ट किया गया है, वे अङ्ग चक्र नहीं हैं। चक्र के स्थान को एवं चक्र की अधिष्ठात्री सूक्ष्म शक्ति को जो स्थूल स्पन्दन सञ्जात है उसे चक्र कहा जाता है। उस स्थान को व्याप्त कर चक्र अवस्थित रहता है एवं स्थान को चक्र नियन्त्रित करता है। चिद्रूपिणी महाशक्ति ही इन चक्रों के आकार में अभिव्यक्त होती हैं। शास्त्र में जिन विभिन्न चक्रों के विभिन्न अधिष्ठात्री देवता कहे गये हैं, ये उनके विभिन्न रूप हैं[७]।

चक्रोत्पत्ति की तात्त्विक व्याख्या—साधन तत्ववेत्ताओं ने कहा है, जब शक्ति सृष्टि परिणाम या विवर्तन की ओर दौड़ती है, तब तब शक्तिमान् का स्वरूप स्मृत होने के लिए एवं उसका आकर्षण अनुभव करने के लिए चलते-चलते मध्य में शक्तिमान् की ओर परिवर्तित होना चाहती है। इसलिए शक्ति में केन्द्रातिग एवं केन्द्रानुग ये दो गतियाँ लक्षित होती हैं, इसके फल स्वरूप शक्ति की गति कुछ समय के लिए कुछ वृत्ताकार और चक्राकार स्वरूप को धारण करती है। है। यह चक्राकार अवस्था योगशास्त्र का चक्रतत्त्व है[८]।

---

१. शा० त० १; सिस ३।३–७।

२. मेरुमध्ये स्थिता या तु मूलादाब्रह्मरन्ध्रगा। (ष० नि० श्लको० १ का टीका)

३. (क) सुषुम्णाग्रन्थिसंस्थानि षट्पद्मानि यथाक्रमात्। (शा० त० उ० ४)

(ख) सप्तपद्मं मयैवोक्तं सुषुम्णाग्रथितं प्रिये। (ताराकल्प० उद्ध० ष० नि० श्लोक २ विश्वा० टी०)

(प्रत्येक शक्ति केन्द्र में अर्थात् चक्र में एक-एक पद्म है। चक्र और पद्म समानव्यापक है। अतः चक्र आदि के व्यापार में पद्म का व्यवहार होता है)।

४. मूलादिषट्सरोजातं चित्रिणीग्रथितं प्रिये।
लिङ्गोर्ध्वनाभिवुक्कण्ठभ्रूमध्यदेशजम् ॥ (मायात० ष० नि० श्लोक २ वि० ना० टी०)
मध्ये सुषुम्णा तन्मध्ये वज्राख्यालिङ्गमूलतः।
तन्मध्ये चक्रिणी सूक्ष्मा विसतन्तुसहोदरा ॥ (वही)

५. Ś. Ś., पृ० ६८२। ६. Ś. Ś., पृ० १६६-१६७।

७. S. S. पृ० ६८७

८. पू० त० पृ० ४७

यह चक्रज्ञान विशेषकर पूर्वोक्त षट् चक्रज्ञान तन्त्र के सिद्धान्त में सिद्धि कामना करने वाले साधक को अवश्य होनी चाहिए। रुद्रयामल में कहा गया है, ये षट्चक्रार्थ को न जानने से अम्बिकापदभजन, उसका पापक्षय होने में और सिद्धिलाभ करने में सातजन्म लगता हैं। जो चक्रभेद को जानता है और सदा साधन कर्म को करता है वह एक वर्ष में ही सिद्धिलाभ करता है—यह तन्त्र का सिद्धान्त है[१]।

चक्र या पद्म का दल--चक्र को पद्म भी कहा जाता है। चक्र को पद्म के समान देखने के कारण चक्र को पद्म कहा जाता है। पद्म रहने पर उसका दल भी रहेगा। पृथक्-पृथक् पद्मों की दल संख्या विभिन्न है। जैसे मूलाधार पद्म चतुर्दल है। चक्र में योगनाडियों की संख्या के अनुसार एवं उसके अवस्थान के अनुसार पद्म का दल निर्णीत होता है। मूलाधार चक्र को घेर कर या उसके मध्य से चार योगानाडियाँ कही गई हैं। उस स्थान में नाड़ियाँ इस प्रकार हैं कि उनको देखने से चतुर्दल कमल के समान लगती हैं, अतः नाडियाँ ही पद्म की रचना करती हैं[२]। योगनाडियों से रचित इस पद्म को सूक्ष्म शक्ति केन्द्र का स्थूल आवरण कहा जाता है[3]।

योगनाडी--ये योगनाडियाँ स्थूल शरीर की स्नायु नहीं है। योगनाडी प्राणवायु का प्रवाह-पथ है। गत्यर्थक नड् धातु से नाडी शब्द सिद्ध होता है। जिसके मध्य से प्राणवायु यातायात करती हैं वे ही नाडियाँ हैं[४]। मानव शरीर में कितनी नाडियों की संख्या हैं, इस विषय में मतभेद है। किसी-किसी ग्रन्थ में साढ़े तीन लाख नाडियाँ कही गई है[५]। अन्य ग्रन्थ में बहत्तर हजार कही गई है[६]। किन्तु बहत्तर हजार नाडियाँ अनेक स्थलों में कही गई है। इनमे प्रधान प्राणवहा नाडी बहत्तर हैं।

प्रधान दशनाडी इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्ति, जिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहु एवं शंखिनी[७] अन्य मत में चौदह प्रधान नाडी मानी गई है। ईडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, सरस्वती, वारुणा, या वारुणी, पूषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरा, = विश्वदरी, गान्धारी, कुहु, शङ्खिनी, पयस्विनी, अलम्बुषा एवं गान्धारी[८]।

---

१. षट्चक्रं न जानाति यो भजेदम्बिका पदम्।
तस्य पापं क्षयं याति सप्तजन्मसु सिद्धिभाक्॥
ज्ञात्वा षट्चक्रभेदञ्च यः कर्म कुरुतेऽनिशम्।
सम्वत्सरात् भवेत् सिद्धिरिति तन्त्रार्थनिर्णयः॥ रु० या० उ० त० पृ० २१

२. S. S. पृ० ६८५, ६८६।

३. S. S. पृ० १६४।

४. नडगताविति धातोः नड्यते गम्यतेऽनया पदव्या इति नाडी पदवी। ष० नि० श्लोक २ का० टी०

५. सार्द्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम्। शि० स० २।१३

६. नाडीनां संवहो देवि कन्दयोनिः खगाण्डवत्।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः।

७. तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः (निरुत्तरत० द्र० प्रातो का० श्परि० ४ पृ० ३२)
तेषु नाडी सहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता। प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्रदश स्मृताः ईडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयक, गान्धारी, हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी, अलम्बुषा कुहुरत्र शंखिनी दशमी स्मृता। ध्या० उ० ५१-५२

८. नाडीनामपि सर्वासां मुख्या गार्गि चतुर्दश।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च सरस्वती॥
वारुणी चैव पूषा च हस्तिजिह्वा यशस्विनी।
विश्वोदरी कुहुश्चैव शङ्खिनी च पयस्विनी॥
अलम्बुषा च गान्धारी मुख्याश्चैताश्चतुर्दश। यो० या०, द्र० प्रोतो का० १४-४

प्रधान तीन नाडियाँ--इन मुख्य नाडियों में भी प्रधान तीन नाडियाँ मुख्यतम हैं, इन तीनों में भी एक सर्वोत्तम है। वेदान्तवेत्ता इसको ब्रह्मनाडी कहते हैं[1]। यह ब्रह्मनाडी ही सुषुम्णा है[2]। अन्य दो नाडियाँ इडा और पिङ्गला है।

ब्रह्मनाडी--षट्चक्र निरूपण में कहा गया है कि चित्रिणी नाडी के मध्य में ही ब्रह्मनाडी है[3]। कालीचरण ने लिखा है कि चित्रिणी नाडी के अभ्यन्तर शून्य आ गया मार्ग ही ब्रह्मनाडी है। इस पथ में शब्द-ब्रह्मस्वरूपिणी कुण्डलिनी परम शिव के सन्निधान में जाती है। ब्रह्मनाडी चित्रिणी नाडी के अभ्यन्तर है भिन्न कोई नाडी नहीं है[4]।

सुषुम्णा-वज्रा-चित्रिणी--मायातन्त्र मत के अनुसार सुषुम्णानाडी के अभ्यन्तर बज्रनाडी और उनके अभ्यन्तर में चित्रिणीनाडो है। वस्तुतः ये तीनों नाडियाँ स्वरूपत- अभिन्न हैं। महामहोपाध्याय गोपीनाथकविराजमहाशय ने लिखा है "ऊर्ध्वमुखी सुषुम्णा का स्रोत क्रमशः सूक्ष्मतम हो प्रवाहित होता है, उसके फलस्वरूप गुणक्रियादि की अनुभूति भी क्रमशः भिन्न होती है। इसलिए योगशास्त्रादि में वज्रा, चित्रिणी और ब्रह्मनाडी नाम की नाडी का उल्लेख मिलता है। ये तीनों नाडियाँ वस्तुतः सुषुम्णा से स्वरूपतः अभिन्न है। स्तरभेद के अनुसार विभिन्न प्रकार क्रिया की अभिव्यञ्जिका होने के लिए विभिन्न नामों से कही जाती है, अन्तिम अवस्था में ब्रह्मनाडी के रूप में सुषुम्णा का परिचय मिलता है[5]।

निरुक्ततन्त्र के मत में सुषुम्णा, वज्रा एवं चित्रिणी मिलकर सुषुम्णा नाडी हैं। इडा और पिङ्गला की मध्यवर्ती सुषुम्णा त्रिगुणात्मिका ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका है। कार्यक्रम के भेद से वज्रा रजोगुणात्मिका, चित्रिणी सत्त्वगुणात्मिका एवं ब्रह्मनाडी अर्थात् सुषुम्णा तमोगुणात्मिका है[6]।

षट्चक्रनिरूपण के मत में मेरुदण्ड के बाह्यदेश के वामभाग में चन्द्रनाडी दक्षिण में सूर्यनाडी और मेरुदण्ड के मध्य में त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा सुषुम्णा है[7]। ये सुषुम्णा, वज्रा, चित्रिणी नाडी त्रिरूप के भेद से त्रिसूत्ररूपा है। इसके मध्य में चित्रिणी चन्द्ररूपा शुक्लवर्णा, वज्रा सूर्यरूपा दाडिमीकेशर के समान कान्तिवाली और सुषुम्णा अग्निस्वरूपा रक्तवर्णा है।

इडा और पिङ्गला--पूर्वकथित चन्द्रनाडी इडा है, इसकी स्त्री के रूप में कल्पना है। सम्मोहन तन्त्र में कहा गया है, इडा शुक्लवर्णा चन्द्रस्वरूपिणी शक्तिरूपा साक्षात् अमृतविग्रहा देवी है। सूर्यनाडी पिङ्गला है। इसकी पुरुषरूप में

---

१. अस्यां मुख्यतमास्तिस्रस्तिसृष्वप्येकोत्तमोत्तमा। पृ० ३३
ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः॥ दर्शन० ४।९

२. (१) देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्णा सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते। अद्वयता० ५
(२) मूलाधारत्रिकोणस्था सुषुम्णा द्वादशाङ्गुला।
मूलार्द्धच्छिन्नवंशोभा ब्रह्मनाडीति सा स्मृता। योगशि० उ० ५।१७

३. तन्मध्ये ब्रह्मनाडी हरमुखकुहरादादिदेवान्तसंस्था। ष० नि० श्लोक २

४. शब्दब्रह्मरूपायाः कुण्डलिन्याः परमशिवसन्निधिगमनपथरूपचित्रिणीनाड्यन्तर्गतशून्यभाग इति यावत्। न तु चित्रिणीमध्ये नाड्यन्तरमस्तीति निष्कर्षः। काली टी० २

५. त० ६४-६९

६. इडायाः पिङ्गलायाश्च मध्ये या सा सुषुम्णिका।
इयञ्च त्रिगुणा ज्ञेया ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका॥
रजोगुणा च वज्राख्या चित्रिणी सत्त्वसंयुता।
तमोगुणा ब्रह्मनाडी कार्यभेदक्रमेण च॥ नि० त० प्रा० तो० का० १ परि० ४ पृ० ३२

७. मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे।
मध्ये नाडी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा॥ ष० नि० १

कल्पना है, यह नाडी रौद्रात्मिका अनार के केशर की कान्तिवाली महादेवी स्वरूपिणी है[1]। पिङ्गला नाडी को ही विष कहा जाता है[2]।

चन्द्रसूर्य रातदिनरूपी काल का द्योतक है। इडा पिङ्गला को भी उसी काल का द्योतक माना है। सुषुम्णाकाल का भोग करनेवाली है[3]। क्योंकि, सुषुम्णा में प्राणवायु विलीन होने पर बाह्य विषयों का पुनः ज्ञान नहीं रहता है, इन्द्रियादि की क्रिया लुप्त हो जाती है[4]। हठयोग-प्रदीपिका में कहा गया है, शून्यपदवी अर्थात् सुषुम्णा प्राण का राजपथ हो जाने पर चित्त निरालम्ब हो जाता है, और तब काल वञ्चित हो जाता है[5]। अर्थात् इस अवस्था में काल का (सखण्डकाल का) अस्तित्व ही नहीं रहता है, इसीलिए सुषुम्णा को काल की भोक्त्री माना गया है।

सुषुम्णा काल का ग्रास कर लेती है, इसकी अन्य प्रकार से भी व्याख्या की जा सकती है। सुषुम्णा में प्रवेश के साथ-साथ काल राज्य का आवर्तन होने से निष्कृति के लाभ का सूत्रपात होता है।[6] इसका अर्थ है संसार के आवर्तन से निष्कृति अर्थात् मोक्ष लाभ का सूत्रपात हो जाता है। अतः सुषुम्णा काल का ग्रास करती है—यह कहा गया है।

इडा और पिङ्गला ये दो नाड़ियाँ मूलाधार से सीधे आज्ञाचक्र पर्यन्त जाकर वहाँ से नाक के छिद्र में जाती है[7]। रुद्रयामल में कहा गया है कि शुभ नाड़ी इडा और पिङ्गला बाँई ओर से दक्षिण एवं दक्षिण से वाम इस प्रकार सीधी ऊपर की ओर उठती है कि 'सम्पूर्ण पद्म का संवेष्टन कर नाक के रन्ध्र में पहुँच जाती है।[8] वाम नाक के छिद्र में इड़ा और दक्षिण नाक के छिद्र में पिङ्गला आती है[9]। यह सभी लोग लक्ष्य करते हैं कि कुछ क्षण निःश्वास-प्रश्वास वामनासिका में अनन्तर कुछ क्षण दक्षिण नासिका में अच्छी प्रकार चलती है। जब वाम नासिका में चलती है तब इडा में प्रवाहित होती है और जब दक्षिण नासिका में चलती तब प्राणवायु पिङ्गला में प्रवाहित होता है। किसी-किसी योगी सिद्धान्त के अनुसार जब श्वास वामनासिका में चलती है अर्थात् प्राणवायु इसमें प्रवाहित होता है तब हमलोगों की इन्द्रियाँ और मन अन्तर्मुखी हो जाते हैं। इसलिए अनेक व्यक्ति इडा को केन्द्राभिमुखी नाड़ी कहते है। अन्तर्मुखी चित्त का नाम ही चन्द्रतत्त्व है। इडा को चन्द्रस्वस्वरूपा कहने का अन्य कारण भी है।

जिस समय प्राणवायु इडा में प्रवाहित होता हैं तब धारणा, ध्यान, जप, पूजादि करने का उपदेश दिया गया

---

१. वामगा या इडा नाडी शुक्ला चन्द्रस्वरूपिणी।
शक्तिरूपा हि सा देवी साक्षादमृतविग्रहा॥
दक्षे तु पिङ्गला नाम पुरुषा सूर्यविग्रहा।
रौद्रात्मिका महादेवी दाडिमी केशरप्रभा॥ सम्मोहन त० ष० नि० टीका में बद्ध ?

२. पिङ्गलाख्या च या दक्षे पुरुषा सूर्यविग्रहा।
दाडिमीकुसुमप्रख्या विषाख्या चापरामता। ग० त० ५।९९-१००

३. तावेव तदधः सर्वं कालं रात्रिदिवात्मकम्।
भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम्॥ योगिया० द्रा० पा० तो० का० १।५०४ पृ ३३

४. पु० त० पृ० ६४

५. प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते। तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम्॥ ह० प्र० ३।३

६. देहसाधना, हिमाद्रि १३६२।

७. इमे नाड्यौ मूलादृजुरूपेणाज्ञाचक्रान्तं प्राप्यनासारन्ध्रगते। (ष० नि० १ काली० टी०)

८. इडा च पिङ्गला चैव तस्य वामे च दक्षिणे।
ऋज्वीभूते शिरे ते च वामदक्षिणभेदतः॥
सर्वपद्मानि संवेष्टय नासारन्ध्रगते शुभे। (यामलवचन १ ष० नि० कालीचरण टी०)

९. इडा च वामनासायाँ दक्षिणे पिङ्गला मता (शा० त० ज्ञा० भा० वचन द्र० प्राणतो० का १।४ पृ० ३३)

है। अन्य तन्त्रों में कहा गया है वायु इडा में रहने के समय यात्रा, विवाह, एवं अन्य शुभ कर्मों को करना चाहिए।[1] इड़ा को बाह्यगति का अर्थात् जागतिकभाव की नाशकारिणी मानकर वामा नाम कहा गया है।[2]

पिङ्गला के विषय में साधन मर्मज्ञों का कहना है कि सूर्य जिस प्रकार बाहर कार्य करने के लिए कार्यक्षेत्र की ओर सञ्चालित करता है वैसे ही पिङ्गला जीव को बाह्यक्रिया-कलाप की सञ्चालित कर बहिर्मुखी बना देती है। इसीलिए पिङ्गला बहिर्मुखी नाड़ी कही जाती है। सूर्य विष्णु है, पिङ्गला सूर्य की पालनशक्ति है। अतः, पिङ्गला जाग्रत् अवस्था द्योतिका है। जब पिङ्गला में प्राणवायु प्रवाहित होता है जब सभी प्रकार के राजस कर्म करना चाहिए।[3] अन्य तन्त्र में कहा गया है कि भोजन, मैथुन, युद्ध, फलपुष्पसंग्रह तथा क्रूरकर्म आदि जब वायु पिङ्गलानाडी का आश्रयण करती है तभी करना चाहिये[4] हठयोग के द्वारा कुण्डलिनी के जागरण कराने के समय इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा इन तीनों नाड़ियों का ज्ञान आवश्यक है।

सुषुम्णा—सभी नाडियों में मुख्य नाडी सुषुम्णा है। तन्त्रों में शून्य-पदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग इत्यादि विभिन्न नामों से इसका उल्लेख मिलता है।[5] इसका विशेष गौरव दिया गया है। योगशिखोपनिषद् में कहा गया है सुषुम्णा विरजा ब्रह्मरन्ध्रिणी[6] है सुषुम्णा के अन्तर्गत ही विश्व है, सभी इसी में प्रतिष्ठित है[7] हठयोगदीपिका के अनुसार बहत्तर हजार नाड़ियों में सुषुम्णा शाम्भवी शक्ति, अन्य निरर्थक है[8] यथाविधि साधना के द्वारा प्राणवायु को सुषुम्षानाडी में प्रवाहित करने पर साधक मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है। इसीलिए सुषुम्णा को मोक्षमार्ग कहा गया है[9]।

प्राणवायु को सुषुम्णा में विलीन होने पर ही, विषयज्ञान लुप्त हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि इस समय विषयवासवादि भस्मीभूत हो जाते हैं। इसीलिए सुषुम्णा को वह्नि स्वरूप कहा गया है। प्राणवायु के सुषुम्णा में विलीन होने पर शिवतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है।[10] शिव को श्मशानवासी कहने का एक विशेष आशय है। शिव-शक्ति अभिन्न है। शिव जिस प्रकार श्मशान वासी है आद्याशक्ति भी वैसे श्मशानवासिनी है। प्राणवायु के सुषुम्णा में विलीन होने पर शक्ति-साधक को आराध्या ब्रह्ममयी के भी साक्षात्कार का सूत्रपात होता है। मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त सुषुम्णा विस्तृत है[11]। षट्चक्र निरूपण की टीका में कालीचरण ने लिखा है कि सुषुम्णा के अभ्यन्तरस्थित चित्रिणी-नाडी कन्द से आरम्भ कर शिरस्थित अधोमुख सहस्र दल पद्म की कर्णिका के मध्यस्थ द्वादशदल पद्म के अधोदेश पर्यन्त यह विस्तृत है[12]। अतः चित्रिणी की आधार सुषुम्णा की एक ही जगह अवस्थित है[13]।

---

१. यात्राविवाहकर्माणि शुभकर्माणि यानि च।
तानि कर्माणि कुर्वीत वामे वायौ तु संस्थिते॥ (द्र० शा० ति० २५-३८, शारदा टीका)

२. पू० त० पृ० ६६। ३. पू० त० पृ० ६६-६७।

४. भोजनं मैथुनं युद्धं फलपुष्पग्रहं तथा कुर्यात् क्रूराणि कर्माणि वायौ दक्षिणसंश्रिते। शा० ति० टी० २५।३८

५. सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः।
श्मशानं शम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः॥ ह० प० ३।४

६. सुषुम्णा तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी। यो० शि० उ० ६।५

७. सुषुम्णान्तर्गतं विश्वं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्। वही ६।१३

८. द्वारसप्ततिसहस्त्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे।
सुषुम्णा शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः। ह० प्र० ४।१८

९. तत्र सुषुम्णा विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते। शा० उ० १।४।१०

१०. पु० त० पृ० ६८।

११. मूलाधाराद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सुषुम्णा सूर्याभा। मण्डल ब्रह्मोप० १।२।६

१२. ष० नि० काली० टी० पृ० १

१३. काली चरण टीका द्रष्टव्य

सामान्य मनुष्य की दृष्टि से सुषुम्णा निष्क्रिय कही गयी है। क्योंकि, उनके क्षेत्र में प्राण वायु पर्याय क्रम में इडा और पिङ्गला नाड़ी में ही प्रवाहित होती है। श्वास इडा से पिङ्गला या पिङ्गला से इडा में सञ्चारित होने के समय सुषुम्णा भेदकर आती है, किन्तु, इसमें समय बहुत अल्प लगता है। सुषुम्णा में प्राणवायु की यह क्षणिक अवस्थिति एवं साधक की चेष्टा से उत्पन्न न होने के कारण साधना में कोई सहायता नहीं होती है[1]। यथाविहित अभ्यास के द्वारा प्राण वायु का सुषुम्णा में प्रवाहित करता पड़ता है। सुषुम्णा में प्राणवायु के सञ्चार का आरम्भ होते ही सुषुम्णा जाग जाती है।

साधना में सुषुम्णा——महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने लिखा है कि 'मूलाधार से ऊर्ध्वगति के समय जब अन्नमय कोष का अभिमान होता है तब इडा और पिङ्गला की क्रिया चलने लगती है, किन्तु जब सुषुम्णा जागती है तब जागरण की मात्रा के अनुसार इडा और सिङ्गला की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। प्राणवायु का जिस परिमाण में सुषुम्णा में सञ्चार होता है, उसी परिमाण में इडा और पिङ्गला में सञ्चरण की कमी होती है, एवं इडा और पिङ्गला की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। सुषुम्णा के जागरण से ही अभिमान प्राणमय कोश में क्रीडा करने लगता है। प्राणमय कोश के प्रवेश के अनुपात में अन्नमय कोश से वह हटने लगती है। अनन्तर प्राणमयकोश की क्रिया का अवसान होने पर या इस क्रियावस्था में ही गुरुकृपा या साधना के बल से वज्रिणी (वज्रा) नाडी का द्वार खुल जाता है, तब शक्ति इस नाडी का आश्रयण क्रियाशील होती है और अभिमान प्राणमयकोश का परित्याग कर मनोमयकोश का आश्रय करता है। अनन्तर बज्रिणी नाडी से चित्रिणी नाडी में प्रवेश होता है। अभिमान मनोमयकोश से विज्ञानमयकोश में चला जाता है। चरम परम अवस्था में चित्रिणी नाडी का भी परित्याग हो जाता है। उस समय यथार्थ ब्रह्मनाडी का आश्रयण कर शक्ति की क्रीडा चलती है। इस समय अभिमान (अहं) विज्ञानमयकोश से आनन्दमयकोश का आश्रय ग्रहण करता है। आनन्दमयकोश में किसी प्रकार की मलीनका नहीं है। इसीलिए अभिमान (अहं) इससे अन्यत्र नहीं जाता है। इस अवस्था में आनन्वमयकोश की सम्यक् अनुभूति विद्यमान रहती है। किसी का कहना है कि यही जीव की माता की गोद में स्थिति है। जब अभिमान (अहं) आनन्दमयकोश से भी निवृत्त होता है, तब जीवभाव समाप्त हो जाता है, उस समय महाचैतन्य या परमसाक्षी की अवस्था में स्थिति होतो है। भक्त आनन्दमयकोश का भेदन करना नहीं चाहता है।[2]

सुषुम्णा और कुण्डलिनी——शास्त्रानुसार साधना करने से कुण्डलिनी को जगाने पर प्रबुद्ध कुण्डलिनी नाडी से ही उर्ध्वगमन करना है।[3] चित्रिणी नाडी के मुख में ब्रह्मद्वार है। परमशिवशक्ति के सामरस्य से निकली हुई अमृतधारा से अभिषिक्त देश में प्रवेश और वहाँ से निकलने का यही द्वार है। इसी द्वार से कुण्डलिनी परमशक्ति के समीप में गमनागमन करती है। आगमज्ञाता इसी को कन्द सुषुम्णा का ग्रन्थिस्थल सुषुम्णा का मुख कहते हैं।[4]

कठोपनिषद् आदि में सुषुम्णाः—कठोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद् के एक मन्त्र में सुषुम्णा को अमृतलाभ का पथ = मार्ग कहा गया है। यद्यपि मन्त्र में सुषुम्णा का नाम नहीं है, किन्तु, उसमें जिस नाडी की चर्चा की गई है, मनीषिवर्ग उसे सुषुम्णा कहते हैं। यथा—

हृदय से एक सौ नाडियों में एक नाडी निकलती है, उनमें वह ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करती है। इस नाडी का अवलम्बन कर जीव मृत्यु के समय उर्ध्वगमन करता है और अमृतत्व की प्राप्ति करता है। अनेक दिशाओं में प्रसारित

---

१. पु० त० पृ० ६७

२. पु० त० पृ० ६९-७०।

३. प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह।
सुचिवद्गुणमादाय व्रजत्युर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ध्यान वि० उप० ६६।

४. ब्रह्मद्वारे तदास्ये प्रविलसति सुधाधारगम्यप्रदेशंग्रन्थिस्थानं तदेतद्वदनमिति सुषुम्णाख्यनाड्या लसन्ति।
ष० नि० श्लो० ३—काली टी०

अन्य नाडियों का अवलम्बन कर उत्क्रमण करने पर संसारगति मिलती है[1]।

तन्त्रादि में भी सुषुम्णा को मोक्षमार्ग कहा गया है।

षट्चक्रविवरणः-मूलाधारः---सुषुम्णा के मध्य में षट्चक्र की स्थिति मानी गई है। षट्चक्रों में सभी की अपेक्षा निम्न चक्र मूलाधार है। जीव देह में मूलाधार का सामान्य परिचय दिया गया है। सौन्दर्यलहरी की लक्ष्मीधर की व्याख्या में उद्धृत रुद्ररहस्यवचन में कहा गया है। सर्वाधार पृथिवी का इस स्थान में मूल आधार के रूप में अवस्थान के लिए इसको मूलाधार कहा गया है। इसके अभाव में शरीर न ऊपर जायेगा न नीचे[2]।

सौभाग्यभास्कर के सिद्धान्त के अनुसार सुषुम्णा नाडी के मूल को मूलाधार कहा जाता है[3]। रुद्रयामल के अनुसार षट्चक्र का मूल होने से इसको मूलाधार कहा जाता है[4]।

मूलाधारचक्र में अधोमुख चतुर्दल पद्म है, यही ब्रह्मपद्म है[5]। कन्द और सुषुम्णा के ग्रन्थि स्थान के चार पार्श्व में पद्म का चार दल है। दल या पत्र का रङ्ग लाल है। चारो पत्रों में तप्त सुवर्ण के रङ्ग का वं शं षं सं ये चार विन्दु-युक्त वर्ण हैं। प्रत्येक वर्ण एक मन्त्र है एक देवता है। यं आवरण देवता है।[6] पद्म का चारो दल जन्म, मृत्यु, ज्वर और व्याधि के द्योतक है।[7] पद्म में परमानन्द, सहजानन्द, योगानन्द और वीरानन्द इन चार आनन्दों की स्थिति निर्दिष्ट है[8]।

मूलाधार पद्म के अधोमुख होने के कारण का निर्देश करते हुए शारदानन्दतरङ्गिणी में कहा गया है कि मूलाधार आदि पद्म सर्वतोमुखी है। जीव का दो भाव है—प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति संसारमुखी और निवृत्ति परमात्म-मुखी है। प्रवृत्तिभाव अर्थात् सृष्टिक्रम में पद्म अधोमुखी एवं निवृत्तिभाव में अर्थात् लय क्रम में ऊर्ध्वमुखी होता है।[9] कुण्डलिनी के जागने पर प्रत्येक चक्र का भेदन कर ऊपर की ओर जाने पर चक्रसमूहा उर्ध्वमुख हो जाते हैं।[10]

मूलाधार पद्म की कर्णिका के मध्य में चतुष्कोण पीतवर्ण पृथिवी मण्डल है[11]। उसके मध्य में पृथिवीवीजलँ[12] है लँ पृथिवी और इन्द्रबीज है। इसको गजेन्द्रवाहन के रूप में कल्पित किया जाता है। [13] लँ बीज पद्म के ऊपर अर्थात् विन्दु में सृष्टिकर्ता प्रजापति का अधिष्ठान है। उसके वामभाग में उसकी शक्ति वेदमाता सावित्री अधिष्ठिता है। ब्रह्मा

---

१. शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
   तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥ क० स० २।३।१६, ६। उ० ८।६।६

२. सर्वाधारा मही यस्मात् मूलाधारतया स्थिता।
   तदभावेस्तु देहस्य पातस्स्यादुद्गमोऽपि वा॥ रसौ० ल० ९ ल० व्या०

३. सुषुम्णामूलत्वात् च मूलाधार इत्युच्यते। लस० ८९ सौ० भा०

४. मूलमाधारषट्काणां मूलाधारं प्रकीर्तितम्। स० या० २७

५. पातालसप्तकाश्चोर्द्ध्वे ब्रह्मपद्मं महेश्वरि। अधोवक्त्रं हितत्पद्मं धरामध्ये चतुर्दलन्। नित० ४

६. अधोवक्त्रमुधत्सुवर्णभिरणैर्वकारादिसान्तैर्युतं वेदवर्णैः। ष० भि० ४

७. S. P. पृ० ११४-११६

८. पू० त० पृ० ४९।

९. S. P. पृ० ११४।

१०. तत्सर्वं पङ्कजं देवि सर्वतोमुखमेव च।
   प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्वौ भावौ जीवसंस्थितौ।
   निवृत्तिर्योगमार्गेषु सदैवोर्द्ध्वमुखानि च। शा० त० पृ० ४

११. तत्कर्णिकान्तरे पृथ्वी चतुष्कोणा सुपीतमा। मायातन्त्र (T. T. Vol. II पृ० ११५)।

१२. ष० नि० श्लोक ५ (कालीच० व्या०)।

१३. इन्द्ररूपं हि लं बीजं गजेन्द्रवाहनं शिवे। (नित० पृ० ४)।

सावित्री का प्रसाद प्राप्तकर ही सृष्टि करता है[१]। सावित्री या वागीश्वरी महाशक्ति की कला एवं ब्रह्मा शिव का ही नाम है[२]। सशक्ति-ब्रह्मा इस चक्र में अधिदेवता हैं। ब्रह्माण्ड में भूलोक ब्रह्मा का स्थान है। पिण्ड में मूलाधार ही भूलोक है।[३] क्योंकि मूलाधारमें ही पृथिवीमण्डल अवस्थित है।

मूलाधारचक्र में डाकिनी शक्ति है। षट्चक्र-निरूपण में कहा गया है कि देवी डाकिनी तत्त्वबुद्धि साधक का सदा तत्त्वज्ञान सम्पादन करती है।[४] किसी-किसी तन्त्र के अनुसार डाकिनी मूलाधार चक्र की अधिष्ठात्री देवता है। अन्य चक्रों की अधिष्ठात्री यथाक्रम में राकिनी, लाकिनी, काकिनी, लाकिनी और हाकिनी है।[५]

इन चक्रों की धातुशक्ति भी कही गई है[६]।

वज्रानाडी के मुख के पास आधार पद्म की कर्णिका के मध्य में तथा पूर्वोक्त चतुष्कोण पृथिवीमण्डल में मध्य में त्रैपुर नाम का त्रिकोण है। इसको योनि या कामरूप पीठ भी कहा जाता है[७]।

निर्वाणतन्त्र के अनुसार त्रिकोणयोनि का अधिदेवता कन्दर्प है[८]। सम्मोहनतन्त्र के अनुसार वामा ज्येष्ठा और रौद्री त्रिकोण की तीन रेखाएँ हैं[९]।

स्वयम्भूलिङ्गः—गौतमीतन्त्र में कहा गया है कि मूलाधार तत्त्व[१०] यह त्रिकोण इच्छा ज्ञान क्रियात्मक है। इस त्रिकोण के मध्य में कोटि सूर्य की प्रभा के समान देदीप्यमान स्वयम्भूलिङ्ग विराजमान है[११]। यह स्वयम्भूलिङ्ग गलाए हुए सोने के समान स्निग्ध और सुन्दर है। कोमल किशलय के समान उसका रूप है। वह अधोमुख है, ज्ञान और ध्यान से उसका प्रकाश होता है, अर्थात् वह सगुण और निर्गुण है[१२]।

स्वयम्भूलिङ्ग साढ़े तीन वलय से वेष्टित एवं लिङ्ग छिद्र और कुण्डलिडी शर्यत कर रही है। कुण्डलिनी और परमेश्वरी पराशक्ति अभिन्न है। यहा परमकला अतिशय निरयान्दमयी है। परम शिव के साथ मिलने पर बहुत अधिक

---

१. सुसिद्धं ब्रह्मसदनं नादोपरि सुसुन्दरम्।
तत्रैव निवसेद् ब्रह्मा सृष्टिकर्ता प्रजापतिः॥
वामभागे च सावित्री वेदमाता सुरेश्वरी।
तस्याः प्रसादमासाद्य सृष्टिं वितनुते सदा॥ नि० त० पृ० ४

२. सौ० ल० अच्युतानन्द टीका श्लो० ३६।

३. सौ० ल० अच्युतानन्द टीका श्लो० ३२।

४. प्रकाशं वहन्ती सदा शुद्धबुद्धेः। ष० नि० श्लो० ७

५. डाकिनी राकिनी चैव लाकिनी काकिनी तथा।
शाकिनी हाकिनी चैव क्रमात् षट् पङ्कजाधिपाः। ष० नि० ७

६. S. P. पृ० १२०। ७. ष० नि० श्लो० ८ (शङ्कर व्याख्या)

८. त्रिकोणं मदनागारं कन्दर्पश्चाधिदेवता। नि० त० पृ० ४।

९. वामा ज्येष्ठा तथा रौद्री त्रिरेखा च चतुर्भ्वतः। सम्मोहन त० ष० नि० श्लो० ८।

१०. मूलाधारे त्रिकोणाख्ये इच्छाज्ञानक्रियात्मके।
मध्ये स्वयम्भूलिङ्गस्तु कोटिसूर्यसमप्रभः॥ गौतमीतन्त्रवचन से उद्धृत षट्चक्र वि० T. T. Vol. पृ० ११७।

११. आधारे हृत्प्रदेशे च भ्रुवोमध्ये विशेषतः।
स्वयम्भूसंज्ञावरणाख्यस्तथैवेतरससंज्ञकः॥
लिङ्गमयं महेशानि प्रधानत्वेन चिन्तयेत् (शा्त पृ० ४) मूलाधार में स्वयम्भूलिङ्ग, हृदय में अर्थात् अनाहत से बाण-लिङ्ग एवं भौओं के मध्य में अर्थात् आज्ञाचक्र में अन्य लिङ्ग का ध्यान करो। ये तीन चक्र तीन लिङ्गों के स्थान हैं।

१२. तन्मध्ये लिङ्गरूपी द्रुतकनककलाकोमलः पश्चिमास्योज्ञानध्यानप्रकाशः प्रथयकिशलयाकाररूपः स्वयम्भूः।
ष० नि० श्लो० ९।

अमृतधारा प्रवाहित होती है, वह उस धारा को धारण करके रखती है । इसकी दीप्ति में ब्रह्माण्ड के आदि से कटाहपर्यन्त सभी प्रकाशित है यह नित्यज्ञान की उदयकारिणी है[१] ।

मूलाधार पृथिवी तत्त्व एवं पादनासिका और गन्ध इन तीन तत्त्वों का स्थान है[२] । शक्ति का स्थूलतम प्रकाश केन्द्र मूलाधार है इसीलिए पञ्चमहाभूत का स्थूलतम पृथ्वी तत्व है स्थूलतमतन्मात्र गन्ध है । स्थूलतम ज्ञानेन्द्रिय नासिका है । स्थूलतम कर्मेन्द्रिय पाद है यह रसचक्र में अवस्थित या संयुक्त है । स्थूलतमतत्त्व का तन्मात्र कहने से गन्ध स्थूलतम तन्मात्र का जो गुण है गन्ध उसको ग्रहण करनेवाली नासिका स्थूलतम ज्ञानेन्द्रिय है । कर्मेन्द्रिय के स्थूलतम निर्देश का अन्य रूप में विचार किया गया है । लयक्रम में पृथ्वी जिस पर्याय में आती है पाद भी उसी पर्याय में आता है । अर्थात् लय के समय में पञ्चमहाभूत का जैसे पृथ्वी से आरम्भ होता है वैसे ही कर्मेन्द्रिय के समय पाद से आरम्भ किया जाता है । अतः पाद स्थूलतम कर्मेन्द्रिय हैं । पाणि पाद उपस्थ और वागिन्द्रिय अर्थात् मुख की सूक्ष्मता इसी क्रम में निर्णीत होती है[३] ।

तीनों ग्रन्थियों में ब्रह्मग्रन्थि मूलाधार चक्र में रहती है[४] । इस विषय में तान्त्रिकों का मतभेद भी है । क्योंकि स्वाधिष्ठान और मणिपूर में भी ब्रह्मग्रन्थि का स्थान निर्दिष्ट होता है[५] ।

मूलाधार सात भूमिका की प्रथम भूमिका शुभेच्छा[६] है । आधुनिक वैज्ञानिक की दृष्टि में इसको sacrococcy-geal pleaxus या eganglion coccygeal कहते हैं ।

स्वाधिष्ठान—मूलाधार के ऊपर स्वाधिष्ठान चक्र है, यह षड्दल पद्म है[७] । इस पद्म का नाम भीम है ।[८] स्वाधिष्ठान की अनेक व्याख्यायें हैं । कुण्डलिनी ग्रन्थि की रचना कर स्वयं अधिष्ठित हो अवस्थित होती है, अतः स्व अर्थात् स्वीय स्वाधिष्ठान है[९] अन्य व्याख्या स्व अर्थात् प्राण उसका अधिष्ठान आश्रय स्वाधिष्ठान[१०] ।

स्व अर्थात् पर लिङ्ग । पर लिङ्ग का अधिष्ठान है अतः यह स्वाधिष्ठान है ।[११]

अन्य व्याख्या के अनुसार इस स्थान में जीव का मन जीवात्मरूप में अधिक समय तक रहता हैं, अतः यहाँ चक्र स्वाधिष्ठान है[१२] । विभिन्न दृष्टि की भङ्गिमा ही विभिन्न व्याख्या प्रस्तुत कर रही है ।

षट्चक्रनिरूपण के मत में सुषुम्णा नाडी में रचित यह पद्म लिङ्गमूल में अवस्थित है एवं सिन्दूर के समान रक्त वर्ण है ! वँ भँ मँ यँ रँ लँ ये बिन्दुयुक्त छवर्ण पद्म के छः दलों में अवस्थित है । ये छः दल काम और छः रिपुओं का द्योतक है[१३] ।

---

१. तन्मध्ये परमा कलातिकुशला सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा,
   नित्यानन्दपरम्परातिविगलत्पीयूषधाराधरा ।
   ब्रह्माण्डादिकटाहमेव सकलं यद्भासयाभासते,
   सेयं श्रीपरमेश्वरी विजयते नित्यप्रबोधोदया ॥ ष० नि० श्लो० १२

२. द्रष्टव्य ४० श्लोक ष० नि० ।

३. S. P. पृष्ठ १२५–१२६ ।

४. ब्रह्मग्रन्थिरकारे च विष्णुग्रन्थिर्हृदि स्थितः । ब्रह्मविद्योपनिषद् (आकारे मूलधारे) ।

५. शंकराचार्य ग्रन्थमाला पृष्ठ ५६ ।

६. पु० त० पृ० ५१७ S. S. पृ० ६६३ पु० त० पृ० ५२ ।

७. तदूर्ध्वे तु महेशानि स्वाधिष्ठानमृतुच्छदम् । षट्चक्रविवृत्ति पृ० ११९ ।

८. एतत्पद्मस्योर्ध्वदेशे भीमाख्यं पङ्कजं शुभम् । नि० त० पृ० ५ ।

९. कुण्डलिन्याः भगवत्याः स्वयमधिष्ठाय ग्रन्थि कृत्वा अवस्थानं स्वाधिष्ठानम् । सौ० ल० श्लो० ९ लक्ष्मीधर व्याख्या ।

१०. स्वशब्देन भवेत् प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः । ध्यानबिन्दु प० ४७ ।

११. स्वशब्देन परं लिङ्गं स्वाधिष्ठानं ततो विदुः । दे० भा० ७।३५।३६ ।

१२. पु० त० पृ० ४९ ।

१३. सौ० ल० श्लो० ९९, लक्ष्मीधरकृत व्याख्या, पु० त० पृ० ४९ ।

यह चक्र अप् तत्व का स्थान है। पद्मकर्णिका के मध्य में उज्ज्वल शुभ्रवर्ण अर्द्धचन्द्र के आकार का वरुण का स्थान जलमण्डल में अवस्थित है। इस मण्डल के मध्य में शरत्काल के चन्द्र के समान शुभ्र वरुण जीव वँ मकरवाहन हो विराजमान है।[१]

इस जलमण्डल में रसतन्मात्र, जिह्वा एवं पाणि ये तीनों अवस्थित हैं[२]।

पूर्वोक्त वँ बीज के मस्तक पर स्थित विन्दु के मध्य में विष्णु विराजमान हैं[3]। उसके वाम एवं दक्षिण भाग में उनकी शक्ति श्री और वाणी है[४]। विष्णु का यही वैकुण्ठ स्थान है। निर्वाणतन्त्र में कहा गया है कि वैकुण्ठ के दक्षिण भाग में सभी को मुग्ध करनेवाला गोलोक है वहाँ देवी श्रीराधा और श्रीकृष्ण विराजमान हैं।

षड्दल स्वाधिष्ठान पद्म के अभ्यन्तर और भी एक पद्म है, इस पद्म में राकिनी शक्ति अधिष्ठित है[५]। इस प्रसङ्ग में षट्चक्रनिरूपण में की गई व्याख्या में कालीचरण ने लिखा है मूलाधार आदि पद्म पद्मों के प्रत्येक के अभ्यन्तर में एक एक रक्तवर्ण पद्म है। इस पद्म में डाकिनी आदि पूर्वोक्त छः शक्तियाँ अवस्थित हैं[६]।

स्वाधिष्ठान के चक्र में भुवर्लोक अवस्थित है। षट्दल पद्म के बीज कोश में मनोहर भुवर्लोक का स्थान निर्दिष्ट है[७]। स्वाधिष्ठान ही विचारणा नामक ज्ञानभूमि है[८]। सप्तचक्र जैसे सप्तज्ञानभूमि है वैसे ही अन्नमय आदि ६ कोश हैं। मूलाधार से स्वाधिष्ठान तक अन्नमय कोश है। अन्नमय कोश में तमोगुण प्रधान स्थूल शरीर की अवस्थिति मानी गई है[९]।

विज्ञान की भाषा में इस चक्र को sacral plexus कहा है[१०]। मणिपूरः—स्वाधिष्ठान के ऊपर मणिपूर चक्र है। गौतमीयतन्त्र में मणिपूर की व्याख्या में कहा है। यह पद्म मणि के समान उज्ज्वल है, अतः मणिपूर है।

इस पद्म को नाभि पद्म भी कहा जाता है। षट्चक्रनिरूपण के मत में[११] स्वाधिष्ठान के ऊपर नाभिमूल में उज्ज्वल दशदलवाला नाभि पद्म है[१२]। पद्म का रंग घन सजल मेघ के समान नील है। दशदल में नील पद्म के समान रङ्ग का डँ, ढँ, णँ, तँ, थँ, दँ, धँ, नँ, पँ, फँ ये दश विन्दुसंयुक्त वर्ण हैं। पद्मकर्णिका के अन्दर में उदीयमान सूर्य के वर्णवाल त्रिकोण वह्नि-

---

१. तस्यान्तरे प्रविलसद्विशदप्रकाशमम्भोजमण्डलमध्ये। वरुणस्य तस्य अर्द्धेन्दुरूपलसितं शरदिन्दुशुभ्रं वङ्कारबीजममलं मकराधिरूढम्॥ ष० नि० १५।

२. जलमण्डले पाणिरसनेन्द्रियरसतत्त्वेति। ष० नि० श्लो० ४० कालीचरण व्याख्या।

३. श्लो० १६ कालीचरण व्या०

४. तस्योर्ध्वे निवसेद्विष्णुः श्रीर्वाणीवामदक्षिणे। नि० त० पृ० ५

५. वैकुण्ठस्य दक्षभागे गोलोकं सर्वमोहनम्।
तत्रैव राधिकादेवी द्विभुजो मुरलीधरः॥ नि० त० पृ० ५

६. ष० नि० १७

७. तत्र पद्मान्तरे शाकिन्याः स्थितिदर्शनात् सर्वत्र रक्तपद्मान्तरोपरि षट्शक्तीनां स्थितिरिति बोध्यम्।
काली० व्या० श्लो० १७

८. तन्मध्ये बीजकारे भुवर्लोकमनोहरम्। नि० त० पृ० ५

९. पू० त० पृ० ५१

१०. तत्पद्मं मणिवद्भिन्नं मणिपूरं तथोच्यते। गौतमीतन्त्र ३६॥ ष० नि० २

११. S. S. पृ० ६८३।

१२. तस्योर्द्ध्वे नाभिमूले दशदललसिते पूर्वमेघप्रकाशे,
नीलाम्भोजप्रकाशैरुपहितजठरे डादिफान्तः सचन्द्रैः।
ध्यायेद्वैश्वानरस्यारुणमिहिरसमं मण्डलं तत्त्रिकोणं,
तद्बाह्ये स्वस्तिकाख्यैस्त्रिभिरभिलषितं तत्र वह्नेः स्वबीजम्॥ ष० नि० श्लो० १९

मण्डल है। त्रिकोण के बाहर तीन स्वस्तिक चिह्न एवं मध्य में वह्निबीज रँ हैं। यह वह्निमण्डल हो तेजस्तत्त्व का स्थान है। वह्निमण्डल में रूप, चक्षुः एवं वायु ये तीन तत्त्व अवस्थित हैं[१]।

साकार वह्नि बीज रँ मेषवाहन है[२]। इस बीज के क्रोड में शुद्ध सिन्दुरवर्ण रुद्र का वास है[३]। रुद्र के वाम भाग में महाविद्या भद्रकाली शोभायमान है[४]।

इस चक्र में सर्वशुभकरी लाकिनी शक्ति अधिष्ठिता है। लज्जा, पिशुनता, ईर्ष्या, तृष्णा, सुषुप्ति, विषाद, कषाय, मोह घृणा एवं भय ये दश वृत्ति चक्र के सङ्ग से युक्त हैं[५]।

यह मणिपूर चक्र स्वर्लोक है[६]। यह तनुमानसा नाम की ज्ञानभूमि है। स्वाधिष्ठान से मणिपूर तक प्राणमय कोश है[७]।

किसी के मत में यह Solar Plexuy[८] है।

अनाहत :—मणिपूर चक्र के ऊपर हृदय में अनाहत चक्र है। इस स्थान में शब्द ब्रह्ममय अनाहत शब्द का प्रत्यक्ष होता है, इसीलिए अनाहत चक्षु कहा जाता है[९]।

अनाहत द्वादश पद्मका रंङ्ग बन्धुक पुष्प के समान है। द्वादश दल में कँ खँ गँ घँ ङँ चँ छँ जँ झँ ञँ टँ ठँ ये सिन्दुर के रङ्ग का विन्दु युक्त द्वादश वर्णं विद्यमान है[१०]।

यह मरुत् और वायु तत्त्व का स्थान है। पद्म की कर्णिका में धूम्रवर्ण षट्कोण सुन्दर वायु-मण्डल है[११]। इस मण्डल के मध्य देश में वायुबीज यँ है[१२]। यँ का कृष्णसारमृग वाहन है[१३]। इस वायु-मण्डल में स्पर्श, त्वक् एवं उपस्थ ये तीन तत्त्व विद्यमान हैं[१४]।

यह चक्र महर्लोक है। निर्वाण तन्त्र के मत में यह मानसपूजा का स्थान है। योगी इस स्थान में मानस याग करते हैं[१५]। यहीं देवी का रूप प्रकाशित होता है। सौभाग्यभास्कर में उद्धृत एक अभियुक्त वचन मिलता है। "अरे

---

१. वह्निमण्डले वायु चक्षुरिन्द्रियरूपतत्त्वेति। ष० नि० ४० श्लो० वाली धरणश्च
२. राकारं वह्निबीजं सदैव मेषवाहनम्। नित० पृ० ६
३. तत्क्रोडे रुद्रमूर्तिर्निवसति सततं शुद्धसिन्दुररागः। ष० नि० २०
४. भद्रकाली महाविद्या वामभागेन शोभिता। नि० त० पृ० ६
५. अभ्यन्तरे लाकिनी सा सकलशुभकरी वेदबाहूज्ज्वलाङ्गी। ष० नि० श्लो० २१
६. S. P. पृ० १४१।
७. स्वर्लोकाख्यमिदं देवि सर्वदेवैः प्रपूजितम्। नि० त० पृ० ६
८. S. S. पृ० ६८३।
९. शब्दब्रह्ममयं शब्दोऽनाहतस्तत्र दृश्यते।
   अनाहताख्यं तत् पद्मं मुनिभिः परिकीर्तितम्॥ दे० भा० ७।३५।४१
१०. तस्योर्ध्वे हृदि पङ्कजं सुललितं बन्धुककान्त्योज्ज्वलं,
   काद्यैर्द्वादशवर्णकैरुपहितं सिन्दुररागान्वितैः। ष० नि० श्लो० २२
११. वायोर्मण्डलमत्र धूमदृशं षट्कोणशोभान्वितम्। ष० नि० श्लो० २२
१२. मण्डलस्य मध्यदेशे वायुबीजं मनोहरम्। नि० त० पृ० ७
१३. ष० नि० श्लो० २३ कालीचर व्या०
१४. वायुमण्डले उपस्थत्वगिन्द्रियस्पर्शतत्त्वेति। ष० नि० श्लो० ४० काली०
१५. महर्लोकमिदं भद्रे पूजास्थानं सुरेश्वरि।
   अत्रैव मानसं यागं कुरुते योगवित्तमः॥ नि० त० पृ० ७

अथ नेती।

"सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेत् साहि नेतीसिद्धैर्निगद्यते॥
कपालशोधिनीचैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
यत्तूर्द्ध्वं जात-रोगौघान् जरयत्याशुनेतीवित्॥

अथ त्राटकम्।

निरीक्षेन्निश्चल दृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुप्रपातपर्य्यन्तंमार्य्यैस्त्राटकं मतम्॥
मोटनं नेत्ररोगानां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
एतच्च त्राटकं गोप्यं यथाहाटक पेटकम् (१)॥

अथ नौली।

अमन्दावर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्ययोः।
नतांसो भ्रामये देषा नौलियोगोप्रचक्ष्यते॥

मन्दाग्नि सन्दीपन पाचकाग्नि,
सन्दायिकानन्दकरी तथैव।
अशेष दोषामयशोषनीच,
हठक्रियामौलिरियं हि नौली॥

अथ कपाल भाती।

भस्त्रेव लोहकाराणां रेचपुरी ससंभ्रमौ।
कपालभाती विख्याता कफदोष विशोषिणी।

अथ मुद्रा।

पवनयोग संग्रहे,—

महामुद्रा महावन्धो महावेधश्च खेचरी।
'शक्तिचालो' 'मूलवन्ध' 'उड्डीयाणं' ततः परम्
'जालन्धरा'भिधोवन्धो 'विपरीत कृति' स्तथेति॥

---

(१) सुवर्णमञ्जुषावत् गोपनीयं सर्व्वदेति।

हठ प्रदीपिकायां,—

स शैलवन धात्रीणां यथाधारोहिनायकः ।
सर्व्वेषां योग तन्त्राणां तथाधारोहि कुण्डली ॥
"सुप्तागुरुप्रसादेन बोधिता सुखदा भवेत् ।
तथा सर्व्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपिच ॥
प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजन् यथायतिः ।
तथाचित्तं निरालम्बं तथाकालस्य वञ्चनम् ॥
तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन प्रवोधयितु मीश्वरि ! ।
ब्रह्मद्वारमुखेसुप्तां मुद्राभ्यास परोभवेत् ॥
महामुद्रा महावन्धो महावेधश्च खेचरी ।
'उड्डीयानो' 'मूलवन्धः सद्दि 'जालन्धरा'भिधः ॥
करणीविपरीताख्या तथावैशक्तिचालनम् ।
एतद्विमुद्रानवकं जरामरण-वर्ज्जितम् ॥
अनादिनाथेनोदितं अष्टैश्वर्य्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्व्वसिद्धीनां दुर्लभं मरुतामपि ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैववक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ।

अथ महामुद्रा स्कान्दे—

शोधनं नाड़ीजालस्य घटनं चन्द्रसूर्य्ययोः ।
रसानां शोषणं सम्यङ् महामुद्राभिधीयते ॥

ऐश्वरप्रोक्ते—

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन् मम वल्लभाम् ।
यां प्राप्य सिद्धकाः सिद्धिं कपिलाद्याः पुरागताः ॥

गुदं सव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम्।
गुरूपदेशतोयोनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम्॥
"सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन तु।
नवद्वाराणि संयम्य चिवुकं हृदयोपरि॥
चित्तं चतुष्पथे दत्वा प्राणभेद् वायुधारणाम्।
'महामुद्रा'भवत्येषा सर्व्वतन्त्रेषु गोपिता॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत् पुनः।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियत-मानसः॥
मुद्रामेनान्तु संप्राप्य गुरुवक्त्रात् सुगोपिताम्।
अनेन विधिनायोगी मन्दभाग्योऽपि सिद्ध्यति॥
सर्व्वासामेवनाड़ीनां चालनं बिन्दुधारणम्।
जारणं तु कषायस्य पातकानां विनाशनम्॥
कुण्डलीतापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्र-प्रवेशनम्।
सर्व्वरोगोपशमनं जठराग्नि-विवर्द्धनम्॥
वपुषः कान्ति ममला जरामृत्युविनाशनम्।
वाञ्छितार्थंफलं सौख्यमिन्द्रियानाञ्चमारणम्॥
एतानुक्तानि सर्व्वानिमार्गारूढ़स्य योगिनः (१)।
मुद्राकामदुघाह्येषा साधकानां मयोदिता॥
गुप्ताचारेण कर्त्तव्या न देया यस्य कस्यचित्।
इयं खलु 'महामुद्रा' महासिद्धै! प्रशस्यते॥
महाक्लेशा यतो दोषा जीर्य्यन्ते मरणादयः।
'महामुद्रा'ञ्च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमा इति।

(१) येतु योगारुरुक्षवः योगिनः तेषामप्रयें, नैवोक्तानितानि अपितुतानि सर्व्वाणि योगारूढ़स्यार्थे ज्ञातव्यानि।

हठप्रदीपिकायाम्—

"यथा दण्डाहत: सर्पोदण्डाकार: प्रजायते ।
ऋज्वीभूता तथाशक्ति: कुण्डली सहजाभवेत् ॥
पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
पादं प्रसारितं धृत्वा कराभ्यां पूरयेत् मुखम् ॥
कण्ठेवन्धं समारोप्य धारयेद् वायु मूर्द्धत: ।
तथाऽसौ मरणावस्थांहरते विपदाश्रयाम् ॥
नहिपथ्यमपथ्यं वा रसा सर्व्वेऽपि नीरसा: ।
अपिमुक्तं विषं घोरंपीयूषमिव जीर्य्यति ॥
क्षत-कुष्ठ-मुदावर्त्त-गुल्मप्लीहा पुरोगमा: ।
तस्यरोगा: क्षयंयान्ति महामुद्राञ्च योऽभ्यसेत् ।

अथ महावन्ध: ।

ईश्वर प्रोक्त—

"योऽन्यां प्रसारित: पादो विन्यस्यतमुरूपरि ।
गुदयोनी समाकुञ्च्य नीत्वाचापानमूर्द्धगम् ॥
योजयित्वा समानेन कृत्वाश्वास मधोमुखम् ।
वन्धयेदूर्द्ध्वगत्यर्थमपान प्राणयो: सुधी: ॥
कथितोऽयं महावन्ध: सिद्धिमार्ग प्रदायक: ।
नाड़ीगलद्रसवहमूर्द्धं नयति योगिन: ॥
उभाभ्यां साधयेत् पद्मामेकैकं सुप्रयत्नत: ।
मतमत्र तु केषाञ्चित् कण्ठवन्धं विवर्जयेत् ॥
राजदण्डद्वयं तत्र जिह्वयो: स्तम्भयेदिति ।
भवेदभ्यासतीवायु: सुषुम्नां मध्यसंगत: ॥

अनेन वपुषःकान्ति दृढ़वद्धोऽस्थि पञ्जरः।
सम्पूर्ण हृदयोयोगी भवन्त्येतन्नियोगिनः॥
वन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत् सर्व्वमीप्सितम्।
अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेषु वै"॥

हठ प्रदीपिकायाम्—,

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा॥
पूरयित्वा मुखे वायुं हृदये चिबुकं तथा।
निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत्॥
रेचयेच्च शनैरेर महाबन्धोऽय मुच्यते।
'अयं खलु महाबन्धो' महासिद्धिप्रदायकः॥
कालपाश महाबन्ध विमोचन विचक्षणः॥
अयं तु सर्व्वनाड़ीनां ऊर्द्ध्वंगमन रोधकः।
त्रिवेण्या सङ्गमं धत्ते (१) केदारं प्रापयेन्मनः॥

अथ महावेधः—

"रूपलावण्य सम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना।
महामुद्रामहावेधौ निष्फलौ वेधवर्ज्जितौ॥
महाबन्धे स्थितोयोगी कृत्वा पूरकमेकधा।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया॥
समहस्तयुगो भूत्वा स्फिजौ सन्ताड़येच्छनैः।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फूरति मध्यगः॥
सोम सूर्य्याग्नि सन्धानं जायते चामृतायते।
मृतावस्था-समुत्पन्नं ततो मृत्युभयं कुत :॥

(१) "इड़ा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुनानदी।
इड़ापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती। "त्रिवेणी सङ्गमो यत्र तीर्थराज सउच्यते"।

महावेधोऽय मभ्यासात् महासिद्धि प्रदायकः ।
बलीपलित वेधघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥
एतत्त्रयं महागुप्तं जरा मृत्यु विनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरञ्चैव अणिमादि गुण प्रदम् ॥
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्य सम्भार सन्धायि पापौघाभिदूरं सदा ।
सम्यक् शिक्षावतामेव स्वल्पं प्रथम साधने ॥

ईश्वर प्रोक्ते ।

महाबन्धस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य्य वायुना ।
स्फिजौ संताड़येद् विद्वान् वेधोऽयं कीर्त्तितोमया ॥
वेधेनानेन संविद्धः वायुना योगिपुङ्गवः ॥
ग्रन्थीन् सुषुम्ना मार्गेण ब्रह्मरन्ध्रं भिनत्त्यसौ ॥
यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामृत्यु विनाशिनी ॥
चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ते वायुताड़नात् ।
कुण्डल्यपि महामाया कैलाशांसे विलीयते ॥
तस्माद् योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ॥
"एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्व्वारं करोति यः ।
षण्मासाभ्यन्तरे मृत्युञ्जयत्येव न संशयः ॥
एतत् त्रयस्य माहात्मं सिद्धो जानाति नेतरः ।
यज्ज्ञात्वा सिद्धकाः सर्व्वे सिद्धिमाप्यां लेभिरे पराम् ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन साधनं सिद्धिमिच्छता ।
अन्यथा नैव सिद्धिः स्याद् मुद्राणामेष निर्णयः" ॥

अथ खेचरी।

योग वीजे।

"वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारं चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनाधार लक्षणम्॥

हठ प्रदीपिकायाम्—

"छेदनं चालनं दोहै जिह्वां संवर्द्धयेत्तावत्
यावदियं भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरी सिद्धिः"।
कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परिवर्त्तयेत्॥
सा भवेत् खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते॥
रसना मूर्द्धगां कृत्वा क्षणार्द्धं यदि तिष्ठति।
विषयैर्मुच्यते योगी व्याधि मृत्युर जरादिभिः॥
खेचर्य्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्द्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च॥
चलितोपि।यदा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम्।
व्रजतूर्द्ध्वं हि तच्छक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया॥
संपातन विधौ बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा।
पाण्डुरं शुक्रमाख्यातं लोहिताख्यं महारजः॥
सिन्दूरं सन्निभं वीजं रविस्थाने स्थितं रजः।
शशिस्थाने भवेद् बिन्दु स्तयोरक्यं सुदुर्लभम्।
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दुरजोरविः॥ (१)
"यातिबिन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्तदा।
शुक्रश्चन्द्रेण संयुक्तो रजः सूर्य्येण संहतम्॥

(१) "सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततोनादः नादाद्बिन्दुः समुद्भवः॥ शारदा तिलकः। १।१।५
अन्यत् शवदर्शने तट्टीकायाञ्च।

तयो; समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ।
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥
तस्मात् चित्तं च शुक्रं च रक्षणीयं प्रयत्नतः ।
... ... वियति शिखरे, मेरुमूले तदस्ति ।
तत्त्वं चैतत् प्रवदति सुधीः सम्मुखे निम्नगानाम् ।
चन्द्रात् सारः स्रवति सततं तेन मृतुर्नराणाम् ॥
तद् बध्नीयात् सुकरण मुद्रा नान्यथा कायसिद्धिः ।
इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तीव दीपकः ॥
नित्यं सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।
रसनां वेशयेदूर्द्धं पिवेत् तत्स्रावितं जलम् ॥
गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमर वारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये नेतरान् कुल-घातकान् ॥
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत् प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांस भक्षणं तत्तु-महापातक-नाशनम् ॥
जिह्वा प्रवेश सम्भूत वह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात् स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्राच खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥
नासनं सिद्धिसदृशं न कुम्भः केवलोपमः ।
न खेचरी समा मुद्रा न नादः सदृशोलयः ॥
मूर्द्धः षोड़शपत्र पद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठात्,
ऊर्द्धास्योरसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।
तत् कल्लोलकलाजलञ्च विमलं जिह्वाकुलं यः पिवेत् ।
निर्दोष स मृणाल कोमल तनुर्योगी चिरं जीवति ॥

"चुम्बन्ती यदि लम्बिकोर्ध्वमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी,
सक्षारा कटुकाम्लदुग्ध सदृशं मध्वाज्यतुल्यं यदा,
व्याधीनां हरणं जवान्तःकरणं शास्त्रागमोच्चारणम्,
तस्य स्यादिहसिद्धिरष्टगुणिता सिद्धाङ्गना कर्षणम्" ॥

स्कन्दपुराणे—

"कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति 'खेचरी' ॥
चित्तं चरति खे यस्मात् जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निषेविता ॥
यावद् बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्नगच्छति।
यावद् बिन्दुः स्थिरोदेहे तावत् कालभयं कुतः ॥
पीड्यते न स रोगेण न च लिप्यत कर्म्मणा।
वाध्यते न सकालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥
रसनां तालुविवरे निधायोर्द्ध्व मुखामृतम् ॥
पिवेन्निर्ज्झरताङ्गच्छेत् षन्मासान्नात्र संशयः।
ऊर्द्ध्वजिह्वोस्थिरोभुत्वा सोमपानं करोति यः ॥
मासार्द्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगविद्।
सम्पीड्य रसनाग्रेण राजदन्त विलं महत् ॥
ध्यात्वामृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत्।
अमृतापूर्ण देहस्य योगिनोद्वित्रि वत्सरान् ॥
ऊर्द्ध्वं प्रवर्त्तते रेतो ह्यणिमादिगुणोदयम्।
नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ॥
तक्षकेनापिदष्टस्य विषगङ्ं न च सर्पति" ॥ इति।

दत्तात्रेय:—

"अन्त:कपाल विवरे जिह्वांचावर्त्त्य चार्पयेत्।
भ्रूमध्ये दृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति "खेचरी" (१)॥
न रोगो मरणन्तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रांवेत्ति खेचरीम्"॥ इति।

ईश्वर उवाच—

"लम्बिकोर्द्ध्वे स्थिते गर्त्ते रसनां विपरीतगाम्।
संयोजयेत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षण:॥
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधत:।
निरन्तरं कृताभ्यासात् पीयूषम्प्रत्यहम्पिवेत्॥
तेन विग्रह सिद्धि:स्यान्मृत्युमातङ्ग केशरी।
मुद्रैषा खेचरी यस्य सुस्थिरा स्यादतन्द्रिता॥
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्द्धं मन्यते हि स:"। इति॥

अथ मूलबन्ध:।

"पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयन्त्रितम्।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्द्ध्वं समभ्यसेत्॥
कथितोऽयं मूलबन्धो जरामरण-नाशन:।
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयोमूत्र पूरीषयो:॥
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति।
सिद्धायां योनिमुद्रायां किन्न सिद्ध्यतिभूतले॥
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिल:।
पद्मासनस्थितोयोगी भुवमुत्सृज्य वर्त्तते॥

---

(१) इयन्तु खेचरीमुद्रा ज्ञान सङ्कलनीतन्त्रे न्यथावर्णितमस्ति।
यथा—"मन: स्थिरं यस्य विनावलम्बनं दृष्टिस्थिरंयस्यविनावलोकनम्।
वायु: स्थिरो यस्य विना निरोधनं सा एव मुद्रा विचरन्ती खेचरी"॥ इति चेति।

सुगुप्ते निर्ज्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत्।
संसार सागरं तर्त्तुं यदीच्छेद् योगि पुङ्गव"। इति॥

हठ प्रदीपिकायाम्,—

"पार्ष्णि भागेन सम्पीड्य योनि माकुञ्चयेद् गुदम्।
अपानमूर्द्ध माकृष्य 'मूलबन्धो'ऽयमुच्यते॥
अधोगतमपानञ्च तदूर्द्धं कुरुते हठात्।
आकुञ्चनेन तत्प्राहु "मूलबन्ध" न्तु योगिनः"।

योगवीजे,—

"गुदं पार्ष्णग्रातु सम्पीड्य योनि माकुञ्चयेद्बलात्।
वारम्वारन्तथाचोर्द्धं समायाति समीरणः॥
प्राणापानौ नाद विन्दु-मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः॥
अपानेचोर्द्धगे जाते सम्प्राप्ते वह्निमण्डले।
तथानल शिखा दीर्घा वर्द्धते वायुनाहता॥
ततो जातौ वह्न्यपानौ प्राणमुक्त स्वरूपकौ।
तेनात्यन्त प्रदीप्तस्तुज्वलनोदेहजस्तथा॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सततं सम्प्रवोध्यते।
दण्डाहतभुजङ्गीव निश्वित मृजुताम्व्रजेत्॥
विलम्प्रविष्टेव तथा ब्रह्मनाड्यन्तरे व्रजेत्!
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्त्तव्यो योगिपुङ्गवैः"॥

अथोड्डीयान बन्धः।

"बद्धोयेन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः॥
उड्डीणं कुरुते यस्मा दविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयाणन्त देवस्यान्मूलबन्धोऽभिधीयते॥

उदरे पश्चिमं भागं नाभेरूर्द्धं समाचरेत्।
'उड्डीयानो'ह्यसौ बन्धो मृत्यु-मातङ्ग केशरी ॥
उड्डीयानन्तु सहजं गुरुणा कथितं यथा।
अभ्यस्ते तु तदन्वस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥
नाभेरूर्द्धमधोवापि तालङ्कुर्य्यात् प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युञ्जयतेव न संशयः ॥

हठ प्रदीपिकायाम्,—

"सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढ़म्।
गुल्फदेश समीपेतु उदरन्तत् प्रपीड़येत् ॥
पश्चिमं तालमुदरे कारयेच्चिवुकं हृदि।
शनैः शनैर्यथा प्राणस्तुन्दशुद्धिं निगच्छति।
सर्व्वेषामेव बन्धानां उत्तमोह्युड्डीयानकः।
उड्डीयानीबन्धएष कण्ठदुःखविनाशनः।
नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्व्वारं दिने दिने।
तेन नाभेर्व्विशुद्धिः स्यादेयन सिद्धोभवेन्मरुत् ॥
षण्मासमभ्यसन् योगी मृत्युञ्जयति तत्त्ववित्।
तस्योदराग्निर्ज्ज्वलति रसवृद्धिश्च जायते ॥
अनेन सुतरां सिद्धिः विग्रहस्य प्रजायते।
रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ॥
गुरोर्लब्धा (१) प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः।
निर्ज्जने सुस्थिते (२) देशे बन्धम्परम दुर्लभम्"। इति।

(१) यतः "सङ्केतविद्यागुरुवक्त्रगम्या" इति नागेशभट्टोक्तेः "इदन्तेनातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। नचाशुश्रूषवे वाच्य" मित्यादि श्रीभगवद्गीतोक्तेश्च अप्रार्थिनेऽनधिकारिणे च यत्र तत्र रहस्य विद्या नैव वक्तव्या। अप्रयोजनमुद्दिश्य च विद्या रहस्य हानिरधिकारिणामनिष्टञ्चस्यात्। एवञ्च योग-मन्त्रविद्याऽनधिकार्य्युपदेशे स्वयं पुस्तक दर्शनाभ्यासे च महदनिष्टं स्वास्थ्यहानिरवश्य मिति गुरुतोऽनुसन्धेया। अतो मया यथायोग्यस्थानं टीप्पनी प्रदाने विरम्यते। एतद्वृत्तं सौन्दर्य्यलहर्य्यां लक्ष्मीधरीय व्याख्यानेऽवलोकनीयम्।

अथ जालन्धरः।

"वध्वा गलशिराजालं हृदये चिवुकन्यसेत्।
'बन्धोजालन्धरः' प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः॥
नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्र कमलच्युतम्।
पिवेत् पीयूषं रसवत् तदर्थं बन्धयेदिमम्॥
बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिवति बुद्धिमान्।
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये॥
'जालन्धरोबन्ध'एष सिद्धानां सिद्धिदायकः।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता"॥ इति।

योगवीजे,—

"कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढ़ मिच्छया।
'बन्धोजालन्धरा'ख्योऽय ममृताव्ययकारकः"॥ इति।

हठ प्रदीपिकायाम्,—

"बध्नातीह शिराजाल मधोगामि नभोजलम्।
ततोजालन्धरः प्रोक्तः कण्ठदुःखौघनाशनः॥
जालन्धरे कृतेबन्धे कण्ठसंकोच लक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ नच वायुः प्रकुप्यति॥
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोड़शाधार बन्धनम्।
बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्ध निषेवितम्॥
सर्व्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनोविदुः"।

अथ विपरीत करणी।

हठयोगे,—

"नाभिदेशे स्थितोनित्यं भास्करोदहनात्मकः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमध्ये च चन्द्रमः।

वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्द्ध मुखोरविः ।
करणन्तच्च कर्त्तव्यं येन सा प्राप्यते सुधा ।
विशुद्धे परमेचक्रे धृत्वा सोमकलामृतम् ।
तन्मार्गेणामृतं याति वञ्चयित्वा मुखं रवेः ॥
अमृतं कन्दरे कृत्वा नासान्तं शिखरे क्रमात् ।
स्वयमुच्चालितो याति वञ्चयित्वा मुखं रवेः ॥
बद्धं सोमकलाजलञ्च विमल कण्ठस्थलादूर्द्धतो—
नासान्तं शिखरेण याति गगनं द्वारं ततः सर्व्वतः ।
ऊर्द्धस्योभुवि सन्निपत्य नितरामुत्तानपादः पिवेत्,
एवं यः कुरुते जितेन्द्रियचयो नैवास्ति तस्य क्षयः" ॥

हठ प्रदीपिकायाम्,—

"यत् किञ्चित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिच ।
तत् सर्व्वं ग्रसते सूर्य्यस्तेन पिण्डं विनाशिच ॥
तत्रास्तिकरणं दिव्यं सूर्य्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतोज्ञेयं न तु शास्त्रार्थ कोटिभिः (१) ॥
ऊर्द्धनाभिरधस्तालु रूर्द्ध भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या सर्व्वव्याधि विनाशिनी" ॥

दत्तात्रेयः—

"ऊर्द्धभानुरधश्चन्द्र स्तद्यथा शृणु साङ्कृते ! ।
अधःशिरश्चोर्द्धपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने ॥
क्षणाच्च किञ्चिदधिक मभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलिश्च पलितश्चैव षण्मासार्द्धेण दृश्यते ॥
मासमात्रन्तु योनित्य मभ्यसेत् सतु कालजित् ।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्नि-विवर्द्धनम् ॥

आहारोबहुल स्तस्य सम्पाद्यः साङ्कते ध्रुवम्।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दीहङ्करोति वै" ॥

अथ शक्तिचालनम्।

ईश्वर प्रोक्ते,—

"आधार कमले सुप्तां चालयेत् कुण्डलीन्दृढ़ाम्।
अपान वायुनाक्रम्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ॥
शक्तिचालन मेवं हि प्रत्यहं यः समभ्यसेत्।
अग्निवृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणाञ्च विनाशनम् ॥
विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्द्धभवेत् खलु।
तस्मादभ्यसनङ्कार्य्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥
यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम्।
येन विग्रहसिद्धिःस्यादणिमादिगुणप्रदा ॥
गुरूपदेश विधिना तस्य स्तुरभयङ्कुतः।
मुहूर्त्तद्वय पर्य्यन्तं विधिना शक्तिचालनम् ॥
वज्रासनगतोनित्यं मासार्द्धन्तु समभ्यसेत्।
वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीन्दहतेऽनिशम् ॥
सन्तप्ता साग्निनाड़ीच शक्तिस्त्रैलोक्य मोहिनी।
विशते वज्रतुण्डेन सुषुम्ना वदनान्तरे ॥
वायुना वह्निना सार्द्धं ब्रह्मग्रन्थिं विभिद्य सा।
विष्णुग्रन्थिं ततोभित्वा रुद्रग्रन्थौच तिष्ठति ॥
ततस्तु कुम्भकैर्गाढ़ं पूरयित्वा पुनः पुनः।
भिद्यन्ते ग्रन्थयोवंशे तप्त लौहशलाकया ॥
तथैव पृष्ठवंशे स्याद्ग्रन्थि-भेदस्तु वायुना।
पिपीलिका यथा लग्ना कण्डुस्तत्र प्रवर्त्तते ॥

सुषुम्नायान्तथाभ्यासात् सततम्वायुना भवेत् ।

रुद्रग्रन्थिन्ततोभित्त्वा ततोयाति शिवात्मकम्" ॥ इति

हठयोगी,—

"उद्घाटयेत् कपाटन्तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।

कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानन्निरामयम् ।

मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥

कन्दोर्द्ध्वे कुण्डली शक्तिर्बद्धा मोक्षाय योगिनाम् ।

बन्धनाय च मूढानां यस्ताम्वेत्ति स योगवित् ॥

अम्भोधिशैलद्वीपानामाधार: शेषकुण्डली ।

अशेषयोगतन्त्राणामाधार: कुण्डली तथा ॥

कुण्डलाङ्गी कुण्डलिनी भुजगी शक्तिरीश्वरी ।

कुटिलारुन्धती देवी शब्दा: पर्य्यायवाचका: ॥

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्त्तिता ।

सा शक्तिश्चालिता येन समुक्तोनात्र संशय: ॥

गङ्गा यमुनयोर्मध्ये बालरण्डान्तपस्विनीम् ।

बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णो: परमम्पदम् ॥

पुच्छं प्रगृह्य भुजङ्गी सुप्तामुद्बोधयेदभि ।

निद्रां विहाय सा ऋज्वी ऊर्द्धमुत्तिष्ठते हठात् ॥

"परिस्थिता चैव फणावती सा,

प्रातश्च सायं प्रहरार्द्धमात्रम् ।

प्रसूर्य्य सौर्य्या परिधानमुक्ता,

प्रगृह्य निर्याति विचालिता सा ॥

वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम् ।
सूर्य्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥
भानोराकुञ्चनं कुर्य्यात् कुण्डलीञ्चालयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयङ्कुतः ? ॥
नासा दक्षिणमार्गवाहि पवनो प्राणेन दीर्घी कृतः,
चन्द्राभः परिपूरिता मृततनोः प्राग्घण्टिकायास्ततः ।
भिन्दन् काल विशालवह्नि वशगान् भ्रूरन्ध्रनाड़ीगणान्,
तत्कायङ्कुरुते पुनर्नवतरं जीर्णद्रुमस्कन्दवत् ॥
कुण्डलीञ्चालयित्वा तु कुर्य्याद् भस्त्राञ्चिशेषतः ।
एवमभ्यासतो नित्यं यमिनः शङ्कते यमः ॥
तदाभ्यसेत् सूर्य्यभेदमुज्जयीञ्चापि शीतलाम् ।
एवमभ्यास युक्तस्य यमस्तु यमिनः कुतः ? ॥
मुहूर्त्तद्वय पर्य्यन्तं निर्भरं चालनाद्धि वै ।
ब्रह्मचर्य्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मण्डलाद्दृश्यते सिद्धिः कुण्डलाभ्यास योगिनः ।
द्विसप्ततिसहस्राणां नाड़ीनां मलशोधनम् ॥
कुतः प्रचालनोपायः कुण्डलाभ्यासतो विना" ।
अत्र शक्तिचालने पद्मासनमेव द्रष्टव्यम्,
न वज्रासनमनुभवविरोधात् ।

तथाच ग्रन्थान्तरे,—

"कृत्वा संपुटितौ करौ दृढ़तरं बद्धाच पद्मासनम्,
गाढ़ं वक्षसि संनिधाय चिबुकं ध्यानञ्च तच्चेतसि ।
वारं वारमपान मूर्द्ध्वमनिलं प्रोत्सारयेत् पूरितम्,
प्राणं मुञ्चति बोधमेति नियतं शक्तिः प्रबोधोदयात्" ॥

इति मुद्रा नव प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैकं तासु यमिनां महासिद्धि-प्रदायिनी ॥

दत्तात्रेयः—

"अभ्यासभेदतोभेदः फलन्तु सममेव हि" ।

अभ्यासक्रमश्चोक्तः पवनयोगसंग्रहे,—

"महामुद्रां समभ्यस्य महाबन्धं ततः परम् ।
महावेधं च नियतं प्रकुर्य्याच्छक्ति चालनम् ॥
आसनं सुदृढं बध्वा मूलबन्धं विधाय च ।
उड्डीयानं तथा बन्धं ततोजालन्धराभिधम् ॥"

अभ्यसेदिति सम्बन्धः । हठ प्रदीपिकायाम्,—

"मूलस्थानं समाकृष्य उड्डीयाणन्तु कारयेत् ।
इड़ां च पिङ्गलां बध्वा वाहयेत् पश्चिमे पथि ॥
अनेनैव विधानेन सेवयेत् पवनालयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा" ॥ इति

योगबीजे—

"चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते ।
बन्धत्रयमिदं कार्य्यं वक्ष्यमाणं मया स्फुटम् ॥
'पूरकान्तेति कर्त्तव्यो बन्धोजालन्धराभिधः ।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्त्तव्यस्तूड्डीयानिकः ॥
अधस्त्वाकुञ्चनेनाशु कण्ठसङ्कोचनेन च ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणोब्रह्मणाड़ीगः ॥
अपानमूर्द्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधोनयेत् ।
योगी जरा विमुक्तःसन् वयसा षोड़शोभवेत्" ॥

उड्डीयानस्य स्वाहजिकत्वात् कुम्भकदशायां कर्त्तव्यः। अत्र केचिद् यद्यपि कपिलादिसिद्धानामेव महामुद्रादयः सम्मताः न याज्ञवल्क्यादीनां मुनीनां तथापि साधारण्येन बोद्धव्या इत्याहुः। तत्तु तद् ग्रन्थार्थावबोध विधुरतया। तथाहि नादोत्पत्ति प्रकरणे "अपानमूर्द्ध्वमाकृष्य प्रणवेन समाहितः" इत्यत्र मूलबन्धः कण्ठतः एवोक्तः, तदुक्त्याच तत् सम्बन्धिनावुड्डीयान जालन्धरावपि प्राप्तौ। एक समय विच्छेदेन त्रयाणामनुष्ठानस्य पूर्व्वं दर्शितत्वात्। किञ्च—

"जिह्वायां वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत्।
यः पिबेदमृतं विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते॥"

इत्यत्र खेचरीं विनानुपपत्तेःस्पष्टत्वात्। तस्मात् सन्ति याज्ञवल्क्यादीनामपि मुद्रा अभिप्रेताः। प्रतिपादनन्तु ग्रन्थान्तरे प्रसिद्धत्वाद् विशेषेण न कृतमवेत्यवधेयम्। इदानीं पूर्व्वोक्त वाह्याभ्यन्तरसाधन सम्पन्नस्याधार मुद्रा चक्रादि ज्ञानवतो मुमुक्षोश्चित्तशुद्धिद्वारा मोक्ष साधनीभूत तत्त्वज्ञानोपयोगीनि योगाङ्गानि निरूप्यन्ते। तथाच पातञ्जले—"योगाङ्गानुष्ठाना दविशुद्धिक्षयेज्ञान दीप्ति राविवेकख्यातेः"-रशुद्धिक्षये चित्तसत्वस्य प्रकाशावरण क्लेशाख्याया अशुद्धेर्नाशे सति या भवति ज्ञानदीप्तिः सात्विक परिणामो विवेकख्यातेर्हेतु-रित्यर्थः। योगाङ्गोद्देश परं च सूत्रम् "यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणाध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि" इति (१) याज्ञवल्क्यः—

"वक्ष्याम्यङ्गानि ते सम्यग् यथापूर्व्वं मयाश्रुतम्।
समाहितमना गार्गि ऋषिभिः सह संशृणु॥
यमश्च नियमश्चैव आसनं च तथैव च।
प्राणायाम स्तथा गार्गि! प्रत्याहारश्च धारणा॥

---

(१) योगदर्शनम् २।२९ सूत्रम्। अस्य वाङ्गलासु भावागणेशीय भोजराजीय नागेशीय मणि प्रभाकारीयासु तत्त्वं वर्णितमस्ति।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१७

प्राणायाम की (यौगिक) मुद्राएँ एवं बन्ध

१. मुद्रा- 'नास्ति मुद्रासमं किंचित सिद्धिदं क्षितिमण्डले'

इस पृथ्वी पर मुद्रा के समान सफलता देने वाला अन्य कोई भी कर्म नहीं है।

मुद्राएँ आसनों का विकसित रूप है। आसनों में इन्द्रियों की प्रधानता होती है और प्राणों की गौणता होती है तथा मुद्राओं में इन्द्रियों की गौणता होती है और प्राणों की प्रधानता होती है।

मुद्रा हठयोग की एक आश्चर्यजनक क्रिया है, मुद्रा शरीरस्थ ग्रन्थियों को स्वस्थ और सबल बनाती है। मुद्रा का अभ्यास मनुष्य की मानसिक, शारीरिक उन्नति का सुलभ उत्तम साधन है। नियमित रूप से मुद्रा करने वाला योगी स्वस्थ, निरोगी, आकर्षक फूर्तिला तथा मृत्यु विजेता बन सकता है, ऐसी महिमा है। मुद्रा का संस्कृत में अर्थ है सील अथवा ताला इससे आसनों की स्थिति ज्ञात होती है जो शरीर के छिद्रों को बंद कर देती है और वहाँ उँगलियों की सहायता से विशेष प्रकार की मुद्राएँ काम में लायी जाती है।

२. बन्ध- बन्ध का अर्थ- बन्धन (बाँधना), परस्पर जोड़ना, नियंत्रण या कसकर आपस में पकड़ना। इसका सम्बन्ध एक ऐसे योगासन से भी है जिससे शरीर के कतिपय अवयव या भाग को कसकर बाँध लिए जाते हैं, उन्हें संकुचित कर लिया जाता है। उन पर नियंत्रण किया जाता है।

जब शरीर में प्राणायाम के द्वारा प्राण का प्रवाह किया जाता है तब योगी के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह बन्धों का प्रयोग करे ताकि ऊर्जा नष्ट न हो और उसे बिना किसी क्षय के सही स्थान पर ले जायी जा सके। बन्ध के बिना प्राणायाम का अभ्यास प्राण के प्रवाह में गतिरोध उत्पन्न करता है और तंत्रिका प्रणाली को हानि पहुँचाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हठयोग में बताई गई कई मुद्राओं में से जालंधर बन्ध, उड्डीयान बन्ध और मूल बन्ध प्राणायाम के लिए अनिवार्य है। ये क्रियाएँ ऊर्जा वितरण में सहायता करती हैं तथा शरीर की गंदगी को दूर करके अधिक स्वच्छ बनाती है। प्राणायाम के दौरान सुषुम्णा नाड़ी द्वारा ऊर्जा के प्रवाह को दिशा दी जाती है।

१. जालंधर बन्ध   २. उड्डीयान बन्ध   ३. मूल बन्ध

जालन्धर बन्ध

साधक को सबसे पहले जालंधर बन्ध क्रिया पर अधिकार पाना चाहिए। जाल का अर्थ- पाश, जाला अथवा जाली है। इसक्रिया में जब सर्वांगासन और चक्र को सम्पन्न करने में अधिकार पाया जाता है और इस स्थिति में सिर के ऊपरी भाग व गर्दन को ठुड्डी से दबाये रखा जाता है।

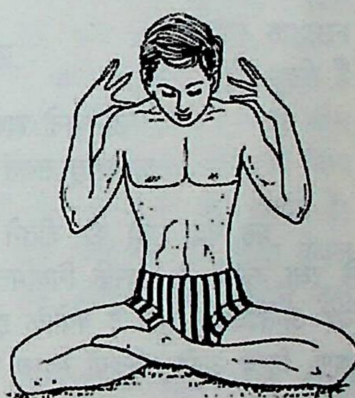

इस विधि में क्रिया को करने के लिए किसी भी आरामदायक आसन, सिद्धासन, स्वस्तिकासन, मुद्रासन, वीरासन, वज्रासन, बद्धकोनासन या पद्मासन में बैठकर, पीठ सीधा रखकर सिर और गर्दन, पसली पिंजर के अग्रभाग को ऊपर उठाते हैं। गर्दन के दायें-बायें भाग को बिना तनाव के फैलाते हैं तथा सिर तथा गर्दन के पीछे के भाग को आगे झुकाते हैं। गले पर किसी भी प्रकार का दबाव नहीं डालते हैं। सीने को आगे की ओर फैलाये तथा उठाये रखते हैं। कनपटियों को तथा कान व आँख को ढीला रखते हैं। (जब ठुड्डी को सीने से लगाते हैं तब आँतों को अन्दर नहीं धँसाते हैं)

लाभ- शरीर में धड़ के मध्य भाग में सूर्यचक्र होता है। मस्तिष्क के मध्य भाग में चँद्रचक्र होता है। जालंधर बन्ध के अभ्यास से गर्दन के चारों ओर नाड़ियों के जाल के कारण चन्द्रचक्र की शीत ऊर्जा नीचे की ओर प्रवाहित नहीं होती है और सूर्यचक्र की ऊर्जा फैल जाती है। इस प्रकार जीवन का अमृत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संग्रहीत हो जाता है। जालंधर बन्ध से नासिका के मार्ग स्वच्छ हो जाते हैं और रक्त का प्रवाह प्राण वायु से हृदय, सिर, गर्दन की अंतःस्रावी ग्रंथियों की ओर प्रवाहित होता है।

इस क्रिया से मस्तिष्क विश्राम पाता है और बुद्धि भी विनम्र हो जाती है। कण्ठ सुरीला और मधुर होता है।

विशेष- इस क्रिया में कण्ठ को सिकोड़कर ठुड्डी को दृढ़तापूर्वक कण्ठ-कूप इस प्रकार बनाते हैं कि हृदय से ठुड्डी का अन्तर केवल ४-अंगुल ही रहे सीना आगे की ओर से ताने रखते हैं। यह बन्ध कण्ठ स्थान के नाड़ी जाल को बाँधे रखता है, इसलिए इस क्रिया का नाम जालन्धर बन्ध है।

उड्डीयान बन्ध

"उड्डीयानो ह्यसो बन्धे मृत्युमांतग केशरी।
अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोपि तरुणायते।।"

यह मुद्रा मृत्यु को जीतने वाली है क्योंकि यह मनुष्य की अकाल मृत्यु से रक्षा करती है। इसके नियमित अभ्यास से वृद्ध भी तरुण बना रहता है। (यह अतिश्योक्ति नहीं है क्योंकि इसके अभ्यास से यकृत,प्लीहा, अग्नाशय, वृक्क, वृषण, डिम्ब आदि ग्रन्थियाँ स्वस्थ रहती हैं।)

उड्डीयान का अर्थः- ऊँचा उड़ना यह उदरीय पकड़ मानी जाती है। इस क्रिया में प्राण या ऊर्जा को पेट के निचले भाग से सिर तक प्रवाहित किया जाता है। इसमें डायफ्राम पेट के अवयव पिछली ओर तथा मेरूदण्ड स्तम्भ की ओरं से ऊपर उठ जाता है।

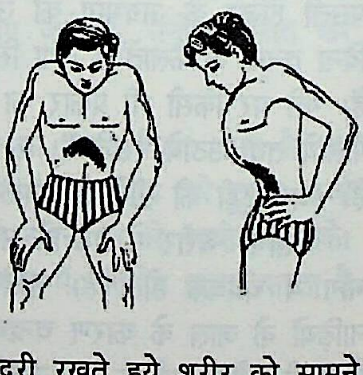

इस क्रिया को करने की विधिः- सीधे खड़े होकर अपने पैरों को १८ इंच की दूरी रखते हुये शरीर को सामने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
झुकाते हैं तथा दोनों हाथों की हथेलियों को दोनों जंघाओं पर रखते हैं। श्वास छोड़ते हुये अपने पेट के सामने वाले भाग को संकुचित करते हैं ताकि एक गड्ढा जैसा हो जाय। जब तक श्वास रोक कर रख सके रखते हैं तब तक पेट को संकुचित रखते हैं। इसके बाद श्वास लेते हुये पूर्व की स्थिति में आ जाते हैं। यह ध्यान रखते हैं कि उदर की माँसपेशियाँ पीछे की ओर न तनें। यह क्रिया बैठ कर भी कर सकते हैं। प्रारम्भ में इसका अभ्यास २-३ बार करके बाद में क्रमशः ६-७ बार तक बढ़ाया जा सकता है। इसके अभ्यास से उदर की सभी स्नायु एवं माँसपेशियाँ सुदृढ़ एवं स्वस्थ बनी रहती हैं।

इस विधि में क्रिया करने के लिए खड़े आसन में अभ्यास करके पूर्णता प्राप्त करते हैं। ताड़ासन मे प्राणायाम में आरम्भ करते हैं वाह्य कुम्भक में (पूर्ण रेचक क्रिया और पूरक क्रिया के आरम्भ से पूर्व बीच की अवधि) ताड़ासन लगाते हैं। पैरों के बीच १-फूट की दूरी रखते हैं। घुटने मोड़कर आगे झुकते हैं और उँगलियाँ फैलाकर हाँथों से जांघों के मध्य भाग को पकड़ते हैं। गहरी साँस लेकर छोड़ते हैं ताकि वायु फेफड़ों से बाहर निकल जाय। पूरक क्रिया में बिना साँस रोके, पेट को मेरूदण्ड की पीछे खींचते हैं और ऊपर की ओर उठाते हैं। इस क्रिया के दौरान वक्ष को कभी भी खाली नहीं रखते हैं। यह क्रिया केवल खाली पेट दिनभर में एक बार करनी चाहिए। जब उदरीय अवयव दबायें जाते हैं तब फेफड़ों को संकुचित नहीं करते हैं।

लाभ- उड्डीयान बन्ध के समय प्राण वायु सुषुम्णा नाड़ी में से होकर विशाल पक्षी जैसा उड़ने को बाध्य हो जाता है। ऊर्जा के प्रवाह के लिए सुषुम्णा नाड़ी मुख्य प्रवाहिका है, जो मेरूदण्ड में अन्दर स्थित है। जो डायफ्राम और उदरीय-अवयव संचालित करता है। इससे हृदय की माँसपेशियों की मालिश होती है। उदरीय अवयव कोमल हो जाते हैं और जठराग्नि बढ़ जाती है तथा पाचन क्रिया सुचारू हो जाती है। इसे शक्तिचालन प्राणायाम भी कहते हैं।

विशेष- यह क्रिया बैठकर दोनों जांघों को मोड़कर पैरों के तलवों को आपसे में सटाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर ८-अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरूदण्ड (रीढ़ की हड्डी से) ऐसा लगाते हैं जिससे पेट के स्थान पर गड्डा सा दिखने लगता है। पेट जितना अन्दर की ओर खींचा जायेगा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
उतना ही अच्छा है। इससे प्राण पसली के सदृश सुषुम्णा की ओर उड़ने लगता है, इसलिए यह उड्डीयान कहते हैं। यह बन्ध पैरोंके तलवोंको बिना मिलाये भी किया जा सकता है।

मूल बन्ध

मूल बन्ध अर्थ- जड़, स्रोत, आरम्भ, कारण और आधार या बुनियाद है। मूल बन्ध गुदा या जननेन्द्रिय की स्थली के बीच का मुख्य भाग है। इस क्रिया में माँसपेशियों को संकुचित करते हैं और नाभि की ओर लम्ब रूप में उठाते हैं। इसके साथ ही साथ नाभि के निचले अग्र उदर को मेरूदण्ड के पिछले और ऊपर के भाग की ओर दबाया जाता है। जो नीचे की ओर गति वाली अपान वायु में परिवर्तन हो जाता है और उसे ऊपर उठया जाता है, ताकि उसे प्राण वायु से मिल सके जिसका स्थान सीने के मध्य भाग में होता है।

मूल बन्ध में अन्तःकुम्भक क्रिया के बाद पूरक क्रिया करना चाहिए मूल बन्ध में गुदा और नाभि के बीच मूल तथा निचले उदरीय भाग को संकुचित किया जाता है। उसे मेरूदण्ड की ओर खींचा जाता है और डायफ्राम (सीना) को ऊँचा उठाया जाता है।

सिद्धासन, पद्मासन, वज्रासन या सुखासन में बैठकर श्वास-प्रश्वास करते हैं। रीढ़, गर्दन और सिर सीधा रखते हैं। रीढ़ मस्तिष्क के आधार से प्रारम्भ होकर गुदा के निकट समाप्त होती है। इस समाप्ति-स्थान से कुछ महत्वपूर्ण स्नायु एवं नसें प्रारम्भ होती हैं। शरीर में मूलाधार चक्र के नाम से यह स्थान है। मूलबन्ध मुद्रा के अभ्यास से इस स्थान-विशेष की स्नायु एवं माँसपेशियाँ सुदृढ़ होती है।

मूत्रस्थान के सन्निकट ही कन्दर्प एवं मदन ग्रन्थियाँ अवस्थित हैं जिन्हें अंग्रेजी में प्रोस्टेट (Prostate) और कॉपर्स (Cowper's) ग्रन्थियाँ कहते हैं। ये ग्रन्थियाँ मूत्राशय के दोनों ओर स्थित हैं। कामुक विचार एवं चेष्टा के फलस्वरुप इन ग्रन्थियों में चेतना आती है। स्त्रियों में इन ग्रन्थियों के स्थान पर रतिग्रन्थि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
व मिथुनग्रन्थि जिसे Bartholin's एवं Skene glands कहते हैं विद्यमान हैं। ये भी पुरुषों की कन्दर्प एवं मदन ग्रन्थियों के समान कार्य करती हैं।

इस मुद्रा के अभ्यास करने वालों के लिए इन स्नायु एवं ग्रन्थियों की उत्तम जानकारी आवश्यक है। गुदा एवं मूत्राशय के मध्य-भाग को योनि-मण्डल कहते हैं। रीढ़ इसी स्थान के ठीक ऊपर समाप्त होती है। जिसे कन्द स्थान कहते हैं।

उर्ध्व मेढ्रात् अधो नाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत्।
ततो नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः।।

अर्थात् कन्दस्थान की आकृति चिड़िया के अण्डे के समान होती है जो नाभि के नीचे एवं प्रजनन ग्रन्थि के ऊपर अवस्थित होती है। यहाँ से ७२००० नाड़ियाँ उत्पन्न होकर शरीर के विभिन्न स्थानों की ओर अग्रसर होती है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नामक मुख्य नाड़ियाँ तथा तत्सदृश अन्य बहुत सी काम-स्नायु एवं गुदा की स्नायुएँ इसी स्थान से प्रारम्भ होती हैं। गुदा की नाड़ियाँ यहीं से गुदा-प्रदेश में विभक्त होकर विभिन्न स्थानों तक पहुँचती हैं। ये स्नायु ही अंत्रस्थ दूषित पदार्थों को बाहर निकालने के लिए जिम्मेदार हैं। काम-स्नायु जिसे कुहू स्नायु कहा जाता है। यहीं से प्रारम्भ होकर काम-ग्रन्थियों एवं अन्य सम्बन्धित अवयवों को नियन्त्रित करती है। काम से सम्बन्धित शरीर के सभी अंग कुहू नाड़ी के सहयोग से कार्य करते हैं।

इड़ा नाड़ी या सोमग्रन्थी की स्नायु कन्दस्थान से प्रारम्भ होकर रीड़ तक जाती है और यह रीड़ की बांयीं ओर से ऊपर बढ़ती है। पिंगला नामक दूसरी नाड़ी भी इसी स्थान से प्रारम्भ होकर रीड़ की दाहिनी ओर से ऊपर बढ़ती है। इड़ा जहाँ समाप्त होती है, वहीं यह भी समाप्त होती है। तीसरी सुषुम्ना नाड़ी कन्दस्थान से प्रारम्भ होकर रीड़ के ऊपर बढ़ती है तथा विशुद्ध-चक्र (गल-प्रदेश) के पास पहुँच कर दो शाखाओं में विभक्त होती है। एक प्रशाखा आज्ञा-चक्र एवं दूसरी ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। इन तीन महत्वपूर्ण नाड़ियों के माध्यम से हमारे श्वास-प्रश्वास की क्रिया पर नियंत्रण होता है। अगर हमारे बायें नासिकारन्ध्र से श्वास क्रिया चालू रहे तो समझना चाहिए कि हमारी इड़ा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाड़ी कार्यरत है। अगर श्वास दाहिने नासिकारन्ध्र से है तो पिंगला नाड़ी कार्यरत है। अगर दोनों नासिकारन्ध्रों से श्वास का आना जाना चालू है तो सुषुम्ना नाड़ी कार्यरत है।

क्रिया करने की विधिः- पद्मासन, सिद्धासन या अन्य किसी सुविधाजनक ध्यानासन में बैठकर क्रिया करनी चाहिए। श्वास लेते समय शंखिनी नाड़ी को मूल स्थान तक खींचते हैं। श्वास छोड़ते समय इसे छोड़ देते हैं। साँस धीरे-धीरे या दृढ़तापूर्वक लेते हैं। चूँकि कुहू एवं शंखिनी दोनों नाड़ियों की उत्पत्ति मूल स्थान से हैं, शंखिनी को खींचने पर कुहू में भी खिंचाव होता है। लेकिन कुछ दिन के अभ्यास से दोनों नाड़ियों को अलग-अलग खींचा जा सकता है। जैसे जब हम शौच की अवस्था में मल को रोकते हैं तब हमें 'शंखिनी नाड़ी' को खींचना होता है और जब मूत्र को रोकते हैं तो कुहू नाड़ी को खींचना पड़ता है।

गुदा के पास की माँस पेशियों को सिकोड़ने (संकुचन) का अभ्यास (अश्विनी मुद्रा) करने से मूल बन्ध पर अधिकार प्राप्त करने में सहायक होती है। मूल बन्ध में अभ्यास से काम-धारणा शक्ति बढ़ जाती है। इससे सभी सुप्त इच्छाएँ जागृत हो जाती हैं। मूल बन्ध का अभ्यास करने से मनुष्य सत्यस्त्रोत के मूल तक पहुँचने का प्रयास करता है, जिसका लक्ष्य चित्त के बन्ध को पूर्ण तथा नियंत्रित करना होता है। जिसमें मन, बुद्धि और अहंकार समाहित है।

विशेष- मूल बन्ध एवं लिंग-स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूल बन्ध है बायें पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्य भाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़कर योनिस्थान अर्थात गुदा और लिंग एवं कन्द के बीच भाग को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृढ़ता पूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपान वायु बल के साथ धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने को मूल बन्ध कहते हैं। सिद्धासन के साथ यह बन्ध अच्छा लगता है।

प्रारम्भ में इसका अभ्यास प्रातः-सायं १० बार से अधिक नहीं करना चाहिए। बाद में क्रमशः २० बार तक बढ़ा सकते हैं। शीघ्र लाभ के लिए प्रतिदिन ३ बार अभ्यास कर सकते हैं।

योगियों का मत है कि:- "युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्"

अर्थात् मूलबन्ध के नियमित अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो जाते हैं। इसी मुद्रा के नियमित अभ्यास से पुरुषों की कन्दर्प एवं मदन ग्रन्थियों तथा स्त्रियों की रति एवं मिथुन ग्रन्थियों में नवजीवन का संचार होता है। इसके फलस्वरूप स्त्री-पुरुषों में स्तम्भन शक्ति की वृद्धि होती है।

शक्ति-चालनी मुद्रा

इसी आसन मुद्रा को करने के लिए पद्मासन या गोमुखासन की मुद्रा में बैठते हैं धीरे-धीरे श्वास ग्रहण करते हुये कुहू एवं शंखिनी नाड़ी को अन्य सहायक सभी नाड़ियों के साथ ऊपर खींचते हैं। इसके फलस्वरूप स्वभावतः नाभि-प्रदेश एवं गुदा-प्रदेश पीठ की तरफ आकृष्ट होगा। इस स्थिति में श्वास को कम से कम १० से १५ सेकेण्ड तक रोके रहते हैं। इसके उपरान्त श्वास छोड़ते हुए नसों को धीरे-धीरे छोड़ते हैं। सुबह तथा शाम को इस क्रिया को १० से २० बार दोहराते हैं।

इस मुद्रा के ठीक प्रकार से अभ्यास करने से काम-विचार एवं वीर्य प्रवाह रोका जा सकता है इसके अभ्यास से वीर्य ऊपर की तरफ बहने लगता है। इस प्रकार उर्ध्व-रेता होने में मदद मिलती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उर्ध्व-रेता प्रक्रिया क्या है- जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उन्हें मदद मिलती है। इस गूढ़ विषय का संक्षिप्त वर्णनः-

उर्ध्व-रेता बनने की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए गुदा-प्रदेश व पेल्विक-प्रदेश की स्नायु और ग्रन्थियों को जानने की आवश्यकता है। पुरुष के वृषण वयस्क होने पर सदैव स्थायी रूप से रक्त प्राप्त करते रहते हैं। बिना किसी उत्तेजना के इस रक्त से प्रकृति वीर्य बनाती है जो वहाँ पर कोषों में एकत्रित रहता है। वीर्य संग्रह के ये कोष वीर्य वाहिनी नस की दोनों ओर अवस्थित है। इस नस का दो मुख होता है एक मुख हृदय में AORTA में खुलता है तथा दूसरा मुख मूत्रमार्ग में अवस्थित है। जब हमारे विचार उत्तेजित होते हैं तो निचला मुख खुल जाता है और वीर्य मूत्र माग से बहने लगता है। जिन व्यक्तियों की कुहू-नाड़ी सुदृढ़ होती है एवं जिनकी वृषण ग्रन्थियों की कार्य कारिता से नियमित रूप से वीर्य उत्पन्न होता है, उनका वीर्य ऊपर की ओर रक्त से मिल जाता है। इसके परिणामस्वरूप शरीर में ओज पैदा होता है जो शरीर की सूक्ष्म शक्ति है। इस प्रकार के मनुष्यों की बिना इच्छा के वीर्य स्राव नहीं होता है। जो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वही मनुष्य बुढ़ापे में भी युवको के समान शक्तिवाले, सुदृढ़, सशक्त एवं अथक परिश्रमी होते हैं।

जो व्यक्ति प्रतिज्ञापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, ध्यानी हैं, आध्यात्म-विचारक हैं उनके मस्तिष्क में रक्तादि का संचारण अधिक होता है। उनकी काम-जनित ग्रन्थियाँ आदि व्यसनी और ब्रह्मचारी दोनों प्रकार के व्यक्तियों की कमजोर हो जाती हैं अतैव असमय में बुढ़ापा आ घेरता है। स्त्रियों में भी मातृ-ग्रन्थि, रति-ग्रन्थि एवं मिथुन ग्रन्थियाँ तथा अन्य स्नायु कमज़ोर हो जाने के कारण बहुत से स्त्री रोग पैदा हो जाते हैं और फलस्वरूप स्त्रियों का सौंदर्य एवं स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। विधुर एवं विधवाओं, अविवाहित वयस्क स्त्री-पुरुषों को शक्ति-चालनी मुद्रा के नियमित अभ्यास से इन रोगों की रोक थाम की जा सकती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महावेध मुद्रा प्राणायाम

इस क्रिया को करने से पहले सहज प्राणायाम एवं लघु प्राणायाम का अभ्यास ठीक प्रकार से कर लेना चाहिए। सिद्धासन, पद्मासन या किसी स्वेच्छिक आसन में बैठते हैं। श्वास पेट से बाहर निकालते है। गुदा एवं कामजनक स्नायुयों को ऊपर खींचते हैं तथा ५ सेकेण्ड तक खींचकर रखते हैं। श्वास को पुनः ग्रहण करते समय इन नसों को ढीला छोड़ देते हैं। इस क्रिया को १५-२० बार तक करते हैं। अपनी क्षमतानुसार जितना श्वास रोक सकते हैं उसी अनुपात में इस अभ्यास को बढ़ाते हैं।

किसी भी स्थान-विशेष के संकोचन और स्फुरण के परिणाम-स्वरुप वहाँ काफी मात्रा में रक्त का संचार होता है। इसीलिए इन मुद्राओं के अभ्यास से वहाँ की स्नायुतन्तु, माँसपेशियाँ एवं ग्रन्थियाँ पुष्ट होकर दृढ़ हो जाती है, फलतः पूरे शरीर की संजीदगी बनी रहती है।

महाबन्ध मुद्रा प्राणायाम

यह क्रिया सिद्धासन में बैठकर या किसी भी सुविधा जनक सुख आसन में बैठकर कर सकते हैं। सभी के लाभ-फल एक है।

श्वास ग्रहण करते समय क्रमशः अपने अण्डकोष की नसों को ऊपर की ओर खींचते हैं। स्त्रियाँ अपनी डिम्ब को खींचती है। अब क्रमशः श्वास छोड़ते हुये इन ग्रन्थियों को धीरे-धीरे छोड़ते हैं। खींचने और छोड़ने की इस क्रिया को १०-२० बार तक दोहराते हैं। इसी प्रकार सिद्धासन में पाँवों की स्थिति बदल कर भी इसे पुनः करते है।

इस मुद्रा के अभ्यास से पुरुषों की पितृग्रन्थि और स्त्रियों की मातृग्रन्थि स्वस्थ रहती है। प्रजनन से सम्बन्धित अवयवों को पुष्ट रखने में सहायक है तथा स्त्री-पुरुषों में स्फूर्तियुक्त जीवन में सहायक होती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महामुद्रा

महाबन्ध मुद्रा एवं महामुद्रा एक दूसरे के पूरक है तथा दोनों ही स्त्री-पुरुष की काम ग्रन्थियों को पुष्ट करती हैं। अतएव महाबन्ध मुद्रा करने के उपरान्त शीघ्र यह मुद्रा करनी चाहिए।

सुख आसन में बैठने के बाद जमीन पर आगे पैर फैलाकर बैठते हैं और मूत्राशय पर अपने दाहिने पाँव को घुटने के पास से मोड़कर दबाव डालते हैं। घुटने से भी जमीन पर दबाव डालते हैं। बायें पांव को सीधा फैलाकर इसके अँगूठे को दोनों हाँथ से पकड़ते हैं ढोड़ी (ठुड्डी) को सीने से लगाते हैं। अब श्वास खींचते हुये, महाबन्ध मुद्रा की तरह काम-स्नायु को तब तक खींचे रखते हैं जब तक साँस रोके रहते हैं। श्वास छोड़ते समय स्नायु को भी छोड़ देते हैं। इस प्रकार १० से २० बार तक करते हैं। इस क्रिया को विपरीत पैर की एड़ी से मूत्राशय को दबाकर एवं दाहिने पैर को फैलाकर दोहराते हैं।

ये दोनों मुद्रायें मूलबन्ध और महामुद्रा का अभ्यास करने वाले व्यक्ति यकृतदोष, कोष्ठबद्धता, स्वप्नदोष रोग दूर होता है तथा स्त्री-पुरुष दोनों की स्तम्भन शक्ति बढ़ती है।

अतिरिक्त विधि-

१. विधि- इस क्रिया में मूल बन्ध लगाकर बायें पैर की एड़ी से सीवन (गुदा और अण्डकोष के मध्य का चार अँगुल स्थान) को दबाते हैं और दाहिने पैर को फैलाकर उसकी उँगलियों को दोनों हाँथों से पकड़ते हैं। पाँच घर्षण करके बायीं नासिका से पूरक करते हैं और जालन्धर बन्ध लगाते हैं। जालन्धर बन्ध खोलकर दाहिनी नासिका से रेचक करते हैं। यह वह बामांग की मुद्रा हुई। इसी प्रकार दायांग में भी इस मुद्रा को करते हैं।

२. विधि- बायें पैर की एड़ी को सीवन (गुदा और उपस्थ के मध्य के चार अँगुल भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैर को लम्बा फैलाते हैं। धीरे-धीरे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूरक के साथ मूल बन्ध तथा जालन्धर बन्ध लगाते हुये दायें पैर का अँगूठा पकड़कर मस्तक को दायें पैर के घुटने पर रखकर यथाशक्ति कुम्भक करते हैं। कुम्भक के समय पूरक की हुई वायु को कोष्ठ में धीरे-धीरे फुलाते हैं और ऐसी भावना करते हैं कि प्राण कुण्डलिनी को जाग्रत करते हुये सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश कर रही है। उसके बाद मस्तक को घुटने से धीरे-धीरे रेचक करते हुये उठाकर यथा स्थिति में बैठ जाते हैं। इसी प्रकार दूसरे अंग से भी करते हैं। इसमें प्राणायाम का समय एवं संख्या बढ़ाते रहते हैं।

लाभ- मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि उदर रोग तथा प्रमेह का नाश होता है, भूख बढ़ती है, कुण्डलिनी जागृत होती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८

प्राणायाम की अन्य यौगिक मुद्राएँ

१. खेंचरी मुद्रा २. उन्मुनि मुद्रा ३. अश्विनी मुद्रा ४. शक्ति चालिनी मुद्रा ५. योनि मुद्रा ६. योग मुद्रा ७. शाम्भवी मुद्रा ८. तड़ागी मुद्रा ६. विपरीत करणी मुद्रा १०. ब्रजोली मुद्रा।

१. खेचरी मुद्रा- इस मुद्रा में मुख के अन्दर जीभ को उलटी ऊपर की ओर ले जाकर तालु-कुहर (जीभ के ऊपर तालु के बीच का गढ़ा) में लगाये रखना खेचरी मुद्रा है। जीव्हा को बढ़ाने के लिए तीन साधन हैं-

अ. छेदन, ब. चालन, स. दोहन,

अ. छेदन- जीभ के नीचे के भाग को सूताकार नाड़ी नीचे वाले दाँतों की जड़ के साथ जीभ को खींचे रखती है इसलिए जीभ को ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। छेदन की आवश्यकता केवल उनको होती है जिनकी जीभ तथा नस मोटी होती है। जिनकी जीभ लम्बी और नस पतली होती है उन्हें छेदन की आवश्यकता नहीं होती है।

ब. चालन- इस क्रिया में जीभ को अँगूठे और तर्जनी उँगली से अथवा महीन वस्त्र से जीभ को पकड़कर चारों ओर उलट-फेर करने, हिलाने और खींचने को चालन कहते हैं।

स. दोहन- इस क्रिया में जीभ में मक्खन या घी लगाकर दोनों हाँथों की उँगलियों से जीभ को गाय के दूहने जैसे थन-दोहन में पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करने की क्रिया का नाम दोहन है।

विशेष- यह क्रिया निरंतर करते रहने से जीभ को पतला तथा लम्बा करके नासिका के ऊपर भ्रू-मध्य तक पहुँच जाय, करते हैं। इस मुद्रा का बड़ा महत्त्व है। बोलने में सूरीलापन, खाने में स्वादानन्द एवं परिचालन से भोजन में लार (पाचन रस) का मिश्रण होता है, ग्रास सुपाच्य बनता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. उन्मुनि मुद्रा- यह क्रिया सुखासन में बैठकर आधी आँख खुली हुई और आधी बंद आँखों से नासिका के अग्रभाग पर टकटकी लगाकर देखते रहना उन्मुनि मुद्रा कहलाती है। इससे मन एकाग्र होता है। (यह मुद्रा बाबा भोलेनाथ की सबसे सिद्ध मुद्रा है।) इसी मुद्रा में ऋषि-मुनि, महात्माओं को ध्यानमग्न एकाग्र रहते देखा जाता है।

३. अश्विनी मुद्रा- यह मुद्रा सिद्धासन या पद्मासन में बैठकर योनिमण्डल को अश्व की तरह बार-बार सिकोड़ना अश्विनी मुद्रा कहलाती है।

लाभ- यह मुद्रा प्राण के उत्थान और कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने में सहायक होती है। आपान वायु को शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओं को मजबूत करती है।

४. शक्तिचालिनी मुद्रा- यह मुद्रा सिद्धासन या पद्मासन में बैठकर हाँथों की हथेलियों को जमीन पर जमा देते हैं २०-२५ बार धीरे-धीरे दोनों नितम्बों को जमीन से उठा-उठाकर ताड़न करते हैं। तत्पश्चात् मूल बन्ध लगाकर दोनों नासिकाओं से या बायें नासिका से अथवा जो स्वर चल रहा हो उस नासिका से पूरक करके प्राण वायु को अपान वायु से संयुक्त करके जालन्धर बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करते हैं। कुम्भक के समय अश्विनी मुद्रा भी करते हैं अर्थात् गुह्यप्रदेश का आकर्ण विकर्ण करते रहते हैं। तत्पश्चात् जालन्धर बन्ध खोलकर जिस विधि से पूरक किया है उस के विपरित नासिका पुट से रेचक करते हैं और एकाग्र होकर बैठ जाते हैं।

लाभ- यह क्रिया सर्व-रोग नाशक है और स्वास्थ्यवर्धक है। कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने में अत्यन्त सहायक है।

५. योनि मुद्रा- इस क्रिया को सिद्धासन में बैठकर समसूत्र होकर षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, दोनों मध्यमाओं से नाक के छिद्रों को बंद करके और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठकाओं को दोनों ओठों के पास रखकर काकी मुद्रा द्वारा अर्थात् जीभ को कौए की चोंच की तरह बनाकर उसके द्वारा प्राण वायु खींचकर अधोगत अपान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वायु के साथ मिलाते हैं। तथा ऊँ का जाप करते हुए ऐसी भावना करते हैं कि उसकी ध्वनि के साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनी को जागृत करके षट्चक्रों का भेदन करते हुये सहस्त्रदल-कमल में जा रही है।

लाभ- इस क्रिया से अन्तःज्योति जागृत होती है।

६. योग मुद्रा- इस क्रिया में मूल बन्ध के साथ पद्मासन में बैठकर प्रथम दोनों नासिका पुटों से पूरक करके जालन्धर बन्ध लगाते हैं तत्पश्चात् दोनों हाँथों को पीठ के पीछे ले जाकर बायें हाँथ से दायें हाँथ की, और दायें हाँथ से बायें हाँथ की कलाई को पकड़ते हैं तथा शरीर को आगे झुकाकर पेट के अन्दर एड़ियों को दबाते हुये सिर को जमीन से लगाते हैं। यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् सिर को जमीन से उठाकर जालन्धर बन्ध खोलकर दोनो नासिकाओं से रेचक करते हैं।

लाभ- पेट के रोगों को दूर करने में और कुण्डलिनी जागृत करने में सहायक है।

७. शाम्भवी मुद्रा- यह क्रिया मूल बन्ध और उड्डीयान बन्ध के साथ पद्मासन मे बैठकर नासिका के अग्रभाग अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान करना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है।

८. तगाड़ी मुद्रा- तगाड़ का अर्थ तालाब के सदृश कोष्ठ को वायु के भरने को तगाड़ी मुद्रा कहते हैं। इस क्रिया में शवासन में चित लेटकर जिस नासिका का स्वर चल रहा हो उससे पूरक करके तालाब के समान पेट को फैलाकर/फुलाकर वायु से भर लेते हैं। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुये वायु को पेट में इस प्रकार हिलाते हैं जिस प्रकार तालाब का जल हिलता है। कुम्भक के पश्चात् सावधानी से धीरे-धीरे रेचक करते हैं।

लाभ- इससे पेट के सर्व-रोग समूल नाश होते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९. विपरीत करणी मुद्रा- इस क्रिया को शीर्षासन, कपालासन में करते हैं। पहले जमीन पर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र (तौलिया) रखकर उसपर अपने सिर (मस्तक) को रखते हैं, फिर दोनों हाँथों के पंजों को सिर के पीछे लगाकर शरीर को उलटा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा करते हैं। (नीचे सिर और ऊपर पैर लम्बवत्) थोड़े ही प्रयास से मूल बन्ध और उड्डीयान बन्ध स्वतः लग जाते हैं, यह मुद्रा पद्मासन में भी. कर सकते हैं। इसे ऊर्ध्व पद्मासन भी कहते हैं। आरम्भ में इस मुद्रा को दिवाल के सहारे भी कर सकते हैं, आसानी होती है।

लाभ- वीर्य रक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्नि का बलवान होना, प्राण की गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुखाम, सिरदर्द आदि का दूर होना, रक्त का शुद्ध होना और कफ विकार का दूर होना है।

१०. ब्रजोली मुद्रा- (प्रथम विधि) यह क्रिया लिंग द्वारा मूत्र त्याग के समय कई बार मूत्र को बल पूर्वक ऊपर की ओर आकर्षित करते हैं इस बात का ध्यान रखते हैं कि मूत्र धारा कितने नीचे से आकर्षित होकर ऊपर बढ़ती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरंतर अभ्यास से मूत्रधार १०-१२ अंगुल नीचे से आकर्षित होकर खींची जा सकती है और उतारने मे कुछ शक्ति लगाना पड़े तो समझना चाहिए क्रिया सिद्ध हो रही है। यह क्रिया पूर्णतह ड्रापर के सिद्धान्त पर है। इस अभ्यास से जल, दूध, तेल, घी, शहद आदि खींच सकते हैं।

द्वितीय विधि - यह विधि पूर्णतया चिकित्सकीय प्रणाली है, इस विधि में रबड़ के ट्यूब (कैथेटर) को पानी में उबालकर जीवाणु मुक्त करके (स्टेरेलाइज्ड करके) लिंग छेद में प्रवेश कराते हैं, यह क्रिया एक बार में नहीं करना चाहिए धीरे-धीरे १-१ अंगुल प्रवेश कराना चाहिए। जब १२-१४ अंगुल प्रवेश होने लगे तब कैथेटर की जगह जस्ते की सलाई (लिंग के छिद्र के अनुसार मोटाई) को प्रवेश कराने का अभ्यास करते हैं। उसके बाद उसी मोटाई की चाँदी की पोली सलाई (नालिका) जो २-अंगुल टेड़ी ऊर्ध्वमुखी हो। सीधे भाग को लिंग-छिद्र मे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
प्रविष्ट करके २-अंगुल बाहर रहने देते हैं और एक नलिका द्वारा उस पोली नलिका (पोली सलाई) में फूत्कार करते हैं। इस प्रकार लिंगमार्ग की सफाई हो जाने पर वायु को खींचने और छोड़ने का अभ्यास करते हैं। अभ्यास सिद्ध हो जाने पर लिंग छिद्र से जल, तेल, घी, दूध, शहद खींचते हैं।

यह हठयोग की अलौकिक क्रियाएँ हैं इससे हठयोगी स्त्री के रज को भी खीचने की चेष्टा करते हैं। इस क्रिया से आध्यात्मिक पतन होने की सम्भावनायें अधिक बढ़ जाती है। असावधानी से नाना प्रकार के यौन छिद्र-रोग हो जाते हैं।

लाभ- इस क्रिया द्वारा लिंगेन्द्रिय के छिद्र की सफाई, शुद्धि होकर अपान वायु पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। मूत्राशय की पथरी को तोड़कर निकालने में सहायता मिलती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

बन्ध विवेचन

जहां दृढ़ता के लिए आसन किए जाते हैं वहां स्थैर्य के लिए बंध एवं मुद्राएं की जाती हैं। वैद्य सुन्दरदेव ने अपने ग्रंथ 'हठतत्त्वकौमुदी' में बन्धों का वर्णन करते हुए मूलबन्ध, उड्डीयान बंध और जालन्धर बन्ध के साथ महाबन्ध, महामुद्रा और महाबेध बंध त्रय का वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

1. मूल बन्ध

गुदा एवं लिंग स्थान के रन्ध्र को बन्ध करने का नाम मूलबन्ध है। बाएं पैर की एड्डी को गुदा और अण्डकोष के मध्य भाग में दृढ़तापूर्वक लगाकर गुदा को सिकोड़कर नीचे की ओर बहने वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊपर की ओर खींचने को मूलबंध कहते हैं। सिद्धासन के साथ यह बंध अच्छा लगता है। अन्य आसनों के साथ एड़ी को सीवनी पर बिना लगाये हुए भी मूलबंध लगाया जा सकता है। [73]

एड़ी से योनि स्थान दबाकर गुदा को संकुचित करते हुए वायु को ऊपर की ओर खींचे। अधोगति वाले अपान को उर्ध्वगामी क़रने के ढंग को योगी लोग मूलबंध कहते हैं। [74]

लाभ

इससे अपान वायु का उर्ध्वगमन होकर प्राण के साथ एकता होती है। कुण्डलिनी शक्ति जागृत (सीधी) होकर उर्ध्वगामी होती है। कोष्ठबद्ध दूर

---

73. हठ त. कौ. (प.सं.32), 1/15/1-2

74. ह.यो.प्र. 3.60-64, घे.सं 3.14-17

करने, जठराग्नि को पद्रीप्त करने और वीर्य को ऊर्ध्वरेतस् बनाने में यह बन्ध अति उत्तम है। साधको को न केवल भजन के अवसर पर किन्तु हर समय मूलबंध को लगाये रखने का अभ्यास करना चाहिए। इससे मलमूत्र अल्प हो जाते हैं। बवासीर, कब्ज आदि गुदा के रोग नष्ट हो जाते हैं। वृद्ध भी युवा जैसा प्रतीत होता है।

2. उड्डीयान बन्ध

दोनों घुटनों (जानुओं) को मोड़कर नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड से लगा दें, जिससे कि पेट के स्थान पर गड्ढा सा दीखने लगे । इस क्रिया से प्राण पक्षी के सदृश सुषुम्ना में उड़ने लगता है, इसलिए यह बंध उड्डीयान कहलाता है। इससे पैरों के तलवों के बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है। [75]

जिस बन्ध द्वारा बन्धा हुआ प्राण सुषुम्ना में जा सके, उसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं। इस मुद्रा में नासारन्ध्र से वायु का रेचक करने के बाद पेट की रीढ़ की हड्डी के साथ चिपका लिया जाता है। यह खड़े होकर व बैठकर दोनों प्रकार से किया जाता है। [76]

लाभ

यह कुण्डलिनी जागरण में सहायक है। वीर्य और प्राण की उर्ध्वगति से साधक तेजस्वी, कान्तिमान हो जाता है। जठराग्नि प्रदीप्त होकर क्षुधा की वृद्धि करता है। उदर रोग नष्ट होते हैं । फेफड़े पुष्ट होते हैं । इससे गैस

---

75. हठ त. कौ. (प. सं. 33), 1/15/10-11

76. ह. यो. प्र. 3, 54-59

दूर होती है, पेट की मालिश होती है और पेट पतला पड़ जाता है। छः मास तक लगातार अभ्यास करने से मृत्यु को जीता जा सकता है। इससे बल ताजगी आदि उत्पन्न होते हैं।[77]

3. जालन्धरबन्ध

सिद्धासन में बैठकर कण्ठ को सिकोड़कर ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक कण्ठकूप में इस प्रकार स्थापित करें कि हृदय से ठोड़ी का अन्तर केवल चार अंगुल का रहे, सीना आगे की ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठ-कूप के नाड़ी जाल को बांधे रखता है, इसलिए इसका नाम जालंधर बन्ध है।[78]

स्वांस का पूरक करके कण्ठ को संकुचित कर हृदय पर ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक लगाने को जालन्धर बन्ध कहते हैं।[79]

यह बन्ध कपालकुहुर रूपी नभ के जल को सूर्य नाड़ी में भस्म न होने से बंधता है, इसलिए भी इसका नाम जालन्धर बन्ध है। एक अन्य मतानुसार जालंधर ऋषि इस प्रकार बैठते थे, अतः उनके नाम पर ही इसका यह नाम पड़ा।[80]

लाभ

यह जालंधर जरामृत्य का नाशक है, महासिद्धियों को देने वाला है। इससे बुढ़ापा, भय आदि दूर होते हैं। आवाज में माधुर्यएवं सुरीलापन आता

---

77. घे. सं. 3.9-11
78. हठ. त. कौ. (प. सं. 33), 1/15/21-22
79. योगरश्मि, पृ. 181
80. ह. यो. प्र. 3.69-75, घे. सं. 3. 70-76

है। जालंधर बन्ध कर लेने पर ऊपर से गिरने वाला अमृत अग्नि में नहीं गिरता और वायु कुपित नहीं होता। इस जालंधर बन्ध के कर लेने पर दो नाड़ियों (इड़ा, पिंगला) का स्तम्भन स्वाभाविक हो जाता है। षोडसाधार को बन्धन करने वाला इसको मध्य चक्र कहा गया है। [81]

मुद्राविवेचन

योगसिद्धि के लिए साधक को स्थैर्य प्राप्ति के लिए मुद्राओं का ज्ञान होना अनिवार्य है। अतः घेरण्ड संहिता में महर्षि घेरण्ड द्वारा 25 मुद्राओं का वर्णन किया गया है- महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालन्धर बंध, मूलबंध, महाबंध, महावेध, खेचरी, विपरीत करणी, योनी, वज्रोली, शक्तिचालिनी, तड़ागी, माण्डूकी, शाम्भवी, पंचधारणा, पार्थिवी, अभ्यासी, आग्नेयी, वायवी, आकाशी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगिनी और भुंजगिनी । (घे.सं. 3.1-3)

जबकि योग स्वात्माराम ने अपने ग्रन्थ हठयोग प्रदीपिका में 10 मुद्राओं का ही वर्णन किया है। इसी प्रकार श्री सुन्दर देव जी ने भी अपने ग्रन्थ में निम्नलिखित 10 मुद्राओं का विस्तार से वर्णन किया है- महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान बंध, मूलबंध, जालंधर बंध, विपरीतकरणी वज्रोली (सहजोली, आमरोली) तथा शक्तिचालन मुद्रा।

1. महामुद्रा

अपने पांव को आगे की ओर फैलाकर बैठें। बायें पैर को मोड़कर ऐड़ी सीवनी के स्थान पर लगा दें फिर झुककर अपने दोनों हाथों की अंगुलियों से दायें अंगूठे को पकड़ लें। बायीं नासिका से पूरक करें और जालंधर बंध

---

81. घे. सं. 3.70-76

लगाएं। फिर बन्ध खोलकर दायीं नासिका से श्वास बाहर निकाल दें । दूसरी तरफ से भी ऐसा ही करें। [82]

दूसरी विधि

बायें पैर की एड़ी को सीवन (गुदा और उपस्थ के मध्य के चार अंगुल-भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैर को लम्बा फैलावें, फिर शनैः-शनैः पूरक के साथ मूल तथा जालंधर बंध लगाते हुए दायें पैर का अंगूठा पकड़कर मस्तक को दायें पैर के घुटने पर लाकर यथाशक्ति कुम्भक करें। कुम्भक के समय पूरक की हुई वायु को कोष्ठ में शनैः-शनैः फुलावें और ऐसी भावना करे कि प्राण कुण्डलिनी को जागृत करके सुषम्णा में प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तक को घुटने से शनैः शनैः रेचक करते हुए उठाकर यथास्थिति में बैठ जाये। इसी प्रकार दूसरे अंग से करना चाहिए। प्राणायाम की संख्या एवं समय बढ़ाता रहे। [83]

हठयोग प्रदीपिकाकार के अनुसार इस महामुद्रा में दायें पैर को फैलाकर फिर बायें पैर से योनिस्थान को दबायें, फैलाये हुए पैर के अंगूठे को पकड़े, तत्पश्चात् नाक से वायु का पूरक कर जालंधर बंध लगाये तब आज्ञाचक्र का ध्यान करें, कुछ समय के बाद वायु का रेचक नाक से करें। [84]

लाभ

इससे प्राण वायु का सुषुम्रा में प्रवेश होता है जिससे कुण्डलिनी जागृत होती है। यह महाक्लेश आदि को नष्ट करती है। [85] यह क्षय, नजला,

---

82. हठ त. कौ. (प. सं. 34), 1/15/28

83. पा.यो.प्र. साधन पाद, पृ. 435-36

84. ह. यो. प्र. 3.10-12

85. घे. सं. 3.21-28

जुकाम, कास-श्वांस, प्लीहा की गड़बड़ियां, गैस रोग, बदहजमी आदि रोगों को दूर करती है। कुष्ट रोग का भी निवारण करती है। कुण्डलिनी को जगाती है। मन्दाग्नि, प्रमेह तथा उदर के रोगों को नष्ट करती है।

2. महाबन्ध मुद्रा

पहली विधि

बायें पैर की एड़ी को गुदा और उपस्थ के मध्य भाग में जमाकर बायीं जंघा के ऊपर दाहिने पैर को रखें। पूरक करके जालंधर बन्ध लगाएं। यथा शक्ति फिर मूल द्वार से वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबंध लगावें। मन को मध्य नाड़ी मेंलगाए हुए यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् पूरक के विपरीत वाली नासिका से धीरे-धीरे रेचन करें। इस प्रकार दोनों नासिका से अनुलोम-विलोम रीति समान प्राणायाम करें।

दूसरी विधि

पद्म अथवा सिद्धासन से बैठ ,योनि, और गुह्य प्रदेश सिकोड़, अपान वायु को ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान-वायु के साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायु को अधोमुख करके प्राण और अपानवायुओं के साथ नाभिस्थल पर दृढरूप से कुम्भक करें। [86]

स्वात्माराम जी के अनुसार बायीं एड़ी को योनिस्थानमें लगाकर बायीं जांघ पर दायां पांव रखें, फिर वायु का पूरक करके जालंधर बंध लगायें और मूलबंध भी लगायें (इनमें तीनों बन्ध लगते हैं) तत्पश्चात मन्द-मन्द रेचक करें। इसे दोनों अंग से (दक्षिण तथा वाम) करें। [87]

---

86. पा.यो.प्र. साधनपाद,पृ. 434

87. ह. यो. प्र. 3.18-23, घे. सं. 3.18-20

लाभ

यह कुण्डलिनी का जागरण करती है। प्राणोत्थान द्वारा चक्र भेदन से सरल हो जाता है। कफ संबंधी विकार और उदर रोग नष्ट होते हैं। प्राण का ऊर्ध्वगामी होना-वीर्य की शुद्धि, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना का संगम प्राप्त होना, बल की वृद्धि आदि है। [88] इससे बवासीर,तिल्ली की वृद्धि तथा कब्ज दूर होती है। महाबन्ध से शिव में चित्त का लय होता है और इससे काल के बंधन से मुक्ति मिलती है। त्रिवेणी संगम की प्राप्ति होती है। (जालंधर, उड्डीयान व मूलबंध त्रिवेणी हैं) तथा देह कम्पन आदि भी नष्ट होते हैं। [89]

महावेध मुद्रा

महावेध की दो विधियों में पहली विधि इस प्रकार है- महाबंध की प्रथम विधि के अनुसार मूल बंध पूर्वक कुंभक करके दोनों हाथों की हथेली भूमि में दृढ स्थिर करके, हाथों के बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों को शनैः शनैः ताड़ना दे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इडा, पिंगला को छोड़कर कुण्डलिनी-शक्ति को जगाता हुआ सुषुम्ना में प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायु को शनैःशनैः महाबंध की विधि के अनुसार रेचक करें।

दूसरी विधि

मूलबंध के साथ पद्मासान से बैठे, अपान और प्राण वायु को नाभिस्थान पर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथों को तानकर नितम्बों से मिलाते हुए भूमि पर जमाकर नितम्ब को आसन सहित उठा-उठा कर भूमि पर ताड़ित करते रहें। [90]

---

88. ह. त. कौ. ,1/15/48 (पत्र सं. 20)

89. घे. सं. 3.18-20

90. पा.यो.प्र. साधनपाद, पृ. 434

घेरण्ड ऋषि के अनुसार- वाम एड़ी को योनि स्थान में लगाकर दायां पाव काया के साथ रखें । फिर वायु खींचकर नितम्बों को हाथों का सहारा देकर ऊपर उठकार मन्द-मन्द ताड़ना करने से वायु इड़ा, पिंगला को छोड़कर सुषुम्ना में प्रवेश करती है। [91]

लाभ

इससे वृद्धावस्था दूर होती है। शरीर का कम्पन तथा चमड़ी सिकुड़ना आदि ठीक हो जाता है। यह कुण्डलिनी जागरण में सहायक है। प्राण सुषुम्ना में प्रवेश हो जाते हैं। महाबंध, महावेध और महामुद्रा- तीनों को मिलाकर करना अधिक फलदायक है। उदर रोगों में लाभप्रद है। [92]

4. विपरीतकरणी मुद्रा -शीर्षासन-कपालासन

विधि

जैसा कि नाम से ही पता चलता है कि इसमें देह की स्थिति को विपरीत किया जाता है। कुछ विद्वान शीर्षासन को भी विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। इसमें पीठ के बल लेटकर फिर सांस लेते हुए पैरों को धीरे-धीरे ऊपर उठाते हैं। फिर पैरों को इतना ऊपर उठाते हैं कि सीधे होकर वह आंखों के ऊपर आ जायें हाथों की हथेलियों से पीठ को सहारा देते हैं, इसे विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। यह भी चन्द्र नाड़ी से टपकने वाले रस की रक्षा करता है, उसे सूर्य नाड़ी में भस्म नहीं होने देता। इसमें चन्द्र नाड़ी नीचे और सूर्य ऊपर रहती है। [93]

---

91. ह.यो.प्र. 3.24-29, घे. सं. 3.21-24
92. हठ त. कौ. (प.सं. -35), 1/15/46
93. हठ यो.प्र., 3.33-36, घे. सं. 3.79-80

वैद्य सुन्दरदेव के अनुसार- पृथ्वी पर गोल लपेटा हुआ वस्त्र रख उस पर अपने मस्तक को टिका दें। दोनों हाथों के तलवों को मस्तक के पीछे लगाकर पैरों को ऊंचा उठाते हुए सीधा तान दें। इसपर पद्मासन भी किया जा सकता है। मूल और उड्डीयान बंध स्वतः लग जाते हैं। इसे ही विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं।[94]

लाभ

इसके छः मास के अभ्यास से चेहरे की झुरियां नष्ट होती हैं। सफेद बाल भी नहीं रहते और साधक मृत्यु को भी जीत लेता है। इससे जठराग्नि बहुत तेज होती है। जितना भी खाओ सब हजम हो जाता है। अल्पाहार से इसमें हानि होती है। यह मस्तिष्क, कर्ण नेत्र रोगों को दूर करती है। रक्त शुद्ध होता है तथा कफ संबंधी विकार जुकाम आदि दूर होते हैं। ब्रह्मचर्य की रक्षा में सहायक है।[95]

खेचरी मुद्रा

खेचरी का अर्थ है- आकाश में भ्रमण करना। इसमें दोहन, चालन, छेदन ये तीन क्रियायें होती हैं। पहले जीभ को तर्जनी और अंगूठे से बाहर की ओर खींचकर लम्बा किया जाता है। जिस प्रकार गाय-भैंस आदि को दोहते हैं, उसी प्रकार जीभ को बाहर निकाल कर ऊपर नीचे घुमाया जाता है। फिर जीभ के मूल भाग में एक नस होती है। जिसे एक बाल तुल्य काट दिया जाता है। तत्पश्चात् सैंधा नमक व चूर्ण आदि से प्रतिदिन मलते हैं। इस प्रकार

---

94. हठ त. कौ. (प.सं.-30),1/14/3-4

95. पा.यो.प्र. साधन पाद, पृ. 437

पहले दिन एक बाल तुल्य काटते हैं, शनैःशनैः इतनी लम्बी कर ली जाती है जिससे वह गले के अन्दर से भौं के बीच तक पहुंच जाये। यह व्योम-चक्र भी कहलाती है।[96]

गोरख संहिता के अनुसार- जीभ को उल्टी लौटाकर कपाल कुहर में प्रविष्ट करें तथा अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करें- यही खेचरी मुद्रा है। यह चालन व दोहन से सिद्ध हो जाती है। बारीक वस्त्र से जीभ को पकड़ कर इसे चारों और उल्टफेर कर हिलाना और खींचना चालन कहलाता है। घी लगाकर दोनों हाथों की अंगुलियों से जीह्वा का पुनः पुनः खीचने का नाम दोहन है। निरंतर अभ्यास से यह जीभ इतनी लम्बी हो जाती है कि नासिका के ऊपर भ्रूमध्य तक पहुंच जाये ।[97]

पातंजलयोग प्रदीप के अनुसार- जीभ को ऊपर की ओर उलटी ले जाकर तालु-कुंहर (जीभ के ऊपर तालु के बीच का गढ़ा) में लगाये रखने का नाम खेचरी मुद्रा है। इसके निमित्त जिह्वा को बढ़ाने के तीन साधन किए जाते हैं- छेदन चालन और दोहन।

पहला साधन

छेदन-जीभ के नीचे भाग में सूताकारवाली एक नाड़ी नीचे वाले दांतों की जड़ के साथ जीभ को खींचे रखती है। इसलिए जीभ को ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ी के दांतों के निकट वाले एक ही स्थान पर स्फटिक (बिल्लौर) का धार वाला टुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पांच बार फेरते रहें। कुछ दिनों तक ऐसा करने के पश्चात् वह नाड़ी उस स्थान में पूर्ण

---

96. ह.यो.प्र. 3.32-40, घे. सं. 3.21-28
97. गोरख संहिता, 2.44

कट जाएगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर- ऊपर एक-एक स्थान को जिह्वा मूल तक काटते चले जायें। स्फटिक फेरने के पश्चात् माजूफल का कपड़ा छान चूर्ण (टेरिन एसिड) जीभ के ऊपर-नीचे तथा दांतों पर मलें और उन सब स्थानों से दूषित पानी निकलने दें। माजूफल चूर्ण के अभाव में अकरकरा, नमक, हरीतकी और कत्थे का चूर्ण छेदन किये हुए स्थान पर लगावे । यह छेदन-विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकार की हानि पहुंचने की संभावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदन का कार्य किसी धातु के तीक्ष्ण यंत्र से प्रति आठवें दिन उस शिरा कोबाल के बराबर छेदकर घाव पर कत्था और ह रड़ का चूर्ण लगाकर करते हैं। इसके छेदने के लिए नाखून काटने वाला- जैसा एक तीक्ष्ण यंत्र और खाल छीलने के लिए एक दूसरे यंत्र की आवश्यकता होती है, जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ी के सम्पूर्ण अंश के एक साथ वाक् तथा आस्वादन-शक्ति नष्ट हो जाने का भय रहता है। इसलिए इसेकिसी सुभिज्ञ पुरुष की सहायता से करना चाहिए। छेदन की आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और यह नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लम्बी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदन की अधिक आवश्यकता नहीं ।[98]

दूसरा एवं तीसरा साधन-चालन व दोहन

अंगूठे और तर्जनी अंगुली से अथवा बारीक वस्त्र से जीभ को पकड़कर चारों तरफ उल्ट-फेरकर हिलाने और खींचने को चालन कहते हैं। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथों की अंगुलियों से जीभ का गाय के स्तनदोहन-जैसे पुनः-पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करने की क्रिया का नाम दोहन है।

---

98. पा.यो. प्र. साधन पाद, पृ. 435

निरंतर अभ्यास करते रहने से अन्तिम अवस्था में जीभ इतनी लम्बी हो सकती है कि नासिका के ऊपर भ्रूमध्य तक पहुंच जाय। इस मुद्रा का बड़ा महत्त्व बताया गया है, इससे ध्यान की अवस्था परिपक्व करने में बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वाओं के भी नाना प्रकार के भेद देखने में आये हैं। किसी जिह्वा में सूताकार नाड़ी के स्थान में मोटा मांस होता है, जिसके काटने में अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वा में न यह नाड़ी होती है, न मांस। उसमें छेदन की आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिए। [99]

लाभ

ऊर्ध्व जिह्वा स्थिरीकृत्य सोमपानं करोति यः।

मासार्ध्देन सन्देहोमृत्युं जयति योगवित्। [100]

जीभ को ऊर्ध्व स्थिर करके अमृत का पान करने वाला योगी 15 दिनों में मौत को जीत लेता है। खेचरी मुद्रा सिद्ध होने पर व्यक्ति को भूख-प्यास, रोग निद्रा, तन्द्रा, आदि नहीं सताते हैं, वह काल को भी जीत लेता है। ऐसा व्यक्ति इच्छानुसार देह त्याग सकता है। चन्द्र नाड़ी से टपकने वाले रस को सूर्य नाड़ी में भस्म होने से बचाता है। जहर का कोई असर नहीं होता सभी पदार्थ अमृत तुल्य लगते हैं। अष्टसिद्धियां- अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशिता प्राप्त होती है। [101]

---

99. हठ. त. कौ. (प. सं. 31), 1/14/11

100. गोरख संहिता, 2.44

101. घे. सं. 3.21-28

6. शक्ति-चालिनी-मुद्रा

विधि

सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर हाथों की हथेलियां पृथ्वी पर जमा दें। बीस-पच्चीस बार शनै:शनै: दानों नितम्बों को पृथ्वी से उठा उठा कर ताड़न करें। तत्पश्चात मूलबंध लगाकर दोनों नासिकाओं से अथवा वामसे जो स्वर चल रहा है उस नासिका से पूरक करके प्राणवायु को अपानवायु से संयुक्त करके जालंधर-बंध लगाकर यथाशक्ति कुंभक करें। कुंभक के समय अश्विनीमुद्रा करें अर्थात् गुह्य प्रदेश का आकर्षण -विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालंधर-बंध खोलकर यदि दोनों नासिका पुट से पूरक किया हो तो दोनों से अथवा पूरक से विपरीत नासिकापुट से रेचक करें और निर्विकार होकर एकाग्रता पूर्वक बैठ जाएं ।[102]

घेरण्ड संहिता में इस मुद्रा को करते समय बालिश्त-भर चौड़ा, चार अंगुल लम्बा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभि पर कटिसूत्र से बांधकर सारे शरीर पर भस्म मलकर करना बतलाया है।[103]

आचार्य भगवान् देव ने योग चमत्कार में इस मुद्रा को करते समय सिद्धासन में बैठकर दोनों नासिका रन्ध्र से श्वास भरे और इसको मूलाधार में ले जाकर अपान से युक्त कर दें। अश्विनी मुद्रा करते हुए ऐसा अनुभव करें, मानों प्राण सुषुम्ना में प्रवेश कर रहे हों। यह श्वास क्रिया करने से पूर्व सिद्धासन लगाकर हथेलियों को भूमि पर जमा दें। पन्द्रह-बीस बार धीरे धीरे दोनों नितम्बों

---

102. पा.यो. प्र. साधनपाद, पृ. 436

103. घे. सं. पृ.1

को पृथ्वी से उठा-उठा कर ताड़न करें, फिर प्राणायाम करते हुए शांत होकर बैठ जाएं। [104]

लाभ

सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्द्धक होने के अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने में अत्यन्त सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करे। मूलाधार चक्र के अन्दर दर्शन होने की संभावना रहती है। सुस्ती, जड़ता दूर होती है।

7.योग मुद्रा

विधि

पद्मासन में बैठकर मूलबंध लगा लें । दोनों नासा छिद्रों से श्वास भीतर लेते हुए ज़ालंधर बन्ध लगाएं दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाएं। एक दूसरे हाथ की कलाई पकड़ लें। पेट में एड़ियों को सटा लें। शरीर को आगे झुकाकर मस्तक को भूमि पर लगा दें।

लाभ

कुण्डलिनी शक्ति जागरण में सहायक है। समस्त उदर विकारों को दूर करती है। [105]

8. वज्रोली मुद्रा

वज्रोली और शक्ति चालिनी मुद्राओं की विधि व अभ्यास उच्च गुरु के निर्देश में ही करनी चाहिए।

---

104. यो. च., पृ. 192-193

105. ह. त. कौ. पृ. 152, पा.यो.प्र. साधन पाद. पृ. 437

विधि

एक चौदह अंगुल रबड़ का केथिटर लेकर गर्म पानी में साफ कर घी लगा लें। फिर इसे लिंग छिद्र में प्रवेश करने का अभ्यास करें । यह अभ्यास धीरे- धीरे बढ़ाएं । जब वह बारह अंगुल जाने लगे, तब चौदह अंगुल लम्बी जस्त की सलाई लिंग के छिद्र के अनुसार चौड़ा हो, तैयार करें। यह दो अंगुल मुड़ी हुई ऊपर की ओर मुंह वाली हो। इसे लिंग छिद्र में प्रवेश करने का अभ्यास करें। जब अभ्यास हो जाए, तब चांदी की भीतर से पोली वैसी ही सलाई बनाकर लिंग छिद्र में प्रविष्ट करें। जब पूरा अभ्यास हो जाए, तब जल के एक पात्र में इसका एक सिरा डालकर पानी को अन्दर खींचे। जल के बाद दूध, तेल, शहद आदि का अभ्यास किया जा सकता है। नौली क्रिया करें। मूत्र के साथ ही जल, तेल आदि बाहर आ जाएंगे। प्रारम्भ में कई बार दर्द होता है, सावधानी रखें।

दूसरी विधि

मूत्र त्याग के समय कई बार मूत्र को बलपूर्वक ऊपर की ओर आकर्षित करें। ऐसा करते समय इस बात को ध्यान से देखें कि मूत्रधारा कितने नीचे से आकर्षित होकर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरंतर अभ्यास से जब मूत्रधार दस-बारह अंगुल नीचे से आकर्षित होकर खींची जा सके और उतारने में कुछ शक्ति लगाना पड़े तो समझना चाहिए कि वज्रोली क्रिया सिद्ध हो गई है। तत्पश्चात् क्रमशः जल, दूध, तेल अथवा घी, शहद और अंत में पारा खींचने का अभ्यास करें। [106]

---

106. पा. यो. प्र. साधन पाद, पृ. 437

लाभ

यह मूत्रवस्ति क्रिया है । समाधि में आने से पूर्व इस क्रिया का प्रयोग आवश्यक है। यह समस्त मूत्राश्य, गुर्दे के विकारों, पथरी आदि रोगों का निराकरण करती है। प्रमेह रोग, स्वप्न दोष, आदि दूर होते हैं। इस क्रिया का मुख्य उद्देश्य ब्रह्मचर्य पालन है और कोई निकृष्ट भाव न समझ लें।[107]

इस मुद्रा का फल हठयोग के शास्त्र में अलौकिक सिद्धियां बतलाई गई हैं, परन्तु जरा सी असावधानी होने पर इन्द्रिय, छिद्र विकार होने से भयंकर शारीरिक रोग उत्पन्न होने तथा स्त्री के रज खींचने की चेष्टा में ऊंचे-से-ऊंचे अभ्यासी के लिए भी आध्यात्मिक पतन होने की अधिक संभावना है। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण दृष्टिगोचर हुए हैं। इन मुद्राओं आदि को किसी अनुभवी की सहायता से करना चाहिए अन्यथा लाभ के स्थान में हानि पहुंचने की अधिक संभावना है।

9. सहजोली और आमरोली

वज्रोली मुद्रा के भेद विशेष ही सहजोली और आमरोली हैं, क्योंकि तीनों का फल एक है। उन दोनों में सहजोली मुद्रा का वर्णन करते हैं कि:- व्रजोली मुद्रा की सिद्धि के लिए किये हुए मैथुन के अनंतर आनंद से बैठे हुए स्त्री और पुरुष उत्साह से रति व्यापार को त्यागकर दग्ध गोमयों (उपलों) की सुन्दर भस्म बनाकर उसको जल में डालकर उस भस्म को मिश्रित करके अपने मस्तक, शिर, नेत्र, हृदय, स्कन्ध, भुजा आदि अंगों पर लेपन करें। इसी भस्म लेपन रूप क्रिया को मत्स्येन्द्र आदि योगीजनों ने सहजोलिमुद्रा कहा है और

---

107. हठ त. कौ. (प. सं. -36), 1/15/9

यह योगीजनों को सदैव श्रद्धा करने योग्य है।[108]

लाभ

यह सहजोलि नामक का योग शुभकारी है और भोग से युक्त भी यह योग (उपाय)मोक्ष का दाता है।[109]

अमरोली

कापालिक मत में अर्थात खंडकापलिक मत में अमरोली नाम की मुद्रा प्रसिद्ध है। जो पुरुष शिवांबुरूप अमरी को नासिका से नित्य पीता है और मैथुन से प्रतिदिन वज्रोली का भली प्रकार अभ्यास करता है उस मुद्रा को कापालिक अमरोली कहते हैं।

लाभ

अमरोली मुद्रा के अभ्यास से निकली हुई जो चन्द्रमा की सुधा (अमृत) है उसको भस्म में मिला कर शिर, कपाल, नेत्र, स्कंध, कंठ-हृदय, भुजा आदि उत्तम अंगों में धारण करें तो मनुष्य दिव्य दृष्टि को प्राप्त हो जाता है अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूर) के जो पदार्थ, उनको देखने योग्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है।[110]

अतः हठतत्त्वकौमुदी में सुन्दरदेव ने मुद्रा और बन्धों का विस्तार से वर्णन किया है। ये सब मुद्राएं प्राणवायु और मन को स्थिर करने में परम सहायक होती हैं।

---

108. हठ त. कौ. (प.सं. -37),1/15/10-11

109. ह.यो.प्र. उपदेशः 3.92-94,पृ. 122

110. हठ त. कौ. ,1/15/12-13, ह. यो. प्र. 3.97-98